प्राप्तिस्थान
श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था
C/o श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदाबाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन प्रि. प्रेस, का. २–६१
गांधीरोड, ढींकवावाडी, अहमदाबाद–१

Prof Sylvain Levi University of Paris .–

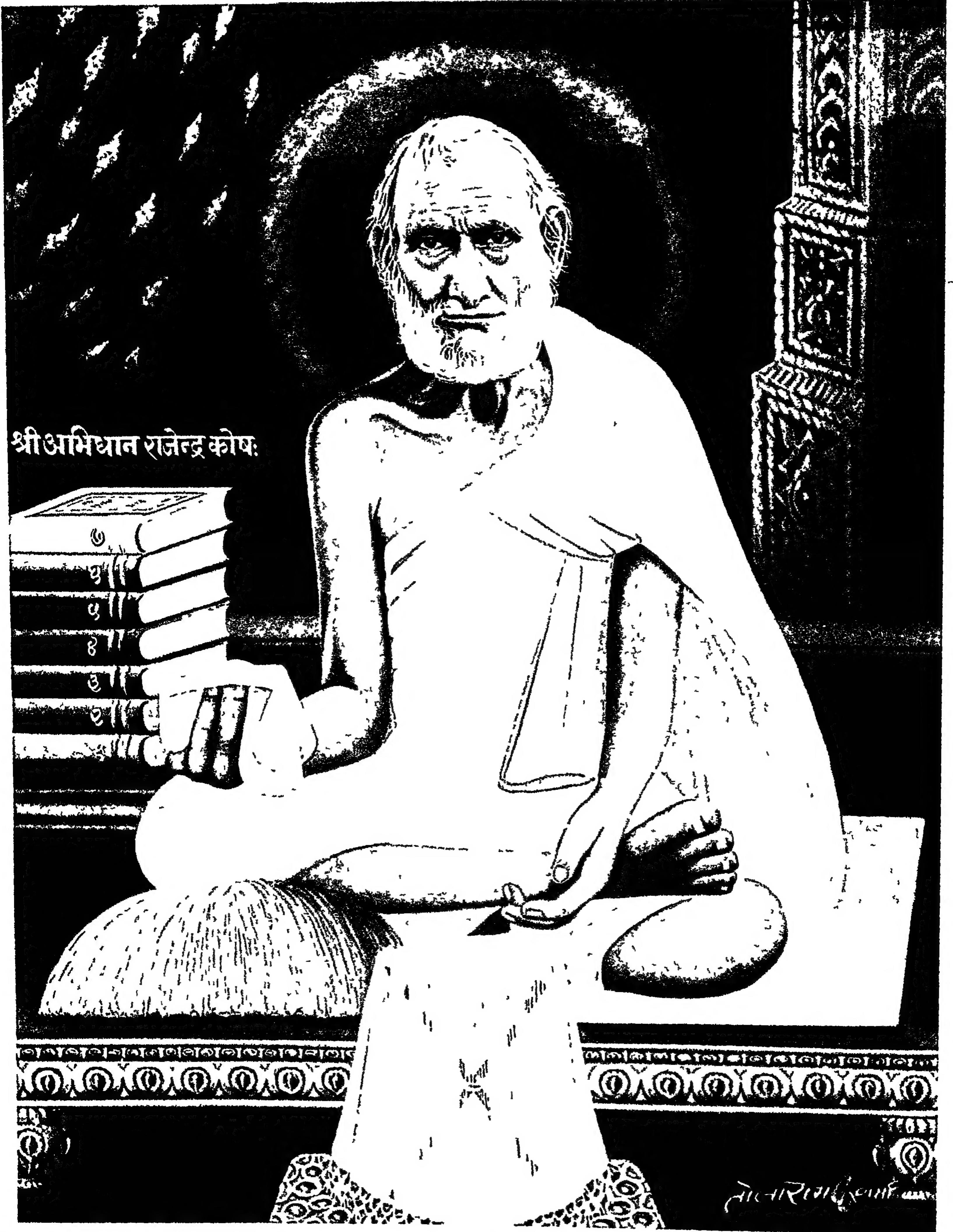
After 5 years of Abhidhan Rajendra's continuous perusal, I can affirm that no real Indologist can dispense with a copy of this wonderful work. In its special compass, it surpasses even that jewel of lexicography, the Petersburg Dictionary Here we have not only a complete register of words warranted by references and quotations, but a full survey of thoughts, beliefs, legends lying beyond the words. Whatever is the matter I happen to deal with I begin with consulting my Rajendra and I never fail to get some useful information. Shall we ever have anything alike in the field of Brahmanism and Buddhism ?

Prof. Siddheshwar Varma, M A – Professor of Sanskrit, Prince of Wales College, Jammu (Kashmir)

"The Abhidhan Rajendra in my opinion is a colossal work which reflects credit on Indian industry and scholarship A special feature of the work is the rich bibliographical material hitherto absolutely unknown to the world."

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज

जगत्पूज्य-गुरूदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।



ृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुत : ।
ङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ॥ १ ॥

प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने तप, जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन में निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया। साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया-ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया। एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना हैं श्री अभिधान राजेन्द्र कोश। इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनों को युगों युगों के लिये अद्‌भूत प्रेरणा प्रदान की है।

वीसवीं शताब्दी के संध्याकाल में इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म. प्र) से प्रकाशित की गई थी। प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था। विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी इस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे। अ. भा श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीभांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस में इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ।

इस महान कार्य मे परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का श्रम साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ हैं।

वर्षों के बाद पुनः एक वार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। इस के पुनः प्रकाशन मे परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानंदविजयजी, मुनिश्री जयरत्नविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी मण्डल की ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं:

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-अहमदावाद के ट्रस्टी मण्डल का भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग मिला है।

इस प्रकाशन मे हमें जिन जिन ग्राम नगरों के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उनका नाम निर्देश करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है।

उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार।

१ प्रवर्तिनी साध्वीजी गुरुणीजी प्रेमश्रीजी की शिष्या गुरुणीजी, रायश्रीजी की शिष्या साध्वीजी शिवश्रीजी की स्मृति मे विदुषी साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ।

२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज.)

३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढी, श्री भाण्डवपुर तीर्थ (राज)

४ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ गुजरात)

५ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद

६ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ धाधाल

७ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-सुराणा

८ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ-धानेरा

९ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ थराद जैन मित्रमण्डल, बम्बई।

१० श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ नेनावा (गुजरात)

११ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मेगलवा (राज.)

१२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ सियाणा (राज.)

१३ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ आकोली (राज.)

१४ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, राणीस्टेशन (राज)

१५ श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी जैन ट्रस्ट मद्रास

१६ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ वाघोडा (राजस्थान)

१७ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ इन्दौर

१८ श्री मांडवपुर मोहनखेडा तीर्थ छ'रीपालक संघ समिति

१९ श्री राजेन्द्र जैन तपागच्छ संघ भीनमाल

२० श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मंदिर सुरत (थराद मित्र मंडळ)

२१ श्री जैन श्वेताबर त्रिस्तुतिक संघ, महीदपुररोड (म प्र)

२२ श्री यतिन्द्रसूरि जैन ज्ञान मंदिर, बामनिया (म प्र)

२३ श्री शांतीनाथजी गोडीदासजी जैन पेढी कुक्षी (म प्र)

२४ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मंदिर उज्जैन (म प्र)

२५ श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेतांबर संघ रतलाम

२६ श्री जैन श्वेताबर त्रिस्तुतिक संघ, कोशेलाव

२७ श्री थराद जैन युवक संघ, आणंद

२८ श्री भेंसवाडा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)

२९ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जीवाणा (राज)

३० शाह नेमिचन्द, देवीचन्द, मीश्रीमल, कान्तिलाल, शुकनराज, फूलचन्द, राजु बेटापोता श्री लखमाजी बलदरिया, फोशेलाव (राज.)

३१ श्री मांगीलाल, फुटरमल, शांतिलाल किशोरचन्द्र बेटापोता शेषमलजी खसाजी रामाणी, गुडाबालोतान् (राज)

३२ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज.)

३३ श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म. प्र.)

३४ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणी वासणावाला, धानेरा (गुजरात)

३५ शा जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, वीरचंद, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, बेटापोता केनाजी मेंगलवा, (राजस्थान)

३६ श्री अमरचन्द देशमल, तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात धाणसा

३७ शाह मगराज सुखराज एन्ड कं मद्रास

३८ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी बेटापोता हांसाजी रतनपुराबोरा, मोदरा (राज)

३९ कुंदनमल सुरेशकुमार जगदीशकुमार बेटापोता मिश्रीमल नथाजी बागरेचा, आहोर

४० कुसलराज भूरमलजी बूटा, आहोर (राजस्थान)

४१ चौधरी गेंदालाल गुलाबचन्दजी की धर्मपत्नी लीलाबहन सुपुत्र अशोककुमार, भाई मोतीलालजी, रिंगणोद

४२ कोठारी निर्मलाबेन धर्मपत्नी कोठारी सागरमलजी रंगलालजी छोटी सादडी वाला, उज्जैन

४३ श्री जेठमलजी सरेमलजी भीनमाल

४४ श्री सोहनराज डुंगरजी भीनमाल

४५ संघवी गगलदास हालचंदभाइ और संघवी भीखालाल मणीलाल अहमदाबाद

४६ शाह शांतीभाइ तालचंदजी के सुपुत्र
केवलचंद, सुरेशकुमार, महेन्द्रकुमार, दिनेशकुमार, रमेशकुमार बेटापोता
छोगाजी कासमगोत्रा राठोड हरजी (राजस्थान)

इन के अतिरिक्त गाँव नगरों के महानुभावोंने लाभ लिया है उन के नाम हैं.

भीनमाल, जोधपुर, मेंगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, मांडवला, धाणसा, आहोर, बाग, राणकपुर, उज्जैन, मेघनगर, जावरा, मेंसवाडा, सुरा, सियाणा, कोमता, सुराणा, दाधाल, रेवतडा, उनडी, पांथेडी, बम्बई, सुमेरपुर, साचोर, तखतगढ, कोशेलाव, थराद, अहमदाबाद, लोवाणा, दूधवा, आणंद, बासणा, डीसा, लाखणी, वामी, धानेरा, कलोल, झाबुआ, टांडा, पारा, राजकोट, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है, शुभम् ।

निवेदक

श्री अभिधान राजेन्द्र कोषप्रकाशन संस्था
अहमदाबाद

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चौक
पो. अहमदाबाद
२०४२ पोष सुद ७ (गुरुसप्तमी)

प्रासंगिक वक्तव्य

विश्वविख्यात अर्धमागधी प्राकृत महाकोश 'श्री अभिधान राजेन्द्र' की संरचना अपने आप मे एक भगीरथ कार्य है। इस कोश का निर्माण करके विश्वपूज्य प्रातःस्मरणीय प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने जैन जगत के साथ विश्वस्थ विद्वद् जगत पर महानतम उपकार किया है। विश्व मे व्याप्त इस अलौकिक रचनाने गुरुदेवश्रीको विश्व पूज्यता प्रदान की है। श्रीमद् का नाम आज विश्वपुरुषो की श्रेणी मे गिना जाता है।

कोश के प्रथम संस्करण के संशोधक पूज्यपाद गुरुदेव श्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने लिखा है—

'अभिधान राजेन्द्र' सुकोश रचा,
जैन जैनेतर सब ही को जँचा।
विद्वानी जगजाहिर हुयी,
यश पाया राजेन्द्र सूरिवरने ॥

विश्व के विभिन्न देश-प्रदेशों के अनेक विद्वानोने इस कोश की भूरि भूरि प्रशंसा की है। वे इस कोश को अपना महाप्राण मानते है।

जितना बृहद्-कार्य यह कोश है, उतना ही भगीरथ कार्य इसका प्रकाशन भी है। यह विपुल अर्थसाध्य और अपार कष्ट-साध्य है। इसकी प्रथमावृत्ति श्री जैन श्वेतांबर त्रिस्तुतिक संघ के विपुल अर्थ सहयोग से हमारे परम उपकारी साहित्य विशारद विद्याभूषण पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज एवं व्याख्यान वाचस्पति गंभीर गणनायक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के संशोधकत्व मे श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रचारक संस्था रतलाम से प्रकाशित हुई थी।

समय बीतता गया और धीरे धीरे इसकी सब प्रतियां समाप्त हो गयी। ग्रंथ अप्राप्य हो गया, पर इसकी माँग बराबर बनी रही। बढती हुई माँगने हमे इस कोश की द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करने की प्रेरणा दी, अतः अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ के आर्थिक सहयोग से अब यह दुर्लभ ग्रंथ पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। यह महाकोश जैन संघ की अपूर्व धरोहर है और राष्ट्र की असाधारण निधि है।

इस द्वितीयावृत्ति के प्रकाशन के पुनीत अवसर पर हम पूज्यपाद तीर्थप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज जो गुरुदेव श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के प्रतिभा संपन्न शिष्य हैं और गुरू गच्छ के प्रथम पट्टधर हैं—का स्मरण करना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इस महाकोश की द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करने की प्रेरणा और शक्ति हमें उन पूज्यपादश्री के द्वारा प्राप्त हुई है। उन्होंने ही हमारे मनोबल और संकल्प बल को बढावा दिया है।

साथ ही संयमवयःस्थविर मुनिराज श्री शांतिविजयजी महाराज आदि मुनिडमंल तथा विदुषी साध्वी श्री गंभीरश्रीजी, साध्वीजी श्री लावण्यश्रीजी आदि साध्वी मंडल के द्वारा जो सहयोग हमें प्राप्त हुआ है, वह अविस्मरणीय है ।

इसी के साथ थराद निवासी और अहमदाबाद के व्यवसायी परम गुरुभक्त जैनरत्न श्रेष्ठिवर्य श्री गगलदास हालचन्द्रभाइ का स्मरण करना भी हम अपना कर्त्तव्य समझते है ? उनका अथक श्रम इस प्रकाशन के पीछे रहा हुआ है !

श्रीमान गगलभाइ लगभग पचास वर्ष से श्री संघ की विभिन्न गतिविधियों में भाग ले कर तन-मन-धन से अपना सक्रिय सहयोग समय समय पर देते रहे हैं !

दयानिधि परमपूज्य गुरुदेव श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के सान्निध्य में मनाये गये श्रीमद् राजेन्द्रसूरि अर्द्ध शताब्दी उत्सव(मोहनखेडा तीर्थ) में उत्सव समिति के अध्यक्ष पद का कार्य भार निष्ठापूर्वक सम्हाल कर आपने अपना अपूर्व योगदान दिया है।

अखिल भारतीय श्री राजेन्द्र जैन सभा के अध्यक्ष पद के अतिरिक्त श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अहमदाबाद के अध्यक्ष पद, अखिल भारतीय सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय संघ के अध्यक्ष पद, श्री सुवर्णगिरि तीर्थ ट्रस्ट के अध्यक्ष पद, श्री यतीन्द्र भवन जैन धर्मशाला पालीताणा के अध्यक्ष पद एवं श्री जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ थराद के ट्रस्टी पद पर रह कर आप अपना अपूर्व योगदान सदा देते रहे हैं । श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन श्वेतांबर पैढी श्री मोहनखेडा तीर्थ के आप प्रमुख ट्रस्टी हैं ।

परमपूज्य गुरुदेव श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से श्रमण संघ की अध्यापन व्यवस्था मे भी आपने अपना असाधारण योगदान दिया हैं । श्री संघ के विकास कार्यों इस प्रकार से सक्रिय सहयोग देने वाले श्रेष्ठिवर्य श्री गगलदासभाई के हम बहुत आभारी हैं ।

इस कोश के प्रकाशन मे हमे आपका अविस्मरणीय सहयोग प्राप्त हुआ हैं । इसी प्रकार श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ ट्रस्ट के ट्रस्टी बंधुओं से भी हमें जो सहयोग प्राप्त हुआ है, वह अविस्मरणीय हे । हम उन सबके आभारी हैं ।

यद्यपि इस कोश के द्वितीय प्रकाशन में सब प्रकार से सावधानी रखी गयी है, फिर भी यदि किसी प्रकार की कोई त्रुटि रह गयी हो, तो उसके लिए हम हार्दिक क्षमायाचना करते हैं । शुभम्

—प्रकाशक



प्रशान्त वपुष श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

विद्यालङ्करणं सुधर्मशरणं मिथ्यात्विनां दूषणं,
विद्वन्मण्डलमण्डनं सुजनता सद्बोधिबीजपदम् ।
सच्चारित्रनिधिं दयाभरविधिं प्रज्ञावता-मग्रिमम्,
जैनानां नवजीवनं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ १ ॥
धुर्य्यो यो दशसंख्यकेऽपि यतिनां धर्मे दृढः संयमे,
सत्वात्मा जनतोपकारनिरतो भव्यात्मनां बोधकः ।
शास्त्राणां परिशीलने दृढमतिर्ध्यानी क्षमावारिधि-
स्तं शान्तं करुणावतार-मनिशं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ २ ॥
वाणी यस्य सुधासमाऽतिमधुरा दृष्टिर्महामञ्जुला,
संवृत्या सुखशान्तिदा खलु सदाऽन्यायादिदोपापहा ।
बुद्धिर्लोकसुखानुचिंतनपरा कल्याणकर्त्री नृणां,
लोके सुप्रथिताऽस्ति तं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ३ ॥
यः कर्त्ता जिनबिम्बकाञ्चनशलाका नामनेकाऽऽत्मना,
मूर्तिश्चापि जिनेश्वरस्य शतशः प्रातिष्ठिपन्मन्दिरे ।
जीर्णोद्धारमनेकजैननिलयस्याचीकरच्छ्रावकै-
स्तं सत्कार्यकरं मुदा गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ४ ॥
लोके यो विहरन् सदा स्ववचनैर्वैरं मिथो देहिनां,
दूरीकृत्य सहानुभूतिरुचिरा मैत्रीं समावर्धयत् ।
मूढांश्चापि हितोपदेशवचसा धर्मात्मनः संव्यधाद्,
देशोपद्रवनाशकं तमजित राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ५ ॥
यो गङ्गाजलनिर्मलान् गुणगुणान् संधारयन् वर्णिराड्,
यं यं देशमलञ्चकार गरनैस्तं तं त्वपायीन्मुदा ।
सच्छास्त्रामृतवाक्यवर्षणवशाद् मेघव्रतं योऽधरन्,
तं सज्ज्ञानसुधानिधिं कृतिनुतं रानेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ६ ॥
तेजस्वी तपसा प्रदीप्तवदनः सौम्योऽतिवक्ताचलः,
शास्त्रार्थेषु परान् विजित्य विविधैर्मानैस्तथा युक्तिभिः ।
शिष्यास्तानकरोत्स्वधर्मनिरतान् यो ज्ञानसिन्धुः प्रभु-
स्तं सूरिप्रवरं प्रशान्त-वपुषं राजेन्द्रसूरिः नुमः ॥ ७ ॥
लोकान्मंदमतीन्स्वधर्मविमुखप्रायान् बहून् वीक्ष्य यो,
जैनाचार्यनिबद्धसर्वनिगमानालोडच बुद्धया चिरम् ।
मर्त्यान् बोधयितुं सुखेन विशदान् धर्मान्महामागधी-
कोशं संव्यतनोत्तमच्छमनसा राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ८ ॥
गुरुवरगुणराजिभ्राजितं सारभूतं,
परिपठति मनुष्यो योऽष्टकं शुद्धमेतद् ।
अनुभवति स सर्वां सम्पदं मानावाना-
मिति वदति मुनीशो वाचको मोहनाख्यः ॥ ९ ॥

—उपाध्याय श्री मोहनविजयजी महाराज

द्वितीयावृत्ति

प्रस्तावना



अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है; परन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान मे समाविष्ट है।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अन्धेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वय को डुबो दे। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।'

(संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते है।)

जिनागम मे अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान मे रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनों अलग अलग होते है तब मिट्टी मिट्टी रुप मे और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता हैं। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। [ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों मे रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती है। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति मे है; ऐसे संसारी जीवों का ये कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं

ज्ञानावरणीय कर्म आँखो पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आँखो पर कपडे की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल मे प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव मे आकण्ठ डुबो देता है; अत जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है, पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पडता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरुप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरुप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत वादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग मे रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन मे आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममे विद्यमान है; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन मे जकडे हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन मे ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया मे अटकाये रखा है।

और बेडी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेडी लगा दी है; जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेडी टूटती है, तो दूसरी पुन. तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नही होता, इसी प्रकार जब तक जीव को जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नही होती, तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति में भ्रमण करने विविध जीवो को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक गति मे भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है । कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बडे बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है । गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र मे जन्म धारण करना पडता है ।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है-राजा के खजाँची के समान । खजाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजाँची के हाथ मे होती है, अतः खजाने मे से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता । यही कार्य अन्तराय कर्म करता हैं । इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। (दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्मशक्ति) के विषय मे अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता)। संक्षेप मे यह है जैन दर्शन का कर्मवाद ।

इसी प्रकार जिनागमों मे आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास मे परम सहायक हैं । द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है । आत्म कल्याण की कामना करनेवालों के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है ।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं । ['सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज ।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि . ...धम्मं सरणं गच्छामि ।' और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि । इन तीनों पक्षो के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है]। इस धर्म मे प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है । जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है । अन्य समस्त धर्म दर्शनो मे जीव को परमात्मप्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन मे परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरुप ही माना गया है । यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है ।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है । प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्यादवाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है ।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव मे जिनागमो का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था । विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके ।

ऐसे समय मे एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया । वे दिव्य पुरुष थे-उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज । उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया मे अपने हाथ मे लिया । कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत मे कुञ्जी बन कर तैयार हो गयी । वह कुञ्जी है-'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास मे हो तो और कोई ग्रन्थ पास मे रखने की कोई आवश्यकता नहीं है । जैनागमों मे निर्दिष्ट

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' मे है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नही हैं, वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति मे इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश मे वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' मे और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' मे भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में है।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धन्वन्तरी का निघण्टु; इनमे से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों मे अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक हैं और एकार्थक शब्दों का बोध कराता हैं। इसमे ९९८ शब्दो के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते हैं—जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दो निर्माण होता है।

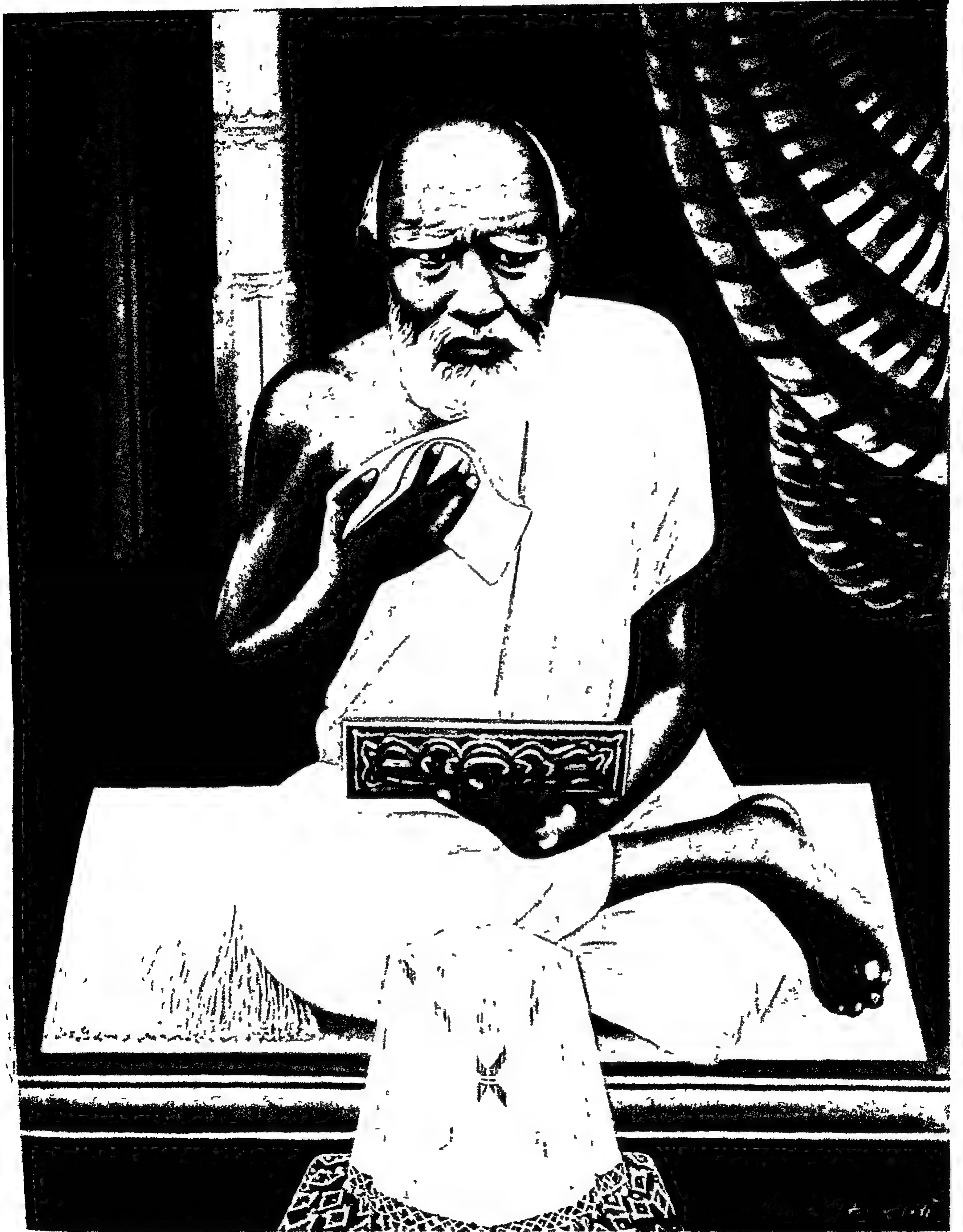
इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारदीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी–नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्व्यक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये है।

इनमे से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए है और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताए प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चाचक्रवर्त्ति–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य–
श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।



विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ।। १ ।।

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमागधी प्राकृत में की गई है। इस महाकोश मे श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म 'अ' कारादि क्रम से समझाया है; यह इस महाग्रन्थ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रुप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है, इसके अलावा उस शब्द के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमें व्यापकता भी है जैनधर्म-दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्याद्वाद, ईश्वरवाद सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानवे सन्दर्भ ग्रन्थ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ साथ यह सुविशाल भी हैं। सात भागों मे विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजी पृष्ठों मे विस्तारित है। इसमे धर्म-संकृति से संबंधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्याख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्ट-सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सातों भागों के यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे; तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पडेगा।

इस महाग्रन्थ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने मे यह महा ग्रन्थ लिखा गया; उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी नहीं किया। कहते है, वे कपड़े का एक छोटा सा टुकडा स्याही से तर कर देते थे और उसमे कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। चातुर्मास काल के अलावा वे सदैव विहार-रत रहे। मालवा, मारवाड, गुजरात के प्रदेशो मे उन्होने दीर्घ विहार किये; प्रतिष्ठा-अंजनशलाका, उपधान. संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य संपन्न किये; जिज्ञासुओं की शकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक सन्ताप भी सहन किये। साथ साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति मे केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस 'जैन विश्वकोश' का निर्माण हुआ; यह एक महान आश्चर्य है। इस महाग्रन्थ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी मे प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेवसूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं—आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमाने में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है; इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न होता है; क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और उस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने अमल भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौनसी है; तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा; जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने को हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चातुर्मास मे हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमे यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान मे इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो, तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले मे सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण मे बसे हुए दूर दूर के हजारो श्रद्धालुओं ने इस चातुर्मास मे मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास मे गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन मे पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यो की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति मे 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्यांकन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमे आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमे यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थगिति सबके लिए दुःखद थी, पर मै मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया-दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओंने .... । उन्होने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा, व्यवसायियों के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति मे यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनो के भक्तिभाव की स्वर लहरियो से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारम्भ हुआ । संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा । श्री संघने हार्दिक प्रसन्नता व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी । परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित हो कर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है; यह हम सब के लिए परम आनन्द का विषय है ।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है, फिर भी इस प्रकाशन मे अपना अमूल्य योगदान देनेवाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ. भा. सौ. बृ. त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकर्ताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता । इनकी सेवाए सदा स्मरणीय है ।

इस कार्य में हमे पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है। प्रेसकार्य, प्रूफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमे उनसे अनमोल सहायता मिली है । हम उन्हें नही भूल सकते ।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गयी हैं । वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है । शुभम् ।

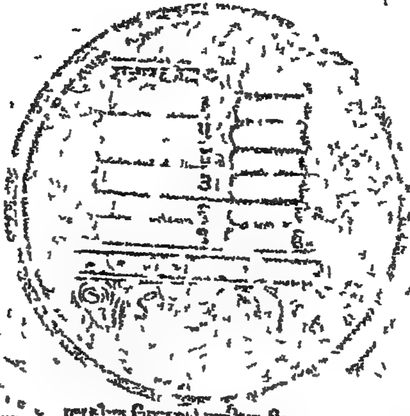
नेनावा (बनासकांठा)
दिनांक २-१२-८५

आचार्य जयन्तसेनसूरि

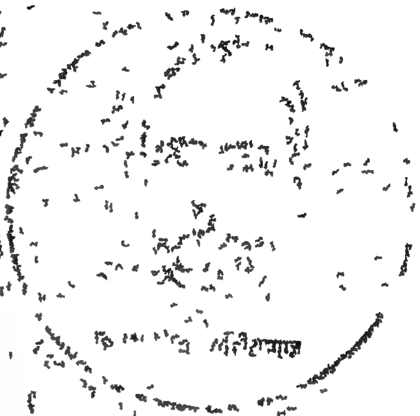
-

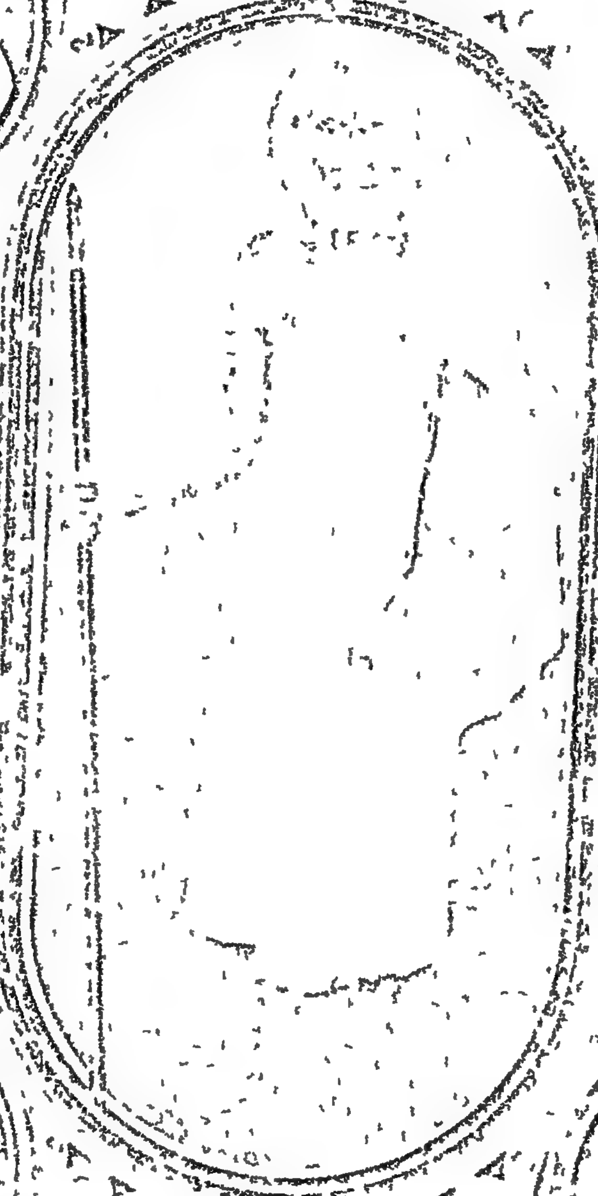
श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक
१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ श्रीसंभूतविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामी
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ श्रीआर्यसुहस्तीसूरि / श्रीआर्यमहागिरि
९ श्रीसुस्थितसूरि / श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवामन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ श्रीयशोभद्रसूरि / श्रीनेमिचन्द्रसूरि
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ श्रीसोमप्रभसूरि / श्रीमणिरत्नसूरि
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरि / श्रीविद्यानन्दसूरि
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० श्रीविजयदेवसूरि / श्रीविजयसिंहसूरि
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ वर्तमानाचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि

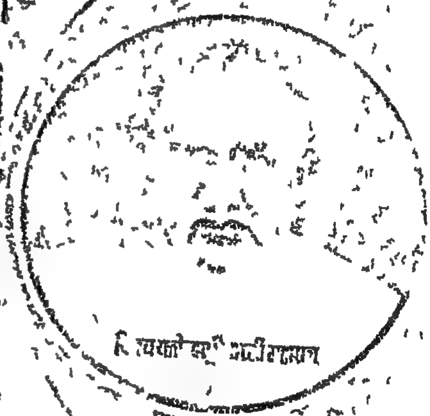




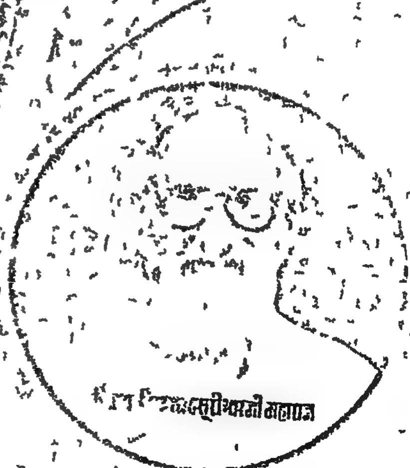


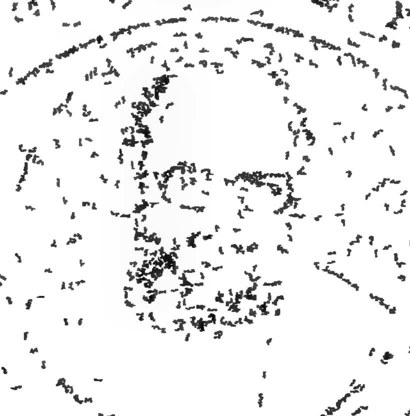












आभार-प्रदर्शनम् ।



सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रियाशुद्ध्युपकारक-श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत-मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

ग्वालियर-रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बड़े ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक-मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महा-कोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-भागीरथजी, वीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिन्टिंगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त–भार मर्हुम–गुरुदेव के सुयोग्य–शिष्य–मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य–मुनिराजों की देख–रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र–वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी–कलिकालसिद्धान्तशिरोमणी–प्रातःस्मरणीय–आचार्य–श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय–श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री–मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक–मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्–महातपस्वी–मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज; साहित्यविशारद–विद्याभूषण–श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय–मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी–मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री–लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री–गुलाबविजयजी, मुनिश्री–हर्षविजयजी, मुनिश्री–हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम–नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन–कार्य में आर्थिक–सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ–सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ–मालवा—

श्रीसंघ–रतलाम।	श्रीसंघ–बाँगरोद।	श्रीसंघ–राजगढ़।
„ जावरा।	„ बारोदा–बड़ा।	„ झाबुआ।

श्रीसंघ-बड़नगर ।	श्रीसंघ-सरसी ।	श्रीसंघ-झकणावदा ।
,, खाचरोद ।	,, मुंजाखेड़ी ।	,, कूकसी ।
,, मन्दसोर ।	,, खरसोद-बड़ी ।	,, आलीराजपुर ।
,, सीतामऊ ।	,, बीरोला-बड़ा ।	,, रींगनोद ।
,, निम्बाहेड़ा ।	,, मकरावन ।	,, राणापुर ।
,, इन्दौर ।	,, बरड़िया ।	,, पारां ।
,, उज्जैन ।	,, (भाट)पचलाना ।	,, टांडा ।
,, महेन्दपुर ।	,, पटलावदिया ।	,, बाग ।
,, नयागाम ।	,, पिपलोदा ।	,, खवासा ।
,, नीमच-सिटी ।	,, दशाई ।	,, रंभापुर ।
,, संजीत ।	,, बड़ी-कड़ोद ।	,, अमला ।
,, नारायणगढ़ ।	,, धामणदा ।	,, बोरी ।
,, बरड़ावदा ।	,, राजोद ।	,, नानपुर ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद ।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद) ।	श्रीसंघ-डीसा ।
,, वीरमगाम ।	,, वाव ।	,, दूधवा ।
,, सूरत ।	,, भोरोल ।	,, वात्यम ।
,, साणंद ।	,, धानेरा ।	,, वासण ।
,, बम्बई ।	,, धोराजी ।	,, जामनगर ।
,, पालनपुर ।	,, डुवा ।	,, खंभात ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

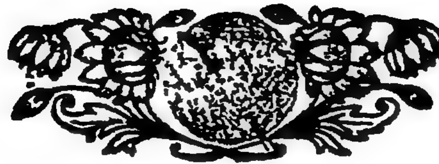
श्रीसंघ-जोधपुर ।	श्रीसंघ-भीनमाल ।	श्रीसंघ-शिवगंज ।
,, आहोर ।	,, सांचोर ।	,, कोरटा ।
,, जालोर ।	,, बागरा ।	,, फलापुरा ।
,, भैंसवाड़ा ।	,, धानपुर ।	,, जोगापुरा ।
,, रमणिया ।	,, आकोली ।	,, भारुंदा ।
,, मांकलेसर ।	,, साथू ।	,, पोमावा ।
,, देवावस ।	,, सियाणा ।	,, बीजापुर ।
,, विशनगढ़ ।	,, काणोदर ।	,, बाली ।
,, मांडवला ।	,, देलंदर ।	,, खिमेल ।

श्रीसंघ-गोल।	श्रीसंघ-मंडवारिया।	श्रीसंघ-सांडेराव।
,, साहेला।	,, बलदूट।	,, खुडाला।
,, आलासण।	,, जावाल।	,, राणी।
,, रेवतड़ा।	,, सिरोही।	,, खिमाड़ा।
,, धाणसा।	,, सिरोड़ी।	,, कोशीलाव।
,, बाकरा।	,, हरजी।	,, पावा।
,, मोदरा।	,, गुडाबालोतरा।	,, एंदला का गुड़ा।
,, थलवाड़।	,, भूति।	,, चाँणोद्।
,, मँगलवा।	,, तखतगढ।	,, कूडसी।
,, सूराणा।	,, सेदरिया।	,, थाँवला।
,, दाधाल।	,, रोवाडा।	,, जोयला।
,, धनारी।	,, भावरी।	,, काचोली।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद् मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)





श--श--पुं० । तालुस्थानीये ऊष्मसञ्ज्ञके वर्णे, मागध्याम् शौरसेन्याञ्च शस्य श एव प्राकृते तु स । शी--ड । महादेवे, शब्द० । सूर्ये, शशाङ्के, रश्मौ, महार्णवे, शिष्ये, वल्मीके, कच्छपे, भूपे च । स्वस्त्यर्थे, शातने, तनूकृतौ, शीते, सुखे, मङ्गले, शस्त्रे च । नपुं० । एका० । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति मागध्यां सकारस्थाने शकारादेशेन ये सकारादिशब्दा प्राकृते दर्शयिष्यन्ते ते मागध्या शकारादित्वेन स्वयमभ्यूह्याः । प्रा० ४ पाद ।

शलिश--सदृश--त्रि० । प्राकृतशैल्या सदृशस्थाने सरिसं । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति उभयत्र शः । रस्य लः तुल्ये, "शलिशं णिमं" प्रा० ४ पाद ।

शस्तवाह--सार्थवाह--पुं० । "स्थ-र्थयो स्त." ॥ ८ । ४ । २९१ ॥ इति र्थभागस्य सकाराक्रान्तस्तकारः । सार्थाधिपतौ, प्रा० ४ पाद ।

शस्यकवल--शस्यकवल--पुं० । " सषोः-संयोगे सोऽग्रीष्मे " ॥ ८ । ४ । २८९ ॥ इति मागध्यामूर्ध्वलोपापवादः स स्थाने स एवादेशः । शस्यरूपे कवले, प्रा० ४ पाद ।

शामञ्ञ सामान्य--न० । "न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः" ॥८।४।२९३॥ इति न्यस्थाने द्विरुक्तो ञ्जकारः । अविशेषे, प्रा०४ पाद ।

शालश--सारस--पुं० । "रसोर्लशौ" ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इत्युभयत्र सस्य शः रस्य लः । स्वनामख्याते पक्षिणि, प्रा०४ पाद।

शुद--श्रुत--न० । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८।२।७९॥ इति रलुप्। शेषं सौरसेनीवत् " ॥ ८ । ४ । ३०२ ॥ इति न्यायात्तस्य दः । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति पुनस्सस्य शः । आगमे, प्रा० १ पाद ।

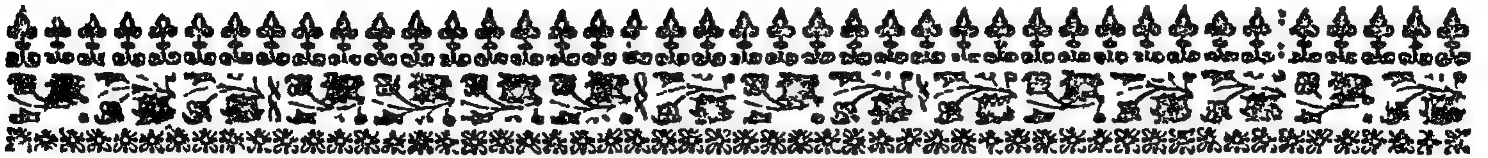
सुपलिगढिद--सुपरिग्रथित--त्रि० । अत्यन्तमाबद्धे, " अम्महे एआए शुम्मिलाए सुपलिगढिदे भवं " प्रा० ४ पाद ।

शुस्क--शुष्क--त्रि० । "शषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे" ॥८।४।२८९॥ अनेन षकारस्य सकारादेशः। शुस्कं । शोषमुपगते,प्रा०४पाद।

शुस्तिद--सुस्थित--त्रि० । स्थ-र्थयोस्तः ॥८ । ४ । २९१॥ इत्यनेन स्थभागस्य स्तः । सुखेन स्थिते, प्रा० ४ पाद ।

शोभन--शोभन--त्रि० । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति प्राकृतलक्षणसम्पन्नस्य शस्य मागध्यां शः । शोभाकारिणि, प्रा० ४ पाद । किं खु शोभणे बम्हणे शित्तिकलिअ लज्जापलिग्गहे दिंधे । प्रा० ।

—०:०:०—





इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
शकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

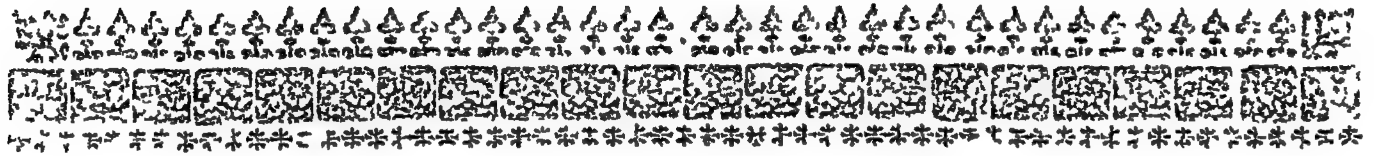




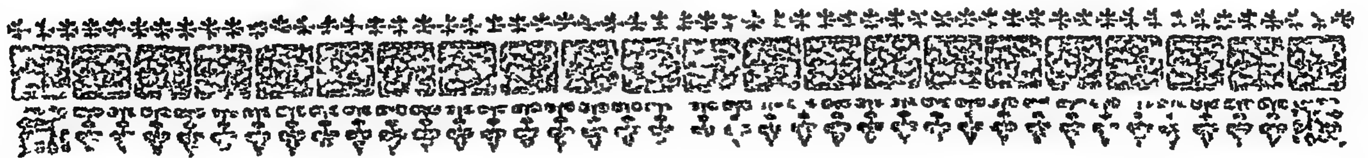


ष–पुं० । मूर्द्धस्थानीये ऊष्मसञ्ज्ञके वर्णे, एका० । षो–क । न्त्वम् । केशे, गर्भविमोचने, मानवे सर्वश्रेष्ठे विधे च । त्रि० । मेदिनी । ध्वनिरोपे, अपवर्गे, प्रहरे, स्तनौ, वेगसि, षड्ऊर्म्मिरहिते, सुखदु सत्तमे अनित्ये, नृपोत्तमे च । पु० । नृपस्यन्त्या सत्या च । स्त्री० । नार्य्याश्लेषे, मुखे, पण्डिते, जालके, भेषजे च । नपुं० । एका० । "षोऽतिरोपेऽपवर्गे च, प्रहरे, सानुवेधस्तो. ॥ १ ॥ नार्याश्लेष मुखे च स्या–त्पाण्डितेऽपि च–सान्तम् । च–भिरहिते च स्या–ज्जालके भेषजे च षम् ॥१०॥ सुखदु त्तमम षो ना, नृपस्यन्ती सती च षा ॥११॥ ' एका० । निर्दिन, पारोक्ष, विमव च । पु० । तुंग, श्रेष्ठ० । स्मायाम, स्त्री० । अवस्थाने, गर्भमोक्षे, मर्षणे च । नपुं० । श्रेष्ठार्थे, त्रि० । एका० । " षकारस्तिरिव पुंसि, परोक्षे विनय नरा । षम–व्यय सुरे स्यान्नी, स्मायां षा नपुंसके ॥ ८९ ॥ अवस्थाने गर्भमोक्षे, मर्षणे च निरूप्यते । विशेष्यानघ्न ष शब्द श्रेष्ठार्थे समुदाहृत ॥ ९० ॥ एका० । (संस्कृतभिन्नासु भाषासु प्राय न षादय शब्दाः सम्भवन्ति ' सर्वत्र ' " शषो स " ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति । अनन्त सांदशादिति षादय शब्दा अत्राभिधानेऽनुदाहार्या ।) (बहुलम् ॥ ८ । १ । २ ॥ इत्यधिकारात्प्राकृतसर्वसूत्राणां वैकल्पिकत्वेऽपि षकाराभाव प्राय प्राकृतशब्देषु । मागध्याम्–" तिष्ठश्चिष्ठ " ॥८।४।२९८॥ इति चिष्ठा देशे षकारमध्य दृश्यते । चिष्ठा । चिष्ठदि । प्रा० ४ पाद ।)





इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक–जैन श्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००८ श्री-
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
षकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।







स-स-पु० । दन्तस्थानीये ऊष्मसंज्ञके वर्णे, सो-ड-विष्णौ, सर्पे, ईश्वरे, विहगे च । शब्द० । साकारे, गौरीपुत्रे, प्रभञ्जने, धर्म्महंतौ च । देहकान्त्यां, श्रिया च । स्त्री० । एका० । सोमे, सोमपाने, सूर्ये, पक्षिणि, तापसे, वृपे सदानन्दे च । पु० । वने, धने, यौवने, वस्तुवृन्दे च । नपु० । एका० । समासे साहित्यार्थस्य सहशब्दस्य स्थाने साऽऽदेशः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । तच्छब्दस्य प्रथमैकवचनेन स इति निर्देशे, नि० चू० १ उ० । दश० ।

तत्र सकारनिक्षेपमाह—

नामं ठवणसयारो, दव्वे भावे अ होइ नायव्वो ।
दव्वे पसंसमाई, भावे जीवो तदुवउत्तो ॥ ३२८ ॥

नामसकारः सकार इति नाम, स्थापनासकारः सकार इति स्थापना, द्रव्ये भावे च भवति ज्ञातव्यः—द्रव्यसकारो भावसकारश्च । तत्र द्रव्य इत्यागम नोआगम-ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्तः प्रशंसाऽऽदिविषयो द्रव्यसकारः । भाव इति भावसकारो जीवः तदुपयुक्तः—सकारोपयुक्तः तदुपयोगानन्यत्वादिति गाथाऽर्थः ।

प्रकृतोपयोगीत्यागमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीराऽतिरिक्तं प्रशंसादिविषयं द्रव्यसकारमाह—

निद्देसपसंसाए, अत्थीभावे अ होइ उ सगारो ।
निद्देसपसंसाए, अहिगारो इत्थ अज्झयणे ॥ ३२९ ॥

निर्देशे प्रशंसायामस्तिभावे चेत्येतेष्वर्थेषु भवति तु सकारः । तत्र निर्देशे यथा-सोऽनन्तरमित्यादि, प्रशंसायां यथा सत्पुरुष इत्यादि, अस्तिभावे यथा—सद्भूतमसुकमित्यादि । तत्र निर्देशप्रशंसायामिति—निर्देशे प्रशंसायां च य सकारस्तेनाऽधिकारोऽस्याध्ययने प्रक्रान्त इति गाथाऽर्थः ।

एतदेव दर्शयति—

जे भावा, दसवेआ-लिअम्मि करणिज्ज वण्णिआ जिणेहिं ।
तेसिं समावणम्मि ति, जो भिक्खू भन्नइ स भिक्खू ॥३३०॥

ये भावाः—पदार्थाः पृथिव्यादिसंरक्षणादयो दशवैकालिके प्रस्तुते शास्त्रे करणीयाः—अनुष्ठेयाः वर्णिताः—कथिताः जिनैः—तीर्थकरगणधरैः, तेषां भावानां समापने—यथाशक्त्या (क्ति) द्रव्यतो भावतश्चाऽऽचरणेन पर्यन्तनयनेन यो भिक्षुः—तदर्थं यो भिक्षणशीलो न तूदरादिभरणार्थं भण्यते स भिक्षुरिति । इतिशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः । 'स भिक्षु' रित्यत्र निर्देशे सकार इति गाथाऽर्थः ।

प्रशंसायामाह—

चरगमरुगाइआणं, भिक्खुवजीवीण काउणमपोहं ।
अज्झयणगुणनिउत्तो, होइ पसंसाइ उ स भिक्खू ॥३३१॥

चरकमरुकादीनामिति—चरकाः—परिव्राजकविशेषाः मरुकाः—धिग्वर्णाः आदिशब्दाच्छाक्यादिपरिग्रहः, अमीषां भिक्षोपजीविनां—भिक्षणशीलानामगुणवत्त्वेनापोहं कृत्वा अध्ययनगुणनियुक्तः—प्रक्रान्तशास्त्रनिष्यन्दभूतप्रक्रान्ताध्ययनाभिहितगुणसमन्वितो भवति, प्रशंसायामवगम्यमानायां सद्भिक्षुः—सश्चासौ भिक्षुश्च तत्तदन्यापोहेन सद्भिक्षुरिति गाथाऽर्थः । उक्तः सकारः । दश० १० अ० । वायुतत्त्वे, जै० गा० ।

स्व-न० । स्वन्—ड । धने, आत्मनि, ज्ञातौ च । पु० । आत्मीये, त्रि० । आत्मीये आत्मनि चार्थेऽस्य सर्वनामता । वाच० ।

सअंग-स्वाङ्ग-न० । शिरोऽधरादिषु स्वकीयेष्वङ्गेषु, " जहा कुम्मो सअंगाइं सए देहे समाहरे" सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सअंड-साऽण्ड-त्रि० । सह अण्डैर्वर्त्तत इति साऽण्डम् । कीटिकादीनाम् अण्डैः सहिते, दशा० २ अ० ।

सअट्ठ-स्वार्थ-पुं० । स्वप्रयोजने, " इह खलु गाहावई अप्पणो सअट्ठाए अगणिकायं उज्जालेज्ज वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

सार्थ-त्रि० । अर्थेन प्रयोजनेन सहितम् । एका० । अर्थसहिते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । सप्रयोजने, कल्प० ३ अधि० २ क्षण ।

सअट्ठिय-सास्थिक-त्रि० । सहास्थ्ना वर्त्तते इति सास्थिकः । अस्थ्ना सहिते, पञ्चा० १६ विव० ।

सअढ-शकट-पुं० । न० । शक—अटन् । यानभेदे, असुरविशेषे स्वल्पार्थे, वाच० । ' क—ग—च—ज—त—द—प—य—वां प्रायो लुक्' ॥ ८ । १ । १७७ ॥ अनेन ककारस्य लोपः । प्रा० । सअढ । " अवर्णो यश्रुतिः ॥ ८ । १ । १८० ॥ पूर्वोक्तसूत्रेण कस्य लुक्यनेन अवर्णो यश्रुतिकः । सअढ । " सटाशकटकैटभे ढः " ॥ ८ । १ । १९६ ॥ इत्यनेन टस्य ढः । प्रा० ।

सअण-स्वजन-पु० । " एकस्वरे श्व स्वे " ॥ ८ । २ । ११४ ॥ अत्रैकस्वरग्रहणाभावेऽस्मिन्नपि लक्ष्ये लक्षणस्य प्रवृत्तौ उत्त्वं स्यात् । सअणो । आत्मीय, प्रा० २ पाद ।

सअहुत्तं-शतकृत्वस्-अव्य० । शतवारशब्दार्थे, "कृत्वसो हुत्तं" ॥ ८ । २ । १५८ ॥ अनेन कृत्वसो हुत्तमादेशः । सअहुत्तं । प्रा० २ पाद ।

सइ-सकृत्-अव्य० । एकवारे, द्वा० १६ द्वा० । नि० चू० । सकृद्—एकवारम् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । व्य० । " असइ णीयागोए त्ति " । स इति संसार्यसुमान्—सकृदनेकशः उच्चैर्गोत्रमान् सत्कारार्हः उत्पन्न इति । शपस्तथा असकृन्नीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते पौनःपुन्येनोत्पन्न इति । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सर्वेष्वपि विशेषावश्यकमेषु द्रष्टव्य, न० । सकृदेकदा कर्कसकान्ताविन्यर्थः । स० १८ सम० ।

सदा-अव्य०। " इः सदादौ वा " ॥ ८ । १ । ७२ ॥ अनेनाकारस्येत्वम्। सर्वस्मिन् काले, प्रा० १ पाद।

स्मृति-स्त्री०। स्मरणं स्मृतिः। 'इत् कृपादौ" ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इत्यनेनादेः 'स्मृत इत्वम् । प्रा० । पर्वाऽनुभूतार्थालम्बनप्रत्ययविशेष, नं० । विशे० । उपयोगलक्षणे, सामायिकस्य स्मृत्यकरणे सामायिकस्य सम्बधिनी या स्मरणा-स्मृतिरुपयोगलक्षणा। आव० ६ अ०। संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारवेदनं स्मृतिः। स्था० २ ठा० ३ उ०। स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरम् । आचा० १ श्रु०१ अ० १उ०। सइ त्ति वा-मति त्ति वा पन्नत्ति वा सव्वमेयं आभिणिबोहिय एतेहिं एगट्ठिएहिं भणितं ति। आ० चू० १ अ० । वासनानन्तरं कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनादिकारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यज्ज्ञानमुदयते तदेवेदं यन्मया प्रागुपलब्धमित्यादिरूपं सा स्मृति । उक्तं च। नं०।-" तदनन्तरं तदत्था, विच्चवण जो उ वासणा जोगो । कालन्तरेण ज पुण, रणुसरणं धारणा सा उ ॥ २९१ ॥ " विशे०।

तथाऽनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः स्मृता (६)। द्वा० ११ द्वा०।

(व्याख्यातमिदम् 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६२१ पृष्ठे) अथैतेषु तावत् स्मरण कारणगोचरस्वरूपैः प्ररूपयन्ति-

तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ॥ ३ ॥

तत्रेति-प्राक्तनेभ्यः संस्कारप्रबोधसम्भूतत्वादिना गुणेन स्मरणं निर्धारयन्ति। संस्कारस्याऽऽत्मशक्तिविशेषस्य प्रबोधात् फलदानाभिमुख्यलक्षणात् सम्भूतमुत्पन्नमिति कारणनिरूपणम्। अनुभूत -प्रमाणमात्रेण परिच्छिन्नोऽर्थश्चेतनाऽचेतनरूपो विषयो यस्येति विषयव्यावर्णनम्। तदित्याकारं तदित्युल्लेखवत्। तदित्युल्लेखवत्ता चास्य योग्यताऽपेक्षयाऽऽख्यायि। यावता 'स्मरसि चैत्र! कश्मीरेषु वस्त्यामस्तत्र द्राक्षा भोक्ष्यामहे' इत्यादि स्मरणे तच्छब्दोल्लेखो नोपलक्ष्यत एव, किन्त्विदं स्मरणं तेषु कश्मीरेषु इति ता द्राक्षा इति तच्छब्दोल्लेखमर्हत्येव। न चैवं प्रत्यभिज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गः । तस्य स एवायमित्युल्लेखशेखरत्वात् । इति स्वरूपप्रतिपादनम् ॥ ३ ॥

अत्रोदाहरन्ति—

तत्तीर्थकरबिम्बमिति यथा ॥ ४ ॥

तदिति-यत् प्राक् प्रत्यक्षीकृतम्, स्मृतम्, प्रत्यभिज्ञातम्, विनार्कितम्, अनुमितम्, श्रुतं वा भगवतस्तीर्थकृतो बिम्ब प्रतिकृति तस्य परामर्शः, इत्येवं प्रकारं तच्छब्दपरामृष्टं यद्विज्ञान तत्सर्वं स्मरणमित्यर्थः । ये तु यौगाः स्मृतेरप्रामाण्यमभ्यगीषत न ते साधु व्यधिषत । यतो यत्तावत् केचिदनर्थजत्वादस्याः तदाम्नासिषु तत्र हेतुः, ' अभूत् वृष्टिरुदेष्यति शकटम् ' इत्याद्यतीतानागतगोचरानुमानेन सव्यभिचार इत्यनुचित एवोच्चारयितुम्। परे तु मेनिरे-न स्मृतिः प्रमाणम्, पूर्वाऽनुभवविषयोपदर्शनेनार्थं निश्चिन्वत्या अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात् । अनुमानज्ञानं तूत्पत्तौ परापेक्षम्, स्वविषये तु स्वतन्त्रमेव। स्मृतेरिव तस्मात्पूर्वाऽनुभवाऽनुसन्धानेनार्थप्रतीत्यभावात्। तदुक्तम्-"पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरिष्यते । पूर्वज्ञानादिना तस्याः, प्रामाण्यं नावगम्यते ॥ १ ॥ तत्र यत्पूर्वविज्ञानं,तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थानमात्रेण, स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥२॥" इति। तदपि न पेशलम्। स्मृतेरप्युत्पत्तिमात्रेऽनुभवसव्यपेक्षत्वात्, तदाहितसंस्कारात्तदुत्पत्तेः । स्वविषयपरिच्छेदे त्वस्याः स्वातन्त्र्यमेव। ननु नात्र स्वातन्त्र्यम्, अस्याः पूर्वानुभवभावितभावभासनायामेवाभ्युद्यतत्वात्। एवं तर्हि व्याप्तिप्रतिपादिप्रमाणप्रतिपन्नपदार्थोपस्थापनमात्रे प्रवृत्तेरनुमानस्यापि कुतस्त्या स्वातन्त्र्यसङ्गतिः। अथ व्याप्तिग्राहकेणानैयत्येन प्रतिपन्नास्तनूनपातो नैयत्यविशेषेणानुमानेन परिस्फुरणसम्भवात् कुतो न स्वातन्त्र्यमिति चेत्, तर्हि अनुभवे भूयो विशेषशालिन स्मरणे तु कतिपयैरेव विशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो भानात् कुतो नास्याऽपि तत् स्यात्। ननु तेऽपि विशेषास्तावदनुभूतौ प्रत्यभुरेव । अन्यथा स्मरणमेव तत्र स्यात् इति चेत्, नियतदेशोऽपि पावको व्याप्तिग्राहिणि प्रत्यभादेव। अन्यथाऽनुमानमेव तत्र स्यात् इति किन्न चेतयसे। अथ तत्र सर्वे सार्वदिकाः सार्वत्रिकाश्च पावकाः पुस्फुरु, अनुमाने तु स एवैकश्चकास्तीत्युक्तमिति चेत्, ननूत्तरमपि तत्रोक्तमेव मा विस्मार्षीः। ननु न सर्वत्रैव कतिपयविशेषावसायव्याकुलं स्मरणम्, क्वचिद्यावदनुभूतरूपादिविशेषमपि तस्योत्पत्तेस्ततस्तत्र का गतिरिति चेत्। नैवम्। नहि रूपादय एव विशेषा वस्तुनः, किन्तु अनुभूयमानताऽपि। न चाऽसौ स्मरणे काऽपि चकास्ति, तस्याऽपि प्राचीनानुभवस्वभावतापत्तेः। किन्त्वनुभूततैव भावस्य तत्र भाति। इति सिद्धमनुमानस्येव स्मरणस्याऽपि प्रामाण्यम्। न च तस्याप्रामाण्येऽनुमानस्याऽपि प्रामाण्यमुपपादि, सम्बन्धस्याप्रमाणस्मरणसन्दर्शितस्यानुमानाङ्गत्वात्, संशयितलिङ्गवत्। न च प्राक्प्रवृत्तसम्बन्धग्राहिप्रमाणव्यापारोपस्थापनमात्रचरितार्थत्वान्नास्य तत्र प्रामाण्येन प्रयोजनमिति वाच्यम् । अप्रमाणस्य तदुपस्थापनेऽपि सामर्थ्यासंभवात्। किञ्च-अर्थोपलब्धिहेतुत्वं प्रमाणलक्षणं लक्षयाचक्रुद्वे । तच्च धारावाहिप्रत्यक्षस्येवास्याप्यक्षूणमीक्ष्यत एवेति किमन्यैरसत्प्रलापैरिति ॥ ४ ॥ रत्ना० ३ परि० । सर्वेष्वपि विशेषावगमेषु द्रष्टव्ये, द्वा० १६ द्वा०। आव०। अनुभूतवस्तुन उद्बोधकसहकारेण संस्काराधीने ज्ञानभेदे, वाच०। (स्मृतिसंस्कारयोरानन्तर्य्यम् 'इस्सर' शब्दे द्वितीयभागे ६४१ पृष्ठे उक्तम्।)

सइअंतरद्धा-स्मृत्यन्तर्द्धा-स्त्री०। स्मृत्यन्तर्द्धाने, स्मृते -स्मरणस्य योजनशतादिरूपदिक्परिमाणविषयस्यान्तर्द्धा—भ्रंशः स्मृत्यन्तर्द्धा। पञ्चा० १ विव०। स्मृतेर्भ्रंशे यदन्तर्द्धानं तत् स्मृत्यन्तर्द्धानम्। किं मया परिगृहीतं कया वा मर्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमित्यर्थः। आ०। आव०।

सइअकरण-स्मृत्यकरण-न०। स्मृत्यन्तर्द्धाने,स्मृतेः-स्मरणस्य सामायिकविषयाया अकरणमनासेवनं स्मृत्यकरणम्। प्रबलप्रमादान्नैव स्मरति, यदुतास्यां वेलायां मया सामायिकं कर्त्तव्यं कृतं न कृतं वेति, स्मृतिमूलं च मोक्षानुष्ठानम्। पञ्चा० १ विव०। उत्त०।

सइअणोयारण--स्मृत्यनवतारण--न० । स्मृतेः सामयिककरणावसरविषयायाः कृत्यस्य वा सामयिकस्य प्रबलप्रमादयोगादनवतारणमनुपस्थापनं मया कदा सामयिकं कर्त्तव्यं कृतं वा मया सामयिकं नवेत्येवरूपे स्मरणभ्रंशे, ध० २ अधि० ।

सइआभास--स्मृत्याभास--पुं० । स्मरणाऽऽभासे, रत्ना० ।

अथ परोक्षाऽऽभासं विवक्षवः, स्मरणाऽऽभासं तावदाहुः—

अननुभूते वस्तुनि तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम् ॥३१॥

अननुभूते प्रमाणमात्रेणानुपलब्धे ॥ ३१ ॥

उदाहरन्ति—

अननुभूते मुनिमण्डले तन्मुनिमण्डलमिति यथा॥३२॥

रत्ना० ६ परि० ।

सइंगाल--साङ्गार--न० । चारित्रेन्धनधूमाङ्गारमिव यः करोति भोजनविषयरागाग्निः सोऽङ्गार एवोच्यते तेन सह यद्वर्तते पानकादि तत् साङ्गारम् । अङ्गारदोषविशिष्टे, भ०६श०७उ० । " रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं ति ग्रेयव्वं " महा० ३ अ० ।

सइंदिय--सेन्द्रिय--पुं० । इन्द्रियपर्य्याप्ते , स्था० २ ठा० २ उ० । संसारिणि च । स्था० २ ठा० १ उ० । ('अणिंदिय' शब्दे प्रथमभागे ३३४ पृष्ठे दण्डक उक्तः ।)

सइकरण--स्मृतिकरण--न० । स्मृत्युत्पादे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सइकाल--स्मृतिकाल--पुं० । स्मर्य्यते यत्र भिक्षाकालः स स्मृतिकालः । "सइकाले चरे भिक्खू" दश० ५ अ० १ उ० ।

सइज्झिता--देशी--वसतिप्रवेशिन्याम् , पिं० ।

सइण--देशी--धान्यविशेषे, स्था० ।

सइन्न--सैन्य--न० । अइर्दैत्यादौ च " ॥ ८ । १ । १५१ ॥ इत्यनेनैकारस्य अइ इत्यादेशः । सइन्नं । सेनायां समवैति । असिलिते ह्रस्वत्वादौ, प्रा० । सेनायाः संघः । ष्यञ् । सेनासमुदाये नं० ।

सइब्भंस--स्मृतिभ्रंश--पुं० । स्मृत्यन्तर्द्धाने, स्मृतेः—स्मरणस्य योजनशतादिरूपदिक्परिमाणविषयस्यातिव्याकुलत्वप्रमादित्वमत्यपाटवादिना भ्रंशो ध्वंसः स्मृतिभ्रंशः । विस्मरणशीलतायाम् , प्रव० २०७ द्वार ।

सइर--स्वैर--न० । " अइर्दैत्यादौ च " ॥ ८ । १ । १५१ ॥ इत्यनेनैकारस्य ' अइ ' इत्यादेशः । सइरं । प्रा० । स्वच्छन्दे, व्य० ७ उ० ।

सइरचारि--स्वैरचारिन्--त्रि० । उद्भ्रामके, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सइरिन्--स्वैरिन्--त्रि० । स्वेच्छाचारिणि, ग० १ अधि० ।

सइल--शैल--पुं० । पर्व्वते , " उच्छल्लन्ति समुद्दा, सइला निपतंति तं हलं नमथ " प्रा० ४ पाद ।

सइविप्पहूण--स्मृतिविप्रहीन--त्रि० । अपगतकर्त्तव्यविवेके,सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सइसंजाय--सकृत्संजात--त्रि० । एकवारं समुत्पन्ने, पञ्चा० ३ विव० ।

सईण--देशी--धान्यविशेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सउज्जोय--सोद्योत--त्रि० । सहोद्योतेन वस्त्वन्तरप्रकाशनेन वर्त्तन्त इति सोद्योतानि । स० । बहिर्विनिर्गतवस्तुस्तोमप्रकाशकरेषु, प्रज्ञा० २ पद । प्रत्यासन्नवस्तूद्योतके, भ० २ श० ८ उ० । जं० । रा० । स० । बहिर्व्यवस्थितप्रत्यासन्नवस्तुस्तोमप्रकाशकरोद्योतसहिते, रा० ।

सउण--शकुन--पुं० । लोमपक्षिभेदे, औ० । नि० चू० । ज्ञा० । विवक्षितार्थसूचकनिमित्ते, नपुं० । पञ्चा० ७ विव० । पं० व० ।

इदानीं भाष्यकारः शकुनं प्रतिपादयन्नाह—

नन्दीतूरं पुण्ण-स्स दंसणं संख पडह सद्दो य ।
भिंगारछत्त चामर, धयप्पडागा पसत्थाइं ॥ १०६ ॥
समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दहिं ।
मीणं घंटं पडागं च,सिद्धमत्थं वियागरे ॥११०॥

एता निगदसिद्धा । ओघ० ।

नन्दीतूर्यम्—द्वादशविधतूर्यसमुदायो युगपद्वाद्यमानः पूर्णस्य-पूर्णकलशस्य दर्शनं शङ्खपटहयोः-शब्दश्च श्रूयमाणः भृङ्गारछत्रचामराणि प्रतीतानि, वाहनानि-हस्तितुरङ्गमादीनि , यानानि-शिविकादीनि एतानि प्रशस्तानि-शुभावहानि श्रमणं-लिङ्गमात्रधारिणं संयतं—षट्कायरक्षणे सम्यग् यतं दान्तमिन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन , सुमनसः-पुष्पाणि मोदका दधि च प्रतीतं, मीनम्-मत्स्यं घण्टाम् पताकां च दृष्ट्वा श्रुत्वा वा सिद्धं निष्पन्नमर्थं प्रयोजनं व्यागृणीयादिति । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

शकुनाशकुनयोरेव स्वरूपोद्देशमाह—

णंदाइ सुहो सद्दो, भरिओ कलसो त्थ सुन्दरा पुरिसा ।
सुहजोगाई सउणो, कंदिअसहादि इअरो उ ॥ ५ ॥

नन्दादिः—नन्दीप्रभृतिः तत्र नन्दी—द्वादशतूर्यनिर्घोषः, तद्यथा—

" भंभामउंदमद्दल, कलंबझल्लरिहुडुक्ककंसाला ।
वीणा वंसो पडहो, संखो पणवो अ बारसमो ॥ १ ॥"

आदिशब्दात्—घण्टाशब्दादिग्रहः । तथा भृतो जलपरिपूर्णः कलशो घटः । अत्र व्यतिकरे सुन्दराकारनेपथ्या नराः शुभयोगादिप्रशस्तचेष्टाप्रभृतिशुभचन्द्रनक्षत्रादि संवन्धादि वा शकुनो-विवक्षितार्थसिद्धिसूचकं निमित्तम् , क्रन्दिनशब्दादिः-आक्रन्दध्वनिप्रतिषेधवचनप्रभृतिः, पुनः इतरोऽशुकन इत्यर्थः।षोडशकेऽपि"दार्वपि च शुद्धमिह यज्ञानीतं देवताद्युपवनादेः । प्रगुणं सारवदभिनव-मुच्चैर्ग्रन्थ्यादिरहितं च ॥१॥ सर्वत्र शकुनं पूर्वं, ग्रहणादावत्र वर्त्तितव्यमिति । पूर्णकलशादिरूप-श्चित्तोत्साहानुगः शकुनः ॥ २ ॥ " ध० २ अधि० ।
"गहदिणाउ मुहुत्तो, मुहुत्ता सउणो बली । सउणाओ बलवं लग्गं, ततो निमित्तं पहाणं तु ॥८०॥"॥६२६॥ द० प०।"यावद् यातो गुरुं पृष्ट्वा , शकुनस्तावदूचिवान् । ततस्तौ सूरयोऽवोचन् , भावी लाभोऽद्य वां महान् ॥ ५२ ॥" आ०क० १ अ० ।

सउणग--शकुनक--पुं० । पक्षिविशेषे, नि० चू० ५ उ० ।

सउणपुव्व--शकुनपूर्व--न० । शकुनमूले, पो० ५ विव० ।

अन्य पुंल्ल निल्यम् ।

सउणवुड्ढि–शकुनवृद्धि–स्त्री०।सन्निमित्तवर्द्धने शुभशकुनसत्त्वे, पञ्चा० १२ विव०।

सउणरुय–शकुनरुत–न०। शकुनविचारे , शकुनरुतम् अत्र शकुनपदं रुतपदं चोपलक्षणं तेन वसन्तराजाद्युक्तसंग्रहः गतिचेष्टादिगृवलादिपरिग्रहश्च। जं० २ वक्ष०। स०। कल्प०। औ०। ज्ञा०। स्था०।

सउणि–शकुनि–पुं०। स्त्री०। पक्षिणि , सूत्र० २ श्रु० २ अ०। औ०। ज०। आ० क०। तं०। वृ०। शकुनि. पक्षिविशेषो लावकादिक.। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। क्लीवभेदे,प्रव० २४७ द्वार। शकुनिर्वेदोत्कटतया गृहचटकवत् प्रतिसेवनां करोति। वृ० ४ उ०। प्रव०। करणे,पं० भा०। ववादिकरणेष्वन्यतमे , उत्त० ४ अ०। कृष्णचतुर्दशीरात्रौ सदावस्थित शकुनिनामकं करणम्। आ० म० १ अ०। विशे०। ज०। सूत्र०। दुर्योधनराजमन्त्रिणि, पुं०। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। चतुर्दशविद्यासु,स्त्री०। शकुनीपारगोऽपि द्विजो गर्हितो भवति। शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्यास्थानानि गृह्यन्ते। वृ० ३ उ०। आव०।

सउणिगण–शकुनिगण–पुं०। पक्षिसमूहे , कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सउणिपोस–शकुनिपोष–पुं०। पक्षिणो गुदे , "सउणिपोस पिट्ठंतरोरुपरिणया" इति । शकुनिपक्षिण इव पुरीषोत्सर्गे निर्लेपतया पोसन्ति पोसः—अपानदेशः। पुस—उत्सर्गे , पुसन्ति पुरीषमुत्सृजन्तीति व्युत्पत्तेः। तथा लब्धपरिणामतया पृष्ठं च प्रतीतम् अन्तरे च पृष्ठोदरयोरन्तराले पार्श्वावित्यर्थ· ऊरू चेति द्वन्द्वस्ते परिणता येषा ते शकुनिपोसपृष्ठान्तरोरुपरिणताः निष्ठान्तस्य परनिपातः । औप०।

सउणिय–शाकुनिक–पुं०। शकुनेन—श्येनादिना—मृगयां कुर्वन्ति इति शाकुनिकाः प्राकृतत्वाद्ध्रस्वत्वम् । पक्षिव्याधेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। शकुनिभिः पक्षिभिश्चरतीति शाकुनिक.। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सउणिया–शकुनिका–स्त्री०। पक्षिण्याम् , शकुनिविकुर्वणात्मिकाया परिव्राजकविद्यायाम् , व्य० १ उ०। " सुघराए स उणिगाए भणिओ" आव० १ अ०। "सउणिय त्ति" भण्यते या तु शकुनिका हितैव पक्षिणी सा कथम "सउलिय" त्ति इत्येवमिहापि प्राकृतशैल्यामेवमङ्गीकृत्यायथार्थता। अनु०।

सउत्तरोट्ठ–सोत्तरोष्ठ–पुं०। सह उत्तरौष्ठेन सोत्तरौष्ठस्तस्मिन्। सश्मश्रुके, भ० १५ श०।

सउदय–सोदक–त्रि०। उदकेन सहिते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०। सह उदकेन वर्त्तत इति सोदकम्। उदकं भौमान्तरिक्षभेदादनेकप्रकारम्। दशा० १ अ०।

सउली–सौली–स्त्री०। महौषधिभेदे, तीं० ६ कल्प।

सउवकोस–सोपक्रोश–पुं०। अप्रशस्तविनयभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सउवचार–सोपचार–त्रि०। उपचारसहिते , वृ०। ततस्ते तासा वसतिं—सोपचारा· प्रविशन्ति। सोपचारा नाम त्रिषु स्थानेषु प्रयुक्ता नैषेधिकीशब्दाः, यद्वा—सयतीभिर्येषां वक्ष्यमाण उपचारः प्रयुक्तस्ते सोपचारा उच्यन्ते। वृ० ३ उ०।

सउवद्दव–सदुपद्रव–त्रि०। उपद्रवसहिते, तत्र तैः सदुपद्रवैर्वाऽतिभूतो व्याप्त। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सदोपद्रव–पुं०। सर्वकालीने उपद्रवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सउह–सौध–न०। " अउः पौरादौ च " ॥ ८ । १ । १६२॥ अत्रौकारस्योक्तलक्षणेन 'अउ' इत्यादेश'। सुधानिर्मिते पक्वगृहे, प्रा० १ पाद।

सं–सम्–अव्य०। समन्तात् प्रकर्षेणेत्यर्थे, उत्त० १ अ०। एकीभावे, सू० प्र० १० पाहु०। रा०। सम्यगर्थे, स० १ सम०।

संकंत–संक्रान्त–त्रि०। प्रविष्टे, स्था०। "दिव्वे सकंते भवइ" दिवि भवं दिव्य स्वर्गगतवस्तुविषय संक्रान्तं तत्र देवे प्रविष्टं भवतीति। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

शङ्कमान–त्रि०। अतिमूढत्वाद् विपर्यस्तबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

संकंति–संक्रान्ति–स्त्री०। संक्रमणं संक्रान्तिः। दश० १ अ०। संक्रमे, विशे०।

संकट्ठ–संकष्ट–त्रि०। व्याप्ते, संथा०। रा०।

संकृष्ट–त्रि०। विलिखिते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

संकड्ढिय–संकर्षित–त्रि०। क्षेत्रादाकर्षिते, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

संकड–संकट–त्रि०। सकीर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। अष्ट०। कल्प०। स०।

संकणिज्ज–शङ्कनीय–त्रि०। भयजनके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

संकप्प–संकल्प–पुं०। अध्यवसाये, आव० ३ अ०। परिणामे, पं० चू० ३ कल्प। विकल्पे, भ० ६ श० ३ उ०। नि०। ज्ञा०। प्रारम्भे, विशे०। सरा०। विचारे, कल्प० १ अधि० २ क्षण। युक्तायुक्तविवेचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सकल्पस्तु द्विधा भवति—कश्चिद् ध्यानात्मकोऽपरश्चिन्तात्मकः। रा०। प्रव०। चित्तस्वभावे, स्था० ४ ठा० २ उ०। (संकल्पः 'अट्ठारसट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे २४६ पृष्ठे व्याख्यात.।) "सकप्पो संरंभो" भ० ३ श०२ उ०। पं० भा०।

संकप्पो उ इदाणिं य, सो य पसत्थो य अप्पसत्थो य ।
एतेसिं दोण्हं पि, परूवणा होतिमा कमसो ।
दंसणणाणचरित्ते, अणुपालणपत्थणा पसत्थो उ ।
इंदियविसयकसाए–सु अपसत्थो उ संकप्पो ।
दंसणपभावकाइं, सत्थाइं कहमहं अहिज्जेज्जा ।
जा चिंतयतो एसो, संकप्पो दंसणे होति ।
दारं—
णाणतियारं न करे, कहं व णाणं अहं अहिज्जेज्जा ।
इति णाणे चारित्ते, सुद्धचरित्तो कहं होज्जा ।
उत्तरउत्तरएहि व, चारित्तगुणेहि कह णु विभरेज्जा ।
एसो तु चरित्तम्मी, संकप्पो सत्थगो भणितो ।
पं० भा० ३ कल्प। आचा०। पं०चू०। नि०चू०। अष्ट०। गौ-

णमैथुने, प्रश्न०। संकल्पो विकल्पस्तत्प्रभवत्वादस्य संकल्प इति नाम, उक्तं च-"काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात्किल जायसे। न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥१॥" इति। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

संकप्पकय-संकल्पकृत-त्रि०। आकुट्टिकादिविहिते, "पाणातिवायपभितिसु, संकप्पकयेसु चरणविगमम्मि। आउट्ट परिहारा, पुण पट्ठवणं तु मूलं ति।" पञ्चा० १६ विव०।

संकप्पय-संकल्पज-पुं०। सङ्कल्पाज्जाते प्राणातिपाते, आव०। संकल्पजः मनसा संकल्पाद् द्वीन्द्रियादिप्राणिनां मांसास्थिचर्मनखवालदन्ताद्यर्थं व्यापादयतो भवति। आव० ६ अ०।

संकप्पिय-संकल्पित-त्रि०। आलोचिते, विशे०।

संकम-संक्रम-पुं०। संक्रम्यते येन स संक्रमः। काष्ठचारे,(नाकादौ) नि०चू० १ उ०। जलगर्त्तपरिहाराय पाषाणकाष्ठरचिते (दश० ५ अ० १ उ०) विषमोत्तरणमार्गे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। "संकमेणं न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे" दश० ५ अ० १ उ०। वृ०। नि० चू०। जीवेन बध्यमानायाः कर्मप्रकृतेरनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थवीर्यविशेषेण परिणमने, स्था०।

चउव्विहे संकमे पण्णत्ते, तं जहा-पगइसंकमे ठिइसंकमे अणुभागसंकमे पएससंकमे। (सू० २९६)

या प्रकृतिं बध्नाति जीवः तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं वीर्यविशेषेण यत्परिणमयति स संक्रमः। उक्तं च-" सो संकमो त्ति भन्नइ, जं बंधणपरिणओ पओगेणं। पयर्यतरत्थदलियं, परिणामइ तदणुभावे जं ॥ १ ॥" इति। तत्र प्रकृतिसंक्रमः सामान्यलक्षणावगम्य एवेति, मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा स्थितेर्यदुत्कर्षणम् अपकर्षणं वा प्रकृत्यन्तरस्थितौ वा नयनं स स्थितिसंक्रम इति। उक्तं च (कर्मप्रकृतौ)- "ठिइसंकमो त्ति वुच्चइ, मूलुत्तरपगइओ उ जा हि ठिई। उव्वट्टिया व ओव-ट्टिया व पगई णिया वऽन्नं ॥ २८ ॥" इति, अनुभागसंक्रमोऽप्येवमेव, यदाह (क०प्र०)—

"तत्थऽट्ठपयं उव्व—ट्टिया व ओवट्टिया व अविभागा।
अणुभागसंकमो ए-स अन्नपगई णिया वावि ॥ १ ॥" इति,

अट्ठपयं ति-अनुभागसंक्रमस्वरूपनिर्द्धारणम्, 'अविभाग' त्ति अनुभागाः 'निय' त्ति नीता इति। यत्कर्मद्रव्यमन्यप्रकृतिस्वभावेन परिणम्यते स प्रदेशसंक्रमः, उक्तञ्च—" जं दलियमन्नपगइं, णिज्जइ सो संकमो पएसस्स" इति, निधानं निहितं वा निधत्तम्, भावे कर्म्मणि वा क्तप्रत्यये निपातनात्, उद्वर्त्तनापवर्त्तनावर्जितानां शेषकरणानामयोग्यत्वेन कर्म्मणोऽवस्थापनमुच्यते, नितरां काचनं-बन्धनं निकाचितं-कर्म्मणः सर्वकरणानामयोग्यत्वेनावस्थापनम्। उक्तञ्चोभयसंवादि-" संकमणं पि निहत्तीए, णऽत्थि सेसाणि व त्ति इयरस्स" इति। स्था० ४ ठा० २ उ० ॥

सम्प्रत्युद्देशक्रमेण वक्तुमवसरप्राप्तं संक्रमकरणम्। संक्रमश्च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपविषयभेदाच्चतुर्विधः। तत्र प्रथमतः संक्रमस्य सामान्यलक्षणमभिधातुकाम आह-

सो संकमो त्ति वुच्चइ, जं बंधणपरिणओ पओगेणं।
पगयंतरत्थदलियं, परिणामयइ तयणुभावे जं ॥ १ ॥

'सो संकमु' त्ति इह जीवो यद्बन्धनपरिणतो यस्याः प्रकृतेर्बन्धनेन-बन्धकत्वेन परिणतः। अनेन किलेदमावेद्यते-यदि जीवस्तथारूपबन्धनपरिणामपरिणतो भवति ततः कर्मवर्गणापुद्गला अपि कर्मरूपतया परिणमन्ते, नान्यथा, उक्तं च-

" जीवपरिणामहेऊ, कम्मत्ता पुग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मनिमित्तं, जीवो वि तहेव परिणमइ ॥ १ ॥"

अस्याक्षरगमनिका-जीवस्य सत्कात्परिणामादध्यवसायाद्धेतोः,जीवपरिणामं,हेतुमाश्रित्येत्यर्थः। कर्मवर्गणान्तःपातिनो जीवस्वप्रदेशावगाढाः पुद्गलाः कर्मरूपतया ज्ञानावरणीयादिकर्मरूपतया परिणमन्ते। अथ जीवस्याऽपि तथारूपः परिणामः कस्माद्भवतीति चेदुच्यते'पुग्गले'त्यादि पुद्गलरूपं प्राग्बद्धं कर्म विपाकोदयप्राप्तं तन्निमित्तं तत्सामर्थ्यादिति भावः। जीवोऽपि तथैव प्रदेशावगाढकर्मवर्गणान्तःपातिपुद्गलकर्मरूपतापत्तिहेतुतयैव परिणमत इति। 'पओगेणं' ति प्रयोगेण सङ्क्लेशलक्षितेन विशोधिलक्षितेन वा वीर्यविशेषेण विवक्षितायाः प्रकृतेरन्या प्रकृतिः प्रकृत्यन्तरं विवक्षितबध्यमानप्रकृतिव्यतिरिक्ताऽन्या प्रकृतिरित्यर्थः। तत्रस्थ दलिकं तदनुभावेन बध्यमानप्रकृतिस्वभावेन यत्परिणमयति परिणमनमापादयति, स संक्रम उच्यते एतदुक्तं भवति-बध्यमानासु प्रकृतिषु मध्येऽबध्यमानप्रकृतिदलिकं प्रक्षिप्य बध्यमानप्रकृतिरूपतया यत्तस्य परिणमनम्, यच्च वा बध्यमानानां प्रकृतीनां दलिकरूपस्येतरेतररूपतया परिणमनं तत्सर्वं संक्रमणमित्युच्यते। तत्र बध्यमानप्रकृतिष्वबध्यमानप्रकृतीनां संक्रमो यथा-सातवेदनीये बध्यमानेऽसातवेदनीयस्य, उच्चैर्गोत्रे वा नीचैर्गोत्रस्येत्यादि। बध्यमानानां परस्परं संक्रमो यथा-बध्यमाने मतिज्ञानावरणीये बध्यमानमेव श्रुतज्ञानावरणं संक्रमयति, श्रुतज्ञानावरणे वा बध्यमाने बध्यमानमेव मतिज्ञानावरणीयमित्यादि। इह यत्प्रकृतिबन्धकत्वेन परिणत आत्मा तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं यत्परिणमयति स संक्रम इत्युक्तम्।

एतच्च लक्षणं दर्शनत्रिकव्यतिरेकेणान्यत्र द्रष्टव्यम्, दर्शनत्रिके पुनर्बन्धं विनाऽपि संक्रमोऽवगन्तव्यः। तथा चाह—

दुसु वेगे दिट्ठिदुगं, बंधेण विणा वि सुद्धदिट्ठिस्स।
परिणामइ जीसे तं, पगईए पडिग्गहो एसा ॥ २ ॥

'दुसु' त्ति शुद्धदृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्द्वयोः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोराधारभूतयोर्मिथ्यात्वम्,एकस्मिंश्च सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वं बन्धं विनापि संक्रामति। इयमत्र भावना-इह मिथ्यात्वस्यैव बन्धो न सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः।यतो मिथ्यात्वपुद्गला एव मदनकोद्रवस्थानीया औषधविशेषकल्पेनौपशमिकसम्यक्त्वानुगतेन विशोधिस्थानेन त्रिधा क्रियन्ते।तद्यथा-शुद्धा अर्धविशुद्धा अविशुद्धाश्च। तत्र विशुद्धाः सम्यक्त्वम्, अर्द्धविशुद्धाः सम्यग्मिथ्यात्वम्, अविशुद्धा मिथ्यात्वम्। तत्र विशुद्धसम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः बन्धं विनापि तत्र मिथ्यात्वं संक्रमयति, सम्यग्मिथ्यात्वे च सम्यक्त्वे इति। तदेवमुक्तं संक्रमस्य सामान्यलक्षणम्। सम्प्रति यासु प्रकृतिषु प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं संक्रमयति तासां संज्ञान्तरमाह—'परिणामे' त्यादि यस्यां प्रकृतौ

आधारभूतायां तत्प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं परिणमयति आधारभूतप्रकृतिरूपतामापादयति एषा प्रकृतिराधारभूता पतद्ग्रह इत्युच्यते । पतद्ग्रह इव पतद्ग्रह ,सक्रम्यमाणप्रकृत्याधार इत्यर्थः ।

संक्रमलक्षण च प्रागुक्तमतिप्रसक्तमिति तत्राऽपवादमाह–

मोहदुगाउगमूल–प्पगडीणं न परोप्परम्मि संकमणं ।
संकमबंधुदउव्व–ट्टणा (णव) लिगाईण करणाइं ॥ ३ ॥

' मोह ' त्ति मोहद्विकं-दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीयं च । तयोः परस्परं सक्रमो न भवति । तथाहि—न दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीये सक्रमयति, चारित्रमोहनीय वा दर्शनमोहनीये । तथा आयूंषि चत्वार्यपि न परस्परं संक्रमयति, नापि मूलप्रकृतीः परस्परं सक्रमयति । तथाहि—न ज्ञानावरणीये दर्शनावरणीय सक्रमयति , नापिदर्शनावरणीये ज्ञानावरणीयम् । एव सर्वास्वपि मूलप्रकृतिषु भावनीयम् । अपि च—यस्मिन् दर्शनमोहनीये यो जन्तुरवतिष्ठते, स तदन्यत्र न संक्रमयति । यथा मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वम् , सम्यग्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यात्वम् , सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वम् , तथा सासादनः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्च न किमपि दर्शनमोहनाय कापि सक्रमयन्ति , अविशुद्धदृष्टित्वात् । बन्धभावे हि दर्शनमोहनीयस्य संक्रमो विशुद्धदृष्टेरेव भवति , नाविशुद्धदृष्टेः । अन्यच्च-परप्रकृतिसंक्रान्त दलिकमावलिकामात्र कालं यावदुद्वर्तनादिसकलकरणायोग्यमवगन्तव्य, न केवलं सक्रान्तमपि तु बन्धावलिकागतमपि । तथा चाह-' सकमे ' त्यादि सक्रमावलिकागतम् , बन्धावलिकागतम् , उदयावलिकागतम् , उद्वर्तनावलिकागतम् , आदिशब्दादुपशान्त मोहनीयं दर्शनमोहनीयत्रिकरहितमित्येतानि सर्वाण्यप्यकरणानि सकलकरणायाग्यान्यवसेयानि । दर्शनत्रिक तूपशान्तमपि सक्रमयति ।

तदेव लक्षणापवादोऽभिहितः । सम्प्रति क्रमेणोत्क्रमेण वा विशेषण (षण) संक्रमे प्राप्ते सति नियममाह—

अंतरकरणम्मि कए, चरित्तमोहेऽणुपुव्विसंकमणं ।
अन्नत्थ सेसिगाणं, च सव्वहिं सव्वहा बंधे ॥४॥

' अतरकरणम्मि' त्ति अन्तरकरणविधिरग्रे उपशमनाकरणाभिधानावसरे प्रतिपादयिष्यते, तत्रोपशमश्रेण्या चारित्रमोहनीयोपशमनार्थमेकविंशतेः प्रकृतीनाम् , क्षपकश्रेण्यां पुन कषायाष्टकक्षपणानन्तरं त्रयोदशप्रकृतीनामन्तरकरणे कृते सति , चारित्रमोहे पुरुषवेदसज्वलनचतुष्टयलक्षणे । अत्र हि चारित्रमोहनीयग्रहणेनैता एव पञ्च प्रकृतयो गृह्यन्ते, न शेषाः बन्धाभावात् । तत्रानुपूर्वीपरिपाट्या संक्रमणं भवति , न त्वनानुपूर्व्या । तथाहि-पुरुषवेद संज्वलनक्रोधादावेव सक्रमयति नान्यत्र ।संज्वलनक्रोधमपि सज्वलनमानादावेव न तु पुरुषवेदे । सज्वलनमानमपि संज्वलनमायादावेव, न तु सज्वलनक्रोधादौ । संज्वलनमायामपि सज्वलनलोभे एव , न तु संज्वलनमानादाविति । ' अन्नत्थ त्ति अन्तरकरणादन्यत्र पञ्चानामपि पुरुषवेदादिप्रकृतीना शेषाणा पुनः प्रकृतीनाम् । ' सव्वहिं ' ति सर्वस्मिन्नप्यवस्थाविशेषेऽन्तरकरणावस्थायामन्यत्र वा इत्यर्थः । सर्वैः प्रकारैः क्रमेणोत्क्रमेण वा संक्रमोऽवगन्तव्यः । किं सर्वदैव ? नेत्याह—बन्धे बन्धकाले, न त्वन्यदा यथोक्तं प्राक् । तदेवं संक्रमस्य सामान्यलक्षणविधिरपवादो नियमश्चोक्तः ।

संप्रति यदुक्तं यस्याः प्रकृतेर्बन्धः सा प्रकृत्यन्तरदलिकसंक्रमणं प्रति पतद्ग्रह इति तत्रापवादमाह—

तिसु आवलियासु समऊ-णियासु अपडिग्गहा उ संजलणा।
दुसु आवलियासु पढम–ठिइए सेसासु वि य वेदो ॥५॥

' तिसु ' त्ति—अन्तरकरणे कृते प्रथमस्थितौ, तिसृष्वावलिकासु समयोनासु सतीषु चत्वारोऽपि संज्वलना अपतद्ग्रहाः, पतद्ग्रहा न भवन्ति । एतदुक्तं भवति—चतुर्ष्वपि संज्वलनेषु प्रथमस्थितौ तिसृष्वावलिकासु समयानावलिकात्रिकशेषायां सत्यां बध्यमानेष्वपि नान्यत्प्रकृत्यन्तरदलिकं तेषु सक्रामति, तेन तदानीमपतद्ग्रहा । तथाऽन्तरकरणे कृते सति द्वयोरावलिकयोः प्रथमस्थितिसत्कयोः समयोनयोः सत्योर्वेदः पुरुषवेदः पतद्ग्रहो न भवति, न किमपि तत्र प्रकृत्यन्तरदलिकं सक्रामतीत्यर्थः । वेदश्चेह पुरुषवेद एव द्रष्टव्यः, न स्त्रीनपुंसकवेदौ, तदानीं तयोर्बन्धाभावादेवापतद्ग्रहत्वसिद्धेः । अपि च—मिथ्यात्वे क्षपिते सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्च क्षपितयोः सम्यक्त्वस्योद्वलितयोस्तु सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्मिथ्यात्वस्यापतद्ग्रहताऽनुक्ताऽपि द्रष्टव्या, न खलु तत्रापि किंचित् सक्रामतीति ।

सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणामाह—

साइअणाईधुवअ–धुवा य सव्वधुवसंतकम्माणं ।
साइयधुवा य सेसा, मिच्छावे यणीयनीएहिं ॥ ६ ॥

' साइ ' त्ति सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वनरकद्विकमनुजद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकतीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणाश्चतुर्विंशतिप्रकृतयोऽध्रुवसत्कर्माणि आयुश्चतुष्टयं च । शेषं पुनस्त्रिंशदुत्तर प्रकृतिशतं ध्रुवसत्कर्म । ततोऽपि साताऽसातवेदनीयनीचैर्गोत्रमिथ्यात्वरूपं चतुष्टयमपनीयते । ततः शेषस्य षड्विंशत्युत्तरप्रकृतिशतस्य साद्यादिरूपतया चतुर्विधोऽपि संक्रमो भवति । तथाहि-अमूषा ध्रुवसत्प्रकृतीना संक्रमविषयप्रकृतिबन्धव्यवच्छेदे सति सक्रमो न भवति । ततः पुनरपि तासां सक्रमविषयप्रकृतीना स्वबन्धहेतुसम्पर्कतो बन्धारम्भे सति भवति, ततोऽसौ सादिः, तत्तद्बन्धव्यवच्छेदस्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः,अभव्यस्य ध्रुवः कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात् ,भव्यस्य पुनरध्रुवः कालान्तरे व्यवच्छेदसम्भवात् । शेषाश्चतुर्विंशतिप्रकृतयोऽध्रुवसत्कर्माणो मिथ्यात्ववेदनीयनीचैर्गोत्रैः सह साद्यध्रुवाः—साद्यध्रुवसंक्रमा अवगन्तव्याः । तथाहि-अध्रुवसत्कर्मणामध्रुवसत्कर्मत्वादेव संक्रमः सादिरध्रुवश्चावगन्तव्यः, सातासातवेदनीयनीचैर्गोत्राणा तु परावर्तमानत्वात् । मिथ्यात्वस्य पुनः संक्रमो विशुद्धसम्यग्दृष्टेः,विशुद्धसम्यग्दृष्टित्वं च कादाचित्कं, ततस्तस्याऽपि संक्रमः साद्यध्रुव एव ।

साम्प्रतं पतद्ग्रहाणां साद्यनादिप्ररूपणामाह-

मिच्छत्तजढा य परि-ग्गहम्मि सव्वधुवबंधपगईओ ।
नेया चउव्विगप्पा, साई अधुवा य सेसाओ ॥ ७ ॥

'मिच्छत्त' त्ति मिथ्यात्वजढाः—मिथ्यात्वरहिताः सर्वा अपि ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः-पञ्च ज्ञानावरणीयानि, नव दर्शनावरणीयानि, षोडश कषायाः, भयं, जुगुप्सा, तैजससप्तकं, वर्णादिविंशतिः, अगुरुलघु उपघातं, निर्माणम्, अन्तरायपञ्चकं चेति। एताः संक्रममधिकृत्य चतुर्विकल्पा साद्यनादिध्रुवाध्रुवरूपचतुर्भेदा ज्ञेयाः। तथाहि-एतासां सप्तषष्टिसंख्यानां ध्रुवसंबन्धिनीनामात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये पतद्ग्रहत्वं न भवति, न किमपि प्रकृत्यन्तरदलिक तासु संक्रामतीत्यर्थः। पुनः स्वस्वबन्धहेतुसम्पर्कतो बन्धारम्भे सति पतद्ग्रहत्वं भवति ततः सादिः, तत्तद्बन्धव्यवच्छेदस्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया। 'साई' इत्यादि शेषास्त्वध्रुवबन्धिन्योऽष्टाशीतिसंख्याः प्रकृतयोऽध्रुवबन्धित्वादेव (तासां) साद्यध्रुवपतद्ग्रहता भावनीया। मिथ्यात्वस्य पुनर्ध्रुवबन्धित्वेऽपि यस्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे विद्येते स एव ते तत्र संक्रमयति, नान्य इति तस्य साद्यध्रुवपतद्ग्रहता द्रष्टव्या।

तदेवमेकैकप्रकृतीनां संक्रमस्य पतद्ग्रहत्वस्य च साद्यनादिप्ररूपणा कृता। सम्प्रति प्रकृतिस्थानेषु तां चिकीर्षुरतिदेशमाह—

पगईठाणे वि तहा, पडिग्गहो संकमो य बोधव्वो ।
पढमंऽतिमपगईणं, पंचसु पंचण्ह दो वि भवे ॥ ८ ॥

'पगईठाणे' त्ति यथैकैकस्याः प्रकृतेः पतद्ग्रहत्व संक्रमश्च साद्यादिरूप उक्तस्तथा प्रकृतिस्थानेष्वपि बोद्धव्यः। द्वित्रादीनां च प्रकृतीनां समुदायः प्रकृतिस्थानम्। तत्र प्रथमतो ज्ञानावरणीयस्य तत्समानवक्तव्यत्वादन्तरायस्य च संक्रमपतद्ग्रहत्वात् स्थानप्रतिपादनार्थमाह—'पढमंतिमे'-त्यादि प्रथमप्रकृतेर्ज्ञानावरणीयस्य अन्तिमप्रकृतेरन्तरायस्य सम्बन्धिनीनां प्रत्येकं पञ्चानामपि प्रकृतीनां पञ्चस्वपि प्रकृतिषु द्वावपि सक्रमपतद्ग्रहभावौ भवतः। एतदुक्तं भवति—ज्ञानावरणीयान्तराययोरेकैकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं स्थानं संक्रमे पतद्ग्रहभावे च भवतीति। तौ चेमौ संक्रमपतद्ग्रहभावौ साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकारौ। तथाहि-उपशान्तमोहगुणस्थानके तयोरभावात्, ततः प्रतिपाते च पुनः सम्भवात् सादी, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादी, ध्रुवाध्रुवता चाभव्यभव्यापेक्षया भावनीया।

सम्प्रति दर्शनावरणीयस्य संक्रमपतद्ग्रहत्वस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

नवगच्छक्कचउक्के, नवगं छक्कं च चउसु विइयम्मि ।
अन्नयररिंस (स्से) अन्नय-रा वि य वेयणीयगोएसु ॥ ९ ॥

'नवग त्ति' द्वितीये दर्शनावरणीये नवकषट्कचतुष्केषु नवकं संक्रामति, षट्कं च चतसृषु प्रकृतिषु। तेनेह द्वे सक्रमस्थाने। तद्यथा-नवकं, षट्कं च। त्रीणि पतद्ग्रहस्थानानि, तद्यथा-नवकं, षट्कं, चतुष्कं च। तत्र नवकरूपे पतद्ग्रहे मिथ्यादृष्टयः सासादनाश्च नवविधदर्शनावरणीयबन्धका नवकमपि संक्रमयन्ति। अयं च नवकरूपः पतद्ग्रहः साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकारः। तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषु न भवति, ततः प्रतिपाते च-भवति, ततोऽसौ सादिः। षट्स्थानकमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्यापूर्वकरणस्यासख्येयतमं भागं यावन्नवविधदर्शनावरणीयसत्कर्माणः षड्विधदर्शनावरणीयबन्धकाः षट्के नवकं संक्रमयन्ति। अयं तु षट्करूप पतद्ग्रहः साद्यध्रुवः कादाचित्कत्वात्। तथा-अपूर्वकरणस्य संख्येयतमे भागे निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदे तत ऊर्ध्वं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमयं यावदुपशमश्रेण्यां नवविधदर्शनावरणीयसत्कर्माणश्चतुर्विधदर्शनावरणीयबन्धकाश्चतुष्के नवकं संक्रमयन्ति। अयमपि च चतुष्करूपः पतद्ग्रहः साद्यध्रुवः, कदाचिद्भावात्। नवकरूपः संक्रमश्चतुष्प्रकारः। तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि-सूक्ष्मसम्परायात्परतः उपशान्तमोहे न भवति, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ सादिः। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। क्षपकश्रेण्यां पुनरनिवृत्तिकरणाद्धायाः। संख्येयतमे भागे ऽवशिष्टे सति स्त्यानर्द्धित्रिकक्षयात् परतः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकचरमसमयं यावत् षड्विधदर्शनावरणीयसत्कर्माणश्चक्षुरादिदर्शनावरणीयचतुष्टयं बध्नन्तस्तस्मिन् दर्शनावरणचतुष्के षट्कं संक्रमयन्ति। इमावपि सक्रमपतद्ग्रहौ, साद्यध्रुवौ, कादाचित्कत्वात्। अतः परं तु न संक्रमो नापि पतद्ग्रहत्वमिति। संप्रति वेदनीयगोत्रयोः सक्रमपतद्ग्रहत्वस्थानप्रतिपादनार्थमाह—'अन्नयरस्से' त्यादि। वेदनीये गोत्रे चान्यतरस्या प्रकृतौ बध्यमानायामन्यतराऽबध्यमाना प्रकृतिः संक्रामति। तेन या यत्र संक्रामति सा तस्याः पतद्ग्रहः। इतरा च संक्रमस्थानम्। तत्र सातबन्धकानां मिथ्यादृष्टिप्रभृतीनां सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तानां सातासातसत्कर्मणां सातवेदनीयं पतद्ग्रहः असातं संक्रमस्थानम्। असातबन्धकानां पुनर्मिथ्यादृष्टिप्रभृतीनां प्रमत्तसंयतपर्यन्तानां सातासातसत्कर्मणाम् असातवेदनीयं पतद्ग्रहः, सातवेदनीय तु संक्रमस्थानम् इमौ च सातासातरूपौ संक्रमपतद्ग्रहौ साद्यध्रुवौ भूयो भूयः परावृत्य (त्ति) भावात्। तथा मिथ्यादृष्टिप्रभृतीनां सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तानामुच्चैर्गोत्रबन्धकानामुच्चनीचैर्गोत्र। बन्ध। सत्कर्मणामुच्चैर्गोत्रं पतद्ग्रह, नीचैर्गोत्रं तु संक्रमस्थानम्। नीचैर्गोत्रबन्धकानां तु मिथ्यादृष्टिसासादनानामुच्चनीचैर्गोत्रसत्कर्मणा नीचैर्गोत्रं पतद्ग्रहः, उच्चैर्गोत्रं तु संक्रम्यमाणम्। (मस्थान) इमावप्युच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्ररूपौ संक्रमपतद्ग्रहौ प्रागिव साद्यध्रुवौ भावनीयौ।

सम्प्रति मोहनीयस्य संक्रमपतद्ग्रहत्वस्थानप्रतिपादनावसरस्तत्र प्रथमतः सक्रमासक्रमस्थाननिर्देश चिकीर्षुराह—

अट्ठचउरहियवीसं, सत्तरसं सोलसं च पन्नरसं ।
वज्जियसंकमठाणा-ई होंति तेवीसई मोहे ॥ १० ॥

'अट्ठ' त्ति अष्टाधिका चतुरधिका च विंशति अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्चेत्यर्थः। तथा सप्तदश षोडश पञ्चदश चेत्यमूनि स्थानानि वर्जयित्वा शेषाणि एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशैकादशद्वादशत्रयोदशचतुर्दशाष्टादशैकोनविंशतिविंशत्येकविंशतिद्वाविंशतित्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशतिसप्तविंशतिलक्षणानि त्रयोविंशतिसंख्यानि मोहनीये संक्रमस्थानानि भवन्ति। तथाहि—अष्टाविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्व सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयो पतद्ग्रह इति मिथ्यात्वव्यतिरिक्ताः शेषाः सप्तविंशति. सङ्क्रामन्ति। तत्र चारित्रमोहनीय पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं परस्पर सङ्क्रामति सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयो. मिथ्यात्वे। तथा सम्यक्त्वे उद्वलिते सति सप्तविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्वस्य पतद्ग्रह इति तद्व्यतिरिक्ता शेषा. षड्विंशति. संक्रामन्ति। सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते सति षड्विंशतिसत्कर्मणः पञ्चविंशति.। अथवा-अनादिमिथ्यादृष्टे षड्विंशतिसत्कर्मण पञ्चविंशति, मिथ्यात्वस्य सङ्क्रमाभावात्। न हि तत् चारित्रमोहनीये सङ्क्रामति, दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययो परस्परं सङ्क्रमाभावात्। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मण. सम्यक्त्वलाभादावलिकाया ऊर्द्ध वर्त्तमानस्य सम्यक्त्वे मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः सङ्क्रम.। तेन तत् पतद्ग्रह इति। तस्मिन्नपसारिते शेषा न्सप्तविंशति सङ्क्रमे प्राप्यते। तस्यैव चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मण आवलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वे न सङ्क्रामति। यतो मिथ्यात्वपुद्गला एव सम्यक्त्वानुगति (त) विशोधिप्रभावत सम्यग्मिथ्यात्वलक्षण परिणामान्तरमापादिताः। अन्यप्रकृतिरूपतया परिणामान्तरापादन च संक्रमः, संक्रमावलिकागत च सकलकरणायोग्यमिति सम्यक्त्वलाभादावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानेन सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्वे न संक्रम्यते, किं तु केवल मिथ्यात्वमेव तत सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्यपसारिते शेषा षड्विंशति सङ्क्रामति। चतुर्विंशतिस्तु सङ्क्रमे न प्राप्यते, यतश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यात्व गत. सन् यद्यप्यनन्तानुबन्धिनो भूयोऽपि बध्नाति, तथापि तान् सतोऽपि न संक्रमयति, बन्धावलिकागतस्य सर्वकरणायोग्यत्वात्। मिथ्यात्व च सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषा त्रयोविंशतिरेव संक्रामति। अथवा-चतुर्विंशतिसत्कर्मण. सम्यग्दृष्टे सम्यक्त्व मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयो. पतद्ग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषा त्रयोविंशति. सङ्क्रामति। तस्यैव मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य चारित्रमोहनीयस्यान्तरकरणे कृते सति लोभसज्वलनस्यापि सङ्क्रमो न भवति, "अन्तरकरणे कृते पुरुषवेदसज्वलनचतुष्टययोरानुपूर्व्या सङ्क्रमो भवतीति वचनप्रामाण्यात्, अनन्तानुबन्धिचतुष्टयस्य च विसयोजितत्वादुपशान्तत्वाद्वा सङ्क्रमाभाव। सम्यक्त्व च मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह इति सज्वलनलोभानन्तानुबन्धिचतुष्टयसम्यक्त्वेष्वष्टाविंशतरपनीतेषु शेषा द्वाविंशति. सङ्क्रामति। तस्यैवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य नपुंसकवेदे उपशान्ते एकविंशति. द्वाविंशतिसत्कर्मणा वा सम्यक्त्वं न क्वापि संक्रामतीत्येकविंशतिः संक्रमं प्राप्यते। यद्वा—क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य क्षपकस्य यावदद्याप्यष्टौ कषाया न क्षयमुपयान्ति तावदेकविंशति सङ्क्रम प्राप्यते। औपशमिकसम्यग्दृष्टे' सम्बन्धिन्या' प्रागुक्ताया एकविंशते' स्त्रीवेदे उपशान्ते सति शेषा विंशति. सङ्क्रामति। यद्वा—क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य चारित्रमोहनीयस्यान्तरकरणं कृत लोभसंज्वलनस्यापि क्रमयुक्तेः संक्रमो न भवतीति तस्मिन्नपसारिते विंशतिः सङ्क्रमे प्राप्यते। ततो नपुंसकवेदे उपशान्ते एकोनविंशति., स्त्रीवेदे उपशान्तेऽष्टादश औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताया विंशते षट्सु नोकषायेषूपशान्तेषु शेषाश्चतुर्दश सङ्क्रामन्ति। तत पुरुषवेदे उपशान्ते त्रयोदश। यद्वा—क्षपकस्य क्षपकश्रेण्या वर्तमानस्य प्रागुक्ताया एकविंशतेरष्टसु कषायेषु क्षीणेषु शेषास्त्रयोदश सङ्क्रामन्ति। तस्यैव क्षपकस्य चारित्रमोहनीयस्यान्तरकरणे कृते संज्वलनलोभस्य प्रागुक्तयुक्ते सङ्क्रमो न भवतीति तस्मिन्नपसारिते शेषा द्वादश सङ्क्रामन्ति। अथवा—क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्योऽष्टादशभ्य षट्सु नोकषायेषूपशान्तेषु सत्सु शेषा द्वादश सङ्क्रामन्ति। तत पुरुषवेदे उपशान्ते एकादश। क्षपकस्य वा प्रागुक्ताभ्यो द्वादशभ्यो नपुंसकवेदे क्षीणे शेषा एकादश संक्रामन्ति। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या प्रागुक्ताभ्यस्त्रयोदशभ्याऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधद्विके उपशान्ते शेषा एकादश संक्रमे प्राप्यन्ते। क्षपकश्रेण्यामेकादशभ्य स्त्रीवेदे क्षीणे शेषा दश सङ्क्रामन्ति। औपशमिकसम्यग्दृष्टेरौपशमश्रेण्यां वर्तमानस्यैकादशभ्य सज्वलनलोभे उपशान्ते शेषा दश संक्रामन्ति। क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्य एकादशभ्योऽप्रत्याख्यानावरणलक्षणे क्रोधद्विके उपशान्ते शेषा नव सङ्क्रामन्ति। तस्यैव सज्वलनक्रोधेऽप्युपशान्तेऽष्टौ। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्त्तमानस्य प्रागुक्ताभ्यो दशभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मानद्विके उपशान्ते शेषा अष्टौ सङ्क्रामन्ति। तस्यैव सज्वलनमाने उपशान्ते सप्त। क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्योऽष्टाभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मानद्विके उपशान्ते शेषा षट् सङ्क्रामन्ति। तस्यैव सज्वलनमाने उपशान्ते पञ्च। यद्वौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्य सप्तभ्य. प्रकृतिभ्याऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मायाद्विके उपशान्ते शेषा. पञ्च संक्रामन्ति। तस्यैव सज्वलनमायायामुपशान्ताया चतस्र.। अथवा-क्षायिकसम्यग्दृष्टे. क्षपकस्य प्रागुक्ताभ्यो दशभ्य. षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु शेषाश्चतस्र. प्रकृतय सङ्क्रामन्ति। तस्यैव पुरुषवेदे क्षीणे तिस्र। अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्य. पञ्चभ्याऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणं मायाद्विके उपशान्ते शेषास्तिस्र. सङ्क्रामन्ति, तस्यैव सज्वलनमायायामुपशान्ताया द्वे। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्यश्चतसृभ्यः प्रकृतिभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणल-

णे लोभद्विक उपशान्ते शेषे द्वे प्रकृती संक्रामतः । अथवा-क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकस्य प्रागुक्ताभ्यस्तिसृभ्यः संज्वलनक्रोधे क्षीणे द्वे संक्रामतः । तस्यैव संज्वलनमाने क्षीण एका तदेवं परिभाव्यमानेऽष्टाविंशतिचतुर्विंशतिसप्तदशषोडशपञ्चदश-लक्षणानि संक्रमस्थानानि न प्राप्यन्ते । इति प्रतिषिध्यन्ते । तेषु च प्रतिषिद्धेषु शेषाणि त्रयोविंशतिसंख्यानि संक्रमस्थानान्यवगन्तव्यानि । एतेषु संक्रमस्थानेषु मध्ये पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानम् । साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकारम् । तद्यथा-साद्यनादि ध्रुवमध्रुवं च । तत्राष्टाविंशतिसत्कर्मणः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुद्वलितयोर्भवत् सादि. अनादि मिथ्यादृष्टेरनादि, ध्रुवाध्रुवता भव्याभव्यापेक्षया । शेषाणि तु संक्रमस्थानानि साद्यध्रुवाणि, कादाचित्कत्वात् कृता मोहनीये संक्रमासंक्रमस्थानप्ररूपणा ।

सम्प्रति पतद्ग्रहापतद्ग्रहस्थानप्ररूपणार्थमाह—

सोलस बारसगऽट्ठग, वीसग तेवीसगा इगे छच्च ।
वज्जिय मोहस्स पडि-ग्गहा उ अट्ठारस हवंति ॥ ११ ॥

'सोलस' त्ति षोडश द्वादशाष्टौ विंशतिस्त्रयोविंशत्यादयश्च षट् । तद्यथा-त्रयोविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिश्च । एतानि स्थानानि वर्जयित्वा शेषाण्येकद्वित्रिचतुः पञ्चषट्सप्तनवदशैकादशत्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशसप्तदशाष्टादशैकोनविंशत्येकविंशतिद्वाविंशतिलक्षणानि अष्टादश पतद्ग्रहस्थानानि भवन्ति । तत्र कस्मिन् पतद्ग्रहे काः प्रकृतयः संक्रामन्तीत्येतदुच्यते-तत्र मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यात्वं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषा सप्तविंशतिर्मिथ्यात्वषोडशकषायान्यतरवेदभयजुगुप्साहास्यरतियुगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगललक्षणाया द्वाविंशतौ संक्रामति । तस्यैव सम्यक्त्व उद्वलिते सप्तविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वं-सम्यग्मिथ्यात्वस्य पतद्ग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषा षड्विंशतिः प्रागुक्तायां द्वाविंशतौ संक्रामति । तस्यैव मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्व उद्वलित षड्विंशतिसत्कर्मणो मिथ्यात्वे न किमपि संक्रामतीति न तत्कस्यचित्पतद्ग्रह इति । तस्मिन् प्रागुक्ताया द्वाविंशतेरपनीते शेषे एकविंशतिप्रकृतिसमुदायात्मके पतद्ग्रहे पञ्चविंशतिः । अथवाऽनादिमिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिसत्कर्मणो मिथ्यात्वं न क्वापि संक्रामति, नापि तत्रान्या प्रकृतिरित्याधाराधेयभावपरिभ्रष्टं मिथ्यात्वमपनीयते, ततः शेषा पञ्चविंशतिः प्रागुक्तायामेकविंशतौ संक्रामति । तथा चतुर्विंशतिसत्कर्मा मिथ्यात्वं गतः सन् यद्यपि मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, तथाऽपि बन्धावलिकागत सकलकरणायोग्यमिति कृत्वा सतोऽपि तान् न संक्रमयति । मिथ्यात्व त्र सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रहस्ततोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयमिथ्यात्ववर्जितः शेषास्त्रयोविंशतिप्रकृतयः प्रागुक्तायां द्वाविंशतौ संक्रामन्ति । तदेवं मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतिपद्ग्रहे सप्तविंशतिषड्विंशतित्रयोविंशतिसंक्रमाः । एकविंशतिपद्ग्रहे च पञ्चविंशतिसंक्रम उक्तः, शेषः संक्रमः पतद्ग्रहो वा न सम्भवति । सासादनसम्यग्दृष्टेस्तु शुद्धदृष्टित्वाभावाद्दर्शनमोहनीयत्रयस्य संक्रमाभावः। ततोऽस्य सर्वदा एकविंशतिरूपे पतद्ग्रहे पञ्चविंशतिरेव संक्रामति । सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि शुद्धदृष्टित्वाभावाद्दर्शनत्रयस्य संक्रमाभाव इति अष्टाविंशतिसत्कर्मणः सप्तविंशतिसत्कर्मणो वा पञ्चविंशतिः । चतुर्विंशतिसत्कर्मणः पुनरेकविंशतिः । द्वादशकषायपुरुषवेदभयजुगुप्साऽन्यतरयुगललक्षणसप्तदशप्रकृतिसमुदायरूपे पतद्ग्रहे संक्रामति । तदेवमुक्तौ सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टी संप्रत्यविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु संक्रमाणां तुल्यत्वात् युगपत्पतद्ग्रहा उच्यन्ते-तेषामविरतादीनामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वलाभप्रथमसमयादारभ्य यावदावलिकामात्रं तावत् सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रहनैव भवति, न संक्रमः, इति शेषा षड्विंशतिविरतानां द्वादशकषायपुरुषवेदभयजुगुप्साऽन्यतरयुगलसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपे एकोनविंशतिपतद्ग्रहे, देशविरतानां प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनकषायपुरुषवेदभयजुगुप्साऽन्यतरयुगलसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वलक्षणे पञ्चदशपतद्ग्रहे, प्रमत्ताऽप्रमत्तानां संज्वलनचतुष्टयपुरुषवेदसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वभयजुगुप्साऽन्यतरयुगलरूपे एकादशपतद्ग्रहे संक्रामति । तेषामेवाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामावलिकायाः परतः सम्यग्मिथ्यात्वं संक्रमे पतद्ग्रहे च लभ्यते इति सप्तविंशतिः प्रागुक्तेषु त्रिषु पतद्ग्रहेषु संक्रामति । तथा तेषामेवाविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामनन्तानुबन्धिषूद्वलितेषु चतुर्विंशतिसत्कर्मणां क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वं पतद्ग्रह इति कृत्वा शेषा त्रयोविंशतिः प्रागुक्तेष्वेवैकोनविंशत्यादिषु त्रिषु पतद्ग्रहेषु संक्रामति । ततो मिथ्यात्वे क्षपिते सति सम्यग्मिथ्यात्वं पतद्ग्रहभावे न लभ्यते, मिथ्यात्वं च संक्रमे न लभ्यते । ततः शेषा द्वाविंशतिरविरतदेशविरतसंयतानां यथासंख्यमष्टादशचतुर्दशदशरूपेषु पतद्ग्रहेषु संक्रामति । ततः सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य न संक्रमो नापि पतद्ग्रह इत्येकविंशतिरविरतादीनां यथासंख्यं सप्तदशत्रयोदशनवकरूपेषु पतद्ग्रहेषु संक्रामति । सम्प्रत्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य संक्रममाश्रित्य पतद्ग्रहविधिरुच्यते—चतुर्विंशतिसत्कर्मणः सम्यक्त्वं मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह एवेति कृत्वा तस्मिन्नपसारिते शेषा त्रयोविंशतिः पुंवेदसंज्वलनचतुष्टयसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपे सप्तकपतद्ग्रहे संक्रामति, तस्यैवोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्यान्तरकरणे कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमो न भवति इति तस्मिन्नपसारिते शेषा द्वाविंशतिः पूर्वोक्त एव सप्तकपतद्ग्रहे संक्रामति । तस्यैव नपुंसकवेदे उपशान्ते सप्तकपतद्ग्रहे एकविंशतिः । ततः स्त्रीवेदे उपशान्ते विंशतिः । ततः पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाद्विकशेषाया " दुसु आवलियासु पढमठिईसु सेसासुऽवि य वेदो । " इति वचनात् पुरुषवदः पतद्ग्रहो न भवति । ततः प्रागुक्तात् सप्तकात्पुरुषवेदेऽपनीते शेषे षट्करूपे पतद्ग्रहे प्रागुक्ता विंशतिः संक्रामति । ततः षट्सु नोकषायेषूपशान्तेषु शेषाश्चतुर्दश प्रकृतयः प्रागुक्ते एव षट्करूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तावत्संक्रामन्ति यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः पुरुषवेदे उपशान्ते शेषास्त्रयोदश षट्करूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तत्र ताव-

ध्यादवन्तर्मुहूर्तम् । तत. संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितौ सम-
योनावलिकात्रिकशेषायां सज्वलनक्रोधोऽपि 'तिसु आव-
लियासु समऊ-णियासु अपडिग्गहा उ संजलणा' इति वच-
नात् पतद्ग्रहो न भवतीति प्रागुक्तात् पञ्चात्तस्मिन्नपसा-
रिते शेषे पञ्चकरूपे पतद्ग्रहे ता एव त्रयोदश प्रकृतय.
संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधद्विक
उपशान्ते शेषा एकादश प्रागुक्त एव पञ्चकपतद्ग्रहे संक्रा-
मन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनावलिकाद्विकम् । ततः
संज्वलनक्रोधे उपशान्ते शेषा दश प्रकृतयस्तस्मिन्नेव पञ्च-
कपतद्ग्रहे तावत्संक्रामन्ति यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संज्व-
लनमानस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां सं-
ज्वलनमानोऽपि पतद्ग्रहो न भवतीति पञ्चकात्तस्मिन्नपनीते
शेषे चतुष्करूपे पतद्ग्रहे ता एव दश प्रकृतयः संक्राम-
न्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततोऽ-
प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणरूपे मानद्विके उपशान्ते शेषा
अष्टौ प्रकृतयश्चतुष्करूपे एव पतद्ग्रहे संक्रामन्ति ।
ततः संज्वलनमाने उपशान्ते सप्त , ताश्च सप्त चतुष्करूपे
पतद्ग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्संक्रामन्ति । तत. सज्वलन-
मायायाः प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां सज्वलन-
मायाऽपि पतद्ग्रहो न भवतीति चतुष्कात्तस्यामपगतायां
शेषे त्रिकरूपे पतद्ग्रहे पूर्वोक्ताः सप्त संक्रामन्ति । ताश्च
तावद्यावत् समयोनमावलिकाद्विकम् । ततोऽप्रत्याख्यानप्र-
त्याख्यानावरणलक्षणे मायाद्विके उपशान्ते शेषाः पञ्च प्र-
कृतयस्त्रिकरूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्सम-
योनमावलिकाद्विकम् । तत. संज्वलनमायायामुपशान्ता-
यां शेषाश्चतस्रः प्रकृतय. संक्रामन्ति । ताश्च तावद्याव
दन्तर्मुहूर्तम् । ततोऽनिवृत्तबादरसम्परायचरमसमयेऽप्र-
त्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे लोभद्विके उपशान्ते शेषे
द्वे प्रकृती संक्रामतः । ते च मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वलक्षणे ।
नचैते संज्वलनलोभे संक्रामतः, दर्शनमोहनीयचारित्रमो-
हनीययो' परस्पर संक्रमाभावात् । ततस्तस्यापि पतद्ग्रहता
न भवतीति द्वयोरेव ते द्वे संक्रामत. । तत्र मिथ्यात्वं स-
म्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः , सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वे । त-
देवमौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां संक्रमपतद्ग्रहविधिरु-
क्तः । सम्प्रति क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां सक्रमपतद्ग्रह-
विधिरुच्यते-तत्रानन्तानुबन्धिचतुष्टयदर्शनत्रिकरूपे सप्तके
क्षपिते सति एकविंशतिसत्कर्मा सन् क्षायिकसम्यग्दृष्टि-
रुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । तस्य चान्तर्मुहूर्तं काल यावत्पुरु-
षवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपे पञ्चकपतद्ग्रहे एकविंशति' संक्रा
मति । ततोऽन्तरकरणे कृते सति संज्वनलोभस्य संक्र-
मो न भवतीति एकविंशतेस्तस्मिन्नपनीते शेषा विंशतिः
पञ्चकपतद्ग्रहे संक्रामति । सा चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् ।
ततो नपुंसकवेदे उपशान्ते एकोनविंशतिः । साऽपि चान्तर्मु-
हूर्तं कालं यावत् । तत. स्त्रीवेदे उपशान्ते शेषा अष्टादश
प्रकृतयस्तस्मिन्नेव पञ्चकपतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तत्र
तावत् यावदन्तर्मुहूर्तम् । तत. पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ स-
मयोनावलिकाद्विकशेषायां पुरुषवेद. पतद्ग्रहो न भवतीति
पञ्चकात्तस्मिन्नपगते शेषे चतुष्करूपे पतद्ग्रहे ता एवाष्टा-
दश प्रकृतय. संक्रामन्ति । ततः षट्सु नोकषायेषूपशान्तेषु
शेषा द्वादश प्रकृतयश्चतुष्करूपे एव तस्मिन् पतद्ग्रहे सं-
क्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । तत.
पुरुषवेद उपशान्ते एकादश । ताश्चतुष्करूपे पतद्ग्रहे ताव-
त्संक्रामन्ति यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संज्वलनक्रोधस्य प्रथ-
मस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनक्रोधोऽपि
पतद्ग्रहो न भवतीति चतुष्कात्तस्मिन्नपगते शेषे त्रिकरू-
पे पतद्ग्रहे ता. पूर्वोक्ता एकादश प्रकृतयः सक्रामन्ति । ताश्च
तावद्यावत् समयोनमावलिकाद्विकम् । ततोऽप्रत्याख्यान-
प्रत्याख्यानावरणलक्षणे क्रोधद्विके उपशान्ते शेषा नव प्रकृ-
तय पूर्वोक्त एव त्रिकरूपे पतद्ग्रहे सक्रामन्ति , ताश्च ताव-
द्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः संज्वलनक्रोधे उपशा-
न्तेऽष्टौ सक्रामन्ति । ताश्च त्रिकरूपे पतद्ग्रहे तावत्सक्राम-
न्ति यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः सज्वलनमानस्य प्रथमस्थितौ
समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनमानोऽपि पतद्ग्रहो न
भवतीति त्रिकात्तस्मिन्नपनीते शेषे द्विकरूपे पतद्ग्रहे पूर्वो-
क्ता अष्टौ प्रकृतयः संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोन-
मावलिकाद्विकम् । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे
मानद्विके उपशान्ते शेषा' षट् प्रकृतयो द्विकपतद्ग्रहे सक्रा-
मन्ति ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । तत' स-
ञ्ज्वलनमाने उपशान्ते पञ्च सक्रामन्ति । ताश्च द्विकरूपे
पतद्ग्रहे तावत् संक्रामन्ति यावदन्तर्मुहूर्तम् । तत. संज्वल-
नमायाया' प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्व-
लनमायाऽपि पतद्ग्रहो न भवतीति द्विकात्तस्यामपगतायां
शेषे संज्वलनलोभ एवैकस्मिंस्ता. पञ्च प्रकृतय संक्राम-
न्तीति , ताश्च तावद्यावत् समयोनावलिकाद्विकम् । ततोऽ-
प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मायाद्विके उपशान्ते शेषा
स्तिस्रः प्रकृतयः सज्वलनलोभे संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्
समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः सज्वलनमायायामुपशान्ता-
यां शेषे द्वे अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभलक्षणे प्रकृती
संज्वलनलोभे सक्रामतः,ते चान्तर्मुहूर्तं काल यावत् । ततोऽ-
निवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकचरमसमये ते अप्युपशान्ते
इति न किमपि कापि संक्रामति । तदेवं क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुप-
शमश्रेण्यां संक्रमपतद्ग्रहविधिरुक्तः । संप्रति क्षायिकसम्यग्-
दृष्टे., क्षपकश्रेण्या संक्रमपतद्ग्रहविधिरभिधीयते-तत्र क्षायि
कसम्यग्दृष्टिरेकविंशतिसत्कर्मा क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते। तस्य
चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान प्राप्तस्य पुरुषवेदसज्वलन-
चतुष्टयरूपे पञ्चकपतद्ग्रह पथमत एकविंशतिप्रकृतय. सक्रा
मन्ति । ततोऽष्टसु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश, ताश्चान्तर्मुहूर्तं
कालं यावत् । ततोऽन्तरकरणे कृते सति संज्वलनलोभस्य
संक्रमो न भवतीति शेषा द्वादश प्रकृतयस्तस्मिन्नेव पञ्चक-
पतद्ग्रहे संक्रामन्ति, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततो न
पुंसकवेदे क्षीणे एकादश, ता अपि अन्तर्मुहूर्तं कालं याव-
त् । ततः स्त्रीवेदे क्षीणे दश । ता अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्
तस्मिन्नेव पञ्चकरूप पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ततः पुरुषवेदस्य
प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाद्विकशेषायां पुरुषवेदः पतद्ग्रहो
न भवतीति पञ्चकात्तस्मिन्नपनीते शेषे चतुष्करूपे पतद्ग्रहे
ता एव दश सक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलि
काद्विकम् । ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु शेषाश्चतस्रः प्र-
कृतयस्तस्मिन्नेव चतुष्करूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ततः पुरु-

रूपेद' क्षीण.। तत्समये च संज्वलनक्रोधस्यापि पतद्ग्रहता न भवतीति तस्मिन्नपगते शेषासु तिसृषु प्रकृतिषु तिस्रः प्रकृतयः संक्रामन्ति, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत्। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनक्रोधः क्षीयते। तत्समये च संज्वलनमानस्याऽपि पतद्ग्रहता न भवतीति शेषयोर्द्वयो. प्रकृत्योर्द्वे प्रकृती संक्रामतः, ते चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत्। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमानोऽपि क्षीयते। तत्समयमेव च संज्वलनमायाया अपि पतद्ग्रहता न भवति। तत एकस्यामेव संज्वलनलोभलक्षणायां प्रकृतौ संज्वलनमायालक्षणा एका प्रकृतिः संक्रामति, सा चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत्। तत आवलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमायाऽपि क्षीयते। तत ऊर्ध्वं न किमपि क्वापि संक्रामति।

सम्प्रति यथोक्तरूपेषु पतद्ग्रहेषु प्रत्येकं संक्रमस्थानानि संकलयन्नाह—

छव्वीससत्तवीसा-ण संकमो होउ चउसु ठाणेसु।
बावीसपन्नरसगे, एक्कारस इगुणवीसाए ॥ १२ ॥

'छव्वीस' त्ति चतुर्षु स्थानेषु पतद्ग्रहरूपेषु। तद्यथा— द्वाविंशतौ, पञ्चदशके, एकादशके, एकोनविंशतौ च षड्विंशतिसप्तविंशत्योः संक्रमो भवति। तत्र द्वाविंशतौ मिथ्यादृष्टे., पञ्चदशके देशविरतस्य, एकादशके प्रमत्ताप्रमत्तयोः, एकोनविंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टेः।

सत्तरसएक्कवीसा-सु संकमो होइ पन्नवीसाए।
नियमा चउसु गईसुं, नियमा दिट्ठी कए तिविहे ॥१३॥

'सत्तरस' त्ति—सप्तदशकैकविंशत्यो. पञ्चविंशतेः संक्रमो भवति। तत्र सप्तदशके मिश्रदृष्टे', एकविंशतौ मिथ्यादृष्टे. सासादनस्य च। अयं च पञ्चविंशते. सप्तदशकैकविंशत्योः संक्रमो नियमाच्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते। नियमाच्च सप्तदशके सासादनैकविंशतौ च पञ्चविंशतेः संक्रम. त्रिविधायां-त्रिप्रकारायां दृष्टौ दर्शनमोहनीये कृताया वेदितव्य.। मिथ्यादृष्टेस्त्वेकविंशतौ पञ्चविंशतिसंक्रमोऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि भवति। 'कए' इति 'तिविहे' इति च पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्।

बावीसपन्नरसगे, सत्तगएक्कारसिगुणवीसासु।
तेवीसाए नियमा, पंच वि पंचिंदिएसु भवे ॥ १४ ॥

'बावीस' त्ति त्रयोविंशते. संक्रमो द्वाविंशतिपञ्चदशकसप्तकैकादशकैकोनविंशतिरूपेषु पञ्चसु पतद्ग्रहेषु भवति। तत्र द्वाविंशतौ मिथ्यादृष्टेः, पञ्चदशके देशविरतस्य, सप्तके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, एकादशके प्रमत्ताप्रमत्तयोः, एकोनविंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टे.। एतानि च पञ्च पतद्ग्रहस्थानानि पञ्चेन्द्रियेष्वेव भवन्ति॥

चोद्दसगदसगसत्तग, अट्ठारसगे य होइ बावीसा।
नियमा मणुयगईए, नियमा दिट्ठीकए दुविहे ॥ १५ ॥

'चोद्दस' त्ति द्वाविंशति. संक्रमयोग्या भवति, चतुर्दशके दशके सप्तकेऽष्टादशके च। तत्र चतुर्दशके देशविरतस्य, दशके प्रमत्ताप्रमत्तयोः, सप्तके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, अष्टादशकेऽविरतसम्यग्दृष्टेः एषा च द्वाविंशतिर्नियमान्मनुजगतौ भवति, नान्यत्र। नियमाच्च दृष्टौ द्विविधायां कृतायां सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरेव सतोरित्यर्थः।

तेरसगनवगसत्तग, सत्तारसपणगएक्कवीसासु।
एक्कवीसा संकमइ, सुद्धसासादणमीसेसु ॥ १६ ॥

'तेरस' त्ति त्रयोदशकनवकसप्तकसप्तदशकपञ्चकैकविंशतिरूपेषु षट्सु पतद्ग्रहेष्वेकविंशतिः संक्रामति। केषु जीवेष्वित्याह-शुद्धसासादनमिश्रेषु शुद्धेषु विशुद्धदृष्टिषु अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिषु सासादनमिश्रेषु। तत्र त्रयोदशके देशविरतस्य, नवके प्रमत्ताप्रमत्तयो., सप्तके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, सप्तदशकेऽविरतसम्यग्दृष्टेर्मिश्रदृष्टेश्च, पञ्चके क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य क्षपकश्रेण्या वा एकविंशतौ सासादनस्य इह येंगचार्यैश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा सन्नुपशमश्रेणीत. प्रतिपतन् मिथ्यात्वाभिमुख. सासादन इष्यते, तन्मते सासादनस्यैकविंशतावेकविंशति. संक्रमेऽभिहिता अन्यथा पुनरनन्तानुबन्ध्युदयसहितस्य सासादनस्यैकविंशतौ पञ्चविंशतिरेव संक्रमे प्राप्यते। सा च प्रागेवोक्ता।

एत्तो अविसेसा सं-कमंति उवसामगे व खवगे वा।
उवसामगेसु वीसा, य सत्तगे छक्कपणगे य ॥ १७ ॥

'एत्तो' त्ति इत ऊर्ध्वमविशेषाः सप्तदश संक्रमाः संक्रामन्ति. उपशमके क्षपके वा। तत्र विंशति संक्रमयोग्या सप्तके षट्के पञ्चके चौपशमिकेषु प्राप्यते। तत्रापि सप्तके षट्के चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य पञ्चके क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम्।

पंचसु एगुणवीसा, अट्ठारस पंचगे चउक्के य।
चउदस छसु पगईसुं, तेरसगं छक्कपणगम्मि ॥ १८ ॥

'पंचसु' त्ति—पञ्चके एकोनविंशतिः संक्रामति। सा च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य। तथा तस्यैवाष्टादश संक्रामन्ति पञ्चके चतुष्के च, तथा चतुर्दश षट्सु प्रकृतिषु। ताश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य तथा त्रयोदशकं षट्के पञ्चके च। तत्र षट्के औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य, पञ्चके क्षपकश्रेण्याम्।

पंच चउक्के बारस, एक्कारस पंचगे तिगचउक्के।
दसगं चउक्कपणगे, नवगं च तिगम्मि बोधव्वं ॥ १९ ॥

'पंच' त्ति—पञ्चके चतुष्के च द्वादश संक्रामन्ति। ताश्च पञ्चके क्षपकश्रेण्यां,चतुष्के क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य। तथैकादश पञ्चके त्रिके चतुष्के च संक्रामन्ति। तत्र पञ्चके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां (वर्तमानस्य, क्षपकश्रेण्यां) त्रिके चतुष्के च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां च, तथा दशकं चतुष्के पञ्चके च संक्रामति। तच्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य क्षपकश्रेण्यां च। तथा नवकं त्रिके बोद्धव्यम्। तच्च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य।

'अट्ठावीसाए' त्ति अष्टाविंशतावपि तान्येव पूर्वोक्तानि द्व्यशीतित्र्युत्तरशतवर्जितानि शेषाणि द्व्युत्तरशतपञ्चनवतिपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिरूपाणि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति। तत्र मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्या नरकगतिनरकानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासाप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघाततैजसकार्मणनिर्माणलक्षणां, तथा मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा देवगतिप्रायोग्या तैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणदेवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गसमचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरलक्षणामष्टाविंशतिं बध्नतो द्व्युत्तरशतसत्कर्मणो द्व्युत्तरशतमष्टाविंशतिपतद्ग्रहे संक्रामति। तथा मनुष्यस्य तीर्थकरनामसत्कर्मणः पूर्वमेव नरके बद्धायुष्कस्य सतो नरकाभिमुखस्य सतो मिथ्यात्वं प्रपन्नस्य नरकगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतः षण्णवतिसत्कर्मणोऽष्टाविंशतिपतद्ग्रहे षण्णवतिः संक्रामति। यथा द्व्युत्तरशतस्य भावना कृता तथा पञ्चनवतेरपि भावना कार्या केवलं द्व्युत्तरशतस्थाने पञ्चनवतिरित्युच्चारणीयम्। तथा मिथ्यादृष्टेस्त्रिनवतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्या पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतो वैक्रियसप्तकदेवगतिदेवानुपूर्वीणां बन्धावलिकायाः परतो वर्तमानस्य त्रिनवतिरष्टाविंशतौ संक्रामति। अथवा-पञ्चनवतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामेवाष्टाविंशतिं बध्नतो देवगतिदेवानुपूर्व्योर्बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य त्रिनवतिरष्टाविंशतौ संक्रामति। त्रिनवतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्या पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियसप्तकानां बन्धावलिकायाः परतो वर्तमानस्य त्रिनवतिरष्टाविंशतौ संक्रामति। अथवा पञ्चनवतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्या पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्व्योर्बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य त्रिनवतिरष्टाविंशतौ संक्रामति। तथा त्रिनवतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियसप्तकाना बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य चतुरशीतिरष्टाविंशतौ संक्रामति। अथवा-त्रिनवतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्या पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियसप्तकानां बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य चतुरशीतिरष्टाविंशतौ संक्रामति। षड्विंशत्यादिपतद्ग्रहेषु संक्रमस्थानान्याह—'ते चिये' त्यादि शेषेषु षड्विंशतिपञ्चविंशतित्रयोविंशतिलक्षणेषु पतद्ग्रहेषु तान्येव पूर्वोक्तानि द्व्युत्तरशतादीनि षण्णवतिरहितानि द्व्यशीतियुतानि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति। तद्यथा—द्व्युत्तरशतं पञ्चनवतिस्त्रिनवतिश्चतुरशीतिर्द्व्यशीतिश्च। तत्रैकेन्द्रियादीनां नैरयिकवर्जितानां द्व्युत्तरशतसत्कर्मणां पञ्चनवतिसत्कर्मणां च तैजसकार्मणागुरुलघूपघातनिर्माणवर्णादिचतुष्कैकेन्द्रियजातिहुण्डकसंस्थानौदारिकशरीरतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीस्थावर (बादर) पर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिपराघातोच्छ्वासातपोद्योतान्यतररूपामेकेन्द्रियप्रायोग्यां षड्विंशतिं बध्नता द्व्युत्तरशतं पञ्चनवतिश्च तस्यामेव षड्विंशतौ संक्रामति। तथा तेषामेवैकेन्द्रियादीनां देववर्जानां त्रिनवतिसत्कर्मणां देवनारकवर्जानां चतुरशीतिसत्कर्मणां च तामेव पूर्वोक्तां षड्विंशतिं बध्नतां त्रिनवतिश्चतुरशीतिश्च तस्यामेव षड्विंशतौ संक्रामति। तथा तेषामेवैकेन्द्रियादीनां देवनारकमनुष्यवर्जानां द्व्यशीतिसत्कर्मणां तामेव पूर्वोक्तां षड्विंशतिं बध्नतां द्व्यशीतिस्तस्यामेव षड्विंशतौ संक्रामति। तथा पञ्चविंशतिपतद्ग्रहे तान्येव पञ्च संक्रमस्थानानि चिन्त्यन्ते-तत्रैकेन्द्रियपर्याप्तप्रायोग्यां पूर्वोक्तामेव षड्विंशतिमातपेनोद्योतेन वा रहितां पञ्चविंशतिं बध्नतामेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियादीनां द्व्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिसत्कर्मणां यथासंख्यं तस्यामेव पञ्चविंशतौ द्व्युत्तरशतं पञ्चनवतिः त्रिनवतिः चतुरशीतिः द्व्यशीतिश्च संक्रामति। अथवा-अपर्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजप्रायोग्यां तैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणद्वीन्द्रियाद्यन्यतमजातिहुण्डसंस्थानसेवार्तसंहननौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिलक्षणां पञ्चविंशतिं बध्नतामेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियतिरश्चां द्व्युत्तरशतादिसत्कर्मणां पञ्चविंशतौ द्व्युत्तरशतादीनि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति।

तथा पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां वर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणतैजसकार्मणहुण्डसंस्थानौदारिकशरीरैकेन्द्रियजातितिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीबादरसूक्ष्मान्यतरस्थावरपर्याप्तप्रत्येकसाधारणान्यतरास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिलक्षणां त्रयोविंशतिं बध्नतामेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियतिरश्चां द्व्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिसत्कर्मणां यथासंख्यं द्व्युत्तरशतादीनि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति।

तदेवमुक्तः प्रकृतिसंक्रमः। सम्प्रति स्थितिसंक्रमाभिधानावसरः। तत्र चैतेऽर्थाधिकाराः। तद्यथा—भेदो विशेषलक्षणम् उत्कृष्टस्थितिसंक्रमणप्रमाणं जघन्यस्थितिसंक्रमप्रमाणं साद्यनादिप्ररूपणा स्वामित्वप्ररूपणा चेति। तत्र भेदविशेषलक्षणयोः प्रतिपादनार्थमाह—

ठिइसंकमो त्ति वुच्चइ, मूलुत्तरपगईउ य जा हि ठिई।
उव्वट्टिया उ ओव-ट्टिया व पगइं निया वऽण्णं ॥२८॥

'ठिइ' त्ति—इह 'मूलुत्तरपगईउ।' इत्यत्र षष्ठ्यर्थे पञ्चमी। ततोऽयमर्थः—हि स्फुटं या स्थितिर्मूलप्रकृतीनामष्टसंख्यानामुत्तरप्रकृतीनां वाऽष्टपञ्चाशदधिकशतसंख्याना सम्बन्धिनी उद्वर्तिता ह्रस्वीभूता सती दीर्घीकृता, अपवर्तिता वा दीर्घीभूता सती ह्रस्वीकृता, अन्या वा प्रकृतिं नीता पतद्ग्रहप्रकृतिस्थितिषु मध्ये नीत्वा निवेशिता स स्थितिसंक्रम उच्यते। एतदुक्तं भवति-द्विविधः स्थितिसंक्रमो मूलप्रकृतिस्थितिसंक्रमः, उत्तरप्रकृतिस्थितिसंक्रमश्च। तत्र मूलप्रकृतिस्थितिसंक्रमोऽष्टप्रकारः। तद्यथा— ज्ञानावरणीयस्य यावदन्तराय-

इयमत्र भावना—दर्शनमोहनीयत्रितयसत्कर्मा मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रानन्तरं मिथ्यात्वात् प्रतिपत्य विशुद्धिमासादयन् सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । ततो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणामन्तर्मुहूर्त्तोनां सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे च सङ्क्रमयति । सा च संक्रान्ता सती सङ्क्रमावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं सम्यक्त्वस्थितिमपवर्तनाकरणेन स्वस्थाने सङ्क्रमयति । सम्यग्मिथ्यात्वस्थितिमपि संक्रमावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं सम्यक्त्वे संक्रमयति अपवर्तयति च । तदेव मिथ्यात्वस्यान्तर्मुहूर्त्तोनः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्त्वन्तर्मुहूर्त्तावलिकाद्विकहीन उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम । इह तीर्थकरस्याहारकसप्तकस्य चोत्कृष्ट स्थितिबन्धोऽन्त सागरोपमकोटीकोटीप्रमाण· सत्कर्माऽप्येतेषामन्त·सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणमेव, तत· संशय·-किमेता संक्रमोत्कृष्टा उत बन्धोत्कृष्टा इति, तदपनोदार्थमाह-'अंतो कोडाकोडी' त्यादि आहारके आहारकसप्तके तीर्थकरे च सङ्क्रमत· स्थितिसत्कर्म अन्त·सागरोपमकोटीकोटी, अत एता· सङ्क्रमोत्कृष्टा· । यद्यपि च बन्धेऽप्यन्त·सागरोपमकोटीकोटीप्रमाण स्थितिसत्कर्माभिहित, तथाऽपि बन्धोत्कृष्टाया· स्थिते· सकाशात् संक्रमोत्कृष्टा स्थितिः सङ्ख्येयगुणा द्रष्टव्या । उक्तं च चूर्णौ-"बंधट्ठिईओ संतकम्मट्ठिई संखिज्जगुणा" । ननु नामकर्मण उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तत आहारके तीर्थकरे च सङ्क्रमादुत्कृष्टा स्थिति· प्राप्यमाणा बन्धावलिकोदयावलिकारहिता विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणैव लभ्यते, कथमुच्यते तीर्थकराहारकयोः संक्रमतोऽप्युत्कृष्टा स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणेति ? तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । तथाहि—तीर्थकराहारकयो प्रकृत्यन्तरस्य स्थिति· संक्रामति बन्धकाले नान्यदा, बन्धश्चानयोर्यथाक्रमं विशुद्धसम्यग्दृष्टे संयतस्य च । विशुद्धसम्यग्दृष्टीना संयताना च स्थितिसत्कर्म सर्वेषामपि कर्मणामायुर्वर्जानामन्त सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं नाधिकम् । ततः संक्रमोऽप्येतावन्मात्र एव प्राप्यते नाधिक इत्यदोषः ।

सम्प्रति सर्वासां प्रकृतीना बन्धोत्कृष्टानां सङ्क्रमोत्कृष्टाना वा सङ्क्रमणकाले यावती स्थिति· प्राप्यते तावतीं निर्दिदिक्षुराह—

सव्वासिं जट्ठिइगो, सावलिगो सो अहाउगाणं तु ।
बंधुक्कोसुक्कोसो, साबाहठिईए जट्ठिइगो ॥ ३१ ॥

'सव्वासिं' ति-सर्वासां प्रकृतीनां सङ्क्रमो यत्स्थितिक· संक्रमणकाले या स्थितिर्विद्यते सा यत्स्थितिरित्युच्यते । सा यस्य सङ्क्रमस्यास्ति स सङ्क्रमो यत्स्थितिक । या स्थितिर्विद्यते यस्याऽसौ इति बहुव्रीहिसमासाश्रयणात् । सावलिक आवलिकया सहितो द्रष्टव्य· । एतदुक्तं भवति-य· प्रागुक्त· सङ्क्रम स आवलिकया सहित सन् यावान् भवति तावती सङ्क्रमकाले स्थितिरित्यर्थ । ततो बन्धोत्कृष्टानामावलिकाहीना, सङ्क्रमोत्कृष्टाना त्वावलिकाद्विकहीना संक्रमकाले सर्वा स्थितिर्वेदितव्या । तथाहि-संक्लेशादिकारणवशत उत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा बन्धावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं स्थितिमन्यत्र प्रकृत्यन्तरे संक्रमयितुमारभते । ततो बन्धोत्कृष्टानामेकावलिकाहीना सङ्क्रमकाले सर्वा स्थिति प्राप्यते । संक्रमोत्कृष्टानां पुनर्बन्धावलिकाना संक्रमावलिकयोरतीतयोरुदयावलिकातः परतो वर्तमानां स्थितिमन्यत्र संक्रमयति । तेन संक्रमोत्कृष्टानामावलिकाद्विकहीना संक्रमकाले सर्वा स्थितिरवाप्यते । अथायुषामुत्कृष्टा स्थितिः किं बन्धोत्कृष्टा उत संक्रमोत्कृष्टा ? उच्यते-बन्धोत्कृष्टैव । तथा चाह-'अहाउगाण' मित्यादि आयुषामुत्कृष्ट स्थितिसंभवो बन्धोत्कृष्ट एव न संक्रमोत्कृष्ट·, यतो नायुषा परस्परं सङ्क्रम "मोहदुगाउगमूलप्पगडीण न परोप्परम्मि संकमणं" इति वचनात् । 'साबाहठिईए' इत्यादि आयुषां साबाधा अबाधासहिता या सर्वा स्थिति· सा यत्स्थितिरवगन्तव्या । केवलं "बंधुक्कोसाए आवलिगूणा ठिई जट्ठिइ" इति वचनात् बन्धावलिकोना द्रष्टव्या । तथाहि—आयुर्बन्धे प्रवर्तमान एव प्रथमसमये यद्बद्धं दलिकं तद्बन्धावलिकातीतं सदुद्वर्तयति । तत उद्वर्तनारूपसंक्रमे बन्धावलिकोना साबाधा यत्स्थिति· प्राप्यते । अथवा-अपवर्तनाऽपि निर्व्याघातभाविन्यायुषो बन्धावलिकायामतीताया सर्वदैव प्रवर्तते । ततस्तामधिकृत्य यथोक्ता यत्स्थितिरवसेया ।

तदेवमुक्तमुत्कृष्टस्थितिसंक्रमपरिमाणम् । सम्प्रति जघन्यस्थितिसङ्क्रमपरिमाणप्रतिपादनावसर । जघन्यस्थितिसंक्रमश्च द्विधा-स्वप्रकृतौ परप्रकृतौ च । तत्र स्वप्रकृतौ जघन्यस्थितिसंक्रमप्रतिपादनार्थमाह—

आवरणविग्घदंसण, चउक्कलोभंतवेयगाऊणं ।
एगा ठिई जहन्नो, जट्ठिइ समयाहिगावलिया ॥ ३२ ॥

'आवरण' त्ति-पञ्चानां ज्ञानावरणीयप्रकृतीना 'विग्घ' त्ति पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां, चतसृणां दर्शनावरणीयप्रकृतीनां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षणाना, सञ्ज्वलनलोभस्य, वेदकसम्यक्त्वस्य, चतुर्णां चायुषा, सर्वसंख्यया विंशतिप्रकृतीनाम् आत्मीयात्मीयसत्ताव्यवच्छेदसमये समयाधिकावलिकाशेषाया स्थितावुदयावलिका सर्वकरणायोग्येति कृत्वोदयावलिकात उपरितनी समयमात्रा स्थितिरपवर्तनासङ्क्रमेणाधस्तने उदयावलिकात्रिभागे समयाधिके संक्रामति, तदा च सर्वस्थितिपरिमाणं समयाधिकावलिका । तथा चाह-' जट्ठिइ ' इत्यादि ।

निद्दादुगस्स एक्का, आवलिगदुगं असंखभागो य ।
जट्ठिइहासच्छक्के, संखिज्जाओ समाओ य ॥ ३३ ॥

'निद्द' त्ति निद्राद्विकस्य—निद्राप्रचलालक्षणस्य जघन्यः स्थितिसङ्क्रम स्वसङ्क्रमान्ते स्वस्थितेरुपरितनी एका समयमात्रा स्थिति·, सा आवलिकाया अधस्तने त्रिभागे निक्षिप्यते । तदानीं च यत्स्थिति सर्वा स्थिति· आवलिकाद्विकं तृतीयस्याश्चावलिकाया असङ्ख्येयो भाग· । अत्र वस्तुस्वभाव एव यन्निद्राद्विकस्यावलिकाऽसंख्येयभागाधिकाऽऽवलिकाद्विकशेषायां स्थितावुपरितनी समयमात्रैका स्थितिः सङ्क्रामति, न पुनर्मतिज्ञानावरणीयादीनामिव समयाधिकावलिकाशे—

मोहे ' त्ति मोहे मोहनीयेऽजघन्यः स्थितिसंक्रमश्चतुर्विधः । तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि—मोहनीयस्य जघन्यः स्थितिसंक्रमः सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य समयाधिकावलिकायां शेषायां स्थितौ, ततोऽसौ सादिरध्रुवश्च । तस्माच्च जघन्यादन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः। स च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ भव्याभव्यापेक्षया । शेषविकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यलक्षणास्तेषां कर्मणां संक्रमे संक्रमविषये द्विविकल्पा भवन्ति । तद्यथा—सादयोऽध्रुवाश्च । तथाहि–य एवोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति स एवोत्कृष्टं स्थितिसंक्रमं करोति, उत्कृष्टां च स्थितिं बध्नाति उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानः । न चोत्कृष्टः संक्लेशः सर्वदैव लभ्यते, किं त्वन्तराऽन्तरा, शेषकाले त्वनुत्कृष्टः। तत एतौ द्वावपि साद्यध्रुवौ । जघन्यश्च साद्यध्रुवः प्रागेव भावितः।

सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह–

धुवसंतकम्मिगाणं, तिहा चउद्धा चरित्तमोहाणं।
अजहन्नो सेसेसु य, दुहेतरासिं च सव्वत्थ ॥ ३७ ॥

'धुव' त्ति-ध्रुवं सत्कर्म यासां ता ध्रुवसत्कर्मिकास्त्रिंशदुत्तरशतसंख्याः । तथाहि-नरकद्विकमनुजद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकतीर्थकरनामसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वोच्चैर्गोत्रायुश्चतुष्टयलक्षणा अष्टाविंशतिसंख्या अध्रुवसत्कर्मिकाः प्रकृतयस्ता अष्टपञ्चाशदधिकात् शतादपनीयन्ते । ततः शेषं त्रिंशदुत्तरमेव शतं ध्रुवसत्कर्मिकाणां भवति । तस्मादपि चारित्रमोहनीयप्रकृतयः पञ्चविंशतिसंख्या अपनीयन्ते, तासां पृथग्वक्ष्यमाणत्वात् । ततः शेषस्य पञ्चोत्तरशतस्य स्वस्वक्षपणपर्यवसाने जघन्यः स्थितिसंक्रमो भवति स च सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः। स चाऽनादिः, ध्रुवाध्रुवौ भव्याभव्यापेक्षया । चारित्रमोहनीयप्रकृतीनां पञ्चविंशतिसंख्यानामजघन्यः स्थितिसंक्रमश्चतुर्धा। तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-उपशमश्रेण्यामुपशान्तौ सत्यां संक्रमाभावः , उपशमश्रेणितः प्रच्यवने न पुनरप्यजघन्यं स्थितिसंक्रममारभते , ततोऽसौ सादिः , तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ भव्याऽभव्यापेक्षया। ' सेसेसु य दुहा ' शेषेषूत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्येषु द्विधा प्ररूपणा कर्त्तव्या। तद्यथा-सादिरध्रुवश्च । तत्रोत्कृष्टानुत्कृष्टयोर्यथा मूलप्रकृतिषु भावना कृता तथाऽत्रापि कर्त्तव्या । जघन्यस्थितिसंक्रमः स्वस्वक्षयावसरे प्राप्यते, ततोऽसौ सादिरध्रुवश्च। 'इयरासिं' मित्यादि इतरासामध्रुवसत्कर्मणां पूर्वोक्तानामष्टाविंशतिसंख्यानां सर्वत्रापि सर्वेष्वपि जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टेषु द्विधा प्ररूपणा कर्तव्या। तद्यथा-सादिरध्रुवश्च। सा च साद्यध्रुवताऽध्रुवसत्कर्मत्वादेव परिभावनीया।

सम्प्रति क्रमप्राप्तं स्वामित्वमभिधानीयम् । तच्च द्वेधा-उत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामित्वं जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामित्वं च। तत्रोत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामित्वं प्रतिपिपादयिषुराह—

बंधाओ उक्कोसो, जासिं गंतूण आलिगं परओ।
उक्कोससामिओ सं-कमाउ जासिं दुगं तासिं ॥ ३८ ॥

' बंधाओ ' त्ति-यासां प्रकृतीनां बन्धात्-बन्धनात् उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति तासां ते एवोत्कृष्टस्थितिबन्धका देवनैरयिकतिर्यङ्मनुष्याः।'गंतूण आलिग परओ' त्ति बन्धाऽऽवलिकां गत्वा-अतिक्रम्य परतः बन्धावलिकायामतीतायामित्यर्थः । उत्कृष्टस्वामिनः उत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामिन उत्कृष्टां स्थितिं संक्रमयन्तीत्यर्थः। यासां पुनः प्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः संक्रमेण प्राप्यते तासां द्विकं बन्धावलिकासंक्रमावलिकालक्षणं गत्वाऽतिक्रम्य परत उत्कृष्टस्वामिनः, बन्धावलिकासंक्रमावलिकयोरतीतयोरुत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामिनो भवन्तीत्यर्थः ।

सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह–

तस्संतकम्मिगो बं–धिऊण उक्कोसगं मुहुत्तंतो ।
सम्मत्तमीसगाणं , आवलिया सुद्धदिट्ठी उ ॥ ३९ ॥

'तस्संतकम्मिगो' त्ति-तत्सत्कर्मा-सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वसत्कर्मा मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टां स्थितिं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां बद्ध्वा ततोऽन्तर्मुहूर्तादनन्तरं मिथ्यात्वात् प्रतिपत्य सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ततोऽसौ शुद्धदृष्टिः। सम्यग्दृष्टिरन्तर्मुहूर्तोनामुत्कृष्टां मिथ्यात्वस्थितिं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः संक्रमयति ततः संक्रमावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं सम्यक्त्वस्थितिमपवर्तनाकरणेन स्वस्थाने संक्रमयति । सम्यग्मिथ्यात्वस्थितिमपि संक्रमावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं सम्यक्त्वे संक्रमयति , अपवर्तयति च। तत एवं तिसृणामपि दर्शनमोहनीयप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामी सम्यग्दृष्टिरेवेति ।

तदेवमुक्त उत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामी , संप्रति जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह—

दंसणचउक्कविग्घा–वरणं समयाहिगालिगा छउमो ।
निद्दाणावलिगदुगे , आवलियअसंखतमसेसे ॥ ४० ॥

'दंसण' त्ति—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणीयानां 'विग्घ ' त्ति पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां पञ्चानां च ज्ञानावरणीयप्रकृतीनां जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी ' छउमो ' त्ति क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थः स्वगुणस्थानकस्य समयाधिकावलिकाशेषे वर्तमानः। तथा निद्रयोर्निद्राप्रचलयोः स एव क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थो द्वयोरावलिकयोः शेषयोस्तृतीयस्याश्चावलिकाया असंख्येयतमे भागे शेषे वर्तमानो जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति ।

वेदकसम्यक्त्वस्य जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह—

समयाहिगालिगाए, सेसाए वेयगस्स कयकरणो।
सक्खवगचरमखंडग, संछुभणा दिट्ठिमोहाणं ॥ ४१ ॥

'समय' त्ति-दर्शनमोहनीयक्षपको मनुष्यो जघन्यतोऽपि वर्षाष्टकादुपरि वर्तमानो मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वे क्षपयित्वा सम्यक्त्वं च सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य सम्यक्त्वं वेदयमानस्ततः सम्यक्त्वे क्षपितशेषे सति कश्चिच्चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतौ प्रयाति । ततश्चतुर्गतिकानामन्यतमः सम्यक्त्वस्य समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानः ' कयक-

रणो' त्ति कृतकरणः क्षपणकरणेऽभ्युद्यतो जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति ॥ मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह-'सम्मखवगे' त्यादि दृष्टिमोहयोर्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः क्षपणकाले यच्चरमखण्डं सर्वापवर्तनेनापवर्त्य परस्थाने पल्योपमासंख्येयभागमात्रचरमखण्डे प्रक्षेपणं तत्र वर्तमानो मनुष्योऽविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति।

समउत्तरालिगाए, लोभे सेसाएँ सुहुमरागस्स।
पढमकसायाण विसं-जोयण संछोभणाए उ ॥ ४२ ॥

'समउत्तरे' ति-सूक्ष्मसम्परायस्य स्वगुणस्थानकस्य समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानस्य लोभे लोभस्य जघन्यः स्थितिसंक्रमो भवति। इदमिह तात्पर्यम्-सूक्ष्मसम्परायः स्वगुणस्थानकस्य समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानो लोभसत्कजघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति ॥ अनन्तानुबन्धिनां जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह-'पढमे' त्यादि, प्रथमकषायाणामनन्तानुबन्धिनां विसंयोजने-विनाशने या चरमा पल्योपमासंख्येयभागमात्रा संछोभणा प्रक्षेपणं तत्र वर्तमानश्चतुर्गतिकानामन्यतमः सम्यग्दृष्टिर्जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति।

चरिमसजोगे जा अ-त्थि तासि सो चेव सेसगाणं तु।
खवगक्कमेण अनिय-ट्टिबायरो वेयगो वेए ॥ ४३ ॥

'चरिम' त्ति-या सयोग्यन्तिकाः प्रकृतयश्चतुर्नवतिसंख्याः प्रागुक्तास्तासां स एव सयोगिकेवली चरमापवर्तने वर्तमानो जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति ॥ शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह-'सेसगाण' मित्यादि, शेषाणां स्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकाष्टकषायनवनोकषायसंज्वलनक्रोधमानमायालक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां क्षपणक्रमेण-क्षपणपरिपाट्या चरमे पल्योपमासंख्येयभागादिमाने संछोभणे वर्तमानोऽनिवृत्तिबादरो जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति। 'वेयगो वेदे' त्ति वेदको वेदे वेदस्य जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी। इयमत्र भावना-पुरुषवेदोदये वर्तमानः पुरुषवेदस्य, स्त्रीवेदोदये वर्तमानः स्त्रीवेदस्य, नपुंसकवेदोदये वर्तमानो नपुंसकवेदस्यानिवृत्तिबादरसंपरायश्चरमसंक्रमं कुर्वन् जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी वेदितव्यः। अन्येन हि वेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्यान्यस्य वेदस्य जघन्यस्थितिसंक्रमो न लभ्यते। तथाहि-येन वेदेन क्षपकश्रेणिमारोहति तस्य वेदस्योदयोदीरणापवर्तनादिभिः स्थितेः पुद्गलाश्च बहवः परिसटन्ति। ततो यद्यपि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रपन्नः स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत्क्षपयति, तथापि नपुंसकवेदस्यैव जघन्यः स्थितिसंक्रमः प्राप्यते, न स्त्रीवेदस्य उदयोदीरणयोरभावात्। स्त्रीवेदेन च प्रतिपन्नो नपुंसकवेदक्षयानन्तरमन्तर्मुहूर्तेन कालेन स्त्रीवेदं क्षपयति। एतावता च कालेनोदयोदीरणाभ्यां बह्वी स्थितिस्त्रुट्यति। यद्यपि च पुरुषवेदेनाऽपि प्रतिपन्नस्यैतावान् कालो लभ्यते तथाऽपि तस्य स्त्रीवेदसत्के उदयोदीरणे न भवत इति स्त्रीवेदप्रतिपन्नस्यैव स्त्रीवेदस्य जघन्यः स्थितिसंक्रमो, न शेषस्य। तथा पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रपन्नो हास्यादिषट्कक्षयानन्तरं पुरुषवेदं क्षपयति, अन्यथा तु हास्यादिषट्कसहितम्। उदितस्य च वेदस्योदीरणाऽपि प्रवर्तते इति बह्वी स्थितिस्त्रुट्यति। पुरुषवेदस्यापि पुरुषवेदारूढस्यैव जघन्यस्थितिसंक्रमो न शेषस्य।

तदेवमुक्तः स्थितिसंक्रमः, सम्प्रत्यनुभागसंक्रमाऽभिधानावसरः, तत्र चैतेऽर्थाधिकारास्तद्यथा-भेद-स्पर्धकप्ररूपणा, विशेषलक्षणप्ररूपणा, उत्कृष्टानुभागसंक्रमप्रमाणप्ररूपणा, जघन्यानुभागसंक्रमप्रमाणप्ररूपणा, साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्वं चेति। तत्र भेदप्ररूपणार्थमाह-

मूलुत्तरपगइगतो, अणुभागे संकमो जहा बंधे।
फड्डगनिद्देसो सिं, सव्वेयरघायऽघाईणं ॥ ४४ ॥

'मूलुत्तर' त्ति-अनुभागेऽनुभागविषयं संक्रमो मूलोत्तरप्रकृतिगतः। किमुक्तं भवति?-द्विधाऽनुभागसंक्रमस्तद्यथा-मूलप्रकृत्यनुभागसंक्रमः, उत्तरप्रकृत्यनुभागसंक्रमश्च। ते च मूलोत्तरप्रकृतिभेदा यथा बन्धे-बन्धशतकेऽभिहितास्तथाऽत्रापि द्रष्टव्याः। कृता भेदप्ररूपणा ॥ स्पर्धकप्ररूपणार्थमाह-'फड्डगे' त्यादि आसां सर्वघातिनीनां देशघातिनीनामघातिनीनां प्रकृतीनां स्पर्धकनिर्देशः स्पर्धकप्ररूपणा यथा शतके कृता तथाऽत्राऽपि कर्तव्या। तथापि किञ्चिदुच्यते-तत्र च केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणाद्यद्वादशकषायनिद्रापञ्चकमिथ्यात्वलक्षणानां विंशतिप्रकृतीनां रसस्पर्धकानि सर्वघातीनि, सर्वं स्वघात्यं केवलज्ञानादिलक्षणं गुणं घातयन्तीति सर्वघातीनि, तानि च ताम्रभाजनवत् निश्छिद्राणि घृतवत् स्निग्धानि द्राक्षावत्तनुप्रदेशोपचितानि स्फटिकाभ्रहारवच्चातीव निर्मलानि। उक्तं च-"जो घायइ सविसयं, सयलं सो होइ सव्वघाइरसो। सो निच्छिड्डो निद्धो, तणुओ फलिहब्भहरविमलो ॥ १ ॥" मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणसंज्वलनचतुष्टयनवनोकषायान्तरायपञ्चकलक्षणानां पञ्चविंशतिसंख्यानां देशघातिप्रकृतीनाम्। (देशघातिप्ररूपणा 'देसघाइण' शब्दे चतुर्थभागे २६२६ पृष्ठे गता।) वेदनीयायुर्नामगोत्राणां सम्बन्धिन एकादशोत्तरप्रकृतिशतस्याघातिनो रसस्पर्धकान्यघातीनि वेदितव्यानि। केवलं वध्यमानसर्वघातिरसस्पर्धकसम्बन्धात्तान्यपि सर्वघातीनि भवन्ति। यथेह लोके स्वयमचौराणामपि चौरसम्बन्धाच्चौरता। उक्तं च-"जाण न विसओ घाइ-त्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो। जायइ घाइसगासे-ण चोरया वेहऽचोराणं ॥ १ ॥"

सम्प्रति दर्शनमोहनीयस्य स्पर्धकप्ररूपणार्थमाह-

सव्वेसु देसघाइसु, सम्मत्तं तदुवरिं तु वा मिस्सं।
दारुसमाणस्साणं-ततमो मिच्छत्तमुप्पिमओ ॥ ४५ ॥

'सव्वेसु' त्ति-इह दर्शनमोहनीयस्य सत्कर्म प्रतीत्य द्विविधानि रसस्पर्धकानि। तद्यथा-देशघातीनि, सर्वघातीनि च। तत्र यानि देशघातीनि स्पर्धकानि एकस्थानकरसोपेतानि द्वि-

स्थानकरसोपेतानि च। तेपु सर्वेष्वपि सम्यक्त्वं 'तदुवरिं तु वा मिस्स' यत्र देशघातीनि स्पर्धकानि निष्ठितानि तत उपरि सम्यग्मिथ्यात्वस्य स्पर्धकानि भवन्ति। तानि च सर्वघातीनि द्विस्थानकरसोपेतानि च तानि सम्यग्मिथ्यात्वस्य स्पर्धकानि तावद् द्रष्टव्यानि यावत् 'दारुसमाणस्साणंततमो त्ति' दारुसमान इति द्विस्थानको रसस्तस्य सम्बन्धिनां स्पर्धकानामनन्ततमो भागो गतो भवति। ततो यत्र सम्यग्मिथ्यात्वस्य स्पर्धकानि निष्ठां यान्ति, तत. प्रभृति द्विस्थानकत्रिस्थानकचतुःस्थानकरसोपेतानि स्पर्धकानि सर्वाण्यपि मिथ्यात्वस्य द्रष्टव्यानि।

कृता स्पर्धकप्ररूपणा। सम्प्रति विशेपलक्षणप्ररूपणार्थमाह-

तत्थट्ठपयं उव्व-ट्टिया व ओवट्टिया व अविभागा।
अणुभागसंकमो ए-स अन्नपगइं निया वाऽवि ॥४६॥

'तत्थ'त्ति-तत्रानुभागसंक्रमेऽर्थपद याथात्म्यनिर्धारणमिदम्-यद्युत उद्वर्तिताः प्रभूतीकृताः, यद्वा-अपवर्तिता ह्रस्वीकृता अथवाऽन्यां प्रकृतिं नीता अन्यप्रकृतिस्वभावेन परिणमिताः अविभागा अनुभागा.। एप सर्वोऽप्यनुभागसंक्रमः। तत्र मूलप्रकृतीनामुद्वर्तनापवर्तनारूपौ द्वावेव संक्रमौ नान्यप्रकृतिनयनरूपः संक्रमः, तासां परस्परं संक्रमाभावात्। उत्तरप्रकृतीनां तु त्रयोऽपि संक्रमाः।

तदेवमुक्तं विशेषलक्षणम्। सम्प्रत्युत्कृष्टानुभागसंक्रमप्रमाणप्रतिपादनार्थमाह—

दुविहपमाणे जेट्ठो, सम्मत्ते देसघाइदुट्ठाणा।
नरतिरियाऊ आयव-मिस्से वि य सव्वघाइम्मि ॥४७॥

'दुविहे' त्ति-द्विविधे प्रमाणे स्थानप्रमाणे घातित्वप्रमाणे च ज्येष्ठ उत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमः सम्यक्त्वस्य देशघातिनि द्विस्थानके रसस्पर्धके संक्रम्यमाणे वेदितव्य.। एतदुक्तं भवति—सम्यक्त्वस्य घातित्वमाश्रित्य देशघातिस्थानमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टद्विस्थानकरसोपेतं स्पर्धकपटलं यदा संक्रामति तदा तस्योत्कृष्टोऽनुभागसंक्रम इति नरायुस्तिर्यगायुरातपसम्यग्मिथ्यात्वानां स्थानं प्रतीत्य सर्वोत्कृष्टद्विस्थानकरसोपेतघातित्वमाश्रित्य सर्वघातिनि रसस्पर्धके उत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमः। अत्रापीयं भावना-नरतिर्यगायुरातपसम्यग्मिथ्यात्वानां सर्वोत्कृष्टद्विस्थानकरसोपेतं सर्वघातिरसस्पर्धकं यदा संक्रामति तदा स तेषामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमः। अत्र नरतिर्यगायुरातपानां "दुतिचउट्ठाणा उ सेसा उ" इति वचनात् द्वित्रिचतुःस्थानकरससंभवेऽपि यत् द्विस्थानकरसस्पर्धकस्यैव संक्रमे उत्कृष्टोऽनुभागसंक्रम उक्तः, स एवं ज्ञापयति—एतेषां कर्मणां तथा स्वाभाव्यादेव त्रिस्थानकचतुःस्थानकरसस्पर्धकानामुद्वर्तनापवर्तनाप्रकृत्यन्तरनयनरूपस्त्रिप्रकारोऽपि संक्रमो न भवतीति।

सेसासु चउट्ठाणे, मंदो संमत्तपुरिससंजलणे।
एगट्ठाणे सेसा-सु सव्वघाइम्मि दुट्ठाणे ॥ ४८ ॥

'सेसासु' त्ति—शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां स्थानमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टश्चतुःस्थानको घातित्वमाश्रित्य सर्वघाती रसो यदा संक्रामति तदा स तासामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रम.। तदेवमुक्तमुत्कृष्टानुभागसंक्रमप्रमाणम्॥ सम्प्रति जघन्यानुभागसंक्रमप्रमाणप्रतिपादनार्थमाह—'मंदो' त्ति सम्यक्त्वस्य पुरुषवेदस्य संज्वलनानां चैकस्थानके रसे संक्रामति मन्दो जघन्योऽनुभागसंक्रमो वेदितव्य.। एतदुक्तं भवति—सम्यक्त्वस्य सर्वविशुद्ध एकस्थानको रसो यदा संक्रामति तदा तस्य जघन्योऽनुभागसंक्रमः, पुरुषवेदसंज्वलनानां च क्षपणकाले यानि समयोनावलिकाद्विकबद्धानि स्पर्धकानि एकस्थानरसोपेतानि तानि यदा संक्रामन्ति तदा स तेषां जघन्योऽनुभागसंक्रमः। 'सेसासु' इत्यादि शेषासूक्तव्यतिरिक्तासु सर्वासु प्रकृतिषु सर्वघातिनि द्विस्थानकरसोपेते स्पर्धके संक्रम्यमाणे जघन्योऽनुभागसंक्रमो वेदितव्य.। इदमत्र तात्पर्यम्-सम्यक्त्वपुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयव्यतिरिक्तानां शेषप्रकृतीनां घातित्वमाश्रित्य सर्वघातीनि, स्थानमाश्रित्य द्विस्थानकरसोपेतानि मन्दानुभावानि यानि रसस्पर्धकानि तानि यदा संक्रामन्ति तदा स तासां जघन्योऽनुभागसंक्रम.। इह यद्यपि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणान्तरायपञ्चकानामेकस्थानकोऽपि रसो बन्धे प्राप्यते तथाऽपि क्षयकालेऽपि प्राग्बद्धो द्विस्थानकोऽपि रसः संक्रामति, नैकस्थानकः केवल इति जघन्यसंक्रमविषयतया नैतेषामेकस्थानकरस उक्त.।

तदेवमुक्तं जघन्यानुभागसंक्रमपरिमाणम्। सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्या। सा च द्विधा—मूलप्रकृतिसाद्यनादिप्ररूपणा उत्तरप्रकृतिसाद्यनादिप्ररूपणा च। तत्र मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह—

अजहण्णो तिण्णि तिहा, मोहस्स चउव्विहो अहाउस्स।
एवमणुक्कोसो से-सगाण तिविहो अणुक्कोसो ॥ ४९ ॥
सेसा मूलप्पगइसु, दुविहा अह उत्तरासु अजहण्णो।
सत्तरसण्ह चउद्धा, तिविकप्पो सोलसण्हं तु ॥ ५० ॥

'अजहण्णो' त्ति-ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानां त्रयाणां कर्मणामजघन्योऽनुभागसंक्रमस्त्रिधा त्रिप्रकारस्तद्यथा-अनादिरध्रुवो,ध्रुवश्च। तथाहि-क्षीणकषायस्यैतेषां कर्मणां समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ जघन्यानुभागसंक्रमो भवति,स च सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः स चानादि.। ध्रुवाध्रुवौ भव्याऽभव्यापेक्षया। मोहनीयस्याजघन्योऽनुभागसंक्रमश्चतुर्विधः। तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि—सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य मोहनीयस्य समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ जघन्योऽनुभागसंक्रमो भवति। स च सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, स च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्योपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति। उपशान्तमोहगुणस्थानकाच्च प्रतिपततः सतः पुनरपि भवति, ततोऽसौ सादिः। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। आयुषस्त्वनुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमश्चतुर्विध.। तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि-अप्रमत्तो देवायुष उत्कृष्टमनुभागं बद्ध्वा बन्धावलिकायाः परतः संक्रमयितुमारभते स च तावत्संक्रमयति यावदनुत्तरसुरभवे स्थितस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यतिक्रामन्ति

आवलिकामात्रा स्थितिरवतिष्ठते । ततोऽन्योऽनुभागसंक्रम आयुषः सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट । स च साऽऽदिः। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । शेषाणां नाम-गोत्रवेदनीयानामनुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमस्त्रिविधस्त्रिप्रकार । तद्यथा—अनादिरध्रुवो ध्रुवश्च । तथाहि—सूक्ष्मसम्परायेण क्षपकेण स्वगुणस्थानकस्य चरमसमये तेषां नामगोत्रवेदनीयानां सर्वोत्कृष्टोऽनुभागो बध्यते । बन्धावलिकायामतीतायां यावत्सयोगिचरमसमयस्तावत्सङ्क्रामति । स च सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः । स चानादिः, आदेरभावात् । ध्रुवाऽध्रुवौ पूर्ववत् । उक्तशेषेषु विकल्पेषु द्विधा प्ररूपणा कर्तव्या । तद्यथा—सादिरध्रुवश्च । तत्र चतुर्णां घातिकर्मणाम् उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्येषु जघन्यः सादिरध्रुवश्च भावित एव । उत्कृष्टः कदाचिन्मिथ्यादृष्टिर्भवति, अन्यदा तु तस्याप्यनुत्कृष्टः, अत एतौ साद्यध्रुवौ । शेषाणां चतुर्णामघातिकर्मणां जघन्याजघन्योत्कृष्टेषु मध्ये उत्कृष्टो भावित एव । जघन्यः सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्यैकेन्द्रियस्य हतप्रभूतानुभागसत्कर्मणो लभ्यते, नान्यस्य । प्रभूतानुभागसत्कर्मघाताभावे तु तस्याप्यजघन्यः । तत एतावपि साद्यध्रुवौ । कृता मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणा ॥ सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह-' अहेत्यादि ' उत्तरासूत्तरप्रकृतिषु मध्ये सप्तदशानां कर्मणामनन्तानुबन्धिचतुष्टयसंज्वलनचतुष्टयनवनोकषायलक्षणानामजघन्योऽनुभागसंक्रमश्चतुर्धा । तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि—एतेषामनन्तानुबन्धिवर्जानां त्रयोदशकर्मणां स्वस्वक्षयपर्यवसानावसरे जघन्यस्थितिसंक्रमकाले जघन्योऽनुभागसंक्रमः प्राप्यते । अनन्तानुबन्धिनां पुनरुद्वलनासंक्रमेणोद्वल्य भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययतो बद्धानां बन्धावलिकायामतीतायां द्वितीयावलिकाया. प्रथमसमये जघन्योऽनुभागसंक्रमः, एतदन्यः पुन. सर्वोऽप्येतासां सप्तदशप्रकृतीनामजघन्यः । स चोपशमश्रेण्यामुपशान्तानामेतासां न भवति तत. प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ सादिः । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । अध्रुवध्रुवौ भव्याभव्यापेक्षया । तथा पञ्चविधज्ञानावरणस्त्यानर्द्धित्रिकवर्ज षड्दर्शनावरणपञ्चविघ्नान्तरायलक्षणानां षोडशकर्मणामजघन्योऽनुभागसंक्रमस्त्रिविकल्पस्त्रिप्रकारस्तद्यथा—अनादिरध्रुवो ध्रुवश्च । तथाहि—एनेषां षोडशकर्मणां जघन्यानुभागसंक्रमः क्षीणकषायस्य स्वगुणगुणस्थानकस्य समयाधिकावलिकाशेषाया स्थितौ वर्तमानस्य प्राप्यते । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः तस्य चादिर्न विद्यते इत्यनादिः । अध्रुवध्रुवौ भव्याऽभव्यापेक्षया ॥ ५० ॥

तिविहो छत्तीसाए, ऽणुक्कोसोऽह नवगस्स य चउद्धा ।
एयासिं सेसाऽसे-सगाण सव्वे य दुविगप्पा ॥ ५१ ॥

' तिविहो ' त्ति सातवेदनीयपञ्चेन्द्रियजातितैजससप्तकसमचतुरस्रसंस्थानशुक्ललोहितहारिद्रसुरभिगन्धकषायाम्लमधुरमृदुलघूष्णशीत (स्निग्धोष्ण) लक्षणशुभवर्णाद्येकादशकागुरुलघूच्छ्वासपराघातप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकनिर्माणलक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमस्त्रिविधस्त्रिप्रकारः । तद्यथा—अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-आसां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां क्षपक आत्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदकाले उत्कृष्टमनुभागं बध्नाति, बद्ध्वा च बन्धावलिकायामतीतायां संक्रमयितुमारभते । त च तावत्संक्रमयति यावत्सयोगिकेवलिचरमसमयः । ततः क्षपकसयोगिकेवलिवर्जस्य शेषस्यानुत्कृष्ट एवानुभाग एतासां संक्रामति । तस्य चादिर्न विद्यत इत्यनादिः, ध्रुवाध्रुवा अभव्यभव्यापेक्षया । 'अहेत्यादि' अथ शब्दस्तथाविधार्थे । नवकस्य-उद्द्योतवर्जर्षभनाराचसंहननौदारिकसप्तकलक्षणस्यानुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमश्चतुर्विधः । तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-एतेषामुद्द्योतवर्जानामष्टानां कर्मणाम् सम्यग्दृष्टिर्देवोऽत्यन्तविशुद्धपरिणाम उत्कृष्टमनुभागं बद्ध्वा बन्धावलिकायामतीतायां संक्रामति । उद्द्योतनाम्नः पुनः सप्तमनरकपृथिव्यां वर्तमानो नैरयिको मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपत्तुकाम उत्कृष्टमनुभागबन्धं करोति । ततो बन्धावलिकायामतीतायां संक्रमयति । तं च जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो द्वे षट्षष्ठी सागरोपमाणां यावत् । इह यद्यपि सप्तमनरकपृथिव्यां चरमेऽन्तर्मुहूर्तेऽवश्यं मिथ्यात्वं गच्छति यथाऽप्यग्रेतने भवेऽन्तर्मुहूर्तानन्तरं य. सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते स इह गृह्यते । ततोऽपान्तराले स्तोको मिथ्यात्वकालो भवन्नपि चिरन्तनग्रन्थेषु न विवक्षित इत्यस्माभिरपि द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावदित्युक्तम् । तत उत्कृष्टात्प्रतिपतितस्यानुत्कृष्टः । स च साऽऽदि.। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवौ भव्याभव्यापेक्षया । ' एयासिं ' मित्यादि एतासां सप्तदशषोडशषट्त्रिंशन्नवकरूपाणां प्रकृतीनामुक्तशेषा विकल्पा उक्तसप्तदशादिव्यतिरिक्ताना च शेषप्रकृतीनामशीतिसंख्यानां सर्वेऽप्युत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्या द्विविकल्पा द्विप्रकारा ज्ञातव्याः। तद्यथा-साद्योऽध्रुवाश्च । तथाहि-सप्तदशाना षोडशाना चोत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमो मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य प्राप्यते । शेषकालं तु तस्याप्यनुत्कृष्ट एव । अत एव ता द्वावपि साद्यध्रुवो जघन्यो भावित एव । तथा षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां नवकस्य च जघन्योऽनुभागसंक्रमः सूक्ष्मैकेन्द्रिये हतप्रभूतानुभागसत्कर्मणि प्राप्यते । प्रभूतानुभागसत्कर्मघाताभावे तु तस्मिन्नप्यजघन्यस्तत एतौ साद्यध्रुवौ । उत्कृष्टो भावित एव । शेषाणां प्रकृतीनां संज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये पर्याप्ते शुभानां वैक्रियसप्तकदेवद्विकोच्चैर्गोत्रातपतीर्थकराहारकसप्तकमनुजद्विकनरकायुर्वर्जशेषायुस्त्रयरूपाणां चतुर्विंशतिसंख्याना विशुद्धावशुभानां च स्त्यानर्द्धित्रिकासातवेदनीयदर्शनमोहनीयत्रितयाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायनरकायुर्नरकद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्ज — शेषजातिचतुष्टयप्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहननाऽशुभवर्णादिनवकाप्रशस्तविहायोगत्युपघातस्थावरदशकनीचैर्गोत्ररूपाणां षट्पञ्चाशत्संख्याना संक्लेशे उत्कृष्टोऽनुभागबन्धो लभ्यते । शेषकालं त्वनुत्कृष्टः एवं संक्रमोऽपि । तत एतौ साद्यध्रुवौ । जघन्योऽनुभागसंक्रम पुन सूक्ष्मैकेन्द्रिये हतप्रभूतानुभागसत्कर्मणि प्राप्यते । प्रभूतानुभागसत्कर्मघाताभावे तु तस्मिन्नप्यजघन्यः । तत एतावपि साद्यध्रुवौ ।

कृता साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम् । तच्च द्विधा उत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामित्वं, जघन्यानुभागसंक्रमस्वामित्वं च । तत्रोत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामित्वमभिधि-

त्सुस्तत्कालप्रमाणनियमनार्थमिदमाह-

उक्कोसगं पबंधिय, आवलियमइच्छिऊण उक्कोसं ।
जावं न घाएइ तगं, संकमइ य आमुहुत्तंतो ॥५२॥

'उक्कोसगं' ति—मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टमनुभागं बद्धा तत आवलिकामतिक्रम्य, बन्धावलिकायाः परत इत्यर्थः । तमुत्कृष्टमनुभागं संक्रमयति तावद्यावन्न विनाशयति । कियन्तं कालं यावत्पुनर्न विनाशयतीति चेदुच्यते-आ मुहूर्तान्तः, अन्तर्मुहूर्तं यावदित्यर्थः । परतो मिथ्यादृष्टिः शुभप्रकृतीनामनुभागं संक्लेशेन अशुभप्रकृतीनां तु विशुद्धयाऽवश्यं विनाशयति ।

सम्प्रति स्वामी प्रतिपाद्यते—

अणुभागं अन्नयरो, सुहुम अपज्जत्तगाइ मिच्छो य ।
वज्जिय असंखवासा-उए य मणुओववाए य ॥ ५३ ॥

'अणुभागं' ति—अशुभानां प्रकृतीनां पञ्चविधज्ञानावरणनवविधदर्शनावरणासातवेदनीयाष्टाविंशतिविधमोहनीयनरकद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्टयप्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहनननीलकृष्णदुरभिगन्धतिक्तकटुकरूक्षशीतकर्कशगुरूपघाताप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मसाधारणापर्याप्तास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रपञ्चविधान्तरायलक्षणानामष्टाशीतिसंख्यानामन्यतरः सूक्ष्मापर्याप्तादिः, आदिशब्दात्—पर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तबादरद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवनारकपरिग्रहः । तत एतेषामन्यतमो मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टमनुभागसंक्रमं करोति । कंवलमसंख्येयवर्षायुषो मनुष्यतिरश्चो ये च देवाः सम्भवाच्च्युत्वा मनुष्येषूत्पद्यन्ते तांश्च मनुष्योपपातान् आनतप्रमुखान् देवान् वर्जयित्वा । एते हि मिथ्यादृष्टयोऽपि नाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरूपाणामुत्कृष्टमनुभागं बध्नन्ति, तीव्रसंक्लेशाभावात् । ततश्चोत्कृष्टानुभागसंक्रमाभाव इति तेषां वर्जनम् ।

सव्वत्थायावुज्जो-यमणुयगइपंचगाण आऊणं ।
समयाहिगालिगा से-सग त्ति सेसाण जोगंता ॥ ५४ ॥

'सव्वत्थ'त्ति—सर्वत्र—सर्वेषु सूक्ष्मापर्याप्तादिषु नैरयिकपर्यवसानेषु असंख्येयवर्षायुस्तिर्यग्मनुष्येषु मनुष्योपपातेषु च देवेषु आनतादिषु मिथ्यादृष्टिषु सम्यग्दृष्टिषु वा । आतपस्योद्योतस्य मनुजगतिपञ्चकस्य मनुजगतिमनुजानुपूर्व्यौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणस्य अत्रौदारिकद्विकग्रहणादौदारिकसप्तकं गृह्यते, तथा विवक्षणात् । ततः सर्वसंख्यया द्वादशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमो वेदितव्यः । तथाहि—सम्यग्दृष्टिः शुभमनुभागं न विनाशयति, किं तु-विशेषतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत् परिपालयति । तत उत्कर्षत एतावन्तं कालं यावदुत्कृष्टमनुभागमविनाश्य पश्चात्सर्वत्र यथायोग्यमुत्पद्यते । ततो मिथ्यादृष्टिष्वप्यनन्तरोक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावद्वाप्यते । आतपोद्योतयोश्चोत्कृष्टोऽनुभागो मिथ्यादृष्टिनैव बध्यते । ततो न तत्र तयोरुत्कृष्टानुभागसंक्रमाभावः । मिथ्यात्वाच्च प्रतिपत्य सम्यक्त्वं गते सम्यग्दृष्टावपि प्राप्यते । न च सम्यग्दृष्टिः सन् तयोरुत्कृष्टमनुभागं विनाशयति, शुभप्रकृतित्वात्, ततो द्वे षट्षष्टी अपि सागरोपमाणां यावदुत्कर्षतस्तयोस्तत्र संक्रमो द्रष्टव्यः । तथा चतुर्णामायुषामुत्कृष्टमनुभागं बद्धा बन्धावलिकायामतीतायां यावत्समयाधिकावलिका शेषा तावदुत्कृष्टानुभागसंक्रमः प्राप्यते । शेषाणां तु शुभप्रकृतीनां सातवेदनीयदेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकतैजससप्तकसमचतुरस्रसंस्थानशुक्ललोहितहारिद्रवर्णसुरभिगन्धकषायाम्लमधुररसमृदुलघुस्निग्धोष्णस्पर्शप्रशस्तविहायोगत्युच्छ्वासागुरुलघुपराघातत्रसादिदशनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणानां चतुःपञ्चाशत्संख्यानामात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये उत्कृष्टमनुभागं बद्धा बन्धावलिकायाः परतस्तावदुत्कृष्टमनुभागं संक्रमयति यावत्सयोगिकेवलिचरमसमयः । तथा चैतासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामिनः प्रायोऽपूर्वकरणादयः सयोगिकेवलिपर्यवसाना द्रष्टव्याः ।

तदेवमुक्त उत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामी, संप्रति जघन्यानुभागसंक्रमस्वामिनं प्रतिपिपादयिषुर्जघन्यानुभागसंक्रमसम्भवपरिज्ञानार्थमाह—

खवगस्संतरकरणे, अकए घाईण सुहुमकम्मुवरिं ।
केवलिणोऽणंतगुणं, असन्निओ सेसअणुभागं ॥ ५५ ॥

'खवगस्स' त्ति-यावद्याप्यन्तरकरणं न विधीयते तावत्क्षपकस्य सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां च प्रकृतीनां सम्बन्धी अनुभागः सूक्ष्मैकेन्द्रियसत्कादनुभागसत्कर्मणोऽनन्तगुणो भवति । अन्तरकरणे तु कृते सति सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यापि सत्कादनुभागसत्कर्मणो हीनो भवति । तथा शेषाणामघातिनीनामशुभप्रकृतीनामसातवेदनीयप्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहननकृष्णनीलदुरभिगन्धतिक्तकटुगुरुकर्कशरूक्षशीतोपघाताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयास्थिराशुभापर्याप्तायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रलक्षणानां त्रिंशत्संख्यानां केवलिनोऽनुभागसत्कर्म असंज्ञिपञ्चेन्द्रियसत्कादनुभागसत्कर्मणोऽनन्तगुणं वेदितव्यम् । तथा च सति सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां च प्रकृतीनां जघन्यानुभागसंक्रमसम्भवः क्षपकस्यान्तरकरणे कृते सति वेदितव्यः । शेषाणां त्वशुभप्रकृतीनामुक्तरूपाणां जघन्यानुभागसंक्रमसंभवः, न सयोगिकेवलिनि, किं तु-हतसत्कर्मणः सूक्ष्मैकेन्द्रियादेः, तस्यैव वक्ष्यमाणत्वात् ।

इह 'संकमइ य आमुहुत्तंतो' इति वचनात्सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयो वा किलान्तर्मुहूर्तात्परतः सर्वप्रकृतीनामनुभागघातं कुर्वन्तीति प्रसक्तम्-तदपवादमाह-

सम्मद्दिट्ठी न हणइ, सुभाणुभागे असम्मदिट्ठी वि ।
सम्मत्तमीसगाणं, उक्कोसं वज्जिया खवगं ॥ ५६ ॥

'सम्मद्दिट्ठि' त्ति-इह याः शुभप्रकृतयः सातवेदनीयदेवद्विकमनुजद्विकपञ्चेन्द्रियजातिप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननौदारिकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकतैजससप्तकशुभवर्णादिकादशकागुरुलघूपघातोच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणाः षट्षष्टिसंख्यास्तासां सर्वासामपि शुभमनुभागमुत्कर्षतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत्सम्यग्दृष्टिर्न विनाशयति । असम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः । अपि शब्दात्सम्यग्दृष्टिश्च सम्यग्मिथ्यात्वयोरुत्कृष्टमनुभागं

न विनाशयति। क्षपणं—क्षपणकालं वर्जयित्वा। एतदुक्तं भवति—क्षपणकाले सम्यग्दृष्टिरपि सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुत्कृष्टमनुभागं विनाशयति, तेन क्षपणकालो वर्ज्यते। तथा चोक्तं पञ्चसंग्रहमूलटीकायाम्—" सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्नोत्कृष्टमनुभागं विनाशयन्ति, अपि तु क्षपकः सम्यग्दृष्टिर्विनाशयति, उभयोरपि दृष्ट्योरिति " मिथ्यादृष्टिः पुनः सर्वासामपि शुभप्रकृतीनां संक्लेशेनाशुभप्रकृतीनां तु विशुद्ध्याऽन्तर्मुहूर्तात्परत उत्कृष्टमनुभागमवश्यं विनाशयति।

तदेवं जघन्यानुभागसंक्रमस्वामित्वप्रतिपादनाय भावना कृता। सम्प्रति जघन्यानुभागसंक्रमस्वामित्वमेवाह—

अंतरकरणा उवरिं, जहन्नठिइसंकमो उ जस्स जहिं।
घाईणँ नियगचरम–रसखंडे दिट्ठिमोहदुगे॥ ५७॥

'अंतरकरण' त्ति–अन्तरकरणादूर्ध्वं घातिकर्मप्रकृतीनां मध्ये यस्याः प्रकृतेर्यत्र गुणस्थानके जघन्यस्थितिसंक्रम उक्तः, तस्यास्तत्र जघन्यानुभागसंक्रमोऽपि वेदितव्यः। एतदुक्तं भवति—अन्तरकरणे कृते सति अनिवृत्तिबादरसंपरायक्षपको नवनोकषायसंज्वलनचतुष्टयानां क्षपणक्रमेण जघन्यस्थितिसंक्रमणकाले जघन्यानुभागसंक्रमं करोति, ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरण—निद्राप्रचलारूपदर्शनाऽऽवरणषट्कानां क्षीणकषायः समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानो जघन्यानुभागसंक्रमं करोति 'नियगे'त्यादि दर्शनमोहनीयद्विकस्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपस्य क्षपणकाले निजकचरमरसखण्डे आत्मीयात्मीयचरमरसखण्डसंक्रमणकाले जघन्यानुभागसंक्रमो भवति।

आऊण जहन्नठिई, बंधिय जाव त्थि संकमो ताव।
उव्वलणातित्थसंजो–यणा य पढमालियं गंतुं॥ ५८॥

' आऊण ' त्ति चतुर्णामप्यायुषां जघन्यां स्थितिं बद्ध्वा, जघन्यां हि स्थितिं बध्नन् जघन्यमनुभागं बध्नातीति जघन्यस्थितिग्रहणम्। ततो जघन्यां स्थितिं बद्ध्वा बन्धावलिकायाः परतस्तावज्जघन्यानुभागं संक्रमयति यावत्समयाधिकावलिका शेषा भवति। ततो जघन्यां स्थितिं बद्ध्वा यावदस्ति संक्रमस्तावज्जघन्यानुभागसंक्रमः प्राप्यते। तथा नरकद्विकमनुजद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकोच्चैर्गोत्रलक्षणानामेकविंशत्युद्वलनप्रकृतीनां तीर्थकरस्यानन्तानुबन्धिनां च जघन्यमनुभागं बद्ध्वा प्रथमावलिकां बन्धावलिकालक्षणां गत्वाऽतिक्रम्य, बन्धावलिकायाः परतः इत्यर्थः। जघन्यमनुभागं संक्रमयति। कः संक्रमयतीति चेदुच्यते—वैक्रियसप्तकदेवद्विकनरकद्विकानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः सूक्ष्मनिगोदः, आहारकसप्तकस्याप्रमत्तः, तीर्थकरस्याविरतसम्यग्दृष्टिः, अनन्तानुबन्धिनां पश्चात्कृतसम्यक्त्वो मिथ्यादृष्टिः संक्रमयतीति।

सेसाण सुहुमहयसं–तकम्मिगो तस्स हेट्ठओ जाव।
बंधइ तावं एगिं–दिओ वऽणेगिंदिओ वाऽवि॥ ५९॥

'सेसाण' त्ति—उक्तशेषाणां शुभानामशुभानाम् प्रकृतीनां सप्तनवतिसंख्यानां यः सूक्ष्मैकेन्द्रियो वायुकायिकोऽग्निकायिको वा हतसत्कर्मा, हतं—विनाशितं प्रभूतमनुभागसत्कर्म येन स हतसत्कर्मा, स तस्यात्मसत्कस्यानुभागसत्कर्मणोऽधस्तात्, ततः स्तोकतरमित्यर्थः, अनुभागं तावद्बध्नाति यावदेकेन्द्रियस्तस्मिन्नन्यस्मिन् वा एकेन्द्रियभवे वर्तमानोऽनेकेन्द्रियो वेति, स एव हतसत्कर्मा एकेन्द्रियोऽन्यस्मिन् द्वीन्द्रियादिभवे वर्तमानो यावदन्यं बृहत्तरमनुभागं न बध्नाति तावत्तमेव जघन्यमनुभागं संक्रमयति।

तदेवमुक्तोऽनुभागसंक्रमः। सम्प्रति प्रदेशसंक्रमाभिधानावसरः। तत्र चैतेऽर्थाधिकाराः, तद्यथा—सामान्यलक्षणभेदैः साद्यनादिप्ररूपणा। उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामी जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामी च। तत्र सामान्यलक्षणप्रतिपादनार्थमाह—

जं दलियमन्नपगइं, निज्जइ सो संकमो पएसस्स।
उव्वलणो विज्झाओ, अहापवत्तो गुणो सव्वो॥ ६०॥

जं'ति'–यत्संक्रमप्रायोग्यं दलिकं कर्मद्रव्यम् अन्यप्रकृतिं नीयेत अन्यप्रकृतिरूपतया परिणम्यते स प्रदेशसंक्रमः। उक्तं सामान्यलक्षणम्॥ सम्प्रति भेदमाह—' उव्वलणो ' इत्यादि। प्रदेशसंक्रमः पञ्चधा। तद्यथा—उद्वलनासंक्रमः, विध्यातसंक्रमः, यथाप्रवृत्तसंक्रमः, गुणसंक्रमः, सर्वसंक्रमश्च। तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात्प्रथमत उद्वलनासंक्रमस्य लक्षणमभिधीयते—इहानन्तानुबन्धिचतुष्टयसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वदेवद्विकनरकद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकमनुजद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणानां सप्तविंशतिप्रकृतीनां प्रथमतः पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति। ततः पुनरपि द्वितीयं स्थितिखण्डं पल्योपमासंख्येयभागमात्रमेव, केवलं प्रथमात् स्थितिखण्डात् विशेषहीनमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति। ततोऽपि तृतीयं स्थितिखण्डं पल्योपमासंख्येयभागमात्रम्, द्वितीयात् स्थितिखण्डात् विशेषहीनमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति। एवं पल्योपमासंख्येयभागमात्राणि स्थितिखण्डानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् स्थितिखण्डाद्विशेषहीनानि तावद्वाच्यानि यावत् द्विचरमं स्थितिखण्डम् सर्वाण्यपि च तानि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्कीर्यन्ते। इह च द्विधा प्ररूपणा—अनन्तरोपनिधया, परम्परोपनिधया च। तत्रानन्तरोपनिधया प्रथमस्थितिखण्डस्य प्रभूता स्थितिः। ततो द्वितीयस्य विशेषहीना। ततोऽपि तृतीयस्य विशेषहीना। एवं यावद् द्विचरमं स्थितिखण्डम्। कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा॥ संप्रति परम्परोपनिधया क्रियते—तत्र प्रथमस्थितिखण्डापेक्षया कानिचित् स्थितिखण्डानि स्थित्यपेक्षयाऽसंख्येयभागहीनानि, कानिचित्संख्येयभागहीनानि, कानिचित्संख्येयगुणहीनानि, कानिचिदसंख्येयगुणहीनानि। यदा तु प्रदेशपरिमाणं चिन्त्यते, तदा प्रथमस्थितिखण्डात् द्वितीयं स्थितिखण्डं दलिकापेक्षया विशेषाधिकम्। ततोऽपि तृतीयं विशेषाधिकम्, एवं तावद्वाच्यं यावत् द्विचरमं स्थितिखण्डम्। इयमनन्तरोपनिधा। परम्परोपनिधा पुनरियम्–प्रथमात् स्थितिखण्डाद्दलिकमपेक्ष्य किंचिदसंख्येयभागाधिकम्, किंचित्संख्येयभागाधिकम्, किंचित्संख्येयगुणाधिकम्, किंचिदसंख्येयगुणाधिकम्, स्थितिखण्डानां चोत्करणविधिरयम्–प्रथमसमये स्तोकं दलिकमुत्किरति। द्वितीये समयेऽसंख्ये-

यगुणम्। ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्। एवं तावद्वाच्यं यावदन्तर्मुहूर्तस्य चरमसमयः। गुणकारश्चात्र पल्योपमासंख्येयभागलक्षणो वेदितव्यः। एवं सर्वेष्वपि स्थितिखण्डेषु द्रष्टव्यम्। दलिकं चोत्कीर्य क्व प्रक्षिप्यत इति चेदुच्यते-किंचित्स्वस्थाने किंचित्परस्थाने। तत्र कियत्प्रक्षिप्यत इति विशेषतो निरूप्यते-प्रथमे स्थितिखण्डे प्रथमसमये यत्कर्मदलिकमन्यप्रकृतिषु प्रक्षिपति तत् स्तोकम्। यत् स्वस्थान एवाधस्तात्प्रक्षिप्यते तत्ततोऽसंख्येयगुणम्। ततोऽपि द्वितीयसमये यत्स्वस्थाने प्रक्षिप्यते तदसंख्येयगुणम्। परप्रकृतिषु पुनर्यत् प्रक्षिप्यते तत्प्रथमसमयपरस्थानप्रक्षिप्ताद्विशेषहीनम्। तृतीयसमये यत्स्वस्थाने प्रक्षिप्यते तत् द्वितीयसमयस्वस्थानप्रक्षिप्तादसंख्येयगुणम्। यत्पुनः परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते,तत् द्वितीयसमयपरस्थानप्रक्षिप्ताद्विशेषहीनम्। एवं तावद्वाच्यं यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमयः। एवं सर्वेष्वपि स्थितिखण्डेषु द्विचरमस्थितिखण्डपर्यवसानेषु वाच्यम्।सम्प्रति चरमखण्डस्य विधिरुच्यते-चरमस्थितिखण्डं द्विचरमस्थितिखण्डापेक्षयाऽसंख्येयगुणं तदपि चरमस्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्कीर्यते। तस्य च यत्प्रदेशाग्रं तदुदयावलिकागतं मुक्त्वा शेषं सर्वं परस्थाने प्रक्षिपति। तद्यथा-प्रथमसमये स्तोकं, द्वितीये समयेऽसंख्येयगुणं, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्, एवं यावच्चरमसमयः। चरमसमये तु यत्परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते दलिकं स सर्वसंक्रम उच्यते। तत्र यावत्प्रमाणं द्विचरमस्थितिखण्डसत्कं कर्मदलिकं चरमसमये परप्रकृतिषु संक्रमयति, तावत्प्रमाणं चेच्चरमस्थितिखण्डस्य कर्मदलिकं प्रतिसमयमपह्रियते तर्हि तच्चरमं स्थितिखण्डमसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निर्लेपीभवति एषा कालतो मार्गणा। क्षेत्रतः पुनरियम्-यावत्प्रमाणं द्विचरमस्थितिखण्डसत्कं कर्मदलिकं परप्रकृतिषु संक्रमयति, तावत्प्रमाणं कर्मदलिकं चरमस्थितिखण्डस्य सत्कमेकत्रापह्रियते, अन्यत्र एक आकाशप्रदेशः। एवमपह्रियमाणं चरमस्थितिखण्डमङ्गुलमात्रक्षेत्रगतप्रदेशराशेरसंख्येयतमेन भागेनापह्रियते। अङ्गुलस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्ति चरमस्थितिखण्डे यथोक्तप्रमाणानि खण्डानि भवन्तीत्यर्थः। यावत्प्रमाणं पुनर्द्विचरमस्थितिखण्डसत्कं कर्मदलिकं स्वस्थाने संक्रमयति, तावत्प्रमाणं चेच्चरमस्थितिखण्डस्य कर्मदलिकं प्रतिसमयमपह्रियते तर्हि तच्चरमं स्थितिखण्डं पल्योपमासंख्येयभागमात्रगतैः समयैर्निर्लेपीभवति।

तदेवमुक्तमुद्वलनासंक्रमलक्षणम्। सम्प्रत्येतदेव लक्षणं योजयन्नाहारकसप्तकस्योद्वलनासंक्रमकारकमाह—

आहारतणु भिन्नमु-हुत्ता अविरइगओ पउव्वलए।
जा अविरतो त्ति उव्वल-इ पल्लभागे असंखतमे ॥६१॥

'आहार' त्ति—आहारकसप्तकसत्कर्माऽविरतिविरत्यभावगतः सन् अन्तर्मुहूर्तात्परत आहारकतनुम्, इहाहारकग्रहणेनाहारकसप्तकं गृहीतं द्रष्टव्यम्। ततः आहारकसप्तकम्। 'पउव्वलए' त्ति प्रोद्वलयति। कियता पुनः कालेनोद्वलयतीति चेदुच्यते—यावदविरतिस्तावदुद्वलयति। एतेनाविरतिप्रत्यया आहारकसप्तकस्योद्वलना प्रतिपादिता द्रष्टव्या। अविरतिश्चानन्तमपि कालं यावद्भवति, ततो नियममाह—' पल्लभागे असंखतमे ' पल्योपमस्यासंख्येयतमेन भागेन-सर्वमुद्वलयतीत्यर्थः।

अंतोमुहुत्तमद्धं, पल्लासंखिज्जमित्तठिइखंडं।
उक्किरइ पुणो वि तहा, ऊणूणमसंखगुणहं जा ॥ ६२ ॥

'अंतोमुहुत्त' ति-अन्तर्मुहूर्तप्रमाणामद्धा यावदन्तर्मुहूर्तेन-कालेनेत्यर्थः। पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमुत्किरति। एष विधिः प्रथमखण्डस्य॥ ततः पुनरपि तथा तेनैव प्रकारेणान्तर्मुहूर्तेन कालेनान्यत् पल्योपमासंख्येयभागमात्रं खण्डं पूर्वस्मादूनमूनतरमुत्किरति। एवं तावद्वाच्यं यावद् द्विचरमं स्थितिखण्डम्। तच्च प्रथमस्थितिखण्डापेक्षयाऽसंख्येयगुणहीनम्।

तं दलियं सत्थाणे, समए समए असंखगुणियाए।
सेढीए परठाणे विसेसहाणीएँ संछुभइ ॥ ६३ ॥

'तं' ति—तदुत्कीर्यमाणं दलिकं समये समये स्वस्थाने असंख्येयगुणितया श्रेण्या संछुभते—प्रक्षिपति। यत्पुनः परस्थाने परप्रकृतौ तद्विशेषहान्या। तद्यथा-प्रथमसमये यत् परप्रकृतौ प्रक्षिपति तत् स्तोकम्। यत्पुनः स्वस्थाने एवाधस्तात् प्रक्षिप्यते, तत्ततोऽसंख्येयगुणम्। ततोऽपि द्वितीयसमये यत् स्वस्थाने प्रक्षिप्यते तदसंख्येयगुणम्। परप्रकृतिषु पुनर्यत् प्रक्षिप्यते तत्प्रथमसमये परस्थानप्रक्षिप्ताद्विशेषहीनम्। एवं तावत्प्रतिसमयं वाच्यं यावदन्तर्मुहूर्तस्य चरमसमयः। एष प्रथमस्थितिखण्डस्योत्करणविधिः। एवमन्येषामपि द्रष्टव्यम्।

जं दुचरमस्स चरिमे, अन्नं संकमइ तेण सव्वं पि।
अंगुलअसंखभागे-ण हीरए एस उव्वलणा ॥ ६४ ॥

'जं' ति-द्विचरमस्थितिखण्डस्य चरमसमये यत् कर्मदलिकमन्यां प्रकृतिं संक्रमयति, तेन मानेन—तावत्प्रमाणेन दलिकेनेत्यर्थः। यदि चरमं स्थितिखण्डमपह्रियते, ततः कालतोऽसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियते क्षेत्रतः पुनरङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयतमेन भागेन। एषा प्रागुक्ता द्विचरमस्थितिखण्डं यावदाहारकसप्तकस्योद्वलना।

सम्प्रति चरमस्थितिखण्डकस्य वक्तव्यतामाह—

चरममसंखिज्जगुणं, अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
देइपरत्थाणे ए- वं संछुभंतीणि(एव)मविकसिणो ॥६५॥

'चरमं' ति-द्विचरमस्थितिखण्डाच्चरमं स्थितिखण्डं स्थित्यपेक्षयाऽसंख्येयगुणम्। तथा तस्य चरमखण्डस्य यत्प्रदेशाग्रं तदुदयावलिकागतं मुक्त्वा शेषं परस्थाने परप्रकृतिषु। अनुसमयम्-प्रतिसमयम् असंख्येयगुणनया श्रेण्या प्रक्षिपति। तद्यथा-प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्। एवं यावच्चरमसमयः। एवममुना प्रकारेण परप्रकृतौ प्रक्षिप्यमाणानां प्रकृतीनाम्। अपि सम्भावने। चरमसमये यः कृत्स्नसंक्रमो भवति स सर्वसंक्रमः। एतेन सर्वसंक्रमस्य लक्षणं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्।

सम्प्रति वेदकसम्यक्त्वादीनामुद्वलनासंक्रमकारकानाह—

एवं मिच्छद्दिट्ठि—स्स वेयगं मीसगं ततो पच्छा।

एगिंदियस्स सुरदुग-मओ स वेउव्विनिरयदुगं ॥६६॥

'एवं' त्ति-अष्टाविंशतिसत्कर्मा मिथ्यादृष्टिः प्रथमत एवमुपदर्शितेन प्रकारेण सम्यक्त्वमुद्वलयति, ततः सम्यग्मिथ्यात्वम्। तथा एकेन्द्रियाद्याहारकसप्तकरहिता या नामकर्मणः पञ्चनवतिप्रकृतयस्तत्सत्कर्मा देवगतिदेवानुपूर्व्यौ पूर्वोक्तेन विधिना युगपदुद्वलयति ततोऽनन्तरं वैक्रियसप्तकं नरकद्विकं च युगपदुद्वलयति।

सुहुमतसेगो उत्तम-मओ य नरदुगमहानियट्टिम्मि।
छत्तीसाए नियगे, संजोयणादिट्ठिजुयले य ॥ ६७॥

'सुहुम' त्ति-सूक्ष्मत्रसस्तैजस्कायिको वायुकायिकश्च। उत्तमं गोत्रमुच्चैर्गोत्रम्। प्रथमतः पूर्वोक्तेन विधिनोद्वलयति। ततो नरद्विकं-मनुजगतिमनुजानुपूर्वीलक्षणम्। तदेवं मिथ्यादृष्टेरुद्वलना प्रतिपादिता॥ सम्प्रति सम्यग्दृष्टेः प्रतिपाद्यते—' अहानियट्टिम्मि छत्तीसाए ' त्ति अथशब्दोऽधिकारान्तरसूचकः। किमिदमधिकारान्तरमिति चेदुच्यते—प्राक्तनीनां प्रकृतीनामुद्वलना पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन भवति यथायोगं मिथ्यादृष्टेश्च, वक्ष्यमाणानां चान्तर्मुहूर्तेन कालेन सम्यग्दृष्टीनां चेत्यधिकारान्तरता। अनिवृत्तावनिवृत्तबादरसम्पराये षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामुद्वलना। एतदुक्तं भवति-अनिवृत्तिबादरसम्परायः क्षपकः स्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकनवनोकषायसंज्वलनक्रोधमानमायालक्षणाः षट्त्रिंशत्प्रकृतीः स्वक्षपणकालेऽन्तर्मुहूर्तेन कालेनोद्वलयति। 'नियगे' इत्यादि,निजके-आत्मीये क्षपके-स्वक्षपके,अविरतसम्यग्दृष्ट्यादावित्यर्थः। संयोजनदृष्टियुगले च। अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी, संयोजनानामनन्तानुबन्धिनां दृष्टियुगलस्य च मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्च पूर्वोक्तविधिनोद्वलनाऽन्तर्मुहूर्तेन कालेनावगन्तव्या।

तदेवमुद्वलनासंक्रम उक्तः। सम्प्रति विध्यातसंक्रमस्य लक्षणमाह—

जासि न बंधो गुणभव-पच्चयओ तासि होइ विज्झाओ।
अंगुलअसंखभागो, ववहारो तेण सेसस्स ॥ ६८॥

' जासि ' त्ति—यासां प्रकृतीनां गुणप्रत्ययतो भवप्रत्ययतो वा बन्धो न भवति तासां विध्यातसंक्रमोऽवसेयः। कास्ता भवप्रत्ययतो गुणप्रत्ययतो वा बन्धं नायान्तीति चेदुच्यते—इह या मिथ्यादृष्टिगुणस्थानान्ताः षोडश प्रकृतयस्तासां सासादनादिषु गुणप्रत्ययतो बन्धो न भवति। सासादनान्तानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, अविरतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां दशानां देशविरतादिषु, देशविरतान्तानां च चतसृणां प्रमत्तादिषु, प्रमत्तान्तानां षण्णामप्रमत्तादिषु, गुणप्रत्ययतो बन्धो न भवति। ततस्तासां तत्र तत्र विध्यातसंक्रमः प्रवर्तते। तथा वैक्रियसप्तकदेवद्विकनरकद्विकैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणापर्याप्ताऽऽतपलक्षणानां विंशतिप्रकृतीनां नैरयिका मिथ्यात्वादिरूपे हेतौ विद्यमानेऽपि भवप्रत्ययतो बन्धका न भवन्ति। नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणानां सप्तदशप्रकृतीनां समस्ता अपि देवा भवप्रत्ययतो बन्धका नोपजायन्ते। एकेन्द्रियजात्यातपस्थावरनाम्नामपि सनत्कुमारादयः। संहननषट्कसमचतुरस्रवर्जसंस्थानपञ्चकनपुंसकवेदमनुजद्विकौदारिकसप्तकतिर्यग्गेकान्तयोग्यस्थावरादिप्रकृतिदशकदुर्भगादित्रिकनीचैर्गोत्राप्रशस्तविहायोगतिप्रकृतीनां त्वसंख्येयवर्षायुषः। एवं यस्य यत् यत् कर्म भवप्रत्ययतो गुणप्रत्ययतो वा न बन्धमायाति तत्तत्तस्य तस्य विध्यातसंक्रमयोग्यं वेदितव्यम्। दलिकप्रमाणनिरूपणार्थमिदमाह—' अंगुले ' त्यादि यावत्प्रमाणं कर्मदलिकं प्रथमसमये विध्यातसंक्रमेण परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते, तेन मानेन शेषस्य दलिकस्यापहारे क्रियमाणेऽङ्गुलस्यासंख्येयतमेन भागेनापहारो भवति। इयमत्र भावना-यावत्प्रमाणं प्रथमसमये कर्मदलिकं विध्यातसंक्रमेण प्रकृत्यन्तरे प्रक्षिप्यते, तावत्प्रमाणैः खण्डैः शेषं सर्वमपि तत्प्रकृतिगतं दलिकमपह्रियमाणमङ्गुलमात्रस्य क्षेत्रस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्संख्याकैरपह्रियते। इदं क्षेत्रतो निरूपणम्। कालतस्त्वसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपहारः। अयं च विध्यातसंक्रमः प्रायो यथाप्रवृत्तसंक्रमावसाने वेदितव्यः। (गुणसंक्रमस्य लक्षणं ' गुणसंकम ' शब्दे तृतीयभागे ६३० पृष्ठे गतम्।)

सम्प्रति यथाप्रवृत्तसंक्रामस्य लक्षणं प्रतिपादयति-

बंधे अहापवत्तो, परित्तिओ वा अबंधे वि ॥ ६९ ॥

'बंधे'इत्यादि,ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां बन्धे सति यथाप्रवृत्तसंक्रमः प्रवर्तते। 'परित्तिओ वा इति,'परि'त्ति अनेन परावर्तमानाः प्रकृतय उच्यन्ते। तासामबन्धेऽपि आस्तां बन्धे इत्यपिशब्दार्थः, यथाप्रवृत्तसंक्रमो भवति। इयमत्र भावना-सर्वेषामपि संसारस्थानमसुमतां ध्रुवबन्धिनीनां बन्धे परावर्तमानप्रकृतीनां तु स्वस्वभवबन्धयोग्यानां बन्धेऽबन्धे वा यथाप्रवृत्तसंक्रमो भवति।

सांप्रतमेतैरेवोद्वलनासंक्रमविध्यातसंक्रमगुणसंक्रमयथाप्रवृत्तसंक्रमैरपहारकालस्याल्पबहुत्वमभिधीयते-

थोवोवहारकालो, गुणसंकमरोण संखगुणणाए।
सेसस्स ऽहापवत्ते, विज्झाए उव्वलणनामे ॥ ७० ॥

'थोवो' त्ति-उद्वलनासंक्रमाभिधानावसरे यत्प्रागभिहितं चरमखण्डं तच्छेषमित्युच्यते। तस्य शेषस्य यदि गुणसंक्रममानेनापहारः क्रियते, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन सकलमपि तदपह्रियते। ततो गुणसंक्रमेणापहारकालः सर्वस्तोकः। ततो यथाप्रवृत्तसंक्रमेणापहारकालोऽसंख्येयगुणः। यतस्तदेव चरमखण्डं यदि यथाप्रवृत्तसंक्रमेणापह्रियते तर्हि पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेनापह्रियते। ततो विध्यातसंक्रमेणापहारकालोऽसंख्येयगुणः। यतस्तदेव चरमखण्डं यदि विध्यातसंक्रमेणापह्रियते ततोऽसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियते। ततोऽप्युद्वलनासंक्रमेणापहारकालोऽसंख्येयगुणः। तथाहि—तदेव चरमखण्डं द्विचरमस्थितिखण्डस्य चरमसमये यत्परप्रकृतौ प्रक्षिप्यते तेन मानेन चेदपह्रियते, ततोऽतिप्रभूताभिरसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियते। ततः पाश्चात्यादयमुद्वलनासंक्रमेणापहारकालोऽसंख्येयगुणः।

इह प्राग्यथाप्रवृत्तसंक्रमस्य कालो नोक्तः, उद्वलनासंक्रमेऽपि यद् द्विचरमं स्थितिखण्डं तस्य चरमसमये स्वस्थाने यत्कर्मदलिकं प्रक्षिप्यते तेन मानेन शेषस्य चरमस्थितिखण्डस्यापहारकालो नोक्तस्ततस्तन्निरूपणार्थमाह—

पल्लासंखियभागेण-हापवत्तेण सेसगऽवहारो ।
उव्वलणेण वि थिवुगो, अणुइण्णाए उ जं उदए ॥७१॥

'पल्ल' त्ति—उद्वलनासंक्रमे यच्चरमं स्थितिखण्डं तस्य यदि यथाप्रवृत्तसंक्रममानेनापहारः क्रियते, तर्हि पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन निःशेषतोऽपहारो भवति। उद्वलनासंक्रमेणापि द्विचरमस्थितिखण्डकस्य चरमसमये यत्स्वस्थाने प्रक्षिप्यते दलिकं तेन मानेन चरमस्थितिखण्डस्यापहारकालः पल्योपमासंख्येयभागलक्षणो वेदितव्यः । तत एतौ द्वावपि तुल्यौ । इहान्योऽपि चतुः स्तिबुकसंक्रमोऽस्ति, परं नासौ संक्रमकरणे सम्बध्यते करणलक्षणासम्भवात् । करणं हि सलेश्यं वीर्यमुच्यते । अथ च लेश्यातीतोऽपि भगवानयोगिकेवली द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीः स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति । अपि च स्तिबुकसंक्रमेण संक्रान्तं दलिकं न सर्वथा पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमते, ततो नासौ संक्रमे संबध्यते । परमेषोऽपि संक्रम इति संक्रमप्रस्तावात्तल्लक्षणनिरूपणार्थमाह—'थिबुगो' इत्यादि अनुदीर्णाया-अनुदयप्राप्तायाः सत्कं यत्कर्मदलिकं सजातीयप्रकृतावुदयप्राप्तायां समानकालस्थितौ संक्रमयति संक्रमश्च चानुभवति, यथा मनुजगतावुदयप्राप्तायां शेषं गतित्रयम्, एकेन्द्रियजातौ जातिचतुष्टयमित्यादि स स्तिबुकसंक्रमः । एष एव च प्रदेशानुभवः ।

तदेवमुक्तं लक्षणं भेदश्च । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्या । तत्र मूलप्रकृतीनां परस्परं संक्रमो न भवति, तत उत्तरप्रकृतीनामेव साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह—

धुवसंकमअजहन्नो, ऽणुक्कोसो तासि वा विवज्जित्तु ।
आवरणनवगविग्घं, ओरालियसत्तगं चेव ॥ ७२ ॥
साइयमाइ चउद्धा, सेसविगप्पा य सेसगाणं च ।
सव्वविगप्पा नेया, साई अधुवा पएसम्मि ॥ ७३ ॥

'धुवसंकम' त्ति-प्रागुक्तानां ध्रुवसत्कर्मणां षड्विंशत्युत्तरशतसंख्यानामजघन्यः प्रदेशसंक्रमश्चतुर्धा-चतुष्प्रकारः । तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तत्र क्षपितकर्मांशो वक्ष्यमाणलक्षणः क्षपणार्थमभ्युद्यतो ध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनां सर्वासामपि जघन्यं प्रदेशसंक्रमं करोति, स च सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः । स चोपशमश्रेण्यां बन्धव्यवच्छेदे सति सर्वासामपि प्रकृतीनां न भवति, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ साऽऽदिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । अनुत्कृष्टोऽपि प्रदेशसंक्रमो ध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनां चतुर्धा । किं सर्वासामित्याह—आवरणनवकं ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयलक्षणम्, तथाऽन्तरायपञ्चकमौदारिकसप्तकं च वर्जयित्वा शेषस्य पञ्चोत्तरप्रकृतिशतस्य । तथाहि—सर्वासामपि प्रकृतीनां गुणितकर्मांशे वक्ष्यमाणलक्षणे क्षपणार्थमभ्युद्यते उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमः प्राप्यते, नान्यत्र । ततोऽसौ सादिः । तस्मादन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः, स चोपशमश्रेण्यां व्यवच्छिद्यते, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ साऽऽदिः-तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया ।'सेसे' त्यादि शेषविकल्पाः पञ्चोत्तरशतस्य जघन्य उत्कृष्टश्च ज्ञानावरणीयाद्येकविंशतिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टाः सादयोऽध्रुवाश्च । तत्र पञ्चोत्तरशतस्य जघन्य उत्कृष्टश्च साद्यध्रुवतया भावित एव ज्ञानावरणीयादीनां चोत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो गुणितकर्मांशे मिथ्यादृष्टौ कदाचिल्लभ्यते, शेषकालं त्वनुत्कृष्टः । तत एतौ द्वावपि साद्यध्रुवौ । जघन्यस्तु साद्यध्रुवतया भावित एव । शेषप्रकृतीनां च सर्वेऽप्युत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यविकल्पा अध्रुवसत्कर्मत्वात् मिथ्यात्वध्रुवसत्कर्मणोऽपि सदैव पतद्ग्रहाप्राप्तेर्नीचैर्गोत्रसातासातवेदनीयानां तु परावर्तमानत्वात् साद्योऽध्रुवाश्चावगन्तव्याः ।

तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा । साम्प्रतमुत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामित्वमभिधातव्यम् । तच्च गुणितकर्मांशे लभ्यत इति तन्निरूपणार्थमाह—

जो बायरतसकाले,णूणं कम्मट्ठिइं तु पुढवीए ।
बायर (रि) पज्जत्ताप-ज्जत्तगदीहेयरद्धासु ॥ ७४ ॥
जोगकसा उक्कोसो, बहुसो निच्चमवि आउबंधं च ।
जोगजहेणुवरि-ल्लठिइनिसेगं बहुं किच्चा ॥ ७५ ॥

'जो बायर' त्ति—इह द्विधा त्रसाः—सूक्ष्माः, बादराश्च । तत्र बादरा द्वीन्द्रियादयः, सूक्ष्मास्तेजोवायुकायिकाः । तत्र सूक्ष्मत्रसव्यवच्छेदार्थं बादरग्रहणम् । बादरत्रसानां द्वीन्द्रियादीनां यः कायस्थितिकालः पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकद्विसहस्रसागरोपमप्रमाणः, तेनोनां कर्मस्थितिं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां यावत् पृथिव्यां बादरे बादरपृथिवीकायभवेषु स्थित्वा । कथं स्थित्वेत्यत आह—'पज्जत्तापज्जत्तगदीहेयरद्धासु' त्ति दीर्घेतराऽद्धाभ्यां पर्याप्तापर्याप्तयोर्यथासंख्येन योजना । ततोऽयमर्थः—दीर्घाऽद्धं पर्याप्तभवेषु, इतराऽद्धं स्तोकाद्धमपर्याप्तभवेषु। प्रभूतेषु पर्याप्तभवेषु स्तोकेषु चापर्याप्तभवेषु स्थित्वेत्यर्थः । तथा बहुशोऽनेकवारम् । योगकषायोत्कृष्ट उत्कृष्टेषु योगस्थानेषु उत्कृष्टेषु च काषायिकेषु संक्लेशपरिणामेषु वर्तित्वा । इह शेषैकेन्द्रियेभ्यो बादरपृथिवीकायस्य प्रभूतमायुस्तेनाव्यवच्छिन्नं तस्य प्रभूतकर्मपुद्गलोपादानम् । बलवत्तया च तस्यातीव वेदनासहिष्णुत्वम् । तेन तस्य प्रभूतकर्मपुद्गलपरिशाटो न भवतीति बादरपृथिवीकायिकग्रहणम् । अपर्याप्तभवग्रहणं च परिपूर्णकायस्थितिपरिग्रहार्थम् । तेषां चापर्याप्तकभवानां स्तोकानां पर्याप्तकभवानां च प्रभूतानां ग्रहणं प्रभूतकर्मपुद्गलपरिशाटाभावप्राप्त्यर्थम् अन्यथा हि निरन्तरमुत्पद्यमानम्रियमाणेषु बहवः पुद्गलाः परिसटन्ति । न च तेन प्रयोजनम् उत्कृष्टेषु च योगस्थानेषु वर्तमानः प्रभूतं कर्मदलिकमादत्ते, उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामश्चोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति प्रभूतां चोद्वर्तयति स्तोकं चापवर्तयति, अतो योगकषायोत्कृष्टग्रहणम् । 'निच्चमि' त्यादि, नित्यं सर्वकालं भवे भवे आयुर्बन्धकाले जघन्ये योगे वर्तमानः—आयुर्बन्धं कृत्वा । उत्कृष्टे हि आयुःप्रायोग्ये योगे वर्तमानः प्रभूतानायुःपुद्गलान् आदत्ते, तथा स्वाभाव्याच्च ज्ञानावरणीयस्य

प्रभूतान् पुद्गलान् परिसाटयति । न च तेन प्रयोजनम् , अतो जघन्ययोगग्रहणम् । तथोपरितनीषु स्थितिषु निषेकं कर्मदलिकन्यासरूपं बहु स्वभूमिकानुसारेणातिशयेन प्रभूतं कृत्वा । एवं बादरपृथ्वीकायिकेषु मध्ये पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकसागरोपमसहस्रद्वयन्यूनाः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीः संसृत्य ततो विनिर्गच्छति, विनिर्गत्य च बादरत्रसकायेषु द्वीन्द्रियादिषु मध्ये समुत्पद्यते ।

बायरतसेसु तका-लमेवमंते य सत्तमखिईए ।
सव्वलहुं पज्जत्तो, जोगकसायाहिओ बहुसो ॥ ७६ ॥

'बायर' त्ति-एव पूर्वोक्तेन विधिना-"पज्जत्तापज्जत्तग-दीहेयरद्धासु॥ जोगकसाउक्कोसो,बहुसो निच्चमवि आउबन्धं च। जोगजहएणुवरि-ल्लठिइनिसेगं बहुं किच्चा ॥१॥" इत्येवंरूपेण बादरत्रसेषु तत्कालं बादरत्रसकायस्थितिकालं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकसागरोपमसहस्रद्वयप्रमाणं परिभ्रम्य यावतो वारान् सप्तमीं नरकपृथिवीं गन्तुं योग्यो भवति तावतो वारान् गत्वा अन्तिमे सप्तमपृथिवीनारकभवे वर्तमानः । इह दीर्घजीवित्वं योगकषायोत्कटता च लभ्यत इति यावत्सम्भवसप्तमनरकपृथ्वीगमनग्रहणम् । तथा सप्तमपृथ्वीनारकभवे सर्वलघुपर्याप्तः सर्वेभ्योऽप्यन्येभ्यो नारकेभ्यः शीघ्रं पर्याप्तभावमुपगतः । इहापर्याप्तापेक्षया पर्याप्तस्य योगोऽसंख्येयगुणो भवति । तथा च सति तस्यातीव प्रभूतकर्मपुद्गलोपादानसम्भवः । तेन चेह प्रयोजनमिति सर्वलघुपर्याप्त इत्युक्तम् । बहुशश्चानेकवारं च तस्मिन् भवे वर्तमानो योगकषायाधिक उत्कृष्टानि योगस्थानानि उत्कृष्टांश्च काषायिकान् परिणामविशेषान् गच्छन् ।

जोगजवमज्झ उवरिं, मुहुत्तमच्छित्तु जीवियवसाणे ।
तिचरिमदुचरिमसमए, पूरित्तु कसायउक्कस्सं ॥ ७७ ॥
जोगुक्कोसं चरिमदु-चरिमे समए य चरिमसमयम्मि ।
संपुण्णगुणियकम्मो, पगयं तेणेह सामित्ते ॥ ७८ ॥

' जोग ' त्ति—योगयवमध्यस्योपरि अष्टसामायिकानां योगस्थानानामुपरीत्यर्थः । अन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् स्थित्वा जीवितावसानेऽन्तर्मुहूर्ते आयुषः शेषे । एतदुक्तं भवति—अन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि योगयवमध्यस्योपरि असंख्येयगुणवृद्ध्याऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् प्रवर्धमानो भूत्वा । ततः किमित्याह-' तिचरिमे' त्यादि त्रयश्चरमा यस्मात्स त्रिचरमः यत आरभ्यान्तिमः समयस्तृतीयो भवति, स त्रिचरम इत्यर्थः। तस्मिन् भवस्य त्रिचरमे द्विचरमे च समये वर्तमान उत्कृष्टं काषायिकं संक्लेशस्थानं पूरयित्वा चरमे द्विचरमे च समये योगस्थानमपि चोत्कृष्टं पूरयित्वा । इहोत्कृष्टो योग उत्कृष्टश्च सङ्क्लेशो युगपदेकमेव समय यावत् प्राप्यते, नाधिकमिति विषमसमयतया उत्कृष्टयोगोत्कृष्टकषायस्थानग्रहणम् । त्रिचरमे द्विचरमे च समये उत्कृष्टसंक्लेशग्रहणं प्रभूतोद्वर्तनास्वल्पापवर्तनाभावनार्थं, द्विचरमे चरमे च समये उत्कृष्टयोगग्रहणं परिपूर्णप्रदेशोपचयसम्भवार्थम् । स इत्थंभूतो नारकभवस्य चरमसमये वर्तमानः सम्पूर्णगुणितकर्मांशो भवति, तेन च सम्पूर्णगुणितकर्मांशेन इहोत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामित्वे प्रकृतमधिकारः । तदेवमुक्तो गुणितकर्मांश ।

सम्प्रति स्वामित्वमभिधीयते-

तत्तो उव्वट्टित्ता, आवलिगासमयतब्भवत्थस्स ।
आवरणविग्घचोद्दस-गोरालियसत्त उक्कोसो ॥ ७९ ॥

'तत्तो' त्ति-स गुणितकर्मांशस्ततः सप्तमपृथ्वीरूपान्नरकादुद्वृत्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मध्ये समुत्पन्नस्ततस्तद्भवस्थस्य तस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियभवे तिष्ठतः प्रथमावलिकाया उपरितने चरमे समये ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकौदारिकसप्तकलक्षणानामेकविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशसंक्रमो भवति । एतासां हि कर्मप्रकृतीनां नारकभवचरमसमये उत्कृष्टयोगवशात् प्रभूतं कर्मदलिकमात्रम् । तच्च बन्धावलिकायामतीतायां संक्रमयति , नान्यथा । अन्यत्र चैतावत् प्रभूतं कर्मदलिकं न प्राप्यत इति ' आवलिगासमयतब्भवत्थस्स ' इत्युपात्तम् ।

कम्मचउक्के असुभा-ण बज्झमाणीण सुहुमरागंते ।
संछोभणम्मि नियगे, चउवीसाए नियट्टिस्स ॥ ८० ॥

'कम्मचउक्के' त्ति—कर्मचतुष्के दर्शनावरणवेदनीयनामगोत्रलक्षणे या अशुभाः सूक्ष्मसम्परायावस्थायामबध्यमानाः प्रकृतयो निद्राद्विकासातवेदनीयप्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहननाशुभवर्णादिनवकोपघाताप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तास्थिराशुभगदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रलक्षणा द्वात्रिंशत्प्रकृतयस्तासां गुणितकर्मांशस्य क्षपकस्य सूक्ष्मसम्परायस्यान्ते चरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति । तथाऽनिवृत्तिबादरस्य गुणितकर्मांशस्य क्षपकस्य मध्यमकषायाष्टकस्त्यानर्द्धित्रिकतिर्यग्द्विकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मसाधारणनोकषायषट्करूपाणां चतुर्विंशतिप्रकृतीनाम् आत्मीये आत्मीये चरमसंछोभे चरमसंक्रमे उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति ।

तत्तो अणंतरागय-समयादुक्कस्स सायबंधद्धं ।
बंधिय असायबंधा, लिगंतसमयम्मि सायस्स ॥ ८१ ॥

'तत्तो'त्ति ततो नरकभवादनन्तरभवे समागतः प्रथमसमयादारभ्य सातवेदनीयमुत्कृष्टां बन्धाऽद्धाम्; उत्कृष्टं बन्धकालं यावदित्यर्थः । बद्ध्वा असातवेदनीयं बद्धुमारभते । ततोऽसातवेदनीयस्य बन्धावलिकान्तसमये सातवेदनीयं सकलमपि बन्धावलिकातीतं भवतीतिकृत्वा तस्मिन् समयेऽसातवेदनीये बध्यमाने सातं यथाप्रवृत्तसंक्रमे संक्रमयतः सातस्योत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमो भवति ।

संछोभणाएँ दोण्हं, मोहाणं वेयगस्स खणसेसे ।
उप्पाइय सम्मत्तं, मिच्छत्तगए तमतमाए ॥ ८२ ॥

'संछोभणाए' त्ति-क्षपकस्य द्वयोर्मोहनीययोर्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपयोरात्मीयात्मीयचरमसंछोभे सर्वसंक्रमेणोत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति । तथा क्षणशेषेऽन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि तमस्तमाऽभिधानायां सप्तमपृथिव्यां वर्तमान औपशमिकं सम्यक्त्वमुत्पाद्य दीर्घेण च गुणसंक्रमकालेन वेदकसम्यक्त्वपुञ्जं समापूर्य सम्यक्त्वात् प्रतिपतितो मिथ्यात्वं च प्रतिपद्य तत्प्रथमसमय एव वेदकसम्यक्त्वस्य मिथ्यात्वे उत्कृष्टं प्रदेशसंक्रमं करोति ।

भिन्नमुहुत्ते सेसे, तच्चरमावस्सगाणि किच्चेत्थ ।

संजोयणा विसंजो-यगस्स संछोभणा एसिं ॥ ८३ ॥

'भिन्नमुहुत्ते'-त्ति-सगुणितकर्मांशः सप्तमपृथिव्यां वर्तमानो भिन्नमुहूर्तावशेषे आयुषि तस्मिन् भवे यानि चरमावश्यकानि-" जोगजवमज्झउवरिं, मुहुत्तमच्छित्तु जीवियवसाणे। तिचरिमदुचरिमसमए, पूरित्तु कसायउक्कस्सं ॥ १ ॥ " इत्यादिलक्षणानि तानि कृत्वा तस्याश्च सप्तमपृथिव्या उद्धृत्य सम्यक्त्वं चोत्पाद्य वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् संयोजनान् अनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयति। विसंयोजना क्षपणा। तत एषामनन्तानुबन्धिनां चरमसंछोभे सर्वसंक्रमेणोत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति।

ईसाणागयपुरिस-स्स इत्थियाए य अट्ठवासाए।
मासपुहुत्तब्भहिए, नपुंसगे सव्वसंकमणे ॥ ८४ ॥

'ईसाणागय' त्ति-ईशानदेवो गुणितकर्मांश संक्लेशपरिणामेनैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नन् नपुंसकवेदं भूयो भूयो बद्ध्वा तत ईशानाच्च्युतः सन् स्त्री वा पुरुषो वा जातः। ततो मासपृथक्त्वाभ्यधिकेष्वष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु क्षपणायोद्यतते। तस्य नपुंसकवेदं क्षपयतश्चरमसंछोभे सर्वसंक्रमेण नपुसकवेदस्योत्कृष्टः प्रदेशसक्रमो भवति।

इत्थीए भोगभूमिसु, जीवियवासाण संखियाणि तओ।
हस्सठिई देवत्ता, सव्वलहुं सव्वसंछोभे ॥ ८५ ॥

'इत्थीए' त्ति-भोगभूमिषु भूयो भूयोऽसंख्येयवर्षाणि यावत् स्त्रीवेद बद्ध्वा तत पल्योपमासख्येयभागे गते, सति अकालमृत्युना मृत्वा ह्रस्वस्थितिं दशवर्षसहस्रप्रमाणा देवायुषो बद्ध्वा देवत्वेनोत्पन्न। तत्रापि तमेव स्त्रीवेदमापूर्य स्वायु पर्यन्ते मनुजेषु मध्येऽन्यतरवेदसहितो जातः। ततो लघु-शीघ्रं क्षपणायोद्यतः। ततः 'इत्थीए' त्ति तस्य स्त्रीवेदस्य क्षपणसमये-चरमसंछोभे सर्वसक्रमेणोत्कृष्ट. प्रदेशसक्रमो भवति। इहैवमेव स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमापूरणमुत्कृष्टश्च प्रदेशसक्रम केवलज्ञानेनोपलब्धो नान्यथेत्येषैव युक्तिरत्रानुसर्तव्या, न युक्त्यन्तराणि, युक्त्यन्तराणा चिरन्तनग्रन्थेषु अदर्शनतो निर्मूलतयाऽन्यथाऽपि कर्तु शक्यत्वात्। एवमुत्तरत्रापि यथायोग तथैव केवलज्ञानेनोपलम्भादित्युत्तरमनुसरणीयम्।

वरिसवरित्थिं पूरिय, सम्मत्तमसंखवासियं लहियं।
गंता मिच्छत्तमओ, जहन्नदेवट्ठिई भोचा ॥ ८६ ॥

'वरिसवर' त्ति-वर्षवरो नपुंसकवेद. तमीशानदेवलोके प्रभूतकालमापूर्य भूयो भूयो बन्धेन दलिकान्तरसंक्रमणेन च स्वायु.क्षये ततश्च्युत्वा संख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समागत्य पुनरसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पन्न। तत्रासंख्येयवर्षाणि यावत् स्त्रीवेदमापूर्य ततोऽसख्येयवर्षाणि यावत् सम्यक्त्व लब्ध्वा-आस्वाद्य तद्धेतुकं च पुरुषवेदं तावन्ति वर्षाणि यावत् बध्नन् तत्र स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्दलिक निरन्तरं सक्रमयति। तत. पल्योपमासंख्येयभागमात्र सर्वायु.प्रमाण जीवित्वा पर्यन्ते च मिथ्यात्वमासाद्य ततो जघन्यस्थितिषु दशवर्षसहस्रप्रमाणस्थितिषु देवेषु मध्ये समुत्पन्न.। तत्र समुत्पन्नः सन् अन्तर्मुहूर्तेन कालेन सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते।

आगंतु लहुं पुरिसं, संछुभमाणस्स पुरिसवेयस्स।
तस्सेव सगे कोह-स्स माणमायाणमवि कसिणो ॥ ८७ ॥

'आगंतु' त्ति-ततो देवभवाच्च्युत्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नस्ततो माससप्तकाभ्यधिकेष्वष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु लघु-शीघ्रं क्षपणायोद्यतते। केवलं बन्धव्यवच्छेदादर्वाक् आवलिकाद्विकेन कालेन यद्बद्धं पुरुषवेददलिकं तद्तीव स्तोकमितिकृत्वा यत्परित्यज्य शेषस्य चरमसंछोभे उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो वेदितव्यः। तथा तस्यैव पुरुषवेदोत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामिन. संज्वलनक्रोधस्य संसारे परिभ्रमता उपचितस्य क्षपणकाले प्रकृत्यन्तरदलिकानां गुणसंक्रमेण प्रचुरीकृतस्य स्वके-आत्मीये चरमसंछोभे उत्कृष्ट. प्रदेशसक्रमो भवति। अत्रापि बन्धव्यवच्छेदादर्वाक् आवलिकाद्विकेन कालेन यद्बद्धं तन्मुक्त्वा शेषस्य चरमसछोभे उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो द्रष्टव्यः। एवं मानमाययोरपि वाच्यम्।

चउरुवसमित्तु खिप्पं, लोभजसाणं ससंकमस्संते।
सुभधुवबंधिगनामा, णावलिगं गंतु बंधंता ॥ ८८ ॥

'चउर' त्ति-अनेकभवभ्रमणेन चतुरो वारान् यावन्मोहनीयमुपशमय्य चतुर्थोपशमनानन्तरं शीघ्रमेव क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य तस्यैव गुणितकर्मांशस्य स्वसक्रमस्यान्ते, चरमसंछोभे इत्यर्थ.।संज्वलनलोभयश. कीर्त्योरुत्कृष्टः प्रदेशसक्रमो भवति। इहोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नेन सता प्रकृत्यन्तरदलिकानां प्रभूतानां गुणसंक्रमेण तत्र प्रक्षेपात् द्वे अपि सज्वलनलोभयश कीर्तिप्रकृती निरन्तरमापूर्येते, तत उपशमश्रेणिग्रहणम्। आसंसारं च परिभ्रमता जन्तुना मोहनीयस्य चतुर एव वारान् यावदुपशम. क्रियते, न पञ्चममपि वारम्, ततश्चतुरुपशमय्येत्युक्तम्। तथा संज्वलनलोभस्य चरमसंछोभोऽन्तरकरणचरमसमये द्रष्टव्य' न परत., परतस्तस्य संक्रमाभावात्। " अन्तरकरणम्मि कए चरित्तमोहेऽणुपुव्विसंकमणं " इति वचनात्। यश.कीर्तिरपूर्वकरणगुणस्थानके त्रिंशत्प्रकृतिबन्धव्यवच्छेदसमयेऽवगन्तव्या, यतस्ततस्याः संक्रमस्याभावात्। 'सुभे' त्यादि या. शुभध्रुवबन्धिन्यो नामप्रकृतयस्तैजससप्तकशुक्ललोहितहारिद्रसुरभिगन्धकषायाम्लमधुरमृदुलघुस्निग्धोष्णागुरुलघुनिर्माणलक्षणा विंशतिसंख्या. तासां चतुष्कृत्वो मोहनीयोपशमानन्तर बन्धान्ताद् बन्धव्यवच्छेदादूर्ध्वमावलिकां गत्वमावलि काया. परतो यश.कीर्तौ प्रक्षिप्यमाणानामुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो लभ्यते। इह गुणसंक्रमेण संक्रान्त प्रकृत्यन्तरदलिकमावलिकायामतीतायां सत्यामन्य संक्रमणयोग्यं भवति, नान्यथेत्यत उक्तम्-"आवलियं गंतु बधता" इति।

निद्दसमा य थिरसुभा, सम्मद्दिट्ठिस्स सुभधुवाओ वि।
सुभसंघयणजुयाओ, वत्तीससयोदहिचियाओ ॥ ८९ ॥

'निद्दसम' त्ति स्निग्धलक्षणस्पर्शसमये स्थिरशुभनामनी द्रष्टव्ये। इदमुक्तं भवति-यथाऽनन्तरं शुभध्रुवबन्धिनामप्रकृतीनामन्तर्गतस्य स्निग्धस्पर्शस्योत्कृष्टप्रदेशसंक्रमभावना कृता, तथैतयोरपि स्थिरशुभनाम्नोरवगन्तव्या। एते च स्थिरशुभनामनी अध्रुवबन्धित्वात् पृथगुपात्ते। 'सम्मद्दिट्ठिस्से' त्यादि सम्यग्दृष्टेर्याः शुभध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजाति-

समचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकसुभगसुस्वरादेयलक्षणा द्वादश प्रकृतयः शुभसंहननयुता वज्रर्षभनाराचसंहननसहिताः वज्रर्षभनाराचं हि देवभवे नारकभवे वा वर्तमानाः सम्यग्दृष्टयो बध्नन्ति, न मनुजतिर्यग्भवे, तत्र वर्तमानानां सम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यबन्धसम्भवेन संहननबन्धासम्भवात्। ततो नैतत्सम्यग्दृष्टेः शुभध्रुवबन्धीति पृथगुपात्तम्। तथा द्वात्रिंशदधिकसागरोपमशतचिताः । तथाहि—षट्षष्टिसागरोपमाणि यावत्सम्यक्त्वमनुपालयन् एता बध्नाति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय पुनरपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते। ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमनुभवन् षट्षष्टिसागरोपमाणि यावदेताः प्रकृतीर्बध्नातीति। तदेवं द्वात्रिंशदभ्यधिकं सागरोपमशतं यावत् सम्यग्दृष्टिर्ध्रुवा आपूर्य, वज्रर्षभनाराचसंहननं तु मनुष्यभववर्जं यथासम्भवमुत्कृष्टं कालमापूर्य,ततः सम्यग्दृष्टेर्ध्रुवा अपूर्वकरणगुणस्थानके बन्धव्यवच्छेदानन्तरमावलिकामात्रं कालमतिक्रम्य यशःकीर्तौ संक्रमयतस्तासामुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमः, तदानीं प्रकृत्यन्तरदलिकानामप्यतिप्रभूतानां गुणसंक्रमेण लब्धानां संक्रमावलिकातिक्रान्तत्वेन संक्रमसंभवात् । वज्रर्षभनाराचसंहननस्य तु देवभवाच्च्युतः सन् सम्यग्दृष्टिर्देवगतिप्रायोग्यं बध्नन् आवलिकामात्र कालमतिक्रम्योत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमं करोति।

पूरित्तु पुव्वकोडी-पुहुत्तसंछोभगस्स निरयदुगं ।
देवगईनवगस्स य, सगबंधंतालिगं गंतुं ॥ ६० ॥

'पूरित्तु' त्ति-नरकद्विकम्-नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणं पूर्वकोटीपृथक्त्वं यावत्पूरयित्वा,सप्तसु पूर्वकोट्यायुष्केषु तिर्यग्भवेषु भूयो भूयो बद्ध्वेत्यर्थः।ततोऽष्टमभवे मनुष्यो भूत्वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नोऽन्यत्र तन्नरकद्विकं संक्रमयन् चरमसंक्षोभे सर्वसंक्रमेण तस्योत्कृष्टं प्रदेशसंक्रम करोति। तथा देवगतिनवकं—देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियसप्तकलक्षणं यदा पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावदापूर्याष्टमभवे क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः सन् स्वकबन्धान्तात् स्वबन्धव्यवच्छेदादनन्तरमावलिकामात्रं कालमतिक्रम्य यश'कीर्तौ प्रक्षिपति तदा तस्योत्कृष्टप्रदेशसंक्रमो भवति। तदानीं हि प्रकृत्यन्तरदलिकानामपि गुणसंक्रमेण लब्धानां संक्रमावलिकातिक्रान्तत्वेन संक्रमः प्राप्यत इति कृत्वा।

सव्वचिरं सम्मत्तं,अणुपालिय पूरइत्तु मणुयदुगं ।
सत्तमखिइनिग्गइए, पढमे समए नरदुगस्स ॥ ६१ ॥

'सव्वचिरं' ति-सर्वचिरं सर्वोत्कृष्टं कालमन्तर्मुहूर्तोनानि; त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः सम्यक्त्वमनुपाल्य नारकः सप्तमक्षितौ वर्तमान. सम्यक्त्वप्रत्ययं तावन्तं कालं मनुजद्विकं—मनुजगतिमनुजानुपूर्वीलक्षणमापूर्य—बद्ध्वा चरमेऽन्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं गतः। ततस्तन्निमित्तं तिर्यग्द्विकं तस्य बध्नतो गुणितकर्मांशस्य सप्तमपृथिव्याः सकाशाद्विनिर्गतस्य प्रथमसमये एव मनुजद्विकं यथाप्रवृत्तसंक्रमेण तस्मिन् तिर्यग्द्विके बध्यमाने संक्रमयतस्तस्य मनुजद्विकस्योत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति।

थावरतज्जाआया, उज्जोयाओ नपुंसगसमाओ ।
आहारगतित्थयरं,थिरसममुक्कस्स समकालं ॥ ६२ ॥

'थावर'त्ति-स्थावरनाम तथा तज्जातिः-स्थावरजातिः,एकेन्द्रियजातिरित्यर्थः। तथा आतपनाम—उद्द्योतनाम। एताश्चतस्रः प्रकृतयो नपुंसकसमाः-नपुंसकवेदस्येव आसामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो; भावनीय इत्यर्थः। तथा आहारकसप्तकं तीर्थकरनाम च स्थिरसमं वक्तव्यम्। केवलं तदुत्कृष्टस्वकबन्धकालं यावदापूरणीयमभिधातव्यम्। इयमत्र भावना—आहारकसप्तकं तीर्थकरनाम चोत्कृष्टं स्वबन्धकालं यावदापूर्य तत्राहारकसप्तकस्य स्वबन्धकाल उत्कृष्टो देशोनां पूर्वकोटीं यावत्संयममनुपालयतो यावानप्रमत्तताकालस्तावान् सर्वो वेदितव्यः। तीर्थकरनाम्नश्च स्वबन्धकाल उत्कृष्टो देशोनपूर्वकोटीद्वयाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तत एतावन्तं कालं यावदापूर्य क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नो यदा बन्धव्यवच्छेदादनन्तरमावलिकामात्रं कालमतिक्रम्य यशःकीर्तौ संक्रमयति, तदा तयोरुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमः।

चउरुवसमित्तु मोहं, मिच्छत्तगयस्स नीयबन्धंतो ।
उच्चागोउक्कोसो, तत्तो लहु सिज्झओ होइ ॥ ६३ ॥

'चउ' त्ति—इह मोहोपशमं कुर्वन् उच्चैर्गोत्रमेव बध्नाति, न नीचैर्गोत्रम्। नीचैर्गोत्रसत्कानि च दलिकानि गुणसंक्रमेणोच्चैर्गोत्रे संक्रमयति । ततश्चतुष्कृत्वो मोहोपशमग्रहणमवश्यं कर्तव्यम्। तत्र चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमयन् उच्चैर्गोत्रं च बध्नन् तत्र नीचैर्गोत्रं गुणसंक्रमेण संक्रमयति। चतुष्कृत्वश्च मोहोपशमः किल भवद्वयेन भवति। ततस्तृतीये भवे मिथ्यात्वं गतः सन् नीचैर्गोत्रं बध्नाति, तच्च बध्नन् तत्रोच्चैर्गोत्रं संक्रमयति । ततः पुनरपि सम्यक्त्वमासाद्योच्चैर्गोत्रं बध्नन् तत्र नीचैर्गोत्रं संक्रमयति। एवं भूयो भूय उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च बध्नतो नीचैर्गोत्रबन्धव्यवच्छेदानन्तरं शीघ्रमेव सिद्धिं गन्तुकामस्य नीचैर्गोत्रबन्धचरमसमये उच्चैर्गोत्रस्य गुणसंक्रमेण बन्धेन चोपचितीकृतस्योत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति।

तदेवमुक्तमुत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामित्वम्। सम्प्रति जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामित्वमभिधानीयम् । तच्च प्रायः क्षपितकर्मांशे प्राप्यत इति तस्यैव स्वरूपमाह-

पल्लासंखियभागो-ण कम्मठिइमच्छिओ निगोएसु ।
सुहुमे सभवियजोग्गं, जहन्नयं कट्टु निग्गम्म ॥ ६४ ॥
जोग्गे सस्संखवारे, सम्मत्तं लभिय देसविरयं च ।
अट्ठक्खुत्तो विरई, संजोयणहा य तइवारे ॥ ६५ ॥
चउरुवसमित्तु मोहं, लहुं खवेंतो भवे खवियकम्मो ।
पाएण तहिं पगयं, पडुच्च काई वि सविसेसं ॥६६॥

'पल्ल'त्ति-यो जीवः पल्योपमासंख्येयभागन्यूनां कर्मस्थितिं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां यावत् पल्योपमासंख्येयभागहीनं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं कालं यावदित्यर्थः । सूक्ष्मनिगोदेषु सूक्ष्मानन्तकायिकेषु मध्ये उषित्वा। सूक्ष्मनिगोदा हि स्वल्पायुषो भवन्ति, ततस्तेषां प्रभूतजन्ममरणभावेन वेदनार्तानां प्रभूतपुद्गलपरिसाट उपजायते । अपि च—सूक्ष्मनिगोदजीवानां मन्दयोगता म-

न्दकषायत्वं च भवति । ततोऽभिनवकर्मपुद्गलोपादानमपि तेषां स्तोकतरमेव प्राप्यत इति सूक्ष्मनिगोद (जीवानां मन्दयोग) ग्रहणम् " अभवियजोग्ग जहन्नयं कट्टु निग्गम्म" त्ति अभव्यप्रायोग्यं जघन्यम् अभव्यप्रायोग्यजघन्यकल्पं प्रदेशसञ्चयं कृत्वा ततः सूक्ष्मनिगोदेभ्यो निर्गत्य योग्येषु-सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतियोग्येषु त्रसेषु मध्ये उत्पद्य पल्योपमासंख्येयभागमध्ये संख्यातीतान् वारान् यावत् सम्यक्त्व स्वल्पकालिकीं देशविरतिं च लब्ध्वा । कथं लब्ध्वेति चेदुच्यते—सूक्ष्मनिगोदेभ्यो निर्गत्य बादरपृथ्वी—कायेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततोऽन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनिर्गत्य मनुष्येषु पूर्वकोट्यायुष्केषु मध्ये समुत्पन्न. । तत्राऽपि शीघ्रमेव माससप्तकानन्तरं योनिविनिर्गमनेन जातः । ततोऽष्टवार्षिकः सन् संयमं प्रतिपन्नः । ततो देशोनां पूर्वकोटीं यावत् संयममनुपाल्य स्तोकावशेषे जीविते सति मिथ्यात्वं प्रतिपन्नस्ततो मिथ्यात्वेनैव कालगतः सन् दशवर्षसहस्रप्रमाणस्थितिषु देवेषु मध्ये देवत्वेनोपजातः । ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रे गते सति सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । ततो दशवर्षसहस्राणि जीवित्वा तावन्त च कालं सम्यक्त्वमनुपाल्य पर्यवसानावसरे मिथ्यात्वेन कालगतः सन् बादरपृथिवीकायिकेषु मध्ये समुत्पन्नः । ततोऽन्तर्मुहूर्तेन ततोऽप्युद्वृत्य मनुष्येषु मध्ये समुत्पद्यते । ततः पुनरपि सम्यक्त्व वा देशविरतिं वा सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते । एवं देवमनुष्यभवेषु सम्यक्त्वादि गृह्णन् मुञ्चंश्च तावद्वक्तव्यतो यावत् पल्योपमासंख्येयभागमध्ये संख्यातीतान् वारान् यावत् सम्यक्त्वलाभ' स्वल्पकालिकश्च देशविरतिलाभो भवति । इह यदा यदा सम्यक्त्वादिप्रतिपत्तिस्तदा तदा बहुप्रदेशाः प्रकृतीरल्पप्रदेशा' करोति । ततो बहुशः सम्यक्त्वादिप्रतिपत्तिग्रहणम् । एतेषु च सम्यक्त्वादियोग्येषु भवेषु मध्येऽष्टौ वारान् सर्वविरतिं प्रतिपद्यते तावत् एव वारान्, अष्टौ वारानित्यर्थः । विसयोजनहा—अनन्तानुबन्धिविघातको भूत्वा । तथा चतुरो वारान्मोहनीयमुपशमय्य ततोऽन्यस्मिन् भवे लघु—शीघ्रं कर्माणि क्षपयन् क्षपितकर्मांश इत्यभिधीयते । एतेन च क्षपितकर्मांशेनेह जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामित्वे चिन्त्यमाने प्रायेण—बाहुल्येन प्रकृतमधिकारः । काश्चित्पुन. प्रकृतीरधिकृत्य सविशेष भणिष्यामि । •

तत्र जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामित्वमाह—

आवरणसत्तगम्मि उ, सहोहिणा तं विणोहिजुयलम्मि ।
निद्दादुगंतराइय–हासचउक्के य बंधंते ॥ ९७ ॥

' आवरण ' त्ति–अवधिना सह वर्तते यो जीवः तस्य अवधिज्ञानावरणरहितं ज्ञानावरणचतुष्टयम् , अवधिदर्शनावरणरहितं दर्शनावरणत्रयम् , एतासां सप्तानां प्रकृतीनामात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये यथाप्रवृत्तसंक्रमेण जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । अवधिज्ञानमुत्पादयन् प्रभूतान् कर्म—पुद्गलान् परिसाटयति स्म । तत एतासां स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये स्तोका एव पुद्गलाः प्राप्यन्ते । अत्रापि च जघन्यप्रदेशसंक्रमेणाधिकार., ततोऽवधिना सह यो वर्तत-इत्युक्तम् । तथा वमवधिं विनाऽवधिज्ञानावधिदर्शनरहित इत्यर्थः । अवधियुगले–अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणरूपे स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । अवधिज्ञानमवधिदर्शनं चोत्पादयतः प्रबलक्षयोपशमभावतोऽवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोरतीव रूक्षाः कर्मपुद्गला जायन्ते । ततो बन्धव्यवच्छेदकालेऽपि प्रभूताः परिसटन्ति । तथा च सति जघन्यः प्रदेशसंक्रमो न लभ्यत इति 'तं विणो' त्युक्तम् । ' निद्दे ' त्यादि निद्राद्विकं—निद्राप्रचलारूपम् , अन्तरायपञ्चकं, हास्यचतुष्कं—हास्यरतिभयजुगुप्सालक्षणम्, एतासामेकादशप्रकृतीनां स्वबन्धान्तसमये यथाप्रवृत्तसंक्रमेण जघन्य. प्रदेशसंक्रमो भवति । निद्राद्विकहास्यचतुष्टययोर्बन्धव्यवच्छेदानन्तरं गुणसंक्रमेण संक्रमो जायते । ततः प्रभूत दलिकं लभ्यते । अन्तरायपञ्चकस्य बन्धव्यवच्छेदानन्तरं संक्रम एव न भवति, एतद्ग्रहाप्राप्तेः, ततो बन्धान्तसमयग्रहणम् ।

सायस्सऽणुवसमित्ता, असायबंधणचरिमबंधंते ।
खवणाए लोभस्स वि, अपुव्वकरणालिगाअंते ॥ ९८ ॥

' सायस्स ' त्ति–अनुपशमय्य–मोहनीयोपशममकृत्वा, उपशमश्रेणिमकृत्वेत्यर्थ. । असातबन्धाना मध्ये यश्चरमोऽ—सातबन्धस्तस्यान्तिमे समये वर्तमानस्य क्षपणायोद्यतस्य सातस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । परतो हि सातस्य एतद्ग्रहता भवति, न संक्रम. । ' खवणाए ' इत्यादि मोहनीयोपशममकृत्वा क्षपणायोद्यतस्यापूर्वकरणाद्यायाः प्रथमावलिकाया अन्तसमये संज्वलनलोभस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमः । परतो गुणसंक्रमे लब्धस्यातिप्रभूतस्य दलिकस्य संक्रमावलिकातिक्रान्तत्वेन संक्रमसम्भवात् जघन्यप्रदेश—संक्रमाभावः ।

अयरच्छावट्ठिदुगं, गालिय थीवेयथीणगिद्धितिगे ।
सगखवणहापवत्त–स्संते एमेव मिच्छत्ते ॥ ९९ ॥

'अयर' त्ति–सागरोपमाणां द्वे षट्षष्टी यावत्सम्यक्त्वमनुपालयन् स्त्रीवेदस्त्यानर्द्धित्रिकलक्षणाश्चतस्रः प्रकृतीर्गालयित्वा तासां सम्बन्धि प्रभूतं कर्मदलिकं परिसाट्य किञ्चिच्छेषाणां सतीनां तासां क्षपणाय समभ्युद्यतस्य यथाप्रवृत्तकरणान्तिमसमये विध्यातसंक्रमेण जघन्यः प्रदेशसं—क्रमो भवति । परतोऽपूर्वकरणे गुणसंक्रमेण पभूतकर्मदलिकसंक्रमसम्भवात् जघन्यप्रदेशसंक्रमो न लभ्यत इति यथाप्रवृत्तकरणान्तसमयग्रहणम् । ' एमेव मिच्छत्त ' इति एवमेव पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण मिथ्यात्वस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमोऽवगन्तव्यः । तद्यथा—द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत्सम्यक्त्वमनुपाल्य तावन्तं काल मिथ्यात्वं गालयित्वा किञ्चिच्छेषस्य मिथ्यात्वस्य क्षपणाय समुद्यतस्य स्वकीययथाप्रवृत्तकरणान्तसमये वर्तमानस्य विध्यातसंक्रमेण मिथ्यात्वस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति, परतो गुणसंक्रमः प्रवर्तते, तेन स न प्राप्यते ।

हस्सगुणसंकमद्धा–एँ पूरयित्ता समीससम्मत्तं ।
चिरसम्मत्ता मिच्छ–त्तगयस्सुव्वलणथोगो सिं ॥१००॥

'हस्स' त्ति–सम्यक्त्वमुत्पाद्य ह्रस्वया गुणसंक्रमाऽद्धया स्तो-

ककालेन, गुणसंक्रमेणेत्यर्थः। समिश्रं सम्यक्त्वं, सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे इत्यर्थः। मिथ्यात्वदलेन पूरयित्वा—आपूर्य। चिरेण प्रभूतेन कालेन सम्यक्त्वान्मिथ्यात्वं गतस्य द्वे षट्षष्टी; सागरोपमाणां यावत्सम्यक्त्वमनुपाल्य, मिथ्यात्वं गतस्येत्यर्थः। पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन ते सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलयत. स्तोके उद्वलनसंक्रमे तयोर्जघन्य प्रदेशसंक्रमो द्विचरमखण्डस्य चरमसमये सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्यद्दलिकं परस्थाने मिथ्यात्वप्रकृतिरूपे प्रक्षिप्यते स तयोर्जघन्य., प्रदेशसंक्रम इत्यर्थ ।

संजोयणाण चतुरुव-समित्तु संजोजइत्तु अप्पद्धं।
अयरच्छावट्ठिदुगं, पालियसकहप्पवत्तंते ॥ १०१ ॥

'संजोयणाण' त्ति-चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य, चतुष्कृत्वो मोहनीयोपशमनेन किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते—प्रभूतपुद्गलपरिसाटः। तथाहि—चारित्रमोहनीयप्रकृतीनामुपशमं कुर्वन् स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमै. प्रभूतान् पुद्गलान् परिसाटयतीति। ततश्चतुष्कृत्वो मोहनीयोपशमं कृत्वा मिथ्यात्वं गच्छति । मिथ्यात्वं गतश्च सन् अल्पाद्धाम्—अल्पं कालं यावत् संयोजनान् संयोज्यानन्तानुबन्धिनो बद्ध्वा, तदानीं च चारित्रमोहनीयदलिकं स्वल्पमेव विद्यते, चतुष्कृत्वो मोहोपशमकाले तस्य स्थितिघातादिभिर्घातितत्वात्। ततोऽनन्तानुबन्धिनो बध्नन् तेषु यथाप्रवृत्तसंक्रमेण स्तोकमेव चारित्रमोहनीयदलिकं संक्रमयति। ततोऽन्तर्मुहूर्ते गते सति पुनरपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते। तच्च द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावदनुपाल्यानन्तानुबन्धिनां क्षपणाय समुद्यतते। तस्य स्वकयथाप्रवृत्तकरणान्तसमये तेषामनन्तानुबन्धिनां विध्यातसंक्रमेण जघन्य प्रदेशसंक्रमो भवति। परतोऽपूर्वकरणे गुणसंक्रम. प्रवर्तते इति स न प्राप्यते।

अट्ठकसायासाए, य असुभधुवबन्धि अत्थिरतिगे य।
सव्वलहुं खवणाए, अहापवत्तस्स चरिमम्मि ॥१०२॥

'अट्ठ' त्ति—अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणरूपा अष्टौ कषाया, असातवेदनीयम्, अशुभध्रुवबन्धिन्य. कुवर्णादिनवकोपघातरूपा., अस्थिरत्रिकम्—अस्थिराशुभायश.कीर्तिलक्षणम्, एतासां द्वाविंशतिप्रकृतीनां कषायाष्टकरहितानाम् । 'सव्वलहु' ति सर्वेभ्योऽन्यभ्य. शीघ्रमेव क्षपणायोत्थितस्य मासपृथक्त्वाभ्यधिकेषु अष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु, क्षपणायोद्यतस्येत्यर्थः। अष्टौ कषायान् प्रति देशोनां पूर्वकोटीं यावत् संयममनुपाल्य। पञ्चसंग्रहे पुनः सर्वा अप्येता. प्रकृतीरधिकृत्य देशोनां पूर्वकोटीं यावत् संयममनुपाल्येत्युक्तम्। क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये कषायाष्टकस्य विध्यातसंक्रमेण शेषाणां यथाप्रवृत्तसंक्रमेण जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति।

पुरिसे संजलणतिगे, य घोलमाणेण चरमबद्धस्स।
सगअंतिमे असाए-ण समा अरई य सोगो य ॥१०३॥

'पुरिसे' त्ति—'पुरिसे' इत्यादौ षष्ठ्यर्थे सप्तमी। पुरुषवेदस्य सञ्ज्वलनत्रिकस्य च क्रोधमानमायारूपस्य क्षपणाय समुद्यतेन क्षपणश्रेणिं प्रतिपन्नेन स्वस्वबन्धचरमसमये । 'घोलमाणेण' ति जघन्ययोगिना यद्बद्धं दलिकं तस्य चरमसंक्षोभे जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । तथाहि—आसां चतसृणामपि प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदसमये समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वाऽन्यत् प्रदेशसत्कर्म न विद्यते। तदपि च प्रतिसमयं संक्रमेण क्षयमुपगच्छति। तावत् यावच्चरमसमयबद्धस्यासंख्येयो भाग. शेषो भवति । ततस्तं सर्वसंक्रमेण संक्रमयतो जघन्य. प्रदेशसंक्रमः। 'असाएण समा अरई य सोगो य' त्ति अरतिशोकावसातसमौ असातवेदनीयस्येवारतिशोकयोर्जघन्य. प्रदेशसंक्रमो भावनीय इत्यर्थ ।

वेउव्विक्कारसगं,उव्वलियं बंधिऊण अप्पद्धं।
जिट्ठठिई निरयाओ, उव्वट्टित्ता अबंधित्तु ॥ १०४ ॥
थावरगयस्स चिरउ-व्वलणो एयस्स एव उच्चस्स।
मणुयदुगस्स य तेउसु,वाउसु वा सुहुमबद्धाणं ॥१०५॥

'वेउव्वि' त्ति -देवद्विकनरकद्विकवैक्रियसप्तकलक्षणं वैक्रियैकादशकम् एकेन्द्रियभवे उद्वर्तमानेनोद्वलितं पुनरपि पञ्चेन्द्रियत्वमुपागतेन सता, अल्पाऽद्धाम्-अल्पकालम् अन्तर्मुहूर्तकालं यावदित्यर्थ.। बद्ध्वा, ततो ज्येष्ठस्थितिरुत्कृष्टस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिक इत्यर्थ. । सप्तमनरकपृथिव्यां नारको जातः। ततस्तावन्तं कालं यावत् यथायोगं तद्वैक्रियैकादशकमनुभूय ततो नरकादुद्वृत्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मध्ये समुत्पन्न. । तत्र च तद्वैक्रियैकादशकमबद्ध्वा स्थावरेष्वेकेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्न.। तस्य चिरोद्वलनया पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेनोद्वलनया तदुद्वलयतो यत् द्विचरमखण्डस्य चरमसमये प्रकृत्यन्तरे दलिकं संक्रामति , स तस्य वैक्रियैकादशकस्य जघन्य प्रदेशसंक्रम.।' एयस्से' त्यादि एतस्यैवानन्तरोक्तस्य जीवस्य पूर्वोक्तेन विधिना तेजोवायुषु मध्ये समागतस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियभवे वर्तमानेन यद्बद्धमुच्चैर्गोत्रं मनुजद्विकं च—मनुजगतिमनुजानुपूर्वीलक्षणम् । न चिरोद्वलनयोद्वलयतो द्विचरमखण्डस्य चरमसमये परप्रकृतौ यद्दलिकं संक्रामति स तयोर्जघन्य प्रदेशसंक्रम. । इयमत्र भावना—मनुजद्विकमुच्चैर्गोत्रं च प्रथमतस्तेजोवायुभवे वर्तमानेनोद्वलितं, पुनरपि सूक्ष्मैकेन्द्रियभवमुपागतेनान्तर्मुहूर्तं यावद्बद्धम्। तत. पञ्चेन्द्रियभवं गत्वा सप्तमनरकपृथिव्यामुत्कृष्टस्थितिको नारको जात. । तत उद्वृत्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मध्ये समुत्पन्न.। एतावन्तं च कालमबद्ध्वा प्रदेशसंक्रमेण चानुभूय तेजोवायुषु मध्ये समागत.। तस्य मनुजद्विकोच्चैर्गोत्रं चिरोद्वलनयोद्वलयतो द्विचरमखण्डस्य चरमसमये परप्रकृतौ यद्(लिकं)ल संक्रामति स तयोर्जघन्य. प्रदेशसंक्रमः।

हस्सं कालं बंधिय, विरओ आहारसत्तगं गंतुं।
अविरइं महुव्वलंत-स्स, जा थोवउव्वलणा ॥ १०६ ॥

'हस्सं' ति-ह्रस्वं कालं-स्तोकं कालं यावत् विरतोऽप्रमत्तसंयत. सन् आहारकसप्तकं बद्ध्वा कर्मोदयपरिणतिवशात् पुनरप्यविरतिं गत. । ततोऽन्तर्मुहूर्तात्परतो महोद्वलनया चिरोद्वलनया पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणेन कालेनोद्वलन-

योद्वलयत. सतो या स्तोकोद्वलना द्विचरमखण्डस्य चरमसमये यत्कर्मदलिकं परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते, सा स्तोकोद्वलना, सा आहारकस्य जघन्य. प्रदेशसंक्रम. ।

तेवट्ठिसयं उदही-ण स चउपल्लाहियं अबंधित्ता ।
अंते णहप्पवत्तक-रणस्स उज्जोवतिरियदुगे ॥ १०७ ॥

' तेवट्ठिसय ' त्ति—त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशतं सागरोपमाणां शतं चतुष्पल्योपमाधिकं च यावत् स क्षपितकर्मांश. सर्वजघन्यतिर्यग्द्विकोद्योतसत्कर्मा उद्योततिर्यग्द्विकमबद्ध्वा यथाप्रवृत्तकरणस्यान्ते चरमसमये उद्योततिर्यग्द्विकयोर्जघन्यं प्रदेशसंक्रमं करोति । कथं त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमाणां शतं चतुष्पल्याधिकं च यावदबद्ध्वेति चेदुच्यते—स क्षपितकर्मांशस्त्रिपल्योपमायुष्केषु मनुजेषु मध्ये समुत्पन्नस्तत्र देवद्विकमेव बध्नाति, न तिर्यग्द्विकम् नाप्युद्योतम् । तत्र चान्तर्मुहूर्ते शेषे सत्यायुषि सम्यक्त्वमवाप्य ततोऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव पल्योपमस्थितिको देवो जात । ततोऽप्यप्रतिपतितसम्यक्त्वो देवभवात् च्युत्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्न. । ततस्तेनैवाप्रतिपतितेन सम्यक्त्वेन सहित एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको ग्रैवेयकेषु मध्ये देवो जात । तत्र चोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं मिथ्यात्वं गत । ततोऽन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि पुनरपि सम्यक्त्वं लभते। ततो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावन्मनुष्यानुत्तरसुरादिषु सम्यक्त्वमनुपाल्य तस्या सम्यक्त्वाऽद्धाया अन्तर्मुहूर्ते शेषे शीघ्रमेव क्षपणाय समुद्यत । ततोऽनेन विधिना त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमाणां शतं चतुष्पल्याधिकं च यावत्तिर्यग्द्विकमुद्योतं च बन्धरहितं भवतीति ।

इगविगलिंदियजोग्गा, अट्ठ य पज्जत्तगेण सह तेसिं ।
तिरियगइसमं नवरं, पंचासीउदहिसयं तु ॥ १०८ ॥

' इग ' त्ति—एकेन्द्रियविकलेन्द्रिययोग्या अष्टौ या. प्रकृतयः एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपसूक्ष्मसाधारणलक्षणा. । तासामपर्याप्तकसहितानां नवानां प्रकृतीना तिर्यग्गतिसमं वक्तव्यम् । नवरमत्र पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतं चतुष्पल्याधिकं यावदबद्ध्वेति वक्तव्यम् । कथमेतावन्तं कालं यावदबन्ध इति चेदुच्यते—इह क्षपितकर्मांशो द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकं षष्ठपृथिव्या नारको जात । तत्राप्यन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि सम्यक्त्वं प्राप्तवान् । ततोऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्यो जात. ततस्तेनाप्रतिपतितेन सम्यक्त्वेन देशविरतिमनुपाल्य चतुष्पल्योपमस्थितिक सौधर्मदेवलोके देवो जात. । ततस्तेनाप्रतिपतितेन सम्यक्त्वेन सह देवभवाच्च्युत्वा मनुष्यो जात' । तस्मिंश्च मनुष्यभवे संयममनुपाल्य ग्रैवेयकेष्वेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो जात । तत्र चोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं मिथ्यात्वं गत' । ततोऽन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । ततो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत् सम्यक्त्वमनुपाल्य तस्या सम्यक्त्वाद्धाया अन्तर्मुहूर्ते शेषे क्षपणाय समुद्यतते। तदेव पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतं चतुष्पल्याधिकं यावत्पूर्वोक्तानां नवप्रकृतीनां बन्धाभाव ।

छत्तीसाएँ सुभाणं, सेढिमणारुहियसेसगविहीहिं ।
कट्टु जहन्नं खवणं, अपुव्वकरणालिया अंते ॥ १०६ ॥

' छत्तीसाए ' त्ति-श्रेणिमनारुह्योपशमश्रेणिमकृत्वा शेषैर्विधिभि. क्षपितकर्मांशसत्कैः षट्त्रिंशत्संख्यानां शुभप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननतैजससप्तकप्रशस्तविहायोगतिशुक्ललोहितहारिद्रसुरभिगन्धकषायाम्लमधुरमृदुलघुस्निग्धोष्णागुरुलघुपराघातोच्छ्वासत्रसादिदशकनिर्माणलक्षणानां जघन्यं प्रदेशाग्रं कृत्वा क्षपणायोत्थितस्य क्षपितकर्मांशस्यापूर्वकरणसत्कायाः प्रथमावलिकाया अन्ते-चरमसमये तासां जघन्य' प्रदेशसंक्रमो भवति । तत ऊर्ध्वं तु गुणसंक्रमेण लब्धस्यातिप्रभूतस्य दलिकस्य संक्रमावलिकातिक्रान्तत्वेन संक्रमसम्भवात् स न प्राप्यते । पञ्चसंग्रहे तु वज्रर्षभनाराचवर्जितानां शेषाणां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामेवापूर्वकरणप्रथमावलिकान्ते जघन्यः प्रदेशसंक्रम उक्त' । वज्रर्षभनाराचसंहननस्य तु स्वबन्धव्यवच्छेदसमये इति ।

सम्मद्दिट्ठि अजोग्गा-ण सोलसण्हं पि असुभपगईणं ।
थीवेएण सरिसगं, नवरं पढमं तिपल्लेसु ॥ ११० ॥

'सम्मद्दिट्ठि' त्ति-सम्यग्दृष्टेरयोग्यानां षोडशानामशुभप्रकृतीनां प्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहननाप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदु स्वरानादेयनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रलक्षणानां स्त्रीवेदेन सदृशं वक्तव्यम् । यथा प्राक् स्त्रीवेदस्य जघन्यप्रदेशसंक्रमभावना कृता तथाऽत्रापि कर्तव्या । नवरमेतासां जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामी प्रथमं त्रिपल्योपमायुष्केषु मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नो वक्तव्यः । अन्तर्मुहूर्तावशेषे चायुषि प्राप्तसम्यक्त्व' । शेषं तथैव वक्तव्यम् ।

नरतिरियाण तिपल्ल-स्संते ओरालियस्स पाउग्गा ।
तित्थयरस्स य बंधा, जहन्नओ आलिगं गंतु ॥ १११ ॥

' नर ' त्ति—नरतिरश्चां त्रिपल्योपमस्यान्ते औदारिकस्य प्रायोग्या. प्रकृतयो जघन्यप्रदेशसंक्रमयोग्या । इयमत्र भावना—यो जीव सकलान्यजीवापेक्षया सर्वजघन्यौदारिकसत्कर्मा सन् त्रिपल्योपमायुष्केषु तिर्यङ्मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्न, तस्यौदारिकसप्तकमनुभवतो विध्यातसंक्रमेण परप्रकृतौ संक्रमयतश्च स्वायुषश्चरमसमये तस्यौदारिकसप्तकस्य जघन्य. प्रदेशसंक्रमो भवति । औदारिकस्य प्रायोग्या इत्यौदारिकसप्तकम् । ' तित्थयरस्से ' त्यादि तीर्थकरनामकर्मणो बन्ध कुर्वता यत्प्रथमसमये बद्धं दलिकं तत् बन्धावलिकातीतं सत् यदा परप्रकृतिषु यथाप्रवृत्तसंक्रमेण संक्रमयति तदा तीर्थकरनाम्नो जघन्य. प्रदेशसंक्रमो भवति। तदेवमुक्त प्रदेशसंक्रमः । तदुक्तौ च समर्थितं संक्रमकरणम्। क० प्र० ३ प्रक० । (भवाद् भवान्तरं संक्रामन् किमायुः प्रकरोति इति ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे १८ पृष्ठे उक्तम् ।)

संकमण-संक्रमण-न० । संक्रम्यते अन्यप्रकृत्यादिरूपतया व्यवस्थाप्यते येन तत्संक्रमणम् । क० प्र० १ प्रक० । असत्तादे' सत्तादौ क्षेपणरूपे संक्रमे, विशे० । संक्रान्तौ,विशे० । आव० । नि०चू० । सथा० । आक्रमणे, आव० ४ अ० । पर्यटने, सूत्र० १

श्रु०४अ० २ उ० । पिपीलिकामत्कुणादीनां स्फुटितस्य गमने, नि० चू० १३ उ० । संक्रम्यतेऽनेनेति संक्रमणम् । चारित्रे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

संकमणकाल-संक्रमणकाल-पुं० । अवान्तरसंक्रान्तिसमये, आ० क० १ अ० ।

संकममाण-संक्रामत्-त्रि० । गच्छति, स्था० २ ठा० ४ उ० । जं० । जी० । सम्-एकीभावेन क्रामन् गच्छन् । संगच्छमाने, जी० ३ प्रति० १ अधि० १ उ० ।

संकमुक्किट्ठठिइ-संक्रमोत्कृष्टस्थिति-स्त्री० । संक्रमोत्कृष्टस्थितिभेदे, या बन्धादेव केवलादुत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते । क० प्र० २ प्रक० । पं० सं० ।

संकर-संकर-पुं० । भिन्नजातीयानां मीलके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । वृ० । विशे० । कन्यानयनीयनगरस्य स्वनामख्याते श्रावकाणां प्रतिपन्ने राजनि, ती० ५० कल्प । सांकर्ये, संकीर्णत्वे, विशे० । संमीलनशीले, वृ० ४ उ० । संकीर्यते संपिण्ड्य संकरणं वा संपिण्डनं संकरः । गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

संकरगायत्ती-शङ्करगायत्री-स्त्री० । रुद्रप्रतिपादिकायां गायत्र्याम्, "तन्महेशाय विद्महे वागूविशुद्धाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्" । गा० ।

संकरदूस-शङ्करदूष्य-न० । संकर इह प्रस्तावात्तृणभस्मगोमयाङ्गारादिमीलक उत्कुरुटिका इति यावत्, तत्र दूष्यं वस्त्रं संकरदूष्यम् । अत्यन्तनिकृष्टे निरुपयोगिनि लोकैरुत्सृष्टे वस्त्रे, उत्त० १२ अ० ।

संकरपुर-शङ्करपुर-न० । लक्ष्मणावतीसविधे स्वनामख्याते दुर्गरक्षिते पुरे, विक्रमे १३६० संवत्सरे लक्ष्मणावतीहम्मीरश्रीसुरत्राणसमदीनः शङ्करपुरदुर्गोपयोगिपाषाणग्रहणार्थं प्रतोलीं पातयित्वा कपाटसंपुटमग्रहीत् । ती० ३४ कल्प ।

संकरसमय-शङ्करसमय-पुं० । भिन्नजातीयानां मीलकस्यैकवाक्यतायाम्, यथा-वाममार्गोदात्तनाचारप्रवृत्तावपि शुचिकरणमिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

संकरसामि-शङ्करस्वामिन्-पुं० । नयनमनसोरपि प्राप्यकारित्ववादिनि स्वनामख्याते दार्शनिकविदुषि, नं० । सम्म० ।

संकरिय-शाङ्कर्य-न० । परस्परानुविद्धरूपतायाम्, अने० १ अधि० ।

संकरिसण-शङ्कर्षण-पुं० । नवमे बलदेवे, ति० । ती० । स० ।

संकरी-शङ्करी-स्त्री० । विद्याभेदे, या हि पठितमात्रा एव दासदासीसखीपरिवारभूताऽऽदेशं करोति, अन्तिकमागतं प्रत्यनीकं निवारयति, दूरस्थस्याऽपि चेष्टितं पृष्टा सती कथयति । उत्त० १३ अ० ।

संकल-शृङ्खल-न० । "शृङ्खले खः कः" ॥ ८ । १ । १८६ ॥ इत्यनेनात्र खस्य ककारादेशः । संकलं । प्रा० । हस्त्यन्दुके, प्र० प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

संकला-शृङ्खला-स्त्री० । अयोमयनिगडे, सूत्र १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

संकलिय-संकलित-त्रि० । अनुबद्धे, अनु० । सूत्र० ।

संकलिया-संकलिका-स्त्री० । अन्तादिपदयोः सङ्कलनात्सङ्कलिका । आदानपदाख्ये सूत्रकृताङ्गस्य पञ्चदशे अध्ययने, सूत्र० । अस्याध्ययनस्यान्तादिपदयोः संकलनात्संकलिकेति नाम कुर्वते तस्या अपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो विधेयः । तत्रापि द्रव्यसङ्कलिका निगडादौ भावसङ्कलना तूत्तरोत्तरविशिष्टाध्यवसायसङ्कलनमिदमेव वाऽध्ययनम्, आद्यन्तपदयोः सङ्कलनादिति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

संका-शङ्का-स्त्री० । शङ्कनं शङ्का । संशयकरणे, आतु० । सन्देहे, ध० २ अधि० । जीवादितत्त्वेषु अस्ति न वेति संशयकरणे, ध० २ अधि० । नि० चू० । उत्त० । व्य० । भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात्सम्यगनवधार्यमाणेषु संशये, आव० ६ अ० । शङ्का भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात् सम्यगनवधार्यमाणेषु संशयः, किमेवं स्यान्नैवमिति । यदाहु:-संशयकरणं शङ्केति । सा च शङ्का द्विविधा-देशशङ्का, सर्वशङ्का च । देशशङ्का-देशविषया, जीवाद्यन्यतमपदार्थैकदेशगोचरेत्यर्थः । यथाऽस्ति जीवः केवलं सर्वगतोऽसर्वगतो वा, सप्रदेशोऽप्रदेशो वेति । सर्वशङ्का-सर्वविषया यथाऽस्ति वा धर्मो नास्ति वेति । इयं च द्विधाऽपि शङ्का भगवदर्हत्प्रणीतप्रवचनेऽप्रत्ययरूपा सम्यक्त्वं दूषयतीत्यतीचारः । केवलागमगम्या अपि हि पदार्था अस्मदादिप्रमाणपरीक्षानिरपेक्षा आप्तप्रणेतृकत्वान्न सन्देग्धुं योग्या, यत्राऽपि मतिदौर्बल्यादिभिर्मोहवशात् क्वचन संशयो भवति तत्राऽप्यप्रतिहतेयमर्गला ।

यथा—

"कत्थ य मइदुब्बल्ले-णं तव्विहायरियविरहओ वाऽवि ।
न य गहणत्तणेण य, नाणावरणोदयेण च ॥ १ ॥
हेऊदाहरणासं-भवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वन्नुमयमवितहं, तहाऽवि त चिंतए मइमं ॥ २ ॥
अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जुगप्पवरा ।
जिअरागदोसमोहा, अनन्नहा वाइणो तेणं ॥ ३ ॥"

यथा च—

"सूत्रोक्तस्यैकस्या-प्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः ।
मिथ्यादृष्टिः सूत्रं, हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥ १ ॥
एकस्मिन्नप्यर्थे., सन्दिग्धे प्रत्ययोऽर्हति नष्टः ।
मिथ्या च दर्शनं तत्, स चादिहेतुर्भवगतीनाम् ॥२॥" प्रव०६द्वार ।
(शङ्काव्याख्या 'मिच्छद्दिट्ठि' शब्दे ६ भागे २७५ पृष्ठे गता।)

संसयकरणं संका, कंखा अण्णोण्णदंसणग्गाहो ।
संतम्मि वि वितिगिच्छा, सिज्झेज्जं मे अयं अट्ठो ॥२४॥

संसयणं-संसयो करणं-क्रिया, संसयस्स करणं संसयकरणमित्याह-जमिदं संसयकरणं किमिदं वक्खाणत्थंतरभूतं उताणत्थंतरमिति ? । गुरुराह-णमिदमत्थन्तरभूतं घडस्स दंडादयो जहा, इदं तु अणत्थंतरं अंगुलियचक्ककरणवत्, जदिदं संसयकरणं स एव संका, संकणं संका; चिन्तासंकेत्यर्थः, सा दुविहा-देसे, सव्वे य । देसे जहा तुल्ले जीवत्ते कहमेगे भव्वा ?, एगे अभव्वा ? । अहवा-एगेणं-परमाणुणा एगे आगासपदेसे पुणो पुणो वि परमाणू तत्थेवागासपदेसे अव-

गाहति । ण य परमाणू , परमाणुतो सुहुमतरो भवति । ण य आयपमाणे अरणावगाहं पयच्छति । कहमेय ति एवमादिदेसे सका । ' सव्वसंक' त्ति सव्वं दुवालसंगं गणिपिडगं पाययभासाणिवद्धं माणुए त कुसलकप्पियं होज्जा । संकिणो असकिणो य दोसगुणदीवणत्थं उदाहरणं— जहा, ते पेया पाया दारगा । एगस्स गिहवतिणो पसवियपुत्ता भज्जा मता । तेण य अरणा घरिणी कता । तीए वि पुत्तो जाओ । ते दो वि लेहसालाए पढंति । भोयणकाले य आगता । दोरह वि गिरहंतो मिट्ठाणमासकणफोडिया पेया दिन्ना । तत्थ सुयमातिओ चिंतेइ, मच्छिया इमा ससंकिओ पियति । तस्स संकाए वग्गुलिया वाही जातो मतो य । वितिओ चिंतेति—ण ममं माता मच्छियाओ देति णिस्संकितो पिवति जीवितो य । तम्हा संका ण कायव्वा । णिस्संकितेण भवियव्वं । संके त्ति दारं गतं।नि० चू० १ उ० । आ०। सूत्र० । दश० । जीत० । संथा० । दर्श० । ग० ।

शङ्कायामुदाहरणं पेयापायिनः—

"नार्यां कुत्रापि कस्याश्चि-द्दारकौ द्वौ बभूवतुः ।
सपत्नीतनुभूरेको, द्वितीयश्चात्मभूर्द्वयोः ॥ १ ॥
प्राप्तयोर्लेखशालाया, माषपेयामदत्त सा ।
अचिन्तयत्सपत्नीभू , पेयाऽसौ मक्षिकान्विता ॥ २ ॥
इत्याशङ्की वमन्नित्यं, वल्गुलीव्याधिना मृत. ।
द्वितीयोऽचिन्तयन्माता, न प्रयच्छति मक्षिका. ॥ ३ ॥
नि शङ्कितो जीवितोऽसौ, संजातो भोगभाजनम् ॥ ४ ॥"
आ० क० ६ अ० ।

संकाठाण--शङ्कास्थान-न० । शङ्काविषये स्थाने, उत्त० । " सकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जिज्जा पणिहाणवं " । उत्त० १६ अ० ।

संकामण--संक्रामण--न० । प्रस्तुतप्रमेये , स्था० । सक्रामणं-प्रस्तुतप्रमेयेऽप्रस्तुतप्रमेयस्य प्रवेशन, प्रमेयान्तर्गमनमित्यर्थ. । अथवा-प्रतिवादिमते आत्मनः सक्रामणं, परमताभ्यनुज्ञानमित्यर्थ । तदेव दोष इति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सकामणी--संक्रामणी--स्त्री० । संक्रमणकारके विद्याभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

संकामिय--संकामित--त्रि०।स्वस्थानात् परस्थानं नीते, आव० ४ अ० । स्था० । ' सकामिय' त्ति संक्रामितं विभक्तिवचनाद्यन्तरतया परिणामितं तदनुयोगो यथा—' साहूण वन्दणेणं नासति पाव, असंकिया भावा ' इह साधूनामित्येतस्या. षष्ठ्याः साधुभ्य. सकाशादित्येवंलक्षणं पञ्चमीत्वेन विपरिणामं कृत्वा अशङ्किता भावा भवन्तीति एतत्पद सम्बन्धनीयम् । तथा "अच्छन्दा जे न भुंजंति,न से चाइ त्ति वुच्चइ" इत्यत्र सूत्रे न स त्यागीत्युच्यते इत्येकवचनस्य बहुवचनतया परिणामं कृत्वा न ते त्यागिन उच्यन्ते इत्येव पदघटना कार्येति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

संकामेज्जमाण--संक्रम्यमाण--त्रि० । हस्तादिना सक्रमं कार्यमाणे , स्था० ३ ठा० १ उ० ।

संकावय--शङ्कापद--त्रि० । किमेतन्मदारब्धमनुष्ठानं निष्फलं स्याद्वित्येवंभूतो विकल्पः—शङ्का, तस्याः पदं निमित्तकारणम् । आर्हतप्रोक्तेष्वत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राह्येष्वर्थे संशीतौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

संकास--संकाश--त्रि० । सदृशे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । उत्त० । प्रज्ञा० ।

संकासिया---शङ्काशिका---स्त्री० । स्थविरात् श्रीगुप्ताचार्यान्निर्गतस्य चारणगणस्य तृतीयशाखायाम् , कल्प० ।

संकिट्ठ--संक्लिष्ट--त्रि० । संकीर्णे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

संकिट्ठवियारभूमि--संक्लिष्टविचारभूमि--स्त्री० । संयतानां संयतीनां चैकस्यामेव संज्ञाभूमौ, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

संकिण्ण--संकीर्ण--त्रि० । व्याप्ते, प्रज्ञा० २ पद । विशे० । मिश्रत्वे, विशे० । भ० । " एएसिं हत्थीण, थोवं थोवं तु जोइ तणु हरइ हत्थी । रूवेण व सीलेण व, सो संकिरणो त्ति नेयव्वो ॥१॥" इति वचनात् संकीर्णनाम्नि हस्तिविशेषे, पु० । स्था० ४ ठा० २ उ० । शबलीकृतचारित्रे, बृ० ३ उ० । स्वपक्षपरपक्षव्याकुले क्षेत्रे, नपुं० । भ० २५ श० ७ उ० ।

संकिय--शङ्कित--त्रि० । एकभावविषयसंशयसंयुक्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । संशयकोडीकृते, बृ० २ उ० । शङ्किते, शङ्कायोग्ये वागुरादिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । शङ्कितो देशत॰ सर्वतो वा । संशयवति, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सूत्र० । सम्भाविताधाकर्मादिदोषयुक्ते भक्तादिके, ग० १ अधि० । आचा० । आधाकर्मादिशङ्काकलुषितो यदन्नाद्यादत्ते तच्छङ्कितम् । ध० ३ अधि० । जी० । पञ्चा० । प्रव० । शङ्कितं न विद्म॰ किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं, किं वा-नेत्येवमाशङ्कास्पदीभूतम् । दश० ८ अ० । पिं० । (तत्र शङ्कितपदव्याख्या 'एसणा' शब्दे, तृतीयभागे ५४ पृष्ठे गता ।)

किं बहुनेति, उपदेशसर्वस्वमाह—

जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४४ ॥

यद्भवेद्भक्तपानं तु कल्पाकल्पयो.,कल्पनीयाकल्पनीयधर्मविषय इत्यर्थ , किम् ?-शङ्कित न विद्म किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं किं वा नेत्याशङ्कास्पदीभूतं, तदित्थंभूतमसति कल्पनीयनिश्चये ददती प्रत्याचक्षीत । न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थ. ॥ ४४ ॥ दश० ८ अ० ।

संकियगणणोवगा--शङ्कितगणणोपगा--स्त्री० । प्रत्युपेक्षणाभेदे, ध० । तथा शङ्किता चाऽसौ गणना च शङ्कितगणना तामुपगच्छति या प्रत्युपेक्षणा सा शङ्कितगणनोपगा तां न कुर्यात् । अयं भावः-पुरिमाद्यः कियन्तो जाता इति शङ्काया तद्गणनां करोति य प्रमादी भवति पूर्वमित्थंभूता प्रत्युपेक्षणा न कर्तव्येति स्थितम् । ध० ३ अधि० ।

संकियपडिसेवणा---शङ्कितप्रतिसेवना---स्त्री० । " ज संके-

तं समावज्जे " इति वचनात्। एषणीयेऽप्यनेषणीयतया शङ्किते प्रतिसेवनायाम्, स्था० १० ठा० ३ उ०।

संकिलिट्ठ-संक्लिष्ट—त्रि०। संक्लेशवति, प्रश्न०२ आश्र०द्वार। स्था०।

इदाणीं संकिलिट्ठं भण्णति—

जं वंतु संकिलिट्ठं, तं सणिमित्तं व होज्ज अणिमित्तं।
जं तं सणिमित्तं पुण, तस्सुप्पत्ती तिधा होति ॥१८॥

ज ति अणिद्दिट्ठं तं ति पूर्वाभिहितं। तुशब्दो संकिलिट्ठविसेसणे। तस्स संकिलिट्ठस्स दुविहा उप्पत्ती-सणिमित्ता, अणिमित्ता य। णिमित्तं हेऊ कारणं वक्खमाणस्सरूवो। अणिमित्तं निरहेतुकं। जं तं सणिमित्तं तस्सुप्पत्ती; बाहिरवत्थुमवेक्ख तिविहा भवति। पुनरवधारणे। चोदग आह-एसु कम्मं चेव तस्स णिमित्तं किमत्थं बाहिरणिमित्तं घोसिज्जति।

आचार्य्याह—

कामं कम्म णिमित्तं, उदयो णऽत्थि उदयओ तव्वज्जो।
तह वि य बाहिरवत्थुं,होति णिमित्तं तिमं तिविधं॥१६॥

कामं अनुमतार्थे, किमनुमन्यते ?—कम्मं णिमित्तो उदमेत्यर्थः। न इति प्रतिषेधे, उदयः कर्म्मवर्ज्जो न भवतीत्यर्थः। तथाऽपि कश्चिद्बाह्यवस्त्वपेक्षो कर्म्मोदयो भवतीत्यर्थः। इदं तिविधं बाह्यनिमित्तम् उच्यते।

सद्दं वा सोऊणं, दट्ठुं सरितुं व पुव्वभुत्ताइं।
सणिमित्तऽणिमित्तं पुण, उदयाहारे सरीरे य ॥ २० ॥

गीतादि विसयसद्दं सोउं, आलिंगणादि इत्थीरूवं वा दट्ठुं, पुव्वकीलियाणि वा सरिउं, एतेहिं कारणेहिं सणिमित्तो मोहुदओ। अणिमित्तो पुण, पुणसद्दो अणिमित्तविसेसणे। किमुदओ आहारेण सरीरोववेया। चसद्दो भेदप्रदर्शने। नि० चू० १ उ०।

संकिलिट्ठकम्म-संक्लिष्टकर्म्मन्-न०। छेदनभेदनादिके दुष्कर्मणि, जी० १ प्रति०।

संकिलिट्ठकाल-संक्लिष्टकाल-पुं०। गीतार्थसंविग्नरहिते काले,"संकिलिट्ठकालो नाम जम्मि काले गीयत्थसंविग्गा नऽत्थि स संकिलिट्ठकालः"। पं० चू० ४ कल्प०।

संकिलिट्ठलेस्सा-संक्लिष्टलेश्या-स्त्री०। संक्लेशहेतौ लेश्यायाम्, स्था०३ ठा० ४ उ०। (ताश्च संक्लिष्टा लेश्याः 'लेसा' शब्दे षष्ठे भागे ६८७ पृष्ठे गताः।)

संकिलिट्ठायार-संक्लिष्टाचार-पुं०। ससर्गवशात् स्थापितादिभोजिनि, व्य० ६ उ०।

संकिलिस्समाण-संक्लिश्यमान-त्रि०। अविशुद्धिं गच्छति, भ० १३ श० १ उ०। उपशमश्रेणीतः प्रच्यवमाने, भ० २५ श० ७ उ०।

संकिलेस-संक्लेश-पुं०। असमाधौ, पा०। रागादिलक्षणे चित्तमालिन्ये, पञ्चा० १५ विव०। आव०। तीव्ररागादिसंवेदने अरतौ, पं० सू० १ सूत्र। स्था०।

तिविहे संकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा-णाणसंकिलेसे, दंसणसंकिलेसे, चरित्तसंकिलेसे ॥ (सू० १६५ +)

ज्ञानादिप्रतिपतनलक्षणः संक्लिश्यमानपरिणामनिबन्धनो ज्ञानादिसंक्लेशो, ज्ञानादिशुद्धिलक्षणो विशुद्ध्यमानपरिणामहेतुकस्तदसंक्लेशः। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

दसविहे संकिलेसे पण्णत्ते। तं जहा-उवहिसंकिलेसे उवस्सयसंकिलेसे कसायसंकिलेसे भत्तपाणसंकिलेसे मणसंकिलेसे वतिसंकिलेसे कायसंकिलेसे नाणसंकिलेसे दंसणसंकिलेसे चरित्तसंकिलेसे ॥ (सू० ७३६ +)

'दसे' त्यादि सङ्क्लेशः—असमाधिरुपधीयते-उपष्टभ्यते संयमः संयमशरीरं वा येन स उपधिर्वस्त्रादिः, तद्विषयः संक्लेश उपधिसंक्लेशः। एवमन्यत्रापि नवरम् 'उवस्सय' त्ति उपाश्रयो-वसतिस्तथा कषाया एव कषायैर्वा संक्लेशः कषायसंक्लेशः।तथा भक्तपानाश्रितः संक्लेशो भक्तपानसंक्लेशः। तथा मनसि मनसो वा संक्लेशः, वाचा संक्लेशः, कायमाश्रित्य सङ्क्लेश इति विग्रहः। तथा ज्ञानस्य संक्लेशोऽविशुद्ध्यमानता स ज्ञानसंक्लेशः। एवं दर्शनचारित्रयोरपीति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

संकिलेसमाणय-संक्लिश्यमानक-पुं०। उपशमश्रेण्याः प्रतिपततः संयमभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

संकु-शङ्कु-पुं०। कीलके, आ० म० १ अ०। कल्प०।

संकुइय-संकुचित-न०। संकुचनं संकुचितम्। गात्रसंकोचकरणे, दश० ४ अ०। आ० म०। ग०। शिखरीकृत्य संकोचनमुपगते, त्रि०। जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

संकुइयपसारिय-संकुचितप्रसारित-न०। नाट्यभेदे 'आ० म० १ अ०। जं०।

संकुक-शंकुक-पुं०। शङ्कुकाविद्याप्रधाने वैताढ्यपर्वतस्योत्तरश्रेण्यां विद्याधरनिकाये, आ० चू० १ अ०। वैताढ्यपर्वतस्योत्तरश्रेण्या विद्याधरनिकायविशेषाणा विद्यायाम्, स्त्री०। आ० चू० १ अ०।

संकुचेमाण-संकुचयत्-त्रि०। हस्तपादादिसंकोचनतः संकोच गच्छति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

संकुडिय-संकुटित-त्रि०। संकुचिते,जं० २ वक्ष०। "संकुडियवलितरङ्गपरिवेढियंगमंगा" संकुटितं-वलीलक्षणतरङ्गैः परिवेष्टितं च अङ्गं येषां ते तथा। भ० ७ श० ६ उ०।

संकुल-संकुल-त्रि०। व्याप्ते, अष्ट० २२ अष्ट०। स्वनामख्याते ग्रामे,संकुलो नाम ग्रामस्तत्र जिनदत्तनामा श्रावकस्तस्य भार्या जिनमतिः। पिं०।

ग्रामवर्णकश्चेत्थम्-तत्र च ग्रामे कोद्रवा रालकाश्च प्राचुर्येणोत्पद्यते इति तेषामेव कूरं गृहे गृहे भिक्षार्थमटन्तः साधवो लभन्ते। वसतिरपि स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता समभूतलादिगुणैरतिरमणीया कल्पनीया च प्राप्यते। स्वाध्यायोऽपि तत्र वसतामविघ्नमभिवर्द्धते, केवलं शाल्योदनो न प्राप्यते इति न केचनापि सूरयो भरेण तत्रावतिष्ठन्ते। पिं०। (विशेषश्चात्रत्य' ' आधाकम्म ' शब्दे द्वितीयभागे ४० पृष्ठे गतः।)

संकेय-संकेत-त्रि०। केतं—चिह्नं केतेन सह वर्तत इति संकेतम्। सचिह्ने, आव० ६ अ०। स्था०।

संकेयपच्चक्खाण-संकेतप्रत्याख्यान-न०। प्रत्याख्याने, ध०। अङ्गुष्ठमुष्टिग्रन्थ्यादिचिह्नोपलक्षित सङ्केतं, तत्र श्रावक' पौरुष्यादिप्रत्याख्यानं कृत्वा क्षेत्रादौ गतो गृहे वा तिष्ठन् भोजनप्राप्ते प्राक् प्रत्याख्यानरहितो मा भूवमित्यङ्गुष्ठादिक सङ्केतं करोति ' यावदङ्गुष्ठं मुष्टिं ग्रन्थि (वा) न मुञ्चामि , गृहं वा न प्रविशामि, स्वेदविन्दवो यावन्न शुष्यन्ति , एतावन्तो वा उच्छ्वासा यावन्न भवन्ति , जलादिमञ्चिकायां यावदेते बिन्दवो न शुष्यन्ति, दीपो वा यावन्न निर्वाति तावन्न भुञ्जे इति। ध० २ अधि०।

इदानी सङ्केतद्वारविस्तरार्थप्रतिपादनायाऽऽह—

अंगुट्ठमुट्ठिगंठी-घरसेउस्सासथिवुगजोइक्खे।
भणियं संकेयमेयं, धीरेहिँ अणंतनाणीहि ॥ १५७८ ॥

अङ्गुष्ठश्च मुष्टिश्चेत्यादिद्वन्द्व०, अङ्गुष्ठमुष्टिग्रन्थिगृहस्वेदोच्छ्वासस्तिबुकज्योतिष्कान् तान् चिह्न कृत्वा यत् क्रियते प्रत्याख्यानं तत् भणितम्—उक्तं संङ्केतमेतत् , कै' ? धीरैः अनन्तज्ञानिभिरिति गाथासमासार्थः। अत्रयवत्थो पुण-केतं नाम चिंधं, सह केतेन सङ्केन, सचिह्नमित्यर्थः। ' साधू सावगो वा पुव्वे वि पच्चक्खाणे किंचि चिराह अभिगिण्हति , जाव एव तावाध ण जिमेमि' त्ति ताणिमाणि चिंधाणि-अंगुट्ठमुट्ठिगंठिघरसेऊसासथिवुगदीवगाणि। तत्थ ताव सावगो पोरुसीपच्चक्खाइतो ताथे छेत्तं गतो , घरे वा ठितो ण ताव जेमेति, ताथे ण किर वट्टति अपच्चक्खाणस्स अच्छितुं तदा अगुट्ठचिंध करेति, जाव ण मुयामि ताव न जेमेमि त्ति, जाव वा गंठिं ण मुयामि, जाव घरं ण पविसामि, जाव सेओ ण णस्सति, जाव वा एवतिया उस्सासा, पाणियमंचिताए वा, जाव एत्तिया थिवुगा उस्सासबिंदू थिवुगा वा, जाव एस दीवगो जलति ताव अहं ण भुजामि त्ति। न केवल भत्ते अन्नेसु वि अभिग्गहविसेसेसु सकेतं भवति। एव ताव सावयस्स, साधुस्स वि पुव्वे पच्चक्खाणे किं अपच्चक्खाणी अच्छउ ? तम्हा तेण वि कातव्व सङ्केतमिति। व्याख्यातं सङ्केतद्वारम्। आव ६ अ०।

संकोडना-संकोटना-स्त्री०। गात्रसकोचने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। विपा०।

संकोडिय-संकोटित-त्रि०। सकोचिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। आ० चू०।

संकोय-संकोच-पुं०। नस्कारे, आ०क०। द्रव्यभावसंकोचनम्। द्रव्यसंकोचनम्-करशिरःपादादिसंकोच०, भावसंकोचनम्-मनस एकाग्रता। द्रव्यसंकोचः पालकस्य। भावसंकोचोऽनुत्तरदेवानाम्। उभयसंकोच' शम्बस्य। उभयाभाव० शून्यः। आ० क० १ अ०।

संख-शङ्ख -पुं०। "शषो० सः" ॥८।४।२०६॥ इति शस्य स०। प्रा०। समुद्रोद्भवे (प्रज्ञा० १ पद।) वृत्ते दीर्घाकृतौ, (नि० चू० १७ उ०।) जलचरप्राणिविशेषे, नि० चू० १ उ०। कम्बुनि, स्था० ६ ठा० ३ उ०। औ०। उत्त०। प्रश्न०। वासुदेवस्य पाञ्चजन्यः शंखः। उत्त० १० अ०। शङ्खः पाञ्चजन्यो द्वादशयोजनविस्तारध्वनि०। प्रव० २१२ द्वार। आ० म०। उत्त०। रा०। जं०। प्रश्न०। न०। "परिट्टिया संखसुत्ति व्व।" प्रा० २ पाद। आचा०। आ० म०। अनु०। अक्षिप्रत्यासन्नावयवविशेषे , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। एकाशीतितमे महाग्रहे , स्था० २ अ० ३ उ०। कल्प०। चं० प्र०। सू० प्र०।

दो संखा। (सूत्र) स्था० २ ठा० ३ उ०।

वैशालीनगरीवास्तव्ये सिद्धार्थराजमित्रे, आ० म० १ अ०। आ० चू०। लवणसमुद्रस्य वेलारक्षके स्वनामख्याते वेलन्धरनागराजे, जम्बूद्वीपस्य बाह्यवेदिकान्तात् द्वाचत्वारिंशद्योजनान्यवगाह्य लवणसमुद्रे संखस्य वेलन्धरनागराजस्यावासपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ०। (संखस्य वेलन्धरनागराजस्य तदावासभूतस्य पर्वतस्य च वक्तव्यता ' लवणसमुद्द ' शब्दे ६ भागे ६४५ पृष्ठे गता।) स्वनामख्याते श्रावस्तीवास्तव्ये श्रावके, स्था०। शंखशतकौ श्रावस्तीश्रावकौ, ययोरीदृशी वक्तव्यता-किल श्रावस्त्यां कोष्ठके चैत्ये भगवानेकदा विहरति स्म, शङ्खादिश्रमणोपासकाश्चागत भगवन्तं विज्ञाय वन्दितुमागता। ततो निवर्तमानांस्तान् शख० खल्वाख्याति स्म—यथा भो देवानाप्रिया ! विपुलमशनाद्युपस्कारयत ततस्तत्परिभुञ्जाना० पाक्षिकं पर्व्व कुर्वाणा विहरिष्यामः। ततस्ते तत्प्रतिपेदिरे, पुन' शङ्खोऽचिन्तयत्-न श्रेयो मेऽशनादिभुञ्जानस्य पाक्षिकपौषधं प्रतिजाग्रतो विहर्तुं,श्रेयस्तु मे पौषधशालायां पौषधिकस्य मुक्ताभरणशस्त्रादे० शान्तवेषस्य विहर्तुम्।अथ स्वगृहे गत्वा उत्पलाभिधानस्वभार्याया वार्तां निवेद्य पौषधशालायां पौषधमकार्षीत्। इतश्च तेऽशनाद्युपस्कारयाञ्चक्रु', एकत्र च समवेयु० शङ्खं प्रतीक्षमाणास्तस्थु'। ततोऽनागच्छति शङ्खे पुष्कलीनामा श्रमणोपासकः शतक इत्यपरनामा शंखस्याकारणार्थं तद्गृहं जगाम। आगतस्य चोत्पला श्रावकोचितप्रतिपत्तिं चकार। ततः पौषधशालायां स विवेश, ईर्यापथिकीं प्रतिचक्राम। शङ्खमभ्युवाच-यदुतोपस्कृतं तदशनादि तद् गच्छामः श्रावकसमवायं, भुञ्ज्महे तदशनादि, प्रतिजागृम' पाक्षिकपौषधम्।तत उवाच शङ्खः अहं हि पौषधिको नागमिष्यामीति। तत० पुष्कली गत्वा श्रावकाणां तन्निवेद। ते तु तदनुबुभुजिरे, शङ्खस्तु प्रात० पौषधमपारयित्वैव पारगतपादपद्मप्रणिपतनार्थं प्रतस्थौ। प्रणिपत्य च समुचितदेशे उपविवेश। इतरेऽपि भगवन्त वन्दित्वा धर्म्मं च श्रुत्वा शंखान्तिकं गत्वा एवमूचु०—सुष्ठु त्व देवानांप्रिय ! अस्मान् हीलयसि, ततस्तान् भगवान् जगाद-मा भो यूयं शङ्खं हीलयत शङ्खो ह्यहीलनीयः, यतोऽयं प्रियधर्मा दृढधर्मा च। तथा सुदृष्टिजागरिकां जाग-

रित इत्यादि। स्था० ६ ठा० ३ उ०। आ० क०। आ० म०। आ० चू०। कल्प०।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं सावत्थी नामं नगरी होत्था। वन्नओ, कोट्ठए चेइए वन्नओ, तत्थ णं सावत्थीए नगरीए बहवे संखप्पामोक्खा समणोवासगा परिवसंति अड्ढा० जाव अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा०जाव विहरंति। तस्स णं संखस्स समणोवासगस्स उप्पला नामं भारिया होत्था। सुकुमाल ०जाव सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा० जाव विहरइ। तत्थ णं सावत्थीए नगरीए पोक्खली नामं समणोवासए परिवसइ अड्ढे अभिगय०जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे परिसा निग्गया०जाव पज्जुवासइ। तए णं ते समणोवासगा इमीसे जहा आलभियाए०जाव पज्जुवासइ। तए णं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणोवासगाणं तीसे य महति०धम्मकहा० जाव परिसा पडिगया। तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छंति। पसिणाइं पुच्छित्ता अट्ठाइं परियादियंति, अट्ठाइं परियादियित्ता उट्ठाए उट्ठेति, उट्ठित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियातो कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता से जेणेव सावत्थी नगरी तेणेव पहारेत्थगमणाए। (सू०-४३७ +) तए णं से संखे समणोवासए ते समणोवासए य एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेह, तए णं अम्हे तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा विस्साएमाणा परिभुंजेमाणा परिभाएमाणा पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो। तए णं ते समणोवासगा संखस्स समणोवासगस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति। तए णं तस्स संखस्स समणोवासगस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था नो खलु मे सेयं तं विउलं असणं०जाव साइमं अस्साएमाणस्स०४ पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणस्स विहरित्तए। सेयं खलु मे पोसहसालाए पोसहियस्स बंभचारिस्स उम्मुक्कमणिसुवन्नस्स ववगयमालावन्नगविलेवणस्स निक्खित्तसत्थमुसलस्स एगस्स अबिइयस्स दब्भसंथारोवगयस्स पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहित्ता जेणेव सावत्थी नगरी जेणेव सए गिहे जेणेव उप्पला समणोवासिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता उप्पलं समणोवासियं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पोसहसालं अणुपविसइ पोसहसालं अणुपविसित्ता पोसहसालं पमज्जइ,पोसहसालं पमज्जित्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ,उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहित्ता दब्भसंथारगं संथरति, दब्भसंथारगं संथरित्ता दब्भसंथारगं दुरूहइ, दुरूहित्ता पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी० जाव पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणे विहरइ। तए णं ते समणोवासगा जेणेव सावत्थी नगरी जेणेव साइं गिहाइं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, उवक्खडावेत्ता अन्नमन्ने सद्दावेंति, अन्नमन्ने सद्दावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हेहिं से विउले असणपाणखाइमसाइमे उवक्खडाविए, संखे य णं समणोवासए नो हव्वमागच्छइ। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं संखं समणोवासगं सद्दावेत्तए। तए णं से पोक्खली समणोवासए, ते समणोवासए य एवं वयासी—अच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सुनिव्वुया वीसत्था अहन्नं संखं समणोवासगं सद्दावेमित्ति कट्टु तेसिं समणोवासगाणं अंतियाओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता सावत्थीए नगरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव संखस्स समणोवासगस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता संखस्स समणोवासगस्स गिहं अणुपविट्ठे। तए णं सा उप्पला समणोवासिया पोक्खलिं समणोवासयं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठ० आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता पोक्खलिं समणोवासगं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता आसणेणं उवनिमंतेइ, उवनिमंतित्ता एवं वयासी—संदिसंतु णं देवाणुप्पिया! किमागमणप्पयोयणं?, तए णं से पोक्खली समणोवासए उप्पलं समणोवासियं एवं वयासी—कहन्नं देवाणुप्पिए! संखे समणोवासए?, तए णं सा उप्पला समणोवासिया पोक्खलिं समणोवासयं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! संखे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी ० जाव विहरइ। तए णं से पोक्खली समणोवासए जेणेव पोसहसाला जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता गमणागमणाए पडिक्कमइ गच्छइ गच्छित्ता संखं समणोवासगं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हेहिं से विउले असण०जाव साइमे उवक्खडाविए तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! तं विउलं असणं ० जाव साइमं आसाएमाणा ० जाव प-

डिजागरमाणा विहरामो। तए णं से संखे समणोवासए पोक्खलिं समणोवासगं एवं वयासी—णो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया! तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणस्स ० जाव पडिजागरमाणस्स विहरित्तए, कप्पइ मे पोसहसालाए पोसहियस्स ० जाव विहरित्तए, तं छंदेणं देवाणुप्पिया! तुब्भे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा ०जाव विहरह। तए णं से पोक्खली समणोवासगे संखस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पोसहसालाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सावत्थिं नगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव ते समणोवासगा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ते समणोवासए एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! संखे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए ० जाव विहरइ, तं छंदेणं देवाणुप्पिया! तुब्भे विउलं असणपाणखाइमसाइमे ० जाव विहरह। संखे णं समणोवासए नो हव्वमागच्छइ। तए णं ते समणोवासगा तं विउलं असणपाणखाइमसाइमे आसाएमाणा ० जाव विहरंति। तए णं तस्स संखस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे ०जाव समुप्पज्जित्था-सेयं खलु मे कल्लं ०जाव जलंते समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता ०जाव पज्जुवासित्ता तओ पडिनियत्तस्स पक्खियं पोसहं पारित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति एवं संपेहेत्ता कल्लं० जाव जलंते पोसहसालाओ पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमति, सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमित्ता पादविहारचारेणं सावत्थिं नगरिं मज्झं मज्झेणं ०जाव पज्जुवासति, अभिगमो नऽत्थि। तए णं ते समणोवासगा कल्लं पादु ०जाव जलंते एहाया कयबलिकम्मा ० जाव सरीरा सएहिं २ गेहेहिंतो पडिनिक्खमंति सएहिं० २ मित्ता एगयओ मिलायंति एगयओ मिलायंति एगय ० त्ता सेसं जहा पढमं० जाव पज्जुवासंति। तए णं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणोवासगाणं तीसे य धम्मकहा ० जाव आणाए आराहए भवति। तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्टतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेंति उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव संखा समणोवासए तेणेव उवागच्छन्ति तेणेव उवागच्छित्ता संखं समणोवासयं एवं वयासी—तुमं देवाणुप्पिया! हिज्जा अम्हेहिं अप्पणा चेव एवं वयासी—तुम्हे णं देवाणुप्पिया! विउलं असणं ०जाव विहरिस्सामो। तए णं तुमं पोसहसालाए० जाव विहरिए, तं सुट्ठु णं तुमं देवाणुप्पिया! अम्हं हीलसि। अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे ते समणोवासए एवं वयासी—मा णं अज्जो! तुब्भे संखं समणोवासगं हीलह निंदह खिंसह गरहह अवमन्नह। संखे णं समणोवासए पियधम्मे चेव दढधम्मे चेव सुदक्खु जागरियं जागरिए (सू०-४३८)

'आसाएमाण' त्ति ईषत्स्वादयन्तो बहु च त्यजन्तः इक्षुखण्डादेरिव 'विस्साएमाण' त्ति विशेषेण स्वादयन्तोऽल्पमेव त्यजन्तः खर्जूरादेरिव 'परिभाएमाण' त्ति ददत. 'परिभुंजेमाण' त्ति सर्वमुपभुञ्जाना अल्पमप्यपरित्यजन्तः, एतेषां च पदानां वार्त्तमानिकप्रत्ययान्तत्वेऽप्यतीतप्रत्ययान्तता द्रष्टव्या। ततश्च तद्विपुलमशनाद्यास्वादितवन्तः सन्तः 'पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो' त्ति पक्षे—अर्द्धमासि भवं पाक्षिकं पौषधम्—अव्यापारपौषधं प्रतिजाग्रतः—अनुपालयन्तः विहरिष्याम.-स्थास्यामः। यच्चेहातीतकालीनप्रत्ययान्तत्वेऽपि वार्त्तमानिकप्रत्ययोपादान तद्भोजनानन्तरमेवाक्षेपेण पौषधाभ्युपगमप्रदर्शनार्थम्। एवमुत्तरत्राऽपि गमनिका कार्येत्येके। अन्ये तु व्याचक्षते-इह किल पौषधं पर्वदिनानुष्ठानं, तच्च द्वेधा-इष्टजनभोजनदानादिरूपमाहारादिपौषधरूप च। तत्र शंख. इष्टजनभोजनदानरूपं पौषधं कर्त्तुकामः सन् यदुक्तवांस्तद्दर्शयतेदमुक्तम्-'तए णं अम्हे तं विउलं असणपाणखाइमसाइमं अस्साएमाणा' इत्यादि, पुनश्च शङ्ख एव संवेगविशेषवशादाद्यपौषधविनिवृत्तमनाः द्वितीयपौषधं चिकीर्षुर्यच्चिन्तितवांस्तद्दर्शयतेदमुक्तम्-'नो खलु मे सेयं त' मित्यादि, 'एगस्स अबिइयस्स' त्ति एकस्य-बाह्यसहायापेक्षया केवलस्य अद्वितीयस्य तथाविधक्रोधादिसहायापेक्षया केवलस्यैव। न चैकस्येति भणनादेकाकिन एव पौषधशालायां पौषधं कर्त्तुं कल्पत इत्यवधारणीयम्, एतस्य चरितानुवादरूपत्वात्, तथा ग्रन्थान्तरे बहूना श्रावकाणां पौषधशालायां मिलनश्रवणाद्दोषाभावात्परस्परेण स्मारणादिविशिष्टगुणसम्भवाच्चेति। 'गमणाऽऽगमणाए पडिक्कमइ' त्ति ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतीत्यर्थ.। 'छन्देण' ति स्वाभिप्रायेण न तु मदीयाज्ञयेति। 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि' त्ति पूर्वरात्रश्च-रात्रेः पूर्वो भागः अपगता रात्रिरपररात्रः, स च पूर्वरात्रापररात्रस्तल्लक्षणः कालसमयो यः स तथा तत्र 'धम्मजागरियं' ति धर्माय धर्मचिन्तया वा जागरिका—जागरणं धर्म्मजागरिका तां 'पारित्तए त्ति कट्टु एव संपेहेइ' त्ति-पारयितुं—पारं नेतुम् एव सम्प्रेक्षते—इत्यालोचयति, किमित्याह-इति कर्त्तुम् एतस्यैवार्थस्य करणायेति। 'अभिगमो णऽत्थि' त्ति पञ्चप्रकारः पूर्वोक्तोऽभिगमो नास्त्यस्य, सचित्तादिद्रव्याणां विमोचनीयानामभावादिति। 'जहा पढम' ति यथा तेषामेव प्रथमनिर्गमस्तथा-द्वितीयनिर्गमोऽपि वाच्य इत्यर्थः। भ० १२ श० १ उ०। ध० र०। स०। मल्लीसह प्रव्रजिते काशीराजे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। ('मल्लि' शब्दे षष्ठे भागे १५८ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यता गता।) शङ्खः काशीवर्द्धनो वाराणसीनगरीसम्बन्धिजनपदवृद्धिकर इत्यर्थः। अथ च

न प्रतीतः केवलमलकाभिधानो राजा वाराणस्यां भगवता प्रव्राजितोऽन्तकृद्दशासु श्रूयते स यदि परं नामान्तरेणायं भवतीति । स्था० ८ ठा० ३ उ० । हरिकेशबलसाधोः पूर्वभवजीवस्य सोमदेवपुरोहितस्य प्रज्ञापके मथुराराज्यमुपभुज्य प्रव्रजिते स्वनामख्याते राजनि, उत्त० १२ अ० । हस्तिनापुरनगरवासिनि स्वनामख्याते इभ्यश्रावके, दर्श० ४ तत्त्व। आ० चू० । वैताढ्यपर्वतस्योत्तरश्रेण्याः सुरम्याया नगर्या राजनि स्वनामख्याते विद्याधरेन्द्रे, ती० ६ कल्प । स्वनामख्याते महानिधौ, जं० ।

णट्टविही णाडगविही,कव्वस्स य चउव्विहस्स उप्पत्ती ।
संखे महाणिहिम्मि, तुडियंगाणं च सव्वेसिं ॥ ६ ॥

जं० ३ वक्ख० । ति० । दर्श० । ती० । (नवनिधिवक्तव्यता ' णिहि ' शब्दे चतुर्थभागे २१५१ पृष्ठे गता ।) ऋषभदेवस्य शतपुत्राणां तृतीये पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे स्वनामख्याते चक्रवर्तिविजये, स्था० ८ ठा०३ उ० । अरिष्टनेमेः पूर्वभवजीवे स्वनामख्याते राजनि, उत्त० १२ अ० ।

संख्य-त्रि० । संख्यानं संख्या तामर्हतीति संख्यः । 'दण्डादेर्यः' ॥६।४।१७८॥ इति यप्रत्ययः । संख्याते, कर्म०५ कर्म० । संख्यायत इति संख्यः । पल्यमासत्वैयनादिप्रमिते काले, विशे० । संग्रामे, वृ० ३ उ० ।

सांख्य-पुं० । संख्यानं संख्या विवेकस्तां वेत्तीति सांख्यः । कपिलशिष्ये, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। सांख्याः प्राहुः-"अशेषशक्तिप्रचितात्, प्रधानादेव केवलात् ।कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते,तद्रूपा एव भावतः॥७॥यदशेषाभिर्महदादिकार्यग्रामजनिकाभिरात्मभूताभिः शक्तिभिः प्रचितं युक्तं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थालक्षणं प्रधानम् , तत एव महदादयः कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्त इति कापिलाः। 'प्रधानादेवे' त्यवधारणं कालपुरुषादिव्यवच्छेदार्थं, ' केवलादि ' ति वचनं सेश्वरसांख्योपकल्पितेश्वरनिराकरणार्थम् 'प्रवर्त्तन्ते' इति साक्षात्पारम्पर्येण उत्पद्यन्त इत्यर्थः । तथाहि-तेषां प्रक्रिया-प्रधानाद्-बुद्धिः प्रथममुत्पद्यते, बुद्धेश्चाहंकारः, अहंकारात्पञ्च तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानीति, इन्द्रियाणि चैकादशोत्पद्यन्ते-पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थसंज्ञकानि । एकादशं मनश्चेति-पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि शब्दादाकाशः, स्पर्शाद्वायुः, रूपात्तेजः, रसादापः, गन्धात्पृथिवीति । तदुक्तमीश्वरकृष्णेन-"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशका-त्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥" अत्र च-महानिति बुद्ध्यभिधानम्, बुद्धिश्च घटः पट इत्यध्यवसायलक्षणा, अहङ्कारस्त्वहं सुभगोऽहं दर्शनीय इत्याद्यभिधानस्वरूपः । मनस्तु संकल्पलक्षणम् , तद्यथा-कश्चिद्बटुः शृणोति-ग्रामान्तरे भोजनमस्तीति तत्र तस्य संकल्पः स्याद्यास्यामीति किं तत्र दधि स्यादुत दुग्धमित्येवं संकल्पः स्यात् । संकल्पवृत्ति मन इति । तदेव बुद्ध्यहङ्कारमनसां परस्परं विशेषोऽवगन्तव्यः । महदादयः प्रधानपुरुषौ चेति पञ्चविंशतिरेषां तत्त्वानि । यथोक्तम्-"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥" इति । महदादयश्च कार्यभेदाः प्रधानात्प्रवर्त्तमाना न कारणादत्यन्तभेदिनो भवन्ति बौद्धाद्यभिमता इव कार्यभेदाः, किं तु प्रधानरूपात्मान एव त्रैगुण्यादिना प्रकृत्यात्मकत्वात् ।तथाहि-यदात्मकं कारणं कार्यमपि तदात्मकमेव यथा कृष्णैस्तन्तुभिरारब्धः पटः कृष्णः शुक्लैः शुक्ल उपलभ्यते,एवं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकम् ।तथा बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतात्मकं व्यक्तमपि त्रिगुणात्मकमुपलभ्यते,तस्मात्तद्रूपम् ।किंच-अविवेकि।तथाहि इमे सत्त्वादयः'इदं च महदादिकं व्यक्तमिति'पृथग् न शक्यते कर्तुं,किं तु "ये गुणास्तद्व्यक्त यद् व्यक्तं ते गुणा" इति । तथोभयमपि विषयो भोग्यस्वभावत्वात् । सामान्य च सर्वपुरुषाणां भोग्यत्वात्पण्यस्त्रीवत् । अचेतनात्मकं च सुखदुःखं मोहाऽवेदकत्वात् । प्रसवधर्मि च । तथाहि प्रधानं बुद्धिं जनयति, साऽप्यहंकारं, सोऽपि तन्मात्राणि-इन्द्रियाणि चैकादश-तन्मात्राणि महाभूतानि जनयन्तीति । तस्मात्त्रैगुण्यादिरूपेण तद्रूपा एव कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते।यथोक्तम् -"त्रिगुणमविवेकिविषयः,सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।व्यक्तं तथा प्रधानं,तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥११॥"(साङ्ख्यकारि०) इति । अथ यदि तद्रूपा एव कार्यभेदाः कथं शास्त्रे व्यक्ताव्यक्तयोर्वैलक्षण्योपवर्णनम्।"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं,व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् " ॥१०॥(साङ्ख्यकारिका)इति । क्रियमाणं शोभेत।अत्र ह्ययमर्थः-हेतुमत्कारणवद्व्यक्तमेव। तथाहि-प्रधानेन हेतुमती बुद्धिः,अहङ्कारो बुद्ध्या हेतुमान् पञ्च तन्मात्राणि एकादश चेन्द्रियाणि हेतुमन्ति अहंकारेण भूतानि तन्मात्रैः।नत्वेवमव्यक्तम् कुतश्चित्तस्यानुत्पत्तेः। तथा'व्यक्तमनित्यमुत्पत्तिधर्मकत्वात्'।तद्विपर्ययान्नत्वेवमव्यक्तम्। प्रधानपुरुषौ दिवि भुवि चान्तरिक्षे च सर्वत्र व्यापितया यथा वर्तेते न तथा व्यक्तं वर्त्तत इति तदव्यापि।यथा च संसारकाले त्रयोदशविधेन बुद्ध्यहंकारेन्द्रियलक्षणेन करणेन सयुक्तं सूक्ष्मशरीराश्रित व्यक्तम् संसारि न त्वेवमव्यक्तं तस्य विभुत्वेन सक्रियत्वायोगात्।बुद्ध्यहंकारादिभेदेन चानेकविध व्यक्तमुपलभ्यते नाव्यक्तम्।तस्यैकस्यैव सकलत्रिलोकीकारणत्वात् । आश्रित च व्यक्तं-यद्यस्मादुत्पद्यते तस्य तदाश्रितत्वात् , नत्वेवमव्यक्तम् अकार्यत्वात्तस्य । लयं गच्छतीति इति कृत्वा लिङ्गं च व्यक्तम् । तथाहि-प्रलयकाले भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहंकारे,सोऽपि बुद्धौ, साऽपि प्रधाने।नत्वेवमव्यक्तं क्वचिदपि लयं गच्छतीति । लीनं वा अव्यक्तलक्षणमर्थं गमयति व्यक्तं कार्यत्वाल्लिङ्गं, न त्वेवमव्यक्तमकार्यत्वात् तस्य । सावयवं च व्यक्तं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात् , नत्वेवमव्यक्तं तत्र शब्दादीनामनुपलब्धेः । अपि च-यथा पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्रो भवति तथा व्यक्तं सर्वदा कारणायत्तत्वात्परतन्त्रम् , नैवमव्यक्तमकारणाधीनत्वात्सर्वदा तस्येति । न, परमार्थतस्तद्रूप्येऽपि प्रकृतिविकारभेदेन तयोर्भेदाविरोधात् । तथाहि-स्वभावतस्त्रैगुण्यरूपेण प्रकृतिरूपा एव प्रवर्त्तन्ते विकाराः । सत्त्वरजस्तमसामुत्कटानुत्कटत्वविशेषात्सर्ववैचित्र्यं महदादिभेदेन न विरोत्स्यत इति कारणात्मनि कार्यमस्तीति प्रतिज्ञातं भवति । सम्म०१ काण्ड (३ गाथाव्याख्यायाम्)।

इदानीमकारकवादिमताभिधित्सयाऽऽह-

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई ।

एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ ॥१३॥

कुर्वन्निति स्वतन्त्रः कर्ताऽभिधीयते आत्मनश्चामूर्तत्वान्नित्यत्वात्सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्वानुपपत्तिः।अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति। पूर्वश्चशब्दोऽतीतानागतकर्तृत्वनिषेधको, द्वितीयः समुच्चयार्थः । ततश्चात्मा न स्वयं क्रियायां प्रवर्तते नाप्यन्यं प्रवर्तयति । यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन (जपास्फटिकन्यायेन च) भुजिक्रियां करोति, तथापि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्तीत्येतद्दर्शयति—'सव्व कुव्वं ण विज्जइ' त्ति सर्वा परिस्पन्दादिकां देशाद्देशान्तरप्राप्तिलक्षणां क्रिया कुर्वन्नात्मा न विद्यते सर्वव्यापित्वेनामूर्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निष्क्रियत्वमिति। तथा चोक्तम्-'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा सांख्यनिदर्शने' इति। एवमनेन प्रकारेणात्माऽकारक इति। ते—सांख्याः तुशब्दः पूर्वेभ्यो व्यतिरेकमाह ते पुनः सांख्या एवं प्रगल्भिताः प्रगल्भवन्तो धार्ष्ट्यवन्तः सन्तो भूयो भूयस्तत्र तत्र प्रतिपादयन्ति, यथा "प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते तथा बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते इत्याद्यकारवादिमतमिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। ('कज्जकारणभाव' शब्दे तृतीयभागे १८७ पृष्ठे सत्कार्यवाद उक्तः।)

सांख्यदर्शनप्रतिक्षेपः—अशुद्धद्रव्यास्तिकसांख्यमतप्रतिक्षेपकस्तु पर्यायास्तिकः प्राह–यदुक्तं कापिलैः "प्रधानादेव महदादिकार्यविशेषाः प्रवर्त्तन्ते" इति। तत्र यदि महदादयः कार्यविशेषाः प्रधानस्वभावा एव कथमेषां कार्यतया ततः प्रवृत्तिर्युक्ता ?, न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वेति व्यपदेष्टुं युक्तं,कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात् अन्यथा हि 'इदं कारणं कार्यं च' इत्यसंकीर्णव्यवस्थोत्सीदेत्। ततश्च यदुक्तं प्रकृतिकारणिकैः—"मूलप्रकृतेः कारणत्वमेव, भूतेन्द्रियलक्षणस्य षोडशकगणस्य कार्यत्वमेव, महदहङ्कारतन्मात्राणां च पूर्वोत्तरापेक्षया कार्यत्वकारणत्वे च" इति तत्सङ्गत न स्यात्। आह चेश्वरकृष्णः—"मूलप्रकृतिरविकृति—र्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥" (सांख्यका०) इति। यतः सर्वेषां परस्परमव्यतिरेकात्कार्यत्वं कारणत्वं वा प्रसज्ज्येत् अन्यापेक्षत्वाद्वा कार्यकारणभावस्यापेक्षणीयस्य रूपान्तरस्य-चाऽभावात्। पुरुषवत् न प्रकृतित्व विकृतित्वं वा सर्वेषां स्यात्। अन्यथा पुरुषस्यापि प्रकृतिविकारव्यपदेशप्रसक्तिः । उक्तं च—" यदेव दधि तत् क्षीरं, यत् क्षीरं तद्दधीति च। वदता विन्ध्यवासित्वं, ख्यापितं विन्ध्यवासिना ॥ १ ॥" इति। 'हेतुमत्त्वादिति धर्मासक्तिविपरीतमव्यक्तम्' इत्येतदपि बालप्रलापमनुकरोति । न हि यद्यतोऽव्यतिरिक्तस्वभावं तत्ततो विपरीतं युक्त वैपरीत्यस्य रूपान्तरलक्षणत्वात् , अन्यथा भेदव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इति। सत्त्वरजस्तमसा चैतन्यानां च परस्परभेदाभ्युपगमो निर्निमित्तो भवेत्ततश्च विश्वस्यैकरूपत्वात् सहोत्पत्तिविनाशप्रसङ्गः अभेदव्यवस्थितेरभिन्नयोगक्षेमलक्षणत्वादिति। व्यक्तरूपाव्यतिरेकाद् अव्यक्तमपि हेतुमदादिधर्मासक्तिप्रसक्तं व्यक्तस्वरूपवत्, अहेतुमत्त्वादिधर्मकलापाध्यासितं वा व्यक्तम् अव्यक्तरूपाव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवत् अन्यथाऽतिप्रसक्तिः। अपि च-अन्वयव्यतिरेकनियन्धन. कार्यकारणभावः प्रसिद्ध',न च प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्त्यवगमनिबन्धनः अन्वयो व्यतिरेको वा प्रतीतिगोचरः सिद्ध,ः यतः-'प्रधानान्महान्महतोऽहङ्कारः' इत्यादि प्रक्रिया सिद्धिसौधशिखरमध्यास्त। तस्मान्निर्बन्धन एवायं प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्तिप्रक्रम'। न च नित्यस्य हेतुभावः संगत. यतः प्रधानान्महदादीनामुत्पत्तिः स्यान्नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अथ नास्माभिरपूर्वस्वभावोत्पत्त्या कार्यकारणभावोऽभ्युपगत. यतो रूपाऽभेदादसौ विरुध्यते। किं तु-प्रधान महदादिरूपेण परिणतिमुपगच्छति, सर्पः कुण्डलादिरूपेणेवेति। 'प्रधानं महदादिकारणम्' इति व्यपदिश्यते, महदादयस्तु तत्परिणामरूपत्वात्तत्कार्यव्यपदेशमासादयन्ति । न च परिणामोऽभेदेऽपि विरोधमनुभवति एकवस्त्वधिष्ठानत्वात्तस्येति, असम्यगेतत्परिणामासिद्धेः। तथाहि–असौ पूर्वरूपप्रच्युतेर्भवेदप्रच्युतेर्वेति कल्पनाद्वयम्। तत्र यद्यप्रच्युतेरिति पक्षस्तदावस्थासांकर्याद्वृद्धाद्यवस्थायामपि युवत्वाद्यवस्थोपलब्धिप्रसङ्गः। अथ प्रच्युतिरिति पक्षस्तदा स्वरूपहानिप्रसक्तिरिति पूर्वकं स्वभावान्तरं निरुद्धम् अपर च तदुत्पन्नमिति न कस्यचित्परिणामः सिद्ध्येत् । अपि च-तस्यैवान्यथाभावः परिणामो भवद्भिर्वर्ण्यते, स चैकदेशेन सर्वात्मना वा ? न तावदेकदेशेन,एकस्यैकदेशासम्भवात् , नाऽपि सर्वात्मना, पूर्वपदार्थविनाशेन पदार्थान्तरोत्पादप्रसङ्गात् । अतो न तस्यैवान्यथात्व युक्तं, तस्य स्वभावान्तरोत्पादनियन्धनत्वात्। व्यवस्थितस्य धर्मिणो धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरप्रादुर्भावलक्षणः परिणामोऽभ्युपगम्यते नतु स्वभावान्यथात्वमिति चेत्, असदेतत्; यत. प्रच्यवमान उत्पद्यमानश्च धर्मो धर्मिणोऽर्थान्तरभूतोऽभ्युपगन्तव्य., अन्यथा धर्मिण्यवस्थिते तस्य तिरोभावाविर्भावासम्भवात् । तथाहि–यस्मिन् वर्तमाने यो व्यावर्त्तते स ततो भिन्नो , यथा घटेऽनुवर्त्तमाने ततो व्यावर्त्यमानः पटः, व्यावर्त्तते च धर्मिण्यनुवर्त्तमानेऽप्याविर्भावतिरोभावासक्तो धर्मकलाप इति, कथमसौ ततो न भिन्न इति। धर्मी तदवस्थ एवेति कथं परिणतो नाम? यतो नार्थान्तरभूतयोः कटपटयोरुत्पादविनाशेऽचलितरूपस्य घटादे. परिणामो भवत्यतिप्रसङ्गात्; अन्यथा चैतन्यमपि परिणामि स्यात् । तत्सम्बद्धयोर्धर्मयोरुत्पादविनाशात् तस्याऽसावभ्युपगम्यते नान्यस्येति चेत् , न; सदसतोः सम्बन्धाभावेन तत्सम्बन्धित्वायोगात्। तथाहि–सम्बन्धो भवन् सतो वा भवेदसतो वा भवेदिति कल्पनाद्वयम्। न तावत् सतः समधिगताशेषस्वभावस्यान्यानपेक्षतया क्वचिदपि पारतन्त्र्यासम्भवात्। नाप्यसतः, सर्वोपाख्याविरहिततया तस्य क्वचिदाश्रितत्वानुपपत्ते., नहि शशविषाणादिः क्वचिदप्याश्रित उपलब्धः। नच व्यतिरिक्तधर्मान्तरोत्पादविनाशे सति परिणामो भवद्भिर्व्यवस्थापित.,किं तर्हि? यत्रात्मभूतैकस्वभावानुवृत्ति. अवस्थाभेदश्च तत्रैव तद्व्यवस्था। नच धर्मिणः सकाशाद्धर्मयोर्व्यतिरेके सति एकस्वभावानुवृत्तिरस्ति, यतो धर्म्येव तयोरेक आत्मा, स च व्यतिरिक्त इति नात्मभूतैकस्वभावानुवृत्तिः। न च निरुध्यमानोत्पद्यमानधर्मद्वयव्यतिरिक्तो धर्मी उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दृग्गोचरमवतरति कस्यचिदिति तादृशोऽसद्व्यवहारविषयतैव। अथ अनर्थान्तरभूत इति पक्षः कक्षीक्रियते। तथाऽप्येकस्माद्धर्मिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वात्तिरोभावाऽऽविर्भाववतोर्धर्मयोर्द्वयोरप्येकत्व

धर्मिस्वरूपवदिति केन रूपेण धर्मी परिणतः स्यात् धर्मो वा ? अवस्थातुश्च धर्मिणः सकाशादव्यतिरेकाद्धर्मयोरवस्थातृस्वरूपवन्न निवृत्तिः, नाऽपि प्रादुर्भावः, धर्माभ्यां च धर्मिणोऽनन्यत्वात् धर्मस्वरूपवत्। अपूर्वस्य चोत्पादः पूर्वस्य च विनाश इति नैकस्य कस्यचित्परिणतिः सिद्धयेदिति, न परिणामवशादपि साङ्ख्यानां कार्यकारणभावव्यवहारस्संगच्छते। सम्म० १ काण्ड। (न च परिणामप्रसाधकं प्रमाणं क्षणिकमक्षणिकं वा सम्भवतीत्यादि, साङ्ख्यमतप्रदर्शनं तत्प्रतिक्षेपश्च 'कज्जकारणभाव' शब्दे तृतीयभागे १८८ पृष्ठे गतः।) ततः 'शक्तस्य शक्यकरणाद्' इत्ययमप्यनैकान्तिकः। सत्कार्यवादे च कारणभावस्याघटमानत्वाद् 'कारणभावाद्' इत्ययमप्यनैकान्तिकः। अथवा-कार्यत्वासम्भवस्य सतः प्राक् प्रतिपादितत्वदासत्कार्यवाद एव चोपादानग्रहणादिनियमस्य युज्यमानत्वाद् 'उपादानग्रहणाद्' इत्यादिहेतुचतुष्टयस्य साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धता। अथ यदि 'असदेवोत्पद्यत' इति भवतां मतं तत् कथं सदसतोरुत्पादः सूत्रे प्रतिषिद्धः ?। उक्तं च तत्र-"अनुत्पन्नाश्च महामतेः सर्वधर्मा सदसतोरनुत्पन्नत्वादिति," न; वस्तुना पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एव उत्पाद उच्यते भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायां, न पुनर्वैभाषिकपरिकल्पिता जातिः संस्कृतलक्षणा प्रतिपेत्स्यमानत्वात्तस्याः। नापि वैशेषिकादिपरिकल्पितसत्तासमवायः स्वकारणसमवायो वा तयोरपि निषेत्स्यमानत्वात्, नित्यत्वात् तयोः परमतेन, नित्यस्य च जन्मानुपपत्तेः, उक्तं च-'सत्ता स्वकारणाश्लेष-करणात्कारणं किल। सा सत्ता स च सम्बन्धो, नित्यौ कार्यमथेह किम् ॥१॥' इति। स एवमात्मक उत्पादो नाऽसता तादात्म्येन सम्बध्यते, सदसतोर्विरोधात्। नह्यसत् सद्भवति। नापि सता पूर्वभाविना सम्बध्यते। तस्य पूर्वमसत्वात्कल्पनाबुद्ध्या तु केवलमसता वस्तु संबध्यते, नह्यसन्नाम किंचिदस्ति यदुत्पत्तिमाविशेत्। 'असदुत्पद्यत' इति तु कल्पनाविरचितव्यवहारमात्रम्। कल्पनाबीजं तु प्रतिनियतपदार्थानन्तरोपलब्धस्य रूपस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्योत्पत्त्यवस्थातः प्रागनुपलब्धिः तदेवमुत्पत्तेः प्राक्कार्यस्य न सत्त्वं धर्मः, नाऽप्यसत्त्वं धर्मस्यैवाभावात्। अपि च-पयःप्रभृतिषु कारणेषु दध्यादिकं कार्यमस्तीति यदुच्यते तदा वक्तव्यं-किं व्यक्तिरूपेण तत्तत्र सद्, अथ शक्तिरूपेण ?, तत्र यदि व्यक्तिरूपेण इति पक्षः, स न युक्तः-क्षीराद्यवस्थायामपि दध्यादीनां स्वरूपेणोपलब्धिप्रसङ्गात्। नाऽपि शक्तिरूपेण, यतः तद्रूपं दध्यादेः कार्यानुपलब्धिलक्षणप्राप्तात् किमन्यद्, आहोस्वित् तदेव ?, यदि तदेव तदा पूर्वमेवोपलब्धिप्रसङ्गो दध्यादेः। अथान्यदिति पक्षस्तदा कारणात्मनि कार्यमस्तीत्यभ्युपगमस्त्यक्तो भवेत् कार्याद्भिन्नतनोः शक्त्यभिधानस्य पदार्थान्तरस्य सद्भावाभ्युपगमात्, तथाहि-यदेवाविर्भूतविशिष्टरसवीर्यविपाकादिगुणसमन्वितं पदार्थस्वरूपं तदेव दध्यादिकं कार्यमुच्यते-क्षीरावस्थायां च तदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलभ्यमानमसद्व्यवहारविषयत्वमवतरति। यच्चान्यच्छक्तिरूपं तत्कार्यमेव न भवति; नच अन्यस्य भावेऽन्यत्सद्भवति अतिप्रसङ्गात्। न च-उपचारकल्पनया तद्व्यपदेशसद्भावेऽपि वस्तुव्यवस्था, शब्दस्य वस्तुप्रतिबन्धाभावात्। तद्भावेऽपि वस्तुसद्भावासिद्धेः। यदपि 'भेदानामन्वयदर्शनात्प्रधानास्तित्वम्' उक्तम् तत्र हेतोरसिद्धत्वं, नहि शब्दादिलक्षणं व्यक्तं सुखाद्यन्वितं सिद्धं सुखादीनां ज्ञानरूपत्वाच्छब्दादीनां च तद्रूपविकलत्वान्न सुखाद्यन्वितत्वम्। तथा च प्रयोगः। ये ज्ञानरूपविकला न ते सुखाद्यात्मकाः, यथा-परोपगत आत्मा। ज्ञानरूपविकलाश्च शब्दादय इति व्यापकानुपलब्धिः। अथ ज्ञानमयत्वेन सुखादिरूपत्वस्य व्याप्तिर्यदि सिद्धा भवेत् तदा तन्नि(द्धि) वर्त्तमानं सुखादिमयत्वमादाय निवर्तेत, न च सा सिद्धा पुरुषस्यैव संविद्रूपत्वेनेष्टेरिति, असदेतत्; सुखादीनां स्वसंवेदनरूपतया स्पष्टमनुभूयमानत्वात्। तथाहि-स्पष्टेयं सुखादीनां प्रीतिपरितापादिरूपेण शब्दादिविषयसन्निधाने असन्निधाने च प्रकाशान्तरनिरपेक्षा प्रकाशात्मिका स्वसंवित्तिः। यच्च प्रकाशान्तरनिरपेक्षं सातादिरूपतया स्वयं सिद्धिमवतरति तज्ज्ञानं, संवेदनं, चैतन्यं, सुखमित्यादिभिः पर्यायैरभिधीयते। न च सुखादीनामन्येन संवेदनेनाऽनुभवादननुभवरूपता प्रथते, तत्संवेदनस्यासातादिरूपताप्रसक्तेः स्वयमतदात्मकत्वात्। तथाहि-योगिनोऽनुमानवतो वा परकीयं सुखादिकं संवेदयतो न सातादिरूपता, अन्यथा योग्यादयोऽपि साक्षात् सुखाद्यनुभाविन इवातुरादयः स्युर्योग्यादिवद्वा अन्येषामप्यनुग्रहोपघातौ न स्याताम् अविशेषात्। संवेदनस्य च सातादिरूपत्वाभ्युपगमे संविद्रूपत्वं सुखादेः सिद्धम्। इदमेव हि सुखं दुःखं च नः 'यत्सातमसातं च संवेदनम्' इति नानैकान्तिकता हेतोः। नाप्यसिद्धता, सर्वेषां बाह्यार्थवादिनां संविद्रूपरहितत्वस्य शब्दादिषु सिद्धत्वात्। विज्ञानवादिमताभ्युपगमोऽन्यथा प्रसज्येत। तथा चेष्टसिद्धिरेव। विरुद्धताऽप्यस्य हेतोर्न सम्भवति सपक्षे भावात्। न च यथा बहिर्देशावस्थितनीलादिसन्निधानवशान्नीलादिस्वरूपमपि संवेदनं नीलनिर्भासं संवेद्यते तथा बाह्यसुखाद्युपधानसामर्थ्यादसातादिरूपमपि सातादिरूप लक्ष्यते तेन संवेदनस्य सातादिरूपत्वेऽपि न सुखादीनां संविद्रूपत्वं सिध्यति अतोऽनैकान्तिकता हेतोरिति वक्तव्यम्, अभ्यास-प्रकृतिविशेषत एकस्मिन्नपि त्रिगुणात्मके वस्तुनि प्रीत्याद्याकारप्रतिनियतगुणोपलब्धिदर्शनात्। तथाहि-भावनावशेन मद्याङ्गनादिषु कामुकादीनां जातिविशेषाच्च करभादीनां केषाञ्चित्प्रतिनियताः प्रीत्यादयः सम्भवन्ति न सर्वेषाम्, एतच्च शब्दादीनां सुखादिरूपत्वान्न युक्तं, सर्वेषामभिन्नवस्तुविषयत्वान्नीलादिविषयसंवित्तिवत्प्रत्येकं चित्रा संवित्प्रसज्येत। अथ यद्यपि त्र्यात्मकं वस्तु तथाऽप्यदृष्टादिलक्षणसहकारिवशात्किंचिदेव कस्यचिद्रूपमाभाति न सर्वं सर्वस्य, असदेतत्; तदाकारशून्यत्वादवस्त्वालम्बनप्रतीतिप्रसक्तेः। तथाहि-त्र्याकारं तद्वस्तु एकाकाराश्च संविदः संवेद्यन्त इति कथम् अनालम्बनास्ता न भवन्ति? प्रयोगः-यद् यदाकारं संवेदनं न भवति न तत्तद्विषयं, यथा चक्षुर्ज्ञानं न शब्दविषयम्, त्र्यात्मकवस्त्वाकारशून्याश्च यथोक्ताः संविद इति व्यापकानुपलब्धिः। तथापि-तद्विषयत्वेऽतिप्रसङ्गापत्तिर्विपर्यये वा बाधकं प्रमाणम्। न च यथा प्रत्यक्षेण गृहीतेऽपि सर्वात्मना वस्तुन्याभ्यासादिवशात् क्वचिदेव क्षणिकत्वादौ निश्चयोत्पत्तिर्न सर्वत्र तद्वददृष्टादिबलादेकाकारा संवित्तुदेष्यतीत्यभिधातुं क्षमं, क्षणिकादिविकल्पस्याऽपि परमार्थतो वस्तुविषयत्वानभ्युपग-

माद्वस्तुनो विकल्पागोचरत्वात्परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात् । तथाविधतत् प्राप्तिहेतुतया तु तस्य प्रामाण्यम् । उक्तं च-'लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं, पारंपर्येण वस्तुनि । प्रतिबन्धात्तदाभासशून्ययोरप्यवन्धनम् ॥ १ ॥ " इति परैस्तु परमार्थत एव वस्तुविषयत्वमिष्टं प्रीत्यादिप्रतिपत्तीनाम्, अन्यथा सुखाद्यात्मना शब्दादीनामनुभवात्सुखानुभवख्यातिरित्येतदसङ्गत स्यात । सुखादिसंविदां च सविकल्पकत्वान्न किंचिदनिश्चित रूपमस्तीति सर्वात्मनाऽनुभवस्यातिप्रसक्तिः । यत. स्वार्थप्रतिपत्तिर्निश्चयानामियमेव यत्तन्निश्चयनं नाम । यदपि'प्रसादतापदैन्याद्युपलम्भात्सुखाद्यन्वितत्वं सिद्धं शब्दादीनामि'त्याभिहितं, तदनैकान्तिकम् । तथाहि—योगिनां प्रकृतिव्यतिरिक्तं पुरुषं भावयतां तमालम्ब्य प्रकर्षप्राप्तयोगानां प्रसाद· प्रादुर्भवति प्रीतिश्च, अप्राप्तयोगाना तद्‌द्रुततत्त्वमपश्यतामुद्वेग आविर्भवति। जडमतीनां च प्रकृत्यावरणं प्रादुर्भवति । न च परैः पुरुषस्त्रिगुणात्मकोऽभीष्ट इति 'प्रसादतापदैन्यादिकार्योपलब्धेः' इत्यस्य कथं नानैकान्तिकता ?। नच सङ्कल्पात्प्रीत्यादीनि प्रादुर्भवन्ति न पुरुषादिति वाच्य शब्दादिष्वप्यस्य समानत्वात्, सङ्कल्पमात्रभावित्वे च सुखादयो बाह्या न स्युः सङ्कल्पस्य संविद्रूपत्वात् । बाह्यविषयोपधानमन्तरेणाऽपि पुरुषदर्शने प्रीत्याद्युत्पत्तिदर्शनात्।'बाह्यसुखाद्युपधानबलात्सातादिरूप संवेदनस्य'इत्यपि सव्यभिचारमेव इष्टानिष्टविकल्पादनावाश्रितबाह्यविषयसन्निधानं प्रसिद्धमेव हि सुखादिसंवेदनं कथ तत्परोपधानमेव युक्तम् ?। नच मनोऽपि त्रिगुणं तदुपधानवशात्तदाविर्भवतीति वक्तव्यम् ,'यदेव हि प्रकाशान्तरनिरपेक्ष स्वयं सिद्धम्' इत्यादिना मनश्चिद्रूपत्वस्य तत्र साधितत्वात् अतः 'समन्वयादि'त्यसिद्धो हेतु' । नैकान्तिकश्च प्रधानाख्येन कारणेन हेतोः क्वचिदप्यन्वयासिद्धेः । तथाहि-व्यापि नित्यमेकं त्रिगुणात्मकं कारण साधयितुमिष्टं, नचैवभूतेन कारणेन हेतोः प्रतिबन्धः प्रसिद्धः । न-चाऽयं नियमः यदात्मक कार्यं कारणमपि तदात्मकमेव,तयोर्भेदात्।तथाहि—हेतुमदादिभिर्धर्मैर्युक्तं व्यक्तमभ्युपगम्यते तद्विपरीतं चाऽव्यक्तमिति कथ न कार्यकारणयोर्भेदादनैकान्तिको हेतुः ?, धर्मिविशेषविपरीतसाधनाद्विरुद्धोऽप्ययं हेतु.।तथाहि-एको नित्यस्त्रिगुणात्मकः कारणभूतो धर्मी साधयितुमिष्टस्तद्विपरीतश्चानेकोऽनित्यश्च,ततः सिद्ध-, मास्मादयति,यतो व्यक्त नैकया त्रिगुणात्मिकया स्वात्मभूतया जात्या समन्वितमुपलभ्यते, किं तर्हि ?, अनेकत्वानित्यत्वादिधर्मकलापोपेतमेव, अत. कार्यस्यानित्यत्वाऽनेकत्वादिधर्मान्वयदर्शनात्कारणमपि तथैवाऽनुमीयते । क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधान्न नित्यस्य कारणत्व कारणभेदकृतत्वाच्च कार्यवैचित्र्यस्य अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्,नैकरूपस्याऽपि कारणत्वमिति विपर्ययसिद्धिप्रसक्तेर्न नित्यैकरूपप्रधानसिद्धिः । यदि तु अनित्यानेकरूपे कारणे'प्रधानम्'इति संज्ञा क्रियते तदा अविवाद एव । यद्यपि ' सत् सदि' त्येकरूपेण 'स एवाऽयमिति'च स्थिरेण स्वभावेनानुगता अध्यवसीयन्ते कल्पनाज्ञानेन भावास्तथाऽपि नैषामेकजात्यन्वयः स्वस्वभावव्यवस्थिततया देशकालशक्तिप्रतिभासादिभेदात् , नापि स्थैर्यं क्रमोत्पत्तिमतां तथैव प्रतिभासनात् । ' प्रतिभासभेदश्च भावान भिनत्ति'इत्यसकृत्प्रतिपादितम।'मृद्विकारादिवद्'इति दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकल' एकजात्यन्वयस्यैककारणप्रभवत्वस्य च तत्राऽप्यसिद्धत्वात् । न चैक मृत्पिण्डादिक कारण मृदादिजातिश्चैकानुगता तत्र सिद्धेति वक्तव्यं,यतोऽनेकोऽवयवी मृत्पिण्डादिरस्ति एकदेशावरणे सर्वाऽऽवरणप्रसङ्गात् । नाऽप्येका जाति , प्रतिव्यक्ति प्रतिभासभेदादिति प्रतिपादितत्वात्प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च ।

'समन्वयाद्' इत्यस्य हेतोः पुरुषैश्चानैकान्तिकत्वम् । तथाहि—चेतनत्वादिधर्मैरन्विताः पुमांसोऽभीष्टा' । नत्र तथाविधैककारणपूर्वकास्त इष्यन्ते । नच चेतनाद्यन्वितत्वं पुरुषाणां गौणं यतोऽचेतनादिव्यावृत्ताः सर्व एव पुरुषा', अतोऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपा चैतन्यादिजातिस्त-दनुगामिनी कल्पिता, न तु तात्त्विकी समस्तीति वक्तव्यम् , अन्यत्रापि समानत्वात्-यतः शब्दादिष्वप्यमुख्यं सुखा-द्यन्वितत्वमसत्यप्येककारणपूर्वकत्वे पुरुषेष्विव भविष्यतीति कथं नानैकान्तिकत्वं हेतोः । मूलप्रकृत्यवस्थायां च सत्त्वरजस्तमोलक्षणा गुणा., गुणत्वऽचेतनाऽभोक्तृत्वादिभिरन्विता. प्रधानपुरुषाश्च नित्यत्वादिभिरन्वितास्तथाभूतैककारणपूर्वकाश्च न भवन्तीत्यनैकान्तिकत्वमेव । तदेव 'समन्वयाद्'इत्यस्य हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वान्न प्रधानप्रसाधकत्वम्। अनेनैव न्यायेन 'परिमाणात्'शक्तितः प्रवृत्ते· कार्यकारणभावाद्वैश्वरूप्यस्याविभागादित्यादिकानामपि न प्रधानाऽस्तित्वसाधकत्वम्।तथाहि साध्यविपर्यये च बाधकप्रमाणाप्रदर्शनात्सर्वेऽप्येतेऽनैकान्तिकाः । नहि प्रधानाख्यस्य हेतोरभावेन परिमाणादीनां विरोध. सिद्ध.। तथाहि-यदि तावत्कारणमात्रस्याऽस्तित्वमत्र साध्यते तदा सिद्धसाध्यता नह्यस्माकं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽ-भीष्टः, नच कारणमात्रस्य ' प्रधानमिति'नाम करणे किंचिद्बाध्यते । अथ प्रेक्षावत्कारणमस्ति यद् व्यक्त नियतपरिमाणमुत्पादयति शक्तितश्च प्रवर्त्तत इति साध्यते तदाऽनैकान्तिकता, विनाऽपि हि प्रेक्षावता विधात्रा स्वहेतुसामर्थ्यात्प्रतिनियतपरिमाणादियुक्तस्योत्पत्त्यविरोधात्। न च प्रधाने प्रेक्षावत्कारण युक्तम्,अचेतनत्वात् तस्य प्रेक्षायाश्च चेतनापर्यायत्वात्। अपि च-'शक्तितः प्रवृत्ते.' इत्यनेन किमव्यतिरिक्तशक्तिमत्कारणं साध्यते, आहोश्विद्व्यतिरिक्तानेकशक्तिसमन्वित तदेकत्वादिधर्मकलापाध्यासितमिति कल्पनाद्वयम् । तत्र यद्याद्या कल्पना तदा सिद्धसाधनं कारणमात्रस्य ततः सिद्धयभ्युपगमात् । द्वितीयायां हेतोरनैकान्तिकता, तथाभूतेन क्वचिदप्यन्वयासिद्धेर्हेतुश्चासिद्धो यतो न विभिन्नशक्तियोगात्कस्याचित् कचित्कार्ये कारणस्य प्रवृत्तिः सिद्धा स्वात्मभूतत्वाच्छक्तीनाम् निरन्वयविनाशावष्टब्धत्वात् सर्वभावाना क्वचिदपि लयासिद्धेः, अविभागाद्वैश्वरूपस्येत्ययमपि हेतुरसिद्धः,लयो हि भवन् पूर्वस्वभावापगमे वा भवेद् , अनपगमे वा?, यद्याद्यः पक्षस्तदा निरन्वयविनाशप्रसक्तः । द्वितीयस्तत्रा लयाऽनुपपत्ति., यतो नाविकलं स्वरूपं बिभ्रतः कस्यचिल्लयो नामातिप्रसङ्गादतिविरुद्धमिदं परस्परत' अविभागो 'वैश्वरूप्य ' चेति । विरुद्धा वा एते हेतवः प्रधानहेत्वभावस्यकारणशक्तिभेदतः कार्यस्य परिमाणादिरूपेण वैचित्र्यस्य कार्यकारणभावादिना चोपपद्यमानत्वात् । तथाहि-प्रधानं यदि व्यक्तस्य कारणं भवेत्तदा सर्वमेव विश्वं तत्स्वरूपवत्तदात्मकत्वादेकमेव द्रव्यं स्यात् ,

ततश्च ' बुद्धिरेका एकोऽहंकारः पञ्च तन्मात्राणी ' त्यादिकः परिमाणविभागोऽसङ्गतः स्यादिति निष्परिमाणमेव जगत्स्यात्। तथा प्रधानहेत्वभावे एव-प्राक्तनन्यायेन'अभेदे न शक्तिर्न क्रिया' इत्यादिना घटादिकरणे कुम्भकारादीनां शक्तितः प्रवृत्तिरुपपद्यते, कार्यकारणविभागोऽपि प्रधानहेत्वभावे एव युक्तो नतु तत्सद्भावे इति प्राक् प्रतिपादितम् । प्रधानसद्भावे वैश्वरूप्यमनुपपत्तिकमेव, सर्वस्य जगतः तन्मयत्वेन तत्स्वरूपवदेकत्वप्रसक्तेस्तद्विभागो दूरोत्सारित एवेति न कुतश्चिद्धेतोः प्रधानसिद्धिः ।

यदपि प्रधानविकारबुद्धिव्यतिरिक्तं चैतन्यमात्मनो रूपं कल्पयन्ति " चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् " इत्यागमात्पुरुषश्च शुभाशुभकर्मफलस्य प्रधानोपनीतस्य भोक्ता न तु कर्त्ता सकलजगत्परिणतिरूपायाः प्रकृतेरेव कर्तृत्वाभ्युपगमात्। प्रमाणयन्ति चात्र यत्संघातरूपं वस्तु तत्परार्थं दृष्टं, यथाशयनाशनाद्यङ्गादि, संघातरूपाश्च चक्षुरादय इति स्वभावहेतु', यश्चासौ परः स आत्मेति सामर्थ्यात्सिद्धम् । अत्र च ' चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् ' इत्यादिवदता चैतन्यं नित्यैकरूपमिति प्रतिज्ञातम् तस्य नित्यैकरूपात्पुरुषादव्यतिरिक्तत्वात् , अध्यक्षविरुद्धं चेदं रूपादिसंविदां स्फुटं स्वसंवित्त्या भिन्नस्वरूपावगमादेकरूपत्वे त्वात्मनोऽनेकविधार्थस्य भोक्तृत्वाभ्युपगमो विरुद्ध आसज्येत। अभोक्त्रवस्थाव्यतिरिक्तत्वाद्भोक्त्रवस्थायाः, न च दिदृक्षादियोगादविरोधो दिदृक्षाशुश्रूषादीनां परस्परतोऽभिन्नानामुत्पादैरात्मनोऽप्युत्पादप्रसङ्गः तासां तदव्यतिरेकात् , व्यतिरेके च ' तस्य ताः ' इति सम्बन्धानुपपत्तिरुपकारस्य तन्निबन्धनस्याभावात्, भावे वा तत्राऽपि भेदाभेदविकल्पाभ्यामनवस्था-तदुत्पत्तिप्रसङ्गतो दिदृक्षाद्यभावान्न भोक्तृत्वम् , प्रयोगो-यस्य यद्भावव्यवस्थानिबन्धनं नास्ति नासौ प्रेक्षावता तद्भावेन व्यवस्थाप्यः, यथाऽऽकाशं मूर्त्तत्वेन, नास्ति च भोक्तृत्वव्यवस्था-निबन्धनं पुरुषस्य दिदृक्षादि इतिकारणानुपलब्धिः । नचायमसिद्धो हेतुरिति प्रतिपादितम् । कर्तृत्वाभावाद्भोक्तृत्वमपि तस्य न युक्तम् न ह्यकृतस्य कर्मणः फलं कश्चिदुपभुङ्क्ते अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । न च पुरुषस्य कर्माऽकर्तृत्वेऽपि प्रकृतिरस्याऽभिलषितमर्थमुपनयतीत्यसौ भोक्ता भवति,यतो नासावप्यचेतना सती शुभाऽशुभकर्मणां कर्त्री युक्ता येनाऽसौ कर्मफलं पुरुषस्य सम्पादयेत् । अथ यथा पङ्ग्वन्धयोः परस्परसंबन्धात्प्रवृत्तिस्तथा महदादिलिङ्गं चेतनपुरुषसम्बन्धाच्चेतनावदिव धर्मादिषु कार्येषु अध्यवसायं करोतीत्यदोष एवायम्। उक्तं च-"पुरुषस्य दर्शनार्थं,कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि, संयोगात् तत्कृतः सर्ग. ॥ २१ ॥ " (साङ्ख्यका०) इति । असदेतत् ; यतो यदि प्रकृतिरकृतस्याऽपि कर्मण' फलमभिलषितमुपनयति तदा सर्वदा सर्वस्य पुंसोऽभिलषितार्थसिद्धिः किमिति न स्यात् ?। न च तत्कारणस्य धर्मस्याभावान्नासाविति वक्तव्यम् , यतो धर्मस्याऽपि प्रकृतिकार्यतया तदव्यतिरेकात्तद्वत्सदैव भाव इति । सर्वदा सर्वस्याऽभिलषितफलप्राप्तिप्रसक्तिः । अपि च-यद्यभिलषितं फलं प्रकृतिरुपनयति तदा नानिष्टं प्रयच्छेत्, न हि कश्चिदनिष्टमभिलषति । किं च-उपनयतु नाम प्रकृतिः फलं तथाऽपि भोक्तृत्वं पुंसोऽयुक्तमविकारित्वान्नहि सुखदु:खादिनाऽऽह्लादपरितापादिरूपं विकारमनुपनीयमानस्य भोक्तृत्वमस्याकाशवत् सङ्गतम्।न च प्रकृतिरस्योपकारिणी अधिकृतात्मन्युपकारस्य कर्तुमशक्यत्वाद् ,विकारित्वे वा नित्यत्वहानिप्रसक्तिः अतावदवस्थस्याऽनित्यत्वलक्षणत्वात्तस्यापि विकारिण्यवश्यंभावित्वात् । अथ न विकारापत्त्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमिष्टं, किं तर्हि? बुद्ध्यध्यवसितस्याऽर्थस्य प्रतिबिम्बोदयन्यायेन संचेतनात् , तथाहि-बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बक द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य नतु विकारापत्तिः । न च पुरुषप्रतिबिम्बमात्रसंक्रान्तावपि स्वरूपप्रच्युतिमान् दर्पणवदविचलितस्वरूपत्वात् , असदेतत् , यतो बुद्धिदर्पणारूढमर्थप्रतिबिम्बक द्वितीयदर्पणकल्पे पुंसि सङ्क्रामत् ततो व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वेति वाच्यम् । यदि अव्यतिरिक्तमिति पक्षस्तदा तदेवोदयव्ययपयोगित्व पुंस. प्रसज्येत उदयादियोगिप्रतिबिम्बाव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवत् । अथ व्यतिरिक्तमित्यभ्युपगमस्तदा न भोक्तृता न भोक्त्रवस्थातस्तस्य कस्यचिद्विशेषस्याऽभावात् । न चार्थप्रतिबिम्बसम्बन्धात्तस्य भोक्तृत्वं युक्तमनुपकार्योपकारकयो. सम्बन्धासिद्धेः उपकारकल्पनाया अपि भेदाभेदविकल्पतोऽनुपपत्तेः ।

अपि च—पुरुषस्य दिदृक्षां प्रधान यदि जानीयात्तदा पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिर्युक्ता स्यात् नचैवं तस्य जडरूपत्वात् ,सत्यपि चेतनावत्सम्बन्धे न पङ्ग्वन्धदृष्टान्तात्प्रवृत्तिर्युक्तिमती, यतोऽन्धो यद्यपि मार्गं नोपलभते तथाऽपि पङ्गोर्विवक्षामसौ वेत्ति तस्य चेतनावत्त्वात् न चैवं प्रधान पुरुषविवक्षामवगच्छति तस्याचेतनावत्त्वेन जडरूपत्वात् । नच तयोर्नित्यत्वेन परस्परमनुपकारिणोः पङ्ग्वन्धवत्सम्बन्धोऽपि युक्त. । अथ प्रधानं पुरुषस्य दिदृक्षामवगच्छतीत्यभ्युपगम्यते, तथा सति भोक्तृत्वमपि तस्य प्रसज्यते करणक्षस्य भुजिक्रियावेदकत्वाविरोधात् । न च य एकं जानाति तेनापरमपि ज्ञातव्यमित्ययं न नियमो यतः प्रधानस्य कर्तृत्वे भोक्तृत्वमपि नियतसन्धीति युक्तं वक्तुम् , यतो यदि प्रधानस्य बुद्धिमत्त्वमङ्गीक्रियते तदा पुरुषवच्चैतन्यप्रसङ्गो बुद्ध्यादीनां चैतन्यपर्यायत्वात् ,यतो यत् प्रकाशात्मतया अपरप्रकाशनिरपेक्षं स्वसंविदितरूपं चकास्ति तत् चैतन्यमुच्यते,तद्यदि बुद्धेरपि समस्ति चिद्रूपा सा किमिति न भवेत् । न च यथोक्तबुद्धिव्यतिरेकेणापरं चैतन्यमुपलक्षयामः, यतस्तद्व्यतिरिक्तस्य पुरुषस्य सिद्धिर्भवेत् । (सम्म० ।) (अन्यत्या विशेषवक्तव्यता ' बुद्धि ' शब्दे पञ्चमभागे १३२७ पृष्ठे गता ।) यदपि-"परार्थाश्चक्षुरादयः" इत्याद्युक्तम् , तत्राधेयातिशयो वा पर. साध्यत्वेनाभिप्रेतः, यद्वा—अविकार्यनाधेयातिशय., आहोस्वित्सामान्येन चक्षुरादीनां पारार्थ्यमात्रं साध्यत्वेनाभिप्रेतमिति विकल्पत्रयम्। तत्र यदि प्रथमः पक्षः स न युक्त ,सिद्धसाध्यतादोषाऽऽघ्रातत्वाद् यतोऽस्माभिरपि विज्ञानोपकारित्वेनाभ्युपगता एव चक्षुरादयः "चक्षु प्रतीत्य रूपादि-चोत्पद्यते, चक्षुर्विज्ञानम्" इत्यादिवचनात् । अथ द्वितीय पक्षोऽङ्गीक्रियते तदा हेतोर्विरुद्धतालक्षणो दोष', विकार्युपकारित्वेन चक्षुरादीनां साध्यविपर्ययेण दृष्टान्ते हेतोर्व्याप्तत्वप्रतीतेः । तथाहि-अविकारिण्यतिशयस्याधातुमशक्यत्वाच्छयनाशनादयोऽनित्यस्यैवोपकारिणो युक्ता नाऽनित्यस्येति कथं न हेतोर्विरुद्धता ?, यदि पुन' सामान्येन आधेयाऽनाधेयातिशयविशेषमपास्य पारा-

र्थ्यमात्र साध्यत इत्ययं पक्षः कक्षीक्रियते तदापि सिद्धसाध्यतैव, चक्षुरादीना विज्ञानोपकारित्वेनेष्टत्वात् । न च चित्तमपि साध्यधर्मित्वेनोपात्तमित्यपरस्य तद्व्यतिरिक्तस्य परत्वमत्राभिप्रेतं,चित्तादिव्यतिरेकिणोऽपरस्याविकारिण उपकार्यत्वासम्भवात्, चक्षूरूपालोक-मनस्काराणामपरचक्षुरादिकद्रव्यकोपकारित्वस्याऽन्यायप्राप्तत्वात् । विज्ञानस्य वा अनेककारणकृतोपकाराध्यासितस्य सहतत्वं कल्पितमविरुद्धमेवेति नाम साध्ये हेतोरप्यसिद्धता सङ्गच्छते ? । तत्र सांख्योपकल्पितचैतन्यरूपं, कल्पितचैतन्यरूपस्य नित्यस्यात्मनः कुतश्चित्सिद्धिः । तत्र अशुद्धद्रव्यास्तिकमतावलम्बिसांख्यदर्शनपरिकल्पितपदार्थसिद्धिरिति पर्यायास्तिकमतम् । सम्म०१ काण्ड ३ गाथाटीका । औ० । विशे० । सूत्र० । आचा० । स्या० ।

संखडि-संखडि–स्त्री० । सखण्ड्यन्ते प्राणिनो यस्यां सा । अनेकसत्त्वव्यापत्तिहेतौ, औ० । आचा० । जीन० । स्था० । आहाराद्यपाकस्थाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

संस्कृति- स्त्री० । ओदनपाके, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । संखडिं दृष्ट्वा न गच्छेत् । दश० ७ अ० । (संखण्ड्यन्ते प्राणिनः इति व्याख्या तद्वर्णनं च 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे १५४७ पृष्ठे गतम् ।)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा परं अद्धजोयणमेराए संखडिं नच्चा संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पाईणं संखडिं नच्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे , पडीणं संखडिं नच्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे , दाहिणं संखडिं नच्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे , उईणं संखडिं नच्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे जत्थेव सा संखडी सिया । तं जहा–गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा नेगमंसि वा आसमंसि वा सन्निवेसंसि वा ०जाव रायहाणिंसि वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, केवली बूया–आयाणमेयं संखडिं संखडिपडियाए अभिधारेमाणे आहाकम्मियं वा उद्देसियं वा मीसजायं वा कीयगडं वा पामिच्चं वा अच्छिज्जं वा अणिसिट्ठं वा अभिहडं वा आहट्टु दिज्जमाणं भुंजिज्जा । (सू०–१३ ×)

'से भिक्खू वे' त्यादि स भिक्षुः परं प्रकर्षेणार्द्धयोजनमात्रे क्षेत्रे संखण्ड्यन्ते–विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा संखडिस्तां ज्ञात्वा तत्प्रतिज्ञया नाभिसंधारयेत्–न पर्यालोचयेत्तत्र गमनमिति न तत्र गच्छेदिति यावत् । यदि पुनर्ग्रामेषु परिपाट्या पूर्वप्रवृत्तं गमनं तत्र च संखडिं परिज्ञाय यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह–' से भिक्खू वे ' त्यादि–स भिक्षुर्यदि प्राचीनां पूर्वस्यां दिशि संखडिं जानीयात्ततः प्रतीचीनम्–अपरदिग्भागं गच्छेत् , अथ प्रतीचीनां जानीयात्ततः प्राचीनं गच्छेत् , एवमुत्तरत्राऽपि व्यत्ययो योजनीयः । कथं गच्छेत् ?–'अनाद्रियमाणः ' संखडिमनादरयन्नित्यर्थः । एतदुक्तं भवति–यत्रैवासौ संखडि स्यात्तत्र न गन्तव्यमिति , क्व चाऽसौ स्यादिति दर्शयति, तद्यथा–ग्रामे वा प्राचुर्येण ग्रामधर्मोपेतत्वात्, करादिगम्यो वा ग्राम , नास्मिन् करोऽस्तीति नकरं , धूलिप्राकारोपेतं खेटं , कर्बटं–कुनगरं , सर्वतोऽर्द्धयोजनात्परेण स्थितग्राम-मडम्बं पत्तनं–यस्य जलस्थलपथयोरन्यतरेण पर्याहारप्रवेशः , आकरः–ताम्रादिरुत्पत्तिस्थानं , द्रोणमुखं–यस्य जलस्थलपथावुभावपि, निगमा–वणिजस्तेषां स्थानं नैगमम् , आश्रमं–यत्तीर्थस्थानं, राजधानी–यत्र राजा स्वयं तिष्ठति , सन्निवेशो यत्र प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेश इति, तत्रैतेषु स्थानेषु संखडिं ज्ञात्वा संखडिप्रतिज्ञया न गमनम् अभिसंधारयेत्–न पर्यालोचयेत् । किमिति ?, यतः केवली ब्रूयात्–आदानमेतत्–कर्मोपादानमेतदिति । पाठान्तरं वा ' आययणमेयंति ' आयतनं–स्थानमेतद्दोषाणां यत्संखडीगमनमिति । कथं दोषाणामायतनमिति दर्शयति–' संखडिं संखडिपडियाए ' त्ति–या या संखडिस्तां ताम्–अभिसन्धारयतः–तत्प्रतिज्ञया गच्छतः साधोरवश्यमेतेषां मध्ये अन्यतमो दोषः स्यात् , तद्यथा–आधाकर्म वा औद्देशिकं वा मिश्रजातं वा क्रीतकृतं वा उद्यतकं वा आच्छेद्यं वा अनिसृष्टं वा अभ्याहृतं वेति, एतेषां दोषाणामन्यतमदोषदुष्टं भुञ्जीत, स हि प्रकरणकर्तैवमभिसन्धारयेत्–यथाऽयं यतिर्मत्प्रकरणमुद्दिश्येहायातः, तदस्य मया येन केनचित्प्रकारेण देयमित्यभिसन्धायाधाऽऽकर्मादि विदध्यादिति । यदि वा–यो हि लोलुपतया संखडिप्रतिज्ञया गच्छेत् स तत एवाऽऽधाकर्माद्यपि भुञ्जीतेति ।

किञ्च संखडिनिमित्तमागच्छतः साधूनुद्दिश्य गृहस्थ एवंभूता वसतीः कुर्यादित्याह–

असंजए भिक्खुपडियाए खुड्डियदुवारियाओ महल्लियदुवारियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खुड्डियदुवारियाओ कुज्जा, समाओ सिज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सिज्जाओ समाओ कुज्जा , पवायाओ सिज्जाओ निवायाओ कुज्जा, निवायाओ सिज्जाओ पवायाओ कुज्जा, अंतो वा वहिं वा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय छिंदिय दालिय दालिय संथारगं संथारिज्जा, एस विलुंगयामो सिज्जाए । तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स० जाव सया जए (सू०–१३) त्ति बेमि ।

असंयतः–गृहस्थः स च श्रावकः प्रकृतिभद्रको वा स्यात् , तत्राऽसौ साधुप्रतिज्ञया क्षुद्रद्वाराः–सङ्कटद्वाराः सत्यस्ता महाद्वाराः कुर्यात्, व्यत्ययं वा कार्यापेक्षया कुर्यात् , तथा समाः शय्याः–वसतयो विषमाः सागारिकापातभयात् कुर्यात् , साधुसमाधानार्थं वा व्यत्ययं कुर्यात् , तथा प्रवाताः शय्याः शीतभयान्निवाताः कुर्यात्, ग्रीष्मकालापेक्षया वा व्यत्ययं विदध्यादिति । तथाऽन्तः–म-

ध्ये उपाश्रयस्य बहिर्वा हरितानि छित्त्वा छित्त्वा विदार्य विदार्य उपाश्रयं संस्कुर्यात्, संस्तारकं वा संस्तारयेत्, गृहस्थश्चानेनाभिसन्धानेन संस्कुर्यात्। यथैष-साधुः शय्यायाः संस्कारे विधातव्ये 'विलुंगयामो' त्ति-निर्ग्रन्थः अकिञ्चन इत्यतः स गृहस्थः कारणे संयतो वा स्वयमेव संस्कारयेदित्युपसंहरति, तस्मात् तथाप्रकाराम् अनेकदोषदुष्टां संखडिं विज्ञाय सा पुरःसंखडिः पश्चात्संखडिर्वा भवेत्, जातनामकरणविवाहाऽऽदिका-पुरःसंखडिः, तथा मृतकसंखडिः-पश्चात्संखडिरिति, यदि वा-पुरः-अग्रतः—संखडिर्भविष्यति अतोऽनागतमेव यायात्, वसतिं वा गृहस्थः संस्कुर्यात्, वृत्ता वा संखडिरतोऽत्र तच्छेषोपभोगाय साधवः समागच्छेयुरिति। सर्वथा सर्वां संखडिं संखडिप्रतिज्ञया नोऽभिसंधारयेत्-न पर्यालोचयेद्गमनक्रियामिति, एवं तस्य भिक्षोः सामग्र्यं—सम्पूर्णता भिक्षुभावस्य यत्सर्वथा संखडिवर्जनमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०।

अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके दोषसम्भवात्संखडिगमनं निषिद्धं प्रकारान्तरेणाऽपि तद्गतानेव दोषानाह—

से एगइओ अन्नयरं संखडिं आसित्ता पिबित्ता छड्डिज्ज वा वमिज्ज वा भुत्ते वा से नो सम्मं परिणामिज्जा अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जिज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं। (सू० १४) इह खलु भिक्खू गाहावईहिं वा गाहावइणीहिं वा परिवायएहिं वा परिवाइयाहिं वा एगज्जं सद्धिं सुंडं पाउं भो वइमिस्सं हुरत्था वा उवस्सयं पडिलेहेमाणो नो लभिज्जा तमेव उवस्सयं सम्मिस्सीभावमावज्जिज्जा, अन्नमणे वा से मत्ते विप्परियासियभूए इत्थिविग्गहे वा किलीबे वा तं भिक्खुं उवसंकमित्तु बूया-आउसंतो समणा! अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा राओ वा वियाले वा गामधम्मनियंतियं कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपरियारणाए आउट्टामो, तं चेवेगईओ सातिज्जिज्जा, अकरणिज्जं चेयं संखाए एए आयाणा (आयतणाणि) संति संविज्जमाणा पच्चवाया भवंति, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। (सू०-१५)

स भिक्षुः एकदा-कदाचिद् एकचरो वा अन्यतराम्-काञ्चित्पुरःसंखडिं पश्चात्संखडिं वा संखडिमिति संखडिभक्तम् आस्वाद्य—भुक्त्वा तथा पीत्वा शिखरिणीदुग्धादि तच्चातिलोलुपतया रसगृद्ध्याऽऽहारितं सत् 'छड्डेज्ज वा' छर्दिं विदध्यात्, कदाचिच्चापरिणतं तद्विशूचिकां कुर्यात्, अन्यतरो वा रोगः-कुष्ठादिक आतङ्कस्त्वाशुजीवितापहारी शूलादिकः समुत्पद्येत, केवली—सर्वज्ञो ब्रूयात्, यथा एतत् संखडीभक्तम् आदान-कर्मोपादानं वर्त्तत इति। यथैतदादानं भवति तथा दर्शयति—'इहेति' संखडिस्थानेऽस्मिन् वा भवेऽमी अपायाः, आमुष्मिकास्तु दुर्गतिगमनादयः, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, भिक्षणशीलो भिक्षुः स गृहपतिभिस्तद्भार्याभिर्वा परिव्राजकैः परिव्राजिकाभिर्वा सार्द्धमेकद्यम्-एकवाक्यतया सम्प्रधार्य भो—इत्यामन्त्रणे एतानामन्त्य चैतद्दर्शयति-संखडिगतस्य लोलुपतया सर्वं संभाव्यत इत्यतस्तैर्व्यतिमिश्रं 'सुंड' ति सीधुम् अन्यद्वा प्रसन्नादिकं पातुं पीत्वा ततः 'हुरत्था वा' बहिर्वा निर्गत्योपाश्रयं याचेत, यदा च प्रत्युपेक्षमाणो विवक्षितमुपाश्रयं न लभेत ततस्तमेवोपाश्रयं यत्राऽसौ संखडिस्तत्राऽन्यत्र वा गृहस्थपरिव्रजिकादिभिर्मिश्रीभावमापद्येत। तत्र चासावन्यमना मत्तो गृहस्थादिको विपर्यासीभूत आत्मानं न स्मरति, स वा भिक्षुरात्मानं न स्मरेत्, अस्मरणाच्चैवं चिन्तयेद्—यथाऽहं गृहस्थ एव, यदि वा-स्त्रीविग्रहे-शरीरे विपर्यासीभूतः-अध्युपपन्नः क्लीबे वा नपुंसके वा। सा च स्त्री नपुंसको वा तं-भिक्षुम् उपसंक्रम्य-आसन्नीभूय ब्रूयात्, तद्यथा-आयुष्मन्! श्रमण! त्वया सहैकान्तमहं प्रार्थयामि, तद्यथा-आरामे वोपाश्रये वा, कालतश्च रात्रौ वा विकाले वा, तं भिक्षुं ग्रामधर्मैः-विषयोपभोगगतैर्व्यापारैर्नियन्त्रितं कृत्वा, तद्यथा—मम त्वया विप्रियं न विधेय, प्रत्यहमहमनुसर्पणीयेति, एवमादिभिर्नियम्य ग्रामासन्ने वा कुत्रचिद्रहसि मिथुनं—दाम्पत्यं तत्र भवं मैथुनम्- अब्रह्मेति तस्य धर्माः—तद्गता व्यापारास्तेषां 'परियारणा' आसेवना तया 'आउट्टामो' त्ति-प्रवर्त्तामहे। इदमुक्तं भवति—साधुमुद्दिश्य रहसि मैथुनप्रार्थनां काचित्कुर्यात्, तां चैकः कश्चिदेकाकी वा 'साइज्जेज्ज' त्ति अभ्युपगच्छेत्, अकरणीयमेतद् एवं संख्याय-ज्ञात्वा संखडिगमनं न कुर्याद्। यस्मादेतानि आयतनानि कर्मोपादानकारणानि सन्ति-भवन्ति सचीयमानानि प्रतिक्षणमुपचीयमानानि। इदमुक्तं भवति—अन्यान्यपि कर्मोपादानकारणानि भवेयुः, यत एवमादिकाः प्रत्यपाया भवन्ति तस्मादसौ संयतो निर्ग्रन्थस्तथाप्रकारां संखडिं पुरःसंखडिं पश्चात्संखडिं वा संखडिं ज्ञात्वा संखडिप्रतिज्ञया नाभिसंधारयेद् गमनाय-गन्तुं न पर्यालोचयेदित्यर्थः।

तथा—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अन्नयरिं संखडिं सुच्चा निसम्म संपहावइ उस्सुयभूएण अप्पाणेणं, धुवा संखडी नो संचाएइ तत्थ इयरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारित्तए, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा। से तत्थ कालेण अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारिज्जा। (सू०-१६)।

स भिक्षुरन्यतरां-पुरःसंखडिं पश्चात्संखडिं वा श्रुत्वाऽन्यतः सतो वा निशम्य-निश्चित्य कुतश्चिद्धेतोस्ततस्तदभिमुखं सम्प्रधावत्युत्सुकभूतेनात्मना। यथा-ममात्र भविष्यत्यद्भुतभूतं भोज्यं, यतस्तत्र ध्रुवा—निश्चिता संखडिरस्ति, 'नो संचाएइ' त्ति न शक्नोति तत्र संखडिग्रामे इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः संखडिरहितेभ्यः 'सामुदाणियं' ति भैक्षं, किम्भूतम्?—

पषणीयम् आधाकर्मादिदोषरहितं 'वेसियं' ति केवलरजोहरणादिवेषाल्लब्धमुत्पादनादिदोषरहितम्, एवम्भूतं पिण्डपातम्—आहारं परिगृह्याभ्यवहर्तुं न शक्नोतीति सम्बन्धः। तत्र चाऽसौ मातृस्थानं संस्पृशेत्, तस्य मातृस्थानं संभाव्येत, कथं !-यद्यपीतरकुलाहारप्रतिज्ञया गतो, नचासौ समभ्यवहर्तुमलं पूर्वोक्तया नीत्या, ततोऽसौ सखडिमेव गच्छेत्। एवं च मातृस्थानं तस्य संभाव्येत, तस्मान्नैवं कुर्याद्-ऐहिकामुष्मिकापायभयात् संखडिग्रामगमनं न विदध्यादिति। यथा च कुर्यात्तथाऽऽह—स भिक्षुः तत्र संखडिनिवेशे कालेनानुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्यो गृहेभ्यः उग्रकुलादिभ्यः सामुदानिकं-समुदानं—भिक्षा तत्र भवं सामुदानिकम् एषणीयं-प्रासुकं वैषिकं-केवलवेषावाप्तं धात्रीपिण्डादिरहितं पिण्डपातं प्रतिगृह्याहारमाहारयेदिति।

पुनरपि संखडिविशेषमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा गामं वा०जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा ०जाव रायहाणिंसि वा संखडी सिया तं पि य गामं वा जाव० रायहाणिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। केवली बूया-आयाणमेयं, आइन्नाऽवमाणं संखडिं अणुपविस्समाणस्स-पाएण वा पाए अक्कंतपुव्वे भवइ, हत्थेण वा हत्थे संचालियपुव्वे भवइ, पाएण वा पाए आवडियपुव्वे भवइ, सीसेण वा सीसे संघट्टियपुव्वे भवइ, काएण वा काए संखोभियपुव्वे भवइ, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा अभिहयपुव्वेण वा भवइ, सीओदएण वा उस्सित्तपुव्वे भवइ, रयसा वा परिघासियपुव्वे भवइ, अणेसणिज्जे वा परिभुत्तपुव्वे भवइ अन्नेसिं वा दिज्जमाणे पडिग्गाहियपुव्वे भवइ। तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं आइन्नावमाणं संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। (सू०१७)

स भिक्षुर्यदि पुनरेवम्भूतं ग्रामादिक जानीयात्, तद्यथा—ग्रामे वा नगरे वा यावद्राजधान्या वा संखडिर्भविष्यति,तत्र च चरकादयोऽपरे वा भिक्षाचरा स्युस्तस्तदपि ग्रामादिकं संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनाय-न तत्र गमनं कुर्यादित्यर्थ। तद्गतांश्च दोषान् सूत्रेणैवाह-केवली ब्रूयाद्-यथैतदादानं-कर्मोपादानं वर्त्तत इति दर्शयति-सा च संखडिः आकीर्णा वा भवेत्-चरकादिभि. सङ्कुला अवमा-हीना शतस्योपस्कृतेः पञ्चशतोपस्थानादिति, तां चाकीर्णामवमां चानुप्रविशतोऽमी दोषा., तद्यथा—पादेनापरस्य पाद आक्रान्तो भवेत्, हस्तेन वा हस्त. सञ्चालितो भवेत्, पात्रेण वा भाजनेन वा पात्रं भाजनमापतितपूर्वं भवेत्, शिरसा वा शिरः संघट्टितं भवेत्, कायेनापरस्य चरकादे. कायः सङ्क्षोभितपूर्वो भवेदिति। स च चरकादिरारुषित. कलहं कुर्यात्,कुपितेन च तेन दण्डेनास्थ्ना वा मुष्टिना वा लोष्ठेन वा कपालेन वा साधुरभिहतपूर्वो भवेत्, तथा शीतोदकेन वा कश्चित्सिञ्चेत्, रजसा वा परिघर्षितो वा भवेत्। एते तावत्सङ्कीर्णदोषा.। अवमदोषाश्चामी-अनेषणीयपरिभोगो भवेत्, स्तोकस्य संस्कृतत्वात्प्रभूतत्वाच्चार्थिनां;प्रकरणकारस्यायमाशयः स्याद् यथा मत्प्रकरणमुद्दिश्यैते समायातास्तत एतेभ्यो मया यथाकथञ्चिद्देयमित्यभिसन्धिनाऽऽधाकर्माद्यपि कुर्याद्, अतोऽनेषणीयपरिभोग. स्यादिति। कदाचिद्वा दात्राऽन्यस्मै दातुमभिवाञ्छितं, तच्चान्यस्मै दीयमानमन्तराले साधुर्गृह्णीयात्, तस्मादेतान् दोषानभिसम्प्रधार्य संयतो-निर्ग्रन्थस्तथाप्रकारामाकीर्णामवमां संखडिं विज्ञाय संखडिप्रतिज्ञया नाऽभिसन्धारयेद् गमनायेति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

इहानन्तरोद्देशके संखडिगतो विधिरभिहितस्तदिहाऽपि तच्छेषविधे. प्रतिपादनार्थमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हीरमाणं पेहाए अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणया बहवे तत्थ समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा उवागया उवागमिस्संति (उवागच्छंति) तत्थाइन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए नो पन्नस्स वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए, से एवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडिआए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा ० जाव हीरमाणं वा पेहाए अंतरा से मग्गा अप्पा पाणा ० जाव संताणगा नो जत्थ बहवे समण ०जाव उवागमिस्संति अप्पाइन्ना वित्ती पन्नस्स निक्खमणपवेसाए पन्नस्स वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा ०जाव अभिसंधारिज्जा गमणाए। (सू०-२२)

स भिक्षु कचिद्ग्रामादौ भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यद्येवम्भूतां संखडिं जानीयात् तत्प्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनायेत्यन्ते क्रिया। यादृग्भूता च संखडिं न गन्तव्यं तां दर्शयति-मासमादौ प्रधानं यस्यां सा मांसादिका तामिति। इदमुक्तं भवति—मांसनिर्वृत्ति कर्तुकामाः पूर्णायां वा निवृत्तौ मांसप्रचुरा संखडिं कुर्युः, तत्र कश्चित्स्वजनादिस्तदनुरूपमेव किञ्चिन्नयेत्, तच्च नीयमान दृष्ट्वा न तत्र गन्तव्यं तत्र दोषान् वक्ष्यतीति। तथा मत्स्या आदौ प्रधान यस्यां सा तथा, एवं मासखलमिति, यत्र संखडिनिमित्तं मांसं छित्त्वा छित्त्वा शोष्यते शुष्क वा पुञ्जीकृतमास्ते तत्तथा, क्रिया पूर्ववत्। एव मत्स्यखलमपीति। तथा—'आहेणं' ति यद्विवाहोत्तरकालं वधूप्रवेशे वरगृहे भोजन क्रियते, 'पहेणं' ति वध्वा नीयमानाया यत्पितृगृहभोजनमिति, 'हिंगोल' ति मृतकभक्तं, यक्षादियात्राभोजन वा, 'संमेल' ति परिजनसन्मानभक्तं गोष्ठीभक्त वा, तदेवम्भूता संख-

डिं ज्ञात्वा तत्र च केनचित्स्वजनादिना तन्निमित्तमेव किञ्चिद् ह्रियमाण—नीयमानं प्रेक्ष्य तत्र भिक्षार्थं न गच्छेद्, यतस्तत्र गच्छतो गतस्य च दोषाः सम्भवन्ति। तांश्च दर्शयति—गच्छतस्तावदन्तरा-अन्तराले तस्य भिक्षोः मार्गाः पन्थानो बहवः प्राणाः—प्राणिनः पतङ्गादयो येषु ते तथा, तथा बहुबीजा बहुहरिता बह्ववश्याया बहूदका बहूत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानकाः। प्राप्तस्य च तत्र संखडिस्थाने बहवः श्रमणब्राह्मणाऽतिथिकृपणवनीपका उपागता उपागमिष्यन्ति तथोपागच्छन्ति च। तत्राकीर्णा चरकादिभिः—वृत्तिः—वर्त्तनम् अतो न तत्र प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशाय वृत्तिः कल्पते, नापि प्राज्ञस्य वाचना-प्रच्छना-परिवर्तनाऽनुप्रेक्षा-धर्मानुयोगचिन्तायै वृत्तिः कल्पते, न तत्र जनाकीर्णे गीतवादित्रसम्भवात् स्वाध्यायादिक्रियाः प्रवर्त्तन्त इति भावः। स भिक्षुरेवं गच्छगतापेक्षया बहुदोषां तथाप्रकारां मांसप्रधानादिकां पुरःसंखडिं पश्चात्संखडिं वा ज्ञात्वा तत्प्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनायेति। साम्प्रतमपवादमाह—स भिक्षुरध्वनि क्षीणो ग्लानोत्थितस्तपश्चरणकर्षितो वाऽवमौदर्यं वा प्रेक्ष्य दुर्लभद्रव्यार्थी वा स यदि पुनरेवं जानीयात्—मांसादिकमित्यादि पूर्ववदालापका यावदन्तरा अन्तराले 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छतो मार्गा अल्पप्राणा अल्पबीजा अल्पहरिता इत्यादि व्यत्ययेन पूर्ववदालापकः। तदेवमल्पदोषां संखडिं ज्ञात्वा मांसादिदोषपरिहरणसमर्थः सति कारणे तत्प्रतिज्ञयाऽभिसन्धारयेद्गमनायेति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ०।

संखडिप्रलोकनाय न गच्छेत्। सूत्रम्—

संखडिं वा संखडिपडियातिए(एतुं) एत्तए ॥ ४८ ॥

अथाऽस्य सूत्रस्य सम्बन्धमाह—

दुविहाऽवाता उ विहे, वुत्ता ते होज्ज संखडीए तु।
तत्थ दिया वि न कप्पति, किमु राती एस संबंधो ॥६६१॥

'दुविहे' त्ति अध्वनि गच्छता संयमात्मविराधनाभेदाद् द्विविधाः प्रत्यपाया उक्ताः, संखड्यामपि गच्छता त एव प्रत्यपाया भवेयुः अतस्तत्र दिवाऽपि गन्तुं न कल्पते, किमुत रात्रौ, एष सम्बन्धः। अनेन सम्बन्धेनायातस्याऽस्य (सू०४८) व्याख्या—'संखडिं वे' ति वाशब्दात्र कल्पते इत्यादि पदान्यनुवर्त्तनीयानि। तद्यथा—न केवलमध्वानं रात्रौ वा विकाले वा गन्तुं न कल्पते, किन्तु—संखडिमपि रात्रौ वा विकाले वा संखडिप्रतिज्ञया एतुं—गन्तुं न कल्पते, एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थं विभणिषुराह-

संखंडिज्जंति आऊ-णि जियाणं सखडी स खलु वुच्चइ।
तप्पडिआएँ ण गम्मति, अन्नत्थ गते सिया गमणं॥६६२॥

समिति-सामस्त्येन खण्ड्यन्ते—ताड्यन्ते जीवाना वनस्पतिप्रभृतीनामायूंषि प्राचुर्येण यत्र प्रकरणविशेषे सा खलु संखडिरित्युच्यते। 'सूरेभ्य.' इत्यौणादिक इप्रत्ययः, पृषोदरादित्वादनुस्वारलोप.। ता 'संखडिज्जंति जहिं आऊणि जियाण संखडिं' तत्प्रतिज्ञया संखडिमहं गमिष्यामीत्येवंलक्षणया गन्तुं न कल्पते। एवं ब्रुवता सूत्रेणेदं सूचितम्-अन्यार्थमपरकार्यनिमित्तं सखडिग्रामं तस्य संखड्यामपि गमनं स्यादिति।

राओ व दिवसतो वा, संखडिगमणे हवंतिऽणुग्घाया।
संखडिएगमणेगा, दिवसेहिँ तहेव पुरिसेहिं ॥ ६६३ ॥

रात्रौ वा दिवसतो वा संखड्यां गमने चत्वारोऽनुद्घाताः प्रायश्चित्तम्। सा च संखडी दिवसैः पुरुषैश्च एका अनेका च भवति।

इदमेव स्पष्टयति-

एगो एगदिवसियं, एगो ऽणेगाहियं च कुज्जाहि।
ऽणेगा व एगदिवसि तु, ऽणेगा व अणेगदिवसिं तु ।६६४।

एकः पुरुष. एकदैवसिकीं संखडी कुर्यात्, एकोऽनेकाहिकामनेकदैवसिकीम्, अनेके पुरुषाः संभूयैकदैवसिकीम्, अनेके पुरुषा अनेकदैवसिकी संखडिं कुर्वन्ति।

एकेका सा दुविहा, पुरसंखडि पच्छसंखडी चेव।
पुव्वावरसूरम्मि, अहवा वि दिसाविभागेणं ॥ ६६५ ॥

एकैका—एकदैवसिकी अनेकदैवसिकी च सखडिः प्रत्येकं द्विविधा—पुरःसंखडी, पश्चात्सखडी च। या पूर्वसूर्ये-पूर्वदिग्विभागमध्यासीने रवौ क्रियते सा पूर्वसंखडी, या पुनरपरसूर्ये सा पश्चात्संखडी। अथवा-दिग्विभागेनानयोः पुरःपश्चाद्विभागो विज्ञेयः। या विवक्षितग्रामादेः सकाशात् पूर्वस्या दिशि भवति सा पूर्वसंखडी, या तु तस्यैवापरस्यां दिशि सा पश्चात्संखडी।

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

दुविहाएँ वि चउगुरू, विसेसिया भिक्खुमादिणं गमणे।
गुरुगादिव जा सपयं, पुरिसेगअणेगदिणरातो ॥६६६॥

द्विविधायामपि अनन्तरोक्तायां संखड्या गमने चतुर्गुरुकाः एते च भिक्षुप्रभृतीनां तपःकालविशेषिता., भिक्षोस्तपसा कालेन च लघव., वृषभस्य तपसा लघवः, उपाध्यायस्य कालेन लघव, आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरव'। अथवा चतुर्गुरुकमादौ कृत्वा एकानेकपुरुषकृतैकानेकदैवसिकसखडीषु रात्रौ गच्छतः स्वपदं यावत् वेदितव्यम्। तद्यथा-भिक्षुरेकपुरुषकृतामेकदैवसिकी संखडिं व्रजति चतुर्गुरव', एकपुरुषकृतानेकदैवसिक्यां षड्लघव., अनेकपुरुषकृतानैकदैवसिक्यां छेदः, एवं भिक्षुविषयमुक्तम्। वृषभस्य षड्लघुकादारब्धं मूले, उपाध्यायस्य षड्गुरुकादारब्धमनवस्थाप्ये, आचार्यस्य छेदादारब्ध पाराञ्चिके निष्ठामुपयाति।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमेवाह-

आयरियगमणेँ गुरुगा, वसभाण असारणम्मि चउलहुगा।
दोण्ह वि दोण्ह वि गुरुगा, वसभपलातेतरे सुद्धा॥६६७॥

आचार्यस्य संखड्यां गच्छाम इति ब्रुवाणस्य चत्वारो गुरव', तमेवं ब्रुवाणं वृषभा न वारयन्ति चतुर्लघुकाः। अथाचार्येण संखडीं व्रजाम इत्युक्ते वृषभा अपि व्रजाम इति भणन्ति ततो द्वयोरपि वृषभाचार्ययो. चत्वारो मासास्ते द्वयेऽपि गुरुकाः कर्त्तव्या', वृषभाणामपि चतुर्गुरुका भवन्तीति भावः। अथ वृषभैर्वारिता अप्याचार्या बलमोडिकया गच्छन्ति ततस्ते आचार्या' प्रायश्चित्ते लग्ना.। इतरे वृषभास्तु शुद्धा न प्रायश्चित्तभाज इति।

सव्वेसि गमणे गुरुगा, आयरियअवारणे भवे गुरुगा।
वसभे गीतागीए, लहुगा गुरुगा य लहुगो य ॥९९८॥

यदि सर्वेऽपि साधवो भणन्ति संखड्यां गच्छाम इति ततस्तेषां चत्वारो गुरुकाः, आचार्यस्तान् वारयति ततो गुरुकाः। वृषभो न वारयति चतुर्लघव, गीतार्थो भिक्षु न वारयति लघुको मासः।

एगस्स अणेगाण य, छंदेण पहाविया तु ते संता।
वत्तमवत्तं सुच्चा, नियत्तणे होंति चउगुरुगा ॥ ९९९ ॥

एकस्याऽऽचार्यादेरनेकेषां वा बहूना छंदेनाऽभिप्रायेण ते संखड्या उपरि प्रधाविताः सन्तो वृत्तां वा सखडिं श्रुत्वा यदि निवर्त्तन्ते ततश्चतुर्गुरुका भवन्ति।

वेलाए दिवसेहि, वत्तमवत्तं निसम्म पचेति।
होहिइ अमुगं दिवसं,सा पुण अन्नम्मि पक्खम्मि॥१०००॥

वेलया दिवसैर्वा प्रतिनियता संखडीं श्रुत्वा प्रस्थिताः,गच्छद्भिश्चापान्तराले श्रुता, यथा-सा सखडी वृत्ता-समाप्ता,अवृत्ता वा अन्यस्या वेलायामन्यस्मिन् दिवसे भाविनी एवं वृत्तामवृत्तां वा निशम्य-श्रुत्वा प्रत्यायान्ति-प्रतिनिवर्त्तन्ते। यथा कैश्चिदपि साधुभिः श्रुतम्-यथा अमुकगृहे पूर्वाह्णवेलायां संखडिर्भविष्यति ततस्ते पात्राण्युद्ग्राह्य तस्यां गन्तुं प्रस्थिताः, अपान्तराले च तैः श्रुतम्-अतिक्रान्ता संखडी वा आकर्षितं यथा नाऽपि तत्र वेला एव श्रुत्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते।दिवसमधिकृत्य पुनरित्थं 'होहिइ'इत्यादि पश्चार्द्धम्।कश्चिद् ग्रामे स्थितैः श्रुतम्-अमुकग्रामे अमुकदिवसे पञ्चमीप्रभृतिके संखडी भविष्यति, इत्याकर्ण्य ते ग्रामं प्रस्थिताः, तत्र गच्छद्भिरन्तरा श्रुतम्-यथा वृत्ता सा संखडी न भविष्यति वा। कथमित्याह-'सा पुण अन्नम्मि पक्खम्मि' त्ति यस्यां पञ्चम्यां भाविनी संखडी साधुभिः श्रुता सा पुनरन्यस्मिन् अतीते अनागते वा पक्षे भूता वा भविष्यति च, न तत्पक्षवर्त्तिनीति भावः।

अथ संखडी कथं कुत्र वा भवतीत्युच्यते—

आदेसो सेलपुरे, आदाणऽट्ठाहिया य महिमाए।
तोसलिविसए विसुव-ग्गहा तह होति गमणं वा ॥१००१॥

आदेशः-संखडिविषये दृष्टान्तः-तोसलिविषये शैलपुरे नगरे ऋषितडागं नाम सरः। तत्र वर्षे वर्षे भूयान् लोकोऽष्टाहिकां महिमा करोति। तत्रोत्कृष्टावगाहिमादिधान्यस्यादानं प्रतणं कार्यम्।तदर्थं कोऽपि लुब्धो गन्तुमिच्छति। ततः स गुरूणा विज्ञापनां संखडिगमनार्थं करोति। आचार्यो वारयति।तथाऽपि यदि गमनं करोति ततस्तस्य प्रायश्चित्त दोषाश्च वक्तव्या। इति पुरातनगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति-

सेलपुरे (इ)सि तलाग-म्मि होति अट्ठाहियामहामहिमा।
कोंमलमेत्तपभासे, अव्वुयपाईणवाहम्मि ॥ १००२ ॥

तोसलिदेशे शेलपुरे नगरे ऋषितडागे सरसि प्रतिवर्षं महता विच्छर्देनाष्टाहिकाया महती महिमा भवति। तथा कुण्डलमेण्ठनाम्नो वाणव्यन्तरस्य यात्रायां भरुकच्छपरिसरवर्ची भूयान् लोकः संखडिं करोति। प्रभासे वा तीर्थे अर्बुदे वा पर्वतयात्रायां सखडि क्रियते। प्राचीनवाहः सरस्वत्या सम्बद्धः पूर्वदिगभिमुखप्रवाह, तत्रानन्दपुरवास्तव्यो लोको गत्वा यथाविभवं शरदि संखडिं करोति। पञ्चमादिषु कोऽप्युत्कृष्टद्रव्यलुब्धो गुरून् संखडिगमनार्थं विज्ञपयति। गुरवो ब्रुवते-आर्य! न कल्पते संखडिं गन्तुम्।

ततोऽसौ मायया ब्रवीति—

अत्थि य मे पुव्वदिट्ठा, चिरदिट्ठा ते अवस्सदट्ठव्वा।
मायागमणे गुरुगा, तहय गामाऽणुगामम्मि ॥१००३॥

सन्ति मे पूर्वदृष्टाः-पूर्वपरिचिताः सुहृदादयस्ते च चिरदृष्टाः प्रभृतकालनस्तेषां मिलितानामभवदिति भावः। अत इदानीमवश्यं द्रष्टव्यास्ते मया, एवं मायया गुरून् आपृच्छ्य यदि गच्छति तदा गुरुको मासः। ग्रामानुग्रामेऽपि विहरतां संखडिं श्रुत्वा गच्छतां तथैव मासगुरुकम्।

इदमेव व्याचष्टे-

गामाणुगामियं वा, रीयंता सो उ संखडिं तुरियं।
छड्डेंति वसतिकाले, गामं तेसिं पि दोसा तु ॥१००४॥

ग्रामानुग्रामिकं वा रीयमाणा-विहरन्तः काऽपि ग्रामे संखडिं श्रुत्वा ये त्वरितं गच्छन्ति, सति वा भिक्षाकाले तं ग्रामं परित्यजन्ति, परित्यज्य च संखडिग्रामं गच्छन्ति तेषामपि दोषा वक्ष्यमाणा भवन्ति।

गन्तुमणा अन्नदिसिं,अन्नदिसिं ते वयंति संखडिनिमित्तं।
मूलग्गामे अपंडिय-वसभा गच्छेंति तदट्ठाए ॥१००५॥

भिक्षाचर्यायामन्यस्यां दिशि गन्तुमनसः संखडिं श्रुत्वा तन्निमित्तमन्यस्या दिशि व्रजन्ति, मूलग्रामे तदर्थं संखडिहेतोर्गच्छन्ति।

एतेषु सर्वेष्वपि गमनप्रकारेषु दोषानुपदिदर्शयिषुराह—

एगाहि अणेगाहिं, दिवा य रातो य गंतुपडिसिद्धं।
आणादिणो य दोसा, विराहणा पथिपत्ते य ॥ १००६ ॥

एकाहिकीमनेकाहिकीं वा ता संखडिं गन्तुं दिवा रात्रौ प्रतिपिद्धम्, यदि गच्छति तत आज्ञादयो दोषाः, विराधना च सयमात्मविषया पथि वर्त्तमानानां तत्र प्राप्तानां च भवति।

तत्र पथि वर्त्तमानानां भावदोषानभिधित्सुराह—

मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा होति संजमायाए।
रीयादि संजमम्मि य, छक्कायअचक्खुविसयम्मि ॥१००७॥

संखडिं गच्छतः साधून् दृष्ट्वा यथा भद्रका मिथ्यात्वे स्थिरतरा भवेयुः, उड्डाहो भवेत्। तथा सयमात्मविराधना भवति। संयमविराधना रात्रौ गच्छन् ईर्यादिसमितीर्न शोधयति, अचक्षुर्विषये च गच्छता षट्कायविराधना। आत्मविराधना तु पुरस्ताद्वक्ष्यते।

अथ मिथ्यात्वो-ड्डाहद्वारे व्याचष्टे—

जीहादोसनियत्ता, वयंति लूहेति तज्जिया भोज्जे।
थिरकरणं मिच्छत्ते, तप्पक्खियखोभणा चेव ॥१००८॥

लोकाः ब्रूयान्-अहो अमी श्रमणा जिह्वादोषनिवृत्ता-रसगृद्धिरहिता अपि रूक्षैर्वल्लचणकादिभिराहारैस्तर्जिताः सन्तः प्रतिभोज्यार्थं-संखडिहेतोर्गच्छन्तीत्युड्डाहो भवेत्। तथा यथैतदर्मीषामसत्यं तथा अन्यदपि मिथ्याप्रलपितमिति मिथ्यात्वे स्थिरीकरणं भवति। एवं च तत्पाक्षिका साधुमानिनः श्रावकास्तेषां क्षोभणा मिथ्यादृष्टिभिः सम्यक्त्वाच्चालना भवति।

अथाऽऽत्मविराधनामाह—

वाले तेणे तह सा-वते य विसमे य खाणुकंटे य।

अकम्हाँ भयचसमुत्था, रत्तेमादी भवे दोसा ॥१००९॥

रात्रौ संखडिगमे व्यालः—सर्पस्तेन दश्येत। स्तेनैरुपकरणमपह्रियेत, श्वापदैः सिंहादिभिरुपद्रूयेत, विषमे च निम्नोन्नते प्रपतेत्। स्थाणुना वा कराटकेन वा विध्येत। अकस्माद्भय वा स्वयमात्मसमुत्थं भवति। रात्रावेवमादयो दोषा भवेयुः। एवं तावत्पथि गच्छतां दोषा अभिहिताः।

अथ तत्र प्रार्थनामाह—

वसहीए जे दोसा, परउत्थियतज्जणाएँ विलधम्मे।

आतोज्जगीतसद्दे, इत्थीसद्दे य सविकारे॥ १०१०॥

वसतेः सम्बन्धिनो ये आधाकर्मादयो दोषास्ते लगन्ति, परतीर्थिकाश्च तत्र गतानां तर्जनां कुर्वन्ति। विलधर्म्मो नाम एकस्यामेव वसतौ गृहस्थैः समं संवासः तत्रैकत्रावस्थाने तत्र संखडं स्यात्। तत्र च संखड्यामातोद्यगीतशब्दान् स्त्रीशब्दाँश्च सविकारान् श्रुत्वा चशब्दादविरतिकाः अलंकृता दृष्ट्वा स्मृतिकरणादयो दोषाः। इति द्वारगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

आहाकम्मियमादी, मंडवगादीसु होति अमणुन्ना।

रुक्खे अब्भावासे, उवरिं दोसे परूविस्सं ॥ १०११॥

संखडीवर्त्ती दानश्राद्धो यथाभद्रको वा साधूनां निमित्तमाधाकर्मिकान् कारयेत्। आदिशब्दाद्यावन्तिकादिपरिग्रहः। तेषु मराडपेषु आदिशब्दात्पर्णकुटीप्रभृतिषु डाले—अवकाशे वा वसन्ति, तत्र वसतां ये दोषास्तानुपरिष्टादस्मिन्नेव सूत्रे प्ररूपयिष्यामि।

परतीर्थिकद्वारं भजनाद्वारमाह—

इंदियमुंडे मा किं-चि देह मा णे डहेज्ज साहूणं।

पेहासोभादीसु य, असंखडं हेतुवादो य॥ १०१२॥

संखडीं श्रुत्वा शाक्यशैवभागवतादयः परतीर्थिकाः समायातास्ते साधून् तर्जयन्त इत्थं ब्रुवते इन्द्रियरुण्डा-मुराडा अमी संखडिप्राप्ताः श्रमणाः मा किञ्चिद् ब्रूत किमप्यमीषां सम्मुखं विरूपकं भाषणीयं (णे) युष्मान् अमी तपस्विन आक्रुष्टाः सन्तः शापेन दहेयुः, एवं तर्जनामसहमाना अपरिणतास्तैस्सह संखडं कुर्युः। तथा प्रेक्षा-प्रत्युपेक्षणां कुर्वतो दृष्ट्वा शोभां वा स्वल्पकलुषादिना पानकेन विधीयमाना दृष्ट्वा आदिशब्दात्—संयतभाषया भाषमाणान् श्रुत्वा परतीर्थिका उड्डुश्चकान् कुर्वन्ति। तत्र तथैव संखडं भवेत्, हेतुना वा ते परतीर्थिका वादं मार्गयेयुः। वठरशिरःशेखरा एते न किमपि जानन्तीत्यादि।

विलधर्मद्वारमाह—

सिंगारेण ण दिणा, न य तुब्भं पेतिगी सभा एसा।

अतिमहुओ ओगासो,गहितेण तु सो कलह एवं।१०१३।

एवं साधारणे सभादौ पिराडीभूय साधवो गृहस्थाश्च यदेकत्रावतिष्ठन्ते स विलधर्मः, तेन वसतां साधुभिः प्रभूतेऽवकाशे मिलिते सति गृहस्था ब्रुवते-भो श्रमणाः! एषा सभा-तुभ्यं न शृङ्गारेण दत्ता, उदकेन वा कल्पेति भावः। न च न वेय पैत्रिकी-पितृपरम्परागता। अतः किं तु नाम अतिबहुकोऽवकाशस्त्वया गृहीतः, एवं कलहो भवति।

तत्थ य अतितूहेंतो, संविट्ठो वा छिवेज्ज इत्थीओ।

इच्छमणिच्छे दोसा,भुत्तमभुत्ते य फासादी॥ १०१४॥

तत्र वनादौ कोऽपि साधुरतिगच्छन्निर्गच्छन् वा समुपविष्टो वा स्त्रीं स्पृशेत्, तत्र आत्मपरोभयसमुत्था दोषाः। तत्र च यदि नाम विरतिकां प्रतिसेवितुमिच्छति तदा संयमविराधना, अथ नेच्छति ततः सा उड्डाहं कुर्यात्। स्त्रीणां च स्पर्शादिषु तथा आतोद्यगीतशब्दान् स्त्रीसम्बन्धिनश्च हसितकूजितादिशब्दान् श्रुत्वा भुक्ताभुक्तसमुत्था दोषाः।

भूयोऽपि दोषदर्शनार्थमाह—

आवासगसज्झाए, पडिलेहणे भुंजणे य भासाए।

वीयारे गेलन्ने, जा जहि आरोवणा भणिया॥१०१५॥

आवश्यके स्वाध्याये प्रत्युपेक्षणायां भोजने च भाषायां विचारे ग्लानत्वे च या यत्रारोपणा भणिता सा तत्र ज्ञातव्येति द्वारगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव प्रतिपदं विवृणोति—

आवासगं तत्थ करेन्ति दोसा,

सज्झाएँ एमेव य पेहणम्मि।

उड्डुंच वारेतमवारणे य,

आरोवणा ताणि अकुव्वतो जा॥ १०१६॥

तत्र गृहस्थैः सह वसन्तो यद्यावश्यकं स्वाध्यायं वा कुर्वन्ति तदा ते कर्णकटुका नाम एते इति गमयन्ति, उड्डुश्चकान्वा कुर्वन्ति, एवमादयो दोषाः। प्रत्युपेक्षणायामप्येवमेवोड्डुश्चकान् कुर्वन्ति। यदि वार्यन्ते अन्यकुलैः सह संखडं कुर्युः। अथ न वार्यन्ते ततो भगवत्प्रवचनस्य भक्तिः कृता न स्यात्। अथैतद्दोषभयादावश्यकादीनि न कुर्वन्ति ततस्तान्यकुर्वतो या काचिदारोपणा सा द्रष्टव्या। तद्यथा—कायोत्सर्गं न करोति, वन्दनकं न ददातिस्तुतिप्रदानं न करोति, सूत्रपौरुषीं न करोति, सर्वेष्वपि मासलघु। अर्थपौरुषीं न करोति मासगुरु। जघन्यमुपधिं न प्रत्युपेक्षते रात्रिन्दिवपञ्चकम्। मध्यमं न प्रत्युपेक्षते मासलघु। उत्कृष्टं न प्रत्युपेक्षते चतुर्लघु।

तथा—

जं मंडलिं भजइ तत्थ मासो,

गारत्थिभासासु य एवमेवं।

चत्तारि मासा खलु मराडलीए,

उड्डाहो भासासमिए वि एवं॥ १०१७॥

भोजनं कुर्वन् सागारिकमिति मत्वा यत् मराडलीभनक्ति तत्र मासलघु, अगारस्थभाषासु भाष्यमाणासु एवमेव मासलघु। अथैतत्प्रायश्चित्तभयान्मराडल्यां समुदिशन्ति तदा चत्वारो मासलघवः। उड्डाहश्च प्रवचनोपघातो मराडल्या समुद्देशेन भवति। एवं भाषासमितेऽपि मन्तव्यम्। संयतभाषया भाषमाणस्य चत्वारो लघुमासा भवन्तीति भावः।

थोवे घणे गंधजुते अभावे,
विमस्स दव्वारगताण दोसा ।
आवातसंलोगगया य दोसा,
करंत कुव्वं परितावणादी ॥ १०१८ ॥

विचारभूमौ गतानां स्तोके—स्वल्पे धने—कलुषे गन्धयुते दुर्गन्धिनि द्रवे अभावे वा सर्वथैव द्रव्यस्य दोषा अवर्णवा-दभक्तपानप्रतिषेधादयो भवन्ति । तथा पुरुषादीनामापाते-संलोके संज्ञां-कायिकीं वा कुर्वंति तदा तद्गता दोषाः । यथा पीठिकायां विचारकल्पिकद्वारे उक्तास्तथा द्रष्टव्या । अथैत-द्दोषभयात् कायिकीं वा संज्ञां वा न करोति किं तु धारयति तदा परितापनादु-समूर्च्छादयो दोषाः ।

गिलाणतो तत्थऽतिभुंजणेण,
उच्चारमादीण तु संनिरोधा ।
अगुत्तसेज्जासु य सन्निवासा,
उड्डाहं कुव्वन्ति सकुव्वतो य ॥ १०१९ ॥

तत्र संखड्यामुत्कृष्टद्रव्यलोभादतिमात्रभोजने, यद्वा-सा-गारिकाकीर्णतया तत्रोच्चारादीनां सन्निरोधात् ग्लानो भवेत् । अथवा-अगुप्ता—असंवृता या शय्या-वसतयस्तासु स-न्निवासाद् ग्लानत्वमुपजायते । प्रतिश्रयशीतलतया भक्तस्या-जीर्यमाणत्वात् । स च ग्लानो यदि तत्रोच्चारप्रश्रवणादि करोति तदा सागारिका उड्डाहं कुर्युः । अथ न करोति प-रितापनादयो दोषाः ।

अथैतद्दोषभयाद् ग्रामाद्बहिर्वसन्ति तत को दोषः स्यादिति प्रश्नावकाशमाशङ्क्याह—

वहिता य रुक्खमूले, छक्काया साणतेणपडिणीए ।
मत्तुं—मत्तविउव्वणा, वाहणजाणे सतीकरणं ॥ १०२० ॥

ग्रामादेर्बहिर्वृक्षमूले आकाशे वा पृथिवीकायः सचित्तरजः-प्रभृतिकः, अप्कायः-स्नेहकणिकादिस्तेजस्कायो-विद्युदादि-र्वायुकायो-महावातादिर्वनस्पति कायो-विर्वातवृन्तसक्तः अल्पफलादिः त्रसकायो वृक्षनिश्रितद्वीन्द्रियादिरूप सम्भव-ति,एते षट्कायास्तत्र तिष्ठता विराध्यन्ते । असंवृते च तत्र-स्थानां भाजनमपहरेयुस्तेना उपद्रवेयुः । प्रत्यनीको वा विजनं मत्वा हन्याद्वा मारयेद्वा । तथा मत्ता-मदिरामदभाविताः उन्मत्ता-मन्मथोन्मादयुक्ता-विटा इत्यर्थः, ते विकुर्व्वणां भूष-णादिभिरलङ्करणं विधाय तत्रागच्छन्ति । वाहनानि—हस्त्य-श्वादीनि यानानि-शिविकारथादीनि तानि दृष्ट्वा भुक्तभोगि-नां स्मृतिकरणम् । अभुक्तभोगिनां तु कौतुकमुपजायते इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

मा होज अंतो इति दोसजालं,
तो जाति दूरं बहिरुक्खमूले ।
अभुज्जमाणे तहिं गंतुकाया,
अवाउडे तेणसुणे य ऽणोगे ॥ १०२१ ॥

ग्रामाभ्यन्तरे वसतामित्यनन्तरोक्तं दोषजालं मा भूदित्यभि-सन्धाय ततो ग्रामाद्बहिर्दूरे वृक्षमूले याति, तत्र वा भुञ्जमा-ने अव्याप्रियमाणे प्रदेशे पूर्वोक्तकायाः षडपि कायाः विरा-ध्यन्ते । अप्रावृते च तत्र स्तेनाः श्वानश्चानेकैः उपद्रवं वि-दधति ।

उम्मत्तगा तत्थ णिणित्तवेसा,
पढंति चित्ताभिणया बहूणि ।
कीलंति मत्ता य अमत्तगा य,
तत्थित्थिपुंमा सुप्पलंकिता य ॥ १०२२ ॥

यत्रोद्याने उन्मत्ता विचित्रवेषा विविधवस्त्रादिनेपथ्य-धारिणश्चित्राभिनया नानाप्रकारहस्ताद्यभिनया बहूनि शृ-ङ्गारकाव्यानि पठन्ति । तथा मत्ता अमत्ता वा तत्र स्त्रीपुरु-षाः सुष्ठु वस्त्राभरणैरलंकृताः सन्तः क्रीडन्ति ।

आसे रहे गोरहगे य चित्ते,
तत्थाभिरूढा उ गणे य केइ ।
विचित्तरूवा पुरिसा ललंता,
हरंति चित्ताणि विकोवियाणं ॥ १०२३ ॥

तत्रोद्याने केचित्पुरुषा अश्वान् अपरे रथान् तद-न्ये गोरथकान्—कुद्दाटकान् केचिच्चित्राणि नानाप्रकारा-णि युग्यादीनि यानानि शकटानि च यानविशेषरूपाण्यधिरू-ढाः सन्तो विचित्ररूपा पुरुषा श्रेष्ठिपुत्रादयो लालन्त क्रीडन्तो विकोविदानामगीतार्थानां चित्तानि हरन्ति ।

ततश्च भुक्ताऽभुक्तसमुत्था दोषा –

सामिड्ढिसंदसणवावडेण ,
विप्पस्सता तेसि परेसि मोक्खे ।
तत्थित्थिऽपातम्मि समंततेण,
भिक्खावियारादिसु दुप्पयारं ॥ १०२४ ॥

समृद्ध्या—वस्त्राभरणादिरूपया समिति सामस्त्येन यद्-र्शनमवलोकनं तत्र व्यापृतेन इदं पश्यामि इदं च पश्यामीति व्याक्षिप्तचेतसा सदा तेषां परेषां श्रेष्ठिप्रभृतीनां यानवाह-नादीनि मुख्यानि विविधमनेकप्रकारं पश्यतां सूत्रार्थयोः परिमन्थः कृतः स्यादिति शेषः । तत्र च स्त्रीपु-रुषैः समन्ततः 'अपाते' देशीपदत्वात् आकर्णे भिक्षायां विचारभूमौ आदिशब्दाद्विहारभूम्यादौ च दुष्प्रचारं भव-ति, यत एते दोषाः अतः संखड्यां न गन्तव्यम् ।

अथ परः प्राह—

दोसेहिं एत्तिएहिं, अगेण्हता चेव लग्गिमो अम्हे ।
गेण्हासु य भुंजासु ये,ण य दोस जहा तहा सुणसु १०२५।

संखडिगमने यावन्त एते षट् दोषा उक्ताः एतावद्भिः वयं संखडिभक्तमगृह्णाना एव गच्छाम, ततो न कार्यमस्माकं ग्रामादिमध्यासनेन । सूरिराह-वयं संखडिभक्तं गृह्णीमो वा भुञ्ज्महे वा न च दोषाः पूर्वोक्ता यथा भवन्ति तथाऽभिधी-यमानं शृणु । इयं पुरातनी गाथा ।

अथैनामेव व्याख्यानयति—

अपरिग्गहित अभुत्ते, जति दोसा एत्तिया पसज्जंती ।
इत्थं गते सुविहिया, वसंतु रन्ने अणाहारा ॥ १०२६ ॥

परः प्राऽऽह—अपरिगृहीते अभुक्तेऽपि च संखडिभक्ते यदे-

तावन्तो दोषाः पथि गच्छतां ग्रामादेर्मध्ये बहिश्च तिष्ठतां भवन्ति, तत इत्थमेवं व्यवस्थिते सम्प्रति सुविहिता अनाहाराः सन्तोऽरण्ये वसन्तु।

गुरुराह—

होहिंति न वा दोसा,ते जाण जिणो ण चेव छउमत्थो।
पाणियसद्देण उवा-हणाओ से वेमलो मुयति ॥१०२७॥

हे नोदक ! नायं नियमो; यत्-संखडिं गच्छतामवश्यमनन्तरोक्ता दोषा भवन्ति, कारणे यतनया गच्छतस्तेषामसम्भवात्। ततस्ते दोषा भविष्यन्ति वा न वेत्येतत् जिनोक्तिनैव छद्मस्थो भवादृशो वेत्ति, अतो यदुक्तं भवता इत्थं गते सुविहिता अरण्यं गत्वा वसन्तु तदेतदज्ञानविजृम्भितम्। यत. पानीयशब्देनोपानहौ वा विद्ध, मूर्खो मुञ्चति,यो मूर्खो भवति स एव मुञ्चतीतिभाव.।एवं भवानपि संखडिगमनमात्रे दोषोपदर्शनं श्रुत्वा यदेवं ग्रामादीन् परित्यज्य अरण्ये वासमभ्युपगच्छति, तत्ते नमद्बुधचक्रवर्तिं हृदयम्।

अपि च-

दोसे चेव विमग्गह,पुण दोसित्तेण णिच्चमुज्जुत्ता।
ण हि होति सप्पलोट्ठी,जीवितुकामस्स सेताए॥१०२८॥

हे नोदक ! गुणद्वेषित्वेन यूय नित्यमुद्युक्ताः सन्तो गुणान्वेषणबुद्ध्या दोषानेव विमार्गयथ न गुणान्। भवन्ति तद्दशा अपि केचिदस्मिन् जगति ये दोषानेव केवलान् पश्यन्ति न गुणनिवहम्। उक्तं च-"गुणेोच्छ्रिते सत्यपि स्वप्रभूते, दोषेषु यतस्तु महान् खलानाम्। क्रमेलकः कलिवनं प्रविश्य, प्रतीक्षतं कण्टकजालमेव ॥१॥"यतो न हि-नैव सर्पलुब्धि. सर्पग्राहकत्वं जीवितुकामस्य पुरुषस्य श्रेयसे भवति, किंतु प्रत्युत मरणाय। एवं भवतोऽपि संयमगुणान्वेषणबुद्ध्या अरण्यवसनम्, तन्न श्रेयसे सम्पद्यते,प्रत्युताहाराभावेनार्त्तध्यानादिपरिणामसम्भवात्कन्दमूलफलादिभक्षणाद्वा तस्यैव संयमस्योपघात जनयति।

आह यद्येव ततो निरूप्यतां कथमत्र दोषा भवन्ति कथं वा न भवन्तीत्युच्यते—

भणति उ चेव गमणे, इति दोसा दप्पतो य जहि गंतुं।
कमगहणभुंजणे य,न होंति दोसा अदप्पेणं ॥ १०२९॥

भण्यतेऽत्र प्रतिवचनम्-यदि व्याकुट्टिकया सरभस्या गच्छति दर्पतश्च गुरुग्लानादिकारणाभावेन यत्र गत्वा गृह्णाति भुङ्क्ते वा तत्राऽनन्तरोक्ता दोषा मन्तव्या.। अथ क्रमेण गृहपरिपाट्या सम्खडिगृह प्राप्त., ततस्तत्र ग्रहण भोजनं वा कुर्वाणस्य न दोषा भवन्ति। अदर्पेण वा पुष्टालम्बनेन संखडिप्रतिज्ञयाऽपि गच्छतो न दोषा भवन्ति।

इदमेव भावयति—

पडिलेहियं च खेत्तं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए।
गामाणुगामियम्मि य,जहि पायोग्गं तहिं लभते।१०३०।

मासकल्पस्य वर्षावासस्य वा योग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं गन्तुं प्रस्थितानां पथि मार्गे वर्तमानाना यत्र तस्मिन्नेव ग्रामे ग्रामानां सखडिरुपस्थिता। उभयत्राऽपि यदि भिक्षावेलायां भक्तपानं प्राप्यते तदा कल्पते गन्तुम्। ग्रामाऽनुग्रामिकेऽप्यनियतविहरतां यत्र भिक्षावेलायां प्रायोग्यं प्राप्यते तत्र ग्रहीतु लभन्ते गान्यत्रेति।

अथैनामेव गाथां व्याचष्टे—

वासाविहारखेत्तं, वच्चंताणंऽतरा जहिं भोज्जं।
अत्तट्ठिताणं तहि, भिक्खमडंताण कप्पेज्जा ॥ १०३१ ॥

वर्षाविहारो नाम वर्षावासस्तत्प्रायोग्यं क्षेत्रं व्रजतामन्तरा पथि यत्र भोज्यं-संखडी भवति। आह चूर्णिकृत्-"भोज्जन्ति वा संखडि त्ति वा एगट्ठं"तत्र ग्रामादावन्यार्थं स्थितानां सार्थमत्र स्थिताना न तु संखडिनिमित्तं गृहपरिपाट्या च भिक्षामटतां संखडिं गत्वा भक्तपानं ग्रहीतुं कल्पते।

कुत इति चेदुच्यते—

नऽत्थि पवत्तणदोसो, पडिवाडी पडित मो ण वाइण्णा।
परसंसट्ठं अविलं-बियं च गेण्हंति अणिसट्ठा॥१०३२॥

नास्ति तत्र संखड्या गमने प्रवर्त्तमाना दोषा.; परिपाट्या पतितं-प्राप्तावसरं यतस्तत्र भक्तपान गृह्णाति न तदेवैकं गृहमुद्दिश्य गच्छेति। मो इति पादपूरणे। न वा सा संखडी आकीर्णा जनाकुला परसस्पृष्टं च गृहस्थादिपरिवेषणनिमित्तं हस्तो वा मात्रकं वा संस्पृष्टम्, अवलम्बितं च तत्र प्राप्ता सन्तो गृह्णन्ति। भिक्षावेलायां गमनात्तत्क्षणादेव भक्तपानं लभन्ते न पुनरुपविष्टा. प्रतीक्षन्त इति भाव.।

किं च—

संतन्ने ववराधा, कज्जम्मि जतो णिद्दंसवज्जेसु।
जो पुण जतणारहितो,गुणा वि दोसायते तस्स॥१०३३॥

सन्ति-विद्यन्ते अन्येऽप्यनेषणीयग्रहणादयोऽपराधा.। येषु कार्ये ज्ञानादौ यत. प्रयत्नं कुर्वन् प्रतिसेवमानोऽपि न दोषवान् भवति। यः पुनर्यतनारहित. प्रवर्त्तते तस्य गुणोऽपि दोषायते—दोष इव मन्तव्य.।

असढस्सऽप्पडिकारे, अच्छेज्ज ततो ण कोइ अवराधो।
सप्पडिकारे अजतो,दप्पो ण व दोस वी दोसा॥१०३४॥

अशठस्य-रागद्वेषरहितस्याप्रतीकारे प्रतिसेवनां विना नास्त्यन्यो यस्य प्रतीकार इत्येवलक्षणे अर्थे—संखडिगमनादौ यतमानस्य यतना कुर्वतो न कोऽप्यपराधो भवति। यस्तु स प्रतीकारं परिहर्तु शक्ये अर्थे अयतो-न यतनां करोति-सेवते तस्य द्वयोरप्ययतनादर्पयोर्दोषा भवन्ति—कर्मबन्ध इत्यर्थ।

यत एवमत -

निद्दोसा आइन्ना, दोसवती संखडी यऽणाइण्णा।
सुत्तमणाइण्णाए, तस्स विहाणा इमे होंति १०३५ ॥

निर्दोषा—वक्ष्यमाणदोषरहिता संखडी आचीर्णा साधूनां गन्तुं कल्पनीया, या तु दोषवती सा अनाचीर्णा। तत्र सूत्रमनाचीर्णामेवाधिकृत्य, न तत्र संखडिप्रतिज्ञया रात्रौ वा विकाले वा गन्तव्यम्। तस्याश्चानाचीर्णाया अमी भेदा भवन्ति।

तानेवाह—

जावंतिया पगणिया, सक्खेत्ताऽखेत्तबाहिरागा।
अविसुद्धपंथगमणा, सपच्चवाया य भद्दा य॥ १०३६ ॥

यावन्तो भिक्षाचरा आगमिष्यन्ति तावद्भ्यो दास्यामीत्यभिप्रायेण यस्यां क्रियते सा यावन्तिका। इह शाक्या. इ-

श परिव्राजकाः, दश श्वेतपटाः, एवमादिगणनया यत्र दीयते सा प्रगणिता।'सक्खेत्ते'त्ति सक्रोशयोजनक्षेत्राभ्यन्तरवर्त्तिनी 'अखेत्ते' त्ति सचित्तपृथिव्यादावक्षेत्रे अस्थण्डिले स्थिता वा 'बाहिर' त्ति। सक्रोशयोजना क्षेत्रबहिर्वर्त्तिनी, आधारा नाम चरकपरिव्राजकादिभिराकुला, अविशुद्धेन पृथिव्यप्कायादिसंसक्तेन पथा गमनं यस्यां साऽविशुद्धपथगमना। यत्र स्तेनश्वापदादयो दर्शनादिविषयाश्च प्रत्यपाया भवति सा सप्रत्यपाया। सा च जीवितभेदाय चरणभेदाय वा भवेदिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति—

आचंडाला पढमा, वितिया पासंडजातिणामेहिं।
सक्खेत्ते जा सकोसं, अक्खेत्ते पुढविमाईसु ॥१०३७॥

प्रथमा यावन्तिकी, सा आ चण्डालात् यावन्तः केचन नटिकाकार्पटिकादयो भिक्षाचरा यावदपश्चिमश्चाण्डालस्तावतां दातव्यमितिलक्षणा। द्वितीया प्रगणिता प्रकर्षेण पाषण्डिनो जात्या नाम्ना वा गणयित्वा यत्र दीयते। तत्र जातिं प्रतीत्य गणना-दश भौताः,दश भागवताः,दश श्वेताम्बरा इत्यादि।नाम प्रतीत्य गणना, यथा-अमुक श्वेतपट अमुकश्च रक्तपट इत्यादि। स्वक्षेत्रसखडी नाम या सक्रोशयोजनक्षेत्राभ्यन्तरे भवति। अक्षेत्रसंखडी तु या सचित्तवनस्पतिकायादिष्वनन्तरं वा प्रतिष्ठिता।

एतासु गच्छत प्रायश्चित्तमाह-

जावंतिगाएँ लहुगा, चउगुरु पगणीएँ लहुग सक्खेत्ते।
मीसग सचित्ताणंतर, परंपरे कायपच्छित्तं ॥ १०३८ ॥

यावन्तिकायां चतुर्लघव, प्रगणिताया चतुर्गुरवः, स्वक्षेत्रसंखड्यां गच्छतश्चतुर्लघु, अक्षेत्रसंखड्यां मिश्रसचित्तानन्तरपरम्परप्रतिष्ठितायां कायप्रायश्चित्तम्। तत्र पृथिव्यादिषु प्रत्येकवनस्पतिपर्यन्तेषु मिश्रेषु परम्परप्रतिष्ठितायां लघुपञ्चकम्, अनन्तरप्रतिष्ठितायां मासलघु। एतेष्वेव सचित्तेषु परम्परप्रतिष्ठितायां मासलघु, अनन्तरप्रतिष्ठितायां चतुर्लघु अनन्तरवनस्पतिषु च। तान्येव प्रायश्चित्तानि गुरुकाणि कर्त्तव्यानि।

बहि वुड्डिअद्धजोयण, गुरुगादी सत्तहिं भवे सपदं।
चरगादी आइणा, चउगुरु हत्थाइभंगो य ॥ १०३९ ॥

क्षेत्राद्बहि संखड्या गच्छतश्चतुर्लघु, ततः परमर्द्धयोजनवृद्धया चतुर्गुरुकमादौ सप्तभिर्वृद्धिभि स्वपद पाराञ्चिकम्। तद्यथा—क्षेत्रबहिरर्द्धयोजने चतुर्गुरु, योजने षड्लघु। सार्द्धयोजने षड्गुरु, द्वयोर्योजनयोश्छद, अर्द्धतृतीययोजनेषु मूलम्, त्रिषु योजनेषु नवमम्,अर्द्धचतुर्थयोजनेषु पाराञ्चिकम्,तथा या च परिव्राजककार्पटिकादिभिराकुला सा आकीर्णा,तां गच्छतश्चतुर्गुरुकम्। तत्र चातिसम्मर्दैन हस्तपादपाणा भङ्गो भवेत्।

अथाऽविशुद्धपथगमनादीनि द्वाराणि व्याख्याति-

काएहिँ विसुद्धपहा, सावयतेणा पहे पवायाओ।
दंसणबंभवता वा, तिविधा पुण होति पत्तस्स ।१०४०।

दंसणवादे लहुगा, सेसा वादेसु चउगुरू होंति।
जीवियचरित्तभेदा,विसचरगादीहिँ गुरु काउं॥१०४१॥

कायैः-पृथिव्यादिभिरविशुद्धः एष मार्गो यस्याः संखडेः सा तथा, अस्यां च कायनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं प्रत्यपायाश्च द्विविधाः। पथि वर्त्तमानस्य, तस्य प्राप्तस्य च। तत्र पथि श्वापदस्तेनकण्टकादय, तत्र प्राप्तस्य तु त्रिविधाः प्रत्यपाया भवन्ति। दर्शनब्रह्मव्रतादिषु भेदात्। ततः संखडिं गतस्य चरकशाक्यादिभिया ग्रहणे दर्शनापाय, चरिकातापसीप्रभृतिभिरन्याभिर्वा मत्तप्रमत्तादिस्त्रीभिर्ब्रह्मव्रतापाय। आत्मापायस्तु पूर्वोक्त एव हस्तभङ्गादिकः, एवंविधास्तत्सहिता सप्रत्यपायाः। अत्र च दर्शनापाये चतुर्लघुकाः। शेषेषु स्तेनश्वापदादिषु ब्रह्मव्रतात्मविपर्ययेषु प्रत्यपायेषु चतुर्गुरवो भवन्ति। तथा सौगतोपासकादिदोषदुष्टा संखडिर्नैवाचीर्णा, एतद्विपरीता आचीर्णेति।

द्वितीये पदे एतैः कारणैः संखडिमपि गच्छेत्—

कप्पइ गिलाणगट्ठा, संखडिगमणं दिवा व रात्तो वा।
दव्वम्मि लब्भमाणे,गुरुउवदेसो त्ति वत्तव्वं ॥१०४२॥

ग्लानार्थं संखडिगमनं दिवा वा रात्रौ वा कल्पते। तत्र च द्रव्ये ग्लानप्रायोग्ये लभमाने यावन्मात्रं ग्लानस्योपयुज्यते तावति प्रमाणप्राप्ते सति प्रतिषेधयन्ति। यद्यसौ दाता ब्रूयात्-किमिति न गृह्णीथ? ततो वक्तव्यं-भणनीयम्, गुरुभिर्वस्तस्योपदेशोऽयम्—यदेतावतः प्रमाणादूर्ध्वं ग्लानस्य पथ्यादिक न दातव्यम्।

इदमेव भावयति—

पुव्विं ता सक्खेत्तं, असंखडीसंखडीसु वा जतति।
पडिवसभमलब्भंते,तो वच्चति संखडी जत्थ ॥१०४३॥

ग्लानस्य प्रायोग्यं पूर्वं तावत् स्वक्षेत्रे—स्वग्रामे असंखड्यां गवेषयितव्यम्—यद्यसंखड्या न प्राप्यते, ततः स्वग्राम एव याः संखड्यस्तासु यतते। तदभावे प्रतिवृषभग्रामेष्वपि, तत संखड्यामपि। अथ तत्राऽपि न लभ्यते यत्र ग्रामादौ सखडी भवति तत्र व्रजन्ति। ताश्च संखड्यो द्विधा—सम्यग्दर्शनभाविता, तीर्थविषयाश्च। तत्र प्रथममाद्यासु गन्तव्यम्।

यत आह—

उज्जिंतणायसंखडि-सिद्धसिलादीण चेव जत्तासु।
सम्मत्तभाविएसुं,ण हुंति मिच्छत्तदोसाओ ॥१०४४॥

उज्जयन्ते ज्ञातसंखडे सिद्धशिलायाम् एवमादिषु सम्यक्त्वभावितेषु तीर्थेषु याः प्रतिवर्षं यात्राः संखड्यो भवन्ति, तासु गच्छतो मिथ्यात्वस्थिरीकरणादयो दोषा न भवन्ति।

एतेसिं असईए, इतरीओं वयंति तत्थिमा यतणा।
पुट्ठो अतिकमिस्सं कुणति व अन्नावदेसं तु ॥१०४५॥

एतेषां सम्यक्त्वभावितानामभावे इतरा अपि मिथ्यात्वभावितर्तीर्थविषयाः संखडीर्व्रजन्ति। तत्र च गच्छत इयं यतना—यदि केनाऽपि पृच्छ्यन्ते—किं संखडी गमिष्यथे-

ति?, ततः पृष्टः सन्नेवं ब्रूयात्—अतिक्रमिष्याम्यहं संखडीमग्रतो गमिष्यामीत्यर्थः। अथवा—अन्यापदेशं करोति। अव्यक्तमपि प्रतिवचनं ब्रूते इति भावः।

तहियं पुव्वं गंतुं, अप्पोगासासु ठाति वसहीसु।
जे य अविपक्कदोसा,ण णेति ते तत्थ अगिलाणे॥१०४६॥

तत्र-संखडिग्रामे पूर्वमेव गत्वा या अल्पावकाशा वसतयस्तासु तिष्ठन्ति, विस्तीर्णावकाशासु पुनः स्थितानां गृहस्थादिभिः पश्चादागतैः सह त एवासंखडाद्यो दोषाः, ये च तत्राविपक्वदोषा इन्द्रियकषायान् ग्रहीतुमसमर्था अपि—"केचिदेव" आह चूर्णिकृत्—"अविपक्कदोसा नाम जे असमत्था निगिण्हिउं इंदियकसाए" अधिको विषया वा तत्रालंकृतस्त्रीदर्शनादिसमुत्थदोषपरिजिहीर्षया ऽन्यग्लानकार्याभावेन निर्गच्छन्ति।

अथ ग्लानस्य प्रायोग्यग्रहणे विधिमाह—

विणा वि ओभासितसंथवेहिं,
जं लब्भती तत्थ तु जोग्गदव्वं।
गिलाणभुत्तुव्वरियं वि (साहू),
न भुंजमाणा वि अतिक्कमंति॥१०४७॥

अवभाषणमवभाषितं याचनमित्यर्थः, संस्तवनं—संस्तवो दातुर्गुणविकत्थनम् तेन सहात्मना सम्बन्धविकत्थनं वा तासां विनाऽपि तत्र संखड्यां यत्प्रीतियोग्यद्रव्यं लभ्यते तत्प्रथमतो ग्लानेन, तन्मध्याद्भुक्तं तत उद्धरितं भुञ्जाना अपि साधवो, नाऽतिक्रामन्ति—न भगवदाज्ञां विलुम्पन्ति।

ओभासियं जं तु गिलाणगट्ठा,
तं माणपत्तं तु णिवारयंति।
तुब्भे व अण्णे व जया तु बेंति।
भुंजेत्थ ता कप्पति णऽन्नहा तु॥१०४८॥

यत् पुनः प्रायोग्यद्रव्यं ग्लानार्थमवभाषितम्, तद्दा मानप्राप्तवैद्योपदिष्टपथ्यमात्रं प्राप्तं भवति तदा निवारयन्ति, पर्याप्तमास्त्वमेतावता अतः परं ग्लानस्य नोपयोक्ष्यते, एवमुक्ते यदा ते गृहस्था एवं ब्रुवते-यूयं वा अन्ये वा साधवो भुञ्जन्तु तदा ग्लानयोग्यं प्रमाणादधिकमपि ग्रहीतुं कल्पते, नान्यथा।

इदमेव स्फुटतरमाह—

दिणे दिणे दाहिसि थोवथोवं,
दीहाउया तेण ण गिण्हिमो ण्हिं।
णो हावइस्सामि गिलाणगस्स,
तुज्झेव ता गिण्हह गेण्हणे वा॥१०४९॥

भो! श्रावक! ग्लानस्य दीर्घा-चिरकालस्थायिनी रुक्-रोग. समस्ति अतो दिने दिने इदं ग्लानयोग्यद्रव्यं दास्यति तेन कारणेन वयमिदं न गृह्णीमः। ततो यदि ते गृहस्था ब्रुवते वयं प्रतिदिनं ग्लानस्य प्रायोग्यं न हापयिष्यामः यूयमपि च तावत्प्रसादं कृत्वा गृह्णीत एवमुक्ते प्रमाणप्राप्तादधिकस्याऽपि ग्रहणं कर्त्तव्यम्। एवं तावत्साधूनां प्रवेशे लभ्यमाने विधिरुक्तः।

अथ यत्र साधवः प्रवेशं न लभन्ते तद्विषयं विधिमाह—

न वि लब्भते पवेसो, साधूणं लब्भए तथ अज्जाणं।
वावारण पडिकिरणा,पडिच्छणा चेव अज्जाणं॥१०५०॥

यत्र-अन्तःपुरादौ नाऽपि-नैव साधूनां प्रवेशो लभ्यते, किंतु लभ्यते तत्रार्यिकाणां प्रवेशः। कर्मकर्तर्ययं प्रयोगः। ततः षष्ठीविभक्तिरदुष्टा,, तत्रार्यिकाणां व्यापारणा विधेया। ततस्ता अन्तःपुरादौ प्रविश्य प्रज्ञापयन्ति। तथाऽपि चेत् प्रवेशो न लभते, ततः अन्तःपौरकरणनिम्ना आर्यिका ग्लानप्रायोग्यं गृहीत्वा साधूनां पात्रेषु परिकिरन्ति। तत आर्यिकाणां हस्तात् ग्लानप्रायोग्यं प्रतीच्छन्ति।

इदमेव स्पष्टयति—

अलब्भमाणे जतिणं पवेसे,
अन्तेउरे इब्भघरेसु वाऽवि।
उज्जाणमाईसु व संठियाणं,
अज्जाउ कारेंति जतिप्पवेसं॥१०५१॥

राजादीनामन्तःपुरे वा अन्यगृहेषु वा यतीनां प्रवेशे अलभ्यमाने उद्यानादिषु वा यतीनां प्रवेशे अलभ्यमाने उद्यानादिषु वा संस्थितानां साधूनामनागन्तुकानामित्यर्थः,आर्यास्तत्र यतीनां प्रवेशं कारयन्ति। कथमिति चेदुच्यते-ता आर्यिका अन्तःपुरादौ गत्वा प्रज्ञापयन्ति-यथैते भगवन्तो महातपस्विनो निःस्पृहा एतेभ्यो दत्तं बहुफलं भवति, एवमादिप्रज्ञापनया यदा तानि कुलानि भावितानि भवन्ति, तदा साधवः प्रविशन्ति।

अथ तथाऽपि प्रवेशो न लभ्यते ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

पुराणमाईसु व णीणवेंति,
गिहत्थभाणेसु सयं व ताओ।
अगारिसंका जतिसत्तएही,
दुट्ठोवभोगेहिं य आणवेंति॥१०५२॥

आर्यिका गृहस्थभाजनेषु ग्लानप्रायोग्यं गृहीत्वा पुराणादिभिर्गृहस्थैः साधुसमीपं नाययन्ति, प्रापयन्तीत्यर्थः। अथ तादृशो गृहस्थो न प्राप्यते तत. स्वयमेव ता. आर्यिका गृहस्थभाजनेषु गृहीत्वा साधुसमीपं नयन्ति। तथाऽगारिणः शङ्कां कुर्युः—नूनमेता गृहस्थभाजनेष्वेवंविधमुत्कृष्टद्रव्यं गृहीत्वा केषांचिदविरतिकानां प्रयच्छन्ति ततो यतीनां सत्कानि यान्यधस्तादुपभोग्यानि-असम्भोग्यानि भाजनानि;उपहतानीत्यर्थ. तेषु गृहीत्वा साधूनां समीपमानाययन्ति वा।

तेसामभावा अहवा वि संका,
गिण्हंति भाणेसु सएसु ताओ।
अभोइभाणेसु उ तेसि भोगो,
गारत्थि तेसेव न भोगिसु वा॥१०५३॥

तेषां संयतभाजनानामभावात्; अथवा—तेषु गृह्यमाणेषु गृहस्थानां शङ्का भवेत्. एतानि संयमभाजनानि; तदवश्य-

मेताः संयतानां प्रयताना प्रयच्छन्ति। अतस्ता आर्यिकाः स्वकेषु भाजनेषु गृह्णन्ति। ततः साधवोऽसंभोग्यभाजनेषु गृहीत्वा तस्य प्रायोग्यद्रव्यस्य भोगं कुर्वते। असंभोग्यभाजनाभावे गृहस्थभाजनेषु। अथ तान्यपि न सन्ति तत. तेष्वेव संयतीभाजनेषु भुञ्जते। अथ संयतीनां तैर्भाजनैः शीघ्रं प्रयोजनं तत सम्भोगिकेष्वपि भाजनेषु प्रक्षिप्यते। एवं तावत् ग्लाननिमित्तं यथा गृह्यते तथा भणितम्।

अथ संखडीगमने कारणान्तराण्याह—

अद्धाण निग्गयादी, पविसंता वावि अहव ओमम्मि।
उपधिस्स गहणलिंपण-भावम्मि य तं पि जयणाए॥१०५४॥

अध्वनो निर्गता आदिशब्दादशिवादिनिर्गता वा अध्वनि वा प्रविशन्तः, अथवा अवमे दुर्भिक्षे संखडिं गच्छेयुः। अथवा यत्र ग्रामादौ संखडिस्तत्रोपधिवस्त्रपात्रादिकः सुलभस्तस्य ग्रहणार्थं गन्तव्यम्। पात्रकाणि वा लेपनीयानि सन्ति, तत्र च लेपः प्रचुर. सुप्रापश्च भावो वा शैक्षस्य संखडिगमने समुत्पन्नः। एतैः कारणैस्तदपि संखडिगमनं यतनया कर्त्तव्यमिति संग्रहगाथासमासार्थ.।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

पविट्ठुकामा व विहं महंतं,
विनिग्गया वाऽवि ततोऽध्वनो मे।
अप्पायणट्ठा य सरीरगाणं,
अत्ता वयंती खलु संखडीओ॥१०५५॥

विहम्—अध्वानं महान्तं—विप्रकृष्टं प्रवेष्टुकामास्ततो वा अध्वनो निर्गता जनपदं प्राप्ता., अथवा—अवमे—दुर्भिक्षे चिरमटन्तोऽपि न पर्याप्तं लभन्ते, अतस्ते शरीरेण दुर्बला आहारलुब्धा, तत्र यानि कुत्सितत्वात् शरीरकाणि तेषामप्यायनार्थमार्त्ता.-प्रथमद्वितीयपरीषहपीडिता', अथवा—आप्ताः रागद्वेषरहिताः, यद्वा—भीमो भीमसेन इति न्यायात् आप्तो-गृहीत सूत्रार्थो यैस्ते आप्तगीतार्था. संखडीं व्रजन्ति।

वत्थं व पत्तं व तहिं सुलंभं,
णाणादिसंपिंडियवाणितेसु।
पवित्तिसंघत्थकुलादिकज्जे,
लेवं व घिच्छाम अतो वयंति॥१०५६॥

तत्र क्षेत्रे नानाप्रकारेभ्यो दक्षिणापथादिदिग्भ्यो वस्त्रादिविक्रयार्थ समागत्य पिण्डिता मिलिता ये वणिजस्तेषु वस्त्र वा पात्रं वा सुलभम्। अथवा-तत्र क्षेत्रे प्राप्ता कुलादिकार्याणि कुलगणसंघप्रयोजनानि प्रवर्त्तयिष्याम, लेपं वा तत्र प्राप्ता. सन्तो ग्रहीष्याम अत एवंविध पुष्टमालम्ब्य संखडीं व्रजन्ति।

सेहं विदित्ता अतितिव्वभावं,
गीया गुरुं विण्णवयंति तत्थ।
जे ते सहाया अभविंसु पुव्विं,
दीविंसु ते तस्स हिता वयन्ति॥१०५७॥

शैक्षमभिनवप्रव्रजितमतितीव्रभाव संखडिग्रामगमने अतीव तीव्राभिलाष विदित्वा गीतार्था गुरुं विज्ञपयन्ति, तत आचार्यास्तं शैक्षं भणन्ति-एते वृषभास्ते सहाया' पूर्वमभवन् अभिहिता इति भावः। ते तस्य शैक्षस्य हिता मातृवदनुकूला सन्तो दीपयन्ति। दीपयित्वा च ततस्तं गृहीत्वा व्रजन्ति।

पुव्वोदितं दोसगणं च तं तु,
वज्जेंति सज्जाइजुतं जतीए।
संपुन्नमेवं तु भवे गणित्तं,
जं कंखियाणं पविणेति कंखं॥१०५८॥

पूर्वोदितं-प्राग् भणितं शय्या वसति. तदाऽऽदिभिर्युतं सम्बद्धं दोषगणं यतनया प्रागुक्तलक्षणया वर्जयन्ति। अथ किमेवं-शैक्षस्यानुवर्त्तना कृत्वा संखडिगमनेनाचार्या अनुजानन्तीत्याह-सम्पूर्णमसंखडमेवं विदधानस्याचार्यस्य गणित्वमाचार्यकं भवति। यत्काङ्क्षितानां-संखडिगमनाद्यभिलाषवतां शिष्याणां काङ्क्षा प्रकर्षेण तदीप्सितसम्पादनलक्षणात् विनयति स्फेटयति। उक्तं च दशाश्रुतस्कन्धे गणिसंपद्वर्णनाप्रक्रमे-'कंखियस्स कंखं पविणित्ता भवइ' त्ति। बृ० १ उ० ३ प्रक०। (उद्दिश्य भोज्यसंखडिर्भवेत् तत्र विधिः 'सागारिय' शब्दे वक्ष्यते) (संखड्या भक्तं गृहीत्वा भक्ष्यते उद्गाले आगते इति कर्तव्यता 'उग्गाल'शब्दे द्वितीयभागे ७३० पृष्ठे उक्ता।)

जे भिक्खू संखडिपलोयणाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ॥१३॥

जे भिक्खू संखडिपलोअण इत्यादि 'संखडि' त्ति आउआणि जम्मि जीवाणं सखडिज्जंति सा संखडी संखडिसामिणा अणुण्णातो तम्मि रसवतीए पविसित्ताओ आणाति, पलोइउं भणाति-इतो इतो पयच्छाहिति एस पलोयणा। जो एव गेण्हति असणाति तस्स मासलहुं। नि० चू० ३ उ०।

गाहा—

एसमणाइण्णा खलु, तव्विवरीता तु होति आइण्णा।
जा कोयी भत्तेणं, पाणेणं पलोयणं कारे॥४०॥

एस जावंतिया तिदोसदुट्ठा आणातिणो जावंतियादिदोसविप्पमुक्का आइण्णा कोइ सड्ढी आइणाए भणाति-तुज्झे पलोएह जं एत्थ रुच्चति त अत्थउ, सेसं मरुगादीण पयच्छामि।

गाहा—

तं जो उ पलोइज्जा, गेण्हेज्जा आयइज्ज वा भिक्खू।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे॥४१॥

एवं भणितो जो तं पलोएज्ज गेण्हेज्ज आदिएज्ज वा सो आणाभंगे वट्टति, अणवत्थ करेति, मिच्छत्त जाणेति, आयसंजमविराहण च पावति।

पुव्वं पलोतिते गहिते वा इमे दोसा। पडिणीयगाहा—

पडिणीयविसक्खेवा, तत्थ अवत्थ वावि तणिस्सा।
मरुगादीण पओसो, अधिकरणुक्कोस वित्तचयो॥४२॥

साधुणा जं पलोइय भत्तपाणग तत्थ पडीणीओ उवासगादि विस खिवेज्ज। साधुणीसाए वा वा पविट्ठो अपत्थ वा कोवि विसं पक्खिवेज्ज। अत्थते य ठवणादोसा मरुगादय संखडीसामियस्स पदुट्ठ भोत्तुं णेच्छति। समणाण पुव्वं दत्तं उक्कोसं

वा ठविय त्ति अगारदाहं वा करेज्ज, साहुं वा पदुट्ठो हणेज्ज। असुइएहिं वा छिकंति उप्फोसेज्ज अहिगरणं भवति। सो वा संखडिसामिओ धीयारेसु अभुंजंतेसु संजयाणं पदुसेज्ज रिको मे वित्तचयो जाओ होज्जति। अथवा-धिज्जाइयाणं दाउं भुं-जावेइ एताणट्ठा वित्तव्वओ मे अत्थिगो जाओ त्ति। भवे कारणं जेण पलोइज्जा।

गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने।
अद्धाण रोधए वा,जतणाए लोयणं कुज्जा ॥ ४३ ॥

इमा जयणा।

गाहा-

हत्थेण आदिसिंते, अणावडंतो अणाभिडंतो य।
दिस्सऽणामुहो भणति,होज्जा णे कज्जमणुएणं ॥४४॥

हत्थेण ण दाएति इओह ति अणावडंतो अणाभिडंतो उफासणदोसपरिहरणत्थं णाओ णतो अएणतो मुहं पलोएत्ता सणियं भणाति,अमुगेण दहिमादिणा कज्जं होतव्वं। त च गच्छवग्गहकरं पणीयं पलिट्ठं पज्जत्तं दव्वं पलोएति। नि० चू० ३ उ०।

संखडिकरण-संखडिकरण-न०। परमान्ने उपस्कृते,व्य०१उ०।

संखडग-शंखनक-पुं०। लघुशङ्खेषु, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। नि० चू०।

संखणाम-शंखनाम-पुं०। स्वनामख्याते महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। सू० प्र०। (स च 'महग्गह' शब्दे पष्ठे भागे दर्शितः)।

संखतल-शंखतल-न०। शङ्खस्योपरितने भागे,जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। शंखतलेन कम्बुरूपेण विमलेन पङ्कादिरहितेन सन्निकाशः शंकाशः सदृशो यः सः। स्था० ६ ठा० ३ उ०। शंखतलविमलणिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासे' इति-विमलं-विगतमलं यत् शंखतलं शङ्खस्योपरितनभागो यश्च निर्म्मलो दधिघनो घनीभूतं-दधि गोक्षीरफेनो रजतनिकरश्च तद्वत् प्रकाशः प्रतिमता यस्य तत्तथा। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।"संखदलविमलसण्णिगासं" शखस्य यद्दल खण्डं तलं वा रूपं विमलं तत्सन्निकाशः सदृशो यः स तथा। भ० १५ श०।

संखधमग-शंखध्मक-पुं०। शंखं ध्मात्वा ये जेमन्ति यदन्यः कोऽपि नागच्छतीति। वानप्रस्थभेदे, औ०। नि० चू०। भ०।

संखपाणिलेह-शंखपाणिरेख-पुं०। शंखाङ्कितहस्ततले, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। प्रश्न०।

संखपुर-शंखपुर-न०।स्वनामख्याते नगरे, ती०। पुव्विं किर नवमो पडिवासुदेवो जरासिंधो रायगिहाओ समग्गसिन्नसंभारेण नवमस्स वासुदेवस्स कण्हस्स य विग्गहत्थं पच्छिमदिसं चलिओ,कण्हो वि समग्गसागग्गीए बारवईओ निग्गंतूण संमुहं तस्स गओ। विसयसीमाए तत्थ भयवया ऽरिट्ठनेमिणा पंचजणो संखो पूरिओ। तत्थ संखेसरं नाम नयरं निविट्ठं। तओ संखस्स निनाएण खुभिएण जरासंधेण जराभिहाणं कुलदेवयं आराहित्ता विउव्विया विणिहणो बालजरातपखासससासरोगेहिं य पीडियं नियसेन्नं दिट्ठं। आउली हूअचित्तेण केसवेण पुट्ठो-भयवं अरिट्ठनेमी, सामिणो भविस्सस्स अरिहओ पासस्स पडिमा चिट्ठइ। नियदेवयावसरे तुमं पूएसि। तेण ते निरुवद्दवं च जयसिरी य होहित्ति। तं सोऊण विण्हुणा सत्त मासे तिन्नि दिवसा अप्पिया य नागराएण। तओ महूसवपुव्वं आणित्ता नियदेवयावसरे हराएण। तओ महूसवपुव्वं आणित्ता नियदेवयावसरे हरिणा पूएउमाढत्तो तिकालं विहिणा। तओ तीए गहवणोदगेणं अहिसित्ते सयलसिन्ने नियत्तेसु जरारोगसोगाइविग्घेसु समच्छीहूअं विण्हुणो सेन्नं। कमेण पराजिओ जरासिंधू। लोहासुरगयासुरबाणा राइणो अ निज्जिया। तप्पभिइं धरणिंदपउमावईसन्निदेसेण य सयलविग्घहारिणी सयलरिद्धिजणणी य सा पडिमा संजाया ठविआ तत्थेव संखपुरे। कालंतरेण पच्छन्नीहूआ, कमेण संखकूवंतरे पयडीहूआ। अज्ज जाव चेइहरे सयलसंघेण पूइज्जइ, पूरेइ य अणेगविहे पच्चए तुरुक्करायाणो वि तत्थ महिमं करिंति। "संखपुरट्ठियमुत्ती,कामियतित्थं जिणेसरो पासो। तस्स य समए कप्पे,लिहिओ गीयाणुसारेणं ॥१॥" ती० २ कल्प। आ०क०।

संखमाल-शंखमाल-पुं०। सुखमसुखमायां जाते कल्पद्रुमजातिविशेषे , जं० २ वक्ष०।

संखय-संस्कृत-त्रि०। संस्क्रियत इति संस्कृतम्। तद्वर्तयितुं त्रोटयितुं संधातुं वा शक्ये , उत्त०। सम्प्रति संस्कृतप्रतिषेधादसंस्कृतं विज्ञायत इति संस्कृतशब्दस्य निक्षेपो वाच्यः, तत्र च यद्यपि समित्युपसर्गोऽप्यस्ति तथापि धात्वर्थद्योतकत्वात्तस्य करणस्यैव चात्र धात्वर्थात्तदेव निक्षेप्तुमाह निर्युक्तिकृत्। उत्त० ४ अ०। (असंस्कृतस्य व्याख्या 'असंखय' शब्दे, प्रथमभागे ८१६ पृष्ठे गता।) (द्रव्यस्य कथा 'धण' शब्दे, चतुर्थभागे २६४५ पृष्ठे गता।) (करणस्य व्याख्या 'करण' शब्दे, तृतीयभागे ३५६ पृष्ठे गता।)

इदानीं कर्मणामवन्ध्यतामभिदधत् प्रकृतमेवार्थं द्रढयितुमाह-

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पिच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ॥ ३ ॥

स्तेनः-चौरः यथेति दृष्टान्तोपदर्शने, सन्धि:-क्षत्रं तस्य मुखमिव मुखं-द्वारं तस्मिन् गृहीतः-आप्तः स्वकर्मणा-आत्मीयानुष्ठानेन, किम् ?-कृत्यते-छिद्यते, पापकारी-पातकनिमित्तानुष्ठानसेवी। कथं पुनरसौ कृत्यत इति चेद्-अत्रोच्यते सम्प्रदायः-"एगम्मि नयरे एगो चोरो, तेण अभिज्जतो घरगस्स फलगचियस्स पागारकविसीसगसन्निहं खत्तं खणियं। खत्ताणि अणेगागाराणि-कलसागिइं नंदावत्तसंठियं पउमागिइं पुरिसागिइं च। सो य तं कविसीसगसंठियं खत्तं खणंतो घरसामिए णिवेइओ। ततो तेण अद्धपविट्ठो पाएसु गहितो। मा पविट्ठो संतो पहरणेण पहरिस्सति त्ति, पच्छा चोरेण वि बाहिरत्थेण हत्थे गहिओ। सो तेहिं दोहिं वि बलवंतेहिं उभयहा कड्डिज्जमाणो सयंकियपागारकविसीसगेहिं फालिज्जमाणो अत्ताणो विलविप्ति" एवमसुनैवोदाहरणदर्शितन्यायेन प्रजाः-हे प्राणिनः! ' पे-

धा अभिभूतं तत् तथाविधधर्माधानं प्रति समर्थम्, उक्तं हि-"जरा जाव ण पीलेति,वाही जाव ण वड्ढति। जाविंदिया ण हायंति, ताव धम्मं समायरे॥ १॥" एवं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय ततः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च भक्तं प्रत्याख्याय, सर्वथा जीवितनिरपेक्षो भूत्वेति भावः। मलवदत्यन्तमात्मनि लीनतया मल:-अष्टप्रकारं कर्म्म तदपध्वंसत इत्येवंशीलः, मलापध्वंसी-मलविनाशकृत्, स्यादिति शेषः। ततो यावल्लाभ देहधारणमपि गुणायैवेति भावः। यद्वा-जीवितं बृंहयित्वा लाभान्तरे-लाभविच्छेदेऽन्तर्यद्विघ्न मलाश्रयत्वान्मल:-औदारिकशरीरं तदपध्वंसी स्यात्, कोऽर्थः-जीवितं त्यजेद्। इदमुक्तं भवति-अयमस्यैको हि गुणो मानुष्यमवाप्य लभ्यते धर्म्म इति भावयन् यावदितस्तल्लाभ: तावदिदं बृंहयेत्,लाभविच्छेदे सम्भाव्य संलेखनादिविधानतस्त्यजेत्। (उत्त०) (इह च यावल्लाभधारणे मण्डिकचौरोदाहरणम् 'मंडिय' शब्दे षष्ठे भागे २१ पृष्ठे व्याख्यातम्।) दृष्टान्तानुवादपूर्वकोऽयमिहोपनयः-यथाऽयमकार्यकार्यपि मण्डिको यावल्लाभं मूलदेवनृपतिना धारित: तथा धर्मार्थिनाऽपि संयमोपहतिहेतुकमपि जीवितं निर्जरालाभमभिलषता तल्लाभं यावद्धार्यमिति। न च तद्धारणे संयमोपरोध एव, यथाऽऽगमं हि प्रवृत्तस्य तत्तदुपष्टम्भकमेवेति भावनीयम्, इत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः।

सम्प्रति यदुक्तं जीवितं बृंहयित्वा मलापध्वंसी स्यादिति तत्किं स्वातन्त्र्यत एव उतान्यथेत्याह-

छंदं णिरोहेण उवेति मुक्खं,
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइ वासाइ चर ऽप्पमत्तो,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेति मुक्खं॥ ८॥

छन्दो-वशस्तस्य निरोधः छन्दोनिरोधः-स्वच्छन्दतानिषेधः तेन उपैति-उपयाति मोक्षं-मुक्तिम्। किमुक्तं भवति?-गुरुपरतन्त्रतया स्वाग्रहाग्रहयोगिता विना तत्र प्रवर्त्तमानोऽपि संक्लेशविकल इति न कर्म्मबन्धभाक्, किन्त्वविकलचरणतया तन्निर्जरणमेवाप्नोति, अप्रवर्त्तमानोऽपि आहारादिष्वाग्रहग्रहाकुलकुलितचेताः 'छुट्टमदसमे' त्यादिवचनादनन्तसंसारिताद्यनर्थभागेव भवति। तत्सर्वथा तत्परतन्त्रेणैव मुमुक्षुणा भाव्यं, तस्यैव सम्यग्ज्ञानादिसकलकल्याणहेतुत्वाद्। उक्तं च-"णाणस्स होइ भागी, थिरयरतो दंसणे चरित्ते य। धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति॥ १॥" यद्वा-छन्दसा-गुर्वभिप्रायेण निरोधः-आहारादिपरिहाररूप: छन्दोनिरोधः तेनैवोक्तन्यायतो मुक्त्यवाप्तिः, तत्तद्वस्तुविषयाभिलाषात्मिका इच्छा वा छन्द: तन्निरोधेन मुक्तिः, तस्या एव तद्विबन्धकत्वात्, तथा च लौकिका अप्याहुः-"श्लोकार्धेन हि तद्वक्ष्ये, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। तृष्णा च सत् (वेत्सं) परित्यक्ता प्राप्तं च परमं पदम्॥ १॥" अथवा-छन्दो वेद आगम इत्यनर्थान्तरम्, ततः छन्दसा 'आणाए आणाए चिय चरणं' मित्यादिना निरोधः-इन्द्रियादिनिग्रहात्मकः छन्दोनिरोधः तेनोपैति मोक्षं न तु सर्वथा जीवितं प्रत्यनपेक्षतया। तथा च समयविद्:-"सव्वत्थ संजमं सं-जमातो अप्पाणमेव रक्खिज्जा। मुच्चइ अइवायातो, पुणोऽवि सोही ण या विरती॥१॥" अत्रोदाहरणमाह-अश्वो यथा शिक्षितो-वल्गानमनधावनादिशिक्षां ग्राहितो वृणोति-आच्छादयति शरीरकमिति वर्म्म-अश्वतनुत्राणं तद्धरणशीलो वर्म्मधारी, शिक्षितश्चासौ वर्म्मधारी च शिक्षितवर्म्मधारी, अनेन शिक्षकतन्त्रतयाऽस्य स्वातन्त्र्यापोहमाह-ततोऽयमर्थ:-यथा अश्व: स्वातन्त्र्यविरहात्प्रवर्त्तमानः समरशिरसि न वैरिभिरुपहन्यत इति तन्मुक्तिमाप्नोति, स्वतन्त्रस्तु प्रथममशिक्षितो रणमवाप्तस्तैरुपहन्यते। अत्र च सम्प्रदायः-"एगेण राइणा दोण्ह वि कुलपुत्ताणं दो आसा दिण्णा सिक्खावणपोसणत्थं। तत्थेगो कालोचिएण जवसजोगासणेण संरक्खमाणो धावियल्लालियवग्गियमाइयातो कलातो सिक्खावेइ। बीओ का पयस्स इट्ठजवसजोगासणं दाहिइ त्ति घरट्टे वाहेइ ण तु सिक्खावेइ, सेसं अप्पणा भुंजति। संगामकाले उवट्ठिए ते रण्णा वुत्ता-तेसु चेवासेसु आरूढा झत्ति आगच्छह, संपत्ता, भणिया य राइणा-पविसह संगामं। तत्थ पढमोऽसो सिक्खागुणत्तणतो सारहियमणुवट्टमाणो संगामपारतो जातो, दुइओ विसिट्ठसिक्खाभावतोऽसम्भावभावणाभावियत्तणओ गोधूमजंतगजुत्त इव तत्थेव भमिउमाढत्तो। तं च परा उवलक्खेउं हयसारहिं काऊण गृहीतवन्तः। दृष्टान्तानुवादपूर्वकोऽयमुपनयः-यथाऽसावश्व तथा धर्मोऽप्यपि स्वातन्त्र्यविरहितो मुक्तिमवाप्नोति, अत एव च पूर्वाणि-उक्तपरिमाणानि वर्षाणि-वत्सराणि "कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया" (पा० २-३-५), किमित्याह-'चर' इति सततमागमोक्तक्रियामासेवस्व, कथम्?-अप्रमत्त:-गुरुपारतन्त्र्यापहारिप्रमादपरिहर्त्ता, 'तम्ह' त्ति तस्मात् अप्रमादचरणादेव, मन्यते-जानाति जीवादीनिति मुनिः-तपस्वी क्षिप्रं-शीघ्रम् उपैति मोक्षम्। ननु छन्दोनिरोधोऽपि तत्त्वतोऽप्रमादात्मक एवेति कथं न पुनरुक्तदोष:।, उच्यते-अप्रमाद एवादरः कार्य इति ख्यापनार्थत्वादध्ययनार्थाञ्जीवनार्थत्वाच्चास्य न पौनरुक्त्यमिति भावनीयम्। पूर्वाणि वर्षाणीति च एतावदायुषामेव चारित्रपरिणतिरिति दर्शनार्थमुक्तमिति सूत्रार्थ:।

ननु यदि छन्दोनिरोधेन मुक्तिः-अयमन्त्यकाल एव तर्हि विधीयतामित्याशङ्क्याह, यद्वा यदि पश्चान्मलापध्वंसी स्यात् तदैव छन्दोनिरोधादिकमपि तद्धेतुभूतमस्त्वत आह-

स पुव्वमेवं ण लभेज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाणं।
विसीदति सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए॥ ९॥

स इति-यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् यः प्रथममेवाप्रमत्ततया भावितमतिर्न भवति स तदात्मकं छन्दोनिरोधम् 'पुव्वमेवं' ति एवं शब्दस्यात्रोपमार्थत्वात्पूर्वमिवान्त्यकालात् मलापध्वंससमयाद्वा अभावितमतित्वात् न लभेत्-न प्राप्नुयात्। सम्भावने लिङ्। ततश्च लाभसम्भावनाऽपि न समस्ति, किं पुनस्तल्लाभ इति। पश्चात्-अन्त्यकाले मलापध्वंससमये वा, 'एसोवम' त्ति एषा-अनन्तरमभिहित-

स्वरूपा उप—सामीप्येन मीयते—परिच्छिद्यते स्वयं—प्र-
सिद्धया अपरमप्रसिद्धं वस्त्वनयेत्युपमा , केषां ?-शाश्वता
इव वदितु शीलमेषामिति शाश्वतवादिनः, उष्ट्रक्रोशिवत्“ क-
र्त्तर्युपमाने” (पा०३-२-१६) इति णिनिः, तेषां शाश्वतवादि-
नाम् , आत्मनि मृत्युमनियतकालभाविनमपश्यताम् , इदमि-
हाकूतम्-यो हि छन्दोनिरोधमुत्तरकालमेव करिष्यामीति व-
क्ति सोऽवश्यं शाश्वतवादी, स चैवं प्रज्ञाप्यते—यथा भद्र !
इदानीं भवतस्तत्कालात्पूर्वमसावुक्तहेतुतो न समस्ति,
तथोत्तरकालमप्यसौ प्रमादिनस्तव न भवितेति । य-
दिवा एषा—उपमेति—उपेत्युपयोगपूर्वकं मेति ज्ञानमु-
पमा—सम्प्रधारणा यदुत पश्चाद्धर्मं करिष्यामः इति
शाश्वतवादिनां—निरुपक्रमायुषाम् , ये निरुपक्रमायु-
ष्कतया शाश्वतमिवात्मानं मन्यन्ते तेषां युज्येतापि,
न तु जलबुद्बुदसमानायुषाम् , तथा चासावुत्तरका—
लमपि छन्दोनिरोधमनाप्नुवन् विषीदति—कथमहमकृत-
सुकृतः सम्प्रत्यनर्वाक्—पारं भवाम्भोधिं भ्राम्यन् भवि-
ष्यामीत्येवमात्मकं वैकल्यमनुभवति । कदा ?-शिथिलय-
ति-आत्मप्रदेशान् मुञ्चति आयुषि-मनुष्यभवोपग्राहिण्यायु-
ष्कर्मणि, ‘कालोवणीय ’ त्ति कालेन-मृत्युना स्वस्थितिक्षय-
लक्षणेन वा सयमेनोपनीतः उपढौकितः-तस्मिन् , क ? इ-
त्याह-शरीरस्य-औदारिककायात्मकस्य भेदे—सर्वपरिशा-
टतः पृथग्भावे, तदिदमैदम्पर्यम्-आदित एव न प्रमादव-
द्भिर्भाव्यम् , तथा चाह—“ गमनं किमद्य किं श्व., कदाऽपि
वा सर्वथा ध्रुवं क्वापि ? । इति जानन्नपि मूढ-स्तथाऽपि मो-
हात्सुखं शेते ॥ १ ॥ ” इति सूत्रार्थ. ।

किं पुनः पूर्वमिव पश्चादपि छन्दोनिरोधं न लभत इत्याह—

खिप्पं न सकेइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समेच्च लाभं समता महेसी,
आयाणरक्खी चरमप्पमत्तो ॥ १० ॥

क्षिप्रं तत्क्षण एव न शक्नोति न समर्थो भवति, किं क-
र्त्तुम् ?—एतुं-गन्तुं, प्राप्तुमिति यावत् , कम् ?-विवेकं द्र-
व्यतो बहिः सङ्गपरित्यागरूपं, भावतस्तु-कषायपरिहारात्म-
कम् , न ह्यकृतपरिकर्म्मा झगिति तत्परित्यागं कर्त्तुमलम् ।
अत्रोदाहरणं ब्राह्मणी—“ एगो मरुतो परदेसं गंतूण सा-
हापारतो होऊण सविसयमागतो, तस्सऽन्नेण मरुतेण ख-
द्धपलालितो त्ति काउं दारिका दत्ता । सो य लोए दक्खिणा-
तो लहति, परे विभवे वड्ढति तेण तीसे भारियाए सुब-
हुं अलंकारं कारियं । सा निच्चमंडिया अच्छइ । तेण
भण्णइ—एस पच्चंतगामो, ता तुमं एयाणि आभरणगा-
णि विहि पव्वणीसु आविंधाहि, कहिं चोरा उवगच्छेज्जा
तो सुहं गोविज्जंति । सा भणइ-अहं ताए वेलाए सिग्घ-
मेव अवणेस्सं ति । अन्नया तत्थ चोरा पडिया, तमेव णि-
च्चमंडियागिहं अणुपविट्ठा, सा तेहिं सालंकिया गहिया,
सा य पणीयभोयणत्ता मंसोवचितपाणिपाया ण सक्केइ क-
डगाईणि अवणेउं, ततो चोरेहिं तीसे हत्थे छेत्तूण अव-
णीया , गेण्हिउं च निग्गया । ” एवमन्योऽपि प्रागकृतपरि-
कर्म्मा न तत्काल एव विवेकमेतुं शक्नोति , मलापध्वंस-
तस्तु तथा सति दूरापास्त एवेति , न च मरुदेव्युदाह-
रणं तत्राप्यभिधेयम् , आश्चर्यरूपत्वादस्य, न ह्येवं तीव्र-
भावा बहवः सम्भवन्ति, यत एव तस्मात् सम् इति-स-
म्यक् प्रवृत्त्या उत्थायेति च पश्चाच्छन्दो निरोत्स्याम इत्या-
लस्यत्यागेनोद्यम विधाय, तथा ‘ पहाय कामे ’ त्ति प्र-
कर्षेण—मनसाऽपि तदचिन्तनात्मकेन हित्वा त्यक्त्वा का-
मान्-इच्छामदनात्मकान् समेत्य-सम्यग् ज्ञात्वा लोक स
मस्तप्राणिसमूहं , कया ?—समतया—समशत्रुमित्रतया
क्वचिदरक्तद्विष्टतयेति यावत् , तथा च महर्षिः सन् , महः—
एकान्तोत्सवरूपत्वान्मोक्षस्तमिच्छतीत्येवंशीलो महैषी वा-
किमुक्त भवति?-विषयाभिलाषविगमान्निर्निदानः सन् आ-
त्मान रक्षत्यपायेभ्यः कुगतिगमनादिभ्य इत्येवंशील आत्म-
रक्षी,यद्वा आदीयते-स्वीक्रियते आत्महितमनेनेत्यादानः-सं-
यमः तद्रक्षी ‘ चरमप्पत्तो ’ त्ति मकारोऽलाक्षणिकः , तत-
श्चाप्रमत्तः-प्रमादरहित. . इह च प्रमादपरिहाराऽपरिहार-
योरैहिकमुदाहरण वणिग्महिला । तत्र च सम्प्र-
दाय.— “ एगा वणिगमहिला पउत्थपतिया सरी-
रसुस्सूसापरा दासभयगकम्मकरे णिजणिजभियोगेसु न
नियोजयति, न य तेसि कालोववन्नं जहिच्छं आहारं भ-
त्तिं वा देति, ते सव्वे नट्ठा । कम्मंतपरिहाणीए विभवपरि-
हाणी । आगतो वाणियओ । एवंविहं पस्सिऊण पच्छा
तेण णिच्छूढा । अघं तु पुक्खलेणं सुंकेणं वरेति, लद्धा प-
रोण । तेण तीसे णियगा भसन्ति—जइ अप्पाणं रक्खइ
ता परिणेमि त्ति, ताए यऽमुणियपरमत्थाए दुग्गयकन्नगाए
सोउ नियगा भणति-रक्खामि (क्खिहिइ) अप्पग, सा
तेण विवाहिया , गतो वाणिज्जेणं । साऽवि दासभयगकम्म-
करादीणं संदेसं दाउं तेसिं पुव्वण्हिकाइकाले भोयणं दे-
इ, महुराहिं च वायाहिं उच्छाहेइ, भइं च तेसिं अकाल-
परिहीणं देइ, ण य णियगसरीरसुस्सूसापरा । एवमप्पा-
णं रक्खंतीए भत्ता उवागओ । सो एवंविहं पस्सिऊण
तुट्ठो, तेण सव्वसामिणी कया ।” इत्थं तावदिहैव गुणायाऽ-
प्रमादो दोषाय च प्रमादः, आस्तामन्यजन्मनीत्यभिप्रायेणा-
त्रैवैहिकोदाहरणाभिधानमिति परिभावनीयमिति सूत्रार्थः।

प्रमादमूलं च रागद्वेषाविति सोपाय तत्परिहारमाह—

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं ,
अणेगरूवा समणं चरंतं ।
फासा फुसंती असमंजसं च ,
ण तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥ ११ ॥
मंदा य फासा बहुलोभणिज्जा ,
तहप्पगारेसु मणं ण कुज्जा ।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं ,
मायं ण सेवेज्ज पहिज्ज लोहं ॥ १२ ॥

मुहुर्मुहुः—वारं वारम् , सततप्रवृत्त्युपलक्षणमेतत् ,मोहय-
ति जानानमपि जन्तुमाकुलयति प्रवर्त्तयति चान्यथेहेति
मोहः तस्य गुणाः मोहगुणा.—तदुपकारिणः शब्दादय',
ताम् जयन्तम्—अभिभवन्तम् , किमुक्तं भवति?-अविच्छेद-
तस्तज्जयप्रवृत्तम् , यद्वा-कथञ्चिन्मोहनीयात्यन्तोदयत एकदा
तैः पराजितमपि पुनः पुनस्तज्जयं प्रति प्रवर्त्तमानं न तु त-
त एव विमुक्तसंयमोद्योगम् , अनेकरूपाः—अनेकमिति-अ-

नेकविधं परुषविषमसंस्थानादिभेदं रूप-स्वरूपमेषामिति अनेकरूपाः, श्रमण चरन्तं प्राग्वत्, 'फास' त्ति स्पृशन्ति स्वानि स्वानीन्द्रियाणि गृह्यमाणतया इति स्पर्शाः—शब्दादयस्ते स्पृशन्ति-गृह्यमाणतयैव सम्बध्नन्ति, असमञ्जसम्-अननुकूलमिति क्रियाविशेषणमेतत्, चशब्दोऽवधारणे असमञ्जसमेव, अथवा—स्पर्शनविषयाः—स्पर्शाः स्पृशन्ति, स्पर्शोपादानं चास्यैव दुर्जयत्वाद्बह्वपायत्वाच्च, न तेषु-स्पर्शेषु भिक्षुः-मुनिः, मनसा उपलक्षणत्वाच्च वाचा कायेन च, यद्वाऽपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वान्मनसाऽपि आस्तां वाचा कायेन वा, 'पदूसे' त्ति प्रदूष्येत् प्रद्विष्याद्वा। किमुक्तं भवति ?-कर्कशसंस्तारकादिस्पर्शादौ हन्तोपतापिता वयमेतैनेति च चिन्तयेत् नैव वा वदेत्परिहरेद्वा तमिति। "मंदाये" ति सूत्रम्, तथा मन्दायन्तीति मन्दा —हिताहितविवेकिनमपि जनमन्यतां नयन्तीति कृत्वा, चशब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये, स्पर्शाः प्राग्वच्छब्दादयः, बहून् लोभयन्ति—विमोहयन्तीति बहुलोभनीयाः अन्यत्रापि (कृत्यल्युटो बहुलम्) इति वचनात् कर्त्तर्यनीयः, अनेनात्यासेवकत्वमुक्तम्, 'तहप्पगारेसु' त्ति अपेर्गम्यमानत्वात्तथाप्रकारेष्वपि बहुलोभनीयेष्वपि मृदुमधुररसादिषु मनः—चित्तं न कुर्यात्, अथवा—धातूनामनेकार्थत्वान्न निवेशयेत्। यद्वा-सङ्कल्पात्मकमेव मनः, ततो मन इति सङ्कल्पमपि न कुर्यात्—न विदध्यात्, आस्तां तत्प्रवृत्तिमिति। अथवा—मन्दबुद्धित्वान्मन्दगमनत्वाद्वा मन्दा —स्त्रियः ता एव स्पर्शप्रधानत्वात् स्पर्शाः, ततश्च मन्दाश्च ताः स्पर्शाः, बहूनां कामिनां लोभनीयाः—गृद्धिजनका बहुलोभनीया यास्तासु 'तहप्पगारेसु' त्ति लिङ्गव्यत्ययात्तथाप्रकारासु बहुलोभनीयासु मनोऽपि न कुर्याद्, इह च स्त्रीणामेव बहुतरापायहेतुत्वादित्थमुच्यते, तथा चाह—" स्पर्शेन्द्रियप्रसक्ताश्च, बलवन्तो मदोत्कटाः। हस्तिबन्धकिसंस्पर्शाद्, बध्यन्ते मत्तवारणाः ॥१॥" इति। एव च पूर्वसूत्रेण द्वेषस्य परिहार उक्तः, अनेन च रागस्य, स तु कथं भवतीत्यत आह—रक्षयेत्-निवारयेत्, कम् ?—क्रोधम्-अप्रीतिलक्षणं, विनयेत्-अपनयेत् मानम्-अहङ्कारात्मकम्, माया-परवञ्चनबुद्धिरूपा न कुर्यात्, प्रजह्यात्-परित्यजेत् लोभम्-अभिष्वङ्गस्वभावम्, तथा च क्रोधमानयोर्द्वेषात्मकत्वान्मायालोभयोश्च रागरूपत्वात्तन्निग्रह एव तत्परिहारतिरिति भावनीयम्। अथवा—स्पर्शपरिहारमभिदधता, चतुर्थव्रतमुक्तम्, तच्च 'अबंभचेरं घोरं पमायं दुरहिट्ठग' ति वचनान्महाप्रमादरूपस्याब्रह्मणो निरोधकृदिति, तदभिधानाद्धिंसादिनिरोधोऽप्युक्त एवेति, अनेनार्थतो मूलगुणाभिधानम्, रक्खेत् क्रोधमित्यादिना च पिण्डादिकमयच्छते यच्छते वा न कषायवशगो भवेदित्युत्तरगुणोक्तिरिति सूत्रद्वयार्थः।

सम्प्रति यदुक्तं—'तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे' इत्यादि, तत्कदाचिच्चरकादिष्वपि भवेत्, अत आह-यद्यैतावता चारित्रशुद्धिरुक्ता, सा च न सम्यक्त्वविशुद्धिमपहायातस्तद्दर्थमिदमाह-

जे संखया तुच्छपरप्पवादी,
ते पेज्जदोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मु त्ति दुगंछमाणो,
कंखे गुणे जाव सरीरभेए ॥ १३ ॥ त्ति बेमि।

'ये' इति अनिर्दिष्टस्वरूपाः, संस्कृता इति न तात्त्विकशुद्धिमन्तः किन्तूपचरितवृत्तयः, यद्वा—संस्कृतागमप्ररूपकत्वेन संस्कृता,यथा सौगताः,ते हि स्वागमे निरन्वयोच्छेदमभिधाय पुनस्तेनैव निर्वाहमपश्यन्तः परमार्थतोऽन्वयिद्रव्यरूपमेव सन्तानमुपकल्पयांबभूवुः, सांख्याश्चैकान्तनित्यतामुक्त्वा तत्त्वतः परिणामरूपां चै (पावे)व पुनराविर्भावतिरोभावावुक्तवन्तो, यथा वा—"उक्तानि प्रतिषिद्धानि, पुनः सम्भावितानि च। सापेक्षनिरपेक्षाणि, ऋषिवाक्यान्यनेकशः॥१॥" इति वचननिषेधनसम्भवादिभिरुपस्कृतस्मृत्यादिशास्त्रा मन्वादयः,अत एव 'तुच्छ'त्ति तुच्छा यदृच्छाभिधायितया निःसाराः 'परप्पवाइ' त्ति परे च ते स्वतीर्थिकव्यतिरिक्ततया प्रवादिनश्च परप्रवादिनः, ते किमित्याह—'पेज्जदोसाणुगया' प्रेमद्वेषाभ्यामनुगताः प्रेमद्वेषानुगताः, तथाहि-सर्वथा संवादिनि भगवद्वचसि निरन्वयोच्छेदैकान्तनित्यत्वादिकल्पनं-वचननिषेधनसम्भावनादि वा न रागद्वेषाभ्यां विनेति भावनीयम्, अत एव च 'परज्झ' त्ति देशीपदत्वात्परवशा रागद्वेषग्रहग्रस्तमानसतया न ते स्वतन्त्राः। यदि त एवंविधास्ततः किमित्याह—एते इति—अर्हन्मतबाह्याः, अधर्म्महेतुत्वादधर्म्म, 'इति' त्यमुनोल्लेखेन 'दुगंछमाणो' त्ति जुगुप्समानः उन्मार्गानुयायिनोऽमी इति तत्स्वरूपमवधारयन्, न तु निन्दन्, निन्दायाः सर्वत्र निषेधात्, तदेवंविधश्च किं कुर्यादित्याह—काङ्क्षेत् अभिलषेत् गुणान्—सम्यग्दर्शनचारित्रात्मकान् भगवदागमाभिहितान्, किं नियतकालमेवोतान्यथेत्याह—यावच्छरीरात्—औदारिकात्पञ्चप्रकाराद्वा भेदः—पृथग्भावः शरीरभेदो, मरणं विमुक्तिर्वेति यावद्, अनेनैव समुत्थान कामप्रहाणादि च तत्त्वतः, अन्यत्र तु सवृत्तिमिदित्युक्तम्, एवं च काङ्क्षात्मकसम्यक्त्वातिचारपरिहाराभिधानतः सम्यक्त्वशुद्धिर्वेति सूत्रार्थः ॥१३॥ इति परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्। उक्तोऽनुगमः। सम्प्रति नयाः ते च पूर्ववत्। उत्त० ४ अ०।

किञ्च—

ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भइ।
काले पावेहिं मिज्जती, इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥२१॥

न च—नैव जीवितम्—आयुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः 'संखय' मिति संस्कर्त्तुं-तन्तुवत्सन्धातुं शक्यते इत्येवमाहुस्तद्विदः, तथाऽपि एवमपि व्यवस्थिते बालः-अज्ञो जनः प्रगल्भते पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति, स चैवम्भूतो बालस्तैरसदनुष्ठानापादितैः पापैः कर्मभिः मीयते—तद्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, मीयते वा मेयेन धान्यादिना प्रस्थकवदिति, एवं सख्याय—ज्ञात्वा मुनिः—यथावस्थितपदार्थानां वेत्ता न माद्यतीति तेष्वसदनुष्ठानेष्वहं शोभनः कर्मेत्येवं प्रगल्भमानो मदं न करोति। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। ('छंदेणेति (२२)' सूत्रं तद्व्याख्या च 'छंद' शब्दे तृतीयभागे १२८० पृष्ठे गता।)

संखराय-शंखराज-पुं०। वाराणस्यां स्वनामख्याते राजनि, यो हि मल्लितीर्थकृता सह प्रव्रजितः। स्था० ७ ठा० ३ उ०। "संखयरिसी" ती०।

संखवण्ण-शंखवर्ण-पुं०। विंशे महाग्रहे, स्था०। कल्प०। सू० प्र०। चं० प्र०।

दो संखवन्ना। (सू०-९०×) स्था० २ ठा० ३ उ०।

संखवण्णाभ-शंखवर्णाभ-पुं०। एकविंशतितमे महाग्रहे, स्था०।

दो संखवण्णाभा। (सू०-९०×) स्था० २ ठा० ३ उ०।

संखवर-शंखवर-पुं०। द्वीपभेदे, अनु०। "संखवरे दीवम्मि, संखे संखप्पभे य दो देवा। (५८)" द्वी०।

संखवरसमुद्द-शंखवरसमुद्र-पुं०। शंखवरद्वीपस्याभितः समुद्रे, "संखवरसमुद्द अभिवाओ। मणिप्पभे मणिहिसेए दो देवा" द्वी०।

संखवायण-शंखवादन-न०। शंखध्मानकरणे, नि० चू० १ उ०। (शंखवादनं कल्पते न वेति 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठे भागे ३५६ पृष्ठे उक्तम्।)

संखवाल-शंखपाल-पुं०। धरणस्य नागकुमारस्य चतुर्थे लोकपाले, भूतानन्दस्य चतुर्थे लोकपाले च। स्था० ४ ठा० १ उ०। धरणनागकुमारेन्द्रस्योत्तरदिग्लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ०। स्था०। कालोदायिप्रभृतिष्वन्ययूथिकेष्वन्यतमे (भ० ७ श० १० उ०।) स्वनामख्याते आजीविकोपासके, भ० ८ श० ५ उ०।

संखा-संख्या-स्त्री०। संख्यायन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्था येन तज् ज्ञानं संख्येत्युच्यते। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। सम्यक् ख्याप्यते-प्रकाश्यतेऽनयेति संख्या। प्रज्ञायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। सूत्र०। संख्यानं-संख्या। परिच्छेदे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। एकादिव्यवहारहेतौ, सम्म० ३ काण्ड। गणनायाम्, आ० चू० १ अ०। आ० म०। अनु०। सूत्र०। विशे०।

संख्याप्रमाणं विवरीषुराह—

से किं तं संखप्पमाणे?, संखप्पमाणे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा—नामसंखा, ठवणसंखा, दव्वसंखा, ओवम्मसंखा, परिमाणसंखा, जाणणासंखा, गणणासंखा, भावसंखा। से किं तं नामसंखा?, नामसंखा जस्स णं जीवस्स वा० जाव से तं नामसंखा। से किं तं ठवणसंखा?; ठवणसंखा?, जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा० जाव से तं ठवणसंखा। नामठवणाणं को पइविसेसो?, नाम (पाएणं) आवकहियं, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा, आवकहिया वा होज्जा। से किं तं दव्वसंखा?, दव्वसंखा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आगमओ य नो आगमओ य० जाव जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वसंखा?, से किं तं जाणय०२तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-एगभविए बद्धाउए अभिमुहणामगोत्ते अ। एगभविए णं भंते! एगभविए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ?, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी।बद्धाउए णं भंते! बद्धाउए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ?, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडीतिभागं। अभिमुहनामगोए णं भंते! अभिमुहनामगोए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ?, जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। इयाणिं को णओ कं संखं इच्छइ-तत्थ णेगमसंगहववहारा तिविहं संखं इच्छंति, तं जहा—एगभविअं बद्धाउअं अभिमुहनामगोत्तं च। उज्जुसुओ दुविहं संखं इच्छइ, तं जहा-बद्धाउअं च अभिमुहनामगोत्तं च। तिण्णि सद्दनया अभिमुहणामगोत्तं संखं इच्छंति। से तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वसंखा। से तं नो आगमओ दव्वसंखा। से तं दव्वसंखा। (सू०-१५०×)

संख्यानं—संख्या, संख्यायतेऽनयेति वा संख्या, सैव प्रमाणं संख्याप्रमाणम्। इह च संख्याशब्देन संख्याशङ्खयोर्द्वयोरपि ग्रहणं द्रष्टव्यम्, प्राकृतमधिकृत्य समानशब्दाभिधेयत्वात्, गोशब्देन पशुभूम्यादिवत्। उक्तं च— "गोशब्दः पशुभूम्यप्सु, वाग्दिगर्थप्रयोगवान्। मन्दप्रयोगे दृष्टयम्बु-वज्रस्वर्गाभिधायकः ॥ १ ॥" एवमिहापि संखा इति प्राकृतोक्ता संख्या शंखाश्च प्रतीयन्ते, ततो द्वयस्याऽपि ग्रहणम्। एवं च नामस्थापनाद्रव्यादिविचारेऽपि प्रक्रान्ते संख्या शंखा वा यत्र घटन्ते,तत्तत्र प्रस्तावज्ञेन स्वयमेव योज्यमिति। 'से किं तं नामसंखे' त्यादि, सर्वं पूर्वाभिहितनामावश्यकादिविचारानुसारतः स्वयमेव भावनीयं यावत् 'जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसंखे तिविहे पण्णत्ते' इत्यादि, इह यो जीवो मृत्वाऽनन्तरभवे शंखेषु उत्पत्स्यते स तेष्वबद्धायुष्कोऽपि जन्मदिनादारभ्य एकभविकः स शंख उच्यते, यत्र भवे वर्तते स एवैको भवः शंखेषूत्पत्तेरन्तरेऽस्तीति कृत्वा, एवं शंखप्रायोग्यम्। बद्धमायुष्कं येन स बद्धायुष्कः, शंखभवप्राप्तानां जन्तूनां ये अवश्यमुदयमागच्छतस्ते द्वीन्द्रियजात्यादिनीचैर्गोत्राख्ये अभिमुखे जघन्यतः समयेनोत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेणैव व्यवधानात्। उदयाभिमुखप्राप्ते नामगोत्रे कर्मणी यस्य सोऽभिमुखनामगोत्रः, तदेष त्रिविधोऽपि भावशंखताकारणत्वात् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यशंख उच्यते, यद्येवं द्विभविकत्रिभविकचतुर्भविकादिरपि कस्मान्नेत्थं व्यपदिश्यत इति चेत्, नैवं, तस्यातिव्यवहितत्वेन भावकारणतानभ्युपगमात्, तत्कारणस्यैव द्रव्यत्वाद्। इदानीं त्रिविधमपि शंखं कालतः क्रमेण निरूपयन्नाह—'एगभविए णं भंते!' इत्यादि, एकभविकः शंखो भदन्त! एकभविक इति व्यपदेशेन कालतः कियच्चिरं भवतीति। अत्रोत्तरम्-'जहन्नेणं' मित्यादि, इदमुक्तं भवति—पृथिव्याद्यन्यतर-

भवेऽन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा योऽनन्तरं शंखेपूत्पद्यते सोऽन्तर्मुहूर्तमेकभविकः शंखो भवति, यस्तु मत्स्याद्यन्यतमभवे पूर्वकोटीं जीवित्वैतेपूत्पद्यते तस्य पूर्वकोटिरेकभविकत्वे लभ्यते, अत्र चान्तर्मुहूर्तादपि हीनं जन्तूनामायुरेव नास्तीति जघन्यपदेऽन्तर्मुहूर्तग्रहणम्। यस्तु पूर्वकोट्यधिकायुष्कः सोऽसंख्यातवर्षायुष्कत्वाद्देवेष्वेवोत्पद्यते न शंखेष्वित्युत्कृष्टपदे पूर्वकोट्युपादानम्, आयुर्बन्धं च प्राणिनोऽनुभूयमानायुषो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्ते शेष एव कुर्वन्त्युत्कृष्टतस्तु पूर्वकोटित्रिभाग एव न परत इति बद्धायुष्कस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतः पूर्वकोटीत्रिभाग उक्तः। आभिमुख्यं त्वासन्नतायां सत्यामुपपद्यते अतोऽभिमुखनामगोत्रस्य जघन्यतः समय उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तं काल उक्तः, यथोक्तकालात् परतस्त्रयोऽपि भावशङ्खतां प्रतिपद्यन्त इति भावः॥ इदानीं नैगमादिनयानां मध्ये को नयो यथोक्तत्रिविधशंखस्य मध्ये कं शंखमिच्छतीति विचार्यते—तत्र नैगमसंग्रहव्यवहाराः स्थूलदृष्टित्वात् त्रिविधमपि शंखमिच्छन्ति। दृश्यते हि स्थूलदृशां कारणे कार्योपचारं कृत्वा इत्थं व्यपदेशप्रवृत्तिः, यथा राज्यार्हकुमारे राजशब्दस्य, घृतप्रक्षेपयोग्ये घटे घृतघटशब्दस्येत्यादि ऋजुसूत्र एभ्यो विशुद्धत्वादाद्यस्यातिव्यवहितत्वेनातिप्रसङ्गभयाद् द्विविधमेवेच्छति, शब्दादयस्तु विशुद्धतरत्वाद् द्वितीयमप्यतिव्यवहित मन्यन्ते, अतोऽतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमेकं चरममेवेच्छन्ति। अनु०। व्य०। आ० म०। सूत्र०। संख्याया अपि वस्तुगतान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावो नासिद्ध। सम्म० ३ काण्ड।

संखाईय–संख्यातीत–त्रि०। संख्यानं—संख्या तामतीता अतिक्रान्ता. सख्यातीताः। असख्येयेषु, विशे०। आ० म०। विपा०।

संखाईयगुण–संख्यातीतगुण–त्रि०। संख्यातगुणेषु, विशे०।

संखाण–संख्यान—न०। संख्यायते–गण्यतेऽनेनेति संख्यानम्। गणिते, स्था० ४ ठा० ३ उ०। गुणितस्कन्धे, नि०१ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०। औ०। विशे०। ज्ञा०। कल्प०। स्था०।

दसविहे संखाणे पण्णत्ते, तं जहा–"परिकम्मं १ ववहारो २, रज्जू ३ रासी ४ कलासवन्ने ५ य। जावंतावति ६ वग्गो ७, घणो ८ य तह वग्गवग्गो ९ वि॥१॥ कप्पे य० १०।" (सू० ७४७)

'दसेत्यादि' 'परिकम्मं' गाहा, परिकर्म–सकलिताद्यनेकविध गणितज्ञप्रसिद्ध तेन यत्संख्येयस्य संख्यान—परिगणनं तदपि परिकर्मेत्युच्यते १, एवं सर्वत्रेति, व्यवहारः–श्रेणीव्यवहारादि पाटीगणितप्रसिद्धोऽनेकधा२, 'रज्जु' त्ति रज्ज्वा यत्संख्यान तद्रज्जुरभिधीयते, तच्च क्षेत्रगणितम् ३, 'रासि'त्ति धान्यादेरुत्करस्तद्विषयं सख्यान राशि, स च पाट्या राशिव्यवहार इति प्रसिद्धः४, 'कलासवन्ने य' त्ति कलानाम्–अशाना सवर्णनं सवर्ण सवर्ण–सदृशीकरणं यस्मिन् सख्याने तत्कलासवर्णम् ५, (यावत्तावद् यक्तव्यता 'जावंतावं' शब्दे चतुर्थभागे १४५७ पृष्ठे गता।) यथा वर्गः—संख्यानं यथा द्वयोर्वर्गश्चत्वारः 'सदृशद्वि राशिघात' इति वचनात् ७, 'घणो य' त्ति घनः संख्यानं यथा द्वयोर्घनोऽष्टौ 'समत्रिराशिहति' रिति वचनात् ८, 'वग्गवग्गो' त्ति वर्गस्य वर्गो वर्गवर्गः, स च संख्यानं यथा द्वयोर्वर्गश्चत्वारश्चतुर्णां वर्गः षोडशेति, अपिशब्दः समुच्चये ९, 'कप्पे य' त्ति गाथाधिकम्, तत्र कल्पः—छेद. क्रकचेन काष्ठस्य तद्विषय संख्यान कल्प एव यत्पाट्यां क्राकचव्यवहार इति प्रसिद्धमिति, इह च परिकर्मादीनां केषाञ्चिदुदाहरणानि मन्दबुद्धीनां दुरवगमानि भविष्यन्त्यतो न प्रदर्शितानीति १०। स्था० १० ठा० ३ उ०।

संखादत्तिय–संख्यादत्तिक–पुं०। संख्याप्रधानाः परिमिता एव दत्तयः सकृद् भक्तादिक्षेपलक्षणाद् ग्राह्या यस्य स सख्यादत्तिक.। स्था० ५ ठा० १ उ। भ०। सूत्र०। औ०। परिमितभिक्षाप्रमाणेषु अभिग्रहविशेषधारकेषु साधुषु, स्था० ५ ठा० १ उ०।

संखाय–संख्याय–अव्य०। सम्यग् ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। अवधार्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु०६ अ० ५ उ०। सूत्र०।

संस्त्यान–न०। 'स्त्यै' संघाते इति सम्–स्त्य' क्त–"सम' स्त्य खाः" ॥८।४।१५॥ इति स्त्यास्थाने खा। "क–ग–च ज–त द–प–य–वां प्रायो लुक्" ॥ ८। १। १७७॥ इति तलोपः। "अवर्णो यश्रुति" ॥ ८। १। १८०॥ इति य'। घनीभूते, प्रा० १ पाद।

संखायण–शंखायन–पुं०। शंखपिंगोत्रापत्ये, सू० प्र० १० पाहु०। चं० प्र०। जं०।

संखार–संस्कार–पुं०।वासनायाम्, अष्ट० १ अष्ट०। वैशेषिकसम्मतगुणभेदे, संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात्त्रैविध्येऽपि संस्कारत्व जात्यपेक्षया एकत्वाच्छौर्यौदार्यादीना चात्रैवान्तर्भावान्नाधिक्यम्। स्या०।

संखालग्ग–शंखालग्न–त्रि०। शंखयोरक्षिप्रत्यासन्नावयवविशेषयो. सम्बद्धे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

संखावई–संखावती–स्त्री०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे मध्यमखण्डे कुरुजाङ्गलजनपदे स्वनामख्यातायां नगर्याम्, ती० ६ कल्प।

संखित्त–संक्षिप्त—पुं०। ह्रस्वतां गते, चं०प्र० १ पाहु०। भ०। लघूकृते, स्था० ३ ठा० ३ उ०। औ०। जं०। रा०। संगृहीते, पं० सं० १ द्वार। नि०।

संखित्तविउलतेउलेस्स–संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य—त्रि०। संक्षिप्ता शरीरान्तर्गतत्वेन ह्रस्वता गता विपुला–विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्याविशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा। सू० प्र०१ पाहु०। विपा०। रा०। शरीरान्तर्लीनतेजोलेश्याके, भ०। ('तेउलेस्सा' शब्दे ४ भागे २३५६ पृष्ठे अत्र विस्तरो गतः।) (अस्य व्याख्या 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०१७पृष्ठे गता)

संखिय-शांखिक-पुं०। शंखवादनशिल्पमेषामिति शांखिकाः, शंखो वा विद्यते येषां माङ्गल्यचन्दनाधारभूतास्ते शांखिकाः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। चन्दनगर्भहस्तेषु माङ्गल्यकारिषु, शंखवादकेषु च। भ० ६ श० ३३ उ०। कल्प०। औ०। आ० चू०।

संखिया-शांखिका-स्त्री०। लघुशंखे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। नि० चू०। ज०। रा०। ह्रस्वशंखे, भ० ५ श० ४ उ०। रा०।

संखुड्ड-रम्-धा०। क्रीडायाम्, "रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसरवेल्ला." ॥८।४।१६८॥ अनेन वैकल्पिकः संखुड्डादेश.। संखुड्डइ। रमते। प्रा० ४ पाद।

संखुभिय-संक्षुभित-त्रि०। महामत्स्यमकराद्यनेकजलजन्तुजातिसम्मर्द्देन प्रविलोडिते, स०।

संखेज्ज-संखेय-त्रि०। संख्यायत इति संख्येयः। संख्यार्हे, आ० म० १ अ०। विशे०। नं०। स०। कर्म०। संख्यातवर्षसहस्रे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

संखेज्जकाल-संख्येयकाल-पुं०। समयादिके शीर्षप्रहेलिकापर्यन्ते काले, जी० १ प्रति०। ('काल' शब्दे तृतीयभागे ४७० पृष्ठे व्याख्यातम्।)

संखेज्जकालसमय-संख्येयकालसमय-पुं०। कालः कृष्णोऽपि स्यात् समय आचारोऽपि स्यादतः कालश्चासौ समयश्चेति कालसमय.। संख्येयो वर्षप्रमाणतः स चासौ कालसमयश्च संख्येयकालसमयः। दशवर्षसहस्रादिके समये, स्था० २ ठा० २ उ०।

संखेज्जकालसमयट्ठिइय-संख्येयकालसमयस्थितिक-त्रि०। काल' कृष्णोऽपि स्यात् समय आचारोऽपि स्यादतः कालश्चासौ समयश्चेति कालसमय'। संख्येयो वर्षप्रमाणतः स यस्यां सा संख्येयकालसमया स्थितिरवस्थान येषां ते संख्येयकालसमयस्थितिका.। दशवर्षसहस्रादिस्थितिकेषु, स्था० २ ठा० २ उ०। ('असंखेज्जकालसमयट्ठिय' शब्दे प्रथमभागे ८२० पृष्ठे अस्य दण्डकमुक्तम्।)

संखेजजीविय-संख्यातजीविक-पुं०। संख्याता जीवा येषु सन्ति ते संख्यातजीविका। संख्यातजीवपरिगृहीतेषु वनस्पतिषु, भ०।

से किं तं संखेज्जजीविया?, गोयमा! संखेज्जजीविया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-ताले तमाले तक्कलि तेतलि जहा पण्णवणाए ०जाव नालिएरि जे यावण्णे तहप्पगारा। से तं संखेज्जजीविया। (सू० ३२४×)

'संखेज्जजीविय' त्ति संख्याता जीवा येषु सन्ति ते संख्यातजीविका., एवमन्यदपि पदद्वयम्। 'जहा पण्णवणाए' त्ति यथा-प्रज्ञापनायां तथा-इदं सूत्रमध्येयम्-' ताले तमाले तक्कलि, तेतलिसाले य सालकल्लाणे। सरले जायइ केयइ, कदलि तह चम्मरुक्खे य ॥१॥ भुयरुक्खे हिंगुरुक्खे, लवंगरुक्खे य होइ बोद्धव्वे। पूयफली खज्जूरी, बोद्धव्वा नालिएरी य ॥२॥" 'जे यावन्ने तहप्पगारे' त्ति ये चाप्यन्ये तथाप्रकारा वृक्षविशेषास्ते संख्यातजीविका इति प्रक्रमः। भ० ८ श० ३ उ०।

संखेज्जय-संख्येयक-न०। गणनासंख्याभेदे, अनु०।

से किं तं संखेज्जए?, संखेज्जए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए। (सू० १५०×)

सा च संख्येयकादिभेदभिन्ना, तद्यथा-संख्येयकम्, असंख्येयकम्, अनन्तकम्। तत्र संख्येयकं जघन्यादिभेदात्त्रिविधम्। अनु०।

संख्येयकादिभेदप्ररूपणामात्रं कृत्वा विस्तरतः तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

जहण्णयं संखेज्जयं केवइअं होइ?, दो रूवयं, तेणं परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं० जाव उक्कोसयं संखेज्जयं न पावइ। (सू० १५०×)

'जहण्णयं संखेज्जयं केवइय' मित्यादि अत्र जघन्यं संख्येयकं द्वौ, तत' परं त्रिचतुरादिकं सर्वमप्यजघन्योत्कृष्टं यावदुत्कृष्टं न प्राप्नोति।

तत्र कियत्पुनरुत्कृष्टं संख्येयकं भवतीति विनेयेन पृष्टे विस्तरेण तस्य प्ररूपयिष्यमाणत्वादित्थमाह—

उक्कोसयं संखेज्जयं केवइअं होइ?, उक्कोसयस्स संखेज्जयस्स परूवणं करिस्सामि-से जहानामए पल्ले सिआ एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोण्णि अ सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि अ कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धं अंगुलं च किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए, तओ णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारो घेप्पइ, एगो दीवे एगो समुद्दे एवं पक्खिप्पमाणेणं२ जावइआ दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुण्णा एस णं एवइए खेत्ते पल्ले (आइट्ठा) पढमा सलागा, एवइआणं सलागाणं असंलप्पा लोगा भरिआ तहावि उक्कोसयं संखेज्जयं न पावइ, जहा को दिट्ठंतो? से जहानामए मंचे सिआ आमलगाणं भरिए तत्थ एगे आमलए पक्खित्ते सेऽवि माते अण्णेऽवि पक्खित्ते सेऽवि माते अन्नेऽवि पक्खित्ते सेऽवि माते एवं पक्खिप्पमाणेणं एवं पक्खिप्पमाणेणं होही सेऽवि आमलए जंसि पक्खित्ते से मंचए भरिज्जिहिइ जे तत्थ आमलए न माहिइ। (सू० १५०×)

उत्कृष्टस्य संख्येयकस्य प्ररूपणां करिष्यामि, तद्यथा-तद्यथा नाम कश्चित्पल्यः स्यात्, क्रियमाण इत्यर्थ-आयामविष्क-

म्भाभ्या योजनशतसहस्र, परिधिना तु-"परिही तिलक्खसोलस,सहस्स दो य सयसत्तवीसऽहिया। कोसतिय अट्ठवीस, धणुसय तेरंगुलऽद्धहियं ॥ १ ॥" इति गाथाप्रतिपादितमानो, जम्बूद्वीपप्रमाण इति भाव.। अयं चाधस्ताद्योजनसहस्रमवगाढो द्रष्टव्य , रत्नप्रभापृथिव्या रत्नकाण्डं भित्त्वा वज्रकाण्डे प्रतिष्ठित इत्यर्थ., स चैवप्रमाण., पल्यो जम्बूद्वीपवेदिकात उपरि सप्रशिखः सिद्धार्थानां सर्षपाणां भ्रियते, 'तत्तो य तेहिं' मित्यादि, इदमुक्त भवति-ते सर्षपा असत्कल्पनया देवादिना समुत्क्षिप्य एको द्वीपे एक. समुद्रे इत्येवं सर्वेऽपि प्रक्षिप्यन्ते, यत्र च द्वीपे समुद्रे वा ते इत्थ प्रक्षिप्यमाणा निष्ठां यान्ति तत्पर्यवसानो जम्बूद्वीपादिरनवस्थितपल्य. कल्प्यते, अत एवाह—'एस ण एवइए खेत्ते पल्ले' त्ति यावन्तो द्वीपसमुद्रास्तै सर्षपै 'अप्फुण्ण' त्ति व्याप्ता इत्यर्थ , एतदेतावत्प्रमाणं क्षेत्रमनवस्थितपल्य., सर्षपभृतो बुद्धया परिकल्पत इत्यर्थः । तत. किमित्याह—'पढमा सलाग' त्ति तत. शलाकापल्ये प्रथमशलाका—एक. सर्षप. प्रक्षिप्यत इत्यर्थ., 'एवइयाणं सलागाण असलप्पा लोगा भरिय' त्ति लोक्यन्ते-केवलिना दृश्यन्त इति लोका-व्याख्यानादिह वक्ष्यमाणा. शलाकाः पल्यरूपा गृह्यन्ते,ते चैकदशशतसहस्रलक्षकोटिप्रकारेण संलपितुमशक्या असंलप्या , अतिबहव इत्यर्थ , यथोक्त शलाकानामसत्कल्पनया भृता.-पूरितास्तथाऽप्युत्कृष्टं संख्येयक न प्राप्नोति , आकण्ठपूरिता अपि हि लोकरूढ्या भृता उच्यन्ते , न चैतावतैवोत्कृष्टं संख्येयकं सम्पद्यते, किंतु यदा सप्रशिखतया तथा ते भ्रियन्ते यथा नैकोऽपि सर्षपस्तत्रापरो माति तदा तद्भवतीति भाव.। ननु सप्रशिखतया सर्वथा अभृतमपि लोके किं भृतमुच्यते ?, सत्य, प्रोच्यत एव , तथा चात्रार्थे दृष्टान्तं दिदर्शयिषुराह-यथा कोऽत्र दृष्टान्त ?, इति शिष्येण पृष्टे सत्युत्तरमाह—तद्यथानाम कश्चिन्मञ्च स्यात्, स चामलकाना भृत इति शिखामन्तरेणापि लोकेन व्यपदिश्यते, अथ च तत्रैकमामलक प्रक्षिप्त तन्मातमपरमपि प्रक्षिप्त तदपि मातमन्यदपि प्रक्षिप्त तदपि मातमेवमपरापरै प्रक्षिप्यमाणै भविष्यति तदामलक येनासौ मञ्चो भरिष्यति, यच्च तदुत्तरकाल तत्र मञ्चे न मास्यति , इत्थं चात्राप्यपरापरैर्यथोक्तशलाकारूपै. प्रक्षिप्तैर्यदा सलपितुमशक्या अतिबहव. सप्रशिखा. पल्या असत्कल्पनया भृता भवन्ति तदोत्कृष्टं सख्येयक भवतीत्यध्याहारो द्रष्टव्य इति तावदक्षरार्थ.॥ भावार्थस्त्वयम्- पूर्वनिदर्शितस्वरूपादनवस्थितपल्यादपरेऽपि जम्बूद्वीपप्रमाणा योजनसहस्रावगाढास्त्रय. पल्या बुद्धया कल्प्यन्ते, तत्र प्रथम शलाकापल्यो, द्वितीय प्रतिशलाकापल्यस्तृतीयो महाशलाकापल्य । तत्रानवस्थितपल्यो भृत शलाकापल्ये च प्रथमा शलाका प्रक्षिप्तेति पूर्वमादर्शितम्, तदनन्तर पुनरप्यनवस्थितपल्यसर्षपा समुत्क्षिप्यैको द्वीप एक समुद्र इत्येव प्रक्षिप्यन्ते, तैश्च निष्ठितै शलाकापल्ये द्वितीया शलाका प्रक्षिप्यते , सर्षपाश्च प्रक्षिप्यमाणा यत्र द्वीपे समुद्रे वा निष्ठितास्तत्पर्यवसान पूर्वेण सह बृहत्तरोऽनवस्थितपल्य सर्षपभृत परिकल्प्यते , अत एवायमनवस्थितपल्य उच्यते , अवस्थितपल्यरूपाभावात् ,

पुनः सोऽप्युत्क्षिप्यैकैकसर्षपक्रमेण द्वीपसमुद्रेषु प्रक्षिप्यते, शलाकापल्ये च तृतीया शलाका प्रक्षिप्यत, ते च सर्षपा प्रक्षिप्यमाणा यत्र द्वीपे समुद्रे वा निष्ठितास्तत्पर्यवसानः पूर्वेण सह बृहत्तमोऽनवस्थितपल्यः सर्षपभृत. परिकल्प्यते। पुनः सोऽप्युत्क्षिप्य तेनैव क्रमेण द्वीपसमुद्रेषु प्रक्षिप्यते, शलाकापल्ये च चतुर्थी शलाका प्रक्षिप्यते, एवं यथोत्तरं वृद्धस्यानवस्थितपल्यस्य भरणरिक्तीकरणक्रमेण तावद् वाच्यं यावदेकैकशलाकाप्रक्षेपेण शलाकापल्यो भ्रियते, अपरां शलाकां न प्रतीच्छति, ततोऽनवस्थितपल्यो भृतोऽपि नोत्क्षिप्यते,किंतु शलाकापल्य एवोद्ध्रियते,अयमप्यनवस्थितपल्याक्रान्तक्षेत्रात्परत एकैकसर्षपक्रमेण द्वीपसमुद्रेषु प्रक्षिप्यते, यदा च निष्ठितो भवति तदा प्रतिशलाकापल्यलक्षणे तृतीये पल्ये प्रथमा प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्य. समुत्क्षिप्य शलाकापल्ये निष्ठास्थानात्परतस्तेनैव क्रमेण निक्षिप्यते, निष्ठिते च तस्मिन् शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्यते, इत्थ पुनरप्यनवस्थितपल्यपूरणरेचनक्रमेण शलाकापल्यः शलाकानां भ्रियते , ततोऽनवस्थितशलाकापल्ययोर्भृतयोः शलाकापल्य एवोत्क्षिप्य पूर्वोक्तक्रमेणैव निक्षिप्यते, प्रतिशलाकापल्ये च द्वितीया प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्य समुद्धृत्य शलाकापल्यनिष्ठास्थानात्परतस्तेनैवन्यायेन प्रक्षिप्यते, शलाकापल्ये च शलाका प्रक्षिप्यते, एवमनवस्थितपल्यस्योत्क्षेपप्रक्षेपक्रमेण शलाकापल्य. शलाकाना भरणीय.। शलाकापल्यस्य तूत्क्षेपप्रक्षेपविधिना प्रतिशलाकापल्यः प्रतिशलाकाना पूरणीय , यदा च प्रतिशलाकापल्य शलाकापल्योऽनवस्थितपल्यश्च त्रयोऽपि भृता भवन्ति तदा प्रतिशलाकापल्य एवोत्क्षिप्य द्वीपसमुद्रेषु तथैव प्रक्षिप्यते , निष्ठिते च तस्मिन् महाशलाकापल्ये प्रथमा महाशलाका प्रक्षिप्यते, तत. शलाकापल्य उत्क्षिप्य तथैव प्रक्षिप्यते, प्रतिशलाकापल्ये च प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते , ततोऽनवस्थितपल्य उत्क्षिप्य तथैव प्रक्षिप्यते , शलाकापल्ये च शलाका प्रक्षिप्यते, एवमनवस्थितपल्योत्क्षेपप्रक्षेपक्रमेण शलाकापल्यो भरणीय', शलाकापल्योद्धरणविकिरणविधिना प्रतिशलाकापल्य. पूरणीय , प्रतिशलाकापल्योत्पाटनप्रक्षेपणाभ्या महाशलाकापल्य. पूरयितव्य.। यदा तु चत्वारोऽपि परिपूर्णा भवन्ति तदोत्कृष्टं सख्येयक रूपाधिक भवति । इह यथोक्तेषु चतुर्षु पल्येषु ये सर्षपा ये चानवस्थितपल्यशलाकापल्यप्रतिशलाकापल्योत्क्षेपप्रक्षेपक्रमेण द्वीपसमुद्रा व्याप्ता एतावत्संख्यमुत्कृष्टसंख्येयकमेकेन सर्षपरूपेण समधिकं सम्पद्यत इति भाव । एतावद्भिश्च सर्षपैरसलप्या लोकाः ? शलाकापल्यलक्षणा भ्रियन्त एवेति सूत्रमविरोधेन भावनीयम् । इदं च तावदुत्कृष्ट सख्येयकम् , जघन्य तु द्वौ, जघन्योत्कृष्टयोश्चान्तराले यानि सख्यास्थानानि तत्सर्वमजघन्योत्कृष्टम् , आगमे च यत्र क्वचिदविशेषितं सख्येयकग्रहणं करोति तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टं द्रष्टव्यम्। इदं चोत्कृष्टं सख्येयकमित्थमेव प्ररूपयितुं शक्यते, शीर्षप्रहेलिकान्तराशिभ्योऽतिबहूनां समातिक्रान्तत्वात् प्रकारान्तरेणाख्यातुमशक्यत्वादिति । उक्त त्रिविध सख्येयकम्। अनु०। (* 'लोक' शब्दो द्रष्टव्य.)

सम्प्रति संख्येयकादिद्वारं प्रचिकटयिषुराह—

संखिज्जेगमसंखं, परित्तजुत्तनियपयजुयं तिविहं।
एवमणंतं पि तिहा, जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥ ७१ ॥

एतावन्त एत इति संख्यानं संख्येयम् "य एच्चातः" (५-१-२८) इति यप्रत्ययः। तच्चैकमेकमेव भवति नापरे असंख्येयादेरिव परीत्ताद्यो मूलभेदस्वरूपा भेदा अस्य विद्यन्त इति भावः। न संख्यामर्हतीत्यसंख्य "दण्डादिभ्यो यः" (६-४-१७६) इति यप्रत्यय.। असंख्येयक तत्पुन. परीत्तं च युक्तं च निजपदं स्वकीयपदमसंख्येयकलक्षणम्, तच्च परीत्तयुक्तनिजपदानि च तैर्युक्तं-समन्वितं सत्। किमित्याह—त्रिविधं-त्रिप्रकारं भवति। यथा—परीत्तासंख्येयक, युक्तासंख्येयकम्, असंख्यातासंख्येयकमित्युक्त त्रिधाऽसंख्येयकम्॥ अधुना त्रिविधमनन्तकमाह—'एवमणंतं पि तिह' त्ति एवमनेनानन्तरप्रदर्शितप्रकारेण परीत्तयुक्तनिजपदयुक्तलक्षणेनानन्तमपि—अनन्तकमपि न केवलमसंख्येयकमित्यपि—शब्दार्थः। त्रिधा त्रिप्रकारं वेदितव्यम्, तद्यथा—परीत्तानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अनन्तानन्तकमित्येवमेतानि समुदितानि सप्तापि पदानि पुनरेकैकशस्त्रिरूपाणि भवन्तीति दर्शयितुमाह—"जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे" त्ति प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययाज्जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि-जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि सर्वाणि—समस्तानि एकैकश. सप्तापि पदानि वेदितव्यानीत्यर्थ.। तथाहि—जघन्यसंख्येयकं, मध्यमसंख्येयकम्, उत्कृष्टसंख्येयकम्। तथा जघन्यपरीत्तासंख्येयकं, मध्यमपरीत्तासंख्येयकम्, उत्कृष्टपरीत्तासंख्येयकम्। जघन्ययुक्तासंख्येयकं, मध्यमयुक्तासंख्येयकम्, उत्कृष्टयुक्तासंख्येयकम्। जघन्यासंख्यातासंख्येयक, मध्यमासंख्यातासंख्येयकम्, उत्कृष्टासंख्यातासंख्येयकम्। तथा जघन्यपरीत्तानन्तकं, मध्यमपरीत्तानन्तकम्, उत्कृष्टपरीत्तानन्तकम्, जघन्ययुक्तानन्तकं, मध्यमयुक्तानन्तकम्, उत्कृष्टयुक्तानन्तकम्। जघन्यानन्तानन्तकं, मध्यमानन्तानन्तकम्, उत्कृष्टानन्तानन्तकम्। तदेव संख्यातकं त्रिधा, असंख्यातमनन्तकं च नवधा भवतीति ॥ ७१ ॥

तदेव संख्येयकादिभेदप्ररूपणामात्रं कृत्वा विस्तरतस्तत्स्वरूपं निरूपयिषु संख्यातक त्रिधेति यदुद्दिष्टं तद्विवृण्वन्नाह—

लहु संखिज्जं दुच्चिय, अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुयं।
जंबुदीवपमाणय, चउपल्लपरूवणाइ इमं ॥ ७२ ॥

इहैकको गणनसंख्या न लभते, यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते, नैकसंख्याविषयत्वेन। अथवा-दानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयति, अतोऽसंव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसंख्यां लभते, तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनसंख्या। अत एवाह—संख्येयं संख्यातकं लघु जघन्यं ह्रस्वं, चियशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादा. प्राकृतलक्षणे—"णइ चेव चिय च अवधारणे" (८-२-८४) द्वावेव, नैकः पूर्वोदितयुक्तेः। अत. परेतस्माद् द्विकभूतजघन्यसंख्यातकादूर्ध्वं, मध्यमं तु-संख्यातकं, पुनस्त्रिचतुरादिकमनेकप्रकारं भवति। कियद् दूरं यावन्मध्यमं भवतीत्याह—'जा गुरुयं' ति यावदित्यवधौ गुरुकमुत्कृष्टं सर्वोपरिवर्ति संख्यातकं प्राप्नोति इति शेषः। अथेदमेव गुरुकं संख्यातकं कथं विज्ञेयमित्याह—इदमधुनैव वक्ष्यमाणस्वरूपं गुरुकं संख्यातकं ज्ञेयमिति शेष.। कथा? जम्बूद्वीपप्रमाणचतुष्पल्य(प्र)रूपणया जम्बूनाम्ना वृक्षेणोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्तेन जम्बूद्वीपेन प्रमाणमियत्तावधारणं येषा ते जम्बूद्वीपप्रमाणकास्ते च ते चत्वार-श्चतुःसंख्याः पल्याश्च धान्यपल्या इव जम्बूद्वीपप्रमाणकचतुष्पल्यास्तेषां प्रकृष्टरूपा प्ररूपणा व्यावर्णना तया। एतदुक्तं भवति। यथा-जम्बूद्वीपो लक्षयोजनप्रमाण एवमेतेऽप्यायामविष्कम्भाभ्यां प्रत्येकं लक्षयोजनप्रमाणा वृत्ताकारत्वाच्च परिधिना—"परिहीति लक्ख सोलस, सहस्स दो य सयसत्तवीसहिया। कोसतिय अट्ठवीसं, धणुसयतेरंगुलद्धहियं ॥१॥" इति गाथाभिहितप्रमाणोपेताः। उक्तं च श्रीमदनुयोगद्वारसूत्रे—"जहन्नयं संखिज्जय किच्चिरं होइ? दो रूवाइं तेण परं अजहन्नमणुक्कोसय ठाणाइ जाव उक्कोसयं संखिज्जयं न व पावइ। उक्कोसयं संखिज्जयं किच्चिरं होइ?, उक्कोसयस्स संखिज्जयस्स परूवण करिस्सामि, से जहानामए पल्ले सिया एगं जायणसयसहस्सं आयामविक्खंभेण तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेण" ततो जम्बूद्वीपप्रमाणचतुष्पल्यप्ररूपणयेदमुत्कृष्टसंख्यातकं प्ररूपयिष्यत इति भावः॥७२॥

अथैते चत्वारोऽपि पल्याः किनामान इत्येतदाह—

पल्लाणवट्ठियसला—गपडिसलागमहासलागक्खा।
जोयणसहसोगाढा, सवेइयंता ससिहभरिया ॥ ७३ ॥

धान्यपल्य इव पल्या' कल्प्यन्ते, ते च जम्बूद्वीपप्रमाणा. किंनामान इत्याह-'अणवट्ठिये' त्यादि यथोत्तरं वर्धमानस्वभावतयाऽवस्थितरूपाभावादनवस्थित एवोच्यते। तथेह शलाका-एकैकसर्षपप्रक्षेपलक्षणास्ताभिः शलाकाभिर्भ्रियमाणत्वात्पल्योऽपि शलाका। तथा प्रतिशलाकाभिर्निष्पन्नत्वात्प्रतिशलाका, महाशलाकाभिर्निर्वृत्तत्वान्महाशलाका। तत एषां द्वन्द्वेऽनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहालाकास्ता इत्थम्भूता आख्या सज्ञा येषां तेऽनवस्थितशलाकाप्रतिशलाका—महाशलाकाख्या'। त एव विशिष्यन्ते—योजनसहस्रं तु व्यवगाढा। इदमुक्त भवति-रत्नप्रभायाः पृथिव्या. प्रथम योजनसहस्रप्रमाण रत्नकाण्डं भित्त्वा द्वितीये वज्रकाण्डे प्रतिष्ठिता इति। पुनस्त एव विशिष्यन्ते-'सवेइयंत' त्ति वज्रमय्या अष्टयोजनोच्छ्रायाश्चत्वार्यष्टौ द्वादश योजनान्युपरि मध्याधोविस्तृताया जम्बूद्वीपनगरप्राकारकल्पाया जगत्या द्विगव्यूतोच्छ्रितेन पञ्चधनु.शतविस्तृतेन नानारत्नमयेन जालकटकेन परिक्षिप्ताया उपरिवेदिकेति, पद्मवरवेदिकेत्यर्थः। द्विगव्यूतोच्छ्रिता पञ्चधनुःशतविस्तीर्णा गवाक्षहेमकिङ्किणीजालघण्टायुक्ता देवानामासनशयनमोहनविविधक्रीडास्थानमुभयतो वनखण्डवती तस्या अन्त.-पर्यवसानमग्रभाग इति यावत् वेदिकान्त., ततश्च सह वेदिकान्तेन वर्तन्त इति सवेदिकान्ताः। ते च कथं सर्षपैर्भृ-

ता इत्याह-'ससिहभरिय' त्ति सह शिखयोच्छ्रयलक्षणया वर्तन्त इति सशिखा', ततः सशिखं यथाभवति तथा सर्षपैर्भृताः—पूरिताः सशिखभृता' कर्तव्या इति शेष. । अयमत्राशयः-एतेषां व्यावर्णितस्वरूपाणां चतुर्णामपि पल्यानां मध्याद्यो यथावसरं सर्षपैः पूर्यते तं योजनसहस्रावगाढादूर्ध्वं समधिकाष्टयोजनोच्छ्रितवेदिकान्तं पूरयित्वा तदुपरि तावच्छिखा वर्द्धनीया यावदेकोऽपि सर्षपो नावतिष्ठन इति । अत्र सर्वे सवेदिकान्ताः सशिखभृताश्च कर्त्तव्या इति सामान्योक्तावपि प्रथममनवस्थितपल्य एव भृतः करणीयः, शेषास्तु यथावसरमेवेति मन्तव्यमिति ॥ ७३ ॥

अधुना तस्यानवस्थितपल्यस्य जम्बूद्वीपप्रमाणस्य सर्षपैर्भृतस्य यद्विधेय तदाह—

ता दीवुदहिसु इक्कि-क्कसरिसवं खिविय निट्ठिए पढमे ।
पढमं व तदंतं चिय, पुण भरिए तम्मि तह खीणे ॥७४॥

तत. सर्षपभरणादनन्तरमसत्कल्पनया केनचिद्देवेन दानवेन वा वामकरतले धृत्वा द्वीपोदधिषु द्वीपसमुद्रेषु एकैक सर्षपं-सिद्धार्थं क्षिप्त्वा निष्ठितेऽन्तर्भूते, अथवा-निष्ठापिते रिक्तीकृते प्रथमेऽनवस्थितपल्ये, कोऽर्थ' ? एक सर्षपं द्वीपे प्रक्षिपति , एकमुदधौ , पुनरप्येक द्वीपे , एकमुदधौ , एवं प्रतिद्वीपं प्रत्युदधि चैकैक सर्षपं प्रतिक्षिपन्नसौ देवो वा दानवो वा तावद्गतो यावदनवस्थितपल्यो निष्ठितो भवति । तत किं विधेयमित्याह-'पढमं वे' त्यादि द्वीपे समुद्रे-वा यत्रासावनवस्थितपल्यो निष्ठितो भवति तदन्तं 'चिय'त्ति स एवानवस्थितपल्यस्य निष्ठाकारी द्वीप. समुद्रो वाऽन्त. पर्यवसानप्रमाणतया यस्य द्वितीयानवस्थित पल्यस्य स तदन्तस्तं द्वितीयानवस्थितपल्यप्रमाणाभिधायकं विशेषणमिदम् , ततस्तदन्तमेव च्चियशब्दस्यावधारणार्थत्वाद्विस्तीर्ण तया तावत्प्रमाणमेवेत्यर्थ । प्रथममिवाद्यपल्यमिवेत्युपमानेन द्वितीयमनवस्थितपल्यमपि सहस्रयोजनावगाढमष्टयोजनोच्छ्रितजगत्युपरिवेदिकोपशोभितं सशिख सर्षपैर्भृत कुर्यादिति सूचयति । तत. प्रथमानवस्थितपल्यमिव तदन्तमेव पुनर्भूयो भृतैः सर्षपै पूरिते तस्मिन् द्वितीयानवस्थितपल्ये तथा तेन प्रकारेण निक्षिप्तचरमसर्षपद्वीपादेरग्रत एक. सर्षपो द्वीपे, एक समुद्र , इत्यादिना क्षीणे निष्ठिते सति द्वितीयानवस्थितपल्ये ।

तत. किं विधेयमित्याह—

खिप्पे सलागपल्ले, गुसरिसवो इय सलागखवणेणं ।
पुन्नो वीओ य तओ, पुव्विं पिव तम्मि उद्धरिए ॥७५॥

क्षिप्यते-निधीयते शलाकापल्ये द्वितीये शलाकासंज्ञक एकसङ्ख्य एव सर्षप , स च नानवस्थितपल्यसत्क., किं त्वन्य एवेत्यवसीयते, ' पुण भरिए तम्मि तह खीणे' इति सूत्रावयवस्य सामस्त्यरिक्तीकरणप्रतिपादनपरत्वात् । अन्ये त्वनवस्थितपल्यसत्क एव क्षिप्यते इत्याचक्षते । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति । आह-किमिति द्वितीयपल्य एव निष्ठिते सत्येकस्य सर्षपस्य शलाकापल्ये प्रक्षेपणमभिहितं यावता प्रथमपल्येऽपि निष्ठिते तत्रैकस्य सर्षपस्य प्रक्षेपो युज्येन इति ? , तदयुक्तम् , अभिप्रायापरिज्ञानात् , यतोऽनवस्थितपल्यस्य शलाकाभिरेवासौ पूरणीयः, प्रथमश्च लक्षयोजनविस्तृतत्वेनावस्थितपरिणामतयाऽनवस्थित एव न भवतीत्यतो द्वितीयाद्यनवस्थितपल्यशलाका एव तत्र प्रक्षेपमर्हन्तीति । न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम् , यदुक्तमनुयोगद्वारेषु—" से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए तओ णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीवसमुद्दाण उद्धारे घिप्पइ एगे दीवे एगे समुद्दे, एगे दीवे एगे समुद्दे एवं खिप्पमाणेहिं खिप्पमाणेहिं जावइया णं दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुन्ना एस ण एवइए खित्ते पल्ले आइट्ठे से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए तओ ण तेहिं सिद्धत्थएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ एगे दीवे एगे समुद्दे एगे दीवे एगे समुद्दे एवं खिप्पमाणेहिं खिप्पमाणेहिं जावइयाणं दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुन्ना एस णं एवइए खित्ते पल्ले पढमा सलागा " इति । यश्च " पल्लाणवट्ठिए " इत्यादिना गाथाया प्रथमस्यानवस्थितव्यपदेशोऽसौ योग्यतामात्रेण राज्यार्हकुमारस्य राजव्यपदेशवत् द्रष्टव्यः । ' इय सलागखवणेण पुन्नो वीओ य त्ति ' इत्यमुना पूर्वप्रदर्शितशलाकाक्षपणप्रकारेण द्वितीयश्च शलाकापल्य पूर्णो भृतो,भवति सशिख इति यावत् । इयमत्र भावना—ततो यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा स एष द्वितीयपल्यो निष्ठा गतस्तदन्ता मूलत सर्वेऽपि ये द्वीपसमुद्रास्तावत्प्रमाण. पुनरन्य. पल्य. परिकल्प्यते पूर्ववत् सर्षपैः पूर्यते, ततस्त तावत्प्रमाण पल्यमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात् परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत् , यावदसौ निष्ठितो भवति । ततो द्वितीया शलाका सर्षपरूपा शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते- ततोऽपि यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा स एष तृतीयोऽनवस्थितपल्यो निष्ठितस्तदन्ता मूलत सर्वेऽपि ये द्वीपसमुद्रास्तावत्प्रमाण पुनरन्य पल्य परिकल्प्यते पूर्ववत् सर्षपैरापूर्यते, ततस्तं तावत्प्रमाण पल्यमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात्परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत् , यावदसौ निष्ठितो भवति । ततस्तृतीया सर्षपरूपा शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते, एवमनेन क्रमेण पुन' पुनरनवस्थितपल्यस्य सर्षपभरणरिक्तीकरणलब्धैकैकसर्षपरूपाभि. शलाकाभि' शलाकापल्यो यथोक्तप्रमाण. सशिखाकस्तावत्पूरयितव्यो यावत्तत्रैकोऽप्यन्य. सर्षपो न मातीति । ' वीओ य ' त्ति इत्यत्र चशब्दात्पूर्वपरिपाट्यागतोऽनवस्थितपल्य. सर्षपैरापूरणीय' । तत किं विधेयमित्याह-'तओ पुव्व पिव तम्मि उद्धरिए' त्ति तत. शलाकापल्यपूर्वपरिपाट्यागतानवस्थितपल्यापूरणानन्तरं पूर्ववत्तस्मिन् शलाकापल्ये उद्धृते सति ।

खीणे सलाग तइए, एवं पढमेहिँ वीययं भरसु ।
तेहिं तइयं तेहि य,तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६ ॥

क्षीणे च निर्लेपे सति सर्षपरूपा शलाका तृतीये प्रतिशलाकापल्ये प्रक्षिप्यते इतीयमक्षरगमनिका । भावार्थस्त्वयम्-तत शलाकापल्यापूरणानन्तर तं शलाकापल्य वामकरतले कृत्वा पूर्वानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद्-द्वीपात् समुद्राद्वा परत प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्रं चैकैक सर्षपं प्रतिक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति । तत प्रतिशलाकापल्ये सर्षपरूपा प्रथमा प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनन्तरोक्तोऽनवस्थितपल्य उत्पाट्य-

ते, ततः शलाकापल्यसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत्, यावदसौ निःशेषतो रिक्तो भवति। ततः शलाकापल्ये पुनरपि सर्षपरूपा एका शलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनन्तरोक्तानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्तो द्वीपः समुद्रो वा यस्तदन्तमनवस्थितपल्यसर्षपैर्भृत्वा ततः परतः पुनरप्येकैकं सर्षपं प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च प्रक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति, ततो द्वितीया शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते। एवमपरापरानवस्थितपल्यापूरणरिक्तीकरणलब्धैकैकसर्षपैर्यदा शलाकापल्य आपूरितो भवति पूर्वपरिपाट्या चानवस्थितपल्यस्तदा शलाकापल्यमुत्पाट्य प्राक्तनानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्रं चैकैक सर्षपं प्रक्षिपेत्, यावदसौ निर्लेपो भवति। ततः प्रतिशलाकापल्ये द्वितीया शलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्यमुत्पाट्यानन्तररिक्तीकृतशलाकापल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत्, यावदसौ निष्ठितो भवति। तत. पुनरपि शलाकापल्ये सर्षपरूपा शलाका प्रक्षिप्यते, यत्र चासौ द्वीपे समुद्रे वा निष्ठितस्तावत्प्रमाणविस्तरात्मकमनवस्थितपल्यं सर्षपैरापूर्य ततः परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षप प्रक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति। ततः शलाकापल्ये द्वितीया शलाका सर्षपरूपा प्रक्षिप्यते, एवमनेन क्रमेण तावद्वक्तव्यं यावत् त्रयोऽपि प्रतिशलाकापल्यशलाकापल्यानवस्थितपल्याः परिपूर्णमापूरिता भवन्ति। ततः प्रतिशलाकापल्यमुत्पाट्य निष्ठितस्थानात्परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रमेकैकं सर्षप प्रक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति। ततो महाशलाकापल्य एका सर्षपरूपा शलाका प्रक्षिप्यते, ततः शलाकापल्यमुत्पाट्य प्रतिशलाकापल्यगतचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रमेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति। ततः प्रतिशलाकापल्ये प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्यमुत्पाटयेत्, उत्पाट्य च शलाकापल्यगतचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात्समुद्राद्वा परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपंस्तावद्गच्छेद्यावदसौ निःशेषतो रिक्तो भवति। ततः शलाकापल्ये प्रथमा शलाका प्रक्षिप्यते। ततोऽनन्तरोक्तानवस्थितपल्यगतचरमसर्षपाक्रान्तो द्वीप. समुद्रो वा यस्तत्पर्यन्तविस्तरात्मकोऽनवस्थितपल्य. कल्पयित्वा सर्षपैरापूर्यते, ततस्तं समुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात्परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद्यावदसौ (निष्ठितो) निर्लेपो भवति। ततो द्वितीया शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते, एवं शलाकापल्य आपूरणीयः। एवमापूरणोत्पाटनप्रक्षेपपरम्परया तावद्वक्तव्यं यावन्महाशलाकापल्यप्रतिशलाकापल्यशलाकापल्यानवस्थितपल्याः सर्वेऽपि परिपूर्णशिखायुक्ताः समापूरिता भवन्ति। एतदेव निगमयन्नाह-'एवं पढमेहिं' इत्यादि, एवमनेन प्रदर्शितक्रमेण प्रथमैरनवस्थितपल्यैर्द्वितीयमेव द्वितीयकं शलाकापल्यं भरस्व—पूरय, तैश्च द्वितीयस्थानवर्तिभिः शलाकापल्यैस्तृतीयं प्रतिशलाकापल्यं भरस्व, तैश्च प्रतिशलाकापल्यै., तुर्यम्—चतुर्थ महाशलाकापल्यं तावद्भरस्व यावत् 'किलेत्याप्तागमवादसंसूचक.' स्फुटा व्याप्ता. सशिखा भृता इति यावच्चत्वारश्चतुःसंख्याः अनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्या. पल्या भवन्तीति।

ततश्चतुर्णां पल्यानां पूर्णत्वे यत्सम्पद्यते तदाऽऽह-

पढमतिपल्लुद्धरिया, दीवुदहीपल्लचउसरिसवाए य।
सव्वो वि एगरासी, रूवूणो परमसंखिज्जं ॥ ७७ ॥

प्रथमम्-आद्यं यत्त्रिपल्यं-पल्यत्रयमनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकाख्यं तेनोद्धृता एकैकसर्षपप्रक्षेपेण व्याप्ताः प्रथमत्रिपल्योद्धृता, क एत इत्याह—द्वीपोदधयो, न केवलं द्वीपोदधयः पल्यचतुष्कसर्षपाश्च, किं भवतीत्याह—सर्वोऽपि—समस्तोऽप्येषोऽनन्तरोक्तः-सर्षपव्याप्तद्वीपसमुद्रपल्यचतुष्कगतः सर्षपलक्षणो राशिः सघातो रूपोनः-एकेन सर्षपरूपेण रहितः सन् परमसंख्येयमुत्कृष्टसंख्यातकं भवतीति। तदेव तावदिदमुत्कृष्टसंख्येयकम्, जघन्यं तु द्वौ, जघन्योत्कृष्टयोश्चान्तराले यानि संख्यास्थानानि सर्वाणि मध्यमं संख्येयकमिति सामर्थ्यादुक्तं भवति। सिद्धान्ते यत्र क्वचित् संख्यातग्रहणं करोति तत्र सर्वत्रापि मध्यमं संख्येयकं द्रष्टव्यम्। यदुक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ-"सिद्धन्ते य जत्थ जत्थ संखिज्जगगहणं, तत्थ तत्थ अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं ति"। इदं चोत्कृष्टं संख्येयकमित्थमेव प्ररूपयितुं शक्यते, द्विकादिदशशतसहस्रलक्षकोट्यादिशीर्षप्रहेलिकान्तराशिभ्योऽतिबहुना समतिक्रान्तत्वेन प्रकारान्तरेणाख्यातुमशक्यत्वात्। यदाहु' प्रसिद्धसिद्धान्तसन्दोहविवरणप्रकरणकरणप्रमाणप्रथनावाप्तसुधांशुधामधवलयश.प्रसरधवलितसकलवसुन्धरावलयश्रीहरिभद्रसूरिपादा अनुयोगद्वारटीकायाम्-" जंबुद्दीवप्पमाणमेत्ता चत्तारि पल्ला। पढमो अणवट्ठियपल्लो, बीओ सलागापल्लो, तईओ पडिसलागापल्लो, चउत्थओ महासलागापल्लो। एए चउरो वि रयणप्पहपुढवीए पढमं रयणकंडं जोयणसहस्सावगाहं भित्तूण विइए वयरकंडे पइट्ठिया इमा ठवणा(oooo)एए ठविया। एगो गणणं न उवेइ दुप्पभिई संखं ति काउं, तत्थ पढमे अणवट्ठियपल्ले दो सरिसवा पक्खित्ता एयं जहन्नगं संखिज्जगं। ततो एगुत्तरवुड्ढीए तिन्नि चउरो पंच ० जाव सो पुणो अन्नसरिसवं न पडिच्छइ त्ति ताहे असब्भावट्ठवणं पडुच्च वुच्चति। तं को वि देवो दाणवो उक्खित्तं वामकरयले काउं ते सरिसवे जंबुद्दीवाइ (ए) एगं दीवे एगं समुद्दे पक्खिविज्जा ० जाव निट्ठिया। ताहे सलागापल्ले एगो सरिसवो छूढो जत्थ निट्ठिओ तेण सह आरिल्लएहिं दीवसमुद्देहिं पुणो अन्नो पल्लो आइज्जइ, सो वि सरिसवाणं भरिओ। तओ परओ एक्केक्कं दीवसमुद्देसु पक्खिवंतेण निट्ठाविओ, तओ सलागापल्ले विइया सलागा पक्खित्ता। एवं एएणं अणवट्ठियपल्लकरणक्कमेण सलायग्गहणं करेंति, तेण सलागापल्लो सलागाण भरिओ कमागतो अणवट्ठियओ वि तओ सलागापल्लो सलागं न पडिच्छइ त्ति काउं सो चेव निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण उक्खित्तो पक्खित्तो निट्ठिओ य तओ पडिसलागापल्ले पढमा सलागा छूढा। तओ अणवट्ठिओ उक्खित्तो निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण पक्खित्तो निट्ठिओ य। तओ सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता, एवं अणेणं अणेणं अणवट्ठिएण आरिक्किनीकरतेण जाहे पुणो सलागापल्लो भरिओ

अणवट्ठिओ य, ताहे पुणो सलागापल्लो उक्खित्तो प-क्खिप्पमाणो निट्ठिओ य पुव्वक्कमेण, ताहे पडिसलागा-पल्ले बिइया पडिसलागा छूढा। एवं आइरणनिक्किरणेण जाहे तिन्नि वि पडिसलागसलागअणवट्ठियपल्लो य भरि-ओ ताहे पडिसलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो नि-ट्ठिओ य ताहे महासलागापल्ले पढमा सलागा छूढा। ताहे सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य, ताहे पडिसलागापल्ले सलागा पक्खित्ता ताहे अणवट्ठि ओ उक्खित्तो पक्खित्तो य, ताहे सलागापल्ले सलागा प-क्खित्ता। एवं आइरणनिक्किरणकमेण ताव कायव्व जाव प-रम्परेण महासलागपडिसलागसलागअणवट्ठियपल्लो य च उरो वि भरिया। ताहे उक्कोसमइच्छियं, इत्थ जावइया अ-णवट्ठियपल्लसलागपल्लपडिसलागपल्लेण य दीवसमुद्दा उ-द्धरिया, जे उ चउपल्लट्ठिया सरिसवा एस सव्वो वि एत-प्पमाणो रासी एगरूवूणो उक्कोसयं संखिज्जयं हवइ, ज-हन्नुक्कोसट्ठाणमज्झे जे ठाणा ते सव्वे पत्तेयं अजहण्णमणु-क्कोसया संखिज्जया भणियव्वा। सिद्धंते य जत्थ जत्थ स-खिज्जगहणं कय तत्थ तत्थ सव्वं अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं। एवं संखेज्जगे परुविए सीसो पुच्छइ-भगव! किमेएणं अण-वट्ठियपल्लसलागपडिसलागाईहि य दीवसमुद्दुद्धारगहणेण य उक्कोससंखिज्जपरूवणा किज्जइ?, गुरू भणइ-नऽत्थि अन्नो संखिज्जगस्स परूवणोवाओ त्ति" ॥७७॥ कर्म० ४ कर्म०।

संखेज्जवित्थड–संख्येयविस्तृत–त्रि०। संख्येययोजनप्रमाण विस्तृत विस्तारो येषा ते। संख्येययोजनप्रमाणविस्तृतेषु, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

संखेव–संक्षेप–पुं०।सक्षेपणं संक्षेपः। विशे०।समासे,स्था०४ठा० ३ उ०। आचा०। संग्रहे, उत्त० २८ अ०। स्था०। अवान्तर-भेदापरिग्रहे, नयो०। विस्ताराभवे, ग०१ अधि० आ० म०। समन्ताद् दुष्कर्मणा क्षेपो यत्र सः सक्षेप'। स्तोकाक्षरे सामा-यिके,द्वादशाङ्गार्थपिण्डनात्, (आ० क० १ अ०) तत्र महार्थ-स्याप्यस्य स्तोकाक्षरत्वात्। विशे०।

अथ संक्षेपे आत्रेयकथा—

"नगर्यां श्रीविशालायां, जितशत्रुर्महीपति'।
ऋषयस्तत्र चत्वार, स्वस्वशास्त्राणि चक्रिरे ॥ १ ॥
उपेत्याहुर्नृपं सर्वे, राजन्! शास्त्राणि न शृणु।
राजोचे मानमेषां किं, लक्षालक्षेति तेऽभ्यधु ॥ २ ॥
सोऽवदन्न क्षमः श्रोतुं, राज्यं सीदति मे यत।
संक्षिपद्भिस्तत सर्वै-रर्द्धार्द्धादि क्रमेण तै.॥ ३ ॥
यावच्चतुर्भिरप्येक, श्लोकश्चक्रे स चैपक —
जीर्णे भोजनमात्रेय' कपिल. प्राणिनां दया।
बृहस्पतिरविश्वास, पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् ॥ ४ ॥
तद्राजाऽप्यशृणोदेव, यस्मिन् सामायिकेऽप्यहो।
चतुर्दशानां पूर्वाणा, संक्षिप्यार्थोऽस्ति पिण्डितः ॥ ५ ॥"

एतदेवाह—

"सयसाहस्सा गंथा, सहस्स पंच य दिविड्ढमेगं वा।
ठाविआ एगसिलोए, संखेवो एस नायव्वो ॥ १ ॥"

तथा—

"जिण्णे भोअणमत्तेओ, कविलो पाणिणं दया।
विहस्सई रविस्सासो, पंचालो थीसु मद्दवं ॥ २ ॥"
आ० क० १ अ०। आ० म०। आ० चू०।

संखेवओ–संक्षेपतः–अव्य०। संक्षिप्तभविकजनानुकम्पायाम्, पं० स० ५ द्वार।

संखेवण–संक्षेपण–न०। संकोचने, गृहशय्यास्थानादेः परतो निषेधरूपे च। ध० २ अधि०। गोचराभिग्रहरूपे संकोचे, प्रव० ६ द्वार।

संखेवपिंडियत्थ–संक्षेपपिण्डितार्थ–पुं०। संक्षेपेण समासेन; सामान्यरूपतयेत्यर्थ', पिण्डित एकत्र मीलितस्तात्पर्यमात्र-व्यवस्थितोऽर्थोऽभिधेय यस्य सः। सक्षिप्तार्थे, पिं०।

संखेवरुइ–संक्षेपरुचि–स्त्री०। संक्षेपः सग्रहस्तत्र रुचिः–संक्षे-परुचिः। उपशमादिपदत्रयविषयिण्यां रुचौ, तद्वति च। त्रि०। ध० २ अधि०। प्रज्ञा०।

संक्षेपरुचिमाह—

अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे,अणभिग्गहिलो य सेसेसु ॥१२५॥

'अणभिग्गहि य' इत्यादि, नाभिगृहीता कुत्सिता दृष्टिर्येन सोऽनभिगृहीतकुदृष्टि', अविशारद प्रवचने-जिनप्रणीते शेषे षु च कपिलादिप्रणीतेषु प्रवचनेषु, अनभिगृहीतो न विद्यते आभिमुख्येन उपादेयतया गृहीतं ग्रहणमस्येत्यनभिगृहीत.। पूर्वमनभिगृहीतकुदृष्टिरित्यनेन परदर्शनान्तरपरिग्रह.। प्रति-षिद्धोऽनेन परदर्शनपरिज्ञानमात्रमपि निषिद्धमिति विशेषः, स इत्थंभूतः संक्षेपरुचिरिति ज्ञातव्यः। प्रज्ञा० १ पद।

संखेवियदसा–संक्षेपिकदशा–स्त्री०। दशाध्ययनप्रतिबद्धे ग्र-न्थविशेषे, स्था०।

संखेवियदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–खु-ड्डिया विमाणपविभत्ती १ महल्लिया विमाणपविभत्ती २ अंगचूलिया ३ वग्गचूलिया ४ विवाहचूलिया ५ अरुणो-ववाते ६ वरुणोववाते ७ गरुलोववाते ८ वेलंधरोववाते ९ वेसमणोववाते १०। (सू० ७५५×)।

संक्षेपिकदशा अप्ययनवगतस्वरूपा एव, तदध्ययनानां पुन-रयमर्थः–'खुड्डिए' त्यादि, इहावलिकाप्रविष्टेतरविमानप्रवि-भजनं यत्राध्ययने तद्विमानप्रविभक्ति, तच्चैकमल्पग्रन्थार्थे तथाऽन्यन्महाग्रन्थार्थमत' क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्महती विमानप्रविभक्तिरिति। अङ्गस्य—आचारादेश्चूलिका—यथाऽऽचारस्यानेकविधा, इहोक्तानुक्तार्थसंग्राहिका चूलि-का, 'वग्गचूलिय' त्ति इह च वर्गः—अध्ययनादिसमूहो यथा अन्तकृद्दशास्वष्टौ वर्गास्तस्य चूलिका वर्गचूलिका। 'विवाहचूलिय' त्ति व्याख्या—भगवती तस्याश्चूलिका व्याख्याचूलिका। स्था० १० ठा० ३ उ०। (अरुणोप-पात इत्यस्य व्याख्या "अरुणोववाय" शब्दे प्रथमभागे ७६६ पृष्ठे गता।)

संखेसरपासणाह-शंखेश्वरपार्श्वनाथ-पुं०। शंखेश्वरपुराधिष्ठिते पार्श्वनाथपरमेश्वरे, प्रति०।

संग-सङ्ग-पुं०। सज्यन्त इति सङ्गाः। मातृपित्रादिसम्बन्धे कर्मोपादानहेतुषु, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। मातापितृपुत्रकलत्रादिजनिते धनधान्यहिरण्यादिजनिते सङ्गे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। प्राणिनामासक्तौ कर्मानुषङ्गे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०। रागद्वेषाभ्यां सम्बन्धे, आ० चा०। पुत्रपौत्रादिजनिते सम्बन्धे, कामानुषङ्गे च। आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। सबाह्याभ्यन्तरसंबन्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। उत्त०। स्था०। सम्पर्के, पञ्चा० २ विव०। परिग्रहे, आ० क० ४ अ०। संगच्छते वशीभवति जीवो यस्मात् स सङ्गः। बन्धने, उत्त० २ अ०। नि० चू०। संगतौ, ध० १ अधि०। ग०।

संगइ-संगति-स्त्री०। मित्रत्वे,ज्ञा०१श्रु०१अ०। सूत्र०। सम्यक् स्वपरिणामेन गतिर्यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा संगतिः। नियतौ,सूत्र०१श्रु०१अ०२उ०। एकत्वे,अष्ट०१५अष्ट०।

संगइय-साङ्गतिक-त्रि०। सङ्गतं विद्यते यस्याऽसौ साङ्गतिकः। परिचिते, स्था० ४ ठा० ३ उ०। सम्यक् स्वपरिणामेन गतिर्यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा सङ्गतिर्नियतिस्तस्यां भवं साङ्गतिकम्। नियतिकृते सुखदुःखादिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

संगझा(गज्झा)ण-संगध्यान-न०। सङ्गे परित्यक्तेऽपि पुनः सङ्गध्याने राजीमत्यां रथनेमेरिव नागिलां प्रति भवदेवस्येव वा ध्याने, आतु०।

संगंथ-संग्रन्थ-पुं०। स्वजनस्याऽपि स्वजने पितृव्यपुत्रश्यालादिके, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

संगतअ-सङ्गतक-पुं०। दासे, आ० चू० ४ अ०।

संगपरिणा-सङ्गपरिज्ञा-स्त्री०। सङ्गः परिग्रहः तस्य परिज्ञा प्रत्याख्यानम्। सङ्गप्रत्याख्याने, आ० क०।

अत्रोदाहरणम्—

"णयरी अ चंपनामा, जिणदेवे सत्थवाह अहिछत्ता।
अडवी अ तेण अगणी, सावयसंगाण वोसिरणा॥१॥
चम्पाया जिनदेवाख्य, श्रावकः सार्थपोऽभवत्।
प्रतस्थे घोषणापूर्व-महिच्छत्रां पुरी प्रति॥२॥
स भिल्लैर्लुण्ठित सार्थो-ऽनश्यत् श्राद्धोऽटवी ययौ।
पृष्ठे व्याघ्र पुरोवह्नि-रभितोऽभि प्रपा ततः॥३॥
अपश्यन् शरणं सोऽथ, भावलिङ्गं प्रपन्नवान्।
कृतसामायिकः कायो-त्सर्गस्थः श्वापदा हतः॥४॥
अन्तकृत्केवली भूत्वा, सिद्धिसौख्यमवाप सः॥५॥
आ० क० ४ अ०।

संगम-सङ्गम-पुं०। मीलने, दर्श० ४ तत्त्व। नदीमीलके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उत्त०। स्था०। (अत्र सङ्गमस्थविरकथा 'एगचरियापरीसह' शब्दे तृतीयभागे ६ पृष्ठे उक्ता।) शालिभद्रस्यानुत्तरोपपातिकदशोक्तस्य पूर्वभवजीवे स्वनामख्याते वत्सपाले, आव० १ अ०। आ० म०। तथा सङ्गमकसुरः सुरेशेन निष्काशितः स भवधारणीयेन शरीरेण मेरुचूलायां जगामोत्तरवैक्रियेण वेति?, अत्र मौलेनेति विज्ञायते उत्तरवैक्रियस्यैतावत्कालमवस्थानाभावात्, यत्तु मौलं शरीरं विमानाद्बहिर्न निर्गच्छतीति वचस्तत्प्रायिकमिति बोध्यम्। ही० ३ प्रका०।

संगमथेर-सङ्गमस्थविर-पुं०। कोल्लकिनगरे नित्यवासिनि स्वनामख्याते स्थविरे, आव० ४ अ०। आ० चू०। दर्श०। ('णितियवास' शब्दे चतुर्थभागे २०७० पृष्ठे कथोक्ता।)

श्रीसङ्गमसूरिकथा पुनरेवम्—

"इह सिरिसंगमसूरी, दूरीकयसयलगुरुपमायभरो।
अन्नाणदारुदारुणद-बहुयवहसरिससमयधरो॥१॥
पइ समयमुत्तरुत्तर—विसुद्धपरिणामहणियपावोहो।
नगनगरगाममाइसु, नवकप्पपकप्पियविहारो॥२॥
अइतिव्वपवरसद्धा-बसपरिणयसुद्धभावचारित्तो।
जंघाबलपरिहीणो, कुल्लागपुरम्मि विहियठिई॥३॥
वट्टंते दुब्भिक्खे, कयजणदुक्खे कयावि सो भगवं।
पवयणमायापरिपा-लणुज्जय उज्जयविहारं॥४॥
आहिंडिय बहुदेसं, अवधारिय सयलदेसबहुभासं।
सीहं नामऽणगारं, गणाहिवत्ते निरूवेइ॥५॥
भणइ य जइ वि महायस,सयमवि तं पुणसि सयलकरणिज्जं।
आयारु त्ति विचिंतिय, इय वुच्चसि तह वि अम्हेहिं॥६॥
उल्लसिरपवरसद्धो, चरणभरं दुद्धरं धरिज्ज सया।
सीयंत सीसगणं, मिउमहुरगिराहि सारिज्जा॥७॥
जओ—
जीहाए वि लिहंतो, न भद्दओ जत्थ सारणा नऽत्थि।
दंडेण वि ताडंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ॥८॥
जह सीलाई निकतइ, कोई सरणागयाण जंतूणं।
एवं सारणियाणं, आयरिअ असारओ गच्छे॥९॥
तथा—
दव्वाइ अपडिबद्धो, अममो विहरिज्ज विविहदेसेसु।
अनिययविहारया जं, जईण सुत्ते विणिद्दिट्ठा॥१०॥
तथाहि—
अनिए य वासो समुदाण चरिया,
अन्नायउंछं पयरिक्कया य।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य,
विहारचरिया इसिणं पसत्था॥११॥
इच्चाइ कहिय वुत्तो, सो एवं वच्छ विहर,अन्नत्थ।
मा ओमे इत्थ ठिओ, सीसगणो एस सीइज्जा॥१२॥
एगागी वि अहं पुण, पहीणजंघाबलो अबलदेहो।
अनलो विहरिउमन्न-त्थ तो इहं चेव ठाइस्सं॥१३॥
इय भणिय मुणी वुत्ता, वच्छा सच्छा सया सयाकालं।
कुलबहुनाएण इमं, मा मुंचिज्जह कयावि तुमे॥१४॥
तिन्नुच्चिय भवजलही, पयपसाया सुहेण तुब्भेहिं।
संपइ इमिणा सद्धिं,कुणह विहारं महाभागा?॥१५॥
इह सुणिय सुमुणिवइणो,ते मुणिणो सूरिचरणठवियसिरा।

मुंचंता गुरु विरहु-त्थ सो य उत्पन्नअसुभरं ॥ १६ ॥
पडिपुन्नमन्नुभररु-द्ध कंठउट्टिंतगग्गरगिरिल्ला ।
गुरुवयणं पडिकूलिउ, मचयंता दुक्खसंतत्ता ॥ १७ ॥
कहमवि नमिउं गुरुणो, अवराहपए खमाविउं नियए ।
ओमाइदोसरहिए, देसे पत्ता विहारेणं ॥ १८ ॥
संगमगुरू वि खित्तं, नवभागी काउ कायनिरविक्खो ।
वीसुं वसहीगोयर-विचारभूमाइसु जयइ ॥ १९ ॥
सुभिक्खे गुरुपासे कयावि सीहेए पेसिओ दत्तो ।
सो पुव्ववसहिसंठिय-सूरिं दट्ठुं विचिंतेइ ॥ २० ॥
कारणवसा न कीरइ; खित्ते अवरावरे जइ विहारो ।
नवनववसहिविहारो, कीस पएहिं परिचत्तो ॥ २१ ॥
ता एस सिढिलचरणो, खणं पि न खमो इमेण संवासो ।
एवं चिंतिय वीसुं, समीववसहीइ सो ठाइ ॥ २२ ॥
भिक्खासमए गुरुणा, सह हिंडंतो विसिट्ठमाहारं ।
दुब्भिक्खवसा अलहं-तओ य जाओ कसिणवयणो ॥२३॥
त तह निए वि सूरी, कम्मि वि ईसरगिहे गओ तत्थ ।
रेवइदोसेणेगो, सया रुयंतो सिसू अत्थि ॥ २४ ॥
सो दाउ चप्पुडियं, गुरुणा भणिओ य बाल मा रुयसु ।
गुरुतेयं असहंती, झड त्ति सा रेवई नट्ठा ॥ २५ ॥
जाओ बालो सुत्थो, तज्जणगो गहियमोयगं पत्तो ।
गुरुणा करुणानिहिणा, दवाविया ते उ दत्तस्स ॥ २६ ॥
अह मुणिपहुणा भणियं तं गच्छसु दत्तसंपयं वसहिं ।
अहय पि आगमिस्स, पडिपुन्नं काउ समुयाणं ॥ २७ ॥
सड्ढगिहमेगमिमिणा, भिराउमह दंसियं सयं अहुणा ।
सेसेसु गमी दत्तो, इय चिंततो गओ वसहिं ॥ २८ ॥
गुरुणो वि अतपंतं, गहिउं सुचिरेण आगया वसहिं ।
पन्नगविलनाएणं, भुंजति तयं समयविहिणा ॥ २९ ॥
आवस्सयवेलाए, आलोइय सूरिणो समुवविट्ठा ।
सो निसियंता गुरुणा, आलोइसु सम्ममिय वुत्तो ॥ ३० ॥
स भणइ तुब्भेहिं चिय, सह परिभमिओ म्हि किमिहविडयेपि
आह गुरू सिसुविसय सुहुमं नणु धाइपिंड ति ॥ ३१ ॥
दत्तो तओ दुरप्पा, अणप्पसंकप्पकप्पणाभिहओ ।
विंबुकडकडुयगिरा-ई मुणिवर एइ इमं भणइ ॥ ३२॥
राईसरिसवमित्ताणि, परच्छिद्दाणि पिच्छसि ।
अप्पणो विल्लमित्ताणि, पासंतो वि न पाससि ॥ ३३ ॥
इय भणिय गओ एसो, नियवसहिं तयणु तस्स सिक्खत्थं ।
पुरदेवयाइ सिग्घ, विउव्वियं दुद्दिणं गरुयं ॥ ३४ ॥
फुडफुट्टमाणबंभ-डमंडग्घविरसजलहराराव ।
सो निसुणंतो भयभर-खलतवयणो भणइ सूरिं ॥ ३५ ॥
भयवं ! बीहेमि अहं आह गुरुएहि मम सयासम्मि ।
स भणइ तिमिरभरेणं, दिसि विदिसिं नेव पिच्छामि ॥३६॥
दीवमिह व जलंति, नय म्हेलेरं नियंगुलिं काउ ।
दसेऊण य गुरुणा, सो वुत्तो वच्छ ! एहि इओ ॥ ३७ ॥
तं ददठु म दुट्ठप्पा, जंपइ दीवो वि अत्थि किमिमस्स ? ।
तो पच्चक्खीहोउं, एवं वुत्तो स देवीए ॥ ३८ ॥
हा दुट्ठ ! सेह ! निन्नेह, देहगेहाइमुक्कपडिबंधे ।
मुणिनाहम्मि इमम्मि वि, एवं चिंतेसि निल्लज्ज ॥ ३९ ॥
वसहिविहारकमेणं, पुणो वि इत्थट्ठियं सुगुरुमेयं ।
पाविट्ठ ! दुट्ठ धम्मिट्ठ-मन्नसी सिढिलचारित्तं ॥ ४० ॥
हा अंतपंतभोयण-परं पि कप्पेसि मुद्धरसगिद्धं ।
धिद्धी लद्धिसमिद्धं, पि दीवजुत्तं पयंपेसि ॥ ४१ ॥
दव्वाइदोसवसओ, वीयपयट्ठिएं विसुद्धसद्धाए ।
भावचरित्तपवित्ते, किह अवमन्नसि इमे गुरुणो ? ॥ ४२ ॥
इय अणुसिट्ठो सो दे-वयाइसंजायगुरुयअणुतावो ।
गुरुपयलग्गो खामइ, पुणो पुणो नियमवराहं ॥ ४३ ॥
आलोइयाइयारो, दत्तो गुरुदत्तविहियपच्छित्तो ।
विणउज्जुओ सुनिम्मल-चारित्ताराहगो जाओ ॥ ४४ ॥
संगमसूरी वि चिरं, विहिसेवावल्लिपल्लवणमेहो ।
निरुवमसमाहिजुत्तो, सुगइं पत्तो गयकिलेसो ॥ ४५ ॥

इत्थं विशुद्धविधिसेवनतत्परस्य,
श्रीसङ्गमस्य सुगुरोश्चरितं निशम्य ।
द्रव्यादिदोषनिहता अपि साधुलोका ,
श्रद्धां विधत्त चरणे प्रवरा पवित्रे ॥ ४६ ॥ "

इति सङ्गमसूरिकथा। ध० र० ३ अधि० २ लक्ष० ।

संगय–सङ्गत–त्रि० । उपपन्ने, चं० प्र० २० पाहु० । स्था० । ज्ञा० । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गतं सङ्गतम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । जी० । औ० । उचिते, ज्ञा०१श्रु० १ अ० । उपपत्तिभिरबाधिते, प्रश्न० २ संव० द्वार । स० । रा० । व्यासे, द्वा० १७ द्वा० । सङ्गतं—गमनम् । सविलासे चंकमणे, सू० प्र० २० पाहु० । " संगयगयहसियभणियचेट्ठिय " सङ्गतं—सुश्लिष्टं यद्गतं—गमनं हंसगमनवत् हसितं हसनं कपोलविकासि प्रेम सन्दर्शि च भणितं भणनं गम्भीरं मन्मथोद्दीपनं चेष्टितं—चेष्टनम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । विपा० ।

संगयपास–सङ्गतपार्श्व–त्रि० । सङ्गतौ देहप्रमाणोचितौ पार्श्वौ येषा ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । देहप्रमाणोचितपार्श्वेषु, औ० ।

संगयय–सङ्गतक–पुं० । उज्जयिन्यां नगर्यां देविलसुते, आव० ४ अ० । ('सव्वकामविरइ' शब्दे कथा वक्ष्ये ।)

संगर–संगर–न० । समरे, पाइ० ना० । सङ्केते, 'सङ्गर' त्ति सङ्केतोऽभिधीयते । ओघ० ।

संगरिगाफल–साङ्गरिकाफल–न० । बब्बूलफले, सेन० । प्रवचनसारोद्धारस्य तृतीयशतकस्य त्रयस्त्रिंशत्तमगाथायाः 'संगरिगाइम्मि अप्पडिए ' एतत्पदव्याख्याने श्रीआनन्दसूरिणा—सङ्गरिकादौ अपतिते पतिते तु द्विदलदोषसम्भवान्न कल्पते घोलादि इत्युक्तमस्ति, एतदुक्तिबलात् सागरिकाफलं बब्बूलफलमपि द्विदलत्वेन खरतरैरभ्युपगम्यते, आनन्दसूरिश्च वडगच्छीय श्रूयते, तेन तदुक्तं कथमात्मना प्रमाणं नास्तीति ? प्रश्नेऽत्रोत्तरम्–आनन्दसूरिकृतग्रन्थस्तु अद्य यावद् दृष्टो नास्ति, तेन तद्दर्शने तद्विषयविचारो युक्तिमाशान्यथेति ॥ २११ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

संगल–सम् घट्–धा० । संघटने, "समो गलः" ॥ ८।४। ११३ ॥ अनेन सम्पूर्वस्य घटतेर्वैकल्पिको गलादेशः । संगलइ । संघटते । प्रा० ४ पाद ।

संगलिया–सङ्कलिका–स्त्री० । कलिकायाम् , अणु० ।

संगह–संग्रह–पुं० । संग्रहणं संग्रहः । स्वीकरणे,स्था० ८ ठा० ३ उ० । सग्रहो द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतः-आहारोपध्यादीनाम् , भावतः सूत्रार्थौ । व्य० ३ उ० ।

सम्प्रति संग्रहकुशलो व्याख्येयस्ततः संग्रहप्ररूपणार्थमाह-

दव्वे भावे संगहो , दव्वे ऊ उक्खहारमादी उ ।
साहिज्जादी भावे, परूवणा तस्सिमा होइ ॥ १५० ॥

संग्रहो द्विधा–द्रव्ये , भावे च । तत्र द्रव्ये-उक्षादिकः , आहारादिकश्च । उक्षा-बलीवर्दः । भावे भावविषयः साहाय्यादिकस्य भावसंग्रहस्य इयं-वक्ष्यमाणा भवति प्ररूपणा ।

तामेवाह–

साहिज्जवयण वायण–अणुभासण देसकालसंसमरणे ।
अणुकंपणमणुसासण–पूयणमब्भंतरं करणं ॥ १५१ ॥
संभुंजणसंभोगे, भत्तोवहिअन्नमन्नसंवासो ।
संगहकुसल गुणनिही,अणुकरणकारावणनिसग्गो॥१५२

'साहिज्जं' सहायकृत्यकरणं वचनमाभाषितस्य इच्छाकारभणनम्,अथवा-अभिग्रहस्य-गृहीतमौनव्रतस्य वचनविषयेण केनाऽप्याभाषणं कृते तस्योत्तरभणनं वचन ' वायण ' त्ति वाचनया क्लान्ते गुरौ साधूनां ददाति वाचनम् । अनुभाषणं नाम-आचार्येण भाषिते पश्चाद्भाषणं, न पुनः प्रधानीभूयाचार्यभाषणादग्रेऽवभाषते । देशकालसंस्मरणं नाम अस्मिन् देशे अस्मिन् काले च कर्त्तव्यमिदं ग्लानादीनामिति विज्ञाय यद्देशे यत्काले स्मारयत्याचार्याणां ग्लानादीनामनुकम्पनं-दुःखार्त्तस्यानुकम्पाकरणं बालवृद्धासहायान् यथादेशकालमनुकम्पते इति भाव.। (अनुशासनस्य व्याख्या 'अणुसासण' शब्दे प्रथमभागे ४२१ पृष्ठ गता।) पूजनं नाम यथाक्रमं गुर्वादीनामाहारादिसम्पादनविनयकरणम् ,यदि वा-ज्ञानाचारादिषु पञ्चस्वाचारादिषु यथायोगमुपच्छुतामुपबृंहणम् ,अभ्यन्तरकरणं नाम-द्वयोः साध्वोर्गच्छमेदीभूतयोरभ्यन्तरं कुलादिकार्यनिमित्तं परस्परमुल्लपतोस्तृतीयस्याप्युपशृण्वतोऽपि करणम् । अथवा—यद्दिए सदभ्यन्तरे गत्वा तत् गच्छादिप्रयोजनं मूते एतदभ्यन्तरकरणम् । यदि वा-तेन सह ये बाह्यभावं मन्यन्ते तानपि तथाऽनुवर्त्तयति यथा तं तेऽभ्यन्तरमवमन्यन्ते एतदभ्यन्तरकरणम् ॥१५१॥ संभोजनं नाम-सांभोगिकैः सह भोजनसंयोग , 'भत्तोवहीति' यदि भक्तमुपधिं वा संभोगयति । किमुक्तं भवति-यदन्योपकारं भक्तमुपधिं वा समुत्पाद्य तस्मै ददाति ततो गृह्णाति वा तथा ' अन्नमन्न संवासे ' इति सांभोगिकैः परस्परमेकत्र वसनं करोति कुर्यात् संग्रहकुशल. । व्य० ३ उ० । (अन्यदर्थ ' संगहकुसल ' शब्दे वक्ष्यते ।) संगृह्णातीति संग्रहः । सहायत्वे, व्य० ३ उ० । शिष्याणां

श्रुतोपादाने, स्था० ५ ठा० ३ उ० । व्य० । संग्रहणं संग्रहः । व्यसनादौ सहायकरणे , स्था० १० ठा० ३ उ० । शिष्याणां संग्रहणे, प्रश्न० । पं० भा० ।

दव्वे भावे संगहो , दव्वे आहारमादिएहिं तु ।
सिक्खावणमगिलाए, गेलन्ने यावि करणं तु ॥
भावम्मि संगहो खलु, णाणादी तत्तु होति बोधव्वो ।
जह वइयावेउं वा, गच्छं तु उवायकुसले तु ॥
संसारभउव्विग्गो, संविग्गो सोऽवि होति णायव्वो ।
एतेसिं तु पदाणं, चउभंगा होंति एक्केके ॥
तदुभयविसारदो खलु, न संगहे कुसलो एत्थ चउभंगो॥
तदुभयवाए कुसले, एत्थं पि तु होंति चउभंगा ॥
तदुभयसंविग्गेहि वि, चउभंगो एव होति कायव्वो ।
एवं गुणजातियस्स, पव्वावेउं तु कप्पति तु ॥
पव्वावेंतो भणित्ता । पं० भा० १ कल्प ।

" दव्वे भावे संगहो , दव्वे आहारवत्थमादीहिं । भावे णाणादीहि तु, संगेएहति संगहो तेणं " (पं० भा० ५ कल्प ।) इत्युक्तलक्षणायां गौणानुज्ञायाम् , नं० । उग्रादिक्षत्रियसंघे, ति० ।

उग्गा भोगा रायम–खत्तिया संगहो भवे चउहा ।
आरक्खि (ग) गुरुवयंसा, सेसाओ खत्तिया होंति ॥

ति० । संगृह्णाति सामान्यरूपतया सर्ववस्तु क्रोडीकरोतीति संग्रह. । ग० २ अधि० । अष्ट० । स्था० । अनु० । सूत्र० । (अन्यत्या व्याख्या ' णाइ ' शब्दे चतुर्थभागे १४३८ पृष्ठे गता ।)

संगहियपिंडियत्थं, संगहवयणं समासतो विंति ।

सम्–आभिमुख्येन गृहीत उपात्त. संगृहीत', पिण्डित एकजातिमापन्न अर्थो विषयो यस्य तत्संगृहीतपिण्डितार्थम्। संग्रहस्य वचनं संग्रहवचनं समासत. संक्षेपेण ब्रुवते तीर्थकरगणधराः । किमुक्तं भवति-सामान्यप्रतिपादनपर. संग्रहनय., शब्दव्युत्पत्तिश्चैवम्—संगृह्णाति अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया समस्तं जगदादत्ते इति संग्रहः । आ० म० १ अ० ।

अथ संग्रहनयं विवृणोति-

संग्रहो द्विविधो ज्ञेयः, सामान्याच्च विशेषतः ।
द्रव्याणि चाविरोधीनि, यथा जीवाः समे समाः॥१२॥

सङ्गृह्णातीति संग्रहः , अथवा—संगृह्यन्ते अनेन सामान्यविशेषाविति संग्रह . स च द्विविधः—द्विप्रकारस्तयोरेकः सामान्यौघात् सामान्यसंग्रह. , १ द्वितीयो विशेषात् व्यक्तिविशेषसंग्रहः २, इत्थं द्विभेदः । अथानयोः प्रत्येकमुदाहरणं द्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि अविरोधीनि परस्परविरोधरहितानीत्यर्थः । एकद्रव्यमङ्गीकृत्य द्रव्यपदमेव प्राप्यते इति प्रथमोदाहरणम् १ , यथा च जीवाः सर्वेऽविरोधिनो जीवा हि सत्तामितिचतिरिक्तविशिष्टपरिणामा वर्त्तन्ते । तेषां निरुक्ति—जीवन्ति चैतन्यादिति जीव. । ताश्च जीव प्राणधारणे, तत्र प्राणा द्विधा-द्रव्य-भावभेदा-

त्। तत्र च द्रव्यप्राणा दश, भावप्राणाश्चत्वारः । मोक्षप्राप्तौ यद्यपि द्रव्यप्राणानां कर्मजन्यानां सर्वथा क्षयस्तथाऽपि जीवनलक्षणा जीवस्य भावप्राणाः सहचारिणः कर्मासद्भावेऽपि भवन्ति सिद्धानामपि जीवत्वात् भावप्राणा भवन्ति, अतो मुक्ता संसारिणश्च जीवाः। मुक्ता' पुनः पञ्चदशभेदा.,संसारिणो-देवनारकतिर्यङ्मनुष्यभेदाच्चतुर्द्धा, तत्रान्तिमभेदयो पञ्चभेदाः, तत्रापि मनुष्यस्य पञ्चाशल्लक्षण एक एव भेद.,तिरश्च एकस्मादारभ्य पञ्च यावत् । अक्षभेदादेकाक्षद्व्यक्षत्र्यक्षचतुरक्षपञ्चाक्षभेदात् पञ्च भवन्ति। एवं भेदिताऽपि जीवा. सर्वे अविरोधिन., संग्रहाद् विशेषसंग्रहभेदः२। अथ च सग्रहस्वरूपमुपवर्णयन्ति-सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रह इति,सामान्यमात्रमशेषविशेषरहितम्। स तु द्रव्यत्वादिकं गृह्णातीत्येवशीलः, समेकीभावेन विशेषराशिं गृह्णातीति संग्रहः। अयमर्थ'-स्वजातेर्दृष्टेष्टाभ्यामविरोधेन विशेषाणामेकरूपतया यद्ग्रहण स संग्रह इति। अनुभेदानादर्शयन्ति, अनुभयविकल्प' पर. अपरश्चेति। तत्र परसंग्रहमाहुः-अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्य सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रह इति। परामर्श इति, अग्रेतनेऽपि योजनीयमुदाहरति—विश्वमेकं सदविशेषादिति 'यथे' ति अस्मिन्नुक्ते हि सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितिसत्ताकत्वेनैकत्वमशेषार्थानां संगृह्यते।

अथ संग्रहनयभेदं दर्शयन्नाह-

संग्रहभेदकव्यव-हारोऽपि द्विविधः स्मृतः ।
जीवाजीवौ यथा द्रव्यं,जीवाः संसारिणः शिवाः ॥१३॥

सग्रहस्य नयस्य यो भेदको विषयस्तस्य दर्शकः स व्यवहारनय. कथ्यते, व्यवह्रियते संग्रहविषयोऽनेनेति व्यवहार., सोऽपि द्विविध.—द्विप्रकारः स्मृत.-कथितः, तस्यैव-पूर्वोदितस्य संग्रहनयस्य भेदवदस्याऽपि भेदभावना कर्त्तव्या,यत एकः सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारः १,द्वितीयो विशेषसंग्रहभेदकव्यवहार. २,एव भेदद्वयम्। अथ तयोरुदाहरणे तत्राद्यस्योदाहृतिर्यथा जीवाजीवौ द्रव्यम्। अत्र जीवस्य चेतनस्याजीवस्याचेतनस्य संग्रहसामान्यविषयत्वाद् द्रव्यमिति एकैव संज्ञा। कथम्?,द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छतीति त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशस्तद् द्रव्यमिति व्युत्पत्त्या स्वगुणपर्यायवत्त्वेनोभयोरपि जीवाजीवयोर्द्रव्यपदं साधारणमित्यर्थो जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारः १, अथ जीवा. ससारिणः,सिद्धाश्च अत्र जीवानामनन्तानां चैतन्यवतां संसारित्वं सिद्धत्वं च विशेषव्यवहार., अतो द्वितीयभेद् विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारः २, एवमुत्तरोत्तरविवक्षया सामान्यविशेषवत्त्वं भावनीयम्। द्रव्या० ६ अ० । (सग्रहस्वरूपोपवर्णनं 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८५६ पृष्ठे गतम्।)

प्रकारान्तरेण सग्रहं लक्षयति—

संग्रहः संगृहीतस्य, पिण्डितस्य च निश्चयः ।
संगृहीतं परा जातिः, पिण्डितं च परा स्मृता ॥ २२ ॥

संग्रह इति—संगृहीतस्य पिण्डितस्य च निश्चय. संग्रहस्तत्र संगृहीतं परा-सर्वव्यापिका जातिर्मनाऽऽत्मयाना महासामान्यमिति यावत्। पिण्डितं त्वपरा देशव्यापिका—जातिर्द्रव्यत्वादिसामान्यमिति यावत् । यद्यप्येतदुभयग्राहित्वं प्रत्येकग्राहित्वं वाऽप्रत्येकग्राहित्व चाननुगतं तथाऽपि सामान्यमात्राभ्युपगमप्रवणैकदेशबोधत्वं सग्रहनयत्वमिति लक्षण बोध्यम्, 'संगहे अपिण्डिअत्थं संगहवयणं समासओ बिंति' त्ति सूत्रस्वारस्याच्चेत्थमुक्तिः । यद्वा-नैकगमाद्यपगतार्थपदं संग्रहश्च विशेषविनिर्मोकोऽशुद्धविषयविनिर्मोकश्चेत्यादि यथासम्भवमुपादेयस्तेन न प्रस्थले सामान्यविधयाऽसंग्रहात्तत्स्थलप्रदर्शितसग्रहनयेऽव्याप्तिरित्यादिकं बोध्यम् । "अर्थानां सर्वैकदेशग्रहण सग्रहः" इति तत्त्वार्थभाष्यम्। अत्र सर्वं सामान्यम् एकदेशश्च विशेषस्तयोर्ग्रहणं संग्रहः सामान्यैकशेषस्वीकार इत्यर्थः। अयं हि घटादीनां भवनानर्थान्तरत्वाद्भावांश एव च प्रत्यक्षादिप्रमाणवृत्तेस्तन्मात्रत्वमेव स्वीकुरुते, घटादिविशेषविकल्पस्त्वविद्योपजनित एवेति मन्यते, अतस्तथावृत्तिव्यवहारोऽप्यस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वेन कल्पनामूल एवायं चाऽशुद्धसग्रहविषय एव तदवान्तरभेदास्तु यत् यत् सामान्यान्तर्भावेन विधिव्यवहारं प्रवर्त्तयन्ति तत्तत्सामान्यैकशेषस्वीकारिणो द्रष्टव्या', तादृशतादृशसंग्रहनयविचारे च तत्तदवान्तरधर्म्माकारश्रुतिनिश्रितं मतिज्ञानमपि जायत एव, रूपविशेषवान्मणिः पद्मराग इत्युपदेशार्थप्रतिसन्धानानन्तरं चाक्षुषोपयोगे पद्मरागाकारमिव प्रत्यक्षमिति कार्यविशेषादपि तद्विशेष इति दिक्।

संग्रहावान्तरभेदैरेव संग्राह्यार्थव्यवहारभेदमुपदर्शयति—

एकद्वित्रिचतुःपञ्च-षड्भेदा जीवगोचराः ।
भेदाभ्यामस्य सामान्य-विशेषाभ्यामुदीरिताः ॥ २३ ॥

एकेति—चेतनत्वेन जीव एकः, त्रसस्थावराभ्यां द्विविधः, पुंवेद १ स्त्रीवेद २ नपुंसकवेदैस्त्रिविधः, देवमनुष्यतिर्यग्नारकगतिभेदैश्चतुर्विध., एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चविध', पृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायभेदात् षड्विध', इत्येवं ये जीवगोचरा' सग्रहप्रकारा उदीरिताः सिद्धान्ते तेऽस्य सग्रहनयस्य सामान्यविशेषाभ्यां-सामान्यसग्रहविशेषसंग्रहलक्षणाभ्या भेदाभ्यामवगन्तव्याः।

नैगमव्यवहारयोरपेक्षया यथाऽस्य शुद्धत्वं तथाह-

उपचारा विशेषाश्च, नैगमव्यवहारयोः ।
इष्टा ह्यनेन नेष्यन्ते, शुद्धार्थपक्षपातिना ॥ २४ ॥

उपचारा इति—उपचारा गौणव्यवहारा विशेषाश्च तत्तद्व्यावृत्तिरूपा नैगमव्यवहारयोरिष्टा' शुद्धार्थपक्षपातिना एतदुभयापेक्षया स्वविषयोत्कर्षाभिमानिना हि निश्चितमनेन संग्रहनयेन नेष्यन्ते, तथा च-नैगमव्यवहारसंमतोपचारविशेषानवलम्बित्वादस्य शुद्धत्वं स्वसमयायोचितोपचारविशेषयो कश्चिदवलम्बनेनाऽपि नापायत इति भाव'। नयो०। स्या०। सम्म०। अत्यर्थमतृष्णया धनमेलने, अनु०। संगृह्यतेऽनेनेति संग्रह.। "पुंनाम्नि घः" ॥५।३।१३०॥ इति करणे घ (अ) प्रत्यय.। संग्राहके, पं० सं० १ द्वार।

संगहएक्कय-संग्रहैकक-पुं०। एककरूपे संग्रहे. स्था० ४ ठा०२ उ०। (व्याख्या 'एकेक' शब्दे तृतीयभागे १ पृष्ठे गता।)

संगहकाय-संग्रहकाय-पुं०। संग्रहणं-संग्रहः, स एव कायः संग्रहकायः। कायभेदे, आव० ५ अ०।

संगहकुसल-संग्रहकुशल-पुं०। उपध्यादिना साधूनां संग्रहकरणनिपुणे, व्य०। स च (संग्रहकुशल) पुनः कथंभूत इत्याह-संग्रहानुगता ये गुणास्तेषां निधिरिव गुणनिधिः, तथा-अनुकरणं नाम-यत्सीवनलेपादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा ब्रूते-इच्छाकारेण तवेदमहं करिष्यामि कुरुते वा, कारापणं वा न यत्स्वयं करणे अकुशलानन्यानपीच्छाकारेण कारापयति तस्मिन् निसर्गः स्वभावो यस्य सोऽनुकरणकारापणनिसर्गः, इत्थंभूतस्तस्य स्वभावो यदि अनभ्यर्थित एव करोति कारयति चेति भावः।

सम्प्रति कतिपयपदव्याख्यानार्थमाह-

वयणे तु अभिग्गहिय-स्स केणऽवी तस्स उत्तरं कुणति।
जा जयणाए किण्हं, तं उ गुरुम्मी वयणं देइ ॥१५३॥

वचने-वचनविषये अभिग्रहिकस्य-गृहीताऽभिग्रहप्रतिपन्नमौनव्रतस्येत्यर्थः। केनापि प्रश्ने कृते सति तस्योत्तरं यद् भणत्येष वचनसंग्रहकुशलः। पश्चार्द्ध सुगमम्।

साहूणं अणुभासइ, आयरिएणं तु भासिए संते।
सारेयायरियाणं, देसे काले गिलाणादि ॥ १५४ ॥

अत्र साधूनामिति पदं पश्चात् गाथायां सम्बध्यते।

शेषपदव्याख्यानार्थमाह-

दुक्खत्ते अणुकंपा, अणुसासणभजमाणरक्खो वा।
जो वा जहुत्तकारी, अणुसासणकिंचमेयं तु ॥ १५५ ॥

इयमपि व्याख्यातार्था। (व्य०) (अभ्यन्तकरणम् 'अब्भंतरकरण' शब्दे प्रथमभागे व्याख्यातम्।)

संभुंजणा संभोगे-णभुंजएजस्स कारगं भत्तं।
तं घेत्तुमप्पणा से, देइ एमेव उवहिं पि ॥ १५६ ॥

संभोजनं नाम-यत्संभोगेन योजयति। साम्भोगिकैः सहैकत्र भुङ्क्ते इति। तथा यद्यस्य कारकम्-उपकारकं भक्तं तदात्मना गृहीत्वा तस्मै ददाति। एवमेवोपधिमपि उपधिरपि यो यस्योपकारकस्तं स्वयमुत्पाद्य तस्मै ददाति।

एतेन 'संभोगे भत्तोवहीति' व्याख्यातं परस्परमेकत्र संवास' सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यात।

अणुकरण सिव्वणले-वणादिअणुभासणा उ दुम्मेहो।
एरिसो तस्स निसग्गा,जं भणियं एरिससहावो ॥१५७॥

अनुकरणं नाम-सीवनलेपनादि स्वयं किंचित् कुर्वन्तं दृष्ट्वा इच्छाकारेणानुज्ञाप्य करोति। तथा दुर्मेधसि स्वयं सीवनलेपनादि कर्तुमनुजानाति, स्वयं तावत्करोत्येव किंत्वन्यानपि भाषते। यथा कुरुतैतस्य महानुभागस्यैतत्करणम्। ईदृशस्तस्यानुकरणे कारापणे च निसर्ग स्वभावः। "जं भणियं" ति किमुक्तं भवतीत्यर्थ.-ईदृशस्वभाव उक्त. संग्रहकुशलः। व्य० ३ उ०। (उपग्रहकुशलः 'उवग्गहकुसल' शब्दे द्वितीयभागे व्याख्यातः।)

संगहज्झाण-संग्रहध्यान-न०।संग्रहोऽत्यर्थमतृष्णया धनमेलनं तस्य ध्यानम्। मध्यमवणिजि इव धनसंग्रहाऽध्यवसाये, अनु०।

संगहट्ठया-संग्रहार्थता-स्त्री०। संग्रह'-शिष्याणां श्रुतोपादानं स एवार्थः प्रयोजनं तद्भावस्तत्त्वम्। संग्रह एवार्थो यस्य स संग्रहार्थः। स्था० ५ ठा० ३ उ०। कथं नु नामैते शिष्याः सूत्रार्थसंग्राहकाः सम्पत्स्यन्ते इत्येवंरूपे संग्रहनिमित्ते, आ० म० १ अ०।

संगहट्ठाण-संग्रहस्थान-न०। संग्रहो ज्ञानादीनां शिष्याणां वा तस्य स्थानानि-हेतवः संग्रहस्थानानि ज्ञानशिष्ययोः संग्रहहेतौ, ग० १ अधि०। स्था०।

संग्रहस्थानसूत्रम्-

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त संगहठाणा पण्णत्ता, तं जहा-आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा संपउंजित्ता भवति,एवं जधा पंचट्ठाणे०जाव आयरियउवज्झाए गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवति नो अणापुच्छियचारी यावि भवति। आयरियउवज्झाए गणंसि अणुप्पन्नाइं उवगरणाइं सम्मं उप्पाइत्ता भवति,आयरियउवज्झाए गणंसि पुव्वुप्पन्नाइं उवकरणाइं सम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति णो असम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवइ। आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त असंगहठाणा पण्णत्ता, तं जहा-आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवति, एवं०जाव उवगरणाणं नो सम्मं सारक्खेत्ता संगोवेत्ता भवति। (सू० ५४४)

'आयरिए' त्यादि, आचार्योपाध्यायस्येति समाहारद्वन्द्वः कर्मधारयो वा। गणे गच्छे संग्रहो ज्ञानादीना शिष्याणां वा तस्य स्थानानि-हेतवः सग्रहस्थानानि, आचार्योपाध्यायो गणे आज्ञां वा-विधिविषयमादेशं धारणां वा-निषेधविषयमादेशमेवं सम्यक् प्रयोक्ता भवति, एवं हि ज्ञानादिसंग्रहः शिष्यसंग्रहो वा स्याद्, अन्यथा तद्भ्रंश एवेति प्रतीतम्। यतः-"जहि नत्थि सारणा वा-रणाय पडिचोयणा य गच्छम्मि। सो उ अगच्छो गच्छो,मोत्तव्वो संजमत्थीहिं ॥१॥" इति। 'एवं जहा पंचट्ठाणे त्ति' तच्चेदम्- आयरियउवज्झाए णं गणंसि अहाराइणियाए कितिकम्मं पउंजित्ता भवति २ आयरियउवज्झाए णं गणंसि जे सुयपज्जवजाते धारेइ ते काले काले सम्मं अणुप्पवाइत्ता भवइ ३ आयरियउवज्झाए णं गणंसि गिलाणसेहवेआवच्चं सम्मं अब्भुट्ठित्ता भवइ ४ आयरियउवज्झाए ण गणंसि आपुच्छियचारी यावि हवइ, नो अणापुच्छियचारी ५, स्थानद्वयं त्विहैवेति, व्याख्या तु सुकरैव, नवरमाप्रच्छनं गच्छस्य, यत उक्तम्-" सीसे जइ आमंते, पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं। अह इयरे तो सीसा, तेव समत्तम्मि गच्छंति ॥ १ ॥

तरुणा बाहिरभावं, न य पडिलेहोवहीए किइकम्मं। मूलग- पत्तसरिसगा, परिभूया वच्चिमो थेरा ॥ २ ॥" इति। तथा—'अणुप्पन्नाइं' ति अनुत्पन्नानि—अलब्धानि उपकरणानि वस्त्रपात्रादीनि सम्यग्—एषणादिशुद्धतया 'उत्पादयिता' सम्पादनशीलो भवति, संरक्षयिता—उपायेन चौरादिभ्यः सङ्गोपयिता—अल्पसागरिककरणेन मलिनतारक्षणेन वेति। एवं संग्रहस्थानविपर्ययभूतमसंग्रहसूत्रमपि भावनीयमिति। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

संगहणी-संग्रहणी-स्त्री०। संग्रहगाथायाम्, स०।

संगहदाण-संग्रहदान-न०। दानभेदे, संग्रहणं संग्रहो व्यसनादौ सहायकरणं तदर्थं दानं संग्रहदानम्। अथवा-भेदाद्दानमपि संग्रह उच्यते,। आह च—'अभ्युदये व्यसने वा, यत् किंचिद्दीयते सहायार्थम्। तत्संग्रहतोऽभिमतं, मुनिभिर्दानं न मोक्षाय ॥ १ ॥' इति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

संगहपरिण्णा-संग्रहपरिज्ञा-स्त्री०। संग्रहः स्वीकरणं तत्र परिज्ञानं नामाभिधानम्। अष्टम्यां गणिसम्पदि,स्था० ८ ठा० ३ उ०। दशा०। (संग्रहप्रतिज्ञायाः व्याख्या 'गणिसंपया' शब्दे तृतीयभागे ८२६ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्या।)

संगहसुत्त-संग्रहसूत्र-न०। प्रभूतार्थसंग्राहके सूत्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

संगहाभास-संग्रहाभास-पुं०। अयथार्थसंग्रहनये, रत्ना० ७ परि०। (सत्ताद्वैतं कुर्वाणः 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८०३ पृष्ठे व्याख्यातः।)

संगहिय-संगृहीत-न०। भावे क्तः प्रत्ययः। सामान्याभिमुख्येन ग्रहणे अनुगमे, सर्वव्यक्तिष्वनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने,विशे०। अनु०। आ० चू०। दढीकृते, जं० ३ वक्ष०। शिष्यत्वेनाश्रिते, आभिमुख्येन गृहीते, आ० म०१ अ०। आ० चू०। आश्रिते, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

संगहुवग्गहणिरय-संग्रहोपग्रहनिरत-त्रि०।संग्रह उपदेशादिना,उपग्रहो वस्त्रादिना, व्यत्यय इत्यन्ये तत्र निरतः। संग्रहोपग्रहयोरासक्ते, पं० व ४ द्वार।

संगाम-संग्राम-पुं०। रणशिरसि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। स्था०। आचा०। प्रश्न०। महज्जनसमक्षकलहे, तं०। संग्रामे हता देवलोकं यान्ति। भ० ७ श० ६ उ०।

देवे णं भंते! महड्ढिए ०जाव महे सक्खे रूवसहस्सं विउव्वित्ता पभू अन्नमन्नेणं सद्धिं संगामं संगामित्तए ?, हंता पभू। ताओ णं भंते! बोंदीओ किं एगजीवफुडाओ अणेगजीवफुडाओ ?, गोयमा! एगजीवफुडाओ णो अणेगजीवफुडाओ। तासि णं भंते! बोंदीणं अंतरा किं एगजीवफुडा अणेगजीवफुडा ?, गोयमा! एगजीवफुडा नो अणेगजीवफुडा। पुरिसेणं भंते! अंतरेणं हत्थेण वा एवं जहा अट्ठमसए तइए उद्देसए० जाव नो खलु तत्थ सत्थं कमति। (सू०-६३५)

'देवे ण' मित्यादि, 'तासिं बोंदीणं अंतर' त्ति तेषां विकुर्वितशरीराणामन्तराणि 'एवं जहा अट्ठमसए' इत्यादि अनेन यत्सूचितं तदिदम्-'पाएण वा हत्थेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा आमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएणं आछिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएण वा समोडहमाणे वा तेसिं जीवप्पएसाणं आबाहं वा वाबाहं वा करेइ छविच्छेयं वा उप्पाएइ ?, णो इणट्ठे समट्ठे' त्ति व्याख्या चास्य प्राग्वत्। भ० १८ श० ७ उ०। (रथमुशलसंग्रामवक्तव्यता 'रहमुसल' शब्दे षष्ठे भागे गता।) (देवासुरसंग्रामवक्तव्यता 'देवासुरसंगाम' शब्दे चतुर्थभागे उक्ता।)

संग्रामकाल-संग्रामकाल-पुं०। परानीकयुद्धावसरे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

संगामरह-संग्रामरथ-पुं०। संग्रामयोग्ये रथे, यस्योपरि प्राकारानुकारिणी कटीप्रमाणा फलकमयी वेदिका क्रियते यत्रारूढैः संग्रामः क्रियते। अनु०। बृ०।

संगामसंकड-संग्रामसङ्कट-न०। संग्रामसङ्कटे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

संगामसीस-संग्रामशीर्ष-न०। संग्राममूर्धनि, आचा० १ श्रु०६ अ० ३ उ०। "एस संगामसीसे वियाहिए।" संग्रामशिरसि परानीकनिशिताकृष्टकृपाणानि यत्र प्रभासञ्जनितोद्यतसूर्यत्विड्द्भूतविद्युज्जयनचमत्कृतिकारिणि कृतकरणेऽपि सुभटाक्षिप्तविकारं न विघस्ते एवं मरणकालेऽपि समुपस्थिते परिकर्मितः मतेरप्यन्यथाभावः कदाचित्स्यादतो यो मरणकाले न मुह्यते स पारगामी। आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०।

संगामिय-संग्रामिक-त्रि०। संग्रामप्रयोजने, स्था० ५ ठा० १ उ०। भ०। ज्ञा०।

संगामिया-सांग्रामिकी-स्त्री०। या संग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाद्यते। कृष्णवासुदेवस्य भेर्याम्, आ० चू० १ अ०। विशे०। आ० म०।

संगार-सङ्गार-पुं०। सङ्केते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। भ०। द० प०। आ० म०। बृ०। स्था०। ज्ञा०। आचा०।

संगारा-सङ्गारा-स्त्री०। प्रव्रज्याभेदे, 'संगारमञ्जिणाते, सत्तविवाकासि जह तु संगारं।' पं० भा० १ कल्प। पं० चू०।

संगारदत्त-सङ्गारदत्त-त्रि०। सङ्गारः-सङ्केतः स दत्तो यस्य शैक्षस्य स संगारदत्तः। आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् क्तान्तस्य परनिपातः। कृतसङ्केते शिष्यादिके, बृ० ३ उ०।

संगारपव्वज्जा-सङ्गारप्रव्रज्या-स्त्री०। प्रव्रज्याभेदे, स्था०। ('पव्वज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७३० पृष्ठे व्याख्या गता।)

संगारसमय-सङ्गारसमय-पुं०। सङ्गारः सङ्केतस्तद्रूपः समयः सङ्गारसमयः। सङ्केतरूपे समयभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

संगास-सङ्काश-त्रि०। सदृशे, उत्त० ३४ अ०। छायाविशेषे, आ० म० १ अ०।

संगिय-स्वाङ्गिक-न०। परिभुक्तप्राये, स्था० ४ ठा० ३ उ०। आचा०।

संगिया-सङ्गिता-स्त्री०। सङ्गो यस्यास्ति स सङ्गी तद्भावस्तत्ता। द्रव्यादिषु सत्सङ्गे, भ० २ श० ५ उ०।

संगिल्ल-सङ्ग-पुं०। समुदाये, व्य० १ उ०। ज्ञा०।

संगिल्लि-संगेल्लि-पुं०। अन्योऽन्यं हस्तावलम्बे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०।

संगोवंग-साङ्गोपाङ्ग-त्रि०। शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण३ निरुक्त ४ छन्दो ५ ज्योतिष्कानयन ६ लक्षणानि षडुपाङ्गानि तद्व्याख्यानरूपाणि तैः सह वर्त्तन्त इति साङ्गोपाङ्गाः। अनु०। अङ्गोपाङ्गसहितेषु, "संगोवंगा वेया" तत्राङ्गानि शिक्षा १ कल्पं २ व्याकरणम् ३ छन्दः ४ ज्योतिः ५ निरुक्तञ्च ६, उपाङ्गानि-अङ्गार्थविस्ताररूपाणि। कल्प० १ अधि०१ क्षण।

संगोवित्ता-सङ्गोपयितृ-त्रि०। क्षेमस्थानप्रापयितरि, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

संगोवेमाणी-सङ्गोपयन्ती-स्त्री०। वस्त्राच्छादनगर्भगृहप्रवेशनादिभिः क्षेमप्रापिकायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ०।

संघ-सङ्घ-पुं०। सङ्घाते, व्य० ३ उ०। गुणसंघाते, व्य० ३ उ०। समुदाये, जी० ३ प्रति०४ अधि०। प्रज्ञा०। ग०। रा०। औ०। कीटिकादिगणसमुदाये,स्था० ५ ठा० १ उ०। भ०। कुलसमुदायो गणः, वालुकापर्यन्तः संघः। पं० व० १ द्वार। सम्यग्दर्शनादिसमुचितप्राणिगणे साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपे (संघा० १ प्रस्ता० १ अधि०। प्रव०। ध०।) गुणरत्नपात्रभूते (पं० व० १ द्वार।) सत्त्वसमूहे, स्था०।

चउव्विहे संघे पण्णत्ते, तं जहा-समणा समणीओ सावगा सावियाओ। (सू० ३६३)

संघो-गुणरत्नपात्रभूतसत्त्वसमूहः, तत्र श्राम्यन्ति-तपस्यन्तीति श्रमणाः। अथवा-सह मनसा शोभनेन निदानपरिणामलक्षणपापरहितेन चेतसा वर्त्तन्त इति समनसस्तथा समानं-स्वजनपरजनादिषु तुल्यं मनो येषां ते समनसः। उक्तञ्च-"तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो। सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसुं॥ १॥" अथवा-समिति-समतायां शत्रुमित्रादिष्वणन्ति-प्रवर्त्तन्त इति समणाः। आह च-"नऽत्थि य सि को इ वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो,एसो अन्नोऽवि पज्जाओ॥ १॥" इति, प्राकृततया सर्वत्र 'समण' त्ति। एवं समणीओ, तथा शृण्वन्ति जिनवचनमिति श्रावकाः, उक्तञ्च-" अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत्, परं समाचारमनुप्रभातम्। शृणोति यः साधुजनादतन्द्र-स्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः॥१॥" इति। अथवा-श्रान्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति-गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वा, तथा किरन्ति-क्लिष्टकर्म्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्म्मधारये श्रावका इति भवति। यदाह-" श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तना-द्धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्। किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवना-दथापि तं श्रावकमाहुरञ्जसा॥१॥" इति एवं श्राविका अपि। स्था० ४ ठा० ४ उ०। आ० म०। "तित्थयरे तित्थयरे, तित्थं पुण जाण गोयमा! संघं।" महा० ४ अ०।

संघावज्ञाप्रतिक्षेपः-

तित्थयरवंदणिज्जं, संघं पि खिवेइ कोइ अइबालो।
नत्थी संघो एसो, भणिओ आसायगो कप्पे॥ ८१॥

तीर्थङ्करवन्दनीयं-सर्व्वज्ञवन्द्यं 'नमो तित्थस्स' ति भणनात् संघमपि साधुसाध्वीश्रावकश्राविकाश्च ज्ञानादिगुणरूपं न केवलमाचार्यादीत्यपेरर्थः, क्षिपति-तिरस्कुरुते कोऽपि कश्चिदेकस्त्वितरोऽन्योऽपि प्राकृतस्वभावः अतिबालो-महामूर्खः, कथं क्षिपतीत्यत आह-न नास्ति विद्यते संघ उक्तरूपः एष संक्षेपको भणित उक्तश्चाशातनाकारकः कल्पे-छेदग्रन्थ इति गाथाऽर्थः।

कल्पभणितमेवाह-

अक्कोसतज्जणाई, संघमहिक्खिवइ संघपडिणीओ।
अन्ने वि अत्थि संघा-ण सियालणतिक्कमाईणं॥८२॥

आक्रोशतर्जनादिभिः संघं-साध्वादिवर्गमधिक्षिपति-निराकरोति संघप्रत्यनीकः-प्रवचनप्रतिकूलः, तत्राक्रोशो दुष्टवाग्भणनं तर्जनं तु-किमनेन सिद्ध्यतीति, एवमादि भणितिरादिग्रहणाद्यथौचित्यविनयाद्यकरणग्रहो विभक्तिलोपाद्येतं निर्देशः। एवं च वदन् संघं क्षिपतीत्याह-अन्येऽपि-परे न केवलमयं साध्वादिवर्ग इत्यपेरर्थः। सन्ति-विद्यन्ते संघसमाग्रहणे केषामित्याह-' सियालणतिक्कमाईणं ' तत्र शृगालः प्रतीतः णतिक्कः देशीभाषया कालिकरव., आदिशब्दाच्छेषजन्तुपरिग्रहः। मकारोत्रालाक्षणिक इति गाथाऽर्थः।

पुनरपि संघस्य पूज्यतां दर्शयन्निदमाह-

उग्घाडणा भएणं, सुयकेवलिणा वि मंनिओ संघो।
पुव्वाणं परिवाडिं, देहि भणंतो महासइणा॥ ८३॥

उद्घाटना-समयभाषया संघाद्बहिष्करणलक्षणा तस्या भयं तेन अनुस्वारश्च पूर्ववत्, श्रुतकेवलिनाऽपि चतुर्द्दशपूर्वधरेण न केवलं तीर्थकरेणेत्यपेरर्थः मानितः-पूजितः संघः प्रतीतः। पूर्वेषां समयप्रसिद्धानां परिपाटीं पाठरूपां देहि प्रयच्छ शिष्येभ्य इत्यध्याहारः भणन्-ब्रुवन्, किंविशिष्टेन महाशयिना-अचिन्त्यशक्तिना। अत्र च ' कगचजे' त्यादिना तकारलोपे स्वरे प्रकृतिलोपसंधय इत्यनेन तकाराकारलोपे रूपमिदम्। इदमिहतत्त्वं किल श्रीवीरस्वामिनो मोक्षं गतस्य दुष्कालो महान् संवृत्तः, सर्व्वोऽपि साधुवर्ग एकत्र मिलितो भणितं च परस्परं कस्य किमागच्छति सूत्रं?, यावत् न कस्याऽपि पूर्वाणि समागच्छन्ति, ततः श्रावकैर्विज्ञाते भणितं यथा कुत्र साम्प्रतं पूर्व्वाणि सन्ति?, तैः भणितम् भद्रबाहुस्वामिनि। ततः सर्वसङ्घसमुदायेन पर्यालोच्य प्रेषितस्तत्समीपे साधुसङ्घाटकः,गत्वा प्रणम्य च तेन भणिताः सूरयो यथा सुशिष्याणां पूर्वपरिपाटीं प्रयच्छत। तैरप्युक्तं साम्प्रतं वयं महाप्राणध्यानाशक्तास्ततो न ता दातुं शक्ता इ-

त्युक्त समागत' साधुसङ्घाटक', संघसमीपे कथितं तद्व-च. । ततो भूयोऽपि प्रेषितो यः संघवचो न कुरुते तस्य किं विधीयते,एवं गत्वा ब्रुवीत,तथा कृते तैरुक्तम्-यत्संघो भणति तदहं करोमि,इत्युक्ते, प्रेषितानि स्थूलभद्रप्रमुखानि सुशिष्याणां पञ्चशतानीति गाथाऽर्थः ।

ननु न वयं संघं निराकुर्मः किं त्वास्माकीन' संघो नान्येषामिति ये मन्येरन् तान् प्रत्याह—

अम्हाणं चिय संघो, अत्ताणं न उण लक्खणा भावा ।
नेवं वोत्तुं जुत्तं, छउमत्थाणं जओ भणिअं ॥ ८४ ॥

अस्माकमेव संघ. अन्येषाम्-अपरेषा न पुनर्लक्षणाभावात् ज्ञानाद्यसत्त्वात. नैवमित्थं वक्तुम्-गदितुं युक्त-संगत छद्मस्थानामतीन्द्रियज्ञानाभाववता यतो—यस्मात् भणितम्-उक्तम्, इति गाथार्थ. । जीवा० १४ अधि० । (संघगुणस्य वक्तव्यता ' परिणाम ' शब्दे पञ्चमभागे ६१२ पृष्ठे गता ।)

एवं स्थिते जीवोपदेशमाह—

संघस्सोवरि वेयण , कयामि भणसु जाव पडिकुट्टे ।
जुत्ता तत्थ करवयण—मणम्मि भावो ण संपत्तं ॥८६॥

प्रकटार्था । जीवा० १४ अधि० ।

सत्तीएँ संघपूआ, विसेसपूआउ बहुगुणा एसा ।
जं एस सुए भणिओ, तित्थयराणंतरो संघो ॥११३४॥

शक्त्या संघपूजा विभवोचितया, किमित्यत आह-विशेषपूजाया दिगादिगताया. सकाशाद्बहुगुणा एषा सघपूजा,विषयमहत्त्वादेतदाह-यदेष श्रुते भणित —आगमे उक्त. तीर्थकरानन्तर. सघ इत्यतो महानेष इति गाथाऽर्थ ।

एतदेवाह—

गुणसमुदाओ संघो, पवयणतित्थं ति होंति एगट्ठा ।
तित्थयरोऽवि अ एअं,णमए गुरुभावओ चेव॥११३५॥

गुणसमुदाय संघ अनेकप्राणिस्थसम्यग्दर्शनात्मकत्वात्प्रवचन तीर्थमिति भवन्त्येकार्थिका एवमाद्योऽस्य शब्दा इति, तीर्थकरोऽपि चैनं संघं तीर्थसंज्ञितं नमति धर्मकथादौ गुरुभावत एव ' नमस्तीर्थाये ' ति वचनादेतदेवमिति गाथाऽर्थ. ।

अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह

तप्पुव्विआ अरहया, पूइअपूआ य विणयकम्मं च ।
कयकिच्चो वि जह कहं,कहेइ णमए तहा तित्थं॥११३६॥

तत्पूर्विका—तीर्थपूर्विका अर्हन्त. तदुक्तानुष्ठानफलत्वात्पूजितपूजा चेति भगवता पूजितपूजत्वाल्लोकस्य विनयकर्म च कृतज्ञताधर्मगर्भं कृत भवति । यद्वा—किमन्येन कृत कृत्योऽपि स भगवान् यथो कथां कथयति धर्मसम्बन्धिनीमिति तथा तीर्थं तीर्थकरनामकर्मोदयादेवौचित्यप्रवृत्तेरिति गाथाऽर्थ. ।

एयम्मि पूइअम्मी, णऽत्थि तयं जं न पूइअं होइ ।
भवणे वि पूयणिज्जं, गुणठाण वा तओ अण्णं ॥११३७॥

एतस्मिन् सघे पूजिते नास्ति तद्वस्तु यन्न पूजितमभिनन्दितं भवति । किमित्यत आह—भुवनेऽपि सर्वत्र पूज्यं-पूजनीय न गुणस्थानं कल्याणतस्ततः संघादन्यदिति गाथाऽर्थः ।

तप्पूआपरिणामो, हंदि महाविसय एव मुणिअव्वो ।
तद्देसपूअओ वि हु, देवयपूआइणाएणं ॥ ११३८ ॥

तत्पूजापरिणामः-संघपूजापरिणामः 'हन्दि' महाविषय एव मन्तव्यः, संघस्य महत्त्वात्तद्देशपूजातोऽप्येकत्वेन सर्वपूजाभावे देवतोद्देशादिपूजोदाहरणेनेति गाथाऽर्थः । पं० व० ४ द्वार । (पूर्वोल्लिखितगाथानां विवरणं पञ्चाशकटीकाया कृतं तच्च तृतीयभागे १२७२ पृष्ठे दर्शितम् ।)

अथ सघं मुकुटोपमया वर्णयन् गाथाद्वयमाह-

गुत्तीसमिइगुणड्ढो, संजमतवनियमकणयकयमउडो ।
सम्मत्तनाणदंसण, तिरियणसंपावियमहग्घो ॥११६॥

तत्र तावन्मुकुटस्वरूपं भण्यते ' गुत्तीसमिइगुणड्ढो ' त्ति गोपनं गुप्ती रत्नानां प्रतिश्रयसुवर्णेन सधिमीलनम्, सम्-सा· मस्त्येन इति'-गमनं समितिः, मेलापको मणिरत्नसुवर्णाना यत्र सा समितिः, गुप्तिश्च समितिश्च गुप्तिसमिती , गुप्तिसमित्योर्गुणो गुप्तिसमितिगुणस्तेन आढ्यो महान्, मुकुटो हि ज्वरविषापहारादिमणिसंपर्काद् गुणाढ्यो भवति । पुन' कथंभूत ' संजमतवनियमकणयकयमउडो ' त्ति संयमतपोनियमस्थानीय त्रिप्रकारमर्जुनरक्तपनीयकाञ्चनरूप यत्कनकं तेन कृतो निर्म्मित सेर्लोपत्मुकुटविशेषण ' मउडो' त्ति मुकुट इति विशेष्यकम् 'सम्मत्तनाणदंसणतिरियणसंपाविय' त्ति कथंभूतो मुकुट. ? सम्यक्वज्ञानदर्शनतुल्यत्रिरत्नसम्प्रापित शिखरत्रये हि रत्नत्रयालंकृतो मुकुटो भवति । अथवा—प्राकृतत्वात्प्रापितशब्दस्य परनिपातात् संप्रापितत्रिरत्न, यत एव हि संप्रापित. त्रिरत्नोऽत एव-महार्घ्य.-महामूल्य 'पच्चोइय' त्ति पाठे त्रिभी रत्नै प्रत्योपितै परिकर्मितैर्महार्घ्य. एवंविधस्तावन्मुकुट. तेन संघ उपमीयते । तथाहि-गुप्तिसमितो गुणाढ्यो वाऽनेकातिशयर्द्धि गुणवान् संजमतपोनियमै. कनकस्थानीयैः कृतो-निर्वर्तित. संघमुकुटो मुकुट इव मुकुट' शिरसा धार्यत इति भाव. । 'सम्मत्तणाणदंसण ' त्ति सम्यक्त्वज्ञाने प्रतीते, ' दंसण ' त्ति दृश प्रेक्षणे, दृश्यते-सम्यक् परिज्ञायते सावद्यमनेनेति दर्शनं चारित्रमनेकार्थत्वाद्धातूनां ततः सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपत्रिरत्नसंप्रापितशिखर, तथा महार्घ्योऽर्थयितुम् अशक्य. ॥ ११६ ॥

अथेतरमुकुटात्संघमुकुटस्याधिक्यमाह—

संघो सइंदयाणं, सदेवमणुयासुरम्मि लोगम्मि ।
दुल्लहतरो विसुद्धो, अविसुद्धो तो महामउडो ॥११७॥

इतरमुकुट' सुप्राप एव संघमुकुटश्च सेन्द्राणामपि देवानां सदेवमनुजासुरेऽपि च लोके दुर्लभतर', ' विसुद्धो ' त्ति विशुद्धश्च सघमुकुटो विशुद्धकर्मक्षयहेतुत्वात्, तत संघमुकुटाद् यो महानपि मुकुट. सुलभो बालतपस्विक्रिययाऽपि

व्यन्तरत्वनरेन्द्रत्वसद्भावे तद्भावात्। 'अविसुद्धो तो महामउडो' त्ति अविशुद्ध एव स मुकुटस्तत्प्राप्तावनुरागादिभिर्मानादिवृद्धिहेतुत्वेन महाकर्मोपचयनिबन्धनत्वात्। ततो महामुकुटः सघमुकुटापेक्षया सर्वप्रकारैरशुद्ध एवेत्यर्थः॥११७॥ संथा०।

सम्प्रति तीर्थकरानन्तरं सङ्घः पूज्य इति परिभावयन् संघस्य नगररूपकेण स्तवमाह-

गुणभवणगहणसुयरयण-भरियदंसणविसुद्धरत्थागा।
संघनगर! भद्दं ते, अक्खडचरित्तपागारा॥ ४॥

'गुणभवणे' त्यादि-गुणा इह उत्तरगुणा गृह्यन्ते, मूलगुणानामग्रे चारित्रशब्देन गृह्यमाणत्वात्, ते चोत्तरगुणाः-पिण्डविशुद्ध्यादयो, यत उक्तम्-" पिंडस्स जा विसोही, समिईओ भावणा तवो दुविहो। पडिमा अभिग्गहाऽवि य,उत्तरगुण मो वियाणाहि॥१॥" त एव भवनानि तैर्गहनं-गुपिलं प्रचुरत्वादुत्तरगुणानां गुणभवनगहनं, संघनगरमभिसम्बध्यते, तस्याऽऽमन्त्रणं हे गुणभवनगहन!,तथा श्रुतरत्नभृत! श्रुतान्येव आचारादीनि निरुपमसुखहेतुत्वाद्रत्नानि श्रुतरत्नानि तैर्भृतं-पूरितं तस्यामन्त्रणं हे श्रुतरत्नभृत! तथा दर्शनविशुद्धरथ्याक!-इह दर्शनं-प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलिङ्गगम्यात्मपरिणामरूपं सम्यग्दर्शनमिति गृह्यते, तच्च क्षायिकादिभेदात् त्रिधा,तद्यथा-क्षायिकं,क्षायोपशमिकमौपशमिकं च। उक्तं च-" सम्मत्त पि य तिविहं, खओवसमियं तहोवसमियं च। खइयं चे" ति तत्र त्रिविधस्याऽपि दर्शनमोहनीयस्य क्षयेण-निर्मूलमपगमेन निर्वृत्तं क्षायिकम्, उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेण शेषस्य तूपशमेन निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम्, उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सति शेषस्य भस्मच्छन्नाग्नेरिवानुद्रेकावस्था उपशम. तेन निर्वृत्तमौपशमिकम्। आह-औपशमिकक्षायोपशमिकयोः कः प्रतिविशेष.?,उच्यते क्षायोपशमिके तदावारकस्य कर्मणः प्रदेशतोऽनुभवोऽस्ति न त्वौपशमिके इति। दर्शनमेवासारमिथ्यात्वादिकचवररहिता विशुद्धरथ्या यस्य तत्तथा,तस्यामन्त्रणं हे दर्शनविशुद्धरथ्याक!' सेज्ञोपः सम्बोधने ह्रस्वो वे ति प्राकृतलक्षणसूत्रे वाशब्दस्य लक्ष्यानुसारेण दीर्घत्वसूचना (र्थत्वा) त् दीर्घनिर्देशः, यथा "गोयमा!" इत्यत्र, संघः-चातुर्वर्ण्यः श्रमणादिसंघातः स नगरमिव संघनगरं 'व्याघ्रादिभिर्गौणैस्तदनुक्ताविति' समासो, यथा पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः, तस्यामन्त्रणं हे संघनगर! भद्रं-कल्याणं ते-तव भवतु, अखण्डचारित्रप्राकार! चारित्रं-मूलगुणाः अखण्डम्-अविराधितं चारित्रमेव प्राकारो यस्य तत्तथा 'मांसादिषु चेति' प्राकृतलक्षणत्वात् चारित्रशब्दस्यादौ ह्रस्वः, तस्यामन्त्रण हे अखण्डचारित्रप्राकार! दीर्घत्वं प्रागिव।

भूयोऽपि संघस्यैव ससारोच्छेदकारित्वाच्चक्ररूपकेण— स्तवमाह—

संजमतवतुंबारय-स्स नमो सम्मत्तपारियल्लस्स।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघचक्कस्स॥ ५॥

संयम.-सप्तदशप्रकारः, यदुक्तम्-" पञ्चाश्रवाद्विरमणं,पञ्चेन्द्रियनिग्रह. कषायजयः। दण्डत्रयविरतिश्चे-ति संयमः सप्तदशभेदः॥१॥" तपो द्विधा-बाह्यम्, आभ्यन्तर च। तत्र-बाह्यं षड्विधम्, यदुक्तम्" अनशनमूनोदरता, वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः। कायक्लेशः संली-नतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम्॥१॥" आभ्यन्तरमपि षोढा, यत उक्तम्—" प्रायश्चित्तध्याने, वैयावृत्त्यविनयावथोत्सर्गः। स्वाध्याय इति तपः षट्—प्रकारमाभ्यन्तरं भवति॥ २॥" सयमश्च तपांसि च संयमतपांसि तुम्बं च अराश्च—अरकाः तुम्बारा. संयमतपांस्येव यथासंख्यं तुम्बारा यस्य तत्तथा तस्मै संयमतपस्तुम्बाराय नमः। सूत्रे षष्ठी प्राकृतलक्षणाच्चतुर्थ्यर्थे वेदितव्या। उक्तं च-"छट्ठिविहत्तीए, भन्नइ चउत्थी" तथा—' सम्मत्तपारियल्लस्स' सम्यक्त्वमेव पारियल्लं—बाह्यपृष्ठस्य बाह्याभ्रमिर्यस्य तत्तथा तस्मै नमः, गाथार्द्धं व्याख्यातम्। तथा न विद्यते प्रति—अनुरूपं समानं चक्रं यस्य तदप्रतिचक्रं, चरकादिचक्रैरसमानमित्यर्थः, तस्य जयो भवतु सदा—सर्वकालं, संघश्चक्रमिव संघचक्रं तस्य।

सम्प्रति संघस्यैव मार्गगामितया रथरूपकेण स्तवमभिधित्सुराह—

भद्दं सीलपडागू-सियस्स तवनियमतुरयजुत्तस्स।
संघरहस्स भगवओ, सज्झायसुनंदिघोसस्स॥ ६॥

भद्रं—कल्याणं संघरथस्य भगवतो भवत्विति योगः, किंविशिष्टस्य सत इत्याह—शीलोच्छ्रितपताकस्य शीलमेव-अष्टादशशीलाङ्गसहस्रूपमुच्छ्रिता पताका यस्य स तथा, भार्योढादेराकृतिगणतया तन्मध्यपाठाभ्युपगमादुच्छ्रितशब्दस्य परनिपातः, प्राकृतशैल्या वा, न हि प्राकृते विशेषणपूर्वापरनिपातनियमोऽस्ति, यथा कथञ्चित्पूर्वर्षिप्रणीतेषु वाक्येषु विशेषणनिपातदर्शनात्, तपोनियमतुरङ्गयुक्तस्य—तप.संयमाश्वयुक्तस्य, तथा स्वाध्याय.—पञ्चविध, तद्यथा-वाचना प्रच्छना परावर्त्तना अनुप्रेक्षा धर्मकथा च, स्वाध्याय एव सन्—शोभनो नन्दिघोषो द्वादशविधतूर्यनिनादो यस्य स तथा तस्य, 'सज्झायसुनेमिघोसस्से' ति क्वचित्पाठ', तत्र—स्वाध्याय. एव शोभनो नेमिघोषो यस्येति द्रष्टव्यम्, इह शीलाङ्गप्ररूपणे सत्यपि तपोनियमप्ररूपणं तयोः प्रधानपरलोकाङ्गत्वख्यापनार्थम्। अस्ति चायं न्यायो यदुत—सामान्योक्तावपि प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषाभिधानं क्रियते, यथा—ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति, एवमन्यत्रापि यथायोग परिभावनीयम्।

संघस्यैव लोकमध्यवर्त्तिनोऽपि लोकधर्मासंश्लेषतः पद्मरूपकेण स्तवं प्रतिपादयितुमाह—

कम्मरयजलोहविणि-ग्गयस्स सुयरयणदीहनालस्स।
पंचमहव्वयथिरक-ण्णियस्स गुणकेसरालस्स॥ ७॥
सावगजणमहुअरिपरि-वुडस्स जिणसूरतेयबुद्धस्स।
संघपउमस्स भद्दं, समणगणसहस्सपत्तस्स॥ ८॥

कर्म्म-ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं तदेव जीवस्य गुण्डनेन मालिन्यापादनाद्रजो भण्यते, कर्म्मरज एव जन्मकारणत्वाजलौघ. तस्माद्विनिर्गत इव विनिर्गत. कर्मरजोजलौघविनिर्गतः तस्य, इह पद्मं जलौघाद्विनिर्गत सुप्रतीतं, जलौघस्योपरि तस्य व्यवस्थितत्वात्, संघस्तु कर्म्मरजोजलौघाद्विनिर्गतोऽल्पससारत्वादवसेयः, तथा च—अविर-

तसम्यग्दृष्टेरप्यपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमान एव संसारः, अत एव विनिर्गत इवेति व्याख्यात, न तु साक्षाद्विनिर्गतः, अद्यापि संसारित्वात्, तथा श्रुतरत्नमेव दीर्घो नालो यस्य स तथा तस्य, दीर्घनालतया च श्रुतरत्नस्य रूपणं कर्मरजोजलौघतः तद्दूलाद्विनिर्गते., तथा पञ्च महाव्रतान्येव-प्राणातिपातादिविरमणलक्षणानि स्थिरा-दृढा कर्णिका-मध्यगण्डिका यस्य तत्तथा तस्य, तथा गुणाः-उत्तरगुणाः त एव पञ्चमहाव्रतरूपकर्णिकापरिकरभूतत्वात् केसरा इव गुणकेसराः, ते विद्यन्ते यस्य तत्तथा तस्य, अत्र 'मतुवत्थम्मि मुणिज्जह आलं इल्लं मणं तह य' इति प्राकृतलक्षणात् मत्वर्थे आलप्रत्ययः । तथा ये अभ्युपेतसम्यक्त्वाः-प्रतिपन्नाणुव्रता अपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः साधूनामगारिणां चोत्तरोत्तरविशिष्टगुणप्रतिपत्तिहेतोः सामाचारीं शृण्वन्ति ते श्रावकाः, उक्तं च—"संपत्तदंसणाई, पयदियह जइ जणा सुणेई य । सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं विंति ॥ १ ॥" श्रावकाश्च ते जनाश्च श्रावकजनाः त एव मधुकर्यः ताभिः परिवृतस्य तस्य, तथा—जिनसूर्यतेजोबुद्धस्य-जिन एव सकलजगत्प्रकाशकतया सूर्य इव-भास्कर इव जिनसूर्यस्तस्य तेजो विशिष्टसंवेदनप्रभवा धर्मदेशाना तेन बुद्धस्य, तथा श्राम्यन्तीति श्रमणा 'नन्द्यादिभ्योऽनः' ॥ ५।१।५२ ॥ इति कर्त्तर्यनप्रत्ययः श्राम्यन्ति-तपस्यन्ति, किमुक्तं भवति ?-प्रव्रज्याऽऽरम्भदिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरता गुरूपदेशादाप्राणोपरमाद्यथाशक्त्यनशनादि तपश्चरन्ति । उक्तं च-"यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च । तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्त्तित. ॥१॥" श्रमणानां गण. श्रमणगणः स एव सहस्रं पत्राणां यस्य तत् श्रमणगणसहस्रपत्रं तस्य (श्रीसंघपद्मस्य भद्रं भवतु) ।

भूयोऽपि संघस्यैव सोमतया चन्द्ररूपकेण स्तवमभिधित्सुराह—

तवसंजममयलंछण, अकिरियराहुमुहदुद्धरिस निच्चं ।
जय संघचंद ! निम्मल-सम्मत्तविसुद्धजोण्हागा ॥६॥

तपश्च संयमश्च तपःसंयमं, समाहारो द्वन्द्वः तपःसंयममेव मृगलाञ्छनं-मृगरूपं चिह्नं यस्य तस्यामन्त्रणं हे तपःसंयममृगलाञ्छन !, तथा न विद्यन्तेऽनभ्युपगमात् परलोकविषया क्रिया येषां ते अक्रियाः—नास्तिकाः त एव जिनप्रवचनशशाङ्कग्रसनपरायणत्वाद्राहुमुखमिवाक्रियराहुमुखं तेन दुष्प्रधृष्यः—अनभिभवनीयः तस्यामन्त्रणं हे अक्रियराहुमुखदुष्प्रधृष्य !, संघश्चन्द्र इव सघचन्द्रः तस्यामन्त्रण हेसंघचन्द्र ! तथा निर्मलं—मिथ्यात्वमलरहितं यत्सम्यक्त्व तदेव विशुद्धा ज्योत्स्ना यस्य स तथा, 'शेषाद्वा' ॥ ७ । ३ । १७५ ॥ इति कः प्रत्ययः । तस्यामन्त्रणं हे निर्मलसम्यक्त्वविशुद्धज्योत्स्नाक ! दीर्घत्वं प्रागिव प्राकृतलक्षणादवसेयम्, नित्यं—सर्वकालं जय—सकलपरदर्शनतारकेभ्योऽतिशयवान् भव, यद्यपि भगवान् संघचन्द्र' सदैव जयन् वर्त्तते तथाऽपीत्थं स्तोतुरभिधानं कुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिकारणमित्यदुष्टम् ।

पुनरपि संघस्यैव प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण स्तवमाह—

परतित्थियगहपहना-सगस्स तवतेयदित्तलेसस्स ।
नाणुज्जोयस्स जए, भद्दं दमसंघसूरस्स ॥ १० ॥

परतीर्थिकाः-कपिलकणभक्षाक्षपादसुगतादिमतावलम्बिनः त एव ग्रहाः तेषां या प्रभा एकैकदुर्नयाभ्युपगमपरिस्फूर्तिलक्षणा तामनन्तनयसङ्कुलप्रवचनसमुत्थविशिष्टज्ञानभास्करप्रभावितानेन नाशयति—अपनयतीति परतीर्थकग्रहप्रभानाशकः तस्य, तथा तपस्तेज एव दीप्ता-उज्ज्वला लेश्या-भास्वरता यस्य स तथा तस्य तपस्तेजोदीप्तलेश्यस्य, तथा ज्ञानमेवोद्द्योतो वस्तुविषयः प्रकाशो यस्य स तथा तस्य ज्ञानोद्द्योतस्य, जगति—लोके भद्रं—कल्याणं, भवत्विति शेषः, दमः-उपशमः तत्प्रधानः संघः सूर्य इव संघसूर्यः तस्य दमसंघसूर्यस्य ।

सम्प्रति संघस्यैवाक्षोभ्यतया समुद्ररूपकेण स्तवं चिकीर्षुराह—

भद्दं धिइवेलापरि-गयस्स सज्झायजोगमगरस्स ।
अक्खोहस्स भगवओ, संघसमुद्दस्स रुंदस्स ॥ ११ ॥

संघ एव समुद्रः संघसमुद्रः तस्य भद्रं भवत्विति क्रिया शेषः । किंविशिष्टस्य सत इत्याह—धृतिवेलापरिगतस्य—धृति.—मूलोत्तरगुणविषयः प्रतिदिवसमुत्सहमान आत्मपरिणामविशेष. सैव वेला-जलवृद्धिलक्षणा तया परिगतस्य, तथा स्वाध्याययोग एव कर्मविदारणक्षमशक्तिसमन्विततया मकर इव मकरो यस्मिन् स तथा तस्य, तथा अक्षोभ्यस्य परीषहोपसर्गसम्भवेऽपि निष्प्रकम्पस्य भगवतः समग्रैश्वर्यरूपयशोधर्मप्रयत्नश्रीसम्भारसमन्वितस्य रुन्दस्य-विस्तीर्णस्य ।

भूयोऽपि संघस्यैव सदास्थायितया मेरुरूपकेण स्तवमाह—

सम्मद्दंसणवरवइर-दढरूढगाढावगाढपेढस्स ।
धम्मवररयणमंडिअ-चामीयरमेहलागस्स ॥ १२ ॥
नियमूसियकणयसिला-यलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स ।
नंदणवणमणहरसुरभि-सीलगंधुद्धुमायस्स ॥ १३ ॥
जीवदयासुंदरकं-दरुद्दरियमुणिवरमइंदइन्नस्स ।
हेउसयधाउपगलं-तरयणदित्तोसहिगुहस्स ॥ १४ ॥
संवरजलपगलियउ-ज्झरपविरायमाणहारस्स ।
सावगजणपउररवं-तमोरनच्चंतकुहरस्स ॥ १५ ॥
विणयनयपवरमुणिवर-फुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स ।
विविहगुणकप्परुक्खग-फलभरकुसुमाउलवणस्स ॥१६॥
नाणवररयणदिप्पं-तकंतवेरुलियविमलचूलस्स ।
वंदामि विणयपणओ, संघमहामंदरगिरिस्स ॥ १७ ॥

गाथाषट्केन सम्बन्ध. । सम्यक्—अविपरीतं दर्शनं-तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तदेव प्रथमं मोक्षाङ्गतया सारत्वाद्वरवज्रमिव सम्यग्दर्शनवरवज्रं तदेव दृढं निष्प्रकम्प रूढंचिरप्ररूढं गाढ-निबिडमवगाढं निमग्नं पीठं—प्रथमभूमिका यस्य स तथा, इह मन्दरगिरिपक्षे वज्रमयं पीठं दृढादिविशेषण सुप्रतीतम्, संघमन्दरगिरिपक्षे तु सम्यग्दर्शनवरवज्रमयं पीठ इह शङ्कादिशुषिररहिततया परतीर्थिकवासनाजलेना-

न्तःप्रवेशाभावतश्चालयितुमशक्यम्, रूढं प्रतिसमयं विशुद्धयमानतया प्रशस्ताध्यवसायेषु चिरकालं वर्त्तनात्, गाढं तीव्रतत्त्वविषयरुच्यात्मकत्वाद्, अवगाढं जीवादिषु पदार्थेषु सम्यगवबोधरूपतया प्रविष्टं, तं वन्दे। सूत्रे प्राकृतत्वात् द्वितीयार्थे षष्ठी। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-' द्वितीयार्थे षष्ठी ' अथवा-सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, यथा मापाणामश्नीयादित्यत्र, यद्वा-इत्थम्भूतस्य संघमन्दरगिरेर्यत् माहात्म्यं तद् वन्दे,इति महात्म्यशब्दाध्याहारापेक्षया षष्ठी,तथा दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, स एव वररत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य स धर्म्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः, 'शेषाद्वा' ॥७।३।१७५॥ इति कः प्रत्ययः तस्य, इह धर्मो द्विधा-मूलगुणरूपः,उत्तरगुणरूपश्च। तत्रोत्तरगुणरूपो रत्नानि, मूलगुणरूपस्तु मेखला, न खलु मूलगुणरूपधर्मात्मकचामीकरमेखला विशिष्टोत्तरगुणरूपवररत्नविभूषणविकला शोभते। इहोच्छ्रितशब्दस्य व्यवहितः प्रयोग.। ततश्चायमर्थः—नियमा एव इन्द्रियनोइन्द्रियदमरूपाः कनकशिलातलानि तेषु उच्छ्रितानि—उज्ज्वलन्ति ज्वलन्ति चित्तान्येव कूटानि यस्मिन् स तथा तस्य, इह मन्दरगिरौ कूटानामुच्छ्रितत्वमुज्ज्वलत्वं भासुरत्वं च सुप्रतीतम्, संघमन्दरगिरिपक्षे तु चित्ररूपाणि कूटान्युच्छ्रितानि अशुभाध्यवसायपरित्यागादुज्ज्वलानि प्रतिसमयं कर्ममलविगमात् ज्वलन्ति उत्तरोत्तरसूत्रार्थस्मरणेन भासुरत्वात्,तथा नन्दन्ति सुरासुरविद्याधरादयो यत्र तन्नन्दनं वनम्—अशोकसहकारादिपादपवृन्दं नन्दनं च तद्वनं च नन्दनवनं, लतावितानगतविविधफलपुष्पप्रवालसंकुलतया मनो हरतीति मनोहरं,'लिहादिभ्यः' इत्यच् प्रत्ययः,नन्दनवन च तन्मनोहरं च तस्य सुरभिस्वभावो यो गन्धस्तेन उद्धुमायः—आपूर्णः, उद्धुमायशब्द आपूर्णपर्यायः, यत उक्तमभिमानचिह्नेन—"पडिहत्थमुद्धुमायं अ, हिरे इय च जाण आउरणो" तस्य, संघमन्दरगिरिपक्षे तु-नन्दनं—सन्तोषः, तथाहि-तत्र स्थिताः साधवो नन्दन्ति-तत्त्वविविधामर्षौषध्यादिलब्धिसङ्कुलतया मनोहरं, तस्य सुरभिः शीलमेव गन्धः तेन व्याप्तस्य, अथवा—मनोहरत्वं सुरभिशीलगन्धविशेषणं द्रष्टव्यम्। जीवदया एव सुन्दराणि स्वपरनिर्वृतिहेतुतया कन्दराणि तपस्विनामावासभूतत्वात्, तथा च लोकेऽपि प्रतीतम्-'अहिंसाव्यवस्थित. तपस्वी' ति, जीवदयासुन्दरकन्दराणि, तेपु ये उत्—प्राबल्येन कर्मशत्रुञ्जय प्रति दर्पिता उद्दर्पिता मुनिवरा एव शाक्यादिमृगपराजयात् मृगेन्द्राः तैराकीर्णा—व्याप्तस्तस्य, तथा मन्दरगिरेर्गुहासु निष्यन्दवति चन्द्रकान्तादीनि रत्नानि भवन्ति कनकादिधातवो दीप्ताश्चौषधयः, संघमन्दरगिरिपक्षे तु अन्वयव्यतिरेकलक्षणा ये हेतवस्तेषां शतानि हेतुशतानि तान्येव धातवः, कुयुक्तिव्युदासेन तेषां स्वरूपेण भास्वरत्वात्, तथा प्रगलन्ति—निष्यन्दमानानि क्षायोपशमिकभावस्यन्दित्वात् श्रुतरत्नानि दीप्ताः जाज्वल्यमाना ओषधय.- आमर्षौषध्यादयो गुहासु—व्याख्यानशालारूपासु यस्य स तथा तस्य, संवरः—प्राणातिपातादिरूपपञ्चाश्रवप्रत्याख्यान तदेव कर्ममलप्रक्षालनात् सासारिकतृष्णपनोदकारित्वात् परिणामसुन्दरत्वाच्च वरजलमिव संवरवरजल तस्य, प्रगलित'—सातत्येन व्यूढः उज्झर.—प्रवाहः स एव प्रविराजमानो हारो यस्य स तथा, श्रावकजना एव स्तुतिस्तोत्रस्वाध्यायविधानमुखरतया प्रचुरा रवन्तो मयूरा. तैर्नृत्यन्तीव कुहराणि—जिनमण्डपादिरूपाणि यस्य स तथा तस्य, विनयेन नता विनयनता ये प्रवरमुनिवरा. त एव स्फुरन्त्यो विद्युतो विनयनतप्रवरमुनिवरस्फुरद्विद्युत. ताभिर्ज्वलन्ति—भासमानानि, शिखराणि, यस्य स तथा तस्य इह शिखरस्थानीयाः प्रावचनिका विशिष्टा आचार्यादयो द्रष्टव्याः, विनयनतानां च प्रवरमुनिवराणां विद्युता रूपणं विनयादिरूपेण तपसा तेषां भासुरत्वात्, तथा विविधा गुणा येषा ते विविधगुणाः विशेषणान्यथानुपपत्त्या साधवो गृह्यन्ते, त एव विशिष्टकुलोत्पन्नत्वात् परमानन्दरूपसुखहेतुधर्म्मफलदानाच्च कल्पवृक्षा इव विविधगुणकल्पवृक्षका., प्राकृतत्वात् स्वार्थे कप्रत्यय, तेषा च यः फलभरो यानि च कुसुमानि तैराकुलानि वनानि यस्य स तथा तस्य, इह फलभरस्थानीयो मूलोत्तरगुणरूपो धर्म., कुसुमानि नानाप्रकारा ऋद्धयः, वनानि तु गच्छा'। तथा ज्ञानमेव परमनिर्वृतिहेतुत्वात् वर रत्न ज्ञानवररत्नं तदेव दीप्यमाना कान्ता विमला वैडूर्यमयी चूडा यस्य स तथा, तत्र मन्दरपक्षे वैडूर्यमयी चूडा कान्ता विमला च सुप्रतीता, सघमन्दरपक्षे तु कान्ता भव्यजनमनोहारित्वाद्विमला यथावस्थितजीवादिपदार्थस्वरूपोपलम्भात्मकत्वात्, तस्य, इत्थंभूतस्य सघमहामन्दरगिरेर्यन्माहात्म्य तद्विनयप्रणतो वन्दे। तदेवं संघस्यानेकधा स्तवोऽभिहितः॥ नं०। "दुप्पसहो सूरी फग्गुसिरीअज्जा नाइलो सावओ सच्चसिरी साविया एस अपच्छिमो संघो पुव्वण्हे भारहे वासे अत्थमेहिइ।" ती० २० कल्प। ही०। (सघव्यवहार. 'ववहार' शब्दे षष्ठ भागे ६१६ पृष्ठे द्रष्टव्यः।) श्रीवज्रस्वामिना पटविद्यया संघ. सुभिक्षदेशे नीत', तत्र संघ. किं चतुर्विध.,साधुसाध्वीमात्रसमुदायो वा? पटविद्या च किंस्वरूपेति? प्रश्नोऽत्रोत्तरम्-परिशिष्टपर्वाद्युक्तवज्रस्वामिसम्बन्धानुसारेण चतुर्विधसघोऽवसीयते, न तु साधुसाध्वीरूप एव। तथा यया चक्रवर्त्तिचर्मरत्नवद्विवक्षितविस्तार. पटो भवति सा पटविद्येति॥ ३५१॥ सेन० ३ उल्ला०। अथ वार्षिककृत्यानि यथा—सघार्चनादीनि बहुविधानि, यतः श्राद्धविधावेकादशद्वारैः प्रतिपादितानि। गाथोत्तरार्द्ध-" पइवरिस सघच्चण १ साहम्मिअभत्ति २ जत्ततिगं ३ ॥१॥ जिणगिहण्हवणं ४ जिणधण-वुड्ढी ५ महपूआ ६ धम्मजागरिआ ७। सुअपूआ ८ उज्जवण ९, तह तित्थपहावणा सोही १०॥ २॥" तत्र सघपूजायां निजविभवाद्यनुसारेण भृशादरबहुमानाभ्या साधुसाध्वीयोग्यमाधाकर्मादिदोषरहित वस्त्रकम्बलपादप्रोञ्छनसूत्रोर्णापात्रदण्डकदण्डिकासूचीकण्टककर्षणकागदकुम्पकलेखनीपुस्तकादिक श्रीगुरुभ्यो दत्ते, यद्दिनकृत्यसूत्रम्—" वत्थ पत्तं च पुत्थ च, कंबलं पायपुंछणं। दंडं सथारय सिज्जं, अन्नं जं किंचि सुज्झई॥१॥" एवं प्रातिहारिकपीठफलकपट्टिकाद्यपि संयमोपकारि सर्वं साधुभ्यः श्रद्धया देयम्। सूच्यादीनामुपकरणत्वं तु श्रीकल्पे उक्तम्-यथा-"असणाई वत्थाई, सूआई चउक्गा तिन्नि" अशनादीनि वस्त्रादीनि सूच्यादीनि चेति त्रीणि चतुष्कानि, सङ्कलनया द्वादश। यथा-अशनं १ पान २ खा-

दिम ३ स्वादिमं ४, वस्त्रं १ पात्रं २ कम्बलं ३ पादप्रोञ्छनम् ४, सूची १ पिप्पलको २ नखच्छेदनकं ३ कर्णशोधनकं ४ चेति। एवं श्रावकश्राविकारूपसंघमपि यथाशक्ति सभक्तिप-रिधापनकादिना सत्करोति, यथोचितं च देवगुर्वादिगुण-गायकान् याचकादीनपि। सघार्चा हि उत्कृष्टादिभेदात् त्रि-धा--तत्रोत्कृष्टा सर्वपरिधापनेन, जघन्येन जघन्या--सूत्र-मात्रादिना, एकद्वयादेर्चा, शेषा मध्यमा। तत्राधिकव्यय-नेऽशक्तोऽपि प्रतिवर्ष गुरुभ्यो मुखवस्त्रादिमात्रं द्वित्र्यादि-श्राद्धेभ्य. पूगादीनि दत्त्वा संघार्चाकृत्यं भक्त्या सत्याप-यति, नि:स्वस्य तावताऽपि महाफलत्वात्, शक्त्या च क्रियमाणेयं महागुणकरी। यत' पञ्चाशके--" सत्तीइ-सघपूजा, विसेसपूजा च बहुगुणा एसा। जं एस सुए भणिओ, तित्थयराणंतरो सघो ॥ १ ॥" इति सघार्चा-विधिः १। ध० २ अधि०।

संघट्ट--संघट्ट--पुं०। जङ्घार्द्धप्रमाणे उदके, ओघ०। ग०। यस्मिन् काले उत्तरता पादतलादारभ्य जङ्घाया अर्द्धं ब्रुडति स सं-घट्टः। बृ० ४ उ०। स्था०। स्पर्शे, रा०। ध०।

संघट्टंती--संघट्टयन्ती--स्त्री०। षट्कायान् शेषशरीरावयवेनेष स्पृशन्त्याम्, पिं०।

संघट्टण--संघट्टन--न०। अविधिना स्पर्शने, आव० ४ अ०। मनाक् स्पर्शने, ग०२ अधि०। अन्योऽन्यं गात्रैः सहतीकरणे, भ० ५ श० ६ उ०। जीवानां संघट्टने प्रायश्चित्तम्। महा० १ चू०। "नो सघट्टेज्जा नो ण परिभुंजेज्जा" महा० १ चू०। संघट्टे पारञ्चियं। महा० १ चू०।

संघट्टसुमिणसा--संघट्टसुमिनसा--स्त्री०। वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

संघट्टिय--संघट्टित--त्रि०। मनाक् स्पृष्टे, आव० ४ अ०। ध०। संघर्षिते, भ० १६ श० ३ उ०। आचा०।

संघड--संघट--त्रि०। निरन्तरे, आचा०१ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

संघडणा--संघटना--स्त्री०। रचनायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

संघडदंसिन्--संघटदर्शिन्--त्रि०। निरन्तरदर्शिनि, आचा०१ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

संघडिय--संघटित--त्रि०। सम्यग्घटिते परस्परं स्नेहेन सम्ब-द्धे, (वयस्यादौ) उत्त० १४ अ०।

संघडियव्व--संघटितव्य--त्रि०। अप्राप्तेषु वस्तुषु कार्ययोगे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

संघतिलगसूरि--संघतिलकसूरि--पुं०। रुद्रपालीयगच्छे गुण-शेखरसूरिशिष्ये, येन विक्रमीय १४४२ सवत्सरे सम्यक्त्वस-प्तत्युपरि टीका कृता। जै० इ०।

संघथेर--संघस्थविर--पुं०। संघकार्ये आप्रष्टव्ये स्थविरभेदे, पं० भा० ५ कल्प। पं० चू०।

संघदासखमासमण--संघदासक्षमाश्रमण--पुं०। पञ्चकल्पभा-ष्यनिर्मातरि स्वनामख्याते आचार्ये, पं० भा० ५ कल्प। नं०। वसुदेवहिण्डीग्रन्थस्य प्रथमखण्डोऽनेन रचित। जै० इ०।

संघधम्म--संघधर्म--पुं०। संघधर्मो गोष्ठीसमाचार, आर्हता-नां वा गुणसमुदायरूपश्चतुर्वर्णो वा संघस्तद्धर्मस्तत्समा-चार'। धर्मभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

संघपउम--संघपद्म--न०। लोकमध्यवर्तित्वेऽपि लोकधर्मासं-श्लेषत' पद्मरूपतां गते संघे, न०।

संघपालिय--संघपालित--पुं०। स्थविरस्य आर्यवृद्धस्य गौत-मगोत्रे स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। "थेरं च सघवालियं--गोयमगुत्तं पणिवयामि"। कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

संघपाहुणग--संघप्राघूर्णक--पुं०। कुलगणसंघस्थविरेषु, कु-लगणसघथेरा संघपाहुणा भएणंति। नि० चू० ४ उ०।

संघमज्झयार--संघमध्यकार--पुं०। कारशब्दोऽत्र रूपमात्रे इति। संघाभ्यन्तरे, व्य० ३ उ०।

संघयण--संहनन--न०। अस्थिसंचये, वज्रऋषभाद्युपमाने उ-पमेये शक्तिविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा--वतिरोसभणारायसं-घयणे उसभणारायसंघयणे नारायसंघयणे अद्धनारा-यसंघयणे खीलियासंघयणे छेवट्ठसंघयणे ॥ (सू०४६४)

संहननम्--अस्थिसंचय., वक्ष्यमाणोपमानोपमेयः, शक्तिविशेष इत्यन्ये। तत्र वज्रं--कीलिका ऋषभः--परिवेष्टनपट्टः नाराचः--उभयतो मर्कटबन्ध., यत्र द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन ब-द्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तद--स्थित्रितयभेदिकीलिकाकारं वज्रनामकमस्थि भवति तद्वज्र-ऋषभनाराचं प्रथमम्, यत्र तु कीलिका नास्ति तद् ऋषभनाराचं द्वितीयम्, यत्र तूभयोर्मर्कटबन्ध' एव तन्ना-राचं तृतीयम्, यत्र त्वेकतो मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे की-लिका तदर्द्धनाराचं चतुर्थम्, कीलिकाविद्धास्थिद्वयसञ्चितं कीलिकाख्यं पञ्चमम्। अस्थिद्वयपर्यन्तस्पर्शनलक्षणा से-वामार्त्त सेवाऽऽगतमिति सेवार्तं षष्ठम्। शक्तिविशेषपक्षे त्वेव विधदार्वादेरिव दृढत्वं संहननमिति। इह गाथे--" वज्ज-रिसभनारायं, पढमं बीयं च रिसभनारायं। नाराय अ-द्धनारा--य कीलिया तह य छेवट्ठं ॥ १ ॥ रिसहो य होइ पट्टो, वज्ज पुण खीलियं वियाणाहि। उभओ मक्कडबंध, नाराय तं वियाणाहि ॥ २ ॥" स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सम्प्रति संहनननाम षड्विधमभिधित्सुर्गाथायुगलमाह--

संघयणमट्ठिनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं।
तह रिसहनारायं, नारायं अद्धनारायं ॥ ३७ ॥
कीलिह्छेवट्टं इह, रिसहो पट्टो य कीलियावज्जं।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं इममुरालंगे ॥ ३८ ॥

संहन्यन्ते--दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत् संहननं तच्चास्थिनिचय' कीलिकादिरूपाणामस्थ्नां निचयो र-चनाविशेषोऽस्थिनिचय.। तत्संहननं षड्धा षट्प्रकारैर्भ-वति। तद्यथा--वज्रऋषभनाराचं, तथा ऋषभनाराचमि-हानुस्वारोऽलाक्षणिक, नाराचम्, अर्धनाराचं, कीलिका

सेवार्तम्। इह प्रवचने ऋषभं ऋषभशब्देन परिवेष्टनपट्ट उच्यते, वज्रं वज्रशब्देन कीलिकाऽभिधीयते, नाराचं नाराचशब्देनोभयतो मर्कटबन्धो भण्यते। इदमस्थिनिचयात्मकं संहननमौदारिकाङ्गे औदारिकशरीर एव, नान्येषु शरीरेषु, तेषामस्थिरहितत्वादिति गाथायुगलाक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्--इह द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदिकीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद्वज्रऋषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम वज्रऋषभनाराचनाम। यत्पुनः कीलिकारहितं संहननं तत् ऋषभनाराचं, तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचनाम। यत्र पुनर्मर्कटबन्धः केवलो भवति न पुनः कीलिका भवति ऋषभसंज्ञः पट्टश्च तन्नाराचं, तन्निबन्धनं नाम नाराचनाम। यत्र त्वेकपार्श्वेन मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वेन च कीलिका भवति तदर्धनाराचं तन्निबन्धनं नामार्धनाराचनाम। यत्र पुनरस्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्कीलिकासहनन तन्निबन्धनं नाम कीलिकानाम। यत्र तु परस्परं पर्यन्तस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षते तत्सेवार्तं, तन्निबन्धनं नाम सेवार्तनाम। यद्वा 'छेवट्ठं' ति दकारस्य लुप्तस्येह दर्शनाच्छेदानामस्थिपर्यन्तानां वृत्तं परस्परं सम्बन्धघटनालक्षणं वर्तनं वृत्तिर्यत्र तच्छेदवृत्तं, कीलिकापट्टमर्कटबन्धरहितमस्थिपर्यन्तमात्रसंस्पर्शिपक्षमित्यर्थः। ततो यदुदयात् शरीरे वज्रऋषभनाराचसंहननं भवति तद्वज्रऋषभनाराचसंहनननामकर्मेति। एवमृषभनाराचादिष्वपि वाच्यमिति॥ ३७॥ ३८॥ कर्म० १ कर्म०। उत्त०। विशे०। प्रव०। आचा०। प्रज्ञा०। जं०। जी०। पं० सं०। पं० भा०। पं० चू०। स०। (के कुत्रोपपद्य किं संहनना भवन्तीत्युक्तम् 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे)

असुरकुमारा णं भंते! किंसंघयणा पण्णत्ता, गोयमा! छण्हं संघयणाणं असंघयणी, णेवट्ठी णेव छिरा णेव ण्हारू जे पोग्गला इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा मणाभिरामा ते तेसिं असंघयणत्ताए परिणमंति। एवं० जाव थणियकुमाराणं। पुढवीकाइया णं भंते! किं संघयणी पण्णत्ता, गोयमा! छेवट्ठसंघयणी पण्णत्ता, एवं० जाव संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिय त्ति, गब्भवक्कंतिया छव्विहसंघयणी, सम्मुच्छिममणुस्सा छेवट्ठसंघयणी, गब्भवक्कंतियमणुस्सा छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा-असुरकुमारा तहा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया य (सू० १५५+) स० १५५ सम०।

नामकर्मभेदे, प्रज्ञा० २३ पद। (पृथ्वीकायिका 'पुढवीकाइयाऽऽ' दिशब्देषु ते कति संहननवन्त इति उक्तम्।)

संघयणछक्क-संहननषट्क-न०। वज्रऋषभ १ नाराचऋषभ २ नाराच ३ अर्द्धनाराच ४ कीलिका ५ सेवार्तसंहननाख्ये संहननषट्के, कर्म० २ कर्म०।

संघयणजुय-संहननयुत-त्रि०। विशिष्टशरीरसामर्थ्यरूपेण संहननेन युते, स च व्याख्यानादिषु न श्राम्यतीति तत्त्वम्, पञ्चमः सूरिगुणः। प्रव० ६५ द्वार। ग०।

संघयणणाम-संहनननामन्-न०। संहन्यन्ते धातूनामनेकार्थत्वात्-दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गलाः कपाटादयो लोहपट्टिकादिनेव येन तत्संहननं, तदेव नाम संहनननाम। नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म०। पं० सं०। प्रश्न०। आ०।

संघरह-संघरथ-पुं०। मार्गगामितया रथरूपकेणोपमिते साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपे समुदाये, नं०।

संघरिस-संघर्ष-पुं०। निर्मथने, प्रज्ञा० १ पद।

संघरिसगमण-संघर्षगमन-न०। श्रावकयोः कः शीघ्रगतिरितिस्पर्धया गमने, जीत०।

संघरिससमुट्ठिय-संघर्षसमुत्थित-त्रि०। अरण्यादिकाष्ठनिर्मथनसमुद्भूते (अग्नौ,) प्रज्ञा० १ पद।

संघवद्धण-संघवर्द्धन-न०। स्वनामख्याते नगरे, आ० चू० ४ अ०।

संघववहार-संघव्यवहार-पुं०। संघेन छेत्तव्ये व्यवहारे, व्य० ३ उ०। ('ववहार' शब्दे षष्ठभागे ११८ पृष्ठे उक्त एषः।)

संघवेयावच्च-संघवैयावृत्य-न०। संघकार्यकरणे, औ०।

संघसमुद्द-संघसमुद्र-पुं०। अक्षोभ्यतया समुद्ररूपकेण रूपिते, संघे, नं०।

संघसम्मय-संघसम्मत-त्रि०। साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपस्य चतुर्विधस्य संघस्याभिमते, ध० ३ अधि०।

संघसूर-संघसूर्य-पुं०। प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण रूपिते,नं०।

संघाइम-संघातिम-त्रि०। संघातेन निर्वृत्तं संघातिमम् परस्परत. पुष्पमालादिसंघातेनोपजायमाने, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सघातिमं--यत् पुष्पं पुष्पेण परस्परं नालप्रवेशेन संयोज्यते। जी०३ प्रति०४ अधि०। संघातिमं तु यत्परस्परतो नालसंघातनेन संघात्यते। भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा०। कञ्चुकवत् बहुवस्त्रादिखण्डसंघातनिष्पन्ने (अनु०। दश०। नि० चू०।) चोलकादौ, आचा० २ श्रु० २ चू० ५ अ०।

संघाइय-संघातित-त्रि०। मिथो गात्रैः पिण्डीकृते, ध०२ अधि०। अन्योऽन्यं गात्रैरेकत्र लगिते,आव० ४ अ०। आ०चू०।

संघाएंत-संघातयत्-त्रि०। अन्योऽन्यं गात्रैः संहतान् कुर्वति, भ० ५ श० ६ उ०।

संघाड-संघाट-पुं०। पुष्पाकीर्णे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। प्रकारे, संघाड त्ति वा तय त्ति वा रागाए त्ति वा एगट्ठं ति। वृ० १ उ० ३ प्रक०। युग्मे, संघाटशब्दो युग्मवाची। यथा साधुसघाट इति। ज० १ वक्ष०।

संघात--पुं०। संहनने, आ० म० १ अ०। समूहे, अनु०। विशे०। आव०। तीर्थादिषु सम्मिलितजनसंघातवत् सघातः। अनु०। संमिश्रे, आ० म० १ अ०। ज्ञानाध्ययने, स० १८ सम०।

संघाडकरण-संघातकरण-न०। औदारिकवैक्रियाहारकरूपाणां शरीराणां सघाते, आ० म० १ अ०। आ० चू०।

संघाडग-संघाटक-न०। युग्मे, रा०। जी०। जलजवीजफलविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

संघाडगणाय-संघाटकज्ञात-न०। संघाटकं श्रेष्ठिचौरयोरेकवन्धनवन्धत्वम्। इदं चाभीष्टार्थज्ञापकत्वात् ज्ञातमिति। ज्ञाताधर्मकथाया द्वितीयाध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ('सघाडग' शब्दस्य वक्तव्यता 'धण' शब्दे चतुर्थभागे २६४५ पृष्ठे द्रष्टव्या।)

संघाडपरिसाट-संघातपरिशाट-पुं०। संघातसंमिश्रे परिशाटे, आ० म० १ अ०।

संघाडी-संघाटी-स्त्री०। उत्तरीयविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ०। विशे०। साधूपकरणविशेषे, वृ०। (संघाटी कतिविधा इति 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६३ पृष्ठे गतम्।)

संघाटी दीर्घसूत्रां करोति—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा अप्पणो संघाडीए दीहसुत्तायं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे ते संघाडिबंधणसुत्ता ते दीहा ण कायव्वा। अध दीहे करेति तो मासलहुं, आणादिणो य दोसा।

गाहा—

जे भिक्खू दीहाइं,कुज्जा संघाडिसुत्तगाइं तु।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ३३ ॥
अच्छणेणे सम्मद्दा, पडिलेहा चेव ऽणेगरूवाणं।
सुत्तत्थतदुभएसु य, पलिमंथो होति दीहेसु ॥ ३४ ॥

अच्छणं णाम-कड्डणं तत्थ सम्मद्दा णाम पडिलेहणदोसो अणेगरूवधुणणदोसो य भवति। मूढेसु ओमोडुंतस्स वालंतस्स य सुत्तत्थपलिमंथो। जम्हा एते दोसा तम्हा इमं पमाणं।

गाहा—

चतुरंगुलप्पमाणा, तम्हा संघाडिसुत्तगं कुज्जा।
जहन्नेण तिन्नि बंधा, उक्कोसेणं तु छब्भणिता ॥३५॥

चउरंगुलप्पमाणा कायव्वा छच्चधा दोसु वि दिसासु तेसिं मूले इमेरिसो पडिबंधो।

गाहा—

सउणगपातसरिच्छा, उ पासगा तिन्नि अंतमज्झेगो।
तज्जातेण गहेज्जा, मोत्तूण य होति पडिलेहा ॥३६॥

सउणगो-पक्खी तस्स जारिसो पडिपातो भवति तारिसो कायव्वो, तज्जाएण उणियं उणिएण खोमियं खोमिएण जया पडिलेहेति तदा ते बधे मोत्तूण।

गाहा—

वितियपदम्मि य वुड्ढी, एगयगेलन्न विसमवोच्छेए।
एतेहि कारणेहिं, दीहे वि हु सुत्तए कुज्जा ॥ ३७ ॥

वुड्ढेति दीहे यधिउं न सक्केइ। पूर्ववत्॥ नि० चू० ५ उ०।

सूत्रम्—

जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडियं देइ देइंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडियं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडियं देइ देइंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडियं पडिच्छइ पडिच्छन्तं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू कुसीलस्स संघाडियं देइ देइंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू कुसीलस्स संघाडियं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे भिक्खू णितियस्स संघाडियं देएइ देएंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥ जे भिक्खू णितियस्स संघाडियं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥ जे भिक्खू संसत्तस्स संघाडियं देएइ देएंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥ जे भिक्खू संसत्तस्स संघाडिगं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

दस सुत्ता, णाणदंसणचरित्ताण पासट्ठितो पासत्थो ओसण्णो दोसो। ओसण्णो उ यो वा संजमे तन्निसण्णो, कुच्छियसीलो कुसीलो। वहुदोसो संसत्तो दव्वाईए अणुयत्तो णितिओ। एतेसिं संघाडयं देति पडिच्छति वा तस्स-लहुं।

गाहा—

पासत्थोसण्णाणं, कुसीलसंसत्तणितियवासीणं।
जे भिक्खू संघाडं, दिज्जा अहवा पडिच्छेज्जा ॥२६१॥
से आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविहं।
पावति जम्हा तेणं, णो दिज्जा णो पडिच्छेज्जा ॥२६२॥

तेणं ति-संघाडएण इमा चारित्तविराहणा।

गाहा—

अविसुद्धस्स तु गहणे, आवज्जण अगहिते य अधिकरणं।
अप्पच्चओ गिहीणं, किं ण हु दिट्ठो जतीणं पि ॥२६३॥

साहू तेण संघाडएण समं हिंडतो जेण दोसेणासुद्धं गेण्हति तमावज्जति। अह साहू ण गेण्हति तो पासत्थस्स अचियत्तं कलहं वा करेति, साहुणा अपडिसिद्धे पासत्थेण गहिते जति साहू तुसिणीओ अच्छति एत्थ अणुमतिदोसो भवति। अप्पच्चओ गिहीणं भवति। इमं च भणेज्जा किं तत्थ कारणं दुविधो धम्मो कहितो एव भणिए।

गाहा—

जति अच्छति तुसिणीओ,भणति त एवं पि देसिओ धम्मो।
आसातणा सुमहती,सो चिय कलहो तु पडिघाते॥ २६४ ॥

पासत्थेण अत्थिए जइ साधू तुसिणीओ अच्छति अणुमतिं वा करेति तो सुमहती आसायणा, दीहं च ससारं णिव्वत्तेति। अहवा-साधू भणति ण वट्टति पासत्थवयणं च पडिघाएति, ताहे पासत्थो चिंतेतिमं ओभामेति सो चेव कलहो। पासत्थाईया इमेण दोसे परिहरति।

गाहा—

पासत्थोसन्नीणं, कुसीलसंसत्तणितियवासीणं।
उग्गमउप्पादणए-सणाए संसग्गमविराधे ॥ २६५ ॥

अहाछंदो जहा से अप्पणो छंदो अभिप्पाओ तहा पन्नवेति, उग्गमदोसा सोलस, उप्पादणादोसा सोलस, दस एसणादोसा, संविग्गा पुण इमेण विधिणा परिहरंति।

गाहा—

उग्गमउप्पायणए-सणाए तिण्हं पि तिकरणविसुद्धं।
पासत्थोसन्नाणं,कुसीलणितिए वि एमेव ॥ २६६ ॥
भणउग्गम आहाराऽऽ-दी य तिया तिन्नि तिकरणविसुद्धा।
एक्कासीती भंगा, सीलंगगमेण णेतव्वा ॥ २६७ ॥

'तिन्नि' त्ति आहारउवहिसेज्जा,तिन्नि करणा तिकरणा तेहिं सुद्ध तिकरणसुद्धं। एयस्स पुव्वद्धस्स इमा वक्खाणगाहा ॥२६६॥ भणाऽऽतितियं उग्गमादितियं-आहारादितियं। एते तिन्नि तिया। तिकरणदोसा उग्गमदोसा सोलस, उप्पायणादोसा सोलस, दस एसणादोसा संविग्गेण पुण इमेण एक्कासीती भंगा कायव्वा।

गाहा—

आहारादीय तिया, तिन्नि तिकरणविसुद्धा।
एक्कासीती भंगा, सीलंगगमेण णेतव्वा ॥ २६८ ॥

आहारोवहिसेज्जा एयस्स हेट्ठा उग्गमादितियं भणादितियं एयस्स वि हेट्ठा करणतिय इमा उच्चारणा।

गाहा—

आहार उग्गमेणं, अविसुद्धं ण गिण्हे गिण्हावे।
गेण्हंतं अणुजाणइ, एवं वायाएँ काएणं ॥ २६९ ॥
एमेव णव विकप्पा, उप्पातणएसणाएँ णव चेव।
एते तिन्नि उ णव ए-सणे वि माहारे भंगा तु ॥२७०॥
एमेवोवधिसेज्जा, एक्केक्कं सत्तवीस भंगा तु।
एते तिन्नि वि मिलिता, एक्कासीती भवे भंगा ॥२७१॥

आहारं उग्गमेण असुद्धं मणेण गेण्हति ण गेण्हावेति गेण्हंतं णाणुमोयति एते मणेण तिन्नि,वायाए तिन्नि,काएण वि तिन्नि एते णव उग्गमेण। तहा उप्पादणाए वि णव,एसणाए वि णव। एते सत्तावीसं आहारे। उवकरणे सेज्जाए वि सत्तावीसं। सव्वे एक्कासीती। जहा एते बायालीस अवराहे एक्कासीती य परिहरति एवं पासत्थे अहाछंदे कुसीले संसत्ते णितिए, अविसन्नाओ-ओसण्णे एतेसिं संघाडगं तिकरणविसोहीए ण देज्जा, ण पडिच्छेज्जा एक्कासीतीए य भंगं विगप्पेहिं परिहरेज्जा।

गाहा—

एताइं साहेंतो, चरणं साहेति संसओ णऽत्थि।
एतेहिँ असुद्धेहिं, चारित्तेदं वियाणाहि ॥ २७२ ॥
पडिसेवे पडिसेहो, ऽसंविग्गे दाणमातितिक्खुत्तो।
अविसुद्धे चउगुरुगा, दूरे साधारणं काउं ॥ २७३ ॥
पासत्थादिकुसीले, पडिसिद्धे जो तु तेहि संसग्गी।
पडिसिज्झति एसो खलु, पडिसेवे होति पडिसेहो।२७४॥

दाणाई संसग्गी, सइ कतपडिसिद्धे लहुय आउट्टे।
सब्भावे ति आउट्टे,ऽसुद्धे गुरुगो तु तेण परं ॥२७५॥

एते आहरातीए एक्कासीतिए भंगेहि साधयतो चारित्तं सा हेति। एव अत्थेण पडिसिद्धे पासत्थातियाणं संघाडगस्स वत्थातियाण दाणं करेति। एस संसग्गी सइ एक्कसिं संसग्गि करेति, पडिसिद्धो पच्चोइओ आउट्टो मासलहुं से पच्छित्तं। सब्भावे त्ति आउट्टेति। एव वितियवाराए वि मासलहु। ततियवाराए आउट्टस्स मासलहु, तेण परं चउत्थवाराए णियमा असुद्धेति मायायी आउट्टस्स मासगुरुं।

"मायी तिक्खुत्तो" त्ति अस्य व्याख्या। गाहा—

तिक्खुत्तो तिन्नि मासा, आउट्टंते गुरू उ तेण परं।
अविसुद्धं तं वीसुं, कारेंति जो भुंजते गुरुगा ॥ २७६ ॥

तिण्णि वारा तिक्खुत्तो तिण्णि वारा आउट्टंतस्स तिण्णि मासलहुं। तिण्हं वाराणं परेणं तेण परं चउत्थवाराए णियमा माई, आउट्टते मायाणिप्फन्न मासगुरुं। 'अविसुद्धे' चउगुरुगा अस्य व्याख्या-अविसुद्धं गाहद्धं— सो पासत्थसंसग्गकारी जति आलोयणं ण पडिच्छितो अविसुद्धो तं अणाउट्टंत वीसुं करेति, वीसुं-भोगमित्यर्थः। जो तं अण्णो साधू सभुंजति तस्स चउगुरुगं। चोदग आह— कम्हा पढमवितियततियवारासु मासलहुं चउत्थवाराए मासगुरुं।

आयरिओ आह। गाहा—

सति दो वि सिय अमायी,ततियासेवी तु णियमओ मायी।
सुद्धस्स होति चरणं, मायासहिते चरणभेदो ॥ २७७ ॥

सइ पढमवारातो वितियवारा सिता मातीति सिता सेविउं जाव, जति अमाती तो मासलहुं। अह माती तो मासगुरुं, तेण परं णियमा माती तेण मासगुरुं। पच्छद्धं कंठं।

"दूरे साधारणं काउं" ति अस्य व्याख्या। गाहा—

समणुन्नेसु विदेसं, गतेसु अन्नागता तहिं पच्छा।
ते वसहिं गंतुमणा, पुच्छंति तेहिं मणुन्नातुं ॥ २७८ ॥

कयाइ संभोतिया साहू विदेसं गता, अन्ने य संति ये अन्नाओ विदेसाओ तं चेव गच्छमागता। जे ते विदेसं गता तेहिं आगतएहि ण दिट्ठा। ते वि आगतुगा तं चेव देसं गतुकामा पुच्छति। अत्थि केयि तेहिं अस्साकं संभोइया, एव पुच्छति।

गाहा—

अत्थि त्ति होति लहुओ, कयाइ ओसन्नभुंजणे दोसा।
णत्थि ति लहुओ तंडण,ण खेत्तकहणं व पाहुणं।२७९।

आयरितो जइ भणति अत्थि तो मासलहुं, कताति ओसन्नीभूता होज्जा ताहे गुरुवयणाओ संभुञ्जमाणा ओसण्णभुत्तदोसे पावेज्ज। अह वि गुरू भणति-णत्थि,तह वि मासलहुं, यतः गुरुवयणाओ तेहि सद्धिं संभोगं ण करेंति, ताणं अपत्तियं असंखडदोसाग य मासकप्पजोगे खेत्ते कहेंति णेव पाहुणं करेंति। जम्हा एते दोसा तम्हा आयरिएण इमं भाणियव्वं।

गाहा—

आसि तदा समणुण्णा, भुंजध दव्वादिपेहि पेहित्ता।
एवं भंडणदोसा, ण हौंति अमणुण्णदोसा य ॥२८०॥

दव्वखेत्तकालभावेहि पडिलेहेत्ता भुंजेजह एवं साधारणे सव्वदोसा परिहरिया भवंति । कारणा देज्ज वा पडिच्छेज्ज वा।

गाहा—

असिवे ओमोयरिए, रायद्दुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोधए वा, देज्जा अधवा पडिच्छेज्जा ॥ २८१ ॥

असिवे कारणे एगागी, एगागिअस्स बहुं दोसगुणं जाणित्ता पासत्थसंघाडक , पासत्थस्स वा सघाडक—पासत्थस्स वा संघाडगो भवति । अपुच्छंतो रायपउट्ठे रायवल्लभेण समाणं ण घेप्पति । भए वितिओ सहाओ भवति । गेलण्णे पडियरणं अद्धाणे सहाओ रोधणिग्गमणट्ठा। एतेहिं कारणेहिं सव्वत्थ पाणगादिजयणाए जाहे मासलहुं पत्तो ताहे देज्जति वा पडिच्छेज्जति वा । नि० चू० ५ उ० ।

संघाडिम—संघातिम—त्रि० । सघातनिष्पाद्ये , ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । यत्परस्परतो नालसघातेन सघात्यते । रा० । नि० चू० ।

संघाडिय—संघाटित—त्रि० । सम्यग् घाटिता' परस्परस्नेहेन सम्बद्धा. । वयस्यादिषु , उत्त० १४ अ० । संघा० ।

संघाटिक—त्रि० । सहचारिणि, जं० २ वक्ष० ।

संघाद्देस—संघाद्युद्देश—पुं० । सघोपाश्रयालम्बने, पञ्चा० १७ विव० ।

संघाय—संघात—पुं० । संघात्यन्ते पिण्डीक्रियन्ते पुद्गला येन तत्संघातम् । शरीरत्वपरिणताना पुद्गलानामन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापने, प्रव० २१६ द्वार । नि० चू० । आचा० । वज्रर्षभनाराचलक्षणे संहनने, स्था० ८ ठा० ३ उ० । औ० । उच्छ्रये, आव० ५ अ० । अनु० । उत्करे, आव० १ अ० । समूहे,तं०।संघाता द्विधा—पर्यवाणामक्षराणां च। तत्र पर्यवसंघाता अनन्ता , अक्षरसंघाता. संख्येया , (आचाराङ्गादिशब्देषु 'अक्खर' शब्दे च प्रतिपादिताः) सू० १ उ० १ प्रक० । एकीभावेनाधिके गात्रसंकोचने , आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । 'गइइंदियकाए' इत्यादिगाथाप्रतिपादितद्वारकलापस्यैकदेशो यो गत्यादिकस्तस्याप्येकदेशो यो नरकगत्यादिकस्तत्र जीवादिमार्गणा या क्रियते , स संघात । श्रुतभेदे, कर्म० १ कर्म ।

संघायकरण—संघातकरण—न० । आतानवितानीभूततन्तुसघातेन पटस्येव करणे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । विशे० । पं० स० ।

संघायणा—संघातना—स्त्री० । धर्माधर्मास्तिकायनभःप्रदेशाना परस्पर सहत्यावस्थाने , विशे० । पक्खविगलो त्ति पडितो तस्संघायणानिमित्तं उवगरणट्ठा कोक्कासो नगरगतो । आ० म० १ अ० ।

संघायणाम—संघातनामन्—न० । संघात्यन्ते प्रत्येकं शरीरपञ्चकप्रायोग्य. पुद्गला. पिण्ड्यन्ते येन तत्संघातं, तदेव नाम संघातनाम । कर्म० १ कर्म । नामकर्मभेदे, आ० ।

संघायपरिसाडकरण—संघातपरिशाटकरण—न० । शकटाद्यवयवसंघातने , अवयवपरिशाटने च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

संघायविमोयग—संघातविमोचक—पुं० । रागद्वेषात्मकाद् गुणसंघाताद् विमोचके , व्य० ३ उ० । रागद्वेषविमुक्त -आहारादिकं दद्त्सु रागकारी , तद्विपरीतेषु द्वेषकारीत्यर्थ । अत एव भवति सम' सर्वजीवानां, स इत्थम्भूतो न प्रमाणीकर्तुं शक्यते श्रुतोपदेशेन व्यवहरणात् । व्य० ३ उ० ।

संघायसमास—संघातसमास—पुं० । द्व्यादिगत्याद्यवयवमार्गणायाम् , कर्म० १ कर्म० ।

संघायारभास—संघाचारभाष्य—न० । चैत्यमुनिवन्दनविषयविधिप्रतिपादके शान्त्याचार्यकृते भाष्यग्रन्थे, संघा० । तस्योपरि वृत्तिः श्रीदेवेन्द्रसूरिकृताऽस्ति, तदुपक्रमोपसंहारयोरय पाठ ।

" देवेन्द्रवृन्दस्तुतपादपद्म' , स्वर्भूर्भुव श्रीवरकेलिसद्म ।
सन्देहसन्दोहरज समीर ,स व' शिवायास्तु जिनेन्द्रवीर ।१॥
चैत्यमुनिवन्दनप्रभृति-भाष्यविवृते यथाश्रुतं किञ्चित् ।
संघस्याचारविधिं , वक्ष्ये स्वपरोपकाराय ॥ २ ॥ "
सघा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

" इति श्रीसंघस्य प्रतिदिनमवश्यं कृतनिधौ,
स्वधर्मानुष्ठाने प्रकटमधिकार' प्रथमक ।
सदार्हच्चैत्याना विहितविधिवद्वन्दनवर. ,
श्रुतादास्नीयाच्च प्रकृतिविवृति पारगमनम् ॥ १३६ ॥ "

इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिताया श्रीसंघाचारभाष्यटीकायां चैत्यवन्दनाधिकारः प्रथमः समाप्त. । संघा० १ अधि० ३ प्रस्ता० ।

संघायारविहि—संघाचारविधि—पुं० । संघस्याचारविधिः चैत्यमुनिवन्दनप्रभृतौ संघाचारप्रकारे , सघा० १ अधि० ३ प्रस्ता० ।

संघार—संहार—पुं० । " ह्रो घोऽनुस्वारात् " ॥ ८।१।२६४॥ इति हस्य घ । सघारो । संहारो । प्रा० । बहुजनक्षये , तं० ।

संघिल्ल—संघातवत्—त्रि० । परस्पर मिलिते, " राया पुरोहितो वा, संघिल्लातो नगरम्मि दो वि जणा" व्य०१ उ०। आ० चू०।

संचइय—सञ्चयित—त्रि० । सञ्चय. सञ्जातमेषामिति सञ्चयिता ,तारकादिदर्शनादितच् प्रत्यय । येषां मासानां परत. सक्षमासादिक यावदुत्कर्षतोऽशीतितमं मासाना प्रायश्चित्तं प्राप्तास्तेषु , व्य० १ उ० ।

साञ्चयिक—त्रि० । घृततैलगुडाद्येषु बहुकालरक्षितुमशक्येषु द्रव्ये, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

संचय—सञ्चय—पुं०।सग्रहे,"तण कट्ठ तेल्ल घय महु,वत्थाई तं च संचओ बहुहा " तृणकाष्ठतैलघृतमधुवस्त्रादीनामादिशब्दाद् बुसपल्लालादीनां सग्रहरूप सञ्चयो बहुधा द्रष्टव्य । बृ० १उ० १ प्रक० । स्था० । सूक्ष्मसिक्थाद्यवयवपरिवासे , बृ० १ उ० २ प्रक० । (तृतीयभागे ६७२ पृष्ठे 'गोयरचरिया' शब्दे कालातिक्रान्तभोजनप्रस्तावे सञ्चयो निषिद्ध. ।) ('पडिसेवणा' शब्देऽपि सञ्चयो निषिद्ध. ।) सञ्चये मम्मणवणिगुदाहरणम् ।

दश० ३ अ०। सञ्चीयत इति सञ्चयः। गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

संचयग्ग–सञ्चयाग्र–न०। सञ्चितस्य द्रव्यस्योपरि भागे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। उपरि स्थापिते तृणादिपूलिते, नि० चू० १ उ०।

संचयमास–सञ्चयमास–पुं०। प्रायश्चित्तापत्तितो यावन्तो मासाः शिष्येणासेवितास्तेषु मासेषु, नि० चू० २० उ०।

संचरंत–सञ्चरत्–त्रि०। भ्रमति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

संचरण–सञ्चरण–न०। भ्रमणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

संचाइय–शक्त–त्रि०। समर्थे, भ० ३ श० २ उ०।

संचाय–शक्–धा०। मर्षणे, शक्धातोः सञ्चायादेशः। संचाएइ। शक्नोति। स्था० १० ठा० ३ उ०। आचा०। ज्ञा०।

संचार–सञ्चार–पुं०। द्वारापद्वारैर्जनप्रवेशनिर्गमे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। कुड्यादौ संचरणे, त्रि०। सञ्चरके, बृ० ६ उ०।

संचारसम–सञ्चारसम–पुं०। वंशतन्त्र्यादिभिर्गृहीते स्वरे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

संचाल–सञ्चार–पुं०। गात्रविचलनप्रकारे, ल०।

संचालण–सञ्चालन–न०। विघट्टने, नि० चू० ७ उ०। पर्यालोचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

संचालिज्जमाण–सञ्चाल्यमान–त्रि०। स्थानात् स्थानान्तरनयनेन चाल्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

संचिंतण–सञ्चिन्तन–न०।सम्यक्प्रकारेण चिन्तनायाम्,उत्त० ३२ अ०।

संचिज्जमाण–सञ्चीयमान–त्रि०। प्रतिक्षणमुपचीयमाने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

संचिट्ठण–संस्थान–न०। कालस्थितौ, भ० १२ श० ६ उ०। अवस्थितिकाले, भ० ८ श० २ उ०। (स च सर्वेषां जीवानामिति 'कायट्ठिइ' शब्दे तृतीयभागे उक्तः।)

संचिणित्ता–सञ्चित्य–अव्य०। उपचित्येत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० १ उ०।

संचिणत–सञ्चिन्वत्–त्रि०। बध्नति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

संचिय–सञ्चित–त्रि०। राशीकृते, स्था० ३ ठा० १ उ०। आव०।

संछण्ण–सञ्छन्न–त्रि०। जलेनान्तरिते, जं० ४ वक्ष०। रा०। 'संछण्णपत्तम्मि समुणाले' संछन्नानि जलेनान्तरितानि विसमृणालानि यासु ताः। इह विसमृणालशब्दात् पत्राणि पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि। विसानि–कन्दाः मृणालानि–पद्मनालाः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। व्याप्ते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। उत्त०।

संछण्णदव्व–संछन्नद्रव्य–त्रि०। परिच्छेदविशेषकलिते, व्य० ३ उ०।

संछिण्णसोय–संछिन्नस्रोतस्–त्रि०।सम्यक् छिन्नानि अपनीतानि भावस्रोतांसि संवृतत्वात् कर्माश्रवद्वाराणि येन स तथा। द्रव्यस्रोतोभ्यो विषयेन्द्रियप्रवृत्तिभ्यो भावस्रोतोभ्यः शब्दादिषु शुभाशुभेषु रागद्वेषोत्पत्त्या विमुक्ते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

संछोभ–संक्षोभ–पुं०। संक्रामणे, बृ० १ उ० २ प्रक०। प्रक्षेपे, व्य० ६ उ०।

संछोभग–संक्षोभक–पुं०। प्रक्षेपके, बृ० २ उ०।

संछोभण–संक्षोभण–न०। परावर्त्ते, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

संछोभपरंपरय–संक्षोभपरम्परक–न०। परम्परया स्थानान्तरसंक्रमणे. बृ० ३ उ०।

संजय–संजय–पुं०। मृषावादाद्युपरतिमति मोक्षसाधके,प्रश्न० १ संव० द्वार।

संजई–संयती–स्त्री०। साध्व्याम्, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

संजम–संयम–पुं०। संयमनं संयमः, भावे अत्र प्रत्ययः। "संजमदसणलेसा" संयमनं–सम्यगुपरमणं सावद्ययोगादिति संयमः, यद्वा–संयम्यते नियमत आत्मा पापव्यापारसम्भारादनेनेति संयमः "संनिव्युपायमः" (५-३-२५) इति सूत्रेणात्प्रत्यय.। यदि वा–शोभना यमाः प्राणातिपातानृतभाषणादत्तादानब्रह्मपरिग्रहविरमणलक्षणा अस्मिन्निति संयमश्चारित्रम्। कर्म० ४ कर्म०। "आदेर्यो जः" ॥ ८। १। २४५॥ अत्र बहुलाधिकारात्सोपसर्गस्याऽनादेरपि यकारस्य जकारादेशः। प्रा०। सम्यक् पापेभ्य उपरमणम्। चारित्रे, उत्त० २८ अ०। संथा०। सम्–एकीभावेन यमः संयमः। उपरमे, ध० ३ अधि०। संयमनं संयमः। हिंसादिनिवृत्तौ, स्था० ५ ठा० १ उ०। आव०। स०। सर्वसावद्यारम्भनिवृत्तौ, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। मनोवाक्कायविशुद्ध्या सर्वथोपरमे, दर्श० ५ तत्त्व। पृथिव्यादिरक्षणे, स्था० ४ ठा० १ उ०। प्रश्न०। पञ्चाश्रवविरमणादौ, उत्त० १ अ०। संथा०। प्रव०। प्राणातिपाताद्यकरणे, "पञ्चाश्रवाद् विरमणं,पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजय.। दण्डत्रयविरतिश्चे–ति संयम. सप्तदशभेदः।" स्था० ३ ठा० ३ उ०। प्राणिदयायाम्, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। ज्ञा०। सर्वविरत्यङ्गीकारे, आतु०। सम्यगनुष्ठाने, आ० म० १ अ०। चारित्रसामायिके, विशे०। भ०। सामायिकादिरूपे चारित्रे, आ० म० १ अ०। ग०। पृथिव्यादिविषयेभ्यः संघट्टपरितापनोपद्रवणेभ्य उपरमे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। दया संयमो लज्जा जुगुप्सा अच्छलना तितिक्षाऽहिंसा ह्रीश्चेत्येकार्थिकानि संयमस्य। उत्त० ३ अ०। (एषां पदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने।) (सरागवीतरागसंयमौ सभेदौ 'चरित्तधम्म' शब्दे तृतीयभागे ११४६ पृष्ठे व्याख्यातौ।) (पञ्चविधसंयमस्य व्याख्या 'असमारंभमाण' शब्दे प्रथमभागे ८४१ पृष्ठे गता।) (अष्टविधसयमस्य दशविधसंयमस्य च व्याख्या 'असमारंभमाण' शब्दे प्रथमभागे ८४२ पृष्ठे गता।)

चउव्विहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा–मणसंजमे वतिसंजमे कायसंजमे उवगरणसंजमे। (सू० ३१३+)

मनोवाक्कायनामकुशलत्वेन निरोधः कुशलत्वेन तूदीर्णानि संयमः । उपकरणसंयमो महामूल्यवस्त्रादिपरिहारः पुस्तकवस्त्रतृणचर्मपञ्चकपरिहारो वा । तत्र-चर्मपञ्चकमिदम्-
"अयएलगाविमहिसी-मिगाण अजिणं तु पंचमं होइ ।
तलिया खल्लगवद्धे, कोसगकत्ती य वीयं तु ॥४॥" इति ।
स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पंचविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा-सामाइयसंजमे छेदोवट्ठावणियसंजमे परिहारविसुद्धियसंजमे सुहुमसंपरायसंजमे अहक्खायचरित्तसंजमे । (सू० ४२८)

संयमनं संयम, पापोपरम इत्यर्थः । तत्र—समो रागादिरहितः तस्य आयो गमनं प्रवृत्तिरित्यर्थः, समायः समाय एव, समाये भवं, समायेन निर्वृत्तं, समायस्य विकारोंऽशो वा समायो वा, प्रयोजनमस्येति सामायिकम्, उक्तं च—" रागद्दोसविरहिओ, समो त्ति अयणं अउ त्ति गमणं ति । समगमण त्ति समाओ, स एव सामाइयं नाम ॥ १ ॥ अहवा भवं समाए, निव्वत्तं तेण तम्मयं वावि । जं तप्पओयणं वा, तेण व सामाइयं नेयं ॥ २ ॥" इति, अथवा समानि—ज्ञानादीनि तेषु तैर्वा अयनमयः समायः स एव सामायिकमिति, अवादि च—" अहवा समाइ सम्म-त्तनाणचरणाइ तेसु तेहिं वा । अयणं अओ समाओ, स एव सामाइयं नाम ॥ १ ॥ " इति, अथवा समस्य—रागादिरहितस्याऽऽयो-गुणानां लाभः समानां वा—ज्ञानादीनामायः समायः स एव सामायिकम्, अभाणि च-"अहवा समस्स आओ, गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो । अहवा समाणमाओ, णेओ सामाइयं नाम ॥ १ ॥" इति, अथवा साम्नि—मैत्र्यां साम्ना वा अयस्तस्य वा आयः सामायः स एव सामायिकम्, अभ्यधायि च—" अहवा सामं मेत्ती, तत्थ अओ तेण व त्ति सामाओ । अहवा सामस्साओ, लाभो, सामाइयं नाम ॥ १ ॥ " इति सावद्ययोगविरतिरूपं सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकमेव, छेदादिविशेषैस्तु विशिष्यमाणमर्थतः शब्दतश्च नानात्वं भजते, तत्र प्रथमं विशेषणाभावात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति । तच्च द्विधा-इत्वरकालिकं, यावज्जीविकं च । तत्रेत्वरकालिकं सर्वेषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेष्वनारोपितव्रतस्य, यावज्जीविकं तु मध्यमविदेहतीर्थकरतीर्थेषु भवति इति, तेषूपस्थापनाऽभावादिति, सामायिकं च तत्संयमश्चेत्येवं सर्वत्र वाक्यं कार्यमिति । (स्था०) (छेदोपस्थापनिकव्याख्या ' छेओवट्ठावणिय ' शब्दे तृतीयभागे १३५६ पृष्ठे गता ।) (परिहारविशुद्धिकव्याख्या ' परिहारविसुद्धिय ' शब्दे पञ्चमभागे ६६१ पृष्ठे गता ।) (सूक्ष्मसंपरायव्याख्या ' सुहुमसंपराय ' शब्दे वक्ष्यते ।) अथशब्दो यथार्थे, यथैवाकषायतयेत्यर्थ, आख्यातम्—अभिहितम्, अथाख्यातं तदेव संयम अथाख्यातसंयमः । (स्था०) इह सप्तदशप्रकारसंयमस्याद्या नव भेदाः संगृहीता, एकेन्द्रियसंयमग्रहणेन पृथिव्यादिसंयमपञ्चकस्य गृहीतत्वादिति । स्था० ५ ठा०२ उ० । (षड्विधसंयमव्याख्या ' असमारंभमाण ' शब्दे प्रथमभागे ८८१ पृष्ठे गता ।)

सप्तविधः संयमः—

सत्तविधे संयमे पण्णत्ते, तं जहा--पुढविकायितसंजमे ०जाव तसकायितसंजमे अजीवकायसंजमे। (सू०-५७१+)

' सत्तविहे ' इत्यादि, सुगमं नवरं संयमः—पृथिव्यादिविषयेभ्यः संघट्टपरितापोऽपद्रावणेभ्यः उपरमः, ' अजीवकायसंजमे ' त्ति अजीवकायानां—पुस्तकादीनां ग्रहणपरिभोगोपरमः । स्था० ७ ठा० ३ उ० । सर्वसंवरणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । दर्श० । मौनीन्द्रोक्ते सप्तदसरूपेऽनुष्ठाने, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

दशविधः संयमः—

दसविधे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइयसंजमे, ०जाव वणस्सइकाइयसंजमे, वेइंदियसंजमे तेइंदियसंजमे चउरिंदियसंजमे पंचेंदियसंजमे अजीवकायसंजमे । (सू० ७०६ +) स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सप्तदशविधसंयमप्रतिपादनायाऽऽह—

पुढवि दग अगणि मारुय,
वणस्सइ वि ति चउ पणिंदि अजीवो ।
पेहुप्पेहपमज्जण—
परिट्ठवण मणो वई काए ॥ १ ॥

" पुढवाइयाण जाव य, पंचेंदिय संजमो भवे तेसिं ।
संघट्टणाइ न करे, तिविहेणं करणजोएणं ॥ १ ॥
अजीवेहि वि जेहिं, गहिएहि असंजमो हवइ जइणो ।
जह पोत्थदूसपणए, तणपणए चम्मपणए य ॥ २ ॥
गंडी कच्छवि मुट्ठी, संपुडफलए तहा छिवाडी य ।
एयं पोत्थयपणयं, पण्णत्तं वीयरागेहिं ॥ ३ ॥
बाहल्लपुहुत्तेहिं, गंडीपोत्थो उ तुल्लगो दीहो ।
कच्छवि अंते तणुओ, मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो ॥ ४ ॥
चउरंगुलदीहो वा, वट्टागिइ मुट्ठिपोत्थओ अहवा ।
चउरंगुलदीहो च्चिय, चउरस्सो वावि विण्णेओ ॥ ५ ॥
संपुडओ दुगमाई, फलगावोच्छं छिवाडिमेत्ताहे ।
तणुपत्तू सियरूवो, होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥ ६ ॥
दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्ले ।
तं मुणियसमयसारा, छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥ ७ ॥
दुविहं च दूसपणयं, समासओ तं पि होइ नायव्वं ।
अप्पडिलेहियपणयं, दुप्पडिलेहं च विण्णेयं ॥ ८ ॥
अप्पडिलेहियदूसे, तूली उवहाणगं च नायव्वं ।
गंडुवहाणा लिंगणि, मसूरए चेव पोत्तमए ॥ ९ ॥
पल्हवि कोयवि पावा-रणवए तहा य दाढिगालीओ ।
दुप्पडिलेहियदूसे, एवं वीयं भवे पणयं ॥ १० ॥
पल्हवि हत्थत्थरणं, कोयवओ रूयपूरिओ पडओ ।
दढिगालि धोयपोत्ती, सेसपसिद्धा भवे भेया ॥ ११ ॥
तणपणयं पुण भणियं, जिणेहि जियरायदोसमोहेहिं ।
साली वीही कोद्दव-रालग रण्णे तणाइं च ॥ १२ ॥
अलएलगाविमहिसी-मिगाणमइणं च पंचमं होइ ।
तलिगा खल्लगवज्झे, कोसगकत्ती य वीयं तु ॥ १३ ॥
अह वियडहिरण्णाई, ताइ न गिण्हइ असंजमो साहू ।
ठाणाइ जत्थ चेते, पेहपमज्जित्तु तत्थ करे ॥ १४ ॥

एसा पेहुवपेहा, पुणो य दुविहा उ होइ नायव्वा ।
वावारावावारे, वावारे जह उ गामस्स ॥ १५ ॥
एसो उ विक्खगो हु, अव्वावारे जहा विणस्संतं ।
किं एयं नु उवेक्खसि, दुविहाए वेत्थ अहिगारो ॥ १६ ॥
वावारुवेक्ख तहि यं, संभोइयसीयमाण चोएइ ।
चोएइ इयरं पि, पावयणीयम्मि कज्जम्मि ॥ १७ ॥
अव्वावार उवेक्खा, न वि चोएई गिहिं तु सीयंतं ।
कम्मेसु बहुविहेसुं, संजम एसो उवेक्खाए ॥ १८ ॥
पाएँ सागारिएसु, अपमज्जित्ता वि संजमो होइ ।
ते चेव पमज्जंते, ऽसागारियसंजमो होइ ॥ १९ ॥
पाणेहिं संसत्तं, भत्तं पाणमहवा वि अविसुद्धं ।
उवगरणपत्तमाई, जं वा अइरित्त होज्जाहि ॥ २० ॥
तं परिठवणविहीए, अवहट्टु संजमो भवे एसो ।
अकुसलमणवइरोहे, कुसलाण उदीरणं जं तु ॥ २१ ॥
मणवइसंजम एसो, काए पुण जं अवस्सकज्जम्मि ।
गमणागमणं भवई, तत्थोवउत्तो कुणइ सम्मं ॥ २२ ॥
तव्वज्जं कुम्मस्स व, सुसमाहियपाणिपायकायस्स ।
हवई य कायसंजमो, चिट्ठंतस्सेव साहुस्स ॥ २३ ॥
आव० ४ अ० । आचा० । सूत्र० । संथा० । नं० । ओघ० । आ० चू० ।

सत्तरसविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा–पुढवीकायसंजमे आउकायसंजमे तेउकायसंजमे वाउकायसंजमे वणस्सइकायसंजमे बेइंदियसंजमे तेइंदियसंजमे चउरिंदियसंजमे पंचिंदियसंजमे अजीवकायसंजमे पेहासंजमे उवेहासंजमे अवहट्टुसंजमे पमज्जणासंजमे मणसंजमे वइसंजमे कायसंजमे [सू० १७×] स० १७ सम० ।

('चरित्तधम्म' शब्दे तृतीयभागे ११९८ पृष्ठे अनेकविधसंयमानां व्याख्या गता ।)

कज्जं नाणादीयं, सव्वं पुण होइ संजमो नियमा ।
जह जह सो होइ थिरो, तह तह कायव्वयं होइ ॥४२॥

बृ० २ उ० (" कुक्कुइए संजमस्स पलिमंथू " इति 'पलिमंथु' शब्दे पञ्चमभागे ७२५ पृष्ठे व्याख्यातम् ।) (संयममाश्रित्य षट्स्थानपतितत्वम् 'आगमववहारि' शब्दे द्वितीयभागे ७१० पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

संयमफलम्—

संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! संयमेन जीवः किं जनयति ?, गुरुराह–संयमेन अनंहस्कं—न विद्यते अंहः पापं यस्मिन् तत् अनंहस्कं तस्य भावोऽनंहस्कत्वं तज्जनयति, संयमेन आश्रवनिरोधं जनयति इत्यर्थः ॥ २६ ॥ उत्त० २९ अ० । (संयमश्रेणिप्ररूपणम् 'कितिकम्म' शब्दे तृतीयभागे ५०७ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

संजमकरण–संयमकरण–न० । पञ्चाश्रवविरमणादिगुणकरणे, उत्त० १३ अ० ।

संजमकुसल–संयमकुशल–पुं० । पृथिव्यादिसंयमकुशले, व्य०।

उपसंहारमाह—

(आयाकुसलो एसो) संजमकुसलं अतो उ वोच्छामि ।
पुढवादिसंजमम्मी, सत्तरसे जो भवे कुसलो ॥ १३२ ॥

अत ऊर्ध्वं संयमकुशलं वदयामि। प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–पृथिव्यादिसंयमे, 'पुढवि दग अगणि मारुय, वणस्सइ वि ति च उ पणिंदि अज्जीवो । पेहुप्पेह पमज्जण, परिट्ठवणमणो वई काए' ॥ १ ॥ इत्येवंरूपे सप्तदशे—सप्तदशप्रकारे यो भवति कुशलः स संयमकुशलः ।

प्रकारान्तरेण संयमकुशलमाह–

अहवा गहणे निसिरण–एसणसेज्जानिसेज्जउवही य ।
आहारे वि य सतिमं, पसत्थजोगे य जुंजणया ॥१३३॥
इंदियकसायनिग्गह, पिहियासवजोगझाणमल्लीणो ।
संजमकुसलगुणनिही, तिविहकरणभावसुविसुद्धो॥१३४॥

अथवेति—संयमस्यैव प्रकारान्तरोपदर्शने, ग्रहणे आदाने निसरणे एषणायां–गवेषणादिभेदभिन्नायां शय्या निषद्योपव्याहारविषयायां निषद्यायां सम्यगुपयुक्तः सयमकुशलः।किंमुक्तं भवति—य उपकरणभारमाददानो निक्षिपित्वा प्रतिलेख्य प्रमार्ज्य च गृह्णाति निक्षिपति वा । एतेन प्रेक्षासंयमः प्रमार्जनासंयमश्चोक्तः । एतद्ग्रहणात्तज्जातीयाः शेषा अप्युपेक्षादिसंयमा गृहीता द्रष्टव्याः । तथा यः शय्यामुपधिमाहारं च उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं गृह्णाति , संयोजनादिदोषरहितं च भुङ्क्ते, स्थानाद्यपि कुर्वाणः प्रत्युपेक्ष्य प्रमार्ज्य च करोति स संयमकुशलः । अत्र निषद्याग्रहणेन स्थानादिगृहीतम् । तथा य एतेषु सर्वेष्वपि संयमेषु कर्त्तव्येषु स्मृतिमान् स संयमकुशलः, ' स्मृतिमूलमनुष्ठानमवितथ ' मिति वचनात् , तथा यस्य प्रशस्तयोगस्य शुभमनोवाक्कायरूपस्य योजना–व्यापारणम् । किमुक्तं भवति–अप्रशस्तानां मनोवाक्काययोगानामपवर्जनं प्रशस्तानां मनोवाक्काययोगानामभियोजनं संयमकुशलः। तथा इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि कषायांश्च—क्रोधादीन् यो निगृह्णाति, तथा श्रोत्रादीनि न स्वविषये व्यापारयति , श्रोत्रादिविषयप्राप्तेषु शुभाशुभेषु शब्दादिष्वर्थेषु रागद्वेषौ न विधत्ते, क्रोधादीनप्युदयितुं प्रवृत्तान् निरुणद्धि , उदयप्राप्तांश्च विफलीकरोति , तथा आश्रवाणि–प्राणातिपातादिलक्षणानि पिदधाति, योगं च—मनोवाक्कायलक्षणमप्रशस्तं ध्यानं चार्त्तरौद्रं तत्परिहारेण प्रशस्तं धर्म्मं शुक्लं च तत्र आलीनः–आश्रितोऽनिगूहितबलवीर्यतया तत्र प्रवृत्त इत्यर्थः । एष संयमकुशलः । कथम्भूतः स– न्नित्याह–गुणनिधिः संयमानुगता ये गुणास्तेषां निधिरिव गुणनिधिः तैः परिपूर्ण इति भावः। तथा त्रिविधेन प्रकारेण–मनोवाक्कायलक्षणेन सुविशुद्धो मनसाऽप्यसंयमानभिलाषात् भावेन च परिणामेन विशुद्धः, इह लोकाद्याशंसाविप्रमुक्तत्वात् त्रिकरणभावविशुद्धः ।

अस्यैव गाथाद्वयस्य व्याख्यानार्थमाह—

गिण्हइ पडिलेहेउं, पमज्जिओ तह य निसिरए याऽवि ।
उवउत्तो एसणाए, सेज्जनिसज्जे व ववहारे ॥ १३५ ॥
एएसुं सव्वेसुं, जो ण पम्हुस्सते तु सो सतिमं ।
जुंजइ पसत्थमेव तु, मणभासा कायजोगं तु ॥१३६॥

सोइंदियाइयाणं, निग्गहणं चेव तह कसायाणं ।
पाणातिवाइयाणं, संवरणं, आसवाणं च ॥ १३७ ॥

झाणे अपसत्थए य, पसत्थझाणे य जोगमल्लीणो ।
संजमकुसलो एसो, सुविसुद्धो तिविहकरणेण ॥१३८॥

गाथाचतुष्टयमपि गतार्थम् । नवरम् 'उवउत्तो एसणाए'इत्यादि । उपयुक्त एषणायाम् किं विषयायामित्याह-शय्यानिषद्योपध्याहारे , शय्या--उपाश्रय. निषद्या--पीठफलकादिरूपा स्थानादिरूपनिषद्या व्याख्यान तु प्रागेवोक्तम्, उपधिः-पात्रनिर्योगादिराहारोऽशनादिरूपः, एषां समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् तद्विषयायामित्यर्थः । 'झाणे अपसत्थे' इत्यादि ध्याने द्विधा-अप्रशस्तं, प्रशस्तं च । अप्रशस्तम् आर्त्तं, रौद्रं च । प्रशस्तम्-धर्म्मं, शुक्लं च । तत्र प्रशस्ते ध्याने-धर्मशुक्लरूपे चशब्दो भिन्नक्रम । प्रशस्त योगमालीन. 'सुविसुद्धो तिविहकरणेणं' ति उपलक्षणमेतत् । भावेनापि स विशुद्धः, शेषं सुगमम् । उक्त. संयमकुशलः । व्य० ३ उ० ।

संजमघाइय--संयमघातिक--त्रि० । संयमोपघातिके , प्रव० २६७ द्वार ।

संजमघायग--संयमघातक--त्रि० । संयमविनाशके , आव० ४ अ० ।

संजमचरय--संयमचरक--त्रि० । सप्तदशप्रकारसंयमानुष्ठायिनि, दश० १० अ० ।

संजमज्जवगुण--संयमार्जवगुण--त्रि० । संयमार्जवो गुणो यस्य तत् । सयमऋजुभावप्रज्ञाशुद्धे, दश० ६ अ० ।

संजमजाया--संयमयात्रा--स्त्री० । संयमप्रवृत्तौ, प्रश्न० १ सं-व० द्वार । सयमानुपालने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

संजमजायामायावत्तिय--संयमयात्रामात्रावृत्तिक-त्रि० । संयमयात्रा-संयमानुपालनं सैव मात्रा आलम्बनसमूहांशः संयमयात्रामात्रा तदर्थ वृत्ति. प्रवृत्तिर्यत्राहारे स सयमयात्रामात्रावृत्तिकः। संयमपालनमात्रप्रवृत्ते आहारादौ, भ०७ श०१ उ०।

संयमयात्रामात्राप्रत्यय--त्रि० । संयमयात्रामात्राप्रत्ययो यत्र । संयमयात्रार्थे आहारादौ , भ० ७ श० १ उ० । सूत्र० ।

संजमजीविय--संयमजीवित-न० । संयमवत्तया जीवने, आचा० । संयमजीवित तद् दुष्प्रतिबृंहणीयं कामानुषक्तजनान्तर्वर्तिना तु तेन निष्प्रत्यूह. सयमः प्रतिपाल्य इति । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

संजमजोग--संयमयोग--पुं० । चरणव्यापारे, पञ्चा०१२ विव० । कुशलव्यापारे, पं० व० ४ द्वार । आ० चू० । समितिगुप्तिरूपे आचरणे, प्रव० १०१ द्वार । दर्श० ।

संजमजोणि--संयमयोनि--स्त्री० । संयमस्य सर्वसंवरस्वभावस्य देशविरतिरूपस्य चोत्पत्तिस्थाने शुभमनोवाक्कायव्यापारे, दर्श० ५ तत्त्व ।

संजमऽट्ठ--संयमार्थ--पुं० । संयमः प्रेक्षोत्प्रेक्षाप्रमार्जनादिलक्षणस्तदर्थम् । सयमनिमित्ते, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

संजमट्ठाण--संयमस्थान--न० । संयमः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायययाख्यातरूप. तदेव स्थानम् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । पं० भा० । ज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामात्मकेऽध्यवसायविशेषे, व्य० १ उ० । अष्ट० । नि० चू० । पिं० । ("संजमट्ठाण ति वा अज्झवसाणं ति वा परिणामट्ठाण ति" इति 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १६६४ पृष्ठे व्याख्यातम् ।)

संजमट्ठाणपात--संयमस्थानापात--न० । चरणशुद्धिविशेषाप्रतिपाते, पञ्चा० १६ विव० ।

संजमण--संयमन--न० । सप्तदशप्रकारसंयमकरणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । रज्जुनिगडादिभिर्बन्धने, आव० ४ अ० ।

संजमत्तिय--संयमत्रिक--न० । परिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायययाख्यातचारित्रलक्षणे संयमत्रये, कल्प० १ अधि०७ क्षण ।

संजमधुवजोगजुत्तया--संयमध्रुवयोगयुक्तता--स्त्री० । संयमः-चरणं तस्मिन् ध्रुवो-नित्यो योग.-समाधिस्तद्युक्तता । सन्ततोपयुक्ततायाम् , उत्त० १ अ० । व्य० । चरणे नित्य समाध्युपयुक्ततायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । दशा० । प्रथमायामाचारसपदि, "सजमधुवजोगजुत्ते याऽवि भवति" 'संयमे' त्यादि सयमो नाम चरणं तस्य ये ध्रुवा अवश्यंकर्त्तव्यत्वात् योगाः प्रतिलेखनास्वाध्यायादय तैर्युक्तो भवति । अथवा--संयम. सप्तदशप्रकारः पञ्चाश्रवाद्विरमणमित्यादिकः, तस्मिन् ध्रुवो-नित्यो योगो-व्यापारो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः । अथवा-संयमे ध्रुवो-नित्यो योगो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्त । चशब्दात्-ज्ञानादिष्वपि नित्योपयोग' अपिशब्दग्रहणात्परमपि योजयति इत्येका १ । दशा० ४ अ० ।

संजमपरिपालण--संयमपरिपालन--न० । अहिंसाद्याराधने , पञ्चा० ७ विव० ।

संजमबहुल--संयमबहुल--त्रि० । संयमम्-आश्रवविरमणादिकं बहूनि-बहुसंख्यं यथाभवत्येवं लाति गृह्णातीति विशुद्धविशुद्धतरं पुन. पुन सयमं कुर्वन्तीति संयमबहुला., मयूरव्यंसकादित्वात् समास । पृथिव्यादिसंरक्षणप्रचुरेषु, प्रश्न०३ सं-व० द्वार । यदिवा-बहुल'-प्रभूत' सयमो येषा ते सयमबहुला. । संयमप्रचुरेषु, प्रश्न०३ संव० द्वार । संयमेन पृथ्व्यादिसंरक्षणलक्षणेन बहुलः प्रचुरो य' स तथा । संयमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा । प्रचुरतरसंयमे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

संजमब्भट्ठ--संयमभ्रष्ट--त्रि० । दूरीकृतचारित्रगुणे, ग०२ अधि० ।

संजमभउव्वेयणकर--सयमभयोद्वेजनकर--त्रि० । संयमाद्भयम् भीतिमुद्वेजनं चलनं कुर्वन्तीत्येवंशीलं यद् तत् । संयमभयोद्वेजनशीले, भ० ६ श० ३३ उ० ।

संजमभारवहणट्ठया-संयमभारवहमार्थता--स्त्री० । संयम एव

भारस्तस्य वहनं-पालनं स एवार्थः संयमभारवहनार्थस्तद्भावस्तत्ता । संयमपरिपालननिमित्ते विनयभेदे, भ० ७ श० १ उ० ।

संजमलज्जट्ठ-संयमलज्जार्थ-पुं० । संयमार्थे लज्जार्थः।संयमरूपलज्जार्थे, दश० ।

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥ १९ ॥

दश० ६ अ० । (अस्या गाथाया व्याख्या 'वयछक्क' शब्दे षष्ठभागे गता ।)

संजमविग्घकर-संयमविघ्नकर-पुं० । संयमविघातकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

संयमविराहणा-संयमविराधना-स्त्री० । मूलोत्तरगुणविराधनायाम्, नि० चू० १६ उ० ।

संजमवुड्ढि-संयमवृद्धि-त्रि० । संयमैधने, व्य० १ उ० ।

संजमसामायारी-संयमसामाचारी-स्त्री० । विनयभेदे, प्रव०६५ द्वार । व्य० ।

तत्र संयमसामाचारीमाह—

संजममायरति सयं,परं च गाहेति संजमं नियमा ।
सीयंते थिरिकरणं, उज्जयचरणं च उववूहा ॥ २९४ ॥

स्वयं संयममाचरति, परं च नियमात् संयमं ग्राहयति । तथा सयमविषये सीदति स्थिरीकरणम्, उद्यतचरणं तु उपबृंहयति । एषा संयमसामाचारी । व्य० १० उ० ।

संजमाऽणुट्ठायि-संयमानुष्ठायिन्-त्रि० । संयमानुष्ठानकर्त्तरि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

संजमायहेउ-संयमात्महेतु-पुं० । संयमस्य पृथिव्यादिसंरक्षणरूपस्यात्मनः स्वशरीरस्य संयमरूपस्य वाऽऽत्मनः हेतुर्निमित्तम् । संयमात्महेतुः । सयमात्मनिमित्ते, पञ्चा० १३ विव० ।

संयमायहेतु-पुं० । संयमस्य संयमलाभस्य हेतुर्निमित्तम् । संयमप्राप्तिनिमित्ते, पञ्चा० १३ विव० ।

संजमासंजम-संयमासंजम-पुं० । द्विःस्वभावात् देशसंयमे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

संजमित्ता-संयम्य-अव्य० । संयमनं कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

संजमुत्तम-संयमोत्तम-त्रि० । सर्वविरतौ, स० । प्रधानसंयमे, स० ।

संजमुत्तर-संयमोत्तर-त्रि० । संयमेन देशविरतिलक्षणेन धर्मेण उत्तर' प्रधान' । परिपूर्णसंयमे, उत्त० ५ अ० ।

संजमेरिया—संयमेर्या—स्त्री० । सप्तदशविधसंयमानुष्ठाने, असंख्येयेषु संयमस्थानेषु एकस्मात् संयमस्थानादपरसंयमस्थानगमने, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

संजमोच्छाहनिच्छिय—संयमोत्साहनिश्चित—त्रि० । संयमे उत्साहो वीर्यं निश्चितोऽवश्यंभावी येषां ते संयमोत्साहनिश्चिता । सर्वविरतिं प्रति निर्णीते, स० ।

संजमोवगरण-संयमोपकरण-न० । संयममात्रार्थे साधूपकरणे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

संजमोवघाइ(न्)-संयमोपघातिन्-त्रि० । सचित्तपृथिव्यादिके भिक्षादात्री यत्र स्थिता अध उपरि च फलादि संघट्टयति तादृशे स्थानादौ, ध० ३ अधि० ।

संजय-संयत-त्रि० । सम्-एकीभावेन यतः संयतः क्रियायां प्रयत्नवान् । आव०३ अ० । यम उपरमे । संयच्छति स सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमते स्मेति संयत. । नं० । आचा० । सम्यग्गच्छति स्मेति संयतः ' गत्यर्थाकर्मे' ति कः । कर्म० २ कर्म० । पं० सं० । दर्श० । यम उपरमे । सम्-सम्यग् यतः संयतः। साधौ, पा० । आचा० । सूत्र० । प्राण्युपमर्दान्निवृत्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सावद्यव्यापारेभ्यो निवर्तिते, उत्त० १२ अ० । व्य० । ध० । सर्वविरते, स्था० ४ ठा० ४ उ० । स० । सम्यग् यतमाने, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । सम्—सामास्त्येन यतः संयतः । सप्तदशप्रकारसंयमोपेते, पा० । सम्यगुपयुक्ते, आचा० २/श्रु० १ चू० १ अ० ६उ०।उत्त०। संयमतोऽकरणीयेषु योगेषु सम्यक्प्रयत्नपरे, आ० चू० ५ अ० । सर्वदा-सर्वकालं यत. संयतः । पापानुष्ठानान्निवृत्ते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स्था० । दश० । औ० । षट्कायरक्षणोपायरक्षणे सम्यग्यते, बृ० १ उ० २ प्रक० । आ० म० । इन्द्रियनोइन्द्रियसंयमवति, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपे संयमं प्रतिपन्ने, भ० २५ श० ७ उ० । दश० । प्रश्न० ।

संजया दुविहा पण्णत्ता,तं जहा-पमत्तसंजया,अपमत्तसंजया य । तत्थ णं जे अपमत्तसंजया ते णो आयरंभा,णो परारंभा ०जाव अणारंभा । तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च णो आयारंभा णो परारम्भा णो तदुभयारम्भा, अणारम्भा चेव । असुभजोगं पडुच्च आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा एवं जंबू ! दुप्पसहो ०जाव वकुसकुसीलेहिं तित्थं पवदिसमइ जहा विवाहपन्नत्तीए । अङ्ग० ।

पञ्च संयताः—

कति णं भंते ! संजया पण्णत्ता ?, गोयमा ! पंच संजया पण्णत्ता, तं जहा-सामाइयसंजए छेदोवट्ठोवणियसंजए परिहारविसुद्धियसंजए सुहुमसंपरायसंजए अहक्खायसंजए । सामाइयसंजए णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-इत्तरिए य, आवकहिए य । छेओवट्ठावणियसंजए णं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-सातियारे य निरतियारे य, परिहारविसुद्धियसंजए पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-णिव्विसमाणए य, निव्विट्ठकाइए य । सुहुमसंपराए पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-संकिलिस्समाणए य, विसुद्धमाणए य । अहक्खा-

यसंजए पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-छउमत्थे य, केवली य। "सामाइयम्मि उ कए, चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं। तिविहेण फासयंतो, सामाइयसंजओ स खलु ॥ १ ॥ छेत्तूण उ परियागं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं। धम्मम्मि पंचजामे, छेदोवट्ठावणो स खलु ॥ २ ॥ परिहरइ जो विसुद्धं, तु पंचयामं अणुत्तरं धम्मं। तिविहेण फासयंतो, परिहारियसंजओ स खलु ॥ ३ ॥ लोभाणु-वेययंतो, जो खलु उवसामओ व खवओ वा। सो सुहुमसंपराओ, अहखाया ऊणओ किंचि ॥ ४॥ उवसंते खीणम्मि य, जो खलु कम्मम्मि मोहणिज्जम्मि। छउमत्थो व जिणो वा, अहखाओ संजओ स खलु ॥ ५ ॥" (सू०-७०६)।

'कति णं भंते' इत्यादि, 'सामाइयसंजए' त्ति सामायिक नाम चारित्रविशेषस्तत्प्रधानस्तेन वा संयत. सामायिकसयत, एवमन्येऽपि। 'इत्तरिए य' त्ति इत्वरस्य-भाविव्यपदेशान्तरत्वेनाल्पकालिकस्य सामायिकस्यास्तित्वादित्वरिक., स चारोपयिष्यमाणमहाव्रत' प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधु, 'आवकहिए य' त्ति यावत्कथिकस्य-भाविव्यपदेशान्तराभावाद् यावज्जीविकस्य सामायिकस्यास्तित्वाद्यावत्कथिक., स च मध्यमजिनमहाविदेहजिनसम्बन्धी साधु., 'साइयारे य' त्ति सातिचारस्य यदारोप्यते तत्सातिचारमेव छेदोपस्थापनीयं, तद्योगात्साधुरपि सातिचार एव। एव निरतिचारच्छेदोपस्थापनीययोगान्निरतिचार', स च शैक्षस्य पार्श्वनाथतीर्थान्महावीरतीर्थसंक्रान्तौ वा, छेदोपस्थापनीयसाधुश्च प्रथमपश्चिमतीर्थयोरेव भवतीति, 'णिव्विसमाणए य' त्ति परिहारिकतपस्तपस्यन् 'निव्विट्ठकाइए य' त्ति निर्विशमानकानुचरक इत्यर्थः, 'संकिलिस्समाणए य' त्ति उपशमश्रेणीत. प्रच्यवमान. 'विसुज्झमाणए य' त्ति उपशमश्रेणी क्षपकश्रेणी वा समारोहन्, 'छउमत्थे य केवली य' त्ति व्यक्तम्। अथ सामायिकसयतादीना स्वरूपं गाथाभिराह—'सामाइयम्मि उ' गाहा, सामायिक एव प्रतिपन्ने न तु छेदोपस्थापनीयादौ चतुर्यामम्—चतुर्महाव्रतम् अनुत्तरं धर्मम्—श्रमणधर्ममित्यर्थ., त्रिविधेन—मनःप्रभृतिना 'फासयतो' त्ति स्पृशन्—पालयन् यो वर्त्तते इति शेषः सामायिकसंयत स खलु—निश्चितमित्यर्थ'। अनया च गाथया यावत्कथिकसामायिकसंयतः उक्त'। इत्वरसामायिकसयतस्तु स्वयं वाच्य' ॥ १ ॥ 'छेत्तूण' गाहा, कण्ठ्या, नवरं 'छेदोवट्ठावणे' त्ति छेदेन-पूर्वपर्यायच्छेदेन उपस्थापनं व्रतेषु यत्र तच्छेदोपस्थापन तद्योगाच्छेदोपस्थापनः, अनया च गाथया सातिचार इतरश्च द्वितीयसंयत उक्त' ॥ २ ॥ 'परिहरइ' गाहा, परिहरति—निर्विशमानकादिभेद तप आसेवते य. साधुः, किं कुर्वन् ? इत्याह विशुद्धमेव पञ्चयामम्—अनुत्तरं धर्मं त्रिविधेन स्पृशन्, परिहारिकसंयत. स खल्विति, पञ्चयाममित्यनेन च प्रथमचरमतीर्थयोरेव तत्सत्तामाह ॥ ३ ॥ 'लोभाणु' गाहा, लोभाणून्—लोभलवणकषायसूक्ष्मकिट्टिकाः वेदयन् यो वर्त्तत इति, शेषं कण्ठ्यम् ॥ ४ ॥ 'उवसंत' गाहा, अयमर्थ'-उपशान्ते मोहनीये कर्म्मणि क्षीणे वा यश्छद्मस्थो जिनो वा वर्त्तते स यथाख्यातसंयतः खल्विति ॥ ५ ॥

वेदद्वारे—

सामाइयसंजए णं भंते ! किं सवेदए होज्जा, अवेदए होज्जा ?, गोयमा ! सवेदए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा। जइ सवेदए एवं जहा कसायकुसीले तहेव निरवसेसं, एवं छेदोवट्ठावणियसंजए वि, परिहारविसुद्धियसंजओ जहा पुलाओ, सुहुमसंपरायसंजओ अहक्खायसंजओ य जहा नियंठो॥२॥सामाइयसंजए णं भंते ! किं सरागे होज्जा वीयरागे होज्जा ?, गोयमा ! सरागे होज्जा, नो वीयरागे होज्जा। एवं सुहुमसंपरायसजए, अहक्खायसंजए जहा नियंठे ॥ ३ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं ठियकप्पे होज्जा अट्ठियकप्पे होज्जा ?, गोयमा ! ठियकप्पे वा होज्जा अट्ठियकप्पे वा होज्जा। छेदोवट्ठावणियसंजए पुच्छा, गोयमा ! ठियकप्पे होज्जा, नो अट्ठियकप्पे होज्जा, एवं परिहारविसुद्धियसंजए वि, सेसा जहा सामाइयसंजए। सामाइयसंजए णं भंते ! किं जिणकप्पे होज्जा थेरकप्पे वा होज्जा कप्पातीते वा होज्जा ?, गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा जहा कसायकुसीले तहेव निरवसेसं। छेदोवट्ठावणिओ परिहारविसुद्धिओ य जहा बउसो, सेसा जहा नियंठे ॥ ४ ॥ (सू०-७८७) ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं पुलाए होज्जा बउसे० जाव सिणाए होज्जा ?, गोयमा ! पुलाए वा होज्जा बउसे ० जाव कसायकुसीले वा होज्जा, नो नियंठे होज्जा नो सिणाए होज्जा, एवं छेदोवट्ठावणिए वि। परिहारविसुद्धियसंजए णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! नो पुलाए नो बउसे नो पडिसेवणाकुसीले होज्जा, कसायकुसीले होज्जा नो नियंठे होज्जा नो सिणाए होज्जा, एवं सुहुमसंपराए वि। अहक्खायसंजए पुच्छा, गोयमा ! नो पुलाए होज्जा ०जाव नो कसायकुसीले होज्जा नियंठे वा होज्जा सिणाए वा होज्जा॥५॥सामाइयसंजए णं भंते ! किं पडिसेवए होज्जा अपडिसेवए होज्जा ?, गोयमा ! पडिसेवए वा होज्जा अपडिसेवए वा होज्जा। जइ पडिसेवए होज्जा किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा सेसं जहा पुलागस्स, जहा सामाइयसंजए एवं छेदोवट्ठावणिए वि। परिहारविसुद्धियसंजए पुच्छा ?, गोयमा ! नो पडिसेवए होज्जा अपडिसेवए होज्जा एवं ० जाव अक्खायसंजए ॥ ६ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कतिसु नाणेसु होज्जा ?, गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा नाणेसु होज्जा, एवं जहा

कसायकुसीलस्स तहेव चत्तारि नाणाइं भयणाए, एवं० जाव सुहुमसंपराए,अहक्खायसंजयस्स पंच नाणाइं भयणाए जहा नाणुद्देसए । सामाइयसंजए णं भंते ! केवतियं सुयं अहिज्जेज्जा ? , गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ जहा कसायकुसीले, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, परिहारविसुद्धियसंजए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं नवमस्स पुव्वस्स ततियं आयारवत्थुं उक्कोसेणं असंपुन्नाइं दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा , सुहुमसंपरायसंजए जहा सामाइयसंजए । अहक्खायसंजए पुच्छा. गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ उक्कोसेणं चोद्दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा सुयवतिरित्ते वा होज्जा ॥७॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं तित्थे होज्जा अतित्थे होज्जा ? , गोयमा ! तित्थे वा होज्जा अतित्थे वा होज्जा , जहा कसायकुसीले छेदोवट्ठावणिए परिहारविसुद्धिए य जहा पुलाए , सेसा जहा सामाइयसंजए ॥ ८ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सलिंगे होज्जा अन्नलिंगे होज्जा गिहिलिंगे होज्जा, जहा पुलाए, एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धियसंजए णं भंते ! किं पुच्छा , गोयमा ! दव्वलिंगं पि भावलिंगं पि पडुच्च सलिंगे होज्जा नो अन्नलिंगे होज्जा नो गिहिलिंगे होज्जा, सेसा जहा सामाइयसंजए ॥ ६ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कतिसु सरीरेसु होज्जा ? , गोयमा ! तिसु वा चउसु वा पंचसु वा जहा कसायकुसीले , एवं छेदोवट्ठावणिए वि, सेसा जहा पुलाए ॥१०॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं कम्मभूमीए होज्जा अकम्मभूमीए होज्जा ?, गोयमा ! जम्मणं संतिभावं च पडुच्च कम्मभूमीए नो अकम्मभूमीए जहा बउसे, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, परिहारविसुद्धिए य जहा पुलाए , सेसा जहा सामाइयसंजए ॥ ११ ॥ (सू० ७८८)

सामायिकसंयतः सवेदकोऽपि भवेदवेदकोऽपि भवेत्,नवमगुणस्थानके हि वेदस्योपशमः क्षयो वा भवति, नवमगुणस्थानकं च यावत्सामायिकसंयतोऽपि व्यपदिश्यते । 'जहा कसायकुसीले ' त्ति सामायिकसंयत. सवेदस्त्रिवेदोऽपि स्यात् , अवेदस्तु क्षीणोपशान्तवेद इत्यर्थः । 'परिहारविसुद्धियसंजए जहा पुलाओ ' त्ति पुरुषवेदो वा पुरुषनपुंसकवेदो वा स्यादित्यर्थ. , ' सुहुमसंपराये ' त्यादौ ' जहा नियंठो ' त्ति क्षीणोपशान्तवेदत्वेनावेदक इत्यर्थः । एवमन्यान्यप्यतिदेशसूत्राण्यनन्तरोद्देशकानुसारेण स्वयमवगन्तव्यानीति । कल्पद्वारे-' णो अट्ठियकप्पे ' त्ति अस्थितकल्पो हि मध्यमजिनमहाविदेहजिनतीर्थेषु भवति , तत्र च छेदोपस्थापनीय नास्तीति । चारित्रद्वारमाश्रित्येदमुक्तम्—' सामाइयसंजए णं भंते ! किं पुलाए ' इत्यादि , पुलाकादिपरिणामस्य चारित्रत्वात् । ज्ञानद्वारे—' अहक्खायसंजयस्स पंच नाणाइं भयणाए जहा णाणुद्देसए ' त्ति, इह च ज्ञानोद्देशकः–अष्टमशतद्वितीयोद्देशकस्य ज्ञानवक्तव्यतार्थमवान्तरप्रकरणं, भजना पुनः केवलियथाख्यातचारित्रिणः केवलज्ञानं छद्मस्थवीतरागयथाख्यातचारित्रिणो द्वे वा त्रीणि वा चत्वारि वा ज्ञानानि भवन्तीत्येवंरूपा । श्रुताधिकारे यथाख्यातसंयतो यदि निर्ग्रन्थस्तदाऽष्टप्रवचनमात्रादि चतुर्दशपूर्वान्त श्रुतम् , यदि तु स्नातकस्तदा श्रुतातीतोऽत एवाह— ' जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ ' इत्यादि ।

कालद्वारे—

सामाइयसंजए णं भंते ! किं ओसप्पिणीकाले होज्जा, उस्सप्पिणीकाले होज्जा, नो ओसप्पिणी नो उस्सप्पिणीकाले होज्जा ?, गोयमा ! ओसप्पिणीकाले जहा बउसे, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, नवरं जम्मणं संतिभावं (च) पडुच्च चउसु वि पलिभागेसु नऽत्थि, साहरणं पडुच्च अन्नयरे पडिभागे होज्जा, सेसं तं चेव । परिहारविसुद्धिए पुच्छा, गोयमा ! ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा, नो ओसप्पिणीनो उस्सप्पिणीकाले होज्जा, जइ ओसप्पिणीकाले होज्जा जहा पुलाओ, उस्सप्पिणीकालेऽवि जहा पुलाओ , सुहुमसंपराइयो जहा नियंठो, एवं अहक्खाओ वि ॥१२॥ (सू०–७८६) सामाइयसंजए णं भंते ! कालगए समाणे किं गतिं गच्छति ?, गोयमा ! देवगतिं गच्छति । देवगतिं गच्छमाणे किं भवणवासीसु उववज्जेज्जा , वाणमंतरेसु उववज्जेज्जा,जोइसिएसु उववज्जेज्जा, वेमाणिएसु उववज्जेज्जा ?, गोयमा ! णो भवणवासीसु उववज्जेज्जा जहा कसायकुसीले । एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए । सुहुमसंपराए जहा नियंठे । अहक्खाए पुच्छा, गोयमा ! एवं अहक्खायसंजए वि० जाव अजहन्नमणुक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा, अत्थे गतिए सिज्झंति ० जाव अंतं करेंति । सामाइयसंजए णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणे किं इंदत्ताए उववज्जति पुच्छा, गोयमा ! अविराहणं पडुच्च एवं जहा कसायकुसीले । एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए । सेसा जहा नियंठे । सामाइयसंजयस्स णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणस्स केवतियं कालं ठिती णं पण्णत्ता ?, गोयमा ! जहन्नेणं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं. सेसाणं जहा नियंठस्स ॥१३॥ [सू० ७६०] । सामाइयसंजयस्स णं भंते ! केवइया संजमट्ठाणा पन्नत्ता ?, गोयमा ! असंखेज्जा संजमट्ठाणा पण्णत्ता, एवं० जाव परि-

हारविसुद्धियस्स । सुहुमसंपराइयसंजयस्स पुच्छा ?, गोयमा ! असंखेज्जा अंतोमुहुत्तिया संजमट्ठाणा पण्णत्ता । अहक्खायसंजयस्स पुच्छा, गोयमा ! एगे अजहन्नमणुक्कोसए संजमट्ठाणे, एएसि णं भंते ! सामाइयछेदोवट्ठावणियपरिहारविसुद्धियसुहुमसंपरायअहक्खायसंजयाणं संजमट्ठाणाणं कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवे अहक्खायसंजयस्स एगे अजहन्नमणुक्कोसए संजमट्ठाणे सुहुमसंपरायसंजयस्स अंतोमुहुत्तिया संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा परिहारविसुद्धियसंजयस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा, सामाइयसंजयस्स छेदोवट्ठावणियसंजयस्स य एएसि णं संजमट्ठाणा दोण्ह वि तुल्ला असंखेज्जगुणा ॥ १४ ॥ (सू० ७६१) सामाइयसंजयस्स णं भंते ! केवइया चरित्तपज्जवा पण्णत्ता ?, गोयमा ! अणंता चरित्तपज्जवा पण्णत्ता, एवं०जाव अहक्खायसंजयस्स । सामाइयसंजए णं भंते ! सामाइयसंजयस्स सट्ठाणसन्निगासे णं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे तुल्ले अब्भहिए ?, गोयमा ! सिय हीणे छट्ठाणवडिए । सामाइयसंजए णं भंते ! छेदोवट्ठावणियसंजयस्स परट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं पुच्छा, गोयमा ! सिय हीणे छट्ठाणवडिए, एवं परिहारविसुद्धियस्स वि । सामाइयसंजए णं भंते ! सुहुमसंपरागसंजयस्स परट्ठाणसन्निगासे णं चरित्तपज्जवे पुच्छा, गोयमा ! हीणे नो तुल्ले नो अब्भहिए अणंतगुणहीणे, एवं अहक्खायसंजयस्स वि । एवं छेदोवट्ठावणिए वि, हेट्ठिल्लेसु तिसु वि समं छट्ठाणवडिए उवरिल्लेसु दोसु तहेव हीणे, जहा छेदोवट्ठावणिए तहा परिहारविसुद्धिए वि । सुहुमसंपरागसंजए णं भंते ! सामाइयसंजयस्स परट्ठाणे पुच्छा, गोयमा ! नो हीणे नो तुल्ले अब्भहिए अणंतगुणमब्भहिए एवं छेओवट्ठावणियपरिहारविसुद्धिएसु वि समं सट्ठाणे सिय हीणे नो तुल्ले सिय अब्भहिए, जइ हीणे अणंतगुणहीणे अह अब्भहिए अणंतगुणमब्भहिए, सुहुमसंपरायसंजयस्स अहक्खायसंजयस्स परट्ठाणे पुच्छा, गोयमा ! हीणे नो तुल्ले नो अब्भहिए अणंतगुणहीणे, अहक्खाए हेट्ठिल्लाणं चउण्ह वि नो हीणे नो तुल्ले अब्भहिए अणंतगुणमब्भहिए सट्ठाणे नो हीणे तुल्ले नो अब्भहिए एएसि णं भंते ! सामाइयछेदोवट्ठावणियपरिहारविसुद्धियसुहुमसंपरायअहक्खायसंजयाणं जहन्नुक्कोसगाणं चरित्तपज्जवाणं कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सामाइयसंजयस्स छेओवट्ठावणियसंजयस्स य एएसि णं जहन्नगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला सव्वत्थोवा परिहारविसुद्धियसजयस्स जहन्नगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा तस्स चेव उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अनंतगुणा सामाइयसंजयस्स छेदोवट्ठावणियसंजयस्स य एएसि णं उक्कोसगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अनंतगुणा, सुहुमसंपरायसंजयस्स जहन्नगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा, तस्स चेव उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा, अहक्खायसंजयस्स अजहन्नमणुक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा॥१५॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ?, गोयमा ! सजोगी, जहा पुलाए, एवं ०जाव सुहुमसंपरायसंजए, अहक्खाए जहा सिणाए ॥१६॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा अणागारोवउत्ते होज्जा ?, गोयमा! सागारोवउत्ते जहा पुलाए एवं०जाव अहक्खाए, नवरं सुहुमसंपराए सागारोवउत्ते होज्जा, नो अणागारोवउत्ते होज्जा ॥१७॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सकसायी होज्जा अकसायी होज्जा ?, गोयमा ! सकसायी होज्जा; नो अकसायी होज्जा, जहा कसायकुसीले । एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए । सुहुमसंपरागसंजए पुच्छा, गोयमा ! सकसायी होज्जा नो अकसायी होज्जा, जइ सकसायी होज्जा से णं भंते ! कतिसु कसायेसु होज्जा ?, गोयमा ! एगम्मि संजलणलोभे होज्जा, अहक्खायसंजए जहा नियंठे।।१८।।सामाइयसंजए णं भंते ! किं सलेस्से होज्जा अलेस्से होज्जा ?, गोयमा ! सलेस्से होज्जा जहा कसायकुसीले । एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए । सुहुमसंपराए जहा नियंठे । अहक्खाए जहा सिणाए । नवरं जइ सलेस्से होज्जा एगाए सुक्कलेस्साए होज्जा ॥१९॥(सू०-७६२)

'एवं छेओवट्ठावणिए वि' त्ति, अनेन बकुशसमान' कालतश्छेदोपस्थापनीयसयत उक्त । तत्र च बकुशस्य उत्सर्पिण्यवसर्पिणीव्यतिरिक्तकाले जन्मत. सद्भावतश्च सुषमसुषमादिप्रतिभागत्रये निषेधोऽभिहित', दुष्षमसुषमाप्रतिभागे च विधि. । छेदोपस्थापनीयसयतस्य तु तत्राऽपि निषेधार्थमाह—' नवर ' मित्यादि । सयमस्थानद्वारे—' सुहुमसंपराये ' त्यादौ ' असंखेज्जा अंतोमुहुत्तिया सजमट्ठाण ' त्ति अन्तर्मुहूर्त्ते भवानि आन्तर्मुहूर्त्तिकानि, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा हि तदद्धा, तस्यांश्च प्रतिसमयं चरणविशुद्धिविशेषभावादसंख्येयानि तानि भवन्ति, यथाख्याते त्वेकमेव, तदद्धायाश्चरणविशुद्धेर्निर्विशेषत्वादिति । सयमस्थानाल्पबहुत्वचिन्तायां तु किलासद्भावस्थापनया समस्तानि सयमस्थानान्येकविंशति , तत्रैकमुपरितन यथाख्यातस्य, ततोऽधस्तनानि चत्वारि सूक्ष्मसपरायस्य, तानि च तस्मादसख्ययगुणानि दृश्यानि, तेभ्योऽधश्चत्वारि परिहृत्यान्यान्यष्टौ परिहारिकस्य, तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि दृश्यानि । तत. परिहृतानि यानि चत्वार्यष्टौ च पूर्वोक्तानि तेभ्योऽन्यानि चत्वारीत्येवं तानि षोडश सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयतयो , पूर्वेभ्यश्चैतान्यसंख्यानगु-

णानीति। सन्निकर्षद्वारे—'सामाइयसजमे णं भंते! सामाइयसंजयस्से' त्यादौ 'सिय हीणे' त्ति असख्यातानि तस्य संयमस्थानानि, तत्र च यदैको हीनशुद्धिकोऽन्यस्त्वितरत्र वर्त्तते तदैको हीनोऽन्यस्त्वभ्यधिक, यदा तु समाने संयमस्थाने वर्तते तदा तुल्ये, हीनाधिकत्वे च षट्स्थानपतितत्वं स्यादत एवाऽऽह-'छट्ठाणवडिए' त्ति उपयोगद्वारे-सामायिकसंयतादीना पुलाकवदुपयोगद्वय भवति। सूक्ष्मसम्परायसयतस्य तु विशेषोपदर्शनार्थमाह-'नवरं सुहुमसंपराइए' इत्यादि, सूक्ष्मसम्पराय. साकारोपयुक्तस्तथास्वभावत्वादिति। लेश्याद्वारे-यथाख्यातसंयतः स्नानकसमान उक्त। स्नातकश्च सलेश्यो वा स्यादलेश्यो वा। यदि सलेश्यस्तदा परमशुक्ललेश्यः स्यादित्येवमुक्तः। यथाख्यातसंयतस्य तु निर्ग्रन्थत्वापेक्षया निर्विशेषेणापि शुक्ललेश्या स्यादतोऽस्य विशेषस्याभिधानार्थमाह-'णवर जइ' इत्यादि।

परिणामद्वारे—

सामाइयसंजए णं भंते! किं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, हीयमाणपरिणामे होज्जा,अवट्ठियपरिणामे वा होज्जा?,गोयमा! वड्ढमाणपरिणामे जहा पुलाए। एवं०जाव परिहारविसुद्धिए। सुहुमसंपराए पुच्छा, गोयमा! वड्ढमाणपरिणामे वा होज्जा हीयमाणपरिणामे वा होज्जा, नो अवट्ठियपरिणामे होज्जा। अहक्खाए जहा नियंठे। सामाइयसंजए णं भंते! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा?, गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं जहा पुलाए। एवं० जाव परिहारविसुद्धिए वि। सुहुमसंपरागसंजए णं भंते! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा?, गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। केवतियं कालं हीयमाणपरिणामे एवं चेव। अहक्खायसंजए णं भंते! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं केवतियं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा?, गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ॥२०॥ (सू०-७६३)।

'सुहुमसंपराए' इत्यादौ, 'वड्ढमाणपरिणामे वा होज्जा हीयमाणपरिणामे वा होज्जा नो अवट्ठियपरिणामे होज' त्ति सूक्ष्मसंपरायसयत श्रेणिं समारोहन् वर्द्धमानपरिणामस्ततो भ्रस्यन् हीयमानपरिणाम., अवस्थितपरिणामस्त्वसौ न भवति, गुणस्थानकस्वभावादिति। तथा 'सुहुमसंपरायसजए णं भंते! केवइयं कालं' इत्यादौ 'जहन्नेणं एक्कं समय' ति सूक्ष्मसंपरायस्य जघन्यतो वर्द्धमानपरिणाम एकं समयं प्रतिपत्तिसमयानन्तरमेव मरणात्, 'उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं' ति तद्गुणस्थानकस्यैतावत्प्रमाणत्वात्, एव तस्य हीयमानपरिणामोऽपि भावनीय इति। तथा 'अहक्खायसजए णं भंते!' इत्यादौ 'जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण पि अंतोमुहुत्त' ति यो यथाख्यातसंयत केवलज्ञानमुत्पादयिष्यति यश्च शैलेशीप्रतिपन्नस्तस्य वर्द्धमानपरिणामो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्तं तदुत्तरकालं तद्व्यवच्छेदात्, अवस्थितपरिणामस्तु जघन्येनैकं समयम्, उपशमाऽद्धाया' प्रथमसमयानन्तरमेव मरणात्, 'उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडि' त्ति एतच्च प्राग्वद्भावनीयमिति।

बन्धद्वारे—

सामाइयसंजए णं भंते! कइ कम्मप्पगडीओ बंधइ?, गोयमा! सत्तविहबंधइ वा अट्ठविहबंधए वा एवं जहा बउसे, एवं ०जाव परिहारविसुद्धिए। सुहुमसंपरागसंजए पुच्छा, गोयमा! आउयमोहाणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ बंधति,अहक्खाए संजए जहा सिणाए।।२१।।सामाइयसंजए णं भंते! कति कम्मप्पगडीओ वेदेति?,गोयमा! नियमं अट्ठ कम्मप्पगडीओ वेदेति, एवं जाव० सुहुमसंपराए। अहक्खाए पुच्छा, गोयमा! सत्तविहवेयए वा चउव्विहवेयए वा, सत्तविहवेदमाणे मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ वेदेति, चत्तारि वेदमाणे वेयणिज्जाओ य नामगोयाओ चत्तारि कम्मप्पगडीओ वेदेति ॥२२॥ सामाइयसंजए णं भंते! कति कम्मप्पगडीओ उदीरेति?, गोयमा! सत्तविह जहा बउसो, एवं ०जाव परिहारविसुद्धिए। सुहुमसंपराए पुच्छा, गोयमा! छव्विह उदीरए वा पंचविह उदीरए वा, छ उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ उदीरेइ, पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जमोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मप्पगडीओ उदीरेइ। अहक्खायसंजए पुच्छा, गोयमा! पंचविह उदीरए वा दुविह उदीरए वा अणुदीरए वा, पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ सेसं जहा नियंठस्स।।२३।।(सू०७६४)।।सामाइयसंजए णं भंते! सामाइयसंजयत्तं जहमाणे किं जहति किं उवसंपज्जति?, गोयमा! सामाइयसंजयत्तं जहति छेदोवट्ठावणियसंजयं वा सुहुमसंपरागसंजयं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जति। छेओवट्ठावणिए पुच्छा,गोयमा! छेओवट्ठावणियसंजयत्तं जहति सामाइयसंजत्तं जहति परिहारविसुद्धियत्तं जहति सुहुमसंजमं वा उवसंपज्जति असंजमं वा उवसंपज्जति संजमासंजमं वा उवसंपज्जति। परिहारविसुद्धिए पुच्छा, गोयमा! परिहारविसुद्धियसंजयत्तं जहति, छेदोवट्ठावणियसंजयं वा; असंजमं वा उवसंपज्जति। सुहुमसंपराए पुच्छा, गोयमा! सुहुमसंपरायसंजयत्तं जहति सामाइयसंजमं वा छेदोवट्ठावणियसंजयं वा अहक्खायसंजयं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ। अहक्खायसंजए णं पुच्छा, गोयमा! अहक्खायसंजयत्तं जहति सुहुमसंपरायसंजयं वा असंजयं वा सिद्धिगतिं वा उवसंपज्जति ॥ २४ ॥ (सू० ७६५) सामाइयसंजए णं

भंते ! किं सन्नोवउत्ते होज्जा नो सन्नोवउत्ते होज्जा ?, गोयमा ! सन्नोवउत्ते जहा बउसो, एवं० जाव परिहारविसुद्धिए, सुहुमसंपराए अहक्खाए य जहा पुलाए ॥ २५ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं आहारए होज्जा, अणाहारए होज्जा?, जहा पुलाए, एवं०जाव सुहुमसंपराए, अहक्खायसंजए जहा सिणाए ॥ २६ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कति भवग्गहणाइं होज्जा ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अट्ठ,एवं छेदोवट्ठावणिएऽवि । परिहारविसुद्धिए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तिन्नि, एवं०जाव अहक्खाए ॥२७॥ [सू०-७९६]

'सुहुमसंपराए' इत्यादौ 'आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ बंधइ' त्ति सूक्ष्मसम्परायसंयतो ह्यायुर्न बध्नाति अप्रमत्तान्तत्वात्तद्बन्धस्य, मोहनीयं च बादरकषायोदयाभावान्न बध्नातीति तद्वर्जा षट् कर्म्मप्रकृतीर्बध्नातीति । वेदद्वारे—'अहक्खाय' त्यादौ 'सत्तविहवेयए वा चउव्विहवेयए व' त्ति यथाख्यातसंयतो निर्ग्रन्थावस्थायां 'मोहवज्ज' त्ति मोहवर्जानां सप्तानां कर्म्मप्रकृतीनां वेदको, मोहनीयस्योपशान्तत्वात् क्षीणत्वाद्वा, स्नातकावस्थायां तु चतसृणामेव, घातिकर्म्मप्रकृतीनां तस्य क्षीणत्वात् । उपसम्पद्धानद्वारे-'सामाइयसंजए णं' मित्यादि, सामायिकसंयतः सामायिकसंयतत्वं त्यजति, छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं प्रतिपद्यते, चतुर्यामधर्म्मात्पञ्चयामधर्म्मसंक्रमे पार्श्वनाथशिष्यवत्, शिष्यको वा महाव्रतारोपणे, सूक्ष्मसंपरायसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते श्रेणिप्रतिपत्तितः असंयमादिर्वा भवेद्भावप्रतिपातादिति । तथा छेदोपस्थापनीयसंयतश्छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं त्यजन् सामायिकसंयतत्वं प्रतिपद्यते, यथाऽऽदिदेवतीर्थसाधुः अजितस्वामितीर्थं प्रतिपद्यमानः, परिहारविशुद्धिकसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते, छेदोपस्थापनीयवत एव परिहारविशुद्धिसंयमस्य योग्यत्वादिति । तथा परिहारविशुद्धिकसंयतः परिहारविशुद्धिकसंयतत्वं त्यजन् छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं प्रतिपद्यते पुनर्गच्छाद्याश्रयणात्, असंयमं वा प्रतिपद्यते देवत्वोत्पत्ताविति । तथा सूक्ष्मसम्परायसंयतः सूक्ष्मसंपरायसंयतत्वं श्रेणीप्रतिपातेन त्यजन् सामायिकसंयतत्वं प्रतिपद्यते, यदि पूर्वं सामायिकसंयतो भवेत् छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते, यदि पूर्वं छेदोपस्थापनीयसंयतो भवेत्, यथाख्यातसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते श्रेणीसमारोहणात इति, तथा यथाख्यातसंयतो यथाख्यातसंयतत्वं त्यजन् श्रेणिप्रतिपतनात् सूक्ष्मसम्परायसंयतत्वं प्रतिपद्यते असंयमं वा प्रतिपद्यते, उपशान्तमोहत्वे मरणात् देवोत्पत्तौ, सिद्धिगतिं वोपसम्पद्यते स्नातकत्वे सतीति ।

आकर्षद्वारे—

सामाइयसंजयस्स णं भंते ! एगभवग्गहणीया केवतिया आगरिसा पण्णत्ता, गोयमा ! जहन्नेणं जहा बउसस्स, छेदोवट्ठावणियस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं उक्कोसेणं वीसपुहुत्तं । परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं तिन्नि । सुहुमसंपरायस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं चत्तारि । अहक्खायस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं दोन्नि । सामाइयसंजयस्स णं भंते ! णाणाभवग्गहणीया केवतिया आगरिसा पण्णत्ता ?, गोयमा ! जहा बउसे । छेदोवट्ठावणियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं उवरिं नवण्हं सयाणं अन्तोसहस्सस्स परिहारविसुद्धियस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं सत्त । सुहुमसंपरायस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं नव । अहक्खायस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं पंच । (सू०—७९७)

'छेदोवट्ठावणीयस्से' त्यादौ 'वीसपुहुत्तं' ति छेदोपस्थानीयस्योत्कर्षतो विंशतिपृथक्त्वं पञ्चपादिविंशतयः आकर्षाणा भवन्ति, 'परिहारविसुद्धियस्से' त्यादौ 'उक्कोसेणं तिन्नि' त्ति परिहारविसुद्धिकसंयतत्वं त्रीन् वारान् एकत्र भवे उत्कर्षतः प्रतिपद्यते, 'सुहुमसंपरायस्से' त्यादौ 'उक्कोसेणं चत्तारि' त्ति एकत्र भवे उपशमश्रेणीद्वयसंभवेन प्रत्येकं संक्लिश्यमानविशुद्ध्यमानलक्षणसूक्ष्मसंपरायद्वयभावाच्चतस्रः प्रतिपत्तयः सूक्ष्मसंपरायसंयतत्वे भवन्ति, 'अहक्खाये' त्यादौ 'उक्कोसेणं दोन्नि' त्ति उपशमश्रेणीद्वयसम्भवादिति । नानाभवग्रहणाऽऽकर्षाधिकारे 'छेओवट्ठावणीयस्से' त्यादौ 'उक्कोसेणं उवरिं नवण्ह सयाणं अन्तोसहस्स' त्ति, कथम्? किलैकत्र भवग्रहणे षड्विंशतय आकर्षाणां भवन्ति, ताश्चाष्टाभिर्भवैर्गुणिता नव शतानि षष्ट्यधिकानि भवन्ति । इदं च संभवमात्रमाश्रित्य संख्याविशेषप्रदर्शनमतोऽन्यथाऽपि यथा नव शतान्यधिकानि भवन्ति तथा कार्यम् । 'परिहारविशुद्धियस्से' त्यादौ 'उक्कोसेणं सत्त' त्ति कथम् ?, एकत्र भवे तेषां त्रयाणामुक्तत्वात्, भवत्रयस्य च तस्याभिधानादेकत्र भवे त्रयं द्वितीये द्वय तृतीये द्वयमित्यादिविकल्पतः सप्ताऽऽकर्षाः परिहारविशुद्धिकस्येति । 'सुहुमसंपरायस्से' त्यादौ 'उक्कोसेणं नव' त्ति, कथम् ?,सूक्ष्मसंपरायस्यैकत्र भवे आकर्षचतुष्कस्योक्तत्वाद्भवत्रयस्य च तस्याभिधानादेकत्र चत्वारो द्वितीयेऽपि चत्वारस्तृतीये चैक इत्येवं नवेति । 'अहक्खाए' इत्यादौ 'उक्कोसेणं पंच' त्ति, कथम् ?, यथाख्यातसंयतस्यैकत्र भवे द्वावाकर्षौ द्वितीये च द्वावेकत्र चैक इत्येवं पञ्चेति ।

कालद्वारे—

सामाइयसंजए णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणएहिं नवहिं वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडी, एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणएहिं एगूणतीसाए वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडी, सुहुमसंपराए जहा नियंठे, अहक्खाए जहा सामाइयसंजए ।

सामाइयसंजया णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ? , गोयमा ! सव्वऽद्धा, छेदोवट्ठावणिएसु पुच्छा ?, गोयमा ! जहन्नेणं अड्ढाइज्जाई वाससयाइं उक्कोसेणं पन्नासं सागरोवमकोडिसयसहस्साइं । परिहारविसुद्धीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं देसूणाइं दो वाससयाइं उक्कोसेणं देसूणाओ दो पुव्वकोडीओ । सुहुमसंपरागसंजया णं भंते ! पुच्छा , गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं , अहक्खायसंजया जहा सामाइयसंजया ॥ २९ ॥ सामाइयसंजयस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ ? , गोयमा ! जहन्नेणं जहा पुलागस्स एवं०जाव अहक्खायसंजयस्स । सामाइयसंजयस्स भंते ! पुच्छा , गोयमा! नऽत्थि अंतरं । छेदोवट्ठावणियपुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं तेवट्ठिं वाससहस्साइं उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ,परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा? गोयमा! जहन्नेणं चउरासीयं वाससहस्साइं उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ सुहुमसंपरायाणं जहा नियंठाणं । अहक्खायाणं जहा सामाइयसंजयाणं ॥३०॥ सामाइयसंजयस्स णं भंते ! कति समुग्घाया पन्नत्ता ? , गोयमा ! छ समुग्घाया पन्नत्ता , तं जहा–कसायकुसीलस्स । एवं छेदोवट्ठावणियस्स वि । परिहारविसुद्धियस्स जहा पुलागस्स । सुहुमसंपरागस्स जहा नियंठस्स । अहक्खायस्स जहा सिणायस्स ॥ ३१ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जइभागे होज्जा असंखेज्जइभागे पुच्छा , गोयमा ! नो संखेज्जइ जहा पुलाए, एवं० जाव सुहुमसंपराए । अहक्खायसंजए जहा सिणाए ॥ ३२ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसइ जहेव होज्जा तहेव फुसइ ॥ ३३ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कयरम्मि भावे होज्जा ? , गोयमा ! उवसमिए भावे होज्जा , एवं ०जाव सुहुमसंपराए । अहक्खायसंपराए पुच्छा, गोयमा! उवसमिए वा खइए वा भावे होज्जा ॥ ३४ ॥ सामाइयसंजयाणं भंते ! एगसमएणं केवतिया होज्जा ? , गोयमा ! पडिवज्जमाणए य पडुच्च जहा कसायकुसीला तहेव निरवसेसं । छेदोवट्ठावणिया पुच्छा , गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नऽत्थि,जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं सयपुहुत्तं , पुव्वपडिवन्नए पडुच्च सिय, अत्थि सिय नऽत्थि , जइ अत्थि जहन्नेणं कोडिसयपुहुत्तं उक्कोसेण वि कोडिसयपुहुत्तं , परिहारविसुद्धिया जहा पुलागा। सुहुमसंपराया जहा नियंठा। अहक्खायसजयाणं पुच्छा , गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि सिय नऽत्थि, जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं बावट्ठसयं अट्ठुत्तरसयं खमगाणं च उप्पन्नं उवसामगाणं, पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहन्नेणं कोडिपुहुत्तं उक्कोसेणं वि कोडिपुहुत्तं । एएसि णं भंते ! सामाइयछेओवट्ठावणियपरिहारविसुद्धियसुहुमसंपरायअहक्खायसंजयाणं कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया?, गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमसंपरायसंजया परिहारविसुद्धियसंजया संखेज्जगुणा अहक्खायसंजया संखेज्जगुणा छेओवट्ठावणियसंजया संखेज्जगुणा सामाइयसंजया संखेज्जगुणा ॥ ३६ ॥ (सू०—७९८)

'सामाइय' इत्यादौ सामायिकप्रतिपत्तिसमयसमनन्तरमेव मरणादेकः समयः , 'उक्कोसेणं देसूणएहिं नवहिं वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडि' त्ति यदुक्तं तद्गर्भसमयादारभ्यावसेयम् , अन्यथा जन्मदिनापेक्षयाऽष्टवर्षोनिकैव सा भवतीति , 'परिहारविसुद्धिए जहन्नेणं एक्कं समय' ति मरणापेक्षमेतत् , 'उक्कोसेणं देसूणएहिं' ति , अस्यायमर्थः–देशोननववर्षजन्मपर्यायेण केनापि पूर्वकोट्यायुषा प्रव्रज्या प्रतिपन्ना , तस्य च विंशतिवर्षप्रव्रज्यापर्यायस्य दृष्टिवादोऽनुज्ञातस्ततश्चासौ परिहारविशुद्धिकं प्रतिपन्नः, तच्चाष्टादशमासमानमप्यविच्छिन्नतत्परिणामेन तेनाजन्म पालितमित्येवमेकोनत्रिंशद्वर्षोना पूर्वकोटिं यावत्तस्यादिति , 'अहक्खाए जहा सामाइयसंजए' त्ति तत्र जघन्यत एकं समयम् उपशमावस्थायां मरणात् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी , स्नातकयथाख्यातापेक्षयेति । पृथक्त्वेन कालचिन्तायां 'छेओवट्ठावणिए' इत्यादि , तत्रोत्सर्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीयं प्रभवतीति, तीर्थं च तस्य सार्द्धे द्वे वर्षशते भवतीत्यत उक्तम्–'अड्ढाइज्जाइं' इत्यादि , तथाऽवसर्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीय प्रवर्त्तते तच्च पञ्चाशत्सागरोपमकोटीलक्षा इत्यतः 'उक्कोसेणं पन्नासं' मित्याद्युक्तमिति । परिहारविशुद्धिककालो जघन्येन 'देसूणाइं दो वाससयाइं' ति, कथम् ?, उत्सर्पिण्यामाद्यस्य जिनस्य समीपे कश्चिद्वर्षशतायुः परिहारविशुद्धिकं प्रतिपन्नस्तस्यान्तिके तज्जीवितान्तेऽन्यो वर्षशतायुरेव तत परतो न तस्य प्रतिपत्तिरस्तीत्येवं द्वे वर्षशते, तयोश्च प्रत्येकमेकोनत्रिंशतिवर्षेषु गतेषु तत्प्रतिपत्तिरित्येवमष्टपञ्चाशता वर्षैर्न्यूने ते इति–देशोने इत्युक्तम् , एतच्च टीकाकारव्याख्यानम् , चूर्णिकारव्याख्यानमप्येवमेव, किन्त्ववसर्पिण्यन्तिमजिनापेक्षमिति विशेषः । 'उक्कोसेणं देसूणाओ दो पुव्वकोडीओ' त्ति , कथम् ?, अवसर्पिण्यामादितीर्थकरस्यान्तिके पूर्वकोट्यायुः कश्चित्परिहारविशुद्धिकं प्रतिपन्नस्तस्यान्तिके तज्जीवितान्तेऽन्यस्तादृश एव तत्प्रतिपन्न इत्येवं पूर्वकोटीद्वयं तथैव देशोनं परिहारविशुद्धिकसंयतत्वं स्यादिति । अन्तरद्वारे–'छेओवट्ठावणिए' त्यादौ जघन्येनं तेवट्ठिं वाससहस्साइं' ति, कथम् ?, अवसर्पिण्यां दुष्षमा यावच्छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तते, ततस्तस्या एवैकविंशतिवर्षसहस्रमानायामेकान्तदुष्षमायामुत्सर्पिण्याश्चैकान्तदुष्षमायां च तत्प्रमाणायामेव नदभावः स्यात् , एवं चैकविंशतिवर्षसहस्रमानप्रयेण त्रिषष्टिर्वर्षसहस्राणामन्तरमिति ।

उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ ' त्ति किलोत्सर्पिण्यां चतुर्विंशतितमजिनतीर्थे छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तते, ततश्च सुषमदुष्षमादिसमात्रये क्रमेण द्विभिचतुःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणे अतीते अवसर्पिण्याश्चैकान्तसुषमादित्रये क्रमेण चतुस्त्रिद्विसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणे अतीतप्राये प्रथमजिनतीर्थे छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तत इत्येवं यथोक्तं छेदोपस्थापनीयस्यान्तरं भवति । यच्चेह किञ्चिन्न पूर्यते यच्च पूर्वसूत्रेऽतिरिच्यते तदल्पत्वान्न विवक्षितमिति । ' परिहारविसुद्धियस्से' त्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयतस्यान्तरं जघन्यं चतुरशीतिवर्षसहस्राणि, कथम् ? , अवसर्पिण्या दुष्षमैकान्तदुष्षमयोरुत्सर्पिण्याश्चैकान्तदुष्षमादुष्षमयोः प्रत्येकमेकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणत्वेन चतुरशीतिवर्षसहस्राणां भवति तत्र च परिहारविशुद्धिकं न भवतीति कृत्वा जघन्यमन्तरं तस्य यथोक्तं स्यात् , यश्चेहान्तिमजिनानन्तरां दुष्षमायां परिहारविसुद्धिककालो यश्चोत्सर्पिण्यास्तृतीयसमायां परिहारविशुद्धिकप्रतिपत्तिकालात्पूर्वः कालो नासौ विवक्षितोऽल्पत्वादिति , ' उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ ' त्ति छेदोपस्थापनीयोत्कृष्टान्तरवदस्य भावना कार्येति । परिणामद्वारे—' छेदोवट्ठावणिये ' इत्यादौ ' जहन्नेणं कोडीसयपुहुत्तं उक्कोसेण वि कोडीसयपुहुत्तं ' ति. इहोत्कृष्टं छेदोपस्थापनीयसंयतपरिमाणमादितीर्थंकरतीर्थान्याश्रित्य संभवति, जघन्यं तु तत्सम्यग् नावगम्यते,यतो दुष्षमान्ते भरतादिषु दशसु क्षेत्रेषु प्रत्येकं तद्वयस्य भावाद्विशतिरेव तदा श्रूयते । केचित्पुनराहुः—इदमप्यादितीर्थंकराणां यस्तीर्थकालस्तदपेक्षयैव समवसेयम् , कोटीशतपृथक्त्वं च जघन्यमल्पतरमुत्कृष्टं च बहुतरमिति । अल्पबहुत्वद्वारे-' सव्वत्थोवा सुहुमसंपरायसंजय' त्ति स्तोकत्वात्तत्कालस्य निर्ग्रन्थतुल्यत्वेन च शतपृथक्त्वप्रमाणत्वात्तेषां , ' परिहारविशुद्धियसंजया संखेज्जगुण ' त्ति तत्कालस्य बहुत्वात् पुलाकतुल्यत्वेन च सहस्रपृथक्त्वमानत्वात्तेषाम् , ' अहक्खायसंजया संखेज्जगुण ' त्ति कोटीपृथक्त्वमानत्वात्तेषां , ' छेदोवट्ठावणियसंजया संखेज्जगुण ' त्ति कोटीशतपृथक्त्वमानतया तेषामुक्तत्वात् , ' सामाइयसंजया संखेज्जगुण ' त्ति कषायकुशीलतुल्यतया कोटीसहस्रपृथक्त्वमानत्वेनेष्टत्वात्तेषामिति । भ० २५ श० ७ उ० ।

जीवा णं भंते ! किं संजया,असंजया,संजयासंजया,नोसंजया,नोअसंजया,नोसंजयासंजया ?,गोयमा ! जीवा संजया वि १,असंजया वि २,संजयासंजया वि ३,नोसंजया,नोअसंजया,नोसंजयासंजया वि ४।नेरइया णं भंते ! पुच्छा,गोयमा ! नेरइया नो संजया असंजया नोसंजयासंजया नो नोसंजयनोअसंजयनोसंजयासंजया,एवं० जाव चउरिंदियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा,गोयमा! पंचिंदियतिरिक्खजोणिता नो संजता असंजता वि संजतासंजता वि नो नोसंजतनोअसंजतनोसंजतासंजता वि,मनुस्साणं पुच्छा.गोयमा!मणूसा संजता वि असंजता वि संजतासंजता वि,नो-नोसंजतनोअसंजतनोसंजतासंजता,वाणमंतरजोतिसियवेमाणिया जहा नेरइया, सिद्धाणं पुच्छा, गोयमा ! सिद्धा नो संजता १,नो असंजता २, नो संजतासंजता ३, नो संजतनोअसंजतनोसंजतासंजता ४ । गाहा "संजयअसंजय मी-सगा य जीवा तहेव मणुया य । संजतरहिया तिरिया, सेसा अस्संजता होंति ॥ १ ॥" (सू० ३१६) । संजयपयं समत्तं ॥२२॥

' जीवा णं भंते ! ' इत्यादि, संयच्छन्ति स्म—सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमन्ति स्म अर्थात् निरवद्ययोगेषु चारित्रपरिणामस्फातिहेतुषु वर्त्तन्ते स्म इति संयताः ' गत्यर्थनित्याकर्मका ' दिति कर्त्तरि क्तप्रत्ययः, हिंसादिपापस्थाननिवृत्ता इत्यर्थः । तद्विपरीता असंयताः । हिंसादीनां देशतो निवृत्ताः संयतासंयताः, त्रितयप्रतिषेधविषयाः सिद्धाः, कथमिति चेत् , उच्यते, उक्तमिह संयमो नाम निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः, ततः संयतादिपर्यायो योगाऽऽश्रयः,सिद्धाश्च भगवन्तो योगाऽतीताः शरीरमनसोऽभावादतस्त्रितयप्रतिषेधविषयाः, एवं च सामान्यतो जीवपदे चतुष्टयमपि घटते । तथा चाह-' गोयमे ' त्यादि, गौतम ! जीवाः संयता अपि साधूनां संयतत्वात् , असंयता अपि नैरयिकादीनामसंयतत्वात् , संयतासंयता अपि पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च देशतः संयमस्य भावात् , नोसंयतनोअसंयतनोसंयतासंयता अपि सिद्धाना त्रयस्यापि प्रतिषेधात् । चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि सुगमानि । अत्रैवं संग्रहणिगाथामाह-'संयते' त्यादि,संयता असंयता मिश्रकाश्च-संयतासंयता जीवास्तथैव मनुष्याश्च । किमुक्तं भवति ?-जीवपदे मनुष्यपदे च एतानि त्रीण्यपि पदानि घटन्ते ननु न घटन्ते इत्येवं परमेतत् सूत्रम्,अन्यथा जीवपदे त्रितयप्रतिषेधरूपं चतुर्थमपि पदं घटत एव,यथोक्तं प्राक्,तथा संयतरहिता उपलक्षणमेतत् त्रितयप्रतिषेधरहिताश्च तिर्यञ्चः-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः । आह-कथं संयतपदरहितास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः ?, यावता तेषामपि संयतत्वमुपपद्यते एव, तथाहि-संयतत्वं नाम निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकं, ते च निरवद्येतरयोगेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती तिरश्चामपि सम्भवतः, यतश्चरमकालेऽपि चतुर्विधस्याप्याहारस्य प्रत्याख्यानं कृत्वा शुभेषु योगेषु वर्त्तमाना दृश्यन्ते।अन्यच्च सिद्धान्ते तत्र तत्र प्रदेशे महाव्रतान्यप्यात्मन्यारोपयन्तः श्रूयन्ते,उक्तं च-"तिरियाण चारित्तं,निवारितं तह य अह पुणो तेसिं । सुव्वइ बहुयाणं चिय, महव्वयारोवणं समए ॥ १ ॥" तदेतदयुक्तं, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् , संयतत्वमिह निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपमान्तरचारित्रपरिणामानुपक्तमवगन्तव्यं, न शेषं, न च तेषां कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानानामपि महाव्रतान्यारोपयतां भवप्रत्ययादेव चरणपरिणाम उपजायते, स ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पे मनुष्यभव एव यदि परं कर्मक्षयोपशमाद् भवति, नान्यथा, अत एवायमतिदुर्लभो गीयते भगवद्भिः । अथ कथमवसीयते न तिरश्चां तथा चेष्टमानानामप्यान्तरश्चारित्रपरिणामः ?, उच्यते, केवलज्ञानाद्यश्रवणात् , यदि हि तिरश्चामपि चरणपरिणामस्सम्भवेत् तत् क्वचित् कदाचित् कस्यचिदुत्कर्षतो भावतो मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं वा श्रूयेत, तयोश्चारित्रपरिणामनिबन्धनत्वात् , न च श्रूयते, तस्मादवसीयते-न तेषां चारित्रपरिणाम । उक्तं च-"न महव्वयसब्भावे, वि चरणपरिणामसं-

भवो तेसिं । न वहुगुणाणं पि जओ, केवलसंभूइपरिणामो ॥१॥" तद्भावाऽभावात् संयमपदरहिताः, शेषाः संसारस्था असंयताः-असंयतपदसहिता भवन्ति, न शेषपदसहिताः । प्रश्ना० ३२ पद । संयताश्चतुर्द्धा, असंविग्नाः गीतार्थाः, संविग्नाः गीतार्थाः गीतार्थाः संविग्नाः, असंविग्नाः अगीतार्थाश्च । वृ० १उ० २प्रक० । वीरेण सह प्रव्रजिते स्वनामख्याते राजपुत्रे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते काम्पिल्यराजे, ती० २४ कल्प । उत्त० ।

सञ्जयशब्दनिक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो संजइज्ज-म्मि चउव्विहे दुविहो उ होइ दव्वम्मि।
आगम नोआगमतो, नोआगमओ य सो तिविहो ।२६२।
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य से पुणो तिविहो ।
एगभवियबद्धाउय, अभिमुहओ नामगोए य ॥२६३॥
संजयनामं गोयं, वेयंतो भावसंजओ होइ ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं संजइज्जं ति ॥ २६४ ॥

गाथात्रय व्याख्यातप्रायम् .नवरं 'णिक्खेवो संजइज्जम्मि'त्ति निक्षेपः-न्यासः सञ्जयीयाध्ययने अर्थात्-सञ्जयस्येति गम्यते। तथा च तृतीयगाथाया 'संजयनाम गोयं वेयंतो' इत्युक्तं 'तत' इति सञ्जयादभिधेयभूतात् समुत्थितम्-उत्पन्नम इदम् अध्ययनं सञ्जयीयमिति, तस्माज्ञेतोरुच्यत इति गाथात्रयार्थ.। इत्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेप· ।

सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर., स च सूत्रे सति भवत्यत. सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

कंपिल्ले नयरे राया, उदिन्नबलवाहणे ।
नामेणं संजओ नाम, मिगव्वं उवनिग्गए ॥ १ ॥

काम्पिल्ये नगरे राजा नृपतिरुदीर्णम्-उदयप्राप्तं बलं-चतुरङ्गं वाहन च-शिबिकाथिल्ल्यादिरूपं यस्य सोऽयमुदीर्णबलवाहन'।यद्वा बल-शरीरसामर्थ्यं वाहनं-गजाश्वादि पदात्युपलक्षण चैतत्, स च नाम्ना—अभिधानेन सञ्जय नाम इति प्राकाश्ये, ततोऽयमर्थ.-सञ्जय इति नाम्ना प्रसिद्धो, मृगव्यां-मृगया प्रतीति शेष., उप-सामीप्येन निर्गतो निष्क्रान्त उपनिर्गतस्तत एव नगरादिति शेष' । इति सूत्रार्थ. ।

स च कीदृग् विनिर्गत', किञ्च कृतवानित्याह—

हयाणीए गयाणीए, रहाणीए तहेव य ।
पायत्ताणीए महया, सव्वओ परिवारिए ॥ २ ॥
मिए छुभित्ता हयगओ, कंपिल्लुज्जाणकेसरे ।
भीए संते मिए तत्थ, वहेइ रसमुच्छिए ॥ ३ ॥

पाठसिद्धम् . नवर पदातीना समूह पादात तस्यानीकं-कटक पादातानीक तेन, सुब्व्यत्यय प्राग्वत्, एव पूर्वेष्वपि . महता—वृहत्प्रमाणेन मृगान् क्षिप्त्वा ' कंपिल्लुज्जाणकेसरे ' त्ति तस्यैव काम्पिल्यस्य नगरस्य सम्बन्धिनि केशरनाम्न्युद्याने भीतान्—त्रस्तान् सतो मितान्—परिमितान् तत्र—तेषु मृगेषु मध्ये ' वहेइ ' त्ति व्यथयति हन्ति वा, शरैरिति गम्यते, रसः—तत्पिशितास्वादस्तत्र मूर्च्छितो-गृद्धो रसमूर्च्छित इति सूत्रद्वयार्थः ।

अमुमेवार्थं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या स्पष्टयितुमाह—

कंपिल्लपुरवरम्मि अ, नामेणं संजओ नरवरिंदो ।
सो सेणाए सहिओ, नासीरं निग्गओ कयाइ ॥२६५॥
हयमारूढो राया, मिए छुहित्ताण केसरुज्जाणे ।
ते तत्थ उ उत्तत्थे, वहेइ रसमुच्छिओ संतो ॥ २६६ ॥

गाथाद्वयं प्रतीतमेव, नवरमिह नासीरं—मृगयां प्रति उत्त्रस्तान्—अतिभीतानिति गाथाद्वयार्थः ।

अत्रान्तरे यदभूत्तदाह सूत्रकृत्—

अह केसरम्मि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे ।
सज्झायज्झाणजुत्ते, धम्मज्झाणं झियायइ ॥ ४ ॥
अप्फोवमंडवम्मी, झायई झवियासवे ।
तस्सागए मिए पासं, वहेई से नराऽहिवे ॥ ५ ॥

अथ—अनन्तर केशरे उद्यानेऽनगारस्तपोधनः स्वाध्यायः—अनुप्रेक्षणादिर्ध्यान—धर्मध्यानादि ताभ्यां युक्तो-यथाकालं तदासेवकतया सहित· स्वाध्यायध्यानयुक्तोऽत एव धर्मध्यानम्—आज्ञाविजयादि ' झियायइ ' त्ति ध्यायति चिन्तयति, क ?—' अप्फोवमंडवम्मि ' त्ति वृक्षाद्याकीर्णे, तथा च वृद्धाः-' अप्फोव ' इति । किमुक्तं भवति ?—आस्तीर्णे, वृक्षगुच्छगुल्मलतासंछन्न इत्यर्थ. , मण्डपे—नागवल्ल्यादिसम्बन्धिनि ध्यायति धर्मध्यानमिति गम्यते, पुनरभिधानमतिशयख्यापकम् ' झविय ' त्ति क्षपिता निर्मूलिता आश्रवा· कर्मबन्धहेतवो हिंसादयो येन स तथा, तस्य—इत्युक्तविशेषणान्वितस्यानगारस्य पार्श्वे—समीपमिति सम्बन्ध., आगतान्—प्राप्तान् मृगान् ' वहेइ ' त्ति विध्यति हन्ति वा स इति-सञ्जयनामा नराधिपः-राजेति सूत्रद्वयार्थ. ।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह निर्युक्तिकृत्—

अह केसरमुज्जाणे, नामेणं गद्दभालि अणगारो।
अप्फोवमंडवम्मि अ, झायइ झाणं झवियदोसो।२६७।

' अह ' ति गाथा व्याख्यातप्रायैव । नवर नाम्ना अभिधानेन गर्दभालिनामेत्यर्थ·, ' झविय ' त्ति क्षपिता दोषा· कर्माश्रवहेतुभूता हिंसादयो येन स तथा ।

पुनस्तत्र यदभूत्तदाह—

अह आसगओ राया, खिप्पमागम्म सो तहिं ।
हए मिए उपासित्ता, अणगारं तत्थ पासइ ॥ ६ ॥

अथ-अनन्तरम् अश्वगत —तुरगारूढो राजा क्षिप्रं-शीघ्रमागत्य'स'इति-सञ्जयनामा तस्मिन् यत्र मण्डपेऽस्य भगवान् ध्यायति, हतान्-विनाशितान् मृगान् तुशब्द एवकारार्थस्ततो मृगानेव· न पुनरनगारमित्यर्थ. ' पासित्त ' त्ति दृष्ट्वा अनगार—साधुं तत्र इति—तस्मिन्नेव स्थाने पश्यतीति सूत्रार्थः ।

ततः किमसावकार्षीदित्याह—

अह राया तत्थ संभंतो, अणगारो मणाऽऽहओ ।
मए उ मंदपुण्णेणं, रसगिद्धेण घंतुणा ॥ ७ ॥
आसं विसज्जइत्ता णं, अणगारस्स सो निवो ।
विणएणं वंदई पाए, भगवं ! इत्थ मे खमे ॥ ८ ॥
अह मोणेण सो भगवं, अणगारो झाणमस्सिओ ।
रायाणं न पडिमंतेइ, तओ राया भयद्दुओ ॥ ६ ॥
संजओ अहमस्सीति, भगवं ! वाहिराहि मे ।
कुद्धे तेएण अणगारे, दहिज्जा नरकोडिओ ॥ १० ॥

अथ राजा तत्र इति—तद्दर्शने सति संभ्रान्तः भयव्याकुलो, यथाऽनगारो—मुनिर्मनागिति—स्तोकेनैव आहत.—विनाशित., तदासन्नमृगहननादित्यभिप्राय', मया तु मन्दपुण्येन रसगृद्धेन—रसमूर्छितेन 'घंतुण' त्ति घातुकेन, हननशीलेनेत्यर्थ' । ततश्च अश्वं—तुरगं विसृज्य—विमुच्य 'णं' प्राग्वत्, अनगारस्य—उक्तस्यैव स. सञ्जयनामा नृप. विनयेन-उचितप्रतिपत्तिरूपेण वन्दते—स्तौति पादौ—चरणौ, अत्यादरख्यापकं चतत्, पादावपि तस्य भगवत स्तवनीयाविति, वक्ति च—यथा भगवन् ! अत्र एतस्मिन् मृगव्ये, मम अपराधमिति शेष', क्षमस्व—सहस्व । अथ इत्यनन्तर मौनेन वाग्निरोधात्मकेन 'सो' त्ति स गर्दभालिनामा भगवान् अनगार' ध्यानं—धर्मध्यानम् आश्रित'—स्थित. राजान नृप न प्रतिमन्त्रयते न प्रतिवक्ति, यथाऽहं क्षमिष्ये नवेति, ततः तत्प्रतिवचनाभावतोऽवश्यमयं क्रुद्ध इति न किमपि मां प्रभाषते इति राजा भयद्रुतः—अतीव भयत्रस्तो, यथा न ज्ञायते किमसौ क्रुद्ध' करिष्यतीति । उक्तवांश्च यथा—सजयः—सञ्जयनामा राजाऽहमस्मि, मा भूत्तीव एवायमिति सुतरा कोप. इत्येतदभिधानमिति, इति अस्माद्धेतोर्भगवन् ! 'वाहराहि' त्ति व्याहर-संभाषय मे इति, सुब्व्यत्ययान्माम्, अथाऽपि स्यात्—किमेवं भवान् भयद्रुत इत्याह—क्रुद्ध.—कुपितः तेजसा तपोमाहात्म्यजनितेन तेजोलेश्यादिना अनगारः मुनि' दहेत् भस्मसात्कुर्यात् नरकोटी', आस्ता शतं सहस्रं वेति । अतोऽत्यन्तभयद्रुताऽहमिति सूत्रचतुष्टयार्थ. ।

इदमेव व्यक्तीकर्तुमाह निर्युक्तिकृत्—

अह आसगओ राया, तं पासिअ संभमागओ तत्थ ।
भणइ अहा जह इसिंह,इसिवज्झाए मणालित्तो ॥३६८॥
वीसज्जिऊण आसं, अह अणगारस्स एइ सो पासं ।
विणएण वंदिऊणं, अवराहं ते खमावेइ ॥ ३६६ ॥
अह मोणमस्सिओ सो, अणगारो नरवइं न वाहरइ ।
तस्स तवतेयभीओ, इणमट्ठं सो उदाहरइ ॥ ४०० ॥
कंपिल्लपुराहिवई, नामेणं संजओ अहं राया ।
तुज्झ सरणागओऽम्हि,निद्दहिहा मा मि तेएणं ॥४०१॥

गाथाचतुष्टय स्पष्टमेव । नवरं तं 'पासिय संभमागतो' त्ति मुनिरत्र दृश्यत इत्यसावपि मया विद्धो भविष्यतीत्याकुलत्वमापन्नः, भणति च—वक्ति च—हा इति खेदे, यथेत्यानीम् 'इसिवज्झाए' त्ति ऋषिहत्यया मनागपि लिप्तोऽहं-स्वरूपेणैव न स्पृष्ट. 'तुज्झ' त्ति तव शरणागतोऽस्मि त्वामेव शरणम्—आश्रयं प्रतिपन्नोऽस्मि, ततश्च निर्दाक्षी. मा-निषेधे, 'मि' इति मां तेजसा तपोजनितेनेति गम्यते, इति गाथाचतुष्टयार्थ' ।

इत्थ तेनोक्ते यन्मुनिरुक्तवांस्तदाह—

अभओ पत्थिवा ! तुज्झं, अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ? ॥ ११ ॥
जया सव्वं परिचज्ज, गंतव्वमवसस्स ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि ? ॥१२॥
जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसी रायं, पिच्चत्थं नाव बुज्झसी ॥ १३ ॥
दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा ।
जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयंति य ॥ १४ ॥
नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया ।
पियरो अ तहा पुत्ते, बंधू रायं ! तवं चरे ॥ १५ ॥
तओ तेणऽज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए ।
कीलंत ऽन्ने नरा रायं !, हट्ठतुट्ठमलंकिया ॥ १६ ॥
तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥ १७ ॥

'अभओ' त्ति अभयं—भयाभाव पार्थिव ! नृपते ! आकारोऽलाक्षणिक, कस्य ?—'तुब्भं' ति तव, न कश्चित्त्वां दहतीति भाव, इत्थ समाश्वास्योपदेशमाह-अभयदाता च-प्राणिना त्राणकर्ता 'भवाहि य' त्ति भव-यथाहि भवता मृत्युभयमेवमन्येषामपीति भाव., चशब्दो योजित. एव, अमुमेवार्थं सहेतुकं व्यतिरेकद्वारेणाह—अनित्ये अशाश्वते जीवलोके प्राणिगणे, किमिति परिप्रश्ने, हिंसाया प्राणिवधरूपायां प्रसजसि अभिष्वक्तो भवसि ?, जीवलोकस्य ह्यनित्यत्वे भवानप्यनित्यस्तत्किमिति—केन-हेतुना स्वल्पदिनकृते पापमित्थमुपार्जयसि ?, नैवेदमुचितमिति भाव.। इत्थं हिंसात्यागमुपदिश्य राज्यपरित्यागोपदेशमाह-यदा सर्वं कोशान्त'पुरादि परित्यज्य-इहैव विमुच्य गन्तव्य भवान्तरमिति शेष, तदपि न स्ववशस्य किन्तु अवशस्य—अस्वतन्त्रस्य ते-तव, कसति ?-अनित्ये जीवलोके, तत. किं राज्ये—नृपतित्वे प्रसजति ?, राज्यपरित्याग एव युक्त इति भाव., पाठान्तरतश्च किं हिंसाया प्रसजसि ?, इह च पुनर्वचनमादरातिशयख्यापनार्थमिति पुनरुक्तता । जीवलोकाऽनित्यत्वमेव भावयितुमाह—जीवितम्-आयुः च' समुच्चये, एवेति पूरणे, रूपं च—पिशिनादिपुरुषस्य शरीरशोभात्मक विद्युत सपात संपात.—चलनचमत्कारो विद्युत्सम्पातस्तद्वच्चञ्चलम्—अतीवाऽस्थिर विद्युत्सम्पातचञ्चलं यत्र जीविते रूपे च 'त' ति त्व मुह्यसि मोह विधत्से मूढ—अ हिंसादौ प्रसजसीति भावः, रेराजन् ! नृपते ! प्रेत्यार्थं पर-

लोकप्रयोजनं नावबुध्यसे, किमुक्तं भवति ?-जानास्यपि न किं पुनस्तत्करणमिति। तथा दाराश्च-कलत्राणि प्राकृतत्वा न्नपुंसकनिर्देशः, सुताश्चैव मित्राणि च प्रतीतान्येव, तथा बान्धवाः-स्वजनाः जीवन्तम् अनुजीवन्ति-तदुपार्जितविनाद्युपभोगत उपजीवन्ति, मृतं 'णाणुव्वयति य' त्ति चशब्दस्यापिशब्दार्थत्वादनुव्रजन्त्यपि न, किं पुन. सह यास्यन्तीति,तदनेन दारादीनामपि कृतघ्नतया न तेष्वास्थां विधाय धर्मे उदासितव्यमित्युक्तमिति। इदं च सूत्रं चिरन्तनवृत्तिकृता न व्याख्यातं, प्रत्यन्तरेषु च दृश्यत इत्यस्माभिरुन्नीतम्। पुनस्तत्प्रतिबन्धनिराकरणायाह-'नीहरंति' त्ति निस्सारयन्ति मृतम् इति-गतायुषं पुत्राः-सुता. पितरः-जनक परमदुःखिता.-अतिशयसञ्जातदुःखा अपि, किं पुनर्ये न तथा दुःखभाज इति भाव, पितरोऽपि तथा पुत्रान्, 'बंधु' त्ति बन्धवश्च बन्धूनिति शेषः। अतश्च किंकृत्यमित्याह— राजन्! तप उपलक्षणत्वाद्दानादि चरे.-आसेवस्वेति। अपरश्च 'ततो' त्ति मृतनिःसारणादनन्तरं तेन इति-मित्रपित्रादिना अर्जिते-विढपिते द्रव्ये-वित्ते दारेषु च-कलत्रेषु च परिरक्षितेषु-सर्वोपायपरिपालितेषु, उभयत्रार्षत्वादेकवचनं, क्रीडन्ति-विलसन्ति तेनैव-वित्तेन दारैश्चेति गम्यते, अन्ये-अपरे राजन्! 'हट्ठतुट्ठमलंकिय' त्ति हृष्टा.-बहिःपुलकादिमन्तः तुष्टाः-आन्तरप्रीतिभाजः अलङ्कृता.-विभूषिताः, यत ईदृशी भवस्थितिस्ततो राजन्! तपश्चरेरिति मध्यदीपकत्वादनन्तरसूत्रोक्तेन सम्बन्धः। मृतस्य च को वृत्तान्त इत्याह-तेनापि मृतेन यत् कृतम्-अनुष्ठितं कर्म शुभं वा पुण्यप्रकृतिरूप,यद्वा-सुखं वा-सुखहेतुः यदिवेति-अथवा-दुःखं-दुःखहेतुः, पापकृत्यात्मकमित्यर्थः। कर्मणा तेन सुखहेतुना दुःखहेतुना वा, उत्तरत्र तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् भिन्नक्रमत्वाच्च तेनैव, न तु दुःखपरिरक्षितेनापि द्रव्यादिना संयुक्तः-सहितः गच्छति-याति परम्-अन्यं भवं-जन्म,यतश्च शुभाशुभयोरेवानुयायिता ततः शुभहेतु तप एव चरेरिति भाव, इति सूत्रसप्तकार्थः।

ततस्तद्वचः श्रुत्वा राजा किमचेष्टतेत्याह—

सोऊण तस्स सो धम्मं, अणगारस्स अंतिए।
महया संवेगनिव्वेयं, समावन्नो नराहिवो ॥१८॥
संजओ चइउं रज्जं, निक्खंतो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ, अणगारस्स अंतिए ॥ १९ ॥

श्रुत्वा-आकर्ण्य तस्य इत्यनगारस्य स 'स' इति-सञ्जयाभिधानो राजा धर्मम्-उक्तरूपम् अनगारस्य-भिक्षोः अन्तिके-समीपे 'महय' त्ति महता आदरेणेति शेष, सुव्यत्ययेन वा महत्, संवेगनिर्वेदं तत्र संवेगो-मोक्षाभिलाषो निर्वेदः-संसारोद्विग्नता समापन्न-प्राप्तः नराधिप राजा सञ्जयः सञ्जयनामा 'चइउ' त्यक्त्वा राज्यं—राष्ट्राधिपत्यरूपं निष्क्रान्तः-प्रव्रजितः जिनशासने-अर्हद्दर्शने, न तु सुगतादिदेशितेऽसद्दर्शने एवेति भाव', गर्दभाले.—गर्दभालिनाम्नो भगवतोऽनगारस्यान्तिक इति सूत्रद्वयार्थ।

सूत्रनवकोक्तमेवार्थं स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

अभयं तुज्झ नम्वई, जलबुब्बुअसंनिभे अ माणुस्से।

किं हिंसाइ पसज्जसि, जाणन्तो अप्पणो दुक्खं॥४०१॥
सव्वमिणं चइऊणं, अवस्सं जया य होइ गन्तव्वं।
किं भोगेसुं रसज्जसि, किंपागफलोवमनिभेसुं ॥४०२॥
सोऊण य सो धम्मं, तस्सऽणगारस्स अंतिए राया।
अणगारो पव्वइओ, रज्जं चइउं गुणसमग्गं ॥ ४०३ ॥

व्याख्यातप्रायमेव, नवरं 'अप्पणो दुक्ख' ति आत्मनो दुःखमिति दुःखजनकं मरणमिति शेषः, 'किंपागफलोवमणिभेसुं' ति किंपाकफलोपमा निभा—छाया येषां ते तथा-आपातमधुरत्वपरिणतिदारुणत्वाभ्यां, तथा अनगार. अविद्यमानगृहो. जात इति शेष., स च शाक्यादिरपि संभवेदत आह 'पव्वइओ' त्ति प्रकर्षेण-विषयाभिष्वङ्गादिपरिहाररूपेण व्रजितो—निष्क्रान्त. प्रव्रजितो, भावभिक्षुरिति यावत्, तथा गुणाः-कामगुणा मनोज्ञशब्दादय आज्ञैश्वर्यादयो वा तै. समग्र-सम्पूर्णं गुणसमग्रमिति गाथात्रयार्थः।

स चैव गृहीतप्रव्रज्योऽधिगतहेयोपादेयविभागो दशविधचक्रवालसामाचारीरतश्चानियतविहारितया विहरन् तथाविधसन्निवेशमाजगाम, तत्र च तस्य यद्भूत्तदाह—

चिच्चा रट्ठं पव्वइओ, खत्तिओ परिभासई।
जहा ते दीसई रूवं, पसन्नं ते तहा मणो ॥ २० ॥
किंनामे किंगुत्ते, कस्सट्ठाए व माहणे ?।
कहं पडियरसी बुद्धे, ?, कहं विणीय त्ति वुच्चसि ?॥२१॥

त्यक्त्वा राष्ट्रं ग्रामनगरादिसमुदायं प्रव्रजित प्रतिपन्नदीक्षः क्षत्रिय.—क्षत्रजातिरनिर्दिष्टनामा परिभाषते, सञ्जयमुनिमित्युपस्कार., स हि पूर्वजन्मनि वैमानिक आसीत् ततश्च्युत. क्षत्रियकुलेऽजनि, तत्र च कुतश्चित्तथाविधनिमित्तत स्मृतपूर्वजन्मा तत एव चोत्पन्नवैराग्य प्रव्रज्यां गृहीतवान्। गृहीतप्रव्रज्यश्च विहरन् सञ्जयमुनिं दृष्ट्वा तद्विमर्शार्थमिदमुक्तवान्, यथा ते दृश्यते—अवलोक्यते रूपम्—आकृतिः प्रसन्नं विकाररहितं त-तव तथा—तेनैव प्रकारेण प्रसन्नमिति प्रक्रम., किं तत् ? मन-चित्त, न ह्यन्त. कलुषताया बहिरेवं प्रसन्नतासंभव, तथा किंनाम-किमभिधानं किंगोत्र—किमन्वय. 'कस्सट्ठाए व' त्ति कस्मै वा अर्थाय-प्रयोजनाय 'माहणे' इति मा वधीरित्येवं रूपं मनो वाक् क्रिया च यस्यासौ माहनः, 'सर्वे धातव पचादिषु दृश्यन्ते' इति वचनात्पचादित्वादच्, स चैवंविधः प्रव्रजित एव सम्भवत्यत. किं वा प्रयोजनमुद्दिश्य प्रव्रजितः कथ-केन प्रकारेण प्रतिचरसि-सेवसे, कान् ? बुद्धान् आचार्यादीन्, कथं 'विणीय' त्ति विनीत -विनयवानित्युच्यत इति सूत्रद्वयार्थ.।

सञ्जयमुनिराह—

संजओ नाम नामेणं, तहा गुत्तेण गोयमो।
गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा ॥ २२ ॥

यदुक्तं त्वया किंनामा त्वमिति, तत्र संजयो नाम—नाम्ना, यच्चावाच. किंगोत्रः ? इति, तत्राह—तथा गोत्रेण अन्वयेन गौतम, उभयत्राहमिति गम्यते, शेषप्रश्नत्रयप्रतिवचनमाह-गर्दभालय गर्दभाल्यभिधाना मम आ

र्मोपदेशकत्वादिना, विद्यतेऽनया तत्त्वमिति विद्या—श्रुतज्ञानं तथा चर्यत इति चरणं—चारित्रं विद्या च चरणं च विद्याचरणे तयोः पारगाः—पर्यन्तगामिनो विद्याचरणपारगा, एव च वदतोऽयमाशयः—यथा गर्दभालिभिधर्माचार्यैर्विद्यार्जनान्निवर्त्तितोऽह, विद्याचरणपारगत्वाच्च तैस्तन्निवृत्तौ मुक्तिलक्षण फलमुक्तम्, ततस्तदर्थ माहनोऽस्मि यथा च तदुपदेशस्तथा गुरून् प्रति चरामि, तदुपदेशासेवनाच्च विनीत इति सूत्रार्थः ।

इत्थं विमृश्य तद्गुणबहुमानाकृष्टचेता अपृष्टोऽपि क्षत्रिय इदमाह—

किरियं अकिरिअं विणयं, अन्नाणं च महामुणी ।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं, मेयन्ने किं पभासई ॥ २३ ॥

क्रिया अस्तीत्येवरूपा, लिङ्गव्यत्ययान्नपुंसकनिर्देशः, अक्रिया तद्विपरीता. विनय'—नमस्कारकरणादि . लिङ्गव्यत्यय' प्राग्वत्, तथा ज्ञानं-वस्तुतत्त्वावगमस्तदभावोऽज्ञान, च समुच्चये, महामुने ! सम्यक् प्रव्रज्याप्रतिपत्तिगुरुपरिचर्याविकरण' प्रशस्यते ! एतैः क्रियादिभिश्चतुर्भिः तिष्ठन्त्येषु कर्मवशगा जन्तव इति स्थानानि-मिथ्याऽध्यवसायाधारभूतानि तैः ' मेयन्ने ' त्ति, मीयत इति मेय—ज्ञेय जीवादिवस्तु तज्जानन्तीति मेयज्ञा क्रियादिभिश्चतुर्भिः स्थानैः स्वस्वाभिप्रायकल्पितैर्वस्तुतत्त्वपरिच्छेदिन इति यावत्, किम् इति कुत्सित 'पभासइ'त्ति प्रकर्षेण भाषन्ते-प्रभाषन्ते, विचाराऽक्षमात्वात्, तथाहि—ये तावत्क्रियावादिनस्तेऽस्तिक्रियाविशिष्टमात्मान मन्यमाना अपि तस्य सदा विभुत्वाविभुत्वकर्तृत्वाकर्तृत्वादिभिर्विप्रतिपन्नाः । उक्तं हि वाचकैः -क्रियावादिनो नाम येषामात्मनोऽस्तित्वं प्रत्यविप्रतिपत्ति किन्तु स विभुरविभु कर्त्ताऽकर्त्ता क्रियावानितरो मूर्त्तिमान् मूर्त्तिरित्येवमाद्याग्रहोपहतप्रीतयस्तेऽस्ति माता पिताऽस्ति न कुशलाकुशलकर्मवैफल्यं, न न सन्ति गतय इत्येव प्रतिज्ञाश्च । इह च विभुत्व व्यापित्वम्, तच्चात्मनो न घटते, शरीर एव तल्लिङ्गभूतचैतन्योपलब्धेः । न च वक्ष्यमाणोऽव्यापित्वे सुखदुःखबुद्धीच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा नवाऽऽत्मगुणा इति वचनात्तद्गुणयोर्धर्माधर्मयोरप्यव्यापित्वं, तथा च द्वीपान्तरगतदेवदत्तादृष्टाकृष्टमणिमुक्तादीना नेहागमन स्यादिति, विभिन्नदेशस्याप्ययस्कान्तादेरयःप्रभृतिवस्त्वाकर्षणशक्तिदर्शनाद्धर्माधर्मयोरपि शरीरमात्रव्यापित्वेऽपि तद्वद्विप्रकृष्टवस्त्वाकर्षकत्वादिति न तावद्विभुरात्मा युज्यते । तथाऽविभुरप्यङ्गुष्ठपर्वाद्यधिष्ठानो यैरिष्यते तेषा सकलशरीरव्यापिचैतन्यासत्त्वम्, तदसत्त्वाच्च शेषशरीरावयवेषु शस्त्रादिभेदादौ वेदनानुभवासम्भवो, नचैतद् दृष्टमिष्ट वा, एव सर्वदा कर्तृत्वादिकमपि यथा न युज्यते तथा स्वधिया वाच्यम् १ । ये त्वक्रियावादिनस्तेऽस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मान नेच्छन्त्येव, अस्तित्वे वा शरीरेण सहैकत्वान्यत्वाभ्यामवक्तव्यमिच्छन्ति, एकत्वे ह्यविनष्टशरीरावस्थितो न कदाचिन्मरणप्रसक्ति , आत्मन शरीरानन्यत्वेनावस्थितत्वात्, तथा मुक्त्यभावाद्यनेकदोषापत्तिश्च, शरीरान्यत्वे तु शरीरच्छेदादौ तस्य वेदनाऽभावप्रसङ्ग , तस्मादवक्तव्य एवेति । अक्रियावादित्व चैषा कथञ्चित्कर्थाभेदलक्षणप्रकारान्तराभावेन तदभावस्यैवावशिष्यमाणत्वत्, येऽप्युत्पत्त्यनन्तरमात्मनः प्रलयमिच्छन्ति तेषामपि तदस्तित्वाभ्युपगमेऽप्यनुपचरितपरलोकाद्यसम्भवात्, तत्त्वतस्तदसत्त्वमेवेत्यक्रियावादित्वम्, उक्तं हि वाचकैः-"ये पुनरिहाक्रियावादिनस्तेषामात्मैव नास्ति,न चावक्तव्यः शरीरेण सहैकत्वान्यत्वे प्रति, उत्पत्त्यनन्तरप्रलयसभावको वा, तस्मिन्ननिर्दिष्टे च कर्तृत्वादिविशेषमूढा एवे"ति, अमीषां तु विचाराक्षमत्वमात्माऽस्तित्वस्य प्राक् प्रत्यक्षानुमानलक्षणप्रमाणद्वयसमधिगम्यत्वेन साधनात्,तस्य च शरीरात्कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नरूपतया तत्र तत्र वक्तव्ये (व्यक्ते) न स्थापितत्वात्, क्षणिकपक्षस्य तु सामुच्छेदिकनिह्नववक्तव्यतायामेवोन्मूलितत्वादिति २। विनयवादिनो विनयादेव मुक्तिमिच्छन्ति , यत उक्तम्—" वैनयिकवादिनो नाम येषां सुरासुरनृपतपस्विकरितुरगहरिणगोमहिष्यजाविकश्वशृगालजलचरकपोतकाकोलूकचटकप्रभृतिभ्यो नमस्कारकरणात् क्लेशनाशोऽभिप्रेतो, विनयाच्छ्रेयो भवति नान्यथेत्यध्यवसिता एतेऽपि न विचारसहिष्णवो, न हि विनयमात्रादिहापि विशिष्टानुष्ठानविकलादभिलषितार्थावाप्तिरवलोक्यते, नाऽपि चैषां विनयार्हत्व, येन पारलौकिकश्रेयोहेतुता भवेत्, तथाहि—लोकसमयवेदेषु गुणाभ्यधिकस्यैव विनयार्हत्वमिति प्रसिद्धिः, गुणास्तु तत्त्वतो ज्ञानध्यानानुष्ठानात्मका एव, न च सुरादीनामज्ञानाश्रवाविरमणादिदोषदूषितानामेतेष्वन्यतरस्याऽपि गुणस्य सम्भव इति कथं यदृच्छया विधीयमानस्य तस्य श्रेयोहेतुतेति ? ३ । अज्ञानवादिनस्त्वाहु'-यदेद जगत् कैश्चिद् ब्रह्मादिविवर्त्त इष्यते, अन्यैः प्रकृतिपुरुषात्मकमपरैर्द्रव्यादिषड्भेदम्,तदपरैश्चतुरार्यसत्यात्मकम्,इतरैर्विज्ञानमयम्,अन्यैस्तु शून्यमेव इत्यनेकधाभिन्नाः पन्थान , तथाऽऽत्माऽपि नित्यानित्यादिभेदतोऽनेकधैवोच्यते, तत्को ह्येतद्वेद किं चानेन ज्ञातेन ?, अपवर्ग प्रत्यनुपयोगित्वात् ज्ञानस्य, केवल कष्टं तप एवानुष्ठेयं , न हि कष्ट विनेष्टसिद्धि' , तथा चाह—'अज्ञानिका नाम येषामियमुपघृतिः, यथेह ज्ञानाधिगमप्रयासोऽपवर्ग प्रति अकिञ्चित्करा, घोरैर्व्रततपोभिरपवर्गोऽवाप्यते ' इति । विचारासहत्व चैषां विज्ञानरहितस्य महतोऽपि कष्टस्य तिर्यग्नारकादीनामिवापवर्ग प्रत्यहेतुत्वात्, तदन्तरेण व्रततपउपसर्गादीनामपि स्वरूपापरिज्ञानत क्वचित्प्रवृत्त्यसम्भवादिति । एषा च क्रियावादिनामुत्तरोत्तरभेदतोऽनेकविधत्वम् । उक्तं वाचकै -" एषां मौलेषु चतुर्षु कल्पेष्ववस्थितेषु तद्भेदा सुबहवोऽवनिरुहशाखाप्रशाखानिकरवदवगन्तव्याः" तत्र तावच्छतमशीत क्रियावादिनाम्, अक्रियावादिनश्च चतुरशीतिसंख्या , अज्ञानिकाः सप्तषष्टिविधाः, वैनयिकवादिना द्वात्रिंशत्, एव त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयं, सर्वेऽपि चामी विचाराक्षमत्वात्कुत्सितं प्रभाषन्ते इति स्थितमिति सूत्रार्थः ।

न चैतत्स्वाभिप्रायेणैवोच्यते, किन्तु—

इह पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे ।
विज्जाचरणसंपन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे ॥ २४ ॥

'इह' इति-तत् क्रियादिवादिन किं प्रभाषन्ते ? इत्येवं रूपं 'पाउकरे' त्ति प्रादुरकार्षीत्—प्रकटितवान् बुद्धः-अवगत-

तत्त्वः सन् ज्ञात एव ज्ञातकः-जगत्प्रतीत. क्षत्रियो वा, स चेह प्रस्तावान्महावीर एव, परिनिर्वृतः कषायानलविध्यापनात्समन्ताच्छीतीभूतो विद्याचरणाभ्यामर्थात् क्षायिकज्ञानचारित्राभ्यां सम्पन्नो--युक्तो विद्याचरणसम्पन्नोऽत एव सत्यः सत्यवाक्, तथा सत्यः--अवितथस्तात्त्विकत्वेन परे--भावशत्रवस्तेषामाक्रमणम् आक्रमः-अभिभवो यस्याऽसौ सत्यपराक्रम इति सूत्रार्थः ।

तेषां च फलमाह--

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥ २५ ॥

पतन्ति गच्छन्ति नरके-सीमन्तकादौ घोरे-नित्यान्धकारादिना भयानके ये नराः उपलक्षणत्वात्स्त्र्यादयो वा पातयति नरकादिषु जन्तुमिति पापं, तच्च हिंसाद्यनेकधा, इह त्वसत्प्ररूपणैव. तत्कर्तुम्-अनुष्ठातुं शीलमेषामिति पापकारिणः । ये त्वेवंविधा न भवन्ति ते किमित्याह--दिव्यां च गतिं देवलोकगतिं, चशब्द. पुनरर्थे, स च पूर्वेभ्यो विशेषद्योतकः, गच्छन्ति--यान्ति चरित्वा--आसेव्य धर्मं--श्रुतधर्मादि अनेकविध, इह च सत्यप्ररूपणारूपः श्रुतधर्म एव तम्, आर्यं--प्राग्वत्, तदयमभिप्रायः असत्प्ररूपणापरिहारेण सत्प्ररूपणापरेणैव च भवता भवितव्यम् इति सूत्रार्थः ।

कथं पुनरमी पापकारिण इत्याह--

मायावुइयमेयं तु, मुसाभासा निरत्थिया ।
संजममाणोऽवि अहं, वसामि इरियामि य ॥ २६ ॥

मायया-शाठ्येन 'वुइयं' ति उक्तं मायोक्तम् एतत्-यदनन्तरं क्रियादिवादिभिरुक्तं, तु. एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च मायोक्तमेव, यतश्चैतत् मृषा-अलीका भाषा.-उक्तिः निरर्थिका-सम्यगभिधेयशून्या, तत एव च 'संजममाणोऽवि' त्ति अपि. एवकारार्थस्ततः संयच्छन्नेव-उपरमन्नेव तदुक्त्याकर्णनादितः, अहम् इत्यात्मनिर्देशे विशेषतः तत्स्थिरीकरणार्थम्, उक्तं हि-" ठियंतो ठावए परं " ति, वसामि--तिष्ठामि उपाश्रय इति शेषः, 'इरियामि य' त्ति ईरे च-गच्छामि च गोचरचर्यादिष्विति सूत्रार्थः ।

इदमपि सूत्रं प्रायो न दृश्यते । कुतः पुनस्त्वं तदुक्त्याकर्णनादिभ्यः सयच्छसीत्याह अनन्तरसूत्राभावे च यदुक्तं चतुर्भिः स्थानैर्मे यज्ञाः किं प्रभाषन्ते इति तत्कुत इत्याह--

सव्वे ते विइया मज्झं, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परे लोए, सम्मं जाणामि अप्पगं ॥ २७ ॥

सर्वे-निरवशेषा ते क्रियादिवादिनः विदिता--ज्ञाता मम, यथाऽमी, 'मिच्छादिट्ठि' त्ति मिथ्या-विपरीता परलोकात्माद्यपलापित्वेन दृष्टि--बुद्धिरेषामिति मिथ्यादृष्टयः. तत एव, अनार्या--अनार्यकर्मप्रवृत्ता., कथं पुनस्त एवंविधास्ते विदिता इत्याह-विद्यमाने सति परलोके--अन्यजन्मनि सम्यग् अविपरीतं जानामि-अवगच्छामि 'अप्पगं' ति आत्मानं, ततः परलोकात्मनो सम्यग्वेदनात् ममैवंविधत्वेन विदितास्ततोऽहं तदुक्त्याकर्णनादितः संयच्छामि किं प्रभाषकाश्चैत इति सूत्रार्थः ।

कथं पुनस्त्वमात्मानमन्यजन्मनि जानासीत्याह--

अहमासी महापाणे, जुइमं वरिससओवमे ।
जा सा पाली महापाली, दिव्वा वरिससओवमा ॥ २८ ॥
से चुए बंभलोगाओ, माणुस्सं भवमागए ।
अप्पणो य परेसिं च, आउं जाणे जहा तहा ॥ २९ ॥

'अहमासि' त्ति अहमभूवं महाप्राणे--महाप्राणनाम्नि ब्रह्मलोकविमाने द्युतिमान्-दीप्तिमान् 'वरिससतोवमे' त्ति वर्षशतजीविना उपमा-दृष्टान्तो यस्याऽसौ वर्षशतोपमो' मयूरव्यंसकादित्वात्समासः, ततोऽयमर्थः-यथेह वर्षशतजीवी इदानीं परिपूर्णायुरुच्यते, एवमहमपि तत्र परिपूर्णायुरभूवम् । तथाहि-या सा पालिरिव पालिः-जीवितजलधारणाद्भवस्थितिः, सा चोत्तरत्र महाशब्दोपादानादिह पल्योपमप्रमाणा, महापाली सागरोपमप्रमाणा, तस्या एव महत्त्वात्, दिवि भवा दिव्या वर्षशतेनोपमा यस्याः सा वर्षशतोपमा, यथाहि-वर्षशतमिह परमायुः तथा तत्र महापाली उक्तं, एतोऽपि हि तत्र सागरोपमैरेवायुरुपनीयते, न तूत्सर्पिण्यादिभिः, अथवा--" योजनं विस्तृतः पल्य-स्तथा योजनमुच्छ्रितः । सप्तरात्रप्ररूढानां, केशाग्राणां स पूरितः ॥ १ ॥ ततो वर्षशते पूर्णे, एकैकं केशमुद्धरेत् । क्षीयते येन कालेन, तत्पल्योपममुच्यते ॥ २ ॥ " इति वचनाद्वर्षशतैः केशोद्धारहेतुभिरुपमा अर्थात् पल्यविषया यस्याः सा वर्षशतोपमा, द्विविधाऽपि स्थितिः, सागरोपमस्याऽपि पल्योपमनिष्पाद्यत्वात्, तत्र मम महापाली दिव्या भवस्थितिरासीदित्युपस्कारः, अतश्चाह वर्षशतोपमायुरभूवमिति भावः । 'से' इति--अथ स्थितिपरिपालनादनन्तर च्युत.--भ्रष्टः ब्रह्मलोकात्-पञ्चमकल्पात् मानुष्यं-मानुष्यसम्बन्धिनं भवं-जन्म आगत.-आयात. । इत्थमात्मनो जातिस्मरणलक्षणमतिशयमाख्यायातिशयान्तरमाह-आत्मनश्च परेषां वा आयु-जीवितं जाने-अवबुध्ये यथा-येन प्रकारेण स्थितमिति गम्यते तथा-तेनैव प्रकारेण न त्वन्यथेत्यभिप्रायः, इति सूत्रद्वयार्थः ।

इत्थं प्रसङ्गत. परितोषतश्चापृष्टमपि स्ववृत्तान्तमावेद्योपदेष्टुमाह--

नाणारुइं च छंदं च, परिवज्जिज्ज संजओ ।
अणट्ठा जे अ सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥ ३० ॥

नानेति-अनेकधा रुचिं च-प्रक्रमात्क्रियावाद्यादिमतविषयमभिलाषं छन्दश्च-स्वमतिकल्पितमभिप्रायम्, इहाऽपि नानेति सम्बन्धादनेकविधं परिवर्जयेत्--परित्यजेत् संयतः-यति । तथा अनर्था.-अनर्थहेतवो ये च सर्वार्थाः अशेषहिंसादयो गम्यमानत्वात्तान् वर्जयेदिति सम्बन्धः, यद्वा-- 'सव्वत्थे' त्याकारस्यालाक्षणिकत्वात्सर्वत्र क्षेत्रादावनर्था इति निष्प्रयोजना ये च व्यापारा इति गम्यते, तान् परिवर्जयेत्, इतीत्येवंरूपां विद्यां सम्यग्ज्ञानरूपामन्विति-लक्षीकृत्य सञ्चरे. त्वं सम्यक् संयमाध्वनि यायाः, इति सूत्रार्थः ।

अन्यच्च--

पडिक्कमामि पसिणाणं, परमंतेहिं वा पुणो ।

अहो उट्ठिश्रो अहो रायं, इइ विज्जातवं चरे ॥ ३१ ॥

प्रतीपं क्रमामि प्रतिक्रमामि—प्रतिनिवर्त्ते , केभ्य. ?—'पसिणाणं' ति सुब्व्यत्ययात् प्रश्नेभ्य'—शुभाशुभसूचकेभ्योऽङ्गुष्ठप्रश्नादिभ्य , अन्येभ्यो वा साधिकरणेभ्य., तथा परे-गृहस्थास्तेषा मन्त्रा परमन्त्रा.-तत्कार्यालोचनरूपास्तेभ्य , वा समुच्चये, पुन विशेषणे , विशेषेण परमन्त्रेभ्य. प्रतिक्रमामि , अतिसावद्यत्वात्तेषा, सोपस्कारत्वात्सूत्रस्यामुनाऽभिप्रायेण य. संयमं प्रत्युत्थानवान् स. अहो इति विस्मये उत्थित धर्मं प्रत्युद्यत । कश्चिदेव हि महात्मैवंविध. सम्भवति अहोरात्रम्-अहर्निशम् इति-इत्येतदनन्तरोक्तं 'विज्ज' त्ति विद्वान् जानन् 'तवं' ति अवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य तप एव न तु प्रश्नादि चरे -आसेवस्वेति सूत्रार्थ. ।

पुनस्तत्स्थिरीकरणार्थमाह—

जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा ।
ताइं पाउकरे, बुद्धे, तं नाणं जिणसासणे ॥ ३२ ॥

यच्च मे इति-मा पृच्छसि-प्रश्नयसि काले-प्रस्तावे सम्यग्शुद्धेन अविपरीतबोधवता चेतसा-चित्तेन लक्षणे तृतीया, 'ता' इति सूत्रत्वात्तत्'पाउकरे त्ति प्रादुष्करोमि-प्रकटीकरोमि प्रतिपादयामीति यावत् बुद्ध -अवगतसकलवस्तुतत्त्व । कुतः पुनर्बुद्धोऽस्म्यत आह-तदिति यत्किञ्चिदिह जगति प्रचरति ज्ञान-यथाविधवस्त्ववबोधरूपं तज्जिनशासनेऽस्तीति गम्यते, ततोऽहं तत्र स्थित. इति तत्प्रसादाद् बुद्धोऽस्मीत्यभिप्राय', इह च यतस्त्वं सम्यग्शुद्धेन चेतसा पृच्छस्यत प्रतिक्रान्तप्रश्नादिरप्यहं यत्पृच्छसि तत्प्रादुष्करोमीत्यत पृच्छ यथेच्छमित्यैदम्पर्यार्थ । अथवा-अत एव लक्ष्यते यथा'अप्पणो य परेसिं च' इत्यादिना तस्यायुर्विज्ञतामवगम्य सञ्जयमुनिनाऽसौ पृष्ट कियन्ममायुरिति ततोऽसौ प्राह-यच्च त्व मा कालविषय पृच्छसि तत्प्रादुष्कृतवान् बुद्ध -सर्वज्ञोऽत एव तज्ज्ञानं जिनशासने व्यवच्छेदफलत्वाज्जिनशासन एव न त्वन्यस्मिन् सुगतादिशासने,अतो जिनशासन एव यत्नो विधेयो येन यथाऽहं जानामि तथा त्वमपि जानीषे,शेष प्राग्वदिति सूत्रार्थ ।

पुनरुपदेष्टुमाह—

किरियं च रोअए धीरो, अकिरियं परिवज्जए ।
दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्नो, धम्मं चरसु दुच्चरं ॥ ३३ ॥

क्रिया च अस्ति जीव इत्यादिरूपा सदनुष्ठानात्मिका वा रोचयेत् तथा तथा भावनातो यथाऽसावात्मने रुचिता जायते तथा विदध्यात् धीर —मिथ्यादृग्भिरक्षोभ्य । तथा अक्रिया नास्त्यात्मेत्यादिकां मिथ्यादृक्परिकल्पितनसदनुष्ठानरूपा वा परिवर्जयेत्—परिहरेत् । ततश्च दृष्टया-सम्यग्दर्शनात्मिकया हेतुभूतया 'दिट्ठिसंपन्नो' त्ति 'धीर्धिषणा मनीषा धिषणा' इति शाब्दिकश्रुतेर्दृष्टि -बुद्धि , सा चेह प्रस्तावात्सम्यग्ज्ञानात्मिका तया सम्पन्नो—युक्तो दृष्टिसम्पन्न , एवं च सम्यग्दर्शनज्ञानान्वित सन् धर्म-चारित्रधर्मं चर—आसेवस्व सुदुश्चरम्—अत्यन्तदुरनुष्ठेयमिति सूत्रार्थ ।

पुन धर्मविषयमुपदेशं सञ्जयमुनिं महापुरुषोदाहरणैः स्थिरीकर्त्तुमाह—

एयं पुण्णपयं सुच्चा, अत्थधम्मोवसोहियं ।
भरहोऽवि भारहं वासं, चिच्चा कामाइं पव्वए ॥३४॥
सगरोऽवि सागरंतं, भरहवासं नराहिवो ।
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे ॥ ३५ ॥
चइत्ता भारहं वासं , चक्कवट्टी महिड्ढिश्रो ।
पव्वज्जमब्भुवगश्रो, मघवं नाम महाजसो ॥ ३६ ॥
सणंकुमारो मणुस्सिंदो, चक्कवट्टी महिड्ढिश्रो ।
पुत्तं रज्जे ठविचाणं,सोऽवि राया तवं चरे ॥ ३७ ॥
चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिश्रो ।
संती संतिकरो लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ३८ ॥
इक्खागरायवसहो, कुंथूनाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती धिइमं, मुक्खं गश्रो अणुत्तरं ॥३९॥
सागरंतं जहित्ता णं, भरहवासं नरेसरो ।
अरो अ अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥
चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिश्रो ।
चिच्चा य उत्तमे भोए, महापउमो दमं चरे ॥ ४१ ॥
एगच्छत्तं पसाहित्ता, महिं माणनिसूरणो ।
हरिसेणो मणुस्सिंदो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४२ ॥
अन्निश्रो रायसहस्सेहिं, सुपरिच्चाई दमं चरे ।
जयनामो जिणक्खायं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४३ ॥
दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ता णं मुणी चरे ।
दसण्णभद्दो निक्खंतो, सक्खं सक्केण चोइश्रो ॥ ४४ ॥
(नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइश्रो ।
जहित्ता रज्जं वइदेही, सामन्ने पज्जुवट्ठिश्रो ॥)

प्रक्षिप्ता—

करकंडू कलिंगाणं , पचालाण य दुम्मुहो ।
णमी राया विदेहाणं , गंधाराण य नग्गई ॥ ४५ ॥
एए नरिंदवसभा, निक्खंता जिणसासणे ।
पुत्ते रज्जे ठविचा णं, सामन्ने पज्जुवट्ठिश्रा ॥ ४६ ॥
सोवीररायवसभो, चइत्ता अ मुणी चरे ।
उदायणो पव्वइश्रो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४७ ॥
तहेव कासिराया वि, सेओ सच्चपरक्कमो ।
कामभोगे परिच्चज्ज, पहणे कम्ममहावणं ॥ ४८ ॥
तहेव विजश्रो राया, अणट्ठा कित्तिपव्वए ।
रज्जं तु गुणसमिद्धं, पयहित्तु महायसो ॥ ४९ ॥
तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
महाबलो रायरिसी, अद्दाय सिरसा सिरं ॥ ५० ॥

सूत्राणि सप्तदश । एतत्—अनन्तरोक्तं पुण्यहेतुत्वात्पुण्य तच्च तत् पद्यते—गम्यतेऽनेनार्थ इति पदं च , पुण्यपदं , पुण्यस्य वा पदं-स्थानं पुण्यपदं-क्रियादिवादिस्वरूपनानाविधपरिवर्जनाद्यावेदकं शब्दसन्दर्भं श्रुत्वा-आकर्ण्य , अर्ध्यत इति अर्थ -स्वर्गापवर्गादि धर्म -तदुपायभूत श्रुतधर्मादि-

स्ताभ्यामुपशोभितं--विभूषितमर्थधर्मोपशोभितं भरतोऽपि
भरतनामा चक्रवर्त्यपि, अपिशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये
'भारहं' ति प्राकृतत्वाद्भारतं वर्ष--क्षेत्रं त्यक्त्वा 'का-
माइं' ति चस्य गम्यमानत्वात् कामांश्च विषयान् प्राकृत-
त्वान्नपुंसकनिर्देशः, 'पव्वए' त्ति प्राव्राजीत्। 'सगरो वी'
त्यादि सर्वमपि स्पष्टं, नवरं सागरान्तं--समुद्रपर्यन्तं दि-
क्त्रये, अन्यत्र तु हिमवत्पर्यन्तमित्युपस्कारः, तथा ऐ-
श्वर्यम् आज्ञैश्वर्यादि केवलं परिपूर्णमनन्यसाधारणं वा
दयया संयमेन परिनिर्वृतः इहैव विध्यातकषायानलत्वा-
च्छीतीभूतो मुक्तो वा। तथा--' अरो य ' त्ति अरनामा
च तीर्थकृच्चक्रवर्त्ती 'अरयं' ति रतस्य रजसो वाऽभाव-
रूपमरतमरजो वा, पाठान्तरतः-अरसं वा शृङ्गारादिरसा-
भावं, प्राप्तः--गतो गतिमनुत्तरां--मुक्तिमित्यर्थः । तथा
त्यक्त्वोत्तमान् भोगानिति, पुनस्त्यक्त्वेत्यभिधानं भिन्नवा-
क्यत्वादपौनरुक्त्यं, महापद्मः महापद्मनामा 'चरे' त्ति आ-
चरत्। तथा एक छत्रं--नृपतिचिह्नमस्यामित्येकच्छत्रा तां,
कोऽर्थः ?--अविद्यमानद्वितीयनृपतिं मही--पृथ्वीं प्रसाध्य-
वशीकृत्वेति सम्बन्धः, 'माणनिसूरणो' त्ति इत्सारात्यहङ्का-
रविनाशकः मनुष्येन्द्रः इति चक्री। तथा 'अजितो' त्ति अ-
न्वितः-युक्तः 'सुपरिच्चाइ' त्ति सुष्ठु-शोभनेन प्रकारेण राज्या-
दि परित्यजतीत्येवं शीलः सुपरित्यागी दमं-जिनाख्यातमिति
सम्बन्धः, 'चरि' त्ति अचारीच्चरित्वा च जयनामा चक्री-
ति शेषः प्राप्तो गतिमनुत्तराम्। तथा दशार्णो नाम देशस्तद्रा-
ज्य-तदाधिपत्य मुदित सकलोपद्रवविरहितं प्रमोदवत् त्य-
क्त्वा 'णः' प्राग्वत् 'चरे' त्ति अचारीत्, अप्रतिबद्धवि-
हारतया विहृतवानित्यर्थः, साक्षाच्छक्रेण चोदितः-अधिक-
विभूतिदर्शनेन धर्मं प्रति प्रेरितः। तथा निष्क्रान्ताः प्रव्रजि-
ता निष्क्रम्य च श्रामण्ये--श्रमणभावे पर्युपस्थिताः तदनु-
ष्ठानं प्रत्युद्यताः अभूवन्निति शेषः। तथा सौवीरेषु राजवृ-
षभः--तत्कालभाविनृपतिप्रधानत्वात्सौवीरराजवृषभः 'चे-
च्च' त्ति त्यक्त्वा राज्यमिति शेषः प्राग्वत्, मुनिः--
त्रैकाल्यावस्थावेदी सन् 'चरे' त्ति अचारीत्, कोऽसौ ?-
'उदायणो' त्ति उदायननामा प्रव्राजितः, चरित्वा च किमि-
त्याह--प्राप्तो गतिमनुत्तराम्। तथैव--तेनैव प्रकारेण का-
शीराजः काशीमण्डलाधिपतिः श्रेयसि--अतिप्रशस्ये सत्ये-
संयमे पराक्रमः--सामर्थ्यं यस्याऽसौ श्रेयःसत्यपराक्रमः
'पहणे' त्ति प्राहन्--प्रहतवान् कर्म महावनमिवातिग-
हनतया कर्ममहावनम्। तथैव विजयः इति विजयनामा
'अणट्टाकित्तिपव्वए' त्ति, आर्षत्वाद् अनार्त्तः--आर्त्तध्या-
नविकलः कीर्त्या-दीनानाथादिदानोत्थया प्रसिद्ध्योपलक्षितः
सन्, यद्वा--अनार्त्ता--सकलदोषविगमतोऽबाधिता की-
र्त्तिरस्येत्यनार्त्तकीर्त्तिः सन्, पठ्यते च-'आणट्ठा किइपव्वइ'
त्ति, आज्ञा--आगमोऽर्थशब्दस्य हेतुवचनस्याऽपि दर्शना-
दर्थो--हेतुरस्याः सा तथाविधा आकृतिरर्थान्मुनिवेषा-
त्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृति यथा भवत्येवं प्राव्राजीद् गुणैः-
राज्यगुणैः शब्दादिभिर्वा समृद्ध-सम्पन्नं गुणसमृद्धं, पूर्वत्र
तुशब्दस्यापिशब्दार्थत्वाद्व्यवहितसम्बन्धत्वाच्च गुणसमृ-
द्धमपि। तथा 'महाय' त्ति आर्षत्वाद् आदित-गृहीतवां-
स्तदभनेन स्वीकृतवान् शिरसेव शिरसा--शिरःप्रदानेनेव
जीवितनिरपेक्षमिति योऽर्थः, 'सिरं' ति शिर इव शिरः सर्व-
जगदुपरिवर्त्तितया मोक्षः, पठ्यते च-'आदाय सिरसो सि-
रिं' ति, अत्र च आदाय--गृहीत्वा शिर श्रियं सर्वोत्तमां के-
वललक्ष्मी परिनिर्वृत इति शेषः, इति सप्तदशसूत्रार्थः।

इत्थं महापुरुषोदाहरणैर्ज्ञानपूर्वकक्रिया-
माहात्म्यमभिधायोपदेष्टुमाह--

कहं धीरो अहेऊहिं, उम्मत्तो व्व महिं चरे ? ।
एए विसेसमादाय, सूरा दढपरक्कमा ॥ ५१ ॥

कथं-केन प्रकारेण धीरः उक्तरूपः अहेतुभिः-क्रियावाद्या-
दिपरिकल्पितकुहेतुभिः उन्मत्त इव--ग्रहगृहीत इव तात्त्वि-
कवस्त्वपलपनेनालजालभाषितया महीं--पृथ्वीं चरेत्--भ्र-
मेत् ? नैव चरेदित्यर्थः, किमिति ?, ये एते-अनन्तरोदिता
भरतादयः विशेषम्-विशिष्टतां गम्यमानत्वान्मिथ्यादर्शनेभ्यो
जिनशासनस्य आदाय--गृहीत्वा मनसि सम्प्रधार्येति या-
वत् शूरा दृढपराक्रमा एतदेवाश्रितवन्त इति शेषः । अयम-
भिप्रायः--यथैते महात्मानो विशेषमादाय कुवादिपरिकल्पि-
तक्रियावाद्यादिदर्शनपरिहारतो जिनशासन एव निश्चितम-
तयोऽभूवंस्तथा भवताऽपि धीरेण सताऽस्मिन्नेव निश्चितं
चेतो विधेयमिति सूत्रार्थः।

किञ्च--

अच्चंतनियाणखमा, एसा मे भासिया वई ।
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ॥ ५२ ॥

अत्यन्तम्-अतिशयेन निदानैः-कारणैः, कोऽर्थ ? हेतु-
भिर्न तु परप्रत्ययेनैव, क्षमा--युक्ताऽत्यन्तनिदानक्षमा, यद्वा-
निदानं--कर्ममलशोधनं तस्मिन् क्षमा--समर्था एषा--अन-
न्तरोक्ता, पाठान्तरतः-सर्वा-अशेषा सत्या वा मे मया भा-
षिता, अनयाऽङ्गीकृतया अतीर्षु'-तीर्णवन्तः तरन्ति एके-
अपरे, पाठान्तरतोऽन्ये, सम्प्रत्यपि तत्कालापेक्षया क्षेत्रा-
न्तरापेक्षया चेत्थमभिधानमिति, तथा तरिष्यन्ति अनागताः-
भाविनो, भवोदधिमिति सर्वत्र शेष इति सूत्रार्थः।

यतश्चैवमतः--

कहं धीरे अहेऊहिं, अद्दायं परियावसे ।
सव्वसंगविणिम्मुक्को, सिद्धे भवइ नीरए ॥ ५३ ॥ त्ति बेमि ।

कथं धीरोऽहेतुभिः आदाय--गृहीत्वा, क्रियादिवादि-
मतमिति शेषः, पर्यावसेत् परीति-सर्वप्रकारमावसेत् तत्रैव-
निलीयेत्, नैव तत्राभिनिविष्टो भवेदिति भावः । पठ्यते च-
'अत्ताणं परियावसि' त्ति आत्मानं पर्यावासयेद्, अहेतुभिः
कथमात्मानमहेत्वावास कुर्यात् ?, नैव कुर्यादित्यर्थः । किं
पुनरित्थमकरणे फलमित्याह सर्वे--निरवशेषाः सजन्ति क-
र्मणा सम्बध्यन्ते जन्तव एभिरिति सङ्गाः द्रव्यतो द्रवि-
णादयो भावतस्तु मिथ्यात्वरूपत्वादेत एव क्रियादिवादा-
स्तैर्विनिर्मुक्तो--विरहितः सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः सन् सिद्धो
भवति नीरजाः, तदनेनाहेतुपरिहारस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वेन
सिद्धत्वं फलमुक्तमिति सूत्रार्थः।

इत्थं तमनुशास्य गतो विवदितं स्थानं क्षत्रियः शेषस-ञयवक्तव्यतां त्वाह निर्युक्तिकृत्—

काऊण तवच्चरणं,बहूणि वासाणि सो धुयकिलेसो।
तं ठाणं संपत्तो, जं संपत्ता न सोयंति ॥४०४॥

सुगमैव, नवरं धुता.–अपनीताः क्लिश्यन्त्येषु सत्सु जन्तव इति क्लेशाः—रागादयो येन स धुतक्लेशो यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ते, शोकहेतुशारीरमानसदुःखाभावादिति गाथार्थः इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमि पूर्ववत्। उत्त० १८ अ०। ऋषभदेवस्य पुत्राणां शतकाभ्यन्तरवर्तिनि चतुर्नवतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

संजयभद्द–संजयभद्र–पुं०। साध्वनुकूले संयते, नि० चू० ११ उ०।

संजयविरयपच्चक्खायपावकम्म–संयतविरतप्रत्याख्यातपापकर्मन्–पु०।'सामस्त्येन यतः संयतः सप्तदशप्रकारसंयमोपेत., विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः संयतश्चाऽसौ विरतश्च, तथा प्रतिहतं स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन विनाशितं प्रत्याख्यात हेत्वभावत. पुनर्वृद्ध्यभावेन निराकृतं पापकर्म–ज्ञानावरणीयादि येन स तथा पुनः कर्मधारय.। सुसयते, ध० ३ अधि०। दश०।

संजयाऽऽभास–संयताभास–पु०। संयतवदवभासमाने असयते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

संजयासंजय–संयतासंयत–पु०। देशविरते, भ० ६ श० ३ उ०। नं०।

संजलण–संज्वलन–पुं०।ईषज्ज्वलनात्सज्वलना.,सपदि ज्वलनाद् वा संज्वलना। परीषहादिसपाते चारित्रिणमपि ज्वलयन्तीति संज्वलना.। अल्पतरेषु क्रोधादिषु कषायेषु, विशे०। स्था०। परीषहोपसर्गोपनिपाते यतिमप्यमी समीपज्ज्वलयन्त्येव तेन संज्वलना स्मृता., ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः। कर्म० १ कर्म०। आव०।

अथ 'संजलणाणं उदए' इत्यादिनिर्युक्ति-
गाथोत्तरार्धव्याख्यामाह—

ईसिं सयराहं वा, संपाए वा परीसहाईणं।
जलणाओ संजलणा, नाहक्खायं तदुदयम्मि ॥१२४६॥
अकसायमहक्खायं, जं संजलणोदए न तं तेणं।
लब्भइ लद्धं च पुणो,भस्सइ सव्वं तदुदयम्मि ।१२४७।
न हु नवरिमहक्खाओ, वघाइणो सेसचरणदेसं पि।
घाएंति ताणमुदए, होइ जओ साइयारं तं ॥ १२४८॥

इह संशब्दस्य त्रयोऽर्थाः, तद्यथा—ईषज्ज्वलनात् संज्वलना., अथवा–'सयराहं' झगिति ज्वलनात् सज्वलना., यदि वा—परीषहादिसम्पाते चारित्रिणमपि ज्वलयन्तीति संज्वलना., तदुदये यथाख्यातचारित्रं न भवति। कुतस्तदुदये तद् न भवति ?. इत्याह–'अकसाय' मित्यादि, 'ज' निवसादकषायं यथाख्यातमुच्यते, तेन कारणेन संज्वलनकषायोदये तद् न लभ्येत, पूर्वलब्धमपि च पुनस्तदुदये सर्वं तद् भ्रश्यतीति। न हि–नैव यथाख्यातमात्रोपघातिनः संज्वलना., किन्तु–शेषचारित्राणामपि देशोपघातिनो भवन्ति, यतस्तेषामुदये तदपि शेषचारित्रं सातिचारं भवति, इति गाथार्थः ॥ १२४६ ॥ १२४७ ॥ १२४८ ॥ विशे०। सूत्र०। संज्वलयति दीपयति सर्वसावद्यविरतिमपीन्द्रियार्थसम्पाते वा संज्वलति दीप्यत इति संज्वलन'। स्था० ४ ठा० १ उ०। प्रतिक्षणरोषणे, दशा० १ अ०। आ० म०। सूत्र०। मुहुर्मुहुः क्रोधाग्निना ज्वलने, भ० १२ श० ५ उ०। आ० चू०। स०। पं० सं०।

संजलणकसायसंगय–संज्वलनकषायसङ्गत–त्रि०। अल्पतरकल्पकषायोद्भवे, पञ्चा० १७ विव०।

संजलणतिग–संज्वलनत्रिक–न०। संज्वलनक्रोधमानमायारूपे कषायत्रये, कर्म० २ कर्म०।

संजलणा–संज्वलना–स्त्री०। ज्ञानादिगुणोद्दीपनायाम्, उत्त० १ अ०।

संजाणय–संज्ञापक–त्रि०। विज्ञे, अनु०।

संजाय–संज्ञात–त्रि०। उत्पन्ने औ०।

संजायतिव्वसद्ध–सञ्जाततीव्रश्रद्ध–त्रि०। समुत्पन्नोत्कटगुरुरुचौ, पञ्चा० २ विव०।

संजायसड्ढ–सञ्जातश्रद्ध–त्रि०। प्रकर्षेण जातश्रद्धे, सू० प्र० १ पाहु०। रा०।

संजीवणी–सञ्जीवनी–स्त्री०। जीवितदाव्याम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

संजुय–संयुग–न०। संग्रामे, षष्ठभागे 'मूलपिंड' शब्दे उदाहृते सिन्धुराजपालिते नगरे, पिं०। कल्प० क्ष०।

संजुत्त–संयुक्त–त्रि०। मिश्रिते 'कम्मणा तेण संजुत्तो गच्छइ उ परभवं।' उत्त० १८ अ०। संबद्धे, उत्त० १ अ०।

संजुत्तदव्वसम्मत्त–संयुक्तद्रव्यसम्यक्त्व–न०। द्वयोर्द्रव्ययोः संयोगो गुणान्तराधानाय नोपमर्दाय उपभोक्तुर्मनःप्रीतये पयः–शर्करयोरिव तत्संयुक्तद्रव्यसम्यक्त्व। द्रव्यसम्यक्त्वभेदे, उत्त० २८ अ०।

संजुत्तसंजोग–संयुक्तसंयोग–पुं०। 'संजोग' शब्दे वक्ष्यमाणे संयोगभेदे, उत्त० १ अ०।

संजुत्ताहिगरण–संयुक्ताधिकरण–पुं०। अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं वास. उदूखलमुशलशिलापुत्रकगोधूमयन्त्रादिसंयुक्तमर्थक्रियाकरणयोग्यम्, संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समास.। आव० ६ अ०। उपा०। ध०। पञ्चा०। तूणीरधनुर्मुशलोदूखलघरट्टादिके, ध० र० २ अधि०।

संजुताहिगरणया–संयुक्ताधिकरणता–स्त्री०।अधिक्रियते आत्माऽनेनेत्याधिकरणम्। उदूखलादिसंयुक्तं चार्थक्रिया। ध० २ अधि०। 'संजुत्ताहिगरणे'त्ति संयुक्तम्–अर्थक्रियाकरणक्षममधिकरणम्—उदूखलमुशलादि, तदतिचारहेतुत्वादतिचारो हिंस्रप्रदाननिवृत्तिविषय., यतोऽसौ साक्षाद्यद्यपि हिंस्रं

शकटादिकं न समर्पयति परेषां तथापि तेन संयुक्तेन तेऽयाचित्वाऽप्यर्थक्रियां कुर्वन्ति विसंयुक्ते तु तस्मिंस्ते स्वत एव विनिवारिता भवन्ति ॥ ४ ॥ अर्थक्रियाकरणक्षमे चतुर्थेऽतिचारे, उपा० १ अ० । संयुक्ताधिकरणम्--अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणम्, वास्तूदूखलशिलापुत्रकगोधूमयन्त्रकादि संयुक्तम् अर्थक्रियाकरणयोग्यम्, संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । 'एत्थ सामाचारी--सावगेण संजुत्ताणि चेव सगडादीनि न धरेतव्वाणि, एवं वासीपरसुमादिविभासा ।' उपभोगपरिभोगातिरेक' इति उपभोगपरिभोगशब्दार्थो निरूपित एव तद तिरेकः। एत्थ वि सामायारी-उवभोगातिरित्तं जदि तेल्लामलए बहुए गेण्हति ततो बहुगा ण्हायगा वच्चंति तस्स लोलियाए, अण्णेहविण्हायगा ण्हायंति, एत्थ पूतरगा आउक्कायवधो, एवं पुप्फतंबोलमादिविभासा, एवं ण वट्टति। का-विधी सावगस्स उवभोगे ण्हाणे?, घरे ण्हायव्वं णऽत्थि ताधे तेल्लामलएहिं सीसं घंसित्ता सव्वे साडेऊणं ताहे तडागाऽऽइत्तडे निविट्ठो अंजलीहिं ण्हाति । एवं जेसु य पुप्फेसु पुप्फकुंथुगाणि ताणि परिहरति । आव० ६ अ० ।

संजुद्ध-देशी-सस्पन्दे, दे० ना० ८ वर्ग ६ गाथा ।

संजुय-संयुग-पुं० । संग्रामे, व्य० १ उ० ।

संयुत-त्रि० । बहुविधैर्व्यञ्जनादिभिः सहिते, उत्त० १२ अ० ।

संजूह-संयूथ-न० । निकायविशेषे, अनुयोगभेदे, भ०१५ श० । दृष्टिवादस्याष्टाशीतिसूत्रेषु सप्तमे सूत्रे, स० १४७ सम० । सङ्गतं युक्तार्थं यूथं पदानां पदयोर्वा समूहः संयूथं, समास इत्यर्थः । स्था० १० ठा० ३ उ० । सूत्र० ।

संजोइत्ता-संयोज्य-अव्य० । संयोगं कृत्वेत्यर्थे, स्था०१० ठा० ।

संजोइम-संयोगिम-त्रि० । संयोगिमं च संयोगस्तेन निर्वृत्तः "भावादिमः"॥६।४।२१॥ इतीमप्रत्ययः । संयोगनिष्पन्ने,हैम० ।

संजोग-संयोग-पुं० । संयुज्यते संयोजनं वा संयोगः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । समुचितो योगः । पं० सू० १ सूत्र । "आदेर्यो जः" ॥ ८ । १ । २४५ ॥ इति यस्य जः । प्रा० । परस्परोचितपदार्थानां योगे, औ० । जीवस्य सम्बन्धे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । उत्त० । नानाभवेषु पुत्रकलत्रमित्रशरीरादिसम्बन्धे, आतु० । आचा० । सूत्र० । विशे० । उत्त० । पुत्रकलत्रमित्रादिजनिते सम्बन्धे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सम्बन्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । केनचित्सह सम्बन्धे, आव० ४ अ० । पित्रादिभिः सार्द्धं सम्बन्धे, दर्श० ४ तत्त्व । ममत्वकृते सम्बन्धे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । अप्राप्तिपूर्विकायां प्राप्तौ, सम्म० ३ काण्ड । आचा० ।

संयोगभेदाः—

से किं तं संजोए णं ?, संजोगे चउव्विहे पण्णत्ते,तं जहा-दव्वसंजोगे खेत्तसंजोगे कालसंजोगे भावसंजोगे ? । से किं तं दव्वसंजोगे ?, दव्वसंजोगे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सचित्ते अचित्ते मीसए । से किं तं सचित्ते ?, सचित्ते-गोहिं गोमिए महिसीहिं महिसए ऊरणीहिं ऊरणीए उट्टीहिं उट्टीवाले, से तं सचित्ते। से किं तं अचित्ते?, अचित्ते छत्तेण छत्ती दंडेण दंडी पडेण पडी घडेण घडी कडेण कडी, से तं अचित्ते । से किं तं मीसए?, मीसए हलेणं हालिए सगडेणं सागडिए रहेणं रहिए नावाए नाविए से तं दव्वसंजोगे । से किं तं खित्तसंजोगे ?, २ भारहे एरवए हेमए एरण्णवए हरिवासए रम्मगवासए देवकुरुए उत्तरकुरुए पुव्वविदेहए अवरविदेहए, अहवा-मागहे मालवए सोरट्ठए मरहट्ठए कुंकणए, से तं खेत्तसंजोगे । से किं तं कालसंजोगे ?, २सुसमसुसमाए सुसमाए सुसमदुसमाए दुसमसुसमाए दुसमाए दुसमदुसमाए । अहवा-पावसए वासारत्तए सरदए हेमंतए वसंतए गिम्हए, से तं कालसंजोगे । से किं तं भावसंजोगे ?, २ दुविहे पण्णत्ते,तं जहा-पसत्थे अ,अपसत्थे अ । से किं तं पसत्थे?,२ नाणेणं नाणी दंसणेणं दंसणी चरित्तेणं चरित्ती, से तं पसत्थे। से किं तं अपसत्थे ?, २ कोहेणं कोही माणेणं माणी मायाए मायी लोहेणं लोही । से तं अपसत्थे । से तं भावसंजोगे । से तं संजोए णं ।

संयोगः-सम्बन्धः,स चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-द्रव्यसंयोग इत्यादि , सर्वं सूत्रसिद्धमेव, नवरं—सचित्तद्रव्यसंयोगेन गावोऽस्य सन्तीति गोमामित्यादि । अचित्तद्रव्यसंयोगेन छत्रमस्यास्तीति छत्रीत्यादि, मिश्रद्रव्यसंयोगेन हलेन व्यवहरतीति हालिक इत्यादि । अत्र हलादीनामचेतनत्वाद् बलीवर्दानां सचेतनत्वान्मिश्रद्रव्यता भावनीया । क्षेत्रसंयोगाधिकारे भरते जातो भरते वाऽस्य निवास इति तत्र जात. (का० ५०७) "सोऽस्य निवास" इति वाऽणप्रत्यये भारतः । एवं शेषेष्वपि भावना कार्या । कालसंयोगाधिकारे सुषमसुषमायां जात इति " सप्तमी पञ्चम्यन्ते जनेर्डः "(का० रू० ६६१) । इति डप्रत्यये सुषमसुषमज एवं सुषमजादिष्वपि भावनीयम् । भावसंयोगाधिकारे भाव.—पर्यायः, स च द्विधा—प्रशस्तो ज्ञानादिरप्रशस्तश्च कोधादिः, शेषं सुगमम् । इदमपि संप्रयोगप्रधानतया प्रवृत्तत्वाद्गौणाऽऽख्यत इति ६ । अनु० ।

सम्प्रति सूत्राऽऽलापकनिष्पन्ननिक्षेपस्य सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेश्च प्रस्ताव इति मन्यमानः संयोग इत्याद्यं पदं स्पृशन्निर्दे एतुमाह निर्युक्तिकृत्—

संजोगे निक्खेवो, छक्को दुविहो उ दव्वसंजोगे ।
संजुत्तगसंजोगो, नायव्वियरेयरो चेव ॥ ३० ॥

संयोग इति-संयोगविषय. निक्षेप. न्यासः, षट्परिमाणमस्येति षट्क. प्राग्वत्कन् , एतद्भेदाश्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाः, प्रसिद्धत्वादुत्तरत्र व्याख्यानत उन्नीयमानत्वाच्च नोक्ताः,(अत्रत्या वक्तव्यता'वक्खाण' शब्दे 'णामणय' शब्दे'ठवणाणय'शब्दे च उक्ता)उक्तं पूज्यैः-"आगारो च्चिय मइस-द्दवत्थुकिरियाफलाभिहाणाइं। आगारमयं सव्वं, जमणागारं तयं

नऽत्थि ॥१॥ ण पराणुमयं वत्थुं, अगाराभावओ खपुप्फं व। उवलंभव्ववहारा, भावाओ णाणगारं च ॥ २॥" द्रव्यनय आह—" यथानामादिनाकारं, विना संवेद्यते तथा। नाऽऽकारोऽपि विना द्रव्यं, सर्वं द्रव्यात्मक ततः ॥ १॥ " तथाहि—द्रव्यमेव मृदादिनिखिलस्थासकोशकुशूलकुटकपालाद्याकारानुयायि वस्तु सत्, तस्यैव तत्तदाकारानुयायिनः सद्बोधविषयत्वात्, स्थासकोशाद्याकाराणां तु मृद्द्रव्यातिरेकिणां कदाचिदनुपलम्भात्, तच्चोत्पादादिसकलविकारविरहितं तथा तथाऽऽविर्भावतिरोभावमात्रान्वितं सम्मूर्च्छितसर्वप्रभेदनिर्भेदबीजं द्रव्यमगृहीततरङ्गादिप्रभेदस्तिमितसरःसलिलवत्, आह च—

" दव्वपरिणाममेत्त, मोत्तूणागारदरिसणं किं त।
उप्पायव्वयरहियं, दव्वं चिय निव्वियारं ति ॥ १॥
आविब्भावतिरोभा-वमेत्तपरिणामकारणमचिन्तं।
णिच्चं बहुरूवं पि य, नडो व्व वेसंतरावन्नो ॥ २॥"

(भावनयव्याख्या ' भावणय ' शब्दे पञ्चमभागे गता।) परमार्थतस्त्वयम्—संविन्निष्ठैव सर्वाऽपि विषयाणां व्यवस्थितिः। संवेदन च नामादि, विकलं नानुभूयते। तथाहि—

"घटोऽयमिति नामैतत्, पृथुबुध्नादिनाऽऽकृतिः।
मृद्द्रव्यं भवनं भावो, घटे दृष्ट चतुष्टयम् ॥ १॥
तथाऽपि नाम नाकार-माकारो नाम नो विना।
तौ विना नापि चान्योऽन्य-मुत्तरावपि संस्थितौ ॥ २॥
मयूराण्डरसे यद्व-द्वर्णा नीलादयः स्थिताः।
सर्वेऽप्यन्योऽन्यमुन्मिश्रा-स्तद्वन्नामादयो घटे ॥ ३॥"

इत्थं चैतत् परस्परसव्यपेक्षितयैवाशेषनयानां सम्यक्त्वात्, इतरथा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतीतसल्लक्षणानुपपत्तेश्च। किञ्च-शब्दादपि घटादेर्नामादिभेदरूपेणैव घटाद्यर्थे बुद्धिपरिणामो जायते, इत्यतोऽपि नामादिचतूरूपतैव सर्वस्य वस्तुन.। उक्तं च—" नामादिभेदसद्द—त्थ बुद्धिपरिणामभावओ णियमं। जं वत्थु अत्थि लोए, चउपज्जायं तय सव्वं ॥ १॥" ततश्च—"चतुष्काभ्यधिकस्येह, न्यासो योऽन्यस्य दृश्यते। एतदन्तर्गतः सोऽपि, ज्ञातव्यो धीधनान्वितैः ॥ १॥ " इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ सम्प्रति निर्युक्तिरनुश्रि (स्रि) यते। तत्र नामस्थापने आगमतो नोआगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपश्च द्रव्यसयोग. सुगम इति मन्वानो व्यतिरिक्तद्रव्यसंयोगमभिधातुमाह—द्विविधस्त्विति द्विविध एव, द्रव्येण द्रव्यस्य वा, समिति सङ्गतो योगः संयोग.। संयोगद्वैविध्यमेवाह—संयुक्तमेव संयुक्तकम्—अन्येन संश्लिष्टं, तस्य संयोगा—व स्त्वन्तरसम्बन्धः सयुक्तकसंयोगो ज्ञातव्यः। इतरेतर इति इतरेतरसयोगः। च. समुच्चये। एव' अवधारणे। इत्थमेव द्विविध एव संयोग इति गाथासमासार्थ. ॥ ३०॥

विस्तरार्थं त्वभिधित्सुः "यथोद्देशं निर्देश" इति न्यायत' संयुक्तकसंयोगं भेदेनाह-

संजुत्तगसंजोगो, सचित्तादीण होइ दव्वाणं।
दुमअणुसुवण्णमाई, संतइकम्मेण जीवस्स ॥ ३१॥

संयुक्तकसयोगः अनन्तराभिहितस्वरूपः सचित्तादीनां सचित्ताचित्तमिश्राणां भवति द्रव्याणाम्। अमीषामुदाहरणान्याह-' दुमअणुसुवण्णमाइ ' त्ति ' अत्र मकारस्यालाक्षणिकत्वात् सुब्व्यत्ययाच्च द्रुमाणुसुवर्णादीनां प्रत्येकं आदिशब्दसम्बन्धात्सचित्तद्रव्याणां द्रुमादीनाम्, अचित्तद्रव्याणामणवादीनां सुवर्णादीनां च, मिश्रद्रव्यस्य तु सन्ततिकर्मणोपलक्षितस्य जीवस्य। अत्र चाऽणवादीनां सुवर्णादीनामित्युदाहरणद्वयमचित्तद्रव्याणां सचित्तमिश्रद्रव्यापेक्षया भूयस्त्वख्यापनार्थम्। एतद्भूयस्त्वं च जीवेभ्यः पुद्गलानामनन्तगुणत्वात्। उक्तं च-" जीवा पोग्गलसमया, दव्वपएसा य पज्जवा चेव। थोवाऽणंताणंता, विसेसमहिया दुवेऽणंता ॥ ॥ १॥ " इति, अनेन च सचित्तादेः सयोगद्रव्यस्य त्रैविध्यात् संयुक्तकसंयोगस्य त्रैविध्यमुक्तमिति गाथार्थः ॥ ३॥

तत्र द्रुमादीनां सचित्तसंयुक्तद्रव्यसंयोगं विवरीतुमाह—

मूले कंदे खंधे, तया य साले पवालपत्तेहिं।
पुप्फफले बीएहि अ, संजुत्तो होइ दुममाई ॥ ३२॥

मूले कन्दे स्कन्धे इति सर्वत्र सूत्रत्वात्, तृतीयार्थे सप्तमी। ततश्च मूलेन—अधःप्रसर्पिणा स्वावयवेन कन्देनतेनैव मूलस्कन्धान्तरालवर्तिना स्कन्धेन-स्थुडेन त्वचा-छविरूपया ' साले ' त्ति एकारोऽलाक्षणिक., ततः शालाप्रवालपत्रैः शाखापल्लवपलाशैः, फले इत्यत्राप्येकारस्तथैव, तत. पुष्पफलबीजैश्च प्रसिद्धैरेव संयुक्त.-सम्बद्धो भवति। ' दुममाइ ' त्ति मकारोऽलाक्षणिक. ततो द्रुमादिः, आदिशब्दाद्-गुच्छगुल्मादिश्च संयुक्तकसंयोग इति प्रक्रमः। स हि प्रथममुद्गच्छन्नङ्कुरात्मक पृथिव्याः संयुक्त एव मूलेन संयुज्यते, ततो मूलसंयुक्तक एव कन्देन, कन्दसंयुक्त एव स्कन्धेन एवं त्वक्शाखाप्रवालपुष्पफलबीजैरपि पूर्वसंयुक्त एवोत्तरोत्तरैः संयुज्यते इति भावनीयम्। नन्वेवं द्रुमादेर्द्रव्यत्वात् संयुक्तकसंयोगस्य च गुणत्वात्कथं द्रुमादिरेव स इति, अत्रोच्यते—धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदनन्यत्वादेवमुक्तमित्यदोष.।एवमुत्तरभेदयोरपीति गाथार्थः ॥३२॥

अणवादीनामचित्तसंयुक्तकद्रव्यसंयोगं स्पष्टयितुमाह—

एगरस एगवण्णे, एगे गंधे तहा दुफासे अ।
परमाणू खंधेहि अ, दुपएसाईहि णायव्वो ॥ ३३॥

एकः-अद्वितीयस्तिक्तादिरसान्यतमो रसोऽस्येति एकरस., तथैकः कृष्णादिवर्णान्यतमो वर्णोऽस्येति एकवर्ण., एवम् एकगन्ध.—सुगन्धीतरान्यतरगन्धान्वित., ' एगे ' इत्येकारःस्यालाक्षणिकत्वात्, तथा द्वौ चाविरुद्धौ स्निग्धशीताद्यात्मकौ स्पर्शावस्येति द्विस्पर्शः। चशब्द. स्वगतानन्तभेदोपलक्षकः। क एवंविध. ?, इत्याह—परमः-तदन्यसूक्ष्मतरासम्भवात् प्रकर्षवान् स चासावणुश्च परमाणुः, उपलक्षणत्वाद् द्व्यणुकादिश्च, स्कन्धैश्च—स्कन्धशब्दाभिधेयैः, कैरित्याह—द्वौ प्रदेशावारम्भकावस्येति द्विप्रदेशो-द्व्यणुकः, स आदिर्येषां त्रिप्रदेशादीनामचित्तमहास्कन्धपर्यन्ताना ते तथा तैः-चशब्दात्परमाण्वन्तरैर्वर्णान्तरादिभिश्च, संयुज्यमान इति गम्यते। विशेषः विशेषेण—संख्यातासंख्यातानन्तभङ्गवि-

भावनात्मकेनाववोद्धव्यः , पाठान्तरतो ज्ञातव्यः, अचित्तसयुक्तकसयोग इति प्रक्रम., अयमर्थ -"कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु । एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥ " इत्येवलक्षणः परमाणुर्यदा द्व्यणुकादिस्कन्धपरिणतिमनुभवति तदा रसादिसंयुक्त एव द्व्यणुकादिभिः स्कन्धैः संयुज्यते , यदा वा तिक्तनादिपरिणतिमपहाय कटुकत्वादिपरिणतिं प्रतिपद्यते तदाऽपि वर्णादिभिः संयुक्त एव कटुकत्वादिना सयुज्यते इति सयुक्तसयोग उच्यते । अत्र च कृष्णपरमाणुः कृष्णत्वमपहाय नीलत्वं प्रतिपद्यत इत्येको भङ्गः , एवं रक्तत्वं पीतत्वं शुक्लत्व चेति चत्वारः । तथाऽयमेव रसपञ्चकगन्धद्वयाविरुद्धस्पर्शैस्तारतम्यजनितैश्च स्वस्थान एव द्विगुणकृष्णत्वादिभिः परमाण्वन्तरद्विप्रदेशादिभिश्च योजनाद्विवक्षावशतः संख्यातासख्यातानन्तात्मिका भङ्गरचनामवाप्नोति , एव वर्णान्तररसस्पर्शगन्धस्वगततारतम्ययुक्तोऽपि , तथा द्विप्रदेशादिश्च । यच्च—' वण्णरसगधफासा, पोग्गलाणं च लक्खणं ' इत्यादिसूत्रेषु वर्णस्याद्यित्वेन दर्शनेऽपि ' एगरसएगवण्ण ' त्ति रसस्य प्रथमत उपादानं तदनानुपूर्व्या अपि व्याख्याङ्गत्वेन गाथाबन्धानुलोम्येन वेति भावनीयम् । सुपर्णादीनां च प्राक्परवर्णकासयुक्तानामेव विशिष्टवर्णकादिभिः संयोगोऽचित्तसयुक्तकसयोग उक्तानुसारेण सुज्ञान एवेति निर्युक्तता न व्याख्यात इति गाथार्थः ।

दृष्टान्तपूर्वकं सन्ततिकर्मणा जीवस्य मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोगं व्यक्तीकर्तुमाह—

जह धाऊ कणगाई, सभावसंजोयसंजुया हुंति ।
इअ संतइकम्मेणं, अणाइसंजुत्तओ जीवो ॥ ३४ ॥

यथा इति-उदाहरणोपन्यासार्थः,यथा धातवः कनकादियोनिभूता मृदादयः ' कणगाइ ' त्ति सूत्रत्वात्कनकादिभिः , आदिशब्दात्ताम्रादिभिश्च, किमित्याह—स्वभावेन संयोगः-प्रकृतीश्वराद्यर्थान्तरव्यापारानपेक्षयोपलक्ष्यानुपलक्ष्यरूपो यः सम्बन्धस्तेन संयुक्ता—मिश्रिताः स्वभावसंयोगसंयुताः भवन्ति—विद्यन्ते इतीत्यमुनैवार्थान्तरानिरपेक्षत्वलक्षणेन प्रकारेण सन्ततिः—उत्तरोत्तरनिरन्तरोत्पत्तिरूपः प्रवाहस्तयोपलक्षितं कर्म—ज्ञानावरणादि सन्ततिकर्म तेन , न विद्यते आदिः—प्राथम्यमस्येत्यनादिः, स चेह प्रक्रमात्संयोगस्तेन ' स ' मिति ' अण्णोण्णाणुगयाणं इम च तं च त्ति विभयणमजुत्तं ' इत्यागमाद्विभागाभावतो युक्तः श्लिष्टोऽनादिसंयुक्तः, स एव अनादिसंयुक्तकः, यद्वा संयोगः सयुक्तं ततोऽनादिसंयुक्तमस्येति अनादिसंयुक्तकः, क इत्याह—जीवति जीविष्यति जीवितवांश्चेति जीवः मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोग इति प्रक्रमः । इदमुक्तं भवति—जीवो ह्यनन्तकर्माणुवर्गणाभिरावेष्टितप्रवेष्टितोऽपि न स्वरूपं चैतन्यमतिवर्तते, नचाचैतन्यं कर्माण्व इति तद्युक्ततया विवक्ष्यमाणोऽसौ सयुक्तकमिश्रद्रव्यं, ततोऽस्य कर्मप्रदेशान्तरै. सयोगो मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोग उच्यते । इह च जीवकर्मणोरनादिसंयोगस्य धातुकनकादिसंयोगदृष्टान्तद्वारेणाभिधानं तद्वदेवानादित्वेऽप्युपायतो जीवकर्मसंयोगस्याभावख्यापनार्थम् , अन्यथा मुक्त्यनुष्ठानवैफल्यापत्तेरिति भावनीयमिति गाथार्थ. । उक्तः संयुक्तकसयोगः ।

इतरेतरसयोगमाह—

इयरेयरसंजोगो, परमाणूणं तहा पएसाणं ।
अभिपेयमणभिपेओ, अभिलावो चेव संबंधो ॥३५॥

इतरेतरस्य-परस्परस्य संयोगो—घटना इतरेतरसंयोगः परमाणूनाम्-उक्तरूपाणा, तथा प्रकर्षेण-सूक्ष्मातिशयलक्षणेन दिश्यन्ते—कथ्यन्त इति प्रदेशा.—धर्मास्तिकायादिसम्बन्धिनो निर्विभागा भागास्तेषाम् , 'अभिपेयं' ति प्राकृतत्वादभिप्रेतः, इतरेतरसंयोग इति योज्यत, एवमुत्तरत्रापि। अभिप्रेतत्वं चास्य अभिप्रेतविषयत्वाद्,एतद्विपरीतोऽनभिप्रेतः।अभिलप्यते—आभिमुख्येन व्यक्तमुच्यतेऽनेनार्थ इत्यभिलापो—वाचकः शब्दस्तद्विषयत्वात् अभिलाप. । चः समुच्चये । एवः अवधारणे ।सम्बन्धशब्दानन्तरं चैतौ योज्यौ, ततः सम्बन्धनं सम्बन्ध',स चैव स्वस्वामित्वादिरनेकधा वक्ष्यमाणः । एतावद्भेद एवायमितरेतरसंयोग इति चावधारणस्यार्थ इति गाथासमासार्थः ।

परमाणूनां संयोगमाह—

दुविहो परमाणूणं, हवइ य संठाणखंधओ चेव ।
संठाणे पंचविहो, दुविहो पुण होइ खंधेसुं ॥ ३६॥

द्वौ विधौ प्रकारावस्येति द्विविधः—द्विभेदः, कोऽसौ ?-परमाणूनाम् इति परमाणुसम्बन्धी , प्रक्रमादितरेतरसंयोगो भवति। च. पूरणे। कथं द्विविध इत्याह-'संठाणखंधतो' त्ति सन्तिष्ठतेऽनेन रूपेण पुद्गलात्मकं वस्त्विति संस्थानम्-आकारविशेषः ततस्तमाश्रित्य, स्कन्धत. स्कन्धमाश्रित्य । चः समुच्चये। एवः भेदावधारणे। द्विविधस्याऽपि प्रत्येकं भेदानाह-संस्थाने संस्थानविषयः पञ्चविधः-पञ्चप्रकारः द्विविधः-द्विप्रकारः , पुनःशब्दो वाक्यान्तरोपन्यासे , भवति, स्कन्धेषु स्कन्धविषय इति गाथार्थः ।

इह च संस्थानस्कन्धभेदद्वारक एवायमितरेतरसंयोगभेद इति तदभिधानमुचित, तत्र यथोद्देश निर्देश इति न्यायतः संस्थानभेदाभिधानप्रस्तावेऽप्यल्पवक्तव्यत्वात् स्कन्धभेदं हेतुभेदद्वारेणाऽऽह—

परमाणुपुग्गला खलु, दुन्निव बहुगा य संहता संता ।
निव्वत्तयंति खंधं, तं संठाणं अणित्थत्थं ॥३७॥

परमाणुपुद्गलौ खलु द्वौ वा बहव एव बहुकाः—त्रिप्रभृतय , ते च परमाणुपुद्गलाः संहताः-एकपिण्डतामापन्ना. सन्तो निर्वर्तयन्ति-जनयन्ति, किमित्याह—स्कन्धं-द्व्यणुकादिकम् , अनेन च द्विपरमाणुजन्यतया बहुपरमाणुजन्यत्वेन च स्कन्धस्य द्विभेदत्वमुक्तम् ।खलुशब्दोऽत्र विशेषं द्योतयति,स चायम्-इह रूक्ष. स्निग्धो वा एकगुण. सम्बध्यमानो द्विगुणाधिकेनैव स्वस्वरूपापेक्षया सम्बध्यते , नतु समगुणेनैकगुणाधिकेन वा । किमुक्तं भवति ?—एकगुणस्निग्धस्त्रिगुणस्निग्धेन सम्बध्यते, त्रिगुणस्निग्धः पञ्चगुणस्निग्धेन, पञ्चगुणस्निग्धः सप्तगुणस्निग्धेनेत्यादि । तथा द्विगुणस्निग्धश्चतुर्गुणस्निग्धेन,चतुर्गुणस्निग्ध. षड्गुणस्निग्धेनेत्यादि एवमेकगुणरूक्ष-

स्त्रिगुणरूक्षेण, त्रिगुणरूक्षः पञ्चगुणरूक्षेणेत्यादि, तथा द्विगुणरूक्षश्चतुर्गुणरूक्षेण, चतुर्गुणरूक्षः षड्गुणरूक्षेणेत्यादि, एवं द्विगुणाधिकसम्बन्धो भावनीयः, नत्वेकगुणस्निग्धः एकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन वा सम्बध्यते,द्विगुणस्निग्धो द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा यावदनन्तगुणस्निग्धोऽप्यनन्तगुणस्निग्धेन समगुणेनैकगुणाधिकेन वा । एवमेकगुणरूक्ष एकगुणरूक्षेण द्विगुणरूक्षेण वा,द्विगुणरूक्षो द्विगुणरूक्षेण त्रिगुणरूक्षेण वा यावदनन्तगुणरूक्षोऽप्यनन्तगुणरूक्षेण समगुणेनैकगुणाधिकेन वेति । अन्ये त्वाहुः-एकगुणादिस्वस्थानापेक्षया द्विगुणेन रूपाधिकेन सम्बध्यत इति । अयमत्र विशेषः खलुशब्देन सूच्यते, तथा चैककस्य स्वस्थानापेक्षया द्विगुणो द्विक एव,स च रूपाधिकस्त्रिक एव इति त्रिगुणेनैवैकगुणस्य सम्बन्धः । तथा द्विगुणस्य पञ्चगुणेन, त्रिगुणस्य सप्तगुणेन, चतुर्गुणस्य नवगुणेन, पञ्चगुणस्यैकादशगुणेनेत्यादि । उक्तं च-

"समनिद्धयाइ बंधो, न होइ समलुक्खया वि य न होइ ।
वमाइनिद्धलक्ख-त्तणेण बधो उ खधाणं ॥ १ ॥"

तथा—

"दोराह जहराणगुणाणं, निद्धाणं तह य लुक्खदव्वाण ।
एगाहिए वि य गुणे, ण होति बधस्स परिणामो ॥ २ ॥
णिद्धविउणाहिएण, बंधो निद्धस्स होइ दव्वस्स ।
लुक्खविउणाहिएण य, लुक्खस्स समागमं पप्प ॥ ३ ॥"

स्निग्धरूक्षपरस्परबन्धविचारणायां तु समगुणयोर्विषमगुणयोर्वा जघन्यवर्जयोर्बन्धपरिणतिरिति विशेषः । तथा चाह-" बज्झंति णिद्धलुक्खा विसमगुणा अहव समगुणा जेऽवि । वाजिनु जहन्नगुणे, बज्झंती पोग्गला एव ॥१॥" इत्यादि, येन विशेषेण संस्थानात् स्कन्धस्य भेदेनोपादानं तमाविष्कर्तुमाह-' त सठाणं' ति प्राकृतत्वादेवं पाठ , तस्य-स्कन्धस्य संस्थानम्-आकारस्तत्संस्थानम्, अनेन-हृदि विवर्तमानतया प्रत्यक्षेण परिमण्डलादिनाऽनन्तरोक्तप्रकारेणेत्थमित्थं तिष्ठति इत्थस्थं, न तथा अनित्थंस्थम्, अनेन नियतपरिमण्डलाद्यन्यतराकारं संस्थानं शेषोऽनियताऽऽकारस्तु स्कन्ध इत्यनयोर्विशेष इत्युक्तं भवति । आह-स्कन्धानामपि परस्परं बन्धोऽस्ति-यदुक्तम्-" एमेव य खंधाणं, दुपएसाईण बंधपरिणामो " त्ति अतः किं न तेषामपीतरेतरसंयोग इहोक्तः?, उच्यते-उक्त एव, तेषां प्रदेशसद्भावात्, प्रदेशाना च 'इयरेयरसंजोगो, परमाणूणं तहा पएसाणं' इत्यनेन तदभिधानादिति गाथार्थः॥३७॥

संस्थानभेदानाह—

परिमंडले य वट्टे, तंसे चउरंसमायए चेव ।
घणपयर पढमवज्जं, ओयपएसे य जुम्मे य ॥ ३८ ॥

'लिङ्गं व्यभिचार्यपि' इति प्राकृतलक्षणात् सर्वत्र लिङ्गव्यत्यय', ततः परिमण्डल, प्रक्रमात् संस्थानमेवमुत्तरत्राऽपि, तच्च यद्विर्वृत्ततावस्थितप्रदेशजनितमन्त शुषिरम् , यथा वलकस्य चशब्द उत्तरभेदापेक्षया समुच्चये । वृत्तं तदेवान्त' शुषिरविरहितं यथा कुलालचक्रस्य, त्र्यस्रं त्रिकोणं,यथा शृङ्गाटकस्य चतुरस्र-चतुष्कोणं, यथा कुम्भिकायाः , आयत-दीर्घं, यथा दण्डस्य । च. पूर्वभेदापेक्षया समुच्चये । एव अवधारणे । तत इयत एव संस्थानभेदाः,'घणपयर'त्ति घनं च प्रतरं च घनप्रतरं प्राकृतत्वाद्विन्दुलोप , सर्वत्र च प्रतरपूर्वक एव घनः प्ररूप्यते, इहापि तथैवोपदर्शयिष्यते, ततः प्रतरघन इति निर्देशः प्राप्त', अल्पाक्षरत्वात्तु घनशब्दस्य पूर्वनिपातः, । ततश्चैकैकं परिमण्डलादि प्रतरं घनं च भवतीति गम्यते । तथा प्रथमम्—आद्य वर्जयति-त्यजतीति प्रथमवर्ज—परिमण्डलरहितं वृत्तादिसंस्थानचतुष्कमित्यर्थः ' ओयपएसे य ' त्ति ओजःप्रदेशं च विषमसंख्यपरमाणुकं 'जुम्मे य ' त्ति प्रक्रमाद् युग्मप्रदेशं च , उभयत्र चः समुच्चये । इह च घनप्रतरभेदमेव वृत्तादीत्थं भिद्यते, ततः प्रतरवृत्तमोजःप्रदेशं युग्मप्रदेशं च, तथा घनवृत्तमोजःप्रदेशं युग्मप्रदेशं च , एवं त्र्यस्रादिष्वपि चतुर्विधं भावनीयम् । परिमण्डलं वर्जनीयं च, समसंख्याणुष्वेव तस्य सम्भवेनैवंविधभेदासम्भवात् , तथा च द्विविधमेव परिमण्डलमिति गाथार्थः ।

इह च परिमण्डलादि प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं च , तत्रोत्कृष्टं सर्वमनन्ताणुनिष्पन्नमसंख्यप्रदेशावगाढ चेत्येकरूपतयाऽनुक्रमपि सम्प्रदायाज्ज्ञातु शक्यमिति तदुपेक्ष्य जघन्यं तु प्रतिभेदमन्यान्यरूपतया न तथेति तदुपदर्शनार्थमाह-

पंचग वारसगं खलु, सत्तग बत्तीसगं तु वट्टम्मि ।
तिय छक्कग पणतीसा, चत्तारि य हुंति तंसम्मि ॥३०॥
नव चेव तहा चउरो, सत्तावीसा य अट्ठ चउरंसे ।
तिगदुगपन्नरसेऽवि य, छच्चेव य आयए हुंति ॥ ४० ॥
पणयालीसा वारस, छब्भेया आययम्मि संठाणे ।
वीसा चत्तालीसा, परिमंडलि हुंति संठाणे ॥ ४१ ॥

आसामर्थः स्पष्ट एव नवरमायते यद्भेदाभिधानमव्यापित्वेन प्रागनुद्दिष्टस्यापि श्रेणिगतभेदद्वयस्याधिकस्य तत्र सम्भवात् , तथा परिमण्डलादित्वेऽपि संस्थानाना वृत्तादिभेदानामोजःप्रदेशप्रतरादीनामनन्तरोद्दिष्टत्वात् प्रत्यासत्तिन्यायेन यथाक्रम पञ्चकादिभिः प्रथममुपदर्शनं , पश्चात् परिमण्डलभेदद्वयस्य । तत्रौज प्रदेशप्रतरवृत्त पञ्चाणुनिष्पन्न पञ्चाकाशप्रदेशावगाढ च तत्रैकोऽणुरन्तरेव स्थाप्यते, चतसृषु पूर्वादिदिक्षु चैकैकः स्थापना १—

	०	०
		०
	०	०

युग्मप्रदेशप्रतरवृत्तं द्वादशप्रदेशं, द्वादश प्रदेशावगाढं च, तत्र हि चतुर्षु प्रदेशेषु निरन्तरमन्तश्चतुरोऽणूनभिधाय तत्परिक्षेपेणाष्टौ स्थाप्यन्ते , स्थापना २ ,

	०	०	
० ०	०	०	० ०
० ०	०	०	० ०
	०	०	

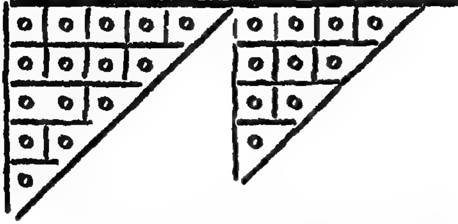
ओज.प्रदेश घनवृत्त सप्तप्रदेशं, सप्तप्रदेशावगाढं च, तत्रैवं तत्रैव पञ्चप्रदेशे प्रतरवृत्ते मध्यस्थितस्याणोरुपरिष्टादधस्ताच्चैकैकोऽणुरवस्थाप्यते, ततो द्वयसहिताः पञ्च सप्त भवन्ति ३, युग्मप्रदेशं घनवृत्तं द्वात्रिंशत्प्रदेशं द्वात्रिंशत्प्रदेशावगाढं च , तत्र प्रतरवृत्तोपदर्शितद्वादशप्रदेशोपरि द्वादशान्ये, तदुपरि चत्वारोऽधस्ताच्च तावन्त एवाणवः स्थाप्याः, एते मीलिता द्वात्रिंशद्भवन्ति ४ । ओजःप्रदेशं प्रतरत्र्यस्र त्रिप्रदेश त्रिप्रदेशावगाढं च । तत्र च तिर्यग्निरन्तरमणुद्वयं विन्यस्याऽधस्ताच्च एकोऽणु स्थाप्यः, स्थापना १—

०	०
०	

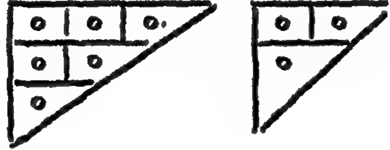
युग्मप्रदेशं प्रतरत्र्यस्र षट्प्रदेश, षट्प्रदेशावगाढ च, तत्र च तिर्यग्निरन्तर त्रयोऽणवः स्थाप्यन्ते ततः

आद्यस्याधस्ताद्ध ऊर्ध्वभावेन द्वयं द्वितीयस्य त्वध एकोऽणुः स्थाप्यः, स्थापना १- ओजःप्रदेशं घनत्र्यस्रं पञ्चत्रिंशत्प्रदेशं पञ्चत्रिंशत्प्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यग्निरन्तराः पञ्चाऽणवो न्यस्यन्ते तेषां चाधोऽधः क्रमेण तिर्यगेव चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चाणुः

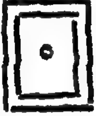
स्थाप्यन्ते, स्थापना



अस्य च प्रतरस्योपरि सर्वपङ्क्तिष्वन्त्यान्त्यपरमाणुपरिहारेण दश, तथैव तेषामुपर्युपरि षट् त्रय



एकश्चेति



क्रमेणाणवः स्थाप्याः, तेषां स्थापना इति मीलिताः पञ्चत्रिंशद्भवन्ति २, युग्मप्रदेशं घनत्र्यस्रं चतुष्प्रदेशं चतुष्प्रदेशावगाढं च, तत्र च प्रतरत्र्यस्र एव त्रिप्रदेशे एकतरस्योपर्येकोऽणुर्दीयते, ततो मीलिताश्चत्वारो भवन्ति ४। ओजःप्रदेश प्रतरचतुरस्र नवप्रदेशं नवप्रदेशावगाढं च। तत्र च तिर्यग्निरन्तरं त्रिप्रदेशास्तिस्रः, पङ्क्तयः स्थाप्याः। स्थापना १ युग्मप्रदेशं प्रतरचतुरस्रं-चतुष्प्रदेशं चतुष्प्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यग्निरन्तरं द्विप्रदेशे द्वे पङ्क्ती स्थाप्येते, स्थापना-२ ओजःप्रदेशं घनचतुरस्रं सप्तविंशतिप्रदेशं सप्तविंशतिप्रदेशावगाढं च, तत्र च नवप्रदेशस्य प्रतरचतुरस्रस्यैवाध उपरि च तथैव नव नवाणवः स्थाप्याः, ततस्त्रिगुणा नव सप्तविंशतिर्भवति ३, युग्मप्रदेशं घनचतुरस्रम् अष्टप्रदेशमष्टप्रदेशावगाढं च। तत्र चतुष्प्रदेशस्य प्रतरस्यैवोपरि चत्वारोऽन्ये स्थाप्याः, ततो द्विगुणाश्चत्वारोऽष्टौ भवन्ति ४। ओजःप्रदेशं श्रेण्यायतं त्रिप्रदेशं-त्रिप्रदेशावगाढं च। तत्र च तिर्यग् निरन्तरास्त्रयोऽणवः स्थाप्याः। स्थापना १, युग्मप्रदेशं श्रेण्यायतं द्विप्रदेशं—द्विप्रदेशावगाढं च। तत्र च तथैवाणुद्वयं न्यस्यते, स्थापना २- ओजः प्रदेशं प्रतरायतं पञ्चदशप्रदेशं पञ्चदशप्रदेशावगाढं च। तत्र प्राग्वत् पङ्क्तित्रये पञ्च पञ्चाणवः स्थाप्याः, स्थापना ३- युग्मप्रदेशं प्रतरायतं षट्प्रदेशं षट्प्रदेशावगाढं च, तत्र च प्राग्वत् पङ्क्तिद्वये त्रयस्त्रयोऽणवः स्थाप्याः स्थापना ४- ओजःप्रदेशं घनायतं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशावगाढं च। तत्र पञ्चदशप्रदेशस्य प्रतरायतस्यैवाध उपरि च तथैव पञ्चदश पञ्चदशाणवः स्थाप्याः, ततस्त्रिगुणाः पञ्चदश पञ्चचत्वारिंशद्भवन्ति ५, युग्मप्रदेशं घनायतं द्वादशप्रदेशं द्वादशप्रदेशावगाढं च। तत्र च षट्प्रदेशस्य प्रतरायतस्यैवोपरि तथैव तावन्तोऽणवः स्थाप्याः, ततो द्विगुणाः षट् द्वादश भवन्ति ६। (घनपरिमण्डलस्थापना 'परिणाम' शब्दे पञ्चमभागे ५६८ पृष्ठे गता।) न चैतान्यतीन्द्रियत्वेनातिशायिगम्यत्वात् सर्वथाऽनुभवमारोपयितुं शक्यन्ते, स्थापनादिद्वारेण च कथञ्चिच्छक्यानीति तथैव दर्शितानीति गाथात्रयभावार्थः।

उक्तः परमाणूनामितरसंयोगः। सम्प्रति तमेव प्रदेशानामाह—

धम्माइपएसाणं, पंचण्ह उ जो पएससंजोगो।
तिण्ह पुण अणाईओ, साईओ होति दुण्हं तु ॥ ४२॥

धर्मादीनां—धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलानां प्रदेशाः—उक्तरूपा धर्मादिप्रदेशास्तेषां पञ्चानाम् इति सम्बन्धिनां धर्मादीनां पञ्चसंख्यत्वेन पञ्चसंख्यानाम्, तुः पुनरर्थः, संयोग इति गम्यते। स च श्रुतत्वाद्धर्मादिभिः स्कन्धैस्तथा तदन्तर्गतैर्देशैः प्रदेशान्तरैश्च सजातीयेतरैः, असौ किमित्याह-प्रदेशानां संयोगः प्रकृतत्वादितरेतरसंयोगाख्यः प्रदेशसंयोगः, उच्यते इति शेषः। अस्यैव विभागमाह—त्रयाणां पुनः, पुनःशब्दस्य विशेषद्योतकत्वात् धर्माधर्माकाशप्रदेशानां धर्मादिभिरेव त्रिभिस्तेषामेव देशैः प्रदेशान्तरैश्च प्रकृतत्वादितरेतरसंयोगः अनादिः-आदिविकलः सदा संयुक्तत्वादेषाम्, सादिकः-आदियुक्तो भवति द्वयोः पारिशेष्याज्जीवप्रदेशपुद्गलप्रदेशयोः, तथाहि—संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते संसारिजीवप्रदेशाः कर्मपुद्गलप्रदेशाश्च परस्परं धर्मादिप्रदेशैश्च सह, तुशब्दो विशेषं द्योतयति। स चायं जीवप्रदेशानां धर्मादित्रयदेशप्रदेशापेक्षया पुद्गलस्कन्धाद्यपेक्षया च सादिसंयोगः, धर्मादिस्कन्धत्रयापेक्षया त्वनादिः पुद्गलप्रदेशानामपि धर्मादिस्कन्धत्रयापेक्षयाऽनादिः, शेषापेक्षया तु सादिः। इह च धर्मादिस्कन्धानां तद्देशानां च यः परस्परं संयोगः स न प्रदेशसंयोगमन्तरेणेति तदभिधानत एवोक्तो मन्तव्यः। अप्रदेशस्य तु परमाणोर्धर्मादिभिः संयोग उक्तानुसारतः सुज्ञान एव इति नोक्त इति गाथार्थः।

उक्तः प्रदेशानामितरेतरसंयोगः, सम्प्रत्यभिप्रेतानभिप्रेतभेदरूपं तमेवाह—

अभिपेयमणभिपेओ, पंचसु विसएसु होइ नायव्वो।
अणुलोमोऽभिप्पेओ, अणभिप्पेओ अ पडिलोमो ॥४३॥

'अभिपेय' त्ति अभिप्रेतः 'अनभिप्पेओ' त्ति चस्य गम्यमानत्वादनभिप्रेतश्च, प्रक्रमादितरेतरसंयोगः। किमित्याह— पञ्चसु विषयेषु शब्दादिपञ्चकगोचरे, अर्थादिन्द्रियमनसां तद्ग्रहणप्रवृत्तौ ग्राह्यग्राहकभावः, स चाभिप्रेतार्थविषयोऽभिप्रेतः, अनभिप्रेतार्थविषयस्त्वनभिप्रेतो भवति—ज्ञातव्यः। आह—अस्त्वेवाभिप्रेतानभिप्रेतार्थविषयत्वेनाभिप्रेतः अनभिप्रेतश्चेतरेतरसंयोगः, अभिप्रेतानभिप्रेतार्थौ तु क्वाविति, अत्रोच्यते—अनुलोम इति इन्द्रियाणां प्रमोदहेतुतयाऽनुकूलश्रव्यकाकलीगीतादिरभिप्रेतः, अनभिप्रेतश्च प्रतिलोम उक्तविपरीतकाकस्वरादिरिति गाथार्थः।

इह गाथापश्चार्द्धेन मनोनिरपेक्षप्रवृत्त्यभावेऽपीन्द्रियाणां प्राधान्यमाश्रित्य तदपेक्षयाऽभिप्रेतोऽनभिप्रेतश्चार्थः उक्तः, सम्प्रति मनोऽपेक्षया तमेवाह—

सव्वा ओसहजुत्ती, गंधज्जुत्ती य भोयणविही य।

रागविहि गीयवाइय-विही अभिप्पेयमणुलोमो ॥४४॥

सर्वाः—समस्ताः, कोऽर्थः ?-इन्द्रियाणामनुकूलाः प्रतिकूलाश्च । अस्य चौषधयुक्त्यादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः । ततश्च औषधादीनाम्-अगुरुकुङ्कुमादीनां सञ्जिकाराञ्जिकादीनां च युक्तयो-ऽयं। स्नानि समविषमविभागनीतयो वा औषधयुक्तयः गन्धानां-गन्धद्रव्याणां श्रीखण्डादीनां लशुनादीनां च युक्तय. गन्धयुक्तय. ताश्च, भोजनस्य अन्नस्य विधयः—शाल्योदनादय. कोद्रवभक्तादयश्च भेदाः भोजनविधयः ते च, 'रागविहिगीयवाइयविहि ' त्ति सूत्रत्वाद्वचनव्यत्यये रागविधयश्च गीतवादित्रविधयश्च रागविधिगीतवादित्रविधयः । तत्र रञ्जन रागः—कुसुम्भादिना वर्णान्तरापादनं तद्विधयः-स्निग्धत्वादयो रूक्षत्वादयश्च । गीतवादित्रविधय. इति, अत्र विधिशब्दस्योभयत्र योगात् , गीतं गान तद्विधय.—कोकिलारुतानुकारित्वादयः काकस्वरानुविधायित्वादयश्च, वादित्रम्—आतोद्यम् , इह चोपचारात्तद्ध्वनिः तद्विधयां-मृदङ्गादिस्वनाः केवलकरटिकादिस्वनाश्च । चशब्दो नृत्तादिविधिसमुच्चयार्थः । एते किमित्याह-' अभिप्पेय ' ति अभिप्रेतार्था उच्यन्ते, कीदृशा' सन्त इत्याह-अनुलोमाः, कोऽर्थः? शुभा अशुभा वा मनोऽनुकूलतया प्रतिभासमानाः, एतेनैतद. प्याह-यथैत एव देशकालावस्थादिवशतो विचित्राभिसन्धितया जन्तूनां मनसोऽननुलोमा सन्तोऽनभिप्रेतोऽर्थः । इत्थ व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिमाश्रित्येन्द्रियापेक्षया मनोऽपेक्षया च भेदेनाभिप्रेतोऽनभिप्रेतश्चार्थो व्याख्यातः, अथवाऽनन्तरगाथापश्चार्द्धेनाविशेषेणेन्द्रियाणां मनसश्चानुकूलोऽभिप्रेतोऽर्थः इतरस्त्वनभिप्रेत उक्तः । एतद्गाथयाऽपि स एव विशेषतो दर्शित इति व्याख्येयम् । अत्र च सर्वा इति सर्व· प्रकारा अनुलोमा इति चेन्द्रियमनसामनुकूलाः शेषं प्राग्वत् । उपेक्षणीयस्य त्विहानभिधान न यस्य कस्यचिन्मतेनानभिप्रेत एव तस्यान्तर्भावादिति गाथार्थः ।

उक्तोऽभिप्रेतानभिप्रेतभेदरूप इतरेतरसंयोग',
साम्प्रतममुमेवाभिलापविषयमाह—

अभिलावे संजोगो, दव्वे खित्ते अ कालभावे अ ।
दुगसंजोगाईओ, अक्खरसंजोयमाईओ ॥ ४५॥

अभिलापः उक्तस्वरूप', तद्विषयः संयोग अक्रमादभिलापेतरेतरसंयोग. । अय च त्रिधा सम्भवति, तत्रैकोऽभिलापस्याभिलाप्येन, द्वितीयोऽभिलाप्यस्याऽभिलाप्यान्तरेण, तृतीयो वर्णस्य वर्णान्तरेण। तत्राद्योऽभिलाप्यस्य द्रव्यादिभेदेन चतुर्विधत्वाद् द्रव्ये इति द्रव्यविषयः, स चार्थाद् घटादिशब्दस्य पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतद्रव्येण वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः, एवं क्षेत्रे च क्षेत्रविषयः,आकाशध्वनेरवगाहदानलक्षणक्षेत्रेण कालभावे इति समाहारद्वन्द्व.,तत' काले कालविषयः समयादिश्रुतेर्वर्तनादिव्यक्त्यथेन कालपदार्थेन, भावे च भावविषय औदयिकादिवचसो मनुष्यत्वादिपर्यायेण, चशब्दोऽत्र पूर्वत्र च समुच्चये । द्वितीयमाह-द्विकस्य संयोगो द्विकसंयोगः स आदिर्यस्य त्रिकसयोगादे. सोऽय द्विकसयोगादिक. । इहाभिलापसंयोगस्य त्रिविधत्वाद् तत्र चाद्यस्यानन्तरमेवोक्तत्वात् तृतीयस्य चाभिधास्यमानत्वाद् अर्थाद् द्विकग्रहणेनाभिलाप्यद्वयमेव गृह्यते,तत्र द्विकसंयोगो यथा-स च स च तौ,त्रिकसंयोगो यथा-स च तौ च ते, अत्र तौ च ते चेत्युक्ते स च स च तथा स च तौ चेत्यनुक्तावप्येकत्राभिलाप्यार्थद्वयमन्यत्र चाभिलाप्यार्थत्रयं सह प्रतीयते अभिलापसंयोगत्वं चास्याभिलापद्वारकत्वादभिलाप्येन सह प्रतीतेः। तृतीयमाह-अक्षरे च अक्षराणि च अक्षराणि तेषां सयोगः अक्षरसंयोगः, स आदिर्यस्योदात्ताद्यशेषवर्णधर्मसयोगस्य सोऽयमक्षरसंयोगादिकः,मकारोऽलाक्षणिकः । तत्राक्षरयोः संयोगो यथा-क्ष इति,अक्षराणां सयोगो यथा-श्रीरिति । उदात्तादिवर्णधर्मसंयोगास्तु स्वधिया भावनीयाः । अस्याप्यभिलापसयोगत्वं वर्णादीनां कथञ्चिदभिलापानन्यत्वेन तदात्मकत्वात्,यद्वाऽक्षरसंयोग इत्यनेन सर्वोऽपि व्यञ्जनसंयोग उक्त',आदिशब्देन त्वर्थसयोगः, एतद्विशेषणं च द्विकसंयोगादिरिति योजनीयम् । अन्यत् प्राग्वत् ।द्रव्यसयोगत्वं चास्याभिलापस्य द्रव्यत्वात्,द्रव्यत्वं चास्य स्पर्शवत्त्वेन गुणाश्रयत्वात्।वक्ष्यति हि-"गुणाणमासओ दव्व"ति न च स्पर्शवत्त्वमसिद्धं प्रतिघातजनकत्वात् ,तथाहि-यत् प्रतिघातजनक तत्स्पर्शवत् दृष्ट,यथा लोष्टादि,प्रतिघातजनकश्च शब्द.,अन्यथा-तथाविधशब्दश्रुतावनुभवसिद्धश्रोत्रान्त.पीडाया असम्भवादिति गाथार्थ.

उक्तोऽभिलापविषय इतरेतरसंयोगः सम्प्रति सम्ब·
न्धनसंयोगरूपस्य तस्यावसरः, सोऽपि
द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतश्चतुर्धा, तत्र
द्रव्यसंयोगसम्बन्धमाह—

संबंधणसंजोगो, सच्चित्ताचित्तमीसओ चेव ।
दुपयाइ हिरण्णाई, रहतुरगाई अ बहुहा उ ॥ ४६ ॥

सम्बध्यते प्राणी ममेदमित्यादिबुद्धितोऽनेनास्मिन् वाऽऽत्माऽष्टविधेन कर्मणा सहेति सम्बन्धनः, स चाऽसौ संयोगश्च सम्बन्धनसयोगः, ' सच्चित्ताचित्तमीसओ चेव' त्ति प्राग्वत् सुपो लुकि सचित्तोऽचित्तो मिश्रकः । चः समुच्चये । एव. भेदावधारणे । यथाक्रममुदाहरणान्याह—द्विपदेत्यादिना , सचित्ते द्विपदादि., आदिशब्दाच्चतुष्पदापदपरिग्रहः । तत्र च द्विपदसंयोगा यथा-पुत्री, चतुष्पदसंयोगो यथा—गोमान् , अपदसयोगो यथा-पनसवान्। अचित्ते हिरण्यादिः , आदिशब्दान्मणिमुक्तादिग्रह , स च हिरण्यवानित्यादि मिश्रे रथयोजितस्तुरग. मध्यपदलोपे रथतुरगस्तदादि., आदिशब्दाच्छकटवृषभादिपरिग्रहः । स च रथिक इत्यादि । चः समुच्चये । बहुधा तु इति बहुप्रकार एव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् ,इह च सचित्तविषयत्वात् सम्बन्धनसंयोगोऽपि सचित्त इत्यादि सर्वत्र भावनीयम् । आह-यदि सचित्तादिविषयत्वादसौ सचित्तादिरिति व्यपदिश्यते,एवं सत्यात्मन् एवाऽसौ तै सह, तत उभयनिष्ठत्वात्तेनापि किं न व्यपदिश्यते ?, उच्यते—यवाङ्कुरादिवदसाधारणेनैव व्यपदेशः, आत्मनश्च सर्वैरप्यमीभिरसाविति तस्य साधारणत्वान्न तेनेह व्यपदेश. पृथिव्यादिभिरिवाङ्कुरस्येति न दोषः, एवमुत्तरत्रापि, इति गाथार्थ. ।

अमुमेव क्षेत्रकालभावविषयमभिधित्सु—

खेत्ते काले य तहा, दुण्ह वि दुविहो उ होइ संजोगो ।

भावम्मि होइ दुविहो, आएसे चेवऽणाएसे ॥ ४७ ॥

क्षेत्रे-क्षेत्रविषयः, काले च-कालविषयश्च, तथा इति-तेनाऽऽगमप्रसिद्धप्रकारेण द्वयोरपि इति-अनयोरेव क्षेत्रकालयोः द्विविधः द्विभेदः, चशब्दो 'भावम्मि' इत्यत्र योक्ष्यते, भवति संयोगः प्रक्रमात् सम्बन्धनसंयोगः । नच क्षेत्रे काले इत्युक्ते द्वयोरपीति पौनरुक्त्याद् दुष्टं, लोकेऽपि हस्तिन्यश्वे च द्वयोरपि राज्ञो दृष्टिरित्येवंविधप्रयोगदर्शनाद् । भावे च भावविषयश्च, संयोग इति संटङ्कः, भवति द्विविधः । कथं क्षेत्रादिद्वैविध्यम् ? इत्याह—' आएसे चेवऽणाएसे ' त्ति (अस्य पदस्य व्याख्या 'आएस' शब्दे द्वितीयभागे ४५ पृष्ठे गता ।)

अत्र क्षेत्रकालगतयोरादेशानादेशयोरल्पवक्तव्यत्वेन सम्प्रदायादपि सुज्ञानत्वात् तद्विषयः सम्बन्धनसंयोगोऽपि सुज्ञान एवेति मत्वा भावगतादेशानादेशविषय तमभिधित्सुरुक्तहेतोरेव प्रथममनादेशविषय भेदत आह-

ओदइअ ओवसमिए, खइए य तहा खओवसमिए य ।
परिणामसन्निवाए, छव्विहो हो अणाएसो ॥ ४८ ॥

तत्रोदयः—शुभानां तीर्थकरनामादिप्रकृतीनाम् अशुभानां च मिथ्यात्वादीनां विपाकतोऽनुभवन तेन निर्वृत्त· औदयिक· क्वचित्तु—' उदयिए ' त्ति पठ्यते, तत्र च—पदावसानवर्तिन एकारस्य गुरुत्वेऽपि विकल्पतो लघुत्वानुज्ञानात् नात्र छन्दोभङ्गः । उक्तं हि—" इहियारा बिंदुजुया,एओ सुद्धा पयावसाणम्मि । रहवंजणसंजोए, परम्मि लहुणो विभासाए ॥ १ ॥ " विपाकप्रदेशानुभवरूपतया द्विभेदस्याप्युदयस्य विष्कम्भणमुपशमस्तेन निर्वृत्त औपशमिकः, क्षयः-कर्मणामत्यन्तोच्छेदः तेन निर्वृत्त· क्षायिका· स च, तथा क्षयश्च—अभाव उदयावस्थस्य उपशमश्च-विष्कम्भितोदयत्वं तदन्यस्य क्षयोपशमौ ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः स च, परीति-सर्वप्रकारं नमनं-जीवानामजीवाना च जीवत्वादिस्वरूपानुभवन प्रति प्रह्वीभवनं परिणामः, 'पदोद्दलोपा विसर्जनीयस्य' ति विसर्गलोपः,समिति संहतरूपतया नीति-नियतं पतन,गमनं काऽर्थः-एकत्र वर्तन,सन्निपातः-औदयिकादिभावानामेव द्व्यादिसंयोगः, च· सर्वत्र समुच्चये । इत्थं षड् विधा·-प्रकारा अस्येति षड्विधो भवति अनादेश· सामान्यं, सामान्यत्वं चौदयिकादीनां गतिकषायादिविशेषेष्वनुवृत्तिधर्मकत्वाद् । अनादेशस्य षड्विधत्वे तद्विषयः संयोगोऽपि षड्विध इत्युक्तं भवति, इति गाथार्थ· ।

इदानीमादेशविषयं तमेव भेदत आह—

आएसो पुण दुविहो, अप्पिअववहारऽणप्पिओ चेव ।
इक्किको पुण तिविहो, अत्ताए परे तदुभए य ॥४९॥

आदेशः—अभिहितरूपः, पुन शब्दो विशेषणे,द्विविधः-द्विभेदः,कथमित्याह—' अप्पियववहारऽणप्पिओ चेव 'त्ति व्यवहारशब्दोऽत्र डमरुकमणिन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते, ततश्चार्पित इति व्यवहारो यस्मिन् सोऽयमर्पितव्यवहारः,मयूरव्यंसकादित्वात् समासः,अनर्पितव्यवहारस्तु तद्विपरीतः।तत्रार्पितो नाम क्षायिकादिर्भावः साधारे भाववति ज्ञाताऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वा वचनव्यापारेण वक्त्रा स्थापितः । अनर्पितस्तु वस्तुनः साधारणत्वेऽपि निराधार एव प्ररूपणार्थं विवक्षितो यथा—सर्वभावप्रधान· क्षायिको भावः । अनयोरपि भेदानाह—एकैकः-इत्यर्पितव्यवहारः । अनर्पितव्यवहारश्च पुनस्त्रिविधः, कथमित्याह-' अत्ताए ' त्ति आर्षत्वाद्-आत्मनि परस्मिन् तयोरात्मपरयोरुभयं तस्मिंश्च, विषयसप्तम्यश्चैताः, ततो विषयत्रैविध्यनानयोस्त्रैविध्यम् , इहाप्यादेशभेदाभिधानद्वारेण सम्बन्धनसंयोगस्य भेद उक्तो भवति, तत्र चानर्पितस्य प्ररूपणामात्रसत्त्वेऽप्यर्पितप्रतिपक्षत्वेनैवात्रोपादानम् , अतो वस्तुनस्तस्यासत्त्वान्न तेन कस्यचित्संयोगसम्भव इति न तद्भेदेन संयोगभेदः । अर्पितस्य त्वात्मपरोभयार्पितभेदतस्त्रैविध्यात् तद्भेदेन त्रिविधः सम्बन्धनसंयोग इति गाथार्थः ।

तत्राऽऽत्मार्पितसम्बन्धनसंयोगमाह—

ओवसमिए य खइए, खओवसमिए य पारिणामे य ।
एसो चउव्विहो खलु, नायव्वो अत्तसंजोगो ॥ ५० ॥

औपशमिके चस्य भिन्नक्रमत्वात् क्षायिके च क्षायोपशमिके च सर्वत्र सम्यक्त्वादिरूपे जीवस्य (स्व) भावे तथा तेनागमोक्तप्रकारेण चस्याऽस्याऽपि भिन्नक्रमत्वात् परिणामे च जीवत्वाद्यात्मके च सर्वत्र संयोग इति प्रक्रमः । पठ्यते च-' खओवसमिए य पारिणामे य ' त्ति स्पष्टमेव , एषः-अनन्तरोक्त औपशमिकादिसंयोग· चतुर्विधः-चतुष्प्रकारः , खलु-निश्चितं ज्ञातव्यः-अवबोद्धव्यः, आत्मसंयोगः इत्यात्मार्पितसम्बन्धनसंयोगः । अत्र ह्यात्मशब्देनार्पितभाव एव धर्मधर्मिणो· कथञ्चिदनन्यत्वादुक्तः । तथा च वृद्धा·—' एए हि जीवमया भवंति, एएसु भावेसु जीवोऽनन्नो हवइ ' तदात्मक इत्यर्थः, औपशमिकादिभावानां च प्रागनादेशतोक्तावप्यत्रादेशत्वेनाभिधानं सम्यक्त्वादिविशेषनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वाद् भावसामान्यापेक्षया वेति गाथार्थः ।

किञ्च—

जो सन्निवाइओ खलु, भावो उदएण वज्जिओ होइ ।
इक्कारससंजोगो, एसो चिय अत्तसंजोगो ॥ ५१ ॥

य सान्निपातिक· खलु·-वाक्यालङ्कारे,भाव· उदयेन, औदयिकभावेन वर्जितः-रहितो भवति , एकादश-एकादशसङ्ख्याः संयोगा-द्व्यादिमीलनात्मका यस्मिन् स एकादशसंयोग· , सूचकत्वात् सूत्रस्यैतद्विषयो य· संयोगः , एषोऽपि, न केवलमौपशमिकादिसंयोगः; इत्यपिशब्दार्थः । चः पूरणे , आत्मसंयोगः-प्राग्वदात्मार्पितसंयोगः , एकादश संयोगाश्चैवं भवन्ति-औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकानां चतुर्णां षट् द्विकसंयोगाश्चत्वारस्त्रिकसंयोगा एकश्चतुष्कसंयोगः, एते च मीलिता एकादश इति गाथार्थ· ।

बाह्यार्पितसम्बन्धनसंयोगमाह—

लेसा कसायवेयण, वेओ अन्नाणमिच्छ मीसं च ।
जावइया ओदइया, सव्वो सो बाहिरो जोगो ॥ ५१ ॥

लेश्या-लेश्याध्ययनेऽभिधास्यमानाः , कषायाश्च-वक्ष्यमाणाः वेदना च-सातासातानुभवात्मिका कषायवेदनं , प्राकृतत्वाद्विन्दुलोप· , वेदः पुंस्त्र्युभयाभिलाषाऽभिव्यङ्ग्य , मिथ्यात्वोदयवतानसदध्यवसायात्मकं सद् ज्ञानमप्यज्ञानम्.

उक्तं हि-" जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलमसईए । भसइ तह नाणं पि हु, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥१॥" अत एव मिथ्यात्वोदयभावीत्वादस्यौदयिकत्वं, तद्दलिकेषु चार्पितत्वविवक्षया बाह्यार्पितत्वमिति भावनीयम्। मिथ्येति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मिथ्यात्वम्-अशुद्धदलिकस्वरूप, मिश्रं—शुद्धाशुद्धदलिकस्वभावं, चशब्दः शेषौदयिकभेदसमुच्चये। अत एवोपसंहारमाह—यावन्तो यत्परिमाणा औदयिका, भावा इति गम्यते, प्रक्रमादेतद्विषयो य संयोगः सर्व. निर्विशेषः, स. बाह्य. परः तद्विषयत्वाद्, बाह्यसंयोग इति प्रकृतक्षायोपशमिकेन मत्यादिना औपशमिकत्वात्सम्बन्धनसंयोगो ज्ञातव्य इति शेषः। इहापि बाह्यशब्देन प्राग्वद् बाह्यार्पित उक्त। आह-'भावा भवन्ति जीवस्यौदयिका. पारिणामिकाश्चैव' इति वचनादौदयिकाऽपि जीवभावत्वेन जीवार्पित एवेति कथं बाह्ये कर्मण्यर्पित इति। अत्रोच्यते—कर्मानुभवनमुदयः, अनुभवनं चानुभवितरि जीवेऽनुभूयमाने च कर्मणि स्थितम्, तत्र यदाऽनुभवितरि जीवे विवक्ष्यते तदोदय' जीवगतो लेश्यादिपरिणामः प्रयोजनमस्येत्यौदयिक' कर्मण. फलप्रदानाभिमुख्यलक्षणो विपाक एव तमाश्रित्य कर्मणि बाह्येऽर्पितत्वमिहौदयिकभावस्योक्तम्, यदा त्वनुभूयमानस्थतया विवक्ष्यते तदोदये कर्मणः फलप्रदानाभिमुख्यलक्षणे भव औदयिको लेश्याकषायादिरूपो जीवपरिणाम', तदाश्रयणेन चोच्यते भावा भवन्ति जीवस्यौदयिका इत्यादि। इहापि चादेशान्तरेण वक्ष्यति 'छव्विहो अत्तसंजोगो' त्ति सर्व. स इति चैकवचनं बाह्यसंयोगस्य विधीयमानतया प्राधान्यात् प्रधानानुयायित्वाच्च व्यवहाराणामिति गाथार्थ.।

उभयार्पितसम्बन्धनसंयोगमाह—

जो सन्निवाइओ खलु, भावो उदएण मीसिओ होइ।
पन्नारससंजोगो, सव्वो सो मीसिओ जोगो ॥ ५३ ॥

य सान्निपातिक. खलु भाव उदयेन औदयिकभावेन मिश्रित संयुतो भवति, कियत्संख्य इत्याह--पञ्चदश संयोगा अस्मिन्निति पञ्चदशसंयोग सर्व स, किमित्याह—आत्मकर्मणोर्मिश्रत्वात्तदर्पितभावा अप्यौदयिकसहितौपशमिकादयो मिश्रा', ततस्तद्विषयत्वात्संयोगोऽपि मिश्र', स एव मिश्रको योग, प्रक्रमात् सम्बन्धनसंयोगो ज्ञेय इति शेष। ते च पञ्चदश संयोगा औदयिकममुञ्चता औपशमिकादिपञ्चकस्य द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगत कार्या.। तत्र चत्वारो द्विकसंयोगा षट् त्रिकसंयोगाश्चत्वारश्चतुष्कसंयोगा एक. पञ्चकसंयोग, एते च मीलिता' पञ्चदश, भावना तु वक्ष्यमाणा इति गाथार्थ।

पुनरात्मसंयोगादीनेव प्रकारान्तरेणाभिधित्सु.
प्रस्तावनामाह—

बीओऽवि य आएसो, अत्ताणे बाहिरे तदुभए य।
संजोगो खलु भणिओ, तं कित्तेऽहं समासेणं ॥ ५४ ॥

द्वितीयोऽपि च न केवलमेक एव इत्यपि शब्दार्थ.। च. पूरणे। आदेश —प्रकार, प्रस्तावात् प्ररूपणीय', कीदृश इत्याह—आत्मनि बाह्ये तदुभयस्मिंश्च, संयोग इति सम्बन्धनसंयोगः, खलु-निश्चितं भणित-उक्तो, गणधरादिभिरिति गम्यते, अनेन च गुरुपारतन्त्र्यमाविष्करोति, तम् इति-द्वितीयमादेशं कीर्तये संशब्दये 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा' (पा० ३-३-१३१। इति भविष्यत्सामीप्ये लट्, अहम् इत्यात्मनिर्देशः, समासेन—संक्षेपेणेति गाथार्थः,

तत्र तावदात्मसंयोगमाह—

ओदइय ओवसमिए, खइए य तहा खओवसमिए य।
परिणामसन्निवाए, अ छव्विहो अत्तसंजोगो ॥ ५५ ॥

औदयिके—औदयिकविषये, एवम् औपशमिके च क्षायिके तथा क्षायोपशमिके च परिणामसन्निपाते च सर्वत्र संयोग इति प्रक्रम', तत एष षड्विध षड्भेद', आत्मभि.-आत्मरूपै' संयोग इति सम्बन्धनसंयोगः आत्मसंयोग' न चैषामेकैकेनात्मन. संयोग सम्भवति, अपि तु—द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भि' पञ्चभिर्वा। तत्र द्वाभ्या क्षायिकेण सम्यक्त्वेन ज्ञानेन वा पारिणामिकेन च जीवत्वेन, त्रिभिरौदयिकेन देवगत्यादिना क्षायोपशमिकेन मत्यादिना पारिणामिकेन च जीवत्वेन, चतुर्भिस्त्रिभिरे (वमे) व चतुर्थेनौपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन, पञ्चभिर्यदा क्षायिकसम्यग्दृष्टिरेवोपशमश्रेणिमारोहति तदौदयिकेन मनुष्यत्वेन, क्षायिकेण सम्यक्त्वेन क्षायोपशमिकेन मत्यादिना औपशमिकेन चारित्रेण पारिणामिकेन जीवत्वेनेति, अत्र च त्रिकभङ्गक एक, चतुष्कभङ्गौ च द्वावेते त्रयोऽपि गतिचतुष्टयभाविन इति गतिचतुष्टयेन भिद्यमाना द्वादश भवन्ति। उक्त च-

"ओदइय खओवसमो, तइओ पुण पारिणामिओ भावो।
एसो पढमवियप्पो, देवाण होइ नायव्वो ॥ १ ॥
ओदइय खओवसमो. ओवसमियपारिणामिओ बीओ।
उदइयखइयपरिणामिय, खइओवसमो भवे तइओ ॥ २ ॥
एए चेव वियप्पा, सुरनिरियणरएसु हुंति बोद्धव्वा।
एए सव्वे मिलिया, बारस होंती भवे भेया ॥ ३ ॥"

पञ्चभिर्मनुष्यस्यैव, तस्यैव तथोपशमश्रेण्यारम्भकत्वात्, तस्यामेव च तत्सम्भवात्। तथा चाह—"ओदइए ओवसमिए, खओवसमिए खए य परिणामे। उवसमसेढिगयस्स, एस वियप्पो मुणेयव्वो ॥१॥" अन्यथाऽपि च त्रिभिः संभवति, तद्यथा—औदयिकेन मनुष्यत्वेन क्षायिकेण ज्ञानेन पारिणामिकेन जीवत्वेन,अय च केवलिनाम्। उक्तं हि-"उदइय खइयपरिणामिय भावा होंति केवलीणे तु।" प्रागुक्तभावोभयेन च सिद्धानामेव, उक्तं हि—"खाइय तह परिणामा, सिद्धाण होंति नायव्वा" एव चैते पञ्चकत्रिकद्विकसंयोगभङ्गास्त्रय' पूर्वे च द्वादशेति मीलिता पञ्चदश सम्भवन्ति। एत एव चाविरुद्धसान्निपातिकभेदा पञ्चदश तत्र तत्रोच्यन्ते। तथा चाहु —"एए संजोएणं, भावा पन्नरस होंति नायव्वा। केवलिसिद्धुवसमसे-ढिएसु सव्वासु य गईसु ॥ १ ॥" आह-एवं सान्निपातिकेनैवात्मन सदा संयोगसम्भवात् कथं षड्विधत्वमात्मसंयोगस्य ?, उच्यते-सहभावित्वेऽपि भावाना यदैकस्य प्राधान्यं विवक्ष्यते तदैकेनाप्यात्मसंयोगसम्भव इत्यदोष इति गाथार्थः।

बाह्यसम्बन्धनसंयोगमाह—

नामम्मि अ खित्तम्मि अ, नायव्वो बाहिरो य संजोगो।

कालेण बाहिरो खलु, मीसोऽवि य तदुभए होइ ॥५६॥

नाम्ना-वस्त्वभिधायिध्वनिस्वभावेन, चकारात्-द्रव्येण क्षेत्रेण चाकाशदेशात्मकेन, प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी। प्रकृतत्वात् संयोगः, किमित्याह—ज्ञातव्यः बाह्यविषयत्वाद् बाह्यः। तुः पुनरर्थः। संयोग इति सम्बन्धनसंयोगः, कालेन इति-चस्य गम्यमानत्वात् कालेन च समयाऽऽवलिकादिना, तत एव संयोगो-बाह्यसम्बन्धनसंयोगः खलु-निश्चितं, ज्ञातव्य इति योज्यम्। इदमत्रैदम्पर्यम्-यः पुरुषादेर्देवदत्तादिनाम्ना सम्बन्धोऽयं देवदत्त इत्यादि, द्रव्येण च दण्डीत्यादिः, क्षेत्रेणारण्यजो नगरज इत्यादि, कालेन दिनजो रजनिज इत्यादि, स सर्वो नामादिभिर्बाह्यैरेवेति बाह्य. सम्बन्धनसयोगः। भावेन तु संयोग आत्मसयोगत्वेनोक्त एव, भवितुरनन्यत्वात् भावस्य, अन्यथा तस्याभावत्वप्रसङ्गः इतीह तस्यानभिधानम्। तथा कालेन बाह्य इति च भिन्नवाक्यताकरणं केषाञ्चिन्मतेन कालस्यासत्त्वख्यापनार्थम्, यद्वा-नाम्नि, क्षेत्र इति च विषयसप्तम्येव, यो हि येन सह भवति स तद्विषय एवेति कृत्वा। आह—नाम्नोऽप्यभिलापत्वात् तद्विषयोऽपि सयोगोऽभिलापसंयोगः, स चोक्त एवेति कथं न पौनरुक्त्यम्?, उच्यते-अभिलापसामान्यविषयोऽभिलापसंयोग., अयं तु सम्बन्धनसंयोगस्य प्रकृतत्वात् तस्य च सकषायजीवसम्बन्धित्वात्। वक्ष्यति हि-"संबंधणसंयोगो, कसायबहुलस्स होइ जीवस्स"त्ति,कस्यचिन्नाम्न्यप्यभिष्वङ्गसम्भवादभिष्वङ्गहेत्वभिलापविषय एवेति न पौनरुक्त्यम्। 'मीसोऽवि य' त्ति अपिः पुनरर्थे। चः पूरणे। ततो मिश्रविषयत्वान्मिश्र. सम्बन्धनसंयोग. पुनर्ज्ञातव्यः, यः कीदृगित्याह-'तदुभए' त्ति प्राग्वत्तदुभयत्वेन-आत्मबाह्यलक्षणेन तदुभयस्मिन् वोक्तरूप एव भवति, यः संयोग इति शेष., यथा-क्रोधी देवदत्त', क्रोधी कौन्तिको, मानी सौराष्ट्रः, क्रोधी वासन्तिकः, अत्र क्रोधादिभिरौदयिकभावान्तर्गतत्वेनात्मरूपैर्नामादिभिस्त्वात्मनोऽन्यत्वेन बाह्यरूपैः सयोग इत्युभयसम्बन्धनसंयोग उच्यते। नन्वेव न कदाचिन्नामादिविकलैरौदयिकादिभिरौदयिकादिरहितैर्वा नामादिभिरात्मनः संयोग इति सर्वदोभयसम्बन्धनसंयोग एव प्राप्तः, सत्यमेतत्, किन्तु—वक्तुरभिप्रायवैचित्र्यात्कदाचिदौदयिकादिभिः कदाचिन्नामादिभिः कदाचित्तदुभयेन संयोगविवक्षेति नात्मपरोभयसम्बन्धनसंयोगत्रयविरोध इति गाथार्थ.।

प्रकारान्तरेण बाह्यसम्बन्धनसंयोगमाह—

आयरिय सीस पुत्तो,पिया य जणणी य होइ धूया य।
भज्जा पइ सीउण्हं, तमुज्जच्छायाऽऽयवे चेव ॥ ५७ ॥

आङिल्यभिव्याप्त्या मर्यादया वा स्वयं पञ्चविधाचारं चरत्याचारयति वा परान्, आचर्यते वा मुक्त्यर्थिभिरासेव्यत इति आचार्यः अन्यत्रापीति वचनात् कर्तरि कर्मणि वा कृत्यप्रत्ययः। तथा शासितुं शक्य. शिष्यः, पुनाति पितुराचारानुवर्तितयाऽऽत्मानमिति पुत्र., पाति-रक्षत्यपत्यमिति पिता, स च जनयति प्रादुर्भावयत्यपत्यमिति जननी, सा च भवति बाह्यसम्बन्धनसंयोगविषयत्वात् बाह्यसम्बन्धनसंयोग इति वृद्धाः। इद च सर्वत्र योज्यम्। दोग्धि च केवलं जननीं स्तन्यार्थमिति दुहिता, ततश्च "दुहितरि धो हिलोपश्च" इति वचनाद्दादेर्धत्वे हिलोपे च " उदूत् सुपुष्पोत्सवोत्सुकदुहितृषु" इति वचनात्, उत ऊत्वे च धूया, सा च, चकारत्रयं पूरणे। भ्रियते—पोष्यते भर्त्रेति भार्या, पाति-रक्षति तामिति पति., स्त्यायते धातूनामनेकार्थत्वात् कठिनीभवत्यस्मिन् जलादीति शीतम्, उषति-दहति जन्तुमिति उष्णतमयति—खेदयति जनलोचनानीति तमः औणादिकोऽसन्'उज्ज' त्ति आर्षत्वादुद्द्योतयतीति उद्द्योत. पचादित्वादच्, छ्यति छिनत्ति वाऽऽतपमिति छाया, आ-समन्तात्तपति सन्तापयति जगदिति आतप, चशब्दो राजभृत्याद्युक्ताशेषसम्बन्धिसमुच्चये, लक्षणानुपपत्तौ च सर्वत्र नैरुक्तो विधि.। सुपश्च यत्राश्रवण तत्र प्राग्वल्लुक्। इदमत्रैदम्पर्यम्—आचार्यः शिष्यादन्यत्वेन बाह्य, ततो यस्तेन शिष्यस्य संयोगः-शिष्य इत्युक्तिरवश्यमाचार्यमाक्षिपति यस्याऽयं शिष्य इत्याक्षेप्याक्षेपकभावलक्षणः स बाह्येनेति कृत्वा बाह्यसम्बन्धनसंयोगः, ततस्तद्विषय आचार्योऽप्युपचारात्तथोच्यते। एव शिष्योऽप्याचार्यादन्यत्वेन बाह्य.। तेनाप्याचार्यस्य यः सयोग.-आचार्य इत्युक्तिरवश्यं शिष्यमाक्षिपति यस्यायमाचार्य इत्याक्षेप्याक्षेपकभावरूपः सोऽपि बाह्येनेति कृत्वा बाह्यसम्बन्धनसंयोग., ततस्तद्विषय. शिष्योऽप्युपचारात् तथोच्यते। एवं पुत्रपित्रादिद्वयेष्वपि भावनीयम्। सर्वत्र सामान्येन परस्पराक्षेप्याक्षेपकभाव. सम्बन्धनः। विशेषनिरूपणायां त्वाचार्यशिष्यभार्यापतीनामुपकार्योपकारकभावः,पितृपुत्रजननीदुहितॄणां,जन्यजनकभावः, शीतोष्णादीनां च विरोध., सम्बन्ध.। अत एव च विशेषाद् द्रव्यसयोगत्वेऽप्यस्य भेदेनोपादानमिति गाथार्थः। उत्त० १ अ०।

सह जायगाइमित्ता, नाई माया पिईहि संबद्धा।
ससुरकुलं संजोगो, तिण्णि उ भत्तादयो छट्ठो ॥

सहजातकादयः सुहृदो-मित्राणि आदिग्रहणात्-सहवर्द्धितकाः—सहपांशुक्रीडितकाः सहदारदर्शिनश्चेति ज्ञातयो-मातृपितृसंबद्धा, मातृकुलसंबद्धाश्चेत्यर्थः। तत्र मातृकुलसंबद्धा-मातामहादय. पितृकुलसंबद्धाः—पितृव्यपितामहादयः, श्वशुरकुलसंयोगोऽभिधीयते। किमुक्तं भवति-श्वशुरकुलपाक्षिका ये—केचित् श्वशुरश्वश्रूश्यालकादयस्तेषां संबन्धः संयोग उच्यते। सू० १ उ० २ प्रक०।

सम्प्रति सयोगप्रक्रमेऽप्याचार्यशिष्यमूलत्वादनुयोगस्य तयोः स्वरूपमाह—

आयरिओ तारिसओ, जारिसओ नवरि हुज्ज सो चेव।
आयरियस्स वि सीसो, सरिसो सव्वेहि वि गुणेहिं॥५८॥

आचार्यः तादृशः तथाविध., यादृश. क इत्याह-यादृशो नवरमिति यदि परं भवेत् 'स चेव' त्ति चः पूरणे, स एव-आचार्य एव। किमुक्तं भवति ?-आचार्यस्याचार्य एवान्यः सदृशो भवति, न पुनरनाचार्य., आचार्यगुणानामन्यत्राविद्यमानत्वात्, नह्याचार्यादन्य. षट्त्रिंशत्सङ्ख्यगणिगुणसमन्वित इहास्ति, तत्समन्वितत्वे त्वन्योऽपि तस्वत आचार्यः एवेति। अथ क एते षट्त्रिंशद्गुणा.?, उच्यन्ते—प्रत्येकं चतुष्प्रकारा अष्टौ गणिसम्पदो द्वात्रिंशत्,

षट्त्रिंशद्भवन्ति तत्र चाचारादिचतुर्विधविनयमीलनात् ,उक्तं च" अट्ठविहा गणिसंपद्, चउग्गुणा नवरि होंति बत्तीसा । विणओ य चउब्भेओ, छत्तीस गुणा हवंतेए " ॥१॥ तत्राष्टौ गणि-सम्पद इमाः-आचारसम्पत् १श्रुतसम्पत् २शरीरसम्पत् ३ वचनसम्पत् ४ वाचनासम्पत् ५ मतिसम्पत् ६ प्रयोगमतिसम्पत् ७ संग्रहपरिज्ञासम्पत् ८, तथा चाह—" आयारसुयसरीरे, वयणे वायणमती पओगमती । एएसु संपया खलु , अट्ठमिया संगहपरिन्ना" ॥ १ ॥ तत्र चाचारसम्पत् चतुर्धा—संयमध्रुवयोगयुक्तता १ असम्प्रग्रहता २ अनियतवृत्तिः ३ वृद्धशीलता चेति ४, तत्र संयम.—चरणं तस्मिन् ध्रुवो—नित्यो योग.—समाधिस्तद्युक्तता , कोऽर्थ ? सन्ततोपयुक्तता संयमध्रुवयोगयुक्तता १, असम्प्रग्रहः-समन्तात् प्रकर्षेण जात्यादिप्रकृष्टतालक्षणेन ग्रहणम्—आत्मनोऽवधारणं सम्प्रग्रहस्तदभावोऽसम्प्रग्रहः, जात्याद्यनुत्सिक्तनेत्यर्थ. २, अनियतवृत्ति. अनियतविहाररूपा ३ , वृद्धशीलता—वपुषि मनसि च निभृतस्वभावता निर्विकारतेति यावत् ४, १ । श्रुतसम्पच्चतुर्धा—बहुश्रुतता १ परिचितसूत्रता २ विचित्रसूत्रता ३ घोषविशुद्धिकरणता ४ च , तत्र बहुश्रुतता—युगप्रधानागमता १ परिचितसूत्रता-उत्क्रमक्रमवाचनादिभि. स्थिरसूत्रता २ विचित्रसूत्रता-स्वपरसमयविविधोत्सर्गापवादादिवेदिता ३ घोषविशुद्धिकरणता—उदात्तानुदात्तादिस्वरशुद्धिविधायिता ४, २ । शरीरसम्पत् चतुर्धा-आरोहपरिणाहयुक्तता १ अनवत्राप्यता २ परिपूर्णेन्द्रियता ३ स्थिरसंहननता च ४, इह च-आरोहो-दैर्घ्यं परिणाहो-विस्तरः ताभ्यां तुल्याभ्यां युक्तता आरोहपरिणाहयुक्तता १ अविद्यमानमवत्राप्यम्-अवत्रपणं-लज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्य., यद्वा-अवत्रापयितुं-लज्जयितुमर्ह. शक्यो वाऽवत्राप्यो-लज्जनीय न तथाऽनवत्राप्यस्तद्भावोऽनवत्राप्यता २ उभयत्राहीनसर्वाङ्गत्वं हेतु , परिपूर्णेन्द्रियता—अनुपहतचक्षुरादिकरणता ३ स्थिरसंहननता-तप प्रभृतिषु शक्तियुक्तता ४, ३ । वचनसम्पच्चतुर्भेदा-आदेयवचनता १ मधुरवचनता २ अनिश्रितवचनता ३ असन्दिग्धवचनता ४। तत्र आदेयवचनता-सकलजनग्राह्यवाक्यता मधुर-रसवद् यदर्थतो विशिष्टार्थवत्तया-अर्थावगाढत्वेन शब्दतश्चापरुषत्वसौस्वर्यगाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन श्रोतुराह्लादमुपजनयति तदेवंविधं वचनं यस्य स तथा तद्भावो मधुरवचनता २अनिश्रितवचनता रागाद्यकलुषितवचनता३असंदिग्धवचनता परिस्फुटवचनता ४, ४ । वाचनासम्पच्चतुर्धा-विदित्वोद्देशनं १ विदित्वा समुद्देशनं २ परिनिर्वाप्य वाचना ३ अर्थनिर्यापणेति ४, तत्र विदित्वोद्देशने विदित्वा समुद्देशने ज्ञात्वा परिणामकत्वादिगुणोपेतं शिष्यं यद् यस्य योग्यं तस्य तदेवोद्दिशति समुद्दिशति वा , अपरिणामिकादावपक्वघटनिहितजलोदाहरणतो दोषसम्भवात् २, परीति—सर्वप्रकारं निर्वापयतो निरो निर्द्वन्धादिषु दृष्टार्थस्यापि दर्शनात् भृशं गमयतः-पूर्वदत्तालापकादि सर्वात्मना स्वात्मनि परिणमयत शिष्यस्य सूत्रगताशेषविशेषग्रहणलक्षणं कालं प्रतीक्ष्य शक्त्यनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्य वाचनासूत्रप्रदानं परिनिर्वाप्यवाचना ३ , अर्थ.—सूत्राभिधेय वस्तु तस्य निरिति-भृशं यापना-निर्वाहणा पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमना निर्यापणा ४, ५ मतिसम्पत् अवग्रहेहापायधारणारूपा चतुर्धा, अवग्रहादयश्च तत्र तत्र प्रपञ्चिता एवेति न विव्रियन्ते ६ । प्रयोगमतिसम्पच्चतुर्धा—आत्मपुरुषक्षेत्रवस्तुविज्ञानात्मिका, तत्राऽऽत्मज्ञानं वादादिव्यापारकाले किमस्तु प्रतिवादिनं जेतु मम शक्तिरस्ति न वा ? इत्यालोचनम् , पुरुषज्ञानं—किमयं प्रतिवादी पुरुष सांख्यः सौगतोऽन्यो वा ?, तथा प्रतिभादिमानितरो वेति परिभावनम् २, क्षेत्रज्ञानं-किमिदं मायाबहुलमन्यथा वा ?, तथा साधुभिरभावितं भावितं वा नगरादीति विमर्शनम् ३, वस्तुज्ञान—किमिदं रा— जाऽमात्यादि सभासदादि वा वस्तु—दारुणमदारुणं भद्रकमभद्रकं वेति निरूपणम् ४, ७, संग्रहपरिज्ञा तु बालदुर्बलग्लाननिर्वाहबहुजनयोग्यक्षेत्रग्रहणलक्षणैका १ निषद्यादिमालिन्यपरिहाराय फलकपीठोपादानाऽऽत्मिका द्वितीया २ यथासमयमेव स्वाध्यायोपधिसमुत्पादनप्रत्युपेक्षणभिक्षादिकरणात्मिका तृतीया ३ प्रव्राजकाध्यापकरत्नाधिकादिगुरूणामुपधिवहनविश्रामणसंपूजनाभ्युत्थानदण्डकोपादानादिरूपा चतुर्थीति ४, ८। इत्युक्ता अष्टौ-चतुर्गुणा आचारादिगणिसम्पद. । विनयस्तूत्तरत्राचार्यविनयप्रस्तावेऽभिधास्यते, इति गतं प्रासङ्गिकम् । प्रकृतमुच्यते-तत्राऽऽचार्यस्य स्वरूपमभिहितं, शिष्यस्याह—आचार्यस्य, अपिर्भिन्नक्रमः, ततः शिष्योऽपि, न केवलमाचार्यस्तादृशो यादृशो नवरं स एवेति वचनादाचार्य इत्यपिशब्दार्थः। स-दृश.-तुल्य., सर्वैरपि न कतिपयैरेव, कै. ?-गुणैः-साधारणैः क्षान्त्यादिभिरिति गम्यते । यद्वा लक्षणे तृतीया, ततः सर्वैरपि स्वगुणैर्लक्षित. शिष्य आचार्यस्य सदृश इति योज्यम्, सादृश्य च स्वगुणमाहात्म्यविभूषित उभयोरपि यथोक्तान्वर्थयुक्त (त्व) मेव, अथवाऽऽचार्यस्यापीति अपेरेवकारार्थत्वात् स्वगुणोपलक्षित. शिष्यः सदृश एव—अनुरूप एव, अनुरूपार्थस्याऽपि सदृशशब्दस्य दर्शनात् , यथाऽऽत्मसदृशं कुर्या., कुलानुरूपमित्यर्थ । अननुरूपस्तु तत्त्वतोऽशिष्य एवेति भाव. । अथ के अमी शिष्यगुणा. ?, उच्यन्ते-" भावविआणणमणुय-त्तणा उ भत्ती गुरूण बहुमाणो । दक्खत्तं दक्खिण्णं, सीलं कुलमुज्जमो लज्जा ॥ १ ॥ सुस्सूसा पडिपुच्छा, सुणणं गहणं च ईहणमवाओ । धरणं करणं सम्मं, पसाइ होंति सीसगुणा ॥ २ ॥ " इति गाथार्थ. ।

इत्थमनुयोगोपयोगित्वादाचार्यशिष्ययो ,स्वरूपमुक्तं, प्रकारान्तरेणोभयसम्बन्धनसंयोगमाह—

एवं नाणे चरणे, सामित्ते अप्पणो उ (य) पिउणो त्ति ।
मज्झं कुलेऽयमस्स य, अह यं अब्भिंतरो मित्ति ॥५६॥

एवम्—अनन्तरोक्तबाह्यसंयोगवदाक्षेप्याक्षेपकभावेन ज्ञाने-ज्ञानविषयः चरणे-चरणविषय., आत्मन उभयसम्बन्धनसंयोगो ज्ञातव्य इति वृद्धा । अत्र भावना—ज्ञानेनात्मभूतेन संयोगो, ज्ञानमित्युक्तिर्निराधयस्य निर्विषयस्य च ज्ञानस्याऽसम्भवादवश्य ज्ञानिनं ज्ञेयं चाऽऽक्षिपतीति, ज्ञानाक्षिप्तेन च ज्ञेयेन बाह्येन तद्द्वारकः संयोग इत्युभयसंयोग. । एवं चरणे-नाप्यात्मभूतेनोक्तवत्तदाक्षिप्तेन चर्यमाणेन च बाह्येन संयोगः

इत्युभयसम्बन्धनसंयोगः। अयमाक्षेप्याऽऽक्षेपकभावे उभयसम्बन्धनसंयोग उक्तः। अमुमेव प्रकारान्तरेणाह-स्वामित्वेन स्वामित्वविषयः, उभयसम्बन्धनसंयोग इति प्रक्रमः। किंरूप? इत्याह—आत्मनः-मम चः पूरणे, पितुः-जनकस्य पुत्र इति गम्यते, एवंविधोल्लेखव्यङ्ग्ये, अत्रात्मनः पित्रा सहात्मकद्वारकः स्वस्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः, तत्पुत्रेण परद्वारकः, मम पितुरयं, पुत्र इति पितृद्वारेणासाविति कृत्वा तत उभयद्वारकत्वादुभयविषयसंयोग उभयसम्बन्धसंयोगः, इति शब्दो मम पितुः पिता, मम भ्रातुः पुत्रः, मम दासस्य कम्बल इत्येवंप्रकारसम्बन्धान्तरव्यञ्जकान्योल्लेखकसूचकः, अनेन लौकिके स्वामित्व उभयसम्बन्धनसंयोग उक्तः। लोकोत्तरमेवाह—मम कुले नागेन्द्रादावयं साध्वादिरिति गम्यते। येद्वा कुलमेव कुलकं तस्य चःसमुच्चये योक्ष्यते, ततोऽहमेव अहकम् अभ्यन्तरः असिम-भवामि। चशब्दादयं च साध्वादिरित्येवंविधोल्लेखद्वयव्यङ्ग्यः। एषोऽप्युभयसम्बन्धनसंयोग इति वृद्धाः। अत्र हि मच्छब्दवाच्यस्य कुलेन सहात्मद्वारकः स्वस्वामिभावसम्बन्धः, कुलान्तर्वर्तिना च साध्वादिना परद्वारको, मम कुलेऽयमिति कुलद्वारकत्वादस्य, ततोऽयमपि प्राग्वदुभयसम्बन्धनसंयोगः। इहापि इतिशब्दोऽयं मम गुरोः साध्वादिरित्याद्येवंप्रकारसम्बन्धान्तरव्यञ्जकान्योल्लेखसूचकार्थः। इह चोल्लेखद्वयाभिधानमेकत्राप्यनेकोल्लेखसम्भवख्यापनार्थमिति गाथार्थः।

पुनरन्यथा तमेवाह—

पच्चओ य बहुविहो, निव्वित्ती पच्चओ जिणस्सेव।
देहा य बद्धमुक्का, माइपिइसुआइ अ हवंति ॥ ६० ॥

प्रतीयतेऽनेनार्थ इति प्रत्ययः—ज्ञानकारणं घटादिः, सर्वथा निरालम्बनज्ञानाभावेन तदविनाभावित्वात् ज्ञानस्य, ततस्तमाश्रित्य, चकारात् ज्ञानतश्च—ज्ञानं चाश्रित्य बहुविधः-बहुप्रकारः, प्रक्रमादात्मनो यः संयोगः स उभयसम्बन्धनसंयोगः, तद्बहुत्वं च प्रत्ययानां तद्विशिष्टज्ञानानां च बहुविधत्वात्। तथा च वृद्धाः-घटं प्रतीत्य घटज्ञानं, पटं प्रतीत्य पटज्ञानम्, एवमादीनि प्रत्ययात् ज्ञानानि भवन्ति। तथा च सति ज्ञानेनात्मद्वारको ममेदं ज्ञानमिति प्रत्ययेन परद्वारको, मम ज्ञानस्याय विषय इति ज्ञानद्वारकत्वात्तस्य, तत उभयविषयत्वादुभयसम्बन्धनसंयोगः। आह—एवं केवलिनोऽप्युभयसंयोग एवेति। अत्रोच्यते—निर्वृत्तिः-इत्युत्तरत्रैवकारस्य भिन्नक्रमत्वान्निर्वृत्तिरेव—सकलावरणक्षयादुत्पत्तिरेव प्रत्ययो जिनस्य, जिनसम्बन्धिज्ञानस्येति गम्यते। इदमाकूतम्—छद्मस्थज्ञानं हि मत्यादिकं लब्धिरूपतयोत्पन्नमप्युपयोगरूपतायां बाह्यमपि घटादिकमपेक्षते। तथाहि—घटं प्रतीत्य घटज्ञानं, पटं प्रतीत्य पटज्ञानं, केवलिनस्तु ज्ञानं लब्धिरूपतयोत्पन्नं पुनरुपयोगरूपतां प्रति न बाह्यं घटादिकमपेक्षते, तज्ज्ञानस्योत्पत्तिसमकालमेव सकलातीतानागतदूरान्तरितस्थूलसूक्ष्मार्थयाथात्म्यवेदितयैवोपयोगभावात्। यदुक्तम्—उभयावरणाईतो, केवलवरणाणदंसणसहावो। जाणइ पासइ य जिणो, सव्वं णेयं सया—कालं ॥ १ ॥" ततः केवलज्ञानस्य सर्वत्र सततोपयोगेन नोपयोगं प्रति बाह्यापेक्षेति निर्वृत्तिरेव प्रत्ययः, ततो न छद्मस्थज्ञानस्येव प्रत्ययत उभयसंयोगः। आह-उक्त एव ज्ञानस्योभयसंयोगः तत् किं पुनरुच्यते?, सत्यम्, उक्तः स तत्राक्षेप्याक्षेपकभावेन, इह त्वेकस्यापि वस्तुन उपाधिभेदेनानेकसम्बन्धसम्भवख्यापनाय-जन्यजनकभावेनोच्यते इति न दोषः। उभयसम्बन्धनसंयोगमेव पुनः स्वस्वामिभावनाह-दिह्यन्ते—उपचीयन्ते पुद्गलैरिति देहाः-कायाः ते च बद्धाः इहजन्मनि जीवेन सम्बद्धा मुक्ताः-अन्यजन्मनि तेनैवोज्झिताः, अनयोर्द्वन्द्वे बद्धमुक्ताः, 'माइपितिसुयाइ' त्ति 'णो जस्शसोर्लोप' आर्षत्वाच्च 'लोपे दीर्घः' इति दीर्घत्वस्याभावे पितृमातृसुतादयः। आदिशब्दात् भ्रातृभगिन्यादयो, बद्धमुक्ता इत्यत्रापि योज्यते। चशब्दोऽयं पूर्वश्च समुच्चये। एते च किमित्याह—'भवति' त्ति जायन्ते, प्राग्वदुभयसम्बन्धनसंयोगाः,जीवस्येति गम्यते। इयमत्र भावना—बद्धा देहा मात्रादयश्चात्मरूपा, तत्र देहात्मनोः क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगतत्वेन मात्रादयश्चात्यन्तस्नेहविषयतयाऽऽत्मवद् दृश्यमानत्वेन, मुक्तास्तूभयेऽपि बाह्याः। तत्र देहा आत्मनः पृथग्भूतत्वेन, मात्रादयश्च तथाविधस्नेहाविषयतयाऽऽत्मवदृदृश्यमानत्वेन, अतो देहैर्मात्रादिभिश्च बद्धमुक्तैः स्वस्वामिभावलक्षणसम्बन्धो जीवस्योभयसम्बन्धनसंयोग। आह—देहादयो मुक्ताश्च स्वस्वामिविषयाश्चेति विरुद्धमेतत्, एवमेतद्, यदि भावतोऽपि मुक्ताः स्युः, अथ भावतोऽप्यहमेषां स्वामी ममैते स्वमिति भावाभावान्मुक्ता एव ते,नन्वेवमैहिकेष्वप्यमीष्वपरापरोपयोगवत आत्मनो न सततमेवं भावोऽस्तीति कथं तेष्वपि तद्विषयता?, अथ तेष्वेवं भावाभावेऽपि व्युत्सर्गाकरणतस्तद्विषयत्वम्, एतदिहापि समानं, व्युत्सर्गाकरणत एव तद्विषयत्वस्येहापि विवक्षितत्वादिति गाथार्थः।

इत्थमनेकधा सम्बन्धनसंयोग उक्तः, अयं च कीदृशस्य कस्य भवतीत्याह—

संबंधणसंजोगो, कसायबहुलस्स होइ जीवस्स।
पहुणो वा अपहुस्स व,मज्झं ति ममज्जमाणस्स ॥६१॥

सम्बन्धनसंयोगः उक्तरूपः, कषायाः-क्रोधादयस्तैर्बहुलस्य—व्याप्तस्य, प्रभूतकषायस्येत्यर्थः, भवति—जायते, कस्य?—जीवस्य, पुनः कीदृशस्य?—प्रभवति-सम्बन्धिवस्तु तत्र तत्र स्वकृत्ये नियोक्तुं समर्थो भवतीति प्रभुस्तस्य वा अप्रभोर्वा उक्तविपरीतस्य, वाशब्दौ समुच्चये, उभयोरपि संयोगसाम्यं प्रति कारणमाह-'मज्झं ति ममज्जमाणस्स' त्ति ममेदं नगरजनपदादीति ममत्वमाचरतः, इदमुक्तं भवति—सत्यसति वा मत्सम्बन्धतया बाह्यवस्तुनि तत्त्वतोऽभिष्वङ्ग एव सम्बन्धनसंयोग, अनेन च काक्का कषायबहुलत्वे हेतुरुक्तः, कषायबहुलस्येति च ब्रुवता कषायद्वारेण सम्बन्धनसंयोगस्य कर्मबन्धहेतुत्वं ख्यापितं भवति, आह—मिथ्यात्वादयो हि बन्धहेतवः, तत्कथं कषायसत्तामात्रेणैव तद्धेतुत्वख्यापनम्?, उच्यते, तेषामेव तत्र प्राधान्यात्, तत्प्राधान्यं च तत्तारतम्येनैव बन्धतारतम्यात्। उक्तं च—"जं भागगया मत्ता, रागाईण तहा चउक्कम्मे" इति, बाहुल्यापेक्ष च शुक्ला बलाकेत्यादिवत् कषायबहुलस्य जीवस्येत्युच्यते, ततोऽकषायहेतुकत्वेऽप्यौपशमिकादिभावे-

नामादिसंयोगानामजीवविषयत्वेऽपि च शीतोष्णादिविरोधिसंयोगानां सम्बन्धनसंयोगत्वं न विरुध्यते । आह-एवमभिप्रेतानभिप्रेतसयोगयोरपि तत्त्वतः सकषायजीवविषयत्वात् सम्बन्धनसंयोगत्वप्राप्तिः, सत्यं, तथापीन्द्रियमनसोः साक्षात्तायुक्तौ, अयं तु जीवस्येति न दोषः । अन्यस्त्वाह-संयुक्तकसंयोगोऽपि द्विष्ठत्वेनेतरेतरस्यैव तथेतरेतरसंयोगोऽपि स्वपरधर्मैः सयुक्तत्वात् सर्ववस्तुनः संयुक्तस्यैवेति नानयोः प्रतिविशेषः, एवमेतत्, तथाऽप्येकस्कन्धताऽऽपन्नद्रव्यविषयैः सयुक्तकसंयोगः, इतरेतरसंयोगस्तु तथाऽन्यथा च, तत्र परमाणुसंयोगस्तथा, प्रदेशादिसंयोगस्तु प्रायोऽन्यथेति युक्त एव तयोर्भेदः । एवं तर्हि परमाणुसयोगस्य संयुक्तकसयोगादभेदोऽस्तूभयोरपि एकस्कन्धताऽऽपन्नद्रव्यविषयत्वात्, अयमपि न दोषः, यतो निष्पाद्यमानविषय इतरेतरसंयोगः, परिमण्डलादिसंस्थितद्रव्यस्य तेनैव (वि) निष्पाद्यमानत्वात्, स्युक्तसंयोगस्तु प्रायो निष्पन्नद्रव्यविषयः निष्पन्नं हि मूलादिरूपेण वृक्षादिद्रव्यं कन्दादिना युज्यते, इत्यस्त्यनयोर्विशेष इति गाथार्थः ।

इत्थं सम्बन्धनसंयोग स्वरूपत उक्तः, सम्प्रति तस्यैव फलत प्ररूपणापूर्वक विप्रमुक्तस्येति प्रकृतसूत्रपदं व्याख्यानयन् यथा ततो विप्रमुक्ता भवन्ति यच्च तेषा फल तदाह—

संबंधणसंजोगो, संसाराओ अणुत्तरणवासो ।
तं छित्तु विप्पमुक्का, माइपिइसुआइ य हवंति ॥ ६२ ॥

सम्बन्धनसंयोगः उक्तरूपः, ससरन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्त्तिनो जन्तव इति संसारस्तस्मात्, न विद्यते उत्तरणं-पारगमनमस्मिन् सतीत्यनुत्तरणं, स चासौ वासश्च—अवस्थानमनुत्तरणवासः, अनुत्तरणवासहेतुत्वादायुर्घृतमित्यादिवदनुत्तरणवास, अथवा-' अनुत्तरणवासो ' त्ति आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुतया पाशवत् पाश, ततोऽनुत्तरणश्चासौ पाशश्च अनुत्तरणपाश, उभयत्र च सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः, अनेन संसारावस्थिति पारवश्य वा सम्बन्धनसयोगस्यार्थतः फलमुक्तम् । तम्-एवंविधं सम्बन्धनसंयोगम्, अर्थाद् औदयिकभावविषयं मात्रादिविषयं च छित्त्वा द्विधा विधाय निर्णाश्येति यावत्, किमित्याह-विप्रमुक्ताः, श्रुतत्वादनन्तरोक्तसम्बन्धनसंयोगादेव, के ते, ?-साधवः-अनगाराः, येनैवं तेन किमित्याह-मुक्ताः तत संसारात्, तद्धेतुकत्वात्तस्य, तेन हेतुना, अनेन च गाथापश्चार्धेन सम्बन्धच्छेदनलक्षणेन प्रकारेण विप्रमुक्ता भवन्ति, तेषा च फल मुक्तिरित्यर्थत उक्त भवति । यच्च विप्रमुक्तस्येत्येकत्वप्रक्रमेऽपि विप्रमुक्ता इतीह बहुवचन तदेवविधभिक्षूणां पूज्यत्वख्यापनार्थमिति गाथार्थः ।

एवं ' सजोगे निक्खेवो ' इत्यादि मूलगाथोपदिष्टसंयुक्तकसंयोगेतरेतरसयोगभेदतो द्विविध द्रव्यसंयोग निरूप्य तत्र सयुक्तकसयोग सचित्तादिभेदतस्त्रिविधम्, इतरेतरसंयोगं तु परमाणुप्रदेशाभिप्रेतानभिप्रेताभिलापसम्बन्धनविधानत षड्विधमभिधाय सम्बन्धनसयोग एव च साक्षात् कर्मसम्बन्धनिबन्धनतया ससारहेतुरिति तत् त्याज्यता च । सम्प्रति तत्प्रतिपादनत एवान्यदुक्तप्रायमिति मन्वानः क्षेत्रादिनिक्षेपमविशिष्टमतिदेष्टुमाह-

संबंधणसंजोगे, खित्ताईणं विभासो जा भणिया ।
खित्ताइसु संजोगो, सो चेव विभासियव्वो अ ॥ ६३॥

सम्बन्धनसंयोगे क्षेत्रादीनाम्, आदिशब्दात्—कालभावपरिग्रहः, विविधा-आदेशानादेशादिभेदादनेकभेदा भाषा विभाषा, या इति प्रस्तुतपरामर्शः, भणिता-अभिहिता, क्षेत्रादिषु क्षेत्रादिविषयः संयोगः प्रथमद्वारगाथासूचितः । स चैव विभावितव्यः । तु पूरणे । सयोगत्वं चात्र विभाषाया वचनरूपत्वाद्वचनपर्यायाणां कथञ्चिद्वाच्यादभेदख्यापनार्थमुक्तम् । ततोऽयमर्थः-सम्बन्धनसंयोगविषयक्षेत्रादिविभाषायां यत्संयोगस्वरूपमुक्तम्, इहापि तदेव वक्तव्यं, चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् । संयुक्तकसंयोगः सम्भवन्त इतरेतरसंयोग शेषभेदाश्च वाच्या । तत्र क्षेत्रस्य संयुक्तकसंयोगो यथा-जम्बूद्वीप स्वप्रदेशसयुक्तक एव लवणसमुद्रेण युज्यते, इतरेतरसंयोगः क्षेत्रप्रदेशानामेव परस्पर धर्मास्तिकायादिप्रदेशैर्वा संयोग । एव कालभावयोरपि नेयमिति गाथार्थः । इह चोक्तनीत्या सम्बन्धनसयोग एव साक्षादुपयोगी, इतरेषां तु तदुपकारितया तेषामपि कथञ्चित्त्याज्यतया च शिष्यमतिव्युत्पादनाय चोपन्यास इति भावनीयम् । उक्तः संयोगः, तदभिधानाच्च व्याख्यातं प्रथमसूत्रम् ॥१॥ उत्त० १ अ० । कथं सयोगासिद्धत्वम् ' येनोक्तदोषदुष्ट प्रकृतो हेतुः स्यात् ? उच्यते—तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, बाधकप्रमाणोपपत्तेश्च ।' तथाहि—" संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं सयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपि (द्रव्य) समवायाच्चाक्षुषाणि (वैशेषिकद० ४।१।११)" इति वचनात् द्वयवस्तुसमवेतस्य परेण प्रत्यक्षग्राह्यत्वमभ्युपगतम् । न च निरन्तरोत्पन्नवस्तुद्वयप्रतिभासकालेऽध्यक्षप्रतिपत्तौ तद्व्यतिरेकेणापरः संयोगो बहिर्ग्राह्यरूपतां बिभ्राणः प्रतिभाति, नापि कल्पनाबुद्धौ वस्तुद्वयं यथोक्तं विहाय, शब्दोल्लेखं चान्तरमपरं वर्णाकृत्यक्षराकाररहित संयोगस्वरूपमुद्भाति । तदेवमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य सयोगस्यानुपलब्धेरभावः, शशविषाणवत् । तेन यदाहोद्योतकरः-"यदि संयोगो नार्थान्तरं भवेत्तदा क्षेत्रबीजोदकादयो निर्विशिष्टत्वात् सर्वदैवाङ्कुरादिकार्यं कुर्युः, न चैवम्— तस्मात् सर्वदा कार्यानारम्भात् क्षेत्रादीन्यङ्कुरोत्पत्तौ कारणान्तरसापेक्षाणि, यथा मृत्पिण्डादिसामग्री घटादिकरणे कुलालादिसापेक्षा ; योऽसौ क्षेत्रादिभिरपेक्ष्यः स संयोग इति सिद्धम् । किञ्च—असौ संयोगो द्रव्ययोर्विशेषणभावेन प्रतीयमानत्वात् ततोऽर्थान्तरत्वेन प्रत्यक्षसिद्ध एव । तथाहि—कश्चित्केनचित्संयुक्तं द्रव्ये आहरेत्युक्ते ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभते ते एवाहरति न द्रव्यमात्रम् । किञ्च—दूरतरवर्त्तिनः पुंसः सान्तरेऽपि वने निरन्तररूपाऽवसायिनी बुद्धिरुदयमासादयति; शेष मिथ्याबुद्धिः मुख्यपदार्थानुभवमन्तरेण न कचिदुपजायते । न ह्यननुभूतगोदर्शनस्य गवये ' गौ ' इति विभ्रमो भवति । तस्मादवश्य सयोगो मुख्योऽभ्युपगन्तव्य । तथा—'न चैत्रः कुण्डली' इत्यनेन प्रतिषेधवाक्येन न कुण्डलं प्रतिषिध्यते, नापि चैत्रः, तयोरन्यत्र देशादौ सत्त्वात् । तस्माच्चैत्रस्य कुण्डलसंयोगः प्रतिषिध्यते ।

तथा चैत्रः कुण्डली इत्यनेनापि विधिवाक्येन न चैत्रकुण्डलयोरन्यतरविधानम् , तयोः सिद्धत्वात् ; पारिशेष्यात् संयोगविधानम् । तस्मादस्त्येव संयोगः " इति । तन्निरस्तं द्रष्टव्यम् । संयुक्तद्रव्यस्वरूपावभासव्यतिरेकेणापरस्य संयोगस्य प्रत्यक्षे निर्विकल्पके सविकल्पके वाऽप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात् । न च संयुक्तप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या संयोगकल्पनोपपन्ना , निरन्तरावस्थयोरेव भावयोः संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वात् । यावच्च तस्यामवस्थायां संयोगजनकत्वेन संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वेन ताविष्येते , तावत्संयोगमन्तरेण संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वेन तद्विषयौ किं नेष्येते ?, किं पारम्पर्येण ? , न च सान्तरे वने निरन्तरावभासिनी बुद्धिः मुख्यपदार्थानुभवपूर्विकाऽस्खलत्प्रत्ययत्वेनानुपचरितत्वात् । ' न चैत्रः कुण्डली ' इत्यादौ चैत्रसम्बन्धि कुण्डलं निषिध्यते विधीयते वा, न संयोगः। न च सम्बन्धव्यतिरेकेण चैत्रस्य कुण्डलसम्बन्धानुपपत्तिरिति वक्तुं शक्यम् , यतश्चैत्रकुण्डलयोः किं सम्बन्धिनोः स सम्बन्ध. , उत—असम्बन्धिनोः , नासम्बन्धिनोः हिमवद्विन्ध्ययोरिवासंबन्धिनोः सम्बन्धानुपपत्तेः । न चासम्बन्धिनोर्भिन्नसम्बन्धेन तदभिन्न सम्बन्धित्वं शक्यं विधातुम् । विरुद्धधर्माध्यासेन भेदात् । नापि भिन्नम् । तत्सद्भावेऽपि तयोः स्वरूपेणासम्बन्धित्वप्रसङ्गात् ; भिन्नस्य तत्कृतोपकारमन्तरेण तत्सम्बन्धित्वायोगात् , ततोऽपरोपकारकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । सम्बन्धिनोस्तु सम्बन्धपरिकल्पन व्यर्थम् , सम्बन्धमन्तरेणापि तयो. स्वत एव सम्बन्धिस्वरूपत्वात् । यत्तूक्तम्-' विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण क्षितिबीजोदकादीनां नाङ्कुरजनकत्वम् ' सा च विशिष्टावस्था तेषां संयोगरूपा शक्तिः । तदसाम्प्रतम् ; यतो यथा विशिष्टावस्थायुक्ताः क्षित्यादयः संयोगमुत्पादयन्ति , तथा तदवस्थायुक्ता अङ्कुरादिकमपि कार्यं निष्पादयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेस्तदन्तरालवर्त्तिन्याः परिकल्पनम् । अथ संयोगशक्तिव्यतिरेकेण न कार्योत्पादने कारणकलापः प्रवर्त्तेत इति निर्बन्धः, तर्हि संयोगशक्त्युत्पादनेऽप्यपरसंयोगशक्तिव्यतिरेकेण नासौ प्रवर्त्तेत इत्यपरा संयोगशक्तिः परिकल्पनीया, तत्राप्यपरेत्यनवस्था । अथ तामन्तरेणाऽपि शक्तिमुत्पादयन्ति, तर्हि कार्यमपि तामन्तरेणैवाङ्कुरादिकं निर्वर्त्तयिष्यन्तीति व्यर्थ संयोगशक्ते. तदन्तरालवर्त्तिन्याः कल्पनम् । न च विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण पृथिव्यादयः संयोगशक्तिमपि निर्वर्त्तयितुं समाः, तथाऽभ्युपगमे सर्वदा तन्निर्वर्त्तनप्रसङ्गादङ्कुरादेरप्यनवरतोत्पत्तिप्रसङ्ग. । न चान्यतरकर्मादिसव्यपेक्षाः संयोगमुत्पादयन्ति क्षित्यादय इति नाय दोषः , कर्मोत्पत्तावपि संयोगपक्षोक्तदूषणस्य सर्वस्य तुल्यत्वात् । तस्मादेकसामग्र्यधीनविशिष्टोत्पत्तिमत्पदार्थव्यतिरेकेण नापर. संयोग. । तस्य बाधकप्रमाणविषयत्वात् , साधकप्रमाणाभावाच्च । यस्तु 'संयुक्ते द्रव्ये एते ' इति, 'अनयोर्वाऽय सयोग.' इति व्यपदेश , स भेदान्तरप्रतिक्षेपाऽप्रतिक्षेपाभ्यां तथाऽवस्थोत्पन्नवस्तुद्वयनिबन्धन एव, नातोऽपरस्य संयोगस्य सिद्धि. । नचाक्षणिकत्वे तयोः स सम्बन्धी युक्त. । तत् सम्बन्धस्य समवायस्य निषिद्धत्वात् , निषेत्स्यमानत्वाच्च । न च तज्जन्यत्वादसौ तत्सम्बन्धी , अक्षणिकत्वे जनकत्वविरोधस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । क्षणिकत्वेऽपि तयोरेकसामग्र्यधीना नैरन्तर्योत्पत्तिरेव, नापरसयोग इति 'रचनावत्त्वाद्' इति अत्र हेतोर्विशेषणस्य संयोगविशेषस्य रचनालक्षणस्याऽसिद्धे. तद्वतो विशेष्यस्याप्यसिद्धिरिति स्वरूपासिद्धत्वम् । सम्म० १ काण्ड।

संजोगवियोगतो य लब्भइ जहा दो महुरातो दाहिणा,उत्तरा य । तत्थुत्तरातो वाणियतो दक्खिणं गतो, तत्थ एगो वाणियगो तप्पडिमो तेण से पाहुणं कय । ताहे ते निरंतरं ते मित्ता जाया, अम्हं थिरतरा पीती होउ त्ति जइ अम्हं पुत्तो धूया य जायइ तो संजोग करिस्सामो । ताहे दक्खिणेण उत्तरस्स धूया वरिया,दिन्नाणि बालाणि,एत्थंतरे दक्खिणमहुरा,वाणिओ मतो,पुत्तो से तम्मि ठाणे ठितो।अन्नया सो ण्हाई, चउद्दिसिं चत्तारि सोवन्निया कलसा ठविया ताण बाहिं रोप्पिया । ताणं बाहिं तंबिया,ताण बाहिं मट्टिया।अन्ना य ण्हाणविही रइया । ततो तस्स पुरतो पुव्वाए दिसाए सोवन्निओ कलसो नट्ठो । एवं चउद्दिसिं पि,एवं सव्वे नट्ठा,उट्ठियस्स ण्हाणपीढं वि नट्ठं , तस्स अधिती जाया । जाव घरं पविट्ठो ताहे भोयणविही उवट्ठविया, ताहे सोवण्णियरुप्पमयाणि थालाणि रइयाणि, तत्थ एक्केक्क भायणं नासिउमारद्धं, सो य पेच्छति नासंते जा वि से मूलपत्ती सा वि णासिउमारद्धा। ताहे तेण गहिया,जत्तियं गहियं तत्तियं ठियं, सेस नट्ठं ततो गतो सिरिघरं जो एइ सो वि रित्तओ । जं पि निहाणपउत्त तं पि नट्ठं । ज पि आभरणं त पि नऽत्थि । ज पि वुड्ढिपउत्तं ते वि भणन्ति-तुमं न याणामो,जो वि दासीवग्गो सो वि नट्ठो । ताहे चिंतेइ । पव्वयामि । पव्वइतो सामाइयाणिएक्कारस अंगाणि पढियाणि । ततो तेण खंडेण हत्थगएण कोऊहल्लेण हिंडइ , जइ पेच्छेज्जामि विहरंतो उत्तरमहुरं गतो । ताणि वि रयणाणि ससुरकुल गयाणि, ते य कलसा,तहा हि सो उत्तरमाहुरो वाणितो उवगिज्जंतो अन्नया कयाई मज्जई, तस्स मज्जमाणस्स ते कलसा गया।ताहे सा तहिं चेव पमज्जितो,भोयणवेलाए सव्वं भोयणभंडं उवट्ठियं सो वि साहू भिक्खं अडंतो त घरं पविट्ठो । तत्थ सत्थवाहस्स धूया पढमजोव्वणे वट्टमाणी वीयणयं गहाय अच्छइ । ताहे सा साहू तं भोयणभंडं पेच्छइ । सत्थवाहेण भिक्खा नीणाविया । गहिए वि अच्छई, ताहे पुच्छई—किं भयवं ! एयं चेडिं पलोवेह । ताहे सो भणई-न मम चेडीए पओयणं । एयं भोयणभंडग पलोएमि । ततो पुच्छई-कतो एयस्स आगमो ?, सो भणइ-अज्जयपज्जयागयं , तेण भणियं-सब्भावं साह, तेण भणियं-मम ण्हायंतस्स एवं चेव ण्हाणविही उवट्ठिया । एव सव्वो वि जेमणवेलाए भोयणविही सिरिघराए वि भरियाणि दिट्ठाणि अदिट्ठपुव्वा य वाणियगा आणित्ता देंति । ताहे सो भणइ एयं सव्वं मम आसि ।सो पुच्छइ इह ताहे साहू-कहेई । ण्हाणादि जइ न पत्तियसि भोयणपत्ती खंड पेच्छ जाव ढोइयं चड त्ति लग्गं पिउणो नामं साहइ । ताहे नायं एस सो जामाओ,ताहे सो उट्ठित्ता अवयासेऊण परुतो पच्छा भणई । एयं सव्वं तव तदवत्थं अच्छई । एना पुव्वदिन्ना चेडी पडिच्छसु त्ति। सो भणइ-पुरिसो वा पुव्विं कामभोगे विप्पजहई, कामभोगा वा पुव्वं पुरिसं विप्पजहं-

ति । ताहे सो वि संवेगमावन्नो ममं पि एमेव खिप्पजाहि-स्सति त्ति पव्वइतो । तत्थ एगेण वि खिप्पप्रोगेण लद्धं एगेण संजोगेण सामाइयं लद्धं ति । ' आ० म० १ अ० । " अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम् । अधुना पृथिवी नास्ति, संयोगाः खलु दुर्लभाः " ॥ १ ॥ गा० ।

संजोगगम-संयोगगम-त्रि० । संयोगगमं संयोगतो गमः प्रकारो यस्य तत्तथा । व्य० १ उ० । संयोगतोऽनेकप्रकारे, व्य० १ उ० ।

संजोगट्ठि(ण्)-संयोगार्थिन्-त्रि० । संयुज्यते संयोजनं वा प्रयोजनं सोऽस्यास्तीति संयोगार्थी । तत्र धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदराजभार्यादिसंयोगस्तेनार्थी तत्प्रयोजन । अथवा-शब्दादिविषयः संयोगो मातापित्रादिभिर्वा तेनार्थी । संयोगप्रयोजिनि, व्य० ५ उ० ।

संजोगदिट्ठपाढि-संयोगदृष्टपाठिन्-पुं० संयोग औषधद्रव्यमीलनप्रयोगस्तद्विषयो दृष्टः पाठश्चिकित्साशास्त्रावयवविशेषो येन सः आर्षत्वाद् इन्प्रत्य. । सू० १ उ० २ प्रक० । क्रियाशास्त्रयोर्निपुणे यो ह्यनेकान् संयोगान् व्यापार्यमाणान् दृष्टवान् यश्च तत्पाठं पठितवान् तादृशे, व्य० ५ उ० ।

संजोगमूला-संयोगमूला-स्त्री० । संयोगो नानाभवेषु पुत्रकलत्रमित्रशरीरादिसम्बन्धरूपः स एव मूलं यासां ताः संयोगमूलाः । संयोगकारणीभूतायां स्त्रियाम् , आतु० ।

संजोगरय-संयोगरत-त्रि० । पुत्रकलत्रमित्रादिजनितसम्बन्धरते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

संजोगसंबंध-संयोगसम्बन्ध-पुं० । संयोगस्य संबन्धोऽभिलापः । नानाभवेषु पुत्रकलत्रमित्रशरीरादिसम्बन्धेच्छायाम् , आतु० ।

संजोणिय-संयोनिक-त्रि० । सह योन्युत्पत्तिस्थानेन वर्त्तते इति संयोनिकः । संसारिणि, स्था० २ ठा० १ उ० ।

संजोत्ता-संयोजयिता-पुं० । संयोगं कारयितरि , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

संजोयणा-संयोजना-स्त्री० । लोभाद् द्रव्यस्य मण्डकादेर्द्रव्यान्तरेण खण्डघृतादिना वसतेर्बहिरन्तर्वा योजनं संयोजना । ध० ३ अधि० । संयोजनं संयोजना । उत्कर्षतोत्पादनार्थं द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण मीलने, प्रव० ६३ द्वार । प० व० । पिं० । भक्तादेर्गुणान्तरोत्पादनीयद्रव्यान्तरमीलने, पञ्चा० १३ विव० । ग्रासैषणाया प्रथमे दोषे, यथा-क्षीरदधिघृतादि द्रव्य सम्मील्य रसलौल्येन भुङ्क्ते । उत्त० २४ अ० । जीत० । नि० चू० । पिं० ।

सम्प्रति संयोजनामेव व्याचिख्यासुः प्रथमतस्तस्या भिदेपमाह-

दव्वे भावे संजो-अणा उ दव्वे दुहा उ बहि अंतो ।
भिक्खं चिय हिंडंतो,संजोयं तम्मि बाहिरिया ॥६३६॥

संयोजना द्विधा, तद्यथा-द्रव्ये-द्रव्यविषया , भावे-भावविषया । तत्र द्रव्ये-द्रव्यविषया संयोजना द्विधा, तद्यथा-बहिरन्तश्च । तत्र यदा भिक्षार्थमेव हिण्डमानः सन् क्षीरादिकं खण्डादिभि सह रसगृद्ध्या रसविशेषोत्पादनाय संयोजयति एषा बाह्या-बहिर्भवा संयोजना ।

एनामेव स्पष्टं भावयति-

खीरदहिसूवकट्टर-लंभे गुडसप्पिवडगवालुंके ।
अंतो उ तिहा पाए, लंबणवयणे विभासा उ ॥६३७॥

क्षीरदधिसूपानां प्रतीतानां कट्टरस्य तीमनोन्मिश्रघृतवटिकारूपस्य देशविशेषप्रसिद्धस्य लाभे सति तथा गुडसर्पिर्वटकवालुङ्कानां च प्राप्तौ सत्यां रसगृद्ध्या रसविशेषोत्पादनायानुकूलद्रव्यैः सह संयोजनां यत्करोति ब-हिरेव भिक्षामटन् एषा बाह्या द्रव्यसंयोजना । अभ्यन्तरा, पुनर्यद्वसतावागत्य भोजनवेलायां संयोजयति, तथा चाह-अन्तस्तु अभ्यन्तरा, पुनः संयोजना त्रिधा-त्रिप्रकारा; तद्यथा-पात्रे लम्बने वदने च, मवरं लम्बनं-कवलः, ततोऽस्यास्त्रिविधाया अपि विभाषा-व्याख्या कर्तव्या । सा चैवं यद् द्रव्यं यस्य द्रव्यस्य रसविशेषाधायि तत्तेन सह पात्रे रसगृद्ध्या संयोजयति, यथा-सुकुमारिकादिकं खण्डादिना सह, एषा पात्रेऽभ्यन्तरा संयोजना, यदा तु हस्तगतमेव कवलतयोत्पाटितचूर्णं सुकुमारिकादि खण्डादिना सह संयोजयति तदा कवलेऽभ्यन्तरा संयोजना । यदा पुनर्वदने कवलं प्रक्षिप्य ततः शालनकं प्रक्षिपति, यद्वा-मण्डकादिकं पूर्वं प्रक्षिप्य पश्चाद् गुडादिकं प्रक्षिपति एषा वदनेऽभ्यन्तरा संयोजना । एषा च द्रव्यसयोजना समस्ताऽप्यप्रशस्ता यतोऽनयाऽऽत्मानं रागद्वेषाभ्यां संयोजयति ।

तथा चामुमेव दोषं वक्तुकाम आह-

संजोयणाए दोसो, जो संजोएइ भत्तपाणं तु ।
दव्वाई रसहेउं, वाघाओ तस्सिमो होइ ॥ ६३८ ॥

संयोजनायां प्रासुकस्वरूपायामयं दोषः-' दव्वाइ रसहेउ ' ति , अत्रार्षत्वादादिशब्दस्य व्यत्यासेन योजना । ततोऽयमर्थः-द्रव्यस्य सुकुमारिकादेः रसहेतोः-रसविशेषोत्पादनाय, आदिशब्दाच्छुभगन्धादिनिमित्तं च, यो भक्तं पानं वानुकूलद्रव्येण खण्डादिना सह संयोजयति तस्य साध्वोरयं वक्ष्यमाणः व्याघातः-दीर्घदुःखोपनिपातरूपो भवति ।

तमेव भावयन् भावसंयोजनामप्याह-

संजोयणा उ भावे, संजोएऊण ताणि दव्वाइं ।
संजोयइ कम्मेणं, कम्मेण भवं तओ दुक्खं ॥६३९॥

तानि हि सुकुमारिकाखण्डादीनि द्रव्याणि रसगृद्ध्या संयोजयन्नात्मानमप्रशस्तेन गृद्ध्यात्मकेन भावेन संयोजयति , एषा भावे भावविषया संयोजना , ततस्तानि द्रव्याणि तथा संयोज्यात्मनि कर्म ज्ञानावरणीयादिकं संयोजयति सम्बध्नाति कर्मणा च संयोजयति भवं दीर्घतरं संसारं तस्माच्च भवाद्दीर्घतरसंसाररूपात् दुःखम्-असातं संयोजयति, ततो यो द्रव्यसंयोजनां करोति तस्येत्थमनन्तकालसवेद्यो दुःखनिपात इति ।

सम्प्रत्यस्या एव द्रव्यसंयोजनाया अपवादमाह—

पत्तेय पउरलम्भे, भुत्तुव्वरिए य सेसगमणऽट्ठा ।
दिट्ठो संजोगो खलु, अह कमो तस्सिमो होइ ॥६४०॥

प्रत्येकम्—एकैकं साधुसंघाटकम् प्रति प्रचुरलाभे—विपुलघृतादिप्राप्तौ सत्यां यदि कथमपि भुक्ते सति चः—समुच्चये शेषम्—उद्धरितं भवति, ततस्तस्य शेषस्य निर्गमनार्थं दृष्टः—अनुज्ञातस्तीर्थकरादिभिः खलु संयोगः, उद्धरितं हि घृतादि न मण्डकादिकमन्तरेण मण्डकादिभिरपि सह भोक्तुं शक्यते प्रायस्तृप्तत्वात्, न च परिष्ठापनं युक्तं, घृतादिपरिष्ठापने स्निग्धत्वात् पश्चादपि कीटिकादिसत्त्वव्याघातसम्भवेन बृहत्तरप्रायश्चित्तसम्भवात्, तत उद्धरितघृतादिनिर्गमनार्थं मण्डकादिभिरपि तस्य संयोजनं न दोषाय, एष तावदयमपवादः संयोजनायाः । अथान्योऽपि तस्य संयोगस्यायं वक्ष्यमाणः क्रमो-भवनपरिपाटीरूपो भवति ।

तमेवाह—

रससेहेउं पडिसिद्धो, संयोगो कप्पए गिलाणऽट्ठा ।
जस्स व अभत्तछंदो, सुहोचिओऽभाविओ जो य ॥६४१॥

रसहेतोः—गृद्ध्या रसविशेषोत्पादनाय संयोगः प्रतिषिद्धस्तीर्थकरादिभिः, यावता पुनः स एव संयोगो ग्लानार्थं—ग्लानसज्जीकरणार्थं कल्पते, यद्वा—यस्य अभक्तच्छन्दः—भक्तारोचकः, यश्च सुखोचितो राजपुत्रादिः यश्चाप्यभावितः—असञ्जातसम्यक्परिणामः शैक्षकस्तस्य निमित्तं कल्पते । उक्तं संयोजनाद्वारम् । पिं० । ध० । पं० चू० । महा० । ग० । आचा० । अनन्तानुबन्धिकषायेषु, पं० सं० ३ द्वार । संयोज्यते—सम्बध्यतेऽनेकसंख्यैर्भवैर्जन्तवो यैस्ते संयोजनाः । संयोजयत्यात्मनोऽनन्तमपि कालमिति "रम्यादिभ्यः कर्त्तरि" इत्यनटि प्रत्यये संयोजना । कर्म०५ कर्म० । " संजोयणाए कसाया भवादिसंजोयणातो य ।" आ० म० १ अ० । एकजातीयातिचारमीलने, यथा—शय्यातरपिण्डो गृहीतः सो सुदकार्द्रहस्तादिना सीम्याहृतः सोऽप्याधाकर्मिकः तत्र यत्प्रायश्चित्तं तत्संयोजनाप्रायश्चित्तम् संयोजनोच्यते । स्था०४ ठा० १ उ० । कथं संयोजना पृथक् प्रायश्चित्तमुच्यते । अधुना संयोजनाप्रायश्चित्तं वक्तव्यम् । अस्मिंश्च व्याख्याते यतः प्ररूपणापृथक्त्वमित्येतदपि द्वारं व्याख्यातं द्रष्टव्यम् ।

तत्र चोदकः संयोजनाऽऽदीनां भेदानां प्ररूपणापृथक्त्वमादिपन्नाह—

पडिसेवणा विणा खलु, संजोगाऽऽरोवणा न दिज्जंति ।
माया वि य पडिसेवा, अइप्पसंगो य इति एक्कं ॥१३७॥

इह प्रायश्चित्तं सर्वमुत्पद्यते, प्रतिसेवनातो, खलु मूलगुणगुणप्रतिसेवनाम्, उत्तरगुणप्रतिसेवनां वा विना कापि प्रायश्चित्तस्य संभवः " पडिसेवियम्मि दिज्जइ पच्छित्तं इहरहाउ पडिसेहो " इति वचनात्, ततः संयोजनाप्रायश्चित्तमारोपणाप्रायश्चित्तं च प्रतिसेवनामन्तरेण न भवतीति तयोः सम्प्रति प्रतिसेवनायामेवान्तर्भावः । प्रतिकुञ्चनाप्रायश्चित्तमपि न प्रतिसेवनातः पृथगुपपन्नं यतः प्रतिकुञ्चनानाम—माया । तथा चोक्तम्—" पलिउंचणं ति य माय त्ति य नियडि त्ति य एगट्ठा इति । " माया च प्रतिसेवना ततः एकमेव प्रतिसेवनप्रायश्चित्तमुपपत्तिमत् न शेषाणि त्रीणि संयोजनादीनि पृथक् प्रायश्चित्तानि, अन्यथैवमतिप्रसङ्ग आपद्यते । तथाहि-संयोजनादीनि त्रीणि प्रायश्चित्तानि प्रतिसेवना रूपाणि भवन्त्यपि प्रतिसेवना भवन्ति । ततः प्रतिसेवनाऽपि न प्रतिसेवना स्यात् विशेषाभावात् । अनिष्टं चैतत्तस्मादेकमेव प्रायश्चित्तं प्रतिसेवना न शेषाणीति ।

एवं चोदकेनाऽऽक्षिप्ते प्ररूपणापृथक्त्वे सूरिरुत्तरमाह—

एगाहिगारिगाण वि, नाणत्तं केत्तिया व दिज्जंति ।
आलोयणाविही वि य,इय नाणत्तं चउण्हं पि ॥१३८॥

ऐकाधिकारिकाणि नाम एकस्मिन् शय्यातरपिण्डादावधिकृतदोषेऽनालोचिते एवं यानि शेषदोषसमुत्थितानि प्रायश्चित्तानि तान्यैकाधिकारिकाणि—एकाधिकारे भवान्यैकाधिकारिकाणि अध्यात्मादित्वादिकणिति व्युत्पत्तेः,तेषामप्यैकाधिकारिकाणां नानात्वं, न पुनरैकाधिकारिकतया एकत्वमिति प्रज्ञापनाय तदर्थं संयोजनाप्रायश्चित्तं पृथगुच्यते ।

नानात्वमेव गाथाद्वयेन दर्शयति—

सेज्जातरपिंडे य, उदउल्ले खलु तहा अभिहडे य ।
आहाकम्मे य तहा, सत्त उ सागारिए मासा ॥१३९॥

केनापि साधुना प्रथमतः शय्यातरपिण्ड उपभुक्तः तस्मिन्ननालोचित एवं तदनन्तरमुदकार्द्रमासेवितं, ततोऽभ्याहृतं, तदनन्तरमाधाकर्मिकम्, एतानि चत्वार्यप्यैकाधिकारिकाणि अधिकृत एव शय्यातरपिण्डदोषे अनालोचिते शेषदोषप्रायश्चित्तानां संभवात् । एतेषां चैकाधिकारिकाणामपि नानात्वं ननु शय्यातरपिण्डे एव शेषाण्यन्तर्भवन्ति । ततः सर्वाण्यपि पृथगालोचनीयानि न केवल एवैकः शय्यातरपिण्ड इति परिज्ञानाय संयोजना दर्श्यते तत्र शय्यातरपिण्डे मासलघु, उदकार्द्रेऽपि मासलघु । स्वग्रामादाहृतेऽपि मासलघु । आधाकर्मिके चत्वारो गुरुमासाः । " गुरुगा आहय " इति वचनात् । एवं शय्यातरपिण्डे अधिकृते संयोजनाप्रायश्चित्तं सप्त मासास्तथाचाह-" सत्त उ सागारिए मासा " सागारिको नाम-शय्यातरस्तस्मिन्सागारिके-सागारिकपिण्डे अधिकृते एकाधिकारिकाणामपि नानात्वात् संयोजनाप्रायश्चित्तं सप्त मासाः ।

रण्णो आहाकम्मे, उदउल्ले खलु तहा अभिहडे य ।
दसमास रायपिंडे, उग्गमदोसादिणो चेव ॥ १४० ॥

केनापि प्रथमतो राजपिण्ड उपभुक्तस्ततस्तेनैव राजपिण्डे उपभुक्ते अनालोचित एव आधाकर्मिकमुपभुक्तं तदनन्तरमुदकार्द्रं ततोऽभ्याहृतमेवमेतान्यपि चत्वार्यैकाधिकारिकाणि, अधिकृत एव—राजपिण्डदोषे शेषदोषाणां सम्भवात् । एतेषां च नानात्वमिति पृथगालोचनायां संयोजना दर्श्यन्ते—राजपिण्डे चत्वारो गुरुमासाः, आधाकर्मिकेऽपि चत्वारो गुरुमासाः । उदकार्द्रे लघुमासः । अभ्याहृतेऽपि लघु—मासः इत्यधिकृते राजपिण्डे उद्गमदोषादिना उद्गमदोषेण आदिशब्दादुत्पादनादोषैर्षणादोषेण चक्षुर्द्वादश्येन च

१-पुस्तकान्तरे-' आलोयणाविहिं वि य, इय णाणत्त चउण्हं पि '।

यथासंभवं संयोजनायां द्वश मासाः प्रायश्चित्तम्, एवमनया दिशा तत्तद्दोषसंयोजनात्, संयोजनाप्रायश्चित्तमवसातव्यम्। एवं संयोजनायामनुमतायां मा भूदारोपणाशङ्केति कस्मिन्नपि तीर्थे कति मासा दीयन्ते प्रायश्चित्तमिति परिज्ञानाय संयोजनात् आरोपणाप्रायश्चित्तं पृथक्कृतम्, 'आलोयणा विही वि-य'त्ति। यद्यथा प्रतिसेवितं तत्तथैवालोचयितव्यम्। न तु मायया प्रतिकुञ्चनीयमन्यथा मायया प्रतिकुञ्चनेन मायाप्रत्ययमधिकं मासगुरुं प्राप्नोतीत्येवं ज्ञापित. सन् यथा प्रतिसेवितमालोचयते। तत आलोचनाविधिरपि सम्यग्ज्ञापितः स्यात्, अपिशब्दादेवं ज्ञापितो यदा मायया अन्यथा आलोचयते तदा आरोपणायां क्रियमाणायां यत्र मासलघु आभवति, तत्र मासगुरु प्रदातव्यमिति ज्ञापनार्थमारोपणातः प्रतिकुञ्चना-प्रतिकुञ्चनाप्रायश्चित्त भिन्नं कृतमिति। एवमुक्तेन प्रकारेण चतुर्णामपि प्रायश्चित्तानां नानात्वमिति। उक्तं संयोजनाप्रायश्चित्तं तदुक्तौ यतः प्ररूपणापृथक्त्वमिति द्वारमप्युक्तम्। व्य० १ उ०।

संजोयणादोसदुट्ठ-संयोजनादोषदुष्ट-त्रि०। संयोजना द्रव्यस्य गुणविशेषार्थं द्रव्यान्तरेण योजनं सैव दोषस्तेन दुष्टं यत्। द्रव्यान्तरसंयोगदोषदुष्टे, भ० ७ श० १ उ०।

संजोयणाहिगरणिया-संयोजनाधिकरणिकी-स्त्री०। संयोजन हलगरविषकूटयन्त्राङ्गना पूर्वनिर्वर्त्तितानां मीलनं तदेवाधिकरणक्रिया सयोजनाधिकरणक्रिया। अधिकरणिक्याः क्रियाया भेदे, भ० ३ श० ३ उ०।

संझच्छेयावरण-सन्ध्याच्छेदावरण-पुं०। संध्याच्छेदः-सन्ध्याविभागः स आम्रियते येन स सन्ध्याच्छेदावरण.। चन्द्रे, व्य० ७ उ०।

संझप्पभ-संध्याप्रभ-न०। शक्रलोकपालस्य सोमस्य विमाने, भ० ३ श० ७ उ०।

संझब्भराग-सन्ध्याभ्रराग-पुं०। वर्षासु सन्ध्यासमयभाविनि अभ्रराने, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। प्रज्ञा०।

संझा-सन्ध्या-स्त्री०।"ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने" ॥ ८। १। २५॥ अनेनात्र नकारस्यानुस्वारः। संझा। प्रा०। सायंकाले,प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०। जी०।

संझागय-सन्ध्यागत-न०। यत्र नक्षत्रे सूर्योऽनन्तरं स्थास्यति तादृशे नक्षत्रे, आ० म० १ अ०। यत्र नक्षत्रे सूर्यस्तिष्ठति तस्माच्चतुर्दशं पञ्चदशं वा नक्षत्रं सन्ध्यागतमित्यन्ये, विशे०। जीत०। पं० व०। नि० चू०। द०·प०।

संझाणुराग-सन्ध्यानुराग-पुं०। सन्ध्याभ्ररागे, "संझाणुरागवसणा वाउकुमारा मुणेयव्वा" प्रज्ञा० २ पद।

संझापडिक्कमण-सन्ध्याप्रतिक्रमण-न०। प्रतिक्रमणभेदे,सेन०। सन्ध्याप्रतिक्रमणे षडावश्यकसूत्राणि कानीनि? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-" नमो अरिहंताणमि " त्यादि सम्पूर्णनमस्कारः' करेमि भंते! सामाइअ ' इत्यादितः ' अप्पाणं वोसिरामी ' त्यन्तं प्रथम सामायिकाध्ययनम् ॥ १॥ 'लोगस्सउज्जोअगरे'त्यादित.'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' इत्यन्तं द्वितीयं चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनम् ॥२॥ ' इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जाव णिज्जाए णिसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहमि' त्यादि तृतीयं वन्दनकाध्ययनम् ॥ ३॥ ' चत्तारि मङ्गलं, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ, इच्छामि पडिक्कमिउं इरिआवहिआए० 'इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए०' इत्यादि चतुर्थं प्रतिक्रमणाध्ययनम् ॥ ४॥ 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' राइदेव० १७। ५ इच्छामि ठामि काउस्सग्गं, जो मे देवसिओ अइआरो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावगपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए, तिण्ह गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं, वारसविहस्स सावगधम्मस्स, जं खंडिअं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं। राइदेव० ३। १०-तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं ॥ १ ॥ अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएण वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए ॥ १॥ सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं ॥ २॥ एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो, अविराहिओ, हुज्ज मे काउस्सग्गो ॥ ३॥ जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ॥ ४ ॥ ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥ ५॥ सव्वलोए अरिहंतचेइआणं, करेमि काउस्सग्गं ॥ १ ॥ वंदणवत्तिआए पूअणवत्तिआए सक्कारवत्तिआए सम्माणवत्तिआए बोहिलाभवत्तिआए निरुवसग्गवत्तिआए ॥ २॥ सद्धाए मेहाए धिईए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं ॥ ३॥ अन्नत्थ०।

"पुक्खरवरदीवड्ढे, धायइसंडे अ जंबुदीवे अ।
भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ॥ १॥
तमतिमिरपडलविद्धं-सणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअमोहजालस्स ॥ २॥
जाईजरामरणसोगपणासणस्स,
कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स।
को देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥ ३॥
सिद्धे भो! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे।
देवं नागसुवण्णकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं।
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४॥
'सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तिआए०।
सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं।
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥ १॥
जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसन्ति।
तं देवदेवमहिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥ २॥
इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥ ३॥
उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमि नमंसामि ॥ ४॥

चत्तारि अट्ठ दस दो य, वंदिया जिणवरा ! चउव्वीसं । परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा ! सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ५ ॥ वेआवच्चगराणं संतिगराणं इच्छामि खमासमणो अब्भुट्ठिओ मि अब्भिंतरदेवसिअं खामेउं ? इच्छं खामेमि देवसिअं जं किंचि अपत्तिअं परपत्तिअं भत्ते पाणे विणए वेआवच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं न जाणामि तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । ' इच्छामि खमासमणो ! पिअं च मे जं भे' इत्यादि पञ्चमं कायोत्सर्गाध्ययनम् ॥ ५ ॥ 'उग्गए सूरे नमुक्कारसहिअं पच्चक्खामी' त्यादि सर्वाण्यपि प्रत्याख्यानसूत्राणि षष्ठं प्रत्याख्यानाध्ययनम् ॥ ६ ॥ च इमानि प्रतिक्रमणे षडावश्यकसूत्राणि परम्परया ज्ञेयानीति ॥ ४१ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

संझाराइ-सन्ध्यारात्रि-स्त्री० । सन्ध्या येन राजते-शोभते दीप्यतेऽनेन सन्ध्यारात्रिः । रजन्याम्, नि० चू० १६ उ० ।

संझाविगम-सन्ध्याविगम-पुं० । रात्रौ, नि० चू० १६ उ० ।

संझाविराग-सन्ध्याविराग-पुं० । सन्ध्यारूपो विरुद्धस्तिमिररूपत्वाद् रागः संन्ध्याविरागः।सन्ध्यासमये,जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

संटंक-संटङ्क-पुं० । प्रबन्धसम्बन्धे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । विशे० ।

संठवण-संस्थापन-न० । संस्करणे , विशे० । सूत्र० ।

संठवणा-संस्थापना-स्त्री० । संस्कारे, पं० व० २ द्वार । वसतेः संस्कारकरणे,ध० । तस्यामपि नियुक्ता भणन्ति-वयमकुशलाः संस्थापनाकर्मणि कर्तव्ये सप्राभृतिकायामपि वसतौ कारणतः स्थिताः स्वकीयमुपकरणं प्रयत्नेन संरक्षन्ति यावत्प्राभृतिका क्रियते तावदेकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठन्ति । ध० ३ अधि० । पुनरपि योगोत्क्षेपे,पं०चू० ४ कल्प ।

संठ(ठा)विअ-संस्थापित-त्रि० । " वाऽव्ययोत्खातादावदातः"॥ ८ । १ ।६७॥ इत्याकारस्याऽकारः । संस्थापिते,प्रा० ।

संठवित्तए-संस्थापयितुम्-अव्य० । गृहस्थभावेन द्रव्यलिङ्गाच्च्यावयितुमित्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

संठाण-संस्थान-न० । संतिष्ठतेऽनेन रूपेण पुद्गलात्मकं वस्त्विति संस्थानम् । उत्त० १ अ० । आकारविशेषे, मुख्यवृत्त्या पुद्गलरचनाकारे, आव०४ अ० । दर्श० । अत्यद्भुते रचनाविशेषे, आ० म० १ अ० । विशे० । स० । औ० । स्था० । अनु० । चं० प्र० । अनु० । भ० ।

आकृतिविशेषाः संस्थानानि तानि च जीवाजीवसम्बन्धित्वेन द्विधा भवन्ति तत्रेहाजीवसम्बन्धीनि तावदाह—

कति णं भंते ! संठाणा पण्णत्ता ? , गोयमा ! छ संठाणा पण्णत्ता, तं जहा—परिमंडले वट्टे तंसे चउरंसे आयते अणित्थंथे । परिमंडला णं भंते ! संठाणा दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ? , गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता । वट्टा णं भंते ! संठाणा एवं चेव एवं०जाव अणित्थंथा एवं पएसट्ठाए वि। (७२४+)

' कइ णं भंते ' इत्यादि, संस्थानानि—स्कन्धाकाराः ' अणित्थंथे ' त्ति इत्थम्—अनेन प्रकारेण परिमण्डलादिना तिष्ठतीति इत्थंस्थं न इत्थंस्थमनित्थंस्थं ; परिमण्डलादिव्यतिरिक्तमित्यर्थः , ' परिमण्डला णं भंते ! संठाण ' त्ति परिमण्डलसस्थानवन्ति भदन्त ! द्रव्याणीत्यर्थः ' दव्वट्ठयाए ' त्ति द्रव्यरूपमर्थमाश्रित्येत्यर्थः ' पएसट्ठयाए ' त्ति प्रदेशरूपमर्थमाश्रित्येत्यर्थः । भ० २५ श० ३ उ० । (एतेषामल्पाबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे १६६२ पृष्ठे गतम्।)

रत्नप्रभाद्यपेक्षया संस्थानप्ररूपणामाह—

कति णं भंते ! संठाणा पन्नत्ता ?, गोयमा ! पंच संठाणा पण्णत्ता । परिमण्डले ०जाव आयते । परिमण्डला णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ?, गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता । वट्टा णं भंते संठाणा किं संखेज्जा० ? एवं चेव एवं ०जाव आयता । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए परिमण्डला संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ? , गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता । वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा एवं चेव, एवं ०जाव आयया । सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए परिमण्डला संठाणा एवं चेव एवं०जाव आययां । एवं०जाव अहे सत्तमाए । सोहम्मे णं भंते ! कप्पे परिमण्डला संठाणा एवं चेव एवं ०जाव अच्चुए । गेविज्जगविमाणा णं भंते ! परिमडलसंठाणा एवं चेव एवं अणुत्तरविमाणेसु वि , एवं ईसिपब्भाराए वि ॥ जत्थ णं भंते ! एगे परिमंडले संठाणे जवमज्झे तत्थ परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ? , गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा, अणंता । वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा चेव, एवं ०जाव आयता । जत्थ णं भंते ! एगे वट्टे संठाणे जवमज्झे तत्थ परिमंडला संठाणा एवं चेव वट्टा संठाणा एवं चेव, एवं ०जाव आयता । एवं एक्केक्केणं संठाणेणं पंच वि चारेयव्वा । जत्थ णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए एगे परिमंडले संठाणे जवमज्झे तत्थ णं परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा०। पुच्छा , गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता । वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा० पुच्छा गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता, एवं चेव०जाव आयता । जत्थ णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए एगे वट्टे संठाणे जवमज्झे तत्थ णं परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा० ? पुच्छा गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता ।

वट्टा संठाणा एवं चेव० जाव आयता। एवं पुणरवि एक्के-क्केणं संठाणेणं पंच वि चारेयव्वा जहेव हेट्ठिल्ला०जाव आयता णं एवं ० जाव अहेसत्तमाए एवं कप्पेसु वि० जाव ईसीपब्भाराए पुढवीए। (सू० ७२५)

'कइ णं' मित्यादि, इह षष्ठसंस्थानस्य तदन्यसंयोगनिष्पन्नत्वेनाविवक्षणात् पञ्चेत्युक्तम्। अथ प्रकारान्तरेण तान्याह—' जत्थ णं ' मित्यादि,किल सर्वोऽप्ययं लोकः परिमण्डलसंस्थानद्रव्यैर्निरन्तरं व्याप्तस्तत्र च कल्पनया यानि यानि तुल्यप्रदेशावगाढानि तुल्यप्रदेशानि तुल्यवर्णादिपर्यवाणि च परिमण्डलसंस्थानवन्ति द्रव्याणि तानि तान्येकपङ्क्त्यां स्थाप्यन्ते, एकमेकैकजातीयेष्वेकैकपङ्क्त्यामौत्तराधर्येण निक्षिप्यमाणेष्वल्पबहुत्वभावाद् यवाकारः परिमण्डलसंस्थानसमुदायो भवति। तत्र किल जघन्यप्रदेशिकद्रव्याणां वस्तुस्वभावेन स्तोकत्वादाद्या पङ्क्तिर्ह्रस्वा ततः शेषाणां क्रमेण बहुबहुतरत्वाद्दीर्घदीर्घतरा, ततः परेषां क्रमेणाल्पतरत्वात् ह्रस्वह्रस्वतरैव यावदुत्कृष्टप्रदेशानामल्पतमत्वेन ह्रस्वतमेत्येवं तुल्यैस्तदन्यैश्च परिमण्डलद्रव्यैर्यवाकारं क्षेत्रं निष्पाद्यत इति इदमेवाश्रित्योच्यते-'जत्थ' त्ति यत्र देशे 'एगे' त्ति एक'परिमण्डले'त्ति परिमण्डलं-संस्थानं वर्त्तत इति गम्यते,'जवमज्झे' त्ति यवस्येव मध्यं-मध्यभागो यस्य विपुलत्वसाधर्म्यात्तद् यवमध्यं, यवाकारमित्यर्थः। तत्र यवमध्ये परिमण्डलसंस्थानानि-यवाकारनिर्वर्त्तकपरिमण्डलसंस्थानव्यतिरिक्तानि किंसंख्यातानि ? इत्यादि प्रश्नः, उत्तरं त्वनन्तानि यवाकारनिर्वर्त्तकेभ्यस्तेषामनन्तगुणत्वात् तदपेक्षया च यवाकारनिष्पादकानामनन्तगुणहीनत्वादिति। पूर्वोक्तामेव संस्थानप्ररूपणां रत्नप्रभादिभेदेनाह—' जत्थे ' त्यादि सूत्रसिद्धम्।

अथ संस्थानान्येव प्रदेशतोऽवगाहतश्च निरूपयन्नाह—

वट्टे णं भंते ! संठाणे कतिपदेसिए कतिपदेसोगाढे पण्णत्ता ?, गोयमा ! वट्टे संठाणे दुविहे पण्णत्ता , घणवट्टे य पयरवट्टे य। तत्थ णं जे से पयरवट्टे से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा—ओयपएसे य जुम्मापएसे य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पंचपएसिए पंचपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं बारसपएसिए बारसपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे। तत्थ णं जे से घणवट्टे से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा—ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जह० सत्तपएसिए सत्तपएसोगाढे प० , उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे पण्णत्ता, तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं बत्तीसपएसिए बत्तीसपएसोगाढे प० , उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे ॥ तंसे णं भंते ! संठाणे कतिपदेसिए कतिपदेसोगाढे प० ?, गोयमा ! तंसे णं संठाणे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—घणतंसे य पयरतंसे य। तत्थ णं जे से पयरतंसे से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा—ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जह० तिपएसिए तिपएसोगाढे प० उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं छप्पएसिए छप्पएसोगाढे प०, उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे प०। तत्थ णं जे से घणतंसे से दुविहे प०, तं जहा—ओयपएसिए जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पणतीसपएसिए पणतीसपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंतपएसिए तं चेव। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं चउप्पएसिए चउप्पएसोगाढे प० उक्को० अणंतपएसिए तं चेव ॥ चउरंसे णं भंते ! संठाणे कतिपदेसिए ? पुच्छा, गोयमा ! चउरंसे संठाणे दुविहे प० भेदो जहेव वट्टस्स० जाव तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं नवपएसिए नवपएसोगाढे प०,उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे प०। तत्थ णं जे से जुम्मपदेसिए से जहन्नेणं चउपएसिए चउपएसोगाढे प०, उक्कोसेणं अणंतपएसिए तं चेव। तत्थ णं जे से घणचउरंसे से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा—ओयपएसिए जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं सत्तावीसइपएसिए सत्तावीसतिपएसोगाढे, उक्कोसेणं अणंतपएसिए तहेव। तत्थ जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं अट्ठपएसिए अट्ठपएसोगाढे पण्णत्ता, उक्को०अणंतपएसिए तहेव। आयए णं भंते ! संठाणे कतिपदेसिए कतिपएसोगाढे प० ?, गोयमा ! आयए णं संठाणे तिविहे पण्णत्ता, तं जहा—सेढिआयते पयरायते घणायते। तत्थ णं जे से सेढिआयते से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा—ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे ओयप० से जह० तिपएसिए तिपएसोगाढे उक्को० अणंतपए० तं चेव, तत्थ णं जे से जुम्मपएसे से जह० दुपएसिए दुपएसोगाढे, उक्कोसेणं अणंता तहेव। तत्थ णं जे से पयरायते से दुविहे प०, तं जहा—ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पन्नरसपएसिए पन्नरसपएसोगाढे, उक्कोसेणं अणंता- तहेव। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं छप्पएसिए छप्पएसोगाढे उक्कोसेणं अणंता तहेव। तत्थ णं जे से घणायते से दुविहे प० तं जहा—ओयपएसिए जुम्मपएसिए। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पणयालीसपएसिए पणयालीसपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंत०तहेव। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जह० बारसपएसिए बारसपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंत० तहेव ॥ परिमंडले णं भंते ! संठा-

से कतिपदेसिए ?, पुच्छा, गोयमा ! परिमंडले णं संठाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—घणपरिमंडले य, पयरपरिमंडले य, तत्थ णं जे से पयरपरिमंडले से जहन्नेणं वीसतिपदेसिए वीसइपएसोगाढे, उक्कोसे णं अणंतपदे० तहेव । तत्थ णं जे से घणपरिमंडले से जहन्नेणं चत्तालीसतिपदेसिए चत्तालीसपएसोगाढे पण्णत्ता, उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे पन्नत्ता । (सू०–७२६)

'वट्टे ण' मित्यादि अथ परिमण्डलं पूर्वम्—आद्यादुक्तम् इह तु कस्मात्तत्त्यागेन वृत्तादिना क्रमेण तानि निरूप्यन्ते ?, उच्यते—वृत्तादीनि चत्वार्यपि प्रत्येकं समसंख्यविषमसंख्यप्रदेशान्यतस्तत्साधर्म्यात्तेषां पूर्वमुपन्यासः परिमण्डलस्य पुनरेतदभावात्पश्चाद् विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरिति, 'घणवट्टे' त्ति सर्वत्र समं घनवृत्तं मोदकवत् 'पयरवट्टे' त्ति बाहल्यतो हीनं तदेव प्रतरवृत्तं मण्डलवत्, 'ओयपएसिए' त्ति विषमसंख्यप्रदेशनिष्पन्नं 'जुम्मपएसिए' त्ति समसंख्यप्रदेशनिष्पन्नं, 'तत्थ णं जे से ओयपएसिए पयरवट्टे से जहन्नेणं पंचपएसिए' इत्यादि, इत्थं पञ्चप्रदेशावगाढं, पञ्चाणुकात्मकमित्यर्थः, उत्कर्षेणानन्तप्रदेशिकमसंख्येयप्रदेशावगाढं लोकस्याप्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्, 'जे से जुम्मपएसे से जहन्नेणं बारसपएसिए' इति एतस्य स्थापना 'जे से ओयपएसिए घणवट्टे से जहन्नेणं सत्तपएसिए सत्तपएसोगाढे' त्ति एतस्य स्थापना—अस्य मध्यपरमाणोरुपर्येकः स्थापितोऽधश्चैक इत्येवं सप्तप्रदेशिकं घनवृत्तं भवतीति 'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं बत्तीसइपएसिए' इत्यादि एतस्य स्थापना—अस्य चोपरीदृश एव प्रतरः स्थाप्यस्ततः सर्वे चतुर्विंशतिस्ततः प्रतरद्वयस्य मध्याणूनां चतुर्णामुपर्येन्ये चत्वारोऽधश्चेत्येवं द्वात्रिंशदिति त्र्यस्रसूत्रे—'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं तिपएसिए' त्ति अस्य स्थापना-'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं छप्पएसिए' त्ति अस्य स्थापना-'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पणतीसपएसिए' त्ति,अस्य स्थापना-अस्य पञ्चदशप्रदेशिकस्य प्रतरस्योपरि दशप्रदेशिकः एतस्याप्युपरि षट्प्रदेशिकः एतस्याप्युपरि त्रिप्रदेशिकः प्रतरः एतस्याप्युपर्येकः प्रदेशो दीयते इत्येवं पञ्चत्रिंशत् प्रदेशा इति । 'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं चउप्पएसिए' त्ति, अस्य स्थापना-अस्यैकस्योपरि प्रदेशो दीयत इत्येवं चत्वार इति । चतुरस्रसूत्रे-'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं नवपएसिए' त्ति एव 'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं चउप्पएसिए' त्ति, एवं 'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं सत्तावीसपएसिए' त्ति, एवमेतस्य नवप्रदेशिकप्रतरस्योपर्यन्यदपि प्रतरद्वयं स्थाप्यत इत्येवं सप्तविंशतिप्रदेशिकं चतुरस्रं भवतीति 'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं अट्ठपएसिए' इत्येवमस्योपर्यन्यश्चतुष्प्रदेशिकप्रतरो दीयत इत्येवमष्टप्रदेशिकं स्यादिति । आयतसूत्रे—'सेढिआयए' त्ति श्रेण्यायतं प्रदेशश्रेणीरूपं प्रतरायतं—कृत्तविष्कम्भश्रेणीद्वयादिरूपं घनायतं—बाहल्यविष्कम्भोपेतमनेकश्रेणीरूपम्, तत्र श्रेण्यायतमोजःप्रदेशिकं जघन्यं त्रिप्रदेशिकं, तच्चैवम्—१ तदेव युग्मप्रदेशिकं द्विप्रदेशिकं तच्चैवं 'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पन्नरसपएसिए' त्ति, एवं तदेव युग्मप्रदेशिकं जघन्यं षट्प्रदेशिकम् । तच्चैवम्-एवं घनायतमोजःप्रदेशिकं जघन्यं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशिकं तच्चैवम्-अस्योपर्यन्यत् प्रतरद्वयं स्थाप्यत इत्येवं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशिकं जघन्यमोजःप्रदेशिकं घनायतं भवति । तदेव युग्मप्रदेशिकं द्वादशप्रदेशिकम् । तच्चैवम्—एतस्य षट्प्रदेशिकस्योपरि षट्प्रदेशिक एवान्यः प्रतरः स्थाप्यते ततो द्वादशप्रदेशिकं भवतीति 'परिमंडलेणमि' त्यादि इह ओजोयुग्मभेदौ न स्तः युग्मरूपत्वेनैकरूपत्वात्परिमण्डलस्येति तत्र प्रतरपरिमण्डलं जघन्यतो विंशतिप्रदेशिकं भवति, तदेवं स्थापना-एतस्यैवोपरि विंशतिप्रदेशिकेऽन्यस्मिन् प्रतरे दत्ते चत्वारिंशत्प्रदेशिकं घनपरिमण्डल भवतीति ॥ अनन्तरं परिमण्डलं प्ररूपितम् । भ० २५ श० ३ उ० । साङ्गोपाङ्गविचारे, जं० ३ वक्ष० । दर्श० । सू० प्र० । आ० म० । आ० चू० । परिमण्डलादिसंस्थानानां संख्येयासंख्येयत्वविचारः 'चरम' शब्दे तृतीयभागे ११३७ पृष्ठे गतः ।)

संस्थानभेदानाह—

कइविहे णं भंते ! संठाणे पन्नत्ते ?, गोयमा ! छव्विहे संठाणे पण्णत्ता । तं जहा–समचउरंसे १ णिग्गोहपरिमण्डले २ साइए ३ वामणे ४ खुज्जे ५ हुंडे ६ । णेरइया णं भंते ! किंसंठाणी पण्णत्ता ?, गोयमा ! हुंडसंठाणी पण्णत्ता, असुरकुमारा किंसंठाणी पण्णत्ता ? गोयमा !, समचउरंससंठाणसंठिया पण्णत्ता, एवं० जाव थणियकुमारा । पुढवी मसूरसंठाणा पण्णत्ता, आऊ थिबुयसंठाणा पन्नत्ता, तेऊ सूइकलावसंठाणा पन्नत्ता, वाऊ पडागासंठाणा पन्नत्ता, वणस्सई नाणासंठाणसंठिया पन्नत्ता, बेइंदियतेइंदियचउरिंदियसंमुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खा हुंडसंठाणा पण्णत्ता, गब्भवक्कंतिया छव्विहसंठाणा संमुच्छिममणुस्सा हुंडसंठाणसंठिया पन्नत्ता, गब्भवक्कंतियाणं मणुस्साणं छव्विहा संठाणा पण्णत्ता, जहा असुरकुमारा तहा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया वि । [सू०–१५५+]

'कइविहे' णं 'भंते ! संठाणे' त्यादि, तत्र मानोन्मानप्रमाणानि अन्यूनान्यनतिरिक्तानि अङ्गोपाङ्गानि च यस्मिन् शरीरसंस्थाने तत्समचतुरस्रसंस्थानं, तथा नाभित उपरि सर्वावयवाश्चतुरस्रा-लक्षणाऽविसंवादिनोऽधस्तु तदनुरूपं यत्र भवति तन्न्यग्रोधसंस्थानम्, तथा नाभितोऽधः सर्वावयवाश्चतुरस्रा लक्षणाविसंवादिनो यस्योपरि च यत्तदनुरूपं न भवति तत्सादिसंस्थानम्, तथा ग्रीवाहस्तपादाश्च समचतुरस्रा लक्षणयुक्ता यत्र संक्षिप्तं विकृतं च मध्ये कोष्ठं तत् कुब्जसंस्थानम्, तथा यल्लक्षणयुक्तं कोष्ठं चतुरस्रलक्षणोपेतं ग्रीवाद्यवयवहस्तपादं च तद्वामनम्, तथा यत्र हस्तपादाद्यवयवाः बहुप्रायाः प्रमाणविसंवादिनश्च तद्धुण्डमित्युच्यते । स० १५५ सम० । ('धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६७१ पृष्ठे गता वक्तव्यता ।) (पृथिवीकायिकादीनां संस्थानानि पृथिव्यादिषु शब्देषु ।)

कृतयुग्मादिभेदेन संस्थानमाह—

परिमंडले णं भंते ! संठाणे दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे

तेओए दावरजुम्मे कलियोए ?, गोयमा ! नो कडजुम्मे णो तेयोए णो दावरजुम्मे, कलियोए । वट्टे णं भंते ! संठाणे दव्वट्टयाए एवं चेव एवं० जाव आयते । परिमंडलाणं भंते ! संठाणा दव्वट्टयाए किं कडजुम्मा तेयोया दावरजुम्मा कलियोगा पुच्छा , गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा सिय तेओगा सिय दावरजुम्मा सिय कलियोगा , विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा नो तेओगा नो दावरजुम्मा, कलिओगा, एवं० जाव आयता ।। परिमंडले णं भंते ! संठाणे पएसट्टयाए किं कडजुम्मे ? पुच्छा , गोयमा ! सिय कडजुम्मे सिय तेयोगे सिय दावरजुम्मे सिय कलियोए, एवं०जाव आयते । परिमंडला णं भंते ! संठाणा पएसट्ठयाए किं कडजुम्मा ? पुच्छा , गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा०जाव सिय कलियोगा, विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि तेओगा वि दावरजुम्मा वि कलिओगा वि ४ एवं० जाव आयता ।। परिमंडले णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मपएसोगाढे० जाव कलियोगपएसोगाढे?, गोयमा ! कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेयोगपएसोगाढे नो दावरजुम्मपएसोगाढे नो कलियोगपएसोगाढे ।। वट्टे णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मे ? पुच्छा, गोयमा ! सिय कडजुम्मपदेसोगाढे सिय तेयोगपएसोगाढे नो दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलियोगपएसोगाढे ।। तं से णं भंते ! संठाणे पुच्छा , गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे सिय तेयोगपएसोगाढे सिय दावरजुम्मपदेसोगाढे , नो कलिओगपएसोगाढे । चतुरंसे णं भंते ! संठाणे जहा वट्टे तहा चउरंसे वि । आयए णं भंते ! पुच्छा , गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे ०जाव सिय कलिओगपएसोगाढे । परिमंडला णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मपएसोगाढा तेयोगपएसोगाढा ? पुच्छा , गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणदेसेण वि कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेयोगपएसोगाढा , नो दावरजुम्मपएसोगाढा , नो कलियोगपएसोगाढा । वट्टा णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मपएसोगाढा पुच्छा , गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा नो तेयोगपएसोगाढा नो दावरजुम्मपएसोगाढा नो कलियोगपएसोगाढा वि । तंसा णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मा पुच्छा, गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा णो तेयोगपएसोगाढा नो दावरजुम्मपएसोगाढा नो कलियोगपएसोगाढा, विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा तेयोगपएसोगाढा नो दावरजुम्मपएसोगाढा नो कलियोगपएसोगाढा । चउरंसा जहा वट्टा । आयया णं भंते ! संठाणा पुच्छा, गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा नो तेयोगपएसोगाढा नो दावरजुम्मपएसोगाढा णो कलिओगपएसोगाढा, विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा वि०जाव कलिओगपएसोगाढा वि । परिमंडले णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मसमयठितीए तेयोगसमयठितीए दावरजुम्मसमयठितीए कलिओगसमयठितीए ?, गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयठितीए०जाव सिय कलिओगसमयठितीए एवं०जाव आयते । परिमंडला णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मसमयठितीया पुच्छा, गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयठितीया० जाव सिय कलिओगसमयठितीया, विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयठितीया वि० जाव कलिओगसमयठितीया वि, एवं०जाव आयता ।। परिमंडले णं भंते ! संठाणे कालवन्नपज्जवेहिं किं कडजुम्मे० जाव सिय कलियोगे ?,गोयमा ! सिय कडजुम्मे एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ठितीए एवं नीलवन्नपज्जवेहिं एवं पंचहिं वन्नेहिं दोहिं गंधेहिं पंचहिं रसेहिं अट्ठहिं फासेहिं ०जाव लुक्खफासपज्जवेहिं । (सू०-७२७)

'परिमंडले' त्यादि, परिमण्डलं द्रव्यार्थतयैकमेव द्रव्यं , न हि परिमण्डलस्यैकस्य चतुष्कापहारोऽस्तीत्येकत्वचिन्तायां न कृतयुग्मादिव्यपदेशः, किन्तु—कल्योजव्यपदेश एव, यदा तु पृथक्त्वचिन्ता तदा कदाचिदेतावन्ति तानि परिमण्डलानि भवन्ति यावता चतुष्कापहारेण विच्छेदता भवति कदाचित्पुनस्त्र्यादयधिकानि भवन्ति कदाचिद् द्वे कदाचिदेकमधिकमित्यत एवाह—' परिमंडला णं भंते ! ' इत्यादि- 'ओघादेसेणं' ति सामान्यतः, विहाणादेसेणं ' ति विधानादेशो यत्समुदितानामप्येकैकस्यादेशनं तेन च कल्योजतैवेति । अथ प्रदेशार्थचिन्तां कुर्वन्नाह—' परिमंडलेण ' मित्यादि, तत्र परिमण्डलं संस्थानं प्रदेशार्थतया विंशत्यादिषु क्षेत्रप्रदेशेषु ये प्रदेशाः परिमण्डलसंस्थाननिष्पादका व्यवस्थितास्तदपेक्षयेत्यर्थः, ' सिय कडजुम्मे ' त्ति तत्प्रदेशाना चतुष्कापहारेणापह्रियमाणानां चतुष्पर्यवसितत्वे कृतयुग्मं तत्स्यात्, यदा त्रिपर्यवसानं तत्तदा त्र्योज', एवं द्वापरं कल्योजश्चेति, यस्मादेकत्रापि प्रदेशे बहवोऽणवोऽवगाहन्त इति । अथावगाहप्रदेशनिरूपणायाह—' परिमंडले' त्यादि, ' कडजुम्मपएसोगाढे ' त्ति यस्मात् परिमण्डले जघन्यतो विंशतिप्रदेशावगाढमुक्तं विंशतेश्च चतुष्कापहारे चतुष्पर्यवसितत्वं भवति , एवं परिमण्डलान्तरेऽपीति । 'वट्टेण ' मित्यादि, ' सिय कडजुम्मपएसोगाढे , त्ति यत्प्रतरवृत्तं द्वादशप्रदेशिकं यच्च घनवृत्तं द्वात्रिंशत्प्रदेशिकमुक्तं तच्चतुष्कापहारे चतुरग्रत्वात्कृतयुग्मप्रदेशावगाढं ' सिय तेओयपएसोगाढे ' त्ति यच्च घनवृत्तं सप्तप्रदेशिकमुक्तं तत्त्र्यग्रत्वात्त्र्योज प्रदेशावगाढं ' सिय कलिओयपएसोगाढ ' त्ति यत्प्रतरवृत्तं पञ्चप्रदेशिकमुक्तं तदेकाग्रत्वात्कल्योज प्रदेशावगाढमिति ॥ 'तंसेण' मित्यादि, 'सिय कडजुम्मपएसोगाढे' त्ति यद् घनत्र्यस्रं चतुष्प-

देशिकं 'तत्कृतयुग्मप्रदेशावगाढम्' 'सिय तेओगपएसोगाढे' त्ति यत् प्रतरत्र्यस्रं-त्रिप्रदेशावगाढं घनत्र्यस्रं च-पञ्चत्रिंशत्प्रदेशावगाढं तत्र्यग्रत्वात्त्र्योजःप्रदेशावगाढं, 'सिय दावरजुम्मपएसोगाढे' त्ति यत्प्रतरत्र्यस्रं षट्प्रदेशिकमुक्तं तद् द्व्यग्रत्वाद् द्वापरप्रदेशावगाढमिति ॥ 'चउरंसेणं' मित्यादि, 'जहा वट्टे' त्ति 'सिय कडजुम्मपएसोगाढे सिय तेओयपएसोगाढे सिय कलिओयपएसोगाढे' इत्यर्थः,तत्र यत् प्रतरचतुरस्रं चतुष्प्रदेशिकं घनचतुरस्रं चाष्टप्रदेशिकमुक्तं तच्चतुरग्रत्वात्कृतयुग्मप्रदेशावगाढं, तथा यद् घनचतुरस्रं सप्तविंशतिप्रदेशिकमुक्तं तत्र्यग्रत्वात्त्र्योजःप्रदेशावगाढं,तथा यत्प्रतरचतुरस्रं नवप्रदेशिकमुक्तं तदेकाग्रत्वात् कल्योजःप्रदेशावगाढमिति । 'आयएणं' मित्यादि 'सियकडजुम्मपएसोगाढे' त्ति यद् घनायतं द्वादशप्रदेशिकमुक्तं तत्कृतयुग्मप्रदेशावगाढं यावत्करणात्-'सिय तेओयपएसोगाढे सिय दावरजुम्मपएसोगाढे' त्ति द्वयम्, तत्र च यत् श्रेण्यायतं त्रिप्रदेशावगाढं यच्च प्रतरायतं पञ्चदशप्रदेशिकमुक्तं तत्र्यग्रत्वात्त्र्योजःप्रदेशावगाढम्,यत्पुनः श्रेण्यायतं द्विप्रदेशिक यच्च प्रतरायतं षट्प्रदेशिकं तद् द्व्यग्रत्वाद् द्वापरयुग्मप्रदेशावगाढं, 'सिय कलिओयपएसोगाढे' त्ति यद् घनायतं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशिकं तदेकाग्रत्वात्कल्योजःप्रदेशावगाढमिति । एवमेकत्वेन प्रदेशावगाढमाश्रित्य संस्थानानि,चिन्तितानि अथ पृथक्त्वेन तानि तथैव चिन्तयन्नाह-'परिमंडलाणं' मित्यादि 'ओघादेसेणं वि' त्ति सामान्यतः समस्तान्यपि परिमण्डलानीत्यर्थः 'विहाणादेसेण वि' त्ति भेदतः एकैकं परिमण्डलमित्यर्थः,कृतयुग्मप्रदेशावगाढान्येव विंशतिचत्वारिंशत्प्रभृतिप्रदेशावगाहित्वेनोक्तत्वात्तेषामिति । 'वट्टा णं' मित्यादि,'ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढे' त्ति वृत्तसंस्थानाः स्कन्धाः सामान्येन चिन्त्यमानाः कृतयुग्मप्रदेशावगाढाः सर्वेषां तत्प्रदेशानां मीलने चतुष्कापहारे तत्स्वभावत्वेन चतुष्पर्यवसितत्वात्, विधानादेशेन पुनर्द्वापरप्रदेशावगाढवर्जाः शेषावगाढा भवन्ति, यथा पूर्वोक्तेषु पञ्चसप्तादिषु जघन्यवृत्तभेदेषु चतुष्कापहारे द्व्यावशिष्टता नास्ति एवं सर्वेष्वपि तेषु वस्तुस्वभावत्वाद्, अत एवाह-'विहाणादेसेणं' मित्यादि । एवं त्र्यस्रादिसंस्थानसूत्राण्यपि भावनीयानि ॥ एवं तावत्क्षेत्रत एकत्वपृथक्त्वाभ्यां संस्थानानि चिन्तितानि । अथ ताभ्यामेव कालतो भावतश्च तानि चिन्तयन्नाह-'परिमंडलेणं' मित्यादि, अयमर्थः—परिमण्डलेन संस्थानेन परिणताः स्कन्धाः कियन्तं कालं तिष्ठन्ति ? किं चतुष्कापहारेण तत्कालस्य समयाश्चतुरग्रा भवन्ति त्रिद्व्येकाग्रा वा ?, उच्यते, सर्वे संभवन्तीति । इह चैता वृद्धोक्ताः संग्रहगाथाः—

"परिमंडले य १ वट्टे २, तंसे ३ चउरंस ४ आयए ५ चेव ।
घणपयरपढमवज्जं, ओयपएसे य जुम्मे य ॥ १ ॥
पंच य बारसयं खलु, सत्त य बत्तीसय च वट्टम्मि ।
तियछक्कयपणतीसा, चउरो य हवंति तंसम्मि ॥ २ ॥
नव चेव तहा चउरो, सत्तावीसा य अट्ठ चउरंसे ।
तिगदुगपन्नरसं चे-व छ चेव य आयए होंति ॥ ३ ॥
पणयालीसा बारस, छब्भेया आययम्मि संठाणे ।
परिमंडलम्मि वीसा, चत्ता य भवे पएसग्गं ॥ ४ ॥
सव्वे वि आययम्मि,गेण्हसु परिमंडलम्मि कडजुम्मं ।
वज्जेज्ज कलिं तंसे, दावरजुम्मं च सेसेसु ॥ ५ ॥" इति ।

भ० २५ श० ३ उ० । (इन्द्रियाणां संस्थानम् । 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५४८ पृष्ठे उक्तम् ।) (नैरयिकाणां तथा-नरकपृथिवीनां संस्थानानि 'णरग' शब्दे चतुर्थभागे १६०७ पृष्ठे उक्तानि।) (शरीराणां संस्थानानि 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते।) (वनस्पतिजीवानां संस्थानम् 'वणप्फइ' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् ।) मृगशिरोनक्षत्रे च । सू० प्र० १२ पाहु० ।

संठाणकप्प-संस्थानकल्प-पुं० । संस्थानरूपे कल्पे, पं० भा० ।

दारं ।

दंसण-णाण-चरित्ते, तवे य तह भावणा तु समितीसु ।
छण्हं पि तिप्पगारं, सद्दह संठाणसंघणता ॥
सद्दहति सम्मदंसण, आयरति परूवणं च कुव्वमाणो ।
संठाणकप्प एसो, एवं सेसाण वी णेयं ॥
संठाणकप्प एसो, भणितो तु समासतो जिणक्खाओ ॥

पं० भा० ५ कल्प ।

संठाणसंकमण-संस्थानकसंक्रमण-न० । पिपीलिकादीनामण्डादिसञ्चलने, सण्ठाणगसङ्कमणं पिपीलियगमक्कोडगादीणं भण्णति । नि० चू० १३ उ० ।

संठाणछक्क-संस्थानषट्क-न० । समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डसंस्थानानां समुदाये, कर्म० २ कर्म० ।

संठाणऽज्झयण-संस्थानाध्ययन-न० । अनुत्तरौपपातिकदशानां पञ्चमाध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

संठाणणाम-संस्थाननामन्-न० । संतिष्ठते विशिष्टावयवरचनात्मिकया शरीराकृत्या जन्तवो भवन्ति येन तत्संस्थानं तदेव नाम संस्थाननाम । समचतुरस्रादिसंस्थानकारणे नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० । संस्थानमाकारविशेषस्तेष्वेव गृहीतसंघातितबद्धेष्वौदारिकादिषु पुद्गलेषु संस्थानविशेषो यस्य कर्मण उदयात्प्रादुर्भवति तत्संस्थाननाम । पं० सं० ३ द्वार । आ० । प्रव० । प्रज्ञा० ।

से किं तं संठाणणामे संठाणणामे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा-परिमंमलसंठाणणामे वट्टसंठाणणामे तंससंठाणणामे चउरंससंठाणणामे आयतसंठाणणामे से तं संठाणणामे । अनु० ।

संठाणणिव्वत्ति-संस्थाननिर्वृत्ति-स्त्री० । निर्वृत्तिभेदे, भ० १६ श० ८ उ० । (सा च पञ्चविधा 'णिव्वत्ति' शब्दे चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे दर्शिता ।)

संठाणपरिणय-संस्थानपरिणत-पुं० । संस्थानरूपतया परिणते पुद्गले, प्रज्ञा० ।

संठाणपरिणया पंचविधा पण्णत्ता, तं जहा-परिमण्डलसंठाणपरिणया वट्टसंठाणपरिणया तंससंठाणपरिणया चउरंससंठाणपरिणया आययसंठाणपरिणया । प्रज्ञा० १ पद ।

संठाणपरिणाम-संस्थानपरिणाम-पुं० । संस्थानरूपे परिणामे, प्रज्ञा० २३ पद । (अत्रत्यं सूत्रम् 'परिणाम' शब्दे पञ्चमभागे २१५ पृष्ठे उक्तम् ।)

संठाणविचय-संस्थानविचय-न० । संस्थानानि लोकद्वीपसमुद्राद्याकृतयः विचीयन्ते--निर्णीयन्ते पर्यालोच्यन्ते वा यस्मिंस्तत् संस्थानविचयम् । धर्मध्यानभेदे, ध० । संस्थानं लोकाकाशस्यैव धर्माधर्मयोर्जीवानां समचतुरस्रादि, अजीवानां परिमण्डलादि, कालस्य मनुष्यक्षेत्राकृति । ध० ३ अधि० । औ० ।

संठावंत-संस्थापयत्-त्रि० । अविनाशयति, नि०चू० १७ उ० ।

संठिइ-संस्थिति-स्त्री० । व्यवस्थायाम्, सं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० । चं० ।

संठिय-संस्थित-त्रि० । विशिष्टसंस्थानवति, आ० १ श्रु० १ अ० । उपा० । स्वप्रमाणतया स्थिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सम्यक् स्वप्रमाणतया स्थितः संस्थित इति व्युत्पत्तेः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० । तं० । औ० । व्यवस्थिते, भ० १ श० १ उ० । रा० । " संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फ " सम्यक् स्वप्रमाणतया स्थितौ संस्थितौ सुश्लिष्टौ मांसलौ गूढौ गुल्फौ गुलुकौ येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । तं० । रा० । प्रश्न० । संस्थाने, न० । आकारे, रा० । जं० । प्रश्न० ।

संड-षण्ड-न० । खण्डे, घने, जं० ३ वक्ष० ।

संडंस-सन्दंश-पुं० । अयस्कारोपकरणे, ओघ० । आ० म० ।

संडंसतुंड-सन्दंशतुण्ड-पुं० । सन्दंशाकारं तुण्डं येषां ते तथा । संदंशाकारमुखेषु पक्षिषु, उत्त० १६ अ० । प्रश्न० ।

संडप्पवायगुहा-षण्डप्रपातगुहा-स्त्री० । ' खंडप्पवायगुहा ' शब्दे उक्तेऽर्थे, आ० क० १ अ० ।

संडासग-सन्दंशक-पुं० । अयस्कारस्य लोहग्रहणदण्डे, विशे० । आ० चू० । नि० चू० । दश० । जानुपुतापावरूपकोणद्वयाकलिते जानुसंदशके, ततो जिनकल्पिकस्योत्कुटुकनिविष्टस्य जानुसंदंशकादारभ्य पुताद्दष्ट च छादयित्वा स्कन्धस्योपरि यावता न प्राप्यते एतावत्तदीयकल्पस्य दैर्घ्यप्रमाणम्, अयं च सदंशक उच्यते । बृ० ३ उ० । नासिकाकेशोत्पाटने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

संडिज्झ-षण्डिज्झ-न० । बालक्रीडास्थाने, दश० ५ अ० १ उ० ।

संडिल्ल-शाण्डिल्य-पुं० । नन्दिपुरप्रतिबद्धेषु जनपदेषु प्रज्ञा० १ पद । नन्दिपुरं नगरं शाण्डल्या शाण्डिक्या वा देशः । प्रव० २७५ द्वार । कौशिकगोत्रे श्यामार्य्यशिष्ये, नं० । आर्य्यधर्म्मशिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । दशपुरनगरे स्वनामख्याते ब्राह्मणे, उत्त० १२ अ० ।

संडेय-पाण्डेय-पुं० । षण्डपुत्रे, षण्डे च । औ० । ज्ञा० ।

संडेवग-संडेवक-पुं० । पाषाणादिरन्यस्मिन् पाषाणादौ पादविक्षेपे, स च द्विविधः--तद्यात,इतरश्च । अन्यत आनीय तत्र निहितः । ओघ० । (स एकैकस्त्रिविध इति ' सईसंतार ' शब्दे चतुर्थभागे १७५० पृष्ठे उक्तम् ।)

संढ-षण्ढ-पुं० । तृतीयवेदोदयवर्तिनि महामोहकर्म्मणि, ध० ३ अधि० । 'सकारपञ्चम्सरितो ढकारो' सकारप्रसमस्तरितो ढकार इति प्रतिपत्तव्यम् । प्राकृतशैल्या--सण्ढ संस्कृते तु षण्ढ इति भावः । बृ० ४ उ० । अनु० । (' पंडग ' शब्दे पञ्चमभागे एतत्प्रकरणमुक्तम् ।)

षण्ड-न० । खण्डे, घने, जं० ३ वक्ष० । आव० ।

संणद्ध-सन्नद्ध-त्रि० । कृतसन्नाहे, औ० । रा० । ' संणद्धबद्धवम्मियकवये ' सन्नद्धः सन्नाहबद्धः कशाबन्धनतो वर्मितो वर्मतया कृतोऽङ्गे निवेशनात् कवचः कङ्कटो येन स तथा । भ० ७ श० ६ उ० । औ० । जी० ।

संणयपास-सन्नतपार्श्व-त्रि० । सन्नतावधोऽधो नमन्तौ पार्श्वौ प्रतीतौ येषां ते तथा । सन्नमितपार्श्वदेशे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

संणाहपट्ट-सन्नाहपट्ट-पुं० । विहारे उपधेः शरीरेण सह बन्धनार्थे उपधौ, बृ० ३ उ० ।

संणिभ-सन्निभ-त्रि० । सदृशे, उत्त० १६ अ० ।

संण्णत्ति-संज्ञप्ति-स्त्री० । प्रकृतौ, प्रतिबोधने, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

संत-शान्त-त्रि० । क्रोधाद्यबाधिते, यो० बिं० । क्रोधविकाररहिते, द्वा० २० द्वा० । ज्ञा० । उत्त० । पं० व० । अस्तर्षु--स्या (कल्प० १ अधि० ६ क्षण) उपशमवति, " न यत्र दुःखं न सुखं न रागो, न द्वेषमोहौ न च काचिदिच्छा । रसः स शान्तो विहितो मुनीनां, सर्वेषु भावेषु शमः प्रदिष्टः " षो० १४ विव० । आचा० । इन्द्रियनोइन्द्रियैः शमं प्राप्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । । (' पसंतरस ' शब्दे पञ्चमभागेऽप्ययमुक्तः ।)

श्रान्त-त्रि० । सामान्येन श्रमार्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । आ० चू० । देहतः खिन्ने, विशे० । ज्ञा० ।

सत्-त्रि० । विद्यमाने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । स्था० । आचा० । यत्ते, भ० ६ श० ३३ उ० । मुनौ, साधौ, विशे० । स्था० । आ० म० । नि० चू० । भ० । शोभने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । ज्ञा० । आव० । सौम्यमूर्त्तौ, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । प्रशस्ते, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ते सत्तिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आचा० ।

स्वान्त-न० । अन्तःकरणे, अष्ट० ३ अष्ट० ।

संतअसंतकज्जवाय--सदसत्कार्यवाद--पुं० । प्रागुत्पत्तेः कथंचित्सतः कथञ्चिदसतः कार्यस्योत्पादवादे, सूत्र० (स च जैनसंमतः ' असक्कज्ज ' शब्दे प्रथमभागे ५०२ पृष्ठे दर्शितः ।)

संतकज्जवाय--सत्कार्यवाद--पुं० । प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यमित्येवं वादे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आचा० । (' भूगोल ' शब्दे पञ्चमभागे व्याख्यातम् ।)

संतकम्म-सत्कर्मन्-न० । उदयप्राप्तस्य कर्मणस्सत्तायाम्, क० प्र०।

सम्प्रति सत्ताभिधानावसरः, तत्र चेमेऽर्थाधिकाराः । तद्यथा—भेदः, साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्वं चेति । तत्र भेदनिरूपणार्थमाह—

मूलुत्तरपगइगयं, चउव्विहं संतकम्ममवि नेयं ।
धुवमद्धुवणाईयं, अट्ठण्हं मूलपगईणं ॥ १ ॥

'मूलुत्तर'त्ति सत्कर्म द्विधा-मूलप्रकृतिगतम्, उत्तरप्रकृतिगतं च। तत्र मूलप्रकृतिगतमष्टप्रकारं, तद्यथा-ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयमित्यादि । उत्तरप्रकृतिगतमष्टपञ्चाशदधिकशतप्रकारम्, तद्यथा—मतिज्ञानावरणीयमित्यादि। पुनरेकैकं चतुर्विधम्, तद्यथा-प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म, प्रदेशसत्कर्म च। तदेवमुक्तो भेदः। सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह- 'धुवे' त्यादि अष्टानां मूलप्रकृतीनां सत्कर्म त्रिधा, तद्यथा—ध्रुवमध्रुवमनादि च । तत्रानादित्वं सदैव भावात्। ध्रुवाध्रुवताऽभव्यभव्यापेक्षया।

सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह—

दिट्ठिदुगाउगछगति, तणुचोद्दसगं च तित्थगरमुच्चं ।
दुविहं पढमकसाया, होंति चउद्धा तिहा सेसा ॥२॥

'दिट्ठिदुग' त्ति—दृष्टिद्विकं सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वरूपं, आयूंषि चत्वारि, 'छगइ' त्ति मनुष्यद्विकं देवद्विकं नरकद्विकं च, तनुचतुर्दशकं वैक्रियसप्तकाहारकसप्तकरूपम्, तथा-तीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रं च, एतासामष्टाविंशतिप्रकृतीनां सत्कर्म द्विविधं-द्विप्रकारं, तद्यथा—सादि, अध्रुवं च। साद्यध्रुवता चाध्रुवसत्कर्मत्वादवसेया। तथा—प्रथमकषाया अनन्तानुबन्धिनः सत्कर्मापेक्षया चतुर्विधाः, तद्यथा-साद्योऽनादयो ध्रुवा, अध्रुवाश्च। तथाहि—ते सम्यग्दृष्टिना प्रथममुद्वलिताः, ततो मिथ्यात्वं गतेन यदा भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन बध्यन्ते, तदा सादयः। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादयः। ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्। तथा शेषा षड्विंशतिशतसङ्ख्याः प्रकृतयः सत्कर्मापेक्षया त्रिधा—त्रिप्रकाराः, तद्यथा—अनादयो ध्रुवा अध्रुवाश्च। तत्रानादित्वं ध्रुवसत्कर्मत्वात्। ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्।

तदेवं कृता साधनादिप्ररूपणा। सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम्। तच्च द्विधा—एकैकप्रकृतिगतं, प्रकृतिस्थानगतं च। तत्रैकैकप्रकृतिगतं स्वामित्वमभिधित्सुराह—

छउमत्थंता चउदस, दुचरमसमयम्मि अत्थि दो निद्दा ।
बद्धाणि ताव आउ-णि वेइयाइं ति जा कसिणं ॥३॥

'छउमत्थंत'त्ति-ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाश्चतुर्दश प्रकृतयः छद्मस्थान्ताः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानकं यावत्सत्यो भवन्तीत्यर्थः। परतस्तासामभावः। एवमुत्तरत्राप्युक्तगुणस्थानकात्परतोऽभावो वेदितव्यः। तथा द्वे निद्रे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानकद्विचरमसमयं यावत्सत्यौ स्तः। आयूंषि चत्वार्यपि बद्धानि तावत्सन्ति यावत्कृत्स्नं-निरवशेषं वेदितानि न भवन्ति।

तिसु मिच्छत्तं नियमा, अट्ठसु ठाणेसु होइ भइयव्वं ।
आसाणे सम्मत्तं, नियमा सम्मं दससु भज्जं ॥४॥

'तिसु'त्ति त्रिषु गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिलक्षणेषु नियमादवश्यतया मिथ्यात्वं सत्-विद्यमानम्। शेषेषु पुनरष्टसु गुणस्थानकेषु उपशान्तमोहगुणस्थानकपर्यवसानेषु भाज्यम्। तथाहि-अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते न भवति,उपशान्ते तु भवति। क्षीणमोहादिषु पुनस्तस्यावश्यमभावः। तथा-आसादने सासादने सम्यक्त्वं नियमादस्ति। दशसु पुनर्गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तमोहगुणस्थानकपर्यवसानेषु भाज्यं कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवतीत्यर्थः। तथाहि-मिथ्यादृष्टावभव्ये न भवति, भव्येऽपि कदाचिद्भवति कदाचिन्न। तथा-सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वं कियत्कालं सम्यक्त्वे उद्वलितेऽपि भवति, ततस्तत्रापि तद्भाज्यम् । अविरतादिषु पुनः क्षपकेषु न भवति, उपशमकेषु तु भवति, अतस्तत्रापि तद्भाज्यम्।

बिइय-तइएसु मिस्सं, नियमा ठाणनवगम्मि भयणिज्जं ।
संजोयणाउ नियमा, दुसु पंचसु होइ भइयव्वं ॥ ५ ॥

'बिइय'त्ति-द्वितीये तृतीये च गुणस्थानके मिश्रं सम्यग्मिथ्यात्वं नियमादस्ति। यतः सासादनो नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैव भवति, सम्यङ्मिथ्यादृष्टिश्च सम्यग्मिथ्यात्वं विना न भवति,ततः सासादने सम्यग्मिथ्यादृष्टौ च सम्यग्मिथ्यात्वमवश्यमस्ति। स्थाननवके-गुणस्थानकनवके मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादौ उपशान्तगुणस्थानकान्ते भजनीयं, कदाचिद् भवति कदाचिन्न भवति। भावना च प्रागुक्तप्रकारेण स्वयमेव कर्तव्या,सुगमत्वात्। तथा संयोजना अनन्तानुबन्धिनो द्वयोर्मिथ्यादृष्टिसासादनयोर्नियमाद्भवन्ति। यत एताववश्यमनन्तानुबन्धिनो बध्नाति पञ्चसु पुनर्गुणस्थानकेषु सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यादिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु भजनीयाः। यदि उद्वलितास्ततो न सन्ति, इतरथा तु सन्तीत्यर्थः।

खवगानियट्टि अद्धा, संखिज्जा होंति अट्ठ वि कसाया ।
निरयतिरियतेरसगं, निद्दानिद्दातिगेणुवरिं ॥ ६ ॥

'खवग' त्ति—क्षपकस्य अनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धाया यावत् संख्येया भागास्तावत् अष्टावपि अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्ञाः कषायाः सन्ति। परतो न विद्यन्ते, क्षीणत्वात्। उपशमश्रेणिमधिकृत्य पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् सन्तो वेदितव्याः । निरयतिर्यगेकान्तप्रायोग्यं यन्नामत्रयोदशकं नरकद्विकतिर्यग्द्विकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपोद्द्योतसूक्ष्मसाधारणरूपं निद्रानिद्रात्रिकेण सह संयुक्तं कषायाष्टकक्षयादुपरि स्थितिखण्डेषु सहस्रेषु गतेषु सत्सु युगपत्क्षयमेति। ततो यावन्न क्षयं याति तावत् सत्, क्षये च सति असत् । उपशमश्रेण्यां पुनरेताः षोडशापि प्रकृतयः उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् सत्यो वेदितव्याः।

अपुमित्थीएँ समं वा, हासच्छक्कं च पुरिससंजलणा ।
पत्तेगं तस्स कमा, तणुरागंतो त्ति लोभो य ॥ ७ ॥

'अपुमित्थीए' त्ति—पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशकक्षयादनन्तरं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु नपुंसकवेदः क्षीयते, यावच्च न क्षीयते तावत् सत्। ततः पुनरपि स्थितिखण्डे-

षु संख्येयेषु गतेषु सत्सु स्त्रीवेदं क्षीयते, सोऽपि यावत्क्षयं न याति तावत्सन्, एवं स्त्रीवेदेन पुरुषवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम्। नपुंसकवेदेन प्रतिपन्नस्य तु स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत्क्षयमुपगच्छत., यावच्च न क्षयमुपगच्छतस्तावत्सन्तौ । उपशमश्रेणिमधिकृत्य पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्सन्तौ । तत. स्त्रीवेदक्षयानन्तरं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु हास्यादिषट्कं युगपत्क्षयमुपयाति, तत' समयोनावलिकाद्विकातिक्रमे पुरुषवेदः। एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम्। स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पुन. पुरुषवेदो हास्यादिषट्कं च युगपत्क्षीयते। ततः पुरुषवेदक्षयानन्तरं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु सञ्ज्वलनक्रोध क्षयमुपयाति। ततः पुनरपि संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु सञ्ज्वलनमान' । ततोऽपि संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सञ्ज्वलनमाया। यावच्च हास्यादिप्रकृतयः क्षयं नोपयान्ति तावत्—सत्य.। 'तणुरागतो त्ति लोभो य' लोभसंज्वलनलोभो यावत्तनुरागान्त सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्त' तावत् सन् वेदितव्यः, परतोऽसन्। उपशमश्रेणिमधिकृत्य पुनर्हास्यादिप्रकृतयः सर्वा अपि उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् सत्योऽवसेया ।

मणुयगइजाइतसबा-यरं च पज्जत्तसुभग आएज्जं ।
जसकित्ती तित्थयरं, वेयणिउच्चं च मणुयाणं ॥ ८ ॥
भवचरिमस्स मयम्मि उ, तम्मग्गिल्लसमयम्मि सेसा उ ।
आहारगतित्थयरा, भज्जा दुसु नऽत्थि तित्थयरं ॥९॥

'मणुयगई' त्यादि मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरान्यतरवेदनीयोच्चैर्गोत्रमनुष्यायूरूपा द्वादश प्रकृतयो भवचरमसमये सन्ति अयोगिकेवलिचरमसमयं यावत् विद्यन्ते परतोऽसत्य इत्यर्थ.। शेषाः पुनरुक्तव्यतिरिक्ता सर्वा अपि त्र्यशीतिसंख्या.। 'तम्मग्गिल्लसमयम्मि' त्ति भवचरमसमयपाश्चात्यसमयेऽयोगिकेवलिद्विचरमसमये इत्यर्थ., सत्यो भवन्ति, चरमसमये त्वसत्य.। आहारकतीर्थकरनाम्नी सर्वेष्वपि गुणस्थानकेषु भाज्ये। द्वयो.-पुनर्गुणस्थानकयोः सासादनसम्यङ्मिथ्यादृष्टिरूपयोस्तीर्थकरनाम नियमान्न विद्यते,तीर्थकरनामसत्कर्मण. स्वभावत एवोक्तरूपे गुणस्थानकद्विके गमनासम्भवात्।

तदेवमुक्तमेकैकप्रकृतिसत्कर्म। सम्प्रति प्रकृतिस्थानसत्कर्मप्ररूपणार्थमाह—

पढमचरिमाणमेगं, छन्नव चत्तारि बीयगे तिन्नि ।
वेयणियाउयगोए-सु दोन्नि एगो त्ति दो होंति ॥१०॥

'पढम' त्ति-प्रथमचरमयोर्ज्ञानावरणान्तराययोरेकैकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं स्थानम्। तच्च क्षीणकषायचरमसमयं यावत्सत्, परतोऽसत्। तथा—द्वितीये दर्शनावरणीये त्रीणि प्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—षट् नव चतस्रः । तत्र सकलदर्शनावरणीयप्रकृतिसमुदायो नव । ताश्च नव प्रकृतय उपशमश्रेणिमधिकृत्य उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् सत्यः । क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धाया यावत् संख्येयभागास्तावत्सत्यः, परत. स्त्यानर्द्धित्रिकक्षये षट्

भवन्ति। ताश्च तावत्सत्यो यावत् क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयः। तस्मिन् द्विचरमसमये निद्राप्रचले व्यवच्छिद्येते। ततश्चरमसमये चतस्र एव सत्यः । ता अपि तत्र व्यवच्छिद्यन्ते। तथा वेदनीयायुर्गोत्राणां द्वे प्रकृतिस्थाने तद्यथा द्वे एका च। तत्र वेदनीयस्य यावदेकं न क्षीणं तावत् द्वे सत्यौ। एकस्मिंस्तु क्षीणे एका । गोत्रस्य यावदेकं न क्षीणम् उद्वलितं तावत् द्वे सत्यौ। नीचैर्गोत्रे क्षपिते उच्चैर्गोत्रे वा उद्वलिते पुनरेका सती। आयुषस्तु यावद्बद्धमायुर्नोदेति तावत् द्वे प्रकृती सत्यौ उदिते तु तस्मिन् प्राक्तनं क्षीणमिति एका प्रकृतिः।

सम्प्रति मोहनीयस्य प्रकृतिसत्कर्मस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

एगाइ जाव पंचग-मिक्कारस बार तेरमिगवीसा ।
बिय तिय चउरो छ स-त्त अट्ठवीसा य मोहस्स ॥११॥

'एगाइ' त्ति मोहनीयस्य पञ्चदशप्रकृतिसत्कर्मस्थानानि।तद्यथा एका द्वे तिस्रः चतस्र' पञ्च एकादश द्वादश त्रयोदश एकविंशति. द्वाविंशति' त्रयोविंशतिः चतुर्विंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिश्चेति। एतानि सुखावबोधार्थं गाथाक्रमवैपरीत्येन भाव्यन्ते,तत्र मोहनीयस्य सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशति.। सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशति.। ततोऽपि सम्यङ्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः। अथवा अनादिमिथ्यादृष्टे. षड्विंशति.। अष्टाविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टये क्षीणे चतुर्विंशति.। ततो मिथ्यात्वे क्षीणे त्रयोविंशति. । ततः सम्यग्मिथ्यात्वे क्षीणे द्वाविंशति. । ततः सम्यक्त्वे क्षीणे एकविंशति.। ततोऽष्टसु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश । ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश । ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश । तत. षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च । तत पुरुषवेदे क्षीणे चतस्र.। तत. संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्र.। ततः सञ्ज्वलनमाने क्षीणे द्वे। संज्वलनमायाया च क्षीणायामेका।

सम्प्रत्येतानि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि गुणस्थानकेषु विचिन्तयन्नाह—

तिन्नेग तिगं पणगं, पणगं पणगं च पणगमह दोन्नि ।
दस तिन्नि दोन्नि मिच्छा-इगेसु जावोवसंतो त्ति ॥१२॥

'तिन्नेग' त्ति-यावदुपशान्तमोहगुणस्थानकं तावन्मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु यथासंख्यं त्र्यादीनि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि भवन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके त्रीणि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि। तद्यथा—अष्टाविंशतिः, सप्तविंशतिः, षड्विंशतिश्च। एतानि प्रागेव भावितानि । सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके एकं प्रकृतिसत्कर्मस्थानमष्टाविंशतिरूपम्। सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके त्रीणि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। इह योऽष्टाविंशतिसत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्वं गतस्तमाश्रित्याष्टाविंशति.। येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता पूर्वं सम्यक्त्वमुद्वलितं तत. सप्तविंशतिसत्कर्मणा सता सम्यग्मिथ्यात्वमनुभवितुमारब्धं तं प्रति सप्तविंशतिः। चतुर्विंशतिसत्कर्मणा सम्यग्मिथ्यादृष्टिं प्रतीत्य पुनश्चतुर्विंशति. प्राप्यते। तथाऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके पञ्चप्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति. चतुर्विंशतिः त्रयोविं-

शतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा । अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिक्षये वेदकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा चतुर्विंशतिः । वेदकसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः । तस्यैव सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिः । तथा देशविरतिगुणस्थानके पञ्चप्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तानि च पूर्वोक्तान्येव प्रमत्तसंयतगुणस्थानके । तान्येव चाप्रमत्तसंयतगुणस्थानके । 'अह दोन्नि' त्ति अथ-अनन्तरम् अपूर्वकरणगुणस्थानके द्वे प्रकृतिस्थाने, तद्यथा—चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । तत्रोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य चतुर्विंशतिः, क्षायिकसम्यग्दृष्टिमधिकृत्य द्वयोरपि श्रेण्योरेकविंशतिः । तथा अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके दशप्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र चतुर्विंशतिरुपशमश्रेणिमधिकृत्य, एकविंशतिं, क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्द्वयोरपि श्रेण्योः शेषाणि पुनः क्षपकश्रेण्यां, तानि च प्रागेव भावितानि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके त्रीणि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा-चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च । तत्र चतुर्विंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टेः, एकविंशतिश्च क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, एते च द्वे अपि प्रकृतिसत्कर्मस्थाने उपशमश्रेण्याम्, एका च क्षपकश्रेण्याम् । तथा—द्वे प्रकृतिसत्कर्मस्थाने उपशान्तमोहगुणस्थानके, तद्यथा--चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । एते च द्वे अपि प्रागिव भावनीये ।

सम्प्रति मतान्तरमाह--

संखीणदिट्ठिमोहे, केई पणवीसई पि इच्छंति ।
संजोयणाण पच्छा, नासं तेसिं उवसमं च ॥ १३ ॥

'सखीण' त्ति केचिदाचार्याः पञ्चविंशतिलक्षणमपि प्रकृतिसत्कर्मस्थानमिच्छन्ति । ते हि प्रथमतो दृष्टिमोहे दर्शनमोहनीयत्रितये सङ्क्षीणे क्षयमुपगते सति पश्चादनन्तानुबन्धिनां नाशमिच्छन्ति । ततस्तन्मतेन दर्शनमोहनीयत्रिक्षपणे सति पञ्चविंशतिरूपमपि प्रकृतिसत्कर्मस्थानं प्राप्यते । यद्येवं तर्हि तन्मतमिह कस्मान्नाभ्युपगम्यते ?, उच्यते-आर्षेण विरोधात् । यदाह चूर्णिकृत्—" तं आरिसे न मिलइ तेण न इच्छिज्जइ " त्ति । तथा त एवाचार्यास्तेषामनन्तानुबन्धिनामुपशमं चेच्छन्ति, नान्ये परमार्थवेदिनः । अत एव च प्रागनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽस्माभिर्नोपदर्शिता ।

सम्प्रति नामकर्मणः प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि प्रतिपिपादयिषुराह—

तिदुगसयं छप्पंचग, तिग नउई नउई गुणनउई य ।
चउ तिग दुगाहिगासि, नव अट्ठ य नाम ठाणाइं ॥ १४ ॥

'तिदुगसयं' त्ति--नामकर्मणो द्वादश प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिः नवतिः एकोननवतिः चतुरशीतिः त्र्यशीतिः द्व्यशीतिः नव अष्टौ चेति । तत्र सर्वनामकर्मप्रकृतिसमुदायस्त्र्युत्तरशतम् । तदेव तीर्थकररहितं द्व्युत्तरशतम्, त्र्युत्तरशतमेवाहारकसप्तकरहितं षण्णवतिः । सैव तीर्थकररहिता पञ्चनवतिः । पञ्चनवतिरेव देवद्विकरहिता नरकद्विकरहिता वा त्रिनवतिः । तथा—त्र्युत्तरशतमेव नामत्रयोदशकरहितं नवतिः । सैव तीर्थकररहिता एकोननवतिः । तथा त्रिनवतिर्नरकद्विकवैक्रियसप्तकरहिता देवद्विकवैक्रियसप्तकरहिता वा चतुरशीतिः । षण्णवतिस्त्रयोदशरहिता त्र्यशीतिः पञ्चनवतिस्त्रयोदशरहिता द्व्यशीतिः, अथवा—चतुरशीतिर्मनुजद्विकरहिता द्व्यशीतिः । मनुजगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकररूपा नव ता एव तीर्थकररहिता अष्टौ ।

एतान्येव प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

एगे छद्दोसु दुगं, पंचसु चत्तारि अट्ठगं दोसु ।
कमसो तीसु चउक्कं, छत्तु अजोगम्मि ठाणाणि ॥ १५ ॥

'एगे' त्ति—एकस्मिन्मिथ्यादृष्टिलक्षणे गुणस्थानके षट् प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिः चतुरशीतिः द्व्यशीतिः । ननु षण्णवतिस्तीर्थकरनामसहिता भवति ततः सा कथं मिथ्यादृष्टौ प्राप्यते ?, उच्यते—इह कश्चित् नरकेषु बद्धायुष्कः पश्चात्सम्यक्त्वं प्राप्य, तन्निमित्तं तीर्थकरनामकर्म बद्ध्वा नरकाभिमुखः सन् सम्यक्त्वं त्यक्त्वा मिथ्यादृष्टिर्जातः, ततो नरके उत्पन्नः सन् अन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं पुनरपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् षण्णवतिर्मिथ्यादृष्टौ प्राप्यते, आहारकसप्तकतीर्थकरनामसत्कर्मा च मिथ्यात्वं न प्रतिपद्यते । उक्तं च—'उभए संति न मिच्छो' इति ततस्त्र्युत्तरशतं मिथ्यादृष्टौ न प्राप्यते । तथा—द्वयोः सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकयोर्द्वे प्रकृतिसत्कर्मस्थाने, तद्यथा-द्व्युत्तरशतं पञ्चनवतिश्च । तथा—पञ्चसु अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकप्रभृतिषु अपूर्वकरणगुणस्थानकान्तेषु चत्वारि चत्वारि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि । तद्यथा-त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः । शेषाणि क्षपकश्रेण्यामेकेन्द्रियादौ च सम्भवन्तीति कृत्वा इह न प्राप्यन्ते । तथा द्वयोरनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायलक्षणयोर्गुणस्थानकयोरष्टकम्, अष्टौ प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि । तद्यथा-त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः नवतिः एकोननवतिः त्र्यशीतिः द्व्यशीतिश्च । तत्रानिवृत्तिबादरस्याद्यानि चत्वारि उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावन्न त्रयोदशकं क्षीयते, शेषाणि पुनः क्षपकश्रेण्यामेव । सूक्ष्मसम्परायस्याद्यानि चत्वारि उपशमश्रेण्यां, शेषाणि तु क्षपकश्रेण्याम् । तथा-त्रिषु उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु चत्वारि चत्वारि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि भवन्ति । तत्रोपशान्तमोहे इमानि चत्वारि, तद्यथा-त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः । क्षीणमोहसयोगिकेवलिनोः पुनरमूनि, तद्यथा-नवतिः एकोननवतिः त्र्यशीतिः द्व्यशीतिश्च । 'छत्तु अजोगम्मि ठाणाणि' त्ति अयोगिकेवलिनि षट् प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—नवतिः एकोननवतिः त्र्यशीतिः द्व्यशीतिः नव अष्टौ चेति । एतेषामाद्यानि चत्वारि अयोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावत्, चरमसमये तु

तीर्थकराऽतीर्थकरौ प्रतीत्य द्वे अन्तिमे प्रकृतिसत्कर्मस्थाने । तदेवमुक्तं प्रकृतिसत्कर्म । सम्प्रति स्थितिसत्कर्म वक्तव्यम् । तत्र त्रयोऽर्थाधिकाराः, तद्यथा—भेदः साधनादिप्ररूपणा स्वामित्वं चेति । तत्र भेद. प्रागिव । साधनादिप्ररूपणा च द्विधा—मूलप्रकृतिविषया, उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयां साधनादिप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

मूलठिई अजहन्नं, तिहा चउद्धा य पढमगकसाया ।
तित्थयरुव्वलणायुग-वज्जाणि तिहा दुहाणुत्तं॥१६॥

'मूलठिइ' त्ति मूलप्रकृतिस्थितिसत्कर्म अजघन्य त्रिधा-त्रिप्रकारम् । तद्यथा—अनादि ध्रुवमध्रुव च । तथाहि—मूलप्रकृतीनां जघन्य स्थितिसत्कर्म स्वस्वक्षयपर्यवसाने समयमात्रैकस्थित्यवशेषे भवति, तच्च सादि, अध्रुवं च । ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं , तच्चानादि , सदैव भावात् । ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत् । उत्कृष्टमनुत्कृष्टं च साद्यध्रुवं द्वयोरपि पर्यायेणानेकशो भवनात् । कृता मूलप्रकृतीना साधनादिप्ररूपणा , सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीना क्रियत—' चउद्धा य ' इत्यादि अत्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा , ततोऽयमर्थ.—प्रथमकषायाणामनन्तानुबन्धिनामजघन्यं स्थितिसत्कर्म चतुर्धा चतु.प्रकारं , तद्यथा—सादि अनादि ध्रुवमध्रुव च । तथाहि—एषा जघन्यं स्थितिसत्कर्म स्वक्षयोपान्त्यसमये स्वरूपापेक्षया समयमात्रैकस्थितिरूपम् , अन्यथा तु द्विसमयमान, तच्च साद्यध्रुव ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं , तदपि चोद्वलिताना भूयो बन्धे साऽऽदि,तत्स्थानमप्राप्तानां पुनरनादि, ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत् । तथा-तीर्थकरनामोद्वलनयोग्यत्रयोविंशत्यायुश्चतुष्टयवर्जिताना शेषाणा षड्विंशत्यधिकशतसंख्याना प्रकृतीनामजघन्यं स्थितिसत्कर्म त्रिधा, तद्यथा—अनादि ध्रुवमध्रुव च । तथाहि-एतेषा जघन्यं स्थितिसत्कर्म स्वस्वक्षयपर्यवसाने उदयवतीना समयमात्रैकस्थितिरूपम् ,अनुदयवतीना स्वरूपत. समयमात्रैकस्थितिकम् । अन्यथा तु द्विसमयमात्रम् , तच्च साद्यध्रुवम् । ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं तच्चानादि , सदैव भावात् । ध्रुवाऽध्रुवता पूर्ववत् । ' दुहाणुत्त ' ति । अनुक्तम्-उक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूप तीर्थकरनामोद्वलनयोग्यदेवद्विकनरकद्विकमनुजद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकोच्चैर्गोत्रसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपत्रयोविंशत्यायुश्चतुष्टयाना जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपं विकल्पचतुष्टयं द्विधा-द्विप्रकारं, तद्यथा—सादि, अध्रुव च । तथाहि—उक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टमनुत्कृष्टं च स्थितिसत्कर्म पर्यायेणानेकशो भवति । ततो द्वितयमपीद साद्यध्रुवम् । जघन्यं च प्रागेव भावितम् । तीर्थकरनामादीनां चाध्रुवसत्कर्मत्वाच्चत्वारोऽपि विकल्पा. साद्यध्रुवा अवसेया. । मूलप्रकृतीना चानुक्तं जघन्यमुत्कृष्टमनुत्कृष्ट च द्विप्रकारं प्रागेव चोक्तम् । तदेव कृता साधनादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम्।तच्च द्विधा उत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्व जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वं च । तत्र प्रथम उत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्वमाह—

जेट्ठठिई बंधसमं, जेट्ठं बंधोदया उ जासि सह ।
अणुदयबंधपराणं, समऊणा जट्ठिई जेट्ठं ॥ १७ ॥

'जेट्ठठिइ' त्ति-यासां प्रकृतीनां सह युगपत् बन्धोदयौ भवतः कासा युगपद्बन्धोदयौ भवत. इति चेदुच्यते-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयासातवेदनीयमिथ्यात्वषोडशकषायपञ्चेन्द्रियजातितैजससप्तकहुण्डसंस्थानवर्णादिविंशत्यगुरुलघुपराघातोच्छ्वासाप्रशस्तविहायोगत्युद्द्योतत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदु.स्वरानादेयायश कीर्त्तिनिर्माणनीचैर्गोत्रपञ्चविधान्तरायाणा तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य वैक्रियसप्तकस्य सर्वसंख्यया षडशीतिप्रकृतीनाम् तासा ज्येष्ठमुत्कृष्टंस्थितिसत्कर्म ज्येष्ठस्थितिबन्धसमम् उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं भवति । तासा हि उत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भेऽबाधाकालेऽपि प्राग्बद्धं दलिकं प्राप्यते । न च तासां प्रथमस्थितिरन्यत्र स्तिबुकसंक्रमेण संक्रामति , उदयवतीत्वात् । ततस्तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म प्राप्यते । अनुदयबन्धपराणा समयोना ज्येष्ठा स्थितिर्ज्येष्ठमुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । तत्रानुदये उदयाभावे पर उत्कृष्ट स्थितिबन्धो यासां ता अनुदयबन्धपरा निद्रापञ्चकनरकद्विकतिर्यग्द्विकौदारिकसप्तकैकेन्द्रियजातिसेवार्तसंहननातपस्थावररूपा विंशतिसंख्यास्तासां समयोना उत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । तथाहि—एतासामुत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भे यद्यप्यबाधाकालेऽपि प्राग्बद्धं दलिकमस्ति तथापि प्रथमस्थितिं तासामुदयवतीषु मध्ये स्तिबुकसंक्रमेण सक्रमयति । तेन तया प्रथमस्थित्या समयमात्रया ऊना उत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म। अथोच्येत-कथं निद्रादीनामनुदये सति बन्धेनोत्कृष्टा स्थितिः प्राप्यते ?, उच्यते-उत्कृष्टो हि स्थितिबन्ध उत्कृष्टे सङ्क्लेशे भवति । न चोत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमानस्य निद्रापञ्चकोदयसम्भव. नरकद्विकस्य तिर्यञ्चो मनुष्या वा उत्कृष्टस्थितिबन्धकाः । न च तेषा नरकद्विकोदय. सम्भवतीति शेषकर्मणां तु देवा नारका वा यथायोगमुत्कृष्टस्थितिबन्धका. । न च तेषु तेषामुदयो घटते ।

संकमओ दीहाणं, सहालिगाए उ आगमो संतो ।
समऊणमणुदयाणं, उभयासिं जट्ठिई तुल्ला ॥ १८ ॥

'सकमओ' त्ति यासा प्रकृतीना संक्रमत उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म प्राप्यते, न बन्धत , उदयोऽपि च विद्यते तासां संक्रमतो दीर्घाणा सक्रमवशलब्धोत्कृष्टस्थितिकाना य आगम. सक्रमेण आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागम. स आवलिकया उदयावलिकया सह उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । एतदुक्त भवति-सात वेदयमान. कश्चिदसातमुत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति । तच्च बद्धा सातं बद्धुं लग्न. । असातवेदनीय च बन्धावलिकातीतं सत आवलिकात् उपरितनं सकलमपि आवलिकाद्विकहीन त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं स्थितिसत्कर्म तस्मिन् सातवेदनीये वेद्यमाने बध्यमाने च उदयावलिकाया उपरिष्टात् सक्रमयति । ततस्तया उदयावलिकया सहितः संक्रमणावलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागमः सातवेदनीयस्योत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । एव नवनोकषायमनुजगतिप्रथमसंहननपञ्चकप्रथमसंस्थानपञ्चकप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययश.कीर्त्युच्चैर्गोत्राणामष्टाविंशतिप्रकृतीनामावलिकाद्विकहीन. स्वस्वसजातीयोत्कृ-

ष्टस्थितिसमागमः उदयावलिकया सहित उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म भावनीयम् । सम्यक्त्वस्य पुनरन्तर्मुहूर्तोन उत्कृष्टस्थितिसमागम उदयावलिकया सहित उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म । तथाहि—मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिं बद्धा तत्रैव च मिथ्यात्वेऽन्तर्मुहूर्त्त स्थित्वा ततः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । तस्मिंश्च प्रतिपन्ने सति मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिम्—आवलिकात उपरितनी स्थितिं—तथापि सख्ययाऽन्तर्मुहूर्तोनसप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां सकलामपि सम्यक्त्वे उदयावलिकात उपरि संक्रमयति । ततोऽन्तर्मुहूर्तोन एवोत्कृष्टस्थितिसमागम उदयावलिकया सहितः सम्यक्त्वस्योत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । यासा पुन. प्रकृतीनां संक्रमत उत्कृष्टा स्थितिः प्राप्यते, नच संक्रमकाले उदयोऽस्ति, तासां संक्रमकालेऽनुदयानां तावदेव पूर्वोक्तं स्थितिसत्कर्म समयोनमवगन्तव्यम्, आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागम आवलिकया सहित. समयोनस्तासामुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्मेत्यर्थ. । तथाहि—कश्चिन्मनुष्य उत्कृष्टसंक्लेशवशादुत्कृष्टां नरकगतिस्थितिं बद्धा परिणामपरावर्तनेन देवगतिं बद्धुमारब्धवान्; तस्यां च देवगतौ बध्यमानायामावलिकाया उपरि नरकस्थितिं बन्धावलिकातीताम् उदयावलिकाया उपरितनीं सकलामपि विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां संक्रमयति । प्रथमा च स्थिति समयमात्रा देवगतेः सत्का मनुजगतौ वेद्यमानाया स्तिवुकसंक्रमेण संक्रामति । त तल्लया समयमात्रया स्थित्या ऊन आवलिकयाऽभ्यधिक आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागमो देवगतेरुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । एव द्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्याहारकसप्तकमनुजानुपूर्वीदेवानुपूर्वीसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणतीर्थकराख्यानामपि षोडशप्रकृतीनां यथोक्तमानमुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म भावनीयम् । सम्यङ्मिथ्यात्वस्य पुनरन्तर्मुहूर्तोन उत्कृष्टस्थितिसमागम आवलिकयाऽभ्यधिकसमयोन उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म वाच्यम्, तच्च सम्यक्त्वोक्तभावनानुसारेण भावनीयम्, 'उभयासिंअट्ठिई तुल्ला' त्ति उभयीषामुदयवतीनामनुदयवतीना च प्रकृतीनां संक्रमोत्कृष्टस्थितीना संक्रमकाले यत्स्थिति' सर्वा स्थितिस्तुल्या । यतोऽनुदयवतीनामपि तदानीं प्रथमस्थितिः स्तिवुकसंक्रमेणोदयवतीषु संक्रम्यमाणाऽपि दलिकरहिता विद्यत एव । न हि काल. संक्रमयितुं शक्यते, किं तु तत्स्थं दलिकमेव । तत. प्रथमस्थितिगतदलिकसंक्रान्तावपि दलिकरहिता प्रथमा स्थिति. तदानीं विद्यत एवेति कृत्वा उभयीषामपि यत्स्थितिः तुल्या । यश्च यासा प्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, यश्च यासामुत्कृष्टा स्थितिं संक्रमयति, स तासामुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामी । तदेवमुक्तमुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्वम् ।

सम्प्रति जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वमाह—

संजलणतिगे सत्तसु, य नोकसाएसु संकमजहन्नो ।
सेसाण ठिई एगा, दुसमयकाला अणुदयाणं ॥ १६ ॥

'संजलणतिगे' त्ति—संज्वलनत्रिकस्य—क्रोधमानमायारूपस्य सप्तानां च नो कषायाणां पुरुषवेदहास्यादिषट्करूपाणां जघन्यस्थितिसत्कर्म जघन्यस्थितिसंक्रमो वेदितव्य । एता हि प्रकृतयो बन्धे उदये च व्यवच्छिन्ने सति अन्यत्र संक्रमेण क्षयं नीयन्ते, तेन एतासां य एव चरमसंक्रमः स एव जघन्यं स्थितिसत्कर्म । उक्तं च—"हासाइपुरिसकोहा-दि तिन्नि संजलण जेण बन्धुदये । वोच्छिन्ने संकमई, तेण इहं संकमो चरिमो ॥ १ ॥" जघन्यं स्थितिसत्कर्मेति सम्बन्धः । शेषाणां पुनरुदयवतीनां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयवेदकसम्यक्त्वसंज्वलनलोभायुश्चतुष्टयनपुंसकवेदस्त्रीवेदसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रमनुजगति—पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरान्तरायपञ्चकरूपाणां प्रकृतीना चतुस्त्रिंशत्संख्यानां स्वस्वक्षयपर्यवसानसमये या एका समयमात्रा स्थितिः सा जघन्यं स्थितिसत्कर्म । अनुदयवतीनां पुनः प्रकृतीना स्वस्वक्षयोपान्त्यसमये या स्वरूपापेक्षया समयमात्रा स्थितिरन्यथा तु द्विसमयमात्रकाला, सा जघन्यं स्थितिसत्कर्म । अनुदयवतीना हि चरमसमये स्तिवुकसंक्रमेणोदयवतीषु प्रकृतिषु मध्ये प्रक्षिपति, तत्स्वरूपेण चानुभवति; तेन चरमसमये तासां दलिकं स्वरूपेण न प्राप्यते, किं तु पररूपेण । अत उक्तम्—'उपान्त्यसमये स्वरूपापेक्षया समयमात्रा अन्यथा तु द्विसमयमात्रकालेति ।' सम्प्रति सामान्येन सर्वकर्मणा जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी प्रतिपाद्यते—तत्रानुबन्धिनां दर्शनमोहनीयत्रिकस्य चाविरताऽऽदिरप्रमत्तपर्यन्तो यथासभवं जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी । नारकतिर्यग्देवायुषा नारकतिर्यग्देवाः स्वस्वभवचरमसमये वर्तमाना. । कषायाष्टकस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकनवनोकषायसंज्वलनत्रिकरूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरसम्पराय. । संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपराय. । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कान्तरायपञ्चकानां क्षीणकषाय. , शेषाणा पञ्चनवतिसंख्यानामयोगिकेवली जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी । तदेवमुक्तं जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वम् ।

सम्प्रति स्थितिभेदप्ररूपणार्थमाह—

ठिइसंतट्ठाणाइं, नियगुक्कस्सा हि थावरजहन्नं ।
नेरंतरेण हेट्ठा, खवणाइसु संतराइं पि ॥ २० ॥

'ठिइसंतट्ठाणाइं' ति सर्वेषां कर्मणां स्वकीयात्स्वकीयादुत्कृष्टात् स्थितिस्थानात् समयमात्रादारभ्याधस्तात्तावदवतरीतव्यं यावत् स्थावरजघन्यम् एकेन्द्रियप्रायोग्यं जघन्यं स्थितिसत्कर्म । एतावता स्थितिकण्डके यावन्त. समयास्तावन्ति स्थितिस्थानानि नानाजीवापेक्षया निरन्तरेण—नैरन्तर्येण लभ्यन्ते । तद्यथा—उत्कृष्टा स्थितिरेकं स्थितिस्थानम् । समयोना उत्कृष्टा स्थितिर्द्वितीयं स्थितिस्थानम् । द्विसमयोना उत्कृष्टा स्थितिस्तृतीयं स्थितिस्थानम् । एवं तावद्वाच्यं यावदेकेन्द्रियप्रायोग्यं जघन्यं स्थितिसत्कर्म । एकेन्द्रियप्रायोग्याच्च जघन्यस्थितिसत्कर्मणोऽधस्तात् क्षपणादिषु क्षपणे उद्वलने च सान्तराणि स्थितिस्थानानि लभ्यन्ते । अपिशब्दान्निरन्तराणि च । कथमिति—चेदुच्यते—एकेन्द्रियप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मण उपरितनाग्रिमभागात्पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं खण्डयितुमारभते । खण्डनाच्च प्रथमसमयादारभ्य च समये समयेऽन्ता(दु)दयवतीनामनुभावनानुदयवतीना स्तिवुक—

संक्रमेण समयमात्रा समयमात्रा स्थितिः क्षीयते । ततः प्रतिसमयं स्थितिविशेषा लभ्यन्ते । तद्यथा—तत्स्थावरप्रायोग्यं जघन्यं स्थितिसत्कर्म प्रथमसमयेऽतिक्रान्ते समयहीन द्वितीये समयेऽतिक्रान्ते द्विसमयहीनम् । तृतीये समयेऽतिक्रान्ते त्रिसमयहीनमित्यादि । अन्तर्मुहूर्त्तेन च कालेन तत्स्थितिखण्डं खण्डयति । तत एतावती स्थितिर्युगपदेव त्रुटितेति कृत्वाऽन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं निरन्तराणि स्थितिस्थानानि लभ्यन्ते । ततः पुनरपि द्वितीय पल्योपमासंख्येयभागमात्रमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण खण्डयति । तत्रापि प्रतिसमयमधः समयमात्रसमयमात्रस्थितिक्षयापेक्षया निरन्तराणि स्थितिस्थानानि पूर्वप्रकारेण लभ्यन्ते । द्वितीये च स्थितिखण्डे खण्डिते सति पुनरपि पल्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिर्युगपदेव त्रुटितेति न भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं निरन्तराणि स्थितिस्थानानि लभ्यन्ते एवं तावद्वाच्यं यावदावलिकाशेषा भवति । साऽपि चावलिका उदयवतीनामनुभवेनानुदयवतीनां स्तिबुकसंक्रमेण समये समये क्षयमुपयाति तावद्यावदेका स्थितिः ।' ततोऽमूनि आवलिकामात्रसमयप्रमाणानि स्थितिस्थानानि निरन्तराणि लभ्यन्ते । तदेवं स्थितिस्थानभेदोपदर्शनमपि कृतम् ।

सम्प्रत्यनुभागसत्कर्मप्ररूपणार्थमाह-

संकमसममणुभागे, नवरि जहन्नं तु देसघाईणं ।
छण्णोकसायवज्जाँण, एगट्ठाणम्मि देसहरं ॥ २१ ॥
मणनाणे दुट्ठाणं, देसहरं सामिगोयसम्मत्ते ।
आवरणविग्घसोलस–ग किट्टिवेएसु य सगंते ॥ २२ ॥

'संकमसममि' त्यादि-अनुभागसंक्रमेण तुल्यमनुभागसत्कर्म वक्तव्यम् । एतदुक्तं भवति-यथाऽनुभागसंक्रमे स्थानप्रत्ययविपाकशुभाशुभत्वसाद्यनादित्वस्वामित्वानि प्राक् प्रतिपादितानि तथैवात्राप्यनुभागसत्कर्मणि वक्तव्यानि । नवरमय विशेषो यदुत देशघातिनीनां हास्यादिषट्कवर्जितानां मतिश्रुतावधिज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणसंज्वलनचतुष्टयवेदत्रिकान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टादशप्रकृतीनां जघन्यानुभागसत्कर्मस्थानमधिकृत्य एकस्थानीयं, घातिसंज्ञामधिकृत्य देशहरं देशघाति वेदितव्यम् । मनःपर्यायज्ञानावरणे पुनर्जघन्यमनुभागसत्कर्मस्थानमधिकृत्य द्विस्थानं, घातिसंज्ञामधिकृत्य देशघाति । इहोत्कृष्टानुभागसत्कर्मस्वामिन उत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामिन एव वेदितव्याः । जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामिनः पुनराह—'सामिगोये' त्यादि । सम्यक्त्वज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकरूपप्रकृतिषोडशककिट्टिरूपसंज्वलनलोभवेदत्रयाणां स्वस्वान्तिमसमये वर्तमाना जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामिनो वेदितव्या ।

अत्रैव विशेषमाह—

मइसुयचक्खु अचक्खू–ण सुयसमत्तस्स जेट्ठलद्धिस्स ।
परमोहिस्सोहिदुगं, मणनाणं विउलनाणस्स ॥ २३ ॥

'मइसुय'त्ति-मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणचक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणानां श्रुतसमाप्तस्य सकलश्रुतपारगामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्येत्यर्थः । ज्येष्ठलब्धिकस्य उत्कृष्टायां श्रुतार्थलब्धौ वर्तमानस्य जघन्यमनुभागसत्कर्म । इदमत्र तात्पर्यम्-मतिज्ञानावरणादीनां चतसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टश्रुतार्थसम्पन्नश्चतुर्दशपूर्वधरो जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामी वेदितव्यः । तथा परमावधिज्ञानेनावधिद्विकमवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणरूप जघन्यानुभागसत्कर्म भवति । एतदुक्तं भवति-अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्जघन्यानुभागसत्कर्म—स्वामी परमावधियुक्तो वेदितव्यः । तथा मनोज्ञानं मनःपर्यायज्ञानावरणं जघन्यानुभागसत्कर्म विपुलमनःपर्यायज्ञानिनोऽवगन्तव्यम्, स्वामित्वभावना अवधिज्ञानावरणवत् । लब्धिसहितस्य हि प्रभूतोऽनुभागः प्रलयमुपयातीति 'परमोहिस्से' त्याद्युक्तम् । शेषाणां तु प्रकृतीनां य एव जघन्यानुभागसंक्रमस्वामिनस्त एव जघन्यानुभागसत्कर्मणोऽपि द्रष्टव्याः ।

इदानीमनुभागसत्कर्मस्थानभेदप्ररूपणार्थमाह—

बंधहयहयहउप्प–त्तिगाणि कमसो असंखगुणियाणि ।
उदयोदीरणवज्जा–णि होंति अणुभागठाणाणि ॥२४॥

'बंध' त्ति इहानुभागस्थानानि त्रिधा, तद्यथा—बन्धोत्पत्तिकानि हतोत्पत्तिकानि हतहतोत्पत्तिकानि च । तत्र बन्धादुत्पत्तिर्येषां तानि बन्धोत्पत्तिकानि । तानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तद्धेतूनामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तथा उद्वर्तनापवर्तनाकरणवशतो वृद्धिहानिभ्यामन्यथाऽन्यथा यान्यनुभागस्थानानि वैचित्र्यभाञ्जि भवन्ति, तानि हतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते । हतात् घातात् पूर्वावस्थाविनाशरूपादुत्पत्तिर्येषां तानि हतोत्पत्तिकानि तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि, एकैकस्मिन् बन्धोत्पत्तिके स्थाने नानाजीवापेक्षया उद्वर्तनापवर्तनाभ्यामसंख्येयभेदकरणात् । यानि पुनः स्थितिघातेन रसघातेन चान्यथाऽन्यथाभवनादनुभागस्थानानि जायन्ते, तानि च हतहतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते । हते उद्वर्त्तनापवर्तनाभ्यां घाते सति भूयोऽपि हतात् स्थितिघातेन रसघातेन वा घातादुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतोत्पत्तिकानि । तानि चोद्वर्तनापवर्तनाजन्येभ्योऽसंख्येयगुणानि । सम्प्रत्यक्षरयोजना क्रियते—यानि उदयत उदीरणातश्च प्रतिसमयं क्षयसम्भवात् अन्यथाऽन्यथानुभागस्थानानि जायन्ते, तानि वर्जयित्वा शेषाणि बन्धोत्पत्तिकादीनि अनुभागस्थानानि क्रमशोऽसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि उदयोदीरणाजन्यानि कस्माद्वर्ज्यन्त इति चेदुच्यते—यस्मादुदयोदीरणयोः प्रवर्तमानयोर्नियमात् बन्धोद्वर्तनापवर्तनास्थितिघातरसघातजन्यानामन्यतमान्यवश्यं सम्भवन्ति, तत्र उदयोदीरणाजन्यानि तत्रैवान्तः प्रविशन्तीति न पृथक् क्रियन्ते ।

तदेवमुक्तमनुभागसत्कर्म । सम्प्रति प्रदेशसत्कर्म वक्तव्यं, तत्र चैतेऽर्थाधिकाराः, तद्यथा—भेदः साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्वं चेति । तत्र भेदः प्राग्वत् । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्त्तव्या, सा च द्विधा-मूलप्रकृतिविषया, उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र मूलप्रकृतिविषयां तां चिकीर्षुराह—

सत्तण्हं अजहण्णं, तिविहं सेसा दुहा पएसम्मि ।
मूलपगईसु आउस्सु, साई अधुवा य सव्वे वि ॥ २५ ॥

'सत्तरहं' ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामजघन्यं प्रदेशसत्कर्म त्रिविधं त्रिप्रकारम्, तद्यथा-अनादि, ध्रुवम्, अध्रुवं च। तत्र क्षपितकर्मांशस्य आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्वस्वक्षयावसरे चरमस्थितौ वर्तमानस्य जघन्य प्रदेशसत्कर्म। तच्च साद्यध्रुवं ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यम्, तच्चानादि, सदैव सद्भावात्। ध्रुवाध्रुवताऽभव्यभव्यापेक्षया। 'सेसा दुह' त्ति शेषा विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूपा द्विधा-द्विप्रकाराः, तद्यथा-साद्योऽध्रुवाश्च। तत्रोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मगुणितकर्मांशस्य मिथ्यादृष्टेः सप्तमपृथिव्यां वर्तमानस्य प्राप्यते। शेषकालं तु तस्याप्यनुत्कृष्टं ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे। जघन्यं तु भावितमेव। तथा आयुषः सर्वेऽपि विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरूपाः सादयोऽध्रुवाश्च, अध्रुवसत्कर्मत्वात्।

सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीरधिकृत्य साऽऽद्यनादिप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

बायालाणुक्कस्सं, चउवीससया जहन्न चउतिविहं।
होइह छएह चउद्धा, अजहन्नमभासियं दुविहं॥ २६॥

'बायाल' त्ति सातवेदनीयसंज्वलनचतुष्टयपुरुषवेदपञ्चेन्द्रियजातितैजससप्तकप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननशुभवर्णाशुभवर्णाद्येकादशकागुरुलघुपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिनिर्माणरूपाणां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म चतुर्विधम्। तद्यथा-साद्यनादि ध्रुवमध्रुवं च। तद्यथा—वज्रर्षभनाराचवर्जानां शेषाणामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां क्षपकश्रेण्यां स्वस्वबन्धान्तसमये गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति, तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साद्यध्रुवम्। ततोऽन्यत्सर्वमनुत्कृष्टम्। तदपि च द्वितीये समये भवत्सादि। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। वज्रर्षभनाराचसंहननस्य तु सप्तमपृथिव्यां सम्यग्दृष्टेर्नारकस्य मिथ्यात्वगन्तुकामस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म तच्च साद्यध्रुवं, ततोऽन्यदनुत्कृष्टं, तदपि च द्वितीये समये भवत्सादि। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि। ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। अनन्तानुबन्धियशःकीर्तिसंज्वलनलोभवर्जितानां चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यानां ध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनामजघन्यं प्रदेशसत्कर्म त्रिविधम्। तद्यथा-अनादि, ध्रुवम्, अध्रुवं च। तथाहि-एतासां क्षपितकर्मांशस्य स्वस्वक्षयचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साद्यध्रुवं च। ततोऽन्यदजघन्यम्, तच्चानादि, सदैव सद्भावात्। ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्। 'चउतिविह' ति यथासंख्येन योजनीयम्, द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टं चतुर्विधं, ध्रुवसत्कर्मणा चाजघन्यं त्रिविधमिति। तथाऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयसंज्वलनलोभयशःकीर्तिरूपाणां षण्णां प्रकृतीनामजघन्य प्रदेशसत्कर्म चतुर्विधम्। तद्यथा—सादि, अनादि, ध्रुवम्, अध्रुवं च। तथाहि-अनन्तानुबन्धिनामुद्वलके क्षपितकर्मांशे यदा शेषीभूता एका स्थितिर्भवति तदा जघन्यं प्रदेशसत्कर्म। तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साद्यध्रुवं च ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यम्। तदुद्वलितानां मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽपि बध्यमानानां सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि। ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। यशःकीर्तिसंज्वलनलोभयोः पुनः क्षपितकर्मांशस्य क्षपणायोद्यतस्य यथाप्रवृत्तिकरणस्यान्तिमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म। तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साद्यध्रुवं च। ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यम् तदपि चानिवृत्तिकरणप्रथमसमये गुणसंक्रमेण प्रभूतस्य दलिकस्य प्राप्यमाणत्वात् अजघन्यं भवत् सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि। ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्। 'अभासियं दुविहं' ति अभाषितम्-अनुक्तं सर्वासां प्रकृतीनां द्विविधं-द्विप्रकारमवगन्तव्यम्। तद्यथा-साद्यध्रुवं च। तत्र द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामभाषितं जघन्यमजघन्यमुत्कृष्टं च। तत्रोत्कृष्टं द्विप्रकारं भावितमेव। जघन्याजघन्यता च वक्ष्यमाणं स्वामित्वमवलोक्य स्वयमेव भावनीया। ध्रुवसत्कर्मणां च चतुर्विंशतिशतसंख्यानामभाषितमुत्कृष्टमनुत्कृष्टं जघन्यं च। तत्र जघन्यं भावितमेव। उत्कृष्टानुत्कृष्टे मिथ्यादृष्टौ गुणितकर्मांशे प्राप्येते। ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे। एवमनन्तानुबन्धिसंज्वलनलोभयशःकीर्तीनामपि उत्कृष्टानुत्कृष्टे भावनीये। जघन्य तु भावितमेव शेषाणां चाध्रुवसत्कर्मणां चत्वारोऽपि विकल्पाः साद्यध्रुवा अध्रुवसत्कर्मत्वादवसेयाः।

तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा। सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम्। तच्च द्विधा-उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वं जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वं च। तत्रोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वमाह—

संपुन्नगुणियकम्मो, पएसउक्कस्ससंतसामी उ।
तस्सेव उ उप्पिविणि-ग्गयस्स कासिं चि वन्नेहिं॥ २७॥

'संपुन्न' त्ति—उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी सम्पूर्णगुणितकर्मांशः सप्तमपृथिव्यां नारकश्चरमसमये वर्तमान. प्राय. सर्वासामपि प्रकृतीनामवगन्तव्य। कासांचित्पुनः प्रकृतीनां तस्यैव सम्पूर्णगुणितकर्मांशस्य सप्तमपृथिव्या विनिर्गतस्योपरिष्टात् विशेषोऽस्ति, ततस्तमहं वर्णयामि वर्णयिष्यामि। "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (पा०-३३-३१३) इति (श्रीसि०—३—४—८८) भविष्यति वर्तमान.।

प्रतिज्ञातमेवाऽऽह—

मिच्छत्ते मीसम्मि य, संपक्खित्तम्मि मीस सुद्धाणं।
वरिसवरस्स उ ईसा-णगस्स चरमम्मि समयम्मि॥ २८॥

'मिच्छत्ते' त्ति—स,प्रागभिहितस्वरूपो गुणितकर्मांश स-प्तमपृथिव्या उद्वृत्य तिर्यक्षूत्पन्न., तत्राप्यन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र सम्यक्त्वं प्राप्य सप्तकक्षपणाय शीघ्रमभ्युद्यतः। ततो यस्मिन् समये मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वे सर्वसंक्रमेण प्रक्षिपति, तस्मिन्समये सम्यग्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म। तदपि च सम्यग्मिथ्यात्वं यस्मिन् समये सर्वसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति, तस्मिन् समये सम्यक्त्वस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म। अक्षरयोजना त्वियम्—मिथ्यात्वे मिश्रे च यथासंख्यं मिश्र सम्यक्त्वे च प्रक्षिप्ते सति तयोर्मिश्रशुद्धयो. मिश्रसम्यक्त्वयोरुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति। तथा स एव गुणितकर्मांशो नारकस्तिर्यग्भूत्वा कश्चिदीशानदेवो जातः। सोऽपि च तत्रातिसंक्लिष्टो भूयो भूयो भूयो नपुंसकवेदं बध्नाति। तदानीं च तस्य स्वभवान्त्यसमये वर्तमानस्य वर्षवरस्य नपुंसकवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म।

ईसाणे पूरित्ता, नपुंसगंतो असंखवासासु ।
पल्लासंखियभागे-ण पूरिए इत्थिवेयस्स ॥ २६ ॥

'ईसाणे'त्ति—ईशानदेवलोके उत्कृष्टप्रकारेण नपुंसकवेदमापूर्य नपुंसकवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसचयं कृत्वा ततः सख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्य पुनरसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पन्नः। तत्र च तेन संक्लिष्टेन भूत्वा पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन पूरिते स्त्रीवेदे बन्धेन नपुंसकवेददलिकसंक्रमेण च प्रभूतमापूरिते स्त्रीवेदे सति तदानीं तस्य स्त्रीवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति।

पुरिसस्स पुरिससंकम-पएसउक्कस्स सामिगस्सेव ।
इत्थी जं पुण समयं, संपक्खित्ता हवइ ताहे ॥ ३० ॥

'पुरिसस्स'त्ति—पुरुषस्य पुरुषवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म उत्कृष्टपुरुषवेदसंक्रमस्वामिन एव वेदितव्यम् , एतदुक्तं भवति—य एवोत्कृष्टपुरुषवेदसक्रमस्वामी स एवोत्कृष्टपुरुषवेदप्रदेशसत्कर्मस्वाम्यपि वेदितव्य.। नवरं यं समयं यस्मिन् समये स्त्रीवेदं पुरुषवेदे संप्रक्षेप्ता भवति संक्रमयति 'ताहे' तदानीं पुरुषवेदस्योत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी।

तस्सेव उ संजलणा, पुरिसाइकमेण सव्वसंछोभे ।
चउरुवसमित्तु खिप्पं, रागंते सायउच्चजसा ॥ ३१ ॥

'तस्सेव'त्ति-य एव पुरुषवेदोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी तस्यैव सज्ज्वलनाश्चत्वारः क्रोधादय. क्रमेण पुरुषवेदादिसत्कदलिकसर्वसंक्षोभे उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मणो भवन्ति । इयमत्र भावना—य एव पुरुषवेदोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी यदा पुरुषवेदं सर्वसंक्रमेण संज्वलनक्रोधे संक्रमयति तदा संज्वलनक्रोधोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी । स एव यदा सज्वलनक्रोधं सर्वसक्रमेण माने संक्रमयति तदा संज्वलनमानोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी । स एव संज्वलनमानं सर्वसंक्रमेण संज्वलनमायाया संक्रमयति तदा संज्वलनमायोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी। स एव यदा संज्वलनमायां सर्वसक्रमेण संज्वलनलोभे संक्रमयति तदा संज्वलनलोभोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी। तथा चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य गुणितकर्मांशः शीघ्रं क्षपणायोत्थितस्तस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकचरमसमये वर्तमानस्य सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिनामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । यस्मादेतासु प्रकृतिषु श्रेण्यामारूढ. सन् गुणसक्रमेण प्रभूतान्यशुभप्रकृतिदलिकानि सक्रमयति। ततः सूक्ष्मसम्परायचरमसमये एतासामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म प्राप्यते। उक्तं च—" चउरुवसामिय मोहं, जसुच्चसायाण सुहुमखवगते। ज असुभपगइदलिया-ण, संकमो होइ एयासु ॥ १ ॥"

देवनिरियाउगाणं, जोगुक्कस्सेहिँ जेट्ठगद्धाए ।
बद्धाणि ताव जावं, पढमे समए उदिन्नाणि ॥ ३२ ॥

'देवनिरियाउगाण'ति-देवनारकायुषोरुत्कृष्टैर्योगैरुत्कृष्टया च बन्धाऽद्धया द्वयोः सतोस्तावदुत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म प्राप्यते, यावत्प्रथमे समये उदीर्णे उदयप्राप्ते भवतः। किमुक्तं भवति—बन्धाद्दारभ्योदयप्रथमसमयं यावद्देवनारकायुषोरुत्कृष्टप्रकारेण द्वयोरुत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म भवति।

सेसाउगाणि नियगे-सु चेव आगम्म पुव्वकोडीए ।
सायबहुलस्स अचिरा, बंधंते जाव नो वट्टे ॥ ३३ ॥

'सेसाउगाणि' त्ति—शेषायुषी—तिर्यङ्मनुष्यायुषी। 'पुव्वकोडीए' त्ति पूर्वकोट्योपलक्षिते पूर्वकोटिप्रमाणे उत्कृष्टया बन्धाऽद्धया उत्कृष्टैर्योगैर्बद्धे। बद्धा च निजकेषु भवेषु निजनिजभवे समागत्य, सातबहुल सन् ते आयुषी यथायोगमनुभवति । दुःखितस्य हि न भूयास आयुःपुद्गला. परिसटन्तीति कृत्वा सातग्रहणं कृतम्। ततोऽचिरात् बन्धान्ते इति उत्पत्तिसमयादूर्ध्वमन्तर्मुहूर्तमात्रमेव स्थित्वा मर्तुकामो जातः सन् उत्कृष्टया बन्धाऽद्धया उत्कृष्टैश्च योगैरन्यत् पारभविकं समानजातीयं मनुष्यो मनुष्यायु. तिर्यङ् च तिर्यगायुर्बध्नाति। ततो बन्धान्तसमये यावन्नाद्याप्यपवर्तयति तावत्तस्य सातबहुलस्य मनुष्यस्य सतो मनुष्यायुष. तिरश्चः (च) सतस्तिर्यगायुष उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति। यतस्तस्य तदानीं स्वभवायु' किञ्चिदूनं परभवायुश्च समानजातीयं परिपूर्णदलिकमस्तीति कृत्वा, बन्धान्तरं चायुर्वेद्यमानं द्वितीये समयेऽपवर्तयिष्यति, ततः उक्तं बन्धान्ते इति।

पूरितु पुव्वकोडी, पुहुत्तनारगदुगस्स बंधंते ।
एवं पल्लतिगंते, वेउव्वियसेसनवगम्मि ॥ ३४ ॥

'पूरितु' त्ति-पूर्वकोटीपृथक्त्वं पूर्वकोटीसप्तक यावत् सक्लिष्टाध्यवसायवशेन नरकद्विकं नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणं भूयोभूय आपूर्य बन्धेन निचितं कृत्वा नरकाभिमुखो बन्धान्तसमये नरकद्विकस्योत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी। तथा एवम्-अनेनैव प्रकारेण पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावत् भोगभूमिषु मध्ये पल्योपमत्रयं च यावद्विशुद्धाध्यवसायवशेन वैक्रियैकादशकात् नरकद्विकेऽपनीते शेषं यद्वैक्रियनवक देवद्विक वैक्रियसप्तक चेत्यर्थः। तत् बन्धेनापूर्य देवत्वाभिमुखस्तासां देवद्विकवैक्रियसप्तकरूपाणां नवप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी।

तमतमगो सव्वलहुं, सम्मत्तं लभिय सव्वचिरमद्धं ।
पूरित्ता मणुयदुगं, स वज्जरिसहं सबंधंते ॥ ३५ ॥

'तमतमगो' त्ति-तमस्तमग. सप्तमपृथ्वीनारकः। सर्वलघु-अतिक्षिप्रं जन्मानन्तरमन्तर्मुहूर्ते गते सतीत्यर्थः। सम्यक्त्वं लब्ध्वा। 'सव्वचिरमद्ध' ति अतिदीर्घं कालं यावत् सम्यक्त्वमनुपालयन् मनुष्यद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहननं च बन्धेनापूर्य यतोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वं यास्यति तस्मिन् समये बन्धाऽद्धाचरमभूते तयोर्मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननयोरुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति।

सम्मद्दिट्ठिधुवाणं, बत्तीसुदहीसयं चउक्खुत्तो ।
उवसामइत्तु मोहं, खवेंतगे नियगबंधंते ॥ ३६ ॥

'सम्मद्दिट्ठि' त्ति-याः प्रकृतयः सम्यग्दृष्टीनां बन्धमाश्रित्य ध्रुवाः पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकसुस्वरसुभगादेयरूपा द्वादश तासां द्वात्रिंशदधिकसागरोपमाणां शतं यावद्बन्धेनोपचितानां चतुःकृत्वः चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य। मोहनीयं हि उपशमयन् प्रभूतानि दलिकानि गुणसंक्रमेण

संक्रमयतीति कृत्वा चतुःकृत्वो मोहोपशमग्रहणम् । ततः क्षपणायोद्यतस्य निजबन्धव्यवच्छेदकाले उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति ।

धुवबंधीण सुभाणं, सुभथिराणं च नवरि सिग्घयरं ।
तित्थगराहारगतणू, तेत्तीसुदही विरचिया य ॥ ३७ ॥

'धुवबंधीण' त्ति-याः शुभध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयस्तैजससप्तकशुभवर्णाद्येकादशकगुरुलघुनिर्माणरूपा विंशतिप्रकृतयः तासां शुभस्थिरयोश्च पूर्वोक्तेन प्रकारेणोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भावनीयम् । नवरं चतुःकृत्वो मोहनीयोपशमनानन्तरं शीघ्रतरं क्षपणायोद्यतस्येति वक्तव्यं शेषं तथैव । तथा तीर्थकरनाम्नो गुणितकर्मांशेन देशोनपूर्वकोटिद्विकाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्बन्धेन पूरितस्य स्वबन्धान्तसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । आहारकतनोराहारकसप्तकस्य तु विरचितस्य देशोनपूर्वकोटिं यावत् भूयो भूयो बन्धेनोपचितस्य स्वबन्धव्यवच्छेदसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म ।

तुल्ला नपुंसवेए, एगिंदियथावरायवुज्जोया ।
विगलसुहुमत्तिया वि य, नरतिरिय चिरऽज्जिया होंति॥३८

'तुल्ल' त्ति—नपुंसकवेदेन तुल्या एकेन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योता वेदितव्याः । यथा नपुंसकवेदस्य ईशानदेवभवचरमसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मोक्तं तथा एतेषामपि द्रष्टव्यमित्यर्थः । विकलत्रिकं द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिरूपं, सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपं यदा पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावत् तिर्यङ्मनुष्यभवैरर्जितं भवति, तदा स्वबन्धान्तसमये तेषां तिर्यङ्मनुष्याणां तद्विकलत्रिकादिकमुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्म भवति । तदेवमुक्तमुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वम् ।

सम्प्रति जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वमाह—

खवियं सयम्मि पगयं, जहन्नगे नियगसंतकम्मंते ।
खणसंजोइय संजो-यणाण चिरसम्मकालंते ॥ ३९ ॥

'खवियं'ति-जघन्ये-जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वे प्रकृतमधिकारः । क्षपितकर्मांशेन । सूत्रे चात्र सप्तमी तृतीयार्थे वेदितव्या । 'नियगसंतकम्मंते' त्ति स्वस्वसत्ताचरमसमये । एवं तावत्सर्वकर्मणां सामान्येनोक्तम् । सम्प्रति पुनर्येषां कर्मणां विशेषोऽस्ति तानि पृथगेवाह-'खणे' त्यादि इह क्षपितकर्मांशेन सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिताः । ततः पुनरपि मिथ्यात्वं गतेनान्तर्मुहूर्तं कालं यावदनन्तानुबन्धिनो बद्धाः । ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः । तच्च सम्यक्त्वं द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावदनुपाल्य क्षपणार्थमभ्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिनः क्षपयतो यदा एका स्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना अन्यथा तु द्विसमयावस्थाना शेषीभवति तदा तेषां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म ।

उव्वलमाणीणं उ-व्वलणा एगट्ठिइ दुसामइगा ।
दिट्ठिदुगे वत्तीसे, उदहिसए पालिए पच्छा ॥ ४० ॥

'उव्वलमाणीणं' ति—उद्वल्यमानानां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामुद्वलनकाले या एका स्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना, अन्यथा तु द्विसमयमात्रावस्थाना, सा तासां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । एतच्च सामान्येनोक्तम् , अत्रैव विशेषमाह— 'दिट्ठिदुगे' त्यादि द्वात्रिंशदधिकं सागरोपमाणां शतं यावत् सम्यक्त्वमनुपाल्य पश्चान्मिथ्यात्वं गतो मन्दोद्वलनया च पल्योपमासंख्येयभागमात्रप्रमाणया सम्यक्त्वमिश्रे उद्वलयितुमारभते स । उद्वलयँश्च तद्दलिकं मिथ्यात्वे संक्रमयति । सर्वसंक्रमेण चावलिकाया उपरितनं सकलमपि दलिकं संक्रमितम् आवलिकागतं च दलिकं स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति संक्रमयतश्च यदैका स्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना, अन्यथा तु द्विसमयमात्रावस्थाना, तदा तयोः सम्यक्त्वमिश्रयोर्जघन्यं प्रदेशसत्कर्म ।

अंतिमलोभजसाणं,मोहं अणुवसमइत्तु खीणाणं ।
नेयं अहापवत्त-करणस्स चरमम्मि समयम्मि ॥ ४१ ॥

'अन्तिम' त्ति-अन्तिमलोभः-संज्वलनलोभः ततः संज्वलनलोभयशःकीर्त्योश्चतुरो वारान् मोहनीयमनुपशमय्य-मोहस्योपशमं कृत्वा; उपशमश्रेणिमकृत्वेत्यर्थः । शेषाभिः क्षपितकर्मांशक्रियाभिः क्षीणयोर्यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म ज्ञेयम् । मोहनीयोपशमे हि क्रियमाणे गुणसंक्रमेण प्रभूतं दलिकमवाप्यते , न च तेन प्रयोजनमिति कृत्वा मोहनीयोपशमनप्रतिषेधः ।

वेउव्विकारसगं, खणबंधगतेउनरयजिट्ठठिइं ।
उव्वट्टित्तु अवंधिय, एगेंदिगए चिरुव्वलणे ॥ ४२ ॥

'वेउव्विक्कारसगं' ति—नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकरूपं वैक्रियैकादशकं पूर्वं क्षपितकर्मांशेनोद्वलितम् ,ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावद्बद्धम् । ततो ज्येष्ठस्थितौ नरकेऽप्रतिष्ठानाभिधाने नरके जातः । तत्र च सता तेन तत् वैक्रियैकादशकं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावत् विपाकतः संक्रमतश्च यथायोगमनुभूतम् । ततो नरकादुद्वृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च वैक्रियैकादशकस्य भूयोऽपि बन्धो न कृतः , तथाविधाध्यवसायाभावात् । तत एकेन्द्रियो जातः । स च तद्वैक्रियैकादशकं चिरोद्वलनया उद्वलयितुं लग्नः । चिरोद्वलनया चोद्वलयतः सतो यदैका स्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना , अन्यथा तु द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति तदा तस्य वैक्रियैकादशकस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म ।

मणुयदुगुच्चागोए, सुहुमखणवद्धगेसु सुहुमतसे ।
तित्थयराहारतणू, अप्पद्धा बंधिया सुचिरं ॥ ४३ ॥

'मणुय' त्ति—मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं च पूर्वं सूक्ष्मत्रसेन क्षपितकर्मांशेनोद्वलितम् , ततः 'सुहुमखणबद्धगेसु' त्ति सूक्ष्मेण सूक्ष्मैकेन्द्रियेण पृथिव्यादिना सता क्षणमन्तर्मुहूर्तकालं यावत् भूयोऽपि बद्धम् । ततः सूक्ष्मत्रसेषु तेजोवायुषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च चिरोद्वलनया उद्वलयितुं लग्नः उद्वलयतश्च यदा तेषामेका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति तदा तयोर्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः सूक्ष्मक्षणबद्धयोर्जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । तथा तीर्थकरनाम 'अप्पद्धाबंधिय' त्ति' अल्पं कालं चतुरशीतिवर्षसहस्राणि सातिरेकाणि यावद्बद्धा केवली जातः । ततः 'सुचिरं' ति प्र-

भूतं काल देशोनपूर्वकोटिरूप यावत् केवलिपर्यायं परिपाल्यायोगिकेवलिनः सतः क्षपितकर्मांशस्य चरमसमये वर्त्तमानस्य तीर्थकरनाम्नो जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । अन्ये तु ब्रुवते-तीर्थकरनाम्नः क्षपितकर्मांशेन तत्प्रायोग्यजघन्ययोगिना प्रथमसमये या लता बद्धा सा जघन्य प्रदेशसत्कर्म । 'आहारतणु' त्ति आहारकतनूपलक्षितमाहारकसप्तकम् । 'अप्पद्धा बंधिय' त्ति अल्पकालं बद्ध्वा मिथ्यात्वं गतः, ततः 'सुचिर' त्ति चिरोद्वलनया उद्वलयतः सतो यदा एका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति तदा तस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । तदेवमुक्तं जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वम् ।

सम्प्रति प्रदेशसत्कर्मस्थानप्ररूपणार्थं स्पर्धकप्ररूपणामाह—

चरमावलियपविट्ठा, गुणसेढी जासिमत्थि न य उदओ ।
आवलिगा समयसमा, तासिं खलु फड्डगाइं तु ॥ ४४ ॥

'चरमावलिय' त्ति-चरमा-सर्वान्तिमा या क्षपणकाले आवलिका तां प्रविष्टा गुणश्रेणिर्यासां प्रकृतीनामस्ति न च उदयः तासां स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वाद्यद्वादशकषायनरकद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जजातिचतुष्टयातपोद्द्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणरूपाणामेकोनत्रिंशत्सङ्ख्यानामावलिकायां यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्धकानि भवन्ति । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । तुरेवकारार्थः । आवलिकासमयसमान्येवेत्यर्थः । इयमत्र भावना-अभव्यप्रायोग्यजघन्यप्रदेशसत्कर्मयुक्तस्त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च सर्वविरतिं देशविरतिं चानेकशो लब्ध्वा चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य भूयोऽप्येकेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च पल्योपमासंख्येयभागमात्रं कालं यावत् स्थित्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र च क्षपणायामभ्युतः । तस्य चरमे स्थितिखण्डकेऽपगते सति चरमावलिकायां स्तिबुकसंक्रमेण क्षीयमाणायां यदा एका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति तदा सर्वमजघन्यं यत् प्रदेशसत्कर्म तत् प्रथमं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति अन्यत्—द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थान भवति । ततो द्वयोः परमाण्वोः प्रक्षिप्तयोरन्यत् तृतीयं प्रदेशसत्कर्मस्थान त्रिषु परमाणुषु प्रक्षिप्तेषु अन्यत् । एवमेकैकपरमाणुप्रक्षेपेण प्रदेशसत्कर्मस्थानानि नानाजीवापेक्षयाऽनन्तानि तावद्वाच्यानि यावत्तस्मिन्नेव चरमे स्थितिविशेषे गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति । अत ऊर्ध्वमन्यत्प्रदेशसत्कर्मस्थानं न प्राप्यते तत इदमेकं स्पर्धकम् । इदं तु चरमस्थितिमधिकृत्य । एवं द्वयोश्चरमस्थित्योर्द्वितीय स्पर्धकं वक्तव्यम् । तिसृषु च स्थितिषु तृतीयम् । एवं तावद्वाच्यं यावत्समयोनावलिकासमयप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति । तथा चरमस्थितिघातस्य चरमं प्रक्षेपमादिं कृत्वा पश्चानुपूर्व्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि यथोत्तरं वृद्धानि तावद्वक्तव्यानि यावदात्मीयमात्मीयमुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । तत एतावदेतदपि सकलस्थितिगत यथासम्भवमेकं स्पर्धकं विवक्ष्यते । तत एतेन स्पर्धकेन सहावलिकासमयप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति ।

संजलणतिगे चेवं, अहिगाणि य आलिगाएँ समएहिं ।
दुसमयहीणेहिँ गुणा-णि जोगठाणाणि कसिणाणि॥४५॥

'संजलणतिगे' त्ति-संज्वलनत्रिके क्रोधमानमायारूपे, एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण स्पर्धकानि वाच्यानि । इयमत्र भावना—क्रोधादीनां प्रथमस्थितिर्यावदावलिकाशेषा न भवति तावत् स्थितिघाते रसघातबन्धोदयोदीरणाः प्रवर्त्तन्ते । आवलिकाशेषायां तु प्रथमस्थितौ व्यवच्छिद्यन्ते, ततोऽनन्तरसमये समयोनावलिकागत समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च सत्कदस्ति, अन्यत् सर्वं क्षीणं तत्र समयोनावलिकागतस्य दलिकस्य स्पर्धकभावना यथा प्राक् कृता तथाऽत्रापि कर्त्तव्या, यत्तु समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं दलिकमस्ति तस्यान्यथा स्पर्धकभावना क्रियते पूर्वप्रकारेणात्र स्पर्द्धकस्वरूपस्याप्राप्यमाणत्वात् । अथोच्येत कथं स्थितिघातरसघातबन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदानन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव दलिकमस्ति न शेषमिति ज्ञायते ?, उच्यते—इह चरमसमयक्रोधादिवेदकेन यद्बद्ध दलिकं तद्बन्धावलिकातीतम् आवलिकामात्रेण कालेन निरवशेषं संक्रमयति । तथा च सति आवलिकाचरमसमये स्वरूपापेक्षयाऽकर्मी भवति । द्विचरमसमयवेदकेन यद्बद्धं तदपि च बन्धावलिकायामतीतायामन्येनावलिकामात्रेण कालेन संक्रमयति; आवलिकायाद्विचरमसमये अकर्मी भवति । एवं यत्कर्म यस्मिन् समये बद्धं तत्तत्सात्समयादारभ्य द्वितीयावलिकाचरमसमयेऽकर्मी भवति । तथा च सति बन्धाद्यभावप्रथमसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव सत्प्राप्यते, न शेषम् । तथाहि-तत्त्वतोऽसंख्यातसमयात्मिकाऽप्यावलिका किलासत्कल्पनया चतुःसमयात्मिका कल्प्यते । ततो बन्धादिव्यवच्छेदचरमसमयादर्वाक् अष्टमे समये यद्बद्धं तद्बन्धावलिकायां चतुःसमयात्मिकायामतीतायाम् अन्यया चतुःसमयात्मिकया आवलिकया अन्यत्र संक्रम्यमाणं चरमसमये बन्धादिव्यवच्छेदसमयरूपे सर्वथा स्वरूपेण न प्राप्यते, अन्यत्र सर्वात्मना संक्रमितत्वात् । सप्तमे समये यद्बद्धं तच्चतुःसमयात्मिकायामावलिकायामतिक्रान्तायामन्यया चतुःसमयात्मिकया अन्यत्र संक्रम्यमाणं बन्धादिव्यवच्छेदानन्तरसमये स्वरूपेण न प्राप्यते, सर्वात्मनाऽन्यत्र संक्रमितत्वात्, शेषषष्ठादिसमयबद्धं तु प्राप्यते । ततो बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति अनन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव सत् प्राप्यते नान्यदिति । तत्र बन्धादिव्यवच्छेदसमये जघन्ययोगिना सता यद्बद्धं तस्य बन्धावलिकायामतीतायामन्यया आवलिकयाऽन्यत्र संक्रम्यमाणस्य चरमसमये यत्संक्रमयिष्यति न तावत्संक्रमयति तत् संज्वलनक्रोधस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । एवं द्वितीययोगस्थानवर्तिना बन्धादिव्यवच्छेदसमये यद्बद्धं तस्यापि दलिकं चरमसमये द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । एवं तावद्वाच्य यावदुत्कृष्टयोगस्थानवर्तिना सता बन्धादिव्यवच्छेदसमये यद्बद्धं तस्य दलिकं चरमसमये सर्वोत्कृष्टमन्तिमं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । एवं जघन्यं योगस्थानमादिं कृत्वा यावन्ति योगस्थानानि भवन्ति तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानान्यपि चरमसमये प्राप्यन्ते, इदमेकं स्पर्धकम् । एवं बन्धादिव्यवच्छेदद्विचरमसमये जघन्ययोगादिना यद्बध्यते तत्रापि द्वितीयावलिकाचरमसमये

प्रागिव तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानानि भावनीयानि । केवलं स्थितिद्वयभावीनि तानि प्रतिपत्तव्यानि, बन्धादिव्यवच्छेदचरमसमये बद्धस्यापि दलिकस्य तदानीं द्विसमयस्थितिकस्य प्राप्यमाणत्वात्। इदं द्वितीयं स्पर्धकम्। एवं बन्धादिव्यवच्छेदद्विचरमसमये जघन्ययोगादिना यद्बध्यते तत्रापि द्वितीयावलिकाचरमसमये प्रागिव तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानानि भवन्ति। नवरं स्थितित्रयभावीनि तानि भावनीयानि, तदानीं बन्धादिव्यवच्छेदचरमसमयबद्धसत्कस्यापि दलिकस्य त्रिसमयस्थितिकस्य प्राप्यमाणत्वात्। इदं तृतीयं स्पर्धकम्। एवं समयद्वयोनावलिकाद्विके यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्धकानि भवन्ति। तत आह-'अहिगाणि य आवलिगाए' इत्यादि। योगस्थानानि कृत्स्नानि समस्तानि समुदायैकरूपतया विवक्षितानि; सकलयोगस्थानसमुदाय इत्यर्थः। आवलिकागतैः समयैः समयद्वयहीनैर्गुण्यन्ते गुणिते सति यावन्त. सकलयोगस्थानसमुदायास्तावन्ति प्रथमस्थितौ व्यवच्छिन्नायामधिकानि स्पर्धकानि भवन्ति। तथाहि-बन्धादिव्यवच्छेदानन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकसमयप्रमाणानि स्पर्धकानि प्राप्यन्ते। एतच्चानन्तरमेव भावितम्। बन्धादिव्यवच्छेदादूर्ध्वं च प्रथमस्थितिरावलिकामात्रा तिष्ठति,ततस्तस्यामावलिकामात्रायां प्रथमस्थितौ संक्रमेण व्यवच्छिद्यमानायां परत आवलिकासमयप्रमाणानि स्पर्धकानि अन्यत्र संक्रमेण व्यवच्छिद्यन्ते अत एव च तानि पृथक् न गुण्यन्ते। ततस्तेषु व्यवच्छिन्नेषु प्रथमस्थितौ च व्यवच्छिन्नायां शेषाणि समयद्वयोनावलिकासमयप्रमाणान्येवाधिकानि प्राप्यन्ते, नान्यानीति।

वेएसु फड्डगदुगं, अहिगा पुरिसस्स वेड आवलिया।
दुसमयहीणा गुणिया, जोगट्ठाणेहिं कसिणेहिं ॥४६॥

'वेएसु' त्ति—वेदेषु स्त्रीवेदपुरुषवेदनपुंसकवेदेषु प्रत्येकं द्वे द्वे स्पर्धके भवतः। कथमिति चेद् ?, उच्यते-कश्चिज्जन्तुरभवसिद्धिकप्रायोग्यजघन्यप्रदेशसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः तत्र देशविरतिं सर्वविरतिं च बहुशो लब्ध्वा चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य द्वात्रिंशदधिकं च सागरोपमाणां शतं यावत्सम्यक्त्वमनुपाल्याप्रतिपतितसम्यक्त्वो नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढः, ततो नपुंसकवेदस्य प्रथमस्थितौ द्विचरमसमये वर्तमाने उपरितनस्थितिखण्डमन्यत्र संक्रमितम् ,तथा सति उपरितनी स्थितिः सर्वात्मना निर्लोपीकृता। ततः प्रथमस्थितौ चरमसमये सर्वजघन्यं यत् प्रदेशसत्कर्म तत् प्रथमं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। परमाणुद्वयप्रक्षेपे च तृतीयम्। एवं नानाजीवापेक्षया एकैकपरमाणुवृद्ध्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि अनन्तानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। इदमेकं स्पर्धकम्। ततो द्वितीयस्थितौ चरमखण्डे संक्रम्यमाणे चरमसमये पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वजघन्यं यत्प्रदेशसत्कर्मस्थानं तत् आदिं कृत्वा नानाजीवापेक्षया यथासम्भवमुत्तरोत्तरवृद्ध्या निरन्तरं प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। तानि द्वितीयं स्पर्धकम्। अथवा—यावत्प्रथमा स्थितिर्द्वितीया च स्थितिर्विद्यते तावदेकं स्पर्धकम्। द्वितीयस्थितौ च क्षीणायां प्रथमस्थितौ शेषीभूतायां समयमात्रायां द्वितीयं स्पर्धकमिति। एवं प्रकारद्वयेन स्त्रीवेदस्यापि स्पर्धकद्वयं भावनीयम्। पुरुषवेदस्य पुनः स्पर्धकद्वयमेवं भावनीयम्—उदयचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म आदिं कृत्वा नानाजीवापेक्षया एकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तरं प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। एतानि सर्वाण्यनन्तानि। एतान्येकं स्पर्धकम्। उदयचरमसमये च द्वितीयस्थितौ चरमखण्डे संक्रम्यमाणे सर्वजघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानमादिं कृत्वा प्रागिव द्वितीयं स्पर्धकं वाच्यम्। किंच—'अहिगा पुरिसस्स' त्ति पुरुषवेदस्याधिकान्यपि स्पर्धकानि भवन्ति। कियन्ति भवन्तीति चेदुच्यते-'वेउ आवलिया' इत्यादि, अत्र द्वे आवलिके इत्यत्र तृतीयार्थे प्रथमा। 'जोगट्ठाणेहिं कसिणेहिं' इति अत्र तु तृतीया प्रथमार्थे ततोऽयमर्थः-कृत्स्नानि योगस्थानानि; सकलयोगस्थानसमुदाय इत्यर्थः। द्वाभ्यामावलिकाभ्यां द्विसमयहीनाभ्याम् आवलिकाद्विकसमयैर्द्विरूपहीनैरित्यर्थः, गुण्यन्ते गुणिते च सति यावन्तः सकलयोगस्थानसमुदायास्तावन्ति स्पर्धकान्यधिकानि भवन्ति, समयद्वयहीनावलिकाद्विकसमयप्रमाणानि अधिकानि भवन्तीत्यर्थः। तथाहि-पुरुषवेदस्य बन्धोदयादिव्यवच्छेदे सति समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं पुरुषवेदस्य दलिकं विद्यते। ततोऽवेदकस्य सतः संज्वलनत्रिकोक्तप्रकारेण योगस्थानापेक्षया समयद्वयहीनावलिकाद्विकसमयप्रमाणानि स्पर्धकानि वाच्यानि।

सम्प्रत्युक्तानां वक्ष्यमाणानां च स्पर्धकानां सामान्यरूपं लक्षणमाह—

सव्वजहन्नाढत्तं, खंधुत्तरओ निरन्तरं उप्पिं।
एगं उव्वलमाणी, लोभजसा नोकसायाणं ॥४७॥

'सव्वजहन्न'त्ति- सर्वजघन्यात् प्रदेशसत्कर्मस्थानादारब्धमेकैकेन कर्मस्कन्धेनोत्तरतः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरोत्तरेण निरन्तरं प्रदेशसत्कर्मस्थानजालं तावन्नेय यावत् 'उप्पिं' उपरितनं सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति। इयमत्र भावना—सर्वजघन्यप्रदेशसत्कर्मस्थानादारभ्य योगस्थानापेक्षया एकैकेन कर्मस्कन्धेन वृद्धानि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि निरन्तराणि तावन्नेतव्यानि यावदुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति। एकैककर्मस्कन्धेनोत्तरत इति चोक्तं योगस्थानवशलब्धस्पर्धकापेक्षया, अन्यथा "चरमावलियपविट्ठे" त्यादौ यानि स्पर्धकान्युक्तानि तेष्वेकैकेन प्रदेशेनैवोत्तरोत्तरा वृद्धिः प्राप्यते इति। तदेवमुक्तं सामान्येन लक्षणं स्पर्धकानाम्। संप्रत्युद्वल्यमानप्रकृतीनां स्पर्धकप्ररूपणार्थमाह-'एगं उव्वलमाणी' एकं स्पर्धकमुद्वल्यमानप्रकृतीना त्रयोविंशतिसंख्यानाम्। तत्र सम्यक्त्वस्य भावना क्रियते—अभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नस्तत्र सम्यक्त्वं देशविरतिं चानेकवारान् लब्ध्वा चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य द्वात्रिंशदधिकं च सागरोपमाणां शतं यावत्सम्यक्त्वमनुपाल्य मिथ्यात्वं गतः,ततश्चिरोद्वलनया सम्यक्त्वमुद्वलयतो यदा चरमखण्डं संक्रान्तम् एका च शेषा उदयावलिका तिष्ठति, तामपि स्तिबुकसंक्रमेण मिथ्यात्वे संक्रमयति।

संक्रमयतश्च या एका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषी-
भूता यदाऽवतिष्ठते तदा सम्यक्त्वस्य सा जघन्यं प्रदेशस-
त्कर्मस्थानम्। ततो नानाजीवापेक्षया एकैकप्रदेशवृद्ध्या प्र-
देशसत्कर्मस्थानानि तावन्नेतव्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्यो-
त्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति। इदमेकं स्पर्धकम्। एवं
सम्यग्मिथ्यात्वस्यापि एवमेव च शेषाणामप्युद्वलनयोग्यानां
वैक्रियैकादशकाहारकसप्तकोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकरूपाणां प्रकृ-
तीनाम्। नवरं तासां द्वात्रिंशदधिकसागरोपमशतप्रमाणः स-
म्यक्त्वकालो मूलत एव न वक्तव्यः। 'लोभजसे' त्यादि
सञ्ज्वलनलोभयशःकीर्त्योरपि एकं स्पर्धकम्। तथाहि-स एवा-
भवसिद्धिकप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समु-
त्पन्नः। तत्र चतुःकृत्वो मोहोपशममन्तरेण शेषाभिः क्षपित-
कर्मांशक्रियाभिः कर्मदलिकं प्रभूतं क्षपयित्वा चिरकालं च
संयममनुपाल्य क्षपणायोत्थितः। तस्य यथाप्रवृत्तकरण-
चरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म। ततस्तस्मादारभ्य नाना-
जीवापेक्षया एकैकप्रदेशवृद्ध्या निरन्तराणि प्रदेशसत्कर्म-
स्थानानि तावद्वाच्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदे-
शसत्कर्मस्थानम्, एवमेकं सञ्ज्वलनलोभयशःकीर्त्योः स्पर्ध-
कम्। षण्णामपि च नोकषायाणां प्रत्येकमेकैकं स्पर्धकम्, तदपि
चैवम्-स एवाभवसिद्धिकप्रायोग्यजघन्यप्रदेशसत्कर्मा त्रसेषु
मध्ये समुत्पन्नः। तत्र सम्यक्त्वं देशविरतिं चानेकशो ल-
ब्ध्वा चतुरश्च वारान्मोहनीयमुपशमय्य स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ
च भूयो भूयो बन्धेन हास्यादिदलिकसंक्रमेण च प्रभू-
तमापूर्य मनुष्यो जातस्तत्र चिरकालं संयममनुपाल्य क्ष-
पणायोत्थितः। तस्य चरमखण्डचरमसमये यद्विद्यमानं प्र-
त्येकं षण्णां नोकषायाणां प्रदेशसत्कर्म तत्सर्वं जघन्यम्। तत-
स्तस्मादारभ्य नानाजीवापेक्षया एकैकप्रदेशवृद्ध्या निरन्त-
राणि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि अनन्तानि तावद्वाच्यानि या-
वद् गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म। एवमेकं षण्णां नो-
कषायाणां प्रत्येकं स्पर्धकम्।

सम्प्रति मोहनीयवर्जानां घातिकर्मणां स्पर्धकनिरूपणा-
र्थमाह—

ठिइखंडगविच्छेया, खीणकसायस्स सेसकालसमा।
एगहियाँ घाईणं, निद्दापयलाण हिच्चेकं॥ ४८॥

'ठिइखडग' त्ति-क्षीणकषायस्य स्थितिखण्डव्यवच्छेदात्-
स्थितिघातव्यवच्छेदात् परतो यः शेषकालस्तिष्ठति तत्स-
मानि शेषकालसमयसमानि स्पर्धकानि एकाधिकानि घाति-
कर्मणा भवन्ति। निद्राप्रचलयोस्तु हित्वा-परित्यज्य एकं चरमं
स्थितिगतं स्पर्धकं, शेषाणि वाच्यानि, निद्राप्रचलयोर्हि उद-
याभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं न प्राप्यते, किं तु-
परप्रकृतिरूपेण, तेन तयोरेकं स्पर्धकं चरमस्थितिगतं
परित्यज्यते। स्पर्धकानां चेयं भावना-क्षीणकषायाऽद्धायाः
संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिंश्च सख्येयतमेऽन्तर्मुहू-
र्तप्रमाणे भागेऽवतिष्ठमाने ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतु-
ष्टयान्तरायपञ्चकानां स्थितिसत्कर्मसर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य क्षी-
णकषायाद्धासमं करोति। निद्राप्रचलयोस्त्वेकसमयहीनम्।
अत्र च कारणं प्रागेवोक्तम् तदानीं च स्थितिघातादयो
निवृत्ताः। यद्यपि च क्षीणकषायाद्धासमं स्थितिसत्कर्म
कृतम्, तदपि च क्रमेण यथासम्भवमुदयोदीरणाभ्यां क्षय-
मुपगच्छत्तावद्वक्तव्यं यावदेका स्थितिः शेषीभवति। तस्यां
च क्षपितकर्मांशस्य सर्वजघन्यं यत्प्रदेशसत्कर्म तत्प्रथमं
स्थानम्, तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति द्वितीयं
प्रदेशसत्कर्मस्थानम्, एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तराणि
प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्य
सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। इदमेकं स्पर्धकम्। द्वयोश्च
स्थित्योः शेषीभूतयोरुक्तप्रकारेण द्वितीयं स्पर्धकम्। तिसृषु
स्थितिषु शेषीभूतासु तृतीयं स्पर्धकम्। एवं क्षीणकषायाऽ-
द्धासमीकृते सत्कर्मणि यावन्तः स्थितिविशेषास्तावन्ति स्प-
र्धकानि वाच्यानि। चरमस्य च स्थितिघातस्य चरमं प्रक्षे-
पमादौ कृत्वा पश्चानुपूर्व्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि यथोत्तरं
वृद्धानि तावद्वक्तव्यानि यावदात्मीयमात्मीयं सर्वोत्कृष्टं प्रदेश-
सत्कर्म तावदेतदपि सकलनिजनिजस्थितिगतं यथासम्भव-
मेकैकं स्पर्धकं द्रष्टव्यम्। ततस्तेनाधिकानि स्थितिघातव्यव-
च्छेदात् परतः क्षीणकषायाद्धासमयसमानि स्पर्धकानि भ-
वन्ति। निद्राप्रचलयोस्तु द्विचरमस्थितिमधिकृत्य स्पर्धका-
नि वाच्यानि, चरमसमये तद्दलिकस्याप्राप्यमाणत्वात्। तत
एकेन हीनानि तस्य स्पर्धकानि द्रष्टव्यानि।

सेलेसिसंतिगाणं, उदयवईणं तु तेण कालेणं।
तुल्ला योगहियाइं, सेसाणं एगऊणाइं॥ ४९॥

'सेलेसि' त्ति-शैलेसी-अयोग्यवस्था तस्याः सत्ता यासां
प्रकृतीनां ताः शैलेशीसत्ताकाः। ताश्च द्विधा, तद्यथा-उदय-
वत्योऽनुदयवत्यश्च। तत्रोदयवत्यो मनुष्यगतिमनुष्यायुःप-
ञ्चेन्द्रियजातित्रससुभगादेयपर्याप्तबादरयशःकीर्तितीर्थकरोच्चै-
र्गोत्रसातासातान्यतरवेदनीयरूपा द्वादश। तासां प्रकृ-
तीनां तेनायोगिकालेन तुल्यानि स्पर्धकानि एकै-
केनाधिकानि भवन्ति। अयोगिकाले यावन्तः समया—
स्तावन्ति स्पर्धकानि एकेनाधिकानि भवन्तीत्यर्थः। कथ-
मिति चेदुच्यते—अयोगिकेवलिनश्चरमसमये क्षपितकर्मां-
शमधिकृत्य यत्सर्वजघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्, तत् प्रथ-
मं स्थानम्। तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति द्विती-
यं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। एवं नानाजीवापेक्षया एकैकप्रदेश-
वृद्ध्या तावत्प्रदेशसत्कर्मस्थानानि द्रष्टव्यानि यावद्गुणित-
कर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्, इदमेकं स्पर्ध—
कम्। तत एवमेव द्वयोः स्थित्योः शेषीभूतयोर्द्वितीयं स्प-
र्धकम्। तिसृषु स्थितिषु तृतीयम्। एवं निरन्तरं ताव-
दवगन्तव्यम्, यावदयोगिप्रथमसमयः। तथा सयोगिकेव—
लिचरमसमये चरमस्थितिखण्डसत्कं चरमप्रक्षेपमादिं
कृत्वा यावदात्मीयमात्मीयं सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म तावदे-
तदपि सकलस्वस्वस्थितिगतमेकैकं स्पर्धकं द्रष्टव्यम्।
ततोऽयोगिकेवलिगुणस्थानके यावन्तः समयास्तावन्ति स्प-
र्धकानि एकाधिकानि उदयवतीनां प्रकृतीनां प्रत्येकं भवन्ति,
शेषाणां त्वनुदयवतीनां प्रकृतीनां त्र्यशीतिसंख्यानां ताव-
न्ति स्पर्धकान्येकेन हीनानि भवन्ति। यतस्ता अयोगिकेव-
लिचरमसमये उदयवतीषु मध्ये स्तिबुकसंक्रमेण संक्र—
म्यन्ते। ततस्तासां चरमसमयगतं स्पर्धकं न प्राप्यत इति
तेन हीनानि तासां स्पर्धकानि भवन्ति। इह यद्यपि म-

नुष्यगत्यादीनाम् 'एगं उव्वलमाणी' इत्यनेन ग्रन्थेन प्रागेव स्पर्धकप्ररूपणा कृता तथापि इहापि तासां स्पर्धकानि-प्राप्यन्त इति भूय उपादानम्। एवं करणेष्वपि बन्धनादिषु यथासम्भवं स्पर्धकानि वाच्यानि।

तथा चाह—

संभवतो ठाणाइं, कम्मपएसेहिँ होंति नेयाइं।
करणेसु य उदयम्मि य, अणुमाणेणेव मेएणं॥५०॥

'संभवतो' त्ति सम्भवमाश्रित्य स्थानानि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि करणेषु बन्धनादिषु उदये च कर्मप्रदेशेभ्यः कर्मप्रदेशानधिकृत्य ज्ञेयानि—ज्ञातव्यानि। कथमित्याह—एवमुपदर्शितेन एतेन—प्रागुक्तेन अनुमानेन प्रकारेण ज्ञातव्यानि। तथाहि—बन्धनकरणे जघन्यं योगस्थानमादिं कृत्वा यावदुत्कृष्टयोगस्थानम् एतावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते, तावन्ति चैकं स्पर्धकम् एवं संक्रमणादिष्वपि प्रत्येकं यथायोगं भावनीयम्।

करणोदयसंताणं, पगइट्ठाणेसु सेसगतिगे य।
भूयकारप्पयरो, अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो॥५१॥

'करणोदयसंताणं' ति—अष्टानां करणानामुदयसत्तयोश्च प्रकृतिस्थानेषु 'सेसगतिगे य त्ति' शेषके च त्रिके स्थित्यनुभागप्रदेशरूपे प्रत्येकं चत्वारो विकल्पा ज्ञातव्याः। तद्यथा—भूयस्कारः, अल्पतरः, अवस्थितः, अवक्तव्यश्च।

एतेषां चतुर्णा लक्षणमिदम्—

एगादहिगे पढमो, एगाई ऊणगम्मि बिइओ उ।
तत्तियमेत्तो तइओ, पढमे समये अवत्तव्वो॥५२॥

'एगादहिगे' त्ति—इह बन्धमाश्रित्य भावना क्रियते। बन्धो द्वि-मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च। तत्र मूलप्रकृतीनां बन्धः कदाचित् अष्टानाम्, कदाचित्सप्तानाम्, कदाचित् षण्णाम्, कदाचिदेकस्याः। तत्र यदा स्तोकाः प्रकृतीराबध्नन् परिणामविशेषतो भूयसीः प्रकृतीर्बध्नाति, यथा सप्त बद्ध्वा अष्टौ बध्नाति, यद्वा—षट् एकां च बद्ध्वा सप्त, तदा स बन्धो भूयस्कारः। तथा चाह—'एगादहिगे पढमो' एकादिभिरेकद्वित्र्यादिभिः प्रकृतिभिरधिके बन्धे प्रथमः प्रकारो भवति, भूयस्कारो बन्धो भवतीत्यर्थः। यदा तु प्रभूताः प्रकृतीर्बध्नन् परिणामविशेषतः स्तोका बद्धुमारभते, यथाऽष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वा षट् षड्वा बद्ध्वा एकां, तदानीं स बन्धोऽल्पतरः। तथा चाह—'एगाई ऊणगम्मि बिइओ उ' एकादिभिरेकद्वित्र्यादिभिः प्रकृतिभिरूने बन्धे द्वितीयः प्रकारः अल्पतर इत्यर्थः। तथा स एव भूयस्कारोऽल्पतरो वा द्वितीयादिषु समयेषु तावन्मात्रतया प्रवर्तमानोऽवस्थित इति व्यपदेश लभते। तथा चाह—'तत्तियमेत्तो तइओ' तावन्मात्रस्तृतीयोऽवस्थित इत्यर्थः। एते त्रयोऽपि प्रकारा मूलप्रकृतीनां सम्भवन्ति। चतुर्थस्तु न सम्भवति। न हि मूलप्रकृतीनां सर्वासां बन्धव्यवच्छेदे सति भूयोऽपि बन्धः सम्भवति येन चतुर्थो बन्धः स्यात्। तत उत्तरप्रकृतीरधिकृत्य स वेदितव्य.। यथा मोहनीयस्य तद्गतसर्वोत्तरप्रकृतिबन्धव्यवच्छेदे सति उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपाते भूयोऽपि बन्धारम्भप्रथमसमये, स हि तदानीं न भूयस्कारो वक्तुं शक्यते, नाप्यल्पतरः, नाप्यवस्थितः, तल्लक्षणायोगात्, ततोऽसाववक्तव्य इत्युच्यते, भूयस्कारादिनाम्ना वक्तुमशक्यत्वात्। एवमुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य ज्ञानावरणीयादीना वेदनीयवर्जानामवक्तव्यो भावनीयः। वेदनीयस्य त्ववक्तव्यो न सम्भवति, तस्य हि सर्वथा बन्धव्यवच्छेदः सयोगिकेवलिचरसमये। न च ततः प्रतिपातो येन भूयो बन्धः प्रवर्त्तमानः प्रथमसमयेऽवक्तव्यः स्यात्। तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य वक्तव्यवर्जाः शेषास्त्रयः प्रकाराः, उत्तरप्रकृतीस्त्वधिकृत्य चत्वारोऽपि प्रकाराः सम्भवन्ति। यथा च बन्धे चत्वारोऽपि प्रकारा भाविताः। एवं संक्रमे उद्वर्त्तनायामपवर्तनायामुदीरणायामुपशमनायामुदये सत्तायां च प्रकृतिस्थानेषु स्थित्यनुभागप्रदेशस्थानेषु च यथायोगं स्वयमेव भावनीयाः।

करणोदयसंताणं, सामित्तोघेहिँ सेसगं नेयं।
गइयाइमग्गणासुं, संभवओ सुट्ठु आगमिय॥५३॥

'करणोदयसंताणं' ति-अष्टानां करणानामुदयसत्तयोश्च यदुक्तं प्रत्येकं सप्रपञ्चं स्वरूपं तत् ओघस्वामित्वमुच्यते। 'सामित्तोघेहिं' ति द्वितीयार्थे तृतीया, व्यक्त्यपेक्षया च बहुवचनम्। ततश्च तानि ओघस्वामित्वानि यथोक्तकरणाष्टकोदयसत्तास्वरूपाणि सुष्ठु आगम्य परिभाव्य शेषकमपि ज्ञातव्यम्। क्व ज्ञातव्यमित्याह-गत्यादिषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु। कथमित्याह—सम्भवतो यथासम्भवति घटते तथैव, नाऽन्यथा।

बंधोदीरणसंकम-संतुदयाणं जहन्नगाईहिं।
संवेहो पगइठिई, अणुभागपएसओ नेओ॥५४॥

'बंधोदीरण' त्ति-बन्धोदीरणासंक्रमसतोदयरूपाणां पञ्चानां पदार्थानां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशतः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानधिकृत्य जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टैः सम्बन्धः परस्परमेककालमागमाविरोधेन मीलनम्। यथा ज्ञानावरणीयस्य जघन्ये स्थितिबन्धे जघन्योऽनुभागबन्धः,जघन्यः प्रदेशबन्धः अजघन्याः स्थित्युदीरणासंक्रमसत्तोदया इत्यादिरूपं, तत्पूर्वापरौ सुष्ठु परिभाव्य ज्ञातव्यम्। क० प्र० १० प्रक०। पं० सं०।

संतगुणनासग—सद्गुणनाशक—पुं०। गुणापालके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

संतचित्त—शान्तचित्त—त्रि०। उपशान्तमनसि, पो० ११ विव०।

संतच्छण—सन्तक्षण—न०। समेकीभावेन तक्षणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

संतज्जण—संतर्जन—न०। विग्रहस्य परित्राणं मत्तो भविष्यतीत्यादिरूपे राज्यव्यवहार्यभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

संतति—सन्तति—स्त्री०। सन्ताने, विशे०। उत्तरोत्तरनिरन्तरोत्पत्तिरूपप्रवाहे, उत्त० १ अ०।

संतत्त—संतप्त—त्रि०। समन्तात् तप्ते, सूत्र० १ श्रु०२ अ०१ उ०।

संतत्ततव(स्)-सन्तप्ततपस्-पुं०। आहारादिनिमित्तं तपःकारिणि, पं० व० ५ द्वार।

संतपय-सत्पद-न०। सच्च तत्पदं च सत्पदम्। विद्यमानार्थे पदे, विशे०।

संतपयपरूवणया-सत्पदप्ररूपणता-स्त्री०। सच्च तत्पदं च सत्पदं तस्य प्ररूपणं सत्पदप्ररूपणम्। गत्यादिद्वारेषु विचारणम्। तत्रावस्तस्य कस्मिन् गत्यादिद्वारे इदं सदीत्येव सतो विद्यमानस्यार्थस्य गत्यादिद्वारेषु प्ररूपणायाम्, विशे०। आ० म०। आ० चू०। नं०। अनु०। इह स्तम्भकुम्भादीनि पदानि सदर्थविषयाणि दृश्यन्ते, खरशृङ्गव्योमकुसुमादीनि त्वसदर्थविषयाणि, तत्रानुपूर्व्यादिपदानि किं स्तम्भादिपदानीव सदर्थविषयाण्याहोस्वित् खरविषाणादिपदवत् असदर्थगोचराणीत्येतत्प्रथमं पर्यालोचयितव्यं तथाऽनुपूर्व्यादिपदाभिधेयद्रव्याणां प्रमाणं संख्यास्वरूपं प्ररूपणीयम्। अनु०। आ० म०।

संतप्प-सं-तप-धा०। सम्यक् दुःखे, "संतपेर्झङ्खः" ॥८।४।१४०॥ इति झङ्खादेशाभावे-संतप्पइ। प्रा० ४ पाद।

संतबुद्धि-सद्बुद्धि-स्त्री०। शोभनोऽयमित्येवं रूपायां शोभनायां बुद्धौ, द्वा० २६ अष्ट०।

संतमस-संतमस-न०। अन्धकारे, 'संतमसं अंधकारं' पाइ० ना० ४६ गाथा। ('अंधकार' शब्दे प्रथमभागे १०५ पृष्ठे अस्य स्थित्यादिनिरूपणमुक्तम्।)

संतय-सन्तत-त्रि०। व्याप्ते, उत्त० २ अ०। निरन्तराले, विशे०। आचा०। निरन्तरे, पाइ० ना० ८७ गाथा।

संतर-सान्तर-न०। सहान्तरेण व्यवधानेन वर्त्तते इति सान्तर.। सव्यवधाने, उत्त० ५ अ०। स्वस्वकृते त्रिकालावस्थाने, बृ० २ उ०। (सान्तरं निरन्तरं वा उपपद्यन्ते इति उक्तम् 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ११७ पृष्ठे)

संतरण-सन्तरण-न०। नद्यादेः पारगमने, अष्ट० २१ अष्ट०। आव०। ('णदीसतार' शब्दे चतुर्थभागे १७३८ पृष्ठे सन्तरणविधिर्दर्शितः।)

संतरणिरन्तरा-सान्तरनिरन्तरा-स्त्री०। यासां कर्मप्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रमुत्कर्षतः समयादारभ्य नैरन्तर्येणान्तर्मुहूर्त्तस्योपर्यपि असंख्येयकालं यावत्तादृशीषु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार।

संतरणोपाय-सन्तरणोपाय-पुं०। पारंगमनोपाये, अष्ट० २२ अष्ट०।

संतरयणदित्ति-सद्रत्नदीप्ति-स्त्री०। सद्रत्नस्य जात्यरत्नस्य स्वभावत एव क्षारमृत्पुटपाकाद्यभावेऽपि भास्वररूपस्य या दीप्तिः। सद्रत्नप्रकाशे, षो० ११ विव०।

संतरा-सान्तरा-स्त्री०। यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रबन्धस्तासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार। (एताश्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६६ पृष्ठे दर्शिताः।)

संतरित्तए-सन्तरितुम्-अव्य०। भूयः प्रत्यागन्तुमित्यर्थे, साकल्येन नावादिना तरितुमित्यर्थे, बृ० ४ उ०।

संतरुत्तर-सान्तरोत्तर-त्रि०। आन्तरः सौत्रकल्पः, उत्तर और्णिकस्ताभ्यां सहितः सान्तरोत्तरः। सौत्रौर्णिकाभ्यां प्रावृते, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। आचा०।

संतसंगम-सत्सङ्गम-पुं०। सत्पुरुषसम्पर्के, षो० १३ विव०।

संतसण-संत्रसन-न०। त्रासप्राप्तौ, उत्त० २ अ०। उद्वेगे, उत्त० २ अ०।

संतसार-सत्सार-त्रि०। शोभनसारे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

संतसोय-शान्तश्रोतस्-त्रि०। शान्तप्रवाहे, द्वा० ११ द्वा०।

संता-शान्ता-स्त्री०। सुपार्श्वस्य शासनदेव्याम्, प्रव०। सा च सुवर्णवर्णा गजवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरद्वया शूलाभययुक्तवामहस्तद्वया च। प्रव० २७ द्वार।

संताचेल-सदचेल-पुं०। सद्भिर्वस्त्रैरचेलाः सदचेलाः। जिनेभ्योऽन्येषु साधुषु, पञ्चा० १७ विव० (तत्वं चोक्तम् 'अचेल' शब्दे प्रथमभागे १८८ पृष्ठे।)

संताण-सन्तान-पुं०। तन्तुजाले, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। आव०। पं० व०। आ० चू०। प्रवाहे, आव० ४ अ०। औ०। गुणानां समभागसन्ततानवरतप्रवृत्तौ, विशे०।

संताणकर-सत्त्राणकर-त्रि०। आर्त्तजनपरित्राणकारिणि, बृ० १ उ० २ प्रक०।

संताणभेद-सन्तानभेद-पुं०। सन्तानश्चासौ भेदश्च संतानभेदः। क्षणप्रवाहविशेषे, द्वा० १४ अष्ट०।

संताभाव-सद्भाव-पुं०। सद्भावे सन्ति साधवः परं न धर्मकथादिषु कुशला इत्येवंरूपे विद्यमानस्यार्थस्याभावे, व्य० ६ उ०।

संताव-सन्ताप-पुं०। मानसे क्लेशे, आ० म० १ अ०। 'संतावणिच्चए' संतापः क्वचन शोकादिकृतोऽन्यत्र चाऽग्निकृतो नित्य यत्र स संतापनित्यकः। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

संतावणकिच्छ-सन्तापनकृच्छ्र-न०। "त्र्यहमुष्णं पिबेदम्बु, त्र्यहमुष्णं घृतं पिबेत्। त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं, त्र्यहमुष्णं पिबेत् पयः ॥१॥" इत्येवरूपे तपोभेदे, द्वा० १२ द्वा०।

संतावणी-सन्तापनी-स्त्री०। सन्तापयतीति संतापनी। नरककुम्भ्याम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

संतासंतसत्ति-सदसच्छक्ति-पुं०। सद्भावेनासद्भावेन चाऽशक्ते, तत्र सद्भावो न लब्धमर्थं प्राप्त तेन स्वामीभूतोऽसद्भावो यथादृष्ति भद्रस्यैवाभावः स तथा स्वामीभूतां विहर्तुमशक्नुवन्। व्य० ४ उ०।

संति-शान्ति-स्त्री०। मोक्षे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। सूत्र०। कर्मदाहोपशमे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। अशेषद्वन्द्वोपरमे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। क्रोधजये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। द्रोहविरतौ, प्रश्न० १ सव० द्वार। शमनं-शान्तिः। अहिंसायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। शान्तिः-उपशमप्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानचरणकलापैः शान्तिरुच्यते। निराबाधमोक्षाख्यशान्ति-

प्राप्तिकारणत्वात् तस्य । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । अशेषकर्मापगमे मोक्षे, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । मिथ्यात्वादिदावानलविध्मापनात् सामायिके, आ० म० १ अ० । शान्तियोगात् तदात्मकत्वात् कर्तृकत्वाद्वा शान्तिरिति । तथा गर्भस्थे पूर्वोत्पन्ना शिवशान्तिरभूदिति शान्तिः । ध० २ अधि० । आ० म० । भरते वर्षे वर्तमानावसर्पिण्यां जाते षोडशे तीर्थकरे, आ० चू० १ अ० ।

इदानीं शान्त्यात्मकत्वात् शान्तिः तत्र सर्व एव तीर्थकृत एवं रूपा अतो विशेषमाह—

जातो असिवोवसमो, गब्भगते तेण संति जिणो ॥

पूर्वं महदशिवमासीत् भगवति तु गर्भगते जातः अशिवोपशमस्तेन कारणेन शान्तिजिनः । आ० म० २ अ० । अनु० । प्रव० । ति० । आ० चू० । स० । " स्मरणं यस्य सत्त्वानां, तीव्रपापौघशान्तये । उत्कृष्टगुणरूपाय, तस्मै श्रीशान्तये नमः ॥ १ ॥ " आ० । ('तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे सम्पूर्णोऽधिकार उक्तः ।)

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्डिओ ।
सन्ती संतिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ३८ ॥

पुनः शान्तिः-शान्तिनाथः प्रस्तावात्पञ्चमश्चक्री अनुत्तरां गतिं प्राप्तः मोक्षं प्राप्तः। कथम्भूतः शान्तिः?, लोके शान्तिकरः शान्तिं करोतीति शान्तिकरः इति विशेषणेन तीर्थङ्करत्वं प्रतिपादितं षोडशस्तीर्थकरः शान्तिनाथो, मोक्षं जगाम इत्यर्थः। किं कृत्वा भारतं वासं त्यक्त्वा भरतस्य इदं भारतं भरतक्षेत्रसंबन्धि वासम् इति- राज्यवासम् । कीदृशः शान्तिः ?, चक्रवर्त्ती महर्द्धिकः इत्यनेन शान्तेश्चक्रवर्त्तित्वं तीर्थकरत्वं च प्रतिपादितम् ॥ ३८ ॥

अत्र शान्तिनाथदृष्टान्तः-इहैव जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे वैताढ्यपर्वते रथनूपुरचक्रवालं नाम नगरमस्ति। तत्र राजा अमिततेजा परिवसति। तस्य सुतारा नाम्नी भागिनी वर्तते। सा च पोतनाऽधिपतिना श्रीविजयराजेन परिणीता। अन्यदाऽमिततेजोराजः पोतनपुरे श्रीविजयसुतारादर्शनार्थं गतः। प्रेक्षते च प्रमुदितमुच्छ्रितपताकं सर्वमपि पुरं विशेषतश्च राजकुलम् । ततो विस्मितलोचनोऽमिततेजोराजो गगनतलादुत्तीर्णः गतश्च राजभवनमभ्युत्थानादिसत्कृतः श्रीविजयेन कृतमुचितं करणीयमुपविष्टः सिंहासनेऽमिततेजोराजः पप्रच्छ नगरोत्सवकारणम्। यतः श्रीविजय एव प्राह-यथा इतोऽष्टमे दिवसे भवन्तिके एको नैमित्तकः समायातः, मदनुज्ञाते सिंहासने उपविष्टः पृष्टश्च मया किमागमनप्रयोजनम् ?, ततस्तेन भणितं महाराज ! मया निमित्तमवलोकितं यथा पोतनाधिपतेरुपरि इतो दिवसात्सप्तमे दिवसे मध्याह्नसमये विद्युत्पतिष्यति। इदं च कर्णकटुकं वच. श्रुत्वा मन्त्रिणा-भणितं तदानीं तवोपरि किं पतिष्यति ? , तेनोक्तं मा कुप्यत यथा मयोपलब्धं निमित्तं तथा भवतां कथितं न चात्र मम कोऽपि भावदोषोऽस्ति। ममोपरि तस्मिन् दिवसे हिरण्यवृष्टिः पतिष्यति। मया भणितं त्वयैतन्निमित्तं क पठितम् ? तेन भणितं मया त्रिपृष्ठवासुदेवभ्रात्रचलबलदेवदीक्षासमये पित्रा समं मयाऽपि प्रव्रज्या गृहीता तत्रानेकशास्त्राध्ययनं कुर्वताऽष्टाङ्गनिमित्तमप्यधीतम्। ततोऽहं प्राप्तयौवनः पूर्वदत्तकन्याया भ्रातृभिरुत्प्रव्राजितः कर्मपरिणतिवशेन सा मया परिणीता । तेन मया सर्वज्ञप्रणीतनिमित्तानुसारेण प्रलोकितम् यथा—सप्तमे दिवसे पोतनाधिपतेरुपरि विद्युत्पातो भविष्यति । एवं तेन नैमित्तिकेनोक्ते एकेन मन्त्रिणा भणितम्—यथा महाराज ! समुद्रमध्ये वाहनान्तर्भवद्भिः सप्तदिवसात् यावत् स्थेयम्, तत्र विद्युत्पपरा भवति । अन्येन मन्त्रिणा भणितं-दैवयोगोऽन्यथा कर्तुं न तीर्यते,यत उक्तम्-"धारिज्जइ इन्तो सा-गरो वि कल्लोलभिन्नकुलसेलो । न हु अन्नजम्मनिम्मिअ-सुहासुहो कम्मपरिणामो" ॥ १ ॥ अपरेण मन्त्रिणा भणितम्-पोतनाधिपतेर्वधोऽनेन समादिष्टो न पुनः श्रीविजयराजस्य ततः सप्तमदिवसात् यावदपरः कोऽपि पोतनाधिपतिर्विधीयते, सर्वैरप्युक्तमयमुपायः साधुः; मयोक्तं मज्जीवितरक्षाकृतेऽपरजीववधः कथं क्रियते सर्वैरुक्तं तर्हि यक्षप्रतिमाया राज्याभिषेकः क्रियते, एवं मन्त्रयित्वा सर्वैरपि यक्षप्रतिमा पोतनपुरराज्येऽभिषिक्ता, सप्तदिवसान् यावत् मया पौषधागारे गत्वा पौषधा एव कृताः । सप्तमदिवसमध्याह्नसमये गगनमार्गेऽकस्मात् मेघः समुत्पन्न., स्फुरिता विद्युल्लता, इतस्ततः परिभ्रम्य यक्षप्रतिमा विनाशिता, अष्टमे दिवसे चाहं पौषधशालातो निर्गत्य क्षेमेण स्वभवने समायातः, तं नैमित्तिकं कनकरत्नादिभिः पूजितवान्, पुनरहं नागरिकैः पोतनराज्ये अभिषिक्तः, तदिदमस्मिन्नगरे विविधमहोत्सवकारणमिति श्रीविजयेनोक्तेऽमिततेजाः प्राह—अविसम्वादनिमित्तं शोभनो रक्षणोपाय इत्युक्त्वा अमिततेजोराजः स्वस्थानं गतवान्। अन्यदा श्रीविजयराजः सुतारया समं वने रन्तुं गतः सुतारया तत्र कनकमृगो दृष्टः श्रीविजयस्योक्तं स्वामिन् ! ममैनं मृगमानीय देहि । मम क्रीडार्थं भविष्यति । तत. श्रीविजयराजा तद्ग्रहणार्थं स्वयमेव प्रधावितो, नष्टो मृगस्तत्पृष्टिं राजा न त्यजति कियन्तीं भुवं गत्वा उत्पतितो मृगः, तावता सुतारा कुर्कुटसर्पेण दष्टा पूच्चकार । अहं कुर्कुटसर्पेण दष्टा हा प्रिय ! मां त्रायस्वेति श्रुत्वा श्रीविजयस्त्वरितं पश्चादायातः तावता सुतारा पञ्चत्वमुपागता । राजा च शोकपरवशस्तया समं चितायां प्रविष्टः; उद्दीप्तो ज्वलनः तावता एतस्यां वेलायां समागतौ द्वौ विद्याधरौ । तत्र एकेन सलिलमभिमन्त्र्य चिता सिक्ता वैतालिनी विद्या नष्टा, राजा स्वस्थो जातो बभाण च—किमिदमिति ?, विद्याधराभ्यां भणितमावाममिततेजसः स्वकीयौ जिनवन्दननिमित्तमाकाशमार्गे भ्रमन्तौ अशनिघोषविद्याधरेणापह्रियमाणायाः सुतारायाः आक्रन्दशब्दं श्रुतवन्तौ तन्मोचनार्थमावाभ्यां युद्धमारब्धम्। तत' सुतारया च प्रोक्तमलं युद्धेन यथा महाराजः श्रीविजयो वैतालिनीविद्यामोहितो जीवितं न परित्यजति तथा तदुद्याने गत्वा शीघ्रं क्रियताम्। तत आवामिहायातौ दृष्टस्त्वं वैतालिन्या समं चितारूढः। अभिमन्त्र्य जलेन सिक्ता चिता नष्टा सा दुष्टवैतालिनी। स्वस्थावस्थस्त्वमुत्थित इति । अपहृतां सुतारां ज्ञात्वा विषण्णः श्रीविजयो राजा भणितश्च ताभ्यां राजन् ! खेदं मा कुरु, स पाप' क यास्यति ? इत्यादिवचनैः श्रीविजयराजानमाश्वास्य तौ विद्याधरौ अमिततेज समीपं गतौ। ततोऽमिततेज प्रेषित विद्याधररचितविमाने. स श्रीविजयोऽपि अमिततेज. समीपं

गतः । अमिततेजःश्रीविजयाभ्यां ससैन्याभ्यां गत्वा तन्नगरं वेष्टितमशनिघोषान्तिके दूतः प्रेषितः तयोरागमनं श्रुत्वाऽशनिघोषो नष्टः उत्पन्नकेवलस्य अचलस्य समीपे गतः । अमिततेजःश्रीविजयावपि तत्पृष्ठतस्तत्रायातौ, सर्वेऽपि गतमत्सरा धर्मं शृण्वन्ति । एकेन अमिततेजोविद्याधरेण सुताराऽपि तत्रानीता । लब्धावसरेणाशनिघोषेण भणितं न मया दुष्टभावेन सुतारा अपहृता किं तु विद्यां साधयित्वा गच्छता मया इयं दृष्टा, पूर्वस्नेहेन इमां त्यक्तुं न शक्नोमीति वैतालिन्या विद्यया श्रीविजयं मोहयित्वा सुतारां गृहीत्वा स्वनगरे गतः । नास्याः शीलभङ्गमकार्षं तथापि ममात्रार्थे योऽपराधः स क्षन्तव्य इत्याकर्ण्य अमिततेजसा भणितम्-भगवन् ! किं पुनः कारणमेतस्य अस्यां स्नेहोऽभूत् । ततोऽचलकेवली कथयति—मगधदेशेऽचलग्रामे धरणीजढो नाम विप्रस्तस्य कपिला नाम चेटी तस्याः पुत्रः कपिलो नाम, तेन कर्णश्रवणमात्रेण विद्या शिक्षिता, गतश्च देशान्तरे "रत्नपुरं" नाम नगरम् । तत्र कस्यचिदुपाध्यायस्य मठे गतः उपाध्यायेन पृष्टः कस्त्वम् ?, कुत आगतः ?, कपिलेनोक्तमचलग्रामे धरणीजढविप्रसुतः कपिलनामाऽहं विद्यार्थी अत्रायातस्तव समीपमिति । उपाध्यायेन स बहुमानं स्वगृहे रक्षितः, विद्यामध्याप्य स्वपुत्री तस्य दत्ता सत्यभामा नाम्नी । अन्यदा वर्षाकाले स कपिलो रात्रौ स्ववस्त्राणि कक्षायां कृत्वा वर्षत्येव मेघे स्वगृहद्वारे समायातः । सत्यभामा च अयं स्तिमितवस्त्रो भविष्यतीति चिन्तयन्ती अपराणि वस्त्राणि गृहीत्वा गृहद्वारे सन्मुखमायाता । कपिलेन तस्या उक्तम् , अस्ति मम प्रभावो येन वस्त्राणि न स्तिम्यन्ति , तावता विद्युत्प्रकाशे तया स नग्नो दृष्टः । ज्ञातं चायं नग्न एव समायातो वस्त्राणि कक्षायां च निहितवानित्यवश्यमयं हीनकुल इति सा कपिले मन्दस्नेहा जाता । अन्यदा धरणिजढो विप्रस्तत्र कपिलसमीपे समायातः, सत्यभामा च पितापुत्रयोर्विरुद्धमाचारं दृष्ट्वा परमार्थं पृष्टो धरणिजढविप्रः । तेन यथार्थं कथितं तच्छ्रुत्वोद्विग्ना सत्यभामा कामभोगेभ्यो निर्विण्णा प्रव्रज्याग्रहणनिमित्तं पृष्टः कपिलः, न मुञ्चत्येष कपिलः तदा इयं गता तन्निवासिश्रीषेणराजसमीपं बभाण च । भो राजन् ! मां कपिलसमीपान्मोचय,येनाहं दीक्षां गृह्णामि । राज्ञा कपिलस्योक्तम्,कपिलो न मन्यते । राज्ञा पुनस्तस्या उक्तं,तावत् त्वं मम गृहे तिष्ठ यावत् कपिलं बोधयामीति । अन्यदा स राजा स्वपुत्रौ गणिकानिमित्तं युध्यमानौ दृष्ट्वा वैराग्येण विषं भक्षितवान् । ततः सिंहनन्दिताऽभिनन्दितानाम्न्यौ श्रीषेणनृपस्य भार्ये कपिलस्य भार्या सत्यभामा च विषप्रयोगेण कालं गता. । चत्वारोऽप्यमी जीवा देवकुरुषु युगलत्वेनोत्पन्नाः । तत. सौधर्मे कल्पे गताः । ततश्च्युत्वा श्रीषेणजीवोऽमिततेजा जातः । अभिनन्दिता जीव. श्रीविजयो जातः,सत्यभामा जीवः सुतारा जाता, स कपिलजीवस्तिर्यग्भवेषु चिरकालं भ्रान्त्वा क्वचित्तथाविधमनुष्ठानं कृत्वाऽशनिघोषः समुत्पन्नः । सुतारां च सत्यभामाब्राह्मणीजीवं दृष्ट्वा पूर्वस्नेहेन अपहृत्य गतः । पुनरप्यमिततेजसा पृष्टं भगवन्नहं किं भविको न वा?, अचलकेवलिना कथितं त्वम्?, भविक., इतश्च नवमे भवे तीर्थकरो भविष्यसि,एषोऽपि श्रीविजयस्तव गणधरो भविष्यति । तत एतदाकर्ण्यामिततेज.श्रीविजयनृपौ अचलकेवलिनं वन्दित्वा गतौ स्वस्वस्थानम् । अन्यदा अमिततेजःश्रीविजयाभ्यामुद्यानगताभ्यां चारणश्रमणाभ्यामवधिज्ञानेन उक्तम्—यथा षड्विंशतिदिनानि भवतोर्द्वयोरप्यायुः ततस्ताभ्यां मेरौ गत्वा कृतोऽष्टाह्निकामहोत्सवः स्वस्वराज्ये च गत्वा स्वस्वपुत्रौ अभिषिच्य जगन्नन्दनमुनिसमीपे संयममादाय पादपोपगमनमनशनं च विहितम् । विधिना कालं कृत्वा प्राणते कल्पे विंशतिसागरोपमायुर्देवत्वेनोत्पन्नौ ततश्च्युतौ इहैव जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे रमणीविजये शीताया महानद्या दक्षिणकूले सुभगायां नगर्यां प्रेमसागरस्य राज्ञो वसुन्धराऽनङ्गसुन्दर्योर्महागर्भे क्रमेण कुमारत्वेनोत्पन्नौ अमिततेजोजीवोऽपराजितनामा, श्रीविजयजीवोऽनन्तवीर्यनामा जातः । तत्रापि प्रतिशत्रुरिदमिता व्यापाद्य क्रमेण बलदेवं वासुदेवत्वमापन्नौ । तयोश्च पिता प्रव्रज्याविधानेन मृत्वाऽसुरकुमारेन्द्रत्वेनोत्पन्नः । अनन्तवीर्यस्तु कालं कृत्वा द्विचत्वारिंशत्सहस्रवर्षायुर्नारकः प्रथमपृथिव्यामुत्पन्नः, चमरश्च पुत्रस्नेहेन तत्र गत्वा वेदनोपशमं चकार । सोऽपि संविग्नः सम्यक् सहते । अपराजितो बलदेवो भ्रातृविरहदु.खितो निक्षिप्तपुत्रराज्यो जगद्धरगणधरसमीपे निष्क्रान्त. । शुद्धां प्रव्रज्यां परिपाल्य अच्युतेन्द्रत्वेनोत्पन्नः । अनन्तवीर्यस्तु, नरकादुद्वृत्य वैताढ्ये विद्याधरत्वेनोत्पन्नः अच्युतेन्द्रेण प्रतिबोधितोऽसौ प्रव्रज्यां गृहीत्वाऽच्युतकल्पे इन्द्रः सामानिकत्वेनोत्पन्नः । अपराजितोऽच्युतेन्द्रस्ततश्च्युत्वा इहैव जम्बूद्वीपे शीतामहानदीदक्षिणकूले मङ्गलावतीविजये रत्नसंचयापुर्यां क्षेमंकरो राजा, तस्य भार्या रत्नमाला, तयोः पुत्रो वज्रायुधाभिधानो जात.। इतश्च श्रीविजयजीवो देवायुः प्रतिष्ठितम् । अन्यदा पौषधशालायां स्थितो वज्रायुधो देवेन्द्रेण प्रशंसित., यथाऽयं वज्रायुधो धर्माच्चालयितुं न शक्यते देवैर्दानवैश्च । तत एको देवस्तद्वाक्यमश्रद्दधानः पारापतरूपं विकुर्व्य भयभ्रान्तो वज्रायुधमाश्रितः। हे वज्रायुध! तव शरणं ममास्तु इति मनुष्यभाषयोवाच । वज्रायुधेन तस्य शरणं दत्तम् , स्थितस्तदन्तिके पारापतः । तदनन्तरं तत्रैवागतो लावक. । तेनापि भणितम्—यथा महासत्त्व !—एष मया क्षुधाक्रान्तेन प्राप्तः, ततो मुञ्चैनमन्यथा नास्ति मम जीवितमिति । ततस्तद्वचनमाकर्ण्य वज्रायुधेन भणितं न युक्तं शरणागतसमर्पणम् । तवापि न युक्तमेतत् , यतः—"हंतूण परप्पाणे, अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं । अप्पाणं दिवसाणं,क एस नासेइ अप्पाणं।१।" यथा जीवितं तव प्रियं स, र्वेषामपि जीवाना तथैवास्ति,एनं भयभ्रान्तं दीनं व्यापादयितुं तव न युक्तम् । धर्मं कुरु । पापं मुञ्च । लावक. प्रतिभणति—राजन्नहं क्षुभुक्षितः न मे मनसि धर्मस्तिष्ठति । ततः पुनरपि भणितं राज्ञा—भो महासत्त्व ! यदि बुभुक्षितस्त्वं ततोऽन्यस्तव मांसं ददामि । लावकः प्रतिभणति—स्वयं व्यापादितजीवमांसाश्यस्म्यहं न च रोचते मह्यं परव्यापादितमांसम् । राज्ञा भणितम्—यावन्मात्रेण पारापतस्तुलति तावन्मात्रं मांसं ददामि । सोऽप्यवदत् यदि त्वं स्वदेहादुत्कीर्य मांसं ददासि तदाऽहं मुञ्चामि तद्राज्ञा प्रतिपन्नं ततस्तुष्टो लावकः । राज्ञा च तुला आनायिता एकस्मिन् पार्श्वे पारापतः प्रक्षिप्त., एकस्मिन् पार्श्वे स्वदेहादुत्कीर्णमांसारोपो वि-

हितः राजा यथा यथा तत्र मांसं प्रक्षिपति तथा तथा अन्यत्र पार्श्वे पारापतो गुरुतरो देवमायया भवति । राजा पुनः पुनः स्वदेहमांसमन्यत्र क्षिपति । तं दृष्ट्वा राजलोकः समस्तो हाहारवं चकार । पारापतपार्श्वे गुरुभारमवेत्य स्वमासपार्श्वे राजा स्वयमारूढः । एतादृशं वज्रायुधस्य सत्त्वं दृष्ट्वा विस्मितो देवः स्वं रूपं प्रकटीकृत्य प्रकामं स्तुत्वा च स्वस्थानं गतवान् । अन्यदा वज्रायुधसहस्रायुधौ पितापुत्रौ क्षेमंकरगणधरसमीपे जातवैराग्यौ सहस्रायुधसुतं बलिं राज्येऽभिषिच्य प्रव्रज्यापर्यायं च परिपाल्य पादपोपगमनविधिना कालं कृत्वा द्वावपि जनावुपरितनग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकौ अहमिन्द्रदेवौ जातौ अहमिन्द्रसौख्यमनुभूय ततश्च्युतौ इहैव जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्या नगर्यां घनरथो राजा तस्य द्वे महादेव्यौ पद्मावती मनोरमती च तयोर्गर्भे जातौ, वज्रायुधो मेघरथः, सहस्रायुधो दृढरथश्चेति वृद्धिं गतौ । ततः कृत ताभ्यां कलाग्रहणे तौ द्वौ राज्ये स्थापयित्वा घनरथः स्वयं दीक्षां गृहीत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य तीर्थकरो जातः । तयोर्मेघरथदृढरथयोः पूर्वभवाभ्यासतो जिनधर्मेदृढताऽभूत् । अधिगतजीवाजीवादिभावौ तौ सुश्रावकौ जातौ । अन्यदा पितुस्तीर्थंकरस्य समीपे द्वावपि जनौ निजपुत्रं राज्येऽभिषिच्य प्रव्रजितौ । तत्राऽधीतसूत्राऽर्थेन मेघरथेन विंशतिस्थानकैः समर्जितं तीर्थकरनामगोत्रं, दृढरथेन शुद्धं चारित्रमाराधितम् । द्वावपि संलेखनाविधिना कालं कृत्वाऽनुत्तरोपपातिकेषु देवेषु उत्पन्नौ, तत्र सर्वार्थसिद्धविमानेऽनल्पं सुखमनुभूय मेघरथकुमारस्ततश्च्युत्वा इहैव जम्बूद्वीपे भरते क्षेत्रे हस्तिनागपुरे विश्वसेनस्य राज्ञोऽचिरादेव्याः कुक्षौ भाद्रपदकृष्णसप्तम्यां चतुर्दशस्वप्नसूचितः पुत्रत्वेनोत्पन्नः । पुनः ज्येष्ठकृष्णत्रयोदशीदिने जन्मास्यसंजातः । चतुःषष्टिसुरेन्द्रैरपि जन्माभिषेकः कृतः । उचितसमये गर्भस्थे चास्मिन् भगवति सर्वदेशेषु शान्तिर्जातेति शान्तिरिति नाम कृतं मातापितृभ्याम् । क्रमेणासौ सर्वकलाकुशलो जातः, यौवनं प्राप्तः, विवाहितः प्रवरराजकन्याः, क्रमेण राज्ये स्थापितः, पित्रा चारित्रं गृहीतं, शान्तेश्चक्रवर्तिपदवी समायाता, उत्पन्नानि चतुर्दश रत्नानि, साधितं भरतम्, षट्खण्डराज्यं परिपाल्य उचितावसरे स्वयं संबुद्धोऽपि लोकान्तिकामरैः प्रतिबोधितः, सांवत्सरं दानं दत्त्वा ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां चक्रिभोगास्त्यक्त्वा निष्क्रान्तः । चतुर्ज्ञानसमन्वितस्य उद्यतविहारं कुर्वतः पौषशुद्धनवम्यां केवलज्ञानं समुत्पन्नम्, देवैः समवसरणं कृतं, भगवता धर्मदेशना प्रारब्धा, प्रव्राजिता गणधराः, प्रतिबोधिता बहवः प्राणिनः । क्रमेण विहृत्य भरतक्षेत्रे बोधिबीजमुप्त्वा क्षीणसर्वकर्मांशो ज्येष्ठकृष्णत्रयोदश्या मोक्षं गत इति । अस्य भगवतः कुमारत्वे पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि, माण्डलिकत्वेऽपि पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि, चक्रित्वे पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि, श्रामण्ये च पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि दीक्षापर्यायं सर्वायुश्च वर्षलक्षमेकं जातमिति । उत्त० १८ अ० ।

संती अरहा चत्तालीसं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था । (सू० ८४०×) स० ४० सम० ।

संतिस्स णं अरहओ नउइगणा नउइगणहरा होत्था । (सू० ६०+)

शान्तिनाथस्येह नवतिर्गणा गणधराश्चोक्ताः । आवश्यके तु-पञ्चनवतिरजितस्य षट्त्रिंशत्तु शान्तेरुक्तास्तदिदमपि मतान्तरमिति । स० ६० सम० ।

संतिस्स णं अरहओ एगूणनउइं अज्जासाहस्सिओ उक्कोसिया अज्जियासंपया होत्था । [सू० ८६+]

इह शान्तिजिनस्यैकोननवोत्तरार्यिकासहस्राण्युक्तान्यावश्यके त्वेकषष्टिः सहस्राणि शतानि च षडभिधीयन्ते इति मतान्तरमेतदिति । स० ८६ सम० ।

संतिस्स णं अरहओ तेणउइचतुद्दसपुव्विसया होत्था । [सू० ६३×] स० ६२ सम० ।

शान्ति-स्त्री० । पापोपशमहेतौ अध्ययनपद्धतौ, उत्त० १२ अ० ।

संतिकम्म-शान्तिकर्मन्-न० । दुरितोपशमक्रियायाम्, भ० ११ श० ११ उ० । अग्निकारिकादिके (प्रश्न० २ आश्र०द्वार।) ग्रहोपशमनार्थे बलिकरणादिके, स्था० ५ ठा० ३ उ० । विघ्नोपशमकर्मणि,ज्ञा०१ श्रु० १अ० । होमादिके, स्था० ८ ठा०३ उ० ।

संतिकम्मंत-शान्तिकर्मान्त-न० । शान्तिकर्मगृहे, यत्र शान्तिकर्म क्रियते । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

संतिगय-शान्तिगत-त्रि० । पूर्वोक्तप्रकारां शान्तिं गताः-प्राप्ताः शान्तिगताः । शान्तौ वा स्थिता शान्तिगताः । ज्ञानदर्शनचारित्राख्येषु मोक्षमार्गे स्थितेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

संतिगर-शान्तिकर-पुं० । क्षुद्रोपद्रवेषु शान्तिकृत्सु, ल० ।

संतिगिह-शान्तिगृह-न० । शान्तिकर्मस्थाने, भ०३ श०७ उ० ।

संतिघर-शान्तिगृह-न० । शान्तिकर्मस्थाने, कल्प० १ अधि० ४ क्षण । यत्र राज्ञा शान्तिकर्म होमादि क्रियते । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

संतिचंदगणि-शान्तिचन्द्रगणिन्-पुं० । अजितशान्तिस्तवपद्मोपाङ्गटीकयोः कर्त्तरि सकलचन्द्रवाचकशिष्ये, तेन च तौ ग्रन्थौ १६५१ विक्रमसंवत्सरे विरचितौ, जै० इ० ।

संतिजल-शान्तिजल-न० । शान्त्यर्थं मन्त्रपाठपूर्वकं मस्तके दातव्ये जले, शान्तिपानीये, ध० २ अधि० ।

संतिणाह-शान्तिनाथ-पुं० शान्तितीर्थकृति, प्रव०२७ द्वार ।

संतिणिव्वाण-शान्तिनिर्वाण-न० । शान्तिः-कर्मदाहोपशमस्तेन च निर्व्वाणं-मोक्षपदं-सर्वद्वन्द्वापगमरूपम् । अष्टकर्मक्षयरूपे मोक्षे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

संतिण्ण-संतीर्ण-त्रि० । मुक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

संतिण्णसम-सन्तीर्णसम-त्रि० । सांसारिकसुखस्य दुःखमयत्वद्रष्टरि मुक्तमाये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

संतिथय-शान्तिस्तव-पुं०। शान्त्यर्थं देवस्तवपाठे, ध०२ अधि०।

संतिदास-शान्तिदास-पुं०। धर्मसंग्रहवृत्तिकृतो मानविजयस्य धर्मसंग्रहवृत्तिकरणप्रार्थके, ध० ३ अधि०। (शान्तिदासस्य वृत्तं 'धम्मसंगह' शब्दे चतुर्थभागे २७३२ पृष्ठे गतम्।)

संतिदेवया-शान्तिदेवता-स्त्री०। शान्तिसुरे, शान्तिकारिएयां देवतायाम्, पञ्चा० १६ विव०।

संतिविजय-शान्तिविजय-पुं०। धर्मसंग्रहवृत्तिकारकमानविजयसूरिगुरौ विजयानन्दसूरिशिष्ये, ध० ३ अधि०।

संतिविरइ-शान्तिविरति-स्त्री०। शान्तिरुपशमः क्रोधजयस्तत्प्रधाना प्राणातिपातिभ्यो विरतिः शान्तिविरतिः। क्रोधजयार्थं विरमणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

संतिसूरि-शान्तिसूरि-पुं०। थारापद्रीयगच्छे विजयसिंहसूरिशिष्ये, वादतुष्टेन भोजराजेनास्मै 'वादिवेताल' इति विरुदमर्पितमनेनैव उत्तराध्ययनटीका रचिता, या पाई टीकेति प्रसिद्धा। दिगम्बरविजेता देवसूरिरस्यैव विद्याशिष्य आसीत्। वीरसूरि-शालिभद्रसूरि--सर्वदेवसूरयश्चेति त्रयः पट्टशिष्या आसन्। विक्रमीय १०६६ वर्षे अयं स्वर्गतः। जै० इ०।

संतिसेणीय-शान्तिश्रेणिक-पुं०। स्थविरस्यार्यशिष्यस्य प्रथमे शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

संतुयट्ट-सन्त्वग्वर्त-त्रि०। शयिते, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०।

संतुयट्टण-सन्त्वग्वर्त्तन-न०। सम्यक्त्वग्वर्तने शयने, व्य० ५ उ०।

संतोदत्त-शान्तोदात्त-पुं०। शान्तस्तथाविधेन्द्रियकषायविकारविकलः, उदात्त -उच्चोच्चतराद्याचरणस्थितिवद्धचित्तस्ततः शान्तश्चासावुदात्तश्च शान्तोदात्तः। श्रद्धानुष्ठानसाधनपरे सूक्ष्मभावसयुक्ते तत्त्वसंवेदनानुगे, यो० विं०। द्वा०।

संतोस-संतोष-पुं०। अल्पेच्छायाम्, स्था० १० ठा० ३ उ०। सतुष्टौ, पञ्चा० १ विव०। द्वा०। सर्वद्वन्द्वोपरमरूपे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। "संतोषः परमं सौख्यम्"। द्वा० २६ अष्ट०। "विश्वस्यापि स वल्लभो गुणगणस्तं संश्रयत्यन्वहं, तेनेयं समलंकृता वसुमती तस्मै नमः संततम्॥ तस्मादन्यतमः समस्ति न परस्तस्यानुगा कामधुक्, तस्मिन्नाश्रयता यशासि दधते संतोषभाक् यः सदा॥१॥" ध० र० १ अधि० ११ गुण।

संतोसि(ण्)-सन्तोषिन्-पुं०। येन केनचित् संतुष्टे अवीतरागे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

संथड-संस्तृत-त्रि०। कृतसंस्तारे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

संथडिय-संस्तृत-त्रि०। समर्थे, तद्दिवस पर्याप्तभोजिनि च। बृ० ४ उ०।

संथणण-संस्तनन-न०। अत्यर्थं सशब्दनिःश्वासे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

संथर-संस्तर-पुं०। द्रव्यादिरहितकाले, दर्श० ४ तत्त्व।

संथरंत-संस्तरत्-त्रि०। विवक्षितानुष्ठानवाहनसमर्थे, व्य० २ उ०।

संथरण-संस्तरण-न०। प्रासुकैषणीयाहारादिप्राप्तौ साधूनां निर्वाहे, ध० २ अधि०। (अत्रत्या व्याख्या 'ठवणाकुल' शब्दे चतुर्थभागे १६६० पृष्ठे गता।) (त्रिविधं संस्तरणम्- जघन्य, मध्यमम्, उत्कृष्टं च। तत्राऽऽचार्यादीनामाचारः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे २३ पृष्ठे गतः।) संस्तारककरणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

संथरमाण-संस्तरत्-त्रि०। विद्यमाने, 'संथरमाणेहिं जणवएहिं' आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ०। प्रतिपन्नप्रतिमापरिपालनक्षमे, संस्तरन् नाम उच्यते-यः सूत्रोक्तविधिना प्रतिमाप्रतिपत्तियोग्यतामुपगतः मासिक्यादीनां च प्रतिमानां मध्ये या प्रतिमां प्रतिपन्नस्तां सम्यक् परिपालयितु क्षमस्तस्य संस्तरतो विधिः। बृ० १ उ० २ प्रक०।

संथव-संस्तव-पुं०। संस्तवनं संस्तवः। दातुर्गुणविकत्थने, तेन सहात्मनः सम्बन्धविकत्थने च। बृ० १ उ० ३ प्रक०। परिचये, प्रत्यासत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। स्नेहे, उत्त० ५ अ०। सूत्र०। स्वरूपज्ञानादुत्पन्ने परिचये, उत्त० २८ अ०। एकासने स्थित्वा परिचये, उत्त० १६ अ०। अभिष्वङ्गे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। कामसम्बन्धे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। गृहगमनालापदानसंप्रीणनादिरूपे परिचये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। सहसंवासे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। दर्श०। बृ०। एकत्र संवासात् परस्परालापादिजनिते परिचये, ध० २ अधि०। अभ्यासे, आव० १ अ०। आ०। संवासजनिते परिचये, सहवासभोजनालापादिलक्षणे स्नेहे, आव० ६ अ०। आ० चू०। सूत्र०। पञ्चा०। निजपटप्रदर्शनेन लोकावर्जने, पिं०। प्रव०।

संस्तवपिण्डो न ग्राह्यः। सांप्रतं संस्तवपरिहारमाह—

गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा, अपव्वइएण व संथुया हविज्जा।
तेसिं इहलोयफलट्ठयाए, जो संथवं न करेइ स भिक्खू॥१०॥

गृहिणः-गृहस्था ये प्रव्रजितेन गृहीतदीक्षेण दृष्टाः उपलक्षणत्वात्परिचिताश्च अप्रव्रजितेन वा गृहस्थावस्थेन सह संस्तुताः परिचिता भवेयुर्गृहिणो य इति संबन्धः। 'तेसिं' ति तैरुभयावस्थयोः परिचितैर्गृहिभिरिहलौकिकफलार्थ-वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तं यः संस्तवं-परिचयं न करोति स भिक्षुरिति सूत्रार्थः। उत्त० १६ अ०।

पुरे संथवं करेइ—

जो भिक्खू पुरे संथवं करेइ करंतं वा साइज्जइ॥२३७॥

संथवो-थुती अदत्ते दाणे पुव्वं संथवो, दिण्णे पच्छा संथवो जो तं करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहु। अहवा-सयणे पुव्वपच्छसंथवं करेति।

अत्र निर्युक्तिमाह—

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य संथवो मुणेयव्वो।
अत्तपरतदुभए वा, एक्केक्को सो पुणो दुविधो॥२३८॥

साहू आतसंस्तवं करोति, साहू उभयस्स वि संस्तवं क-

रोति । अहवा-आत्मना संस्तवं करोति इति आत्मसंस्तव' । साहू गिहत्थं थुणति एस आत्मस्तवः, गिहत्थो साधुं थुणति एस परस्तवः, दो वि परोप्परं एस उभयस्तवः । एतेसिं एक्केको पुण दुविहो संतासंतो य ।

दव्वे खेत्ते काले संथवो इमो । गाहा-

दव्वे पुट्ठमपुट्ठो, परिहीणधणा तु पुव्वयंती उ ।
खेत्तेकतरा खेत्ता, कम्मि व तो दिक्खितो काले ॥२३६॥

दव्वसंथवो परेण पुच्छिओ-तुमं सो ईसरो आमं ति; भणाति । सो पुण तहा संतो वा असंतो वा पुच्छितो भणाति अमुगणामधेयं तुमं इस्सरं ण याणसि तो एव भणति परिहीणधणा पव्वयंति त्ति परिहीणधणो-दरिद्रेत्यर्थः,एवं परेण णिंदितो समुन्नुहतो परं णिभं काउं अप्पाणं पि थुणाति यथा भवानैश्वर्य्ययुक्तः तथा अहमप्यासीत् । खेत्तसंथवो कतराता तुमं चेव सरिसव्वतोहं । अथवा-प्रथमवयंसि णिविट्ठो णिविस्समाणो वा । भावे संथवो दुविहो-सयणे, वयणे य ।

सयणे ताव इमो । गाहा-

सयणे कस्स सरिसओ, आमं तुसिणीएँ पुच्छई को वा ।
आउट्टणाणिमित्तं, वयणे आउट्टिओ चाऽवि ॥ २४० ॥

केणइ पुच्छिओ जो सो इंददत्तभाया पव्वतितो सो तुमं सरिसो दीससि । सो भणाइ-आमं, तुसिणीओ वा अच्छति भणति वा को परिसाणि पुच्छनि । इदाणिं वयणसंथवो आदिते दाणे पुव्वं करेति, आउट्टणाणिमित्तं वरं मे आउट्टितो इट्ठं दाणं देहिति । दाणेण वा दत्तेण आराहितो पच्छा वयणसंथवं करेति । एस सखेवो भणितो । इदाणीं वित्थारो संखेवभणियस्स वा इमं वक्खाणं ।

तत्थ दव्वसंथवो इमो चउसट्ठिप्पगारो । गाहा—

धण्णाइं रतणथावर, दुपदचतुप्पद तहेव कुवियं वा ।
चउवीसं चउवीसं, तियदुगदसहा अणेगविधं ॥ २४१ ॥

धण्णादियाणं कुवियपज्जवसाणाण छण्हं पच्छद्धेणं जहासंख संखा भणिता ।

गाहा-

धण्णाणि चतुव्वीसं, जव गोहुम सालि वीहि सट्ठी य ।
कोद्दव अणया कंगू, रालग तिल मुग्ग मासा य ॥२४२॥

बृहच्छिरा कगू , अल्पतरशिरा रालकः ।

गाहा—

अतसि हिरिमंथतिपुडग, णिप्फावसलिसिंद रायमासा य।
इक्खू मसूर तुवरी, कुलत्थ तह धाणगकलाया ॥ २४३ ॥

अतसी मालवे प्रसिद्धा,हरिमथा चट्टणगं, तिपुडालगा चणगा, णिप्फाया वल्ला, अलिसिंदा चवलगा, रायमासा पंडरचरागा, धाणा कुंभुभरी, वट्टचणगा ।

गाहा—

रयणाइं चउवीसं, सुवण्णतउतंबरययलोहाइं ।
सीसगहिरण्णपासा-ण वेरमणीमोत्तियपवालो ॥ २४४ ॥

संखतिणिसा अगुलुचं-दणाइँ वत्थामिलाइँ कट्ठाइं ।
तह दंत चम्मवाला, गंधा दव्वोसहाइं च ॥२४५॥

रयतं-रुप्पं हिरणं-रूपका पाषाणा स्फटिकादयः मणि सूर-चन्द्रकांतादयः , तिणिसा रुक्खकट्ठा अगलुं-अगरुं यानि न म्लायन्ते शीघ्रं तानि अमिलातानि वस्त्राणि कट्ठा शाकादिस्तम्भा दंता हस्त्यादीनां,चम्मा वग्घाणं,वाला चमरीणं, गंधयुक्तिकृता गंधा एक गंधं,औषधं—द्रव्यं बहुद्रव्यसमुदायादौषधं ।

त्रिविधं थावरं । गाहा—

भूमिघरतरुगणादी, तिविधं पुण थावरं समासेणं ।
चक्कारबद्धमाणुस, दुविधं पुण होति दुपयं तु ॥२४६॥

भूमीघरं केल्लाघर खातमियमुभय तिविधं, तरुगणा-आम्रवणारामादि दुपयं दुविध होदि अरगबद्ध मानुसं च ।

दसविधं चतुप्पदं । गाहा—

गावी महिसी उट्टी, अय एलग आस आसतरगा य ।
घोडग गद्दभ हत्थी, चतुप्पदा होंति दसधा तु ॥२४७॥

आसतरगा अस्सतरी ।

कुप्पोवकरणं णाणाविहं । गाहा—

णाणाविहो वि करणं, लक्खणकुप्पं समासवो होति ।
चतुसट्ठिपगारोत्तं, एवं भणितो भवे अत्थो ॥२४८॥

कुप्पोवकरणं णाणाविह अणेगलक्खणं तच्च कसभंडं लोहभाडं ताम्रमय मृन्मयादि च २ । ४ ।२ । ४ न्ह ३।२। १० । १ । एष सर्वोपि संपिण्डितः चतु षष्टिप्रकारोऽभिहितः ।

आत्मपरसंस्तवोपसंहारनिमित्तमिदमाह-

चतुसट्ठिपगारेणं, जाध व अट्ठेण उवचितोसि चि ।
किं अप्पसंथवेणं, कातण एमेव अहयं पी ॥२४६॥

यथा त्वं चतु षष्टिप्रकारेणोपपेतस्तथाऽहमप्यासं किं वाऽऽत्मसंस्तवंनति १ ।

इयाणिं खेत्तसंस्तवोपेनं । गाहा—

अरहा साहू देमी, एगग्गामेगणगरवत्थे य ।
पुण्णाओ खेत्ताओ, अम्हे मो पुच्छिओ वत्ती ॥२५०॥
जइ भणति लोइयं तू , पुण्णं खेत्तं तहिं भवे गुरुगा ।
अह आरुह तं अम्ह वि,जिणजम्मादी तहिं लहुओ॥२५१॥

गिहिणा पुच्छितो कम्मि देसे अज्जो उप्पमो साहू भणति-कुरुखेत्ते, गिही भणति—अम्ह साहू देसीएण गामणगरउप्पणा गिहिणा पुच्छिओ कहिं गामम्मि त्ति साहू भणति-कुरुखेत्ते एवं जइ लोइय पुण्णखेत्तं भणति तो चतुगुरु, लोउत्तरं लहुगो ।

इदाणीं कालसंथवो गिहिणा पुच्छिओ कम्मि वय पव्यतितो भणाति । गाहा—

एवइयम्मि य जम्मे, परियाओ वि मम्म एवतियो ।
मयणनमन्य गिणिट्ठो,णिव्विसमाणो पव्वतो वा॥२५२॥
एवइओ मे जम्मो वयजाए वा पव्वतितो मयणसम्भवो वा

पव्वइतो णिविट्ठो परिणीओ णिव्विसमाणो विवाहदिणे ठविए पसूयपुत्तो जाओ। इदाणिं णिस्साकतं जाओ। नि० चू० २ उ०।

गाहा—

सुत्तणिवातो नियमा, चतुव्विधे संथवम्मि संतम्मि।
मोत्तूण सयणसंथव, तं सेवं तम्मि आणादी ॥२६३॥

सुत्तणिवातो दव्वादिचतुव्विहे संथवे संतम्मि मासलहुं, मोत्तूण सयणसथवं सयणसंथवे पुण इमं पुरिससंथवे चउलहु इत्थीसथवे चउगरुं, चउव्विहे वि दव्वातिए संथवे आणादिया दोसा, कारणे पुण संथवं करेज्जति।

गाहा—

अधिकरण-रायदुट्ठे, गेलण्णद्धाण-संभमभए वा।
पुरिसित्थीसंबंधे, समणाणं संजतीणं च ॥ २६४ ॥

गिहत्थेण समं अहिकरणमुप्पण्णं तस्स उवसमणट्ठाए पुव्वं चतुव्विहं पि दव्वातिय संतं करेंति, पच्छा असत पि। एवं रायदुट्ठे वि उवसमणट्ठता गिलाणोसहणिमित्त वा अद्धाण संभमभएसु, सताणट्ठया वा 'पुरिसित्थि' त्ति एएहिं कारणेहिं संजताण संजतीण वा।

'पुरिसित्थि'त्ति संबंधो भवेज्ज वयणसयणकमप्रदर्शनार्थं इदमाह। गाहा—

वयसंथवसंतेणं, पुव्वधुणे पुरिससंथवे तत्तो।
णातितित्थिगतेणं वा, भाइयवज्जं च इतरेणं ॥ २६५ ॥

पुव्विं वयसंथवेणं संतेणं, पच्छा पुरिससंथवेणं पुव्वावरेण संतेणं ततो पच्छा णातितित्थिगतेण संतेणं ततो भाइयवज्जं इतरेण पच्छा संथवेणं सतेणं ततो पच्छा वयणादि असंतेण।

गाहा—

पुव्वे अवरे य पदे, एसेव गमो उ होइ समणीणं।
जह समणाणं गुरुई,इत्थी तह तासि पुरिसा उ॥२६६॥

संजतीण एसेव गमो, जहा समणाण इत्थी गुरुगा, तहा समणीणं पुरिसा गुरुगा।

सूत्रं—

जे भिक्खू समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दुइज्जमाणे पुरे संथुतियाणि वा पच्छा संथुइयाणि वा कुलाइं पुव्वामेव अणुपवेसित्ता पच्छा वा भिक्खायरियाए अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

समाणो नाम समवेत· अप्रवसित· को सो वुड्ढावासः वसमाणो उडुवाद्धिए अट्ठमासे वासावास च णवमं एय णयविह विहारेंतो वसमाणो भण्णति, अनु-पश्चादभावे गामातो अण्णो गामो अणुगामो दोसु पाएसु सिसिरगिम्हेसु वारिज्जाति त्ति दूइज्जाति। पुरे संथुता मातापितादी,पच्छा संथुता सुसरादी, कुलशब्दः प्रत्येकं भिक्खाकालातो पुव्विं अप्राप्त भिक्खाकाले इत्यर्थ·। अनुप्रवेशो पच्छा भिक्खाकाले अतिक्रातेत्यर्थ·। एवं अप्राप्त अतिक्राते वा पविसतं साइज्जति-अनुमोदते मासलहुं 'से' पच्छित्तं। एस सुत्तत्थो। नि० चू० २ उ०। पं० चू०। दर्श०। व्य०।

संस्तवनं व्याख्यानयति—

सुत्तेण अत्थेण य उत्तमो उ,
आगाढपण्णेसु य भावियप्पा।
जच्चन्निओ याऽवि विसुद्धभावो,
संते गुणेवं पविकत्थयंतो ॥ ४७ ॥

सूत्रेण अर्थेन च एष उत्तमः-प्रधान· परिपूर्णः, सूत्रस्यार्थस्य चावदातस्यास्य संभवात्। तथा आगाढा प्रज्ञा येषु व्याप्रियते न या काचन तान्यागाढप्रज्ञानि शास्त्राणि तेषु भावितात्मा तात्पर्यग्राहितया तत्रातीव निष्पन्नमतिरिति भावः। तथा जात्या सकलजनप्रशस्ययान्वितो-युक्तो जात्यन्वितः, तथा विशुद्धः-स्वपरसंसारनिस्तारैकतानतयाऽवदातो भावः-अभिप्रायो यस्य स विशुद्धभावः, एवभूतो गुणान् गणधारिण· शिष्या अपरे च प्रकर्षतो हर्षातिरेकलक्षणतो विकत्थयन्ते-श्लाघ्यन्ते। व्य० ३ उ०। संस्तव· परिचयः तस्याभिष्वङ्गहेतुत्वात्। द्वाविंशे परिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा वसमाणे वा, गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे से जं पुण जाणेज्जा गामं वा०जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा० जाव रायहाणिंसि वा संतेगतियस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तं जहा-गाहावई वा०जाव कम्मकरी वा तहप्पगाराइं कुलाइं णो पुव्वामेव भत्ताए वा णिक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा, केवली बूया-आयाणमेयं, पुरा पेहाए तस्स परो अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवकरेज्ज वा उवक्खडेज्ज वा अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा० ४ जं णो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा पविसेज्ज वा णिक्खमिज्ज वा २ से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २, अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा, से तत्थ कालेणं अणुपविसेज्जा २ तत्थेतरेतरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारेज्जा, सिया से परो कालेण अणुपविट्ठस्स आहाकम्मियं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवकरेज्ज वा उवक्खडेज्ज वा। तं चेगतिओ तुसिणीतो उवेहेज्जा आहडमेवं पचाइक्खिस्सामि माइट्ठाणं संफासे,णो एवं करेज्जा से पुव्वामेव आलोएज्जा आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा णो खलु मे कप्पति आहाकम्मियं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि से सेवं वयं तस्स परो आहाकम्मियं असणं वा० ४ उवक्खडावित्ता आहट्टु दलएज्जा तहप्पगारं असणं वा० ४ अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। (सू० ५०)

स भिक्षुर्यत् पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा-ग्राम वा यावद्राजधानीं वा-अस्मिंश्च ग्रामादौ सन्ति-विद्यन्ते कस्यचिद्भिक्षोः पूर्वसंस्तुता· पितृव्यादय, पश्चात्संस्तुता वा-श्वशुरादयः, ते

च तत्र बद्धगृहाः प्रबन्धेन प्रतिवसन्ति ते चामी गृहपतिर्वा यावत्कर्म्मकरी वा तथाप्रकाराणि च कुलानि भक्तपानाद्यर्थं न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेत् । स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह—केवली ब्रूयात्–कर्म्मोपादानमेतत् किमिति ?,यतः पूर्वमेवैतत्प्रत्युपेक्षेत-पर्यालोचयेत्, यथैतस्य भिक्षोः कृते परो गृहस्थोऽशनाद्यर्थम् उपकुर्यात्—ढौकयेत् उपकरणजातम् ' उवक्खडेज्ज ' त्ति तदशनादि पचेद्वेति । अथ-अनन्तरं भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादि, यथानो तथाप्रकाराणि स्वजनसम्बन्धीनि कुलानि पूर्वमेवभिक्षाकालादारत एव भक्ताद्यर्थं प्रविशेद्वा निष्क्रामेद्वेति । यद्विधेयं तद्दर्शयति-' से तमादाये ' त्ति स-साधु· एतत्-स्वजनकुलम् आदाय-ज्ञात्वा केनचित्स्वजनेनाज्ञात एवैकान्तमपक्रामेद्, अपक्रम्य च,स्वजनाद्यनापातेऽनालोके च तिष्ठेत्, स च तत्र स्वजनसम्बद्धग्रामादौ कालेन-भिक्षावसरेणानुप्रविशेत्, अनुप्रविश्य च इतरेतरेभ्य· कुलेभ्यः-स्वजनरहितेभ्यः 'एसियं' ति—एषणीयम्-उद्गमादिदोषरहितं 'वेसियं' ति वेषमात्रादवाप्तमुत्पादनादिदोषरहित पिण्डपातं-भिक्षाम् एषित्वा-अन्विष्य एवभूत ग्रासैषणादोषरहितमाहारमाहारयेदिति । आचा० (उत्पादनादोषाः ग्रासैषणादोषाश्च स्वस्वस्थानादवगन्तव्या· ।) ग्रासैषणादिदोषरहित· सन्नाहारमाहारयेदिति । अथ कदाचिदेवं स्यात्, स पर·-गृहस्थ कालेनानुप्रविष्टस्यापि भिक्षोराधाकर्मिकमशनादि विदध्यात्, तच्च कश्चित्साधुस्तूष्णींभावेनोत्प्रेक्षेत, किमर्थम् ?, आहृतमेव प्रत्याख्यास्यामीति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैव कुर्यात्, यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति—स पूर्वमेव आलोकयेत्—दत्तोपयोगो भवेत्, दृष्ट्वा चाहारं संस्क्रियमाणमेव वदेद्—यथा अमुक ! इति वा भगिनि ! इति वा न खलु मम कल्पत आधाकर्मिक आहारो भोक्तुं वा पातुं वाऽतस्तदर्थं यत्नो न विधेयः । अथैवं वदतोऽपि पर आधाकर्मादि कुर्यात्ततो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । कर्त्तरि प्रत्यये । त्रि० । सस्तावके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

संथवदाण–संस्तवदान–न० । परिचयकरणे , व्य० ७ उ० ।

संथवपिंड–संस्तवपिण्ड–पु० । पूर्वं जननीजनकादिद्वारेण पश्चाच्च श्वश्रूस्वस्रादिद्वारेणात्मपरिचयानुरूपं सम्बन्धं भिक्षार्थं घटयता ग्राह्ये पिण्डे, जीत० । ध० ।

सस्तवद्वारमाह—

दुविहो उ संथवो खलु, संबंधीवयणसंथवो चेव ।
एक्केक्को वि य दुविहो, पुव्वं पच्छा य नायव्वो ॥४८४॥

द्विविधः खलु संस्तव·, तद्यथा-परिचयरूप·, श्लाघारूपश्च । तत्र परिचयरूप· सम्बन्धिसंस्तवः,श्लाघारूपो वचनसंस्तवः । तत्र सबन्धिनो-मात्रादयः, श्वश्र्वादयश्च । तद्रूपतया यः संस्तवः स संबन्धिसंस्तव· । वचनं श्लाघा तद्रूपो यः संस्तवः स वचनसंस्तव· । एकैकोऽपि च द्विधा । तद्यथा 'पुव्विं पच्छा य' त्ति पूर्वसंस्तवः, पश्चात्संस्तवश्च ।

तत्र संबन्धिसंस्तवस्य द्विविधस्यापि स्वरूपमाह—

मायपिइपुव्वसंथव, सासूसुसराइयाण पच्छा उ ।
गिहिसंथवसंबंधं, करेइ पुव्वं च पच्छा वा ॥४८५॥

मातापित्रादिरूपतया य· संस्तव·-परिचयः स पूर्वसंस्तवो मात्रादीनां पूर्वकालभावित्वात् । यस्तु श्वश्रूश्वशुरादिरूपतया संस्तवः स पश्चात्संस्तवः । श्वश्र्वादीनां पश्चात्कालभावित्वात् । तत्र साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्ट सन् गृहिभिः सह सस्तवसंबन्ध-परिचयघटनम् पूर्व-पूर्वकालभाविमात्रादिरूपतया पश्चाद्वा पश्चात्कलभाविश्वश्र्वादिरूपतया वा करोति ।

कथमित्याह—

आयवयं परवयं, नाउं संबंध एतयणुरूवं ।
मम माया एरिसिया, ससा य धूया व नत्ताई ॥ ४८३ ॥

इह साधुर्भिक्षार्थं गृहे प्रविष्ट· सन्नाहारलम्पटतया आत्मवय· परवयश्च ज्ञात्वा तदनुरूपं वयोऽनुरूपं संबध्नाति,यदि सा वयोवृद्धा स्वयं च मध्यमवयास्ततो ममदृशी माताऽभूदिति ब्रूते । यदि पुनः साऽपि मध्यमवयास्तत ईदृशी मम स्वसाऽभूदिति वदति । अथ वालयास्ततो दुहिता नप्ता वेत्यादि ।

संप्रत्यस्यैव पूर्वरूपसंबन्धसंस्तवस्योदाहरणमाह—

अद्धिइ दिट्ठीपण्हव, पुच्छा कहणं ममेरिसी जणणी ।
थणखेवो संबंधो, विहवासुण्हाइदाणं च ॥ ४८७ ॥

कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः काचिन्निजमातृसमानां स्त्रीमवेक्ष्य आहारादिलम्पटतया मातृस्थानेनाधृत्या दृष्टिप्रस्नवम्—ईषदश्रुविमोचन करोति । तत· ' पुच्छ ' त्ति । सा स्त्री पृच्छति—किं त्वमधृतो दृश्यसे ? इति । तत· साधोः कथनम् । मम ईदृशी त्वत्सदृशी जनन्यभूदिति । अत्र दोषानाह—ततस्तया मातृत्वप्रकटनार्थं साधुमुखे स्तनप्रक्षेप· क्रियते । परस्परं च सबन्धः स्नेहवृद्धिरूपो जायते । तथा विधवा स्नुषादिदानं च करोति मृतपुत्रस्य स्थाने अयं मे पुत्र इति बुद्ध्या स्वस्नुषादानं कुर्यात् । आदिशब्दात्स्नेहवशतो दास्यादिदान च । उक्तं पूर्वसंबन्धिसंस्तवोदाहरणम् । एवं पश्चात्संबन्धिसंस्तवोदाहरणमपि भवानीयम् ।

संप्रति पुन· पश्चात्संबन्धिसंस्तवे दोषानाह—

पच्छा संथवदोसा, सासूविहवादिधूयदाणं च ।
भज्जा ममेरिसि च्चिय,सज्जो घाओ व(य)भंगो वा ॥४८८॥

पश्चात्सबन्धिसंस्तवे इमे दोषा·—श्वश्रूरीदृशी ममाऽऽसीदित्युक्ते सा विधवाया आदिशब्दात् कुरण्डादिरूपाया· सुताया दानं करोति, तथा भार्या ममेदृश्यभवदित्युक्ते यदि ईर्ष्यालुस्तद्भर्त्ता समीपे च वर्त्तते तदा मम भार्याऽनेन स्वभार्या कल्पितेति विचिन्त्य साधोर्घातं कुर्यात् । अथेर्ष्यालुस्तद्भर्त्ता न भवति, समीपे वा न वर्त्तते, तदा भार्याऽहमनेन कल्पितत्युन्मत्ता भार्येव समाचरन्ती चित्तक्षोभमापादयेत् ततो व्रतभङ्गः ।

एवं तावत्पूर्वसम्बन्धिसंस्तवस्य पश्चात्संबन्धिसंस्तवस्य च प्रत्येकमसाधारणान् दोषानभिधाय सम्प्रत्युभयोरपि साधारणानभिधित्सुराह—

मायावी चडुयारी, अम्हं ओहावणं कुणइ एसो ।
निच्छुभणाई पंतो, करिज्ज भद्देसु पडिबंधो ॥ ४८९ ॥

अघृतिदृष्टिप्रस्तवाऽऽदि कुर्वन्मायावी एषोऽस्माकमावर्जनानिमित्तं चाटूनि करोतीति निन्दा, तथाऽस्माकं स्वस्य का पेटिकप्रायस्य जनन्यादिकल्पनेनापभ्राजनं विधत्ते, ततः एवं विचिन्त्य प्रान्तः स्वगृहनिष्काशनादि करोति। अथ ते गृहिणो भद्रा भवेयुस्तर्हि तेषु भद्रेषु साधोरुपरि प्रतिबन्धो भवेत्, प्रतिबन्धे च सत्याधाकर्मादिकं कृत्वा दद्यादिति। उक्तो द्विविधोऽपि सम्बन्धिसंस्तवः।

अथ वचनसंस्तवस्य पूर्वरूपस्य लक्षणमाह—

गुणसंथवेण पुव्वं, संताऽसंतेण जो थुणिज्जाहि।
दायारमदिन्नम्मी, सो पुव्वं संथवो हवइ ॥ ४६० ॥

गुणाः औदार्यादयः तेषां यः संस्तवः—प्रशंसारूपो वचनसंघातस्तेन सत्यरूपेणासत्यरूपेण वा यः साधुर्दातव्ये भक्तादावदत्ते सति दातारं स्तूयात्, स एष पूर्वसंस्तवो भवति।

अस्यैवोल्लेखं दर्शयति—

एसो सो जस्स गुणा, वियरंति अवारिया दसदिसासु।
इहरा कहासु सुणिमो, पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥४६१॥

सुगमम्। नवरं, 'इहरा' इतरथा, इदानीं दर्शनात् पूर्वमित्यर्थः।

सम्प्रति पश्चाद्रूपस्य वचनसंस्तवस्य लक्षणमाह—

गुणसंथवेण पच्छा, संतासंतेण जो थुणिज्जाहि।
दायारं दिन्नम्मि, सो पच्छा संथवो होइ ॥ ४६२ ॥

दत्ते भक्तादौ सति पश्चात् दातारं गुणसंस्तवेन सत्यरूपेणाऽसत्यरूपेण वा यः साधुः स्तूयात् एष पश्चात्संस्तवो भवति।

संप्रति तस्यैवोल्लेखं दर्शयति—

विमलीकय म्ह चक्खू, जहत्थया वियरिया गुणा तुज्झं।
आसि पुरा मे संका, संपय निस्संकियं जायं ॥ ४६३ ॥

भिक्षार्थं प्रविष्ट साधुर्लब्धे भक्तादौ दातारं वक्ति,यथा-निजदर्शनेन त्वया विमलीकृते नः चक्षुषी तथा यथार्थास्तव गुणाः सर्वत्रापि विचरिताः। तथा पुरा-पूर्वं मे शङ्का आसीत् यादृक् गुणः श्रूयते स किं तादृश एवोतान्यादृश इति। संप्रति तु त्वयि दृष्टे निःशङ्कितं मे हृदय जातम्। उक्तं संस्तवद्वारम्। पिं०।

संथार-संस्तार-पुं०। संस्तरन्ति साधवोऽस्मिन्निति संस्तारः। उपाश्रये, व्य० ४ उ०। संस्तीर्यते भूपीठे विस्तार्यते शयालुभिरिति संस्तारः। पर्यन्तक्रियां कुर्वद्भिर्दर्भादिविस्तरणे, संथा०।

अथैकोनविंशत्या गाथाभिः संस्तारकमाहात्म्यमेवाह—

भूइग्गहणं जह न-क्कयाण अवमाणयं च वज्झाणं।
मल्लाणं च पडागा, तह संथारो सुविहियाणं ॥ ३ ॥

'जहन्नकयाणं' ति—यथा न्यक्कृतानां-पराभूतानां निराकृतानां पित्रादिसकाशात् भागमलभमानानां राजादिविक्रमेण भूतिग्रहणं-विभूतिलाभो महते तोषाय, देवानां वा स्वर्गादिस्थाननिष्काशितानां पुनरिन्द्रादिप्रसादीकरणेन स्वर्गलाभः राज्ञां वा स्वराज्यान्निर्द्धाटितानां पुनर्मित्रादिबलदलमीलनेन स्वराज्यप्राप्तिः, मन्त्रिणां वा स्वपदच्याविताना पुना राज्ञा व्यावर्जनेन स्वमुद्रावाप्तिः, श्रेष्ठिना वा स्वनगरान्निर्वासितानां महाजनसमावर्जनेन पुन' स्वपुरप्रवेशेन श्रेष्ठिपदप्रतिष्ठेति। तथा-सस्तारक. प्रमोदाय। 'भूइगहण जह नगयाणं' ति पाठः। भूतिग्रहणं-भस्मादानं प्रथमतो दीक्षाग्रहणकाले नग्नस्य भावो नाग्न्यं तेषां नाग्न्यानां-सरजस्कानां प्रथमभस्मावगुण्ठन तेषा यथैवेति यथा तथा संस्तारकः। 'अवमाणय च वज्झाण' ति-'अचः अची' ति अवशब्दाकारलोपात् 'अवज्झाणं' ति जातम्, 'अवज्झाणं' ति-ज्ञातव्यम्-अवमानकं च पूजनकं च न वध पाप येषा ते अवधा निर्दोषास्तेषां निर्दूषणानां केनापि प्रत्यनीकेनापि तद्व्यलीकानां यथाऽयं पारदारिक इति, चौर इति, अभिमर इति, अपाङ्क्तेय इति,सीतासुभद्रानामिव आरोपितकलङ्कानां ततोऽपि स्वयमेव ज्वलनप्रवेशादिना प्रतीतिदानेनोत्तारितकलङ्कानाम्। अवमानकं च तोषाय 'वयज्झाणं च' पाठे पूर्ववत्अकारलोपे 'अवज्झाणं' ति भवति,तत्र अवध्यानां वधानर्हाणामपि विद्वेषिवचनतो वध्यत्वेन स्थापितानां सुदर्शनसुजातादीनामिव देवताप्रातिहार्यतो निराकृतवध्यत्वदोषाणाम् अवमानक च दधिवाहनादिनरेन्द्रैर्यथा प्रीतये तथाऽयं संस्तारक इति 'मल्लाण व पडाग' त्ति-यथा मल्लानां मर्द्दनकमल्लादीनामिव 'उज्जेणि अट्टणे खलु, सोप्पारगिरिसो पारयंमि। पुहवई मच्छिमल्लो, दूरिल्लकाविया फलिहमल्ले य' इत्येतस्मिन्प्रबन्धे अट्टनक उज्जयिनीतो गत्वा प्रतिवर्ष मात्सिकमल्लपताकामवहतवान् अपहरतश्च यथा तस्य तोषस्तथा संस्तारक इति गाथार्थः।

वेरुलिय व्व मणीणं, गोसीसगचंदणं व गंधाणं।
जह व रयणेसु वयरं, तह संथारो सुविहियाणं ॥ ४ ॥

यथा मणीनां सूर्यादिमणीनां मध्ये विषापहाररोगोपशमादिना सातिशयगुणेन वैडूर्यमणिः सर्वोत्तमस्तथाऽयमपि। 'गोसीसगचंदणं व गधाण' ति-यथा गोशीर्षकचन्दनं निर्विकारत्वेन निर्मलस्थिरगन्धत्वेन गन्धेषु मध्ये प्रशस्यते तथाऽयमपि यद्यपि कस्तूरिकाद्या अपि सातिशयगन्धोऽस्ति तथापि सर्वं निकृष्टवर्णा समला च,तथा यद्यपि घनसारः सारतरवर्णस्तथाप्यस्थायिगन्धो दुर्वर्णासारसंसर्गभाक् च,अतो न तयोर्गन्धः प्रशस्यते 'जह व रयणेसु वयरं ति'-यथा रत्नेषु इन्द्रनीलककर्केतनादिषु मध्ये महामूल्यत्वेन प्रशस्यते वज्ररत्नं च।यदाह-

"जं जहमुल्ल रयणं, तं जाणइ रयणवाणिओ निउणो।
थोवं तु महल्लस्स, विकासविअप्पस्स वि बहु व ॥ १ ॥
अहवा कायमणिस्स य, सुमहल्लस्सावि कागिणी मुल्लं।
वयरस्स उ अप्पस्स वि, मुल्लं होही सयसहस्सं ॥ २ ॥
वेरुलिय व्व मणीण, गोसीस चंदणं व गंधाण।
जह व रयणेसु वयरं, तह संथारो सुविहियाण ॥ ४ ॥"

यथा मणीनां-सूर्यादिमणीनां मध्ये विषापहाररोगोपशमादिना सातिशयः तथाऽयमपीति गाथार्थः।

पुरिसवरपुंडरीओ, अरहा इव सव्वपुरिससीहाणं।
महिलाण भगवईओ,जिणजणणीओ जयम्मि जहा॥५॥

'पुरिसवर' त्ति-पुरुषाणां मध्ये वरः पुरुषवरः पुरुषवराणां मध्ये पुण्डरीकमिव-कमलमिव यथा पुण्डरीक पङ्के आ-

तं जले च वृद्धिमुपगतं न पङ्केन लिप्यते नापि जलेन, किं तु जलोपरिवर्त्येव भवति एवमर्होऽपि तीर्थकरः कामैर्जातो भोगैर्वृद्धिमुपगतो न कामैर्लिप्तो नापि भोगैः, किं तु त्रिभुवनोपर्येव जातः । पुण्डरीकमातपत्रं पुरुषवराणां पुण्डरीकमिव-आतपत्रमिव तद्धि आतपं निवारयति, अर्होऽपि कर्म्मातपनिवारणसमर्थत्वात्तेनोपमीयते । यद्वि वा-पुण्डरीकश्चिह्नकः पुरुषवराणां मध्ये पुण्डरीक इव । यथा स केनापि पशुजातीयेन न पराभूयते एवमर्होऽपि त्रिषष्ठ्यधिकैस्त्रिभिः पाषण्डिकशतेन न कदापि पराभूयत इति । यथाऽर्हः सर्वोत्तमस्तथा संस्तारकोऽपीति ' महिलाए भगवईओ ' त्ति यथा महिलानां मध्ये भगवत्यः पूज्या जिनजनन्यो जिनमातरस्त्रिभुवनस्यापि चतुःषष्टेरपीन्द्राणां पूज्यत्वात् सत्यत्वाच्च सर्वोत्तमा जगति-त्रिभुवने तथाऽयमिति ।

वंसाणं जिणवंसो, सव्वकुलाणं च सावयकुलाइं ।
सिद्धिगईव गईणं , मुत्तिसुहं सव्वसोक्खाणं ॥ ६ ॥

वंशानाम्-अन्वयानां मध्ये यथा जिनवंशः प्रधानं तथा सर्वकुलानामुग्रादिकुलानां मध्ये श्रावककुलं प्रधानं धर्मस्य मूलबीजत्वात्, तथा सर्वगतीनां नारकतिर्यग्नरामरलक्षणानां मध्ये सर्वश्रेष्ठा सिद्धिगतिः पुनरागमनाभावात् तथा-मुक्तिसुखं-सिद्धिसुखं सर्वसुखानां संसारिकाणां मध्ये साद्यपर्यवसितत्वादुत्तमम् । यदाह (औ०)—

" न वि अत्थि माणुसाणं, तं सुक्खं नो य सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं , अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥
तत्थ य अजरजम्मणे सा, रोगसोगंतन्हाछुहाइयविमुक्को ।
साइअपज्जवसाणं, कालमणंतं सुहं लहई ॥ १ ॥ "

यथा तत् प्रधान तथाऽयमपि ।

धम्माणं व अहिंसा, जणवयवयणाण साहुवयणाणि ।
जिणवयणं वसुईणं , सुद्धीणं दंसणं व जहा ॥ ७ ॥

यथा धर्म्माणां दानादीनां मध्ये अहिंसा रक्षा त्रसस्थावरजीवानामुत्तमा यतस्तां विनान्योऽप्रमाणमेव । उक्तं च—

" न तद्दानं न तद् ध्यानं, न तज्ज्ञानं न तत्तपः ।
न सा दीक्षा न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ॥ १ ॥ "

तथा हारिभद्राष्टके—

" अहिंसैका मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ ५ ॥ "

(अस्य व्याख्या अहिंसा शब्दे)

किंच—

" एकं चिय इत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
पाणइवायविरमण-मवसेसा तस्स रक्खट्ठा ॥ ३ ॥
किं ताए पढिआए, पयकोडीए पलालभूयाए ।
जत्थित्तियं न नायं, परस्स पीडा न कायव्वा ॥४॥" इति ।

यथा सर्वधर्म्माणामहिंसा तथाऽयमिति ' जणवयवयणाण साहुवयणाणि' त्ति जनपदवचनानां मध्ये यथा साधुवचनानि असत्यसत्यामृषावचनपरित्यागेन सत्यासत्यामृषारूपाणि निर्दोषाणि । यत आह (विशेषावश्यके)—

" सब्भाहिय सयामिह, संतो मुणओ गुणा पयत्था वा ।
तव्विवरीता मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥ ३७५ ॥
अणहिगया जा तिसु वि ति,सद्दो च्चिय केवली असच्चमुसा ।
एया सभेयलक्खणा, सोदाहरणा मुणेयव्वा ॥ ३७६ ॥

तत्र सत्या दशप्रकारा दर्श्यते—

" जणव य १ समय २ ठवणा ३ ,
नामे ४ रूवे ५ पडुच्च सच्चे य ६ ।
ववहार ७ भाव ८ जोगे ९,
व समे ओवम्म १० सच्चे य ॥ १ ॥ "

(प्रज्ञा० ११ पद १६५ सूत्र)

तत्र जनपदसत्यं यथा उदकार्थे कोङ्कणादिदेशरूढ्या पय इति वचनम् १, सम्मतसत्यं यथा-समानेऽपि पङ्कसंभवे गोपालादीनामपि संमतत्वेनारविन्दमेव पङ्कजमुच्यते न कुवलयादीनि २, स्थापनासत्यं-जिनप्रतिमादिषु जिनादिव्यपदेश ३, नामसत्यं यथाकुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन इत्युच्यते ४, रूपसत्यं यथा भावतोऽश्रमणोऽपि तद्रूपधारी श्रमण इत्युच्यते ५, प्रतीतसत्यं यथा अनामिका कनिष्ठां प्रतीत्य दीर्घेत्युच्यते,सैव मध्यमां प्रतीत्य ह्रस्वेति ६,व्यवहारसत्यं यथा गिरिगततृणादिषु दह्यमानेषु व्यवहाराद्गिरिर्दह्यत इति ७, भावसत्यं यथा सत्यपि पञ्चवर्णत्वे शुक्लत्वलक्षणभावोत्कटत्वात् शुक्ला बलाकेति ८ योगसत्यं यथा दण्डयोगाद्दण्डी इत्यादि ९ उपमासत्यं यथा समुद्रवत्तडाग इत्यादि १०, असत्यभाषाभेदाः १० ' कोहे १ माणे २ माया ३, लोभे ४ पिज्जे ५ तहेव दोसे य६ । हास ७ भए ८ अक्खाइय ९, उवघाइय ९ निस्सिय १० दसमा ॥१॥' (प्रज्ञा० ११ पद १६५ सूत्र) क्रोधनिश्रिता-क्रोधाभिभूतोऽदासमपि दासं भणति १, माननिश्रिता-अल्पधनोऽपि पृष्टः सन्नात्मोत्कर्षेणाननुभूतमपि विभवादि अनुभूतमिति प्रकाशयति २ मायानिश्रिता परस्य वञ्चनार्थं नात्रकाणि योजयति कूटकयं कथयति, स्वकीयं क्रयाणकं प्रशंसयति, परकीयं निन्दति, इन्द्रजालिकवेशकरो दृष्टिं संबध्नाति ३ लोभनिश्रिता लुब्धनन्दस्येव सुवर्णमपि लोहं भणतः अज्ञानां दायकाना रत्नमपि पाषाणं कर्प्पूरमपि लवणं पट्टसूत्रमपि सण इति भणति ४ प्रेमनिश्रिता-'अइपेमेण दोसेणं हंतव्वे' ति ५ दोषनिश्रित.-तीर्थकरादीनामपि निन्दां करोति ६ हास्यनिश्रितः-हास्येन सार्थवाहमकालगतमपि सार्थवाहिन्या अग्रतः कालगतः इति भणति ७ भयनिश्रिता स्वामिनमस्कारादि भयेन कर्मकरोऽहमिति प्राघूर्णकोऽहमिति वा वदति, राजपुरुषगृहीतचोरो वा वदति नाहं चौरो यथा रौहिणेयः ८ आख्यायिका-कल्पितकथा धूर्त्ताख्यायिका कमण्डलुमध्ये पण्मासानग्रतो दिगम्बरः पश्चाद्धस्ती इत्यादि ९ उपघातनिश्रिता अचौरमपि चौरं भणति एते छत्रिणो गच्छन्ति महाराजकत्वादिति ब्राह्मणो न हन्तव्यः, गौरवध्या,शेषजीवानर्थोपत्त्या घातयति,सर्वेजीवा न हन्तव्या इति वक्तव्यम् , १० सत्यासत्यभाषाभेदाः १० "उप्पन्न१ विगय २ मीसित, ३जीव ४ मजीवे य जीअजीवे य ६ । तह मीसगा अणंता७,परित्त ८ अद्धा य ९ अद्धद्धा १०'॥१॥(प्रज्ञा० ११ पद १६५ सूत्र)उत्पन्नमिश्रा यथा व्यवहारे कस्यचित्समुत्पन्नं द्वितीयो वदति-अनेन पञ्चशतानि विटिपितानि, एव दश दारका जाता इत्यादि १ विगत मिश्र मार्गे स्तोकेऽपि व्यतीते बहुतरं गतमिति २ उत्पन्नविगतमिश्रा-अमुकपुरे यथा दश दारका जाता दश चतुर्द्धा विगता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभावे ३ 'जीवमीसए' त्ति-अजीवजीवमिश्र यथा तस्मिन्नेव कृमिराशौ च जी-

घराशिरिति ५ 'जीवाजीवमीसए' त्ति-जीवाजीवविषय मिश्र यथा तस्मिन्नेव जीवन्मृतकृमिराशौ प्रमाणजीवा मृता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिका च ६। अनन्तमिश्रा यथा-वनस्पतिपत्राणि अनन्तानि न तु अनन्तत्वादि यतः सर्वोऽपि वर्णोऽनन्त इति वदतः७प्रत्येकामिश्रा सर्वोऽपि वणः प्रत्येकमिश्र इति ८। अद्धा मिश्रा अद्धा काल. घटिकाद्वये तिष्ठति रात्रिः पतिता अनुदितेऽपि आदित्ये वदति उत्तिष्ठति वद्धिघटिकाद्वयं चढितम् ६ अद्धाद्धामिश्रा प्रहरद्वयेऽपि अचढिते वदति प्रहरद्वय चढितमिति १०, असत्यामृषाभाषाभेदाः १२-' आमतणि १ आणवणी २, जायणि ३ तह पुच्छणी य ४ पन्नवणी ५। पच्चक्खाणी भासा६,भासा इच्छाणुलोमा य ७॥१॥ अणभिग्गहियो भासाद्भासा य अभिग्गहम्मि बोधव्वा ६। संसयकरणी भासा १०, वागड११अव्वागडा१२चेव॥२॥ (प्रज्ञा०११पद१६५ सूत्र) आमंतणी-देवदत्त१, आज्ञापनी काजपरस्स पवत्तणी,जहा अमुगं करेहि २,जायणी-कस्स य वत्थुविसेसस्स देहि त्ति पराणि३, पुच्छणी-अविज्ञातस्य संदिग्धस्य वा अर्थस्य यथा कीदृशो जीवो मोक्षो वा कथं वा धर्मो भवति ४ पन्नवणी शिष्यस्य उपदेशः 'पाणि वहा न नियत्ता,भवन्ति दीहा जया अरोगा य। एमाइयपन्नवणी, पन्नत्ता वीयरागेहिं ५॥१॥' प्रत्याख्यानी याचमानस्य अदित्सा मेऽतो मां मोचयस्वेत्यादि प्रत्याख्यानरूपा६ भाषा इच्छानुलोमा च प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा तदनुकूला,यथा कार्ये प्रेरितस्य एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतदिति वचः ७ अनभिगृहीता अर्थानभिग्रहेण या उच्यते डित्थादिवत् ८ भाषा चाभिग्रहेण बोद्धव्या। अर्थमभिगृह्य योच्यते घटादिवत् ६संशया अनेकार्थप्रतिपत्तिकरी सा संशयकरणी, यथा-सैन्धवशब्दः पुरुषलवणवाजिषु वर्त्तमान इति१० व्याकृता लोकप्रतीतशब्दार्था११अव्याकृता गम्भीरशब्दार्था अव्यक्ताक्षरप्रयुक्ता वा अविभावितार्था ॥१२॥ इति द्वाचत्वारिंशद्भाषाभेदविधिज्ञाना साधूना साधुत्वव्यवस्थिताना वचनानि जनपदवचनानां सामान्यजनवचनानां मध्ये शोभन्ते-यतः। 'अविसंवादनयोगः, कायमनोवागजिह्मता चैव। सत्यं चतुर्विधं त-ज्जिनवरवचनेऽस्तिनान्यत्र ॥१॥' इति। यथा-संस्तारक. 'जिनवयणं व सुईणं'ति श्रूयन्त इति श्रुतय' श्रुतीना मध्ये यथा जिनवचन तीर्थकरवचनमविसंवादितया सर्वसत्त्व हिततया च प्रधानम्। तथाहि—

"अविसंवादनयोग', कायमनोवागजिह्मता चैव।
सत्यं चतुर्विधं त-ज्जिनवरवचनेऽस्ति नान्यत्र ॥ १ ॥
सुलहा सुरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा।
निव्वुइसु जह णियरुई, जिणवयणसुई जहा दुलहा ॥ २ ॥
रिभियपयक्खरसरला, मिच्छियरतिरिच्छसगरपरिणामा।
सव्वनिव्वाणीविरिणिजो-यणा नीहारिणी अ च ॥ ३ ॥
नारयतिरियनरामर-संसारियसव्वदुक्खरोगाणं।
जिणवयणमेगमोसह-मलक्खणपवग्गसुहियकयफलयं ॥४॥"

तथाऽयमपीति'सुद्धीणं दसणं वजह'त्ति शोधनं शुद्धिः तत्र द्रव्यशुद्धिः भावशुद्धिश्च। द्रव्यशुद्धिर्जलाग्न्यादिका। उक्तं च-'अंधरजोहमहीए,कमसो जह मलकलकपंकीणा। सब्भावपणसेसो,होहिंति जलानलाइच्चा॥१॥' भावशुद्धिस्तु सम्यक्त्व कु चारित्राणि इति जलाग्न्यादिशुद्धी मध्ये यथा दर्शनं यथा ज्ञातसम्यक्त्वं पुनर्मिथ्यात्वागमनात् तन्महती शुद्धिस्तथाऽयमपीति भावः।

कल्लाणं अब्भुदओ, देवाणं दुल्लहं तिहुयणम्मि।
बत्तीसं देविंदा, जं तं झायंति एगमणा ॥ ८ ॥

कल्याणमारोग्यमणति-गच्छतीति कल्याण निरुक्तं यथा प्रमोदाय तथाऽयमपीति। यद्वि कल्याणहेतुत्वात्कल्याणवत् इह शान्तिकर्मादिसंस्तारकप्रतिपत्तौ तु कर्मोपशम'। अभ्युदयो यथेष्ट राज्याभिषेकादिप्रीतये यथा भवति तथा स्वर्गापवर्गप्राप्तिहेतुत्वादस्य संस्तारकस्येति एषोऽप्यभ्युदयः। 'बत्तीसं' ति-द्वात्रिंशतोऽपि देवेन्द्राः तत्र दशकल्पजाः विंशन्ति। भावनाधिपा' चन्द्रादित्यौ च जम्बूद्वीपजौ एते द्वात्रिंशत्। शेषज्योतिष्केन्द्रव्यन्तरेन्द्राश्च तत्परिवारकल्पत्वादल्पर्द्धिकत्वाच्च न गणिता''जं तं ति'य तं संस्तारक ध्यायन्ति स्मरन्ति 'एगमणत्ति' एकाग्रमनस' सन्त इत्यर्थ.।

लद्धं तु तए एयं, पंडियमरणं तु जिणवरक्खायं।
हंतूण कम्ममल्लं, सिद्धिपडागा तुमे लद्धा ॥ ६ ॥

लब्ध प्राप्त तुरवधारणे 'तए'त्ति-त्वया हि क्षपक! 'एयं'ति पण्डितमरणं संस्तारकप्रतिरूपं विशेष्यत्वेनाध्याहरणीयं पण्डितमरणमुत्तमार्थप्रतिपत्तिरूपं त्वया प्राप्तमेवेत्यर्थः। कथंभूत तदिति , जिनवराख्यातं—तीर्थकरभणितम्। किं कृत्वेत्याह—' हंतूण ' हत्वा—विनाश्य 'कम्ममल्लं ' ति कर्माण्येव मल्लः—सुभट. कर्ममल्लोऽष्टाचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतिरूपस्तं 'सिद्धिपडाग ' त्ति सिद्धिः सुखहेतुत्वादाराधनाया. पताकेव पताका सिद्धिरेव पताका मोक्षपताका सा त्वया प्राप्तेत्यर्थः।

झाणाण परमसुक्कं, नाणाणं केवलं जहा नाणं।
परनिव्वाणं च तहा,कमेण भणियं जिणवरेहिं ॥१०॥

'झाणाण' ति ध्यायन्ते स्वस्वहेतुभिः स्मर्यन्त इति ध्यानानि रौद्रार्त्तधर्मशुक्लरूपाणि। तत्राद्यानां त्रयाणामिहानुपयोगित्वात् चतुर्थमेव स्वरूपत आर्षवचनैर्दर्श्यते। तथाहि-'सुक्के चउव्विहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते,त जहा-पुहुत्तवियक्के सवियारी१।एगत्तवियक्के अवियारी२।सुहुमकिरिए अनियट्टी३, समुच्छिन्नकिरिए अप्पडिवाई ४। 'सुयनाणे उवउत्तो, अत्थम्मि य वजणम्मि सवियार। झायइ चउदसपुव्वी,पढम सुक्कं सरागो उ।१। सुयनाणे उवउत्तो,अत्थम्मि य वजणम्मि अवियारा।अनियट्टिजवसपुव्वा,बीयं सुक्कं विगयरागो।२।अथ संकमणं चेव तहा-वंजणसंकमे, जोगसंकमणं चेव। पढमे झाणे नियच्छइ३बीए झाणे न विज्जए ४ जोगे जोगेसु यथा पढमं बीयं जोगम्मि कम्मिवी, तइय च काय६जोगे , चउत्थ च अजोगिणो। पढम बीयं च झाणाइं झायंति पुव्वजाणगा उवसंतेहिं कसाएहिं खीणे च महामुणी ६ बीयस्स तइयस्स वि अंतराए य केवलनाणमुप्पज्जइ दुन्नी पुव्वझाणा पुव्वे केवलनाणिणा खीणमोहा झियायन्ति केवली दुन्नी उत्तरा ७ सिज्झिउकामो जीवो कायं जोग निरुभइ ताहे तस्स सुहुमउस्सासनिस्सासा ८ तत्थ य दुसमयट्ठिइयं कम्मं परमसायं इरियावहियं बज्झइ सुहुमकिरियं।अनियट्टी झाणं भवइ,जो-

गनिरोहे य पुव्वपओगेण चतुत्थ समुच्छिन्नकिरियमप्पडिवायझाणं।' पढमबीया उ सझाए, तइयं परमसुक्कए। चउत्थं उवरिल्लेहिं, होइ झाणं वियाहिय ॥१॥, अणुत्तरेहिं देवेहिं, पढमबीएहिं गच्छइ। उवरिल्लेहिं झाणेहिं, सिज्झई नीरओ धुवं ॥२॥' अणुप्पेहा चउव्विहा-अवायाणुप्पेहा असुभाणुप्पेहा अणंतवत्तियाणुप्पेहा विपरिणामाणुप्पेहा। अहत्थं आस तइअ वा य पिक्खइ संसारस्स असुभत्त अणंतत्तं सव्वभावविपरिणामियं। रक्खणाणि चत्तारि त जहा—विवेगो वि उस्सग्गे अव्वहे असंमोहे सव्वसंजोगविवेगं पिक्खइ। विउस्सग्गे सव्वोवहिमाइविउस्सग्गं करेइ। अव्वहे विन्नाणसंपन्नो न वीहइ न चलइ असंमोहे सुहोवमे अत्थेन संमुज्झइ त्ति। आलंबणाणि चत्तारि तं जहा-खंती-मुत्ती-अज्जव मद्दव" ति इत्येवं चतुःप्रकारे शुक्ले यथा प्रथमं द्वितीयभेदातीतं तृतीयं परमशौक्लिकं—परमशुक्लध्यानप्रधानं, तथा ज्ञानानां-मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानानां-मध्ये यथा केवलज्ञानं प्रधानं तथा सुखानामिस्यध्याहारो दृश्यः, यथा सुखानां मध्ये परिनिर्वाणं सर्वकर्मक्षयरूपं मोक्ष प्रधानम् इति तावदेषां स्वस्थाने प्राधान्यमस्त्येव परं तथापि "क्रमेण भणियं जिणवरेहिं" इति भणनेन ग्रन्थकार एषामुत्तरोत्तरप्राधान्यमप्याह-यतस्तावत्परमशुक्लं तृतीयभेदरूपं प्रधानं तत्सद्भावे च केवलज्ञानं भवतीति, ततः केवलज्ञानं प्रधानम्। केवलिनोऽपि पञ्चाशीतिकर्मप्रकृतिसत्ताकत्वात् ततोऽपि परं निर्वाणं पञ्चाशीतिकर्मप्रकृतिक्षयात् मोक्षं प्रधानतरं क्रमेण परिपाट्या यथा जिनवरैर्भणितं तथाऽयं संस्तारक इति गाथाभावार्थः।

सव्वुत्तमलाभाणं, सामन्नं चेव लाभं मन्नंति।
परमुत्तमतित्थयरो, परमगई परमसिद्धि त्ति ॥ ११ ॥

सर्वेषामुत्तमाः सर्वोत्तमाः, ते च ते लाभाश्च सर्वोत्तमलाभाः सम्यक्त्वदेशविरतिलाभरूपाः, तत्प्राप्तौ संसारपरिकरणात् तेषामपि लाभानां मध्ये श्रामण्यमेव चारित्रमेव लाभं मन्यन्ते विद्वांसः, तत्प्राप्तावेव मोक्षगमनात्। उक्तं च-"जम्हा दंसणनाणा, संपुन्नफलं न दिंति पत्तेयं। चारित्तजया दिंति,तिसम्प तेण चारित्तं ॥१॥" इति आस्तां संस्तारकलाभोत्तम' सर्वोत्तमलाभानां श्रामण्यमेव तावल्लाभं मन्यते, यथा सर्वोत्तमः पुरुषेषु मध्ये तीर्थकरः, यथा च परमगतिः-सर्वोत्तमगतिः। 'परमसिद्धि' त्ति-सिद्धयस्तावद्-अणिमा, गरिमा लघिमा, ईशिमा, वशिमाद्या अपि भवन्ति, अत आह-परमा चासौ सिद्धिश्च परमसिद्धिः', गतौ विषये उत्तमा सर्वकर्मक्षयरूपा यथा निर्वाणप्राप्तिस्तथाऽयमिति।

मूलं तह संजमो वा, परलोगरयाण कट्ठकम्माणं।
सव्वुत्तमलाभाणं, सामन्नं चेव मन्नंति ॥ १२ ॥

परलोको-भवान्तरं तस्य हिते रतानां भवान्तरमस्तीति श्रद्धानवताम्, अथवा-आत्मव्यतिरिक्तः परलोकः सर्वलोकसर्वजन्तुसमूहस्तस्य हिते रतानां साधूनां,कष्ट मिथ्यात्वादि कर्म्मणां विलसिताशेषपापानां जीवानां मोक्षतरोर्मूलं सम्यक्त्वं,यदाह-

" एगिंदिएसु अत्थि य, कालमणंतं पसुत्तमन्नु व्व।
कहमवि कयाइ केई, जीवा पाविंति तसभावं ॥ १ ॥
तत्थ नरत्तं तत्थ वि, सुह त्ति तं तत्थ वि य सुहक्खित्तं।
जाइ कुलरूव तथा-रोगं चिरजीवितं च अइदुलह ॥ २ ॥
तत्थ वि बहुसुहकम्मो-दएण धम्मे वि हुज्ज जइ बुद्धी।
तो वि जियाण न सुलहो, जिणवयणुवएसगो सगुरू ॥ ३ ॥
तो गुहिरमहोदहिमज्झे, पडियरयणं व सकलसामग्गिं।
दुलहं पि लहिय तह वि य, मूलं धम्मस्स सम्मत्तं ॥ ४ ॥"

इति मूलसम्यक्त्वं दुष्प्राप्यम्, 'तहे' ति तथा संयमश्चारित्रं दुर्लभं वाशब्दाज्ज्ञानं च एषोऽपि तावन्महान् लाभः परं तथापि सर्वोत्तमलाभानामेषां श्रामण्यमेव विशिष्टलाभं मन्यन्ते विवेकिनः। यत आह—" सम्मत्तं आचरित—स्स हुज्ज भयणाए नियमसो नऽत्थी। जो पुण चरित्तजुत्तो, तस्स हु नियमेण सम्मत्तं ॥१॥" तत्रैव-श्रामण्यदेशविरतिरूपे एव संस्तारकप्राप्तिरिति गाथाभावार्थः।

लेसाण सुक्कलेसा, नियमाणं बंभचेरवासो य।
गुत्तीसमी गुणाणं, मूलं तह संजमो य तवो ॥ १३ ॥

'लेसाणं' ति-लेश्यानां कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लाना मध्ये यथा शुक्लेश्या उत्तमा 'नियमाणं'ति-नियमानां-विरमणाना मध्ये यथा ब्रह्मचर्यवास उत्तमजनशक्यः-"ब्रह्मचर्यव्रतं घोरं, शूरैश्च न तु कातरैः। करिपर्याणमुद्वाह्यं, करिभिर्न तु रासभैः ॥१॥" किं च-"देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिंनरा। बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जं करेंति य॥२॥"गुत्तीसमी गुणाणं' ति-तथा यथा गुप्तिसमित्यौ गुणानां सप्तविंशतियतिगुणानां मध्ये उत्तमे प्रधाने तथा सयमोपायलक्षणं यन्मूलं मोक्षकारणं तत्तपः, ततोऽपि ज्ञानादेस्तदभावे मुक्त्यभावादिति। तिसृभिर्गाथाभिः श्रामण्यस्यापि प्राधान्यमुक्तं किमुत्तरसंस्तारकस्येति।

सव्वुत्तमतित्थाणं, तित्थयरपयासियं जह य तित्थं।
अभिसेउ व्व सुराणं, तह संथारो सुविहियाणं ॥१४॥

'सव्वुत्तमं' ति यथा लौकिकानां प्रभासप्रयागादीनां तीर्थानां तथा लोकोत्तराणामप्यष्टापदादितीर्थानां मध्ये तीर्थकरप्रकाशित प्रकटितं तीर्थं यथा ज्ञानादिचतुर्विधसंघो वा प्रथमगणधरो वा तथाऽयमपीति। ' अभिसेउ व्व सुराणं ' ति-अभिषेको वा अभिनवोत्पन्नदेवानां यथा राज्याभिषेकरूपः, तथाऽयमपीति।

सियकलसकमलसुत्थि-नंदावत्तवरमल्लदामाणं।
तेसिं पि मंगलाणं, संथारो मंगलं अहियं ॥ १५ ॥

शितः शुभ्रः कलशो विवाहादावुत्सवे यो मङ्ग्यते तस्यैव माङ्गलिकत्वात् ग्रहणं शितकलशश्च कमलं च स्वस्तिकश्च—नन्द्यावर्त्तश्च वरमाल्यदाम च शितकलशकमलस्वस्तिकनन्द्यावर्तवरमाल्यदामानि तेषामेतानि च लोके माङ्गल्यतया रूढाणि तथापि तेषामपि मङ्गलानां मध्ये संस्तारकोऽधिकं मङ्गलमिति भावः।

तवअग्गिनियमसूरा, जिणवरनाणा विसुद्धपत्थयणा।
जं निव्वहंति पुरिसा, संथारगयिंदमारूढा ॥ १६ ॥

'तवअग्गि' त्ति-अष्टप्रकार कर्म्म तापयतीति तपः, तप एवाग्निस्तपोऽग्निः, नियमाश्च व्रतान्यभिग्रहविशेषाश्च 'सूर' त्ति शूराः-सुभटाः तथा चार्षम् "चत्तारि सूरा पन्नत्ता तं जहा-खंतिसूरे तवसूरे दाणसूरे जुद्धसूरे। खंति सूरो अरिहंता, तवसूरा अणगारा, दाणसूरे, वेसमणे जुद्धसूरे वासुदेवे' तत्र तपोऽग्नौ कर्म्मशत्रुदाहकत्वेन नियमेषु च व्रतेषु अभिग्रह—

विशेषेषु वा नवकर्म्मानादानभूतेषु शूरा अकातराश्चारित्रिण इत्यर्थः, ' जिणवरनाण ' त्ति-जिनवराणां ज्ञानं सामान्यतः सदुपदेशरूपं विशेषत' अज्ञानकादिरूपं वा येषां मोहराजवि जयनीतिप्रदर्शकत्वाद्येषां ते तथा ' विसुद्धपत्थयण ' त्ति विशुद्धं पथ्यदनं शंबलं भवान्तरानुयायित्वात् सम्यक्त्वं येषान्ते विशुद्धपथ्यदनाः, के एवंविधा इत्याह 'जे निव्वहंति पुरिसं'त्ति ये पुरुषा निर्वहन्ति मोहराजविजयं कर्तुं संस्तारकगजेन्द्रमारूढाः सन्तः, योधा अपि नानाविधप्रहरणयुद्धकौशल्याभिज्ञतादक्षताव्यवसायशरीरारोग्यतादिगुणयुक्ताः शास्त्रवसंघाततापकाग्नितैलतनुत्राणनियमाः शत्रुनियमने बन्धने वा शूराः-सुभटा रणदीक्षावद्धकक्षाः 'जिणवरनाण'त्ति-जिनवराणां जयस्वामिनां वराज्ञाकारिणः जिनवराज्ञाना वा ' विसुद्धपत्थयण ' त्ति विशुद्धपथ्यदनाः गृहीतकूलरिकादिशंबलाः ये एवंविधा योधा भवन्ति ते गजेन्द्रस्कन्धमारूढा' सन्तः, प्रबलजयं निर्वहन्ति रिपुसघातं जयन्तीति गाथार्थः।

परमत्थे परमतुलं, परमाययणं ति परमकप्पो त्ति।
परमुत्तमतित्थयरो, परमगई परमसिद्धि त्ति ॥ १७ ॥

परमार्थे-मोक्षे परं-प्रकृष्टमतुलं-तुलनातिक्रान्तं संसारिकलक्षणं कारणं ' परमाययणं ' ति परममायतनं स्थानं ज्ञानादीनामेतदित्यर्थः। 'परमकप्पो' त्ति स्थविरादीनामेष प्रधानकल्पः-पर्यन्तकृत्यविधिः संस्तारक इत्यर्थः। 'परमुत्तमतित्थयरो परमगई परमसिद्धि' त्ति पूर्ववत्।

ता एयं तुमि लद्धं, जिणवयणामयविभूसियं देहं।
धम्मरयणस्सिय त्ति य,पडिया भुवणम्मि वसुहारा॥१०॥

'ता इति' तावत् 'एयं' ति-एतत् 'तुमि' त्ति त्वया संस्तारकारूढेन 'लद्धं' ति प्राप्तं 'जिणवयणामयविभूसियं देहं' ति हे क्षपक! एतदस्मिन्नवसरे जिनवचनामृतेन जिनोपदेशं साधया सर्वकुश्रुतिमूर्च्छाविघातकेन विभूषितं देहं शरीरं प्राप्तम्, तत्किं जातमित्याह-'धम्मरयणस्सिय' त्ति धर्मरत्नैराश्रिता युक्ता पाठान्तरेण 'धम्मरयणिम्मिय' त्ति धर्मैर्निर्मिता निष्पादिता 'धम्मरयणामय' त्ति वा धर्म्मरत्नमया वा,ते इति ते तव भवने-देहगृहे वसुधारेव पतिता सर्वकार्यसिद्धिहेतुत्वात्। अत्राय भावार्थः-यथा कस्यापि पुण्यवतो गृहाङ्गणे वसुधारापातः, सर्वतोऽपि निपुणगीतार्थनिर्यामकमुखात् जिनवचनामृतश्रवणस्यास्यामवस्थायां भवतीति-जानीहीति भावः।

पत्ता उत्तमपुरिसा !, कल्लाणपरंपरा परमदिव्वा।
पावयणसाधुधीरा !, कयं च ते अज्ज सप्पुरिसा ! ॥१६॥

'पत्त' त्ति प्राप्ता—संपादिता हे उत्तमपुरुष ! का प्राप्तेति 'कल्लाण' त्ति कल्याणपरंपरा-माङ्गल्यपदार्थसन्ततिः संस्तारकलाभात् 'पावयणसाहु' त्ति प्रवचनं वदन्ति जानन्ति प्रावचनाः प्रावचनाश्च ते साधवश्च प्रावचनसाधवः प्रावचनसाधूनां मध्ये धीर इव धीरः तस्य संबोधनं हेप्रावचनसाधुधीर! 'कयं चे' ति कृतं च निष्पादितं किं यत्किमपि समीहितं सर्वमिष्टकार्यमित्यध्याहारः 'ते' त्वया अद्यास्मिन्नहनि उत्तमार्थप्रतिपत्त्यङ्गीकारात् हे सत्पुरुष ! इति गाथार्थः।

सम्मत्तनाण दंसण-वररयणा नाणतेयसंजुत्ता।
चारित्तसुद्धसीला, तिरयणमाला तुमे लद्धा ॥ २० ॥

'सम्मत्तनाण त्ति' समाप्तं-गतमज्ञानं-मिथ्यात्वोपगमाद्यस्य स समाप्ताऽज्ञानस्तस्य संबोधनं हेसमाप्ताज्ञान ! दीर्घत्वं सर्व्वत्र प्राकृतत्वाद् ' दंसणवररयण ' त्ति हे दर्शनवररत्न! प्रवरसम्यक्त्वरत्न!,अथवा-सम्यक्त्वस्य वररचन अनेन कृत्वा दर्शनस्य-सम्यक्त्वस्य वरा-प्रधाना रचना-विच्छित्तियो येन स समाप्तज्ञानदर्शनवररचनः तस्य संबोधनं हेसमाप्तज्ञानदर्शनवररचन ! तद्रचना चैव, तथाहि—

"एगविह दुविह तिविहं, चउहा पचविह दसविहं सम्मं।
दव्वाइकारगाई, उवसमभेएहि वा सम्मं ॥ १ ॥
एगविहं सम्मरुई, निसग्गभिगमेहि तं भवे दुविहं।
तिविहं तं खइयाई, अहवा विहु कारगाई य ॥ २ ॥
सम्मत्त मीसमिच्छ-त्तकम्मक्खयओ भणंति तं खइयं।
मिच्छत्तस्सखओवसमा,खाओवसमं ववइसंति ॥ ३ ॥
मिच्छत्तस्सउवसमाउ, उवसम्मत्तं भणंति समयन्नू।
तं उवसमसेढीए, उवसमसम्मत्तलाभे वा ॥ ४ ॥
विहियाणुट्ठाणं पुण, कारगमिह रोयगं तु सद्दहणं।
मिच्छद्दिट्ठी दीवइ, ज परे दीवगं तं तु ॥ ५ ॥
खइयाई सासायण, सहियं तं चउविहं तु विन्नेयं।
एतं समत्तभंगे, मिच्छत्तापत्तिरूवं तु ॥ ६ ॥
वेयगसम्मत्त पुण, एयं च्चिय पंचहा विणिद्दिट्ठं।
सम्मत्त चरिमपोग्गल-वेयणकाले तय होइ ॥ ७ ॥
एयं चिय पंचविहं, निसग्गाऽभिगमभेयओ दसहा।
अहवा निस्सग्गरुई, इच्चाइ जमागमे भणियं ॥ ८ ॥"

अथमेवार्थ आर्य दर्शनात् ॥ सम्मत्त समाइयं तिविह-खइयं, उवसमियं खाओवसमियं। अहवा तिविहं सम्मत्तसामाइयं कारगं रोयगं दीवगं। कारगं जहा साहूणं, रोयगं सेणियाईणं च, दीवगं अभवसिद्धियस्स मिच्छादिट्ठिस्स वा भवसिद्धिस्स वा। अभवसिद्धियस्स कह ?, ज सो एगारस अंगाई पढइ न य सद्दहइ धम्म च कहेई एवं दीवगं। अहवा-निसग्गसम्मद्दंसण अभिगमसम्मद्दंसणं च। निसग्गसम्मद्दंसणंनिसर्ग· स्वभावः परिणाम इत्यनर्थान्तरं जं उवसममंतरेण विगिण्हइ तं निसग्गसम्मद्दंसणं, अहिगमसम्मद्दंसण-ज जीवाइनवपयत्थे उवलंभेऊणं गिण्हइ त्ति 'नाणतेयसजुत्त' त्ति ज्ञान तेजसा संयुक्तो ज्ञानतेज सयुक्तस्तस्य संबोधनं हेज्ञानतेज सयुक्त ! प्रनष्टमोहान्धकार ! चारित्तसुद्धसील ' त्ति चारित्रेण निरतिचारतया शुद्ध· शीलः समाचारो यस्य स चारित्रशुद्धशीलस्तस्य संबोधन हे चारित्रशुद्धशील ! ' तिरयणमाल ' त्ति त्रिरत्नमाल ! ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयमाला त्वयैव लब्धा प्राप्ता,रत्नमालाऽपि समाप्ताऽज्ञानतिमिरा दर्शनैर्दर्शनीयैव ये रत्नैर्निर्मिता समाप्ताज्ञाना च दर्शनवररत्ना च समाप्ताज्ञानदर्शनवररत्ना ज्ञानतेजोयुक्ता परीक्षाहेतुकज्ञानतेजःसमन्विता चारित्रशुद्धशीला शुभा च शुद्धा त्रासादिदोषरहिता प्रशस्यत इति गाथार्थ·।

सुविहितगुण ! वित्थारं, संथारं जे लहंति सप्पुरिसा !।
तेसि जियलोयसारं, रयणाहरणं कयं होइ ॥ २१ ॥

हे सुविहितगुण ! शोभनानुष्ठानगुण ! विस्तारं व्यावर्णित व्यावर्ण्यमानम् अनेकातिशयप्रकार संस्तारं ये सत्पुरुषा लभन्ते तेषां जीवलोकसारं रत्नाभरणं ज्ञानदर्शनचारित्ररूप कृतं भवति इति तन्मूलताऽलंकृतमिति जानीहि अवेहि 'ति-

लोयसार' मिति पाठे त्रिज्ञानादिरत्नाभरणमात्मनः कृतं भवतीत्यर्थः ।

तं तित्थं तुमे लद्धं, जं पवरं सव्वजीवलोगम्मि ।
भूयो जत्थ मुणिवरा, निव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ २२ ॥

तं तीर्थं प्रभासतीर्थप्रयागादि लौकिकं लोकोत्तरमष्टापदादि द्रव्यतीर्थव्यतिरिक्तं भावतीर्थं त्वया लब्धं प्राप्तं,यत्र तीर्थे स्नाताः क्षालितकर्म्ममलपटला मुनिवरा निर्वाणसुखं मोक्षसुखमनुत्तरं प्राप्ता इति । द्रव्यतीर्थे देहाद्युपशमतृष्णाव्यवच्छेदमलप्रक्षालनात्सुखं भवति,अत्र तु भावतीर्थे कषायोपशमलोभनिग्रहसकलकल्मषमलप्रक्षालनान्निर्व्वाणसुखमिति ।

आसवसंवरनिज्जर, तिन्नि वि अत्था समाहिया जत्थ ।
तं तित्थं ति भणंति, सीलव्वयवद्धसोवाणा ॥ २३ ॥

अथ तीर्थशब्दस्य व्युत्पत्तिं तीर्थंकर एवाह-त्रिषु तिष्ठतीति त्रिस्थं,के ते त्रय इत्याह-'आसवसंवरनिज्जर'त्ति आश्रवाणाम्-इन्द्रियाणां समाधानं हितेषु-प्रवृत्तिरहितेषु निवृत्तिः। तत्राश्रवभेदा 'इंदियकसाए'त्यादि द्वाचत्वारिंशत्प्रसिद्धा एव४२यथा कषायशब्देन षोडश कषाया नव६ नोकषाया एते पञ्चविंशतिः, योगशब्देन 'सच्च मोसं मीसमि'त्यादि योगाः पञ्चदश आश्रवभेदाः पञ्चसप्ततिः संवरणं संवरः'समिइ गुत्ती परीसहे'त्यादि ५७ तथा गुप्तिशब्देन मनोगुप्त्याद्याः ३ ब्रह्मचर्यगुप्तयो ६ भावनाशब्देनानित्याद्याः १२ महाव्रतानां २५ 'कंदप्पदेव१किव्विस २ अभिओगा ३ आसुरा य ४ संमोहो ५' इति शुभभावनानां सविपक्षत्वेनाशुभभावना अपि गृह्यन्ते, तदा संवरभेदाः१६'संवरत्वं'च कन्दर्प्पादीनां परिज्ञानात् येभ्यः कारणेभ्य एते भवन्ति तत्परिहारेण'निज्जर'त्ति निर्जरणं निर्जरा तपः,तद् द्वादशधा प्रसिद्धमेव। आश्रवश्च संवरश्च निर्जरा च आश्रवसंवरनिर्जराः प्राकृतत्वाद्विभक्तिलोपः, 'तिन्नि वि'त्ति एते प्रयोगार्थाः 'समाहिय' त्ति समाधियुक्ताः कृताः समाहृता वा मीलिताः यत्र तत् त्रिस्थं तीर्थं वा भणतो विवेकिनः 'सीलवयबद्धसोवाण' त्ति शीलव्रतान्येव बद्धानि सोपानानि यैस्ते शीलव्रतबद्धसोपानाः। कस्य एतत् त्रिस्थस्य तीर्थस्य , ते तथाविधाः सन्तो भणन्तो विवेकिनिर्व्वाणमनुत्तरं प्राप्ता इति पूर्वगाथातः संबध्यत इति गाथार्थः।

भंजिय परीसहचमूं, उत्तमसंजमबलेण संजुत्ता ।
भुंजंति कम्मरहिया, निव्वाणमणुत्तरं रज्जं ॥ २४ ॥

कथं निर्व्वाणं प्राप्तास्तत्र किं कुर्व्वन्तीत्याह-'भंजिय'भक्त्वा परीषहचमूं-परीषहसेनाम् उत्तमसंयमबलेन युक्ताः सन्तो भुञ्जन्ति कर्मरहिता निर्व्वाणमनुत्तरं विशिष्टं राज्यमित्यर्थः ।

तिहुयणरज्जसमाहिं, पत्तो सि तुमं पि समयकप्पम्मि ।
रज्जाभिसेयमतुलं, विउलफलं लोए विहरंति ॥ २५ ॥

त्रिभुवनस्य राज्यं त्रिभुवनराज्यं समाधानं समधिः,त्रिभुवनराज्यस्य समाधिः त्रिभुवनराज्यसमाधिस्तम्। तत्र समाधिर्दशधा'धम्मचिंता य१सद्दाणे२सुविणे३देवदंसणे४ओहीदंसणे ५ नाणे य ६,मणपज्जव ७ केवले॥१॥नाणे य ८ दंसणे चेव ९,केवलीमरणे इ य १०।असमुप्पन्ना समुप्पज्जो,दसचित्तसमाहिओ।२।"इति हे क्षपक।येन समाधिना त्रिभुवनस्य राज्यमिव तीर्थकृत्त्व केवलज्ञानं मुक्तिर्वा प्राप्यते तं समाधिं त्वमपि प्राप्तोऽसि'समयकप्पमि'ति सिद्धान्तविचारणायां क्रियमाणायां किंमिति राज्येनोपमितमित्युच्यते, 'रज्जाभिसेयमतुलं विउलफलं लोए विहरंति'यथा क्षत्रिया राज्याभिषेकं विशिष्टमतुलं विपुलैहिकसुखफलं प्राप्य लोके जानपदलोकमध्ये प्रमुदितात्मनो विहरन्ति-विविधं चेष्टन्ते विजृम्भन्ते ते दृष्टराज्याभिषेकतुल्यमतुलं चारित्रं दधानास्तावत्साधवो विहरन्ति , त्वया तु संस्तारकमाश्रयता त्रिभुवनाधिपत्यसमाधिः समायभाषया प्राप्त इति गाथार्थः ।

अभिनंदइ मे हिययं, तुज्झे मोक्खस्स साहणोवाओ ।
जं लद्धो संथारो, सुपुरिसपरमत्थसंथारो ॥ २६ ॥

अथ क्षपकस्य गुरुरात्मोत्कर्षदर्शनेन स्थैर्यमुत्पादयति। हे क्षपक ! भवानभिनन्दयति प्रीतं करोति मे—मदीयं हृदयं यतः कारणात् 'तुज्झे मोक्खस्स'त्ति त्वया मोक्षस्य अपुनर्भवस्य साधनोपायः आत्मशान्तिसाधनोपायः कृतः। यत्-यस्मात्कारणात् लब्धः—प्राप्तः संस्तीर्यते विस्तीर्यते यस्मिन् जीवदयार्थं दर्भादिः स संस्तारकः-सत्पुरुषपरमार्थज्ञानादिस्तस्य संस्तारो विस्तार इति महान् प्रमोद इति गाथार्थः।

देवाऽवि देवलोए, भुंजंता बहुविहाइँ सोक्खाइं ।
संथारं चिंतंता, आसणसयणाणि मुंचंति ॥ २७ ॥

देवा अपि देवलोके व्यवस्थिता अपि भुञ्जाना बहुविधानि सुखानि संस्तारकगतं साधुधर्मानुभूताराधनं वा संस्तारकगुणान्वा चिन्तयन्तः स्मरन्त आसनशयनानि मुञ्चन्ति-परित्यजन्ति त्वद्गुणाकृष्टचेतसो भक्तिहर्षवशादभ्युत्थानादि कुर्व्वन्तीति गाथार्थः।

चंद व्व पेच्छणिज्जो, सूरो इव तेयसा वि दिप्पंतो ।
धणवंतो गुणवंतो, हिमवंत महंतविक्खाओ ॥ २८ ॥

अथाङ्गीकृतसंस्तारकः क्षपकः क इव शोभते इत्याह-सौम्यतायां चन्द्रवत्, प्रेक्षणीयः, तपस्तेजसाऽपि सूर इव दीप्ततेजा भवति, धनवानिव सर्वस्याप्याश्रयणीयः,गुणवानिव सर्वपूज्यो भवति, हिमवानिव महत्त्वस्थैर्याभ्यां विख्यातः—प्रसिद्ध इत्यर्थः।

गुत्तीसमिइउवेओ, संजमतवनियमजोगजुत्तमणो ।
समणो समाहियमणो, दंसणनाणे अणण्णमणो ॥२९॥

'गुत्तीसमिइ' त्ति गोपनं गुप्तिर्मनोवाक्कायनिरोधलक्षणा सम्यगन—समितिः ईर्याभाषैषणादानिक्षेपपारिष्ठापनिकालक्षणा पञ्चप्रकारा गुप्तिश्च समितिश्च गुप्तिसमती ताभ्यामुपेतो युक्तो गुप्तिसमित्युपेतः ' संजमतवनियम ' त्ति संयमः—पञ्चाश्रवविरमणलक्षणः, तपो—द्वादशविधं नियमा—अभिग्रहविशेषाः'उक्खित्तचरगा निक्खित्तचरगा' इत्यादिकाः योगा मनोवाक्कायनिरोधाः, संजमश्च तपश्च नियमश्च योगाश्च संयमतपोनियमयोगास्तैः युक्तं मनो यस्य स संयमतपोनियमयोगयुक्तमनाः सुप्रणिहितमनाः श्रमणस्तपसि खेदज्ञः समाहितमनाः—सुप्रणिहितचित्तः 'दंसणनाणे' त्ति दर्शनं सम्यक्त्वं ज्ञानं सत्यादिकं दर्शनं च ज्ञानं च दर्शनज्ञानम् , समाहारत्वादेकवचनं तस्मिन् , न विद्यते अन्यद्धर्मध्यानलक्षणाम्मनो यस्य स अनन्यमनाः-एकाग्रचित्तः एवंविधः साधुः संस्तारकं प्रतिपद्यते इति शेष इति गाथार्थः।

तथा—

मेरु व्व पव्वयाणं, सयंभुरमणु व्व सव्वउदहीणं ।
चंदो इव ताराणं, तह संथारो सुविहियाणं ॥ ३० ॥

मेरुरिव-पर्वतानां मध्ये यथा मेरुः प्रशस्यः, स्वयंभूरमणो यथा गाम्भीर्यगुरुत्वाभ्यां प्रशस्यते, चन्द्रश्च यथा तारकाणां मध्ये प्रकाशकतया शोभते, तथा संस्तारकः सुविहितानां शोभनानुष्ठानानां भवतीत्यर्थः ।

भण केरिसस्स भणिओ, संथारो केरिसे व ओगासे ।
उक्खंभिगस्स करणे, एयं ता इच्छिमो नाउं ॥३१॥

अथ तत्स्थः श्रोता गुरुं पृच्छति भो प्रभो!भण कथय कीदृशस्य क्षपकस्य भणितः प्रतिपादितः संस्तारकः! कीदृशो वाऽवकाशः भूप्रदेशे ग्रामनगरादौ वा गन्धर्व्वनाट्यशालादिविवर्जिते ? 'उक्खंभिगस्स करणे' त्ति यथा कस्मिंश्चिद् गृहादौ जीर्णे पतितुकामे वा उत्प्राबल्येन स्तम्भनम् उत्तम्भनम्, उत्तम्भ एव उत्तम्भिकः, स्वार्थे इकण्प्रत्ययः, उत्तम्भिकस्य भाव उत्तम्भिकत्वम् तस्य उत्तम्भिकस्य अवष्टम्भनकस्य प्रति स्तम्भदारुकादेः करणे तृतीयार्थत्वात्सप्तम्याः, तत उत्तम्भिकस्य करणेन गृहादौ स्थैर्यं विधीयते तथा साधोरपि उत्तभ्यते स्थिरीक्रियते जीवो मुक्तिकारणेषु येन—पर्यन्ताराधनालक्षणेन तस्य विधाने करणेन वा यथा परमार्थसाधना-मोक्षसाधना भवति । एवं 'ता' इति-एतत् तावदिति भाषाक्रमे इच्छामो वाञ्छां कुर्म्मो ज्ञातुमिति गाथार्थः ।

हायंति जस्स जोगा, जरा य विविहा य हुंति आयंका ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥३२॥

अथ शिष्यः पृच्छति-कदा संस्तारकः क्रियते?, तत्राह सालम्बनैरेव "काहं अधिरिं अदुवा अहीहं, तवोवहाणे सुयउज्जमिस्सं । गणं व नीए अइसारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं ॥ १॥" यदा तु तान्यालम्बनानि न भवन्ति क्षीणबलत्वात् रोगाद्यभिभूतत्वात् वृद्धत्वाक्रान्तत्वात्तदैव चिन्तयति 'जो देहदेसेण वुढो य जाओ, सिलिप्पई सो हु करेइ कज्जं । जो दुब्बलो संतवि ओसलो उ, न तं तु सीलति विसन्नदारुं" इति'हायंति' हीयन्ते हानिं प्राप्नुवन्ति यस्य योगाः संयमव्यापारास्त्रुटितबलत्वात् 'जरा य'त्ति जरा च वार्द्धकं सर्वरूपादिबलाऽपहारका भवन्ति 'विविहा य हुंति आयंक' त्ति विविधा-अनेकप्रकारा भवन्ति आतङ्काः सद्योघातिनः शूलादिका रोगाः-स्फेटयितुमशक्याः अतः कारणादिहलोकनिरपेक्षया आरोहति अङ्गीकरोति संस्तारकं तस्य सुविशुद्धो निरतिचारः संस्तारक इति।

जो गारवेण मत्तो, निच्छइ आलोयणं गुरुसगासे ।
आरुहई संथारं, अविसुद्धो तस्स संथारो ॥३३॥

यः साधुर्गौरवेण ऋद्धिरससातलक्षणेन माद्यति स मत्तो गर्ववान् नेच्छति नाभिलषति गृहीतुमालोचनां गुरुसकाशे-गुरुसमीपे, यतः "लज्जाए गारवेण व, बहुसुयमएण वावि दुच्चरियं । जइ न कहिंति गुरूणां, न हु ते आराहगा हुंति ॥१॥" इति अकृत्वा आलोचनां यः संस्तारकमारोहति तस्याविशुद्धः संस्तारक इति गाथार्थः ।

जो पुण पत्तब्भूओ, करेइ आलोयणं गुरुसकासे ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥३४॥

यः पुनः पात्रभूतो योग्यो निर्म्मायः संविग्नः कृतसंलेखनः सन् आलोचनां गुरुसमीपे कृत्वा आरोहति संस्तारकमिति ।

जो पुण दंसणसुद्धो, आयचरित्तो करेइ सामन्नं ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३५ ॥

यः पुनः साधुः श्रावको वा 'दंसणे' त्ति दर्शनेन सम्यक्त्वेन सप्तषष्टिभेदभिन्नेन-शुद्धो-निर्म्मलः। ते चामी सप्तषष्टिभेदाः-
"चउसद्दहणं तिलिंगं३,दसविणय१०तिसुद्धि३पंचगयदोसं५।
अट्ठपभावण ८ भूसण ५, लक्खण ५ पचविह संजुत्तं ॥ १ ॥
छव्विहजयणागारं ६, छब्भावेण ६ भावियं ठाणं ५ ।
इइ सत्तसट्ठिलक्खण, भेयविसुद्धं च सम्मत्तं ॥ २ ॥
(चउसद्दहणं ति)—
परमत्थसंथवो खलु, सुयियपरमत्थ जाइ जणनिसेवा ।
वावन्नकुदिट्ठीण य, वज्जणमिह चउसद्दहणं ॥ ३ ॥
जीवाइपयत्थाणं, सम्मपयाईहि" अट्ठेहि पर्यांहि ।
बुज्झाण वि पुण पुण स-घण चिंतणं संथवो होइ ॥ ४ ॥
गीयत्थचरित्तीणं, सेवाबहुमाणविणयपरिसुद्धा ।
तत्ताव बोहजोगा सम्मत्तं निम्मलं कुणइ ॥ ५ ॥
पावन्नदंसणाणं, निण्हगया सत्थअजउत्थीणं ।
उम्मग्गुवएसेहिं, चला वि मालिज्जए सम्मं ॥ ६ ॥
मोहिज्जइ मंदमई, कुदिट्ठिसत्थेहि गुविलसद्देहिं ।
दूरेण वज्जियव्वा, तेणइ नेसुच्चबुद्धीणं ॥ ७ ॥
परमागमसुस्सूसा, अणुरागो धम्मलाहणे परमो ।
जिणगुरुवेयावच्चे, नियमो सम्मत्तलिंगाइं ॥ ८ ॥
तरुणो सुहोवविट्ठो, रागी पि य पणइणी जुओ सो उ ।
इच्छइ जह सुरगीयं, तओहिया समयसुस्सूसा ॥ ९ ॥
कंताकत्तिल्लदिओ, घयपुन्ने भुत्तुमिच्छइ च्छुहिओ ।
जह तह सदणुट्ठाणे, अणुराओ धम्मराउ त्ति ॥ १० ॥
पूयाइए जिणाणं, गुरूण विस्सामणाइएहि विहे ।
नियमो अंगीकारो, वेयावच्चे जहासत्ती ॥ ११ ॥
दसविणय त्ति य अरिहं-त सिद्धचेइयसुए य धम्मे य ।
आयरिय उवज्झाए, पायणे दंसणे वावि ॥ १२ ॥
अरिहंता विहरंता, सिद्धा कम्मक्खया सिवं पत्ता ।
साहुवग्गेय चेइय, सुए तु सामाइयाईयं ॥ १३ ॥
धम्मो चरित्तधम्मो, आहारो तस्स साहुवग्गो त्ति ।
आयरियउवज्झाया, विसेसगुणसंपया जुत्ता ॥ १४ ॥
पवयणमसेससंघो, दंसणमिच्छाति इत्थ सम्मत्तं ।,
विणओ दंसणमेसिं, कायव्वा चेव एयं तु ॥ १५ ॥'
भत्ती बहुमाणो य—वजणए नासणमवन्नवायस्स ।
आसायणपरिहारो, दंसणविणओ समासेणं ॥ १६ ॥
भत्ती बहुपडिवत्ती, बहुमाणो मणसि निज्झरा पीई ।
वन्नजणणं च तेसिं, असेसगुणकित्तणाईहिं ॥ १७ ॥
उब्भाहगोवणाई, भणियं नासणमवन्नवायस्स ।
आसायणपरिहरणं, उचियासणसेवणाईयं ॥ १८ ॥
मणवायाकायाणं, छुद्धीसम्मत्तसोहणा तत्थ ।
मणसुद्धी जिणजिणमय-वज्जमसारं मणुयलोयं ॥ १९ ॥
तित्थकरचलणऽऽराहे, चेवजं मज्झ सिज्झइ तिसुद्धिम्मि ।
कज्जं परथेयत्तं, देसविसेसं ति वयसुद्धी ॥ २० ॥
छिज्जंतो भिज्जंतो, पीलीएज्जंतो वि डज्झमाणो वि ।

जिणवज्जदेवयाणं, जनमइलो तस्स तणुसुद्धी ॥ २१ ॥
पंचगय दोसंति, दूसिज्जइ जेहि मतदोसा य ।
संकाकंखदुगुंछा, परतित्थि पससंसंथवणं ॥ २२ ॥
(पचेव वज्जणिज्जा)
देवगुरुतत्तविसया , अच्छिन्नच्छिन्नत्तिसंसओ संका ।
कंखाई संदेहो, (होई) मुणिजणम्मि वि दुगुछा ॥ २३ ॥
गुणकित्तणं पसंसा, पयवयकरणं च संथवणं ।
(अट्ठ पभावण त्ति)
सम्मंदंसणजुत्तो , सइ सामत्थे पभावगो होइ ।
सो पुण इत्थ विसिट्ठो, निद्दिट्ठो अट्ठहा सुत्ते ॥ २५ ॥
पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जासिद्धो कोई, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ २६ ॥
कालोचियसुत्तधरो, पावयणी तित्थवाहगो सूरो ।
पडिबोहियभव्वजणो , धम्मकही कहणलद्धिन्नू ॥ २७ ॥
वाई य वायकुशलो, रायदुवारे वि लद्धमाहप्पो ।
नेमित्तिओ निमित्तं, कज्जम्मि पउंजई निउणं ॥ २८ ॥
जिणमयमुभावितो, विगिट्ठखमणेण भणइ तवस्सी ।
सिद्धबहुविज्जोमंतो, विज्जावंतो वि उचियन्नू ॥ २९ ॥
संघाइकज्जसाहग , चुन्नजणजोगमंतसिद्धो उ ।
भूयत्थसत्थगथी , जिणसासणदेसओ सुकवी ॥ ३० ॥
(भूसण त्ति)
सम्मत्तभूसणाइं, कोसल्लं तित्थसेवणं भत्ती ।
थिरया पभावणा वि य, भावत्थ तेसि वोच्छामि ॥ ३१ ॥
वंदणसंघरणाइ, किरियानिउणत्तणं च कोसल्लं ।
तत्थ वि सेवा सययं, संविग्गजणाण संसग्गी ॥ ३२ ॥
भत्ती आयरकरणं, जहोचियं जिणवरिंदसाहूणं ।
थिरया वढसम्मत्तं , पभावणुस्सप्पणाकरणं ॥ ३३ ॥
(लक्खणपंचविह त्ति)
हियथगयं सम्मत्तं, लक्खिज्जइ जेहि ताइँ पंचेव ।
उवसमसंवेगो तह, निव्वेयणुकंप अत्थिक्कं ॥ ३४ ॥
अवराहे वि महंते, कोहाणुदओ वियाहियोपसमो ।
संवेगो मोक्ख पइ, अहिलासो भवविरागो य ॥ ३५ ॥
निव्वेओ चागित्त , तुरियं संथारवारयगिहस्स ।
दुहियदया अणुकंपा, अत्थिक्क पंचओ वयणे ॥ ३६ ॥
(छव्विह जयण त्ति)
परतित्थीणं तह दे-वयाण भग्गहिय चेइयाणं च ।
ज छव्विहववहारं , न कुणइ सा छव्विहा जयणा ॥ ३७ ॥
वंदणनमंसणं वा , दाणपयाणम्मि मेसि वज्जेइ ।
आलावं संलावं, पुव्वमणाभत्तगो न करे ॥ ३८ ॥
वंदणयं करजोडण, सिरनामणवंदणं च इइ यं च ।
वायाए नमोक्कारो , नमंसणं मणपसाओ य ॥ ३९ ॥
गउरवपिसुणवियरणा , मिट्ठासणपाणजज्जसेज्जाणं ।
दाण तं चिय बहुसो , अणुप्पयाण मुणी बिंति ॥ ४० ॥
सप्पणयं सभासण, कुसल वासागयं च आलावो ।
सवासो पुणरुत्तं, सुहदुहगुणदोसपडिपुच्छा ॥ ४१ ॥
(आगार त्ति)
राया गणबलदेवय, गुरुनिग्गहावित्तिछेयमाईहिं ।
आगारेहिं भजइ, संमत्त मज्झ न कयाइ ॥ ४२ ॥
(छब्भावणभावियं ति)

देहलइं मुक्खफल, दंसणमूलं दढम्मि धम्मदुमो ।
भतुं दसणदारं , न पवेसो धम्मनयरम्मि ॥ ४३ ॥
नंदइ वयपासाओ, दंसणपीढम्मि सुप्पइट्ठम्मि ।
सम्मत्तमहाधरणी, आधारो चरणलोगस्स ॥ ४४ ॥
सुयसीलमणुन्नरसं , दंसणवरभायणं लहुं धरई ।
मूलुत्तरगुणरयणा , दसणअक्खयनिहाण च ॥ ४५ ॥
(छट्ठाण ति)
अत्थि जिओ तह निच्चो, कत्ता भुत्ता य पुन्नपावाणं ।
अत्थि धुव निव्वाणं, तस्सोवाओ य छट्ठाणा ॥ ४६ ॥
अयणुपवयसिद्धो, गम्मइ तह चित्तवेयणाईहिं ।
जीवो अत्थि अवस्स, पच्चक्खो नाणदिट्ठीणं ॥४७॥
दव्वट्ठयाए निच्चो, उप्पायविणासवज्जिओ जेण ।
पुव्वकयाणुसरणओ, पज्जाया तस्स उ अणिच्चा ॥ ४८ ॥
कत्ता सुहाऽसुहाणं, कम्माणं कसायजोगमाईहिं ।
मिउदडचक्कचीवर, सामग्गिवसा कुलालं व ॥ ४९ ॥
भुजइ सय कयाइ, परकयभोगो उ ।
अकयस्स नत्थि भोगा, अन्नह मुक्खे वि सो हुज्जा ॥५०॥
सम्मत्तनाणचरणा, सपुन्नो मुक्खसाहणोवाओ ।
ता इह जत्ता जुत्तो ससत्तिओ नाणतत्ताणं ॥ ५१ ॥"

इत्येवंप्रकारेण दर्शनेन शुद्धो निरतिचारः 'आय-चरित्तो' त्ति आयभूतं निरतिचारतया चारित्रं यस्य स आयचरित्रो दृढचारित्रत्वात् प्राकृतत्वादात्तचारित्रो-गृहीतचारित्रः करोति—पालयति श्रामण्य—श्रमणभावम् आरोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारः ।

जो रागदोसरहिओ, तिगुत्तिगुत्तो तिसल्लमयरहिओ ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३६ ॥

यः साधुः रागद्वेषाभ्यां रहितः तिसृभिर्मनोवाक्कायल-क्षणाभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः तथा त्रिभिर्मायाशल्यनिदानशल्यमि-थ्यादर्शनशल्यैर्मदैश्च रहित आरोहति संस्तारं सुविशुद्धस्त-स्य संस्तारकः ।

तिहिँ गारवेहिँ रहिओ, तिदंडपडिमोयगो पहियकित्ती ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३७ ॥

त्रिभिर्गौरवैः ऋद्धिरससातलक्षणै रहित त्रयाणां मनोवाक्का-यलक्षणानां परिमोचकः प्रतिमोचको वा प्रथितकीर्त्तिः ख्या-तप्रसिद्धिः आरोहति संस्तारकं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारकः ।

चउविहकसायमहणो, चउहिँ विगहाहि विरहिओ निच्चं ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३८ ॥

चतुर्विधानां-क्रोधमानमायालोभरूपाणां कषायाणां मथनो-विनाशकः चतुर्विधकषायमथनः चतसृभिः स्त्रीकथाभक्तकथा-राजकथादेशकथालक्षणाभिर्विरहितो नित्य-सदाकालम्, आ-रोहति संस्तारकं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारक इति ।

पंचमहव्वयकलिओ, पंचसु समिईसु सुट्ठ आउत्तो ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३९ ॥

पञ्चभिर्महाव्रतैः कलितो—युक्तः तथा पञ्चसु ईर्यादिसमि-तिषु सुष्ठुनिश्चयेनायुक्तः आरोहति संस्तारकं सुविशुद्धस्त-स्य संस्तारक इति ।

छक्काए विरओ, सत्तसयट्ठाणविरहियमईओ ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ४० ॥

षण्णां कायानां समाहारः षट्कायं तस्मात् षट्कायात् तदारम्भात् विरतो—निवृत्तस्तथा सप्तभ्यो भयस्थानेभ्य इहपरलोकादानाकर्म्माजीविकामरणाश्लोकलक्षणेभ्यो विरहिता मतिर्यस्य स सप्तभयस्थानविरहितमतिकः आरोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारः ।

अट्ठमऽट्ठाणजढो, कम्मट्ठविहस्स ख(व)णहेतु त्ति ।
आरोहइ संथारं, सुविसुद्धो होइ संथारो ॥ ४१ ॥

अष्टभिर्जातिकुलबलरूपतपऐश्वर्यश्रुतलाभरूपैर्मदस्थानैर्जढस्त्यक्तोऽष्टमदस्थानजढ. ' कम्मट्ठविहस्स ' त्ति प्राकृतत्वात् कर्म्मशब्दस्य पूर्वनिपात. , ततोऽष्टविधकर्म्मणः क्षपणमष्टविधकर्म्मक्षपणं तस्य हेतुमारोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तार. ।

नवबंभचेरगुत्तो, उज्जुत्तो दसविहे समणधम्मे ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ४२ ॥

नवसु वसत्यादिषु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु गुप्त नवब्रह्मचर्यगुप्तः, तथा-उद्युक्त उद्यमवान् दशविधक्षान्त्यादिके श्रमणधर्म्मे एवंविधः सन्नारोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तार. ।

अथ संस्तारकस्थं क्षपकमालोक्य शिष्यो गुरुं पृच्छति गाथाद्वयेन । भगवन् ! सस्तारकस्थस्य मुने. कीदृशो लाभः कीदृशश्च सुखमिति तदेव गाथाद्वयेनाह—

जुत्तस्स उ(त्त)त्तिमट्ठे, मलियकसायस्स निव्वियारस्स ।
भण केरिसओ लाभो, संथारगयस्स समणस्स ॥४३॥

युक्तस्य-व्यवस्थितस्य च उत्तमार्थेऽनशनप्रतिपत्तिरूपे मलितकषायस्य अथ कृतकषायस्य अत एव निर्विकारस्य कोपादिविकाररहितस्य भण-कथय कीदृशो लाभो भवति संस्तारगतस्य श्रमणस्य ।

जुत्तस्स उत्ति(त्त)मट्ठे, मलियकसायस्स निव्वियारस्स ।
भण केरिसं च य सुखं, संथारगयस्स समणस्स ॥४४॥

' जुत्तस्सेति ' पादद्वय तथैव भण-ब्रूहि कीदृश च सौख्य संस्तारकगतस्य श्रमणस्य ।

गुरुरपि गाथाद्वयेन क्रमेणोत्तरमाह—

पढमिल्लगम्मि दिवसे, संथारगयस्स जो हवइ लाभो ।
को दाणि तस्स सक्का, काउ अग्घं अणग्घस्स ॥ ४५ ॥

'पढमिल्लगम्मि' त्ति-प्रथमकेऽपि दिवसे सस्तारकगतस्य-संस्तारके व्यवस्थितस्य साधोर्यो लाभो भवति'को दाणि' त्ति क इदानीं निरतिशयिनि काले तस्य लाभस्य'सक्क' त्ति समर्थ. पटु स्यात् 'काउ' ति कर्तुमर्घमनर्घस्य-अर्घगोचरातीतस्य ।

जो संखिज्जभवट्ठिइ, सव्वं पि खवेइ सो तहिं कम्मं ।
अणुसमयं साहुपयं, साहू वुत्तो तहिं समए ॥ ४६ ॥

य' साधु. ' संखिज्जभवट्ठिइ ' त्ति संख्याता—सख्यायुर्लक्षणा भवे—एकस्मिन् भवे एकजन्मनिस्थितिक.—असख्यातवर्षायुषो हि चारित्रप्रतीतिरपि न भवतीति सख्यातवर्षस्थितिकत्वमुक्तम् , ' सव्व पि खवेइ सो तहिं कम्म ' ति सर्व्वमपि क्षपयति-निर्जरयति स साधुस्तत्र तस्मिन्संस्तारके व्यवस्थित , प्रथमसंहननवत्प्रकृष्टाराधनः क्षपयति अष्टप्रकारमपि कर्म्म । अथ प्रतिसमयं स साधु. साधुपदं प्रतिपन्नः सन् तस्मिन्नेव भवे प्रायः कर्म्म क्षपयति । अनुसमयं तस्मिन्सुपर्यन्ताराधनासमयैर्युक्तौ विशेषेणोक्तिः तस्यामवस्थायां विशेषतः क्षपणात् , लाभप्रश्नस्य गुरुणा निर्वचन दत्तम् ।

अथ सौख्यस्य उत्तरमाह—

तणसंथारनिवण्णो, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लभइ ॥४७॥

तृणसंस्तारके ,कर्कशे दर्भादितृणमये निपन्नः सुप्त. तृणसंस्तारकनिपन्नः अतस्तृणसस्तारकस्यातिकर्कशत्वमुक्तं, परं स मुनिवरस्तृणसंस्तारकनिपन्नोऽपि सुप्तोऽपि भ्रष्टो रागमदमोहो यस्य स भ्रष्टरागमदमोहः यत्प्राप्तो निर्लोभत्वेन सुख मुक्तिसुख मोक्षसुखं वा लेशत. परमानन्दमयं , संतोषमित्यर्थः, ' न चक्कवट्टी वि ' त्ति न चक्रवर्त्यपि तल्लभते, • • • त्यर्थः । यदाह-"तुष्ट्यर्थमन्नमिह यत्प्रणिधिप्रयास,संत्रासदोषकलुषो नृपतिस्तु भुङ्क्ते। " .... यन्निर्भय. प्रशमसौख्यरतश्च भुङ्क्ते ॥१॥ " ॥४७॥

निप्पुरिसनाडगम्मि व, न सा रई तह सहत्थवित्थारे ।
जिणवयणम्मि विसाले, हेउसहस्सोवगूढम्मि ॥ ४८ ॥

देवानां संबन्धिनि नाटके सा रतिर्न भवति । कथंभूते निजपुरुषनाटके निजपुरुषा नाटककर्त्तारः स्वस्वामिनः स्वातं बुध्यन्ते, ततस्तत्सुरा नाटकपात्राणि विकुर्वन्ति ' तह सहत्थवित्थारि'त्ति तथा देवा वैक्रियलब्ध्या स्वहस्ताभ्यां पात्राणि निष्काश्य द्वात्रिंशद्विध नाटकं विस्तारयन्ति,परमात्मेच्छयाऽपि विरचिते तस्मिन् न सा रतिर्न तत्सुखम् , जिनवचने विशाले विस्तीर्णे हेतुसहस्रोपगूढे-हेतुसहस्रयुक्ते क्षपकेण श्रूयमाणेमनसि धार्यमाणे च यत् सुखं या रतिरित्यर्थः । अथवा-'निप्पुरिसनाडगम्मि' त्ति निर्गता-रहिताः पुरुषा यस्मिन्नाटके तन्निष्पुरुषं तस्मिन्निष्पुरुषनाटके केवलस्त्रीपात्रमये नाटके स्वहस्तविस्तारस्वेच्छासचारितहस्तादिलये न सा रतिर्न तत् सुखम् । केवलस्त्रीनाटके हि सर्वविषयाविर्भावके रागिणामत्यैव रतिर्भवति पर तस्मिन्नपि सा रतिर्न भवति या जिनवचने रतिर्भवति इति तात्पर्यार्थ ।

जं रागदोसमइयं, सुक्खं जं होइ विसयमइयं च ।
अणुहवइ चक्कवट्टी, न होइ तं वीयरागस्स ॥४९॥

यत्सुख रागमय-पुत्रकलत्रादिस्नेहमयं द्वेषमय-शत्रुविनाशसभवं, यच्च सुख ' विसयमइय ' ति शब्दादिविषयसंभवं-चतु षष्टिसहस्रललनापरिचारणामयमनुभवति चक्रवर्ती भवति तत्सुखमोहमयम्,वीतरागस्य-गतरागद्वेषमोहत्वान्महामुने. तद्धि सुखं क्षणविनश्वर महर्षेस्तु परमसतोषसुखसभृतत्वान्न तत्किंचिदित्यर्थ. ।

मा होइ वासगणया, न तत्थ वरिसाणि परिगणिज्जंति।
बहवे गच्छं वुच्छा, जम्मणमरणं च ते छुत्ता ॥५०॥

गुरु शिष्यान् प्रति भणति-भो वत्सा! मा भवत वर्षगणकीयता स्तोकेनापि कालेन ये इमेऽर्हन्तस्ते पुण्डरीकवत्परमार्थसाधका भवन्ति, न तत्र वर्षाणि गण्यन्ते, यदुतानेन बहूनि वर्षाणि दीक्षा कृताऽनेन स्तोकानीति । यतो बहवोऽपि गच्छवासमुपिताश्चिर कालं यावद्गच्छवासं कृतवन्तोऽपि प्रबलप्रमादतया "जयन्तराजर्षिवत्' पार्श्वस्थतया विहृत्य

जन्ममरणरूपं संसारमतिशयेन क्षुभ्रा मग्नाः क्षुत्ता वा संसार-सागरे बुडिता इत्यर्थः।

पच्छा वि ते पयावा, खिप्पं काहिंति अप्पणो पत्थं।
जे पच्छिमम्मि काले, मरंति संथारमारूढा ॥ ५१ ॥

पश्चादपि पर्यन्तसमयेऽपि उद्यतविहारितया "सेलकवत्" उद्यतमरणेन"अर्हन्नकवत्" साधव. पूर्वं-प्रथममेव वा पुण्डरीकगजसुकुमालवदुद्यतविहारेण पूर्वं वा उद्यतमरणेनावन्तीसुकुमारवत्। अथवा-'पयावा' इति-प्रपाताद्वा स्वदोषनिन्दा-गर्हालक्षणात् क्षिप्रं-शीघ्रं करिष्यन्ति आत्मनः पथ्यं-हितम्। के ते आत्मनो हितं विधास्यन्तीत्याह-' पच्छिमम्मि' त्ति ये पश्चिमेऽपि काले 'मरन्ति'त्ति म्रियन्ते संस्तारकारूढाः सन्तो विहितानशना इत्यर्थः।

अथ कीदृशो वाऽवकाशे संस्तारकः कर्त्तव्य इति प्रश्नस्य निर्वचनमाह—

न वि कारणं तणमओ,संथारो न वि य फासुया भूमी।
अप्पा खलु संथारो, हवइ विसुद्धो चरित्तम्मि ॥ ५२ ॥

नापि-नैव कारणं-निमित्तं तृणमयः संस्तारकः पर्यन्ताराधनस्य कारणं नापि प्रासुका निरवद्या भूमिः तर्हि किंनिमित्त-मित्याह-'अप्पा खलु' त्ति-आत्मा खलु-निश्चयेन संस्तारको भवति विशुद्धो निर्म्मलः 'चरित्तम्मि' त्ति—चारित्रे निर्म्मले, निरतिचारे इत्यर्थः।

अथ कीदृशस्य कस्मिन् काले इत्युभयनिर्वचनमाह—

निच्चं ति तस्स भावु-ज्जुयस्स जत्थ व जहिं व संथारो।
जो होइ अहक्खाया, विहारमब्भुज्जओ लुक्खो ॥ ५३॥

नित्यं-सर्वदा तस्य-क्षपकस्य 'भावुज्जुयस्स' त्ति भावतो निर्मायस्याऽप्रमादिनः कृतालोचनस्य 'जत्थ व' त्ति यत्रैव क्षेत्रे ग्रामनगरादौ, यत आह "चक्खुयजोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाण। गामम्मि जणाइन्ने, सुन्नेऽरन्नम्मि न विसेसो ॥१॥" 'जहिं व' त्ति यस्मिन्वा काले दिवसनिशादौ हेमन्तग्रीष्मादौ वा, यदाह-' काले वि सो च्चिय जहिं, जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ। न तु दिवसनिसावेला, इ (इ) नियमणं झाइणो भणियं ॥१॥' अथवा-' जहिं ' ति दर्भतृणकुसुमाशिलातलतूलिकादौ यो भवति 'अहक्खाय' त्ति यथा च जिनवचनप्ररूपकः ' विहारमब्भुज्जओ ' त्ति विहारमुद्यतविहारं द्वादशसांवत्सरिकमभ्युद्यतः कृतसंलेखनः, अत एव कृतसंलेखनात्वादूक्ष. क्षीणधातुत्वादस्थिचर्मावनद्धशरीरो, भावतः कषायपरिहारेण इति, द्रव्यत. क्षेत्रतः कालतो भावतश्च क्षपकस्य शुद्धिरुक्ता।

अथ यथाविधि तपो विधाय यस्मिन् काले संस्तारको विधेय इति तमाह—

वासारत्तम्मि तवं, चित्तविचित्ताइ सुट्ठु काऊणं।
हेमंते संथारं, आरुहई सव्वऽवत्थासु ॥ ५४ ॥

पूर्वं तावद्गुरुमनुज्ञाप्य—

" चत्तारि विचित्ताइं, विगई निज्जूहियाइ चत्तारि।
संवच्छरे य दुन्नी, एगतरियं च आयाम ॥ १ ॥
नाऽइविसिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमियं च आयामं।
अन्ने वि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्म ॥ २ ॥
वीसं कोडीसहियं, आयामं कट्टु आणुपुव्वीए।
गिरिकंदरनवगतु, पाउवगमणं अह करेइ ॥ ३ ॥ "

वर्षाकाले रात्रौ तपश्चित्रविचित्रादिकं 'सुट्ठु' त्ति सुष्ठ्वतिशयेन कृत्वा हेमन्तशीतकालादौ संस्तारकः कर्त्तव्यो निरापदि आयुषि च पूर्यमाणे आपदि चतुष्पदायुषि वा 'आरुहइ' आरोहति करोति संस्तारकं सर्वास्ववस्थास्विति गाथार्थः।

अथ कैः कैरभ्युद्यतमरणविधिर्विहित इति तान् द्वात्रिंशता गाथाकलापेनाह—

आसी य पोयणपुरे, अज्जा नामेण पुप्फचूल त्ति।
तीसे धम्मायरिओ,पविस्सुओ अन्नियापुत्तो ॥ ५५ ॥

"गंगाए तडे पुप्फभद्दं नाम नयरम्मि" त्यावश्यकचूर्णिः। इदं पुनस्तस्यैव नामान्तर संभाव्यते। आसीत्पोतनपुरे आर्यिका पुष्पचूलेति, तस्या धर्माचार्यः-धर्म्मगुरुः प्रकर्षेण विश्रुतः प्रविश्रुतो विख्यातः अन्निकापुत्रः सूरिरिति।

सो गंगमुत्तरंतो, सरसा उस्सारिओ य नावाए।
पडिवन्नो उत्तमट्ठं, तेण वि आराहियं मरणं ॥ ५६ ॥

अन्यदाऽभिनवदीक्षितायाः पुष्पचूलायाः केवलोत्पत्तावात्मानं निन्दन् तया भणितो भगवतामपि गङ्गामुत्तरतां केवलमुत्पत्स्यते, ततोऽसौ झटित्येव गङ्गायां नावमारूढः। तत्र च नगराधिष्ठातृदेवता सूरिभक्ता। नदीदेवता तु तस्याः प्रत्यनीका। तया चिन्तितं-मदीयवैरिण्या गुरुरयं मारयितव्यः इति चिन्तयन्ती एवं विधत्ते, "जेणं जेणं पासेणं विलग्गति तं बुड्डइ सो मज्झे ठिओ सव्वा पाणी बुड्डइ तेहिं नाविएहिं पाणीए छूढो देवयाए तिसूलेणं विद्धो, नाणं उप्पन्नं देवेहिं महिमा कया पयागं ति तत्थ जाय तित्थं।" संपूर्णकथा आवश्यकचूर्णितो ज्ञेया। अधुनाऽक्षरयोजना-स गङ्गामुत्तरन् सहसा तत्क्षणादेव नाविकेनाचार्य उत्सारितः, पातितः, प्रतिपन्न उत्तमार्थ, तेनापि मरणमाराधितम्।

पंचमहव्वयकलिया, पंच सया अज्जिया सुपुरिसाणं।
नयरम्मि कुंभकारे, करगम्मि निवेसिया तइया ॥५७॥

पञ्चमहाव्रतकलितानि पञ्चशतानि ' अज्जिय ' त्ति प्राकृतत्वादर्दितानि-पीडितानि प्राकृतत्वादेव वा अर्जितानि रागादिभिः सत्पुरुषाणां 'नयरम्मि' कुम्भकारोपकारस्य लाक्षिणिकत्वात् नगरे कुम्भकारे कटके 'निवेसिय' त्ति निवेशितानि ' जतम्मि ' त्ति अग्रेतनगाथायां संबन्धः, यन्त्रे-प्राणके।

एगूण पंच सया, वाएण पराजिएण रुट्ठेणं।
जंतम्मि पावमइणा, छुन्नाछुन्ना अणुकमेणं ॥५८॥

एकोनानि पञ्च शतानि स्कन्दकाचार्यशिष्याणां, वादे पराजितेन रुष्टेन कलकाभिधद्विजातिना पापमतिना क्षुण्णाक्षुण्णा' पिष्टाः अनुक्रमेण—परिपाट्या।

निम्मम निरहंकारा, नियगसरीरे वि अप्पडीबद्धा।
ते वि तह छुज्जमाणा, पडिवन्ना उत्तमं अट्ठं ॥ ५९ ॥

निर्म्ममा—ममत्वरहिता. निर्गताहंकाराः—निजदेहेऽप्यप्रतिबद्धा.—प्रतिबन्धरहिता. तेऽपि, तथा—तेनैव प्रकारेण ' छुज्जमाण ' त्ति क्षुद्यमानाः—पीड्यमनाः प्रतिपन्ना उत्तमार्थमिति।

दंडो त्ति विस्सुयजसो,पडिमा दसधारओ ठिओ धम्मं।
जउणावंके नयरे, सरेहि विद्धो य सुरगीओ ॥ ६० ॥

दण्ड इति नाम्ना मुनिर्विश्रुतयशा विख्यातकीर्त्तिः 'पडिमा दसधारउ' त्ति तृतीयसप्तरात्रिंदिवलक्षणदशमभिक्षुप्रतिमाधारकः स्थितः प्रतिमां-कायोत्सर्गं यमुनावक्रे उद्याने नगरे-मथुरानाम्नि शरैर्बाणैः विद्धः । यमुनाराजा तत्पदातिभिश्च 'सुरगीउ' त्ति सुरैर्देवैर्गीतस्तद्गुणगानेन ।

जिणवयणनिच्छियमई, नियशरीरे वि अप्पडीवद्धो ।
सोऽवि तह विज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥६१॥

जिनवचने निश्चिता मतिर्यस्याऽसौ जिनवचननिश्चितमतिकः, तथा निजकशरीरेऽपि अप्रतिबद्धः—प्रतिबन्धमुक्तः सोऽपि तथा विध्यमानोऽपि प्रतिपन्न उत्तमार्थम् । भावार्थः कथागम्यः, स चायम्—" महुरा नयरी जउणावंक उज्जाण अवरेण जउणाए कुप्परो दिन्नो । तथा दंडो अणगारो आयावेइ । सो रायाए निंतेणं दिट्ठो, तो रोसेण असिणा सीसं छिन्नं । अन्ने भणंति-फालेहिं आहओ पच्छा सव्वेहि वि मणुस्सेहिं कोवोदयं पइयस्स आवइकाले मओ सिद्धो, देवाण महिमा करणं, सक्कागमणं । पालयणं तस्स वि रन्नो अधिई जाया, वज्जेण, भासिओ सक्केण-जइ पव्वयसि तो मुच्चसि । पवयणथेराणं अतिए अभिग्गहं गिण्हइ । जइ भिक्खागओ वा संभरामि ता न जिमेमि,जइ दूरे जिमिओ ता सेसगं पि विगिंचिम । एवं किर तेण भगवया एगमवि दिवस नाहारियं । तस्स वि दव्वावई दंडयस्स भावावई एव दढधम्मया कायव्वा।

आसी सुकोसलरिसी, चाउम्मासस्स पारणादिवसे ।
ओरुहमाणो य नगे, खइओ छुहियाए वग्घीए ॥६२॥

आसीद्-अभूत्सुकोसलर्षिश्चातुर्मासस्य पारणकदिने 'ओरुहमाणो य नगे' त्ति पञ्चम्यर्थे सप्तमी नगादवतरन् ' खइओ छुहियाए ' त्ति खोभया-बुभुक्षितया व्याघ्रया ।

धीधणियवद्धकच्छो, पचक्खाणम्मि सुट्ठु आउत्तो ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ६३ ॥

धृत्या-अन्तरङ्गहृदयावष्टम्भेन धनिता अत्यर्थं बद्धा कक्षा-प्रतिज्ञा येन स धृतिधनितबद्धकक्षः प्रत्याख्यानेऽनशनप्रतिपत्तिरूपे सुष्ठुतिशयेन युक्तः—उपयोगवान् सोऽपि भगवान् तथा खाद्यमान. प्रतिपन्न उत्तमार्थम् ।

उज्जेणी नयरीए, अवंतिनामेण विस्सुओ आसी ।
पाओवगमणनिवन्नो, सुसाणमज्झेण एगंते ॥ ६४ ॥

उज्जयिन्या नगर्यामवन्तिनाम्ना विश्रुत. "अवन्तीसुकुमार" इति ख्यात आसीत् । पादप इवोपगमनमवस्थानं तेन पादपोपगमननिपन्न. सुप्तः पादपोपगमननिपन्न. 'सुसाणमज्झेण' त्ति महाकालाख्यश्मशाने 'एगते' त्ति निर्जनप्रदेशे ।

तिन्नि रयणीउ चइउं, मालुंका उट्ठिया विकड्ढंति ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ६५ ॥

'तिन्नि रयणीउ' त्ति-त्रीन् रजनिप्रहरान् अवयवे समुदायोपचारात् ' चइउ ' त्यक्त्वा स्वशरीरमित्यध्याहार ' अथवा-ध्यायित्वा-धारयितुं रथिरादि रात्रिंदिव,मार्गे च गच्छतोऽति सुकुमारत्वात् रुधिरस्रावात् तद्गन्धेनाकृष्टा'मालुका'श्टगाली 'उट्ठिया वि' त्ति उत्थिता 'कड्ढतीति' कर्षयति साऽन्त्रादि । यत उक्तम् 'लोहियगंधेण सिवा आगमणं सिवा एगं पायं खाइ, एक्कं पि लूगाणि, पढमे जाणुगाणि, वीए ऊरू, तइए पोट्टं कालगओ, विस्तरेणावश्यकचूर्णेरवसेयम् । सोऽप्यवन्तिसुकुमारस्तथा खाद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थमिति ।

जल्लमलपंकधारी, आहारो सीलसंजमगुणाणं ।
आजीरणो य गीओ, कत्तियअज्जो सरवणम्मि ॥ ६६ ॥

याति लगति च जल्लो-रजोमात्रः मलः-कठिनीभूत. पङ्को-मल एव स्वेदनार्द्रीभूतः जल्लश्च मलश्च पङ्कश्च तान् निष्प्रतिकर्मतया धारयतीत्येवंशीलो जल्लमलपङ्कधारी । पुन. किंभूतः, आधारः-स्थानं, केषां ?, शीलसंयमगुणानां शीलमष्टादशधा ब्रह्मचर्यम् अष्टादशसहस्रशीलाङ्गानि वा संयमः सप्तदशधा गुणाः सप्तविंशत्यनगारगुणाः । शीलं च संयमश्च गुणाश्च शीलसंयमगुणास्तेषाम् 'आजीरणो य' त्ति आजीरणश्च आजि-सग्राम ईरयति प्रेरयति क्षपयति जयतीति यावत्, आजीरणो राज्यावस्थाया शत्रुभि. सह श्रामण्ये कर्म्मभिः सहेति 'गीओ' त्ति गीतः प्रसिद्धः गीतार्थश्च 'अग्गीउ' त्ति पाठे प्राकृतत्वात् अग्ने राज्ञोऽयमाग्नेय. । यत आह-' रोहेडगम्मि सत्ती, हओ वि कोवेण अग्गिनिवइइओ । त वेयणमहियासिय, पडिवन्नो उत्तम अट्ठ ' ॥१॥ ' कत्तियअज्जो सरवणम्मि ' त्ति कार्त्तिकार्य इति नाम्ना सरवणसंनिवेशे यो महात्मा यात इति ।

रोहेडगम्मि नयरे, आहारं फासुयं गवेसंतो ।
कोवेण खंतिएणं, भिन्नो सत्तिप्पहारेण ॥ ६७ ॥

स च भगवान् रोहेडकपुरे प्रासुकमाहारं गवेषयन् राज्यावस्थापराद्धेन केनापि क्षत्रियेण कोपेन शक्तिप्रहारेण शक्तिप्रहरणविशेषेण भिन्नो-विदारितः ।

ततोऽनन्तरं स महर्षिः किं कृतवानित्याह-

एगंते मणवाए, विच्छिन्ने थंडिले चयइ देहं ।
सो वि तह विज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥६८॥

एकान्ते-दुष्टपशुश्वानस्वापदस्त्र्यादिविवर्जिते अनापाते धर्मध्याने व्याघातकागन्तुकजनरहिते विस्तीर्णे-पुष्कले स्थण्डिले संस्तारककरणप्रायोग्ये भूखण्डे त्यजति-मुञ्चति व्युत्सृजति स्वयमेव देहं निजशरीरम् । 'चइय' इति पाठे त्यक्त्वा देहं सोऽपि महासत्त्वस्तथा विध्यमानस्तेन शक्त्या ताड्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम् । (' पाडली ' त्यादि गाथात्रयम् ' धम्मसीह ' शब्दे चतुर्थभागे २७३४ पृष्ठे गतम् ।) (चाणक्यः इङ्गिनीमरणं प्रतिपन्न इति ' इंगिणीमरण ' शब्दे द्वितीयभागे ५३२ पृष्ठे गतम् ।)

अणुलोमपूयणाए, अह सो सत्तुंजओ डहइ देहं ।
सो वि तह डज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७२॥

अनुलोमा-अनुकूला पूजनाऽनुलोमपूजना तया अनुलोमपूजनया कृष्णागुरुप्रभृतिसुरभिधूपोत्क्षेपदाहव्याजेन गोवाटकरीपदहनतया सुबन्धु दहति देहं शरीरम्, सोऽपि तथा देह्यमान प्रतिपन्न उत्तमार्थम् ।

एतत्संवादिगाथेयम्—

गुट्ठे पाओवगओ, सुबंधुणा गोमये पलिवियम्मि ।
डज्झंतो चाणक्को, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७३॥

अथ गाथात्रयेण संवन्धः ।

कायंदीनयरीए, राया नामेण अमयघोसो त्ति ।
तत्तो सुयस्स रज्जं, दाऊणं अह चरे धम्मं ॥७४॥

काकन्द्यां नगर्यां राजा नाम्ना "अमृतघोष" इति, ततः स राजा सुतस्य—पुत्रस्य राज्यं दत्त्वाऽथ चरेदनुतिष्ठेत् धर्म्मं चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणम् ।

आहिडिऊण वसुहं, सुत्तत्थविसारओ सुयरहस्सो ।
काइंदी चेव पुरिं, अह संपत्तो विगयसोगो ॥७५॥

आहिण्ड्य-परिभ्रम्य विहृत्येत्यर्थः वसुधां सूत्रार्थविशारदो-विचक्षणः, यत एव सूत्रार्थविशारदोऽत एव श्रुतरहस्यः श्रुतनिकषः काकन्दीमेव पुरीमथ विहरन्नुद्यतविहारेण संप्राप्तः विगतशोकः-परित्यक्तदैन्यभाव इति ।

नामेण चंडवेगो, अह सो पडिछिंदई तयं देहं ।
सो वि तह छिज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७६॥

नाम्ना चण्डवेगः पूर्वापराद्धो मन्त्री अन्यो वा कोऽपि सपत्नोऽथ स प्रत्यनीकस्तक राजर्षिदेहं-शरीरं प्रतिछिनत्ति-द्विधाकरोति । सोऽपि भगवानमृतघोषस्तथा छिद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम् । (संथा०) (अथ 'कोसंबी' त्यादिगाथा 'ललियघडा' शब्दे षष्ठभागे गता ।)

जलमज्झे ओगाढा, नईएँ पूरेण निम्ममसरीरा ।
तह वि हु जलदहमज्झे, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७८॥

ततश्च तेषां भगवतां पादपोपगमनिकावतामकाले वृष्टिप्रादुर्भावान्नदी पूरेणायाता । नदीपूरेण च महता वहता काष्ठेशय्याऽस्य जलमध्ये ओगाढा-विक्षिप्ता । तत्र च निर्म्मम-शरीरेऽपि ममत्ववर्जितस्तथापि हु-स्फुटं 'जलदहमज्झि' त्ति अकालागतनदीपूरेणोह्यमानो जलह्रद-समुद्रं प्रापितः । ततो जलह्रदमध्येऽपि उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ।

अथ गाथाचतुष्टयेन संबन्धः—

आसी कुणालनगरे, राया नामेण वेसमणदासो ।
तस्स अमच्चो रिट्ठो, मिच्छादिट्ठी अहिनिविट्ठो ॥७९॥

आसीद्-अभूत् कुणालनगरे—उज्जयिन्यामित्यर्थः, राजा नाम्ना वैश्रमणदासः। तस्य राज्ञः अमात्यो-मन्त्री रिष्टो-रिष्टाभिधानः मिथ्यादृष्टिर्जिनशासनप्रत्यनीकः अभिनिविष्टः—सर्वज्ञमतं प्रति द्वेषवान् समभूदित्यर्थः ।

तत्थ य मुणिवरवसभो, गणिपिडगधरो तहाऽऽसि आयरियो।
नामेण उसभसेणो, सुयसागरपारगो धीरो ॥८०॥

तत्र-तस्यामुज्जयिन्यां मुनिवरवृषभः प्रधानाचार्यः गणिपिटकधरो द्वादशाङ्गधारी, तथा आसीदाचार्यः नाम्ना 'उसभसेण' त्ति—वृषभसेनः श्रुतसागरपारगः-सर्वश्रुताम्भोधितीरगामी धीरः-परीषहसहनसमर्थः ।

तस्साऽऽसी य गणहरो, नाणासुत्तत्थगहियपेयालो ।
नामेण सीहसेणो, वाएण पराजिओ रिट्ठो ॥ ८१ ॥

तस्य शिष्य आसीद्गणधरः आचार्यः, नानासूत्रार्थगृहीतपेयालः—अनेकसूत्रार्थपरिज्ञातविचारः नाम्ना सिंहसेनः, तेन च 'वाएणं' ति वादेन-स्वदर्शनस्थापनलक्षणेन पराजितः-पराभग्नः रिष्टः—रिष्टामात्यो वादे उपस्थितः सन्नित्यर्थः ।

अह सो निराणुकंपो, अग्गिं दाऊण सुविहियपसंते ।
सो वि तह डज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ८२ ॥

अथ स रिष्टः पापिष्ठः 'निराणुकंपो' त्ति निर्गतघृणः 'अग्गिं दाऊण' ति अग्निं—वैश्वानरं दापयित्वा दत्त्वा वा सुविहितानां-साधूनां पश्यत्सुपाश्रयति वेति विहितोपाश्रय:'सुविहियपसुत्ते'त्ति पाठे सुविहितेऽप्यप्रसुप्तेऽपि दहतीत्यध्याहारः। सोऽपि सिंहसेनाचार्यस्तथा दह्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थमिति।

कुरुदत्तो वि कुमारो, संबलिफालि व्व अग्गिणा दड्ढो ।
सो वि तह डज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ८३ ॥

"कुरुदत्तः" कुरुदत्तनामाऽपि इभ्यपुत्रर्षिः 'सबलिफालि व्व' त्ति शाल्मली वृक्षविशेषस्तस्य फालिवत्-तस्य शाखावत् अग्निना दग्धः, सा हि निःसारत्वादग्निना झटित्येव दह्यते । सोऽपि तथा दह्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम् । अस्य भावार्थोऽपि दर्श्यते । तथाहि-"हत्थिणाउरे नयरे कुरुदत्तसुओ नाम इब्भपुत्तो,स तहारूवाणं थेराणं अंते पव्वइओ। बहुस्सुओ समणो कयाइ एगल्लविहारं पडिमं पडिवन्नो । सो साएयस्स नयरस्स अदूरसामंते आगओ। विहरंतो चरिमा ओगाढा पोरिसी। तत्थेव पडिमं ठिओ चच्चरे, तत्थ य पमाओ गावीओ हरियाओ तेणेहिं । तेण ओगासेण नीयाओ जाव मग्गमाणा उट्ठिया आगया, दिट्ठो साहू। तत्थ दुवे पंथा। पच्छा ते न जाणंति कयरेण नीयाओ। ते साहुं पुच्छंति। सो भगवं न वाहरइ। तेहिं पउट्ठेहिं सीसे पट्टिया पालिं वंधेऊण चियगाओ अंगारे घित्तूण सीसे छूढा। तेण भगवया सम्ममहियासियं।" ('आसी' इत्यादि गाथा 'चिलाई पुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११६२ पृष्ठे गता ।)

आसी गयसुकुमालो, अल्लयचम्मं व कीलयसएहिं ।
धरणियले उव्विद्धो, तेण वि आराहियं मरणं ॥८५॥

आसीद्गजसुकुमाल इभ्यपुत्रः,कुरुदत्तन्यायेन गृहीतव्रतः सकलाधीतश्रुतः एकल्लविहारप्रतिमाप्रतिपन्नः कायोत्सर्गस्थस्तेनैव प्रकारेण कुटिके' पृष्टो गोगमनमार्गो न गदितवानिति गजसुकुमारस्य शरीरमार्द्रचर्मवत्कीलकशतैस्ताडयित्वा धरणितले महीपीठे उद्विद्धः, तेनापि भगवता मरणमाराधितं प्राणसमाप्तिं यावच्च धर्म्मध्यानवान् जात इति तात्पर्यार्थः ।

मंखलिणा वि अरहओ, सीसा तेयस्स उग्गया दड्ढा ।
ते वि तह डज्झमाणा, पडिवन्ना उत्तमं अट्ठं ॥ ८६ ॥

'मंखलिणा वि' त्ति-पुत्रशब्दलोपान्मङ्खलिपुत्रेणापि गोशालकेन अर्हतो महावीरशिष्यौ सुनक्षत्रसर्वानुभूती 'तेयस्स उग्गय' त्ति तेजसस्तेजोलेश्यया 'उग्गया दड्ढ' त्ति उग्रतया—तीव्रतया दग्धौ—भस्मीकृतौ, तौ तथा दह्यमानौ प्रतिपन्नावुत्तमार्थमिति, इत्येते दृष्टान्ता बहवः प्रसिद्धा एव।

शास्त्रप्रसिद्धत्वान्न दर्शिता. पर्यायमात्रनिदर्शने हेतुत्वात्प्रारम्भस्य।

अथ गाथाद्वयेन संबन्धः।

परिजाणइ तिगुत्तो, जावज्जीवाए तिविहमाहारं।
संघसमवायमज्झे, सागारं गुरुनिओगेणं ॥ ८७ ॥
अहवा समाहिहेउं, करेइ सो पाणगस्स आहारं।
तो पाणगं पि पच्छा, वोसिरइ मुणी जहाकालं ॥८८॥

परिजानाति-ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्याति त्रिगुप्तो-मनोवाक्कायगुप्तः 'जावज्जीवाए' त्ति यावज्जीवं सर्वमपि चतुर्विधमप्याहारं, क प्रत्याख्याति?-गुरुसमीपे। कथमिव प्रत्याख्यातीत्याह-'भवचरिमं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं, असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरामि' किमेकाक्येव प्रत्याख्याति उत कानपि साक्षिणः कृत्वेत्याह-संघसमवायमध्ये-संघसभामध्ये 'सागारं गुरुनिओगेणं'ति एतत्पदमग्रेतनगाथाया संबध्यते। ततः किमित्याह-अथवा समाधिहेतुं-समाधिनिमित्तं 'सागारं गुरुनिओगेण त्ति' एतत्पदम् आकारचतुष्टययुक्तं तदेवाह-'भवचरिमं करेमि' कोऽर्थः, गुरुनियोगेन-गुर्वाज्ञया स पानकस्याहारे प्रथमतः पूर्वमुक्तफल करोति 'तो पाणगं पि' त्ति ततोऽनन्तरं पानकमपि पश्चात्पर्यन्तसमये व्युत्सृजति, यथाकालं-यथावसरं ज्ञात्वा- 'अह कयमंजलिपणओ भणइ' त्ति पदमुत्कलितमेव। अथ क्षपकः कृताञ्जलिः प्राकृतत्वान्मकारागमश्च रचिताञ्जलिकोरकः प्रणतः सन् भणति।

यच्च भणति तदाह—

खामेइ सव्वसंघं, संवेगं सेसगाण कुणमाणो।
मणवइकाएहिँ पुरा, कयकारियअणुमए वाऽवि ॥८९॥

क्षमयति-मर्षयति सर्वसंघ-साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपं कुर्वन् क्षमयति 'संवेग त्ति संवेगं मोक्षाभिलापम्। यत आह 'सिद्धी य देवलोगो सुकुलुप्पत्ती य होइ संवेगा' शिष्यकाणामपि मुनीनां कुर्वाणः कथं क्षमयति 'मणवइजोगेहि पुरा' इति-मनोवाग्योगाभ्यामुपलक्षणत्वात्काययोगेन च 'पुर' त्ति पूर्वकृतानपराधान् न केवलं मणोवाक्काययोगे 'कयकारियअणुमए वाऽवि' त्ति तृतीयाविभक्तिबहुवचनलोपात् कृतकारितानुमतिभि अपिवाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात् क्षमयत्यपीत्यर्थः।

सव्वे अवराहपया, एस खमेमि अज्ज निस्सल्लो।
अम्मापिउणो सरिसा, सव्वे वि खमंतु मे जीवा ॥९०॥

'सव्वे अवराहपय' त्ति-प्राकृतत्वात्पुलिङ्गनिर्देशः, सर्वाण्यपराधपदानि आशातनारूपाणि एष-अहं 'खमेमि' क्षमयामि पूर्वगाथायां संबन्धः क्षमयतीत्युक्तम्। तत्र संघस्य मुख्या गुरु, तद्विषयाश्च त्रयस्त्रिंशदाशातना ताश्च द्वादशावर्त्तकृतकर्मपूर्वं क्षमयितव्या, अत्र भणन्ति-अपराधक्षामणा कुर्वन् रजोहरणार्पणमस्तकः विनयी भणति-'खामेमी त्यादि द्वादशकृतकर्मक्रममवश्यकर्म्यो योगविराधनासु पमपराक्रम, अर्थात् त्यादि जो मे अइयारो कओ इत्यनपसत्न स्वशरीराधर्तीचारनिवेदनपरमालोचनां प्रायश्चि— प्रायश्चित्ताभिधायकं व्युत्सृजाम्यात्मानं दुष्कर्मकारिणं तदनुमतित्यागेन च। अथ त्रयस्त्रिंशदाशातना दर्श्यन्ते—

"पुरओ पक्खासन्ने, गंता चिट्ठण निसीयणागमणे।
आलोयण पडिसुणणे, पुव्वालवणे य आलोए ॥ १ ॥
तह उवदसनिमंतण, खद्धयणे तहा अपडिसुणणे।
खद्धत्ति य तत्थ गए, किं तु मत जायणा सुमणे ॥ २ ॥
णो सरसि कहं छित्ता, परिसभित्ता अणुट्ठिया य कहा।
संथारपायघट्टण, चिट्ठुच्च समासणे यावि ॥३॥"

प्रथमगाथाया चतुर्दश, द्वितीयायामेकादश, तृतीयायामष्टौ चेति। तत्र गुरोः पुरतो निष्कारणं गमनं शिष्यस्य १ पार्श्वाभ्यामपि गमनं २ पृष्ठतोऽप्यासन्नगुरुगमनं निःश्वासक्षुत(च्छ्)श्लेष्मपातादिप्रसङ्गात् ३ एवं पुरतः ४ पार्श्वतः ५ पृष्ठतश्च स्थानमु६एवं निषदनम् ९ आचार्येण सहोच्चारभूमिं गतस्याचार्यात्प्रथममेवागमनम् १० आचार्येण सह बहिर्गतस्य शिष्यस्य पुनर्निवृत्तस्याचार्यात्प्रथममेव गमनागमनलोचनम्, ११ तत्राचार्ये कः स्वपिति जागर्त्ति वेति गुरो पृच्छतोऽपि जाग्रतापि शिष्येणाप्रतिश्रवणम् १२ गुरोरालापनीयस्य शिष्येण प्रथममालापनम् १३ भिक्षामानीय पूर्वं शैक्षस्य पुरत आलोच्य पश्चाद् गुरोरालोचनम् १४ भिक्षामानीय प्रथममेव शिष्यस्योपदर्श्य पश्चाद् गुरोर्दर्शनम् १५ भिक्षामानीय शैक्षनिमन्त्र्य गुरोर्निमन्त्रणम्, १६ गुरुमनापृच्छ्य शैक्षाणां यथारुचि प्रभूताहारदानम्, १७ शैक्षेण भिक्षामानीय गुरवे यत्किञ्चिद्दत्त्वा स्वयं स्निग्धमधुरमनोज्ञाहारशाकादीनां वर्णरसगन्धरसस्पर्शवतां च द्रव्याणां स्वयमुपभोगः १८ दिवापि अप्रतिश्रवणम् १९ गुरोः पुरतो बहि कर्कशस्योच्चैः स्वरस्य च विशेषेणाभणनम् २० गुरोर्व्याहरति यत्र तत्र स्थितेन शयितेन वा शिष्येण प्रतिवचनदानम्, आहूतेन बहिः सन्निहितीभूय मस्तकेन वन्दे इति वचना गुरुवचः श्रोतव्यम् २१ गुरुणा आहूतशिष्यस्य किमिति वचनम् २२ गुरु प्रति शिष्यस्य त्वंकारः, २३ गुरुणा ग्लानादिवैयावृत्त्यादि कुर्वित्यादिष्टस्त्वमेव किं न कुरुषे इति त्वमलस इत्युक्ते त्वमप्यलस इति च शिष्यस्य जातवचनम् २४ गुरु धर्मं कथयति—साधूक्तं भगवद्भिरिति अननुमोदमानस्यापहतमनस्त्वम् २५ न स्मरसि त्वमेनमर्थं नायमर्थः संभवतीति शिष्यस्य वचनम् २६ न एवमेतदिति अन्तराले शिष्यस्य वचनम् २७ इयं भिक्षावेला-भोजनवेला इत्यादिना शिष्येण पर्षद्भेदनम्, २८ आचार्येण धर्मकथा कृतायामनुत्थितायामेव पर्षदि स्वस्य पाटवादिज्ञापनाय शिष्येण सविशेषधर्मकथनम् २९ गुरौ धर्मकथां कथयिष्यामीति शिष्येण कथनं, वा गुरोः शय्यासंस्तारकादिकस्य पादेन घट्टनमननुज्ञाप्य हस्तेन स्पर्शनं घट्टयित्वा स्पृष्ट्वा वा अक्षामणम् ३० गुरोः शय्यासंस्तारकादौ स्थानं निषदनं शयनं वेति ३१ गुरोः पुरतः उच्चासने शिष्यस्योपवेशनम् ३२ समासने गुरोरुपवेशनम् ३३ एतास्तावद् गुरुविषया 'जेवा' इत्यादिकाः पुनश्चतुर्दश केवलस्यैव सूत्रस्य विषया अपि सामान्यतस्त्रयस्त्रिंशत् क्षमयति इत्यमुना प्रकारेणाचार्योपाध्यायसाधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपं चतुर्विधं सङ्घं मनोवाक्कायकृतकारितानुमतैर्भिः सर्वापराधपदानि क्षमयामि-मर्षयामि एष प्रत्यक्षवर्ती अद्यास्मिन्दिने निःशल्या-मायामिथ्यादर्शननिदानशल्य-

समन्वयः मध्यम नमम समासमणो इच्छामि अतिक्रमणा-

रहितः कृताऽऽलोचन इत्यर्थः। (अत. परम् 'अम्मापिउणो सरिस' त्ति (संथा०) पदव्याख्या 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५३६ पृष्ठे गता।)

धीरपुरिसपन्नत्तं, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
धन्ना सिलायलगया, साहिंती उत्तमं अट्ठं ॥ ६१ ॥

अथ गुरवः क्षपकमनुशासयन्ति, हे वत्स! धीरपुरुषप्रज्ञप्तं तीर्थकरगणधरादिदेशितं सत्पुरुषनिषेवितं पुण्डरीकादिमहापुरुषाचीर्णं परमघोरं क्लीवैर्दुरनुचरं धन्या एव शालिभद्रादिन्यायेन साधयन्ति निष्ठां प्रापयन्ति उत्तमार्थं विशिष्टाराधनम्।

तामेवानुशासनां चतुर्गतिकसांसारिकपरिभ्रमणं दर्शयति—

नारयगइ-तिरियगइ-माणुसदेवत्तणे वसंतेणं।
जं पत्तं सुहदुक्खं, तं अणुचिंते अणन्नमणो ॥ ६२ ॥

नरकगतिश्च तिर्यग्गतिश्च मानुषाश्च देवाश्च नरकगतितिर्यग्गतिमानुषदेवास्तेषां भावो नरकगतितिर्यग्गतिमानुषदेवत्व तस्मिन्नरकगतितिर्यग्गतिमानुषदेवत्वे वसता सता यत्प्राप्तसुख दु.खं च सुखदु.खं तत् अनुचिन्तय-स्मर 'अणन्नमणो' त्ति एकाग्रचित्त इत्यर्थ।

नरएसु वेयणाओ, अणोवमाओ असायबहुलाओ।
कायनिमित्तं पत्तो, अणंतखुत्तो बहुविहाओ ॥ ६३ ॥

नरकेषु वेदना. शीतोष्णदशक्षुत्पिपासादाहज्वरशोकभयकण्डुपारवश्यरूपा दशप्रकारा.। यत उक्तं च "अच्छिनिमीलणमित्तं, नऽत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं। नरए नेरइयाणं, दुक्खसयाइं अविस्साम ॥ १ ॥ अइसीयं अइउन्हं, अइतन्हा अइखुहा अइसय च। नरए नेरइयाणं, वेयणसयसंपगाढाणं ॥२॥' 'अणोवमाओ'त्ति अनुपमा-उपमातीता. अशातबहुला:-दु.खप्रचुरा. 'कायनिमित्तं पत्तो' त्ति वैक्रियादेः शरीरयोगात्प्राप्ता बहुविधाः तप्तत्रपुपानतप्तायोमयस्त्रीपुत्तलिकासमालिङ्गनकूटशाल्मलिशिखरारोपणचरणशिरःसमाकर्षणायो—घनघातनवज्रमयमुद्गरनिकरप्रहरणवज्रविनिर्मितनिशितवास्यादितक्षणक्षतक्षारोष्णतैलनिक्षेपणकुन्तादिप्रोतनभ्राष्ट्रभर्जनयन्त्रपीडनक्रकचपाटनवैक्रियानेककङ्कोलूकनकुलसर्पवृश्चिकश्वमार्जारव्याघ्रसिंहादिकदर्थनाकदम्बपुष्पाकारवज्रवालुकावतारणासिपत्रवनप्रवेशनवैतरणीनदीप्लावनपरस्परयोध—नादिका वेदनाः नानाप्रकाराः शरीरभावात्। अशरीरिणा सिद्धानां सर्वथाऽपि तासामभावादिति। अथ कियतीर्वेलास्ताः प्राप्ता इत्याह—' अणंतखुत्तो' त्ति—अनन्तकृ(त्वा)त्वः—अनन्तवेला इत्यर्थ.।

देवत्ते मणुयत्ते, पराभिओगत्तणं उवगएणं।
दुक्खपरिकिलेसकरिं, अणंतखुत्तो समणुभूओ ॥६४॥

न केवलं नरकत्वे एव वेदना. समनुभूता., किं तु देवत्वमानुषत्वेऽपि समनुभूताः। देवत्वे तावदीर्ष्याविषादपरपरिभवप्रेष्यताभियोगिकत्ववज्रताडनादिका, मनुजत्वे मण्टकुण्टटुण्टपङ्गुबधिरान्धदु.स्वरदुर्भगहीनदीनदारिद्र्योपद्रवरोग—शोकेष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगजन्मजरामरणादिका. पराभियोगकत्वमुपगतेन प्रादुर्भूताः,'दुक्खपरिकिलेसकरि' त्ति दुःखपरिक्लेशकरीर्वेदनाः 'समणुभूओ' त्ति समनुभवति स्म समनुभूतः 'अणंतखुत्तो' त्ति अनन्तकृत्वोऽनन्तेषु भवेष्वित्यर्थः।

तिरियगइं अणुपत्तो, भीममहावेयणा अणेयारे।
जम्मणमरणरहट्टे, अणंतखुत्तो परिब्भमिओ ॥६५॥

तिर्यग्गतिमनुप्राप्तः भीमाश्च-भयानकाः महतीः वेदना-महावेदनाः भीमाश्च ता महावेदनाश्च भीममहावेदना—वधवेधदहनाङ्कनिर्वृषणगलकर्त्तनकर्णच्छेदपुच्छच्छेदतृष्णाक्षुधा-भारवहनादिकाः 'अणेयारे' त्ति अनर्वाक् अलब्धपारे अपार पर्यन्ते जन्ममरणारघट्टे संसारेऽनन्तकृत्वः परिभ्रान्तः-पर्यटित इत्यर्थः।

सुविहिय! अईयकाले, अणंतकालं तु आगयगएणं।
जम्मणमरणमणंतं, अणंतखुत्तो समणुभूओ ॥६६॥

हे सुविहित! अस्मिन्संसारे चातुर्गतिकेऽतीते काले व्यतीच्छायाम् अनन्तकालं 'तु' त्ति अपिशब्दार्थे, ततोऽयमर्थो न केवलं सख्यातं कालं किं त्वनन्तकालपपि आगतगते काले कृत्वा गमनेन पुन. परिभ्रमणेनेत्यर्थः,'जम्मणमरणमणंतं'ति-प्राकृतत्वादेकवचनं जन्ममरणान्यनन्तानि। एकपरिपाट्याऽपि अनन्तानि भवन्तीत्याह—'अणंतखुत्तो' त्ति—अनन्तान्यपि। अनन्ता परिपाटी कथम्?, निगोदेष्वनन्तकालमुषित्वा ततस्त्रसत्वं प्राप्य पुनः तेष्वेवानन्तकालमुषित्वा एवमनयैव परिपाट्या अनन्तकृत्वोऽपि अनन्तानीत्थमनुभूत इत्यर्थ.।

नऽत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसरिसं न विज्जए दुक्खं।
जम्मणमरणायंकं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ ६७ ॥

नास्ति भयं मरणसमं—मृत्युतुल्यं, यत आह—'सव्वे जीवा पियाउया अप्पियवहा (सुयसाया) दुक्खपडिकूला। सव्वे जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं ति ॥ १ ॥ किं च—" तृणायाऽपि न मन्यन्ते, सुतदारार्थसंपदः। जीवितार्थे नरास्तेन, तेषामायुरतिप्रियम् ॥ १ ॥" तथा जन्मसदृशं दु खं न विद्यते। यत.—" सूईहिं अग्गिवन्नाहिं, संभिन्नस्स य जंतुणो। जावइयं गोयमा! दु.क्ख, गब्भे अट्ठगुण तओ ॥ १ ॥ गब्भाओ निस्सरतस्स, जोणीजंतनिपीलणे। सयसाहस्सियं दुक्ख, कोडाकोडीगुण पि वा ॥ २ ॥" जन्ममरणातङ्कं जन्ममरणे आतङ्कहेतुत्वात् ममत्वं छिन्धि-नाशय ममत्वं शरीरात्, शरीरे ममत्ववतानि भवन्ती—त्यर्थः।

अतश्च किं भावय—

अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवो त्ति निच्छयमई उ।
दुक्खपरिकिलेसकरिं, छिंद ममत्तं सारीराओ ॥६८॥

अन्यदेतच्छरीरम् अन्यश्च जीवः शरीराद् व्यतिरिक्त इति निश्चयमतिकः सन् दु खपरिक्लेशकारि 'ममत्तं' ति प्राकृतत्वान्ममत्व मूर्छा छिन्धि-नाशयेत्यर्थः।

यतः कारणात्—

जावंति केइ दुक्खा, सारीरा माणसा य संसारे।
पत्तो अणंतखुत्तो, कायस्स ममेतिदोसाणं ॥ ६९ ॥

यावन्तिकानि च दुःखानि शारीराणि मानसानि च संसारे वर्तन्ते तानि प्रज्ञप्तानि प्राकृतत्वाल्लिङ्गनिर्देशः सर्वत्र अनन्तकृत्वः कायस्य—देहस्य ममत्वभावेनेत्यर्थः।

तम्हा सरीरमाई, सब्भितरबाहिरं निरविसेसं।
छिंद ममत्तं सुविहियाँ, जइ इच्छसि उत्तमं अट्ठं ॥१००॥

तस्मात्-कारणात् शरीरादिना सहाभ्यन्तरबाह्येन वर्त्तते इति सबाह्याभ्यन्तरम्।तत्राभ्यन्तरं-कषायनिदानादि बाह्यमुपधिस्वजनपरिवारादिकं निरविशेषं—परिपूर्णं छिन्धि—विदारय ममत्वं-प्रतिबन्धं हे सुविहित ! उत्कृष्टाराधन ! यदि इच्छसि—वाञ्छसि मोक्षमिति तात्पर्यार्थः।

विशेषतः पुनः उत्तमार्थं सङ्घक्षामणामाह—

जगआहारो संघो, सव्वो मह खमउ निरविसेसं पि।
अहमवि खमामि सुद्धो, गुणसंघायस्स संघस्स ॥१०१॥

जगतो—लोकस्य दुर्गतौ पततः आधारः-आलम्बनं संघः, संघप्रसादतो दुर्गतिपातो न भवतीत्यर्थः, सर्वोऽपि साधुसाध्वीश्रावकश्राविकालक्षणः 'मह खमउ' त्ति मम क्षमय निरविशेषमप्यपराधजातम्। अहमपि क्षमामि—क्षमां करोमि गुणसंघातस्य—गुणसमुदायस्य सत्कमपराधजातमित्यर्थः।

पूर्वमपि संघक्षामणा सर्वजीवराशिक्षामणा च कृतेति पुनरपि किंचित्सनामग्राहमाह—

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे य।
जे मे कया कसाया,सव्वे तिविहेण खामेमि ॥१०२॥
सव्वस्स समणसंघ-स्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे।
सव्वं खमावइत्ता,खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥१०३॥
सव्वस्स जीवरासि-स्स भावओ धम्मो निहियनियचित्तो।
सव्वं खमावइत्ता, अहयं पि खमामि सव्वेसिं ॥१०४॥

गाथात्रयमपि प्रतिक्रमणाध्ययनप्रसिद्धत्वान्न विवृतम्।

इइ खामियाइयारो, अणुत्तरं तवसमाहिमारूढो।
पप्फोडंतो विहरइ, बहुभवबाहाकयं कम्मं ॥१०५॥

'इति' सर्वसंघसर्वजीवराशिक्षामितातिचारः सन् अनुत्तरा—प्रधाना तपःसमाधिः 'नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा'इत्यवरूपा चतुर्विधामपि तपसि परमसमाधिमारूढः उत्कृष्टाराधनाकरणे बद्धकक्षः प्रस्फोटयन्—विनाशयन् विहरति—वर्त्तते। किमित्यत आह—'बहुभवबाहाकय कम्मं' ति—बहवश्च ते भवाश्च बहुभवास्तेषां बाधा-निरन्तरपरिभ्रमणेन सकटं बहुभवबाधा बहुभवबाधया कृतं किं कर्म्म तत्प्रस्फोटयति-विनाशयति इत्यर्थः।

तदेव कर्म्मस्फोटनं विशेषेण विवृणोति—

जं बद्धमसंखेज्जा-हिं असुहभवसयसहस्सकोडीए।
एगसमएण वि हणइ, संथारं आरुहंतो य ॥१०६॥

यत्कर्म्म बद्धम् असंख्याताभिरशुभभवशतसहस्रकोटिभिः 'असुह' त्ति विभक्तिलोपाद्वा अशुभं पापप्रकृतिरूपं वा तत् कर्म्म एकसमयेनापि हन्ति संस्तारकमारुहन्नित्यर्थः।

इहभवविहारिणो सा, विग्घंकरीवेयणा समुट्ठेइ।
तीसे विज्झवणाए, अणुसट्ठिं दिंति निज्जवगा ॥१०७॥

इत्थम्—अमुना प्रकारेण तपोविहारिणः—अनशनरूपतपश्चारिणः सा पूर्ववर्णितचतुर्गतिकभवभाविनी विघ्नकरी धर्म्मध्यानविघातकवेदना समुत्तिष्ठति-प्रादुर्भवति। ततस्तस्या वेदनाया विध्मापनार्थम्-उपशमनार्थमनुशास्तिं 'दिंति' त्ति ददति निर्यामकाः—गीतार्थगुरव इत्यर्थः।

केनोल्लेखेन ते ददतीत्याह—

जइ ताव ते मुणिवरा, आरोवियवित्थरा अपरिकम्मा।
गिरिपब्भार विलग्गा, बहुसावयसंकडं भीमं ॥ १०८ ॥

यदि तावत्ते मुनिवृषभाः सुकोशलाद्यः 'आरोवियवित्थर' त्ति-आरोपितो-नियोजित आत्मनि आराधनाविस्तरो यैस्ते आरोपितविस्तराः 'अपरिकम्म' त्ति सर्वथा शरीरपरिकर्म्मणा वर्जितत्वादपरिकर्माणः 'गिरिपब्भार' त्ति प्राकृतत्वाद् द्वितीयैकवचनलोपात् गिरिप्राग्भारं पर्वतनितम्बं विलग्नाः कथंभूतमित्याह-बहूनि च तानि श्वापदशतानि च सिंहव्याघ्रादीनि तैः संकटं व्याप्तमत एव भीमं-भीषणाकारम्।

तत्र किं कुर्वन्तीत्याह—

धीधणियबद्धकच्छा, अणुत्तरविहारिणो समक्खाया।
सावयदाढगया वि हु, साहिंती उत्तमं अट्ठं ॥ १०९ ॥

यदि ते एकाकिनोऽपि असहाया अपि 'धीधणियबद्धकच्छ' त्ति धृत्या-चित्तस्वास्थ्येन धनितम्-अत्यर्थं बद्धा-कृता आराधनारूपा कक्षा-प्रतिज्ञा परिकरो वा यैस्ते धृतधनितबद्धकक्षाः, अत एव जिनशासने ते अनुत्तरविहारिणः समाख्याताः-कथिताः पूर्वमुनिभिरिति अध्याहारः। 'सावयदाढगया वि हु'त्ति श्वापददंष्ट्रोपगता अपि व्याघ्रादिश्वापददंष्ट्रया निष्ठुरपीडापरिगता अपि साधयन्ति-निष्पादयन्ति उत्तमार्थं न ध्यानात् भ्रस्यन्ते, वेदनाव्याप्ता अपि निर्यामकविवर्जिता अपीत्यर्थः।

किं पुण अणगारसहा-यगेहिं संगयमणेहि धीरेहिं।
न हु नित्थरिज्जइ इमो, संथारो उत्तिमट्ठम्मि ॥११०॥

हे क्षपक ! यदि तावत्तैरपि दुर्गोपसर्गप्राप्तैरप्यसहायैरप्ययं संस्तारको निस्तीर्णः किं पुनर्युष्मादृशैरनगारसहायकैर्निर्यामकगुरुयुक्तैः धीरैर्बुद्धिमद्भिः संगतमनोभिर्विशेषोपसर्गसंसर्गरहितत्वेन सिद्धान्तं श्रुत्वा, निर्यामक गुरुमुखनिःसृततया संगतं युक्तमार्त्तरौद्रध्यानरहितं मनो येषां ते संगतमनसस्तैः संगतमनोभिः-निश्चलचित्तैः, न हु-नैव 'नित्थरिज्जइ इमो' त्ति निस्तीर्यते-पर्यन्ते प्राप्यते 'इमो' अयं संस्तारकः काका अक्षरयोजना, किं न निस्तीर्यते अपि तु निस्तीर्यत एव उत्तमार्थे-उत्तमार्थविषये इति।

उच्छूढसरीरघरा, अन्नो जीवो सरीरमन्नं ति।
धम्मस्स कारणे सुवि-हिया सरीरं पि छड्डंति ॥१११॥

उच्छड्डितं त्यक्तं शरीरगृहं यैस्ते उच्छड्डितशरीरगृहा-परित्यक्तदेहभवना, केनोल्लेखेनैवंविधा इत्याह-' अन्नो जीवो सरीरमन्नंति ' त्ति-अन्य शुभाशुभफलभोक्ता जीवस्तद्व्यतिरिक्तं शरीरमन्यदिति चिन्तय, मा शरीरप्रतिबन्धं कुरु भाटकगृहकल्पत्वाच्छरीरस्य। यतो धर्मस्य कारणे-धर्मनिमित्तं सुविहिताः शरीरमप्यास्तां पुत्रकलत्रादि 'छड्डिति' त्ति त्यजन्तीत्यर्थः।

अथ गुरुरेव क्षपकस्य संस्तारगुणमाह—

पोराण य पच्चन्ना, यात्रो अहियासिऊण वियणाओ।
कम्मकलंकलवल्ली, विहुणइ संथारमारूढो ॥ ११२ ॥

पुरातना-रोगज्वरादिवेदनाः—प्रत्युत्पन्ना-वर्त्तमानाः क्षुत्पिपासादिकाः देवमनुजतिर्यक्कृतोपसर्गरूपा वा अधिरुह्य सम्यक् सोढा 'कम्मकलंकलवल्ली' ति कर्म्मैव कल-कश्मलमशुभवस्तु तस्य वल्लीव वल्ली—तत्सतानः कर्म्मकलङ्कलवल्लीः श्रेणीः कर्म्मतापन्ना ' विहणइ ' त्ति संस्तारकमारूढ क्षपको योधः अन्योऽपि य एवंविधो हस्त्यारूढो भवति सोऽपि वल्लीरङ्कुशेन त्रोटयति।

विशेषेण वेदनासहनस्य गुणमाह—

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ ११३ ॥

प्रकटार्थैव।

एतदेव पुनर्व्यक्तीकरोति—

अट्ठविहकम्ममूलं, बहुएहिँ भवेहिँ अज्जियं पावं।
तन्नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥११४॥

अष्टप्रकारकर्म्ममूलमष्टकर्म्महेतुकं बहुभिर्भवैरर्जितं—संचितं पापं ज्ञानी—ज्ञानवान् त्रिभिर्मनोवाक्कायगुप्तः क्षिपति-प्रेरयति उच्छ्वासमात्रेणापि कालेन।

अथ संस्तारकरणस्य फलमाह—

एवँ मरिऊण धीरा, संथारम्मि उ गुरुप्पसत्थम्मि।
तइयभवेण व तेण व, सिज्झित्ता खीणकम्मरया ॥११५॥

एवम्-अमुना प्रकारेण मृत्वा-प्राणत्यागं कृत्वा धीरा -सुभटा 'संथारम्मि उ' त्ति संस्तारके गुरौ-महति 'पसत्थम्मि' त्ति गुणैः सर्वोत्तमैः प्रशस्ते, तृतीयभवेन सामान्याराधनायां तेनैव भवेनोत्कृष्टाराधनायां कृतायां ' सिज्झिज्ज ' त्ति सिद्धार्थाः—निष्ठितार्था भवेयुः क्षीणकर्म्मरजसः—क्षीणकर्मकचवरा इत्यर्थः। (संथा०) (संघस्य मुकुटोपमया वर्णनं ' संघ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७८ पृष्ठे गतम्।) अथ संस्तारकग्रन्थमुपसंजिहीर्षुर्ग्रन्थकारश्चित्रमहर्षिदृष्टान्तमुपदर्शयन् गाथात्रयमाह—यथा चित्रेण भगवता प्रागुक्तपूर्वभवभ्रात्रा प्रधानाराधना विहिता तथैव विधेयेति। कथंभूतेन तेन विहितेत्याह-' उब्भंतेण य ' त्ति दृश्यमानेनैव हस्तामलेन कर्मणि-धर्म्मार्त्तो ' कालसिलाए ' त्ति कालशिलायां नरनाथे पादपोपगमनशिलायाम्। कथंभूतायां ' कविलभूयाए ' त्ति कपिलभूतायां, कपिलकं-मरुदेशापर्यायेणोपगता शिलायामित्याह- सूरेण य ' त्ति सूर्येण वा भास्करेण कथंभूतेन ' किरणसहस्सपयंडेण ' त्ति दीप्तेन प्राह्णप्रहर, किरणसहस्रप्रचण्डेन, तथा ग्रीष्मे उपलक्षणत्वाच्छिशिरर्तौ—महाहिमपाते चन्द्रेणेवातिशीतलेश्याया दाहकत्वेन तेनापि तप्तायामिति शीतयुक्तायामित्यर्थः। अथवा ' सूरेण व चंदेण व ' त्ति विशेषण साधारेव। कथंभूतेन चित्रेण? सूर्येणेव किरणसहस्रप्रचण्डेन-तपस्तेजसा विराजमानेन, चन्द्रेणेव सौम्यचन्द्रिकाभ्यधिकेन मनोवाक्कायसौम्यतासुभगेन कोपादिपरिहारतोऽतिशीतलेश्येनेत्यर्थः।

लोगविजयं करेंतेण, झाणोवओगचित्तेणं।
परिसुद्धनाणदंसण-विभूइमंतेण चित्तेणं ॥११९॥

लोकः—कषायलोकस्तस्य विजयो लोकविजयस्तं कुर्वता कषायान् जितवता तेन महात्मना ' झाणोवओगचित्तेण ' त्ति ध्यानोपयोगे-विशिष्टध्यानाभ्यासे चित्तं यस्य स ध्यानोपयोगचित्तस्तेन, पुनः किं विशिष्टेन?-'परिसुद्धनाणदंसणविभूइमंतेण' त्ति परिशुद्धज्ञानदर्शनविभूतिमता केवलज्ञानकेवलदर्शनयुक्तेनेत्यर्थः। ' चित्तेणं ' ति चित्रेण विधानसाधुना।

किं तेन कृतमित्याह-

चंदगविज्झं लद्धं, केवलसरिसं समाउपरिहीणं।
उत्तमलेसाणुगओ, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥१२०॥

तेन महात्मना चन्द्रकवेध्य—राधावेध लब्धं—प्राप्तम्, कथंभूतमित्याह—'केवलिसरिसं' ति केवलज्ञाननिमित्तम्। यथा कोऽपि राधावेधं कृत्वा सर्वोत्कर्षजयी भवति, एवं कोऽपि केवलज्ञानलाभाद्राधावेधकल्पोपमे ' समाउपरिहीण ' त्ति-केवलज्ञानेन समं-सह आयुः-परिक्षीणं परिसमाप्तं केवलज्ञानेन सह मोक्षं गत इत्यर्थः, 'उत्तमलेसाणुगओ' त्ति उत्तमलेश्यानुगतः—शुक्ललेश्यासमन्वितः प्रतिपन्न उत्तमार्थं मोक्षमिति।

अथ शास्त्रकारः संस्तारकं प्रतिपृच्छन् प्रार्थयन्नाह-

एवं मए अभिथुया, संथारगइंदखंधमारूढा।
सुसमणनरिंदचंदा, सुहसंकमणं ममं दिंतु ॥१२१॥

एवम्-अमुना प्रकारेण मया अभिष्टुता-विशिष्टगुणोत्कीर्त्तनेन व्यावर्णिता महर्षयः। कथंभूताः? संस्तारकगजेन्द्रस्कन्धमारूढाः -संस्तारकद्विपेन्द्राधिरोहिणः। किं ते इत्याह-'सुसमणनरिंद' त्ति सुश्रमणा एव नरेन्द्राः सामान्यराजास्तेषामपि चन्द्रा इव चन्द्राः बलदेववासुदेवचक्रवर्त्तिनस्ते सुश्रमणनरेन्द्रचन्द्राः ' सुहसंकमणं ' ति सुखस्य—मुक्तिरूपस्य वा विशिष्टपुण्यप्रकृतिरूपस्य सङ्क्रमणं—सङ्क्रान्तिं संसारदुःखादशुभाद्वा निस्तारणेन मम दिन्तु ददतु नरेन्द्रचन्द्रा अपि रणशिरसि गजेन्द्रस्कन्धाधिरूढा लब्धजयपताकास्तल्लोकमागधजनानां विपुलं जीवितार्हं प्रीतिदानं ददति, इति संस्तवमा कुर्वन्ति भद्रं भवतु। संथा०। अर्हत्तीर्थसंस्तारप्रमाणे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०। ग०। ध०। कम्बलास्तरणे, विशे०। दर्भसंस्तारकादौ, आतु०। उत्त०। फलकादिसंस्तारादौ, उत्त० १७ अ०। आचा०। लघुतरे शयने, ओ०। रा०। प० ना०। ज्ञा०। प० व०। स्था०।

मासादपरिकर्मितः संस्तारकः तत्र सूत्रम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा संथारगं ए-

सित्तए से जं पुण संथारयं जाणेज्जा सअंडं ०जाव स-संताणगं तहप्पगारं संथारगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा १, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण संथारयं जाणेज्जा अप्पंडं ०जाव संताणगरुयं तहप्पगारं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा २, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अप्पंडं ०जाव अप्पसंताणगं लहुयं अपाडिहारियं तहप्पगारं सेज्जा संथारयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ३, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं ०जाव अप्पसंताणगं लहुयं पाडिहारियं नो अहावद्धं तहप्पगारे लाभे संते नो पडिगाहेज्जा ४, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण संथारगं जाणिज्जा अप्पंडं ०जाव संताणगं लहुयं पाडिहारियं अहावद्धं तहप्पगारं संथारगं लाभे संते पडिगाहेज्जा । (सू० ६६)

स भिक्षुर्यदि फलहकादिसंस्तारकमेषितुमभिकाङ्क्षयेत्, तद्यैवंभूतं जानीयात्, तद्यथा—प्रथमसूत्रे साण्डादित्वात्संयमविराधनादोषः १, द्वितीयसूत्रे गुरुत्वादुत्क्षेपणादावात्मविराधनादिदोषः २, तृतीयसूत्रेऽप्रतिहारकत्वात्तत्परित्यागादिदोषः ३, चतुर्थसूत्रे त्ववद्धत्वात्तद्बन्धनादिपलिमन्थदोषः ४ पञ्चमसूत्रे त्वल्पाण्डं यावदल्पसन्तानकलघुप्रातिहारिकावबद्धत्वात्सर्वदोषविप्रमुक्तत्वात्संस्तारको ग्राह्य इति सूत्रपञ्चकसमुदायार्थः ५।

साम्प्रतं संस्तारकमुद्दिश्याभिग्रहविशेषानाह—

इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम-अह भिक्खू जाणिज्जा इमाइं चउहिं पडिमाहिं संथारगं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय उ० २ संथारगं जाइज्जा, तं जहा-इक्कडं वा कढिणं वा जंतुयं वा परगं वा मोरगं वा तणगं वा सोरगं वा कुसं वा कुच्चगं वा पिप्पलगं वा पलालग वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसो ! त्ति वा भगिणि० दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं संथारयं ? तहप्पगारं संथारगं सयं वा णं जाइज्जा परो वा देज्जा फासुयं एसणिज्जं ०जाव पडिगाहेज्जा पढमा पडिमा । (सू० १००) अहावरा दुच्चा, पडिमा-से भिक्खू वा भि० पेहाए संथारगं जाइज्जा, त जहा-गाहावई वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसो ! त्ति वा भइ० ! दाहिसि मे ?, ०जाव पडिगाहिज्जा, दुच्चा पडिमा ॥ २ ॥ अहावरा तच्चा पडिमा-से भिक्खू वा भि० जस्सुवस्सए संवसिज्जा जे तत्थ अहासमन्नागए, त जहा-इक्कडे इ वा ०जाव पलाले इ वा तस्स लाभे संवसिज्जा तस्सालाभे उक्कुडुए वा नेसज्जिए वा विहरिज्जा तच्चा पडिमा॥३॥ (सू०१०१) अहावरा चउत्था पडिमा से भिक्खू वा०अहासंथडमेव संथारगं जाइज्जा, तं जहा-पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संते संवसिज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा विहरिज्जा, चउत्था पडिमा ॥ ४ ॥ (सू० १०२) इच्चेयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे तं चेव० जाव अन्नोऽन्नसमाहीए एवं च णं विहरंति । (सू० १०३)

इत्येतानि-पूर्वोक्तानि आयतनादीनि दोषरहितस्थानानि वसतिगतानि संस्तारकगतानि च उपातिक्रम्य-परिहृत्य वक्ष्यमाणांश्च दोषान् परिहृत्य संस्तारको ग्राह्य इति दर्शयति—अथ-आनन्तर्ये स भावभिक्षुर्जानीयात् आभिः-करणभूताभिश्चतसृभिः प्रतिमाभिः अभिग्रहविशेषभूताभिः संस्तारकमन्वेष्टुम् । ताश्चेमाः-उद्दिष्ट १ प्रेक्ष्य २ तस्यैव३ यथासंस्तृत-४ रूपाः, तत्रोद्दिष्टं फलहकादीनामन्यतमद्ग्रहीष्यामि १, यच्चैव प्रागुद्दिष्टं तदेव द्रक्ष्यामि ततो ग्रहीष्यामि नान्यदिति द्वितीया प्रतिमा २, तदपि यदि तस्यैव शय्यातरस्य गृहे भवति ततो ग्रहीष्यामि नान्यत आनीय तत्र शयिष्ये—इति तृतीया ३, तदपि फलहकादिकं यदि यथा संस्तृतमेवास्ते ततो ग्रहीष्यामि नान्यथेति चतुर्थी प्रतिमा ४ आसु च प्रतिमास्वाद्ययोः प्रतिमयोर्गच्छनिर्गतानामग्रह, उत्तरयोरन्यतरस्यामभिग्रहः, गच्छान्तर्गतानां तु चतसृष्वपि कल्पन्त इति । एताश्च यथाक्रमं सूत्रैर्दर्शयति—तत्र खल्विमा प्रथमा प्रतिमा, तद्यथा—उद्दिश्योद्दिश्येक्कडादीनामन्यतमद्ग्रहीष्यामीत्येव यस्याभिग्रहः सोऽपरलाभेऽपि न प्रति गृह्णीयादिति । शेषं कण्ठ्यं नवरं कठिन-वंशकटादि जन्तुक—तृणविशेषोत्पन्न परक—येन तृणविशेषेण पुष्पाणि ग्रथ्यन्ते 'मोरग' त्ति मयूरपिच्छनिष्पन्न 'कुच्चग' त्ति येन कूर्चकाः क्रियन्ते, एते चैवंभूता संस्तारका अनूपदेशे सार्द्रादिभूम्यान्तरणार्थमनुज्ञाता इति । अत्रापि पूर्ववत्सर्वं भणनीयम्, यदि परं 'तमिक्कडादिकं' संस्तारकं दृष्ट्वा याचत नादृष्टमिति । एवं तृतीयाऽपि नेया, इयांस्तु विशेषः गच्छान्तर्गतो निर्गतो वा यदि वसतिदातैव संस्तारकं प्रयच्छति ततो गृह्णाति, तदभावे उत्कुटुको वा निषण्णो वा पद्मासनादिना सर्वरात्रमास्त इति एतदपि सुगमम्, केवलमस्यामयं विशेषः—यदि शिलादिसंस्तारकं यथासंस्तृतं शयनयोग्यं लभते तत शेते नान्यथेति । किञ्च- इच्चेया' इत्यादि । आसां चतसृणां प्रतिमानामन्यतरां प्रतिपद्यमानो ऽन्यमपरप्रतिमाप्रतिपन्नं साधु न हीलयेद्, यस्मात्ते सर्वेऽपि जिनाज्ञामाश्रित्य समाधिना वर्त्तन्त इति । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० । व्य० ।

ऋतुवद्धिकं शय्यासंस्तारकं पर्युषणायाः परं नयति ।

ऋतुवद्धे संस्तारकमाह—

से य अहालहुस्सगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं हत्थेणं उगिज्झ ०जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए एस मे हेमंतगिम्हासु भविस्सइ ॥ २ ॥ से अहालहुस्सगं सेज्जासंथारयं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं हत्थेणं उगिज्झ ० जाव

एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए एस मे वासावासेसु भविस्सइ ॥ ३ ॥ से अहालहुस्सगं सेज्जासंथारयं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं उगिज्झ ०जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा चउयाहं वा पंचाहं वा दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए एस मे वुड्ढावासासु भविस्सति ॥ ४ ॥

सोऽधिकृतो भिक्षुर्यथालघुस्वकम्—अनेकान्तलघुकं वीणाग्रहणग्राह्य शय्या—सर्वाङ्गिका संस्तारकोऽर्द्धतृतीयहस्तदीर्घः, हस्तश्चत्वार्यङ्गुलानि विस्तीर्णः । अथवा—तत्पुरुषः समासः—शय्या एव संस्तारकः शय्यासंस्तारकः तृणमयं पट्टमयं वा गवेषयेत् । तत्र यत् शक्नुयात् एकेन हस्तेनावगृह्य यावदेकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वा अध्वानं गच्छन् परिवोढुं तत् गृह्णीयात् एष मे वर्षावासे भविष्यति । एष वर्षासूत्रस्यार्थः ॥ ३ ॥ एवं हेमन्तग्रीष्मसूत्रार्थौ वृद्धावाससूत्रार्थश्च भावनीयः । नवरं वृद्धावाससूत्रे चतुरहं वा पञ्चाहं वेत्यधिकं वक्तव्यम् ।

अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

सो पुण उउम्मि घेप्पइ, संथारो वासे वुड्ढवासे वा ।
ठाणं फलगादिं वा, उउम्मि वासासु य दुवेऽवि ॥ ७ ॥

स पुनः संस्तारकः स्थान-स्थानरूपम् ऋतुबद्धे—वर्षाकाले वृद्धावासे च यथानुरूपे गृह्यते । तद्यथा-ऋतुबद्धे काले अवकाशे गृह्यते वर्षावासे वृद्धावासे च निवातस्थानेऽपि । तथा ऋतुबद्धे काले ऊर्णादिमयं संस्तारकं परिगृह्य पुरुषविशेषं ग्लानादिकमपेक्ष्य फलकादि वा वर्षावासे द्विकावपि-द्वावपि संस्तारकौ वक्ष्यमाणलक्षणौ गृह्णीयात् ।

उउबद्धे दुविहगहणे, लहुगो लहुगा य दोस आणादी ।
झामियहियवक्खेवे, संघट्टणमादिपलिमंथो ॥ ८ ॥

द्विविधः संस्तारकः—परिशाटिरूपः, अपरिशाटिरूपश्च । तत्र परिशाटिरूपो द्विविधः-झुषिरः, अझुषिरश्च । तत्र शाल्यादि पलालतृणमयो झुषिरः, कुशकाशादिरूपः अझुषिरः । अपरिशाटिरूपो द्विविधः-एकाङ्गिकः, अनेकाङ्गिकश्च । एकाङ्गिकोऽपि द्विविधः—संघातितः, असंघातितश्च । तत्र संघातितः एकफलात्मकः, असंघातितो-द्व्यादिफलसंघातात्मकः । अनेकाङ्गिकः कथिकाप्रस्तारात्मकः । तत्र यदि ऋतुबद्धे अझुषिरं परिशाटिसंस्तारकं गृह्णाति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः, झुषिरं गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः, अपरिशाटिमपि गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः, न केवलं प्रायश्चित्तं किं त्वाज्ञादयश्च दोषाः । तथा यद्यग्निना स ध्याम्यते तदापि प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, व्याक्षेपेण वा स्तेनैरपहृते चतुर्लघुकम्, अपरिशाटौ ध्यामिते हृते वा मासलघुः, ततोऽन्यं संस्तारकं मृगयमाणानां सूत्रार्थपलिमन्थः । तथा तस्मिन्संस्तारके ये प्राणजातयः आगन्तुकास्तदुद्भूता वा तान् संघट्टयति, अपद्रावयति च ततस्तन्निष्पन्नं तस्य प्रायश्चित्तमित्येष गाथार्थः ।

सांप्रतमेनामेव भाष्यकृत् विवृणोति—

परिसाडि अपरिसाडी, दुविहो संथारओ समासेणं ।
परिसाडी झुसिरेयर, एत्तो वुच्छं अपरिसाडी ॥ ९ ॥

द्विविधः समासेन संक्षेपेण संस्तारकस्तद्यथा-परिशाटिः, अपरिशाटिश्च । तत्र परिशाटिर्द्विधा—झुषिरः, इतरश्च । इतरो नाम—अझुषिरः । अत ऊर्ध्वमपरिशाटिं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव करोति—

एगंगि अणेगंगी, संघातिम एतरो य एगंगी ।
अझुसिरगहणे लहुगो, चउरो लहुगा य सेसेसु ॥ १० ॥

अपरिशाटिर्द्विधा एकाङ्गिकः, अनेकाङ्गिकश्च । तत्रैकाङ्गिको द्विधा—संघातिमः, इतरश्च । अमीषां व्याख्यानं प्रागेव कृतम् । तत्राझुषिरस्य संस्तारस्य ग्रहणे प्रायश्चित्तं लघुको मासः । शेषेषु झुषिरसंघाते इतरैकाङ्गिकानैकाङ्गिकेषु प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः ।

लघुका य झामियम्मि य,हरिए वि य होंति अपरिसाडिम्मि।
परिसाडिम्मि य लहुगो, आणादिविराहणा चेव ॥ ११ ॥

अग्निना ध्यामिते अपरिशाटौ स्तेनैर्वा तस्मिन्नपहृते प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुका भवन्ति । परिशाटौ ध्यामिते हृते वा प्रत्येकं लघुको मासः, आज्ञादयश्च दोषाः । तथा विराधना च संयमस्य ।

तामेवाभिधित्सुराह—

विक्खेवो सुत्तादिसु, आगंतुतदुब्भवेण घट्टादी ।
पलिमंथो पुव्वुत्तो, मंथिज्जति संजमो जेणं ॥ १२ ॥

अन्यसंस्तारकमार्गणे सूत्रादिषु-सूत्रेष्वर्थेषु च विक्षेपो-व्याघातः, परिमन्थ इत्यर्थः । तथा ये तत्रागन्तुकाः प्राणाः कीटिकादयो ये च तदुद्भवा मत्कुणादयस्तेषां यत् घट्टनादि तन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तम् । इदानीं परिमन्थो व्याख्येयः । स च पूर्वमेव 'विक्खेवो सुत्तादिसु' इत्यादिना ग्रन्थेनोक्तः । अथ कस्मात् व्याक्षेपो घट्टनादि वा परिमन्थ इत्युच्यते । तत आह—एतेन कारणेन येन संयम उपलक्षणमेतत् सूत्रमर्थश्च मथ्यते तेन परिमन्थ इति ।

तम्हा उ न घेत्तव्वो, उउम्मि दुविहो वि एस संथारो ।
एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवाओ उ कारणितो ॥ १३ ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात् ऋतौ—ऋतुबद्धे काले द्विविधोऽप्येष परिशाट्यपरिशाटिरूपः संस्तारो न ग्रहीतव्यः । अत्र पर आह-एवं सति सूत्रमफलं सूत्रे तृणमयशय्यासंस्तारकस्यानुज्ञानाद् । आचार्य आह—सूत्रनिपातः कारणिकः-कारणवशात्प्रवृत्तः ।

तदेव कारणमुपदर्शयति—

सुत्तनिवातो तणेसुं, देसे गिलाणे य उत्तमट्ठे य ।
चिक्खल्लपाणहरिए, फलगाणि वि कारणे जाते ॥ १४ ॥

सूत्रस्य निपातो निपतनमवकाश इति भावः । देशे—देशविशेषे तथा ग्लाने उत्तमार्थे च तथा चिक्खल्ले—कर्दमे प्राणजाते—भूमौ संसक्ते तथा हरितकाये एवंरूपे कारणे जाते सति फलकान्यपि गृह्यन्ते । फलकरूपोऽप्यपरिशाटिः संस्तारको गृह्यत इति गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीपुः प्रथमतस्तृणेषु 'दोसो' इत्यस्य व्याख्यामाह—

असिवादिकारणगता, उवही कुच्छण अजीरगभया वा ।
अभुसिरमसंधिऽवीए, एक्कमुहे भंगसोलसगं ॥ १५ ॥

अशिवादिभिः कारणैस्तत्र प्रदेशे गता ये वर्षारात्रे पानीयेन प्लाव्यन्ते यथा सिन्धुविषय । अथवा—तत्र देशे स्वभावतः यतः प्रखरा भूमिस्ततो रात्रौ शीतलवातसंपर्कतोऽवश्यायः पतनतो वा जलप्लाविने च सा भूमिरुपजायते । अथवा—आसन्नीभूतेन पानीयेन तमवकाशमप्राप्नुवताऽपि भूमिः स्विद्यति । तत्रोपधे. कोथनं मा भूत् वा मा-अजीर्णेन ग्लास्यामित्युपधिकोथनभयादजीर्णकभयाद्वा तृणानि गृह्णन्ति साधवस्तानि च अभुपिराणि असधीनि अवीजानि च । एतान्येकमुखानि क्रियन्ते । यत्र च अभुषिरे असंधौ अवीजे एकमुखरूपेषु चतुर्षु पदेषु भङ्गपोडशकम्—पोडशभङ्गा ।

IIII	ISII	SIII	SSII
IIIS	ISIS	SIIS	SSIS
IISI	ISSI	SISI	SSSI
IISS	ISSS	SISS	SSSS

तत्राऽभुपिरादिव्याख्यानार्थमाह—

कुसमादि अभुसिराई, असंधऽवीयाइ एकउ मुहाइं ।
देसीपोरपमाणा, पडिलेहा तिन्नि वेहासं ॥ १६ ॥

कुशादीनि—कुश-वच्चकप्रभृतीनि तृणानि अभुपिराणि-असधीनि अवीजानि—वीजातीतानि भवन्ति तानि एकमुखानि कर्तव्यानि । तत्र भङ्गपोडशकमध्ये यत्र भङ्गे भुपिराणि तत्र प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, वीजेपु प्रत्येकेषु पञ्चरात्रिन्दिवानि लघुकानि, अनन्तकायिकेषु गुरुकाणि, शेषेषु भङ्गेषु मासलघु, प्रथमे भङ्गे गृह्णन्तः शुद्धा । 'देसीपोरे' त्यादि देशीत्यङ्गुष्ठोऽभिधीयते, तस्य यत्पर्व तत्प्रमाणानि जिनकल्पिकाना स्थविरकल्पिकानां च तृणानि भवन्ति । इयमत्र भावना-अङ्गुष्ठस्य यत्पर्व तत्राङ्गुल्यग्राणि स्थापयित्वा यावद्भिस्तृणैर्मुष्टिरापूर्यते तावन्ति मुष्टिप्रमाणानि जिनकल्पिकाना स्थविरकल्पिकानां च तृणानि भवन्ति, तेषां च तृणानां प्रत्युपेक्षास्तिस्रः । तद्यथा-प्रभाते, मध्याह्ने, अपराह्णे च । यदा च भिक्षादौ गच्छन्ति तदा विहायसि कुर्वन्ति ।

साम्प्रतमेतदेव किंचिद् व्याचिख्यासुराह—

अंगुट्ठपोरमेत्ता, जिणाण थेराण होंति संमासो ।
भूमीएँ विरल्लेउं, अवणे तु पमज्जए भूमिं ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठपर्वमात्राणि-अङ्गुष्ठपर्वपरिमितमुष्टिप्रमाणानि जिनानां—जिनकल्पिकाना स्थविराणां स्थविरकल्पिकानां भवन्ति, तैश्च तृणै. संस्तारक आस्तीर्यमाणस्तावद्भिर्भवति यावत्मण्डास , (संदेशक) तानि च भूमौ विरल्य-शयनार्थं विरलीकृत्य भूमिं प्रमार्जयति ।

सम्प्रति 'गेलन्ने उत्तिमट्ठ य' इति व्याख्यानार्थमाह—

गेलन्ने उत्तिमट्ठे, उस्सग्गे तु वत्थमंथारो ।
असतीएँ अभुसिराइं, खरा मतीए उ झुसिरा वि ॥ १८ ॥

यो नाम ग्लाना यो वा प्रतिपन्नोत्तमार्थः—कृतानशनप्रत्याख्यान तस्मिन् द्वयेऽपि सस्तार उत्सर्गतो वस्त्ररूप. क्रियते तस्य कोमलतया समाधिभावात् ।असति-अविद्यमाने वस्त्ररूपे संस्तारके अभुपिराणि कुशवच्चकप्रभृतीनि मृग्यन्ते । अथ तानि खराणि, यदि वा-न सन्ति तदा भुपिराण्यपि शाल्यादिपलालमयान्यानेतव्यानि ।

तद्दिवसं मलियाइं, अपरिमिय सयं तुयट्टजयणाए ।
उभयट्ठ उट्ठिए उ, चंकमणविज्ञकज्जे वा ॥ १९ ॥

तद्दिवसं-प्रतिदिवस मलितानि-तृणान्युत्सार्यन्ते अन्यानि च समानीयन्ते,तानि वा परिमितानि गृह्यन्ते,यथा समाधिर्भवति तथा सकृत्-एकवारं तुयट्टानि-प्रस्तारितानि तिष्ठन्ति तत्र यतनया करणम्।उभयं नाम-उच्चारः प्रस्रवण च तदर्थमुत्थिते ग्लाने उत्तमार्थे वा अन्यो निषीदति । किं कारणमिति चेत्प्राणिदयार्थम् , अन्यथा शुषिरभावतस्तत्रागन्तुकाः प्राणास्तृणान्युपलीयेरन् स तावन्निषीदति यावत्स तत्र प्रत्यागच्छति । एव चङ्कमणार्थमभ्युत्थिते, प्रवातार्थं वा वहिर्निर्गते, वैद्यकार्ये वा वहिर्नीते यावत्स प्रत्यानीयते तावदन्यो निषीदति, तस्मिन्नागते स उत्तिष्ठति । अथवा-स गुरूणामपि पूज्य इति तस्मिन् पूर्वोक्तकारणैरुत्थिते तत्रान्यस्य निषदनं न कल्पते ततस्तेषां तृणानामुपरि हस्तः कर्त्तव्यः ।

एतदेवाह—

अन्नो निसिज्जइ तहिं, पाणियदट्ठाएँ तत्थ हत्थो वा ।
निक्कारणमगिलाणे, दोसा ते चेव य विकप्पा ॥ २० ॥

अन्यस्तत्र सस्तारके प्राणिदयार्थं निषीदति, हस्तो वा तत्र क्रियते।अत्र भावना प्रागेव कृता । एतैः कारणैर्यथोक्तरूप संस्तारक ऋतुवद्धे काले । निष्कारणम् देशादिकारणमन्तरेण अग्लाने अग्लानस्य तृणमयसंस्तारकग्रहणे त एव पूर्वोक्ता दोषाः । विकल्पो, विकल्पदोषश्च । विकल्पग्रहणेन विकल्पप्रकल्पावपि सूचितौ ।

तेषां व्याख्यानमाह—

अत्थरणवज्जितो उ, कप्पो पकप्पो उ होति पट्टदुगं ।
तिप्पभिई तु विकप्पो, अकारणे चेव तणभोगो ॥ २१ ॥

आस्तरणवर्जित.—कल्पः । किमुक्तं भवति—यद् जिनकल्पिका अनवस्तृते रात्रावुत्कुटुकास्तिष्ठन्ति एष कल्प इत्यभिधीयते । तत्पुनः पट्टद्विकं भवति, संस्तारोत्तरपट्टयोरुपरि यत्सुप्यते इत्यर्थ. , एष भवति प्रकल्पः । यानि पुनस्त्रिप्रभृतीनि संस्तारके प्रस्तारयति एष विकल्पः । यच्च अकारणे कारणमन्तरेण तृणानां भोग. क्रियते एषोऽपि विकल्प. ।

अथवा अन्यथा कल्प-प्रकल्पव्याख्यानमाह—

अहवा अभुसिरगहणे,कप्पो पकप्पो उ कज्जे झुसिरे वि ।
झुसिरे य अभुसिरे वा,होइ विकप्पो अकज्जम्मि ॥ २२ ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने यत्कारणे समापतिते अभुपिराणि तृणानि गृह्णाति एष कल्पः यत्पुनः कार्ये समापतिते भुपिराण्यपि तृणानि गृह्णाति एष प्रकल्पः । यत्पुनः अकार्ये भुपिराणि अभुपिराणि वा गृह्णाति एष भवति विकल्पः । एवं तावत्तृणानामृतुवद्धे काले कारणे गृहीतानां यतनोक्ता ।

सम्प्रति कारणैरेव ऋतुबद्धे काले फलकरूपस्य संस्तारकस्य ग्रहणे, यतनां चाऽऽह—

जह कारणे तणाइं, उउबद्धम्मि उ हवंति गहियाइं।
तह फलगाणि वि गेण्हे,चिक्खल्लादीहिँ कज्जेहिं ॥२३॥

यथा कारणे-देशादिलक्षणे ऋतुबद्धे काले तृणानि गृहीतानि भवन्ति, तथा ऋतुबद्धे एव काले चिक्खल्लादिभिः कार्यैरादिशब्दात्प्राणसंसक्तिहरितकायपरिग्रहः फलकान्यपि गृह्णाति।

तत्र यतनामाह—

अझुसिरमविद्धमफुडिय, अगरुयअणिसट्ठवीणगहणेणं।
आयासंजमेँ गुरुगा, सेसाणं संजमे दोसा ॥ २४ ॥

अझुसिरो झुसिररहितोऽविद्धो-वेधरहितोऽस्फुटितोऽराजितोऽगुरुको-गुरुभाररहितोऽनिसृष्टः—प्रातिहारिकः एतेषा च पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गा। ते च प्रागिव प्रस्तारतः स्वयं ज्ञातव्याः। अत्र यः प्रथमभङ्गः सोऽनुज्ञातस्तत्र दोषाभावात्, अथ लघुकः शेषदोषविनिर्मुक्तश्च। ततो यथा वीणालघुकत्वात् दक्षिणहस्तेन मुखं—विवक्षितं स्थानं नीयते एवमेषोऽपि। तथा चाह—वीणाग्रहणेन यत्नतः तत्र वा नीयते इति वाक्यशेषः। शेषा एकत्रिंशत् भङ्गा नानुज्ञाताः। तत्र गुरुके आत्मविराधनाप्रत्ययं च प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्। संयमविराधना पुनरेवं भवति। गुरुके हस्तात्पतिते एकेन्द्रियादीनामुपघातोऽत्र स्वस्थानप्रायश्चित्तं शेषेषु संयमदोषाः—संयमविराधना। ततस्तत्र प्रत्येकं प्रायश्चित्त चत्वारो लघुकाः।

अझुसिरमादिपएहिं, जा अणिसट्ठं तु पंचिमा भयणा।
अह संथडपासुड्डे, विपज्जए होंति चउलहुगा ॥ २५ ॥

अझुसिरादिभिः पदैरारभ्य यावदनिसृष्टमिति पञ्चमं पदं तेषु पञ्चसु पदेसु प्रथमभङ्गरूपेषु इयं—वक्ष्यमाणा भजनाविकल्पना। तामेवाह—' अह संथड ' इत्यादि शय्यातरेण य उपाश्रयो दत्तस्तस्मिन् यो यथाऽवस्तृतः प्रथमभङ्गरूपः संस्तारकः स ग्रहीतव्यः, तदभावे पार्श्वेन कृतस्तस्याप्यभावे ऊर्द्धकृतः, एव क्रमेण यतनया ग्रहणं कर्त्तव्यम्। यदि पुनर्विपर्यासेन गृह्णाति तदा विपर्यस्ते गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः।

अंतोवस्सय बाहिं, निवेसना वाडिसाहिए गामे।
रेमंतो अन्नगामे, खेत्तवहिं वा अवोच्चत्थं ॥ २६ ॥

एवमन्तरुपाश्रयस्य यदि संस्तारकं फलकरूपं न लभते तदा यदिरुपाश्रयस्य तथैव ग्रहीतव्यः, तथाऽप्यलाभे, नेनैव क्रमेण निवेशनादानेतव्यः, तत्राप्यसति वाटकात्, तत्राप्यलाभे साहीतः, तत्राप्यसति दूरादपि ग्राममध्यादानेतव्यो, ग्राममध्येऽप्यसति क्षेत्रान्तस्तत्क्षेत्रमध्यभागात् अन्यग्रामादानेतव्यः, तत्राप्यसति क्षेत्राद्बहिष्टादप्यानेय। एवमविपर्यस्तमानयनं कर्त्तव्यम्। यदि पुनः सति लाभे विपर्यस्तमानयति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः।

सम्प्रत्यानयनयतनामाह—

सुत्तं च अत्थं च दुवे वि काउं,

भिक्खं अडंतो उ दुए वि एसे।
लाभे सहूए वि दुए वि घेत्तुं,
लाभासती एगदुवे व हावे ॥ २७ ॥

सूत्रं च अर्थं च द्वावपि कृत्वा भिक्षामटन् द्वावप्येषयेत्—गवेषयेत्। तद्यथा—भिक्षां संस्तारकं च तत्र लाभे सति समर्थो द्वावपि गृहीत्वा प्रत्यागच्छति, लाभेऽसति भिक्षां गतस्य संस्तारकाभावे एकं सूत्रमर्थं वा, यदि वा द्वावपि हापयति संस्तारकगवेषणेन।

दुल्लभो सेज्जसंथारो, उदुवंद्धम्मि कारणे।
मग्गणम्मि विही एसो, भणितो खेत्तकालतो ॥ २८ ॥

ऋतुबद्धे काले कारणे समापतिते दुर्लभे शय्यासंस्तारके यन्मार्गणं तत्र क्षेत्रतः कालतश्च विधिरेष भणितः, अनेन विधिना नान्यथेति।

वर्षासु संस्तारग्रहणम्—

उउवद्धे कारणम्मि, अगेण्हणे लहुगगुरुगवासासु।
उउवद्धे जं भणियं, तं चेव य सेसयं वोच्छं ॥ २९ ॥

ऋतुबद्धे काले कारणे सति यदि संस्तारकं न गृह्णाति तदा प्रायश्चित्त चत्वारो लघुकाः, वर्षासु पुनरवश्यं ग्रहीतव्यः संस्तारकस्तत्र सूत्रस्याग्रहणे चत्वारो गुरुकाः। तथा या ऋतुबद्धे काले यतना भणिता गवेषणादौ सा वर्षास्वपि द्रष्टव्या शेष वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव करोति—

वासासु अपरिसाडी, संथारो सो अवस्स घेत्तव्वो।
मणिकुट्टिमभूमिए वि,तमगेण्हणे चउगुरू आणा॥३०॥

वर्षासु यदि मणिकुट्टिमायां भूमौ वसन्ति तथापि संस्तारकोऽपरिशाटिः फलकरूपोऽवश्यं ग्रहीतव्यः, तमगृह्णति प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, तथा आज्ञा उपलक्षणमेतदनवस्थादयश्च दोषाः।

किं कारणमत आह—

पाणा सीयल कुंथू, उप्पायगदीहगोम्हिसिसुनागे।
पणए य उवहिकुच्छण,मलउदकवहो अजिण्णादी ॥३१॥

कालस्य शीतलतया भूमौ प्राणाः सम्मूर्छन्ति। के ते इत्याह-कुन्थवः प्रतीता, उत्पादका नाम-ये भूमिं भित्त्वा समुत्तिष्ठन्ति दीर्घाः-सर्पास्तेभ्य आत्मविराधना। गोम्मी नाम कर्णश्रृगाली शिशुनाग -अलसः तथा शीतलाया भूमौ पनकः संजायते। उपधावपि पनकः संमूर्छति। तथा उपधेः शीतलभूमिस्पर्शतः कोथनसंभवः। तथा स चेह धूलिलग्ने मलसंभव, ततो हिण्डमानस्य वर्षे पतति उदकवध -अप्कायविराधना। तथा उपधेर्मलिनत्वेनाग्निसम्भवे निद्राया अलाभतोऽजीर्णत्वसंभवः। आदिग्रहणात्-ततो ग्लानत्वं तदनन्तरं चिकित्साकरणत्यादिपरिग्रहः।

तम्हा खलु घेत्तव्वो, तत्थ इमे पंच वण्णिया भेया।
गहणे य अणुन्नवणे, एगंगियअकुयपाउग्गे ॥३२॥

यस्मादेते दोषा तस्मादवश्यं फलकरूपः संस्तारको ग्रहीत-

ण्यः, तत्र च ग्रहणे इमे—वक्ष्यमाणाः पञ्च वर्णिता भेदाः । तानेवाह-ग्रहणे अनुज्ञापनायामेकाङ्गिके अकुचे प्रायोग्यं च। तत्र प्रथमतो ग्रहणद्वारमाह—

गहणं च जाणएणं, सेज्जाकप्पो उ जेण ममहीतो ।
उस्सग्गववाएहिं, सो गहणे कप्पिओ होइ ॥३३॥

येन समधीत.—सम्यगधीतः शय्याकल्पः शय्याग्रहणविधिः तेन जानता ग्रहणं संस्तारकस्य कर्त्तव्यम्। य त. स उत्सर्गापवादाभ्यां ग्रहणे कल्पिको योग्यो भवति। गतं ग्रहणद्वारम्।

इदानीमनुज्ञापने या यतना तामाह—

अणुन्नवणाएँ जयणा, गहिते जयणा य होति कायव्वा।
अणुन्नवणाएँ लद्धे, बेंति पडिहारियं एयं ॥३४॥

अनुज्ञापनाया यतना-गृहीते च यतना कर्त्तव्या । तत्रानुज्ञायामियम्-लब्धे संस्तारके ब्रुवते, एत संस्तारकं प्रातिहारिकं ग्रहीष्यामो यावत्प्रयोजनं तावद्धरिष्याम. पश्चात्समर्पयिष्याम इति।

कालं च ठवेइ तहिं, वेइ य परिसाडियज्जमप्पहिमो।
ऽणुन्नवणे जयणाँ एसा,गहिय जयणा इमा होति ॥३५॥

यदा संस्तारको लब्धो भवति तदा तत्र कालं स्थापयति एतावन्तं कालं धरिष्याम., तथा ब्रूते—एष संस्तारको जराजीर्णतया परिशाटिरूपस्ततमेनं वयं ग्रहीष्याम. । तत्र निर्व्याघातेनैतावता कालेन यत्परिशटति तन्मुक्त्वा शेषमर्पयिष्याम ।एवं यदि प्रतिपद्यते तदा गृह्यते,अथ न प्रतिपद्यते तदा न ग्रहीतव्य., किं त्वन्यो याच्यते। अथान्यो याच्यमानो न लभ्यते तदा स एव प्रतिगृह्यते केवलं परिशाटौ यतना विधेया। एषा अनुज्ञापने यतना । गृहीते यतना इयं वक्ष्यमाणा भवति।

तामेवाह—

कीसं पुण धेयव्वो, बेंति ममं जा हि तुं भवे सुन्नो ।
अमुगस्स सो वि सुन्नो, ताहे घरम्मि ठवेज्जाहि ॥३६॥
कहि एत्थ चेव ठाणे, पासे उवरिं व तस्स पुंजस्स ।
अहवा तत्थेव थओ, ते वि हु नीयल्लगा अम्हं ॥३७॥

गृहीते संस्तारके पुन पृच्छति—कार्यसमाप्तौ कस्य पुनरर्पयितव्य एष संस्तारक.? एवमुक्ते स यदि ब्रूते ममैव समर्प्पयितव्य इति, तदा वक्तव्य यदा त्वं भवति शून्य । किमुक्तं भवति—यदा यूयं न दृश्यध्वे तदा कस्य समर्पणीय ? एवमुक्तः स ब्रूयादमुकस्य । ततो भूयोऽपि वक्तव्यम्, सोऽपि यदा शून्यो भवति न दृश्यते इत्यर्थः, तदा कस्मै समर्पणीय.?। अथ ब्रूयादत्रैव गृहे स्थापयेत् तत पुनरपि पृच्छेत् कतरस्मिन्नवकाशे स्थापनीय ?, एवमुक्ते यदि स ब्रूयात् यतोऽवकाशात् गृहीतोऽत्रैव स्थाने स्थापयत्, यदि वा—वदेत् अत्रैव स्थाने क्षुद्रे प्रदेशे, अथवा-यतोऽवकाशात् गृहीतस्तस्य पार्श्वे, अथवा-अस्य पुञ्जस्योपरि स्थापयेत्। यदिवा-यत्र यूयं नयथ तत्रैव तिष्ठतु, यतो यस्योपाश्रये यूयं वसथ सोऽपि हु-निश्चितम्-अस्माकं निजक.। किं बहुना यत्र वदति तत्र नीत्वा स्थापयितव्य ।

एमा गहिए जयणा, एत्तो गेण्हंतए उ वुच्छामि ।
एगो चिय गच्छे पुण,संघाडो गेण्हति ग्गहितो ॥३८॥

एषा-अनन्तरोदिता गृहीते यतना, अत ऊर्ध्वं गृह्णति यतनां वक्ष्यामि। प्रतिज्ञातमेव करोति--गच्छे पुनरेक एव संघाटः आभिग्रहिकः संस्तारकं गृह्णाति, न शेषोऽन्यथा व्यवस्थापत्तेः।

आभिग्गहियस्स ऽसती, वीसुं गहणे पमिच्छिउं सव्वे।
दाऊण तिन्नि गुरुणो, गिण्हेंति मेसे जहावुड्ढं ॥३९॥

आभिग्रहिकस्याभावे विष्वक्—प्रत्येकं संघाटकाना ग्रहणं प्रवर्त्तते। इयमत्र भावना--एकैक संघाटकः प्रत्येकमेकैकं संस्तारकं मार्गयति, अभ्यधिकास्त्रयः संस्तारका आचार्यस्य योग्या मृग्यन्ते। तत्रापि शेषे मार्गणे अनुज्ञापने गृहीते च यतना यावत्कार्यसमाप्तौ च स्थापयितव्य इति। एवं विष्वक् ग्रहणे सर्वान् संस्तारकान्प्रतीच्छ्य-प्रतिगृह्य त्रीन् संस्तारकान् गुरोर्दत्त्वा शेषानन्यान् यथावृद्धं गृह्णन्ति । इयमत्र सामाचारी--आभिग्रहिकसंघाटकेन प्रत्येकं प्रत्येकं संघाटकैरानीतानां वाऽनानीतानां वा मध्यादाचार्यस्योत्कृष्टान् त्रीन् संस्तारकान् प्रवर्त्तको दत्त्वा शेषाणां रत्नाधिकतया संस्तारकान् भाजयन्ति तानपि तथैव गृह्णन्ति ।

सेगाण उ णाणत्तं, सगणेयरभिग्गहीण अन्नगणे।
दिट्ठोभासणलद्धे, मन्नाउट्टे पभू चेव ॥ ४० ॥

अनेकानां स्वगणेतराभिग्रहिकाणां यन्नानात्व--प्रतिविशेषो यथान्यगणेन सह स्वगणसाधूनां समुदायेन संस्तारकान् मार्गयतामाभवद्व्यवहारनानात्वं तद् वक्ष्ये। तत्र-पञ्च द्वाराणि, तद्यथा—दृष्टद्वारमवभाषणं नाम-याचनं तद् द्वारं, लब्धद्वारमभाषणं-मानयाचनं तद्द्वारं, प्रभुद्वारं च।

दिट्ठादिएसु एत्थं एकेके होंतिमे उ छब्भेया ।
दट्ठूण अहाभावे-ण वावि सोउं च तस्सेव ॥ ४१ ॥
विप्परिणामणकहणा, वोच्छिन्ने चेव तिपडिसिद्धे य ।
एएसिं तु विसेसं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ४२ ॥

अत्र एषु दृष्टादिकेषु द्वारेषु मध्ये एकैकस्मिन् द्वारे इमे-वक्ष्यमाणा. षड्भेदा भवन्ति। तद्यथा—दृष्ट्वेति द्वारं, यथा-भावनेति द्वारं, तस्य वा वचनतः श्रुत्वेति द्वारं, विपरिणामनद्वारं, कथनद्वारं व्यवच्छिन्नद्वारं च। एतेषां तु द्वाराणां यथानुपूर्व्या क्रमेण विशेषं वक्ष्यामि। यदपि च दृष्टादिषु द्वारनानात्वं तदपि यथावसरं वक्ष्यते।

संथारं देहंतं, असहीणपभुं तु पेमिओ पढमो।
ताहे परियरिऊण, ओभासिय लब्भमाणेति ॥ ४३ ॥

मानसंस्तारकं-फलकरूपं पट्टरूपं वा देहान्तं-देहप्रमाणम्, अस्वाधीनप्रभुम्—न विद्यते स्वाधीनस्तत्कालप्रत्यासन्न. प्रभुर्यस्य स तथा. तमस्वाधीनप्रभुं दृष्ट्वा कमपि पृच्छति, कस्यैष संस्तारक ?, स प्राह-अमुकस्य, परमिदानीमत्र स न तिष्ठति। तत. संघाटकश्चिन्तयति—यदा संस्तारकस्वामी समागमिष्यति तदा याचिष्ये, इति विचिन्त्य प्रसरति-प्रतिनिवर्त्तते वसतावागच्छतीत्यर्थ । तत प्रतिनिवृत्य त-

दा अन्यदा अवभाषिते याचिते संस्तारकं लब्धं वसतिमानयति ।

अत्रैवांपान्तराले वक्तव्यशेषमाह—

संथारो दिट्ठो न य,तस्स पभू लघुगो अकहणे गुरुगा।
कहिए व अकहिए वा,अएणेण वि आणितो तस्स ॥४४॥

यदा संस्तारकं—प्रदय तस्य स्वामिनमदृष्ट्वा वसतौ प्रत्यागतस्तदा तेन गुरूणामाचार्याणां कथनीयम्—यथा दृष्टः संस्तारको न च तस्य संस्तारकस्य यः प्रभुः स उपलब्ध इति । एवं चेन्नालोचयति तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः । तथा कथिते अकथिते वा गुरूणां यद्यन्येन सघाटकेनामुकस्य गृहे संस्तारकोऽमुकेन संघाटकेन दृष्टः पर स्वामी नोपलब्ध इति न याचितस्तस्माद्वयं याचित्वा नयाम इति विचिन्त्य तत्र गत्वा स्वामिनमनुज्ञाप्य आनीतस्तथापि येन पूर्वं दृष्टस्तस्याऽऽभवति न पाश्चात्यसंघाटस्य । तदेवं 'ददट्ठूणेति' व्याख्यातम् ।

इदानीं यथाभावेनेति व्याख्यानयति—

वितिओ उ अन्नदिट्ठं, अहभावेणं तु लद्धमाणेति ।
पुरिमस्सेव उ स खलु, केई साहारणं बेंति ॥४५॥

प्रथमसंघाटके संस्तारकं दृष्ट्वा स्वामिनमनुपलभ्य याचित्वैव वसतौ प्रत्यागते द्वितीयः संघाटकोऽशठभावोऽन्येन पूर्वं दृष्ट इत्यजानानो यथाभावे तमन्यदृष्टं संस्तारकं स्वामिनमनुज्ञाप्य लब्ध्वा समानयति स कस्याऽऽभवतीति चेदत आह—स खलु नियमात्पूर्वस्य संघाटकस्य येन पूर्वं दृष्टो, न पाश्चात्यस्य येन लब्धः समानीत', किं तु उभयोरपि सघटयोराभवनमधिकृत्य साधारणं ब्रुवते । गतं यथाभावेनेति द्वारम् ।

इदानीं तस्यैव वचनत' श्रुत्वेति द्वारव्यानार्थमाह—

तइओ उ गुरुसगासे, विगडिज्जंतं सुणेतु संथारं ।
अमुगत्थ मए दिट्ठो, हिंडंतो वऽस्सासीसंतं ॥ ४६ ॥

तृतीयः संघाटकः प्रथमेन सघाटकेन क्वापि सस्तारकं दृष्ट्वा स्वामिनमनुपलभ्य वसतौ प्रत्यागतेन गुरुसकाशे—आचार्यस्य समीपे दृष्टो मया संस्तारक' परं स्वामी न दृष्टस्तन आगतं स न याचिष्ये इति, सस्तारकं विद्यमानमालोच्यमानं श्रुत्वा, यद्विा—भिक्षा हिण्डमानोऽन्यस्य संघाटकस्य शास्ति—कथयति यथा अमुकत्र मया दृष्ट परं स्वामी नास्ति इति न याचितः स्वामिन्यागते याचिष्यामि एव शिष्यमाण श्रुत्वा—

गंतूण तहिं जायइ, लद्धम्मी बेंति अम्ह एस विही ।
अन्नदिट्ठो न कप्पइ, दिट्ठो एसो उ अमुगेण ॥ ४७ ॥
मा दिज्जसि तस्सेयं, पडिसिद्धंतम्मि एस मज्झं तु ।
अएणो धम्मकहाए, आउट्टेऊण तं पुव्वं ॥ ४८ ॥
संथारगदाणफला—दिलोभियं बेंति देहि संथारं ।
अमुगं तिन्नि य वारो, पडिमेहेऊण तं मज्झं ॥ ४९ ॥

गत्वा तत्र सस्तारकस्वामिनं सस्तारकं याचनं, याचित्वा लब्धे तं परिणामयति । यथा एषोऽस्माकं विधिरा चारो योऽन्येन दृष्टो दृष्ट्वा च संस्तारकस्वामिनं याचिष्ये इत्यध्यवसितः सोऽन्यस्य न कल्पते एष च संस्तारकोऽन्येन दृष्टस्ततस्त्वं मम प्रियतया तस्य याच्यमानस्य सस्तारकममुं दद्याः, ततस्तस्मिन् प्रतिषिद्धे एष मम भविष्यति । अत्रेयमाभवनचिन्ता यदि विपरिणामकरणे लब्धस्ततस्तस्य नाऽऽभवति किं तु पूर्वस्यैव संघाटस्य । अथवा—द्वितीयो विपरिणामनप्रकारस्तमाह—गुरुसकाशे कथ्यमानमन्यस्य वा संघाटस्य शिष्यमाणं संस्तारकं श्रुत्वाऽन्यः संघाटकस्तत्र गत्वा संस्तारकस्वामिनं पूर्वकथया धर्मकथाकथनेनावृत्यात्मानुकूलं कृत्वा पश्चाद्विपरिणामयति, कथमित्याह—' संथारगदाणे ' त्यादि संस्तारकस्वामिनं पूर्वसंस्तारकदानफलादिलभितं ब्रूते—अमुकं संघाटकं याचमानं त्रीन्वारान्प्रतिषिध्य तदनन्तरं मम सस्तारक देहि । एवं विपरिणामकरणेनो लब्धः स पूर्वस्यैव संघाटकस्याऽऽभवति न पाश्चात्यस्य ।

अथ प्रायश्चित्तविधिमाह—

एवं विपरिणामिएणं,लभती लहुगा य होंति सगणिच्चे ।
अन्नगणिच्चे गुरुगा, मायनिमित्तं भवे गुरुगो ॥ ५० ॥

एवम्—उक्तेन प्रकारेण विपरिणामितेन—स्वामिना यदि लभते स्वगणसत्कसाधुस्तदा तस्य प्रायश्चित्त चत्वारो लघुकाः, अन्यगणसत्के चत्वारो गुरुका.। तथा स्वगणसत्को वा अन्यगणसत्को वा विपरिणम्य लब्ध्वा यदि पृष्ठ सन् विपरिणामनमपलपति तदा मायानिमित्तो—मायाप्रत्ययो भवत्यधिको गुरुको मासः ।

सम्प्रति व्यवच्छिन्नद्वारमाह—

अह पुण जेणं दिट्ठो, अन्नो लद्धो उ तेण संथारो ।
छिन्नो तदुवरि भावो, ताहे जो लभति तस्सेव ॥५१॥

अथ पुनर्येन सघाटकेन दृष्टः संस्तारकस्तेनान्यो लब्धः संस्तारकस्तस्य पूर्वदृष्टस्योपरि भावोऽध्यवसायश्छिन्नो-व्यवच्छिन्नस्ततो यः पश्चात् लभते तस्यैव स आभवति नेतरस्य । गत व्यवच्छिन्नद्वारम् ।

अधुना त्रिप्रतिषिद्धद्वारमाह—

अहवा वि तिन्नि वारा,उ मग्गितो न वि य तेण लद्धो उ ।
भावे छिन्नमछिन्ने, अन्नो जो हवइ तस्सेव ॥ ५२ ॥

अथवा येन दृष्टस्तेन याचित परं न लब्धो द्वितीयमपि वारं याचितो न लब्धस्तृतीयमपि वार न लब्धस्तत एवं त्रीन् वारान् याचितो न च तेन लब्धस्ततस्तस्योपरि यदि तस्य संघाटकस्य भावो व्यवच्छिन्नो, यद्विा—न व्यवच्छिन्नस्तथा योऽन्यो लभते तस्याऽऽभवति न पूर्वसघाटकस्य । तदेवं षड्भिर्द्वारैः समासे प्रथमं दृष्टद्वारम् ।

अधुनाऽवभाषितद्वारमाह—

एवं ता दिट्ठम्मी, ओभासितके वि होंति छच्चेव ।
सोउं अहभावेण व, विप्परिणामे य धम्मकहा ॥५३॥
वोच्छिन्नम्मि व भावे, अन्नो वऽन्नस्स जस्स देज्जाहि ।
एए खलु छब्भेया, ओहासणे होंति बोद्धव्वा ॥५४॥

एवमुक्तेन प्रकारेण दृष्टे-दृष्टद्वारे षड् भेदाः प्रकाशिता एव मवभाषितेऽपि षड् भेदा भवन्ति—ज्ञातव्याः । तद्यथा--प्रथमं श्रुत्वेति द्वार, द्वितीयं यथाभविनेति द्वार, तृतीय विपरिणामद्वार, चतुर्थं धर्म्मकथाद्वार, पञ्चमं व्यवच्छिन्नद्वार, षष्ठमन्यो वा तस्येति द्वारम् । तत्र एते खलु षड् भेदा अवभाषणे भवन्ति-बोद्धव्याः ।

प्रथमद्वारव्याख्यानार्थमाह—

ओभासिते अलद्धे, अव्वोच्छिन्ने य तस्स भावे उ ।
सोउं अएणो भासइ, लद्धोऽएणो तप्पुरिल्लस्स ॥ ५५ ॥

सघाटकेन भिक्षामटता संस्तारकस्वामी च संस्तारकं याचित' पर न लब्ध.,अथ च तस्य-संघाटकस्य संस्तारकोपरि भावोऽद्यापि न च व्यवच्छिद्यते तेन च संघाटकेन गुरुसमीपमागत्यालोचितो यथा अमुकस्य गृहे संस्तारको दृष्टः याचितश्च परं न लब्धः द्वितीयं वारं याचिष्यते एवमवभाषिते अलब्धे अव्यवच्छिन्ने च तस्य संस्तारकस्योपरि भावे विकटनं श्रुत्वा अन्यः संघाटकस्तत्र गत्वा याचते लभते, च, स लब्धो नीत' सन् कस्याऽऽभवतीत्यत आह—पूर्वस्य । येन पूर्वमवभाषितोऽपि न लब्धस्तस्याऽऽभवति, तद्विषयभावाव्यवच्छेदान्नेतरस्य ।

सेसाणि जहा दिट्ठे, अह भावादीणि जाव वोच्छिन्ने ।
दाराइं जोएज्जा, छट्ठे सेसं तु वुच्छामि ॥ ५६ ॥

शेषाणि यथा भावादीनि चत्वारि द्वाराणि यावद् व्यवच्छिन्नद्वारम्, यथा दृष्टे—दृष्टद्वारे पूर्वं भावितानि तथा योजयेत् । तद्यथा—एकेन संघाटेन भिक्षामटता क्वापि संस्तारको दृष्टो याचितश्च परं न लब्ध, द्वितीयः संघाटको यथाभावेन तत्र गत्वा तं संस्तारकमानयति स पूर्वसघाटकस्याऽऽभवति, न येनानीतस्तस्य । अन्ये तु ब्रुवते—द्वयोरपि संघाटकयोराभवनमधिकृत्य साधारणमिति, गतं यथाभावद्वारम् ॥ २ ॥ अधुना विपरिणामद्वारमुच्यते-गुरुसमीपे विकथ्यमानमन्यस्य कथ्यमान याचितमलब्ध सस्तारकं मह्य सम्प्रति देहि, अत्रापि पूर्वस्यैव सघाटकस्य स आभवति न येनानीतस्तस्य । गतं विपरिणामद्वारम् ॥ ३ ॥ सम्प्रति धर्म्मकथाद्वारमुच्यते—अभेतनेन संघाटकेन याचिते अलब्धे चान्यसंघाटकस्तत्र गत्वा तं संस्तारकस्वामिनं धर्म्मकथाकथनेन समाकर्ण्य याचते सस्तारकम्, स तथा लब्ध्वानीतः सन् पूर्वं संघाटकस्याऽऽभवति न येन पश्चादानीतस्तस्येति । गतं धर्म्मकथाद्वारम् ॥ ४ ॥ अधुना व्यवच्छिन्नभावद्वारमुच्यते-प्रथमसंघाटकेन संस्तारको याचितो न लब्धस्ततस्तद्विषये भावो व्यवच्छिन्न', गुरुसमीपे च गत्वा तथैवालोचितं यथा अमुकस्य गृहे संस्तारको दृष्टो याचितश्च परं न लब्धः, स तिष्ठतु द्वितीयं वारं न कोऽपि याचिष्यते । एव व्यवच्छिन्न भावं ज्ञात्वा योऽन्यसघाटको याचते, लभते च, स च तस्याऽऽभवति, न पूर्वस्य । तदेवं योजितानि यथाभावादीनि चत्वार्यपि द्वाराणि ॥ ५ ॥ अत ऊर्ध्वमाह—षष्ठे द्वारे अन्यो वाऽन्यस्येति लक्षणे विशेषोऽस्ति तं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव करोति ।

अच्छिन्ने अन्नोऽन्नं, सो वा अन्नं तु जइ से देज्जाहि ।
कप्पइ जो उ पणइतो, तेण व अन्नेण व न कप्पइ ॥ ५७ ॥

येन प्रथमसंघाटकेन संस्तारको दृष्टो याचितश्च न लब्धस्तस्य तद्विषये भावे अच्छिन्ने-अव्यवच्छिन्ने अन्येन संघाटकेन तत्र गत्वा याचिते अन्यो मनुष्योऽन्यसंस्तारक यदि दद्यात्, यदि वा-स एव सस्तारकस्वामी अन्य संस्तारकं दद्यात्, तदा ' से'-तस्य कल्पते । यस्तु प्रणयितो—याचितः संस्तारकः स तेन स्वामिना अन्येन वा मनुष्येण दीयमानो न कल्पते । गतमवभाषितद्वारम् ।

अधुना लब्धद्वारमाह—

लद्धद्दारे चेवं, जोए जहसंभवं तु-दाराइं ।
जत्तियमेत्तो विसेसो, तं वुच्छामी समासेणं ॥ ५८ ॥

लब्धद्वारेऽप्येवमुक्तप्रकारेण श्रुत्वादीनि द्वाराणि यथासंभवं योजयेत् । यावन्मात्रश्च विशेषस्तावन्मात्रं तं विशेषं समासेन वक्ष्ये ।

तत्र प्रथमं । श्रुत्वेति द्वारमधिकृत्य विशेषमाह-

ओभासियम्मि लद्धे, भणंति न तरामि इण्हिं नेउं जो ।
अच्छउ नेहामो पुण, कल्ले वा घिच्छिहामो त्ति ॥ ५९ ॥

प्रथमसंघाटेन क्वापि संस्तारको दृष्टो याचितो लब्धश्च, तस्मिन् अवभाषिते लब्धे च साधवो भणन्ति-न शक्नुमः संप्रति भिक्षामटन्तः संस्तारकं नेतुम्, ततस्तिष्ठतु पश्चान्नेष्यामः । एतच्च गुरुसमीपे समागत्य तेन संघाटकेनालोचितम्, तच्च श्रुत्वा अन्यो याचते लभते च, स आनीतः सन् पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति ,न येनानीतस्तस्य । अपर. संघाटकोऽप्रेतनसंघाटकवृत्तान्तमविदित्वा यथाभावेन गत्वा याचते तेनाप्यानीतः पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न तस्य । अपरे द्वयोरपि तं साधारणमाचक्षते ।

विपरिणामद्वारं साक्षादाह-

नवरि अएणो आगतो,तेण वि सो चेव पणयितो तत्थ ।
दिन्नो अन्नस्स तओ,वी(वि)परिणामेइ तह चेव ॥ ६० ॥

प्रथमसंघाटकेन संस्तारके याचिते लब्धे नेतुमशक्यतया तत्रैव मुक्ते नवरि-केवलमन्य. संघाटक आगतस्तेनापि तत्र स एव संस्तारकः प्रणयितो-याचित. । सस्तारकस्वामिनोक्त दत्तोऽन्यस्य,ततस्तथैव त विपरिणामयति,यथा सर्वदैवाहं तव प्रियस्ततो मयि सति किमन्यस्मै तव दातुमुचितं तस्माद्यदि स आगच्छति तर्हि तस्य प्रतिषिध्य पश्चान्मम दातव्य इति । एवं यदि विपरिणम्यानीतो भवति तत. पूर्वतमस्याऽऽभवति,नेतरस्या तदेवमुक्तं विपरिणामद्वारम् ॥ अधुना धर्म्मकथाद्वारम्-तथैव प्रथमसंघाटकेन संस्तारके याचिते लब्धे नेतुमशक्यतया तत्रैव मुक्ते अन्यसघाटकस्तत्र समागत्य तं संस्तारक याचितवान् । तत. संस्तारकस्वामिनोक्त-दत्तोऽन्यस्मै । ततो धर्मकथाकथनतस्तमावर्ज्य ब्रूते यथा तस्य प्रतिषिध्यायं सस्तारको मह्यं देयः । एवमानीत. पूर्वसघाटकस्य स आभवति, नेतरस्य । तथा

येन प्रथमसंघाटकेन संस्तारको याचितो लब्धः श्रुतश्च तस्य तद्विषये भावः कुतश्चित्कारणात् व्यवच्छिन्नः, अन्येन वा अशठभावेन याचितो लब्धश्च तस्याऽऽभवति, न प्रथमसंघाटस्य तस्य तद्विषयभावव्यवच्छेदात्। तथा प्रथमसंघाटकेन संस्तारके याचिते लब्धे नेतुमशक्यतया तत्रैव मुक्ते अन्यः संघाटकस्तत्र समागत्य संस्तारकं याचते । तत्र यदि अन्यो मनुष्योऽन्यं संस्तारकं दद्यात् , स वा प्रथमसंघाटकयाचितोऽन्य तदा स तस्य कल्पते। यः पुनः प्रणयितः स तेनान्येन वा दीयमानो न कल्पते ।

तथा च विपरिणामद्वारमुक्त्वा शेषद्वाराणामतिदेशमाह--

अहभावोऽऽलोयणध-म्मकहण वोच्छिन्नमन्नदाराणि ।
नेयाणि तहा चेव उ, जहेव उ छट्ठदारम्मि ॥ ६१ ॥

यथाभावद्वारम् , 'आलोयण' त्ति-पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् आलोचनां श्रुत्वेति द्वारं, धर्मकथनद्वारं, व्यवच्छिन्नद्वारमन्यद्वारं चेति पञ्च द्वाराणि यथैवावभाषितद्वारेऽभिहितानि तथैव ज्ञेयानि । षष्ठं तु विपरिणामद्वारं साक्षादुक्तम्। गतं लब्धद्वारम् ।

इदानीं संज्ञातिकद्वारमाह--

सण्णायए वि एव्विय, दारा नवरं इमं तु नाणत्तं ।
आयरिएणाभिहितो, गेण्हह संथारयं अज्ज ! ॥ ६२ ॥
सुद्धदसमीठियाणं, बेति य घेच्छामि तद्दिणं चेव ।
नायगिहे परिण्णातो, मए उ संथारतो भंते ! ॥६३॥

यान्येव श्रुताऽऽदीनि षट् द्वाराणि लब्धद्वाराभिहितानि एतान्येव संज्ञातिकद्वारेऽपि द्रष्टव्यानि; नवरं भावनायां यन्नानात्वं तदिदं वक्ष्यमाणम्। तदेवाऽऽह--' आयरिएणे ' त्यादि आचार्येणाभिहितः आर्य ! संस्तारकं गृहाण, एवमुक्तः सन् संज्ञातिकानां गृहमागच्छन् दृष्टः संस्तारको याचितो लब्धश्च । अथवा-संज्ञातिकैरयाचितैरेव स उक्तो गृहाण संस्तारकम् , ततस्तेनोक्तम्-यस्मिन् दिवसे संस्तारके स्वप्तुमारभ्यते तस्मिन् दिवसे नेष्यामः , आचार्यश्च शुद्धदशम्या तत्र स्थितः स आगत्य शुद्धदशमीस्थितानां गुरूणामन्ते ब्रूते--आलोचयति भदन्त ! मया ज्ञातिगृहे संस्तारकः प्रतिज्ञप्तो निभालितस्तिष्ठति । ततो यत्र दिने संस्तारके स्वप्स्यते तद्दिवसमेव-तस्मिन्नेव दिने ग्रहीष्यामः। एवमालोचितं श्रुत्वा अन्यो याचते लभते च, स आनीतः पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न येनानीतस्तस्य । गतं श्रुत्वा अपर. संघाटकोऽग्रेतनसंघाटकवृत्तान्तमनवबुध्य यथाभावेन गत्वा याचते लभते च स तेनानीतः पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न तस्य। अपरे तु द्वयोरपि संघाटकयोस्तं साधारणमाचक्षते । यथाभावद्वारमपि गतम् ।

इदानी साक्षाद्विपरिणामद्वारमाह--

विपरीणामे तह वि य, अन्नो गंतूण तत्थ नायगिहं ।
आसन्नयरो गेण्हइ, मित्तो अण्णो वि मं चोत्तुं ॥६४॥
अन्ने वि तस्स नियगा, देहिह अन्नं च तस्स मम दाउं ।
दुल्लभलाभमणा उं-ठियम्मि दाणं हवति सुद्धं ॥६५॥

सन्नायगिहो अन्नो, न गेण्हए तेण असमणुण्णातो ।
सति विहवे सत्तीए,सो वि हु न वि तेण निव्विसति ॥६६॥

तेन साधुना मया भदन्त ! ज्ञातगृहे संस्तारकः प्रतिज्ञप्तोऽस्ति ततस्तस्मिन्नेव दिने समानेष्यते, इत्यालोचितं श्रुत्वा अन्य आसन्नतरो मित्ररूपो वा ज्ञातिगृहं गत्वा तत्र तथैव संस्तारकस्वामिनं विपरिणामयति, स चान्यो विपरिणम्य गृह्णाति । इदं वक्ष्यमाणमुक्त्वा तदेवाह-' अन्ने वी ' त्यादि अन्येऽपि च तस्य निजकाः संस्तारकं दास्यन्ति । यदि वा-ममामुं संस्तारकं दत्त्वा तस्यान्यं संस्तारकं दद्या. । अथवा-अस्मादृशे अज्ञातोञ्छवृत्तिजीविनि यद् दुर्लभदानं दीयते तद्भवति शुद्धमिहपरलोकाशंसाविप्रमुक्तत्वात् । तथा स्वज्ञातगृहेऽन्योऽसज्ञातिकस्तेन संस्तारकस्वामिना असमनुज्ञातो न गृह्णाति । अहं पुनः सज्ञातिकस्ततो-वा शय्यामेकवारमनुज्ञातस्यापि संस्तारकस्य ग्रहणे, तथा सति विभवे, यदि वा-विभवाभावेऽपि स्वशक्त्या सोऽपि संज्ञातिकस्तेनात्मीयेन संज्ञातिकेन विना न निर्विशति उपभुङ्क्ते भक्तपानसंस्तारकादि तस्मान्मम दातव्य एव संस्तारक इति । एवं विपरिणम्यानीतः पूर्वसंघाटस्याऽऽभवति न येनानीतस्तस्य । गतं विपरिणामद्वारम् ॥ अधुना धर्मकथाद्वारमुच्यते--तथैवालोचनामाकर्ण्यान्यः संघाटकस्तत्रागत्य धर्म्मकथामारभते, ततो धर्म्मकथया तमत्यन्तमावर्ज्य तं संस्तारकं याचते, स धर्म्मकथाश्रवणोपरोधतो न निषेद्धुं शक्त इति तस्मै दत्तवान् , सोऽपि पूर्वसघाटस्याऽऽभवति न येनानीतस्तस्य ।.गतं धर्म्मद्वारम् ॥ संप्रति व्यवच्छिन्नद्वारमाह, भावना-तस्य सज्ञातिकस्य याचितसंस्तारकविषये भावः कुतश्चित्कारणतो व्यवच्छिन्नोऽन्येन च संघाटकेनाभावेन याचित्वा समानीतः। स येनानीतस्तस्याऽऽभवति, न पूर्वसंज्ञातिकस्य । अन्यद्वारभावना त्वियम्-पूर्वप्रकारेण तेन संज्ञातिकेन गुरूणामन्तिके विकटने कृते तत् श्रुत्वा अन्यः संघाटकस्तत्र गत्वा संस्तारकं याचते, तत्रान्यो मनुष्योऽन्यं सस्तारकं यदि ददाति, यदि वा--स एव पूर्वसंघाटकयाचितः संस्तारकस्वामी, परमन्यं संस्तारकं तदा कल्पते । पूर्वं याचितस्त्वनेनान्येन वा दीयमानो न कल्पते।

तथा चाऽऽह--

सेसाणि य दाराणि, तह वि य वुद्धिए भासणीयाइं ।
उड्डदारे वि तहा, नवरं उड्डम्मि नाणत्तं ॥ ६७ ॥

शेषाण्यपि विपरिणामजानि श्रुत्वादीनि द्वाराणि तथैव प्रागुक्तप्रकारेणैव बुद्ध्या परिभाव्य भावणीयानि तानि च तथैव भाषितानि । गतं सज्ञातिकद्वारम् ॥ इदानीमूर्द्ध्वद्वारमाह--ऊर्द्ध्वद्वारेऽपि तथा पूर्वोक्तप्रकारेण द्वाराणि षडपि श्रुत्वादीनि योजनीयानि नवरमूर्द्ध्वे--ऊर्द्ध्वकारणे नानात्वम् ।

तदेव भावयति--

आणेऊण न तिण्णे, वासस्स य आगमं तु नाऊणं ।
मा उल्लेज्ज हु छण्णे, ठवेइ अण्णो व मग्गेज्जा ॥ ६८ ॥

संघाटकेन क्वापि गृहे संस्तारको दृष्टो, याचितो लब्धश्च । आनेतुमपि व्यवसित. परं वर्षस्य आगमम्-आगमनं

ज्ञात्वा माऽपान्तराले वर्षं पतेदिति कृत्वा नानेतु तीर्थ- शक्ष । तथा मा वर्षेणात्र प्रस्तारित आर्द्रीक्रियेत । तथा मा अन्य संघाटक समागत्य मार्गयेत्—याचेत इति छन्ने प्रदेशे कुड्ये-अवष्टभ्य ऊर्ध्वीकृतस्ततो गुरुसमीपे समागत्य विकटयति, तच्च श्रुत्वा अन्य उपेत्य-आगत्य याचते स च तेनानीत. पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न येनानीतस्तस्य। गतं श्रुत्वा द्वारम्।

इदानीं यथाभावद्वारं विवक्षुराह—

पुच्छाए णाणत्तं, केणुद्धकयं तु पुच्छियमसिट्ठे।
अन्नासढमाणीयं, पि पुरिल्लो केइ साहारं ॥ ६९ ॥

यथाभावद्वारे पृच्छाया नानात्वं, किं तदिति चेत्?। उच्यते—अन्यः संघाटकस्तत्र यथाभावेन गतस्तेन ऊर्ध्वीकृतं संस्तारकं दृष्ट्वा चिन्तितम्—किं नामैष संयतेन ऊर्ध्वीकृत उत गृहस्थेन?, यथाभावत एवं तेन सशयेन पृष्ट-केनायमूर्ध्वीकृत इति?, गृहस्थैश्च न किमपि शिष्ट-कथितम्, ततोऽन्येन संघाटकेनाशठेन संस्तारको याचितो लब्ध-आनीतश्च। तथाऽन्येनाशठेनानीतमपि संस्तारक पूर्वस्य संघाटकस्याऽऽभवन्तमाचक्षते, केचित् पुनर्द्वयोरपि सघाटकयो. साधारणम्। अथ पृष्टे गृहस्थैराख्यातं गृहीतेनार्ध्वीकृत., यथाभावेन याचितो लब्धश्च सोऽप्यानीत. पूर्वसघाटस्याऽऽभवति। अपरे तु द्वयोरपि साधारणमाहुः।

छन्ने उड्ढो य कतो, संथारो जइ वि सो अहाभावा।
तत्थ वि सामायारी, पुच्छिज्जा इतरहा लहुतो ॥७०॥

यद्यपि संस्तारो यथाभावात्—यथाभावेन गृहस्थै. छन्ने प्रदेशे ऊर्ध्वीकृतो ज्ञायते चैतत्तथापि तत्रय सामाचारीगृहस्थाऽवश्यमुक्तप्रकारेण पृच्छ्यते, इतरथा-पृच्छाकरणाभावे प्रायश्चित्त लघुको मास. । गत यथाभावद्वारम्। विपरिणामेन धर्मकथाव्यवच्छिन्नभावान्यद्वाराणि पूर्ववत् भावनीयानि।

तथा चाह—

सेसाइं तह चेत्र य, विपरीणामाइयाइँ दाराइं।
बुद्धीए विभासेज्जा, एत्तो वुच्छं पभूदारं ॥७१॥

शेषाणि—विपरिणामादीनि द्वाराणि बुद्धया यथा प्रागभिहितानि तथैव परिभाव्य विभाषेत-प्रतिपादयेत्। गतमूर्ध्वीकृतद्वारम्। अत ऊर्ध्वं प्रभुद्वार वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

पभुदारे वी एव, नवरं पुण तत्थ होइ अहभावे।
एगेण पुत्तो जौइओ, बिइएण पिया उ तस्सेव ॥७२॥

प्रभुद्वारेऽपि एवं—पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतादीनि पद द्वाराणि ज्ञेयानि, नवरं पुनस्तत्र प्रभुद्वार यथाभावलक्षणे अवान्तरभेदे नानात्वं भवति। एकेन संघाटकेन यथाभावेन पुत्रो याचित, एकेन तस्यैव पिता, द्वाभ्यामपि दत्त स कस्याऽऽभवति?।

तत आह—

जो पभुतरओ तेसिं, अहवा दोहिं पि जस्स दिन्नं तु।
अपभुम्मि लहू आणा, एगतरपदोसतो जं च ॥ ७३ ॥

तयो पितापुत्रयोर्मध्ये य. प्रभुतरस्तेन यस्य दत्तस्तस्याऽऽभवति। अथ द्वावपि प्रभू ताभ्यामपि संभूय यस्य. दत्तस्तस्याऽऽभवति, यस्य तु प्रतिषिद्धस्तस्य नाऽऽभवति। अथाप्रभुणादत्त गृह्णाति, गाथाया सप्तमी तृतीयार्थे, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघव, तथा आज्ञादयो दोषाः। यच्च एकतरप्रद्वेषत आपद्यते प्रायश्चित्तं तदपि तस्य द्रष्टव्यम्। एकतरप्रद्वेषो नाम—यः प्रभु स संयतस्य—वोपरि प्रद्वेषं यायात्, येन वा अप्रभुणा सता दत्तस्तस्य।

अहवा दोण्हि वि पहुणो, ताहे साहारणं तु दोण्हं पि।
विप्परिणामादीणि उ, सेसाणि तहेव भासेज्जा ॥७४॥

अथवा द्वावपि पितापुत्रौ प्रभू, द्वाभ्यामपि च पृथक् पृथक् द्वयोः संघाटकयोरनुज्ञात, तदा तयोर्द्वयोरपि सघाटकयो. साधारणमाचक्षते संस्तारकम्। तत्र यथाभावे विशेषो दर्शित । शेषाणि तु विपरिणामादीनि पञ्चापि द्वाराणि तथैव भावनीयानि यथा प्रागभिहितानि।

साम्प्रतमुपसंहारमाह—

एसो विही उ भणितो, जहियं संघाडएहिँ मग्गंति।
संघाडे अलभंतो, ताहे वंदेण मग्गंति ॥ ७५ ॥

यत्र सघाटकै. प्रत्येक प्रत्येक संस्तारका मृग्यन्ते तत्र एष प्रत्येक प्रत्येकमानीतानां संस्तारकाणामाभवनव्यवहारविषयो विधिरुक्त, यत्र पुनरेकैक संघाटको न लभते तदा वृन्दसाध्यानि कार्याणि वृन्देन कर्त्तव्यानीति न्यायात् सघाटकैरलभमाने वृन्देन-समुदायेन मार्गयन्ति।

तत्र विधिमतिदेशत आह-

वंदेण तह चेव य, गहणुन्नवणाइतो विही एसो।
नवरं पुण णाणत्तं, अप्पणए होइ णायव्वं ॥ ७६ ॥

वृन्देनापि मार्गणे तथैव तेनैव प्रकारेण ग्रहणे अनुज्ञापनायामादिशब्दादर्पणे च विधिरेष प्रागभिहितो द्रष्टव्यो नवरं पुनरर्पणे भवति नानात्वं ज्ञातव्यम्।

तदेवाऽऽह—

सव्वे वि दिट्ठरूवे, करेहि पुन्नम्मि अम्ह एगयरो।
अणो वा वाघाए, अप्पहिति जं भणसि तस्स ॥ ७७ ॥

संस्तारकस्वामिनं प्रति उच्यते-सर्वानप्यस्मान् दृष्टरूपान्दृष्टमूर्त्तीन् कुरु अस्माकमेकतर पूर्णे वर्षाकाले संस्तारकं युष्माकमर्पयिष्यति। अथास्माकमेतेषा कस्यापि व्याघातो भवेत्तदा अन्योऽपि यत्तं भणसि तस्य समर्पयिष्यति।

एवं ता सग्गामे, असती आणेज्ज अन्नगामातो।
सुत्तत्थे काउं, मग्गइ भिक्खं तु अडमाणो ॥ ७८ ॥

एवमुक्तप्रका[illegible] [illegible]वत्स्वग्रामे संस्तारकानयने विधिरुक्त, असति-स्वग्रामे संस्तारकस्याभावे अन्यग्रामादपि आनयेत्। कथमित्याह—सूत्रार्थौ कृत्वा सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा भिक्षामटन् संस्तारक मार्गयति । यदि पुनरन्यग्रा-

मेऽपि प्रत्येक संघाटकस्यालाभस्तदा अर्थपौरुषी हापयित्वा तत्र वृन्देन गत्वा याच्यते ।

अदिट्ठे सामिम्मि उ, वसिउं आणेइ विइयदिवसम्मि ।
सक्खेत्तम्मि उ असते, आणयणं खेत्तबहियातो ॥७९॥

यदि स्वग्रामे न दृश्यते संस्तारको, दृश्यमानो वा न लभ्यते तदा स्वक्षेत्राद् द्विगव्यूतप्रमाणे वा, तत्रापि न लभ्यते तदा अन्यग्रामे गत्वा याचनीयः । अथ न दृश्यते तत्र संस्तारकस्वामी तदा गृहे उषित्वा द्वितीयदिवसे संस्तारकमनुज्ञाप्य गृहीत्वा समागच्छति । अथ स्वक्षेत्रे न लभ्यते तदा स्वक्षेत्रे संस्तारकस्याभावे स्वक्षेत्राद्बहिष्टादप्यानयन संस्तारकस्य द्वित्रिदिनमध्ये कर्त्तव्यम् ।

सव्वेहि आगएहिं, दाउं गुरुणो उ सेसे जहवुड्ढं ।
संथारे घेत्तूणं, ओगासे होइऽणुन्नवणा ॥८०॥

सर्वैरपि संघाटकैः परपरतरग्रामेभ्य समागतैः संस्तारकपरिपूर्णतायां सत्यां त्रय उत्कृष्टाः संस्तारका गुरोर्दातव्याः, ततः शेषैर्यथावृद्धं—यथारत्नाधिकतया ग्रहीतव्याः । तान्संस्तारकान् गृहीत्वा तदनन्तरमवकाशे भवत्यनुज्ञापना । एतावता ग्रहणमिति द्वारं समाप्तमनुज्ञापनाद्वारमापतितमित्यावेदितम् ।

जो पुव्वमणुण्णवितो, पेसिज्जंतेण होति ओगाढो ।
हेट्ठिल्ले सुत्तम्मी, तस्सावसरो इहं पत्तो ॥८१॥

यः पूर्वमधस्तने प्रथमे पिण्डसूत्रे प्रेष्यमाणेनावकाशोऽनुज्ञापितस्तस्यावसर इह प्राप्तस्तत. स भण्यते ।

नाऊण सुद्धभावं, थेरा वियरंति तं तु ओगासं ।
सेसाणि वि जो जस्स उ, पाउग्गो तस्स तं देंति ॥८२॥

तत्र प्रेष्यमाणस्यावकाशमनुज्ञापयतः स्थविरा-आचार्याः शुद्धं भावं ज्ञात्वा तमेवावकाश वितरन्ति-अनुजानते, शेषाणामपि योऽवकाशे यस्य साधोः प्रायोग्यस्ततस्तस्येदं ददति ।

अत्र विधिमाह—

खेलनिवातपवाते, कालगिलाणे य सेहपडियरए ।
समविसमे पडिपुच्छा, आसंखडिए अणुण्णवणा ॥८३॥

यस्य खेलः-श्लेष्मा प्रस्यन्दते स गुरून् अनुज्ञापयति-भगवन् ! श्लेष्मा पतति ततोऽन्यदवकाशान्तरमनुजानीत ततस्तस्मादन्योऽवकाशो दातव्य. । तथा निवाते घर्मे निपीड्यमानो यदि प्रवातमनुज्ञापयति तर्हि तस्य प्रवातो दातव्य.।प्रवातेन पीड्यमानस्य निवात कालग्रहीति द्वारमूलमनुज्ञापयति । स तत्र स्थाप्यते ग्लानस्य समीपे शैक्षस्य प्रतिचारक. शिक्षादय ग्राहयित्वा शैक्षकस्य समीपे समविषमायां भूमौ यस्य पार्श्वाणि दु खयति सोऽध्यास्याया भूमौ स्थाप्यते,योऽयं पुनः पुन प्रतिपृच्छति स तस्य पार्श्वे आसंखडिक. सूत्रधारकस्य पार्श्वे, एवमनुज्ञापना साधूना भवति । आचार्येण च शुद्धभावमवगम्य तथैवानुज्ञायते ।

अथ उपसंहारमाह—

एवमणुण्णवणाए, एयं दारं इहं परिसमत्तं ।
एगंगियादिदादारा, एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ८४ ॥

एवम्—उक्तप्रकारेण साधूनामनुज्ञापनायां भणितायामेतत् अनुज्ञापनालक्षणं द्वारमिह परिसमाप्तम्, अत ऊर्द्ध्वं तु एकाङ्गिकादीनि द्वाराणि प्रवक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

असंघातिमेव फलगं, घेत्तव्वं तस्स असति संघाइं ।
दोमादि तस्स असती,गेण्हेज्ज अहाकडा कं(वी)ठी॥८५॥

पूर्वमसंघातिममेव फलकं ग्रहीतव्यम्, तस्यासत्यभावे संघातिमम् । किंविशिष्टमित्याह—द्व्यादिफलकात्मकं—द्विफलकात्मकम् , आदिशब्दात्—त्रिफलकात्मक चतुःफलकात्मकं वा गृह्णीयादिति योगः । तस्य फलकसघातात्मकस्य संस्तारकस्याभावे यथाकृता. कण्ठी(म्बी)गृह्णीयात्, गृहीत्वा तन्मयः संस्तारको विधीयते । तत्र या नमन्तिकं व्यस्ताः सान्तरा. क्रियन्ते, निरन्तराभिः प्राणजातेविराधनात्, एतच्च फलकेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

तथा चाह—

दोमादिसंतराणि उ, कर इमा तत्थ ऊऽनमंतेहिं ।
संघरिसेणऽण्णोण्णं, पाणादिविराहणा हुज्जा ॥ ८६ ॥

द्व्यादीनि फलकानि नमनशीलानि सान्तराणि करोति । किमर्थमित्याह-तत्र द्व्यादिफलकात्मके; संस्तारकेऽनमद्भिः फलकैरन्योन्यं सस्तारके प्राणादीनां विराधना भवेत् । प्राणा द्वित्रिचतुरिन्द्रिया.,आदिशब्दाद्-जीवादिपरिग्रहः।गतमेकाङ्गिकद्वारम्।इदानीमकुचद्वारम् । कुच्-स्यन्दने । न कुचतीत्यकुच , इगुपान्त्यलक्षणः कप्रत्ययः । यस्तथा बद्धः सन् न स्यन्दते सोऽकुचग्राह्य. । यस्तु कुचबन्धन. स परिहार्यः ।

तथा चाह

कुयबंधणम्मि लहुगा, विराहणा होइ संजमायाए ।
सिढिलिज्जंतम्मि जहा, विराहणा होइ पाणाणं ॥८७॥
पवडिज्ज व दुब्बद्धे, विराहणा तत्थ होइ आयाए ।
जम्हा एए दोसा, तम्हा उ कुयं न बंधेज्जा ॥ ८८ ॥

कुचं—शिथिल बन्धनं यस्य तस्मिन् कुचबन्धने संस्तारके गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तथा विराधना भवति संयमे, आत्मनि च । यतस्तस्मिन् शैथिल्यमाने शिथिलबन्धनतया प्रस्यन्दमाने प्राणाना विराधना भवति । एषा संयमविधना दुर्बद्धे स तस्मात् प्रपतत्, तत्र भवत्यात्मविराधना । यस्मादेत दोषा. तस्मात् यथा कुचं—शिथिल भवेत्, तथा न बध्नीयात्किं तु गाढबन्धनबद्धं कुर्यात् ।

तद्दिवसं पडिलेहा, ईमी उक्खेत्तु हेट्ठ उवरिं च ।
रयहरणेणं भंडं, अंके भूमीए वा काउं ॥ ८९ ॥

तद्दिवसं—प्रतिदिवस दिने दिने इत्यर्थ । भाण्ड संस्तारकादिलक्षणमीषत् उत्क्षिप्य अङ्के—उत्सङ्गे भूमौ वा कृत्वा अध उपरि च रजोहरणेन तस्य प्रत्युपेक्षा कर्त्तव्या ।

एवं तु दोण्णि वारा, पडिलेहा तस्स होइ कायव्वा ।
सव्वे बंधे मुत्तुं, पडिलेहा तस्स कायव्वा ॥ ९० ॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण द्वौ वारौ प्रातरपराह्ने च तस्य संस्तारकस्य प्रत्युपेक्षा भवति कर्त्तव्या । पक्षस्य पक्षस्यान्ते पुनः सर्वान् बन्धान् मुक्त्वा-छोटयित्वा प्रत्युपेक्षा भवति कर्त्तव्या । गतसकुचद्वारम् ।

अधुना प्रायोग्यद्वारमाह—

उग्गमआदी सुद्धो, गहणादी जाव वणितो एसो ।
एसो खलु पायोग्गा, हेट्ठिमसुत्ते व जो भणितो ॥ ०१ ॥

य उद्गमादिदोषशुद्ध—उद्गमोत्पादनादिदोषविशुद्धो यो वा एषोऽनन्तरमुपवर्णितो ग्रहणादौ ग्रहणेऽनुज्ञापनायां बद्ध एकाङ्गिकोऽकुचश्च । यदि वा—यो भणितोऽधस्तनसूत्रे—ऋतुबद्धप्रत्येकसूत्रे द्वात्रिंशद्भङ्गेषु मध्ये प्रथमभङ्गवर्त्ती एष खलु प्रायोग्यो वेदितव्यः ।

कज्जम्मि समत्तम्मि, अप्पेयव्वो अणप्पिणे लहुगा ।
आणादीया दोसा, बिइयं उट्ठाणहियदड्ढो ॥ ६२ ॥

कार्ये समाप्ते सति नियमात् संस्तारकोऽर्पयितव्यः । अनर्पणे प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । अत्रापि द्वितीयपदमपवादपदम् । यदि रोगस्योत्थानं प्रवर्त्तेत, स्तेनैर्वाऽपहृतोऽग्निना वा कथमपि दग्धस्तदा नार्पणमिति । तदेवं भावित वर्षावाससूत्रम् ।

संप्रति वृद्धावाससूत्रभावनार्थमाह—

वुड्ढावासे चेवं, गहणादिपदा उ होंति नायव्वा ।
नाणत्तखेत्तकाले, अप्पडिहारी य सो नियमा ॥ ६३ ॥

वृद्धावासेऽप्येवं—पूर्वोक्तेन प्रकारेण ग्रहणादीनि पदानि ज्ञातव्यानि भवन्ति । किमुक्तं भवति । यथा प्राक् वर्षावासे ग्रहणानुज्ञापनैकाङ्गिकाकुचप्रायोग्यलक्षणानि पञ्च द्वाराण्यभिहितानि, तथा—वृद्धावासेऽप्यनुगन्तव्यानि । तुशब्दो विशेषणे । स चैतद्विशिनष्टि-वृद्धावासे ऋतुबद्धेऽप्येष एव विधिरिति, नवरमत्र नानात्वं क्षेत्रे काले च तथा नियमादप्रतिहारी स वृद्धावासयोग्यः संस्तारको ग्रहीतव्यः ।

संप्रत्येतदेव सुस्पष्टं विभावयिषुराह—

काले जा पंचाहं, परेण वा खेत्तं जाव वत्तीसा ।
अप्पडिहारी असती, मंगलमादीसु पुव्वुत्ता ॥ ६४ ॥

इह वर्षावासे संस्तारकस्यानयने कालत उत्कर्षेण त्रीणि दिनान्युक्तानि, अत्र तु वृद्धावासे काले-कालमधिकृत्य यावत्पञ्चाहं—पञ्च दिनानि, ततः परेण वा आनयनं द्रष्टव्यम् । क्षेत्रतो यावत् द्वात्रिंशत् योजनानि । तथा अप्रतिहारिणोऽसत्यभावे संस्तारकस्य यानि मङ्गलादीनि पूर्वमुक्तानि तानि प्रयोक्तव्यानि । व्य० ८ उ० ।

रत्नाधिकाज्ञया रत्नाधिकार्थाय शय्यासंस्तारग्रहणम्-

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए सेज्जासंथारए पडिगाहित्तए ॥ २० ॥

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह—

जइ तु जहक्कमेणं, उवहीसंथारएसु उवयंति ।
तेसिं पि जया गहणं,तं पि हु एमेव संबंधो ॥६८०॥

अथ रत्नाधिकक्रमेणोपधिं गृहीत्वा ततस्ते स्वस्वसंस्तारकभूमिषु स्थापयन्ति।तेषामपि च संस्तारकाणां यदा ग्रहणं तदा तदप्येवमेव यथारत्नाधिकं कर्त्तव्यमेष पूर्वसूत्रेण संबन्धः,अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (सूत्रस्य-२०) व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारत्नाधिकं शय्यासंस्तारकान् प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथेदमेव सूत्रं विवरीषुराह—

सेज्जासंथारो वा, सेज्जा वसही उ ठाणसंथारो ।
पुव्वण्हम्मि उ गहणं,अगिण्हणं लहुग आणादी ।६८१।

संस्तारो नाम शय्या-वसतिस्तस्या यत् स्थान शयनयोग्यावकाशलक्षणं स शय्यासंस्तारक उच्यते। तस्य च शय्यासंस्तारकस्य उपाश्रय प्राप्तैः पूर्वाह्णवेलायामेव ग्रहणं कर्त्तव्यम् , अग्रहणे मासलघु प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषाः ।

चोयगपुच्छा दोसा, मंडलिबंधम्मि होइ आगमणं ।
संयम आयविराहणा,वियायगहणे य जे दोसा ।।६८२।।

अत्र नोदकः पृच्छां करोति-यदि पूर्वाह्ण एव ग्रामं प्राप्तास्तस्तदैव शय्यासंस्तारकमपि गृह्णन्तु, वयमप्येतत्प्रतिपद्यामहे ततो वहिरेव समुद्दिश्य चरमपौरुषीप्रत्युपेक्षणं कृत्वा स्वाध्यायं च विधाय कालवेलाया ग्रामं प्रविशन्तु। सूरिराह—'दोस' त्ति—वहिर्भुञ्जानाना बहवो दोषाः । कथमित्याह—मण्डलीवन्धे चिलिमिलिका दत्त्वा मण्डलीरचनया भोजने विधीयमानो कुतूहलेन सागारिकाणामागमनं भवति, तैः सहासखेडे क्रियमाणे संयमात्मविराधना। अकाले वसतेर्ग्रहणे ये दोषा भवन्ति, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तं भवतीति द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह—

अइभारेण व इरियं, न सोहए कंटगाइ आयाए ।
भत्तट्ठिय वोसरिया, अतितुं एवं जढा दोसा ॥६८३॥

परः प्राह—भक्तवेलाया प्राप्तैस्तावत्प्रथमतो भक्तं ग्रहीतव्यमन्यथा वेलातिक्रमे भक्तपानलाभो न भवेत्, ततो भक्तपानं गृहीत्वा वसतिं गवेषयित्वा यदि तदानीमेव तत्र प्रवेश क्रियते तदा भक्तपानोपकरणसत्के योऽतिभारस्तेन वाशब्दस्योक्तसमुच्चयार्थतया बुभुक्षातृष्णापरितापनया चोपयोगमप्रयच्छन्तः संयमेर्यां न शोधयेयुः। आत्मनि कण्टकादिक न पश्येयु ।एव च यथाक्रमं सयमात्मविराधना।ततो भक्तार्थितव्युत्सृष्टाः-पूर्वं भक्तार्थिता वहिरेव समुद्दिष्टास्ततो व्युत्सृष्टा कृतपुरीषप्रस्रवणोत्सर्गाः सन्तो ग्राममतियन्तु प्रविशन्तु। एवं हि दोषाः संयमात्मविराधनालक्षणाः परित्यक्ता भवन्ति ।

अथाऽऽचार्यः प्रत्युत्तरयति—

आयरियवयणदोसा, दुविहा नियमा उ संजमायाए ।
वच्चह को वा सामी, असंखडं मंडलीए वा ॥६८४॥

आचार्यस्य वचनमिदम्-त्वदुक्तनीत्या वहिर्भुञ्जानाना नियमाद् द्विविधा संयमात्मविराधनादोषा भवन्ति। तथा हि-तैस्तद् भक्तपानमानीतं,सागारिकाश्च कुतूहलवशाद् तद्दर्शनार्थमागतास्ततो यदि तावन्तं कालं भक्तपान धारयन्तस्ति-

घ्नन्ति तदा भारेण महती परितापना भवेत्, सूत्रार्थयोश्च परिहानिरुपजायेत । अथ सागारिकान् ब्रुवते--व्रजत यूयं ततोऽधिकरणं भवति । अथवा--सागारिका एवमुच्यमाना ब्रुवीरन् कोऽस्य वृत्तस्य देवकुलस्य वा स्वामी यो वाऽस्माकं संमुखं व्रजतीति भणिते पचमसंखडे तैः सह संजाते ततश्च भाजनभेदादयो दोषाः । अथ मण्डल्यां रचितायां सागारिकाः समागच्छन्ति ततो महान्तमुड्डाहं कुर्युः ।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह--

भत्तट्ठिणॉ सज्झाए, पडिलेहण रत्तिगेण्हणे जं व ।
पुव्वण्हम्मि तु गहणं,परिहरिया ते भवे दोसा ॥६८५॥

भक्तार्थिना मण्डल्या भोजनं स्वाध्याय प्रत्युपेक्षणा वा क्रियमाणा विलोक्येति उड्डाहं उड्डं वक्रं वा ब्रुवीरन्, तत्रापि तथैवासंखडिदोष. । अथ ते सागारिकाः प्रद्विष्टाः सन्तो वसतिं न प्रयच्छन्ति ततोऽपरं ग्रामं गच्छेयुः । तत्र च विकाले प्राप्ता. सन्तो रात्रौ वसतिग्रहणं कुर्वन्तो यद्दोषजालमापद्यन्ते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्, अत. पूर्वाह्णे एव वसतेर्ग्रहणं कर्त्तव्यम्, ततश्च ते पूर्वोक्ता दोषाः परिहृता भवन्ति ।

किं च--

कोतूहल आगमणं, संखोहेणं अकंटगमणादी ।
ते चेव संखडादी, वसहिं व न देंति जं चऽन्नं ॥६८६॥

मण्डल्यां सागारिकाः कुतूहलेनागमनं कुर्युः, तत्र कस्यापि संयतस्य संक्षोभेण भक्तपानस्य कण्टगमादिकमश्रोतोगमनप्रभृतिकं भवेत् । अथवा-कोऽप्यसहिष्णुर्ब्रूयात् किमेनं प्रति कथयत, तत एवासंखडादयो दोषाः । अथ सागारिकमिति कृत्वा अभुक्ता एव भक्तपानव्यग्रहस्ता ग्राम प्रविशन्ति, तत्र च यै. सममसंखडं कृतं तत्र ते वसतिं न प्रयच्छेयु., अन्यानपि च ददतो निवारयेयुः । एवं च तत्र निवसतावप्राप्यमाणायां यदन्यद्दोषजातमासज्जते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथ वसत्यभावादकृतभोजना एवान्यं ग्रामं गच्छेयु--
स्तत इमे दोषाः--

भारेण वेयणा य, अनपेहा खाणुमाइए दोसे ।
इरियाइसंजमम्मी, परिगलमाणे य छक्काया ॥ ६८७ ॥

भक्तपानस्योपकरणस्य च संबन्धिनां भारेण वेदना भवेत्, तथा च स्थाणुकण्टकादीन् दोपाननपेक्षतश्चात्मविराधना, यत्पुनरीर्याया अशोधनं सा संयमविराधना । परिगलति भक्तपाने षट्कायविराधना ।

तत्र प्रासान् दोषानभिधित्सुराह-

पविसणमग्गणठाणे, वेसित्थिदुगुंछिए य सुसे य ।
सज्झाए संथारे, उच्चारे चेव पासवणे ॥ ६८८ ॥

अन्यस्मिन् ग्रामे विकालवेलायां प्रवेशे कृते वसतेर्मार्गणे परस्परस्फिटितानामाकारणेन महानधिकरणदोषो भवति । वेश्यास्त्री (वा) पाटके चर्म्मकारादिस्थाने वा जुगुप्सिते तिष्ठतां प्रवचनस्य उपघातम् । शून्यगृहादौ वा प्रत्युपेक्षितायां संस्तारकमुच्चारं प्रस्रवणं च कुर्वतां च बहवो दोषा भवन्तीति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति--

सावय तेणे दुविहा,विराहणा जा य उवहिया उ विणा ।
गुम्मियगहणाहणणा, गोणादी चमढणा रत्तिं ॥६८९॥

विकाले प्रविशता श्व (श्वा) पदभयं भवति । स्तेना द्विधाशरीरापहारिणः, उपकरणापहारिणश्च । ते तदानीमभिद्रवन्ति । उपधावपहृते या तेन विना तृणग्रहणाग्निसेवनादिका सयमविराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथवा--स प्रत्यन्तप्रदेशवर्त्ती ग्रामस्ततस्तत्र बद्धस्थानकगौल्मिका आरक्षिकपुरुषाः स्तेनादीनभिलीयमानान् रक्षन्ति, ततो विकालवेलायां प्राप्तानां स्तेना अमी इति बुद्ध्या ग्रहणाहननादिक कुर्युः । अथवा-विकाले प्रविशन्तो गवादिभिः पादप्रहारादिका चमढनामासादयन्ति । एते रात्रौ प्राप्तानां दोषाः ।

किञ्च--

फिडिताऽन्नान्नोऽऽगारण, तेणा रत्तिं दिया व पंथम्मि ।
मसाणाइवेसकुच्छिय, तन्नोवरणं मूसगा जं च ॥ ६९० ॥

विकाले वसतिगवेषणार्थं पृथक् २ गतास्ततः स्फिटिताः--परस्परपरिभ्रष्टाः सन्तोऽन्योन्यमाकारणं--व्याहरणं कुर्युः, स्तेनकास्तद्वचनं श्रुत्वा रात्रौ मुषितुमभिलषेयुः, दिवा वा द्वितीये दिवसे पथि-मार्गे गच्छतः स्तेनका मुषेयु. । श्वानादयो वा रात्रौ वसतिगवेषणार्थं पर्यटन्तस्तान् उपद्रवेयु. । 'वेसकुच्छिय' त्ति रात्रौ च वसतिमन्वेषयन्त. किमेतद् गृहं वेश्यापाटकस्य प्रत्यासन्नमुत नेति । यद्वा-किमेतच्चर्मकारकादिजुगुप्सितकुलासन्नमाहोस्विन्नेति । एवं च जनास्ते वेश्यापाटकासन्ने प्रतिश्रये वसेयु. । ततो लोको ब्रूयात्-अहो तपोवनमध्यासते जितेन्द्रिया अमी महर्षय इति । अथ जुगुप्सितस्थानासन्ने स्थितास्ततो लोका ब्रुवीरन् स्वस्थानं मूषिकाः समागता एतेऽप्येवं जानीया इति भावः 'जं च ' त्ति यच्च रात्रौ अन्योन्यालपने अप्कायानयनादिकमपि करणं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । तथा तत्रोपाश्रये रात्रौ प्राप्ता. सन्तः काले भूमिर्न प्रत्युपेक्षितेति कृत्वा यदि स्वाध्यायं न कुर्वन्ति ततस्सूत्रार्थनाशादयो दोषा. । अथ कुर्वन्ति ततः सामाचारीविराधना ।

अथ संस्तारकद्वारं व्याख्याति--

अप्पडिलेहियकंटा, विलं व संथारगम्मि आयाए ।
छक्कायाण विराहण, विलीण सेहऽन्नहाभावो ॥६९१॥

अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ कण्टका भवेयु., विलं-सर्पादिसंबन्धि तत. संस्तारके प्रस्तीर्यमाणे आत्मनि विराधना । भावत. पृथिव्यादयो दोषाः, षट्कायास्तत्र भवेयुः तेषां संस्तारकेनाक्रम्यमाणाना विराधना भवति । विलीन वा-जुगुप्सितं वा संज्ञाकायिक्यादिक तत्र भवेत्, ततः शैक्षस्य जुगुप्सया अन्यथाभावो-निष्क्रमणाभिप्रायो भवेत् ।

अथोच्चारप्रस्रवणद्वारद्वयं युगपदाह-

खाणुगकंटगवाला, विलम्मि जइ वोसिरिज्ज आयाए ।
संजमओ छक्काया , गमणे पत्ते अइंते य ॥ ६९२ ॥

अप्रत्युपेक्षिते प्रतिश्रये स्थाणुकण्टकव्याला भवेयुस्तदाकुले-बिलसमाकुले वा प्रदेशे यदि व्युत्सृजति तेन आत्मविराधना। अथ पृथिव्यादिषट्कायवति भूभागे व्युत्सृजति ततः संयमविराधना। एते द्वे अपि विराधने 'गमणे' त्ति संज्ञाकायिकीव्युत्सर्जनार्थं वा गच्छतः। 'पत्ते' त्ति संज्ञाभुव-कायिकीभुव वा प्राप्तस्य 'अद्दते य' त्ति संज्ञां कायिकीं वा व्युत्सृज्य भूयोऽपि वसतिं प्रविशतो यथासंभवं मन्तव्ये।

अथ विराधनाभयान्न व्युत्सृजति तत इमे दोषाः —

मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोधेण जीवियं जहइ।
उड्डनिरोहे कोढं, गेलन्नं वा भवे तिसु वि॥ ६६३॥

मूत्रनिरोधे विधीयमाने चक्षुरुपहन्यते। वर्च्चः--पुरीष तस्य निरोधेन जीवितं परित्यजति। अचिरादेव मरणं भवतीत्यर्थः। ऊर्ध्व-वमनं तस्य निरोधे कुष्ठ भवति। ग्लानं वा सामान्यतो मान्द्यं त्रिष्वपि मूत्रपुरीषवमनेषु निरुध्यमानेषु भवेत्।

यत एते दोषाः अतः —

पढमबिइयाएँ तम्हा, गमणं पडिलेहणाएँ वेमो य।
पुव्वठिया जइ गच्छे, ठवेतु ताहि इमे तिन्नि॥ ६६४॥

तस्मात्प्रथमद्वितीयस्यां वा पौरुष्यां विवक्षितग्रामे गमन कृत्वा ततो वसतेः प्रत्युपेक्षणा प्रवेशश्च तस्या कर्त्तव्य। कथमित्याह-यदि तत्र केऽपि साधवः पूर्वस्थिता सन्ति तदा सर्वेऽपि प्रविशन्ति। अथ न सन्ति पूर्वस्थितास्ततो गच्छं क्वचित् वृक्षादेरधो बहिः स्थापयित्वा इमे ईदृशास्त्रयः साधवो ग्राम प्रविशन्ति।

परिणयवयगीयत्था, हयसंका पुंछचिलिमिलीदारे।
तिन्नि दुवे एको वा, वसहीपेहट्ठया पविसे॥ ६६५॥

गीतार्था परिणतवयस अत एव हतशङ्का--अशङ्कनीया ते गुरुमापृच्छ्य दण्डप्रोञ्छनकं चिलिमिलीदवरकाश्च गृहीत्वा त्रयो जनास्तदभावे द्वौ जनौ तदप्राप्तावेको वा वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं ग्राम प्रविशन्ति। ततो वसतिं गृहीत्वा प्रमृज्य च चिलिमिलिका च दत्त्वा सबालवृद्धमपि गच्छं तत्र प्रवेशयन्ति।

अथ विकालवेलाया न प्रवेष्टव्यमिति यदुक्तं तदपवदन्नाह-

बिइयं ताहे पत्ता, एए व ततो उवस्सयं न लभे।
सुन्नघरदेउले वा, उज्जाणे वा अपरिभोगे॥ ६६६॥

द्वितीयपदमत्राभिधीयते-तदानीं विकालवेलायामेव प्राप्ता, यद्वा-प्रगे-प्रभाते प्राप्ता परमुपाश्रय न लभन्ते ततो विकाले प्रविशेयुः प्रभातप्राप्ताश्च दिवा शून्यगृहे देवकुले वा उद्याने वा अपरिभोग्ये—जनोपभोगरहिते तिष्ठन्ति तत्रैव च समुद्देशन कुर्वन्ति।

आवाय चिलिमिणीए, रन्ने वा निब्भये समुद्दिसणं।
सभये पच्छन्नासइ, कमढगकुरुयाव संतरिया॥ ६६७॥

अथ शून्यगृहादौ सागारिकाणामपि यतो भवति ततः चिलिमिलिका दत्त्वा समुद्देष्टव्यम्। अरण्ये वा यदि निर्भयं ततस्तत्र गत्वा समुद्दिशन्ति। अथारण्यं सभयं वसतेः समीप एव यः प्रच्छन्नप्रदेशस्तत्र समुद्देशनं कर्त्तव्यम्। अथ प्रच्छन्नस्थानं नास्ति ततस्तत्रैव शून्यगृहादौ कमठकेषु शुक्ललेपेन सबाह्याभ्यन्तर लिप्तेषु कांस्यकोद्रकाकारेषु समुद्दिशन्ति। कुरुचावसमुद्देशनानन्तर पादप्रक्षालनादिका बहुना द्रवेण कर्त्तव्या। समुद्दिशन्तश्च सान्तरा -सावकाशा वृहदन्तराला उपविशन्ति। एव कृत्वा बहिरेव संज्ञादि व्युत्सृज्य ततो ग्राम प्रविशन्ति, प्रविष्टाश्च या पूर्वं भिक्षां हिण्डमानैर्वसतिः प्रत्युपेक्षिता तस्यां वसन्ति।

कथमित्याह—

कोट्ठग सभा व पुव्वं, कालवियाराइ भूमिपडिलेहा।
पच्छा अतिंति रत्तिं, अहवण पत्ता निसिं चेव॥ ६६८॥

कोष्ठकः--आवासविशेषः, सभा प्रतीता, एवमादिकं यत्पूर्वं भिक्षां पर्यटद्भिः प्रत्युपेक्षितं तत्र कालग्रहणयोग्या भूमि विचारस्य च--संज्ञायाः, आदिशब्दात् कायिक्याश्च भूमिः सूर्ये ध्रियमाण एव प्रत्युपेक्ष्यन्ते। ततः पश्चात्सर्वेऽपि सन्तो रात्रौ प्रदोषसमये आतियन्ति 'अहवण' त्ति अथवा ते साधवो निशायामेव प्राप्ता भवेयुः।

ततः को विधिरित्याह—

गोम्मियभेसणसमणा, निब्भयबहिठाण वसहिपडिलेहा।
सुन्नघरपुव्वभणिए, कंचुग तह दारुदंडेणं॥ ६६९॥

गुल्मेन-समुदायेन चरन्तीति गौल्मिकाः--स्थानरक्षपालास्ते यदि भीषणं-वित्रासनं कुर्वन्ति ततो वक्तव्यं श्रमणा वयं न स्तेनाः। यदि रात्रौ वासो निर्भयो भवति तदा 'ठाण' त्ति। बहिरेव गच्छस्तावदवस्थानं करोति, वृषभास्तु वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं ग्राम प्रविशन्ति तत्र च शून्यगृहं पूर्वभणितेन विधिना प्रत्युपेक्ष्य सर्पादिपतनभयात् गोपालकं परिधाय दारुदण्डेन प्रोञ्छनकेन वसतिमुपरि प्रस्फोटयन्ति ततो गच्छः प्रविशति।

अथ संस्तारकग्रहणविधिमाह—

संथारगभूमितिगं, आयरिए सेसगाण एक्केक्कं।
रुंदाएँ पुप्फकिन्ना, मंडलिया आवली इतरे॥ ७००॥

'आयरिए' त्ति षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदादाचार्यस्य योग्यं संस्तारभूमित्रयं प्रथमतो निरूपणीयम्। तत्रैका निवाता संस्तारकभूमिरपरा प्रवाता, अनिवातप्रवाता च शेषाणां साधूनां योग्यामेकैकां संस्तारभूमिमन्वेषयेत्। इह वसतिस्त्रिधा-विस्तीर्णा, क्षुल्लिका, प्रमाणयुक्ता च। तत्र रुन्द्रा नाम विस्तीर्णा बहुशालादिरित्यर्थः। तस्यां पुष्पावकीर्णा पुष्पकरवदवकीर्णा अनियतक्रमा अयथार्थ्या स्वपन्ति, येन सागारिकाणामवकाशो न भवति। अथ क्षुल्लिका ततो मध्ये पात्रकाणि कृत्वा मण्डलिकाकारेण पार्श्वतः शेरते। इतरा नाम प्रमाणयुक्ता तस्यामावल्या पङ्क्त्या स्वपन्ति।

अत्रैव विधिविपर्यासे प्रायश्चित्तमाह-

सीसं इतो य पादा, इहं च मे बंधिया इहं मज्झ।
जइ अगहियसंथारो, भणेइ लहुगोऽहिकरणादी॥ ७०१॥

एव 'से' तस्य तीव्रतरमायाविनो मासगुरु प्रायश्चित्तम् ।

अथ संस्तारकग्रहणे विधिमाह—

वित्थिन्नकुट्टिमतले, डहराए विसमए य घेप्पंते ।
होइ अहाराइणियं, राइणियाते इमे होंति ॥ ७११ ॥

विस्तीर्णाया वा डहराया वा-सपूर्णायां वसतौ कुट्टिमतले च विषमे वा भूभागे यथारत्नाधिकं संस्तारको गृह्यते । ते च रत्नाधिका इमे भवन्ति ।

उवसंपज गिलाणे, परित्तखमए अवाउडियथेरे ।
तेण परं वित्थिन्ने, परियाए मो त्ति मे तिण्णि ॥७१२॥

प्रथमतो गुरूणा संस्तारकत्रयं दत्त्वा ततो यो ज्ञानाद्यर्थमुपसपद प्रतिपन्नस्तस्य संस्तारको दातव्यः, ततो ग्लानस्य, तत. परीत्तोपधे', तत क्षपकस्य, तत अपावृतकस्य-अपावृतेन मया सकलाऽपि रजनी गमनीयेत्येव प्रतिपन्नाभिग्रहस्य, तदनन्तरं स्थविरस्य—श्रुतेन वयसा वा वृद्धस्य तत. पर विस्तीर्णे प्रतिश्रये पर्यायेण रत्नाधिकक्रमेण सस्तारको ग्रहीतव्य , पर मुक्त्वा अमून् त्रीन् क्षुल्लकशैक्षवैयावृत्यकरान् वक्ष्यमाणगाथायामभिधास्यमानान् । आह—उपसंपन्नग्लानादीना क्रियता प्रथम सस्तारकप्रदानेनानुग्रह', यस्तु तपस्वी विपुला निर्जरामभिलषन् स्वयमेवापावृतेन मया स्थातव्यमित्येवमभिगृह्णाति तस्य किमर्थ स्थविरादिभ्यः प्रथमं संस्तारको दीयते ।

कामं सकामकिच्चो, अभिग्गहो नो बलाभिओगेणं ।
तणुसाहारणहेउं, तहवि निवाए व ठावेंति ॥ ७१३ ॥

काममनुमतमिदं स्वकामेन—स्वकीयया एव इच्छया कृत्य' कर्तव्योऽभिग्रहो न तु बलाभियोगेन परं तथापि न तु साधारणहेतो शरीरस्य शीतोपद्रवसरक्षणनिमित्तं निवाते प्रदेशे तं स्थापयन्ति ।

कुत इति चेदित्याह—

अन्नोन्नकारेण वि निज्जरा जा,
न सा भवे तस्स विवज्जएणं ।
जहा तवस्सी धुणुते तवेणं,
कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता ॥ ७१४ ॥

अन्योन्यकारो नाम—परस्परं वैयावृत्त्यकरणं तेन या निर्जरा विशिष्टकर्मक्षयरूपा सा तस्य अन्योन्यकारस्य विपर्ययेण—व्यतिरेकेण न भवति । यथा किल तपस्वी तपसा कर्म-ज्ञानावरणादि धुनोति, तथा यस्तस्य साहाय्यकरणेन तदीयतपसोऽनुमन्ता तमपि तथैव कर्मक्षयकारिणं जानीहि अतो युक्तमवापावृताभिग्रहिकस्यानुग्रहविधानम् ।

अथ यदुक्तममून् त्रीन् मुक्त्वेति तस्य व्याख्यानार्थमाह—

वीहंत एव खुड्डे, वेयावच्चकरे सेहो (जस्स) पासम्मि ।
विसमऽप्प तिन्नि गुरुणो, इतरे गहियम्मि गेण्हंति ।७१५।

क्षुल्लकस्वभावादेव विभ्यत् भवति ततो बहिः स्थाप्यमान कूजितरुदितादि कुर्यात्, अतो यस्तं परिवर्त्तयति तस्य समीपे स्थाप्यते । वैयावृत्यकरो—ग्लानस्य प्रतिचरक' स ग्लानपार्श्वे क्रियते । शैक्षा यस्य पार्श्वे भिक्षा गृह्णाति तस्यान्तिके स्थापनीय. । तथा विषमे वा अल्पे वा संकीर्णे प्रतिश्रये त्रीन् सस्तारकान् गुरूणां दत्त्वा तत इतरे उपसपन्नादयो गुरुभिर्गृहीते सति संस्तारकत्रये यथोक्तक्रमेण गृह्णन्ति एष सग्रहगाथासमासार्थः ।

अथास्या एव पूर्वार्द्धं विभावयिषुराह—

वीहेज्ज बाहिं ठविते उ खुड्डो,तेणाइयं मो य अजगरा ये ।
सारेइ जो तं उभयं च नेई,तस्सेव पासम्मि करेंति तं तु७१६

क्षुल्लको बहि' स्थापितः सन् अजागरणशीलश्चासौ बहि. सुप्त., स न केनापि उत्थापित. प्रतिक्रमणवेलायामपि न जागृयात् , ततो यस्तं क्षुल्लक सारयति भिक्षा ग्राहयति उभय च-सज्ञाकायिकीलक्षण तदीयं यो नयति परिष्ठापयति तस्यैव पार्श्वे त कुर्वन्ति ।

संथारगं जो इतरं व मत्तं,
उव्वत्तमादी व करेइ तस्स ।
गाहेइ सेहं खलु जो य भेरं,
करेन्ति तस्सेव उ तं सगासे ॥ ७१७ ॥

ग्लानस्य संस्तारकं यः करोति, इतरद्वा संज्ञाव्युत्सर्जन यो ग्लानं कारयति, मात्रकं वा परिष्ठापयति, उद्वर्त्तनपरावर्त्तनादीनि वा तस्य ग्लानस्य यः करोति त वैयावृत्यकरं तस्यैव पार्श्वे स्थापयन्ति यो वा शैक्ष मेरां समाचारीं ग्राहयति तं तस्यैव सकाशे कुर्वन्ति ।

एवं विस्तीर्णायां वसतौ तावद्विधिरुक्तः । अथ-सकीर्णायां विधिमभिधित्सुराह—

समविसमा थेराणं, आवलिया तत्थ अप्पणो इच्छा ।
खेलपवायनिवाए, पाहुणए जं विहिग्गहणं ॥ ७१८ ॥

सकीर्णाया वसतौ सर्वत्रापि संस्तारणीयेन पुनर्विषम इति कृत्वा कश्चिदप्यवकाशश्चान्यो मोक्तव्य । तत आवलिकया पङ्क्त्या यथारत्नाधिकं विभज्यमाना संस्तारकभूमिः स्थविराणा—वृद्धानां समा वा समागच्छेद्विषमा वा । तत्र विषमाया तेषामात्मीया इच्छा । कोऽर्थः-यदि सहिष्णुतया विषमेऽपि संस्तारयितु शक्नुवन्ति ततस्तत्रैव सस्तारयन्ति । अथ असहिष्णवस्तदा समां भूमिमनुज्ञापयन्ति । 'खेल' त्ति यस्य खेल. स्यन्दते तस्य मध्ये अवकाश. समायातस्तेन विविक्ते अवकाशे यः संस्तारकः सोऽनुज्ञापनीयः। य' पित्तल', स प्रवाते स्थातुमभिलषति यो वातूल स निवाते। एतयो. परस्परं संस्तारकपरावर्त्तो भवति । प्राघूर्णक आचार्यादि. समागत तस्याऽपि यद्विधिना वक्ष्यमाणेन संस्तारकग्रहण तदनुज्ञातमिति पुरातनगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विभावयिषुराह—

विसमो मे संथारो, गाढापासा मे एत्थ भज्जंति ।
को देज्ज मज्झ ठाणं,समं ति तरुणा सयं बेंति ॥ ७१९॥

सस्तारकभूमि स्थविराणां विषमा तरुणाना समा याता । य स्थविर' असहिष्णु' स ब्रूयात् विषमो मे मदीय सस्तारक. पार्श्वाणि चात्र विषमे शयानस्य गाढ मम भज्यन्ते , अनः को नाम मह्य सम स्थान दद्यादिति । ततो ये तरुणास्त

स्वयमेव गुरुभिरनुक्ता ब्रुवते—अस्माकमवकाशे यूयं संस्तारयत।

जइ पुण अच्छिजंता, न दिंति ठाणं बला न दावेंति।
देंति तह पुच्छणादी, बहिभावा संखडं मा वा ॥७२०॥

यदि पुनस्तरुणाः समं भूभागमभ्यर्थमाना अपि न प्रयच्छन्ति, ततो वृषभा सूरयो वा न तैर्बलाद्दापयन्ति। मा बलाद्दाप्यमानास्ते बहिर्भावं गच्छेयुः, असंखडं वा कुर्युः। स्थविराश्च तत्र विषमेऽवकाशे पादप्रोञ्छनादिकं ददति, येन सुखेनैव संस्तारयितुं शक्यते।

खेलद्वारमाह।

मज्झम्मि ठाओ मम एस जातो,
पासंदए निच्च ममं च खेलो।
वाओ सरावस्स य नऽत्थि एत्थं,
सिंचिज्जखेलेण य मा हु सुत्ते ॥ ७२१ ॥

श्लेष्मलो ब्रूयात्—मम तावदेष स्थायः—अवकाशो मध्ये संजातः, मम च खेलः—श्लेष्मा नित्यं प्रस्यन्दते। अत्र चोभयतोऽपि पार्श्ववर्त्तिसंस्तारकाकीर्णे शरावस्य-खेलमल्लकस्य नास्त्यवकाशः। अत्र संस्तारयन् अहं प्रत्यासन्नसुप्तान् शेषसाधूनपि मा श्लेष्मणा सिञ्चेयमिति ततो यस्य विविक्ते प्रदेशे संस्तारकः स तस्यात्मीयमवकाशं प्रयच्छति।

प्रवातनिवातद्वारमाह—

निद्दं ण विंदामि य उद्धरेण,
को मे पवायम्मि दएज्ज भूमिं।
सीएण वाएण य मज्झ बाहिं,
न पचए अन्न महऽन्नमाह ॥ ७२२ ॥

पित्तलो ब्रूयात्—अहमिह निवाते संस्तारयन् उद्धरेण-श्रमोपतापेन निद्रां न विन्दामि—न लभे, अत. को नाम प्रवाते भूमिकां दद्यात्। अथानन्तरमन्यो वातल. स आह-ब्रूयात्, शीतेन वातेन पीड्यमानस्य मम बहि. सुप्तस्यान्नं न पच्यते-न जीर्यति। तत एतौ परस्परं संस्तारकं परिवर्त्तयत.। इह संग्रहगाथायां खेलप्रवातनिवातग्रहणमुपलक्षणं तेनेदमभिधीयते।

जो एति एक्कं न उ एक्कलेयं,
ठवेति तं सूरगहस्स पासे।
एक्कम्मि खंभम्मि न मत्तहत्थी,
वज्झन्ति वग्घा न य पंजरे दो ॥७२३॥

य. एकः असंखडिकः—कलहनशीलः इत्यर्थ., तमेकेन सह न योजयन्ति, किं तु य. शूरो ग्राहकः—कलहादिकुर्वता शिक्षा कर्त्तुं समर्थः तस्य पार्श्वे तं स्थापयन्ति, यत. एकस्मिन् आलीनस्तम्भे द्वौ मत्तहस्तिनौ न वध्येते, परस्परं भण्डनसंभवात्। एवमेकस्मिन् पञ्जरे द्वौ व्याघ्रौ न प्रक्षिप्येते।

अथ 'पाहुणए जं विहिग्गहणं' ति पदं व्याख्यातुमाह—

रायणिओ आयरिओ, आयरियस्सेव अक्कमइ ठाणं।
इतरो वसभट्ठाए, ठायइ जे ते व दो एगो ॥ ७२४ ॥

यदि प्राघूर्णक आचार्यो रत्नाधिकस्ततोऽसावाचार्यस्यैव स्थानमवकाशमाक्रामति। वास्तव्याचार्यस्थाने संस्तारयतीत्यर्थः। इतरो वास्तव्याचार्यो वृषभस्योपाध्यायस्य वा अवकाशे तिष्ठति संस्तारयति। अथाचार्यसत्कं सस्तारकत्रयं तन्मध्यादेकस्मिन् प्राघूर्णकाचार्यः प्रसुप्तः 'जे ते वा दो एग' त्ति। ततो यौ तौ द्वाववशिष्यमाणौ संस्तारकौ तयोरेकस्मिन् वास्तव्याचार्यः संस्तारयति।

ओमे पुण आयरिओ, वसभो मासे अणंतरे वसभो।
संछोभपरंपरओ, चरिमं सेहं व मोत्तूणं ॥ ७२५ ॥

अथाऽसौ प्राघूर्णक आचार्यः अवमपर्यायलघुस्ततो वृषभस्यावकाशे संस्तारयति। वृषभस्तु तदनन्तरमवमरात्रिकस्थाने स्वपिति। एवं संस्तारकाणा संघा परपरक. परंपरया स्थानान्तरसंक्रमणरूपस्तावन्नेतव्यो यावद् द्विचरमः साधु.। यस्तु चरमः सर्वपाश्चात्यावकाशशायी तं शैक्षं च मुक्त्वा तयो. संस्वारको नान्यत्र संक्रामयितव्य इति भावः।

इदमेव व्याचष्टे—

चरिमो बहिं न कीरइ, सेहं न सहायगा विहुयलं ति।
रंगिड्ढिपुरिसनायं, सव्वे तत्थेव मार्वेति ॥७२६॥

चरम.-प्रत्यन्तवर्त्ती बहिर्न क्रियते। शैक्षमपि सहायकान्-शिक्षाग्राहकान् न विहुगलन्ति-न स्फाटयति,बहिर्निष्काश्यमानौ हि तौ बहिर्नावगच्छत., बहिरवगमनत. प्रतिगमनादीनि कुर्यातास्। अत. संस्तारकं संक्षिप्य तथा प्रस्तारणीय., यथा तयोरपि चरमशैक्षयो. संस्वारकौ प्रतिश्रयमध्य एव पूर्येताम्। तथा चात्र रङ्गे ये बुद्धिमन्त. पुरुषास्तैर्ज्ञात. कर्त्तव्य.। यथा रङ्गभूमौ पूर्व प्राकृतजनैराकीर्णायामपि ये राजामात्यश्रेष्ठिप्रभृतय. प्रधानपुरुषाः पश्चादागच्छन्ति तेषामुपवेशनयोग्यानवकाशान् दत्त्वा संक्षिप्ततरावकाशस्थापनेन प्रागुपविष्टा अपि तत्रैव माप्यन्ते। एवमस्माकमपि प्राघूर्णकः प्रधानपुरुषकल्पस्ततस्तेषां यथायोग्यमवकाशान् दत्त्वा वृषभाः सस्तारकभूमीः संक्षिप्य प्रयच्छन्त. सपूर्वानपि साधून् तत्रैव मापयन्तीति। वृ० ३ उ०।

प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारमनर्पयित्वा न गन्तव्यम्-

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सेज्जासंथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वएत्तए ॥ २५ ॥

अस्य सूत्रस्य क. संवन्ध इत्याह—

अविदिण्णमंतरगिहे, परिकहणामियं पदिण्णमिइ जोगो।
निग्गमणं वसभाणं, बहिं व वत्तं इमं अंतो ॥६१६॥

अन्तरगृहे यत्परिकथनमुपदेशप्रदान तदवतीर्णं तीर्थकरैर्गृहपतिनाथाननुज्ञातम्। इदमपि प्रातिहारिकं शय्यासंस्तार—

कस्य प्रत्यर्पणमदत्तमनुज्ञातमित्येवं योग.-सवन्ध । यद्वा-निमित्त प्रतिश्रयात् द्वयोरपि सूत्रयोः समान-तुल्यम् । अथ वा-पूर्वसूत्रे प्रतिश्रयाद्बहिर्भिक्षायां निर्गतस्य धर्मकथनं न कल्पते इत्युक्तम्, इद पुनरन्त. प्रतिश्रयमध्ये संस्तारकस्य यन्निक्षेपण तत्कल्पते इत्यत्र प्रतिपद्यते । अनेन संवन्धेनायातस्यास्य (सूत्रस्य-२७) व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रतिहरण प्रतिहार.-प्रत्यर्पण तमर्हतीति प्रातिहारिकं, शय्या च सर्वाङ्गीणा संस्तारकश्चार्द्धतृतीयहस्तमान. शय्यासंस्तारकं तदादाय—गृहीत्वा कार्यसमाप्तौ अप्रतिहृत्यार्पणमकृत्वा संप्रव्रजितुं ग्रामान्तरं विहर्तुमिति सूत्रार्थः ।

सिज्जा संथारो य, परिसाडी अपरिसाडिमो होई ।
परिसाडि कारणम्मि,अणप्पिणामो सो आणादी॥६२०॥

शय्या संस्तारको वा-परिशाटी, अपरिशाटी च भवति । परिशाटी तृणादिमय., अपरिशाटी फलकादिमयः । तत्र परिशाटी संस्तारक. कारणवशादृतुबद्धे गृहीतो भवेत्, तं मासकल्पे पूर्णे अनर्पयित्वा व्रजतां मासलघु, आज्ञादयो दोषाः ।

एते वा अपरे—

सोच्चा गत त्ति लहुगा, अप्पत्तियगुरुग जं च वोच्छेओ ।
कप्पट्ठखेल्लणेण य, डह लहु लहुगा य गुरुगा य ॥६२१॥

संस्तारकस्वामिना श्रुत संस्तारकमनर्पयित्वा गतास्ते संयताः । एवं श्रुत्वा यदि प्रीतिक करोति, अनर्पितेऽप्यनुग्रह एवास्माकमिति ततश्चतुर्लघव. । अथाप्रीतिकं करोति मदीयानि तृणानि हारितानि विनाशितानि चेति, तदा च चतुर्गुरव' । यदि तद्द्रव्यस्यान्यद्रव्यस्य वा व्यवच्छेदः तथापि चतुर्गुरुकम् । अथवा—तस्मिन्संस्तारके शून्ये 'कप्पट्ठ' त्ति बालकानि खेलन्ते मासलघु । अथान्यत्र त नयन्ति ततश्चतुर्लघु । अग्नौ प्रक्षिप्य दहन्ति चतुर्लघवः । दह्यमाने च तस्मिन्नन्येषा प्राणजातीयानां विराधना भवेत् तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

तथा प्रीतिकपद व्याचष्टे—

दिज्जंते वि तथा णि-च्छज्ज ण अलभेसु भे त्ति णेच्छसं ।
कयकज्जा जणभोगं, काऊण कहिं गया सच्छा ॥६२२॥

ग्रहणकाले निर्देशमपि दीयमान तदानीं नेच्छति स्म । अनिष्पन्नमभिकाङ्क्ष्य मासकल्पे पूर्णे 'भे'—भवतामर्पयिष्याम इति भणनपूर्वकं नीत्वा । साम्प्रतं कृतकार्या विहितान्यप्रयोजना. शून्य जनभोग्य कृत्वा कुत्रचित् ग्रामे नगरे वा गताः, 'सच्छ' ति । नैपातिकपद कुत्सायां वर्त्तते, ये पुनस्ते दुर्दृष्टधर्माणो गता इत्यर्थ. ।

अथ 'कप्पट्ठखेलणे' इत्यादि विवृणोति—

कुप्पट्ठखेलणतुअ-ट्टणे य लहुगो य होइ गुरुगो य ।
इत्थीपुरिसतुयट्टे, लहुगा गुरुगा अणायारे ॥ ६२३ ॥

तत्र संस्तारके कल्पस्थकानि खेलन्ते लघुको मासः । अथ तान्येव त्वग्वर्त्तयन्ति गुरुको मासः । अथ महती स्त्री महान्पुरुषो वा त्वग्वर्त्तयति चतुर्लघु । अथ तत्राधनाचारमाचरतस्तदा चतुर्गुरुका. ।

वोच्छेदे लहुगुरुगा, नयणे डहणे य दोस वी लहुगा ।
छिदिणिग्गयादलंभे,जं पावे सयं चतु णियत्ता ॥६२४॥

तस्यैकस्य साधोस्तस्यैवैकस्य द्रव्यस्य व्यवच्छेदे चतुर्लघु, अनेकेषां साधूनामन्यद्रव्याणां च व्यवच्छेदे चतुर्गुरु । संस्तारकस्य कल्पस्थकैरन्यत्र नयने दहने च द्वयोरपि चतुर्लघवः । व्यवच्छेदकरणाच्च संस्तारकादेरलाभे विहम्-अध्वा तन्निर्गता यत्परितापनादि प्राप्नुवन्ति स्वय वा निवृत्तास्तत्र प्राप्ताः संस्तारकादिकमलभमाना या विराधनामासादयन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

माइस्स होंति गुरुगो,जति एक्कतो भागऽणप्पिए दोसा ।
अह होंति अण्णमसे,ते चेव य अप्पिणे सुद्धो ॥६२५॥

मायिनो-मायाविनो गुरुको मासो भवति, कथ पुनर्मायां करोतीत्याह यच्चैकत एकस्माद् ग्रहादनेकैः साधुभिरनेके संस्तारका आनीतास्तदा 'भाग' त्ति प्रत्यर्पणकाले तेषु पृथग्भागीकृतेषु य आत्मीयं भागं तत्रैव ग्रहीतव्य इति कृत्वा तेषां मध्ये प्रक्षिपति, नात्मना तत्र नयति, एष मायी भण्यते । अस्य च ये अनर्पिते संस्तारकदोषास्ते सर्वेऽपि मन्तव्या. । अथान्येभ्यो गृहेभ्य आनीताः संस्तारका भवन्ति तदापि मायाकरणे त एव दोषा. । तस्माद्यतो गृहादानीत. तत्र विधिना प्रत्यर्पणे शुद्ध इति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

संथारे य गमणगे, भयणाऽट्ठविहा उ होइ कायव्वा ।
पुरिसे घरसंथारे, एगमणेगे तिसु पदेसु ॥ ६२६ ॥

संस्तारके गृह्यमाणे एकानेकपदाभ्यामष्टविधा भजना कर्तव्या भवति, अष्टौ भङ्गा इत्यर्थ. सा चैतेषु त्रिषु पदेषु । तद्यथा—पुरुषे गृहे संस्तारके च । एतेषु एकानेकपदाभ्यामष्टौ भङ्गा. । यथा एकेन साधुना एकस्माद् गृहादेक. संस्तारक आनीतः । एकेन एकस्माद् अनेके । एकेन अनेकेभ्यो गृहेभ्यः एकः । एकेन अनेकेभ्यो गृहेभ्यः अनेके संस्तारका आनीताः एव एकेन साधुना चत्वारो भङ्गा लब्धाः । अनेकैरपि साधुभिरेवमेव चत्वारो लभ्यन्ते । सर्वसंख्ययैते अष्टौ भङ्गा. ।

आणयणे जा भयणा, सा भयणा होति अप्पिणंते वि ।
वोच्चत्थमायिसहिए, दोसा य अणप्पिऽणंतम्मि॥६२७॥

संस्तारकस्य आनयने या भजना-अष्टभङ्गी भणिता तामेव भजना संस्तारकमर्पयतोऽपि भवति, यथैवानीतस्तथैव प्रत्यर्पयितव्य इति भावः । अथ विपर्यस्त प्रत्यर्पयति न वा सर्वथैवार्पयति ततो विपर्यस्ते मायासहिते अनर्पयति च दोषा व्यवच्छेदादयो भवन्ति । तत्र ये आद्याश्चत्वारो भङ्गास्तेषु यथैव गृह्णन्ति तथैवार्प्पयन्ति । पञ्चमभङ्गे ग्रहणकाले अस्माकमन्यतरः समर्पयिष्यतीत्येव विधिर्निर्धारित-स्ततो यद्येकः प्रत्यर्पयति, तदा विपर्यस्तं भवति । अष्टमभङ्गे एक. साधु. प्रत्यर्पयितु प्रस्थितः, अपरश्चिन्तयति मदीया अपि तृणकम्बिकास्तत्रैवानेतव्या इति कृत्वा तदीयाना तृणादीना मध्य प्रक्षिपति, एषा माया भण्यते । स-

प्रमे भङ्गे तृतीयभङ्गे वा कम्बिकास्तृणानि वा एकस्मिन् गृहे अर्पयतोऽनर्पणं भवति । यत एते दोषास्तस्मात्पृथक् पृथक् सर्वैरपि प्रत्यर्पणीयाः । कारणे पुनर्विपरीतमर्पयति ।

तदेव कारणमाह—

विइयपयझामिते वा, देसुट्ठाणे व बोधिकभए वा ।
अद्धाणसीसए वा, संछोवपधाविते तुरियं ॥ ६२८ ॥

द्वितीयपदे संस्तारको ध्यामितो भवेत्, देशोत्थाने वा संस्तारकस्वामी कुत्रापि गत इति न ज्ञायते । बोधिकभये संस्तारकस्वामी साधवो वा नष्टाः, अध्वसार्थको वा सार्थस्त्वरित प्रधावितो भवेत्, यावत् संस्तारकं प्रत्यर्पयति तावत् सार्थो दूर गच्छति, अपरश्च सार्थो दुर्लभः ।

एतेहिँ कारणेहिं, वचंते कोऽवि तस्स उ णिवेदे ।
अप्पाहंति व सागा-रियाइ असदण्णसाहूणं ॥ ६२९ ॥

एतैः कारणैः न प्रत्यर्पयेयुः, अध्वशीर्षके च त्वरितं व्रजतामेकः कोऽपि साधुर्गत्वा तस्य संस्तारकस्वामिनो निवेदयति-अमुकस्मिन्कुले संस्तारकः प्रत्यर्पणीयः ।अन्यसाधूनामसत्यभावे सागारिकादीन् ' अप्पाहंति ' संदिशन्ति । एवं संस्तारकोऽमुकस्यार्पणीयः एष तृणकम्बिकासु विधिरुक्तः ।

एमेव गमो नियमा, फलएसु वि होइ आणुपुव्वीए ।
चउरो लहुगा माई, य नऽत्थि एयं तु णाणत्तं ॥६३०॥

एष एव गमो नियमात् फलकेष्वपि आनुपूर्व्या वक्तव्यो भवति , नवरं प्रायश्चित्ते विशेषः । फलकमयस्य संस्तारकस्याप्रत्यर्पणे चतुर्लघुकः । मायिना यथा तृणेषु कम्बिकासु वा अपरास्तृणकम्बिकाः प्रक्षिप्यन्ते तथा फलकानां नास्ति प्रक्षेप इति भावः । एतन्नानात्वमत्र मन्तव्यम् । बृ० ३ उ० ।

सागारिकसत्कं संस्तारमादाय विकरणं कृत्वा न संप्रव्रजितुं कल्पते—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियसंतियं सेज्जासंथारगं आयाए अहिकरणं कट्टु संपव्वइत्तए (सू० २३)

अस्य संबन्धमाह—

संथारगअहिगारो, अहवा पडिहारिगा उ सागारी ।
नीहरिमो अणीहा-रिमो य इति एस संबंधो ॥७३१॥

संस्तारकस्याधिकारोऽयमनुवर्त्तते इदमपि संस्तारकसूत्रमारभ्यते । अथवा-पूर्वसूत्रे प्रातिहारिकः संस्तारक उक्तः, अत्र तु सागारिकसत्कोऽभिधीयते । यद्वा-निर्हारिमोऽनिर्हारिमश्चेति द्विधा संस्तारकः, तत्र निर्हरणमन्यत्र नयनम् , तन्निर्वृत्तो निर्हारिमः अन्यत्र नीत्वा प्रत्यर्पणीय इत्यर्थः । तद्विपरीतोऽनिर्हारिमः । तत्र निर्हारिम उक्तः । इह पुनरनिर्हारिम उच्यते , एष संबन्धः । अथास्य सूत्रस्य (२३) व्याख्या—न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकः शय्यातरस्तस्य सत्कं शय्यासंस्तारकमादाय-गृहीत्वा, अधिकरणं कृत्वा अधिकरणं नाम—यत् साधुना करणं कृतं तृणानां प्रस्तरणं कम्बिकानां बन्धनं फलकस्य स्थापनं तदनपनीय संप्रव्रजितुं-विहर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्त्या विस्तारयितुमाह—

सागारिसंत विकरणें , परिसाडिं अपरिसाडियं चेव ।
तम्मि वि सो चेव गमो,पच्छित्तुस्सग्गअववाए ॥७३२॥

सागारिकसत्कस्य संस्तारकस्य विकरणं कृत्वा गन्तव्यम् । स च परिशाटी, अपरिशाटी चेति द्विविधः । तत्रापि स एव प्रायश्चित्तोत्सर्गापवादेषु गमो मन्तव्यः ।

अविकरणे चेमे दोषाः—

किड्ड तुअट्टण बाले,णयणे डहणे य होइ तह चेव ।
विकरणपासुड्ढं वा , फलगतणेसुं तु साहरणं ॥७३३॥

बालानां—कल्पस्थकानां क्रीडने त्वग्वर्तने अन्यत्र नयने च दोषास्तथैव भवन्ति , ततो विकरणं कर्त्तव्यम् । कथमित्याह—फलकस्य पार्श्वतः स्थापनमूर्द्धकरणं वा तृणेषु संहरणम्-एकत्र मीलनं,तुशब्दात्कम्बिकासु बन्धनच्छोटनमेतद्विकरणम् ।

इदमेव व्याख्याति—

पुंजे वा पासे वा, उवरिं पुंजेसु विकरणतणेसुं ।
फलगं जत्तो गहियं, वाहाए विकरणं कुज्जा ॥ ७३४ ॥

यानि तृणानि पुञ्जात् गृहीतानि तानि पुञ्जे एव निक्षेपणीयानि, यानि पार्श्वतस्तानि पार्श्वे स्थापनीयानि, एवं तृणेषु विकरणं भवति । फलकं यतो गृहीतं तत्रैव नीत्वा यदि पार्श्वतः स्थापितमासीत्तदा पार्श्वे, अथोर्द्धं स्थापितमासीत्तत ऊर्द्ध स्थाप्यते।कम्बिका अपि यतो गृहीतास्तत्र बन्धात् छोटयित्वा निक्षेपणीयाः । अथ व्याघातेन तत्र नेतुं न पार्यन्ते तदा तत्रैव स्थापयित्वा नियमाद्विकरणं कुर्यात् ।

वितियमहसंथडे ण, देसुट्ठाणादिसुवक्कंजेसु ।
एएहिँ कारणेहिं, सुद्धो अविकरणकरणे वि ॥७३५॥

द्वितीयपदे यथासंस्तृते विकरणं न कुर्यात् । न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् यथासंस्तृतं नाम—निष्प्रकम्पचम्पकपट्टादि देशोत्थादिषु पूर्वसूत्रोक्तेषु कार्येषु विकरणं न कुर्यात् । एतैः कारणैः—विकिरणाकरणेऽपि शुद्धः । बृ० ३ उ० ।

सागारिकसंस्तारकं सागारिकसत्कं बहिर्नयति—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए अधिकरणं कट्टु अणप्पणित्ता संपव्वयति संपव्वयंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥

अधिकरणं णाम-जं संजतेण कयं तणाण वा संथरणं कंबीण वा बंधणं फलगस्स वा ओअवणं एयं च ण अफोडित्ता अणप्पिणित्ता वयंति मासलहुं । इमा णिज्जुत्ती पडिगाहा । दोसु सिसिरगिम्हासु गंतुं जति वा दोसु वा पदेसु रिक्खंति, अविकरणे इमे दोसा । किड्डुयट्टणगाहा । कप्पट्ठगाणं किड्डुणं , तुअट्टण थीपुरिसाण । तुयट्टणे अणायारसेवणं अणत्थ वाहण डहणं वा, एतेसु चेव ते दोसा, पच्छित्तं च पुर्ववत् । फलगस्स विकरणं पासाल्लियं करेति, उड्ढं वा करेइ, तणेसु साहरणं कंबीसु बंधणं छोडणं वा । पुंजाणं सा गाहा । जे तणा पुंजातो गहिता ते पुंजे छुब्भन्ता ।

जे पासातो गहिता ते तहिं ठवेयव्वा । जं वा जतो ग-हियं तं तहिं ठवेयव्व ति । कंवीमादीफलगं जतो पदेसा-तो गहित तहिं ठवेयव्वं । मासकप्पे वा पुएणे अंतरा वाघाते उप्पण्णे णियमावकरणं कायव्वं, ण करेज्जा विकरणं वा करेज्जा पावेज्जा पच्छित्तं । वितियपदगाहा । अहासंखडं णाम—णिप्पकप पट्टादि । शेषं पूर्ववत् । नि० चू० २ उ० ।

जे भिक्खू सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि अणुण्णविय अहाठिइ अहाठंतं वा साइज्जइ ॥२४॥ जे भिक्खू पडिहारियं वा सागारियसंतियं सेज्जा-संथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि अणुण्णविय अहिट्ठेति अहिट्ठंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

सेज्जा एव सथारश्रो सेज्जासंथारश्रो, अहवा—सेज्जा-स-व्वंगिश्रा, संथारश्रो अड्डिइज्ज इत्थो । अथवा-सेज्जा वसही संथारगो पुण पडिसारिमितरो वा । सामिणो अप्पेउं अण-णुण्णवेत्ता पुणो अधिट्ठेति परिभुंजति तस्स मासलहुं । से-ज्जासथारगगाहा-परिसाडि अपरिसाडी णिज्जायमाणा अ-प्पेउ गता अवसउणेहिं पच्चागता सो य संथारश्रो तहेव अच्छति, तं दोच्च अणणुण्णवेत्ता पुणो अधिट्ठेति परिभुंजति मासलहुं, श्राणाइश्रा य दोसा । नि० चू० ५ उ० ।

साम्प्रतं प्रातिहारकसंस्तारकप्रत्यर्पणे विधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्जा संथारगं प-च्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा सअंडं० जाव ससंताणयं तहप्पगारं संथारगं नो पच्चप्पिणिज्जा । (सू० १०४) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा सअप्पंडं ०जाव ससंताणगं तहप्पगारं संथारगं पडिलेहिय, पडिलेहिय पमज्जिय २ आयाविय २ विहुणिय २ तश्रो संजयामेव पच्चप्पिणिज्जा । (सू० १०५)

' से ' इत्यादि स भिक्षुः प्रातिहारिकं संस्तारकं यदि प्रत्यर्पयितुमभिकाङ्क्षेदेवभूतं जानीयात्, तद्यथा—गृहकोकि-लकाद्यण्डकसंवद्धमप्रत्युपेक्षणयोग्यं ततो न प्रत्यर्पयेदिति । किञ्च—' से ' इत्यादि सुगमम् । आचा० २ श्रु० १ चू० २ श्र० ३ उ० ।

प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारमन्यसत्कं द्वितीयमप्यवग्रहमन-नुज्ञाप्य न कल्पते—

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चं पि उग्गहं अणणुण्णवित्ता बहिया णीहरित्तए । कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जा-संथारगं दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता बहिया णीहरि-त्तए ॥ ६ ॥ णो कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं पच्च-प्पिणित्ता दोच्चं पि तमेव उग्गहं अणणुण्णवेत्ता अहिट्ठि-त्तए । कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सेज्जासं-थारयं पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवेत्ता अहिट्ठित्तए ॥ ७ ॥ (व्य०)

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह—

संथारएसु पगए-सु अंतरा छत्तदंडकचिछे ।
जंगमथेरे जयणा, अणुकंपरिहे समक्खाया ॥ १२६ ॥
दोच्चं वऽणणुण्णवणा,भणिया इमिणा वि दोच्चऽणुण्णवणा।
नियउग्गहम्मि पढमं, वियइं तु परोग्गहे सुत्तं ॥ १२७॥

संस्तारकेषु पूर्वसूत्रेष्वधिकृतेषु अन्तरा छत्रदण्डकृत्तिचत्रि-जङ्गमस्थविरे समस्तस्याऽपि गच्छस्यानुकम्पार्हे यतना अन-न्तरसूत्रेण समाख्याता ॥ १२६ ॥ संप्रति पुनः संस्तारकोऽ-नेन सूत्रेण भण्यते एष सूत्रसंबन्धः । अथवा अन्यथा—सूत्रसंबन्धस्तमेवाह-' दोच्चं वे ' त्यादि द्वितीयावग्रहानुज्ञाप ना जङ्गमस्थविरस्यानन्तरसूत्रेण भणिता । इयमपि सूत्रेणा-भिधीयमाना द्वितीयावग्रहानुज्ञापना । ततः द्वितीयावग्रह-हानुज्ञापनाप्रस्तावादिदं सूत्रं पूर्वसूत्रादनन्तरमुक्तम् , नवरं प्रथममनन्तरसूत्रं निजकस्यात्मीयस्योपकरणस्यावग्रहे अ-नुज्ञापनाविषयम् । द्वितीयमधिकृतं तु सूत्रं परस्य-परकी-यस्य शय्यातरसत्कस्यान्यसत्कस्य वा इत्यर्थः, अवग्रहे अ-नुज्ञापनायामेवमनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । नो क-ल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं शय्यासं-स्तारकं शय्यादातृसत्कमन्यसत्कं वा द्वितीयमप्यवग्रहमन-नुज्ञाप्य बहिर्विहर्तुं नवरमनुज्ञाप्य पुनः कल्पते इति सूत्रसं-क्षेपार्थः । व्य० ८ उ० ।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा पाडिहारियं सेज्जासंथारगं दोच्चं पि अणुण्णवेत्ता बाहिं णीणाइ णीणंतं वा साइज्जइ ॥५२॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियसंतियं सेज्जा-संथारयं दोच्चं पि अणुण्णवित्ता बाहिं णीणाइ णीणंतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥

पाडिहारिको प्रत्यर्पणीयो अ सेज्जातरस्स वा संतिश्रो—तं जदि पुणो मासकप्पे दोच्चं अणुण्णवेत्ता अंतोहिंतो बाहिं णीणेति बाहिंतो वा अंतो अतिणीणेति तहाऽवि मा-सलहुं, एस सुत्तत्थो ।

इमा णिज्जुत्ती । गाहा—

परिसाडिमपरिसाडी, सागरियसंतियं व पडिहारि ।
दोच्चमणणुण्णवेत्ता, अंतो बहि णेति आणादी ॥९६५॥

कुसातितणसंथारए परिभुज्जमाणे जस्स किंचि परि-सडति सो परिसाडी, वंसकप्पिमादी अपरिसाडी । दोच्चं अणणुण्णवेत्ता जो णेति तस्स आणा अणवत्थादी दोसा भवंति । चोदगाह—णणु सुत्ते अणुण्णवेंतस्स वि मासलहुं वुत्त णिक्कारणे, आचार्याह-णिक्कारणे सुत्तं । अत्थो तु का-रणे विधिं दरिसेति ।

अविधीए इमे दोसा । गाहा—

ताई तणफलगा ते, तेणाहडगाणि अप्पणो वाऽवि ।

णिज्जंतागहियाइं, सिवाणि तहा य असिवाणि ॥४९६॥

ते तणफलगा तस्स तेणाहडा वा अप्पणा वा तेणाहडेसु णिज्जतेसु अंतरे पुव्वसामी दट्ठुं गहितेसु साधू पुच्छितो जति कहेति, जस्स ते ण कहेंति वा तो उभयहा वि दोसा, तम्हा दोसपरिहरणत्थं विही भण्णति—सपरिक्खेवे ठिताणं अंतो मासो वहिं मासो अतो मासकप्पं काऊण विहिणिग्गच्छतो तत्थेव तणफलगा णेण्हंतु। अह ण लब्भति अण्णगामं वयंतु। अह तेसु असिवादिकारणा अत्थि तो तेसिं सव्वेसिं फलयादीणं इमा विही।

गाहा—

अणउवस्सयगमणे, अणापुच्छा णऽत्थि किंचि णेतव्वं।
जो णेति अणापुच्छा, तत्थ उ दोसा इमे होंति॥४९७॥

सपरिक्खेवे अण्णउवस्सयं वयंता अणापुच्छाए न किंचि णेयव्वं, णत्थि अनापृच्छ्य नास्ति किंचिन्नेयमिति। जो पुण अणापुच्छाए णेति तस्सिमे दोसा।

गाहा—

कम्मे तेणा फलगा, सिट्ठे अमुगस्स तस्स गहणादी।
णिण्हवति व सो भीओ, पंचंगिरलोगमुड्डाहो ॥४९८॥
णेदिट्ठे सिट्ठे गहि-ए कड्ढण(व)वहारववहरिते।
उड्डाहे य विभंगे, उद्दवणे चेव णिव्विसए ॥४९९॥
लहुओ लहुगा गुरुगा, छल्लहु छग्गुरुगछेदमूलदुगं।
अहवा वि असिट्ठम्मि य,एसेव उ संकणे लहुया॥५००॥
निस्संकियम्मि गुरुगा, एगमणेगे य गहणमाईया।
अणवट्ठप्पो दोसुं, दोसु य पारंचिओ होति ॥५०१॥

तेणाहडा अणापुच्छाए णिज्जंता पुव्वसामिणा दिट्ठा साहू पुच्छितो-कस्सेते तणफलगा?। साहू भणति—अमुगस्स तस्स गेण्हणे कड्ढणमाईया दोसा। अह णिण्हवति सो भीतो संतो साहू तो पञ्चंगिरदोसो। परितोषः तस्मिन् संभाव्यत इति प्रत्यंगिरा लोगे वि उड्डाहो साधवो वि परदव्वावहारिणो त्ति। गहणादिपदस्स इमा वक्खा-तणफलया अणापुच्छाए णेति, तेणाहडा णिज्जमाणे पुव्वसामिणा दिट्ठं पुच्छिएण साहुणा सिट्ठं अमुगस्स। सो रायपुरिसेहिं हत्थे गहिउं कड्ढिओ ववहारमेव त्ति पुव्वसामिणा सद्धिं ववहराहि त्ति वुत्तं भवति। ववहारिए त्ति ववहारितुमारद्धे पुच्छा कडे त्ति। जिते उड्डाहेवि रुंधाए एक्कपदं। उद्दविते णिव्विसए एक्कं पदं। एतेसु चउसु पदेसु इमं पच्छित्तं। मासलहुगादि, मासगुरुं मोत्तुं णिण्हवति पच्छद्धस्स इमा वक्खा-अहवेत्ययं निपातः अपिशब्दः प्रकारवाची। असिट्ठे-अनाख्याते एसेव तु तेणो त्ति संकिते लहुगा, निस्संकिते एस तेणो त्ति चउगुरुगा। तस्सेवेगस्स अणेगाण अणेगेसिं साहूणं गहणादी।

इमे दोसा गाहा—

णयणे गहिते कड्ढे—विकड्ढे कड्ढेववहारववहरिए।
उड्डाहे य विभंगे, उद्दवणे चेव णिव्विसए ॥ ५०२ ॥

एक्कगाहाए दोण्हं पि पच्छित्तं। तेणाहडादीण तणफलयाणं अणापुच्छाए णयणे पुव्वसामिणो दट्ठु तणफलयाणि साहुस्स वा गहणं कयं विकोपयित्वा कड्ढणं त्वं चौर इति विकोवणं साहुस्स रायपुरिसेण कड्ढण कतं साहू ते रायपुरिसे प्रतीपं कड्ढति त्ति विकड्ढण। सेसा त चेव पदा तं चेव पच्छित्तं। शिष्यः प्राह—किमस्तीदृशसंभवः?। आचार्य्याह।

गाहा—

दंतपुरे आहरणं, तेणाहडवच्चगादिसु तणेसु।
छावण मीराकरणे, अत्थरणत्थं तु चंपादी ॥५०३॥

दंतपुरे दंतवक्कआख्यानकं प्रसिद्धं। तद्यथा-तत्र तेनाहडप्पगादिसु तणेसु संभवो भवे। तानि पुनः किमर्थं साधवो नयंति?,उच्यते-छावणनिमित्तं वा मीराकरणं वा मेराकरणमित्यर्थः। पत्थरणत्थं वा। फलगा वि मीराकरणपत्थरणनिमित्तं ते पुण चंपपट्टादी नयंति इच्चर्णी।

गाहा—

अतेणहडाणयणे, लहुओ लहुगा य होंति सद्धम्मि।
अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेदपसज्जणा सेसे ॥५०४॥

भाणियव्वा अतेणाहडतणाइ जदि नेति अणापुच्छाए तणेसु लहुगो अप्पणणे से सिट्ठं तुज्झ चया तणफलया साधूहिं वाहिं नीणिता हु एत्थ लहुगा। अणुग्गहो त्ति एत्थ वि चउलहुगा अप्पत्तियम्मि गुरुगा वोच्छेदं वा करेज्ज। तस्स साधुस्स तद्दव्वस्सन्नस्स वा पसज्जणा। सेसे त्ति असेसिं पि साधूण असणादियाण य दव्वाणं य वोच्छेदो।

तणफलगविशेषज्ञापनार्थमाह। गाहा-

एसेव गमो णियमा, फलएसु वि होति आणुपुव्वीए।
णवरं पुण णाणत्तं, चतुरो लहुगा जहण्णपदे ॥५०५॥

जो तणेसु विधी भणितो फलगेसु वि एसो चेव विधी। नवरं णाणत्तं चतुरो लहुगा जहन्नपदे। जत्थ तणेसु मासलहुं तत्थ फलगेसु चउलहू भवतीत्यर्थः।

गाहा-

वितियं पहुणिव्विसए, णट्ठुट्ठितसुण्णमतप्पणमब्भे।
खंधारअगणिभंगे, दुल्लभसंथारए जतणा ॥५०६॥

अणापुच्छाए वि सेज्जासंथारगपभू निव्विसओ कतो, नट्ठो वा उट्ठितो। उव्वसितो वा सुण्णे पचिसितो मतो वा अण्णप्पज्झो वा जातो, खधावारतया वा वहितो अतिनेति, अग्गिभये वा नेति, विसयभंगे वा नेति, दुल्लभसंथारए वा जतणाए नेति।

इमा सा जतणा गाहा-

तम्मि तु असधीणा वा, परिचरितुं वा सहीण वक्खित्ते।
पुव्वावरसंभासु व, णयंति अंतो व वाहिं वा ॥५०७॥

गिहसंथारयसामी जदा असहीणो तदा नयंति। सहीणो वा पडिचरितुं जदा वक्खित्तचित्तो तदा नयति। पुव्वसंभाए अवरसंभाए वा अंतो वा वाहिं, वाहितो वा अंतो नयति।

जे भिक्खू पाडिहारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं दोच्चं

पि अणुरणवित्ता वाहिं णीणेइ णीणेंतं वा साइज्जइ ॥५४॥ जे भिक्खू पाडिहारियं सेज्जासंथारयं आयाते अपरिहट्टु संपव्वयति संपव्वयंतं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥

आदाय गृहीत्वा अप्पडिहट्टु सम्मं अणप्पणित्ता सम्मं एगीभावेण प्रव्रजति संप्रव्रजति तस्स मासलहु एस सुत्तत्थो ।

इदाणिं णिज्जुत्तीवित्थरो त्ति गाहा-

परिहरिणाउ पडिहारि उ, श्रोआतायतंडगेऊणं ।
अप्पडिहट्टुमणप्पि उ, संपव्वएँ सम्मगमणं तु ॥५०८॥

मासकप्पे पुरणे मासकप्पे अपडिहट्टुमणप्पितुं न प्रतीपं अर्पयतीत्यर्थः सम्यक्भावे व्रजति व्रजगनौ सम्म एगी प्रव्रजनं ।

संथारगो दुविहो गाहा-

सेज्जा संथारो उ, परिसाडी अपरिसाडिश्रो होति ।
परिसाडि कारणम्मी, अणप्पिणे मासो आणादी॥५०९
सोच्चागत त्ति लहुगा,अप्पत्ति य गुरुग जं च वोच्छेदो ।

सव्वगी सेज्जा , अड्ढातियहत्थो संथारगो । अहवा सेज्जा एवं संथारगो एक्केक्को दुविहो-परिसाडी, अपरिसाडी य । उदुवद्धे परिसाडी कारणे घेप्पति त मासकप्पे पुरणे अणप्पेउ वच्चंतस्स मासलहु, आणादयो दोसा । इमे य अण्णे दोसु त तेण संथारगसामिणा जहा ते सव्वता संथारगं अणप्पिणित्तगता चउलहुगा पच्छित्त, परियणो य से भणति । किं च सजताण दिण्णण सो भवति । अप्पडिते वि अणुग्गहो अम्ह एयं पत्तिए वि चउलहुं, अह उप्पत्तिय करेंति तेणा इमे लुप्पा हारित्ता विणासिता वा चउगुरु । ज च वोच्छेद करेति, तस्स वा अण्णस्स वा साहुस्स, तद्व्वस्स वा अण्णद्व्वस्स वा, एत्थ वि चउगुरुगं । अहवा तम्मि संथारये सुणगे कप्पट्ठाणि खेलंति मासलहु,अह तुयट्टंति मासगुरुं । अह अवणंती नयंति मासलहु । अह दहंति चउलहुं । डज्झंतेसु य अण्णपाणाण जा विराहणा तण्णिप्फण्णं च पच्छित्तं ।

गाहा—

कप्पट्ठखेलणेण य,डहणे लहुगा लहुग अन्नत्थ॥५१०॥
कप्पट्ठखेलणतुय-ट्टणे य लहुगो होति गुरुगो य ।
इत्थीपुरिसतुयट्टे, लहुगा गुरुगा अणायारे ॥ ५११ ॥
दिज्जंते वि तदा णि-च्छिजण अलभेसु भे त्ति णेच्चयं ।
कतकज्जा जणभोगं,कातूण कहिं ? गया सच्छां ॥५१२॥
संथारेगमणेगे, भयणट्ठविधा तु होति कायव्वा ।
पुरिसे घरसंथारे, एगमणेगे य पत्तेगो ॥ ५१३ ॥
आणयणे जा जयणा, सा जयणा होति अप्पिणंते वि ।
वोच्चत्थमायमहिते,दोसा य अणप्पिणंतम्मि ॥ ५१४ ॥
बितियपदभामिते वा, देसुट्ठाणे व बोधिगादीसुं ।
अद्धाण सीमए वा, सच्छो व पधावितो तुरितं ॥५१५॥

एतेहिँ कारणेहिं, वच्चंते को वि तस्स तु णिवेदे ।
अप्पाहंति व सागा-रियादि असदक्खसाधूणं ॥ ५१६ ॥
एसेव गमो णियमा, फलगाण वि होति आणुपुव्वीए ।
चतुरो लहुया मायी,य णऽत्थि एयं तु णाणत्तं ॥५१७॥
परिसाडिमपरिसाडिय, सागारियसंतियं तु संथारं ।
अधिकरणं कातूणं, दूतिज्जंतम्मि आणादी ॥ ५१८ ॥
किड्डतुयट्टणवाले, णयणे डहणे य होति तह चेव ।
विकरणपाउद्धं वा, फलगतणेसुं तु साहरणं ॥ ५१९ ॥
पुंजे पासे व गहितं, जं जहितं तहि ठवेतव्वं ।
फलगं जत्तो गहितं, वाहाए वि कुरणं कज्जा ॥ ५२० ॥

पुव्वद्धं गतार्थं तम्मि सुणंण संथारगे पुरिसित्थीसु तु पदेसु चउलहु । अणायारमाचरतेसु चउगुरुग । अहवा लोउं गते इम फरुसवयणं भणेज्ज । दिज्जंते वि गाहा—गहणकाले तद्दिज्ज पि दिज्जमाण नेच्छिउण पुरणे मासकप्पे अप्पेसु त्ति । एवं भणित्ताणेण अप्पणा कते कज्जे सुएणे जणभोग करेऊण कहिं ति क गामं नगर वाति पुन. शब्दो द्रष्टव्यः ॥ भच्छोति निट्ठुर किं पुण गाम नगरं वा गतेत्यर्थः । संथारगस्स गहणकाले इमा विही । संथारं गाहा संथारे घेप्पमाणे एगाणेगवयणे अट्ठविहभगरयणा कायव्वा । सा य सेसेसु तिसु पदेसु पुरिसघरसंथारएसु । एगेण साहुणा एगो संथारो पढमो भंगो । एव अट्ठ भंगा कायव्वा । 'एगमणेग पत्तेगे' त्ति एगमणेगे, एगगणे अणेगगणेसु वा सा धारणपत्तेगेसु खेत्तेसु एस विधी भणिता—इमो अप्पिणंतेसु विधी । आणयणे गाहा भाणियव्वा आणयणे जा-अट्ठविहा भगभयणा कता अप्पिणंते वि सा चेव अट्ठविहा भगभयणा कातव्वा । अविवरीते अप्पेति मायं वा करेति न वा अप्पेति वोच्छेदादयो दोसा भवंति । जे पढमा चत्तारि भंगा तेसु जं हत्थेण गहणं तहेव अप्पिणते पचमभंगे गहणकाले अम्ह अण्णतरे अप्पेहिति त्ति । एस विधी न कतो एगप्पणे वोच्चत्थ भवति । छट्ठभंगे एगो साधू पच्चप्पिणिश्रो पिट्ठतो अवरो साहू चिंतेति मज्झ वि तणफलीओ तत्थेव नेयव्वा, तस्स चयाण मज्झे च मुचति अयाणस्स नेच्छति नउ त्ति एव माया भवति । सत्तमभंगे ततियभंगे वा ओहारकवीयं तणा एगघरे समप्पेतस्स अप्पग सभवति जम्हा एते दोसा तम्हा सव्वेहिं सव्व घेत्तु अप्पेतव्वा । कारणे पुण विवरीत अप्पेति न अप्पेति वा ।

इमे य ते कारणा । गाहा—

वितियपदमवासंथड, देसुट्ठाणे व बोहिगादीसुं ।
अद्धाणसीमए वा, सत्थो व पधावितो तुरियं ॥५२१॥

सो संथारं सामितो जेसु ठाणेसु वा सो संथारगसामी वा कतो विगतो , बोहिभयं संथारगसामी साधू वा नट्ठो अद्धाणसीसए वा सत्थो लद्धो तुरिय पहावितो जाव अप्पिणति ताव सत्थातो फिट्टति, अगणो दुल्लभो सत्थो । एतेहिं कारणेहिं गाहा-न पच्चप्पिणति । विकरण पुण करेंति । अंग साधू सत्थेण वयंति । एगो साधू तत्थेव निव्वयति सत्थो तु-त्ति पधावितो तेण न आनीओ तुज्झ एय संथारय आयेज्जइ

१-समयमभद्रा इति पाठान्तरम् , बृहत्कल्पभाष्ये-ऽपि इमा गाथा. ।

अन्नं वा साधू भणति-तुज्झं इमं संथारयं अमुगे कुले अप्पेज्जह । असति साहूण सागारियादीण अप्पहेति इमं संथारयं अप्पेज्जह णिवेदणं वा करेज्जह । एस तणकंबीणं विधी भणिता । एसेव कमो गाहा-फलगेसु वि सव्वो एसो विधी णवरं विसेसो पच्छित्तं चउलहुगा । मायी तणत्थी जहा तणेसु कंबीसु वा अण्णे तणा कंबीओ पक्खिवंति तहा फलगाणं एऽत्थि पक्खेवो । नि० चू० २ उ० ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः—

परिसाडिमपरिसाडी, पुव्वं भणिया इमं तु नाणत्तं ।
पडिहारिय सागारिय, तं चेवंतो बहिं णेति ॥१२८॥

परिशाटिः यादृश. संस्तारको भवति,यादृशश्चापरिशाटिः । एतौ द्वावपि पूर्वमस्मिन्नेवाद्यमोद्देशके भणिताविदन्त्वत्र नानात्वम्,तदेवाह-प्रातिहारिकं सागारिकसत्कं तमेव शय्यातरसंस्तारकमन्त.स्थित बहिर्नयते ।

एतदेव सविस्तरं भावयति-

परिसाडीपडिसेहो, पुणरुद्धारो य वण्णितो पुव्वं ।
अप्परिसाडिग्गहणं,वासासु य वण्णिउं णियमा ॥१२६॥

पूर्वं परिशाटेः शय्यासंस्तारकस्य प्रतिषेध. कृतो यथा-न कल्पते परिशाटिः शय्यासंस्तारक इति । ततः पुनरुद्धारोऽपवादः पूर्वमेव वर्णितो यथा ऋतुबद्धे काले निष्कारणं संस्तारका न कल्पन्ते, तथा पूर्वमेवैतदपि वर्णितं यथा वर्षासु काले नियमादपरिशाटेः शय्यासंस्तारकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति ।

पुण्णम्मि अंतो मासे, वासावासे वि संभवइ सुत्तं ।
तत्थेव ऽण्णगवेसे, असती तं चेवऽणुण्णवए ॥१३०॥

अन्तर्ग्रामस्य नगरस्य वा मध्ये पूर्णे मासे वा बहिरवस्थातुकाममिदमधिकृतं सूत्रं भवति । यथा न कल्पन्ते अभ्यन्तराणि तृणफलकानि यैर्दत्तानि तानि अनापृच्छ्य च बहिर्नेतुमिति । तत्र प्रथमतस्तत्रैव बहिः प्रदेशे अन्यत्र तृणफलकादिमयं शय्यासंस्तारकं गवेषयेत् । असति-बहिः संस्तारकस्यालभ्यमानत्वेनाभावे तमेव सागारिकसत्कमन्यसत्कं वा शय्यासंस्तारकमनुज्ञापयेत् । यथा बहिर्याचित· शय्यासंस्तारकः परं न लब्धस्ततो यूयमनुजानीतास्मीयं संस्तारकं येन बहिर्नयाम इति । यदि नानुज्ञापयति तदा तृणमयसंस्तारकविषये प्रायश्चित्तं मासलघु , फलकमयसंस्तारकविषये चतुर्लघु ।

अत्रैवापवादमधिकृत्य विकल्पनाह—

अहवा अवस्सधेत्त-व्वयम्मि दव्वम्मि किं भवे पढमं ।
णयणं समणुण्णा वा, विवज्जतो वा जहुत्तातो ॥१३१॥

अथवेत्यपवादमधिकृत्य प्रकारान्तरोपदर्शने , यदि नियमात्संस्तारकद्रव्यं बहिर्नेतव्यं न शक्यते तद्विना मोक्षसाधनं कर्तुमिति, तर्हि प्रथमतः किं कर्त्तव्यं नयनं समनुज्ञा वा ? । आचार्य आह—अवश्य नयनलक्षणे अपवादे प्राप्ते पूर्वं नयनं कर्त्तव्यम् , पश्चादनुज्ञापना । यदि वा-पूर्वमनुज्ञापना कर्त्तव्या पश्चान्नयनम् । विपर्ययो वा यथोक्तः । किमुक्तं भवति ?, नापि पूर्वमनुज्ञापयेत् नापि नीत्वा पश्चादनुज्ञापयेत्

ततः पूर्वमनुज्ञापनं पश्चान्नयनमित्येकान्तशुद्धो भङ्ग· । एष च भङ्गस्तदा द्रष्टव्यो यदा ये दोषा मासकल्पे वर्णितास्ते अन्तः सन्ति बहिर्न विद्यन्ते । बहिश्च तृणफलकादीन्यनुज्ञाप्यमानान्यपि न लभ्यन्ते तदा अभ्यन्तराणि येषां सत्कानि तावनुज्ञाप्य नीयन्ते । अथान्तरशिवादीनि कारणे निर्गमनमुहूर्त्तश्चातिप्रत्यासन्नो न च बहिस्तृणफलकादीनि लभ्यन्ते तदा पूर्वनयन पश्चादनुज्ञापनं यथा बहिर्याचितानि तृणफलकादीनि परं न लब्धानि ततो युष्मदीयान्येव तत्र नीतानीत्यस्माकं तान्यनुजानीत । यत्र तु कारणवशतो बहिरवश्यं गन्तव्यं बहिश्च तृणफलकादीनि न लभ्यन्ते नच तानि विना साधवः संस्तरीतु शक्नुवन्ति । ननु येषामभ्यन्तराणि तृणफलकादीनि ते अनुजानन्त. संभाव्यन्ते नवाऽननुज्ञाप्यम् , तेषु बहिर्नीतेषु तेषामभिनिवातदानपूर्वमनुज्ञापनं नापि नीत्वा पश्चादनुज्ञापनमिति । तदेव पूर्णमासकल्पे पूर्णे च वर्षाकल्पे वाऽयं विधिरुक्तः । एवमपूर्णेऽपि द्रष्टव्यम् ।

तथा चाह—

एमेव अपुण्णम्मि वि, वसहीवाघाए अन्नसंकमणे ।
गंतव्ववासवासति, संथारो सुत्तनिद्देसो ॥ १३२ ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण अपूर्णे मासकल्पे द्रष्टव्यम् । कथमित्याह-वसतेर्व्याघाते सति उपाश्रयाभावे सति उपाश्रयाभावे गन्तव्यमवश्यं जातम् । तत्रान्यक्षेत्रसंक्रमणे तत्र संस्तारकालाभे पूर्वप्रकारेण संस्तारको नेतव्यः, एष सूत्रनिर्देशः—एष सूत्रविषय इति भावः ।

तत्र पूर्वनयन पश्चादनुज्ञापनमिति भङ्गमधिकृत्य विधिमाह—

नीहरिउं संथारं, पासवणोच्चारभूमिभिक्खादी ।
गच्छेह वा वि (स)ज्झायं, करे इमा तत्थ आरुवणा॥१३३

यदि कारणवशतः पूर्वमनुज्ञाप्य तृणफलकादिमयः संस्तारको बहिर्नीत., यदि वा-वसतेर्व्याघात च बहिरन्यां वसतिं गत्वा तत्र संस्तारकोऽननुज्ञाप्य नीत्वा स्थापितस्तर्हि शेषव्यापारपरित्यागेन नियमत. पश्चादनुज्ञापना कर्त्तव्या । अथ नीत्वा प्रस्रवणभूमिमुच्चारभूमिं भिक्षादौ वा गच्छेद् , अथवा स्वाध्यायं करोति तत्रेय वक्ष्यमाणा-आरोपणा प्रायश्चित्तम् ।

तामेवाह—

एएसुं चउसुं पी, तणेसु लहुगो य लहुगफलगेसु ।
रायदुट्ठग्गहणे, चउगुरुगा होंति णातव्वा ॥१३४॥

एतेषु-प्रस्रवणभूम्यादिषु चतुर्षु स्थानेष्वननुज्ञाप्य प्रवृत्तौ तृणेषु—तृणमयसंस्तारकविषय. प्रायश्चित्तं लघुको मासः । फलकेषु विषये चत्वारो लघुकाः । राजद्विष्टानां राजप्रतिषिद्धानां तृणफलकादीनामनुज्ञाप्य ग्रहणे चत्वारो गुरुका भवन्ति-ज्ञातव्याः ।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए ॥ १० ॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए अह पुण एवं जा-

सेज्जा इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा नो सुलभे पाडिहारिए सेज्जासंथारए त्तिकट्टु एवगहं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गाहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए मा व- हउं अज्जोवइ अणुलोमेणं अणुलोमयव्वे सिया इति ।११।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह—

उग्गहसमणुण्णासुं, सेज्जासंथारएसु य तहेव ।
अणुवत्तंतेसु भवे, पंते अणुलोमवति सुत्तं ॥१३५॥

अवग्रह' संस्तारकाश्च स्वामिना अनुज्ञाता', अवग्रहीत- व्या., इत्युत्सर्गत उपदेशस्तवेवमवग्रहसमनुज्ञासु शय्यासं- स्तारकेषु तथैव समनुज्ञातव्येष्वनुवर्त्तमानेष्विदमिति सूत्रं समनुज्ञातसंस्तारकादिग्रहणविषये भवति । अपवादतोऽननु- ज्ञाप्य संस्तारकग्रहणे यदि संस्तारकस्वामी प्रान्तो रुष्टो भ- वेत्, तस्मिन्प्रान्ते अनुलोमवाक् वक्तव्या, अनेन संबन्धेनाया- तस्यास्य व्याख्या—'न' कल्पते निर्ग्रन्थाना निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारक सर्वात्मना अर्पयित्वा द्वितीय- मप्यवग्रहमननुज्ञाप्य, अधिष्ठातुम् अनुज्ञाप्य पुन. कल्पते एवं सागारिकसत्केऽपि शय्यासंस्तारके द्वावालापकौ वक्त- व्यौ । तथा न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पूर्वमे- वावग्रहमवगहीतुं ततः पश्चादनुज्ञापयितुम् । कल्पते निर्ग्र- न्थाना वा निर्ग्रन्थीना वा पूर्वमेवावग्रहमनुज्ञापयितुं पश्चा- दवग्रहीतुमिति । अथ पुनरेतत् जानीयात्—इह खलु निर्ग्र- न्थाना वा निर्ग्रन्थीनां वा न सुलभः शय्यासंस्तारक इति कृत्वा एवमेव-अमुना प्रकारेण । णमिति वाक्यालंकारे । कल्प- ते पूर्वमेवावग्रहमवग्रहीतु तत पश्चादनुज्ञापयितुम् । तत्रैव कारणे शय्यासंस्तारकस्वामिना सह संयतानां कलहे आ- चार्या. संयतान् ब्रुवते—' भो.! आर्या ! द्विविधा कुरुत द्वा- वपि कुरुत एकं वसतिं प्रतिगृह्णीथ अपरे परुषाणि भाषध्वे, तस्मात् क्षमध्वमित्येवं वचसा अनुलोमेन—अनुकूलेनानु- लोमयितव्य' स्यादिति ।

सेज्जासंथारदुगं, अणुण्णवेऊण ठायमाणस्स ।
लहुगो लहुगो लहुगा, आणादी निच्छुभणपंते ॥१३६॥

शय्यासंस्तारकद्विक परिशाट्यपरिशाटिरूपं शालादिषु चा- वग्रहमननुज्ञाप्य तिष्ठत. प्रायश्चित्तं लघुकादि । तद्यथा-शा- लादिष्ववग्रहमननुज्ञाप्य तिष्ठता लघुको मासः । परिशाटौ मासलघु, अपरिशाटौ चत्वारो लघुका. । तथा आज्ञादय'- आज्ञाभङ्गादयो दोषा. । तथा सांप्रत कोऽपि रुष्ट' सन् नि- च्छुभणं—निष्काशन कुर्यात् ।

एवमदिण्णवियारे, दिण्णवियारे वि सभपवादीसुं ।
तणफलगाणुण्णाया, कप्पडियादीण जत्थ भवो ॥१३७॥

एवमदत्तविचारे शालादौ द्रष्टव्यम् । दत्तविचारं नाम यत्र कार्पटिकादिर्न कोऽपि वार्यंते तच्च, सभा वा प्रपा वा मण्ड- पको वा यान्यपि च तत्र तृणफलकादीनि तान्यप्यनुज्ञा- तानि । तथा चाह-यत्र कार्पटिकादीना तृणफलकादीन्यनु- ज्ञातानि भवन्ति तेष्वपि दत्तविचारेषु सभाप्रपादिषु यानि तृणफलकादीनि तान्यपि ।

किमित्याह—

ताणि वि उ न कप्पंती, अणणुण्णवियम्मि लहुगमासो उ ।
इत्तरियं पि न कप्पइ, तम्हा उ अजातितो गहणं ॥१३८॥

तान्यपि अननुज्ञापितं स्वामिनि ग्रहीतुं न कल्पन्ते । यदि पु- नरननुज्ञाप्य गृह्णाति तदा प्रायश्चित्तं लघुको मासः । कस्मा- देवमत आह-यस्मादित्वरमपि-क्षणमात्रमपीत्यर्थः, अवग्र- हणमयाचितं न कल्पते । उक्तं च-" इत्तरियं पि न कप्पइ, अविदिन्नं खलु परोग्गहादीसुं । चिट्ठित्तु निसीयट्टुं, तुयट्टट्टुं च (तइयव्वय) रक्खणट्ठाए ॥ १ ॥ "

तथा अननुज्ञापने तिष्ठत इमे च दोषाः—

जावंतियदोसो वा, अदत्तनिच्छुभणदिवसरातो वा ।
एए दोसे पावइ, दिन्नवियारे वि ठायंतो ॥ १३९ ॥

अननुज्ञाते दत्तविचारोऽपि यदि तिष्ठति तदा यावन्तिक- दोषस्तथा 'अदत्ते' त्ति-अदत्तदानग्रहदोषश्चोपजायते । तथा कदाचित् स सभादिस्वामी प्रान्तो ब्रूयात् केनामीषामत्र स्थानं दत्तं नहामीषां योग्यमिति । ततो रुष्ट. सन् दिवसे रात्रौ वा निष्काशनं कुर्यात् । तस्माद्दत्तविचारेऽप्यननुज्ञाप्य तिष्ठन् एतान् दोषान्प्राप्नोति; तस्मात्तत्रापि पूर्वमनुज्ञाप्य पश्चात्क- ल्पते स्थातुम् । एव सति यावन्तिकदोषो न भवति । स्वामि- सत्कं कृत्वा तदनुज्ञापनाददत्तादानं निष्काशनं च न भवतीति ।

किं तु अदिन्नवियारे, कोट्ठारादीसु जत्थ तणफलगा ।
रक्खिज्जंते तहियं, अणणुन्नाए य ठायंति ॥१४०॥

आस्ता दत्तविचारे अनुज्ञापनमन्तरेण न तिष्ठन्ति प्रागु- क्तदोषसंभवात् । किं तु-अदत्तविचारेष्वपि । गाथायामेकवच- नमपिशब्दलोपश्चार्षत्वात् । न दत्तो विचारप्रदेशो यत्र ता- न्यदत्तविचाराणि तेष्वपि, केष्वित्याह-कोष्ठागारादिषु को- ष्ठागारं धान्यस्य तृणादीना वा आदिशब्दात्-चतु.शाला- दीनि । तथा देवकुलं गोष्ठिकादीनां वा गृहाणि, यत्र गो- ष्ठिकादय. समवाय कुर्वन्ति तानि , दत्तविचाराणि भव- न्ति अदत्तविचाराणि गृह्यन्ते, तेषु कोष्ठागारादिषु यत्र येषु तृणफलकानि रक्ष्यन्ते । तथाहि-प्रतीतमेतत्कोष्ठागारादि- षु मा कोऽपि किमपि हार्षीदिति प्राहरिकमोचनेन तृणा- नि फलकानि धान्यानि च प्रयत्नेन रक्ष्यन्ते ।

तत्र तेष्वननुज्ञातेषु साधवो न तिष्ठन्ति । किमर्थमिति चे- दत आह—

दोसाण रक्खणट्ठा, चोएइ निरत्थयं ततो सुत्तं ।
भन्नइ कारणियं खलु, इमे य ते कारणा हुंति ॥१४१॥

दोषाणां प्रायश्चित्तप्रसङ्गतो भङ्गादिरूपाणा रक्षणार्थ-रक्ष- णाय तत्र न तिष्ठन्ति । अत्र परश्चोदयति-यद्येवं तत. सूत्रम्- 'इह खलु निग्गथाण वा निग्गंथीण वा नो खलु भे पाडि- हारिए' इत्यादि निरर्थकमविषयत्वात्, सूत्रे हि अनुज्ञा- पनमन्तरेणापि पूर्वमनुज्ञातमिति । सूरिराह—भण्यते—उ- त्तरं दीयते । इद च खलु सूत्र कारणिकं-कारणैर्निर्वृत्तम् तानि च कारणानि इमानि-वक्ष्यमाणानि भवन्ति ।

तान्येवाह—

अद्धाणे अट्ठाहिय, ओमसिवगामाणुगामियवियाले ।

तेणा सावयमसगा, सीयं वा संदुरहियासं ॥१४२॥

अध्वनि—मार्गे गताः साधवः तत्रान्यत्र याचिता वसतिः, परं न लब्धा । अथवा—अष्टाहिकां द्रष्टुमागताः । यदि वा—ग्लानादीनां कारणेन । यद्वा—अवमौदर्यमशिवं वा भविष्यतीत्यन्यदेशं प्रस्थिता विकाले प्राप्ताः । अथवा—ग्रामानुग्रामं विहरन्ति । व्यतिकृष्टमन्तरमपान्तराले इति कृत्वा सार्थवशेन वा निशि—विकाले प्राप्ता', अन्या च वसतिर्नारोचते । वसतिमन्तरेण च स्तेनभयं वा स्वापदभयं वा मशका वा दुरध्यासाः, शीतं वा दुरध्यासं पतति, यथा उत्तरापथे । वर्षं वा घनं निपतन् तिष्ठति । तत एतैः कारणैरदृष्टेऽप्यधिकृतवसतिस्वामिनि मा-यथा अन्ये पथिकाः कार्पटिका वा तिष्ठन्ति तथैव कायिक्यादिभूमीः प्रत्युपेक्ष्य पूर्वमवग्रहं गृहीत्वा पश्चाद् वसतिस्वामिनमनुज्ञापयति ।

एतदेव सविशेषमाह—

एएहिँ कारणेहिं, पुव्वं पेहेतु दिट्ठ णुण्णए ।
ताहे अयंति दिट्ठे, इमा उ जयणा तहिं होइ ॥१४३॥

एतैः-अनन्तरोदितैः कारणैः पूर्वमुच्चारादिभूमीः प्रत्युपेक्ष्य दृष्ट परिजनोऽनुज्ञाप्यते । ततस्तस्या वसतावायान्ति साधवस्तत्र दृष्टे परिजने इयं वक्ष्यमाणा यतना भवति ।

तामेवाह—

पेहे उच्चारभूमादी, ठायंती वोत्तु परिजणं ।
अत्थाओ जाव सो एई, जाचीहामो तमागयं ॥१४४॥

प्रेक्ष्य—प्रत्युपेक्ष्य उच्चारभूम्यादि परिजनमुक्त्वा साधवस्तत्र तिष्ठन्ति—कथमुक्त्वेत्यत आह—आस्महे तावत् यावत्स गृहस्वामी समागच्छति ततस्तमागतं याचिष्यामहे ।

स चागतो येन विधिना समनुज्ञापयितव्यस्तं विधिमाह-

वयं वण्णं च णाऊणं, वयंते वग्गुवादिणो ।
सभंडा वेयरे सेज्जं, अप्फदंती निरंतरं ॥१४५॥

वयो वर्णं च गृहस्वामिनो ज्ञात्वा वल्गु शोभनं वदन्तीत्येवंशीला वल्गुवादिनो वसतिस्वामिनं वक्ष्यमाणं वदन्ति । इतरे च सभाण्डाः सोपकरणाः सन्तो निरन्तरं वसतिमास्पन्दन्ते व्याप्नुवन्ति ।

कथं वदन्तीत्यत आह—

अब्भासत्थं गंतुं-ण पुच्छए दूरएत्तिमा जयणा ।
तद्दिसमेत्तपडिच्छण, पत्ते य कहेंति सब्भावं ॥१४६॥

यदि अभ्यासस्थो-निकटवर्त्ती भवति तदा गत्वा वसतिस्वामिनं पृच्छति । अथ दूरप्रासस्तत्रेयं यतना । तां दिशमागच्छतः प्रतीक्षणं कर्त्तव्यम् प्राप्ते च तस्मिन् सद्भावं कथयन्ति यथा बहि स्तेनादिभयात् युष्माकमुपाश्रये वयं स्थिताः, तथेदं वदन्ति ।

विले व वसिउं नागा,(पातो)गच्छामो तज्जणा निरत्थाणं ।
बहिँ दोसा जाते मा,होज्जा तुज्झ वि अहोसज्जा ॥१४७॥

विले नागा इव वय युष्मदुपाश्रये उषित्वा प्रातर्गच्छाम एवं याचितो यदि ददाति ततः सुन्दरम् । अथ न ददाति तदाऽनुलोमेन वचसा अनुलोमयितव्यः । धर्मकथा तस्य कथ्यते, निमित्तादिकं वा प्रयुज्यते । तथाप्यददति परुषमपि वक्तव्यम् । कथमित्याह—निरस्तानां—निष्काशितानामस्माकं ये स्तेनकश्वापदादिभिरुपधिशरीरमरणदोषा जायेरन् मा ते तवाप्युपरि पतेयुरिति ।

एतदेव सविस्तरमभिधित्सुराह—

जइ देइ सुंदरं तु, अह उ वएज्जाहि नीति मज्झ गिहा ।
अन्नत्थ वसहिं मग्गह,तहियं अणुसट्ठिमादीणि ॥१४८॥

यदि ' विले व वसिउं नागा ' इत्यादि भणनानन्तरं वसतिं ददाति ततः सुन्दरम् । अथ वदेत् मम गृहान्निर्गच्छत—अन्यत्र वसतिं याचध्वमिति तदा तत्रानुशिष्ट्यादीनि क्रियन्ते, अनुशिष्टिः-अनुशासनं क्रियते । आदिशब्दात्-धर्मकथा कथ्यते इति परिग्रहः ।

अणुलोमणं सजाती, सजाइमेवेति तह वि उ अठंते ।
अभिओगनिमित्तं वा, बंधणं गोसे य ववहारो ॥१४९॥

तथा अनुलोमेन वचसा अनुलोमनं कर्त्तव्यम् । अथ तथापि न ददाति तर्हि सजातिः सजातिमनुकूलयतीति न्यायमङ्गीकृत्य ये तस्य स्वजना यानि च मित्राणि तैरनुनयितव्यः । तथाप्यतिष्ठति अभियोगो मन्त्रादिना कर्त्तव्यः, निमित्तं वा प्रयोक्तव्यम्, बन्धनं वा सर्वैरपि साधुभिस्तस्य कर्त्तव्यम् । ततः प्रभाते व्यवहारः कर्त्तव्यः ।

मा णो छिवसु भाणाई, मा भिंदिस्ससि णोऽजत ! ।
दुहतो वायं वोलेंति, थेरा वारेंति संजए ॥ १५० ॥

यदि साधूना भाण्डकं बहिर्नेतुं व्यवसितस्तदा स भण्यते । मा नः-अस्माक भाजनानि स्पृश, हे अयत ? मा वा नोऽस्माक भाजनानि भिन्धि । यदि पुनस्तं संयता निर्द्धर्म्मादिवचोभिराक्रोशन्ति तदा स्थविरा आचार्याः संयतान् वारयन्ति । आचार्या द्विधातो वाचं कुर्युः, एकं तावत् वसतिं प्रतिगृह्णीथ, द्वितीय परुषाणि भाषध्वे । तस्मान्मा एवं भणत; यत्करोति तत् क्षमध्वमिति ।

अहवा वेंति अम्हे ते, सहामो एस ते बली ।
न सहेज्जाऽवराहं ते, तेण होज्ज न ते खेमं ॥ १५१ ॥

अथवा इदं ब्रुवते-वयं तवापराधं सहामहे, एष पुनर्बलीयान् तवापराधं न सहेत । असहिष्णुना वा तेन यत्क्रियेत तन्न ते क्षेम भवेत् ।

एवमुक्तो यदि सोऽतिरोषेण न तिष्ठति, निष्काशयति, प्रहारैर्वा धावति, तदा स बलीयान् यत्करोति तद्दर्शयति—

सो य रुट्ठो व उट्ठित्ता, खंभं कुड्डं व कंपए ।
पुव्वं वा नातिमित्तेहिं, तं गमेंति पहूएँ वा ॥ १५२ ॥

स बलीयान् रुष्ट इव, न तु परमार्थतो रुष्ट उत्थाय स्तम्भं वा कुड्यं वा मुष्टिप्रहारेण कम्पयति । कम्पयंश्च ब्रूते-एवं शिरः पातयिष्यामि, यदि न स्थास्यसि । एतच्च पर्यन्ते उच्यते, अन्यथा पूर्वमेव ज्ञातिभिर्मित्रैर्वा प्रभुणा तं गमयन्ति, तथाऽप्यतिष्ठत्यनन्तरोदितं क्रियते । व्य० ८ उ० ।

संस्तारको विप्रणष्ट- स्यात् तदाचक्षते—

इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पडिहारिए वा सागारियसंतिए वा सेज्जासंथारए परिब्भट्ठे सिया,से य अ-णुगवेसियव्वे सिया,से य अणुगवेसमाणे लभेज्जा। तस्सेव अणुप्पदायव्वे सिया, से अ अणुगवेसमाणे णो लभेज्जा। एवं से कप्पइ दोच्चं पि उग्गहं ओगिण्हित्ता परिहारं प-रिहरित्तए ॥ २८ ॥

अथास्य (सूत्रस्य) संबन्धमाह—

दोण्हेगयरं णट्ठं, गवेसिउं पुव्वमामिणो देंति ।
अपमादट्ठा अहिए, हिए य सुत्तस्स आरंभो ॥६३६॥

द्वयोः-प्रातिहारिकसागारिकयोः परिशाट्यपरिशाटिनोर्वा संस्तारकयोरेकतरं संस्तारकं नष्टं गवेषयित्वा पूर्वस्वामिनः प्रयच्छन्ति । अत. अहृते-अनंष्टेऽप्रमादार्थं, हृते च गवेषणा दिसामाचारीप्रदर्शनार्थमस्य सूत्रस्यारम्भः क्रियते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (२८) व्याख्या-इहास्मिन् मौनीन्द्रे प्रव चने स्थितानां खलुर्वाक्यालंकारे निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिको वा सागारिकसत्को वा शय्यासंस्तारको विप्रणश्येत्-विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण रक्ष्यमाणोऽपि नश्येत्। स चानुगवेषयितव्यो विप्रणाशानन्तरं पृष्ठतः एव गवेषयितव्यः. स्यात्-भवेत् । स चानुगवेष्यमाणो लभ्येत. तस्यैव-संस्ता-रकस्वामिनः प्रतिदातव्यः —प्रत्यर्पणीयः स्यात् । स चानुग-वेष्यमाणो नो लभ्येत, तत एव ' से ' तस्य कल्पते द्वितीय मप्यवग्रहमनुज्ञाप्य । एकं तावत्प्रथमं यदा गृहीतस्तदाऽनु-ज्ञापितः , ततो विप्रणष्टः सन् गवेष्यमाणोऽपि यदा न लब्ध-स्तदा संस्तारकस्वामिनः कथिते सति यदसावन्यं संस्ता-रकं ददाति , यद्वा स एव संस्तारकस्वामिना मृग्यमाणो लब्धः, ततस्तद्विषयं द्वितीयमवग्रहमनुज्ञाप्य परिहारं-धारणापरिभोगलक्षणं परिहर्तुं धातूनामनेकार्थत्वात्कर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः —

संथारो नासिहिती, वसहीपालस्स मग्गणा होति ।
सुन्नाई उ विभासा, जहेव हेट्ठा तहेव इहं ॥ ६३७ ॥

शून्यायां वसतौ कृतायां संस्तारको नश्यतीति प्रथमत एव वसतिः शून्या कर्त्तव्या येनासौ न नश्यति। अत एवात्र वसतिपालस्य मार्गणा भवति । कथमित्याह-'सुन्नाई' इत्या-दि यथैवाधस्तात्पीठिकायां शय्याकल्पिकद्वारे ' सुन्ने वाल-गिलाणे ' इत्यादिका विभाषा कृता तथैवेहापि मन्तव्या ।

स्थानाशून्यार्थं पुनरिदमाह—

पढमम्मि य चउलहुगा, सेसेसुं मासियं तु नाणत्तं ।
दोहि गुरू एक्केणं, चउत्थपए दोहि वी लहुगा ॥६३८॥

प्रथमे स्थाने वसतेः शून्यताकरणलक्षणे चतुर्लघुकाः, द्वाभ्यां तपःकालाभ्यां गुरुकाः । शेषेषु—बालग्लानाव्यक्तस्थाप-नलक्षणेषु त्रिषु लघुमासिकम् । तत्र बालस्थापने तपसा गु-रुकं, ग्लानस्थापने कालेन गुरुकं , चतुर्थपदे-अव्यक्तस्थाप-नात्मके द्वाभ्यामपि-तपःकालाभ्यां लघुकम् ।

तत्र दोषानुपदर्शयति—

मिच्छत्तबहुगवारण-भडाण मग्गणं तिरिक्खमणुयाणं ।
आएसबालनिक्के-यणे य सुन्ने भवे दोसा ॥ ६३९ ॥
बलिधम्मकहाकिड्डा-पमज्जणा चरिमणा य पाहुडिया ।
संथारअगणि भंगे, मालवतेणा एमाईया ॥६४०॥

गाथाद्वयं पीठिकायां सविस्तरं व्याख्यातम् । यत एते दोषा अतो वसतिः शून्या न कर्त्तव्या, न वा बालो ग्लानोऽव्यक्तो वा वसतिपालः स्थापनीयः ।

संथारविप्पणासो, एवं खु भविज्जतीति चोएति ।
सुत्तं होइ य अफलं, अह सफलं उभयहा दोसा ॥६४१॥

नोदयति-परः प्रेरयति, एवं खु -अवधारणे सुरक्षिते क्रि-यमाणे संस्तारकस्य विप्रणाशो न विद्यते । तथा च ' सेज्जा संथारए विप्पणस्सिज्जा ' इत्यखिलमपि सूत्रमफलं भवति । अथ सूत्रं सफलं मन्यध्वे ततो बालादिदोषरहितो वसति-पालः स्थापनीयः इति यदुक्तं तदफलं प्राप्नोति। एवमुभयथा ऽपि दोषा भवन्ति ।

सूरिराह-यथा द्वयमपि सफलं भवति तथाऽभिधीयते-

निज्जंताऽणिज्जंतो , आयावणणीणितोऽवहीरेज्जा ।
तेणऽगणिउदगसंभम-बोहिकभयरट्ठउट्ठाणे ॥ ६४२ ॥

प्रत्यर्पणार्थं नीयमानः संस्तारको राजपुरुषैरन्तराऽपह्रिये-त ' आणिज्जंतो ' त्ति गृहपतिगृहादानीयमानो वा राजपुरु-षैर्बलादपह्रियेत । आतापनमातापं संस्तारकस्य प्रदानं तद-र्थं वा बहिर्निष्काशितः केनापि ह्रियेत , स्तेनाग्न्युदकसंभ्र-मेषु वा बोधिकभयं वा राष्ट्रस्य देशस्य यदुत्थानम्-उद्वसी-भवनं तत्र ह्रियेत ।

पडिसेहेण य लद्धो, पडिलेहणमादिविरहिते गहणं ।
अणुसिट्ठी धम्मकहा, वल्लभो वा निमित्तेणं ॥६४३॥

प्रतिषेधो नाम संस्तारको मार्ग्यमाणस्तेन स्वामिना नाहं प्रयच्छामीति भवेत् प्रतिषिद्धस्ततः स केनचित् भद्रकेणानुशिष्टः -किं न प्रयच्छसीति ?, स प्राह—वि-प्रणाशभयात् । इतरो ब्रवीति—नामीषां हस्ताद्वि-प्रणश्यति , एवंविधेन प्रतिषेधेन वा लब्धः स प्रयत्नेन रक्ष्यमाणोऽपि प्रत्युपेक्षणानिमित्तं बहिर्नीतः , साधुश्च विस्मृतरजोहरणार्थं मध्ये प्रविष्टः । स चोत्कृष्टोऽयमिति कृ-त्वा विरहितं मत्वा केनापि गृहीतः । आदिग्रहणादुपाश्रय-स्यान्तः राजवल्लभेन दृष्ट्वा बलमोटिकया ग्रहणं कृतम् । एवं विप्रणष्टे सति येन हृतस्तस्य पार्श्वान्मार्गयितव्यः । अथ मा-र्गितोऽपि न ददाति ततोऽनुशिष्टिः क्रियते । तथाप्यप्रय-च्छति धर्मकथा कर्त्तव्या । एवमप्यददाने यो द्रुमकस्तस्य तापनं क्रियते । यस्तु राजवल्लभः स निमित्तेनावर्जनीयः ।

कथं पुनरनुशिष्टिः क्रियते इत्युच्यते—

दिन्नो भवव्विहेणे-व एस णारिहसि णे ण दाउं जो ।

अन्नो वि ताव देयो, देज्जाणमजाणताऽऽणीयं ॥६४४॥

य एव भवता संस्तारको गृहीतः स भवद्भिर्धनेव शिष्ट-पुरुषेण दत्तस्ततो 'ऐ'-अस्माकं न नार्हसि दातुम्, अतोऽपि तावद्भवता संस्तारको देयः किं पुनर्योऽन्यद्दत्तः। ततः अ-जानता जानता वा आनीतमतोऽस्माकं प्रयच्छ।

एवम् अनुशिष्टो यदि न प्रयच्छति ततोऽयं विधिः—

मंतनिमित्तं पुण रा-यवल्लभे दमगभेसणमदेंते।

धम्मकहा पुण दोसु वि,जति अवराहो दुहा वऽहिओ॥६४५

राजवल्लभे अददति,मन्त्रो निमित्तं वा प्रयोक्तव्यम्। द्रमकस्य तु भेषणं कर्त्तव्यम्। धर्मकथा पुनर्द्वयोरपि द्रमकराजवल्ल-भयोः प्रयुज्यते, यथा यतयः-साधवस्तेषामुपकरणापहारा-द्यपराधो हि इह लोके परलोके वाऽहितो भवति।

इदमेव व्यनक्ति—

अन्नं पि ताव तेन्नं, इहपरलोके य पारिणामऽहियं।

पत्तो जायितलद्धं, किं पुण मन्नुप्पहरणेसुं ॥६४६॥

अन्यदपि प्राकृतजनविषयमपि यत्स्तैन्यं तत्तावदिह परलोके वा परिणामेऽहितं भवति। किं पुनः पत्तो याचितं यल्लब्ध तदपि ह्रियमाणं मन्युप्रहरणेषु साधुषु। मन्युः-क्रोधस्त-त्प्रहरणास्तदायुधा एव ऋषयः। ततस्तेषां ह्रियमाणमिहप-रलोकयोः सुतरामहितं भवति।

एवमप्युक्तो यदि न दद्यात् ततः—

खंते व भूणए वा, भोइगजामातुगे असइ साहे।

सिट्ठम्मि य जं कुणइ, सो मग्गणदाणववहारो ॥६४७॥

'खंत' त्ति-पिता तेन गृहीते पुत्रस्य निवेद्यते, भूणकः-पुत्र स्तेन गृहीते पिता प्रज्ञाप्यते। यद्वा—या तस्य भोजिका-भार्या,यो वा जामाता ताभ्यामसौ भाणयितव्यः। 'असत्या-हे' त्ति सर्वथाऽपि यदि न ददाति तदा महत्तरादीनां निवे-द्यते। तस्य शिष्टे कथिते यदसौ महत्तरादिः करोति त-त्प्रमाणम्। एवं प्रनष्टस्य संस्तारकस्य मार्गणा, एवमप्यलभ्य-माने प्राप्तस्य संस्तारकस्वामिनो दानं निवेदनं दीयते, व्य-वहारो वा करणं प्रविश्य कर्त्तव्य इति सप्रद्रगाथासमासार्थः।

ते भोगिकादयो भणेयुः, गच्छत यूयं वयं संस्तारकं सं-स्तारकस्वामिनं समर्पयिष्यामः, इति एष विधिर्दृष्टे सं-स्तारके मन्तव्यः। अदृष्टे इदं वक्ष्यमाणं भवति।

अथैनामेव गाथां व्याचष्टे—

खंताइसिट्ठे दिते, महत्तरकिच्चकरभोइए वाऽवि।

देसारक्खियमच्चे, करणे निव मा गुरू दंडो ॥ ६५०॥

'खंत' त्ति—पितरि तदानीमनन्तरोक्तनीत्या शिष्टे-कथिते ऽप्यददाने महत्तरस्य-ग्रामप्रधानपुरुषस्य कथयन्ति। कृत्य-करो—ग्रामकृत्ये नियुक्तो भोगिको—ग्रामस्वामी तयोर्वा क-थयन्ति। देशारक्षिको-महाबलाधिकृतः,अमात्यो-राजमन्त्री तयोर्वा यथाक्रमं निवेद्यते। तथाप्यददाने करणेऽपि निवे-दयन्ति। नृपस्य तु न निवेद्यते, मा गुरुर्गरीयान् सर्वस्व-हारणादिको दण्डो भवेदिति कृत्वा।

एए उ दवावेंती, अहव भणेज्जा स कस्स दायव्वो।

अमुकस्स त्ति य भणिए,वच्चह तस्स प्पणिस्सामो॥६५१॥

एते भोगिकादयो यदि दापयन्ति ततो लष्टम्। अथवा-ते भणेयुः-स संस्तारकः कस्य दातव्य इति। ततः साधुभिर-मुकस्येति भणिते ते ब्रुवते—व्रजत यूयं, वयमेव तस्यार्प-यिष्याम इति।

जति सिं कज्जसमत्ती, वयंति इहरा उ घेत्तु संथारं।

दिट्ठ णाते चेवं, अदिट्ठ णाए इमा जयणा ॥ ६५२ ॥

यदि 'सिं' तेषां साधूनां तेन संस्तारकेण कार्यसमाप्तिः स-जाता मासकल्पश्च पूर्णस्ततो भोगिकादिभिर्विसर्जिता व्रज-न्ति, इतरथा-संस्तारककार्ये असमाप्ते, अपूर्णे मासकल्पे तं वा अन्यं वा संस्तारकं गृहीत्वा परिभुञ्जते। एवं दृष्टे संस्ता-रके ज्ञाते वा स्तेने विधिरुक्तः।

अदृष्टे अज्ञाते चैव यतना भवति—

विज्जादीहि गवेसण, अदिट्ठ भोइयस्स वा कहिंति।

जो भद्दओ गवेसति, पंत अणुसिट्ठिमाईणि ॥ ६५३ ॥

विद्यादिभिः संस्तारकस्य गवेषणा कर्त्तव्या। अथ न

विद्यादीनामभावे न ज्ञायते केनापि गृहीत इति, ततो भोगिकादीनां कथयन्ति । संस्तारकोऽस्माकं नष्टो वर्त्तते, यूयं तं गवेषयत । भोगिकः प्राह-केन गृहीतः, साधवो ब्रुवते-न जानीमो वयम् । भोगिकः प्राह-अज्ञायमानं कथं गवेषयामि । साधुभिर्वक्तव्यं दीर्घो हि राजहस्तो भवति, तेन हि गवेष्यमाणः सुखेनैव स्तेन प्राप्यते । ततो यो भद्रको भवति स आमं सत्यमिदमिति भणित्वा मार्गयति ।

प्रान्तः पुनरिदमाह—

जाणह जेणं हडो सो, कत्थति मग्गामि णं अजाणंतो ।
इति पंते अणुसिट्ठी, धम्मनिमित्ताइ तह चेव ॥६५६॥

अथ प्रान्त स ब्रूयात्—जानीत यूयं येनासौ संस्तारको हृत । अज्ञातेन तु कुत्राहं मार्गयामि । अभद्रकवदन्धवद्वा इति प्रान्ते ब्रुवाणे अनुशिष्टिधर्मकथानिमित्तादि तथैव प्रयोक्तव्यम् ।

असती य भेसणं वा, भीया वा भोइयस्स व भएणं ।
साहिंति दारमूले, पडिणीए इमेसु वि छुभेज्जा॥६५७॥

अथ नास्ति तत्र भोगिकः, अस्ति वा परं न दापयति, तदा साधवो भेषणं कुर्वन्ति । ततो भीता वा भोगिकस्य वा भयेन द्वारमूले संहरन्ति, संस्तारक स्थापयन्तीत्यर्थः । यस्तु प्रत्यनीक स एतेष्वपि पृथिव्यादिषु कायेषु प्रक्षिपेत् । यद्यस्माकं न जातस्तत एतेषामपि मा भूदिति कृत्वा । एष पुरातनगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव व्याख्याति—

भोइयमादीण सती, अहवा बेंते वि बिंति जणपुरओ ।
मुणहीहामो सकज्जे, किह लोगमयाइ जाणंता ॥६५८॥

भोगिकादीनामभावे तेषु वा संस्तारकमदापयत्सु साधवो बहुजनस्य पुरतो ब्रुवते । वयं लोकमभिजानन्तः स्वकार्ये कथ मुह्यामहे, यदि लोकस्य नष्टं विनष्ट विस्मृतं वा जानीमस्ततः कथमात्मीयं न ज्ञास्याम इति भावः । अतो यद्यस्माकं संस्तारकं नार्पयथ ततो वयं जनपुरतस्त हस्ते गृहीत्वा दापयिष्यामः ।

अथ यूयं न प्रतीच्छथ ततः—

पेहुण तंदुलपच्चय-भीया साहंति भोइगस्सेते ।
साहिंरिंथ साहरंति व,दोण्ह वि मा होउ पडिणीए ।६५९।

तन्दुला द्विधा क्रियन्ते-एके 'पेहुणमिश्रिता', अपरे केवला. एव । पेहुणं नाम-मयूराङ्गपिच्छ तत एकः साधुः साधूना मध्यादपसरति, गृहस्थाश्च भणति । युष्माक मध्यादेकः किमप्युपकरणं गृह्णातु ततो गृहीते सति स साधुरागत्य भणति युयत्या सर्वेऽपि तिष्ठन्तु, स्थितेषु च स नैमित्तिकसाधुरुदक तेषामञ्जलौ ददाति । येन च साधुना तत् गृह्यमाण दृष्ट स तन्दुलान् प्रयच्छन् येन गृहीतं तत्र पेहुणमिश्रितान् ददाति । ततो नैमित्तिकसाधुस्तानि पेहुणानि दृष्ट्वा भणति, अनेन गृहीतामिति । एवं प्रत्यये उत्पन्ने भीतश्चिन्तयति । नूनमंते एवं ज्ञात्वा भोगिकस्य कथयिष्यन्ति । एवं विचिन्त्य स्वहस्तेन प्रतिश्रयद्वारमूले संस्तारकं स्थापयन्ति । प्रत्यनीकता वा द्वयोरपि वर्गयोरस्माकममीषां च मा भूदिति बुद्धया एतेषु संहरन्ति ।

पुढवी आउकाए, अगणिवणस्सइतसेसु साहरइ ।
घित्तूण य दायव्वो, अदिट्ठे दिट्ठे य दोच्चं पि ॥६६०॥

कश्चित्प्रत्यनीकः साधुसामाचारीकोविदः सचित्तपृथिव्यप्कायवनस्पतित्रसेषु प्रक्षिप्ते न ग्रहीष्यन्तीति बुद्धया तेषु आगाढे वा गर्त्तायां प्रक्षिपति । यद्यप्येतेषु प्रक्षिप्तस्तथापि ततो गृहीत्वा संस्तारकस्वामिनो दातव्य. । अथ प्रयत्नेन गवेषितोऽपि न कुत्रापि दृष्टः । यद्वा—स प्रत्यनीकतया न ददाति ततो 'दोच्चं पि' त्ति द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञापयेत् । परः प्राह—यथाऽहं भणामि तथा द्वितीयावग्रहः अनुज्ञापनीयः । कथमिति चेदुच्यते—स संस्तारकस्वामी न ज्ञाप्यते, यथा नष्ट. संस्तारकः, किं तु गत्वा भणितव्यं देहि तं संस्तारकमिदानीमेष द्वितीयोऽवग्रह उच्यते ।

गुरुराह—

दिट्ठंत पडिहणित्ता, जयणाए भद्दतो विसज्जेति ।
मग्गंते यतणाए, उवहिग्गहणे ततो वाओ ॥ ६६१ ॥

दृष्टान्तो नाम—नोदकेन स्वमत्या योऽभिप्रायो दृष्ट', तं प्रतिहत्य निक्षिप्य संस्तारकस्वामिनो यतनया सद्भावः कथनीयः । कथिते च भद्रको विसर्जयति गच्छत नाहं किंचिदपि भणामि । य. प्रान्तः स संस्तारकं मार्गयति, तत्रानुशिष्टिः कर्त्तव्या । अथ नेच्छति तदा यतनया प्रान्तोपधिर्दातव्य' । अथ बलादेव सारोपधिग्रहणं करोति ततो राजकुले विवादः कार्यः ।

अमुमेवार्थं व्याख्याति—

परवयणाऽऽउट्टेउं, संथारं देहि तं तु गुरु एवं ।
आणेह भणति पंतो, तेणं दाणं न वा दाहं ॥६६२॥

पर. प्रेरकस्तस्य वचनमत्र भवति 'आउट्टेउं' ति धर्मकथया संस्तारकस्वामी आवर्त्य याच्यते । तं संस्तारकं निर्व्याजं प्रयच्छ । गुरुराह-एवं मायया याचमानस्य चतुर्गुरुकम् । भद्रकप्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति । प्रान्तो भणति आनयत संस्तारकं ततो दास्यामि वा न वा ।

किं च—

दिज्जंतो वि न गहिओ किं सुहसेज्जो इयाणि संजाओ ।
हियनट्ठो वा नूणं, अथकजायाएँ थवयामो ॥ ६६३ ॥

दीयमानोऽपि तदानीं यो न गृहीतः किमसौ संस्तारक इदानीं सुखशय्य. संजात. । अनया अथक्याच्ञया अकालप्रार्थनया स्तवयामः—स्तव कुर्मः । स नूनं हृतो वा नष्टो वा ।

भद्दो पुण अग्गहणं, जाणंतो वा वि विपरिणामेज्जा ।
किं फुडमेवं सीसइ, इमो हु अन्ने वि संथारा ॥६६४॥

य' पुनर्भद्रकः स साधुषु अग्रहणमनादरं कुर्यात्, यो वा जानाति संस्तारको हृतो नष्टो वेति स सम्यग्दर्शनप्रत्ययाः घभिमुखो विपरिणमेत् अहो मायाविनोऽमी । विपरिणतो ब्रूयात्—किं स्फुटमेवास्माकं न शिष्यते—न कथ्यते यथा संस्तारको नष्ट., किमेवं मायया याच्यते ? । इमो हुरिति प्रत्यक्षमुपलभ्यमाना अन्येऽपि संस्तारकाः सन्ति ।

इह चोयगदिट्ठंतं, पडिहंतुं सिस्सते य सब्भावो ।

भद्दो सो मम नट्ठो, मग्गामि न तो पुणो दाहं॥६६५॥

इतिः पुरःप्रदर्शने, एवं भद्रकप्रान्तदोषोपदर्शनेन नोदकदृष्टान्तं पराभिप्रायं प्रतिहन्य तत्त्वमुच्यते। तस्य--संस्तारकस्वामिनः सद्भावः शिष्यते-निवेद्यते। निवेदिते च भद्रको भणति--स संस्तारको मम नष्टो न युष्मदकम्, अद्य प्रभृति नाहं मार्गयामि लब्धं तु तं पुनरपि युष्मभ्य दास्यामि।

तुज्झे वि ताव मग्गह, अहं पि झूसेमि मग्गह व अण्णं।
नट्ठे वि तुब्भ खट्ठा, वदंति पंतेऽणुसिट्ठादी ॥ ६६६ ॥

यूयमपि तावत्तं संस्तारकं मार्गयत, अहमपि तं 'झुसेमि' त्ति-गवेषयामि। अथ युष्माकं त्वरितं-संस्तारकेण प्रयोजनं तदा यावदसौ लभ्यते तावदन्यं मार्गयत। यस्तु प्रान्तः स सद्भावे कथिते भणति--नष्टेऽपि संस्तारके यूयं मम नष्टाः, यतो आनीथ ततः संस्तारकं मार्गयत।

इयं यतना--

मोल्लं णत्थिऽहिरण्णा, उवधिं मे देहपंतदायणस्स।
अण्णं वदंति फलगं, जयणाए मग्गिउं तस्स ॥ ६६७॥

अहिरण्या वयं नास्ति मूल्यम्। स ब्रूयात्-उपधिं प्रयच्छ। ततो येन साधुना स संस्तारक आनीतः तस्य सत्कमन्तप्रान्तमुपकरणं दर्शनीयम्। अन्यं वा फलकं यतनया मार्गयित्वा ददाति। तत्र प्रथमतः शुद्धम्। तदभावे पञ्चकपरिहाण्या राजकुले वा गत्वा व्यवहारः क्रियते। दत्त्वा दातुमनीश्वर इति एतेन 'अग्गहदाणं व ववहारो' त्ति पदं व्याख्यातम्।

सव्वे वि तत्थ रुंभति, भद्दो मुल्लेण जाव अवरण्हे।
एगं ठवेउ गमणं, सो वि य जा अट्ठमं काउं ॥ ६६८॥

कोऽपि राजवल्लभादिः सर्वानपि साधून् तत्र निरुणद्धि, ततो यदि कश्चिद्यथाभद्रको मूल्येन मोचयति स न प्रतिषेद्धव्यः। अथ प्रतिषेधं कुर्वन्ति तदा चतुर्गुरु। अथ नास्ति मोचयिता ततोऽपराह्णे यावत् सर्वेऽपि सबालवृद्धास्तिष्ठन्ति, यदि न मुञ्चति तत एकं क्षपकादिकं स्थापयित्वा शेषाः सर्वेऽपि गच्छन्ति। सोऽपीदृशः स्थाप्यते योऽष्टमं कर्तुं समर्थो भवति। असमर्थस्थापने चतुर्गुरु। ततोऽसावष्टमं कृत्वा पलायते।

लद्धे तीरियकज्जा, तस्सेवऽप्पंति अहव भुंजंति।
पभु लद्धेवऽसमत्तं, दोच्चोग्गहो तस्स मूलाउ ॥६६९॥

लब्धे संस्तारकं यदि तीरितकार्याः समाप्तप्रयोजनास्ततस्तस्यैव संस्तारकस्वामिनोऽर्पयन्ति। अथ कार्यमसमाप्तं ततो भुञ्जते। अथ प्रभुणा--संस्तारकस्वामिना साधूनां च कार्यमप्राप्यसमाप्तं ततस्तस्य मूलाद्द्वितीयं वा स चावग्रहोऽनुज्ञाप्यते एव सूत्रोक्तो द्वितीयोऽवग्रहः।

अथ द्वितीयपदमाह--

वितियं पभुनिव्विसए, णट्ठुट्ठियसुण्णमयमणप्पज्झे।
असहू य रायदुट्ठे, वोहिकभयमद्धसीसे वा ॥ ६७० ॥

द्वितीयपदमत्र भवति-संस्तारकेण कार्ये समाप्तम्, योऽपि संस्तारकस्य प्रभुः स राज्ञा निर्विषय आज्ञप्तः, देशभङ्गे वा नष्टः, दुर्भिक्षे वा उत्थित-उद्वसितः, 'सुण्णे' त्ति सपुत्रदारः कुत्राप्यामन्त्रितः सन् गतो गृहं शून्यं संजातम्, मृतो वा-कालगतः। एतानि गृहस्थकारणानि। अमूनि तु संयतकारणानि। स साधुरसहिष्णुर्न शक्नोति गवेषयितुम्, राजद्विष्टे वोधिकभये वा अध्वशीर्षके वा सार्थवशतः एतैः कारणैः--विप्रनष्टं शय्यासंस्तारकं न गवेषयेत्, न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात्। बृ० ३ उ०।

विप्रनष्टं शय्यासंस्तारकं गवेषयेत्--

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा पाडिहारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं विप्पणट्ठं ण गवेसइ न गवेसंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं विप्पणट्ठं ण गवेसइ ण गवेसंतं वा सातिज्जइ ॥५८॥

वि इति विधीए प इति प्रकारेण पक्खिज्जमाणो णट्ठो विप्पणट्ठो शेषं पूर्ववत्। नि० चू० ३ उ०। (यस्मिन् दिवसे निर्ग्रन्थाः शय्यासंस्तारकं विप्रजहति तत्रापरं आगच्छेयुः, तत्रावग्रहः 'उग्गह' शब्दे द्वितीयभागे ७१५ पृष्ठे उक्तः।) (रात्रावपि संस्तारको ग्राह्य इति 'राइभोयण' शब्दे षष्ठभागे उक्तम्।)

साम्प्रतं वसतौ वसतां विधिमधिकृत्याह--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा पुव्वामेव पण्णस्स उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहिज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं अपडिलेहियाए उच्चारपासवणभूमीए। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा राओ वा वियाले वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा से तत्थ पयलमाणे वा पयडमाणे वा हत्थं वा पायं वा०जाव लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ ०जाव ववरोविज्जा। अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा जं पुव्वामेव पण्णस्स उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहिज्जा। (सू० १०६)

'से' इत्यादि सुगमं नवरं साधूनां सामाचार्येषा, यदुत विकाले प्रस्रवणादिभूमयः प्रत्युपेक्षणीया इति।

साम्प्रत संस्तारकभूमिमधिकृत्याह--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा सेज्जासंथारगभूमिं पडिलेहित्तए णण्णत्थ आयरिएण वा उवज्झाएण वा० जाव गणावच्छेएण वा वालेण वा वुड्ढेण वा सेहेण वा गिलाणेण वा आएसेण वा अंतेण वा मज्झेण वा समेण वा विसमेण वा पवाएण वा णिवाएण वा तओ संजयामेव पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरेज्जा। (सू० १०७)

स भिक्षुराचार्योपाध्यायादिभिः स्वीकृतां भूमिं मुक्त्वाऽन्यां स्वसंस्तरणाय प्रत्युपेक्षेत, शेषं सुगमम्। नवरमादेश--प्राघूर्णक इति, तथाऽन्तेन येत्यादीनां पदानां तृतीया सप्तम्यर्थे इति।

इदानीं शयनविधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरित्ता अभिकंखेज्जा बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरूहित्तए, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरूहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय पमज्जिय ततो संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारगे दुरूहेज्जा, दुरूहित्ता तओ संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए सएज्जा । (सू०-१०८)

' से इत्यादि ' स्पष्टम् ।

इदानीं सुप्तविधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुफासुए सेज्जासंथारए सयमाणे णो अण्णमण्णस्स हत्थेणं हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसाएज्जा, से अणासायमाणे तओ संजयामेव बहुफासुए संथारए सएज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उस्ససमाणे वा णीससमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डोए वा वातणिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहित्ता तओ संजयामेव ऊससेज्ज वा० जाव वायणिसग्गं वा करेज्जा । (सू० १०६)

'से'इत्यादि निगदसिद्धम् । इयमत्र भावना-स्वपद्भिर्हस्तमात्रव्यवहितसंस्तारकैः स्वप्तव्यमिति । एवं सुप्तस्य निःश्वसितादिविधिसूत्रमुत्तानार्थं, नवरम् ' आसयं व ' त्ति-आस्यं 'पोसयं वा ' इत्यधिष्ठानमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

तत्र च लब्धायां वसतौ को विधिरित्यत आह—

कोट्ठगसभा य पुव्विं, कालवियाराइभूमिपडिलेहा ।
पच्छा अइंति रत्तिं, पत्ता वा ते भवे रत्तिं ॥२००॥

कोष्ठक -आवासविशेष सभा-प्रतीता कोष्ठकसभा वसतौ लब्धायां प्रागेव ' काले ' त्ति—कालभूमिं प्रत्युपेक्षन्ते, यत्र कालो गृह्यते । तथा ' वियारभूमिपडिलेहा ' विचारभूमिसंज्ञाकायिकाभूमिस्तस्याश्च प्रत्युपेक्षणा क्रियते । तत एवं प्रत्युपेक्षितायां विकाले वसतौ ' पच्छा अतिंति रत्ति' ति— पश्चाच्छेषाः साधवो रात्रौ प्रविशन्ति । ' पत्ता वा ते भवे रत्ति ' ति—यदा पुनस्त आगच्छन्त एव कथमपि रात्रावेव प्राप्तास्तदा रात्रावपि प्रविशन्ति ।

तत्र च प्रविशताम्—

गुम्मियभेसण समणा,णिब्भय बहिठाण वसहिपडिलेहा ।
सुन्नघरपुव्वभणियं, कंचुग तह दारुदंडेणं ॥२०१ ॥

गुल्मिकाः-स्थानकरक्षपाला भेसण' ति यदि ते कथञ्चिद् भासयन्ति ततश्चेदं वक्तव्यं-यदुत श्रमणा वयं न चौराः । ' निब्भय ' त्ति—अथ तु स सन्निवेशो निर्भय एव भवेत्तदा ' बहिट्ठाण ' ति बहिरेव गच्छस्तावत्तिष्ठति, वृषभास्तु वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं व्रजन्ते । किंविशिष्टाऽसौ वसतिरन्वेष्यते ?—शून्यगृहादि पूर्वोक्तम् , ' कंचुग तह दारुदंडेणं ' ति-दण्डकपुञ्छनं तद्धि कञ्चुकं परिधाय सर्पपतनभयाद् दण्डपुञ्छनकेन वसतिमुपरिष्टात्प्रस्फोटयन्ति, गच्छश्च प्रविशन्ति ।

ततः को विधिः स्वापे ?—

संथारगभूमितिगं, आयरियाणं तु सेसमाणेणं ।
कुंदाए पुप्फइन्ना, मंडलिआ आवली इयरे ॥२०२॥

संस्तारकभूमित्रयमाचार्याणां निरूप्यते, एका निवाता संस्तारकभूमिरन्या प्रवाता अन्या निवातप्रवाता । 'सेसगाणेणं ' त्ति शेषाणां साधूनामेकैका संस्तारकभूमिर्दीयते । ' कुंदाए ' त्ति यद्यसौ वसतिर्विस्तीर्णा भवति ततः पुष्पावकीर्णाः स्वपन्ति—पुष्पप्रकरवद्यथायथ स्वपन्ति, येन सागारिकावकाशो न भवति । 'मंडलिय' त्ति-अथासौ वसतिः क्षुल्लिका भवति ततो मध्ये पात्रकाणि कृत्वा मण्डल्याः पार्श्वे स्वपन्ति । ' आवलिय ' त्ति—प्रमाणयुक्तायां वसतौ ' आवल्या ' पङ्क्त्या स्वपन्ति ' इयरे ' त्ति-क्षुल्लिकाप्रमाणयुक्तयोर्वसत्योरयं विधिः ।

संथारगहणाए, वेंटिअउक्खेवणं तु कायव्वं ।
संथारो घेत्तव्वो, मायामयविप्पमुक्केणं ॥ २०३ ॥

संस्तारकग्रहणाय संस्तारकभूमिग्रहणकाले,एतदुक्तं भवति-यदा स्थविरादि संस्तारकभूमिविभजनं करोति तदा साधुभिः किं कर्त्तव्यमत आह-'वेंटिअउक्खेवणं तु कायव्वं'वेण्टिया—उपधिवेण्टलिकास्तासां सर्वैरेव साधुभिरात्मीयात्मीयानामुत्क्षेपणं कर्त्तव्यं येन सुखेनैव दृष्टाया भुवि विभज्यन्ते संस्तारकाः शक्यन्ते । स च संस्तारको यो यस्मै साधवे दीयते स कथं तेन ग्राह्य इत्याह—मायामदविप्रमुक्तेन तेन न माया कर्त्तव्या, यदुताहं वातार्थी ममेह प्रयच्छ,नापि मद - अहङ्कारः कार्यो, यदुताहमस्यापि पूज्यो येन मम शोभना संस्तारकभूर्दत्तेति।"जइ रत्तिं आगया ताहे काल न गेण्हति,निज्जुत्तीओ संगहणीओ य सणिअं गुणेंति, मा वेसितिथदुगुंछिआदओ दोसा होहिंति । काथिकां मत्तएसु छड्डुति उच्चारं पि जयणाए । अह पुण कालभूमी पडिलेहिया ताहे कालं गिण्हंति, यदि सुद्धो करेंति सज्झायं, अह न सुद्धो न पडिलेहिआ वा वसही ताहे निज्जुत्तीओ गुणेंति । पढमपोरिसिं काऊण बहुपडिपुण्णाए पोरिसीए गुरुसगासं गंतूण भणति— इच्छामि खमासमणो वंदिउं०जाव णिज्जाए निसीहिआए मत्थएण वदामि , खमासमणा ! बहुपडिपुण्णा पोरिसी , अणुजाणह राईसंथारयं , ताहे पढम काइआभूमिं वच्चति । ताहे जत्थ संथारगभूमी तत्थ वच्चति । ताहे उवहिम्मि उवओगं करेंता पमज्जता उवहीए दोरयं उच्छोडेंति । ताहे संथारगपट्टअ उत्तरपट्टयं च पडिलेहित्ता दो वि एगत्थ लाएत्ता ऊरुम्मि ठवेंति । ताहे संथारगभूमिं पडिलेहंति, ताहे संथारयं अच्छुरंति सउत्तरपट्ट । तत्थ य लग्गा मुहपोत्तिआए उवरिल्लं कायं पमज्जंति , हेट्ठिल्लं रयहरणेण । कप्पे य वामपासे ठवेंति , पुणो संथारए चढंतो भणइ-जेट्ठज्जाईस पुरतो चिट्ठंताणं अणुजाणेज्जह । पुणो सामाइअ तिण्णि वारे कड्ढिऊण सोवइ । एस ताव कमो ।

इदानीं गाथा व्याख्यायते—

पोरिसि आपुच्छणया, सामाइय उभय कायपडिलेहा।
साहणिअ दुवे पट्टे, पमज्ज भूमिं जओ पाए ॥ २०४ ॥

पौरुष्यां निर्युक्तीर्गुणयित्वा 'आपुच्छण' त्ति—आचार्यसमीपे मुखवस्त्रिकां प्रतिलेखयित्वा भणति 'बहुपडिपुण्णा पोरिसी' सदिशत सस्तारके तिष्ठामीति। 'सामाइयं' ति-सामायिकं वारत्रयमाकृष्य स्वपिति। 'उभयं ति—संज्ञाकायिकोपयोग कृत्वा 'कायपडिलेह' त्ति—सकलं कायं प्रमृज्य 'साहणिअ दुवे पट्टे' त्ति—साहणिय—एकत्र लापत्ता दुवे पट्टे—उत्तरपट्टो संथारपट्टो अ, तत ऊर्वोः स्थापयति। 'पमज्जभूमिं जओ पाओ' त्ति-पादौ यतस्तेन भूमिं प्रमृज्य ततः सोत्तरपट्ट संस्तारक मुञ्चति। अस्याश्च सामाचार्यनुक्रमेण गाथायां संबन्धो न कृतः, किन्तु स्वबुद्ध्या यथाक्रमेण व्याख्येया।

एवमसौ संस्तारकमारोहन् किं भणतीत्याह—

अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेणं।
कुक्कुडिपायपसारणं, अतरंत पमज्जए भूमि ॥ २०५ ॥

अनुजानीध्वं संस्तारकम्, पुनश्च बाहूपधानेन वामपार्श्वेन स्वपिति। 'कुक्कुडिपायपसारण' ति-यथा कुक्कुटी पादावाकाशे प्रथम प्रसारयती एवं साधुनाऽप्याकाशे पादौ प्रथममशक्नुवता प्रसारणीयौ। 'अतरंता' त्ति-यदा आकाशव्यवस्थिताभ्या पादाभ्या न शक्नोति स्थातु तदा 'पमज्जए भूमि' ति-भुवं प्रमृज्य पादौ स्थापयति।

संकोए संडासं, उव्वत्तंते य कायपडिलेहा।
दव्वाई उवओगं, णिस्सासनिरुंभणा लोयं ॥ २०६ ॥

यदा तु पुनः सङ्कोचयति पादौ तदा 'संडास' ति संदंशम्-ऊरुसन्धि प्रमृज्य सङ्कोचयति। 'उव्वत्तंते य' त्ति—उद्वर्त्तयश्चासौ साधु. कायं प्रमार्जयति। एवमस्य स्वपतो विधिरुक्त.। यदा पुन. कायिकार्थमुत्तिष्ठति स तदा किं करोतीत्याह-'दव्वाई उवओग' द्रव्यत क्षेत्रत कालतो भावतश्चोपयोगं ददाति। तत्र द्रव्यत कोऽहं प्रव्रजितो वा?, क्षेत्रत' किमुपरितलेऽन्यत्र वा?, कालत किमियं रात्रिर्दिवा?, भावतः कायिकादिना पीडितोऽहं न वेति, एवमुपयोगे दत्तेऽपि यदा निद्रयाऽभिभूयते तदा 'णिस्सासनिरुंभण' त्ति-नि श्वासं निरुणद्धि नासिका दृढं गृह्णाति, नि.श्वासनिरोधार्थं ततोऽपगतायां निद्रायां 'आलोय त्ति-आलोकं पश्यति द्वारम्।

यत -

दारं जा पडिलेहे, तेरा मए दोण्णि सावए तिण्णि।
जइ य चिरं तो दारे, अण्णं ठावेत्तु पडिअरइ ॥ २०७ ॥

तदाऽसौ द्वार यावत् प्रत्युपेक्षयन्-प्रमार्जयन् व्रजति, एवमसो निर्गच्छति, तत्र च यदि स्तेनभयं भवति ततः 'दोण्णि' त्ति-द्वौ साधू निर्गच्छत, तयोरेको द्वारे तिष्ठति अन्य कायिकां व्युत्सृजति। 'सावय तिण्णि' त्ति-श्वापदभये सति त्रय साधव उत्सृजन्ति। तत्रैको द्वारे तिष्ठति, अन्यः कायिकां व्युत्सृजति, अन्यस्तत्समीपे रक्षपालस्तिष्ठति। 'जति य चिरं' ति-यदि च चिरं तस्य व्युत्सृजतो जातं ततो योऽसौ द्वारे व्यवस्थितः साधुः सोऽन्यं द्वारे स्थापयित्वा साधुं पुनश्चासौ व्युत्सृजन्तं 'पडिअरति' त्ति प्रतिजागर्त्ति।

आगम्म पडिक्कंतो, अणुपेहे जाव चोद्दस वि पुव्वे।
परिहाणि जा तिगाहा, निद्दपमाओ जढो एवं ॥ २०८ ॥

सोऽपि साधु. कायिकां व्युत्सृज्य आगत्य वसतौ 'पडिक्कंतो' त्ति—ईर्यापथिकां प्रतिक्रान्त सन् 'अणुपेहे' अनुगुणनं करोति। कियद् दूरं यावदत आह—'जाव चोद्दस वि पुव्वे' यावच्चतुर्दश पूर्वाणि समाप्तानि। यश्च साधु सूक्ष्मानप्राणलब्धिसंपन्न. अथैवं न शक्नोति तत. 'परिहाणि जा तिगाहा' परिहाण्या गुणयति स्तोकं स्तोकतरमिति यावद्गाथात्रयं जघन्येन यद्वा तद्वा परिगुणयति शैक्षोऽपि। एवं च कृते विधौ निद्राप्रमादो 'जढो' परित्यक्तो भवति।

अतरंतो व निवज्जे, असंथरंतो अ पाउणे एक्कं।
गद्दभदिट्ठंतेणं, दो तिण्णि बहू जह समाही ॥ २०९ ॥

अथासौ गाथात्रयमपि गुणयितुं न शक्नोति तत. 'णिवज्जे' त्ति-तत स्वपित्येवेति। 'असंथरंतो अ' त्ति-उत्सर्गतस्तावत्प्रावरणरहित स्वपिति। अथ न शक्नोति यापयितुमात्मानं ततोऽसस्तरमाण प्रावृणोति। एकं कल्प द्वौ त्रीन् वा। तथाऽपि यदि शीतेन बाध्यते तदा बहिस्ताऽप्रावृतः कायोत्सर्गं करोति। ततश्च शीतव्याप्तोऽभ्यन्तर प्रविशति। तत्र च प्रविष्टोऽनिवातमिति मन्यते, तत्रापि स्थातुमशक्नुवन् कल्प गृह्णाति। एव द्वौ त्रीस्तावद्यावत्समाधान जातम्। अत्र च गर्दभदृष्टान्त', 'जहा मिच्छगद्दभो अणुरूवभारेण आरूविएण सो वहिउ नेच्छइ, ताहे जोऽवि अण्णस्स भारो सो वि चडाविज्जइ, अप्पणावि आरोहंति। जाहे नातिदूरं गया ताहे अप्पणा उत्तरति, ताहे सो जाणाति—उत्तारितो मम भारो त्ति तुरियतरं पहाविओ। पच्छा अण्णो स अवणीओ, ताहे सो सिग्घयरं पहाविओ। एवं साहू वि णिवायतरं मएणेतो सुहेण अच्छति। जाव रत्तिं, एस विही, अववाएण जहा वा समाही होति तहा कायव्व। सगारविंतिअवमहि' त्ति व्याख्यानम्। ओघ०। नि०। संस्तारकर्त्तरि, प्रव० ७१ द्वा०।

संथारग—संस्तारक—पुं०। संस्तीर्यते भूपीठे शयालुभिरिति संस्तार. स एव संस्तारक। पर्यन्तक्रिया कुर्वद्भिर्दर्भादिविस्तरणे नतिक्रियाप्रतिपादनरूपे प्रकीर्णकग्रन्थ, सथा०। अर्द्धतृतीयहस्तमाने (अनु०।) लघुतर शयने, ग्रा० १ श्रु० ५ अ०। स्था०। ध०।

संथारगपइण्णग—संस्तारकप्रकीर्णक—न०। संस्तारकप्रतिपादके प्रकीर्णकग्रन्थे, संथा०।

संथारपोरसी—संस्तारपौरुषी—स्त्री०। "साधुर्विश्रामकार्थ, निशाप्रहरे गत। गुर्वादेशादिविधिना, संस्तारे शयनं तथा॥१॥" संस्तारे शयनयोग्य रात्रिद्वितीयप्रहरे, ध० ३ अधि०।

('संथार' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव तद्विधिरुक्तः।)

संथारप्पलोइ-संस्तारप्रलोकिन्-त्रि० । शिशयिषोर्गुरोः स-स्तारप्रेक्षणं कर्तरि, कथं संस्तारः कृतः काऽत्र त्रुटिरिति-द्रष्टरि शिष्ये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

संथारुत्तरपट्ट-संस्तारोत्तरपट्ट-पुं०। संस्तारकोत्तरपट्टयोर्द्वन्द्वे "संथारुत्तरपट्टो, अड्डाइज्जा य आयया हत्था। दोण्ह पि अ वित्थारो, हत्थो चउरंगुले चेव ॥१॥" ध० ३ अधि०।

संथीण-संस्त्यान-न०। विनाशे, सम्म० ३ काण्ड।

संथुय-संस्तुत-त्रि०। विनयविषयत्वेन परिचिते,सद्भूतगुणो-त्कीर्त्तनादिभिः सम्यक्स्तुते च। उत्त० १ अ०। पुं०। संयु-तकरमुद्राविशेषवृन्दे, जं० २ वक्ष०। उत्त०। त्रि०। सम्बद्धे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। दर्शनभाषणादिभिः परिचिते, प्रश्न० ४ संव० द्वार। भिक्षोः पुरः संस्तुताः भ्रातृव्यादयः, पश्चात् संस्तुताः श्वशुरकुलसम्बद्धाः। आचा० २ श्रु०१ चू० १ अ० ४ उ०।

संदट्ठ-संदष्ट-त्रि०। "ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे" ॥ ८ । २ । ३४ ॥ अत्रानुष्ट्रेष्टासन्दष्टग्रहणात् ष्टकारस्य ठकार एव । चुण्ण व्व सन्दट्ठो। संदष्टे, प्रा०।" संदष्टो दंशमशकैः-स्त्रास द्वेष न वा व्रजेत्। न वारयेदुपेक्षेत, सर्वाहारप्रियत्ववित्॥ १ ॥" आ० म० १ अ०।

संदट्टय-देशी-संलग्ने, दे० ना० ८ वर्ग १८ गाथा।

संदन-स्यन्दन-पुं० । रथविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार। द्वि-विधो रथः सांग्रामिको, देवयानरथश्च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार।"संदणो रहो" पाइ० ना० २२३ गाथा। अतीतोत्स-र्पिण्यां भारते जाते त्रयोविंशतितमे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार।

संदब्भ-संदर्भ-पुं०। सूत्रेण ग्रन्थने, स्था० ४ ठा० ४ उ०। आ० म०।

संदब्भिय-संदर्भित-त्रि० । स्नेहरज्जुभिर्ग्रथिते, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

संदमाणिया-स्यन्दमानिका-स्त्री०। पुरुषस्य स्वप्रमाणावका-शदायिनि दीर्घे जम्पानविशेषे, रा०। जी०। भ०। औ०। ज्ञा०। अनु०। जं०। दशा०। शिबिकायाम्, औ०। सूत्र०।

संदाण-कृ-धा०। अवष्टम्भकरणे, "निष्टम्भावष्टम्भे णिट्टु-हृ-संदाणं" ॥८।४।६७॥ अनेनावष्टम्भविषयस्य कृञो वैकल्पिकः संदाण इत्यादेशः। संदाणइ-अवष्टम्भं करो-तीति। प्रा० ४ पाद।

संदाणिअ-संदानित-त्रि० । बन्धिते, " बद्ध संदाणिअं निअलिअ च " पाइ० ना० १६७ गाथा।

संदिट्ठ-संदिष्ट-पुं० । गुरुणाऽभिहिते, कथिते, निरूपिते, पञ्चा० १२ विव०। आ० म०। उत्त०। संदेशिते, नपुं०। " संदिट्ठं अपाहिअ" पाइ० ना० १८५ गाथा।

संदिद्ध-संदिग्ध-त्रि०। अनिश्चिते सकलसंशयादिदोषसहि-ते, स्था० ६ ठा० ३ उ०। सैन्धवशब्दवत् लवणपटघोटकाद्य-नेकार्थसंशयकारिणि, आ० म० १ अ०।

अत्थेसु दोसु तिसु वा, सामन्नऽभिहाणओ उ संदिद्धं।
जह सिंधवं तु आणय, अत्थबहुत्तम्मि संदेहो ॥

यस्मिन्नर्थेऽभिधीयमाने द्वयोस्त्रिषु सामान्याभिधानतः सं-देह उपजायते तत्संदिग्धं, यथा-सैन्धवमानयेत्युक्ते किम-श्वस्य ग्रहणमाहोस्वित् पुरुषस्य, उताहो लवणस्येत्यर्थब-हुत्वे सन्देहः। वृ० १ उ० १ प्रक०। " संदिद्धं संसइअं " पाइ० ना० १८५ गाथा।

संदिसाविय-संदिश्य-अव्य०।अनुज्ञाप्येत्यर्थे, पं० व० २ द्वार।

संदिसाविऊण-संदेश्य-अव्य०। संदिशन्तमनुजानन्तमाचार्य-मनुप्रयुज्य संदिशत यूयं मां येन पारयामीत्येवमनुज्ञाप्येत्यर्थे, पञ्चा० ५ विव०।

संदिहाण-संदिहान-त्रि०। संशयाने, विशे०।

संदीण-संदीन-त्रि०। संदीयते जलप्लावनात् क्षयमाप्नोती-ति संदीनः। उत्त० ४ अ०। यो हि पक्षमासादुदकेन प्लाव्य-ते तस्मिन् द्वीपभेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

संदुम-प्रदीप-धा०। प्रज्वालने, "प्रदीपेस्तेअव-संदुम-सन्धु-क्काभुत्ताः ॥ ८।४।१५२॥ अनेन प्रदीप्यतेः संदुमादेशः संदुमइ। प्रदीप्यते। प्रा० ४ पाद।

संदुमिअ-संदीप्त-त्रि०। " संदुमिअं ऊसिक्किअं " पाइ० ना० १६ गाथा।

संदेव-देशी-सीमायाम्, दे० ना० ८ वर्ग ७ गाथा।

संदेस-संदेश-पुं०। भाषकान्तरेण देशान्तरस्थस्य भणने, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। अपभ्रंशे स्वार्थे डप्रत्ययः। प्रा०।

संदेह-संदेह-पुं०। दोलायमानतायाम्, दर्श० ५ तत्त्व। आ-चा०। संशये, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

संदोह-संदोह-पुं०। निकुरम्बे, को०। सारे, आव० ६ अ०।

संधणा-संधना-स्त्री० । अभिसन्धनायाम्, प्रार्थनायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। संधानकरणे, व्य०।

सधनास्थानमाह-

रज्जुयमादी अछिन्नं, कंचुयमादी य छिन्नसंधणया।
सेढिदुगं अच्छिन्नं, अपुव्वगहणं तु भावम्मि ॥ ३२ ॥

संधना-संधानकरणं, सा द्विधा-द्रव्यसंधना, भावसंधना च। द्रव्यसंधना द्विधा-छिन्नसंधना, अच्छिन्नसंधना च। तत्र रज्जुकादिकमच्छिन्नं यत् वलयति एषा अच्छिन्ना द्रव्यसंध-ना। कञ्चुकादीनां छिन्नसंधनता कञ्चुकादयो ह्यन्योन्यख-ण्डमीलनतः संधीयन्ते ततस्ते छिन्नसंधनाः। भावसंधनाऽपि द्विधा-छिन्नसंधना, अछिन्नसंधना च । तत्राच्छिन्नसंधना श्रेणिद्विकम्, उपशमश्रेणिः, क्षपकश्रेणिश्च। तथाह्युपशमश्रे-ण्यां प्रविष्टो यदाऽनन्तानुबन्धिप्रभृतिमोहनीयमुपशमयितुं तथा यतते, यथा सर्वं मोहनीयमुपशमयति, तदा भवत्यु-पशमश्रेणिरच्छिन्नसंधना क्षपकश्रेण्यामपि दर्शनसप्तकक्ष-यानन्तरं कषायाष्टकादि क्षपयितुं प्रवृत्तो नियमादाकेवल-प्राप्तेर्न निवर्त्तते ततः क्षपकश्रेणिरप्यच्छिन्नसंधना। 'अपुव्व-गहणं तु भावम्मि' इति प्रशस्तेषु भावेषु वर्तमानो यदपूर्वं

भाव संदधाति एषाऽप्यच्छिन्ना भावसंधना। शुभभावसंधनस्याव्यवच्छिन्नत्वात्।

(भाष्यम्) इयं पुनश्छिन्नसंधना—

मीसत्तो ओदइयं गयस्स मीसगमणे पुणो छिन्नं।
अपसत्थपसत्थं वा,, भावे पगयं तु छिन्नेण ॥ ३४ ॥

छिन्नाभावे संधनामिश्रः क्षायोपशमिको भावः। तस्मात् मिश्रात् क्षायोपशमिकभावात् यदा औदयिकभावं सङ्क्रामन्ति तदा तस्य औदयिकं गतस्य छिन्नभावसंधना भावान्तरे संक्रान्तत्वात्। तथा तस्मादौदयिकभावात् यदा पुनर्मिश्रगमनं भवति-मिश्रं भावं सङ्क्रामति, तदापि छिन्नभावसंधना, एवं शेषेष्वपि भावेषु यथायोगं भावनीयम्। अथवा-द्विविधा छिन्नभावसंधना—प्रशस्ता, अप्रशस्ता च। तत्र यदा प्रशस्ते चरणादिभावे स्थितः सन् तथाविधकर्मोदयवशतोऽप्रशस्तमचरणभावं संक्रामति तदा प्रशस्ता छिन्नभावसंधना। अत्र प्रकृतमधिकारः,छिन्नेन भावसंधानेन तत्राप्रशस्तेन। तथाहि-प्रायश्चित्तस्थान तदा प्रतिसेवतो, यदा प्रशस्ताद्भावादप्रशस्तं भावं संक्रान्तो भवति तदेवं स्थाननिरूपणा। व्य०। स्था०। आचा०। ग्रहणे गुणने, नि० चू० १ उ०।

संदोह-संदोह-पुं०। निकुरम्बे, "संदोहो निकुरंबो" पाइ० ना० १६ गाथा।

संधाण-सन्धान-न०। पाटितसीवने, आचा०१ श्रु० ६ अ०३ उ०। मीलने, आचा०१ श्रु० ३ अ०३ उ०। अर्द्धे सन्धियोग्ये, पं०चू० ४ कल्प। सूत्रादेः प्रदेशान्तरे नष्टस्य मीलने, आ० म० १ अ०। आत्मना सहाविच्छेदेन संघट्टने, (अचार) अथाणाख्याते नानाद्रव्यसंयोगजे रस्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। संधानं निम्बकबिल्वकादीनामनेकसंसक्तिनिमित्तत्वाद् वर्ज्यम्। ध०२ अधि०। ('संधावण' इत्यस्य व्याख्या 'उवभोगपरिभोगपरिणाम' शब्दे द्वितीयभागे ६०१ पृष्ठे गता।) विस्मृतस्य पुनरनुसन्धाने, पञ्चा० १२ विव०।

संधावण-सन्धावन-न०। पौनःपुन्येन गमने, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

संधि-सन्धि-पुं०। सुरङ्गादौ, सन्धानं सन्धिः कर्मसन्ततिः। दै०। सन्धीयते इति वा भवात् भवान्तरमनेनेति सन्धिः। अष्टप्रकारे कर्मसन्ततिरूपेऽर्थे, 'जहेत्थ मए संधी झोसिए एवमणत्थसंधी दुज्झोसिए भवति' आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। मीलने, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। संथा०। द्रव्यतो विवरे, भावतः कर्मविवरे, आचा०। सन्धिर्द्रव्यतो, भावश्च। तत्र द्रव्यतः कुड्यादिविवरं, भावतः कर्मविवरम्, तत्र दर्शनमोहनीयं यदुदीर्णं तत्क्षीणं शेषमुपशान्तमित्ययं सम्यक्त्वावाप्तिलक्षणो भावसन्धिः, यदि वा-ज्ञानावरणीयं विशिष्टक्षायोपशमिकभावमुपगतमित्ययं सम्यग्ज्ञानावाप्तिलक्षणः सन्धिः। अथवा-चारित्रमोहनीयक्षयोपशमात्मकः सन्धिस्तं ज्ञात्वा न प्रमादः श्रेयानिति यथाहि-लोकस्य चारकाद्यवरुद्धस्य कुड्यनिगडादीनां सन्धि-छिद्रं ज्ञात्वोपलभ्य न प्रमादः श्रेयान्, एवं मुमुक्षोरपि कर्मविवरमासाद्य लवक्षणमपि पुत्रकलत्रसंसारसुखव्यामोहो न श्रेयसे भवतीति। यदि वा-सन्धानं सन्धिः स च भावसन्धीर्ज्ञानदर्शनचारित्राध्यवसायस्य कर्मोदयात् त्रुटितः पुनः सन्धानं-मीलनम्, एतत्क्षायोपशमिकादिभावलोकस्य विभक्तिपरिणामाद्वा लोके ज्ञानदर्शनचारित्रार्हं भावसन्धिं ज्ञात्वा तदक्षुण्णप्रतिपालनार्थं विधेयमिति। यदि वा-सन्धिः-अवसरो धर्मानुष्ठानस्य तं ज्ञात्वा लोकस्य-भूतग्रामस्य दुःखोत्पादनानुष्ठानं न कुर्यात्। सर्वत्रात्मौपम्यं समाचरेदिति। आचा०१ श्रु०१ अ०३ उ०।'अयं सधी' इत्यादि, अविवक्षितकर्मका अप्यकर्मका धातवो,यथा पश्य मृगो धावति एवमत्राप्यद्राक्षीदित्येतत्क्रियायोगे अप्ययं सन्धिरिति प्रथमा कृतेति। 'अयं' मिति प्रत्यक्षगोचरापन्न आर्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासंवेगलक्षणः सन्धिः-अवसरो मिथ्यात्वक्षयानुदयलक्षणो वा सम्यक्त्वावाप्तिहेतुभूतकर्मविवरलक्षणः सन्धिः शुभाध्यवसायसन्धानभूतो वा सन्धिरित्येनं स्वात्मनि व्यवस्थापितमद्राक्षीद्भगवानित्यतः क्षणमप्येकं न प्रमादयेत् न विषयादिप्रमादवशगो भूयात्। आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। "तेणावि संधिं ब णं णच्चा"—संधिं छिद्रं विवरम्। संधिं ज्ञानावरणादिकर्मविवररूपं नापि—नैव ज्ञात्वा अज्ञात्वेत्यर्थः। णं वाक्यालंकारे, यथा जीवकर्मणोः संधिः—भिन्नत्वं भवति तथा ज्ञात्वा मोक्षार्थं प्रवृत्ता इत्यर्थः। संधिर्द्विविधः—द्रव्यसंधिः—कुड्यादेः, भावसंधिः कर्मविवररूपस्तमुत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं वा संधिस्तं ज्ञात्वा प्रवृत्ता। सूत्र० दी० १ श्रु० १ अ० १ उ०। फलकद्वयापान्तरालदेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। जं०। आ० म०। सधाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। अङ्गुल्याद्यस्थिमेलापकस्थाने, त०। जानुकूर्परादिके, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। गृहद्वयान्तराले, उत्त० २० अ०। सन्निकर्षे, प्रश्न० २ संव० द्वार। पं० चू०। खात्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। चोरखात्रे भित्तिसन्धौ च। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०। विप्रतिपत्तौ सस्थायाम्, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

संधिअ-देशी—दुर्गन्धे, दे० ना० ८ वर्ग ८ गाथा।

संधिकरण-सन्धिकरण-न०। खात्रच्छेदे स्थूलमृषावादविरतेरतिचारे, उपा० १ अ०।

संधिच्छेयग-सन्धिच्छेदक-पुं०। खात्रखानके,प्रश्न०३ आश्र० द्वार। आ० म०। सन्धिच्छेदका ये गृहभित्तिसन्धिं विदारयन्ति। ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। विपा०।

संधिच्छेयगत्त-सन्धिच्छेदकत्व-न०। सन्धिच्छेदकभावे, खात्रखननत्वे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। ज्ञा०।

संधिदोस-सन्धिदोष-पुं०। विश्लिष्टसंहितत्वे, सन्ध्यभावे च। आ० म० १ अ०। विशे०। यत्र सन्धिप्राप्तौ तं न करोति दुष्टं वा करोति तत्र सन्धिदोषः। अनु०।

संधिबन्धण-सन्धिबन्धन-न०। जानुकूर्परादिषु सन्धिषु संयमने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

संधिवाल-सन्धिपाल-पुं०। राज्यसन्धिरक्षके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। भ०।

संधिमग्ग-सन्धिमार्ग-पुं०। मर्मस्थाने, आ० म० १ अ०।

संधिमुह-सन्धिमुख-न०। मायद्वारे, उत्त० ४ अ०।

संधिरण-सं(धी)धिरण-पुं०। पितामहकृतस्वाभिधाने देवदत्तसम्बंधअन्निकापुत्रे, ती० ३४ कल्प।

संधुक्क-प्र-दीप-धा०। प्रज्वाले, "प्रदीपस्तेअव-संदुम-सन्धुक्काब्भुत्ता" ॥ ८। ४। १५२॥ प्रदीप्यतेः संधुक्कादेश। सन्धुक्कइ। प्रदीप्यते। प्रा० ४ पाद।

संधुक्किअ-प्रदीप्त-त्रि०। उद्दीपिते, "संधुक्किअं उद्दीविअं" पाइ० ना० १६ गाथा।

संधमाण-सन्दधान-त्रि०। सन्धानं कुर्वाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

संधेयव्व-सन्धातव्य-त्रि०। जोडनीये, "जं णव छिन्दियव्वं सधेयव्वं च सिव्वियव्वं च। त होंति अधाकडयं जहराणयं मज्झिमुक्कोसं ॥ १ ॥" नि० चू० १ उ०।

संपआ-सम्पद्-स्त्री०। प्राकृते "स्त्रियामादविद्युतः" ॥८।१।१५॥ इति आ अन्त्यव्यञ्जनस्य। सपत्तो, प्रा० १ पाद।

संपइ-सम्प्रति-अव्य०। आर्षत्वात्, "प्रत्यादौ ड ॥ ८। १। २०६॥ इति तस्य न ड। इदानीन्तनकाले, प्रा० "इहइ संपइ ईसिंह" पाइ० ना० ६७ गाथा। सम्प्रतिजातत्वात् सम्प्रति। स्वनामख्याते चन्द्रगुप्तप्रपौत्रे, चू०।

संप्रतिनृपतिदृष्टान्तमाह-

कोसंबाहारकते, अज्जसुहत्थीण दमगपव्वज्जा।
अव्वत्तेणं सामा-इएण रण्णो घरे जातो ॥११२७॥

"चंदगुत्तपपुत्तो यं, बिंदुसारस्स नत्तुओ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायति कागिणि" ॥ १ ॥

चन्द्रगुप्तस्य राज्ञः प्रपौत्रो बिन्दुसारस्य नृपतेर्नप्ता पौत्रः, अशोकश्रियो नृपस्य पुत्रः, कुणालनामा अन्धः काकर्णी-राज्यं याचते। तओ रण्णा भणितो-किं ते अंधस्स रज्जेणं?, तेण भणियं-पुत्तस्स मे कज्जति। रण्णो भणियं-अहित पुत्तो त्ति। तेण भणित्ता दाइओ इमो मे सपइ जाओ पुत्तो त्ति, ते चेव नाम कयं। तओ संवड्ढिओ दिन्नं रज्जं। तेण संपइराइणा उज्जेणिं आयकाउं दक्खिणावहो सव्वो तत्थट्ठिएण अवि सव्वे पच्चंतरायाणो वसीकया। तओ सो विउल रज्जसिरिं भुंजइ। किंच-

"अज्जसुहत्थीगमणं, दट्ठु सरणं च पुच्छणा कहणा।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता संपतीरण्णो" ॥

जीवन्तस्वामिवन्दनार्थमुज्जयिन्यामार्यसुहस्तिन आगमनम्। तत्र च रथयात्रायां राजाङ्गणप्रदेशे रथपुरतः स्थितानार्यान् सुहस्तिगुरून् दृष्ट्वा नृपतेर्जातिस्मरणम्। ततस्तत्र गत्वा गुरुपदकमलमभिवन्द्य पृच्छा कृता। भगवन्! अव्यक्तस्य सामायिकस्य किं फलम्?, सूरिराह राज्यादिकम्। असौ सम्भ्रान्तः प्रहृष्टोताञ्जलिरानन्दोदकपूर्णपूरितनयनयुगलः प्राह-भगवन्! एवमेवं दं परमह भवद्भिः कुत्रापि दृष्टपूर्वो नेति?। ततः सूरय उपयुज्य कथयन्ति-महाराज! दृष्टपूर्वस्त्वं पूर्वभवे मदीयशिष्य आसीदित्यादि। ततोऽसौ परमं संवेगमापन्नस्तदन्तिके सम्यग्दर्शनमूलं पञ्चाणुव्रतमयं श्रावकधर्मं प्रपन्नवान्। ततश्चैवं प्रवचने सम्प्रतिराजस्य भक्तिः सञ्जाता। किंच-

"जवमज्झमुरियवंसे, दाणवणिविवणिदारसंलोए।
तसजीवपडिक्कमओ, पभावओ समणसंघस्स ॥ १ ॥"

पृष्ठाः, यदस्माकं दीनादिभ्यो ददतामवशिष्यते तेन यूयं किं कुरुथ ? तैरुक्तम्-अस्माकं गृहे उपयुज्यते । नृपतिराह—य-द्दीनादिभिरभुक्तं तद्भवद्भिः साधूनां दातव्यम् ।

एतदेवाह—

साहूण देह एयं, अहं भे दाहामि तत्तियं मोल्लं ।
णेच्छंति घरे घेत्तुं, समणे मम रायपिंडो त्ति ॥११२६॥

साधूनामेतद्भक्तपानं प्रयच्छत, अहं 'भे' भवतां तावन्मात्रं मूल्यं दास्यामि । यतो मम गृहे श्रमणा राजपिण्ड इति कृत्वा ग्रहीतु नेच्छन्ति ।

एमेव तिल्लगोलिय-पूवियमोरंडदुस्सिए चेव ।
जं देह तस्स मोल्लं,दलामि पुच्छा य महगिरिणो११३०

एवमेव तैलिकास्तैलं, गोलिका मथितविक्रयिका. तक्रादिकं, अपूपलिका अपूपादिकं, मोरण्डका.-तिलादिमोदकास्त-द्विक्रयिकास्तिलादिमोदकान् । दौष्यका वस्त्राणि च दायिता । कथमित्याह-यत्तैलतक्रादि यूयं साधूनां दत्थ तस्य मूल्यमह भवतां प्रयच्छामि, तत आहारवस्त्रादौ किमपीप्सिते लभ्य-माने श्रीमहागिरिरार्यसुहस्तिनं पृच्छति । आर्य ! प्रचुरमा-हारवस्त्रादिकं प्राप्यते ?, ततो जानन्त्यार्या, राज्ञा लोकः प्रवर्त्तितो भवेत् ।

अज्जसुहत्थिममत्ते, अणुरायाधम्मतो जणो देति ।
संभोगवीसुकरणं, तक्खणआउट्टणनियत्ती ॥ ११३१ ॥

आर्यसुहस्ती जानानोऽप्यनेषणीयमात्मीयशिष्यममत्वेन भणति—क्षमाश्रमण ! अनुराजधर्मतो राजधर्ममनुवर्तमानः एष जनः एवं यथेप्सितमाहारादिकं प्रयच्छति । तत आर्यमहागिरिणा भणितम्—आचार्य ! त्वमपि ईदृशो ब-हुश्रुतो भूत्वा यद्येवमात्मीयशिष्यममत्वेनेत्थं ब्रवीषि ततो मम तव चाद्य प्रभृति विसंभोगो—नैकत्र मण्डल्यां समुद्देशनादिव्यवहार इत्येवं विसंभोगस्याविष्करणम्—भवत् । तत. आर्यसुहस्ती चिन्तयति—मायाभावादेवमने-षणीयमाहारजातं साधवो ग्राहिता, स्वयमपि चा-नेषणीयं भुक्तम् । अपरं चेदानीमहमित्थमुपलम्भयामि त-देतन्मम द्वितीय बालस्य मन्दत्वमित्यापन्नम् । अथवा—ना-द्यापि किमपि विनष्टं भूयोऽप्यहमेतस्मादर्थात्प्रतिक्रमामी-ति विचिन्त्य तत्क्षणादेवावर्त्तनमभवत् , ततो यथावदालो-चना दत्त्वा स्वापराधं सम्यक् क्षामयित्वा तस्या अकल्पप्र-तिसेवनायास्तस्य निवृत्तिरभूत्, ततो भूयोऽपि तयो. सं-भोगिकत्वमभवत् ।

अथ त्रसजीवप्रतिक्रामक इत्यस्य भावार्थमाह—

सो रायाऽवंतिवती, समणाणं भावतो सुविहिताणं ।
पच्चंतियरायाणो, सव्वे सद्दाविया तेणं ॥ ११३२ ॥

स सम्प्रतिनामा राजा अवन्तीश्रमणाना श्रावकप-ञ्चाणुव्रतधारी अभवदिति शेष' । ते च शाक्यादयोऽपि भवन्तीत्यत आह—सुविहितानां-शोभनानुष्ठानाना ततस्तेन राज्ञा ये केचित् प्रात्यन्तिका. प्रत्यन्तदेशाधिपतयो राजा-नस्ते सर्वेऽपि शब्दायिता. ।

ततः किं कृतवानित्याह—

कहिओ य तेसि धम्मो, वित्थरतो गाहिता य सम्मत्तं ।
अप्पाहिता य बहुसो, समणाणं भद्दगा होह ॥११३३॥

कथितश्च तेषां प्रात्यन्तिकराजानां तेन विस्तरतो धर्मः, ग्राहिताश्च ते सम्यक्त्वं, ततः स्वदेशगता अपि ते बहुशस्तेन राज्ञा संदिष्टाः, यथा श्रमणानां भद्रका भक्तिमन्तो भवत ।

अथ कथमसौ श्रमणसंघप्रभावको जात इत्याह—

अणुजाणे अणुजाती, पुप्फारुहणाइ ओकिरणगाइं ।
पूयं च चेइयाणं, ते वि सरज्जेसु कारिंति ॥११३४॥

अनुयानं-रथयात्रा तत्राप्यसौ नृपतिरनुयाति, दण्डभद्रभो-जिकादिसहितो रथेन सह हिण्डते । तत्र पुष्पारोपणम् आदि-शब्दात्-माल्यगन्धचूर्णाभरणारोपणं च करोति, 'उक्किरण-गाइं' ति रथपुरतो विविधफलानि खाद्यकानि कपर्दवस्त्रप्रभृ-तीनि चोत्किरणानि करोति । आह निशीथचूर्णिकृत्-'रहग्ग-तो य विविहफलखज्जगेयकवड्डगवत्थमाद्दी य उक्किरणं करेइ' त्ति । अन्येषां च चैत्यगृहे स्थितानां चैत्यानां भगवद्बि-म्बानां पूजन महतां विच्छर्दैन करोति, तेऽपि च राजान ए-वमेव स्वराज्येषु रथयात्रामहोत्सवादिक कारयन्ति । इदं च ते राजानः सम्प्रतिनृपतिना भणिता. ।

जति मं जाणह सामिं,समणाणं पणमहा सुविहियाणं ।
दव्वेण मे न कज्जं,एयं खु पियं कुणह मज्झं ॥११३५॥

यदि मां स्वामिनं यूयं जानीथ मन्यध्वे तत. श्रमणेभ्य सु-विहितेभ्यः प्रणमत-प्रणता भवत, द्रव्ये-दण्डदातव्येनार्थेन मे न कार्यं किंत्वेतदेव श्रमणप्रणमनादिकं मम प्रियं तदेव यूय कुरुत ।

वीसज्जिया य तेणं, समणं घोसावणं सरज्जेसुं ।
साहूण सुहविहारा, जाता पच्चंतिया देसा॥ ११३६ ॥

एव तेन राज्ञा शिक्षा दत्त्वा विसर्जिताः, ततस्तेषां स्वरा-ज्येषु गमन, तत्र च तैः स्वदेशेषु सर्वत्राप्यमाग्रितघोषणं कारितं, चैत्यगृहाणि च कारितानि । तथा प्रात्यन्तिका दे-शा. साधूना सुखविहारा. संजाता । कथमिति चेदुच्यते-तेन संप्रतिना साधवो भणिता.—भगवन्त. ! एतान् प्रत्य-न्तदेशान् गत्वा धर्मकथया प्रतिबोध्यमानाः पर्यटन्तु । सा-धुभिरुक्तम् राजन्नत्र साधूनामाहारवस्त्रपात्रादेर्लाभ ।

ततः किमभूदित्याह—

समणभडभाविएसुं, तेसुं रज्जेसु एसणादीसुं ।
साहू सुहं विहरिया, तेणं वि य भद्दगा ते उ ॥११३७॥

श्रमणवेषधारिभिर्भटैरेषणादिभि. शुद्धमाहारादिग्रहणं कु-र्वाणै साधुविधिना भावितेषु तेषु राज्येषु साधव सुखं विहृता । तत एव च संप्रतिनृपतिकालात्ते प्रत्यन्तदेशा भ-द्रका सजाता ।

इदमेव स्पष्टयति—

उदिण्णजोहाउलसिद्धसेणा-
पडिट्ठितो णिज्जियसत्तुसेणो ।

समंततो साहुसुहप्पयारे ,
अकासि अंधे दविले य घोरे ॥ ११३८ ॥

उदीर्णाः प्रबला ये योधास्तैराकुला—संकीर्णा सिद्धा-प्रतिष्ठिता सर्वत्राप्यप्रतिहता सेना यस्य स तथा,अत एव च निर्जितशत्रुसैन्यः-स्ववशीकृतविपक्षनृपतिसैन्यः एवंविधः स संप्रतिनामा पार्थिवः, अन्ध्रान् द्रविडान् चशब्दान्महाराष्ट्रान् कुडुक्कादीन् प्रत्यन्तदेशान् घोरान् प्रत्यपायबहुलान् समन्ततः साधुसुखप्रचारान् साधूनां सुखविहारानकार्षीत्-कृतवान् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । विशे० । नि० चू० । कल्प० । दर्शनशुद्धौ—

" जय जय नाणदिवायर !, परोवयारिक्कपच्चल ! मुणिंद ! ।
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पायाण ॥ २६ ॥
दारिद्दअसुद्दसमु—द्दमज्झनिवडतजंतुपोयाण ।
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पयाण ॥ २७ ॥
सग्गापवग्गमग्गा—णुलग्गजणसत्थवाहपायाणं ।
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पायाणं ॥ २८ ॥
चक्कंकुसझसवरकल-सकुलिसकमलाइलक्खणजुयाण ।
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पायाण ॥ २९ ॥
इय थोउं सो गुरुणो, गिहिधम्मं गहिय सगिहमणुपत्तो ।
सव्वत्थ वि नियरज्जे, रहजत्ताओ पवत्तेइ ॥ ३० ॥
जह सुमरिय रंकत्त-सत्तागारा कराविया तेणं ।
जह बोहिया अणज्जा, तहा निसीहाउ नेयव्वं ॥ ३१ ॥
जिणसासण पभाविय-सुद्दर सुगुरू सुसूसुमाणपरो ।
सो संपइनरनाहो, जाओ वेमाणिओ सुसुरो ॥ ३२ ॥
इत्यधिकार्य्य धर्मविचार, संप्रतिभूपतिवृत्तमुदारम् ।
सद्गुरुमहताखिलबहुमानं,भव्यजना दधता बहुमानम् ३३"

संपइक्खि—साम्प्रतेक्षिन्–पुं० । बाले, अपरिणामद्रष्टरि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

संपइण्ण—सम्प्रकीर्ण–त्रि० । रमणीयतया व्याप्ते, रा० ।

संपउत्त—सम्प्रयुक्त–त्रि० । सम्बद्धे , स्था० ४ ठा० १ उ० । व्यापृते , सगते , स्था० ८ ठा० ३ उ० । प्रवर्त्तिते , स्था० ६ ठा० ३ उ० । समन्विते , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । व्यापारिते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । योजिते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अविरुद्धतया प्रवर्त्तिते, ज० १ वक्ष० ।

संपओग—सम्प्रयोग–पुं० । सम्बद्धे , स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । प्रवर्त्तने , ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । सम्यगप्रतो वा प्रयोगः सम्प्रयोगः । अकल्पिते योगे , दश० १ अ० । सम्पर्के , प्रश्न० ४ सव० द्वार । आ० म० । आव० ।

संपक्क—सम्पर्क–पुं० । सङ्गमे, आ० म० १ अ० ।

संपक्खालग—संप्रक्षालक–पुं० । वानप्रस्थभेदे, मृत्तिकाद्याघर्षणपूर्वकं ये अङ्गं क्षालयन्ति ते संप्रक्षालका उच्यन्ते । नि०१ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । औ० ।

संपक्खालिय—सम्प्रक्षालित–त्रि० । क्षालितसर्वपापमले , ध० ३ अधि० । भ० ।

संपगाढ—सम्प्रगाढ–त्रि० । अध्युपपन्ने, "विसेसिणो मेहुणसंपगाढा" सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । व्याप्ते , सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । सम्यङ् नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन प्रगाढाः—प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । असह्ये , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

संपग्गह—सम्प्रग्रह–पुं० । आत्मनो जात्याद्युत्सेकरूपग्रहे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

संपज्ज—सम्पद्–धा० । सम्पत्तौ, " स्विदां ज्जः " ॥८।४।२२४॥ अनेनान्त्यस्य द्विरुक्तो जकारादेशः । सम्पद्यते । प्रा० ४ पाद ।

संपज्जण—सम्पज्जन–न० । रसपुष्टिजनने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

संपट्ठिय—सम्प्रस्थित–त्रि० । सम्प्रयाते,प्रज्ञा० १५ पद । औ० । "बहवे तडियकप्पडिगादयो सम्पट्ठिया" आव० १ अ० ।

संपडिअ—देशी–लब्धे, दे० ना० ८ वर्ग १४ गाथा ।

संपडिलेहियव्व—सम्प्रत्युपेक्षितव्य–त्रि० । सम्यक् प्रतिलेखितव्ये, दश० १ चू० ।

संपडिवाइय—सम्प्रतिपादित–त्रि० । स्थापिते, "धम्मे संपडिवाइओ" दश० २ अ० ।

संपणादिय—संप्रणादित–त्रि० । सम्यक् श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण सर्वकालं नदितं सम्प्रणादितम् । सम्यक् प्रकर्षेण शब्दं कुर्वति, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० ।

संपणा—देशी–घृतपूरार्थगोधूमपिष्टे, दे० ना०८वर्ग ८ गाथा ।

संपणोलिय—सम्प्रणुद्य–अव्य० । भाजनस्थं प्रेर्येत्यर्थे, द्रव्या० ।

संपण्ण—सम्पन्न–त्रि० । युक्ते, उत्त० १ अ० । सूत्र० । स्था० । ओघ० । आतु० । समन्विते, आव० ४ अ० । उपेते, ज० २ वक्ष० ।

संपण्णदोहला—सम्पन्नदौहदा–स्त्री० । विवक्षिताऽर्थभोगसंपद्यानन्दसंप्राप्तायामन्तर्वत्न्याम् , विपा० १ श्रु० २ अ० ।

संपण्णा—देशी–घृतपूरार्थगोधूमपिष्टे, दे० ना० ८ वर्ग ८ गाथा ।

संपण्णाय—सम्प्रज्ञात–त्रि० । सम्यक् प्रज्ञानप्रतिपादके समाधिभेदे, सम्यक् संशयविपर्ययध्यानाध्यवसायरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भव्यस्य स्वरूपं येन स सम्प्रज्ञात उच्यते । द्वा० २० द्वा० । (सम्प्रज्ञातस्य व्याख्या 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६२६ पृष्ठे उक्ता ।)

संपत्त—सम्प्राप्त–त्रि० । सलग्ने, आ० म० १ अ० । समागते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, दश० ५ अ० १ उ० ।

संपत्ति—सम्पत्ति–स्त्री० । यथोक्तार्थसम्पादने, भ०३ श० १ उ० । विभवसमागमे, द्वा० १२ द्वा० । "सम्प्राप्तिश्च विपत्तिश्च, कार्याणां द्विविधा स्मृता । समाप्तिः सिद्धिरर्थेषु विपत्तिश्च विपर्ययः ॥१॥" नि० चू० १५ उ० । 'विलिंगेण लिंगणीए संपत्ति जइ निग्गच्छई तो सुद्धो' बृ० ३ उ० । प्राप्तौ, पञ्चा० १६ विव० । अपूर्वलाभे, षो० १२ विव० । भ० ।

संपत्थिय—सम्प्रस्थित–त्रि० । सम्प्रस्थानकाले प्रयाने, व्य० १ उ० । शीघ्रे, दे० ना० ८ वर्ग ११ गाथा ।

संपदागम–सम्पदागम–पुं०। सम्पत्तिसम्प्राप्तौ, सम्पदागमः सदनुष्ठानलक्षणम्, तत एव शुभभावपुण्यसिद्धेः। द्वा० २३ द्वा०।

संपधारणा–संप्रधारणा–स्त्री०। धारणाव्यवहारे, व्य०।–"ज-म्हा संपहारं पउजंती तम्हा कारणा तेण नायव्वा संपधार-णा।" तथा यस्मात्सम्प्रधार्य सम्यक् प्रकर्षेणावधार्य व्यवहारं प्रयुङ्क्ते तस्मात्कारणात्तेन शिष्येण संप्रधारणा भवति ज्ञात-व्या। व्य० १० उ०।

संपधूमिय–सम्प्रधूमित–त्रि०। सौगन्ध्यार्थं धूपैर्वासिते, क-ल्प० १ अधि० ६ क्षण। धूपद्रव्येण समन्ततः प्रकर्षेण धूपिते, सू० १ उ० ३ प्रक०।

संपमज्जिय–संप्रमृज्य–अव्य०। प्रक्षाल्येत्यर्थे, कल्प० ३ अ-धि० ६ क्षण।

संपमिज्जमाण–संपरिमृजत्–त्रि०। सम्यग् परि समन्तात् ह-स्तपादादीनवयवान् तन्निक्षेपस्थानानि वा रजोहरणादिना मृजति, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

संपयं–साम्प्रतम्–अव्य०। वर्त्तमानलक्षणभाविनि युक्ते, विशे०। शब्दनये, अस्य द्वितीयनाम साम्प्रतवस्त्वाश्रयणात् साम्प्र-तम्। यथा ह्ययमपि ऋजुसूत्रनय इव साम्प्रतमेव वस्त्वभ्यु-पगच्छति, नाप्यतीतमनागतं, नापि वर्त्तमानमपि परकीयम्। आ० म० १ अ०। आचा०।

संपयकालीण–सांप्रतकालीन–त्रि०। वर्त्तमाने, विशे०।

संपयगाहि–साम्प्रतग्राहिन्–पुं०। वर्त्तमानैकलक्षणवस्तुग्राहि-णि, विशे०।

संपयहीण–सम्पद्धीन–त्रि०। सम्पद्रहिते, स० ३ सम०।

संपया–सम्पदा–स्त्री०। सम्पन्नतायाम्, उत्त० १ अ०। ऋद्धौ, स्था० ३ ठा० १ उ०। उत्त०। व्य०। समृद्धौ, सू० १ श्रु० ११ अ०। चतुर्थीकारके अर्थविश्रामस्थाने, सघा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

संपयाण–सम्प्रदान–न०। सम्यक् सत्कृत्य वा दानं यस्मै तत्सम्प्रदानम्। दात्रा कर्मणाऽभिप्रेतघटादिग्रहीतरि, विशे०। सत्कृत्य सम्यग्वा प्रदीयते यस्मै तत्सम्प्रदानम्। तच्च त्रि-विधं तद्यथा–दीयतां मह्यं बहुफलं भवता भविष्यतीत्या-दिवचनप्रपञ्चेन किञ्चित् प्रेरकं यथा बहुर्ब्राह्मणः। अपरं त्वि-दमसंप्रेरकमपि दानस्य ग्रहणपरिभोगाभ्यामनुमोदकं भवति। यथा मुनिः साधुः। अन्यत्तु पुष्पाद्यनिषेधकम्–यथाऽर्ह-त्प्रतिमादि। आ० म० १ अ०। आ० चू०। सम्यगर्थिभ्यो दाने, स्था० म० १ अ०। विशे०। अनु०।

संपयामूल–सम्पदामूल–न०। धीवरपो. पञ्चा० ६ विव०।

संपयावण–सम्प्रदा(प)न–न०। सत्कृत्य प्रदाप्यते यस्मै उप-लक्षणत्वात्सम्प्रदीयते वा यस्मै तत्संप्रदापनम्, संप्रदानं वा। चतुर्थीकारके, "चउत्थी संपयावणे" चतुर्थी सम्प्रदाने भवति, यथा निवेर जिणा सावयति इयाति वा। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

संपराइय–सांपरायिक–त्रि०। संपराया बादरकषायास्तेभ्य आगतं साम्परायिकम्। तज्जीवोपमर्दकत्वेन वैरानुषङ्गितया–त्मदुष्कृतकारिभिः स्वपापविधायिभिर्बध्यमाने कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

संपराइयबंध–सांपरायिकबन्ध–पुं०। संपरैति–संसारं पर्य-टति एभिरिति साम्परायाः कषायास्तेषु भवं साम्परायिकं कर्म, तस्य यो बन्धः स साम्परायिकबन्धः। कषायप्रत्ययं बन्धे, भ०।

संपराइयं णं भंते! कम्मं किं नेरइयो बंधइ, तिरि-क्खजोणीओ बंधइ ० जाव देवी बंधइ?, गोयमा! नेरइओ वि बंधइ तिरिक्खजोणीओ वि बंधइ, तिरि-क्खजोणिणी वि बंधइ, मणुस्सो वि बंधइ, मणुस्सी वि बं-धइ, देवो वि बंधइ, देवी वि बंधइ॥ तं भंते! किं इत्थी बंधइ, पुरिसो बंधइ, तहेव ०जाव नो इत्थी नो पु-रिसो नो नपुंसओ बंधइ?, गोयमा! इत्थी वि बंधइ पुरिसो वि बंधइ ०जाव नपुंसगो वि बंधइ। अह वेए य अवगयवेदो य बंधइ, अह वेए य अवगयवेया य बंधंति। जइ भंते! अवगयवेदो य बंधइ अ-वगयवेदा य बंधति, तं भंते! किं इत्थी पच्छाकडो बं-धइ पुरिसपच्छाकडो बंधइ? एवं जहेव ईरियावहिया बंध-गस्स तहेव निरवसेसं ०जाव अहवा इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य नपुंसगपच्छाकडा य बंधंति। तं भंते! किं बंधी बंधइ बंधिस्सइ १ बंधी बंधइ न बंधिस्सइ२ बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ३ बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ४?, गोयमा! अत्थेगतिए बंधी बंधइ बंधिस्सइ १ अत्थेग-तिए बंधी बंधइ न बंधिस्सइ २ अत्थेगतिए बंधी न बंधइ बंधिस्सइ३ अत्थेगतिए बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ४॥ तं भंते! किं साइयं सपज्जवसियं बन्धइ? पुच्छा तहेव, गोयमा! साइयं वा सपज्जवसियं बंधइ, अणाइयं वा सपज्जवसियं बंधइ, अणाइयं वा अपज्जवसियं बंधइ, णो चेव णं सा-इयं अपज्जवसियं बंधइ। तं भंते! किं देसेणं बंधइ, एवं जहेव ईरियावहिया बंधगस्स ०जाव सव्वेणं सव्वं बंधइ। (सू०–३४२)

'संपराइयं णं' मित्यादि, 'किं नेरइओ' इत्यादयः सप्त प्र-श्नाः, उत्तराणि च सन्ति, एतेषु च मनुष्यमानुषीवर्जाः पञ्च साम्परायिकबन्धका एव सकषायत्वात्, मनुष्यमानु-ष्यौ तु सकषायित्वे सति साम्परायिकं बध्नीतो न पुनर-न्यथेति। साम्परायिकबन्धमेव स्त्र्याद्यपेक्षया निरूपयन्नाह– 'तं भंते! किं इत्थी' इत्यादि, इह स्त्र्यादयो विवक्षितैकत्व-बहुत्वा एव सर्वदा साम्परायिकं बध्नन्ति, अपगतवेदश्च कदाचिदेव तस्य कादाचित्कत्वात्। ततश्च स्त्र्यादय एक-तमा बध्नन्ति अपगतवेदसहिताश्च। ततश्च यदाऽपगतवेद-

सहितास्तदोच्यते अथवैते स्थ्यादयो बध्नन्ति अपगतवेदश्च, तस्यैकस्यापि सम्भवात्। अथवैते स्थ्यादयो बध्नन्ति अप गतवेदाश्च, तेषां बहूनामपि सम्भवात्, अपगतवेदश्च साम्परायिकबन्धको वेदत्रये उपशान्ते क्षीणे वा यावद्यथाख्यातं न प्राप्नोति तावल्लभ्यत इति, इह च पूर्वप्रतिपन्न-प्रतिपद्यमानकविवक्षा न कृता, द्वयोरप्येकत्वबहुत्वयोर्भावेन निर्विशेषत्वात्। तथाहि-अपगतवेदत्वे साम्परायिकबन्धोऽल्पकालीन एव तत्र च योऽपगतवेदत्वं प्रतिपन्नपूर्व. साम्परायिकं बध्नात्यसावेकोऽनेको वा स्यात्, एवं प्रतिपद्यमानकोऽपीति। अथ साम्परायिककर्मबन्धमेव कालत्रयेण विकल्पयन्नाह-' तं भंते! किंमि' त्यादि इह च पूर्वोक्तेष्वष्टासु विकल्पेष्वाद्याश्चत्वार एव सम्भवन्ति नेतरे, जीवानां साम्परायिककर्मबन्धस्यानादित्वेन ' न बंधी ' त्यस्यानुपपद्यमानत्वात्, तत्र प्रथमः सर्व एव संसारी यथाख्यातासंप्राप्तोपशमकक्षपकावसानः स हि पूर्वं बद्धवान् वर्त्तमानकाले तु बध्नाति अनागतकालापेक्षया तु भन्त्स्यति १। द्वितीयस्तु मोहक्षयात्पूर्वमतीतकालापेक्षया बद्धवान् वर्त्तमानकाले तु बध्नाति भाविमोहक्षयापेक्षया तु न भन्त्स्यति २। तृतीयः पुनरुपशान्तमोहत्वात् पूर्वं बद्धवान् उपशान्तमोहत्वे न बध्नाति तस्माच्च्युतः पुनर्भन्त्स्यतीति ३। चतुर्थस्तु मोहक्षयात्पूर्वं साम्परायिकं कर्म बद्धवान् मोहक्षये न बध्नाति न च भन्त्स्यतीति। साम्परायिककर्मबन्धमेवाश्रित्याह-'तं' मित्यादि, ' साइयं वा सपज्जवसियं बंधइ ' त्ति-उपशान्तमोहताया च्युतः पुनरुपशान्तमोहतां क्षीणमोहतां वा प्रतिपत्स्यमानः, 'अणाइयं वा सपज्जवसियं बंधइ'त्ति आदितः क्षपकापेक्षमिदम्, 'अणाइयं वा अपज्जवसियं बंधइ' त्ति-एतच्चाभव्यापेक्षं, नो चेव णं साइयं अपज्जवसियं बंधइ' त्ति सादिसाम्परायिकबन्धो हि मोहोपशमाच्च्युतस्यैव भवति, तस्य चावश्यं मोक्षयायित्वात्साम्परायिकबन्धस्य व्यवच्छेदसम्भवः। ततश्च न सादिरपर्यवसानः साम्परायिकबन्धोऽस्तीति। भ० ८ श० ८ उ०।

संपराइया-साम्परायिकी-स्त्री०। सम्परायाः-कषायास्तेषु भवा साम्परायिकी। पुद्गलराशेः कर्मतापरिणतिरूपाया जीवव्यापारस्याविवक्षणादजीवक्रियायाम्, सा च सूक्ष्मसम्परायान्तानां गुणस्थानकवतां भवति। स्था० २ ठा० १ उ०।

संपराय-सम्पराय-पुं०। सम्परायन्ति भृशं पर्यटन्त्यस्मिन् जन्तव इति सम्परायः। संसारे, उत्त० २० अ०। सूत्र०। कषायोदये, आ० म० १ अ०। स्था०। दर्श०। उत्त०। संग्रामे,ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। दश०। बादरकषाये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। विशे०। अनु०।

संपरिखित्त-सम्परिक्षिप्त-त्रि०। वेष्टिते, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

संपरिखित्तु-सम्परिक्षिप्य-अव्य०। परिवार्येत्यर्थे, स्था० ५ ठा० २ उ०।

संपरिवुड-संपरिवृत-त्रि०। सम्यक् नायकैकचित्ताराधनपरतया परिवृते, रा०। सम्यक् आराधकभावं निश्राये परिवृते, रा०। सम्यक् परिवाररीत्या परिवृते, रा०। औ०। भ०। समागतनानाविधपरिवारोपेते, आ० म० १ अ०। भ०। सम्यक् परिवारिते, परिकरभावेन परिकरिते, भ० २ श० ५ उ०। ज्ञा०। वेष्टिते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

संपलग्ग-संप्रलग्न-त्रि०। योद्धुं समारब्धे, विपा० १ श्रु० ३ अ०। रा०।

संपलिथालग-सम्पलिस्थालक-न०। वल्लादिफलीनां पाके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ०।

संपलिय-सम्पलित-पुं०। आर्यकालकशिष्ये,कल्प० २ अधि० ८ क्षण। ' गोयमगुत्तकुमारं, सम्पलियं तह य भद्दयं वंदे ' कल्प० २ अधि० ८ क्षण। नपुं०। मुद्गादीनां विध्वस्तफले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ०।

संपलियंक-सम्पर्यङ्क-पुं०। पद्मासने, औ०।

संपलियंकणिसण्ण-समपर्यङ्कनिषण्ण-त्रि०। पद्मासनसन्निविष्टे, रा०। भ०।

संपवत्तमाण-संप्रवर्त्तमान-त्रि०। व्याप्रियमाणे, पञ्चा० ८ विव०।

संपवयमाण-सम्प्रव्रजत्-त्रि०। सम्यक्-प्रव्रज्यामभ्युपगच्छति, आचा० १ श्रु० ५ अ०। सम्यक् प्रव्रजने, नि० चू० २ उ०। सम्-एकीभावेन प्रव्रजति, नि० चू० २ उ०।

संपवेयण-सम्प्रवेतन-न०। कम्पने, आचा० २ श्रु० ४ चू०।

संपसार-सम्प्रसार-पुं०। सम्-एकीभावेन किमप्युद्दिश्य एकत्र मीलने, समवाये, आ० म० १ अ०।

संपसारण-सम्प्रसारण-न०। पर्यालोचने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। सूत्र०।

संपसारय-सम्प्रसारक-पुं०। देवबृत्त्यर्थकाण्डादिसूचककथाविस्तारके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। कुशीलभेदे, नि०चू०।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा संपसारयं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा संपसारयं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५८ ॥

जो संपसारय इत्यादि द्वे सूत्रे गिहीण कज्जाण गुरुलाघवेण संपसारेंतो सपसारातो।

गाहा।

असंजयाण भिक्खू, कज्जे असंजमप्पवत्तेसु।
जो देती सामत्थं, संपसारतो उ नायव्वो ॥ १०१ ॥

जो भिक्खू असंजमकज्जपवत्ताण पुच्छताण अपुच्छताण वा समत्थयं वदति सो एव इमं वा करेहि एत्थ बहू दोसा अहाह भणामि, भट्ठा करेहि त्ति। एवं करेंतो स परतो भवति। ते य इमे असंजमकज्जा गिहीण,

गाहा।

गिहिणिग्गमणपवेसे, आवाहविवाहविक्कयकए वा।
गुरुलाघवं कहेंत, गिहिणो खलु संपसारीओ ॥१०२॥

गिहिणं असंजयाण गिहओ दिसि जत्ताए वा णिग्गमणं देति, गिहिजत्ताओ वा आगयस्स वा पवेसं देति, आवाहो

चिट्ठियालंभणयं सुहं दिवसं कहेति, मा वा एयस्स देहि इमस्स वा देहि, विवाहपडलमादिएहिं जोतिसगंथेहिं विवाहवेलं देति, अग्घकंडमादिएहिं गंथेहिं इमं दव्वं विकिणाहि इमं वा किणाहि एवमादिएसु कज्जेसु गिहीणं गुरुलाघवं कहेंतो संपसारत्तणं पावति । नि० चू० १३ उ० ।

संपहारित्थ–सम्प्रहारितवत्–त्रि० । विकल्पितवति, 'संपहारित्थ गमणाए' ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

संपहारिय–संप्रधार्य–अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । समालोचितवति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

संपहावण–सम्प्रधावन–न० । सम्यगौत्सुक्येन धावने, आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

संपहिट्ठ–सम्प्रहृष्ट–त्रि० । हर्षिते, उत्त० १५ अ० ।

संपहित्ता–सम्पिधाय–अव्य० । स्थगयित्वेत्यर्थे, स० ३० सम० ।

संपा–देशी-काञ्च्याम् ' दे० ना० ८ वर्ग २ गाथा ।

संपाइन्–सम्पातिन्–पुं० । सम्पतितुमुत्प्लुत्योत्प्लुत्य गन्तुमागन्तुं वा शीलं येषां ते सम्पातिनः जीवाः । मक्षिकाभ्रमरपतङ्गमशकपक्षिवातादिकेषु प्राणिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

संपाइअवं–सम्पादितवत्–त्रि० । "भवद्भगवतोः" ।८।४।२६५। अस्य क्वाचित्कत्वात् नकारस्य मकारादेशः । संपातं कृतवति, संपाइअवं सीसो । प्रा० ४ पाद ।

संपाइम–सम्पातिम–पुं० । सम्पातनशीलेषु शलभादिषु प्राणिषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

संपाउप्पायक–सम्पातोत्पादक–पुं० । सम्पातानामनर्थमीलकानामुत्पादकः सम्पातोत्पादकः । अष्टादशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

संपागड–सम्प्रकट–त्रि० । गीतार्थसमक्षे, स्था० ४ ठा० १ उ० । आव० ।

संपागडकिच्च–सम्प्रकटाकृत्य–पुं० । सम्प्रकटानि प्रवचनोपघातनिरपेक्षतया समस्तजनप्रत्यक्षाण्यकृत्यानि मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनारूपाणि यस्य स तथा । सम्प्रकटप्रतिसेविनि, बृ० ३ उ० ।

संपागडपडिसेविन्–सम्प्रकटप्रतिसेविन्–पुं० । सम्प्रकटमेव गीतार्थप्रत्यक्षमेव प्रतिसेवते मूलगुणान् उत्तरगुणान् वा दर्पेत. कल्पेन वेति सम्प्रकटप्रतिसेवी । स्था० ४ ठा० २ उ० । सम्प्रकटमगीतार्थसमक्षमकल्प्यभक्तादिप्रतिसेवितु शीलं यस्य सः । स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रवचनोपघातनिरपेक्षतयैव मूलोत्तरगुणप्रतिसेवके, आव० ३ अ० । नि० चू० ।

संपाडणहेतु–सम्पादनहेतु–पुं० । सपादनार्थे, पञ्चा० ६ विव० ।

संपाय–सम्पात–पुं० । आगमने, पञ्चा० ६ विव० । चलने, उत्त० २ अ० ।

सम्प्रातर्–अव्य० । प्रातः-प्रभातं तेन समं प्रातः सम्प्रातः । प्रभातसमकाले, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

संपायणा–सम्पादना–स्त्री० । निर्वर्त्तनायाम्, पञ्चा० १३ विव० ।

संपाविउकाम–सम्प्राप्तुकाम–त्रि० । प्राप्तुमनसि, "सिद्धिगइनामधिज्जं ठाणं संपाविउकामेणं" स० १४ सम० । प्राप्तुमना न तु तत्प्राप्तस्याकारणत्वेन विवक्षितार्थानां प्ररूपणासंभवात् । प्राप्तुकाम इति च यदुच्यते तदुपचारादन्यथा हि निरभिलाषा एव भगवन्तः केवलिनो भवन्ति ' मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम ' इति वचनात् । भ० १ श० १ उ० ।

संपाविय–सम्प्रापित–त्रि० । नीते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

संपासंग–देशी-दीर्घे, दे० ना० ८ वर्ग ११ गाथा ।

संपिंडण–सम्पिण्डन–न० । समूहे, औ० । मोदकादिबन्धने, पिं० ।

संपिंडिय–सम्पिण्डित–त्रि० । अविच्छिन्ने, प्रव० २ द्वार । एकतः पिण्डीभूते, जी० २ प्रति० ४ अधि० । औ० । रा० । जं० । मिलिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सम्यक् पुञ्जीकृते, उत्त० १४ अ० ।

संपिंडियकरण–सम्पिण्डितकरण–न० । अव्यवच्छिन्ने, प्रव० २ द्वार ।

संपिणद्ध–सम्पिनद्ध–त्रि० । बद्धे, जं० २ वक्ष० ।

संपील–सम्पीड–पुं० । सघाते, उत्त० ३२ अ० ।

संपुच्छण–सम्प्रश्न–पुं० । सम्प्रश्नः सावद्यो गृहस्थविषयः । रागाद्यर्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपे साधुना(दश०३अ० ।) गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छने, आत्मीयशरीरावयवप्रच्छने च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । नरैरुदन्तवहने, व्य० २ उ० ।

संपुच्छिया–सम्प्रोञ्छिका–स्त्री० । पादादिलूषिकायां सम्मार्जिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

संपुंजिऊण–सम्पूज्य–अव्य० । सन्मानयित्वेत्यर्थे, पञ्चा० ८ विव० ।

संपुडाग–सम्पुटक–पुं० । द्वयोर्वस्तुनोरेकत्र समावेशे, व्य० ७ उ० ।

संपुडफलय–सम्पुटफलक–पुं० । पुस्तकपञ्चकान्तर्गतेऽन्यतमपुस्तके, " संपुडगो दुगमाई फलगा पोत्थं " संपुटफलको यत्र द्व्यादीनि फलकानि भवन्ति । वणिग्जनस्योद्धारनिक्षेपादिरूपे संपुटकाख्ये करणविशेषे, स्था० ४ ठा० २ उ० । बृ० । आव० । नि० चू० ।

संपुडिय–सम्पुटित–त्रि० । सम्पुटं संजातमस्येति सम्पुटिता, तारकादिदर्शनादितः प्रत्ययः । आद्यन्तकृतसम्पुटे, व्य० २ उ० ।

संपुण्ण–सम्पूर्ण–त्रि० । समग्रे, प्रति० । आचा० । उत्त० । विशे० । ज्ञा० ।

संपुण्णकिच्छ–सम्पूर्णकृच्छ्र–न० । चतुर्गुणिते पादकृच्छ्रतपसि, पादकृच्छ्रत्वे नत.–" एकभक्तं न नक्तेन, तथैवायाचि-

तेन च । उपवासेन चैकेन, पादकृच्छ्रं विधीयते ॥ १ ॥" इति सम्पूर्णकृच्छ्रं पुनरेतदेव चतुर्गुणितमिति । द्वा० १२ द्वा० ।

संपुरणगुण–सम्पूर्णगुण–त्रि० । सुविशुद्धज्ञानादिगुणे, जी० १ प्रति० ।

संपुन्नघोस–सम्पूर्णघोष–त्रि० । सम्पूर्णो घोषः शब्दो यत्र तत्तथा । पूर्णशब्दसहिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

संपुन्नदोहला–सम्पूर्णदोहदा–स्त्री० । अभिलषितार्थपूरणे, भ० १ श० ३ उ० । कल्प० । समस्तवाञ्छितार्थपूरणे, परिपूर्णमनोरथायामन्तर्वत्न्याम्, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

संपुन्ननाणकरण–संपूर्णज्ञानकरण–न०। सर्वविरतिप्रतिपत्तितोऽखण्डे, आप्तवचनानुपालने च । पञ्चा० ६ विव० ।

संपुल–सम्पुल–पुं० । स्वनामख्याते दधिवाहननृपकञ्चुकिनि, आ० क० १ अ० । आ० म० ।

संपूयण–सम्पूजन–न० । वस्त्रपात्रादिना पूजने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

संपेहण–सम्प्रेक्षण–न० । पर्यालोचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । आचा० ।

संपेहा–सम्प्रेक्षा–स्त्री० । पर्यालोचनायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

संफाली–देशी–पङ्क्तौ, दे० ना० ८ वर्ग ५ गाथा ।

संफास–संस्पर्श–पुं० । " लुप्त य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घ " ॥८।१।४३॥ अनेनात्र लुप्तसकारस्यादे. स्वरस्य दीर्घ । संस्पर्श' । संफासो । प्रा० । सङ्गे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । असकृदनीप्सा स्पर्शे, दश० ४ अ० ।

संब–साम्ब–पुं० । अम्बया पार्वत्या सहित इति । उमया सहित शिवे, अन्त० ।

शाम्ब–पुं० । कृष्णवासुदेवस्य जाम्बवतीगर्भसम्भूते पुत्रे, अन्त० । आ० क० । आ० चू० । नि० चू० । "द्वारवत्यामभूत् पुर्या, वासुदेवो महीपति । तस्य पालकशाम्बाद्या, बभूवुर्बहव सुता ॥ १ ॥" प्रव० २ द्वार । विशे० । आ० म० । शत्रुञ्जयस्तोत्रमध्ये शाम्बप्रद्युम्नाभ्या सहाष्टौ कोटयः सिद्धा. कथितास्सन्ति, केचन सार्द्धकोटित्रय कथयन्त्यत्र निर्णय प्रसाद्य इति, प्रश्न । अत्रोत्तरम्—श्रीशत्रुञ्जय— महात्म्यानुसारेण श्रीशत्रुञ्जये शाम्बप्रद्युम्नाभ्या सह सार्द्धकोटित्रय सिद्धमिति ज्ञायते ॥ १६२ ॥ सेन०४ उल्ला०।कुन्थुनाम्न. सप्तदशतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, प्रव० ८ द्वार । स० ।

संबंध–सम्बन्ध–पुं० । सङ्गे, आचा०१श्रु०२अ०१ उ० । संयोगे, पं० व० ४ द्वार । द्वयो संश्लेषे, स्था०१० ठा०३ उ० । 'द्विष्ठसम्बन्धसंवित्ति–र्नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयो' स्वरूपग्रहणे, सति सम्बन्धवेदनम् ॥ १ ॥ " इति वचनात् । स्था० । अनन्तरसूत्रादिभि सह योजने, व्य० ५ उ० । (सम्बन्धस्य व्याख्या ' वक्खाण शब्दे षष्ठभागे गता ।

सम्बन्ध इति चिन्तया संबन्धविधिमेव तावदुपदर्शयति—

सुत्ते सुत्तं बज्झति, अंतिमपुप्फे व वज्झती तंसे ।
ता (इय) सुत्तातो सुत्तं, अत्थाओ वा भवे सुत्तं ॥ १ ॥

इह संबन्धोऽनेकधा भवति । यथा पुष्पेषु ग्रथ्यमानेषु यदा सूत्र तन्तुनिष्ठितं भवति तदा तस्य यदाद्यं सूत्रम् तद्यदि सदृशाधिकारक भवति तदा सूत्रात् सूत्रं ग्रथ्नातीत्युच्यते । क्वापि पुनरर्थादपरं सूत्रं संबध्यते । बादशब्दोपादानात्काप्यर्थादर्थस्य संबन्ध क्रियते । बृ० ४ उ० । संबन्धस्तु द्विधा–उपायोपेयभावलक्षणः, गुरुपर्वक्रमलक्षणश्च । तत्र प्रथमस्तर्कानुसारिणः प्रति । स चायम्–वचनरूपापन्नं शास्त्रमिदमुपाय., उपेयं–सम्यगेतच्छास्त्रार्थपरिज्ञानं मुक्तिपदं वा तस्याप्यत पारंपर्येण प्राप्ते । श्रद्धानुसारिणस्तु प्रति गुरुपर्वक्रमलक्षणसंबन्ध', तत्क्रमश्चायम्–प्रथमं हि घनाघनपटल इवातिप्रसारिणि पटुतरोज्जृम्भमाणखरकिरणनिकरप्रकाशसंकाशकमनीयकेवलालोकन्यक्कारिणि घनघातिकर्मनिचये प्रचण्डप्रभञ्जनप्रसारिणेवाप्यामलशुभध्यानेन प्रलयमापादिते नि शेषयथावस्थितजीवाजीवादिपदार्थसार्थावभासिनि नि सपत्न समुत्पन्ने केवलज्ञानालोके नाकिनगरगुरुतरविशुद्धसमृद्धिसंभारतिरस्कारकारिण्यामपापायां नगर्यां सकललोकलोचनामन्दानन्दोत्सवकारिनिरुपमप्राकारत्रयोद्भासितसमवसरणमध्यभागव्यवस्थापितविचित्ररत्नखण्डखचितसिंहासनोपविष्टेन विशिष्टमहाप्रातिहार्यादिपरमार्हन्त्यसमृद्धिमहिम्ना भगवता श्रीमन्महावीरेण सुरासुरकिन्नरनरेश्वरनिकरपरिकरितायां परिषदि प्रवचनसारभूता सर्वेऽपि पदार्था अर्थतो निवेदिता., तदनु प्रवचनाधिपतिसुधर्मस्वामिना त एव सूत्रतो रचिता., " अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं " इत्यार्षवचनात्, तदनु जम्बूस्वामिप्रभवशय्यंभवयशोभद्रसंभूतविजयभद्रबाहुस्थूलभद्रमहागिरिसुहस्तिस्वातिश्यामार्यप्रभृतिभि सूरिभि स्वकीयस्वकीयसूत्रेषु, विस्तततरविस्ततमविस्तृतेषु निबध्यमाना भव्यजनेभ्यश्च प्रकाश्यमाना एतावता भूमिकां यावदानीता ततस्तेभ्योऽपि सूत्रेभ्य ऐदयुगीनमन्दमेधसामवबोधाय संक्षिप्यास्मिन् प्रकरणे अन्योपकारकरणे धर्माय महीयसे च भवतीत्यधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्रेति परोपकाररसिकान्त करणप्राक्कालिकश्रुतधराभिहितश्रुतमनुस्मरता मया समुद्ध्रियन्ते, इत्येवं परपरया सर्वविन्मूलमिद प्रकरणमर्थमाश्रित्य न पुनर्मया नूतन किञ्चिदत्र सूत्र्यते, इत्यवदातबुद्धीनामिदमुपादेयं भवतीति । प्रव० १ द्वार ।

संबंधण–सम्बन्धन–न० । सम्बन्धे, उत्त० १ अ० ।

संबंधणसंजोग–सम्बन्धनसंयोग–पुं० । संबध्यते प्रायो ममेदमित्यादिबुद्धितोऽनेनास्मिन् वात्माष्टविधेन कर्मणा संहनि संबन्ध स चासौ संयोगश्च सम्बन्धनसंयोग. । संयोगभेदे, उत्त० ७ अ० । (स च 'संजोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११४ पृष्ठ दर्शित ।) वशीकरणे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

संबंधसंबंधि–सम्बन्धसम्बन्धिन्–त्रि० । श्वशुरपाक्षिकादिसत्के, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

संबंधसमकप्प--सम्बन्धसमकल्प--पुं०। सम्-एकीभावेन परस्परोपकार्योपकारितया च बद्धाः-पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धा गृहस्थास्तैः समस्तुल्यः कल्पो व्यवहारोऽनुष्ठानं येषां ते। सम्बद्धसमकल्पगृहस्थानुष्ठानतुल्यानुष्ठानेषु साधुषु, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

संबंधि-सम्बन्धिन्-त्रि०। पुत्रपौत्राणां श्वशुरादिषु, कल्प० १ अधि० ५ क्षण। विपा०। औ०। सम्बन्धिनो मातृपक्षीयाः। भ० ३ श० १ उ०। संबन्धी स्वजनः। वृ० १ उ० २ प्रक०। संबन्धिनस्तासामेव संयतीनां नालबद्धा वा भ्रातृसम्बन्धयुक्ता इत्यर्थ, श्वशुरकुलाना वा। वृ० १ उ० ३ प्रक०। श्वशुरपुत्रश्वशुरादयः। व्य० ५ उ०। ज्ञा०। देवरादिषु, औ०।

संबद्ध-सम्बद्ध--त्रि०। सम्--एकीभावेन परस्परोपकारितया च बद्धाः सम्बद्धाः। पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशे सम्बद्धेषु गृहस्थादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। लग्ने, विशे०। न०।

संबद्धसम--सम्बद्धसम--पुं०। सम्बद्धा गृहस्थास्तैस्समस्तुल्यः। गृहस्थतुल्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

संबमुणि--साम्बमुनि--पुं०।नागेन्द्रकुलीये जम्बूगुरुकृतजिनशतकटीकावृत्तिकारके,वैक्रमीयसंवत्सरे १०२५ दुर्गकश्रावकप्रेरणयाऽनेन टीका कृता। जै० इ०।

संबल--शम्बल--न०। पथ्यदने, संथा०। आ० चू०। ज्ञा०। स्वनामख्याते नागकुमारे, आ० म० १ अ० (तत्कथा 'कवल' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे दर्शिता।)

संबलिफालि-शाल्मलीफालि--स्त्री०। शाल्मलीशाखायाम्, संथा०।

संबसाहस--शाम्बसाहस--न०। शाम्बनाम्न कृष्णवासुदेवपुत्रस्य साहसे, आ० क० १ अ०। ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे कथा गता।)

संबाह--सम्बाध--पुं०। यात्रासमागतप्रभूतजनविशेषे, व्य० १ उ०। जी०। प्रश्न०। नि० चू०। संबाधो नाम यत्र कृषीवललोकोऽन्यत्र कर्षणं कृत्वा वणिग्वर्गो वा वाणिज्यं कृत्वाऽन्यत्र पर्वतादिषु विषमेषु स्थानेषु संवोढुमिति कणादिकं समुह्य कोष्ठागारादौ च प्रक्षिप्य वसति। वृ० १ उ० २ प्रक०। प्रभूतचातुर्वर्ण्यनिवासे, उत्त० ३४ अ०। पर्वतनितम्बादिदुर्गे, औ०। बहुप्रकारलोकसङ्कीर्णस्थानविशेषे, अनु०। सोभणवाहा संवाहा सा चउव्विहा। नि० चू० ३ उ०। ज्ञा०। समभूमौ कृषिं कृत्वा येषु दुर्गभूमिभूतेषु धान्यादिकृषीवलाः सहवन्ति रक्षार्थमिति स संवाधः। स्था० ६ ठा०। नि० चू०। कल्प०। संवाहो संवोढु, वसति जहिं पव्वयाइविसमेसु। वृ० १ उ० २ प्रक०। यात्रासमागतप्रभूतजननिवेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

संबाहण--सम्बाधन--न०। अङ्गपरिकर्म्मणि, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार। शरीरस्याऽस्थिसुखत्वादिना नैपुण्येन मर्दनविशेषे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। विश्रामणायाम्, औ०। आत्मनः पादौ संबाधयति, नि० चू० ४ उ०।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा अप्पणो पाए संबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा संबाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥१६॥

सति प्रशंसा सोभणा बाहा संवाहा--सा चउव्विहा अट्ठिसुहा मंससुहा मज्जासुहा तयासुहा सा गुरुमाइयाण विथाले संबाधा भवति। जो पुण अड्डरत्ते पच्छिमरत्ते दिवसतो वा अंगसो संबाधेति सा परिमद्दा भण्णति। नि० चू० ३ उ०। आचा०। ज्ञा०। विश्रामणे सकृन्मर्दने, नि० चू० १ उ०। पर्वतदुर्गे, संबाधशब्दार्थे, संबाधनं चादिशब्दे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

संबाहिज्जावंत-सम्बाधयत्-त्रि०। विश्रामणां कारयति, नि० चू० १८ उ०।

संबाहित-सम्बाधित--त्रि०। सम्-एकीभावेन बाधिताः-पीडिताः। सपीडितेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

संबाहिय-सम्बाधित--त्रि०। हस्ताभ्यां कृतोपपीडनसेवे,पिं०।

संविद्ध--सम्बिद्ध--त्रि०। सम्यग् ताडिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

संविद्धपह--सम्बिद्धपथ--पुं०। सम्यक् विद्धस्ताडितः क्षुण्णः पन्थाः मोक्षमार्गो ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो-येन स तथा। दृष्टप्रयातपथे, आचा० १ श्रु० ५ अ०३ उ०।

संबेल्लिय-सम्बेल्लित-त्रि०। संवृते, जं० १ वक्ष०।"संवेल्लियग्गसिरया"संवेल्लिताग्रशिरोजा सवेल्लितं संवृतमग्रं येषां खरकर्मकरणात्ते सम्वेल्लिताग्राः, शिरोजाः केशा यासां तास्तथा। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

संबुक्क-सम्बूक-पुं०। शङ्खे, स्था० ४ ठा० २ उ०। प्रश्न०। उत्त०। स्वनामख्याते अवन्तिसविधे खेटे, 'अवन्तीनामजणवए तत्थ य सम्बुक्कं नाम खेडे' महा० २ चू०।

संबुक्कवट्टा--शम्बूकवृत्ता--स्त्री०। शम्बूकः शङ्खस्तद्वच्छङ्खभ्रमिवदित्यर्थः, या वृत्ता सा शम्बूकवृत्ता। गोचरचर्याभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। इय च द्वेधा तत्र यस्यां क्षेत्रबहिर्भागाच्छङ्खवृत्तत्वगत्या अटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरशम्बूका, यस्यां तु मध्यभागाद्बहिर्याति सा बहिःशम्बूकेति। स्था० ६ ठा० ३ उ०। ध०। ग०। दशा०। उत्त०। दश०। कल्प०।

संबुज्झमाण-संबुद्ध्यमान-पुं०। संसारपाताय प्रमाद इत्येवमवगच्छति, आचा०। सम्यक् श्रुतचारित्राख्यं धर्मं वा भावसन्धिं वा बुद्ध्यमाने,। विहितानुष्ठाने,सूत्र० १ श्रु० १० अ०। सम्बुद्ध्यमानका भवन्ति, तद्यथा--स्वयम्बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः बुद्धबोधिताश्च। आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ। यथोपदिष्टधर्मं सम्यगवबुध्यमाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

संबुद्ध--सम्बुद्ध--त्रि०। विदितविषयस्वभावे सम्यग्दृष्टौ, ज्ञा० २ अ०। हेयोपादेयवस्तुतत्त्वे विदितवति, स०१ सम०। उत्त०। सम्यग्ज्ञाततत्त्वे, उत्त० १० अ०। मिथ्यात्वापगमतोऽवगतजीवाजीवादितत्त्वे, उत्त० २ अ०। हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुतत्त्वं विदितवति, भ० १ श० १ उ०।

संबुद्धा-सम्बुद्धा-स्त्री०। अपरोपदेशमन्तरेण जायमाने प्रव्रज्याभेदे, "संबुद्धा तित्थकरा" पं० भा० १ कल्प। "सम्बुद्धो भरहो राया" पं० चू० १ कल्प।

संवेल्लि-सम्वेल्लि-स्त्री०। मालायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सम्वेल्लिय-सम्वेल्लित-त्रि०। सवृत्ते किञ्चिदाकुञ्चिते, जं० १ वक्ष०। सकोचिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

संबोह-संबोध-पुं०। सुप्तस्य प्रबोधे, स च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् चतुर्द्धा। तत्र नामस्थापने सुगमे। द्रव्ये-द्रव्यविषये सुप्तस्य बोधनम्, भावे-भावविषये पुनर्बोधो दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंयमा द्रष्टव्या। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। ('वेयालिया' शब्दे षष्ठभागे तदध्ययनोक्तः सम्बोध उक्तः।)

संबोहण-सम्बोधन-न०। आमन्त्रणे, आह्वाने, आ० म० १ अ०। (तीर्थकृतो लोकान्तिकदेवैः संबोधनं 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २३०१ पृष्ठे उक्तम्।)

संबोहि-संबोधि-स्त्री०। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रावाप्तौ, सूत्र०।

अंतं करंति दुक्खाणं, इहमेगेसि आहियं।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेयं समुस्सये ॥ १७ ॥
इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥ १८ ॥

नहामनुष्या अशेषदुःखानामन्तं कुर्वन्ति, तथाविधसामग्र्यभावादित्येकेषां वादिनामाख्यातम्। तद्यथा-देवा एवोत्तरोत्तर स्थानमास्कन्दन्तोऽशेषक्लेशप्रहाणं कुर्वन्ति तथेहार्हते प्रवचने इति। इदमन्यत् पुनरेकेषां गणधरादीनां स्वशिष्याणां वा गणधरादिभिराख्यातम्। तद्यथा-युगसमिलादिन्यायावाप्त कथञ्चित्कर्मविवरात् योऽयं शरीरसमुच्छ्रयः सोऽकृतधर्मोपायैस्सुमद्भिर्महासमुद्रप्रभ्रष्टरत्नवत्पुनर्दुर्लभो भवति, तथा चोक्तम्-" ननु पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम्। मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलासितप्रतिमम् ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ १७ ॥

अपि च-'इओ विद्धसे' इत्यादि। इत -अमुष्मात् मानुष्यभवात्सद्धर्मतो वा विध्वंसमानस्याकृतपुण्यस्य पुनरस्मिन् संसारे पर्यटतो बोधि -सम्यग्दर्शनावाप्तिः सुदुर्लभोत्कृष्टतः अपार्धपुद्गलपरावर्तकालेन यतो भवति, तथा दुर्लभा दुरापा तथाभूता सम्यग्दर्शनप्राप्तियोग्या अर्चा लेश्या-अन्तःकरणपरिणतिरकृतधर्माणामिति। यदि वा-अर्चा-मनुष्यशरीरं तदप्यकृतधर्मबीजानामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामग्र्यादिरूपं दुर्लभं भवति, जन्तूना ये धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति, ये धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः। तेषां तथाभूतार्चा सुदुर्लभा भवतीति ॥ १८ ॥ सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

संबोहियव्व-संबोधयितव्य-त्रि०। आमन्त्रयितव्ये, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

संभंत-संभ्रान्त-त्रि०। व्याकुलीभूते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आ० म०।

संभंति-संभ्रान्ति-स्त्री०। सम्भ्रमे, भ० १६ श० ५ उ०।

संभंतियवंदणय-सम्भ्रान्तिकवन्दनक-न०। सम्भ्रान्तिः सम्भ्रम औत्सुक्यं; तया निर्वृत्तं सम्भ्रान्तिकं यद् वन्दनं तत्तथा। औत्सुक्यजवन्दनक्रियायाम्, भ० १६ श० ५ उ०।

संभग्ग-सम्भग्न-त्रि०। चूर्णिते, उत्त० १६ अ०। ज्ञा०। प्रश्न०। 'सम्भग्गमउडविडओ'-सभग्नो मुकुटविटपः शेखरकविस्तारो यस्य स तथा। भ० ३ श० ३ उ०।

संभम-सम्भ्रम-पुं०। व्याकुलत्वे, अनु०। सूत्र०। प्रमोदकृतौत्सुक्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। संक्षोभे, जीत०। प्रश्न०। भक्तिकृतौत्सुक्ये, औ०। भगवत्समीपगमने, वनदवाग्निसम्भ्रमादिके, व्य० ४ उ०। सर्वोत्कृष्टसम्भ्रमतो नामेह स्वनायकविषयबहुमानस्थापनपरा स्वनायकोपदिष्टकार्यसम्पादनाय यावच्छक्तित्वरिता प्रवृत्तिः। रा०। आ० म०। प्रश्न०। परचक्रादिभये, अनु०। सत्कारे, आ० म० १ अ०। उदकाग्निहस्त्याद्यागमसमुत्थे आकस्मिके संत्रासे, बृ० १ उ० २ प्रक०।

संभयणा-सम्भजना-स्त्री०। संवासे, आ० चू० ४ अ०।

संभरिय-संस्मृत-त्रि०। चिन्तिते, हा० २७ अष्ट०।

संभरित्ता-स्मृत्वा-अव्य०। अनुचिन्त्येत्यर्थे, स्था० ४ठा०१उ०।

संभली-सम्भली-स्त्री०। दूतिकायाम्, व्य० ५ उ०। दे० ना०।

संभव-सम्भव-पुं०। उत्पादे, विशे०। सदा भवने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। अनु०। समुत्पत्तौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। ज्ञा०। सभवो त्ति वा, उववत्ति त्ति वा एगट्ठा। आ० चू० २ अ०। सम्भवति प्रकर्षेण भवन्ति चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा यस्मिन् स सम्भवः। आ० म० १ अ०। ध०। आ० चू०। भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते तृतीये तीर्थकरे, प्रव० ८ द्वार। ति०।

संभवेणं अरहा एगूणसट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं आगारमज्झे वसित्ता मुंडे ०जाव पव्वइए ॥ (सू० ५६ +)

सम्भवस्यैकोनषष्टि पूर्वलक्षाणि गृहस्थपर्याय इहोक्तः। आवश्यके तु चतुःपूर्वाङ्गाधिका सोक्तेति। स० ५९ सम०। (अस्य सर्वोऽप्यधिकारः 'तित्थयर' शब्दे, चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठे उक्तः) समुदायेन समुदायिनोऽवगम इत्येव लक्षणे प्रमाणभेदे, खारी द्रोण इत्यादिनाऽनुमानात्पृथक् तथा हि खारी द्रोणवती खारीत्वात्पूर्वोपलब्धखारीवत्। समुदायेन समुदायिनोऽवगम इत्येवलक्षणः संभवः, स च न प्रमाणान्तरम्। रत्ना० २ परि०। प्रव०। प्रसवचरायाम्, दे० ना० ८ वर्ग ४ गाथा।

संभवंत-संभवत्-त्रि०। वर्तमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। संभवमाश्रित्येत्यर्थे, क० प्र० १ प्रक०।

संभवदेव-सम्भवदेव-पुं०। श्रावस्त्यां सम्भवतीर्थकृत्प्रतिमायाम्, श्रावस्त्या श्रीसम्भवदेवो जाङ्गुलीविद्याधिपति। ती० ४३ कल्प।

संभवसमणंतर-सम्भवसमनन्तर-न०। उत्पत्त्यनन्तरे, प० व० ४ द्वार।

संभाणय-संभाणक-न०। गुर्जरधरित्रीसत्कनगरभेदे, "इओ

अ चंदकुले सिरिवद्धमाणसूरिसीसजिणेसरसूरीण सीसो सिरिअभयदेवसूरी गुज्जरत्ताए संभाणयट्ठाणे विहरिओ। " ती० ५२ कल्प ।

संभार-सम्भार-पुं० । बहुद्रव्यसंयोगे , बृ० २ उ० । उपरिप्रक्षेपद्रव्यैस्त्वगेलाप्रभृतौ , ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आवश्यकतया कर्म्मणो विपाकानुभवने, वेदने, सूत्र० २ श्रु०७ अ० । ज्ञा० । सम्भ्रियते धार्यते सम्भरण वा धारणं संभारः । षष्ठे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

संभारघय-संभारघृत-न० । संभारो बहुद्रव्यसंयोगस्तत्प्रधानं घृतं सम्भारघृतम् । बहुद्रव्यमिश्रिते घृते , बृ० २ उ० ।

संभालणा-सम्भालना-स्त्री० । अन्यथाव्यापारणे , विशे० ।

संभाव-लुभ-धा०।विमोहने,"लुभेः संभावः"॥८।४।१५३॥अनेन लुभ्यते. पाक्षिकः संभाव इत्यादेशः।संभावइ। लुभ्यते। प्रा०।

संभावि-धा०। "सम्भावेरासङ्घः" ॥८।४।३५॥ अनेन संभावयते पाक्षिक आसङ्घादेशाभावे-सम्भावइ। सम्भावयति। प्रा०।

संभावणत्थतक्क-संभावनार्थतर्क-पुं० । प्राकृतशैल्या अर्थसंभावनातर्क. । एवमेव चायमर्थ उपपद्यत इत्यादिरूपे तर्के, दश० ४ अ० ।

संभावणा-सम्भावना-स्त्री० । अर्थालङ्कारभेदे, व्याकरणोक्ते क्रियासु योग्यताऽध्यवसाये लिङर्थभेदे, उत्कटकोटिकसंशयरूपे ज्ञानभेदे च । वाच० । आचा० ।

संभास-संभाप-पुं० । परस्परालापे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

संभासण-संभाषण-न० । उचितकाले स्मरकथाभिजल्पे , प्रव० १६६ द्वार । दश० ।

संभासिय-संभाषिक-पुं० । समाप्तभाषाव्यवहारिणि , व्य० ४ उ० ।

संभिण्ण-संभिन्न-त्रि० । सम्-एकीभावेन भिन्ने, विशे०। अपहृभेदमापके, औ०। प्रव० । आ० चू० ।

संभिण्णवरणाणदंसणधर-संभिन्नवरज्ञानदर्शनधर-पुं० । संभिन्ने सम्पूर्णे वरे श्रेष्ठे ज्ञानदर्शने धरन्ति ये ते तथा । केवलिषु , कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

संभिण्णवित्त-संभिन्नवृत्त-पुं० । अखण्डनीयखण्डितचारित्रे , दश० १ चू० ।

संभिण्णसोय-सम्भिन्नश्रो(तृ)तस्-पुं० । सम्भिन्नान्-बहुभेदभिन्नान् पृथक् पृथक् शृण्वन्तीति सम्भिन्नश्रोतारः । संभिन्नानि-शब्देन व्याप्तानि शब्दग्राहीणि प्रत्येकं वा शब्दादिविषयैः श्रोतांसि सर्वेन्द्रियाणि येषां ते तथा । औ० । रा० । आ० म० । ग० । लब्धिविशेषशालिषु , पा० । 'जे सभिन्नसोय ' त्ति-यः सर्वतः सर्वैरपि शरीरदेशैः शृणोति स सभिन्नश्रोता । अथवा-श्रोतांसीन्द्रियाणि सभिन्नान्येकैकश सर्वविषयैर्यस्य स तथा । एकतरेणापीन्द्रियेण समस्तापरेन्द्रियगम्यान्विषयान्यो मुणत्यवगच्छति स सभिन्नश्रोता इत्यर्थ. । अथवा-श्रोतांसीन्द्रियाणि सभिन्नानि परस्परत एकरूपतामापन्नानि यस्य स तथा । श्रोत्रं चक्षुः-कार्यकारित्वाच्चक्षूरूपतामापन्नं चक्षुरपि श्रोत्रकार्यकारित्वात्तद्रूपतामापन्नमित्येवं सभिन्नानि श्रोतांसि सर्वाण्यपि परस्परेन्द्रियाणि यस्याऽसौ संभिन्नश्रोता इति भावः । इत्यत्रापि स एवार्थ. । अथवा-द्वादशयोजनस्य चक्रवर्त्तिकटस्य युगपद् ब्रुवाणस्य तत्तूर्यसंघातस्य वा युगपदास्फाल्यमानस्य सभिन्नान् लक्षणतोऽभिधानतश्च परस्परतो विभिन्नान् जननिवहसमुत्थान् शङ्खभेरीपणवढक्कादितूर्यसमुत्थान् वा युगपदेव सुबहून् शब्दान्य. शृणोति स सभिन्नश्रोता । एव च संभिन्नश्रोतृत्वलब्धिरपि ऋद्धिरेवेति । आ० चू० १ अ० ।

संभिण्णालाव-सम्भिन्नालाप-पुं०।सम्बद्धभाषणे, ज्ञा०८ द्वा०।

संभिय-संभृत-त्रि० । संस्कृते, विशे० । सम्यग्भृते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आ० म० । स्था० ।

संभु-शम्भु-पुं० । शिवे, को० ।

संभुंजंत-सम्भुञ्जान-त्रि० । एकमण्डल्यां सम्भोगं कुर्वाणे, नि० चू० १० उ० ।

संभुंजण-सम्भोजन-न० । एकमण्डल्यां भोजनादिव्यवहारे, पं० भा० १ कल्प । एकमण्डल्या सम्-एकीभूय भोजनं, बृ० ४ उ० ।संभुंजणा तिविहा-लोइया,लोउत्तरिया,कुप्पावयणिया । पं० चू० १ कल्प । साम्भोगिकैः सह भोजनं, व्य० ३ उ० ।

संभुंजित्तए-सम्भोक्तुम्-अव्य० । एकमण्डलीसमुद्देशादिना व्यवहारयितुमित्यर्थे, बृ० ४ उ० । स्था० ।

संभुंजिय-सम्भुज्य-अव्य० । एकमण्डल्यां समुद्देशनादिव्यवहारं कृत्वेत्यर्थे, पं० व० २ द्वार ।

संभुल्ल-देशी-दुर्जने, दे० ना० ८ वर्ग ७ गा ३१ ।

संभूत (य)-सम्भूत-त्रि० । सञ्जाते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । आव० । प्रश्न० । समुत्पन्ने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। सम्यक् प्रतिपालनाय संछन्ने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। मिलित्वेत्यर्थे, अने० । बलदेववासुदेवयोः प्रथमे धर्माचार्ये, स० । ति० । ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तिजीवे , उत्त० १३ अ० । (सम्भूतकथा ' बभदत्त ' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता ।) यशोभद्रशिष्ये , " जसभद्दसीसो संभूतो संभूअस्स थूलभद्द जाव सव्वेसिं " नि० चू० ५ उ० । वीरजिनजीवस्य पूर्वभवविश्वभूतेर्नामक्षत्रियस्य दीक्षाग्राहके यतौ , आ० म० १ अ० ।

संभूत (य) विजय-सम्भूतविजय-पुं० । भद्रबाहुस्वामिनो गुरुभ्रातरि स्थूलभद्रस्य शकटालपुत्रस्य दीक्षादातरि, स्था० १० ठा० ३ उ० । आ० चू० । न० । कल्प० । (तद्वक्तव्यता दीर्घदशानामष्टमेऽध्ययने प्रोक्ता तत एवावगन्तव्या, परन्त्विदानीं स ग्रन्थ एव व्युच्छिन्न. ।) "केवली, चरमो जम्बू-स्वाम्यभूत् प्रभवप्रभू । शय्यभवो यशोभद्र., सभूतविजयस्तथा ॥ भद्रबाहुः स्थूलभद्र , श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥१॥ " अज्जमहागिरित्ति " आर्यमहागिरिर्जिनकल्पविच्छेदेऽपि जिनकल्पतुलनामकार्षीत् । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । (अस्य

शिष्यादिकुलं 'थेरावली' शब्दे चतुर्थभागे २३१६ पृष्ठे दर्शितम्।) माढागोत्रेऽयं वीरस्य षट्पष्टिसंवत्सरे जातः स च द्वाचत्वारिंशद् वर्षाणि गृहिपर्याय तत श्रामण्यपर्यायं परिपाल्य युगप्रधानपदवीमुपगत्य नवतिवार्षिक. १५६ वीरसंवत्सरे स्वर्गत.। जै० इ०।

संभूतिविजय–संभूतिविजय–पुं०। स्वनामख्यातेऽनगारे अयं पूर्वभवे मतिलाभ्य राजपुत्रो धनपतिनामा सुखेन सिद्धः। विपा० २ श्रु० ७ अ०।

संभोइत्तए–संभोक्तुम्–अव्य०। एकमण्डलीसमुद्देशादिना व्यवहारयितुमित्यर्थे, बृ०४ उ०। भोजनमण्डल्या निवेशयितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ०।

संभोइय–साम्भोगिक–पुं०। सम्–एकत्र भोगो–भोजनं सम्भोग, साधूना समानसमाचारितया परस्परमुपध्यादिदानग्रहणसंव्यवहारलक्षणं सविद्यते यस्य स साम्भोगिक। स्था० ३ ठा० ३ उ०। एकसामाचारीप्रविष्टे, आचा० १ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ०। एकमण्डलिकादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ०। प्रव०।

संभोएत्ता–सम्भोज्य–अव्य०। मिश्रयित्वेत्यर्थे, आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०।

संभोग–संभोग–पुं०। सम्–एकीभूय समानसमाचाराणा साधूना भोजनं सभोग। स० ११ सम०। एकमण्डल्या भोजने, उत्त० १६ अ०। ('विसभोग' शब्दे षष्ठभागे पंचविध सभोग उपसभोगश्चोक्त।)

दुवालसविहे संभोगे पण्णत्ते, तं जहा–
"उवहिसु अभत्तपाणे, अंजलीपग्गहे त्ति य।
दायणे य निकाए य, अब्भुट्ठाणेत्ति आवरे॥ १॥
किइकम्मस्स य करणे, वेआवच्चकरणे इ य।
समोसरणे संनिसिज्जा य, कहाए य पवन्धणे॥ २॥

सम्–एकीभूय समानसमाचाराणा साधूना भोजनं सम्भोग स चोपध्यादिलक्षणविषयभेदात् द्वादशधा। तत्र 'उवही' त्यादिरूपकद्वयम्। तत्रोपधिर्वस्त्रपात्रादिस्तं साम्भोगिक साम्भोगिकेन सार्द्धमुद्गमोत्पादनैषणादोषैर्विशुद्धं गृह्णन् शुद्ध., अशुद्ध गृह्णन् प्रेरित। प्रतिपन्नप्रायश्चित्तो वारत्रय यावत्सम्भोगार्हश्चतुर्थवेलाया प्रायश्चित्त प्रतिपद्यमानोऽपि, विसम्भोगार्ह इति, विसम्भोगिकेन–पार्श्वस्थादिना वा सयत्या वा सार्द्धमुपधि शुद्धमशुद्ध वा निष्कारण गृह्णन् प्रेरित., प्रतिपन्नप्रायश्चित्तोऽपि वेलात्रयस्योपरि न सम्भोग्य। एवमुपध्य परिकर्म परिभोग वा कुर्वन् सम्भोग्यो विसम्भोग्यश्चेति। उक्त च–" एगं व दो व तिन्नि व, आउट्टन्तस्स होइ पच्छित्त [आलोचयत इत्यर्थ.]। आउट्टने वि तओ, परेण तिण्ह विसभोगो॥ १॥" त्ति, 'सुव' त्ति–साम्भोगिकस्यान्यसांभोगिकस्य वोपसम्पन्नस्य श्रुतस्य वाचनाप्रच्छनादिक विधिना कुर्वन् तथा शुद्ध, तस्यैवाविधिनोपसम्पन्नस्यानुपसम्पन्नस्य वा पार्श्वस्थादेर्वा स्त्रिया वा वाचनादि कुर्वस्तथैव वेलात्रयोपरि विसम्भोग्य। तथा 'भत्तपाणे' त्ति–उपधिद्वाग्वद्वसेय. नवरमिह भोजन दान च परिकर्मपरिभोग यो स्थाने वाच्यमिति। तथा 'अजलीपग्गहे' त्ति य इह–तिशब्दा उपदर्शनार्थौ, चकारा समुच्चयार्था', तत्रोपलक्षणत्वादञ्जलिप्रग्रहस्य वन्दनादिकमपीह द्रष्टव्यं, तथाहि–साम्भोगिकानामन्यसाम्भोगिकानां वा संविग्नानां वन्दनकं–प्रणाममञ्जलिप्रग्रहं नमः क्षमाश्रमणेभ्य इति भणनम्, आलोचनासूत्रार्थनिमित्तनिपद्याकरणं च कुर्वन् शुद्ध.। पार्श्वस्थादेरेतानि कुर्वंस्तथैव सम्भोग्यो विसम्भोग्यश्चेति। तथा 'दायणे य' त्ति–दानं, तत्र साम्भोगिक. साम्भोगिकाय (वस्त्रादिभि शिष्यगणोपग्रहासमर्थे साम्भोगिके) अन्यसाम्भोगिकाय वा शिष्यगणं यच्छन् शुद्धः, निष्कारण विसाम्भोगिकस्य पार्श्वस्थादेर्वा संयत्या वा तं यच्छंस्तथैव सम्भोग्यो विसम्भोग्यश्चेति। तथा 'निकाए य' त्ति–निकाचन छन्दन निमन्त्रणमित्यनर्थान्तरम्, तत्र शय्योपध्याहारै. शिष्यगणप्रदानेन स्वाध्यायेन च साम्भोगिक साम्भोगिकं निमन्त्रयन् शुद्ध., शेष तथैव। तथा 'अब्भुट्ठाणे त्ति यावरे' त्ति–अभ्युत्थानमासनत्यागरूपमित्यपर सम्भोगासम्भोगस्थानमित्यर्थ., तत्राभ्युत्थानं पार्श्वस्थादे कुर्वंस्तथैवासम्भोग्य., उपलक्षणत्वादभ्युत्थानस्य किङ्करता च–प्राघूर्णकग्लानाद्यवस्थाया किं विश्रामणादि करोमीत्येव प्रश्नलक्षणा तथाऽभ्यासकरणपार्श्वस्थादिधर्माच्च्युतस्य पुनस्तत्रैव संस्थापनलक्षणं, तथा अविभक्ति च–अपृथग्भावलक्षणा कुर्वन्नशुद्धोऽसम्भोग्य–श्चापि। एतान्येव यथाऽऽगमं कुर्वन् शुद्ध सम्भोग्यश्चेति, तथा 'किइकम्मस्स य करणे' त्ति–कृतिकर्म–वन्दनकं तस्य करण–विधानं तद्विधिना कुर्वन् शुद्ध', इतरथा तथैवासम्भाग्य.। तत्र चायं विधि–य साधुर्वातेन स्तब्धदेह उत्थानादि कर्तुमशक्त. स सूत्रमेवास्खलितादिगुणोपेतमुच्चारयति, एवमावर्त्तशिरोनमनादि यच्छक्नोति तत्करोत्येवं चाशठप्रवृत्तिर्वन्दनविधिरिति भाव। तथा 'वेयावच्चकरणे इय' त्ति–वैयावृत्त्यम्–आहारोपधिदानादिना प्रश्रवणादिमात्रकार्पणादिनाऽधिकरणोपशमनेन साहाय्यदानेन वोपष्टम्भकरणं तस्मिंश्च विषये सम्भोगासम्भोगौ भवत इति। तथा 'समोसरणे' त्ति–जिनस्नपनरथानुयानपट्टयात्रादिषु यत्र बहव साधवो मिलन्ति तत्समवसरणम्। इह च क्षेत्रमाश्रित्य साधूनां साधारणोऽवग्रहो भवति, वसतिमाश्रित्य साधारणोऽसाधारणश्चेति। अनेन चान्येऽप्यवग्रहा उपलक्षिता, ते चानेके, तद्यथा–वर्षावग्रह ऋतुबद्धावग्रहो वृद्धवासावग्रहश्चेति। एकैकश्चायं साधारणावग्रह. प्रत्येकावग्रहश्चेति द्विधा। तत्र यत् क्षेत्र वर्षाकल्पाद्यर्थं युगपत् द्व्यादिभि साधुभिर्भिन्नगच्छसत्कैरनुज्ञाप्यते स साधारण', यत्तु क्षेत्रमेकं साधवोऽनुज्ञाप्याश्रिता स प्रत्यकावग्रह इति। एव चैतेष्ववग्रहेषु आकुट्टया अनाभोग्य सचित्त शिष्यमचित्त वा वस्त्रादि गृह्णन्तोऽनाभोगेन च गृहीत तदनर्पयन्त समनोज्ञा अमनोज्ञाश्च प्रायश्चित्तिनो भवन्त्यसभोग्याश्च। पार्श्वस्थादीना चावग्रह एव नास्ति तथापि यदि तत् क्षेत्र क्षुल्लकमन्यत्रैव च सविग्ना निर्वहन्ति ततस्तत् क्षेत्र परिहरन्त्येव। अथ पार्श्वस्थादीना क्षेत्र विस्तीर्णं संविग्नाश्चान्यत्र न निर्वहन्ति ततस्तत्रापि प्रविशन्ति, सचित्तादि च गृह्णन्ति, प्रायश्चित्तिनोऽपि न भवन्तीति। आह च–" समणुन्नमसमणुन्ने, अदिन्नणाभव्वगिण्हमाण वा। सम्भोग वीसुकरण, (पृथक्करणमित्य–

र्थः] इयरे य अलंभ पेज्जंति ॥ १ ॥ " [इतरान् पार्श्वस्थादीनित्यर्थः ।] तथा ' सन्निसिज्जा य ' त्ति सन्निषद्या-आसनविशेष ,'सा च सम्भोगाऽसम्भोगकारणं भवति। तथाहि—संनिषद्यागत आचार्यो निषद्यागतेन सम्भोगिकाचार्येण सह श्रुतपरिवर्त्तनां करोति शुद्धः। अथामनोज्ञपार्श्वस्थादिसाध्वीगृहस्थै सह तदा प्रायश्चित्ती भवति। तथा अन्नानिषद्यां विनाऽनुयोगं कुर्वतः शृण्वतश्च प्रायश्चित्तम्। तथा निषद्यायामुपविष्टः सूत्रार्थौ पृच्छति, अतिचारान् वाऽऽलोचयति, यदि तदा तथैवेति। तथा 'कहाए य पबंधणे' त्ति-कथा—वादादिका पञ्चधा, तस्याः प्रबन्धन-प्रबन्धेन करणं कथाप्रबन्धन, तत्र सम्भोगासम्भोगौ भवतः। तत्र मतमभ्युपगम्य पञ्चावयवेन त्र्यवयवेन वा वाक्येन यत्तत्समर्थनं स छलजातिविरहितो भूतार्थान्वेषणपरो वादः। स एव छलजातिनिग्रहस्थानपरो जल्पः। यत्रैकस्य पक्षपरिग्रहोऽस्ति नापरस्य सा दूषणमात्रप्रवृत्ता वितण्डा। तथा प्रकीर्णकथा,चतुर्थी। सा चोत्सर्गकथा द्रव्यास्तिकनयकथा वा, तथा निश्चयकथा पञ्चमी, सा चापवादकथा पर्यायास्तिकनयकथा वेति तत्राद्यास्तिस्र कथा श्रमणीवर्जैः सह करोति, श्रमणीभिस्तु सह कुर्वन् प्रायश्चित्ती। चतुर्थवेलाया चालोचयन्नपि विसम्भोगार्ह इति रूपकद्वयस्य संक्षेपार्थ । विस्तरार्थस्तु निशीथपञ्चमोद्देशकभाष्यादवसेय इति । स० १२ सम० । उत्त० ।

प्रत्यक्ष प्रत्येकं सम्भोग —

जे निग्गन्था य निग्गन्थीओ य संभोइया सिया,नो एहं कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेत्तए । कप्पइ एहं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेत्तए । जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा, तत्थेव एवं वएज्जा-अहो णं अज्जो !, तुमाए सद्धिं इममि कारणम्मि पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि । से य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, से य नो पडितप्पेज्जा । एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ॥ ३ ॥ जाओ-निग्गन्थीओ वा निग्गन्था वा संभोइया सिया, नो एहं कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, कप्पइ एहं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए । जत्थेव ताओ अप्पणो आयरियउवज्झाए पासेज्जा, तत्थेव एवं वएज्जा-अह णं भन्ते ! अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि । सा य से पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए । सा य से नो पडितप्पेज्जा, एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ॥ ४ ॥

ये निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च साभोगिका स्युस्तेषा 'नो णमि'त्ति वाक्यालकारे,कल्पते परोक्षे प्रत्यक्षे साभोगिक विसाभोगिक कर्तु,यत्रैव एवं वदेत् 'अहो ण मिति पूर्ववत्। अहो-आर्य' त्वया सार्द्धमस्मिन्कारणे प्रत्यक्षं प्रत्येक साम्भोगिक विसम्भोगं करोमि, एवमुक्ते यदि स परितप्यते मिथ्यादुष्कृत न भूय एवं करिष्यामि , एवं सति ' से' तस्य न कल्पते त्रयाणां प्रत्यक्षं प्रत्येक सांभोगिक विसाम्भोगिक कर्तुम् । अथ स न परितप्यते एवं सति 'से' तस्य कल्पते त्रयाणा प्रत्येकं साम्भोगिक विसाम्भोगिक कर्तुमिति सूत्राक्षरार्थः ॥३॥ या निर्ग्रन्थ्यो निर्ग्रन्था वा साम्भोगिकाः स्युस्तेषां न कल्पते प्रत्यक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकी विसम्भोगां कर्तुम् । यत्रैव ता निर्ग्रन्थ्य आत्मीयानाचार्योपाध्यायान् पश्यन्ति तत्रैव एवं वदन्ति । अथ णमिति वाक्यालंकारे । भदन्त ! अमुकया सहास्मिन् कारणे समापतिते परोक्ष प्रत्येक साम्भोगिकं विसम्भोगं करोमि । सा च ' से ' तस्याः प्रवर्त्तिन्याः परितपति मिथ्यादुष्कृतप्रदानेनानुतपति अ-सद्धा तदाख्यानमिति प्रत्याययति । एवं सति न कल्पते परोक्ष प्रत्येकं साभोगिक विसंभोग कर्तुम् । अथ सा तस्याः प्रागुक्तप्रकारेण नानुतपनिता एवं सति ' से ' तस्या कल्पते परोक्ष प्रत्येकं सभोग कर्तुमिति सूत्राक्षरार्थः । व्य० अ० ७ उ० ।

अधुना भाष्यकार आह-

संभोगो पुव्वुत्तो, पत्तेयं पुण वयंति पडिएक्कं ।
तप्पंते समणुष्णे,पडितप्पणमाऽणुतप्पंतु ॥४६॥

संभोग पूर्व निशीथाध्ययने उक्त , 'पडिएक्क'पुनर्वदन्ति प्रत्येक यो विसंभोग करोति स तप्यते, यथा एतेन नाम शय्यातरपिण्डमनिसेवितो हा कष्टमेवं नप्यन्तमितरो ज्ञात्वाऽनुतप्यते, एप मम दोषेण तप्यति तस्मात् प्रत्याययामि, यथा-असदेतत् यदह शय्यातर पिण्ड सेवितवान्। अथ स तु नदाऽसौ चिन्तयति मम दोषेणैप तप्यतु तस्मान्न मिथ्यादुष्कृत करोमि, एवं सचिन्ते तप्यति यदनुतपन तन् प्रतिपत्तनमिति। तदेव भाष्यकृता विषमाणि सूत्राक्षराणि विवृतानि ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तर —

सागारियमिद्धानिग्ग-त य वडघरिए जंबुघरए य ।
धम्मियगुलवाणियए, हरितालित्ते य दीवे य ॥४७॥

सागारिके शय्यातरगृहाद्विनिर्गते वटगृहिके जम्बूगृहिके वा असद् व्याख्यानेन विसंभोग कृत । इयमक्षरघटना । भावार्थस्त्वयम्—एकस्मिन् नगरे आचार्यस्य वटगृहिकः शय्यातरस्तस्मिन्नेव नगरे आर्यो जम्बूगृहिको गृहस्थोऽस्ति ताभ्या वटगृहिकजम्बूगृहिकाभ्यामात्मीय गृह कारितम् । तयोश्च निर्मापितयो द्वयोरपि गृहयोः कपोतोः प्रविष्टास्तेोऽमङ्गलमिति मन्यमानौ तौ नैमत्तिक पृच्छतः । कथमेतस्य दुर्निमित्तस्य व्याघाता भवत् ? नैमित्तको वदति-वटगृहिको जम्बूगृहिकस्य गृहमधितिष्ठतु, जम्बूगृहिको वटगृहकगृहम् । तत कतिपयानि दिनानि स्थित्वा पश्चान्निजनिजगृह गच्छेताम् । तौ परस्पर गृहे सचारितौ अथान्यदा अन्यस्मात् गच्छात् प्राघूर्णका समागता , ततो वास्तव्यैर्जम्बूगृहिकगृह प्रविष्टस्य गृहात्प्रथमालिकामानीय तेषा प्राघूर्णकाना दत्ता ते शय्यातरपिण्ड मन्यमानैस्परोधयशादभीत्या भुक्तास्ततस्ते प्राघूर्णका निर्गत्य आत्मीयस्याचार्यस्य समीप गत्वा आलोचयन्ति । अस्माकं साभोगिका

शय्यातरपिण्ड भुञ्जते अस्माभिः कथमप्यपरोधवशाद्मीत्या प्रथमालिका भुक्ता, एवं श्रुत्वाऽऽचार्योऽपि अविचिन्त्य य दि विसंभोग न करोति तदा अत्रैतदधिकृतसूत्रं पतति ।

तथा चाह भाष्यकार –

नवघरकवोतपविसण, दोण्हं नेमित्ति जुगव पुच्छा य ।
अष्णोष्णस्स घराई, पविसध नेमित्तिओ भणई ॥ ४८ ॥
आदेसागम पढमा, भोत्तुं लज्जाएँ गंतु गुरुकहणं ।
सो जइ करेज्ज वीसुं, संभोगं एत्थ सुत्तं तु ॥ ४६ ॥

नवयोर्गृहयो' कपोताना प्रविशनं, ततो द्वयोरपि गृहस्वामिनोर्युगपन्नैमित्तिको भणति-अन्योन्यस्य गृहं प्रविशताम् । तौ च प्रविष्टावन्यदा आदेशानां प्राघूर्णकानामागमस्ततो वास्तव्यैर्जम्बूगृहिकस्य वटगृहिकगृह प्रविष्टस्य गृहात्प्रथमालिका आनीता ता लज्जया भुक्त्वा ततो निर्गत्य गुरुसमीपं गत्वा गुरो कथन, स यद्यविचार्य विष्वक्संभोग न करोति । तदा अत्र सूत्रमापतितं द्रष्टव्यम् । अत्र विचारो यदि तावित्वरं गृहपरिवर्त्त कृतवन्तौ तदा स जम्बूगृहिकोऽशय्यातर एव । अथ यावत्कथिकस्तदा जम्बूगृहिक एव शय्यातरः ।

' धम्मिय ' त्ति अस्य व्याख्यानमाह—

धम्मितो देउल तस्स, पालेइ जइ भद्दओ ।
सो य संवट्टियं तत्थ, लद्धुं देज्जा जईण उ ॥ ५० ॥

तस्य शय्यातरस्य किंचित् देवकुल तत् धार्मिक पालयति , स च यतीना भद्रकस्तत. संवर्द्धि—तमप्रकूर तस्मिन् शय्यातरगृहे लब्धं साधूनामानीय ददाति, अत्रापि तथैव प्राघूर्णकागमन, धार्म्मिकात् प्रथमालिकानयनमित्यादि सर्व तथैव वाच्यम् ।

' गुलवाणिय ' इत्यस्य व्याख्यानम्—

वाणियओ य गुलं तत्थ, विक्किणंतो उ दंतए।
तत्थ मो वाहिरे हुज्जा, अडं कच्छपुडेण वा ॥ ५१ ॥

शय्यातरगृहे स्थितो गुडवणिक्, स तत्र गुड विक्रीणन् साधूना गुडं ददाति । अथवा—शय्यातरस्यापवरिकायामात्मीयभाण्डं निक्षिप्त, तत कच्छपुटेनाटित्वा तत्रैव समागच्छति, स चाटन् यदा तदा वा साधूना भिक्षा ददाति । तत प्राघूर्णकागमनमित्यादि विभाषा ।

तथैव ' हरितोपलिप्ते ' इत्यस्य व्याख्यानम्—

हरितोलित्ता कया सेज्जा, कारणे ते य संठिया ।
पमज्झा वसहिपालस्स, चेइयट्ठा गणागए ॥ ५२ ॥

छिन्नानि वा हरितानि, छगणेन वसतिरधुनोपलिप्ता कृता, हरितानि च तत्र परिसाटितानि । तस्यामधुनोपलिप्तायां पातितेषु वा हरितेषु साधव कारणेन स्थिता । अथवा-पूर्वं स्थितानां चैत्यवन्दनार्थं गणे निर्गते पश्चात् वसतिपालस्य प्रसह्य बलात्कारेणोपलिप्ता कृता,हरितानि च पातितानि।अत्रावसरे प्राघूर्णका समागतास्त वसतिं दृष्ट्वा चिन्तयन्ति प्रतिदिवसमुपलिप्यते शय्या आचार्यस्य कार्यतम् । तत यद्यविचार्य विसंभोग क्रियत तदा अत्र सूत्रापनिपात. ।

' दीवा वे ' त्यस्य व्याख्यानम्—

छिण्णाणि वा वि हरिताणि, पविट्ठो दीवएण वा ।
कयकज्जस्स पम्हुट्ठे, सो वि जाणे दिणे दिणे ॥५३॥

यस्या शय्यायां सयताः स्थिताः तत्र शय्यातरः केनापि कारणेन प्रदीपदीपकेन सह प्रविष्टस्ततो येन कार्येण समागतस्तत्कार्यं कृत्वा निर्गतः, दीपस्तत्रैव विस्मृतः,तत्र च तस्मिन् दिवसे साभोगिका समागता । स च प्राघूर्णको बृहत्तर शय्यातरस्य कृतकार्यस्य विस्मृतं दीप जानाति दिने दिने वसतौ दीप क्रियते । एतच्च ज्ञात्वा गुरो प्राघूर्णकेन कथितं, स च विचिन्त्य विसंभोग कृतवान् । अत्राप्यधिकृतसूत्रस्योपनिपात. ।

एतानि सन्ति तानि कारणानि । अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह-

दट्ठुं साहण लहुओ, वीसु करेंताण लहुग आणादी ।
अद्धाणनिग्गयादी, दोण्ह गणभंडणं चेव ॥ ५४ ॥

योऽसन्ति कारणान्यविवेच्य गुरुर्निवेदयति तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मास. , कथितेऽपि यद्याचार्या न विवेचयन्ति अविवेच्य च विसंभोगं कुर्वन्ति तदा तेषा विष्वक् कुर्वता चत्वारो लघुका. । न केवल प्रायश्चित्त किं त्वाज्ञाभङ्गादयश्च दोषा । तथा अध्वादिनिर्गतानामादिशब्दादशिवादिकारणपरिग्रह द्वयोरपि गणयोर्भण्डन च ।

एतदेव च स्पष्ट भावयति—

तं सोउं मणसंतावो, संतईए ति तुट्टई ।
अण्णे वि ते विवज्जंति, वज्जिया अमुएहि वा ॥ ५५ ॥

ये तेषा साभोगिकास्तै. तत् शय्यातरपिण्डाद्यासेवनं श्रुत्वा मन संताप- क्रियते, यथा तेन धर्मश्रद्धिकेनापि भवता शय्यातरपिण्डाद्यकल्पिकमासेवितमतोऽद्य प्रभृत्यस्माकं सततेस्त्रुट्य(स्तुट)ति-पृथग्विभिन्न इत्यर्थ । ततो येऽन्ये तेषा साभोगिकास्तेऽपि तान् विवर्जयन्ति, यतस्तेऽवसन्ना जातास्ततोऽमुकेनाचार्येण विवर्जिता ।

ततो वा अन्नतो वा वि, तं सुचा इह निग्गया ।
वज्जेत्ता जं तु पावेंति, निज्जरातो य हाविता ॥५६॥

ततस्ते विवर्जिता अध्वनिर्गता अशिवादिकारणेन वा निर्गता , इह यत्र ते पूर्वसाभोगिकास्तिष्ठन्ति तत्र प्राप्तास्ततो यैरविवेच्य शय्यातरपिण्डादिकमासेवितमित्याचार्येणा कथित, तेभ्योऽन्येभ्यो वा श्रुत्वा यूयं पृथक्कृता इत्याकर्ण्य तं गणं वर्जयित्वा यत प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यामनागाढादि परितापन प्राप्नुवन्ति । तन्निष्पन्नमविवेच्य विसंभोगकारण प्रायश्चित्तम् । ' निज्जरातो य हाविता ' इति तेषाम्—अध्वादिनिर्गताना त वास्तव्या वैयावृत्यं कृत्वा निर्जरा प्राप्नुयुस्ते ततो हापिता प्रभूते च कर्म्म.अविवेच्य न तर्केर्वध्यते, यन्महता ससारेण निस्तरीतु शक्यत ।

त कज्जतो अ कज्जे, वा सेविय जड वि तं अकज्जेण ।
न हु कीरइ पारोक्ख, सहसा इति भडण हुज्जा ॥५७॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात्कार्यतः—कारणेन कार्ये वा कारणाभावे वा यद्यपि सेवितं तत् शय्यातरपिण्डादिकं तथा ऽप्यकार्येण एवमेव परोक्षं सहसा इत्येवं न विसंभोगः क्रियते, मा परस्परं द्वयोर्गणयोर्भण्डनं भूयादिति हेतोः।

कथं विवेकः कर्त्तव्य इत्यत आह—

निस्संकियं च काउं, आसंकनिवेयणा तहिं गमणे।
सुद्धेहिं कारणमणा-भोगजाणता दप्पतो दोसहँ॥५८॥

तैः प्राघूर्णकैस्ते प्रष्टव्याः, को युष्माकं शय्यातरः ?, कथमेष शय्यातरो न भवति ?, एवं निःशङ्कितं कृत्वा। अथ लज्जया न पृष्टास्ततो न निश्चय इति एवमाशङ्कानिवेदनाया कृतायां यस्याचार्यस्य कथितं तेन प्रेषितस्य संघाटस्य तत्र गमनं, तेन च संघाटकेन गत्वा यत्तैः कथितम्। तत्तेन प्रष्टव्यम्, ते गृहपरिवर्त्तादि यथातथ्यं कथयन्ति। ततः संघाटो गत्वा निजसूरिसमीपं कथयति। एवमक्रियमाणे द्वयोर्गणयोर्भण्डनम्। तदेव पश्चार्द्धेन भावयति—'सुद्धेहिं' शुद्धैरप्यस्माभिः समं यूयं विसंभोगं कुरुथ। अथवा—कारणे गृहपरिवर्त्तादिकमधिकृत्य तत् गृहीतम्। यदि वा-अनाभोगेन गृहीतम्। अथवा-द्वयोः प्रथमद्वितीयपरीषहयोरुदीर्णयोर्जानता दर्पतो गृहीतं, पुनः पश्चात् कृता शोधिः। अपि च यदि च निष्कारणेऽपि गृहीतं तथापि न युक्तं परोक्षं विसंभोगकरणम्। यदि वयं नाद्युना भवामस्ततो युक्तं विसंभोगकरणम्। अथ कारणे गृहीतं तदा वयं शुद्धा एव कथं विसंभोगकरणमेव भण्डनं स्यात्।

सांप्रतं 'कारणमनाभोगे' ति पदद्वयं व्याख्यानयति—

कज्जेण वा वि गहियं, सागारपरियट्टतो व सो अम्हं।
कारणमजाणतो वा, गहियं किं खुचिकरणं तु॥५६॥

कार्येण च गृहीतमस्माभिर्वापिशब्दो विकल्पने। तद्य कार्यमस्माकं सागारपरिवर्त्तः। अथवा—कारणमजानता यदि गृहीतं तथापि किं कस्मात् परोक्षे शोधिकरणं—विसंभोगकरणम्।

सम्प्रति 'जाणना दप्पतो' इति व्याख्यानयति—

जाणंतेहि व दप्पा, घेत्तुं आवट्टिउं कया सोही।
तुज्झत्थ निइयारा, पसीय भंते! कुसीलाणं॥६०॥

जानद्भिरपि वा प्रथमद्वितीयपरीषहत्याजितो दर्पतो गृहीत्वा आवृत्य कृताऽस्माभिः शोधिः तस्मात् यूयमेवात्र न निरतिचारा भदन्त! कुशीलानामस्माकं प्रसीदतेत्युपहासवचनमेतत्।

पडमानिह्य दप्पेणं, जं सव्वं आउंटहि तं गहियं।
दिट्ठंतासि भवंता, जं निइयपण्सु निसण्हा॥६१॥

प्रथमद्वितीयपरीषहोदयेन यत्सर्वमातुरगृहीतं, युष्माभिरत्र विस्मृतं दृष्टान्ता भवन्त इत्यत्र, नीयत द्वितीयपदेषु निमग्ना इति पतदुपहासवचनम्। एवं भगवन् प्रसंगे। यत एव परोक्षे विसंभोगकरणे भण्डनदोषास्तस्मात्कारणे निर्धन्थानां प्रत्यक्षं सांभोगिक विसंभोगं कर्तुम्।

अस्य सूत्रस्य व्याख्यानमाह—

सत्तमए ववहारे, अवराहविभावियस्स साहुस्स।
आउट्टेणाउट्टे, पचक्खेणं विसंभोगो॥६२॥

अस्मिन् सप्तमे व्यवहारस्योद्देशके अपराधेन विभावितः परिभावितो यदि प्रत्यावर्त्तते तदा तस्यापराधविभावितस्य साधोरावृत्तस्य विसंभोगो न क्रियते, प्रायश्चित्तं पुनर्दीयते। अथ नावर्त्तते ततो वारत्रयं भण्यते, आवर्त्तस्व महानुभाव!, एवमुक्तोऽपि यदि नावर्त्तते तदा तस्मिन्ननावृत्ते प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षतया विसंभोगः क्रियते।

संभोगऽभिसंबंधे-ण आगतो केरिसेण सह नाओ।
केरिसएण विसंभो-गो भणइ सुणसु समासेणं॥६३॥

एवमभिसंबन्धेन संभोगतः शिष्यः पृच्छति—कीदृशेन सह संभोगो ज्ञेयः, कीदृशेन सह विसंभोगः। सूरिराह—भण्यते एतत्समासेन तत् त्वं भण्यमानं शृणु।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

पडिसेहे पडिसेहो, ऽसंविग्गे दाणमादि तिक्खुत्तो।
अविसुद्धे चतु गुरुया, दूरे साहारणं काउं॥६४॥

प्रतिषिध्यते पार्श्वस्थत्वादिकं न कल्पते इति निवार्यते इति प्रतिषेधः, असंविग्न—पार्श्वस्थादिः भण्यते, तस्मिन् प्रतिषेधे असंविग्ने दानादेर्दानग्रहणसंसर्गादेः प्रतिषेधः। त्रिः कृत्व इति यदि कथमपि दानादि करोति तदा एकं द्वौ त्रीन्वारान् वार्यते, एकैकस्मिंश्च वारे प्रायश्चित्तं मासलघु। वारत्रयवारणेऽपि यदि भूयस्तैः सह दानादि करोति तदाऽसौ अविशुद्ध इति विसंभोगः क्रियते—विसांभोगिकं करोति, तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। दूरं गतानां यदि केऽपि पृच्छन्ति, यथा सत्यमस्माकं च सांभोगिकास्तत्र देशे इति ?, तदा साधारणं कृत्वा वक्तव्यम्—यदा तदा सांभोगिका अभवन् इदानीं पुनर्न जानीमः किमनुपालयन्ति सांभोगिकत्वं किं वा नेति। एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव भाष्यकारो विवरीषुराह—

पासत्थादिकुसीले, पडिसिद्धे जो उ तेसि संसग्गी।
पडिसिज्झइ एसो खलु, पडिसेहे होइ पडिसेहो॥६५॥

पार्श्वस्थादिके कुशीलस्थाने प्रतिषेधे यस्तेषां पार्श्वस्थादिस्थानवर्त्तिनां संसर्गः प्रतिषिध्यते, स च संसर्गो दानग्रहणाभ्यामवसातव्य एव भवति प्रतिषेधः। न चैव प्रतिषेधनार्थं।

यत आह—

सूयगडंगे एवं ध-म्मज्झयणे निकाचितं।
अकुसीले सया भिक्खू, णो य संसग्गियं वदे॥६६॥

सूत्रकृताङ्गे द्वितीये स्कन्धे धर्माध्ययने एव निकाचितमेव निश्चयपूर्वकं भणितम्। यथा सदा भिक्षुः कुशीलो भवेत् नैव कुशीलैः सह सांसर्गिकं प्रकुर्यात्।

दाणादिसंसग्गी, संघाडे निप्पडिसिद्धे लहुगा।

आउट्टे उ असुद्धे, गुरुतो उ होइ तेण परं ॥ ६७ ॥

दानादिभिः संसर्गि दानादिसंसर्गिस्तस्या कृताया स प्रतिषिध्यते, आर्य ! कस्मात्पार्श्वस्थादिभि सम संसर्गि करोषि, एव प्रतिषिद्धे यदि स आवर्त्तते तदा स सांभोगिक एव केवल तस्मिन्नावृत्ते प्रायश्चित्त लघुको मास । द्वितीयमपि वार यदि करोति ततोऽपि मासलघु, अथ तृतीयमपि वार करोति आवर्त्तते च तदापि मासलघु, सद्भावनस्त्रि कृत्व आवृत्ते लघुको मास'। तेन परमिति ततस्तृतीयवारात् पर यदि चतुर्थवार संसर्गि करोति तदा असौ अशुद्ध इति तस्य प्रायश्चित्त गुरुको मास.।

एतदेव स्पष्टतरमाह—

तिक्खुत्तो मासलहू, आउट्टे गुरुगो मासो तेण परं ।
अविसुद्धे तं वीसुं, करोति जो भुंजती गुरुगा ॥६८॥

त्रि कृत्व आवृत्ते प्रायश्चित्त लघुको मासस्तत पर भूय. संसर्गिकरणे सोऽविशुद्ध इति गुरुको मास., त च विष्वक् विसंभोग करोति। योऽपि त सभुङ्क्ते तस्यापि प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका ।

अथ कस्मात् वारत्रयात् परं भूय संसर्गिकृतो विसंभोग क्रियत इत्यत आह—

सति दोसि वा वि होज्ज, अमाई तु माइ तेण परं ।
सुद्धस्स होति चरणं, मायासहिते चरणभेदो ॥६९॥

सकृत्-एकवार द्वौ त्रीन् वारान् वा स्यादमायी, ततस्तृतीयात् वारात् पर संसर्गिकरणे मायी । अथ शुद्धस्य भवति चरण मायासहित तु चरणभेदश्चरणाभावस्ततो विसंभोग क्रियते।

एवं पासत्थादिसु, संसग्गियवारिया य आएसा ।
समणुण्णे वि ऽपरिच्छिते, विदेसमादी गते एव ॥७०॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण एषा दानग्रहणाभ्या संसर्गिवारिता, एव समनोज्ञेऽपि विदेशादागते अपरीक्षिते संसर्गिवारिता द्रष्टव्या। तेनापि सह संसर्गि परीक्ष्य कर्त्तव्या नान्यथेति भाव ।

सम्प्रति 'दूरं साहारण काउ' मित्यस्य विभावनार्थमाह—

समणुण्णेसु विदेसं, गतेसु पच्छऽण्णे होज्ज अवसन्ना ।
ते वि तहिं गतुमणा,अत्थि तहिं केइ मणुण्णा णं॥७१॥

कस्याप्याचार्यस्य समनोज्ञेषु सांभोगिकेषु विदेश गतेषु पश्चादागत्य सांभोगिका कश्चित् भिक्षाप्रलम्भनावसन्ना भवेयुस्ततस्तेऽपि तत्र विदेशं गन्तुमनस आचार्य पृच्छन्ति, सन्ति तत्र केचिदस्माकं मनोज्ञा सांभोगिका ।

अत्थि त्ति होइ लहुतो, कयाइ ओमाणि भुंजणे दोसा।
नऽत्थि वि लहुतो भंडण,न खित्तकहणेव पाहुणगं॥७२॥

एवमुक्ते यद्याचार्यो वदति सन्ति तत्र न सांभोगिका तदा प्रायश्चित्त भवति तस्य लघुको मास । किं कारणमिति चेदत आह-कदाचित्ते अवसन्नीभूता भवेयुस्ते च प्राघूर्णकास्तत्र गतास्ते सह भुञ्जन्ति, भुञ्जानाना च चतुर्गुरुक प्रायश्चित्तम्। यत एव दोषः तस्मात्सन्तीति न वक्तव्यम् । अथाचार्यो ब्रूयात्-न सन्तीति तदापि मासो लघुकः, कस्मादिति चेत् भण्डनदोष । तथाहि-ते तत्र प्राप्तास्तैर्या नास्ति केनापि गृहीत, तैर्वास्तव्यैरुक्तमस्माकं ते सांभोगिकास्ततस्ते प्राघूर्णका उक्ता, कस्मादसतौ नोत्तीर्णा. ?, प्राघूर्णकैरुक्तमस्माभि. क्षमाश्रमणा पृष्टा सन्त्यस्माकं तत्र सांभोगिकास्तैरुक्तं न सन्ति। एव वास्तव्यानामप्रीतिर्जाता। किमस्माभि. कृतं यद्भय विसंभोगा कृता । तदनन्तर परुषमपि भाषन्ते, ततो भण्डनम्। तथैव चाप्रीत्या मासप्रायोग्य वर्षाप्रायोग्य वा न कथयन्ति, न च प्राघूर्णकृत्य कुर्युः । यस्मादेते दोषास्तस्मादाचार्येणैव वक्तव्यम्।

आसि तया समणुण्णा, भुंजह दव्वाइएहिं पेहित्ता ।
एवं भंडणदोसा, न होंति अमणुन्नदोसा य ॥ ७३ ॥

यदा अस्मात् देशात् निर्गतास्तदा समनोज्ञा सांभोगिका आसीरन्, इदानीं न जानीम किमनुपालयन्ति। सांभोगिकत्व किं वा नेति। केवल द्रव्यादिभिर्द्रष्टव्यत सम्प्रति कालतो भावनश्च प्रेक्ष्य सभुङ्ग्ध्वमित्येवमाचार्येणोक्ते न भण्डनदोषा, नाप्यमनोज्ञदोषा भवन्तीति ।

नायमनाए आलो-यणा उ ऽणालोइए भवे गुरुगा ।
गीयत्थे आलोयण, सुद्धमसुद्ध विगिंचंति ॥ ७४ ॥

ज्ञाते अज्ञाते वा सांभोग आलोचना दातव्या, तदनन्तरं तैं सह सभुञ्जते। यदि पुनरनालोचित परस्पर भुञ्जते तदा भवन्ति चत्वारो गुरुका प्रायश्चित्तम्। सा चालोचना गीतार्थे दातव्या। सुद्धमसुद्ध विगिंचंति' त्ति-शुद्धोऽशुद्धो वा य उपधिस्त विविञ्चन्ति-पृथक् कुर्वन्ति, विविच्य यो निष्कारणे उद्गमादिभिरशुद्धो गृहीता यश्च कारणे वा अयतनया तयो परित्याग कर्त्तव्यस्तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्रतिपद्यन्ते । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थ ।

साम्प्रतमनामेव विवरीषु प्रथमतो ' नायमनाए ' इत्यस्य व्याख्यानमाह—

अविणट्ठे संभोगे, नायमनाए य नासि पारिच्छा ।
एत्थोवसपयं खलु, सेहं वा ऽऽमज्ज आणादी ॥७५॥

आर्यमहागिर परत सभोगो विनष्ट आसीत्, तदा ज्ञाने अज्ञाने वा नास्ति द्रव्यादिभि परीक्षा,आर्यसुहस्तिशिष्यद्रमकप्रव्रज्याप्रतिपत्तिप्रभृतित आरात् विनष्ट सभोग इति ज्ञान अज्ञाने वा द्रव्यादिभि परीक्षाऽऽलोचयितव्या । अनालोचित च सह भुञ्जत । अथ सांभोगिका सन्त कथं न ज्ञायन्त येनाज्ञान इत्युच्यमान शोभन तत आह- एत्थोवसपयं खलु इत्यादि पूर्व ये उपसपन्नास्त असमानीभूता अन्ये पश्चात्केऽप्युपसपन्ना । अथवा-पश्चादागत्य कश्चित् प्रव्राजितास्तेनाऽदृष्टपूर्वतया ते न ज्ञायन्त इत्यज्ञाना भवन्ति। गाथायामकवचन जाता। ततोऽयमर्थ —आगतोऽपि पूर्वदृष्टानादर्शनोऽपि पश्चादुपसपत् शैक्षत्वमासाद्य सांभोगिकानामप्यज्ञानता भवात। तदत्र नायमनाए' त्ति गतम्।

इदानीम आलोयणा उ' इति व्याख्यानयति-

महल्लयाए गच्छस्स, कारणे असिवादिहि ।
देसंऽतरागयाऽणोसिं, तत्थिमा जयणा भवे ॥ ७६ ॥

१—रुतारात समणिरब्ध (मा-१४) प्रन्न० ४ आ०१० दार ।

अतिमहत्तया गच्छस्य नास्त्येकत्र , संस्तरणं , यद्यस्ति वा अशिवादिभिः कारणैर्देशान्तरं गताः , एतैः कारणैर्बहवः पृथक् पृथक् स्थिता. । तत्र पूर्वस्थितेषु पश्चादागतानां परस्पर यत्र मेलापको भवति तत्रेयं (वक्ष्यमाणा) यतना-

दोसि वि जइ गीयत्था, राइणिए तत्थ विगडणा पुव्वं ।
पच्छा इयरो वि दए, समाणतो छत्तछायातो ।।७७।।

अगीतार्थेन गीतार्थस्य पुरत आलोचयितव्यम् , यदि पुनर्द्वावपि गीतार्थौ ततोऽवमरत्नाधिकेन गुरुरत्नाधिकस्य पुरत आलोचयितव्यम् । अवमरत्नाधिकेनालोचिते पश्चादित रोऽपि अवमरत्नाधिकस्य पुरत. आलोचनां ददाति,य. पुन. समानच्छायाकः स—अवमरत्नाधिकस्तत्र यः पश्चादाचार्यसमीपान्निर्गतस्तस्य पुरत' प्रथममालोचयितव्यं पश्चादितरस्य समीपे तेन । यदि पुनरनालोचिते परस्परं भुञ्जते तदा प्रायश्चित्त प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः । एतेन ' अनालोइए भवे गुरुगा गीयत्थे आलोयण ' इति व्याख्यातम् ।

संप्रति ' सुद्धमसुद्धं विगिंचंती ' त्यस्य व्याख्यानमाह—

निक्कारणे असुद्धो उ, कारणे वाऽणुवायतो ।
अंतिए उवहिं दो वि, तस्स सोहिं करेंति य ।। ७८ ।।

य उपधिर्निष्कारणं-पुष्टालम्बनमन्तरेणोद्गमादिभिर्दोषैरशुद्धो गृहीतः, यश्च कारणेऽनुपायतोऽयतनया गृहीतस्तमुपधिं द्वावपि परित्यजत । तस्य परस्परमालोचनाया येन दोषेण अशुद्धोपधिस्तत्प्रत्ययमयतनाप्रत्ययं च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते ।

एवं तु विदेसत्थे, अयमन्नो खलु भवे सदेसत्थे ।
अभिणीवारीगादी, विणिग्गए गुरुसगासातो ।। ७६ ।।

एवम्—उक्तेन प्रकारेण खलु विदेशस्थे यतना भणिता, अयमन्य. खलु यतनाप्रकार स्वदेशस्थे । तमेवाह—अभिनिवारिका प्रागुक्तस्वरूपा तया आदिशब्दादुपधिकार्येण स्पर्द्धकपतीना वा साराकरणेन गुरूपदेशतो गुरुसकाशाद्विनिर्गत विनिर्गमनैव प्रत्यागतैराचार्यपादमूले कस्या वेलायामागन्तव्यम् ।

तामेव निर्युक्तिगाथां भाष्यकारो विवृणोति—

अभिनिवारिएँ निग्गते, अहवा अन्नेण वाऽवि कज्जेणं ।
निसणं समणुण्णेसुं, काले को वा विकालो तु ।। ८० ।।

अभिनिवारिकया-प्रागुक्तस्वरूपया निर्गत, अन्येन वा उपध्युत्पादादिना कार्येण निर्गते, भूय' समनोज्ञेषु सांभोगिकेषु आचार्यपादमूले इत्यर्थ , विशन-प्रवेश. काले कर्त्तव्य' । शिष्य प्राह—क. काल' ।

सूरिराह—

भत्तट्ठियआवासग, सोहेउमति त्ति एत्थ अवरण्हे ।
अब्भुट्ठाण दंडा-इयाण गहणेगवयणेणं ।। ८१ ।।

भक्तार्थिता कृत्वा याह्यग्रामेषु भिक्षामटित्वा भोजन च विधाय तदनन्तरमावश्यकमुच्चारादि शोधयित्वा पश्चादपराह्ने काले वेलायामायान्ति । वास्तव्यैरपि नैषेधिकाशब्दं श्रुत्वा अभ्युत्थानं कर्त्तव्यम् । दण्डादीनामादिशब्दात्पात्रादिपरिग्रह , ग्रहणं कर्त्तव्यम् । कथमित्याह—एकवचनेन दण्डादिकं गृह्णामीत्येवरूपेणैकेन वचनेन यदि समर्थयन्ति तदा ग्रहीतव्याः । किं कारणमित्येतदुच्यते-वास्तव्येनातिशयेन गृहीतमिति मन्यमानेन प्राघूर्णकेन वास्तव्यागृहीते मुक्ते भाजनभेदो भवति । तेन पतत' प्राणजातिविराधना ततस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । तस्मादेकवचनेन दण्डादिग्रहणम् । वक्ष्यमाणकारणैः पुनरपवादतः कालवेलाया न प्रविशेत् ।

तान्येव कारणान्याह--

खुड्डगविगिट्ठगामं, उण्हं अवरण्हे तपो तु पागे वि ।
पक्खित्तं मुत्तूणं, निक्खिवि उक्खित्तमोहेणं ।। ८२ ।।

क्षुल्लको ग्रामे यत्र प्राप्तो वर्तते तत्र पर्याप्तं न भविष्यतीति विचार्य दिवा विकृष्टमन्तरे ततः कृतभिक्षाकान् प्राप्स्यामः । अथवाऽपराह्णे व्रजता तापस्तत एतैः कारणै. प्रागपि प्रातरपि प्रविशेत् । तत्र च नैषेधिकीशब्दं श्रुत्वा तन्मुखे प्रक्षिप्तं तन्मुक्त्वा तत् गलनीयमित्यर्थः । यत उत्क्षिप्तलम्बने वर्त्तते तत्पात्रे निक्षिप्य वास्तव्यैरभ्युत्थातव्यम् । अत्र यदि प्राघूर्णकाः कृतपर्याप्ताः ततस्तैर्वक्तव्य वा अभ्युत्तिष्ठत वयं कृतपर्याप्ता. समागताः । यदि वा-यस्य कस्यार्थ , स समं भुङ्क्ते । अथ कदाचित् प्राघूर्णका न कृतपर्याप्ता भवेयुस्तदा तेषा दत्त्वा वास्तव्या अन्यत् गृह्णन्ति । अथ वास्तव्यैरतिशयेन पर्याप्ते लब्धे ते प्राघूर्णका समागतास्ततो यदि तपोऽर्हे प्रायश्चित्तमापन्नास्तदा ओघाऽऽलोचनया आलोच्य तैः सम भुञ्जते, एष निर्युक्तिगाथासमासार्थ ।

साम्प्रतमेनामेव विषमपदव्याख्यानतो व्याख्यानयति ' तत्र ओहेणे ' ति एनं व्याचिख्यासुराह—

जइ उ तवं आवन्नो, जा भिन्नो अहव होज्ज नावन्नो ।
तहियं ओहालोयण, तेण परेणं विभागो उ ।।८३।।

वास्तव्यैर्भिक्षावेलामतिशयेन पर्याप्ते लब्धे यदि प्राघूर्णकाः समागच्छन्ति तदा यदि प्राघूर्णकास्तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमापन्ना', यावदद्यापि भिन्ना न भवन्ति छेदादिकमप्राप्ता इत्यर्थ । अथवा तपोऽर्हमपि प्रायश्चित्तं नापन्ना , तदा ओघालोचनया आलोच्य तैं सम मण्डल्या समुद्दिशन्ति । ततः समुद्देशानन्तर परतो विभागालोचनयाऽऽलोच्य प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यन्ते । अथ छेदादिकमापन्नास्ततो मण्डल्या उत्कृष्य दीयते ।

अथ वेलायां न प्राप्ता किन्त्वनागाढायां पौरुष्या प्राप्तास्तत्र विधिमाह—

अहवा भुत्तुव्वरियं, संखडि अन्नेहि वा वि कज्जेहिं ।
तं सुत्ता पत्तेयं, इमे य पत्ता तहिं होज्जा ।।८४ ।।

अथवेति प्रकारान्तरे वास्तव्यभुक्तोद्धरितं वर्त्तते । अथवा संखड्या निमन्त्रिता श्राद्धादिभिर्वास्तव्यास्तत्र पर्याप्तं गृहीतमस्ति । यदि वाऽऽचार्या. कुलादिकार्यैर्विनिर्गतास्तत् कियन्त काल प्रतीक्ष्य तद् योग्यं मण्डल्या भुक्त प्रत्येकमुद्ध-

रितमस्ति, इमे च प्राघूर्णकास्तत्रावसरे प्राप्ता भवेयुस्ततो वास्तव्या नैषेधिकीशब्दं श्रुत्वा समुत्थाय भणन्ति ।

भुंजह भुत्ता अम्हे, जे वा इच्छंति भुत्तु सह भोज्जं ।
सव्वं व तेसि दाउं, अन्नं गेण्हंति वत्थव्वा ॥८५॥

भुङ्ग्ध्व यूय भुक्ता यो वा इच्छति अभुक्तैर्वास्तव्यैः सह भोज्य स तैः सह भुङ्क्ते अथ प्राघूर्णकाना न पश्चाद्भागे परिपूर्णं जातं ततः सर्वं तेषां प्राघूर्णकाना दत्त्वा वास्तव्या अन्यद् गृह्णन्ति ।

तिन्नि दिणे पाहुणगे, सव्वेसिं असति बालवुड्ढाणं ।
तरुणा जे सग्गामे, वत्थव्वा बाहि हिंडंति ॥ ८६ ॥

सर्वेषामागताना त्रीणि दिनानि यावत्प्राघूर्णकत्वं करणीयम् । अथ सर्वेषां कर्तुं न शक्नुवन्ति ततः सर्वेषामभावे बालवृद्धानां त्रीणि दिनानि, प्राघूर्णकत्वं कर्तव्यम् । ये तत्र प्राघूर्णकाना तरुणास्ते स्वग्रामे हिण्डन्ते ये तु वास्तव्यतरुणास्ते उद्भ्रामकभिक्षाचर्यया बहिर्ग्रामे हिण्डन्ते ।

संघाडगसंजोगो, आगंतुगभद्दए तया हिंडे ।
आगंतुका व बाहिं, वत्थव्वयभद्दए हिंडे ॥ ८७ ॥

यदि ग्रामवास्तव्या जना आगन्तुकभद्रकास्तदा प्राघूर्णकानामेकैको वास्तव्येन समं सघाटकेन हिण्डते । इतरे-वास्तव्याना संघाटकसयोगा उद्धरितास्ते बहिर्ग्रामे उद्भ्रामकभिक्षाचर्यया व्रजन्ति । अथ ग्रामवास्तव्या जना वास्तव्यभद्रकास्ततो वास्तव्यानामेकैकः प्राघूर्णकेन समं हिण्डते । ये तु प्राघूर्णकाना सघाटकसयोगा अधिकास्ते बहिरुद्भ्रामकभिक्षाचर्यया व्रजन्ति । उपधिचिन्तायामपि परस्परमालोचनाया दत्ताया यो गीतार्थेन उपधिरुत्पादितः स परिभुज्यते । यस्त्वगीतार्थेनोत्पादितस्तस्य परित्याग करणीय ।

सूत्रम्-" जे निग्गंथा निग्गंथीओ य० " इत्यादि । अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-

मंडुगगतिसरिसो खलु, अहिगारो होइ विइयसुत्तस्स ।
संपुडतो वा दोण्हं वि, होइ विसेसोवलंभो वा ॥८८॥

मण्डूकः—शालूर स यथा उत्प्लुत्य गच्छति, एव निर्ग्रन्थसूत्रान्निर्ग्रन्थीसूत्र विसदृशमिति मण्डूकगतिसदृश तत उक्तम् । द्वितीयसूत्रस्याधिकारप्रस्तावो मण्डूकगतिसदृश । तथा ' सपुडतो वा ' इत्यादि, यथा द्वे फलके एकसंपुट इत्युच्यते, एव निर्ग्रन्थसूत्रात् द्वितीय निर्ग्रन्थीसूत्र सपुटसदृशं भवति । तत उक्त द्वयोरपि सूत्रयोः सपुटक इति निर्ग्रन्थसूत्रादनन्तर निर्ग्रन्थीसूत्रमुक्त भवति । विशेषोपलम्भो वा इति । " जे निग्गंथा निग्गंथीओ य संभोगिया सिया " इत्यादि । यन्निर्ग्रन्थसूत्रमस्मात्तदनन्तर निर्ग्रन्थीसूत्रं सपद्यते ततः शिष्याणा विशेषोपलम्भो भवति । दूरव्यवधाने तु न स्यात्ततो भवति विशेषोपलम्भ इति कृत्वा निर्ग्रन्थसूत्रादनन्तर निर्ग्रन्थीसूत्रमुक्तम् एवमनेन सवन्धेनायातस्यास्य(व्या०) (सूत्रद्वयस्यापि व्याख्या सर्वेवास्मिन्नेव भागे गता ।)

सम्प्रति भाष्यकार आह—

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
जं एत्थ उ नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ८९ ॥

यो निर्ग्रन्थस्य सूत्रस्य व्याख्यानगम उक्तः, एष एव गमो निर्ग्रन्थीनामपि सूत्रे भवति-ज्ञातव्यः, केवलं यदत्र नानात्वं तदहं समासेन वक्ष्ये ।

तदेव विवक्षुः प्रथमतः प्रश्नमुत्थापयति—

किं कारणं परोक्खं, संभोगो तासु कीरई वीसुं ।
पाएण ताहि तुच्छा, पच्चक्खं भंडणं कुज्जा ॥ ९० ॥

किं कारणं केन कारणेन तासु संयतीषु परोक्षं संभोगो विष्वक् क्रियते ? । आचार्य आह-हि यस्मात्प्रायेण ताः संयत्यस्तुच्छाः, ततः प्रत्यक्षं विसंभोगकरणे भण्डनं कुर्युः ।

दोसु वि ससंयतीया, गणिणो एगस्स वा दुवे वग्गा ।
वीसुं करणम्मि ते चिय, कवोयमादी उदाहरणा ॥९१॥

द्वौ गणिनावाचार्यौ समं यतिकौ परस्परं सांभोगिकौ च । अथवा—एकस्य द्वौ वर्गौ संयतवर्गः, संयतीवर्गश्चापरस्य त्वेक एव संयतवर्गः । तौ यो विसंभोगौ कुरुतस्तौ तैरेव कटकगृहिककपोतप्रविधानादिरूपाद्युदाहरणात् प्राग्रुक्तप्रकारेण विसंभोगां कुरुत इत्यर्थः ।

कथमित्याह—

पडिसेवितं तु नाउं, साहंती अप्पणा गुरूणं तु ।
ते चिय बाहरिऊणं, पुच्छंति य दो वि सब्भावं ॥९२॥

काश्चित् संयत्यः कासांचित्संयतीना प्राघूर्णकागतास्ताभिश्च पूर्वप्रकारेण प्रथमालिका कृता, जाता शय्यातरपिण्डाऽऽशङ्का । अथवा हरितोपलिप्ताया वसतौ स्थिताः, यदि वा—सदीपायां, ततस्ताभिरागत्य निजप्रवर्तिन्या कथितम्, यथा—एताः शय्यातरपिण्डमासेवन्ते प्रतिदिवसं हरितोपलिप्ताया वसतौ वसन्ति, सदीपाया वेति । सा प्रवर्तिनी तन्मुखात् प्रतिसेवितुमिति ज्ञात्वा ताभिः सह गत्वाऽऽत्मनो गुरूणा कथयति । तेऽपि च गुरवो व्याहृत्य आकार्य द्वावपि संयतीवर्गौ सद्भावं पृच्छन्ति केवल यदि ता एकगुरुप्रतिवद्धा, अन्यथा दोष ।

तथा चाह—

जइ ताउ एगमेरं, अहवा वी परगुरुं वइज्जाही ।
अहवा वी परगुरुतो, पवत्तिणी तीसु वी गुरुगा ॥९३॥

यदि यकाभिः प्रतिसेवित शय्यातरपिण्डादि, यकाभिश्च प्रतिसेवित ज्ञात्वा गुरुभ्यः कथित ता यदि एकैकमाचार्यमाश्रिता, अथवा—आत्मीया अपि सत्य शय्यातरपिण्डाद्यासेविन्य परं गुरून् कुतश्चित्कारणात् व्रजेयु प्रतिपन्ना, यदिवा—सा प्रवर्तिनी यत्संयतीभि शय्यातरपिण्डाद्यासेवित तासा परगुरुत उपसंपद् प्रतिपन्ना एतासु तिसृष्वपि यद्याचार्य स्वय पृच्छति, कोऽत्र भूतार्थः ?, इति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका ।

किं कारणमिति चेदत आह—

भंडणदोसा हुंती, वगडासुत्तम्मि जे भणिय पुव्विं ।
सयमवि य वीसु करणे,गुरुगा-वावल्लया कलहो ॥९४॥

तासां तिसृणामपि स्वयं प्रच्छन्ने भण्डनदोषा भवन्ति, ये भणिताः पूर्वं कल्पाध्ययने प्रथमोद्देशके वगडासूत्रे ते चैव-मेतासां स्वयं प्रच्छन्ने त्रिषु स्थानेषु भण्डनम्। तानि च त्रीणि स्थानान्यमूनि--आत्मनो द्वौ गच्छौ संयतवर्गः सयतीवर्गश्च। तृतीयोऽन्याचार्यसत्का, संयताः, संयत्यश्च, एषो वा वर्गो गण्यते। भण्डन पुनरेव जायते ताः संयत्यः परकीयरूपा पृष्टाः सत्यो ब्रूयुर्यथा जानीमो येन दु:खापिता। इहलोकसहायया निजप्रवर्तिन्या एवमुक्ते संयतास्ताभि सह कलहं कुर्यु। संयतीनामपि परस्परं रण्डारटिर्भवति। तथा-अन्ये गच्छवर्तिन. साधव. पराचार्येण समं परसंयतैः समं परसंयतीभिश्च समं राटिं विदध्युः। यत एवं दोषास्तस्मात् द्वावपि तौ संयतीवर्गावात्मन आत्मन आचार्यस्य कथयतः। यदि पुनस्ता. संयत्यः स्वयमेव विष्वक् संभोगं कुर्वन्ति तदा तासां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। कस्मादिति चेदत आह--चापल्यत.--चपलतादोषेण कलहः परस्परं भूयादिति हेतो.।

पत्तेयं भूयत्थं, दोण्हं पि य गणहरो तुलेऊणं।
मिलिउं तक्खणदोसे, परिक्खितुं सुत्तनिद्देसो ॥ ६५ ॥

यत एवं दोषास्तस्मादात्मन आचार्यस्य कथनीयम्, तौ चरणधरो द्वयोरपि संयतीवर्गयो. प्रत्येकं भूतार्थं तुलयित्वा सम्यग्विज्ञाय तत एकत्र मिलित्वा तयोर्द्वयोरपि संयतीवर्गयोर्गुणदोषान्परीक्ष्य सूत्रनिर्देश' कर्त्तव्यः। स चायं यदि नानुतपति ततस्तत्रैव यत्र मिलिताः सयतीनां परोक्षं विसंभोगं कुर्वन्ति। प्रत्यक्षं संयतीनां विसंभोगकरणे तुच्छतया कलहभावात्। व्य० ७ उ०।

तओ न कप्पंति संभुंजित्तए पंडए कीवए वाइए।
(सू०-४×) बृ० ४ उ०।

('पवज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७७२ पृष्ठे व्याख्यात--मिदं सूत्रम्।)--(गणान्तरं संभोगप्रतिज्ञयोपसंपद्य-विहरणम् 'उवसपया' शब्दे द्वितीयभागे १०१६ पृष्ठे प्रतिपादितम्।)-(उपस्थापनायामकृतायां सभोगे दोषाः 'जड्ड' शब्देऽथैतो ४ भाग दर्शिता।) निर्ग्रन्थ्या. क्षताचाराया. प्रायश्चित्तमदत्त्वा सभोगो न कर्त्तव्य इति 'खयायार' शब्दे तृतीयभागे ७१७ पृष्ठे उक्तम्) (आर्यसुहस्तिना विसम्भोग 'सपइ' शब्देऽस्मिन्नेव भाग उक्त.।) (त्रिभि' स्थानै. साम्भोगिकं कुर्वन्नातिक्रामति इत्युक्तं' विसंभोइय' शब्दे षष्ठे भागे) (अन्ययूथिकै. सह सम्भोगो न कार्य इति 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७७ पृष्ठे उक्तम्।) तत्र परतीर्थिके. सार्द्धं न भोक्तव्यम्, स्वयूथ्यैश्च पार्श्वस्थादिभि. सहाऽसाभोगिकै' सहौघालोचना दत्त्वा भुञ्जानानामयं विधि'। तद्यथा--'से तत्थ भुजमाणे' इत्यादि सुगमम्, इति वृत्तिलेश। ध० ३ अधि०। ज्ञानादिसद्भावे हि द्वादशविधसम्भोगपरिहारो नोपपद्यते। यत आह भगवान् भद्रबाहुस्वामी-"अड्ढाइएहिँ दीवो-दहीहिँ जे कम्मभूमिगा साहू। एगम्मि हीलियम्मी,ते सव्वे हीलिया होंति ॥१॥ 'दर्श०५ तत्त्व।

संभोगकप्प-संभोगकल्प-पु०। एकमण्डल्या सह भोजनाचार, प० भा०।

संभोगकप्पमेत्तो, वोच्छामि अहं समासेणं॥
पुव्वभणितो विभागो, संभोगविहीए दोहिँ ठाणेहिं।
दोसु वि पसंगदोसा, सेसे अतिरेग पण्हवए॥
दसविहसत्तविहेहिं, पुव्वुत्ते तेहिँ दोहिँ ठाणेहिं।
दोसु वि पसंगदोसा, ण भुंजए अण्णसंभोइं॥
जम्हा तु ण णज्जंती, उग्गममादी उ जे भवे दोसा।
एतेण अपरिभोगो, अमणुन्ने होति बोधव्वो॥

दारं--

जं तत्थ ण वुत्तं तु, तत्थ इ वोच्छामि एतमतिरेगं।
जे तु गुणा संभोग, ते वक्खे ऽहं समासेणं॥
अणुकंपा संगहे चेव, लाभालाभे वि' दाघत्ता।
दावदुवे गेलणे, कंतारे अंचिए गुरू॥

दारं।

बालाणुकंपणट्ठा, असहू अतरंतसंगहट्ठाए।

दारं।

केऽवि. सलद्धि अलद्धी, तेसिं साहिण्हयट्ठाए।

दारं।

उप्पण्णे अहिगरणे, काहिंति वि ओसणं तु अविदाहि।
ण य गच्छे बहिभावे, उप्परओ हं ति परिभूतो॥

दारं।

मज्झं अणेकभाणे, ति काउमाएस पेच्छती पुव्विं।
जत्थ उ कुले महल्ले, लब्भति भिक्खा महल्ली तु॥
तम्हा उ दवदवस्स, पुव्विं गच्छामह तु तं गेहं।
एते तु परिहरीता, दोसा हु भवंति संभोगे॥
गेलणे णवए तस्स, हिंमंतू आणियं तु अण्णेहिं।
भोक्खति य साहुवग्गो, कंतारे आणितं तु साहूहिँ॥

दारं।

एमेव अंचिए वी,(दारं)गुरू वि गेण्हति तु अन्नमन्नस्स।
एको पुण परितम्मति, बाहिरभावं च गच्छेज्जा॥
एते उ एवमादी, संभोगम्मि उ गुणा भवन्ती उ।
तम्हा खलु कायव्वो, संभोगगुणन्निएण समं॥
एताइं ठाणाइं, जो तु सहू होति उ पमादि त्ति।
अन्ने आणेति त्ति, घेत्तूणं जं च तं चेत्ति॥
सेसाणुवालणट्ठा, तो तं उम्मंडलिं करेंती तु।
जदि आउट्टति वज्जति,ताहे मेलिज्जति पुणो वि॥
अह पुण चोडज्जंतो, बहुसो णाउट्टए उ तं दोसं।
सतिलाभलद्धिजुत्तो, णिज्जूहंती तु तं ताहे॥
अह मंदलाभलद्धी-ण जो तं णिज्जूहति अहत्थामं।
सो वि खरंटेऊणं, मेलिज्जति मंडलीए तु॥
किं कारणं निज्जुहणा, जं साहूणं गुणुत्तरधगाण।

रितमस्ति , इमे च प्राघूर्णकास्तत्रावसरे प्राप्ता भवेयुस्ततो वास्तव्या नैषेधिकीशब्दं श्रुत्वा समुत्थाय भणन्ति ।

भुंजह भुत्ता अम्हे, जे वा इच्छंति भुत्तु सह भोज्जं ।
सव्वं व तेसि दाउं, अन्नं गेण्हंति वत्थव्वा ॥८५॥

भुङ्क्ष्व यूयं भुक्ता यो वा इच्छति अभुक्तैर्वास्तव्यैः सह भोज्य स तैः सह भुङ्क्ते अथ प्राघूर्णकानां न पश्चाद्भागे परिपूर्ण जातं ततः सर्वं तेषां प्राघूर्णकाना दत्त्वा वास्तव्या अन्यत् गृह्णन्ति ।

तिण्णि दिणे पाहुणगे, सव्वेसिं असति बालवुड्ढाणं ।
तरुणा जे सग्गामे, वत्थव्वा बाहि हिंडंति ॥ ८६ ॥

सर्वेषामागतानां त्रीणि दिनानि यावत्प्राघूर्णकत्वं करणीयम् । अथ सर्वेषा कर्तु न शक्नुवन्ति तत सर्वेषामभावे बालवृद्धानां त्रीणि दिनानि, प्राघूर्णकत्वं कर्तव्यम् । ये तत्र प्राघूर्णकाना तरुणास्ते स्वग्रामे हिण्डन्ते ये तु वास्तव्यतरुणास्ते उद्भ्रामकभिक्षाचर्यया बहिर्ग्रामे हिण्डन्ते ।

संघाडगसंजोगो, आगंतुगभद्दए तया हिंडे ।
आगंतुका व बाहिं, वत्थव्वयभद्दए हिंडे ॥ ८७ ॥

यदि ग्रामवास्तव्या जना आगन्तुकभद्रकास्तदा प्राघूर्णकानामेकैको वास्तव्येन समं संघाटकेन हिण्डते । इतरे वास्तव्यानां संघाटकसंयोगा उद्धरितास्ते बहिर्ग्रामे उद्भ्रामकभिक्षाचर्यया व्रजन्ति । अथ ग्रामवास्तव्या जना वास्तव्यभद्रकास्ततो वास्तव्यानामेकैकः-प्राघूर्णकेन समं हिण्डते । ये तु प्राघूर्णकाना संघाटकसंयोगा अधिकास्ते बहिरुद्भ्रामकभिक्षाचर्यया व्रजन्ति । उपधिचिन्तायामपि परस्परमालोचनाया दत्ताया यो गीतार्थेन उपधिरुत्पादित स परिभुज्यते । यस्त्वगीतार्थेनोत्पादितस्तस्य परित्याग. करणीय ।

सूत्रम्-" जे निग्गंथा निग्गंथीओ य० " इत्यादि । अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-

मंडुगगतिसरिसो खलु, अहिगारो होइ बिइयसुत्तस्स ।
संपुडतो वा दोण्हं वि, होइ विसेसोवलंभो वा ॥८८॥

मण्डूक —शालूर स यथा उत्प्लुत्य गच्छति, एव निर्ग्रन्थसूत्रान्निर्ग्रन्थीसूत्र विसदृशमिति मण्डूकगतिसदृश तत उक्तम् । द्वितीयसूत्रस्याधिकारप्रस्तावो मण्डूकगतिसदृश । तथा ' संपुडतो वा ' इत्यादि, यथा द्वे फलके एकसंपुट इत्युच्यते, एव निर्ग्रन्थसूत्रात् द्वितीय निर्ग्रन्थीसूत्र संपुटसदृश भवति । तत उक्त द्वयोरपि सूत्रयो संपुटक इति निर्ग्रन्थसूत्रादनन्तर निर्ग्रन्थीसूत्रमुक्त भवति । विशेषोपलम्भो वा इति । ' जे निग्गंथा निग्गंथीओ य संभोगिया सिया " इत्यादि । यन्निर्ग्रन्थसूत्रमस्मात्तदनन्तर निर्ग्रन्थीसूत्र संपद्यते ततः शिष्याणा विशेषोपलम्भो भवति । दूरव्यवधाने तु न स्यात्ततो भवति विशेषोपलम्भ इति कृत्वा निर्ग्रन्थसूत्रादनन्तर निर्ग्रन्थीसूत्रमुक्तम् एवमनेन संबन्धेनायातस्यास्य(व्य०) (सूत्रद्वयस्यापि व्याख्या सहैवास्मिन्नेव भाग गता ।)

सम्प्रति भाष्यकार प्राह—

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीण पि होइ नायव्वो ।
जं एत्थ उ नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ८९ ॥

यो निर्ग्रन्थस्य सूत्रस्य व्याख्यागम उक्त , एष एव गमो निर्ग्रन्थीनामपि सूत्रे भवति-ज्ञातव्य , केवलं यदत्र नानात्वं तदहं समासेन वक्ष्ये ।

तदेव विवक्षुः प्रथमतः प्रश्नमुत्थापयति—

किं कारणं परोक्खं, संभोगो तासु कीरई वीसुं ।
पाएण ताहि तुच्छा, पच्चक्खं भंडणं कुज्जा ॥ ९० ॥

किं कारणं केन कारणेन तासु संयतीषु परोक्षं संभोगो विष्वक् क्रियते ? । आचार्य आह-हि यस्मात्प्रायेण ताः संयत्यस्तुच्छा , ततः प्रत्यक्षं विसंभोगकरणे भण्डनं कुर्युः ।

दोण्णि वि ससंयतीया, गणिणो एगस्स वा दुवे वग्गा ।
वीसुं करणम्मि ते च्चिय, कवोयमादी उदाहरणा ॥९१॥

द्वौ गणिनावाचार्यौ समं यतिकौ परस्परं सांभोगिकौ च । अथवा—एकस्य द्वौ वर्गौ संयतवर्गः, संयतीवर्गश्चापरस्य त्वेक एव संयतवर्गः । तौ यो विसंभोगौ कुरुतस्तौ तैरेव कटकगृहिककपोतप्रविशनादिरूपादुदाहरणात् प्राग्गुक्तप्रकारेण विसंभोगा कुरुत इत्यर्थः ।

कथमित्याह—

पडिसेवितं तु नाउं, साहंती अप्पणा गुरूणं तु ।
ते च्चिय बाहरिऊणं, पुच्छंति य दो वि सब्भावं ॥९२॥

काश्चित् संयत्य. कासांचित्संयतीना प्राघूर्णकागतास्ताभिश्च पूर्वप्रकारेण प्रथमालिका कृता, जाता शय्यातरपिण्डाऽऽशङ्का । अथवा हरितोपलिप्ताया वसतौ स्थिताः, यदि वा—सदीपाया, ततस्ताभिरागत्य निजप्रवर्त्तिन्या कथितम्, यथा—एताः शय्यातरपिण्डमासेवन्ते प्रतिदिवसं हरितोपलिप्ताया वसतौ वसन्ति, सदीपाया चेति । सा प्रवर्त्तिनी तन्मुखात् प्रतिसेवितुमिति ज्ञात्वा ताभिः सह गत्वाऽऽत्मनो गुरूणा कथयति । तेऽपि च गुरवो व्याहृत्य आर्याद्वावपि संयतीवर्गौ सद्भावं पृच्छन्ति केवल यदि ता एकगुरुप्रतिबद्धा , अन्यथा दोष ।

तथा चाह—

जइ ताउ एगमेगं, अहवा वी परगुरुं वइआही ।
अहवा वी परगुरुतो, पवत्तिणी तीसु वी गुरुगा ॥९३॥

यदि एकाभि. प्रतिसेवित शय्यातरपिण्डादि, एकाभिश्च प्रतिसेवित ज्ञात्वा गुरुभ्य कथित ता यदि एकैकमाचार्यमाश्रिता , अथवा—आत्मीया अपि सत्य शय्यातरपिण्डाद्यासेविन्य पर गुरुन् कुतश्चित्कारणात् व्रजेयु प्रतिपन्ना , यदिवा—सा प्रवर्त्तिनी यत्संयतीभि शय्यातरपिण्डाद्यासेवित तासा परगुरुन उपसंपद प्रतिपन्ना एतासु तिसृष्वपि यद्याचार्य स्वय पृच्छति, कोऽत्र भूतार्थ ?, इति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका ।

किं कारणमिति चेदत आह—

भंडणदोसा हुंती, वगडासुत्तम्मि जे भणिय पुव्विं ।
सयमवि य वीसु करणे,गुरुगा-चाव्वया कलहो ॥९४॥

तासां तिसृणामपि स्वयं प्रच्छन्ने भण्डनदोषा भवन्ति, ये भणिताः पूर्व कल्पाध्ययने प्रथमोद्देशके वगडासूत्रे ते वैध-मेतासां स्वयं प्रच्छन्ने त्रिषु स्थानेषु भण्डनम् । तानि च त्रीणि स्थानान्यमूनि--आत्मनो द्वौ गच्छौ संयतवर्गः सय-तीवर्गश्च । तृतीयोऽन्याचार्यसत्काः संयताः, संयत्यश्च, एषो वा वर्गो गण्यते । भण्डन पुनरेव जायते ताः संयत्य' परकीयरूपा' पृष्टाः सत्यो ब्रूयुर्यथा जानीमो येन दुःखापिता। इहलोकसहायतया निजप्रवर्तिन्या एवमुक्ते संयतास्ताभिः सह कलहं कुर्युः । संयतीनामपि परस्परं रण्डारार्टिर्भवति। तथा-अन्ये गच्छवर्तिन. साधव. पराचार्येण समं परसंयतैः समं परसंयतीभिश्च समं राटिं विदध्यु' । यत एवं दोषा-स्तस्मात् द्वावपि तौ संयतीवर्गावात्मन आत्मन आचार्यस्य कथयतः । यदि पुनस्ताः संयत्यः स्वयमेव विष्वक् संभोग कुर्वन्ति तदा तासा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका. । कस्मादिति चेदत आह--चापल्यतः--चपलतादोषेण क-लहः परस्परं भूयादिति हेतो. ।

पत्तेयं भूयत्थं, दोण्हं पि य गणहरो तुलेऊणं ।
मिलिउं तक्खणदोसे, परिक्खितु सुत्तनिद्देसो ॥ ६५ ॥

यत एवं दोषास्तस्मादात्मन आचार्यस्य कथनीयम् , तौ चरणधरो द्वयोरपि संयतीवर्गयो प्रत्येकं भूतार्थं तुलयि-त्वा सम्यग्विज्ञाय तत एकत्र मिलित्वा तयोर्द्वयोरपि संयतीवर्गयोर्गुणदोषान्परीक्ष्य सूत्रनिर्देश कर्त्तव्यः । स चायं यदि नानुतपति ततस्तत्रैव यत्र मिलिताः सं-यतीनां परोक्षं विसंभोगं कुर्वन्ति । प्रत्यक्ष संयतीनां वि-संभोगकरणे तुच्छतया कलहभावात् । व्य० ७ उ० ।

तओ न कप्पंति संभुंजित्तए पंडए कीवए वाइए ।
(सू०-४X) बृ० ४ उ० ।

('पवज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७७२ पृष्ठे व्याख्यात-मिदं सूत्रम् ।)--(गणान्तरं संभोगप्रतिज्ञयोपसंपद्य-विहरणम् 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १०१६ पृष्ठे प्रतिपादितम् ।)-(उपस्थापनायामकृतायां सभोगे दोषाः 'जड्ड' शब्देऽर्थतो ४ भाग दर्शिता. ।) निर्ग्रन्थ्या. क्षताचा-राया: प्रायश्चित्तमदत्त्वा सभोगो न कर्त्तव्य इति 'खया-यार' शब्दे तृतीयभागे ७१७ पृष्ठे उक्तम्) (आर्यसुहस्तिनो विसम्भोग. 'संपइ' शब्देऽस्मिन्नेव भाग उक्त. ।) (त्रिभिः स्थानै. साम्भोगिकं कुर्वन्नातिक्रामति इत्युक्तं 'विसभोइय' शब्दे षष्ठे भागे) (अन्ययूथिकैः सह सम्भोगो न कार्य इति 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७७ पृष्ठे उक्तम् ।) तत्र परतीर्थिके सार्द्धं न भोक्तव्यम् , स्वयूथ्यैश्च पार्श्वस्थादि-भि. सहाऽसाभोगिकै' सहौघालोचना दत्त्वा भुञ्जानानामयं विधि । तद्यथा--'से तत्थ भुजमाणे' इत्यादि सुगमम् , इति वृत्तिलेश' । ध० ३ अधि० । ज्ञानादिसद्भावे हि द्वादशविधस-म्भोगपरिहारो नोपपद्यते । यत आह भगवान् भद्रबा-हुस्वामी-"अट्ठाइएहिं दीवो-दहीहिं जे कम्मभूमिगा साहू । एगम्मि हीलियम्मी,ते सव्वे हीलिया होंति ॥१॥"दर्श०५ तत्त्व।

संभोगकप्प-संभोगकल्प-पु० । एकमण्डलया सह भोजना-चार, प० भा० ।

संभोगकप्पमेत्तो, वोच्छामि अहं समासेणं ॥
पुव्वभणितो विभागो, संभोगविहीए दोहिं ठाणेहिं ।
दोसु वि पसंगदोसा, सेसे अतिरेग पण्हवए ॥
दसविहसत्तविहेहिं, पुव्वुत्ते तेहिं दोहिं ठाणेहिं ।
दोसु वि पसंगदोसा, ण भुंजए अण्णसंभोइं ॥
जम्हा तु ण णज्जंती, उग्गममादी उ जे भवे दोसा ।
एतेण अपरिभोगो, अमणुन्ने होति बोधव्वो ॥

दारं--

जं तत्थ ण वुत्तं तु, तस्थ ह वोच्छामि एतमतिरेगं ।
जे तु गुणा संभोग , ते वक्खे ऽहं समासेणं ॥
अणुकंपा संगहे चेव, लाभालाभे वि दाघता ।
दावदुवे गेलण्णे, कंतारे अंचिए गुरू ॥

दारं ।

बालाणुकंपणट्ठा, असहू अतरंतसंगहट्ठाए ।

दारं ।

केऽवि सलद्धि अलद्धी, तेसिं साहिण्हयट्ठाए ।

दारं ।

उप्पण्णे अहिगरणे, काहिंति वि ओसणं तु अविदाहि ।
ण य गच्छे बहिभावे, उप्परओ हं ति परिभूतो ॥

दारं ।

मज्झं अणेकभाणे, ति काउमाएस पेच्छती पुव्वि ।
जत्थ उ कुले महल्ले, लब्भति भिक्खा महल्ली तु ॥
तम्हा उ दवदवस्स, पुव्वि गच्छामहं तु तं गेहं ।
एते तु परिहरीता, दोसा हु भवंति संभोगे ॥
गेलण्णे णवए तस्स , हिंमंतू आणियं तु अण्णेहिं ।
भोक्खति य साहुवग्गो, कंतारे आणितं तु साहूहिं ॥

दारं ।

एमेव अंचिए वी,(दार)गुरू वि गेण्हति तु अन्नमन्नस्स।
एको पुण परितम्मति, बाहिरभावं च गच्छेज्जा ॥
एते उ एवमादी, संभोगम्मि उ गुणा भवन्ती उ ।
तम्हा खलु कायव्वो, संभोगगुणन्निएण सगं ॥
एताइं ठाणाइं, जो तु सहू होति उ पमादि त्ति ।
अन्ने आणेति त्ति, घेत्तूणं जं च तं वेत्ति ॥
सेसाणुवालणट्ठा, तो तं उम्मंडलिं करेंती तु ।
जदि आउट्टति वज्जति,ताहे मेलेज्जति पुणो वि ॥
अह पुण चोइज्जंतो, बहुसो णाउट्टए उ तं दोसं ।
सतिलाभलद्धिजुत्तो, णिज्जूहंती तु तं ताहे ॥
अह मंदलाभलद्धी-ण जो तं णिज्जूहति अहत्थामं ।
सो वि खरंटेऊणं, मेलिज्जति मंडलीए तु ॥
किं कारणं निज्जुहणा, जं साहूणं गुणुत्तरधगणं ।

ण करोती वच्छल्लं, तेण उ णिज्जूहणा तस्स ॥
एवं आयरिएण तु, जोगो सव्वस्स चेव गच्छस्स ।
वोढव्वो दिट्ठंतो, गतेण इत्थं इमो होति ॥
जह गणकुलसंभूओ, गिरिकंदरविसमकडगदुग्गेसु ।
परिवहति अपरितंतो, नियगसरीरोग्गते दंते ॥
तह पवयणभत्तिगतो, साहम्मियवच्छलो असढभावो ।
परिवहति अपरितंतो, खेत्तविसमकालदुग्गेसु ॥
जदि एकभाणजिमिता, गिहिणो वि य दीहमेत्तिया होंति ।
जिणवयणबहिब्भूता, धम्मं पुण्णं अयाणंता ॥
किं पुण जगजीवसुहा-वहेण संभुंजिऊण समणेणं ।
सक्का हु एक्कमेक्को, णियओ वि परिक्खितुं देहो ॥
केरिसयं वा विचू-णं संभुंजे त्ति चावि भवत्ति ।
उग्गमसुद्धं भुंजे, तहा असुद्धं ण भुंजेज्जा ॥
वोंदे आहारादि, उग्गममाइं असुद्ध मा भुंजे ।
ज पुण अपेहणादी, कालादीहिं उवहयं तु ।
तं पुण सुद्धोवहिणा, मासमयं एक्कहिं तु वंधेज्जा ।
संघासेणं तस्स तु, उवघातो मा हु सुद्धस्स ॥
भणति सुद्धस्स जदी, संघासेणं तु होति उवघातो ।
सुद्धेण असुद्धस्स वि, पावति सुद्धी तवमएणं ॥
अह उवघातो त्ति मतं, संफासेण तु मता विसोही उ ।
तेणुत्ते (इ)च्छछित्ते-ण य इच्छामेत्तओ सिद्धी ॥
उवघातो वि विसोही, णत्थि अजीवस्स भावतो एसो ।
उवघातो विसोही वा, परिणामवसेण जीवस्स ॥
तस्सेव पसत्थेसु तु, परिणामस्स अह रक्खणट्ठाए ।
कीरति संभोगविही, गच्छपमोत्ते गमा गच्छे ॥
संभोगदारं गतं । पं० भा० ४ कल्प । पं० चू० ।

संभोगपच्चक्खाण-संभोगप्रत्याख्यान-न० । स्वपरलाभमीलनात्मकेन भोगः सम्भोगः, एकमण्डलीभोक्तृत्वमिति यो ऽर्थस्तस्य यत् प्रत्याख्यान—जिनकल्पादिप्रतिपत्त्या परिहारस्तत्तथा । गीतार्थावस्थाया जिनकल्पाचारग्रहणेन परिहारे, उत्त० ।

एतत्फलम्—

संभोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?, सम्भोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ, निरालम्बणस्स य आयतट्ठिया जोगा भवन्ति । सएण लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ नो तकेइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अहिलसइ । परस्स लाभं अणासाएमाणे अतकेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे दोच्चं सुहसिज्जं उवसम्पज्जित्ता णं विहरइ ॥ ३३ ॥

हे भदन्त ! सम्भोगप्रत्याख्यानेन—एकमण्डल्या स्थित्वा आहारस्य करणं संभोगस्तस्य प्रत्याख्यानेन त्यागरूपेण पृथगाहारकरणेन जीवः किं फलं जनयति ?, तदा गुरुराह—हे शिष्य! सम्भोगप्रत्याख्यानेन आलम्बनानि क्षपयति, ग्लानोऽहं, ग्लानोऽस्मि रोग्यस्मि इत्यादि कथनानि क्षपयति धीरो भवति इत्यर्थः । निरालम्बनस्य च आयतार्थां योगा भवन्ति । आयतो—मोक्षः स एव अर्थः—प्रयोजनं येषां ते आयतार्थाः, एतादृशा ये योगाः मनोवाक्काययोगाः भवन्ति । स्वेन लाभेन सन्तुष्यति, परस्य लाभं न आस्वादयति न वाञ्छति । ततश्च परस्य लाभाशां तर्कयति, महां दास्यतीति मनसा न विकल्पयति, नो स्पृहयति—परलाभे श्रद्धालुतया स्वस्य स्पृहा न प्रकटीकरोति । पुनः परस्य लाभं न प्रार्थयति—मह्यं देहीति न याचते । एत इदं पुनर्न अभिलषति—परस्य लालसापूर्वकं न वाञ्छति । अथ परस्य लाभं 'अणासाएमाणे' अनास्वादयन् अतर्कयन् अनीहमानः अप्रार्थमान अनभिलषन् द्वितीयां सुखशय्यामुपसंपद्य विहरति—अपरेभ्यः साधुभ्यः पृथक् उपाश्रयमङ्गीकृत्य प्रवर्तते । यादृशी स्थानाङ्गे उक्तास्ति तां प्रतिपद्य विहरति । अत्र हि एते शब्दा एकार्थाः प्रतिपादिताः, तत्र अनेकदेशीयशिष्याणां प्रतिबोधनार्थं पर्यायत्वेन प्रतिपादिताः । उत्त० २९ अ० ।

संभोगवत्तिया-सम्भोगप्रत्यया-स्त्री० । सम्भोगनिमित्ते कर्मसम्बन्धे, नि० चू० ५ उ० । ('संभोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शिता ।)

संमज्जग-सम्मज्जक-पुं० । उन्मज्जनस्यैवासकृत्करणेन ये स्नान्ति तेषु वानप्रस्थेषु, भ० ११ श० ६ उ० ।

संमज्जण-सम्मार्जन-न० । दण्डप्रच्छादिना (अनु०) जलेन वा शोधने, भ० ११ श० ६ उ० । सम्मार्जन्या कचवरापनयेन वसति प्रतिकर्मणि, व्य० ४ उ० ।

संमज्जणी-सम्मार्जनी-स्त्री० । कचवरापनयनकारिकायाम्, व्य० ४ उ० ।

समजिअ-सम्मार्जित-त्रि० । प्रमार्जनिकादिना (भ० ६ श० ३३ उ० ।) अपहृतकचवरे, प्रश्न० १ पद । कल्प० । ज्ञा० । जी० । कचवरशोधिते, आ० म० १ अ० । जी० । वस्त्रादिनार्द्रतामपनयनीये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

संमजिया-सम्मार्जिका-स्त्री० । गृहस्यान्तर्बहिश्च बहुकरिकावाहिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

संमट्ठ-संमृष्ट-त्रि० । कचवरापनयनेन (ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ०) प्रमार्जिते, ग० १ अधि० । भूमिकर्मादिना सत्कृते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

संमि (ल्ल)ल-सम्मील-धा० । सङ्कमे, "प्रादेर्मीले ।" ॥ ८।४। २३२ ॥ अनेन प्रादे परस्य मीलेरन्त्यस्य वा द्वित्वम् । सम्मिलइ । सम्मिल्लइ । सम्मीलति । प्रा० ४ पाद ।

संमुइ-संमुचि-पुं० । जम्बूद्वीपे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति पञ्चे कुलकरे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

संमुच्छिममणुस्स-सम्मूर्छिममनुष्य-पुं० । मनुष्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । (व्याख्या 'मणुस्स' शब्दे षष्ठे भागे द्रष्टव्या ।)

संमुत्त-संमुक्त-पुं० । माण्डवगोत्रावान्तरगोत्रविशेषप्रवर्त्तके पुरुषे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

संमुसमाण-सम्मृशत्-त्रि० । सामस्त्येन स्पृशति, भ० ८ श० ३ उ० ।

संमुह-सम्मुख-त्रि० । अभिमुखे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

संमुहागय-सम्मुखागत-त्रि० । सम्मुखं स्थिते, जं० १ वक्ष० ।

संमुहीभूय-सम्मुखीभूत-त्रि० । अभिमुखीभूते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

संमूढ-सम्मूढ-त्रि० । समिति-भृशं मूढा वैचित्त्यमुपगताः सम्मूढाः । उत्त० ३ अ० । मोहजालेन मोहं गतेषु, तं० ।

संमोहभावणा-संमोहभावना-स्त्री० । पञ्चमभावनाभेदे, प्रव० ७३ द्वार । (व्याख्या पञ्चमभागे ' भावणा ' शब्दे गता ।)

संरंभ-संरम्भ-पुं० । विनाशसंकल्पे, भ० ३ श० ३ उ० । स्था० । विशे० । ' संकप्पो संरम्भो ' प्राणातिपातं करोमीति यः संकल्पोऽध्यवसायः स संरम्भः । आह च चूर्णिकृत्-पाणाइवायं करोमि त्ति जो सकप्पं करेइ चिन्तयतीत्यर्थः । व्य० १ उ० । (पञ्चमभागे 'पडिसेवणा' शब्दे ३३४ पृष्ठे एतत्प्रायश्चित्तमुक्तम् ।) परजीवस्य विनाशनसमर्थे दुष्टविद्यानां गुणने, उत्त २४ अ० । इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाराय प्राणातिपातादिसंकल्पावेशे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । विषयादिषु तीव्राभिलाषे, आतु० । क्रोधे, "सरंभो अमरिसो मन्नू" पाइ० ना० १६१ गाथा ।

संरंभज्झाण-संरम्भध्यान-न० । संरम्भो-विषयादिषु तीव्राभिलाषस्तस्य ध्यानम् । जनन्युपरोधतो व्रतं पालयतोऽपि विषयाभिलाषिणः क्षुल्लककुमारस्येव दुर्ध्याने, आतु० ।

संरक्खण-संरक्षण-न० । सर्वैर्मारणाद्यैरुपायैः । करादिभ्यो निजवित्तस्य सङ्गोपने , विशे० । सर्वोपायैः परित्राणे रौद्रध्यानभेदे, स्था०४ ठा०१ उ० । आपदः संगोपने, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । परिपालने, आव० १४ अ० ।

संरक्खय-संरक्षक-पुं० । नानाव्यसनेभ्यः सङ्गोपके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

संरोहणी-संरोहणी-स्त्री० । संरोहणकारिकायामौषध्याम् , आ० म० १ अ० ।

संलप्प-संलप्य-त्रि० । संलपितुं शक्ये, अनु० ।

संलवण-संलपन-न० । मिथो भाषणे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

संलवमाण-संलपत्-त्रि० । मिथो भाषमाणे, स्था० ४ ठा० २ उ० । स्त्रियाम्—'संलवमाणी' । कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

संलवित्तए-संलपितुम्-अव्य० । पुनः पुनः संलापं कर्तुमित्यर्थे, प्रति० । उपा० ।

संलाव-संलाप-पुं० । भिन्नकथाद्यालापे,सूत्र०१श्रु०४अ०१उ० । पुनः पुनर्जल्पने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आव० । संलापः पुनः पुनः संभाषणम् । भ० ३ श० १ उ० । मुहुर्मुहुर्जल्पने, भ० ३ श०१उ० । प्रीत्या सह सकामसुहृत्प्रत्यर्पणात्मे परस्परसम्भाषणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । औ० । ज्ञा० । जं० । प्रियेण सह सप्रमोदं सकामं परस्परं संकथायाम् , चं० प्र० २० पाहु० । बृ० । सू० प्र० । 'संलापो भाषणं मिथः' इति वचनात् । स्था०७ठा०३ उ० । मिथःकथारूपे,ध० २ अधि० । ('णिग्गंथी' शब्दे चतुर्थभागे २०४६ पृष्ठे सूत्रं तद्व्याख्या च गता ।)

संलावकीव-संलापक्लीब-पुं० । सम्भाषणनपुंसके , संलावकीवो जो अवरससलवियव्वे परम्मुहो संलवति । नि० चू० ४ उ० ।

संलिहण-संलेखन-न० । ईषल्लेखने, दश० ८ अ० ।

संलिहणकप्प-संलेखनकल्प-पुं० । पात्राणां संलेखनपूर्वके-धावने, औ० । (वक्तव्यता 'भोयण' शब्दे पञ्चमभागे द्रष्टव्या । भोजनान्तेऽयं विधिरुक्तः ।)

संलिहित्ताणं-संलिख्य-अव्य० । प्रदेशिन्या निरवयवं कृत्वेत्यर्थे, दश० ५ अ० २ उ० ।

संलिहिय-संलिख्य-अव्य० । निर्लिपीकृत्वेत्यर्थे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । निरवयव कृत्वेत्यर्थे,-आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

संलिखित-त्रि० । संलेखनविधिना शोषिते , तच्च त्रिधा—आहाराः, शरीरम् , उपधिश्च । बृ० ३ उ० ।

संलीण-संलीन-त्रि० । एकाश्रयस्थे , दश० ३ अ० । उत्त० । संवृते , प्रव० ६ द्वार ।

संलीणया-संलीनता-स्त्री० । संलीनस्य—संवृतस्य भावः संलीनता । पञ्चा० १६ विव० । अङ्गोपाङ्गादि संवृत्य प्रवर्त्तने, उत्त० ३० अ० । दश० । प्रव० । नं० । स० । संलीनता-गुप्तता, सा चेन्द्रियकषाययोगविषया विविक्तशय्यासनता चेति चतुर्द्धा । ध० २ अधि० । ग० । उत्त० ।

अथ संलीनतामाह—

एगन्तमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए ।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥ २८ ॥

एकान्ते—जनैरनाकुले पुनरनापाते न विद्यते आपातः स्त्रीपुरुषादीनामागमनं यत्र तत् अनापातं तस्मिन् पुनः पशुपण्डकादिविवर्जिते आरामोद्यानशून्यगृहादिस्थाने शयनासनसेवनया कृत्वा संलीनताख्यं तपो ज्ञेयमित्यर्थः । उत्त० ३४ अ० ।

संलुंचमाण-संलुच्यमान-त्रि० । इतश्चेतश्च भक्ष्यमाणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

संलेह-संलेख-पुं० । कवलत्रयप्रमाणे शरीरावशोषणार्थमाहारे, बृ० ५ उ० ।

संलेहणा-संलेखना-स्त्री० । उद्वलने, आचा० १ श्रु० १ अ०३ उ० । संलिख्यतेऽनया शरीरकषायादीति संलेखना । तपोविशेषे, स्था० २ ठा० २ उ० । सूत्र० । शरीरशोषणायाम् ,प्रव०१ द्वार । आगमोक्तेन विधिना शरीराद्यपकर्षणे , प्रव० १३५ द्वार । कषायशरीरकृशतायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।

आगमप्रसिद्धचरमानशनविधिक्रियायाम् , पञ्चा० १ विव० । सा जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च । व्य० १० उ० ।

साम्प्रतं 'संलेहणा दुवालसवरिसे' त्ति चतुस्त्रिंशदुत्तरशततम द्वारमाह–

चत्तारि विचित्ताइं, विगई निज्जूहियाइँ चत्तारि ।
संवच्छरे य दोन्नि, एगंतरियं च आयामं ॥६८२॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमिअं च आयामं ।
अन्ने वि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवो कम्मं ॥६८३॥
वासं कोडीसहियं, आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदरं व गंतुं, पाउवगमणं पवज्जेई ॥६८४॥

'चत्तारि विचित्ताइं'इत्यादि गाथात्रयम् , संलेखने संलेखना आगमोक्तेन विधिना शरीरापकर्षणम् , सा च त्रिविधा-जघन्या षाण्मासिकी , मध्यमा संवत्सरप्रमाणा, उत्कृष्टा तु द्वादश वर्षाणि । तत्रोत्कृष्टा तावदेवं प्रथम चत्वारि वर्षाणि विचित्राणि विचित्रतपांसि करोति । किमुक्तं भवति–चत्वारि वर्षाणि यावत्कदाचिच्चतुर्थम् , कदाचित्षष्ठम् , कदाचिदष्टममेवं दशमद्वादशादीन्यपि करोति,पारणके च सर्वकामगुणितेनोद्गमादिशुद्धेनाहारेण विधत्ते । ततः परमन्यानि चत्वारि-वर्षाणि उक्तप्रकारेण विचित्रतपांसि करोति , विकृति-निर्यूहितानि-विकृतिरहितानि । किमुक्तं भवति—विचित्रं तपः कृत्वा पारणके निर्विकृतिकं भुङ्क्ते उत्कृष्टरसवर्जं च । ततः परतोऽन्ये द्वे च वर्षे एकान्तरितमाचाम्लं करोति, एकान्तरं चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयतीत्यर्थः । एवमेतानि दशवर्षाणि गतानि । एकादशस्य तु वर्षस्याद्यान् षण्मासान् नातिविकृष्टं नातिगाढं तपः करोति । नातिविकृष्टं नाम तपश्चतुर्थं षष्ठं वाऽवसेयं नाष्टमादिके , पारणके तु परिमितं किञ्चिदूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति । ततः परमपरान् षण्मासान् विकृष्टमष्टमदशमद्वादशादिकं तपः कर्म भवति, पारणके तु मा शीघ्रमेव मरणं यासिषमिति कृत्वा परिपूर्णप्रायेणाऽऽचाम्लं करोति, न पुनरूनोदरतयेति । द्वादशं तु वर्षं कोटीसहितं निरन्तरमाचाम्लं करोतीत्यर्थः । उक्तं च निशीथचूर्णौ–' दुवालसमं वरिसं निरन्तरं हायमाणं उसिणोदएण आयंबिलं करेइ, तं कोडीसहियं भवइ , जेणायंबिलस्स कोडी-कोडीए मिलइ' त्ति चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयति, पुनश्चतुर्थं विधायाचाम्लेनैव पारयतीत्यादीन्यपि बहूनि मतान्तराणि द्वादशस्य वर्षस्य विषये वीक्ष्यन्ते, परं ग्रन्थगौरवभयान्नात्र लिखितानीति । इह च द्वादशे वर्षे भोजनं कुर्वन् प्रतिदिनमेकैककवलहान्या तावदूनोदरतां करोति यावदेकं कवलमाहारयति । ततः शेषेषु दिनेषु क्रमशः एकेन सिक्थेनोनमेकं कवलमाहारयति, द्वाभ्यां सिक्थाभ्यां त्रिभिः सिक्थैरेवं यावदन्ते एकमेव सिक्थं भुङ्क्ते , यथा दीपे समकालं तैलवर्तिक्षयो भवति, तथा शरीरायुषोरपि समकं क्षयः स्यादिति हेतोः ।अपरं च–द्वादशस्य वर्षस्य पर्यन्तवर्तिनश्चतुरो मासान् यावदेकान्तरितं तैलगण्डूषं चिरकालमसौ मुखे धारयति,ततः खेलमल्लके भस्ममध्ये प्रक्षिप्य मुखमुष्णोदकेन शोधयति । यदि पुनस्तैलगण्डूषविधानं न कार्यते तदा रूक्षत्वात्तेन मुखयन्त्रमीलनसम्भवे पर्यन्तसमये नमस्कारमुच्चारयितुं न शक्नोति, तदेवमनया आनुपूर्व्या क्रमेण द्वादशवार्षिकीमुत्कृष्टां संलेखनां कृत्वा गिरिकन्दरं गत्वा उपलक्षणमेतदन्यदपि षट्कायोपमर्दरहितं विविक्तं स्थानं गत्वा पादपोपगमनं, वाशब्दाद् भक्तपरिज्ञेङ्गिनीमरणं च प्रपद्यते । मध्यमा तु संलेखना पूर्वोक्तप्रकारेण द्वादशभिर्मासैः ,जघन्या च द्वादशभिः पक्षैः परिभावनीया । वर्षस्थाने मासान् पक्षांश्च स्थापयित्वा तपोविधिः । प्रागिव निरवशेषः उभयत्रापि भावनीय इति भावः । प्रव० १३४ द्वार । नि० चू० । स० । पं० व० । आ० चू० ।

विस्तृतसंलेखनाविधिः—

संलेहणा इहं खलु, तवकिरिया जिणवरेहिँ पण्णत्ता ।
जं तीएँ संलिहिज्जइ, देहकसायाइ णिअमेणं ॥१३६६॥

संलेखना इह खलु प्रक्रमे तपःक्रिया विचित्रा जिनवरैः प्रज्ञप्ता । किमित्याह—यद्यस्मात्तया संलिख्यते कृशीक्रियते देहकषायादि बाह्यमान्तरं च नियमेनेति गाथार्थः ।

अतिप्रसङ्गपरिहारमाह—

ओहेणं सव्व च्चिय–तवकिरिआ जइ वि एरिसी होइ ।
तह वि अ इमाऽवसिट्ठा,घिप्पइ जा चरिमकालम्मि १३६७

ओघेन सामान्येन सर्वैव तपःक्रिया आदित आरभ्य यद्यपीदृशी देहकषायादिसंलेखनात्मिका भवति तथापि चैषा प्रस्तुताऽवशिष्टा गृह्यते, तपःक्रियया चरमकाले देहत्यागायेति गाथार्थः ।

एतदेवाह—

परिवालिऊण विहिणा, गणिमाइपयं जईणमिअमुचिअं ।
अब्भुज्जओ विहारो,अहवा अब्भुज्जअं मरणं ॥१३६८॥

परिपाल्य विधिना सूत्रोक्तेन गणयादिपदम् आदिशब्दाद्–उपाध्यायादिपरिग्रहः , यतीनामुचितमिदं चरमकाले यदुताभ्युद्यतो विहारो जिनकल्पादिरूपः , अथवा–अभ्युद्यतं मरणं पादपोपगमनादीति गाथार्थः ।

एसो अ विहारो विह, जम्हा संलेहणासमो चेव ।
ता ण विरुद्धो णेओ, एत्थं संलेहणादारे ॥ १३६६ ॥

एष च विहारोऽभ्युद्यतः , यस्मात् संलेखनासमो वर्त्तते तत्तस्मान्न विरुद्धो ज्ञेयोऽत्र प्रस्तुते संलेखनाद्वारे भण्यमान इति गाथार्थः ।

भणिऊण इमं पढमं, लेसुद्देसेण पच्छओ वोच्छं ।
दाराणुवायग च्चिअ, सम्मं अब्भुज्जअं मरणं ॥१३७०॥

भणित्वा एनमभ्युद्यतविहारेण प्रथमं लेशोद्देशेन––संक्षेपेण पृष्ठतः–ऊर्ध्वं वक्ष्ये, द्वारानुपात्येव प्रस्तुतमित्यर्थः । सम्यक्–सिद्धान्तनीत्याऽभ्युद्यतं मरणमिति गाथार्थः ।

तत्र द्वारगाथामाह–

अव्वोच्छित्तीमण पं–चतुलणाउवगरणमेव परिकम्मो ।
तवसत्तसुएगत्ते, उवसग्गसहे अ वडरुक्खे ॥ १३७१ ॥

अव्यवच्छित्तिमनः प्रयुङ्क्ते, तथा पञ्चानामाचार्यादीनां तुलना स्वयोग्यविषया उपकरणमेवेति वक्तव्यमुचितं, परि–

कर्मेन्द्रियादिजय. तप सत्त्वश्रुतैकत्वे उपसर्गसहश्चेति । पञ्च भावना भवन्तीत्यर्थः। वटवृक्ष इत्यपवादात्तदेव प्रतिपद्यत इति गाथार्थ'।

व्यासार्थमाह-

सो पुव्वावरकाले, जागरमाणे उ धम्मजागरिअं।
उत्तमपसत्थझाणे, हिअएण इमं विचिंतेइ ॥ १३७२ ॥

स गणी वृद्धः सन् पूर्वापरकाले सुप्तः सुप्तोत्थितो वा रात्रौ जाग्रत् धर्म्मजागरिकां धर्म्मचिन्तां कुर्वन्नित्यर्थ., उत्तमप्रशस्तध्यान' प्रवृद्धशुभयोगहृदयेनेदं वक्ष्यमाणं वस्तु विचिन्तयतीति गाथार्थ.।

अणुपालिओ उ दीहो, परिआओ वायणा तहा दिण्णा।
णिप्फाइआ य सीसा, मज्झं किं संपयं जुत्तं ॥१३७३॥

अनुपालित एव दीर्घ. पर्याय. प्रवज्यारूप. , वाचना तथा दत्ता उचितेभ्य.,निष्पादिताश्च शिष्या., कृतऋणमोक्षस्य मम किं साम्प्रत युक्तमेतच्चिन्तयतीति गाथार्थ.।

किंकिन्नु विहारेणा-ब्भुज्जएण विहरामणुत्तरगुणेणं ।
उअ अब्भुज्जयसास-णेण विहिणा अणुमरामि॥१३७४।

केन विहारेणाभ्युद्यतेन जिनकल्पादिना वा विहरामि?उत्तरगुणेनैतत्कालापेक्षया उताभ्युद्यतशासनेन विधिना सूत्रोक्तेन अनुम्रिये इति गाथार्थ.।

पारद्धा वोच्छित्ती, एहिंह उचियकरणा इहरआ उ ।
विरसावसाणऊणो, इत्थं दारस्स संपाओ ॥१३७५॥

प्रारब्धा व्यवस्थिति. प्रव्रज्यानिर्वहणमखण्डम्, इदानीमुचितकरणाद्भवति, इतरथा तु तदकरणे विरसावसानत. कारणान्न प्रारब्धा व्यवस्थितिस्तन्न्यूनत्वादिति। अत्र द्वारस्य व्यवस्थितिमन.संजितस्य सपात इति गाथार्थः। पं० व० ४ द्वार।

संलेहणापुरस्सर-मेअं पाएण वा तयं पुव्विं ।
वोच्छं तओ कमेणं, समासओऽब्भुज्जयं मरणं।१५७३।

संलेखनापुरस्सरमेतत्प्रायश. पादपविशेष मुक्त्वा तत्ते पूर्वं वक्ष्ये सलेखनाम्, तत. क्रमेणोक्तरूपेण समासतोऽभ्युद्यतमरणं वक्ष्ये इति गाथार्थः।

चत्तारि विचित्ताइं, विगईणिज्जूहिआई चत्तारि ।
संवच्छरे उ दोण्णि उ, एगंतरिअं च आयामं ॥१५७४॥

चतुरः संवत्सरान् विचित्राणि तपांसि करोति षष्ठादीनि तथा विकृतिनिर्यूढानि निर्विकृतिकानि चतुर एव, सवत्सरौ द्वौ च तदूर्द्धमेकान्तरितमेव च नियोगत. आयामं तप करोतीति गाथार्थ।

णाइविगिट्ठो अ तवो, छम्मासे परिमिअं च आयामं ।
अण्णे वि अ छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥१५७५॥

नातिविकृष्टं च तप चतुर्थादि षण्मासान् करोति । तत ऊर्द्ध्वं परिमितं चायाम तत्पारणक इति तैलगण्डूषधारणं च, मुखभङ्गे अन्यान्यपि च षण्मासान् अत ऊर्ध्वं भवति विकृष्टमेव तप कर्म्मेति गाथार्थ.।

वासं कोडीसहियं, आयामं तह य आणुपुव्वीए ।
संघयणादणुरूवं, एत्तो अद्धाइ नियमेण ॥१५७६॥

वर्षकोटीसहितमायामं तथा चानुपूर्व्या एवमेव संहननाद्यनुरूपम्, आदिशब्दाद्-शक्त्यादिग्रहः,अत उक्तात्कालादर्द्धादि अर्द्धप्रत्यर्द्धत्वान्नियमेन करोति,इह च कोटीसहितमित्येवं वृद्धा ब्रुवते-"पट्ठवणओ य दिवसा, पच्चक्खाणस्स निट्ठवणओ य। जहियं समिंति दोण्णि उ,तं भन्नइ कोडिसहियं तु॥१॥" भावत्थो पुण इमस्स जत्थ पच्चक्खाणस्स कोणो कोणो य मिलयइ। कहं?गोसे आवस्सए अब्भत्तट्ठो गहियो, अहोरत्तं अत्थिऊण पच्छा पुणरवि अब्भत्तं करेइ, बीयस्स पट्ठावणा पढमस्स निट्ठावणा एवं दो वि कोणा एगट्ठ दो वि मिलिया। अट्ठमादिसु दुण्हह कोडिसहियं, जो चरिमदिवसो तस्स वि एगा कोडी एवं आयंबिलनिव्विइयएगासणएगट्ठाणाणि वि। अहवा इमो अण्णो विही-अब्भत्तट्ठ कयं, आयविलेण पारिय पुणरवि अब्भत्तट्ठं करेइ आयंबिल च। एवं एगासणगाईहिं वि संजोगा कायव्वा, णिव्विगतिगाइसु सव्वेसु सरिसेसु य एत्थ आयंबिलेणाहिगारो " त्ति गाथार्थः।

इत्थमसलेखनायां दोषमाह—

देहम्मि असंलिहिए, सहसा धाऊहिं खिज्जमाणेहिं ।
जायइ अट्टज्झाणं, सरीरिणो चरमकालम्मि ॥१५७७॥

देहे असलिखिते सति सहसा धातुभिः क्षीयमाणैर्मांसादिभिर्जायते आर्त्तध्यानम्-असमाधि. शरीरिणश्चरमकाले-मरणसमय इति गाथार्थ.।

विहिणा उ थोवथोवं, खविज्जमाणेहिं संभवइ णेअं ।
भवविडविबीअभूअं, इत्थ य जुत्ती इमा णेआ॥१५७८॥

विधिना तु शास्त्रोक्तेन स्तोकस्तोकं क्षयमाणैर्धातुभिः सभवति नैतदार्त्तध्यान भवविटपिबीजभूतमेतदत्र युक्तिरियं ज्ञेयाऽसभवे इति गाथार्थ.।

कथं जय इत्याह—

सइसुहभावेण तहा, थोवविवक्खत्तणेण णो वाहा ।
जायइ बलेण महया, थेवस्सारंभभावाओ ॥१५७९॥

सदा शुभभावस्य ' तथा 'तेन संलेखनाप्रकारेण स्तोकविपक्षत्वेन हेतुना न बाधा जायते कुत इत्याह-बलेन महता शुभभावेन तेन स्तोकस्य दु.खस्यारम्भभावादिति गाथार्थ.।

उवक्कमणं पुण एवं, सप्पडिआरं महाबलं णेयं ।
उचिआणासंपायण,सइ सुहभावं विसेसेणं ॥१५८०॥

उपक्रमणमेवं धात्वादीना सप्रतीकारं भूयो वृद्वणेन महाबलं ज्ञेयम्, अत्र उचिताज्ञासपादनेन सदा शुभभावमुपक्रमण विशेषणेति गाथार्थ.।

थोवं उवक्कमिज्जं, वज्झं अब्भिंतरं च एअस्स ।
जाइ इअ गोअरत्तं, तहा तहा समयभेएणं ॥१५८१॥

स्तोकमुपक्रमणीयम्, बाह्य मासादि, आभ्यन्तर च अशुभपरिणामादि, एतस्योपक्रमणस्य याति एव गोचरत्वं सलेनाथा तथा तथा समयभेदेन-कालभेदेनेति गाथार्थ.।

जुगवं तु खिविज्जंतं, उदग्गभावेण पायसो जीवं ।
चावइ सुहजोगाओ, बहुगुरुसेष्मं च सुहडं ति॥१५८२॥

युगपत्तु क्षेप्यमाणं तन्मासादि उदग्रभावेण प्रचुरतया प्रायशो जीवं, किमित्याह-च्यावयति शुभयोगात् सकाशात् । किमिव कमित्याह-बहुगुरुसैन्यमिव सुभटं च्यावयति जयादिति गाथार्थः ।

आहप्पवहणिमित्तं, एसा कह जुज्जई जइजणस्स ।
समभावविचिणो तह, समयत्थविरोहओ चेव॥१५८३॥

आह-आत्मवधनिमित्तमेषा संलेखना कथं युज्यते ?, यतिजनस्य समभाववृत्तेः सतः, तथा समतार्थविरोधतश्चैवेति गाथार्थः ।

विरोधमाह—

तिविहाऽतिवायकिरिया,अप्पपरोभयगया जओ भणिया।
बहुसो अणिट्ठफलया, धीरेहि अणंतनाणीहिं॥१५८४॥

त्रिविधा अतिपातक्रिया , कथमित्याह—आत्मपरोभयगता यतो भणिता समये बहुशोऽनिष्टफलदेयं क्रिया धीरैरनन्तज्ञानिभिः सर्वज्ञैरिति गाथार्थः ।

भण्णइ सचं एअं, ण उ एसा अप्पवहणिमित्तंति ।
तल्लक्खणविरहाओ,विहिआणुट्ठाणभावेणं ॥ १५८५ ॥

भण्यते सत्यमेतत्त्रिविधातिपातक्रियेति, नत्वेषा संलेखना क्रिया आत्मवधनिमित्तेति । कुत इत्याह—तल्लक्षणविरहात्-आत्मवधक्रियालक्षणविरहात्, विरहश्च विहितानुष्ठानभावेन हेतुनेति गाथार्थः ।

जा खलु पमत्तजोगा, णिअमा रागाइदोससंसत्ता ।
आणाउ बहिब्भूआ,सा होइ अइवायकिरिआ य।१५८६।

या खलु प्रमत्तयोगात् सकाशात् नियमाद्रागादिदोषसंसक्ता स्वरूपतः आज्ञातो बहिर्भूता उच्छास्त्रा सा भवत्यतिपातक्रिया इद लक्षणमस्या इति गाथार्थः ।

जा पुण एअविउत्ता, सुहभावविवड्ढिणी अ नियमेणं ।
सा होइ सुद्धकिरिया, तल्लक्खणजोगओ चेव ।।१५८७।।

या पुनरेतद्वियुक्ता क्रिया शुभभावविवर्द्धिनी च नियमेन अवश्यतया सा भवति शुद्धक्रिया कुतस्तल्लक्षणयोगत एवेति गाथार्थः ।

पडिवज्जइ अ इमं जो, पायं किअकिच्चिमो उ इह जम्मे ।
सुहमरणा कियकिच्चो,तस्सेसा जायइ जहुत्ता ॥१५८८॥

प्रतिपद्यते चैना संलेखनक्रिया य प्रायः स कृतकृत्य एवेह जन्मनि निष्ठितार्थ सुभमरणेनात्र कृतकृत्यो यदि परं तस्यैषा जायते यथोक्ता संलेखना शुद्धक्रिया चेति गाथार्थः ।

मरणपडिआरभूआ, एसा एवं च ण मरणनिमित्ता ।
जह गंडछेअकिरिआ,णो आयविराहणारूवा ॥१५८९॥

मरणप्रतीकारभूतैषा एव चोक्तन्यायान्न मरणनिमित्ता, यथा गण्डच्छेदक्रिया दुःखरूपाऽपि नात्मविराधनारूपेति गाथार्थः ।

अब्भत्था सुहजोगा, असंपन्ना पायसो जहासमयं ।
एसो इमस्स उचिओ,अमरणधम्मेहिँ निद्दिट्ठो॥१५९०॥

अभ्यस्ताः शुभयोगाः औचित्येन असंपन्नाः यथागमं प्रायशो यथासमयं यथाकालमेषोऽप्यस्य मरणं योगस्योचितः समयः, अमरणधर्मभिर्वीतरागैर्निर्दिष्टः सूत्रे इति गाथार्थः ।

यतश्चैवम्—

ता आराहेमु इमं, चरमं चरमगुणसाहगं सम्मं ।
सुहभाव विवड्ढी खलु, एवमिह पवत्तमाणस्स ॥१५९१॥

यतश्चैव तत्-तस्मादाराधयामः—संपादयामः एनं चरमं शुभयोगं चरमगुणसाधकमाराधनानिष्पादकं 'सम्यग्' आगमनीत्या, शुभभाववृद्धिः खलु कुशलाशयवृद्धिरित्यर्थः । एवमिह संलेखनायां प्रवर्त्तमानस्य सत इति गाथार्थ ।

उचिए काले एसा, समयम्मि वि वण्णिआ जिणिंदेहि ।
तम्हा तओ ण दुट्ठा,विहिआणुट्ठाणओ चेव ॥१५९२॥

उचिते काले-चरमे 'एषा' संलेखना 'समयेऽपि'-आगमेऽपि वर्णिता 'जिनेन्द्रैः' । तीर्थकरैर्यस्मात्तस्मान्न दुष्टा एषा । कुत इत्याह-विहितानुष्ठानत एव शास्त्रोक्तत्वादिति गाथार्थः ।

भावमवि संलिहेई, जिणप्पणीएण झाणजोएणं ।
भूअत्थभावणाहिं, परिवड्ढइ बोहिमूलाइं ॥१५९३॥

भावमप्यान्तरं संलिखति-वशं करोति, जिनप्रणीतेनागमानुसारेण ध्यानयोगेन धर्मादिना भूतार्थभावनाभिश्च वक्ष्यमाणाभि परिवर्द्धयति-वृद्धिं नयति बोधिमूलान्यवन्ध्यकारणानीति गाथार्थः ।

एतदेवाह—

भावेइ भाविअप्पा,विसेसओ नवरँ तम्मि कालम्मि ।
पयईए निग्गुणत्तं, संसारमहासमुद्दस्स ॥१५९४॥

भावयति-अभ्येति भावितात्मा सूत्रेण विशेषतोऽतिशयेन नवरं तस्मिन्काले चरमे, किमित्याह-स्वभावेन निर्गुणत्वमसारत्वं संसारमहासमुद्रस्य भवोदधेरिति गाथार्थः ।

जम्मजरामरणजलो, अणाइमं वसणसावयाइण्णो ।
जीवाण दुक्खहेऊ, कट्ठं रोद्दो य भवसमुद्दो ॥१५९५॥

जन्मजरामरणजलो बहुत्वादमीषामनादिमानित्यगाधः व्यसनश्वापदाकीर्णः अपकारित्वादमीषां जीवानां दुःखहेतुः सामान्येन , कष्टरौद्रो-भयानको भवसमुद्र एवभूत इति गाथार्थः ।

धण्णोऽहं जेण मए, अणोरपारम्मि नवरमेअम्मि ।
भवसयसहस्सदुलहं, लद्धं सद्धम्मजाणंति ॥१५९६॥

धन्योऽहं सर्वथा येन मया 'अनर्वाक्पारे' महामहति नवरमेतस्मिन् भवसमुद्रे भवशतसहस्रदुर्लभमेकान्तेन लब्धम्—प्राप्त सद्धर्मयान-सद्धर्म एव यानपात्रमिति गाथार्थः ।

एअस्स पहावेणं, पालिज्जंतस्स सइ पयत्तेणं ।
जम्मंतरे वि जीवा, पावंति ण दुक्खदोगच्चं ॥१५९७॥

एतस्य प्रभावेण धर्म्मयानस्य पाल्यमानस्य सदा-सर्व्वकालं प्रयत्नेन-विधिना जन्मान्तरेऽपि जीवाः-प्राणिनः प्राप्नुवन्ति न, किमित्याह-दुःखप्रधानं दौर्गत्यं दुर्गतिभावमिति गाथार्थः ।

चिंतामणी अपुव्वो, एयमपुव्वो य कप्परुक्खो त्ति ।
एअं परमो मंतो, एअं परमामयं एत्थ ॥१५९८॥

चिन्तामणिरपूर्वोऽचिन्त्यमुक्तिसाधनादेतद्धर्मयानम् ,अपूर्वश्च कल्पवृक्ष इत्यकल्पितफलदानात् , एतत्परमो मन्त्रो रागादिविषघातित्वात् , एतत्परमामृतमत्रामरणावन्ध्यहेतुत्वादिति गाथार्थः ।

इच्छं वेआवडिअं, गुरुमाईणं महानुभावाणं ।
जेसिं पहावेणेअं, पत्तं तह पालिअं चेव ॥१५९९॥

इच्छामि वैयावृत्त्यं सम्यग् गुर्वादीनां,महानुभावानाम् आदिशब्दात्-सहायसाधुग्रहः, येषां प्रभावेणेदं धर्म्मयानं प्राप्तं मया, तथा पालितं चैवाविघ्नेनेति गाथार्थः ।

तेसिं णमो तेसिं णमो,भावेण पुणो पुणो वि तेसिं णमो ।
अणुवकयपरहिअरया, जे एयं दिंति जीवाणं ॥१६००॥

तेभ्यो नमः, तेभ्यो नमः, भावेन अन्तःकरणेन पुनरपि तेभ्यो नम इति त्रिर्वाक्यम् । अनुपकृतपरहितरता गुरवो यत एतद्ददति जीवेभ्यो धर्म्मयानमिति गाथार्थः ।

नो इत्तो हिअमन्नं, विज्जइ भुवणे वि भव्वजीवाणं ।
जाअइ अओ वि अ जओ,उत्तरणं भवसमुद्दाओ॥१६०१॥

नातो धर्म्मयानाद्धितमन्यद्वस्तु विद्यते भुवनेऽपि त्रैलोक्येऽपि भव्यजीवानाम्,कुत इत्याह-जायते अत एव धर्म्मयानादुत्तरणं भवसमुद्रादिति गाथार्थः ।

एत्थ उ सव्वे ठाणा, तहण्णसंजोगदुक्खसयकलिआ ।
रोद्दाऽणुबंधजुत्ता, अच्चंत सव्वहा पावा ॥ १६०२ ॥

अत्र तु भवसमुद्रे सर्वाणि स्थानानि देवलोकादीनि तथाऽन्यसंयोगदुःखशतकलितानि योगावसाने विमानादीनि संयोगदुःखानीति प्रतीतम् , अत एव रौद्रानुबन्धयुक्तानि विपाकदारुणत्वादत्यन्तं सर्वथा पापान्यशोभनानीति गाथार्थः ।

किं एत्तो कट्ठयरं, पत्ताणं कहिंचि मणुअजम्मम्मि ।
जं इत्थ वि होइ रई, अच्चंतं दुक्खफलयम्मि ॥१६०३॥

किमतः कष्टतरमन्यत्प्राप्ताना कथंचित्कृच्छ्रेण मनुजजन्मन्यपि यदत्रापि भवति रतिः संसारसमुद्रे अत्यन्त दुःखफलदे यथोक्तन्यायादिति गाथार्थ ।

भावनान्तरमाह—

तह चेव सुहुमभावे, भावइ संवेगकारए सम्मं ।
पवयणगब्भभूए, अकरणनिअमाइसुद्धफले ॥१६०४॥

तथैव सूक्ष्मभावान्-निपुणपदार्थान् भावयति । संवेगकारकान्प्रशस्तभावजनकान् सम्यग् विधानेन प्रवचनगर्भभूतान् सारभूतानित्यर्थः, अकरणनियमादिशुद्धफलान्-आदिशब्दादनुबन्धह्रासपरिग्रह इति गाथार्थः ।

परसावज्जच्चावण-जोएणं तस्स जो सयं चाओ ।
संवेगसारगुरुओ, सो अकरणणियमवरहेऊ ॥१६०५॥

परसावद्यच्यावनयोगेन-व्यापारेण तस्य यः स्वयं त्यागः सावद्यस्य,किंभूत इत्याह-संवेगसारगुरुः-प्रशस्तभावप्रधानः स सावद्यत्यागोऽकरणनियमवरहेतुः पापाऽकरणस्यावन्ध्यहेतुरिति गाथार्थः ।

परिसुद्धमणुट्ठाणं, पुव्वावरजोगसंगयं जं तं ।
हेमघडत्थाणीअं, सयाऽवि णिअमेण इट्ठफलं ॥१६०६॥

परिशुद्धमनुष्ठान समयशुद्धं पूर्वापरयोगसंगतं यत् त्रिकोटीशुद्ध तत् हेमघटस्थानीयं वर्त्तते, सदाऽपि नियमेनेष्टफलमपवर्गसाधनानुबन्धीति गाथार्थः ।

जं पुण अप्पडिसुद्धं, मियमयघडतुल्लमो तयं णेअं ।
फलमिचसाहगं चिअ,ण साणुबंधे सुहफलम्मि॥१६०७॥

यत्पुनरपरिशुद्धं समयनीत्या मृन्मयघटतुल्यमसारं हि तत् ज्ञेयं फलमात्रसाधकमेव, यथा कथंचिन्न सानुबन्धे शुभफले इतरवदिति गाथार्थः ।

धम्मम्मि अ अइआरे, सुहुमेणाभोगसंगए वि त्ति ।
ओहेण चयइ सव्वे, गरहापडिवक्खभावेण ॥१६०८॥

धर्मे चातिचारानपवादान् सूक्ष्मान्-स्वल्पान् अनाभोगसंगतानपि कथंचिदोघेन त्यजति सर्वान् सूत्रनीत्या गर्हाप्रतिपक्षभावेन हेतुनेति गाथार्थ ।

सो चेव भावणाओ, कयाइ उल्लसिअविरिअपरिणामो ।
पावइ सेढिं केवल-मेव मओ णो पुणो मरई ॥१६०९॥

स चैवं भावनातः सकाशात् कदाचिदुल्लसितवीर्यपरिणामः सम्प्राप्नोति श्रेणिं तथा केवलम् । एवं मृतकेवलात्या न पुनर्म्रियते कदाचिदपीति गाथार्थः ।

जइ वि न पावइ सेढिं,तहाऽवि संवेगभावणाजुत्तो ।
णिअमेण सुगईं लहइ,तहा य जिणधम्मबोहिं च॥१६१०॥

यद्यपि न प्राप्नोति श्रेणिं कथमपि संवेगभावनायुक्तः, यन्नियमेन सुगतिं लभते अन्यजन्मनि, तथा जिनधर्मबोधिं च लभत इति गाथार्थ ।

एतदेवाह—

जमिह सुहभावणाए, अइसयभावेण भाविओ जीवो ।
जम्मंतरेऽवि जायइ, एवंविहभावजुत्तो अ ॥१६११॥

यत् यस्मादिह शुभभावनया अतिशयभावेन भावितो जीवः सुवासित इत्यर्थः, जन्मान्तरेऽप्यन्यत्र जायते एवंविधभावयुक्तश्च शुभभावयुक्त इति गाथार्थ ।

एसेव बोहिलाभो, सुहभावचलणं जो उ जीवस्स ।

पेच्चावि सुहो भावो,वासिअतिलतिल्लनाएणं ॥१६१२॥

एष एव बोधिलाभो वर्त्तते । शुभभावबलेन वासनामाम-र्थ्याच्च एव जीवस्य प्रेत्यापि-जन्मान्तरेऽपि शुभो भावो भवति वासिततिलतैलज्ञानेन,तेषां हि तैलमपि सुगन्धि भवतीति गाथार्थः ।

संलिहिऊणऽप्पाणं, एवं पच्चप्पणित्तु फलगाई ।
गुरुमाइए अ सम्मं, खमाविऊ भावसुद्धीए ॥१६१३॥

संलिख्यात्मानमेवं द्रव्यतो भावतश्च प्रत्यर्प्य फलकादि-प्रातिहारिकं गुर्वादींश्च सम्यक् क्षमयित्वा यथार्हं भाव-शुद्ध्या सवेगेनेति गाथार्थः ।

उववूहिऊण सेसे, पडिबद्धं तम्मि तह विसेसेण ।
धम्मे उज्जमिअव्वं, संजोगा इह वियोगंता ॥१६१४॥

उपबृंह्य 'शेषान्' गुर्वादिभ्योऽन्यान् प्रतिबद्धान्, 'तस्मिन्' स्वात्मनि तथा विशेषेणोपबृंह्य, धर्मे 'उद्यमितव्यम्' यत्न कार्यः, सयोगा इह वियोगान्ता, एवमुपबृंहेति गाथार्थः ।

अह वंदिऊण देवे, जहाविहिं सेसए अ गुरुमाई ।
पच्चक्खाइत्तु तओ, तयंतिगे सव्वमाहारं ॥१६१५॥

अथ वन्दित्वा देवान्-भगवतो यथाविधि-सम्यग् शेषांश्च गुर्वादीन् वन्दित्वा,प्रत्याख्याय ततः-तदनन्तरं तदन्तिके गुरुसमीपे सर्वमाहारमिति गाथार्थः ।

समभावम्मि वि अप्पा,सम्मं सिद्धंतभणिअमग्गेण ।
गिरिकंदरं तु गंतुं, पायवगमणं अह करेइ ॥१६१६॥

समभावे स्थितात्मा स सम्यक् सिद्धान्तोक्तेन मार्गेण निरीहः सन् गिरिकन्दरं तु गत्वा स्वयमेव पादपगमनमेव करोति । पादपसमान उन्मेषाद्यभावादिति गाथार्थः ।

सव्वत्थापडिबद्धो,दण्डाययमाइठाणमिह ठाउं ।
जावज्जीवं चिट्ठइ, णिच्चिट्ठो पायव समाणो ॥१६१७॥

सर्वत्राप्रतिबद्धः सममभावात्, दण्डायतादिस्थानमिह स्थित्वा स्थण्डिले यावज्जीव तिष्ठति महात्मा निश्चेष्ट पादपसमान, उन्मेषाद्यभावादिति गाथार्थः ।

पढमिल्लुगसंघयणे, महाणुभावा करिंति एवमिणं ।
एअं सुहभावच्चिअ, णिच्चलपयकारणं परमं ॥१६१८॥

प्रथमसंहननेनेति योगतः महानुभावा-ऋषयः कुर्वन्त्येवमेतदनशनं प्राय शुभभाव एव, नान्ये, निश्चलपदकारणं परमं, निश्चलपदं, मोक्ष इति गाथार्थः ।

णिव्वाघाइयमेअं, भणियं इह पक्कमाणुसारेणं ।
सभवइ अ इअर पि हु,भणियमिणं वीअरागेहिं॥१६१९॥

निर्व्याघातवदेतत्पादपगमनं भणितम् । इह प्रक्रमानुसारेण हेतुना संभवति चेतरदपि-सव्याघातवदेतत्, भणितमिदं वीतरागैस्तीर्थकरैरिति गाथार्थः ।

सीहाइहिँ अभिभूओ, पायवगमणं करेइ थिरचित्तो ।
आउम्मि पहुप्पंते, विआणिउं नवरं गीअत्थो ॥१६२०॥

सिंहादिभिरभिभूतः सन् पादपगमनं करोति स्थिर-चित्तः कश्चिदायुषि प्रभवति सति विज्ञाय नवरं गीतार्थः उपक्रममिति गाथार्थः ।

संघयणाभावाओ, इअ एवं काउं जो उ असमत्थो ।
सो पुण थेवयरागं, कालं संलेहणं काउं ॥ १६२१ ॥

संहननाभावात् कारणादेवमेतत्कर्तुं योऽसमर्थः पादपगमनं, स पुनः स्तोकतरं कालं जीवितानुसारेण संलेखनां कृत्वेति गाथार्थः । (प० व० ।) (इङ्गिनीमरणव्याख्यानम् 'इंगिणिमरण' शब्दे द्वितीयभागे ५३२ पृष्ठे गतम् ।)

भत्तपरिणाए वि हु, आपव्वज्जं तु विअडणं देइ ।
पुव्विं सीअलगो वि हु, पच्छा संजायसंवेगो ॥१६२६॥

भक्तपरिज्ञायामपि-तृतीयानशनरूपायाम् आप्रव्रज्यमेव-प्रव्रज्याकालादेवारभ्य विकटनां ददाति, पूर्वं शीतलोऽपि परलोकं प्रति पश्चात्तत्काले संजातसंवेगः-उत्पन्नसंवेग इति गाथार्थः ।

वज्जइ अ संकिलिट्ठं, विसेसओ णवरँ भावणं एसो ।
उल्लसिअजीवविरिओ, तत्तो अ आराहणं लहइ॥१६२७॥

वर्जयति च 'सक्लिष्टाम्' अशुद्धां विशेषतो नवरं भावनामेषः यथोक्तानशनी उल्लसितजीववीर्यः सत्संवेगात् ततश्चाराधना लभते-प्राप्नोतीति गाथार्थः ।

कंदप्पदेवकिव्विस-अभिओगा आसुरा य संमोहा ।
एसा उ संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिआ॥१६२८॥

कान्दर्पिकी, कैल्बिषिकी, आभियोगिकी, आसुरी, संमोहनी च । कन्दर्पादीनामियमिति सर्वत्र भावनीयम् । एषा तु सक्लिष्टा पञ्चविधा भावना भणिता, तत्तत्स्वभावाभ्यासो भावनेति गाथार्थः ।

जो संजओ वि एआ-सु अप्पसत्थासु वट्टइ कहंचि ।
सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो॥१६२९॥

यः संयतोऽपि सन् व्यवहारतः एतास्वप्रशस्तासु भावनासु वर्त्तते कथञ्चिद्भावप्राधान्यात्स तद्विधेषु गच्छति सुरेषु-कन्दर्पादिप्रकारेषु भाज्यश्चरणहीनः सर्वथा तत्त्त्वाविकलो द्रव्यचरणहीनश्चेति गाथार्थः ।

तत्र—

कंदप्पे कुक्कुइए, दवसीले आवि हासणपरे अ ।
विम्हावितो अ परं, कंदप्पं भावणं कुणई ॥ १६३० ॥

कन्दर्पवान् कन्दर्पः एवं कौत्कुच्यः द्रुतदर्पशीलश्चापि हासकरश्च, तथा विस्मापयंश्च परान् कान्दर्पी भावना करोतीति गाथार्थः ।

कन्दर्पवान् कान्दर्पी भावना करोतीत्युक्तं स च यथा करोति तथाह—

कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अणिहुआ य संलावा ।

कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएससंसा य ॥ १६३१ ॥

'कहकहकहस्से' ति " अन्यत्रापि सुपो भवन्ति " ॥ इति तृतीयार्थे षष्ठी, कहकहकहेन हसन्तः अट्टहास इत्यर्थः। तथा कन्दर्पः-परिहासः स्वानुरूपेण अनिभृताश्च संलापाः, गुर्वादिनाऽपि निष्ठुरवक्रोक्त्यादय, तथा कन्दर्पकथाकथनं-कामकथाग्रहः, तथा कन्दर्पोपदेशो विधानद्वारेणैव कुर्विति शंसा च प्रशंसा च कन्दर्पविषया यस्य स कन्दर्पवान् ज्ञेय इति गाथार्थः।

कौत्कुच्यवन्तमाह—

भूमुहणयणाइएहिं, वयणेहिँ अ तेहिँ तेहिँ तहचिट्ठं।
कुणइ य जह कुकुअं चिअ,हसइ परो अप्पणा अहसं१६३२

भ्रूमुखनयनादिभिर्देहावयवैर्वचनैश्च तैस्तैर्हासकारकैः तथा चेष्टा करोति कश्चित् तथाविधमोहदोषाद् यथा कुकुचमेव-गात्रपरिस्पन्दवत् हसति परः-तद्द्रष्टा, आत्मना अहसन्, अभिभिन्नमुखराग इव य एवंविधः स कौत्कुच्यवानिति गाथार्थः।

द्रुतदर्पशीलमाह—

भासइ दुअं दुअं ग–च्छई अ दप्पिअ व्व गोविसो सरए।
सव्वदुअदुअकारी,फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं ॥१६३३॥

भाषते द्रुतं द्रुतमसमीक्ष्य संभ्रमाद् वेगाद् गच्छति च द्रुतं द्रुतमेव, 'दर्पित इव' दर्पोद्धुर इव 'गोवृषभो' बलीवर्दविशेषः शरदि काले तथा सर्वद्रुतद्रुतकारी असमीक्ष्यकारीति यावत् तथा स्फुटतीव तीव्रोद्रेकविशेषात् स्थितोऽपि 'दर्पेण' कुत्सितबलरूपेण य इत्थंभूतः स द्रुतदर्पशील इति गाथार्थः।

हासकरद्वारमाह—

वेसवयणेहिँ हासं, जणयंतो अप्पणो परेसिं च।
अह हासणे त्ति भण्णइ,घयणो व्व छले णिअच्छंतो।।१६३४।

वेषवचनैस्तथा चित्ररूपैर्हासं जनयन्नात्मनः परेषां च द्रष्टृणामथ हासन इति भण्यते, हासकर इत्यर्थः। 'घतन इव' भाण्ड इव 'छलानि' छिद्राणि 'नियच्छन्निति' गाथार्थः।

विस्मापकद्वारमाह—

सुरजालमाइएहिं, तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स।
तेसु ण विम्हियइ सयं, आहट्टकुहेडएसुं च ॥ १६३५ ॥

'सुरजालादिभिस्तु इन्द्रजालिको विस्मयं करोति चित्तविभ्रमलक्षणं तद्विधजनस्य—बालिशप्रायस्य, तेष्विन्द्रजालादिषु न विस्मयते विस्मयं स्वयं न करोत्यात्मना आहट्टकुहेटकेषु च पुनस्तथाविधग्राम्यलोकप्रतिबद्धेषु य सविस्मापक इति गाथार्थः। उक्ता कान्दर्पी भावना।

किल्बिषिकीमाह—

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं।
भासं अवण्णवाई, किव्बिसियं भावणं कुणइ ॥१६३६॥

ज्ञानस्य-श्रुतरूपस्य 'केवलिनां' वीतरागाणां 'धर्माचार्याणां' गुरूणां सर्वसाधून् सामान्येन, भाषमाणोऽवर्णम्-श्लाघारूपं तथा मायी सामान्येन यः स कैल्बिषिकीं भावनां तद्भावाभ्यासरूपां करोतीति गाथार्थः।

ज्ञानाऽवर्णमाह—

काया वया य ते च्चिअ, ते चेव पमायअप्पमाया अ।
मोक्खाहिअारिआणं, जोइसजोणीहिँ किं कज्जं।१६३७।

कायाः-पृथिव्यादयः, व्रतानि-प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि, तान्येव भूयो भूयः, तथा त एव प्रमादाः—मद्यादयः, अप्रमादाश्च तद्विपक्षभूताः तत्र तत्र कथ्यन्त इति पुनरुक्तदोषः, तथा मोक्षाधिकारिणां—साधूनां ज्योतिषयोनिभ्या-ज्योतिषयोनिप्रवृत्तिभ्यां किं कृत्यं ?, न किञ्चिद्भवहेतुत्वादिति ज्ञानावर्णवादः, इह कायादय एव यत्नेन परिपालनीया इति। तथा तदुपदेशः उपाधिभेदे तन्मा भूद्वि राधनेति ज्योतिःशास्त्रादि च शिष्यग्रहणपालनफलमित्यदुष्टफलमेव सूक्ष्मधिया भावनीयमिति गाथार्थः।

कैवल्यवर्णमाह द्वारं—

सव्वे वि ण पडिबोहेँइ, णयाऽविसेसेण देइ उवएसं।
पडितप्पइ ण गुरूण वि,आणो इह णिट्ठिअट्ठो उ।१६३८।

सर्वानपि प्राणिनो न प्रतिबोधयतीति न समवृत्तिर्नैव वा विशेषेण दद्यात्युपदेशमपि तु गम्भीरगम्भीरतरदेशनाभेदेन, तथा परितप्यते न गुरुभ्योऽपि दानादिना आस्तामन्यस्य ज्ञातः सत्रवमिति निष्ठितार्थ एवालौकिको गर्हा शब्द एष इति कैवल्यवर्णवादः। नह्यभव्याः, काङ्क्षुकमायाश्च भव्याः केनचित्प्रतिबोध्यन्ते उपायाभावादिति सर्वानपि न प्रतिबोधयति, अत एवाविशेषेण न दद्यात्युपदेशं गुणगुरुत्वाच्च गुरुभ्यो न परितप्यते साधुर्निष्ठितार्थ इति गाथार्थः।

धर्माचार्यावर्णमाह—

जच्चाईहिँ अवण्णं, विहँसइ वट्टइ णयावि ओवाए।
अहिओ छिद्दप्पेही, पगासवाई अणणुलोमो॥१६३६॥

जात्यादिभिः सद्भिरसद्भिर्वा अवर्णमश्लाघारूपं विभाषते अनेकधा ब्रवीति, वर्त्तते नचाप्युपपाते-गुरुसेवावृत्तौ तथा अहितः छिद्रप्रेक्षी गुरोरेव प्रकाशवादी-सर्वसमक्षं तद्दोषवादी अननुलोमः—प्रतिकूल इति धर्माचार्यावर्णवादः। जात्यादयो ह्यकारणमत्र गुणा कल्याणकारणं, गुरु पञ्चिया-भिनिवेशादयस्त्वतिरौद्रा इति गाथार्थः।

साध्ववर्णमाह द्वारं—

अविसहणाऽतुरियगई,अणाणुवित्ती अ अवि गुरूणं पि।
खणमित्तपीइरोसा, गिहिवच्छलगा य सचइया॥१६४०॥

अविषहणा न सहन्ते कस्यचिदपि तु देशान्तरं यान्ति। अत्वरितगतयो मन्दगामिन इत्यर्थः। अननुवर्त्तिनः स्वप्रकृतिनिष्ठुरा अपि तु गुरूनपि प्रत्यासन्नामन्यो जनः, तथा क्षणमात्रप्रीतिरोषाः नैव स्थास्नवः लुब्धा गृहिवत्सलाश्च स्वभावेन सञ्चयिनः सर्वसङ्ग्रहपरा इति साध्ववर्णवादः। इहाविषहणाः परोपतापेन अत्वरितगतय ईर्यादिरक्षायैवाननुवर्त्तिनः असंयमादेस्तथा, क्षणमात्रप्रीतिरोषाः अल्पकषायतया, गृहिव-

स्सला धर्म्मप्रतिपत्तये संचयवन्त उपकरणाभावे परलोकाभावादिति गाथार्थ.।

मायिस्वरूपमाह दारं—

गूहइ आयसहावं, छायइ अगुणे परस्स संते वि।
चोरो व्व सव्वसंकी, गूढायारो हवइ मायी ॥ १६४१ ॥

गूहति—प्रच्छादयत्यात्मनः स्वभावं गुणाभावरूपमशोभनं छादयति गुणान्परस्यान्यस्य सतोऽपि विद्यमानानपि मायादोषेण तथा चौर इव सर्वशङ्की स्वचित्तदोषेण गूढाचार' सर्वत्र वस्तुनि भवति मायी जीव इति गाथार्थः। उक्ता कैल्विषिकी भावना।

आभियोगिकीमाह दारं—

कोउअ भूईकम्मे, पसिणा इअरे णिमित्तमाजीवी।
इड्ढिरससायगुरुओ, अभिओगं भावणं कुणइ ॥१६४२॥

कौतुक वक्ष्यमाणम् एवं भूतिकर्म्म एवं प्रश्न', एवमितरः प्रश्नाप्रश्न एव निमित्तम् आजीवति कौतुकाद्याजीवक. ऋद्धिरससातगुरु. सन्नाभियोगा भावना करोति, तथाविधाभ्यासादिति गाथार्थ'। पं० व० ४ द्वार। (कौतुकस्वरूपनिरूपणं 'कोउय' शब्दे तृतीयभागे ६६६ पृष्ठे गतम्।)

भूतिकर्माण्याह—

भूइए अ मट्टिआए, सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु।
वसहीसरीरभंडग–रक्खा अभिओगमाईआ ॥१६४४॥

भूत्या भस्मरूपया मृदा वाऽऽर्द्रपांसुलक्षणया सूत्रेण वा प्रसिद्धेन भवति भूतिकर्म्म परिरयवेष्टनरूपम्। किमर्थमित्याह-वसतिशरीरभण्डकरक्षेत्येतद्रक्षार्थमभियोगादय इति कृत्वा तेन कृतेन तद्रक्षा कर्तुमिति गाथार्थ.।

प्रश्नस्वरूपमाह दारं—

पण्हाउ होइ पसिणं, जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं।
अंगुट्ठोच्छिट्ठपए, दप्पणअसितोयकुड्डाई ।। १६४५ ॥

प्रश्नस्तु भवति पाठादिरूपः प्रश्न इति यत्पश्यति स्वयमात्मना तुशब्दादन्ये च अवस्था प्रस्तुतं च स्तुते स प्रश्न इति। क तादित्याह-अङ्गुष्ठोच्छिष्टपदे इत्यङ्गुष्टपदे तु शिष्ट' कासारादिभक्षणेन एवं दर्पणे-आदर्शे असौ च-खड्गे तोये-उदके कुड्ये—भित्तौ आदिशब्दान्मदनफलादिपरिग्रह, (पाठान्तरे-) कुड्यादि कुद्ध' प्रशान्तो वा पश्यति—कल्पविशेषादिति गाथार्थ.।

प्रश्नाप्रश्नमाह—

पसिणापसिणं सुमिणे, विज्जासिट्ठं कहेइ अन्नस्स।
अहवा आइंखणिए,घंटिअसिट्ठिं परिकहेइ ॥ १६४६ ॥

प्रश्नाप्रश्नोऽयमेवंविधो भवति, य. स्वप्ने ' विद्याशिष्ट- विद्याकथितं सत्कथयत्यन्यस्मै शुभजीवितादि, अथवा-'आइंखणि ए' त्ति। ईक्षणिका दैवज्ञा आख्यात्री लोकसिद्धा डोम्बी, साऽपि घण्टिकाशिष्ट घण्टिकाया स्थित्वा घण्टिकयतेण कथित परिकथयत्येष वा प्रश्नाप्रश्न इति गाथार्थ।

निमित्तमाह—

तिविहं होइ णिमित्तं, तीए पच्चुप्पणागयं चेव।
एत्थ सुभासुभभेअं, अहिगरणेतरविभासाए ॥१६४७॥

त्रिविधं भवति निमित्तं कालभेदेनेत्याह-अतीतं प्रत्युत्पन्नमनागत चैव,अतीतादिविषयत्वात्तस्य, अत्र शुभाशुभभेदमेतल्लोके, कथमित्याह—अधिकरणेतरविभाषा यत्साधिकरणं तदशुभमिति गाथार्थ.।

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिओगिअं बंधे।
बीअं गारवरहिओ, कुव्वइ आराह उच्चं च॥१६४८॥

एतानि भूतिकर्मादीनि गौरवार्थ-गौरवनिमित्त कुर्वन् अपि. आभियोगिकम् अभियोगनिमित्तं बध्नाति कर्म्म देवताद्यभियोगादि कृत्यमेतत्। द्वितीयमपवादपदनिमित्तम्, अत्र गौरवरहित सन्निस्पृह एव करोत्यतिशयज्ञाने सत्येतत्स चैवं कुर्व्वन्नाराधको न विराधक', उच्चं च गोत्रं बध्नातीति शेष.। तीर्थोन्नतिकरणादिति गाथार्थः। उक्ता आभियोगिकी भाना।

साम्प्रतमासुरीमाह—

अणुबद्धविग्गहे वि अ, संसत्ततवो णिमित्तमाएसी।
णिक्किवणिराणुकंपो,आसुरिअं भावणं कुणई ॥१६४९॥

अनुबद्धविग्रह.—सदा कलहशील., अपि च-ससक्ततपा आहारादिनिमित्तं तप.कारी, तथा निमित्तम्-अतीतादिभेदमादिशति। तथा निष्कृप.-कृपारहित ,तथा निरनुकम्पोऽनुकम्पारहित. अन्यस्मिन् कम्पमानेऽपि। इत्यासुरीभावनांपतो भवतीति गाथार्थ.।

व्यासार्थमाह—

णिच्चं, वुग्गहसीलो, काऊण य णाणुतप्पई पच्छा।
ण य खामिओ पसीअइ,अवराहीणं दुविण्हं पि।१६५०।

नित्य व्युद्ग्रहशीलः[1]–सततं कलहस्वभावः, कृत्वा च कलह नानुतप्यते पश्चादिति न च क्षान्त सन्नपराधिना प्रसीदति-प्रसादं गच्छति। अपराधिनोर्द्वयो —स्वपक्षपरपक्षगतयो. कषायोदयादेवेत्येषोऽनुबद्धविग्रह इति गाथार्थ.।

संसक्ततपसमाह—

आहारउवहिसिज्जा–सु जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो।
भावोवहओ कुणइ अ, तवोवहाणं तयट्ठाए ॥१६५१॥

आहारोपधिशय्यास्वोदनादिरूपासु यस्य भावस्तु-आशय. 'नित्यसंसक्त'–सदा प्रतिबद्ध., भावोपहत स एवभूत. करोति च तप उपधानम्-अनशनादि, तदर्थम्-आहाराद्यर्थ यः स ससक्ततपा यतिरिनि गाथार्थ.।

निमित्तादेशनमाह दारं—

तिविहं निमित्तं एक्कि–क्क छव्विहं तं तु होइ विण्णेअं।
अभिमाणाभिनिवेसा,वागरिअं आसुरं कुणई॥१६५२॥

त्रिविधं भवति निमित्तम्-कालभेदेन, एकैक षड्विध लाभालाभसुखदु.खजीवितमरणविषयभेदेन तत्तु भवति विज्ञेय-

[1]–तालव्या अपि दन्त्याश्च शम्बशूकरपाशव.। अमरटीका।

म्। एतच्चाभिमानाभिनिवेशादित्यभिमानतीव्रतया व्याकृतं, सदा आसुरीं भावनां करोति तद्भावाभ्यासरूपत्वादिति गाथार्थः।

निष्कृपमाह द्वारं—

चंकमणाईसत्तो, सुणिक्किवो थावराइसत्तेसु।
काउं च णाणुतप्पइ,एरिसओ णिक्किवो होइ ॥१६५३॥

चङ्क्रमणादि—गमनासनादि तत्र सक्तः सन् कश्चित्सुनिष्कृपः सुष्ठु गतघृणः स्थावरादिसत्त्वेषु करोत्यजीवप्रतिपत्त्या कृत्वा वा चङ्क्रमणादि नानुतप्यते केनचिन्नोदितः सन्नेतादृशो निष्कृपो भवति, लिङ्गमेतदस्येति गाथार्थः।

निरनुकम्पमाह द्वारं—

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो।
एसो उ णिरणुकंपो, पएणत्तो वीअरागेहिं ॥ १६५४ ॥

यस्तु परं कम्पमानं दृष्ट्वा कुतश्चिद्धेतुतः न कम्पते कठिनभावः सन् क्रूरतया एष पुनः निरनुकम्पो जीवः प्रज्ञप्तो वीतरागैराप्तैरिति गाथार्थः। उक्ता आसुरी भावना।

सांप्रतं संमोहनीमाह द्वारं—

उम्मग्गदेसओम-ग्गदूसओ मग्गविप्पडीवत्ती।
मोहेण य मोहित्ता, संमोहणिं भावणं कुणई ॥१६५५॥

उन्मार्गदेशक वक्ष्यमाण', एवं मार्गदूषकः एवं मार्गविप्रतिपत्तिः तथा मोहेन स्वगतेन तथा मोहयित्वा पर संमोहिनीं भावना करोति। तद्भावाभ्यासरूपत्वादिति गाथार्थः।

उन्मार्गदेशकमाह—

णाणाइ दूसयंतो, तव्विवरीअं तु उद्दिसइ मग्गं।
उम्मग्गदेसओ ए-स होइ अहिओ अ सपरेसिं ॥१६५६॥

ज्ञानादीनि दूषयन्पारमार्थिकानि तद्विपरीतं तु पारमार्थिकज्ञानविपरीतमेवोद्दिशति मार्गं धर्मसंबन्धिनमुन्मार्गदेशक एष एवभूतः भवत्यहित., एवं परमार्थेन स्वपरयोर्द्वयोरपीति गाथार्थ। पं० व० ४ द्वार। (मार्गदूषकव्याख्या 'मग्गदूसग' शब्दे षष्ठभागे ५८ पृष्ठे गता।)

मार्गविप्रतिपत्तिमाह—

जो पुण तमेव मग्गं, दूसित्ताऽपंडिओ सतकाए।
उम्मग्गं पडिवज्जइ, विप्पडिवत्तेस मग्गस्स ॥ १६५८ ॥

यः पुनस्तमेव मार्ग—ज्ञानादि दूषयित्वा अपण्डित' सन् स्वतर्कया जातिरूपया देशे उन्मार्गं प्रतिपद्यते एष एव मार्गविप्रतिपत्तिरिति गाथार्थ.।

मोहमाह—

तह तह उवहयमइओ, मुज्झइ णाणचरणंतरालेसु।
इड्ढीओ अ बहुविहा, दट्ठुं जत्तो उ मोहो य ॥ १६५९॥

तथा तथा चित्ररूपतया उपहतमतिः सन् मुह्यति ज्ञानचरणान्तरालेषु गहनेषु ऋद्धीश्च बहुविधा दृष्ट्वा परतीर्थिकानां यतो मुह्यत्यसौ मोह इति गाथार्थ।

मोहयित्वेति व्याचिख्यासुराह—

जो पुण मोहेइ परं, सब्भावेणं च कइअवेणं वा।
समयंतरम्मि सो पुण, मोहित्ता घेप्पइ अणेणं॥१६६०॥

यः पुनर्मोहयति परमन्यं प्राणिनं सद्भावेन वा तथ्येनैव कैतवेन वा परिकल्पितेन समयान्तरे-परसमये मोहयति-स पुनरेवभूत. प्राणी 'मोहयित्वे' ति गृह्यते अनेन द्वारगाथावयवेनेति गाथार्थः।

आसा भावनानां फलमाह—

एयाओं भावणाओ, भावित्ता देवदुग्गइं जंति।
तत्तो वि चुआ संता, पडिंति भवसागरमणंतं ॥१६६१॥

एता भावना भावयित्वा अवश्यं देवदुर्गतिं यान्ति प्राणिन., ततस्तस्या अपि च्युता. सन्त. देवदुर्गतेः पर्यटन्ति भवसागरं-ससारसमुद्रमनन्तमिति गाथार्थ.।

प्रकृतोपयोगमाह—

एयाओं विसेसेणं, परिहरई चरणविग्घभूआओ।
एअन्निरोहओ चिअ,सम्मं चरणं पि पावेइ ॥१६६२॥

एता भावना विशेषेण परिहरति चरणविघ्नभूता.। एता इति एतन्निरोधादेव कारणात्सम्यक्चरणमपि प्राप्नोति प्रस्तुतानशनीति गाथार्थ.।

आह ण चरणविरुद्धा, एआओ एत्थ चेव जं भणिओ।
जो संजओ वि भइओ,चरणविहीणो अ इच्चाई ॥१६६३॥

आह न चरणविरुद्धा. एता भावना., अत्रैव यद् भणित ग्रन्थे य. संयतोऽप्येतास्वित्यादि तथा भाज्यश्चरणहीनश्चेत्यादि प्रागिति गाथार्थ.।

अत्रोत्तरम्—

ववहारणया चरणं, एआसुं जं असंकिलिट्ठो वि।
कोई कंदप्पाई, सेवइ ण उ णिच्छएँण एसुं ॥१६६४॥

व्यवहारनयाच्चरणम् एतासु भावनासु यदसङ्क्लिष्टोऽपि प्राणी कश्चित्कन्दर्पादीन् सेवते, न तु निश्चयेन तेन चरणमेतास्विति गाथार्थः।

एतदेवाह—

अखंडं गुणट्ठाणं, इट्ठं एअस्स णियमओ चेव।
सइ उचियपवित्तीए, सुत्ते वि जओ इमं भणियं ॥१६६५॥

अखण्ड गुणस्थानं निरतिचारमिष्टमेतस्यां नियमत एव निश्चयनयेन यस्य सदौचित्यप्रवृत्त्या हेतुभूतया सूत्रेऽपि यत इद भणित वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः।

किं तदित्याह—

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अण्णो।
वड्ढेइ अ मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥ १६६६ ॥

यो यथावादं यथाऽऽगमं न करोति विहितं मिथ्यादृष्टिस्ततएवंभूतात्कोऽन्य. स एवाज्ञाविराधनादि विवर्द्धयति च, मिथ्यात्ववशादात्मन परस्य शङ्का जनयन्सदनुष्ठानविषयामिति गाथार्थ.।

स्याद् यथावादमेव कन्दर्पादिकरणमित्याशङ्कयाह—

कंदप्पाई वाओ, न चेह चरणम्मि सुइ कहं चि ।
ताए अ सेवणं पि हु, तह वायविराहगं चेव ॥१६६७॥

कन्दर्पादिवादो नचेहागमे चरणे चारित्रविषय. श्रूयते क्वचित्कस्मिंश्चित्सूत्रस्थाने, तत्तस्मादेतत्सेवनं कन्दर्पसेवनमपि तद्वादविराधकं चारित्रवादविराधकमेवेति गाथार्थः ।

एवं निश्चयनयेनैतदुक्तम्—

किं तु असंखिज्जाइं, संजमठाणाइं जेण चरणे वि ।
भणियाइँ जाइँ भेया, तेण न दोसो इहं कोइ ॥१६६८॥

किं त्वसंख्येयानि संयमस्थानानि तारतम्यभेदेन येन चरणेऽपि-चारित्रेऽपि भणितान्यागमे जातिभेदात्तज्जातिभेदेन तेन कारणेन दोषा इह कश्चित्कन्दर्पादौ तथाविधसंयमस्थानभावादिति गाथार्थः ।

प्रकृतयोजनामाह—

एआणँ विसेसेणं, तच्चाओ तेण होइ कायव्वो ।
पुव्विं तु भाविआण वि, पच्छातावाइजोगेणं ॥१६६९॥

एतासां भावनानां विशेषेण तत्त्यागो भवति तेन कर्त्तव्यो विवक्षिताऽनशनिना, पूर्वभावितानामपि सतीनां पश्चात्तापादियोगेन भवसारेणेति गाथार्थः ।

कयमित्थ पसंगेणं, पगयं वोच्छामि सव्वणयसुद्धं ।
भत्तपरिणाए खलु, विहाणसेसं समासेणं ॥१६७०॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन, प्रकृतं वक्ष्यामि । किंभूतं सर्वनयविशुद्धम्, किमित्याह-भक्तपरिज्ञाया. खलु विधानशेषं यच्छोक्तं तं समासेन-सङ्क्षेपेणेति गाथार्थ. ।

वियडणअब्भुट्ठाणं, उचिअं संलेहणं च काऊण ।
पच्चक्खाइ आँहारं, तिविहं चउव्विहं वाऽवि ॥१६७१॥

विकटना दत्त्वा तदन्वभ्युत्थानं संयमे उचितां सलेखना च संहननादे. कृत्वा प्रत्याख्यात्याहारं गुरुसमीपे त्रिविध चतुर्विधं चापि यथासमाधानमिति गाथार्थः ।

उव्वत्तइ परिअत्तइ, सयमन्नेणावि कारवइ किंचि ।
जत्थऽसमत्थो नवरं, समाहिजणग अपडिबद्धो ।१६७२।

उद्वर्त्तते परावर्त्तते स्वयमात्मनैव अन्येनापि कारयति, किंचित् वैयावृत्त्यकरणे यत्रासमर्थो नवर तत्कारयति , समाधिजनकं दयात्मन. अप्रतिबद्ध. सन् सर्वत्रेति गाथार्थ. ।

मेत्तादी सत्ताइसु, जिणिंदवयणेण तह य अच्चत्थं ।
भावेइ तिव्वभावो, परमं संवेगमावण्णो ॥ १६७३ ॥

मैत्र्यादीनि मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वादिषु सत्त्वगुणाधिकस्य मानाविनेयेषु जिनेन्द्रवचनेन हेतुभूतेन तथा चात्यर्थं नितरां भावयति तीव्रभाव. सन् परम सवेगमापन्न अतिशयेनार्द्रान्त करण इति गाथार्थ ।

देहसमाधौ यतितव्यमित्याह—

सुहझाणाओ धम्मो, तं देहसमाहिसंभवं पायं ।
ता धम्माऽपीडाए, देहसमाहिम्मि जइअव्वं ॥१६७४॥

शुभध्यानाद्धर्मादे. धर्मो भवति तच्छुभध्यान देहसमाधिसंभवं प्रायो बाहुल्येनास्मद्विधानाम् । यत एवं तत्तस्माद्धर्मापीडया हेतुभूतया देहसमाधौ-शरीरसमाधाने यतितव्य-प्रयत्न कार्य इति गाथार्थः ।

इहरहछेवट्ठम्मि य, संघयणे थिरधिईए रहिअस्स ।
देहस्स समाहीए, कत्तो सुहझाणभावो त्ति ॥ १६७५ ॥

इतरथा छेदवर्तिनि संहनने सर्वजघन्य इत्यर्थ । स्थिरधृत्या रहितस्य दुर्बलमनस' देहस्याऽसमाधौ संजाते सति कुत. शुभध्यानभावो नैवेति गाथार्थ. ।

तयभावम्मि अ असुहा,जायइ लेसा वि तस्स णियमेणं ।
तत्तो अ परभवम्मि अ,तल्लेसेसुं तु उववाओ ॥१६७६॥

तदभावे च-शुभध्यानाभावे च अशुभा जायते लेश्याऽपि तथाविधात्मपरिणामरूपा तस्य नियमेन देहासमाधिमतः ततश्चाशुभलेश्यातः परभवे—जन्मान्तरेऽपि तल्लेश्यास्वेवोपपातो महाननर्थ इति गाथार्थ ।

तम्हा उ सुहं झाणं, पच्चक्खाणिस्स सव्वजत्तेणं ।
संपाडेअव्वं खलु, गीअत्थेणं सुआणाए ॥ १६७७ ॥

यस्मादेवं तस्मात् शुभमेव ध्यानं प्रत्याख्यानिन. सर्वयत्नेन कवचज्ञातात्सपादयितव्य खलु नियोगत. गीतार्थेन श्रुताज्ञेन-साधुनेति गाथार्थ. ।

सो वि अ अप्पडिबद्धो, दुल्लहलाभस्स विरइभावस्स ।
अप्पडिपडणत्थं वि अ,तं तं चिट्ठं करावेइ ॥ १६७८ ॥

सोऽपि च प्रत्याख्यानी अप्रतिबद्धः सर्वत्र दुर्लभलाभस्य दुर्लभप्राप्तेः विरतिभावस्य—चारित्रस्य अप्रतिपतनार्थमेव चाज्ञापरतन्त्र. सन् ता ता चेष्टा कारयति कवचादिरूपामिति गाथार्थ. ।

तह वि तया अदीणो,जिणवरवयणम्मि जायबहुमाणो ।
संसाराउ विरत्तो,जिणेहिँ आराहओ भणिओ॥१६७९॥

तथापि तदा अदीन. सन् भावेन जिनवरवचने जातबहुमान. वचनैकनिष्ठ. सन् ससाराद्विरक्त. सविग्नो जिनैराराधको भणित. परमार्थत इति गाथार्थ. ।

अत्रोपपत्तिमाह—

जं सो सया वि पायं,मणेण संविग्गपक्खिओ चेव ।
इअरो उ विरइयणं,न लहइ चरमे वि कालम्मि॥१६८०॥

यदसावेवंविध. सदापि प्राय. मनसा भावेन सविग्नपाक्षिक एवम् इतरस्त्वसंविग्नपाक्षिक. विरतिरत्न-चारित्रं न लभत न प्राप्नोति चरमकालेऽपीति गाथार्थ. ।

संविग्गपक्खिओ पुण, अन्नत्थ पयट्टओ वि काएणं ।
धम्मे चिअ तच्चित्तो,दढरति त्थि व्व पुरिसम्मि।१६८१।

संविग्नपाक्षिक. पुन. शीतलविहारी अन्यत्र प्रवृत्तोऽपि कायादिभोगे कायन प्रमादात् धर्म्मे एव तच्चित्त. तद्गतचित्त. दृढरक्तस्त्रीवत् पुरुष । सा यथा कुलजा प्रोषितभर्तृ-

का क्वचिज्ञातरागा काश्चिद्विरक्तस्वल्पकालतत्प्राप्त्या दानादिक्रियाप्रवृत्ताऽपि तद्गतचित्ता पापे न युज्यते, स्वल्पं च दानादिक्रियाफलमाप्नोतीत्येवं संविग्नपाक्षिकोऽपि कायमात्रेण समञ्जसप्रवृत्तो भावेन धर्मरक्तो धार्मिक एव मन्तव्य इति गाथार्थः।

तत्तो चित्र भावाओ,णिमित्तभूअम्मि चरमकालम्मि।
उक्करिसविसेसेणं, कोई विरइं पि पावेइ ॥ १६८२ ॥

तत एव भावात्—धर्मविषयात् निमित्तभूते चरमकाले सति उत्कर्षविशेषेण शुभभावस्य कश्चिद्विरतिमपि प्राप्नोति धन्य इति गाथार्थः।

युक्तियुक्तमेतत्—

जो पुण किलिट्ठचित्तो, णिरवेक्खोऽणत्थदंडपडिबद्धो।
लिंगोवघायकारी, ण लहइ सो चरमकाले वि॥१६८३॥

यः पुनः क्लिष्टचित्तः सत्त्वनिरपेक्षः सर्वत्रानर्थदण्डप्रतिबद्धः तथा लिङ्गोपघातकारी तेन तेन प्रकारेण न लभते स विरतिरत्नं चरमकालेऽपीति गाथार्थः।

चोएइ कहं समणो, किलिट्ठचित्ताइदोसवं होइ।
गुरुकम्मपरिणईओ, पायं तह दव्वसमणो अ॥१६८४॥

चोदयति चोदकः, कथं श्रमणः संक्लिष्टचित्तादिदोषवान् भवतीति, उत्तरमत्र—गुरुकर्मपरिणतेर्भवति प्रायस्तथा बाहुल्येन द्रव्यश्रमणश्चेति गाथार्थः।

एतदेव समर्थयते—

गुरुकम्मओ पमाओ, सो खलु पावो जओ तओऽणेगे।
चोद्दसपुव्वधरा वि हु, अणंतकाए परिवसंति॥१६८५॥

गुरुकर्मणः सकाशात्प्रमादो भवति, स खलु पापोऽतिरौद्रः यस्ततः प्रमादादनेके चतुर्दशपूर्वधरा अपि तिष्ठन्त्यनन्तकाये परिवसन्ति वनस्पताविति गाथार्थः।

किञ्च—

दुक्खं लब्भइ नाणं, नाणं लद्धूण भावणा दुक्खं।
भाविअमई वि जीवो,विसएसु विरज्जई दुक्खं॥१६८६॥

दुःखं लभ्यते-कृच्छ्रेण-प्राप्यते ज्ञानं—यथास्थितपदार्थावसायि,तथा ज्ञानं लब्ध्वा-प्राप्य भावना एवमेवैतदित्येवंरूपा दुःखं भवति। भावितमतिरपि जीवः कथंचित् कर्मपरिणतिवशात् विषयेभ्यः शब्दादिभ्यो विरज्यते अपरिवृत्तिरूपेण दुःखं तत्प्रवृत्तेः सात्मीभूतत्वादिति गाथार्थः।

एवं गुरुकर्मपरिणतेः क्लिष्टचित्तादिभावो विरुद्धः, द्रव्यश्रमणमाह—

अन्ने उ पढमगं चित्र, चरित्तमोहक्खओवसमहीणा।
पव्वइआ ण लहंती,पच्छा वि चरित्तपरिणामं॥१६८७॥

अन्ये तु प्रथममेव-आदित आरभ्य चारित्रमोहक्षयोपशमहीनाश्चारित्रमन्तरेणैव प्रव्रजिताः द्रव्यत एवंभूताः सन्तो न लभन्ते पश्चादपि तत्रैव तिष्ठन्तश्चारित्रपरिणामं प्रव्रज्यास्तित्वरूपमिति गाथार्थः।

एतदेवाह—

मिच्छादिट्ठीओ वि हु, केई इह होंति दव्वलिंगधरा।
ता तेसिं कह ण हुंती,किलिट्ठचित्ताइओ दोसा॥१६८८॥

मिथ्यादृष्टयोऽपि अपिशब्दादभव्या अपि केचनेह लोके शासने वा भवन्ति द्रव्यलिङ्गधारिणो विडम्बकप्रायाः, तत्तस्मात्तेषामेवंभूतानां कथं न भवन्ति?, भवन्त्येव क्लिष्टचित्तादयो दोषाः प्रागुपन्यस्ता इति गाथार्थः।

तत्रैव प्रक्रमे विधिशेषमाह—

एत्थ य आहारो खलु, उवलक्खणमेव होइ णायव्वो।
वोसिरइ तओ सव्वं, उवउत्तो भावसल्लं पि॥१६८९॥

अत्र चानशनाधिकारे आहारः खलु परित्यागमधिकृत्योपलक्षणमेव भवति ज्ञातव्यः शेषस्यापि वस्तुनः। तथा चाह—व्युत्सृजति—परित्यजत्यसावनशनी सर्वम्, उपयुक्तः सन् भावशल्यमपि सूक्ष्ममिथ्यात्वादीनीति गाथार्थः।

किं बहुना—

अन्नं पिव अप्पाणं, संवेगाइसयाउ चरमकाले।
मन्नइ विसुद्धभावो,जो सो आराहओ भणिओ॥१६९०॥

अन्यमिवात्मानं प्राक्तनादात्मनः संवेगातिशयात् संवेगातिशयेन चरमकाले प्राणप्रयाणकाले मन्यते शुद्धभावः सन् सर्वाऽसदभिनिवेशत्यागेन यः स आराधको भणितस्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः।

अयमेव विशिष्यते—

सव्वत्थापडिबद्धो, मज्झत्थो जीविए अ मरणे अ।
चरणपरिणामजुत्तो,जो सो आराहओ भणिओ॥१६९१॥

सर्वत्राप्रतिबद्धः इहलोके परलोके च,तथा मध्यस्थो जीविते मरणे च; न मरणमभिलषति नापि जीवितमित्यर्थः, चरणपरिणामयुक्तो न तद्विकलः, य एवंभूतः स आराधको भणितस्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः।

अस्यैव फलमाह—

सो तप्पभावओ चित्र, खविउं तं पुव्वदुक्कडं कम्मं।
जायइ विसुद्धजम्मा,जोग्गो अ पुणो वि चरणस्स॥१६९२॥

स एवंभूतस्तत्प्रभावत एव—चारित्रपरिणामप्रभावादेव क्षपयित्वाऽभावमापाद्य तत्पूर्वदुष्कृतं कर्म शीतलविहारजं जायते विशुद्धजन्मा—जात्यादिदोषरहितः योग्यश्च पुनरपि तज्जन्मापेक्षया चरणस्येति गाथार्थः।

त्रिविधको भवतीति तद्विशेषमभिधातुमाह—

एसो अ होइ तिविहो, उक्कोसो मज्झिमो जहण्णो य।
लेसादारेण फुडं, वोच्छामि विसेसमेएसिं ॥ १६९३ ॥

एष चाराधको भवति त्रिविधः। त्रैविध्यमेवाह—उत्कृष्टो, मध्यमो, जघन्यश्च। भावसापेक्षं चोत्कृष्टत्वादि यत एवमतो लेश्याद्वारेण-लेश्याङ्गीकरणेन स्फुटं-प्रकटं वक्ष्यामि विशेषमेतेषामुत्कृष्टादिभेदानामिति गाथार्थः।

तत्र—

सुक्काए लेसाए, उक्कोसगमंसगं परिणमित्ता।

जो मरइ सो हु णियमा, उक्कोसाराहओ होइ ॥१६६४॥

शुक्लाया लेश्याया सर्वोत्तमाया उत्कृष्टमंशक विशुद्धं प- रिणम्य-तद्भावमासाद्य यो म्रियते कश्चित्सत्त्व स नियमा- देवोत्कृष्टाऽऽराधको भवति स्वल्पभवग्रहश्च इति गाथार्थ.।

मध्यमाऽऽराधकमाह—

जे सेसा सुक्काए, अंसा जे आवि पम्हलेसाए।
ते पुण जो सो भणिओ,मज्झिमओ वीयरागेहिं॥१६६५॥

ये शेषा उत्कृष्टं विहाय शुक्लायाः अंशा'-भेदा , ये चापि पद्मलेश्याया , सामान्येन तान् पुनर्विपरिणम्य यो म्रियते स मध्यमो भणितो मध्यमाराधको वीतरागैर्जिनैरिति गाथार्थः।

जघन्यमाराधकमाह—

तेओ लेसाए जे, अंसा अह नेओ जे परिणमित्ता।
मरइ तओ वि हु णेयो, जहणाराहओ इत्थ ॥१६६६॥

तेजोलेश्याया. ये अंशा.-प्रधाना ,अथवा तान् य. परिणम्या- ऽशकान् कश्चित् म्रियतेऽसावप्येवंभूतो ज्ञेय , किंभूत इ- त्याह—जघन्याराधकोऽत्र प्रवचन इति गाथार्थ ।

अस्यैव सुसंस्कृतभोजनलवणकल्पविशेषमाह—

एसो पुण सम्मत्ताऽऽ-इसंगओ चेव होइ विसेओ।
ण उ लेस्सामित्तेणं,तं जमभव्वाण वि सुराणं॥१६६७॥

एष पुनर्लेश्याया द्वारोक्ताराधक' सम्यक्त्वादिसंगत एव- सम्यक्त्वज्ञानतद्भावस्थायिचरणयुक्त एव भवति विज्ञेय आराधको न तु लेश्यामात्रेण केवलेन आराधक । कुत इ- त्याह-'तत्'-लेश्यामात्र 'यत्' यस्मात् कारणात् अभव्या- नामपि सुराणा भवति, यल्लेश्याश्च म्रियन्ते तल्लेश्या एवो- त्पद्यन्ते इति गाथार्थ ।

आराधकगुणमाह-

आराहगो अ जीवो, तत्तो खविऊण दुक्कडं कम्मं।
जायइ विसुद्धजम्मा,जोग्गो वि पुणो वि चरणस्स॥१६६८

आराधकश्च जीव तत आराधकत्वात् क्षपयित्वा दुष्कृत कर्म्म प्रमादजं ज्ञानावरणादि जन्मादिकुलाद्यपेक्षया योग्यस्य पुनरपि चरणस्य तद्भावभाविन इति गाथार्थ. ।

आराधनाया एव प्रधानफलमाह—

आराहिऊण एवं, सत्तट्ठभवाण सारओ चेव।
तेलुक्कमत्थअत्थो, गच्छइ सिद्धिं णिओगेणं॥१६६९॥

आराध्यैवमुक्तप्रकार, किमित्याह—सप्ताष्टभवेभ्य सप्ता- ष्टजन्मभ्य. आरत एव त्रिपु वा चतुर्षु वा जन्मसु , किमि- त्याह—त्रैलोक्यमस्तकस्थ —सकललोकचूडामणिभूतो ग- च्छति सिद्धिं-मुक्तिं नियोगेनावश्यतयेति गाथार्थ. ।

तत्र च गत सन्—

सव्वण्णु सव्वदरिसी, निरुवमसुहसंगओ य सो तत्थ।
जम्माइदोसरहिओ, चिट्ठइ भयवं सयाकालं ॥१७००॥

सर्वज्ञ सर्वदर्शी नाचेतना गगनकल्प तथा निरुपम- सुखसंगतश्च सकलव्याबाधानिवृत्ते स आराधको मुक्त तत्र सिद्धो जन्मादिदोषरहितः-जन्मजरामरणादिरहित संति- ष्ठति भगवान् सदाकालं-सर्वकालमेव नत्वभावी भवति यथा- ऽऽहुरन्ये-'प्रविध्यातदीपकल्पोपमो मोक्षः इति गाथार्थ । पं०व० ४ द्वार। आव०। ध०। ('पज्जुसवणा' शब्दे वर्षासु स- लेखनाविधि.)

संलेहणाझूसिय-संलेखनाझोषित-त्रि०। संलेखना-शरीरस्य तपसा कृशीकरणं तथा वा ' झूसिय ' त्ति जुष्टा सेविता ये ते तथा। संलेखनाख्यतप.कारिषु, ओघ०।

संलेहणाझोसणाझु(झू)सिय-संलेखनाजोषणा(झूषित)जुष्ट- त्रि०। सलेखनाया-कपायशरीरकृषीकरणे या जोषणा-प्रीतिः सेवा वा जुषी प्रीतिसेवनयोरिति वचनात्, तया ता वा ये जुष्टा. सेवितास्ते तथा ' झूसिय ' त्ति झूषिता. क्षीण ये ते तथा । सलेखनातप.कारिषु, भ० ३ श० ७ उ०। औ०।

संलेहणासुय-संलेखनाश्रुत-न०। यत्र संलेखनाया श्रु- तं प्रतिपाद्यते तत् सलेखनाश्रुतम् । उत्कालकसंलेखना- प्रतिबद्धे उत्कालिकश्रुतविशेषे, पा०।

संलोग-संलोक-पुं०।सलोक्यत इति संलोक।चतुर्दशरज्ज्वा- त्मके लोके , आव० २ अ०। (लोकस्य ध्रुवाध्रुवत्वविचार. ' भूगोल ' शब्दे पञ्चमभागे १६०१ पृष्ठे गत ।) (लोके गो- लानामसख्येयत्वविचार. ' लोक ' शब्दे पष्ठभागे ७०६ पृष्ठे गत'।) प्रकाशे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०। सदर्शने , आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

संवग्ग-संवर्ग-पुं०।संवर्ग्यते इति संवर्ग।गुणिते, व्य०६ उ०। गुणने, नि० चू० १ उ०।

संवच्छर-संवत्सर-पुं०। " ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले" ।८।२।२१। अनेनात्र ह्रस्वात्परस्य त्सस्य छकार'। प्रा०। द्वाद- शमासात्मके वर्षे, आ०म०१अ०।पञ्चा०। "दो अयणा सवच्छ- रे' जं० २ वक्ष०। कर्म०। भ०। ज्यो०। अयनद्वयेन सवत्सर.। तं०। अनु०। आ० म०। विशे०। अनु०। स्था०।

ता कति णं भंते !संवच्छरे आहितोति वदेज्जा ?, ता पंच संवच्छरा आहितेति वदेज्जा, तं जहा-णक्खत्तसंवच्छरे , जुगसंवच्छरे, पमाणसंवच्छरे, लक्खणसंवच्छरे, सणिच्छ- रसंवच्छरे। (सू० ५४)

'ता कइ ण ' मित्यादि, ता इति पूर्ववत् , कति-किंसङ्ख्याः णमिति वाक्यालङ्कार, सवत्सरा आख्याता इति वदेत् ?, भगवानाह-' ता ' इत्यादि, ता इति प्राग्वत् , पञ्च सवत्सरा आख्याता इति वदेत् , तद्यथा-नक्षत्रसवत्सरमित्यादि, तत्र यावता कालेनाष्टाविंशत्याऽपि नक्षत्रै सह क्रमेण योगपरिस- माप्तिस्तावान् कालविशेषो द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रसंवत्स- र , उक्तं च—"नक्खत्तचंदजोगो बारसगुणिओ य नक्खत्तो" अत्र पुनरेकोमितनक्षत्रपर्याययोग एका नक्षत्रमास',स च स- प्तविंशतिरहोरात्रा एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्र- स्य, एष राशिर्यदा द्वादशभिर्गुण्यते तदा त्रीण्यहोरात्रश-

तानि सप्तविंशत्यधिकानि एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एतावत्प्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः। युग पञ्चवर्षात्मकं तत्पूरक. संवत्सरो युगसंवत्सर'। युगस्य प्रमाणहेतुः सवत्सरः प्रमाणसवत्सरः। लक्षणेन यथावस्थिततेनोपपेतः संवत्सरो लक्षणसवत्सरः। शनैश्चरनिष्पादित' सवत्सर. शनैश्चरसंवत्सर.। शनैश्चरसंभव.। सू० प्र० १० पाहु०। नक्षत्रसवत्सरो 'णक्खत्तसंवच्छर' शब्दे चतुर्थभागे १७६२ पृष्ठे उक्तः।) (युगसंवत्सर. 'जुग' शब्दे चतुर्थभागे १५६७ पृष्ठे उक्त।) (प्रमाणसवत्सरः 'पमाणसंवच्छर' शब्दे पञ्चमभागे४७६पृष्ठे उक्तः।) (लक्षणसंवत्सरः 'लक्खणसवच्छर' शब्द षष्ठभागे उक्त.।)

प्रमाणसंवत्सरेऽत्र विशेषमाह—

ता पमाणसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते,तं जहा—नक्खत्ते चंदे उडू आइच्चे अभिवड्डिए। (सू० ५७)

'पमाणे' त्यादि,प्रमाणसंवत्सरः पञ्चविध. प्रज्ञप्त',तद्यथा-नक्षत्रसवत्सर ऋतुसंवत्सरश्चन्द्रसंवत्सर. आदित्यसंवत्सरोऽभिवर्द्धितसंवत्सरश्च। तत्र नक्षत्रचन्द्राभिवर्द्धितसंवत्सराणा स्वरूप प्रागेवोक्तमिदानीमृतुसवत्सरादित्यसवत्सरयो. स्वरूपमुच्यते—तत्र द्वे घटिके एको मुहूर्त्तस्त्रिंशन्मुहूर्त्ता अहोरात्र., पञ्चदश परिपूर्णा अहोरात्रा पक्षः,द्वौ पक्षौ मासो,द्वादश मासा. सवत्सरो, यस्मिश्च संवत्सरे त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि परिपूर्णान्यहोरात्राणा, भवति एष ऋतुसवत्सर.। ऋतवो लोकप्रसिद्धाः वसन्तादय. तत्प्रधान. संवत्सर ऋतुसंवत्सर.। अस्य चापरमपि नामद्वयमस्ति, तद्यथा—कर्मसवत्सर.,सवनसंवत्सर.। तत्र कर्म-लौकिको व्यवहारस्तत्प्रधानः संवत्सर. कर्मसंवत्सरः, लोको हि प्राय. सर्वोऽप्यनेनैव सवत्सरेण व्यवहरति। तथा चैतद्गतमासमधिकृत्यान्यत्रोक्तम्—"कम्मो निरसयाए,मासो ववहारकारगो लोए। सेसाओ संसयाए, ववहारे दुक्करो धित्तुं ॥१॥" तथा सवनं—कर्मसु प्रेरणं 'षू' प्रेरणे इति वचनात्, तत्प्रधान. सवत्सरः सवनसंवत्सर इत्यप्यस्य नाम, तथा चोक्तम्—

"वे नालिया मुहुत्तो, सट्ठी उण नालिया अहोरत्तो।
पन्नरस अहोरत्ता, पक्खो तीस दिणा मासो ॥१॥
संवच्छरो उ बारस, मासा पक्खा य ते चउव्वीस।
तिन्नेव सया सट्ठी, हवंति राइंदियाणं तु ॥२॥
एसो उ कमो भणिओ, निअमा संवच्छरस्स कम्मस्स।
कम्मो त्ति सावणो त्ति य, उउइ त्ति य तस्स नामाणि ॥३॥"

तथा यावता कालेन षडपि प्रावृडादय ऋतव. परिपूर्णा प्रावृत्ता भवन्ति तावान् कालविशेष आदित्यसवत्सर.। उक्त च-"छप्पि उऊ परियट्टा, एसो सवच्छरो उ आइच्चो" तत्र यद्यपि लोके षष्ट्यहोरात्रप्रमाण प्रावृडादिक ऋतु. प्रसिद्ध तथापि परमार्थत स एकषष्ट्यहोरात्रप्रमाणो वेदितव्य, तथैवोत्तरकालमव्यभिचारदर्शनात्, अत एव चास्मिन् संवत्सरे त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानां द्वादशभिश्च मासै सवत्सर भवति, तथा चान्यत्रापि पञ्चस्वपि संवत्सरेषु यथोक्तमेव रात्रिन्दिवाना परिमाणमुक्तम्—

"तिन्नि अहोरत्तसया, छावट्ठा भक्खरो हवइ वासो।
तिन्नि सया पुण सट्ठी, कम्मो संवच्छरो होइ ॥१॥
तिन्नि अहोरत्तसया, चउपन्ना नियमसो हवइ चंदो।
भागो य बारसेव य, बावट्ठिकएण छेएण ॥२॥
तिन्नि अहोरत्तसया, सत्तावीसा य होंति नक्खत्ता।
एक्कावन्न भागा, सत्तट्ठिकएण छेएण ॥३॥
तिन्नि अहोरत्तसया, तेसीई चेव होइ अभिवड्ढी।
चोयालीसं भागा, बावट्ठिकएण छेएण ॥४॥"

एताश्चतस्रोऽपि गाथाः सुगमा'। इदं च प्रतिसंवत्सरं रात्रिन्दिवपरिमाणमग्रेऽपि वक्ष्यति परमिह प्रस्तावादुक्तम्। सम्प्रति विनेयजनानुग्रहाय संवत्सरसंख्यातो माससंख्या प्रदर्श्यते-तत्र सूर्यसंवत्सरस्य परिमाणं—त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवाना द्वादशभिश्च मासै' संवत्सरस्तत्र त्रयाणां शताना षट्षष्ट्यधिकाना द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा. त्रिंशत् ३०, शेषाणि तिष्ठन्ति षट् ६, ते अर्द्धं क्रियते, जाता द्वादश, ततो लब्धमेकं दिवसस्यार्द्धमेतावत्परिमाण. सूर्यमास., तथा कर्मसवत्सरस्य परिमाण-त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानां तेषां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धास्त्रिंशदहोरात्रा एतावत्कर्ममासपरिमाणम्, तथा चन्द्रसंवत्सरस्य परिमाण त्रीण्यहोरात्रशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि द्वादश च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, तत्र त्रयाणा शताना चतुष्पञ्चाशदधिकानां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा एकोनत्रिंशदहोरात्रा., शेषा' तिष्ठन्ति षट् अहोरात्रा, ते द्वाषष्टिभागकरणार्थ द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ३७२, येऽपि द्वादश द्वाषष्टिभागा उपरितनास्तेऽपि तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि चतुरशीत्यधिकानि, तेषा द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागा., एतावच्चन्द्रमासपरिमाणम्। तथा नक्षत्रसंवत्सरस्य परिमाणं-त्रीणि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि रात्रिन्दिवानामेकस्य च रात्रिन्दिवस्य एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागा। तत्र त्रयाणा शताना सप्तविंशत्यधिकाना द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा सप्तविंशतिरहोरात्रा', शेषास्त्रयस्तिष्ठन्ति, ततस्तेऽपि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जाते द्वे शते एकोत्तरे २०१, येऽपि च उपरितना एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागास्तेऽपि तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२, तेषा द्वादशभिर्भाग हृते लब्धा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा, एतावन्नक्षत्रमासपरिमाणम्। तथा अभिवर्द्धितसवत्सरस्य परिमाण—त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च, द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, तत्र त्रयाणा शताना त्र्यशीत्यधिकाना द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा एकत्रिंशदहोरात्रा शेषास्तिष्ठन्त्यहोरात्रा एकादश, ते च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं चतुर्विंशत्युत्तरशतेन १२४ गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदश शतानि चतु षष्ट्यधिकानि १३६४, येऽपि चोपरितनाश्चतुश्चत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागास्तेऽपि चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं द्वाभ्या गुण्यन्ते, जाता अष्टाशीतिः। साऽनन्तरराशौ प्रक्षिप्यते, जातानि चतुर्दश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि १४५२, तेषा द्वादशभिर्भागा ह्रियते, लब्ध-

मेकविंशत्युत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम्, एतावदभिवर्द्धितमासपरिमाणम्, तथा चोक्तम्-

" आइच्चो खलु मासो, तीसं अद्ध च सावणो तीसं ।
चंदो एगुणतीस, बिसट्ठिभागा य बत्तीस ॥ १ ॥
नक्खत्तो खलु मासो, सत्तावीसं भवे अहोरत्ता ।
अंसा य एकवीसा, सत्तट्ठिकएण छेएण ॥ २ ॥
अभिवड्ढिओ य मासो, एक्कत्तीसं भवे अहोरत्ता ।
भागसयमेगवीसं, चउवीससएण छेएण ॥ ३ ॥ "

सम्प्रति एतैरेव पञ्चभि· संवत्सरैः प्रागुक्तस्वरूपं युग पञ्चसंवत्सरात्मकं मासानधिकृत्य प्रमीयते । तत्र युग प्रागुदित'स्वरूप यदि सूर्यमासैर्विभज्यते तत षष्टि सूर्यमासा युगं भवति, तथाहि-सूर्यमासे सार्द्धात्रिंशदहोरात्रा युगे चाहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि भवन्ति । कथमेतदवसीयते इति चेत्, उच्यते-इह युगे त्रयश्चन्द्रसवत्सरा द्वौ चाभिवर्द्धितसवत्सरौ, एकैकस्मिंश्च चन्द्रसवत्सरेऽहोरात्राणा त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि भवन्ति, द्वादश च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ३५४ १२/६२ तत एतत् त्रिभिर्गुण्यते, जातान्यहोरात्राणां दश शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि १०६२ षट्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ३६/६२। अभिवर्द्धितसंवत्सरे च एकैकस्मिन् अहोरात्राणां त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, (तत एतद् द्वाभ्या गुण्यते जातानि सप्तषष्ट्यधिकानि सप्तशतान्यहोरात्राणा षड्विंशतिश्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्य तदेव चन्द्रसंवत्सरत्रयाभिवर्द्धितसंवत्सरद्वयाहोरात्रमीलने त्रिंशदधिकान्यहोरात्राणामष्टादश शतानि, सूर्यमासस्य च पूर्वोक्तरीत्या सार्द्धत्रिंशदहोरात्रमानतेति तेन भागे कृते स्पष्टमेव षष्टेर्लाभ । तथाहि-अष्टादशशत्यास्त्रिंशदधिकाया अर्धीकरणाय द्वाभ्या गुणने षष्ट्यधिका षट्त्रिंशच्छती त्रिंशतश्चार्धीकरणाय द्वाभ्यां गुणने षष्टि, एक प्रक्षेपे एकषष्टिस्तेन पूर्वोक्तराशे· भागे कृते लभ्यते षष्टि, तथा च युगमध्ये सूर्यमासा षष्टिरिति स्थितम् । सावनस्य तु मासा एकषष्टि, त्रिंशद्दिनमानत्वाद् तस्य त्रिंशदधिकाया अष्टादशशत्यास्त्रिंशता भागे एकषष्टेर्लाभात् । चन्द्रमासा द्विषष्टिर्येन एकोनविंशत्या अहोरात्रैरेकोनत्रिंशता द्विषष्टिभागैरधिकैर्मास·, युगदिनाना तैर्भागे च द्वाषष्टेर्लाभात्, कथम्?, त्रिंशदधिकाया अष्टादशशत्या द्विषष्टिभागकरणार्थे गुणकारे एकं लक्षं त्रयोदश सहस्राणि षष्ट्यधिकमेकशतम् ११३१६६, चन्द्रमासस्यापि भागकरणाय द्विषष्ट्या एकोनत्रिंशति गुणिते प्रक्षिप्ते च द्वात्रिंशति त्रिंशदधिकाया अष्टादशशत्या भाव, तया भक्ते पूर्वोक्तराशौ द्वाषष्टेर्भावात् चन्द्रमासा द्वाषष्टिरिति । नक्षत्रमासा सप्तषष्टि, कथमिति चेत्, नक्षत्रमासस्तावत् सप्तविंशत्या अहोरात्रैरेकविंशत्या च सप्तषष्टिभागै,) तत्र सप्तविंशतिरहोरात्रा सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादश शतानि नवोत्तराणि १८०९, तत उपरितना एकविंशति सप्तषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, युगस्यापि सम्बन्धिनस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणा अहोरात्रा सप्तषष्ट्या गुण्यन्त, जात एको लक्षः द्वाविंशतिः सहस्राणि षट् शतानि दशोत्तराणि १२२६१०, एतेषामष्टादशशतैस्त्रिंशदधिकैर्नक्षत्रमाससत्कसप्तषष्टिभागरूपैर्भागो ह्रियते लब्धाः सप्तषष्टिर्भागाः ६७ । तथा यदि युगमभिवर्द्धितमासैः परिभज्यते तदा अभिवर्द्धितमासा युगे भवन्ति सप्तपञ्चाशत् सप्त रात्रिन्दिवानि एकादश मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशति·, तथाहि-अभिवर्द्धितमासपरिमाणमेकत्रिंशदहोरात्रा एकविंशत्युत्तर शतं चतुर्विंशत्यधिकशतभागानामहोरात्रस्य, तत एकत्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते जातान्यष्टत्रिंशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि ३८४४, तत उपरितनमेकविंशत्युत्तरं शत भागानां तत्र प्रक्षिप्यते, जातान्येकोनचत्वारिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३९६५, यानि च युगे अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३० तानि चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते, जाते द्वे लक्षे षड्विंशति· सहस्राणि नव शतानि विंशत्यधिकानि २२६९२०, तत एतेषामेकोनचत्वारिंशच्छतैः पञ्चषष्ट्यधिकैरभिवर्द्धितमाससत्कचतुर्विंशत्युत्तरशतभागरूपै— र्भागो ह्रियते, लब्धा· सप्तपञ्चाशन्मासा· 'शेषाणि तिष्ठन्ति नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, तेषामहोरात्रानयनाय चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त रात्रिन्दिवानि, शेषास्तिष्ठन्ति चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः सप्तचत्वारिंशत्, तत्र चतुर्भिर्भागैरेकस्य च भागस्य चतुर्भिस्त्रिंशद्भागैर्मुहूर्त्तो भवति, तथाहि— एकस्मिन्नहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ता अहोरात्रे च चतुर्विंशत्युत्तर शतं भागानां कल्पितमास्ते, ततस्तस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य त्रिंशता भागे हृते लब्धाश्चत्वारो भागाः एकस्य च भागस्य सत्काश्चत्वारस्त्रिंशद्भागास्तत्र पञ्चचत्वारिंशद्भागैरेकस्य च भागस्य सत्कैश्चतुर्दशभिस्त्रिंशद्भागैरेकादश मुहूर्त्ता लब्धा· शेषस्तिष्ठत्येको भाग·, एकस्य च भागस्य सत्काः षोडश त्रिंशद्भागा । किमुक्त भवति?—षट्चत्वारिंशत्त्रिंशद्भागा एकस्य भागस्य सत्का· शेषास्तिष्ठन्ति, ते च किल मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतभागरूपास्तत· षट्चत्वारिंशतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य च द्विकेनापवर्त्तना क्रियते, लब्धा मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशति· । उक्त चैतदन्यत्रापि—

"तत्थ पडिमिज्जमाणे, पंचहिं मारोहिं सव्वगणिएहिं ।
मासेहिं विभज्जंता, जइ मासा होंति ते वोच्छं ॥१॥"

अत्र 'तत्थे' त्ति तत्र, 'पंचहिं माणेहिं' ति-पञ्चभिर्मानैः-मानसंवत्सरै· प्रमाणसंवत्सरैरादित्यचन्द्रादिभिरित्यर्थ·, पूर्वगणिते·—प्राक्प्रतिसंख्यातस्वरूपै प्रतिमीयमाने प्रतिगण्यमाने मासै —सूर्यादिमासैः शेष सुगमम् । " आइच्चेण उ सट्ठी, मासा उउणो उ होंति एगट्ठी । चंदेण उ बावट्ठी, सत्तट्ठी होंति नक्खत्ते ॥ १ ॥ सत्तावण्ण मासा, सत्त य राइंदियाइँ अभिवड्ढे । इक्कारस य मुहुत्ता, बिसट्ठिभागा य तेवीस ॥ २ ॥ " सू० प्र० १० पाहु० ।

यथा 'संवत्सराणामादिर्वक्तव्य इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते संवच्छराणमादी आहितेति वदेज्जा ?, तत्थ

खलु इमे पंच संवच्छरे पएणत्ता, तंजहा-चंदे,चन्दे, अभिवड्ढिते, चंदे, अभिवड्ढिते। ता एतेसि णं पंचएहं संवच्छराणं पढमस्स चंदस्स संवच्छरस्स के आदी आहितेति वदेज्जा ?, ता जेणं पंचमस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स पज्जवसाणं से णं पढमस्स चंदस्स संवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समए, तीसे णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जेणं दोचस्स आदी चंदसवंच्छरस्स से णं पढवस्स चंदसंवच्छर पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समये। तं समयं च णं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं छदुवीसं मुहुत्ता छदुवीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छित्ता चउप्पएं चुरिण-या भागा सेसा, तं समयं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता वीसं चुरिणया भागा सेसा। ता एएसि णं पंचएहं संवच्छराणं दोचस्स णं चंदसंवच्छरस्स के आदी आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं दोच्चस्स णं चंदसंवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समये, ता से णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं तच्चस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स आदी से णं दोचस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समये। तं समयं च णं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुव्वाहिं आसाढाहिं, पुव्वाणं आसाढाणं सत्त मुहुत्ता तेवएणं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता इगतालीसं चुरिणया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स णं बायालीस मुहुत्ता पणतीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सत्त चुरिणया भागा सेसा। ता एतेसि णं पंचएहं संवच्छराणं तच्चस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स के आदी आहिताति वदेज्जा ?, ता जेणं दोचस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं तच्चस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समए। ता से णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स आदी से णं तच्चस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समए। तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं उत्तराणं आसाढाणं तेरस मुहुत्ता तेरस य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सत्तावीसं चुरिणया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स दो मुहुत्ता छप्पएं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सट्ठी चुरिणया भागा सेसा। ता एएसि णं पंचएहं संवच्छराणं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स के आदी आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं तच्चस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समये, ता से णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं चरिमस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स आदी से णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समये, तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएति?,ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चत्तालीसं मुहुत्ता चत्तालीसं च बा(व)सट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता चउसट्ठी चुरिणया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स अउणतीसं मुहुत्ता एकवीसं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सीतालीसं चुरिणया भागा सेसा, ता एतेसि णं पंचएहं संवच्छराणं पञ्चमस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स के आदी आहिताति वदेज्जा ?,ता जे णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं पंचमस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समये। ता- से णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स आदी से णं पंचमस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समये। तं समयं च णं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं चरमसमये, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुस्सेणं, पुस्सस्स णं एक्कवीसं मुहुत्ता तेतालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं सत्तट्ठिधा छेत्ता तेत्तीसं चुरिणया भागा सेसा। (सू० ७१) ॥ एक्कारसमं पाहुडं समत्तं ॥

'ता कह ते' इत्यादि. ता इति पूर्ववत्, कथ—केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया सवत्सराणामादिराख्यात इति वदेत् ?, भगवानाह—' तत्थ खलु ' इत्यादि, तत्र—संवत्सरविचारविषये खल्विमे पञ्च सवत्सरा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—चन्द्रश्चन्द्रोऽभिवर्धित चन्द्रोऽभिवर्धितः, एतेषां च स्वरूप प्रागेवोपदर्शितम्। भूय प्रश्नयति—' ता एएसि णं' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, एतेषा पञ्चाना संवत्सराणा मध्ये प्रथमस्य चान्द्रस्य सवत्सरस्य क आदिराख्यात इति वदेत् ?, भगवानाह—' ता जे ण ' मित्यादि, यत् पाश्चात्ययुगवर्त्तिन. पञ्चमस्याभिवर्द्धितसवत्सरस्य पर्यवसानं—पर्यवसानसमयः तस्मादनन्तर पुरस्कृतो—भावी य' समय स प्रथमस्य चन्द्रसवत्सरस्यादि, तदेव प्रथमसवत्सरस्यादिर्ज्ञात । स-

प्रति पर्यवसानसमय पृच्छति—' ता से ण ' इत्यादि , ता इति पूर्ववत् , स प्रथमश्चान्द्रसंवत्सरः किं पर्यवसितः— किं पर्यवसान आख्यात इति वदेत् ?,भगवानाह—' ता जे ण ' मित्यादि , यो द्वितीयस्य चान्द्रसंवत्सरस्यादि —आदिसमयस्तस्मादनन्तरो य पुरस्कृत.—अतीतसमय स प्रथमचान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसान-पर्यवसानसमय , 'त समय च ण' मित्यादि, तस्मिंश्चान्द्रसंवत्सरपर्यवसानभूते समये चन्द्र केन नक्षत्रेण सह योग युनक्ति-करोति ? , भगवानाह-' ता उत्तराहिं ' इत्यादि , इह द्वादशभि. पौर्णमासीभिश्चान्द्र संवत्सरो भवति, ततो यदेव प्राक् द्वादश्या पौर्णमास्या चन्द्रनक्षत्रयोगपरिमाणं सूर्यनक्षत्रयोगपरिमाणं चोक्त तदेवान्यूनातिरिक्तमत्रापि द्रष्टव्यम् ,तथैव गणितभावना कर्त्तव्या , एव शेषसंवत्सरगतान्यादिपर्यवसानसूत्राणि भावनीयानि यावत्प्राभृतपरिसमाप्ति., नवर गणितभावना क्रियते-तत्र द्वितीयसंवत्सरपरिसमाप्तिश्चतुर्विंशतितमपौर्णमासीपरिसमाप्तौ , तत्र ध्रुवराशि पट्षष्टिमुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग ६६—५—१ इत्येव प्रमाणश्चतुर्विंशत्या गुण्यते, जातानि पञ्चदश शतानि चतुरशीत्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां विंशत्युत्तर शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्विंशति सप्तषष्टिभागा १५८४ । १२० । २४ । तत एतस्मादष्टभि मुहूर्त्तशतैरेकोनविंशत्यधिकैरेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेक. परिपूर्णो नक्षत्रपर्याय· शुद्ध्यति , तत स्थितानि पश्चात्सप्त मुहूर्त्तशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चनवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशति सप्तषष्टिभागा ७६५ । ६५ । २५ । ततो ' मूले सत्तेव चोयाला ' इत्यादि वचनात् सप्तभिश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तशतैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि मूलपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, तत स्थिता पश्चात् द्वाविंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टौ द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्विंशति सप्तषष्टिभागा ॥ २२ । ८ । ६६ ॥ तत आगत द्वितीयचान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानसमये पूर्वाषाढानक्षत्रस्य सप्त मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा शेषा , तदानीं च सूर्येण युक्तस्य पुनर्वसोर्द्वाचत्वारिंशद् मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चत्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्त सप्तषष्टिभागा शेषा , तथाहि—स एव ध्रुवराशि ।६६।५।१ । चतुर्विंशत्या गुणितो जातानि पञ्चदश शतानि चतुरशीत्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां विंशत्युत्तर शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्विंशति सप्तषष्टिभागा ॥१५८४॥१२०।२४। तत एतस्मादष्टभि शतैरेकोनविंशत्यधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागै ॥८१९ । २४ । ६६ ॥ एक परिपूर्णो नक्षत्रपर्यायः शुद्ध., स्थितानि पश्चात् सप्तमुहूर्त्तशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकमुहूर्त्तगताश्च द्वाषष्टिभागा· पञ्चनवति एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशति सप्तषष्टिभागाः । ७६५ । ६५ । २५ । तत एतेभ्य एकोनविंशत्या मुहूर्त्तैरेकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशता सप्तषष्टिभागै पुष्य शुद्ध', स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां सप्त शतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकोनषष्टि सप्तषष्टिभागा ७४६ । ५१ । ५६ । ततो भूयोऽप्येतस्मात् सप्तभिर्मुहूर्त्तशतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषादीनि आर्द्रापर्यन्तानि शुद्धानि, स्थितौ पश्चाद् द्वौ मुहूर्त्तावेकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टि. सप्तषष्टिभागा २ । २६ । ६० । आगत द्वितीयचान्द्रसंवत्सरपर्यवसानसमये पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वाचत्वारिंशन्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चत्रिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्त सप्तषष्टिभागा शेषा , तथा तृतीयाभिवर्द्धितसंज्ञसंवत्सरपरिसमाप्ति सप्तत्रिंशता पौर्णमासीभिस्ततो ध्रुवराशि ६६ । ५ । १ । सप्तत्रिंशता गुण्यते. जातानि मुहूर्त्तानां चतुर्विंशति शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि द्वाषष्टिभागानां च पञ्चाशीत्यधिकं शत सप्तषष्टिभागा सप्तत्रिंशत् २४४२ । १८५ । ३७ ।तत एतेभ्योऽष्टौ मुहूर्त्तशतानि एकोनविंशत्यधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टि सप्तषष्टिभागा इत्येकनक्षत्रपर्यायपरिमाणं द्वाभ्या गुणयित्वा शोध्यते, तत स्थितानि पश्चादष्टौ मुहूर्त्तशतानि चतुरुत्तराणि मुहूर्त्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चत्रिंशदधिक शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा । ८०४ । १३५ । ३९ । तत एतेभ्य सप्तभिर्मुहूर्त्तशतैश्चतुःसप्तत्यधिकैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि पूर्वाषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि , स्थिता पश्चादेकत्रिंशन्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा. ३१ । ४८ । ४० । तत आगत तृतीयाभिवर्द्धितसंज्ञसंवत्सरपर्यवसानसमये उत्तराषाढानक्षत्रस्य त्रयोदश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोदश द्वाषष्टिभागा , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशति सप्तषष्टिभागा , शेषा , तदानीं च सूर्येण सम्प्रयुक्तस्य पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वौ मुहूर्तौ एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा , एक च द्वाषष्टिभाग सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का षष्टिश्चूर्णिका भागा शेषा , तथाहि-स एव ध्रुवराशि ६६ । ५ । १ । सप्तत्रिंशता गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानां चतुर्विंशति शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चाशीत्यधिक शतम् । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रिंशत् सप्तषष्टिभागा २४४२ । १८५ । ३७ । तत एतस्य. पूर्ववत् सकलनक्षत्रपर्यायपरिमाण द्विगुण कृत्वा शोध्यते स्थितानि पश्चादष्टौ मुहूर्त्तशतानि चतुरुत्तराणि मुहूर्त्तसत्कानां द्वाषष्टिभागानां पञ्चत्रिंश-

द्वधिक शतम्,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनचत्वारिंशत्स-प्तषष्टिभागा ८०४ । १३५ । ३६ । ततो भूय एतस्य एकोनविंशत्या मुहूर्त्तैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशता सप्तषष्टिभागैः पुष्य शुद्धः, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां सप्त शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि मुहूर्त्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां द्विनवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट् सप्तषष्टिभागा. ७८५ । ९२ । ६ । ततो भूयोऽप्येतेभ्यः सप्तभिर्मुहूर्त्तशतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषादीनि आर्द्रापर्यन्तानि शुद्धानि, स्थिता. पश्चान्मुहूर्त्ता द्वाचत्वारिंशत् एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्त सप्तषष्टिभागाः ४२ । ५ । ७ । तत आगतं तृतीयाभिवर्द्धितसंवत्सरपर्यवसानसमयं सूर्येण सह संयुक्तस्य पुनर्वसोर्द्वौ मुहूर्त्तावेकस्य च मुहूर्त्तस्य षट् पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टिश्चूर्णिका भागा शेषा ।तथा चतुर्थचान्द्रसंवत्सरपर्यवसानमेकोनपञ्चाशत्तमपौर्णमासीपरिसमाप्तौ, तत. स एव ध्रुवराशि ६६ । ५ । १ । एकोनपञ्चाशता गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानां द्वात्रिंशच्छतानि चतुस्त्रिंशदधिकानि मुहूर्त्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः ३२३४ । २४५ । ४६ । तत एतस्मात् , प्रागुक्त सकलनक्षत्रपर्यायपरिमाण त्रिभिर्गुणयित्वा शोध्यते. तत स्थितानि सप्त शतानि सप्तसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां सप्तत्यधिक शतम् , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागा ७७७ । १७० । ५२ । तत. सप्तभि शतैः चतु सप्तत्यधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैर्भूयोऽभिजिदादीनि पूर्वाषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिता पश्चात्पञ्च मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागा ५ । २१ । ५३ । तत आगत चतुर्थचान्द्रसंवत्सरपर्यवसानसमये उत्तराषाढानक्षत्रस्य चन्द्रयुक्तस्य एकोनचत्वारिंशन्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दश सप्तषष्टिभागा शेषा , तदानीं च सूर्येण सह युक्तस्य पुनर्वसुनक्षत्रस्य एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ता एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य एक च द्वाषष्टिभाग सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का सप्तचत्वारिंशच्चूर्णिका भागा. शेषा , तथाहि— स एव ध्रुवराशि. एकोनपञ्चाशता गुण्यते , गुणयित्वा च तत. प्रागुक्त सकलनक्षत्रपर्यायपरिमाण त्रिभिर्गुणयित्वा शोध्यते , स्थितानि सप्त मुहूर्त्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां सप्तत्यधिक शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागा ७७७ । १७० । ५२ । तत [illegible] मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य [illegible] द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य [illegible] सप्तषष्टिभागै [illegible] शुद्ध , स्थितानि पश्चात् [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

षष्टिभागस्य एकोनविंशति. सप्तषष्टिभागा । ७५८ । १२७ । १६ । तत. सप्तभि शतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषादीन्यार्द्रापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि , स्थिता. पश्चात् पञ्चदश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशति सप्तषष्टिभागा । १५ । ४० । २० ।, तत आगतं चतुर्थचान्द्रसंवत्सरपर्यवसानसमये पुनर्वसुनक्षत्रस्य एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा शेषा इति, पञ्चमाभिवर्द्धितसंवत्सरपर्यवसानं च द्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिसमयं , ततो यदेव प्राक् द्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिसमये चन्द्रनक्षत्रयोगपरिमाणं सूर्यनक्षत्रयोगपरिमाण चोक्त तदेवान्यूनातिरिक्तमत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां सूर्यप्रज्ञप्तिटीकायामेकादश प्राभृतं समाप्तम् ।

तदेवमुक्तमेकादश प्राभृतम् , सम्प्रति द्वादशमुच्यते-तस्य चायमर्थाधिकार , यथा 'कति संवत्सरा भवन्ति ' तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह—

ता कति णं संवच्छरा आहिताति वदेज्जा ?, तत्थ खलु इमे पंच संवच्छरा पएणत्ता, तं जहा-णक्खत्ते चंदे उडू आदिच्चे अभिवड्ढिते, ता एतेसि णं पंचएहं संवच्छराणं पढमस्स नक्खत्तसंवच्छरस्स णक्खत्तमासे तीसतिमुहुत्तेणं ती०२ अहोरत्तेणं मिज्जमाणे केवतिए राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता सत्तावीसं राइंदियाइं एक्कवीसं च सत्तट्ठिभागा राइंदिअस्स राइंदिअग्गेण आहितेति वदेज्जा ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता अट्ठसए एकूणवीसे मुहुत्ताणं सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता एएसि णं अद्धा दुवालसक्खुत्तकडा णक्खत्ते संवच्छरे, ता से णं केवतिए राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता तिरिएण सत्तावीसं राइंदियसते एकावन्नं च सत्तट्ठिभागे राइंदियस्स राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा , ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता णव मुहुत्तसहस्सा अट्ठ य बत्तीसे मुहुत्तसए छप्पन्नं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा । (सू० ७२ ×)

'ता कइ णं संवच्छरा' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, कति संवत्सरा भगवन् ! त्वया आख्याता इति वदेत् ?, भगवानाह-'तत्थ' इत्यादि, तत्र—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

सि ण' मित्यादि प्रश्नसूत्रम्, 'ता' इति पूर्ववत् , एतेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमस्य नक्षत्रसंवत्सरस्य सत्को यो नक्षत्रमासः स त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणेनाहोरात्रेण गण्यमानः कियान् रात्रिन्दिवाग्रेण रात्रिन्दिवपरिमाणेनाख्यात इति वदेत् ?, भगवानाह—'ता' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, सप्तविंशतिः रात्रिन्दिवानि एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य रात्रिन्दिवाग्रेणाख्यात इति वदेत्, तथाहि-युगे नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिरेतच्च प्रागेव भावितम् , युगे चाहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, ततस्तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्रा एकस्य चाहोरात्रस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा २७ $\frac{21}{67}$ 'ता से णं' मित्यादि, स नक्षत्रमासः कियान् मुहूर्त्ताग्रेण-मुहूर्त्तपरिमाणेनाख्यात इति वदेत् ?, भगवानाह-'ता अट्ठसए' इत्यादि, अष्टोत्तरशतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागा ८१९। $\frac{27}{67}$। मुहूर्त्ताग्रेणाख्यात इति वदेत्, तथाहि-नक्षत्रमासपरिमाणं सप्तविंशतिरहोरात्रा एकस्य चाहोरात्रस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, ततः सवर्णनार्थं सप्तविंशतिरप्यहोरात्राः सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते , गुणयित्वा चोपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तषष्टिभागानामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, तानि मुहूर्त्तानयनार्थं त्रिंशता गुण्यते , जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नव शतानि मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागानां ५४९००, ततः एतेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि अष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागा इति ८१९। $\frac{27}{67}$। 'ता एस णं' मित्यादि, एषा अनन्तरमुक्ता नक्षत्रमासरूपा अद्धा द्वादशकृत्वः कृता-द्वादशभिर्वारैर्गुणिता इत्यर्थः , नक्षत्रसंवत्सरो भवति , सम्प्रति सकलनक्षत्रसंवत्सरगतरात्रिन्दिवपरिमाणमुहूर्त्तपरिमाणविषयप्रश्ननिर्वचनसूत्राण्याह—'ता से णं ' मित्यादि सुगमं,नवरं रात्रिन्दिवचिन्तायां नक्षत्रमासरात्रिन्दिवपरिमाणं मुहूर्त्तचिन्तायां नक्षत्रमासमुहूर्त्तपरिमाणं द्वादशभिर्गुणितव्यं,ततो यथोक्ता रात्रिन्दिवसंख्या मुहूर्त्तसंख्या च भवति। सू० प्र० १२ पाहु०। (चन्द्रसंवत्सरविषयः 'चंदसंवच्छर ' शब्दे तृतीयभागे १०६५ पृष्ठे गतः।)(ऋतुसंवत्सरविषयः 'उउसंवच्छर'शब्दे द्वितीयभागे ६८६ पृष्ठे गतः ।) (आदित्यसंवत्सरविषयः 'सूरसंवच्छर ' शब्दे वक्ष्यते) (अभिवर्द्धितसंवत्सरविषयः ' अभिवड्ढिय ' शब्दे प्रथमभागे ७२७ पृष्ठे गतः।)

सम्प्रत्येते पञ्च संवत्सरा एकत्र मीलिता यावत्प्रमाणा रात्रिन्दिवपरिमाणेन भवन्ति तावता निर्दिदिक्षु प्रथमतः प्रश्नसूत्रमाह—

ता केवतियं ते णो जुगे राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा?, ता सत्तरस एकाणउते राइंदियसत्ते एगूणवीसं च मुहुत्ते च सत्तावण्णे बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता पणपण्णं चुण्णिया भागे राइंदिग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता तेपण्णमुहुत्तसहस्साइं, सत्त य उणापन्ने मुहुत्तसते सत्तावण्णं बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता पणपण्णं चुण्णिया भागा मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता केवतिए णं ते जुगप्पत्ते राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता अट्ठतीसं राइंदियाइं दस य मुहुत्ता चत्तारि य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता दुवालस चुण्णिया भागे राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता एक्कारस पण्णासे मुहुत्तसए चत्तारि य बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता दुवालस चुण्णिया भागे मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता केवतियं जुगे राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता अट्ठारस तीसे राइंदियसते राइंदियग्गेणं आहियाति वदेज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहियाति वदेज्जा ?, ता चउप्पण्णं मुहुत्तसहस्साइं णव य मुहुत्तसताइं मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा?, ता से णं केवतिए बावट्ठिभागमुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता चउत्तीसं सतसहस्साइं अट्ठतीसं च बावट्ठिभागमुहुत्तसते बावट्ठिभागमुहुत्तग्गे आहितेति वदेज्जा, । (सू० ७२)

' ता ' इति पूर्ववत्, कियत्—किंप्रमाणं ते—त्वया भगवन् ! 'नोयुगं' नोशब्दो देशनिषेधवचनः, किञ्चिदूनं युगमित्यर्थः, रात्रिन्दिवाग्रेण रात्रिन्दिवपरिमाणेनाख्यात इति वदेत्?, भगवानाह-'ता सत्तरसे' त्यादि नोयुगं हि किञ्चिदूनं युगं तच्च नक्षत्रादिपञ्चसंवत्सरपरिमाणमतो नक्षत्रादिपञ्चसंवत्सरपरिमाणानामेकत्र मीलने भवति यथोक्ता रात्रिन्दिवसंख्या । तथाहि-नक्षत्रसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि सप्तविंशत्यधिकानि एकस्य च रात्रिन्दिवस्य एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः ,चन्द्रसंवत्सरस्य त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि द्वादश च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य ऋतुसंवत्सरस्य त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि षष्ट्यधिकानि, सूर्यसंवत्सरस्य त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानाम्, अभिवर्द्धितसंवत्सरस्य त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि त्र्यशीत्यधिकानि एकविंशतिश्च मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टादश द्वाषष्टिभागाः , तत्र सर्वेषां रात्रिन्दिवानामेकत्र मीलने जातानि सप्तदश शतानि नवत्यधिकानि, ये च एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते,जातानि पञ्चदश शतानि त्रिंशदधिकानि १५३० तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा द्वाविंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्पञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः २२ $\frac{56}{67}$। मुहूर्त्ताश्च लब्धा एकविंशतौ मुहूर्त्तेषु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताश्चित्वारिंशन्मुहूर्त्ताःस्तत्र त्रिंशता अहोरात्रो लब्ध इति जातान्यहोरात्राणां सप्तदश शतान्येकनवत्यधिकानि १७९१, शेषास्तिष्ठन्ति मुहूर्त्तास्त्रयोदश १३, येऽपि च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य द्वादश तेऽपि मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, तेषां

द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चमुहूर्त्तास्ते प्रागुक्तेषु त्रयोदशसु मुहूर्त्तेषु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टादश, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, येऽपि च षट्पञ्चाशत्सप्तषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य ते त्रैराशिकेन द्वाषष्टिभागा एव क्रियन्ते—यदि सप्तषष्ट्या द्वाषष्टिभागा लभ्यन्ते ततः षटपञ्चाशता सप्तषष्टिभागैः कियन्तो द्वाषष्टिभागा लभ्यन्ते राशित्रयस्थापना ६७। ६२। ५६। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणने जातानि चतुस्त्रिंशच्छतानि द्वासप्तत्यधिकानि ३४७२, तेषामादिराशिना सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः, ते च प्रागुक्तेषु पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वन्तः प्रक्षिप्यन्ते जातमेकोत्तरं शतं १०१, ततस्तन्मध्येऽभिवर्धितसंवत्सरसत्काः उपरितना अष्टादश द्वाषष्टिभागा प्रक्षिप्यन्ते जातमेकोनविंशत्यधिकं शतं द्वाषष्टिभागानाम् ११६, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागाः। ५५/६७। द्वाषष्ट्या द्वाषष्टिभागैरेको मुहूर्त्तो लब्धः, स प्रागुक्तेष्वष्टादशसु मुहूर्त्तेषु मध्ये प्रक्षिप्यते जाता एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः १६, शेषाः सप्तपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा अवतिष्ठन्ते इति। 'ता से ण'मित्यादि, मुहूर्त्तपरिमाणविषयप्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमं, रात्रिन्दिवपरिमाणस्य त्रिंशता गुणने तदुपरि शेषमुहूर्त्तप्रक्षेपे च यथोक्तमुहूर्त्तपरिमाणसमागमात्, 'ता केवइए णं ते' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, कियता रात्रिन्दिवपरिमाणे तदेव नोयुगं युगप्राप्तमाख्यातमिति वदेत् ?, कियत्सु रात्रिन्दिवेषु प्रक्षिप्तेषु तदेव नोयुगं परिपूर्णं युगं भवतीति भावः। भगवानाह—'ता अट्ठतीस' मित्यादि, अष्टात्रिंशद् रात्रिन्दिवानि दश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य चत्वारो द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्वा तस्य सत्का द्वादश चूर्णिका भागा इत्येतावता रात्रिन्दिवपरिमाणेन युगप्राप्तमाख्यातमिति वदेत्, एतावत्सु रात्रिन्दिवादिषु प्रक्षिप्तेषु तत् नोयुग परिपूर्णं युगं भवति इति भावः। सम्प्रति तदेव नोयुगं मुहूर्त्तपरिमाणात्मकं यावता मुहूर्त्तपरिमाणेन प्रक्षिप्तेत परिपूर्णं युगं भवति तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह—'ता से ण' मित्यादि सुगमं भगवानाह—'ता इक्कारसे' त्यादि, इदं चाष्टात्रिंशतो रात्रिन्दिवानां त्रिंशता गुणनेन शेषमुहूर्त्तादिप्रक्षेपे च यथोक्त भवति, भावार्थश्चायम्—एतावति मुहूर्त्तपरिमाणे प्रक्षिप्ते प्रागुक्त नोयुगमुहूर्त्तपरिमाण परिपूर्णयुगमुहूर्त्तपरिमाणं भवतीति। सम्प्रति युगस्यैव रात्रिन्दिवपरिमाण मुहूर्त्तपरिमाणं च प्रतिपिपादयिषुः प्रश्ननिर्वचनसूत्राण्याह—'ता केवइयं ते' इत्यादि सुगमम्, अधुना समस्तयुगविषये एव मुहूर्त्तगतद्वाषष्टिभागपरिज्ञानार्थं प्रश्नसूत्रमाह—'ता से ण' मित्यादि सुगमम्, भगवानाह—'ता चोत्तीस' मित्यादि, इदमक्षरार्थमधिकृत्य सुगमम्, भावार्थस्त्वयम्—चतुष्पञ्चाशन्मुहूर्त्तसहस्राणा नवशताधिकाना द्वाषष्ट्या गुणनं क्रियते ततो यथोक्ता द्वाषष्टिभागसंख्या भवतीति।

सम्प्रति कदाऽसौ चन्द्र(न्द्रादि)संवत्सर सूर्य (र्यादि) संवत्सरेण सह समादि' समपर्यवसानो भवतीति जिज्ञासिषु प्रश्नं करोति—

ता कता णं एते आदिच्चचंदसंवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा ?, ता सट्ठिं एए आदिच्चमासा बावट्ठिं एतेए चन्दमासा, एस णं अद्धा छ खुत्तकडा दुवालसभयिता तीसं एते आदिच्चसंवच्छरा एक्कतीसं एते चंदसंवच्छरा, तता णं एते आदिच्चसंवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितातित वदेज्जा। ता कता णं एते आदिच्चउडुचंदणक्खत्ता संवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा ?, ता सट्ठिं एते आदिच्चा मासा एगट्ठिं एते उडुमासा बावट्ठिं एते चंदमासा सत्तट्ठिं एते नक्खत्ता मासा, एस णं अद्धा दुवालम खुत्तकडा दुवालस भयिता सट्ठिं एते आदिच्चा संवच्छरा एगट्ठिं एते उडुसंवच्छरा बावट्ठिं एते चंदा संवच्छरा सत्तट्ठिं एते नक्खत्ता संवच्छरा, तता णं एते आदिच्चउडुचंदणक्खत्ता संवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा। ता कता णं एते अभिवड्ढिआदिच्चउडुचंदणक्खत्ता संवच्छरा समादीया समपज्जवसिता आहितेति वदेज्जा ?, ता सत्तावण्णं मासा सत्त य अहोरत्ता एक्कारस य मुहुत्ता तेवीसं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स एते अभिवड्ढिता मासा सट्ठिं एते आदिच्चमासा एगट्ठिं एते उडुमासा बावट्ठिं एते चंदमासा सत्तट्ठिं एते नक्खत्तमासा, एस णं अद्धा छप्पण्णसतखुत्तकडा दुवालस भयिता सत्तसता चोत्ताला एते णं अभिवड्ढिता संवच्छरा, सत्तसता असीता एते णं आदिच्चा संवच्छरा, सत्तसता तेणउता एते णं उडुसंवच्छरा अट्ठसता छलुत्तरा एते णं चंदा संवच्छरा, एकसत्तरी अट्ठसया एए ण नक्खत्ता संवच्छरा, तता णं एते अभिवड्ढितआदिच्चउडुचंदनक्खत्ता संवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा, ता णयट्ठताए णं चंदे संवच्छरे तिण्णि चउप्पण्णे राइंदियसते दुवालस य बावट्ठिभागे राइंदियस्स आहितेति वदेज्जा, ता अहातच्चे णं चंदे संवच्छरे तिण्णि चउप्पण्णे राइंदियसते पंच य मुहुत्ते पण्णासं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहितेति वदेज्जा। (सू० ७४)

'ता कया ण' मित्यादि, सुगमं, भगवानाह—'ता सट्ठिं' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, एते—एकयुगवर्तिनः षष्टिः सूर्यमासाः एते च एकयुगान्तर्वर्तिन एव द्वाषष्टिश्चन्द्रमासाः, एतावती अद्धा षट्कृत्वः कियते—षड्भिर्गुण्यते ततो द्वादशभिर्भज्यते द्वादशभिश्च भागे—हृते त्रिंशदेते सूर्यसंवत्सरा भवन्ति एकत्रिंशदेते चन्द्रसंवत्सरा, तदा एतावति कालेऽतिक्रान्ते एते आदित्यचन्द्रसंवत्सराः समादय समप्रारम्भाः समपर्यवसिनाः—समपर्यवसाना आख्याता इति वदेत् समपर्यवसानं। किमुक्तं भवति ?—एते चन्द्रसूर्यसंवत्सरा विवक्षितस्यादौ समाः—समप्रारम्भप्रारब्धाः सन्तस्ततः आरभ्य षष्टियुगपर्यवसाने समपर्यवसाना भवन्ति, तथाहि—एकस्मिन् युगे त्रयश्चन्द्रसंवत्सरा द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ,

तौ च प्रत्येकं त्रयोदशचन्द्रमासात्मकौ, ततः प्रथमयुगे पञ्च चन्द्रसवत्सरा द्वौ च चन्द्रमासौ, द्वितीये युगे दश चन्द्रसवत्सराश्चत्वारश्चन्द्रमासाः, एव प्रतियुग मासद्विकवृद्धया षष्ठयुगपर्यन्ते परिपूर्णा एकत्रिंशच्चन्द्रसंवत्सरा भवन्ति, 'ता कया ण' मित्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, कदा णमिति वाक्यालङ्कारे आदित्यऋतुचन्द्रनक्षत्रसवत्सरा. समादिका. समपर्यवसिता आख्याता इति वदेत् ?, भगवानाह-'ता सट्ठी' त्यादि, षष्टिरेते एकयुगान्तर्वर्तिन', आदित्यमासा एकषष्टिरेते ऋतुमासा. द्वाषष्टिरेते चन्द्रमास्मा सप्तषष्टिरेते नक्षत्रमासा, एतावती प्रत्येकमद्धा द्वादशकृत्व. कृता, द्वादशभिर्गुणिता इत्यर्थ, तदनन्तर संवत्सरानयनाय द्वादशभिर्भक्ता तत एवमेते षष्टिरादित्यसंवत्सरा एकषष्टिरेते ऋतुसवत्सरा द्वाषष्टिरेते चन्द्रसंवत्सरा सप्तषष्टिरेते नक्षत्रसंवत्सरास्तदा द्वादशयुगातिक्रमे इत्यर्थ, एते आदित्यऋतुचन्द्रनक्षत्रसवत्सरा समादिका', समपर्यवसिता आख्याता इति वदेत्। एतदुक्तं भवति-विवक्षितयुगस्यादावेते चत्वारोऽपि समा --समारब्धप्रारम्भा सन्तस्तत आरभ्य द्वादशयुगपर्यन्ते समपर्यवसाना भवन्ति, अर्वाक्तु चतुर्णामन्यतमस्यावश्यभावेन कतिपयमासानामधिकतया युगपत् सर्वेषा समपर्यवसानत्वासम्भवात्, 'ता कया ण' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्, भगवानाह-'ता सत्तावन्न' मित्यादि, सप्तपञ्चाशन्मासा सप्त अहोरात्रा एकादशमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य त्रयोविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एतावत्प्रमाणा एते एकयुगान्तर्वर्तिनोऽभिवर्द्धितमासा षष्टिरेते सूर्यमासा एकषष्टिरेते ऋतुमासा द्वाषष्टिरेते चन्द्रमासा सप्तषष्टिरेते नक्षत्रमासा', एतावती प्रत्येकमद्धा षट्पञ्चाशदधिकशतकृत्व क्रियते, कृत्वा च द्वादशभिर्भज्यते, द्वादशभिश्च भागे हृते चतुश्चत्वारिंशदधिकसप्तशत—संख्या ७४४ एतेऽभिवर्द्धितसंवत्सरा, अशीत्यधिकस—प्तशतसंख्या' ७८० एते आदित्यसंवत्सरा', त्रिनवत्यधिकसप्तशतसख्या ७९३ एते ऋतुसंवत्सरा, षडुत्तराष्टशतसंख्या ८०६ एते चन्द्रसंवत्सरा, एकसप्तत्यधिकाष्टशतसंख्या ८७१ नक्षत्रसवत्सरा', तदा णमिति वाक्यालङ्कारे एतेऽभिवर्द्धितादित्यऋतुचन्द्रनक्षत्रसंवत्सरा समादि—का समपर्यवसिता आख्याता इति वदेत्, अर्वाक् क—स्यापि कतिपयमासाधिकत्वेन युगपत् सर्वेषा समपर्यवसानत्वासम्भवात्। सम्प्रति यथाक्रमेव चन्द्रसवत्सरपरिमाणं गणितभेदमधिकृत्य प्रकारद्वयेनाह—'ता नयट्ठाए' इत्यादि 'ता' इति पूर्ववत्, नयार्थतया परतीर्थिकानामपि सम्मतस्य नयस्य चिन्तया चन्द्रसवत्सरस्त्रीण्यहोरात्रशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्यादिराख्यात इति वदेत्, याथातथ्येन पुनश्चिन्त्यमानश्च—न्द्रसवत्सरस्त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि पञ्च च मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा इत्येवप्रमाण आख्यात इति वदेत्, तत्राहोरात्रपरिमाण—मुभयत्रापि तावदेकरूप, ये तूपरितना द्वादश द्वाषष्टिभा—गा रात्रिन्दिवस्य ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, तेषा द्वाषष्ट्या भागो न्हियते, लब्धा पञ्च मुहूर्ता, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चाशन्मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागा इति। तदेवं सवत्सरवक्तव्यता सप्रपञ्चमुक्ता। सू०प्र०१२ पाहु०। चं० प्र०। ज्यो०। जं०। (सवत्सरेषु चन्द्रसूर्यावृत्तय 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे उक्ता.।) वर्षासु चातुर्मासिके ज्येष्ठावग्रहे, दश०२ चू०। "संवत्सरं वावि परं पमाणं, वीअं च वास न तहिं वसिज्जा" दश० २ चू०।

संवच्छरदान-संवत्सरदान-न०। तीर्थकरस्य प्रव्रज्यासमये संवत्सरपर्यन्तदाने, आचा०।

संवच्छरपडिलेहग-संवत्सरप्रतिलेखक-पु०। जन्मदिनादारभ्य सवत्सरमहोत्सवपूर्वक जन्मदिनमहोत्सवे, यत्र दिने वर्षं वर्षं प्रति सख्याज्ञापनार्थ ग्रन्थिबन्धः क्रियते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। रा०।

संवच्छरपरियाय-संवत्सरपर्याय-पुं०। संवत्सरमेकं यावत् पर्याय. प्रव्रज्यालक्षणो येषा ते संवत्सरपर्याया। वर्षैकप्रव्रजितेषु स० ५३ सम०।

संवच्छरवासर-संवत्सरवासर-पुं०। सांवत्सरिकदिने, संवत्सरवासरे पूगीफलसहितनाणकप्रभावना लान्ति न वा? इति, प्रश्न ?, अत्रोत्तरम्-पूगीफलादिसहित तथा रहिता वा प्रभावना लान्ति, पश्चाद् यस्मिन् ग्रामे या रीतिस्तदनुसारेण प्रवर्त्तितव्यमिति ॥ १५२ ॥ सेन० ४ उल्ला०।

संवच्छरादि-संवत्सरादि-पुं०। संवत्सराणामादि संवत्सरादि। सवत्सराणामादितिथौ,सू०प्र० १ पाहु०।

संवच्छरिय-सांवत्सरिक-त्रि०। सवत्सरे भवस्सांवत्सरिक। वार्षिके,विशे०।यद्येक वर्ष प्रतिदिनं क्रियते, यथा-संवत्सरपर्यन्त तीर्थकृत प्रव्रज्यावसरे दीयते दानम्। आ० चू० १ अ०। आ० म०। सवत्सरस्यान्ते सांवत्सरिकम्। वर्षान्तोद्भवे, प्रव० ३ द्वार।

संवच्छरियपडिक्कमण-सांवत्सरिकप्रतिक्रमण-न०। पर्युषणापर्वान्तप्रतिक्रमणे, कल्प० १ अधि० १ क्षण। ('काउस्सग्ग' 'पज्जुसणा' शब्दयोरनयोर्व्याख्या)

संवट्ट-संवर्त्त-पु०। नगररोधके, बृ० ३ उ०। संवर्तो नाम यत्र नगजलदुर्गादिषु बहूना ग्रामाणा जन. संवर्त्तीभूय तिष्ठति।ज्ञा० १श्रु०१अ०।भयत्रस्तजनसमवाये,उत्त०३४अ०।चौरधाटीभयेन बहवो ग्रामनायकाधिष्ठिता एकत्र स्थिता सवर्त। बृ० ३ उ०। जाले, आ० म० १ अ०। वातविकुर्वणान्निवर्त्तन्ते' सवर्तकवातमुपसंहरन्तीति भाव। रा०।

संवट्टइत्ता-संवर्त्य-अव्य०। एकत्र स्थाने न्यस्येत्यर्थे, औ०। स्था०। सकोच्ये, स्था० २ ठा० ४ उ०।

संवट्टण-संवर्तन-न०। विनाशने, अनु०। मार्गमिलनस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। सक्षपणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। 'सवट्टण अचित्त सुवण्णे कुंडलाइकरण' नि० चू० १ उ०।

संवट्टणिग्गय-संवर्त्तनिर्गत-त्रि०। मासप्रायोग्यक्षेत्रान्निर्गत्य सवर्त्ते स्थितेषु, बृ० ३ उ०।

संवट्टमेह-संवर्त्तमेघ-पु०। पुष्कलसवर्तके मेघ, आव० १ अ०।

संवट्टय-संवर्त्तक-पुं०। संवर्त्तनमपवर्त्तनं संवर्त्तः स एव संवर्त्तकः। उपक्रमे, स्था०।

दोएहं आउयसंवट्टए पएणत्ते, तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव। स्था० २ ठा० २ उ०। (सू० ८५ ×) जं०। नं०।

संवट्टयवाय-संवर्त्तकवात-पुं०। संवर्तनस्वभाव, भ० १ श० १ उ०। वायुकायभेदे, भ० १ श० ४ उ०। रा०। आ० म०।

संवट्टिअ-संवर्त्तित-त्रि० "र्तस्याधूर्तादौ" ।८।२।३०। अनेनात्र र्तस्य ट्टकारादेश.। संवट्टिअं। पिण्डीभूते, प्रा०। नि० चू०। संकोचित, स्था० २ ठा० ४ उ०।

संवट्टियावराह-संवर्त्तितापराध-पुं०। संवर्तिताः पिण्डीभूता अपराधा यत्र तत् संवर्त्तितापराधम्। बह्वपराधे, संचयितमासे, व्य० १ उ०। संवृते, दे० ना० ८ वर्ग १२ गाथा।

संवड्डिय-संवर्द्धित-त्रि०। भोजनादिना संवर्द्धिते अनाथपुत्रके, स्था० १० ठा ३ उ०।

संवत्तण-संवर्त्तन-न०। 'र्तस्याधूर्त्तादौ' ॥ ८। २। ३०॥ इति धूर्त्तादिपर्युदासान्न टः। पिण्डीभवने, प्रा० २ पाद।

संवर-संवर-पुं०। क ग च ज त द प य वां प्रायो लुक्॥८।१।१७७। इति स्वरात्परत्वाभावान्न लुक्। प्रा०। संवरण संवर। आच्छादने, विशे०। संव्रियते कर्म कारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः। आश्रवनिरोधे, स्था० १ ठा०। प्रश्नव्याकरणेषु अहिंसादिपञ्चकेषु, प्रश्न०१ आश्र०द्वार। सम्म०। संवरस्योत्तरप्रकृतय.। द्रव्या०। स्था०।

अथाश्रवप्रतिपक्षभूतसंवरस्वरूपमाह—

एगे संवरे। (सूत्रम्)

संव्रियते-कर्म कारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवर., आश्रवनिरोध इत्यर्थ.। स च समितिगुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहचारित्ररूप. क्रमेण पञ्च-त्रिदश-द्वादश-द्वाविंशति-पञ्च-भेद', आह—" समिई ५ गुत्ती ३ धम्मो १० अणुपेह १२ परीसहा चरित्तं च ५। सत्तावन्न भेया, पणतिगभेयाइ संवरणे ॥१॥" त्ति अथवाऽयं द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्जलाना छिद्राणां तथाविधद्रव्येण स्थगनं संवर', भावतस्तु जीवद्रोण्यामाश्रवत्कर्म्मजलानामिन्द्रियादिछिद्राणा समित्यादिना निरोधनं संवर इति। स च द्विविधोऽपि संवर. सामान्यादेक इति। स्था० १ ठा०। संथा०। सूत्र०। पं० भा०, आव०। स०। प्राणातिपातविरमणादौ, औ०। नं०। आचा०। सूत्र०। अशुभकर्मागमनिरोधे, आव० ४ अ०। आश्रवद्वारप्रविशत्कर्मनिरोधे, जीत०। कर्मानुपादाने, स० ५ सम०। सम्म०। औ०। आ०। जीवतडागे कर्मजलस्य निरोधने, स्था० ५ ठा० २ उ०। चारित्रे, दश० ५ अ० २ उ०। इन्द्रियकषायनिग्रहादिभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ०। इन्द्रियनोइन्द्रियसङ्गोपने। स्था० १० ठा० ३ उ०। आ० म०। संवरमिदि —संवरस्य स्वपक्षानुमानागमप्रसिद्धता न्यायानुगतैव चैतन्यपरिणतेः स्वात्मनि स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वाद् अन्यत्र तु तत्प्रभवकार्यानुमेयत्वादागमस्य च तत्प्रतिपादकस्य प्रदर्शितत्वात्। सम्म० ३ काण्ड। कर्म०।

पञ्च संवरद्वाराणि—

पंच संवरदारा पएत्ता, तं जहा-सम्मत्त विरती अपमाओ अकसातित्तमजोगित्तं। (सू०-४१+)

तथा संवरणं जीवतडागे कर्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि-उपाया. संवरद्वाराणि, मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः प्रथमाध्ययनवद् वाच्या इति। स्था० ५ ठा० २ उ०।

पञ्चविधः संवर.—

पंचविहे संवरे पन्नत्ते, तं जहा-सोइंदियसंवरे ० जाव फासिंदियसंवरे। (सू०-४२७×) स्था०५ठा०२ उ०।

षड्विध. संवर.—

छव्विहे संवरे पन्नत्ते, तं जहा-सोइंदियसंवरे ०जाव फासिंदियसंवरे णो इंदियसंवरे। (सू०-४८७+) स्था० ६ ठा० ३ उ०।

अष्टविध. संवर.—

अट्ठविहे संवरे पएणत्ते, तं जहा-सोइंदियसंवरे० जाव फासिंदियसंवरे मणसंवरे वयसंवरे कायसंवरे। (सू० ५९८×) स्था० ८ ठा० ३ उ०।

दसविहे संवरे पन्नत्ते, तं जहा-सो इंदियसंवरे ० जाव फासिंदियसंवरे मणवयकायउवगरणसंवरे सूईकुसग्गसंवरे। (सू०-७०९) स्था० १० ठा० ३ उ०।

प्रतिघाते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

संवरद्वारे प्रतिपक्षद्वारमाह—

" वाणारसी कुट्ठग-पासे गोपालिभद्दसेणे य।
नंदिसिरी पउमसिरी, रायगिहे सेणिए वीरे ॥ १ ॥ "
" पुरे राजगृहे श्रीम-द्वर्द्धमानप्रभो पुर.।
एका नाट्यविधिं देवी, दर्शयित्वा ययौ तत' ॥ १ ॥
पप्रच्छ श्रेणिक कैषा, स्वाम्यूचे काशिपत्तने।
भद्रसेनाभिधो जीर्ण', श्रेष्ठी नन्दा च तत्प्रिया ॥ २ ॥
नन्दश्रीस्तत्सुता कन्या, तत्र चैत्य च कोष्ठके।
श्रीपार्श्व समवासार्षी-न्नन्दश्री प्राव्रजत्तत' ॥ ३ ॥
दत्ता गोपालिकाया सा, शिष्या तीव्र तपो व्यधात्।
पश्चाच्च बकुशा जाता, हस्तपादादिधावनात् ॥ ४ ॥
वार्यमाणा पृथक्कस्था तु, तदनालोच्य सा मृता।
क्षुद्रे हिमवदद्रौ श्री—र्देवी पद्मह्रदेऽभवत् ॥ ५ ॥
सेयं नाट्यं व्यधादस्या ,फलमप्यमनंवगत् ॥" आव०४अ०।

स्तानिकाशोधकेषु, व्य० २ उ०। अनेकशाग्रश्रृङ्गे छिद्युरे अटव्यपर्णी, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। प्रज्ञा०। रा०। ज०। अभिनन्दनजिनस्य पितरि, प्रव० ११

द्वार। आव०। स०। भारते वर्षे भविष्यति अष्टादशे तीर्थकरे, "अट्ठारसो सयालिजीवो सवरो पगूणवीसो दीवायणजीवो सवरो," ती० २० कल्प। स०। प-ञ्चदश्या गौणानुज्ञायाम्, नं०। प्रव०।

संवरजोग-संवरजोग-पुं०। नूतनकर्मनिरोधः संवरस्तद्रूपो योगो व्यापारः, संवरेण योग सम्बन्धो वा संवरयोगः। नूतनकर्मनिरोधव्यापारे, ध० ३ अधि०। "एसा महव्वय-उच्चारणा संवरजोगे" पा०।

संवरण-संवरण-न०। सवरणे, विशे०। आव०। सरक्षणे, प० व० ३ द्वार। सङ्गोपने, स्था० १० ठा० ३ उ०। आ-च्छादने, बृ० २ उ०। निवारणे, बृ० ४ उ०। प्रच्छदपटे, बृ० १ उ० २ प्रक०। पर्यालोचने, आ० १ श्रु० १ अ० कपाटे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

संवरणकरण-संवरणकरण-न०। प्रत्याख्यानग्रहणे, ध० २ अधि०।

संवरणी-संवरणी-स्त्री०। संवरकारिणि विद्याभेदे, आ० १ श्रु० १६ अ०।

संवरबहुल-संवरबहुल-त्रि०। प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनि-रोधप्रचुरे प्रश्न० ३ सव० द्वार।

संवरभावणा-संवरभावना-स्त्री०। संवरतत्त्वपर्यालोचने, प्रव० ६७ द्वार। (सवरभावना 'भावणा' शब्दे पञ्चमभागे १५०८ पृष्ठे गता।)

संवरसंवुड-संवरसंवृत-त्रि०। प्राणातिपातादिपञ्चमहाव्रतो-पते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

संवरसमाहिबहुल-संवरसमाधिबहुल-पुं०। संवर इन्द्रि-यविषये समाधिरनाकुलत्व बहुलं प्रभूत यस्य स तथा विध इति समास। संवरसमाधिप्रचुरे, दश० २ चू०।

संवरसुय-संवरसुत-पुं०। अभिनन्दनजिने, "तित्थेव सयसह-स्सा,अभिणंदणजिणवरस्स सीसाण। सव्वविरियव्ववस्सा, सिद्धत्तं सयरसुयस्स॥" ति०।

संवरिय-संवृत-त्रि०। स्थगिते, आव० ५ अ०। "संवरिय वलयबाहू" संवृतौ हर्षातिरेकावृतिस्थूरीभवन्तौ निपिद्धौ वलयै कटकैर्बाहू भुजौ यस्या सा तथा। भ० ६ श० ३३ उ०।

संवरियदार-संवृतद्वार-त्रि०। संवृतानि स्थगितानि आ-श्रवद्वाराणि प्राणातिपातादीनि येन स। आच्छादितेन्द्रि-यद्वारे, बृ० ३ उ०। आव०।

संवलि-संवलि-पुं०। वृक्षविशेषे, स्था० ५ ठा० २ उ०।

संववहारिपच्चक्ख-सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष-न०। सव्यवहारो बा-धारहितप्रवृत्तिनिवृत्ती प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिकम्, तच्च प्रत्यक्ष चेति बाह्येन्द्रियादिसामग्रीसापेक्षत्वादपार-मार्थिकेऽस्मदादिप्रत्यक्ष, रत्ना० ३ परि०।

संवसण-संवसन-न०। स्त्रीभि सार्द्ध परिभोगे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। सहवासे, प० भा० १ कल्प। पं० चू०।

संवसमाणी-संवसन्ती-स्त्री०। पुरुषेण सह संवास कुर्वत्या-म्, स्था० ५ ठा० २ उ०।

संवहण-संवहन-न०। क्षेत्रादिभ्यस्तृणकाष्ठग्रामादेर्गृहादा-वानयने,उपा०१अ०। वृद्धस्य ग्राम्यभाषायां संबोधनप्रयोज्ये शब्दे, 'वुड्ढ संवहणेति णो वएज्जा' आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। दश०।

संवहणिय-सांवहनिक-त्रि०। संवहणं क्षेत्रादिभ्यस्तृणका-ष्ठधान्यादेर्गृहादावानयनम्, तत्प्रयोजनक सांवहनिकम्।भा-रवहनगन्त्र्याम्, उपा० १ अ०।

संवाअआ-देशी-नकुले, श्येने च। दे० ना० ८ वर्ग ५७ गाथा।

संवाय-संवाद-पुं०। संवादने, रागादिविरहेण यथावद्वद-ने, विशे०। धर्मकथाया व्याख्याने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। संवादादिति चेन्न तु संवादप्रत्ययस्याप्यदुष्टकारणारब्धत्व-विशेषोऽन्यस्माददुष्टकारणारब्धात्संवादप्रत्ययात्। सम्म० १ काण्ड। स्था०।

संवास-संवास-पुं०। सान्निध्ये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। सम्भजनायाम्,आ० चू०४अ०। मैथुनार्थे संवसने,स्था० ४ ठा० ४ उ०। औ०। चिर संवासे,स्था० ४ ठा० १ उ०। स्त्री-भि० सहैकत्र निवासे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। आचा०।

संवासभेदानाह—

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे णाममेगे दे-वीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, देवे णाममेगे छवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, छवी णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, छवी णाममेगे छवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा। (सू० २४८+) स्था० ४ ठा० १ उ०।

संवासो दिव्यासुरराक्षसमानुषाणाम्—

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा-दिव्वे आसुरे रक्खसे माणुसे १। चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा-देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, देवे णाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ, असुरे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं ग-च्छइ, असुरे णाममेगे असुरीए सद्धिं सवासं गच्छइ २, चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा-देवे णाममेगे देवीए स-द्धिं संवासं गच्छइ, देवे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छइ, रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति, र-क्खसे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति। ४-३। चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा-देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ,देवे णाममेगे मणुस्सीहिं सद्धिं संवासं गच्छइ मणुस्से णाममेगे देवीहिं सद्धिं संवासं गच्छति,मणुस्से णा-ममेगे मणुस्सीहिं सद्धिं संवासं गच्छति। ४-४। चउव्विहे संवासे पण्णत्ते,तं जहा-असुरे णाममेगे असुरीहिं सद्धिं संवासं

गच्छइ, असुरे नाममेगे रक्खसीहिं सद्धिं संवासं गच्छइ० ४-५। चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा-असुरे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ; असुरे नागमेगे मणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छइ० ४-६। चउव्विहे संवासे पण्णत्ते; तं जहा-रक्खसे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छइ; रक्खसे.नाममेगे माणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छइ० ॥

"चउव्विहे संवासे" त्यादि कएठ्य नवरं स्त्रिया सह संवसन-शयनं संवासः, द्यौः—स्वर्गस्तद्वासी देवोऽप्युपचाराद् द्यौस्तत्र भवो दिव्यो वैमानिकसंबन्धीत्यर्थः। असुरस्य-भवनपतिविशेषस्यायमासुर एवमितरौ,नवरं राक्षसो-व्यन्तरविशेषश्चतुर्भङ्गिकासूत्राणि देवासुरेत्येवमादिसयोगतः षड् भवन्ति। स्था०४ ठा०४ उ०। (संवासे सभोगः 'संभोग'शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६ पृष्ठे निषिद्धः।) पण्डक. क्लीबो वातिक इति त्रयो न कल्पन्ते संवासयितुम्। बृ० ४ उ० १ प्रक०। स्था०। आधाकर्मभोक्तृभिः सहैकत्र संवसने, पिं०। (आधाकर्मभोक्तृभिः सह संवासात् शुद्धाहारभोज्यपि आधाकर्मभोजी द्रष्टव्य इति 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २१६ पृष्ठे गतम्।)

सचेलस्य सचेलिकया सह संवासे प्रायश्चित्तम्—

जे भिक्खू सचेले सचेलियाणं मज्झे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ ॥१६४॥ जे भिक्खू सचेले अचेलियाणं मज्झे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ॥१६५॥ जे भिक्खू अचेले सचेलियाणं मज्झे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ॥१६६॥ जे भिक्खू अचेले अचेलियाणं मज्झे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ॥१६७॥

सचेला सजता सचेलाओ संजतीओ चउभंगसुत्रं व्याख्येयं। चउसु वि भंगसु चउगुरुं तवकालपरिसिद्धं।

गाहा—

जे भिक्खू य सचेलो, ठाणनिसीयणतुयट्टणं वा वि।
वेतिज्जइ चेलाणं, सो पावति आणमादीणि ॥ ४८४ ॥
वीसत्थादी दोसा, चतुदेमम्मि वज्जिया जे तु।
ते चेव निरवसेसा , सचेलमज्झे अचेलस्स ॥ ४८५ ॥

कंठा।

कारणे वसेज्ज—

वितियपदमणप्पज्झे, गेलएणुवसग्गरोहगद्धाणे।
समणाणं असतीए, समणी पव्वाविते चेव ॥ ४८६ ॥

अणप्पज्झे वसेज्ज। गिलाणं पडियरतो वसेज्ज। उवसग्गे वा जहा सो रायकुमारो संगुत्तो रोहए वा एक्कवसही लद्धा, अलद्धाए पडियरणो वा। सजयाए असति सजतिवसहीए वसेज्जा। अहवा दो वि वग्गा अद्धाए पडिवण्णा वसेज्जा। अथवा समणाणं असती ते समणीहिं भाया पिया वा पव्वाविओ सा वसेज्जा।

गाहा—

एमेव वितियभंगे, कंतारादीसु उवहिवाघातो।

होंति समणाण वसिते,दोसा किं पुण मज्झरणिमिणि॥४८७
उभओ दिट्ठमदिट्ठे, दिट्ठिपयारे य भवे खोभो।
आयपरउभये दोसा,वितिए भंगे न कप्पती वितियं४८८
विहसुद्धदव्वदाणं, अद्धाणादिसु वएति एगत्थ।
एमेव ततियभंगे , अद्धाणे उवस्सयं तु लभे ॥ ४८९ ॥
... ... ।

खड्गादिमज्झे समणी, सावयभयचिट्ठणादीसुं॥४९०॥
एमेव चरिमभंगे, दोसा जयणा सुदप्पमादीहिं।
सभयम्मि मज्झे समणी,निरवाए मग्गतो एति॥४९१॥
दुहतो वाघातो पुण, चउत्थभंगम्मि होंति नायव्वो।
एमेव य परपक्खे, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥४९२॥
दुहतो बाधायम्मी, पुरतो समणा तु मग्गतो समणी।
खुडाहि भणावेंति, कज्जे देयं ति दावेंति ॥ ४९३ ॥

वितियभंगे समणीए उवधिवाघातो। ततियभंगे समणाए वचसा विभंगेसिमे दोसा। संचरिते गाहा। पढमभंगे उभये वि संचरिते वीसत्थादि आलावादिया य दोसा किं पुण वितियततिय उभयणिगिन्ने य सविसेसा दोसा। संजतो सजती वा चिंतेति-दिट्ठं अदिट्ठं मे अंगादाणादि सागारिया दिट्ठिपयारेण चित्तक्खोभो भवति, खुभिओ अणायारपडिसेवण करेज्जा। दुहओ वा गाहा। पुव्वद्ध कंठं, परपक्खो गिहत्थिअन्नतित्थिणीओ तेसु एवं चेव चउभंगो दोसा य वत्तव्वा। एगतंर उभयपक्खे वा विवित्ते व-त्थाभाव खंडगपत्तदव्भचीवरहत्थपिहणादि जयणा कायव्वा सावयभयादीसु य सजइओ मज्झे छोढुं ठाणानी चेतेज्जा दुहतो वि अवेलाए पंथ इमा गमणे विही। दुहओ वा गाहा। अग्गतो साहू गच्छति पिट्ठतो समणीओ,जति सजतीओ किंचि वत्तव्वाओ खुड्डेहिं भणावेंति। ज किंचि देयं तं पि खुड्डेहिं चेव दवावेंति।सभए पुण पिट्ठओ अग्गतो पासतो वा संजया गच्छति न दोसो। विइयचउत्थेसु भंगेसु सव्वपयत्तेणं सजतीण वत्था दायव्वा।

गाहा—

समणाणं जो उ गमो, अट्ठहिं सुत्तेहिं वण्णितो एसो।
सो चेव निरवसेसो, वत्तव्वो होइ समणीणं ॥ ४९४ ॥

चउरो संजतिसुत्ता चउरो गिहत्थअन्नतित्थिणीएसु एते अट्ठ। संजतीए वि सजतेसु चउरो सुत्ता गिहत्थअन्नतित्थीएसु चउरो एसेव विवज्जासो दोसा य वत्तव्वा। नि० चू० ११ उ०।

नायकमनायकं वा संवासयति—

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा अंतो उवस्सयस्स अद्धं रातिए कसिणं वा रायं संवासावेइ संवासावेंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू तं न पडियाइक्खेइ ण पडियाइक्खंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

णायगो स्वजनो अणायगो-अस्वजन. उवासगो-श्रावक. इयरो अणुवासगो अद्धं रातीए दो जामा, वा विकप्पेण ए-

गं वा जामं, चउरो जामा, कसिणराती, वा विकप्पेण ति-
णि जामा एगवसहीए संवासा वसाहि त्ति भणाति, अएणं
वा अणुमोदेति, जो तं ण पडिसेधेति, अएणं वा पडिसेधंतं
णाणुमोदेति तस्स चउगुरु।

गाहा—

णायगमणायगं वा, सावगमस्सावगं च जे भिक्खू।
अद्धं वा कसिणं वा, रातिं तु संवसाणादी ॥ १२६ ॥

आणाअणवत्थिया दोसा।

गाहा—

साधुं उवासमाणो, उवासगो सो वती व अवती वा।
तो पुण णायग इतरो, एवऽणुवासे वि दो भंगा॥१२७॥

साधुं उवासतीति उवासगो, थूलगपाणवहादिया य वा जेण गहिता सो वती, इयरो अवती। सो दुविहो वि सयणो, असयणो य। एवं अणुवासए वि दो भंगा, भंगा इति प्रकारा इत्यर्थः।

इमं पुण सुत्तं। गाहा—

इत्थिं पडुच्च सुत्तं, सहिरणसमोयणे व आवासो।
जति णिस्सागयं जे वा,मेहुणणिसिभोयणं कुज्जा।१२८।

अह इत्थी उवासगे संवसति, सइत्थीओ वा पुरिसो,अणित्थीओ वा सहिरएणो,अहिरणो गहियपत्तपाणभोयणो एते वा साधू वसहीए आवासेति,रातो साधुं वा पडुच आगता वसहिट्ठिया मेहुणं करेति,रातो वा भुंजति। एएसु सुत्तणिवातो-ह्व। एतद्दोसविप्पमुक्के पुरिसे-ह्व। पुण अद्धराईए एगं वा जामं तिरिण वा जामा स भवति।

गाहा—

जति पत्ता तु निसीहे, एगें व णितेसु अरुणमणतरे।
एगतरणुभयतो वा, वाघातेणं तु अद्धणिसिं ॥१२६॥

जइ अद्धरत्ते वा एगम्मि वा जामे गते तेहिं वा जामेहिं गतेहिं पत्ता हवेज्जा। एगतरं ति गिहत्था सजना वा, उभय त्ति गिहत्था सजया य, एवं वाघायकारणेण वा अप्पणो वा रातीए एए णिग्गच्छंताणं अवणिस्सादिसंभवो भवति।

गिहिणा सह वसंताण इमे दोसा। गाहा—

सागारिय अधिकरणे, भासादोसा पवालमातंको।
आउयवाघातम्मि य,सपक्खपरपक्खतेणादी ॥१३०॥
किं वा णट्ठा एएहिँ, धाइतो गहणदोसगमणं वा।
अच्छेणावि अवहिते, संकागहणादिया दोसा॥१३१॥

काइयसण्णा वोसिरति तो उदगस्स अभावे कारणतो मोयपमज्जणेण पायपमज्जणेण वा सागरियं भवति, आउजोए वणवणियादि अधिकरणं। अहवा णिंतापिंते चलणादिसघट्टिते अधिकरणं कलहो हवेज्ज। जति सजतिभासाहिं भासति तो गिहत्था गेण्हंति। अह गारत्थियभासाए भासति तो असजता वोलेंति। सो गिहत्थो सप्पेण खइतो, आयकेण वा मतो, अध य कालेण वा मतो, ताहे संका। किंच णुण एयस्स गिहत्थस्स किंचणं अपासितं, आयु संजएहिं। उड्डाविओ गेण्हणादिया दोसा पावेति। कोइ सढो असढो वा अपुट्ठधम्मी तं हिरणं आणेत्ता तं से हरिउं णासेज्ज, एवं गमणागहणपक्खेवि। स हिरणगं जाणित्ता तं गिहत्थं अएणो कोइ गिही हरेज्ज ताहे सजतासि किं कज्जंति, ताहे सो रायकुलं गतं कहेज्जा संजएहिं मे हिरएणं आसियावियं, तत्थ गेण्हणादिया दोसा। आदिग्गहणातो वा उभयं हरेज्ज। जम्हा एते दोसा।

तम्हा ण संवसेज्जा,खिप्पं णिक्खामते ततो ते उ।
जे भिक्खू ण निक्खामे, सो पावति आणमादीणि।१३२॥

णिक्खमणं णिप्फडणं तत आश्रयात् ते इति-गृहस्था. साहूहिं न तज्जा णिग्गच्छहिति। नि० चू० ८ उ०। (कारणे वसेदपीति निशीथग्रन्थादष्टमोद्देशकादवसेयम्।) (अत्र वक्तव्यं 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १६६५ पृष्ठे।) ('णिग्गंथी' शब्दे चतुर्थभागे २०४७ पृष्ठे च गतम्) वापकानां कर्षकाणामावासे, अन्नत्थ किंसि करेत्ता अन्नत्थ वोदु वसति तं संवासं भएणति। नि० चू० १२ उ०।

संवासभद्दय-सवासभद्रक-पुं०। संवासश्चिरं सह वासस्तस्मिन्भद्रकोऽहिंसकत्वात् संसारकारणनियोजकत्वाद् वेति संवासभद्रक.। संवासभद्रकारिणि, स्था० ४ ठा० १ उ०।

संवासित्तए-संवासयितुम्-अव्य०। एकसमीपे आसयितुमित्यर्थे, बृ० ४ उ०। स्था०। संस्तारकमण्डल्या निवेशयितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ०।

संवाह-संवाह-पुं०। समभूमौ कृषिं कृत्वा येषु दुर्गभूमिभूतेषु धान्यानि कृषीवलाः संवहन्ति रक्षार्थमिति। कृषीवलानां धान्यरक्षार्थं निर्मितेषु समभूमितलेषु,स्थानेषु,स्था० १ ठा०।

संविक्खमाण-संवीक्षमाण-त्रि०। समतया ईक्षमाणे, उत्त० २४ अ०।

संविग्ग-संविग्न-पुं०। मोक्षाभिलाषिणि, बृ० ३ उ०।आव०। पं० व०। औ०। पञ्चा०। आ० म०। दर्श०। ध०। व्य०। वक्ष्यमाणलक्षणसंवेगमग्ने, सूत्र०१ श्रु० १ अ० १ उ०। पञ्चा०। पं० त्रिं०। ध०। उत्त्रस्ते, व्य० १ उ०। संविग्ना नाम उत्त्रस्तास्ते च द्विधा द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यत संविग्ना मृगास्तेषा इतस्ततो वा बिभ्यता प्राय सदैवोत्त्रसमानत्वात्। भावसंविग्ना ये संसाराद्वृत्त्रस्तमानसतया सदैव पूर्वरात्रादिष्वेनचिन्तयन्ति। 'किं मे कडं किं वा मेऽत्थि सेसं किं सक्कणिज्जं न समायरामि' इत्यादि। व्य० १ उ०। (संविग्नस्य विशेषतो व्याख्या 'उस्सारकप्प' शब्दे द्वितीयभागे ११७६ पृष्ठे गता।) संविग्गो दव्वसंविग्गो, भावसंविग्गो। सव्वतो अवज्जस्स वीहेति। उक्तं च-" मृगा यथा मृत्युभयस्य भीता, उद्विग्नवासे न लभन्ति निद्राम्। एवं बुधा ज्ञानविशेषबुद्धा, संसारभीता न लभन्ति निद्राम् ॥१॥" आ० चू० ३ अ०। आव०। पं० भा०। पं० चू०। संसारभीरौ, पञ्चा० १२ विव०। सामाचार्या सम्यग्युक्ते, व्य० ४ उ०। सम्यग् व्याप्ते वशीभूते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। उद्यतविहारिणि, नि० चू० ४ उ०। बृ०। आव०।

संविग्गपक्खिय—संविग्नपाक्षिक—पुं० । संविग्नाः सुसाधवः तेषां पक्षेण चरति यः सः संविग्नपाक्षिकस्तेषां वा पाक्षिकः पक्षग्राही संविग्नपाक्षिकः । संम्यक्त्वसंयमपरिपालनासमर्थसंयतिपक्षपातेन आत्मनिस्तारके, दर्श० १ तत्त्व । पञ्चा० । पं० व० । (अत्रत्यव्याख्या ' संलेहणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१८ पृष्ठे गता ।)

अथ संविग्नपाक्षिकस्यैव किंचित् कर्त्तव्यं दर्शयन्नाह—

सम्मग्गमग्गसंप-ट्ठिआणं साहूणँ कुणइ वच्छल्लं ।
ओसहभेसज्जेहि अ, सयमन्नेणं तु कारेइ ॥ ३५॥

सन्मार्गमार्गसंप्रस्थितानां-सन्मुनिमार्गे सम्यक् प्रवृत्तानां साधूनां-मुनीनां करोति-विधत्ते, स्वयम्-आत्मना वात्सल्यसमाधिसंपादनम्, अधिकारात् संविग्नपाक्षिकः, कैः ? औषधभैषज्यैः । तत्र औषधानि-केवलद्रव्यरूपाणि बहिरुपयोगीनि वा भैषज्यानि सांयोगिकानि अन्तर्भोग्याणि वा, चशब्दोऽनेकान्यप्रकारसूचकः । तथाऽन्येनात्मव्यतिरिक्तेन कारयति, तुशब्दात् कुर्वन्तमन्यमनुजानातीति गाथाछन्दः । ग० १ अधि० । द्वा० । "संविग्गोऽणुवएस, ण देइ दुब्भासिअं कडुविवागं । जाणंतो तम्मि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥१॥" इति । द्वा० १ द्वा० ।

संविग्गभाविय—संविग्नभावित—त्रि० । उद्यतविहारिसंभावितें, नि० चू० ४ उ० ।

संविग्गविहार—संविग्नविहार—पुं० । संविग्नानुष्ठाने, भ० १ श० ६ उ० ।

संविग्गविहारि(ण्)—संविग्नविहारिन्—पुं० । संविग्नानुष्ठानकर्त्तरि उद्यतविहारिणि, भ० ११ श० १२ उ० ।

संविग्गसुहाभिगम—संविग्नसुखाभिगम—त्रि० । संविग्नैः संसारभयोद्वेगाविर्भूतमोक्षाभिलाषैरपकृष्यमाणरागद्वेषादककालुष्यैरिदमेव जिनवचनं तत्त्वमित्येवं सुखेनावगम्यते यत्तत् संविग्नसुखाभिगमनम् । संविग्नानां स्वावबोधं, सम्म० ३ काण्ड ।

संविढत्त—समर्जित—त्रि० । सम्पादिते, पं० व० १ द्वार ।

संवित्ति—संवित्ति—स्त्री० । ज्ञाने, आ० म० १ अ० । स्था० ।

संविधुणिय—संविधूय—अव्य० । प्रमथ्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु०६ अ० ८ उ० ।

संविभागि(ण्)—संविभागिन्—पुं० । संविभजति आनीताहारमन्येभ्यः साधुभ्यः प्रार्थयतीत्येवंशीलो यः स संविभागी । परेभ्यो दत्त्वा भोक्तरि, उत्त० ११ अ० ।

संविभाविऊण—संविभाव्य—अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, महा० १ चू० ।

संविह—संविध—पुं० । आजीविकोपासकभेदे, भ०८ श०५ उ० ।

संवीत—संवीत—त्रि० । आकुले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

संवुअ—संवृत—त्रि० । "उदृत्वादौ" ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति आदेः ऋत उत्वम् । संवुअं । निरुद्धे, प्रा० १ पाद ।

संवुड—संवृत—त्रि० । उपयुक्ते सत्साधौ, दश० ५ अ० १ उ० । निरुद्धेन्द्रिये, औ० । सामान्येन प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारसंवरोपेते, भ० ११ श० ११ उ० । निरुद्धाश्रवद्वारे सर्वविरते, भ० १६ श० ६ उ० । उत्त० । आचा० । मनोवाक्कायगुप्ते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । यमनियमरते, सूत्र० १ श्रु० १ अ०४ उ० । त्रिगुप्तिगुप्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । उत्त० । इन्द्रियनोइन्द्रियैः संयते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । (संवृतस्यानगारस्य क्रियाया विषयः 'अणगार' शब्दे प्रथमभागे २७२ पृष्ठे दर्शितः ।) समन्तत आवृते, च० प्र० २० पाहु० । पार्श्वतः कटकुड्यादिनाऽऽच्छादिते, उत्त० १ अ० । काल्पनिके, द्वा० ८ द्वार ।

संवुडकम्म—संवृतकर्मन्—पुं० । संवृतानि-निरुद्धानि कर्माण्यनुष्ठानानि सम्यगुपयोगरूपाणि वा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि वा यस्य स तथा । निरुद्धकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

संवुडचारि(ण्)—संवृतचारिन्—पुं० । यमनियमाद्युपेते शब्दमनस्के, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

संवुडबहुल—संवृतबहुल—त्रि० । प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोधप्रचुरे, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

संवुडवियडा—संवृतविवृता—स्त्री० । संवृतविवृतोपमरूपे योनिभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । प्रज्ञा० ।

संवुडा—संवृता—स्त्री० । घटिकालयवत् योनिभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । प्रज्ञा० ।

संवुडासंवुड—संवृतासंवृत—न० । संवृतासंवृताः स्थगितास्थगिताः परित्यक्तापरित्यक्ताः सावद्ययोगाः यस्मिन् सामायिके तत्संवृतासंवृतम् । देशविरतिसामायिके, विशे० । आ० म० ।

संवुद्ध—संवृद्ध—पुं० । अभ्युत्क्रान्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

संवेग—संवेग—पुं० । संवेजनं संवेगः । भ० १७ श० ३ उ० । सम्यग् वेग उद्वेगः संवेगः । आ० चू० ४ अ० । मोक्षाभिकाङ्क्षे, आ० चू० ४ अ० । व्य० नरसुरसुखपरिहारेण मोक्षसुखाभिलाषे, दश० १ अ० । प्रव० । द्वा० । आ० । संथा० । ध० । संथा० । दर्श० । अष्ट० । विरतिप्रतिपत्तिकारणभूते मोक्षाभिलाषाध्यवसाये, पञ्चा० ५ विव० । दश० । जी० । वृ० । उत्त० । आव० । अवश्यभाविनिर्वेदे, उत्त० २९ अ० । भवभये, भ० १ श० ७ उ० । दश० । स० । शुभाध्यवसायविशेषे, पञ्चा० १५ विव० । संवेगलक्षणम्-"तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते । साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥ १ ॥" यो० वि० । ध० समुद्रपालः संवेगं प्राप्तः सन्निदमब्रवीत्" किं कृत्वा तं चौरं वध्यं दृष्ट्वा इदम् इति, किम् ?, अहो इत्याश्चर्ये अशुभानां कर्मणामिव पापकं निर्याणम्, अशुभं प्राप्त इत्यर्थः । उत्त० २१ अ० ।

सवेगफलम्—

संवेगेणं भंते! जीवे किं जणयइ?, संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ,अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणन्ताणुबन्धिकोहमाणमायालोभे खवेइ, नवं च कम्मं न बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊणं दंसणाराहए भवइ । दंसणविसोहीए णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, सोहिएणं विसुद्धाए तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ ॥ १ ॥

शिष्य पृच्छति-हे भदन्त ! हे पूज्य ! संवेगेन—मोक्षाभिलाषेण कृत्वा जीव किं जनयति—किमुत्पादयति, तदा गुरुराह-हे शिष्य ! संवेगेन कृत्वा जीवोऽनुत्तरा प्रधानां धर्मश्रद्धा धर्मरुचिं जनयति, तया प्रधानया धर्मस्य श्रद्धया संवेग मोक्षाभिलाष 'हव्वं' इति शीघ्रमागच्छति-प्राप्नोति, ततो नरकानुबन्धिनो नरकगतिदायिनोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान् चतुरोऽपि कषायान् क्षपयति, नव च कर्म न बध्नाति, तत्प्रत्ययाम्—अनन्तानुबन्धिकषायक्षयादुत्पन्ना मिथ्यात्वविशुद्धिं सर्वथा मिथ्यात्वक्षर्नि कृत्वा दर्शनाराधको भवति, क्षायकशुद्धसम्यक्त्वस्य आराधको—निरतिचारपालको भवति, तत सम्यक्त्वविशुद्ध्या अतिनिर्मलया अस्त्येक कश्चित् भव्यो य स तेनैव भवग्रहणेन-जन्मोपादानेन सिद्ध्यति-सिद्धिं प्राप्नोति । एक पुन सम्यक्त्वस्य निर्मलया विशुद्धया तृतीय पुनर्भवग्रहण नातिक्रामति इत्यनेन शुद्धक्षायकसम्यक्त्ववान् भवत्रयमध्ये मोक्ष व्रजत्येव । उत्त० २९ अ० । जिनवचनभावितान्त करणतायाम्, दर्श०५ तत्त्व । संवेगो-भवविराग. निर्वेदो-मोक्षाभिलाष इति । (ध०) सवेगो-भयम् जिनप्रवचनानुसारिणो नरकेषु शीतोष्णादिसहन संक्लिष्टासुरादिनिर्मित परस्परोदीरित च तिर्यक्षु भारारोपणाद्यनेकविध मनुजेषु दारिद्र्यदौर्भाग्यादि देवेष्वपि ईर्ष्याविषादपरप्रेष्यत्वादि । ध० २ अधि० ।

संवेगे कथा । संवेगद्वारमाह—

चंपाए मित्तपभे, धणमित्ते धणसिरी सुजाए य ।
पियंगू धम्मघोसे य,ऽरक्खुरी चेव चंदघोसे य ॥१३०२॥
चंदजसा रायगिहे, वारत्तपुरे अभयसेणवारत्ते ।
सुसुमारधुंधुमारे, अंगारवई य पज्जोए ॥ १३०३ ॥

" मित्र प्रभो नृपश्चम्पा-पुर्या राज्ञी च धारिणी ।
धनमित्र सार्थवाहो, धनश्रीस्तस्य वल्लभा ॥ १ ॥
तस्योपयाचितशतै-र्जाते पुत्रे जनोऽवदत् ।
अहो सुजातमस्यति, कुलेऽमुष्मिन् महर्द्धिक ॥ २ ॥
सुजात इति तस्याथ, द्वादशेऽह्नि कृताऽभिधा ।
सोऽत्यन्तरूपवास्तस्य, ललित शिक्षत जन ॥ ३ ॥
अमात्यो धर्मघोषोऽभूत्, प्रियङ्गुस्तस्य च प्रिया ।
सा सुजातगुणान् श्रुत्वा, ऽवोचद्दासीं यथाऽमुना ॥ ४ ॥
यदैत्येष तदाऽऽख्येय, येन प्रेक्षे नव स्मरम् ।
तेनाध्वनाऽन्यदाऽऽयात् स, प्रियङ्गो प्रदर्शितस्तया ॥ ५ ॥
दृष्ट्वाऽथ सा सपत्नीक, त प्रियङ्गुरदोऽवदत् ।
धन्या साऽसौ प्रिया यस्या, रतेरिव मनोभव ॥६॥
सुजातवेषमाधाय, प्रियङ्गु रमतेऽन्यदा ।
तद्विलासाँस्तदालापान्, स्वसपत्नीषु कुर्वती ॥ ७ ॥
अमात्यश्च तदाऽऽयातो,ऽन्त पुर निध्यनीति स ।
शनैर्गत्य द्वारसंधौ, ता विक्रीडा निरैक्षत ॥ ८ ॥
सोऽथ दध्यौ विनष्टं मे,ऽन्त पुर छन्नमेर तत् ।
सुजात कारयामीति, पर बिभेति तत्पितु ॥ ९ ॥
मा भूत्ततो विनाशो मे, राजमान्योऽस्ति येनस ।
कूट लेख विधायाथ, राज्ञो राजद्विषस्तत. ॥ १० ॥
नृपाग्रेऽवाचयन् मन्त्री, मित्रप्रभुनरेश्वर ।
भो सुजात ! त्वया घात्यो ऽद्रराज्यं दास्यते तव ॥ ११ ॥
कुपितोऽथ नृपो लेख-हरान् वध्यान् समादिशत् ।
मन्त्रिणा ते धृताश्छन्ना, पृथ्वीनाथोऽथ दध्यिवान् ॥१२॥
लोकज्ञाते हतेऽमुष्मिन्, पुरक्षोभो भविष्यति ।
मम तस्य च भूपस्य, महान्यत्ययशो जन ॥ १३ ॥
तत. प्रत्यन्तनगरे, 'अर(क्खु)री' ति नामनि ।
अस्ति माण्डलिकस्तत्र, निजश्चन्द्रध्वजाभिध ॥ १४ ॥
सुजात प्रहितस्तत्र, विशिष्टैश्वर्यसंयुत ।
राजादेश समर्प्य स्व, चन्द्रध्वजनृपान्तिके ॥ १५ ॥
राजकार्यापदेशेन, कर्तुं प्रेताधिपातिथिम् ।
सोऽगात्तत्र नृपोऽदर्शि, राजादेश समर्पित ॥ १६ ॥
घात्यस्त्वयेष दृष्ट्वेति, दध्यावस्तु हनिष्यते ।
सह प्रतिदिन तेन, खेलति स्म महीपति ॥ १७ ॥
रूपशीलसदाचारान्, दृष्ट्वा तस्य व्यचिन्तयत् ।
नूनमन्त पुरध्वस-दोषाभिग्राहितोऽस्त्यसौ ॥ १८ ॥
ईदृग्रूप कथ हन्मी-त्यास्यत्तस्याखिलं रह ।
सुजात स्माह यद्वेत्सि, तत् कुरुष्वाथ सोऽवदत् ॥ १९ ॥
न त्वा हन्मि रहस्तिष्ठ, दत्ता चन्द्रयशा स्वसा ।
अस्ति त्वग्दोषिणी साऽथ, तया सार्द्धं समस्ति स ॥२०॥
सुजातस्यापि सङ्क्रान्तो, रोगस्तत्सङ्गतो मनाक् ।
सा तु तेनोपदेशौघै, प्रबोध्य श्राविका कृता ॥ २१ ॥
सा दध्यौ मम सङ्गेन, सरुग् जातोऽयमप्यत ।
सविघ्नाऽनशन चक्रे, तेनैव निरयाम्यत ॥ २२ ॥
देवो जज्ञेऽथ सोऽज्ञासीद्, दृष्ट्वा नत्वा वदत्यसौ ।
किं कुर्म. सोऽपि संविग्न, स्माह पित्रोर्विलोकनात् ॥२३॥
जिघृक्षामि व्रत देव—स्तमूचे तत्करिष्यते ।
तद्देवोत्पाट्य त क्षणो-द्याने मुक्त्वा पुरोपरि ॥ २४ ॥
शिला स चक्रे महतीं, लोकोऽभूद् व्याकुलोऽखिल ।
धूपहस्तोऽवदद्राजा, योऽस्ति रुष्ट सुरोऽसुर ॥ २५ ॥
स तु दर्शयतु स्वं मे, येन प्रा‌ऽऽसादयामि तम् ।
देवोऽवदत् सुजातोऽयं, श्रावक. परमार्हत ॥ २६ ॥
निर्दोषो मन्त्रिणाऽदूषि, तत्सर्व चूरयाम्यहम् ।
त प्रसाद्यानयध्वं चे-त्ततो मुञ्चामि नान्यथा ॥ २७ ॥
राजोचे क्वास्ति देवोऽवग्, बाह्योद्याने नृपस्तत. ।
तत्र गत्वा सपौरोऽपि, क्षमयित्वा तमानयत् ॥ २८ ॥
शिला संहृत्य देवोऽगात्, सुजात पितरौ पुन ।
आपृच्छ्य व्रतमादत्त, पश्चात्तौ पितरावपि ॥ २९ ॥

ते त्रयोऽपि शिवं प्रापु-र्मन्त्री राज्ञा प्रवासितः।
सुजातस्य गुणान्मन्त्री, श्रुत्वा सर्वत्रगानिमान्॥ ३०॥
यथा नेत्रे तथा शीलं, यथा नासा तथाऽर्जवम्।
यथा रूपं तथा वित्त, यथा शील तथा गुणा.॥ ३१॥
ततश्च सोऽपि निर्विण्णो, दध्यौ पाप मया कृतम्।
गतो राजगृहे साधु--सन्निधौ व्रतमात्तवान्॥ ३२॥
अभूद्बहुश्रुतो भ्राम्यन्, वारत्तगपुरं ययौ।
तत्रेशोऽभयसेनोऽभू-न्मन्त्री वारत्तक. पुनः॥ ३३॥
तद्गृहे धर्मघोषोऽगा-द्भ्रमन् भिक्षामुपाहरत्।
परमान्नं सखण्डाज्यं, बिन्दो पाते न सोऽग्रहीत्॥३४॥
वारत्तको गवाक्षस्थो, दध्यौ नैच्छदिदं कथम्।
तावद्बिन्दौ लगन्ति स्म, मक्षिकास्ताश्च खादितुम्॥३५॥
गृहगोलिका समायासी--त्कृकलासश्च ता पुनः।
ततस्तदर्थं मार्जारि-र्जिघत्सु तां पुन शुनौ॥ ३६॥
एक. स्वाम्यपरो यायी, एकद्रव्यार्थिनोस्तयोः।
बभूवास्फलनं पश्चा-त्कलिस्तत्स्वामिनोऽभवत्॥३७॥
ततो बलं मेलयित्वा, चक्रे ताभ्या महारण.।
वारत्तकस्ततो दध्यौ, स नैच्छत्कारणादतः॥ ३८॥
इति ध्यायन् सोऽपि जाति--मस्मरत् प्रतिबुद्धवान्।
उपधिं देवताऽयच्छ-द्वारत्तकमुनिस्ततः॥ ३९॥
सुंसुमारपुरेऽयासी-द्विहरन् क्षमामनिश्रया।
धुन्धुमारो नृपस्तत्र, तस्याङ्गारवती सुता॥ ४०॥
सा परिव्राजिकाधर्म-विचारे जितवत्यथ।
सापत्न्येऽमु क्षिपामीति,वैरात्प्राव्राजिकाऽधमा॥४१॥
लिखित्वा चित्रफलके-ऽवन्त्यां प्रद्योतभूते।
ऐक्षयिष्ट स पप्रच्छ, साऽख्यद्बन्धोऽथ तत्कृते॥ ४२॥
प्रैषीद् दूतं ततो धुन्धु-मारस्तमिदमुक्तवान्।
विद्यावद्विनयेनैव, लभ्यन्ते कन्यका अपि॥ ४३॥
आख्यत् प्रतिगतो दूत-स्तत्तदुक्ताधिक प्रभो.।
कुपित. सोऽथ सर्वौघे-णागत्याऽवेष्टयत्पुरम्॥४४॥
धुन्धुमारोऽल्पसेनाङ्गो, विभ्यन्नैमित्तिक जगौ।
स ऊचे वीक्ष्य वक्ष्यामि, तद् द्रष्टुमथ सोऽगमत्॥४५॥
क्रीडन्त्येकत्र डिम्भानि, भीषयामास वीक्ष्य स.।
तत्र चास्ते नागगृहे, वारत्तकमहाऋषि.॥४६॥
प्रतिमास्थस्तत्र तानि, रुदन्ति प्रययुर्भयात्।
वारत्तकोऽवदत्तानि. मा भैषुरिति सभ्रमात्॥ ४७॥
नैमित्तिकस्तदाकर्ण्य, नृपस्याख्यन्न ते भयम्।
अवस्कन्दमथो दत्त्वा, धृत्वा प्रद्योतभूपतिम्॥ ४८॥
धुन्धुमारोऽन्तराऽऽनीय, पुरद्वाराण्यबन्धयत्।
अथ प्रद्योतमूचे तं, किमातिथ्यं विधीयताम्॥ ४९॥
सोऽवदद्गौरवं यत्ते, धुन्धुमारो ददौ तत॰।
महाभूत्याऽङ्गारवतीं, तया सार्द्धमथास्ति स॰॥ ५०॥
राजपाटीमथान्येद्यु-स्तत्र कुर्वन्नवन्तिराट्।
दृष्ट्वा बलाल्पतामूचे, गृहीतोऽहं कथ प्रिये!॥ ५१॥
सा साधुवाक्यमाचख्यौ, तन्मूलं स गतोऽवदत्।
नैमित्तिकमुने! वन्दे, सस्माराथोपयुज्य सः॥ ५२॥
डिम्भाभयगिर दत्ता, संवेग परमं गता.।
सुजातो धर्मघोषश्च, तथा चन्द्रयशा अपि॥ ५३॥"
आ० क० ४ अ०।

संवेगकरणत्थ-संवेगकरणार्थ--पुं०। संवेगहेतुषु भावेषु, स० १४७ सम०।

संवेगपर--संवेगपर--पुं०। संविग्ने चारित्रिणि,पञ्चा० १६ विव०।

संवेगपरायण-संवेगपरायण--त्रि०। संवेगः संसारभयं मोक्षाभिलाषो वा परमयन गमनं येषु तानि संवेगपरायणानि। संवेगतात्पर्यकेषु, पो० ८ विव०।

संवेगभावियमइ-संवेगभावितमति--पुं०। मोक्षाभिलाषत्वावासितमतिके, पञ्चा० १० विव०। जी०।

संवेगरसायणय-संवेगरसायनद--त्रि०। संवेगः संसारनिर्वेदो मोक्षानुरागो वा स एव रसायनममृतमजरामरत्वहेतुत्वात् संवेगरसायनम्, तद्ददाति प्रयच्छतीति संवेगरसायनदः। संवेगोत्पादके, पञ्चा० २ विव०।

संवेगविसेसजोग-संवेगविशेषयोग--पुं०। भवभयातिशयसंबन्धे, पञ्चा० १६ विव०।

संवेगवुड्ढिजणग--संवेगवृद्धिजनक--त्रि०। मोक्षाभिलाषातिशयकारिणि, पञ्चा० ६ विव०।

संवेगसमावण्ण--संवेगसमापन्न--त्रि०। मोक्षसुखाभिलाषमेवानुगते, पं० व० ४ द्वार।

संवेगसारगुरु-संवेगसारगुरु--पुं०। प्रशस्तभावप्रधाने, पं० व० ५ द्वार।

संवेगसुद्धजोग--संवेगशुद्धयोग--पुं०। संवेगेन शुद्धव्यापारे, पं० व० ३ द्वार।

संवेज्ज-संवेद्य--त्रि०। संवेदनार्हे, योगिनामेतदन्येषां श्रुतिगोचर उपमाभावातो व्यक्तमभिधातु न शक्यते। द्वा०३२अष्ट०।

संवेध-संवेध--पुं०। संयोगे,व्य० १ उ०। (बन्धोदयसत्ताप्रवृत्तिस्थानाना परस्पर प्ररूपणा 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६५ पृष्ठे 'पच्छित्त' शब्दे पञ्चमभागे १७६ पृष्ठे विस्तरत उक्ता।)

संवेयण-संवेदन--न०। वस्तुस्वरूपपरामर्शे,षो०१२विव०।पुरोऽवस्थिते घटादौ विषये तद्भावेतराभावाध्यवसायरूपे विज्ञाने, अने० २ अधि०। णाण ति वा संवेदण ति वा अहिगमं ति वा वेयण त्ति वा भावो त्ति वा पगट्ठा। आ० चू० १ अ०। न०। आचा०।

संवेयणी-संवे(द)(ग)जनी-स्त्री०। संवेगयति संवेगं करोतीति संवेजयते वा संवेज्यते वा संवेग ग्राह्यते श्रोता अनयेति संवेगनी संवेदनी संवेजनी चेति। कथाभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

संवेयणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता,तं जहा-इहलोगसंवेयणी परलोगसंवेयणी आयसरीरसंवेयणी परसरीरसंवेयणी (सू०-२८२×)

इहलोको मनुष्यजन्म तत्स्वरूपकथनेन संवेगनी इहलोकसंवेगनी, सर्वमिदं मानुषत्वमसारमध्रुवं कदलीस्तम्भसमानमित्यादिरूपा,एवं परलोकसंवेदनी-देवादिभवस्वभावकथनरूपा, देवा अपीर्ष्याविषादभयवियोगादिदु खैरभिभूताः

किंपुनस्तिर्यगादय इति, आत्मशरीरसंवेगनी-यदेतदस्मदीयं शरीरमेतदशुचि अशुचिकारणजातमशुचिद्वारविनिर्गतमिति न प्रतिबन्धस्थानमित्यादिकथनरूपा, एवं परशरीरसंवेगनी । अथवा--परशरीर--मृतकशरीरमिति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

मता संवेजनी स्वान्य-देहेहप्रेत्यगोचरा ।
यया संवेज्यते श्रोता, विपाकविरसत्वतः ॥ १३ ॥

मतेति--यया कथया विपाकविरसत्वतो विपाकवैरस्यात् प्रदर्शितात् श्रोता संवेज्यते--संवेगं ग्राह्यते, सा संवेजनी स्वान्यदेहेहप्रेत्यगोचरा--स्वशरीरपरशरीरेहलोकपरलोकविषया चतुर्विधा मता । द्वा० ६ द्वा० ।

संवेल्लेमाण-संवेष्टयत्--त्रि० । "समो ल्लः" ॥ ८ । ४ । २२२ ॥ अनेन सम्पूर्वस्य द्विरुक्तो लकारः । सङ्कोचयति, प्रा० ४ पाद ।

संवेल्लिअ-संवेष्टित--त्रि० । संवर्त्तिते, भ० १६ श० ६ उ० । मुकुलिते, "संवेल्लिअ मउलिअं" पाइ० ना० १८१ गाथा । संवृत्ते, दे० ना० ८ वर्ग १२ गाथा ।

संसइय-संशयित--त्रि० । कथमिदं स्यादित्येवं संशयशीले, आ० म० १ अ० । दर्श० । संशयविषये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

संशयिक--त्रि० । संशयेन निवृत्ते मिथ्यात्वे, यद्वशाद्भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवाजीवादितत्त्वेषु संशय उपजायते, यथा-न जाने किमिदं भगवदुक्तं धर्मास्तिकायादि सत्यमुतान्यथेति । कर्म० ४ कर्म० । संदिग्धे, "संदिद्धं संसइअं" पाइ० ना० १८५ गाथा ।

संसग्ग-संसर्ग--पुं० । सम्यक् सर्गो योगः संसर्गः सम्यक् संबन्धे, विशे० । सूत्र० । संगतये, सूत्र० १ श्रु० २ उ० । आव० । उत्त० । प्रश्न० । "गवाशनानां स गिरः शृणोति, वयं च राजन् ! मुनिपुङ्गवानाम् । प्रत्यक्षमेतद्भवताऽपि दृष्टं, संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥८॥" आ० चू० ३ अ० (संसर्गविशेषे दर्दुरकथा 'दद्दुर' शब्दे चतुर्थभागे २४५१ पृष्ठे उक्ता ।) (पार्श्वस्थादिसंसर्गः 'किइकम्म' शब्दे ५१७ पृष्ठे ३ भागे निषिद्धः । संसर्गाद् गुणाऽगुणव्यवस्थाऽपि तत्रैव ।)

संसग्गि-संसर्गि--पुं० । प्राकृतत्वात्संसर्गः । उत्त० १ अ० १ । संगतौ उत्त० १ अ० । संसक्तौ, दृ० ४ उ० । आ० चू० । कुशीलादिसंसर्गिनिषिद्धा । व्य० ७ उ० । पं० व० । मधुनसम्पर्के-स्त्रीपुंससंसर्गविशेषरूपत्वात्संसर्गजत्वात् संसर्गिरित्युच्यते । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

संसज्जिय-संसज्जित--त्रि० । सामस्त्येन प्रगुणिते जीवेन स्वप्रदेशेषु सम्बन्धिते चारित्रमोहनीयादिकर्मणि, पञ्चा० ४ विव० ।

संसट्ठ-संसृष्ट--त्रि० । खरण्टित, स्था० ५ ठा० १ उ० । खरण्टितेन हस्तादिना दीयमाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अन्यदीयपिण्डैः सह सम्मीलिते, बृ० २ उ० । संसृष्टं नाम भोक्तुकामेन गृहीत कूरादौ हस्तः क्षिप्तो न तावन्मुखे क्षिपति तच्च लेपालेपकरणस्वभावमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । "असंसट्ठं संसट्ठं चेव बोद्धव्वं ।" दश० ।

संसट्ठेण हत्थेण, दव्विए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३६ ॥

संसृष्टेन हस्तेन-अन्नादिलिप्तेन तथा दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं प्रतीच्छेत् गृह्णीयात्कि सामान्येन ? नेत्याह-यत्तत्रैषणीयं भवति, तदन्यदोषरहितमित्यर्थः, इह च वृद्धसंप्रदायः 'संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसं दव्वे, संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते णिरवसेसे दव्वे, एवं अट्ठ भंगा एत्थ पढमभंगो सव्वुत्तमो अन्नेसु वि जत्थ सावसेसं दव्वं तत्थ घिप्पइ ण इयरेसु पच्छाकम्मदोसाउ" त्ति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू,
तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा ॥ ६ ॥

संसृष्टकल्पेन--हस्तमात्रकादिसंसृष्टविधिना चरेत् भिक्षुरित्युपदेशः, अन्यथा पुरःकर्मादिदोषात् । संसृष्टमेव विशिनष्टि--तज्जातसंसृष्ट इत्यामगोरसादिसमानजातीयसंसृष्टे हस्तमात्रकादौ यतिर्यतेत-यत्नं कुर्यात्, अतज्जातसंसृष्टे संसर्जनादिदोषादित्यनेनाष्टभङ्गसूचनम् । तद्यथा--"संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे" इत्यादि, अत्र प्रथमभङ्गः श्रेयान्, शेषास्तु चिन्त्या इति सूत्रार्थः । दश० २ चू० । आ० चू० । प्रव० । रा० । पूर्वापरचित उद्भ्रामके, बृ० १ उ० ३ प्रक० । संश्लेषिते, प्रव० ५ द्वार । गोरससंश्लिष्टे भाजने प्रक्षिप्तत्वेन गोरसरसेन परिणामिते उदके, बृ० १ उ० २ प्रक० । ('लेव' शब्दे षष्ठभागे संसृष्टोदकेन लेपकरणं दर्शितम् ।)

संसट्ठकप्पिय-संसृष्टकल्पिक--पुं० । संसृष्टेन खरण्टितेनेत्यर्थो हस्तभाजनादिना दीयमानं कल्पिकं कल्पवत् कल्पनीयमुचितमभिग्रहविशेषाद्भक्तादि यस्य सः । तथाविधाभिग्रहविशेषवाक्ये साधौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । सूत्र० । औ० ।

संसट्ठचरय-संसृष्टचरक--पुं० । संसृष्टेन खरण्टितेन हस्तादिना दीयमानं संसृष्टमुच्यते, तच्चरति यः स तथा । संसृष्टकल्पिके, औ० ।

संसट्ठा-संसृष्टा--स्त्री० । भिक्षाभेदे, नि० चू० ११ उ० ।

तम्मी या संसट्ठा, हत्थमत्तए इमा पढमभिक्खा॥७४७॥

'तम्मि' त्ति प्राकृतत्वात् तासु भिक्षासु मध्ये संसृष्टा हस्तमात्रकाभ्यां भवति । कोऽर्थः संसृष्टेन हस्तेनामनादिना खरण्टितेन हस्तेन संसृष्टेन च मात्रकेण करोटिकादिना गृह्णतः साधोः संसृष्टा नाम भिक्षा भवति । इयं च द्वितीयाऽपि सूत्रगाथाक्रमापेक्षया प्रथमा । अत्र च संसृष्टासंसृष्टसावशेषनिरवशेषद्रव्यैरष्टौ भङ्गास्तेषु चाष्टमो भङ्गः--संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं

द्रव्यमित्येव गच्छनिर्गतानामपि कल्पते । शेषास्तु सप्त गच्छान्तर्गतानां सूत्रार्थहान्यादिकं कारणमाश्रित्य कल्पन्त इति । प्रव० ९६ द्वार । सूत्र० । आचा० । पञ्चा० । प्रव० । आव० ।

संसट्ठुसिणोदग–संसृष्टोष्णोदक–न० । लवङ्गादिरसभाजनस्थे उष्णोदके, नि० चू० । लवङ्गरसभायणधोवणियं जं तं ससट्ठुसिणोदगं भण्णति । अहवा—कोसलविसयादिसु सन्नायगाविणस्सणभया सीतोदगे छुब्भति तम्मि य ओदणे भुत्तं अवीभूत जइ अ तमागता पप्पति एत वा संसट्ठुसिणोदगं । नि० चू० १ उ० ।

संसत्त–संसक्त–त्रि० । सवद्धे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । संकीर्णे, स० ८ सम० । सप्रतिबन्धे, उत्त० २५ अ० । श्वापदविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । (निर्ग्रन्थ्या: पात्रे उदकबिन्दु पर्यायेन तत्र ग्रहणविधिः ' पाणग ' शब्दे पञ्चमभागे ८२७ पृष्ठे उक्तः ।) द्वीन्द्रियादिजन्तुमिश्रे भक्तपाने, बृ० ३ उ० । (यत्र देशे भक्तपानं संसज्जते न देशे प्राणिना यतना–' पडिलेहणा ' शब्दे पञ्चमभागे ३६४ पृष्ठे उक्ता ।) दध्यादिद्रव्ये, पिं० । " घटिअं लग्गं च संसत्तं " पाइ० ना० २०१ गाथा ।

संसक्तग्रहणम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुले पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्ज असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणएहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उम्मिस्सं सीओदएण वा ओसित्तं रयसा वा परिघासियं वा तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुअं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे वि संते नो पडिग्गहिज्जा । (सू०–१×)

' से ' इति मागधदेशीवचनं प्रथमान्तो निर्देशे वर्त्तते । य कश्चिद्भिक्षणशीलो भावभिक्षुः मूलोत्तरगुणधारी विविधाभिग्रहरतः भिक्षुणी वा साध्वी स भावभिक्षुर्वेदनादिभिः कारणैराहारग्रहणं करोति, तानि चामूनि–" वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥१॥" इत्याद्यमीषां मध्ये अन्यतमेनापि कारणेनाहारार्थी–सन् गृहपतिर्गृहस्थस्तस्य कुलं–गृहं तदनुप्रविष्टः, किमर्थं ' पिंडवायपडियाए ' त्ति–पिण्डपातो–भिक्षालाभस्तत्प्रतिज्ञया अस्मात्र भिक्षा लप्स्ये इति, स प्रविष्टः सन् यत्पुनरशनादि जानीयात्, कथम्भूत दर्शयति–प्राणिभिः रसजादिभिः पनकैरल्लिजीवैः संसक्तं बीजगोधूमादिभिर्हरितैर्दूर्वाङ्कुरादिभिरुन्मिश्रं शबलीभूतं तथा शीतोदकेन वा अवसिक्तमार्द्रीकृतं रजसा वा सचित्तेन ' परिघासियं ' ति परिगुण्ठितं [illegible] यत्ति ? तथाप्रकारम्—एवजातीयकम्—शुद्धमशनादि चतुर्विधमप्याहारं परहस्ते—दातृकरे परपात्रे वा स्थितम् अप्रासुकं सचित्तमनेषणीयम् आधाकर्मादिदोषदुष्टमित्येवं मन्यमानः स—भावभिक्षुः सत्यपि लाभे न प्रतिगृह्णीयादिति [illegible] । तत्र कथं [illegible] [illegible]–

अरहिते सरजस्कादिभावितं वा काले–दुर्भिक्षादि भावोग्लानतादिरित्यादिभिः कारणैरुपस्थितैरल्पबहुत्वं पर्यालोच्य गीतार्थो गृह्णीयादिति ।

अथ कथंचिदनाभोगात् संसक्तमागामिसत्त्वोन्मिश्रं वा गृहीतं तत्र विधिमाह—

से य आहच्च पडिग्गहे सिया से तं आयाय एगंतमवक्कमिज्जा एगंतमवक्कमित्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणए विगिंचिय विगिंचिय उम्मीसं विसोहिय विसोहिय तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा जं च णो संचाएज्जा भोत्तए वा पायए वा से तमायाय एगंतमवक्कमेज्जा । (सू०–१×)

' से आहच्च ' त्यादि स च भावभिक्षुः ' आहच्च ' त्ति–सहसा संसक्तादिकमाहारजातं कदाचिदनाभोगात् प्रतिगृह्णीयात्, स चानाभोगेन तत्प्रतिग्रहीतृदायकद्वयाच्चतुर्द्धा योजनीय इति, तम्—एवंभूतमशुद्धमाहारमादाय एकान्तम्—अपक्रामेद्–गच्छेत् । तमेवैकान्तं गत्वेति यत्र सागारिकाणामनालोकमसंपातश्च भवति तदेकान्तमनेकधाऽति दर्शयति—' अहे आरामंसि ' त्ति–अथ आरामे वा अथोपाश्रये वा । अथशब्दः अनापातविशिष्टप्रदेशोपसंग्रहार्थे, वाशब्दो विकल्पार्थः शून्यगृहाद्युपसंग्रहार्थो वा । तद्विशिनष्टि–अल्पाण्डे अल्पशब्दोऽभाववचनः अपगताण्डे इत्यर्थः, एवमल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अवश्यायः उदकसूक्ष्मतुषारः, अल्पोदके, तथा अल्पोत्तिङ्गपनकदकमृत्तिकामर्कटसन्तानके । तत्रोत्तिङ्गस्तृणाग्रे उदकबिन्दुः (भूमौ तत्युत्तरक्रियया सम्बन्धः) पनकः—उल्लीविशेषः उदकप्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति, मर्कटकः—सूक्ष्मजीवविशेषस्तेषां सन्तानः, यद्वा—मर्कटकसन्तानः कोलियकस्तद्वत्यग्रडादिविरहिते आरामादिके स्थण्डिले गत्वा प्राग्गृहीताहारस्य यत् संसक्तं तद्विविच्य विविच्य त्यक्त्वा त्यक्त्वा क्रियाभ्यावृत्त्या, अशुद्धस्य परित्यागेन शेषतामाह—उन्मिश्रं वा आगामुकसत्त्वसंवलितं सक्तुकादि तत प्राणिनो विशोध्य विशोध्य–अपनीयापनीय ततस्तदनन्तरं शेषं शुद्धं परिज्ञाय संयत एव भुञ्जीत पिबेद्वा रागद्वेषविप्रमुक्तः सन्निति । उक्तञ्च–" बायालीसेसणसंकडम्मि गहणम्मि जीव ण हु छलिओ । इण्हिं जह ण छलिज्जसि भुञ्जन्तो रागदोसेहिं ॥१॥ रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं विजाणाहि । रागद्दोसविमुक्को, भुञ्जेज्जा णिज्जरापेही ॥ २ ॥ " तच्चाहारादिकं यत् भोक्तुं वा न शक्नुयात्प्राचुर्यादशुद्धपृथक्करणासंभवाद्वा, स भिक्षुस्तदाहारजातमादाय एकान्तमपक्रामेदपक्रम्य च तदाहारजातं परिष्ठापयन् त्यजेदिति सम्बन्धः ।

यत्र च प्रतिष्ठापयेत्तद्दर्शयति—

अहे झामथंडिलंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरासिंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव परिट्ठविज्जा । (सू०–१×)

'अहे झामथंडिलंसि वे' त्ति—अथानन्तर्यार्थे, वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थे, 'झामे' त्ति—दग्धे तस्मिन् वा स्थण्डिले अस्थिराशौ वा किट्टो-लोहादिमलस्तद्राशौ वा तुपराशौ वा गोमयराशौ वा कियद्वा वक्ष्यते इत्युपसंहरति—अन्यतरराशौ वा तथाप्रकारे-पूर्वसदृशे प्रासुके स्थण्डिले गत्वा तत्प्रत्युपेक्ष्य२ अक्ष्णा प्रमृज्य २ रजोहरणादिना अत्रापि द्विर्वचनमादरख्यापनार्थमिति प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनपदाभ्यां सप्तभङ्गका भवन्ति, तद्यथा-अप्रत्युपेक्षितमप्रमार्जितम्१, प्रत्युपेक्षितं प्रमार्जितम् २ प्रत्युपेक्षितमप्रमार्जितम् ३ तत्राप्रत्युपेक्ष्य प्रमृजन् स्थानात् स्थानसंक्रमणेन त्रसान् विराधयति, प्रत्युपेक्ष्याप्यप्रमृजन्नागन्तुकपृथिवीकायादीन् विराधयतीति, चतुर्थभङ्गके तु चत्वारोऽमी, तद्यथा-दुष्प्रत्युपेक्षित दुष्प्रमार्जितम्४, दुष्प्रत्युपेक्षित सुप्रमार्जितम् ५ सुप्रत्युपेक्षित दुष्प्रमार्जितम् ६ सुप्रत्युपेक्षित सुप्रमार्जितमिति स्थापना। तत्रैव भूते सप्तमभङ्गायाते स्थण्डिले संयत एव सम्यगुपयुक्त एव शुद्धाशुद्धपुञ्जभागपरिकल्पनया परिष्ठापयेत्—त्यजेदिति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०। (औषधविधिवक्तव्यता 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६४ पृष्ठे द्रष्टव्या।)

भिक्षां गृह्णतः साधोः पात्रे प्राणादि पतेयुः—

निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि पाणे वा बीये वा रए वा परियावज्जेज्जा। तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा ततो संजतामेव भुंजेज्ज वा पिवेज्ज। तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा,तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अन्नेसिं अणुप्पदेज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया॥ ११॥

अस्य संबन्धमाह—

वंतादियाण रत्तिं, णिवारितं दिवसतो वि अत्थेणं।
वंतमणेसियगहणं, सिया पडिपक्खओ सुत्तं॥ १८१॥

रात्रौ वान्तादिपानं पूर्वसूत्रे निवारितं दिवसतोऽप्यर्थेन वारितम्। अनेषणीयग्रहणमपि साधुभिर्वर्जितमेव अतस्तदिह प्रतिषिध्यते,'सिया उ पडिवक्खओ सुत्तं' ति-स्याद् यतनया प्रतिपक्षतो वा एतत् सूत्रं भवति अप्रतिपक्षतो वा। तत्र प्रतिपक्षतो यथा पूर्वसूत्रे रात्रौ वान्ताऽऽपानं निवारितम्, इदं तु दिवा अनेषणीयं वान्तं निवार्यते। अथ प्रतिपक्षतो यथा पूर्वसूत्रे वान्तं न वर्त्तते, प्रत्यापातुमित्युक्तम्, इहाप्यनेषणीयं वान्तं न वर्त्तते ग्रहीतुमित्युच्यते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (११सू०) व्याख्या-निर्ग्रन्थस्य गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया तु प्रविष्टस्यान्तः प्रतिगृहे प्राणा वा बीजानि वा रजो वा परि समन्तादापतेयुः, तच्च प्राणादिकं यदि शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा ततस्तत्प्राणजातादिकं लात्वा हस्तेन गृहीत्वा विशोध्य २ सर्वथैवापनीय ततः संयत एव प्रयत्नपर एव भुञ्जीत वा पिबेद्वा. तच्च न शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा तदात्मना भुञ्जीत, न वा अन्यथा दद्यात्। एकान्ते बहुप्रासुके प्रदेशे प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य परिष्ठापयितव्यं स्यादिति सूत्रार्थः।

अथ भाष्यकृद्विषमपदानि विवृणोति—

पाणग्गहणेण तसा, गहिया बीएहिँ सव्ववणकाओ।
रयगहणा होति मही, तेऊ व ण संपरट्ठाईं॥ १८२॥

प्राणग्रहणेन त्रसा गृहीताः, बीजग्रहणेन तु सर्वोऽपि वनस्पतिकायः सूचितः, रजोग्रहणेन च मही—पृथिवीकायो गृहीतः, तेजस्कायो वा परस्थो न भवतीति कृत्वा विवेचनादिकं तत्र न घटते।

ते पुण आणिज्जंते, पडेज्ज पुव्विं व संसिया दव्वे।
आगंतुगतब्भवा वा, आगंतुहिं तिमं सुत्तं॥ १८३॥

ते पुनस्त्रसादय आनीयमाने वा भक्ते पतेयुः पूर्वं वा। तत्र द्रव्ये भक्तपाने संश्रितास्ते च द्विविधाः, आगन्तुकास्तदुद्भवा वा। तत्रागन्तुकत्रसादिविषयमिदं प्रस्तुतसूत्रं मन्तव्यम्।

अथ के तदुद्भवाः के वा आगन्तुका भवेयुरित्याह—

रसया पणतो वसिया, होज्ज अणागंतुगाण पुण सेसा।
एमेव य आगंतुय, पणगविवज्जा भवे दुविहा॥१८४॥

ये रसजाः-तक्रदधितीमनादिरसोत्पन्नाः कृम्यादयस्त्रसाद्यश्च पनकः स्यात् एते अनागन्तुकास्तदुद्भवा भवन्ति,न पुनः शेषाः पृथिवीकायादयः। एवमेव च ये पनकवर्ज्या द्विविधाः त्रसाः स्थावराश्च जीवास्ते सर्वेऽप्यागन्तुकाः संभवन्ति।

सुत्तम्मि कड्ढियम्मि, जयणा गहणं तु पडितेँ दट्ठव्वो।
लहुगो अपिक्खणम्मि,आणादिविराहणा दुविहा॥१८५॥

एवं सूत्रमुच्चार्य पदच्छेदं कृत्वा य एष सूत्रार्थो भणितः एतत्सूत्रमाकर्षितमिति भण्यते। एवं सूत्रे आकर्षिते सति निर्युक्तिविस्तर उच्यते—तेन साधुना यतनया भक्तपानस्य ग्रहणं कर्तव्यम्। का पुनर्यतनेत्याह—पूर्वं गृहस्थहस्तगतः पिण्डो निरीक्षणीयो यदि शुद्धस्ततो गृह्यते, एवं यतनया गृहीतोऽपि प्रतिग्रहे पतितो द्रष्टव्यः। यदि न प्रेक्षते ततो लघुको मासः,आज्ञादयश्च दोषाः। विराधना च द्विविधा—तत्र संयमे त्रसादय उष्णे वा द्रवे वा पतिता विराध्यन्ते। आत्मविराधना तु मक्षिकादिसम्मिश्रे भुक्ते वल्गुलीव्याधिर्मरणं वा भवेत्। तस्मात् प्रथममेव प्रतिग्रहपतितः पिण्डो द्रष्टव्यः।

अहिगारो ऽसंसत्ते, संकप्पादी तु देससंसत्ते।
संसज्जिमं तु तहियं, ओदणसत्तूदधिदवाई॥१८६॥

अत एव यस्मिन् देशे त्रसप्राणादिभिः संसक्तं भक्तपानं न भवति तत्रासंसक्ते अधिकारस्तस्मिन्नेव देशे विहरणीयमिति भावः। यस्तु संसक्ते देशे संकल्पादीनि पदानि करोति तस्य प्रायश्चित्तम्, तच्चोत्तरत्र वक्ष्यते। तत्र च संसज्जिमं संसक्तियोग्यमोदनसक्तुदधिद्रवादिकं द्रव्यं मन्तव्यम्।

अथ संसक्तदेशे संकल्पादिषु प्रायश्चित्तमाह—

संकप्पे पदभिंदण, पंथे पत्ते तहेव आवण्णे।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, सट्ठाणं चेव आवण्णे॥ १८७॥

यस्मिन् विषये भक्तादिकं प्राणिभिः संसज्यते तत्र संकल्प—गमनानि प्रायः करोति चतुर्लघु। यदा भेदं करोति च

तुर्गुरु संसक्तदेशस्य पन्थानं गच्छतः षड्लघु, तं देशं प्राप्तस्य षड्गुरु, तथैव द्वीन्द्रियादेः संघट्टनादिकमापन्नस्य स्वस्थानप्रायश्चित्तम्, तद्यथा-द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षड्लघु, त्रीन्द्रियाणां संघट्टनादिषु पदेषु चतुर्गुरुकादारब्धं षड्गुरुके तिष्ठति। चतुरिन्द्रियाणां संघट्टनादिषु षड्लघुकादिकं छेदान्तमिति।

(अ) सिवादिएहिं तु तहिं पविट्ठा,
संसज्जिमाइं परिवज्जयंति।
भूइट्ठसंसज्जिमदव्वलंभे,
गेराहंतुवाएण इमेण जुत्ता ॥ १८८ ॥

अशिवादिभिः कारणैस्तत्र संसक्तदेशे प्रविष्टास्ततः संसज्जिमानि सक्तुदधिप्रभृतीनि द्रव्याणि परिवर्जयन्ति। अथ भूयिष्ठानि-प्रभूततराणि संसज्जिमद्रव्याणि लभ्यन्ते ततोऽमुनोपायेन युक्ताः प्रयत्नपरा गृह्णन्ति।

गमणागमणे गहणे, पत्ते पडिए य होति पडिलेहा।
अगहियदिट्ठविवज्जण, अह गिराहइ जं तमाभज्जे ॥१८६॥

भक्तार्थं दायकमध्ये गमनं कुर्वन् कीटिकामण्डूकीप्रभृतिजन्तुसंसक्तायां भूमौ मा विराधनां कुर्यादिति सम्यग् निरीक्षणीय, एवमागमने भिक्षाया हस्तेन ग्रहणमवविलोकनीयम्। प्राप्ते च दायके तदीयहस्तगतः पिण्डः प्रत्युपेक्षणीयः। पात्रे च पतितः प्रत्युपेक्षितव्यः। ततो गृहीते त्रसादिकं प्राणजातं पश्यति ततस्तस्मिन् दृष्टे वर्जयति न गृह्णातीत्यर्थः। अथ गृह्णाति ततो येन द्वीन्द्रियादिना संसक्तं गृह्णाति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमापद्यते।

अथ पुनरेवं न प्रत्युपेक्षते तत इमे दोषाः—

पाणाइसंजमम्मि, आता मयमच्छिकंटकविसं वा।
मुइंगमच्छिविच्छुग, गोवालियमाइया उभए ॥१६०॥

संयमे त्रसप्राणपनकादयो विराध्यन्ते। आत्मविराधनायां घृतं मक्षिकासम्मिश्रं भुङ्क्ते वल्गुलीव्याधिस्ततश्च क्रमेण मरणं भवेत्, कण्टको वा विषं वा समागच्छेत्। उभयविराधनायां मुइङ्गा-पिपीलिका मक्षिकावृश्चिकगोपालिकादयो वा भवन्ति। गोपालिका अहिलोडिकाख्यो जीवविशेषः। एते हि मक्षिका जीवा भक्तेन सह भुक्ताः संयमोपघातमात्मनश्च मेधाद्युपघातं कुर्वन्ति।

पवयणघातं च सिया, तं वियर्ड पिसियमट्ठजातं वा।
आदाणकिलेमऽजसे, दिट्ठतो मेट्ठिकप्पट्ठो ॥ १६१ ॥

प्रवचनोपघातं वा स्यात्तद्विकटं पिशितं वा तत् स्याद्-भवेत्, अर्थजातं वा सुवर्णसकलिकामुद्रिकादिकं कश्चिदनुकम्पया प्रत्यनीकतया वा दद्यात्, ततः पतितं पिण्डं प्रत्युपेक्षते तच्चाप्रत्युपेक्ष्य गृह्णीते मद्यवर्मणं कस्याप्युन्मत्तजन्तुकामस्यादानमार्जारविकाराकारणं भवति नष्टोऽयं प्रव्रजतीत्यर्थः। अर्थजाते च गृहीते साधुना स्वजनादिके महान् परिक्लेशोऽयशो वा भवेत्। तथा चात्र सिद्धिमिराज्यपदेणाविपूरणस्थराणपालितस्य श्रेष्ठिश्रेष्ठिना दृष्टान्तः। स चाव-श्यकटीकातोऽवगन्तव्यः।

तम्हा खलु दट्ठव्वो, सुक्खग्गहणं अगेरहणे लहुगा।
आणादिणो य दोसा, विराहणा जा भणियपुव्विं ॥१६२॥

यत एते दोषास्तस्मात् खलु—नियमात् पात्रकपतितः पिण्डो द्रष्टव्यः। संसक्ते च देशे शुष्कस्य कूरस्य पृथक् मात्रके ग्रहणं कार्यम्। अथ पृथक् न गृह्णाति ततश्चतुर्लघु आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च द्विधा संयमात्मविषया पूर्वमनन्तरमेव भणिता।

इदमेव भावयति—

संसज्जिमम्मि देसे, मत्तगसक्खपडिलेहणा उवरिं।
एवं ताव अणुरहे, उरहे कुसणं च उवरिं तु ॥१६३॥

संसज्जिमे देशे यः शुष्कपौद्गलिकोऽनुष्णो लभ्यते स मात्रके गृहीत्वा प्रत्युपेक्ष्य यद्यसंसक्तस्तदा प्रतिग्रहोपरि क्षिप्यते, एवं तावदनुष्णे विधिरुक्तः। यः पुनरुष्णः कूरः कुसणं वा तन्नियमादसंसक्तमिति कृत्वा प्रतिग्रहस्यैवोपरि गृह्यते।

गुरुमादीण व जोग्गं, एगम्मितरम्मि पेहिउं उवरिं।
दोसु वि संसत्तेसुं, दुल्लहपुव्वेतरं पुच्छा ॥१६४॥

गुरुग्लानादीनां च योग्यमेकस्मिन् मात्रके गृह्यते, इतरस्मिन्-द्वितीये मात्रके संसक्तं प्रत्युपेक्ष्य प्रतिग्रहोपरि प्रक्षिप्यते, एवं तावद्यत्रैकं भक्तं पानकं वा संसक्तं तत्र विधिरुक्तः। यत्र तु द्वे अपि भक्तपानके संसक्ते तत्र यद्भक्तं पानकं वा दुर्लभं तत्पूर्वं गृह्णन्ति, इतरत्-सुलभं पश्चाद् गृह्णन्ति।

एसा विही तु दिट्ठे, आउट्टियगेरहणे तु जं जत्थ।
अणाभोगगहे विगिंचणे, खिप्पमवि चिंतियं जत्थ ॥१६५॥

एष विधिर्दृष्टे गृह्यमाणे भणितः। अथाकुट्टिकया संसक्तं गृह्णन्ति ततो यद्यत्र द्वीन्द्रियपरितापनादिकं करोति तत्तत्र प्राप्नोति। यथाऽनाभोगेन संसक्तं गृहीतं ततः क्षिप्रमेव विवेचनम्। अथ क्षिप्रं न विनक्ति ततो यावत्परिष्ठापयति तावत् यत्र यद्विनाशमश्नुते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

कः पुनः क्षिप्रकाल इत्याह—

सत्त पदा गम्मंते, जावति कालेण तं भवे खिप्पं।
कीरति वा तालाओ अद्दयमविलंविता सत्त ॥१६६॥

यावता कालेन सप्त पदानि गम्यन्ते तत् क्षिप्रं मन्तव्यम्। यावता वा कालेनाद्रुतमविलम्बितं सप्त ताला क्रियन्ते तावान् कालविशेषः क्षिप्रम्।

तम्हा विगिंचितव्वं, आसण्णे वसहिदूरजयणाए।
सागारिय उरहविए, पमज्जणा सत्तुगदवे य ॥१६७॥

तस्मात्तज्जन्तुसंसक्तमनन्तरोक्तक्षिप्रकालमध्य एव विवेचनीयम्। यदि च वसतिरासन्ना ततस्तत्र गत्वा परित्यक्तव्यम्, अथ दूरे वसतिस्ततः शून्यगृहादिषु यतनया परिष्ठापयति। अथ सागारिकः पश्यति उष्णे वा भूभागे स्थितो वा ऊर्ध्वं स्थितः परिष्ठापयति ततो वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तम्। यत्र च परिष्ठापयति तत्र प्रमार्जना कर्तव्या। एष समासतोऽस्य विधिः। सक्तुद्रवस्य तत्रैवाऽऽरम्भागारिकं प्रतीत्य द्वयोरपि परिष्ठापनं विवेचनम्।

इदमेव व्याचष्टे—

जावइ काले वसहिं उवेति जति ताव ते ण चिट्ठंती ।
त पियमणुण्हमदवं, तो गंतुमवस्सए पट्ठो ॥ १९८ ॥

यावता कालेन वसतिमुपैति तावता कालेन यदि ते प्राणिनो न विशन्ति न विपश्यन्ति तद्वसतिं नीयते तदनुष्णमद्रवं च यदि भवति ततः प्रतिश्रयं नेतव्यम् । किमुक्तं भवति—यद्युष्णं कूरो द्रवं वा ससक्तं ततः प्रतिश्रयं न नीयते । मा यावत्प्रतिश्रयं नीयते तावत्प्राणजातीया उष्णे द्रवे वा मरिष्यन्तीति कृत्वा । अथानुष्णमद्रवं वा तत उपाश्रये गत्वाऽपद्रवेत—परिष्ठापयेत । यत्पुनरुष्णं द्रवं वा तत्तत्रैव शून्यगृहादौ परिष्ठापनीयम् । अथ दूरे वसतिस्ततोऽनुष्णमपि शून्यगृहादिषु परिष्ठापयितव्यम् ।

सुण्णघरादीण सती, दूरे को णयति अंतरीभूते ।
उक्कुडु पमज्ज छाया, वतिकोणादीसु विकिरणं ॥ १९९ ॥

अथ शून्यगृहादीनि न सन्ति ततो दूरं एकान्तं गत्वा यत्र कोणस्थितो वृत्त्या अन्तरितीभूतो वा सागारिको न पश्यति तत्रोत्कुटुको भूत्वा प्रमृज्य छायायां वृत्तेः कोणके प्रक्षिपति, आदिग्रहणेन वृत्तेर्मध्येऽपि विकिरति—परिष्ठापयतीत्यर्थः । एवमोदनस्य सक्तूनां द्रवस्य वा परिष्ठापनं कर्तव्यम् ।

सागारिएँ उवट्ठिए, अपमज्जंते य मासियं लहुगं ।
वोच्छेदुड्डाहादी, सागारियसेसए काया ॥ २०० ॥

अथ सागारिके च पश्यति उष्णे वा प्रदेशे भूत्वा स्थितो वा ऊर्ध्वं भूमेरप्रमार्ज्य वा परिष्ठापयति ततश्चतुर्ष्वपि लघुमासिकम् । सागारिके च पश्यति यदि भक्तं परिष्ठाप्यते तदा स भक्तपानेन व्यवच्छेदमुड्डाहादिकं वा कुर्यात्, शेषेषु उष्णादित्रये परिष्ठापयतः पृथिव्यादिकाया विराध्यन्ते ।

इइ ओअणसत्तविही, सत्तू तद्दिणकतादि जा तिण्णि ।
वीसुं वीसुं गहणं, चतुरादिदिणादि एगत्थ ॥ २०१ ॥

इत्येवमोदनस्य संसक्तस्य विधिरुक्तः । सक्तूनां विधिरुच्यते—यत्र सक्तवः संसक्ता लभ्यन्ते तत्र नैव गृह्यन्ते । अथ न संस्तरति ततस्तद्दिवसकृतान् सक्तून् गृह्णन्तीति । आदिशब्दात्तैरप्यसंस्तरतो द्वितीयतृतीयदिनकृतानपि सक्तून् गृह्णन्ति, ते पुनः पृथक् पृथक् गृह्यन्ते । चतुर्थदिवसकृतादयस्तु सर्वेऽप्येकत्र गृह्यन्ते, तेषामयं प्रत्युपेक्षणाविधिः । रजस्त्राणमधः प्रस्तीर्य तस्योपरि पात्रकम्बलं कृत्वा तत्र सक्तवः प्रकीर्यन्ते, तत ऊर्ध्वमुखं पात्रकबन्धं कृत्वा एकस्मिन्पार्श्वे नीत्वा यास्तत्र कणिका लग्नास्ता उद्धृत्य कर्परे प्रक्षिप्यन्ते । एवं प्रत्युपेक्ष्य भूयोऽपि तथैव प्रत्युपेक्षन्ते तत ।

नव पेहातो अदिट्ठे, दिट्ठे अण्णा उ होंति णव चेव ।
एवं नवगा तिण्णी, तेण परं मंथरं उज्झ ॥ २०२ ॥

नव वारान् प्रत्युपेक्षणा कृत्वा यदि प्राणजातीया न दृष्टास्ततो भोक्तव्यास्ते सक्तवः, अथ दृष्टास्ततो भूयोऽप्यन्या नव वारान् प्रत्युपेक्षणा भवन्ति । तथापि यदि दृष्टास्ततः पुनरपि नव वारान् प्रत्युपेक्षन्ते । ततो यद्येवं त्रिभिर्नवकैः शुद्धास्ततो भुञ्जताम् । अथ न शुद्धास्ततो तान् ततः परं परिष्ठापयेत् । अथासंस्तरणे ततस्तावत्प्रत्युपेक्षन्ते यावत् शुद्धीभवन्ति ।

प्राणजातीयानां च परिष्ठापने विधिरयम्—

आगरमादी असती, कप्परमादीसु सत्तुए उरणी ।
पिंडमलेवकडाण य, काऊण दवं तु तत्थेव ॥ २०३ ॥

या ऊरणिका' प्रत्युपेक्षमाणेन दृष्टास्ता आकरादिषु परिष्ठापनीया', इह घरट्टादिसमीपे प्रभूता यत्र तुषा भवन्ति स आकर उच्यते । तस्याभावे कर्परादिषु स्तोकान् सक्तून् प्रक्षिप्य तत्रोरणिका' स्थापयित्वा बहिरनाबाधे प्रदेशे स्थाप्यन्ते, यदि च द्रवभाजनं नास्ति ततो ये सक्तवः शुष्का अलेपकृताश्च ते पिण्डं कृत्वा भाजनस्यैकपार्श्वे स्थापयित्वा तत्रैव च द्रवं कृत्वा गृहीत्वा भुञ्जते ।

यत्र च काञ्जिकं संसज्यते तत्राऽयं विधिः—

आयामसंसट्ठुसिणोदगं वा,
गिण्हंति वा णिव्वतचाउलोदं ।
गिहत्थभाणेसु वि पेहिताणं,
मत्तेव सोहेंतु घरे छुभंति ॥ २०४ ॥

आयामं संसृष्टपात्रकमुष्णोदकं वा त्रिवृत्तं वा प्रासुकीकृतं वा उष्णोदकं तन्दुलधावनं गृह्णन्ति । एतेषामभावे तदेव काञ्जिकं गृहस्थभाजनेषु प्रत्युपेक्ष्य मात्रके वा शोधयित्वा यद्यसंसक्तं तदा गृहोपरि प्रक्षिपन्ति ।

द्वितीयपदमाह—

बिइयपदऽपेक्खणं तु, गेलण्णद्धाणओमगादीसुं ।
तं चेव सुक्खगहणे, दुल्लभदव्वेसु वी जयणा ॥ २०५ ॥

द्वितीयपदे ग्लानाध्वावमादिषु कारणेष्वपेक्षण-पिण्डस्याप्रत्युपेक्षणमपि कुर्यात् । तदेव ग्लानत्वादिकं द्वितीयपदं शुष्कस्यौदनस्य ग्रहणे मन्तव्यम् । दुर्लभं वा द्रव्यं पश्चात् लभ्यते, ततः पूर्वं तद् गृहीतमिति कृत्वा नास्ति तद्भाजनं यत्र पृथक् शुष्कं गृह्यते 'दोसु वी जयणा' त्ति द्वयोरप्युपेक्षण शुष्कग्रहणयोरेषा यतना कर्तव्या । एष संग्रहगाथा-समासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

अद्धाउरसंमूढो, वेलातिक्कमति सीयलं होइ ।
असढो गेण्हणगहिते, सुज्झेउ अपेक्खमाणो वि ॥ २०६ ॥

कश्चिदध्वातुरत्वेन ग्लानत्वेन संमूढः संमोहसमुद्घातमुपगतस्ततो यावत्प्रत्युपेक्षते तावद्वेला अतिक्रामति । शीतलं वा तावता कालेन भवति, तदप्यशठा—विशुद्धभावो गृह्णानो वा, गृहीतं वा पिण्डं प्रत्युपेक्षणामकुर्वाणोऽपि शुध्यति तत्प्रायश्चित्तभाग् न भवति ।

ओमाणपेल्लिता वे—लतिक्कमे चलितुमिच्छति भयं वा ।
एवंविह अपेहा, ओमा मति कालवेला वा ॥ २०७ ॥

अध्वनि वा गच्छसार्थाऽवमानप्रेरिते प्रभूतभिक्षाचराकीर्णे यावत्प्रत्युपेक्षते तावद्वेलातिक्रमो भवति, सर्वः सार्थश्चलितुमिच्छति, पृष्ठतो गच्छतां च भयं, तत एवंविधे कारणे अपेक्षा प्रत्युपेक्षामन्तरेणापि पिण्डं गृह्णीयात् । अवमे प्रत्युपेक्षमाणानां सकाला भिक्षाया देशकालः स्फिटति । स्वयं चात्मनि अयं स्थानं वा भिक्षाचराकीर्णं ततोऽप्रत्युपेक्षितमपि गृह्णीयात् ।

तो कुज्जा उवओगं, पाणे दट्ठूण तं परिहरेज्जा ।

कुआए वा वि पेहं, सुज्झइ अतिसंभमा सो उ॥२०८॥

यद्यनन्तरोक्तकारणैः प्रत्युपेक्षणं न भवति तत उपयोगं कुर्यात्। कृते वोपयोगे यदि प्राणिनः पश्यति ततस्तान् दृष्ट्वा भक्तपानं परिहरेत्। अथवा—अत्यातुरं प्रेक्ष्य उपयोगमपि कुर्याद्वा, न वा। अनुपयुञ्जानोऽपीति संभ्रमादसौ साधुः शुध्यति। यद्वाऽधस्तादुक्तस्तत्रोक्तः शुष्कौदनः पृथक् गृह्यते तन्नाध्येतेष्वेव ग्लानाध्वावमेष्वेषु कारणेषु द्वितीयपदं मन्तव्यम्।

तथा चाऽऽह—

वीसुं घेप्पइ अतरं-तगस्स बितियं दवं तु सोहेति ।
तेण उ असुक्खगहणं, तं पि य उण्हेतरो पेहे ॥२०९॥

अतरन्तगस्य ग्लानस्य योग्य विष्वगेकस्मिन् मात्रके गृह्यते, द्वितीये च मात्रके गृह्यते द्रवं शोधयति। ततो यत्र शुष्कौदन पृथक् गृह्यते ततः तृतीयमात्रकं नास्तीति कृत्वा शुष्कद्रव तत्रैव प्रतिग्रहे गृह्णीयात्। ग्लानस्यापि यदोदनं द्वितीयाद्यादिकमेकस्मिन् मात्रके गृह्णाति तदप्युष्णं ग्रहीतव्यम्, इतरत्तु शीतलं प्रत्युपेक्षितं यद्यसंसक्तं ततो गृह्णीयादन्यथा तु नेति भावः।

अद्धाणे ओमे वा, तहेव वेलातिवातियं णातुं ।
दुल्लभदवे व मा सिं, धोवणपियणेण होहिंति ॥२१०॥

अध्वनि वा अवमौदर्ये वा वेलाया अतिपातमपि-अतिक्रम ज्ञात्वा तथैव शुष्कं विष्वग् न गृह्णीयात्। दुर्लभं वा तत्र ग्रामे द्रवं पानक ततो मा'सिं' एषा साधूनां भाजनधावनपानेन भविष्यत इति कृत्वा पूर्वमात्रके द्रवं ग्रहीत ततो नास्ति भाजन यत्र शुष्कं पृथक् गृह्यंत, अत एकत्रैव गृह्णीयात्। उक्तमोदनविषयं द्वितीयपदम्।

अथ पानकविषयमाह—

आउट्टिएँ संसत्ते, (देसे) गेलमद्धाण कक्खडे खिप्पं ।
इयराणि य अद्धाणे, कारणगहिते य जयणाए ।२११।

यथा कारणे आकुट्टिकया जनितेऽपि संसक्ते देशे गच्छन्ति तथा तत्र गताः सन्तः ससक्तमपि पानक गृह्णन्ति,गृहीत्वा ग्लानत्वे अध्वनि कर्कशे वा अवमे क्षिप्र न परित्यजेयुरपि। तथाहि-ग्लानत्वे यावत्ससक्तं परिष्ठापयन्ति तावत् ग्लानस्य वेलातिक्रमो भवति, अध्वनि सार्थात्परिभ्रस्यन्ति, अवमौदर्ये भिक्षाकाल स्फिटति, ततो न क्षिप्रं परित्यजेयुः। इतराणि च सागारिकस्य पश्यतः परिष्ठापनं सक्त्वादीनि यानि पूर्वप्रतिषिद्धानि तान्यप्यध्वनि वर्त्तमानः कुर्यात्, एवकारणे यतनया गृहीतस्य संसक्तस्य विवेचने विधिरवगन्तव्य इति सग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति—

आउट्टिगमणसंस-त्त गिण्हणं न य विगिंचए खिप्पं ।
ओमगिलाणे वेला-विहम्मि सत्थो वइक्कमइ ॥२१२॥

यथा आकुट्टिकया संसक्ते देशे गमनं तथा तत्र गतः संसक्तमपि गृह्णीयात् न च क्षिप्र विविच्यात्, परिष्ठापयेत्। कुत इत्याह-अथ मे भिक्षाकालः स्फिटति ग्लान्य वा ग्लानस्य वेला अतिक्रामेत्। विहे-अध्वनि सार्थोऽतिक्रामति तत क्षिप्रं न परित्यजेत्।

अविवादिहिँ संसत्ते, संकप्पादी पदा तु जह सुज्झे ।
संसट्ठसत्तुचाउल-संसत्त सती तहा गहणं ॥२१३॥

अशिवादिभिः कारणैर्यथा ससक्ते देशे संकल्पादीनि पदानि कुर्वाणोऽपि शुद्ध्यति, तथा तत्र गतो यद्यसंसक्त पानकं लभते ततः ससृष्टपानक तन्दुलोदकं वा संसक्तं तथैव गृह्णीयात्।

तेषां पुनर्गृहीतानामयं विधिः—

ओवग्गहियं चीरं, गालणहेउं घणं तु गेण्हंति ।
तह वि य असुज्झमाणे,असती अद्धाण जयणा उ॥२१४॥

औपग्रहिक घन—निच्छिद्र चीवर तेषा संसक्तपानकाना गालनाहेतोर्गृह्णन्ति। तथापि गाल्यमानं यदि न शुद्ध्यति न वा तन्दुलधावनादिकमपि लभ्यते ततो वा प्रथमोद्देशके अध्वनि गच्छता तु 'वारफलयरक्खे' इत्यादिना पानकयतना भणिता-सा कर्त्तव्या।

अथ दधिविषयं विधिमाह-

संसत्त गोरसाणं, ण गालणं णेत्र होइ परिभोगो ।
कोडिदुगलिंगमादी,तहि जयणा णो य संसत्तं ॥२१५॥

यदि क्वापि ससक्तो गोरसो लभ्यते ततस्तस्य न गालनं न वा परिभोगः कर्त्तव्यः, किं तु-'कोडिदुगलिंगमाइ' त्ति-कोटिद्वयेन विशोधिकोट्या च अविशोधिकोट्या भक्तपानग्रहणे यतितव्यं यावदाधाकर्मापि गृह्यते, अन्यलिङ्गमपि कृत्वा भक्तपानमुत्पाद्यते न पुनः ससक्तो गोरसो ग्रहीतव्यः।

अथ 'इयराणि' इत्यादि पश्चार्द्धं व्याचष्टे—

सागारियसव्वत्तो,णऽत्थि य छाया विहम्मि दूरे वा ।
वेला सत्थो व चले,ण णिसीयपमज्जणे कुज्जा ॥२१६॥

अध्वनि गच्छतां सर्वतोऽपि सागारिकं छाया च तत्र नास्ति, अस्ति वा परं दूरे। तत्र च गच्छता वेलाऽतिक्रामति, सार्थो वा चलति, तत्र उष्णेऽपि भूभागे परिष्ठापयेत्। यत्र चोपविशतः सागारिकं वा शङ्कादयो दोषाः अशुचिर्वा स्थान तत्र निषदनप्रमार्जने अपि न कुर्यात्। वृ० ५ उ०।(संसक्तनिर्युक्त्युक्तानि ससक्तद्रव्याणि 'भुञ्जाभुञ्ज' शब्देऽस्माभिर्दर्शितानि) कदाचित्संविग्नगुणानां कदाचित्पार्श्वस्थादिदोषाणां सबन्धात् गौरवत्रयसंसञ्जनाच्च ससक्तम्। ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। गुणैश्च दोषैश्च संसज्जन मिश्रीभवतीति संसक्तः। प्रव० २ द्वार। संसक्त इव ससक्त। पार्श्वस्थादिकं तपस्विनं वा आसाद्य सनिहितदोषगुणे, व्य० १ उ०।

ससक्तलक्षणम्—

संसत्तो य इआणिं, सो पुण गोभत्तलंदए चेव ।
उच्चिट्ठमणुच्चिट्ठं, जं किंची छुब्भई सव्वं ॥ १ ॥
एमेव य मूलुत्तर, दोसा य गुणा य जत्तिया केइ ।
ते तम्मि वि सन्निहिआ, संसत्तो भन्नई तम्हा ॥२॥
रायविद्दूमगमाई, अहवाऽवि नडो जहा उ बहुरूवो ।
अहवाऽवि मेलगो जो, हलिद्दरागाइबहुवन्नो ॥३॥
एमेव जारिसेणं, सुद्धमसुद्धेण वाऽवि संमिलइ ।
तारिसओ चिअ होही, संसत्तो भन्नई तम्हा ॥ ४ ॥
आव० ३ अ०।

संप्रति संसक्तसूत्रं वक्ष्यति, तच्च प्राग्वत् परिभावनीयम् । अधुना संसक्तप्ररूपणामाह-' संसक्त अलिन्द इव नट इव बहुरूपी नटरूपी एडक इव ज्ञातव्य इति शेषः ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह—

गोभत्ताऽलिंदो विव, बहुरूवो नडो व्व एलगो चेव ।
संसत्तो सो दुविहो, असंकिलिट्ठो य इयरो वा ॥ २६८ ॥

गोभक्तयुक्तोऽलिन्दो गोभक्तालिन्दः स इव । किमुक्तं भवति-यथा अलिन्दे गोभक्तं कुक्कुसा ओदननिश्रयः अवश्रावणमित्यादि । सर्वमेकत्र मिलितं भवतीति संसक्त उच्यते । एवं यः पार्श्वस्थादिषु मिलितः पार्श्वस्थसदृशो भवति, संविग्नेषु मिलितः संविग्नसदृशः स संसक्त इति । यथा वा नटो रङ्गभूमौ प्रविष्टः कथानुसारतः तत्तद्रूपं करोति एवं बहुरूपनट इव सोऽपि पार्श्वस्थादिमिलितः पार्श्वस्थादिरूपं भजते, संविग्नमिलितः संविग्नरूपमिति । यदिवा-यथा एडको लाक्षारसे निमग्नः सन् लोहितवर्णो भवति, गुलिकाकुण्डे निमग्नः सन् नीलवर्ण इत्यादि । एवं पार्श्वस्थादिर्द्विधा, तद्यथा-असंक्लिष्ट, इतरश्च-संक्लिष्ट ।

तत्रासंक्लिष्टमाह—

पासत्थे अहाच्छंदे, कुसील ओसण्णमेव संसत्ते ।
पियधम्मा पियधम्मसु,(चेव)असंकिलिट्ठो भवे एसो ॥२६९॥

पार्श्वस्थे मिलितः पार्श्वस्थ, यथाच्छन्दे यथाच्छन्द, कुशीले कुशील, अवसन्ने अवसन्न, संसक्ते संसक्त, तथा प्रियधर्मसु मिलितः प्रियधर्मा एष संसक्तोऽसंक्लिष्टो ज्ञातव्यः ।

संक्लिष्टमाह—

पंचासवप्पमत्तो, जो खलु तिहिँ गारवेहिँ पडिबद्धो ।
इत्थिगिहिसंकिलिट्ठो, संसत्तो संकिलिट्ठो सो ॥ २७० ॥

यः खलु पञ्चसु आश्रवेषु हिंसादिषु प्रवृत्तः, तथा त्रिभिर्गौरवैः-ऋद्धिरससातलक्षणैः प्रतिबद्धः, तथा स्त्रीषु च प्रतिबद्धः स संक्लिष्टः संसक्तो ज्ञातव्यः । अस्य वा संक्लिष्टस्य प्रायश्चित्तविधिर्देशतः पार्श्वस्थस्येव वेदितव्यः । व्य० १ उ० । "संसत्त संकिलिट्ठो उ" संसक्तः संसर्गवशात् स्थापितादिभोजी संक्लिष्टः संक्लिष्टाचारः । व्य० ३ उ० । (संसक्तस्य आहारो न देयो न वा ग्राह्य इति ' दाण ' शब्दे चतुर्थभागे २४६३ पृष्ठे उक्तम् ।)

संसत्तणिज्जुत्ति-संसक्तनिर्युक्ति-स्त्री० । अग्रायणीयाख्यद्वितीयपूर्वादुद्धृते सम्मूर्च्छिमजीवसंसक्तिमद्भोज्याभोज्यप्रदर्शके पूर्वधररचिते निर्युक्तिग्रन्थे, संस० नि० ।

उसहाइवीरचरिमे, सुरअसुरनमंसिए पणमिऊणं ।
संखेवओ महत्थं, भणामि संसत्तनिज्जुत्तिं ॥ १ ॥
बीयाओ पुव्वीओ, अग्गणीयस्स इमं सुअमुआरं ।
संसइम समुच्छिम-जीवाणं जाणिऊणग ॥ २ ॥

संस० नि० ।

संसत्ततव-संसक्ततपस-पुं० । आहारादिपूजासु नित्यं परिणतभाव, बृ० ।

अथ संसक्ततपसमाह—

आहारोवहिपूया-सु जस्स भावो उ निच्चं संसत्तो ।
भावोवहतो कुणइ अ, तवोवहाणं तदट्ठाए ॥ ४८७ ॥

आहारोपधिपूजासु यस्य भाव —परिणामो नित्यसंसक्तः सदा प्रतिबद्धः स एव रसगौरवादिना भावेनोपहतः करोति तपः—उपधानमनशनादिकं तदर्थमाहाराद्यर्थं यः स संसक्ततपा इति । बृ० १ उ० २ प्रक० । ध० ।

संसत्ततवोकम्म-संसक्ततपःकर्मन्-न० । आहारोपधिशय्यादिप्रतिबद्धभावतपश्चरणे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

संसद्दण-संशब्दन-न० । उत्कीर्त्तने, आव० ४ अ० ।

संसप्पग-संसर्प्पक-पुं० । संसर्पन्तीति संसर्पकाः । शून्यगृहादिष्वहिनकुलादिषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । संसर्पणशीलेषु, अहिनकुलादिषु, बृ० १ उ० १ प्रक० । पिपीलिकाकोष्ठादिषु, आचा०१ श्रु०१ अ०८ उ० । नि० चू० ।

संसप्पिअ-देशी-उत्प्लुत्य गमने, दे० ना० ८ वर्ग १५ गाथा ।

संसय-संशय-पुं० । एकतरविशेषानिश्चयाचिकीर्षो किमिदमिति विमर्शरूपे, (विशे० । स्था० ।) अनवधारितार्थज्ञाने, च० प्र० १ पाहु० । दोलायमानमानसात्मके, उत्त० १ अ० । नि० चू० । आ० म० । अनिर्द्धारितार्थमुभयवस्त्वाशावलम्बितया प्रवृत्ते ज्ञाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । रा० । न० । किमित्यनवधारणार्थे प्रत्यये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

संशयं लक्षयन्ति—

साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशयः ॥ ११ ॥

उल्लिख्यमानस्थाणुत्वपुरुषत्वाद्यनेकांशगोचरयोः साधकबाधकप्रमाणयोरनुपलम्भादनवधारितनानांशावलम्बिविधिप्रतिषेधयोरसमर्थं संवेदनं संशय इत्यर्थः, समिति-समन्तात् सर्वप्रकारैः शेत इवेति व्युत्पत्तेः ॥ ११ ॥

उदाहरन्ति—

यथाऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा ॥ १२ ॥

व्यक्तम् । अयं च प्रत्यक्षविषयः संशयः । परोक्षविषयः तु यथा क्वाऽपि विपिनप्रदेशे शृङ्गमात्रदर्शनात् किं गौरयं स्याद्, गवयो वा ? इत्यादि ॥ १२ ॥ रत्ना० १ परि० । न० । संशयोऽपि ग्रन्थादौ प्रवृत्त्यङ्गम्, संशयश्च द्विधा—अर्थसंशयः, अनर्थसंशयश्च । तत्रार्थसंशयो यथा, यदि वृष्ट्यादिसामग्री ततः सम्भवति सस्यनिष्पत्तिः, अनर्थसंशयो यथा-विषमिदं यो भक्षयति स म्रियते । तत्रानर्थसंशयान्न कस्यचित्सचेतसः प्रवृत्तिरनर्थेन संशयस्यापि निरूप्यत्वात्, अर्थसंशयस्तु प्रेक्षावतोऽपि प्रवृत्त्यङ्गमनर्थशङ्काया अभावात्, फलस्य च क्वापि दर्शनात् । न चायमभिहितप्रयोजनाद्युपन्यासजनितसंशयोऽनर्थसंशय इति भवति प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरिति न किञ्चिदनुपपन्नम् । आ० म० १ अ० । रत्ना० । आचा० ।

समयं परिआणओ ममाए परिन्नाए भवइ, संसयं अपरियाणओ ममाए अपरिन्नाए भवइ । (सू०-१४३)

(अस्य सूत्रस्य व्याख्या लोगसार शब्दे षष्ठभागे

गता ।) " स्याद्भिश्रयैकनिष्ठानां, कार्यसिद्धिः परानृणाम् । संशयक्षुरणचित्तानां, कार्ये संशीतिरेव हि ॥ १ ॥ " ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

संश्रय-पुं० । आश्रयणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

संसयकरणी-संशयकरणी-स्त्री० । संदेहजनिकायां भाषायाम्, संशयकरणी या एका वागनेकार्थाभिधायितया परस्य संशयमुत्पादयति, यथा-सैन्धवमानीयतामित्यत्र सैन्धवशब्दो लवणवस्त्रपुरुषवाजिषु वर्त्तमान इति । प्रज्ञा० ११ पद । दश० । संथा० । ध० । भ० ।

संसरंत-संसरत्-त्रि० । परिभ्रमति, आतु० ।

संसरण-संस्मरण-न० । सकल्पिकस्त्र्यादिदर्शनतः स्मरणरूपे असंप्राप्तकामभेदे, दश० ६ अ० ।

संसार-संसार-पुं० । संसरणं संसारः । भावे घञ्प्रत्ययः। आ० म० ४ अ० । भवाद्भवान्तरगमने, विशे० । नरकादिषु पुनः पुनर्भ्रमणे, विशे० । दुर्गतिभ्रमणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। आव० । दर्श० । (एतत्संभवः 'परलोग' शब्दे पञ्चमभागे ५४२ पृष्ठे साधितः ।) तेषु तेषु उच्चावचेषु कुलेषु पर्यटने, उत्त० ३ अ० । चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु ससरणे, स्था० ४ ठा० १ उ०। चतुर्गतिकभेदेन संसृतौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। पं० सू०। दश० । स० । गतिषूत्पादे, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

संसारो द्रव्यादिभेदाच्चतुर्धा—

चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा-दव्वसंसारे खेत्तसंसारे कालसंसारे भावसंसारे । (सू०-२६१)।

तत्र संसरणम्—इतश्चेतश्च परिभ्रमणं संसारः, तत्र संसारशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्याणां वा जीवपुद्गललक्षणानां यथायोगं भ्रमणं द्रव्यससारः, तेषामेव क्षेत्रे—चतुर्दशरज्ज्वात्मके यत्संसरणं स क्षेत्रसंसारः, यत्र वा क्षेत्रे संसारो व्याख्यायते तदेव क्षेत्रमभेदोपचारात् संसारो, यथा-रसवतीगुणनिकेत्यादि । कालस्य—दिवसपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिलक्षणस्य ससरणं—चक्रन्यायेन भ्रमणं पल्योपमादिकालविशेषविशेषितं वा यत्कस्यापि जीवस्य नरकादिषु स कालसंसारः, यस्मिन् वा काले—पौरुष्यादिके संसारो व्याख्यायते स कालोऽपि संसार उच्यते, अभेदाद्यथा-प्रत्युपेक्षणाकरणात् कालोऽपि प्रत्युपेक्षणेति । तथा संसारशब्दार्थज्ञः तत्रोपयुक्तो जीवपुद्गलयोर्वा संसरणमात्रमुपसर्जनीकृतसम्बन्धिद्रव्यं, भावानां चौदयिकादीनां वर्णादीनां वा संसरणपरिणामो भावसंसार इति । स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० ।

लक्खणमेयं चेव उ, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
निक्खमणे य पवेसो, एगा बीया वि एमेव ॥ ७ ॥
निक्खमपवेसकाले, समयाई एत्थ आवलियभागो ।
अंतोमुहुत्तविरहो, उदहिसहस्साहिए दोसि ॥ ८ ॥

आचा०१ श्रु० १ अ०६ उ०। द्रव्यसंसारो व्यतिरिक्तो द्रव्यसंसृतिरूपः, क्षेत्रसंसारो येषु क्षेत्रेषु द्रव्याणि संसरन्ति, कालसंसारः यस्मिन् काल इति नारकतिर्यङ्नरामरगतिचतुर्विधानुपूर्व्युदयाद्भवान्तरसंक्रमणं, कालससारः, भावसंसारस्तु संसृतिस्वभाव औदयिकादिभावपरिणतिरूपः, तत्र च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां प्रदेशविपाकानुभवनम्, एवं द्रव्यादिकः पञ्चविधः संसारः । अथवा-द्रव्यादिकश्चतुर्धा संसारः, तद्यथा-अश्वाद्धस्तिनं, ग्रामान्नगरं, वसन्ताद् ग्रीष्मम्, औदयिकादौपशमिकमिति गाथार्थः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

नरकादिः—

चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा-णेरतियसंसारे ०जाव देवसंसारे । (सू०×२९४)

'चउव्विहे' इत्यादि, व्यक्तं, किन्तु संसरणं संसारः—मनुष्यादिपर्यायान्नारकादिपर्यायगमनमिति । स्था० ४ ठा०२ उ० । दश० । सूत्र० । आचा० । नं०। नि० चू० । संसारश्चतूरूपो गतिचतुष्कभेदात् । पञ्चप्रकारश्च एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिभेदात्, षट्प्रकारश्च पृथिव्यप्प्रभृतिभिर्भेदात् इति संभाव्यते । नि० चू० २० उ० । आव० ।

नवभिः स्थानैः संसारं वर्त्तयन्ति । स्था० ।

जीवाणं नवहिं ठाणेहिं संसारं वत्तिंसु वा वत्तंति वा वत्तिस्संति वा, तं जहा-पुढविकाइयत्ताए०जाव पंचिंदियकाइयत्ताए । (सू० ६६६ +)

'वत्तिंसु व त्ति' संसरणं निर्वर्तितवन्तोऽनुभूतवन्तः, एवमन्यदपि । स्था० ६ ठा० ३ उ० । (" अधुवे असासयम्मि, संसार (म)-यम्मि दुक्खपउराए । किं नाम होज तं कम्म, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा॥१॥' इति कापिलनिर्वेदः 'कविल'शब्दे तृतीयभागे ३८८ पृष्ठे उक्तः) ससारमुच्छेत्तुमना अष्टप्रकारं कर्म छेदयेत् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। "संसारम्मि अणंते, अविलाजोणीएँ एक्कए सत्ता । हविवन्नकुहियमाणा, जोणीए मज्झदेसम्मि ॥१॥ " महा० ६ अ० ।

संसार ज्ञात्वा रतिं कुर्यात् संसार इति
चतुर्थं भेदं व्याचिख्यासुराह—

दुहरूवं दुक्खफलं, दुहाणुबंधी विडंबणारूवं ।
संसारमसारं जा-णिऊण न रइं तहिं कुणइ ॥ ६३ ॥

इह तत्र संसारे रतिं न करोतीति योज्यम्-किं कृत्वा ज्ञात्वा संसारम्, किंविशिष्टम् ?, दुःखरूपं-जन्मजरामरणरोगशोकादिग्रस्तत्वेन दुःखस्वभावम्,तथा दुःखफलं जन्मान्तरे नरकादिदुःखभावात्, दुःखानुबन्धीति दुःखानुबन्धिनं पुनः पुनर्दुःखसन्तानसंधानात्, तथा विडम्बनायामिव जीवानां सुरनरनैरयिकतिर्यक्सुभगदुर्भगादीनि विचित्राणि रूपाणि यत्र स विडम्बनारूपस्तमेवंविधं ससारं चतुर्गतिरूपं सुखसाराभावादसारं ज्ञात्वा-अवबुध्य न रतिं-धृतिं तस्मिन् कुरुते-विदधाति श्रीदत्तवत् । तद्दृष्टान्तश्चायम्—

" पाउसकालंसिमिव, बहुसस्सकुलागसंनिवेसम्मि ।
आसि जिणधम्मरत्तो, सिरिदत्तो सिट्ठिवरपुत्तो ॥ १ ॥
तस्सऽन्नदिणे भज्जा, अतक्किय चेव मरणमणुपत्ता ।
ससारविरत्तमणो, तो सो इय चिंतिउं लग्गो ॥ २ ॥

सुरअन्नुन्नुदीरिय—साहावियवेयणासमभिभूए ।
नरयभवम्मि जियाणं, निमेसमित्तं पि नत्थि सुहं ॥ ३ ॥
छिंदणभिंदणबंधण—दुव्वहभरवहणमसुहदुक्खेहिं ।
सययं संतत्ताणं, तिरियाणं नाम किं सुक्खं ॥ ४ ॥
खंडियआखंडलधा—धचंचलं जीवियं इह नराणं ।
दुल्लहजणसंजोगो महल्लकल्लोललोलतरो ॥ ५ ॥
ताव भरकंतसकु—तपोयगलचंचलं च तरुणत्तं ।
इह संपयाउ सपा—संपायसमाउ सयकालं ॥ ६ ॥
इय इट्ठाणिट्ठविओ—गजोगबहुरोगसोगपमुहेहिं ।
निच्चमभिदुमियाणं, मणुयाणं न सुहगंधो वि ॥७॥
असरिसअमरिसईसा—विसायरोसाइमइलियमणेसु ।
अमरेसु वि अइफारो, दुहसंभारो वियंभेइ ॥ ८ ॥
ता चउगइसंसारे, जियाण नूणं न अत्थि इत्थ सुहं ।
सयलसुहहेउदुहजल—हिसेउ जिणधम्ममुक्काणं ॥९॥
इय चिंतिय सिरिदत्तो, गिण्हइ दिक्खं कमेण संजाओ ।
गीयत्थो पडिवज्जइ, एगल्लविहारवरपडिमं ॥ १० ॥
कस्स य गामस्स बहिं, पेयवणे अन्नया निसाइ इमो ।
अणिमिसनयणो वीरा—सणेण चिट्ठइ सुहज्झाणो ॥११॥
इत्तो हरी पसंसइ, सिरिदत्तमुणी इमो सुरेहिं पि ।
झाणाउ न चालिज्जइ, खरपवणेहिं व अमरगिरी ॥ १२ ॥
तं गिरमसद्दहंतो, एगो अमरो समागओ तत्थ ।
काउं रक्खसरूवं, त मुणिमुवसग्गए गाढं ॥१३॥
चंदणतरु व वेढिय—सव्वंगं डसइ विसहरो होउं ।
सुमुणिं तह अवि हत्थी, गलहत्थइ हत्थिरूवेणं ॥ १४ ॥
जालइ जडालजाला—कलावकलियं चउद्दिसिं जलणं ,
खरपवणेहिं पडि-तु भामए अक्कतूलं व ॥१५॥
करहयकंठकडारे-ण पंसुपूरेण पिहइ सव्वत्तो ।
विसमविसपसरचिंचइ-य विंछुए मुंचए तत्तो ॥१६॥
अह मुणिणोऽभिप्पायं, अमरो जानियइ ओहिनाणेण ।
ता चिंतइ साहु सा-हसिक्कमल्लो मणम्मि इमं ॥१७॥
सहियउवसग्गवट्टो, तुज्झ इमो जीवसत्तकसवट्टो ।
सत्थावत्थाइ वयं, पायं पालेइ सव्वो वि ॥ १८ ॥
इत्तो अणंतगुणिया, सहिया वियणा तए परवसेण ।
रे जिय! इह भवगहणे,न उण गुणो को वि संजाओ ॥१९॥
ता धरिय धीरिमगुणं, खण इमं वेयणं सहसु सम्मं ।
जेण लहुं भवजलहिं, तरिउं पाविसि सिवं जीव ! ॥ २० ॥
खामेसु सयलजीवे, तुमं पि तेसिं खमेसु रे जीव ! ।
सव्वत्थ कुणसु मित्तिं, इमम्मि अमरे विसेसेण ॥२१॥
जो य तुमं कड्ढिय भव-कारागाराउ खिवइ किर अप्पं ।
सो एस सुरो तुह जिय, परमसुही परमबंधू य ॥ २२ ॥
किं तु इमो उवसग्गो, जह मह हरिसा य भवहरत्तेण ।
तह णतभवनिबंधण-मिमस्स इय दूमइ मणम्मि ॥ २३ ॥
इय सुहभावणधणसा-रवासियं मुणिमणं मुणे वि सुरो ।
गयमिच्छत्तो पयडिय—नियरूवो नमिय इय थुणइ ॥२४॥
जय जयद! धम्मधुरी-ण! दीण भवगहणओ मुणिसुधीर !।
धीरिमनिज्जियमंदर !, घरविसहरनियरखरगरुड ! ॥ २५ ॥
तस्स तुह चरणकमलं, कमलसरं सारस व्व अणुसरिमो ।
जस्स सय देविंदो, वेदि व्व पसंसइ गुणोहे ॥ २६ ॥
इय थुणिऊण मुणिंद, सुरलोय सुरवरो गओ अहवा ।
गुणिथुणणा ओसग्गं, जंति जिया किमिह अच्छरियं ॥२७॥
सिरिदत्तमुणिवरो वि हु, परियायं पालिऊण चिरकालं ।
अणसणविहिणा मरिउं, जाओ अमरो महासुक्के ॥ २८ ॥
तो चविउं साएए, पुरम्मि सिरितिलयनयरसिट्ठिस्स ।
दइयाइ जसवईए, उयरे पुत्तो समुप्पन्नो ॥ २९ ॥
सो अट्ठममासे जिण-धम्मं जणणीइ निसुणमाणीए ।
गब्भदुहं अमरसुहं, निसामिउं संभरइ जाइं ॥ ३० ॥
तो भवविरत्तचित्तो, अभिग्गहं लेइ जइ मए समए ।
दिक्खं चिय गहियव्वा, नियमो पुण गेहवासस्स ॥ ३१ ॥
कमसो जाओ कयपउ-मनामओ तरुणभावमणुपत्तो ।
चउनाणिगुरुसमीवे, गिण्हिय दिक्खं गओ मुक्खं ॥ ३२ ॥
श्रीदत्तचेष्टितमिति स्फुटफुल्लमल्ली—
वल्लीवितानविशदं विनिशम्य सम्यक् ।
निःसंख्यदुःखनिकरप्रभवे भवेऽस्मिन्—
नित्यं विरक्तमनसो भविनो भवन्तु ॥ ३३ ॥
ध० र० २ अधि० ३ लक्ष० ।

जइ उप्पज्जइ दुक्खं, दट्ठव्वो सहावओ नवरं ।
किं किं मए न पत्तं, संसारं संसरंतेणं ॥ ६२ ॥
संसारचक्कवाले, सव्वे वि य पुग्गला मए बहुसो ।
आहारिया य परिणा-मिया य न यहं गओ तत्तिं ॥६३॥
आतु० ।
णाणस्स दंसणस्स य, सम्मत्तस्स य चरित्तजुत्तस्स ।
जो काही उवओगं, संसाराओ विमुच्चिहिति ॥८०॥
आतु० ।
निक्कसायस्स दंतस्स, सूरस्स ववसाइणो ।
संसारपरिभीयस्स, पच्चक्खाणं सुहं भवे ॥ ८२ ॥
आतु० ।

संसारमावण्णपरस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥ ४ ॥ उत्त० ४ अ० ।

णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ २३ ॥
सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ('अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५२१ पृष्ठे व्याख्यातैषा गाथा।) (यथा यथा रागद्वेषास्तथा तथा संसारवृद्धिरिति ' किरियावाइ ' शब्दे तृतीयभागे ५५ पृष्ठे उपपादितम् ।) (संसारे कथं न बंभ्रम्यादिति-' संसय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेवोक्तम् ।) अथेहापि किञ्चित्प्रतिपाद्यते, द्वाभ्यां स्थानाभ्यां संपन्नो—युक्तो नास्यागारं—गेहमस्तीत्यनगारः—साधुः, नास्त्यादिरस्येत्यनादिकं तत् अवदग्रं-पर्यन्तस्तन्नास्ति यस्य सामान्यजीवापेक्षया तदन-वदग्रं तत् दीर्घो अद्धा कालो यस्य तद् दीर्घाद्धं तत् । मकार आगमिकः, दीर्घो वाऽध्वा—मार्गो यस्मिंस्तद्दीर्घाध्वं तच्चतुरन्तं—चतुर्विभागं नरकादिगतिविभागेन, दीर्घत्वं प्रकटादित्वादिति, संसारकान्तार—भवारण्यं

व्यतिव्रजेद्—अतिक्रामेत्, तद्यथा—विद्यया चैव—ज्ञानेन चैव चरणेन चैव—चारित्रेण चैवेति, इह च संसारकान्तारव्यतिव्रजनं प्रति विद्याचरणयोर्यौगपद्येनैव करणत्वमवगन्तव्यम्। स्था० २ ठा० १ उ०। (त्रिभिः स्थानैः संपन्नोऽनगारः संसारमतिक्रामति—इति 'अणगार' शब्दे प्रथमभागे २६६ पृष्ठे गतम्।) "जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य। अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो॥१॥" तथा "तरहाइयस्स पाणं, कूरो छुहियस्स भुज्जए तित्ती। दुक्खसयसपउत्तं, जरियमिव जग कलयलेइ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

अनादिरेष संसारः—

अनादिरेष संसारो, नानागतिसमाश्रयः।
पुद्गलानां परावर्त्ता, अत्रानन्तास्तथा गताः॥ ७०॥

अनादिः—अविद्यमानमूलारम्भः एषः—प्रत्यक्षतो दृश्यमानः संसारो—भव.। कीदृशः?, इत्याह—नानागतिसमाश्रयः—नरकादिविचित्रपर्यायपात्रं वर्तते। ततश्च पुद्गलानाम्—औदारिकादिवर्गणारूपाणां सर्वेषां परावर्त्ता—ग्रहणमोक्षात्मकाः अत्र—संसारे अनन्ता—अनन्तवारस्वभावास्तथा—तेन समयप्रसिद्धप्रकारेण गता—अतीताः।

केषामित्याह—

सर्वेषामेव सत्त्वानां, तत्स्वाभाव्यनियोगतः।
नान्यथा संविदेतेषां, सूक्ष्मबुद्ध्या विभाव्यताम्॥७५॥

सर्वेषामेव सत्त्वाना—प्राणिनाम् तत्स्वाभाव्यात्—अनन्तपुद्गलपरावर्त्तपरिभ्रमणस्वभावता, तस्य नियोगो—व्यापारस्तस्मात्। अत्रैव व्यतिरेकमाह—न-नैव अन्यथा-तत्स्वाभाव्यनियोगमन्तरेण संविद्-अवबोधो घटते एतेषाम्-अनन्तपुद्गलपरावर्त्तानां सूक्ष्मबुद्ध्या-निपुणाभोगेन विभाव्यताम्-अनुचिन्त्यतामेतत्। यो०विं०।

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिन्ना संसारसागरं॥ १॥

उत्त० २० अ०।

('चरणविहि' शब्दे तृतीयभागे ११२८ पृष्ठे व्याख्यातैषा) (संसारोऽशाश्वतस्तद्गतानां संसारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चेतश्च गमनादिति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

अनादिरेष संसारः—

अणादियं परिन्नाय, अणवदग्गे त्ति वा पुणो।
सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए॥ २॥

सूत्र० २ श्रु० २ अ०। ('अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१६ पृष्ठे व्याख्यातैषा।) यत्र कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिनः संसरन्ति समसार्धुः संसरिष्यन्ति चेति संसारः। स्था०। उत्त०। नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणे मातापितृभार्यादिस्नेहलक्षणे च जगति, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

एस संसारो त्ति पवुच्चइ मंदस्स अविजाणओ।

एष अण्डजादिप्राणिकलापः संसारः प्रोच्यते नातोऽन्यत्रसानामुत्पत्तिप्रकारोऽस्तीति। आचा० १ श्रु० १ अ० ६उ०। ('तस' शब्दे चतुर्थभागे २२१६ पृष्ठेऽत्रत्यविस्तारो गतः)

सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योश्च समः संसारः—तथा "अंतोमुहुत्तमित्तं पि" त्ति-गाथया सम्मग्दृष्टेर्न्यूनार्धपुद्गलपरावर्त्तः संसार उत्कर्षतः प्रतिपादितोऽस्ति, "जो अकिरियावाई सो भविओ अभविओ वा" इत्यादि दशाचूर्ण्यक्षरानुसारेण तु सम्यग्दृष्टेः क्रियावादिनो मिथ्यादृष्टेश्चोत्कर्षतो न्यूनपुद्गलपरावर्त्तः संसारः, परं सोऽप्यागमान्तरानुसारेण न्यूनार्धपुद्गलरूपोऽवसीयते। अत्र सम्यग्दृष्टेः क्रियावादिनो मिथ्यादृष्टेश्च कथं संसारसाम्यमिति?, अत्र यद्यपि आपातमात्रेण साम्यमुक्तमस्ति तथापि सम्यग्दृष्टेः कस्यचिदाशातनाबहुलस्य विराधकस्यैतावान् संसारो भवति, नान्यस्य क्रियावादिमिथ्यादृष्टिसमुदाये तु कस्यचिल्लघुकर्मणः एवैकावतारित्वसंभव इति कथं साम्यशङ्केति प्रतिभाति। तत्त्व तु तत्त्वविद् वेत्ति, इति॥ २॥ तथा कस्यचिज्जानतोऽभिनिविष्टस्य संसारवृद्धिहेतु. कर्मबन्धो भूयाननुताभिनिविष्टस्य तन्मार्गानुयायिनो वा अजानत इति?, अत्र व्यवहारेण जानतः कर्मबन्धो भूयानित्यवसीयते। ३॥ ही० ३ प्रका०।

संसारकंतार–संसारकान्तार–पुं०। संसार एव कान्तारः-निर्जलः समयस्त्राणरहितोऽरण्यप्रदेशः॥ संसाराटव्याम्, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

संसारकलंकलीभाव–संसारकलङ्कलीभाव–पुं०। असमञ्जसत्वे ओ०।

संसारपडिवराण--संसारप्रतिपन्न--पुं० । ससारं चतुर्गतिलक्षण प्रतिपन्न, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

संसारपयणुकरण--संसारप्रतनुकरण--त्रि० । ससारं-भव प्रतनु-अल्पं करोति इति ससारप्रतनुकरण. । पञ्चा० ६ विव० । ससारक्षयकारके, " ससारपयणुकरणो , विरयाविरयाण एस खलु जोगो । " प्रति० ।

संसारपवड्डग--संसारप्रवर्धक--पुं० । दीर्घसंसारिणि, पं० व०१ द्वार ।

संसारपारकंखि(ण्)-संसारपारकाङ्क्षिन्--त्रि० । मोक्षाभिलाषुके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

संसारपारगामि(ण्)--संसारपारगामिन्--त्रि० । भवतारके,ध० ३ अधि० । पा० ।

संसारभावणा--संसारभावना--स्त्री० । संसारतत्त्वपर्यालोचने, प्रव० ७१ द्वार । (' भावणा ' शब्दे पञ्चमभागे १५०७ पृष्ठ गतैषा भावना ।)

संसारमंडल--संसारमण्डल--न० । संसारिजीवचक्रवाले , ससारमण्डलशब्देन परिभाषितसञ्ज्ञेह सूचिता । भ० ५ श० ५ उ० ।

संसारमोयग--संसारमोचक--पुं० । व्यापाद्योपकृतये दु.खितसत्त्वव्यापादनमुपदिशति वादिनि, ध्या० । संसारमोचकाना व्यापाद्योपकृतये दु खितसत्त्वव्यापादनमुपदिशतामकुशलमार्गप्रवृत्तत्वमावेदित द्रष्टव्यम् , यतस्ते एवमाहु — यत् परिणामसुन्दरं तदापातकटुकमपि परेषामाधेयम् , यथा रोगोपशमनमौषधम् , परिणामसुन्दर च दु खितसत्त्वाना व्यापादनमिति, तथाहि—कृमिकीटपतङ्गमशकलावकचटककुष्ठिकमहादरिद्रान्धपङ्ग्वादयो दु खितजन्तव. पापकर्मोदयवशात्ससारसागरमभिप्लवन्ते , ततस्तेऽवश्य तत्पापक्षपणाय परोपकरणैकरसिकमानसेन व्यापादनीयाः तेषा हि व्यापदने महादु खमती— वोपजायते , तीव्रदु खवेदनाभिभववशाच्च प्राग् बद्ध पापकर्मोदीर्योदीर्यानुभवन्त प्रतिक्षिपन्ति । स्यादेतत्-किमत्र प्रमाणं यत्ते व्यापाद्यमाना तीव्रवेदनाऽनुभवत प्राग्बद्ध पापकर्मोदीर्योदीर्य परिक्षिपन्ति न पुनरार्त्तरौद्रध्यानोपगमत' प्रभूततर पापमावर्जयन्तीति ?, उच्यते-युष्मत्सिद्धान्तानुगतमेव नारकस्वरूपोपदर्शक वच', तथाहि-नारका निरन्तर परमाधार्मिकसुरै ताडनभेदनोत्कर्त्तनशूल्यारोपणाद्यनेकप्रकारमुपहन्यमाना परमाधार्मिकसुराभाव परस्परोदीरिततीव्रवेदना रौद्रध्यानोपगता अपि प्राग्बद्धमेव कर्म क्षपयन्ति, नापूर्व पापमधिकतरमुपार्जयन्ति, नारकायुर्बन्धासम्भवात् , तदसम्भवश्चानन्तर भूय. तत्रैवोत्पादाभावाद् । अपि च-यत एव रौद्रध्यानोपगता अत एव तेषा प्रभूततरप्राग्बद्धपापकर्मपरिक्षय , तीव्रसङ्क्लेशाभावात् , न खलु तीव्रसङ्क्लेशाभावे परमाधार्मिकसुरा अपि तेषा कर्म क्षपयितु शक्ता , ततो रौद्रादिध्यानमुपजनयन्तोऽपि व्यापादका व्यापाद्यानामुपकारका एव । इत्थ च व्यापादनत' तेषामुपकारसम्भवे य तद्व्यापादनमुपेक्षन्ते प्रतिषेधन्ति वा ते महापापकारिणः, ये पुन' प्रागुपात्तपुण्यकर्मोदयवशतः सुखासिकामनुभवन्तोऽवतिष्ठन्ते न ते व्यापादनीया. , तेषां व्यापादने सुखानुभवनियोगभावतोऽपकारसम्भवात् । न च परहितनिरता. परापकृतये संरम्भमातन्वन्ते तदेतदयुक्तम् , परोपकारो हि स एव सुधिया विधेयो य आत्मन उपकारक । न च परेषा व्यापादनेनोपकृतिकरणे भवतः कमप्युपकारमीक्षामहे, यथाहि—परेषां व्यापादने को भवत. उपकार ?, किं पुण्यबन्ध उत कर्मक्षय. ?, तत्र न तावत्पुण्यबन्धः ?, परेषामन्तरायकरणात् , ते हि परे यदि भवता न व्यापाद्येरस्ततस्ते परान् सत्त्वान् व्यापाद्य पुण्यमुपार्जयेयुः , व्यापादिताश्च परवधे अप्रसक्ता इति व्यापादन पुण्योपार्जनान्तरायकरणम् , न च पुण्योपार्जनान्तरायकृत् पुण्यमुपार्जयति विरोधात् सर्वस्य पुण्यबन्धप्रसक्तेश्च। एतेन यदुक्तम्-' परिणामसुन्दरं च दु खितसत्त्वाना व्यापादनमिति ' तदसिद्धं द्रष्टव्यम् , पुण्योपार्जनान्तरायकरणेन परिणामसुन्दरत्वायोगात् । अथ कर्मक्षय इति पक्ष , ननु तत्कर्म किं सहेतुकमुताहेतुकम् ? । सहेतुकमपि किमज्ञानहेतुकमुताहिंसाजन्यमुताहो वधजन्यम् ?, तत्र न तावदज्ञानहेतुकम् , अज्ञानहेतुकताया हिंसातो निवृत्त्यसम्भवात् , यो हि यन्निमित्तो दोष स तत्प्रतिपक्षस्यैवासेवाया निवर्त्तते, यथा हिमजनित शीतमनलासेवनेन, न चाज्ञानस्य हिंसा प्रतिपक्षभूता , किं तु सम्यग्ज्ञानम् , ततऽयमज्ञानहेतुक कर्म हिंसातो विनिवर्त्तते ? , अथाहिंसाजन्यमिति वदत् , तदपि न युक्तम् , एवं सति मुक्तानामपि कर्मबन्धप्रसक्ते , तेषामहिंसकत्वात् । अथ हिंसाजन्यम् , यद्येव तर्हि कथं हिंसात एव तस्य निवृत्ति., न हि यत एव यस्य प्रादुर्भाव तत एव तस्य निवृत्तिर्भवितुमर्हति , विरोधात् , न खल्वजीर्णप्रभवो रोगो मुहुरजीर्णकरणात् निवर्तते, तत प्राणिहिंसोत्पादितकर्मनिवृत्त्यर्थमवश्यमहिंसाऽऽसेवनीया, उक्तं च—" तम्हा पाणिवहो व-ज्जियव्व कम्मस्स खवणहेऊओ । वहविरई कायव्वा, संवररूवि त्ति नियमेणं ॥१॥ " अथाहेतुकं न तर्हि तदस्ति, खरविषाणवत् , तत्कथ तदपगमाय प्राणिवधोद्यमो भवत ?, अथाहेतुकमप्यस्ति यथाऽऽकाश , तर्ह्याकाशस्येव तस्यापि न कथञ्चन विनाश इत्यफलत्वात् न कार्य प्राणिवध । यदप्युक्तम्-' ये तु प्रागुपात्तपुण्यकर्मवशत सुखासिकामनुभवन्तोऽवतिष्ठन्ते न ते व्यापादनीया , इत्यादि , तदप्ययुक्त, यत पुण्यपापक्षयान्मुक्ति , ततो यथा परेषा पापक्षपणाय व्यापादने भवत. प्रवृत्ति तथा पुण्यक्षपणायापि भवति । अथ पाप दु खानुभवफलं ततो व्यापादनेन दु खोत्पादनत. पाप क्षपयितुं शक्यं , पुण्य तु सातानुभवफल तत्कथ दु खोत्पादनेन क्षपयितु शक्यम् ? , शातानुभवफल हि कर्म सातानुभवोत्पादनेनैव क्षपयितु शक्यम् , नान्यथा, तदपि न समीचीनं , यतो यत्पुण्यं विशिष्ट देवभवे वेदनीय तन्मनुष्यादिभवव्यापादनेन प्रत्यासमीक्रियत , प्रत्यासमीकृत च प्राय. स्वल्पकालवेद्य भवति , तत एव पुण्यक्षपणस्यापि सम्भवात् कथ न व्यापादनेन पुण्यपरिक्षय ?, अथ व्यापादनानन्तर विशिष्टदेवभववेदनीय. पुण्योदय. सदिग्ध कस्यचित्पापोदयस्या-

पि सम्भवात्, ततो न व्यापादनं पुण्यमनुभवतः कर्त्तुमुचितम्। यच्चैवमितरत्र कथं निश्चय' ?, इतरत्रापि संदेह एव तथाविधदु:खिनोऽपि यदि मार्यन्ते तर्हि नरकदु:खानुभवभागी भवति, अमारितश्च सन् कदाचनापि प्रभूतसत्त्वव्यापादनेन पुण्यमुपार्ज्य विशिष्टदेवाधिभवभागी भवेत्, ततो दु:खितानामपि व्यापादनं न भवतो युक्तम्। एवं च सति सन्दिग्धानैकान्तिकोऽपि हेतु', व्यापादनस्य परिणामसुन्दरत्वसन्देहात्। यदप्युक्तम्-'युष्मत्सिद्धान्तानुगं नारकस्वरूपोपदर्शकं वच:' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानं सम्यगस्मत्सिद्धान्तापरिज्ञानाद्, अस्मत्सिद्धान्ते ह्येवं नारकस्वरूपव्यावर्णना-नारकाणां परमाधार्मिकसुरोदीरितदु:खानां परस्परोदीरितदु:खानां वा वेदनातिशयभावतः सम्मोहमुपागतानां नातीव परत्र संक्लेशो यथाऽत्रैव केषाञ्चिन्मानवानां सम्मूढानाम्, यथा हि-मानवा लकुटादिप्रहारजर्जरीकृतशिर:प्रभृत्यवयवा वेदनातिशयभावत: सम्मूढचेतना नातीव परत्र संक्लिश्यमाना उपलभ्यन्ते, तथा नारका अपि सदैव द्रष्टव्या:, ततः तथाविधतीव्रसंक्लेशाभावान् नारकाणां नाभिनवप्रभूततरपापोपचय:। यद्येवं तर्हि सम्मोहो महोपकारी, तथाहि-सम्मोहवशान्न परत्रातीव सङ्क्लेश', तीव्रवेदनाभावतश्च प्राग्बद्धपापकर्मपरिक्षयः सम्मोहश्च हिंस्रव्यापारादुपजायते, ततो हिंसका महोपकारिण इति सिद्धमस्मत्समीहितम्। तदयुक्तम्-हिंसकाना परपीडोत्पादनत: क्लिष्टकर्मबन्धप्रसक्ते, न खलु पापस्य परपीडामतिरिच्यान्यन्निबन्धनमीक्षामहे। यदि स्यात्तर्हि मुक्तानामपि पापबन्धप्रसङ्ग, तेषामहिंसकत्वात्, तत: कथमिव सचेतनो मनसाऽपि परं व्यापादयितुमुत्सहते? इत्यल पापचेतोभिः सह प्रसङ्गेन। न०।

संसारविउस्सग्ग-संसारव्युत्सर्ग-पुं०। ज्ञानावरणादिकर्मबन्धहेतूनां ज्ञानप्रत्यनीकत्वादीना त्यागे, औ०। नारकायुष्कादिहेतूना मिथ्यात्वादीना त्यागे, भ० २ श० ५ उ०।

संसारवुड्ढि-संसारवृद्धि-स्त्री०। संसारपरिवृद्धौ. द्वी० ३ प्रका०।

संसारवेइ-संसारवेदिन्-पुं०। यथावस्थितससारतत्त्वज्ञातरि, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

संसारसंचिट्ठणकाल-संसारसंस्थानकाल-पुं०। संसारस्य भवाद् भवान्तरसङ्क्रमणलक्षणस्य संस्थानं भवस्थितिक्रिया तस्य काल:-अवसर: संसारसंस्थानकाल:। अमुष्य जीवस्यातीतकाले कस्यां कस्यां गतावयस्थानं, भ०।

जीवस्स णं भंते! तीतद्धाए आदिट्ठस्स कइविहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते? गोयमा! चउव्विहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते, तं जहा-णेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले मणुस्सजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले देवजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले य पण्णत्ते। नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सुण्णकाले, असुण्णकाले, मिस्सकाले। तिरिक्खजोणियसंसारपुच्छा, गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-असुन्नकाले य, मिस्सकाले य। मणुस्साण य, देवाण य जहा नेरइयाणं। एयस्स णं भंते! नेरइयसंसारसंचिट्ठणकालस्स सुन्नकालस्स असुन्नकालस्स मीसकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा?, गोयमा! सव्वत्थोवे असुन्नकाले, मिस्सकाले अनंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे। तिरिक्खजोणियाणं भन्ते! गोयमा! सव्वथोवे असुन्नकाले, मिस्सकाले अणंतगुणे, मणुस्सदेवाण य जहा नेरइयाणं। एगस्स णं भन्ते! नेरइयस्स संसारसंचिट्ठणकालस्स० जाव देवसंसारसंचिट्ठण० जाव विसेसाहिए वा?, गोयमा! सव्वत्थोवे मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणिए अणंतगुणे। (सू०-२३)

'जीवस्स ण' मित्यादि व्यक्तं, नवरं 'कतिविधस्य जीवस्य' इत्यादि-आदिष्टस्य-अमुष्यनारकादिरित्येवं विशेषितस्य 'तीतद्धाए' त्ति-अनादावतीते काले कतिविध:-उपाधिभेदात्कतिभेद:, संसारस्य-भवाद्भवान्तरे संचरणलक्षणस्य संस्थानम्-अवस्थितिक्रिया तस्य काल:-अवसर' संसारसंस्थानकाल', अमुष्य-जीवस्यातीतकाले कस्यां कस्यां गतावयस्थानमासीत्? इत्यर्थ, अत्रोत्तरम्-चतुर्विध', उपाधिभेदादिति भाव। तत्र नारकभवानुगतसंसारावस्थानकालस्त्रिधा-शून्यकाल, अशून्यकालो, मिश्रकालश्चेति। तिरश्चां शून्यकालो नास्तीति, तेषां द्विविध, मनुष्यदेवानां त्रिविधोऽप्यस्ति। आह च-"सुन्नासुन्नो मीसो, तिविहो संसारचिट्ठणाकालो। तिरियाण सुन्नवज्जो, सेसाणं होइ तिविहो वि॥१॥" तत्राशून्यकालस्तावदुच्यते, अशून्यकालस्यकपपरिज्ञाने हि सर्वानर्थो सुज्ञानो भविष्यत इति, तत्र वर्त्तमानकाले सप्तसु पृथिवीषु ये नारका वर्त्तन्ते तेषां मध्याद् यावन्न कश्चिदुद्वर्त्तते न चान्य उत्पद्यते तावन्मात्रा एव ते आसते स कालस्तावन्नारकाणीकृत्याशून्य इति भण्यते। आह च-" आइट्ठसमयाणं, नेरइयाणं न जाव एक्को वि। उव्वट्टइ उववज्जइ, सो असुन्नो उ॥१॥" [illegible] उद्वृत्ता, [illegible]ऽपि [illegible]। [illegible] सकल[illegible] नारका: [illegible] तेऽपि [illegible] इति। आह च-"[illegible] वि, सा मीसो [illegible]॥ [illegible]" [illegible]

[illegible]

च—" एयं पुण ते जीवे, पडुच्च सुत्तं न तब्भवं चेव । जइ होज्ज तब्भवं तो, अनन्तकालो ण संभवइ ॥ १ ॥" कस्मात्? इति चेद् उच्यते—ये वार्त्तमानिका नारकास्ते स्वायुष्ककालस्यान्ते उद्वर्त्तन्ते, असंख्यातमेव च तदायुः, अत उत्कर्षतो द्वादशमौहूर्त्तिकाशून्यकालापेक्षया मिश्रकालस्यानन्तगुणत्वाभावप्रसङ्गादिति । आह च—"किं कारणमाइट्ठा, णेरइया जे इमम्मि समयम्मि । ते ठिइकालस्संते, जम्हा सव्वे खविज्जंति ॥ १ ॥" इति । 'सव्वत्थोवे असुन्नकाले' त्ति—नारकाणामुत्पादोद्वर्त्तनाविरहकालस्योत्कर्षतोऽपि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, 'मीसकाले अणंतगुणे' त्ति—मिश्राख्यो विवक्षितनारकजीवनिर्लेपनाकालोऽशून्यकालापेक्षयाऽनन्तगुणो भवति, यतोऽसौ नारकेतरेष्वागमनगमनकालः, स च त्रसवनस्पत्यादिस्थितिकालमिश्रितः सन्ननन्तगुणो भवति, त्रसवनस्पत्यादिगमनागमनानामनन्तत्वात्, स च नारकनिर्लेपनाकालो वनस्पतिकायस्थितेरनन्तभागे वर्त्तत इति । उक्तं च—" थोवो असुन्नकालो, सो उक्कोसेण बारसमुहुत्तो । तत्तो य अणंतगुणो, मीसो निल्लेवणाकालो ॥१॥ आगमणगमणकालो, तसाइतरुमीसिओ अणंतगुणो । अह निल्लेवणकालो, अणंतभागे वणद्धाए ॥२॥" इति 'सुन्नकाले अणंतगुणे' त्ति—सर्वेषां विवक्षितनारकजीवाना प्रायो वनस्पतिष्वनन्तानन्तकालमवस्थानात्, एतदेव वनस्पतिष्वनन्तानन्तकालावस्थानं जीवानां नारकभवान्तरकाल उत्कृष्टो देशित' समय इति । उक्तं च—"सुन्नो य अणंतगुणो, सो पुण पाय वणस्सइगयाणं । एयं चेव य नारय—भवंतरं देसियं जेट्ठं ॥ १ ॥" इति । 'तिरिक्खजोणियाणं सव्वत्थोवे असुन्नकाले' त्ति—स चान्तर्मुहूर्त्तमात्रः, अयं च यद्यपि सामान्येन तिरश्चामुक्तस्तथाऽपि विकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमानामेवावसेयः, तेषामेवान्तर्मुहूर्त्तमानस्य विरहकालस्योक्तत्वात्, यदाह—"भिन्नमुहुत्तो विगलिं—दिएसु संमुच्छिमेसु वि स एव ।" एकेन्द्रियाणां तूद्वर्त्तनोपपातविरहाभावेनाशून्यकालाभाव एव । आह च—" एगो असंखभागो, वट्टइ उव्वट्टणोववायम्मि । एगनिगोए निच्चं, एव सेसेसु वि स एव ॥ १ ॥" पृथिव्यादिषु पुनः ' अणुसमयमसंखेज्ज ' त्ति वचनाद्विरहाभाव इति, ' मिस्सकाले अणंतगुणे ' त्ति—नारकवत्, शून्यकालस्तु तिरश्चा नास्त्येव, यतो वार्त्तमानिकसाधारणवनस्पतीना तत उद्वृत्ताना स्थानमन्यन्नास्ति, ' मणुस्सदेवाणं जहा नेरइयाणं ' ति अशून्यकालस्यापि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, अत्र गाथा—' एवं नरामराण वि, तिरियाणं नवरि नत्थि सुन्नद्धा । जं निग्गयाण तेसिं, भायणमन्न तओ नऽत्थि ॥ १ ॥" भ० १ श० २ उ० ।

संसारसमावन्न—संसारसमापन्न—न० । संसरण संसारो नारकतिर्यङ्नरामरभवानुभवलक्षणस्तं सम्यग्—एकीभावेनापन्नः ससारसमापन्नः । संसारवर्तिनि, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । संसार—भवं समापन्नका'—आश्रिताः संसारसमापन्नकाः । संसारिषु, स्था० २ ठा० १ उ० । भववर्तिषु, स्था० ४ ठा० २ उ० । संसार—चतुर्गतिभ्रमणरूपं सम्यग्—एकीभावेनापन्ना एव ससारसमापन्नका', प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्यय । ससारिषु जीवेषु, प्रज्ञा० १२ पद । (तद्भेदा' 'भासग' शब्दे पञ्चमभागे उक्ताः ।) ('जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५२५ पृष्ठे च दर्शिता' ।

संसारसागर—संसारसागर—पुं० । संसरणं संसारस्तिर्यङ्नरकामरभवानुभवलक्षण', स एव भवस्थितिकायस्थितिभ्यामनेकधाऽवस्थानेनालब्धपारत्वात् सागर इव संसारसागरः । ल० । आव० । द० प० । अतिगहनत्वात् सागरकल्पे संसारे, दर्श० ४ तत्त्व ।

संसाराडवीमहाकडिल्ल—संसाराटवीमहाकडिल्ल—न० । भवारण्यगुरुगहने, पञ्चा० १५ विव० ।

संसाराणुप्पेहा—संसारानुप्रेक्षा—स्त्री० । संसारस्य चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु संसरणलक्षणस्यानुप्रेक्षा संसारानुप्रेक्षा । स्था० ३ ठा० १ उ० । द० प० । भ० । " माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे । व्रजति सुनः पितृतां भ्रातृतां पुन' शत्रुतां चैव ॥१॥" इत्येवं संसारस्य—चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु संसरणलक्षणस्यानुप्रेक्षा संसारानुप्रेक्षा इति । धर्मध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

संसाराभिणंदि—संसराभिनन्दिन्—पुं० । भवाभिनन्दिनि मुमुक्षौ, आ० म० १ अ० ।

संसारावेस—संसारावेश—पुं० । संसरणे, सूत्र० । "यथा प्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणावेशहेतवः ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

संसारि(न्)—संसारिन्—पुं० । संसरणं ससारः, संसरणं ज्ञानावरणादिकर्मयुक्ताना गमनं स एषामस्तीति ससारिणः । दश० २ अ० । विशे० । संसारो गतिचतुष्काविर्भाव', सोऽस्ति येषां ते संसारिणः । द्रव्या० ५ अध्या० । संसारमध्यवर्तिषु अमुक्तेषु, द्रव्या० ६ अध्या० ।

संसारिकज्ज—संसारिकार्य—न० । गृहकार्ये, "जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए । आहारमुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥ १ ॥" एतद्गाथानुसारेण श्राद्धेन रात्रौ निद्रापगमे सांसारिककार्य कृत्वा सुप्यते तदा पुनर्गाथोच्चारो विधीयते, किं वा प्राक् कृतोच्चार एव प्रमाणमिति प्रश्न' ?, अत्रोत्तरम्—श्राद्ध शयनवेलायामेवं प्रत्याख्यानं कृत्वा स्वपिति यद्रात्रौ प्रमादो भवति तदाहारप्रमुखं व्युत्सृजामि, तस्मान्निद्रापगमेऽपि कश्चित्कदाचित्संसारकार्यं करोति तदा प्रत्याख्यानभङ्गो न भवति इति ॥ ७४ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

संसारिय—सांसारिक—पुं० । परस्परसंसरणशीलेषु, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । संसारो विद्यते येषु ते सांसारिका' । ससारिषु, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

संसारुत्तारण—संसारोत्तारण—न० । महाभीमभवभ्रमणपारगमने, पा० ।

संसारुत्तारणी—संसारोत्तारणी—स्त्री० । संसारादुत्तारयति मुक्तिप्रापकत्वेन निस्तारयतीति संसारोत्तारणी । तथाविधायां धर्मश्रुतौ, उत्त० ३ अ० ।

संसाहग—संसाधक—पुं० । दोलायके पृष्ठत' कुतश्चिदागते साधौ, बृ० ४ उ० ।

संसाहण-संसाधन-न० । गच्छतोऽनुव्रजने, दश० ६ अ० १ उ० । वदन्तं प्रति ह्येतत्साधूक्तं साध्वित्येवं प्रशंसाकरणे, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । ध० । अनुगमने, दे० ना० ८ वर्ग १६ गाथा ।

संसिच्चमाण-संसिच्यमान-त्रि० । आपूर्यमाणे, गर्भाद् गर्भान्तरमुपयाति संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन पर्यटति, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

संसिद्ध-संसिद्ध-त्रि० । सम्यग् निष्पादिते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । निश्चिततद्धर्मादिलिङ्गसंसिद्धे, षो० ७ विव० । सर्वैः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणैः प्रतिष्ठिते, विशे० ।

संसिद्धिय-सांसिद्धिक-त्रि० । " मांसादिष्वनुस्वारे " ॥ ८ । १ । ७०॥ अनेनात्रादेराकारस्य वैकल्पिकोऽदादेशः । सासिद्धिओ । संसिद्धिजे, प्रा० १ पाद ।

संसिय-संश्रित-त्रि० । प्रतिबद्धे रूपकादिद्रव्ये, अनु० । आश्रिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

संसिलेस-संश्लेष-पुं० । परस्परं सम्बन्धे, स्था० १० ठा० ३ उ० । आचा० ।

संसिलेसिया-संश्लेषिकी-स्त्री० । कर्मश्लेषजनन्याम्, आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० ।

संसीइ-संशीति-स्त्री० । संदेहे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । चित्तभ्रान्तौ, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

संसुद्ध-संशुद्ध-त्रि० । सम्-समस्तं शुद्धं संशुद्धम् । आ० चू० ५ अ० । सम्-सामस्त्येन शुद्धं संशुद्धम् । कषच्छेदतापकोटिशुद्धत्वादेकान्ताकलङ्के संशुद्धे, ध० ३ अधि० । निर्दोषे । उपा० २ अ० । सामस्त्येन शुद्धे, भ० ११ श० ६ उ० । ज्ञा० । आव० । सूत्र० । कषायादिभिः शुद्धे सुवर्णवन्निर्दोषे, औ० । अशबलचरणे, स्था० ।

एगे संसुद्धे अहाभूए पत्ते । (सू० ३७)

एकः संशुद्धः-अशबलचरणः अकषायत्वात् यथाभूतः तात्त्विकः ' पत्ते ' त्ति-पात्रमिव पात्रमतिशयवत् ज्ञानादिगुणरत्नानां प्राप्तो वा गुणप्रकर्षमिति गम्यते । स्था० १ ठा० ।

संसुद्धणाणदंसणधर-संशुद्धज्ञानदर्शनधर-पुं० । केवलज्ञानदर्शनधारिणि, भ० २५ श० ६ उ० ।

संसेइम-संसेकिम-न० । संसेकेन निर्वृत्तमिति संसेकिमम्, अरणिकादिपत्रशाकमुत्काल्य येन शीतलजलेन संसिच्यते । तस्मिन्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । कल्प० । अरणिकादिसस्विन्नधावनोदके, ग० २ अधि० । तिलधावनोदके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । पिष्टोदके, दश० ५ अ० १ उ० । तिलाति संसेतिम ति णायव्वं । नि० चू० १५ उ० । संसेतिमं वा णाम पिट्ठरे पाणीयं तावेत्ता पिंडियट्ठिया तिला तेण ओहलिज्जति तत्थ जे आमा तिला ते ससेतिमा भवंति । आदिग्गहणेणं जं पि अण्णं किंचि एतेणं कमेणं संसिज्जति त पि ससेतिमं भण्णति । नि० चू० १५ उ० । ' ससेतिम तिला उण्हं, पाणिएण सिणा जति, सीतोदगेण धोवेति तं संसेतिमं भण्णति' नि० चू० १७ उ० ।

संसेइय-स्रंस-धा० । अधः पतने, " स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ " ॥ ८ । ४ । १९७॥ स्रंसेरेतावादेशौ वा, इति आदेशाभावे-ससेइ । स्रंसते । अधः पततीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

संसेय-संसेक-पुं० । जलसेके, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

संस्वेद-पुं० । शरीरप्रस्वेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । आचा० ।

संसेयय-संस्वेदज-पुं० । संस्वेदाज्जाताः सस्वेदजाः । यूकमत्कुणकृम्यादिषु, सूत्र० १ श्रु० ७ उ० । दश० । आचा० । करीषादिष्विन्धनषूत्पद्यमानेषु घुणपिपीलिकाकृम्यादिषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । स्था० ।

संसोहण-संशोधन-न० । गात्रस्य सम्यक् शोधने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

संसोहिय-संशोधित-त्रि० । सम्यक् शोधिते, " संसोहियं पण्हमुदाहरति " सम्यक् शोधितं पूर्वोत्तराविरुद्ध प्रश्नमुदाहरन्ति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

संहणमाण-संहन्यमान-त्रि० । उत्सार्यमाणे, नि० चू० २० उ० ।

संहणियकारिया-संहत्यकारिता-स्त्री० । सम्भूय मिलितार्थक्रियाकारितायाम्, द्वा० ११ द्वा० ।

संहत-संहत-त्रि० । पिण्डतामापन्ने, उत्त० १ अ० । मिलिते, भ० १ श० ६ उ० । आ० म० । अविरले, ओघ० ।

संहर-संहर-पुं० । सघाते, " उप्पको ओप्पीलो , उक्केरे पहयरे गणो पयरो । ओहो निवहो संघो , संघाओ संहरो निअरो ॥१८॥ संदोहो निउरंबो, भरो निहाओ समूहनामाइ " ॥ पाइ० ना० १८ गाथा ।

संहरण-संहरण-न० । भारनयने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । क्षेपणायाम्, पिं० ।

संहरणचरियणिबद्ध-संहरणचरितनिबद्ध-न० । संहरण चरमभरतक्षेत्रावसर्पिणीतीर्थकरजन्माभिषेकचरमबालभावचरमयौवनचरमकामभोगचरमनिष्क्रमणचरमतपश्चरणचरमज्ञानोत्पादचरमतीर्थप्रवर्त्तनचरमपरिनिर्वाणनिबद्धे नाट्यविधाने, रा० ।

संहरिय-संहृत-न० । दानपात्रं सचित्तेषु कृत्वा दत्तेऽन्न, पिं० । ('पसण' शब्दे तृतीयभागे ५६ पृष्ठे अस्य वक्तव्यता गता ।) येन हस्तपात्रा कणदात्री साधोरशनादिकं दास्यति तत्र शिक्यादिकं वा यदि स्यात् तदन्यत्र सचित्ते अचित्ते वा क्षिप्त्वा तेन यद्ददाति तत्संहृतम् । जीत० । आचा० । उत्त० ।

संहरिस-संघर्ष-पुं० । स्पर्द्धायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आ० चू० ।

संहार-संहार-पुं० । पूर्वपर्यायात् प्रच्याव्य पर्यायान्तरेण स्थापने, न० । व्यापारान्निवर्त्तने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

संहारवाय-संहारवात-पुं० । प्रलयवाते, अने० १ अधि० ।

संहिच-संहृत्य-अव्य०। सह सम्भूयेत्यर्थे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०।

संहिय-संहित-त्रि०। अविरले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। तं०।

संहृत-त्रि०। संक्षिप्तमध्ये, जं० २ वक्ष०। औ०।

संहिया-संहिता-स्त्री०। अस्खलितपदोच्चारणे, आ० म० १ अ०। दशा०। कल्प०। अनु०। उत्त०। ('वक्खाण' शब्दे षष्ठभागे ७७६ पृष्ठे संहिता विस्तरतो व्याख्याता।) व्याख्याया. प्रथमे लक्षणे, "संहिता च पदं चैव, पदार्थ पदविग्रह। चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्याया लक्षणानि षट्॥ १॥" तत्र संहिता "नो कल्पते" (सू० १×) इति निर्ग्रन्थाना निर्ग्रन्थीना वा अयं वा तालप्रलम्बमभिन्नं प्रतिग्रहीतुमिति। बृ० १ उ० १ प्रक०।

सकंकडावडंसग-सकङ्कटावतंसक-पुं०। सकङ्कटैः कवचैरवतंसैश्च-शेखरकैः शिरस्त्राणभूतैर्य स तथा। कवचशेखरकाभ्या युक्ते, भ० ७ श० ६ उ०। जी०।

सकंप-सकम्प-त्रि०। अदृढे, द्वा० ६ द्वा०।

सकक्कस-सकार्कश्य-त्रि०। कर्कशभावोपेते, ग० १ अधि०।

सकज्जमूढ-स्वकार्यमूढ-त्रि०। स्वस्वार्थमौढ्यगते, नं०।

सक(ड)टलेव-सकटलेप-पुं०। द्विचक्रनाम्नि लेपभेदे, बृ०१ उ० १ प्रक०। (व्याख्या 'लेव' शब्दे षष्ठभागे ६६३ पृष्ठे गता।)

सकणुय-सकणुक-त्रि०। कणुकेन त्वगाद्यवयवेन यद्वर्त्तते तत्तथा। सत्वचि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

सकण्ण-सकर्ण-त्रि०। श्रवणशक्तिसहिते, आव० १ अ०।

सकम्म-सकर्मन्-न०। वाले, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। आत्मीये कर्म्मणि, ब्राह्मणस्य यजनादिकं षड्विधं कर्म्म स्वकर्म्म। उत्त० १४ अ०। "सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स" उत्त० १४ अ०। स्वव्यापारे, व्य० ३ उ०। आत्मना वद्धे ज्ञानावरणीयादिकर्माणि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

सकम्मफलभोयण-स्वकर्मफलभोजन-न०। स्वोपात्तकर्मफलभोगे, दश० ४ अ०।

सकम्मवीरिय-स्वकर्म्मवीर्य-न०। स्वकर्म्मणा वालानां वीर्यम्। वालवीर्ये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

सकल-शकल-न०। खण्डे, जं० २ वक्ष०।

सकलचन्द्रगणि-सकलचन्द्रगणिन्-पुं०। जिनचन्द्रगणिशिष्ये समयसुन्दरगुरौ, प्रतिष्ठाकल्पादिकानामनेकेषां ग्रन्थानामयं कर्त्ताविक्रम १६६० संवत्सरे विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

सकवाड-सकपाट-त्रि०। कपाटसहिते,व्य० ४ उ०। नि०चू०।

सकसाय-सकषाय-त्रि०। सचित्तपृथिव्याद्यवगुण्ठिते, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ०।

सकहा-सक्थि-न०। अस्थि, स० ३५ सम०। तीर्थकराणां मनुजलोकनिर्वृत्तानां सक्थीनि-अस्थीनीति। स०३५ सम०। (विशेषस्तु 'जिणसकहा' शब्दे चतुर्थभागे १५०६ पृष्ठे गत.।)

सकथा-स्त्री०। याज्ञिकसमयप्रसिद्धे उपकरणविशेषे, नि० १ श्रु० १ वर्ग। भ०।

सकाइय-सकायिक-पुं०। काययोगयुक्ते, प्रज्ञा० ३ पद।

सकाम-सकाम-त्रि०। समनोरथे, पञ्चा० १८ विव०।

स्वकाम-पुं०। स्वकीयायामिच्छायाम्, बृ० ३ उ०।

सकामकिच्च-सकामकृत्य-न०। स्वेच्छाचारितायाम्, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

सकामणिज्जरा-सकामनिर्जरा-स्त्री०। निर्जराभेदे, सेन० ४ उल्ला०। तथा-चरकपरिव्राजकतामल्यादिमिथ्यादृष्टीनां तपश्चरणाद्यज्ञानकष्टं कुर्वता सकामनिर्जरा भवत्यकामनिर्जरा वा इति, केचन वदन्ति तेषामकामनिर्जरैवेति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्न ?, अत्रोत्तरं-ये चरकपरिव्राजकादिमिथ्यादृष्टयोऽस्माक कर्मक्षयो भवत्विति धिया तपश्चरणाद्यज्ञानकष्टं कुर्वन्ति तेषां तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिसमयसारसूत्रवृत्तियोगशास्त्रवृत्त्यादिग्रन्थानुसारेण सकामनिर्जरा भवतीति सम्भाव्यते, यतो योगशास्त्रचतुर्थप्रकाशवृत्तौ सकामनिर्जराया हेतुर्बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविध तप प्रोक्तं, तत्र षट्प्रकार बाह्य तप, बाह्यत्वं च बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वात्कुतीर्थिकैर्गृहस्थैश्च कार्यत्वाच्चेति, तथा-ऽलोकप्रतीतत्वात्कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यत्वाद्बाह्यत्वमिति त्रिंशत्तमोत्तराध्ययनचतुर्दशसहस्रीवृत्तौ एतदनुसारेण षड्विधबाह्यतपस. कुतीर्थिकासेव्यत्वमुक्तं, परं सम्यग्दृष्टिसकामनिर्जरापेक्षया तेषां स्तोका भवति, यदुक्तं भगवत्यष्टमशतकदशमोद्देशके 'देसाराहए' त्ति वालतपस्वी स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थ, सम्यग्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाच्चेति, तथा च मोक्षप्राप्तिर्न भवति, स्तोककर्म्मांशनिर्जरणात्, भवत्यपि च भावविशेषाद्वल्कलचीर्यादिवद्। यदुक्तम्-"आसवरो अ सेय-वरो अ वुद्धो य अहव अन्नो वा। समभावभाविअप्पा, लहइ मुक्खं न संदेहो"॥ १॥ इति, यदि तेषामकामनिर्जरैवाङ्गीक्रियते तर्हि 'जीवे णं भंते! असजए अविरए अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इतो चुए पेच्चा देवे सिया?' गोयमा! अत्थेगतिए देवे सिआ, अत्थेगतिए नो सिआ, से केणट्ठेण जाव इतो देवे सिआ? गोयमा! जे इमे जीवा अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबभचेरवासेण अकामसीयायवदसमसगअन्हाणगसेयजल्लमलपंकपरिदाहेण अप्पतरं वा भुज्जतरं वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, परिकिलेसित्ता कालमासे काल किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति' श्रीभगवतीसूत्रप्रथमशतकप्रथमाद्दशकौपपातिकसूत्रादौ अकामनिर्जरया व्यन्तरपूज्या-

ष' कथितोऽस्ति, तत्कथं सङ्गच्छते, यतः—संग्रहण्यादौ 'चरगपरिव्वाय वंभलोगो जा' इति वचनात्पञ्चमदेवलोके तेषामुत्पादस्य भणितत्वादिति विरोधापत्तेः, हारिभद्रयामपि "अणुकंपऽकामनिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे। सजोगविप्पओगे, वसणूसवइड्ढिसक्कारे ॥ १ ॥" इत्यत्राकामनिर्जराबालतपसोर्भेदद्वयभणनं व्यर्थमेव, एकेनाकामनिर्जरालक्षणेन चरितार्थत्वात् । तथा 'चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा-' सरागसंजमेणं १ संजमासंजमेणं २ बालतवोकम्मेणं अकामनिज्जराए ४' एतद्वृत्तिलेशः—सकषायसंयमेन—सकषायचारित्रेण वीतरागसंयमिनामायुषो बन्धाभावात् १ संयमासंयमस्य द्विस्वभावत्वाद्देशसंयमः २ बाला-मिथ्यादृशस्तेषां तपः-कर्म—तपःक्रिया बालतपःकर्म तेन ३, अकामेन-निर्जरां प्रत्यनभिलाषेण निर्जराऽकामनिर्जरणहेतुर्बुभुक्षादिसहनं यत्साऽकामनिर्जरा तथा इति, स्थानाङ्गसूत्रचतुर्थस्थानके तथा 'अकामनिर्जरारूपात्पुण्याज्जन्तोः प्रजायते। स्थावरत्वं त्रसत्वं वा, तिर्यक्त्वं वा कथंचन' ॥ १०८ ॥ इत्यत्र पुण्यादिति पुण्यं न पुण्यप्रकृतिरूपं किन्तु लाघवरूपं, तस्मात्स्थावरत्वादिकं प्राप्यते । तामलितापसादीनां तु शास्त्रेष्विन्द्रत्वादिप्राप्तिः कथिताऽस्ति, सा च सकामनिर्ज्जरया भवति । यदुक्तं तत्त्वार्थभाष्यनवमाध्ययनवृत्तौ अमरेषु तावदिन्द्रसामानिकादिस्थानानि प्राप्नोतीति । ननु 'ज्ञेया सकामा यमिना'—मित्यत्र यदि यमिनां—यतीनामेव सकामनिर्ज्जरा प्रोच्यते श्रावकाणामविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां च का गतिरिति चेदुच्यते यमिनामिति सामान्यतयोक्तेः श्रावकादीनामपि तारतम्येन द्वादशदेवलोकादिदायका सकामा भवतीति ज्ञायते, श्राद्धादीनामित्य त्रादिशब्दाद्बालतपस्विनामपि कथमिति चेत्, शृणु, बालमसमर्थं सन्मार्गप्रदाने सकलकर्म्मक्षये वा, बालं च तत्तपश्च बालतपः, तच्चाग्निप्रवेशभृगुगिरिप्रपतनादि कायक्लेशरूपं, कायक्लेशश्च 'कायकिलेसो संलीणयाये' त्यागमवचनाद्बाह्यतपः, तच्च सकामनिर्ज्जराहेतुरिति ॥ १०५ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

सकाममरण—सकाममरण—न० । पण्डितमरणे, उत्त० ५ अ० । (विशेषार्थः 'मरण' शब्दे षष्ठे भागे उक्तः ।)

सकाय—सकाय—पुं० । सह कायो यस्य येन वा सकायः । प्रज्ञा० १५ पद । पृथिव्यादिषड्विधकायविशिष्टे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

स्वकाय—पुं० । स्वस्य काय स्वकाय । आत्मनो देहे, अनु० ।

सकिच्च—सकृत्य—न० । स्वाचारे कायोत्सर्गकरणादौ , द्वा० २२ द्वा० ।

सकिरिय—सक्रिय—त्रि० । कायिक्यादिक्रियायुक्ते, औ० । ग० । 'नत्थि दुसीलकिरियाणं सपंधम किंचिविदुहगणुट्ठाणं' मिति वच नात् । ग० म० १ प० । सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । प्रकारान्तराभिनये, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सह क्रियया अनर्थदण्डप्रवृत्तिलक्षणया वर्तत इति सक्रिया । अनर्थदण्डप्रवर्त्तिकायां भाषायाम् , आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

सकिलेस—संक्लेश—पुं० । विशुद्धिप्रतिपक्षे कालुष्ये , पो० १४ विव० । आचा० ।

सकुंत—शकुन्त—पुं० । पक्षिणि, अनु० ।

सकुंतपोय—शकुन्तपोत—पुं० । पक्षिशावके, स्था० २ ठा० १ उ० ।

सक्कुहर—सकुहर—त्रि० । गुञ्जद्वंशतन्त्रीसम्प्रयुक्ते, रा० ।

सकेय—सकेत—पुं० । कितनिवासे इत्यस्य धातोः कित्यते उष्यतेऽस्मिन्निति घञि केतो-गृहमुच्यते, सह तेन वर्त्तत इति सहस्य सभावे सकेतः । गृहस्थेषु, प्रव० ४ द्वार ।

सकेयपच्चक्खाण—सकेतप्रत्याख्यान—न० । केतनं केतश्चिह्नमङ्गुष्ठग्रन्थिगृहादिकं स एव केतकः, सह केतकेन सकेतकम्। तच्च प्रत्याख्यानं चेति । ग्रन्थ्यादिसहिते प्रत्याख्यानभेदे, एतच्च स्वार्थिकप्रत्ययोपादानात्साकेतमित्युच्यते । स्था० १० ठा० ३ उ० । स० । प्रव० ।

सकोरिंटमल्लदाम—सकोरिण्टमाल्यदामन्—त्रि० । सह कोरिण्टप्रधानैः कोरिण्टकाभिधानकुसुमगुच्छैर्माल्यदामभिः पुष्पमालाभिर्यत्तत्तथा । भ० ७ श० ६ उ० । सकोरिण्टकानि-कोरिण्टकपुष्पगुच्छयुक्तानि माल्यदामानि यत्र तत्तथा । कोरिण्टकमाल्यदामयुक्तेषु, भ० ११ श० १० उ० ।

सकोव—सकोप—त्रि० । कुपिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

सक्क—शक्—धा० । मर्षणे, "शकादीनां द्वित्वम्" ॥८।४।२३०॥ अनेनान्त्यस्य द्वित्वम् । सक्कइ । शक्नोति । प्रा० ४ पाद ।

शक्य—त्रि० । सोढुं योग्ये, दश० ६ अ० ३ उ० ।

शक्त—त्रि० । "शक्त—मुक्त-दष्ट—रुग्ण—मृदुत्वे को वा" ॥ ८ । २ । २ ॥ इति संयुक्तस्य को वा । प्रा० । शक्तिमति, नि० चू० १४ उ० ।

शक्र—पुं० । शक्नोतीति शक्रः । स्था० १० ठा० ३ उ० । सौधर्मकल्पेन्द्रे, विशे० । उत्त० । अनु० । सूत्र० । चं० प्र० । स्था० । कल्प० । उपा० । आ० म० । स० । (शक्रस्य सौधर्मकल्पः स्थानं, तत्र शक्र कथं कीदृशाध्यवसायश्च तिष्ठति, इत्युक्तं 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७०८ पृष्ठे ।)

शक्रवर्णनमाह—

तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवई अरयंबरवत्थधरे आलइअमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगल्ले महिड्ढिए महज्जुइए महाबले महायसे महाणुभावे महासुक्खे भासुर-

बोंदी पलंबवणमालधरे, सोहम्मे कप्पे सोहम्मावर्डिसए विमाणे सुहम्माए सभाए सकंसि सीहासणंसि । से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसाहस्साणं चउरासीए सामाणिअसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसमाणं, चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीआणं सत्तण्हं अणीआहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं सोहम्मकप्पवासीणं वेमाणिआणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाइअतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुपडहवाइयरवणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ॥ १४ ॥ कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

(शक्रस्य विकुर्वणा पूर्वभवश्च व्याख्यातः 'विउव्वणा' शब्दे षष्ठे भागे ।) (शक्रस्य सुधर्मासभामृद्धिं च अस्मिन्नेव भागे 'सुहम्मा' शब्दे वक्ष्यते ।) (शक्रस्य पारियानिकविमानं, 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे ४८६ पृष्ठे उक्तम् ।) (शक्रस्य वीरस्वामिनं प्रति अवग्रहविषयप्रश्नः 'उग्गह' शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे गतः ।)

शक्रस्य सम्यग्वादित्वं मिथ्यावादित्वं वा--

सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सम्मावादी मिच्छावादी ?, गोयमा ! सम्मावादी, णो मिच्छावादी । सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ, सच्चामोसं भासं भासइ, असच्चा मोसं भासं भासइ ?, गोयमा ! सच्चं पि भासं भासइ, ०जाव असच्चा मोसं पि भासं भासइ । सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासइ, अणवज्जं भासं भासइ ?, गोयमा ! सावज्जं पि भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सावज्जं पि ० जाव अणवज्जं पि भासं भासइ ?, गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिजूहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ, जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं निजूहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासइ, से तेणट्ठेणं०जाव भासइ । (सू० ५६८+)

सक्के ण' मित्यादि, सम्यग् वदितुं शीलं--स्वभावो यस्य स सम्यग्वादी प्रायेणासौ सम्यगेव वदतीति । सम्यग्वादशीलत्वेऽपि प्रमादादिना किमसौ चतुर्विधा भाषा भाषते न वा ? इति प्रश्नयन्नाह—'सक्के ण' मित्यादि, सत्या अपि भाषा कथंचिद् भाष्यमाणा सावद्या सम्भवतीति पुनः पृच्छति—'सक्के ण' मित्यादि, 'सावज्ज' ति—सहावद्येन गर्हितकर्मणेति सावद्या ता 'जाहे ण' ति—यदा 'सुहुमकायं' ति—सूक्ष्मकायं हस्तादिकं वस्तु इति वृद्धाः, अन्ये त्वाहुः—'सुहुमकायं' ति—वस्त्रम्, 'अनिज्जूहित्त' त्ति—अपोह्य अदत्त्वा हस्ताद्यावृतमुखस्य हि भाषमाणस्य जीवसंरक्षणतोऽनवद्या भाषा भवति, अन्या तु सावद्येति । भ० ३ श० १ उ० ।

शक्रमेवाधिकृत्य भवसिद्धिमाह—

सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिए सम्मादिट्ठीए मिच्छादिट्ठीए एवं जहा पढमुद्देसए सणंकुमारे० जाव णो अचरिमे । (सू० ५६८×)

'सक्के णं' मित्यादि 'पढमुद्देसए' त्ति—तृतीयशतके प्रथमोद्देशके । भ० १६ श० २ उ० । (शक्रः पूर्वभवे कार्त्तिकश्रेष्ठिरासीदिति तत्कथानकं 'कत्तिय' शब्दे तृतीयभागे २१८ पृष्ठे उक्तम् ।)

शक्रः पुरुषस्य शिरश्छित्त्वा पूर्णयितुं च शक्नोति तथैव पुनः कर्तुमिति दर्शयति--

पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया पुरिसस्स सीसं पाणिणा असिणा छिंदित्ता कमंडलुम्मि पक्खिवित्तए ?, हंता पभू से कहमिदाणिं पकरेइ ?, गोयमा ! छिंदिय छिंदिय च णं वा पक्खिवेज्जा, भिंदिय भिंदिय च णं वा पक्खिवेज्जा, कुट्टिय कुट्टिय च णं वा पक्खिवेज्जा, चुण्णिय चुण्णिय च णं वा पक्खिवेज्जा । तओ पच्छा खिप्पामेव पडिसंघाएज्जा णो चेव णं तस्स पुरिसस्स किंचि वि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएज्जा छविच्छेदं पुण करेति ए सुहुमं च णं पक्खिविज्जा । (सू० ५३२)

'सपाणिणा' त्ति-स्वकपाणिना 'से कहमिआणिं पकरेइ' त्ति—यदि शक्रः शिरसः कमण्डल्वां प्रक्षेपणे प्रभुः तत् प्रक्षेपणं कथं तदानीं करोति ?, उच्यते—'छिंदिय छिंदिय च णं' ति-छित्त्वा छित्त्वा क्षुरप्रादिना कूष्माण्डादिकमिव श्लक्ष्णखण्डीकृत्येत्यर्थः, वाशब्दो विकल्पार्थः । प्रक्षिपेत्कमण्डल्वाम् 'भिंदिय' त्ति—विदार्योर्ध्वपाटनेन शाटकादिकमिव, कुट्टिय' त्ति--कुट्टयित्वा उदूखलादौ तिलादिकमिव 'चुण्णिय' त्ति--चूर्णयित्वा शिलायां शिलापुत्रकादिना गन्धद्रव्यादिकमिव, 'ततो पच्छ' त्ति--कमण्डलुप्रक्षेपणानन्तरमित्यर्थः । 'पडिसंघाएज्ज' त्ति-मीलयेदित्यर्थः । 'ए सुहुमं च णं पक्खिवेज्ज' त्ति—कमण्डल्वामिति प्रकृतम् । भ० १४ श० ८ उ० । (शक्रस्योत्पातपर्वतवर्णनम् 'उप्पायपव्वय' शब्दे द्वितीयभागे ८३७ पृष्ठे गतम् ।) (कस्मिंश्चित्कार्ये शक्रस्येशानसमीपे गमनम्, तयोर्विवादं च सनत्कुमारेण न्यायः क्रियत इति 'पाउब्भाव' शब्दे पञ्चमभागे ८१८ पृष्ठे । 'विवाय' शब्दे षष्ठभागे च गतम् ।) (शक्रस्य अहल्यागमनं गौतमशापनं सहस्रभगावाप्तिश्च 'महादेव' शब्दे षष्ठभागे १६३ पृष्ठे उक्ता ।)('णमिपवज्जा' शब्दे चतुर्थभागे १८१२ पृष्ठे नमिशक्रयोः संवादो दर्शितः ।)

शाक्य-पुं० । बौद्धश्रमणे, न० । स्था० । आचा० । सूत्र० । अनु० । पिं० । सुगतशिष्ये बौद्धे , प्रव० ६४ द्वार । सूत्र० । आचा० ।

सक्कअ-संस्कृत-त्रि० । संस्कारयुक्ते , प्रा० २ पाद ।

सक्कड-सत्कृत-त्रि० । सत्कारयुक्ते, उत्त० २ अ० ।

सक्कज्झय-शक्रध्वज-पुं० । इन्द्रध्वजे , आ० म० १ अ० ।

सक्कत्थय-शक्रस्तव-पुं० । जिनजन्मादिषु स्वविमानेषु तीर्थप्रवृत्ते, ध० २ अधि० ।

नमोत्थु णं अरिहंताणं , भगवंताणं ॥ १ ॥ आइगराणं तित्थगराणं, सयं संबुद्धाणं ॥ २ ॥ पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं ॥ ३ ॥ लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं ॥ ४ ॥ अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं बोहिदयाणं ॥ ५ ॥ धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं ॥ ६ ॥ अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं ॥ ७ ॥ जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं ॥ ८ ॥ सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं ॥ ९ ॥ " जे अ अईया सिद्धा , जे अ भविस्संति ऽणागए काले । संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि " ॥ १ ॥

सक्कदूय-शक्रदूत-पुं० । शक्रादेशकारिणि, भ० ५ श० ४ उ० ।

सक्कपुज्ज-सक्रपूज्य-पुं० । शक्राणाम्-इन्द्राणामर्चनीयः जन्मस्नात्राष्टमहाप्रातिहार्यादिसम्पादनेनेन्द्राणामपि अर्चनीये, रत्ना० १ परि० ।

सक्कपुत्त-शाक्यपुत्र-पुं० । बौद्धे, "मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया , भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे , मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सक्कप्पभ-शक्रप्रभ-पुं० । शक्रस्योत्पादपर्व्वते , स्था० १ ठा० २ उ० । ('उप्पायपव्वय' शब्दे द्वितीयभागे ८३७ पृष्ठे ' सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सक्कप्पभे उप्पायपव्वए दस जोयणसहस्साइं" इत्यादि प्रतिपादितम् ।)

सक्कमह-शक्रमह-पुं० । इन्द्रमहे, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

सक्कम्म-सत्कर्मन्-त्रि० । लोकव्यापारप्रवृत्तेषु , स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

स्वकर्मन्-न० । आत्मीयकर्म्मणि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

सत्कर्म्मन्-न० । शोभनानि धार्मिकाणीत्यर्थः कर्म्माणि कृत्यानि । धार्मिककृत्येषु, ध० २ अधि० ।

सक्कम्मकरण-सत्कर्म्मकरण-न० । धार्मिककर्मणां करणलक्षणे विशेषतो गृहधर्मे, ध० २ अधि० ।

सक्कम्मयट्ठाण-सत्कर्म्मतास्थान-न० । सत्ताकर्म्मणि,आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सक्कय-संस्कृत-न० । " विंशत्यादेर्लुक्" ॥ ८ । १ । २८ ।अनेनात्रानुस्वारस्य लुक् । सक्कय । प्रा० । मलयगिरिप्रभृतिव्याकरणप्रणीतेन लक्षणेन संस्कारमापादिते, बृ० १ उ० १ प्रक० । लट्लिट्शप्प्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्ने वचने , सूत्र० २ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० । स्त्रीणां संस्कृतेऽनधिकारित्वात् प्राकृत सिद्धान्तः कृतः । ध० १ अधि० । संस्कारिते , आ० चू० १ अ० । "सक्कयं मत्ता विदू अएणभिधाणेण वा वि त अत्थ " नि० चू० १ उ० ।

शाक्यक-पुं० । कल्किपुत्रदत्तराजसमकालिके वर्षान्तरराज्ञे, ति० ।

सत्कृत-त्रि० । पूजिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सक्कया-संस्कृता-स्त्री० । लट्लिट्शप्प्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्नायां भाषायाम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सक्करप्पभा-शर्कराप्रभा-स्त्री०।शर्कराणाम्-उपलखण्डानां प्रभा-प्रकाशन स्वरूपणावस्थानं यस्यां सा । अनु० । गोत्रेण द्वितीयनरकपृथिव्याम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० । जी० । प्रज्ञा० । भ० । प्रव० । स० ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता हेट्ठा वज्जेत्ता मज्झे चेव केवइए केवइया णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता? गोयमा ! सक्करप्पभाए णं पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे तीसुत्तरजोयणसयसहस्से एत्थ णं सक्करप्पभा पुढवीनेरइयाणं पणवीसा नरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । ते णं णरगा अंतोवट्टा ०जाव असुभा नरएसु वेयणा । जी० ३ प्रति० १ उ० ।

सक्करा-शर्करा-स्त्री० । काशादिप्रभवे गुडविकारे, उत्त० १ अ० । जं० । जी० । सूत्र० । अनु० । लघूपलशकलरूपे, (जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।) कर्करके, जी० ३ प्रति० । घग्घरट्टे , भ० १६ श० १ उ० ।

सक्कराभ-शर्कराभ-पुं० । गौतमगोत्रावान्तरगोत्रविशेषप्रवर्त्तके ऋषौ, तद्गोत्रजेषु पुरुषेषु च । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सक्कवयण-शक्रवचन-न० । शक्रेण वैश्रवणादिप्रत्युक्ते वचने, कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

सक्कसिंह-शाक्यसिंह-पुं० । गौतमगोत्रे शुद्धोदनपुत्रे सप्तमबुद्धे, ग० १ अधि० ।

सक्कह-सत्कथ-त्रि० । सती धर्मकथाऽभीष्टा यस्य स स-

त्कथ । चतुर्थगुणविशिष्टे श्रावके. ध० १ अधि० । दर्श० ।

अथ त्रयोदशस्य तत्कथाख्यगुणस्यावसरस्त च विपर्यये दोषदर्शनद्वारेणाह—

नासइ विवेगरयणं, असुहकहासंगकलुसियमणस्स ।
धम्मो विवेगसारु, त्ति सक्कहो हुज्ज धम्मत्थी ॥ २० ॥

नश्यति-अपैति विवेकरत्नं विवेक -सदसद्वस्तुपरिज्ञानं स एव रत्नम्-अज्ञानध्वान्तान्तकारित्वात् अशुभकथा.-स्त्र्यादिकथास्तासु सङ्ग'-आसक्तिस्तेन कलुषित मन.-अन्त'-करणं यस्य स तथा तस्याशुभकथासङ्गकलुषितमनसः । इदमत्र तात्पर्यम्—विकथाप्रवृत्तो हि प्राणी न युक्तायुक्तं विवेचयति, स्वार्थहानिमपि न लक्षयतीति रोहणीवत् । धर्मः पुनर्विवेकसार एव हिताहितावबोधप्रधान एव भवति, सावधारणत्वाद्वाक्यस्येतीत्यस्माद्धेतोः सत्या-शोभना तीर्थकरगणधरमहर्षिचरितगोचरा कथा—वचनव्यापारो यस्य स सत्कथो भूयाद्-भवेत् धर्मार्थी-धर्मचरणाभिलाषुकः, येन धर्मरत्नाऽर्हः स्यादिति । ध० र० १ अधि० १३ गुण । प्रव० । (पूर्वसूचितरोहिणीज्ञात 'रोहिणी' शब्दे पञ्चभागे ५८३ पृष्ठे गतम् ।)

सक्काणुट्ठाण-शक्यानुष्ठान—न० । संहननाद्यनुसारेण तपआद्यनुष्ठाने, ध० र० ।

संघयणादणुरूवं, आरंभइ सक्कमे वऽणुट्ठाणं ।
बहुलाभमप्पछेयं, सुयसारविसारओ सुजई ॥ ११५ ॥

संहनन—वज्रर्षभनाराचादि, आदिशब्दाद्-द्रव्यक्षेत्रकालभावा गृह्यन्ते, तदनुरूप—तदुचितमेवारभते सर्वमनुष्ठान तप —प्रतिमाकल्पादि यदस्मिन् संहननादौ निर्वोढु शक्यते तदेवारभतेऽधिकस्य निष्ठानयनाभावे प्रतिज्ञाभङ्गसंभवात्, कीदृश पुनरारभते'बहुलाभं, विशिष्टफलप्रापकम्-अल्पच्छेद स्तोकव्ययम्, अल्पशब्दस्याभाववचनत्वात् संयमाबाधकमिति भाव, श्रुतसारविशारद सिद्धान्ततत्त्वाभिज्ञ' सुयतिर्भावसाधुरिति ।

कथ पुनरेवंविधं स्यादित्याह—

जह तं बहू पसाहइ, निवडइ असंजमे दढं न जओ ।
जणिउज्जमं बहूणं, विसेसकिरियं तहा विढवइ ॥११६॥

यथा—येन प्रकारेण तदविकलमनुष्ठान बहु प्रसाधयति पुन पुनरासेवते, न निपतति चाऽसंयमे-सावद्यक्रियायां दृढमत्यर्थं नैव यतोऽनुष्ठानात् । किमुक्त भवति-अनुचितानुष्ठानपीडितो न पुनस्तत्करणायोत्सहते कदाचिदामयसंभवे च चिकित्सायामसंयमस्तदकरणे चाविधिमृतस्य संयमान्तराय, अत एवोक्तम्—"सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमगल न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥१॥" इति । तथा जनितोद्यम सपादितकरणमनोरथ बहूनामन्येषा समानधार्मिकाणा शिष्याणा शक्यानुष्ठाने हि बहूना चिकीर्षा संभवति नेतरस्मिन्निति विशेषक्रियामधिकतरानुष्ठानं प्रतिमाभ्यासादिक तथाशब्द समुच्चये, स चैव योऽत्यंत शक्तो सत्या विशेषक्रिया चारभते न ता निष्फला विदधातीति ।

कथभूता पुनर्विशेषक्रिया करोतीत्याह—

गुरुगच्छुन्नइहेउं, कयतित्थपभावणं निरासंसो ।
अज्जमहागिरिचरियं, सुमरंतो कुणइ सक्किरियं ॥ ११७ ॥

गुरोर्गच्छस्य चोन्नति -उत्सर्पणा धन्योऽय गुरुर्गच्छो वा यत्सान्निध्यादेवंविधा दुष्करकारिणो दृश्यन्ते, इत्येव जनश्लाघारूपा तद्धेतु'-तत्कारण, तथा कृततीर्थप्रभावना-समुत्पादितजिनशासनसाधुवादां साधुः—सुन्दरोऽयं जिनधर्मः सर्वधर्मेषु वयमप्येनमेव कुर्म इत्येवमादेयत्वात्साभिकामिति भावः । निराशस ऐहिकामुष्मिकाशंसादिप्रमुक्तः । तदुक्तम्—" नो इहलोगट्ठयाए, आयारमहिट्ठिज्जा नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ आरहतिएहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्ज " त्ति । आर्यमहागिरेर्भगवतश्चरित वृत्तान्त स्मरन् करोति सत्क्रिया भावसाधुरिति गाथाक्षरार्थः । ध० र० ३ अधि० ५ लक्ष० ।

भावार्थस्तु कथानकादवसेय., तच्चेदम्—

अज्जथूलभद्दस्स दो सीसा-अज्जमहागिरी, अज्जसुहत्थी य । महागिरी अज्जसुहत्थिस्स उवज्झाया, महागिरी गणं सुहत्थिस्स दाऊण वोच्छिण्णो जिणकप्पो त्ति, तहवि अपडिबद्धया होउ त्ति गच्छपडिबद्धा जिणकप्पपरिकम्म करेंति,तं विहरंता पाडलिपुत्तं गया, तत्थ वसुभूती सेट्ठी, तेसिं अतिय धम्म सोचा सावगो जाओ । सो अण्णया भणइ अज्जसुहत्थिं भयवं ! मज्झ दिन्नो ससारनित्थरणोवाओ, मए सयणस्स परिकहिय त न तहा लग्गई । तुब्भे वि ता अणभिजोएणं गंतूण कहेहि त्ति । सो गतूण पकहिओ । तत्थ य महागिरी पविट्ठो ते दट्ठूण सहसा उट्ठिओ । वसुभूती भणइ-तुब्भवि अन्ने आयरिया ?, ताहे सुहत्थी तेसिं गुणसंथवं करेइ, जहा—जिणकप्पो अतीतो तहावि एए एवं परिकम्म करेंति । एव तेसिं चिर कहित्ता अणुव्वयाणि य दाऊण गओ सुहत्थी । तेण वसुभूइणा जेमिया ते भणिया—जइ एरिसो साहू एज्ज तो से तुब्भे उज्झनगाणि एवं करेज्ज, एव दिण्णे महाफल भविस्सइ । बीयदिवसे महागिरी भिक्खस्स पविट्ठा, तं अपुव्वकरणं दट्ठूण चिंतेइ—दव्वओ ४, णायं जहा णाओ अइति तहेव अभ्भमित नियत्ता भणति—अज्जो ! अणेसणा कया । केण? तुमे जेणसि कल्ल अब्भुट्ठिओ, दोवि जणा वतिदिसं गया । तत्थ जियपडिमं वंदित्ता अज्जमहागिरी एलकच्छ गया गयग्गपदग वंदया । तस्स कह एलगच्छं नाम ?, त पुव्व दसण्णपुर नगरमासी । तत्थ साविया एगस्स मिच्छद्दिट्ठिस्स दिण्णा । वेयालिय आवस्सय करेति पच्चक्खाइ य । सो भणइ-किं रत्तिं उट्ठित्ता कोइ जेमइ ?, एव उवहसइ, अण्णया सो भणइ—अहं पि पच्चक्खामि, सा भणइ-भजिहिसि । सो भणइ-किं अण्णयावि अहं रत्तिं उट्ठित्ता जेमेमि ?, ठिओ । देवया चिंतेइ साविय उब्भामेइ अज्ज ण उवालभामि । तस्स भगिणी तत्थेव वसइ, तीसे रूवेण रत्तिं पहेणगं गहाय आगया । पच्चक्खइओ । सावियाए वारिओ भणइ-तुब्भच्चएहिं आलप्पालेहिं किं ?, देवयाए पहारो दिण्णो, दो वि अच्छिगोलगा भूमीए पडिया । सा मम अयसो होहि त्ति काउस्सग्ग ठिया। अद्धरत्ते देवया आगया भणइ-किं साविए !, सा भणइ-मम एस अजसो त्ति, ताहे अण्णस्स एलगस्स अच्छीणि सप्पएसाणि तक्खणमारियस्स आणेत्ता लाइयाणि ।

तओ से सयणो भणइ-तुब्भं अच्छीणि एलगस्स जारिसाणि त्ति,तेण सव्वं कहियं,सड्ढो जाओ। जणो कोउहल्लेण एति पेच्छगो। सव्वरज्जे फुडं भएणइ-कओ एसि ?, जत्थ सो एलकच्छओ। अएणे भणंति-सो चेव राया, ताहे दसएणपुरस्स एलकच्छं नाम जायं तत्थ गयग्गपयओ पव्वओ। तस्स उप्पत्ती-तत्थेव दसएणपुरे दसएणभद्दो राया। तस्स पचसयाणि देवीणोरोहो। एवं सो जोव्वणेण रूवेण य पडिबद्धो एरिस अएणस्स नत्थि त्ति। तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवओ महावीरस्स दसएणकूडे समोसरणं। ताहे सो चिंतइ-तहा कल्लं वंदामि जहा केणइ न अएणेण वंदियपुव्वो। तं च अज्झत्थिय सक्को णाऊण एइ। इमो वि महया इड्ढीए निग्गओ वंदिओ य सव्विड्ढीए। सक्को वि एरावणं विलग्गो, तत्थ अट्ठ दंते विउव्वइ। एक्केक्के दते अट्ठट्ठ वावीओ, एक्केक्काए वावीए अट्ठट्ठ पउमाइं, एक्केक्कं पउम अट्ठट्ठपत्त. पत्ते य २ वत्तीसइवद्धनाडगं, एवं सो सव्विड्ढीए एरावणविलग्गो आयाहिणं पयाहिण करेइ, ताहे तस्स हत्थिस्स दसएणकूडे पव्वए य पयाणि देवप्पहावेण उट्ठियाणि। तेण णाम कयं गयग्गपदगो त्ति। ताहे सो दसन्नभद्दो तं पेच्छिऊण एरिसा कओ अम्हारिसाणमिद्धी ?,अहो क एल्लओऽणेण धम्मो, अहमवि करेमि, ताहे सो पव्वयइ। एसा गयग्गपयगस्स उप्पत्ती। तत्थ महागिरीहिं भत्तपच्चक्खायं देवत्तं गया। सुहत्थी वि उज्जेणिं जियपडिम वंदया गया। उज्जाणे ठिया, भणिया य साहुणो-वसहिं मग्गह त्ति। तत्थ एगो संघाडगो सुभद्दाए सिट्ठिभज्जाए घरं भिक्खस्स अइगओ। पुच्छिया ताए-कओ भगवतो ?, तेहिं भणियं-सुहत्थिस्स वसहिं मग्गामो। नाणसालाओ दरिसियाओ। तत्थ ठिया। अन्नया पओसकाले आयरिया नलिणिगुम्मं अज्झयण परियट्टति। तीसे पुत्तो अवंतिसुकुमालो सत्ततले पासाए वत्तीसाहि भज्जाहिं समं उवललइ। तेण सुत्तविबुद्धेण सुयं। न एयं नाडगं ति भूमीओ भूमीयं सुणतो २ उदिएणो वाहिं निग्गओ। कत्थ एरिसं ति जाईसरिया तेसि मूलं गओ। साहइ-अहं अवंतिसुकुमालो त्ति नलिणिगुम्मे देवो आसि। तस्स उस्सुग्गो पव्वयामि। असमत्थो य अहं सामन्नपरियाग पालेउ इगिणि साहेमि। ते वि मोयावित्ता, तेण पुच्छिय त्ति। नेच्छति, सयमेव लोयं करेति। मा सयगिहीयलिंगी हवउ त्ति लिंगं दिएणं। मसाणे कंथेरे कुंडग, तत्थ भत्तं पच्चक्खाय। सुकुमालएहिं पाएहिं लोहियगंधेण सिवाए सपेल्लियाए आगमणं। सिवा एगं पाय खायइ। एगं चिल्लगाणि। पढमे जामे जाणुयाणि, वीएऊरू, तइए पोट्ट कालगओ। गंधोदगपुप्फवासं, आयरियाणं आलोयणा। भज्जाणं परंपरं पुच्छा। आयरिएहिं कहियं-सव्विड्ढीए सुएहाहि समं गया मसाणं, पव्वइयाओ य। एगा गुव्विणी नियत्ता। तेसिं पुत्तो तत्थ देवकुलं करेइ। तं इयाणिं महाकालं जाय। लोएण परिग्गहिय। उत्तरचूलियाए भणिय पाडलिपुत्ते त्ति समत्तं आणिस्सियतवो महागिरीण ४। आव० ४ अ०।

सक्कार-सत्कार-पु०। वस्त्रादिना सम्माने, कल्प० १ अधि०६ क्षण। उत्त०। ज्ञा०। स्था०। वस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चने, आव० ५ अ०। भक्तपानवस्त्रपात्रादीना परतो योगे, आव० ४ अ०। स्था०। ज्ञा०। अर्थप्रदानादौ गुणकथने च। उत्त० १ अ०। पञ्चा०। प्रवरवस्त्रादिभिः पूजने, स्था० १० ठा० ३ उ०। स्तवनवन्दनादौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०। ध०। स०। नि०। सूत्र०। प्रव०। पञ्चा०। अत्यादरकरणेन वस्त्रादिना वा सम्माने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। अभ्युत्थानासनदानवन्दनानुव्रजनादौ, आव०६ अ०। आ० चू०। प्रवरवस्त्रादिभिः पूजन, स्था० १० ठा० ३ उ०। विनयार्हेषु वन्दनादिना आदरकरणे प्रवरवस्त्रादिदाने च।'सक्कारो पवरवत्थमाईहिं' इति वचनात्। भ०।

अथ नैरयिकादीनाश्रित्य विनयविशेषानाह—

अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं सक्कारेति वा सम्माणेति वा किइकम्मेइ वा अब्भुट्ठाणेइ वा अंजलिपग्गहेति वा आसणाभिग्गहेति वा आसणाणुप्पदाणेति वा इंतस्स पच्चुग्गच्छणया ठियस्स पज्जुवासणया गच्छंतस्स पडिसंसाहणया ?, नो तिणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं सक्कारेति वा सम्माणेति वा० जाव पडिसंसाहणया वा ?, हंता अत्थि, एवं० जाव थणियकुमाराणं। पुढविकाइयाणं० जाव चउरिंदियाणं एएसिं जहा नेरइयाणं। अत्थि णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं सक्कारेइ वा० जाव पडिसंसाहणया ? हंता अत्थि, नो चेव णं आसणाभिग्गहेइ वा आसणाणुप्पयाणेइ वा, मणुस्साणं० जाव वेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं। (सू० ५०७)

'अत्थि ण' मित्यादि 'सक्कारेइ व'त्ति सत्कारो—विनयार्हेषु वन्दनादिनाऽऽदरकरण प्रवरवस्त्रादिदानं वा'सक्कारो पवरवत्थमाईहिं' इति वचनात् 'सम्माणेइ व'त्ति सन्मानः तथाविधप्रतिपत्तिकरण 'किइकम्मेइ व'त्ति कृतिकर्म—वन्दनं कार्यकारणं वा'अब्भुट्ठाणेइ व'त्ति अभ्युत्थानं-गौरवार्हदर्शने विष्टरत्यागः 'अजलिपग्गहेइ व' त्ति अञ्जलिप्रग्रह.—अञ्जलीकरणम् 'आसणाभिग्गहेइ व' त्ति आसनाभिग्रहः—तिष्ठत एव गौरव्यस्यासनानयनपूर्वकमुपविशतेति भणनम् 'आसणाणुप्पयाणेइ व' त्ति आसनानुप्रदानं—गौरव्यमाश्रित्यासनस्य स्थानान्तरसंचारणम् 'इतस्स पच्चुग्गच्छणय' त्ति—आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमनं 'ठियस्स पज्जुवासणय'त्ति तिष्ठतो गौरव्यस्य सेवाति 'गच्छंतस्स पडिससाहणय' त्ति गच्छतोऽनुव्रजनमिति, अयं च विनयो नारकाणा नास्ति, सततं दु स्थत्वादिति। भ० १४ श० ३ उ०। दश०। औ०। माल्यादिभिरभ्यर्चने, पञ्चा० १ विव०। विपा०। आदरकरणे, भ०२श० १उ० ।दशा०। नि०। अत्र सत्कारप्रस्तावात्सत्कारप्रतिपक्षभूतेन असत्कारेण सामायिक लभ्यते इति प्रतिपादयति। असक्कारेण एगो धिज्जाइओ तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोच्चा समहिलिओ पव्वइओ उग्गं २ पव्वज्ज करेंति, णवरमवरोप्परं पीती ण ओसरइ, महिला मणाग धिज्जाइणि त्ति गव्वमुव्वहइ, मरिऊण देवलोग गयाणि, जहाउग भुत्तं। इतो य इलावद्धणे णगरे इलादेवया, तं एगा सत्थवाही पुत्तकामा ओलग्गइ,सा चविऊण पुत्तो से जाओ,

गामं च से कय इलापुत्तो त्ति । इयरी वि गव्वदोसेणं तओ चुया लखगकुले उप्पण्णा, दोऽवि जोव्वणं पत्ताणि, अण्णया, तेण सा लंखगचेडी दिट्ठा, पुव्वभवरागेण अज्झोववण्णो, सा मग्गिज्जंती वि ण लब्भइ, जत्तिएण तुलइ तत्तिएण सुवण्णेण ताणि भणति—एसा अम्ह अक्खयणिही, जइ सिप्प सिक्खसि अम्हेहिं पि समं हिंडइ तो ते देमो, सो तेहिं समं हिंडितो सिक्खिओ य, ताहे विवाहणिमित्तं रण्णो पेच्छयए करेहि त्ति भणितो, वेण्णातड गयाणि, तत्थ राया पेच्छइ सतेपुरो, इलापुत्तो य खेड्डा उ करेइ रायाए दिट्ठी दारियाए, राया ण देइ, रायाणए अदेन्ते अण्णे वि ण देंति, साहुक्काररावं वट्टति । भणिओ राइणा—लंख ! पडणं करेह, त किर वससिहरे अट्ठं कट्ठं कप्पलय तत्थ खीलयाओ, सो पाउआउ आहिंधइ मूल विंधियातो । तओऽसिखेडगहत्थगओ आगासं उप्पइत्ता ते खीलगा पाउआणालियाहि पवेसेतव्वा सत्त अग्गिमाइद्धे सत्तपच्छिमाइद्धे काऊण, जइ फिडइ तओ पडिओ सवहा खडिज्जइ, तेण कय, राया दारिय पलोएइ । लोएण कलकलो कओ, ण य देइ राया, राया ण पेच्छइ, राया चिंतेइ-जइ मरइ तो अह एयं दारियं परिणेमि । भणइ—ण दिट्ठं पुणो करेहि, पुणोऽवि कय, तत्थऽवि ण दिट्ठं, ततिय पि वारा कय, तत्थ वि ण दिट्ठं, चउत्थियाए वाराए भणिओ-पुणो करेहि । रंगो विरत्तो, ताहे सो इलापुत्तो वसग्गे ठिओ चिंतेइ—धिरत्थु भोगाणं, एस राया पत्तियाहिं ण तित्तो, एताए रंगोवजीवियाए लग्गिउ मग्गइ, एताए कारणा मम मारेउमिच्छइ । सो य तत्थ ठियओ एगत्थ सेट्ठिघरे साहुणो पडिलाभिज्जमाणे पासति सव्वालंकाराहिं इत्थियाहिं, साहू य विरत्तत्तेण पलोयमाणे पेच्छति । ताहे भणइ—' अहो धन्या निःस्पृहा विषयेषु ' अहं सेट्ठिसुओ एत्थं पि एस अवत्थो, तत्थेव विराग गयस्स केवलणाणं उप्पण्णं । ताए वि चेडीए विरागो विभासा, अग्गमहिसीए वि, रण्णो वि पुणरावत्ती जाया-विरागो विभासा । एवं ते चत्तारि वि केवली जाया, सिद्धा य । एव असक्कारेण सामाइयं लब्भइ ॥ ११ ॥ अहवा-तित्थगराणं देवासुरे सक्कारे करेमाणे दट्ठूण जहा मरियस्स । आव० १ अ० । (मरीचिवृत्तान्तम् ' मरीइ ' शब्दे षष्ठे भागे १५१ पृष्ठे उक्तम् ।)

संस्कार-पुं० । "विंशत्यादेर्लुक्"॥८।१।२८॥ इत्यनेनात्रानुस्वारस्य लुक् । प्रा० । "एकस्कयोर्नाम्नि"॥८।२।४॥ अत्र नामग्रहणाभावेऽस्मिन्नपि लक्ष्ये खकारादेशः स्यात् । प्रा० । सम्-कृ-घञ् सुट् च । सतो गुणान्तराधानरूपे प्रतियत्ने, यथा अलङ्कारादे रत्नादेर्वस्त्रादेश्च उद्दीपननिशानमार्जनादयः, व्रीह्यादेश्च यज्ञाङ्गतासम्पादनाय वैदिकमार्गेण प्रोक्षणादिः दर्पणादेर्निर्मलीकरणादि. । स्मृतिहेतौ, अनुभवजन्य आत्मवृत्तिगुणभेदे, पृथिव्यादिचतुष्टयस्थे वेगाख्ये गुणे, यथावस्थिततया स्थापनाप्रयोजक स्थितिस्थापनाख्ये गुणभेदे, शास्त्राभ्यासजन्यव्युत्पत्तौ, व्याकरणोक्तदिशा शब्दाना साधनप्रकारे, विप्रादीना वैदिककर्मार्हत्वसाधने गर्भाधानादौ क्रियाकलापे, पाके च । वाच० । सम्म० ।

सक्कारकारण-सत्कारकारण-न० । वस्त्रादिभिः सम्माननं, ' असंजयाण सक्कारं कारवणेणामञ्छे गरहिउमारद्धे ' । महा० ४ अ० ।

सक्कारणिज्ज-सत्कारणीय-त्रि० । आदरणीये, उपा० ७ अ० । वस्त्रादिना कल्याण मङ्गलं दैवत चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपासनीये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । भ० । औ० । ज्ञा० । च० प्र० ।

सक्कारत्त-संस्कारत्व-अव्य० । संस्कृतादिलक्षणयुक्तत्वे, औ० । रा० ।

सक्कारपुरक्कारपरीसह-सत्कारपुरस्कारपरीषह-पुं० । सत्कारो वस्त्रादिभिः पूजनं, पुरस्कारः-अभ्युत्थानासनादिसंपादनम्, यद्वा—सकलैव याऽभ्युत्थानाऽभिवाददानादिरूपा प्रतिपत्तिरिह सत्कारस्तेन पुरस्करणं सत्कारपुरस्कारः, ततस्तावेव स एव वा परीषहः सत्कारपुरस्कारपरीषह । उत्त० २ अ० । आव० । प्रव० । प्रश्न० । भ० । स० । सत्कारपुरस्काराभावे दैन्यवर्जने, तदनाकाङ्क्षत्वे च । स० २२ सम० । विशेषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयज्ञस्य बहुश्रुतस्य परवादिविजयिन प्रमाणभक्तिबहुमानसंभ्रमासनप्रदानभक्तमानवस्त्रपात्राद्यतिसर्जनं न मे कश्चित्करोतीति दुष्प्रणिधानपरिहरणे, पं० स० २ द्वार । स चैवम्-
" उत्थाने पूजने दाने, न भवेदभिलाषुक । असत्कारे न दीनः स्यात्, सत्कारे स्यान्न हर्षवान् ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० । "उत्थान पूजन दानं स्पृहयेन्नात्मपूजकः । मूर्छितो न भवेल्लब्धे, दाने सत्कारितो न च ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं ।
जे ताइं पडिसेवंति, न तेसिं पीहए मुणी ॥ ३८ ॥

अभिवादन-शिरोनमनचरणस्पर्शनादि पूर्वमभिवादये इत्यादि वचनम्, अभ्युत्थान-ससम्भ्रममासनमोचन स्वामी-राजादि कुर्यात्-विदधीत निमन्त्रणम्-अद्य भवद्भिर्भिक्षा मदीयगृहे ग्रहीतव्येत्यादिरूपम्, 'ये' इति-स्वयूथ्याः परतीर्थिका वा तानि-अभिवादनादीनि प्रतिसेवन्ते-आगमनिषिद्धान्यपि भजन्ते, न तेभ्य स्पृहयेत्—यथा सुलब्धजन्मानोऽमी य एवमेवंविधैरभिवादनादिभिः सत्क्रियन्त इति मुनिः-अनगार इति सूत्रार्थः ।

किं च—

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अण्णाएसि अलोलुए ।
रसेसु नाणुगिज्झिज्जा, नाणुतप्पिज्ज पण्णवं ॥ ३९ ॥

उत्कः-उत्कण्ठितः सत्कारादिषु शेत इत्येवं शील उत्कशायी न तथा अनुत्कशायी, यद्वा-प्राकृतत्वादणुकषायी सर्वधनादिवादिनिः, कोऽर्थः ?—न सत्कारादिकमकुर्वते कुप्यति, तत्सम्पत्तौ वा नाहङ्कारवान् भवति । यत उक्तम्-

पलिमंथमहं वियाणिया, जा वि य वंदणपूयणा इह ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, इति संखाइ मुणी ण मज्जइ ॥ १ ॥

न वा तदर्थं छद्म तत्र वा गृद्धिं विधत्ते, अत एवाल्पा—स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन न तु सत्कारादिकामितया मती, अल्पशब्दस्याभाववादित्वे-

नाविद्यमाना वा इच्छा वाञ्छा वा यस्येति अल्पेच्छः, इच्छायाश्च कषायान्तर्गतत्वेऽपि पुनरल्पत्वाभिधानं बहुतरदोषत्वोपदर्शनार्थम्। अत एव च--अज्ञातो जातिश्रुतादिभिः एषति--उञ्छति अर्थात्--पिण्डादीत्यज्ञातैषी, कुतः पुनरेवम् ?--यतः अलोलुपः--सरसौदनादिषु न लाम्पट्यवान्, एवंविधोऽपि सरसाहारभोजिनोऽपरान् वीक्ष्य कदाचिदन्यथा स्यात्, अत आह--सरसेषु--रसवत्स्वोदनादिषु, पाठान्तरतो--रसेषु वा--मधुरादिषु नानुगृध्येत्--नाभिकाङ्क्षां कुर्वीत, रसगृद्धिवर्जनोपदेशश्च तद्गृद्धित एव बालिशानामभिवादनादिस्पृहासम्भवात्, तथा न तेभ्यो--रसगृद्धेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः, पाठान्तरतश्च-नानुतप्येत् तीर्थान्तरीयान् नृपत्यादिभिः सत्क्रियमाणानवेक्ष्य, किमेतत्परित्यागेनाहमत्र प्रव्रजित ?, इति प्रज्ञा--हेयोपादेयविवेचनात्मिका मतिस्तद्वान्, अनेन सत्कारकारिणि तोषं न्यत्कारकारिणि च द्वेषमकुर्वताऽयं परीषहोऽध्यासितव्य इत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥

अत्र 'अङ्गविधे' ति द्वारमनुसरन् सूत्रोक्तमर्थं व्यतिरेकोदाहरणेन स्पष्टयन्नाह--

महुराइ इंददत्तो, पुरोहिओ साहुसेवओ सिट्ठी।
पासायविज पाडण, पायच्छेदिंदकीले य ॥ ११८ ॥

मथुरायामिन्द्रदत्तः पुरोहितः, साधुसेवकः श्रेष्ठी प्रासादविद्यापातन, पादच्छेदश्चेन्द्रकीले, चस्य भिन्नक्रमत्वादिति गाथासंस्कारः ॥ ११६ ॥ एतदर्थश्च सम्प्रदायादवसेयः।

स चायम्--

" चिरकालपइट्ठियाए महुराए इंददत्तेण पुरोहिएणं पासायगएण हेट्ठेणं साधुस्स वच्चंतस्स पाओ ओलंबितो सीसे कतो त्ति काउ, सो य सावएण सिट्ठिणा दिट्ठो तस्सामरिसो जाओ। दिट्ठं भो एएणं पावेण, साहुस्स उवरिं पादो कतो त्ति, तेण पइण्णा कया--अवस्सं मए एयस्स पादो छिंदेयव्वो--तस्स छिद्दाणि मग्गइ, अलभमाणो अन्नया आयरिआण सगासे गंतूण वंदित्ता परिकहेइ। तेहिं भण्णइ--का पुच्छा ?, अहियासेयव्वो सक्कारपुरक्कारपरीसहो। तेण भणियं--मए पइण्णा कयल्लिया, आयरिएहिं भण्णइ--एयस्स पुरोहियस्स किं घरे वट्टइ ?, तेण भण्णइ-एयस्स पुरोहियस्स पासाओ कयल्लतो, तस्स पवेसणे रण्णो भत्त करेहि त्ति, तेहिं भण्णइ--जाहे राया पविसइ तं पासायं ताहे तुमं रायं हत्थेण गहेऊण अवसारिज्जासि जहा-पासाओ पडति, ताहेऽहं पासायं विज्जाए पाडिस्सं। तेण तहा कयं, सेट्ठिणा राया भणितो-एएण तुब्भे मारिया आसि, रुट्ठेण रण्णा पुरोहितो सावगस्स अप्पितो, तेण तस्स इंदकीले पादो कतो। पच्छा छिन्न (ण्णो), एवं काउ इयरो विसज्जितो। तेण णाहियासितो सक्कारपुरक्कारपरीसहो " इति। यथा तेन श्राद्धेनासौ न सोढो न तथा विधेयं, किन्तु साधुवत्सोढव्यः। इह पूर्वत्र च श्रावकपरीषहाभिधानमाद्यनयचतुष्टयमतेनेति भावनीयम्। उक्तं हि प्राक्-" तिण्ह पि णेगमनतो, परीसहो जाव उज्जुसुत्तातो " त्ति, अङ्ग चात्र पादो, विधा च प्रासादपातनविधा। उत्त० २ अ०।

सक्कारबंध-संस्कारबन्ध-पुं०। बौद्धमतप्रसिद्धे पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदाये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सक्कारवंत-संस्कारवत्त्व-न०। संस्कृतादिलक्षणयुक्तत्वे, स० ३६ सम०।

सक्कारवत्तिय-संस्कारप्रत्यय-न०। सत्कारार्थे, औ०। स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणे, स० २२ सम०। प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनाभिन्ने, ल०। सत्कारनिमित्ते, सत्कारश्च प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनम्। ध० २ अधि०। प्रति०।

सक्कारहज्ज-सत्कारभाज्य-त्रि०। विद्वज्जनपूज्ये, व्य० ३ उ०।

सक्कारासंसापओग-सत्काराशंसाप्रयोग -पुं०। दशमे आशंसाप्रयोगभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०। (' आसंसापओग ' शब्दे द्वितीयभागे ४६६ पृष्ठे व्याख्यातः।)

सक्कारित्ता-सत्कारयित्वा-अव्य०। वस्त्रादिना विनये, स्था० १ ठा०।

सक्कारिय-सत्कारित-त्रि०। फलवस्त्रादिदानतः संमानिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। औ०।

सक्काल-संस्कार-पुं०। " हरिद्रादौ लः " ॥ ८। ४। २५४ ॥ अनेनात्र लकारादेशः। सक्कालो। संस्करणे, प्रा० ४ पाद।

सकिरिया-सत्क्रिया-स्त्री०। सच्चेष्टायाम्, द्वा० १३ द्वा०।

सक्कुच्छव-शक्रोत्सव-पुं०। इन्द्रमहे, आ० म० १ अ०।

सक्कुलिया-शष्कुलिका-स्त्री०। पिष्टमयपोलिकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। दश०।

सक्कुलीकण्ण-शष्कुलीकर्ण-पुं०। हयकर्णादिषु अन्यतमे अन्तर्द्वीपे, तत्रस्थे मनुष्ये च। प्रज्ञा० १८ पद। स्था०। प्रव०। जी०। कर्म। नं०। उत्त०। नि० चू०। ('अन्तरदीव' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता।)

सक्केंद-शक्रेन्द्र-पुं०। सौधर्मदेवलोकेन्द्रे, स्था० १० ठा०३ उ०।

सकोस-सक्रोश-त्रि०। क्रोशसहिते, बृ० ३ उ०। तत्र यत्कोश तत्पूर्वासु दिक्षु प्रत्येकं सगव्यूतमूर्द्धमधश्चार्धक्रोशार्द्धप्रयोजनेन च समन्ततो ग्रामाः सन्ति। व्य० १० उ०।

सक्ख-साक्ष्य-न०। परप्रत्ययार्थे यथादृष्टवादिनि, पिं०। स्वयंकरणतः शब्दार्थे, पञ्चा० ६ विव०।

सख्य-न०। सख्युर्भाव। मित्रतायाम्, सौहार्दे, वाच०।

सक्खं-साक्षात्-अव्य०। " वा स्वरे मश्च " ॥ ८। १। २४ ॥ अस्य बहुलाधिकारीयत्वादन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः। प्रा०। समक्षे, उत्त० २ अ०। अनुपचारे, द्वा० १० द्वा०। परिस्फुटे, उत्त० २ अ०।

सक्खिय-साक्षिक-त्रि०। सदा परित्यागसाक्षिणि केवलिप्रतिषिद्धे, दश०। " ससक्खं न पिवे भिक्खू " दश० ५ अ० २ उ०। साक्षिन्यक्रागिणि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। अभ्यक्ते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

सखिंखिणिय-सकिङ्किणीक-त्रि०। क्षुद्रघण्टिकोपेते, उपा० २ अ०।

सक्खुड्ड-सक्षुद्र-त्रि० । क्षुद्रैर्मार्जारादिभिः सह वर्त्तमाने अववद्धर्सिहादौ, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

सग-शक-पुं० । अनार्यदेशभेदे , प्रज्ञा १ पद । शकदेशनिवासिनि म्लेच्छे, प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । चू० । सूत्र० । मासवर्षानन्तरं वीरमोक्षाज्जाते उज्जयिनीपतौ , नि० । ("ताहे ४८३ पृष्ठे उक्तम् ।)'परिनिव्वुयस्स अरहा-तो उप्पन्नो सगो राया ।' ति० । धूर्ताख्याने प्रतिपादितानां धूर्त्तानामधिपतौ, ग० २ अधि० ।

स्वक-त्रि० । आत्मीये,दर्श०४तत्त्व ।आ० म० । निजे,सूत्र०१ श्रु० ३ अ० २ उ० । लोकरूढितः सौन्दर्ये , उत्त० १ अ० ।

सप्त-त्रि० । स्वनामख्यातायां सख्यायाम् , कर्म० ५ कर्म० ।

सगउरल-सप्तौदारिक-न० । औदारिकोपलक्षिते सप्तके,औदारिकौदारिकबन्धनौ ४, दारिकतैजसबन्धनौ५, दारिककार्मणबन्धनौ६ , दारिकतैजसकार्मण ७ इत्येवमौदारिकोपलक्षिते सप्तके , कर्म० ५ कर्म० ।

सगट्ठभट्टिया-स्वकार्यभर्तृका-स्त्री० । लौकिकश्रुतभेदे,अनु० ।

सगड-शकट-न० । शक्नोति शक्यते वा धान्यादिकमनेन वोढुमिति शकटम् । गन्त्र्याम् , उत्त० ५ अ० । आव० । गन्त्र्यादिके,सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । विपा० । आ० म०। अनु०। प्रश्न० । ज० । रा० । औ० । भ० । स्कन्धावारनिवेशादिके, आचा०२ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० । सुभद्रस्य गृहपतेर्भद्राकुक्षिसम्भवे पुत्रे, पुं० । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं साहंजनीनामं नयरी होत्था , रिद्धत्थिमियसमिद्धा । तीसे णं साहंजणीए वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए देवरमणे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं अमोहस्स जक्खस्स जक्खाऽऽययणे होत्था पुराणे , तत्थ णं साहंजणीए णयरीए महचंदे नाम राया होत्था । महया०,तस्स णं महचंदस्स रन्नो सुसेणे नामं अमच्चे होत्था । सामभेयदंडदाण० निग्गहकुसले , तत्थ णं साहंजणीए सुदंसणाणामं गणिया होत्था , वन्नओ , तत्थ णं साहंजणीए नयरीए सुभद्दे नामं सत्थवाहे परिवसइ अड्ढे०, तस्स णं सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दानामं भारिया होत्था; अहीण० , तस्स णं सुभद्दसत्थपुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए- सगडे नाम दारए होत्था अहीण० । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरणं परिसा राया य निग्गए धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी० जाव रायमग्गमोगाढे तत्थ णं हत्थि आसे पुरिमे, तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगए पासति एगं सइत्थीयं पुरिसं अवउडगबंधणं उक्खित्तं ०जाव घोसेणं चिंता तहेव ०जाव भगवं वागरेति । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे छगलपुरे नामं णगरे होत्था , तत्थ सीहगिरिनामं राया होत्था महया० । तत्थ णं छगलपुरे णगरे छणिए नामं छगलीए परिवसति अड्ढे० अहम्मिए ०जाव दुप्पडियाणंदे, तस्स णं छणियस्स छगलियस्स बहवे अयाण य एलाण य रोज्झाण य वसभाण य ससयाण य सूयराण य पसयाण य सिंघाण य हरिणाण य मयूराण य महिसाण य सतवद्धाण य सहस्सवद्धाण य जूहाणि वाडगंसि सन्निरुद्धाइं चिट्ठंति , अन्ने य तत्थ बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा बहवे य अए ०जाव महिसे य सारक्खमाणा संगोवेमाणा चिट्ठंति , अयणे य से बहवे पुरिसा अयाण य ०जाव गिहंसि निरुद्धा चिट्ठंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिन्नभइ० बहवे सयए य सहस्से य जीवियाओ ववरोविंति मंसाइं कप्पिणीकप्पियाइं करेंति, छणियस्स छगलीयस्स उवणेंति, अन्ने य से बहवे पुरिसा ताइं बहुयाइं अयमंसाइं ०जाव महिसमंसाइं तवएसु य कवल्लीसु य कंदूएसु य भज्जणेसु य इंगालेसु य तलंति य भज्जेंति य सोल्लयंति य २ ततो रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । अप्पणा वि य णं से छन्निए छागलीए तेहिं बहुविहमंसेहिं ०जाव महिसमंसेहिं सोल्लेहि य तलेहि य भज्जेहि य सुरं च ६ आसाएमाणे विहरंति । तते णं से छन्निए य छगलीए य कम्मे प० वि० स० सुबहुं पावकम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता सत्तवाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा चोत्थीए पुढवीए उक्कोसेणं दससागरोवमट्ठिइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने । (सू० २१)

तते णं तस्स सुभद्दसत्थवाहस्स भद्दा भारिया ०जाव निंदुया यावि होत्था , जाया दारगा विनिहायमावज्जंति , तते णं से छन्नीए छागले चोत्थीए पुढवीए अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव साहंजणीए नयरीए सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्ने, तते णं सा भद्दा सत्थवाही अन्नया कयाइ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं दारग पयाया ; तए णं तं दारग अम्मापियरो जायमेत्तं चेव सगडस्स हेट्ठातो ठावेंति, दोच्चं पि गिण्हावेंति अणुपुव्वेणं सारक्खंति संगोवेंति संवड्ढेंति जहा उज्झियए ०जाव जम्हा णं अम्हं इमे दारए जायमेत्ते चेव सगडस्स हेट्ठा ठाविए तम्हा णं होउ णं अम्ह

एस दारए सगडे नामेणं, सेसं जहा उज्झियते । सुभद्दे लवणसमुद्दे कालगते मायाऽवि कालगया । से वि सयाओ गिहाओ निच्छूढे, तते णं से सगडे दारए सयातो गिहाओ निच्छूढे समाणे संघाडग तहेव० जाव सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं संपलग्गे याऽवि होत्था । तते णं से सुसेणे अमच्चे तं सगडं दारगं अन्नया कयाइं सुदरिसणाए गणियाए गिहाओ निच्छुभावेति, सुदंसणियं गणियं अब्भितरियं ठावेति, ठावित्ता सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति । तते णं से सगडे दारए सुदरिसणाए गिहाओ निच्छूढे समाणे अन्नत्थ कत्थ वि सुतिं वा अलभ० अन्नया कयाइं रहसियं सुदरिसणागेहं अणुप्पविसइ अणुप्पविसित्ता सुदरिसणाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । इमं च णं सुसेणे अमच्चे एहाते० जाव विभूसाए मणुस्सवग्गुराए जेणेव सुदरिसणागणियाए गेहे तेणेव उवागच्छति तेणेव उवागच्छित्ता सगडं दारयं सुदंसणाए गणियाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ पासित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु सगडं दारयं पुरिसेहिं गिण्हाविति अट्ठि० जाव महियं करेति अवउडगबंधणगं करेति करेत्ता जेणेव महचंदे राया तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता करयल० जाव एवं वयासी- एवं खलु सामी ! सगडे दारए मम अंतेपुरंसि अवरद्धे, तते णं से महचंदे राया सुसेणं अमच्चं एवं वयासी-तुमं चेव णं देवाणुप्पिया ! सगडस्स दारगस्स दंडं वत्तेहि, तए णं से सुसेणे अमच्चे महचंदेणं रन्ना अब्भणुन्नाए समाणे सगडं दारयं सुदरिसणं च गणियं एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेति, तं एवं खलु गोयमा ! सगडे दारगे पोरा पुराणाणं० पच्चणुब्भवमाणे विहरति । (सू० २२ ।) सगडे णं भंते ! दारए कालगए कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिइ ?, सगडे णं दारए गोयमा ! सत्तावण्णं वासाइं परमाउयं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे एगं महं अओमयं तत्तसमजोइभूयं इत्थिपडिमं अवयासाविते समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिति, से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता रायगिहे णगरे मातंगकुलंसि जुगलत्ताए पचायाहिति, ततो णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तवारसगस्स इमं एयारूवं गोण्णं नामधेज्जं करिस्संति, तं होऊणं दारगं सगडे नामेणं होऊणं दारिया सुदरिसणा नामेणं, तते णं से सगडे दारए उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुपत्ते० भविस्सइ, तए णं सा सुदरिसणा वि दारिया उम्मुक्कबालभावा (विण्णय) जोव्वणगमणुप्पत्ता रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा या वि भविस्सइ । तए णं से सगडे दारए सुदरिसणाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य मुच्छिए सुदरिसणाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सति । तते णं से सगडे दारए अन्नया कयाइं सयमेव कूडगाहित्तं उवसंपज्जित्ता णं विहरिस्सति । तते णं से सगडे दारए कूडगाहे भविस्सइ अहम्मिए० जाव दुप्पडियाणंदे एयकम्मे० सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववन्ने, संसारो तहेव० जाव पुढवीए, से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता वाणारसीए नयरीए मच्छत्ताए उववज्जिहिति, से णं तत्थ णं मच्छबंधिएहिं वहिए तत्थेव वाणारसीए नयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति । बोहिं बुज्झे० पव्व० सोहम्मे कप्पे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति निक्खेवो दुहविवागाणं । (सू०-२३) विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

स्वकृत-त्रि० । अनेकजन्मोपात्ते आत्मकृते कर्मणि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सगडभिज-स्वकृतभिद्-त्रि० । स्वकृतकर्मणां भेत्तरि आचा० । "आयाणं सगडभिज्जे" आदीयते गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्यते अष्टप्रकारं कर्म्म येन तदादानं हिंसाद्याश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूपं वा तत्स्थितेर्निमित्तत्वात्, कषाया वा आदानं तन्निरोद्धा स्वकृतभिद्भवति । स्वकृतमनेकजन्मोपात्तं कर्म्म भिनत्तीति स्वकृतभित्, यो ह्यादानं कर्म्मणां कषायादि निरुणद्धि सोऽपूर्वकर्म्मप्रतिषिद्धप्रवेशः स्वकृतकर्म्मणा भेत्ता भवतीति भावः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सगडमुह-शकटमुख-न० । पुरिमतालनगरसमीपोद्याने, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सगडविहिपरिमाण-शकटविधिपरिमाण-न० । इयद्भिरेव शकटैर्मया गम्यमिति परिमाणकरणे, उपा० १ अ० । ('आणंद ' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रं गतम् ।)

सगडवूह-शकटव्यूह-न० । शकटाकृतिसैन्यरचनायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । औ० ।

सगडाल--शकटाल--पु० । स्थूलभद्रस्वामिपितरि नन्दराजमन्त्रिणि, आव० ४ अ० । कल्प० । ति० । आ० क० । चू० ।

सगडालनंदण-शकटालनन्दन-पुं० । शकटालपुत्रे स्थूलभद्रस्वामिनि, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आ० चू० । ' (थूलभद्द ' शब्दे चतुर्थभागेऽस्य वर्णनम् २४१५ पृष्ठे उक्तम् ।)

सगडा(डुदा)हरण-शकटोदाहरण-न० । शकटं यानं तेनोपलक्षितमुदाहरणं-कथानकं शकटोदाहरणम् । शकटदृष्टान्ते, पञ्चा० ५ विव० ।

सगडी-शकटी-स्त्री० । गन्त्र्याम्, भ०१५ श० ।उ० । ध० । रा० ।

सगणिच्चिया-सगणीया-स्त्री० । स्वगच्छवासिन्यां शिष्यायाम्, नि० चू० १ उ० । सगणसम्बन्धिन्यां शिष्यायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सगतेयकम्म-सप्ततैजसकर्म्मक-न० । तैजसकार्मणोपलक्षिते सप्तके, तैजसशरीर १, कार्मणशरीर २, तैजसतैजसबन्धन ३, तैजसकार्मणबन्धन ४, कार्मणकार्मणबन्धन ५, तैजससंघातन ६, कार्मणसंघातनरूपे ७ समूहे, कर्म० ५ कर्म० ।

सगर-सगर-पुं० । अजितस्वामिकालीने द्वितीयचक्रवर्त्तिनि, स० ७२ सम० । आव० । ति० । स० । प्रव० । स्था० । उत्त० ।

सगरोऽवि सागरंतं, भरहं वासं नराऽऽहिवो ।
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाइपरिनिव्वुओ ॥ ३५ ॥

हे मुने ! सगरोऽपि-सगरनामा नराधिपोऽपि दयया-संयमेन परिनिवृत्तः-कर्मभ्यो मुक्तः, अत्र नराधिपशब्देन अपिशब्दात्-द्वितीयश्चक्रवर्त्यधिकारात् अनुक्तोऽपि चक्रयेव गृह्यते, किं कृत्वा भरतवर्ष-भरतक्षेत्रम् अर्थात् भरतक्षेत्रराज्यं त्यक्त्वा पुनः केवलं-परिपूर्णम् एकच्छत्ररूपम्-ऐश्वर्यं हित्वा त्यक्त्वा, कीदृशं भरतवर्षम् ?, सागरान्तम्-समुद्रान्तसहितं क्षुल्लहिमवत्पर्वतं यावत् विस्तीर्णं भरतक्षेत्रराज्यमित्यर्थः । अत्र सगरचक्रवर्त्तिदृष्टान्तः । तथाहि-अयोध्यायां नगर्याम् इक्ष्वाकुकुलोद्भवो जितशत्रु नृपोऽस्ति । तस्य भार्या विजयानाम्नी अस्ति । सुमित्रनामा जितशत्रुसहोदरो युवराजो वर्त्तते । तस्य यशोमती नाम्नी भार्याऽस्ति । जितशत्रुराजेन विजयानाम्न्याश्चतुर्दशमास्वप्नसूचितः पुत्रः प्रसूतः । तस्य नाम अजित इति दत्तम् । स च द्वितीयस्तीर्थंकर इति । सुमित्रयुवराजपत्न्या यशोमत्या सगरनामा द्वितीयश्चक्रवर्ती प्रसूतः । तौ द्वावपि यौवनं प्राप्तौ पितृभ्यां कन्याः परिणायितौ कियता कालेन जितशत्रुराजेन निजे राज्येऽजितकुमारः स्थापितः । सगरो यौवराज्ये स्थापितः । सहोदरविजयसहितेन जितशत्रुनृपेण दीक्षा गृहीता । अजितराजेन च कियत् कालं राज्यं परिपाल्य तीर्थप्रवर्तनसमये स्वराज्ये सगरं स्थापयित्वा दीक्षा गृहीता । सगरस्तु उत्पन्नचतुर्दशरत्नः साधितषट्खण्डभरतक्षेत्रे राज्यं पालयति । तस्य पुत्राः षष्टिसहस्रसंख्याका जाताः एकराड्युवराट् । सर्वेषां तेषां मध्ये ज्येष्ठो जह्नुकुमारो वर्त्तते ।(उत्त०)(सगरपुत्रैर्गङ्गानयनम् 'गङ्गा' शब्दे, तृतीयभागे ७८६ पृष्ठे ।) सगरचक्रवर्त्तिना श्रीअजितनाथसमीपे दीक्षा गृहीता, क्रमेण कर्मक्षयं कृत्वा सगरः सिद्धः । अन्यदा भगीरथिना राज्ञा कश्चिदतिशयज्ञानी पृष्टः, भगवन् ! किं कारणं तत् जह्नुप्रमुखाः षष्टिसहस्रा भ्रातरः समकालं मरणं प्राप्ताः ?, ज्ञानिना भणितम्-महाराज ! एकदा महान् संघश्चैत्यवन्दनार्थं समेतपर्वते प्रस्थितः । अरण्यमुल्लङ्घ्य अन्तिमं ग्रामं प्राप्तः, तन्निवासिना सर्वेण अनार्यजनेन अत्यन्तमुपद्रुतो दुर्वचनेन वस्त्रान्नधनहरणादिना च तत्प्रलयं तद्ग्रामवासिलोकैरशुभं कर्म बद्धम्, तदानीमेकेन प्रकृतिभद्रकेण कुम्भकारेणोक्तम्-मा उपद्रवत इमं तीर्थयात्रागतं जनम् । इतरस्यापि निरपराधस्य परिक्लेशनं महापापस्य हेतुर्भवति, किं पुनरेतस्य धार्मिकजनस्य । ततो यद्येतस्य संघस्य स्वागतप्रतिपत्तिं कर्तुं न शक्तास्तदा उपद्रवन्तु रक्षत इति भणित्वा कुम्भकारेण निवारितः स ग्रामजनः । संघस्तत्र गतः । अन्यदा तद्ग्रामनिवासिना एकेन नरेण राजसन्निवेशे चौर्यं कृतम् । ततो राजनियुक्तैः पुरुषैः स ग्रामो द्वारपिधानपूर्वकं ज्वालितः, तदा स कुम्भकारः साधुप्रसिद्ध्या ततो निष्कासितोऽन्यस्मिन् ग्रामे गतः, तत्र षष्टिसहस्रजना दग्धाः, उत्पन्ना विराडविषयेऽन्तिमग्रामे कोद्रवित्वेन, ता कोद्रव एकत्र पुञ्जीभूताः स्थिताः सन्ति, तत्रैकः करी समायातः तच्चरणेन ताः सर्वा अपि मर्दितास्ततो मृतास्ते नानाविधासु सुखदुःखप्रचुरासु योनिषु सुचिरं परिभ्रम्य अनन्तरभवे किञ्चित् शुभकर्म उपार्ज्य सगरचक्रिसुतत्वेनोत्पन्नाः षष्टिसहस्रप्रमाणा अपि ते तत्कर्मशेषवशेन तादृशं मरण-व्यसनं प्राप्ताः । सोऽपि कुम्भकारस्तदा स्वायुःक्षये मृत्वा एकस्मिन् सन्निवेशे धनसमृद्धो वणिग् जातः । तत्र कृतसुकृतः सञ्जातो मृत्वा नरपतिस्तत्र शुभानुबन्धेन शुभकर्म्मोदयेन प्रतिपन्नो मुनिः, शुद्धं धर्मं च परिपाल्य ततो मृत्वा सुरलोकं गतः । ततश्च्युतस्त्वं जह्नुसुतो जातः । इदं भागीरथः श्रुत्वा संवेगमुपागतस्तमतिशयज्ञानिनं नत्वा गतः स्वभवनम् । इदं च भगीरथिपृच्छासविधानकं प्रसक्तम् उक्तम् । इति सगरदृष्टान्तः ॥ ३५ ॥ उत्त० १८ अ० ।

सगराय-शकराज-पुं० । शकाख्यम्लेच्छजातीये राजनि, यदा कालिकाचार्येण शका आनीतास्तदा उज्जयिन्या नगर्यां शको राजा जातः । व्य० १० उ० ।

सगल-सकल-त्रि० । समस्ते, उत्त० ५ अ० । अशेषे, विशे० । नि० चू० । प्रश्न० ।

शकल-पुं० । खण्डे, एकभागे, त्वचि, वल्कले, वाच० ।

सगलजणसमक्ख-सकलजनसमक्ष-न० । समस्तलोकप्रकटे, जी० १ प्रति० ।

सगलसुयणाणि(न्)-सकलश्रुतज्ञानिन्-पुं० । सकलं-समस्तं चतुर्दशपूर्वात्मकं जानातीति सकलश्रुतज्ञानी । चतुर्दशपूर्वधरे, पं० भा० १ कल्प । पं० चू० ।

सगलाएस-सकलादेश-पुं० । प्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुना कालादिभिरभेदवृत्ति प्राधान्यादभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादके वचसि, स्था० ।

सगीय-स्वकीय-त्रि० । आत्मीयलाभादौ, आव० ४ अ० । आचा० ।

सगुणरस्सि-सगुणरश्मि-पुं० । आत्मीयगुणरश्मौ, अष्ट० १८ अष्ट० ।

सगुरुअणुण्णायगुरुपय-स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपद-पुं० । स्वगुरुणा गच्छनायकेनानुज्ञातं गुरुपदं यस्य सः । स्वाचार्येण समारोपिते गुरुपदवीके, ध० ३ अधि० ।

सगुरुजोयण-स्वगुरुयोजन-न० । स्वगुरुभिरात्मीयपूज्यैर्योजनः-सम्बन्धः । आत्मीयपूज्यैः सह औचित्येन प्रणामादिना योगे, षो० ३ विव० ।

सग्ग-सर्ग-पुं०। स्वर्गादिसृष्टौ, यो०विं।

स्वक-पुं०। आत्मीये, उत्त० २० अ०।

स्वर्ग-पुं०। देवलोके, आव० ६ अ०। "अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो।" औ०। देवालये, दर्श० ४ तत्त्व।

सग्गइ-सद्गति-स्त्री०। मोक्षगतौ, उत्त० २ अ०।

सग्गंथ-सद्ग्रन्थ-पुं०। संश्चासौ ग्रन्थश्च सद्ग्रन्थः। शोभनग्रन्थे, उत्त० २५अ०। परिग्रहग्रहिले, "सहिरन्नगा सग्गंथा अहिरन्नगा समणा।" सू० १ उ० २ प्रक०।

सग्गकंखिय-स्वर्गकाङ्क्षिक-पुं०। स्वर्गे-देवलोके काङ्क्षा-यस्यासौ स्वर्गकाङ्क्षिकः। स्वर्गगमनासक्तेषु, तं०।

सग्गकामय-स्वर्गकामक-पुं०। स्वर्गे-देवलोके कामो यस्य स स्वर्गकामः। स्वर्गगमनेच्छौ, तं०।

सग्गदुवार-स्वर्गद्वार-न०। अयोध्यायां सरयूतटे घट्टभेदे, अयोध्यायां"सग्गदुवारन्ति पसिद्धिमावन्नो "ती० १३कल्प।

सग्गपिपासिय-स्वर्गपिपासित-पुं०। स्वर्गे-देवलोके पिपासा प्राप्तेऽतृप्तिर्यस्यासौ स्वर्गपिपासितः। स्वर्गगमनसतृष्णे,तं०।

सग्गप्पभा-स्वर्गप्रभा-स्त्री०। रुचकपर्वतस्य पश्चिमदिग्वास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, द्वी०।

सग्गह-सग्रह-न०। ग्रहाधिष्ठिते नक्षत्रे, विशे०। यत् क्रूरग्रहेणाक्रान्त तत्सग्रहम्। व्य० १ उ०। पं० व०। भौमादिक्रूरग्रहोपयुक्ते नक्षत्रे, जीत०। (अत्रत्या वक्तव्यता 'भावसुद्धि' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता।) क्रूरग्रहेणाक्रान्तं सग्रहम्। नि० चू० २० उ०।

स्वाग्रह-पु०। स्वकीयाभिनिविशे आगमापारतन्त्र्ये, पञ्चा० १२ विव०।

सग्गहजुत्त-स्वाग्रहयुक्त-त्रि०। अशास्त्रीयानुष्ठानाभिनिवेशोपेते, पञ्चा० १३ विव०।

सग्गापवग्गमग्गमग्गंत-स्वर्गापवर्गमार्गमार्गयत्-त्रि०। स्वर्गो-देवालयः अपवर्गो-मोक्षस्तयोर्मार्गः-पन्थास्तं मार्गयति-अन्विष्यति य. सः। स्वर्गमोक्षान्वेषके,दर्श० ४ तत्त्व।

सग्गुण-सद्गुण-त्रि०। सन्तो-विद्यमाना गुणा यस्यासौ सद्गुणः। शोभनगुणे, ध० ३ अधि०। बृ०। स्था०।

सग्घ-श्लाघ्य-त्रि०। प्रशस्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। विशे०। नि० चू०।

सघर-सगृह-त्रि०। सह गृहेण वर्त्तते इति सगृहः। गृहसहिते, नि० चू० १ उ०।

स्वगृह-न०। स्वकीयगृहे, नि० चू० १ उ०।

सघरमीसय-स्वगृहमिश्रक-त्रि०।गृहस्य साधूनां चार्थाय निर्मापिते, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सचक्क-सचक्र-त्रि०। चक्रयोधिनि वासुदेवे,आव० १ अ०।

स्वचक्र-न०। स्वकीयराज्यसैन्ये, स० ३१ सम०। आचा०।

सचराचरजीवदयासहिय-सचराचरजीवदयासहित-त्रि०।चरण चरस्ततः सह चरेण-गमनेन वर्तन्त इति सचरा, द्वीन्द्रियादयस्तदभावादचराः-पृथिव्यादय., ते जीवाश्च तेषां दया-रक्षण तया सहितो-युक्तोऽन्वित इति। त्रसस्थावरहिंसाविरते, दर्श० ४ तत्त्व।

सचाव-सचाप-त्रि०। सह चापं येषां ते सचापाः। जी० ४ प्रति० ३ अधि०। रा०। "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८। १। १७७॥ अत्र प्रायोग्रहणान्न लुक्। धानुष्केषु, प्रा०। चापसहिते, "सचावसरपहरणावरणभरियजुद्धसज्जाणं" ति-सह चापैः शरैश्च यानि प्रहरणानि कुन्तादीनि आवरणानि च स्फुरकादीनि तेषां भरिता युद्धसज्जाश्च-युद्धप्रगुणा ये ते तथा तेषाम्। भ० ६ श० ३३ उ०। "सचावसरपहरणावरणभरियजोहजुद्धसज्ज" सह चापं शरैर्यानि प्रहरणानि-खड्गादीनि आवरणानि च-स्फुरकादीनि तेषां भृतोऽत एव योद्धानां युद्धसज्जश्च-युद्धप्रगुणो यः स तथा तम्। भ० १७ श० ११ उ०।

सचिट्ठ-सचेष्ट-त्रि०। सव्यापारे, आव० ३ अ०।

सचित्त-सचित्त-त्रि०। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तम्। जीवति, आव० ४ अ०। चित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः। सह चित्तेन वर्त्तत इति सचित्तम्। आव० १ अ०। सचेतने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। 'जीवजुत्तं दव्वं सचेयणं।' नि० चू०१ उ०। सचेतनद्रव्ये, पञ्चा० १० विव०। ध०। आव०। सूत्र०। अनु०। भ०। ('उवभोगपरिभोग' शब्दे द्वितीयभागे ६०२ पृष्ठे सचित्ततालफलाद्यग्रहणम्। पलंब शब्दे पञ्चमभागे ७१० पृष्ठे च उक्तम्।) ('आम' शब्दे द्वितीयभागे २८७ पृष्ठे सचित्ताऽऽम्रफलग्रहणं निषिद्धम्।) विद्यमानचैतन्ये, (सचित्तप्रतिमा 'उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीयभागे ११०६ पृष्ठे उक्ता।) पृथिव्यादिषु जीवेषु, आतु०। (सचित्तानि दारुदण्डादीनि न गृह्णातीति 'दंड' शब्दे चतुर्थभागे २४२१ पृष्ठे प्रत्यपादि।) सचित्तेक्षुखण्डानि-अथ पण्डितवानरगणिशिष्यपण्डिताऽऽनन्दविजयगणिकृतप्रश्नौ। यथा-करम्बके तक्रे वा प्रक्षिप्तं सचित्तं जीरकमचित्तीभवति न वा?, यदि वा-अचित्तीभवति तर्हि घटिकाद्वयाद्वा, प्रहरत्रयाद्वा रात्र्यतिक्रमाद्वा, भवति ॥ १ ॥ तथा इक्षुखण्डानि छिन्नपर्वाणि सचित्तान्यचित्तानि वा, घटिकाद्वयात् सचित्तपरिहारिगृहस्थस्य तु कल्पन्ते न वा!, अथैतयोः प्रश्नयोर्यथाक्रमं प्रतिवचसी-करम्बकादौ क्षिप्तं सचित्तजीरकं प्रासुकं न भवतीति ज्ञातमस्ति॥१॥ तथेक्षुखण्डानि छिन्नपर्वाण्यपि सचित्तानीति ज्ञायते॥२॥ ही०२ प्रका०। शुष्कं लशुनं सचित्तं वाऽचित्तं वा श्रद्धीयते!, यद्यचित्तं तर्हि तथाविधकारणे तदौषधं आर्यवर्गे कार्यते न वा इति?, प्रश्न., अत्रोत्तरम्-शुष्कलशुनमचित्तं सम्भाव्यते, तेन तथाविधकारणे आर्यवर्गस्यापि करणे ऐकान्तिको निषेधो नास्तीति मन्तव्यम्॥५८॥ सेन० १ उल्ला०।

सचित्तकम्म-सचित्रकर्मन्-त्रि०। चित्रकर्मणा संयुक्ते, बृ०१ उ० ३ प्रक०। (सचित्रकर्मोपाश्रये न स्थातव्यमिति 'वसहि' शब्दे षष्ठभागे ६५३। ६५४ पृष्ठे गतम्।)

सचित्तचूडा-सचित्रचूडा-स्त्री०। कुक्कुटचूलायाम्, नि० चू० १ उ०।

सचित्तणिक्खेवण–सचित्तनिक्षेपण–न० । सचित्तेषु व्रीह्यादिषु निक्षेपणम् अन्नादेरादानबुद्धया मातृस्थानतः अन्यत्र स्थापने, उपा० २ अ० । ध० । आव० । ध० ।

सचित्तदवियकप्प–सचित्तद्रव्यकल्प–पुं० । सचित्तद्रव्यसामाचार्याम् , प० भा० १ कल्प ।

सचित्तपइट्ठिय–सचित्तप्रतिष्ठित–त्रि० । सचित्तद्रव्येषु वर्तमाने, नि० चू० १ उ० । (सचित्तप्रतिष्ठित गन्ध जिघ्रतीत्युक्तं 'गंध' शब्दे तृतीयभागे ७६६ पृष्ठे ।)

सचित्तपडिबद्ध–सचित्तप्रतिबद्ध–त्रि० । सह चित्तेन–चेतनया वर्तते यस्तथोक्तस्तेन प्रतिबद्ध । सचित्तसम्बद्धे, ध०२ अधि० ।

सचित्तपडिबद्धाहार–सचित्तप्रतिबद्धाऽऽहार–पुं० । सचित्ते वृक्षादौ प्रतिबद्धस्य गुन्दादेरभ्यवहरणे, सचित्तेऽस्थिके प्रतिबद्धे पक्वेऽचेतने फलादिके, उपा० १ अ० । आव० । कृतसचित्तव्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वा सचित्तमतिरिक्तमनोयोगादिनाऽभ्यवहरत आहारे, ध०२ अधि० ।

सचित्तपडिमा–सचित्तप्रतिमा–स्त्री० । सप्तम्यां श्रावकप्रतिमायाम् , सचित्ताहारान् परिहरतीति सप्तमी उपाशकप्रतिमा दर्शिता । ध० २ अधि० ।

सचित्तपरिण्णा–सचित्त(परि)प्रतिज्ञा–स्त्री० । सचित्ताहारपरित्यागे, आ० चू० ४ उ० । सचेतनाहारप्रतिज्ञात· श्रावक· सप्तमीप्रतिमेति । स० ११ सम० ।

सचित्तपेहण–सचित्तपिधान–न० । सचित्तेन फलादिना स्थगने , पञ्चा० १ विव० । उत्त० । आव० । ध० ।

सचित्तरयस–सचित्तरजस्–न० । सचित्तधूलौ, सचित्तरजोनाम–व्यवहारसमन्विता वातोद्धूता श्लक्ष्णधूलिस्तच्च सचित्तरजो वर्ण्यते । व्य० ७ उ० । प्रव० ।

सचित्तरससंजुय–सचित्तरससंयुत–त्रि० । तत्कालपतितत्वेन सचेतनलवणादिरसोन्मिश्रे, पञ्चा० १० विव० ।

सचित्तरुक्ख–सचित्तवृक्ष–पुं० । हरितवृक्षे, अशुष्कवृक्षे, नि० चू० १२ उ० । प्राणहरानागच्छतो दृष्ट्वा स्तम्भनविद्यया नदीपूरादिक स्तम्भीयात् , विद्याया अभावे पलायेत् , पलायनासमर्थश्च श्रान्तो वा सचित्तवृक्षमप्यारोहेत् दोष· । सचित्तवृक्षमधिष्ठाय नाहार· कार्य । जीन० ।

सचित्तविगइ–सचित्तविकृति–स्त्री० । सचित्तविकृतिषु, सेन० । अप्रासुकोदकमोदकादिक सचित्तविकृतिमध्ये गण्यते द्रव्यमध्ये वेति प्रश्न· ? , अत्रोत्तर—श्राद्धविधौ सचित्तविकृतिवर्ज्ज यन्मुखे क्षिप्यते तद् द्रव्यमध्ये गण्यते इति वचनात्प्रासुकनीरोष्णोदकतन्दुलधावनोदकादीना सचित्तत्वाभावाद् द्रव्यमध्ये गणनं, मुद्गमोदकभैषजलड्डुकनिर्विकृतघृतादीना विकृतित्वाभावाद् द्रव्यमध्ये गणन च क्रियते । तथैकस्मिन्नपि द्रव्ये पोलिका–दोभितपोलिका लहचूई–सप्तपुटिकागडदादिभेदेन भिन्ननामरसवत्त्वात् पृथक् पृथक् द्रव्यमध्ये गण्यते , अप्रासुकजलमोदकादिक तु सचित्तविकृतिमध्ये गण्यते , अधुना केचन द्रव्यमध्येऽपि गणयन्तो दृश्यन्ते । किञ्च–रूप्यादिधातुशिलाकादिमुखे क्षिप्यते तद् द्रव्यमध्ये न गण्यते , रसास्वादाभावात् ॥६१॥ सेन० ३ उल्ला० ।

सचित्तसम्मिस्साऽऽहार–सचित्तसंमिश्राऽऽहार–पुं० । सचित्तेन संमिश्र आहार सचित्तसंमिश्राहार· । वल्ल्यादिपुष्पादिना संमिश्रे आहारे, आव० ६ अ० ।

सचित्ताहार–सचित्ताहार–पुं० । पृथिव्यप्कायवनस्पतिजीवशरीराणा सचेतनानामभ्यवहरणे, उपा० १ अ० । आव० । सचित्ताहार —सचित्त चेतना सज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्याया· । सचित्तश्चासावाहारश्चेति समास·, सचित्तो वाऽऽहारो यस्य सचित्तमाहारयतीति वा मूलकन्दलीकन्दकार्द्रकादिसाधारणप्रत्येकतरुशरीराणि सचित्तानि सचित्तं पृथिव्याद्याहारयतीति भावना । तथा सचित्तप्रतिबद्धाहारो यथा वृक्षे प्रतिबद्धो गुन्दादि पक्वफलानि वा । तथा—अपक्वौषधिभक्षणत्वमिदं प्रतीतं सचित्तसन्मिश्राहार इति वा पाठान्तरम्—सचित्तेन सन्मिश्र आहार सचित्तसन्मिश्राहार·, वल्ल्यादि पुष्पादि वा सन्मिश्र तथा दुष्पक्वौषधिभक्षणता—दुष्पक्वा–अस्विन्ना इत्यर्थ , तद्भक्षणता तथा तुच्छौषधिभक्षणता । आव० ६ अ० । ध० २० ।

सचित्ताहारवज्जण–सचित्ताहारवर्जन्–न० । सचित्ताभ्यवहरणपरित्यागे, सचित्ताहारवर्जनप्रतिमा सप्तम्युपासकप्रतिमा । उपा० १ अ० ।

सचिव–सचिव–पुं० । सहाये, पो० ४ विव० ।

सचेयण–सचेतन–त्रि० । विवेकिनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अशस्त्रोपहते पृथिव्यादिचतुष्के,

अशस्त्रोपहतानि च पृथिव्यऽप्तेजोवायुलक्षणानि चत्वारि भूतानि सचेतनानि, अत पराभिप्रायमाशङ्क्य तेषा सचेतनत्व सिसाधयिषुराह—

किह सजीवाइऽमई, तल्लिङ्गाओऽनिलावसाणाइं ।
वोमं विमुत्तिभावा–दाधारो चेव न सजीवं ॥ १७५२ ॥

कथ पुन· सह जीवेन वर्त्तन्त इति सजीवानि भूतानि ? इति परस्य अमति स्यात् । अत्रोच्यते—तस्य जीवस्य लिङ्गं तल्लिङ्गं तस्मात् तदुपलब्धेरित्यर्थ , सचेतनान्यनिलावसानानि चत्वारि भूतानि । व्योम–आकाश पुनर्विगतमूर्तिभावादाधार एव, न तु सजीवमिति ।

तल्लिङ्गात्–इत्युक्तम् , तत्र पृथिव्या· सजीवत्वे किं
लिङ्गम ? इत्याह—

जम्मजराजीवणमर–णरोहणाहारदोहलामयओ ।
रोगतिगिच्छाईहि य,नारि व्व सचेयणा तरवो ॥१७५३॥

सचेतनास्तरवः—इति प्रतिज्ञा । जन्म–जरा–जीवन—मरण–क्षतसंरोहणा–ऽऽहार–दौहृदा–ऽऽमय–तच्चिकित्सादिसद्भावात्—इति हेतु· । नारीवत्—इति दृष्टान्तः । आह—नन्वनैकान्तिकोऽयम् , अचेतनेष्वपि जन्मादिव्यपदेशदर्शनात् ; तथा हि—'जातं तद् दधि' इति व्यपदिश्यते, न चैतत् सचेतनम् , तथा, 'जीवित विषम्' 'मृत कुसुम्भकम्' इत्यादि । अत्रोच्यते—वनस्पतौ सर्वाण्यपि सचेतनलिङ्गानि जन्मादीन्युपलभ्यन्ते, अतो मनुष्येष्विव तानि तेषु निरुपचरितानि, दध्यादौ तु प्रतिनियत एव कश्चिज्जातादिव्यपदेशो दृश्यते, स चौपचारिक एव–जातमिव जातं दधि, मृतमिव मृतं कुसुम्भकमित्यादि ।

वनस्पतेरेव सचेतनत्वसाधने हेत्वन्तराएयप्याह—

छिक्कपरोइया छिक्क-मेत्तसंकोयओ कुलिंगो व्व।
आसयसंचाराओ, वियत्त वल्लीवियाणाइं ॥१७५४॥
सम्मादयो य साव-प्पवोहसंकोयणाइओऽभिमया।
वउलादओ य सद्दा-इविसयकालोवलंभाओ ॥१७५५॥

सचेतनाः स्पृष्टप्ररोदिकादयो वनस्पतयः, स्पृष्टमात्रसंकोचात्, कुलिङ्गः—कीटादिस्तद्वत्। तथा, सचेतना वल्ल्यादयः, स्वरक्षार्थं वृत्ति-वृक्ष-वरण्डकाद्याश्रयं प्रति संचरणात्। तथा—शम्यादयश्चेतनत्वेनाभिमताः, स्वापप्रबोध-संकोचादिमत्त्वात्, देवदत्तवत्। तथा, सचेतना वकुलाऽशोककुरुवकविरहकचम्पकतिलकादयः, शब्दादिविषयकालोपलम्भात्—शब्दरूपगन्धरसस्पर्शविषयाणां काले प्रस्तावे उपभोगस्य यथासंख्यमुपलम्भादित्यर्थः, यज्ञदत्तवदिति। एवं पूर्वमपि दौहृदादिलिङ्गेषु कूष्माण्डीबीजपूरकादयो वनस्पतिविशेषाः पक्षीकर्त्तव्या इति।

अथ सामान्येन तरूणां पृथ्वीविशेषाणां च विद्रुमादीनां सचेतनत्वसाधनायाऽऽह—

मंसंकुरो व्व सामा-णजाइरूवंकुरोवलंभाओ।
तरुगणविद्दुमलवणो-वलादओ सासयावत्था ॥१७५६॥

तरुगणः, तथा विद्रुमलवणोपलादयश्च स्वाश्रयावस्था—स्वजन्मस्थानगताः सन्तश्चेतनाः। छिन्नानामप्यमीषां पुनस्तत्स्थान एव समानजातीयाङ्कुरोत्थानात्, अर्शो मांसाङ्कुरवत्। आह—ननु पृथिव्यादिभूतानामिह सचेतनत्वं साधयितुमारब्धम्, ततः पृथिव्या एवादौ तत् साधयितुं युक्तम्, तस्या एवादावुपन्यासात्, तत्किमिति 'जम्मजराजीवण—' इत्यादिना तरूणामेवादौ तत् साधितम्, पश्चात्तु विद्रुमलवणोपलादीनामिति? सत्यम्, किन्तु पृथ्वीविकारतया पृथ्वीभूत एव तरूणामन्तर्भावो लोकप्रसिद्धः, सुव्यक्तचैतन्यलिङ्गाश्च यथा तरवो न तथा लवणोपलजलादय इति तेषामेवादौ चैतन्यं साधितमिति।

अथोदकस्य सचेतनत्वं साधयितुमाह—

भूमिक्खयसाभाविय, संभवओ दद्दुरो व्व जलमुत्तं।
अहवा मच्छो व सभा-व वोमसंभूयपायाओ ॥१७५७॥

भौममम्भः सचेतनमुक्तम्, क्षतभूमिसजातीयस्वाभाविकस्य तस्य संभवात्, दर्दुरवत्। अथवा-सचेतनमन्तरिक्षमम्भः, अभ्रादिविकारस्वभावसंभूतपातात्, मत्स्यवदिति।

तेजोऽनिलावधिकृत्याऽऽह—

अपरप्पेरितिया, नियमियदिग्गमणओऽणिलो गो व्व।
अनलो आहाराओ, विद्धिविगारोवलम्भाओ ॥१७५८॥

सात्मको वायुः, अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गमनात्, गोवत्। तथा-सात्मकं तेजः, आहारोपादानात्, तद्वृद्धौ विकारविशेषोपलम्भाच्च, नरवत्। गाथाबन्धानुलोम्याच्च व्यत्ययेनोपन्यास इति।

तदेवं पृथिव्यादीनां प्रत्येकं सचेतनत्वं प्रसाध्येदानीं सर्वेषां सामान्येन तत् साधयन्नाह—

तणवोऽणब्भाइविगा-रमुत्त जाइत्तओऽणिलंताइं।
सत्थासत्थहयाओ, निज्जीवसजीवरूवाओ ॥ २७५६ ॥

पृथिव्याद्यनिलान्तानि चत्वारि भूतानि जीवनिर्वर्तितास्तदाधारभूतास्तनव इति प्रतिज्ञा, अभ्रादिविकारादन्यत्वे सति मूर्तजातित्वात्, गवादिशरीरवत्। अभ्रादिविकारस्तु विस्रसापरिणतपुद्गलसंघातरूपत्वेनाचेतनत्वाद् वर्जितः। ताश्च पृथिव्यादितनवः शस्त्रोपहता निर्जीवाः, अशस्त्रोपहतास्तु सजीवा वर्णगन्धरसादिलक्षणतः समवसेया इति। विशे०।

सचेलय-सेचलक-पुं०। चेलान्विते, उत्त० २ अ०।

सचेलिया-सचेलिका-स्त्री०। सवस्त्रायां निर्ग्रन्थ्याम्, स्था० ५ ठा० २ उ०।

सच्च-सत्य-न०। सन्तः प्राणिनः पदार्था मुनयो वा तेभ्यो हित सत्यम्। पा०। आव०। स्था०। प्रश्न०। सन्तो—मुनयः पदार्था वा जीवादयस्तेषु यथासंख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तुस्वरूपचिन्तनेन साधु-सत्यम्, यथा अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुविकल्पनचिन्तनपरम्। प्रव० २२७ द्वार। पं० सं०। आ० चू०। 'त्योऽचैत्ये" ॥८।२।१३॥ इति त्यस्य चः। प्रा०। यथावस्थितवस्तुस्वरूपकथने, त्रिविधं सत्यम्-मनोवाक्सत्यम्, मनःकायसत्यम्, वाक्कायसत्यं चेति। ध० ३ अधि०।

चतुर्विधं सत्यम्—

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा-णामसच्चे ठवणासच्चे दव्वसच्चे भावसच्चे। (सू० ३०८)

नामस्थापनासत्ये सुज्ञाने द्रव्यसत्यमनुपयुक्तस्य सत्यमपि-भावसत्य तु यत् स्वपरानुपरोधेनोपयुक्तस्येति। स्था० ४ ठा० २ उ०।

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा-काउज्जुयया भासुज्जुयया भावुज्जुयया अविसंवायणाजोगे। (सू०२५४×)

(स्था० ४ ठा० १ उ०।) सद्भ्यो हितं सत्यम्-अनलीकम्, तच्चतुर्विधम्, यतोऽवाचि-"अविसंवादनयोगः, कायमनोवागजिह्मता चैव। सत्यं चतुर्विधं त—च्च जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र ॥ १ ॥" इति। स्था० ५ ठा० १ उ०।

दशविधं सत्यम्—

दसविहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा-'जणवय[1] सम्मय[2] ठवण[3] नामे[4] रूवे[5] पडुच सच्चे[6] य। ववहारे[7] भावे[8] जोगे[9], दसमे ओवम्मसच्चे[10] य ॥१॥(स्था०) दसविहे सच्चामोसे पण्णत्ते, तं जहा-उत्पन्नमीसते १, विगतमीसते २, उप्पण्णविगतमीसते ३, जीवमीसए ४, अजीवमीसए ५, जीवाजीवमीसए ६, अणंतमीसए ७, परित्तमीसए ८, अद्धामीसए ९, अद्धद्धामीसए १०। (सू० ०४१×)

'दसविहे' त्यादि, सन्त—प्राणिन पदार्था मुनयो वा तेभ्यो हितं सत्य दशविधं तल्लक्षणम्, तद्यथा—'जणवय' गाहा, 'जणवय' त्ति—सत्यशब्द प्रत्येकमभिसम्बन्धनीय, ततश्च—जनपदेषु-देशेषु यद्यदर्थवाचकतया रूढं देशान्तरेऽपि तत्तदर्थवाचकतया प्रयुज्यमानं सत्यमवितथमिति जनपदसत्यम्, यथा कोङ्कणादिषु पय पिच्चं

नीरम्—उदकमित्यादि, सत्यत्वं चास्यादुष्टविवक्षाहेतुत्वाज्ञानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकत्वाद् व्यवहारप्रवृत्तेः, एव शेषेष्वपि भावना कार्येति । 'संमय' त्ति—समतं च तत् सत्य चेति सम्मतसत्यं, तथाहि—कुमुदकुवलयोत्पलतामरसानां समाने पङ्कसम्भवे गोपालादीनामपि सम्मतमरविन्दमेव पङ्कजमिति, अतस्तत्र समततया पङ्कजशब्दः सत्यः कुवलयादावसत्योऽसमतत्वादिति । 'ठवण' त्ति—स्थाप्यत इति स्थापना यल्लेप्यादिकर्म्मार्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते तद्विषये सत्यं स्थापनासत्यम् , यथा अजिनोऽपि जिनोऽयमनाचार्योऽप्याचार्योऽयमिति । 'नामे' त्ति—नाम-अभिधानं तत्सत्यं नामसत्यम् यथा कुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन उच्यते, एवं धनवर्द्धन इति । 'रूवे' त्ति—रूपापेक्षया सत्यं रूपसत्यम् , यथा प्रपञ्चयतिः प्रव्रजति रूपं धारयन् प्रव्रजित उच्यते, न चासत्यताऽस्येति । 'पडुच्च सच्चेय' त्ति-प्रतीत्य-आश्रित्य वस्त्वन्तरं सत्यं प्रतीत्य सत्यम् , यथा-अनामिकाया दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेति, तथाहि-तस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणसन्निधाने तत्तद्रूपमभिव्यज्यत इति सत्यता । 'ववहार' त्ति—व्यवहारेण सत्यं व्यवहारसत्यम् , तथा दह्यते गिरिः, गलति भाजनम् , अय च गिरिगततृणादिदाहे व्यवहार. प्रवर्त्तते, उदके च गलति सतीति । 'भाव' त्ति-भावं-भूयिष्ठशुक्लादिपर्यायमाश्रित्य सत्य भावसत्यम् , यथा शुक्ला वलाकेति, सत्यपि हि पञ्चवर्णसम्भवे शुक्लवर्णोत्कटत्वात् शुक्लेति । 'जोगे' त्ति—योगतः-सम्बन्धत. सत्यं योगसत्यम् , यथा दण्डयोगाद् दण्ड , छत्रयोगाच्छत्रः एवोच्यत इति । दशममौपम्यसत्यमिति उपमैवौपम्य तेन सत्यमौपम्यसत्यं यथा समुद्रमत्तडाग देवोऽयं सिंहस्त्वमिति, सर्वत्रैकारः प्रथमैकवचनार्थो द्रष्टव्य इहेति । (स्था०) सत्यासत्ययोगे मिश्रं वचन भवतीति तदाह—'दसे' त्यादि, सत्यं च तन्मृपा चेति प्राकृतत्वात्—'सच्चामोसं' ति-उप्पन्नमीसए' त्ति—उत्पन्नविषय मिश्रं-सत्यामृषा उत्पन्नमिश्रं तदेवोत्पन्नमिश्रकम् , यथैकं नगरमधिकृत्यास्मिन्नद्य दश दारका उत्पन्ना इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभावे व्यवहारतोऽस्य सत्यमृषात्वात् , श्वस्ते शतं दास्यामीत्यभिधाय पञ्चाशत्यपि दत्ताया लोके मृषात्वादर्शनादनुत्पन्नेष्वेवादत्तेष्वेव वा मृषात्वसिद्धे', सर्वथाऽक्रियाभावेन सर्वथा व्यत्ययाद् , एव विगतादिष्वपि भावनीयमिति १, 'विगतमीसए' त्ति—विगतविषयं मिश्रक विगतमिश्रकम् , यथैकं ग्राममधिकृत्यास्मिन्नद्य दश वृद्धा विगता इत्यभिदधतो न्यूनाधिकभावे मिश्रमिति २, 'उप्पन्नविगयमीसए' त्ति-उत्पन्नं च विगतं च उत्पन्नविगते तद्विषय मिश्रकम् उत्पन्नविगतमिश्रकम् , यथैक पत्तनमधिकृत्यास्मिन्नद्य दश दारका जाता. दश च वृद्धा विगता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभाव इति ३, 'जीवमीसए' त्ति-जीवविषयं मिश्र-सत्यासत्यं जीवमिश्रम् , यथा जीवन्मृतकृमिराशौ जीवराशिरिति ४, 'अजीवमीसए' त्ति—अजीवानाश्रित्य मिश्रमजीवमिश्रम् , यथा तस्मिन्नेव प्रभूतमृतकृमिराशावजीवराशिरिति ५, 'जीवाजीवमिस्सए' त्ति—'जीवाजीवविषय मिश्रकं जीवाजीवमिश्रकम् ,यथा तस्मिन्नेव जीवन्मृतकृमिराशौ प्रमाणनियमेनैतावन्तो जीवन्त्येतावन्तश्च मृता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकत्वे ६, 'अणंतमीसए' त्ति-अनन्तविषयं मिश्रकमनन्तमिश्रकं, यथा मूलकन्दादौ परीत्तपत्रादिमत्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः ७, 'परित्तमिस्सए' त्ति—परीत्तविषयं मिश्रक परीत्तमिश्रकं, यथा अनन्तकायलेशवति परीत्ते परीत्तोऽयमित्यभिदधतः ८, 'अद्धामिस्सए' त्ति-कालविषयं सत्यासत्यं, यथा कश्चित् कस्मिंश्चित्प्रयोजने सहायास्त्वरयन् परिणतप्राये वा वासरे एव रजनी वर्त्तत इति ब्रवीति ९, अद्धद्धामीसए' त्ति-अद्धा दिवसो रजनी वा तदेकदेशः प्रहरादिः अद्धाद्धा; तद्विषय मिश्रक सत्यासत्यम् अद्धाद्धामिश्रकम् , यथा कश्चित् कस्मिंश्चित्प्रयोजने प्रहरमात्र एव मध्याह्न इत्याह । स्था० १० ठा० ३ उ० । सथा० । प्रव० । प्रश्न० । वचनविशेषे,आ० १ श्रु०१ अ०। आचा० । मृषावादविरतौ,प्रव० ६६ द्वार। स्था० । प्रश्न० ।सर्वथा लोकपरिहरणे, दर्श० २ तत्त्व । स० । अवितथे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । सद्भ्यो हितं सत्यम् , सुगतिगमनाविसंवादनात् सर्वज्ञोपदेशाच्च सत्यम् । तथ्ये , आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । विशे० । ज्ञा० ।

समिक्खपंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मित्तिं भूएसु कप्पए ॥१२॥

तस्मादज्ञानिना मिथ्यात्विनां संसारभ्रमणत्वात् पण्डित.-तत्त्वज्ञ. आत्मना—स्वयमेव परोपदेश विनैव सत्यमन्वेषयेत् , सद्भ्यो हितं सत्यम् अर्थात्-संयमम् अभिलषेत् , पुन. पण्डितो भूतेषु—पृथिव्यादिषु षट्कायेषु मैत्रीं कल्पयेत् , किं कृत्वा ?, बहून् पासजातिपथान् समीक्ष्य पाशा' पारवश्यहेतव. पुत्रकलत्रादिसम्बन्धास्त एव मोहहेतुतया एकेन्द्रियादिजातीनां पन्थान. पाशजातिपथास्तान् पाशजातिपथान् दृष्ट्वा , यदा हि पुत्रकलत्रादिषु मोह करोति तदा हि एकेन्द्रियत्वं जीवो बध्नाति । उत्त० ६ अ० । सूत्र० ।

तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण संपन्ने. मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥ ३ ॥

रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामसम्भवात् सद्भ्यो हितत्वाच्च सत्य स्वाख्यातः-तत्स्वरूपविद्भि. प्रतिपादितः । रागादयो ह्यनृतकारण ते च तस्य न सन्ति, अत. कारणाभावात्कार्याभाव इति कृत्वा तद्वचो भूतार्थप्रतिपादकम् । तथा चोक्तम्—" वीतरागा हि सर्वज्ञा , मिथ्या न ब्रुवते वच । यस्मात्तस्माद्वचस्तेषा, तथ्य भूतार्थदर्शनम् ॥ १ ॥ ' ननु च सर्वज्ञत्वमन्तरेणापि हेयोपादेयमात्रपरिज्ञानादपि सत्यता भवत्येव । तथा चोक्तम्-" सर्व पश्यतु वा मा वा , तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य न. क्वोपयुज्यते ? ॥ १ ॥ " इत्याशङ्क्याह—सदा-सर्वकालं सत्येन—अवितथभाषणत्वेन सपन्नोऽसौ, अवितथभाषणत्व च सर्वज्ञत्वे सति भवति, नान्यथा । तथाहि—कीटसंख्यापरिज्ञानासंभवे सर्वत्रापरिज्ञानमाशङ्क्यते । तथा चोक्तम्—"सर्वज्ञे बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषित स्याद् " इति सर्वज्ञानाश्वास., तस्मात्सर्वज्ञत्व तस्य भगवत एष्टव्यम् , अन्यथा तद्वचस. सदा सत्यता न स्यात् , सत्या वा सयम. सन्त.-प्राणिनस्तेभ्यो हितत्वाद् अतस्तेन तप प्रधा-

नेन संयमेन भूतार्थहितकारिणा सदा-सर्वकालं संपन्नो-युक्तः, एतद्गुणसंपन्नश्चासौ भूतेषु-जन्तुषु मैत्री-तद्रक्षणपरतया भूतदयां कल्पयेत्-कुर्यात्। इदमुक्तं भवति-परमार्थतः स सर्वज्ञस्तत्त्वदर्शितया यो भूतेषु मैत्रीं कल्पयेत्, तथा चोक्तम्-"मातृवत्परदाराणि, परद्रव्याणि लोष्ठवत्। आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति ॥ १ ॥" ॥ ३ ॥ सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। " वरं कूपशताद्वापी, वरं वापीशतात्क्रतुः। वरं क्रतुशतात्पुत्रः, सत्यं पुत्रशताद्वरम्॥१॥" स्था० ४ ठा० ३ उ०।

सच्चेसु वा अणवज्जं वयं ।

सत्येषु वाक्येषु यदनवद्यं पीडानुत्पादकं वाक्यं तत् श्रेष्ठं स त्यं-तदेव यत्परपीडानुत्पादकम्। यतः लोकेऽपि श्रूयते वादः तथाऽसत्येन कौशिकः "पतितो वधयुक्तेन नरके तीव्रवेदने" यथा-" तहेव काणं काणि त्ति, पंडगं पंडग त्ति वा। वाहिअं वाहिरोगि त्ति, चोरं चोरि त्ति नो वदे ॥१॥" सूत्र० दीपि० १ श्रु० ६ अ०। रा०। सद्भ्यो हितं सत्यम्। परमार्थे, यथावस्थितपदार्थनिरूपणे मोक्षे, तदुभयभूते संयमे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। उत्त०। स्था०। नं०। व्य०। भ०। ध०। बृ०। स०।

सच्चम्मि धिइं कुव्वहा (सू० ११२×)

'सच्चे' इत्यादि, सद्भ्यो हितः सत्यः-संयमस्तत्र धृतिं कुरुध्वं, सत्यो वा-मौनीन्द्रागमो यथावस्थितवस्तुस्वरूपाविर्भावनात्। तत्र भगवदाज्ञायां धृतिं कुमार्गपरित्यागेन कुरुध्वमिति। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहिं पवेइयं। (सू० १६२×)

'तमेव सच्चं' इत्यादि, यत्र कचित्स्वसमयपरसमय-ज्ञाचार्याभावात् सूक्ष्मव्यवहितातीन्द्रियपदार्थेषूभयसिद्धदृष्टान्तसम्यग्हेत्वभावाच्च ज्ञानावरणीयोदयेन सम्यग्ज्ञानाभावेऽपि शङ्काविचिकित्सादिरहित इदं भावयेत्, यथा तदेवैकं सत्यम्-अवितथम्। आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ०।

तत्सत्यतामेव दर्शयन्नाह-

से नूणं भंते! तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहि पवेइयं?, हंता गोयमा! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं। (सू०३०)

'से णूणं' मित्यादि व्यक्तम्, नवरं तदेव न पुरुषान्तरैः प्रवेदितं रागाद्युपहतत्वेन तत्प्रवेदितस्यासत्यत्वसम्भवात्, सत्यम्-सूनृतं तच्च व्यावहारतोऽपि स्यादत आह-निःशङ्कम्-अविद्यमानसन्देहमिति।

अथ जिनप्रवेदितं सत्यमित्यभिप्रायवान् यादृशो भवति-तद्दर्शयन्नाह-

से नूणं भंते! एवं मणं धारेमाणे एवं पकरेमाणे एवं चिट्ठेमाणे एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति?, हंता गोयमा! एवं मणं धारेमाणे० जाव भवइ। (सू० ३१)

'से नूणं' मित्यादि व्यक्तम्, नवरं नूनं-निश्चितम्, 'एवं मणं धारेमाणे' त्ति 'तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्यनेन प्रकारेण मनो-मानसमुत्पन्नं सत् धारयन्-स्थिरीकुर्वन् 'एवं पकरेमाणे' त्ति-उक्तरूपेणानुत्पन्नं सत् प्रकुर्वन्-विदधानः 'एवं चिट्ठेमाणे' त्ति-उक्तन्यायेन मनश्चेष्टयन् नान्यमतानि सत्यानीत्यादिचि-न्तया व्यापारयन् चेष्टमानो वा विधेयेषु तपोध्यानादिषु 'एवं संवरमाणे' त्ति-उक्तवदेव मनः संवृण्वन्-मतान्तरेभ्यो निवर्त्तयन् प्राणातिपातादीन् वा प्रत्याचक्षाणो जीव इति गम्यते, 'आणाए' त्ति-आज्ञाया-ज्ञानाद्यासेवारूपजिनोपदेशस्य 'आराहए' त्ति-आराधकः-पालयिता भवतीति। भ० १ श० ३ उ०।

सच्चंसि परिचिट्ठिंसु। (सू० १४० ×)

सत्यमिति श्रुतं तपः संयमो वा तत्र परिचिते स्थिरे तस्थुः स्थितवन्तः, उपलक्षणार्थत्वात् त्रिकालविषयता द्रष्टव्या-तत्रातीते काले अनन्ता अपि सत्ये तस्थुर्वर्त्तमाने पञ्चदशसु कर्मभूमिषु सङ्ख्येयास्तिष्ठन्ति, अनागते अनन्ता अपि स्थास्यन्ति। आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०। स्वप्नादिप्रकारेण अवितथोपदेष्टरि देवादिके, भ०१२श० ८ उ०। औ०। ('विणय' शब्दे षष्ठे भागे एतत्कथानकमुक्तम्।)

सच्चमेव समभिजाणाहि सव्वस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ। (सू० ११८ ×)

सद्भ्यो हितः सत्यः-संयमस्तमेवापरव्यापारनिरपेक्षः समभिजानीहि-आसेवनापरिज्ञया समनुतिष्ठ, यदि वा-सत्यमेव समभिजानीहि गुरुसाक्षिगृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहको भव। यदि वा-सत्यः-आगमस्तत्परिज्ञानं च मुमुक्षोस्तदुक्तप्रतिपालनम्, किमर्थमेतदिति चेदाह-'सच्चस्स' इत्यादि सत्यस्य आगमस्याज्ञयोपस्थितः सन् मेधावी मारं-संसारं तरति। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। शब्दानुशासनोपदर्शिते यथोक्तलक्षणेऽविपरीते वचने, आ० म० १ अ०। (इदं च 'मुसावायवेरमण' शब्दे षष्ठभागे ३२५ पृष्ठे विस्तरतः प्रपञ्चितम्।)

अथ द्वितीयव्रतलक्षणमाह-

सर्वथा सर्वतोऽलीका-दप्रियाद्वाहितादपि ।
वचनाद्धि निवृत्तिर्या, तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥ ४१ ॥

सर्वतः क्रोधादिसकलप्रकारजनितात् अलीकाद्-असत्याच्च पुनरप्रियाद्-अप्रीतिकारिणः। तथा अहितादपि आयतौ अहितकारिणः न केवलम् अलीकादेवेत्यपिशब्दार्थः, एवंविधाद्वचनाद्या सर्वथा त्रिविधत्रिविधेन निवृत्तिर्विरमणं तत् सत्यं-सत्यव्रतमुच्यते जिनैरिति शेषः। ननु अलीकाद्वचनान्निवृत्तिरित्येवास्तु सत्यव्रताधिकारात् किमप्रियाऽहितयोर्ग्रहणं तयोरनधिकारात्, इति चेत्, मैवं व्यवहारतः सत्यस्यापि अप्रियस्याऽहितस्य च परमार्थतोऽसत्यत्वात्, यथा-चौरं प्रति चौरस्त्वं, कुष्ठिनं प्रति कुष्ठी त्वमिति, तदप्रियत्वात्तथ्यम्-तथा च सूत्रम्-" तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडग त्ति अ। वाहिअं वावि रोगि त्ति, तेणं चोरि त्ति नो वए ॥१॥ ' अत एव षड् भाषा अप्रशस्ता उक्तास्तथाहि-"हीलिअखिसिअफरुसा, अलिआ तह गारहत्थिआ भासा। छट्ठी पुण उवसना-हिगरणउल्लाससंजणणी ॥१॥" इति तथा मृगयुभिः पृष्टस्यारण्ये मृगान् दृष्टवतो मया मृगा दृष्टा इति तज्जन्तुघातहेतुत्वान्न तथ्यम्। तथा चोक्तं योगशास्त्रे-" न सत्यमपि भाषेत, परपीडाकरं वचः। लोकेऽपि श्रूयते यस्मात्, कौशिको नरकं गतः ॥ १ ॥" इति।

ध०३ अधि०। आचा०। (सत्यवचने कालिकाचार्योदाहरणम् ' उस्सग्गदेसणा ' शब्दे द्वितीयभागे ८४४ पृष्ठे उक्तम्।) अहोरात्रस्य दशमे मुहूर्त्ते, स० ३० सम०। (सत्योऽसत्यश्चेति चत्वारि पुरुषजातानि 'पुरिसजाय ' शब्दे पञ्चमभागे १०१८ पृष्ठे दर्शितानि।)

सार्च–त्रि०। सपूज्ये, अवितथे, जगत्पूजास्पदत्वात्तस्य। ध० ३ अधि०। प्रश्न०।

दृश—धा०। प्रेक्षणे, प्रा०। " दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छा-वयज्झ-वज्ज-सव्व-देक्खौअक्खावक्खावअक्ख–पुलोअ-पुलअ-निआवआस-पासाः" ॥ ८। ४। १८१॥ अनेन दृश स्थाने सच्चादेशः। सच्चइ। पश्यति। प्रा०। (सत्यकेन सह वक्तव्यम् इति ' भरह ' शब्दे पञ्चमभागे १४१६ पृष्ठे गतम्।)

सच्चइ–सत्यकि–पु०। निर्ग्रन्थीपुत्रे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। (तस्य वक्तव्यता ' णियठिपुत्त ' शब्दे चतुर्थभागे २०८६ पृष्ठे कथिता।) यो हि द्वादशस्तीर्थकृद् भविष्यति। स०। ती०। स्पर्शलोलुपे स्वनामख्याते पुंसि आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

सच्चउर–सत्यपुर–न०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे मरुमण्डले स्वनामख्याते नगरे, ती०।

" पणमिय सिरिवीरजिणं, देवं सिरिबंभसंतिकयसेवं।
सच्चउरतित्थकप्पं, जहासुअं किं पि जंपेमि ॥ १ ॥
सिरिनाहडनरवई कारिअ जिणभवणिद्दमदारुमए।
तेरसयच्छरम्सइए, वीरजिणो जयउ सच्चउरे ॥ २ ॥ "

इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मरुमंडल सच्चउर नाम नयरं, तत्थ नाहडकारियं सिरिजज्जिगसूरिगणहरपइट्ठिय पित्तलमय सिरिवीरबिंब चेइहरं अच्छइ। कह नाहडराइणा तं कारिअं ति। तस्स उप्पत्ती भण्णइ। पुव्विं नड्डूलमंडलमंडणमंडोवरनयरस्स सामि रायाणं बलवंतेहिं दाइएहिं मारिऊण तं नयरं अहिट्ठियं। तस्स रण्णो महादेवी आवण्णसत्ता पलाइत्ता बंभाणपुरं पत्ता। तत्थ य सा सयललक्खणसपुण्णं दारयं पसूआ। तओ नयरीए बाहिं एगत्थ रुक्खे तं बालयं झोलिआगयं ठावित्ता सयं तप्पासए ठिया। किंचि कम्मं काउमाढत्ता। तत्थ य देवजोगेण समागया सिरिजज्जिगसूरिणो तरुच्छायं अपरावत्तमाणिं दट्ठूण एस पुण्णवंतो भावि त्ति कलिऊण चिरं अवलोइंता अच्छिआ। तीए रायपत्तीए आगंतूण भणिआ सूरिणो—भयवं ! किं एस दारओ कुलक्खणो कुलक्खयकरो दीसइ ?। सूरिहिं वुत्त—भद्दे ! एस महापुरिसो भविस्सइ, ता सव्वपयत्तेण पालणिज्जो। तओ सा अणुकंपाए चेइहरचिंताकरणे निउत्ता। गुणेहिं सो अ दारओ कयनाहडनामो गुरुमुहाओ पंचपरमेट्ठिनमोक्कारं सिक्खइ सो अ चवलत्तेण गहिअधणुसरो अक्खयपट्टयस्स उवरि आगच्छइत्ते मूसए अमूढलक्खो मारेइ। तओ सावएहिं चेइहराओ निक्कालिओ। जणाण गावीओ रक्खेइ। अन्नया केण वि जोगिणा पुरबाहिरे भमंतेण सो दिट्ठो। बत्तीसलक्खणधरो त्ति विन्नासिओ। तओ तेण सुवण्णपुरिससाहणत्थं तमणुगच्छंतेण तस्स मायरं अणुण्णविअ तत्थेव ठिई कया। तओ अवसरे तेण जोगिणा भणिओ नाहडो, जत्थ गावीरक्खणाइं कुणतो रत्तदुद्ध कुलिसतरुं पाससि तत्थ चिण्हं काऊण ममं कहिज्जासि। बालेण तह त्ति पडिवण्णं। अन्नया दिट्ठुज्जोएण तं दट्ठूण जाणाविओ। जोगिणो दो वि गया तत्थ। तओ लहुत्तविहाणेण अग्गिं पज्जालिऊण तं रत्तक्खीरं तत्थ पक्खिवित्ता जोगिम्मि पयाहिणं दिंतो, नाहडेणावि पयक्खिणीकओ अग्गी। कहिं चि जोगिणो दुट्ठचित्तवित्तिं नाऊण रायपुत्तेण सुमरिओ पंचनमुक्कारो। तप्पभावेण जोगी अप्पहवंतो उक्खिविअ जलणे खित्तो नाहडेण, जाओ सुवण्णपुरिसो। तओ चिंतिअं तेण अहो मंतस्स माहप्पं। कह नु तस्स गुरूणं पयस्स दायगाणं पच्चुवयरिस्सामि त्ति आगंतु पणया गुरुणो, सव्वं च तं सरूवं विण्णत्तं। किंच आइसह त्ति भणियं, गुरुवयणाओ उत्तुंगाइं चउवीसं चेइआइं कारिआइं कमेण पत्तो पउरं रज्जसिरिं सन्नसंभोगेण गतुं गहिअं पेइयं सट्ठाणं। अन्नया विन्नत्ता सिरिजज्जिगसूरिणो तेण, जहा भगवंत किं वि कज्जं आइसह जेण तुज्झाणं मज्झ य कित्ती चिरकाल पसरइ त्ति। तओ गुरुहिं धेणू चउहिं थणेहिं जत्थ खीरं झरइ तं भूमिं अब्भुदयकरं नाऊण तं ठाणं दंसिअं रण्णो। तेण गुरुआएसेण सच्चउरे वीरमुक्खाओ छव्वीससएहिं महंतं कारिअं अब्भलिहसिहरं चेइअं। तत्थ पइट्ठाविआ पित्तलमई सिरिमहावीरपडिमा जज्जिगसूरिहिं। जया पइट्ठाकरणत्थं आयरिया पट्ठिआ तया अंतराले एगम्मि उत्तमलग्गे वहनामे नाहडरायपुव्वपुरिसस्स विढत्तरायस्स आसाढरुद्दस्स मुत्तीए पइट्ठा कया। वीरम्मि लग्गे लग्गविसेसाउ मइच्च महीए जायाए सग्गनामचिल्लएण गुरुआएसाओ दंडघाएण कूवओ कओ अज्ज वि सत्तकूवओ भण्णइ। सो अण्णया सुक्को वि वइसाहपुण्णिमाए पाणिएण भरिज्जइ। तइए लग्गे वीरसामी पइट्ठिओ। जम्मि य लग्गे वीरस्स पइट्ठा कया तम्मि चेव लग्गे उग्गासूअग्गामे वयणए गामे च दुन्नि वीरपडिमाओ साहुसावयहत्थाए सिरिआसेहिं पइट्ठियाओ। तं च वीरपडिमं निच्चमच्चइ राया। एवं नाहडपएण जं बिंबं कारिअं तं च बंभसंतिजक्खेण सन्निहिअपाडिहेरेण अहोनिसिं पज्जुवासिज्जइ। सो अ पुव्विं घणदेवसिट्ठिणो वसहो आसि, तेण वेगवईए नदीए पंचसयसगडभरो कड्ढिओ। सो तुट्ठो, तओ सिट्ठिणा चारिजलाऽऽइहेउं वेयणं दाऊण वद्धमाणगामवासिलोआण समप्पिय। ते य गामिल्लया गहियरित्था तस्स वसहस्स चिंतं पि न कुणंति, तओ सो अकामनिज्जराए मरिऊण वंतरेसु सूलपाणिनाम जक्खो जाओ। विभंगनाणं पउंजिय विन्नाय पुव्वजम्मवइरो तम्मि गामे वद्धमच्छरो मारिं विउव्वेइ। तओ अद्दमाणो गामो एहाउ कयबलिकम्मो धूअकडुच्छुअहत्थो भणइ—जस्स देवस्स दाणवस्स वा अम्हेहिं किं पि अवरद्धं सो मरिसेउ त्ति। तओ तेण जक्खेण पुव्वभववसहस्सवुत्ततो कहिओ। तस्स वसहस्स अट्ठिपुंजोवरिं देउलं लोएहिं कयं। तस्स पडिमा कारिया इंदसम्मो देवच्चओ ठविओ। तओ सो वद्धमाणगामो अट्ठिअग्गामो त्ति पसिद्धो। जाय सिवं। कमेण दूइज्जंतगतावसस्सओ भयवं वद्धमाणसामी छउमत्थविहारेण विहरंतो वा-

सारत्ते तत्थ गामे पत्तो। गाममणुन्नविश्र तत्थेव देवउले रयणीए काउस्सग्गे ठिश्रो। तेण मिच्छादिट्ठिणा सुरेण भीमट्टहासहत्थिपिसायनागरूवेहिं उवसग्गित्ता सिरकन्ननासादंतनहत्थिपिट्ठिवियाणश्रो विउव्वियाश्रो। सव्वथा भयवं तमक्खोभ नाऊण सो उवसंतो गीयनट्टथुइमाईहिं पज्जुवासेइ। तप्पभिइं तस्स जक्खस्स बंभसंति त्ति नाम रूढं। सो य सच्चउरवीरचेइए पइट्ठाविसेसेण निवेसइ। इश्रो श्र गुज्जरधराए पच्छिमभागे वलहि त्ति नयरी रिद्धिसमिद्धा। तत्थ सिलाइच्चो नाम राया। तेण य रयणजडियकंकसीलुद्धेण रंकश्रो नाम सिट्ठी परिभूश्रो। सो श्र कुविश्रो तव्विग्गहणत्थं गज्जणवइहम्मीरस्स पभूश्रं धणं दाऊण तस्स महंतं सेन्नं श्राणेइ। तम्मि अवसरे वलहिश्रो चंदप्पहसामिपडिमा अंबखित्तवालजुत्ता अहिट्ठायगबलेणं गयणपहेण श्रंवपट्टण गया। रहाहिरूढा य देवयाबलेणं वीरनाहपडिमा अदिट्ठवत्तीए संचरंतीए आसीयपुरणे सिरिमालपुरमागया। अरणं वि साइसया देवा जहोचियं ठाणं गया। पुरदेवयाए सिरिवद्धमाणसूरीण उप्पाश्रो जाणविश्रो। जत्थ भिक्खालद्ध खीरं रुहिरं होऊण पुण खीरं होहिइ तत्थ साहूहिं ठायव्व ति। तेण य सेन्नेण विक्कमाश्रो अट्ठहिं सएहि पणयालेहिं वरिसाणं गएहिं वलहिं भजिऊण सो राया मारिश्रो। गश्रो सट्ठाणं हम्मीरो,तश्रो अरणया अन्नो गज्जणवई गुज्जरं भंजिउं तश्रो चलतो पत्तो सच्चउरे दससयइक्कासीए विक्कमवरिसे मिच्छराश्रो। दिट्ठ तत्थ मणोहरं वीरभवणं पविट्ठो हणहण त्ति। तश्रो गयउरजुत्तित्ता वीरसामी ताणि उ लेसमित्त पि न चलिश्रो सट्ठाणाश्रो। तश्रो बइल्लेसु जुत्तिएसु पुव्वभवरागेणं बंभसंतिणा श्रंगुलचउक्क चालिश्रो सयं इक्कंत वि गज्जणवइम्मि निब्बलीहोउ ठिश्रो जगनाहो जाश्रो। विलक्खो मिलक्खुनाहो। तश्रो घणघाएहिं ताडिश्रो सामी।लग्गति घाया श्रोरोहसुंदरीणं। तश्रो खग्गपहारेसु विहलीभूएसु मच्छरेणं तुरकेहि वीरस्स श्रंगुली कट्टिश्रा।तं गहिऊण य ते पट्ठिश्रा। तश्रो लग्गा पज्जलिश्रो तुरयाणं पुच्छा लग्गा य वलिश्रो मिच्छाण पुच्छा। तश्रो तुरए छड्डित्ता पायचारिणो चेव पणट्ठा धम्म त्ति धरणीए पडिया। रहिमान सुमरंता विलवता दीणखीणसव्वबला नहगणे अदिट्ठवाणीए भणिया। एव वीरस्स श्रंगुली आणीता तुम्हेहिं जीवसंपए पडिश्रा, तश्रो गज्जणाहिवई विम्हिश्रमणो सीस धुणंतो सिन्नारे श्राइसइ, जहा-पयमगुलिं वलिऊण तत्थेव ठावेह। तश्रो भीएहिं तेहिं पच्चाणीया सा लग्गा य भड त्ति सामिणो करे,तमच्छेरं पिच्छिय पुणो वि सव्वपुरं पि न भग्ग ति तुरुक्का। तुट्ठो चउव्विहो समणसंघो वीरभवणे पूश्रामहिमागीयनट्टवाइत्तदविणदाणेहिं पभावणं करेइ। अन्नया बहुम्मि काले वोलीणे मालवाहिवइनरिंदो गुज्जरधरभंजिऊण सच्चउरसामीए पहुत्तो। तश्रो बंभसंतिणा पउरं सिन्न विउव्विऊण भंजिश्रो तस्स वलं। तस्स ल्हास आवासेसु उट्ठिश्रो अज्जग्गी। मालवाहिवई कोसश्रो कुट्ठागाराइ छंटिश्र पणट्ठो कागणास। अह अन्नया तेरहसयश्रडयाले विक्कमसवच्छरेण पवलेण कप्पुरदलेन्न देसंति भज्जते नयरे, गामेसु पलाणेसु, जिणभवणदुवारेसु ढक्किएसु, जोश्रणचउमज्झे बंभसतिमाहप्पेण अणाहयगहिरस्सर तचक्क वज्जन सोऊण सिरिसारंगदेवमहाराइणो आगमण सकिऊण भग्गं मुग्गलवलं। सच्चउरसामी वि न चंपिश्रो। अह तेरससयछप्पन्नविक्कमवरिसे अल्लाउद्दीणसुरताणस्स कणिट्ठो भाया लुक्खाननामधिज्जा ढिल्लीपुराश्रो मतिमाहवपेरिश्रो गुज्जरधरं पट्ठिश्रो। चित्तकूडाहिवई समरसीहेण दंड दाउं मेवाडदेसो तया रक्खिश्रो। तश्रो हम्मीरजुवराश्रो मेवाडदेसं मुहडासयाई नयराणि य भजिय आसावाल्लीए पत्तो। कण्णदेवराश्रो श्र नट्ठो। सोमनाहं च घणघायएण भंजित्ता गड्ड परोविऊण ढिल्लीवामणथलीए गतुं मंडलिकरणे य दंडित्ता सोरयट्ठे नियट्ठाण पयट्टाविता आसावल्लीए आवासिश्रो। गढमदिरदेवकुलाईणि पज्जालेइ कमेण सत्तसयदेसे संपत्तो। तश्रो सच्चउरे तहेव अगाह—तेसु चक्केसु वज्जंतेसु मिलिच्छदलं पलाणं। एवं अणेगाणि अवदाणाणि पुहवीमंडले सव्वश्रो वीरनाहस्स पभावाणि वुच्चंति। अह अलंघणिज्जा भवियव्वय त्ति दूसमकालविलसिएणं केलिप्पिया वंतरा हवंति। गोमंसरुहिरछंटिए श्र भवणाश्रो दूरीभवंति देवयाउ त्ति,असन्निहिए पमत्ते अहिट्ठायगे बंभसंतिजक्खम्मि अलाउद्दीणए रएणे सो चेव श्र णप्पमाहप्पो भयवं वीरसामी तेरसयसत्तसट्ठे विक्कमाइच्चसंवच्छरे ढिल्लीए आणित्ता आसायणाभायण कश्रो। कालंतरेण पुणरवि पडिमंतरपायडए भावो पूश्रारिहो भविस्सइ। 'सच्चउरकप्पमेय, निच्चं वायंतु महिमयं अमेय। वछिश्रफलसिद्धिकए, सिरिजिणपहसूरिणो भव्वा॥१॥' इति श्रीसत्यपुरकल्पः। ती० १६ कल्प।

सच्चणेमि–सत्यनेमि–पुं०। समुद्रविजयस्य राज्ञः शिवादेव्यामुत्पन्ने पुत्र, अन्त०। (स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां चतुर्थे वर्गे नवमे अध्ययने प्रत्यपादि।)

सच्चपइण्ण–सत्यप्रतिज्ञ–त्रि०। सत्यसन्धे, अङ्गीकृतपरिपालयितरि, आव० ४ अ०।

सच्चपरक्कम–सत्यपराक्रम–त्रि०। विहितवीर्ये,उत्त०१८ अ०।

सच्चपरूवय–सत्यप्ररूपक–त्रि०। अवितथदेशके, जीवा० १ अधि०।

सच्चप्पभा–सत्यप्रभा–स्त्री०। सत्यभामानाम्न्यां कृष्णस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०। (सा च नेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्धा।)

सच्चप्पभाव–सत्यप्रभाव–त्रि०। प्रत्यक्षतो दृश्यमानप्रभुत्वे, औ०।

सच्चप्पवाय–सत्यप्रवाद–न०। सत्यं संयमो वचनं प्रकर्षेण सप्रपञ्चं वदन्ति यत्रेति सत्यप्रवादम्। पूर्वे, नं०। सत्यप्रवादं नाम यत्र जनपदसत्यादेः प्रवदनमिति। दश० १ अ०। स०। तस्य पदपरिमाणमेका कोटी एकपदोना। स० १४७ सम०।

सच्चप्पवायपुव्व–सत्यप्रवादपूर्व–न०।षष्ठे पूर्वगतश्रुतभेदे,स्था०

सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दुवे वत्थू पण्णत्ता। (सू० १०९)

'सच्चप्पवाये'त्यादि, सद्भ्यो जीवेभ्यो हित सत्य —संयम' सत्यवचन वा स यत्र सभेद सप्रतिपक्षश्च प्रकर्षेणोच्यतेऽभिधीयते तत् सत्यप्रवाद तच्च तत् पूर्वकं च सकल-

श्रुतात् पूर्वं क्रियमाणत्वादिति सत्यप्रवादपूर्वम् , तच्च ष-ष्ठ, तत्परिमाणं च एका पदकोटी षट्पदाधिका,तस्य द्वे व-स्तुनी वस्तु च तद्विभागविशेषोऽध्ययनादिवदिति। स्था० २ ठा० ४ उ०। स०।

सच्चभाणु-सत्यभानु-पुं०। धर्मजिनेन्द्रस्य पितरि, ति०। (समवायाङ्गे तु भानुरित्येव।)

सच्चभामा-सत्यभामा-स्त्री०। स्वनामख्यातायां कृष्णाग्रम-हिष्याम् , आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

सच्चमंत-सत्यमन्त्र-पुं०। महत्यामप्यापदि अदीने, "सच्चं पधानं महतीए वि आवदीए जो अदीणो भवति—सो सच्चमंतो" नि० चू० २ उ०।

सच्चमणजोग-सत्यमनोयोग-पुं०। मनोयोगभेदे, कर्म० ४ कर्म०।('मणजोग' शब्दे षष्ठभागे ८४ पृष्ठेऽस्य व्याख्या द्र-ष्टव्या।)

सच्चमणप्पओग-सत्यमनःप्रयोग-पुं०। सद्भूतार्थचिन्तन-निबन्धनस्य मनसः प्रयोगे , भ० ५ श० ४ उ०।

सच्चरत-सत्यरत-त्रि०। सत्यप्रधाने, "अकोहणे सच्चरते तवस्सी।" सूत्र० १ श्रु० १० उ०।

सच्चरित-सच्चरित-त्रि०। सच्चरणे शोभनसंयमे , दर्श० ३ तत्त्व।

सच्चवइजोग-सत्यवाग्योग-पुं०। वाग्योगभेदे,कर्म० ४ कर्म०। ('वइजोग' शब्दे षष्ठ भागे ७४८ पृष्ठे स्वरूपमस्य द्रष्टव्यम्।)

सच्चवं-सत्यवत्-पुं०। त्रिंशत्तमेऽहोरात्रमुहूर्त्ते, चं० प्र० १० पाहु०।

सच्चवई-सत्यवती-स्त्री०। दर्शनपुरे दन्तवक्रराजभार्यायाम् , आव० ४ अ०।

सच्चवयण-सत्यवचन-न०। सद्भ्यो—मुनिभ्यो गुणेभ्यः पदार्थेभ्यो वा हितं सत्यम्। आह च—" सच्चं हियं स-यामिह संतो मुणउ गुणा पयत्था वा" सत्यं च तद्वचन-ञ्च सत्यवचनम्। प्रश्न० २ संव० द्वार। यथार्थवचने, दर्श०। मृषावादविरतौ , औ०। रा०। स०। (चतुस्त्रिंशत् सत्यवचनस्यातिशयाः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३१ पृष्ठे दर्शिताः।)

सच्चवाइ-सत्यवादिन्-पुं०। अविरुद्धवक्तरि , दश० ६ अ० ३ उ०।

सच्चवाय-सत्यवाद-पुं०। सत्यो वादः सत्यवादः। तथ्य-वादे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सच्चविउ-सत्यविद्वस्-पुं०। संयमपालके , पा०।

सच्चवीरिय सत्यवीर्य-पुं०। अभिनन्दनजिनस्तावके, " ति-न्नेव सयसहस्सा , अभिणंदणजिणवरस्स सीलाण। सच्च-वीरियथुयस्स , सिद्धत्था संवरसुयस्स ॥" ति०।

सच्चसंध-सत्यसन्ध-पुं०। सत्यप्रतिज्ञे , आव० ४ अ०। आ० म०।

सच्चसंहणणबंध-सत्यसंहननबन्ध-पुं०। सर्वेण सर्वस्य संह-ननलक्षणो बन्धः क्षीरनीरादीनामिवेति। सत्यसंहननबन्धभेदे, भ० ८ श० ६ उ०।

सच्चसेण-सत्यसेन-पुं०। ऐरवतवर्षे भविष्यति त्रयोदशे जिने, प्रव० ७ द्वार।

सच्चसेव-सत्यसेव-त्रि०। सेवायाः सफलीकरणात्। सेवा-फलदे, छा० १ श्रु० १ अ०।

सच्चा-सत्या-स्त्री०। भाषाभेदे, विशे०। (अस्या व्याख्या 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे गता।)

सच्चामोस-सत्यामृषा-अव्य०। यत्र किञ्चित्सत्यं किञ्चिन्मृषेति मिश्रभाषायाम् , आचा०२ श्रु० १ चू०४ अ० १ उ०। औ०। दश०। (सत्यामृषावक्तव्यता 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे १५२३ पृष्ठे द्रष्टव्या।) ('सच्च' शब्देऽस्मिन्नेव भागे सूत्रं गतम्।)

अथ तृतीयाया दश भेदाः, यथा—

" उप्पन्न १ विगय २ मीसग ३,
जीव ४ अजीवे अ ५ जीवअजीवे ६।
तह मीसिया अणंता ७,
परित्त ८ अद्धा य ९ अद्धद्धा १० ॥ १ ॥"

अत्र मिश्रिताशब्दस्य प्रत्येक योगादुत्पन्नमिश्रिता इत्यादि द्रष्टव्यम् , ततश्च—उत्पन्नमिश्रिताऽनुत्पन्नैः सह सङ्ख्यापूर-णार्थं यया सा उत्पन्नमिश्रिता। एवमन्यत्रापि यथायोग भाव्यम्। तत्रोत्पन्नमिश्रिता क ?, यथा—कस्मिंश्चिद् ग्रामे न्यूनेष्वधिकेषु वा दारकेषु जातेषु दश दारका अत्राद्य-जाता इत्यादि व्यवहरतः सत्याऽसत्या एव, श्वस्ते शत दास्यामीत्युक्त्वा पञ्चाशत्यपि दत्ते लोके मृषात्वादर्शनात् अनुत्पन्नांशे च मृषात्वव्यवहारात् ,१। एव मरणकथा वि-गतमिश्रिता २। अकृतनिश्चये जातस्य मृतस्य च कृतप-रिणामस्याभिधाने मिश्रकमिश्रिता उत्पन्नविगतमिश्रितेत्य-र्थ , यथा—अद्य दश जाता मृताश्चेति ३। तथा बहूना जी-वाना स्तोकाना च मृताना शङ्खशङ्खनकादीनामेकत्र राशौ दृष्टे जीवराशिरयमिति भाषणं जीवमिश्रिता ४। एव प्रभू-तेषु मृतेषु स्तोकेषु च जीवत्सु अजीवराशिरिति वाक्य-म् ५। तथा तस्मिन्नेव राशौ अकृतनिश्चये एतावन्तो जी-वन्त एतावन्तश्च मृता इति अवधारणवाक्य च जीवा-जीवमिश्रिता ६। तथा मूलकादि अनन्तकाय तस्यैव स-त्कैः परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनचिद्वनस्पतिना मिश्र वि-लोक्य सर्वोऽप्येष अनन्तकाय इति वदतोऽनन्तमिश्रिता ७। एवं प्रत्येकमन्तेन सह दृष्ट्वा सर्वोऽपि प्रत्येक इति वदतः प्रत्येकमिश्रिता ८, अद्धा—काल स चेह प्रस्तावात् दिवसो रात्रिर्वा गृह्यते, सा मिश्रिता यया साऽद्धामिश्रिता-यथा कश्चित् कञ्चन त्वरयन् दिवसेऽपि रात्रिर्जा-तेति वदति ९, तथा दिवसस्य रात्रेर्वा एकदेशोऽद्धाद्धा सा मिश्रिता यया साऽद्धाद्धामिश्रिता , यथा प्रथमपौ-रुष्यामेव त्वरयमाण कञ्चन वक्ति—शीघ्रो भव, मध्याह्नो जात इति १०। ध० ३ अधि०।

सच्चावाइ-सत्यावादिन्-पुं०। सत्य वदितु शीलमस्येति स-

स्यवादी। सत्यवदनशीले, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

सच्चाहिट्ठिय-सत्याधिष्ठित-त्रि०। सत्येनावितथभाषणेनाधिष्ठितः-समाश्रितः सत्याधिष्ठितः। सत्यवचनव्याप्ते, पा०।

सच्चिदाणंद-सच्चिदानन्द-पुं०। सत्-शुभं शाश्वतं वा चित्-ज्ञानं तस्य य आनन्दः। सुखप्रकाशरूपे ब्रह्मणि, अष्ट० १ अष्ट०।

सच्चोवाय-सत्यावपात-त्रि०। सफलसेवे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। भ०। सत्याभिलापे, औ०।

सच्छंद-स्वच्छन्द-त्रि०। स्वम्-आत्मीयं छन्दः-अभिप्रायो यस्याऽसौ। व्य० १ उ०। स्वाभिप्राये, आ० म० १ अ०। नं०। आव०। प्रव०। अनु०। ज्ञा०। आत्मच्छन्दसि, व्य० ६ उ०। स्ववशे, विपा० १ श्रु० २ अ०। ज्ञा०। अनु०। सुरुचौ, स०।

सच्छंदचारि-स्वच्छन्दचारिन्-त्रि०। कामरूपिणि, आ० म० १ अ०।

सच्छंदमइ-स्वच्छन्दमति-त्रि०। स्वच्छन्दा-स्ववशा स्ववशे वा मतिरस्येति-स्वच्छन्दमतिः। निरर्गलबुद्धौ, विपा० १ श्रु० २ अ०। प्रव०। ज्ञा०।

सच्छंदया-स्वच्छन्दता-स्त्री०। स्वाभिप्रायेण वर्त्तितायाम्, व्य० १ उ०।

सच्छंदयारिन्-स्वच्छन्दचारिन्-त्रि०। स्वच्छन्देन-स्वाभिप्रायेण न तु जिनाज्ञया चरतीति स्वच्छन्दचारी। यथाछन्दे, ग० २ अधि०।

सच्छंदविगप्पिय-स्वच्छन्दविकल्पित-त्रि०। स्वच्छन्देन स्वाऽभिप्रायेण विकल्पितम्। स्वेच्छाकल्पिते, व्य० १ उ०। संथा०।

सच्छत्त-सच्छत्र-त्रि०। छत्रेण सहिते, स० ३४ सम०। जी०। औ०।

सच्छाय(ह)-सच्छाय-त्रि०। सती-शोभना छाया निर्मलस्वरूपा येषां ते। रा०। "छायायां होऽकान्तौ वा" ॥८। १। २४९॥ अनेनान्त्ययकारस्य वैकल्पिको हकारादेशः। सच्छायम्। सच्छाहम्। प्रा०। जी०। शोभनच्छायेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सजल-सजल-त्रि०। जलसम्पूर्णे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सजसा-सयशस्-स्त्री०। शीतलजिनस्य प्रथमशिष्यायाम्, ति०।

सजाईय-स्वजातीय-त्रि०। आत्मीयजातिविशिष्टे, आ० म० १ अ०।

सजित्था-सजित्वा-अव्य०। शक्तिं गृहीत्वेत्यर्थे, नि० चू० १ उ०।

सजीव-सजीव-त्रि०। कोट्यारोपितप्रत्यञ्चे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। औ०। विपा०। मृतधात्वादीनां सहजस्वरूपापादने, जं० २ वक्ष०। स०। ज्ञा०।

सजूह-स्वयूथ-पुं०। स्वकीयनिकाये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

सजोग-सयोग-त्रि०। संसारिणि, स्था० २ ठा० ४ उ०। मनोवाक्कायात्मकैर्योगैः सह वर्त्तमानेषु, नं०।

संजोगि(ण्)-सयोगिन्-त्रि०। सह योगैः कायव्यापारादिभिर्यः स सयोगी। स्था० २ ठा० १ उ०। सह योगेन वर्त्तन्ते ये ते संयोगा मनोवाक्कायाः, ते यस्य विद्यन्ते स सयोगी। पं० सं० २ द्वार। मनोवाक्कायात्मकैर्योगैर्वर्त्तमाने, नं०।

सजोगिकेवलिगुणट्ठाण-सयोगिकेवलिगुणस्थान-न०। त्रयोदशे गुणस्थाने, कर्म०। योगो वीर्यं शक्तिरुत्साहः पराक्रम इति पर्यायाः, स च मनोवाक्कायलक्षणकरणभेदात्त्रिधा सदा लभते, मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति। तथा चोक्तं कर्मप्रकृतौ- "परिणामालंबणगहणकारणं तेण लद्धनामतिगं। कज्जब्भासानुन्न-प्पवेसविसमीकयपएसं ॥१॥" तत्र भगवतो मनोयोगो मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात्, ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनावधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वाकारान्यथानुपपत्त्या लोकस्वरूपादिबाह्यमर्थमवगच्छन्तीति वाग्योगो, धर्मदेशनादौ काययोगो निमेषोन्मेषचङ्क्रमणादौ। ततोऽनेन योगत्रयेण सह वर्तत इति सयोगी। 'सर्वादेरिन्' इतीन्प्रत्ययः। केवल-केवलज्ञानं केवलदर्शनं च विद्यते यस्य स केवली। सयोगी चासौ केवली च सयोगिकेवली तस्य गुणस्थानं सयोगिकेवलिगुणस्थानम्। कर्म० २ कर्म०। पं० सं०। आ० चू०। प्रव०। दर्श०।

सजोगिभवत्थकेवलनाण-सयोगिभवस्थकेवलज्ञान-न०। सह योगैः कायव्यापारादिभिर्यः स सयोगी इन् समासान्तत्वात् स चासौ भवस्थश्च तस्य केवलज्ञानमिति विग्रहः। कायव्यापारसहितस्य भवस्थस्य केवलज्ञाने, स्था०।

सजोगिभवत्थकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव, अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव। अहवा-चरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव, अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव। (सू० ७१+)

'सयोगी' त्यादि प्रथमः समयः सयोगित्वे यस्य सः तथा एवं प्रथमा-द्व्यादिसमयो यस्य स तथा, शेषं तथैव। 'अथवे' त्यादि चरमः अन्त्यः-समयो यस्य सयोग्यवस्थायाः स तथा, शेषं तथैव। स्था० २ ठा० १ उ०।

सजोणिय-सयोनिक-त्रि०। सह योन्या उत्पत्तिस्थानेन वर्त्तन्ते इति सयोनिकाः। संसारिषु, स्था० २ ठा० १ उ०।

सजोति-सज्योतिष्-त्रि०। सह ज्योतिषा-उद्द्योतेन वर्तत इति सज्योति। साग्निके सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। सज्योतिःसाग्निकमित्यर्थः। दश० ८ अ० २ उ०।

सज्ज-सज्ज-त्रि०। प्रगुणीभूते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। औ०।

सद्यस्-अव्य०। शीघ्रे, आतु०। तत्काले, सू० १ उ० ३ प्रक०।

सर्ज-पुं०। वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। विशे०। स्था०।

षड्ज-त्रि०। षड्भ्यो जातः षड्जः। अनु०। "क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ँ-क-ँ-प-ामूर्ध्वे लुक्" ॥८। २। ७७॥ अनेनात्र डकारस्य लुक्। सज्जो। षड्जो। प्रा०। स्वरभेदे "नासाकण्ठमुरस्तालु-जिह्वादन्तांश्च संश्रितः। षड्भिः संजायते

यस्मा-त्तस्मात् षड्ज इति स्मृतः" ॥ १ ॥ अनु० । ('सर' शब्दे सर्वा वक्तव्यतां वक्ष्यामि ।)

सज्जइ—सद्यति—पु० । सत्सार्थौ, पं० १२ विव० ।

सज्जण—सज्जन-पु० । "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८।१।११ ॥ इति जकारस्य लुक् । सज्जनः । सज्जणो । प्रा० । विशिष्टलोके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

नाम सज्जन इति त्रिवर्णकं,
कर्णकोटरकुटुम्बि चेद्भवेत् ।
नोल्लसन्ति विषशक्तयस्तदा,
दिव्यमन्त्रनिहताः खलोक्तयः ॥ १ ॥
स्याद्बली बलमिह प्रदर्शयेत् ,
सज्जनेषु यदि सत्सु दुर्जनः ।
किं बलं नु तमसोऽपि वर्ण्यते ,
यद्भवेदसति भानुमालिनि ॥ २ ॥
दुर्जनस्य रसना सनातनी ,
सगतिं न परुषस्य मुञ्चति ।
सज्जनस्य तु सुधातिशायिनः ,
कोमलस्य वचनस्य केवलम् ॥ ३ ॥
या द्विजिह्वदलनाघनादरा-
द्याऽऽत्मनीह पुरुषोत्तमस्थितिः ।
याऽप्यनन्तगतिरेतयेष्यते ,
सज्जनस्य गरुडानुकारिता ॥ ४ ॥
सज्जनस्य विदुषा गुणग्रहे,
दूषणे निविशते खलस्य धीः ।
चक्रवाकदृगहर्पतेर्द्युतौ ,
घूकदृक् तमसि मज्जमज्जति ॥ ५ ॥
दुर्जनैरिह मतासुपक्रिया ,
तद्वचो विजयकीर्तिसंभवात् ।
व्यातनोति जिततापविप्लवां ,
वह्निरेव हि सुवर्णशुद्धताम् ॥ ६ ॥
या कलङ्किवमनेन सत्तया,
या कदापि न भुजङ्गसङ्गता ।
गोत्रभित्मठसि या न सासतां,
वाचि काचिदतिरिच्यते सुधा ॥ ७ ॥
दुर्जनोद्यमतपर्तुपूर्तिजा,
तापतः श्रुतलता चयं व्रजेत् ।
नो भवेद्यदि गुणाम्बुवर्षिणी,
तत्र सज्जनकृपातपात्ययः ॥ ८ ॥
तन्यते सुकविकीर्तिवारिधौ ,
दुर्जनेन वडवानलव्यथा ।
सज्जनेन तु शशाङ्ककौमुदी ,
सङ्गरङ्गवदहो महोत्सवः ॥ ९ ॥
यद्यनुग्रहपरं सतां मनो ,
दुर्जनात् किमपि नो भयं तदा ।
सिंह एव तरसा वशीकृते ,
किं भयं भुवि शृगालबालकात् ॥ १० ॥
खेदमेव तनुते जडात्मनां ,
सज्जनस्य तु मुदं कवेः कृतिः ।
स्मेरता कुवलयेऽब्जपीडनं,
चन्द्रभासि भवतीति हि स्थितिः ॥ ११ ॥
न त्यजन्ति कवयः श्रुतश्रमं,
संमुदैव खलपीडनादपि ।
स्वोचिताचरणबद्धवृत्तयः,
साधवः शमदमक्रियामिव ॥ १२ ॥
नव्यतन्त्ररचनं सतां रते-
स्त्यज्यते न खलखेदतो बुधैः ।
नैव भारभयतो विमुच्यते,
शीतरक्षणपटीयसी पटी ॥ १३ ॥
आगमे सति नवः श्रमो मुदा-
न स्थितेरिति खलेन दूष्यते ।
नौरिवेह जलधौ प्रवेशकृत् ,
सोऽयमित्यथ सतां सदुत्तरम् ॥ १४ ॥
पूर्वपूर्वतनसूरिहीलना,
नो तथापि निहतेति दुर्जनः ।
तातवागनुविधायिबालव-
न्नेयमित्यथ सतां सुभाषितम् ॥ १५ ॥
किं तथापि पलिमन्थमन्थरै-
रत्र साध्यमिति दुर्जनोदिते ।
स्वान्ययोरुपकृतिर्नवा मति-
श्चेति सज्जननयोक्तिरर्गला ॥ १६ ॥
सप्रसङ्गमिदमाद्यविंशिको-
पक्रमे मतिमतोपपादितम् ।
चारुतां व्रजति सज्जनस्थिति-
र्नोचतासु नियतं खलोक्तिषु ॥ १७ ॥
न्यायतन्त्रशतपत्रभानवे,
लोकलोचनसुधाञ्जनत्विषे ।
पापशैलसतकोटिमूर्त्तये,
सज्जनाय सततं नमो नमः ॥ १८ ॥
भूषिते बहुगुणे तपागणे,
श्रीयुतैर्विजयदेवसूरिभिः ।

भूमिसूरितिलकैरपि श्रिया,
पूरितैर्विजयसिंहसूरिभिः ॥ १९ ॥
धामभास्वदधिकं निरामयं,
रामणीयकमपि प्रभूत्वरम् ।
नाम कामकलशातिशायिना,
मिष्टपूर्तिषु यदीयमञ्चति ॥ २० ॥
यैरुपेत्य विदुषां सतीर्थ्यतां,
स्फीतजीतविजयाभिधानताम् ।
धर्मकर्म विदधे जयन्ति ते,
श्रीनयादिविजयाभिधा बुधाः ॥ २१ ॥
उद्यतैरहमपि प्रसह्य तै-
स्तर्कतन्त्रमधिकाशि पाठितः ।
एष तेषु धुरि लेख्यतां ययौ,
सद्गुणस्तु जगतां सतामपि ॥ २२ ॥
येषु येषु तदनुस्मृतिर्भवे-
त्तेषु धावति च दर्शनेषु धीः ।
यत्र यत्र मरुदेति लभ्यते,
तत्र तत्र खलु पुष्पसौरभम् ॥ २३ ॥
तद्गुणैर्मुकुलितं रवेः करैः,
शास्त्रपद्ममिह मन्मनोह्रदात् ।
उल्लसन्नयपरागसंगतं ,
सेव्यते सुजनषट्पदव्रजैः ॥ २४ ॥
निर्गुणो बहुगुणैर्विराजितां-
स्तान् गुरूनुपकरोमि कैर्गुणैः ।
वारिदस्य ददतो हि जीवनं,
किं ददातु बत चातकार्भकः ॥ २५ ॥
प्रस्तुतश्रममसर्थितैर्नयै-
र्योग्यदानफलितैस्तु तद्यशः ।
यत्समर्पयति सतामनुग्रहा—
देतदेव मम चेतसो मुदे ॥ २६ ॥
आसते जगति सज्जनाः शतं ,
तैरुपैमि तु नर्म कमञ्जसा ।
किं न सन्ति गिरयः परः शता ,
मेरुरेव तु बिभर्तु मंदिर्नाम् ॥ २७ ॥
तत्पदाम्बुजयुगषट्पदः स च,
ग्रन्थमेनमपि मुग्धधीर्व्यधात्
यस्य भाग्यनिलयोऽजनि श्रियां,
सत्र पद्मविजयः सहोदरः ॥ २८ ॥
सत्र एव मुदुपुत्रनयश्च मे ,
तेष्वतोऽप्युपकृतिश्च भाविनी ।
किं च बालवचनानुभाषणा-
नुस्मृतिः परमबोधशालिनाम् ॥ २९ ॥
अत्र पद्यमपि पाङ्क्तिकं क्वचि—
द्वर्तते च परिवर्तितं क्वचित् ।
स्वान्ययोः स्मरणमात्रमुद्दिशं-
स्तत्र नैव तु जनोऽपराध्यति ॥ ३० ॥
ख्यातिमेष्यति परामयं पुनः,
सज्जनैरनुगृहीत एव च ।
किं न शङ्करशिरोनिवासतो ,
निम्नगा सुविदिता सुरापगा ॥ ३१ ॥

यत्र स्याद्वादविद्या परमततिमिरध्वान्तसूर्यांशुधारा,
निस्ताराज्जन्मसिन्धोः शिवपदपदवीं प्राणिनो यान्ति यस्मात्।
अस्माकं किं च यस्माद्भवति शमरसैर्नित्यमाकण्ठतृप्ति,
जैनेन्द्रं शासनं तद्विलसति परमाऽऽनन्दकन्दाम्बुवाहः
॥ ३२ ॥ द्वा० ३२ द्वा० ।

सज्जमरण-सद्योमरण-न० । तात्कालिकमरणे, आव० ४ अ०।

सज्जमाण-सज्जमान-त्रि० । सङ्गं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । आसक्तिं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । नि० चू० । "सज्जमाणेहिं विगिज्झमाणेहिं" आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

सज्जम्मदरिद्द-सज्जन्मदरिद्र-पुं० । आजन्मदरिद्रे, महा०२चू० ।

सज्जा-शय्या-स्त्री० । शेरतेऽस्यामिति शय्या । प्रव० १२१ द्वार । वसतौ, आव० ४ अ० । शयने, स्था० ५ ठा० २ उ० । यज्ञशालादिरूपायां वसतौ, स० २० सम० । प्रव० ।

संज्ञा-स्त्री० । "ह्रो ञः" ॥८।२।८३॥ अनेनात्र सम्मिलितस्य ञकारस्य वैकल्पिको लुक् । सज्जा । सण्णा । ज्ञाने, प्रा० २ पाद ।

सज्जिय-सज्जित-त्रि० । निष्पादिते, जी० ३ प्रति ४ अधि० । वितानिते, ध्वा० ।

सज्जोग-सद्योग-पुं० । सद्धर्मपरायणे, षो० ६ विव० ।

सज्जोगविग्घवज्जणया-सद्योगविघ्नवर्जनता-स्त्री० । सन्तश्च ते योगाश्च धर्मव्यापारा स्वाध्यायध्यानादयस्तेषु विघ्न उपसर्गो विघातस्तस्य वर्जना । सद्योगापरिहारे, पञ्चा० ४ विव० । षो० ।

सज्जोगावंचग-सद्योगावञ्चक-पुं० । "सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनैः । तथाऽऽदर्शनतो योग, आद्यावञ्चक उच्यते ॥१॥ इत्युक्तलक्षणे प्रथमावञ्चकयोगे, षो० ९ विव० ।

सज्झ-साध्य-त्रि० । "साध्वस-ध्य-ह्यां झः" ॥८।२।२६॥ इति ध्यस्य झः । सज्झं । प्रा० । सज्झं पिं० । निरन्तरस्वभावे, आव० ३ अ० । अनुमानेन साध्ये, रत्ना० ३ परि० । (अत्रत्या वक्तव्यता 'हेउ' शब्दे अष्टमे भागे वक्ष्यते ।)

अथेत्यानन्तर्ये, सूरत्थमणाणंतरमेव आवस्सयं करेंति। पुनर्विशेषणे, दुविहमावस्सगकरणं विसेसेइ--निव्वाघायं, वाघाइमं च। जदि निव्वाघायं ततो सव्वे गुरुसहिया आवस्सयं करेंति। अह गुरू सड्ढेसु धम्मं कहेंति तो आवस्सगस्स साहूहिं सह करणिज्जस्स वाघाओ भवइ। जम्मि वा काले तं करणिज्जं तं-हासेतस्स वाघाओ भण्णइ तओ गुरू निसिज्जहरो य पच्छा चरित्तातियारजाणणट्ठा काउस्सग्गं ठाहिंति।

सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ताणँ ठंति सट्ठाणे।
सुत्तत्थकरणहेउं, आयरिएँ ठियम्मि देवसियं ॥१३६६॥

सेसा साहू गुरु आपुच्छित्ता गुरुगणस्स मग्गओ आसन्ने दूरे आधाराइणियाए जं जस्स ठाणं तं सट्ठाणं। तत्थ पडिक्कमताणं इमा ठवणा। गुरू पच्छा ठायतो मज्झेण गंतुं सट्ठाणे ठायइ, जे वामओ ते अणंतरसव्वेण गंतु सट्ठाणे ठायन्ति। जे दाहिणओ अणंतरसव्वेण गंतुं ठायंति, त च अणागयं ठायंति सुत्तत्थसरणहेउ। तत्थ य पुव्वामेव ठायता 'करेमि भंते! सामाइयमिति' सुत्तं करेंति, पच्छा जाहे गुरू सामाइयं करेत्ता वोसिरामि त्ति भणित्ता ठिया उस्सग्गं ताहे देवसियाइयारं चिंतति। अन्ने भणंति-जाहे गुरू सामाइयं करेंति ताहे पुव्वट्ठिया वि तं सामाइय करेंति सेसं कंठं।

जो हुज्ज उ असमत्थो, वालो वुड्ढो गिलाणपरितंतो।
सो विकहाइविरहिओ, अच्छिज्जा निज्जरापेही ॥१३६७॥

परिस्संतो पाहुणगादि सो वि सज्झायज्झाणपरो अच्छति। जाहे गुरू ठंति ताहे ते वि बालादिया ठायंति एएण विहिणा।

आवासगं तु काउं, जिणोवइट्ठं गुरूवएसेणं।
तिण्णि थुई पडिलेहा,कालस्स इमा विही तत्थ ॥१३६८

जिणेहिं गणहराणं उवइट्ठं, ततो परंपरएण जाव अम्ह गुरूवएसेण आगयं, तं काउं आवस्सयं अणे निण्णि थुतीओ करेंति। अहवा--एगा एगसिलोगिया, वितिया विसिलोइया, ततिया (त) तियसिलोगिया। तेसिं समत्तीए कालपडिलेहणविही कायव्वा।

अच्छउ ताव विही, इमो कालभेओ ताव वुच्चइ--

दुविहो उ होइ कालो, वाघाइम एतरो य नायव्वो।
वाघातो घंघसालाए, घट्टणं सड्ढकहणं वा ॥१३६९॥

पुव्वद्ध कंठं। पच्छद्धस्स व्याख्या--जा अतिरित्ता वसही कप्पडिगसेविया य सा घंघसाला। ताए अंतिताए वट्टणपडणाइ वाघायदोसो, सड्ढकहणेण य वेलाइक्कमणदोसो त्ति। एवमादि।

वाघाए तइओ सिं, दिज्जइ तस्सेव ते निवेएंति।
इयरे पुच्छंति दुवे, जोगं कालस्स घेच्छामो ॥१३७०॥

तम्मि वाघातिमे दोण्णि जे कालपडियरगा ते निग्गच्छंति। तेसिं ततिओ उवज्झायादि दिज्जइ। ते कालग्गाहिणो आपुच्छणसंदिसावणकालपवेयणं च सव्व तस्सेव करेंति। एत्थ गंडगदिट्ठतो न भवइ। इयरे उवउत्ता चिट्ठति। सुद्धे काले तत्थेव उवज्झायस्स पवेएंति ताहे दंडधरो बाहिं कालपडिचरओ चिट्ठइ। इयरे दुइगा वि अतो पविसंति, ताहे नीतिदडधरो अतीति। तेण पट्ठविए सज्झायं करेंति।

निव्वाघाए पच्छद्ध, अस्यार्थः--

आपुच्छण किइकम्मे, आवासिय पडियरिय वाघाते।
इंदियदिसा य तारा, वासमसज्झाइयं चेव ॥१३७१॥

निव्वाघाते दोन्नि जणा गुरुं आपुच्छंति-कालं घेच्छामो। गुरुणा अणुण्णाया 'कितिकम्मं' ति-वंदणं काउ दडगं घेत्तुं उवउत्ता आवासियमासज्जं करेन्ता पमज्जन्ता य निग्गच्छंति। अंतरे य जइ पक्खलंति पडंति वा वत्थादि वा विलग्गति कितिकम्मादि किंचि वितह करेंति ततो कालवाघाओ। इमा कालभूमीपडियरणविही। इंदिएहिं उवउत्ता पडियरंति। 'दिस' त्ति--जत्थ च चउरो वि दिसा दीसंति। उडम्मि जइ तिन्नि तारा दीसंति। जइ पुण न उवउत्ता अणिट्ठो वा इंदियविसओ 'दिस' त्ति दिसामोहो दिसाओ वा तारगाओ वा न दीसंति वास वा पडइ। असज्झाइयं वा जायं तो कालवहो त्ति गाथार्थः।

किं च--

जइ पुण गच्छंताणं, छीयं जोइं ततो नियत्तंति।
निव्वाघाए दोण्णि उ,अच्छंति दिसा निरिक्खंता१३७२

तेसिं चेव गुरुसमीवा कालभूमी गच्छंताणं अंतरे जइ छीतं जोति वा फुसइ तो नित्तंति। एवमाइकारणेहिं अव्वाहया ते दो वि निव्वाघाएण कालभूमि गया। संडासगादिविहीए पमज्जित्ता निसन्ना उद्धट्ठिया वा एक्केको दो दिसाओ निरिक्खंतो अच्छइ त्ति गाथार्थ.।

किं च-तत्थ कालभूमीए ठिया--

सज्झायमाचिंतंता, कणगं दट्ठूण पमिनियत्तंति।
पत्ते य दंडधारी, मा बोल गंडए उवमा ॥ १३७३ ॥

तत्थ सज्झायं (अ) करेंता अच्छन्ति, कालवेलं च पडियरइ। जइ गिम्हे तिण्णि सिसिरे पंच वासासु सत्त कणगाणंत (पडंति) पेच्छेज्ज तहा विनियत्तति। अह निव्वाघाएणं पत्ता कालग्गहणवेला ताहं जो दंडधारी सो अंतो पविसित्ता भणइ--बहुपडिपुण्णा कालवेला मा बोल करेह, एत्थ गंडगोवमा पुव्वभणिया कज्जइ त्ति गाथार्थ.।

आघोसिए बहूहिं, सुयम्मि सेसेसु निवडए दंडो।
अह तं बहूहिं न सुयं,दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥१३७४॥

जहा लोए गामादिट्ठडगेण आघोसिए बहूहिं सुए थेवेहिं असुए गामाडिठिउं अकरंतस्स दंडो भवति। बहूहि असुए गंडस्स दडो भवति। तहा इहं पि उवसंहारेयव्व। ततोदंडधरे निग्गए कालग्गही उट्ठइ त्ति गाथार्थ.।

सो य इमेरिसो-

पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य।

खेअण्णो य अभीरू, कालं पडिलेहए साहू ॥१३७५॥

पियधम्मो दढधम्मो य एत्थ चउभंगो । तत्थिमो पढमभंगो । निच्चं संसारभउव्विग्गो संविग्गो । वज्जं-पावं तस्स भीरू-जहा तं न भवति तहा जयइ । एत्थ कालविहीजाणगो खेअण्णो । असयंतो अभीरू । एरिसो साहू कालपडिलेहओ । प्रतिजागरकश्च प्राहकश्चेति गाथार्थः ।

ते य तं वेलं पडियरंता इमेरिस काल तुलेंति—

कालो संझाय तहा, दो वि समप्पंति जह समं चेव ।
तह तं तुलेति कालं, चरिमं च दिसं असज्झाए ॥१३७६॥

संझाए धरेंतीए कालग्गहणमाढत्तं तं कालग्गहणं सज्झाए य ज सेस एते दो वि समं जहा समप्पंति तहा त कालवेल तुलंति । अहवा-तिसु उत्तरादियासु संझाये गिराहति । 'चरिमं' ति-अवराए अवगयसंझाए वि गेराहंति तहावि न दोसो त्ति गाथार्थः । आव० ४ अ० ।

तत. कालस्य ग्रहणवेला वर्त्तते न वा ? इति, तत्र च-कालवेलानिरूपणे एष विधिरिति वक्ष्यमाण —

दुविहो य होइ कालो, वाघातिम एयरो य नायव्वो ।
वाघाओ घंघसालाएँ, घट्टणं सड्ढकहणं वा ॥ ६३९ ॥

द्विविधो भवति कालो—व्याघातकालः, इतरश्च—अव्याघातकाल. । तत्र व्याघातकाल प्रतिपादयन्नाह—व्याघात. घङ्घशालायाम्—अनाथमण्डपे दीर्घे, घट्टना—परस्परेण वैदेशिकैर्वा स्तम्भैर्वा सह निर्गच्छतः प्रविशतो वा तादृशो व्याघातकाल । तथा श्राद्धकादीना यत्राचार्यो धर्मकथां करोति सोऽपि व्याघातकाल. । न तत्र कालग्रहणं भवति नापि कलावेलानिरूपणार्थे प्रच्छन भवति ।

वाघाते तइओ सिं, दिज्जइ तस्सेव ते निवेयंति ।
निव्वाघाते दुन्नि उ, पुच्छंती काल घेच्छामो ॥ ६४० ॥

एव घङ्घशालाया व्याघाते सति तृतीयस्तयोः—कालग्राहिणो उपाध्यायादिर्दीयते येन तस्यैवाग्रतो वाह्यत एव निवेदयन्ति सन्दिशापयन्ति च । अथ निर्व्याघातं भवति-न कश्चिद् घङ्घशालाया धर्मकथादिर्वा कालव्याघात वैदेशिकादिव्याघातो वा, ततश्च निर्व्याघाते सति द्वावेव निर्गच्छत, एक कालग्राहक. अपरो दण्डधारी, पुनश्च तौ पृच्छत. । यदुत कालं गृह्णीव -वेला निरूपयाव इत्यर्थ, तेषां च निर्गच्छता यद्येते व्याघाता भवन्ति ततश्च निवर्त्तन्ते-न गृह्णन्ति कालम् ।

के च ते व्याघाता ?,—

आपुच्छण किइकम्मं, आवस्सियखलियपडियवाघाओ ।
इंदियदिसा य तारा, वासमसज्झाइयं चेव ॥ ६४१ ॥

जइ पुण वच्चंताणं, छीयं जोइं च तो नियत्तंति ।
निव्वाघाते दोन्नि उ, अच्छंति दिसा निरिक्खंता ॥६४२॥

गोणादि कालभूमिए, होज्जा संसप्पगा व उट्ठेज्जा ।
कविहसियवासविज्जु-क्कगज्जिए वावि उवघातो ॥६४३॥

आपृच्छना नाम-आपुच्छित्ता गच्छन्ति, दंडगं गहाय मत्थएण वंदामि खमासमणो कालस्स वेल निरूवेमो । एवं च यदि न पृच्छन्ति ततो व्याघातो भवति-न ग्राह्य. कालः । अथाविनयेन वा पृच्छन्ति तथाऽपि व्याघात एव । कृतिकर्म च-वन्दनं यदि न कुर्वन्ति, अविनयेन वा कुर्वन्ति, आवश्यिकां च यदि न करोति, अविनयेन वा करोति, स्खलनं वा गच्छतो यदि स्तम्भादौ भवति, पतनं वा तेषामन्यतमस्य यदि भवति, एवमेभिर्व्याघातो भवति । तथा 'इंदिय' त्ति-श्रवणेन्द्रियादीनामिन्द्रियाणां ये विषयास्ते अननुकूला भवन्ति ततो न गृह्णते । एतदुक्त भवति—यदि छिन्धि भिन्धीत्येवमादि शृण्वन्ति शब्द ततो निवर्त्तन्ते । एवं गन्धश्चाशुभो यदि भवति, यत्र गन्धस्तत्र रस इति, विरूप पश्यन्ति रूपं किञ्चिद् एवं सर्वत्र योजनीय ततो निर्गच्छन्ति, तथा दिग्मोहश्च यदि भवति ततो न गृह्यते । तारकाश्च यदि पतन्ति, वर्षणं वा यदि भवति, तत एभिरनन्तरोक्तैर्व्याघातैः कालो न गृह्यते । अस्वाध्यायिकं च यदि भवति, तथा यदि पुनर्व्रजतां क्षुत ज्योतिर्वा—अग्नि' उद्द्योतो वा भवति ततो निवर्त्तन्ते । यदा तु पुनरुक्तलक्षणो व्याघातो न भवति, तदा निर्व्याघात सति द्वावेव तिष्ठतो दिशो निरूपयन्तौ क्षणमात्रम् । तथा एभिश्च कालभूमौ गतानामुपघातो भवति । यदि तत्र कालमण्डलके गौरुपविष्ट., आदिग्रहणाद्-महिषादिर्वा उपविष्टो भवति ततो व्याघात । कदाचिद्वा तस्या कालभूमौ संसर्पगा पिपीलिकादय उत्तिष्ठेरन् ततश्च व्याघात । कदाचिद्वा कपिहसितं-विरलवानरमुखहसित भवति । अथवा-कपिहसितम्-'उदित्तय वा दीसइ' जल वा विद्युत् वा भवति, उल्कापातो वा भवति, गर्जितध्वनिर्वा श्रूयते, एभि सर्वैर्व्याघातः कालस्य, न गृह्यत इत्यर्थ ।

सज्झायमचिंतंता, कणगं दट्ठूण तो नियत्तंति ।
वेलाएँ दंडधारी, मा बोलं गंडए उवमा ॥ ६४४ ॥

एव ते कालवेलानिरूपणार्थे निर्गताः स्वाध्यायमकुर्वाणा एकाग्रा कालवेला निरूपयन्ति । अथ तत्र कनक पश्यन्ति तत प्रतिनिवर्त्तन्त । कनकपरिमाणं च वक्ष्यति-"तिपचसत्तेव घिसिसिरवास " इत्येवमादिना । अथ तत्र वर्त्तते तदा कालग्रहणवेलायां जातायां दण्डधारी प्रविश्य गुरुसमीपे कथयति, यदुत कालग्रहणवेला वर्त्तते मा बोल कुरुत अल्पशब्दैरवहितैश्च भवितव्यम् । अत्र च गण्डकदृष्टान्त, यथा हि गण्डक. कस्मिंश्चित्कारणे आपन्ने उत्कुरुटिकायामारुह्य घोषयति ग्रामे इद प्रत्यूषसि कर्त्तव्यम् । एवमसावपि दण्डधारी भणति—यदुत कालग्रहणवेला वर्त्तते ततश्च भवद्भिरपि गर्जितादिषूपयुक्तैर्भवितव्यमिति ।

आघोसिए बहूहिं, सुयम्मि सेसेसु निवडई दंडो ।
अह तं बहुहिं न सुयं, दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥ ६४५॥

एवमाघोषिते सति दण्डधारिणा बहुभिश्च श्रुत शेषाश्च स्तोकास्तैर्न श्रुतम्, ततश्च तेषामुपरि दण्डो निपतति-सूत्रार्थकरण नानुज्ञायते । अथेदृश तदा घोषितं यद्बहुभिर्न श्रुतं स्तोकै श्रुतं ततश्च तस्यैव दण्डधारिणो निपतति-तस्यैव स्वाध्यायनिरोध क्रियते । कथ गण्डकस्यैव ?, यथा

गण्डकेनाघोषिते बहुभिर्ग्रामीणकैः श्रुते सति यैः स्तोकैर्न श्रुतं ते दण्ड्यन्ते , अथाघोषिते स्तोकैः श्रुतं बहुभिर्न श्रुतं ततो गण्डके एव दण्डो निपततीति ।

कालो सज्झाय तहा , दो वि समप्पंति जह समं चेव ।
तह तं तुलंति कालं, चरिमदिसं वा असज्झायं॥६४६॥

तौ च प्रत्युपेक्षकौ कालः सन्ध्या च यथा द्वे अपि समकमेव समाप्तिं व्रजतस्तथा तं कालं तुलयतः । एतदुक्तं भवति—यथा कालसमाप्तिर्भवति सन्ध्या च समाप्तिं याति तथा तुलयतः प्रत्युपेक्षकौ । 'चरिमदिसं वा असज्झायं' ति—चरिमा—पश्चिमां दिग् असन्ध्या—विगतसन्ध्या भवति यथा कालश्च समाप्यते तथा गृह्णन्ति ।

इदानीं किंविशिष्टेन पुनः कालः प्रतिजागरणीय ? इत्यत आह—

पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य ।
खेयन्नो य अभीरू, कालं पडिलेहए साहू ॥६४७॥

प्रियः-इष्टो धर्मोऽस्येति प्रियधर्म्मा , तथा दृढः-स्थिरो निश्चलो धर्मो यस्य स तथा, 'संविग्गो' मोक्षसुखाभिलाषी, अवद्यभीरुः-पापभीरुः, खेदज्ञः—गीतार्थः तथा अभीरुः—सत्त्वसंपन्नः एवंविधः कालं—कालग्रहणवेलां प्रत्युपेक्षते साधुः , एवंविधः कालवेलायाः प्रतिजागरणं करोति ।

इदानीं दण्डधारिणि घोषयित्वा निर्गते पुनश्च स द्वितीयः कालग्राही कालसंदिशनार्थं गुरोः समीपं प्रविशति । कथम् ?—

आउत्तपुव्वभणिए, अणपुच्छा खलियपडियवाघाते ।
घोसंतमूढसंकिय,इंदियविसए वि अमणुन्ने ॥६४८॥

स च प्रविशन् आयुक्तः—उपयुक्तः सन् प्रविशति । एतस्मिंश्च प्रवेशने पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यं यतो निर्गच्छतो यो विधिः प्रविशतोऽपि स एव विधिरित्यत आह—पूर्वभणितमेतत् । अथ त्वनापृच्छ्यैव गुरुं कालं गृह्णाति ततश्चानापृच्छ्य गृहीतस्य कालस्य , एतदुक्तं भवति—गृहीतोऽप्यसौ न भवति । तथा स्खलितस्य सतः कालव्याघात , पतितस्य व्याघातः कालस्य । एवं संजाते सति कालो न गृह्यते । तथा प्रविष्टस्य गुरुवन्दनकाले केनचित्सह जल्पतः कालो व्याहन्यते । तथा मूढो यदि भवति आवर्त्तान् विधिविपर्यासेन ददाति तथाऽपि व्याहन्यते काल , तथा शङ्कया न जानाति किमावर्त्ता दत्ता न वेत्यस्यामवस्थाया व्याहन्यते काल । इन्द्रियविषयाश्च यद्यमनोज्ञा भवन्ति तथाऽपि कालो व्याहन्यते , छिन्धि भिन्धीत्येवं विधान् शब्दान् शृणोति । गन्धोऽनिष्टो यदि भवति यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपि, विकरालं रूपं पश्यति, स्पर्शेन लेष्ट्वभिघातोऽकस्माद्भवति , एवंविधे सत्यामपि वेलायां न गृह्णाति कालम् ।

प्रविष्टश्चासौ किं करोतीत्यत आह—

निसीहिया नमोक्कारे, काउस्सग्गे य पंचमंगलए ।
पुव्वाउत्ता सव्वे, पट्ठवणचउक्कनाणत्तं ॥ ६४९ ॥

प्रविशंश्च गुरुसमीपे कालसन्दिशनार्थं यदि निषेधिकां न करोति ततः कालो व्याहन्यते । नमस्कारं करोति-'नमो खमासमणाणं' , अथैवं न भणति ततः कालव्याघातो भवति । प्रासश्चैर्यापथिकाप्रत्ययं कायोत्सर्गम् अष्टोच्छ्रासं करोति, नमस्कारं च चिन्तयति, इरियावहियं च अवस्सं पडिक्कमति, जइ दूराओ जदि आसन्नओ वा आगतो, पुनरसौ नमस्कारेणोत्सारयति-पञ्चमङ्गलकेनेत्यर्थः । पुनश्च संदिश्यार्पयित्वा कालग्रहणार्थं निर्गच्छति । निर्गच्छंश्च " जदि आवसियं न करेइ खलति पडति वा जीयो वा अंतरे हवेज्जा एवमादीहिं उवहम्मइ " इदानीं कालग्रहणवेलायां किं कर्त्तव्यं साधुभिः ? इत्याह-'पुव्वाउत्ता' पूर्वमेव दण्डधारिघोषणानन्तरमुपयुक्ताः सर्वे गर्जितादौ भवन्ति । उपयुक्ताश्च सन्तः कालग्रहणोत्तरकालं सर्वे स्वाध्यायप्रस्थापनं कुर्वन्ति । ' चउक्कनाणत्तं ' ति-कालचतुष्कस्य यथा नानात्वं भवति तथा वक्ष्यामः , कालचतुष्कम्-एकः प्रादोषिकः, अपरोऽर्द्धरात्रिकः, अपरो वैरात्रिकः , अपरः प्राभातिकः । एतच्च भाष्यकारो वक्ष्यति ।

इदानीं कालं गृह्णतः को विधिरित्यत आह—

थोवावसेसियाए, सज्झाए ठाइ उत्तराहुत्तो ।
चउवीसगदुमपुप्फिय-पुव्वग एक्केक्कयदिसाए ॥६५०॥

स्तोकावशेषायां सन्ध्यायां 'पुणो कालमंडलयं पमज्जित्ता ' निषेधिकां कृत्वा कालमण्डलके प्रविशति, ततश्चोत्तराभिमुखः कायोत्सर्गं करोति , तस्मिंश्च पञ्चनमस्कारमष्टोच्छ्रासं चिन्तयति । पुनश्च नमस्कारेणोत्सार्य मूक एव चतुर्विंशतिस्तव"लोगस्सुज्जोयकर"पठति मुखमध्ये, तथा ' दुमपुप्फियपुव्वग ' ति-द्रुमपुष्पिका—"धम्मो मंगलं पुव्वगं" ति-श्रामण्यपूर्वकं कह तु कुज्जा सामन्नमित्यर्थः । एतच्च एकैकस्यां दिशि चतुर्विंशतिस्तवादि "सामन्नपुव्वगपज्जत कड्ढइ, दंडधारी वि उत्तराभिमुहस्स सठियस्स वामपासे पुव्वदिसाहुत्तो अग्गओ तेरिच्छं दंडगं धरेइ उद्धट्ठियओ, पुणो तस्स पुव्वाईसु दिसासु चलतस्स दंडधारी वि तहेव भमति " ।

इदानीं स गृह्णन् कालं यद्येवं गृह्णाति ततो व्याहन्यते । कथमित्यत आह—

भासंतमूढसंकिय, इंदियविसए य होइ अमणुन्ने ।
बिंदू य छीयऽपरिणय,सगणे वा संकियं तिण्हं ॥६५१॥

भाषमाण —ओष्ठसञ्चारेण पठन् यदि कालं गृह्णाति ततो व्याहन्यते काल । मूढो दिशि अध्ययने वा यदि भवति ततो व्याहन्यते कालः । शङ्कितो वा-न जानाति किं मया द्रुमपुष्पिका पठिता न वेत्येवंविधायां शङ्काया व्याहन्यते कालः । इन्द्रियविषयाश्च अमनोज्ञा -अशोभनाः शब्दादयो यदि भवन्ति ततो व्याहन्यते कालः । 'सोइंदिए छिंद भिंद-मारह विस्सर बालाईणं रोवणं वा रूवं वा पेच्छति, पिसायाईण वीहावणयं, गंधे य दुरभिगंधे, रसो वि तत्थेव जत्थ गंधो तत्थ रसो, फासो विंदुलिट्ठपहाराई ' एवमेतेष्वमनोज्ञेषु विषयेषु सत्सु व्याघातो भवति । तथा बिन्दुर्यद्युपरि पतति शरीरस्योपधेर्वा कालमण्डलके वा ततो व्याहन्यते ।

तथा क्षुतं यदि भवति ततो व्याहन्यते । 'अपरिणत' इति । कालग्रहणभावोऽपगतोऽन्यचित्तो वा जातस्ततश्च व्याहन्यते काल । तथा शङ्कितेनापि गर्जितादिना व्याहन्यते कालः । कथम् ?, यद्येकस्य साधोर्गर्जितादिशङ्का भवति ततो न व्याहन्यते काल , द्वयोरपि शङ्किते न भज्यते काल., त्रयाणां तु यदि शङ्का गर्जितादिजनिता भवति ततो व्याहन्यते । तच्च स्वगणे—स्वगच्छे त्रयाणा यदि शङ्कितं भवति, न परगणे, ततो व्याहन्यते ।

इदानीमस्या एव गाथाया भाष्यकारः किञ्चिद्व्याख्यान (यन्ना) माह—

मूढो व दिसऽज्झयणे, भासंतो वाऽवि गिरहइ न सुज्झे ।
अन्नं च दिसज्झयणं, संकंतोऽणिट्ठविसयं वा ॥३०६॥

मूढो यदा दिशि भवति अध्ययने वा तदा व्याहन्यते । भाषमाणो वा ओष्ठसञ्चारेण यदि गृह्णाति कालं ततो न शुद्ध्यति । अन्यां वा दिशं संक्रान्तो मोहात्, अध्ययनं वाऽन्यत् सङ्क्रान्त द्रुमपुष्पिका मुक्त्वा 'सामन्नपुव्वए गओ उत्तराए वा दिसाए दक्खिणं गतो ' यद्वाऽन्या दिशं शङ्कमान', अन्यद्वाऽध्ययनं शङ्कमानो यदा भवति तदा न शुध्यति । अनिष्टे—अशोभने वा शब्दादिविषयसन्निधाने व्याहन्यते । काल , ' ततो आवस्सिय काऊण नीसरति कालमंडलाओ ' एवं गृहीतेऽपि काले यदि कालमण्डलकान्निर्गच्छन्नावश्यकादि न करोति ततो व्याहन्यत एव काल इति ।

किञ्च—

जो वच्चंतम्मि विही, आगच्छंतम्मि होइ सो चेव ।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वुच्छं समासेणं ॥ ६५२ ॥

य एव प्रथमं वसतेर्व्रजतो विधिरुक्तस्तद्यथा-" यदि कविहसिय वा उक्का वा पडति, गज्जति वा, एवमाईहिं उवघाओ गहियस्स वि कालस्स होइ, आगच्छंतस्स वसहिं ' ततश्च यो विधिर्व्रजत कालभूमावुक्त' आगच्छतोऽपि पुनर्वसतौ स एव विधिर्भवति । यत्पुनरत्र वसतौ प्रविशतो नानात्व—भेदस्तदहं नानात्व वक्ष्ये समासत'—संक्षेपेण ।

इदानी नानात्व प्रतिपादयन्नाह—

निसीहिया नमुक्कारं, आसज्जावडणपडणजोइक्खे ।
अपमज्जियभीए वा, छीए छिन्नेव कालवहो ॥ ६५३ ॥

काल गृहीत्वा गुरुसकाशे प्रविशन् यदि निषेधिकां न करोति तत कालव्याघात , तथा ' नमोक्कारं ' नमो खमासमणाणं इत्येव यदि न प्रविशन् भणति ततो गृहीतोऽपि कालो व्याहन्यते । तथा 'आसज्जासज्ज' इत्येव तु यदि न करोति ततो व्याहन्यते गृहीतोऽपि । तथा क्वचित्कस्यचिदावडणे-अभिपडणे कालो व्याहन्यते, पतन लेष्ट्वादेरात्मनो वा, ज्योतिष्कस्पर्शे वा व्याहन्यते । तथा यदि प्रमार्जयन् न प्रविशति ततश्च व्याहन्यते काल । भीत — त्रस्तो वा यदि भवति तथाऽपि व्याहन्यते । क्षुते वा व्याहन्यते । छिनत्ति वा-यदि मार्जारश्वादिस्तिर्यङ् छिन्दन् व्रजति, ततश्चैभिरनन्तरोदितै. कालस्य वधो-भङ्गो भवतीति ।

आगम इरियावहिया, मंगल आवेयणं तु मरुनायं ।
सव्वेहि वि पट्ठविएँहि, पच्छाकरणं अकरणं वा । ६५४ ।

आगत्य च गुरुसमीपमीर्यापथिकां प्रतिक्रामति । कायोत्सर्ग चाष्टोच्छ्वास पञ्चनमस्कार चिन्तयति, तेनैव चोत्सारयति । मङ्गलमिति पञ्चनमस्कारम् उच्यते । तत ईर्यापथिकां प्रतिक्रम्य गुरो. आवेदयति—निवेदयति कालमित्यर्थ । अत्र मरुओ बंभणो तेनैव ज्ञातं-दृष्टान्त' । तं जहा-कम्हिइ पट्टणे धिज्जाइयाणं राइणा दिन्नं, तेर्सि च घोसावियं—जो सामन्नो सो गेरहउ आगंतूणं भाग एत्थ, एव हक्कारिए जो आगतो तेण लद्धो भागो, जो पुण गामाइसु गतो सो चुको । एव साहू वि दंडधारिणो घोसिए जे उवउत्ता ठिया णिवेदिए य काले जेहिं सज्झाओ पट्ठविओ ताणं सज्झाओ दिज्जइ । जे पुण विकहादिणा ठिया ताण सज्झायकरणं न दिज्जइ । एतदेवाह—सर्वै' साधुभि स्वाध्याये प्रस्थापिते सति पश्चात्तेभ्य स्वाध्यायकरण दीयते । ये पुनः कालग्रहणवेलायामुपयुक्ता न स्थिता न स्वाध्यायप्रस्थापनवेलाया सन्निहिता भूतास्तेभ्यः स्वाध्यायकरणं न दीयते ।

इदानी मरुककथानकमुपसंहरन्नाह—

सन्निहियाण वडारो, पट्ठवियपमाय नो दम कालं ।
वाहिठिए पडियरए, पविसइ ताहेव दंडधरो ॥ ६५५ ॥

सन्निहितानां त्रैविद्यब्राह्मणानां 'वडारो' वण्टक' आकरणम्-आह्वान यथासन्निहितानां, ये तु नागतास्तेषा न वण्टको—विभागो जात । एवमत्रापि 'पट्ठविय' त्ति स्वाध्यायप्रस्थापन यै कृत तेभ्यो दीयते स्वाध्याय. । ये पुन' प्रमादिनस्तेभ्यो न दीयते काल इति । काले गृहीते स्वाध्यायो भवति । पुनश्च निवेदिते सति काले पुनर्बहिरन्य प्रतिजागरक. प्रेष्यते । पुनश्च तत्र बहि स्थिते प्रतिजागरके सति ततो दण्डधारी प्रविशतीति ।

पट्ठविय वंदिए य, ताहे पुच्छेइ किं सुयं भंते ! ।
ते वि य कहेंति सव्वं, जं जेण सुयं व दिट्ठं वा ॥ ६५६ ॥

पुनश्चासौ प्रस्थापितस्वाध्यायो वन्दितगुरुश्च सन् तदा साधून् पृच्छति दण्डधारी, यदुत-हे भदन्त ! भवता मध्ये केन किं श्रुतम् ?, तेऽपि च साधव कथयन्ति सर्व यत्रेन श्रुत गर्जितादि, दृष्ट वा कपिमुखादि ।

पुनश्च तत्र केषाञ्चिद्गर्जितादिशङ्का भवति ततश्च को विधिरित्यत आह—

एक्कस्स दोण्ह वा सं-कियम्मि कीरउ न कीरए तिण्हं ।
सगणम्मि संकिए पइ-गणम्मि गंतु न पुच्छंति ॥६५७॥

एकस्य गर्जितादिशङ्किते क्रियते स्वाध्याय , द्वयोर्वा , त्रयाणा पुनर्गर्जिताद्याशङ्काया न क्रियते स्वाध्याय । यद यदि स्वगणे शङ्का भवति, ततश्चैवंविधाया स्वगणे शङ्काया मत्वा परगणे—अन्यगच्छे गत्वा न पृच्छन्ति । किं कारणम् ?

यत इह कदाचित्स कालग्राहकः साधू रुधिरादिनाऽनायुक्त आसीत् ,ततश्च देवता काल शोधयितुं न ददाति । तत्र तु परगणे नैवम् ।अथवा-परगण एव कदाचिदनायुक्तः कश्चिद्भवति इह तु नैवम् । तस्मात्परगणो न प्रमाणमिति ।

इदानीं यदुक्तमासीत्,' कालचतुष्के नानात्व वक्ष्यामः ' तत्प्रदर्शयन्नाह—

कालचउक्के नाण-त्तयं तु पादोसियम्मि सव्वे वि ।
समयं पट्ठवयंती, सेसेसु समं व विसमं वा ॥ ६५८ ॥

कालानां चतुष्के कालचतुष्कम् । तत्रैकः प्रादोषिकः, द्वितीयो ऽर्द्धरात्रिकः,तृतीयो वैरात्रिकः,चतुर्थः प्राभातिकः काल इति । एतस्मिन् कालचतुष्के नानात्वं प्रदर्श्यते । तत्र प्रादोषिककाले सर्वे एव समकं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति । शेषेषु तु त्रिषु कालेषु समकम्—एककाले स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति विषमं वा—न युगपद्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्तीति ।

इदानीं चतुर्णामपि कालादीना कनकपतने सति यथा व्याघातो भवति तथा प्रदर्शयन्नाह—

इंदियमाउत्ताणं , हणंति कणगा उ सत्त उक्कोसं ।
वासासु य तिन्नि दिसा,उउवद्धे तारगा तिन्नि ॥६५६॥

इन्द्रियैः-श्रवणाऽऽदिभिरुपयुक्तानां घ्नन्ति-व्याघातं कुर्वन्ति कालस्य कनका उत्कृष्टेन सप्त । एतच्च वक्ष्यति । ' वासासु य तिन्नि दिस ' त्ति-वर्षासु—वर्षाकाले प्राभातिके काले गृह्यमाणे तिसृषु दिक्षु यद्यालोकः शुद्ध्यति चक्षुषा न कुड्यादिभिरन्तरितस्ततो गृह्यत एव कालः, अन्यथा व्याघात इति । एतद्विशेषविषयं द्रष्टव्यं , शेषेषु त्रिष्वाद्येषु कालेषु चतसृष्वपि दिक्षु चक्षुष आलोको यदि शुद्ध्यति ततो गृह्यते वर्षाकाल नान्यथा । एतच्च प्रकटीकरिष्यति । 'उउवद्धे तारगा तिण्णि' त्ति-ऋतुवद्धे—शीतोष्णकालयोराद्येषु त्रिषु कालेषु यदि मेघच्छन्नेऽपि तारकात्रयं दृश्यते ततः शुद्ध्यति कालग्रहणम् । यदि पुनस्तिस्रोऽपि न दृश्यन्ते ततो न ग्राह्यः । प्राभातिकस्तु काल ऋतुवद्धे मेघैरदृश्यमानायामप्येकस्यामपि तारकायां गृह्यते काल । वर्षाकाले त्वेकस्यामपि तारकायामदृश्यमानाया चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते ।

इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति—

कणगा हणंति कालं, तिपंचसत्तेव घिंसिसिरवासे ।
उक्काउ सरेहागा, रेहारहितो भवे कणगो ॥ ३१० ॥

कनका घ्नन्ति काल त्रयः पञ्च सप्त यथासंख्येन 'घिंसिसिरवासे ' ग्रीष्मकाले त्रय कनका काल व्याघ्नन्ति , शिशिरकाले पञ्च घ्नन्ति कालं, वर्षाकाले सप्त घ्नन्ति कालम । इदानीमुल्काकनकयोर्लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—उल्का सरेखा भवति । एतदुक्तं भवति—निपतती ज्योतिष्पिण्डस्य रेखायुक्तस्य उल्केत्याख्या । स एव च रेखारहितो ज्योतिष्पिण्डः कनकोऽभिधीयते ।

सव्वेऽवि पढमजामं, दोन्नि उ वसभा उ आइमा जामा ।
तइओ होइ गुरूणं, चउत्थओ होइ सव्वेसिं ॥६६०॥

तस्मिंश्च प्रादोषिके काले गृहीते सति सर्व एव साधवः प्रथमयामं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति । द्वौ आद्यौ यामौ वृषभाणां भवतो गीतार्थानाम् । ते हि सूत्रार्थं चिन्तयन्तस्तावत्तिष्ठन्ति यावत्प्रहरद्वयमतिक्रान्तं भवति, तृतीया च पौरुष्यवतरति । ततस्ते चैव कालं गृह्णन्ति ' अहरत्तियं उवज्झायाईण संदिसावेत्ता ततो काल घेत्तूणं आयरियं उट्ठवेंति , वंदणयं दाऊण भणन्ति—सुद्धो कालो , आयरिया भणंति—तह त्ति , पच्छा ते वसभा सुयंति, आयरिओ वि विनिय उट्ठावेत्ता काल पडियरावेइ , ताहे एगचित्तो सुत्तत्थ चिंतेइ० जाव वेरत्तियस्स कालस्स बहुदेसकालो , ताहे तइयपहरं अतिक्कंतं सो कालपडिलेहगो आयरियस्स पडिसदेसवित्ता वेरत्तिय काल गेण्हइ । आयरिओ वि कालस्स पडिक्कमित्ता सोवति । ताहे जे सोइयल्लया साहू आसी ते उट्ठेऊण वेरत्तिय सज्झाय करेंति जाव पाभाइयकालग्गहणवेला जाया । ततो एगो साहू उवज्झायस्स वा अण्णस्स वा संदिसावेत्ता पाभाइय काल गेण्हइ , जहा नवण्हं कालगहणाण वेला पहुच्चति सज्झाए आरतो चेव पुणो ताहे साहुणो सव्वे उट्ठेंति । किह पुण नव काला पडिलेहिज्जति । पढमो उवट्ठिओ कालग्गाहो तस्स तिन्नि वारा कालो उवहओ एक्कम्मि मंडलए । तओ पुणो वितिओ उट्ठेइ सो वितिए मंडलए तिन्नि वारा लेइ । लितस्स जदि न सुज्झति ततो तइओ साहू उट्ठेइ । सोऽवि ततिए मंडलए तिण्णि वारा लेइ , लितस्स जदि न सुज्झति ताहे भग्गो कालो । एत्थ लिताण साहूण नव वाराऽवसाणे पभा फुट्टति । ततो तीए वेलाए पडिक्कमन्ति । अह तिण्णि कालगाहिणो नऽत्थि, किं तु-दुवे चेव, ततो इक्को पढम पढमकालमंडलए तिण्णि वारा उ लेऊण ततो वितिए दो वारे गिण्हइ । ततो वितिओ साहू वीयए चेव कालमंडलए एक्क वारं लेऊण ततो तइए मडले तिन्नि वारा-तो गेण्हइ । एवं चेव नव वारा हवंति । अहवा-पढमे चेव कालमडलए एगो चत्तारि वाराओ लेइ । वितिओ पुण वितिए कालमडलए दो वाराओ लेइ । ततिए तिन्नि वाराओ लेइ सो चेव वितिओ । एव वा दोण्हं साहूण नव वाराओ भवंति । अह एक्को चेव कालग्गाही ततो अववाएण सो चेव पढमे तिन्नि वारा लेइ । पुणो सो चेव वितिओ मडले तिन्नि वारा लेइ । पुणो सो चेव ततिए मंडलए तिन्नि चेव वाराओ लेइ । एसो पाभाइयकालस्स विही । एव च सति कालस्स पडिक्कमित्ता सुवति । एगो न पडिक्कमति । सो अववाएण काल निवेदिस्सइ ।

इदानीं यदुक्तं " वासासु य तिण्णि दिस " त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह भाष्यकारः—

वासासु य तिन्नि दिसा, हवंति पाभाइयम्मि कालम्मि ।
सेसेसु तीसु चउरो, उउम्मि चउरो चउदिसं पि ॥३११॥

वर्षासु तिस्रो दिशो यदि कुड्यादिभिरन्तरिता न भवन्ति तत प्राभातिककालग्रहणं क्रियते । शेषेषु त्रिषु कालेषु चतस्रोऽपि दिशो यदि कुड्यादिभिरन्तरिता न भवन्ति ततो गृह्यन्ते काला ?, नान्यथा, ' उउम्मि चउरो चउदिस पि ' त्ति ऋतुवद्धे काले चत्वारोऽपि काला गृह्य-

१-एव गाथा भाष्यकृत् इति प्रतेषु वर्तमानम् ।

न्ते, यदि चतस्रोऽपि दिशोऽतिरोहिता भवन्ति, नान्यथा। एतदुक्तं भवति—चतसृष्वपि दिक्षु यथालोको भवति ततश्चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते।

इदानीम् " उउवद्धे तारका तिरिए " त्ति व्याख्यायते-

तिसु तिण्णि तारगा उ, उदुम्मि पाभाइए अदिट्ठे वि।
वासासु अतारागा, चउरो छन्ने निविट्ठोऽवि ॥ ३१२ ॥

त्रिषु—आद्येषु कालेषु घनसंछादितेऽपि ऋतुबद्धे काले यदि तारकास्तिस्रो दृश्यन्ते ततस्त्रयः काला आद्या गृह्यन्त इति। 'पाभाइए अदिट्ठे वि' त्ति—प्राभातिके काले गृह्यमाणे ऋतुबद्धे घनाच्छादिते यदि तारकात्रितयमपि न दृश्यते तथाऽपि गृह्यते काल इति, वर्षाकाले पुनर्घनाच्छादितेऽपि अदृष्टतारा एव चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। छन्ने न सावकाशे एते चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। ' निविट्ठो वि ' त्ति—प्राभातिके त्वयं विशेषः-उपविष्टोऽपि छन्ने स्थाने ऊर्द्धस्थानस्यासति गृह्णाति।

एतदेव व्याख्यानयन्नाह—

ठाणासति बिंदूसुं, गेण्हइ विट्ठो वि पच्छिमं कालं।
पडियरइ बाहि एको, एक्को अंतट्ठिओ गिण्हे ॥६६१॥

स्थानस्याऽसति, एतदुक्तं भवति-यदूर्द्धस्थितो न शक्नोति ग्रहीतुं कालं ततः स्थानाभावे सति तोयबिन्दुषु वा पतत्सु सत्सु गृह्णात्युपविष्टः पश्चिमं-प्राभातिकं कालं तथा प्रतिजागरणं करोति, द्वारि एको स्थितः। ओलिकापातादेरधस्तात्स्थितः साधुः, एकश्च साधुरन्तः-मध्ये स्थितो गृह्णाति कालमिति।

इदानीं कः कालः कस्यां दिशि प्रथमं गृह्यते ?,

एतत्प्रदर्शयन्नाह—

पाओसियऽड्डरत्ते, उत्तरदिसि पुव्वपेहए कालं।
वेरत्तियम्मि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥६६२॥

प्रादोषिकः अर्द्धरात्रिकश्च कालः द्वावप्येतावुत्तरस्यां दिशि पूर्वं—प्रथमं प्रत्युपेक्षते—गृह्णाति, ततः पूर्वादिदिक्षु, वैरात्रिके—तृतीयकाले भजना-विकल्पः कदाचित् उत्तरस्यां पूर्वं पूर्वस्यां वा, पुनः पश्चिमे—प्राभातिके काले पूर्वस्यां दिशि प्रथमं करोति कायोत्सर्गं ततः पुनर्दक्षिणादाविति।

सज्झायं काऊणं, पढमवितीयासु दोसु जागरणं।
अन्नं वाऽवि गुणंती, सुणंति झायंति वाऽसुद्धे ॥६६३॥

एवं यदि शुद्ध्यति प्रादोषिकः कालस्ततः स्वाध्यायं कृत्वा प्रथमद्वितीयपौरुष्योर्जागरणं कुर्वन्ति साधवः। अथासौ प्रादोषिकः कालो न शुद्धस्ततः अन्यत्—उत्कालिकं गुणयन्ति शृण्वन्ति ध्यायन्ति, तथाऽशुद्धे सति, एत्थ अववाओ भण्णइ—जति पाओसिओ सुद्धो ततो अड्डरत्तिओ, जइ वि न सुज्झइ तह वि तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति। एवं जइ वेरत्तिओ न सुज्झइ ततो अणुग्गहत्थं, जइ अड्डरत्तिओ सुद्धो तओ तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति। एवं जइ न पाभाइओ तओ तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति। एवं द्रव्यक्षेत्रकालभावा ज्ञातव्या इति।

जो चेव य सयणविही, ऽणेगाणं वन्निओ वसहिदारे।
सो चेव इहं पि भवे, नाणत्तं उवरि सज्झाए ॥६६४॥

य एव शयितव्ये विधिः पूर्वमेकानेकानां प्रत्युपेक्षकाणां व्यावर्णितो वसतिद्वारे स एवात्रापि द्रष्टव्यः, नानात्वं यदि परमिदं यदुत स्वाध्यायं कृत्वा स्वपन्तीति। ओघ०। प० व०। ध०। आ० चू०।

स्वाध्यायविधिः—

स्वाध्याय—इति, अन्वयस्तूक्त एव, स्वाध्यायश्च कियत्कालं कार्य इत्याह-आद्यपौरुषीमिति-प्रथमपौरुषीं पादोनप्रहरं यावदित्यर्थः। अत्र विधिश्चैवं—वसतेर्हस्तशतावधि क्षेत्रं शोधयित्वा तत्रास्थिप्रमुखं पतितं विधिना परिष्ठाप्य वसतिं प्रवेदयन्ति गुरवे साधवः। यः पुनः कालग्राही स मुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनापूर्वं वन्दनके दत्त्वा वसतिं शुद्धं च कालं प्रवेदयति, ततश्चोपयुक्तः पूर्वं वाचनाचार्यस्तदनुतदनुज्ञानाश्चेतरेऽपि सूत्रोक्तविधिना स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति, यदुक्तं सर्वमेतद्यतिदिनचर्यायाम्—

" हत्थसयं सोहित्ता, जाणित्ता पसवमिनिक्खमाईयं।
परिठविअ अट्ठिपमुहं, विहिणा वसहिं पवेइंति ॥ १ ॥
जे उण कालग्गाही, ते पुत्ति पेहिऊण किइकम्मं।
काउं वसहिं तत्तो, काल सुद्धं पवेअंति ॥ २ ॥
सिद्धंतसिट्ठविहिणा, उवउत्ता पट्ठवेइ सज्झायं।
पढमं वाणायरिओ, तयणुण्णाया तहा इअरे ॥ ३ ॥ "

इयं च मण्डली सूत्रविषयेति सूत्रमण्डलीत्युच्यते। सा चाद्यपौरुषीप्रमाणेति आद्या पौरुष्यपि सूत्रपौरुषीत्युच्यते। इदानीं तूपयोगकरणकाले स्वाध्यायं कुर्वन्तो गीतार्था एना सत्यापयन्ति, यतस्तत्रैव—" उवओगकरणकाले, गीअत्था जं करेंति सज्झायं। सो सुत्तपोरिसीए, आयारो दसिओ तेहिं ॥ १ ॥ " इति। द्वितीया पौरुषी त्वर्थविषयेति ज्ञेयमित्युत्सर्गः, अपवादस्तु अगृहीतसूत्राणां बालानां द्वे अपि पौरुष्यौ सूत्रस्यैव, गृहीतसूत्राणां तु द्वे अप्यर्थस्येति, तदुक्तं तत्रैव—" उस्सग्गेणं पढमा छग्घडिआ सुत्तपोरिसी भणिआ। बिइआ य अत्थविसया, निद्दिट्ठा दिट्ठसमयेहिं ॥ १ ॥ बिइअपय बालाणं, अगहिअसुत्ताण दो वि सुत्तस्स। जे उण अंहिअसुत्तसारा, तेसिं दो चेव अत्थस्स ॥२॥ " इति। च स्वाध्यायो-वाचनापृच्छनापरिवर्त्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मकथारूपः पञ्चविधः। ध० ३ अधि०। " पडिक्कमंताणं पडिक्कमणकालं० जाव सज्झायं करिज्जा दुवालस " महा० १ चू०। चतुष्कालं स्वाध्यायः कर्त्तव्यः। नि०चू०११ उ०। (चतुष्कालस्वाध्यायवक्तव्यता 'पुच्छण' शब्दे पञ्चमभागे द्रष्टव्या।) (तथा 'कालियसुय' शब्दे तृतीयभागे ५०० पृष्ठे द्रष्टव्या।)

पट्ठविय वंदिए वा, ताहे पुच्छंति किं सुयं भंते !।
ते वि य कहेंति सव्वं,जं जेण सुयं व दिट्ठं वा ॥१३६५॥

दण्डधरेण पट्ठविए वंदिए, एव सव्वेहिं वि पट्ठविए पुच्छा भवइ-अज्जो ! केण किं दिट्ठं सुयं वा ? दंडधरो पुच्छइ अण्णा वा ते वि सव्व (व्वं) कहेंति जति सव्वेहिं वि भणियं-न किंचि सुयं दिट्ठं वा, तो सुद्धे करेंति सज्झायं। अह एगेण वि किंचि विज्जुमादि फुडं दिट्ठं गज्जियादि वा सुयं तो असुद्धे न करेंति त्ति गाथार्थः।

अह संकियं—

इक्कस्स दोएह य सं-कियम्मि कीरइ न कीरती तिरहं ।
सगणम्मि संकिए पर-गणं तु गंतुं न पुच्छंति ।१३८६।

जदि एगेण संदिद्धं दिट्ठं सुय वा, तो कीरइ सज्झाओ, दोएह वि संदिद्धे कीरति, तिरहं विज्जुमादिएण सदेहे ण कीरइ सज्झाओ, तिरहं अरणाण सदेहे कीरइ, सगणम्मि संकिए परवयणाओऽसज्झाओ न कीरइ । खेत्तविभागेण तेसिं चेव असज्झाइयसभवो ।

'जं एत्थं णाणत्तं तमहं वोच्छं समासेणं' ति-अस्यार्थः-

कालचउक्के णाण-त्तगं तु पाओसियम्मि सव्वे वि ।
समयं पट्ठवयंती, सेसेसु समं च विसमं वा ॥१३८७॥

एव सव्व पाओसियकाले भणिय, इयाणिं चउसु कालेसु किंचि सामएण किंचि विसेसिय भणामि, पाओसिय दंडधर एक्कं मोत्तु सेसा सव्वे जुगव पट्ठवेंति, सेसेसु निसु अड्ढरत्तवेरत्तियपाभाइए य सम वा विसम वा पट्ठवेंति ।

कि चान्यत्—

इंदियमाउत्ताणं, हणंति कणगा उ तिन्नि उक्कोसं ।
वासासु य तिन्नि दिसा,उउबद्धे तारगा तिन्नि।१३८८।

सुट्ठ इंदियउवओगउवउत्तेहिं सव्वकाला पडिजागरियव्वा घेत्तव्वा, कणगेसु कालसखाकओ विसेसो भएणइ-तिरिण गिम्हे उवहणति त्ति, तेण उक्कोस भएणइ, चिरेण उवघाउ त्ति, वेण सत्त (तिरिण) जहरणं सेस मज्झिमं ।

अस्य व्याख्या—

कणगा हणंनि कालं,ति पंच सत्तेव गिम्हि सिसिरवासे ।
उक्का उ सरेहागा, रेहारहितो भवे कणओ ॥१३८९॥

कणगा गिम्हे तिन्नि सिसिरे पंच वासासु सत्त उवहणंति, उक्का पुणगावि, अय चासिं विसेसा—कणगो सएहरेहो पगासरहिओ य, उक्का महतरेहा पकासकारिणी य । अहवा-रेहारहिओ विप्फुलिंगा पभाकरा उक्का चेव ।

'वासासु तिरिण दिसा' अस्य व्याख्या—

वासासु य तिन्नि दिसा,हवंति पाभाइयम्मि कालम्मि ।
सेसेसु तीसु चउरो,उडुम्मि चउरो चउदिसिं पि ।१३९०।

जत्थ ठिओ वासाकाले तिन्नि वि दिसा पेक्खइ तत्थ ठिओ पाभाइय काल गेएहइ, सेसेसु तिसु वि कालेसु वासासु (उडुवद्धे सव्वेसु) जत्थ ठिओ चउरो वि दिसाभाओ पेच्छइ तत्थ ठिओऽवि गेएहइ ।

'उडुबद्धे तारगा तिन्नि' अस्य व्याख्या—

तिसु तिन्नि तारगाओ, उडुम्मि पाभातिए अदिट्ठेऽवि ।
वासासु (य)तारगाओ,चउरो छन्ने निविट्ठोऽवि ।१३९१।

निसु कालेसु पाओसिए अड्ढरत्तिए वेरत्तिए, जति तिन्नि ताराओ जहएणेण पेच्छति तो गिएहति । उडुवद्धे चेव अब्भादिसथडे जइ वि एक्क पि तार न पिच्छति तहावि पाभाई कालं गेएहंति । वासाकाले पुण चउरो वि काला अब्भाइसंथडे तारासु अदीसंतासु वि गेएहंति ।

'छन्ने निविट्ठो' त्ति अस्य व्याख्या—

ठाणासइ बिंदुसु अ, गिएहं चिट्ठो वि पच्छिमं कालं ।
पडियरइ बहिं एक्को, एक्को [व] अंतट्ठिओ गिएहे ।१३९२।

जदि वि वसहिस्स वाहिं कालग्गाहिस्स ठाओ नत्थि ताहे अंतो छएणे उद्धट्ठिओ गेएहति । अह उद्धट्ठियस्स वि अंतो ठाओ नत्थि ताहे छएणे चेव निविट्ठो गिएहइ । वाहिट्ठिओ वि एक्को पडियरइ । वासविंदुसु पडंतीसु नियमा अंतो ठिओ गिएहइ । तत्थ वि उद्धट्ठिओ निसएणो वा । नवरं पडियरगो वि अतो ठिओ चेव पडियरइ । एस पाभाइए गच्छुवग्गहट्ठा अववायविही । सेसा काला ठाणासति न घेत्तव्वा, आइएणतो वा जाणियव्वं ।

'कस्स कालस्स कं दिसमभिमुहेहिं ठायव्व' मिति भाष्यते-

पाओसि अड्ढरत्ते, उत्तरदिसि पुव्वपेहए कालं ।
वेरत्तियम्मि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥१३९३॥

पाओसिए अड्ढरत्तिए नियमा उत्तराभिमुहो ठाइ, 'वेरत्तिए भयण' त्ति इच्छा उत्तराभिमुहो पुव्वाभिमुहो वा पाभाइए नियमा पुव्वाभिमुहो ।

इयाणिं कालग्गहणपरिमाणं भएणइ—

कालचउक्कं उक्को-सएण जहन्नतियं तु बोद्धव्वं ।
बीयपएणं तु दुगं, मायामयविप्पमुक्काणं ॥ १३९४ ॥

उस्सग्गे उक्कोसेण चत्तारि काला घेप्पंति । उस्सग्गे चेव जहएणेण तिगं भवति । 'वितियपए ' त्ति-अववाओ, तेण कालदुगं भवति, अमायाविन' करणे अगृह्यमाणस्येत्यर्थ । अहवा-उक्कोसेणं चउक्कं भवति । जहएणेण हाणिपदे तिग भवति । एक्कम्मि अगहिए इत्यर्थः । वितिए हाणिपदे कए दुग भवति । द्वयोरग्रहणत इत्यर्थ., एवममायाविणो तिन्नि वा अगिएहतस्स एक्को भवति । अहवा-मायाविमुक्तस्य कारणे एकमपि कालमगृहृतो न दोष., प्रायश्चित्तं न भवतीति गाथार्थ' ।

कहं पुण कालचउक्कं ?, उच्यते—

फिडियम्मि अड्ढरत्ते, कालं घित्तुं सुवंति जागरिया ।
ताहे गुरू गुणंती, चउत्थि सव्वे गुरू सुअइ ॥ १३९५ ॥

पादोसियं काल घेत्तुं सव्वे सुत्तपोरिसिं काउं पुन्नपोरिसीए सुत्तपाढी सुवति । अत्थचिंतया उक्कालियपाढिणो य जागरंति । जाव अड्ढरत्तो । तवो फिडिए अड्ढरत्ते कालं घेत्तु जागरिया सुवति, ताहे गुरू उट्ठेत्ता गुणेति । जाव चरिमो पत्तो । चरिमजामे सव्वे उट्ठित्ता वेरत्तियं घेत्तुं सज्झाय करेंति, ताहे गुरू सुवति । पत्ते पाभाइयकाले जो पाभाइय कालं घेच्छिहिति सो कालस्स पडिक्कमिउ पाभाइयकाल गेएहइ । सेसा कालवेलाए पाभाइयकालस्स पडिक्कमति । ततो आवस्सयं करेंति । एवं चउरो काला भवंति ।

तिरिण कहं ?, उच्यते-पाभाइए अगहिए सेसा तिन्नि । अहवा—

गहियम्मि अड्ढरत्ते-वेरत्तिय अगहिए भवइ तिन्नि ।

वेरत्तिय अड्डरत्ते, अइ उवओगा भवे दुण्णि ॥१३६६॥
पडिजग्गियम्मि पढमे, वीयविवज्जा हवंति तिन्नेव ।
पाओसिय वेरत्तिय,अइउवओगा उ दुण्णि भवे ।१३६७।

वेरत्तिए अगहिए सेसेसु तिसु गहिएसु तिरिण, अड्डरत्तिए व: अगहिए तिरिण, दोरिण कहं ?, उच्यते, पाउसियअड्डरत्तिएसु गहिएसु सेसेसु दोरिण भवे । अहवा-पाउसियवेरत्तिए गहिए य दोन्नि । अहवा-पाउसियपाभाइएसु अगहिएसु दोरिण, एत्थ विकप्पे पाउसिए चेव अणुवहएण उवओगओ सुपडियग्गिएण सव्वकालेण पढति न दोसो । अहवा-वेरत्तिए अड्डरत्तिए अगहिए दोरिण। अहवा-अड्डरत्तियपाभाइयगहिएसु दोरिण । अहवा-वेरत्तियपाभाइएसु गहिएसु, जदा एक्को तदा अरणतरं गेरहइ । कालचउक्ककारणा इमे कालचउक्के गहणं उस्सग्गविही चेव । अहवा-पाओसिए गहिए उवहए अड्डरत्तं घेत्तु सज्झायं करेंति । पाभाइओ दिवसट्ठा घेत्तव्वो चेव । एवं कालचउक्क दिट्ठ, अणुवहए पाओसिए सुपडियग्गिए सव्वं राइं पढति । अड्डरत्तिएण वि वेरत्तिएण पढंति।वेरत्तिएण वि अणुवहएण सुपडियग्गिएण पाभाइय असुद्धे उद्दिट्ठ दिवसओ वि पढंति । कालचउक्क अग्गहणकारणा इमे—पाउसिय न गिरहंति असिवादिकारणओ न सुज्झति वा, अड्डरत्तियं न गिरहति , कारणतो ण सुज्झति वा, पाओसिएण वा सुपडियग्गिएण पढंति न गेरहति । वेरत्तियं कारणओ न गिरहति न सुज्झइ वा । पाओसिय अड्डरत्तेण वा पढति, तिन्नि वा णो गेरहति । पाभाइय कारणओ न गिरहइ , न सुज्झइ वा, वेरत्तिएणेव दिवसओ पढंति ।

इयाणिं पाभाइयकालग्गहणविहिं पत्तेयं भणामि-
पाभाइयकालम्मि उ, संचिक्खे तिन्नि छीयरुन्नाणि ।
परवयणे खरमाई, पावासु य एवमादीणि ॥ १३६८ ॥

व्याख्या त्वस्या भाष्यकार. स्वयमेव करिष्यति । तत्थ पाभाइयम्मि काले गहणविही य , तत्थ गहणविही इमा-
नवकालवेलसेमे, उवग्गहियअट्ठया पडिकमई ।
न पडिक्कमई वेगो, नववारहए धुवमसज्झाओ ॥२२४॥

दिवसओ सज्झायविरहियाण देसादिकहासंभववज्जणट्ठा मेहावीतराण य पलिभगवज्जणट्ठा, एव सव्वेसिमणुग्गहट्ठा नवकालग्गहणकाला पाभाइय अणुरणाया । अओ नवकालगहणवेलाहिं सेसाहिं पाभाइयकालग्गाही कालस्स पडिक्कमति । सेसा वि तं वेल पडिक्कमति वा न वा । एगो नियमा न पडिक्कमइ, जइ छीयरुदादिहिं न सुज्झइ तो सो चेव वेरत्तिओ सुपडियग्गिओ होहिति त्ति सो वि पडिक्कतेसु गुरुणं काल निवेदित्ता अणुदिए सूरिए कालस्स पडिक्कमति । जइ घेप्पंतो नववारं उवहओ कालो तो नज्जइ धुवमसज्झाइयमत्थि त्ति न करेति सज्झाय ।

नववारगहणविही इमो-'सचिक्खे तिरिण छीतरुरणाणि ' त्ति अस्य व्याख्या—
इक्किक तिन्नि वारे, छीयाइहयम्मि गिरहई कालं ।
चोएइ खरो वारस, अणिट्ठविसए अ कालवहो ॥२२५॥

एक्कस्स गिरहओ छीयरुदादिहए सचिक्ख इति ग्रहणाद्विरमतीत्यर्थः, पुणो गिरहइ, एवं तिरिण वारा तओ परं अरणो अरणम्मि थंडिले तिरिण वाराउ, तस्स वि उवहए अरणो अरणम्मि थंडिले तिरिण वारा तिरहं असई दोरिण जणा णव वाराओ पूरेइ । दोरह वि असती ए एक्को चेव णव वाराओ पूरेइ । थंडिलेसु वि अववाओ , तिसु दोसु वा एक्कम्मि वा गिरहति । 'परवयणे खरमाई ' अस्य व्याख्या ' चोएइ खरो पच्छद्ध ' चोदक आह—जदि रुदति भणिट्ठे कालवहो ततो खरेण रडिते वारहवरिसे उवहंमउ , अरणेसु वि अणिट्ठइंदिय विसएसु एव चेव कालवहो भवतु ? ,

आचार्य आह—
चोअग माणुसणिट्ठे कालवहो सेसगाण उपहारो ।
पावासुआइ पुव्विं, पन्नवणमणिच्छ उग्घाडे ॥२२६॥

माणुससरे अणिट्ठे कालवहो ' सेसग ' त्ति-तिरिया तेसिं जइ अणिट्ठो पहारसद्दो सुव्वइ तो कालवघो। ' पावासिय ' त्ति-मूलगाथायां योऽवयवः अस्य व्याख्या ' पावासुयाय ' पच्छद्ध , जइ पाभाइयकालग्गहणवेलाए पावासियभज्जा पइणो गुणे संभरंति दिवे दिवे रोयति , रुवणवेलाए पुव्वयरो कालो घेत्तव्वो । अहवा-सा चि पच्चूसे रोवेज्जा ताहे दिया गतुं पएणविज्जइ, पएणवणमनिच्छाए उग्घाडणकाउस्सग्गो कीरइ ।

'एवमादीणि ' त्ति अस्यावयवस्य व्याख्या—
वीसरसद्दरुअंते, अव्वत्तगडिंभगम्मि मा गिरहे ।
गोसे दरपट्ठविए, छीए छीए तिगी पेहे ॥ २२७ ॥

अच्चायासेण रुयंतं वीरस भन्नइ । तं उवहणए , ज पुण महुरसद्दं घोलमाणं च त न उवहणति, जाव मजापिरं तामव्वत्त , त अप्पेण वि वीसरेण उवहणइ । महंत उस्सुंभरोवणेण उवहणइ, पाभाइयकालग्गहणविही गया । इयाणिं पाभाइयपट्ठवणविही—' गोसे दर ' पच्छद्ध , ' गोसि ' त्ति-उदितमादित्ये , दिसालोय करेत्ता पट्ठवेंति । ' दरपट्ठविए ' त्ति अद्धपट्ठविए जइ छीतादिणा भग्गं पट्ठवणं अरणो दिसालोयं करेत्ता तत्थय पट्ठवेंति । एव ततियवाराए ।

दिसावलोयकरणे इमं कारणं—
आइन्न पिसियमहिया, पेहित्ता तिन्नि तिन्नि ठाणाइं ।
नववारहए काले, हउ त्ति पढमाइ न पढति ॥१३६६॥

' आइरणा पिसिय ' त्ति-आइरणं-पोग्गल त कागमादीहिं आणीयं होज्जा , महिया वा पडिउमारद्धा, एवमाई एगट्ठाणे ततो वारा उवहए हत्थसयवाहिं अरणं ठाण गतु पेहति पडिलेहेति । पट्ठविंति त्ति वुत्त भवति । तत्थ वि पुव्वुत्तविहिणा तिन्नि वारा पट्ठवेंति । एव वितियठाणे वि असुद्ध तओ वि हत्थसय अन्न ठाण गतु तिन्नि वारा पुव्वुत्तविहाणेण पट्ठवेंति । जइ सुद्ध तो करेंति सज्झाय । नववारहए खुताइणा णियमा अहो, (ततो) पढमाए पोरिसीए न करेंति सज्झायमिति गाथार्थ ।

पट्ठवियम्मि सिलोगे, छीए पडिलेह तिन्नि अन्नत्थ ।

सोणिय मुत्तपुरीसे, घाणालोअं परिहरिज्जा ॥ १४००॥

जदा पट्ठवणाए तिन्नि अज्झयणा समत्ता, तदा उवरिमेगो सिलोगो कड्डियव्वो । तम्मि, समत्ते पट्ठवणं समप्पइ । विति यपादो गयत्थो ।

'सोणिय' त्ति अस्य व्याख्या—

आलोअम्मि चिलमिणी, गंधे अन्नत्थ गंतु पकरंति ।

वाघाइयकालम्मी, दंडग मरुआ नवरि नऽत्थि॥१४०१॥

जत्थ सज्झाय करेतेहिं सोणियवच्छिगा दीसति तत्थ न करेंति सज्झाय । कडग चिलिमिलि वा अतरे दातुं करेंति । जत्थ पुण सज्झायं चेव करेन्ताण मुत्तपुरीसकलेवरादीयाण गंधे अण्णम्मि वा असुभगंधे आगच्छंते तत्थ सज्झायं न करेंति । अण्णं पि वंधणसेहणादि आलोयं परिहरेज्जा । एयं सव्वं निव्वाघाए काले भणियं । वाघाइमकालो वि एव चेव । नवरं गंडगमरुगदिट्ठता न संभवति ।

एएसामन्नयरे-ऽसज्झाए जो करेइ सज्झायं ।

सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १४०२ ॥

निगदसिद्धा । आव० ४ अ० ।

से भयवं ! केणं अट्ठेणं गोयमा ! जे भिक्खू जावज्जीवाए अभिग्गहेणं चाउक्कालियं वायणाइ जहासत्तीए सज्झायं न करेज्जा, से णं कुसीले णेए । अन्नं च जे केई जावज्जीवाभिग्गहेण अपुव्वनाणाहिगमं करेज्जा तस्सासत्तीए पुव्वाहीयं गुणेज्जा तस्स वि य असत्तीए पंचमंगलाणं अट्ठाइज्जे सहस्से परावत्ते से भिक्खू आराहगे, तं च नाणावरणं च खवइ । तिव्वयरेइ वा भवित्ताणं सिज्झेज्जा । महा० ३ अ० ।

(अत्रत्या वक्तव्यता ' कुसील ' शब्दे तृतीयभागे ६०६ पृष्ठे गता ।)

अहा णं पढमबीयपोरिसीए जइ णं कहाइ महया कारणवसेणं अट्ठघडिगं वा सज्झायं न कयं तं तत्थ मिच्छुकडं गिलाणस्स अन्नेसिं निव्विगइअं । महा० १ चू० ।

जे णं भिक्खू उभयं थंडिलाणि विहिणा गुरुपुरो संदिसावित्ता णं पागणस्स य संचरेऊणं कालवेलं० जाव सज्झायं ण करेज्जा तस्स णं छट्ठं पायच्छित्तं । महा०१ चू० ।

(काल एव स्वाध्यायः कर्त्तव्य इति ' आयार ' शब्दे द्वितीयभागे ३४० पृष्ठे कालाचारप्रस्तावे उक्तम् ।)

(अस्वाध्यायिके स्वाध्यायो न कर्त्तव्यः, तच्चास्वाध्यायिकमात्मसमुत्थ परसमुत्थं चेति द्विविधम् ' असज्झाइय ' शब्दे प्रथमभागे ८२७ पृष्ठे व्याख्यातम् ।) (प्रतिपत्सु स्वाध्यायो न कर्त्तव्य इत्युक्तम्—' असज्झाय ' शब्दे प्रथमभागे ८३० पृष्ठे ।)

व्यतिकृष्टकाले स्वाध्यायो न कर्त्तव्यः । सूत्रम्—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वितिगिट्ठे काले असज्झायं उद्दिसित्तए वा करेत्तए वा ॥ १० ॥

अस्य संवन्धमाह—

वितिगिट्ठं खलु पगयं, एगंतरिओ य होति उद्देसो ।

अव्वितिगिट्ठ-विगिट्ठं जह पाढुडमेत्र नो सुत्तं ॥ १८१ ॥

व्यतिकृष्टमिति खलु प्रकृतमनुवर्त्तनमस्ति दिक्सूत्राऽव्यतिकृष्टे काले, उद्घाटायां पौरुष्यामित्यर्थः, स्वाध्यायमुद्देष्टुं वा कर्त्तुं वेति सूत्राक्षरार्थ ।

संप्रति भाष्यविस्तरः—

लहुगा य सपक्खम्मी, गुरुगा परपक्खे उद्दिसंतस्स ।

अंगं सुयखंधं वा, अज्झयणुद्देसथुतिमाई ॥१८२॥

यदि विकृष्टे-उद्घाटापौरुषीलक्षणे सपक्ष उद्दिशति संयतः; संयतस्योद्दिशतीत्यर्थ , तदा तस्य प्रायश्चित्त चत्वारो लघुका । परपक्ष -संयतस्य संयती, सयत्याः सयतस्तत्र सयत' सयत्या उद्दिशति, कारणे वा संयती सयतस्य तदा प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका· । अथ किमुद्दिशत एव प्रायश्चित्तमत आह—अङ्गं श्रुत स्कन्धमध्ययनमुद्देशं स्तुतिम् आदिशब्दात् (व्य० ७ उ० ।) शब्दमनस्त्वन्धम् । वृ० । (स्वाध्याये प्रायश्चित्तम् ' थय ' शब्दे चतुर्थभागे २३८३ पृष्ठे उक्तम् ।)

अथ व्यतिकृष्टे काले उद्दिशतः पठतो वा को दोष', अत आह—

अट्ठहा नाणमायारो, तत्थ काले य आदिमो ।

अकालऽऽज्झाइणा सो उ,नाणायारो विराहितो ॥१८४॥

ज्ञानाचारोऽष्टधा-अष्टप्रकार' 'काले विणए' इत्यादि प्रागुक्तलक्षणस्तेषु चाष्टसु ज्ञानाऽऽचारेषु मध्ये काल इत्यादिको ज्ञानाचार', स चाऽकालाध्यायिना ज्ञानाचारो विराधित', न केवलमय दोप किं त्वन्योऽपि ।

तथा चाऽऽह—

कालादिउवयारेणं, न विज्जा सिज्झते विणा ।

देति रंधे अवद्धंसं, सा व अन्ना व से तहिं ॥ १८५ ॥

कालाद्युपचारेण विना विद्या न सिध्यति, न केवल न सिध्यति,किं तु-कालादिवैगुण्यलक्षणे रन्ध्रे-छिद्रे सति साऽधिकृतविद्याधिष्ठात्री देवता अन्या' वा तत्रावसरे अवध्वंसं ददाति । एष दृष्टान्त । अयमुपनय —व्यतिकृष्टे काले सूत्रे उद्दिश्यमाने पठ्यमाने वा सूत्रं निर्जराफलदायिनया तथा न सिध्यति । न केवलं न सिध्यति, किन्तु-यथा देवतया सूत्रमधिष्ठितं सा कालातिक्रमेण पठनतोऽध्याम्यन्ती प्रान्ता वा काचिद्देवता अकाले पठनलक्षणं छिद्रमवाप्यावध्वंसं दद्यात् ।

अथ कथं ज्ञायते सूत्र देवतयाऽधिष्ठितमत आह—

सलक्खणमिदं सुत्तं, जेण सव्वण्णुभासियं ।

सव्वं च लक्खणोवेयं, समहिट्ठंति देवया ॥ १८६ ॥

इदमधिकृतं सूत्र सलक्षण येन कारणेन सर्वज्ञेन भाषितं सर्वमपि च लक्षणोपेत वस्तु जगति देवता· समधितिष्ठन्ति ततो ज्ञायते सूत्रमपि देवताधिष्ठितम् ।

अन्यच्च—

जहा विज्जानरिंदस्स, जं किंचिदपि भासियं ।

विज्जा भवति सा चेह, देसे काले य सिज्झइ ॥ १८७ ॥

यथा विद्यानरेन्द्रस्य-विद्याचक्रवर्त्तिनो यत्किञ्चिदपि भाषितं (तत्) विद्या भवति । सा चेह जगति देशे काले वा सिध्यति । न कालाऽऽद्युपचारमन्तरेण । तथा ।

जहा य चक्किणो चक्कं, पत्थिवेहिं वि पुज्जइ ।

ण याऽवि कित्तणं तस्स, जत्थ तत्थ न जुज्जई ॥१८८॥

यथा वाशब्दो दृष्टान्तान्तरसूचने। चक्रिण'-चक्रवर्तिनश्च-क्रम्-आज्ञा पार्थिवैरपि सर्वैः युज्यते, न चापि तस्य यत्र तत्र वा कीर्तन-संशब्दनं युज्यते। उक्तो दृष्टान्त।

उपनयमाह—

तहा अट्ठगुणोवेया, जिणसुत्तीकया जति।

पुज्जते न य सव्वत्थ, तीसे झाया उ जुज्जती ॥१८९॥

तथा—तेन प्रकारेण इह—जगति जिनस्य वाक् सूत्रीकृता अष्टगुणोपेता वक्ष्यमाणनिर्दोषत्वाद्यष्टगुणसमन्विता सर्वैरपि सुरासुरमनुजैः पूज्यते, न च सर्वत्र देशे काले वा तस्याध्यायिता युज्यते, किन्तु यथोक्त एव देशे काले च।

संप्रति तानेवाऽष्टौ गुणानाह—

निद्दोसं सारवंत च, हेउजुत्तमलंकियं।

उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ १९० ॥

निर्दोषं-द्वात्रिंशताऽपि दोषैर्विनिर्मुक्तं सारवत् बह्वर्थमधिकृतव्यवहारसूत्रवत्, हेतवो ऽन्वयव्यतिरेकलक्षणास्तैर्युक्तमलंकृतम्-उपमाद्यलङ्कारोपेतम्, उपनीतम्-उपनयोपसंहृतं सोपचारं मित-परिमिताक्षर-मधुरं-ललिताक्षरं पदाद्यात्मकतया श्रोत्रमनोहारि।

पुव्वण्हे उ परण्हे य, अरहा जेण भासई।

एसाऽवि देसणा अंगे, जं च पुव्वुत्तकारणं ॥ १९१ ॥

येन कारणेन भगवानर्हन्पूर्वाह्णे वा एवैव च भगवतो देशना अङ्गे निबद्धा, तस्मादुद्घाटायां पौरुष्यां न पठनीयं, नाप्युद्देष्टव्यम्। यच्च पूर्वं—निशीथाध्ययने उक्तं कारणं तत्रौदाहरणं लक्षणं तस्मादध्यकाले न पठनीयं, नाप्युद्देष्टव्यमिति।

सन्ध्याकाले न पठनीयम्। यत आह—

रत्तीदिणाण मज्झेसु, उभओ संझओ रवी।

चरंति गुज्झगा केइ, तेण तासिं तु णो सुतं ॥ १९२ ॥

रात्रिंदिनमध्ययोः प्रातस्सन्ध्यायां विकालसंध्यायां चेत्यर्थः। तथा उभयोरपि संध्ययोर्मध्याह्नसंध्यायामर्द्धरात्रसंध्यायां चेत्यर्थ, येन कारणेन केचिद् गुह्यका व्यन्तरविशेषाश्चरन्ति परिभ्रमन्ति तेन कारणेन तासु चतसृष्वपि सन्ध्यासु न श्रुतमुद्दिश्यते पठ्यते वा, मा भूत् छलनादोष इति कृत्वा।

आह यदि सन्ध्यासु गुह्यकाश्चरन्ति ततः कथमावश्यकं संध्यायां क्रियते। तत आह—

जवहोमाऽऽदिकज्जेसु, उभओ संझओ सुरा।

लोगेण भाविया तेण, संझावामगदेसणा ॥ १९३ ॥

जपहोमादिकार्येषु उभयोः संध्ययोः सुरा-गुह्यका लोकेन भाविताः तिष्ठन्ति, तावद्वश्यमावश्यकं कुर्मस्तेषां तत्र व्यापृतत्वादावश्यकस्यापि च संध्याकृत्यरूपत्वाच्चेन संध्यायामावश्यकदेशना।

एते उ सपक्खम्मी, दोसा आणादओ समक्खाया।

परपक्खम्मि विराहण, दुविहेण विसेण दिट्ठंतो ॥१९४॥

एते प्रवचनवेदिनामनीच प्रसिद्धाः, स्वपक्षे उद्दिशन आज्ञादयो दोषाः समाख्याताः। तद्यथा-आज्ञा-तीर्थकराज्ञा विराधिता भवति, अनवस्था त दृष्ट्वा अन्येषामपि तथा करणात् मिथ्यात्व, तीर्थकराज्ञाभङ्गात्। विराधना द्विविधा-संयमविराधना, आत्मविराधना च। तत्र संयमविराधना ज्ञानाचारविराधनात्, आत्मविराधना देवताच्छलनात्। परपक्षेऽप्येते दोषाः। केवलं या संयमविराधना सा ज्ञानाचारविघातात्मिका ब्रह्मघातात्मिका च ज्ञातव्या। तत्र द्विविधेन विषेण द्रव्यविषेण भावविषेण च दृष्टान्त।

तत्र द्रव्यभावविषप्ररूपणार्थमाह—

दव्वविसं खलु दुविहं, सहजं संजोइमं च तं बहुहा।

एमेवं य भावविसं, सच्चेयणाऽच्चेयणं बहुहा ॥१९५॥

द्रव्यविषं खलु द्विविधं, तद्यथा-सहजं, संयोगिमं च। संयोजनं संयोगस्तेन निर्वृत्तं संयोगिमं 'भावादिमः ।६।४।२१।' इतीमप्रत्ययः। तच्च सहजं संयोगिमं च। बहुधा-अनेकप्रकारमेवमेव अनेनैव प्रकारेण खलु द्विविधं भावविषम्। तद्यथा-सहजं, संयोगिमं च। तच्च प्रत्येकं सचेतनम्, अचेतनं च। बहुधा बहुप्रकारम्।

सम्प्रति सहजसंयोगिमद्रव्यविषप्ररूपणार्थमाह-

सहजं सिंगियमादी, संजोइम घयमहुं च समभागं।

दव्वविसं रोगविहं, एत्तो भावम्मि वुच्छामि ॥१९६॥

सहजं द्रव्यविषं शृङ्गिकादि संयोगिमं घृतं मधु च समभागम्। एतच्चैकैकमपि द्रव्यविषमनेकविधं द्रष्टव्यम्। अत ऊर्ध्वं भावे भावविषं वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

पुरिसस्स निसग्गविसं, इत्थी एवं पुमं पि इत्थीए।

संजोइमो सपक्खे, दोण्ह वि परपक्खनेवत्थो ॥१९७॥

पुरुषस्य निसर्गविषं स्त्री, स्त्रीनेपथ्योपेता, एवं स्त्रिया अपि सहजं विषं पुमान्, पुरुषनेपथ्योपेतः। संयोगिमविषं द्वयोरपि संयतस्य संयत्याश्चेत्यर्थः। स्वपक्ष. परपक्षनेपथ्य, तद्यथा-संयतस्य पुरुषः स्त्रीनेपथ्योपेतः, निर्ग्रन्थ्याः स्त्री, पुरुषनेपथ्योपेता।

घाणरसफासतो वा, दव्वविसं वा सइं ऽतिपातेइ।

सव्वविसयाणुसारी, भावविसं दुज्जयं असइं ॥१९८॥

द्रव्यविषं घ्राणतो रसतः स्पर्शतो वा सकृदेकवारतो वा अतिपातयति। वा-विभाषायाम्, तदपि सकृन्निपातवैकल्यिकं भवति। तथाहि-द्रव्यविषं जीवितान्न व्यापयेदपीति, भावविषं पुनः सर्वविषयानुसारि पञ्चस्वपीन्द्रियविषयेषु सम्प्रापकत्वात्, तथा दुर्जयमल्पसत्त्वेन जेतुमशक्यत्वान्नियमोच्छ्रासकृदनेकवारमतिपातयति-विनाशयति, भावविषमूर्छितानामनेकमरणभावात्।

उपसंहारमाह—

जम्हा एए दोसा, तम्हा उ सपक्खे समणसमणीहिं।

उद्देसो कायव्वो, किमत्थ पुण कार उद्देसो ॥१९९॥

यस्माद्विपक्षे एते दोषास्तस्मात् श्रमणश्रमणीभ्यां स्वपक्षे उद्देशः कर्तव्यः, संयतैः संयतानामुद्देशः कार्यः, संयतीभिः संयतीनामित्यर्थः। तत प्रागुक्ता दोषा न भवन्ति। आह परः-किमत्र पुनः कारणं यदुद्देशः क्रियते।

अनुद्दिष्टं कस्मान्न पठ्यते ? तत्राह–

बहुमाणविणयआउ–त्तताति उद्देसतो गुणा होंति ।

पढमो एसो सव्वो, एत्तो वुच्छं चरणकालं ॥ २०० ॥

उद्देशे हि क्रियमाणे श्रुतस्य-श्रुताधारस्य वा अध्यापकस्योपरि बहुमानमान्तरः प्रीतिविशेषो भवति, विनयश्च प्रयुक्तः स्यात्, आयुक्तता च महती भवति, एते उद्देशतो गुणा भवन्ति । एष सर्वोऽप्यङ्गादिविषय उद्देशः-प्रथमोद्देशः, अत ऊर्द्ध्वं तु स्वाध्यायकरणकालं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

थयथुइधम्मक्खाणं, पुव्वुद्दिट्ठं तु होइ संझाए ।

कालियंकाले इयरं, पुव्वुद्दिट्ठं विगिट्ठे वि ॥ २०१ ॥

स्तवः—स्तुतिर्धर्माख्यान वा पूर्वोद्दिष्टं सन्ध्यायामपि पठनीयं भवति, कालिकं पुनः श्रुतं प्रथमायां पौरुष्यामुद्दिष्टं काले—प्रथमपौरुषीलक्षणे चरमपौरुषीलक्षणे च पठ्यते नाकाले । इतरत् उत्कालिकं प्रथमाया पौरुष्यामुद्दिष्टव्यतिकृष्टेऽपि काले संध्यायामस्वाध्यायिकं च वर्जयित्वा पठ्यते ।

पत्ताण समुद्देसो, अंगसुयक्खंधपुव्वसूरम्मि ।

इच्छा निसीहमादी, सेसादि ण पच्छिमादीसुं ॥२०२॥

अध्ययनमुद्देशं वा पठन्तो यदैव श्रवणं प्राप्ता भवन्ति तदैव तस्याध्ययनस्योद्देशस्य वा समुद्देशः क्रियते, श्रुतस्कन्धो वा पूर्वसूरे उद्घाटायामपि पौरुष्यामनुज्ञायते । येषामागाढा योगास्तेषां निशीथादीनामिच्छा प्रथमायां चरमाया वा पौरुष्या तेषामनुज्ञा प्रवर्त्तते इति । शेषाणि अध्ययनान्युद्देशका वा दिवसस्य पश्चिमाया पौरुष्याम्, आदिशब्दाद् रात्रेः प्रथमाया चरमायाश्चानुज्ञायते ।

अनुज्ञामेवाधिकृत्य विशेषव्याख्यानमाह—

दिवसस्स पच्छिमाए, निसिन्तु पढमाए पच्छिमाए वा ।

उद्देसज्झयणुन्ना–ण य रत्ति णिसीहमादीणं ॥ २०३ ॥

उद्देशाध्ययनाना चानुज्ञा दिवसस्य पश्चिमायाम्, निशि तु प्रथमायां पश्चिमाया वा प्रवर्त्तते । निशीथादीनामागाढयोगाना दिवसस्य प्रथमाया पौरुष्यामनुज्ञान, न तु रात्रौ ।

अत्रैवादिशब्दस्याधिकार्थसंस्तवकत्वमुपदर्शयति—

आदिग्गहणा दसका–लिउत्तरज्झयणचुल्लसुतमादी ।

एएसि भइअऽणुण्णा,पुव्वण्हे याऽवि अवरण्हे ॥२०४॥

आदिग्रहणादादिशब्दोपादानात्, यानि दशवैकालिकोत्तराध्ययनक्षुल्लककल्पश्रुतादीनि, अत्र शब्दादौपपातिकादिपरिग्रहः, एतेषामनुज्ञा भजिता--विकल्पिता पूर्वाह्णे वा स्यादपराह्णे वा ।

साम्प्रतमङ्गश्रुतस्कन्धानामनुज्ञाविधिमाह—

नंदीभासणचुण्णे, उ विभासा होइ अंगसुयखंधे ।

मंगलसद्धाजणणं, सुयपूयाभत्तवोच्छेदो ॥ २०५ ॥

अङ्गे श्रुते स्कन्धे च भवति । अनुज्ञाया कर्त्तव्यायां नन्दीभाषण-ज्ञानपञ्चकोच्चारणम् चूर्णं च विभाषा—यदि भवन्ति वासा शिरसि प्रक्षिप्यन्ते, तदभावे केसराण्यपि । कस्मादेवमनुज्ञा क्रियते इति चेत् ?, अत आह-नन्दीभाषणे वासनिक्षेपे च मङ्गल भवति । ज्ञानपञ्चकस्य भावमङ्गलत्वाद्वासनिक्षेपस्य च द्रव्यमङ्गलत्वात् । तथा अन्येषां परमश्रद्धाजननम्, यथैकोऽमुकस्याङ्गस्य श्रुतस्कन्धस्य च पारगत आचार्येण चैवं सकलजनसमक्षं पूजितस्तस्माद्वयमपि गाढतरमुत्साहं कुर्म्म इति, तथा अध्ययनानां वा व्यवच्छेदोऽन्यथा नानुज्ञातमन्येषां दीयते इति तेषां व्यवच्छेदः स्यात् ।

अत्रैवाऽपवादमाह—

बिइयपयं आयरिए, अंगसुयक्खंधमुद्दिसंतम्मि ।

मंगलसद्धाभयगो-रवे य तह निट्ठिए चेव ॥ २०६ ॥

स्वपक्षे उद्देशः कर्त्तव्यो न परपक्षे इत्युत्सर्गः । अत्र द्वितीयपदम्—अपवादपद, यदि प्रवर्त्तिन्यास्तत् श्रुतं न विद्यते तत आचार्यः परपक्षेऽपि संयतीरूपे अङ्गं श्रुतस्कन्ध वा उपलक्षणमेतदध्ययनादिकं चोद्दिशति। अथवा—सत्यपि तस्मिन् प्रवर्त्तिन्याः श्रुते आचार्यः संयत्या अङ्गं श्रुतस्कन्धं वा उद्दिशति । मङ्गलादीनि भवन्ति ततः स परमं ज्ञानपात्रमिति मङ्गलबुद्धिरुपजायते । तथा यस्मादाचार्येणोद्दिष्टमिदमत आदरेण पठनीयमिति पाठविषया महती श्रद्धा भवति । तथा यदि पाठे प्रमादं करिष्यामि ततो न पठितमित्याचार्यो रुष्येयुरिति भयम् । तथा ममेदमाचार्येण गौरवेणोद्दिष्ट तस्मादादरेण पठित्वा शीघ्रं समाप्तिं नयामि । ' तह निट्ठिए चेव ' त्ति-तथा निष्ठिते अङ्गे श्रुतस्कन्धे वा समाप्तिं नीतं यथासम्भवमेतैरेव कारणैरङ्ग श्रुतस्कन्ध वा आचार्योऽनुजानीयात् ।

एमेव संयती वा, उद्दिसति संजयाण बिइयपदे ।

असतीएँ संजयाणं, अज्झयणाणं च वुच्छेदो ॥२०७॥

तत् विवक्षितं श्रुतं संयताना न विद्यते, अध्ययनाना चान्यथा व्यवच्छेदः स्यात् । ततो द्वितीयपदेनापवादपदेन गाथाया सप्तमी तृतीयार्थे सयत्यपि संयतानामुद्दिशति ।

एवं ता उद्देसो , अज्झाओ वी न कप्पइ विगिट्ठे ।

दोण्हं पि हुंति लहुगा, विराहणा सेव पुव्वुत्ता॥२०८॥

एवमुक्तेन प्रकारेण तावदुद्देशाभिहितो यथा व्यतिकृष्टे काले स न क्रियते अध्यायोऽप्यध्येय द्वयोरपि लघुकं प्रायश्चित्तम्, विराधना च पूर्वोक्ता, ज्ञानविराधना, आत्मविराधना च । तत्र ज्ञानविराधना ज्ञानाचारहननादात्मविराधना प्रान्तदेवताछलनात् ।

अत्रैवापवादमाह—

वितिगिट्ठे सागारि–याए कालगया असति वुच्छेदो ।

एवं कप्पइ तहियं, किं ते दोसा न संती उ ॥ २०९ ॥

कदाचित्साधवः कारणेन सागारिकायां वसतौ स्थितास्तत्र परिचारणाशब्दान् श्रुत्वा यस्य यत्पराजित स तत्परावर्त्तयति आदिशब्दात् अनेकादिष्वपि समापतत्सु यस्य यत्पराजितं स तत् गुणयतीति परिग्रहस्तथा कालगतः सयतो यदि कारणेन प्रतीक्षापयितव्यो भवति तदा रात्रौ जागरणनिमित्तं यस्य यत्पराजित स तत्परावर्त्तयति । तथा यस्य सकाशे तत् श्रुतमधीन स कालगतोऽन्यत्र च तत् श्रुतं नास्ति, ततः संप्रति पठित मा विस्मृतिं यायात्, अनुप्रेक्षाया च सोऽकुशलस्तत एवमेतैः कारणैर्द्वितीयपदमधिकृत्य व्यतिकृष्टेऽपि काले स्वाध्याय कल्पते । अत्र पर आह–

तत्रापवादपदेन व्यतिकृष्टेऽपि काले पठने किं ते दोषा आ-ज्ञाभङ्गाऽऽदयो न सन्ति—न भवन्ति ? ।

अत्रोत्तरमाह—

भणइ जेण जिणेहिं, अणुण्णायाइ कारणे ताइं ।

तो दोसो न संजायइ, जयणाए तहिं करेतस्स ॥२१०॥

भण्यते—अत्रोत्तरं दीयते येन कारणेन जिनैः कारणे-सा-गारिकादिलक्षणे तानि पठनान्यनुज्ञातानि तस्मात् कार-णात् रहस्यश्रुतस्यापि च यतनया वक्ष्यमाणलक्षणया त-त्र सागारिकवसत्यादौ पाठं कुर्वतो दोषः—आज्ञाभङ्गादिल-क्षणो न सजायते।

तत्र यतनामाह—

कालगयं मुत्तूणं, इमा अणुप्पेह दुब्बले जयणा ।

अन्नवसहिं अगीते, असती तत्थेवऽणुच्चेणं ॥ २११ ॥

कालगतं मुक्त्वा शेषेषु कारणेष्वनुप्रेक्षा दुर्बले इयं-वक्ष्यमाणा यतना । अन्यस्यां वसतौ गत्वा रहस्यश्रुतं प-रावर्त्तयन्ति मा अगीते अगीतार्थस्य श्रुतश्रवणं भूयादिति हे-तो । अथान्य उपाश्रयो न विद्यते ततोऽन्यस्या वसतेरभावे तत्रैव—तस्यामेव वसतावनुच्चेन शब्देन परावर्त्तयन्ति । कालगतेऽपि वसत्यन्तरे न यान्ति, किन्तु-तत्रैव जागरण-निमित्तमनुच्चशब्देन गुणयन्ति । संयत्योऽप्यपवादपदेन स-यतानां समीपे पठेयुः,परावर्त्तयेयुर्वा न कश्चिद्दोषः । व्य० ७ उ० । (व्यतिकृष्टकाले निर्ग्रन्थीनां स्वाध्यायो न कल्पते इत्युक्त-म् 'वायणा' शब्दे षष्ठभागे १०८४ पृष्ठे ।)स्वाध्यायहीनता नाम यदि प्राभातिकामपि कालवेलायां कालप्रतिक्रमणं करोति,अधि कृता-यद्यतिक्रान्तायामपि कालवेलाया कालं प्रतिक्रामति-वन्दनादिक्रिया वा तदनुगता हीनाधिका करोति , इत्यादि सर्वम् ' आलायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४१० पृष्ठे उक्तम् ।) (पूर्वोत्तरयोर्द्वयोर्दिशोः स्वाध्याय समुद्देश्योऽनुज्ञातव्य इति ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे २५२७ पृष्ठे उक्तम्।)(सचित्तवृक्षे स्थित्वा स्वाध्यायो न कर्त्तव्य इत्युक्तम् ' सचित्तरुक्ख ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ।) क्षेत्रप्रत्युपे क्षका क्षेत्रे लब्धे तत्र स्वाध्यायं ये न कुर्वन्ति तेषां प्रायश्चि-त्तं मासकल्पम् । वृ० १ उ० २ प्रक० । (सन्ध्यासु स्वाध्यायो न कर्त्तव्य इत्युक्तम् ' असज्झाइय ' शब्दे प्रथमभागे ३० पृष्ठे ।) (उदकतीरे स्वाध्यायो न कर्त्तव्य इति ' दगतीर ' शब्दे चतुर्थभागे २४४२ पृष्ठे उक्तम् ।) (रात्रौ संयतीनामुपाश्रयाऽ-न्तरं स्वाध्यायकरणम् ' विहार ' शब्दे षष्ठे भागे ११२७पृष्ठे रा-त्रिविहारप्रस्तावे उक्तम् ।) (यो भिक्षुः स्वाध्यायं कृत्वा प्रत्यु-पेक्षणं न करोति तस्य प्रायश्चित्तम् ' विकहा ' शब्दे षष्ठे भागे ११२६ पृष्ठे गतम् ।) अनुराधारेवतीचित्रामृगशिरोनक्षत्रेषु स्वाध्यायाऽनुज्ञा उद्देश्यसमुद्देशौ कुर्यात् । द० प० । स्वा-ध्यायसमं तपो नास्ति । द० प० ।

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।

न वि अत्थि न वि य होही,सज्झायसमं तवोकम्मं ॥८६॥

मेहा हुज्ज न हुज्ज व, जं मोहो उवसमेइ कम्माणं ।

उज्जोओ कायव्वो, णाणं अभिकंखमाणेणं ॥ ६० ॥

कम्ममसंखिज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।

बहुभवे संचियं पि हु,सज्झाएणं खणे खवइ ॥६१॥

सतिरिअसुरासुरनरो, सकिंनरमहोरगो सगंधव्वो ।

सव्वो छउमत्थजणो,पडिपुच्छइ केवलिं लोए ॥६२॥

द० प० चन्दविज्झगपइन्ना । व्य० ।

स्वाध्यायगुणाः—

पढणाई सज्झायं, वेरग्गनिबंधणं कुणइ विहिणा ।

पठनमपूर्वश्रुतग्रहणमादिशब्दात्प्रच्छनापरावर्त्तनानुप्रेक्षाधर्मं कथा गृह्यन्ते,तत पञ्चप्रकारमपि स्वाध्यायं करोति—किं विशिष्टम्?वैराग्यनिबन्धनं-विरागताकारणं विधिना-शास्त्रो-क्तेन श्येनश्रेष्ठिवत् । तत्र पठनविधिः—"पर्यस्तिकामवष्टम्भं, तथा पादप्रसारणम् । वर्जयेद्विकथा हास्यमर्धीयन् गुरुस-न्निधौ"॥१॥इति पृच्छाविधिरयम्—"आसणगओ न पुच्छिज्जा, नेव सिज्जागओ कया । आगम्मुक्कुडुओ संतो पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥ १ ॥" इति । ध० र० २ अधि ३ लक्ष० । व्य० । (धर्मकथाना परावर्तनानुप्रेक्षा ' परियट्टणा ' शब्दे पञ्चम-भागे ७२७ पृष्ठे गता ।)

स्वाध्यायफलम्—

सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ?,सज्झाएणं नाना-वरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥१६॥

हे भदन्त ! स्वाध्यायेन पञ्चप्रकारेण जीवः किं जनयति?, गुरुराह—हे शिष्य ! स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षप-यति । उत्त० २६ अ० । (दोषाविष्करणम् ' पाढयत ' शब्दे पञ्चमभागे ८२५ पृष्ठे गतम् ।) " स्वाध्यायादिष्टदर्शनम् " स्वाध्यायात्स्वभ्यस्तादिष्टदर्शनम् , जप्यमानमन्त्राभिमतदेव-तादर्शनं भवति । तदाह—' स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" (२—४४) द्वा० २२ द्वा० । उत्त० ।

से किं तं सज्झाए ? सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा धम्मकहा । सेत्तं सज्झाए । (सू० ८०२४) भ० २५ श० ७ उ० ।

मालवीयक्षुद्रस्थानां स्वाध्यायो मण्डल्यां कल्पते न वा ?,आगमोक्तयतीनां साम्प्रतीनानामाचार्याणां भट्टार-काणां च स्वाध्यायो मण्डल्यां कल्पते , तत्वन्येषां वार्तमानिकोपाध्यायादीनामिति वृद्धवादः । ही० २ प्रक० । महादिसावर्षनाश्विनचैत्रदिनानि सिद्धान्तवाचनादिषु अ-स्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते , तद्वद् "ईद" दिनमपि तेन हेतुना कथं न त्यज्यते ?, केचिच्च मतिनस्तद्दिनं त्य-जन्ति , आत्मना का मर्यादा ? , "ईद" दिने अस्वाध्याय-विषयं वृद्धैरनाचरणमेव निमित्तमवसीयते । ही० ३ प्रका० । गुरुसन्निधौ पाश्चात्यप्रतिलेखनाक्रिया कुर्वाणा श्राद्धाः स्वाध्यायमुपविश्य कुर्वन्ति ऊर्ध्वस्था वा ?, ऊर्ध्वस्थाः स्वा-ध्यायं विदधति ॥ ही०२ प्रका० । स्वाध्यायोऽपि किं हीनाऽऽ-चारैः पार्श्वस्थावसन्नकुशीलससक्ताहाच्छन्दनित्यवासिभिः समं सह सर्वजिनेन्द्रैर्वृषभादिभिः प्रतिकुष्टो निराकृत. ?, तदालापादिभिर्ध्यात्वहेतुत्वादिति । दर्श०४ तत्त्व । सान्ध्यप्रति-क्रमणस्वाध्यायप्रान्तवदन्येष्वपि स्वाध्यायप्रान्तेषु सम्पूर्णो नमस्कारः कथनीयो न वेति ? प्रश्नः , अत्रोत्तरम्—यत्रा-

देशद्वयं तत्र स्वाध्याये नमस्कारद्वयभणनम्, यत्र चैकादेशस्तत्रैक एव नमस्कारः पठनीय इति । सान्ध्यप्रतिक्रमणस्वाध्यायप्रान्ते सम्पूर्णनमस्कारपठनं सामाचार्यादौ न दृश्यते परम्परया तु दृश्यते, तेन तदपि मङ्गलरूपत्वाददोषमेवेति ॥८॥ सेन० १ उल्ला० । सामाचार्यां नवमद्वारे कालग्रहणविधौ " गिलिउग्गिलिए " इति शब्देन किमुच्यते तत्साक्षर प्रसाद्यमिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-मार्जारादिना मूषिकादौ ' गिलितोद्गिलिते " इति गिलितस्सन्नुद्गिलितो वान्तस्तस्मिन् कोऽर्थः ?-स्थानान्तरं गिलित्वा वसते परिग्रहस्तमध्ये आगत्य वान्ते स्वाध्यायो न भवतीत्यभिप्राय आवश्यकवृत्त्यादावस्तीति ॥१२॥ सेन० १ उल्ला० । प्रतिक्रमणहेतुगर्भे रात्रिकप्रतिक्रमणविधौ रात्रिकप्रायश्चित्तकायोत्सर्गस्ततः चैत्यवन्दनं, तत स्वाध्यायः, एव पश्चात्प्रतिक्रमणादौ चत्वारि क्षमाश्रमणान्युक्तानि सन्ति एवं तु न क्रियते, तत्किं बीजमिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-यतिदिनचर्यादौ स्वाध्यायादनु चत्वारि क्षमाश्रमणानि प्रोक्तानि, श्राद्धदिनकृत्यवृत्तिवन्दारुवृत्त्यादौ तु स्वाध्यायादनु प्रतिक्रमणस्थापनमुक्तम्, ततस्तानि स्वाध्यायात्पूर्वं ज्ञायन्ते । अयं च विधिः परम्परया बाहुल्येन क्रियमाणोऽस्ति । सामाचारीविशेषेण चोभयथाऽपि अविरुद्धमेवेति ॥ ११२ ॥ सेन० ३ उल्ला० । प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपे, द्वा० २२ द्वा० । कुडणाख्यवनस्पतिभेदे, प्रश्ना० १ पद ।

सज्झायजोग-स्वाध्याययोग-पुं० । वाचनाद्युपचारव्यापारे, दश० २ चू० ।

सज्झायज्झाणरय-स्वाध्यायध्यानरत-न० । स्वाध्याय एव ध्यानं स्वाध्यायध्यानं तत्र रत । स्वाध्याये ध्याने च रते, दश० ८ अ० ।

सज्झायभूमि-स्वाध्यायभूमि-स्त्री० । विचारभूमौ, स भिक्षुर्बहिर्विचारभूमिं सञ्ज्ञाव्युत्सर्गभूमिं तथा विहारभूमिं स्वाध्यायभूमिं तैरन्यतीर्थिकादिभिः सह दोषसम्भवान्न प्रविशेत् । आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० । अन्ययूथिकैः सह न प्रविशेत् । नि० चू० २ उ० । (स्वाध्यायभूमिविषयः ' चरियापविट्ठ ' शब्दे तृतीयभागे ११५६ पृष्ठे गतः ।)

सज्झायमुक्कजोग-स्वाध्यायमुक्तयोग-त्रि० । स्वाध्यायेन मुक्तो योगो--व्यापारो यस्य स. स्वाध्यायमुक्तयोगः । स्वाध्यायकारिणि, ग० ३ अधि० ।

सज्झायवाय-स्वाध्यायवाद-पुं० । विशुद्धपाठकोऽहमित्यादिकं वादे, स० ३० सम० ।

सज्झायसारणा-स्वाध्यायसारणा-स्त्री० । स्वाध्यायनिर्वाहणायाम्, " गुरुपारततं विणओ सज्झायसारणा चेव " पञ्चा० १८ विव० । (अन्यत्या व्याख्या ' भिक्खुपडिमा ' शब्दे पञ्चमभागे १५६८ । १५७७ पृष्ठे गता ।)

सज्झिल्लग-सज्झिल्लक-पुं० । धर्मभ्रातरि, पं० व० ३ द्वार । भ्रातरि, पिं० । बृ० । व्य० । भगिन्याम्, सज्झिल्लिका । स्त्री० । पिं० ।

सञ्ञा-संज्ञा-स्त्री० । " ञो ञ्ञ पैशाच्याम् " ॥ ८ । ४ । ३०३ ॥ इति ज्ञस्य ञ्ञ । सङ्केते, प्रा० ४ पाद ।

सट्ठाण-स्वस्थान-न० । आत्मीये स्थाने, यत्र हि स तिष्ठति, बृ० ४ उ० । भ० । च० प्र० । द्वादशसङ्ख्येऽहोरात्रमुहूर्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । सगट्ठाण सट्ठाण । नि० चू० १ उ० । इहापत्तिरूपं प्रायश्चित्त स्वस्थानमुच्यते । जीत० ।

सट्ठाणसंकमण-स्वस्थानकसंक्रमण-न० । पिपीलिकादीनामण्डादिसंचालने, सट्ठाणसंकमणं पिपीलिगमक्कोडगादीणं भणति । नि० चू० १३ उ० ।

सट्ठाणट्ठाणंतर-स्वस्थानस्थानान्तर-न० । स्वस्थानात् पूर्वपूर्वस्थानादुत्तरोत्तरस्य सङ्ख्यास्थानस्य उत्पत्तिस्थानात्संख्याविशेषलक्षणात् गुणनीयादित्यर्थः स्थानान्तराणि । अनन्तरस्थाने, स० ८४ सम० ।

सट्ठाणसण्णिगास-स्वस्थानसन्निकर्ष-पुं० । स्वम्-आत्मीयं सजीताय स्थानं पर्यवाणामाश्रयः स्वस्थानं पुलाकादेः पुलाकादिभिरेव, तस्य सन्निकर्षः । स्वस्थानसयोजने, भ० २५ श० ६ उ० ।

सट्ठाणाऽऽरोवणा-स्वस्थानाऽऽरोपणा-स्त्री० । स्वकं स्थानं स्वस्थानं, स्वस्थानस्यारोपणा स्वस्थानारोपणा । प्रतिसेवमानस्य प्रतिसेवनीयस्थानस्यारोपणायाम्, नि० चू० १ उ० ।

सट्ठि-षष्टि-स्त्री० । षडावृत्ताया दशसङ्ख्यायाम्, प्रश्ना० २ पद ।

सट्ठितंत-षष्टितन्त्र-न० । कापिलीयशास्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । औ० । अनु० । नि० । पश्चात् षष्टितन्त्रं सवृत्तमेव कुतीर्थेजात तत्कपिलोपदिष्टमिति । आ० चू० १ अ० । (षष्टितन्त्रोत्पत्तिवृत्तान्तम् ' कविल ' शब्दे तृतीयभागे २८७ पृष्ठे गतम् ।)

सट्ठितंतविसारय-षष्टितन्त्रविशारद-पुं० । षष्टितन्त्र-कापिलीयशास्त्रं तत्र विशारदः--पण्डितः । सांख्यवेत्तरि, कल्प० १ अधि० १ क्षण । औ० ।

सट्ठिभत्त-षष्टिभक्त-न० । उपवासविंशतौ, "सट्ठि भत्ताइं अणसणाइ छेएत्ता" प्रतिदिनं भोजनद्वयस्य त्यागात् त्रिंशद्दिनैः षष्टिभक्तानि त्यक्तानि भवन्ति । भ० २ श० १ उ० ।

सट्ठिय-षाष्टिक-त्रि० । षष्टिवर्षजातः न० । षष्ट्यहोरात्रैः परिपच्यमानेषु शालिषु, जं० ३ वक्ष० । ध० ।

सट्ठिहायण-षष्टिहायन-त्रि० । षष्टिर्हायना सम्वत्सरा यस्य स षष्टिहायनः । षष्टिवर्षजात, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सड-सद्-धा० । विशरणगत्यवसादनेषु,"सदपतोर्डः" ॥८॥४॥२१९॥ अनेनान्त्यस्य डकारः । सडइ । सीदति । प्रा० ४ पाद । शद्-धा । रुजा विशरणगत्यवसादनेषु, सडति । शटति । उत्त० ५ अ० । विशे० ।

सडंगविय-षडङ्गविद्-पुं० । पूर्वोक्तानि षडङ्गानि विचारयतीति षडङ्गवित् । कल्प० १ अधि० १ क्षण । शिक्षादिविचारके, औ० । नि० चू० ।

सडण-सटन-न० । कुष्ठादिनाऽङ्गुल्यादिगलने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । न० । स्वत एव विशरणे प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सड्डुल-शाड्वल-न० । प्रत्यग्रहरिते तृणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सड्ढ-श्राद्ध-पुं० । श्रद्धा—श्रद्धानं यस्मिन्नस्ति स श्राद्धः । श्रद्धेयवचने । स्था० ३ ठा० ३ उ० । तत्त्वं प्रति श्रद्धावति, पञ्चा० ३ विव० । श्रद्धालौ, पञ्चा० १५ विव० । श्रावके, पञ्चा० ७ विव० । धर्मश्रोतरि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । दर्शनश्रावके, प्रति० । आचा० । प्रव० । आ० क० । श्राद्धः—श्रद्धावान् दीक्षितस्यापि श्रद्धारहितस्याङ्गारमर्दकादेरिव त्याज्यत्वात् । ध० ३ अधि० । (श्राद्धगुणा 'धम्मरयण' शब्दे चतुर्थभागे २७२६ पृष्ठे वर्णिताः ।) श्रद्धया क्रियमाणे मृतेषु पित्रादिषु पिण्डदाने, "मृतानामपि जन्तूनां, श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् । तन्निर्वाणप्रदीपस्य, स्नेहः संवर्द्धयेत् शिखाम्-॥ १ ॥" स्था० १ ठा० । भ० । आ० । नि० । श्राद्धाः पाक्षिकदिनेऽतीचारान् कथयन्ति, तत्र षष्ठं दिग्व्रतं दशमं च देशावकाशिकं कथितम्, तदन्ये नाऽङ्गीकुर्वन्ति, यद् व्रतद्वयं कथितमस्ति, तदात्मश्राद्धैः कथितम् । यत्पष्ठव्रतं यावज्जीवप्रत्ययिकं दशमं तु दिनप्रत्ययिकमित्यपि नाङ्गीकुर्वन्ति, तत्र का युक्तिरिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—श्रीआवश्यके श्रावकव्रताधिकारे देशावकाशिकव्रतालापः कथितोऽस्ति स लिख्यते, यथा—'दिसिव्वयगहिअस्स दिसापरिमाणस्स पइदिणं परिमाणकरणं देसावगासिअं, देसावगासिअस्स समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणियव्वा न समायरिअव्वा । तं जहा—आणवणप्पओगे १ पेसवणप्पओगे २ सद्दाणुवाए ३ रूवाणुवाए ४ बहिआ पुग्गलक्खेवे ५' एतदालापकानुमानेन षष्ठदिग्व्रतस्य संक्षेपरूपदेशावकाशिकरूपतया ज्ञायते, तथा—योगशास्त्रादिग्रन्थेषु षष्ठदिग्व्रतसंक्षेपरूपं देशावकाशिकं कथितमस्ति, तथा—श्रीउपासकदशाङ्गे आनन्दव्रतोच्चाराधिकारे सामायिकादिचतुष्कव्रतालापकविस्तारो न कथितः, तस्मात्केचन नाऽङ्गीकुर्वन्ति, तत्तु तदज्ञानमेव, यतो व्रतोच्चारादौ एव पाठोऽस्ति-' अहण्णं भंते ! देवाणुप्पिआणं अंतिए पंचाऽणुव्वइअं सत्तसिक्खावइअं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जिस्सामि अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ' तथा व्रतोच्चारानन्तरमेव पाठोऽस्ति-'तए णं आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइअं सत्तसिक्खावइअं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ' एतदालापकद्वये द्वादशव्रतोच्चाराङ्गीकारः कथं घटते ?, यदि देशाऽवकाशिकव्रतं न भवति तर्हि पञ्चातीचाराः कथं कथिताः, तस्मादानन्देन चत्वारि व्रतानि सविस्तराणि नोच्चरितानि यत्प्रतिदिनं वारं वारमुच्चार्यन्ते । पुनः संक्षेपतस्तदुच्चरितान्येवेति ज्ञेयम् ॥७३॥ सेन० ४ उल्ला० । महाविदेहेषु ये श्राद्धा देशव्रतिनस्ते उभयकालमावश्यकं कुर्वन्ति, किं वा-यतिवत्कारणे समुत्पन्ने कुर्वन्तीति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—' देसिअ राइय पक्खिअ, चाउम्मासिअ वच्छरी अ नामाओ । दोण्ह पण पडिकमणा, मज्झिमगाण तु दो पढमा ॥१॥ " इति सप्ततिशतस्थानकस्थगाथानुसारेण यदि यतीनां दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमणद्वयकरणं प्रत्यहं दृश्यते, तर्हि श्रावकाणां तत्करणे किं वक्तव्यमिति । १८ । सेन० ४ उल्ला० ।

सड्ढकय-श्राद्धकृत-त्रि० । श्रावककारिते, जी० १ प्रति० ।

सड्ढा-श्रद्धा-स्त्री० । " श्रद्धर्द्धि—मूर्द्धार्द्धेऽन्ते वा " ॥ ८ ।२। ४१ ॥ अनेनान्त्यस्य संयुक्तधकारस्य ढकारः । सड्ढा । सद्धा । प्रा० । रुचौ, उत्त० ५ अ० । अभिलाषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । रा० । इच्छायाम्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । मोक्षमार्गोद्यमेच्छायाम्, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । तत्त्वेषु श्रद्धानं, आस्तिक्ये, अनुष्ठानेषु वा निजेऽभिलाषे, योषिति, पं० व० ५ द्वार । स्त्रीसङ्गाभिलाषे, दश० ६ अ० । आ० क० ।

सड्ढाइकहणावाघाय-श्रद्धादिकथनाव्याघात-पुं० । श्रावकविविधधर्मपदार्थकथनविघ्नाभावे, पं० व० २ द्वार ।

सड्ढाण-श्रद्धान-पुं० तत्त्वेषु अनुष्ठानेषु वा निजेऽभिलाषे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सड्ढि-श्राद्धिन्-पुं० । श्रद्धा मोक्षमार्गोद्यमेच्छा वर्त्तते यस्यासौ श्रद्धावान् । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । श्रद्धा—धर्मेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । नि० चू० । स्था० । श्रद्धावति, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । पिं० । श्रावके, नि० चू० २ उ० । सूत्र० । कल्प० ।

सड्ढिय-श्राद्धिक-त्रि० । श्राद्धे, प्रव० १ द्वार । श्रद्धा—श्रद्धानं यस्मिन्नस्ति स श्राद्धः । श्रद्धेयवचने, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

सड्ढी-श्रद्धी-स्त्री० । अविरलसम्यग्दृष्टिकायाम्, व्य० ३ उ० । श्राविकायाम्, जी० १ प्रति० ।

सढ-शठ-पुं० । " ठो ढः " ॥ ८ । १ । १९९ ॥ इति ठस्य ढः । सढो । प्रा० । धूर्ते, उत्त० ७ अ० । स्तब्धे, (पाइ० ना० २२५ गाथा ।) शठकर्मकारित्वात् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । मिथ्याभाषिणि, उत्त० ३४ अ० । विश्वस्तजनवञ्चके, उत्त० ७ अ० । शठानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । स्था० । मायिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । निकृतिमति मायोपेते, प्रश्न० ३ संव० द्वार । कैतवयुक्ते, स० ३ सम० । आ० म० ।

सढवंदण-शठवन्दन-न० । शठः शाठ्येन विश्रम्भार्थं वन्दनम्, अज्ञानादिव्यपदेशं वा कृत्वा न सम्यग्वन्दनम् । ध० २ अधि० । स्वनामख्याते विंशतितमे वन्दनकदोषे, बृ० ।

विंशतितमं दोषमाह—

वीसंभट्ठाणमिणं, सब्भावजढे सढे हवइ एतं ।
कवडति कयवयंति य, सढया वि य होंति एगट्ठा ॥

विश्रम्भो—विश्वासस्तस्य स्थानमिदं वन्दनकमेतस्मिन् यथावद्दीयमाने श्रावकादयो विश्वसन्तीत्यभिप्रायेणाद्य सद्भावरहिते अन्तर्वासनाशून्ये वन्दमाने शिष्ये शठमेतद्वन्दनकं भवति । बृ० ३ उ० । आव० । आ० चू० ।

सढा-शठा-स्त्री० । जटायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सण-शण-पुं० । वल्कलप्रधाने वनस्पतिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । प्रव० । शणप्रभृतयः सप्तदश धान्यानि । आ० म० १ अ० । प्रज्ञा० । त्वक्प्रधाननाले धान्यविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० ।

उत्त० । स्था० । तत्तुष्ये, न० । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सण-जातिभेदे, अनु० ।

सणंकुमार-सनत्कुमार-पुं० । चतुर्थचक्रवर्तिनि, स० । प्रव० । ति० । आव० ।

सणंकुमारो मणुस्सिंदो, चक्कवट्टी महड्डिए ।
पुत्तं रज्जे ठवेऊणं, सोऽवि राया तवं चरे ॥ ३७ ॥

अत्र सनत्कुमारदृष्टान्तः—अस्त्यत्र भरतक्षेत्रे कुरुजाङ्गलजनपदे हस्तिनागपुरं नाम नगरम् । तत्राश्वसेनो नाम राजा, तस्य भार्या सहदेवीनाम्नी । तयोः पुत्रश्चतुर्दशस्वप्नसूचितश्चतुर्थश्चक्रवर्ती सनत्कुमारो नाम । तस्य सुरिकालिन्दीतनयेन महेन्द्रसिंहेन परममित्रेण समं कलाचार्यसमीपे सर्वकलाभ्यासो जातः । सनत्कुमारो यौवनमनुप्राप्तः । अन्यदा वसन्तमासेऽनेकराजपुत्रनगरलोकसहितः सनत्कुमारः क्रीडार्थमुद्याने गतः, तत्राश्वक्रीडां कर्तुं सर्वे कुमाराः अश्वारूढाः स्वस्वमश्वं खेलयन्ति । सनत्कुमारोऽपि जलधिकल्लोलाभिधानं तुरङ्गमारूढः, समकालं सर्वैः कुमारैर्मुक्तस्ततो विपरीतशिक्षितेन कुमाराश्वेन तथा गतिः कृता यथा अपरकुमाराश्वाः प्राक् पतिताः, कुमाराश्वस्तु अदृश्यीभूतः । ज्ञातवृत्तान्तो राजा सपरिकरस्तत्पृष्ठौ चलितः । अस्मिन्नवसरे प्रचण्डवायुर्वातुं लग्नः, तेन तुरङ्गपदमार्गो भग्नः । महेन्द्रसिंहो राजाज्ञां मार्गयित्वा उन्मार्गेणैव कुमारमार्गणाय लग्नः, प्रविष्टो भीषणां महाटवीं, तत्र भ्रमतस्तस्य वर्षमेकमतिक्रान्तम्, एकस्मिन् दिवसे गतः स्तोकं भूमिभागं तावत्, यावदेकं महत्सरोवरं दृष्टवान् । तत्र कमलपरिमलमाघ्रातवान् । श्रुतवांश्च मधुरगीतवेणुरवम् । यावन्महेन्द्रसिंहोऽग्रे गच्छति तावत्तरुणीगणमध्यस्थितं सनत्कुमारं दृष्टवान् । विस्मितमना महेन्द्रसिंहश्चिन्तयति—किं मया एष विभ्रमो दृश्यते । किं वा सत्य एवायं सनत्कुमारः ?, यावदेवं चिन्तयन् महेन्द्रसिंहस्तिष्ठति तावत्पठितमिदं बन्दिना—" जय आससेण ! नहयल-मयङ्क ! कुरुभुवणलग्गखंभ ! । जय तिहुयणनाह ! सणं-कुमार ! जय लद्धमाहप्प ! ॥१॥" ततो महेन्द्रसिंहः सनत्कुमारोऽयमिति निश्चितवान् । अथ प्रकामं प्रमुदितमनाः सनत्कुमारेण दूरादागच्छन् दृष्टः सनत्कुमाराऽभ्युत्थायाभिमुखमाययौ । महेन्द्रसिंहः सनत्कुमारपादयोः पतितः । सनत्कुमारेण समुत्थापितो गाढमालिङ्गितश्च । द्वावपि प्रमुदितमनस्कौ विद्याधरदत्तासने उपविष्टौ । विद्याधरलोकश्च तयोः पार्श्वे उपविष्टः । अथानन्दजलपूरितनयनेन सनत्कुमारेण भणितम्—मित्र ! कथमेकाक्येव त्वमस्यामटव्यामागतः ?। कथं चात्र स्थितोऽहं त्वया ज्ञातः। किञ्च—करोति मद्विरहे मम पिता माता च । कथितः सर्वो वृत्तान्तो महेन्द्रसिंहेन । ततो महेन्द्रसिंहो वरविलासिनीभिर्मज्जितः स्नापितश्च भोजनं द्वाभ्यां सममेव कृतम् । भोजनावसाने च महेन्द्रसिंहेन—सनत्कुमारः पृष्टः—कुमार ! तदा त्वं तुरङ्गमेणापहृतः क्व गतः ?, क्व स्थितश्च ?, कुत एतादृशी ऋद्धिस्त्वया प्राप्ता ?, सनत्कुमारेण चिन्तितं—न युक्तं निजचरित्रकथनं निजमुखेनेति संक्षिप्ता स्वयं परिणीता खेचरेन्द्रपुत्री विपुलमतीनाम्नी स्वप्रिया सनत्कुमारवृत्तान्तं स्वविद्याबलेन कथयितुं प्रयुक्ता । तदानीं कुमारो भवदादिषु पश्यत्सु तुरङ्गमेणापहृतो महाटव्यां प्रविष्टः । द्वितीयदिनेऽपि तथैव धावतोऽश्वस्य मध्याह्नसमयो जातः । क्षुधापिपासाकुलितेन श्रान्तेनाश्वेन निष्कासिता जिह्वा । कुमारस्ततः उत्तीर्णः । सोऽश्वस्तदानीमेव मृतः । कुमारस्ततः पादाभ्यामेव चलितः । तृषाक्रान्तश्च सर्वत्र जलं गवेषयन्नपि न प्राप । ततो दीर्घाध्वश्रमेण सुकुमारत्वेन चात्यन्तमाकुलीभूतो दूरदेशस्थितं सप्तच्छदं वृक्षं पश्यन् तदभिमुखं धावन् कियत् कालानन्तरं तत्र प्राप्तः । छायायामुपविष्टः पतितश्च लोचने भ्रामयित्वा कुमारः । अत्रावसरे कुमारपुण्यानुभावेन वनवासिना यक्षेण जलमानीतम् । शिशिरशीतलजलेन सर्वाङ्गे सिक्तः,आश्वासितश्च । लब्धचेतनेन च कुमारेण जलं पीतम्,पृष्टश्च कस्त्वं ? कुतो वाऽऽनीतं जलमिदम्?,तेन भणितम्-अहं यक्षोऽत्र निवासी।सलिलं चेदं मानससरोवरादानीतम् । कुमारेणोक्तम्-यदि मां तद्दर्शयसि तदा तत्र मानससरोवरे प्रक्षालयामि तथा च मद्वपुस्तत्तापमुपनयति । तच्छ्रुत्वा यक्षेण करतलसंपुटे गृहीत्वा नीतो मानसरोवरम् । तत्र व्यसनापतितोऽयमिति कृत्वा क्रुद्धेन वैताढ्यवासिना असितयक्षेण समं कुमारस्य युद्धं जातम् ।तथाहि-यक्षेण प्रथमं मोटिततरुः प्रचण्डः पवनो मुक्तः । तेन नभस्तले बहुलधूल्याऽन्धकारितम् । ततो विमुक्ताऽट्टाऽट्टहासा ज्वलनज्वालापिङ्गलकेशाः पिशाचा मुक्ताः । कुमारस्तैर्मनाक् न भीतिं गतः । ततो नयनज्वालास्फुलिङ्गं वर्षद्भिर्नागपाशैः कुमारो यक्षेण बद्धः । जीर्णरज्जुबन्धनानीव तान् त्रोटयति स्म कुमारः । ततः करास्फालनपूर्वं मुष्टिमुद्यम्य यक्षः समायातः । तावता मुष्टिप्रहारेण कुमारस्तं खण्डीकृतवान् । पुनर्यक्षः स्वस्थीभूय गुरुमत्सरेण कुमारं घनप्रहारेण हतवान् । तत्प्रहारार्त्तः कुमारश्छिन्नमूलद्रुम इव भूमौ निपतितः । ततो यक्षेण दूरमुत्क्षिप्य गिरिवरः कुमारस्योपरि क्षिप्तः, तेन दृढपीडिताङ्गोऽसौ निश्चेतनो जातः।अथ कियत्कालानन्तरं लब्धसंज्ञः कुमारस्तेन समं बाहुयुद्धं चकार । कुमारेण करमुद्गराहतो यक्षः प्रचण्डवाताहतचूत इव तथा भूमौ निपतितः यथा मृत इव दृश्यते । परं देवत्वात्स न मृतः । आरटिं कुर्वाणः स यक्षस्तथा नष्टो यथा पुनर्न दृष्टः । कौतुकान्नभस्यागतविद्याधरैः पुष्पवृष्टिर्मुक्ता । उक्तं च-जितो यक्षः कुमारेणेति । ततो मानससरसि यथेष्टं स्नात्वा उत्तीर्णः कुमारो यावत् स्तोकं भूमिभागं गतः तावत्तत्र वनमध्यगता अष्टौ विद्याधरपुत्रीर्दृष्टवान् । ताभिरप्यसौ स्निग्धदृष्ट्या विलोकितः । कुमारेण चिन्तितम्-एताः कुतः समायाताः सन्ति,पृच्छाम्यासां स्वरूपमिति पृष्टं कुमारेण । तासां समीपे गत्वा मधुरवाण्या कुतो भवत्य आगताः ?, किमर्थमेतत् शून्यमरण्यमलंकृतम् । ताभिर्भणितम्-महाभाग ! इतो नातिदूरे प्रियसङ्गमाभिधाना अस्माकं पुरी अस्ति । त्वमपि तत्रैवागच्छेति भणितः । किङ्करीदर्शितमार्गस्तासां नगरीं प्राप्तः । कञ्चुकिपुरुषैः राजभवनं नीतः । दृष्टश्च तन्नगरस्वामिना भानुवेगराजेन अभ्युत्थानादिना सत्कृतश्च । उक्तं राज्ञा-महाभाग! त्वमेतासां ममाष्टकन्यानां वरो भव । पूर्वं हि अत्रायातेन अर्चिमालिनाम्ना मुनिना एवमादिष्टम् योऽसिताक्षं यक्षं जे-

ष्यति स एतासां भर्त्ता भविष्यति । ततस्त्वमेता. परिणयेति नृपणोक्ते कुमारेण तथेति प्रतिपन्नम्। राज्ञा महामह पूर्वक विवाह कृत. । कङ्कण कुमारकरे बद्धम् सुप्तश्च ताभि सार्द्धं रतिभवने कुमार पल्यङ्कोपरि। निद्राविगमे चात्मानं भूमौ पश्यति। किमेतदिति चिन्तितवांश्च करबद्ध कङ्कण च न पश्यति। तत. खिन्नमना' कुमारस्ततो गन्तुं प्रवृत्तः । अरण्यमध्ये च गिरिवरशिखरे मणिमयस्तम्भप्रतिष्ठित दिव्यभवन दृष्टं कुमारेण। चिन्तितम्—इदमपीन्द्रमायाजालप्राय भविष्यतीति । तदासन्ने यावद्गन्तुं प्रवृत्त. कुमारस्तावत् तद्भवनान्त करुणस्वरेण रुदन्त्या एकस्या नार्या. शब्द श्रुतवान्। प्रविष्टस्तद्भवनान्त. सप्तमभूमिमारूढ' । रुदन्त्या तत्र एकया कन्यया भणितम्–कुरुजनपदनभस्तलमृगाङ्क ! सनत्कुमार ! त्वं भवान्तरेऽपि मम भर्ता भूया इति वार वारं भणन्ती पुनर्गाढ रोदितु प्रवृत्ता। ततो रुदन्त्यैव तयाऽऽसनं दत्तम्। तत्रोपविश्य कुमारस्तां पृष्टवान्–सनत्कुमारेण स ह तव क सम्बन्ध ?, येन त्वं तमेवं स्मारयसि । सा प्राह—मम स मनोरथमात्रेण भर्त्ता। कथमिति कुमारेणोक्ते सा प्राह—अहं हि साकेतपुरस्वामिसुरथनामनरेन्द्रभार्याया. चन्द्रयश पुत्री अस्मि। अन्यदाऽहं यौवन प्राप्ता। पित्रा च मत्कृतेऽनेकराजकुमारचित्रपटरूपाणि दूतैरानीय दर्शितानि एकमपि चित्रपटरूप मम न रोचते। एकदा सनत्कुमारचित्रपटरूपं दूतैरानीय मे दर्शितम्, तदत्यन्त मे रुरुचे। मोहिता चाहं तद्रूपमेव ध्यायन्ती स्वगृहे तिष्ठामि। तावदहमेकेन विद्याधरेण पितृगृहादपहृता अत्रानीता स्वय विकुर्वितेऽस्मिन्नावासे मां मुक्त्वा स क्वचित् गतोऽस्ति । यावत्सा कन्या एव वदन्त्यस्ति तावत् अशनिवेगसुतवज्रवेगेण विद्याधरेण तत्रागत्य सनत्कुमार उत्क्षिप्तो गगनमण्डले । सा च कन्या हा हा रव कुर्वाणा मूर्च्छापराधीना निपातिता पृथिवीपीठे । तावदाकाशमार्गादागत्य सनत्कुमारेण स विद्याधरो मुष्टिप्रहारेण व्यापादित । सनत्कुमारेण तस्य वृत्तान्त कथित, परिणीता च सा सुनन्दाभिधाना कन्या। साऽस्य स्त्रीरत्न भविष्यति । स्तोकवेलाया तत्र वज्रवेगविद्याधरभगिनी सन्ध्यावली समागता भ्रातर व्यापादित दृष्ट्वा कोपमुपागता। पुनरपीद नैमित्तिक वच. स्मृतिपथमागतम्—यथा तव भ्रातृवधकस्तव भर्त्ता भविष्यतीति मत्वा कुमारस्यैव विज्ञप्तिं चकार–अहमिह त्वा विवाहार्थमायाताऽस्मीति। सनत्कुमारेण सा तत्रैव परिणीता । अत्रान्तरे सनत्कुमारसमीपे द्वौ विद्याधरनृपौ समायातौ। ताभ्या प्रणामपूर्व कुमारस्यैव भणितम्–देव ! अशनिवेगविद्याधरो विद्याबलेन ज्ञातपुत्रमरणवृत्तान्तस्त्वया सम योद्धुमायाति । ततश्चन्द्रवेगभानुवेगाभ्यामावा हरिचन्द्रसेनाभिधानौ च निजपुत्रौ प्रेषितौ रहसि सनाहश्च प्रेषित । आवामस्मत्पितरौ भवत्सेवार्थं समागतौ । तदनन्तर तत. समागतौ चन्द्रवेगभानुवेगौ सनत्कुमारस्य साहाय्याय सन्ध्यावल्या प्रज्ञप्तिविद्या दत्ता । चन्द्रवेगभानुवेगसहित. सनत्कुमार. सङ्ग्रामाभिमुख चलित. , तावताऽशनिवेग. सेनावृत समायात । तेन सम प्रथम चन्द्रवेगभानुवेगौ योद्धुं प्रवृत्तौ। चिरकाल युद्धं कृत्वा तयोर्बल भग्नम् । तत स्वयमुत्थित. सनत्कुमार', तेन अशनिवेगेन समं घोर युद्धमारब्धं प्रथम महोरगास्त्रं कुमारस्याभिमुख मुक्तम्, तच्च कुमारेण मुष्टिनैव निहतम्। पुनस्तेन आग्नेयमस्त्र मुक्त, तत् कुमारेण वरुणास्त्रेण निहतम्। पुनस्तेन वायव्यास्त्रं मुक्त कुमारेण शैलास्त्रेण प्रतिहतम्। ततो गृहीतधनुर्बाणान् मुञ्चन् कुमारस्तं निर्जीवमिव चकार। पुनर्गृहीतकरवाल. स सनत्कुमारेण छिन्नदक्षिणकर कृत. । ततो द्वितीयकरेण बाहुयुद्धमिच्छतस्तस्याभिमुखमायातस्य कुमारेण चक्रेण शिरश्छिन्नम्। तदानीम् अशनिवेगविद्याधरलक्ष्मीरनेकविद्याधरैः सहिता सनत्कुमारेण सङ्क्रान्ता । ततोऽशनिवेगचन्द्रवेगादिविद्याधरपरिवृत. सनत्कुमारो नभोमार्गाद्विद्याधररथेन समुत्तीर्य तदावासे पुनरायात' । दृष्टस्तत्र हर्षिताभ्या सुनन्दासन्ध्यावलीभ्याम्। उक्तश्च ताभ्याम्—आर्यपुत्र ! स्वागतम् । अत्र च समस्तविद्याधरै. सनत्कुमारस्य राज्याभिषेक. कृत । सुखेनात्र विद्याधरराजसेवित सनत्कुमारस्तिष्ठति । अन्यदा चन्द्रवेगेन विज्ञप्त सनत्कुमार, यथा—देव ! मम पूर्वमर्चिमालिमुनिनैवमादिष्टम्—यदेद तव कन्याशत भानुवेगस्य चाष्टकन्या य. परिणेष्यति सोऽवश्य सनत्कुमारनामा चतुर्थश्चक्री भविष्यति। स इतो मासमध्ये मानसरोवरे समेष्यति। तत्र व्यसनापतितं सरसि स्नानम् असिताक्षो यक्ष' पूर्वभववैरी द्रक्ष्यति। स पूर्वभववैरी कथमिति सनत्कुमारेण पृष्टे चन्द्रवेगो मुनिमुखश्रुत तत्पूर्वभववृत्तान्त प्राह—अस्तिकाञ्चनपुर नाम नगरम्। तत्र विक्रमयशानामा राजा। तस्य पञ्चशतान्यन्त पुर्यो वर्त्तन्ते । तत्र नागदत्त सार्थवाहोऽस्ति। तस्य रूपलावण्यसौभाग्ययौवनगुणै. सुरसुन्दरीभ्योऽधिका विष्णुश्रीनाम भार्याऽस्ति साऽन्यदा विक्रमयशोराजेन दृष्टा। मदनातुरेण तेन स्वान्त पुरे क्षिप्ता ततो नागदत्तस्तद्विरहितया उन्मत्तीभूत एवं विलपति। हा चन्द्रानने ! क गता, दर्शनं मे देहीति विलपन् कालं नयति । विक्रमयशोराजस्तु मुक्तसकलराजकार्योऽगणितजनापवादस्तया विष्णुश्रिया सह अत्यन्तरतिं प्रसक्त कालं नयति। पञ्चशतान्त पुरीणा नामापि न गृह्णाति। अन्यदा ताभि कार्मणान्नियोगेन विष्णुश्रीर्व्यापादिता। ततो राजा तस्या मरणेनात्यन्त शोकार्त्तोऽश्रुजलभृतनयनो नागदत्त इवोन्मत्तीभूतो विष्णुश्रीकलेवरं वह्निसात्कर्तु न ददाति। ततो मन्त्रिभिर्नृप कथमपि वञ्चयित्वा अरण्ये तत् कलेवरं त्यक्तम्। राजा च तत् कलेवरमपश्यन् परिहृतान्नपानभोजन. स्थित । मन्त्रिभिर्विचारितम्—एष तत्कलेवरदर्शनमन्तरेण मरिष्यतीति अरण्ये नीत्वा राज्ञस्तत्कलेवरं दर्शितम् । राज्ञा तदानी तत्कलेवर गलत्पूतिनिवह निर्यत्कृमिजालं वायसकर्षितनयनयुगलं चण्डखगतुण्डखण्डितं दुरभिगन्धं प्रेक्ष्य एवमात्मान निन्दितुमारब्धम्। रे जीव ! यस्य कृते त्वया कुलशीलजातियशोलज्जा. परित्यक्ता. तस्येदृशी अवस्था जाता । ततो वैराग्यमार्ग प्राप्तो राजा राज्य राष्ट्रं पुरं स्वजनवर्गं च परिहृत्य सुव्रताचार्यसमीपे निष्क्रान्त । ततश्चतुर्थषष्ठाष्टमादित्य सुव्रताचार्यसमीपे निष्क्रान्त । ततश्चतुर्थषष्ठाष्टमादिविचित्रतप कर्मभिरात्मान भावयन् प्रान्ते संलेखना कृत्वा सनत्कुमारदेवलोके गत । ततश्च्युतो रत्नपुरे श्रेष्ठिसुतो जिनधर्मा जात । स च जिनवचनभावितमना सम्य-

क्त्वमूलं द्वादशविध श्रावकधर्मं पालयन् जिनेन्द्रपूजारतः काल गमयति । इतश्च स नागदत्तः प्रियाविरहदु खितो भ्रान्तचित्त. आर्त्तध्यानपरिक्षिप्तशरीरो भूत्वा बहुतिर्यग्योनिषु भ्रान्त्वा ततः सिंहपुरे नगरेऽग्निशर्मनामा द्विजो जात. । कालेन त्रिदण्डिव्रत गृहीत्वा द्विमासक्षपणरतो रत्नपुरमागतः । तत्र हरिवाहनो नाम राजा तापसभक्तस्तेन तपस्वी आगत. श्रुत. । पारणकदिने राज्ञा निमन्त्रितः स गृहमागत. । अत्रान्तर सजिनधर्म्मा नामा श्रावकस्तत्राऽऽगत. । तं दृष्ट्वा पूर्वभवजातवैरानुभावेन रोषारुणलोचनेन मुनिना एवमुक्त राज्ञ. , यदा त्व मा भोजयसि तदाऽस्य श्रेष्ठिन. पृष्ठौ स्थालं विन्यस्य मां भोजय ? अन्यथा नाह भोक्ष्ये । राज्ञोक्तमसौ श्रेष्ठी महान् वर्तते, ततोऽपरस्य पुरुषस्य पृष्ठौ त्वं भोजन कुरु । स प्राह—एतस्य पृष्ठावेव भोजन करिष्ये । नापरस्येति राज्ञा तापसानुरागेण तत् प्रतिपन्नम् , राज्ञो वचनात् श्रेष्ठिना पृष्ठौ स्थालमारोपितम् । तापसेन तत्पृष्ठौ दाहपूर्वकभोजन कृतम् । श्रेष्ठिना पूर्वभवदुष्कर्मफल ममोपस्थितमिति मन्यमानेन तत्सम्यक् सोढमिति स्थालीदाहेन तत्पृष्ठौ व्रन जातम् ।तत. स तापसस्तथा भुक्त्वा स्वस्थाने गत., श्रेष्ठ्यपि स्वगृह गत्वा स्वकुटुम्बवर्ग प्रतिबोध्य जैनदीक्षा जग्राह । ततो नगरान्निर्गता गिरिशिखरे गत्वा अनशनमुच्चचार । पूर्वदिगभिमुखं मासार्द्ध यावत्कायोत्सर्गेण स्थितः, एवं शेषास्वपि दिक्षु । ततः पृष्ठिक्षते काकशिवादिभिर्भक्षितः सम्यग् तत्पीडा सहमानो मृत्वा सौधर्म्मे कल्पे इन्द्रो जात.। स तापसोऽपि तस्यैव वाहनम् ऐरावणो जात. । ततश्च्युतोऽथ स ऐरावणो नरतिर्यक्षु भ्रान्त्वाऽसिताक्षो जात । शक्रोऽपि ततश्च्युत्वा हस्तिनागपुरे सनत्कुमार. चक्री जात. । एवमसिताक्षयक्षस्य भवता सह वैरकारणमिति मुनिनोक्ते मया तवान्तरवासनिमित्तं भानुवेगं विसर्जयित्वा प्रियसङ्गमपुरीनिवेशपूर्व तव भानुवेगेन कन्या. परिणायिताः। मुक्तो मयैव कारणेन त्व तद्वने । एव करिष्याम इति विचार्य तदा विद्याधरास्तत्कृतवन्तः । तृतो विज्ञपयामि देव ! मन्यस्व मे कन्याशतपाणिग्रहणम् ,ता अपि तत्र भवन्मुखकमल पश्यन्ति । एवं भवत्विति कुमारेणोक्ते स चन्द्रवेग. कुमारेण सम स्वनगरे गत.।तत्र कुमारेण कन्याशत परिणीतम् । पुनरप्यागतश्च दशोत्तरेण कन्याशतेन सह भोगान् भुङ्क्ते कुमार ।अद्य पुनरेवमुक्त कुमारेण यथाद्य गन्तव्य यत्रास्माभिर्यक्षो जित.। साम्प्रतमत्रायातस्य कुमारस्य पुरः प्रेक्षणं कुर्वन्तीनामस्माकं कुमारपत्नीना भवद्दर्शन जातमिति । अत्रान्तरे रतिगृहशय्यात उत्थित कुमार महेन्द्रसिंहेन सम विद्याधरपरिवृतो वैताढ्यं गत । अवसरं लब्ध्वा महेन्द्रसिंहेन विज्ञप्तम् । कुमार ! तव जननीजनकौ त्वद्विरहार्त्तौ दु खेन कालं गमयत , ततस्तद्दर्शनप्रसाद. क्रियताम् इति । महेन्द्रसिंहवचनानन्तरमेव महता गगनस्थितविद्याधरविमानहयगजादिवाहनारूढविद्याधरवृन्दसमर्द्धेन हस्तिनागपुरं संप्राप्त कुमार ,आनन्दिताश्च जननीजनकनागरजना. । ततो महत्या विभूत्याऽश्वसेनराजेन सनत्कुमार स्वराज्येऽभिषिक्त. । महेन्द्रसिंहश्च सेनापति कृत । जननीजनकाभ्या स्थविराणामन्तिके प्रव्रज्या गृहीत्वा स्वकार्यमनुष्ठितम् ।

सनत्कुमारोऽपि प्रवर्द्धमानकोशबलसारो राज्यमनुपालयति । उत्पन्नानि चतुर्दश रत्नानि नवनिधयश्च । कृता च तेषां पूजा । तदनन्तर चक्ररत्नदर्शितमार्गो मागधवरदामप्रभाससिन्धुखण्डप्रपातादिक्रमेण भरतक्षेत्रं साधितवान् । सनत्कुमार. । हस्तिनागपुरे चक्रवर्त्तिपदवी पलायन् यथेष्ट सुखानि भुङ्क्ते, शक्रेणावधिज्ञानप्रयोगात्त पूर्वभवे स्वपदाधिरूढं ज्ञात्वा महता हर्षेण वैश्रमणोऽनुज्ञप्त. । सनत्कुमारस्य राज्याभिषेक कुरु । इमं च हारं वनमालां छत्रं मुकुटं चामरयुगलं कुण्डलयुगं दूष्ययुगं सिंहासनञ्च पादपीठञ्च प्राभृतं कुरु । शक्रेण तव वृत्तान्त. पृष्टोऽस्तीति ब्रूया । वैश्रमणोऽपि शक्रदत्तं गृहीत्वा गजपुरनगरे समागत्य तत् प्राभृतं चक्रिणः पुरो मुक्तवान् , शक्रवचनं चोक्तवानिति । पुन. शक्रेण तिलोत्तमारम्भे देवाङ्गने तत्र तदभिषेककरणाय प्रेषिते । चक्रिणोऽनुज्ञां गृहीत्वा विकुर्वितयोजनप्रमाणमणिपीठोपरिरचितमणिमण्डपान्त स्थापिते मणिसिंहासने कुमारं निवेश्य कनककलशाहृतक्षीरोदजलधाराभिर्धवलगीतानि गायन्तीदेवीदेवाश्चाभ्यषिञ्चन् । रम्भातिलोत्तमादेव्यौ तदानी नृत्य कुरुतः, महामहोत्सवेन कुमारमभिषिच्य वैश्रमणादय. स्वलोक जग्मुः, चक्र्यपि भोगान् भुञ्जन् काल गमयति । अन्यदा सुधर्मसभायां सौधर्मेन्द्रः सिंहासनं अनेकदेवदेवीसेवित स्थितोऽस्ति । अत्रान्तरे एक ईशानकल्पदेव सौधर्मेन्द्रपार्श्वे आगत. । तस्य देहप्रभया सभास्थित. देवदेहप्रभाभर. सर्वतो नष्ट । आदित्योदये चन्द्रग्रहादय इव निष्प्रभा. सर्वे सुरा जाता. । तस्मिन् पुन स्वस्थाने गते देवै. सौधर्म्मेन्द्र. पृष्ट । स्वामिन् ! केन कारणेन अस्य देवस्येदृशी प्रभा जाताऽस्ति । शक्र प्राह-अनेन पूर्वभवे आचाम्लवर्द्धमानतप. खण्ड कृतम् तत्प्रभावादस्य देह प्रभा ईदृशी जाताऽस्ति । देवै. पुनरिन्द्र पृष्ट., अन्योऽपि कश्चिदीदृशो दीप्तिमानस्ति न वा ?, इन्द्रेण भणित यथा हस्तिनागपुरे कुरुवंशेऽस्ति सनत्कुमारनामा चक्री, तस्य रूपं सर्वदेवेभ्योऽप्यधिकमस्ति । इद शक्रवचोऽश्रद्दधानौ, विजयवैजयन्तौ देवौ ब्राह्मणरूपौ आगतौ, प्रतीहारेण मुक्तद्वारौ गृहान्त. प्रविष्टौ,राजसमीप गतौ । दृष्टश्च तैलाभ्यङ्ग कुर्वन् राजा अतीव विस्मितौ देवौ शक्रवर्णितरूपाधिकरूप तौ पश्यन्तौ राज्ञा पृष्टौ । किमर्थ भवन्तौ अत्रायातौ । तौ भणतः देव ! भवद्रूप त्रिभुवन वर्ण्यते तद्दर्शनार्थं कौतुकेन आवामत्रायातौ । ततोऽतिरूपगर्वितेन राज्ञा तौ उक्तौ भो भो विप्रौ युवा किं मद्रूप दृष्ट स्तोककालं प्रतीक्षेथा यावदहमास्थानसभामुपविशामि एवमस्त्विति प्रोच्य निर्गतौ द्विजौ । चक्र्यपि शीघ्र मज्जन कृत्वा सर्वाङ्गोपाङ्गशृङ्गार दधत् सभाया सिंहासने उपविष्ट । आकारितौ द्विजौ ताभ्यां तदा चक्रिरूपं दृष्ट्वा विषण्णाभ्या भणितम्—अहो मनुष्याणा रूपलावण्ययौवनानि क्षणदृष्टनष्टानि । तयोर्द्विजयोरेतद्वच. श्रुत्वा चक्रिणा भणितम् , भो किमेव भवन्तौ विषण्णौ मम शरीर निन्दत । ताभ्या भणितम्-महाराज ! देवाना रूपयौवनतेजांसि प्रथमवयस आरभ्य षण्मासशेषायु.समय यावदवस्थितानि भवन्ति,यावज्जीवं न हीयन्ते । भवता शरीरे तु आश्चर्य दृश्यते।यत्तद्रूपलावण्यादिक साम्प्रतमेव दृष्टं नष्टम्। राज्ञा भणितम्-कथमेव भवद्भ्या ज्ञानम्?ताभ्यां शक्रप्रशंसादिकः सर्वो-

ऽपि वृत्तान्तः कथितः । चक्रिणा तु केयूरादिविभूषितं बाहुयुगलं पश्यता हारादिविभूषितमपि स्ववक्षःस्थलं विवर्णमुपलक्ष्य चिन्तितम्-अहो अनित्यता संसारस्य,असारता शरीरस्य, एतावन्मात्रेणापि कालेन मच्छरीरस्य यौवनतेजांसि नष्टानि । अयुक्तोऽस्मिन् भवे प्रतिबन्धः, शरीरमोहोऽज्ञानं, रूपयौवनाभिमानो मूर्खत्वं, भोगासेवनमुन्मादः, परिग्रहो ग्रह इव । तत एतत्सर्वं व्युत्सृज्य परलोकहितं संयमं गृह्णामीति विचार्य चक्रिणा पुत्रः स्वराज्येऽभिषिक्तः स्वयं संयमग्रहणाय उद्यतो जातः । तदानीं देवदेवीभ्यां भणितम्-'अणुहरिअं धीर ! तुमे, चरिअं नियपस्स पुव्वपुरिसस्स । भरहमहानरवइणो,तिहुअणविक्खायकित्तिस्स ॥१॥" इत्याद्युक्त्वा देवौ गतौ । चक्र्यपि तदानीमेव सर्वं परिग्रहं परित्यज्य विनताचार्यसमीपे प्रव्रजितः । ततः स्त्रीरत्नप्रमुखाणि सर्वरत्नानि, शेषाश्च रमण्यः, सर्वेऽपि नरेन्द्राः,सर्वसैन्यलोका नवनिधयश्च षण्मासान् यावत्तन्मार्गानुलग्ना । तेन संयमिना सिंहावलोकनन्यायेन दृष्ट्याऽपि न विलोकिताः । षष्ठभक्ते भिक्षानिमित्तं गोचरप्रविष्टस्य प्रथममेव अजातक्रं तस्य गृहस्थेन दत्तं, तद्भुक्तम् । द्वितीयदिवसे च षष्ठमेव कृतं पारणकं प्रान्तनीरसाहारकरणात्तस्यैते रोगाः प्रादुर्भूताः । कण्डूः १ ज्वरः २ कासश्वासः ४ स्वरभङ्गः ५ अक्षिदुःखम् ६ उदरव्यथा ७ एताः सप्त व्याधयः सप्तशतवर्षाणि यावदध्यासिता उग्रतपः कुर्वतस्तस्य आमर्षौषधी १ खेलौषधी २ विप्रुडौषधी ३ जल्लौषधी ४ सर्वौषधी ५ प्रभृतयो लब्धयः सम्पन्नाः, तथाप्यसौ स्वशरीरप्रतीकारं न करोति । पुनः शक्रेणैकदा एवं प्रशंसितः, अहो पश्यन्तु देवाः सनत्कुमारस्य धीरत्वं, व्याधिकदर्थितोऽप्ययं न स्ववपुः प्रतीकारं कारयति । एतदिन्द्रवचनमश्रद्दधानौ तावेव देवौ वैद्यरूपेण तस्य मुनेः समायातौ,भणितवन्तौ च । भगवन् ? तव वपुष्याधिप्रतीकारं कुर्वः । सनत्कुमारस्तदानीं तूष्णीक एव स्थितः । पुनस्ताभ्यां भणितम्-तथैव मुनिर्मौनभाक् जातः । पुनः पुनस्तथैव तौ भणतः, तदा मुनिना भणितम्-भवन्तौ किं शरीरव्याधिस्फेटकौ, किं वा-कर्मव्याधिस्फेटकौ ? ताभ्यां भणितमावां शरीरव्याधिस्फेटकौ । तदानीं सनत्कुमारमुनिना स्वमुखथूत्कृतेन घर्षिता स्वाङ्गुली कनकवर्णा दर्शिता, भणितश्च-अहं स्वयमेव शरीरव्याधिं स्फेटयामि, यदि मे सहनशक्तिर्न स्यात्तदेति । युवां यदि संसारव्याधिस्फेटनसमर्थौ तदा तं स्फेटयतम्, तौ देवौ विस्मितमनस्कौ प्रकटितस्वरूपौ एवमूचतुः -भगवन् ! त्वमेव संसारव्याधिस्फेटनसमर्थोऽसि, आवाभ्यां तु शक्रवचनमश्रद्दधानाभ्यामिहागत्य त्वं परीक्षितो यादृशः शक्रेण वर्णितस्तादृश एव त्वमसीत्युक्त्वा प्रणम्य च स्वस्थानं गतौ । भगवान् सनत्कुमारस्तु कुमारत्वे पञ्चाशद्वर्षसहस्राणि चक्रवर्तित्वे वर्षलक्षं श्रामण्यं च वर्षलक्षमेकं परिपाल्य समेतशैलशिखरं गतः । तत्र शिलातले आलोचनाविधानपूर्वमासिकेन भक्तेन कालं कृत्वा सनत्कुमारकल्पे देवत्वेनोत्पन्नः, ततश्च्युतो महाविदेहे वासे सेत्स्यति । इति सनत्कुमारदृष्टान्तः । ३७ । उत्त० १८ अ० । ध० र० । स्था० । प्रव० । सनत्कुमारप्रधानविमानकल्पे सनत्कुमारः । अनु० । तृतीये देवलोके, अनु० । स्था० । प्रज्ञा० । प्रव० । औ० । स० । (तृतीयकल्पदेवाधिपे, स च कल्पे क्व कथं तद्देव आधिपत्यं करोतीति 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७१२ पृष्ठे उक्तम् ।) दाक्षिणात्यानां सनत्कुमारकल्पस्येन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । विपा० ।

सणंकुमारे णं भंते ! देविंदे देवराया किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिए सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी परित्तसंसारिए अणंतसंसारिए सुलभबोहिए दुल्लभबोहिए आराहए विराहए चरिमे अचरिमे ?, गोयमा ! सणंकुमारे णं देविंदे देवराया भवसिद्धिए, णो अभवसिद्धिए ,एवं सम्मद्दिट्ठी परित्तसंसारिए सुलभबोहिए आराहए चरिमे पसत्थं नेयव्वं । से केणट्ठेणं भंते !, गोयमा ! सणंकुमारे देविंदे देवराया बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए निस्सेयसिए हियसुहनिस्सेसकामए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सणंकुमारे णं भवसिद्धिए०जाव णो अचरिमे । सणंकुमारस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? , गोयमा ! सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । से णं भंते ! ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव कहिं उववज्जिहिति ?, गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति ०जाव अंतं करेहिइ । (सू० १४१+)

'आराहए' त्ति-ज्ञानादीनामाराधयिता चरमे ' त्ति-चरम एव भवो यस्य प्राप्तस्तिष्ठति, देवभवो वा चरमो यस्य स,चरमभवो वा भविष्यति यस्य स चरमः, 'हियकामए' त्ति-हितं सुखनिबन्धनं वस्तु ' सुहकामए ' त्ति-सुखं-शर्म' पत्थकामए' त्ति-पथ्यं-दुःखत्राणम् , कस्मादेवमित्यत आह-'आणुकंपिए' त्ति-कृपावान् , अत एवाह-' निस्सेयसिए' त्ति-निःश्रेयसं-मोक्षस्तत्र नियुक्त इव नैःश्रेयसिकः ' हियसुहनिस्सेसकामए ' त्ति-हितं यत्सुखमदुःखानुबन्धमित्यर्थः, तन्निःशेषाणां सर्वेषां कामयते वाञ्छति यः स तथा । भ० ३ श० १ उ० । (यद्यपि सनत्कुमारे स्त्रीणामुत्पत्तिर्नास्ति तथापि याः सौधर्मोत्पन्नाः समयाधिकपल्योपमादिदशपल्योपमान्तस्थितयोऽपरिगृहीतदेव्यस्ताः सनत्कुमारदेवानां भोगाय संपद्यन्ते इति ' परियारणा ' शब्दे पञ्चमभागे ६३२ पृष्ठे गतम् ।)

सणंकुमारमाहिंदकप्प-सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्प-पुं०।स्वनामख्याते कल्पे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (अस्मिन् कल्पे कतिविधानि विमानानीति ' विमाण ' शब्दे षष्ठे भागे १-११ पृष्ठे गतम् ।)

सणंदिघोस-सनन्दिघोष-त्रि०। सह नन्दिघोषेण द्वादशतूर्यनिनादो यस्य सः । नन्दिघोषतुल्ये , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सणकप्पास-शणकर्पास-पुं० । शणत्वचि, ' सणो वणस्सनिजातो तस्स वा गोकत्तणिज्जो कप्पासो भण्णति । नि० चू० २ उ० ।

सणबंधण-शणबन्धन-न० । शणपुष्पवृन्ते , औ० ।

सणय-शणज-न० । शणादिवल्कजे, नि० चू० १ उ० ।

सणसत्तरस-शणसप्तदशन्-त्रि० । शण. सप्तदशो येषां व्रीह्यादीनां तानि तथा । शणादिसप्तदशसंख्याकेषु धान्येषु, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

सणह-सनख-पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे भविष्यति षष्ठे कुलकरे, समवायाङ्गे तु-सुमहनामाऽयम् । ति० ।

सणहप्पई-सनखपदी-स्त्री० । सनखपदपञ्चेन्द्रियतिर्यग्जातिस्त्रियाम् , जी० २ प्रति० ।

सणहप्पय-सनखपद-पुं० । नखरेषु सिंहादिषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सनखानि दीर्घनखपरिकलितानि पदानि येषां ते श्वादयः प्राकृतत्वाच्च ' सणहप्पया ' इति । जी० १ प्रति० । सूत्र० । प्रश्न० । भ० ।

से किं तं सणहप्प(प्फ)या ? सण० अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-सीहा वग्घा दीविया अच्छा मरच्छा परस्सरा सियाला विडाला सुणगा कोलसुणगा कोकंतिया ससगा चित्तगा चिल्लगा । जे यावण्णे तहप्पगारा । से त्तं सणहप्प(प्फ)या । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-संमुच्छिमा य,गब्भवक्कंतिया य । तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा, तत्थ णं जे ते गब्भवक्कंतिया ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-इत्थी पुरिसा नपुंसगा । (सू० ३४ ×)

तथा सनखानि दीर्घनखपरिकलितानि पदानि येषां ते सनखपदाः श्वादय । प्राकृतत्वाच्च—' सणहप्फया ' इतिसूत्रे निर्देशः, अधुना एतानेव एकखुरादीन् भेदत. क्रमेण प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—'से किं त'मित्यादि, सुगम नवरं ये केचिज्जीवभेदा. प्रतीतास्ते लोकतो वेदितव्या. ' ते समासओ दुविहा पन्नत्ता ' इत्यादि सूत्रं प्राग्वद्भावनीयम् , नवरमत्र जातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि दश भवन्तीति वेदितव्यम् , अत्रापि च संमूर्च्छिमाना गर्भव्युत्क्रान्तिकाना च प्रत्येकं यच्छरीरादिद्वारेषु चिन्तन यच्च स्त्रीपुनपुंसकाना परस्परमल्पबहुत्वं तज्जीवाभिगमटीकातो वेदितव्यम । प्रज्ञा० १ पद ।

सणहमच्छ-सनखमत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

सणहा-सनखा-स्त्री० । नखोपलक्षितायां पिण्डिकायाम् , यस्यां पिण्डिकाया बध्यमानायामङ्गुलीनखा ओष्ठस्याधो लगन्ति सा सनखेत्युच्यते । भ० १५ श० ।

सणाण-सज्ञान-न० । ज्ञानेन सहितम् । सम्यग्दृष्टिसहितेषु, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

सणातण-सनातन-त्रि० । शाश्वते, द्रव्यार्थतया नित्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

सणाह-सनाथ-त्रि० । सस्वामिके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आ० म० ।

सणाभि-सनाभि-त्रि० । बान्धवे, " बंधू सयणो सणाही य " पाइ० ना० १०१ गाथा ।

सणिअं-शनैस्-अव्य० । " शनैसो डिअम् " ॥ ८ । २ । १६८॥ इति स्वार्थे डिअं प्रत्यय' । अत्वरायाम् , प्रा० २ पाद ।

डित्वाच्च टेर्लुक् । सणिअमवगूढो । प्रा० । " मसिणं सणिअं मट्ठं " पाइ० ना० १५ गाथा ।

सणिओग-शनियोग-पुं० । परस्य कुबुद्धिसुधुद्धादिदाने शनैश्चरग्रहयोगे, उत्त० ३२ अ० ।

सणिंचर-शनैश्चर-पुं० । महाग्रहभेदे, स्था० ।

दो सणिंचरा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सणिंचारि(ण्)-शनैश्चारिन्-पुं० । शनैर्मन्दमुत्सुकत्वाभावाच्चरन्तीत्येवंशीलाः शनैश्चारिणः । भ० ६ श० ७ उ० । यत्र सुखमसुखमाकाल. तत्रत्यमनुष्यजातौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सणिचर-शनैश्चर-पुं० । ताराग्रहभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सणिच्छर-शनैश्चर-पुं० । " इत्सैन्धवशनैश्चरे " ॥ ८।१।१४९ ॥ अनेनात्रैत इत्वम् । सणिच्छरो । प्रा० । चतुर्थे महाग्रहविशेषे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । चं० प्र० । स्था० । ज्योतिर्देवे, प्रज्ञा० २ पद । सूत्र० । औ० । प्रश्न० । जं० ।

सणिच्छरसंवच्छर-शनैश्चरसंवत्सर-पुं० । शनैश्चरनिष्पादित. संवत्सरः शनैश्चरसंवत्सरः । संवत्सरभेदे, चं० प्र० ।

ता सणिच्छरसंवच्छरे णं अट्ठावीसतिविहे पण्णत्ते, तं जहा-अभिथी सवणे० जाव उत्तरासाढा । जं वा सणिच्छरे महग्गहे तीसाए संवच्छरेहिं सव्वं णक्खत्तमंडलं समाणेति । (सू० ५८ ×)

' ता सणिच्छरे ' त्यादि तत्र शनैश्चरसंवत्सरोऽष्टाविंशतिविधः प्रज्ञप्त., तद्यथा—अभिजित्—अभिजिच्छनैश्चरसंवत्सर', श्रवण'—श्रवणशनैश्चरसंवत्सर , एवं यावदुत्तरापाढा—उत्तरापाढाशनैश्चरसंवत्सर. । तत्र यस्मिन् संवत्सरे अभिजिता नक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते सोऽभिजिच्छनैश्चरसंवत्सर', श्रवणेन सह यस्मिन् संवत्सरे शनैश्चरो योगमुपादत्ते स श्रवणशनैश्चरसंवत्सर' । एवं सर्वत्र भावनीयम् । 'ज वे' त्यादि, वाशब्द. प्रकारान्तरताद्योतनाय तत्सर्वं समस्त नक्षत्रमण्डलं शनैश्चरो महाग्रहस्त्रिंशता संवत्सरै' समापयति, एतावान् कालविशेषस्त्रिंशद्वर्षप्रमाण. शनैश्चरसंवत्सर. । चं० प्र० १० पाहु० । स्था० । सू० प्र० । जं० ।

सणिधण-सनिधन-त्रि० । सक्षये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सणिद्ध-स्निग्ध-त्रि० । " स्निग्धे वादितौ " ॥ ८।२।१०९ ॥ इति स्निग्धे संयुक्तस्य नात्पूर्वोऽत् । सिणिद्धं । सणिद्धं । स्नेहवति, प्रा० २ पाद ।

सणिमित्त-सनिमित्त-त्रि० । सह निमित्तेन उपादानकारणेन सहकारिकारणेन वा वर्त्तत इति सनिमित्तम् । सकारणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कर्म० ।

सणियं-शनैस्-अव्य० । मन्दे, अर्थान्तरेऽपि च । " सणियं सणियं " आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

सणियाण-सनिदान-त्रि० । सह निदानेन वर्त्तत इति सनिदान । भोगसारूप्यनिदानसहिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सणेह-स्नेह-पु० । " स्नेहाग्न्योर्वा " ॥८।२। १०२ ॥ अनेनात्र सयुक्ताद्न्त्यव्यञ्जनात्पूर्वस्याकारादेशः । सणेहो । नेहो । प्रीतौ, प्रा० २ पाद ।

सगढ-सं(प)ण्ढ-पु० । " वर्गेऽन्त्यो वा " ॥ ८ । १ । ३० ॥ अननात्रानुस्वारस्य वैकल्पिको वर्गान्त्यादेश । संढो । सण्ढो । नपुंसके, प्रा० १ पाद ।

सण्ण-संज्ञ-त्रि० । सम्यग् जानाति पश्यतीति सञ्ज्ञ । ज्ञानदर्शनयुक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

सन्न-त्रि० । अवसन्ने, मग्ने, " सन्नो इह काममुच्छिया, मोहं जंति असंवुडा नरा । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

सण्णक्खर-संज्ञाक्षर-न० । सञ्ज्ञायतेऽनयेति संज्ञा—नाम तन्निबन्धन तत्कारणमक्षरं सञ्ज्ञाक्षरम् । अक्षरश्रुतभेदे, वृ० १ उ० १ प्रक० । (एतच्च ' अक्खर ' शब्दे प्रथमभागे १४० पृष्ठे उपपादितम् ।)

सण्णकुंभ-स्वर्णकुम्भ-पु० । वासुपूज्यशिष्ये रोहिणीतप-उपदेष्टरि, ती० ३४ कल्प ।

सण्णजंघ-स्वर्णजंघ-पु० । ऋषभदेवजीवस्य वज्रजङ्घस्य पितरि, आ० क० १ अ० ।

सण्णद्ध-सन्नद्ध-त्रि० । कृतसन्नाहे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । विपा० । आ० । " सण्णद्धबद्धवम्मियकवया " सन्नद्धबद्धवर्म्मितकवचा । कवच-तनुत्राणं वर्म-लोहमयकुलिकादिरूप सजातमस्मिन्निति वर्म्मितम् । सन्नद्ध-शरीर आरोपणात् बद्ध-गाढतरबन्धनेन बन्धनात् वर्म्मित कवच यैस्ते सन्नद्धबद्धवर्म्मितकवचा. । जी० ३ प्रति० २ उ० । भ० ।

सण्णप्प-संज्ञाप्य-त्रि० । प्रज्ञापनीय, न० । स्था० । आचा० ।

सण्णय-सन्नय-पुं० । समीचीननये, प्रति० ।

सण्णयपास-सन्नतपार्श्व-सम्यगधोऽध क्रमेण नतौ पार्श्वौ येषा त सन्नतपार्श्वा । अधोऽध. क्रमावनतपार्श्वेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० ।

सण्णवणा-संज्ञापना-स्त्री० । सबोधनायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १अ० ।

सण्णा-सञ्ज्ञा-स्त्री० सज्ञान सज्ञा । "उपसर्गादात "।५।३।११०। इत्यम् प्रत्यय. । तत " म्नज्ञोर्णः "॥८।२।४२॥ इति ज्ञस्य णः । प्रा० । व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभवे मतिविशेषे, आहारभयाद्युपाधिकायामचेतनायाम् , अभिधाने, स्था० ।

एगा सण्णा । (सू० ३) स्था० १ ठा० ।

सज्ञान संज्ञा । आभोगे, सज्ञायतेऽनयेति वा सज्ञा । भ० ७ श० ८ उ० । आ० म० । घटशब्दादिलक्षणे अभिधाने, विशे० । आ० म० । न० । आख्यायाम् , अनु० । उत्तरकालपरिलोचनायाम् , सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । ऊहापोहविमर्षे, सूत्र० २ श्रु० ७ उ० । प्रत्युत्पन्नवर्त्तमानार्थग्राहिण्या चेतनायाम् , दश०४ अ० । सज्ञानं सज्ञा । पदार्थपरिच्छित्तौ, 'पत्तेय सण्णा' प्रत्येकं सज्ञा । मन्दमन्दतरपटुपटुतरभेदात् । प्रत्येकमेवोपजायते । सर्वज्ञादारतस्तरतमयोगेन मतेर्व्यवस्थितत्वात् । सूत्र० १ श्रु० ७ उ० । ज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अन्त करणवृत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वे, सम्म०१ काण्ड । दश० भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचने, कर्म्म० ४ कर्म० । प० स० । न० । सञ्ज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ । (सू० १)

" सुत्त अट्ठहि य गुणेहिं उववेय ॥ १ ॥ " इत्यादि, तच्चेदं सूत्रम्- ' सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायइहमेगेसिं णो सण्णा भवति ' अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या—संहितोच्चारितैव, पदच्छेदस्त्वयम्-श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह एकेषा नो सञ्ज्ञा भवति । एक तिङन्त शेषाणि सुबन्तानि , गत पदच्छेद. सूत्रानुगम । साम्प्रत सूत्रपदार्थः समुन्नीयते—भगवान् सुधर्मस्वामी जम्बूनाम्न इदमाचष्टे, यथा-श्रुतम्-आकर्णितमवगतमवधारितमिति यावद्. अनेन स्वमनीषिकाव्युदासो मयेति साक्षान्न पुन पारम्पर्येण आयुष्मन्निति जात्यादिगुणसम्भवेऽपि दीर्घायुष्कत्वगुणोपादानं दीर्घायुरविच्छेदेन शिष्योपदेशप्रदायको यथा स्यात् । इहाचारस्य व्याचिख्यासितत्वात्तदर्थस्य च तीर्थकृत्प्रणीतत्वादिति सामर्थ्यप्रापितम् , तेनेति तीर्थकरमाह । यदि वा-आमृशता भगवत्पादारविन्दम् अनेन विनय आवेदितो भवति , आवसता वा तदन्तिक इत्यनेन गुरुकुलवास कर्त्तव्य इत्यावेदितं भवति, एतच्चार्थद्वयम् ' आमुसतेण आवसंतेणे ' त्येतत्पाठान्तरमाश्रित्यावगन्तव्यमिति । भगवतेति भग -ऐश्वर्य्यादिषडर्थात्मक सोऽस्यास्तीति भगवान् तेन, एवमिति वक्ष्यमाणविधिना, आख्यातमित्यनेन कृतकत्वव्युदासेनार्थरूपतया आगमस्य नित्यत्वमाह-' इह ' ति-क्षेत्रे प्रवचने आचारे शस्त्रपरिज्ञाया वा आख्यातमिति सम्बन्ध । यदिवा-'इहे' ति-ससारे एकेषा ज्ञानावरणीयावृताना प्राणिना नो सञ्ज्ञा भवति , सञ्ज्ञान सञ्ज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरम् , सा नो जायत इत्यर्थ । उक्त पदार्थ । पदविग्रहस्य तु सामासिकपदाभावादप्रकटनम् । इदानीं चालना—ननु चाकारादिकप्रतिषेधकलघुशब्दसम्भवे सति किमर्थ नोशब्देन प्रतिषेध इति ?, अत्र प्रत्यवस्था, सत्यमेवम् , किन्तु-प्रेक्षापूर्वकारितया नोशब्दोपादानम् , सा चेयम्—अन्यत्र प्रतिषेधेन सर्वनिषेध स्याद् यथा न घटोऽघट इति चोक्ते सर्वात्मना घटनिषेध , स च नेष्यते , यत प्रज्ञापनाया दश सञ्ज्ञा सर्वप्राणिनाम्—भिहितास्तासा सर्वासा प्रतिषेध प्राप्नोतीति कृत्वा । तास्त्विमा —" कइ ण भंते ! सण्णाओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! दस सण्णाओ पण्णत्ताओ, त जहा—आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा कोहसण्णा माणसण्णा मायासण्णा लोभसण्णा ओहसण्णा लोगसण्णा " त्ति , आसां च प्रतिषेधे स्पष्टो दोष , अतो नोशब्देन प्रतिषधनमकारि, यतोऽय सर्वनिषेधवाची, देशनिषेधवाची च । तथा हि—नो घट इत्युक्ते यथा घटाभावमात्र प्रतीयत , तथा प्रकरणादिप्रसक्तस्य विधानम् । स पुनर्विधीयमान प्रतिषेध्यावयवो ग्रीवादि प्रतिषेध्यादन्यो वा पटादि प्रतीयत इति । तथा चोक्तम्—'प्रतिषेधयति समस्त , प्रसक्तमर्थं च जगति नोशब्द । स पुनस्तदवयवो वा, तस्मादर्थान्तरं वा स्याद् ॥१॥' इति, एवमिहापि न सर्वसञ्ज्ञानिषेध , अपि

तु-विशिष्टसंज्ञानिषेधो, यथाऽऽत्मादिपदार्थस्वरूप गत्याग-त्यादिक ज्ञायते तस्या निषेध इति ।

साम्प्रतं निर्युक्तिकृत्सूत्रावयवनिक्षेपार्थमाह—

दव्वे सच्चित्ताई, भावेऽणुभवणजाणणा सन्ना ।
मति होइ जाणणा पुण,अणुभवणा कम्मसंजुत्ता ॥३८॥

संज्ञा नामादिभेदाच्चतुर्द्धा, नामस्थाने सुगमे । ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्ता सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा,सचि-त्तेन हस्तादिद्रव्येण पानभोजनादिसंज्ञा, अचित्तेन ध्व-जादिना, मिश्रेण प्रदीपादिना संज्ञानं—संज्ञा अवगम इति कृत्वा । भावसंज्ञा पुनर्द्विधा—अनुभवनसंज्ञा, ज्ञानसंज्ञा च । तत्राल्पव्याख्येयत्वात्तावत् , ज्ञानसंज्ञा दर्शयति—' मइ होइ जाणणा पुण' त्ति-मननं मति·—अवबोध·, सा च मतिज्ञा-नादि· पञ्चधा, तत्र केवलसंज्ञा क्षायिकी शेषास्तु क्षायो-पशमिक्य·, अनुभवनसंज्ञा तु स्वकृतकर्मोदयादिसमुत्था जन्तोर्जायते ।

सा च षोडशभेदेति दर्शयति—

आहारभयपरिग्गह-मेहुणसुखदुक्खमोहवितिगिच्छा ।
कोहमाणमायलोहे, सोगे लोगे य धम्मोहे ॥३६ ॥

आहाराभिलाष आहारसंज्ञा, सा च तैजसशरीरनामक-र्म्मोदयादसातोदयाच्च भवति, भयसंज्ञा त्रासरूपा, परिग्रह-संज्ञा मूर्च्छा रूपा, मैथुनसंज्ञा स्त्र्यादिवेदोदयरूपा , एताश्च मोहनीयोदयात् सुखदु खसंज्ञे सातासातानुभवरूपे वेदनी-योदयजे । मोहसंज्ञा मिथ्यादर्शनरूपा मोहोदयात् , विचि-कित्सासंज्ञा चित्तविप्लुतिरूपा मोहोदयात् ज्ञानावरणी—योदयाच्च, क्रोधसंज्ञा अप्रीतिरूपा मानसंज्ञा गर्व—रूपा, मायासंज्ञा वक्रतारूपा, लोभसंज्ञा गृद्धिरूपा, शोक-संज्ञा विप्रलापवैमनस्यरूपा, एता मोहोदयजा , लोकस-ज्ञाः स्वच्छन्दघटितविकल्परूपा लौकिकाचरिता, यथा न सन्त्यनपत्यस्य लोका , श्वानो यक्षा , विप्रा देवा·, काका पितामहा , बर्हिणां पक्षवातेन गर्भ इत्येवमादिका ज्ञानावर-णक्षयोपशमान्मोहोदयाच्च भवन्ति।धर्मसंज्ञा क्षमाद्यासेवन-रूपा मोहनीयक्षयोपशमाज्जायते , एताश्चाविशेषोपादानात् पञ्चेन्द्रियाणां सम्यग्मिथ्यादृशा द्रष्टव्या , ओघसंज्ञा तु अ-व्यक्तोपयोगरूपा वल्लिवितानारोहणादिलिङ्गा ज्ञानावरणी-याल्पक्षयोपशमसमुत्था द्रष्टव्येति । इह पुनर्ज्ञानसंज्ञयाऽधि-कारो, यत· सूत्रे सैव निपिद्धा इह एकेषा नो संज्ञा—ज्ञान-म् अवबोधो भवतीति ॥ १ ॥

प्रतिपिद्धज्ञानविशेषावगमार्थमाह-सूत्रम्—

तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहममि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमं-सि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अणयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमसि । एवमेगेसिं णो णायं भवति । (सू० २)

"तं जहे" त्यादि "णो णायं भवती" ति यावत् तत्रयेति प्र-तिज्ञातार्थोदाहरणम् , 'पुरत्थिमाउ ' त्ति-प्राकृतशैल्या मा गधदेशीभाषानुवृत्त्या पूर्वस्या दिशोऽभिधायकात् पुरत्थिम-शब्दात्पञ्चम्यन्तात्तसा निर्देश·।वाशब्द उत्तरपक्षापेक्षया वि-कल्पार्थ·।यथा लोके भोक्तव्यं वा शयितव्यं वेति । एवं पूर्वस्या वा दक्षिणस्या वेति। दिशतीति दिक्,अतिसृजति-व्यपदिश-ति द्रव्य द्रव्यभाग वेति भावः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । द्विविधा संज्ञा सा पुनः सामान्येन क्षायोपशमिकी, औपशमिकी च । तत्राद्या ज्ञानावरणक्षायोपशमजा मति-भेदरूपा न तयेहाधिकार , द्वितीया सामान्येन चतुर्विधाऽऽ हारसंज्ञादिलक्षणा । आव० ४ अ० । आ० चू० । त्रिविधा संज्ञा दीर्घकालिकोपदेशेन हेतुवादोपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन । विशे० । वृ० । प्रव० ।

इदानीं ' सन्नाओ तिन्नि ' त्ति चतुश्चत्वारिंशच्छततमं-द्वारमाह—

सन्नाओ तिन्नि पढमे,त्थ दीहकालोवएसियासयानाम ।
तह हेउवायदिट्ठी,वा उवएसा तदियराओ ॥६३२॥

सज्ञान संज्ञा, ज्ञानमित्यर्थ·, सा त्रिभेदा, 'पढमे त्थ ' त्ति-प्रथमा—आद्या अत्र एतासु तिसृषु संज्ञासु मध्ये दीर्घका-लोपदेशिका नाम दीर्घकालमतीतानागतवस्तुविषयत्वेनो-पदेश कथन यस्या सा दीर्घकालोपदेशी, सैव दीर्घकालो-पदेशिका । तथा तदितरे द्वितीय हेतुवाददृष्टिवादोपदेशे , उपदेशशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् । हेतुवादोपदेशा द्वितीया संज्ञा, दृष्टिवादोपदेशा च तृतीयेत्यर्थः । तत्र हेतुर्वा कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम् , तस्य वदन वादस्तद्विषय उपदेश·-प्ररूपणा यस्या सा हेतुवादोपदेशा, तथा दृष्टिर्दर्शनं सम्यक्त्व तस्य वदन वादो दृष्टीना वादो दृष्टिवाद·, तद्विषय उपदेश · प्ररूपण यस्या सा दृष्टिवादोपदेशेति ।

अथ दीर्घकालोपदेशसंज्ञाया· स्वरूपं प्रतिपिपादयिषु—स्तया सज्ञिनमेवाह—

एय करेमि एयं, कयं मए इममहं करिस्सामि ।
सो दीहकालसन्नी, जोइय तिकालसन्नधरो ॥६३३॥

एतत्करोऽस्यहम् , एतत्कृतं मया , एतत्करिष्याम्य—हम् , इत्येव यस्त्रिकालविषया वर्त्तमानातीतानाग—तकालत्रयवर्तिवस्तुविषया संज्ञा मनोविज्ञानं धारयति स· , दीर्घकाला—दीर्घकालोपदेशा संज्ञाऽस्यास्तीति कृत्वा , स च गर्भजस्तिर्यङ् मनुष्यो वा देवो नारक-श्च मन पर्याप्तियुक्तो विज्ञय , तस्येव त्रिकालविषयविम-र्शादिसंभवात् , एप च प्राय सर्वमप्यर्थं स्फुटरूपमुपल-भते । तथाहि—यथा चक्षुष्मान् प्रदीपादिप्रकाशेन स्फुट-मर्थमुपलभते , तथैवोऽपि मनोलब्धिसपन्नो मनोद्रव्याव-ष्टम्भसमुत्थविमर्शवशत पूर्वापरानुसंधानेन तथावस्थित स्फुटमर्थमुपलभते । यस्य पुनर्नास्ति तथाविधस्त्रिकाल-विषयो विमर्श सोऽसज्ञीति सामर्थ्याज्ज्ञायते । स च स-मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियादिर्विज्ञेय· । स हि स्वल्प-स्वल्पतरमनोलब्धिसंपन्नत्वादस्फुटतरमर्थं जानाति । तथा-हि—पञ्चेन्द्रियापेक्षया समूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियोऽस्फुटमर्थ जा-नाति । जानाति ततोऽप्यस्फुट चतुरिन्द्रिय· , ततो—ऽप्यस्फुटतर त्रीन्द्रिय · ततोऽप्यस्फुटतम द्वीन्द्रिय· '

ततोऽप्यत्यस्फुटतममेकेन्द्रिय, तस्य प्रायो मनोद्रव्यासम्भवात्, केवलमव्यक्तमेव किंचिदतीवाल्पतरं मनो द्रव्यम्—यद्वशादाहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपाः प्रादुष्यन्तीति ?।

साम्प्रतं हेतुवादोपदेशसंज्ञया संज्ञिनमसंज्ञिनं चाह—

जे उण संचिंतेउं, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसु ।
वत्तंति नियत्तंति य, सदेहपरिपालणाहेउं ॥६३४॥
पाएण संपडच्चिय, कालम्मि न यावि दीहकालम्मि ।
ते हेउवायसन्नी, निच्चेट्ठा हुंति हु असन्नी ॥ ६३५ ॥

ये पुनः सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्येष्टानिष्टेषु छायातपाहारादिषु विषयवस्तुषु स्वदेहपरिपालनाहेतोरिष्टेषु वर्तन्ते । अनिष्टेभ्यस्तु तेभ्य एव निवर्तन्ते । प्रायेण च साम्प्रतकाल एव, न चापि नैव दीर्घकालेऽतीतानागतलक्षणे, प्रायोग्रहणात् केचिदतीतानागतकालावलम्बिनोऽपि, नातिदीर्घकालानुसारिणः, ते द्वीन्द्रियादयो हेतुवादोपदेशेनया संज्ञिनो विज्ञेयाः । अत्र च निश्चेष्टा धर्मातपाद्यभितापितास्तन्निराकरणाय प्रवृत्तिनिवृत्तिविरहिताः पृथिव्यादय एवासंज्ञिनो भवन्ति । किमुक्तं भवति ?—यो बुद्धिपूर्वकं स्वदेहपरिपालनार्थमिष्टेष्वाहारादिषु वस्तुषु प्रवर्तते, अनिष्टेभ्यश्च निवर्तते स हेतूपदेशेन संज्ञी, स च द्वीन्द्रियादिरपि वेदितव्यः । तथाहि—इष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिसञ्चिन्तनं न मनोव्यापारमन्तरेण सम्भवति, मनसा च पर्यालोचनं संज्ञा, सा च द्वीन्द्रियादीनामपि विद्यते, तेषामपि प्रतिनियतेष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात् । ततो द्वीन्द्रियादिरपि हेतूपदेशसंज्ञया संज्ञी लभ्यते, नवरमस्य सञ्चिन्तनं प्रायो वर्तमानकालविषयम्, न भूतभविष्यद्विषयमिति । नाथ दीर्घकालोपदेशेन संज्ञी यस्य पुनर्नास्त्यभिसन्धारणपूर्विका प्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तिः स प्राणी हेतुवादोपदेशेनासंज्ञी लभ्यते । स च पृथिव्यादिरेकेन्द्रियो वेदितव्यः । तस्याभिसन्धारणपूर्वकेष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्त्यसम्भवात्, या अपि च आहारादिका दश संज्ञाः पृथिव्यादीनामन्यत्र वर्ण्यन्ते, प्रज्ञापनायामपि च प्रतिपादितास्ता अप्यत्यन्तमव्यक्तरूपा मोहोदयजन्यत्वादशोभनाश्चेति न तदपेक्षयापि तेषां संज्ञित्वव्यपदेशः । न हि लोकेऽपि कार्षापणमात्रवित्तेन धनवानुच्यते, न चाविशिष्टेन मूर्तिमात्रेण रूपवानिति, अन्यत्रापि हेतुवादोपदेशेनाऽसंज्ञिनमाश्रित्योक्तम्—"कृमिकीटपतङ्गाद्याः समनस्काः, जङ्गमाश्चतुर्भेदाः । अमनस्काः पञ्चविधाः पृथिवीकायिका जीवाः ।"

अथ दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञया संज्ञिनमसंज्ञिनं चाह—

सम्मद्दिट्ठी सन्नी, संते नाणे खओवसमिए य ।
असन्नि मिच्छत्तम्मि, (य) दिट्ठिवाओवएसेणं ॥६३६॥

दृष्टिवादोपदेशेन क्षायोपशमिकज्ञाने वर्तमानः सम्यग्दृष्टिरेव संज्ञी, संज्ञानं संज्ञा सम्यग्ज्ञानम्, तदस्यास्तीति संज्ञी । मिथ्यादृष्टिः पुनरसंज्ञी, विपर्यस्ततयाऽसंज्ञित्वात् । मिथ्यादृष्टेः सम्यग्ज्ञानरूपसंज्ञाविरहितत्वात् । यद्यपि च मिथ्यादृष्टिरपि सम्यग्दृष्टिरिव घटादीन् जानाति तथा व्यवहरति च, तथापि तस्य सदसद्विवेकाभावेन ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञानमेवोच्यते । तर्हि किमिति क्षायोपशमिकज्ञानयुक्तोऽसौ गृह्यते ?, क्षायिकज्ञाने हि विशिष्टतरा सा प्राप्यते, ततस्तद्वृत्तिरप्यसौ किं नाऽङ्गीक्रियते ?, उच्यते—यतोऽतीतस्यार्थस्य स्मरणमनागतस्य च चिन्ता संज्ञाऽभिधीयते, सा च केवलिनो नास्ति । सर्वदा सर्वार्थावभासकत्वेन केवलिनः स्मरणचिन्ताद्यतीतत्वात् इति क्षायोपशमिकज्ञान्येव सम्यग्दृष्टिः संज्ञीति । ननु प्रथमं हेतुवादोपदेशेन संज्ञी वक्तुं युज्यते । हेतुवादोपदेशेनाल्पमनोलब्धिमतोऽपि द्वीन्द्रियादेः संज्ञित्वेनाभ्युपगमात्, तस्य चाविशुद्धतरत्वात्, ततो दीर्घकालोपदेशेन हेतूपदेशमपेक्षया दीर्घकालोपदेशसंज्ञिनो मनःपर्याप्तियुक्ततया विशुद्धत्वात् । तत्किमर्थमुत्क्रमोपन्यासः ?, उच्यते—इह सर्वत्र सूत्रे यत्र क्वचित्संज्ञी असंज्ञी वा परिगृह्यते तत्र सर्वत्रापि प्रायो दीर्घकालोपदेशेन गृह्यते न हेतुवादोपदेशेन, नापि दृष्टिवादोपदेशेन, ततः एतत्सम्प्रत्ययार्थं प्रथमं दीर्घकालोपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम् । उक्तञ्च—"सन्नि त्ति असन्नि त्ति य, सव्वसुए कालिओवएसेणं । पायं संववहारो, कीरइ तेणाइओ सकओ ॥ १ ॥" ततोऽनन्तरमप्रधानत्वात् हेतूपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम् । ततः सर्वप्रधानत्वादन्ते दृष्टिवादोपदेशेनेति । प्रव० १४४ द्वार । आ० म० । कर्म० । न० । संज्ञानं संज्ञा असातवेदनीयमोहनीयकर्मोदयजन्यचैतन्यविशेषे, पा० । वेदनीयमोहनीयोदयाश्रिताना ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयोपसमाश्रिताया विचित्राहारादिप्राप्तिक्रियायाम्, प्रव० १४ द्वार । दर्श० । अभिलाषे, आहारसंज्ञा—आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेष इति । न० ।

संज्ञा चतुर्धा—

चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा । (सू० ३५६ ×)

'चत्तारि' इत्यादि व्यक्तं केवलं संज्ञानं संज्ञा—चैतन्यं, तच्चासातवेदनीयमोहनीयकर्मोदयजन्यविकारयुक्तमाहारसंज्ञादित्वेन व्यपदिश्यत इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । स० । आतु० । उत्त० । प्रव० । (आहारसंज्ञावक्तव्यता 'आहारसण्णा' शब्दे द्वितीयभागे ५२७ पृष्ठे द्रष्टव्या ।) (भयसंज्ञावक्तव्यता 'भयसण्णा' शब्दे पञ्चमभागे १३८४ । १३८५ पृष्ठे गता ।) (मैथुनसंज्ञाव्याख्या 'मेहुणसण्णा' शब्दे षष्ठे भागे ४२९ । ४३० पृष्ठे गता ।) (परिग्रहसंज्ञावक्तव्यता 'परिग्गहसण्णा' शब्दे पञ्चमभागे ५९७ पृष्ठे गता ।)

इदानीं 'सण्णाओ चउरो' त्ति पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

आहार१ भय२ परिग्गह३ मेहुण४ रूवाउ हुंति चत्तारि ।
सत्ताण सन्नाओ, असमारं समग्गाणं ॥ ६३७ ॥

संज्ञानं संज्ञा आभोग, सा द्विधा—क्षायोपशमिकी औदयिकी च । तत्राद्या ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यमतिभेदरूपा सा चानन्तरमेवोक्ता । द्वितीया पुनः सामान्येन चतुर्विधाऽऽहारसंज्ञादिलक्षणा, तत्र क्षुद्वेदनीयोदयाद्या कवलाद्याहारार्थं तथाविधपुद्गलोपादानक्रिया सा आहार-

संज्ञा, तस्या आभोगात्मिकत्वात् सा पुनश्चतुर्भिः कारणैः समुत्पद्यते। यदुक्तं स्थानाङ्गे—'चउहिं ठाणेहिं आहारसएणा समुप्पज्जइ, तं जहा—ओमकुट्ठयाए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्सुदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं' ति। तत्र अवमकोष्ठतया रिक्तोदरतया, क्षुद्वेदनीयकर्मोदयेन, मत्या आहारकथाश्रावणादिजनितबुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन सततमाहारचिन्तयेति, तथा भयमोहनीयोदयाद्भयोद्भ्रान्तस्य दृष्टिवदनविकाररोमाञ्चोद्भेदादिक्रिया भयसंज्ञा। इयमपि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते, यदुक्तं "हीणसत्तयाए य भयवेयणिज्जस्स कम्मस्सुदएणं, मईए तदट्ठोवओगेणं" ति। तत्र हीनसत्त्वतया सत्त्वाभावेन, मत्या भयवार्ताश्रवणभीषणदर्शनादिजनितया बुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन इह लोकादिभयलक्षणार्थपर्यालोचनेनेति, तथा लोभोदयात्प्रधानसंस्कारकारणाभिष्वङ्गपूर्विका सचित्तेतरद्रव्योपादानक्रियापरिग्रहसंज्ञा। एषापि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते, यदुक्तम्—'अविमुत्तियाए लोभवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मईए तदट्ठोवओगेणं' ति तत्र अविमुक्ततया सपरिग्रहतया, मत्या सचेतनादिपरिग्रहदर्शनादिजनितबुद्ध्या तदर्थोपयोगेन परिग्रहचिन्तनेनेति। तथा पुंवेदोदयान्मैथुनाय स्त्र्यालोकनप्रसन्नवदनसंस्तम्भितोरुवेपथुप्रभृतिलक्षणा क्रिया मैथुनसंज्ञा, असावपि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते। यदुक्तम्—'चियमंससोणियाए मोहणिज्जस्स कम्मस्सुदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं" ति। तत्र चिते उपचिते मांसशोणिते यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता, तया चितमांसशोणिततया मत्या सुरतकथाश्रवणादिजनितबुद्ध्या तदर्थोपयोगेन मैथुनलक्षणार्थचिन्तनेनेति, एताश्चतस्रः संज्ञाः समग्राणामेकेन्द्रियादीनां पञ्चेन्द्रियपर्यवसानानां सत्त्वानां-जीवानामासंसारं संसारवासं यावद्भवन्ति। तथा च केषांचिदेकेन्द्रियाणामप्येता स्पष्टमेवोपलभ्यन्ते। तथाहि—जलाद्याहारोपजीवनाद्वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा। संकोचनी वल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीत्या अवयवसंकोचनादिभ्यो भयसंज्ञा, विल्वपलाशादीनां तु निधानीकृतद्रविणोपरि पादमोचनादिभ्यः परिग्रहसंज्ञा। कुरवकाशोकतिलकादीनां तु कमनीयकामिनीभुजलतावगूहनपार्ष्णिप्रहारकटाक्षविक्षेपादिभ्यः प्रसूनपल्लवादिप्रसवप्रदर्शनान्मैथुनसंज्ञेति। प्रव०१ ४५ द्वार।

कइ णं भंते! सएणाओ पएणत्ताओ?, गोयमा! दस सएणाओ पएणत्ताओ, तं जहा-आहारसएणा भयसएणा मेहुणसएणा परिग्गहसएणा कोहसएणा माणसएणा मायसएणा लोहसएणा लोयसएणा ओहसएणा। सू० १४७X) प्रज्ञा० ८ पद।

(आसामर्थः स्वस्वस्थाने) प्रज्ञा०। प्रव०। स्था०। (एकेन्द्रियाणामपि आहारादिसंज्ञा विद्यन्ते इति 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९४० पृष्ठे मतिज्ञानयोर्भेदप्रस्तावे उक्तम्।)

नेरइयाणं भंते! कइसएणाओ पएणत्ताओ? गोयमा! दस सएणाओ पएणत्ताओ, तं जहा-आहारसएणा ०जाव ओघसएणा। (सू० १४७X)

असुरकुमाराणं भंते! कइ सएणाओ पएणत्ताओ?, गोयमा! दस सन्नाओ पएणत्ताओ, तं जहा-आहारसएणा ०जाव ओघसएणा, एवं० जाव थणियकुमाराणं एवं पुढविकाइयाणं ०जाव वेमाणियावसाणाणं नेतव्वं। (सू० १४७X) नेरइयाणं भंते! किं आहारसन्नोवउत्ता भयसन्नोवउत्ता मेहुणसन्नोवउत्ता परिग्गहसएणोवउत्ता?, गोयमा! ओसन्नं कारणं पडुच्च भयसन्नोवउत्ता, संतइभावं पडुच्च आहारसन्नोवउत्ता वि ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता वि। एएसि णं भंते! नेरइयाणं आहारसएणोवउत्ताणं भयसन्नोवउत्ताणं मेहुणसएणोवउत्ताणं परिग्गहसएणोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा नेरइया मेहुणसएणोवउत्ता आहारसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा परिग्गहसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा भयसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा॥ तिरिक्खजोणियाणं भंते! किं आहारसएणोवउत्ता ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ता?, गोयमा! ओसन्नं कारणं पडुच्च आहारसएणोवउत्ता संतइभावं पडुच्च आहारसएणोवउत्ता वि ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ता वि, एएसि णं भंते! तिरिक्खजोणियाणं आहारसएणोवउत्ताणं ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिया परिग्गहसएणोवउत्ता, मेहुणसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा भयसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा आहारसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा॥ मणुस्सा णं भंते! किं आहारसन्नोवउत्ता ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता?, गोयमा! ओसन्नं कारणं पडुच्च मेहुणसन्नोवउत्ता संततिभावं पडुच्च आहारसन्नोवउत्ता वि ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता वि। एएसि णं भंते! मणुस्साणं आहारसन्नोवउत्ताणं ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा मणूसा भयसन्नोवउत्ता आहारसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा परिग्गहसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा मेहुणसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा॥ देवा णं भंते! किं आहारसन्नोवउत्ता ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता?, गोयमा! ओसन्नं कारणं पडुच्च परिग्गहसन्नोवउत्ता संततिभावं पडुच्च आहारसन्नोवउत्ता वि ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता वि, एएसि णं भंते! देवाणं आहारसन्नोवउत्ताणं ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ताण य-

कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सवत्थोवा देवा आहारसन्नोवउत्ता भयसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा मेहुणसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा परिग्गहसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा । (सू० १४८)

'कइ णं भंते ! सन्नाओ पण्णत्ताओ' इति—कति—कियत्संख्या 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! संज्ञाः प्रज्ञप्ताः, तत्र संज्ञानं संज्ञा आभोग इत्यर्थः । यद्वा—संज्ञायतेऽनयाऽयं जीव इति संज्ञा, उभयत्रापि वेदनीयमोहोदयाश्रिता ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयोपशमाश्रिता च विचित्राहारादिप्राप्तिक्रिया, सा चोपाधिभेदाद्दशविधा, तथा चाह—गौतम ! दशविधाः प्रज्ञप्ताः, तदेव दशविधत्वं नामग्राहमाह—'आहारसन्ना' इत्यादि तत्र क्षुद्वेदनीयोदयात् या कवलाद्याहारार्थं तथाविधपुद्गलोपादानक्रिया साऽऽहारसंज्ञा, तस्या आभोगात्मिकत्वात् । यद्वा—संज्ञायते जीवोऽनयेति, एवं सर्वत्रापि भावना कार्या । तथा भयमोहनीयोदयात् भयोद्भ्रान्तस्य दृष्टिवदनविकाररोमाञ्चोद्भेदादिक्रिया भयसंज्ञा, पुंवेदोदयान्मैथुनाय स्त्र्यालोकनप्रसन्नवदनसंस्तम्भितोरुवेपनप्रभृतिलक्षणक्रिया मैथुनसंज्ञा, तथा लोभोदयात् प्रधानसंसारकारणाभिष्वङ्गपूर्विका सचित्तेतरद्रव्योपादानक्रिया परिग्रहसंज्ञा, तथा क्रोधवेदनीयोदयात् तदावेशगर्भा पुरुषमुखवदनदन्तच्छदस्फुरणचेष्टा क्रोधसंज्ञा, तथा मानोदयादहङ्कारात्मिका उत्सेकादिपरिणतिर्मानसंज्ञा, मायावेदनीयेनाशुभसंक्लेशादनृतसंभाषणादिक्रिया मायासंज्ञा, तथा लोभवेदनीयोदयतो लालसत्वेन सचित्तेतरद्रव्यप्रार्थना लोभसंज्ञा, तथा मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमनात् शब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रिया ओघसंज्ञा, तथा तद्विशेषावबोधक्रिया लोकसंज्ञा । एवं चेदमापतितम्—दर्शनोपयोग ओघसंज्ञा, ज्ञानोपयोगो लोकसंज्ञा, अन्ये त्वभिदधति—सामान्यप्रवृत्तिर्यथा वल्ल्या वृक्षारोहणमोघसंज्ञा, लोकस्य दृष्टा प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञा, तदेवमेताः सुखप्रतिपत्तये स्पष्टरूपाः पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य व्याख्याताः, एकेन्द्रियाणां त्वेता अव्यक्तरूपा अवगन्तव्या, नैरयिकसूत्रे 'ओसन्नकारणं पडुच्च भयसन्नोवउत्ता' इति—तत्रोत्सन्नशब्देन बाहुल्यमुच्यते कारणशब्देन च बाह्यं कारणम्, ततोऽयमर्थः—बाह्यकारणमाश्रित्य नैरयिका बाहुल्येन भयसंज्ञोपयुक्ताः, तथाहि—सन्ति तेषां सर्वतः प्रभूतानि परमाधार्मिकायः—कवल्लीशक्तिकुन्तादीनि भयोत्पादकादीनि, 'संतइभावं पडुच्च' इति—इहानन्तरोऽनुभवभावः—सन्ततिभाव उच्यते, ततः आन्तरमनुभवभावमपेक्ष्य नैरयिका आहारसंज्ञोपयुक्ता अपि यावत्परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अपि । अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका मैथुनसंज्ञोपयुक्ता, नैरयिका हि चक्षुर्निमीलनमात्रमपि न सुखिनः केवलमनवरतमतिप्रबलदुःखाग्निना संतप्यमानशरीराः । उक्तं च—" अच्छिनिमीलणमेत्तं, नऽत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं । नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ १ ॥ " ततो मैथुनेच्छा नैतेषां भवतीति, यदि परं कश्चित्कदाचित्कस्यचित् भवति साऽपि च स्तोककाला इति पृच्छासमये स्तोका मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः, तेभ्यः संख्येयगुणा आहारसंज्ञोपयुक्ताः, दुःखितानामपि प्रभूतानां प्रभूतकालं चाहारेच्छाया भावतः पृच्छासमये अतिप्रभूतानामाहारसंज्ञोपयुक्तानां संभवात्, तेभ्यः संख्येयगुणाः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः, आहारेच्छा हि देहार्थमेव भवति परिग्रहेच्छा तु देहे प्रहरणादिषु च, प्रभूततरकालावस्थायिनी च परिग्रहेच्छा, ततः पृच्छासमयेऽतिप्रभूततराः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अवाप्यन्ते इति भवन्ति पूर्वेभ्यः संख्येयगुणाः, तेभ्यो भयसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, नरकेषु हि नैरयिकाणां सर्वतो भयमामरणान्तभावि, ततः पृच्छासमयेऽतिप्रभूततमा भयसंज्ञोपयुक्ताः प्राप्यन्ते इति संख्येयगुणाः । तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया अपि बाह्यं कारणं प्रतीत्य बाहुल्येनाहारसंज्ञोपयुक्ता भवन्ति न शेषसंज्ञोपयुक्ताः तथा प्रत्यक्षत एवोपलब्धेः, आन्तरमनुभवभावमाश्रित्याहारसंज्ञोपयुक्ता अपि यावत्परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अपि, अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः, परिग्रहसंज्ञायाः स्तोककालत्वेन पृच्छासमये तेषां स्तोकानामेवाऽवाप्यमानत्वात्, तेभ्यो मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, मैथुनसंज्ञोपयोगस्य प्रभूततरकालत्वात्, तेभ्योऽपि भयसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, सजातीयात्परजातीयाच्च तेषां भयसंभवतो भयोपयोगस्य च प्रभूततमकालत्वात्, पृच्छासमये भयसंज्ञोपयुक्तानामतिप्रभूततराणामवाप्यमानत्वात्, तेभ्यः संख्येयगुणा आहारसंज्ञोपयुक्ताः, प्रायः सततं सर्वेषामाहार (संज्ञा) संभवात् । मनुष्या बाह्यं कारणमधिकृत्य बाहुल्येन मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः स्तोकाः शेषसंज्ञोपयुक्ताः, सन्ततिभावमान्तरानुभवभावरूपं प्रतीत्याहारसंज्ञोपयुक्ता अपि यावत्परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अपि । अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका भयसंज्ञोपयुक्ताः, स्तोकानां स्तोककालं च भयसंज्ञासंभवात्, तेभ्य आहारसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, आहारसंज्ञोपयोगस्य प्रभूततरकालभावात् अत एव हेतोः तेभ्यः संख्येयगुणाः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः, तेभ्यो मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, मैथुनसंज्ञाया अतिप्रभूततरकालं यावद् भावतः पृच्छासमये तेषामतिप्रभूततराणामवाप्यमानत्वात् । तथा बाह्यं कारणमधिकृत्य बाहुल्येन देवाः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः, मणिकनकरत्नादीनां परिग्रहसंज्ञोपयोगहेतूनां तेषां सदा संनिहितत्वात्, सन्ततिभावं यथोक्तरूपं प्रतीत्य पुनराहारसंज्ञोपयुक्ता अपि यावत्परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अपि, अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका आहारसंज्ञोपयुक्ताः, आहारेच्छाविरहकालस्यातिप्रभूततया आहारसंज्ञोपयोगकालस्य चातिस्तोकतया तेषां पृच्छासमये सर्वस्तोकानां तेषामवाप्यमानत्वात्, ततो भयसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, भयसंज्ञाया प्रभूतानां प्रभूतकालं च भावात्, तेभ्योऽपि मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, तेभ्यः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, जीवापेक्षया बहवो वक्तव्यास्ते च तथैव भाविता इति । प्रज्ञा० ८ पद ।

जीवा णं भंते ! किं सण्णी असण्णी नोसण्णी नोअसण्णी ?, गोयमा ! जीवा सण्णी वि असण्णी वि नोसण्णी नोअसण्णी वि । णेरइयाणं पुच्छा, गोयमा !

णेरइया सण्णी वि असण्णी वि नोसण्णी नोअसण्णी वि। एवं असुरकुमारा ०जाव थणियकुमारा। पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा! नो सण्णी असण्णी, नो नोसण्णी नोअसण्णी, एवं बेइंदियतेइंदियचउरिंदिया वि मणुस्सा जहा जीवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया वाणमंतरा य जहा णेरइया जोइसियवेमाणिया सण्णी नोअसण्णी, नो नोसन्नी नो असण्णी सिद्धाणं पुच्छा गोयमा! नो सण्णी नो असण्णी नोसण्णी नोअसण्णी। "णेरइयतिरियमणुया, य वणयरगसुराइ सण्णीऽसण्णी य। विगलिंदिया असण्णी, जोइसवेमाणिया सण्णी ॥१॥" (सू० ३१५×)

'जीवा णं भंते! किं सण्णी' इत्यादि, संज्ञानं संज्ञा-'उपसर्गादातः' ॥५।३।११०॥ इत्यङ्प्रत्ययः, भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इत्यर्थः, यथोक्तमनोविज्ञानविकला असंज्ञिनः, ते च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिया वेदितव्याः। अथवा—संज्ञायते—सम्यक् परिच्छिद्यते पूर्वोपलब्धो वर्त्तमानो भावी च पदार्थो यया सा संज्ञा-भिदादिपाठाभ्युपगमात् करणे घञ् विशिष्टा मनोवृत्तिरित्यर्थः, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः समनस्का इत्यर्थः। तद्विपरीता असंज्ञिनोऽमनस्का इत्यर्थः, ते चैकेन्द्रियादय एवानन्तरोदिताः प्रतिपत्तव्याः। एकेन्द्रियाणां प्रायः सर्वथा मनोवृत्तेरभावात्, द्वीन्द्रियादीनां तु विशिष्टमनोवृत्तेरभावः, ते हि द्वीन्द्रियादयो वार्त्तमानिकमेवार्थं शब्दादिकं शब्दादिरूपतया संविदन्ति, न भूतं भाविनं चेति। केवली सिद्धश्चोभयप्रतिषेधविषयः। केवली हि यद्यपि मनोद्रव्यसम्बन्धभाक् तथापि न तैरसौ भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं करोति, किन्तु क्षीणसकलज्ञानदर्शनावरणत्वात् पर्यालोचनमन्तरेणैव केवलज्ञानेन केवलदर्शनेन च साक्षात्समस्तं जानाति पश्यति च, ततो न संज्ञी नाप्यसंज्ञी, सकलकालकलाकलापाव्यवच्छिन्नसमस्तद्रव्यपर्यायप्रपञ्चसाक्षात्करणप्रवणज्ञानसमन्वितत्वात्। सिद्धोऽपि न संज्ञी, द्रव्यमनसोऽप्यभावात्, नाप्यसंज्ञी सर्वज्ञत्वात्, तदेवं सामान्यतो जीवपदे संज्ञिनोऽसंज्ञिनो नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनश्च लभ्यन्ते इति भगवान् तथैव प्रतिसमाधानमाह—'गौतमे' त्यादि. जीवाः संज्ञिनोऽपि नैरयिकादीनां संज्ञिनां भावात्, असंज्ञिनोऽपि पृथिव्यादीनामसंज्ञिनां भावात्, नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनोऽपि सिद्धकेवलिनां नोसंज्ञि—नोअसंज्ञिनामपि भावात्। एतानेव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—'नेरइया ण' मित्यादि, इह ये नैरयिकाः संज्ञिभ्य उत्पद्यन्ते ते संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते इतरे त्वसंज्ञिनः नच नैरयिकाणां केवलिभावो घटते, चारित्रप्रतिपत्तेरभावात्, तत उक्तं नैरयिकाः संज्ञिनोऽप्यसंज्ञिनोऽपि, नो नोसंज्ञिनो नोअसंज्ञिनः, एवमसुरकुमारादयोऽपि स्तनितकुमारपर्यवसाना भवनपतयो वक्तव्याः, तेषामप्यसंज्ञिनोऽप्युत्पादात् केवलित्वाभावाच्च। 'मणूसा जहा जीव' त्ति-मनुष्याः प्राक् यथा जीवा उक्तास्तथा

वक्तव्याः, संज्ञिनोऽपि असंज्ञिनोऽपि नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनोऽपि वक्तव्या इति भावः। तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्तास्ते संज्ञिनः सम्मूर्च्छिमा असंज्ञिनः केवलिनो नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनः, 'पंचिंदियतिरिक्खजोणियवाणमंतरा जहा नेरइया' इति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका व्यन्तराश्च यथा नैरयिका उक्तास्तथा वक्तव्याः संज्ञिनोऽपि असंज्ञिनोऽपि नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनो वक्तव्या इति भावः। तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः सम्मूर्च्छिमा असंज्ञिनः गर्भव्युत्क्रान्ताः संज्ञिनः, व्यन्तरा असंज्ञिभ्य उत्पन्ना असंज्ञिनः, संज्ञिभ्य उत्पन्नाः संज्ञिनः। उभयेऽपि चारित्रप्रतिपत्तेरभावात् नो संज्ञि-नोअसंज्ञिनः। ज्योतिष्कवैमानिकाः संज्ञिन एव नोअसंज्ञिनः संज्ञिभ्य उत्पादाभावात् नोसंज्ञि—नोअसंज्ञिनश्चारित्रप्रतिपत्तेरभावात्, सिद्धास्तु प्रागुक्तयुक्तितो नो संज्ञिनो नाप्यसंज्ञिनः, किं तु-नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनः। अत्रैव सुखप्रतिपत्तये संग्रहणिगाथामाह—'नेरइए' इत्यादि, नैरयिकाः 'तिरिय' त्ति-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या वनचरा व्यन्तरा असुरादयः—समस्ता भवनपतयः प्रत्येकं संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च वक्तव्याः, एतच्चानन्तरमेव भावितम्। विकलेन्द्रिया एकद्वित्रिचतुरिन्द्रिया असंज्ञिनः ज्योतिष्कवैमानिकाः संज्ञिन इति। प्रज्ञा० ३१ पद। प्रव०। संकेते, नि० चू० २ उ०। विषयाभिष्वङ्गजनितसुखेच्छायाम्, परिग्रहसंज्ञायां च। आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ०। ('वणप्फइ' शब्दे षष्ठ भाग ८०८ पृष्ठे उत्पलादिवनस्पतीनां संज्ञाद्वारम्।) (सामायिकस्यनादय किं संज्ञोपयुक्ता इति 'संजय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६६ पृष्ठे गतम्।) (निर्ग्रन्थानां संज्ञाद्वारम् 'णिग्गंथ' शब्दे चतुर्थभागे २०४५ पृष्ठे उक्तम्।) (विप्रकृष्टेष्वपि विषयेषु अविरतः कर्मबन्धो भवतीति प्रतिपादनात् संज्ञ्यसंज्ञिदृष्टान्तौ 'पच्चक्खाण' शब्दे ५ भागे ११२ पृष्ठे उक्तौ।) समयपरिभाषया पुरीषोत्सर्गे, पं० व० १ द्वार (थंडिल शब्दे चतुर्थभागे २३८० पृष्ठे तद्विधिरुक्तः।)

स्वर्णा–स्त्री०। उज्जयन्तशैले स्वनामख्यातायां नद्याम्, ती० ३ कल्प। (गाथा 'उज्जयंत' शब्दे द्वितीयभागे ७३५ पृष्ठे।)

सण्णाकरण–संज्ञाकरण–न०। संज्ञाविशिष्टं करणं संज्ञाकरणम्। संकेतकरणे, विशे०। आ० म०।

सण्णाखंध–संज्ञास्कन्ध–पुं०। संज्ञानिमित्तोऽवग्रहणात्मके प्रत्यये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सण्णाण–संज्ञान–न०। सम्यग्ज्ञाने षो० १३ विव०। उपयोगे अवधाने, आव० ६ अ०। स्मृतावबोधे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। संज्ञा व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभवं मतिविशेषे, स्था० १ ठा०।

स्वज्ञान–न०। स्वगतबोधे, षड्शा० १२ विव०।

संसाणपसंसा–संज्ञानप्रशंसा–स्त्री०। संज्ञानप्रशंसनमिति स्वदृष्टिपर्यन्तं यावत् पक्षः स सज्ञानः पण्डितो जनः, सतो वा ज्ञानस्य संविग्नलक्षणस्य प्रशंसनं पुरस्कार इति। विभ्रमप्रशंसायाम्, पं०।

"नहि-निर्विकल्पेन न निर्गुणो ना गतज्ञानोऽपि,

स्कन्दो द्वादशभिर्न वा न मघवा चक्षु सहस्रेण च ।
सभूयापि जगत्त्रयस्य नयनैस्तद्वस्तु नो वीक्ष्य(क्ष)ते,
प्रत्याहृत्यदृश. समाहितधिय. पश्यन्ति यत्पण्डिता.१"इति।

तथा

" नो प्राप्यमभिवाञ्छन्ति, नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति, नरा. पण्डितबुद्धय. ॥ २ ॥
न हृष्यत्यात्मनो माने, नापमाने च रुष्यति ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो, य. स पण्डित उच्यते ॥ ३ ॥"
ध० १ अधि० ।

सण्णाणसंवेयवेरग्ग-संज्ञानसंवेगवैराग्य-न० । एवं विज्ञाय तत्त्यागश्च सर्वथा वैराग्यमाहु । संज्ञानसङ्गततत्त्वदर्शन इत्युक्तलक्षणे वैराग्यभेदे, द्वा० १० अष्ट० ।

सण्णाणाब्भुदय-संज्ञानाभ्युदय-पुं० । सम्यग्ज्ञानदर्शनादिनिर्वाणकारणोत्पत्तौ , पञ्चा० ४ विव० ।

सण्णाणिव्वत्ति-संज्ञानिर्वृत्ति-स्त्री० । सज्ञानिष्पत्तौ, भ० १६ श० ८ अ० । (सञ्ज्ञानिर्वृत्तिव्याख्या ' णिव्वत्ति ' शब्दे चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे उक्ता ।)

सण्णाभूमि-संज्ञाभूमि-स्त्री० । व्युत्सर्गभूमौ , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सण्णामुह-संज्ञामुख-न० । पुरीषोच्चये , आ० म० १ अ० ।

सण्णायग-सन्नायक-पु० । शोभने नायके, गृहस्वामिनि , नि० चू० २ उ० ।

सण्णास-संन्यास-पु० । परित्यागे , न० ।

सण्णासिद्धि-सञ्ज्ञासिद्धि-स्त्री० । सज्ञान संज्ञा रूढिरिति पर्याया. । तया सिद्धि. सञ्ज्ञासिद्धि । सञ्ज्ञासम्बन्ध, दश० १ अ० ।

सण्णासुत्त-संज्ञासूत्र-न० । स्वसङ्केतपूर्वकं निबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (वक्ष्यते ' सुत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे एतद्विवृति ।)

सण्णाह-सन्नाह-पुं० । प्रहरणे खड्गादिके , स्था० ६ ठा० ३ उ० । औ० ।

सण्णि(ण)-संज्ञिन्-पुं० , सज्ञान सञ्ज्ञा भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम् " उपसर्गादात. " ॥ ५ । ३ । ११० ॥ (सिद्धहेम०)इत्यङ्प्रत्यय. । स विद्यते यस्य स सञ्ज्ञी "व्रीह्यादिभ्यस्तौ " ॥ ७ । २ । ५ ॥ (सिद्धहेम०) इतीन् प्रत्यय. । विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाजि प्राणिनि य. सम्यग जानाति ' ईहापोहादिगुणजुत्तो त्ति वुत्त भवति ' आ० चू० १ अ० । कर्म० । दर्श० । प० स० । स्था० । आ० म० । औ० । विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्विते प्राणिनि, कर्म० ३ कर्म० । न० । (' असण्णि ' शब्दे प्रथमभागे ८३६ पृष्ठे दण्डक उक्त ।) (.के सञ्ज्ञिन. के वा असंज्ञिन इति 'सण्णा'शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेवोक्तम् ।) सञ्ज्ञा गुरुदेवधर्मपरिज्ञान सा विद्यते यस्य स सञ्ज्ञी । वृ० १ उ० ३ प्रक० । श्रावके, आव० ४ अ० । समानस्कन्धजीव, विशे० । नि० चू० ।

सण्णिओय-सन्नि(स्वनि)योग-पुं० । स्वकीयव्यापारे, आगमरचनादिके, पञ्चा० ४ विव० ।

सण्णिक्खित्त-सन्निक्षिप्त-त्रि० । न्यस्ते, स्था० ५ ठा० १ उ० । जगत्स्थितिस्वाभाव्येन सम्यग्निवेशिते, रा० ।

सण्णिकोसलय-संज्ञिकोशलक-पुं० । कोशलश्रावके , व्य० १० उ० ।

सण्णिगब्भ-संज्ञिगर्भ-पु० । मनुष्यगर्भवसतौ , भ० १४ श० १० उ० ।

सण्णिगरिस-सन्निकर्ष-पु० । सवन्धे, सूत्र० १ श्र० १२ अ० । सयोगे, " सजोग सन्निगासो पड्डुच्च सवन्ध एगट्ठा । "न० ।

सण्णिगास-सन्निकाश-पु० । सदृशे, ज्ञा० १ श्रु० १अ०।आ० म० । रा० । " सन्निगासो नाम अब्भासो वा अववादो वा " पं० चू० ४ कल्प ।

सण्णिचय-सन्निचय-पुं० । प्राचुर्ये उपभोग्यद्रव्यनिचये, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सम्यग् निश्चयेन चीयते इति सन्निचयः । विनाशिद्रव्याणामभयासितामृद्वीकादीनां संग्रहे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

सण्णिचिय-सन्निचिय-पुं० । प्रचयविशेषान्निविडीकृते, अनु० ।

सण्णिणाय-सन्निनाद-पुं० । प्रश्न० । प्रतिशब्दे, औ० ।

सण्णिन्दा-सन्निन्दा-स्त्री० । सता सत्पुरुषाणा साधुश्रावकप्रभृतीनां निन्दा सन्निन्दा । सद्गर्हायाम् , षो० १ विव० ।

सण्णिपुव्वजाइसरण-संज्ञिपूर्वजातिस्मरण-न०। संज्ञिना-सतां या पूर्वजाति -प्राक्तनो भवस्तस्या यत्स्मरण तत्तथा। संज्ञिना सता पूर्वभवस्य स्मरणे, औ० ।

सण्णिप्पवाय-सन्निप्रपात-पु० । सञ्ज्ञिनोऽवपतनस्थाने, स्था० । ३ ठा० ।

सण्णिभ-सन्निभ-पुं० । सदृशे, अष्ट० १ अष्ट० । तं० । जं० ।

सण्णिभूय-संज्ञिभूत-पु० । संज्ञिन पञ्चेन्द्रिया. सन्तो भूता नारकत्व गता सञ्ज्ञिभूता. । पञ्चेन्द्रियेषु सत्सु नारके, भ० १ श० २ उ० ।

सण्णिर-सन्निर-त्रि० । पत्रशाके, दश० ५ अ० १ उ० ।

सण्णिरुद्ध-सन्निरुद्ध-त्रि० । सम्यग् निरुद्ध सन्निरुद्धम् । आचा० २ श्रु० २ चू० १ अ० । सूत्रकादिना अत्यन्त नियन्त्रिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । उत्त० ।

सण्णिवयमाण-सन्निपतत्-त्रि० । गच्छति, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

सण्णिवाइय-सान्निपातिक-पु० । सहतरूपतया नाऽतिनियत पतन गमनमेकत्र वर्त्तन सन्निपात , कोऽर्थ एषामेव द्वयादिसयोगप्रकारस्तेन निर्वृत्त सान्निपातिक. । कर्म० ४ कर्म० । स्था० । प० स० । अ० । सन्निपात एषामौदयिकादिभावाना द्वयादिमेलापक. स एव , तेन वा निर्वृत्तः सान्निपातिक । अनु० । प० स० । पञ्चानामपि भावाना द्विकादिसयोगनिष्पन्ने भावभेदे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । अनु० ।

से किं त सण्णिवाइए ?, सण्णि० एएसिं चेव उदइअउवस-

मिअखइअखओवसमिअपारिणामिआणं भावाणं दुगसं-जोएणं तियसंजोएणं चउक्कसंजोएणं पंचगसंजोएणं जे निप्फज्जइ सव्वे से सन्निवाइए नामे। तत्थ णं दस दुअसं-जोगा दस तिअसंजोगा पंच चउक्कसंजोगा एगे पंचकसं-जोगे। (सू० १२७×)

सन्निपातः-एषामेवौदयिकादिभावानां द्वयादिमेलापकः, स एव तेन वा निर्वृत्तः सान्निपातिकः। तथा चाह—'एए-सि चेवे' त्यादि, एषामौदयिकादीना पञ्चानां भावानां द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगैर्ये षड्विंशतिर्भङ्गाः भवन्ति ते सर्वेऽपि सान्निपातिको भाव इत्युच्यते। एतेषु मध्ये जीवेषु नारकादिषु षडेव भङ्गाः सम्भवन्ति, शेषास्तु विंशतिर्भङ्गका रचनामात्रेणैव भवन्ति। न पुन क्वचित् सम्भवन्ति, अतः प्ररूपणामात्रतयैव ते अवगन्तव्या.। एतत् सर्वं पुरस्ताद्व्यक्तीकरिष्यते। कियन्तः पुनस्ते द्वयादिसंयोगा. प्रत्येकं सम्भवन्ति, इत्याह—'तत्थ णं दस दुगसजोगा' इत्यादि, पञ्चानामौदयिकादिपदानां दश द्विकसंयोगा., दशैव त्रिकसयोगा', पञ्च चतुस्संयोगाः, एकस्तु पञ्चक-संयोगः संपद्यत इति। सर्वेऽपि षड्विंशतिः।

तत्र के पुनस्ते दश द्विकसयोगा इति जिज्ञासायां आह—

एत्थ णं जे ते दस दुगसंजोगा ते णं इमे—अत्थि णा-मे उदइए उवसमनिप्फण्णे १ अत्थि णामे उदइए खा-इगनिप्फण्णे २ अत्थि णामे उदइए खओवसमनिप्फण्णे ३ अत्थि णामे उदइए पारिणामिअनिप्फण्णे ४ अत्थि णामे उवसमिए खयनिप्फण्णे ५ अत्थि णामे उवसमि-ए खओवसमनिप्फण्णे ६ अत्थि णामे उवसमिए पारि-णामिअनिप्फण्णे ७ अत्थि णामे खइए खओवसमनि-प्फण्णे ८ अत्थि णामे खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ९ अत्थि णामे खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे १०। कयरे से नामे उदइए उवसमनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया, एस णं से नामे उदइए उव-समनिप्फण्णे १, कयरे से नामे उदइए खयनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से खइयं सम्मत्तं। एस णं से नामे उदइए खयनिप्फण्णे २, कयरे से णामे उदइए खओ-वसमनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से खओवसमिआइं इंदिआइं, एस णं से णामे उदइए खओवसमनिप्फण्णे ३, कयरे से णामे उदइए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से पारिणामिए जीवे एस णं से णामे उदइए पारिणामिअनिप्फण्णे ४, कयरे से णामे उवस-मिए खयनिप्फण्णे ?, उवसंता कसाया खइयं सम्म-त्तं। एस णं से णामे उवसमिए खयनिप्फण्णे ५, कयरे से णामे उवसमिए खओवसमनिप्फण्णे ?, उवसंता क-साया खओवसमिआइं इंदिआइं, एस णं से णामे उवसमिए खओवसमनिप्फण्णे ६, कयरे से णामे उव-समिए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उवसंता कसाया पा-रिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए पारिणा-मिअनिप्फण्णे ७, कयरे से णामे खइए खओवसमनि-प्फण्णे ?, खइयं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं। एस णं से णामे खइए खओवसमनिप्फण्णे ८, कयरे से णामे खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, खइअं सम्मत्तं परिणामिए जीवे। एस णं से णामे खइए पारिणामि-अनिप्फण्णे ९, कयरे से णामे खओवसमिए पारिणा-मिअनिप्फण्णे ?, खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणा-मिए जीवे। एस णं से णामे खओवसमिए पारिणामि-अनिप्फण्णे १०। (सू० १२७)

नामाधिकारादित्थमाह-अस्ति तावत्सन्निपातिकभावान्त-र्वर्ति नाम। विभक्तिलोपादौदयिकौपशमिकलक्षणभावद्वयनि-ष्पन्नमित्येको भङ्ग.,एवमन्येनाप्युपरितनभावत्रयेण सह संयो-गादौदयिकेन चत्वारो द्विकसंयोगा लब्धाः, ततस्तत्परित्यागे औपशमिकस्योपरितनभावत्रयेण सह चारणाया लब्धास्त्रय. तत्परिहारे क्षायिकस्योपरितनभावद्वयमीलनायां लब्धौ द्वौ, ततस्तं विमुच्य क्षायोपशमिकस्य पारिणामिकमीलने ल-ब्ध एक इति सर्वेऽपि दश। एव सामान्यतो द्विकसं-योगभङ्गकेषु दर्शितेषु विशेषतस्तत्स्वरूपमजानन् विनेयः पृच्छति—'कयरे से णामे उदइए ?' इत्यादि, अत्रोत्त-रम्—'उदइए त्ति मणुस्से' इत्यादि, औदयिके भावे मनु-ष्यत्वं—मनुष्यगतिरिति तात्पर्यम्, उपलक्षणमात्रं चेदं, तिर्यगादिगतिजातिशरीरनामादिकर्मणामप्यत्र सम्भवात्। उपशान्तास्तु कषाया औपशमिके भाव इति गम्यते, अत्राप्युदाहरणमात्रमेतत्, दर्शनमोहनीयनोकषायमोहनी-ययोरप्यौपशमिकत्वसम्भवात्। एतन्निगमयति—'एस णं से णामे उदइए उवसमनिप्फण्णे' त्ति—'ण' मिति वा-क्यालङ्कारे। एतत्तन्नाम यदुद्दिष्टमौदयिकौपशमिक-भावद्वयनिष्पन्नमिति प्रथमद्विकयोगे भङ्गकव्याख्यानम्। अयं च द्विकयोगविवक्षामात्रत एव संपद्यते, न पुनरीदृशो भङ्गः क्वचिज्जीवे सम्भवति। तथाहि—यस्यौदयिकी मनु-ष्यगतिरौपशमिकाः कषाया भवन्ति तस्य क्षायोपश-मिकानीन्द्रियाणि पारिणामिक जीवत्वं कस्यचित् क्षायिकं सम्यक्त्वमित्येतदपि सम्भवति, तत्कथमस्य के-वलस्य सम्भवः ?, एवमेतद्व्याख्यानुसारेण शेषा अपि व्याख्येयाः, केवल क्षायिकपारिणामिकभावद्वयनिष्पन्नं नवमभङ्गं विहाय परेऽसम्भविनो द्रष्टव्याः, नवमस्तु सि-द्धस्य सम्भवति, तथाहि-क्षायिके सम्यक्त्वज्ञाने पारिणा-मिक तु जीवत्वमित्येतदेव भावद्वयं तस्यास्ति नापरः, तस्मादयमेक. सिद्धस्य सम्भवति, शेषास्तु नव द्विक-योगाः प्ररूपणामात्रमिति स्थितम्, अन्येषा हि संसारिजी-वानामौदयिकी गति क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि पारिणा-मिकं जीवत्वमित्येतद्भावत्रय जघन्यतोऽपि लभ्यत इति कथं तेषु द्विकयोगसम्भव ? इति भाव.।

त्रिकयोगाच्छिर्दिदिक्षुराह-

तत्थ णं जे ते दस तिगसंजोगा ते णं इमे— अत्थि णामे उदइए उवसमिए खयनिप्फरणे १, अत्थि णामे उदइए उवसमिए खओवसमनिप्फरणे २, अत्थि णामे उदइए उवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ३, अत्थि णामे उदइए खइए खओवसमनिप्फरणे ४, अत्थि णामे उदइए खइए पारिणामिअनिप्फरणे ५, अत्थि णामे उदइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ६, अत्थि णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्फरणे ७, अत्थि णामे उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फरणे ८, अत्थि णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ९, अत्थि णामे खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे १०। कयरे से णामे उदइए उवसमिए खयनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं। एस णं से णामे उदइए उवसमिए खयनिप्फरणे १, कयरे से णामे उदइए उवसमिए खओवसमियनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खओवसमिआइं इंदिआइं, एस णं से णामे उदइए उवसमिए खओवसमनिप्फरणे २, कयरे से णामे उदइए उवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए उवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ३, कयरे से णामे उदइए खइए खओवसमनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से खइअं समत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं। एस णं से णामे उदइए खइए खओवसमनिप्फरणे ४, कयरे से णामे उदइए खइए पारिणामिअनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से खइअं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए खइए पारिणामिअनिप्फरणे ५, कयरे से णामे उदइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ६, कयरे से णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्फरणे ?, उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं, एस णं से णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्फरणे ७, कयरे से णामे उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फरणे ?, उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फरणे ८, कयरे से णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ?, उवसंता कसाया खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ९, कयरे से णामे खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ?, खइअं सम्मत्तं। खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे १०। (सू० १२७)

एतदप्यौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावपञ्चकं भूम्यादावालिख्य तत्र आद्यभावद्वयस्योपरितनभावत्रयेण सह चारणाया लब्धास्त्रय इत्यादिक्रमेण दशाऽपि भावनीयाः, एतानेव स्वरूपतो विवरीषुराह—'कयरे से णामे उदइए उवसमिए' इत्यादि, व्याख्या पूर्वानुसारतोऽत्रापि कर्त्तव्या, नवरमत्रौदयिकक्षायिकपारिणामिकभावत्रयनिष्पन्नः पञ्चमो भङ्गः केवलिनः सम्भवति, तथाहि— औदयिकी मनुष्यगतिः, क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, पारिणामिकं तु जीवत्वमित्येते त्रयो भावास्तस्य भवन्ति, औपशमिकस्त्विह नास्ति, मोहनीयाश्रयत्वेन तस्योक्तत्वात्, मोहनीयस्य च केवलिन्यसम्भवात्। तथा क्षायोपशमिकोऽप्यत्रापास्य एव क्षायोपशमिकानामिन्द्रियादिपदार्थानामत्रासम्भवात्, 'अतीन्द्रियाः केवलिनः' इत्यादिवचनात्, तस्मात् पारिशेष्यादयमुक्तभावत्रयनिष्पन्नः पञ्चमो भङ्गः केवलिनः सम्भवति, षष्ठस्त्वौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावनिष्पन्नो नारकादिगतिचतुष्टयेऽपि सम्भवति। तथाहि—औदयिकी अन्यतरा गतिः, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वमित्येवमेतद्भावत्रयं सर्वास्वपि गतिषु जीवानां प्राप्यत इति, शेषास्त्वष्टौ त्रिकयोगाः प्ररूपणामात्रम्, क्वाप्यसम्भवादिति भावनीयम्।

चतुष्कसंयोगान्निर्दिदिक्षुराह—

तत्थ णं जे ते पंच चउक्कसंजोगा ते णं इमे–अत्थि णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्फरणे १ अत्थि णामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फरणे २ अत्थि णामे उदइए उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ३ अत्थि णामे उदइए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ४ अत्थि णामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ५। कयरे से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं। एस णं से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्फरणे १, कयरे से णामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे। एस णं से णामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फरणे २, कयरे से णामे उदइए उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फरणे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे। एस णं से णामे उदइए उवसमिए ख-

ओव० पारिणा० ३, कयरे से णामं उदइए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ? , उदइए त्ति मणुस्से खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे । एस णं से नामे उदइए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ४, कयरे से णामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ? ,उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे । एस णं से नामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ५ । (सू० १२७४)

भङ्गकरचना अक्षुण्णावसेयैव । इदानीं तान्येव पञ्च भङ्गान् व्याचिख्यासुराह—'कयरे से नामे उदइए' इत्यादि भावना पूर्वाभिहितानुगुण्येन कर्त्तव्या, नवरमत्रौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावनिष्पन्नस्तृतीयभङ्गो गतिचतुष्टयेऽपि सम्भवति,तथाहि-औदयिकी अन्यतरा गतिः नारकतिर्यग्देवगतिषु प्रथमसम्यक्त्वलाभकाले एव उपशमभावो भवति, मनुष्यगतौ तु तत्रोपशमश्रेण्यां चौपशमिकं सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि पारिणामिकं जीवत्वमित्येवमयं भङ्गकः सर्वासु गतिषु लभ्यते । यत्त्विह सूत्रे प्रोक्तम्–' उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाय ' त्ति-तत्तु मनुष्यगत्यपेक्षयैव द्रष्टव्यम् , मनुष्यत्वोदयस्योपशमश्रेण्या कषायोपशमस्य च तस्यामेव भावात् । अस्य चोपलक्षणमात्रत्वादिति, एवमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावनिष्पन्नश्चतुर्थभङ्गोऽपि चतसृष्वपि गतिषु सम्भवति, भावना त्वनन्तरोक्ततृतीयभङ्गकवदेव कर्तव्या, नवरमौपशमिकसम्यक्त्वस्थाने क्षायिकसम्यक्त्वं वाच्यम् , अस्ति च क्षायिकसम्यक्त्वं सर्वास्वपि गतिषु , नारकतिर्यग्देवगतिषु पूर्वप्रतिपन्नस्यैव । मनुष्यगतौ तु पूर्वप्रतिपन्नस्य प्रतिपद्यमानकस्य च तस्यान्यत्र प्रतिपादितत्वादिति, तस्मादत्राप्येतौ द्वौ भङ्गकौ सम्भविनौ, शेषास्तु त्रयः संवृतिमात्रम् , तद्रूपेण वस्तुन्यसम्भवादिति ।

साम्प्रतं पञ्चकसंयोगमेकं प्ररूपयन्नाह—

तत्थ णं जे से एक्के पंचगसंजोए से णं इमे–अत्थि नामे उदइए उवसमिए खओवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे १, कयरे से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ? , उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे । एस णं से णामे ०जाव पारिणामिअनिप्फण्णे । से तं सन्निवाइए । (सू० १२७)

अयं च सविवरणः सुगम एव, केवलं क्षायिकः सम्यग्दृष्टिः सन् यः उपशमश्रेणीं प्रतिपद्यते तस्यायं भङ्गकः सम्भवति, नान्यस्य, समुदितभावपञ्चकस्यास्य तत्रैव भावादिति परमार्थः । तदेवमेको द्विकसंयोगभङ्गको द्वौ द्वौ त्रिकयोगचतुष्कयोगभङ्गकावेकस्त्वयं पञ्चकयोगे इत्येते षड् भङ्गका अत्र सम्भविनः प्रतिपादिताः शेषास्तु विंशतिः संयोगोत्थानमात्रतयैव प्ररूपिता इति स्थितम् । एतेषु च षट्सु- भङ्गकेषु मध्ये एकस्त्रिकसंयोगो द्वौ चतुष्कसंयोगावित्येते त्रयोऽपि प्रत्येकं चतसृष्वपि गतिषु सम्भवन्तीति निर्णीतम् , अतो गतिचतुष्टयभेदात् ते किल द्वादश वक्ष्यन्ते , ये तु शेषा द्विकयोगत्रिकयोगपञ्चकयोगलक्षणास्त्रयो भङ्गाः सिद्धकेवल्युपशान्तमोहाना यथाक्रमं निर्णीता ते यथोक्तैकैकस्थानसम्भवित्वात् त्रय एवेत्यनया विवक्षयाऽयं सान्निपातिको भावः स्थानान्तरे पञ्चदशविध उक्तो द्रष्टव्यः । यदाह—' अविरुद्धसन्निवाइय-भेया एमेव पण्णरस ' त्ति , ' से तं सण्णिवाइए ' त्ति निगमनम् । उक्तः सान्निपातिको भाव , तद्भणने चोक्ताः षडपि भावा , ते च तद्वाचकैर्नामभिर्विना प्ररूपयितुं न शक्यन्त इति तद्वाचकान्यौदयिकादीनि नामान्यप्युक्तानि । एतैश्च षड्भिरपि धर्मास्तिकायादेः समस्तस्यापि वस्तुनः सग्रहात् षट्प्रकारं सत् सर्वस्यापि वस्तुनो नाम षण्णामेत्यनया दिशा सर्वमिदं भावनीयम् । अनु० । स्था० । सूत्र० । आ० म० । भ० । आचा० । सन्निपातजन्ये , त्रि० । तं० । औदयिकादिपञ्चभावसमकालनिष्पान्ने, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ('भाव' शब्दे पञ्चभागे उदाहरणान्तरमपि ।

सण्णिवाय–सन्निपात–पुं० । अपरापरस्थानेभ्यो जनानामेकत्र मीलने, औ० । ज्ञा० । वातादित्रयसंयोगे, प्रश्न० ५ सव० द्वार । भ० । औ० । द्वित्रिभावानां संयोगे, आ० म० १ अ० । मेलापके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । सू० । स्था० । औदयिकादिभावानामेव द्व्यादिसंयोगे, उत्त०१ अ० । अनन्तरोक्तादिभावानां मेलके , अनु० । समवाये , स्था० ४ ठा० ३ उ० । संक्लिष्टलक्षणे द्व्यादिमेलके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सण्णिविट्ठ–सन्निविष्ट–त्रि० । सम्यक् स्वशरीरानाबाधया न तु विषमसंस्थानेन निविष्टाः सन्निविष्टाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अभिनिविष्टे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । सम्यक् निश्चलतया आपत्परिहारेण च निविष्टे , आ० म० १ अ० । प्रश्न० । ज० । रा० । निवेशिते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० । औ० । सन्निवेशपाटके , रा० । आवसिते , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

सण्णिवेस–सन्निवेश–पुं० । यात्राद्यर्थसमागतजनावासे, जनसमागमे च । आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । उत्त० । स्थाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । यत्र प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेशः स सन्निवेशः । स्था० ५ ठा० १ उ० । कटकादीनामावासे , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । सूत्र० । औ० । घोषादौ , अनु० । भ० । औ० । सत्थावासणत्थाए सण्णिवेसो गामो वा पीडितो संविविट्ठो जत्तागतो वा लोगो सन्निविट्ठो सो सण्णिवेसं भण्णति । नि० चू० १२ उ० ।

सण्णिसज्जा–सन्निषद्या–स्त्री० । सच्छोभना, सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषद्या । स्त्रीभिः कृताया मायायाम् , स्त्रीवसतौ च । " तम्हा समणा ण समेंति आयहियाए सन्निसेज्जाओ । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सण्णिसण्ण–सन्निषण्ण–त्रि० । सङ्गततया निषण्णम् । सुखासीने , भ० ७ श० १० उ० । रा० ।

सण्णिसिज्जा–सन्निषद्या—स्त्री० । शोभनायां निषद्यायाम् , व्य० १ उ० ।

सवनिषद्या-स्त्री० । स्वकीयायां निषद्यायाम् , व्य० ४ उ० ।

सण्णिसुय-संज्ञिश्रुत-न० । संज्ञाः विद्यन्ते येषां ते संज्ञिनः पर सर्वत्राप्यागमे दीर्घकालिक्या सञ्ज्ञया संज्ञिनस्ते संज्ञिन उच्यन्ते । तत संज्ञिनां श्रुतं संज्ञिश्रुतम् । समनस्कानां मन.सहितैरिन्द्रियैर्जनिते श्रुतज्ञाने , कर्म० १ कर्म० ।

से किं तं सण्णिसुअं ?, सण्णिसुयं(अं) तिविहं पण्णत्तं , तं जहा-कालिओवएसेणं हेऊवएसेणं दिट्ठिवाओवएसेणं । से किं तं कालिओवएसेणं ? , कालिओवएसेणं जस्स णं अत्थि ईहा अवोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं सण्णीति लब्भइ । जस्स णं नऽत्थि ईहा अवोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं असन्नीति लब्भइ । से तं कालिओवएसेणं । से किं तं हेऊवएसेणं ?, जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती से णं सण्णीति लब्भइ , जस्स णं नऽत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती से णं असण्णीति लब्भइ , से तं हेऊवएसेणं । से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं ? , दिट्ठिवाओवएसेणं सण्णिसुअस्स खओवसमेणं सण्णी लब्भइ, असण्णिसुअस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भइ । से तं दिट्ठिवाओवएसेणं । से तं सण्णिसुअं । से तं असण्णिसुअं । (सू० ३९ ।)

' से किं त ' मित्यादि , अथ किं तत्संज्ञिश्रुतम् ? , संज्ञानं सञ्ज्ञा साऽस्यास्तीति संज्ञी तस्य श्रुत संज्ञिश्रुतम् । आचार्य आह—संज्ञिश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तम् संज्ञिनस्त्रिभेदत्वात् , तदेव त्रिभेदत्व संज्ञिनो दर्शयति । तद्यथा—कालिक्युपदेशेन १ हेतूपदेशेन २ दृष्टिवादोपदेशेन ३ । तत्र कालिक्युपदेशेनेत्यत्रादिपदलोपाद्दीर्घकालिक्युपदेशेनेति द्रष्टव्यम् ।' से किं त' मित्यादि अथ कोऽयं कालिक्युपदेशेन संज्ञी ? , इह दीर्घकालिकी सञ्ज्ञा कालिकीति व्यपदिश्यते , आदिपदलोपादुपदेशनमुपदेशः—कथनमित्यर्थः,दीर्घकालिक्या उपदेशः—दीर्घकालिक्युपदेशस्तेन , आचार्य आह—कालिक्युपदेशेन संज्ञी स उच्यते यस्य प्राणिनोऽस्ति विद्यते ईहा — सदर्थपर्यालोचनमपोहो—निश्चयो मार्गणा—अन्वयधर्मान्वेषणरूपा गवेषणा—व्यतिरेकधर्मस्वरूपपर्यालोचनं चिन्ता —कथमिद भूतं कथ चेद सम्प्रति कर्त्तव्यं कथं चैतद्भविष्यतीति पर्यालोचनं विमर्शनं विमर्शः —इदमित्थमेव घटते इत्थं वा तद्भूतमित्थमेव वा तद्भावीति यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिर्णयः, स प्राणी ' ण ' मिति वाक्यालङ्कारे संज्ञीति लभ्यते । स च गर्भव्युत्क्रान्तिकपुरुषादिरौपपातिकश्च देवादिर्मनःपर्याप्तियुक्तो विज्ञेयः, तस्यैव त्रिकालविषयचिन्ताविमर्शादिसम्भवाद् , आह च भाष्यकृद्—" इह दीहकालिगि-कालि-गित्ति सण्णा जया सुदीह पि । सम्मरइ भूयमेस्सं, चिंतेइ य किह णु कायव्वं ॥१॥ कालियसण्णि त्ति तओ, जस्स मई सो य तो मणोजोग्गे । खंधेऽणंते घेत्तुं, मन्नइ तल्लद्धिसंपन्नो ॥२॥ " एव च प्रायः सर्वमप्यर्थं स्फुटरूपमुपलभते, तथाहि—यथा चक्षुष्मान् प्रदीपादिप्रकाशेन स्फुटमर्थमुपलभते तथैषोऽपि मनोलब्धिसम्पन्नो मनोद्रव्यावष्टम्भसमुत्थविमर्शवशतः पूर्वापरानुसन्धानेन यथावस्थित स्फुटमर्थमुपलभते, यस्य पुनर्नास्ति ईहा अपोहो मार्गणा गवेषणा चिन्ता विमर्शः सोऽसंज्ञीति लभ्यते, स च सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियादिर्विज्ञेयः, स हि स्वल्पस्वल्पतरमनोलब्धिसम्पन्नत्वादस्फुटमस्फुटतरमर्थं जानाति । तथाहि-संज्ञिपञ्चेन्द्रियापेक्षया संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियोऽस्फुटमर्थं जानाति, ततोऽप्यस्फुटं चतुरिन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतरं त्रीन्द्रिय', ततोऽप्यस्फुटतमं द्वीन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतममेकेन्द्रियः, तस्य प्रायो मनोद्रव्यासम्भवात्, केवलमव्यक्तमेव किञ्चिदतीवाल्पतर मनोद्रव्यं, यद्वशादाहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपाः प्रादु.ष्यन्ति, 'सेत्त' मित्यादि, सोऽयं कालिक्युपदेशेन संज्ञी । ' से किं त ' मि त्यादि, अथ कोऽयं हेतूपदेशेन संज्ञी ?, हेतुः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम् , उपदेशनमुपदेशः हेतोरुपदेशन हेतूपदेशस्तेन, किमुक्तं भवति !,-कोऽयं संज्ञित्वनिबन्धनहेतुमुपलभ्य कालिक्युपदेशेनासत्यपि संज्ञीति व्यवह्रियते , आचार्य आह--हेतूपदेशेन संज्ञा यस्य प्राणिनोऽस्ति—विद्यतेऽभिसन्धारणम्—अव्यक्तेन व्यक्तेन वा विज्ञानेनालोचन तत्पूर्विका—तत्कारणिका करणशक्तिः—करणं क्रिया तस्या शक्तिः—प्रवृत्तिः, स प्राणी णमिति वाक्यालङ्कारे, हेतूपदेशेन संज्ञीति भण्यते, एतदुक्तं भवति-यो बुद्धिपूर्वकं स्वदेहपरिपालनार्थमिष्टेष्वाहारादिषु वस्तुषु प्रवर्तते अनिष्टेभ्यश्च निवर्तते स हेतूपदेशेन संज्ञी, स च द्वीन्द्रियादिरपि वेदितव्यः, तथाहि-इष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिर्नाविचिन्तनं न मनोव्यापारमन्तरेण सम्भवति, मनसा पर्यालोचनं संज्ञा, सा च द्वीन्द्रियादेरपि विद्यते, तस्यापि प्रतिनियतेष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्, ततो द्वीन्द्रियादिरपि हेतूपदेशेन संज्ञी लभ्यत, नवरमस्य चिन्तनं प्रायो वर्तमानकालविषयं न भूतभविष्यद्विषयमिति न कालिक्युपदेशेन संज्ञी लभ्यते । यस्य पुनर्नास्त्यभिसन्धारणपूर्विका करणशक्तिः स प्राणी, णमिति वाक्यालङ्कारे, हेतूपदेशेनाप्यसंज्ञी लभ्यते, स च पृथिव्यादिरेकेन्द्रियो वेदितव्यः, तस्याभिसन्धिपूर्वकमिष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्त्यसम्भवात्, या अपि चाहारादिसंज्ञाः पृथिव्यादीनां वर्त्तन्ते ता अप्यत्यन्तमव्यक्तरूपा इति तदपेक्षयाऽपि न तेषां संज्ञित्वव्यपदेशः । उक्तं च भाष्यकृता " जे पुण संचितेउं, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसुं । वत्तंति नियत्तंति य, सदेहपरिपालणाहेउं ॥ १ ॥ पाएण संपइ च्चिय, कालम्मि न याइदीहकालण्णू । ते हेउवायसण्णी , निच्चिट्ठा होंति अस्सण्णी ॥ २ ॥ " अन्यत्रापि हेतूपदेशेन संज्ञित्वमाश्रित्योक्तम्—' कृमिकीटपतङ्गाद्याः, समनस्का जङ्गमाश्चतुर्भेदाः । अमनस्काः पञ्चविधाः, पृथिवीकायादयो जीवाः ॥ १ ॥ ' ' सेत्त ' मित्यादि, सोऽयं हेतूपदेशेन संज्ञी । ' से किं त ' मित्यादि । अथ कोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी ?, दृष्टिदर्शनं-सम्यक्त्वादि तद्वद--वादः दृष्टीनां वादो दृष्टिवादस्तदुपदेशेन , तद-

पेक्षयेत्यर्थः, आचार्य आह—दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन संज्ञी लभ्यते, संज्ञानं संज्ञा—सम्यग्ज्ञानं तदस्यास्तीति (स) संज्ञी—सम्यग्दृष्टिस्तस्य यच्छ्रुतं तत्संज्ञिश्रुतं, सम्यक्श्रुतमिति भावार्थः, तस्य क्षयोपशमेन तदावारकस्य कर्म्मणः क्षयोपशमभावेन संज्ञी लभ्यते, किमुक्तं भवति?—सम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकज्ञानयुक्तो दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी भवति, स च यथाशक्ति रागाऽऽदिनिग्रहपरो वेदितव्यः, स हि सम्यग्दृष्टिः सम्यग्ज्ञानी वा यो रागादीन् निगृह्णाति, अन्यथा हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्यभावतः सम्यग्दृष्टित्वाद्ययोगात्, उक्तं च—' तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः। तमसः कुतोऽस्ति शक्ति-र्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्? ॥ १ ॥ " अन्यस्तु मिथ्यादृष्टिरसंज्ञी, तथा चाह—'असंज्ञिश्रुतस्य मिथ्याश्रुतस्य क्षयोपशमेनासंज्ञीति लभ्यते, ' से त्त ' मित्यादि निगमनं, सोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी। तदेवं संज्ञिनसंज्ञिभेदत्वात् श्रुतमपि तदुपाधिभेदात् त्रिविधमुपन्यस्तम्। अत्राह—ननु प्रथमं हेतूपदेशेन संज्ञी वक्तुं युज्यते, हेतूपदेशेनाल्पमनोलब्धिसम्पन्नस्यापि द्वीन्द्रियादेः संज्ञित्वेनाभ्युपगतत्वात् तस्य चाविशुद्धतरत्वात्, ततः कालिक्युपदेशेन, हेतूपदेशसंज्ञापेक्षया कालिक्युपदेशेन संज्ञिनो मनःपर्याप्तियुक्ततया विशुद्धत्वात्, तत्किमर्थमुत्क्रमोपन्यासः?, उच्यते, इह सर्वत्र सूत्रे यत्र क्वचित् संज्ञी असंज्ञी वा परिगृह्यते तत्र सर्वत्रापि प्रायः कालिक्युपदेशेन गृह्यते न हेतूपदेशेन, नापि दृष्टिवादोपदेशेन तत एतत्संप्रत्ययार्थं प्रथमं कालिक्युपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम्। उक्तं च—" सन्निति असन्निति य, सव्वसुए कालिओवएसेणं। पायं संववहारो, कीरइ तेणाइओ सकओ ॥ १ ॥ " ततोऽनन्तरमप्रधानत्वाद्धेतूपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम्, ततः सर्वप्रधानत्वादन्ते दृष्टिवादोपदेशेनेति ' से त्त ' मित्यादि, तदेतत्संज्ञिश्रुतम्, असंज्ञिश्रुतमपि प्रतिपक्षाभिधानादेव प्रतिपादितम्। तत आह—' से त्तं असन्निसुअं ' तदेतदसंज्ञिश्रुतम्। नं०।

सरिणसेज्जागय—सन्निषद्यागत—त्रि०। सती नाम शोभना स्वकीया वा निषद्या सन्निषद्या तस्यां गतः। सन्निषद्योपविष्टे, व्य० ७ उ०।

सरिणह—सन्निभ—त्रि०। सदृशे, प्रज्ञा० २ पद।

सरिणहाण—सन्निधान—न०। सन्निधीयते आधीयते यस्मिंस्तत्सन्निधानम्, अनु०। सन्निधीयते क्रियाऽस्मिन्निति सन्निधानम्। आधारे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। सम्यग् निधीयते नारकादिगतिषु येन तत्सन्निधानम्। कर्म्मणि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०। सन्निधिः सन्निधानम्। घटादेर्व्यवस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

सरिणहि—सन्निधि—पुं०। सम्यक्प्रकारेण निधीयते—स्थाप्यते दुर्गतौ आत्मा येन स सन्निधिः। संचये, उत्त० ६ अ०। दश०। विनाशिद्रव्याणां दध्योदनादीनां स्थापने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। विशिष्टाहारसंग्रहस्य संचये, सूत्र० १ श्रु० १६ उ०। व्य०। गोरसादेः सन्निचये, नि० शायामशनादिधारणे, ग० २ अधि०।

सन्निधिं न कुर्यात्—

सन्निहिं च न कुव्विज्जा, लेवमायाइ संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरविक्खो परिव्वये ॥ १६ ॥

च—पुनः संयतः—साधुर्लेपमात्रयाऽपि संनिधिं न कुर्यात् लेपस्य मात्रा लेपमात्रा तया लेपमात्रया सम्—सम्यक् प्रकारेण निधीयते—स्थाप्यते दुर्गतौ आत्मा येन स सन्निधिः-घृतगुडादिसंचयस्तं न कुर्यात्, यावता पात्रं लिप्यते तावन्मात्रमपि घृतादिकं न संचयेत्। भिक्षुराहारं कृत्वा पात्रं समादाय—पात्रं गृहीत्वा निरपेक्षः सन्—निःस्पृहः सन् परिव्रजेत्—साधुमार्गे प्रवर्तेत। क इव-पक्षी इव यथा पक्षी आहारं कृत्वा पत्रं—तनूरुहमात्रं गृहीत्वा उड्डीयते तथा साधुरपि कुक्षिसंबलो भवेत् ॥ १६ ॥ उत्त० ७ अ०। (सन्निधिशब्दवक्तव्यता ' वयछक्क ' शब्दे षष्ठे भागे गता।)

सन्निहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायं पि संजए।
मुहा जीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए ॥ २४ ॥

सन्निधिं—प्राग्निरूपितस्वरूपां न कुर्यात् अणुमात्रमपि—स्तोकमपि संयतः-साधुस्तथा मुधाजीवीति पूर्ववत्, असंबद्धः पद्मिनीपत्रोदकवत् गृहस्थैः एवंभूतः सन् भवेत् जगन्निश्रितश्चराचरसंरक्षणे प्रतिबद्धः। इति सूत्रार्थः। दश०८ अ० २ उ०। (सन्निधिव्याख्या ' भिक्खु ' शब्दे पञ्चमभागे १५६८—पृष्ठे गता।) (तथा सन्निधिव्याख्या ' रायपिंड ' शब्दे षष्ठे भागे ५५४—पृष्ठे गता।) (तथा 'आरंभ' शब्दे द्वितीयभागे ३६५ पृष्ठे गता।) (तथा 'परिग्गह' शब्दे पञ्चमभागे ५५३ पृष्ठे गता।) (' पडिसेवणा ' शब्दे रात्रिभोजनस्य दर्पिकाप्रतिसेवनप्रस्तावे सन्निधिदोष उक्तः।) " न यश्चोद्गामिनेऽर्थाय, संनिधत्तेऽशनादिकम्।" आगामिनेऽर्थाय श्वः परश्वो वा भाविने प्रयोजनाय सन्निधत्ते साधुः। द्वा० २७ द्वा०।

न सन्निहिं कुव्वइ आसुपन्ने। (२५ +)

तथा सन्निधानं सन्निधिः स च द्रव्यसन्निधिः धनधान्यहिरण्यपदचतुष्पदरूपो, भावसन्निधिस्तु मायाक्रोधादयो वा सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि सन्निधिं न करोति भगवाँस्तथाऽऽशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात् छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। (सन्निधिव्याख्या ' आतह्व ' शब्दे द्वितीयभागे १५८ पृष्ठे गता।)

सरिणहिय—सन्निहित—त्रि०। अशोपिते विशे०। दाक्षिणात्यानामाघातिकानामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

सरिणहियपाडिहेर—सन्निहितप्रातिहार्य—पुं०। सन्निहितं प्रतिहार्यं प्रतिहारकर्म्म सान्निध्यं देवेन यस्य स तथा। भ० १४ श० ८ उ०। विहितदेवताप्रतिहार्ये, औ०।

सरिणहिसरिणचय—सन्निधिसन्निचय—पुं०। सन्निधानं सन्निधिस्तस्य सन्निचयः सन्निधिसन्निचयः, अथवा—सम्यग् निधीयते स्थाप्यते उपभोगाय योऽर्थः स सन्निधिस्तस्य सन्निचयः, प्राचुर्यमुपभोग्यम्। द्रव्यनिचये, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। सम्यगभिधीयत इति सन्निधिः, विनाशिद्र-

द्रव्याणां दध्योदनादीनां तथा सम्यग् निश्चयेन चीयते इति सन्निचय । विनाशिद्रव्याणामभयासितामृद्वीकादीनां संग्रहे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

सण्ह-श्लक्ष्ण-त्री० । " सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः " ॥ ८ । २ । ७५ ॥ अनेनात्र क्ष्णस्य णकाराक्रान्तो हकारादेशः । सण्हं । प्रा० । मसृणे, स० । सू० प्र० । ज० प्र० । श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिष्पन्ने, श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत् । प्रज्ञा० २ पद । जी० । रा० । ज० । श्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितवहि प्रदेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूक्ष्म-त्रि० । "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः " ॥ ८ । २ । ७५ ॥ अनेनात्र सूक्ष्मशब्दसम्बन्धिनः क्ष्मस्य णकाराक्रान्तो हकारादेश । सण्हं । प्रा० । " अदूतः सूक्ष्मे वा " ॥ ८ । १ । १८॥ अनेनात्रोकारस्य वैकल्पिक अदादेश ।सण्हं । सुण्हं । प्रा० । अणुपरिमाणवति, अल्पे च । वाच० । मृदुलघुस्पर्शे, प्रज्ञा० २ पद ।

सण्हकरणी-श्लक्ष्णकरणी-स्त्री० । श्लक्ष्णानि चूर्णरूपाणि द्रव्याणि क्रियन्ते यस्या सा श्लक्ष्णकरणी । पेषणशिलायाम् , भ० ११ श० ३ उ० ।

सण्हपट्ट-श्लक्ष्णपट्ट-पुं० । श्लक्ष्णं पट्टसूत्रि पट्टसूत्रम् । श्लक्ष्णपट्टमये, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

सण्हपट्टभत्तिसयचित्तताणगा-श्लक्ष्णपट्टभक्तिशतचित्रतानका-स्त्री० । श्लक्ष्णपट्टसूत्रमयो भक्तिशतचित्रस्थानको यस्या सा तथा । घनमसृणविविधचित्राया शाटिकायाम् , भ० ११ श० ३ उ० ।

सण्हबायरपुढवीकाइय-श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिक-पुं० । पृथ्वीकायिकभेदे, जी० । "सण्हबायरपुढविकाइया" जी० १ प्रति० । ('पुढवीकाइय' शब्दे पञ्चमभागे ६७३ पृष्ठे व्याख्या गता ।)

सण्हामच्छ-श्लक्ष्णमत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे,विपा० ।

सत-सप्त-पुं० । 'तदोस्त.' ॥८।४। ३०७॥ इति पैशाच्यां तस्य त. । सतं । सख्याभेदे, प्रा० ४ पाद ।

सतक्का-सतर्का-स्त्री० । स्वकीयमिथ्यात्वविकल्पे, सू० १ उ० २ प्रक० ।

सतंत-स्वतन्त्र-त्रि० । आत्मायत्ते , सतन्त्र. कर्त्ता । विशे० । स्वकार्यकर्तृत्व प्रत्यपरनिरपेक्षे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । स्वसिद्धान्ते, नि० चू० ११ उ० ।

सतंतअविरुद्ध-स्वतन्त्राविरुद्ध-त्रि० । सतन्त्रं-स्वसिद्धान्तस्तस्मिन्नविरुद्धम् । स्वसमयाविरुद्धे, नि० चू० ११ उ० ।

सतंतविरुद्ध-स्वतन्त्रविरुद्ध-त्रि० । स्वसमयविरुद्धे, यथा-सर्वत्र सर्वकाल मास्त्यात्मेति । " अध सव्वत्थ सव्वकालं नऽत्थि आया तो सतंतविरुद्ध भन्नति " नि० चू० १ उ० ।

सतत-सतत-न० । अविच्छिन्ने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अनवरते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सतन-सदन-न० । "तदोस्त." ॥८ । ४ । ३०७ ॥ पैशाच्याम् अनेनात्र दकारस्य तकारादेशः । सतनम् । गृहे, प्रा० ४ पाद ।

सततचिंता-स्वतत्त्वचिन्ता-स्त्री० । स्वरूपचिन्तने, पञ्चा० १ विव० ।

शतपत्त-शतपत्र-न० । दलशतकलिते कमले, जं० १ वक्ष० । रा० । भ० ।

सतवाइया-सप्तपादिका-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सतारुक-शतारुक-न० । क्षुद्रकुष्ठभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सति-स्मृति-स्त्री० । चिन्तने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सतिगिच्छा-सचिकित्सा-त्रि० । प्रतिक्रियोपेते, पञ्चा० १६ विव० ।

सतेरा-शतेरा-स्त्री० । विदिग्रुचकवास्तव्यायां तृतीयकुमारीमहत्तरिकायाम् , जं० ५ वक्ष० । आ० क० । आ० म० । विद्युत्कुमारमहत्तरिकायाम् , आव० १ अ० । औ० । स्था० ।

सतोरणवर-सतोरणवर-त्रि० । तोरणवरसहिते, रा० । जी० ।

सत्त-शक्त-त्रि० । समर्थे, विशे० । स्था० । अहोरात्रस्य द्वितीये मुहूर्त्ते, स० ३ सम० । आचा० ।

सक्त-त्रि० । सुसदु.खेषु यत्ते, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । सूत्र० । गृद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आचा० । अध्युपपन्ने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । रते, आचा० । तत्परे, आचा०१ श्रु०१ अ० ७ उ० । लग्ने, सूत्र० १ श्रु० १० उ० । उत्त० । रा० ।

सत्त्व-न० । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततारूपाया विद्यमानतायाम् , दश० १ अ० । अने० । अनु० । विशे० । दर्श० । जन्तौ, सूत्र०१ श्रु०११ अ० । आचा० । सत्तायोगात् सत्त्वाः । स्था०४ ठा०२ उ० । "जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्तं ति वत्तव्व सिया" आसक्ताः शक्ता वा समर्थाः, सुन्दरासुन्दरासु चेष्टासु । अथवा-सक्तस्सम्बद्धाः शुभाशुभै. कर्मभिरिति । भ० २ श०१ उ० । आ० चू० । प्राणिनि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । सूत्र० । जीवे, विशे० । आव० । " प्राणा द्वित्रिचतु प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया , शेषा सत्त्वा प्रतीरिता ॥ १ ॥ " इति वनस्पतिव्यतिरिक्तेषु एकेन्द्रियेषु, स्था० ५ ठा० २ उ० । ज्ञा० । जी० । आचा० ।

" सत्तविराहणपावं, असंखगुणिय तु इक्कभूयस्स ।
भूयस्स य सखगुणं, पावइ इक्कस्स पाणस्स ॥ १ ॥
बेइंदिय तेइंदिय, चउरिंदिय चेति तह य पंचिंदी ।
लक्खसहस्सं तह सय-गुण व पावं मुणेयव्व ॥२॥ "

इति गाथाद्वयं कस्मिन् ग्रन्थे विद्यते ?, " सत्तविराहणपावमि " इत्यादिगाथाद्वयं छूटकपत्रेषु लिखित दृश्यते परं न क्वापि ग्रन्थे । ही० २ प्रका० । तिर्यङ्नराम-रलक्षणेषु ससारिजीवेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । दैन्यविनिर्मुक्ते मानसेऽवष्टम्भे, अनु० । सामर्थ्ये, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । साहसे, ज० ३ वक्ष० । वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमादिजन्ये आत्मपरिणामे, आ० म०१ अ० । प्रभूततरभापगे पवर्द्धमाने आन्तर उत्साहविशेषे, बृ० ५ उ० । परीषहादिसहने रणाङ्गणे वा अवष्टम्भ, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्राणव्यपरोपणसमर्थविद्याप्रयोगे व्यवसिते तन्मानोपमर्दहेतौ अवष्टम्भे व्य० १ उ० ।

सत्त-सप्तन्-त्रि० । (सात) संख्याभेदे , नि० चू० १ उ० । जं० । स० ।

सत्तंग-सप्ताङ्ग-न० । राजामात्याऽ १ मात्यसुहृदाऽ २ र्थलाभ— ३ कोश ४ राष्ट्र ५ दुर्ग ६ सैन्य ७ लक्षणे सप्तावयवे राज्ये , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सत्तंगपइट्ठिय-सप्ताङ्गप्रतिष्ठित-त्रि० । सप्ताङ्गानि चत्वारः पादाः करः पुच्छं शिश्नं चेति, एतानि प्रतिष्ठितानि भूमौ लग्नानि यस्य तत्तथा । सप्तभिः पादादिभिर्भूमौ लग्ने , उपा० २ अ० ।

सत्तंत-सत्तन्त्र-न० । सच्छास्त्रे , प्रति० ।

सत्तकप्प-सप्तकल्प-पुं० । सप्तविधकल्पे , पं० भा० ।

सत्तविहकप्पमेत्तो, वोच्छामि अहक्कमेणं तु ।
ठितमट्ठितजिणथेर-लिंगे उवही तहेव संभोगे ॥
एसो तु सत्तकप्पो, णेयव्वो आणुपुव्वीए । पं० भा० १ कल्प । पं० चू० ।

सत्तखेत्ती-सप्तक्षेत्री-स्त्री० । सप्तानां क्षेत्राणां समाहारः सप्तक्षेत्री । जिनबिम्बादिसप्तके, सप्तक्षेत्र्यां धनवाप. । ध० । सप्तानां क्षेत्राणां समाहारः सप्तक्षेत्री, जिनबिम्ब १ भवना-ऽऽगम ३ साधु ३ साध्वी ५ श्रावक ६ श्राविका ७ लक्षणा तस्यां वित्तस्य—धनस्य श्रावकाधिकारान्न्यायोपात्तस्य वापो-विकरणं तच्च विशिष्टो गृहिधर्मो भवतीति योज्यम् । एवमग्रेऽपि स्वयमूह्यम् । क्षेत्रे हि बीजस्य वपनमुचितमित्युक्तं वाप इति । वपनमपि क्षेत्रे उचितं नाऽक्षेत्रे इति सप्तक्षेत्र्यामित्युक्तम् । क्षेत्रत्वं च सप्तानां रूढमेव वपनं च सप्तक्षेत्र्यां यथोचितस्य द्रव्यस्य भक्त्या श्रद्धया च । ध० २ अधि० ।

सत्तग-सप्तक-पुं० । सप्तपरिमाणस्य सप्तकः । सप्तावयवे , व्य० ४ उ० ।

सत्तगइय-सप्तगतिक-पुं० । भूतानां सप्त गतयः-अण्डजादियोनिलक्षणा येषां ते सप्तगतयः । मृत्वा सप्तसु गतिषु उत्पद्यमानेषु, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सत्तघर-सप्तगृह-न० । जीवानुशासनकारस्य जिनदत्तसूरेर्निवासस्थाने, जी० १ प्रति० ।

सत्तघरंतर-सप्तगृहान्तर-न० । सप्तगृहमध्ये, कल्प० ३ अधि० ९ क्षण ।

सत्तघरंतरिय-सप्तगृहान्तरिक-पुं० । सप्तगृहान्तरितं भिक्षाग्रहणं यस्य स सप्तगृहान्तरिकः । सप्त ६ गृहाण्यतिक्रम्य भिक्षाग्रहणाभिग्रहे, औ० ।

सत्तच्छद-सप्तच्छद-पुं० । सप्तपर्णवृक्षे , विशे० । " सत्तच्छ(व) वणं सप्तच्छदं " पाइ० ना० २४३ गाथा ।

सत्तट्ठाणनिद्देसिय-सप्तस्थाननिर्देशिन्-पुं० । सप्तस्थाननिर्देशिनि, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सत्तट्ठिमासियपडिमा-सप्तरात्रिंदिवा-स्त्री० । सप्तरात्रिंदिवप्रमा-णायां प्र० १ प्राभृ० ।

सत्तणउइ-सप्तनवति-स्त्री० । सप्ताधिकायां नवतिसंख्याया-म् , स० ।

सत्तणाम-सप्तनाम-न० । सप्तानामर्थानामभिधायके नामनि, अनु० ।

से किं तं सत्तनामे?, सत्तनामे सत्त सरा पण्णत्ता, तं जहा-
सज्जे रिसहे गंधारे, मज्झिमे पंचमे सरे ।
रेवए चेव नेसाए, सरा सत्त वित्राहिआ ॥ १ ॥

' स्वृ ' शब्दोपतापयोरिति स्वरणानि स्वराः—ध्वनिविशेषा , ते च सप्त, तद्यथा—' सज्जे ' त्ति श्लोकः, व्याख्या—षड्भ्यो जातः षड्जः, उक्तं च—" नासां कण्ठमुरस्तालु, जिह्वां दन्तांश्च संश्रितः । षड्भिः संजायते यस्मात् , तस्मात् , षड्ज इति स्मृतः ॥ १ ॥ " तथा ऋषभो—वृषभस्तद्वद् यो वर्तते स ऋषभः, आह च—" वायुः समुत्थितो नाभेः, कण्ठशीर्षसमाहतः । नर्दन् वृषभवद् यस्मात् , तस्मादृषभ उच्यते ॥ २ ॥ " तथा गन्धो विद्यते यस्य स गन्धारः, स एव गान्धारो, गन्धयाः विशेष इत्यर्थः, अभाणि च—" वायुः समुत्थितो नाभेहृदि कण्ठे समाहतः । नानागन्धवहः पुण्यो, गान्धारस्तेन हेतुना ॥ ३ ॥ " तथा मध्ये कायस्य भवो मध्यम , यदवाचि—" वायुः समुत्थितो नाभे—रुरोहृदि समाहत । नाभिं प्राप्तो महानादो, मध्यमत्वं समश्नुते ॥ ४ ॥ " तथा पञ्चानां षड्जादिस्वराणां निर्देशक्रममाश्रित्य पूरणः पञ्चमः, अथवा—पञ्चसु-नाभ्यादिस्थानेषु मातीति पञ्चमः स्वर , यदभ्यधायि—" वायुः समुत्थितो नाभे-रुरोहृत्कण्ठशिरोहतः । पञ्चस्थानोत्थितस्यास्य, पञ्चमत्वं विधीयते ॥ ५ ॥ " तथाऽभिसन्धयतेऽनुसधयति शेषस्वरानिति निरुक्तिवशाद्धैवत', यदुक्तम्—" अभिसंधयते यस्मा-देतान् पूर्वोदितस्वरान् । तस्मादस्य स्वरस्यापि, धैवतत्वं विधीयते ॥ ६ ॥ " पाठान्तरेण रैवतश्चेवति, तथा निषीदन्ति स्वरा यस्मिन् स निषादः, यतोऽभिहितम्—" निषीदन्ति स्वरा यस्मि-न्निषादस्तेन हेतुना । सर्वांश्चाभिभवत्येष, यदादित्योऽस्य दैवतम् ॥ ७ ॥ " इति, सप्तैते स्वराः-जीवाजीवनिश्रितध्वनिविशेषाः ' सत्तवियाहिय ' त्ति-विविधप्रकारैराख्याताः तीर्थकरगणधरैरिति श्लोकार्थः । आह-ननु कारणभेदेन कार्यस्य भेदात् स्वराणां च जिह्वादिकारणजन्यत्वात् तासां च द्वीन्द्रियादित्रसजीवानामसंख्येयत्वात् जीवनिश्रिता अपि तावत् स्वराः असंख्याताः प्राप्नुवन्ति किंतुताजीवनिश्रिता इति कथं सप्तसंख्या नियमो न विरुध्यत इति ?, उच्यते, असंख्यातानामपि स्वरविशेषाणामेतेष्वेव सप्तसु सामान्यस्वरेष्वन्तर्भावाद् यावतां वा स्वरविशेषोपलब्धानां विशिष्टानां ग्रहणाभिलाषाणां विशिष्टस्वराणां सप्तानां प्राधान्येन निर्देश इति ।

स्वराणामेषां स्थानं वक्तुमाह—

एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पण्णत्ता ।
तं जहा-सज्जं च अग्गजीहाए, उरेण रिसहं सरं ।
कंठुग्गएण गंधारं, मज्झजीहाए मज्झिमं ॥ २ ॥

[illegible]

नासाए पंचमं बूआ , दंतोट्ठेण अ रेवतं । भमुहक्खेवेण । णेसाहं , सरट्ठाणा विआहिआ ॥ ३ ॥ सत्त सरा जीवणिस्सिआ पण्णत्ता, तं जहा–"सज्जं रवइ मऊरो, कुक्कुडो रिसभं सरं । हंसो रवइ गंधारं, मज्झिमं च गवेलगा ॥४॥ अह कुसुमसंभवे काले , कोइला पंचमं सरं । छट्ठं च सारसा कुंचा , नेसायं सत्तमं गओ ॥ ५ ॥ सत्तसरा अजीवनिस्सिआ पण्णत्ता, तं जहा–सज्जं रवइ मुअंगो , गोमुही रिसहं सरं । संखो र वइ गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी ॥ ६ ॥ चउसरणपइट्ठाणा , गोहिआ पंचमं सरं । आडंवरो रेवइयं , महाभेरी अ सत्तमं ॥ ७ ॥

तत्र नाभेरुत्थितोऽविकारी स्वर आभोगतोऽनाभोगतो वा यदत्र जिह्वादिस्थानं प्राप्य विशेषमासादयति तत् स्वरस्योपकारकमतः स्वरस्थानमुच्यते , तत्र ' सज्ज ' मित्यादिश्लोकद्वयं सुगमम्—नवर चकारोऽवधारणे , षड्जमेव प्रथमस्वरलक्षणं ब्रूयात् , कयेत्याह-अग्रभूता जिह्वा अग्रजिह्वा जिह्वाग्रमित्यर्थस्तया , इह यद्यपि षड्ज— भणने स्थानान्तराण्यपि कण्ठादीनि व्याप्रियन्ते अग्रजिह्वा च स्वरान्तरेषु व्याप्रियते तथापि सा तत्र बहुव्यापारवतीति कृत्वा तया तमेव ब्रूयादित्युक्तम् । इदमत्र हृदयम्—षड्जस्वरोऽग्रजिह्वां प्राप्य विशिष्टां व्यक्तिमासादयत्यतस्तदपेक्षया सा स्वरस्थानमुच्यते , एवमन्यत्रापि भावना कार्या । उरो—वक्षस्तेन ऋषभं स्वरम् ब्रूयादिति सर्वत्र सम्बध्यते । ' कंठुग्गएणं ' ति—कण्ठउद्गमनमुन्नतिः—स्वरनिष्पत्तिहेतुभूता क्रिया तेन कण्ठोद्गतेन गान्धारम् , जिह्वाया मध्यो भागो मध्यजिह्वा तया मध्यमम् , तथा दन्ताश्चौष्ठौ च दन्तोष्ठं तेन धैवतं रैवत चेति । भ्रूत्क्षेपावष्टम्भेन निषादमिति । इत ऊर्ध्वं सर्वं निगदसिद्धमेव , नवरं ' जीवनिस्सिय ' त्ति-जीवाश्रिताः जीवेभ्यो वा निसृता—निर्गता', ' सज्ज रवई ' त्यादिश्लोकः, रवति—नदति ' गवेल ' त्ति—गावश्च एलकाश्च-ऊरणका. गवेलकाः,अथवा-गवेलकाः ऊरणका एव,' अह कुसुमे ' त्यादि, अथेति विशेषणार्थो, विशेषणार्थता चैव—यथा गवेलका अविशेषेण मध्यमस्वर नन्दन्ति न तथा पञ्चमं कोकिलः, अपि तु-वनस्पतिषु बाहुल्येन कुसुमानां—मल्लिकापाटलादीनां सम्भवो यस्मिन् काल स-तथा तस्मिन् , मधुमास इत्यर्थः । ' अजीवनिस्सिय ' त्ति-तथैव , नवरमजीवेष्वपि मृदङ्गादिषु जीवव्यापारोत्थापिता एवामी मन्तव्याः , अपर षड्जादीनां मृदङ्गादिषु यद्यपि नासाकण्ठाद्युत्पन्नत्वलक्षणो व्युत्पत्त्यर्थो न घटते तथापि सादृश्यात् तद्भावोऽवगन्तव्यः । ' सज्ज ' मित्यादिश्लोकद्वयम् , गोमुखी काहला यस्या मुखे गोशृङ्गादिवस्तु दीयत इति , चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठानम्—अवस्थान भुवि यस्याः सा गोधा चर्मावनद्धा, गोधिका—वाद्यविशेषो दर्दरिकेत्यपरनाम्ना प्रसिद्धा, आडम्बर.—पटहः , सप्तममिति निषादमित्यर्थः ।

एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरलक्खणा पण्णत्ता, तं जहा–

सज्जेण लहई वित्तिं , कयं च न विणस्सइ ।
गावो पुत्ता य मित्ता य, नारीणं होइ वल्लहो ॥८॥
रिसहेण उ एसज्जं (पसेज्जं) ,सेणावच्चं धणाणि अ ।
वत्थगंधमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ॥ ६ ॥
गंधारे गीतजुत्तिण्णा, वज्जवित्ती कलाहिआ ।
हवंति कइणो धण्णा, जे अण्णे सत्थपारगा ॥ १० ॥
मज्झिमस्सरमंता उ, हवंति सुहजीविणो ।
खायई पियई देह, मज्झिमस्सरमस्सिओ ॥११॥
पंचमस्सरमंता उ, हवंति पुहवीपई ।
सूरा संगहकत्तारो, अणेगगणनायगा ॥ १२ ॥
रेवयस्सरमंता उ, हवंति दुहजीविणो ।
कुचेला य कुवित्ती य, चोरा चंडालमुट्ठिया ॥१३॥
णिसायस्सरमंता उ, होंती कलहकारगा ।
जंघाचरा लेहवाहा, हिंडगा भारवाहगा ॥ १४ ॥

एतेषां सप्ताना स्वराणां प्रत्येकं लक्षणस्य विभिन्नत्वात् सप्त स्वरलक्षणानि—यथास्व फलप्राप्त्यव्यभिचारीणि स्वरतत्त्वानि भवन्ति , तान्येव फलत आह—' सज्जेणे ' त्यादि सप्त श्लोकाः । षड्जेन लभते वृत्तिम् , अयमर्थः—षड्जस्वेदं लक्षण—स्वरूपमस्ति येन तस्मिन् सति वृत्तिजीवन लभते प्राणी , एतच्च मनुष्यापेक्षया लक्ष्यते , वृत्तिलाभादीनां तत्रैव घटनात् , कृतं च न विनश्यति , तस्येति शेषः , निष्फलारम्भो न भवतीत्यर्थः , गावः पुत्राश्च मित्राणि च भवन्तीति शेषः । गान्धारे गीतयुक्तिज्ञा वर्यवृत्तयः—प्रधानजीविकाः कलाभिरधिकाः कवयः काव्यकर्तारः प्राज्ञाः—सद्बोधाः ये चोक्तेभ्यो गीतयुक्तिज्ञादिभ्योऽन्ये—शास्त्रपारगाः चतुर्वेदादिशास्त्रपारगामिनस्ते भवन्तीति । शकुनेन श्येनलक्षणेन चरन्ति पापर्धिं कुर्वन्ति शकुनान् वा घ्नन्तीति शाकुनिकाः, वागुरा-मृगबन्धनं तया चरन्तीति वागुरिकाः , शूकरेण सांनिहितेन शूकरवधार्थं चरन्ति शूकरान् वा घ्नन्तीति शौकरिकाः , मौष्टिका मल्ला इति । पाठान्तराण्यप्युक्तानुसारेण व्याख्येयानि ।

एएसिं णं सत्तण्हं सराणं तओ गामा पण्णत्ता , तं जहा–सज्जगामे मज्झिमगामे गंधारगामे । सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–मग्गी कोरविआ हरिया , रयणी अ सारकंता य । छट्ठी अ सारसी नाम , सुद्धसज्जा य सत्तमा ॥ १५ ॥ मज्झिमगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ,पण्णत्ताओ, तं जहा–उत्तरमंदाररयणी,उत्तरा उत्तरासमा ।समोकंता य सोवीरा, अभिरूपा होइ सत्तमा ॥१६॥ गंधारगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ,तं जहा–नंदी अ खुड्डिमा पूरिमा य.

चउत्थी अ सुद्धगंधारा । उत्तरगंधाराधि अ,सा पंचमिआ हवइ मुच्छा ॥१७॥सुट्ठुत्तरमायामा, सा छट्ठी सव्वओ य णायव्वा । अह उत्तरायया को-डिमा य सा सत्तमी मुच्छा ॥ १८ ॥

एतच्चिरन्तनमुनिगाथाभ्यां व्याख्यायते—" सज्जाइतिहागामो, ससमूहो मुच्छणाण विन्नेओ । ता सत्त एक्कमेक्के. तो सत्तसराण इगवीसा ॥ १ ॥ अन्नन्नसरविसेसे, उप्पायतस्स मुच्छणा भणिया । कत्ता व मुच्छिओ इव, कुणइ मुच्छं व सो व त्ति ॥२॥ कर्ता वा मूर्छित इव ताः करोतीति मूर्च्छना उच्यन्ते, ' मुच्छं वा सो व त्ति ' मूर्च्छामिव वा स कर्त्ता ताः करोतीति मूर्च्छना उच्यन्त इत्यर्थः । मङ्गीप्रभृतीनां चैकविंशतिमूर्च्छनानां स्वरविशेषाः पूर्वगतस्वरप्राभृते भणिताः, इदानीं तु तद्विनिर्गतेभ्यो भरतविशाखिलादिशास्त्रेभ्यो विज्ञेया इति । अनु० । (सप्तस्वरोत्पत्त्यादिव्याख्या ' गीय ' शब्दे तृतीयभागे ६०१ पृष्ठ गता ।)

सत्ततंतु-सप्ततन्तु-पुं० । यज्ञे, " अद्धरा सत्ततंतुणो जन्ना " पाइ० ना० १३५ गाथा ।

सत्तपण्ण-सप्तपर्ण-पुं० । सप्तच्छदे, अनु० । सप्तपर्णपर्याये वृक्षविशेषे, औ० । रा० । प्रज्ञा० ।

सत्तपरिग्गहियत्त-सत्त्वपरिग्रहीतत्व-न० । ओजस्वितारूपसत्यवचनातिशये, रा० ।

सत्तपरिवज्जिय-सप्तपरिवर्जित-त्रि० । सत्त्वरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सत्तभङ्गी-सप्तभङ्गी-स्त्री० । भज्यन्ते—भिद्यन्ते अर्था यैस्ते भङ्गाः सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी । सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासे, रत्ना० ८ परि० । स्या० ।

अनन्तरमनन्तधर्मात्मकत्वं वस्तुनि साध्यं मुकुलितमुक्तम्, तदेव सप्तभङ्गीप्ररूपणद्वारेण प्रपञ्चयन् भगवतो निरतिशयं वचनातिशयं च स्तुवन्नाह—

अपर्ययं वस्तु समस्यमान-मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्ग-मदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ।२३।

समस्यमानं—संक्षेपेणोच्यमानं वस्तु, अपर्ययमविवक्षितपर्यायम्, वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु—धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गल—काल—जीवलक्षणं द्रव्यषट्कम् । अयमभिप्रायः—यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिकं चेतनाऽचेतन सतामपि पर्यायाणामविवक्षया द्रव्यरूपमेव वक्तुमिष्यते; तदा संक्षेपेणाऽभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायनिकायत्वलक्षणेनाभिधीयमानत्वात् अपर्ययमित्युपदिश्यते—केवलद्रव्यरूपमेव इत्यर्थः, यथाऽऽत्माऽयं घटोऽयमित्यादि; पर्यायाणां द्रव्याऽनतिरेकात्, अत एव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसंग्रहादयो द्रव्यमात्रमेवेच्छन्ति, पर्यायाणां तदविष्वग्भूतत्वात् । पर्ययः, पर्यवः, पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । अद्रव्यमित्यादि—चः पुनरर्थे, स च पूर्वस्माद् विशेषद्योतने भिन्नक्रमश्च विविच्यमानं चेति, विवेकेन पृथग्रूपतयोच्यमानं पुनरेतद् वस्तु अद्रव्यमेव—अविवक्षितान्वयिद्रव्यं केवलपर्यायरूपमित्यर्थः । यदा ह्यात्मा ज्ञानदर्शनादीन् पर्यायानधिकृत्य प्रतिपर्याय विचार्यते, तदा पर्याया एव प्रतिभासन्ते, न पुनरात्माख्यं किमपि द्रव्यम् । एवं घटोऽपि कुण्डलौष्ठ—पृथुबुध्नोदरपूर्वापरादिभागाद्यवयवापेक्षया विविच्यमानः पर्याया एव, न पुनर्घटाख्यं तदतिरिक्तं वस्तु । अत एव पर्यायास्तिकनयानुपातिनः पठन्ति—"भागा एव हि भासन्ते, सन्निविष्टास्तथा तथा । तद्वान् नैव पुनः कश्चि-न्निर्भागः संप्रतीयते ॥ १ ॥ " इति । ततश्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यनयार्पणया । पर्यायनयाऽनर्पणया च द्रव्यरूपता, पर्यायनयार्पणया द्रव्यनयाऽनर्पणया च पर्यायरूपता, उभयनयार्पणया च तदुभयरूपता । अत एवाऽऽह वाचकमुख्यः—"अर्पितानर्पितसिद्धेः" इति । एवंविधं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु त्वमेवाऽदीदृशस्त्वमेव दर्शितवान्, नान्य इति काक्वाऽवधारणाऽवगतिः । नन्वन्याभिधानप्रत्यययोग्यं द्रव्यम्, अन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः । तत्कथमेकमेव वस्तूभयात्मकम्? इत्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण परिहरति—आदेशभेदेत्यादि-आदेशभेदेन-सकलादेशविकलादेशलक्षणेन आदेशद्वयेन, उदिताः-प्रतिपादिताः, सप्तसंख्या भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा । ननु यदि भगवता त्रिभुवनबन्धुना निर्विशेषतया सर्वेभ्य एवंविधं वस्तुतत्त्वमुपदर्शितम्, तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीयाः तत्र विप्रतिपद्यन्ते ?, इत्याह—"बुधरूपवेद्यम्" इति—बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वं सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधाः, प्रकृष्टा बुधा बुधरूपा नैसर्गिकाऽऽधिगमिकाऽन्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः, तैरेव वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम् । न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणनिशातबुद्धिभिरप्यन्यैः । तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथावस्थितवस्तुतत्त्वाऽनवबोधेन बुधरूपत्वाभावात् । (स्या० ।) अथ केऽमी सप्तभङ्गाः ?, कश्चायमादेशभेद इति ? । उच्यते-एकत्र जीवादौ वस्तुनि, एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण, पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते । तद्यथा—१ स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः । २-स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः । ३-स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । ४—स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः । ५-स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः । ६-स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः । ७-स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः । तत्र—स्यात्कथंचित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणाऽस्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण, तथाहि—कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनाऽस्ति; नाऽऽप्यादिरूपत्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन; न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरत्वेव; न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामत्वेन; न रक्तादित्वेन । अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति । अवधारणं चात्र भङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्य-

र्थमुपात्तम्, इतरथा अनभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत; प्रतिनियतस्वार्थाऽनभिधानात्। यदुक्तम्—"वाक्येऽवधारणं ताव—दनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्त्तव्यमन्यथाऽनुक्त—समत्वात् तस्य कुत्रचित् ॥ १ ॥" तथाऽप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनाऽपि सर्वप्रकारेणाऽस्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात्। तत्प्रतिपत्तये 'स्याद्' इति शब्दः प्रयुज्यते। स्यात्कथंचित् स्वद्रव्यादिभिरेवाऽयमस्ति, न परद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः। यत्राऽपि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव। यदुक्तम्—"सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः, सर्वत्राऽर्थात्प्रतीयते। यथैवकारोऽयोगादि-व्यवच्छेदप्रयोजनः ॥१॥" इति प्रथमो भङ्गः। स्यात्कथंचिद् नास्त्येव कुम्भादिः, स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वाऽनिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाऽभावाद् वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात्। न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमिति वक्तव्यम्, कथंचित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्, साधनवत्। न हि क्वचिद् अनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्याऽस्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधनत्वाऽभावप्रसङ्गात्। तस्मात् वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वेनाऽविनाभूतम्, नास्तित्वं च तेनेति। विवक्षावशाच्चाऽनयोः प्रधानोपसर्जनभावः। एवमुत्तरभङ्गेष्वपि ज्ञेयम्—"अर्पिताऽनर्पितसिद्धेः" इति वाचकवचनात्। इति द्वितीयः। तृतीयः स्पष्ट एव। द्वाभ्यामस्तित्व-नास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयाऽर्पिताभ्याम्, एकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्याऽसम्भवाद्, अवक्तव्यं जीवादिवस्तु, तथाहि—सदसत्त्वगुणद्वयं युगपद् एकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यम्। तस्याऽसत्त्वप्रतिपादनाऽसमर्थत्वात्, तथाऽसदित्यनेनाऽपि तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याऽभावात्। न च पुष्पदन्तादिवत् साङ्केतिकमेकं पदं तद् वक्तुं समर्थम्, तस्याऽपि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः, शतृशानयोः संकेतितसच्छब्दवत्, अत एव द्वन्द्वकर्मधारयवृत्त्योर्वाक्यस्य च न तद्वाचकत्वम्, इति सकलवाचकरहितत्वाद् अवक्तव्यं वस्तु युगपत्सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते। न च सर्वथाऽवक्तव्यम्, अवक्तव्यशब्देनाऽप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात्। इति चतुर्थः। शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः। न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानाऽनन्तधर्माभ्युपगमेनाऽनन्तभङ्गीप्रसङ्गाद् असङ्गतैव सप्तभङ्गीति, विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सम्भवात्। यथा हि सदसत्त्वाभ्याम्, एवं सामान्यविशेषाभ्यामपि सप्तभङ्ग्येव स्यात्। तथाहि—स्यात्सामान्यम्, स्याद् विशेषः, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम्, स्यात्सामान्यावक्तव्यम्, स्याद् विशेषाऽवक्तव्यम्, स्यात्सामान्यविशेषाऽवक्तव्यमिति। न चात्र विधि-निषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यम्, सामान्यस्य विधिरूपत्वाद्, विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात्। अथवा-प्रतिपक्षशब्दत्वाद् यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता। यदा विशेषस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता। एवं सर्वत्र योज्यम्। अतः सुष्ठूक्तमनन्ता अपि सप्तभङ्ग्य एव भवेयुरिति प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवाद्, तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात्, तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्संदेहसमुत्पादात्, तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति। स्या०।

अथ सप्तभङ्गीमेव स्वरूपतो निरूपयन्ति—

एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ॥ १४ ॥

एकत्र जीवादौ वस्तुन्येकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशादविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गी विज्ञेया। भज्यन्ते—भिद्यन्तेऽर्था यैस्ते भङ्गा वचनप्रकारास्ततः सप्त भङ्गाः समाहृताः सप्तभङ्गीति कथ्यते। नानावस्त्वाश्रयविधिनिषेधकल्पनया शतभङ्गीप्रसङ्गनिवर्त्तनार्थमेकत्र वस्तुनीत्युपन्यस्तम्। एकत्रापि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मपर्यालोचनयाऽनन्तभङ्गीप्रसक्तिव्यावर्त्तनार्थमेकैकधर्मपर्यनुयोगवशादित्युपात्तम्। अनन्तेष्वपि हि धर्मेषु प्रतिधर्मं पर्यनुयोगस्य सप्तधैव प्रवर्त्तमानत्वात्। तत्प्रतिवचनस्यापि सप्तविधत्वमेवोपपन्नमित्येकैकस्मिन् धर्मे एकैकैव सप्तभङ्गी साधीयसी। एवं चानन्तधर्मापेक्षया सप्तभङ्गीनामानन्त्यं यदायाति, तदभिमतमेव। एतच्चाग्रे सूत्रत एव निर्णेष्यते। प्रत्यक्षादिविरुद्धसदाद्येकान्तविधिप्रतिषेधकल्पनयाऽपि प्रवृत्तस्य वचनप्रयोगस्य सप्तभङ्गीत्वानुषङ्गभङ्गार्थमविरोधेनेत्यभिहितम्। अवोचाम च—

" या प्रश्नाद्विधिपर्युदासभिदया बाधच्युता सप्तधा,
धर्मं धर्ममपेक्ष्य वाक्यरचनाऽनेकात्मके वस्तुनि।
निर्दोषा निरदेशि देव! भवता सा सप्तभङ्गी यया,
जल्पन् जल्परणाङ्गणे विजयते वादी विपक्षं क्षणात् ॥१॥ "

इदं च सप्तभङ्गीलक्षणं प्रमाणनयसप्तभङ्ग्योः साधारणमवधारणीयम्। विशेषलक्षणं पुनरनयोरग्रे वक्ष्यते।

अथास्याः प्रथमभङ्गोल्लेखं तावद्दर्शयन्ति—

तद्यथा-स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिविकल्पनया प्रथमो भङ्गः ॥ १५ ॥

स्यादित्यव्ययमनेकान्तवद्द्योतकं स्यात्कथञ्चित्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण। तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनाऽस्ति, न जलादिरूपत्वेन; क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन; कालतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन; भावतः श्यामत्वेन, न रक्तत्वादिना। अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति। अवधारणं चात्र भङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम्। इतरथाऽनभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत, प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात्। तदुक्तम्—" वाक्येऽवधारणं ताव—दनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्त्तव्यमन्यथाऽनुक्त—समत्वात् तस्य कुत्रचित् " ॥ १ ॥ तथाऽप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुप-

पत्तिः स्यात्, तत्प्रतिपत्तये स्यादिति प्रयुज्यते, स्यात्कथञ्चित्स्वद्रव्यादिभिरेवायमस्ति, न परद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः। यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव। यदुक्तम्-" सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः, सर्वत्रार्थात्प्रतीयते। यथैवकारो योगादि-व्यवच्छेदप्रयोजनः॥ १॥"

अथ द्वितीयभङ्गोल्लेखं ख्यापयन्ति-

स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः॥१६॥

स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधः। न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमित्यभिधानीयम् कथञ्चित्तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्साधनवत्। न हि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधनाभासत्वप्रसङ्गात्। अथ यदेव नियतं साध्यसद्भावेऽस्तित्वं तदेव साध्याभावे साधनस्य नास्तित्वमभिधीयते, तत्कथं प्रतिषेध्यम्ः, स्वरूपस्य प्रतिषेधत्वानुपपत्तेः,साध्यसद्भावे नास्तित्वं तु यत्तत्प्रतिषेध्यम्, तेना विना भावित्वे साध्यसद्भावास्तित्वस्य व्याघातात्तेनैव स्वरूपेणास्ति नास्ति चेति प्रतीत्यभावादिति चेत्। तदसत् एवं हेतोस्त्रिरूपत्वविरोधात्। विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावात्। यदि चायं भावाभावयोरेकत्वमाचक्षीत, तदा सर्वथा न कश्चित्प्रवर्त्तेत। नापि कुतश्चिन्निवर्त्तेत। प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयस्य भावस्याभावपरिहारेणासंभवात्, अभावस्य च भावपरिहारेणेति वस्तुनोऽस्तित्वनास्तित्वयो रूपान्तरत्वमेष्टव्यम्। तथा चास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि सिद्धम्। यथा च प्रतिषेध्यमस्तित्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः क्रमार्पितोभयत्वादिधर्मपञ्चकमपि वक्ष्यमाणं लक्षणीयम्।

अथ तृतीयं भङ्गमुल्लेखतो व्यक्तीकुर्वन्ति—

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः॥ १७॥

सर्वमिति पूर्वसूत्रादिहोत्तरत्र चानुवर्त्तनीयम्। ततोऽयमर्थः। क्रमार्पितस्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया क्रमार्पिताभ्यामस्तित्वनास्तित्वाभ्यां विशेषितं सर्वं कुम्भादि वस्तु स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्युल्लेखेन वक्तव्यमिति।

इदानीं चतुर्थभङ्गोल्लेखमाविर्भावयन्ति-

स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः॥१८

द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वाख्यधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयार्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्यासम्भवादवक्तव्यं जीवादि वस्त्विति। तथाहि—सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यभिधानेन वक्तुमशक्यम्। तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात्, तथैवासदित्यभिधानेन न तद्वक्तुं शक्यम्। तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात्। साङ्केतिकमेकं पदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यम्। तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः, शतृशानचौ सदिति शतृशानचो. सङ्केतितसच्छब्दवत्। द्वन्द्ववृत्तिपदं तयो. सकृदभिधायकमित्यप्यनेनापास्तम्। सदसत्त्वे इत्यादि पदस्य क्रमेण धर्मद्वयप्रत्यायने समर्थत्वात्। कर्मधारयादिवृत्तिपदमपि न तयोरभिधायकं तत एव वाक्यं तयोरभिधायकमनेनैवापस्तमिति सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपत् सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते। अथ च भङ्गः कैश्चित्तृतीयभङ्गस्थाने पठ्यते, तृतीयश्चैतस्य स्थाने। न चैवमपि कश्चिद्दोषः, अर्थविशेषस्याभावात्।

अथ पञ्चमभङ्गोल्लेखमुपदर्शयन्ति—

स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः॥ १९॥

स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वाभ्या सह वक्तुमशक्यम् सर्वं वस्तु। ततः स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेत्येव पञ्चमभङ्गेनोपदर्श्यत इति।

अथ षष्ठभङ्गोल्लेखं प्रकटयन्ति—

स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः॥ २०॥

परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वाभ्या यौगपद्येन प्रतिपादयितुमशक्यं समस्तं वस्तु। ततः स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेत्येवं षष्ठभङ्गेन प्रकाश्यते।

सम्प्रति सप्तमभङ्गमुल्लिखन्ति—

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति॥ २१॥

इतिशब्दः सप्तभङ्गीसमाप्त्यर्थः। स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वयो. सतोरस्तित्वनास्तित्वाभ्या समसमयमभिधातुमशक्यमखिलं वस्तु तत एवमनेन भङ्गेनोपदर्श्यते।

अथास्यामेव सप्तभङ्ग्यामेकान्तविकल्पाधिराचिकीर्षवः सूत्राण्याहुः—

विधिप्रधान एव ध्वनिरिति न साधु॥ २२॥

प्राधान्येन विधिमेव शब्दोऽभिधत्ते इति न युक्तम्।

अत्र हेतुमाहुः—

निषेधस्य तस्मादप्रतिपत्तिप्रसक्तेः॥ २३॥

'तस्मादिति'-शब्दात्।

आशङ्कान्तरं निरस्यन्ति—

अप्राधान्येनैव ध्वनिस्तमभिधत्ते इत्यप्यसारम्॥ २४॥

तमिति निषेधम्।

अत्र हेतुमाचक्षते-

क्वचित्कदाचित्कथञ्चित्प्राधान्येनाप्रतिपन्नस्य तस्याप्राधान्यानुपपत्तेः॥ २५॥

न खलु मुख्यत. स्वरूपेणाप्रतिपन्नं वस्तु क्वचिदप्रधानभावमनुभवतीति।

इत्थं प्रथमभङ्गैकान्तं निरस्येदानीं द्वितीयभङ्गैकान्तनिरासमतिदिशन्ति—

निषेधप्रधान एवशब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायादपास्तम्॥२६॥

व्यक्तम् ।

अथ तृतीयभङ्गैकान्तं पराकुर्वन्ति—

क्रमादुभयप्रधान एवायमित्यपि न साधीयः ॥ २७ ॥

'अयमिति'—शब्दः ।

एतदुपपादयन्ति—

अस्य विधिनिषेधान्यतरप्रधानत्वानुभवस्याप्यबाध्यमानत्वात् ॥ २८ ॥

प्रथमद्वितीयभङ्गतैकैकप्रधानत्वप्रतीतेरप्यबाधितत्वान्न तृतीयभङ्गैकान्ताभ्युपगमः श्रेयान् ।

अथ चतुर्थभङ्गैकान्तपराभवाय प्राहु:—

युगपद्विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्यावाचक एवासाविति च न चतुरस्रम् ॥ २९ ॥

स्यादवक्तव्यमेवेति चतुर्थभङ्गैकान्तो न श्रेयानित्यर्थः ।

कुत इत्याहु —

तस्यावक्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ३० ॥

अथ पञ्चमभङ्गैकान्तमपास्यन्ति—

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एव स इत्येकान्तोऽपि न कान्तः ॥ ३१ ॥

अत्र निमित्तमाहु—

निषेधात्मनः सह द्वयात्मनश्चार्थस्य वाचकत्वाऽवाचकत्वाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ॥ ३२ ॥

निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचकत्वेन सह, विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्यावाचकत्वेन च शब्द षष्ठभङ्गे प्रतीयते यतः, ततः पञ्चमभङ्गैकान्तोऽपि न श्रेयान् ।

षष्ठभङ्गैकान्तमपाकुर्वन्ति—

निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एवायमित्यप्यवधारणं न रमणीयम् ॥ ३३ ॥

अत्र हेतुमुपदर्शयन्ति—

इतरथाऽपि संवेदनात् ॥ ३४ ॥

आद्यभङ्गादिषु विध्यादिप्रधानतयाऽपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वादित्यर्थ ।

अथ सप्तमभङ्गैकान्तमपाकुर्वन्ति—

क्रमाऽक्रमाभ्यामुभयस्वभावस्य भावस्य वाचकश्चाऽवाचकश्च ध्वनिर्नाऽन्यथेत्यऽपि मिथ्या ॥ ३५ ॥

अत्र बीजमाख्यान्ति—

विधिमात्रादिप्रधानतयाऽपि तस्य प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

नन्वेकस्मिन् जीवादौ वस्तुन्यनन्तानां विधीयमाननिषिध्यमानाना धर्माणामङ्गीकरणादनन्ता एव वचनमार्गाः स्याद्वादिना भवेयु , वाच्येयत्ताऽऽयत्तत्वाद् वाचकेयत्तायाः, ततो विरुद्धैव सप्तभङ्गीति ब्रुवाणं निरस्यन्ति—

एकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतैव सप्तभङ्गीति न चेतसि निधेयम् ॥ ३७ ॥

अत्र हेतुमाहुः—

विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव संभवात् ॥ ३८ ॥

एकैकं पर्यायमाश्रित्य वस्तुनि विधिनिषेधविकल्पाभ्यां व्यस्तसमस्ताभ्यां सप्तैव भङ्गा सम्भवन्ति, न पुनरनन्ताः । तत्कथमनन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतत्वं सप्तभङ्गयाः समुद्भाव्यते ?

कुतः सप्तैव भङ्गाः सम्भवन्तीत्याहुः—

प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात् ॥ ३९ ॥

एतदपि कुत इत्याहुः—

तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् ॥ ४० ॥

अथ सप्तविधतज्जिज्ञासानियमे निमित्तमाहु—

तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात् ॥४१

तस्या अपीति प्रतिपाद्यजिज्ञासायाः । तत्सन्देहसमुत्पादादिति प्रतिपाद्यसंशयसमुत्पत्तेः ।

सन्देहस्यापि सप्तधात्वे कारणमाहुः—

तस्याऽपि सप्तप्रकारत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः ॥ ४२ ॥

तस्य—प्रतिपाद्यगतसन्देहस्य स्वगोचरवस्तुधर्माणां सन्देहविषयीकृतानामस्तित्वादिवस्तुपर्यायाणाम् ।

इय सप्तभङ्गी किं सकलादेशस्वरूपा, विकलादेशस्वरूपा वेत्यारेका पराकुर्वन्ति—

इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ॥ ४३ ॥

एकैको भङ्गोऽस्या संबन्धी सकलादेशस्वभावः, विकलादेशस्वभावश्चेत्यर्थ. ।

अथ सकलादेशं लक्षयन्ति—

प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः ॥ ४४ ॥

कालादिभिरष्टाभि कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्यं तस्मात्, कालादिभिर्भिन्नात्मनामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद्वा समकालमभिधायक वाक्यं सकलादेशः प्रमाणवाक्यमित्यर्थ । अयमर्थः—यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या, अभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद्, भेदप्राधान्याद्वा तदभिधत्ते, तस्य नयायत्तत्वात् । कः पुनः क्रमः ?, किं वा यौगपद्यम् ? । यदाऽस्तित्वादिधर्माणा कालादिभिर्भेदविवक्षा, तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः, यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते, तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम् । केपुन कालादयः ? । काल, आत्मरूपम्, अर्थः, सम्बन्धः, उपकार', गुणिदेश., संसर्ग, शब्द', इत्यष्टौ । तत्र स्या-

जीवादि वस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः १। यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपम्, तदेव चान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः २। य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य, स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः ३। य एव चाविष्वग्भावः कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य, स एवाशेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः ४। य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणम्, स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः ५। य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य, स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः ६। य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः, स एवाशेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः। ननु प्रागुक्तसम्बन्धादस्य कः प्रतिविशेषः?। उच्यते—अभेदप्राधान्येन भेदगुणभावेन च प्रागुक्तः संबन्धः भेदप्राधान्येनाभेदगुणभावेन चैष संसर्ग इति ७। य एवास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः, स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः ८। पर्यायार्थिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति, समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसङ्गात् १। नानागुणानां संबन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, आत्मरूपाभेदे तेषां भेदस्य विरोधात् २। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात् अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात् ३। सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात् ४। तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात् ५। गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् ६। संसर्गस्य च प्रतिससर्गिभेदात्, तदभेदे ससर्गिभेदविरोधात् ७। शब्दस्य च प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यताऽऽपत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेः ८। तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसम्भवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते, तदेताभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्याय इति स्थितम्। "कालात्मरूपसम्बन्धाः, संसर्गोपक्रिये तथा। गुणिदेशार्थशब्दाश्च—त्यष्टौ कालादयः स्मृताः॥ १॥"

अधुना नयवाक्यस्वभावत्वेन नयविचारावसरलक्षणीयस्वरूपमपि विकलादेशं सकलादेशस्वरूपनिरूपणप्रसङ्गेनात्रैव लक्षयन्ति-

तद्विपरीतस्तु विकलाऽऽदेशः॥ ४५॥

नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद्वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यम्, स विकलाऽऽदेशः। एतदुदाहरणस्तु नयस्वरूपानभिज्ञश्रोतॄणां दुरवगाह इति न यविचारावसर एव प्रदर्शयिष्यते।

प्रमाणं निर्णीयाथ यतः कारणात् प्रतिनियतमर्थमेतद् व्यवस्थापयति तत्कथयन्ति—

तद् द्विभेदमपि प्रमाणमात्मीयप्रतिबन्धकापगमविशेषस्वरूपसामर्थ्यतः प्रतिनियतमर्थमवद्योतयति ॥४६॥

प्रत्यक्षपरोक्षरूपतया द्विप्रकारमपि प्रागुपवर्णितस्वरूपं प्रमाणं स्वकीयज्ञानावरणाद्यदृष्टविशेषक्षयक्षयोपशमलक्षणं योग्यतावशात्प्रतिनियतं नीलादिकमर्थं व्यवस्थापयति।

यतद्व्यवच्छेद्यमाचक्षते—

न तदुत्पत्तितदाकारताभ्याम्, तयोः पार्थक्येन सामस्त्येन च व्यभिचारोपलम्भात्॥ ४७॥

तथाहि—ज्ञानस्य तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां व्यस्ताभ्यां समस्ताभ्यां वा प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं स्यात्। यदि प्राच्यः पक्षः, तदा कपालक्षणः कलशान्त्यक्षणस्य व्यवस्थापकः स्यात्, तदुत्पत्तेः केवलायाः सद्भावात्। स्तम्भः स्तम्भान्तरस्य च व्यवस्थापकः स्यात्, तदाकारतायास्तदुत्पत्तिरहितायाः सम्भवात्। अथ द्वितीयः, तदा कलशस्योत्तरक्षणः पूर्वक्षणस्य व्यवस्थापको भवेत्, समुदितयोस्तदुत्पत्तितदाकारतयोर्विद्यमानत्वात्। अथ विद्यमानयोरप्यनयोर्ज्ञानमेवार्थस्य व्यवस्थापकम्, नार्थः, तस्य जडत्वादिति मतम्। तदपि न न्यायानुगतम्, समानार्थसमनन्तरप्रत्ययोत्पन्नज्ञानैर्व्यभिचारात्। तानि हि यथोक्तार्थव्यवस्थापकत्वलक्षणस्य समग्रस्य सद्भावेऽपि प्राच्य जनकज्ञानक्षणं न गृह्णन्ति। अपि च-किमिदमर्थाकारत्वं वेदनानां? यद्वशात्प्रतिनियतार्थपरिच्छेदः स्यात्। किमर्थाकारोल्लिखित्वम्, अर्थाकारधारित्वं वा। प्रथमप्रकारे, अर्थाकारोल्लेखोऽर्थाकारपरिच्छेद एव, ततश्च ज्ञान प्रतिनियतार्थपरिच्छेदात्प्रतिनियतमर्थमवद्योतयतीति साध्याविशिष्टत्वं स्पष्टमुपढौकते। द्वितीयप्रकारे पुनरर्थाकारधारित्वं ज्ञानस्य सर्वात्मना, देशेन वा। प्रथमपक्षे, जडत्वादर्थस्य ज्ञानमपि जडं भवेत्, उत्तरार्थक्षणवत्। प्रमाणरूपत्वाभावश्चोत्तरार्थक्षणवदेवास्य प्रसज्येत, सर्वात्मना प्रमेयरूपताऽनुकरणात्। अथ देशेन नीलत्वादिनाऽर्थाकारधारित्वमिष्यते ज्ञानस्य, तर्हि तेनाजडाकारेण जडताप्रतिपत्तेरसम्भवात् कथं तद्विशिष्टत्वमर्थस्य प्रतीयेत?। न हि रूपज्ञानेनाप्रतिपन्नरसेन तद्विशिष्टता सहकारफलादौ प्रतीयते। किं च देशेनार्थाकारधारित्वान्नीलार्थवन्निःशेषार्थानामपि ज्ञानेन ग्रहणापत्तिः, सत्त्वादिमात्रेण तस्य सर्वत्रार्थाकारधारित्वाविशेषात्। अथ तदविशेषेऽपि नीलाद्याकारवैलक्षण्यान्निखिलार्थानामग्रहणम्, तर्हि समानाकाराणां समस्तानां ग्रहणप्राप्तिः। अथ यत एव ज्ञानमुत्पद्यते, तस्यैवाकारानुकरणद्वारेण ग्राहकम्, हन्त! एवमपि समानार्थसमनन्तरप्रत्ययस्य तद् ग्राहकं स्यादित्युक्तम्। ततो न तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थावभासः, किं तु-प्रतिबन्धकापगमविशेषादिति सिद्धम्। रत्ना० ४ परि०। स्या०। द्र-श०। (अत्रत्या वक्तव्यता 'अणेगंतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४३१ पृष्ठे गता।)

सत्तभामा-सत्यभामा-स्त्री०। स्वनामख्यातायां कृष्णाग्रम-

हिण्याम्, अन्त०। (सा चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वा सिद्धेति अन्तकृद्दशाया. पञ्चमे वर्गे सप्तमे अध्ययने सूचितम्।)

सत्तभावणा-सत्त्वभावना-स्त्री०। सत्त्वविषयायामसंक्लिष्टभावनायाम्, व्य० १ उ०। वृ०।

अथ सत्त्वभावनामाह—

जे वि य पुव्विं निसि नि-ग्गमेसु विसहिंसु साहसभयाइं।
अहितकरगोवाई, विसिंसु घोरे य संगामे ॥ ५०३ ॥

येऽपि च राजव्रजिनादयः पूर्वं गृहवासे निशि-रात्रौ वीरचर्यादिना निर्गमेषु साध्वसम्-अहेतुकभयरूप, भयं-सहेतुकं ते अहितस्करगोपादिसंबन्धिनी व्यपहन्-विषोढवन्त', घोरे च संग्रामे सात्विकतया 'विसिंसु' त्ति-प्राविशन्, तेऽपि जिनकल्पप्रतिपित्सवः सत्त्वभावनामवश्य भावयन्ति।

कथमिति चेत्? उच्यते—

पासुत्ताण तुयट्टं, सोयव्वं जं च तीसु जामेसु।
थोवं थोवं जिणइ उ, भयं च जं संभवइ तत्थ ॥५०४॥

यत् स्थविरकल्पिकाना पार्श्वेत उत्तानकं वा त्वग्वर्त्तनं यच्च कारणे त्रिषु यमिषु-प्रहरेषु स्वप्तव्यं-शयन कारणभावे तु यत्तृतीयप्रहरे स्वप्तव्यं तत्सर्वमपि स्तोकं स्तोकं जयति, शनैः शनैरित्यर्थः। भयं च मूषिकादिजनितं यच्चत्रोपाश्रयादिषु संभवति तत्तच्च जयति। अत्र च सत्त्वभावनाया पञ्च प्रतिमा भवन्ति।

ता एवाऽऽह—

पढमा उवस्सयम्मी, बिइया बाहिं तइया चउक्कम्मि।
सुन्नघरम्मि चउत्थी, तह पंचमिया मसाणम्मि ॥५०५॥

प्रथमा प्रतिमा उपाश्रये, द्वितीया उपाश्रयाद्बहिः, तृतीया चतुष्के-चत्वरे, चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमी श्मशाने।

तत्र प्रथमां तावदाह—

भोगजढे गंभीरे, उव्वरए कोट्ठए अलिन्दे वा।
तणुसाइ जागरो वा, झाणट्ठाए भयं जिणइ ॥ ५०६ ॥

भोगजढे-अपरिभोग्ये गम्भीरे-सान्धकारे उपाश्रयसत्केऽपवरके वा कोष्ठके वा अलिन्दके वा तनुशायी-स्तोकनिद्रावान् जागरित्वा निद्रामकुर्वन् ध्यानार्थं शुभाध्यवसायस्थैर्यहेतोः प्रसुप्तेषु शेषसाधुषु कायोत्सर्गस्थितो भयं जयति।

कथमित्याह—

छिक्कस्स व खइयस्स व, मूसिगमाईहिं वा निसिचरेहिं।
जइ जह सा न वि जायइ, रोमंचुब्भेय चाडो वा ॥५०७॥

स्पृष्टस्य वा खादितस्य वा मूषकैरादिग्रहणान्मार्जारादिभिनिशाचरैः-रात्रिपरिभ्रमणशीलैः, यथा सहसा नापि जायते रोमाञ्चोद्भेद:-भयोद्रेकजनितो रोमोद्भेदः 'चाडो वा' पलायन तथा सत्त्वभावनयाऽऽत्मा भावयितव्य.। उक्ता प्रथमा प्रतिमा।

अथ द्वितीयादिकाश्चतस्रोऽप्यतिदिशन्नाह—

सविसेसतरा बाहिं, तकरआरक्खिसावयाईया।
सुन्नघरमुसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा ॥५०८॥

यान्युपाश्रयप्रतिमाया भयान्युक्तानि तान्युपाश्रयाद्बहिः प्रतिमाया सविशेषतराणि तस्करारक्षिकश्वापदादिभयसहितानि मन्तव्यानि। शून्यगृहश्मशानयोश्चशब्दात्—चतुष्के च सविशेषतराणि त्रिविधानि दिव्यमानुषतैरश्चोपसर्गरूपाणि भयानि भवन्ति तान्यपि सम्यग् जयतीति प्रक्रम.।

अस्या एव भावनाया फलमाह—

देवेहिं भेसिओ वि, दिया व रातो व भीमरूवेहिं।
ता सत्तभावणाए, वहइ भरं निब्भओ सयलं ॥५०९॥

तत एवं सत्त्वभावनया स्वभ्यस्तया दिवा रात्रौ वा भीमरूपै. देवैर्भेषितोऽपि भरं-जिनकल्पभार सकलमपि निर्भय. सन् वहतीति। गता सत्त्वभावना। वृ०१ उ०२ प्रक०। आ० म०। ध०।

सत्तभूमिय-सप्तभूमिक-पुं०। सप्तमालखण्डे प्रासादे, उत्त० १३ अ०।

सत्तम-सप्तम-त्रि०। सप्तसंख्यापूरणे, उपा० १ अ०।

सत्तमट्ठाण-सप्तमस्थान-न०। स्थानाङ्गस्य सप्तमेऽध्ययने, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

सत्तमपव्व-सप्तमपर्वन्-न०। भाद्रकृष्णपक्षे, स्था०६ ठा०३ उ०। (वर्णनमस्य'पव्व' शब्दे पञ्चमभागे ७६८ पृष्ठे उपपादितम्।)

सत्तमा-सप्तमा-स्त्री०। सप्तम्यां नरकपृथिव्याम्, जी० ३ प्रति० १ उ०।

सत्तमासिया-सप्तमासिकी-स्त्री०। सप्तमासान् यावत्सप्तावृत्तिप्रमाणभिक्षाके साधुप्रतिज्ञाविशेषे,आ० चू०४ अ०। औ०।

सत्तमी-सप्तमी-स्त्री०। सप्तसंख्यापूरके अहोरात्रे, ज्यो० ४ पाहु०। आ० म०। ङि-ओस् सुप् (सु) रूपायां विभक्तौ, "सन्निहाणे य सत्तमी" अनु०। सप्तसंख्यापूरके स्त्रीलिङ्गेऽर्थे, द० प०। स्था०।

सत्तरस-सप्तदशन्-त्रि०। सप्ताधिकेषु दशसु,प्रज्ञा०१५ पद।

सत्तरसम-सप्तदश-त्रि०। सप्तदशसंख्यापूरके, चं० प्र० ८ पाहु०।

सत्तरसाह-सप्तरसाह-पुं०। स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि,यानि निधानानि प्राप्य कल्किनृप. सर्वो सामग्रीमुत्पाद्य महाराजो भविष्यति। ती० २० कल्प।

सत्तरह-सप्तरथ-पुं०। जम्बूद्वीपे भारते वर्षे भाविष्यति दशमे तीर्थकरे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सत्तरि-सप्तति-स्त्री०। "सप्ततौ रः" ॥ ८। १। २१०॥ अनेनात्र तकारस्य रेफादेश। सत्तरि। दशाङ्गुत्तायां सप्तसंख्यायाम्, प्रा०। आव०।

सत्तरिसत्थ-सप्ततिकाशास्त्र-न०। षष्ठे कर्मग्रन्थे, कर्म०।

"अशेषकर्माशनम समूह-क्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजा।
प्रकाशिताशेषजगत्स्वरूप,प्रभु स जीयाज्जिनवर्द्धमानः॥१॥
जीयाज्जिनेशसिद्धान्तो, मुक्तिकामप्रदीपन।
कुश्रुत्यातपतप्तानां, सान्द्रो मलयमारुतः॥ २॥
चूर्णयो नावगम्यन्ते, सप्ततेर्मन्दबुद्धिभि.।
तत तस्याववोधार्थं, तस्याष्टीका करोम्यहम्॥ ३॥
अहर्निशं चूर्णिविचारयोगात्,
मन्दोऽपि शक्तो विवृतिं विधातुम्।

निरन्तरं कुम्भनिक (घ) र्षयोगात्,
ग्रावाऽपि कूपे समुपैति घर्षिम् ॥ ४ ॥"

इह यत् शास्त्रं प्रकरणं वा सर्वविन्मूलं तत् प्रेक्षावतामुपादेयं भवति, नान्यत्, ततः सप्ततिकाख्यं प्रकरणमारभमाण आचार्यः प्रेक्षावता प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य सर्वविन्मूलताम्, तथा सर्वविन्मूलत्वेऽपि न प्रेक्षापूर्वकारिणोऽभिधेयादिपरिज्ञानमन्तरेण यथाकथंचित्प्रवर्त्तन्ते प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात्। कर्म० ६ कर्म०।

संप्रत्याचार्योऽनुद्धतत्वेनात्मनोऽल्पागमत्वं ख्यापयन् शेषबहुश्रुताना च बहुमान प्रकटयन्—प्रकरणपरिपूर्णताविधिविषयं तेषां प्रार्थना विदधान आह—

जो जत्थ अपडिपुन्नो, अत्थो अप्पागमेण बद्धो वि।
तं खमिऊण बहुसुया, पूरेऊणं परिकहंतु ॥ ७५ ॥

अत्र सप्ततिकाख्ये प्रकरणे यत्र बन्धे उदये सत्तायां वा योऽर्थोऽपरिपूर्णः खण्डोऽल्पागमेनाल्पश्रुतेन मया बद्धो निबद्धः, इतिशब्द समाप्तिवचनः, स च गाथापर्यन्ते वेदितव्यः, तमपरिपूर्णमर्थं तत्र बन्धादौ ममाऽपरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं क्षमित्वा बहुश्रुता दृष्टिवादज्ञाः पूरयित्वा तत्तदर्थप्रतिपादिका गाथां प्रक्षिप्य शिष्यजनेभ्यः परिकथयन्तु-सामस्त्येन प्रतिपादयन्तु। बहुश्रुता हि परिपूर्णज्ञानसंभारसपत्समन्विततया परोपकारकरणैकरसिकमानसा भवन्ति, ततो मम शिष्याणा च परमोपकारमाधित्सवस्तेऽवश्यं ममाऽस्फुटापरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं विषह्य परिपूर्णमर्थं पूरयित्वा शिष्येभ्यः कथयन्तु—

"निरुपममनन्तमनघं, शिवपदमधिरूढमपगतकलङ्कम्।
दर्शितशिवपुरमार्गं, वीरजिनं नमत परमशिवम् ॥ १ ॥
यस्योपान्तेऽपि संप्राप्ते, प्राप्यन्ते सपदोऽनघाः।
नमस्तस्मै जिनेशश्री-वीरसिद्धान्तसिन्धवे ॥ २ ॥
यैरेषा विषमार्था, सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक्।
अनुपकृतपरोपकृत-चूर्णिकृतस्तान्नमस्कुर्वे ॥ ३ ॥
प्रकरणमेतद्विषमं, सप्ततिकाख्यं विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ४ ॥
अर्हन्तो मङ्गलं सिद्धा,—मङ्गलं संयतानहम्।
अशिश्रियं जिनाख्यातं, धर्म्मं परममङ्गलम् ॥ ५ ॥"

कर्म० ६ कर्म०। प्रश्न०। स०।

सत्तरिसभ-सप्तर्षभ-पुं०। एकविंशतितमेऽहोरात्रमुहूर्त्ते, स० ३० सम०।

सत्तवइय-साप्तपदिक-पुं०। सप्तभिः पदैर्व्यवहरतीति साप्तपदिकः। तथाविधे व्यवहारिणि, आ० म० १ अ०। "(सत्तवइए त्ति—(१३९ गाथा) अस्य व्याख्या-सप्तभिः पदैर्व्यवहरतीति साप्तपदिकः—सत्तपदिगो एगम्मि पच्चंतगामे एगो ओलग्गयमणूसो, साधुमाहणादीणं न सुणेति, ण वा अल्लीणति, ण वा सेज्जं देति, मा मम धम्मं कहेहिन्ति, ताहे मा सद्धओ होहामि त्ति। अण्णया कया त गामं साहुणो आगता, पडिस्सयं मग्गंति, ताहे गोट्ठिलएहिं एसो न देति त्ति,सो चि एतेहिं पवञ्चिओ होउ त्ति तस्स घरं चिंधिअं,जहा एरिसो तारिसो सावगो त्ति तस्स घरं जाइ। तं गता पुच्छंता दिट्ठो जाव ण चेव आढाति। तत्थेक्केण साहुणा भणिअं-जदि वा ण चेव सो एसो, अहवा-पवंचितामो त्ति, त सोऊण पुच्छिता तेण, कथितं जहा अम्ह कथितं एरिसो तारिसो सावगो त्ति। सो भणति-अहो अकज्जं, मम ताव पवचतु। ता किं साधुणो पवञ्चितेन्ति, ताहे मा सारता तेसिं होउ त्ति भणति-देमि पडिस्सयं एक्काए ववत्थाए, जदि मम धम्मं ण कहेह, साहूहिं कहियं-एवं होउ त्ति। दिण्ण घरं, वरिसारत्ते वित्ते आपुच्छंतेहिं धम्मो कहिओ। तत्थ ण किंचि तरइ घेत्तुं मूलगुणउत्तरगुणाणं मधुमज्जमसविरतिं वा। पच्छा सत्तपदिवयं दिण्णं-मारेउकामेणं जावइएणं कालेणं सत्त पदा ओसक्किज्जंति एवइअं काल पडिक्खित्तु मारेयव्वं। संबुज्झिस्संति त्ति काउं, गता। अण्णया चोरो(रओ) गतो, अवसउणेणं णिअत्तो, रत्तिं सणिअं घरं एति। तद्दिवसं च तस्स भगिणी आगएल्लिआ, सा पुरिसणेवत्थिआ भाउज्जायाए समं गोज्झपेक्खिया गया। ततो चिरेण आगया, णिद्दक्कताओ तहेव एक्कम्मि चेव सयणे सइयाओ इअरो अ आगओ। ततो पेच्छति,परपुरिसो त्ति असिं करिसित्ता आहणेमित्ति,वतं सुमरियं। ठितो सत्तपदंतरं। एअम्मि अतरे भगिणी अ से बाहा भज्जाए अक्कंतिआ। ताए दुक्खाविज्जंतियाए भणिअं हला! अवणेहि बाहाओ मे सीसं। तेण सरेण णाया भगिणी एसा मे पुरिसणेवत्थ त्ति लज्जितो,जातो अहो मणागं मए अकज्ज न कयति। उवमाओ जहा सावगभज्जाए, संबुद्धो, विभासा, पव्वइओ। आव० १ अ०।

सत्तवच्छ-सप्तवत्स-पुं०। लोमपक्षिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

सत्तविहबंधग-सप्तविधबन्धक-पुं०। सप्तप्रकारकर्मोपार्जके, पञ्चा० १६ विव०।

सत्तसत्तमिया-सप्तसप्तकि(मि)का-स्त्री०।सप्तसप्तकदिनानि यस्या सा सप्तसप्तकिका सप्तशब्दककारस्य मकारः प्राकृतत्वात्। अथवा—सप्त सप्तमानि दिनानि यस्यां सा, यस्यां हि सप्तदिनसप्तमकानि भवन्ति। प्रव० २७१ द्वार। सप्त सप्तमानि दिनानि यस्यां सा सप्तसप्तकैर्दिनसप्तकैर्यथोत्तरवर्द्धमानदत्तिभिर्निष्पन्ने प्रतिमाभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सूत्रम्—

सत्तसत्तमिया णं भिक्खुपडिमा,एगूणं पन्नए राइंदिएहिं एगेण छण्णउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं (अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासम्मं फासिया पालिया तीरिया किट्टिया) अणुपालिया भवइ ॥ ३१ ॥

अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह—

सागारियअग्गहणे, अन्नाउञ्छं फुडं समक्खायं।
सो होति ऽभिग्गहो खलु,पडिमाऽऽइअभिग्गहो चेव॥७४॥
अन्नाउञ्छविसुद्धं, घेत्तव्वं तस्स किं परीमाणं।
कालम्मि य भिक्खासु य,इति पडिमासुत्तसंबंधो॥७५॥

पूर्वसूत्रेषु सागारिकपिण्डो न ग्राह्य इत्युक्तं सागारिकपिण्डाऽग्रहणे स्फुटमज्ञातोञ्छग्रहः खलु भवत्यभिग्रहः, प्रतिमाय-

१—०जाव अणुपालिया भवइ ॥ ३१ ॥

भिग्रह इत्यभिग्रहप्रस्तावात्सागारिकसूत्राऽनन्तर प्रतिमासूत्रस्योपनिपात' । अथवा—अन्यथा संबन्ध सागारिकपिण्डप्रतिषेधतोऽज्ञातोञ्छविशुद्ध ग्रहीतव्यमित्याख्यात, तस्य भिक्षाकालेषु किं परिमाणमिति प्रश्नावकाशमाशङ्क्य प्रतिमासूत्रमुपन्यस्तवान्, एष प्रतिमासूत्रसम्बन्ध । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य(सू०३१)व्याख्या-सप्तसप्तका दिनाना यस्या सा सप्तसप्तकिका,सप्तकशब्दे ककारस्य मकार प्राकृतत्वात्, 'ए 'मिति वाक्यालङ्कारे । भिक्षुप्रतिमा एकोनपञ्चाशता रात्रिन्दिवैकेन पण्णवतेन भिक्षाशतेन यथा सूत्रं सूत्रानतिक्रमेण यावत्करणात्-" अहामग्गं अहातच्चं अहासम्मं फासिया पालिया तीरिया किट्टिया अणुपालिया भवइ " इति-परिग्रहस्तत्र यथाकल्पं-यथाविधि सूत्रोक्तविध्यनतिक्रमेणेत्यर्थ , यथामार्ग—ज्ञानदर्शनचारित्राणामविराधनेन ' अहातच्च ' ति—याथातथ्यमेकान्तत सूत्रानुसारेणापादितसत्य(त्य)ताकं 'अहासम्म' यथासम्यक् त्रिविधेनापि योगेनाऽपरिताम्यता सम्यक्करणस्पर्शिता सेविता पालिता विराधनारक्षणत , अत एव शोधिता अतीचारलेशेनाप्यकलङ्कनात् । तीरिता-तीरं नीता, पर्यन्त नीता इत्यर्थ'। कीर्तिता-आचार्याणा कथिता, यथा प्रतिमा मया समाप्ता आज्ञया तीर्थकरोपदेशेन अत्र पालिता भवति । एवमष्टाष्टकिका-नवनवकिका-दशदशकिका-सूत्राण्यपि भावनीयानि । विशेषस्तु पाठसिद्ध , एष सूत्रचतुष्टयसंक्षेपार्थ ।

अहसुत्त सुत्तदेसा, कप्पो उ विधीय मग्ग नाणादी ।
तच्चं तु भवे तत्थं, सम्मं जं अपरितंतेणं ॥ ७६ ॥
फासिय जोगतिगेणं,पालिय मविराहिय सोहितेमेव ।
तीरियमंतं पाविय, किट्टिय गुरुकरण जिणमाणा ॥७७॥

यथासूत्रमिति सूत्रादेशात् यथाकल्पमित्यत्र कप्पो—विधिर्यथामार्गमित्यत्र मार्गो-ज्ञानादि, यथातथ्यमित्यत्र 'तच्च'-नाम तथ्य,यथासम्यगिति सम्यग् नाम यदपरिताम्यनाकरणं स्पर्शिता योगत्रिकेण सेविता पालिता अविराधिता शोधिताऽप्येवमेव, अविराधनेनैवेत्यर्थं , तीरिता-अन्तं प्रापिता कीर्तिता-गुरूणा कथनत आज्ञा जिनस्य-तीर्थकृत , द्वितीया षष्ठ्यर्थे प्राकृतत्वात् ।

पडिमाउ पुव्वभणिया, पडिवज्जइ कोतिसंघयणमादी ।
नवरं पुण णाणत्तं, कालच्छेए य भिक्खासु ॥ ७८ ॥

प्रतिपद्यते, प्रतिमा भिक्षो प्रतिमा पूर्वमाचारदशासु भणिता ता क प्रतिपद्यते, तत आह-' तिसघयण' ति-आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतरसंहननोपेत' चतुर्थादिषु संहननेषु वर्त्तमानः न प्रतिपद्यते, आदिशब्दात्-सोऽपि सूत्रार्थतदुभयोपेतो गच्छात् कृतपरिकर्म्मा सातिशयो न निरतिशय इति परिग्रह , तृतीय च संहननं यावदार्यरक्षितास्तावदनुवृत्त तत आरतो व्यवच्छिन्नम् । नवर पुनर्नानात्वमत्र कालच्छेदे भिक्षासु च ।

तत्र कालच्छेदमाह—

एगूणपन्ने चउम-ट्ठिगासीती य सयं च बोद्धव्वं ।
सव्वासिं पडिमाणं, कालो एमो त्ति तो होइ ॥ ७९ ॥

सप्तसप्तकिकाया. कालम् एकोनपञ्चाशत् रात्रिन्दिवानि, अष्टाष्टकिकायाश्चतु षष्टि , नवनवकिकाया एकाशीति , दशदशकिकाया' शतं रात्रिन्दिवानां बोद्धव्यं, सर्वप्रतिमानामधिकृतसूत्रचतुष्टयोपेतानामेष एतावान् भवति काल. ।

कथ पुन. सप्तकिका भवतीत्यत आह-

पढमाए सत्तगा सत्त, पढमे तत्थ सत्तए ।
एक्केक्कं गेण्हई भिक्खं, बिइए दोण्णि दोण्णि तु ॥८०॥
एवमेक्केक्कियं भिक्खं ,छुभिज्जेक्केक्क सत्तगे ।
गेण्हती अन्तिमो जाव, सत्त सत्त दिणे दिणे ॥८१॥

प्रथमायां प्रतिमायां सप्त सप्तका भवन्ति । तत्र प्रथमे सप्तके प्रतिदिवसमेकैका भिक्षां गृह्णाति, द्वितीये सप्तके प्रतिदिवस द्वे द्वे भिक्षे, एव तृतीयादिषु सप्तकेष्वेकैकेषु एकैका भिक्षामधिका प्रक्षिपेत् यावदन्तिमे सप्तके दिने सप्त सप्त भिक्षा गृह्णाति । इयमत्र भावना-तृतीये सप्तके प्रतिदिवस तिस्रस्तिस्रो भिक्षा गृह्णाति , चतुर्थे चतस्रश्चतस्र , पञ्चमे पञ्च पञ्च,षष्ठे षट् षट् ,सप्तमे सप्त सप्तेति ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह—

अहवा एक्किक्किय दत्तिं, जा सत्तेक्केक्कसत्तए ।
आदेसो अत्थि एसो वि, सीहविक्कमसन्निभो ॥८२॥

अथवा-एष द्वितीयोऽप्यादेशोऽस्ति,यथा एकैकस्मिन् सप्तके प्रत्येकं प्रथमदिनादारभ्य प्रतिदिवसमेकैका वर्द्धयेत् यावत्सप्तमे दिवसे । इयमत्र भावना-प्रथमे सप्तके प्रथमे दिवसे एका भिक्षां गृह्णाति,द्वितीये द्वे, तृतीये तिस्र , चतुर्थे चतस्र , पञ्चमे पञ्च, षष्ठे षट् , सप्तमे सप्त,एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे षष्ठे सप्तमे च सप्तके द्रष्टव्यम् । एष आदेश. सिंहविक्रमसन्निभ , यथा-सिंहो गत्वा गत्वा पृष्ठत प्रलोकयते एवमेषोऽपि सप्तके पुनर्मूलतः परावर्त्तते । गत कालच्छेद ।

सम्प्रति भिक्षापरिमाणमाह—

छन्नउयं भिक्खसयं, अट्ठासीया य दो सया हुंति ।
पंचुत्तरा य चउरो, अद्धच्छट्ठं सया चेव ॥८३॥

सप्तसप्तकिकाया भिक्षापरिमाण षण्णवत शतम् १९६, अष्टाऽष्टकिकायामष्टाशीते द्वे शते २८८ भिक्षाणाम् , नवनवकिकाया पञ्चोत्तराणि चत्वारि शतानि ४०५ दशदशकिकायामर्द्ध षट् शतानि भिक्षाणामिति ।

सम्प्रत्यस्यैव भिक्षापरिमाणस्यानयनाय करणमाह—

उद्दिट्ठवग्गादिवसा, मूलगुणा संजया दुहा छिन्ना ।
मूलेणं संगुणिया, माणं दत्तीण पडिमासु ॥८४॥
पदगयसु वेयसु-त्तरसमाहयं दलियमादीणा ।
सहियं गच्छगुणं पडि-माणं भिक्खमाणं मुणेयव्वं॥८५॥

उद्दिष्टा ये च वर्गा. सप्तसप्तकिकादयस्ते दिवसा मूलदिनसंयुक्ता , सप्तादिदिनसम्मिश्रा क्रियन्ते, तदनन्तर द्विधाछिन्ना अर्धीक्रियन्ते इति भाव । तता मूलेन सप्तादिलक्षणेन सगुण्यन्ते, सगुणिता प्रतिमासु दत्तीना मान—परिमाण भवति । तद्यथा-सप्तसप्तकवर्गादिवसा एकोनपञ्चाशत् ४९,ते मूलदिने स-

१-अद्धछट्ठा सया चेव इतिपाठान्तरे । -दशदशकिकायामर्धंषष्ठानि(५५०)

प्तभिर्गुनाः क्रियन्ते जाताः षट्पञ्चाशत् ५६,ते अर्द्धीक्रियन्ते जाता अष्टाविंशतिः २८, सा मूलेन सप्तकेन गुण्यते आगत षण्णवतं शतम् १९६,तथा अष्टाष्टकवर्गेदिवसाश्चतुःषष्टिः ६४, ते मूलदिनैरष्टभि· संमिश्रयन्ते जाता द्वासप्ततिः ७२, तस्या अर्द्धं क्रियते जाता षट्त्रिंशत् ३६, सा मूलेनाष्टकेन गुण्यते आगते द्वे शते अष्टाशीते २८८, एवं नवनवकिकायां दशदशकिकाया च यथोक्तं भिक्षापरिमाणमानेतव्यम् ।

अत्रैव करणान्तरमाह—

गच्छुत्तरसंविग्गे, उत्तरहीणम्मि पक्खिवे आदि ।
अंतिमधणमादिजुयं, गच्छद्धगुणं तु सव्वधणं ॥ ८९ ॥

गच्छे उत्तरेण सवर्गे संवर्ग्यते स सवर्गो गुणित इत्यर्थः; तस्मिन् उत्तरेण हीने कृते आदिं प्रक्षिपेत् ततः अन्तिमधनमागच्छति, तदन्तिमधनम् आदियुक्तं क्रियते, तदनन्तरं गच्छार्द्धगुणं ततः सर्वधनमागच्छति । तत्र रासप्तसप्तकिकायां सप्त आदि· , सप्त उत्तरं, सप्त गच्छः, ततः सप्तकलक्षणो गच्छ उत्तरेण सप्तलक्षणेन गुण्यते । जाता एकोनपञ्चाशत् ४९ , सा उत्तरेण सप्तकेन हीना क्रियते , कृत्वा च पुनरादिना सप्तकेनैव युता कर्त्तव्या । इदं करणमन्यत्रापि व्यापकं, तत एवमुक्तमन्यथा चोत्तरहानावादिप्रक्षेपे च न कश्चिद्विशेषस्तस्या एव एकोनपञ्चाशतो भावात् । एतत् अन्तिमधनं सप्तमे सप्तके भिक्षापरिमाणमित्यर्थ , तस्मिन् उत्तरेण हीने कृते आदिं प्रक्षिपेत् , तत· अन्तिमधनमागच्छति , तदन्तिमधनमादियुत क्रियते, तदनन्तर गच्छार्द्धगुणं, ततः सर्वधनमागच्छति । तत्र सप्तसप्तकिकायां सप्त आदि·, सप्त उत्तरं, सप्तगच्छः; ततः सप्तकलक्षणो गच्छ उत्तरेण सप्तकलक्षणेन गुण्यते, एतत् आदिना सप्तकेन युतं क्रियते । जाता·-षट्पञ्चाशत् स गच्छार्द्धेन गुण्यते, अत्र गच्छ· सप्तक· स विषमत्वादर्द्धं न प्रयच्छति ततो गुणो राशि· षट्पञ्चाशल्लक्षणोऽर्द्धीक्रियते, जाता अष्टाविंशति·, सा परिपूर्णेन सप्तकलक्षणेन गच्छेन गुण्यते जात षण्णवतं शतम् १९६ । व्य० ९ उ० । औ० । स० । प्रव० । अन्त० ।

सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति , पढमे सत्तए एक्केक्कं भोयणस्स दत्तिं पडिगाहेति एक्केक्कं पाणयस्स । दोच्चे सत्तए दो दो भोयणस्स दो दो पाणयस्स पडिगाहेति । तच्चे सत्तते तिण्णि भोयणस्स तिण्णि पाणयस्स, चउत्थे सत्त० ४ पंचमे सत्त० ५ छट्ठे सत्तए ६सत्तमे सत्तते सत्त२दत्तीतो भोयणस्स पडिगाहेति सत्त पाणयस्स । एवं खलु एयं सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं एगूणवण्णासे राइंदिएहिं एगेण य छन्नउएणं भिक्खासतेणं अहासुत्ता० जाव आराहेत्ता । अन्त० ८ वर्ग २ अ० ।

सत्तसत्तिकया-सप्तसप्तैकिका-स्त्री० । सप्ताध्ययनात्मिकाया द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयचूडायाम् , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

सत्तसरसमन्नागय-सप्तस्वरसमन्वागत-त्रि० । षड्जादिसप्तस्वरान् सम्यगनुगते, ज० १ वक्ष० ।

सत्तसार-सत्त्वसार-पुं० । दृढांशे, " सत्तसारो दुविहो—बाह्यो गुरुत्तं अब्भतरो णाणादी " आ० चू० १ अ० ।

सत्तसीस-सप्तशीर्ष-पुं० । शिखरितलपर्वतकूटस्वामिनि नागकुमारदेवे द्वी० ।

सत्तहत्तरि-सप्तसप्तति-स्त्री० सप्ताधिकायां सप्ततिसंख्यायाम् , स० ७७ सम० ।

सत्ता-सत्ता-स्त्री० । सामान्ये, विशे० । अविशेषेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासंबन्ध· स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये इति महतीयं पश्यतो हरता , यत· परिभाव्यता सत्ताशब्दार्थ· । अस्तीति सन् सता भाव· सत्ता-अस्तित्व-तद्वस्तुस्वरूपं तच्च निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाऽप्युक्तम् , तत्किमिदमर्द्धजरतीयं यद् द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो नेतरत्रये इति, अनुवृत्तिप्रत्ययाऽभावान्न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत् , न तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्याऽनिवार्यत्वात् । पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्य सामान्यमिति विशेषेष्वपि बहुत्वादयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति , समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदाद्—एकाकारप्रतीतेरनुभवात् स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारोपात्सामान्यादिष्वपि सत्त्वादित्यनुगम इति चेत्तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते । अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेति चेद् , द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोप· कृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः । असति मुख्येऽध्यारोपस्याऽसम्भवाद्-द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगत· प्रत्यय· सामान्यादिषु तु गौण इति चेत् । न, विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात् सामान्यादिषु बाधकसम्भवान्न मुख्योऽनुगतः प्रत्यय· , द्रव्यादिषु तु तदभावान्मुख्य इति चेद् , ननु किमिदं बाधकम् ? । अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमेऽनवस्था विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानि ,समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराभाव इति बाधकानीति चेत् , न, सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु तेषामपि स्वरूपसत्ताया· प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुन· सत्ताभ्युगमेऽपि न स्वरूपहानिः स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात् , निःसामान्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणाया· स्वरूपसत्ताया· स्वीकारे उपपद्यत एवाऽविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धः , अन्यथा तस्य स्वरूपाभावप्रसङ्ग , इति बाधकाभावात्तेष्वपि द्रव्यादिवन्मुख्य एव सत्तासम्बन्ध·, इति व्यर्थ द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम् । किं च-तैर्वादिभिर्यो द्रव्यादित्रये मुख्य· सत्तासम्बन्ध· कक्षीकृत सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्यत, तथा हि—यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाण्येव स्यु सत्तायोगात्सत्त्वमस्त्येवेति चेद् , असता सत्तायोगेऽपि कुत· सत्त्व ?, सता तु निष्फल· सत्तायोग । स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन? । सत्तायोगात् प्राग्भावो न सन् , नाप्यसन् सत्तायोगात्तु सन्निति चेद्वाङ्मात्रमेतत् , सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्याऽसंभवात् तस्मात् ' सतामपि स्यात्क्वचिदेव सत्ता' इति तेषा वचन विदुषां परिषदि कथमिव नोपहासाय जायते ? । स्या० । द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु त्रिषु प·

दार्थेषु सद्बुद्धिहेतु' सत्ता । आ० म०१ अ० । स्या० । ("त्रिपदार्थसत्करी सत्ता" इति वचनात् सत्ताभ्युपगमः 'सामण्ण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे साधयिष्यते) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । स्या० । (अत्रत्या वक्तव्यता ' अणेगतवाय ' शब्दे प्रथमभागे ४२५ पृष्ठे गता ।) (अयमेवार्थ' अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वमभ्युपगच्छता क्षणिकवादिना दूषणमुद्भाव्य-जातिलक्षण सत्त्व सम्मतितर्के प्रपञ्चेन साधितं तत एवावगन्तव्यम् ।) सम्म० ('समवाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे तत्खण्डनावसरे सत्ताखण्डनमण्डने कारिष्येते) । द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता परसामान्यम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । सद्भावे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आ० म० । सत्तानां यत्र ग्रामे नगरे वा भाजनानि सन्तीति प्राकरणिकोऽर्थ । बृ० ३ उ० । सद्भाव' सत्ता । क० प्र० १ प्रक० । कर्म्मपुद्गलाना बन्धसंक्रमाभ्या लब्धात्मलाभाना निर्जरणसंक्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावे, कर्म्म० ५ कर्म० । बन्धसमयात् संक्रमेणात्मलाभसमयादारभ्य यावत्ते कर्मपरमाणो नान्यत्र संक्रम्यन्ते यावद्वा न क्षयमुपगच्छन्ति तावत्तेषा स्वरूपेण सद्भावे, कर्म्म०६ कर्म०।

सत्तालक्षणम्-सत्तामाश्रित्य गुणस्थानेषु कर्म्मक्षपण च ।

अथ सत्तालक्षणकथनपूर्वकं यथा तेन भगवता त्रिलोकाधिपतिना श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना सत्तामाश्रित्य गुणस्थानेषु कर्माणि क्षपितानि तथा प्रतिपादयन्नाह—

सत्ता कम्माण ठिई, बंधाई लद्धअत्तलाभाणं ।
संते अडयालसयं, जा उवसमु विजिणुवियतइए ॥२५॥

सत्ता उच्यते इति शेष , किमित्याह--कर्म्मणां ज्ञानावरणादियोग्यपरमाणूना स्थितिरवस्थान सद्भाव इति पर्याया । किं विशिष्टाना कर्मणामित्याह--बन्धादिलब्धात्मलाभाना, तत्र मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभि कर्मयोग्यपुद्गलैरात्मनो वक्ष्यय पिण्डवदन्योन्यानुगमाभेदात्मक. सयन्धो-बन्ध' , आदिशब्दात्--सक्रमकरणादिपरिग्रह. । ततो बन्धादिभिर्लब्ध --प्राप्त आत्मलाभ-आत्मस्वरूप यैस्तानि बन्धादिलब्धात्मलाभानि तेपा बन्धादिलब्धात्मलाभाना कर्मणां या स्थिति सा सत्ता तस्याम् । 'सत' त्ति-सत्कर्मणि सत्तायामष्टाचत्वारिंश शतं प्रकृतीना भवति । कियन्ति गुणस्थानानि, यावदित्याह-' जा उवसमु ' त्ति यावदुपशममुपशान्तमोहम् । अयमर्थ , मिथ्यादृष्टिगुणस्थानात् प्रभृत्युपशान्तमोहगुणस्थान यावदष्टाचत्वारिंश शतं सत्तायां भवति, किमविशेषेणेत्याह-' विजिणुवियतइए ' त्ति-विगतं जिननाम यस्मात्तद्विजिनं--जिननामविरहित तदेवाष्टाचत्वारिंशं शत भवति, क्वेत्याह-द्वितीये सास्वादने तृतीय मिश्रदृष्टौ " सासणमिस्सरहिएसु वा तित्थमि " ति वचनात् सास्वादनमिश्रयोः सप्तचत्वारिंश शत भवतीत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्-इह मिथ्यादृष्टेरष्टचत्वारिंशमपि शत सत्तायां यदा हि प्राग्बद्धनरकायु क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमवाप्य तीर्थकरनाम्नो बन्धमारभते, तदाऽसौ नारकेषूत्पद्यमान. सम्यक्त्वमवश्य वमतीति । मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकरनाम्नोऽपि सत्ता सम्भवति, सास्वादनमिश्रयोस्तु तस्मिन्नेव जिननामरहिते सप्तचत्वारिंशं शत सत्तायां जिननाम सत्कर्मणो जीवस्य तद्भावानवाप्तेस्तद्बन्धारम्भस्य च शुद्धसम्यक्त्वप्रत्ययत्वात्, यदुक्त बृहत्कर्म्मस्तवभाष्ये-" तित्थयरेण विहीणं, सीयालसय तु संतए होइ । सासायणम्मि उ गुणे-सम्मामीसे य पयडीण ॥ १ ॥ " अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्रमत्तपर्यन्तानामष्टचत्वारिंशस्यापि शतस्य सत्ता सम्भवतीति ।

अप्पुव्वाइचउक्के, अणतिरिनिरया उ विणु विआलसयं ।
सम्माइचउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्तसयमहवा ॥२६॥

गाथापर्यन्तवर्त्यथवाशब्दस्य संवन्धात् पूर्व तावदष्टचत्वारिंशं शतं सत्तायामुक्तम् । अथवा-अयमपर. सत्तामाश्रित्य भेद', तथा हि—अपूर्वादिचतुष्के अपूर्वकरणानिवृत्तिवादरसूक्ष्मसपरायोपशान्तमोहस्वरूपे ' अण ' त्ति-अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् , ' निरिनिरयाउ ' त्ति—आयु शब्दस्य प्रत्येक योगात्तिर्यगायुर्नरकायुश्च विना द्विचत्वारिंश शतं भवतीति । अयमाशय य कश्चिद्विसयोजितानन्तानुबन्धिचतुष्को बद्धदेवायुर्मनुजायुषि वर्त्तमान उपशमश्रेणिमारोहति, तस्य तिर्यगायुर्नरकायुरनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणप्रकृतिषट्करहित शेषं द्विचत्वारिंश शत सत्ताया प्राप्यते , यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—" अणतिरिनारयरहियं , बायालसय विमाणसंतम्मि । उवसामगस्स पुव्वा, नियट्टि सुहमोवसंतम्मि ॥ १ ॥ " 'सम्माइचउसु' त्ति इत्यादि, सम्यक्त्वादि चतुर्षु अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु ' सत्तगखयम्मि'त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वलक्षणसप्तकक्षये सत्येकचत्वारिंश शतम् । अथवा-सत्तायां भवति । इहाप्यथवाशब्द आवृत्त्या योज्यते, यदुक्तं बृहत्कर्म्मस्तवसूत्रे—" अणमिच्छमीससम्मं, अविरयसम्माओ अप्पमत्तता ।" इति ।

खवगं तु पप्प चउसु वि,पणयालं नरयतिरिसुरा उ विणा।
सत्तगविणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागे ॥२७॥

क्षपक तु पुनरर्थे, क्षपकं पुन प्रतीत्य-आश्रित्य चतुर्ष्वपि अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु 'पणयाल' ति-पञ्चचत्वारिंश शतम् । अथवा-भवत्यथवाशब्द इहापि सबध्यते । कथमित्याह 'नरयतिरिसुराउ विणु' त्ति-आयु शब्दस्य प्रत्येक योगान्नरकायु-स्तिर्यगायु -सुरायुर्विनान्तरेण । इदमुक्त भवति-यो जीवो नारकतिर्यक्सुरेषु चरमं तद्भवमनुभूय मनुष्यत्वेनोत्पन्नस्तस्य नारकतिर्यक्सुरायूंषि स्वस्वभवे व्यवच्छिन्नसत्ताकानि जातानि पुनस्तदनवाप्ते. । उक्त च—" सुरनरतिरिय आउ, नियभवे सव्वजीवाणमिति " इय चैतेषु गुणस्थानेषु सामान्यजीवाना सम्भवमाश्रित्य सत्तावर्णिता न त्वधिकृतस्तवस्तुत्यस्य चरमजिनपरिवृढस्यत्, अस्या. सुरनारकतिर्यगायु सभवापेक्षणीयत्वा जिनस्य च तदसभवात् तस्यापि च प्राग्भवापेक्षया संभवो वाच्य , इदमेव पञ्चचत्वारिंश शतं सप्तकमनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वाख्यं विना अष्टात्रिंश शत भवति । कियन्ति गुणस्थानानि, यावदित्याह-' जा अनियट्टी पढमभागु ' त्ति-इहानिवृत्तिवादराद्धाया नव भागा क्रियन्ते,ततोऽविरते देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते निवृत्तिवादरेऽनिवृत्तिवादरस्य च प्रथमो भागस्तावदष्टात्रिंश शत भवति, उक्त च—" सते अडयालसय, खवग तु पडुच्च होइ पणयाल । आउतिग न-

त्थि तहिं, सत्तगखीणम्मि अडतीसं ॥ १ ॥ पणयालं अडतीसं, अविरयसम्माउ अप्पमत्तो त्ति । अ(प्पु)पुव्वे अडतीसं, नवरं खवगम्मि बोधव्वं ॥ २ ॥ " इति ।

अथ क्षपकश्रेणिमधिकृत्यानिवृत्तिबादरादिषु प्रकृतिसत्ता वर्ण्यते, उपशमश्रेणिसत्तायास्त्विह नाधिकार इति—

थावरतिरिनिरया य व, दुगथीणतिगेगविगलसाहारं ।
सोल खओ दुवीससयं, वियंसि वियतियकसायंतो २८॥

इहानिवृत्तिबादरस्य प्रथमे भागे अष्टात्रिंशं शतं सत्तायां भवति, तत्र च ' थावरतिरिनिरया य व दुग' त्ति-द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् स्थावरद्विकं-स्थावरसूक्ष्मलक्षणं तिर्यग्द्विक-तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपं नरकद्विकं-नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणमातपद्विकमातपउद्योताख्यं 'थीणतिग'त्ति—स्त्यानर्द्धित्रिकं-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणम् 'एग'त्ति-एकेन्द्रियजातिः, 'विगल'त्ति विकलेन्द्रियजातयो द्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिलक्षणा. 'साहार' त्ति-साधारणनामेत्येतासां षोडशानां प्रकृतीनां क्षयः सत्तामाश्रित्य भवति,ततोऽनिवृत्तिबादरस्य द्वयंशे-द्वितीयभागे द्वाविंशं शतं भवति। तत्र'वियतियकसायं तु'त्ति-कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगात् द्वितीयकषाया अप्रत्याख्यानावरणा चत्वारः तृतीयकषायाः प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार इत्येतासामष्टानां प्रकृतीनामन्तः क्षयस्ततस्तृतीयांऽशे चतुर्दश शतं भवतीति ।

एतदेवाह—

तइयाइसु चउदसते-र वारछपणचउतिहियसयकमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुं-सतुरियकोहमयमायखओ ॥२९॥

तृतीयादिषु भागेषु चतुर्दश च त्रयोदश च द्वादश च षट् च पञ्च च चत्वारि च त्रीणि चेति द्वन्द्वस्तैरधिकं शतं 'तिहियसय'इत्यत्राकारलोपो विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्,क्रमशः-क्रमेण सत्तायां भवति, कथमित्याह-' नपुंइत्थि' इत्यादि नपुं च-नपुंसकवेदः स्त्री च-स्त्रीवेदः हास्यषट्कं च-हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यं पुमांश्च पुंवेदः नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुमांसः क्रोधश्च-कोपः मदश्च-मदो मानोऽहङ्कार इति पर्यायाः, माया च-निकृतिः क्रोधमदमायास्तुर्याः-चतुर्थाः संज्वलनाः क्रोधमदमायाः,तुर्यक्रोधमदमायाः नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुमांसश्च तुर्यक्रोधमदमायाश्च नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुंतुर्यक्रोधमदमायास्तासां क्षयो नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुंतुर्यक्रोधमदमायाक्षयः 'मायखओ' इत्यत्र ह्रस्वत्वं " दीर्घह्रस्वौ मिथोवृत्तौ " ८।१।४। इत्यनेन प्राकृतसूत्रेणेति गाथाक्षरार्थः।भावार्थस्त्वयम्-अनिवृत्तिबादरस्य तृतीये भागे द्वितीयतृतीयकषायाष्टकक्षये चतुर्दशाधिकं शतं चतुर्थभागे नपुंसकवेदक्षये त्रयोदशाधिकं शतं, पञ्चमे भागे स्त्रीवेदक्षये द्वादशाधिकं शतं, षष्ठे भागे हास्यषट्कक्षये षडधिकं शतं, सप्तमे भागे पुंवेदक्षये पञ्चाधिकं शतम् ,अष्टमे भागे संज्वलनक्रोधक्षये चतुरधिकं शतं,नवमे भागे संज्वलनमानक्षये त्र्यधिकं शतं, संज्वलनमायाक्षये तु द्व्यधिकं शतं सत्तायां भवति, तच्च सूक्ष्मसंपराये।

तथा चाह—

सुहुमि दुसयलोहं तो, खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ।
नवनवइ चरमसमए, चउदंसणनाणविग्घंतो ॥३०॥

'सुहुमि' त्ति-सूक्ष्मसंपराये द्विशतं द्वाभ्यामधिकं शतं सत्तायां भवति, तत्र च लोभान्तः-संज्वलनलोभस्य क्षयस्तत ' खीणदुचरिमेगसउ' त्ति—क्षीणमोहद्विचरमसमये एकशतमेकाधिकं शतं सत्तायां, तत्र च ' दुनिद्दखओ ' त्ति-निद्राप्रचलयोर्द्वयोः क्षयो भवति, ततो नवनवतिश्चरमसमये क्षीणमोहगुणस्थानस्येति शेषः, तत्र चत्वारि च तानि दर्शनानि च चतुर्दर्शनानि चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणाख्यानि ज्ञानानि-ज्ञानावरणानि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च विघ्नानि--दानलाभभोगोपभोगवीर्यविघ्नरूपाणि पञ्च तेषामन्तो भवति ततः ।

पणसीइ सजोगी अजो-गिदुचरिमे देवखगइगंधदुगं ।
फासट्ठवन्नरसतणु-बंधणसंघायपणनिमिणं ॥ ३१ ॥

पञ्चाशीतिः सयोगिकेवलिनि सत्तायां भवति, ततः ' अजोगि दुचरिमे ' त्ति—अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमये इत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनां क्षयो भवति, ता एवाह—' देवखगइगंधदुगं ' त्ति—द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् देवद्विकं—देवगतिदेवानुपूर्वीरूपम् खगतिद्विकं-शुभविहायोगत्यशुभविहायोगतिरूपं गन्धद्विकं सुरभिगन्धासुरभिगन्धाख्यं ' फासट्ठ ' त्ति-स्पर्शाष्टकं-गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षाख्यम् ' वन्नरसतणुबंधणसंघायपण ' त्ति—पञ्चकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् वर्णपञ्चकं-कृष्णनीललोहितहारिद्रशुक्लाख्यम् , रसपञ्चकं-तिक्तकटुकषायाम्लमधुररूपम् , तनुपञ्चकम्-औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणतनुलक्षणम्, एवं तनुनाम्ना बन्धनपञ्चकम् ,-संघातनपञ्चकं च वाच्यम् ' निमिण ' त्ति-निर्माणमिति ।

संघयणअथिरसंठा-णछक्क अगुरुलहु चउ अपज्जत्तं ।
सायं व असायं वा, परित्तुवंगतिगसुसरनियं ॥ ३२ ॥

षट्कशब्दस्य प्रत्येकं योगात् संहननषट्कं वज्रर्षभनाराचऋषभनाराचनाराचार्द्धनाराचकीलिकासेवार्त्तसंहननाख्यम्, अस्थिरषट्कमस्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिरूपं, संस्थानषट्कं-समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डसंस्थानाख्यम् , अगुरुलघुचतुष्कम् अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासाख्यमपर्याप्तं सातं वा असातं वा एकतरवेदनीयं यदनुदयावस्थं ' परित्तुवंगतिग ' त्ति—त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् प्रत्येकत्रिकं-प्रत्येकस्थिरशुभाख्यम् उपाङ्गत्रिकम्-औदारिकवैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्गरूपं सुस्वरम् , ' निय ' त्ति-नीचैर्गोत्रमिति ।

विसयरिखओ य चरिमे, तेरसमणुय तसतिगजसाइज्जं ।
सुभगजिणुच्चपणिंदिय, सायासाएगयरछओ ॥ ३३ ॥

इत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनामयोगिकेवलिद्विचरमसमये सत्तामाश्रित्य क्षयो भवति, ततः पूर्वोक्तपञ्चाशीतेरिमा द्विसप्ततिप्रकृतयोऽपनीयन्ते, शेषास्त्रयोदश प्रकृतयोऽयोगिचरमसमये क्षीयन्ते । तथा चाह-' विसयरिखओ ' त्तिरूपम् । च पुनरर्थे, व्यवहितसंबन्धश्च, चरमसमये पुनरयोगिकेवलिनस्त्रयोदशप्रकृतीनां क्षयो भवति, ' मणुयतसतिग ' त्ति—त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् मनुजत्रिकं-मनुजगतिमनुजानुपूर्वीमनुजाऽऽयुर्लक्षणम् , त्रसत्रिकं त्रसबादरपर्याप्ताऽऽख्यम् । ' जसाइज्जति ' यशःकीर्तिनाम आदेय-

नाम 'सुभगजिणुच' त्ति—सुभगनाम जिननाम उच्चैर्गोत्रम् 'पणिंदिय' त्ति—पञ्चेन्द्रियजाति साताऽसातयोरेकतरं तस्य छेदः सत्तामाश्रित्य क्षय इति।

अत्रैव मतान्तरमाह—

नर अणुपुव्वि विणा वा,बारस चरिमसमयम्मि जो खविउं।
पत्तो सिद्धिं देविं-दवंदियं नमह तं वीरं ॥ ३४ ॥

नरानुपूर्वी विना-मनुष्यानुपूर्वीमन्तरेण वाशब्दो मतान्तरसूचको, द्वादशप्रकृतिरयोगिकेवलिचरमसमये य क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्तस्त वीरं नमतेति संटङ्क.। अयमत्राभिप्राय -मनुजाऽऽनुपूर्व्या अयोगिद्विचरमसमये सत्ताव्यवच्छेद उदयाभावात्। उदयवतीना हि द्वादशाना स्तिवुकसंक्रमाभावात्स्वानुभवेन दलिकं चरमसमयेऽपि दृश्यते इति युक्तस्तासा चरमसमये क्षय। आनुपूर्वी—नाम्ना तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकित्वाद्भवान्तरालगतावेवोदयस्तेन भवस्थस्य नास्ति तदुदयस्तदुदयाभावाच्चा—योगिद्विचरमसमये मनुजानुपूर्व्या अपि सत्ताव्यवच्छेद. तन्मते योगिकेवलिनो द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां चरमसमये (च) द्वादशाना क्षय इति। ततो यो भगवान् मातापित्रोर्दिवंगतयोः संपूर्णनिजप्रतिज्ञो भक्तिसंभारभ्राजिष्णुरोचिष्णुलोकान्तिकत्रिदशसमाजन्मभिः पुष्पमाणवकैरिव "सव्वजगज्जीवहियं, भयवं तित्थं पवत्तेहि।" इत्यादिवचोभिर्निवेदिते निष्क्रमणसमये संवत्सरं यावन्निरन्तरं स्थूरचामीकरधारासारै. प्रावृषेण्यधाराधर इवामुद्रदारिद्र्यसंतापप्रसरमवनीमण्डलस्योपशमय्य परस्परमहमहमिकया समायातसुरासुरनरोरगनायकनिकरैर्जय—जीवनन्द-क्षत्रियवरवृषभेत्यादिवचनरचनया स्तूयमान. संप्राप्यक्षातखण्डवनं प्रतिपन्ननिरवद्यचारित्रभार साधिका द्वादशसंवत्सरीं यावत्परीषहोपसर्गवर्गससर्गमुग्रमधिसह्य परमसितध्यानाकुण्ठकुठारधारया सकलघनघातिवनखण्डनमखण्डमाधाय निर्मलाविकलकेवलवलावलोकितनिखिललोकालोक श्रीगौतमप्रभृतिमुनिपुङ्गवाना तत्त्वमुपदिश्य, संसारसरित. सुखं—सुखेन समुत्तरणाय भव्यजनाना धर्मतीर्थमुपदर्श्यायोगिकेवलिचरमसमये त्रयोदशप्रकृतीर्द्वादशप्रकृतीर्वा क्षपयित्वा सिद्धिं परमानन्दरूपा प्राप्तस्त नमत—प्रणमत वीरं-श्रीवर्द्धमानस्वामिनम्। किं विशिष्टं ? देवेन्द्रवन्दितम्-देवाना भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामिन्द्रा. स्वामिनो देवेन्द्रा. तैर्वन्दित. शश्वत्करनिकरविमलतरगुणगणोत्कीर्त्तनेन स्तुत, शिरसा च प्रणत., 'वदुड' स्तुत्यभिवादनयोरिति वचनात्। यद्वा-पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् देवेन्द्रेण-देवेन्द्रसूरिणा आचार्येण श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकेण वन्दित. सकलकर्मक्षयलक्षणसाधारणगुणसंकीर्तनेन स्तुत. कायेन च प्रणत इति, नमतेति प्रेरणाया पञ्चम्यन्तं, क्रियापदम्, तच्च श्रोतृणा कथञ्चिदनाभोगवशात. प्रमादसंभवेऽप्याचारेण नोद्विजितव्यम्, किं तु—मृदु-मधुरवचोभिः शिक्षानिबन्धनै. श्रोतृणा मनांसि प्रह्लाद्य यथार्हं सन्मार्गप्रवृत्तिरुपदेष्टव्येति ज्ञापनार्थम्। कर्म० २ कर्म०। (ध्रुवाध्रुवसत्ता 'संतकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७ पृष्ठे दर्शिता।) ('कम्म शब्दे तृतीयभागे २९६ पृष्ठे बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेध उक्त.। तत्रैव सत्तास्थानानां कालमानम्।) (गुणस्थानकेषु सत्त्वोदययोजना 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ९२३ पृष्ठे उक्ता।)

सर्वासा प्रकृतीनां सत्तामाश्रित्य भूयस्कारादिसत्तास्थानानि—

भूयप्पयरा इगिचउ-वीसं जनेइ केवली छउमं।
अजओ य केवलित्तं, तित्थयरियराव अन्नोन्नं ॥ १९ ॥

व्याख्या-भूयस्कारा.-भूयस्कारोदया एकविंशतिः, अल्पतरोदयाश्चतुर्विंशतिः,नोक्तसख्यातो द्वयानामेकेऽप्यधिकाः,कुत इत्याह—यद्यस्मात्कारणात्र केवली छद्म-छद्मोदयान् याति, नाऽप्ययतोऽविरतोऽविरतसम्यग्दृष्टि. केवलित्वं केवलित्वनिबन्धनेष्वुदयस्थानेषु याति, नाप्यतीर्थकरतीर्थकरावन्योन्यमन्योन्यस्योदयेषु गच्छतः, तत उक्तसख्याका एव भूयस्काराऽल्पतरोदया। इयमत्र भावना—न केवली छद्मस्थोदयेषु याति, न चाप्यतीर्थकरस्तीर्थकरोदयम्। उपलक्षणमेतत्, तेन नाप्ययोगी सयोगिकेवल्युदयम्। तत एकादशद्वादशत्रयोविंशतिचतुर्विंशतिचतुश्चत्वारिंशल्लक्षणानि पञ्च उदयस्थानानि भूयस्कारतया च प्राप्यन्ते,इत्येकविंशतिरेव भूयस्कारोदया'। तथा अविरतसम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा न केवल्युदयस्थानमधिरोहति, ततश्चतुस्त्रिंशल्लक्षणोऽल्पतरोदयो न लभ्यते। आह-चतुस्त्रिंशदुदय' संभावस्थस्य तीर्थकृत. केवलिनो भवति,ततो यदा तीर्थकर. केवलित्वमासादयति, तदा चतुश्चत्वारिंशदादीनामन्यतमस्मादुदयस्थानाच्चतुस्त्रिंशदुदयस्थाने सक्रामतीति भवति चतुस्त्रिंशदुदयोऽल्पतरः तदेतदसमीचीनं, सर्वथा वस्तुतत्त्वाऽपरिज्ञानात्। केवलित्व हि नाम सर्वोऽपि समासादयति गुणस्थानकक्रमेण, नान्यथा, तत्र क्षीणमोहगुणस्थानकं त्रयस्त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकमेवोदयस्थानं, न शेषम् त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयश्चेमा.—मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगनाम आदेयं यश कीर्तिस्तैजसकार्मणे स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघुनिर्माणमौदारिकद्विकं प्रत्येकनाम उपघातनाम अन्यतरविहायोगतिः पराघातनाम सुस्वरदु स्वरयोरन्यतरत् उच्छ्वासनाम संस्थानषट्कान्यतममेकं संस्थान वज्रर्षभनाराचसंहननं सातासतान्यतरवेदनीयं मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रमिति। तत केवलज्ञानोत्पत्तौ सयोगिकेवलिगुणस्थने प्राप्त तीर्थकरनामकर्मण उदयतश्चतुस्त्रिंशल्लक्षणमुदयस्थानं भूयस्कारतयैव प्राप्यते, नाल्पतरया। यदपि चैकोनषष्टिरूपमुदयस्थान, त स्यापि नाल्पतरत्वसंभव,ततोऽन्यस्य महत उदयस्थानस्याऽसंभवात्। यदि हि ततोऽपि महदन्यदुदयस्थानं भवेत्, ततस्तस्मात्तत्र संक्रान्तौ तदल्पतरं भवेत्, न च तदस्ति, तस्माच्चतुस्त्रिंशदेकोनषष्टिरूपौ द्वावुदयावल्पतरौ न भवत, इति चतुर्विंशतिरल्पतरा। तदेवमुक्ता सामान्यत सर्वोत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानेषु भूयस्कारादय.। संप्रति प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीना सामान्यत. सर्वोत्तरप्रकृतीनां च सत्तास्थानेषु वक्तव्या। तत्र प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीना स्वयमेव ज्ञातव्या', ते चैवं-ज्ञानावरणीयस्यान्तरायस्य च प्रत्येकं पञ्चपञ्चप्रकृत्यात्मकमेकं सत्तास्थानम्। अत्र द्वितीयं महदल्प वा सत्तास्थानं न समस्तीति भूयस्काराल्पतरत्वसंभव,नाप्यवक्तव्यसत्कर्मता ज्ञानावरणीयस्यान्तरा-

यस्य च प्रत्येकं सर्वस्वस्वोत्तरप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्तासंभवाऽभावात्। वेदनीयस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एका च। तत्र द्वे अयोग्यवस्थाया द्विचरमसमयं यावत्, एका चरमसमये, अत्र न भूयस्कारसत्कर्मता, एकप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानकाद् द्विप्रकृत्यात्मकसत्तास्थाने सङ्क्रमाऽभावात्। एकमल्पतर, तच्चैकप्रकृत्यात्मकम्। एकं द्विप्रकृत्यात्मकमवस्थितम्, एकप्रकृत्यात्मकस्य समयमात्रावस्थायितया अवस्थितत्वाऽसंभवात्। गोत्रायुषोर्द्वे द्वे सत्तास्थानके, तद्यथा—द्वे एका च। तत्र यावत् द्वे अपि गोत्रप्रकृत्यौ सत्यौ तावद् द्वे, यदा पुनस्तेजोवायुभवगतेनोच्चैर्गोत्रमुद्वलितं भवति, नीचैर्गोत्रं वा अयोग्यवस्थाद्विचरमसमये क्षीणं, तदा एका। आयुषोऽपि यावन्नाद्यापि परभवायुर्बध्नाति तावदेका प्रकृतिः सती, परभवायुर्बन्धे च द्वे। तत्र गोत्रस्यैकं द्विप्रकृत्यात्मकं भूयस्कारसत्कर्म, तत्र यदोच्चैर्गोत्रमुद्वल्य नीचैर्गोत्रैकसत्कर्मा सन् भूय उच्चैर्गोत्रमवबध्नाति तदा समवसेयम् एकमेकप्रकृत्यात्मकमल्पतर, तदपि चोच्चैर्गोत्रे उद्वलिते नीचैर्गोत्रे वा क्षीणे द्रष्टव्यं द्वे अवस्थितसत्कर्मणी द्वयोरपि सत्तास्थानयोश्चिरकालमवस्थानसंभवात्, नवरमेकप्रकृत्यात्मके सत्तास्थाने चिरकालमवस्थानमुद्वलितोच्चैर्गोत्रस्य नीचैर्गोत्ररूपे द्रष्टव्यम्। आयुषोऽप्येकं द्विप्रकृत्यात्मकं भूयस्कारसत्कर्म, तच्च परभवायुर्बन्धारम्भसमये, एकमेकप्रकृत्यात्मकमल्पतरसत्कर्म, तच्चानुभूयमानभवायुषः सत्ताव्यवच्छेदे, परभवायुष उदयसमये द्वे अवस्थितसत्कर्मणी, द्वयोरपि सत्तास्थानयोश्चिरकालमवस्थानात्। यत्त्ववक्तव्यं सत्कर्म, तदुभयत्रापि न विद्यते, उभयोरपि सर्वस्वस्वोत्तरप्रकृतिव्यवच्छेदे भूयः सत्ताया अयोगात्, दर्शनावरणीयस्य त्रीणि सत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—नव षट् चतस्रः, तत्र क्षपकश्रेणिमधिकृत्याऽनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः सङ्ख्येयान् भागान् यावदुपशमश्रेणिमधिकृत्योपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् नव, क्षपकश्रेणावनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परत आरभ्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावत् षट्। चरमसमये चतस्रः, अत्र द्वे अल्पतरे, तद्यथा—षट् चतस्रः, द्वे अवस्थितसत्कर्मणी, तद्यथा—नव षट्, चतुःप्रकृत्यात्मकं तृतीयं सत्तास्थानम् एकसामायिकमिति न तस्याऽवस्थितत्वसंभवः। भूयस्कारमवक्तव्यं चात्र न समस्ति, द्वित्रादिप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे सर्वस्वोत्तरप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे वा भूयः सत्तासंभवाऽभावात्। मोहनीयस्य पञ्चदश सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रस्तिस्रो द्वे एका च। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः, ततः सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः। अथवा-अनादिमिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिः अष्टाविंशतेरनन्तानुबन्धिचतुष्टये क्षीणे चतुर्विंशतिः, ततो मिथ्यात्वे क्षीणे त्रयोविंशतिः, ततः सम्यग्मिथ्यात्वे क्षीणे द्वाविंशतिः, सम्यक्त्वे क्षीणे एकविंशतिः, ततोऽष्टसु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश, ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश, ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश, ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च, ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ततः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः, ततः संज्वलनमाने क्षीणे द्वे, संज्वलनमायायामपि क्षीणायामेका। अत्र पञ्चदश अवस्थितसत्कर्माणि सर्वेष्वपि, सत्तास्थानेषु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थानसंभवात्, चतुर्दश अल्पतराणि, तानि चाष्टाविंशतिवर्जानि शेषाणि सर्वाण्यपि द्रष्टव्यानि, एकं भूयस्कारसत्कर्म, ततोऽष्टाविंशतिलक्षणमवसेयम्। तथाहि-चतुर्विंशतिसत्तास्थानात् षड्विंशतिसत्तास्थानाद्वा गच्छत्यष्टाविंशतिरूपं सत्तास्थानं, शेषाणि तु सत्तास्थानानि भूयस्कारतया न प्राप्यन्ते, अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वव्यतिरेकेणान्यस्याः प्रकृतेः सत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्ताया अयोगात्, अवक्तव्यं तु न समस्ति, मोहनीयस्य सर्वोत्तरप्रकृतिव्यवच्छेदे पुनः सत्ताया असंभवात्। नाम्नो द्वादश सत्कर्मस्थानानि, तद्यथा-त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिरशीतिरेकोनाऽशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः षडशीतिरष्टसप्ततिर्नव अष्टौ च। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिः, सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिः, त्रिनवतिरेवाहारकाहारकाङ्गोपाङ्गाहारकबन्धनाहारकसंघातरूपाहारकचतुष्टयरहिता एकोननवतिः, द्विनवतिराहारकचतुष्टयहीना अष्टाशीतिः, इदमेकं प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयम्, अस्माच्च नामत्रयोदशके क्षयमुपगते क्रमेण द्वितीयं सत्तास्थानचतुष्टयं भवति, तद्यथा—अशीतिरेकोनाऽशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च। इदं द्वितीयसत्तास्थानचतुष्टयं, प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयसत्काच्चतुर्थादष्टाशीतिलक्षणात्सत्तास्थानात् देवद्विके नरकद्विके वा उद्वलिते षडशीतिः, ततोऽपि देवद्विकसहिते नरकद्विकसहिते वा वैक्रियचतुष्टये उद्वलिते अशीतिः, ततोऽपि मनुष्यद्विके उद्वलिते अष्टसप्ततिः। एतानि च त्रीण्यपि सत्तास्थानानि चिरंतनग्रन्थेषु अध्रुवसंज्ञानि व्यवह्रियन्ते, नवप्रकृत्यात्मकं तीर्थकृतः, अतीर्थकृतस्त्वष्टप्रकृत्यात्मकमयोग्यवस्थाचरमसमये सुप्रतीतम्। इहाशीतिलक्षणं सत्तास्थानं द्विधा लभ्यते, तथापि सङ्ख्यातस्तुल्यमित्येकमेव गण्यते, ततो द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति। अत्र दश अवस्थितसत्कर्माणि, नवाष्टसत्तास्थानयोरेकसामयिकतयाऽवस्थितत्वाऽसंभवात्, दश अल्पतरस्थानानि, तद्यथा-प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयाद् द्वितीयसत्तास्थानचतुष्टयगमनेन चत्वारि, द्वितीयसत्तास्थानचतुष्टयान्नवाष्टगमनेन द्वे, प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयसत्कचतुर्थस्थानात्प्रथमाध्रुवसंज्ञसत्तास्थानगमने। ततोऽपि तृतीयाध्रुवसत्तास्थानगमने द्वे त्रिनवतिद्विनवतिभ्यामाहारकचतुष्टयोद्वलने एकोननवत्यष्टाशीतिसङ्क्रान्तौ द्वे, एवं सर्वसङ्ख्यया दशाल्पतरसत्तास्थानानि भवन्ति, भूयस्कारसत्तास्थानानि षट् तद्यथा—भूयो मनुष्यद्विकबन्धेनाष्टसप्ततेरशीतौ गमनं, ततोऽपि नरकद्विके देवद्विके वा वैक्रियचतुष्टयसहिते भूयोऽपि बध्यमाने षडशीतौ, ततोऽपि देवद्विके नरकद्विके वा पुनरपि बध्यमानेऽष्टाशीतौ, ततोऽपि तीर्थकरनामबन्धे एकोननवत्यां गमनमिति चत्वारि, अष्टाशीतेराहारकचतुष्टयबन्धेन द्विनवतौ गमनं, ततोऽपि तीर्थकरनामबन्धे त्रिनवतौ, एवं सर्वसङ्ख्यया षट्, शेषात्सत्तास्थानादन्यस्मिन् प्रभूते सत्तास्थाने गमनसंभवः, ततः षडेव भूयस्कारसत्कर्माणि, यत्त्ववक्तव्यं सत्तास्थानं तदिह न भवति, नाम्नः सर्वोत्तरप्रकृतिसत्ताव्यव-

च्छेदे भूय. सत्तोपादानाऽसंभवात्, तदेवमुक्ता. प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां सत्तास्थानेषु भूयस्काराद्यः ॥ १६ ॥

संप्रति सामान्यत' सर्वोत्तरप्रकृतीना तानभिधित्सुः प्रथमत सत्तास्थानान्याह—

एकारबारसासीइ, इगि चउ पंचाहिया य चउणउई ।
एत्तो चउदहियसयं, पणवीसाओ य छायालं ॥२०॥
बत्तीसं नऽत्थि सयं, एवं अडयाल संत ठाणाणि ।
जोगिअघाइचउके, भण खिविउं घाइसंताणि ॥२१॥

सामान्यतः सर्वोत्तरप्रतीनां सत्तास्थानानि अष्टचत्वारिंशत्, तद्यथा—एकादश, द्वादश, अशीतिः, 'इगि चउ पंचाहिया य' त्ति-अत्राऽशीति. सवध्यते । ततोऽयमर्थः—अशीतेरनन्तरमेकचतुःपञ्चाधिका अशीतिर्वक्तव्या, तद्यथा—एकाशीतिश्चतुरशीति., पञ्चाशीति, ततश्चतुर्नवति. ' एत्तो ' इत्यादि अतश्चतुर्नवतेरूर्ध्वमेकोत्तरया वृद्धया निरन्तर यावत्सत्तास्थानानि वाच्यानि, यावच्चतुर्दशाधिक शतम्, तद्यथा—पञ्चनवति., षण्णवति, सप्तनवतिः, अष्टानवतिः, नवनवति, शतम्, एकोत्तरं शत, द्व्युत्तरं शतं, त्र्युत्तरं शत, चतुरुत्तर शत, पञ्चोत्तर शत, षडुत्तर शत, सप्तोत्तरं शतम्, अष्टोत्तर शत, नवोत्तर शत, दशोत्तरं शतम्, एकादशोत्तरं शतं, द्वादशोत्तरं शत, त्रयोदशोत्तर शत,चतुर्दशोत्तरं शतम्। अत ऊर्ध्व पञ्चविंशाच्छतादारभ्य क्रमेणैकोत्तरया वृद्धया तावदभिधातव्यानि सत्तास्थानानि, यावत् षट्चत्वारिंशतं शतं, नवरं द्वात्रिंश शतं नाऽस्ति, द्वात्रिंशशताऽऽत्मकसत्तास्थानवर्जितान्यभिधातव्यानीत्यर्थ', तद्यथा—पञ्चविंशं शत, षड्विंश शत, सप्तविंशं शतम्, अष्टाविंशं शतम्, एकोनत्रिंशं शतं, त्रिंशं शतम्, एकत्रिंश शत, त्रयस्त्रिंश शतं, चतुस्त्रिंशं शत, पञ्चत्रिंश शत, षट्त्रिंश शत, सप्तत्रिंशं शतम्, अष्टात्रिंश शतम्, एकोनचत्वारिंश शत,चत्वारिंश शतम्,एकचत्वारिंश शत, द्वाचत्वारिंश शत, त्रिचत्वारिंशं शतं, चतुश्चत्वारिंश शत, पञ्चचत्वारिंश शत, षट्चत्वारिंशं शतम् एवं सर्वसख्यया अष्टाचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि भवन्ति,तद्यथा—(११। १२। ८०। ८१। ८४। ८५। ९४। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९।१००। १०१। १०२। १०३। १०४। १०५। १०६। १०७। १०८। १०९। ११०। १११। ११२। ११३। ११४। १२५। १२६। १२७। १२८। १२९। १३०। १३१। १३३। १३४। १३५। १३६। १३७। १३८। १३९। १४०। १४१। १४२। १४३। १४४। १४५। १४६।) अमीषा च सत्तास्थानानां यथापरिज्ञानमुपसंपद्यते तथोपदेशमाह—योगिना सयोगिकेवलिना यदघातिप्रकृतिसत्कं सत्तास्थानचतुष्टयमशीत्यादिलक्षणं, तस्मिन् घातिकर्मसत्कानि सत्तास्थानानि क्रमेण क्षिप्त्वा अष्टचत्वारिंशदपि सत्तास्थानानि शिष्येभ्यो भण-प्रतिपादय। एतदत्र भाव्यते-अतीर्थकरकेवलिनोऽयोग्यवस्थाचरमसमये एकादशप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं, तस्मिन्नेव समये तीर्थकृतो द्वादशप्रकृत्यात्मक,ताश्च द्वादशप्रकृतय इमाः, तद्यथा—मनुष्यायुर्मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम प र्याप्तकनाम सुभगमादेय यश कीर्तिस्तीर्थकरनाम अन्यतरवेदनीयमुच्चैर्गोत्रमिति। एता एव द्वादश प्रकृतयस्तीर्थकरनामरहिता एकादश सयोगिकेवल्यवस्थायामशीत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि,तद्यथा—अशीतिः, एकाशीति', चतुरशीति. पञ्चाऽशीति (८०। ८१। ८४। ८५।) तत्राशीतिरियदेवद्विकमौदारिकचतुष्टयं, तैजसकार्मणशरीरे, तैजसकार्मणबन्धने, तैजसकार्मणसघाते, संस्थानषट्कं, संहननषट्कं, वर्णादिविंशति, अगुरुलघु,पराघातम्,उपघातनाम,त्रसनाम, विहायोगतिद्विकं, स्थिराऽस्थिरे, शुभाऽशुभे, सुस्वरदु स्वरे, दुर्भगम्, अयश कीर्तिः, अनादेय, निर्माणं, प्रत्येकम्, अपर्याप्तं, मनुष्यानुपूर्वी, नीचैर्गोत्रम्, अन्यतरवेदनीयमित्येकोनसप्ततिः, एकादश च प्रागुक्ता, तत' सर्वसख्यया अशीतिर्भवति। सैव तीर्थकरनामसहिता एकाशीति., अशीतिरेव आहारकचतुष्टयसहिता चतुरशीति, सैव तीर्थकरनामसमन्विता पञ्चाशीति.। एतान्येवाऽशीत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकसहितानि यथाक्रम चतुर्नवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा-चतुर्नवति ,पञ्चनवति.,अष्टानवति.,नवनवति (९४।९५।९८।९९)एतानि च क्षीणकषायचरमसमये नानाजीवानधिकृत्य प्राप्यन्ते, एतान्येव चतुर्नवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि निद्राप्रचलासहितानि यथाक्रम षण्णवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा—षण्णवतिः, सप्तनवतिः,शतम् ,एकोत्तर शतम् (९६ । ९७ । १०० । १०१)एतानि क्षीणकषायगुणस्थानके द्विचरमसमयं यावत् नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते, एतेष्वेव संज्वलनलोभप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा—सप्तनवति., अष्टानवति', एकोत्तरं शतं, द्व्युत्तरं शतम् (९७ । ९८ । १०१ । १०२ ।)एतानि सूक्ष्मसंपराये लभ्यन्ते, एतेष्वेव संज्वलनमायाप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा—अष्टानवतिः, नवनवतिः, द्व्युत्तर शतं, त्र्युत्तर शतम् (९८ । ९९ । १०२ । १०३।) एतान्यनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थानकपर्यवसाने लभ्यन्ते,ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके तेष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु सज्वलनमानप्रक्षेपादेतानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति तद्यथा-नवनवति ,शतं,त्र्युत्तर शत,चतुरुत्तरं शतम् ,(९९ । १०० । १०३।१०४) तत एतेष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु तस्मिन्नेव गुणस्थानके संज्वलनक्रोधप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा-शतम् , एकोत्तर शत, चतुरुत्तरं शत, पञ्चोत्तर शतम्, (१०० । १०१ । १०४ । १०५ ।) ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके पुरुषवेदप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-एकोत्तर शतं, द्व्युत्तरं शत, पञ्चोत्तरं शतं , षडुत्तर शतम्, (१०१ । १०२ । १०५ । १०६ ।) ततो हास्यादिषट्कप्रक्षेपे तस्मिन्नेव गुणस्थानके अमूनि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, तद्यथा-सप्तोत्तर शतम् , अष्टोत्तरं शतम् ,एकादशोत्तर शतं, द्वादशोत्तर शतम् ,(१०७ । १०८ । १११ । ११२) ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके स्त्रीवेदप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-अष्टोत्तर शतं, नवोत्तरं शत, द्वादशोत्तरं शत, त्रयोदशोत्तरं शतम्, (१०८ । १०९ । ११२ । ११३) ततो नपुंसकवेदे तस्मिन्नेव गुणस्थानके प्रक्षिप्तेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-नवोत्तर शत, दशोत्तर शतं, त्रयोदशोत्तरं शत, चतुर्दशोत्तरं शतम्, (१०९ । ११० । ११३ । ११४ ।) तत एतष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु तस्मिन्नेव गुणस्थानके नामत्रयोदशकस्यानन्त्रिद्विकरूपप्रकृतियोडशकप्रक्षेपादिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति,

तद्यथा-पञ्चविंशत्युत्तरं शतं, षड्विंशत्युत्तरं शतम्, एकोनत्रिंशतं शतं, त्रिंश शतम्, (१२५। १२६। १२६। १३०।) ततोऽपि तस्मिन्नेव गुणस्थानके अप्रत्याख्यानावरणरूपकषायाष्टकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रयस्त्रिंशं शत, चतुस्त्रिंशं शतं, सप्तत्रिंश शतम्, अष्टात्रिंश शतम्, (१३३। १३४। १३७। १३८।) तथा यानि पूर्ववत्क्षीणमोहसत्कानि पञ्चनवतिः सप्तनवतिः शतमेकोत्तरं शतमिति चत्वारि सत्तास्थानानि प्रतिपादितानि, तेषु मोहनीयद्वाविंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकप्रक्षेपादिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा-चतुस्त्रिंशं शतं, पञ्चत्रिंशं शतम्, अष्टात्रिंश शतम्, एकोनचत्वारिंशं शतम्, (१३४। १३५। १३८। १३९) तेष्वेव क्षीणकषायसत्केषु षण्णवत्यादिषु चतुर्षु सत्तास्थानेषु मोहनीयत्रयोविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-पञ्चत्रिंशं शतं, षट्त्रिंश शतम्, एकोनचत्वारिंश शतं,चत्वारिंशं शतम् (१३५। १३६। १३९। १४०।) तेष्वेव पण्णवत्यादिषु मोहनीयचतुर्विंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकयोगादिमानि-चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-षट्त्रिंश शत, सप्तत्रिंश शतं, चत्वारिंशं शतम्, एकचत्वारिंशम् ,शतम्, (१३६।१३७। १४०। १४१) तेष्वेव षण्णवत्यादिषु मोहनीयषड्विंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकप्रक्षेपादेतानि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-अष्टात्रिंश शतम्, एकोनचत्वारिंशं शत, द्विचत्वारिंशं शतं, त्रिचत्वारिंशं शतम्, (१३८। १३९। १४२। १४३) तेष्वेव षण्णवत्यादिषु मोहनीयसप्तविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा--एकोनचत्वारिंश शतं, चत्वारिंशं शतं, त्रिचत्वारिंश शतं, चतुश्चत्वारिंश शतम्, (१३९। १४०। १४३। १४४) तेष्वेव षण्णवत्यादिषु मोहनीयाष्टाविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-चत्वारिंश शतम्, एकचत्वारिंशं शतं, चतुश्चत्वारिंश शत, पञ्चचत्वारिंशं शतम्, (१४०। १४१। १४४। १४५) अमूनि च मोहनीयद्वाविंशत्यादिप्रक्षेपसंभवीनि चतुस्त्रिंशशतादीनि, पञ्चचत्वारिंशशतपर्यन्तानि सत्तास्थानान्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानामवसेयानि,यच्चानन्तरमुक्तं पञ्चचत्वारिंशशतलक्षणं सत्तास्थानं, तदेव परभवायुर्बन्धे षट्चत्वारिंशशतात्मकं सत्तास्थानं भवति, तथा यदा जन्तोस्तेजोवायुभवे वर्त्तमानस्य नाम्नोऽष्टसप्ततिरेकमेव च नीचैर्गोत्रलक्षणं गोत्रं सत्, तदा तस्य ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिरन्तरायपञ्चकं तिर्यगायुर्नाम्नोऽष्टसप्ततिर्नीचैर्गोत्रमिति सप्तविंश शतं सत्तास्थानं तदेव परभवतिर्यगायुर्बन्धे अष्टाविंशत्यधिकं शतं, तथा वनस्पतिकायिकेषु यदा स्थितिक्षयाद्देवद्विकनरकद्विकवैक्रियचतुष्टयरूपासु अष्टासु प्रकृतिषु क्षीणासु नाम्नोऽशीतिप्रकृतयः सत्तायां लभ्यन्ते, तदा नाम्नोऽशीतिर्द्वे वेदनीये, द्वे गोत्रे, अनुभूयमानं तिर्यगायुर्ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, मोहनीयषड्विंशतिः, अन्तरायपञ्चक, इति त्रिंशदुत्तरशतात्मकं सत्तास्थानं, तदेव परभवायुर्बन्धे, एकत्रिंशशतात्मक सत्तास्थानम्-तदेव सत्तास्थानेषु परिभाव्यमानेषु द्वात्रिंशदुत्तरशतात्मकं सत्तास्थान नाऽवाप्यते, इति सूत्रकृता तद्वर्जनमकारि। इह यद्यपि सप्तनवत्यादीनि सत्तास्थानान्युक्तप्रकारेण तत्तत्प्रकृतिप्रक्षेपादन्यथानेकधा प्राप्यन्ते, तथापि सङ्ख्यातस्तानि तुल्यानीत्येकान्येव विवक्ष्यन्ते, ततोऽष्टचत्वारिंशदेव सत्तास्थानानि, नाधिकानि। अत्राऽवक्तव्यसत्कर्म न विद्यते, सर्वप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्तासंभवाऽभावात्, अवस्थितानि चतुश्चत्वारिंशत्, एकादशद्वादशचतुर्नवतिपञ्चनवतिरूपाणां चतुर्णां सत्तास्थानानामेकसामायिकतया अवस्थितत्वाऽयोगात्, सप्तचत्वारिंशदल्पतराणि, सप्तदश भूयस्काराणि, यतस्तानि सप्तविंशतिशतादारभ्य परत एव प्राप्यन्ते, नार्वाक्, परतोऽपि यत् त्रयस्त्रिंशशतात्मकं सत्तास्थान तदपि भूयस्कारतया न लभ्यते, कस्मादिति चेदुच्यते—इह सप्तविंशतिशतादर्वाक् यानि स्थानानि, यच्च त्रयस्त्रिंशदुत्तरशतात्मकं तानि क्षपकश्रेणावेव प्राप्यन्ते, न च क्षपकश्रेणेः प्रतिपातः, ततस्तेषां स्थानानां भूयस्कारत्वेनाऽसम्प्राप्तेः सप्तदशैव भूयस्काराणि ॥ २० ॥ २१ ॥ प० सं० ५ द्वार १ प्रक०।

सत्तागइय-सप्तागतिक-पुं०। सप्तभ्य एव-अण्डजयोनिभ्यः आगतिः-उत्पत्तिर्येषां ते सप्तागतयः। सप्तस्थानेषु उद्वर्त्तमानेषु, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सत्ताठाण-सत्तास्थान-न०। सत्ताप्रकारे, कर्म० ६ कर्म०। (बन्धोदयसत्ता आश्रित्य भङ्गाः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे ३०६ पृष्ठे उदाहृताः।)

सत्ताणंदपर-सत्त्वानन्दपर-पु०। असंप्रज्ञातसमाधौ, द्वा० २० द्वा०।

सत्ताणवइ-सप्तनवति--स्त्री०। सप्ताधिकायां नवतिसंख्यायाम्, स० ९६ सम०।

सत्ताणुग्गह-सत्त्वानुग्रह-पुं०। जीवदयायाम्, सत्त्वानुग्रहस्य परम्परया मोक्षावाप्तिनिबन्धनत्वात्। उक्तं च-' सर्वज्ञस्योपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम्। करोति बोधबाह्यानां, स प्राप्नोत्यचिरात् शिवम् ॥ १ ॥ " ज्यो० १ पाहु०।

सत्तामित्त-सत्तामात्र-न०। सद्भावमात्रे, पञ्चा० ४ विव०।

सत्तावण्णा-सप्तपञ्चाशत्--स्त्री०। सप्ताधिकायां पञ्चाशत्संख्यायाम्, स० ५७ सम०।

सत्तावीसा-सप्तविंशति-स्त्री०। " दीर्घह्रस्वौ मिथोवृत्तौ" ॥८। १। ४॥ इति मध्याकारस्य दीर्घः। सप्ताधिकविंशतिसंख्यायाम्, प्रा०। जं०।

सत्तासुय-सक्तासुक-पुं०। उत्तरपूर्वस्यां शुद्धविदिग्वाते, आ० म० १ अ०। आ० चू०।

सत्ति-शक्ति-स्त्री०। स्ववीर्योल्लासे, द्वा० २० द्वा०। सामर्थ्ये, आ० म० १ अ०। आ० चू०। " समत्थं ति वा सत्ति त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० " सत्ति त्ति सामत्थं ति जे जोगस्स हवंति पज्जाया "। पं० सं० ५ द्वार। शक्तिर्द्विधा-धृति-संहननभेदात्। सू० १ उ० २ प्रक०। धर्मे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

गुणपर्याययोः शक्ति-मात्रमोघोद्भवाऽऽदिमा।
आसन्नकार्ययोग्यत्वा—च्छक्तिः समुचिता परा ॥ ६ ॥

सर्वेषां द्रव्याणां निजनिजगुणपर्याययोः शक्तिमात्रम् ओघोद्भवा-ओघशक्तिः, आदिमा-प्रथमभेदरूपा कथ्यते । पुनः आसन्नं-निकटं शीघ्रभावि वा यत्कार्यं तस्य योग्यत्वात् व्यवहारयोग्यत्वात् समुचिता शक्तिरपरा द्वितीया समुचितशक्तिरुच्यत इति । (एतद्भेदप्रदर्शकदृष्टान्तः 'ओसत्ति' शब्दे तृतीयभागे १२६ पृष्ठे गतः ।)

अथ द्रव्यशक्तिं व्यवहारनिश्चयनयाभ्यां दर्शयन्नाह—

कार्यभेदाच्छक्तिभेदो, व्यवहारेण दृश्यते ।

युग्निश्चयनयादेक-मनेकैः कार्यकारणैः ॥६॥

एवम्-पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकस्य कार्यस्य ओघशक्तिसमुचितशक्तिरूपा शक्तयोऽनेकशः एकद्रव्यस्य प्राप्यन्ते,ताः पुनर्व्यवहारनयेन व्यवहृताः सत्यः कार्यकारणभेदं सूचयन्ति । कथं व्यवहारनयो हि कार्यकारणभेदमेवमनुते निश्चयनयो हि अनेककार्यकारणैर्युगपि द्रव्यमेकमेव स्वशक्तिस्वभावमस्ति इत्यवधारयति । कदापि इत्थं नावधार्यते तदा स्वभावभेदात् द्रव्यभेदोऽपि सपद्यते, तस्मात्तत्तद्देशकालादिकापेक्षया एकस्यानेककार्यकारणस्वभावमङ्गीकुर्वतां न कोऽपि दोषपोषः, कारणान्तरापेक्षाऽपि स्वभावान्तर्भूता एवास्ति , तेन नस्यापि वैफल्यं न जायते । तथा शुद्धनिश्चयमताङ्गीकारे तु कार्यकारणकल्पनैव मिथ्या । यतः—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथे'ति वचनात् । कार्यकारणकल्पनाविरहितं शुद्धमविकलमचलितस्वरूपं द्रव्यमस्तीति ज्ञेयम् । द्रव्या० २ अध्या० । शब्दस्यार्थप्रतिपादनसामर्थ्ये,रत्ना०४परि०।सम्म०। त्रिशूलरूपे (प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।) प्रहरणविशेषे,स्था० । जं० । भ० । प्रश्न० । औ० । आचा० । त्रिशूलविशेषे, स० । आचा० । सूत्र० । शक्त्यादिषु प्रहरणेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आत्मनः शक्तिरूपं कर्म्मेति केचित्—ये पुनरपरे प्राहुरात्मशक्तिरूपं कर्म्मेति ते एवं प्रष्टव्याः, सा शक्तिरात्मनः स्वाभाविकी उतान्यसंपर्कसमुद्भवा ? । तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदाभावप्रसङ्गः आत्मस्वरूपस्यैव तस्याः शक्तेरपनेतुमशक्यत्वात् । अन्यथा निरुपाधिकात्मानुपपत्तेरात्माख्यवस्तुधर्मस्वभावोक्तदोषानुषङ्गस्तदवस्थ एव । अथ द्वितीयः पक्षस्तथा च सति यस्योपाधेः संपर्कवशादात्मशक्तिरात्मनो नारकादिभवभ्रमणरूपा समुपादि तदेवास्माकं पौद्गलिकं कर्म्मेति न काचित् क्षतिः । आ० म०१अ० ।

सत्तिकुमार-शक्तिकुमार-पुं०।सातवाहननृपपुत्रे,ती०३३कल्प।

सत्तिक्कय-सप्तैकक-पुं० । आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयचूडारूपेऽध्ययनसप्तके,"सत्त सत्तिक्कय" स्था० ७ ठा० ३ उ० । आव० । आचा० । महापरिज्ञाऽध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्य प्रत्येकं सप्तैकका निर्व्यूढाः । आचा० २ श्रु० १ चू०१ अ०१ उ० । प्रा० । तथा-'सत्तिक्कय त्ति-सप्त सप्तैकका अनुद्देशकतयैकसरत्वेनैकका अध्ययनविशेषा आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयचूडारूपास्ते च समुदायतः सप्तेति कृत्वा सप्तैकका अभिधीयन्ते । तेषामेकोऽपि सप्तैकक इति व्यपदिश्यते, तथैव नामत्वात् एवं च ते सप्तेति । तत्र—प्रथमं स्थानसप्तैकको, द्वितीयो नैषेधिकीसप्तैकक , नैषेधिकी-स्वाध्यायभूमिः । तृतीय उच्चारप्रश्रवणविधिसप्तैकक ,चतुर्थं शब्दसप्तैकक , पञ्चमो रूपसप्तैककः,षष्ठ परक्रियासप्तैककः, सप्तमोऽन्योऽन्यक्रियासप्तैकक इति । पा० । पिण्डैषणाध्ययनादारभ्य अवग्रहप्रतिमाऽध्ययन यावदेतानि सप्ताध्ययनानि । प्रथमा चूडा सप्तसप्तैकका , द्वितीया भावना , तृतीया विमुक्तिः , चतुर्थी आचारविकल्पः , निशीथः सा पञ्चमीचूडेति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

सत्तितो-शक्तितस्-अव्य० । शक्तिमाश्रित्य यथाशक्तीत्यर्थे, पञ्चा० ८ विव० ।

सत्तिम-शक्तिमत्-त्रि० । सामर्थ्ययुक्ते, स्था० ६ ठा० ३ उ० । समर्थे, पञ्चविधकृततुलने, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सत्तिय-सात्त्विक-पुं० । सत्त्वप्रधाने, सात्त्विको नाम यो महत्यप्युदये गर्वं नोपयाति, न च गरिष्ठेऽपि समापतिते व्यसने विषादम् । व्य० ३ उ० । " सुसमत्था व समत्था, कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा । दीसंति सूरवादी,णारीवसगाण ते सूरा ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सत्तिवण्ण-सप्तपर्ण-पुं० । सप्तच्छदे वृक्षविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० ।

सत्तु-सक्तु-पुं० । अग्न्यवक्षोदे,बृ० १ उ० २ प्रक० । आव० ।

शत्रु-पुं० । अगोत्रजे वैरिणि,औ० । "शत्रोरपि गुणा ग्राह्या, दोषास्त्याज्या गुरोरपी " ति । उत्त० १ अ० । पा० । जं० ।

सत्तुंजय-शत्रुञ्जय-पुं० । विमलगिरौ, ही० । तथा श्रीशत्रुञ्जयस्योपरि पञ्चपाण्डवैः समं साधूनां विंशतिकोटय सिद्धा इति, श्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यादौ प्रोक्तमस्ति, सा कोटिर्विंशतिरूपा शतलक्षरूपा वेति, अत्र शतलक्षरूपा कोटिरवसीयते न तु विंशतिरूपेति बोध्यम् ॥ ही० ३ प्रका० ।

श्रीशत्रुञ्जयतीर्थस्य माहात्म्यम्—

" देवः श्रीपुण्डरीकाख्य—भूभृच्छिखरशेखरम् ।
अलंकरिष्णुः प्रासादं, श्रीनाभेयः श्रियेऽस्तु वः ॥ १ ॥
श्रीशत्रुंजयतीर्थस्य, माहात्म्यमतिमुक्तकम् ।
केवली यदुवाच प्राक्, नारदस्य श्रुतं पुर ॥ २ ॥
तदह लेशतो वक्ष्ये, स्वपरस्मृतिहेतवे ।
श्रोतुमर्हन्ति भव्यास्त—त्पापनाशनकाम्यया ॥ ३ ॥

युगलम्—

शत्रुञ्जये पुण्डरीक—स्तपोभृत्पञ्चकोटियुक् ।
चैत्र्यां सिद्धस्ततः सोऽपि, पुण्डरीक इति स्मृतः ॥ ४ ॥
सिद्धक्षेत्र तीर्थराजो, मरुदेवो भगीरथः ।
विमलाद्रिर्बाहुबली, सहस्रकमलस्तथा ॥ ५ ॥
तालध्वजः कदम्बश्च, शतपत्रो नगाधिराट् ।
अष्टोत्तरशत कूटः, सहस्रं यन्त्रकाण्यभि ॥ ६ ॥
ढङ्को लोहित्यः कपर्दि—निवासः सिद्धिशेखरः ।
शत्रुञ्जयस्तथा मुक्ति—निलयः सिद्धिपर्वतः ॥ ७ ॥
पुण्डरीकश्चेति नाम—धेयानामेकविंशतिः ।
गीयते तस्य तीर्थस्य, कृतासुरनरार्थिभिः ॥ ८ ॥

कलापकम्—

ढङ्कादयः पञ्च कूटा—स्तत्र सन्ति सदैवताः ।
रत्नपीतरसखानि—र्विविधौषधिराजिनः ॥ ९ ॥

ढङ्कः कदम्बो लोहित्य-स्तालध्वजकपर्दिनौ।
पञ्चेति ते कालवशान्, मिथ्यादृग्भिरुदीरिताः ॥ १० ॥
अशीतियोजनान्याद्ये, द्वितीयके तु सप्ततिम्।
षष्टिं तृतीये तुर्ये वा-ऽरके पञ्चाशतं तथा ॥ ११
पञ्चमे द्वादशैतानि, सप्तरत्नी तथान्तिमे।
इत्याद्यैरवसर्पिण्यां, विस्तरस्तस्य कीर्त्तितः ॥ १२ ॥

युग्मम्—

पञ्चाशतं योजनानि, मूलेऽस्य दश चोपरि।
विस्तार उच्छ्रयस्त्वष्टौ, युगादीशे तपत्यभूत् ॥ १३ ॥
अस्मिन् वृषभसेनाद्या, असंख्याः समवासरन्।
तीर्थाधिराजाः सिद्धाश्चा-ऽतीते काले महर्षयः ॥ १४ ॥
श्रीपद्मनाभप्रमुखा, भाविनो जिननायकाः।
अस्मिन् समवसर्त्तारः, कीर्त्तिश्रावितविष्टपाः ॥ १५ ॥
श्रीनाभेयादिवीरान्ताः, श्रीनेमीश्वरवर्जिताः।
त्रयोविंशतिरर्हन्तः, समवासार्षुरेव च ॥ १६ ॥
हेमरूपा द्विजा द्वावि—शत्यर्हत्प्रतिमान्वितम्।
अङ्करत्नजनाभेय-प्रतिमालङ्कृतं महत् ॥ १७ ॥
द्वाविंशतिलुल्लदेव, कुलिकायुक्तमुच्चकैः।
योजनं प्रमितं रत्न-मयमुत्पन्नकेवले ॥ १८ ॥
आदीश्वरे श्रीभरत-चक्री चैत्यमचीकरत्।
एतस्यामवसर्पिण्यां, पूर्वमत्र पवित्रधीः ॥ १९ ॥
द्वाविंशतिजिनेन्द्राणां, यथास्वं पादुकायुताः।
नान्यत्रायतनश्रेणी, लेप्यनिर्मितबिम्बयुक् ॥ २० ॥
अकारि चात्र समव—सरणेन सहोच्चकैः।
प्रासादो मरुदेवायाः, श्रीबाहुबलिभूभुजः ॥ २१ ॥
प्रथमोऽत्रावसर्पिण्यां, गणभृत् प्रथमार्हतः।
प्रथमं प्रथमस्तत्र, सिद्धः प्रथमचक्रिणः ॥ २२ ॥
अस्मिन्नमिविनम्याख्यौ, खेचरेन्द्रमहाऋषी।
कोटिद्वयैर्महर्षीणां, सहितौ सिद्धिमीयतुः ॥ २३ ॥
संप्रापुरत्र द्रविड-वालिखिल्यादयो नृपाः।
कोटिभिर्दशभिर्युक्ता, साधूनां परमं पदम् ॥ २४ ॥
जयरामादिराजर्षि—कोटित्रयमिहागमत्।
नारदादिमुनीना च, लक्षैको नवतिः शिवम् ॥ २५ ॥
प्रद्युम्नशाम्बप्रमुखाः, कुमाराश्चात्र निर्वृतिम्।
प्रापवन्त. सार्द्धाष्ट-कोटिसाधुसमन्विताः ॥ २६ ॥
मनुप्रमितलक्षादि—संख्याभि. श्रेणिभिस्तथा।
असख्याताभिः सर्वार्थ-, सिद्धान्तरितमासदत् ॥ २७ ॥
पञ्चाशत्कोटिलक्षादीन्, यावन्नाभेयवंशजा'।
अत्रादित्ययशोमुख्याः, सगरान्ताः शिवं नृपाः ॥ २८ ॥
भरतस्थापत्यापुत्र-श्रीशैलकशुकादय ।
अत्र सिद्धा असंख्यात—कोटाकोटिभिरायता. ॥ २९ ॥
मुनीनां कोटिविंशत्या, कुन्त्या च सह निर्वृताः
कृतार्हत्प्रथमोद्धाराः, अत्र ते पञ्च पाण्डवा. ॥ ३० ॥
द्वितीयषोडशावत्र, जिनशान्तिजिनेश्वरौ।
वर्षारात्रचतुर्मासी, तस्थतु स्थितिदेशिनौ ॥ ३१ ॥
श्रीनेमेर्वचनाद्यात्रा-गत सर्वरुजापहम्।
नन्दिषेणगणेशोऽत्रा—जितशान्तिस्तवं व्यधात् ॥ ३२ ॥
याता असख्या उद्धारा, असख्या प्रतिमास्तथा।
असंख्यानि च चैत्यानि, महातीर्थेऽत्र जज्ञिरे ॥ ३३ ॥
अर्चाः क्षुल्लतडागस्था—स्तथा भरतकारिताः।
गुहास्थाश्चानमन् भक्त्या, स्यादत्रैकावतारभाक् ॥ ३४ ॥
सम्प्रतिर्विक्रमादित्यः, शालिवाहनवाग्भटौ।
पादलिप्ताम्रदत्ताश्च, तस्योद्धारकृतः स्मृताः ॥ ३५ ॥
विदेहद्वीपवास्तव्याः, स्मरन्त्येनं सुदृष्टयः।
इति श्रीकालिकाचार्यः, पुरतः स किलाब्रवीत् ॥ ३६ ॥
अत्र श्री जावडेर्बिम्बो-द्धारजाते क्रमेण च।
अजितायतनस्थाने, बभूवानुपमं सरः ॥ ३७ ॥
अत्र श्रीमरुदेवायाः, श्रीशान्तेश्चोद्धरिष्यति।
मेघो घाघनृपः कल्कि-प्रपौत्रो भवने सुधीः ॥ ३८ ॥
अस्याः पश्चिममुद्धारं, राजा विमलवाहनः।
श्रीदुष्प्रसव (ह) सूरीणा-मुपदेशाद्विधास्यति ॥ ३९ ॥
तीर्थोच्छेदेऽपि ऋषभ—कूटाख्योऽयं सुरार्चितः।
यावत्पद्मनाभतीर्थे, पूजायुक्तो भविष्यति ॥ ४० ॥
प्रायः पापपरित्यक्ता—स्तिर्यञ्चोऽप्यत्र वासिनः।
प्रयान्ति सुगतिं तीर्थ—महात्म्याद् विशदाशयाः ॥ ४१ ॥
सिंहाग्निजलधिव्याल-भूपालविषयुग्बलम्।
चोरारिमारिजं चास्य, स्मृतेर्नश्येद्भयं नृणाम् ॥ ४२ ॥
भरतेशकृतेर्लेप्य-मयस्याद्यजिनेशतुः।
ध्यायन्नुत्सङ्गशय्यास्थं, स्व सर्वभयजिद्भवेत् ॥ ४३ ॥
उग्रेण तपसा-ब्रह्म-चर्येण (च) यदाप्नुयात्।
शत्रुञ्जये तन्निवेशात्, प्रयतः पुण्यमश्नुते ॥ ४४ ॥
प्रदद्यात्कामिकाहारं, तीर्थे कोटिव्ययेन यः।
तत्पुण्यमेकोपवासे-नाप्नोति विमलाचले ॥ ४५ ॥
भूर्भुवःस्वस्त्रये तीर्थे, यत्किंचिन्नाम विद्यते।
तत्सर्वमेव दृष्टं स्यात्, पुण्डरीकेऽभिवन्दिते ॥ ४६ ॥
अत्राद्यापि विनारिष्टं, समपारिष्ट पक्षिणम्।
न जातु जायते सत्र-मारभोज्येषु सत्स्वपि ॥ ४७ ॥
भोज्यदानेऽत्र यात्रायै, याति कोटिं शुभाशुभम्।
यात्रायै चलितेनैव, अत्रानन्तगुणं पुनः ॥ ४८ ॥
प्रतिलाभयतः सघ-मदृष्टे विमलाचले।
कोटीगुण भवेत् पुण्य, दृष्टेऽनन्तगुणं पुनः ॥ ४९ ॥
केवलोत्पत्तिनिर्वाणे, यत्राभूतां महात्मनाम्।
तानि सर्वाणि तीर्थानि, वन्दितानीह वन्दिते ॥ ५० ॥
जन्मनिष्क्रमणज्ञानो—त्पत्तिमुक्तिगमोत्सवा'।
वैयस्त्यात् क्वापि सामस्त्या-जिनानां यत्र जज्ञिरे ॥ ५१ ॥
अयोध्या मिथिला-चम्पा-श्रावस्ती-हस्तिनापुरे।
कौशाम्बी-काशि-काकन्दी-काम्पिल्ये-भद्रिलाभिधे ॥५२॥
रत्नवाहे-शौर्यपुरे, कुण्डग्रामे ह्यपापया।
चन्द्रानना-सिंहपुरे तथा राजगृहे पुरे ॥ ५३ ॥
अरिवितकसम्मेत—वैभाराष्टापदादिषु।
यात्रा यस्मिंस्तेषु यात्रा—फलाच्छतगुणं फलम् ॥ ५४ ॥

चतुर्भिः कलापकम्।

पूजापुण्याच्छतगुणं, पुण्यं बिम्बविधापने।
चैत्ये सहस्रगुण, पालनेऽनन्तशोगुणम् ॥ ५५ ॥
य कारयेदस्य मौलौ, प्रतिमां चैत्यवेश्म वा।
भुक्त्वा भारतवर्षर्द्धिं, स स्वर्गश्रियमश्नुते ॥ ५६ ॥

नमस्कारादिसहित-तपांसि विदधन्नरः ।
उत्तरोत्तरतपसा, पुण्डरीकस्मृतेर्लभेत् ॥ ५७ ॥
तीर्थमेतत्स्मरेन्मर्त्यः, करणत्रयशुद्धिमान् ।
षष्ठादिमासिकान्तानां, तपसां फलमाप्नुयात् ॥ ५८ ॥
अद्यापि पुण्डरीकाऽद्रौ, कृत्वाऽनशनमुत्तमम् ।
भूत्वा शीलविहीनोऽपि, सुखेन स्वर्गमृच्छति ॥ ५९ ॥
छत्रचामरभृङ्गार-ध्वजस्थालप्रदानतः ।
विद्याधरो जायतेऽत्र, चक्री स्याद्रथदानतः ॥ ६० ॥
दशात्र पुत्रनामानि, ददानो भावशुद्धितः ।
भुञ्जानोऽपि लभेच्चैव, चतुर्थतपस. फलम् ॥ ६१ ॥
द्विगुणानि तु षष्ठस्या—ष्टमस्य त्रिगुणानि तु ।
चतुर्गुणानि दशम—स्येति तानि ददत्पुनः ॥ ६२ ॥
फलं भवेद् द्वादशस्य, ददत्पञ्चगुणानि तु ।
तेषां यथोत्तरं वृद्धया, फलवृद्धिरपि स्मृता ॥ ६३ ॥
पूजास्नपनमात्रेण, यत्पुण्यं विमलाचले ।
नान्यतीर्थेषु यत्स्वर्ण-भूमिभूषणदानतः ॥ ६४ ॥
धूपोत्क्षेपणत. पक्षो-पवासस्य लभेत्फलम् ।
कर्पूरपूजया चात्र, मासक्षपणज फलम् ॥ ६५ ॥
निर्दोषैरथ भक्ताद्यै-र्यः साधून् प्रतिलाभयेत् ।
फलेन कार्तिके मासे, क्षपणस्य स युज्यते ॥ ६६ ॥
त्रिसंध्य मन्त्रवाःस्नातो, मासान्तं चैत्यपूजया ।
नमोऽर्हद्भ्यः फल ध्याय-ञ्जिहार्जेत्तीर्थकृत्पदम् ॥ ६७ ॥
पादलिप्त. पुरे यातः, प्रासादौ पार्श्ववीरयोः ।
अधोभागे चास्य नेमि-नाथस्यायतनं महत् ॥ ६८ ॥
तिस्र कोटीस्त्रिलक्षोना, व्ययित्वा वसु वाग्भटः ।
मन्त्रीश्वरो युगाधीश—प्रासादमुद्दीधरत् ॥ ६९ ॥
दृष्ट्वैव तीर्थप्रथम—प्रवेशेऽत्रादिमार्हत. ।
विशदा मूर्त्तिराधत्ते, दृशोरमृतपारणम् ॥ ७० ॥
अष्टोत्तरे वर्षशते-ऽतीते श्रीविक्रमादिह ।
बहुद्रव्यव्ययाद्विम्बं, जावडिः समचीकरत् ॥ ७१ ॥
भास्करद्युतिमस्माण—मणिशैलतटीस्थितम् ।
ज्योतीरसाख्यं यद्रत्नं, तत्तेन घटित किल ॥ ७२ ॥
मधुमत्यां पुरि श्रेष्ठी, वास्तव्यो जावडिः पुरा ।
श्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्य, श्रीवैरस्वामिनोऽतरत् ॥ ७३ ॥
गन्धोदकस्नात्ररुचि—र्लेप्यबिम्ब शुभोऽवश. ।
स्मृत्वा चक्रेश्वरीं सैष, मम्माणाद्रिखनीमगात् ॥ ७४ ॥
निर्माप्येहाश्मनीं मूर्त्तिं, रथमारोप्य चाऽचलत् ।
विमलाद्रिं सभार्योऽसौ, पद्यया हृद्यया दिने ॥ ७५ ॥
ययौ यावन्तमध्वानं, दिवसेऽप्रतिमो रथः ।
रात्रौ तावन्तमेवासौ, पश्चाद् व्यावर्त्तते भुवः ॥ ७६ ॥
खिन्नः कपर्दिनं स्मृत्वा, स्पृष्ट्वा हेतुं च तद्विधौ ।
रथमार्गेऽपतत्तिर्यग्, प्रयतः सह जायया ॥ ७७ ॥
तत्साहसप्रसन्नेन, दैवतेनाधिरोपितः ।
रथः सबिम्बोऽद्रेः शृङ्गे, दु.साध्यं सात्त्विकेषु किम् ? ॥७८॥
मूलनायकमुत्थाप्य, न्यस्ते बिम्बे तदास्पदे ।
लेप्यबिम्बारटितेन, पर्वतः खण्डशोऽदलत् ॥ ७९ ॥
तन्मुक्ताऽथ तद्विधूर्भ्रणी, बिम्बेन करमर्दिता ।
सोपानानि छिद्रयन्ती, निर्ययौ शैलदेशभित् ॥ ८० ॥
आरुह्य चैव शिखरं, सकलत्रः प्रमोदतः ।
जावडिर्नैरिनर्त्ति स्म, चञ्चद्रोमाञ्चकञ्चुकः ॥ ८१ ॥
अपतीर्थिकवोहित्था, नष्टाऽष्टादश आपतन् ।
तद्द्रव्यव्ययतः श्रेष्ठी, तत्र चक्रे प्रभावनाम् ॥ ८२ ॥
इत्थं जावडिराधार्हत्-पुण्डरीककपर्दिनाम् ।
मूर्ति निवेश्य संजज्ञे, सर्विमानातिथिर्विभाक् ॥ ८३ ॥
दक्षिणाङ्गे भगवतः, पुण्डरीक इहादिमः ।
वामाङ्गे दीप्यते तस्य, जावडि. स्थापिताऽपरः ॥ ८४ ॥
इक्ष्वाकुवृष्णिवंश्याना—मसंख्या कोटिकोटय. ।
अत्र सिद्धाः कोटिकोटि—तिलकं सूचयत्यदः ॥ ८५ ॥
पाण्डवाः पञ्च कुन्ती च, तन्माता च शिवं ययुः ।
ख्यापयन्तीति तीर्थेऽत्र, पड्डेषा लेप्यमूर्तय. ॥ ८६ ॥
राजादनश्चैत्यशाखी, श्रीसघाद्भुतभाग्यतः ।
दुग्धं वर्षति पीयूष—मिव चन्द्रकरोत्कर' ॥ ८७ ॥
व्याघ्रीमयूरप्रमुखा—स्तिर्यञ्चो भक्तमुक्तिनः ।
सुरलोकमिह प्राप्ताः, प्रणतादीशपादुकाः ॥ ८८ ॥
वामं सत्यपुरस्यास्य, द्वारे मूलजिनौकसः ।
दक्षिणे शत्रुजिच्चैत्य पृष्ठे चाष्टापद. स्थितः ॥ ८९ ॥
नन्दीश्वरस्तम्भनको, जयतां नाम कृच्छ्रतः ।
भव्येषु पुण्यवृद्ध्यर्थ—मवतारा इहासने ॥ ९० ॥
आत्तासिना विनमिना, नेमिना च निषेवितः ।
स्वर्गारोहणचैत्ये च , श्रीनाभेय' प्रभासते ॥ ९१ ॥
तुङ्गे शृङ्गे द्वितीये च, श्रेयासः शान्तिनेमिनौ ।
अन्येप्वृषभवीराद्या, अस्यालङ्कुर्वते जिनाः ॥ ९२ ॥
मरुदेवा भगवती, भवनेऽत्र भवच्छिदाम् ।
नमस्कृत्य कृती स्वस्य, मन्यते कृतकृत्यताम् ॥ ९३ ॥
यक्षराजः कपर्दीह, कल्पवृक्ष. प्रणेमुखः ।
चित्रान् यात्रिकसंघस्य, विघ्नान् मर्दयति स्फुटम् ॥ ९४ ॥
श्रीनेम्यादेशत. कृष्णो, दिनान्यष्टाचुपोषितः ।
कपर्दिंयक्षमाराध्य, पर्वतान्तर्गुहान्तरम् ॥ ९५ ॥
अद्यापि पूजा शक्रेण, बिम्बत्रयमगोपयत् ।
अद्यापि श्रूयते तत्र, किल शक्रसमागमः ॥ ९६ ॥
युग्मम्–
पाण्डवस्थापितश्रीम-दृषभोत्तरदिग्गता ।
सगृहा विद्यतेऽद्यापि, याचत्कुल्लतडागिका ॥ ९७ ॥
यक्षस्यादेशतस्तत्र, दृश्यन्ते प्रतिमाः किल ।
तत्रैवाजितशान्तीशौ, वर्षारात्रमवस्थितौ ॥ ९८ ॥
तयोश्चैत्यद्वयं पूर्वा—भिमुख तत्र चाऽभवत् ।
निकषाजितचैत्य च, यभूवानुपमं सरः ॥ ९९ ॥
मेरुदेव्यन्तिके शान्ते-श्चैत्यं शैत्यकरीदृशम् ।
भवति स्म भवभ्रान्ति—भिदुर भव्यदेहिनाम् ॥ १०० ॥
श्रीशान्तिचैत्यस्य पुरो, हस्तानां त्रिंशता पुन' ।
पुरुषैः सप्तभिरधः, खनी द्वे स्वर्णरूप्ययोः ॥ १०१ ॥
ततो हस्तशतं गत्वा, पूर्वद्वाराऽस्ति कूपिका ।
अधस्तादष्टभिर्हस्तैः, श्रीसिद्धरसपूरिता ॥ १०२ ॥
श्रीपादलिप्ताचार्येण, तीर्थोद्धारकृते किल ।
अस्ति संस्थापित रत्न, सुवर्णं तत्समीपगम् ॥ १०३ ॥
पूर्वस्यामृषभधिया-दधश्चर्षभकूटतः, ।
धनूंषि त्रिंशतं गत्वो-पवासोऽत्रीन् समाचरेत् ॥ १०४ ॥

कृते वलिविधानादौ, यराध्या स्वं प्रदर्शयेत् ।
तदाज्ञयोद्धाट्य शिलां, रात्रौ मध्ये प्रविश्यते ॥१०५॥
तत्रोपवासत. सर्वाः, सपद्यन्ते च सिद्धयः ।
तत्रर्षभ वा नमता-द्भवेदेकावतारभाक् ॥ १०६ ॥
पुरो धनु पञ्चशत्या, आस्ते पाषाणकुण्डिका ।
ततः सप्तक्रमान् गत्वा, कुर्यात्तद्वलिविद्बुध. ॥ १०७ ॥
शिलोत्पाटनतस्तत्र, कस्यचित्पुण्यशालिन. ।
उपवासद्वयेन स्यात् , प्रत्यक्षा रसकूपिका ॥ १०८ ॥
कल्किपुत्रो धर्मदत्तो, भावीश. परमार्हतः ।
दिने दिने जिनबिम्बं, प्रतिष्ठाप्य च भोक्ष्यते ॥ १०९ ॥
श्रीमच्छत्रुञ्जयोद्धारं, कर्त्ताऽथ जितशत्रुराट् ।
द्वात्रिंशद्वर्षराजश्री-र्भविष्यति तदात्मजः ॥ ११० ॥
तत्सूनुर्मेघघोपाख्य , श्रीशान्तिमरुदेवयोः ।
कपर्दियक्षस्यादेशा-च्चैत्यमत्रोद्धरिष्यति ॥ १११ ॥
नन्दि. सूरिरथाश्चर्य, श्रीप्रभोर्माणिभद्रक. ।
धनमित्रो यशोमित्र—स्तथा विकटधार्मिक. ॥११२॥
सुमङ्गल. (शू) रसेन , इत्यस्योद्धारकारका. ।
अवक् दुष्प्रसहोदन्तो, भावी विमलवाहन. ॥ ११३ ॥
यात्रिकान् येऽस्य बाधन्ते, द्रव्यं चापहरन्ति ये ।
पतन्ति नरके घोरे, सान्वयास्तेऽहसा नरा. ॥ ११४ ॥
यात्रां पूजा द्रव्यरक्षा, यात्रिकाणां च सत्कृतिम् ।
कुर्वाणो वत्सगोत्रोऽपि, स्वर्गलोके महीयते ॥ ११५ ॥
श्रीवस्तुपालोपज्ञानि, पीथड.दिकृतानि च ।
ब्रह्मा पारं नयत्येव, धर्म्मस्थानानि कीर्तयन् ॥ ११६ ॥
दु खमासचिरात् म्लेच्छा-द्भङ्ग सम्भाव्य भाविनम् ।
मन्त्रीश. श्रीवस्तुपाल—स्तेजपालाग्रज. सुधीः॥११७॥
मम्मणा (म्मणो) पलरत्नेन, निर्माप्यान्तस्तु निर्मले ।
न्यधाद्भूमिगृहे मूर्त्ती, आद्यार्हत्—पुण्डरीकयो.॥११८॥

युग्मम्-

हीप्रहर्तृक्रियास्थान—संख्ये विक्रमवत्सरे ।
जावडिस्थापितं बिम्ब, म्लेच्छैर्भग्नं कलेर्वशात् ॥११९॥
वैक्रमे वत्सरे चन्द्र—हयाग्नीन्दुमिते (१३७१) सति ।
श्रीमूलनायकोद्धारं, साधु श्रीसमरो व्यधात् ॥१२०॥
तीर्थेऽत्र संघपतयो, ये बभूवुर्भवन्ति ये ।
ये भविष्यन्ति धन्यास्ते, नन्द्यासुस्ते चिरं श्रिया ॥१२१॥
कल्पप्राभृतत. पूर्वं, कृतं श्रीभद्रबाहुना ।
श्रीवज्रेण ततः पाद—लिप्ताचार्यैस्तत. परम् ॥१२२॥
इतोऽप्युद्धृत्य संक्षेपात् ,प्रणीत कामितप्रद ।
श्रीशत्रुञ्जयकल्पोऽय, श्रीजिनप्रभुसूरिभि. ॥१२३॥
कल्पेऽस्मिन् वाचिते ध्याते, व्याख्याते पठिते श्रुते ।
स्यात्तृतीयभवे सिद्धि-र्भव्यानां शक्तिशालिनाम् ॥१२४॥
श्रीशत्रुञ्जयशैलेश !-लेशतोऽपि गुणास्तव ।
कैर्व्यावर्णयितुं नाम, पार्यन्ते विबुधैरपि ॥ १२५ ॥
भवेद्यात्रोपनम्राणां, नृणा तीर्थानुभावत ।
प्रायो मन'परीणामः, शुभ एव प्रवर्त्तते ॥ १२६ ॥
यात्रायै प्रचलत्संघ-रथाश्वोग्रनृपादजः ।
रेणुरङ्गे लगन् भव्य-पुंसां पापं व्यपोहति ॥ १२७ ॥
यावान् कर्मक्षयोऽन्यत्र, मासक्षपणतो भवेत् ।
नमस्कारसहितादे-रपि तावान् कृतस्त्वयि ॥ १२८ ॥

श्रीनाभेयकृतावास-वासवस्तवनेन च ।
मनसा वचसा नत्वा, सिद्धिक्षेत्र ! नमोऽस्तु ते ॥ १२९ ॥
त्वत्कल्पमेतं निर्माय, निर्माय मनसा मया ।
यदार्जि पुण्य तेनास्तु, विश्वं वास्तवसौख्यवत् ॥ १३० ॥
पुस्तकन्यस्तमपि यः, कल्पमेनं महिष्यति ।
पत्रेण काङ्क्षितास्तस्य, सिद्धिमेष्यन्ति संपदः ॥ १३१ ॥
प्रारम्भेऽप्यस्य राजाधि—राज. संघे प्रसन्नवान् ।
अतो राजप्रसादाख्य., कल्पोऽयं जयताच्चिरम् ॥ १३२ ॥
श्रीविक्रमाब्दे बाणाष्ट-विश्वदेवमिते शितौ ।
सप्तम्यां तपसः काव्य-दिवसेऽय समर्पितः ॥ १३३ ॥
ती० १ कल्प । 'नार्हत. परमो देवो, न मुक्तेः परमं पदम् । न श्रीशत्रुञ्जयात्तीर्थं, श्रीकल्पान्न पर श्रुतम् ॥ १ ॥ ' कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

अथ पण्डितडाहर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा—

" दत्तेऽसौ सर्वसौख्यानि, त्रिशुद्धयाराधितो यतिः ।
विराधितश्च तैरश्च्य-नरकानल्पयातनाः ॥९०॥
चारित्रिणो महासत्त्वा, व्रतिनः सन्तु दूरतः ।
निष्क्रियोऽप्यगुणज्ञोऽपि,न विराध्यो मुनिः क्वचित्॥९१॥
यादृशं तादृशं चापि, दृष्ट्वा वेषधरं मुनिम् ।
गृही गौतमवद्भक्त्या, पूजयेत्पुण्यकाम्यया ॥ ९२ ॥
वन्दनीयो मुनिर्वेषो, न शरीरं हि कस्यचित् ।
व्रतिवेषं ततो दृष्ट्वा, पूजयेत्सुकृती जनः ॥ ९३ ॥
पूजितो निष्क्रियोऽपि स्या-ल्लज्जया व्रतधारकः ।
अवज्ञातः सक्रियोऽपि, व्रतेऽस्याच्छिथिलादरः ॥९४॥
दानं दया क्षमा शक्तिः, सर्वमेवाल्पसिद्धिकृत् ।
तेषां ये व्रतिनं दृष्ट्वा, न नमस्यन्ति मानवाः ॥ ९५ ॥
आराधनीयास्तदमी, त्रिशुद्धया जैनलिङ्गिनः ।
न कार्या सर्वथा तेषां, निन्दा स्वार्थविघातिका ॥९६॥
कारणं तव कुष्टा(ष्ठा)नां, महीपाल ! स्फुटं ह्यदः ।
मा कदापि मुनीन् क्रुद्धा-नपि त्वं तु विराधयेः ॥९७॥"

इति वृद्धश्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यद्वितीयसर्गमध्यगतश्लोकास्ते-षा मध्ये केवललिङ्गमात्रधरोऽपि मुमुक्षुर्वन्दनीयो गौतम-वत्पूजनीयश्च तत्कथं केन हेतुनेति ?, । १ । अथैतस्य प्रश्नस्य प्रतिवचो यथा—' दत्तेऽसौ सर्वसौख्यानी ' त्यादि शत्रुञ्जयमाहात्म्यद्वितीयसर्गमध्यगतश्लोकास्तु कारणिकवि-धिमाश्रित्य तीर्थोद्भावनबुद्धया वा कृताः संभाव्यन्ते इति न कश्चिद्दोष इति ॥ १ ॥ ही० २ प्रका० । ' पच्चक्खाण ' शब्दे पञ्चमभागे ८८ पृष्ठे मूलगुणप्रत्याख्यानव्याख्या—नावसरे उदाहृते स्वनामख्याते साकेतराजे, । येन रत्नद-र्शनव्याजेन सामायिकादिषडध्ययनरूपाणि भावरत्नानि गृ-हीतानि । आव० १ अ० ।

सत्तुग-शक्तुक-पुं० । अध्ययवचोदे, तद्दिवसकृता ण एष ज-

विक्रमसवत् १३८५ माघ शुक्ल सप्तम्या शुक्रवासरे ।

वा भुग्गा पासाणजतग्गे दलिया महिणा सत्तुगा भणंति । नि० चू० १ उ० ।

सत्तुचुराण-सक्तुचूर्ण-पुं० । यवसक्तुषु, दश० १ अ० ।

सत्तुजण-शत्रुजन-पुं० । वैरिलोके, ति० ।

सत्तुदाह-शत्रुदाह-पुं० । यत्र शत्रवो दह्यन्ते । तादृशे स्थाने, नि० चू० ३ उ० ।

सत्तुमद्दन-शत्रुमर्दन-पुं० । तच्छरीरतत्सैन्यकदर्थनादिषु सहस्रमानमथने, स० ।

सत्तुय-शक्तुक-पुं० । अण्णयवलोदे, । उत्तरावहे सत्तुया अन्नेसु वा ज विसए दाऊण पच्छा अणेगमवक्खा पगारा दिज्जंति । नि० चू० १ उ० ।

सत्तुसेण-शत्रुसेन-पुं० । नागस्य गृहपतेः सुलसायां भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, अन्त० १ श्रु० २ वर्ग १ अ० । (स च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सेत्स्यतीत्यन्तकृद्दशाना तृतीये वर्गे षष्ठे अध्ययने सूचितम् ।)

सत्तुस्सेह-सप्तोत्सेध-त्रि० । सप्तकुम्भादिषु स्थानेषून्नते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सप्तहस्तप्रमाणशरीरे, च० प्र० १ पाहु० । सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्रये, सू० प्र० १ पाहु० ।

सत्थ-शस्त-त्रि० । प्रशस्ते, षो० ७ विव० ।

शस्त्र-न० । शस्यन्ते-हिंस्यन्ते अनेन प्राणिन इति शस्त्रम् । आचा०१श्रु०१अ०३उ० । जीवशासनहेतौ, स्था० ६ठा०३ उ० । उपघातकारिणि, आचा०१श्रु०२अ० १ उ० । खड्गक्षुरिकाद्येप्यायुधे, प्रश्न० ५ सव० द्वार । प्रव० । व्य० । स्था० । प्रहरणे, सूत्र०१श्रु०८ अ० । ज्ञा० । दात्रादिके, सूत्र० १श्रु० ४ अ० १ उ० । जं जस्स विणासकारणं तं तस्स सत्थं भणणति । नि० चू० १ उ० । प्रच्छन्नके नापितोपकरणे, विपा० १ श्रु० ६अ० । शस्त्र द्रव्यभावभिन्नम् । तत्र द्रव्यशस्त्र-स्वकायपरकायोभयरूपम् । भावशस्त्रं तु-असयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षण । आचा०१ श्रु० १ अ०२ उ० । द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधा-तत्र समासो द्रव्यशस्त्रमप्कायविषयकमुत्सेचन उत्क्षेपणादि, विभागतस्तु किंचित्स्वकायं परकायं वा शस्त्रम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

शस्त्रनिक्षेप —

दव्वं सत्थग्गि विस-णेहंबिलखारलोणमादीयं ।
भावो उ दुप्पउत्तो,वाया काओ अविरती य ॥३६॥

शस्त्रस्य निक्षेपो नामादिश्चतुर्धा-व्यतिरिक्त द्रव्यशस्त्रं खड्गाद्यग्निविषस्नेहाम्लक्षारलवणादिकम् , भावशस्त्र दुष्प्रयुक्तो भाव अन्तःकरणं, तथा वाक्कायावविरतिश्चेति जीवोपघातकारित्वादिति भाव । आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ० । (अत्रत्या वक्तव्यता 'पुढवीकाइय' शब्दे पञ्चमभागे ६७८ पृष्ठे गता ।) (पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाना शस्त्राणि पृथिव्यादिशब्देषूक्तानि ।)

अत्थि सत्थं परेण परं, णऽत्थि असत्थं परेण परं ।
(सू०१२४×)

तत्र द्रव्यशस्त्र कृपाणादि तत्परेणापि परमस्ति, तीक्ष्णादपि तीक्ष्णतरमस्ति लोहकर्तृसंस्कारविशेषात् । यदि वा-शस्त्रमित्युपघातकारि, तत एकस्मात्पीडाकारिणोऽन्यत् पीडाकार्युत्पद्यते ततोऽप्यपरमिति । तद्यथा-कृपाणाभिघाताद्घातोत्कोपस्तत शिरोर्त्तिस्तस्या ज्वरस्ततोऽपि मुखशोषमूर्च्छादय इति । भावशस्त्रपारपर्य त्वेकसूत्रान्तरिते स्वत एव प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारेण वक्ष्यति , यथा च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्ति पारपर्यं वा विद्यते अशस्त्रस्य तथा नास्तीति दर्शयितुमाह-'नत्थि' इत्यादि, नास्ति-न विद्यते किं तत्-शस्त्र संयमस्तत्परेण परमिति प्रकर्षगत्यापन्नमिति । तथाहि-पृथिव्यादिनां सर्वतुल्यता कार्या, न मन्दतीव्रभेदोऽस्तीति , पृथिव्यादिषु समभावत्वात् सामायिकस्य । अथवा शैलेश्यवस्थासंयमादपि पर संयमो नास्ति तदूर्द्ध गुणस्थानाभावादिति भाव ., यो हि क्रोधमुपादानतो वन्धत स्थितितो विपाकतोऽनन्तानुबन्धिलक्षणत क्षयमाश्रित्य प्रत्याख्यानपरिज्ञया जानाति सोऽपरमानादिदर्श्यपीति । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सत्थमेगे उ सिक्खंति । (सू० ४+)

शस्त्रम्-खड्गादिप्रहरण शास्त्रं वा-धनुर्वेदायुर्वेदादिक प्राण्युपमर्दकारि तत् सुष्ठु सातगौरवगृद्धा एके-केचन शिक्षन्ते उद्यमेन गृह्णन्ति , तच्च शिक्षितं सत् प्राणिना-जन्तूनां विनाशाय भवति । तथाहि-तत्रोपदिश्यते एवंविधमालीढप्रत्यालीढादिभिर्जीवे व्यापादयितव्ये स्थानं विधेय, तदुक्तम्-" मुष्टिनाऽऽच्छादयेल्लक्ष्य , मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत् । हत लक्ष्यं विजानीया-द्यदि मूर्धा न कम्पते ॥१॥ " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । शस्त्रमिव शस्त्रम् । मृषावादादिके, प्राण्युपतापकारित्वात्तेषाम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

शास्त्र-न० । शिष्यते शिक्ष्यते बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रम् । विशे० । आ० म० । नं० । सूत्र० ।

सासिज्जए तेण तहिं, व नेयमायावतो सत्थं ॥१३८४॥

'शासु' अनुशिष्टौ,शास्यते ज्ञेयमात्मा वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम् , शास्यते-कथ्यते तदिति वा शास्त्रमिति गाथार्थ । विशे० । श्रुते , आ० चू० १ अ० । जैनागमे , अष्ट० २४ अष्ट० ।

तस्मात्सदैव धर्म्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् , शास्त्रालोकः प्रवर्त्तकः ।२२४।

तस्माद्धर्मे विधानत परान्यभावात् सदैव-सर्वकालमेव धर्म्मार्थी-धर्माभिलाषुक शास्त्रयत्न -शास्त्रादरपर प्रशस्यते-श्लाघ्यते । कुत -यत लोके-जगति मोह एवान्धकारस्तमो यत्र स तथा । तत्र शास्त्रालोक -शास्त्रप्रकाश प्रवर्त्तक -प्रवर्त्तयिता परलोकक्रियासु ।

अथ शास्त्रमेव स्तुवन्नाह-

पापामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥ २२५ ॥

पापामयौषध—पापव्याधिशमनीय शास्त्रम् , तथा शास्त्र पुण्यनिबन्धनम्-पवित्रकृत्यनिमित्तम् । चक्षु -लोचन सर्वत्र-सूक्ष्मबादरादावर्थे गच्छति यत्तत्सर्वत्रग शास्त्रम् । शास्त्रं सर्वार्थसाधनं—सर्वप्रयोजननिष्पत्तिहेतु ।

ततः-

न यस्य भक्तिरेतस्मिं-स्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥ २२६ ॥

न यस्य--धर्मार्थिनो भक्तिर्बहुमानरूपा, एतस्मिन्-शास्त्रे तस्य धर्मक्रियाऽपि हि-देववन्दनादिरूपा, किं पुनरन्यरूपेत्यपि हिशब्दार्थः, अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या अन्धस्यावलोकनकृते या प्रेक्षणकक्रिया तत्तुल्या कर्मदोषात्तथाविधमोहोदयादसत्फला--अविद्यमानाभिप्रेतार्था संपद्यत इति।

एतदपि कुतः?, यत.--

यः श्राद्धो मन्यते मान्या-नहंकारविवर्जितः।
गुणरागी महाभाग-स्तस्य धर्मक्रिया परा ॥ २२७ ॥

यः श्राद्ध -सन्मार्गश्रद्धालु', मन्यते--बहुमानविषयीकुरुते मान्यान्-देवतादीन्,अहंकारविवर्जितो-मुक्ताभिमान', अत एव गुणरागी--गुणानुरागवान् महाभागः-प्रशस्याचिन्त्यशक्तिः, किमित्याह--तस्य-शास्त्रपरतन्त्रतया मान्यमन्तुः, धर्मक्रिया-उक्तरूपा-परा प्रकृष्टेति।

व्यतिरेकमाह-

यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धादयो गुणाः।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वा-न्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥ २२८ ॥

यस्य त्वनादर.-अगौरवरूप. शास्त्रे तस्य श्रद्धादयः-श्रद्धासंवेगनिर्वेदादयो गुणा'। किमित्याह-उन्मत्तगुणतुल्यत्वात्-तथाविधग्रहावेशात् सोन्मादपुरुषशौर्यौदार्यादिगुणसदृशत्वान्न प्रशसास्पदं-न श्लाघास्थान सतां-विवेकिनामिति।

एतदपि कथम्? यतः--

मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥ २२९ ॥

मलिनस्य--मलवतो यथाऽत्यन्तम्-अतीव जल--पानीयम् वस्त्रस्य-प्रतीतरूपस्य शोधन-शुद्धिहेतु' अन्त.करण--रत्नस्य अन्त करणं--मन., तदेव रत्न, तस्य चिन्तारत्नादिभ्योऽप्यतिशायिन., तथा शास्त्रं विदु'--जानते शोधनं बुधा.-बुद्धिमन्त।

अत एव--

शास्त्रे भक्तिर्जगद्वन्द्यै-र्मुक्तेर्दूती परोदिता।
अत्रैवेयमतो न्याया-त्तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥ २३० ॥

शास्त्रे भक्तिरुक्तरूपा जगद्वन्द्यैर्जगत्त्रयपुजनीयैस्तीर्थकृद्भिर्मुक्तेर्दूती--अवशीभूतमुक्तियोषित् समागमविधायिनी परा-प्रकृष्टा उदिता-निरूपिता। अत्रैव-शास्त्र एवेयं भक्तिरतो मुक्तिदूतिभावादेव हेतोः न्याय्या-सगता। कुत इत्याह-तत्प्राप्त्यासन्नभावत.--मुक्तिप्राप्तेरासन्नभावात्। न हि मुक्तिप्राप्तेरनासन्न. शास्त्रभक्तिमान् संपद्यते अत' शास्त्र एवेयं न्याय्येति। यो० विं०। "सुत्त ति वा तंत ति वा गंथो त्ति वा पाठो त्ति वा सत्थ ति वा एगट्ठा"। आ० चू० १ अ०। आचा०। शास्त्रस्यादौ प्रयोजनादि उपन्यसनीयम्। आ० म० १ अ०। (अत्रत्या व्याख्या 'आवस्सयनिज्जुत्ति' शब्दे द्वितीयभागे ४५६ पृष्ठे गता।) ('मंगल' शब्दे षष्ठ भागे ५ पृष्ठे मङ्गलस्य शास्त्राङ्गता उक्ता।)

स्वस्थ-त्रि०। स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थ.। अनाबाधिते, हा० ३२ अष्ट०।

सार्थ-त्रि०। अर्थयुक्ते, बृ०।

भंडीवहिलगभरवह-ओदरिया कप्पडियसत्थो।

सार्थः पञ्चविधस्तद्यथा--भण्डी--गन्त्री तदुपलक्षितः प्रथमः सार्थः, वहिलकाः-करभीवेसरबलीवर्दप्रभृतयः तदुपलक्षितो द्वितीयः, भारवहा.-पोट्टलिकावाहकास्तेषां सार्थस्तृतीयः, औदरिका नाम--यत्रागतास्तत्र रूपकादिकं प्रक्षिप्य समुद्दिशन्ति समुद्देशनानन्तरं भूयोऽप्यग्रतो गच्छन्ति एष चतुर्थः, कार्प्पटिका-भिक्षाचरास्तैः सह भिक्षा भ्रमन्तो व्रजन्ति ते सार्थाः पञ्चम। बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०।

स्वास्थ्य-न०। स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम्। अनाबाधतायाम्, हा० ३२ अष्ट०। समाधौ, आ० म० १ अ०। ज्ञा०। आव०। स्था०।

सत्थकोस-शस्त्रकोस-पुं०। शिरावेधादिशस्त्रसमुदाये, बृ० १ उ०३ प्रक०। (अस्योपयोगवर्णनं 'राइभोयण' शब्दे षष्ठभागे ४१७ पृष्ठे गतम्।) क्षुरनखरदनादिभाजने, ज्ञा०१ श्रु०१३ अ०। शस्त्रकोशो नखरदच्छेदनादिभाजनम्। विपा०१ श्रु० १ अ०।

सत्थग्गहण-शस्त्रग्रहण-न०। शस्त्रं--खड्गादि तस्य ग्रहणं स्वीकरणम्। शस्त्रादिधारणे तेषां वधार्थं व्यापारणे, ग० २ अधि०।

सत्थघायक-सार्थघातक-त्रि०। सार्थनाशके, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

सत्थजत्त-शास्त्रयत्न-पुं०। शास्त्रे यत्नो यस्येति समासः। आगमे यतमाने, "पापामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्। चक्षु सर्वत्रग शास्त्रं,शास्त्रं सर्वार्थसाधनम्॥१॥" ध०१ अधि०।

सत्थजाय-शस्त्रजात-न०। आयुधविशेषे, आचा०२ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

सत्थजुत्तिसय-शास्त्रयुक्तिशत-न०। शास्त्रस्य युक्तयः तेषा शतम्। अनेकागमरहस्यावबोधे, अष्ट० २६ अष्ट०।

सत्थजोग-शास्त्रयोग-पुं०। शास्त्रोक्ते योगे,"यथाशक्त्यप्रमत्तस्य, तीव्रश्रद्धावबोधतः। शास्त्रयोगस्त्वखण्डार्था-राधनादुपदिश्यते॥४॥" द्वा० १६ द्वा०। (अत्रत्या व्याख्या 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६२७ पृष्ठे गता।)

सत्थत्थवाहण-शास्त्रार्थबाधन-न०। आगमार्थविराधने प्राणातिपातादिरूपे, पञ्चा० १६ विव०।

सत्थपणग-सार्थपञ्चक-न०। 'सत्थ' शब्दोक्तानां पञ्चानां सार्थानां पञ्चतय्याम्, नि० चू० १६ उ०।

सत्थपत्थावणा-शास्त्रप्रस्तावना-स्त्री०। शास्त्रीयोपोद्घाते, स्था० १ ठा०।

सत्थपरिणामिय-शस्त्रपरिणामित-त्रि०। शस्त्रेण स्वकायपरकायादिना निर्जीवीकृत वर्णगन्धरसादिभिश्च परिणामितम्। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। वर्णादीनामन्यथाकरणेनाचित्तीकृते, भ०७ श०१ उ०। कृताभिनवपर्याये, भ० ५ श० २ उ०।

सत्थपरिण्णा-शस्त्रपरिज्ञा-स्त्री०। शस्त्रं द्रव्यभावभेदादनेकविध तस्य जीवशंसनहेतो. परिज्ञा-ज्ञानपूर्वकं प्रत्याख्यानं यत्रो-च्यते सा शस्त्रपरिज्ञा। षट्जीवनिकायस्वरूपरक्षणोपायगर्भे आचाराङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धस्य प्रथमाध्ययने, स्था० ६ ठा० ३ उ०। प्रश्न०। आचा०। आव०।

साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकार. शस्त्रपरिज्ञाया अयम्—

जीवो छक्कायपरू-वणा य तेसिं वहे य बंधो त्ति।
विरईए अहिगारो, सत्थपरिणाएँ णायव्वो ॥ ३५ ॥

तत्र प्रथमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रतिपाद्यम्, शेषेषु षट्सु विशेषेण पृथिवीकायाद्यस्तित्वमिति सर्वेषां चावसाने बन्धविरतिप्रतिपादनमिति। एतच्चान्ते उपात्तत्वात्प्रत्येकमुद्देशार्थेषु योजनीयम्। प्रथमोद्देशके जीवस्तद्वधे बन्धो विरतिश्चेत्येवमिति। तत्र शस्त्रपरिज्ञेति द्विपदं नाम। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सत्थवाह-सार्थवाह-पुं०। सार्थं वाहयतीति सार्थवाह.। नि० चू० ६ उ०। सार्थनायके, प्रज्ञा० २० पद ५ द्वार। "गणिमं धरिमं मेज्जं, पारिच्छेज्जं च दव्वजायं तु। घेत्तूणं लाभत्थं, वच्चति जो अन्नदेसं तु ॥ १ ॥ निवबहुमओ पसिद्धो दीणाऽणाहाण वच्छलो पथे। सो सत्थवाहनामं, धणो व्व लोए समुव्वहइ ॥ २ ॥" एतल्लक्षणयुक्ते, अनु०।

अथ यदुक्तमष्टौ सार्थवाहा आदियात्रिकाश्चेति तदेतद् व्याख्यानयति—

पुराणसावगसम्म-द्दिट्ठि अहाभद्ददाण सड्ढे य।
अणाभिग्गहिए मिच्छे, अभिग्गहे अन्नतित्थी ये ॥६३३॥

पुराण.-पश्चात्कृत १श्रावक.-प्रतिपन्नाणुव्रत २, सम्यग्दृष्टि. चरितसदर्शनीय ३, यथाभद्रक -सामान्यत' दर्शनसाधुपक्षपाती४, दानश्राद्ध -प्रकृत्यैव दानरुचिमान्५, अनभिगृहीतमिथ्यादृष्टि ६अभिगृहीतमिथ्यादृष्टि ७अन्यतीर्थिक.८एते त्रयोऽपि प्रतीता, एवमष्टौ सार्थाधिपतय, आदियात्रिका अप्येवमेवाष्टौ भङ्गा भवन्ति। बृ०१ उ०३ प्रक०। स्था०। कल्प०। नि० चू०। आ० क०। रा०। आव०। ज्ञा०। यस्तु क्रयाणकजात गृहीत्वा लोभार्थमन्यदेश व्रजन् सार्थं वाहयति योगक्षेमचिन्तया पालयति स सार्थवाह.। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

सत्थविहान-सार्थविधान-न०। गणिमादिभेदाच्चतुर्विधसार्थभेदे, बृ० तत्र गणिम यदेकद्व्यादिसंख्यया गणयित्वा दीयते यथा हरीतकीपूगफलादि, धरिम—यत्तुलाया धृत्वा दीयते- यथा खण्डशर्करादि, मेयं-यत्पलादिना सेतिकादिना वा मीयते यथा घृतादिक, परिच्छेद्य नाम—यच्चक्षुषा परीक्ष्यते यथा वस्त्ररत्नमौक्तिकादि। एतच्चतुर्विधमपि द्रव्य भण्डीसार्थादिषु प्रत्युपेक्षणीयं यथा द्रव्यक्षेत्रकालभावैरपि सार्थे प्रत्युपेक्षणीय.। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

सत्थयुत्तणाय-शास्त्रोक्तन्याय-पुं०। आगमाभिहितनये, हा० २१ अष्ट०।

सत्थब्भास-शस्त्राऽभ्यास-पुं०। शस्त्रयुद्धकलाभ्यासे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

सत्थसंवदण-स्वार्थसंवेदन-न०। स्वं चार्थश्च स्वार्थौ तयो· संवेदन स्वार्थसंवेदनम्। शब्दार्थज्ञाने, सम्म० २ काण्ड।

सत्थसच्च-स्वार्थसत्य-त्रि०। स्वस्य अर्थः स्वार्थः तस्मिन् सत्य.। स्वाभिमतस्थापनकुशले, अष्ट० १६ अष्ट०।

सत्था-शास्तृ-त्रि०। अनुशासितरि, सूत्र०१ श्रु० १ अ०१ उ०। आचा०। तीर्थकरे, नि० चू० ११ उ०।

सत्थाइ-शास्त्रादि-पुं०। शास्त्रप्रारम्भे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

सत्थाईय-शस्त्रातीत-न०। शस्त्रादग्न्यादेरतीतमुत्तीर्णं शस्त्रातीतम्। औ०। शस्त्रमग्न्यादिक तेनातीत प्रासुकीकृत शस्त्रातीतम्। सूत्र०२ श्रु०१अ०। अग्न्यादिप्रासुकीकृते, भ०५ श०३ उ०।

सत्था(त्थ)पारगय-शास्त्रपारगत-पुं०। चतुर्वेदादिशास्त्रपारगामिनि, अनु०।

सत्थि-स्वस्ति-अव्य०। माङ्गल्ये, स्था० ४ ठा० २ उ०।

सत्थिग-सार्थिक-पुं०। सार्थो विद्यते यस्येति व्युत्पत्त्या सार्थवाहे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

स्वस्तिक-पुं०। तस्यैव(जिन) कल्पस्य वस्त्रधारणे पूर्वोत्तरकरणे, हस्ताभ्या गृहीत्वा द्वे अपि बाहुशीर्षे यावत्प्राप्येते तद्यथा-दक्षिणेन हस्तेन वामं बाहुशीर्षं, वामेन दक्षिणमेष द्वयोरपि कलाचिकयोर्हृदये यो विन्यासविशेष स स्वस्तिकाकार इति कृत्वा स्वस्तिक इत्युच्यते। (बृ० ३ उ०।) इत्येवरूपे विन्यासविशेष, प्रव० २६ द्वार। महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। सू० प्र०।

सत्थिबारसम-स्वस्तिद्वादश-त्रि०। स्वस्ति द्वादश यत्र तत्स्वस्तिद्वादशम्। द्वादशसंख्यापूरकस्वस्तिघटितसमुदाये, रा०।

सत्थुत्तगुण-शास्त्रोक्तगुण-त्रि०। ग्रन्थोदितधर्मके, पञ्चा० १४ विव०।

सत्थोवरय-शस्त्रोपरत-त्रि०। शस्त्रात् द्रव्यभावभेदादुपरते, 'एत्थ सत्थोवरए' आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

सत्थोवाडण-शस्त्रावपाटन-न०। शस्त्रेणावपाटन विदारणमात्मन। शस्त्रेण विदारणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। ('मरण' शब्दे पष्ठे भागे १०६ पृष्ठे अस्य व्याख्या।)

सत्थोवाडिय-शस्त्रावपाटित-पुं०। खड्गादिना विदारिते, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

सदंसण-सदर्शन-पुं०। सह दर्शनेन वर्त्तते इति सदर्शनः। श्रद्दधाने, नि० चू०१ उ०। शोभनागमे, द्वा० ३ द्वा०।

सदक्खिण्ण-सदाक्षिण्य-पुं०। स्वकार्यपरिहारेण परकार्यैकरसैकरसिकान्त.करणे, प्रव० २३६ द्वार। प्रार्थनागम्भीरके गुणवच्छ्रावके, ध० १ अधि०।

सदवच्चया-सदवाच्यता-स्त्री०। सच्चाऽवाच्यं च सदवाच्ये तयोर्भावौ सदवाच्यते। अस्तित्वावक्तव्यत्वयो., स्था०।

सदस-सदस्-न०। सभायाम्, षो० १४ विव०।

सदसत्त-सदसत्त्व-न०। स्वपररूपाभ्यां विद्यमानाऽविद्यमानत्व, न०।

सदणुट्ठाण-सदनुष्ठान-न०। सुन्दराऽनुष्ठाने, षो० ४ विव०। शोभनानुष्ठाने, द्वा० २३ द्वा०।

सदा-सदा-अव्य०। सर्वस्मिन् काले, ध० २ अधि०। सर्वदा शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

सदागम-सदागम-पुं०। आप्तोपदेशे, पञ्चा० १ विव०।

सदागमविसुद्ध-सदागमविशुद्ध-त्रि०। सदर्थप्रतिपादकागमः सदागमस्तेन विशुद्धं निर्दोषम्। सदागमसम्मते,षो०२ विव०।

सदाजत-सदायत-त्रि०। अप्रमादिनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

सदाजय-सदाजय-त्रि०। सदा सर्वकालं जयो येषु तानि सदाजयानि। सर्वकाल जयत्सु, जी० ३ प्रति० ३ अधि०।

सदायार-सदाचार-पुं०। शोभनाचारे, षो० ५ विव०। सर्वोपकारप्रियवचनाकृतिमोचितस्नेहादिकायां सज्जनचेष्टायाम्, यो० विं०।

अथ सदाचारमाह—

लोकापवादभीरुत्वं, दीनाभ्युद्धरणाऽऽदरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्त्तितः॥ १२६॥

लोकापादभीरुत्वं—यतः कुतोऽपि लोकापवादान्मरणादपि विशिष्यमाणाद् भीतभावः, दीनाभ्युद्धरणादरः—उपलक्षणत्वाद्दीनानाथोपकारप्रयत्नः, कृतज्ञता-परकृतोपकारपरिज्ञानम्, सुदाक्षिण्य-गम्भीरधीरचेतसा निर्मत्सरस्य च प्रकृत्यैव परकृत्याभियोगपरता। किमित्याह-सदाचारः-प्रागुपन्यस्यः प्रकीर्त्तितः—प्रज्ञप्तः।

तथा—

सर्वत्र निन्दासंत्यागो, वर्णवादश्च साधुषु।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं, तद्वत्संपदि नम्रता॥ १२७॥

सर्वत्र-जघन्यमध्यमोत्तमजनेषु निन्दासत्यागः—परिवादापनोदः, वर्णवादश्च-प्रशंसारूपः साधुषु-सदाचारेषु जनेषु,आपदि-व्यसनेऽदैन्यम्-अदीनभावोऽत्यन्तम्-अतीव तद्वदापद्यदैन्यवत्,संपदि-विभवसमागमे नम्रता औचित्येन नमनशीलता,

तथा—

प्रस्तावे मितभाषित्व-मविसंवादनं तथा।
प्रतिपन्नक्रिया चेति, कुलधर्म्मानुपालनम्॥ १२८॥

प्रस्तावे—भाषणावसरे उपलब्धे मितभाषित्वं—मितभाषणशीलता, अविसंवादनं-विसंवादवतः स्ववचनस्याकरणं, तथा प्रतिपन्नक्रिया चेति-प्रतिपन्नस्य-व्रतनियमादेः क्रियानिर्वाहणम्। इति पदसमासौ, कुलधर्म्मानुपालनम्-अविरुद्धस्वकुलाचारानुवर्त्तनम्।

असद्व्ययपरित्यागः, स्थाने चैतत्क्रिया सदा।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विवर्जनम्॥ १२९॥

असद्व्ययपरित्यागः—असतः पुरुषार्थानुपयोगित्वेनासुन्दरस्य व्ययस्य—वित्तवियोगरूपस्य परित्यागः स्थाने च-स्थाने एव देवपूजनादावेतत्क्रिया-व्ययक्रिया सदा—सर्वकालं प्रधानकार्ये—विशिष्टफलदायिनि प्रयोजने निर्बन्धः—आग्रहः प्रमादस्य-मद्यमानादिरूपस्य विवर्जनम्-उज्झनम्।

लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रौचित्यपालनम्।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति, प्राणैः कण्ठगतैरपि॥ १३०॥

लोकाचारानुवृत्तिश्च—बहुजनरूढा विरोधिलोकव्यवहारानुपालनरूपा सर्वत्र-स्वपक्षे परपक्षे चौचित्यपालनं-समुचिताचाररूपं प्रवृत्तिर्गर्हिते-कुत्सिते कुलदूषणादौ न—नैवेति प्राग्वत्, प्राणैरुच्छ्वासरूपैः कण्ठगतैरपि-गलस्थानप्राप्तैः किं पुनः स्वभावस्थैरित्यपिशब्दार्थः। यो० विं०।

सदायारसंग-सदाचारसङ्ग-पुं०। सत्-शोभनम् आचार इहपरलोकहिता प्रवृत्तिर्येषां ते सदाचारास्तैः सह सङ्गः-सङ्गतिः। सज्जनैः सह सङ्गे, ध०। असत्सङ्गे हि सपदि शीलं विलीयेत। यदाह—"यदि सत्संगतिरतो, भविष्यसि भविष्यसि। अथाऽसज्जनगोष्ठीषु, पतिष्यसि पतिष्यसि॥१॥" इति। तथा—"सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः, स चेत् त्यक्तुं न शक्यते। स सद्भिः सह कर्त्तव्यः, सन्तः सङ्गस्य भेषजम्॥ २॥" इति। ध० १ अधि०।

सदार-स्वदार-पुं०। आत्मीयभार्यायाम्, पञ्चा० १ विव०।

सदार-पुं०। सपत्नीके, उत्त० १४ अ०।

सदारमंतभेय-स्वदारमन्त्रभेद-पुं०। स्वदाराणां मन्त्रो विश्रम्भभाषितं तस्य भेदः—अन्यकथनम्। ध० २० २ अधि०। स्वदाराणां विश्रब्धविशिष्टावस्थाभाषितस्यान्यस्मै कथने, ध० २ अधि०। पञ्चा०। आ०। आव०।

सदारसंतोस-स्वदारसन्तोष-पुं०। स्वदारैः सन्तोषः स्वदारसन्तोषः। स्वदारसन्तुष्टौ, उपा० १ अ०।

एयमिह-मुणेयव्वं, सदारसंतोस मो एत्थ॥ ११५॥

स्वस्य-आत्मनः स्वे वा आत्मीया दाराः स्वदाराः स्वकलत्रं तैः संतोषः-सतुष्टिः मैथुनासेवनं प्रति वेश्यादेरपि वर्जनमिति स्वदारसतोषः स च चतुर्थाणुव्रतमिति योजितमेव। इह च प्रथमैकवचनलोपः प्राकृतत्वात् 'मो' इति निपातः पादपूरणार्थे, अत्रेति चतुर्थाणुव्रते वर्जयतीत्युक्तेरण योग इति गाथार्थः। पञ्चा० १ विव०। आत्मीयकलत्रादन्यत्रेच्छानिवृत्तौ, स्था० ५ ठा० १ उ०। "स्वकीयदारसन्तोषो, वर्जनं चान्ययोषिताम्। श्रमणोपासकानां त-च्चतुर्थाणुव्रत मतम्॥ १॥" ध० २ अधि०। ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे व्याख्या गता।) (अस्यातिचाराः 'परदारगमन' शब्दे पञ्चमभागे ५२७ पृष्ठे व्याख्याताः।

एतद्विषये प्रथमा कथा—

"सख्योऽत्र गिरिनगरे, तिस्रः सवयसोऽभवन्।
उज्जयन्ते गता नन्तुं, गृहीतास्ता मलिम्लुचैः॥ १॥
नीत्वा पारसकूलेऽथ, वेश्याना दद्रिरेऽधमैः।
आसंस्ताः प्रौढगणिका—स्तत्पुत्राः पितृभिः पुनः॥ २॥
पालिता यौवनं प्राप्ता—स्तत्रैवागुः पणायितुम्।
तासां भाटिं ददुस्तेऽथ, स्वसंपत्त्या विभूषिताः॥ ३॥
रात्रौ तन्मन्दिरे जग्मु—र्द्वौ रेमाते स्वमातरम्।
एकः सुश्रावको रन्तु, नैच्छत्तपप्रच्छ किं तु ताम्॥ ४॥
कुतः कथमिहायाता, सा स्वरूपं न्यरूपयत्।
सोऽवदत्ते वयं युष्म—त्पुत्राः शिष्टं तदन्ययोः॥ ५॥
सर्वे वैराग्यमापन्ना—स्तदम्बाश्च प्रवव्रजुः।

द्वितीया कथा—

श्रेष्ठी हेमपुरे श्रीदः, प्रियामुन्मुच्य गुर्विणीम्।
दिग्यात्राया ययौ पश्चा—ज्जायते स्म सुताऽद्भुता॥ १॥

स च व्यवहरयाव—त्तावत् पुत्र्याप यौवनम् ।
दत्ताऽन्यनगरे साऽस्ति, तत्रैवागाच्च तत्पिता ॥ २ ॥
विनशन् मा क्रयाणानी—त्यस्थाद्वर्षा. स तत्र च ।
सार्द्धं संघटितं पुत्र्या. न भवेत्किमजानताम् ॥ ३ ॥
वर्षागते व्यतीते च. श्रीदः स्वनगरं ययौ ।
आनायिता सुता मात्रा. पितरं वीक्ष्य लज्जिता ॥ ४ ॥
आत्मघात व्यधात्पुत्री, पिता च व्रतमग्रहीत् ।

तृतीया कथा—

वेश्या कुबेरसेनाऽभूत् , मथुरायां तयाऽजनि ।
अपत्ययुग्मं तत्स्वस्य, यौवनापहमित्यतः ॥ १ ॥
कुबेरदत्त कुबेर-दत्ता नामाङ्कमुद्रया ।
विभूष्य त्यस्य पेटाया. यमुनायां प्रवाहितम् ॥ २ ॥
तच्च सौर्यपुरभ्याभ्या, इभ्यैकैकमुपाददे ।
तदेवोढाहितं युग्मं, दारकोऽपि गतोऽन्यदा ॥ ३ ॥
मथुरायां व्यधात्तत्र, स्वकीया जननीं जनिम् ।
दारिका तत्स्वसा दारा, धर्मं श्रुत्वाऽग्रहीद् व्रतम् ॥ ४ ॥
साऽपि जानावधिज्ञाना, तत्रैव विहरन्त्यगात् ।
तस्या एव गृहे तस्थौ. तस्या. पुत्रोऽस्ति पुत्रज. ॥ ५ ॥
बालं विलोक्य सा साध्वी. तान् बोधयितुमब्रवीत् ।
भ्राताऽसि ननुजन्माऽसि, वरस्यावरजोऽसि च ।
भ्रातृव्योऽसि पितृव्योऽसि पुत्रपुत्रोऽसि चार्भक ! ।
यश्च ते बालक ! पिता, स मे भवति सोदरः ॥ ७ ॥
पिता पितामहो भर्त्ता तनयः श्वशुरोऽपि च ।
या च बालक ! ते माता सा मे माता पितामही ॥ ८ ॥
भ्रातृजाया वधू श्वश्रू , सपत्नी च भवत्यहो ।
इत्युक्त्वा ज्ञापयामास स्वां कुबेराय मुद्रिकाम् ॥ ६ ॥
ता दृष्ट्वा ज्ञापित सर्वे, जज्ञे सवन्धविप्लवम् ।
कुबेरदत्त. सवेग—मासाद्य प्राव्रजत्तदा ॥ १० ॥
कुबेरसेना श्राद्धाऽभू—द्दार्या च विहृताऽन्यत. ।"
(एतानैहिकान् दोषान् ज्ञात्वा परस्त्री परिहार्या ।)
आ० क० ६ अ० ।

सदारसंतोसिय–स्वदारसन्तोषिक–पुं० । स्वदारैः सन्तोषः स्वदारसन्तोष , स एव स्वदारसन्तोषिक , स्वदारसन्तोषो वा स्वदारसन्तुष्टि । चतुर्थाणुव्रते, उपा० १ अ० ।

सदाहिरण–सदाक्षिण्य–त्रि० । सह दाक्षिण्येन वर्त्तते सदाक्षिण्य । दाक्षिण्यगुणशालिनि, दर्श० २ तत्त्व ।

सदिव्व–सदिव्य–त्रि० । सह दिव्यैः सदिव्यम् । गन्धर्वनगरादिके दिव्योपद्रवे, आव० ४ अ० ।

सदुवाय–सदुपाय–पुं० । उपायाभासपरिहारे, यो० विं० ।

सदेव–सदेव–त्रि० । अर्हत्प्रतिमालक्षणे देवे, ध० २ अधि० ।

सदेवसूरि–सदेवसूरि–पुं० । वटगच्छप्रथमसूरौ,ग० ३ अधि० ।

सदेस–सदेश–पुं० । समानदेशजे, व्य० ३ उ० ।
स्वदेश–पुं० । स्वावासमण्डले, पिं० ।

सद्द–शब्द–पुं०।शब्द्यते–प्रतिपाद्यते वस्त्वनेनेति शब्द । आ० म०१अ० । शब्दयति–भाषत इति शब्द ।विशे०। " सर्वत्र लवरामचन्द्रे "॥८।२।७६॥इति वलोप ।प्रा०। शषो. स ॥८।१।२६०॥ इति शस्य स । प्रा० । श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यनियतक्रमवर्णात्मनि (द्वा० २६ द्वा० ।) ध्वनौ, दश० १ अ० । रा० ।

एगे सद्दे । (सू० ४७) स्था० १ ठा० ।
वाचके, स्था० ३ ठा० ३ उ० । उत्त० । पञ्चा० । औ० । कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमाने शब्दे, यथा बभूव-भवति—भविष्यति—स मेरुरित्यादि । स्या० । शब्दनिक्षेप नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् चतुर्धा शब्द. । तत्र नामस्थापने सुगमे ।

द्रव्यनिक्षेप दर्शयितु निर्युक्तिकृत् गाथापश्चार्द्धेनाह—

दव्वं सद्दपरिणयं, भावो उ गुणा य कित्ती य ॥३२३॥

द्रव्य नोआगमतो व्यतिरिक्त शब्दत्वेन यानि भाषाद्रव्याणि परिणतानि तानीह गृह्यन्ते,भावशब्दस्त्वागमत शब्दे उपयुक्त , नोआगमतस्तु गुणा अहिंसादिलक्षणा यतोऽसौ हिंसानृतादिविरतिलक्षणै गुणै. श्लाघ्यते,कीर्तिश्च यथा भगवत एव चतुस्त्रिंशदतिशयाद्युपेतस्य सातिशयरूपसंपत्समन्वितस्येत्यर्हन्निति लोके ख्यातिरिति,

निर्युक्त्यनुगमादनन्तर सूत्रानुगमे सूत्रं, तच्चेदम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मुइंगसद्दाणि वा नंदीसद्दाणि वा झल्लारीसद्दाणि वा अन्नयराणि वा तहप्पगाराणि विरूवरूवाइं सद्दाइं वितताइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा–वीणासद्दाणि वा विपचीसद्दाणि वा पिप्पी (बद्धी) सगसद्दाणि वा तूणयसद्दाणि वा वणयसद्दाणि वा तुंबवीणियसद्दाणि वा ढंकुणसद्दाइं अन्नयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं वितताइं कण्णसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा–तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लत्तियसद्दाणि वा गोधियसद्दाणि वा किकिरियासद्दाणि वा अन्नयराणि तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं कण्णसोय० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दा० तं जहा–संखसद्दाणि वा वेणुसद्दाणि वा वंससद्दाणि वा खरमुहिसद्दाणि वा पिरिपिरियासद्दाणि वा अन्नयराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं झुसिराइं कन्नसोय०(सू०१६८) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ,तं जहा–वप्पाणि वा फलिहाणि वा० जाव सराणि वा सागराणि वा सरसरपंतियाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं कन्नसोय० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दा०,तं जहा–कच्छाणि वा णूमाणि वा गहणाणि वा वणाणि वा वणदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणि वा अन्न० ॥ अहा० तहप्पगाराइं गामाणि वा नगराणि वा निगमाणि वा रायहाणाणि वा आसमपट्टणसंनिवेसाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू० अहावेगइयाइं आरामाणि वा

उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभि०। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दाइं अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारे०। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं०,तं जहा-तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारे०। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं०,तं जहा-महिसकरणट्ठाणाणि वा वसभकरणट्ठाणाणि वा अस्सकरणट्ठाणाणि वा हत्थिकरणट्ठाणाणि०जाव कविंजलकरणट्ठाणाणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं नो अभिसंधारे०। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं०, तं जहा-महिसजुद्धाणि वा० जाव कविंजलजुद्धाणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं नो अभिसंधारे०।से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं०, तं जहा-पुव्वजूहियट्ठाणाणि वा हयजूहियट्ठाणाणि, वा गयजूहियट्ठाणाणि,अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं नोअभिसंधारे०। से भिक्खू वा०जाव सुणेइ,तं जहा-अक्खाइयट्ठाणाणि वा माणुम्माणियट्ठाणाणि वा महता हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियपडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारे०। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा०जाव सुणेइ,तं जहा-कलहाणि वा डिंबाणि वा डमराणि वा दो रज्जाणि वा वेररज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारे०। से भिक्खू वा भिक्खु०जाव सद्दाइं सुणेइ खुड्डियं दारियं परिभुत्तमंडियं अलंकियं निवुज्झमाणिं पेहाए एगं वा पुरिसं वहाए नीणिज्जमाणं पेहाए अन्नयराणि वा तहप्पगाराइ नो अभिसंधारे०। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अन्नयराइं विरूवरूवाइं महोसवाइं एवं जाणेज्जा,तं जहा-बहुसगडाणि वा बहुरहाणि वा बहुमिलक्खूणि वा बहुपच्चंताणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महोसवाइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अन्नयराइं विरूवरूवाइं महूसवाइं एवं जाणिज्जा, तं जहा-इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा डहराणि वा मज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा नच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभायंताणि वा विछड्डियमाणाणि वा विगोवयमाणाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महुसवाइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसधारे०। से भिक्खू०इहलोइएहिं सद्देहिं नो परलोइएहिं सद्देहिं नो सुएहिं सद्देहिं नो असुएहिं सद्देहिं नो दिट्ठेहिं सद्देहिं नो अदिट्ठेहिं सद्देहिं नो कंतेहिं सद्देहि सज्जिज्जा नो गिज्झिज्जा नो मुज्झिज्जा नो अज्झोववज्जिज्जा, एयं खलु० जाव जएज्जासि त्ति बेमि। (सू०१७०)

स—पूर्वाधिकृतो भिक्षुर्यदि विततततघनशुषिररूपांश्चतुर्विधानातोद्यशब्दान् शृणुयात् , ततस्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनाय न तदाकर्णनाय गमनं कुर्यादित्यर्थः । तत्र विततं—मृदङ्गनन्दीझल्लर्यादि, ततम्—वीणाविपञ्चीबद्धीसकादितन्त्रीवाद्य, वीणादीनां च भेदस्तन्त्रीसंख्यातोऽवसेयः , घनं तु हस्ततालकंसालादिप्रतीतमेव, नवरं ' लत्तिका '—कशि(सि)का गोहिका-भाण्डानां कक्षाहस्तगतातोद्यविशेषः किरिकिरिका-तेषामेव वंशादिकम्बिकातोद्य, शुषिरं तु शङ्खवेण्वादीनि प्रतीतान्येव, नवरं खरमुही-तोहाडिका ' पिरिपिरिय ' त्ति-कोलियकपुटावनद्धा वंशादिनलिका, इत्येष सूत्रचतुष्टयसमुदायार्थः ॥ किञ्च-स भिक्षुरथ कदाचिदेकतरान् कांश्चित् शब्दान् शृणुयात् , तद्यथा-' वप्पाणि वे ' ति—वप्रः-केदारस्तदादिर्वा, तद्वर्णकाः शब्दा वप्रा एवोक्ताः , वप्रादिषु वा श्रव्यगेयादयो ये शब्दास्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया वप्रादीन्न गच्छेदित्येवं सर्वत्रायोज्यम्। अपिच-यावन्महिषयुद्धानीति षडपि सूत्राणि सुबोध्यानि । किञ्च-स भिक्षुर्यूथमिति-द्वन्द्वं वधूवरादिकं तत्स्थानं वेदिकादि, तत्र श्रव्यगेयादिशब्दश्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेत्, वधूवरवर्णनं वा यत्र क्रियते तत्र न गच्छेदिति, एवं हयगजयूथादिस्थानानि द्रष्टव्यानीति। तथा-स भिक्षुः आख्यायिकास्थानानि—कथानकस्थानानि, तथा ' मानोन्मानस्थानानि ' मानं-प्रस्थकादि, उन्मानं-नाराचादि, यदिवा-मानोन्मानमित्यश्वादीनां वेगादिपरीक्षा तत्स्थानानि तद्वर्णनस्थानानि वा , तथा महान्ति च तानि आहतनृत्यगीतवादित्रतन्त्रीतलतालत्रुटितप्रत्युत्पन्नानि च तेषां स्थानानि-सभास्तद्वर्णनानि वा श्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनायेति । किञ्च-कलहादिवर्णनं तत्स्थानं वा श्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेदिति । अपि च-स भिक्षुः क्षुल्लिका—दारिका डिक्करिका—मण्डितालङ्कृता बहुपरिवृता ' णिवुज्झमाणिं ' ति-अश्वादिना नीयमानां तथैकं पुरुषं वधाय नीयमानं प्रेक्ष्याहमत्र किञ्चिच्छ्रोष्यामीति श्रवणार्थं तत्र न गच्छेदिति । स भिक्षुर्यान्येवं जानीयात्, महान्त्येतान्याश्रवस्थानानि-पापोपादानस्थानानि वर्त्तन्ते, तद्यथा-बहुशकटानि बहुरथानि बहुम्लेच्छानि बहुप्रात्यन्तिकानि , इत्येवंप्रकाराणि स्थानानि श्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गन्तुमिति । किञ्च-स भिक्षुर्महोत्सवस्थानानि यान्येवंभूतानि जानीयात् , तद्यथा-स्त्रीपुरुषस्थविरबालमध्यवयांस्येतानि भूषितानि गायनादिकाः क्रिया यत्र कुर्वन्ति तानि स्थानानि श्रवणेच्छया न गच्छेदिति । इदानीं सर्वोपसंहारार्थमाह—स भिक्षुः—ऐहिकामुष्मिकापायभीरु ना—नैव ऐहलौकिकैः —मनुष्यादिकृतैः पारलौकिकैः—पारापतादिकृतैरैहिकामुष्मिकैर्वा शब्दैः , तथा श्रुतैरश्रुतैर्वा, तथा साक्षादुपलब्धैरनुपलब्धैर्वा ' न सङ्गं कुर्यात् '—न रागं गच्छेत् न गार्ध्यं प्रतिपद्येत न तेषु मुह्येत-

नाप्युपपन्नो भवेत्, एतत्तस्य भिन्नो सामर्थ्यम्। शेषं पूर्ववत्। इह च सर्वत्रायं दोषः-अजितेन्द्रियत्वं स्वाध्यायादिहानी रागद्वेषसम्भव इति, एवमन्येऽपि दोषा ऐहिकामुष्मिकापायभूताः स्वधिया समालोच्या इति । [चतुर्थसप्तैकाध्ययनमादित एकादश समाप्तम्।] आचा०२श्रु०२ चू०४अ० । अत्र 'अपोह' शब्दार्थ इति पूर्वम् 'आगम' शब्दे २ भागे ६५ पृष्ठे उक्तम्।

अथेहापि किञ्चिदक्षव्यशेषमभिधीयते ।]—भवतु वा सामान्य तथापि तस्य स्वभेदेभ्योऽर्थान्तरत्वे भिन्ने स्वभेदाध्यवसायो भ्रान्तिरेव । नह्यन्येनान्ये समाना युक्तास्तद्वतो नाम स्युरनर्थान्तरत्वेऽपि सामान्यस्य सर्वमेव विश्वमेकं वस्तु परमार्थत इति । तत्र सामान्यप्रत्ययो भ्रान्तिरेव न ह्येकवस्तुविषयः समानप्रत्ययः भेदग्रहणपुरःसरत्वात्तस्य भ्रान्तत्वे च सिद्धे निर्विषयत्वमपि सिद्ध स्वाकारार्पणेन जनकस्य कस्यचिदर्थस्यालम्बनलक्षणस्य प्राप्तस्याभावात्। अन्यथा वा निर्विषयत्व, तथाहि—यत्रैव कृतसमया ध्वनयस्त एव तेषामर्थो युक्तो नान्योऽतिप्रसङ्गात्। नच क्वचिद्वस्तुन्येषा परमार्थतः समयः संभवतीति निर्विषया ध्वनयः, प्रयोगः—ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति यथा सास्नादिमति पिण्डेऽश्वशब्दोऽकृतसमय, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन्वस्तुनि सर्व्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धिः, कृतसमयत्वेनाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात्तस्य चेहाभावः।

[संकेतासंभवसाधनाय स्वलक्षणाद्यर्थभेदेन विकल्पपञ्चविधानम्]—

नचायमसिद्धो हेतु । तथाहि—गृहीतसमयं वस्तु शब्दार्थत्वेन व्यवस्थाप्यमानं स्वलक्षणं वा व्यवस्थाप्येत, जातिर्वा, तद्योगो वा, जातिमान्वा पदार्थ ,बुद्धेर्वा आकार इति विकल्पाः। सर्वेष्वपि समयासभावश्च युक्त शब्दार्थत्व तत्त्वतः; सावृतस्य तु शब्दार्थत्वस्य न निषेध इति न स्ववचनविरोधः प्रतिज्ञायाः । एव ह्यसौ स्यात्–स्वलक्षणादीन् शब्देनाऽप्रतिपाद्य न शक्यमशब्दार्थत्वमेषा प्रतिपादयितु,तत्प्रतिपिपादयिषया च शब्देन स्वलक्षणादीनुपदर्शयता शब्दार्थत्वमेषामभ्युपेयं स्यात्। पुनश्च तदेव प्रतिज्ञया प्रतिषिद्धमिति स्ववचनव्याघातः, नचासावभ्युपगम्यत इति। एतेन यदुक्तमुद्योतकरेण-भाष्यकारेण–" अवाचकत्वे शब्दाना प्रतिज्ञाहत्वोर्व्याघातः,[अ०२,आ० २ सू०६७न्यायवा०]इति,तदपि प्रत्युक्तं भवति, नहि सर्वथा शब्दार्थापवादोऽस्माभि क्रियते। आगोपालेभ्योऽपि प्रतीतत्वात्तस्य, किंतु-तात्त्विकत्व धर्म परैर्यस्तत्रारोप्यते तस्यैव निषेधो न तु धर्म्मिण ।

[१ स्वलक्षणे संकेतासभवसाधनम्]—

तत्र—स्वलक्षणेन तावत् समयः सभवति, शब्दस्य समयो, हि व्यवहाराऽर्थं क्रियते न व्यसनितया, तेन यत्रैव सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव स व्यवहर्तृणा युक्तो नान्यत्र, न च स्वलक्षणस्य सकेतव्यवहारकालव्यापकत्वमस्ति तस्माद्य तत्र समय सकेतव्यवहारकालाऽव्यापकत्व च शाबलेयादिव्यक्तीना देशादि भेदेन परस्परतोऽत्यन्तव्यावृत्ततयाऽनन्वयात्तत्रैकत्र कृतसमयस्य पुसोऽन्यदर्थप्रहारो न स्यादिति । तत्र समयाऽभावाप्रसिद्धता हेतोः । नचाप्यनैकान्तिकत्व, व्याप्तिसिद्धेः, तथाहि–यद्यगृहीतसंकेतमर्थ शब्दः प्रतिपादयेत्तदा गोशब्दोऽप्यश्वं प्रतिपादयेत्संकेतकरणानर्थक्य च स्यात्, तस्मादतिप्रसङ्गापत्तिर्बाधकं प्रमाणमिति कथं न व्याप्तिसिद्धिः ? अयमेव वा अकृतसमयत्वादिति हेतुराचार्यदिग्नागेन "न जातिशब्दो भेदाना वाचक,आनन्त्यात्"इत्यनेन निर्दिष्टः, तथाहि–" आनन्त्याद् " इत्यनेन समयाऽसंभव एव दर्शितः। तेन यदुक्तमुद्योतकरेण–" यदि शब्दान्पक्षयसि तदा–' आनन्त्याद् ' इत्यस्य वस्तुधर्मत्वाद् व्यधिकरणो हेतु अथ भेदा एव पक्षीक्रियन्ते तदा नान्वयी न व्यतिरेकी दृष्टान्तोऽस्तीत्यहेतुरानन्त्यम्।" (अ० २ आ० २ सू० ६७ न्यायवा०) इति, तत्प्रत्युक्तम्। यत्पुन स एवाह—" यस्य निर्विशेषणाभेदाः शब्दैरप्यभिधीयन्ते तस्याय दोषः, अस्माकं तु सत्ताविशेषणानि द्रव्यगुणकर्माण्यभिधीयन्ते। तथा हि–यत्र यत्र सत्तादिकं सामान्य पश्यति तत्र तत्र सदादिशब्दं प्रयुङ्क्ते एकमेव च सत्तादिक सामान्यम्, अतः सामान्योपलक्षितेषु भेदेषु समयक्रियासंभवादकारणमानन्त्यम्" (अ०२ आ०२ सू०६७ न्यायवा०) इति, असदेतत्, यतो न सत्तादिक वस्तुभूतं सामान्य तेभ्यो भिन्नमभिन्नं वाऽस्तीति भवतु वा तत्तथाप्येकस्मिन्भेदेऽनेकसामान्यसंभवादसाङ्कर्येण सदादिशब्दयोजन न स्यात्। न च शब्देनानुपदर्श्य सत्तादिकं सामान्य सत्तादिना भेदानुपलक्षयितु समयकार शक्नुयात्, न चाकृतसमयेषु सत्तादिषु शब्दप्रवृत्तिरस्तीति इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिः। अथापि स्यात्स्वयमेव प्रतिपत्ता व्यवहारोपलम्भादन्वयव्यतिरेकाभ्या सदादिशब्दे समय प्रतिपद्यते, असदेतत् अनन्तभेदविषयनि शेषव्यवहारोपलम्भस्य कस्यचिदसंभवात्। एकदा सत्तादिमत्सु भेदेष्वसकृद्व्यवहारमुपलभ्याऽदृष्टेष्वपि तज्जातीयेषु तान् शब्दान् प्रतिपद्यत इति चेत्, न, अदृष्टत्वात्, नह्यदृष्टेष्वतीतादिभेदभिन्नेष्वनन्तेषु भेदेषु समय संभवत्यतिप्रसङ्गात्। विकल्पबुद्ध्या व्याह (दृश्य) तेषु तत्प्रतिपत्त्याऽभ्युपगमे विकल्पसमारोपितार्थविषय एव शब्दसङ्केत प्राप्त । तथा हि–अतीतानागतयोरसत्त्वेनासन्निहितत्वात्तत्र विकल्पबुद्धिर्भवन्ती निर्विषयैव, तत्र भवन्समयः कथं परमार्थवस्तुविषयो भवेदिति ? सपक्ष भावान्नापि हेता विरुद्धतेति सिद्ध स्वलक्षणाविषयत्वं शब्दानाम्। अथ स्थिरैकरूपत्वाद्धिमाचलादिभावानां देशादिभेदाभावात्, सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्वेन समयसभवात्पक्षैकदेशाऽसिद्धता प्रकृतहेतो, नैतत्, हिमाचलादीनामप्यनेकाणुप्रचयस्वभावतया उदयानन्तरापवर्गितया च नाशेणावयवपरिग्रहेण समयकालपरिदृष्टस्वभावस्य व्यवहारकालानुयायित्वेन च समय सभवतीति नासिद्धता हेतो । अत उक्तन्यायेन समयवैयर्थ्य प्रसङ्गाच्च स्वलक्षणे समयः सभवति,अशक्यक्रियत्वाच्च न तत्र समय । तथाहि–उदयानन्तरापवर्गिषु भावेषु समय क्रियमाण अनुत्पन्नेषु वा क्रियेत उत्पन्नेषु वा ?, न तावदनुत्पन्नेषु परमार्थेन समयो युक्त, असत सर्वोपाख्यारहितस्याधारत्वानुपपत्ते, अपारमार्थिकवस्तुज्ञानेऽपि पुत्रादौ समय इष्यत इति न दृष्टविरोध , विकल्पनिर्मितार्थविषयत्वेन नलभ्यत इति न दृष्टविरोध , विकल्पनिर्मितार्थविषयत्वेन तस्याऽपारमार्थिकत्वात्। नाप्युत्पन्ने समयो युक्त, तस्मिन्ननुभवोत्पत्तौ तत्पूर्वकं च शब्दसदस्मरणे सति समय समय

ति नान्यथा-अतिप्रसङ्गात्-शब्दभेदस्मरणकाले च चिरनिरुद्धं स्वलक्षणमिति । अजातवज्जातेऽपि कथं समय समयक्रियाकाले द्वयोरप्यसन्निहितत्वात् ? तथाहि-अनुभवावस्थायामपि तावत्तत्कारणतया स्वलक्षणं क्षणिकं न सन्निहितसत्ताकं भवति, किं पुनरनुभवोत्तरकालभाविनामभेदाभोगस्मरणोत्पादकाले भविष्यति ? नापि तज्जातीये तत्सामर्थ्यलोपजाते समयक्रियाकालभाविनि क्षणे समयः सम्भवति तस्याऽन्यत्वात् । यद्यपि समयक्रियाकाले सन्निहितं क्षणान्तरमस्ति तथापि तत्र समयाभोगाऽसंभवान्न समयो युक्तः, न ह्यश्वमुपलभ्य तन्नामस्मरणोपक्रमपूर्वकं समयं कुर्वाणस्तत्कालसन्निहिते गवादावाभोगाविषयीकृते 'अश्वः' इति समयं समयकृत्करोति । अथापि स्यात्सर्वेषां स्वलक्षणानां सादृश्यमस्ति तेनैक्यमध्यवस्य समयः करिष्यते । असदेतत्, यतो विकल्पबुद्ध्याऽध्यारोपितं सादृश्यं, तस्य च ध्वनिभिः प्रतिपादने स्वलक्षणमवाच्यमेवेति न स्वलक्षणे समयः। नाऽपि शब्दस्वलक्षणस्य । तथाहि—स्वसमयकृतस्मृत्युपस्थापितमेव नामभेदमर्थेन योजयति, नच स्मृतिर्भावतोऽनुभूतमेवाभिलापमुपस्थापयितुं शक्नोति तस्य चिरनिरुद्धत्वात्, यं चोच्चारयति तस्य पूर्वमननुभूतत्वान्न तत्र स्मृतिः, न चाविषयीकृतस्तया समुत्थापयितु शक्यः, अतः स्मृत्युपस्थापितमनुसंधीयमान विकल्पनिर्निमित्तत्वेनास्वलक्षणमेवेति न स्वलक्षणत्वेऽस्य समयः । तस्मादव्यपदेश्यं स्वलक्षणमिति सिद्धम् । (सम्म०) नैयायिकास्तु-" व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः (न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६५) इति, प्रतिपन्नाः । तत्र व्यक्तिशब्देन द्रव्यगुणविशेषकर्म्माण्यभिधीयन्ते (सम्म० ।) ('गुणविसेसासय' 'शब्दे तृतीयभागे ६४० पृष्ठेऽत्रत्या वक्तव्यता गता)

तथा च सूत्रम्—" आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या " (न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६७) इति । अस्य भाष्यम्—" यया जातिर्जातिलिङ्गानि च व्याख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात् सा च सत्त्वावयवानाम् । तदवयवाना च नियतो व्यूहः " (न्यायद० वात्स्या० भा० पृ० २२५) व्यूहशब्देन संयोगविशेष उच्यते, नियतग्रहणेन कृत्रिमसंयोगनिरासः, तत्र जातिलिङ्गानि प्राण्यवयवाः शिरः-पाण्यादयः तैर्हि गोत्वादिलक्षणा जातिर्लिङ्ग्यते, आकृत्या तु कदाचित् साक्षाज्जातिर्व्यज्यते यदा शिरः-पाण्यादिसन्निवेशदर्शनाद् गोत्व व्यज्यते, कदाचिज्जातिलिङ्गानि यदा विषाणादिभिरवयवैः पृथक् पृथक् स्वावयवसन्निवेशाभिव्यक्तैर्गोत्वादिर्व्यज्यते, तेन जातेस्तल्लिङ्गाना च प्रख्यापिका भवत्याकृतिः । जातिशब्देनाभिन्नाभिधान-प्रत्ययप्रसवनिमित्तं सामान्याख्य वस्तूच्यते । तथा च सूत्रम्-"समानप्रत्ययप्रसवात्मिका जातिः " (न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६८) इति समानप्रत्ययोत्पत्तिकारणं जातिरित्यर्थः । तत्र व्यक्त्याकृत्योः एतेनैव स्वलक्षणस्य शब्दार्थत्वनिराकरणेन शब्दार्थत्वं निराकृतम् । तथाहि-यथा स्वलक्षणस्याकृतसमयत्वादशब्दार्थत्वं तथा तयोरपीति 'अकृतसमयत्वात्' इत्यस्य हेतोर्नासिद्धि, नाप्यनैकान्तिकता । अपि च-व्यक्तिर्द्रव्य-गुणविशेष-कर्मलक्षणा, आकृतिश्च संयोगात्मिका, एते च द्रव्यादय प्रतिषिद्धत्वाद् असन्त कथं शब्दार्थतामुपयान्ति ?,

(२-४ जाति-तद्योग-तद्वत्सु संकेतासंभवप्रदर्शनम्)-

एवं स्वलक्षणवज्जाति-तद्योग—जातिमत्स्वपि-जात्यादेरसम्भवात्-समयासम्भवः। यथा च जातेस्तद्योगस्य च समवायस्यासम्भवस्तथा प्रागेव प्रतिपादितम्, जाति-तद्योगयोश्चाभावे तद्वतोऽप्यसम्भव एव तत्कृतत्वात् तद्व्यपदेशस्य, तद्वतश्च स्वलक्षणात्मकत्वात् तत्पक्षभावी दोषः समान एव । (पदवाच्यविषयाणि वाजप्यायन व्याडि पाणिनीनां मतानि)—"जातिः पदार्थः" इति वाजप्यायन ।"द्रव्यम्" इति व्याडि । " उभयम् " पाणिनिः । तदप्यनेनैव निरस्तम् जातेरयोगाद् द्रव्यस्य च स्वलक्षणात्मकत्वात् तत्पक्षभाविदोषानतिवृत्तेः ।

(बुद्ध्याकारे समयासभवसाधनम्)—

बुद्ध्याकारेऽपि न समयः सम्भवति, तस्य बुद्धितादात्म्येन व्यवस्थितत्वाद् नासौ तद्बुद्धिस्वरूपवत् प्रतिपाद्यमर्थं बुद्ध्यन्तर वाऽनुगच्छति, ततश्च सङ्केत-व्यवहारकालाव्यापकत्वात् स्वलक्षणवत् कथ तत्रापि समयः ? भवतु वा तस्य व्यवहारकालान्वयस्तथापि न तत्र समयो व्यवहर्तॄणां युक्तः। तथाहि—'अपि नामतः शब्दादर्थक्रियार्थी पुमानर्थक्रियाक्षमानर्थान् विज्ञाय प्रवर्त्तिष्यते' इति मन्यमानैर्व्यवहर्तृभिरभिधायका ध्वनयो नियोज्यन्ते न व्यसनितया, न चासौ विकल्पो बुद्ध्याकारोऽभिप्रतशीताऽपनोदादिकार्य तदर्थिनः सम्पादयितुमलम् तदनुभवोत्पत्तावपि तदभावात्, तेन तत्रापि समयाभावान्नासिद्ध 'अकृतसमयत्वात्' इति हेतुः ।

('अस्त्यर्थादय शब्दार्थाः' इति वादिना पक्षसप्तके निरूपयितव्ये प्रथमम् अस्त्यर्थवादिमतम्)—

अथ अस्त्यर्थादयोऽपरे शब्दार्थाः सन्ति, ततश्च तत्र समयसम्भवादसिद्धतैव हेतोः । तथाहि-'अस्त्यर्थ' इति यदेतत् प्रतीयते तदेव सर्वशब्दानामभिधेयं न विशेष, यथैव ह्यपूर्व-देवतादिशब्दा नार्थाकारं विशेषं बुद्धिषु सन्निवेशयन्ति केवलं तत्रैतावत् प्रतीयते-'सन्ति केऽप्यर्थाः' येष्वपूर्वादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते' तथा दृष्टार्थेष्वपि गवादिशब्देष्वेतत् तुल्यम्, यतस्तेभ्योऽप्येवं प्रतीतिरुपजायते-'अस्ति कोऽप्यर्थो यो गवादिशब्दाभिधेयो गोत्वादि' यस्तु तत्राकारविशेषपरिग्रह केषाञ्चिदुपजायते स तेषां सिद्धान्तबलात्; न तु शब्दात् ।

(समुदायार्थवादिमतम्)—

अपरे " ब्राह्मणादिशब्दैस्तपो-जाति-श्रुतादिसमुदायो विना विकल्प-समुच्चयाभ्यामभिधीयते, यथा वनादिशब्दैर्धवादयः " इत्याहु । तथाहि—' वनम् ' इत्युक्ते ' धवो (वो वा) खदिरो वा ' इति न विकल्पेन प्रतीतिरुपजायते, नापि 'धवश्च खदिरश्च' इति समुच्चयेन, अपि तु-सामस्त्येन प्रतीयन्ते धवादयः तथा 'ब्राह्मणः' इत्युक्ते 'तपो वा जातिर्वा श्रुतं वा' 'तपश्च जातिश्च श्रुत च' न प्रतिपत्तिर्भवति, अपि तु-साकल्येन सम्बन्ध्यन्तरव्यवच्छिन्नास्तपःप्रभृतय सहता प्रतीयन्त इति । बहुष्वनियतैकसमुदायिभेदावधारणं विकल्प, एकत्र युगपदभिसम्बध्यमानस्य नियतस्यैकस्य (तस्यानेकस्य) स्वरूपभेदावधारणं समुच्चयः तद्व्यतिरेकेणात्र प्रतिपत्तिर्लोकप्रतीतेव ।

[असत्यसंबन्धपदार्थवादिमतम्]—

अपरे " द्रव्यत्वादिभिरनिर्धारितरूपैर्थे सम्बन्धो द्रव्या-

दीनां स शब्दार्थः, स च सम्बन्धिना शब्दार्थत्वेनासत्यत्वादसत्यः इत्युच्यते । यद्वा-तप-श्रुतादीना मेचकवर्णवदैक्येन भासनादेषामेव परस्परमसत्य. संसर्ग. " । तथा हि-एते प्रत्येक समुदिता वा न स्वेन रूपेणोपलभ्यन्ते किन्त्वलातचक्रवदेषा समूह स्वरूपमुत्क्रम्यावभासन इति ।

[असत्योपाधिसत्यपदार्थवादिमतम्]—

अन्ये त्वाहु -"यद् असत्योपाधि सत्य स शब्दार्थ." इति । तत्र स (?) शब्दार्थत्वेनाऽसत्या उपाधयो विशेषा वलयाऽङ्गुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्वभेदानुयायिन. सुवर्णादिसामान्यात्मनस्तत् सत्यमसत्योपाधि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमभिधेयम् ।

[अभिजल्पपदार्थवादिमतम्] —

अन्ये तु ब्रुवते-" शब्द एवाभिजल्पत्वमागत शब्दार्थ " इति स चाभिजल्प 'शब्द एवार्थ ' इत्येवं शब्देऽर्थस्य निवेशनम् 'सोऽयम्' इत्यभिसम्बन्ध, तस्माद् यदा शब्दस्यार्थेन सहैकीकृतं रूपं भवति तं स्वीकृतार्थाकार शब्दमभिजल्पमित्याहु ।

(६ बुद्ध्यारूढाकारपदार्थवादिमतम्)—

अन्ये तु-" बुद्ध्यारूढमेवाकारं बाह्यवस्तुविषयं बाह्यवस्तुतया गृहीतं बुद्धिरूपत्वेनाविभावितं शब्दार्थम् ' आहु । तथाहि-यावद् बुद्धिरूपमर्थेष्वप्रत्यस्त ' बुद्धिरूपमेव ' इति तत्त्वभावनया गृह्यते तावत् तस्य शब्दार्थत्व नावसीयते तत्र क्रियाविशेषसम्बन्धाभावात् , न हि ' गामानय ' ' दधि खाद ' इत्यादिका. क्रियास्तादृशि बुद्धिरूपे सम्भवन्ति, क्रियायोगसम्भवी चार्थ शब्दैरभिधीयते , अतो बुद्धिरूपतया गृहीतोऽसौ न शब्दार्थ ; यदा तु बाह्ये वस्तुनि प्रत्यस्तो भवति तदा तस्मिन् प्रतिपत्ता बाह्यनया विपर्यस्त. क्रियासाधनसामर्थ्य तस्य मन्यत इति भवति शब्दार्थ । ननु चापोहवादिपक्षादस्य को विशेष. ? तथाहि—अपोहवादिनाऽपि बुद्ध्याकारो बाह्यरूपतया गृहीत. शब्दार्थ इतीष्यत एव- यथोक्तम्-"तद्रूपारोपमन्यान्य-व्यावृत्त्याधिगतै. पुन । शब्दार्थोऽर्थ. स एवेति, वचनेन विरुध्यत " ॥१॥ इति, नैतदस्ति, अयं हि बुद्ध्याकारवादी बाह्ये वस्तुन्यभ्रान्तं सविषयं द्रव्यापु पारमार्थिकेष्वध्यस्तं बुद्ध्याकारं परमार्थत शब्दार्थमिच्छति न पुनरा (न तु निरा) लम्बनं भिन्नेष्वभेदाध्यवसायेन प्रवृत्तेर्भ्रान्तमितरेतरभेदानिबन्धनमभ्युपैति, यदा तु यथाऽस्माभिरुच्यते-"स सर्वो (सर्वो) मिथ्याभासोऽय-मर्थ इतीष्यत एव यथोक्तेष्वेका (मर्थेष्वेका) त्मकग्रह । इतरेतरभेदोऽस्य, बीज संज्ञा यदर्थिका " ॥ इति तदा सिद्धसाध्यता । यद् वक्ष्यति " इतरेतरभेदोऽस्य बीज चेत् पक्ष एव न· " ॥ (तत्त्वसं० का० १०५) इति । न चापोहवादिना परमार्थत· किञ्चिद् वाच्य बुद्ध्याकारोऽन्यो वा शब्दानामिष्यते । तथाहि—यदेव शाब्दे प्रत्ययेऽध्यवसीयमानतया प्रतिभासते स शब्दार्थ , न च बुद्ध्याकार शाब्दप्रत्ययेनाध्यवसीयते किं तर्हि ? बाह्यमेवार्थक्रियाकारि वस्तु, न चापि तेन बाह्यं परमार्थतोऽध्यवसीयते , यथातत्त्वमनध्यवसायाद् यथाध्यवसायमनत्त्वात् अत समारोपित एव शब्दार्थ । यच्च समारोपितं तन्न किञ्चिद् भावतोऽभिधीयते शब्दै । यत् पुनरुक्तम्—' शब्दार्थोऽर्थ स एवेति तत् समारोपि- तमेवार्थमभिसन्धाय, बुद्ध्याकारवादिना तु बुद्ध्याकारः परमार्थतो वाच्य इष्यत इति महान् विशेषः ।

(७ प्रतिभापदार्थवादिमतम्)-

अन्ये त्वाहु.-" अभ्यासात् प्रतिभाहेतु शब्दः न तु बाह्यार्थप्रत्यायक " इति । शब्दस्य क्वचिद् विषये पुन. पुन प्रवृत्तिदर्शनमभ्यास , नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा सा प्रयोगदर्शनावृत्तिसहितेन शब्देन जन्यते , प्रतिवाक्य प्रतिपुरुष च सा भिद्यते, यथैव ह्यङ्कुशादिघातादयो हस्त्यादीनामर्थप्रतिपत्तौ क्रियमाणाया प्रतिभाहेतवो भवन्ति तथा शब्दार्थ-(सर्वेऽर्थ) वस्त्वसंमता वृक्षादय शब्दा यथाभ्यास प्रतिभामात्रोपसंहारहेतवो भवन्ति न त्वर्थं साक्षात् प्रतिपादयन्ति, अन्यथा हि कथं परस्परव्याहताः प्रवचनभेदा उत्पाद्यकथाप्रबन्धाश्च स्वविकल्पोपरचितपदार्थभेदद्योतका स्युरिति ?,

(प्रागुक्ते पक्षसप्तके प्रतिविधातव्ये प्रथमम् अस्त्यर्थवादिमतनिरसनम्)—

अत्र प्रतिविदधति-यद्यस्त्यर्थ पूर्वोदितस्वलक्षणादिस्वभाव इष्यत तदा पूर्वोदितदोषप्रसङ्ग । किञ्च-अनिर्धारितविशेषरूपत्वादस्त्यर्थस्य तस्मिन् केवले शब्दै. प्रतिपाद्यमाने 'गौ' 'गवय ' 'गज.' इत्यादिभेदेन व्यवहारो न स्यात् , तस्य शब्दैरप्रतिपादितत्वात् । न च गोशब्दात् गोत्वविशिष्टस्यार्थस्य सत्तामात्रस्य शाबलेयत्वादिभेदरहितस्य प्रतीतेर्भेदेन व्यवहारो भविष्यतीति प्रतिपादयितुं शक्यम् , अभ्युपगमविरोधात्-गोशब्दादस्त्यर्थमात्रपरित्यागेन गवादिविशेषस्य प्रतिपत्त्यभ्युपगमात् । अथ विषाणादिविशेषस्य गोशब्दादप्रतीतेरस्त्यर्थवाचकत्व शब्दस्याभिप्रेतम् ; नन्वेवं यदा गोत्वादिना विशिष्टमर्थमात्रमुच्यत इति मतं तदा तद्वतोऽर्थस्याभिधानमङ्गीकृतं स्यात् , तत्र च जातेस्तत्समवायस्य च निषेधात् तद्वतोऽर्थस्यासम्भव इति पूर्वोक्तो दोष । किञ्च-तद्वतोऽर्थस्य स्वलक्षणात्मकत्वादशक्यसमयत्वमव्यवहार्यत्वमस्पष्टावभासप्रसङ्गश्च पूर्ववदापद्यत एव; स्वलक्षणादिव्यतिरेकेणान्योऽस्त्यर्थो निरूप्यमाणो न बुद्धौ प्रतिभातीत्यस्यासत्त्वमेव ।

[२ समुदायपदार्थवादिमतनिरसनम्]—

समुदायाभिधानपक्षे तु जातेर्भेदाना च तप प्रभृतीनामभिधानमङ्गीकृतमिति प्रत्येकाभिधानपक्षभाविनो दोषा. सर्वे युगपत् प्राप्नुवन्तीति न तत्पक्षाभ्युपगमोऽपि श्रेयान् ।

[३-४ असत्यसवन्ध-असत्योपाधिसत्यपदार्थवादिमतद्वयनिरसनम्]-

'असत्यसंवन्ध'-'असत्योपाधिसत्य' इति पक्षद्वये च संयोगसमवायलक्षणस्य सम्बन्धस्य निषिद्धत्वात् सामान्यस्य च त्रिगुणात्मकस्य सत्यस्याव्यतिरिक्तस्य, व्यतिरिक्तस्याप्यसम्भवात् नासत्यः संयोग. । नाप्यसत्योपाधि सामान्यं शब्दवाच्य सम्भवति ।

(५-६ अभिजल्प-बुद्ध्यारूढाकारपदार्थवादिमतद्वयनिरसनम्)—

अभिजल्पपक्षेऽपि यदि शब्दस्य कश्चिदर्थ सम्भवेत् तदा तेन सहैकीकरण भवेदपि, स्वलक्षणादिस्वरूपस्य च शब्दार्थस्यासम्भव प्राक् प्रदर्शित इति कथं तेनैकीकरणम् ? अपि

चायमभिजल्पो बुद्धिस्थ एव । तथाहि-बाह्यार्थयोः(बाह्ययो.) शब्दार्थयोर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वादिभ्यो भेदस्य सिद्धेस्तयोरैक्याः पादनं परमार्थतोऽयुक्तमेवेति बुद्धिस्थयोरेव शब्दार्थयोरेकबुद्धिगतत्वादेकीकरणं युक्तम् । तथाहि-उपगृहीताभिधेयाकारतिरोभूतशब्दस्वभावो बुद्धौ विपरिवर्त्तमान. शब्दात्मा स्वरूपानुगतमर्थमविभागेनानत. सन्निवेशयन्नभिजल्प उच्यते ; स च बुद्धेरात्मगत एवाकारो युक्तो न बाह्यः, तस्यैकान्तेन परस्पर विविक्तस्वभावत्वात् ; ततश्च बुद्धिशब्दार्थपद्धादनन्तरोक्तादस्य न कश्चिद् भेद', उभयत्रापि बौद्ध एवार्थ । एतावन्मात्रं तु भिद्यते-'शब्दार्थावेकीकृतौ' इति । दोषस्तु समान एव-"ज्ञानादव्यतिरिक्त च कथमर्थान्तर व्रजेत् "? इति ।

(७ प्रतिभापदार्थवादिमतनिरसनम्)—

प्रतिभापक्षे तु यदि सा परमार्थतो बाह्यार्थविषया तदेकत्र वस्तुनि शब्दादौ विरुद्धसमयावस्थायिना विचित्रा. प्रतिभा न प्राप्नुवन्ति, एकस्यानेकस्वभावासम्भवात् । अथ निर्विषया तदार्थे प्रवृत्ति-प्रतिपत्ती न प्राप्नुतः अतद्विषयत्वाच्छब्दस्य । अथ स्वप्रतिभासो(से)ऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन भ्रान्त्या ते प्रवृत्ती-प्रतिपत्ती भवतस्तदा भ्रान्तः शब्दार्थ. प्राप्नोति,तस्याश्च बीजं वक्तव्यम् , अन्यथा सा सर्वत्र सर्वदा भवेत् । यदि पुनर्भावना परस्परतो भेद एव बीजमस्यास्तदाऽस्मत्पक्ष एव समर्थित स्यादिति सिद्धसाध्यता । किञ्च-सर्वमेतत् स्वलक्षणादिक शब्दविषयत्वेनाभ्युपगम्यमानं क्षणिकम् अक्षणिक वेति ? आद्यपक्षे सङ्केतकालदृष्टस्य व्यवहारकालानन्वयान्न तत्र समय सप्रयोजन । अक्षणिकपक्षे च "नाक्रमात् क्रमिणो भावः"इति शब्दार्थविषयस्य क्रमिज्ञानस्याभावप्रसक्ति. ।

(विवक्षापदार्थवादिमतमुल्लिख्य तन्निरसनम्)—

अन्य त्वाहु.-" अर्थविवक्षा शब्दोऽनुमापयति " इति । यथोक्तम्—' अनुमानं विवक्षाया शब्दादन्यन्न विद्यते" इति । अत्रापि यदि परमार्थतो विवक्षा पारमार्थिकशब्दार्थविषयेष्यते तदसिद्धम्, स्वलक्षणादे शब्दार्थस्य कस्यचिदसम्भवात् , अतो न कश्चिदर्थे परमार्थे विवक्षाऽस्ति, अन्वयिनोऽर्थस्याभावात् । नापि तत्प्रतिपादक' शब्द' सम्भवति । यदाहु—" क वा श्रुति. " [तत्त्वस० का० ६०७] इति । न च विवक्षायां प्रतिपाद्याया शब्दाद् बहिरर्थे प्रवृत्ति प्राप्नोति, तस्याप्रतितत्वात् अर्थान्तरवत् । न च विवक्षापरिवर्तिनो बाह्यस्य च सारूप्यादप्रतितेऽपि तत्र तत' प्रवृत्तिर्यमलकवत्, सर्वदा बाह्ये प्रवृत्तेरयोगात् कदाचिद् विवक्षापरिवर्तिन्यपि प्रतिते प्रवृत्तिप्रसङ्गाद्यमलकयोरिव । अथ परमार्थेन स्वप्रतिभासानुभवेऽपि वक्तुरेवमध्यवसायो भवति 'मयाऽसौ बाह्य पदार्थ प्रतिपाद्यते ' श्रोतुरप्येवमध्यवसाय. ' ममाय बाह्यमेव प्रतिपादयति ' इति. अतस्तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद्‌द्वयं शाब्दो व्यवहार इति । यद्येवमस्मत्पक्ष एव समाश्रित इति कथं न सिद्धसाध्यता ? शब्दस्तु लिङ्गभूतो विवक्षामनुमापयतीत्यभ्युपगम्यत एव यथा धूमोऽग्निम् ।

[वैभाषिकमतं निर्दिश्य तन्निरसनम्]—

एतेन वैभाषिकाऽपि शब्दविषय नामाख्यमर्थचित्‌स्प विप्रयुक्तं संस्कारमिच्छन्निरस्त । तथाहि—नामादि यदि वाग्रूपं तदाऽन्वयायोग । अवर्णात्मकत्व क्रमिज्ञानानुपपत्ति , वाला च प्रवृत्त्यभाव सारूप्यात् प्रवृत्ता न सर्वदा तत एव प्रवृत्तिः । " अशक्यसमयो ह्यात्मा, नामादीनामनन्यभाक् । तेषामतो न चान्यत्व, कथञ्चिदुपपद्यते " ॥१॥ इत्यादेः सर्वस्य समानत्वात् । तदेवम्-' अशक्यसमयत्वात् ' इत्यस्य हेतोर्नासिद्धता । नाप्यनैकान्तिकत्वं-विरुद्धत्वे । तद् सिद्धम् अपोहकृच्छब्द इति ।

['निषेधमात्रमेव अन्यापोह.' इति मत्वा कौमारिलकृतानामाक्षेपाणामुपन्यासः]—

अत्र परो निषेधमात्रमेव किलान्यापोहोऽभिप्रेत इति मन्यमान' प्रतिज्ञायाः प्रतीत्यादिविरोधमुद्भावयन्नाह-

" नन्वन्यापोहकृच्छब्दो, युष्मत्पक्षे तु वर्णित' ।
निषेधमात्रं नैवेह, प्रतिभासेव [सऽव] गम्यते " ॥
[तत्त्वस० का० ६१०]

" किन्तु गौर्गवयो हस्ती, वृक्ष इत्यादिशब्दतः ।
विधिरूपावसायेन, मति' शाब्दी प्रवर्त्तते ॥"
[तत्त्वस० का० ६११]

" यदि गौरित्यय शब्द', समर्थोऽन्यनिवर्तने ।
जनको गवि गोबुद्धे-र्मृग्यतामपरो ध्वनि. ॥"
[भामहाल० परि० ६ श्लो० १७]

" ननु ज्ञानफलाः शब्दा, न चैकस्य फलद्वयम् ।
अपवाद-विधिज्ञान, फलमेकस्य व. कथम् " ? ॥
[भामहाल० परि० ६ श्लो० १८]

" प्रागगौरिति विज्ञान, गोशब्दश्राविणो भवेत् ।
येनागो. प्रतिषेधाय, प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः " ॥
[भामहाल० परि० ६ श्लो० १६]

यदि गोशब्दोऽन्यव्यवच्छेदप्रतिपादनपरस्तदा तस्य तत्रैव चरितार्थत्वात् साक्षाद्विमति पदार्थे गोशब्दात् प्रतीतिर्न प्राप्नोति, ततश्च साक्षाद्विमत्पदार्थविषयाया गोबुद्धेर्जनकोऽन्यो ध्वनिरन्वेषणीयः । अथैकेनैव गोशब्देन बुद्धिद्वयस्य जन्यमानत्वान्नापरो ध्वनिर्मृग्य , नैकस्य विधिकारिण प्रतिषेधकारिणो वा शब्दस्य युगपद्विज्ञानद्वयलक्षण फलमुपलभ्यते, नापि परस्परविरुद्धमपवादविधिविज्ञानं फल युक्तम् , यदि च गोशब्देनागोनिवृत्तिर्मुख्यत. प्रतिपाद्यते तदा गोशब्दश्रवणानन्तर प्रथमम् ' अगौ. ' इत्येषाथानु' प्रतिपत्तिर्भवेत् । यत्रैव ह्यव्यवधानेन शब्दात् प्रत्यय उपजायते स एव शाब्दोऽर्थ ; न चाव्यवधानेनागोव्यवच्छेदे मति , अतो गोबुद्ध्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् प्रथमतरमगोप्रतीतिप्रसङ्गाच्च नापोह शब्दार्थ' । अपि च-अपोहलक्षणं सामान्य वाच्यत्वेनाभिधीयमानं कदाचित् पर्युदासलक्षण वाऽभिधीयते. प्रसज्यलक्षण वा ? तत्र प्रथमपक्ष सिद्धसाध्यता प्रतिपादोष , अस्माभिरपि गोत्वाख्यं सामान्य गोशब्दवाच्यमित्यभ्युपगमस्मानत्वात्— यदेव ह्यगोनिवृत्तिलक्षणं सामान्यं गोशब्देनोच्यते भवता तदेवाऽस्माभिर्भावलक्षण सामान्य तद्वाच्यमभिधीयते , अभावस्य भावान्तरात्मकत्वेन स्थितत्वात् । तदुक्तम्—

" क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति, प्रागभाव स उच्यते । '
[श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० २]

" नास्तिता [पयसो] दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम् ।
गवि योऽश्वाद्यभावश्च सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥

शिरसोऽवयवा निम्ना, वृद्धि-काठिन्यवर्जिताः ।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते " ॥
[श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० ३-४]
' न चावस्तुन एते स्यु-र्भेदास्तेनाऽस्य [वस्तुता] ।
[श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० ८] एतेन क्षीरादय एव दध्यादिरूपेण अविद्यमान॰ प्रागभावादिव्यपदेशभाज इत्युक्तं भवति ।

अगोनिवृत्तिश्चान्योन्याभाव॰ तस्या अश्वादिव्यवच्छेदरूपत्वात्, तस्मात् सा वस्तु । तत्रैवमभावस्य भावान्तरात्मकत्वे कोऽय भवद्भिरश्वादिनिवृत्तिस्वभावोऽभिमत इति ।

अथ गवादिस्वलक्षणात्मैवासौ, न, तत्र सर्वविकल्पप्रत्ययाऽस्तमयात् (प्रत्यस्तमयात्) विकल्पज्ञानगोचर॰ सामान्यमेवेष्यते, असाधारणस्त्वर्थ॰ सर्वविकल्पानामगोचर॰ । यथोक्तम्—" स्वसंवेद्यमनिर्देश्य रूपमिन्द्रियगोचर॰ " । इति यथैव हि भवतामसाधारणो विशेषोऽश्वादिनिवृत्त्यात्मा गोशब्दाभिधेयो नेष्टस्तथैव शावलेयादि॰ शब्दवाच्यतया नेष्ट॰, असामान्यप्रसङ्गत॰ । यदि हि गोशब्द शावलेयादिवाचक स्यात् तदा तस्यानन्वयान्न सामान्यविषय स्यात्, यतश्चाश्वादिनिवृत्त्यात्मा भावोऽसाधारणो न घटते तस्मात् सर्वेषु सजातीयेषु शावलेयादिपिण्डेषु यत् प्रत्येक परिसमाप्त तन्निबन्धना गोबुद्धि॰, तच्च गोत्वाख्यमेव सामान्यम् तस्यागोऽपोहशब्देनाभिधानात् केवलं नामान्तरमिति सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोष॰ ।

तथाऽऽह कुमारिल॰—

" अगोनिवृत्ति॰ सामान्य, वाच्यं यै परिकल्पितम् ।
गोत्व वस्त्वेव तैरुक्त-मगोपोहगिरा स्फुटम् "॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० १]
" भावान्तरात्मकोऽभावो, येन सर्वो व्यवस्थित ।
तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्माऽ-भाव॰ क इति कथ्यताम् ? " ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० २]
" नेष्टोऽसाधारणस्तावद्, विशेषो निर्विकल्पनात् ।
तथा च शावलेयादि-रसामान्यप्रसङ्गत " ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० ३]
" तस्मात् सर्वेषु यद्रूप, प्रत्येकं परिनिष्ठितम् ।
गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद्, गोत्वादन्यच्च नास्ति तत् " ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० १०]

अथ प्रसज्यलक्षणमिति पक्षस्तदा पुनरप्यगोऽपोहलक्षणाभावस्वरूपा शून्यता गोशब्दवाच्या प्रसक्ता वस्तुस्वरूपापह्नवात्, तत्र च शाब्दबुद्धीना स्वांशग्रहण प्रसक्तम् बाह्यवस्तुरूपाग्रहात्, ततश्चापोहस्य वाच्यत्व मुधैवाभ्युपगतं परेण बुद्ध्याकारस्याम(न) पेक्षितबाह्यार्थालम्बनस्य विधिरूपस्यैव शब्दार्थत्वापत्ते । इत्यभ्युपगमबाधा प्रतिज्ञाया परस्य ।

अथ बुद्ध्याकारालम्बनाऽपि सा बुद्धिर्विजातीयाऽगवा(यगवा) दिबुद्धिभ्यो व्यावृत्तरूपा प्रवर्तते तेनापोहकल्पना युक्तैव, असदेतत्, यतो यद्यपि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छिन्ना तथापि सा न बुद्ध्यन्तरव्यवच्छेदावसायिनी जायते, किं तर्हि? अश्वादिष्वर्थेषु विधिरूपाऽध्यवसायिनी, तेन वस्त्वेव विधिरूप वाच्य कल्पयितु युक्तिमत् नाऽपोह, बुद्ध्यन्तरस्य बुद्ध्यन्तरानपोहकत्वात् । किञ्च-योऽयं भवद्भिरपोह॰ पदार्थत्वेन कल्पित स वाक्यादपोद्धृत्य कल्पितस्य पदस्यार्थः इष्ट॰—वाक्यार्थस्तु प्रतिभालक्षण एव । यथोक्तम्-

" अपोद्धारपदस्यायं, वाक्यादर्थो विवेचितः ।
वाक्यार्थः प्रतिभाख्योऽयं, तेनादावुपजन्यते"॥१॥ इति,

सचायुक्त, शब्दार्थस्य विधिरूपताप्रसक्तेः, तथापि बाह्योऽर्थ शब्दवाच्यत्वेनासत्यपि वाक्यार्थो भवद्भि प्रतिभालक्षण एव वर्ण्यते नापोहस्तदा पदार्थोऽपि वाक्यार्थवत् प्रतिभालक्षण एव प्रसक्त इति द्वयोरपि पद-वाक्यार्थयोर्विधिरूपत्वम् । अथ प्रतिभायाः प्रतिभान्तराद् विजातीयाद् व्यवच्छेदोऽस्तीत्यपोहरूपता, न सम्यगेतत्; यतो यद्यपि बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् व्यावृत्तिरस्ति तथापि न च तत्र शब्दव्यापार । तथाहि-शब्दादसावुत्पद्यमाना न स्वरूपोत्पादव्यतिरेकेणान्यं बुद्ध्यन्तरव्यवच्छेदलक्षणं शब्दादवसीयमानमंश बिभ्राणा लक्ष्यते किं तर्हि ? विधिरूपावसायिन्येवोत्पत्तिमती । न च शब्दादनवसीयमानो वस्त्वंश॰ शब्दार्थो युक्तः अतिप्रसङ्गादिति प्रतीतिबाधितत्व प्रतिज्ञाया ।

अपि च-ये भिन्नसामान्यवचना गवादय॰, ये च विशेषवचना॰ शावलेयादयस्ते भवदभिप्रायेण पर्याया प्राप्नुवन्ति, अर्थभेदाभावात्, वृक्ष-पादपादिशब्दवत् । स च अवस्तुत्वात्, वस्तुन्येव हि॰ संसृष्टत्व-एकत्व-नानात्वादिविकल्पा॰ सम्भवन्ति, नावस्तुन्येवापोहाख्ये परस्पर संसृष्टतादिविकल्पो युक्त इति कथमपा भेद ? तदभ्युपगमे वा नियमेन वस्तुत्वापत्ति । तथाहि-' ये परस्पर भिद्यन्ते ते वस्तुरूपा॰, यथा स्वलक्षणानि, परस्पर भिद्यन्ते चापोहा॰ ' इति स्वभावहेतु, इति विधिरेव शब्दार्थ॰ । एतेनानुमानबाधितत्व प्रतिज्ञाया प्रतिपादितम् । अथावस्तुत्वमभ्युपगम्यतेऽपोहाना तदा नानात्वाभावात् पर्यायत्वप्रसक्तः इत्येकान्त एष॰ । न चापोह्यभेदात् स्वतो भेदाभावेऽपि तस्य भेदादपर्यायत्वम्, स्वस्तस्य नानात्वाभावेऽभावैकरूपत्वात् परतोऽप्यसौ भवन् काल्पनिक॰ स्यात्, न हि स्वतोऽसतो भेदस्य परतः सम्भवो युक्त । यथाहि-ससर्गिण शावलेयादय आधारतयाऽन्तरङ्गा अपि तं स्वरूपतो भेत्तुमशक्ता॰—बहुष्वपि शावलेयादिष्वेकस्यागोव्यवच्छेदलक्षणस्यापोहस्य तेष्वभ्युपगमात्—तथा बहिरङ्गभूतैरश्वादिभिरपोह्यैरसौ भिद्यत इत्यपि साहसम्, न हि यस्यान्तरङ्गोऽप्यर्थो न भेदकस्तस्य बहिरङ्गो भविष्यति बहिरङ्गत्वहानिप्रसङ्गात् । अथान्तरङ्गा एवाधारास्तस्य भेदका, असदेतत्, अवस्तुन सम्बन्धिभेदाद् भेदानुपपत्तेः, वस्तुन्यपि हि सम्बन्धिभेदाद् भेदो नोपलभ्यते किमुतावस्तुनि ' निःस्वभावोत्तहा हि—देवाहिकमेकपि ' (नि स्वभावे । तथाहि—देवदत्तादिकमेकमपि) वस्तु युगपत् क्रमेण वाऽनेके [कै] रासनादिभिर [रभि] सम्बध्यमानमनासादितभेदमेवोपलभ्यते किं पुनर्यदन्यव्यावृत्तिरूपमवस्तु, तत्त्वादेव च क्वचिदसम्बद्धं विजातीयाच्चाऽव्यावृत्तम् अत एवानधिगतविशेषाश तादृश सम्बन्धिभेदादपि कथमिव भेदमश्नुवीत?, किञ्च-भवतु नाम सम्बन्धिभेदाद् भेदस्तथापि वस्तुभूतसामान्यानभ्युपगमे भवता स एवापोहाश्रय सम्बन्धी न सिद्धिमासादयति यस्य भेदात्

तद्भेदोऽवकल्प्यते । तथाहि-यदि गवादीनां वस्तुभूतं सारू-
प्य प्रसिद्धं भवेत् तदाऽश्वाद्यपोहाश्रयत्वमेषामविशेषेण
सिद्धयेत [त्] नान्यथा, अतोऽपोहविषयत्वमेषामिच्छता-
ऽवश्यं सारूप्यमङ्गीकर्तव्यम् , तदेव च सामान्यं वस्तुभूतं
शब्दवाच्यं भविष्यतीत्यपोहकल्पना व्यर्थैव । अपोह्यभेदोऽ-
पि वस्तुभूतसामान्यमन्तरेण न सिद्धिमासदयति । तथाहि
यद्यश्वादीनामेकः कश्चित् सर्वव्यक्तिसाधारणो धर्म्मोऽनुगा-
मी स्यात् तदा ते सर्वे गवादिशब्दैरविशेषेणापोह्येरन् ना-
न्यथा, विशेषापरिज्ञानात् । साधारणधर्माभ्युपगमे चापोह-
कल्पनावैयर्थ्यम् । अपि च-अपोह. शब्द-लिङ्गाभ्यामेव प्र-
तिपाद्यत इति भवद्भिरिष्यते , शब्द-लिङ्गयोश्च वस्तु भूत-
सामान्यमन्तरेण प्रवृत्तिरनुपपन्नेति नातोऽपोहप्रतिपत्तिः ।
तथाहि-अनुगतवस्तुव्यतिरेकेण न शब्दलिङ्गाभ्यां [न शब्द
लिङ्गयो. प्रवृत्ति', न च शब्द-लिङ्गाभ्यां] विनाऽपोहप्रति-
पत्ति., न चासाधारणस्यान्वय , तदेवमपोहकल्पनायां श-
ब्द-लिङ्गयोः प्रवृत्तिरेव न प्राप्नोति, प्रवृत्तौ वा प्रामाण्यम-
भ्युपगत हीयेत । तथाहि-प्रतिपाद्यार्थाव्यभिचारित्वं तयोः
प्रामाण्यम् , अपोहश्च प्रतिपाद्यत्वेन भवताऽभ्युपगम्यमानो
ऽभावरूपत्वान्नि.स्वभाव इति क्व तयोरव्यभिचारित्वम् ? न
च विजातीयादर्शनमात्रेणैव शब्द-लिङ्गे अगृहीतसाहचर्ये
एव स्वमर्थं गमयिष्यत., विजातीयादर्शनमात्रेण गमकत्वा-
भ्युपगमे स्वार्थ. परार्थ इति विशेषानुपपत्ते., तथा च स्वार्थ-
मपि न गमयेत् तत्र अदृष्टत्वात् परार्थवत् । तदेव शब्द-लि-
ङ्गयोरप्रामाण्याभ्युपगमप्रसङ्गान्नापोहः शब्दार्थो युक्त. । यदि
वा-असत्यपि सारूप्ये शाबलेयादिष्वगोऽपोहकल्पना तदा
गवाश्वस्यापि कस्मान्न कल्प्यतासौ अविशेषात् । तदुक्तं कु-
मारिलेन—

"अथासत्यपि सारूप्ये, स्यादपोहस्य कल्पना ।
गवाश्वयोरय कस्मा-दगोपोहो न कल्प्यते" ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० ७६]

'गवाश्वयो.' इति "गवाश्वप्रभृतीनि च"(पाणि०-२-४-११)
इत्येकवद्भावलक्षणास्मरणादुक्तम् । अविशेषप्रतिपादनार्थं स
एव पुनरप्युक्तवान्—

"शाबलेयाच्च भिन्नत्व, बाहुलेयाश्वयो समम् ।
सामान्य नान्यदिष्टं चेत् , क्वागोऽपोह. प्रवर्त्तताम्"? ॥
(श्लो० वा० अपो० श्लो० ७७)

यथैव हि शाबलेयाद् वैलक्षण्यादश्वे न प्रवर्त्तते तथा बाहु-
लेयस्यापि ततो वैलक्षण्यमस्तीति न तत्राप्यसौ प्रवर्तेत, एवं
शाबलेयादिष्वपि योज्यम् , सर्वत्र वैलक्षण्याविशेषात् । अपि
च-यथा स्वलक्षणादिषु समयासम्भवान्न शब्दार्थत्वम् तथाऽ
पोहेऽपि । तथाहि-निश्चितार्थो हि समयकृत् समयं करो-
ति; न चापोहः केनचिदिन्द्रियैर्व्यवसीयते, व्यवहारात् पूर्वं
तस्याऽवस्तुत्वात् इन्द्रियाणां च वस्तुविषयत्वात् । न चान्य-
व्यावृत्तं स्वलक्षणमुपलभ्य शब्द प्रयोक्ष्यते, अन्यापोहादन्यत्र
शब्दवृत्ते. प्रवृत्त्यनभ्युपगमात् । नाप्यनुमानेनापोहाध्यवसा-
य , "न चान्वयविनिर्मुक्ता प्रवृत्ति शब्द-लिङ्गयो ' इत्यादि-
ना तत्प्रतिषेधस्य तत्रोक्तत्वात् । तस्मात् 'अकृतसमयत्वात्'
इत्यस्य हेतोरनैकान्तिकत्वमपोहेन, अकृतसमयत्वेऽप्यपोहे
शब्दप्रवृत्त्यभ्युपगमात् । इतश्चापोहे सङ्केतासम्भवः अ-
तिप्रसक्ते. । तथाहि-कथमश्वादीना गोशब्दानभिधेयत्वम् ?
सम्बन्धानुभवक्षणेऽश्वादेस्तद्विषयत्वेनादृष्टेरिति चेत् , अस-
देतत् ,यतो यदि यद् गोशब्दसङ्केतकाले उपलब्धं ततोऽन्यत्र
गोशब्दप्रवृत्तिर्नेष्यते तदैकस्मात् सङ्केतेन विषयीकृताच्छाब-
लेयादिकाद् गोपिण्डादन्यद् बाहुलेयादि गोशब्देनापोह्यं भ-
वेत् , ततश्च सामान्य वाच्यमित्येतन्न सिध्येत् । इतरेतरा-
श्रयदोषप्रसक्तेश्चापोहे सङ्केतोऽशक्यक्रिय. । तथाहि-अगो-
व्यवच्छेदेन गो. प्रतिपत्ति', स चागौर्गोनिषेधात्मा; ततश्च
'अगौः' इत्यत्रोत्तरपदार्थो वक्तव्य. यो 'न गौरगौ.' इत्यत्र
नञा प्रतिषिध्येत, न ह्यनिर्ज्ञातस्वरूपस्य निषेधः शक्यते
विधातुम् । अथापि स्यात् किमत्र वक्तव्यम्-अगोनिवृत्त्या-
त्मा गौ., नन्वेवमगोनिवृत्तिस्वभावत्वाद् गोरगोप्रतिपत्तिद्वा-
रेणैव प्रतीति., अगोश्च गोप्रतिषेधात्मकत्वाद् गोप्रतिपत्ति-
द्वारिकैव प्रतीतिरिति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । अथाप्य-
गोशब्देन यो गौर्निषिध्यते स विधिरूप एव अगोव्यवच्छेद-
मल(दल) क्षणापोहसिद्ध्यर्थम् तेनेतरेतराश्रयत्वं न भविष्य-
ति । यद्येवं 'सर्वस्य शब्दस्यापोहार्थः' इत्येवमपोहकल्पना
वृथा, विधिरूपस्यापि शब्दार्थस्य भावात् । अत. (अतो न)
कश्चिद् विधिरूपः शब्दार्थ. प्रसिद्धोऽङ्गीकर्तव्य., तदनङ्गीक-
रणे चेतरेतराश्रयदोषो दुर्निवारः । तदुक्तम्—

"सिद्धश्चागौरपोह्येत, गोनिषेधात्मकश्च स. ।
तत्र गौरेव वक्तव्यो, नञा यः प्रतिषिध्यते "॥
"स चेदगोनिवृत्त्यात्मा, भवेदन्योऽन्यसंश्रय ।
सिद्धश्चेद् गौरपोहार्थं, वृथाऽपोहप्रकल्पनम् "॥
"गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति, तदभावेऽपि गौ. कुत. । "
[श्लो० वा० अपो० श्लो० ८३-८४-८५ अर्द्ध] इति ।

"नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः"
इत्याचार्यदिङ्नागेन विशेष्यविशेषणभावसमर्थनार्थं यदुक्तं न-
दयुक्तमिति दर्शयन्नाह भट्ट.-"नाधाराधेयवृत्त्यादि-सम्बन्ध-
श्चाप्यभावयो." ॥ [श्लो० वा० अपो० श्लो० ८५] यस्य हि
येन सह कश्चिद् वास्तवः सम्बन्धः सिद्धो भवेत् तत् तेन
विशिष्टमिति युक्त वक्तुम् । न च नीलोत्पलयोरनीलानुत्पल-
व्यवच्छेदरूपत्वेनाभावरूपयोराधाराधेयादि. सम्बन्ध स-
म्भवति, नीरूपत्वात् । आदिग्रहणेन संयोगसमवायैकार्थस-
मवायादिसम्बन्धग्रहणम् । न चासति वास्तवे सम्बन्धे त-
द्विशिष्टस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । अथापि स्यात्
नैवास्माकमनीलादिव्यावृत्त्या विशिष्टोऽनुत्पलादिव्यवच्छेदो-
ऽभिमत' यतोऽयं दोष. स्यात्, किं तर्हि ? अनीलानुत्पला-
भ्यां व्यावृत्तं वस्त्वेव तथाव्यवस्थितं तदर्थान्तरनिवृत्त्या
विशिष्टं शब्देनोच्यत इत्ययमर्थोऽत्राभिप्रेतः , असदेतत् ;
स्वलक्षणस्यावाच्यत्वात् तत्पक्षभाविदोषप्रसङ्गाच्च । न च
स्वलक्षणस्यान्यनिवृत्त्या विशिष्टत्वं सा (सि) ध्यति यतो न
वस्त्वपोह , असाधारणं तु वस्तु । न च वस्त्ववस्तुनो युक्त ,
वस्तुद्वयाधारत्वात् तस्य । भवतु वा सम्बन्धस्तथापि विशे-
षणत्वमपोहस्यायुक्तम् ; न हि सत्तामात्रेणोत्पलादीनां नीला-
दि विशेषण भवति. किं तर्हि ? ज्ञातं सद् यत् स्वाकारानुर-
क्तया बुद्ध्या विशेष्यं रञ्जयति तद् विशेषणम् , न चापोहोऽयं
प्रकार सम्भवति, न ह्यश्वादिषु द्रव्याऽपोहोऽध्यवसीयते, किं

तर्हि ? वस्त्वेव, अनोऽपोहस्य बोधासम्भवाद् न तेन स्वबुद्ध्या रज्यतेऽश्वादि । न चाज्ञातोऽप्यपोहो विशेषणं भवति, न ह्यगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुपजायमाना दृष्टा, भवतु वाऽपोहज्ञानम् तथापि वस्तुनि तदाकारबुद्ध्यभावात् तस्य तद्विशेषणत्वमयुक्तम् , सर्वमेव हि विशेषणं स्वाकारानुरूपां विशेष्ये बुद्धिं जनयद् दृष्टम् , न त्वन्यादृशं विशेषणमन्यादृशीं बुद्धिं विशेष्ये जनयति, न हि नीलमुत्पले 'रक्तम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति, दण्डो वा 'कुण्डली' इति, न चात्राश्वादिस्वभावानुरक्ता शाब्दी बुद्धिरुपजायते, किं तर्हि? भावाकाराध्यवसायिनी । यदि पुनर्विशेषणाननुरूपतयाऽन्यथा व्यवस्थितेऽपि विशेष्ये साध्वी विशेषणकल्पना तथासति सर्वमेव नीलादि सर्वस्य विशेषणमित्यव्यवस्था स्यात् । नाप्यपोहेनापि स्वबुद्ध्या विशेष्यं वस्त्वनुरज्यते इति वक्तव्यम्, तथाऽभ्युपगमे अभावरूपेण वस्तुन प्रतीतेर्वस्तुत्वमेव न स्यात् भावाभावयोर्विरोधात् । एतदेवाह--

" न चासाधारणं वस्तु, गम्यतेऽपोहवत्तया ।
कथं वा परिकल्प्येत, सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनो. ॥ "

" स्वरूपसत्त्वमात्रेण, न स्यात् किञ्चिद् विशेषणम् ।
स्वबुद्ध्या रज्यते येन, विशेष्य तद् विशेषणम् ॥ "

" न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो, जायतेऽपोहबोधनम् ।
विशेष्यबुद्धिरिष्टेह, न चाज्ञातविशेषणा ॥ "

" न चान्यरूपमन्यादृक्, कुर्याज् ज्ञानं विशेषणम् ।
कथ चान्यादृशे ज्ञाने, तदुच्येत विशेषणम् ॥ "

" अथान्यथा विशेष्येऽपि, स्याद् विशेषणकल्पना ।
तथासति हि यत् किञ्चित् , प्रसज्येत विशेषणम् " ॥

" अभावगम्यरूपे च न विशेष्येऽस्ति वस्तुता ।
विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्यं न तेऽस्त्यत. " ॥

[श्लो० वा० अपो० श्लो० ८६-८७-८८-८९-९०-९१] इति ।

अथान्यव्यावृत्ते एव वस्तुनि शब्द-लिङ्गयो प्रवृत्तिर्दृश्यते नापोहरहिते अतोऽपोह शब्द-लिङ्गाभ्या प्रतिपाद्यत इत्यभिधीयते न प्रसज्यप्रतिषेधमात्रप्रतिपादनात् अत एव न प्रतीत्यादिविरोधोद्भावनं युक्तम् , असदेतत् , यतो यदि नाम तद् वस्त्वन्यतो व्यावृत्तं तथापि तत्रोत्पद्यमान शब्द-लिङ्गोद्भवो बोधोऽन्यव्यावृत्तिं सतीमपि नावलम्बते , किं तर्हि ? वस्त्वशमेवाभिधावति, तत्रैवानुरागात् । य एव चाशो वस्तुन शाब्देन लैङ्गिकेन वा प्रत्ययेनावसीयते स एव तस्य विषय नानवसीयमान सन्नपि, न हि मालतीशब्दस्य गन्धादयो विद्यमानतया वाच्या व्यवस्थाप्यन्ते । न चाप्येतदु (द्) क्तम् यद् अन्यव्यावृत्ते वस्तुनि शब्द-लिङ्गयो प्रवृत्ति , यतोऽन्यव्यावृत्तं वस्तु भवता मतेन स्वलक्षणमेव भवेत् न च तत् शब्द-लिङ्गजाया बुद्धौ विपरिवर्त्तत इति, तस्य निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वात् भवदभिप्रायेण शब्द-लिङ्गजबुद्धेश्च सामान्यविषयत्वात् । न चासाधारणं वस्तु शाब्दलिङ्गजप्रत्ययाधिगम्यम् , तत्र विकल्पाना प्रत्यस्तमयात् । तथाहि—विकल्पा जात्यादिविशेषणसस्पर्शेनैव प्रवर्त्तते न शुद्धवस्तुग्रहणे, न च शब्देनागम्यमानमप्यसाधारणं वस्तु व्यावृत्त्या विशिष्टमित्यभिधातुं शक्यम् । यत —

" शब्देनागम्यमानं च, विशेष्यमिति साहसम् ।
तेन सामान्यमेष्टव्य, विषयो बुद्धि-शब्दयोः " ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० ९४]

इतश्च सामान्यं वस्तुभूतं शब्दविषय' यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामवाच्यत्वान्नापोह्यता अनुक्तस्य निराकर्तुमशक्यत्वात् , अपोह्येत सामान्यम् तस्य वाच्यत्वात् ; अपोहानां त्वभावरूपतयाऽपोह्यत्वासम्भावात् नत्वे वा वस्तुत्वमेव स्यात्—तथाहि-यद्यपोहानामपोह्यत्व भवेत् तदैषामभावरूपत्वं विप्रतिषिद्ध भवेत् , प्रतिषेधे च सति अभावैरभावरूपत्वं त्यक्त स्यात् , ततश्चाभावानामपोहलक्षणानामभावरूपत्यागाद् वस्तुत्वमेव भवेत् , तच्च न शब्दविषय — यद्वाऽभावानामभावाभावात् न ह्यभावस्वभावा अपोहा अपोह्या युज्यन्ते, वस्तुविषयत्वात् प्रतिषेधस्य, तस्मादश्वादौ गवादेरपोहो भवन् सामान्यस्यैवेति निश्चीयत इति सिद्धमपोह्यत्वाद् वस्तुत्व सामान्यस्य । तदुक्तम्—

" यदा वा शब्दवाच्यत्वा-न्न व्यक्तीनामपोह्यता ।
तदाऽपोह्येत सामान्य, तस्यापोह्याच्च वस्तुता" ॥

"नापोह्यत्वमभावाना-मभावाऽभाववर्जनात् ।
व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मात् सामान्यवस्तुन" ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० ९५-९६] इति ।

अपि च, अपोहाना परस्परतो वैलक्षण्यमवैलक्षण्य वा ? तत्राद्ये पक्षे अभावस्यागोशब्दस्याभिधेयस्याभावो गोशब्दाभिधेय , स चेत् पूर्वोक्तादभावाद् विलक्षणस्तदा भाव एव भवेत् अभावनिवृत्तिरूपत्वाद् भावस्य । न चेद् विलक्षणस्तदा गौरप्यगौ प्रसज्येत, तदवैलक्षण्येन तादात्म्यप्रतिपत्ते । स्यादेतत् गवाश्वादिशब्दै स्वलक्षणान्येव परस्परतो व्यावृत्तान्यपोह्यन्ते नाभावा तेनापोह्यत्वेन वस्तुत्वप्रसङ्गापादनं नानिष्टम् , असदेतत् , यद्यपि सच्छब्दादन्येषु गवादिशब्दषु वस्तुन (न)पर्वतादेरपोह्यता सिद्ध्यति सच्छब्दस्य त्वभावाख्यादपोह्यान्नान्यदपोह्यमस्ति असदव्यवच्छेदेन सच्छब्दस्य प्रवृत्तत्वात् , ततश्च पूर्ववदभावाभाववर्जनाद् असतोऽपोहे वस्तुत्वमेव स्याद् इत्यपोहवादिनोऽभ्युपगमविरुद्धाऽसद्वस्तुत्वप्रसक्ति । अथास्त्वभावस्यापि वस्तुत्वम् , न, अभावस्यापि सि(स्याऽस्ति) द्धौ कस्यचिद् भावस्यैवासिद्धे', अभावव्यवच्छेदेन तस्य भवन्मतेन स्थितलक्षणत्वात् । अभावस्य चाऽपोह्यत्व सति वस्तुत्वप्रसङ्गेन स्वरूपासिद्धेरसत्त्वमपि न सिद्ध्यति, तस्य सत्त्वव्यवच्छेदरूपत्वात् , सत्त्वस्य च यथोक्तेन प्रकारेणायोगात् । न चात्र—" अपोह्य स यदि सम्भि तैर्भिद्यते " इत्यादौ "अवस्तुत्वादपोहाना नैव भेद " इत्यादौ च ' न स्वल्वपोह्यभेदादाधारभेदाद् वाऽपोहानां भेद, अपि त्वनादिकालप्रवृत्तविचित्रवितथार्थविकल्पवासनाभेदान्नर्थस्तत्वतो निर्विषयैरप्यभिन्नविषयालम्बिभिर्भिन्नैरिव प्रत्ययैस्तत्त्वेष्वेषु बाह्येषु भिन्ना इवार्थात्मान इवाभासा अप्यपोहा समारोप्यन्ते, ते चैव तथा नै. समारोपिता भिन्ना सन्तश्च प्रतिभासन्ते येन वासनाभेदाद् भेद सङ्पता वाऽपोहाना भविष्यति ' इत्यत्र परिहारो युक्त , यतो न ह्यवस्तुनि वासना सम्भवति, वासनाहेतोर्निर्विषयप्रत्ययस्यायोगात् ; तदभावाद् वितथार्थानां निर्विषयप्रत्ययस्यायोगात् ; तदभावाद् वितथार्थानां निर्विषयप्रत्ययस्यायोगात्

नायोगेन वासनाधायकविज्ञानाऽभावतो न वासना, ततश्च वासनाऽभावात् कुतो वासनाकृतोऽपोहानां भेदः सद्रूपता वा ? अतो वाच्याभिमतापोहाऽभावः।

तथा, वाचकाभिमतस्यापि तस्याभाव एव, तथापि शब्दानां भिन्नसामान्यवाचिनां विशेषवाचिनां च परस्परतो वासनाभेदनिमित्तो वा स्यात् वाच्यापोहभेदनिमित्तो वा ? ननु प्रत्यक्षत एव शब्दानां कारणभेदाद् विरुद्धधर्माध्यासाच्च भेदः प्रसिद्ध एवेति प्रश्नानुपपत्तिः, असदेतत्; यतो वाचकं शब्दमङ्गीकृत्य प्रश्नः, न च श्रोत्रज्ञानावसेयः स्वलक्षणात्मा शब्दो वाचकः, सङ्केतकालानुभूतस्य व्यवहारकाले चिरविनष्टत्वात् तस्य न तेन व्यवहार इति न स्वलक्षणस्य वाचकत्वं भवदभिप्रायेण. अविवादश्चात्र। यथोक्तम्—

" नार्थशब्दविशेषस्य, वाच्यवाचकतेष्यते।
तस्य पूर्वमदृष्टत्वात्, सामान्य तूपदेक्ष्यते " ॥१॥ इति।

तस्माद् वाचकं शब्दमधिकृत्य प्रश्नकरणाददोषः।

" तत्र शब्दान्तरापोहे, सामान्ये परिकल्पिते।
तथैवावस्तुरूपत्वा-च्छब्दभेदो न कल्प्यते " ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० १०४]

यथा पूर्वोक्तेन विधिना 'संसृष्टैकत्वनानात्व'-इत्यादिना वाच्यापोहानां परस्परतो भेदो न घटते तथा शब्दापोहानामपि नीरूपत्वान्नासौ युक्तः, यथा च वाचकानां परस्परतो भेदो न सङ्गच्छते एवं वाच्यवाचकयोरपि मिथोऽनुपपन्नः, निःस्वभावत्वात्। न चापोह्यभेदाद् भेदो भविष्यति, 'न विशेषः स्वतस्तस्य' इत्यादिना प्रतिविहितत्वात्। तदेवं प्रतिज्ञायाः प्रतीत्यभ्युपगतबाधा व्यवस्थिता।

" अपोह्यभेदाद् भिन्नार्थाः, स्वार्थभेदगतौ जडाः।
एकत्राभिन्नकार्यत्वाद्, विशेषणविशेष्यता " ॥१॥
" तन्मात्राकाङ्क्षणाद् भेदः, स्वसामान्येन नोज्झितः।
नोपात्तः संशयोत्पत्तेः, सैव चैकार्थता तयोः " ॥२॥ इति,

तदप्ययमनुपपन्नम्, यतः परस्परं व्यवच्छेद्या(द्य)व्यवच्छेदकभावो विशेषणविशेष्यभावः स च बाह्य (वाक्य) एव व्यवस्थाप्यते यथा ' नीलो(नीलमु)त्पलम् ' इति। व्यधिकरणयोरपि यथा ' राज्ञः पुरुषः ' इत्यादौ। भिन्ननिमित्तप्रयुक्तयोस्तु शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्, तच्च ' नीलोत्पलम्' इत्यादौ वृत्तावेव व्यवस्थाप्यते। न च नीलोत्पलादिशब्देषु शबलार्थाभिधायिषु तत्सिद्धिः, शबलार्थाभिधायित्वं च तेषाम्-"न हि तत् केवलं नीलं, न च केवलमुत्पलम्। समुदायाभिधेयत्वात्, 'इत्यादिना प्रतिपादितम्। यतः अनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलव्युदासो नास्ति,नाप्यनुत्पलप्रच्युतावनीलव्युदास इति नाऽनयोः परस्परमाधाराधेयसम्बन्धोऽस्ति नीलरूप (नीरूप) त्वात्, न चासति सम्बन्धे विशेषणविशेष्यभावो युक्तः अतिप्रसङ्गात्, अतो युष्मन्मतेनाभाववाचित्वाच्छबलार्थाभिधायित्वासम्भवाच्च विशेषणविशेष्यभावो युक्तः। अभिधेयद्वारेणैव हि तदभिधायिनोः शब्दयोर्विशेषणविशेष्यभाव उपचर्यते, अभिधेये च तस्यासम्भवेऽभिधानेऽपि कुतस्तदारोपः ? सामानाधिकरण्यमपि नीलोत्पलशब्दयोर्न सम्भवति, तद्वाच्ययोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदलक्षणयोरपोह्ययोर्भिन्नत्वात्। तच्च भवद्भिरेव-' अपोह्यभेदाद् भिन्नार्था' इत्यभिधानादवसीयते। प्रयोगः-न नीलोत्पलादिशब्दाः समानाधिकरणव्यवहारविषयाः, भिन्न—

तिपादितो भवता "तद्वतो न वाचक शब्द, अस्वतन्त्रत्वात्" इति स व्यावृत्तिमन्मात्रपक्षेऽपि तुल्यः। तथाहि-जातिमन्मात्रे शब्दार्थे सच्छब्दो जातिस्वरूपोपसर्जनं द्रव्यमाह न साक्षादिति तद्गतघटादिभेदानाक्षेपात् अतद्भेदत्वे सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्ग उक्त, स व्यावृत्तिमन्मात्रपक्षेऽपि समान —तत्राऽपि हि सच्छब्दो व्यावृत्त्युपसर्जनं द्रव्यमाह न साक्षादिति तद्गतभेदानाक्षेपोऽत्राऽपि समान एव, को ह्यत्र विशेष. जातिव्या (र्या) वृत्तिर्जातिमद्या (जातिमान् व्या) वृत्तिमानिति। न च लिङ्ग-सङ्ख्या-क्रिया-कालादिभि. सम्बन्धोऽपोहस्यावस्तुत्वाद् युक्त. एषा वस्तुधर्मत्वात्। न च लिङ्गादिविविक्त. पदार्थ. शक्य. शब्देनाभिधातुम्, अत. प्रतीतिबाधाप्रसङ्ग प्रतिज्ञाया। न च व्यावृत्त्याधारभूताया व्यक्तेर्वस्तुत्वाल्लिङ्गादिसम्बन्धात् तद्द्वारेणापोहस्याप्यसौ व्यवस्थाप्य.,व्यक्तेर्निर्विकल्पकज्ञानविषयत्वाल्लिङ्ग-सङ्ख्यादिसम्बन्धेन व्यपदेष्टुमशक्यत्वात् अपोहस्य तद्द्वारेण तद्व्यवस्थाऽसिद्धे। अव्यापित्वं चापोहशब्दार्थव्यवस्थाया, 'पचति' इत्यादिक्रियाशब्देष्वन्यव्यवच्छेदाप्रतिपत्ते.। यथा हि घटादिशब्देषु निष्पन्नरूप पटादिक निषेध्यमस्ति न तथा 'पचति' इत्यादिषु, प्रतियोगिनो निष्पन्नस्य कस्यचिदप्रतीते। अथ मा भूत् पर्युदासरूपं निषेध्यम्, 'न पचति' इत्येवमादि प्रसज्यरूपं 'पचति' इत्यादेर्निषेध्य भविष्यति, असदेतत्, 'तन्न (न न) पचति' इत्येवमुच्यमाने प्रसज्यप्रतिषेधस्य निषेध एवोक्त स्यात्, ततश्च प्रतिषेधद्वयस्य विधिविषयत्वाद् विधिरेव शब्दार्थ प्रसक्त। किञ्च-'पचति' इत्यादौ साध्यत्व प्रतीयते, यस्या हि क्रियाया केचिदवयवा निष्पन्ना केचिदनिष्पन्ना. सा पूर्वापरीभूतावयवा क्रिया साध्यत्वप्रत्ययविषय, तथा-'अभूत्' 'भविष्यति' इत्यादौ भूतादिकालविशेषप्रतीतिरस्ति, न चापोहस्य साध्यत्वादिसम्भवः निष्पन्नत्वादभावैकरसत्वेन, तस्मादपोहशब्दार्थपक्षे साध्यत्वप्रत्ययो भूतादिप्रत्ययश्च निर्निमित्त. प्राप्नोतीति प्रतीतिबाधा। न च विध्यादावन्यापोहप्रतिपत्तिरस्ति, पर्युदासरूपस्य निषेध्यस्य तत्राभावात्। 'न न पचति देवदत्त' इत्यादौ च नञा (ञो) ऽपरेण नञो योगे नैवापोह, प्रतिषेधद्वयेन विधेरेव संस्पर्शात्। अपि च-चादीना निपातोपसर्गकर्मप्रवचनीयाना पदत्वमिष्टम्, न चैषा नञा सम्बन्धोऽस्ति असम्बन्धवचनत्वात्। तथाहि— यथा हि घटादिशब्दानाम् 'अघट.' इत्यादौ नञा सम्बन्धेऽर्थान्तरस्य पटादे. परिग्रहात् तद्व्यवच्छेदेन नञा रहितस्य घटशब्दस्यार्थोऽवकल्पते न तथा चादीना नञा सम्बन्धोऽस्ति न चासम्बध्यमानस्य नञाऽपोहनं युक्तम्, अतश्चादिष्वपोहाभाव। अपि च-कल्माषवर्णवच्छबलैक्यरूपो वाक्यार्थ इति नान्यनिवृत्तिस्तत्त्वेन व्यपदेष्टुं शक्या, निष्पन्नरूपस्य प्रतियोगिनोऽप्रतीते। या तु 'चैत्र! गामानय' इत्यादावचैत्रादिव्यवच्छेदरूपाऽन्यनिवृत्तिरवयवपरिग्रहेण वर्ण्यते सा पदार्थ एव स्यात् न वाक्यार्थ, तस्यावयवस्येत्थं विवेक्तुमशक्यत्वादित्यव्यापिनी शब्दार्थव्यवस्था।

किञ्च-'न अन्यापोह अनन्यापोह' इत्यादौ शब्दे विधिरूपादन्यद् वाच्य नोपलभ्यते, प्रतिषेधद्वयेन विधेरेवावसायात्। अत्र च 'नञश्चापि नञा योगे' इत्यनेनार्थस्य गतत्वेऽपि 'अन्यापोह. शब्दार्थः' इत्येववादिना स्ववचनेनैव विधिरिष्ट इति ज्ञापनार्थं पुनरुक्तम्। तथाहि—अनन्यापोहशब्दस्यान्यापोह. शब्दार्थो व्यवच्छेद्य, स च विधेर्नान्यो लक्ष्यते। ये च प्रमेय-ज्ञेयाऽभिधेयादय. शब्दास्तेषा न किञ्चिदपोह्यमस्ति, सर्वस्यैव प्रमेयादिस्वभावत्वात्। तथाहि—यन्नाम किञ्चिद् व्यवच्छेद्यमेषा कल्प्यते तत् सर्व व्यवच्छेद्याकारेणालम्ब्यमान ज्ञेयादिस्वभावमेवावतिष्ठते, न ह्यविषयीकृतव्यवच्छेत्तुं शक्यम्, अतोऽपोह्याभावादव्यापिनी व्यवस्था। ननु हेतुमुख निर्दिष्टम् "अज्ञेय कल्पित कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन ज्ञेयेऽनुमानम्"(हेतु०) इति तत् कथमव्यापित्वे कथमव्यापित्वं शब्दार्थव्यवस्थायाः, नैतत्, यतो यदि ज्ञेयमप्यज्ञेयत्वेनापोह्यमस्य कल्पयते तदा वर वस्त्वेव विधिरूप शब्दार्थत्वेन कल्पित भवेत् यदध्यवसीयते लोकेन, एव ह्यदृष्टाध्यारोपो दृष्टापलापश्च न कृत. स्यात्।

(विकल्पप्रतिबिम्बार्थवादिमतमुत्क्षिप्य तन्निरसनम्)—

ये त्वाहु -" विकल्पप्रतिबिम्बमेव सर्वशब्दानामर्थ., तदेव चाभिधीयते व्यवच्छिद्यत इति च" तेऽपि न युक्तकारिण.। निराकारा बुद्धि आकारवान् बाह्योऽर्थ -" स बहिर्देशसम्बन्धो, विस्पष्टमुपलभ्यते" इत्यादिना ज्ञानाकारस्य निषिद्धत्वात् आन्तरस्य बुद्ध्यारूढस्याकारस्यासत्त्वात् तदवसायकत्व शब्दानामयुक्तम्, अत एव तस्यापोह्यत्वमप्यनुपपन्नम्। ये च 'एवम्' इत्यादयः शब्दास्तेषामपि न किञ्चिदपोह्यम्, प्रतियोगिन पर्युदासरूपस्य कस्यचिदभावात्। अथ 'नैवम्' इत्यादिप्रसज्यरूपं प्रतिषेध्यमत्रापि भविष्यति, न, उक्तोत्तरत्वात्।

" न नैवमिति निर्देशे, निषेधस्य निषेधनम्।
एवमित्यनिषेध्य तु, स्वरूपेणैव तिष्ठति ॥१॥ "

इति न्यायात्।

(अपोहपक्षे उद्द्योतकरकृतानामाक्षेपाणामुपन्यासः)—

उद्द्योतकरस्त्वाह-"अपोह शब्दार्थ. इत्ययुक्तम् अव्यापकत्वात्। यत्र द्वैराश्यं भवति तत्रेतरप्रतिषेधादितर प्रतीयते, यथा-'गौ' इति पदाद् गौ प्रतीयमान अगौर्निषिध्यमान, न पुन सर्वपद एतदस्ति, न ह्यसर्व नाम किञ्चिदस्ति यत् सर्वशब्देन निवर्तेत। अथ मन्यसे एकादि असर्व तत् सर्वशब्देन निवर्त्तत इति, तन्न, स्वार्थापवाददोषप्रसङ्गात्। एव ह्येकादिव्युदासेन प्रवर्त्तमान. सर्वशब्दोऽङ्गप्रतिषेधादङ्गव्यतिरिक्तस्याङ्गिनोऽनभ्युपगमादनर्थक. स्यात्। अङ्गशब्देन ह्येकदेश उच्यते, एव सति सर्वे समुदायशब्दा एकदेशप्रतिषेधरूपेण प्रवर्त्तमाना समुदायिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य समुदायस्याऽनभ्युपगमादनर्थका प्राप्नुवन्ति। द्व्यादिशब्दाना तु समुच्चयविषयत्वादेकादिप्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानार्थानामसमुच्चयत्वादनर्थकत्व स्यात्" (अ०२ आ०२ सू०६७ न्यायवा०) "यश्चायमगोऽपोहोऽगौर्न भवतीति गोशब्दस्यार्थ., स किं-श्चिद् भाव, अथाऽभाव.? भावोऽपि सन् किं गौ, अथागौरिति। यदि गौ नास्ति विवाद। अथाऽगौ, गोशब्दस्यागौरर्थ इत्यतिशब्दार्थकौशलम्। अथाभाव, तन्न युक्तम्, प्रैष-सम्प्रतिपत्त्योरविषयत्वात्, न हि शब्दश्रवणादभावे प्रैष -प्रतिपादकेन श्रोतुरर्थे विनियोग.-प्रतिपादकधर्म, सम्प्रतिपत्त (त्ति) श्च-श्रोतृधर्मो-भवेत्। अपि च-शब्दार्थं प्रतीत्या प्रतीयते, न च गोशब्दादभावे कश्चित् प्रतिपद्यते" (न्याय-

वा०) किञ्च—"क्रियारूपत्वादपोहस्य विषयो वक्तव्य. । तत्र 'अगौर्न भवति' इत्ययमपोहः किं गोविषयः, अथागोविषय.? यदि गोविषयः कथं गोर्गव्येवाऽभावः ? अथागोविषयः कथमन्यविषयादपोहादन्यत्र प्रतिपत्तिः, न हि खदिरे छिद्यमाने पलाशे छिदा भवति । अथागोर्गवि प्रतिषेधो 'गौरगौर्न भवति' इति, केनागोत्वं प्रसक्तं यत्प्रतिषिध्यत इति " (न्यायवा०)

" इतश्चायुक्तोऽपोहः विकल्पानुपपत्ते. । तथाहि-योऽयमगोरपोहो गवि स किं गोव्यतिरिक्त', आहोस्विदव्यतिरिक्त. ? यदि व्यतिरिक्तः स किमाश्रितः अथाऽनाश्रितः ? यद्याश्रितस्तदाऽऽश्रितत्वाद् गुणः प्राप्त.; ततश्च—गोशब्देन गुणोऽभिधीयते 'न गौ.' इति-गौस्तिष्ठति' 'गौर्गच्छति' इति न सामानाधिकरण्यं प्राप्नोतीति । अथानाश्रितस्तदा केनार्थेन 'गोरगोपोह.' इति षष्ठी स्यात्?अथाव्यतिरिक्तस्तदा गौरेवासाविति न किञ्चित् कृत भवति " [न्यायवा० पृ० ३३० पं० ८-१४]

" अयं चापोह. प्रतिवस्त्वेकः, अनेको वेति वक्तव्यम् । यद्येकस्तदानेकगाद्रव्यसम्बन्धी गोत्वमेवासौ भवेत् । अथानेकस्ततः पिण्डवदानन्त्यादाख्यानानुपपत्तेरवाच्य एव स्यात्" [न्यायवा० पृ० ३३० पं० १५-१७] किञ्च—"इदं तावत् प्रष्टव्यो भवति भवान्-किमपोहो वाच्य., अथावाच्य इति । वाच्यत्वे विधिरूपेण वाच्य. स्यात् , अन्यव्यावृत्त्या वा?तत्र यदि विधिरूपेण तदा नैकान्तिक. शब्दार्थ. ' अन्यापोह' शब्दार्थ. ' इति । अथान्यव्यावृत्त्येति पक्षस्तदा तस्याप्यन्यव्यवच्छेदस्यापरेणान्वयव्यवच्छेदरूपेणाभिधानम् तस्याप्यपरेणेत्यव्यवस्था स्यात् । अथावाच्यस्तदा 'अन्यशब्दार्थापोह शब्द. करोति'इति व्याहन्येत"[न्यायवा०पृ०३३०पं०१८-२२]

आचार्यदिग्नागोक्तम्—" सर्वत्राभेदादाश्रयस्यानुच्छेदात् कृत्स्नार्थपरिसमाप्तेश्च यथाक्रमं जातिधर्मा एकत्व-नित्यत्व-प्रत्येकपरिसमाप्तिलक्षणा अपोह एवावतिष्ठन्ते, तस्माद् गुणोत्कर्षादर्थान्तरापोह एव शब्दार्थ. साधु. " इत्येतदाशङ्क्य कुमारिल उप(ह)सह (सहर) आह—

" अपि चैकत्व-नित्यत्व-प्रत्येकसमवायित्वा. (नाः) ।
निरूपाख्येष्वपोहेषु, कुर्वतोऽसूत्रक. पट. " ॥

" तस्माद् येष्वेव शब्देषु, नञ्योगस्तेषु केवलम् ।
भवेदन्यनिवृत्त्यंश', स्वात्मैवान्यत्र गम्यते " ॥
(श्लो० वा० अपो० श्लो० १६३-१६४)

' स्वात्मैव ' इति स्वरूपमेव विधिलक्षणम् । ' अन्यत्र ' इति नञा रहिते । तत्रापोह शब्दार्थ इति भट्टाद्योनकरादय. ।

(स्वपक्षाक्षेपेषु प्रतिविधातव्येषु पूर्वम् अपोहवादिकृतं स्वमतस्पष्टीकरणम्)—

अत्र सौगता. प्रतिविदधति—द्विविधोऽस्माकमपोहः पर्युदासलक्षण , प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणश्च । पर्युदासलक्षणोऽपि द्विविध -बुद्धिप्रतिभासोऽर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसितो बुद्ध्यात्मा, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणार्थात्मकश्च । तत्र यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यलक्षणमेकमर्थं ज्वरादिशमनं कार्यमुपजनयति तथा, शाबलेयादयोऽप्यर्था. सत्यपि भेदे प्रकृत्यैकाकारपरामर्शहेतवो भविष्यन्त्यन्तरेणापि वस्तुभूतं सामान्यम् । तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानं तत्र यदर्थाकारतयाऽर्थो(र्थ) प्रतिबिम्बकं ज्ञानादभिन्नमाभाति तत्र ' अन्यापोहः ' इति व्यपदेश' । न चासावर्थाभासो ज्ञानतादात्म्येन व्यवस्थितः सन् बाह्यार्थाभावेऽपि तस्य तत्र प्रतिभासनाद् बाह्यकृतः ।

न चापोहव्यपदेशस्तत्र निर्निमित्तः, मुख्य-गौणभेदभिन्नस्य निमित्तस्य सद्भावात् । तथाहि—विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तरोद्भावन(प्रतिभासान्तराद् भेदेन) स्वयं प्रतिभासनात् मुख्यस्तत्र तद्व्यपदेशः ' अपोह्यत इत्यपोहः अन्यस्मादपोह. अन्यापोह.' इति व्युत्पत्तेः । उपचारात् तु त्रिभिः कारणैस्तत्र तद्व्यपदेश.-(१)कारणे कार्यधर्मारोपाद् वा अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिहेतुतया, (२) कार्ये वा कारणधर्मोपचारात् अन्यविविक्तवस्तुद्वारायाततया, (३) विजातीयापोढपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति । अर्थस्तु विजातीयव्यावृत्तत्वाद् मुख्यतस्तद्व्यपदेशभाक् । प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणस्त्वपोह.—

" प्रसज्यप्रतिषेधस्तु, गौरगौर्न भवत्ययम् ।
इति विस्पष्ट एवाय-मन्यापोहोऽवगम्यते "॥
[तत्त्वस० का० १०१०]

तत्र य एव हि शाब्दे ज्ञाने साक्षाद् भासते स एव शब्दाऽर्थो युक्त. । न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधावसायः, वाच्याध्यवसितस्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वात् । नापीन्द्रियज्ञानवद् वस्तुस्वलक्षणप्रतिभास., किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवलशाब्दी बुद्धिरुपजायते तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बकं शाब्दे ज्ञाने साक्षात् तदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो युक्त इति अपोहत्रये प्रथमोऽपोहव्यपदेशमासादयति ।

यश्चापि शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धः प्रसिद्धो नासौ कार्यकारणभावादन्योऽवतिष्ठते, बाह्यरूपतयाऽध्यवसितस्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वाद् वाच्यवाचकलक्षणसम्बन्ध. कार्यकारणभावात्मक एव, तथा च शब्दस्तस्य प्रतिबिम्बात्मनो जनकत्वाद् वाचक उच्यते प्रतिबिम्ब च शब्दजन्यत्वाद् वाच्यम् ।

('निषेधमात्रमेव अन्यापोह.' इति मत्वा अपोहपक्षमाक्षिपतः कौमारिलस्य निराकरणम्)—

तेन यदुक्तम्-'निषेधमात्र नैवेह शाब्दे ज्ञानेऽवभासते'।इति, तदसङ्गतम् , निषेधमात्रस्य शब्दार्थत्वानभ्युपगमात् । एवं तावत् प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोह. साक्षाच्छब्दैरूपजन्यत्वाद मुख्य. शब्दार्थो व्यवस्थित , शेषयोरप्यपोहयोर्गौणं शब्दार्थत्वमविरुद्धमेव । तथाहि—

" साक्षादपि च एकस्मि-न्नेवं च प्रतिपादिते ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि, सामर्थ्येन प्रतीयते " ॥
(तत्त्वसं० का० १०१३)

सामर्थ्य च गवादिप्रतिबिम्बात्मनोऽपरप्रतिबिम्बात्मविविक्तत्वात् तदसंयुक्ततया प्रतीयमानत्वम् , तथा तत्प्रतीतौ प्रसज्यलक्षणापोहप्रतीतिरप्यवश्यं सम्भवात , अतस्तस्यापि गौणशब्दार्थत्वम् । स्वलक्षणस्यापि गौणशब्दार्थत्वमुपपद्यत एव । तथाणि-प्रथम यथावस्थितवस्त्वनुभव., ततो विवक्षा, ततस्ताल्वादिपरिस्पन्द , तत शब्द इत्येवं परम्परया यदा

शब्दस्य बाह्यार्थेष्वभिसम्बन्धः स्यात् तदा विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगम इत्यन्यव्यावृत्तवस्त्वात्माऽपोहशब्दार्थ इत्युपचर्यते । तदुक्तम्—

" न तदात्मा परात्मेति, सम्बन्धे सति वस्तुभि ।
व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽ-प्यर्थादेव भवत्यत " ॥
(तत्त्वसं० का० १०१४)

" तेनायमपि शब्दस्य, स्वार्थ इत्युपचर्यते ।
न च साक्षादयं शब्दे, द्वि(र्द्वै)विधोऽपोह उच्यते " ॥
(तत्त्वसं० का० १०१५) इति ।

(उद्योतकरदूषितस्य दिग्नागकथनस्य अभिप्रायमुद्धाट्य कण्टकोद्धार)—

तेनाचार्यदिग्नागस्योपरि यद् उद्योतकरेणोक्तम्—" यदि शब्दस्यापोहोऽभिधेयोऽर्थस्तदाऽभिधेयार्थव्यतिरेकेणास्य स्वार्थो वक्तव्य , अथ स एव स्वार्थस्तथापि व्याहतमेतत् अन्यशब्दार्थापोहं हि स्वार्थे कुर्वती श्रुतिरभिधत्त इत्युच्यते इति, अस्य हि वाक्यस्यायमर्थस्तदानीं भवत्यभिदधानाभिधत्त इति " [अ०२ आ०२ सू० ६७ न्यायवा०] तदेतद् वाक्यार्थापरिज्ञानादुक्तम् । तथाहि-स्वलक्षणमपि शब्दस्योपचारात् स्वार्थ इति प्रतिपादितम् , अत· स्वलक्षणात्मके स्वार्थेऽर्थान्तरव्यवच्छेदं प्रतिविम्बान्तराद् व्यावृत्त प्रतिविम्बात्मकमपोहं कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते इत्युच्यते इत्येतदाचार्यीय वचनमविरोधि । अयमाचार्यस्याशय —न शब्दस्य वाह्यार्थाध्यवसायिविकल्पप्रतिविम्बोत्पादव्यतिरेकेणान्यो वाह्याभिधानव्यापार , निर्व्यापारत्वात् सर्वधर्म्माणाम् , अतो वाह्यार्थाध्यवसायेन प्रवृत्तं विकल्पप्रतिविम्बं जनयन्ती श्रुति स्वार्थमभिधत्ते इत्युच्यते, न तु विभेदिन सजातीयविजातीयव्यावृत्त स्वलक्षणमपा स्पृशति, तथाविधप्रतिविम्वजनकत्वव्यतिरेकेण नापरा श्रुतेरभिधा क्रियाऽस्तीत्यर्थ । एवभूत चापोहस्य स्वरूपे न पराङ्गदूषणावकाश । तेन यदुक्तम्- यदि गोरिति शब्दश्च' इत्यादि । तत्र गोबुद्धिमेव हि शब्दो जनयति,अन्यविश्लेषस्तु सामर्थ्याद्गम्यते न तु शब्दात्तस्य गोप्रतिविम्बस्य प्रतिभासान्तरात्मरहितत्वादन्यथानियतरूपस्य प्रतिपत्तिरेव न स्यात्तेनापरो ध्वनिर्गोबुद्धेर्जनको न मृग्यते, गोशब्देनैव गोबुद्धेर्जन्यमानत्वात् । यदपि-'ननु ज्ञानफलाश्शब्दा ' इत्यादि कुमारिलवचनं , तदप्यसारं , यतो यथा 'दिवा न भुङ्क्ते पीनो देवदत्त ' इत्यस्य वाक्यस्य साक्षाद् दिवाभोजनप्रतिषेध स्वार्थे , अभिधानसामर्थ्यगम्यस्तु रात्रिभोजनविधिर्न साक्षात् , तद्वत् 'गौ· ' इत्यादेरन्वयप्रतिपादकस्य शब्दस्यान्वयज्ञान साक्षात् फलम् व्यतिरेकगतिस्तु सामर्थ्यात् , यस्मादन्वयो विधिर्व्यतिरेकवाञ्चास्ति विजातीयव्यवच्छेदाव्यभिचारित्वात् तस्य, इत्येकज्ञानस्य फलद्वयमविरुद्धमेव । यतो यदि साक्षादेकस्य शब्दस्य विधि-प्रतिषेधज्ञानलक्षण फलद्वयं युगपदभिप्रेत स्यात् तदा भवेद् विरोध , यदा तु दिवाभोजनवाक्यवदेक साक्षात् अपर सामर्थ्यलभ्य फलमभीष्ट तदा को विरोध ? यच्चोक्तम्-' प्रागगौरिति ज्ञानम् इत्यादि, तदपि निरस्तम् , अनभ्युपगमात्—न ह्यगोप्रतिषेधमभिमुख्येन गोशब्द करोतीत्यभ्युपगतमस्माभि', किं तर्हि ? सामर्थ्यादिति । यच्चोक्तम्—' अगोनिवृत्ति सामान्यम् ' इत्यादि, तदप्यसत् , वाह्यरूपतयाऽध्यस्तो बुद्ध्याकार· सर्वत्र शावलेयादौ ' गौर्गौ ' इति समानरूपतयावभासनात् सामान्यमित्युच्यते । वाह्यवस्तुरूपत्वमपि तस्य भ्रान्तप्रतिपत्तृवशाद् व्यवह्रियते न परमार्थेन । ननु च यदि कदाचित् मुख्य वस्तुभूतं सामान्यं वाह्यवस्त्वाश्रितमुपलब्ध भवत् तदा तत्साधर्म्यदर्शनात् तत्र सामान्यभ्रान्तिर्भवेत् यावता मुख्यार्थासम्भवे सैव भवतामनुपपन्ना, असदेतत् , साधर्म्यदर्शनाद्यनपेक्षद्विचन्द्रादिज्ञानवत् अन्तरुपप्लवादपि तज्ज्ञानसम्भवात् न हि सर्वा भ्रान्तय साधर्म्यदर्शनादेव भवन्ति किंतर्हि ? अन्तरुपप्लवादपीत्यदोष इति सिद्धसाध्यतादोषो न भवति । स एव बुद्ध्याकारो वाह्यतयाऽध्यस्तोऽपोहो वाह्यवस्तुभूत सामान्यमिवोच्यते वस्तुरूपत्वेनाध्यवसायात् , शब्दार्थत्वाऽपोहरूपत्वयो प्रागेव कारणमुक्तम्-

' वाह्यार्थाध्यवसायिन्या, बुद्धे शब्दात् समुद्भवात् '
' प्रतिभासान्तराद् भेदात् ' इत्यादिना ।

कस्मात् पुन परमार्थेन· सामान्यमसौ न भवति ? बुद्धेरव्यतिरिक्तत्वेनार्थान्तरानुगमाभावात् । तदुक्तम्-' ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत् ' । न च भवद्भिर्बुद्ध्याकारो गोत्वाख्य सामान्य वस्तुरूपमिष्टम् , किं तर्हि ? वाह्यशावलेयादिगतमेकमनुगामि गोत्वादि सामान्यमुपकल्पितम् , अत कुत सिद्धसाध्यता । यच्चोक्तम्-' निषेधमात्ररूपश्च' इत्यादि, तस्यानभ्युपगतत्वादेव न दोष । यच्चेदमुक्तम्—' तस्या चाश्वादिबुद्धीनाम् ' इत्यादि, तदप्यसत् , यत·—

" यद्यप्यव्यतिरिक्तोऽय-माकारो बुद्धिरूपत ।
तथापि वाह्यरूपत्वं, भ्रान्तैस्तस्याऽवसीयते" ॥
(तत्त्वसं० का० १०२६)

यदपि 'शब्दार्थोऽर्थानपेक्ष· ' इति, तत्र यत्र हि पारम्पर्याद् वस्तुनि प्रतिबन्धोऽस्ति तस्य भ्रान्तस्यापि सतो विकल्पस्य मणिप्रभायां मणिबुद्धिवत्र वाह्यार्थानपेक्षत्वमस्ति, अतोऽसिद्ध वाह्यार्थानपेक्षत्वम् । यच्च-'वस्तुरूपावभासा (रूपा च सा) बुद्धि ' इत्यादि, तत्र यद्यपि वस्तुरूपा सा बुद्धिस्तथापि तस्यास्तेन वाह्यात्मना बुद्ध्यन्तरात्मना च वस्तुत्व नास्तीति प्रतिपादितम् । तेन 'बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरापोहो न [illegible] यत' इत्यसिद्धम् सामर्थ्येन गम्यमानत्वात् । 'असत्यपि च वाह्येऽर्थे' इति, अत्र यथैव हि प्रतिविम्बात्मक प्रतिभासोऽपोहो वाक्यार्थोऽस्माभिरुपवर्णितस्तथैव पदार्थोऽपि, यस्मात् पदादपि प्रतिविम्बात्मकोऽपोह उत्पद्यत एव, पदार्थोऽपि स एव, अतो न केवल वाक्यार्थ इति विप्रतिपत्तेरभावाद् नाप (पा) लम्भो युक्त । 'बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदो न बुद्धे प्रतीयते' इत्यादावपि यत एव हि स्वरूपोत्पादनमात्रादन्यमश सा न बिभर्ति तत एव स्वभावव्यवस्थितत्वाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेद प्रतीयते, अन्यथाऽन्यस्वरूपं बिभ्रती कथ ततो व्यवच्छिन्ना प्रतीयते? भिन्नसामान्यवचना ' इत्यादावपि यथा [illegible] नि [illegible] स्वभावत्वादरूपस्य परस्परतो भेदो नास्तीत्युच्यते तथाऽभेदोऽपि इति कथमभिन्नार्थाभावे पर्यायत्वाशङ्का क्रियते ? अभेदो ह्येकरूपत्वम् , तच्च नीरूपस्यैकरूपत्व नास्तीति न पर्यायता । स्यादेतत् यदि नाम नीरूपत्वादेकरूपत्व भावो नास्ति तथापि काल्पनिकस्य तस्य [illegible] पर्यायताशङ्का यु-

क्रमेव। नन्वेवं पर्यायाऽपर्यायव्यवस्था शब्दानां कथं युक्ता ? उक्तं च—

"रूपाभावेऽपि चैकत्वं, कल्पनानिर्मितं यथा।
विभेदोऽपि तथैवेति, कुत· पर्यायता ततः" ? ॥

(तत्त्वसं० का० १०३२) "भावतस्तु न पर्याया, न पर्यायाश्च वाचका·। न ह्येक वाच्यमेतेषामनेक चैति वर्णितम्"॥ (तत्त्वस० का० १०३३) इति। यदि परमार्थतो भिन्नमभिन्नं वा किञ्चिद् वाच्य वस्तु शब्दानां स्यात् तदा पर्यायापर्यायता भवेत् यावता-'स्वलक्षण जातिस्तद्योगो जातिमांस्तथा' इत्यादिना वर्णितम्—यथैषां न किञ्चिद् वाच्यमस्तीति। पर्यायादिव्यवस्था तु अन्तरेणापि सामान्यम् सामान्यादिशब्दत्वस्य व्यवस्थापनात्। तस्य चेद निवन्धनं यद् बहूनामेकार्थक्रियाकारित्वम्—प्रकृत्या केचिद् भावा बहवोऽप्येकार्थक्रियाकारिणो भवन्ति, तेषामेकार्थक्रियासामर्थ्यप्रतिपादनाय व्यवहर्तृभिर्लाघवार्थमेकरूपाध्यारोपेणैका श्रुतिर्निवेश्यते, यथा-बहुषु रूपादिषु मधूदकाद्याहरणलक्षणैकार्थक्रियासमर्थेषु 'घट·' इत्येका श्रुतिर्निवेश्यते। कथं पुनरेकेनानुगामिना विना बहुष्वेका श्रुतिर्नियोक्तुं शक्या ? इति न वक्तव्यम्, इच्छामात्रप्रतिबद्धत्वात् शब्दानामर्थप्रतिनियमस्य। तथाहि—चक्षू—रूपाऽऽलोक—मनस्कारेषु रूपविज्ञानैकफलेषु यदि कश्चिद् विनाप्येकेनानुगामिना सामान्येनेच्छावशादेका श्रुतिं निवेशयेत् तत् किं तस्य कश्चित् प्रतिरोद्धा भवेत् ? न हि तेषु लोचनादिष्वेकं चक्षुर्विज्ञानजनकत्वं सामान्यमस्ति यत· सामान्य-समवाय-विशेषा अपि भवद्भि· चक्षुर्ज्ञानजनका अभ्युपगम्यन्ते, न च तेषु सामान्यसमवायोऽस्ति नि सामान्यत्वात् सामान्यस्य, समवायस्य च द्वितीयसमवायाभावात्। न च घटादिकार्यस्योदकाहरणादेस्तज्ज्ञानस्य च स्वलक्षणरूपत्वेन भिन्नत्वात् कथमेककार्यकारित्वम् ? इति वक्तव्यम्, यतो यद्यपि स्वलक्षणभेदात् तत्कार्य भिद्यते तथापि ज्ञानाख्यं तावत् कार्यमेकार्थाध्यवसायिपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वादेकम्, तज्ज्ञानहेतुत्वाच्चार्था घटादयोऽभेदेन इत्युच्यन्ते। न च योऽसौ परामर्शप्रत्ययस्तस्यापि स्वलक्षणरूपतया भिद्यमानत्वादेकत्वासिद्धेरपरापरैकाकारपरामर्शप्रत्ययकार्यानुसरणतोऽनवस्थाप्रसङ्गतो न (नै) ककार्यतया क्वचिदेकश्रुतिनिवेशो बहुषु सिद्धिमुपगच्छतीति वाच्यम्, यतो न परामर्शप्रत्ययस्यैककार्यकारितयैकत्वमुच्यते, किं तर्हि ? एकाध्यवसायितया। स्वयमेव परामर्शप्रत्ययानामेकत्वसिद्धेर्नानवस्थाद्वारेणैकश्रुतिनिवेशाभाव, अत एकाकारपरामर्शहेतुत्वाद् ज्ञानाख्य कार्यमेकम्, तद्धेतुत्वाद् घटादय एकत्वव्यपदेशभाज·। तेन विनापि वस्तुभूत सामान्य सामान्यवचना घटादय· सिद्धिमासदयन्ति। तथा-कश्चिदेकोऽपि प्रकृत्यैव सामग्र्यन्तरान्त पातवशादनेकार्थक्रियाकारी भवति व्यतिरेकेणापि वस्तुभूतसामान्यधर्मभेदम्, तत्राऽतत्कार्यपदार्थभेदभूयस्त्वात् अनेकश्रुतिसमावेश अनेकधर्मसमारोपात्, यथा-स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्धकारित्वाद् रूपं सप्रतिघम्-सह निदर्शनेन चक्षुर्ज्ञानजनकत्वेन वर्तत इति-सनिदर्शनं च तदेवोच्यते, यथा वा शब्द एकोऽपि प्रयत्नानन्तरज्ञानज्ञानफलतया 'प्रयत्नानन्तरः' इत्युच्यते, श्रोत्रज्ञानफलत्वाच्च श्रावण·—श्रुति· श्रवणं श्रोत्र (त्र) ज्ञानम् तत्प्रतिभासतया तत्र भव· श्रावणः, यद्वा—श्रवणेन गृह्यत इति श्रावण·—एवमतत्कार्यभेदेनैकस्मिन्नप्यनेका श्रुतिर्निवेश्यमाना·ऽविरुद्धा। अतत्कारणभेदेनापि क्वचित् तन्निवेशः, यथा-भ्रामरं मधु क्षुद्रादिकृतमधुनो व्यावृत्त्या। तथा तत्कार्यकारणपदार्थव्यवच्छेदमात्रप्रतिपादनेच्छया अन्तरेणापि सामान्य श्रुतेर्भेदेन निवेशनं सम्भवति—

"अश्रावणं यथा रूपं, विद्युच्छाऽयत्नजा यथा"॥
(तत्त्वस० का० १०४२)
"इत्यादिना प्रभेदेन, विभिन्नार्थनिवन्धना।
व्यावृत्तयः प्रकल्प्यन्ते, तन्निष्ठाः (ष्ठा·) श्रुतयस्तथा"॥
(तत्त्वस० का० १०४३)
"यथासङ्केतमेवातोऽ-सङ्कीर्णार्थाभिधायिन·।
शब्दा विवेकतो वृत्ता·, पर्याया न भवन्ति न (नः)"॥
(तत्त्वसं० का० १०४४)

श्रोत्रज्ञानफलशब्दव्यवच्छेदेन 'अश्रावणं रूपम्' इत्युच्यते, प्रयत्नकारणघटादिपदार्थव्यवच्छेदेन 'विद्युदप्रत्नजा' इत्यभिधीयते। अन्तरेणापि सामान्यादिक वस्तुभूतम् व्यावृत्तिकृतमेव शब्दानां भेदेन निवेशनं सिद्धम्, पर्यायत्वप्रसङ्गाभावश्च विभिन्नार्थनिवन्धनव्यावृत्तिनिष्ट (ष्ठ) त्व श्रुतीना सिद्ध·। स्यादेतत् मा भूत् पर्यायत्वमेषाम् अर्थभेदस्य कल्पितत्वात्, सामान्यविशेषवाचित्वव्यवस्था तु विना सामान्य-विशेषाभ्यां कथमेषाम् ? उच्यते—

"बह्वल्पविषयत्वेन, तत्सङ्केतानुसारतः।
सामान्य-भेदवाच्यत्व-मप्येषा न विरुध्यते"॥
(तत्त्वस० का० १०४५)

वृक्षशब्दो हि सर्वेष्वेव धव-खदिर-पलाशादिष्ववृक्षव्यवच्छेदमात्रानुस्यूत प्रतिबिम्बक जनयति, तेनास्य बहुविषयत्वात् सामान्य वाच्यमुच्यते, धवादिशब्दस्य तु खदिरादिव्यावृत्तकतिपयपदार्थाध्यवसायिविकल्पोत्पादकत्वाद् विशेषो वाच्य उच्यते। यदुक्तम्—'अपोह्यभेदेन' इत्यादि, तत्र—

"ताश्च व्यावृत्तयोऽर्थाना, कल्पनाशिल्पिनिर्मिता·।
नापोह्याधारभेदेन, भिद्यन्ते परमार्थत"॥
"तासा हि बाह्यरूपत्वं, कल्पित न तु वास्तवम्।
भेदाभेदौ च तत्त्वेन, वस्तुन्येव व्यवस्थितौ"॥
"स्वबीजानेकविश्लिष्ट-वस्तुसङ्केतशक्तितः।
विकल्पास्तु विभिद्यन्ते, तद्रूपाध्यवसायिन"॥
"नैकात्मता प्रपद्यन्ते, न भिद्यन्ते च खण्डश।
स्वलक्षणात्मका अर्था, विकल्प प्लवते त्वसौ"॥
(तत्त्वस० का० १०४६-१०४७-१०४८-१०४९)

अस्य सर्वस्याप्ययमभिप्राय -यदि हि पारमार्थिकोऽपोह्यभेदेनाधारभेदेन वाऽपोहस्य भेदोऽभीष्ट स्यात् तदैतद् दूषणं स्यात् यावता कल्पनया सजातीयविजातीयपदार्थभेदैरिव व्यावृत्तयो भिन्ना कल्प्यन्ते न परमार्थत, तेन· नाश्च कल्पनावशाद्व्यतिरिक्ता इव वस्तुनो भासन्ते न परमार्थत·। परमार्थतस्तु विकल्पा एव भिद्यन्ते अनादिविकल्पवासनाऽन्य-

विविक्तवस्तुसङ्केतादेर्निमित्ताद् व्यावृत्तवस्त्वध्यवसायिनः न त्वर्थाः । तथाहि-वृक्षत्वादिसामान्यरूपेण नैकात्मतां धवादयः प्रतिपद्यन्ते, नापि क्षणिकाऽनात्मकादिधर्मभेदेन खण्डशो भिद्यन्ते, केवलं विकल्प एव तथा भवते, न त्वर्थः । यथोक्तम्—

" संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते, स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः ।
रूपमेकमनेकं वा, तेषु बुद्धेरुपप्लवः" ॥ १ ॥

यच्चोक्तम्-' न चाप्रसिद्धसारूप्य '-इत्यादि । तत्र—

"एकधर्मान्वयासत्त्वेऽ-प्यपोह्याऽपोहगोचराः ।
वैलक्षण्येन गम्यन्तेऽ-भिन्नप्रत्ययमर्शिकाः" ॥

(तत्त्वसं० का० १०५०)

अपोह्याश्च अपोहगोचराश्चेति विग्रहः । तत्रापोह्या अश्वादयः गोशब्दस्य तदपोहेन प्रवृत्तत्वात् , अपोहगोचराः शावलेयादयः तद्विषयत्वाद् अगोपोहस्य, तेन यद्यप्येकस्य सामान्यरूपस्यान्वयो नास्ति तथाप्यभिन्नप्रत्ययमर्शहेतवो ये ते प्रसिद्धसारूप्या भवन्ति, ये तु विपरीतास्ते विपरीता इति । स्यादेतत् तस्यैवैकप्रत्ययमर्शस्य हेतवोऽन्तरेण सामान्यमेकं कथमर्था भिन्नाः सिद्ध्यन्ति ?, उच्यते—

"एकप्रत्ययमर्शे हि, केचिदेवोपयोगिनः ।
प्रकृत्या भेदवन्तोऽपि, नान्य इत्युपपादितम्" ॥

(तत्त्वसं० का० १०५१)

प्रतिपादितमेतत् सामान्यपरीक्षायाम्-यथा धात्र्यादयोऽन्तरेणापि सामान्यमेकार्थक्रियाकारिणो भवन्ति तथैकप्रत्ययमर्शहेतवो भिन्ना अपि भावा केचिदेव भविष्यन्ति' इति । 'न चान्वयविनिर्मुक्ता' इत्यादावाह-यद्यपि सामान्यं वस्तुभूतं नास्ति तथापि विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणमात्रेणैवान्वयः क्रियमाणो न विरुध्यते ।

"यस्मिन्नधूमतो भिन्नं, विद्यते हि स्वलक्षणम् ।
तस्मिन्ननग्नितोऽप्यस्ति, परावृत्तं स्वलक्षणम् ' ॥
" यथा महानसे वेह, विद्यतेऽधूमभेदि तत् ।
तस्मादनग्नितो भिन्नं, विद्यतेऽत्र स्वलक्षणम्" ॥

(तत्त्वसं० का० १०५३-१०५४)

अवयवपञ्चकमपि स्वलक्षणेनान्वये क्रियमाणे शक्योपदर्शनमित्येवं प्रयोगप्रदर्शनं कृतम् , इदं च कार्यहेतावुदाहरणम् । स्वभावहेतावपि—यद् असतो व्यावृत्तं स्वलक्षणं तत् सर्वं स्थिरादपि व्यावृत्तम् , यथा बुद्ध्यादि, तथा चेदं शब्दादि स्वलक्षणमसद्रूपं न भवतीति । अमुना न्यायेन विशेषाऽऽस्पर्शात् स्वलक्षणेनान्वयः क्रियमाणो न विरुध्यते । यदि तर्हि स्वलक्षणेनैवान्वयः कथं सामान्यलक्षणविषयमनुमानम् ? तदेव हि स्वलक्षणमविवक्षितभेदं सामान्यलक्षणमित्युक्तम् ' सामान्येन भेदापरामर्शेन लक्ष्यतेऽध्यवसीयते ' इति कृत्वा । तदुक्तम्—

" अतद्रूपपरावृत्त-वस्तुमात्रप्रसाधनात् ।
सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठितं " ॥ इति तेन साहचर्यमपि लिङ्ग-शब्दयोः स्वलक्षणेनैव कथ्यते । न चाप्यदर्शनमात्रेणास्माभिर्विपक्षे लिङ्गस्याभावोऽवसीयते, किं तर्हि ? अनुपलम्भविशेषादेव । यच्चोक्तम्—' शावलेय ' इत्यादि , तत्रेदं भवान् वक्तुमर्हति-' शावलेयाद् बाहुलेयाऽश्वयोस्तुल्येऽपि भेदे किमिति तुरङ्गमपरिहारेण गोत्वं शावलेयादौ वर्तते नाश्वे ' इति ? स्यादेतत् किमत्र वक्तव्यम् ? गोत्वस्याभिव्यक्तौ शावलेयादिरेव समर्थो नाश्वादिः, अतस्तत्रैव तद् वर्तते नान्यत्र । न चायं पर्यनुयोगो युक्तः ' कस्मात् तस्याभिव्यक्तौ शावलेयादिरेव समर्थः ' ? यतो वस्तुस्वभावप्रतिनियमोऽयम् , न हि वस्तूनां स्वभावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति तेषां स्वहेतुपरम्पराकृतत्वात् स्वभावभेदप्रतिनियमस्येति । नन्वेवं यथा शावलेयादिरेव गोत्वाभिव्यक्तौ समर्थस्तथा सत्यपि भेदे सामान्यमन्तरेणापि तुल्यप्रत्ययमर्शोत्पादने शावलेयादिरेव शक्तो न तुरङ्गम इत्यस्मत्पक्षो न विरुध्यत एव । तेन—

" तादृक् प्रत्ययमर्शश्च, विद्यते यत्र वस्तुनि ।
तत्राभावेऽपि गोजाते-रगोपोहः प्रवर्तते " ॥

[तत्त्वसं० का० १०६०]

यच्चोक्तम्-' इन्द्रियैः ' इत्यादि, तदसिद्धम् , तथाहि-स्वलक्षणात्मा तावदपोह इन्द्रियैरवगम्यत एव, यश्चार्थप्रतिबिम्बात्माऽपोहः स परमार्थतो बुद्धिस्वभावत्वात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव सिद्धः, प्रसज्यात्माऽपि सामर्थ्यात् प्रतीयत एव ' न तदात्मा परात्मा ' इति न्यायात् , अतः स्वलक्षणादिरूपमपोहं दृष्ट्वा लोके शब्दं प्रयुङ्क्त एव न वस्तुभूतं सामान्यम् ; तस्याऽसत्त्वात् अप्रतिभासनाच्च । यदेव च दृष्ट्वा लोकेन शब्दः प्रयुज्यते तेनैव तस्य सम्बन्धोऽवगम्यते नान्येन अतिप्रसङ्गात् । यच्च—' अगोशब्दाभिधेयत्वं गम्यतां च कथं पुनः ' इति, अत्र—

" तादृक् प्रत्ययमर्शश्च, यत्र नैवास्ति वस्तुनि ।
अगोशब्दाभिधेयत्वं विस्पष्टं तत्र गम्यते " ॥

[तत्त्वसं० का० १०६३] यच्चोक्तम्—'सिद्धश्चागौरपोह्येत ' इत्यादि, तत्र, स्वत एव हि गवादयो भावाः भिन्नप्रत्ययमर्शं जनयन्तो विभागेन सम्यग् निश्चिताः,तेषु व्यवहारार्थं व्यवहर्तृभिर्यथेष्टं शब्दः सिद्धः प्रयुज्यते । तथाहि-यदि भिन्नं वस्तु स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमन्यपदार्थग्रहणमपेक्षते तदा स्यादितरेतराश्रयदोषः यावताऽन्यग्रहणमन्तरेणैव भिन्नं वस्तु संवेद्यते, तस्मिन् भिन्नाकारप्रत्ययमर्शहेतुतया विभागेन 'गौः गौः' इति च सिद्धे यथेष्टं संकेतः क्रियते इति कथमितरेतराश्रयत्वं भवेत् ? यच्चोक्तम्—' नाधाराधेय '—इत्यादि, तत्र, न हि परमार्थतः कश्चिदपोहेन विशिष्टोऽर्थः शब्दैरभिधीयते । तेनैव यतः प्रतिपादितमेतत्-' यथा न किञ्चिदपि शब्दैर्वस्तु संस्पृश्यते, क्वचिदपि समयाभावात् ' इति । तथाहि—शाब्दी बुद्धिरबाह्यार्थविषयाऽपि सती स्वाकारे बाह्यार्थतयाऽध्यवस्यन्ती जायते, न परमार्थतो वस्तुस्वभावं स्पृशति यथातत्त्वमनध्यवसायात् । यद्येवम् कथमाचार्येणोक्तम्—" नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः " इति ।

" अर्थान्तरनिवृत्त्याह, विशिष्टानिति यत् पुनः ।
प्रोक्तं लक्षणकारेण, तत्रार्थोऽयं विवक्षितः " ॥१०६८॥
" अन्यान्यत्वेन ये भावा, हेतुना करणेन वा ।
विशिष्टा भिन्नजातीयै-रसङ्कीर्णा विनिश्चिताः " ॥१०६९॥
" वृक्षादीनाह तान् ध्यान-स्तद्भावाध्यवसायिनः ।
ज्ञानस्योत्पादनादेत-ज्जात्यादेः प्रतिषेधनम् " ॥१०७०॥
" बुद्धौ येऽर्था विवर्तन्ते, तानाह जननादयम् ।
निवृत्त्या च विशिष्टत्व-मुक्तमेषामनन्तरम् " ॥१०७१॥

[तत्त्वसं० का०]

अस्य तात्पर्यार्थः द्विविधो ह्यर्थः-बाह्यो, बुद्ध्यारूढश्च । तत्र बाह्यस्य न परमार्थतोऽभिधानं शब्दैः, केवलं तदध्यवसायिविकल्पोत्पादनादुपचारादुक्तम् 'शब्दोऽर्थानाह' इति । उपचारस्य च प्रयोजनं जात्यभिधाननिराकरणमिति । अन्ययार्थस्तु-'अन्यान्यत्वेन' इति अन्यस्मादन्यत्वं व्यावृत्तिस्तेनान्यान्यत्वेन हेतुना करणेन वा ये वृक्षादयो भावा विशिष्टा निश्चिता अन्यतो व्यावृत्ता निश्चिता इति यावत् , एतेन 'अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टान्' इत्यत्र पदे 'निवृत्त्या' इति ('निवृत्त्या' इति) तृतीयार्थो व्याख्यातः । 'ध्यान ' इति शब्द । यस्तु बुद्ध्यारूढोऽर्थस्तस्य मुख्यत एव शब्दैरभिधानम् । 'अयम्' इति ध्यानः । अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टत्वं कथमेषा योजनीयमित्याशङ्क्य 'निवृत्त्या विशिष्टत्वमुक्तमेषामनन्तरम्' इत्युक्तम् । एषामपि बुद्धिसमारूढानामर्थानामन्यतो व्यावृत्ततया प्रतिभासनादित्यभिप्रायः । ननु यदि न कश्चिदेव वस्त्वंशः शब्देन प्रतिपाद्यते तत् कथमुक्तमाचार्येण-"अर्थान्तरनिवृत्त्या कश्चिदेव वस्तुनो भागो गम्यते" इति, अर्थान्तरपरावृत्तदर्शनद्वारायातत्वात् बुद्धिप्रतिबिम्बकमर्थान्तरपरावृत्ते वस्तुनि भ्रान्तैस्तादात्म्येनाऽऽरोपितत्वाच्चोपचाराद् 'वस्तुनो भागः' इति व्यपदिष्टम् । ननु चार्थान्तरनिवृत्तिर्बाह्यवस्तुगतो धर्मः, सा कथं प्रतिबिम्बाधिगमे हेतुभावं करणभावं वा प्रतिपद्यते येन 'निवृत्त्या' इति ('निवृत्त्या' इति) उच्यत इति, उच्यते; यदि हि विजातीयाद् व्यावृत्तं वस्तु न स्यात् तदा न तत्प्रतिबिम्बकं विजातीयपरावृत्तवस्त्वात्मनाऽध्यवसीयते तस्मादर्थान्तरपरावृत्तेर्हेतुभावः करणभावश्च युज्यत एव । 'न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याद् ज्ञानं विशेषणम्' इत्यादावपि, यदि ह्यन्यव्यावृत्तिरभावरूपा वस्तुनो विशेषणत्वेनाभिप्रेता स्यात् तदेतत् (तदैतत्) सर्वं दूषणमुपपद्येत यावता वस्तुस्वरूपैवान्यव्यावृत्तिर्विशेषणत्वेनोपादीयते तेन विशेषणानुरूपैव विशेष्ये बुद्धिर्भवत्येव । तथाहि-अगोनिवृत्तिर्यो गौरभिधीयते सोऽश्वादिभ्यो यदन्यत्वं तत्स्वभावैव मान्या; ततश्च यद्यप्यसौ व्यतिरेकेणागोनिवृत्तिः 'गौः' इत्यभिधीयते भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायाम् तथापि परमार्थतो गौरात्मकैव सा-यथाऽन्यत्वम् न हि अन्य (अन्यत्वं) नाम अन्यस्माद् वस्तुनोऽन्यत्-अन्यथा तद् वस्तु ततो भिन्नमित्येतन्न सिद्ध्येत् । तस्मात् विशेषणभावेऽन्यव्यावृत्तेर्विशेष्ये वस्तुत्वमेवास्त्येव । अथ व्यतिरिक्तमेव विशेषणं लोके प्रसिद्धम् , यथा-दण्डः पुरुषस्य, व्यावृत्तिश्चाव्यतिरिक्ता वस्तुनः, तत् कथमसौ तस्य विशेषणम् ? असदेतत् ; नहि परमार्थेन किञ्चित् कस्यचित् विशेषणम् अनुपकारकस्य विशेषणत्वायोगात् , उपकारकत्वे चाङ्गीक्रियमाणे कार्यकाले कारणस्यानवस्थानाद् अयुगपत्कालभाविनोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनुपपन्नः , युगपत्कालभाविन्येऽपि तदानीं सर्वात्मना परिनिष्पन्नत्वेन परस्परमुपकारोऽस्तीति न युक्तो विशेषणविशेष्यभाव इति सर्वभावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेरयं शलाकाकल्पत्वात् कल्पनया प्रमीत्या मिथ्याकरणम् । अतः परमार्थतो यद्यपि व्यावृत्ति-तद्वतोरभेदस्तथापि कल्पनारचितं भेदमाश्रित्य विशेषणविशेष्यभावोऽपि भविष्यति । यच्चोक्तम्-'तथा चाऽन्यत्वाच्यत्वात्-त व्यक्तीनामपोहता' इत्यादि, तत्र 'व्यक्तीनामवाच्यत्वा-

त्' इत्यसिद्धम् । तथाहि-यद् व्यक्तीनामवाच्यत्वमस्माभिर्वर्णितं तत् परमार्थचिन्तायाम् न पुनः संवृत्यापि तथा तु व्यक्तीनामेव वाच्यत्वमविचारितरमणीयतया प्रसिद्धमिति कथं नासिद्धो हेतुः ? अथ पारमार्थिकमवाच्यत्वं हेतुत्वेनोपादीयते तदाऽपोह्यत्वमपि परमार्थतो व्यक्तीनां नेष्टमिति सिद्धसाध्यता । यच्चोक्तम्-'तत्रापोहेन सामान्यम्' इत्यादि, तत्रापि 'अपोह्यत्वात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धत्वमनैकान्तिकत्वं च, व्यक्तीनामेवापोहस्य प्रतिपादितत्वात् । न चापोहेऽपि वस्तुना साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणाभावात् । यदपि-'अभावानामपोह्यत्वं न' इत्यादि, तत्र,

"नाभावोऽपोह्यते ह्येव, नाभावो भाव इत्ययम् ।
भावस्तु न तदात्मेति, तस्यैवमपोहना" ॥
"यो नाम न यदात्मा हि, स तस्यापोह्य उच्यते ।
न भावोऽभावरूपश्च, तदपोहे न वस्तुता" ॥
[तत्त्वसं० का० १०८१-१०८२]

'नाभाव.' इत्येवमभावो नापोह्यते येनाभावरूपतायास्त्यागः स्यात् , किं तर्हि ? भावो यः स विधिरूपत्वादभावरूपविवेकेनावस्थित इति सामर्थ्यादपोह्यत्वं तस्याभावस्यैष्टव्यम् (एम्) तदेव स्पष्टीकृतम् 'यो नाम' इत्यादिश्लोकेन । 'तदपोहे' इति तस्याभावस्यैवमपोहे सति न वस्तुता प्राप्नोति । अत्रोभयपक्षप्रसिद्धोदाहरणप्रदर्शनेनानैकान्तिकतामेव स्फुटयति-

"प्रकृतीशादिजन्यत्वं, न हि वस्तु प्रसिद्ध्यति ' ॥
"नानोऽसतोऽपि भावत्व-मिति क्लेशो न कश्चन" ।
(तत्त्वसं० का० १०८३-१०८४)

तथाहि-प्रकृति-ईश्वर-कालादिकृतत्वं भावानां भवद्भिर्मीमांसकैरपि नेष्यत एव, तस्य च प्रतिषेधे सत्यपि यथा न वस्तुत्वमापद्यते तथा अपोह्यत्वेऽप्यभावस्य वस्तुत्वापत्तिर्न भविष्यतीत्यनैकान्त. । यदुक्तम्-'तथास्तोऽपि वस्तुत्व-मिति क्लेशो महान् भवेत्' इति तदप्यनेनैवानैकान्तिकत्वप्रतिपादनेन प्रतिविहितमिति दर्शयति-'नानोऽसतोऽपि' इत्यादिना । 'तत्सिद्धौ न सत्ताऽस्ति, न चासत्ता प्रसिध्यति' ॥ इति । अथ अभावस्य यथोक्तेन प्रकारेणासिद्धावपि भावस्य सत्ता सिद्ध्यत्येव, तस्य स्वस्वभावव्यवस्थितत्वात् । या च भावस्य यथोक्तेन प्रकारेण सिद्धिः सैव सत्तेति प्रसिद्ध्यति । एतदेवाह-

" अगोतो विनिवृत्तश्च, गौर्विलक्षण इष्यते ।
भाव एव ततो नाथ, गौरगोर्भे प्रसज्यते " ॥
[तत्त्वसं० का० १०८५]

'भाव एव भवेत्' इति, एतन्नानिष्टापादनम् इष्टत्वात् । तथाहि-अगोरपावृत्तोऽर्थो विधिरूप एव विलक्षण इष्यते नाऽभावात्मा, तेन भाव एव भवेत्, अगोतश्च गौर्विलक्षणस्यैष्टव्याऽगोर्न गोत्वप्रसङ्गः । एतेन यदुक्तम्-' अभावस्य च योऽभावः ' इत्यादि, तत् प्रतिविहितम् । यच्चोक्तम्-' न ह्यवस्तुनि वासना इति , तत् असिद्धमनैकान्तिकं च । यतः -

" ह्यवस्तुविषयेऽप्यस्ति, चतोमात्रविनिर्मिता ।
विधिनिषेधनामेह-स्वचित्तेष्विव वासना ' ॥

" ततश्च वासनाभेदाद्, भेद सद्रूपतापि वा।
प्रकल्प्यतेऽप्यपोहानां, कल्पनारचितेष्विव " ॥
(तत्त्वसं० का० १०८६-१०८७)

' अवस्तुविषय चेतो नास्ति ' इति, एतदसिद्धम्। तथाहि-उत्पाद्यकथाविषयसमुद्भूतवस्त्वाकारसमारोपेण प्रवर्तत एव चेत तथा (घा) ऽनागतसजातीयविकल्पोत्पत्तये अनन्तरचेतसि वासनामाधत्त एव; यत पुनरपि सन्तानपरिपाकवशात् प्रबोधकप्रत्ययमासाद्य तथाविधमेव चेत समुपजायते, तद्वदपोहानामपि परस्परतो भेद सद्रूपता च कल्पनावशाद् भविष्यतीत्यनैकान्तिकता। यच्च—' शब्दभेदोऽप्यपोहनिमित्तो न युक्त ' इति, अत्र-

" यादृशोऽर्थान्तरापोह, वाच्योऽयं प्रतिपादितः।
शब्दान्तरव्यपोहोऽपि, तादृगेवावगम्यते " ॥
(तत्त्वसं० का० १०८८)

इति वाचकापोहपक्षेऽपि दूषणं विस्तरत प्रतिपादितमयुक्त द्रष्टव्यम्। ' अगम्यगमकत्व स्यात् ' इति, अत्र प्रयोगेऽपि यदि ' अवस्तुत्वात् ' इति सामान्येनोपादीयते तदा हेतुरसिद्ध यत प्रतिबिम्बात्मनोर्वाच्य-वाचकापोहयोर्बाह्यवस्तुत्वेन भ्रान्तैरध्यवसितत्वात् सावृत वस्तुत्वमस्त्येव। अथ पारमार्थिकवस्तुत्वमाश्रित्य हेतुरभिधीयते तदा सिद्धसाध्यता. नहि परमार्थतोऽस्माभि किञ्चिद् वाच्यं वाचक चेष्यते। यत उक्तम्—

" न वाच्यं वाचकं चास्ति, परमार्थेन किञ्चन।
क्षणभङ्गिषु भावेषु व्यापकत्ववियोगत " ॥
(तत्त्वसं० का० १०९०)

क्षणिकत्वेन सङ्केतव्यवहारासकालव्यापकत्वाभावात् स्वलक्षणस्येति भाव। स्यादेतत् नास्माभिस्तात्त्विको वाच्यवाचकभावो निषिध्यते, किं तर्हि? तात्त्विकीमपोहयोरवस्तुतामाश्रित्य सावृतमेव गम्यगमकत्वं निषिध्यते न भाविकम्, तेन (तेन न) हेतोरसिद्धतापि (ता, नापि) सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषो भविष्यति, द्वयोरपि हि सावृतत्वे तात्त्विकत्वे वाऽऽश्रीयमाणे स्यादेतद् दोषद्वयमिति, नैवम्, हेतोरनैकान्तिकताप्रसङ्गे कल्पनारचितेषु हि महाश्वेतादिष्वर्थेषु तद्वाचकेषु च शब्देषु परमार्थतो वस्तुत्वाभावेऽपि सावृतस्य वाच्यवाचकभावस्य दर्शनात्। स्यादेतत् तत्रापि महाश्वेतादिषु सामान्य वाच्य वाचकं च परमार्थतोऽस्त्येव ततो न तैर्व्यभिचार, असदेतत्, सामान्यस्य विस्तरेण निरस्तत्वात् न तेषु सामान्यं वाच्यं वाचकं वा महाश्वेतादिष्वस्तीति कथं नानैकान्तिकता हेतो? स्यादेतत् यद्यपि तत्र वस्तुभूतं नास्ति सामान्य वाच्यम् वाचक (कं तु) महाश्वेतादिशब्दस्वलक्षणमस्त्येव, न, सर्वपदार्थव्यापिन. क्षणभङ्गस्य प्रसाधितत्वाच्च शब्दस्वलक्षणस्य वाचकत्व युक्तम्, क्षणभङ्गित्वेन तस्य सङ्केतासम्भवात् व्यवहारकालानन्वयाच्चेति प्रतिपादितत्वात्।

' तस्मात् तद् द्वयमेष्टव्यं, प्रतिबिम्बादि सांवृतम्।
तेषु तद् व्यभिचारित्व, दुर्निवारमत. स्थितम् " ॥१०९४॥
(तत्त्वसं० का०)

'द्वयम्' इति वाच्य वाचकं च. 'प्रतिबिम्बादि' इति आदिशब्देन निराकारज्ञानाभ्युपगमेऽपि स्वगत किञ्चित् प्रतिनियतमनर्थेऽर्थाध्यवसायिरूपत्वं विज्ञानस्यावश्यमङ्गीकर्तव्यमिति दर्शयति, 'तेषु' इति कल्पनोपरचितेष्वर्थेषु, 'तद्' इति तस्मात् तस्य वा हेतोर्व्यभिचारित्व तद्व्यभिचारित्वम्। 'विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते' इति, अत्रापि न ह्यस्माभि सर्वथा विधिरूप शब्दार्थो नाभ्युपगम्यते-येनैतद् भवताऽनिष्टत्वप्रसञ्जापादनं क्रियते—किन्तु-शब्दार्थो(ब्दादर्थो)ध्यवसायिनश्चेतस समुत्पादात् सवृतो (सावृतो) विधिरूप शब्दार्थोऽभ्युपगम्यत एव। तत्त्वतस्तु न किञ्चिद् वाच्यमस्ति शब्दानामिति विधिरूपस्तात्त्विको निषिध्यते, तेन सावृतस्य विधिरूपस्य शब्दार्थस्येष्टत्वात् स्वार्थाभिधाने विधिरूप सत्यन्यव्यतिरेकस्य सामर्थ्यादधिगते वि (तेर्वि) धिपूर्वको व्यतिरेको युज्यत एव। स्यादेतत् यदि विधिरूप शब्दार्थोऽभ्युपगम्यते कथं तर्हि हेतुमुखे लक्षणकारेण " असम्भवो विधि " [हेतु०] इत्युक्तम्? सामान्यलक्षणादेर्वाच्यस्य वाचकस्य वा असम्भवात् परमार्थत, शब्दाना विकल्पाना च परमार्थतो विषयासम्भवात् परमार्थमाश्रित्य विधेरसम्भव उक्त आचार्येण इत्यविरोध। 'अपोहमात्रवाच्यत्वम्' इत्यादावपि एकमेवानीलानुत्पलव्यावृत्तार्थाकारमुभयरूप प्रतिबिम्बकं नीलोत्पलशब्दादुदेति नाभावमात्रम्, अत शबलार्थाऽध्यवसायित्वमध्यवसायवशान्नीलोत्पलादिशब्दानामस्त्येवेति तदनुरोधात् सामानाधिकरण्यमुपपद्यत एव। यच्चोक्तम्-' अथान्यापोहवद् वस्तु वाच्यमित्यभिधीयते ' इति, तत्रापि यदि हि व्यावृत्ताद् भावाद् व्यावृत्तिर्नामान्या भवेत् स्यात् तदा तत्पक्षोदितदोषप्रसङ्ग यावता नान्यतो व्यावृत्ताद् भावादन्या व्यावृत्तिरस्ति अपि तु व्यावृत्त एव भावो भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासाया तथाऽभिधीयते, तेन यथा जातौ प्राधान्येव वाच्याया पारतन्त्र्येण तद्वतोऽभिधानात् तद्गतभेदानाक्षेपात् तै सह सामानाधिकरण्यादेरभावप्रसङ्ग उक्त तद्वदपोहपक्षे नावतरति, व्यतिरिक्तान्यापोहवतोऽनभिधानात्। न ह्यसन्मते परपक्ष इव सामानाधिकरण्याभाव.। तथाहि-' नीलम् ' इत्युक्ते पीतादिव्यावृत्तपदार्थाध्यवसायिभ्रमर-कोकिलाऽञ्जनादिषु सशय्यमानरूप विकल्पप्रतिबिम्बकमुदेति, तच्चोत्पलशब्देन कोकिलादिभ्यो व्यवच्छिद्यानुत्पलव्यावृत्तवस्तुविषये व्यवस्थाप्यमान परिनिश्चितात्मक प्रतीयते, तेन परस्पर यथोक्तबुद्धिप्रतिबिम्बकापेक्षयाऽव्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावान्नीलोत्पलशब्दयोर्विशेष्यविशेषणभावो न विरुध्यते, द्वाभ्या वाऽनीलानुत्पलव्यावृत्तैकप्रतिबिम्बात्मकवस्तुप्रतिपादनादेकार्थवृत्तितया सामानाधिकरण्य च भवतीति. परपक्षे तु तद्व्यवस्था दुर्घटा। तथाहि-विधिशब्दार्थवादिपक्षे नीलादिशब्देन नीलादिस्वलक्षणेऽभिहिते ' किमुत्पलम् आहोस्विद् अञ्जनम ' इत्येवमज्ञान विशेषान्तरे न प्राप्नोति सर्वात्मना तस्य वस्तुन प्रतिपादितत्वात्। एकस्यैकदैकप्रतिपत्रपेक्षया ज्ञाताऽज्ञातत्वविरोधाच्च धर्मान्तरे सशयविपर्यासावित्युत्पलादिशब्दान्तरप्रयोगाकाङ्क्षा प्रयोक्तुरपि च प्राप्नोति—यदर्थमुत्पलादिशब्दोच्चारणम्-तस्य नीलशब्देनैव कृतत्वात। अथापि स्यात् तद् वस्त्वेकदेशेनाभिहित नीलशब्देन न सर्वात्मना, तेन स्वभावान्तराभिधानायापर शब्दोऽ-

१-प्रतिबिम्बात्मकः। २-प्रतिबिम्बात्मक.।

न्वेष्यते, असदेतत् , न ह्येकस्य वस्तुनो देशाः सन्ति येनैक देशेनाभिधानं स्यात् एकत्वानेकत्वयोः परस्परपरिहारस्थित-लक्षणत्वात् , इति यावन्तस्त एकदेशास्तावन्त्येव भवता व-स्तूनि प्रतिपादितानीति नैकमनेकं सिद्ध्येत् । स्यादेतत् न नीलशब्देन द्रव्यमभिधीयते किं तर्हि ? नीलाख्यो गुणः त-त्समवेता वा नीलत्वजातिः, उत्पलशब्देनाप्युत्पलजातिरेवो-च्यते न द्रव्यम् ; तेन भिन्नार्थाभिधानादुत्पलादिशब्दान्तरा-काङ्क्षा युज्यत एव । नन्वेवं परस्परभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेन नितरां नीलोत्पलशब्दयोर्न सामानाधिकरण्यम् बकुलोत्पल-शब्दयोरिवैकस्मिन्नर्थे वृत्त्यभावात् । अथ नीलशब्दो यद्यपि गुणविशेषवचनस्तथापि तद्द्वारेण नीलगुण-तज्जातिभ्यां स-म्बद्धं द्रव्यमप्याह, तथोत्पलशब्देनापि जातिद्वारे (द्वारेण) तदेव द्रव्यमभिधीयत इति तयोरेकार्थवृत्तिसम्भवात् सा-मानाधिकरण्यं भविष्यति न बकुलोत्पलशब्दयोरिति, असदेतत् ; नीलगुण—तज्जातिसम्बद्धस्य द्रव्यस्य नील-शब्देन प्रतिपादनात् सर्वात्मना उत्पलश्रुतेर्वैयर्थ्यप्रस-ङ्गात् । स्यादेतत् यद्यपि नीलशब्देन गुण-तज्जातिमद् द्र-व्यमभिधीयते तथापि नीलशब्दस्यानेकार्थवृत्तिदर्शनात् प्र-तिपत्तुरुत्पलार्थ(र्थे)निश्चितरूपा न बुद्धिरुपजायते—कोकि-लादेरपि नीलत्वात्—अतोऽर्थान्तरसंशयव्यवच्छेदायोत्पल-श्रुतेः प्रयोगः सार्थक एव, तदप्यसम्यक् ; प्रकृतार्थानभिज्ञ-तयाभिधानात् । विधिशब्दार्थपक्षे हि सामानाधिकरण्यं न सम्भवतीत्येतदत्र प्रकृतम् , यदि चोत्पलशब्दः संशयव्यव-च्छेदायैव व्याप्रियेत न द्रव्यप्रतिपत्तये न तर्हि विधिः शब्दा-र्थः स्यात् उत्पलशब्देन भ्रान्तिसमारोपिताकारव्यवच्छेद-मात्रस्यैव प्रतिपादनात् , परस्परविरुद्धं चेदमभिधीयते-'नी-लशब्देनोत्पलादिकं द्रव्यमभिधीयते अथ च प्रतिपत्तुस्तत्र निश्चयो न जायते ' इति, न हि यत्र संशयो जायते स श-ब्दार्थो युक्तः अतिप्रसङ्गात् , नापि निश्चयेन विषयीकृते व-स्तुनि संशयोऽवकाशं लभते निश्चयाऽऽरोपमनसोर्बाध्यबा-धकभावात् । स्यादेतत् यद्यपि नीलोत्पलशब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिर्नास्ति तदर्थयोस्तु जाति-गु(योस्तु गु)णजात्योरेकस्मिन् द्रव्ये वृत्तिरस्तीत्यतोऽर्थद्वारकमनयोः सामानाधिकरण्यं भ-विष्यति, तदेतदयुक्तम् अतिप्रसङ्गात् , एवं हि रूप-रसशब्द-योरपि सामानाधिकरण्यं स्यात् तदर्थयो रूप-रसयोरेक-स्मिन् पृथिव्यादिद्रव्ये वृत्तेः । किञ्च-तर्हि 'नीलोत्पलम्' इ-त्येकार्थविषया बुद्धिर्न प्राप्नोति एकद्रव्यसमवेतयोर्गुण-जा-त्योर्द्वाभ्यां पृथक् पृथगभिधानात् ; न चैकार्थविषयज्ञानानु-त्पादे शब्दयोः सामानाधिकरण्यमस्तीत्यलमतिप्रसङ्गेन । अ-थापि स्यात् यदेव नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्धं वस्तु न त-देवोत्पलशब्देनोच्यते, तेनोत्पलश्रुतिर्व्यर्था न भविष्यति । नन्वेवं भिन्नगुणजात्याश्रयद्रव्यप्रतिपादकत्वान्नीलोत्पलशब्द-योः कुतः सामानाधिकरण्यम् ? अथ यद्यपि यदेव द्रव्यं नी-लशब्देनोच्यते उत्पलशब्देनापि तदेव तथापि नीलशब्दो नो-त्पलजातिसम्बन्धिरूपेण द्रव्यमभिधत्ते, किं तर्हि? नीलगुण-तज्जातिसम्बन्धिरूपेणैव; तेनोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्व-मस्याभिधातुमुत्पलश्रुतिः प्रवर्तमानाना (ना) नर्थिका भवि-ष्यति, असदेतत् , न हि नीलगुण-तज्जातिसम्बन्धिरूपत्वा-दन्यदेवोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वं येन नीलतज्जातिसम्ब-न्धिरूपत्वाभिधाने द्रव्यस्योत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वाभि-धान (नं न) भवेत् , एकस्माद् द्रव्याद् द्वयोरपि सम्बन्धि-रूपत्वयोरव्यतिरेकात् तयोरप्येकत्वमेवेत्ययुक्तमेकरूपाभि-धानेऽपररूपस्यानभिधानम् । भवतु वोत्पलत्वसम्बन्धिरूपत्वं नीलतज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यत् तथाऽप्युत्पलश्रुतिरनर्थि-कैव । तथाहि-यत् तद् अनंशं वस्तु उत्पलजात्या सम्बद्धं तदेव नीलगुणतज्जातिभ्यां सम्बध्यते, तच्चानंशत्वात् सर्वा-त्मना नीलश्रुत्यैवाभिहितम् किमपरमनभिहितमस्य स्वरूप-मस्ति यदभिधानायोत्पलश्रुतिः सार्थिका भवेत् ।

उद्योतकरस्त्वाह—" निरंश ' वस्तु सर्वात्मना विषयीकृतं नांशेन ' इत्येवं विकल्पो नावतरति, सर्वशब्दस्यानेकार्थवि-षयत्वात् एकशब्दस्य चावयववृत्तित्वात् " इति, असदेतत् , वाक्यार्थापरिज्ञानत एवमभिधानात् । तथाहि-' प्रथमेनैव नीलशब्देन सर्वात्मना तत् प्रकाशितम्' इत्यस्यायमर्थो विव-क्षितः-यादृशं तद् वस्तु तादृशमेवाभिहितम् न तस्य कश्चित् स्वभावस्त्यक्तः यदभिधानायोत्पलश्रुतिर्व्याप्रियेत निरंशत्वात् तस्य,इति वाक्छलमेतत्-' कृत्स्नैकदेशविकल्पानुपपत्तिस्तत्र' इति, एवमन्येषामप्यनित्यादिशब्दानां प्रयोगोऽनर्थकः , प्रयोगे वा पर्यायत्वमेव स्यात् तरु-पादपादिशब्दवत् । उक्तं च—

" अन्यथैकेन शब्देन, व्याप्त एकत्र वस्तुनि ।
बुद्ध्या वा नान्यविषय, इति पर्यायता भवेत् " ॥१॥ इति ।

अथ भवत्पक्षेऽप्येकेन शब्देनाभिहिते वस्तुनि भेदान्तरे स-शय-विपर्यासाभावप्रसङ्गः शब्दान्तराप्रवृत्तिप्रसङ्गश्च कस्मान्न भवति? संवृत्या शब्दार्थाभ्युपगमान्नास्माकमयं दोषः । तथा-हि-नीलशब्देनानीलपदार्थव्यावृत्तमुत्पलादिषूप्लवमानरूप-तया तेषामप्रतिक्षेपकमध्यवसितबाह्यरूपं विकल्पप्रतिबिम्ब-कमुपजायते पुनरुत्पलश्रुत्या तदेवानुत्पलव्यावृत्तसमारोपित-बाह्यैकवस्तुस्वरूपमुपजन्यते; तदेवं क्रमेणानीलानुत्पलव्या-वृत्तमध्यवसितबाह्यैकरूपं भ्रान्तं विकल्पप्रतिबिम्बकमुपज-न्यत इति तदनुरोधात् सत्वेन सामानाधिकरण्यं युज्यत एव। यदुक्तम्—' लिङ्ग-सङ्ख्यादिसम्बन्धो न चापोहस्य विद्य-ते ' इति, अत्र वस्तुधर्मत्वं लिङ्ग—सङ्ख्यादीनामसिद्धम् स्वतन्त्रेच्छाविरचितसङ्केतमात्रभावित्वात् । प्रयोगः—यो यदन्वय-व्यतिरेकौ नानुविधत्ते नासौ तद्धर्मः, यथा शीत-त्वमग्नेः, नानुविधत्ते च लिङ्गसङ्ख्यादिर्वस्तुनोऽन्वय-व्यति-रेकाविति व्यापकानुपलब्धिः । न चायमसिद्धो हेतुः, यतो यदि लिङ्गं वस्तुतो वस्तु स्यात् तदैकस्मिन्स्तटाख्ये वस्तुनि 'तटः' 'तटी' 'तटम्' इति लिङ्गत्रययोगिशब्दप्रवृत्तेरेकस्य वस्तुनस्त्रैरूप्यप्रसक्तिः स्यात् । न चैकस्य स्त्री-पुं-नपुंसका-ख्यं स्वभावत्रयं युक्तम् एकत्वहानिप्रसङ्गात् , विरुद्धधर्मा-ध्यासितस्याप्येकत्वे सर्वविश्वमेकमेव वस्तु स्यात् , ततश्च सहोत्पत्ति-विनाश-प्रसङ्गः । किञ्च-सर्वस्यैव वस्तुन एक-शब्देन शब्दान्तरेण वा लिङ्गत्रयप्रतिपत्तिदर्शनात् तद्विषया-णा सर्वचेतसां मेचकादिरत्नवच्छबलाभासताप्रसङ्गः । अथ सत्यपि लिङ्गत्रययोगित्वे सति सर्ववस्तुना यदेव रूपं चक्षु-मिष्टं प्रतिपादकेन तन्मात्रावभासान्येव विवक्षावशाच्चेतांसि भविष्यन्ति न शबलाभासानि, ननु यदि 'विवक्षावशादेक-रूपाणि चेतांसि भवन्ति' इत्यङ्गीक्रियते तदा तानि स्यात्म-कवस्तुविषयाणि न प्राप्नुवन्ति तदाकारशून्यत्वात् , शब्दवि-

पये । योऽपि मन्यते "संस्त्यान-प्रसव-स्थितिषु यथाक्रम स्त्री-पुं-नपुंसकव्यवस्थानि (स्था" इति) तस्यापि नत्र युक्तम् यतो यदि स्थित्याद्याश्रया लिङ्गव्यवस्था तदा तट-शृङ्खलादिवत् सर्वपदार्थेष्वविभागेन त्रिलिङ्गताप्रसक्तिः स्थित्यादेर्विद्यमानत्वात्—अन्यथा 'तट' 'तटी' 'तटम्' इत्यादावपि लिङ्गत्रयं न स्यात् विशेषाभावात्—इत्यतिव्यापिता लक्षणदोषः । व्यभिचारदर्शनाद् वाऽव्यापिता च—असत्स्वपि हि स्थित्यादिके शशविषाणादिष्वसद्रूपेषु (षु) 'अभाव' 'निरुपाख्यम्' 'तुच्छता' इत्यादिभिः शब्दैः लिङ्गत्रयप्रतिपत्तिदर्शनात् । इतश्चाव्यापिनी—स्थित्यादिष्वेव प्रत्येकं लिङ्गत्रययोगिशब्दप्रवृत्तिदर्शनात् । तथाहि-प्रसव उत्पादः, संस्त्यानं विनाशः, आत्मस्वरूपं च स्थितिः, तत्र प्रसवे स्थितिसंस्त्यानयोरभावात् कथं 'उत्पादः' 'उत्पत्तिः' 'जन्म' इत्यादेः स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गस्य शब्दस्य प्रवृत्तिर्भवेत्? तथा, संस्त्याने स्थिती-प्रसवयोरभावात् कथं 'तिरोभूतिः' 'विनाशः' 'तिरोभवनम्' इत्यादिभिः शब्दैर्व्यपदिश्येत 'संस्त्यानम्' इत्येतेन च ? तथा, स्थितौ संस्त्यान-प्रसवयोरसम्भवात् 'स्थितिः' 'स्थानम्' 'स्वभावः' चेत्यादिभिः शब्दैः कथमुच्येत ? अथ स्थित्यादीनां परस्परमविभक्तरूपत्वात् प्रत्येकमेषु लिङ्गत्रययोगिता, ननु यद्येषां परस्परमविभक्तं रूपं तदेकमेव परमार्थतो लिङ्गं स्यात् न लिङ्गत्रयम् । अन्यस्त्वाह-"स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव सामान्यविशेषाः" । तत्र पक्षे सामान्यविशेषाणामभावा (वात्) स्त्रीत्वादीनामपि तद्रूपाणामभाव इत्यसम्भवि लक्षणम् । किञ्च-तेष्वेव सामान्यविशेषेष्वन्तरेणाप्यपरं सामान्यविशेषं 'जातिः' 'भावः' 'सामान्यम्' इत्यादेः स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गस्य प्रवृत्तिदर्शनात् अव्यापिता च लक्षणस्य, न हि सामान्येष्वपराणि सामान्यानि "निःसामान्यानि" इति वैशेषिकसिद्धान्तात् । यदा तु सामान्यस्याप्यपराणि सामान्यानीष्यन्ते वैयाकरणैः—यथोक्तम्—

"अर्थजात्यभिधानेऽपि, सर्वे जातिविधायिनः ।
व्यापारलक्षणा यस्मात्, पदार्थाः समवस्थिताः ॥"
(वाक्यप० तृ० का० श्लो० ११)

न हि शास्त्रान्तरपरिदृष्टा जातिव्यवस्था नियोगतो वैयाकरणैरभ्युपगन्तव्या, प्रत्ययाभिधानाऽन्वयव्यापारकार्यानुमीयमानरूपा हि जातयः न हि तासामियत्ता काचित्, अतो यथोदितकार्यदर्शनात् सामान्याधारा जातिः सम्प्रति ज्ञायते तथाभूतप्रत्यय-शब्दनिबन्धनम् । 'व्यापारलक्षणा' इति अभिधानप्रत्ययव्यापारतो व्यवस्थितलक्षणा इत्यर्थः तदाऽनन्तरोक्तमेव दूषणम्—'सामान्यस्याभावात्' इत्यादि । अपि च, न हि असत्सु शशविषाणादिषु जातिरस्ति वस्तुधर्मत्वात् तस्याः, इति तेषु अभावआदिशब्दप्रयोगो न स्यात् । तस्मादव्यापिनी लिङ्गव्यवस्थेति इच्छारचितसङ्केतमात्रभाविन्येवेयं लिङ्गत्रयव्यवस्थेति स्थितम् । सङ्ख्याया अपि वस्तुगतान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावो नासिद्धः । तथाहि-सामायिक्येव (कथंच) न वास्तवी दारादिष्वसत्यपि वास्तवे भेदे विवक्षावशेनोपकल्पितत्वात्, अन्यथा बहुत्वैकत्वादिसङ्ख्या वस्तुगतभेदाभेदलक्षणा यदि स्यात् तदा 'आपः' 'दाराः' 'सिकताः' 'वर्षाः' इत्यादावसत्यपि वस्तुनो भेदे बहुत्वसङ्ख्या कथं प्रवर्तेत ? तथा, 'वनम्' 'त्रिभुवनम्' 'जगत्' 'षण्णगरी' इत्यादिष्वसत्यप्यभेदेऽर्थस्यैकत्वसङ्ख्या न व्यपदिश्येत, अतो नासिद्धता हेतोः । नाप्यनैकान्तिकः सर्वस्य सर्वधर्मत्वप्रसङ्गात्, सपक्षे भावाच्च न विरुद्धः ।

अत्र च कुमारिलो हेतोरसिद्धतां प्रतिपादयन्नाह-दारादिशब्दः कदाचित् जातौ प्रयुज्यते कदाचित् व्यक्तौ, तत्र यदा जातौ तदा व्यक्तिगतां सङ्ख्यामुपादाय वर्तते व्यक्तयश्च बह्व्यो योषितः, यदा तु व्यक्तौ प्रयुज्यते तदा तद्व्यक्त्यवयवानां पाणि-पादादीनां बहुत्वसङ्ख्यामादाय वर्तते । वनशब्देन तु धव-खदिर-पलाशादिलक्षणा व्यक्तयस्तत्सम्बन्धिभूतवृक्षत्वजातिगतसङ्ख्याविशिष्टाः प्रतिपाद्यन्ते तेन 'वनम्' इत्येकवचनं भवति जातिगतैकसंख्याविशिष्टद्रव्याभिधानात् अथवा-धवादिव्यक्तिसमाश्रिता जातिरेव 'वन' शब्देनोच्यते, तेनैकवचनं भवति जातेरेकत्वादिति ।

नन्वेवं 'वृक्षः' 'घटः' इत्यादावप्येकवचनमुच्छिन्नं स्यात् सर्वत्रास्य न्यायस्य तुल्यत्वात् । तथाहि-अत्रापि शक्यमेव वक्तुम्-'जातौ व्यक्तौ वा वृक्षादिश्चेत् प्रयुज्यते' इत्यादि । अथ मतम्-वृक्षादौ व्यक्तेरवयवानां च संख्याविवक्षा नास्ति यद्येवं न तर्हि वस्तुगतान्वयाद्यनुविधायिनी सङ्ख्या, विवक्षाया एवान्वय-व्यतिरेकानुविधानात्, ततश्च सैव 'दाराः' इत्यादिषु बहुवचनस्य निबन्धनमस्तु भेदाभावेऽप्येकमपि वस्तु बहुत्वेन विवक्ष्यते इति नाऽसिद्धता हेतोः ।

यच्चोक्तम्-'वनशब्दो जातिसङ्ख्याविशेषिता व्यक्तीराह' इति, तत्र न जातेः संख्याऽस्ति द्रव्यसमाश्रितत्वादस्याः । अथ वैशेषिकप्रक्रिया नाश्रीयते तदा भावे सङ्ख्यायास्तया कथं धवादिव्यक्तयो विशेषिता सिद्ध्यन्ति ? स्यादेतत् सम्बद्धसम्बन्धात् तत्सम्बन्धतो वा सिद्ध्यन्ति । तथाहि-यदा जातेर्व्यतिरेकिणी संख्या तदैकत्वसङ्ख्यासम्बद्धया जात्या धवादिव्यक्तीनां सम्बन्धात् पारम्पर्येण तया धवादिव्यक्तयो विशेष्यन्ते, यदा तु जातेरव्यतिरिक्तैव सङ्ख्या तदा साक्षादेव सम्बन्धात् तया विशेष्यन्त इति जातिसङ्ख्याविशेषिता सिद्ध्यन्ति, असदेतत्; यतो यदि सम्बद्धसम्बन्धात् सम्बन्धतो वा धवादिव्यक्तिषु वनशब्दस्य प्रवृत्तिस्तदैकोऽपि पादपो 'वनम्' इत्युच्येत प्रवृत्तिनिमित्तस्य विद्यमानत्वात् । तथाहि-बहवोऽपि धवादयो जातिसङ्ख्यासम्बन्धादेव 'वनम्' इत्युच्यते नान्यतः स च सम्बन्धः एकस्मिन्नपि पादपेऽस्तीति किमिति न तथोच्येत अथवा-'धवादिव्यक्तिसमाश्रिता' इत्यत्र पक्षे एकस्यापि तरोः 'वनम्' इत्यभिधानं स्यात् । तथाहि यैवासौ वनशब्देन जातिर्बहुव्यक्त्याश्रिताऽभिधीयते सैवैकस्यामपि धवादिव्यक्तौ व्यवस्थिता, ततश्च वनधियो निमित्तस्य सर्वत्र तुल्यत्वाद् एकत्रापि पादपे किमिति वनधीर्न भवेत् ? क्रिया—कालादीनां त्वसत्त्वादयायुक्तं वस्तुधर्मत्वम्, भवतु वा वस्तुधर्मत्वमेषां तथापि प्रतिबिम्बलक्षणस्यापोहस्य भ्रान्तिर्वा(न्तैर्वा)ह्यव्यक्तिरूपत्वेनावसितत्वादध्यवसायवशाद् व्यक्तिद्वारको लिङ्ग-सङ्ख्यादिसम्बन्धो भविष्यति, तेन यदुक्तम्—'व्यक्तेश्चाव्यपदेश्यत्वात्, तद्द्वारेणापि नास्त्यसौ' इति, तदनैकान्तिकम्, सप्रतिपक्षे चासिद्धम्—

"व्यक्तिरूपावसायेन, यदि वाऽपोह उच्यते।
तल् लिङ्गाद्यभिसम्बन्धो, व्यक्तिद्वारोऽस्य विद्यते"॥
[तत्त्वसं० का० ११४२] इति।

'अपोह उच्यते' इति 'शब्देन' इति शेष , 'तद्' इति तस्मात्, 'अस्य' इत्यपोहस्य। 'आख्यातेषु न च' इति, अत्र आख्यातेष्वन्यनिवृत्तिर्न सम्प्रतीयते इत्यसिद्धम्। तथाहि-जिज्ञासिते कस्मिंश्चिदर्थे श्रोतुर्बुद्धि(द्धे)र्निवेशाय शब्द· प्रयुज्यते व्यवहर्तृभिः न व्यसनितया, तेनाभीष्टार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यादनभीष्टव्यवच्छेद· प्रतीयत एव, अभीष्टानभीष्टयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात्। सर्वमेवाभीष्टं यदि स्यात् तदा प्रतिनियतशब्दार्थौ न प्राप्नोति इति या च कस्यचिदर्थस्य परिहारेण श्रोतुः क्वचिदर्थे शब्दात् प्रवृत्ति सा न प्राप्नोति, तस्मात् 'सर्वमेवाभीष्टम्' इत्येतदयुक्तम्, अत 'पचति' इत्यादिशब्दानामनभीष्टव्यवच्छेद· सामर्थ्यात् स्फुटमवगम्यत एव—

" तथाहि-पचतीत्युक्ते, नोदासीनोऽवतिष्ठते।
भुङ्क्ते दीव्यति वा नेति, गम्यतेऽन्यनिवर्तनम्" ॥
[तत्त्वसं० का० ११४६]

तेन 'पर्युदासरूपं हि निषेध्यं तत्र न विद्यते' इति यदुक्तम् तदसिद्धम्। यच्च-'पचतीत्यनिषिद्धं तु, स्वरूपेणैव तिष्ठति'। इति। तत्र स्ववचनव्याघात·। तथाहि-'पचति' इत्येतस्यार्थं 'स्वरूपेणैव' इत्यनेनावधारणेनावधारितरूप दर्शयता 'पचति' इत्येतस्यान्यरूपनिषेधेनात्मस्थितिरिति दर्शितं भवति, अन्यथा 'स्वरूपेणैव' इत्येतदवधारण भवत्प्रयुक्तमनर्थक स्यात् व्यवच्छेद्याभावात्। 'साध्यत्वप्रत्ययश्च' इति, अत्रापि यद्यपोहो भवता निरु (रु) पाख्यस्वभावतया गृहीतस्तत्कथमिदमुच्यते 'निष्पन्नत्वात्' इति, न ह्याकाशोत्पलादीनां काचिदस्ति निष्पत्ति· सर्वोपाख्याविरहलक्षणत्वात् तेषाम्। स्यादेतत् यद्यप्यसौ निरुपाख्य· परमार्थतस्तथापि भ्रान्तै· प्रतिपत्तृभिर्बाह्यरूपतयाऽध्यवसितत्वादसौ सोपाख्यत्वेन ख्याति, ननु यद्यसौ सोपाख्यत्वेन ख्याति तथाऽपि किमत्र प्रकृतार्थानुकूलं जातम्? वस्तुभिस्तुल्यधर्मत्वम्, एतेन यथा वस्तु निष्पन्नरूपं प्रतीयते तथाऽपोहोऽपि वस्तुभिस्तुल्यधर्मतया ख्याते (तो) निष्पन्न एव प्रतीयत इति सिद्ध 'निष्पन्नत्वात्' इति वचनम्। यद्येवं भवत्यै (तै) व साध्य [ध्यत्व] प्रत्ययस्य भूताऽऽदिप्रत्ययस्य च निमित्तमुपदर्शितमिति न वक्तव्यमेतत् 'निर्निमित्त प्रसज्यते' इति। यदपि 'विध्यादावर्थराशौ च, नाऽन्याऽपोहनिरूपणम्'। इति परेणोक्तम्, तत्र विध्यादेरर्थस्य निषेध्यादपि व्यावृत्ततयाऽवस्थितत्वात् तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यादविवक्षित नास्तिताऽऽदि निषिध्यत इत्यस्त्येवात्र 'अन्यापोहनिरूपणम्'। 'नञश्चापि नञाद्युक्तौ' इति. अत्रापि—

"नासौ न पचतीत्युक्ते, गम्यते पचतीति हि।
औदासीन्यादियोगश्च तृतीये नञि गम्यते"॥
"तुर्ये तु तद्विविक्तोऽसौ, पचतीत्यवसीयते।
तेनात्र विधिवाक्येन, सममन्यनिवर्तनम्'॥
[तत्त्वसं० का० ११५७-११५८]

'तुर्ये' इति चतुर्थे "चतुरश्छयतौ आद्यक्षरलोपश्च" [पाणि० अ० ५ पा० २ सू० ५१ वार्ति० सिद्धान्त० पृ० २६६] इत्यनेन पूरणार्थे 'यत्' प्रत्ययविधानात्। 'तद्विविक्तोऽसौ' इति औदासीन्यादिविविक्त (क्त), 'विधिवाक्येन सममन्यनिवर्तनम्' इति यथा 'पचति' इत्यादौ विधिवाक्ये सामर्थ्यादौदासीन्यादिनिवृत्तिर्गम्यते तथा द्वितीयेऽपि नञि इति सिद्धमत्राप्यन्यनिवर्तनम्। स्पष्टार्थं तु नञ्चतुष्टयोदाहरणम्। 'चादीनां नञ्योगो नास्ति' इति, अत्र—

"समुच्चयादिर्यश्चार्थ·, कश्चिच्चादेरभीप्सित·।
तदन्यस्य विकल्पादे-र्भवेत् तेन व्यपोहनम्"॥
[तत्त्वसं० का० ११५६]

आदिशब्देना(न) 'वा'शब्दस्य विकल्पोऽर्थ·, 'अपि'शब्दस्य पदार्थासम्भवानाऽ(र्थसम्भावनाऽ) न्ववसर्गादय·, 'तु' शब्दस्य विशेषणम्, 'एव'कारस्यावधारणमित्यादेर्ग्रहणम्। 'तदन्यस्य' इति तस्मात् समुच्चयादन्यस्य, 'तेन' इति चादिना। 'वाक्यार्थेऽन्यनिवृत्तिश्च व्यपदेष्टुं न शक्यते' इति, अत्रापि कार्यकारणभावेन सम्बद्धा एव पदार्था वाक्यार्थ· यतो न पदार्थव्यतिरिक्तो निरवयव· शबलाऽऽत्मा वा कल्माषवर्णप्रख्यो वाक्यार्थोऽस्ति, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तादृशस्यानुपलब्धेः पदार्थस्य चापोहरूपत्व सिद्धमेव। तथाहि-'चैत्र! गामानय' इत्यादिवाक्ये चैत्रादिपदार्थव्यतिरेकेण बुद्धौ नान्योऽर्थ परिवर्तते चैत्राद्यर्थगतौ च सामर्थ्यादचैत्रादिव्यवच्छेदो गम्यते, अन्यथा यद्यन्यकर्त्रादिव्यवच्छेदो नाभीष्टः स्यात् तदा चैत्रादीनामुपादानमनर्थकमेव स्यात्, ततश्च न किञ्चित् कश्चिद् व्यवहरेदिति निरीहमेव जगत् स्यात्। 'अनन्यापोहशब्दादौ वाच्यं न च निरूप्यते' इति, अत्र, यद्यत्र भवदभिमतो जात्यादिलक्षणो विधिरूप· शब्दार्थ· परमार्थतोऽवसीयते जात्यादेर्निषिद्धत्वात्।

" किन्तु विध्यवसायस्माद्, विकल्पो जायते ध्वने·।
पश्चादपोहशब्दार्थ-निषेधे जायते मति·' ॥
[तत्त्वस० का० ११६४]

यद्यनपोहशब्दादपोहशब्दार्थनिषेधे मतिर्जायते इतीष्यते न तर्ह्यपोहशब्दार्थोऽभ्युपगन्तव्य तस्य निषिद्धत्वात्, असदेतत्,
" स त्वसंवादकस्तादृग्, वस्तुसम्बन्धहानित·।
न शाब्दा· प्रत्यया सर्वे, भूतार्थाध्यवसायिन· " ॥
[तत्त्वस० का० ११६५]

'स·' इति अनन्यापोहशब्दादि, 'असंवादक' इति न संवदतीत्यसंवादकः, न विद्यते सा(वा) संवादो (संवादोऽस्येत्यसंवा)दक। कस्मात्? 'वस्तुसम्बन्धहानित·' तथाभूतवस्तुसम्बन्धाभावात् पूर्वं हि जात्यादिलक्षणस्य शब्दार्थवस्तुनो निषिद्धत्वात्। यद्येवं तर्हि कथमनन्यापोहशब्दादिभ्योऽपोहशब्दार्थनिषेध मतिरुपजायत इति. उच्यते वितथविकल्पाभ्यासवासनाप्रभवतया हि केचन शाब्दा प्रत्यया असद्भूतार्थनिवेशिनो जायन्त एव इति न तद्वशाद् वस्तूनां सदसत्ता सिध्यति। यत्तु 'प्रमेय-ज्ञेयशब्दादे' इति, अत्र कस्य प्रमेयादिशब्दस्यापोहो नास्तीत्यभिधीयते? यदि तावदनाश्रित्यप्रमेयादिशब्दमाश्रित्योच्यते तदा सिद्धसाध्यता, केवलस्य प्रयोगाभावादेव निरर्थकत्वात् यत· श्रोतृजनानुग्रहाय प्रेक्षावद्भि शब्द प्रयुज्यते न व्यसनितया न च केवलेन प्रयुक्तेन श्रोतु कस्मिन् सन्देह-विपर्यासनिवृत्तिलक्षणोऽ

नुग्रहः कृतो भवेत् । तथाहि-यदि श्रोतु क्वचिदर्थे समुत्पन्नौ संशय-विपर्यासौ निवर्त्य निस्सन्दिग्धप्रत्ययमुत्पादयेत् प्रतिपादकः, एव तेनास्यानुग्रह कृतो भवेत् नान्यथा । न च केवलेन शब्देन प्रयुक्तेन तथाऽनुग्रह शक्यते कर्तुम्, तस्मात् संशयादिनिवर्त्तन निश्चयोत्पादने च श्रोतुरनुग्रहात् शब्दप्रयोगसाफल्यमिति वाक्यस्थस्यैवास्य प्रयोग । अथ वाक्यस्थमेव प्रेयादिशब्दमधिकृत्योच्यते, तद् असिद्धम . तत्र हि वाक्यस्थेन प्रमेयादिशब्देन यदेव मूढमतिभि सशयस्थान मिष्यते तदेव निवर्त्यत इत्यतोऽसिद्धमेतत् ' प्रमेयादिशब्दाना निवर्त्य नास्ति ' इति, अन्यथा यदि श्रोता न क्वचिदर्थे संशेते तत् किमिति परस्मादुपदेशमपेक्षते ? निश्चयार्थी हि पर पृच्छति अन्यथोन्मत्त. स्यात् । यदि नाम श्रोतुराशङ्कास्थानमस्ति तथापि शब्देन तन्न निवर्त्यत इत्येतच्च न वक्तव्यम्, श्रोतृसस्कारार्थेव शब्दानां प्रयोगात् तदसंस्कारक वक्तो वक्तु —अन्यथा—उन्मत्ततापसक्ति । तथाहि-'किं क्षणिकाऽनात्मादिरूपेण ज्ञेया भावा, आहोस्वित्न' ' किं सर्वज्ञचेतसा ग्राह्या. उत न ' इत्यादि-सशयोद्भूतो ' क्षणिकत्वादिरूपेण ज्ञेया. सर्वधर्मा ' तथा ' सर्वज्ञज्ञानविषया. ' इतिसंशयव्युदासार्थ शब्दा. प्रयुज्यन्त इति । यदि(द)क्षणिकत्वाऽक्षेत्रत्वादि समारोपितं तद् निवर्त्यते, क्षणिकत्वादिरूपेण तथा प्रमाणसिद्धत्वात् । अथ ' किमनित्यत्वेन शब्दा. प्रमेया ' इति ' आहोस्वित्न ' इति प्रस्ताव ' प्रमेया. ' इति प्रयोगे प्रकरणानभिज्ञस्यापि प्रतिपत्तु ' प्रमेया. ' इति केवलं शब्दश्रवणात् प्लवमानरूपा शब्दादिबुद्धिरुपजायत एव । तद् यदि केवलस्य शब्दस्यार्थो नास्त्येव तत् कथमर्थप्रतिपत्तिर्भवति ? नैव केवलशब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्ति किमिति वाक्येषूपलब्धस्यार्थवत. शब्दस्य सादृश्येनापह्नतबुद्धे केवलशब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्त्यभिमान । तथाहि-यष्वेव वाक्येषु 'प्रमेय' शब्दमुपलब्धवान् श्रोता तदर्थेष्वेव सा बुद्धिरप्रतिष्ठितार्था प्लवमानरूपा समुपजायते, तच्च घटादिशब्दानामपि तुल्यम् । तथाहि-'किं घटेनोदकमानयामि, उताञ्जलिना ' इति प्रयोगे प्रस्तावानभिज्ञस्य यावत्सु वाक्येषु तेन ' घटेन ' इति प्रयोगो दृष्टस्तावत्स्वर्थेषु आकाङ्क्षावती पूर्ववाक्यानुसारादेव प्रतिपत्तिर्भवतीति घटादिशब्दा(शब्दा इव) विशिष्टार्थवचनाः प्रमेयादिशब्दा । यदुक्तम्—' अपोहकल्पनाया च ' इत्यादि, तत्र, वस्त्वेव ह्यध्यवसायवशाच्छब्दार्थत्वेन कल्पित यद् विवक्षित तावन्तु तेन तत्प्रतीतौ सामर्थ्यादविवक्षितस्य व्यावृत्तिरधिगम्यत एवेति नाव्यापिनी शब्दार्थव्यवस्था । यदेव व मूढमतराशङ्कास्थान तदेवाधिकृत्योक्तमाचार्येण—"ज्ञे(अक्षे)य कल्पित कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन ज्ञेयेऽनुमानम् " [हेतु०] इति । 'ज्ञानाकारनिषेधाच्च इत्यादौ ज्ञानाकारस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् कथमभाव ? तथाहि-स्वप्नादिषु अर्थमन्तरेणापि निरालम्बनमागृहीतार्थाकारसमारोपक ज्ञानमागोपालमतिस्फुटं स्वसवेदनप्रत्यक्षसिद्धम् । न च देश-कालान्तरावस्थितोऽर्थस्तेन रूपेण संवेद्यत इति युक्तं वक्तुम्, तस्य तद्रूपाभावात्, न चान्येन रूपेणान्यस्य सवेदन युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । किञ्च-अवश्य भवद्भिर्ज्ञानस्यात्मगत कश्चिद् विशेषोऽर्थकृतोऽभ्युपगन्तव्य येन वाधरूपतासाम्येऽपि प्रतिविषय 'नीलस्यैद सवेदनम् न पीतस्य' इति विभागेन विभज्यते ज्ञानम्, तदभ्युपगमे च सामर्थ्यात् साकारमेव ज्ञानमभ्युपगतं स्यात् आकारव्यतिरेकेणान्यस्य स्वभावविशेषत्वेनावधारयितुमशक्यत्वात् . अतो भवता 'स्वभावविशेष.' इति स एव शब्दान्तरेणोक्त अस्माभिस्तु 'आकार' इति केवल नाम्नि विवादः । 'एवमित्थम्' इत्यादावपि 'एवमेतन्नैवम्' इति वा 'प्रकारान्तरमारोपितमेवम्' इत्यादिशब्दैर्व्यवच्छिद्यमान स्फुटतरमवसीयते चेति नाव्यापिता शब्दार्थव्यवस्थाया । एव कुमारिलेनोक्त दूषण प्रतिविहितम् ।

(उद्द्योतकरोक्तानामाक्षेपाणां प्रतिविधानम्)—

इदानीमुद्द्योतकरेणोक्त प्रतिविधीयते-तत्र यदुक्तम्—'सर्वशब्दस्य कश्चार्थो व्यवच्छेद्य प्रकल्प्यते' इति, अत्रापि हेयादिपदवत् केवलस्य सर्वशब्दस्याप्रयोगात् वाक्यस्थस्यैव नित्यं प्रयोग इति यत्रैव मूढमतराशङ्कास्थान तदेव निवर्त्यमस्ति । तथाहि—

"सर्वे धर्मा निरात्मानः," 'सर्वे वा पुरुषा गताः' ।
सामस्त्यं गम्यते तत्र, कश्चिदंशस्त्वपोह्यते" ॥
(तत्त्वसं० का० ११८६)

कोऽसावंशोऽपोह्यतेऽत्र इति चेत्, उच्यते—

"केचिदेव निरात्मानो, बाह्या दृष्टा घटादयः ।
गमनं कस्यचिन्नैव, भ्रान्तेस्तद्विनिवर्त्यते" ॥
(तत्त्वस० का० ११८७)

'एकाद्यसर्वम्' इत्यादावपि यदि हि सर्वस्याङ्गस्य प्रतिषेधो वाक्यस्थे सर्वशब्दे विवक्षितः स्यात् तदा स्वार्थोऽपोह. प्रसज्यते यावता यदव मूढधिया शङ्कित तदेव निषिध्यत इति कुतः स्वार्थापवादित्वदोषप्रसङ्ग. ? एव ह्यादिशब्देष्वपि वाच्यम् । यच्चोक्तम्—'किं भावोऽथाभाव.' इत्यादि, तत्रापि यथाऽसौ बाह्यरूपतया भ्रान्तैरवसीयते न तथा स्थित इति बाह्यरूपत्वाभावान्न भावः, न चाभावो बाह्यवस्तुतयाऽध्य(व्य) वसितत्वात् इति कथ 'यदि भाव. स किं गौ.' इत्यादि (दे) र्भावपक्षभाविन 'प्रैष-सम्प्रतिपत्त्योरभाव.' इत्यादेश्चाभावपक्षभाविनो दोषस्यावकाश ? अथ पृथक्त्वैकत्वादिलक्षण कस्मान्न भवति ? व्यतिरेको (काऽ) व्यतिरेकाऽऽश्रिताऽनाश्रितत्वादिवस्तुगतधर्माणा कल्पनाशिल्पिघटितविग्रहेऽपोहेऽसम्भवात् । यच्चोक्तम्—'क्रियारूपत्वादपोहस्य विषयो वक्तव्यः' इति, तदसिद्धम्, शब्दवाच्यस्यापोहस्य प्रतिबिम्बात्मकत्वात् । तच्च प्रतिबिम्बकम् अध्यवसितबाह्यवस्तुरूपत्वाद् न प्रतिषेधमात्रम्, अत एव 'किं गोविषय. अथाऽगोविषयत' (यः)' इत्यस्य विकल्पद्वयस्यानुपपत्ति' गोविषयत्वेनैव तस्य विधिरूपतयाऽध्यवसीयमानत्वात् । यच्चोक्तम्— केन ह्यगोत्वमासक्त, गार्यैनैतदपोह्यते' इति, अत्रापि, यदि हि प्राधान्येनान्यनिवृत्तिमेव शब्द. प्रतिपादयेत् तदैतत् स्यात् यावतार्थो (र्थं) प्रतिबिम्बकमेव शब्दः करोति, तद्गतौ च सामर्थ्यादन्यनिवर्त्तन गम्यत इति सिद्धान्तानभिज्ञतया यत् किञ्चिदभिहितम् । व्यतिरेकाऽव्यतिरेकादिविकल्प पूर्वमेव निरस्त । यदुक्तम्-'किमयमपोहो वाच्य. इत्यादि, तत्रान्यापोहे 'वाच्यत्वम् इति विकल्पो यद्यन्यापोहशब्दमधिकृत्या भिधीयते तदा विधिरूपेणैवासौ तेन शब्देन वाच्य इत्यभ्युपगमान्नानिष्टापत्तिः। तथाहि-'किं विधि. शब्दार्थः आहोस्विदन्या

पोहः ' इति प्रस्तावे 'अन्यापोह. शब्दार्थ.' इत्युक्ते प्रतिपत्तुर्यथोक्तप्रतिविम्बलक्षणान्यापोहाध्यवसायी प्रत्ययः समुपजायते अर्थानु (र्थात् तु) विधिरूपशब्दार्थनिषेध. । अथ घटादिशब्दमधिकृत्य, तत्रापि यथोक्तप्रतिविम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाद् घटादिशब्दैरुपजन्यमानत्वाद् विधिरूप एव तै. प्रतिपाद्यते, सामर्थ्यात् त्वन्यनिवृत्तेरधिगम इति नानिष्टाऽऽपत्तिः । न चाप्यनवस्थादोषः, सामर्थ्यादन्यनिवृत्तेर्गम्यमानत्वात् न तु वाच्यतया । अवाच्यपक्षस्यानङ्गीकृतत्वादेव न तत्पक्षभाविदोषोदयावकाशः । ' अपि चैकत्व-नित्यत्व '-इत्यादावपि यदि पारमार्थिकैकत्वाद्युपवर्णनं कृतं स्यात् तदा हास्यकरणं भवतः स्यात् ; यदा तु भ्रान्तप्रतिपत्त्रनुरोधेन काल्पनिकमेव तद् आचार्येणोपवर्णितं तदा कथमिव हास्यकरणमवतरति विदुषः किन्तु भवानेव विवक्षितमर्थमांवक्षाय दूषयन् विदुषामतीव हास्यास्पदमुपजायते । ' तस्माद् येष्वेव शब्देषु नञ्योगः ' इत्यादावपि, ' न केवलं यत्र नञ्योगस्तत्रान्यविनिवृत्त्यंशोऽवगम्यते, यत्रापि हि नञ्योगो नास्ति तत्रापि गम्यत एव' इति स्ववाचैवैतद् भवता प्रतिपादितम् ' स्वात्मैव गम्यते ' इत्यवधारणं कुर्वता ; अन्यथाऽवधारणवैयर्थ्यमेव स्यात् यतः ' अवधारणसामर्थ्यादन्यापोहोऽपि गम्यते ' इति स्फुटतरमेवावसीयते । न च वन्ध्यासुतादिशब्दस्य बाह्यं सुतादिक वस्त्वन्यव्यावृत्तमपोह्याश्रयो नास्तीति किमधिष्ठानोऽपोहो वाच्य इति वक्तव्यम् , यतो न तद्विषयाः शब्दा जात्यादिवाचकत्वेनाशङ्क्याः ' वस्तुवृत्तीनां हि शब्दानां किं रूपमभिधेयम् , आहोश्वित् प्रतिविम्बम् ' इत्याशङ्का स्यादपि, अभावस्तु वस्तुविवेकलक्षण एवेति तद्वृत्तीना शब्दानां कथमिव वस्तुविषयत्वाशङ्का भवेत् इति निर्विषयत्व स्फुटमेव तत्र शब्दानां प्रतिविम्बकमात्रोत्पादादवसीयत एव । अत एव ये सङ्केतसव्यपेक्षास्तेऽर्थशून्याभिजल्पाऽऽहितवासनामात्रनिर्मितविकल्पप्रतिविम्बमात्रावद्योतकाः, यथा वन्ध्यापुत्रादिशब्दाः, कल्पितार्थाभिधायिनः सङ्केतसव्यपेक्षाश्च विवादास्पदीभूता घटादिशब्दा इति स्वभावहेतुः । यद्वा-परोपगतपारमार्थिकजात्याद्यर्थाभिधायका न भवन्ति घटादिशब्दाः, सङ्केतसापेक्षत्वात् , कल्पितर्थाभिधानवत् । न च हेतोरनैकान्तिकता, क्वचित् साध्यविपर्ययेऽनुपलम्भात् अशक्यसमयत्वात् अनन्यभाक्त्वाच्चेति । पूर्वं स्वलक्षणादौ सङ्केतासम्भवस्य सङ्केतवैफल्यस्य च प्रसाधितत्वान्न हेतो. सन्दिग्धविपक्षव्यतिरेकता । अथ यथा स्वलक्षणादौ सङ्केतासम्भव वैफल्यं च तथाऽपोहपक्षेऽपि, ततश्चाकृतसमयत्वात् तन्मात्रद्योतकत्वमपि शब्दाना न युक्तमित्यनैकान्तिकता प्रथमहेतो । तथाहि-न प्रतिविम्बात्मकोऽपोह वक्तृ-श्रोत्रोरेकः सिद्ध्यति, न ह्यन्यदीय ज्ञानमपरोऽर्वाग्दर्शन' संवेदयते प्रत्यात्मवेद्यत्वा (त्वाद्) ज्ञानस्य, अज्ञानव्यतिरिक्तश्च परमार्थत' प्रतिविम्बात्मलक्षणोऽपोह', ततश्च वक्तृ-श्रोत्रोरेकस्य सङ्केतविषयस्यासिद्धे कुत्र सङ्केत क्रियते गृह्येत वा ? न ह्यसिद्धे वस्तुनि वक्ता सङ्केत कर्तुमीश'। नापि श्रोता ग्रहीतुम् अतिप्रसङ्गात् । तथाहि-श्रोता यत् प्रतिपद्यते स्वज्ञानारूढमर्थप्रतिविम्बक न तद् वक्त्रा संवेद्यते यच्च वक्त्रा संवेद्यते न च तत् श्रोत्रा. द्वाभ्यामपि स्वावभासस्यैव संवेदनात् , आनर्थक्यं च तत्र सङ्केतस्य । तथाहि-यत् सङ्केतकाले प्रतिविम्बकमनुभूतं श्रोत्रा वक्त्रा वा न तद् व्यवहारकालेऽनुभूयते तस्य क्षणक्षयित्वेन चिरनिरुद्धत्वात् यच्च व्यवहारकालेऽनुभूयते न तत् सङ्केतकालेऽदृष्टम् अन्यस्यैव तदानीमनुभूयमानत्वात् , न चान्यत्र सङ्केतादन्येन व्यवहारो युक्त. अतिप्रसङ्गात् , असदेतत् , यतो न परमार्थतो ज्ञानाकारोऽपि शब्दानां वाच्यतयाऽभीष्ट' येन तत्र सङ्केतासम्भवो दोषः प्रेर्यते, यत. सर्व एवाय शाब्दो व्यवहारः स्वप्रतिभासानुरोधेन तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद् भ्रान्त इष्यते, केवलमर्थशून्याभिजल्पवासनाप्रबोधाच्छब्देभ्योऽर्थाध्यवसायिविकल्पमात्रोत्पादनात् तत्प्रतिविम्बकं शब्दानां वाच्यमित्यभिधीयते जननात् न त्वभिधेयतया । तत्र यद्यपि स्वस्यैवावभासस्य वक्तृ-श्रोतृभ्यां परमार्थत. संवेदनम् तथाऽपि तैमिरिकद्वयस्यैव भ्रान्तिबीजस्य तुल्यत्वात् द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोर्बाह्यार्थव्यवस्थाध्यवसायः तुल्य एव । तथाहि-वक्तुरयमभिमानो वर्तते ' यमेवाहमर्थं प्रतिपद्ये तमेवायं प्रतिपाद्यते ' एव श्रोतुरपि योज्यम् । एकार्थाध्यवसायित्व कथं वक्तृ-श्रोत्रोः परस्परं विदितम् इति न वाच्यम् , यतो यदि नाम परमार्थतो न विदितम् तथापि भ्रान्तिबीजस्य तुल्यत्वादस्त्येव परमार्थत. स्वसंविदितं प्रतिविम्बकम् । स्वप्रतिभासानुरोधेन च तैमिरिकद्वयवद् भ्रान्त एव व्यवहारोऽयमिति निवेदितम् , तेनैकार्थाध्यवसायवशात् सङ्केतकरणमुपपद्यत एव न चाप्यानर्थक्यं सङ्केतस्य सङ्केतव्यवहारकालव्यापक त्व(त्वं) प्रतिविम्बे वक्तृ-श्रोत्रोरध्यवसायात् न परमार्थतः । यदुक्तम्—

" व्यापकत्व च तस्येद-मिष्टमाध्यवसायिकम् ।
मिथ्यावभासिनो ह्येते, प्रत्ययाः शब्दनिर्मिता " ॥१२१२॥

[तत्त्वस० का०] ततः स्थितमेतद् न शब्दस्याकल्पितोऽर्थ सम्भवति ।

(संविद्वपुरन्यापोहवादिप्राज्ञाकरमतस्य उपन्यास.)—

अपरस्त्वन्यथा प्रमाणयति—इह खलु यद् यत्र प्रतिभाति तत् तस्य विषय., यथाऽक्षजे संवेदने परिस्फुट प्रतिभासमानवपुरर्थात्मा नीलादिस्तद्विषय , शब्द-लिङ्गान्वये च दर्शनप्रसवे बहिरर्थस्वतत्त्वप्रतिभासरहित स्वरूपमेव चकास्ति तत् तदेव तस्य विषय. । पराकृतबहिरर्थस्पर्शं च संविद्वपुरन्यापोहः वस्तुनि शब्द-लिङ्गवृत्तेरयोगात् । तथाहि-जातिर्वा तयोर्विषय , व्यक्तिर्वा तद्विशिष्टा ? तत्र न तावदाद्य पक्ष , जातेरेवासम्भवात् । तथाहि-दर्शने व्यक्तिरेव चकास्ति, पुर. परिस्फुटतयाऽसाधारणरूपानुभवात् । अथ साधारणमपि रूपमनुभूयते ' गौर्गौ ' इति, तदसत् , शाबलेयादिरूपविवेकेनाऽप्रतिभासनात् । न च शाबलेयादिरूपमेव साधारणमिति शक्य वक्तुम् , तस्य प्रतिपत्तिव्यक्ति(प्रतिव्यक्ति) भिन्नरूपोपलम्भात् । तथा च पराकृतमिदम्—

" सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च, व्यावृत्त्यनुगमात्मिका ।
जायते द्व्यात्मकत्वेन, विना सा च न युज्यते " ॥
" न चात्रान्यतरा भ्रान्ति-रुपचारेण वेष्यते ।
दृढत्वात् सर्वथा बुद्धे-र्भ्रान्तिस्तद् भ्रान्तिवादिनाम् ' ॥

[श्लो० वा० आकृ० श्लो० ५-७] इति ।

' द्व्यात्मिका बुद्धि ' इति यदीन्द्रियबुद्धिमभिप्रेत्योच्यते तदुक्तम् , तस्या असाधारणरूपत्वात् , नहि द्वयोर्बहिर्ग्राह्या-

कारतया परिस्फुटमुल्लासमानयोस्तद्भिन्नं भिन्नं वा दर्शनारूढं साधारणं रूपमाभाति । अथ कल्पनाबुद्धिर्ग्राकारा अभिधीयते । तथाहि-यदि नाम अपास्तकल्पने दर्शने न जातिरुल्लाति कल्पना तु तामुल्लिखन्ती व्यवसीयते ' गौर्गौः ' इति, एतदप्यसत्, कल्पनाज्ञानेऽपि जातेरनवभासनात् । तथाहि-कल्पनाऽपि पुरः परिस्फुटमुल्लासमानं व्यक्तिस्वरूपं व्यवस्यन्ती हृदि चाभिजल्पाकारं प्रतीयते,न च तद्व्यतिरिक्तः वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यः प्रतिभासो लक्ष्यते वर्णादिस्वरूपरहितं च जातिस्वरूपमभ्युपगम्यते, तन्न कल्पनावसेयाऽपि जातिः । यच्च क्वचिदपि ज्ञानेनावभाति तदसत्, यथा शशविषाणम्, जातिश्च क्वचिदपि ज्ञाने परिस्फुटव्यक्तिप्रतिभासवेलायां स्वरूपेण नाभाति तन्न सती ।

अथापि शब्द-लिङ्गजे ज्ञाने स्वरूपेण सा प्रतिभाति तत्र सम्बन्धप्रतिपत्तेः, स्वलक्षणस्य च तत्रासाधारणरूपतया प्रतिभासनावसायात्, सम्बन्धग्रहणासम्भवाच्च तन्न शब्द-लिङ्गभूमिः । ननु तत्रापि परिस्फुटतरो व्यक्तेरेवाकारः शब्दस्य वा प्रतिभाति न तु वर्णाकाररहितोऽनुगतैकस्वरूपः प्रयोजनसामर्थ्यव्यतीतः कश्चिदाकारः केनचिदपि लक्ष्यते, शब्द-लिङ्गान्वयं हि दर्शनमर्थक्रियासमर्थतयाऽस्फुटदहनाकारमाददानं प्रवर्तयति जनम्, तत् कथमन्यावभासस्य दर्शनस्याऽन्याकारो जात्यादिविषयः ? यदि च जात्यादिरेव लिङ्गादिविषयः तथा सति जातेरर्थक्रियासामर्थ्यविरहादधिगमेऽपि शब्द-लिङ्गाभ्यां न बहिरर्थे प्रवृत्तिर्जनस्येति विफलः शब्दादिप्रयोगः स्यात् । अथ जातेरर्थक्रियासामर्थ्यविरहेऽपि स्वलक्षणं तत्र समर्थमिति तदर्था प्रवृत्तिरर्थिनाम्, ननु तत् स्वलक्षणं लिङ्गादिजे दर्शने सदपि न प्रतिभाति, न चात्मानमनारूढेऽर्थे विज्ञानं प्रवृत्तिं विधातुमलम् सर्वस्य सर्वत्र प्रवर्तकत्वप्रसङ्गात् । यत् तु तत्र प्रतिभाति सामान्यं न तद् दाहादियोग्यम्, यदपि ज्ञानाभिधानं तस्य फलं मतं तदपि पूर्वमेवोदितमिति न तदर्थाऽपि प्रवृत्तिः साध्वी ।

अथ प्रथमं शब्द-लिङ्गाभ्यां जातिरवसीयते ततः पश्चात् तया स्वलक्षणं लक्ष्यते तेन विना तस्या अयोगादिति लक्षितलक्षणया प्रवृत्तिर्भवेत्, नैतदपि सम्यक्, न ह्यत्र क्रमवती —पूर्वं जातिराभाति पश्चात् स्वलक्षणमिति । किञ्च-जात्यापि स्वलक्षणं प्रतिनियतेन वा रूपेण लक्ष्येत, साधारणेन वा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, प्रतिनियतरूपस्य स्वलक्षणस्य प्रतिपत्तेरसम्भवात्, न हि शब्दानुमानवेलायां जातिपरिमितं प्रतिनियतं स्वलक्षणमुल्लाति सर्वतो व्यावृत्तरूपस्याननुभवात्, अनुभवे वा प्रत्यक्षप्रतिभासाविशेषः स्यात् । न च प्रतिनियतरूपमन्तरेण जातिर्न सम्भवति, तत् कुतस्तया तस्य लक्षणम् ? अथापि साधारणेन रूपेण तया स्वलक्षणं लक्ष्यते ' दाहादियोग्यं वह्निमात्रमस्ति ' इति तदप्यसत्, साधारणस्यापि रूपस्यार्थक्रियाऽसम्भवात् प्रतिनियतस्यैव रूपस्य तत्र सामर्थ्योपलब्धेः, ततश्च तत्प्रतिपत्तावपि कथं प्रवृत्तिः ? पुनस्तेनापि साधारणेनापरं साधारणं रूपं प्रत्येतव्यम् तेनाप्यपरमिति साधारणरूपप्रतिपत्तिपरम्परा निरवधिर्भवेत्, तथा चार्थक्रियासमर्थरूपानधिगतेर्वृत्त्यभाव एव । किञ्च-यदि नाम जातिराभाति शब्द-लिङ्गाभ्याम् व्यक्तेः किमायातम् येन सा तां व्यनक्ति ? तयोः सम्बन्धादिति चेत्, सम्बन्धस्तयोः किं तदा प्रतीयते, उत पूर्वं प्रतिपन्नः ? न तावत् तदा भात्यसौ व्यक्तेरनधिगतेः ; केवलैव हि तदा जातिर्भाति यदि तु व्यक्तिरपि तदा भासेत तदा किं लक्षितलक्षणेन ? सैव शब्दार्थः स्यात्, तदनधिगमे न तत्सम्बन्धाधिगतिः । अथ पूर्वमसौ तत्र प्रतीतः तथापि तदैवासौ भवतु, नह्येकदा तत्सम्बन्धेऽन्यदापि तथैव भवति अतिप्रसङ्गात् । अथ जातेरिदमेव रूपम्, यदुत विशेषनिष्ठता ? ननु ' सर्वदा सर्वत्र जातिर्विशेषनिष्ठा ' इति किं प्रत्यक्षेणावगम्यते, यद्वाऽनुमानेन ? तत्र न तावत् प्रत्यक्षेण सर्वव्यक्तीनां युगपदप्रतिभासनान्नैकदा तन्निष्ठता तेन गृह्यते, क्रमेणापि व्यक्तिप्रतीतौ निरवधेर्व्यक्तिपरम्परायाः सकलायाः परिच्छेत्तुमशक्यत्वात् तन्निष्ठता न जातेरधिगन्तुं शक्या । कादाचित्के तु जातेर्व्यक्तिनिष्ठताऽधिगमे ' सर्वदा न तन्निष्ठता ' इत्युक्तम् । तन्न प्रत्यक्षेण जातेस्तन्निष्ठता प्रतिपत्तुं शक्या । नाप्यनुमानेन, तत्पूर्वकत्वेन तस्य भावेनाप्रवृत्तेः । तन्न जात्यापि तदभावे व्यक्तेरधिगमः कर्तुं शक्यः ।

किञ्च-यदि जातिरभिधानगोचरः तथा सति नीलत्वजातिरुत्पलत्वजातिश्च द्वयमपि परस्परभिन्नं प्रतीतमिति न सामानाधिकरण्यं भवेत्, न परस्परविभिन्नार्थप्रतीतौ तद्व्यवस्था ' घटः पटः ' इति दृश्यते । अथ गुण-जाती प्रतिनियतमेकमधिकरणं बिभ्राते ततस्तद्वारेणैकाधिकरणता शब्दयोः । ननु गुणजातिप्रतीतौ शब्दजायां न तदधिकरणमाभाति तस्य शब्दागोचरत्वात्, न चानुल्लासमानवपुरधिकरणं सन्निहितमिति न समानाधिकरणताव्यवस्था अतिप्रसङ्गात्, पुनरपि तदेव वक्तव्यम्—' शब्दैरनभिधीयमानमधिकरणं तदभिहितैर्जात्यादिभिराक्षिप्यमाणं तद्व्यवस्थाकारि ' इति । तत्र च समाधिर्न सामर्थ्यायातमधिकरणं (मधिकरणमेकाधिकरणता) शब्दयोः कर्तुमलम्, घट-पटशब्दयोरपि ताभ्यामभिहिताभ्यामेकस्य भूतलादेराधारस्याऽऽक्षेपादेकार्थताप्रसङ्गात् । तथा-जातिपक्षे धर्मधर्मिभावोऽप्यनुपपन्न एव, यदि हि व्यक्त्याधिता जातिः प्रतीयेत तदा तद्धर्मः स्यात्, यदा तु व्यक्तिः सत्यपि नाभाति शब्दजे ज्ञाने तदा जातेरेव केवलायाः प्रतिभासनात् कथं जाति-जातिमतोर्धर्मधर्मिभावः ? नहि नीलादि केवलं प्रतीयमानं कस्यचिद्धर्मो धर्मी वा, यदापि प्रत्यक्षे द्वयं प्रतिभाति तदाऽपि भेदप्रतिभासे सति न धर्मधर्मिभावः, सर्वत्र तथाभावप्रसङ्गात् । अथ प्रत्यक्षे तादात्म्यं प्रतिभाति जाति-व्यक्त्योः तेनायमदोष इति चेत्, अत्रोच्यते-तादात्म्येन विज्ञानमिति किं व्यक्तिरूपतया जातेरधिगतिः, अथ जातिरूपतया व्यक्तेरिति ? तत्र यद्याद्यः पक्षः तथा सति व्यक्तिरेव गृहीता न जातिः । द्वितीयेऽपि जातिरूपाधिगतिरेव न व्यक्तिरिति न सर्वथा धर्मिधर्मभावः । तन्न जातिः शब्द-लिङ्गयोर्विषयः ।

अथाकृतिविशिष्टा व्यक्तिस्तयोरर्थः, तदप्यसत्; तस्याः प्रतिभासाभावात्, न हि शब्द-लिङ्गप्रभवे विज्ञाने व्यक्ति(क्त)प्रतिभाति, तदभावेऽपि तस्योदयात् अव्यक्ताकाररूपतया प्रतिभाति, तदभावेऽपि तस्योदयात् अव्यक्ताकारानुभावाच्च । अथापि व्यक्तेरेवाकारद्वयमेतत्-व्यक्तरूपमव्यक्तरूपं चेति । तत्र व्यक्तरूपमिन्द्रियज्ञानभूमिः, अव्यक्तं च शब्दपथः । ननु रूपद्वयं व्यक्तेः केन गृह्यते ? न तावदभिधानजेन ज्ञानेन, तत्र स्पष्टरूपानवभासनात् अस्पष्टरूपं हि तद्-

वहिरर्थाऽध्यवसायस्तदभिप्रायेण वाच्यवाचकभावः शब्दार्थयोरित्य(न्या)पोह शब्दभूमिरिष्टः । परमार्थतस्तु शब्द-लिङ्गाभ्यां वहिरर्थसंस्पर्शव्यतीतः प्रत्यय. केवल क्रियत इति तत्संस्पर्श (र्शा) भावेऽपि च पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धाद्विसंवाद. । तथाहि-पदार्थस्यास्तित्वात् प्राप्ति न दर्शनात्, केशोन्डुकादेर्दर्शनेऽपि प्राप्त्यभावात् । अथ प्रतिभासमन्तरेण कथ प्रवृत्तिः ? ननु प्रतिभासेऽपि कथं प्रवृत्ति. ? तस्मिन्नप्यनर्थित्वे तदभावात् अर्थित्वे च सति दर्शनविरहेऽपि भ्रान्तेः सद्भावात्, प्रतिबन्धाभावात्तु तत्र विसंवादः । यदा तु विकल्पानां स्वरूपनिष्ठत्वान्नान्यत्र प्रतिबन्धसिद्धिस्तदा स्वसंवेदनमात्र परमार्थ(सत)त्वम्, तथापि कथ प्रमयपरमाऽर्थविस्तरः । सम्म० १ काण्ड । (अधिकः 'सामण्णविसेस' शब्दे वक्ष्यते ।) स्वार्थेनावगतसम्बन्धः शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति । सम्म० १ काण्ड । (शब्दस्य पौद्गलिकत्वम् 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ७१ पृष्ठे गतम् ।)

शब्दस्य वहिरर्थे प्रति प्रामाण्यम्-

एतेन यत्कैश्चित् शब्दस्य वहिरर्थं प्रति प्रामाण्यमपाक्रियते तदपास्तं द्रष्टव्यम्, तथाहि-ते एवमाहुः—प्रमेय वस्तु परिच्छिन्न प्रापयत्प्रमाणमुच्यते, प्रमेय च विषयः प्रमाणस्येति प्रामाण्य विषयवत्तया व्याप्तम्, ततो यद्विषयवन्न भवति न तत्प्रमाणं, यथा-गगनेन्दीवरज्ञान, न भवति च विषयवत् शब्दं ज्ञानमिति, न चायमसिद्धो हेतुः, यतोद्विविधो विषयः—प्रत्यक्षः, परोक्षश्च । तत्र न प्रत्यक्षः शाब्दज्ञानस्य विषयो, यस्य हि ज्ञानस्य प्रतिभासेन स्फुटाभनीलाद्याकाररूपेण योऽर्थोऽनुकृतान्वयव्यतिरेकः स तस्य प्रत्यक्षः, तस्य च प्रत्यक्षस्यार्थस्यायमेव प्रतिपत्तिप्रकारः सम्भवदशामश्नुते, नापरः, तद्विषय च तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि स्फुटप्रतिभासं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षज्ञेयत्वात् तत्र प्रत्यक्षोऽर्थोऽनेकप्रकारप्रतिपत्तिविषयो यः शब्दप्रमाणस्यापि विषयो भवेत् । नापि परोक्षः, तस्यापि हि निश्चिततदन्वयव्यतिरेकनान्तरीयकदर्शनात् प्रतिपत्तिः, यथा धूमदर्शनात् वह्नेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । न च शब्दस्यार्थेन सह निश्चितान्वयव्यतिरेकता प्रतिबन्धाऽभावात् । तादात्म्यतदुत्पत्त्यनुपपत्ते., तथाहि-न वाह्यार्थो रूपं शब्दाना नापि शब्दो रूपमर्थानाम्, तथाप्रतीतेरभावात्, तत्कथमनयो तादात्म्यम् ?, येन व्यावृत्तिकृतव्यवस्थाभेदेऽपि नान्तरीयकता स्यात्, कृतकत्वानित्यत्ववत्, अपि च-यदि तादात्म्यमेषां भवेत्ततोऽनलाचलक्षुरिकादिशब्दोच्चारणे वदनदहनपूरणपाटनादिदोष. प्रसज्येत । न चैवमस्ति, तन्न तादात्म्य नापि तदुत्पत्तिः, तत्रापि विकल्पद्वयप्रसक्ते. । तथाहि-वस्तुनः किं शब्दस्योत्पत्तिः उत शब्दाद्वस्तुन. ? तत्र वस्तुनः शब्दोत्पत्तावकृतसकेतस्याऽपि पुंसः प्रथमपनसदर्शने तच्छब्दोच्चारणप्रसङ्गः, शब्दाद्वस्तूत्पत्तौ विश्वस्यादरिद्रताप्रसक्तिः, तत एव कटककुण्डलाद्युत्पत्ते, तदेवं प्रतिबन्धाभावान्न शब्दस्यार्थेन सह नान्तरीयकतानिश्चयः, तदभावाच्च न शब्दान्निश्चितस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः, अपि तु-अनिवर्त्तितशङ्कतया अस्ति न वेति विकल्पितस्य, न च विकल्पितमुभयरूपं वस्त्वस्ति, यत्प्राप्यं सद्विषय. स्यात्, प्रवर्त्तमानस्य तु पुरुषस्य तस्य तस्यार्थस्य पृथिव्यामटनादवश्यमन्यत् ज्ञानान्तरं प्राप्तिनिमित्तमुपजायते, यत किंचिदवाप्यते इति शाब्दज्ञानस्य विषयवत्त्वाभाव', तदसद्, विषयवत्त्वाभावासिद्धेः, परोक्षस्य तद्विषयत्वाभ्युपगमात् । यत्पुनरुक्तं न शब्दस्यार्थेन सह—निश्चितान्वयव्यतिरेकता, प्रतिबन्धाभावादिति तदसमीचीनम् । वाच्यवाचकभावलक्षणेन प्रतिबन्धान्तरेण नान्तरीयकतानिश्चयात्, शब्दो हि वाह्यवस्तुवाचकस्वभावतया तन्नान्तरीयकः, ततस्तन्नान्तरीयकतायां निश्चितायां शब्दाद् निश्चितस्यैवार्थस्य प्रतिपत्तिर्न विकल्पितरूपस्य निश्चितं च प्रापयत् विषयवदेव शाब्दं ज्ञानमिति । स्यादेतत्-यदि [illegible] स्तवसम्बन्ध[illegible]रिकरितमूर्त्तयः शब्दास्तर्हि समाश्रयतु [illegible]र्थकतामिदानीं संकेत, स खलु सम्बन्धो यतोऽर्थ[illegible], स चेद्वास्तवो निरर्थकः संकेतः, तत एवार्थप्रतीतिसिद्धेः, तदेतदत्यन्तप्रमाणमार्गानभिज्ञत्वसूचकम्, यतो न विद्यमान इत्येव सम्बन्धोऽर्थप्रतीति नियन्धनम्, किंतु-स्वात्मज्ञानसहकारी, यथा प्रदीप., तथाहि-प्रदीपो रूपप्रकाशनस्वभावोऽपि यदि स्वात्मज्ञानसहकारिकृतसाहायकस्ततो रूप प्रकाशयति, नान्यथा, ज्ञापकत्वात्, न खलु धूमादिकमपि लिङ्ग वस्तुवृत्त्या वह्न्यादिप्रतिबद्धमपि सत्तामात्रेण वह्न्यादर्गमकमुपजायते, यदुक्तमन्यैरपि-"ज्ञापकत्वाद्धि सम्बन्धः, स्व[illegible] ज्ञानमपेक्षते । तेनासौ विद्यमानोऽपि, नागृहीतः प्रकाशक. ॥१॥ सम्बन्धस्य च परिज्ञान तदावरणकर्म्मक्षयक्षयोपशमाभ्याम्, तौ च संकेततपश्चरणभावनाद्यनेकसाधनसाध्यौ । ततः तपश्चरणभावनासंकेतादिभ्यः स[illegible]तदावरणकर्म्मक्षयक्षयोपशमानां शब्दादर्थाश्च केवलाद्[illegible]वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धोऽवगमपथमृच्छति, तथाहि—सर्व्वे एव सर्ववेदिन. सुमेरुजम्बूद्वीपादीनर्थानगृहीतसंकेता अपि तत्तच्छब्दवाच्यानेव प्रतिपद्यन्ते, तैरेव तथाप्ररूपणात्, कल्पान्तरवर्तिभिरन्यैरेव प्ररूपिता, इति तैरपि तथा प्ररूपिता इति चेत्, ननु तेषामपि कल्पान्तरवर्तिनां तथा प्ररूपणे को हेतुरिति वाच्यम् ?, तदन्यैरेवं प्ररूपणादिचेत्, अत्रापि स एव प्रसङ्ग । समाधिरपि स एवेति चेत्, ननु तर्हि सिद्ध' सुमेर्वाद्यर्थानां तदभिधायकाना च वास्तव सम्बन्ध सर्वकल्पवर्तिभिरपि सर्ववेदिभिस्तेषा सुमेर्वादिशब्दवाच्यतया प्ररूपणात्, अनादित्वात्संसारस्य, कदाचित् कैश्चिदन्यथापि सा प्ररूपणा कृता भविष्यतीति चेत् न, अतीन्द्रियत्वेनात्र प्रमाणाभावात् सर्व्वैरपि तथैव सा प्ररूपणा कृतेत्यत्रापि न प्रमाणमिति चेन्न, अत्र प्रमाणोपपत्ते', तथाहि-शाक्यमुनिना सम्प्रति सुमेर्वादिकोऽर्थ सुमेर्वादिशब्देन प्ररूपित', सच सुमेर्वादौ सुमेर्वादिशब्दप्रयोग. संकेत—द्वारेणाप्येतत् स्वभावतायां तयोर्नोपपद्यते, तत्स्वभावताभ्युपगमे च सिद्धं न. समीहितम्, अनाद्यावपि काले तयोस्तत्स्वभावत्वात्, तत्समानपरिणामस्य प्रवाहतो नित्यत्वात्, तत्र सम्बन्धाभ्युपगमात्, इत्थ चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा अनादित्वात्संसारस्य कदाचिदन्यतोऽपि धूमादेर्भावा, भविष्यतीत्येव व्यभिचारशङ्का धूमधूमध्वजादिषु प्र

सरन्ती दुर्निवारेत्यलं दुर्म्मतिविस्पन्दितेषु प्रयासेन। ननु यदि पारमार्थिकसम्बन्धनिबद्धस्वरूपत्वादिमे शब्दास्तात्त्विकार्थाऽभिधानप्रभविष्णवः तर्हि दर्शनान्तरनिवेशिपुरुषपरिकल्पितेषु वाच्येष्वेतेषां प्रवृत्तिर्नोपपद्येत, परस्परविरुद्धत्वेन तेषामर्थानां स्वरूपतोऽभावात्। यद्यपि च विनष्टमनुत्पन्नं वा तदपि स्वरूपेण न समस्तीति तत्राऽपि वाचो न प्रवर्त्तेरन्। अपि च-यदि वाचां सद्भूतार्थमन्तरेण न प्रवृत्तिः तर्हि न कस्याश्चिदपि वाचोऽलीकता भवेत्, नचैतत् दृश्यते, तस्मात्सर्व्वमपि पूर्वोक्तं मिथ्या। तदप्ययुक्तम्, इह द्विधा शब्दाः—मृषाभाषावर्गणोपादानाः, सत्यभाषावर्गणोपादानाश्च। तत्र ये मृषाभाषावर्गणोपादानाः ते तु तीर्थान्तरीयपरिकल्पिताः कुशास्त्रसंपर्कवशसमुत्थवासनासंपादितसत्ताकाः प्रधानरूपं जगत् ईश्वरकृतं विश्वम्, इत्येवमाकारास्तेऽनर्थका एवाभ्युपगम्यन्ते। ते हि वन्ध्याऽबला इव तदर्थप्राप्त्याविप्रसवविकलाः केवलं तथाविधसंवेदनभोगफला इति न तैर्व्यभिचारः। अथ तेऽपि सत्याभिमतशब्दा इव प्रतिभासन्ते तत्कथमस्य सत्यासत्यविवेको निर्धारणीयः?, ननु प्रत्यक्षाऽऽभासमपि प्रत्यक्षमिवाऽऽभासते ततस्तत्रापि कथं सत्याऽसत्यप्रत्यक्षविवेकनिर्धारणम्?, स्वरूपविषयपर्यालोचनयेति चेत्, तथाहि—अभ्यासदशामापन्नाः स्वरूपदर्शनमात्रादेव प्रत्यक्षस्य सत्यासत्यत्वमवधारयन्ति, यथा मणिपरीक्षका मणेः, अनभ्यासदशामापन्नास्तु विषयपर्यालोचनया यथा किमयं विषयः सत्य उताहो नेति?, तथार्थक्रियासंवाददर्शनतः तद्गतस्वभावलिङ्गदर्शनतो वा सत्यत्वमवगच्छन्ति अन्यथा त्वसत्यत्वमिति। तदेतत् स्वरूपविषयपर्यालोचनया सत्यासत्यत्वविवेकनिर्धारणमिहापि समानम्। तथाहि—दृश्यन्ते एव केचित् प्रज्ञातिशयसमन्विताः शब्दश्रवणमात्रादेव पुरुषाणां मिथ्याभाषित्वममिथ्याभाषित्वं वा सम्यक् अवधारयन्तः, विषयसत्यासत्यत्वपर्यालोचनायां तु किमेष वक्ता यथावदाप्त उत नेति। तत्र यदि यथावदाप्त इति निश्चितं ततो विषयसत्यत्वमितरथा त्वसत्यत्वम्। आप्तेतरविवेकोऽपि परिशीलनेन लिङ्गतो वा कुतश्चिदवसेयो निपुणेन हि प्रतिपत्त्रा भवितव्यम्। यदप्युक्तं यदपि च-विनष्टमनुत्पन्नं वा तदपि न स्वरूपेण समस्तीत्यादि, तत्रापि यदि विनष्टानुत्पन्नयोर्वार्त्तमानिकविद्यमानरूपाभिधायकः शब्दः प्रवर्त्तते तर्हि स निरर्थकोऽभ्युपगम्यत एव, ततो न तेन व्यभिचारः। यदा तु तेऽपि विनष्टानुत्पन्ने विनष्टानुत्पन्नतयाऽभिधत्ते शब्दस्तदा तद्विषयसार्व्वज्ञज्ञानमिव सद्भूतार्थविषयत्वात् सप्रमाणम्। इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्। अन्यथाऽतीतकल्पान्तरवर्त्तिपार्श्वादिसर्वज्ञदेशना भविष्यच्छंखचक्रवर्त्यादिदेशना च सर्व्वथा नोपपद्येत। तद्विषयज्ञाने शब्दप्रवृत्त्यभावात्। अथोच्येत, अनलेऽनलशब्द तदभिधानस्वभावतया यमभिधेयपरिणाममाश्रित्य प्रवर्त्तते; स जले नास्ति जलाऽनलयोरभेदप्रसङ्गात्। अथ च प्रवर्त्तते संकेतवशाज्जलेऽप्यनलशब्द. तत्कथं शब्दार्थयोर्वास्तवः सम्बन्धः?, तदसत्, शब्दस्यानेकशक्तिसमन्वितत्वेनोक्तदोषानुपपत्तेः, तथाहि-नाऽनलशब्दस्याऽनलवस्तुगताभिधेयपरिणामापेक्षी तदभिधानविषय एवैकः स्वभावः, अपि तु—समयाधानतत्स्मरणपूर्व्वकतया विलम्बितादिप्रतीतिनिबन्धनत्वेन जलवस्तुगताभिधेयपरिणामापेक्षी तदभिधानस्वभावोऽपि, तथा तस्यापि प्रतीतेः, अन्यथा निर्हेतुकत्वेन तत्प्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। ननु कथमेते शब्दा वस्तुविषयाः प्रतिज्ञायन्ते?, चक्षुरादीन्द्रियसमुत्थबुद्धाविव शाब्दे ज्ञाने वस्तुनोऽप्रतिभासनात्, यथैव चक्षुरादीन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासते व्यक्त्यन्तराननुयायी प्रतिनियतदेशकालं तदेव वस्तु, तस्यैवार्थक्रियासमर्थत्वात्, नेतरत्परपरिकल्पितं सामान्यं विपर्ययात्, नच तदर्थक्रियासमर्थं वस्तु शाब्दे ज्ञाने प्रतिभासते, तस्मादवस्तुविषया एते शब्दाः। तथा चात्र प्रमाणम्—योऽर्थः शाब्दे ज्ञाने येन शब्देन सह संस्पृष्टो नावभासते न सः तस्य शब्दस्य विषयः, यथा गोशब्दस्याश्वः। नावभासते चेन्द्रियगम्योऽर्थः, शाब्दे ज्ञाने शब्देन संस्पृष्ट इति। यो हि यस्य शब्दस्यार्थः स तेन शब्देन सह संस्पृष्टः शाब्दे ज्ञाने प्रतिभासते, यथा गोशब्देन गोपिण्डः, एतावन्मात्रनिबन्धनत्वाद्वाच्यत्वस्येति। तदेतदसमीचीनम्, इन्द्रियगम्यार्थस्य शाब्दे ज्ञाने शब्देन सहानवभासासिद्धेः, तथाहि—कृष्णं महान्तमखण्डं मसृणमपूर्वमभ्यर्णात् घटमानयेत्युक्तः कश्चित्तज्ज्ञानावरणक्षयोपशमयुक्तः तमर्थं तथैव प्रत्यक्षमिव शाब्दे ज्ञाने प्रतिपद्यते, तदन्यघटमध्ये तदानयनाय तं प्रतिभेदेन प्रवर्त्तनात्, तथैव च तत्प्राप्तेः। अथ तत्राप्यस्फुटरूप एव वस्तुनः प्रतिभासोऽनुभूयते, स्फुटाभश्च प्रत्यक्षम्, तत्कथं प्रत्यक्षगम्यं वस्तु शाब्दज्ञानस्य विषयः?, नैव दोषः, स्फुटास्फुटरूपप्रतिभासभेदमात्रेण वस्तुभेदायोगात्, तथाहि-एकस्मिन्नेव नीलवस्तुनि दूरासन्नवर्त्तिप्रतिपत्तृज्ञाने स्फुटास्फुटप्रतिभासे उपलभ्येते, नच तत्र वस्तुभेदाभ्युपगमः, द्वयोरपि प्रत्यक्षप्रमाणतयाऽभ्युपगमात्, तथेहाप्येकस्मिन्नपि वस्तुनीन्द्रियजशाब्दज्ञाने स्फुटास्फुटप्रतिभासे भविष्यतः। नच तद्गोचरवस्तुभेदः। अथ वस्त्वभावेऽपि शाब्दज्ञानप्रतिभासाविशेषात्, सत्यपि वस्तुनि शाब्दज्ञान न तद्याथात्म्यसंस्पर्शि तद्भावाभावयोरननुविधानात्, यस्य हि ज्ञानस्य प्रतिभासो यस्य भावाभावावनुविधत्ते तत्तस्य परिच्छेदकम्, नच शाब्दज्ञानप्रतिभासो वस्तुनो भावाभावावनुविधत्ते, वस्त्वभावेऽपि तदविशेषात्, तन्न वस्तुनः परिच्छेदकं शाब्दज्ञानम्, रसज्ञानमिव गन्धस्य। प्रमाणं चात्र, यज्ज्ञानं यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि न भवति न तत्तद्विषयम्, यथा रूपज्ञान रसविषयम्, न भवति चेन्द्रियगम्यार्थान्वयव्यतिरेकानुविधायि शाब्द ज्ञानमिति व्यापकानुपलब्धेः, प्रतिनियतवस्तुविषयत्वं हि ज्ञानस्य निमित्तवत्तया व्याप्तम्, अन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावे च निमित्तवत्त्वाभावः स्यात्, निमित्तान्तरासंभवात् तेन तद्विषयवत्त्व निमित्तवत्त्वाभावात् विपक्षाद् व्यापकानुपलब्ध्या व्यावर्त्यमानमन्वयव्यतिरेकानुविधानेन व्याप्यते इति प्रतिबन्धसिद्धेः। तदयुक्तम्—प्रत्यक्षज्ञानेऽप्येवमविषयत्वप्रसक्तेः, तथाहि—यथा जलवस्तुनि जलोल्लेखिप्रत्यक्षमुदयपदवीमासादयति, तथा जलाभावेऽपि मरौ मध्याह्नमार्तण्डमरीचिकास्वरूपजलप्रतिभासमुदयमा-

नमुपलभ्यते ततो जलाभावेऽपि जलज्ञानप्रतिभासाऽविशेषात्। सत्यपि जले जलप्रत्यक्षं प्रादुर्भवच तथाथात्म्यसंस्पर्शि, तद्भावाभावयोः अनुकारादित्यादि सर्व्वं समानमेव। अत्र देशकालस्वरूपपर्यालोचनया तत्प्राप्त्यभावादिना च मरुमरीचिकासु जलोल्लेखिन. प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वमवसीयते, भ्रान्तं चाप्रमाणम् , ततो न तेन व्यभिचार, प्रमाणभूतस्य च वस्त्वन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् व्यभिचार एव, तदेतदन्यत्रापि समानम् , तथा हि-यथार्थदर्शनादिगुणयुक्त. पुरुष आप्त , तत्प्रणीतशब्दसमुत्थ च ज्ञान प्रमाणम् , नच तस्य वस्त्वन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वव्यभिचारसभव. । यत्पुनरनाप्तप्रणीतशब्दसमुत्थ ज्ञानं तदप्रमाणम् । अप्रमाणत्वाच्च न तेन व्यभिचार । यदपि च प्रमाणमुपन्यस्तं तदपि हेतोरसिद्धत्वान्न साध्यसाधनायालम् , असिद्धता च हेतोराप्तप्रणीतशब्दस्य वस्तुव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यसंभवात् । यत्पुनरिदमुच्यते— शब्द. श्रूयमाणो वक्त्रभिप्रायविषयं विकल्पप्रतिबिम्बं तत्कार्यतया धूम इव वह्निमनुमापयति, तत्र स एव वक्ता विशिष्टार्थाभिप्रायशब्दयोराश्रयो धर्मी अभिप्रायविशेष. साध्य , शब्द साधनमिति। तदाह—“वक्तुरभिप्रेत तु सूचयेयु” रिति स एव तथा प्रतिपद्यमान आश्रयाऽसिद्धति, तत्पापात्पापीय., तथा प्रतीतेरभावात् । न खलु कश्चिदिह धूमादिव वह्निं तत्कार्यतया शब्दादभिप्रायविषयं विकल्पप्रतिबिम्बमनुमिमीते, अपि तु वाचकत्वेन बाह्यमर्थं प्रत्येति, देशान्तरं कालान्तरे च तथा प्रवृत्त्यादिदर्शनात् । नच देशान्तरादावपि तथा प्रतीतावन्यथा परिकल्पन श्रेय., अतिप्रसङ्गप्राप्त. नाग्निर्धूमं जनयति किं त्वदृष्ट पिशाचादिरित्यस्या अपि कल्पनाया प्रसक्तात् । अपिच-अर्थक्रियार्थी प्रेक्षावान् प्रमाणमन्वेषयति, नचाभिप्रायविषयं विकल्पप्रतिबिम्ब विवक्षितार्थक्रियासमर्थम् , किंतु-बाह्यमेव वस्तु, नच वाच्यम्—अभिप्रायविषयं विकल्पप्रतिबिम्बं ज्ञात्वा बाह्ये वस्तुनि प्रवर्त्तिष्यते तेनायमदोष इति, अन्यस्मिन् ज्ञातेऽन्यत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, नहि घटे परिच्छिन्ने पटे प्रवृत्तिर्युक्ता, एतेन विकल्पप्रतिबिम्बकं शब्दवाच्यमिति यत्प्रतिपन्न तदपि प्रतिक्षिप्तमवसेयम्। तत्रापि विकल्पप्रतिबिम्बके शब्देन प्रतिपन्ने वस्तुनि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। दृश्यविकल्पावर्थावेकीकृत्य वस्तुनि प्रवर्तत इति चेत् , तथाहि-तदेव विकल्पप्रतिबिम्बकं बही रूपतयाऽध्यवस्यति ततो बहि. प्रवर्त्तते, तेनायमदोष इति , न तयोरेकीकरणासिद्धे. अत्यन्तवैलक्षण्येन साधर्म्यायोगात् , साधर्म्यं चैकीकरणनिमित्तम् , अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अपि च कश्चैतावेकीकरोतीति वाच्यम् , स एव विकल्प इति चेत् , न, तत्र बाह्यस्वरूपलक्षणानवभासात् , अन्यथा विकल्पत्वायोगादनवभासितेन चैकीकरणासंभवात् , अतिप्रसङ्गं । अथ विकल्पादन्य एव कश्चिद्विकल्प्यमेवार्थं दृश्यमित्यध्यवस्यति, हन्त तर्हि स्वदर्शनपरित्यागप्रसङ्ग. , एवमभ्युपगमे सति बलादात्मास्तित्वप्रसङ्गे , तथाहि—निर्विकल्पकम् न विकल्प्यमर्थं साक्षात् करोति तदगोचरत्वात् , ततो न तत् दृश्यमर्थं विकल्पेन सहैकीकर्तुमलम् , नच देशकालस्वभावव्यवहितार्थविषयेषु शाब्दविकल्पेषु तद्विषये निर्विकल्पकसभव , तत्कथं तत्र तेन दृश्यविकल्पार्थैकीकरणम् ? , ततो विकल्पादन्यः सर्वत्र दृश्यविकल्पावर्थावेकीकुर्व्वन् बलादात्मैवोपपद्यते ?, नच सोऽभ्युपगम्यते , तस्माच्छब्दो बाह्यस्यार्थस्य वाचक इत्यकामेनापि प्रतिपत्तव्यम् । इतश्च प्रतिपत्तव्यम् , अन्यथा सङ्केतस्यापि कर्तुमशक्यत्वात् , तथाहि— येन शब्देन इदं तदित्यादिना सङ्केतो विधीयते तेन किं सङ्केतितेन उताऽसङ्केतितेन, न तावत्सङ्केतितेन अनवस्थाप्रसङ्गात् , तस्यापि हि येन शब्देन सङ्केत कार्य तेन किं सङ्केतितेन उतासङ्केतितेनेत्यादि तदेवावर्त्तते । अथासङ्केतितेन सिद्धस्तर्हि शब्दार्थयोर्वास्तव. सम्बन्ध इति । नं० । आचा० ।

एगे सुब्भिसद्दे, एगे दुब्भिसद्दे । (सू० ४७ ×)

'सुब्भिसद्दे' त्ति शुभशब्दा मनोज्ञा इत्यर्थ 'दुब्भि' त्ति अशुभो-मनोज्ञो यो न भवतीति । एवं च शब्दान्तरमभ्रान्तभूतमवसेयम् । स्था० १ ठा० ।

द्विविध शब्द —

दुविहे सद्दे पन्नत्ते, तं जहा-भासासद्दे चेव,नो भासासद्दे चेव । भासासद्दे दुविहे पण्णत्ते,तं जहा-अक्खरसंबद्धे चेव, णो अक्खरसंबद्धे चेव । णो भासासद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-आउज्जसद्दे चेव , णो आउज्जसद्दे चेव । (सू० ८१ +)

'दुविहे' त्यादि अस्य च पूर्वसूत्रेण सहायमभिसम्बन्ध । इहानन्तरोद्देशकान्त्यसूत्रे देवाना शरीर निरूपितं तद्वांश्च शब्दादिग्राहको भवतीत्यत्र शब्दस्तावन्निरूप्यते इत्येव सम्बन्धायातस्यास्य व्याख्या, सा च सुकरैव-नवरं भाषाशब्दो—भाषापर्याप्तिनामकर्मोदयापादितो जीवशब्द.,इतरस्तु नोभाषाशब्द , अक्षरसम्बद्धो वर्णव्यक्तिमान् , नो अक्षरसम्बन्धस्त्वितर इति । आतोद्य-पटहादि तस्य य शब्द स तथा नोआतोद्यशब्दो—वंशस्फोटादिरव. । स्था० २ ठा० ३ उ० । (आतोद्यशब्दभेदा. 'आउज्ज' शब्दे द्वितीयभागे २६ पृष्ठ गताः ।)

दुविहा सद्दा पन्नत्ता, तं जहा-अत्ता चेव, अणत्ता चेव । एवमिट्ठा ० जाव मणामा । (सू० ८३ ×) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दशविध. शब्दः—

दसविहे सद्दे पन्नत्ते, तं जहा-“नीहारि पिंडिमे लुक्खे, भिन्ने जज्जरिए इय। दीहे (२) हस्से पुहत्ते य, काकणी खिंखिणिस्सरे ॥ १ ॥” (सू० ७०५)

'दसविहे' त्यादि—'नीहारिसिलोगो '। निर्हारी-घोषवान् शब्दो घण्टाशब्दवत् , पिण्डेन निर्वृत्त. पिण्डिमो घोषवर्जित , ढक्कादिशब्दवत् , रूक्ष काकादिशब्दवत् , भिन्न कुष्ठाद्युपहतशब्दवत् , झर्झरितो जर्जरितो वा सतन्त्रीककरटिकादिवाद्यशब्दवत् , दीर्घ —दीर्घवर्णाश्रितो दूर-

थव्यो वा मेघादिशब्दवत्, ह्रस्वो-ह्रस्ववर्णाश्रयो विवक्षया लघुर्वा वीणादिशब्दवत्। 'पुहत्तेय' त्ति—पृथक्त्वं अनेकत्वे, कोऽर्थो ? नानातूर्यादिद्रव्ययोगे यः स्वरो यमलशङ्खादिशब्दवत् स पृथक्त्व इति, 'काकणी' त्ति—सूक्ष्मकण्ठगीतध्वनिः काकलीति यो रूढः। 'खिंखिणी' त्ति—किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका तस्या स्वरो-ध्वनिः किङ्किणीस्वरः। स्था० १० ठा०३ उ०। (एकस्य शब्दस्य बहवोऽर्था ते च 'ववहार' शब्दे षष्ठभागे प्रतिपादिताः।) नो मनोज्ञान् शृणुयात् नो मनोज्ञेषु शब्देषु रज्येतेति परिग्रहविरतेः प्रथमा भावना। आचा० २ श्रु० ३ चू०। शब्दश्चाकाशस्य गुणो न भवति, तस्य पौद्गलिकत्वात् आकाशस्यामूर्त्तत्वात्। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। शब्दस्य हि गुणत्वसिद्धौ निराश्रयस्य गुणस्याऽसंभवादाश्रयभूतेन गुणिना भवितव्यं पृथिव्यादेश्च तद्गुणत्वनिषेधात्, परिशेषादाकाशाश्रयः शब्दस्तस्य चैकत्वं शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च ततो गुणत्वसिद्धौ शब्दस्यैकद्रव्यत्वसिद्धिः। ततश्च यथोक्तविशेषणात् गुणत्वसिद्धिरितीतराश्रयत्वान्न शब्दस्य दृष्टान्तत्वसिद्धिः। (अथ नानेन प्रकारेणैकद्रव्यत्वं शब्दस्य साध्यते, किंतु—कादाचित्कत्वाच्छब्दः कार्यम्, कार्यस्य च क्षणिकत्वनिषेधे अनाधारस्यासंभवात् समवायिकारणेन भवितव्यम्, पृथिव्यादेश्च समवायिकारणत्वनिषेधे आकाशस्यैव समवायिकारणत्वं तस्यैकत्वं पूर्ववत् द्रष्टव्यम्। अत एकद्रव्यत्वं शब्दस्य सिद्धमिति प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं एकद्रव्यत्वात् रूपादिवद् गुणः शब्दः सिद्ध इति न दृष्टान्तासिद्धिः। प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं च शब्दः कर्म न भवति शब्दान्तरहेतुत्वादाकाशवत्-शब्दान्तरहेतुत्वं चाशब्दस्य कार्यत्वाव्यापकत्वाभ्यां सिद्धम्, कार्यं हि पूर्ववत्, समवायिकारणापेक्षं पृथिव्यादेश्च समवायिकारणत्वनिषेधात्, व्योम्नस्तं प्रति समवायिकारणता शब्दस्य च प्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्त्या, सन्तानकल्पना सन्तानश्च शब्दान्तरहेतुत्वमन्तरेणानुपपन्न इति नासिद्धौ हेतुदृष्टान्तौ। प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं चेच्छादीनां कर्मत्वानधिकरणतयाऽध्यक्षप्रतिपत्तित एव सिद्धम्। एकद्रव्यत्वं च यथादेवेच्छादीनां देवदत्तादावनुभवाभावतो व्यवस्थितमेव) असदेतत्। कार्यत्वस्य समवायिकारणप्रभवत्वेन शब्दादावसिद्धेर्न पूर्वोक्तप्रक्रिययाऽप्येकद्रव्यत्वसिद्धिः, अत एव शब्दान्तरहेतुत्वात्र कर्मत्वप्रतिषेधः शब्दस्य हेतुदृष्टान्तयोरसिद्धेः, नहि शब्दलक्षणस्य कार्यस्य निराधारस्य संभवे व्योम्नः समवायिकारणत्वेन शब्दान्तरहेतुत्वं शब्दस्य वा समवायिकारणत्वेन शब्दान्तरहेतुत्वं, तदयुक्तम्। न च [illegible] प्रत्यक्षताऽन्यथाऽनुपपत्त्या सन्तानकल्पना युक्तिमती, तामन्तरेणापि शब्दप्रत्यक्षतोपपत्तेः प्रतिपादनात् एकद्रव्यत्वस्य प्रतिषिध्यमानकर्मत्वस्य [illegible] एव सिद्धेः। गुणत्वसमवायात् गुणरूपताया अपि तत एव सिद्धेरनुमानोपपत्तावस्य वैयर्थ्यं स्यात्। [illegible] गुणपदयोगे [illegible] तदुपन्यासस्याकृत्य [illegible] समवायस्य [illegible] [illegible] 'गुण दर्शनात् रूपादयो गुणा' इति सिद्धम्। [illegible]

ववहारसिद्धि त्ति॥ १॥" अने० १ अधि०। नित्य शब्द। विशे०। (अत्रत्या वक्तव्यता 'णमुक्कार' शब्दे चतुर्थभागे १८२२ पृष्ठे गता।) (द्वाभ्यां स्थानाभ्यां शब्दा उत्पद्यन्ते इति 'सद्दुप्पाय' शब्दे वक्ष्यते।) अथवा—शब्दे पुष्पशालाङ्कद्रा ननाश। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। (प्रतिबद्धशय्याया स्त्र्यादिशब्दं श्रुत्वा कस्यचिन्मोह उत्पद्येत इत्यतो न साधुस्तत्र तिष्ठेत इति 'पडिबद्धसिज्जा' शब्दे पञ्चमभागे२२० पृष्ठे गतम्।) (शब्देषु राग इति 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५६६ पृष्ठे उक्तम्।) "अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं, द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम्। अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता—वतावकानां प्रतिभाप्रमादः॥१४॥' इति सामान्यविशेषोभयात्मकस्य वस्तुनो वाच्यत्वम्। इति। स्या०। ('आगम' शब्दे ६६ पृष्ठे दर्शितम्।) (भाषाद्रव्यग्रहणनिसर्गौ 'भासा' शब्दे ५ भागे गतं।) ('पुट्ठ सुणइ सद्दं' इति 'इंदिय' शब्दे ५६५ पृष्ठे द्वितीयभागे व्याख्यातम्।)

छद्मस्थ आतोद्यमानान् शब्दान् शृणोति—

छउमत्थे णं भंते! मणूसे आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा–संखसद्दाणि वा सिंगसद्दाणि वा संखिय० खरमुहिय० पोया० पिरिपिरियासद्दाणि वा पणव० पडह० भंभा० होरंभसद्दाणि वा भेरि० झल्लरि० दुंदुभिसद्दाणि वा तयाणि वा वितयाणि वा घणाणि वा झुसिराणि वा ?, हंता गोयमा!, छउमत्थेणं मणूसे आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा–संखसद्दाणि वा ०जाव झुसिराणि वा। ताइं भंते! किं पुट्ठाइं सुणेइ ?, अपुट्ठाइं सुणेइ ?, गोयमा! पुट्ठाइं सुणेइ, नो अपुट्ठाइं सुणेइ ०जाव नियमा छद्दिसिं सुणेइ। जहा णं भंते! छउमत्थे मणूसे किं आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ ?, गोयमा! आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ। जहा णं भंते! छउमत्थे मणूसे आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ णो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ। तहा णं भंते! केवली मणूसे किं आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ ?, गोयमा! केवली णं आरगयं वा पारगयं वा सव्वदूरमूलमणंतियं सद्दं जाणइ पासइ, से केणट्ठेणं तं चेव केवली णं आरगयं वा पारगयं वा ०जाव पासइ ?, गोयमा! केवली णं पुरच्छिमेणं मियं पि जाणइ अमियं पि जाणइ, एवं–दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं उड्ढं अहे मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ, सव्वं जाणइ केवली, सव्वं पासइ केवली, सव्वओ जाणइ पासइ, सव्वकालं जाणइ पासइ, सव्वभावे जाणइ केवली, सव्वभावे पासइ केवली, अणंते नाणे केवलिस्स, अणंते दंसणे केवलिस्स, निव्वुडे नाणे केवलिस्स, निव्वुडे दंसणे केवलिस्स, से तेणट्ठेणं ० जाव पासइ। [illegible]

'छउमत्थे णमि' त्यादि 'आउडिज्जमाणाइं' ति-जुड बन्धने इति वचनात् आजोड्यमानेभ्य—आसम्बन्ध्यमानेभ्यो मुखहस्तदण्डादिना सह शङ्खपटहझल्लर्यादिभ्यो वाद्यविशेषेभ्य. आकुट्यमानेभ्यो वा एभ्य एव ये जाताः शब्दास्ते आजोड्यमाना आकुट्यमाना एव वा उच्यन्ते अतस्तानाजोड्यमानानाकुट्यमानान्वा शब्दान् शृणोति । इह च प्राकृतत्वेन शब्दशब्दस्य नपुंसकनिर्देश. । अथवा—'आउडिज्जमाणाइं' ति—आकुट्यमानानि परस्परेणाभिहन्यमानानि, 'सद्दाइं' ति—शब्दानि—शब्दद्रव्याणि शङ्खादयः प्रतीता नवरं 'सखिय' त्ति-शङ्खिका ह्रस्व. शङ्ख 'खरमुहि' त्ति—काहला पोया—महती काहला, 'पिरिपिरिय' त्ति—कोलिकपुटकावनद्धमुखो वाद्यविशेष. । 'पणव' त्ति—भाण्डपटहो लघुपटहो वा तदन्यस्तु पटह इति, 'भभ' त्ति-ढक्का, 'होरंभ' त्ति-रूढिगम्या, 'भेरि' त्ति-महाढक्का, 'झल्लरि' त्ति-वलयाकारो वाद्यविशेष, 'दुदुहि' त्ति—देववाद्यविशेष. । अथाक्तानुक्तसंग्रहद्वारेणाह—'तताणि वे' त्यादि ततानि—वीणादिवाद्यानि तज्जनितशब्दा अपि ततः, एवमन्यदपि पदत्रयं, नवरमयं विशेषस्ततादीनाम्—" ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यतालादि, वंशादि शुषिरं मतम् " ॥ १ ॥ इति 'पुट्ठाइ सुणेइ' इत्यादि तु प्रथमशते आहाराधिकारवदवसेयमिति 'आरगयाइं' ति—आराद्भागस्थितानिन्द्रियगोचरमागतानित्यर्थः, 'पारगयाइं' ति—इन्द्रियविषयात्परतोऽवस्थितानिति, 'सव्वदूरमूलमणंतियं' ति--सर्वथा दूर विप्रकृष्ट मूल च निकट सर्वदूरमूलं तद्योगाच्छब्दोऽपि सर्वदूरमूलोऽतस्तम् । अत्यर्थ दूरवर्तिनमत्यन्तासन्न चेत्यर्थ । अन्तिकम्-आसन्न तन्निषेधादनन्तिकम्, नञोऽल्पार्थत्वात् नात्यन्तमन्तिकम्-अदूरासन्नमित्यर्थ., तद्योगाच्छब्दोऽप्यनन्तिकोऽतस्तम् अथवा-'सव्व' त्ति, अनेन 'सव्वओ समता' इत्युपलक्षितम्, 'दूरमूलं' ति-अनादिकमिति हृदयम् 'अणंतियं' ति-अनन्तिकमित्यर्थ ' 'मिय पि' त्ति-परिमाणवत् । गर्भजमनुष्यजीवद्रव्यादि, 'अमिय पि' त्ति-अनन्तमसख्येय वा, वनस्पतिपृथिवीजीवद्रव्यादि । 'सव्व जाणइ' इत्यादि । द्रव्याद्यपेक्षयाक्रम् । अथ कस्मात् सर्व जानाति केवलीत्याद्युच्यते । इत्यत आह-'अणते' त्यादि,अनन्त ज्ञानमनन्तार्थविषयत्वात्, तथा-'निव्वुडे नाणे केवलिस्स' त्ति-निर्वृत-निरावरणं ज्ञान केवलिन. क्षायिकत्वाच्छुद्धमित्यर्थ, वाचनान्तरे तु-'निव्वुडे वितिमिरे विसुद्धे' त्ति-विशेषणत्रय ज्ञानदर्शनयोरभिधीयते, तत्र च—निर्वृत-निष्ठागत वितिमिरं-क्षीणावरणमत एव विशुद्धमिति । भ० ५ श० ४ उ० । (वाग्द्रव्याणामादानम्, उत्सर्गो वा 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे विरतो गतम् ।) 'आउट्टेमाणे सद्देण घोसेण' आकुट्टयन् अयोघनघातप्रभवेण ध्वनिना पुरुषहुङ्कृतिरूपेण वा तस्यैवानुनादेन । भ० ६ श० १ उ० ।

सद्दाइं अणेगरूवाइं अहिआसए । (सू०×)

शब्दा अनेकरूपा -वीणावेणुमृदङ्गादिजनिता । तथा क्रमेत्कारमिताद्युत्पापितास्ताश्चाविकृतमना अध्यासयति-अधिसहते । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० । प्रज्ञा० । प्रसिद्धौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । एकदिग्व्यापिनि वर्णे, स्था० १० ठा० ३ उ० । शब्द्यते—प्रतिपाद्यते वस्त्वनेनेति शब्द', शब्दस्य यो वाच्योऽर्थ' स एव येन तत्त्वतो गम्यते स नय उपचारात् शब्द. इत्युच्यते । नयभेदे, विशे० । (शब्दनयमतमिहैवानुपदं 'सद्दणय' शब्दे वक्ष्यते ।) शाब्दमपि न सर्व प्रमाणम्, किं तर्हि ? आप्तप्रणीतस्यैवागमस्य प्रामाण्यात् । न चार्हद्व्यतिरेकेण अपरस्याप्तता युक्तियुक्ता । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सद्दंसण–सद्दर्शन–न० । शोभन दर्शन सद्दर्शनम् । सम्यग्दर्शने, दर्श० २ तत्त्व ।

सद्दकर–शब्दकर–पुं० । रात्रौ महता शब्देनोल्लापे, स्वाध्यायादिकारके गृहस्थभाषाभाषके, असमाधिस्थानप्राप्ते च । स० २० सम० । आ० चू० । सद्दं करेति असखडसह करेति । आव० ४ अ० ।

सद्दकरण–शब्दकरण–न० । शब्दः क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । आ० म० १ अ० । उदात्ताऽऽदिस्वरविशेषे, विशे० । सद्दकरण नाम-ज सद्देहिं पगडत्थ कीरति न पुण गोवितं संकेतिग, तं जधा—उप्पएणं त्ति वा भूते त्ति वा विगते त्ति वा परिणाते त्ति वा । उदात्ता अनुदाताश्च । णिसीह पच्छण्णगोवितसकेतित । आ० चू० १ अ० । आ० म० । शब्दः क्रियते यस्मिन् तत्—शब्दकरणम् । उक्तं च—' उत्ती उ सद्दकरणं, पगासपाढ व सरविंससो वा । तं निशीथं ति निशीथं भवति । इयमत्र भावना—यत् उत्पादाद्यर्थप्रतिपादक । तथा महताऽपि शब्देन प्रतिपाद्य तत् प्रकाशपाठात् प्रकाशोपदेशाच्च शब्दकरणं नाम । आ० म० १ अ० ।

सद्दऽज्झयण–शब्दाध्ययन–न० । शब्दशक्तिप्रतिपादके आचाराङ्गाध्ययनस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थसप्तककाध्ययने, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० । आव० ।

सद्दणय–शब्दनय–पुं० । शप् आक्रोशे, शप्यत अवधीयते वस्त्वनेनेति शब्द' । तमेव गुणीभूतार्थमुख्यतया यो मन्यते स नयोऽप्युपचाराच्छब्द., स चासौ नयश्च । अनु० । शपनं शपति वा असौ शप्यते वा तेन वस्त्विति शब्द., तस्यार्थपरिग्रहादभेदोपचारात् नयोऽपि शब्द एव । स्था० ७ ठा० ३ उ० । सप्तसु नयेषु अन्यतम नय, न० ।

शब्दनयं लक्षयति—

विशेषिततरः शब्दः, प्रत्युत्पन्नाश्रयो नयः ।
तरप्रत्ययनिर्देशा-द्विशेषिततमे गतिः ॥ ३३ ॥

'विशेषिततर' इति-विशेषिततर' प्रत्युत्पन्नाश्रय ऋजुसूत्राभिमतग्राही नय शब्द इत्याख्यायते,यत्सूत्रम्-'इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पएण णओ सद्दो' त्ति । अत्र तरप्रत्ययनिर्देशाद्विशेषिततमार्थावर्त्ति विषयत्वलाभाद्विशेषिततमे समभिरूढे एवंभूते वा गतिर्नातिव्याप्ति. ।

ऋजुसूत्राद्विशेषमस्य स्पष्टयति—

ऋजुसूत्राद्विशेषोऽस्य, भावमात्राभिमानतः ।
सप्तभङ्ग्यर्पणाल्लिङ्ग-भेदादेर्वाऽर्थभेदतः ॥३५॥

ऋजुसूत्रादिति-अस्य-शब्दनयस्य ऋजुसूत्राद्विशेष.-उत्कर्षो भावमात्रस्याभिमानात् ,अयं हि पृथुवुध्नोदराद्याकारकलित मृन्मय जलाहरणादिक्रियाक्षम प्रसिद्धं भावघटमेवेच्छति, शब्दार्थप्रधानत्वात् , 'घट' चेष्टायामिति शब्दार्थस्य भावघट एव योगान्नतु नामस्थापनाद्रव्यरूपास्त्रींस्तत्राक्तार्थयोगात् ।

तथा चैतत्संवाद्याह भाष्यकारः-

"णामाद्यो ण कुंभा, तक्कज्जा करणओ पडाइ व्व ।
पच्चक्खविरोहाओ, तल्लिंगाभावओ वाऽवि ॥ १ ॥"

नामस्थापनाद्रव्यघटाः घटत्वेन न व्यवहर्त्तव्या., घटार्थक्रियाकारित्वाभावादघटत्वेन प्रतीयमानत्वात् , घटव्यवस्थापकधर्म्माभावाच्चेत्येतदर्थ. । यद्वा-सप्तभङ्ग्यर्पणादस्य विशेषः, ऋजुसूत्रस्य हि प्रत्युत्पन्नोऽविशेषित एव कुम्भोऽभिप्रेतः, शब्दनयस्य तु (स एव सद्भावादिभिर्विशेषिततरोऽभिमतइत्येवमनयोर्भेदः, तथाहि-स्वपर्यायैः पर (विशेषा वश्यकवृत्तितः) पर्यायैरुभयैर्वाऽर्पितोऽयं कुम्भाकुम्भावक्तव्योभयरूपादिभेदेन सप्तभङ्गी प्रतिपद्यत इति । यद्भाष्यम्-

"अहवा पच्चुप्पएणो, उजुसुत्तस्साविसेसिओ चेव ।
कुभो विसेसिअतरो, सब्भावादीहि सद्दस्स ॥ १ ॥
सब्भावासब्भावो—भयप्पिओ सपरपज्जवोभयवो ।
कुंभाकुभावत्त—व्वोभयरूवाइभेवो सो ॥ २ ॥" त्ति ।

इह "कुभाकुंभे" त्यादि । गाथापश्चार्द्धेन षट् भङ्गा. साक्षादुपात्ताः सप्तमस्त्वादिशब्दात् , तद्यथा—कुम्भः १ अकुम्भः २ अवक्तव्य' ३ 'उभय' त्ति संश्चाऽसश्चेत्युभयम् ४ सन्नवक्तव्य इत्युभयं ५ तथाऽसन्नवक्तव्य इत्युभयम् ६ आदिशब्दसंगृहीतस्तु सप्तम. सन्नसन्नवक्तव्य इति ७, अत्रोभयपदस्य समभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकद्वयप्रकारकबुद्धिविषये शक्तावपि समभिव्याहारत्रैविध्यात् आवृत्त्या त्रिविधोभयबोध इति न्यायमार्ग. । सामान्यशक्तावप्युभयपदादेकदैव, समभिव्याहारविशेषमहिम्ना त्रिविधविशेषप्रकारको बोध इत्यनुभवमार्ग., तदेवं स्याद्वादद्दष्टसप्तभेद घटादिकमर्थ यथाविवक्षितमेकेन केनापि भङ्गकेन विशेषिततरमसौ शब्दनयः प्रतिपद्यते, नयत्वादृजुसूत्राद्विशेपिततरवस्तुग्राहित्वाच्च । स्याद्वादिनस्तु संपूर्णसप्तभङ्ग्यात्मकमपि प्रतिपद्यन्त इति विशेषावश्यकवृत्तावुक्तम् । तत्रायं विचारावकाश.-किमिय सप्तभङ्गी अर्थनयाश्रिता,उत शब्दनयाश्रिता ?। आद्ये तदेकतरभङ्गविशेषणे कथमृजुसूत्राच्छब्दस्य विशेषिततरत्वम् अर्थतयाऽऽश्रितभङ्गस्य शब्दस्य नयाविशेषकत्वादुभयेषा विषयविभागस्य दूरान्तरत्वात् । द्वितीयविकल्पे च ऋजुसूत्राभिमतार्थपर्यायाविषयत्वेनाशुद्धव्यञ्जनपर्यायग्राहिण. कुतः शब्दस्य विशेषिततरार्थत्वम् . नहि तदविषयविषयकत्वं विशेषितशब्दार्थ , किंतु—तद्विषयताव्याप्यविषयकत्वमिति । नच ऋजुसूत्राभिमतसत्त्वमुपमृद्यासत्त्वाख्यद्वितीयभङ्गोत्थापनाच्छब्दस्यर्जुसूत्राद्विशेपित तरत्व वक्तु युक्तम् ,एव सति ऋजुसूत्राभिमतं सत्त्वमुपमृद्याऽसत्त्वग्रहणव्यावृत्तस्य व्यवहारस्यापि ततो विशेषिततरार्थत्वापत्तेर्विशेष्यकभङ्गानिर्धारकवचनापत्तेश्चेति, तत्रायमस्माकं मनीषोन्मेषः यद्यप्यर्थपर्यायाश्रिता सप्तभङ्गी सग्रहव्यवहारर्जुसूत्रैर्व्यञ्जनपर्यायाश्रिता शब्दसमभिरूढैवंभूतै. " सम्मतौ " (ग्रन्थे) सूचिता तथाऽप्येतत्प्रकारद्वयाभिधानमर्थव्यञ्जनसाधारणं पर्यायसामान्याश्रितसप्तभङ्ग्या अनुपलक्षणम् , सा च स्वपरपर्यायाणां क्रमयुगपद्विवक्षावशान्नयद्वयेन शुद्धशुद्धतरपर्यायविवक्षया च नयत्रयेणापि संभवतीति ऋजुसूत्रशब्दप्रयुक्तसप्तभङ्ग्या द्वितीयादिना व्यवहारर्जुसूत्रप्रयुक्तायां च तस्यां तृतीयादिना भङ्गेनर्जुसूत्राच्छब्दस्य विशेषिततरार्थत्व युक्तम् । नचैवम्-ऋजुसूत्रकृतसत्त्वापेक्षया सताग्राहिणो व्यवहारस्यापि ततो विशेषिततरार्थत्वप्रसङ्गदूषणानुद्धार. संप्रदायाविरुद्धभङ्गविषयीभूतेनार्थेन विशेषिततरत्वस्याभिधित्सितत्वात् , संप्रदायश्चोत्तरोत्तरभङ्गप्रवृत्तावुत्तरोत्तरनयावलम्बनेनैव दृष्टो नान्यथेति न कश्चिद्दोष इति । वा-अथवा-लिङ्गभेदादंदर्थभेदाश्रयणादस्य-शब्दनयस्य ऋजुसूत्राद्विशेष., तथाहि-(तटः तटी तटम् इत्यादौ) अन्यलिङ्गवृत्तिशब्दस्य नान्यलिङ्गभेदलक्षणेन गुरुः गुरव इत्यादौ च वचनभेदलक्षणेन वैधर्म्येणार्थभेद. स्पष्ट एवानुभवात् , एवमन्यकारकयुक्त यत्तदेवास्य मतेऽपरकारकसम्बन्ध नानुभवति इत्यधिकरणत्वाद् ग्रामोऽधिकरणाभिधानविभक्तिवाच्य एव न कर्माभिधानविभक्त्यभिधेय इति, ग्राममधिशेते इति प्रयोगोऽनुपपन्नः । तथा पुरुषभेदेऽपि नैकं वस्त्विति , एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पितेति च प्रयोगो न युक्तोऽपि त्वेहि मत्यसे यथाहं रथेन यास्यामीत्येवं परभावेनैतन्निर्देष्टव्यम् , एवमुपग्रहणभेदोऽपि विरमतीत्यादिर्न युक्त आत्मार्थतया हि विरमत इत्यस्यैव प्रयोगस्य सगतेर्न चैव लोकशास्त्रविलोप. सर्वत्रैव नयमते तल्लोपस्य समानत्वादिति सम्मतिवृत्तौ व्यवस्थितम् , यद्यपि ग्राममधिशेते इत्यादौ ग्रामोत्तरद्वितीयादिपदादधिकरणत्वादिप्रकारकप्रतीत्यर्थमधिकरणत्वादिविशिष्टे लक्षणैव स्वीकार्या नाम्नि तन्निरूढत्वसमानार्थमेवं च विशेषानुशासनमिति वक्तु शक्यते, तथाप्युक्तविपरीतप्रयोगप्रामाण्याय-' उपपदविभक्ते कारकविभक्तिर्बलीयसी ' इत्यादिन्यायसाम्राज्यवानय विशेष इति दिग् ।

उक्तयुक्त्या यथा अनेन ऋजुसूत्रमतं दूष्यते ।

तथाऽऽह—

सामानाधिकरण्यं चे-न्न विकारापरार्थयोः ।
भिन्नलिङ्गवचःसंख्या-रूपशब्देषु तत्कथम् ॥ ३५ ॥

सामानाधिकरण्यमिति-चेत्-यदि विकारापरार्थयो' विकाराविकारार्थकशब्दयो पलालं दहतीत्यादौ सामानाधिकरण्यमेकार्थान्वयजननयोग्यत्वं नेष्टमृजुसूत्रनये चेत् ? नहिं भिन्नानि लिङ्गवच संख्यारूपाणि येषा तादृशेषु तटस्तटी तटं गुरु. गुरुव. स च त्वं च यास्यथ कुरुते करोति इत्यादिषु कथ सामानाधिकरण्यं, न कथंचिदित्यर्थः । यथाहि-' त्वयाऽग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता ' इत्युक्तं स्वीक्रियते कालभेदात् तथा लिङ्गादिभेदादर्थभेद. सुतरा स्वीकर्त्तव्य इत्युपदेश । नयो० । स्या० ।

शब्दनयमाह—

सवणं सपइ स तेणं, व सप्पए वन्धु जं तओ सद्दो ।
तस्सत्थपरिग्गहओ,नओ वि सद्दो त्ति हेउ व्व॥२२७॥

'शप आक्रोशे,शपनम्-आह्वानमिति शब्द , शपतीति वा आह्वयतीति शब्द , शप्यते वा आहूयते वस्त्वनेनेति शब्द', तस्य शब्दस्य यो वाच्योऽर्थस्तत्परिग्रहात्तत्प्रधानत्वान्नयोऽपि शब्द , यथा कृतकत्वादित्यादिक' पञ्चम्यन्त शब्दोऽपि हेतु । अर्थरूपं हि कृतकत्वमनित्यगमकत्वान्मुख्यनया हेतुरुच्यते, उपचारतस्तु—तद्वाचकः कृतकत्वशब्दोऽपि हेतुरभिधीयते , एवमिहापि शब्दवाच्यार्थपरिग्रहादुपचारेण नयोऽपि शब्दो व्यपदिश्यत इति भाव' ।

" इच्छइ विसेसियतरं, पच्चुप्पन्न नओ सद्दो " इति निर्युक्तिगाथादलव्याख्यानमाह–

तं चिय रिउसुत्तमयं, पच्चुप्पन्नं विसेसिययरं सो ।
इच्छइ भावघडं चिय, जं न उ नामादओ तिन्नि ॥२२२८॥

तदेव ऋजुसूत्रनयस्य मतमभीष्टं प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानं वस्त्विच्छत्यसौ शब्दनय । कथंभूत तदित्याह—विशेषिततरम् । कुत इदं ज्ञायते ? इत्याह यद्-यस्मात्पृथुबुध्नोदराद्याकारकलित मृन्मयं जलाऽऽहरणाऽऽदिक्रियाक्षम प्रसिद्धघटरूपं भावघटमेवेच्छत्यसौ न तु शेषान् नामस्थापनाद्रव्यरूपास्त्रीन् घटानिति शब्दप्रधानो ह्येष नय , चेष्टालक्षणश्च घटशब्दस्यार्थ , घटचेष्टायाम् , घटते इति घटः इति व्युत्पत्ते , ततश्च य एव जलाहरणादिक्रियार्थमाचेष्ट प्रसिद्धो घटस्तमेव भावरूपं घटमिच्छत्यसौ शब्दार्थोपपत्तेर्नतु नामादिघटान् घटशब्दार्थानुपपत्ते । अतश्चतुरोऽपि नामादिघटानिच्छत ऋजुसूत्राद्विशेषिततर वस्त्विच्छत्यसौ एकस्यैव भावघटस्यानेनाभ्युपगमादिति ।

नामादिघटनिराकरणार्थमेव प्रमाणयन्नाह—

नामादओ न कुंभा, तक्कज्जाकरणओ पडाइ व्व ।
पच्चक्खविरोहाओ, तल्लिंगाभावओ वाऽवि ॥ २२२६ ॥

नामस्थापना द्रव्यरूपा कुम्भा न भवन्तीति प्रतिज्ञा जलाहरणादितत्कार्याकरणात्पटादिवत्, तथा प्रत्यक्षविरोधात्, घटलिङ्गदर्शनाच्चेति । अघटरूपास्ते प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते इति प्रत्यक्षविरोध , जलाहरणादिकं घटलिङ्ग च तेषु न दृश्यते इति ततोऽनुमानविरोधोऽपीति ।

कथ ते नामादिघटव्यपदेशभाजो भवेयुरिति ऋजुसूत्रशिक्षणार्थमाह—

जइ विगयाऽणुप्पन्ना, पओयणाभावओ न ते कुंभा ।
नामादओ किमिट्ठा, पओयणाभावओ कुंभा ॥२२३०॥

यदि विगता अनुत्पन्नाश्च त्वयाऽहो ऋजुसूत्रकुम्भा नेष्टा' प्रयोजनाभावात्, तर्हि नामादयोऽपि कुम्भा किमिष्टा , प्रयोजनाभावस्य समानत्वात्, न खलु तैरपि कुम्भप्रयोजनं किमपि विधीयत इति ।

तदेवमृजुसूत्राच्छब्दनयस्य विशेषिततरमुक्तम् । अथवाऽन्यथा तद् द्रष्टव्य कथमित्याह–

अहवा पच्चुप्पन्नो, रिजुसुत्तस्साविसेसिओ चेव ।
कुंभो विसेसियतरो, सब्भावाईहिँ सद्दस्स ॥ २२३१ ॥
सब्भावासब्भावो, भयप्पिओ सपरपज्जओभयओ ।
कुंभाकुंभावत्त-व्वोभयरूवाइभेओ सो ॥ २२३२ ॥

अथवा प्रत्युत्पन्न ऋजुसूत्रस्याविशेषित एव सामान्येन कुम्भोऽभिप्रेत शब्दनयस्य तु स एव सद्भावादिभिर्विशेषिततरोऽभिमत इत्येवमनयोर्भेद । तथाहि—स्वपर्यायै. परपर्यायै. उभयपर्यायैश्च सद्भावेन असद्भावेन, उभयेन चार्पितो विशेषित कुम्भ –कुम्भाकुम्भाऽवक्तव्योभयरूपादिभेदो भवति–सप्तभङ्गी प्रतिपद्यत इत्यर्थ , तद्यथा–ऊर्ध्वग्रीवकपालकुक्षिबुध्नादिभि. स्वपर्यायै. सद्भावेनार्पितो विशेषितः कुम्भः कुम्भो भण्यते, ' सन् घट ' इति प्रथमो भङ्गो भवतीत्यर्थ' । तथा पटादिगतैस्त्वक्त्राणादिभि' परपर्यायैरसद्भावेनार्पितो विशेषितोऽकुम्भो भवति सर्वस्याऽपि घटस्य परपर्यायैरसत्त्वाविवक्षायाम् , असन् घट इति द्वितीयो भङ्गो भवतीत्यर्थ । तथा–सर्वोऽपि घट स्वपरोभयपर्यायै. सद्भावाऽसद्भावाभ्या सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामर्पितो विशेषितो युगपद्वक्तुमिष्टाऽवक्तव्यो भवति, स्वपरपर्यायसत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामेकेन केनाऽप्यसाङ्केतिकेन शब्देन सर्वस्यापि तस्य युगपद्वक्तुमशक्यत्वादिति । एते त्रय सकलादेशा । अथ चत्वारोऽपि विकलादेशा. प्रोच्यन्ते । तत्रैकस्मिन्देशे स्वपर्यायसत्त्वेनान्यत्र तु देशे परपर्यायासत्त्वेन विवक्षितो घट सश्चासश्च भवति घटो घटश्च भवतीत्यर्थ. । तथा—एकस्मिन् देशे स्वपर्यायैः सद्भावेन सत्त्वेनार्पितो विशेषितोऽन्यत्र तु देशे स्वपरोभयपर्यायै सद्भावासद्भावाभ्या सत्त्वासत्त्वाभ्या युगपदसाङ्केतिकेनैकेन शब्देन वक्तु विवक्षित कुम्भः सश्चावक्तव्यश्च भवति, घटोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थ , देशे तस्य घटत्वात्, देशे चावक्तव्यत्वादिति । तथा एकदेशे परपर्यायैरसद्भावेनार्पितो विशेषितोऽन्यस्मिंस्तु देशे स्वपरपर्यायै' सद्भावासद्भावाभ्या सत्त्वासत्त्वाभ्या युगपत्साङ्केतिकेनैकेन शब्देन वक्तु विवक्षित. कुम्भाऽसन्नवक्तव्यश्च भवति—अकुम्भोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थ , देशे तस्याकुम्भत्वात्, देशे चावक्तव्यत्वादिति । तथा एकदेशे स्वपर्यायै सद्भावेनार्पित. एकस्मिंस्तु देशे परपर्यायैरसद्भावेनार्पितः, अन्यस्मिंस्तु देशे स्वपरोभयपर्यायै. सद्भावासद्भावाभ्या युगपदेकेन शब्देन वक्तुं विवक्षित. कुम्भ. सश्चासंश्चावक्तव्यश्च भवति घटोऽघटोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थ., देशे तस्य घटत्वात्, देशेऽघटत्वात्, देशे चावक्तव्यत्वादिति । इत्य' च ' कुम्भ अकुम्भे ' त्यादिना गाथार्द्धेन षड् भङ्गा साक्षादुपात्ता. सदसत्त्वादिशब्दाद् , तद्यथा—कुम्भ अकुम्भ' अवक्तव्यः सत्त्वादिशब्दाद् 'उभय' त्ति सश्चासश्चेत्युभय, तथा सन्नवक्तव्यक इत्युभय तथा असन्नवक्तव्यक इति चोभयम्, आदिशब्दादग्राह्यमन्नु सप्तम सन्नसन्नवक्तव्यक इति । एव सप्तभेदो घट , एव पटादिरपि द्रष्टव्य । तदेव स्याद्वादस्थ सप्तभङ्ग घटादिकमर्थं यथाविवक्षमेकेन केनापि भङ्गकेन विशेषिततरमसौ शब्दनय प्रतिपद्यते, नयत्वात्, ऋजुसूत्राद्विशेषिततरवस्तुमान्यत्वाच्च, स्याद्वादिनस्तु सम्पूर्णसप्तभङ्गयात्मकमपि प्रतिपद्यन्त इति । अल विस्तरेणेति ।

अथवा लिङ्गवचने समाश्रित्य विशेषिततरं वस्त्विच्छतीति शब्दनय इति दर्शयन्नाह—

वत्थुमविसेसओ वा, जं भिन्नाऽभिन्नलिंगवयणं पि ।
इच्छइ रिउसुत्तनओ, विसेसियतरं नयं सद्दो ॥२२३३॥

'वा' इति—अथवा भिन्नाऽभिन्नलिङ्गवचनमप्यविशेषतो यद्वस्त्विच्छति ऋजुसूत्रनयः, तद्विशेषिततरमिच्छति शब्दनय इति।

कुतः ? इत्याह—

धणिभेयाश्रो भेश्रो, थीपुल्लिंगाभिहाणवच्चाणं।
पडकुंभाणं व जश्रो, तेणाभिन्नत्थमिट्ठं तं ॥ २२३४ ॥

यतो-यस्मात्कारणात् स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गाभिधानवाच्यानामर्थानां तटादीनां भेद एव न पुनरेकत्वं तटीत्यभिधानस्याऽन्योऽर्थो वाच्य, तट इत्यभिधानस्य त्वन्य., तटमित्यभिधानस्य त्वपर.। कुतः ?, ध्वनिभेदात्तथा गुरुर्गुरव इत्याद्येकवचनबहुवचनवाच्यानामर्थानां ध्वनिभेदादेव भेद । केषामिवेत्याह पटकुम्भाऽऽदिध्वनिभेदात्पटकुम्भाद्यर्थानामिव तेन तस्मात्कारणात्तल्लिङ्ग वचनं चाभिन्नार्थमेवेष्टं यादृशो ध्वनिस्तादृश एवार्थोऽस्येष्ट इत्यर्थः। अन्यलिङ्गवृत्तस्तु शब्दस्य नान्यलिङ्गमर्थवाच्यमिच्छत्यसौ नाप्यन्यवचनवृत्तः शब्दस्यान्यवचनवाच्यं वस्त्वभिधेयमिच्छत्येप इति भाव'।

अथ यदसौ मन्यते तत्सर्वमुपसहृत्य दर्शयति—

तो भाव्वुच्चिय वत्थुं, विसेसियमभिन्नलिंगवयणं पि।
बहुपज्जायं पि मयं, सद्दत्थवसेण सद्दस्स ॥ २२३५ ॥

तत. तस्मान्नामादिनिक्षेपे भावघटादिको भाव एव वस्त्वित्यसाविच्छति, तदपि पूर्वोक्तनीत्या सद्भावादिभिर्विशेषितमभिन्नलिङ्गवचन चाभ्युपैति, स्ववाचकध्वनीनामभिन्ने लिङ्गवचने यस्य तदभिन्नलिङ्गवचनं वस्त्वसावभ्युपगच्छति, न पुनरेकस्यैवार्थस्य लिङ्गत्रयवृत्तिशब्दवाच्यत्वम्, एकवचनबहुवचनवृत्तिशब्दवाच्यत्व वा मन्यत इत्यर्थ.। समभिरूढेन सहास्य मतभेद दर्शयति-इन्द्र. शक्रः पुरन्दर इत्यादि बहुपर्यायमप्येकमिन्द्रादिक शब्दनयस्य मतन भवति। केन ? शब्दस्येन्द्रादेरिन्दनादिको योऽर्थस्तद्वशेन एकस्मिन्नपीन्द्रादिके वस्तुनि यावन्त इन्दनशकनपूर्दारणादयोऽर्था घटन्ते तद्वशेनेन्द्रशक्रादिबहुपर्यायमपि तद्वस्तु शब्दनया मन्यत इत्यर्थ.। समभिरूढस्तु नैव मस्यत इत्यनयोर्भेद इति। उक्त. शब्दनय.। विशे०। सम्म०। आ० म०। आ० चू०। सूत्र०। शब्द प्रधानो नयः शब्दनयः। शाकपार्थिवादिवत् समास.। शब्द प्राधान्येन अर्थमत्सु, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। शब्दसमभिरूढैवभूतेषु नयेषु, उत्त० २ अ०। आ० म०। सम्म०। स्या०। अष्ट०। अनु०। विशे०। रत्ना०।

सद्दत्थ-शब्दार्थ-पु०। वाच्यवाचकयो., विशे०।

सद्दव्वभेद-शब्दद्रव्यभेद-पुं०। शब्दद्रव्याणां भेदने, प्रज्ञा० ११ पद। (व्याख्या 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे गता।)

सद्दपरिणाम-शब्दपरिणाम-पुं०। शब्दतया पुद्गलानां परिणामे, स्था० १० ठा० ३ उ०। शब्दपरिणामस्ततविततघनशुषिरभेदाच्चतुर्द्धा। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सद्दपरियारग-शब्दपरिचारक-पुं०। शब्दादेवोपशान्तवेदोपतापे, स्था० २ ठा० ४ उ०। ("दोसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा" इति 'कप्प'शब्दे तृतीयभागे २३२ पृष्ठे गतम्।)

सद्दपरियारणा-शब्दपरिचारणा-स्त्री०। शब्दश्रवणात् वेदोपशमने, प्रज्ञा०।

सम्प्रति शब्दपरिचारणां भावयितुकाम आह—

तत्थ णं जे ते सद्दपरियारगा देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ, इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं सद्दपरियारणं करित्तए, तए णं तेहिं देवेहिं मणसीकए समाणे तहेव ० जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति विउव्वित्ता जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता तेसिं देवाणं अदूरसामंते ठिच्चा अणुत्तराइं उच्चावयाइं सद्दाइं समुदीरेमाणीओ समु० २ चिट्ठंति, तए णं ते देवा ताहि अच्छराहिं सद्धि सद्दपरियारणं करेंति सेसं तं चेव ०जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति। (सू० ३२६ +)

'तत्थ णमि' त्यादि कण्ठ्यम्, नवरमदूरसमीपे स्थित्वा अनुत्तरान् सर्वमनःप्रह्लादजनकतया अनन्यसदृशान् उच्चावचान्—प्रबलप्रबलतरमन्मथोद्दीपकसभ्याऽसभ्यरूपान् शब्दान्, सूत्रे नपुंसकनिर्देश प्राकृतत्वात्समुदीरयन्त्यस्तिष्ठन्ति, शेष तथैव। प्रज्ञा० ३४ पद।

सद्दबंभ-शब्दब्रह्मन्-न०। पट्भाषावाङ्मये ब्रह्मणि, अष्ट० २६ अष्ट०।

सद्दबंभवाइ-शब्दब्रह्मवादिन्-पुं०। शब्दसन्मात्रमिच्छति वैयाकरणे, न०। सम्म०। अत्राऽऽह वैयाकरण -न वाक्संस्पर्शरहिता काचित् प्रतिपत्तिरस्ति शब्दाऽनुविद्धायास्तस्या. प्रतिभासनात्। यदि तु-तत्संस्पर्शविकला साऽभ्युपगम्येत प्रकाशरूपताऽपि तस्या हीयेत वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च तदभावे न तस्या किंचिदपर रूपमवशिष्यंत। तदुक्तम्-"वाग्रूपता चेत् व्युत्क्रामे-दवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाश. प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी"(वाक्य० प्र०का० श्लो० १२५) इति। न च निरस्ताऽखिलखसंवेदनं व्यवहारविरचनचतुरमिति सविकल्पमभ्युपगन्तव्यम्।

असदेतत्, यतोऽध्यक्ष पुर संनिहितमेव भावात्मानमवभासयति तत्रैवाध्यक्षवृत्तेर्वाग्रूपता च न पुर सन्निहिताति न सा तत्र प्रतिभाति। न च व्यापितया पदार्थात्मतया वा अर्थदेशे सन्निहिता वागिति तद्दर्शने साऽप्यवभाति, वाचामर्थदेशे सन्निधेरयोगात्। तथाहि-यदाऽक्षान्वये संवेदने पुरस्था नीलादिराभाति न तदा तद्देश एव शब्दात्मा वक्त्रमुखदेशस्य तस्यावभासनात्। नचान्यदेशतयोपलभ्यमानोऽन्यदेशोऽभ्युपगन्तु युक्तो नीलादेरपि तथाभावप्रसक्त.। अतो वाग्विविक्तस्य नीलादेरवभासनान्नार्थदेशे वाक्सन्निधिरिति न तत्संस्पर्शवत्यक्षमति.। न च पदार्थात्मना वाचो युक्ता, तत्त्वेना-प्रतिभासनात्। स्तम्भादिर्हि शब्दाऽऽकारविविक्त पुर प्रतिभाति शब्दोऽप्यर्थविविक्तस्वरूपेण श्रोत्रज्ञानेऽवभातीति, न तयोरैक्यं प्रतिभासभेदतो भेदात्। तथाऽप्यभेदे न क्वचित् भेदो भवेदित्यध्यक्ष शब्दविविक्तरूपादिविषय न वाग्रूपतासंस्पृष्टम्। तत्र तस्य-असन्निधानात्. व्यवहितायाः अपि वाचः प्रतिभासे सकलव्यवहितभावपरम्परा, प्रतिभासताम् अर्थसन्निधानेऽपि वा वाचो लोचनमनावर्थप्रतिभासेन तस्या प्रतिभासस्तद्विषयत्वात्, नहि यो यदविषय न सन्निहितोऽपि तत्र प्रतिभाति, यथा आम्ररूपप्रतिपत्तौ तद्रस अविषयश्च लोचनबुद्धेः

शब्द इति। लोचनबुद्धिर्वाऽर्थमनुसरन्ती स्वविषयमेवाऽवभा-
सयति नेन्द्रियान्तरविषयं सन्निहितमपि, यथा रसनसमुद्भवा
मधुरादिप्रतिपत्तिस्तदेव न परिमलादिक, लोचनप्रभवप्रत्य-
येनैव श्रुतिविषयशब्दप्रतिपत्तौ नयनबुद्धिरेव सर्वाक्षविषयग्रा-
हिका इतीन्द्रियान्तरपरिकल्पनावैयर्थ्य शब्दात्मकेऽपि पदा-
र्थेऽभ्युपगम्यमाने श्रुतिरेव शब्दपरिणतिमधिगच्छति लोचनं
च रूपविवर्त्त पर्येतीत्यभ्युपगन्तव्यम् , अन्यथैकमेवाक्ष
विषयपञ्चक विषयीकरोतीति तत्राप्यक्षपञ्चककल्पना वि-
फलतामनुभवेत् । तत्सकलमक्षवेदनं वाचकविकल स्ववि-
षयमेवावलोकयतीति निर्विकल्पकम् । न-चार्थ सन्निधानाद्वा-
च -सन्निधावप्यक्षान्तरवैफल्यप्रसक्तेः—लोचनमतौ यदि
नाम न शब्दसन्निधिजनिता शब्दाऽऽकारता तथाऽप्युपादा-
नाद् बोधरूपतैव वागरूपताऽपि वाचकस्मृतिजनिता
तत्र भविष्यति यतो यदि स्मरणजनितो वागूरूपतोल्लेख-
स्तदा स्पष्टलोचनप्रभवदृशो भिन्न एव भवेत् कारण-वि-
षयभेदात् । तथाहि-लोचनव्यापारानुसारिणी दृग् वर्त्तमान-
काल रूपमात्र विशदतयाऽवभासति। विकल्पस्तु शब्दस-
रणप्रभवोऽसन्निहिता वागूरूपतामध्यवस्यति कथ न हेतुवि-
षयभेदात्तयोर्भेद ? अथ वाक्परिष्वक्त रूपमधिगच्छद् 'रूपमि
दम्' इत्येकं संवेदनमध्यवस्यति जन इति कथं न तयोरै-
क्यम् ?, नैतद् , यत-" रूपमिदम् " इति ज्ञानेन वागूरूप-
ताऽऽपन्ना पदार्था गृह्येरन् , भिन्नवागूरूपताविशेषणविशिष्टा
वा ?, प्रथमपक्षे लोचन वागूरूपतायां न प्रभवतीति तदनु-
सारिण्यध्यक्षमतिरपि न तत्र प्रवृत्तिमती तत' कथमसा-
वर्थरूपापन्ना वाग्रूपतामधिगन्तु क्षमेत्यन्यैवाक्षमतिर्नामोल्ले-
खात् । अथ द्वितीय पक्षस्तदापि नयनदृग् तद्विषये शुद्ध
एव पुरो व्यवस्थिते प्रवर्त्तते न वाचि, तत्र चावर्त्तमाना
कथ तद्विशिष्टं स्वविषयमुद्द्योतयितु समर्था, न हि
विशेषण भिन्नमनवभासयति तद्विशिष्टतया विशेष्यमव-
भासयति दण्डाग्रहण इव दण्डिनम् । न च यद्यपि वाक्
दृशि न प्रतिभाति, तथापि स्मृतौ प्रतिभातीति विशे-
षणमर्थस्य भिन्नज्ञानग्राह्यस्यापि विशेषणत्वोपपत्तेरिति वक्तु
शक्यम् संविदन्तरप्रतीतस्य स्वातन्त्र्येण प्रतिभासनात् ,
तदन्तरप्रतीयमानविशेषणत्वानुपपत्ति. । यतो नैककालमने-
ककालं वा शब्दस्वरूपं स्वतन्त्रतया स्वग्राहिणि ज्ञाने
प्रतिभासमानं विशेषणभाव प्रतिपद्यते सर्वत्र तस्य त-
द्भावापत्ते' । नच शब्दानुरक्तरूपाद्यध्यक्षमतिरुदेतीति शब्द-
स्य विशेषणत्व रूपादेश्च विशेष्यत्वं, यतो यदि तदनुरक्तता
तत्प्रतिभासस्तदा शब्दस्याक्षबुद्धावप्रतिभासनान्न तदनुरक्त-
ता । अथ रूपादिदेशे शब्दवेदन तदनुरक्तता, तदपि न युक्त,
निरस्तशब्दसन्निधीना रूपादीना स्वज्ञाने प्रतिभासनात् ।
अथ तत्कालशब्दप्रतिभासस्तदनुराग , न, नयनदृशि रूपादि
व्यतिरिक्तशब्दप्रतिभासाऽभावात् , यतो न तुल्यकालमपि श
ब्द लोचनसविदवभासयितु क्षमा तस्य तदविषयत्वात्। अथ
शब्दानुषक्तरूपस्मृतिदर्शनाद् तद्रूपस्य तस्य प्राक् दर्शनमु-
पेयते । तर्हि शब्दविविक्तमर्थरूप प्रत्यक्षमधिगच्छति, वाचक
तु स्मृतिरुल्लिखतीति न तत्संस्पर्शमध्यक्षमनुभवतीति निर्वि-
कल्पकमासक्तम् , अन्यथा शब्दस्मरणासंभवादध्यक्षाभावो
भवेत्। तथाहि-यदि वाक्संसृष्टस्य सकलार्थस्य संवेदन तथा
सत्यर्थदर्शने तद्वाक्स्मृतिस्तत्र च तत्परिष्कारितार्थदर्शनम्
नच कश्चिद् वाक्संस्पर्शविकलमर्थमवगच्छति नमन्तरेण च न
वाक्स्मृति. ता चान्तरेण न वागनुषक्तार्थदर्शनमित्यर्थदर्शना-
ऽभावो भवेत् । ततोऽर्थदर्शनान्निर्विकल्पकमेव तदभ्युपग-
न्तव्यम् । यदि च-वाक्संसृष्टस्यैवार्थस्य ग्रहणं तदाऽ-
गृहीतसंकेतस्य बालकस्य तद्ग्रहण न भवेत् । अथ
तस्यापि 'किम्' इति वागुल्लेखोऽस्तीति तदनुषक्ततद्ग्रहण
सविकल्पकम् , नैतद्युक्तम् , तस्य किमपीति सामान्यस्यैव
ग्रहणं भवेन्न विशेषस्येति न विशदावभासस्यार्थसंवेद-
नसभव' । यदा च अश्व विकल्पयतो गोदर्शन परिण-
मति तदा तदा तद्भागपरिच्छेदात् कथमवबोधस्य शाश्वती
वागूरूपता ? नहि तदा गोशब्दोल्लेखस्तदवबोधस्य संभव-
ति । तत्संवेदनाभावाद्युगपद्विकल्पद्वयानुपपत्तेश्च । ततोऽ
ध्यक्षमर्थसाक्षात्करणान्न वाग्योजनामुपस्पृशतीति निराकृ-
तम् । "वागूरूपता चेत् व्युत्क्रामेत्" इत्यादि लोचनाद्यध्यक्षे
वाक्संस्पर्शायोगात् । यत. श्रोत्रग्राह्यां वैखरीं वाचं न ताव-
न्नयनजसंवेदनमुपस्पृशति तस्यास्तद्विषयत्वात् , नापि स्मृ-
तिविषयां मध्यमा तामवगमयति । तामन्तरेणापि शुद्धसंविदो
भावात् । सहृनाशेषवर्णादिविभागा पश्यन्ती वागेव न भव-
ति, बोधरूपता (पत्वात्) वर्णपदाद्यनुक्रमलक्षणत्वात् वाच.
न तद्युक्ताप्रतिपत्तिर्विकल्पिका, अपि तु—निर्विकल्पिकैव
श्रुतिस्मृतिविषयवर्णपदानुक्रमोल्लेखशून्यत्वात् । यदि-चाऽ-
विकल्पकं संवेदनं किंचिन्नाभ्युपेयते तदा वाक्संस्मरणा-
संभवाद्विकल्पस्याप्यसभव एव स्यात् । अथ प्रथमं स-
वेदनं तदा वाचकस्मृतेरभावादविकल्पक तज्जनितवाचक-
स्मृतिसहकारीन्द्रियप्रभवं त्वभिधानाऽनुरक्तार्थावभासि द्वि-
तीयं सविकल्पकम् , नैतदस्ति, यत स्मृतिसचिवमपि
लोचन न वाचके तत् संकेतसमयभाविनि प्रवृत्तिमदिति
कथं तदविषये स्मृतिदर्शितेऽपि वाचकानुषक्तेऽध्यक्ष-
प्रवृत्ति', यतो न गन्धस्मृतिसहकारिलोचनमविषये परि
मलादौ सवेदनं जनयत् दृष्टं किं तु सन्निहित एव
मलयजरूपे दर्शने तु तत्सहचारिणि परिमलाऽऽदौ स्मृतिं
जनयतीति न तत्तद्रूपसंविदो रूपं हेतुविषयभेदात् ।
तथाऽत्रापि नयनसंवेदनं रूपमात्रसाक्षात्कारिभिन्न तद्दर्शनो-
पजनितं तु विकल्पज्ञानं वचनपरीताऽर्थाऽध्यवसायस्वभाव-
भिन्नमेवेत्यविकल्पकमध्यक्षं सिद्धम् ।

(नैयायिकादिसमत केवलसविकल्पकवादमुपन्यस्य नि-
र्विकल्पकवादिना तस्याऽपि दूषणम्)—

स्यादेतत् यद्यपि वाच्यो नयनजप्रतिपत्त्यविषयत्वान्न तद्वि-
शिष्टार्थदर्शनमध्यक्ष तथापि द्रव्यादेर्नयनादिविषयत्वात् तद्वि-
शिष्टार्थाध्यक्षप्रतिपत्ति. सविकल्पिका भविष्यति। तथाहि नि-
यतदेशादितया वस्तु परिदृश्यमान व्यवहारोपयोगि अन्यथा
तदसंभवाद् देशादिसंसर्गरहितस्य च तस्य कदाचिदप्यननु-
भवात् यच्च देशादिविशिष्टतया नामोल्लेखाभावेऽपि वस्तु सं-
गृह्णाति, तत्सविकल्पक विशेषणविशेष्यभावेन हि प्रतीति.
कल्पना देशादयश्च नीलादिवत् तदवच्छेदका दर्शने प्रतिभा-
न्तीति न तत्र शब्दसंयोजनापक्षभावीदोष. । एतदप्यसत् ,
यत -अध्यक्ष पुरोवर्त्ति नीलादिकमवलोकयितुं समर्थम त-
दवष्टब्धं भूतल तदनवभासे च कथं तद्विशिष्टमर्थं तदवगन्तुं

प्रभुः (भु) । यदपि तदनवच्छेध तत्र प्रतिभाति तदपि न तद्विशेषणमिति शुद्धस्यैव सकलस्य प्रतिभासनान्न विशेषणविशेष्यभावग्रहणम् । तथाहि—दर्शने रूपमालोकश्च स्वस्वरूपव्यवस्थितं द्वितयमाभाति, न तद्व्यतिरिक्तं काल-दिगादिकमिति । कथमप्रतिभासमानं तद्विशेषणं भवति सर्वत्र तदभावप्रसङ्गः, तेन 'देशादिभिर्विशिष्टस्य सर्वस्यार्थस्य संवेदनम्' इति निरस्तम्-विशेषणभूतस्य कस्यचिदप्रतिभासनात् । यत्रापि स्थिराधेयदर्शनादधस्तादाधारमनुमिन्वन्ति तत्राऽपि नाऽनुमानावसेयमधिकरणमिन्द्रियविज्ञानविषयविशेषणम् नाऽपि तदवसायोऽध्यक्षबुद्धेः स्वरूपमिति न विशेषणविशिष्टप्रतिपत्तिरध्यक्षबुद्धिः । किं चसमानकालयोर्वा भावयोर्विशेषणविशेष्यभावं भिन्नकालयोर्वा अध्यक्षबुद्धिरवभासयति ?, न तावद्भिन्नकालयोः तयोर्युगपत्तत्राऽप्रतिभासनात्-यदाहि विशेषणं स्वादिकं पूर्वमवभाति न तदा स्वाम्यादिकं विशेष्य, यदापि चोत्तरकालं तदवभाति न तदा स्वादिकम् असन्निधानादिति न तद्विशिष्टतयाऽध्यक्षेण तस्य ग्रहणम् । तथाहि-चक्षुर्व्यापारे पुरोव्यवस्थितश्चैत्र एव परिस्फुटमाभातीति तन्मात्रग्रहणाच्च तद्विशिष्टत्वप्रतीतिः । न चाऽसन्निहितमपि विशेषणं स्मरणसन्निधापितमध्यक्षबुद्धिरधिगच्छति स्मरणात्प्रागिव तदुत्तरकालमपि विशेषणासन्निधेस्तुल्यत्वान्न तत्र तदाऽप्यध्यक्षबुद्धिप्रवृत्तिरित्यपास्तविशेषणस्यार्थस्य साक्षात्करणं युक्तियुक्तम् । नापि तुल्यकालयोर्भावयोर्विशेषणविशेष्यभावमध्यक्षमधिगन्तु समर्थं तस्यानवस्थितेः । तथाहि-अविशिष्टेऽपि दण्डपुरुषसंयोगे कश्चिद्दण्डविशिष्टतया पुरुषं दण्डीति प्रतिपद्यते । अपरस्तु-तत्रैव पुरुषविशिष्टतया दण्डोऽस्येति प्रतिपद्यते । असंकेतितविशेषणविशेष्यभावस्तु 'दण्ड-पुरुषौ' इति स्वतन्त्रं द्वयमधिगच्छति । वास्तवे तु तस्मिन्नेकदेशस्थप्रतिपत्तॄणां दण्ड-पुरुषरूपयोरिव तुल्याकारतयाऽवभासो भवेत् न चैवम् । तेन दण्डपुरुषस्वरूपमेव स्वतन्त्रमध्यक्षावसेयं विशेषणविशेष्यभावस्तु कल्पनाविरचित एव । येन हि दण्डोपकृतपुरुषजनिताऽर्थक्रिया प्रागुपलब्धा तदर्थी च, स तत्र विशेषणत्वेन दण्डं विशेष्यत्वेन च पुरुषं प्रतिपद्यते प्रधानत्वात् येन च पुरुषोपकृतदण्डेन फलमभ्युपेतं स तत्र दण्डं प्राधान्याद्विशेष्यमध्यवस्यति । अपरिगतफलोपकारस्य प्रथमदर्शने स्वरूपमात्रनिर्भासात् ततोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यामवगतसामर्थ्यद्वयमासाद्य विशिष्टत्वप्रतिपत्तिः, प्रागवगते च सामर्थ्ये नेन्द्रियस्य व्यापारस्तस्यासन्निहितत्वात् । न च व्यापाराऽविषये तत्प्रतिपत्तिजननसमर्थम् न च पुरः सन्निहितेऽर्थेऽप्रवर्त्तमानमिन्द्रियं तत्रापि प्रतिपत्तिमुपजनयितुं समर्थं वर्त्तमानकालालीढनीलादिदर्शनप्रवृत्तस्य चिराऽतीतभावपरंपरादर्शनप्रवृत्तिप्रसक्तेः सकलातीतभावविषयस्मृतेरध्यक्षता भवेत् । तथास्वगोचरचारिणी स्मृतिरपि स्फुटमर्थं वर्त्तमानसमयमुल्लिङ्गयन्तीति सर्वाऽध्यक्षमिति स्मृतिर्भवेत् । न च वर्त्तमानमर्थमध्यक्षमेवोल्लिङ्गयतीति किं तत्र स्मृत्या ?, यत्र हि दर्शनाऽनवतारस्तत्र स्मृतिर्वा कल्पना फलवती स्पष्टदर्शनावतारे तु वर्त्तमानसमयभाविनि रूपादौ स्मृतिप्रवृत्तिरसम्भविनी निष्फला चेति न तत्परिकल्पना, नन्वेवमतीते विशेषणादौ स्मृतिरेव प्रवर्त्तिष्यत इति किं तत्र विशदसंविदवतारेण ?, सा हि सन्निहितमेवार्थमवतरति, न च तदा विशेषणादयः सन्निहितास्तानवलम्बमाना निरालम्बनैव भवेत् ततो विशुद्धरूपमात्रप्रतिभासादध्यक्षसंविन्निरस्तविशेषणमर्थमवगमयति । विशेषणयोजना तु स्मरणादुपजायमाना अपास्ताक्षार्थसन्निधिर्मानसी । न च स्पष्टप्रतिभासाद्वर्त्तमानार्थग्राहिणीति वक्तव्यम्, तामन्तरेणापि स्फुटमर्थप्रतिभासात् न च स्मृतिमन्तरेणाऽपि यदि विशदतनुरर्थात्मा प्रतिभातीति न तस्य ग्राहिका स्मृतिः तर्ह्यक्षव्यापारसद्भावे सुखमन्तरेणापि विषयावगतिरस्तीति सुखमपि विषयग्राहि न स्यात् यतो निरस्तबहिरर्थसन्निधयो भावनाविर्भूततनवः सुखादयो नार्थावेदकाः स्वग्रहणपर्यवसितस्वरूपत्वात्तेषामक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यो विशदसंविद एव बहिरर्थावभासिकाः पृथगवसीयन्ते सुखादिभ्यस्ता एव तदवभासिकास्तद्वद्विकल्पोऽपि नार्थसाक्षात्करणस्वभाव इति ।

ननु यदि न पुरःस्थितार्थग्राही विकल्पः कथं ततस्तत्र प्रवृत्तिर्भवेत् ? । यदेव विशेषणादिकं प्राक् तेनानुभूतं तत्रैव ततः प्रवृत्तिर्भवेत्, न हि स्वात्मानमनारूढेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि विज्ञानमुपलब्धम् अन्यथा शुक्लमर्थमवतरन्ती संविन्नीलार्थे प्रवर्त्तिका भवेत् । न च निर्विकल्पकमेव संवेदनं वर्तमानेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि, विकल्पमन्तरेणापि सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसक्तेः । न च सुखसाधनत्वनिश्चयमन्तरेण पुरः प्रकाशनमात्रेण कश्चित्प्रवर्त्तत इति विकल्प एव पुरोव्यवस्थितार्थग्राही प्रवर्त्तकत्वात् अक्षानुसारितया च स एवाऽध्यक्षमिति युक्तम्, पूर्वदृष्टनामादिविशेषणग्राही निश्चय इति, एतदप्यसंगतम्, धूमग्राह्याध्यक्षव्यतिरिक्ता स्पष्टावभासाग्न्यनुमानाकारस्येव विशददर्शनभूताऽर्थाकाराद् व्यतिरिक्तविकल्पमन्युल्लिख्यमाना स्पष्टाकारस्य तदाऽननुभवात् । ततो बहिरर्थग्राहिण्यो विकल्पमतयोऽभ्युपगन्तव्या न पुनस्तदा विकल्पमतिः पूर्वदृष्टविशेषणमात्राध्यवसायिनी अपरा पुरोवर्त्तिविशदार्थावभासाध्यक्षसंविदपरैव भेदप्रतिभासाभावादिति, असंदेतत्, यतो यदि नाम पुरोवर्त्तिनमर्थं विकल्पमतिरुद्द्योतयितुं प्रभवति तथाऽपि न तत्र प्रवृत्तिः, प्रवृत्तिविरचना चतुरार्थक्रियासमर्थरूपानवभासनात्तदवभासेन ह्यर्थक्रियार्थिना प्रवृत्तिर्युक्ता । न चाऽर्थक्रियासम्बन्धं वर्त्तमानसमयसम्बन्धिन्यर्थे ता प्रदर्शयितुं समर्थास्तदानीं तस्या असन्निधानात् असन्निधौ च न तत्र सामर्थ्याऽवगतिः पदार्थस्वरूपमात्राऽवसायात् । न च तत्स्वरूपमात्रावसायादेव सामर्थ्याऽवगतिः अतिप्रसङ्गात् । ततः पुरोवर्त्तिनि प्रवर्त्तमानोऽपि न विकल्पः प्रवर्त्तकः । न च यतः पूर्वमर्थक्रियाप्रभवत्वं दृष्टा संप्रत्यपि तदर्थक्रियाऽर्थिनया तदध्यवसायात् प्रवृत्तिर्भविष्यति, यतो येन प्रागर्थक्रियानिर्वर्त्तिता तदेव पुरः प्रतिभातीति तन्निर्भासाऽभावे कुतः सिध्यति ? न च कल्पनेव तदध्यवसायिनि तन्निर्भासः । यतो न कल्पनानुव्यवसितं तत्त्व परमार्थसद्व्यवहारमवतरति प्रत्यक्षप्रतिभासस्यैव तद्व्यवहारावतारात् । तदभावे तदभावात् । न चाऽध्यक्षबुद्धेस्तदध्यवसाय प्रथमाऽक्षसन्निपातवेलायामेव नीलादिरूपतावत् तन्निर्भासित्वप्रसङ्गः । अतो न कल्पनाध्यक्षाध्यवसायस्वरमात्रदर्शनावतारात् ।

यथ—सद्दाद्विभ्रमवाद् यद्यपि आद्यदर्शनाऽवभासि

न तस्य तथापि न तन्नास्ति, न हि तीक्ष्णांशुकरनिकरो पहतदृशा गर्भगृहाद्यनुप्रवेशानन्तरमप्रतिभासमाना अपि घटादयो भावाः स्वर्थीभूतनेत्राणां न प्रतिभान्ति, न च प्रागप्रतिभासनात्र सन्ति यथा च सहकारिवशात् पूर्वमप्रतिभाता अपि पश्चात्प्रतिभान्ति । तथाऽत्राप्याद्यदर्शन शुद्धार्थावभासि यद्यपि तत्त्वं नानुभवति स्मरणसहायाक्षप्रभवा तु प्रत्यभिज्ञा तदनुभविष्यतीति । न-तत्त्वस्याऽसत्त्वम् नाप्यक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रत्यभिज्ञा न प्रत्यक्षमिति ।

अत्रोच्यते-यद्यक्षप्रभवा संविदाद्या न तत्त्वमवभासयति पश्चादपि तदविषयत्वान्नाऽवभासयेत् । यथा ह्यक्षमविषयत्वान्नैकत्वे प्रतिपत्तिं विदधाति तथा स्मरणसहकृतमपि न तत्रता विधास्यति अविषयत्वाऽविशेषात्, न हि परिमलस्मरणसहायमपि लोचन गन्धे प्रतिपत्तिकृदुपलब्धमिति न तत्त्वग्रहणमध्यक्षात् । किं च—किंकुर्वाणा स्मृतिरिन्द्रियस्य सहकारित्व प्रतिपद्यते ? पूर्वापरस्य ढौकनमिति चेत्, ननु विनष्टेऽप्यर्थे स्मृतिरुदयन्ती दृष्टेति कथ तत्सन्निधापिते पौर्वापर्ये प्रवर्त्तमाना अध्यक्षधीः सत्यार्थां भवेत् ? अथ यदुपरत वस्तु तद्ग्राहिणी बुद्धिर्न सत्याऽर्थग्राहिणीति युक्तम्, अनुपरतं त्वर्थमवगच्छन्ती कथ सा न सत्यार्था ?, अयुक्तमेतत्, यत-स्मर्यमाणस्यार्थस्यानुपरति कुतोऽवगता ? न स्मरणाद् व्युपरतेऽपि स्मृतिपरत्वे प्रवृत्तेरित्युक्तत्वात् । नच स्मरणोपनीतपौर्वापर्यस्य दर्शने प्रतिभासनात्तदप्रच्युति इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि—स्मर्यमाणस्यार्थस्यानस्तमयसिद्धेस्तदुपनीते तत्र दर्शनप्रवृत्ति सिद्ध्यति । तत्सिद्धौ च स्मरणोपनीतस्याऽनस्तमयसिद्धिरिति कथ नेतरेतराश्रयत्वम् ?। अथ स्मृतिः संप्रति प्रतिभासविषयादर्थाद्भिन्न विषयमध्यवस्यन्ती निरालम्बना स्यात् । प्रतिभासविषय नमेवार्थमुल्लिखन्ती तु कथमसदर्थविषया ? न दर्शनगृहीतमेवार्थमुल्लिखतीत्यत्र प्रमाणाभावान्न स्मरणोपनीतैकत्वाऽवभासिन्यध्यक्षमति सत्यार्थग्राहिणी सिद्धा । न च पूर्वदर्शनमेव पूर्वरूपसंगतमर्थमनुभवदेकत्वे प्रमाण यतो यदि पूर्वरूपतामर्थस्याद्यदर्शनमवावभासयति तथा सति पूर्वापरैकत्वं तदेवावगमयिष्यतीति तत्र स्मृति प्रवर्त्तमाना व्यर्था । न च तदपि पूर्वरूपता तस्याऽवभासयितु क्षम तस्य सन्निहितमात्रविषयत्वात् । पूर्वरूपता हि पूर्वदेश-काल-दशासम्बन्धिता पूर्वदेशादीना च तद्दर्शने अप्रतिभासनात् न तत्संस्पर्शिरूपप्रतिभासस्तत्र संभवी न हि तदप्रतिभासे तत्संबन्धिपदार्थरूपप्रतिभास अन्यथा नीलताऽप्रतिभासेऽपि पीते नीलसम्बन्धिताऽवगतिर्भवेत् । तन्नैकत्वग्राहिण्यध्यक्षमति । यच्च 'दृष्टता प्रत्यक्षग्राह्या' इति परैरुच्यते तत्र दृष्टता यदि तद्दृशि प्रतिभातता तदा वर्त्तमानतैव । अथ पूर्वदृशि प्रतिभातता तदा पूर्वदृशोऽप्रतिभासने कथ तत्प्रतिभातताऽवभासः सम्प्रति संवेदने ? तत्र हि स्पष्टतया सन्निहित रूपमाभातीति सैव तत्र युक्ता, पूर्वदर्शन तु प्रत्यस्तमितमिति तद्दृष्टताऽपि व्युपरतैवेति कथ सा वर्त्तमानदृशि प्रतिभासेत ? तदभ्युपगमे वा तद्दृशो निरालम्बनप्रसक्तिः । न च पूर्वदृश्यमानता तत्र व्युपरता, दृष्टता तु तदैवोत्पन्नेति कथमसती येन ता प्रतीयती प्रत्यक्षमतिर्निरालम्बना भवेत् ?, यतो यदि दृष्टता तत्र सन्निहिता भवेत् तदा प्रथममागतां नीलाऽऽदिरूपतामिव तामप्यधिगच्छेत् न चाऽधिगच्छतीति ज्ञानस्वभावोऽसाधारणतयाऽसौ नार्थस्वरूपमिति कुतोऽध्यक्षताऽवसया ?, तथाहि-पूर्वदर्शनमनुस्मरन्नेव पूर्वदृष्टतां व्यवहारी तत्राध्यारोपयति विस्मरणे तदनध्यवसायात् यच्च स्मृतिरध्यवस्यति स्वरूप न तद्दर्शनपथोपप्रयुक्तम् आकारभेदात् । न च तद्दर्शन-स्मरणे एकं विषयं बिभ्रतः 'पूर्वदृष्ट पश्यामि' इत्यध्यवसायात् । यतः-किं स्मर्यमाण दृश्यमानतया रूपं प्रतीयते, आहोस्विद् दृश्यमान स्मर्यमाणतयेति विकल्पद्वयम् ? । तत्र यद्याद्य पक्षस्तथा सति स्मर्यमाणं परिस्फुटतया रूपमाभातीति कथ तस्य परोक्षता ?, अथ द्वितीयस्तत्रापि दृश्यमानं स्मर्यमाणेन रूपेणाऽवभातीति सर्व परोक्ष भवेदिति न काचिदध्यक्षमति सत्याऽर्था स्यात् । अतोऽक्षधीर्वर्त्तमानमेव रूप प्रत्येति, स्मृतिरपि तदसंस्पर्शि परोक्ष रूपमिति न तयोरैक्य प्रतिभासभेदस्य सर्वत्र भेदकत्वात् । तस्य च विशदाऽविशदरूपतयाऽवभासमानयोर्दृश्यस्मर्यमाणयो सद्भावात् कथं न भेदः ?, किञ्च-यदि शुद्धमेव दर्शनं स्मृतिनिरपेक्षं पूर्वरूपताग्राहि, नन्वेव भाविरूपताग्राहि प्रथमदर्शन किं नेष्यते ?, नहि भाविभूतयोरसन्निहितत्वे विशेष, येनैकत्राध्यक्षवृत्तिरपरत्र नेति भवेत् ? नच 'पूर्वदृष्ट पश्यामि' इति व्यवसायात् पूर्वरूप एव दर्शनव्यापार । 'पूर्व्वमेवेद मया दृष्टम्' इत्यध्यवसायाद् भाविरूपेऽपि दर्शनव्यापारप्रसक्तेः । अतोऽपाकृतम् "इदानींतनमस्तित्व न हि पूर्वधिया गतम्" इति । न च पूर्वदृशा तदाभाविकालताया असन्निधानादग्रहण सम्प्रति दर्शनकाले पूर्वरूपताया अप्यसन्निधेस्ततो ग्रहणप्रसक्तेः । यदि पुनर्भाविरूपतामप्यध्यक्षमनुभवति, 'पूर्वमेवेदं मया दृष्टम्' इति व्यवहारदर्शनात् तर्हि प्रथमसंवेदनमेव मरणावधिरूपपरम्परामधिगच्छतीति तदैव मृतो भवेत् । न च मृतिसद्भावे मृतो भवत्युत्पत्तिसमये तु नासाविति कुतोऽय दोष । यतो यदि तदाऽसौ नाऽस्ति कथमसती सा दर्शने प्रतिभाति ?, तदप्रतिभासने तु कथ भाविरूपपरिगतो भावोऽवभातो भवेत् ? यदेव तत्र वर्तमानं रूपमाभाति तदेवाध्यक्षमस्तु न भावि । यदि तु तदपि तदाऽध्यक्ष तदाद्याऽध्यक्ष एव मृत्युपाधेः सकलविषयस्य प्रतिभातस्याऽस्तमयात् तद्विषयात्तदुत्तरकालभाविनी सर्वा मतिर्निर्विषया भवेत् । किं च-भाविभूतयोरध्यक्षाविषयत्वे भिन्नमपि तदध्यक्षविषय भवेदिति सर्वस्त्रिकालदर्शी भवेदिति " भविष्यश्चैषोऽर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति न प्रतिभाति " इति निराकृत द्रष्टव्यम् । भावि-भूतकाले तावद् भविष्यता धर्माऽऽदेर्दर्शनकालेऽसतोऽपि प्रतिभासनात् । न चाभिन्नयोर्भाविभूतरूपयो प्रतिभासेऽपि भाविधर्म्मादेर्भिन्नत्वान्न प्रतिभासः । भेदेनाध्यक्षप्रतिभासनाऽविरोधात् । दृश्यन्त एव हि भिन्नरूपा घट-पटाऽऽदयोऽध्यक्षप्रतिभासमादधानास्तन्न भाविभूतरूपताऽध्यक्षावसेयेति स्मृतिविषयः । पूर्वरूपतादर्शनावभासिनोऽर्थस्य भाविरूपता चानुमानावसेया । तेन—

" नच स्मरणत पश्चा-दिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् ॥ "
" वार्यते केनचिन्नापि, तदिदानी प्रदुष्यति । "
(श्लो० वा० प्रत्यक्ष० श्लो० २३५।२३६।) ।

इति निरस्तं, यतो यदि स्मरणादूर्ध्व वर्त्तमानरूपे इन्द्रियस्य प्रवर्त्तनमभिप्रेत तथा सति वर्त्तमानमात्रपरिच्छेत्रान्न स्मरणोपढौकितैकत्वग्रहः । अथ पूर्वरूपे तत्राऽपि यथा प्राक्

स्य तु तद्वैवोदयान्न तदर्थो प्रवृत्ति. संगता प्रवृत्तौ वा तदविरतिप्रसक्तिः स्पर्शादीनां चैकसामग्र्यधीनतयोपलभ्यमानं रूपं हेतुः स्थैर्य चोपलभ्यमान कालान्तरस्थितौ लिङ्गमिति कथ न निश्चयोऽनुमानम्? न च सम्बन्धस्मरणपक्षधर्मत्वनिश्चयादुपजायमानमनुमानमनुभूयते अत्र तु त्रैरूप्यपर्यालोचनमन्तरेणापि नीलानुभवानन्तरं 'नीलमेतत्' इति निश्चयो झगित्युदेतीति नानुमानताऽस्य यतो न सर्वदाऽनुमितिस्त्रैरूप्यपर्यालोचनमपेक्ष्य प्रवर्त्तते अत्यन्ताभ्यासात् कदाचित्संबन्धस्मरणानपेक्षलिङ्गस्वरूपदर्शनमात्रादुदयदर्शनात् धूमोपलम्भादभ्यासदशायामग्निप्रतिपत्तिवत्। अथाऽत्राविनाभावपर्यालोचन प्रागासीदनवगतसम्बन्धस्य धूमदर्शनादेवाप्रतीतेस्तर्हि मन्दाभ्यासे प्रकृतेऽपि पर्यालोचनमस्त्येव-'एवंजातीये पूर्वमप्यर्थक्रियोपलब्धा इदमप्येव जातीय प्रतिभासमान रूपम्' इति। अभ्यासदशाया तु रूपदर्शनादेव, पर्यालोचनमन्तरेणापि झगिति फलयोग्यता प्रतीयते इति व्यवस्थितमेतत् दृश्यमान रूप धर्मि तत्फलयोग्यता साध्या तद्रूपसामान्य लिङ्गमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वमपि हेतो अतो निश्चय स्वरूपावभासादुदयमासादयन्परोक्षमर्थक्रियायोग्यत्वं निश्चिन्वन्ननुमानमेव। व्यवहारोऽप्यत एव न प्रत्यक्षात्। आह च—

"तद् दृष्टावेव दृष्टेषु, संवित्सामर्थ्यभाविन ।
स्मरणादभिलापेण, व्यवहार प्रवर्त्तते ॥१॥"

इति स्मरणादनुमानरूपाद्व्यवहार. प्रवर्त्तत इति अयमर्थ न त्वन्यगतचेतसोऽभ्यस्ते परिमलादावविकल्पाक्षमतेः प्रवृत्तिदर्शनात्कथ न निर्विकल्पक प्रवर्त्तकम्? किंच-यद्यनुमितिरेव बाह्ये सर्वदा प्रवृत्तिमारचयति तर्हि तत्र नाध्यक्षं प्रमाणमिति स्वसंवेदनमात्रमेवैकमध्यक्ष भवेत् तथा च-"रूपादिस्वलक्षण विषयमिन्द्रियज्ञानम् आर्यसत्यचतुष्टयगोचरं योगिज्ञानम्" इत्यादि चतुर्विधाऽध्यक्षोपवर्णनमसंगतमनुषज्येत। अथ निर्विकल्पकमध्यक्षं नार्थस्यार्थक्रियायोग्यतामधिगच्छति तदभावे न प्रवृत्तिरित्यप्रवर्तकत्वान्न बाह्ये प्रमाणम्, तर्ह्यनुमानमपि नार्थक्रियासंगतिमवभासयति तस्याऽवस्तुविषयत्वात् तथा च तदपि कथ प्रवर्त्तकम्? अथ तदध्यवसायितया तस्योत्पत्तेरर्थग्राहित्वाभावेऽपि प्रवर्त्तकता, असदेतत्, तदध्यवसायित्वस्याप्यनुपपत्ते। तथाहि—तदध्यवसायित्वं, तस्य किं ग्राहकाकार., उत ग्राह्याकार इति वक्तव्यम्?, यदि ग्राहकाकारस्तदा तस्य ग्राहक स्वरूपं न बाह्यमर्थं सन्निधापयतीति न तदध्यवसायोऽनुमानसाध्य.। अथ ग्राह्याकारः सोऽपि नार्थस्वरूपसंस्पर्शीति कथं तदवगमे बाह्यार्थाध्यवसितिरनुमानफलम्?, तदेवमनुमितेः स्वसंवेदनमात्रपर्यवसितत्वान्नार्थप्रदर्शनद्वारेण प्रवर्त्तकता युक्ता। नन्वनुमाने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा तदभावे सा न दृष्टेति तत्कार्याऽसौ निश्चीयते तर्ह्यभ्यासदशाया विकल्पविकले दर्शने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा प्रतिपदोच्चारं तत्र विकल्पना संवेदनेऽपि पुर परिस्फुटप्रतिभासमात्रादेव प्रवृत्त्युपपत्तेस्तत्कार्याऽसौ किं न व्यवस्थाप्यते?, अथानुमानादनभ्यासदशाया प्रवृत्तिरुपलब्धेति तदन्तरेण सा कथं भवेत्? न, मन्दाभ्यासे अनुमानादेव प्रवृत्ति, अभ्यासदशाया तु पर्यालोचनलक्षणानुमानव्यतिरेकेणापि वस्तुदर्शनमात्रादेव समस्तु, तथा दर्शनात्, अन्यथाऽनभ्यासदशायामनुमानात् प्रवृत्तिदर्शनात्सर्वदाऽनुमानस्यैव व्यवहृतिजनकत्वे प्रत्यक्षेण लिङ्गग्रहणाऽभावतस्तन्निश्चयकृदपरमनुमानमभ्युपगन्तव्यं तत्राऽप्यनुमानान्तराल्लिङ्गनिश्चय इति तन्निश्चयकृदपरमनुमानमित्यनवस्थाप्रसक्ता न कदाचित् व्यवहृतिर्भवेत्। ततोऽविकल्पकं दर्शनमभ्यासदशाया व्यवहारकृदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा पूर्वोक्तप्रकारेणानुमानाऽनवतारात्। न च पौर्वापर्येऽप्रवृत्तिमत् सन्निहितमात्रावभास्यध्यक्ष कथ तादृग् लिङ्गग्रहणक्षम यतोऽनभ्यासाऽवस्थायामनुमानात्प्राग् व्यवहारः पश्चात्वध्यक्षादभ्यासदशायामिति प्रेर्यम्? यत संवृत्या लिङ्गप्रतिबन्धग्राहि प्रत्यक्षमभिमतं, लोकस्य ह्येवमभिमान. तदेव-"साध्यप्रतिबद्ध लिङ्गमह पश्यामि" इति तदभिमानाच्च लिङ्गप्रतिबन्धग्राह्यध्यक्ष व्यवहारकृदभ्युपेयते। परमार्थपर्यालोचनया तु न प्रत्यक्षानुमानभेद. नापि व्यवहार संवेदनमात्रत्वात्सर्वप्रपञ्चस्य। स्वसंवेदनं च सकलविकल्पविकलमिति कथं स्वार्थनिर्णयस्वभावं ज्ञान प्रमाणं सिद्धिमासादयेत्?।

(निर्विकल्पकमेवाध्यक्षमिति मतं प्रतिविधाय सविकल्पस्याध्यक्षत्वमुपपाद्य च सिद्धान्तिना स्वार्थनिर्णयस्वभावज्ञानस्य प्रमाणसामान्यलक्षणत्वव्यवस्थापनम्)—

अत्र प्रतिविधीयते-'स्वार्थनिर्णयस्वभाव प्रत्यक्षं न भवति' इत्येतत् किं तद्ग्राहकप्रमाणाभावादभिधीयते, आहोस्वित्तद्बाधकप्रमाणसद्भावात्?, तत्र न तावदाद्य पक्षोऽभ्युपगमार्ह. स्थिरस्थूलसाधारणस्य स्तम्भादेरर्थस्य बहिरन्तश्च सदसद्व्यचेतनत्वाद्यनेकधर्माक्रान्तस्य ज्ञानस्यैकदा निर्णयात्साक्ष्यचेतनत्वाद्यनेकधर्माक्रान्तस्य ज्ञानस्यैकदा निर्णयात्स्वार्थनिर्णयात्मनोऽध्यक्षस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्, तद्ग्राहकप्रमाणाभावोऽसिद्ध.। (तथाहि-अन्तर्बहिश्च स्वलक्षण पश्यॅल्लोक. स्थूलमेक सगुणाऽवयवात्मकं ज्ञान घटाऽऽदिक च सकृत् प्रतिपत्त्याऽध्यवस्यति, न चेयं प्रतिपत्तिरनध्यक्षा, विशदस्वभावतयाऽनुभूतेः। न च विकल्पाऽविकल्पयोर्मनसोर्युगपद्वृत्तेः, क्रमभाविनोर्लघुवृत्तेर्वा एकत्वमध्यवस्यति जन. तत्रेत्यविकल्पाऽध्यक्षगतं वैशद्यं विकल्पे सांश (स्वांश) स्वार्थाध्यवसायित्वमध्यारोपयतीति वैशद्यावगति, एकस्यैव तथाभूतस्वार्थनिर्णयाऽऽत्मनो विशदज्ञानस्यानुभूतेरननुभूयमानस्याप्यपरनिर्विकल्पकस्य परिकल्पने बुद्धेश्चैतन्यस्यापरस्य परिकल्पनाप्रसक्त इति सांख्यमतमप्यनिषेध्यं स्यात्। किं च—सविकल्पाऽविकल्पयो. क. पुनरैक्यमध्यवस्यति?, न तावदनुभवो विकल्पेन आत्मन ऐक्यमध्यवस्यति, व्यवसायविकलत्वेनाभ्युपगमात्, तस्यान्यथा भ्रान्ततापसक्तात्। नापि विकल्पो विकल्पेन स्वस्यैक्यमध्यवस्यति तेनाविकल्पस्याविषयीकरणात्, अन्यथा स्वलक्षणगोचरताप्राप्ते. अविषयीकृतस्य चाऽन्यत्राऽध्यारोपाऽभावात्, न ह्यप्रतिपन्नरजत शुक्तिकाया रजतमध्यारोपयितुं रजतमेतदिति समर्थः। न च यथेश्वरादिविकल्पस्तदविषयीकरणेऽप्यध्यवसिततद्भाव उपजायते तथाऽत्राप्यध्यवसिता विकल्पस्वभावो विकल्प. समुपजायत इति स तयोरैक्यमध्यवस्यति, उक्तोत्तरत्वात्। तथाहि-न तावदनुभव एवरूपमात्मानमवगच्छति तेनाऽस्याऽर्थस्याऽविषयीकरणात् 'एतद्रूपतया तस्यासिद्धेश्च। न हि मरीचिका जलरूपतयाऽध्यवसिता तद्रूपतयाऽसिद्धार्थक्रियापर्याग्न्युपलब्धा, एवमनुभवोऽपि विकल्परूपतयाऽध्यवसि-

तत्तथाऽसिद्धो नार्थक्रियोपयोगि, नाऽतः किञ्चित्सिध्यति। नाऽपि विकल्पस्तस्याऽवस्तुविषयत्वाऽभ्युपगमात्। यदि पुनर्विकल्पस्तद्रूपमात्मानमध्यवस्येत् तर्हि परमार्थविषयता तस्येति। " विकल्पोऽवस्तुनिर्भासा-द्विसंवादादुपप्लव. " इति असगतं स्यात्। अत एव न विकल्पान्तरमपि तमध्यवस्येत् तस्याऽपि तुल्यदोषत्वात्। किं च-नयोरैक्य व्यवस्यतीत्यत्र यदि विकल्पं निर्विकल्पकतया मन्यते व्यवहारी तदा निर्विकल्पकमेव सर्व ज्ञानमिति विकल्पव्यवहारोच्छेदादनुमानप्रमाणाऽभाव.। अथाऽविकल्प विकल्पतया तदा सविकल्पकमेव सर्व प्रमाणमिति अविकल्पप्रत्यक्षवादो विशीर्येत। यथाहि—प्रज्ञाकराभिप्रायेण मणिप्रभाया मणिज्ञानं, ' य एव मणिर्मया दृष्ट' स एव प्राप्त ' इत्यभिमानिन' प्रत्यक्षं प्रमाणम् अन्यथाऽभ्यासदशाया भाविनी दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वाध्यवसायात्प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति न भवेत्। अन्यस्य तन्निबन्धनस्य तत्राऽप्यभावात्-तथा सर्व निर्विकल्प विकल्पत्वेन निश्चित्य सविकल्पकमेव सर्वं ज्ञानमिति यो व्यवहरति तस्य किमिति तदेव न प्रमाणम ?, यथाहि-दृश्यं प्राप्यारोपात्प्राप्यं तथा अविकल्पो विकल्पाऽऽरोपाद्विकल्पो भवेत्, न्यायस्य समानत्वात्। अथ यथा-प्राप्यमणिप्रभा-मणिप्रतिभासयोरेकत्वाध्यवसायेऽपि न मणिप्राप्तौ तत्प्रतिभास—स्याभाव.-अन्यथा मणि. प्रतिभातो न प्राप्त. स्यात्—तथा सविकल्पाऽविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायेऽपि निर्विकल्पकस्य नाऽभाव, नन्वेवं साशस्थूलैकरूपप्रतिभासव्यतिरिक्तस्य निरंशक्षणिकपरमाणुऽप्रतिभासलक्षणनिर्विकल्पकानुभवस्य-तत्रैव निर्णयप्रसक्ति। अथ विकल्पेनाविकल्पस्य सहस्रांशुना तारानिकरस्येव तिरस्कारान्न तथा निर्णयस्तर्हि विकल्पस्याप्यविकल्पेन तिरस्कारात्प्रतिभासनिर्णयो न स्यात्।

अथ विकल्पस्य बलीयस्त्वादविकल्पस्य च दुर्बलत्वात् तेन तस्य तिरस्कार . ननु कुतो विकल्पस्य बलीयस्त्वम् ?, प्रचुरविषयत्वात् इति चेत्, न, अविकल्पविषय एव प्रवृत्त्यभ्युपगमाद् अन्यथाऽस्य गृहीतग्राहित्वाऽसंभवात्। निर्णयात्मकत्वात्तस्य तदात्मकत्वमिति चेत्?, ननु तस्य किं स्वरूपे निर्णयात्मकत्वम् उतार्थरूपे?, न तावत्स्वरूपे "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदन प्रत्यक्षम् " (न्यायबिं० १-१० इत्यस्य विरोधात्। एवमपि तत्र तस्य निर्णयात्मकत्वे चक्षुरादिज्ञान स्वपरयोस्तदात्मक किं न भवेत् ? नथा च स्वा-ऽऽकाराध्यवसायाधिगमश्चक्षुरादिचेतसा सिद्ध इति केन कस्य तिरस्कारः ? तन्न विकल्प. स्वरूपे निर्णयात्मकोऽभ्युपगन्तव्यः। अथार्थे तस्य निर्णयात्मकत्वम्, नन्वेवमेकस्य विकल्पस्य निर्णयाऽनिर्णयस्वभावं रूपद्वयमायातम्। तच्च परस्परं तद्वतश्च यद्येकान्ततो भिन्नमभ्युपगम्यते समवायादेरनभ्युपगमात्सम्बन्धाऽसिद्धे' ' बलवान् विकल्पो निर्णयात्मकत्वाद् ' इत्यस्यासिद्धि। न च रूपादीनामिव परस्परमेकसामग्र्यधीनतालक्षणस्तयोः संबन्ध तद्वता चाऽग्निधूमयोरिव तदुत्पत्तिलक्षण इति वक्तव्य स्वाऽभ्युपगमविरोधात्। किं च-यदा विकल्पस्य कारणत्वं निर्णयाऽनिर्णययोश्च कार्यत्व तदा विकल्पस्य पूर्वकालत्वं, तयोश्चोत्तरकालत्व, प्रज्ञाकराभिप्रायात्तु विपर्ययोऽपि मरणलिङ्गस्यारिष्टादेस्तत्कार्यतया प्राक् भाविनस्तेनाभ्युपगमात्। तथा च भिन्नकालस्य विकल्पस्य न निर्णयाऽनिर्णयाऽऽत्मकत्वमिति ज्ञानरूपताया अप्यभावः तद्विकलस्य गत्यन्तराभावात् तयोश्च विकल्पस्वभावविकलतया नि स्वभावता। ज्ञानाद् भिन्नयोरनुपलम्भत्वेन गत्यन्तराभावात्। स्वय तयोरुपलम्भे विकल्पाद्भिन्ने ज्ञाने स्याताम्। एवं च यदनिर्णयात्मक तत्तदेव, यच्च निर्णयस्वरूप तदपि तदेव। नथा च निर्विकल्पकस्य पृथगुपलम्भनिर्णयः स्यादिति पूर्वोक्तमेव दूषणं पुनरापतति, निर्णयात्मकेऽपि चक्षुरादिज्ञानमपि तथैव स्यादिति पूर्वोक्त एव दोष'। तत्रापि रूपद्वयकल्पनाया प्रक्तो दोष., अनवस्था च। तन्न परस्परं तद्वतश्च भेदैकान्तो युक्तः। अभेदैकान्तेऽपि तद्द्वयमेव तद्वान् वा भवेत्। नथा च न प्रकृतसिद्धि.।

अथ निर्णयाऽनिर्णयस्वभावयोरन्योन्य तद्वतश्च कथंचित्तादात्म्यम् तर्हि यत् स्वात्मनि अनिर्णयात्मकं बहिरर्थे च निर्णयस्वभावरूप तत्साधारणमात्मानं प्रतिपद्येत चेद्विकल्प. स्वरूपेऽपि सविकल्पक. प्रसक्त, अन्यथा निर्णयस्वभावतादात्म्याऽयोगात्। न च स्वरूपमनिश्चिन्वन् विकल्पोऽर्थ निश्चिनोति इतरथा गृहीतस्वरूपमपि ज्ञानमर्थग्राहकं भवेदिति न नैयायिकमतप्रतिक्षेप। न च नैयायिकाभ्युपगमेन परगृहीतस्य स्वगृहीतताद्दोष, भवन्मतेऽपि परनिश्चितस्य स्वनिश्चितत्वप्रसक्त.। यथा च परज्ञानमननुभूतत्वान्नात्मनो विषयस्तथा विकल्पस्य स्वरूपमनिश्चितत्वान्नाऽऽत्मनो विषय इति समानं पश्याम। न च तस्याऽपि निकल्पान्तरेण निश्चय. तस्याऽपि विकल्पान्तरेण निश्चयाऽऽपत्तेरनवस्थाप्रसक्त.। नच विकल्पस्वरूपमनुभूतमपि क्षणिकत्वादिवदनिश्चितमर्थनिश्चायक युक्तम्। अनिश्चितरयानुभवेऽपि क्षणिकत्ववत् स्वयमव्यवस्थितत्वात्। अव्यवस्थितस्य च शशशृङ्गादेरिवान्यव्यवस्थापकत्वाऽयोगात्। यथा च विकल्पस्य स्वाऽर्थनिर्णयात्मकत्व तथा चक्षुरादिबुद्धीनामपि तद् युक्तम् अन्यथा तासां तद्ग्राहकत्वाऽयोगात्। अथ विकल्पस्य बहिरर्थे प्रवृत्तिरेव नास्तीति कथ तन्निर्णयात्मक. ? न हि नीलज्ञान पीताऽप्रवृत्तिक तन्निर्णयात्मक वक्तु शक्यम्, प्रतिपत्रभिप्रायवशात् बौद्धै र्ग्राह्यार्थव्यवसायाऽऽत्मकत्व विकल्पस्य परमार्थतो निर्विषयत्वेऽपि व्यावर्ण्यते, तदयुक्तम्, यतः किमिद विकल्पस्य परमार्थतो निर्विषयत्वम् ? यद्यात्मविषयत्व तर्ह्यात्मविषयं निर्विकल्पकमपि ज्ञान निर्विषयमित्यर्थनिर्णयाऽऽत्मकत्वाद्बलवान् विकल्प इति निर्विकल्पकानुभवस्य निर्णयस्तिरस्कारक इत्यसङ्गतं स्यात् सविकल्पकस्यैव कस्यचिदभावादात्मविषयस्य निर्विकल्पकस्यापि विकल्पवत्सविकल्पकस्यैव वा भावात् न चैव कस्यचित्प्रतिपत्तुरभिप्राय.। अथ साधारणस्यास्पष्टस्य स्व-परयोरविद्यमानस्याकारस्य शब्दसंसर्गयोग्यस्य विषयीकरणं निर्विषयत्वं, न, तस्य तत्र सम्बन्धाऽभावतो विषयीकरणाऽसंभवात्, तथापि तद्विषयीकरणे सर्वमपि ज्ञान तथैव स्वविषयं विषयीकुर्यादिति, तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धकल्पनमनर्थकमासज्येत। न च तादात्म्यलक्षणस्तत्र तस्य सम्बन्धस्तदाकारे अविकल्पकत्वस्याऽविकल्पकत्वे वा तदाकारत्वस्य प्रसक्ते। तदुत्पत्तिसंबन्धवशात् तेन तद्ग्रहणम् इत्येतदप्ययुक्तं तदाकारस्य तज्ज्ञानोत्पादकत्वेन स्वलक्षणत्वप्राप्तेस्तज्ज्ञानस्य सविषयताप्रसक्तिदोषात्। न च स्ववासनाप्रकृतिविभ्रमव-

शाद्वतदुत्पन्नमतदाकारं च तत्ताद्विपर्यीकरोति अत्तसमनन्तरविशेषात्, अन्यस्याप्युपजातस्य तथा स्वविपर्यीकरणप्रसङ्गे सर्वत्र तदाकारतदुत्पत्तिप्रतिबन्धकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गः । अतस्तदाकारविषयीकरणासंभवाद्विकल्पस्यार्थाभावतो दृश्य-विकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवर्त्तत इत्युक्तमभिधानम्। ततो न बलवान् विकल्प इति कथं तेनाऽविकल्पतिरस्कार इति अविकल्पकनिश्चयस्तदैव भवेत् नन्वेवम्—अतो नाऽविकल्पस्य विकल्पेन एकत्वाऽध्यवसायः । किञ्च—विकल्पेऽविकल्पकस्यैकत्वेनाध्यारोप इति कुतो निर्धीयते ? अस्पष्टाऽस्वलक्षणग्राहिणि स्पष्टस्वलक्षणग्राहित्वस्य प्रतीतेस्तदध्यारोपावगतिरिति चेत् नन्तु यदि नाम तत्र तत्प्रतीति. अविकल्पारोपस्तु कुत ? स्पष्टत्वादेस्तद्धर्मस्य, तत्र दर्शनादिति चेत् तद्धर्म स्पष्टत्वादिरित्येतदेव कुत ? तत्र दर्शनादिति चेत्, अत एव विकल्पधर्मोऽप्यस्तु अन्यथा विकल्पस्यापि मा भूत्। न च विकल्पव्यतिरेकेणाविकल्पमपरमनुभूयते यस्य स्पष्टत्वादिधर्म्मं परिकल्पेत एवमपि तत्र तत्परिकल्पने ततोऽप्यपरमननुभूयमानं विशदत्वादिधर्माधारं परिकल्पनीयमिति अनवस्थाप्रसक्तिः । अथ किंचित् ज्ञानं सविकल्पकमपरं निर्विकल्पकं शब्दसंसर्गाभावाद्विकल्पस्य चाऽर्थसामर्थ्योद्भूतत्वात्संभवान्न विशदत्वादिधर्म्मयोग अविकल्पस्यापि तद्योगाभावे विशदत्वादिकं न कांचिदपि भवेदित्यविकल्पस्यैव तदभ्युपगन्तव्यम् । भवेदेतद्यद्यर्थसामर्थ्यप्रभवत्वेन वैशद्यादव्याप्तिः स्यात्तदभावे तन्न भवेत्। न चैवम्-अर्थसामर्थ्योद्भूतेऽपि दूरस्थितपादपादिज्ञाने वैशद्यादेरभावाद् योगिप्रत्यक्षे चार्थप्रभवत्वाभावेऽपि च भावात्। न च तदप्यर्थसामर्थ्योद्भूतं तत्समानसमयस्य चिराऽतीतत्वादनुत्पन्नस्य चार्थस्य तद्ग्रहणानुपपत्ते । तथाहि—प्रागसर्वज्ञः सन् सुगतो विवक्षितक्षणे सर्वज्ञतामासादयंस्तत्समानसमयभाविनां भावानाम्-तज्ज्ञानं प्रति अजनकत्वात्तेषां-ग्राहको न स्यात्, एवमुत्तरोत्तरतद्विज्ञानक्षणा अपि स्वसमयार्थग्राहका न भवेयुः । चिरतरविनष्टस्य च भावकलापस्यासत्त्वेन तदकारणत्वान्न तं प्रति ग्राहकता भवेत्। अनुत्पन्नस्य च पदार्थसमूहस्य कारणत्वाऽसंभवात्, तं प्रति ग्राहकता तस्य दूरोत्सारितैव । अथ चिरातीतं भावि च तत्कारणमभ्युपगम्यत इति नायं दोष , नन्वत्राऽप्यऽभ्युपगमे येन स्वभावेन तत्तदनन्तरभाविकार्यमुत्पादयति तेनैव यदि सुगतज्ञानमिदानींतनकालभावि जनयति तदेकस्वभावत्वान्नित्यादिवत् कार्यक्रमायोगात् पूर्वमेवैतदप्युत्पद्येत । अथ समनन्तरप्रत्ययस्य सुगतज्ञानहेतोरिदानीमेव भावान्न पूर्वमुत्पत्ति , असदेतत्, यत आलम्बनकारणं चिरातीतसमयभावि तदैव तत्कार्यमुत्पादयितुं प्रभवति समनन्तरप्रत्ययस्त्विदानीमिति विरुद्धकारणसामर्थ्यानुविधायिनः कार्यस्योत्पत्तिरेव न भवेत्। अथान्येन स्वभावेन तर्हि सांशं तत्प्रसज्यत इति तद्ग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य सांशैकवस्तुग्राहकत्वेन सविकल्पकताप्रसक्तिः । एव भाविकारणेऽपि वक्तव्यम्। तन्न योगिप्रत्यक्षमर्थसामर्थ्यप्रभवमभ्युपगन्तव्यम् , अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः । तच्च तदप्रभवमपि यथा विशदम्—अन्यथा प्रत्यक्षत्वानुपपत्ते - तथा विकल्पज्ञानमर्थसामर्थ्याप्रभवमपि यदि विशदं भवेत् तदा को विरोध ?, विकल्पस्य वैशद्यमेव विरोध । तदुक्तम्

" न विकल्पानुबद्धस्य, स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।
स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्त्तं, न च तत्ताविरोधकृत् ॥ १ ॥"

इति चेत्, ननु स्वप्नावस्थायां पुरोवर्त्तिहस्त्याद्यवभासमेकं ज्ञानमनुभूयते , अपरं तु स्मरणज्ञानम्। तत्र पूर्वोल्लिखितयोपजायमानस्य-यदि वैशद्यवैकल्यं नैतावता सर्वविकल्पस्य पुरोवर्त्तिस्तम्भाद्युल्लेखवतो वैशद्याभावस्तत्र तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतीते । न चाविकल्पकं तदिति वक्तव्यं स्थिरस्थूरपुरोव्यवस्थितहस्त्याद्यवभासिनः स्वप्नदशाज्ञानस्याविकल्पकत्वे अनुमानस्यापि सांशवस्त्वध्यवसायिनो निर्विकल्पकत्वप्रसक्तेः विकल्पवार्त्ताविरतिरेव स्यात्। अत एव-'प्रथमं निर्विकल्पकं निरंशवस्तुग्राहकं तदर्थसामर्थ्योद्भूतत्वात् तदुत्तरकालभावि तु निर्विकल्पज्ञानप्रभवमर्थनिरपेक्षं सांशवस्त्वध्यवसायि सविकल्पकमशविदम् , लघुवृत्तेस्तु निर्विकल्पकज्ञानवैशद्याध्यारोपात्, तत्राध्यक्षत्वाभिमानो लोकस्य ' इति , एतदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्। विकल्प एव पूर्वोक्तन्यायेन वैशद्योपपत्ते , निर्विकल्पकस्य च निरंशक्षणिकपरमाणुमात्रावसायिनः कदाचिदप्यनुपलब्धेस्तत्र वैशद्यकल्पनाया दूरापास्तत्वात्। अथ संहृतसकलविकल्पावऽस्थाया पुरोवर्त्तिवस्तुनिर्भासि विशदमक्षप्रभवं ज्ञानमविकल्पकं संवेद्यत एव तथा चाध्यक्षसिद्ध एव ज्ञानानां कल्पनाविरह इति नात्र प्रमाणान्तरान्वेषणमुपयोगि । तदुक्तम्-'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं , प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ॥ ' इत्यादि । तथा पुनरप्युक्तम्—

" संहृत्य सर्वतश्चिन्तां , स्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं, वीक्षते साऽक्षजा मति ॥ १ ॥"

न ह्यस्यामवस्थायां नामादिसंयोजितार्थोल्लेखो विकल्पस्वरूपोऽनुभूयते। न च विकल्पानां स्वसंविदितरूपतयाऽननुभूयमानानामपि संभव इति विकल्पविकला साऽवस्था सिद्धा, असदेतत् यतस्तस्यामवस्थायां स्थिरस्थूरस्वभावशब्दसंसर्गयोग्यपुरोव्यवस्थितगवादिप्रतिभासस्याऽनुभूतं सविकल्पकज्ञानानुभव एव । न हि शब्दसंसर्गप्रतिभास एव सविकल्पकत्वं तद्योग्यावभासस्यापि कल्पनात्वाभ्युपगमात् , अन्यथा व्युत्पन्नसंकेतस्य ज्ञानं शब्दसंसर्गविरहात् कल्पनावन्न स्यात्। न च पूर्वकालदृष्टत्वस्य वर्तमानसमयभाविनि संयोजनाच्छब्दोल्लेखाभावेऽप्यसदर्थग्राहितयाऽविशदप्रतिभासत्वात् तत् सविकल्पकम् , पूर्वकालदृष्टत्वस्य पूर्वदर्शनाप्रतीतावपि व्यापकाप्रतीतौ व्याप्यस्येव प्रतीतेरसत्त्वाऽसिद्धेः तत्सम्बन्धित्वग्राहिणोऽसदर्थासिद्धेर्वैशद्याभावस्य तत्रानुपपत्ते । शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्य विशदतया विकल्परूपस्याप्यध्यक्षतोपपत्ते शब्दयोजनामन्तरेणापि स्थिरस्थूरार्थप्रतिभासं निर्णयात्मकं ज्ञानमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तस्य प्रामाण्यमेवानुपपन्नं भवेत्। तथाहि-यत्रैवांशे नीलाऽऽदौ विधिप्रतिषेधविकल्पद्वयं पाश्चात्यं तज्जनयति तत्रैव तस्य प्रामाण्यं तदाकारोत्पत्तिमात्रेण प्रामाण्ये क्षणिकत्वादावपि तस्य प्रामाण्यप्रसक्तेः क्षणक्षयानुमानवैफल्यमन्यथा भवेत् विकल्पश्च शब्दसंयोजितार्थग्रहणम् तत्संयोजना च शब्दस्मरणमन्तरेणासंभविनी तत्स्मरणं च प्राक्तनसन्निध्युपल-

१—' न न तत् नादृगर्थदृग् । ' पाठान्तरे ।

ध्यार्थदर्शनमन्तरेणानुपपत्तिमत्, तद्दर्शनं चाध्यक्षतः क्षणिकत्वादाविव निश्चयजननमन्तरेणाऽसंभवि, निश्चयश्च शब्दयोजनाव्यतिरेकेण नाभ्युपगम्यत इत्यध्यक्षस्य क्वचिदप्यर्थप्रदर्शकत्वाऽसंभवात् प्रामाण्यं न भवेत्। तस्माच्छब्दयोजनमन्तरेणाप्यर्थनिर्णयात्मकमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा विकल्पाऽध्यक्षेण लिङ्गस्याप्यनिर्णयात्। अनुमानात् तन्निर्णये अनवस्थाप्रसङ्गः, अनुमानस्याप्यप्रवृत्तितः सकलप्रमाणादिव्यवहारविलोपः स्यात्। अत एव—" अश्व विकल्पयतो गोदर्शनात् न तदा गोशब्दसंयोजना तस्यास्तदाऽननुभवात् युगपद्विकल्पद्वयानुत्पत्तेश्च । निर्विकल्पकगोदर्शनसद्भावस्तदा " इति निरस्तम् गोशब्दसंयोजनामन्तरेणापि तद्दर्शनस्य निर्णयात्मकत्वात्, अन्यथाऽश्वविकल्पनाद् व्युत्थितस्य गवि क्षणिकत्ववत् शब्दस्मरणासंभवतः स्मृतिर्न भवेत्। अभ्युपगमनीयं चैतत् अन्यथा गोशब्दस्मरणस्यापि विकल्परूपत्वादपरतच्छब्दस्मरणमन्तरेण तद्योजनारूपस्य तस्याऽसंभवात् तत्स्मरणमभ्युपगन्तव्य तस्याऽपि चापरतच्छब्दस्मरणमन्तरेण तथाभूतस्याऽनुपपत्तेरपरतच्छब्दस्मरणमित्यनवस्थानात् न प्रथमशब्दस्मरणमिति न क्वचिद् विकल्पप्रसवो भवेत्, अथापरशब्दस्मरणमन्तरेणापि शब्दस्मरणसंभवान्नाऽनवस्था तर्हि प्रथमशब्दस्मरणं तद्योजनं च व्यतिरेकेणाप्यश्वविकल्पनसमये गोदर्शनस्य निर्णयाऽऽत्मनः संभवात् कथमस्या विकल्परूपतासिद्धिमुपगच्छेत् ?। यदपि-' निरंशवस्तुसामर्थ्योद्भूतत्वात् प्रथमाक्षसन्निपातज निरंशवस्तुग्राहि निर्विकल्पकम् ' इति तदप्यसंगतम्, निरंशस्य वस्तुनोऽभावेन तत्सामर्थ्योद्भूतत्वस्य निर्विकल्पकत्वहेतोस्तत्राऽसिद्धेः। न च यन्निरंशप्रभवं तन्निरंशग्राहि, निरंशरूपक्षणप्रभवस्याप्युत्तररूपक्षणस्य तद्ग्राहित्वाऽदर्शनात्। न च ज्ञानत्वे 'सति' इति विशेषणान्नाय दोष. प्रत्यक्षप्रभवविकल्पस्य ज्ञानत्वेऽपि तद्भावानुपपत्तेः उपपत्तौ वा हिंसाविरतिदानचित्तस्वसंवेदनाध्यक्षप्रभवनिर्णयेन तद्ग्रहणोपपत्ते निश्चयविपर्यीकृतस्य चानिश्चितरूपान्तराभावात् स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादेरपि तद्गतस्य निश्चयात्, तत्र विप्रतिपत्तिर्न भवेत् अथानुभवस्यैवायं यथावस्थितवस्तुग्रहणलक्षण' स्वभावविशेषो न विकल्पस्य तेनायमदोषस्तर्हि यथा दानचित्तानुभव. स्वसंवेदनाध्यक्षलक्षण. तद्गतं सद्द्रव्यचेतनादिकं विषयीकरोति तथा स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमपि तत्स्वरूपाव्यतिरिक्तत्वाद्विषयीकुर्यात्ततश्च सद्द्रव्यचेतनत्वादाविव तत्राऽपि विवादो न भवेत्। न चासौ नास्तीति श क्यं वक्तु चार्वाकादेस्तत्र विप्रतिपत्तिदर्शनात्। तथाहि-"या वज्जीवेत्सुखं जीव' इत्याद्यभिधानान्न स्वर्ग. नापि तत्प्राप्तिहेतु. कश्चिद् भाव इति चार्वाकाः। नैव दानादिचित्तात् स्वर्ग. यदि तत्तो भवेत् तदनन्तरमेवासौ भवेत् अन्यथा मृतात् शिखिन. केकायितं भवेत्तस्मात्ततो धर्मस्तस्माच्च स्वर्ग इति नैयायिकादय। "इष्टाऽनिष्टाऽर्थसाधनयोग्यतालक्षणौ धर्माऽधर्मौ " इति मीमांसका । उक्तं च-' शाबरे-" य एव श्रेयस्कर. स एव धर्मशब्देनोच्यते," (मीमांसाद० १-१-२ शाब० पृ० ४) अनेन द्रव्यादीनामिष्टार्थसाधनयोग्यता धर्म इति प्रतिपादितं शबरस्वामिना । भट्टोऽप्येतदेवाह—

" श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः, सा द्रव्यगुणकर्मभि. ।
चोदनालक्षणैः साध्या, तस्मादेष्वेव धर्मता ॥ १ ॥
एषामिन्द्रियकत्वेऽपि, न ताद्रूप्येण धर्मता ॥
श्रेय.साधनता ह्येषां, नित्यं वेदात्प्रतीयते ।
ताद्रूप्येण च धर्मत्व, तस्मान्नेन्द्रियगोचरः । "

(श्लो० वा० सू० २ श्लो० १९१-१३-१४) इति।

एवमनेकधा विवाददर्शनान्न विवादाभावः । स च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यस्य दानचित्तादभेदे वस्तुस्वरूपग्राहिणा च स्वसंवेदनाध्यक्षेणाऽनुभवे सद्द्रव्यचेतनत्वादाविव न युक्तः। अथ तच्चित्तादभिन्नं तत्प्रापणसामर्थ्यं तद्ग्रहे गृहीतमेव, किं तु—स्वसंवेदनस्य " सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं ' प्रत्यक्षमविकल्पकम् ' " इति वचनात् अविकल्पाध्यक्षत्वमिति तद्गृहीतस्याग्रहीतकल्पत्वाद्विवादसंभवः तत्र आह च कीर्त्तिः —' पश्यन्नपि न पश्यति ' इत्युच्यते । असदेतत्, यतो यदि तत्सामर्थ्यं निर्विकल्पकाध्यक्षविषयत्वाद् गृहीतमप्यगृहीतकल्पं तर्हि तच्चित्तमपि तत एव तथा भवेदविशेषात् तथा च-' यज्ञानादिचित्तं तद्बहुजनसेव्यतानिवन्धनं यथा त्यागिनरपतिचित्तं, दानादिचित्तं च विवक्षितम् ' इत्याद्यनुमानमगमकम्-आश्रयासिद्धत्वादिदोषात्-प्रसज्येत। अथात्र विकल्पोत्पत्तेर्न दोष, असदेतत्, यतो यद्धेतुको विकल्प चित्तवत् तत्सामर्थ्येऽपि भवेत्। अथ न, तत्र चित्तेऽपि मा भूत् अविशेषात्। अनुभवाद्विकल्पोत्पत्तिर्नानिमित्तेति चेदुभयत्र स्यात् न वा क्वचिदप्यनुभवस्याऽप्यविशेषात् न च चेतोविकल्पप्रभव एवानुभवः समर्थः न तत्सामर्थ्यविकल्पोत्पत्ताविति वक्तव्य यतो येन स्वभावेन तच्चित्तचेतनादिकं स्वसंवेदनाध्यक्षमनुभवति, तेनैव चेत् तत्सामर्थ्यं तदुभयत्रापि विकल्पस्तत. प्रादुर्भवेत्। अथ रूपान्तरेण तदुभयरूपतैकस्यानुभवस्येत्यविकल्पकैकान्तवादव्याघातः, न चैकेनैव स्वभावेनोभयानुभवेऽपि तत्सामर्थ्ये न विकल्पमुत्पादयत्यनुभवः अशक्तेरन्यत्र तदुत्पादयति विपर्ययादिति वक्तव्यम्, एकस्य शक्तेतररूपद्वयायोगात्। न चैकत्र शक्तिरेवान्यत्राशक्तिस्तस्येतीश्वरस्यापि क्रमभाविकार्यविधायिन एकत्र शक्तिरेवापरत्राशक्तिरिति, स्वभावभेदो न भवेदिति न नित्यकारणप्रतिक्षेपो भवेत्। अथ नानुभवमात्राद्विकल्पप्रभव. अन्यथा निर्णयात्मकानुभवत्वादिनोऽपि विस्तीर्णप्रघट्टकादौ वर्णपदवाक्यादे सकलस्य निर्णयात्मनाऽध्यक्षेणानुभवात् स्मरणविकल्पानुदयो न भवेत्। अथात्र दर्शनपाटवाभ्यासप्रकरणाद्यपेक्षा तर्ह्यन्यत्रापि सा तुल्येति। एतदप्यसद्, यतो दर्शनस्य पाटवं सच्चेतनाऽऽदौ, तद्-

१ अत्र धर्मकीर्तिरने न्यायबिन्दौ-" सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम् " इत्येतावदेव सूत्र दृश्यते-प० १ सू० १० पृ० ११ । तत.- " प्रत्यक्षमविकल्पकम् " इत्यश सूत्रटीकानुसारी समुद्धृतो बोद्धव्य.। सा च टीकेयम् वर्तते-" तत्र ज्ञानरूप वेदनमात्मन. साक्षात्कारि निर्विकल्पकमभ्रान्त च तस्मात् प्रत्यक्षम् "- पृ० ११ प० १४ । तट्टीकाटिप्पण्यपि यथा-" तद् प्रत्यक्ष सम्वेदनरूप निर्विकल्पक अत्र शब्दादियोजनाभावात्। कुत. । शब्दसकेताभावात्। अभ्रान्त च तज्ज्ञान स्वरूपेऽविसंवादित्वाद् बाधकाभावाच्चेति "-पृ० ३३ प० ५-६ " सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पकमिति "-सिद्धिवि० टी०लि० पृ० ४१ प० २० ।

ग्रहणयोग्यता तत्सामर्थ्ये । अपाटव तद्ग्रहणयोग्यता तच्च दर्शनस्य दृश्यस्य च सांशतायामुपपत्तिमदिति कथं न सविकल्पकता ?, विकल्पजननाऽजनने तत्पटवाऽपाटवे अपि नाभ्युपगमनीये साशतापत्तिदोषादेव । अथाभ्यासादिसहायं दर्शन विकल्पमुत्पादयति; नन्वेवमपि यदेव सच्चेतनादौ दर्शनं तदेव चेत् , अन्यत्रोभयत्र विकल्पोत्पत्तिर्भवेत् , अन्यथा ' नित्यस्यापि सहकारिसचिवमेकदैकत्र यद्रूप तस्याऽन्यत्रान्यदा सद्भावेऽपि न तत्कार्यकरणं तदा तत्र' इति तस्य यद् दूषण तदसंगतं भवेत् । किं च—यदपरमपेक्ष्य कार्यजनक क्वचिद् दृष्ट तत् तत्सहकृत कार्यं निर्वर्त्तयतीति शुष्क मृदादिवत् कुम्भकाराद्युपकृतम् । नचाभ्यासादिसहायमविकल्पकं कदाचिद्विकल्पमुपजनयद् दृष्टमिति कथं तस्य सहकारिसचिवस्य विकल्पजनकताभ्युपगम ? । अथ सच्चेतनादिविकल्पमविकल्पकमुत्पादयत् दृष्टमिति तदभ्युपगम , स्यादेतत् यदि क्रमभाविहेतुफलभूतमविकल्पसविकल्पकं ज्ञानद्वयमवसीयेत न च तदवसीयेत सांशयिकविकल्पस्वभावस्य सामान्यविशेपात्मकवस्तुग्राहिण प्रथममेवोपजायमानस्यैकस्यैव निश्चयात् । तथाऽप्यप्रतीयमानस्य पूर्वकालभाविनोऽपरस्याविकल्पस्याभ्युपगमे तत्राप्यपरस्य तथाभूतस्याभ्युपगम इत्यनवस्थाप्रसक्ति· ।

यदप्यविकल्पकस्याभ्यासादिसहायविकल्पजनने प्रघट्टकास्मरण दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं,तदप्ययुक्तम् , यतो वर्णादीना तज्ज्ञानानां च व्यक्तिभेदात् दृढसस्काराण्येव निश्चयात्मकान्यपि ज्ञानानि स्मृतिजनकानि नाऽपराणीति प्रतिनियतविपयस्मृतिसंभवान्न सकलप्रघट्टकास्मरणदोप । अनिश्चयात्मक तु ज्ञान क्षणिकत्वादाविव न क्वचिद्विकल्पहेतुर्भवेत् । इत्युक्तं प्राक् । न च भवत्पक्षे सच्चेतनाऽऽदिस्वर्गप्रापणशक्त्यादीना परस्पर तदनुभवाना च भेद· येनेदमुत्तर समानं भवेत् । तथाहि—सच्चेतनादितत्सामर्थ्ययोरभेदे तदनुभवादेकरूपादुभयत्र संस्कार स्मरणं वा भवेत् न वा क्वचिदिति अन्यथा अनुभवस्य साशतापत्तिरिति सविकल्पकत्व भवेत्। तस्माद्दानचित्तादौ सच्चेतनत्वादिकमनुभूयते न स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अथ तच्चेतसो मूषिकाऽलर्कविपविकारवदनन्तरं फलस्यानुपलम्भात् , अतत्फलसाधर्म्याद्सामर्थ्यसमारोपाद्वा,तदनुभवेऽपि न विकल्प·। तदुक्तम्-

"एकस्यार्थस्वभावस्य, प्रत्यक्षस्य सत स्वयम् ।
कोऽन्यो न दृष्टो भाग स्या—द्य· प्रमाणै परीक्ष्यते ॥ १ ॥
नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन, संयोज्येत गुणान्तरम् ।
शुक्तौ वा रजताकारो, रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥२॥" इति ।

अत्र च तात्पर्यार्थ —यद् यतोऽभिन्नं तस्मिन्ननुभूयमाने तदनुभूयते यथा तस्यैव स्वरूपम् अभिन्नं च । सच्चेतनादे· चेतस स्वर्गप्रापणसामर्थ्य तस्य ततो भेदे सम्बन्धासिद्ध सामर्थ्यादेव तत्प्राप्तेश्चेतसस्तत् प्राप्ति प्रत्यकारकत्व च भवेत् निरशस्य च वस्तुनोऽध्यक्षेणानुभवे अननुभूतापराशाभावान्न तत्र प्रमाणान्तरप्रवृत्ति प्रयोजनवती । अय च निश्चयात्मकाध्यक्षवादिनो दोप· , निश्चिते विपरीतसमारोपाभावात् , निश्चयारोपमनसार्बाध्यवाधकभावात् । अविकल्पदर्शनानुभूत तु वस्तुन्यनिश्चयात् भ्रान्तिनिमित्तगुणान्तराऽऽरोपसंभवात्तद्व्यवच्छेदार्थं प्रमाणान्तरप्रवृत्ति· सप्रयोजनैवेति , एतदप्ययुक्तम् ,-यतस्तत्सामर्थ्यस्य यत्फलं सच्चेतसा तदेव, उताऽन्यदिति ?। प्रथमपक्षे उभयत्र निश्चयाभाव· फलादर्शनस्याविशेषात् । द्वितीयपक्षे घट पटवत् तद्भेद । यदप्यसामर्थ्यसमारोपात्तन्निश्चयानुत्पत्तिरिति तत्रापि तत्सामर्थ्यानुभवो यद्यनिश्चितोऽप्यस्ति सर्व सर्वत्राऽनिश्चितमपि भवेत् इति साख्यमताऽप्रतिक्षेप । न च तत्सामर्थ्यं तच्चेतसोऽभिन्नमिति तदनुभवे तस्याप्यनुभवश्चन्द्रग्रहणेऽपि तदेकत्वाग्रहणत· तैमिरिकदर्शनेन व्यभिचारात् , तस्यापि ग्रहणमिति चेत् , न, भ्रान्तेरभावप्रसङ्गत· "कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्षम् " (न्यायविं०१-४) इत्यत्राभ्रान्तग्रहणाऽऽनर्थक्यप्रसक्तेर्व्यवच्छेद्याभावात् । चन्द्रग्रहणमपि तत्र नास्तीति चेत् , न , एकत्वाप्रतिपत्तावपि तत्प्रतिभासदर्शनात् । एकस्य द्वित्वविशिष्टतया तस्य ग्रहणान्मरीचिकाजलज्ञानवत् भ्रान्तं तदिति चेत् , न, द्वित्वे यथा विसंवादाभिप्रायात्तद्भ्रान्त तथा चन्द्रमसि संवादाभिप्रायात्किमिति तत्रा(न्रा)भ्रान्त प्रमाणेतरव्यवस्थाया व्यवहार्थनुरोधत' समाश्रयणात् ' प्रमाणय व्यवहारेण, शास्त्र मोहनिवर्त्तनम् ।' इति भवतैवाभिहितत्वात् । नचैकत्र ज्ञाने भ्रान्तेतररूपद्वयमयुक्तं व्यवहारिणा तथाऽऽश्रयणाद् अन्यथेकचन्द्रदर्शनस्यापि ' चन्द्ररूपं प्रमाणता क्षणिकत्वे अप्रमाणता' इति रूपद्वयं न स्यात् क्षणक्षयेऽपि तत्प्रामाण्ये प्रमाणान्तरा प्रवृत्तिर्भवेत् । चन्द्रमस्यप्यप्रमाणत्वे न किञ्चित् क्वचित्प्रमाणंभवेदिति सर्वप्रमाणव्यवहारलोपो भवेत् यस्य तु मतं दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे अविसवादाभिमानिन' प्रत्यक्ष प्रमाणम् , इतरस्य तयोर्विवेके सत्यनुभूतेऽपि न प्रमाण तस्य चन्द्रदर्शने चन्द्रप्राप्त्यभिमानिन किमिति चन्द्रमात्रे तत्र प्रमाणम् ?, विवेकानध्यवसायिनस्तु यदि तदननुभूतेऽप्येकत्वे प्रमाण तर्हि यद्यथाऽवभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि, यथा नील नीलतयाऽवभासमान तथैव सद्व्यवहारावतारि अवभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावा इत्यनुमानमसगत हेतोरसिद्धताप्राप्ते । अथ त प्रत्येतदनुमानमेव नोपादीयते तर्हि क प्रत्येतदुपादेयम् ?, यस्तयोर्विवेक मन्यते त प्रतीति चेत् , न , त प्रत्यनुमानानर्थक्यात् तदन्तरेणापि तदर्थनिष्पत्ते । यच्च ते प्रति भाविनि प्रवर्त्तकत्वादनुमान प्रमाणं युक्तम् तत् " सर्वचित्तचैत्तानामात्मसवेदन प्रत्यक्षम् " इति वचनात्स्वरूपे भ्रान्त बहिरर्थे " भ्रान्तिरपि सम्बन्धत· प्रमा " इति वचनाद् भ्रान्तमित्येकमेव कथ द्विरूपम् ? किं च-यदि तस्य न प्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति कथमनुमानप्रादुर्भाव ? अस्ति चेत् तत्किं विपयमिति वाच्यम् ? साधनावभासि जलादिसाधनविषयं प्राप्यावभासि प्राप्यार्थक्रियाविपयमिति चेत् , ननु तदपि जलादिमात्रे प्रमाण स्वविपयकार्यजननसामर्थ्यादावप्रमाणम् अन्यथा विवादाभावात् शास्त्रप्रणयन तदर्थमनर्थकं भवेदिति तदप्यंशेनैव प्रमाणम् ।

यत्पुनरभ्यधायि—'दृश्यप्राप्ययोरेकत्वे विसवादबुद्धि प्रति प्रत्यक्षाऽऽभासम्' इति तत्र दृश्यादिमात्रे तदाभासत्वे वस्तुदर्शनमुच्छिद्येत । अथात्र प्रमाण-तदाभासधर्मद्वयमभ्युपगम्यते प्रकृतेऽप्यभ्युपगम्यताम् । अथ तैमिरिकज्ञानेनाप्रतीयमानमेकत्व तस्येति कथ? ननु निश्चिते शब्दे अनि-

स्थिता क्षणिकता तस्येत्यपि कथम्? अनुमानेन तत्रैव निश्चयात् तस्येत्येतदन्यत्रापि समानम्। तदेवं निरंशत्वे वस्तुनः तद्वित्तग्रहणे तत्सामर्थ्यस्यापि ग्रहणप्रसक्तेर्विवादाभावस्तत्रैव भवेत्। न चैवमिति सांऽशं वस्तु तथाभूतवस्तुग्राहकं प्रमाणमपि सांशं सत्सविकल्पकम् अपि च-यदि निरंशवस्तुसामर्थ्योद्भूतत्वात्कल्पनापोढमध्यक्षं स्वसंवेदनं तथाभूतवस्तुप्रभवत्वाभावात् संवेदनग्राहि निर्विकल्पकं च न भवेत्, अथ तादात्म्यं तत्र तन्निमित्तं, न, संवेदनादेरिव स्वर्गप्रापणसामर्थ्येऽपि ग्रहणप्रसक्तेस्तदविशेषात्। अथ न तादात्म्याद् ग्रहणमव्यभिन्नस्य, किं तु-तादात्म्यादेव, असदेतत्, तादात्म्यादेव स्वरूपस्य ग्रह इत्यत्र प्रमाणाऽभावात्। अविकल्पकं दर्शनं प्रमाणमिति चेत्, न, सुषुप्ताऽवस्थायां तत्प्रसङ्गात् तत्रापि चैतन्यसद्भावात्। अन्यथा प्रबोधावस्थाविज्ञानमनुपादानम् अचेतनोपादानं वा भवेत्। न च तदनुरूपप्रबोधदशाज्ञानाद्व्यवहितज्ञानोपादानं तद्विप्रकृष्टदेशकालस्यापि कारणत्वे नैमित्तिकज्ञानस्यापि विप्रकृष्टदेशकालकारणप्रभवत्वसंभवात् निरालम्बनता न भवेत्। अतोऽव्यवहितं कारणमभ्युपगन्तव्यम्। न च सुषुप्तावस्थायां विकल्पानुत्पत्तेर्न तत्प्रसङ्गो विकल्पवशात् तादात्म्ये सत्यपि तदवस्थायां बाह्यार्थेऽपि तत एव तदवस्थोपपत्तेर्विकल्प एव प्रमाणं भवेत्।

त्वात् प्रदीपवत्' तथा 'प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः तैजसत्वात् प्रदीपवत्' इति, एतदप्यत एव निरस्तम्, रूपप्रकाशकत्वं हि रूपज्ञानजनकत्वं तच्च प्रदीपस्याऽसिद्धं तस्य रूपैकज्ञानसंसर्गित्वात्। प्रयोगश्चात्र—प्रदीपस्तद्विज्ञानकारणं न भवति विषयत्वात् यो हि यद्विषयो नासौ तत्कारणं यथा त्रिकालविषयभावविषययोगिज्ञानस्यातीतादिकोऽर्थः, तथा च प्रदीपो विषयो रूपज्ञानस्य तस्मान्न कारणमिति। तैजसत्वाऽसिद्धौ च चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं दूरोत्सारितमेव। अत एव—"नाऽननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाऽकारणं विषयः" इति सौगतमतमप्यपास्तम्। तथाहि-किं कारणम् विषय एव, उत कारणमेव विषयः?, प्रथमपक्षे रूपादिसंविदां चक्षुराद्यपि विषयो भवेत्, तथा च-'यस्मिन् सत्यपि यन्न भवति तत्तदतिरिक्तहेत्वपेक्षं यथा कुलालाऽभावे सत्यप्यपरकारकसमूहे अभवन् घटः कुलालापेक्ष', सत्यपि च रूपादौ कदाचिन्न भवति 'रूपादिज्ञानम्' इत्यनुमानोपन्यासो व्यर्थः अध्यक्षत एव चक्षुरादाधिगतेः। द्वितीयपक्षेऽपि 'भविष्यति रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयात्तीतभरण्यामिव' इत्यस्यानुमानस्य भावी रोहिण्युदयोऽकारणत्वात् विषयो न स्यात् न हि भावी रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयस्य परम्परया-

भवेत् । तथा च-"अर्थेन घटयेदेनां,नहि मुक्त्वाऽर्थरूपताम् । तस्मात्प्रमेयाधिगतेः, प्रमाण मेयरूपता" ॥ १ ॥ इत्यसगतमभिधानम् । सम्म० २ काण्ड २ गाथाव्या० ।

अत्र च द्रव्यार्थिकमतावलम्बी शब्दब्रह्मवाद्याह भर्तृहरिः-

" अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥ "

(वाक्यप०श्लो०१ प्रथमका०) इति । अत्र च आदिरुत्पादः, निधन विनाशः, तदभावाद् 'अनादिनिधनम्। 'अक्षरम्'इत्यकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वादनेन च विवर्त्तोऽभिधानरूपतया निदर्शितः। 'अर्थभावेन' इत्यादिना त्वभिधेयो विवर्त्त । 'प्रक्रिया' इति भेदानामेव सकीर्त्तनम् ' ब्रह्म ' इति पूर्वापरादिदिग्विभागरहितम् अनुत्पन्नमविनाशि यच्छब्दमयं ब्रह्म ततश्चायं रूपादिभावग्रामपरिणाम इति श्लोकार्थः । एतच्च शब्दस्वभावात्मकं ब्रह्म प्रणवस्वरूपम् , स च सर्वेषा शब्दाना समस्तार्थानां च प्रकृतिः । अयं च वर्णक्रमरूपो वेदस्तदधिगमोपायः प्रतिच्छन्दकन्यायेन तस्यावस्थितत्वात् , तच्च परम ब्रह्म अभ्युदयनिःश्रेयसफलधर्मानुगृहीतान्तःकरणैरवगम्यते । अत्र च प्रयोगो—ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मया, यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृदाकारानुगता मृण्मयत्वेन प्रसिद्धा शब्दाऽऽकारानुस्यूताश्च सर्वे भावा इति स्वभावहेतु । प्रत्यक्षत एव सर्वभावाना शब्दकारानुगमोऽनुभूयते । तथाहि-अर्थेऽनुभूयमाने शब्दोल्लेखानुगता एव सर्वे प्रत्यया विभाव्यन्ते । उक्तं च—

" न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञान, सर्वे शब्देन भासते ॥ "
(वाक्यप० श्लो० १२४ प्रथमका०) इति ।

न च वाग्रूपताऽननुवेधे बोधस्य प्रकाशरूपताऽपि भवेत् तस्यापरामर्शरूपत्वात् तदभावे तु तस्याभावात् बोधस्याप्यभाव , परामर्शाभावे च प्रवृत्त्या(त्त्या)दिव्यवहारोऽपि विशीर्येत इति । आह च—

" वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामे-दवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाश प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ "
(वाक्यप० श्लो० १२५ प्रथमका०) इति ।

ज्ञानाकारनिबन्धना च वस्तूनां प्रज्ञप्तिरिति नैषां शब्दाकारानुस्यूतत्वमसिद्ध, तत्सिद्धेश्च तन्मात्रभावित्वात्तन्मयत्वस्य तन्मयत्वमपि सिद्धमेव । अत एव 'अयं घटः' इत्यभेदेन शब्दार्थसबन्धो वैयाकरणैः-' सोऽयमित्यभिसंबन्धाद्रूपमेकीकृतम् ' इत्यादिनाऽभिजल्पस्वरूपं दर्शयद्भिः प्रतिपादितः ।

अत्र च पर्यायास्तिकमतेन प्रतिज्ञादिदोष उद्भाव्यते-किमत्र जगत शब्दपरिणामरूपत्वाच्छब्दमयत्व साध्यते, उत शब्दात्तस्योत्पत्तेः शब्दमयत्व यथा-' अन्नमया. प्राणा ' इति हेतौ ' मयट् ' विधानात् ? न तावदाद्यः पक्ष परिणामानुपपत्तेः । तथाहि—शब्दात्मकं ब्रह्म रूपाद्यात्मकता प्रतिपद्यमान स्वरूपपरित्यागेन वा प्रपद्येत, अपरित्यागेन वा ?। यदि परित्यागेनेति पक्ष आश्रीयते तदा ' अनादिनिधनम् ' इत्यनेन यदविनाशित्वमभ्युपगत तस्य हानिप्रसक्ति पौरस्त्यस्वभावध्वंसात् । अथाऽपरित्यागेनेति पक्षस्तदा रूपसंवेदनसमये बधिरस्य शब्दसवेदनप्रसङ्गस्तदव्यतिरेकात् नीलादिवत् । तथाहि—यद् यदव्यतिरिक्त तत्संवेदने सवेद्यते, यथा तत्स्वरूपम् , रूपाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्दात्मेति स्वभावहेतुः । अन्यथा-भिन्नयोगक्षेमत्वात्तत्तदात्मकमेव न स्यादिति विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । सम्म० १ काण्ड ६ गाथाव्या० ।

अथ यदाकारं यदुत्पन्नं यदध्यवस्यति तत्र तत्प्रमाणं नन्वत्रापि यदाकारं यदुत्पन्नं विज्ञानमेवार्थाध्यवसायं जनयति, उत तत्तमेव, आहोस्विज्जनयत्येवेति कल्पनात्रयम् । आद्यकल्पनायां कारणान्तरनिषेधाद्विकल्पवासनाऽपि तत्कारणं न भवेत् एव च निर्विकल्पकबोधाद् यथा सामान्याऽवभासी विकल्पस्तथाऽर्थादेव तथाभूताद् भविष्यतीति किमन्तरालवर्त्तिनिर्विकल्पदर्शनकल्पनया ?, नचाऽविकल्परूपताविशेषेऽपि दर्शनादेव विकल्पोत्पत्तिर्नार्थाद्वस्तुस्वाभाव्यादित्युत्तरं तस्य स्वरूपेणैवाऽसिद्धेः । किं च-यथा(थाऽ)विकल्पादर्थाद्विकल्पदर्शनप्रभवस्तथा दर्शनादपि तथाभूतात् तथाभूतस्यैवाविकल्पस्य प्रसव इति विकल्पवार्त्ताऽप्युपरतैव भवेत्। किं च-स्थिरस्थूराऽवभासि स्तम्भादिज्ञान यद्यविकल्पकं कोऽपरो विकल्पो यस्तज्जन्यो भवेत् ?। अथ 'स्तम्भ' स्तम्भोऽयम् ' इत्यनुगताकारावभासि ज्ञानं विकल्पः सामान्यावभासित्वात् तर्ह्याद्यमप्यनेकावयवसाधारणस्थूलैकाकारस्तम्भावभासिविकल्प किं न भवेत् सामान्यावभासस्याऽत्राऽपि तुल्यत्वात् ? अस्यापलापेऽपरस्याऽप्रतिभासनात् प्रतिभासविकलं जगत्स्यात् । न च स्तम्भप्रतिभासात्प्राग् निरंशक्षणिकैकपरमाऽणुगोचरमविकल्पकं ज्ञानं पुरुषवत्प्रतिभाति तथाऽपि तत्कल्पनं पुरुषपरिकल्पनाऽपि भवेदिति न सौगत पक्षस्यैव सिद्धि । किं च-निरंशक्षणिकानेकस्तम्भादिपरमाण्वाकाराद्यनेक तद्बिभर्ति स्वाऽऽत्मनि तदा सविकल्पकमासज्येत अनेकानुविधानस्य विकल्पनान्तरीयकत्वात् । अथ भिन्न प्रतिपरमाऽणु तदिष्यते भवेदेवमविकल्पकम् किंतु-एकपरमाणुग्रहणव्यापारवन्नाऽपरपरमाणुग्रहणाय व्याप्रियत इति तेषां परलोकप्रख्यताप्रसक्तिः, तद्वेदनैश्च तस्यावेदनमिति तस्याप्यभावः । न चैकैकपरमाणुनियतभिन्नं वेदनमविकल्पकम् अन्यविविक्तैकपरमाणोरर्वाग् दृशि अप्रतिभासनाद्विवादगोचरस्य तज्ज्ञानस्य विकल्पजनकत्वासिद्धेः । तन्न प्रथमपक्षो युक्तिसगतः इतश्चायमसङ्गतो यतो येन स्वभावेनाविकल्पकं दर्शनं स्वजातीयमुत्तरं जनयति तेनैव यदि विकल्प तर्ह्यविकल्पो विकल्प प्रसज्येत विकल्पो वाऽविकल्पः अन्यथा कारणभेद' कार्यभेदविधायी न भवेत् , स्वभावान्तरेण जनने सांशतापत्तिरिति । अथ तत्तमेव जनयति तथा सति धारावाहिनिर्विकल्पसततिर्न भवेत् । अथ तत् तं जनयत्येवेति तृतीयपक्षाश्रयणं तथा सति क्षणभङ्गादावपि निश्चय इति न ज्ञानसन्ततौ सत्त्वसमारोपः नच रागादयस्तन्निबन्धना इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुमितिर्नैरर्थक्यमनुभवेत् । किं च-यदि व्यवसायवशात् विर्विकल्पकस्य प्रामाण्यव्यवस्था तर्हि तदुत्पत्तिसारूप्यार्थग्रहणमन्तरेणाध्यवसाय एव प्रमाणं भवेत् । अथ तथाभूतानुभवमन्तरेण विकल्प एव न भवेत , असदेतत् , तस्य तज्जन्यत्वाऽसिद्धेरुक्तविकल्पदोषानतिक्रमात् । किं च-यदि तदाकाराद् दर्शनान्निर्णयप्रभवस्तदा स्वलक्षणगोचरो निर्णयो भवेत्, निर्णयवद्वा सामान्यविषयमविकल्पकमासज्येत अन्यथा स्मृतिसारूप्या-

दर्शनस्य सारूप्यसाधनमयुक्तं भवेत्। अथार्थलेशमात्रानुकारि स्मरणं तथापि स्वलक्षणविषयत्वं स्मरणस्य सर्वथा तदनुकारित्वमविकल्पकस्याप्यसिद्धम्, अन्यथा तस्य जडतापत्तिरिति प्रतिपादनात्। तथा च-'विकल्पो वस्तुनिर्भासा-द्विसंवादादुपप्लव' इत्ययुक्ततया व्यवस्थितम्। अथ न लेशतोऽपि परमार्थस्तदनुकारी विकल्पः प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्तु तदभिधानमिति न स्वलक्षणगोचरत्वं निर्विकल्पकस्यापि व्यवहार्यभिप्रायवशात्तदनुकारित्वं न परमार्थतः "सर्वमालम्बने भ्रान्तम्" इत्यभिधानात्।

ननु किमिति न परमार्थतोऽपि तदनुकारि तत्?, सामान्यावभासादिति चेत्; नन्वसावपि कुतः? अनाद्यसत्यविकल्पवासनातः, नन्वेवं न दर्शनं विकल्पजनकमिति, "यत्रैव जनयेदेना, तत्रैवाऽस्य प्रमाणता" इत्यसंगत वचो भवेत्। नच तद्वासनाप्रबोधविधायकत्वेन तदपि तद्धेतुः इन्द्रियार्थसन्निधानस्यैव तत्प्रबोधहेतुत्वात्। नच वासनाप्रभवत्वेनाक्षजस्य भ्रान्ततैवं भवेत् अर्थस्यापि कारणत्वेनानुमानवत् प्रमाणत्वात्। नच निर्विषयत्वाद् व्यवसायस्याऽप्रामाण्यम् अनुमानस्यापि तत्प्रसक्तेः प्रत्यक्षप्रभवविकल्पवत् तस्याप्यवस्तुसामान्यगोचरत्वात्। न च तद्ग्राह्यविषयस्यावस्तुत्वेऽप्यध्यवसेयस्य स्वलक्षणत्वात्। दृश्यविकल्पा (ल्प्या) वर्थावेकीकृत्य ततः प्रवृत्तेरनुमानस्य प्रामाण्यं, प्रकृतविकल्पेऽप्यस्य समानत्वात्। अन्यथा-" पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतः क्वचित्" इति कथ वचो युक्तं भवेत्?, न च गृहीतग्रहणाद्विकल्पोऽप्रमाण क्षणक्षयानुमानस्यापि तत्प्रसक्तेः, शब्दस्वरूपावभासाध्यक्षावगतक्षणक्षयविषयत्वात्। नचाध्यक्षेण धर्मिस्वरूपग्राहिणा शब्दग्रहणेऽपि न क्षणक्षयग्रहणं विरुद्धधर्माध्यासतस्तद्भेदप्रसक्तेः। प्रज्ञाकराभिप्रायेण तु-लिङ्ग-लिङ्गिनो. साकल्येन योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिग्रहणे अनभ्यासदशाया प्राप्ये भाविन्यनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावादनुमानं प्रमाणं न भवेत्। अथानिर्णीतमनुमेयं निश्चिन्वत् प्रमाणमनुमानं तर्ह्यनिश्चितं नीलं निश्चिन्वन् विकल्पस्तथाविधः किं न प्रमाणम्?। अथ समारोपव्यवच्छेदकरणादनुमान प्रमाणं तर्हि नीलविकल्पोऽपि तत एव प्रमाणं भवेत्। न च सादृश्यादेव समारोपो-येन तत्राऽनीलसमारोपो न भवेत् किं तु-स्वागमाहितविकल्पाभ्यासवासनातोऽपि यथा-'सर्वं सर्वात्मकम्' इति साङ्ख्यस्य एवं च नीलेऽनीलात्मकत्वसमारोपं व्यवच्छिन्दानो विकल्प क्षणक्षयानुमानवत् कथ न प्रमाणम्? दृश्यन्ते हि शुक्तिकारज्ज्वादिषु रजतसर्पादिसमारोपास्तथाभूतविकल्पवशाल्लिङ्गानुसरणमन्तरेणाऽपि निवर्त्तमानाः।

अथ भवत्वसौ विकल्प प्रमाणम्, न च प्रमाणान्तरम् अनुमानेऽन्तर्भावात्, न, अनभ्यासदशायां भाविनि प्रवर्त्तकत्वादनुमानं प्रमाणमिष्टम्, तच्च निश्चितत्रिरूपाल्लिङ्गादुपजायते, निश्चयस्य चानुमानान्तर्भावे त्रैरूप्यनिश्चयोऽप्यनुमानं तदपि निश्चितत्रैरूप्याल्लिङ्गात्प्रवर्त्तत इत्यनवस्थानात् अनुमानाप्रवृत्तिरेवेति कुतो विकल्पस्य तत्रान्तर्भावः? अथ पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकनिश्चायकं लिङ्गस्य नानुमानं तर्हि प्रमाणान्तरस्याभावादध्यक्षं निर्णयात्मकं पक्षधर्मत्वादिनिश्च यः सिद्धः। अत एव-'अनभ्याशदशायामनुमानम्' 'अभ्यासदशायां तु दर्शनमेव प्रमाणम् न च तृतीयादशा विद्यते यस्यां विकल्पः प्रमाणं भवेत्' इति निरस्तम् अनभ्यासदशायामनुमानस्यैवतमन्तरेणाऽप्रवृत्तेस्तदपेक्षस्यैव तस्य प्रमाणत्वात्। न च भवतु प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तो विकल्पः तथापि न तदपेक्ष दर्शनं प्रमाणं स्वत एव तस्य प्रमाणत्वात्। अन्यथा विकल्पस्यापि विकल्पान्तरापेक्षया प्रमाणत्वादनवस्था दुष्परिहारा। अर्थविषयीकरणाद्विकल्पस्यान्यनिरपेक्षस्य प्रामाण्ये निर्विकल्पस्यापि तथैव प्रामाण्यं भविष्यतीति किं विकल्पापेक्षयेति वक्तव्यम्?, यतः-संशयविपर्ययोत्पादकमपि दर्शनमेवं प्रमाण स्यात्। तथा च-तत्राप्यर्थक्रियार्थी प्रवर्त्तेत। अथ 'जले जलमतत्' इति निर्णयविधायि प्रमाणं तर्हि सिद्धं विकल्पापेक्षणं तस्येति वर विकल्प एव प्रमाणमभ्युगतस्तस्यैव प्रवृत्त्यादिव्यवहारसाधकतमत्वात्। यदपि 'अभ्यासदशायां दर्शनमेव विकल्पनिरपेक्षं प्रमाणम्' इति तत्र वक्तव्यं क्व तत्प्रमाणम्?, प्राप्ये भाविनि रूपादाविति चेत् तस्याविषयीकरणे तेनाऽयुक्तम् अन्यथा नीलज्ञानं पीते प्रमाणं स्याद्विषयीकरणे भाविविषयत्वं तस्यैव भवेत् तथा च-'वर्त्तमानावभासि सर्वं प्रत्यक्षम्' इति विरुध्येत। अथ वर्त्तमानविषयमपि भाविनि प्रवृत्तिविधानप्रमाणं, न, अविषयीकृते प्रवर्त्तकत्वासंभवात् प्रवर्त्तकत्वे वा, शाब्दमपि सामान्यमात्रविषयं विशेषे प्रवृत्तिं विधास्यतीति न मीमांसकमतप्रतिक्षेपो युक्त.। यदि वा(चा)-विषयेऽपि कुतश्चिन्निमित्ताद् ज्ञानं प्रवर्त्तकं तर्हि प्रत्यक्षपृष्ठभाविसामान्यमात्राध्यवसायिविकल्पस्य विशेषे प्रवर्त्तकत्वं भविष्यतीति न युक्तम् 'दृश्य-विकल्प(ल्प्य)योरर्थयोरेकीकरणं तत्र प्रवृत्तिनिमित्तम्' इत्यभिधानम्। तत्र प्राप्ये तत्प्रमाणम्। दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे तत्प्रमाणमिति चेत्कुत एतत्? व्यवहारिणा तत्राऽविसंवादाभिप्रायाद् अविसंवादि च ज्ञान प्रमाणम्। तदुक्तम्-"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिरविसवादनम्" इति चेत्, ननु तदेकत्वं कस्य विषय.? दर्शनस्येति चेत्, न, तस्य सामान्यविषयतया सविकल्पकत्वप्रसक्ते.। विकल्पस्येति चेत्, न, अभ्यासदशायां विकल्पस्याऽनभ्युपगमात्। कथं च दृश्यप्राप्ययोरेकत्व विकल्पस्यैव विषयो नाविकल्पस्य एकत्वस्यायोगादिति चेत् कथं विकल्पविषय.? अवस्तुविषयत्वाच्चस्येति चेत्, दर्शनस्य को विषयः?, दृश्यमानक्षणमात्रमिति चेत् ननु यदि तत्संचितपरमाऽण्वस्वभावं तत्र दर्शने प्रतिभाति तदा सविकल्पत्वमिति प्राक् प्रतिपादितम्। विविक्तैकैकपरमाणुरूपं चेत्सर्वशून्यताप्रसक्तेर्न काचिदभ्यासदशा यस्या दर्शनं प्रमाण विकल्पविकलं भवेत्। यथा चानेकपरमाण्वाकारमेकं ज्ञानं तथा-दृश्यप्राप्ययोर्घटादिकमेकमिति तद्विषयं परमार्थतोऽभ्यासदशायां सविकल्पमध्यक्षं किमिति नाभ्युपगम्यते? अथाऽशक्यविवेचनत्वाच्चित्रप्रतिभासाऽप्येकैव बुद्धि घटादिकन्तु चित्रो नैकस्तद्विपर्ययात्,ननु किमिदं बुद्धेरशक्यविवेचनत्वम्? यदि सहोत्पत्तिविनाशौ तदन्यानुभवो वा तदभ्युपगम्यते तदैकक्षणभाविसन्तानान्तरज्ञानेषु भिन्नरूपतयोपगतेष्वपि तस्य भावादित्यनैकान्तिको हेतु। अथ सन्तानान्तराण्यपि नाभ्युपगम्यन्ते कथमवस्थाद्वयाभ्युपगम.?, व्यवहारेण तदभ्युपगमे तथैव सन्नानानानात्वोपगमादनैकान्तिकत्वं तदवस्थ-

मेव । न च प्रतिभासाऽद्वैतवादोपगमात्तान्यपि पक्षीक्रियन्त इति नाऽनैकान्तिक. एकशाखाप्रभवत्वहेतोरपि विपक्षविषयपक्षीकरणादनैकान्तिकत्वाऽभावप्रसक्तेः। न चाऽत्राऽऽमताश्राह्यध्यक्षेण पक्षबाधनान्न पक्षीकरणसभवः प्रकृतेऽपि युगपद्भाविनां नानाचित्तसन्तानानां भेदाऽवभासिस्वसंवेदनाऽध्यक्षेण बाधनादस्य समानत्वात्। अथाऽनन्यवेद्यत्वमशक्यविवेचनत्व तदपि· सुखादिभि क्रमेणैकसन्तानभाविभिर्व्यभिचारि। अथैषामपि पक्षीकरणम्, नन्वेवं परिणाम्यात्मसिद्धे· 'यद्यथाऽवभासते' इत्याद्यनुमानमयुक्त हेतोरसिद्धताप्राप्ते·। अथ भेदाऽभेदात्मकत्वेन प्रतिभासन तदभिमत तर्हि दृश्यप्राप्ययोरपि तदस्तीति कथ नैकत्वम्?, अथ नीलादिप्रतिभासाना नैकत्व चित्रप्रतिभासात् न नानात्व तदात्मकस्य(अतदात्मकस्य)वा तद्ग्राहकस्याभावात्, सर्वविकल्पातीतं तु तत्त्वमिति। अत्रापि यद्येकत्वस्यैकान्तेन निषेध साध्यस्तदा सिद्धसाध्यता। अन्यथा चित्रप्रतिभासाऽभावात् कथंचिदेकत्वस्य तु निषेधेऽसिद्धश्चित्रप्रतिभासादिति हेतु, यत· पीतादीनां नीलप्रतिभासेनाविषयीकरणे सन्तानान्तरवदवभासस्तथापि भावे न सन्तानान्तरनिषेध, तेषा च क्षणक्षये साधने ग्राह्यग्राहकभाव इति न सर्वविकल्पाऽतीत तत्त्वम्। विषयीकरणे तदाकारेणापि तद्ग्राहकाभावात् नाऽपि नानात्वमित्यस्य विरोध· स्वपरग्राहकस्यैव तद्ग्राहकत्वात्, सर्वथा तदाकारत्वे नीलमात्र पीतमात्र वा भवेदिति न चित्रप्रतिभास·। कथंचित्तदाकारत्वे सिद्धं सविकल्पदर्शनम्। अथ सर्वविकल्पाऽतीते तत्त्वे इदमप्यवक्तव्यं तर्हि न परस्याऽपि परतो गति, किं तु-' स्वरूपस्य स्वतो गति ' इत्येतदपि न वक्तव्य तथा च-विज्ञानाद्वैतमपि कुत·?, नचान्यग्रहणविमुखज्ञानसवेदनादेवमुच्यते अन्यत्राप्यस्य समानत्वात्। तदेव चित्रप्रतिभासमभ्युपगच्छता चित्रमेक ज्ञानमभ्युगन्तव्यमिति। अभ्यासदशायामपि व्यवसायात्मकमध्यक्ष सिद्धिमासादयेत्।

यदपि-' यद्यर्थग्रहण व्यवसायोऽविकल्पे तथा नामकरणजात्यादिविशिष्टार्थग्रहण तत्पक्षे संभवि ' इत्युच्यते, तदपि निरस्त द्रष्टव्यम्, अर्थग्रहणस्य विकल्पस्वभावनान्तरीयकत्वात्। यदि ह्येकैकपरमाणुनियतभिन्नदर्शने, तन्नाम क्रियेत तदा स्यादेतत्, न चैव स्थूलैकप्रतिभासाभावप्रसक्ते। यदपि जात्यादिविशिष्टग्रहण प्रत्यक्षेऽसभवि तदपि सदृशपरिणामसामान्याभ्युपगमे सिद्धम्, तथाभूतस्य तस्याऽध्यक्षे प्रतिभाससवेदनात् तथाभूतस्याऽपि तस्य निराकरणे ' नो चेद् भ्रान्तिनिमित्त" इत्यादेस्तथा "अर्थेन घटयेदेनाम्" इत्यादेश्चाभिधानमसगत भवेत्। तथाहि-शुक्तिका-रजतयो कथंचित्सदृशपरिणामाभावे रूपसाधर्म्यदर्शनाभावाद् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अथ मरीचिकासु यथा जलाभावेऽपि तद्दर्शन तथा तयोर्भविष्यति न च तयोस्तद्दर्शन सत्य तत्परिणामस्य परमार्थतस्तत्राभावात् इतरेतराश्रयदोषप्रसक्ते। तथाहि— तत्परिणामस्य परमार्थतस्तयो सत्त्वे तद्दर्शनस्य सत्यता ततश्च तत्परिणामस्य पारमार्थिकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वमिति चेत्?, असदेतत्, सर्वभावेष्वेवमव्यवस्थाप्रसङ्गात्। तथाहि—स्वसवेदनमविकल्पमध्यक्ष तथा प्रतीतेर्यदि सिद्धिमासादयति तत एव सदृशपरिणामोऽपि सेत्स्यति अनवगतसम्बन्धस्यापि खण्डमुण्डादिषु समानप्रत्ययोत्पत्ते, तस्य भ्रान्तत्वे संवेदनेऽपि तत्प्रसक्तः। अथ सत्येव स्वसवेदन तद्दर्शनमिति न भ्रान्तम्, न, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्त। तथाहि-स्वसवेदनस्य सत्यत्वे तद्दर्शनमभ्रान्तम् अतश्च तत्सत्यत्वमिति कथ नेतरेतराश्रयदोषः?, अथ बाधकाभावान्नाऽय दोष'। सदृशपरिणामस्य किं बाधकमिति वक्तव्यम्?, विशेषेभ्यस्तस्य भेदे सम्बन्धासिद्धि· अभेदे विशेषा एव न तत्सद्भाव इति बाधकमिति चेत्, न, एकान्तभेदाऽभेदपक्षस्य तत्रानिष्टेस्त एव विशेषा· कथञ्चित् परस्पर समानपरिणतिभाज इत्यस्मदभ्युपगमात्। नच चित्रैकविज्ञानवत् समानाऽसमानपरिणतिरेकत्वविरोध ' यदेवाहमद्राक्ष तदेव स्पृशामि आस्वादयामि जिघ्रामि ' इति प्रतीते, गुणिगुणिनोरेकत्वप्रतीते·, न च यदेव रूप दृष्ट तदेव कथ स्पृश्यते?, इन्द्रियविषयसङ्करप्रसक्तेरिति वक्तव्य चक्षुर्ग्राह्यनास्वभावस्यैकस्य स्पर्शनादिविषयता स्वभावाविरोधात्। तथाहि-दूरादिदेश सहकारिणमासाद्यैकोऽपि भूरुहो विशदतयेन्द्रियजे प्रत्यये प्रतिभासति स एव निकटादिदेशसचिवा विशदतयन्युपलब्धम्। न चाऽविशद दर्शनमवस्तुविषय तस्य वस्तुविषयतया प्रतिपादितत्वात्। नच चक्षु प्रभवे प्रत्यये रूपमेव चकास्ति नाऽपरस्तद्वानिति वक्तव्य, यतोऽत्रापि स्तम्भव्यपदेशार्ह रूपं किमेकं प्रतिभाति, उताऽनेकाशपरमाणुसचयमात्रम्?, प्रथमपक्षे-अधोमध्योर्ध्वात्मकैकरूपवत्साद्यात्मकैकस्तम्भप्रसिद्धि·। द्वितीयपक्षेऽपि किमेकमनेकपरमाण्वाकारं चक्षुर्ज्ञानम्, उतैवैकपरमाण्वाकारमनेकम्?, प्रथमपक्षे रूपाद्यात्मैकवस्तुसिद्धिप्रसक्ति चित्रैकज्ञानवत्। द्वितीयेऽपि विविक्तज्ञानपरमाणुप्रतिभासस्यासवेदनात् सकलशून्यताप्रसक्तिरिति प्रतिपादितम्। एतेन क्रियावतोऽपि भावस्याध्यक्षविषयताप्रतिपादिना। न चैकस्य देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतु क्रिया न केनचित्प्रमाणेनावसातु शक्येति वक्तव्यं पूर्वपर्यायग्रहणपरिणाममुञ्चताऽध्यक्षेणोत्तरपर्यायग्रहणात्, यथा स्तम्भादावधोभागग्रहणमत्यजतोर्ध्वादिभागग्रहस्तेन अन्यथा सकलशून्यतेत्युक्तत्वात् यदपि—

"विशेषण विशेष्यं च, सबन्ध लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा सकलय्यैतत्, तथा प्रत्येति नान्यथा॥१॥"

इत्युक्त तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्, चित्रपतङ्गस्येवैकानेकात्मनो वस्तुन· प्रथमतयैव प्रतिभासनात् एवंकल्पनाया दूराऽपास्तत्वाद्। यदपि—

"संकेतस्मरणोपाय, दृष्ट संकल्पनात्मकम्।
पूर्वापरपरामर्श-शून्ये तच्चाक्षुषे कथम्॥१॥"

इत्यभिधान तदप्यसंगत, संकेतकालानुभूतशब्दस्मरणमन्तरेणापि व्यवसायात्मकस्य ज्ञानस्याक्षप्रभवस्य प्रतिपादनात्। अन्यथा विकल्पानुत्पत्तेरित्युक्तत्वात्। तस्मात्पुरोवर्तिस्थिरस्थूरस्वगुणपर्यायसाधारणस्तम्भादिप्रतिभासस्याक्षप्रभवस्य निर्णयात्मन स्वसवेदनाध्यक्षतोऽनुभूते स्वार्थनिर्णयात्मकमध्यक्ष सिद्धम्। न चेदं मानसमेतद्व्यतिरेकेण नीरशैकपरमाणुग्राहिणा विकल्पस्य कदाचिदप्यननुभवात्। यदि चाय स्तम्भादिप्रतिभासो मानसो भवेद्विकल्पान्तरतोऽस्य निर्वृत्तिर्भवेत्। न चैवं क्षणक्षयित्वमनुमानाद्विनिश्चिन्वतोऽश्वादिक वा विकल्पयतस्तदैवास्य प्रतिभाससंवेदनात्।

ततोऽध्यक्षप्रमाणसिद्धत्वान्न सविकल्पकत्वे साधकप्रमाणाभावः। तथा अनुमानादपि सविकल्पकत्वमध्यक्षस्य नाऽसिद्धम्। तथाहि-यज्ज्ञानं यद्विषयीकरोति तत्तन्निर्णयात्मकतया अनुमानमिवाग्न्यादिकं विषयीकरोति च स्वार्थमध्यक्षमिति। न चास्याध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्व पक्षस्य चाऽध्यक्षबाध. साध्यविपरीतार्थोपस्थापकाध्यक्षस्य निषिद्धत्वात्। न च स्वार्थविषयीकरणं विज्ञानस्यासिद्ध प्राक् तस्य प्रसाधितत्वात् अतो नाऽसिद्धो हेतु। न च सपक्षावृत्तित्वादसाधारणाऽनैकान्तिक स्वार्थनिर्णयात्मकत्वेन प्रसिद्धेऽनुमानेऽस्य वृत्तिनिश्चयात्। न चानुमानस्याप्यर्थविषयीकरणमन्तरेण तन्निश्चयस्वरूपता संभवति समारोपव्यवच्छेदकत्वाद. प्रामाण्यनिमित्तस्य तत्र निषिद्धत्वात्। तदन्तरेण प्रामाण्यस्यैवायोगात्। न च निर्णयात्मकार्थविषयीकरणयोरनुमाने साहचर्यदर्शनेऽपि विपर्यये बाधकप्रमाणाभावत.। संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिक. तदुत्पत्तिसारूप्यादेर्निर्णयस्वभावता व्यतिरिक्तस्यैकान्तवादे अर्थविषयीकरणनिबन्धनस्य विज्ञानेऽसंभवात्। तदसंभवस्य च प्राक् प्रतिपादितत्वात्। ततो न संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽपि। अत एव न विरुद्ध विपक्षवृत्तेरेव विरुद्धत्वात्। ततोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकादिदोषविकलात् भवत्यतः साधनाद्विवक्षितसाध्यसिद्धिरिति न तत्साधकभावान्निर्णयात्मकाध्यक्षाऽभाव.।

नाऽपि तद्बाधकप्रमाणसद्भावात्तस्यैवासिद्धे.। तथाहि—तद्बाधकमध्यक्षम् अनुमानं वा प्रकल्पेत् प्रमाणाऽन्तरानभ्युपगमात्। न तावदध्यक्ष तद्बाधकं संभवति अविकल्पप्रसाधकस्य तस्य तद्बाधकत्वात्। न च निरंशक्षणिकैकपरमाणुसंवेदन स्वसंवेदनाध्यक्षत. सिद्धमिति प्राक् प्रतिपादितमिति नाध्यक्ष तद्बाधकम् नाऽप्यनुमानं तद्बाधक संभवति अध्यक्षाप्रवृत्ता तत्पूर्वकस्य तस्यापि तत्राऽप्रवृत्ते। यदपि यद् यथा प्रतिभाति तत्तथा सद्व्यवहृतिमवतरति इत्यादिनिर्विकल्प-

सद्दवनिक्खेवपरिहारि–सद्रवनिक्षेपपरिहारिन्–पुं०। सद्रवस्य निक्षेप. सद्रवनिक्षेपस्तत् परिहर्तुं शीलं येषां ते सद्रवनिक्षेपपरिहारिणः। द्रवाऽऽहिपु, ओघ०।

सद्दवेहि–शब्दवेधिन्–पुं०। शब्दं लक्षीकृत्य विध्यति यः स शब्दवेधी। शब्दमनुसृत्य लक्ष्यवेधके, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। आचा०। 'तत्थ लग्गं आराहिउं कुलदेवय, भणिओ य कुलदेवयाए पुत्त! सद्दवेही भविस्ससि" दर्श० १ तत्त्व।

सद्दसत्तिक्कय–शब्दसप्तैकक–पुं०। शब्दशक्तिप्रतिपादके आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य सप्तैककानां चतुर्थे आदितः पञ्चदशे अध्ययने, स्था० ७ ठा० ३ उ०। (तच्च 'सद्द' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितम्।)

सद्दह–श्रद्धा–धा०। अस्तीत्यात्मन. परिणामे, "श्रदो धो दह." ॥ ८। ४। ६॥ श्रदः परस्य दधातेर्दह इत्यादेशो भवति। सद्दहइ। "सद्दहमाणो जीवो" श्रद्धाति। श्रद्धानो जीवः। प्रा० ४ पाद।

सद्दहण–श्रद्धान–न०। "स्वराणां स्वराः" ॥ ८। ४। २३८॥ धातुपु स्वराणां स्थाने स्वरा बहुल भवन्ति। सद्दहण। सद्दहाणं। प्रा० सम्यक्त्वे, ध० २ अधि०। आ० म०। सामान्यतः (सूत्र० १ श्रु०१ अ० १ उ०।) प्रमाणीकरणे, संथा०। स्था०। अस्तीत्येवं प्रतिपत्तौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सम्यग्दर्शने, पञ्चा० ११ विव०। नि० चू०। आ० म०। दशा०। विशे०।

सद्दहणाकप्प–श्रद्धानकल्प–पुं०। श्रद्धानसामाचार्याम्, पं० भा०। "सद्दहणा वि य दुविहा ओहनिसीहे तहा विभागे य" पं० भा० ५ कल्प। ('णिसीहकप्प' शब्दे चतुर्थभागे २१४१ पृष्ठे एष कल्प उक्तः।)

सद्दहमाण–श्रद्धान–त्रि०। स्वमतावतिशयेन रोचयति,

सद्दहिय-श्रद्धाय-अव्य०। सूत्रार्थाभ्यां सामान्येन प्रतिपद्येत्यर्थे, उत्त० २९ अ०।

सद्दाऽऽउल-शब्दाकुल-त्रि०। शब्देनाकुलं शब्दाकुलम्। बृहच्छब्दे, स्था० १० ठा० ३ उ०। भ०। ध०।

सद्दाणुरूववाय-शब्दाणुरूपपात-पुं०। शब्दाणूनां रूपस्य च पात· शब्दाणुरूपपात। आज्ञानीयस्य श्रोत्रे दृष्टौ च शब्दाऽणूना रूपस्य च पातने, पञ्चा० १ विव०।

सद्दाणुवाई-शब्दानुपातिन्-पुं०। शब्दं मन्मनभाषितादिकमभिष्वङ्गहेतुमनुपतत्यनुसरति इत्येवंशील· शब्दानुपाती। शब्दानुपतनशीले, स्था० ६ ठा० ३ उ०। आव०।

सद्दाणुवाय-शब्दानुपात-पुं०। शब्दस्य-क्षुतकाशितादेरनुपातनं-श्रोत्रेणावतारणं शब्दानुपातनम्। यथाविहितस्वगृहवृत्तिमाकारादिव्यवच्छिन्नभूप्रदेशाभिग्रहे, ध० २ अधि०। देशावकाशिकव्रतातिचारे, उपा० 'सद्दाणुवाए' त्ति-स्वगृहवृत्तिप्राकाराद्यवच्छिन्नभूप्रदेशाभिग्रहे-बहिः प्रयोजनोत्पत्तौ, तत्र स्वयं गमनायोगात् वृत्तिप्राकारादिप्रत्यासन्नवर्त्तिनो बुद्धिपूर्वकं तमभ्युत्काशितादिशब्दकरणेन समवसितकान् बोधयतः शब्दानुपात, शब्दस्यानुपातनमुच्चारणं तादृग् येन परकीयश्रवणविवरमनुपतत्यसाविति। उपा० १ अ०। ('देसावगासिय' शब्दे चतुर्थभागे २६३३ पृष्ठे गतोऽयमभिग्रहः।)

सद्दाऽऽभास-शब्दाभास-पुं०। शब्दनयाभासे, रत्ना०७ परि०। (एतदाभासवक्तव्यता 'णयाभास' शब्दे चतुर्थभागे १६०३ पृष्ठे गता।) यथा कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमान· शब्द·। यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादि·, तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभास, यथा-बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकाला· शब्दाभिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक् सिद्धान्यशब्दवत् इत्यादि·। स्या०।

सद्दाऽऽययण-शब्दायतन-न०। बौद्धपरिभाषिते शब्दाश्रये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

सद्दाल-शब्दाल-त्रि०। नूपुरे, "सद्दालं सिंजिरं कणिरं" पाइ० ना० १४० गाथा।

सद्दालपुत्त-सद्दालपुत्र-पुं०। पोलासपुरवासिनि कुम्भकारे, स्था०। 'सद्दालपुत्ते' त्ति-सद्दालपुत्रः पोलासपुरवासी कुम्भकारजातीयो गोशालकोपासको भगवता बोधितः पुनः स्वमतग्राहणोद्यतेन गोशालकेन (अ) क्षोभितान्त·करण· प्रतिपन्नप्रतिमश्च परीक्षकदेवेन भार्यामारणदर्शनतो भग्नप्रतिज्ञ· पुनरपि कृतालोचनस्तथैव दिवं गत इति वक्तव्यताप्रतिबद्ध सद्दालपुत्र इत्यध्ययनम्। स्था० १० ठा०३ उ०। उपा०।

पोलासपुरे नामं नयरे, सहस्संबवणे उज्जाणे, जियसत्तू राया। तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दालपुत्ते नामं कुम्भकारे आजीविओवासए परिवसइ। आजीवियसमयंसि लद्धऽट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते य अयमाउसो! आजीवियसमए अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, त्ति आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एका हिरण्णकोडी निहाणपउत्ता, एक्का वुड्ढिपउत्ता, एका पवित्थरपउत्ता, एके वए दस गोसाहस्सिएणं वएणं, तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था। तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंच कुम्भकारावणसया होत्था। तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्णभइभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं बहवे करए य वारए य पिहडए य घडए य अद्धघडए य कलसए य अलिञ्जरए य जंबूलए य उट्टियाओ य करेन्ति। अन्ने य से बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं तेहिं बहूहिं करएहि य० जाव उट्टियाहि य रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरन्ति। (सू० ३६)

सत्तमं सुगममेव। नवरम् 'आजीविओवासए' त्ति-आजीविका-गोशालकशिष्याः तेषामुपासक· आजीविकोपासकः, लब्धार्थ· श्रवणतो गृहीतार्थो बोधतः पृष्टार्थः संशये सति विनिश्चितार्थ उत्तरलाभे सति, 'दिण्णभइभत्तवेयण' त्ति-दत्तं भृतिभक्तरूप-द्रव्यभोजनलक्षण वेतनं-मूल्यं येषा ते तथा, 'कल्लाकल्लिं' ति-प्रतिप्रभात बहून् करकान्-वार्घटिका· वारकांश्च-गडुकान् पिठरका·-स्थाली· घटकान्-प्रतीतान् अर्द्धघटकांश्च-घटार्द्धमानान् कलशकान्-आकारविशेषवतो बृहद्घटकान् अलिञ्जराणि च-महदुदकभाजनविशेषान् जम्बूलकांश्च-लोकरूढ्यावसेयान् उष्ट्रिकांश्च-सुरातैलादिभाजनविशेषान्।

तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अन्तियं धम्मपण्णत्तिं उवसम्पज्जित्ता णं विहरइ। तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एगे देवे अन्तियं पाउब्भवित्था, तए णं से देवे अन्तलिक्खपडिवन्ने सखिंखिणियाइं ० जाव परिहिए सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी-एहिइ णं देवाणुप्पिया! कल्लं इहं महामाहणे उप्पन्नणाणदंसणधरे तीयपडुप्पन्नमणागयजाणए अरहा जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी तेलोक्कवहियमहियपूइए सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे वन्दणिज्जे सक्कारणिज्जे संमाणणिज्जे कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं ० जाव पज्जुवासणिज्जे। तच्चकम्मसम्पयासंपउत्ते, तं णं तुमं वन्देज्जाहि ० जाव पज्जुवासेज्जाहि। पाडिहारिएणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं उवनिमन्तेज्जाहि, दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ एवं

चइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए। तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० ४ समुप्पन्ने-एवं खलु ममं धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते से णं महामाहणे उप्पन्नणाणदंसणधरे ० जाव तच्चकम्मसंपयासंपउत्ते से णं कल्लं इह हव्वमागच्छिस्सइ। तए णं तं अहं वंदिस्सामि ०जाव पज्जुवासिस्सामि पाडिहारिएणं ० जाव उवनिमन्तिस्सामि। (सू० ४०)

'एहिइ' त्ति—एष्यति, 'इहं' ति—अस्मिन्नगरे, 'महामाहणे' त्ति—मा हन्मि-न हन्मीत्यर्थः, आत्मना वा हनननिवृत्त. परं प्रति मा हन इत्येवमाचष्टे यः स माहन., स एव मन'प्रभृतिकरणादिभिराजन्म सूक्ष्मादिभेदभिन्नजीवहनननिवृत्तत्वात् महान्माहनो महामाहानः, उत्पन्ने—आवरणक्षयेणाविर्भूते ज्ञानदर्शने धारयति य. स तथा, अत एवातीतप्रत्युत्पन्नानागतज्ञायकः 'अरह' त्ति—अर्हन्, महाप्रातिहार्यरूपपूजार्हत्वात्, अविद्यमानं वा रह —एकान्त सर्वज्ञत्वाद्यस्य सोऽरहा., जिनो रागादिजेतृत्वात् केवलानि—परिपूर्णानि शुद्धान्यनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्य सन्ति स केवली, अतीतादिज्ञानेऽपि सर्वज्ञानं प्रति शङ्का स्यादित्याह सर्वज्ञः साकारोपयोगसामर्थ्यात्, सर्वदर्शी अनाकारोपयोगसामर्थ्यादिति, तथा 'तेलोक्कवहियमहियपूइए' त्ति—त्रैलोक्येन—त्रिलोकवासिना जनेन 'वहिय' त्ति—समग्रैश्वर्याद्यतिशयसन्दोहदर्शनसमाकुलचेतसा हर्षभरनिर्भरेण प्रवलकुतूहलबलादनिमिषलोचनेनावलोकितः 'महिय' त्ति—सेव्यतया वाञ्छितः, पूजितश्च—पुष्पादिभिर्यः स तथा, एतदेव व्यनक्ति-सदेवा मनुजासुरा यस्मिन् सदेवमनुजासुरस्तस्य लोकस्य—प्रजायाः अर्चनीयः पुष्पादिभि, वन्दनीयः स्तुतिभिः, सत्करणीयः—आदरणीय. सन्माननीयोऽभ्युत्थानादिप्रतिपत्तिभिः, कल्याणं मङ्गल दैवतं चैत्यमित्येवं बुद्ध्या पर्युपासनीय इति, 'तच्चकम्म' त्ति-तथ्यानि-सत्फलानिअव्यभिचारितया यानि कर्माणि-क्रियास्तत्सम्पदा—तत्समृद्ध्या यः सम्प्रयुक्तो-युक्त. स तथा, 'कल्ल' मित्यत्र यावत्करणात् 'पाउप्पभायाए रयणीए' इत्यादि 'जलन्ते सूरिए' इत्येतदन्तः प्रभातवर्णको द्रष्टव्यः, स चोत्क्षिप्तज्ञातवद् व्याख्येयः।

तए णं कल्लं ०जाव जलन्ते समणे भगवं महावीरे० जाव समोसरिए, परिसा निग्गया ०जाव पज्जुवासइ, तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे-एवं खलु समणे भगवं महावीरे ०जाव विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वन्दामि ०जाव पज्जुवासामि, एवं सम्पेहेइ संपेहेइत्ता ण्हाए० जाव पायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं ०जाव अप्पमहग्घाऽऽभरणालङ्कियसरीरे मणुस्सवग्गुरापरिगए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ साओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ णिग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेइत्ता वन्दइ२त्ता नमंसइ नमंसइत्ता ०जाव पज्जुवासइ। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य महइ ०जाव धम्मकहा समत्ता, सद्दालपुत्ताइसमणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी-से नूणं सद्दालपुत्ता! कल्लं तुमं पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवणिया०जाव विहरसि। तए णं तुब्भं एगे देवे अन्तियं पाउब्भवित्था। तए णं से देवे अन्तलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी-हं भो सद्दालपुत्ता! तं चेव सव्वं ०जाव पज्जुवासिस्सामि, से नूणं सद्दालपुत्ता! अट्ठे समट्ठे? हंता अत्थि, नो खलु सद्दालपुत्ता! तेणं देवेणं गोसालं मंखलिपुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते, तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० ४ एस णं समणे भगवं महावीरे महामहाणे उप्पन्नणाणदंसणधरे ०जाव तच्चकम्मसंपयासम्पउत्ते, तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वन्दित्ता नमंसित्ता पाडिहारिएणं पीढफलग ०जाव उवनिमन्तित्तए, एवं सम्पेहेइ संपेहेइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदइत्ता नमंसइत्ता एवं वयासी -एवं खलु भंते! ममं पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया पञ्चकुम्भकारावणसया, तत्थ णं तुब्भे पाडिहारियं पीढ० जाव संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरइ। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पंचकुम्भकारावणसएसु फासुएसणिज्जं पाडिहारियं पीढफलग० जाव संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरइ। (सू० ४१) तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहययं कोलालभण्डं अन्तोसालाहिंतो बहिया नीणेइ नीणेइत्ता आयवंसि दलयइ। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी-सद्दालपुत्ता! एस णं कोलालभण्डे कओ?, तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-एस णं भन्ते! पुव्विं मट्टिया आसी, तओ पच्छा उदएणं निगिज्झइ निगिज्झइत्ता छारेण य करिसेण य एगयओ मीसिज्जइ मीसिज्जइत्ता चक्के आरोहिज्जइ, तओ बहवे करगा य० जाव उट्टियाओ य कज्जंति।

तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता! एस णं कोलालभण्डे किं उट्ठाणेणं ०जाव पुरिसकारपरक्कमेणं कज्जति उदाहु अणुट्ठाणेणं ०जाव अपुरिसकारपरक्कमेणं कज्जति?, तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-भन्ते! अणुट्ठाणेणं ०जाव अपुरिसकारपरक्कमेणं, नऽत्थि उट्ठाणे इ वा ०जाव परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी-सद्दालपुत्ता! जइ णं तुब्भ केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलालभण्डं अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिन्देज्जा वा आच्छिन्देज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणे विहरेज्जा, तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दण्डं वत्तेज्जासि?, भन्ते! अहं णं तं पुरिसं आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बन्धेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा। सद्दालपुत्ता! नो खलु तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलालभण्डं अवहरइ वा ०जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणे विहरइ, नो वा तुमं तं पुरिसं आओसेज्जसि वा हणिज्जसि वा ०जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जासि, जइ नत्थि उट्ठाणेइ वा ०जाव परक्कमेइ वा नियया सव्वभावा। अह णं तुब्भ केइ पुरिसे वायाहयं ०जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा० जाव विहरइ तुमं वा तं पुरिसं आओसेसि वा० जाव ववरोवेसि तो जं वदसि नऽत्थि उट्ठाणेइ वा० जाव नियया सव्वभावा तं ते मिच्छा, एत्थ णं सद्दालपुत्ते आजीविओवासए सम्बुद्धे। तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते! तुब्भं अन्तिए धम्मं निसामेत्तए। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य० जाव धम्मं परिकहेइ। (सू० ४२)

वायाहयं ति—वाताहतं वायुनेषच्छोषमानीतमित्यर्थः 'कोलालभण्ड' त्ति—कुलालाः—कुम्भकारास्तेषामिदं कौलालं तच्च तद्भाण्डं च—पण्यं भाजनं वा कौलालभाण्डम्, एतत्किं पुरुषकारेणेतरथा वा क्रियेत इति भगवता पृष्टः स गोशालकमतेन नियतिवादलक्षणेन भावितत्वात्पुरुषकारेऽभ्युत्तरदाने च स्वमतक्षतिपरमताभ्युपगमलक्षणं दोषमाकलयन् अपुरुषकारेण इत्येवोक्तवान्। ततस्तदभ्युपगतनियतिमतनिरासाय पुनः प्रश्नयन्नाह—'सद्दालपुत्त' इत्यादि, यदि तव कश्चित्पुरुषो वाताहतं वा आममित्यर्थः, 'पक्केल्लयं' त्ति पक्वं वा अग्निना कृतपाकम् अपहरेद्वा—चोरयेत् विकिरेद्वा—इतस्ततो विक्षिपेत् भिन्द्याद्वा काणताकरणेन, आच्छिन्द्याद्वा हस्ताद्दुद्दालनेन, पाठान्तरेण विच्छिन्द्याद्वा विविधप्रकारैश्छेदं कुर्यादित्यर्थः, परिष्ठापयेद्वा बहिर्नीत्वा त्यजेदिति 'वत्तेज्जासि' त्ति-निवर्त्तयसि 'आओसेज्जा व' त्ति—आक्रोशयामि वा मृतोऽसि त्वमित्यादिभिः शापैरभिशपामि हन्मि वा दण्डादिना बध्नामि वा रज्ज्वादिना, तर्जयामि वा ज्ञास्यसि रे दुष्टाचार' इत्यादिभिर्वचनविशेषैः, ताडयामि वा चपेटादिना, निच्छोटयामि वा धनादित्याजनेन, निर्भर्त्सयामि वा परुषवचनैः, अकाल एव च जीविताद् व्यपरोपयामि, मारयामीत्यर्थः। इत्येव भगवता सद्दालपुत्र स्ववचनेन पुरुषकाराभ्युपगमं ग्राहयित्वा तन्मतविघटनायाह—'सद्दालपुत्त' इत्यादि, न खलु तव भाण्डं कश्चिदपहरति न च त्वं तमाक्रोशयसि यदि सत्यमेव नास्त्युत्थानाऽऽदि। अथ कश्चित्तदपहरति त्वं च तमाक्रोशयसि तत एवमभ्युपगमे सति यद्वदसि—नास्त्युत्थानादि इति तत्ते मिथ्या, असत्यमित्यर्थः।

तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए जहा आणन्दो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ, नवरं एगा हिरण्णकोडी निहाणपउत्ता एगा हिरण्णकोडी वुड्ढिपउत्ता एगा हिरण्णकोडी पवित्थरपउत्ता एगे वए दसगोसाहस्सिएणं वएणं० जाव समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव पोलासपुरे नयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव अग्गिमित्ता भारिया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अग्गिमित्तं भारियं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए समणे भगवं महावीरे ०जाव समोसढे, तं गच्छाहि णं तुमं समणं भगवं महावीरं वन्दाहि ०जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पंचाऽणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि। तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ। तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ स-द्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! लहुकरणजुत्तजोइयं समखुरवालिहाणसमलिहियसिंगएहिं जंबूणयामयकलावजोत्तपइविसिट्ठएहिं रययामयघण्टसुत्तरज्जुगवरकञ्चणखइयनत्थापग्गहोग्गहियएहिं नीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणिकणगघण्टियजालपरिगयं सुजायजुगजुत्तउज्जुगपसत्थसुविर-

इयनिम्मियं पवरलक्खणोववेयं जुत्तामेव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेह उवट्ठवेहित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुम्बियपुरिसा ०जाव पच्चप्पिणन्ति । तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया ०जाव पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं ०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा चेडियाचक्कवालपरिकिण्णा धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहइ दुरूहइत्ता पोलासपुरं नगरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणाओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता चेडियाचक्कवालपरिवुडा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो ०जाव वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे ०जाव पञ्जलीउडा ठि(इ)या चेव पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे अग्गिमित्ताए तीसे य ०जाव धम्मं कहेइ । तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्मं सोच्चा निसम्म हतुतुट्ठा समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते ! निग्गन्थं पावयणं ०जाव से जहेयं तुब्भे वयह, जहा णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए बहवे उग्गा भोगा ०जाव पव्वइया नो खलु अहं तहा संचाएमि, देवाणुप्पियाणं अन्तिए मुण्डा भवित्ता ०जाव अहं णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबन्धं करेह । तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहइ दुरूहित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया । तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ पोलासपुराओ नयराओ सहस्सम्ववणाओ पडिनिग्गच्छइ पडिनिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ । (सू० ४३)

'तए णं सा अग्गिमित्ता' इत्यादि, ततः सा अग्निमित्रा भार्या सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तथेति एनमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य च स्नाता 'कृतबलिकर्मा—बलिकर्म लोकरूढं, कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्ता—कौतुक-मषीपुण्ड्रादि मङ्गल दध्यक्षतचन्दनादि एते एव प्रायश्चित्तमेव प्रायश्चित्त दुःस्वप्नादिप्रतिघातकत्वेनावश्यकार्यत्वादिति, शुद्धात्मा, वैषिकाणि-वेषार्हाणि मङ्गल्यानि प्रवरवस्त्राणि परिहिता, अल्पमहार्घाभरणालङ्कृतशरीरा चेटिकाचक्रवालपरिकीर्णा, पुस्तकान्तरे यानवर्णको दृश्यते, स चैव सव्याख्यानोऽवसेयः-'लहुकरणजुत्तजोइय' लघुकरणेन-दक्षत्वेन ये युक्ताः पुरुषास्तैर्योजित यन्त्रयूपादिभिः सम्बन्धितं यत्तत्तथा, तथा—'समखुरवालिहाणसमलिहियसिंगएहिं' समखुरवालिधानौ—तुल्यशफपुच्छौ समे लिखिते इव लिखिते शृङ्गे ययोस्तौ तथा ताभ्यां गोयुवभ्यामिति सम्बन्धः,'जम्बूणयामयकलावजोत्तपइविसिट्ठएहिं' जाम्बूनदमयौ कलापो ग्रीवाभरणविशेषौ योक्त्रे च-कण्ठबन्धनरज्जू प्रतिविशिष्टे-शोभने ययोस्तौ तथा ताभ्यां, 'रययामयघण्टसुत्तरज्जुगवरकञ्चणखइयनत्थापग्गहोग्गहियएहिं'रजतमय्यौ-रूप्यविकारौ घण्टे ययोस्तौ तथा सूत्ररज्जुके-कार्पासिकसूत्रमय्यौ ये वरकाञ्चनखचिते नस्ते—नासारज्जू तयोः प्रग्रहेण—रश्मिना अवगृहीतकौ च-बद्धौ यौ तौ तथा ताभ्याम्,'नीलुप्पलकयामेलएहिं'नीलोत्पलकृतशेखराभ्याम्, 'पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणिकणगघण्टियाजालपरिगय सुजायजुगजुत्तउज्जुगपसत्थसुविरइयनिम्मिय' सुजात-सुजातदारुमय युग-यूपः युक्त—सङ्गतम् ऋजुक—सरल (प्रशस्त) सुविरचित—सुघटितं निर्मित—निवेशितं यत्र तत्तथा, 'जुत्तामेव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेह' युक्तमेव-सम्बद्धमेव आयुवभ्यामिति सम्बन्ध इति।

तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे ०जाव विहरइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे-एवं खलु सद्दालपुत्ते आजीवियसमयं वमित्ता समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठिं पडिवन्ने, तं गच्छामि णं सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं समणाणं निग्गन्थाणं दिट्ठिं वामेत्ता पुणरवि आजीवियदिट्ठिं गेण्हावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ संपेहेत्ता आजीवियसंघसम्परिवुडे जेणेव पोलासपुरे नयरे जेणेव आजीवियसभा तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता आजीवियसभाए भण्डगनिक्खेवं करेइ आजीवियसभाए भंडगणिक्खेवं करेइत्ता कयवएहिं आजीविएहिं सद्धिं जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छइ । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एज्जमाणं पासइ पासित्ता णो आढाई नो परिजाणाइ अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे तुसिणीए सचिट्ठइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे पीढफलगसिज्जासंथारट्ठयाए समणस्स भगवओ महावीरस्स गुणकित्तणं करेमाणे सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी-आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महामाहणे ?, तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-के णं देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?, तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी-समणे भगवं महावीरे महामाहणे । से केणट्ठेणं दे-

वाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ–समणे भगवं महावीरे महामाहणे ?, एवं खलु सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महामाहणे, उप्पन्नणाणदंसणधरे० जाव महियपूइए० जाव तच्चकम्मसम्पयासम्पउत्ते, से तेणऽट्ठेणं देवाणुप्पिया एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे । आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महागोवे ?, के णं देवाणुप्पिया ! महागोवे ?, समणे भगवं महावीरे महागोवे । से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! ०जाव महागोवे ?, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे धम्ममएणं दण्डेणं सारक्खमाणे संगोवेमाणे निव्वाणमहावाडं साहत्थिं सम्पावेइ, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ–समणे भगवं महावीरे महागोवे । आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महासत्थवाहे ?, के णं देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?, सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे, से केणट्ठेणं० ?, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराऽडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे ०जाव विलुप्पमाणे धम्ममएणं पथेणं सारक्खमाणे० निव्वाणमहापट्टणाभिमुहे साहत्थिं सम्पावेइ, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे । (उपा०) (भगवान् महावीरः महाधर्मकथी इति 'महाधम्मकही' शब्दे षष्ठे भागे १६७ पृष्ठे उक्तम् ।) आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महानिज्जामए ?, के णं देवाणुप्पिया महानिज्जामए ?, समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए, से केणऽट्ठेणं ०?, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसारमहासमुद्दे बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे०जाव विलु० बुड्डमाणे निबुड्डमाणे उप्पियमाणे धम्ममईए नावाए निव्वाणतीराभिमुहे साहत्थिं सम्पावेइ से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ–समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मङ्खलिपुत्तं एवं वयासी–तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! इयच्छेया०जाव इय निउणा इय नयवादी इय उवएसलद्धा इय विण्णाणपत्ता, पभू णं तुब्भे मम धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं भगवया महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए ?, नो तिणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ–नो खलु पभू तुब्भे मम धम्मायरिएण ०जाव महावीरेण सद्धिं विवादं करेत्तए ?, सद्दालपुत्ता ! से जहा नामए केइ पुरिसे तरुणे जुगवं ०जाव निउणसिप्पोवगए एगं महं अयं वा एलयं वा सूयरं वा कुक्कुडं वा तित्तिरं वा वट्टयं वा लावयं वा कवोयं वा कविञ्जलं वा वायसं वा सेणयं वा हत्थंसि वा पायंसि वा खुरंसि वा पुच्छंसि वा पिच्छंसि वा सिङ्गंसि वा विसाणंसि वा रोमंसि वा जहिं जहिं गिण्हइ तहिं तहिं निच्चलं निष्फंदं धरेइ, एवामेव समणे भगवं महावीरे ममं बहूहिं अट्ठेहि य हेऊहि य० जाव वागरमाणेहि य जहिं जहिं गिण्हइ तहिं तहिं निप्पट्ठपसिणवागरणं करेइ, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ–नो खलु पभू अहं तव धम्मायरिएणं० जाव महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मङ्खलिपुत्तं एवं वयासी–जम्हा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे मम धम्मायरियस्स ०जाव महावीरस्स संतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेह तम्हा णं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ० जाव संथारएणं उवनिमन्तेमि, नो चेव णं धम्मो त्ति वा तवो त्ति वा तं गच्छह णं तुब्भे मम कुम्भारावणेसु पाडिहारियं पीढफलग० जाव ओगिण्हित्ता णं विहरह । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ पडिसुणित्ता कुम्भारावणेसु पाडिहारियं पीढ० जाव ओगिण्हित्ता णं विहरइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य निग्गन्थाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे सन्ते परितन्ते पोलासपुराओ नयराओ पडिणिक्खमइ पोलासपुराओ नगराओ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ । (सू० ४४)

'महागोवे' त्यादि, गोपो–गोरक्षक, स चेतरगोरक्षकेभ्योऽतिविशिष्टत्वान्महानिति महागोप । 'नश्यत' इति सन्मार्गाच्च्यवमानान् 'विनश्यत' इत्यनेकशो स्रियमाणान् खाद्यमानान्–मृगादिभावे व्याघ्रादिभि छिद्यमानान्–मनुष्यादिभावे खड्गादिना भिद्यमानान् कुन्तादिना लुप्यमानान् कर्णनासादिच्छेदनेन विलुप्यमानान् बाह्योपध्यपहारत गा इवेति गम्यते, 'निव्वाणमहावाडं' ति–सिद्धिमहागोस्थानविशेष 'साहत्थि' त्ति–सहस्तेनेव स्वहस्तेन, साक्षादित्यर्थ । महासार्थवाहालापकानन्तरं, पुस्तकान्तरे इदमपरमधीयते–" आगए ण देवाणुप्पिया ! इह महाधम्मकही ?, के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही?, समणे भगव महावीरे महाधम्मकही । से केणट्ठेणं समणे भगव महावीरे महाधम्मकही ?, एव खलु सद्दालपुत्ता ! समणे भगव महावीरे महइमहालयसि संसारंसि बहवे जीवे नस्समाणे० जाव विलुप्पमाणे उम्मग्गपडिवन्ने सप्पहविप्पणट्ठे मिच्छत्तबलाभिभूए अट्ठविहकम्मतमपडलपडो-

च्छन्ने बहूहिं अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य
वागरणेहि य चाउरन्ताओ संसारकन्ताराओ साहत्थिं नि-
त्थारेइ, से तेणट्टेणं सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे म-
हाधम्मकहि" त्ति, कण्ठ्योऽयं, नवरं जीवानां नश्यदादिवि-
शेषणहेतुदर्शनायाह—' उम्मग्गे ' त्यादि , तत्रोन्मार्गप्रति-
पन्नान्—आश्रितकुदृष्टिशासनान् सत्पथविप्रनष्टान्—त्यक्त-
जिनशासान् , एतदेव कथमित्याह—मिथ्यात्वबलाऽभि-
भूतान्—तथा अष्टविधकर्मैव तमःपटलम्—अन्धकारसमू-
ह. तेन प्रत्यवच्छन्नानिति । तथा निर्यामकालापके ' बुड्ड-
माणे ' त्ति—निमज्जत. ' निवुड्डमाणे ' त्ति—नितरां नि-
मज्जतः जन्ममरणादिजले इति गम्यते , ' उप्पियमाणे '
त्ति—उत्प्लाव्यमानान् । ' पभु ' त्ति—प्रभवः-समर्था ,इति-
च्छेका.—इति एवमुपलभ्यमानाद्भुतप्रकारेण, एवमन्यत्रापि
छेकाः—प्रस्तावज्ञा. , कलापण्डिता इति वृद्धा व्याचक्षते ,
तथा इति दक्षाः—कार्याणामविलम्बितकारिण तथा इति
प्रष्ठा.-दक्षाणा प्रधाना वाग्मिन इति वृद्धैरुक्त, क्वचित्- पत्त-
ट्ठा' इत्यधीयते,तत्र प्राप्तार्था.—कृतप्रयोजना , तथा इति नि-
पुणाः-सूक्ष्मदर्शिन. कुशला इति च वृद्धोक्तम् ,इति नयवादि-
न्ना-नीतिवक्तारः , तथा इत्युपदेशलब्धा लब्धासोपदेशाः,
वाचनान्तरे इति मेधाविनः अपूर्वश्रुतग्रहणशक्तिमन्त. इ-
ति विज्ञानप्राप्ता.-अवाप्तसद्बोधा. । 'से जहे ' त्यादि , अ-
थ यथा नाम कश्चित्पुरुष. ' तरुणे ' त्ति-वर्धमानवया. व-
र्णादिगुणोपचितं इत्यन्ये, यावत्करणादिदं दृश्यम्-' बलवं '
सामर्थ्यवान् ' जुगवं ' युगं-कालविशेष. तत्प्रशस्तमस्याऽ-
स्तीति युगवान् , दुष्टकालस्य बलहानिकरत्वात्तद्व्यवच्छे-
दार्थमिद विशेषणम्, ' जुवाणे' त्ति—युवा-वय.प्राप्त , ' अ-
प्पायङ्के' त्ति-नीरोग. 'थिरग्गहत्थे' त्ति-सुलेखकवद् अस्थि-
राग्रहस्तो हि न गाढग्रहो भवतीति विशेषणमिदम् ' दढ-
पाणिपाए' त्ति-प्रतीत 'पासपिट्ठन्तरोरुपरिणए, त्ति-पार्श्वौ
च पृष्ठान्तरे च-तद्विभागौ ऊरू च परिणतौ-निष्पत्तिप्रक-
र्षावस्थां गतौ यस्य स तथा , उत्तमसंहनन इत्यर्थ , ' त-
लजमलजुयलपरिघनिभबाहु त्ति-तलयो -तालाभिधानवृक्ष-
विशेषयो. यमलयो -समश्रेणिकयोर्यद्युगलं परिघश्च-अर्गला
तन्निभौ तत्सदृशौ बाहू यस्य स तथा, आयतबाहुरित्यर्थ ,
'घणनिचियवट्टपालिखन्धे' त्ति-घननिचित -अत्यर्थ निविडो
वृत्तश्च-वर्तुल. पालिवत्-तडागादिपालीव स्कन्धौ-अंशदे-
शौ यस्य स तथा , ' चम्मेट्ठगदुहणमोट्ठियसमाहयनिचिय-
गायकाए ' त्ति चर्मेष्टका-इष्टकाशकलादिभृतचर्मकुतपरूपा
यदाकर्षणेन धनुर्धरा व्यायाम कुर्वन्ति द्रुघणो-मुद्गरो मौष्टि-
को-मुष्टिप्रमाण. प्रोतचर्मरज्जुक पाषाणगोलकस्तै समाह-
तानि-व्यायामकरणप्रवृत्तौ सत्या ताडितानि निचितानि गा-
त्राणि-अङ्गानि यत्र स तथा स एवंविध कायो यस्य स तथा,
अनेनाभ्यासजनित सामर्थ्यमुक्त, 'लङ्घणपवणजइणवायामस-
मत्थे ' त्ति-लङ्घण च-अतिक्रमणं प्लवन च-उत्प्लवन
जविनव्यायामश्च-तदन्य शीघ्रव्यापारस्तेषु समर्थो य स
तथा, 'उरस्सबलसमागए त्ति-अन्तरोत्साहवीर्ययुक्त इत्यर्थ
' छेए ' त्ति-प्रयोगज्ञ ' दक्खे ' त्ति-शीघ्रकारी 'पत्तट्ठे' त्ति-
अधिकृतकर्मणि निष्ठाङ्गत. प्राप्तार्थ , प्रज्ञ इत्यन्य , ' कु-
सले' त्ति-आलोचितकारी ' मेहावि ' त्ति-सकृद् दृष्टश्रुतक-

र्मज्ञ. 'निउणे ' त्ति-उपायारम्भक' ' निउणसिप्पोवगए' त्ति-
सूक्ष्मशिल्पसमन्वित इति , अजं वा छगलम् एलकं वा-
उरभ्र शूकरं वा-वराहं कुर्कुटतित्तिरवर्तकलावककपोतक-
पिञ्जलवायसश्येनका पक्षिविशेषा लोकप्रसिद्धा 'हत्थसि
य' त्ति-यद्यप्यजादीनां हस्ता न विद्यते तथाप्यग्रेतनपादौ
हस्त इव हस्त इति कृत्वा हस्ते वेत्युक्तं, यथासम्भवं चै-
षा हस्तपादखुरपुच्छपिच्छशृङ्गविषाणरोमाणि योजनीयानि,
पिच्छ -पक्षावयवविशेष., शृङ्गमिहाजैडकयो. प्रतिपत्तव्यं ,
विषाणशब्दो यद्यपि गजदन्ते रूढस्तथाऽपीह शूकरदन्ते प्रति-
पत्तव्य , साधर्म्यविशेषादिति, निश्चलम्-अचलं सामान्यतो
निष्पन्दं—किञ्चिच्चलनेनापि रहितम् , ' आघवणाहि य '
त्ति आख्यानै. प्रज्ञापनाभि.—भेदतो वस्तुप्ररूपणाभि ' स-
ञ्ज्ञापनाभि.-सञ्ज्ञानजननै विज्ञापनाभि -अनुकूलभणितै' ।

तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स बहूहिं
सील ०जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइक्कन्ता ,
पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अनन्तरा वट्टमाणस्स पुव्वर-
त्तावरत्तकाले ०जाव पोसहसालाए समणस्स भगवओ
महावीरस्स अन्तियं धम्मपण्णत्ति उवसम्पज्जित्ता णं
विहरइ , तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स
पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अन्तियं पाउब्भवित्था, तए
णं से देवे एगं महं नीलुप्पल ०जाव असि गहाय स-
द्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—जहा चुलणीपियस्स
तहेव देवो उवसग्गं करेइ , नवरं एकेके पुत्ते नव मंस-
सोल्लए करेइ०जाव कणीयसं घाएइ घायइत्ता ०जाव आ-
यश्चइ । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए अभीए ०जा-
व विहरइ । तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं अ-
भीयं ०जाव पासित्ता चउत्थं पि सद्दालपुत्तं समणोवासयं
एवं वयासी—हं भो ! सद्दालपुत्ता ! समणोवासया अपत्थि-
यपत्थिया० जाव न भञ्जसि तओ ते जा इमा अग्गि-
मित्ता भारिया धम्मसहाइया धम्मविइज्जिया धम्माणुरा-
गरत्ता समसुहदुक्खसहाइया तं ते साओ गिहाओ
नीणेमि नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि घायइत्ता नव-
मंससोल्लए करेमि करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि
अद्दहेमि अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य
आयञ्चामि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० जाव ववरोविज्जसि ।
तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते
समाणे अभीए ०जाव विहरइ । तए णं से देवे सद्दाल-
पुत्तं समणोवासयं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—हं भो !
सद्दालपुत्ता ! समणोवासया ! तं चेव भणइ, तए णं त-
स्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि
तच्चं पि एवं वुत्तस्स समाणस्स एयअज्झत्थिए०४ समुप्पन्ने
एवं जहा चुलणीपिया तहेव चिन्तेइ जे णं ममं जेट्ठ पुत्तं

जे णं ममं मज्झिमयं पुत्तं जे णं ममं कणीयसं पुत्तं०जाव आयश्चइ जाऽवि य णं ममं इमा अग्गिमित्ता भारिया समसुहदुक्खसहाइया तं पि य इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिरिहत्तए त्ति कट्टु उद्धाइए जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं नवरं अग्गिमित्ता भारिया कोलाहलं सुणित्ता भणइ। सेसं जहा चुलणीपियावत्तव्वया, नवरं अरुणभूए विमाणे उववन्ने० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, निक्खेवओ। (सू० ४५) उपा० ७ अ०।

सद्दालु–शब्दवत्–त्रि०। "आल्विल्लोल्लाल–वन्त–मन्तेत्तेर–मणा मतोः" ॥ ८। २। १५६ ॥ इति मतोः स्थाने आलु आदेशः। शब्दयुक्ते, प्रा०। औ०।

सद्दावाई–शब्दापातिन्–पुं०। हैमवतवर्षवृत्तवैताढ्यपर्वते, स्था० १० ठा० ३ उ०। भ०। देवविशेषे, स्था०।

दो सद्दावाती देवा। (सू०९२+) स्था०२ ठा०३ उ०।

सद्दावायवासी–शब्दापातिवासिन्–पुं०। देवविशेषे, स्था०।

दो सद्दावायवासी साती देवा।(सू०९२×)स्था०२ठा०३उ०।

सद्दिट्ठी–सद्दृष्टि–पुं०। सती–समीचीना दृष्टिर्यस्यासौ सद्दृष्टिः। सम्यग्दृष्टौ, प्रति०। स्थिरादिपु योगदृष्टिपु, द्वा० २३ द्वा०।

सद्दिय–शब्दित–त्रि०। शब्दः प्रसिद्धिः संजातो यस्य तच्छब्दितम्। प्रसिद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। आकारिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

शाब्दिक–पुं०। शब्दज्ञे, अनु०।

जो जं जाणइ। तं जहा–सद्दं सद्दिओ, गणियं गणिओ। अनु०।

सद्दुणइय–शब्दोन्नतिक–त्रि०। उन्नतशब्दके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जी०।

सद्दुद्देसय–शब्दोद्देशक–पुं०। शब्दोपलक्षित उद्देशकः शब्दोद्देशकः। द्विस्थानकस्य तृतीये उद्देशके,स्था० ५ ठा० १ उ०।

सद्दुप्पाय–शब्दोत्पाद–पुं०। शब्दोत्पत्तौ, स्था०।

दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाए सिया। तं जहा–साहन्नंताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया, भिज्जंताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया। (सू० ८१ ×)

'दोहीं' त्यादि द्वाभ्यां स्थानाभ्यां कारणाभ्यां शब्दोत्पादः स्याद्–भवेत् संहन्यमानानां च संघानमापद्यमानानां सतां कार्यभूतः शब्दोत्पादः स्यात्पञ्चम्यर्थे वा षष्ठीति संहन्यमानेभ्य इत्यर्थः पुद्गलानां–बादरपरिणामानां यथा घण्टालालयोरेवं भिद्यमानानां वियुज्यमानानां च यथा वंशदलानामिति। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सद्दूल–शार्दूल–पुं०। सिंहपर्याये आटव्ये पशौ, आव० १ अ०। "इक्की पुण्डी वग्घो सद्दूलो पुंडरीओ य।" पाइ० ना० ४४ गाथा। व्याघ्रविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

सद्ध–श्राद्ध–न०। पितृक्रियायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। स्थालीपाकसृतपिण्डनिवेदने, ज० २ वक्ष०।

सद्धम्मजाण–सद्धर्मयान–न०। सद्धर्मरूपे यानपात्रे, प० व० ५ द्वार।

सद्धम्मवुड्ढिजणग–सद्धर्मवृद्धिजनक–त्रि०। सुन्दरधर्ममत्युत्पादके, पञ्चा० ६ विव०।

सद्धम्मपरंमुह–सद्धर्मपराङ्मुख–त्रि०। दुर्गतौ पतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः। क्षान्त्यादिकः श्रमणकरणधर्मो गृह्यते, तत्पराङ्मुखः। धर्मविमुखे, आव० ४ अ०। जी०।

सद्धम्मपरिक्खा–सद्धर्मपरीक्षा–स्त्री०। सम्यग्धर्मपरीक्षायाम्, पो० १ विव०। 'बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमबुद्धिर्विचारयति सद्वृत्तम्। आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षते सर्वयत्नेन ॥१॥" इति। ध०१ अधि०। ('धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६ पृष्ठे व्याख्या गता।)

सद्धम्मपरिणाम–सद्धम्मपरिणाम–पुं०। सहजपरिणमने,अष्ट० ८ अष्ट०।

सद्धा–श्रद्धा–स्त्री०। "श्रद्धर्द्धि मूर्धाऽर्धेऽन्ते वा" ॥ ८। २। ४१॥ इति संयुक्तस्य ढो वा। सड्ढा। पक्षे–सद्धा। श्रद्धा। प्रा०। "न श्रदुदोः" ॥ ८। १। १२॥ श्रद् उद् इत्येतयोरन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्। प्रा०। इच्छायाम्, "ईहा इच्छा वञ्छा सद्धा कामो य आससा" पाइ० ना० ७० गाथा। स्वकीयेऽभिलापे, पञ्चा० २ विव०। प्रवर्धमानानुष्ठानकरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। विशुद्धचित्तपरिणामे, आव० ६ अ०। तत्सद्भावाभिलाषे, दश० ६ अ०। मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिजन्योदकप्रसादकमणिवच्चेतसः प्रसादजन्याम्, ध० २ अधि०। तत्त्वश्रद्धाने, संयमयोगविषये निजाभिलाषे, प्रश्न० १ संव० द्वार। धर्मकरणाभिलाषे, उत्त० ३ अ०।

अथ श्रद्धाप्रवरं धर्मे इति द्वितीयं भावसाधोर्लिङ्गमुपसंहरन् प्रज्ञापनीयलक्षणं तृतीयं भावसाधुलिङ्गं सबन्धयन्नाह–

एसा पवरा सद्धा, अणुवद्धा होइ भावसाहुस्स।
एईए सब्भावे, पन्नवणिज्जो हवइ एसो ॥ १०५ ॥

एषा–चतुरङ्गा प्रवरा–वरेण्या श्रद्धा–धर्माभिलाषोऽनुबद्धा–अव्यवच्छिन्ना भवति–सम्पन्ने भावसाधोः–प्रस्तुतयतेः एतस्या–श्रद्धाया सद्भावे–सत्तायां प्रज्ञापनीयः–असद्ग्रहविकलो भवत्येष भावमुनिरिति।

ननु किं चरित्रवतोऽप्यसद्ग्रहः सम्भवति? सत्यं सम्भवत्यपि मतिमोहमाहात्म्यात्–मतिमोहोऽपि कुत इति चेदुच्यते–

विहिउज्जमवन्नयभय, उस्सग्गववायतदुभयगयाइं।
सुत्ताइं बहुविहाइं, समए गंभीरभावाइं ॥ १०६ ॥

विधिश्च–उद्यमश्च–भयं चोत्सर्गश्चापवादश्च तदुभयं चेति द्वन्द्वस्तस्य च स्वपदप्रधानत्वाद्, गतानिति प्रत्येकमभिसंबध्यते, सूत्राणि च विशेष्याणि ततश्चैव योज्यते–

कानिचिद्विधिगतानि सूत्राणि सन्ति, यथा—"संयने भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ। इमेण कमजोएण, भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥" इत्यादीनि, कानिचिदुद्यमसूत्राणि यथा-"दुमपत्तए पंडुए जहा,निवडइ राइगणाण अच्चए। एव मणुयाण जीविय,समय गोयम ! मा पमायए ॥१॥" इत्यादीनि, वर्णकसूत्राणि-'रिद्धत्थमियसमिद्धा'इत्यादीनि प्रायो ज्ञाताधर्मकथाद्यङ्गेषु, भयसूत्राणि-नरकेषु मांसरुधिरादिकथनरूपाणि,उक्तं च-"नरएसु मंसरुहिराइ-वयण जं पसिद्धिमित्तेण। भयहेउ इहर तेसि वेउव्वियभावओ न तय ॥१॥" इत्यादीनि,उत्सर्गसूत्राणि। यथा—"इचेसिं छण्ह जीवनिकायाण नेव सयं दंडं समारभिज्जा" इत्यादि पट्जीवनिकायरक्षाविधायकानि, अपवादसूत्राणि प्रायश्छेदग्रन्थगम्यानि, यद्वा—"नया लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा। इक्को वि पावाई विवज्जयतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥" इत्यादीनि, तदुभयसूत्राणि—येषूत्सर्गापवादौ युगपत्कथ्येते,यथा-"अट्टज्झाणाभावे, सम्मअहियासियव्वओ वाही। तब्भावम्मि उ विहिणा, पडियारपवत्तणं नेयं ॥ १ ॥" इत्यादीनि एवं सूत्राणि बहुविधानि स्वसमय—परसमय-निश्चय—व्यवहार-ज्ञानक्रियादिना नयमतप्रकाशकानि समये-सिद्धान्ते गम्भीरभावानि-महामतिगम्याभिप्रायाणि सन्तीति शेष.।

तत. किमित्याह—

तेसिं विसयविभागं, अमुणंतो नाणवरणकम्मुदया।
मुज्झइ जीवा तत्तो, सपरेसिमसग्गहं जणई ॥ १०७ ॥

तेषा सूत्राणा विषयविभागमयमस्य सूत्रस्य विषयोऽयं चामुष्येत्येवरूपममुणन्-अलक्षयन् ज्ञानावरणकर्मण उदयाद्धेतोर्मुह्यति—मोहमुपयाति जीव -प्राणी तत. स्वपरयोरात्मन. परस्य च पर्युपासकस्यासद्ग्रहमसद्बोध जनयति , जमालिवत्। तत्कथा चातिप्रतीतत्वान्न वितन्यत इति।

ततश्च—

तं पुण संविग्गगुरू, परहियकरणुज्जयाणुकंपाए।
बोहिंति सुत्तविहिणा, पन्नवणिज्जं वियाणंता ॥१०८॥

तं मूढं पुन शब्दादर्थिनं विनीत च सविग्ना —प्रतीतार्था गुरव.—पूज्याः परहितकरणोद्यता -परोपकाररसिका अनुकम्पया-मा गमत् एप दुर्गतिमित्यनुग्रहबुद्ध्या प्रेरिता बोधयन्ति-प्रज्ञापयन्ति सूत्रविधिना आगमोक्तयुक्तिभि प्रज्ञापनीयं प्रज्ञापनोचितं विजानाना लक्षयन्तस्तदितरस्य सर्वज्ञेनापि बोधयितुमशक्यत्वादिति।

तत.—

सोऽवि असग्गहचाया, सुविसुद्धं दंसणं चरित्तं च।
आराहिउं समत्थो, होइ सुहं उज्जुभावाओ ॥ १०९ ॥

सोऽपि प्रज्ञापनीयमुनिः सुनन्दराजर्षिसदृशोऽसद्ग्रहत्यागात्रिजपरिकल्पितबोधमोचनात् सुविशुद्धमतिनिर्मल दर्शनंसम्यक्त्व चारित्रं-संयमं चशब्दात्—ज्ञानतपसी चाराधयितुं समर्थो भवति सुख यथाभवत्येवमृजुभावादार्जवगुणादिति। ध० र० ३ अधि० ३ लक्ष०।

१—'जमालि' शब्दे चतुर्थभागे सर्व वृत्तान्तम्।

सद्धाजणण--श्रद्धाजनन--न०। श्लाघने , सद्धाजणणं ति श्लाघनम् ति वा एगट्ठा। नि० चू० १ उ०।

सद्धाथिरया-श्रद्धास्थिरता-स्त्री०। श्रद्धास्थैर्ये, पं० व० १ द्वार।

सद्धाभंग-श्रद्धाभङ्ग-पुं०। भक्तिनाशे जी० १ प्रति०।

सद्धामेत्तत्त-श्रद्धामात्रत्व--न०। श्रद्धा-रुचि. सैव सामान्यभावे श्रद्धा कार्यरहिता श्रद्धामात्रं तद्भावस्तत्त्वम्। केवलश्रद्धायाम् , पञ्चा० १३ विव०।

सद्धालु--श्रद्धालु-पुं०। धर्मानुष्ठानं निरन्तर कार्यमेवेति श्रद्धासहिते, धर्मानुष्ठान निरन्तर कार्यमेव किंतु तत्कुर्वता सर्वशक्त्या विधौ यतनीयम् , इदमेव च श्रद्धालोर्लक्षणम्। आह च-
"विहिसारं चिअ सेवइ, सद्धालू सत्तिमं अणुट्ठाणं।
दव्वाइ दोस निहओ, वि पक्खवायं वहइ तम्मि ॥ १ ॥
धरणाण विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धरणा।
विहिबहुमाणी धरणा, विहिपक्खअदूसगा धन्ना ॥ २ ॥
आसन्नसिद्धिआणं, विहिपरिणामो उ होइ सयकालं।
विहिचाओ ऽविहिभत्ती, अभव्वजिअदूरभव्वाणं ॥ ३ ॥"
ध० २ अधि०।

सद्धिं--सार्द्धम्--अव्य०। समानं युगपत्। एकवेलत्यर्थे, नि० चू० २ उ०। सहेत्यर्थे, भ० २ श० ५ उ०। आचा०। ज्ञा०। औ०।

सद्धेअ-श्रद्धेय--त्रि०। नान्यथेत्यादीति भावनया ग्राह्ये, आव० ४ अ०।

सन्तमस-सन्तमस--न। अन्धकारे "सन्तमसं अंधयार घत तिमिर तमिस्सं च "। पाइ० ना० ४८ गाथा।

सन्तय-सन्तत--न०। अविरामे , " सइ अविरय अविरामं अणुवेल संतय सया निच्चं "। पाइ० ना० ८७ गाथा।

सन्दण-स्यन्दन--पुं०। रथे , " संदणो रहो "। पाइ० ना० २२३ गाथा।

सन्दाणिअ-सन्दानित--त्रि०। बद्धे, "बद्धं संदाणिअं निअलिअं च "। पाइ० ना० १६७ गाथा।

सन्दिट्ठ--सन्दिष्ट--न०। आत्महिते, " सन्दिट्ठं अप्पाहिअं "। पाइ० ना० १८५ गाथा।

सन्दिद्ध-सन्दिग्ध-त्रि०। संशयिते , " सन्दिद्धं संसइअं "। पाइ० ना० १८५ गाथा।

सन्दुमिअ-प्रदीप्त-त्रि०। उद्दीपिते, " उद्दीविअं उज्जालिअ पलीविअ जाण सन्दुमिअं"। पाइ० ना० १६ गाथा।

सन्दोह-सन्दोह-पुं०। गणे , सदोहो निउरम्बो। पाइ० ना० १८ गाथा।

सन्धुकिअ-प्रदीप्त-त्रि०। उज्ज्वालिते, " सन्धुक्किअं उद्दीविअ उज्जालिअं पलीविअ जाण "। पाइ० ना० १६ गाथा।

सन्न-सन्न-त्रि०। क्लान्ते, " सन्न किन्न सुढिअ उव्वायं नीसहं किलत च"। पाइ० ना० ७६ गाथा।

सन्ना-संज्ञा-स्त्री०। नामनि, " सन्ना गुत्तं च नाम अहिहाणं '। पाइ० ना० १६१ गाथा।

सन्नाम–आ–दृ–धा०। आदरे, "आदृङेः सन्नामः" ॥८।४।८३॥ आद्रियतेः सन्नाम इत्यादेशो वा भवति। सन्नामेइ। आदरेइ। आद्रियते। प्रा० ४ पाद।

सन्नुम–छाद्–धा०।अपवारणे,'छदेर्णेर्णुम–नूम–सन्नुम–ढक्कौ म्वाल–पव्वाला" ॥८।४।२१॥ छदेर्ण्यन्तस्यैते षडादेशा वा भवन्ति। सन्नुमइ। छादयति। प्रा० ४ पाद।

सपएस–सप्रदेश–पुं०। सविभागे,भ० ६ श० ३ उ०।('पएस' शब्दे तृतीयभागे २२ पृष्ठे सप्रदेशाऽप्रदेशत्वे दण्डकः।)

सपंचचूल–सपञ्चचूड–पुं०। सह पञ्चभिश्चूडाभिर्वर्तत इति सपञ्चचूडः। चूडापञ्चकसहिते आचाराङ्गे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सपंसुलक–सपांसुलक–त्रि०। सपार्श्वास्थिः, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

सपक्ख–सपक्ष–न०। समानाः पक्षाः पार्श्वा दिशो यस्मिन् तत् सपक्षम्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। समानपक्षे, समपार्श्वे, यथा भवति समश्रेण्या गच्छतीत्यर्थः। स० ३२ सम०। सर्वेषु पार्श्वेषु—पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेष्वित्यर्थः। सू० प्र० २० पाहु०। सम्म०।

स्वपक्ष–पुं०। निह्नवपार्श्वस्थादिषु, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सपक्खि–सपक्ष–त्रि०। समानाः पक्षाः पार्श्वा दिशो यस्मिन् तत्सपक्षम्। इहेकारः प्राकृतप्रभवः।स्था०४ठा० ३ उ०। पक्षाणां दक्षिणवामादिपार्श्वाना सदृशता समता सपक्षमित्यव्ययीभावः। समपार्श्वतया समे,स्था०३ ठा०१ उ०। महौपधिभेदे, स्त्री०। ती० ६ कल्प।

सपच्चवाय–सप्रत्यपाय–पुं०। संभाव्यमानाऽपाये, पिं०। स्था०।

सपज्जवसिय–सपर्यवसित–त्रि०। शान्ते, सपर्यवसितो लोको जगत्प्रलये सर्वस्य विनाशसद्भावात्। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

सपज्जाय–सपर्याय–त्रि०। नास्तिभावे, सपज्जाय त्ति वा णत्थिभावो त्ति वा अविज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठा। आ० चू० १ अ०।

सपडाग–सपताक–त्रि०। सह पताकया वर्तत इति सपताकम्। पताकया सहिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सप(प्प)डिकम्म–सप्रतिकर्म्मन्–न०। प्रतिकर्मसहितेऽनशने, "भत्तपरिन्नाऽणसणं तिचउविहाहारचायनिष्फन्नं। स(प्प)पडिकम्मं नियमा,जहा समाही विणिद्दिट्ठं ॥१॥" इति। स्था०२ ठा० ४ उ०।

सपडिकमण–सप्रतिक्रमण–पुं०। उभयकालकरणीयप्रतिक्रमणसहिते, सह प्रतिक्रमणेनोभयसन्ध्यामावश्यकेन यः स तथा, अन्येषा तु कारणजातप्रतिक्रमणमिति। उक्तं च–"सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जि(ण्स्स)णाणं।" स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सपडिदिसि–सप्रतिदिश्–स्त्री०। प्रतिदिशां विदिशां सदृशतायाम्, समप्रतिदिक्कायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

सपमज्जिय–सप्रमृज्य–अव्य०। सम्प्रमार्जनं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न० १ सव० द्वार।

सपरक्कम–सपराक्रम–न०। पराक्रमः–सामर्थ्यं सह पराक्रमेण वर्त्तत इति सपराक्रमः। पराक्रमयुक्ते अनशने, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। (इदं च 'मरण' शब्दे षष्ठभागे ११४ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

सपरसुय–स्वपरश्रुत–न०। स्वसमयपरसमययोः,द्वा० ६ द्वा०।

सपरिग्गह–सपरिग्रह–त्रि०। सह परिग्रहेण–द्विपदचतुष्पदधनधान्याऽऽदिना वर्त्तत इति सपरिग्रहः। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिना वर्त्तमाने, तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावति च। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

सपरिमाण–सपरिमाण–त्रि०। सह परिमाणेन वर्तत इति सपरिमाणम्। सपरिच्छेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

सपरियण–सपरिजन–त्रि०। सह परिजनैर्वर्तत इति सपरिजनः। भृत्यादिवर्गसहिते, उत्त० २० अ०।

सपरिया–सपर्या–स्त्री०। सेवायाम्, स्था०।

सपरिवार–स्वपरिवार–त्रि०। स्वकीयपरिवारयोग्यासनपरिकरिते, भ० २ श० ४ अ०।

सपरिसाग–सपर्षत्क–त्रि०। सह पर्षदो यैर्येषां वा ते सपर्षत्काः। सदस्येषु, आ० म० १ अ०।

सपरोवघाय–स्वपरोपघात–पुं०। आत्मन्यसंक्लेशे, जी० १ प्रति०।

सपाउरण–सप्रावरण–त्रि०। सप्राच्छादने, ग० १ अधि०।

सपाडुगभंडधारि–सप्रादुकभाण्डधारिन्–पुं०।यावन्मात्रमुपकरणमुपयुज्यते तावन्मात्रं धरति शेष परिष्ठापयति साधौ, व्य० ८ उ०।

सपाण–सप्राण–त्रि०। सह प्राणैर्वर्त्तते इति सप्राणम्। सचित्ते, दशा० २ अ०।

सपाय–स्वपात्र–न०। आत्मनः संज्ञामात्रके, अप्पणिज्जो सन्नामत्तओ सपायं भण्णति। नि० चू० ३ उ०।

सपायच्छित्त–सप्रायश्चित्त–त्रि०। सह प्रायश्चित्तेन वर्त्तत इति सप्रायश्चित्तम्। प्रायश्चित्तयुक्ते, स्था० ५ ठा० २ उ०। व्य०।

सपाव–सपाप–त्रि०। "क–ग–च–ज–त–द–प–य–वा प्रायो लुक्" ॥ ८। १। १७७॥ सपावं। अत्र प्रायोग्रहणान्न लुक्। पापसहिते, प्रा० १ पाद।

सपासंडि–स्वपाष(ख)ण्डिन्–पुं०। जैनपापण्डिनि, णाणदंसणचारित्ताणि परूवेति जिणवयणं चोरेति सो सपासंडी चेव। नि० चू० ११ उ०।

सपिसल्लय–सपि(शाच)सल्लय–त्रि०। सह पिसल्लयेन–पिशाचेन वर्त्तन्त इति सपिसल्लयाः। पिशाचेन सहितेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

सपुरजणजाणवय–सपुरजनजानपद–त्रि०। सह पुरजनेन जानपदेन च जनपदसम्बन्धिजनेन वर्तते यः स तथा। पुरजनजनपदजनसमेते, भ० ११ श० ११ उ०।

सपुरोहिय-सपुरोहित-पुं० । शान्तकर्म्मकारिसहिते , प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

सपुव्वाऽवर-सपूर्वापर-त्रि०। सह पूर्वेण-पूर्वाह्णकर्त्तव्येन अपरेण वा अपराह्णकर्त्तव्येन। यदिवा-पूर्व यत्क्रियते अन्नादिकं तथा अपर यत्क्रियते विलेपनभोजनादिकं तेन सह वर्त्तत इति सपूर्वापरम्। दशा० १० अ०। पूर्वेणाऽपरेण च सहिते, चं० प्र० १६ पाहु०। सह पूर्वेण गङ्गादिना यदपरं महागङ्गादि तत्सपूर्वापरम्। गोशालकरीत्या पूर्वापरसहिते , भ० १५ श०।

सपेहा-स्वप्रेक्षा-स्त्री० । स्वेच्छायाम् , भ० ३ श० ३ उ० ।

सपोग्गल-सपुद्गल-पुं० । कर्मादिपुद्गलवति जीवे ,स्था० २ ठा० १ उ०।

सप्प-सर्प्प-पुं० । सर्प्पतीति सर्प्पः। भुजङ्गे , आ० म० १ अ० । विशे०। यथाऽसावेकदृष्टिर्भवत्येव गोचरगतेन संयमैकदृष्टिना भवितव्यम्। दश० १ अ० । (सर्प्पवर्णकः गोसालग शब्दे तृतीयभागे १०१६ पृष्ठे गतः।) तथा सर्प इति यथाऽसावेकदृष्टिर्भवत्येवं गोचरगतेन संयमैकदृष्टिना भवितव्यमित्यर्थसूचकत्वादिति , अथवा—यथा द्राक् स्पृशन् सर्पो बिल प्रविशत्येवं साधुनाऽप्यनास्वादयता भोक्तव्यमिति। दश० १ अ० । अश्लेषानक्षत्राधिपतौ देवे, जं० ७ वक्ष०। चं० प्र०। अनु०। जी०।

सप्पइण्णत्त-सत्प्रतिज्ञत्व--न० । प्रतिपन्नक्रियानिर्वाहणे, द्वा० १२ द्वार।

सप्पकाल-स्वल्पकाल-पुं० । मुहूर्त्तप्रहरादिकेऽहोरात्रान्ते काले, धर्म० २ अधि०।

सप्पच्छत्त-सर्प्पच्छत्र-न० । अहिच्छत्राके , आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

सप्पडक्क-सर्प्पदष्ट-त्रि०। सर्प्पदशनमारिते,सप्पडक्को मारितकोट्ठा विसेण भाविस्सति। नि० चू० १ उ०।

सप्पडिदंड-सप्रतिदण्ड-पुं०। सद्वितीयदण्डे,प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

सप्पत्तदाणपुव्व-सत्पात्रदानपूर्व--न०। सत्पात्रं साध्वादिः तस्मिन् दानपूर्वम्। साध्वादिभ्यो दानं दत्त्वेत्यर्थे, (क्रियाविशेषणमिदम्) ध० २ अधि०।

सप्पदट्ठ-सर्पदष्ट-न०। सर्प्पदशने, बृ० ५ उ०। (सर्पदशने मोकपानविधिः 'मोय' शब्दे षष्ठे भागे ४४६ पृष्ठे दर्शितः।)

सप्पभ-सप्रभ-त्रि०। सप्रभावे, स०। प्रभायुक्ते, स०।

स्वप्रभ-त्रि०। स्वेन—आत्मना प्रभान्ति-शोभन्ते-प्रकाशन्ते चेति स्वप्रभाणि। स्वस्वरूपतः प्रभावत्सु, स०।

सत्प्रभ-त्रि०। सती-शोभना प्रभा-कान्तिर्यस्य स सत्प्रभः। स्वरूपतः प्रभावति, दशा० ६ अ०। जं०। रा०। प्रज्ञा०। जी०। आ० म०। देवानन्दकत्वादिप्रभावयुक्ते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

सप्पभावसोहिच्च-स्वप्रभावसौहित्य--न०। स्वस्य—आत्मनो भावः-तद्रूप सौहित्य तृप्तिः। परमात्मतृप्तौ,द्रव्या०५ अध्या०।

सप्पमाण-शप्यमान-त्रि०। स्याद्वादे, द्रव्या० ५ अध्या०। आक्रोश्यमाने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

सप्पलोद्धी-सर्प्पलुब्धिन्-पुं०। सर्प्पग्राहके, बृ०१ उ०३ प्रक०।

सप्पविज्जा-सर्प्पविद्या--स्त्री०। सर्पप्रधानायां परिव्राजकविद्यायाम् , आ० म० १ अ०।

अंतरंजिया नाम पुरी, तत्थ भूयगुहं नाम चेतियं, तत्थ सिरिगुत्ता नाम आयरिया ठिता। तत्थ बलसिरि नाम राया, तेसिं सिरिगुत्ताणं थेराणं सड्ढियरो रोहगुत्तो नाम सीसो, अण्णगामे ठितओ। ततो सो उवज्झाय वंदओ एति, एगो य परिव्वायओ पोट्टं लोहपट्टएण, बंधिउं जबुडालं गहाय हिंडइ। पुच्छितो भणइ—नाणेण पोट्टं फुट्टइ, तो लोहपट्टेण बद्धं, जबुडालं च जहा एत्थ जंबूदीवे णत्थि मम पडिवादि त्ति, ततो तेण पडहतो णीणावितो—जहा सुण्णा परप्पवादा, तस्य लोगेण पोट्टसालो चेव नामं कतं। सो पडहतो रोहगुत्तेण वारिओ, अहं वाद देमि त्ति। ततो सो पडिसेहित्ता गतो आयरियसगास, आलोएइ—एवं मए पडहतो विणिवारिओ। आयरिया भणंति—दुट्ठु कयं, जतो सो विज्जाबलिओ वादे पराजितोऽवि विज्जाहिं उवट्ठाइ त्ति तस्स इमाओ सत्त विज्जाओ, तं जहा-

विच्छुय सप्पे मूसग, मिई वराही य कायपोआई।
एयाहिं विज्जाहिं,सो उ परिव्वायओ कुसलो१३७ (भा०)

व्याख्या—तत्र वृश्चिकेति वृश्चिकप्रधाना विद्या गृह्यते, सर्पेति सर्पप्रधाना, 'मूसग' त्ति मूषकप्रधाना, तथा मृगी नाम विद्या, मृगीरूपेणोपघातकारिणी, एव वाराही च, 'कागपोआइ' ति-काकविद्या पोताकीविद्या च, पोताक्यः सकुनिका भण्यन्ते, एतासु विद्यासु, एताभिर्वा विद्याभिः स परिव्राजकः कुशल इति गाथार्थः॥ आव० ४ अ०।

सप्पवित्तिपयावहा-सत्प्रवृत्तिपदावहा-स्त्री०। प्रभाख्ययोगदृष्टौ, द्वा०।

अस्यां व्यवस्थितो योगी, त्रयं निष्पादयत्यदः।
ततश्चेयं विनिर्दिष्टा, सत्प्रवृत्तिपदावहा॥ २५॥

अस्यामिति—अस्यां प्रभायां व्यवस्थितो योगी त्रयमदोनिरोधसमाध्येकाग्रतालक्षणं निष्पादयति, साधयति ततश्चेयं प्रभा सत्प्रवृत्तिपदावहा विनिर्दिष्टा सर्वैः प्रकारैः प्रशान्तवाहिताया एव सिद्धेः। द्वा० २४ द्वा०।

सप्पसुगंधा-सर्प्पसुगन्धा-स्त्री० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे , प्रज्ञा० १ पद।

सप्पह-सत्पथ-पुं०। सन्मार्गे , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

सप्पहविप्पणट्ठ-सत्प्रभविप्रनष्ट-न०। त्यक्तजिनशासने , उत्त० ४ अ०।

सप्पाडिहेर-सत्प्रातिहार्य--न०। देवकृते तीर्थकृतानां शोभनप्रातिहार्ये, "अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि—र्दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च। भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं , सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्"॥ १॥ कर्म० १ कर्म०।

सप्पि--सर्पिस्-न०। घृते , स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० ।

प्रश्न०। दश०। आचा०। औ०। आ० म०। विकृतिभेदे, स्था० ९ ठा० ३ उ०।

सर्पि-पुं०। देवे, पुनर्वसुनक्षत्रे स्था०।

दो सप्पी। (सू०९०+) स्था० २ ठा० ३ उ०।

सप्पिआसव-सर्पिराश्रव-पुं०। सर्पिरतिशायिगन्धादिघृतम् एतत्स्वादोपमानवचना वैरस्वाम्यादिवत्तदाश्रया। लब्धिमत्पुरुषविशेषेषु, पा०। औ०।

सप्पिवास-सत्पिपास-त्रि०। "समासे वा" ॥ ८। २। ९७॥ शेषाऽऽदेशयोः समासे द्वित्वं वा भवति। सपिवासो। सप्पिवासो। सतृष्णे, प्रा० २ पाद।

सप्पी-सर्पी-स्त्री०। सर्पस्त्रियाम्, दश० १ अ०। स०।

सप्पुर-सत्पुर-न०। स्वनामख्याते पुरे, यत्र वीरजिनप्रतिमा पूज्यते। ती० ४३ कल्प।

सप्पुरिस-सत्पुरुष-पुं०। सच्चासौ पुरुषश्च सत्पुरुषः। आप्तपुरुषे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। तीर्थकरादिके, व्य० १० उ०। महासत्त्वे, पं० व० १ द्वार। "तं तह दुल्लहलंभ, विज्जुलताचंचलं मणुअत्तं। लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो।" आ० म० १ अ०। दाक्षिणात्यानां किंपुरुषाणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०। प्रज्ञा०। भ०।

सफल-सफल-त्रि०। सह फलेन कर्मबन्धेन वर्त्तत इति सफलम्। सकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। चरितार्थे, जी० १ प्रति०। फलवति, पा० ८ विव०।

सफाय-सफाय-न०। अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

सफिह-सस्पृह-त्रि०। अभिलाषासहिते, द्वा० २२ द्वा०।

सबर-शबर-त्रि०। अनार्यदेशभेदे, तद्देशवासिनि म्लेच्छे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। सूत्र०। ज्ञा०। प्रज्ञा०। आ० म०। प्रव०। आचा०। स्वनामख्याते जैमिनिप्रणीतसूत्रोपरिव्याख्याभाष्यकारके प्रधानमीमांसके, सम्म० २ काण्ड।

सबल-शबल-पुं०। परमाऽधार्मिके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रायश्चित्तयुक्ते, दश०।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पण्णत्ता, कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पण्णत्ता, इमे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पण्णत्ता, तं जहा- हत्थकम्मं करेमाणे सबले १ मेहुणं पडिसेवमाणे सबले २ रातीभोयणं भुंजमाणे सबले ३ आहाकम्मं भुंजमाणे सबले ४ रायपिंडं भुंजमाणे सबले ५ कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं आहट्टु दिज्जमाणं भुंजमाणे सबले ६ अभिक्खणं अभिक्खणं पडियाइक्खित्ताणं भुंजमाणे सबले ७ अंतो छण्हं मासाणं गणातो गणं संकममाणे सबले ८ अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबले ९ अंतो मासस्स ततो माइट्ठाणं करेमाणे सबले १० सागारियपिंडं भुंजमाणे सबले ११ आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले १२ आउट्टियाए मुसावायं करेमाणे सबले १३ आउट्टियाए अदिण्णादाणं गिण्हमाणे सबले १४ आउट्टियाए अणंतरहिताए पुढवीए ठाणं वा नीसीहियं वा चेतेमाणे सबले १५ एवं ससणिद्धाए पुढवीए ससरक्खाए पुढवीए १६ एवं आउट्टियाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउस्से सउत्तिंग पणगदगमट्टियमक्कडासंताणए तहप्पगारं ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेतेमाणे सबले १७ आउट्टियाए मूलभोयणं वा कंदभोयणं वा खंधभोयणं वा तयाभोयणं वा पवालभोयणं वा पत्तभोयणं वा पुप्फभोयणं वा फलभोयणं वा बीयभोयणं वा हरियभोयणं वा भुंजमाणे सबले १८ अंतो संवच्छरस्स दस दगलेवे करेमाणे सबले १९ अंतो संवच्छरस्स दस माइट्ठाणाइं करेमाणे सबले २० आउट्टियाए सीतोदगवग्घारियहत्थेण वा पत्तेण वा दव्वीए वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेत्ता भुंजमाणे सबले २१ एते खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पन्नत्ता त्ति बेमि ॥ २ ॥

असमाधिस्थानानि चाऽऽसेवमानः शबलो भवति। अथवा-शबलत्वस्थानेषु वर्त्तमानस्यासमाधिर्भवति अतोऽसमाधिस्थानपरिहरणाय शबलस्थानानि-शबलत्वकरणानि परिहर्त्तव्यानि इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य शबलाध्ययनस्य व्याख्या प्रस्तूयते-'सुयं मे आउसंतेणमि'त्यादि, व्याख्या प्राग्वत्। नवरं शबलं-कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्निमित्तभूतैर्भवति ते शबलास्तद्योगात्साधवोऽपि शबला इति व्यपदिश्यन्ते। तत्र शबलो द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, तत्र द्रव्यस्यानुपयुक्तत्वाद्भावशबलेनेहाधिकारः, स चैवम्-एकैकस्मिन् अपराधपदे मूलगुणवर्जे आधाकर्मादौ अतिक्रमो-व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारश्च, तत्र सर्वैरप्येतैः शबलो भवति। तत्रातिक्रमादीनां स्वरूपमिदम्-यथाऽऽधाकर्मादिसदोषवस्तुपरिभोगनिमन्त्रणे कृते सति तत्प्रतिश्रवणे प्रथमः, तदर्थं मार्गे गच्छति द्वितीयः, तत्र गृहीते, तृतीयः, भोजनार्थं कवलग्रहणे सति चतुर्थः, एवं यथार्हप्रतिसेवान्तरेष्वप्यूह्यम्, मूलगुणेषु तु आदिभङ्गैस्त्रिभिः शबलो भवति। चतुर्थभङ्गेन तु सर्वभङ्ग एवातिरिक्त एव भवति शुक्लपटदृष्टान्तवत्। यथा शुक्लपट एकस्मिन् देशे मलिनो भवति तदा तावन्मात्र एव धाव्यते, यदा च सर्वोऽपि मलिनो भवति तदा तु सर्वाऽपि स क्षारादिभिः सन्मिश्रः कृत्वा धाव्यते, यताऽपि मलिनः पटः शोभतेऽपि न। अथ च शीतत्राणमपि न भवति एवं चारित्रपटोऽपि देशसर्वमलिनः सन् मोक्षसाधको भवति, इति कृतं प्रसङ्गेन। प्रस्तुतमनुसरामः, तद्यथा-'हत्थकम्मं करेमाणे सबले' त्ति-हस्तकर्म-वेदविकारविशेषमुपशमं कुर्वन् उपलक्षणत्वात्कारयन्ननुजानन् वा शबलो भवतीत्येकः १। तथा-मैथुनं प्रतिसेवमानाऽ-

निक्रमव्यतिक्रमातिचारैस्त्रिभिः प्रकारैर्दिव्यादित्रिविधं सेवमानः शवलो भवति ।२। अनाचारमालम्बनस्तत्सेवी तु विराधक एव सालम्बनपरवशादिना यतनया सेवमानो भवति शवलः, आलम्बनानि तु छेदग्रन्थटीकादिभ्योऽवसेयानि, परं तत्रापि ' न किंचिदणुन्नायं' इति वचनात्सत्रोपदेशप्रवर्त्तकोऽत एव शवलः । तथा रात्रिभोजनं दिवा गृहीतं दिवा भुक्तमित्यादिभिश्चतुर्भङ्गकैरतिक्रमादिभिश्च भुञ्जानः शवलः एवं सालम्बनं यतनया सन्निध्यादिसेव्यपि शवलः ३। तथा—आधाकर्म आधाय साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनसचेतनं क्रियते,अचेतनं वा पच्यते चीयते वा गृहादिकं वैयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकार्म भुञ्जानः शवलः४ ।तथा-'रायपिंडे' त्ति—राजपिण्डो-नृपाहारः ५ । 'कीतपामिच्चे' त्यादि क्रीतं द्रव्यादिना, साध्वर्थमुद्धारानीतं प्रामित्यम्, आच्छिद्यतेऽनिच्छतोऽपि पुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय गृह्यते तदाच्छेद्य, नानुज्ञातं सर्वस्वामिभिः साधुदानाय इत्यनिसृष्टं भक्तम् आहृत्य दीयमानं स्वस्थानात् साध्वर्थमभिमुखमानीय दानं भक्तादेः, उपलक्षणत्वात् परिवर्त्तनादिकमपीह द्रष्टव्यं तद्भुञ्जानः ६ । तथा—' अभिक्खणं ' ति—अभीक्ष्णमसकृत्प्रत्याख्यायाऽशनादि भुञ्जानः ७ । तथा—' अंतो ' त्ति-अन्तः षण्णां मासानामेकतो गणादन्यं गणं संक्रामन् शवलो निरालम्बन इत्यर्थः, सालम्बनस्तु ज्ञानादिपुष्टालम्बनयुक्तो गणान्तरं संक्रामेत् ८ । तथा—' अंतो ' त्ति-अन्तः मासस्य त्रीन् उदकलेपान् कुर्वन् उदकलेपश्च नाभिप्रमाणजलावगाहनमिति ९ । तथा-' अंतो ' त्ति-अन्तर्मध्ये मासस्य त्रीणि मायास्थानानि तथाविधप्रयोजनमन्तरेणातिगूढमातृस्थानानि (स्थानभेदाः) कुर्वन् १० । तथा-' सागारिय ' त्ति-सागारिको—वसतिदाता तत्पिण्डम् ११ । तथा 'आउट्टियाए पाणातिवायं करेमाणे सबले ' आकुट्टनमिति जानन् करोति आपद्रहितो वा यत्करोति पृथिवीगुण्ठितेन हस्तादिना भिक्षां गृह्णाति उदकक्लिन्नाभ्यां वा हस्ताभ्यां भिक्षां गृह्णाति अग्निसंश्लिष्टं वाऽऽहारं गृह्णाति आत्मानं परं च वायुना वीजति सचित्तफलबीजं कन्दादिकं वा गृह्णाति द्वीन्द्रियादिसंसक्ते पथि व्रजति तन्मिश्रमाहारादिकं वा गृह्णाति, एवं सर्वत्र आकुटथा इत्युपेत्येति द्रष्टव्यम् १२ । तथा 'आउट्टि' त्ति-आकुटथा मृषावादं वदन् १३ । तथा-आकुटथा अदत्तादानं गृह्णन् १४ । तथा-आकुट्या अनन्तरितायां पृथिव्यां स्थानं वा नैषेधिकीं वा चेतयन् कायोत्सर्गं स्वाध्यायभूमिं वा कुर्वन्नित्यर्थः १५ । तथा-एवमाकुट्या सस्निग्धाया पृथिव्याम्,एवं सरजस्कायां पृथिव्या१६।तथा आकुट्या 'चित्तमंताए' त्ति-चित्तं जीवलक्षणं तदस्त्यस्यामिति चित्तवती सचित्ता सजीवेत्यर्थः, तस्याम् एवंविधाया शिलायां , शिला नाम-महाप्रमाणः पाषाणः , एवं सर्वत्र नवरं 'लोलूइ'त्ति-कोष्ठो लोकप्रसिद्धः स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, 'कोलावाससि' त्ति-कोला-घुणास्तेषामावासः कोलावासस्तस्मिन् कोलावासे दारौ-काष्ठे जीवप्रतिष्ठिते द्वीन्द्रियादिजीवाश्रयीभूते , ' सअंडे' त्ति-सह अण्डैर्वर्तत इति साण्डं तस्मिन् साण्डे अण्डानि कीटिकादीनाम् ,तथा-'सपाणे'त्ति-सह प्राणैर्वर्त्तत इति सप्राणं तस्मिन् सप्राणे प्राणा द्वीन्द्रियादय , तथा-' सबीए ' त्ति-सह बीजैर्वर्त्तत इति सबीजं तस्मिन् सबीजे बीजानि-नीवारश्यामाकादीनि, तथा-सह हरितैर्वर्त्तत इति सहरित तस्मिन् सहरितानि दूर्वाप्रवालादीनि 'सउसे' त्ति-सहावश्यायेन वर्त्तत इति सावश्यायं तस्मिन् सावश्याये अवश्यायो नाम-नीहारः,तथा-'सउदगे'त्ति-सह उदकेन वर्त्तत इति सोदकं तस्मिन् सोदके उदकं भौमान्तरिक्षभेदाद्यनेकप्रकारम् तथा-' सोत्तिंगे' त्यादि उत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानेन सह वर्त्तत इति सोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानं तस्मिन् सोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्ताने , तत्र उत्तिङ्गः-पिपीलिकासन्तानकः पनको-भूम्यादौ उल्लीविशेषः उदकमृत्तिका-अचिरादप्कायाद्रींकृता मृत्तिका मर्कटसन्तानको—लूतातन्तुजालं तदेवभूते स्थाने इति गम्यं तत्र स्थानकायोत्सर्गं उपवेशनं वा ' सिज्जं व त्ति-शयनम् , 'निसीहियं व' त्ति-स्वाध्यायस्थानं कुर्वन् शवलः १७ । तथा-' आउट्टियाए' त्ति मूलेत्यादि मूलानि प्रतीतानि तेषां भोजनं-भक्षणं परिभोगो वा मूलभोजनम् , एवं कन्दभोजनं कन्दा उत्पलकन्दादयः , त्वक् पिप्पलादीनां , प्रवालानि करीरादीनां, पत्राणि ताम्बूलपत्राणि नागवल्ल्यादीनां, फलानि आम्रादीना,बीजानि शाल्यादीनाम् , हरितानि पत्रशाकादीनाम् , ' भुजमाणे ' त्ति—भोजन कुर्वन् शवल १८ । तथा-' अंतो ' त्ति-अन्तर्मध्ये संवत्सरस्य दशोदकलेपान् कुर्वन् १९। तथा-'अतो'त्ति-अन्तः संवत्सरस्य दश मायास्थानानि कुर्वन् २० । तथा—'आउट्टिए'त्ति-आकुट्या सीतोदकव्याप्तेन हस्तेन गलद्बिन्दुना वा मात्रकेण वा दर्व्या वा भाजनेन वा ' असणं वा ' इति-अत्र वाशब्दोपादानात् अशनं वा इत्यनेन पदेन सह चतुष्टयस्य सूचनात्तानि चामूनि अशनं पानं खादिमं स्वादिमम् , तत्र अशनम् ओदनादि पानं द्राक्षापानादि खादिमं खर्जूरफलादि स्वादिमं सुण्ठ्यादि, वा सर्वत्र समुच्चये, प्रगृह्य भुञ्जानः शवल इत्येकविंशतितमः २१ । एवं खल्वित्यादि निगमनवाक्यं पूर्ववदेव । इति ब्रह्मविरचितायां जनहिताया श्रीदशाश्रुतस्कन्धटीकाया शवलनामकं द्वितीयमध्ययनं समाप्तम् । दशा० २ अ० ।

"वरिसंतो दस मास-स्स तिन्नि दगलेवमाइठाणाइं ।
आउट्टिया करेंतो, वहालियादिएणमेहुएणे ॥ १ ॥ "
निसि भक्तकम्मनिवपिं-ड कीयमाई अभिक्खसंवरिए ।
कंदाइं भुंजते , उदउ (दु) ल्लहत्थाइगहणं च ॥ २ ॥
सचित्तसिलाकोले, परविणिवाई (स) सिणिद्ध ससरक्खो ।
छम्मासंतो गणसं-कमं च करकम्ममिह सबले ॥ ३ ॥
आव०४ अ० ।

सबालवच्छा—सबालवत्सा—स्त्री० । सह बालेन स्तनपायिना वत्सेन वर्त्तते इति सबालवत्सा । बालसहितायां स्त्रियाम् , ध० ३ अधि० ।

सबाहिरिय—सबाहिरिक—त्रि० । प्राकारबहिर्वर्त्तिगृहपद्धतिरूपया बाहिरिकया सहिते, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सबीय—सबीज—न० । बीजैः सह वर्त्तमाने, दशा० २ अ० । सह बीजैः -शालिगोधूमादिभिर्वर्त्तन्त इति सबीजकाः । एते सर्वेऽपि वनस्पतिकाया । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सब्बोह—सद्बोध—पुं० । निर्मलज्ञाने, पो० १३ विव० ।

सब्भत्ति–सद्भक्ति–स्त्री० । सतां चातुर्वर्ण्यस्थितानां भक्तिः। बाह्यप्रतिपत्तौ, प्रति०।

सब्भाव–सद्भाव–पुं० । सतां भाव. सद्भावः । आव० ३ अ०। विद्यमानभावे,नं०।अस्तित्वे,सम्म०१काण्ड । पञ्चा०। आव०। सत्त्वे. सम्यग्दर्शने, ओघ० । परमार्थे, सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। निष्ठायाम्,आ० चू० १ अ०। पदार्थे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। सन्मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। सत इव विद्यमानस्येव भाव सद्भाव ,स्थाप्यमानस्येन्द्रादेरनुरूपाङ्गोपाङ्गचिह्नवाहन-प्रहरणादिपरिकररूपो य आकारविशेषो यद्दर्शनात् साक्षात् विद्यमान इवेन्द्रादिर्लक्ष्यते स सद्भावः। पिं०। द्वार्दे , तं०। अन्तश्चित्ताभिप्राये , तं० । अन्तर्वासनायाम् , 'हुं साहुसु सब्भावं'। प्रा० २ पाद।

सब्भावट्ठावणा–सद्भावस्थापना–स्त्री०। काष्ठकर्मादिषु,आवश्यकक्रिया कुर्वतः एकादिसाध्वादिस्थापनायाम्,अनु०।

सब्भावदंसण–सद्भावदर्शन–न०। सत्–जिनाभिहितं प्रवचनं तस्य भाव. सद्भावस्तस्य दर्शनम्–उपलम्भ. सद्भावदर्शनम्। सम्यक्त्वे, विशे०।

सब्भावण–सद्भावन–त्रि०। प्रतिव्रतं पञ्चभिरीर्यासमित्यादिभिर्भावनाभि सहिते, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

सब्भावदावण–सद्भावदापन–न० । शल्योद्धरणे, आलोचनायाम् , ओघ०।

सब्भावपडिसेह–सद्भावप्रतिषेध–पुं० । नास्त्यात्मा नास्ति पुण्य पापं चेत्यादिरूपे मृषावादभेदे, दश० ४ अ०।

सब्भाविक–सद्भाविक–त्रि०। पारमार्थिके, दश० १ अ० । सद्भावके, वृ० १ उ० २ प्रक०।

सब्भिंतरबाहिरिय–साभ्यन्तरबाह्य–न० । सहाभ्यन्तरं बाह्यं यस्य येन वा तत्साभ्यन्तरबाह्यम् । अभ्यन्तरेण बाह्येन च सह वर्त्तमाने, सर्वाभ्यन्तरात् मण्डलात् परतस्तावन्मण्डलेषु सङ्क्रमणं यावत्सर्वबाह्यमण्डलं, सर्वबाह्याच्च मण्डलादर्वाक् मण्डलेषु तावत् संक्रमणं यावत्सर्वाभ्यन्तरमिति । मण्ड० । सहाभ्यन्तरेण विभागेन बाह्येन च वर्त्तमाने, भ० १५ श०।

सब्भिक्खु–सद्भिक्षु–पुं० । अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ ८। १। ११। इति अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्। सद्भिक्षु.। सब्भिक्खूः। उत्तमसाधौ, प्रा० १ पाद।

सब्भूकडक्ख–सद्भ्रूकटाक्ष–पुं०। चक्षुर्दोषभेदे, महा० ३ अ०।

सब्भूय–सद्भूत–त्रि०। विद्यमाने वस्तुनि , विशे० । अनृते , आव० ४ अ०। आ० म०। उपा० । स०। सतां प्रकारेण भूते, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०।

सब्भूयगुणकित्तण–सद्भूतगुणकीर्त्तन–न०। संवेगात्सद्भूताना विद्यमानाना च गुणादीनां कीर्त्तने, षो० १ विव०। विद्यमानग्रहणस्वभावे, पञ्चा० ४ विव०।

सभण्डमत्तोवगरण–सभाण्डमात्रोपकरण–न०। स्वकीयभाण्डमात्राभाजनरूपपरिच्छदे शय्यादि गृहीत्वेत्यर्थे, सह भाण्डमात्रया यदुपकरणं तत्तथा इति व्युत्पत्ते. । भ० १३ श० ६ उ०।

सभय–सभय–पुं०। त्राणरहिते अरण्यप्रदेशे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सभ(ह)री–शफरी–स्त्री० "फो भ–हौ ॥ ८। १।२३६॥ स्वरात्परस्यानादेः फस्य भ–हौ भवतः। सभरी। सहरी। मत्स्ये, प्रा० १ पाद।

सभ(ह)ल–सफल–त्रि०। "फो भ–हौ" ॥ ८। १ । २३६॥ इति फस्य भहौ। सभलं। सहलं। फलेन सहिते, प्रा०१ पाद।

सभा–सभा–स्त्री०। सद्भ्यः स्थानं सभा। नि० चू० १२ अ०। आस्थायिकायाम्, भ० ६ श० ३१ उ०। महाजनस्थाने, प्रश्न० ३ संव० द्वार। बहुजनोपवशनस्थाने,प्रश्न० ५ संव० द्वार। चातुर्वेद्यादिशालायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०। भरतादिकथाविनोदेन यत्र लोकस्तिष्ठति सा सभा। अनु०। जनोपवेशनस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। सूत्र०। सभा नाम ग्रामनगरादीनां तद्वासिलोकाऽऽस्थायिकार्थमागन्तुकशयनार्थं च कुड्याद्याकृतिः क्रियते। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। सन्तो भजन्ते तामिति सभा। पुस्तकवाचनभूमौ,बहुजनसमागमस्थाने च। अनु०।

सभाव–स्वभाव–पुं०। स्वो भाव' सभावः । सहजभावे , नि० चू० १ उ०। स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वाद्विशेषस्याविनिगमनात् उक्तम्–"अतोऽग्नि. क्लेदयत्यम्बु, सन्निधौ दहतीति च। अवह्निसन्निधौ तत्स्वा–भाव्यादित्युदिते तयोः।" द्वा०२३द्वा०। "निर्माय एव भावेन, मायावास्तु भवेत्क्वचित् । पश्येत्स्वपरयोर्यत्र, सानुबन्धहितोदयः॥ १॥ " पं० सू० ३ सूत्र।

सभावइ–सभापति–पुं० । प्रज्ञाद्यैश्वर्यक्षमामाध्यस्थ्यसपन्ने सभेश्वरे, रत्ना० ८ परि०। ('वाद' शब्दे षष्ठे भागे विस्तरो गत ।)

सभावओ–सभावतस्–अव्य०। पुद्गलानां मूर्त्तत्ववत् स्वकीयाद्भावादित्यर्थे, भ० १२ श० २ उ०।

सभावसंपन्न–स्वभावसम्पन्न–त्रि०। स्वभावेन पाकं विना सम्पन्न -सिद्ध.। स्वभावसिद्धे द्राक्षादौ, स्था० ४ ठा० २ उ०।

सभावहीण–स्वभावहीन–न०। यत्र स्वभावोऽन्यथा स्थितोऽन्यथाऽभिधीयते तत्स्वभावहीनम्। सूत्रदोषभेदे, अनु०। यस्य योऽयं चात्मीयः स्वभावस्तेन तच्छून्यमभिधीयते यथा स्थिरो वायुरिति। वृ० १ उ० १ प्रक०।

सभिक्खुग–सभिक्षुक–न०। पञ्चदशे उत्तराध्ययने,स०३६सम०।

सम–शम–पुं०। रागादिनिग्रहे,विशे०। स०। भस्मच्छन्नाऽग्निरिवानुदयावस्थायाम्, कर्म० ४ कर्म० । अनन्तानुबन्धिनां कषायाणामनुदये, ध०।

(१) समस्य स्वरूपनिरूपणम्–

शम'–प्रशमः अनन्तानुबन्धिना कषायाणामनुदय' स च प्रकृत्या कषायपरिणते. कटुफलावलोकनाद्वा भवति, यदाह– "पयईए कम्माणं, नाऊण वा विवागमसुहंति। अवरद्धे वि न कुप्पइ,उवसमओ सव्वकालं पि ॥१॥" इति। अन्ये तु क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशम शम इत्याहु । अधिगतसम्यग्दर्शनो हि साधूपासनावान् कथं क्रोधकण्डू विषयतृष्णया च तरलीक्रियेत । ननु क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशमश्चेच्छमस्तर्हि प्रे–

णिककृष्णादीनां सापराधे निरपराधेऽपि च परे क्रोधवतां विषयतृष्णातरलितमनसां च कथं शमः ?, तदभावे च कथं सम्यक्त्वसम्भवः इति चेत्?, मैवम् ,लिङ्गिनि सम्यक्त्वे सति लिङ्गैरवश्य भाव्यमिति नाय नियमः, दृश्यते हि धूमरहितो ऽप्ययस्कारगृहेषु वह्निः, भस्मच्छन्नस्य वा वह्नेर्न धूमलेशोऽपीति । अयं तु नियमः सुपरीक्षितो लिङ्गे सति लिङ्गी भवत्येव । यदाह–" लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव, लिङ्गिन्येवेतरत्पुनः । नियमस्य विपर्यासे, सम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः ॥ १ ॥" इति । संज्वलनकषायोदयाद्वा कृष्णादीनां क्रोधकण्डुविषयतृष्णे । संज्वलना अपि केचन कषायास्तीव्रतया अनन्तानुबन्धिसदृशविपाका इति सर्वमवदातम् ॥१॥ ध० २ अधि० । चं०प्र०।

(२) अष्टकेन शमस्य गुणकथनम्–

ज्ञानी हि ज्ञानात् क्रोधादिभ्य उपशाम्यति, अतः शमाष्टकं विस्तार्यते, तत्र आत्मनः क्षयोपशमाद्याः परिणतयः स्वभावपरिणामेन परिणमन्ति न तप्तादिपरिणतौ स शमः, नामशमस्थापनाशमौ सुगमौ, द्रव्यशमः परिणत्यसमाधौ प्रवृत्तिसंकोचो द्रव्यशम. आगमतः, शमस्वरूपपरिज्ञानी अनुपयुक्तो नोआगमतः मायया लब्धिसिद्ध्यादिदेवगत्याद्यर्थम् उपकारापकारविपाकक्षमादिक्रोधोपशमत्वम् इत्यपि द्रव्यशमः । भावतः उपशमस्वरूपोपयुक्त आगमतः, नोआगमतो मिथ्यात्वमपहाय यथार्थभासनपूर्वकचारित्रमोहोदयाभावात् क्षमादिगुणपरिणतिः—शमः, सोऽपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विविधः। लौकिकं वेदान्तवादिनाम् , लोकोत्तरं जैनप्रवचनानुसारिशुद्धस्वरूपरमणैकत्वम् , आद्य नयचतुष्टये भावक्षमादिस्वरूपगुणपरिणमनहेतुः मनोवाक्कायसंकोच—विपाकचिन्तन—तत्त्वज्ञान—भावनादिः, अन्त्यनयत्रये क्षयोपशमक्षमादि., शब्दनयेन क्षपकश्रेणिमध्यवर्त्तिसूक्ष्मकषायवतः, समभिरूढनयेन क्रोधादिशमः क्षीणमोहादिषु एवभूतनयेन कषायशम. । अत्र भावना—चिन्तास्मृतिविपाकभयादिकारणत. । क्षयोपशमभावादिसाधनतः क्षायिकशमः साध्यः , एव शमपरिणतिः करणीया आत्मनो मूलस्वभावत्वात् , मूलधर्मपरिणमनं हि तेनैव कारणेन शुद्धात्मपदप्रवृत्ति. सङ्गत्यागात्मध्यानसवरीचञ्चरीकत्व करणीयम्–

विकल्पविषयोत्तीर्णः, स्वभावालम्बनः सदा ।
ज्ञानस्य परिपाको यः, स शमः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

विकल्प इति—विकल्प'—चित्तविभ्रम , तस्य विषयो विस्तारः, तेन उत्तीर्णो—निवृत्तः आत्मस्वादनतो वर्णादिषु निवृत्तविषयः स्वभाव. अनन्तगुणपर्याय—सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रस्वरूपः, तस्य आलम्बनः स्वभावालम्बन इत्यनेन आत्मस्वभावदर्शी , आत्मस्वभावज्ञानी , आत्मस्वभावरमणी , आत्मस्वभावविश्रामी , आत्मस्वभावाऽऽस्वादी. शुद्धतत्त्वपरिणत ,ज्ञानस्य आत्मोपयोगलक्षणस्य य परिपाक. प्रौढावसरः स शम'—शमभावलक्षण परिकीर्त्तित. । अत्र योगस्य पञ्चविधत्वं प्रोक्त हरिभद्रपूज्यै.–अध्यात्मयोग १ भावनायोग २ ध्यानयोग. ३ समतायोग. ४ वृत्तिक्षययोग. ५ । तत्र अनादिपर-

भावम् औदयिकभावरमणीयताधर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टिहेतुक्रियां कुर्वन् अधर्मं धर्मवृत्त्या इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामयः निस्सङ्गः शुद्धात्मभावनाभावितान्त.करणस्य स्वभाव एव धर्म इति योगवृत्त्या अध्यात्मयोगः १ । सर्वपरभावान् अनित्यादिभावनया विबुध्य अनुभवभावनया स्वरूपाभिमुखयोगवृत्तिमध्यस्थ आत्मानं मोक्षोपाये युञ्जन् भावनायोगः २ । स एव पिण्डस्थ–पदस्थ–रूपातीत–ध्यानपरिणतरूपैकत्वी ध्यानयोगी भण्यते ३ । ध्यानबलेन भस्मीभूतमोहकर्मा तप्तत्वादिपरिणतिरहितः समतायोगी उक्तः ४ । तथा योगाधीनकर्मोदयाधीना अनादिवृत्तिः जीवस्य तस्या. क्षय'–अभावः स्वरूपवृत्तिः वृत्तिक्षययोगी उच्यते ५ । एव पञ्चयोगेषु समतायोगी साधने परिष्ठ इति ज्ञानस्य पूर्णावस्था शमः।

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं, ब्रह्मांशेन शमं जगत् ।
आत्माऽभेदेन यः पश्ये–दसौ मोक्षङ्गमी शमी ॥ २ ॥

अनिच्छन् कर्मेति–कर्मवैषम्यम् ऊनाधिकत्वम् अनिच्छन् गतिजातिवर्णसंस्थानब्राह्मणक्षत्रियादिवैषम्यं ज्ञानवीर्यक्षयोपशमकार्यवैषम्यम् अनिच्छन् उदयत' आवरणतः क्षयोपशमभेदे सत्यपि ब्रह्मांशन चेतनालक्षणेन, अथवा–द्रव्यास्तिकाऽस्तित्ववस्तुत्वसत्त्वाऽगुरुलघुत्वप्रमेयत्वचेतनत्वाऽमूर्त्तत्वाऽसख्येयप्रदेशत्वपरिणत्या जगत्–चराचरम् आत्माभेदेन–आत्मतुल्यवृत्त्या; समानत्वेन यः पश्येत् सर्वजीवेषु समत्व कृत्वा अरक्तद्विष्टत्वेन वर्त्तमान' असौ योगी मोक्षगामी सकलकर्मक्षयलक्षणावस्था गच्छतीत्येवंशीलो भवति । यो हि सर्वजीवेषु जीवत्वतुल्यवृत्त्या रागद्वेषपरिणतिमपहाय आत्मस्वभावानुषङ्गी असौ योगी मोक्षङ्गमी भवति।

आरुरुक्षुर्मुनिर्योगं, श्रयन् बाह्यक्रियामपि ।
योगारूढः शमादेव, शुद्ध्यत्यन्तर्गतक्रियः ॥ ३ ॥

आरुरुक्षुरिति–आरुरुक्षु'–आरोहणेच्छुः मुनिः–भावसाधक', प्रीतिभक्तिवचनरूपशुभसंकल्पेन अशुभसंकल्पान् वारयन् अराधको भवति , सिद्धयोगी तु रागद्वेषाभावेन उपशमी—कृतार्थः , बाह्यां क्रियां—बाह्याचारप्रतिपत्ति—श्रयन् अपि—अङ्गीकुर्वन् अपि शमादेव शुद्ध्यति शमात्—क्रोधाभावात् शुद्ध्यति—निर्मलीभवति । कथंभूतो मुनिः ?–योगारूढः योगे–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मीयसाधनरत्नत्रयीलक्षणे आरूढ., पुन. कथभूतो मुनिः ? अन्तर्गतक्रियः अन्तर्गता वीर्यगुणप्रवृत्तिरूपा क्रिया यस्य सः अन्तर्गतक्रिय'; एवमभ्यन्तरक्रियावान् रत्नत्रयपरिणतः शमात्–क्षमाया मार्दवार्जवमुक्तिपरिणतिपरिणतो निर्मलो भवति।

ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः, शमपूरे प्रसर्पति ।
विकारतीरवृक्षाणां, मूलादुन्मूलनं भवेत् ॥ ४ ॥

ध्यानवृष्टेरिति–ध्यानवृष्टे ध्यान–धर्मशुक्लाख्यम् , अन्तर्मुहूर्त्तं यावत् चित्तस्य एकत्रावस्थानं ध्यानम् । उक्तं च–"अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि । छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाण तु " ॥ १ ॥ अत्र च निमित्तरूपे

देवगुरुस्वरूपे अद्भुततादियुक्तचित्तैकत्वे धर्मध्यानमाज्ञाऽपायविपाकस्थानाख्य, तत्र आज्ञाया निर्धारः सम्यग्दर्शनम् आज्ञाया अनन्तत्वपूर्वापराविरोधित्वादिस्वरूपे चमत्कारपूर्वकचित्तविश्रामः आज्ञाविचयधर्मध्यानम् एवमपायादिकेष्वपि । निर्द्धारभासनपूर्वसानुभवचित्तविश्रान्तिः ध्यानम्, एवं शुक्लेऽपि ईदृग्ध्यानवृष्टेः मेघात् दया—स्वपरभावप्राणाघातनरूपा भावदया, तद्बुद्धितल्लक्षणहेतुत्वात् स्वपरद्रव्यप्राणरक्षणानिर्विषयत्वेन द्रव्यदयाऽपि दयात्वे न आरोपिता, श्रीविशेषावश्यके गणधरवादाधिकारे इति । अतो द्रव्यदया तु कारणरूपा, भावदया तु दयाधर्मः एवंविधाया दयानद्याः शमपूरे सकलकषायपरिणतिशान्तिः-शमः रागद्वेषाभाव' वचनधर्मरूपः-शम' तस्य पूर', तस्मिन् प्रसर्पति—वृद्धिमति सति विकारा.-कामक्रोधादयः अशुद्धात्मपरिणामाः त एव तीरवृक्षाः तेषा मूलात् उन्मूलन भवेत् उच्छेदनं भवेत् । अभाव इत्यनेन ध्यानयोगतो दयानदीपूरः प्रवर्द्धते, वर्द्धमानपूरश्च विकारवृक्षाणामुच्छेदन करोत्येव । अयं हि आत्माविषयकषायविकारविप्लुतः स्वगुणावरककर्मोदयतः परिभ्रमति । स एव स्वरूपोपादानतः तत्त्वैकत्वतया प्रवर्द्धमानशमपूरो विकारान् मूलात् उन्मूलयति ।

ज्ञानध्यानतपःशील-सम्यक्त्वसहितोऽप्यहो ।
तं नाऽऽप्नोति गुणं साधु-र्यमाप्नोति शमान्वितः ॥ ५ ॥

ज्ञानध्यानेति—ज्ञान—तत्त्वावबोध', ध्यान—परिणामस्थिरतारूपम्, तप.—इच्छानिरोध., शीलं-ब्रह्मचर्य सम्यक्त्वं-तत्त्वश्रद्धानम्, पदानाम् उत्क्रमता द्वन्द्वसमासात्, इत्यादिगुणोपेत. साधु. साधयति रत्नत्रयकरणेन मोक्षं स साधु तं निरावरणगुण केवलज्ञानादिगुणं नाप्नोति न प्राप्नोति य गुण शमान्वितः—शमताचरित्रमय आप्नोति—प्राप्नोति, लभते इत्यर्थ । अत्र ज्ञानादयो गुणा निरावरणाऽमलकेवलज्ञानस्य परंपराकारणं शम कषायाभाव, यथाख्यातसंयम केवलज्ञानस्यासन्नकारणम् अस्वकरणसमीकरणकिट्टीकरणवीर्येण सूक्ष्मलोभं खण्डश. कृत्वा क्षय नीते सति निर्विकल्प समाधौ अभेदरत्नत्रयीपरिणति क्षीणमोहावस्थाया यथाख्यातचारित्री परमशमान्वित. ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायक्षय नयति, लभते च सकलामलकेवलज्ञान केवलदर्शन परमदानादिर्धी., अत एव क्षायोपशमिकज्ञानी य न प्राप्नोति तं परमशमान्वित प्राप्नोति, अत अव धीरा दर्शनज्ञाननिपुणा अभ्यस्यन्ति पूर्वाभ्यासम्, आश्रयन्ति गुरुकुलवासं रमन्ते निर्जने वने तेन आत्मविशुद्ध्यर्थी शमपूरणे उद्यतते ॥५॥

स्वयम्भूरमणस्पर्धि-वर्द्धिष्णुशमतारसः ।
मुनिर्येनोपमीयेत, कोऽपि नासौ चराचरे ॥ ६ ॥

स्वयम्भू इति—स्वयम्भूरमण —अर्द्धरज्जुप्रमाण प्रान्तसमुद्र, तस्य स्पर्द्धी स्पर्धाकारी, वर्द्धिष्णु —वर्द्धमान. शमतारसः, शमता—रागद्वेषाभाव तस्या रसो यस्य स एवंविधो मुनि, त्रिकालाविषयी—अतीतकालरमणीयविषयस्मरणाभाववान्, वर्त्तमानेन्द्रियगोचरप्राप्तविषयरमणाभाववान्, अतीनकालप्नोक्षविषयेच्छाऽभाववान् मुनि येन उपमानेन उपमीयेत चराचरे विश्वे असौ कोऽपि न जगति, यतस्तत्सर्वम्, अचेतनपुद्गलस्कन्धजं मूर्त्तं च, तत् शमतारसेन सहजात्यन्तिकनिरुपमचरितशमभावस्वरूपेण कथमुपमीयेत, दुर्लभो हि शमतारस. विश्वविश्वशुभाशुभभावे परत्वेन अरक्तद्विष्टतया वृत्तिः शुद्धात्मानुभवः । उक्तं च-" वेदिज्जमाणा न समुल्लसंति, कीलिज्जमाणा न समुज्जलंति । दंतेण चित्तेन चलंति धीरा, मुणी समुग्घाइयरागदोसा ॥ १ ॥ बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुह कामगुणेसु रायं । विरत्तकामाण तवोधणाणं, जं भिक्खुणो सीलगुणे रयाणं ॥ २ ॥ " इति । शमतास्वादिनां सुरेशभोगा रोगाः, चिन्तामणिसमूहा. कर्करव्यूहा., वृन्दारका दारका इव भासन्ते अत. संयोगजा रतिर्दुःखं, शमतैव महानन्दः ॥

शमसूक्तसुधासिक्तं, येषां नक्तंदिनं मनः ।
कदाऽपि ते न दह्यन्ते, रागोरगविषोर्मिभिः ॥ ७ ॥

शमसूक्त इति—येषां महात्मनां मन.—चित्तं शम' कषायाभावः चारित्रपरिणामः तस्य सूक्तानि—सुभाषितानि तान्येव सुधा—अमृतं तेन सिक्तम्—अभिषिक्त नक्तंदिनम्—अहोरात्र ते रागोरगविषोर्मिभि. रागः-अभिष्वङ्गलक्षणः स एव उरगः—सर्पः तस्य विषस्य ऊर्मय. तै. शमता सिक्ता न दह्यन्ते, जगद्जीवा रागाहिदष्टाः, विषोर्मिघूर्मिताः, भ्रमन्ति इष्टसंयोगानिष्टवियोगचिन्तया, विकल्पयन्ति बहुविधान् अग्रशौचादिकल्पनाकल्लोलान्, संघट्टन्ति अनेकान् जगदुच्छिष्टान् पुद्गलस्कन्धान्, याचयन्ति अनेकान् धनार्जनोपायान्, प्रविशन्ति कूपेषु, विशन्ति यानपात्रेषु, द्रव्याद्यहितं हितवत् मन्यमाना., जगदुपकारितीर्थङ्करवाक्यश्रवणप्राप्तशमताधना. स्वरूपानन्दभोगिन स्वभावभासनस्वभावरमणस्वभावानुभवनेन सदा असङ्गमग्ना विचरन्ति आत्मगुणानन्दनवने, अत. सर्वपरभावैकत्वं विहाय रागद्वेषविभावमपहाय शमतावत्त्वेन भवनीयम् ।

गजज्ज्ञानगजोत्तुङ्ग-रङ्गद्ध्यानतुरङ्गमाः ।
जयन्ति मुनिराजस्य, शमसाम्राज्यसम्पदः ॥ ८ ॥

गर्जज् ज्ञानमिति-मुनिराजस्य शमसाम्राज्यस.म्पदो जयन्ति । कथंभूता. संपद ?-गर्जज्ज्ञानगतोत्तुङ्गरङ्गद्ध्यानतुरङ्गमा. गर्जत्—स्फुरत् ज्ञान—स्वपरावभासनरूप तद्रूपा गजा ते उत्तुङ्गा-उन्नता रङ्गत्-नृ यत् ध्यानं तद्रूपास्तुरङ्गमा-अश्वा यासु ता', इत्यनेन भासनगजध्यानाश्वशोभिता राज्यसंपदो निर्ग्रन्थस्वरूपभूपस्य जयन्ति, अत. शमतास्पदमुनीना महाराजत्वं सदैव जयति, अत. शमाभ्यासवता भवितव्यम् इत्युपदेश. । अष्ट०६ अष्ट० । " उपभोगोपायपरो, वाञ्छति य शमयितुं विषयमृगतृष्णाम् । धावत्याक्रमितुमसौ, पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम् ॥१॥ " आचा० १ श्रु०२अ० ४उ० ।
श्रम-पुं० । खेदे,विशे० । रा० । अध्वादिखेदे, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।
सम-पुं० । रागद्वेषरहिते,आतु० । दश०। विशे० । समो-रागद्वेषवियुक्तो य. सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति । आव० ६ अ० । मध्यस्थे, निन्दाया पूजाया च तुल्ये , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

अरक्तद्विष्टतया मध्यस्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । सर्वत्र मैत्रीभावतुल्ये, अनु० । प्रेक्षणीयतुल्यतृणमणिमुक्तारूपे, प्रश्न० ५ सव० द्वार । घृष्टमीचन्द्रसदृशे, उ० २ वक्ष० । समभावोपेते , सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आ० चू० । विषमोन्नतिवर्जे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० । औ० । आचा० । सर्वत्र तुल्यरूपेण वर्त्तने, विशे० । सदृशे, नं० । उत्त० । सूत्र० । तुल्ये,पञ्चा० १० विव० । विशे० । सूत्र० । स्था० । ज्ञा० । औ० ।

(३) नैरयिकादीनां समाहारसमशरीरादिविषये पृच्छा—

नेरइया णं भन्ते ! सव्वे समाहारा सव्वे समसरीरा सव्वे समुस्सासनीसासा ?, गोयमा ! नोइणट्ठे समट्ठे । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुचइ नेरइया नो सव्वे समाहारा नो सव्वे समसरीरा नो सव्वे समुस्सासनिस्सासा ?, गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता , तं जहा महासरीरा य,अप्पसरीरा य । तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेन्ति बहुतराए पोग्गले परिणामेति बहुतराए पोग्गले उस्ससंति बहुतराए पोग्गले नीससंति अभिक्खणं आहारेंति अभिक्खणं परिणामेंति अभिक्खणं ऊससंति अभिक्खणं नीससंति। तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारेंति अप्पतराए पोग्गले परिणामेंति अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति अप्पतराए पोग्गले नीससंति, आहच्च आहारेंति आहच्च परिणामेंति आहच्च उस्ससंति आहच्च नीससंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुचइ-नेरइया नो सव्वे समाहारा ०जाव नो सव्वे समुस्सासनिस्सासा । नेरइया णं भंते ! सव्वे समकम्मा ? , गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ? , गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता,तं जहा-पुव्वोववन्नगा य,पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा,तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा,से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं० नेरइया णं भंते ! सव्वे समवन्ना ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं,तहेव गोयमा ! जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धवन्नतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धवन्नतरागा तहेव से तेणट्ठेणं एवं० । नेरइया णं भंते ! सव्वे समलेस्सा ? , गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे,से केणट्ठेणं० जाव नो सव्वे समलेस्सा ?, गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता,तं जहा-पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेस्सतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धलेस्सतरागा, से तेणट्ठेणं० । नेरइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं ?, गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सन्निभूया य,असन्निभूया य । तत्थ णं जे ते सन्निभूया ते णं महावेयणा, तत्थ णं जे ते असन्निभूया तेणं अप्पवेयणतरागा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुचइ नेरइया नो सव्वे समवेयणा० जाव निस्सासा । नेरइया सव्वे समकिरिया ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं ?, गोयमा ! नेरइया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी,तत्थ णं जे ते सम्मादिट्ठी तेसि णं चत्तारि किरियाओ पण्णत्ताओ,तं जहा-आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अप्पच्च० ४, तत्थ णं जे ते मिच्छादिट्ठी तेसि णं पंच किरियाओ कज्जंति-आरंभिया ०जाव मिच्छादंसणवत्तिया, एवं सम्मामिच्छादिट्ठीणं पि, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० । नेरइया णं भंते ! सव्वे समाउया सव्वे समोववन्नगा, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं ? गोयमा ! नेरइया चउव्विहा पन्नत्ता , तं जहा-अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा १ अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा २ अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा ३ अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा ४ से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं० । असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा सव्वे समसरीरा, जहा नेरइया, तहा भाणियव्वा, नवरं कम्मवन्नलेस्साओ परिवण्णेयव्वाओ , पुव्वोववन्नगा महाकम्मतरागा अविसुद्धवन्नतरागा अविसुद्धलेसतरागा, पच्छोववन्नगा पसत्था , सेसं तहेव , एवं० जाव थणियकुमाराणं । पुढविक्काइयाणं आहारकम्मवन्नलेस्सा जहा नेरइयाणं । पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ? , हंता समवेयणा , से केणट्ठेणं भंते ! समवेयणा ? , गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे असन्नी असन्नीभूया अणिदाए वेयणं वेदेंति से तेणट्ठेणं० । पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?, हंता ? समकिरिया , से केणट्ठेणं ?, गोयमा पुढविक्काइया सव्वे माई मिच्छादिट्ठी, ताणं णियइयाओ पंच किरियाओ कज्जंति , तं जहा—आरंभिया०जाव मिच्छादंसणवत्तिया, से तेणट्ठेणं समाउया समोववन्नगा, जहा नेरइया तहा भाणियव्वा , जहा पुढविकाइया तहा० जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया नाणत्तं किरियासु, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ? , गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं . गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पन्नत्ता , तं जहा—सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मादिट्ठी ते दुविहा पन्नत्ता , तं जहा-अस्संजया य,संजयासंजया य । तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं तिन्नि

किरियाओ कज्जंति,तं जहा–आरंभिया परिग्गहिया माया-
वत्तिया,असंजयाणं चत्तारि, मिच्छादिट्ठीणं पंच, सम्मा-
मिच्छादिट्ठीणं पंच, मणुस्सा जहा नेरइया नाणत्तं जे महा-
सरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति आहच्च आहारेंति,जे
अप्पसरीरा अप्पतराए आहारेंति अभिक्खणं आहारेंति
सेसं जहा नेरइयाणं०जाव वेयणा। मणुस्सा णं भंते ! सव्वे
समकिरिया ?, गोयमा ! णो ऽतिणट्ठे समट्ठे, से के-
णट्ठेणं ?, गोयमा ! मणुस्सा तिविहा पन्नत्ता, तं जहा–
सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी । तत्थ णं जे ते
सम्मदिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–संजया, अस्संजया,
संजयासंजया य। तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पण्णत्ता,तं
जहा–सरागसंजया य,वीयरागसंजया य। तत्थ णं जे ते वी-
यरागसंजया ते णं अकिरिया,तत्थ णं जे ते सरागसंजया
ते दुविहा पण्णत्ता , तं जहा–पमत्तसंजया य, अप्पमत्त-
संजया य । तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया तेसि णं एगा
मायावत्तिया किरिया कज्जइ,तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया
तेसि णं दो किरियाओ कज्जंति,तं जहा–आरंभिया य,मा-
यावत्तिया य। तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं आइल्ला-
ओ तिन्नि किरियाओ कज्जंति, तं जहा–आरंभिया१परिग्ग-
हिया२ मायावत्तिया ३ । अस्संजयाणं चत्तारि किरियाओ
कज्जंति–आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अ-
प्पच्च० ४, मिच्छादिट्ठीणं पंच–आरंभिया १ परिग्गहि-
या २ मायावत्तिया ३ अप्पच्च०४ , मिच्छादंसण० ५ ,
सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच किरियाओ ५ । वाणमंतरजो-
तिसवेमाणिया जहा असुरकुमारा , नवरं वेयणाए ना-
णत्तं--मायिमिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अप्पवेदणतरा, अ-
मायिसम्मदिट्ठी उववन्नगा य, महावेयणतरागा भा-
णियव्वा , जोतिसवेमाणिया । सलेस्सा णं भंते !
नेरइया सव्वे समाहारगा ?, ओहियाणं सलेस्साणं सुक-
लेस्साणं, एएसि णं तिण्हं एक्को गमो, कण्हलेस्साणं
नीललेस्साणं पि एक्को गमो नवरं वेदणाए मायिमिच्छा-
दिट्ठी उववन्नगा य अमायिसम्मदिट्ठी। उववन्नगा भाणि-
यव्वा। मणुस्सा किरियासु सरागवीयरागपमत्तापमत्ता-
णं भाणियव्वा। काउलेसाए वि एसेव गमो, नवरं ने-
रइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा, तेउलेस्सा
पम्हलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भा-
णियव्वा । नवरं मणुस्सा सरागा वीयरागा य न भा-
णियव्वा। गाहा–"दुक्खाउए उदिन्ने, आहारे कम्म-
वन्नलेस्सा य। समवेयण समकिरिया, समाउए चेव बो-
द्धव्वा ॥ १ ॥" (सू०–२१)

'नेरइए' इत्यादि व्यक्तं, नवरं 'महासरीरा य अप्पस-
रीरा य' इत्यादि , इहाल्पत्वं महत्त्वं चापेक्षिकं, तत्र जघ-
न्यम् अल्पत्वमङ्गुलासंख्येयभागमात्रत्वम् , उत्कृष्टं तु महत्त्वं
पञ्चधनुःशतमानत्वम् , एतच्च भवधारणीयशरीरापेक्षया ,
उत्तरवैक्रियापेक्षया तु जघन्यमङ्गुलसंख्यातभागमात्रत्वम्,
इतरत्तु धनुस्सहस्रमानत्वमिति, एतेन च किं समशरीरा
इत्यत्र प्रश्ने उत्तरमुक्तम् , शरीरविषमताऽभिधाने सत्याहा-
रोच्छ्वासयोर्वैषम्यं सुखप्रतिपाद्यं भवतीति शरीरप्र-
श्नस्य द्वितीयस्याप्युक्तस्यापि प्रथमं निर्वचनमुक्तम् ।
अथाहारोच्छ्वासप्रश्नयोर्निर्वचनमाह–'तत्थ णं' मित्यादि
ये यतो महाशरीरास्ते तदपेक्षया बहुतरान् पुद्गलान्
आहारयन्ति, महाशरीरत्वादेव, दृश्यते हि लोके बृह-
च्छरीरो बह्वाशी स्वल्पशरीरश्चाल्पभोजी, हस्तिशशकवत् ,
बाहुल्यापेक्षं चेदमुच्यते अन्यथा बृहच्छरीरोऽपि कश्चिदल्प-
मश्नाति अल्पशरीरोऽपि कश्चिद्भूरि भुङ्क्ते, तथाविधमनुष्यवत्,
न पुनरेवमिह , बाहुल्यपक्षस्यैवाश्रयणात् , ते च नारका
उपपातादिसद्वेद्यानुभवादन्यत्रासद्वेद्योदयवर्तित्वेनैकान्तेन य-
था महाशरीरा दुःखितास्तीव्राहाराभिलाषाश्च भवन्तीति ।
'बहुतराए पोग्गले परिणामेंति ' त्ति–आहारपुद्गलानुसा-
रित्वात्परिणामस्य बहुतरानित्युक्तं, परिणामश्चापृष्टोऽप्याह-
कार्यमिति कृत्वोक्तः। तथा 'बहुतराए पोग्गले उस्ससंति' त्ति
उच्छ्वासतया गृह्णन्ति, 'निस्ससंति' त्ति–निःश्वासतया वि-
मुञ्चन्ति, महाशरीरत्वादेव, दृश्यते हि बृहच्छरीरस्तज्जाती-
येतरापेक्षया बहूच्छ्वासनिःश्वास इति, दुःखितोऽपि तथैव
दुःखिताश्च नारका इति बहुतरांस्तानुच्छ्वसन्तीति । तथा
ऽऽहारस्यैव कालकृतं वैषम्यमाह–'अभिक्खणं आहारेंति'
त्ति–अभीक्ष्णं पौनःपुन्येन यो यतो महाशरीरः स त-
दपेक्षया शीघ्रशीघ्रतराहारग्रहण इत्यर्थः, ' अभिक्खणं ऊ-
ससति अभिक्खणं नीससंति ' एते हि महाशरीरत्वेन
दुःखिततरत्वात् अभीक्ष्णम्–अनवरतमुच्छ्वासादि कुर्व-
न्तीति । तथा '(तत्थ णं) जे ते ' इत्यादि ये ते, इह
'ये' इत्येतावतैवार्थसिद्धौ यत्ते इत्युच्यते तद्भाषामा-
त्रसेवेति, 'अप्पसरीरा अप्पतराए पोग्गले आहारेंति' त्ति-
ये यतोऽल्पशरीरास्ते तदाहरणीयपुद्गलापेक्षयाऽल्पतरान्
पुद्गलानाहारयन्ति, अल्पशरीरत्वादेव ' आहच्च आहारेंति '
त्ति–कदाचिदाहारयन्ति कदाचिन्नाहारयन्ति, महाशरी-
राहारग्रहणान्तरालापेक्षया बहुतरकालान्तरालतयेत्यर्थः,
' आहच्च ऊससंति नीससंति ' त्ति–एते अल्पश-
रीरत्वेनैव महाशरीरापेक्षयाऽल्पतरदुःखत्वाद् आहत्य
कदाचित् सान्तरमित्यर्थः उच्छ्वासादि कुर्वन्ति, यच्च
नारकाः सन्ततमेवोच्छ्वासादि कुर्वन्तीति प्रागुक्तं त-
न्महाशरीरापेक्षयेत्यवगन्तव्यमिति । अथवा–अपर्याप्तका-
लेऽल्पशरीराः सन्तो लोमाऽऽहारापेक्षया नाऽऽहारयन्ति
अपर्याप्तकत्वेन च नोच्छ्वसन्ति, अन्यदा त्वाहारयन्ति उच्छ्व-
सन्ति चेत्यत आहत्याहारयन्ति आहत्योच्छ्वसन्ति इ-
त्युक्तम् , ' से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–नेरइया सव्वे
नो समाहारे' त्यादि निगमनमिति। समकर्मसूत्रे–' पुव्वो-
ववन्नगा य पच्छोववन्नगा य' त्ति-पूर्वोत्पन्नाः प्रथमतरमुत्पन्ना-
स्तदन्ये तु पश्चादुत्पन्नाः, तत्र पूर्वोत्पन्नानामायुषस्तद्भ्य-

कर्मणो च बहुतरवेदनादल्पकर्मत्वम् , पश्चादुत्पन्नानां च नारकाणामायुष्कादीनामल्पतराणां वेदितत्वात् महाकर्मत्वम् , एतच्च सूत्रं समानस्थितिका ये नारकास्तानङ्गीकृत्य प्रणीतम् , अन्यथा हि रत्नप्रभायामुत्कृष्टस्थितेर्नारकस्य बह्वन्यायुषि क्षयमुपगते पल्योपमावशेषे च तिष्ठति तस्यामेव रत्नप्रभाया दशवर्षसहस्रस्थितिर्नारकोऽन्यः कश्चिदुत्पन्न इति कृत्वा प्रागुत्पन्नं पल्योपमायुष्क नारकमपेक्ष्य किं वक्तुं शक्यं महाकर्म्मेति ? । एवं वर्णसूत्रे पूर्वोत्पन्नस्याल्पं कर्म ततस्तस्य विशुद्धो वर्ण॰, पश्चादुत्पन्नस्य च बहुकर्मत्वादविशुद्धतरो वर्ण इति । एवं लेश्यासूत्रेऽपि, इह च लेश्याशब्देन भावलेश्या ग्राह्या, बाह्यद्रव्यलेश्या तु वर्णद्वारेणैवोक्तेति । ' समवेयण ' त्ति—समवेदनाः—समानपीडाः 'सन्निभूय ' त्ति—सज्ज्ञा-सम्यग्दर्शनं तद्वन्तः संज्ञिन॰ सञ्ज्ञिनो भूताः-संज्ञित्व गताः संज्ञिभूता॰ । अथवा—असंज्ञिनः संज्ञिनो भूता संज्ञिभूता॰, च्विप्रत्यययोगात् , मिथ्यादर्शनमपहाय सम्यग्दर्शनजन्मना समुत्पन्ना इति यावत् , तेषां च पूर्वकृतकर्मविपाकमनुस्मरतामहो महद्दुःखसङ्कटम् , इदमकस्मादस्माकमापतित न कृतो भगवदर्हत्प्रणीतः सकलदु॰खक्षयकरो विषयविषमविषपरिभोगविप्रलब्धचेतोभिर्द्धर्म इत्यतो महद् दुःख मानसमुपजायते अतो महावेदनास्ते , असंज्ञिभूतास्तु मिथ्यादृष्टयः , ते तु स्वकृतकर्मफलमिदमित्येवमजानन्तोऽनुपतप्तमानसा अल्पवेदनाः स्युरित्येके , अन्ये त्वाहु॰—संज्ञिन॰—संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सन्तो भूता—नारकत्वं गताः सञ्ज्ञिभूता॰ , ते महावेदनाः तीव्राशुभाध्यवसायेनाशुभतरकर्मबन्धनेन महानरकेपूत्पादात् , असञ्ज्ञिभूतास्त्वनुभूतपूर्वासञ्ज्ञिभवाः, ते चासञ्ज्ञित्वादेवात्यन्ताशुभाध्यवसायाभावात् रत्नप्रभायामनतितीव्रवेदननरकेपूत्पादादल्पवेदना॰, अथवा—'सञ्ज्ञिभूता॰ ' पर्याप्तकीभूता , असञ्ज्ञिनस्तु अपर्याप्तका , ते च क्रमेण महावेदना इतरे च भवन्तीति प्रतीयत एवेति । ' समकिरिय ' त्ति—समा॰—तुल्या॰ क्रियाः—कर्मनिबन्धनभूता आरम्भिक्यादिका येषा ते समक्रिया॰, आरंभिय ' त्ति—आरम्भ॰—पृथिव्याद्युपमर्द्द॰ स प्रयोजनं—कारणं यस्या साऽऽरम्भिकी १, 'परिग्गहिय ' त्ति-परिग्रहो—धर्मोपकरणवर्जवस्तुस्वीकारो धर्मोपकरणमूर्च्छा च स प्रयोजन यस्या सा पारिग्रहिकी २, ' मायावत्तिय' त्ति-माया-अनार्जवम् उपलक्षणत्वात्क्रोधादिरपि च, सा प्रत्यय —कारणं यस्या सा मायाप्रत्यया ३ , ' अप्पच्चक्खाणकिरिय त्ति—अप्रत्याख्यानेन-निवृत्त्यभावेन क्रिया-कर्मबन्धादिकरणम् । अप्रत्याख्यानक्रियेति ४, 'पंच किरियाओ कज्जंति' त्ति—क्रियन्ते, कर्मकर्त्तरि प्रयोगोऽयं तेन भवन्तीत्यर्थ , ' मिच्छादसणवत्तिय ' त्ति—मिथ्यादर्शन प्रत्ययो—हेतुर्यस्या सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया । ननु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा कर्मबन्धहेतव इति प्रसिद्धि॰, इह तु आरम्भादयस्तेऽभिहिता इति कथं न विरोध॰ ?, उच्यते-आरम्भपरिग्रहशब्दाभ्यां योगपरिग्रहो योगाना तद्रूपत्वात्, शेषपदैस्तु शेषबन्धहेतुपरिग्रह प्रतीयत एवेति, तत्र सम्यग्दृष्टीना चतस्र एव, मिथ्यात्वाभावात् शेषाणा तु पञ्चापि,सम्यग्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेनैवेह विवक्षितत्वादिति । ' सव्वे समाउया' इत्यादिप्रश्नस्य निर्वचनचतुर्भङ्ग्या भावना क्रियते, निबद्धदशवर्षसहस्रप्रमाणायुषो युगपच्चोत्पन्ना इति प्रथमभङ्गः १, तेष्वेव दशवर्षसहस्रस्थितिषु नरकेष्वेके प्रथमतरमुत्पन्ना अपरे तु पश्चादिति द्वितीय॰ २, अन्यैर्विषममायुर्निबद्धं कैश्चिद्दशवर्षसहस्रस्थितिषु कैश्चिच्च पञ्चदशवर्षसहस्रस्थितिषु उत्पत्तिः पुनर्युगपदिति तृतीयः ३, केचित्सागरोपमस्थितयः केचित्तु दशवर्षसहस्रस्थितय इत्येवं विषमायुषो विषममेव चोत्पन्ना इति चतुर्थः ४, इह संग्रहगाथा—" आहाराईसु समा, कम्मे वन्ने तहेव लेसाए । वियणाए किरियाए, आउयउववन्न त्ति चउभंगी ॥ १ ॥" ' असुरकुमाराणं भंते!' इत्यादिना असुरकुमारप्रकरणमाहारादिपदनवकोपेतं सूचित, तच्च नारकप्रकरणवन्नेयम् , एतदेवाह-' जहा नेरइया ' इत्यादि, तत्राहारकसूत्रे नारकसूत्रसमानेऽपि भावनाविशेषेण लिख्यते-असुरकुमाराणामल्पशरीरत्व भवधारणीयशरीरापेक्षया जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानत्वं, महाशरीरत्व तूत्कर्षतः सप्तहस्तप्रमाणत्वम् , उत्तरवैक्रियापेक्षया त्वल्पशरीरत्वं जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमानत्वं महाशरीरत्व तूत्कर्षतो योजनलक्षमानमिति, तत्रैते महाशरीरा बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, मनोभक्षणलक्षणाहारापेक्षया, देवाना ह्यसौ स्यात् प्रधानश्च, प्रधानापेक्षया च शास्त्रे निर्देशो वस्तूना विधीयते, ततोऽल्पशरीरग्राह्याहारपुद्गलापेक्षया बहुतरास्ते तानाहारयन्तीत्यादि प्राग्वत् , अभीक्ष्णमाहारयन्ति अभीक्ष्णमुच्छ्वसन्ति च इत्यत्र ये चतुर्थादेरुपर्याहारयन्ति स्तोकसप्तकाद्श्चोपर्युच्छ्वसन्ति तानाश्रित्याभीक्ष्णमित्युच्यते, उत्कर्षतो ये सातिरेकवर्षसहस्रस्योपरि आहारयन्ति सातिरेकपक्षस्य चोपर्युच्छ्वसन्ति तानङ्गीकृत्य एतेषामल्पकालीनाहारोच्छ्वासत्वेन पुन॰ पुनराहारयन्तीत्यादिव्यपदेशविषयत्वादिति, तथाऽल्पशरीरा अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति उच्छ्वसन्ति च अल्पशरीरत्वादेव, यत्पुनस्तेषा कादाचित्कत्वमाहारोच्छ्वासयोस्तन्महाशरीराहारोच्छ्वासान्तरालापेक्षया बहुतमान्तरालत्वात् , तत्र हि अन्तराले ते नाऽऽहारादि कुर्वन्ति तदन्यत्र कुर्वन्तीत्येवंविवक्षणादिति , महाशरीराणामप्याहारोच्छ्वासयोरन्तरालमस्ति, किन्तु-तदल्पमित्यविवक्षणादेवाभीक्ष्णमित्युक्तं, सिद्ध च महाशरीराणां तेषामाहारोच्छ्वासयोरल्पान्तरत्वम् , अल्पशरीराणा तु महान्तरत्वं, यथा सौधर्मदेवाना सप्तहस्तमानतया महाशरीराणा तयोरन्तर क्रमेण वर्षसहस्रद्वय पक्षद्वयं च, अनुत्तरसुराणा च हस्तमानतया अल्पशरीराणा त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रयस्त्रिंशदेव च पक्षा इति । एवं च महाशरीराणामभीक्ष्णाऽऽहारोच्छ्वासाभिधानेनाल्पस्थितिकत्वमवसीयते, इतरेषां तु विपर्ययो वैमानिकवदेवेति. अथवा—लोमाहारापेक्षयाऽभीक्ष्णम्—अनुसमयमाहारयन्ति महाशरीरा॰ पर्याप्तकावस्थायाम् , उच्छ्वासन्तु यथोक्तमानेनापि भवन् परिपूर्णभवापेक्षया पुन पुनरित्युच्यते, अपर्याप्तकावस्थाया त्वल्पशरीरा लोमाहारतो नाहारयन्ति ओजआहारत एवाहरणात् इति कदाचित्त आहारयन्तीत्युच्यते, उच्छ्वासापर्याप्तकावस्थायां च नोच्छ्वसन्त्यन्यदा तूच्छ्वसन्तीत्युच्यते आहत्योच्छ्व-

सन्तीति 'कम्मवन्नलेस्साओ (वि)परिचनेयव्वाओ' त्ति-कर्म्मादीनि नारकापेक्षया विपर्ययेण वाच्यानि । तथाहि-नारका ये पूर्वोत्पन्नास्तेऽल्पकर्मकशुद्धतरवर्णशुभतरलेश्या उक्ता., असुरास्तु ये पूर्वोत्पन्नास्ते महाकर्माणोऽशुद्धवर्णा अशुभतरलेश्याश्चेति । कथम् ? ये हि पूर्वोत्पन्ना असुरास्तेऽतिकन्दर्पदर्पाध्मातचित्तत्वान्नारकाननेकप्रकारया यातनया यातयन्त. प्रभूतमशुभं कर्म सचिन्वन्तीत्यतोऽभिधीयन्ते ते महाकर्माण, । अथवा-ये बद्धायुषस्ते तिर्यगादिप्रायोग्यकर्म्मप्रकृतिबन्धनान्महाकर्म्माण', तथा अशुभवर्णा अशुभलेश्याश्च ते, पूर्वोत्पन्नानां हि क्षीणत्वात् शुभकर्माणः शुभवर्णादय' शुभो वर्णो लेश्या च ह्रसतीति, पश्चादुत्पन्नास्त्ववद्धायुषोऽल्पकर्माणो बहुतरकर्मणामबन्धनादशुभकर्म्मणामक्षीणत्वाच्च शुभवर्णादय स्युरिति । वेदनासूत्रे च यद्यपि नारकाणामिवासुरकुमाराणामपि तथापि तद्भावनायां विशेष', स चायम्-ये सञ्ज्ञिभूतास्ते महावेदना, चारित्रविराधनाजन्यचित्तसन्तापात्, अथवा-सञ्ज्ञिभूता संज्ञिपूर्वभवा. पर्याप्ता वा ते शुभवेदनामाश्रित्य महावेदना इतर त्वल्पवेदना इति । एवं नागकुमारादयोऽपि ६ औचित्येन वाच्या ॥ 'पुढविक्काइया ण भने! आहारकम्मवन्नलेस्सा जहा नेरइया णं ति-चत्वार्यपि सूत्राणि नारकसूत्राणीव पृथ्वीकायिकाभिलापेनाधीयन्त इत्यर्थ . केवलमाहारसूत्रे भावनैवम्—पृथिवीकायिकानामङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रशरीरत्वेऽप्यल्पशरीरत्वम् । इतरश्चेन आगमवचनादवसेयम् । 'पुढविक्काइयस्स ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए' त्ति-न च महाशरीरा लोमाहारतो बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्तीति उच्छ्वसन्ति च अभीक्ष्ण महाशरीरत्वादेव अल्पशरीराणामल्पाहारोच्छ्वासत्वमल्पशरीरत्वादेव. कादाचित्कत्वं च तयो पर्याप्तकेतरावस्थापेक्षमवसेयम् ॥ तथा कर्मादिसूत्रेषु पूर्वपश्चादुत्पन्नाना पृथिवीकायिकाना कर्मवर्णलेश्याविभागो नारकै सम एव, वेदनाक्रिययोस्तु नानात्वमत एवाह-'असन्नि' त्ति-मिथ्यादृष्टयोऽमनस्का वा 'असन्निभूय' त्ति—असञ्ज्ञिभूता असञ्ज्ञिना या जायने तामित्यर्थ, एतदेव व्यनक्ति—'अणिदाए' त्ति—अनिर्द्धारणया वेदना वेदयन्ति, वेदनामनुभवन्तोऽपि न पूर्वोपात्ताशुभकर्मपरिणतिरियमिति—मिथ्यादृष्टित्वादवगच्छन्ति विमनस्कत्वाद्वा मत्तमूर्च्छितादिवदिति भावना । 'माइमिच्छादिट्ठि' त्ति—मायावन्तो हि तेषु प्रायेणोत्पद्यन्ते, यदाह-" उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ गूढहियमाइल्लो । सढसीलो य ससल्लो. तिरियाउं वंधए जीवो ॥ १ ॥ त्ति. ततस्ते मायिन उच्यन्ते । अथवा-मायेहानन्तानुबन्धिकषायोपलक्षणम्, अतोऽनन्तानुबन्धिकषायोदयवन्तोऽत एव मिथ्यादृष्टयो—मिथ्यात्वोदयवृत्तय इति । 'ताण णियइयाओ' त्ति—तेषां पृथिवीकायिकाना नैयतिक्यो—नियता न तु विप्रभृतय इति, पञ्चैवेत्यर्थ, 'से तेणट्ठेण समकिरिय त्ति-निगमनम्, 'जाव चउरिंदिय त्ति—इह महाशरीरत्वमितरच्च स्वस्वावगाहनाऽनुसारेणावसेयम् आहारश्च द्वीन्द्रियादीना प्रक्षेपलक्षणोऽपीति । 'पचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइय' त्ति—प्रतीत, नवरमिह महाशरीरा अभीक्ष्णमाहारयन्ति उच्छ्व-

सन्ति चेति यदुच्यते तत्सङ्ख्यातवर्षायुषोऽपेक्ष्येत्यवसेयं, तथैव दर्शनात्, नासंख्यातवर्षायुष, तेषां प्रक्षेपाहारस्य षष्ठस्योपरि प्रतिपादितत्वात्, अल्पशरीराणां त्वाहारोच्छ्वासयो कादाचित्कत्वं वचनप्रामाण्यादिति, लोमाहारापेक्षया तु सर्वेषामप्यभीक्ष्णमिति घटत एव, अल्पशरीराणा तु यत्कादाचित्कत्व तदपर्याप्तकत्वे लोमाहारोच्छ्वासयोरभवनेन पर्याप्तकत्वे च तद्भावेनावसेयमिति ॥ तथा कर्मसूत्रे यत्पूर्वोत्पन्नानामल्पकर्मत्वमितरेषां तु महाकर्मत्वं तदायुष्कादितद्भववेद्यकर्मापेक्षयाऽवसेयम् ॥ तथा वर्णलेश्यासूत्रयोर्यत्पूर्वोत्पन्नानां शुभवर्णाद्युक्त तत्तारुण्यात् पश्चादुत्पन्नानां चाशुभवर्णादिवाल्यादवसेयम्, लोके तथैव दर्शनादिति । तथा 'संजयासंजय' त्ति—देशविरता. स्थूलात् प्राणातिपातादेर्निवृत्तत्वादितरस्मादनिवृत्तत्वाच्चेति । 'मणुस्साणं जहा नेरइय' त्ति—तथा वाच्या इति गम्यम्, 'नाणत्त' ति—नानात्व, भेदः पुनरयम्-तत्र 'मणुस्सा णं भंते ! सव्वे स माहारगा ?' इत्यादि प्रश्न', 'नो इणट्ठे समट्ठे' इत्याद्युत्तरं 'जाव दुविहा मणुस्सा पन्नत्ता, तंजहा-महासरीरा य, अप्पसरीरा य । तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति, एवं परिणामेंति ऊससंति नीससति' इह स्थाने नारकसूत्रे 'अभिक्खणं आहारेंति' इत्यधीतम् . इह तु 'आहच्च' त्यधीयते, महाशरीरा हि देवकुर्वादिमिथुनका., ते च कदाचिदेवाहारयन्ति कावलिकाहारेण, 'अट्ठमभत्तस्स आहारो' त्ति वचनात्, अल्पशरीरास्त्वभीक्ष्णमल्पं च, बालाना तथैव दर्शनात् सम्मूर्च्छिममनुष्याणामल्पशरीराणामनवरतमाहारसम्भवाच्च, यच्चेह पूर्वोत्पन्नानां शुद्धवर्णादि तत्तारुण्यात् सम्मूर्च्छिमापेक्षया वेति । 'सरागसंजय' त्ति—अक्षीणानुपशान्तकषाया. 'वीयरागसंजय' त्ति—उपशान्तकषाया क्षीणकषायाश्च, 'अकिरिय' त्ति—वीतरागत्वेनारम्भादीनामभावादक्रिया, 'एगा मायावत्तिय' त्ति—अप्रमत्तसंयतानामेकैव मायाप्रत्या 'किरिया कज्जइ' त्ति क्रियते—भवति कदाचिदुड्डाहरक्षणप्रवृत्तानामक्षीणकषायत्वादिति, 'आरम्भिय' त्ति-प्रमत्तसंयताना च 'सर्वं प्रमत्तयोग आरम्भ' इति कृत्वाऽऽरम्भिकी स्यात्. अक्षीणकषायत्वाच्च मायाप्रत्ययेति । 'वाणमतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकुमार' त्ति,-तत्र शरीरस्याल्पत्वमहत्त्वे स्वावगाहनानुसारेणावमेये । तथा वेदनायामसुरकुमारा 'सन्निभूया य असन्निभूया य, सन्निभूया महावेयणा असन्निभूया अप्पवेयणा' इत्येवमधीता, व्यन्तरा अपि तथैवाध्येतव्या, यतोऽसुरादिषु व्यन्तरान्तेषु देवेषु असञ्ज्ञिन उत्पद्यन्ते, यतोऽत्रैवोद्देशके वक्ष्यति-'असन्नीणं जहन्नेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसु' त्ति, ते चासुरकुमारप्रकरणोक्तयुक्तेरल्पवेदना भवन्तीत्यवसेयं, यत्तु प्रागुक्त सञ्ज्ञिन सम्यग्दृष्टयोऽसञ्ज्ञिनस्त्वितरे इति तद्वृद्धव्याख्यानुसारेणैवेति ज्योतिष्कवैमानिकेषु त्वसञ्ज्ञिनो नोत्पद्यन्ते अतो वेदनापदे नेत्थमधीयते-'दुविहा जोतिसिया-मायिमिच्छादिट्ठी उववन्नगा य' त्यादि, तत्र मायिमिथ्यादृष्टयोऽल्पवेदना इतरे त्र महावेदना शुभवेदनामाश्रित्येति. एतदेव दर्शयन्नाह—नवर 'वेयणाए' इत्यादि । अथ चतुर्विंशतिदण्डकमेव ले-

श्याभेदविशेषणमाहारादिपदैर्निरूपयन् दण्डकसप्तकमाह- 'सलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारग' त्ति-अनेनाहारशरीरोच्छ्वासकर्मवर्णलेश्यावेदनाक्रियोपपाताख्यपूर्वोक्तनवपदोपेतनारकादिचतुर्विंशतिपददण्डको लेश्यापदविशेषितः सूचितः, तदन्ये च कृष्णलेश्यादिविशेषिताः । पूर्वोक्तनवपदोपेता एव यथासम्भवं नारकादिपदात्मकाः षड् दण्डकाः सूचिताः । तदेवमेतेषां सप्तानां दण्डकानां सूत्रसङ्क्षेपार्थं यो यथा अध्येतव्यस्तं तथा दर्शयन्नाह—'ओहियाणं' मित्यादि, तत्रौघिकानां पूर्वोक्तानां निर्विशेषणानां नारकादीनां तथा सलेश्यानामधिकृतानामेव शुक्ललेश्यानां तु सप्तमदण्डकवाच्यानामेषां त्रयाणामेको गमः-सदृशः पाठः, सलेश्यः शुक्ललेश्यश्चेत्येवंविधविशेषणकृत एव तत्र भेदः, औघिकदण्डकसूत्रवदनयोः सूत्रमिति हृदयम् । तथा 'जस्सत्थि' इत्येतस्य वक्ष्यमाणपदस्येह सम्बन्धाद्यस्य शुक्ललेश्याऽस्ति स एव तद्दण्डकेऽध्येतव्यः, तेनेह पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्या वैमानिकाश्च वाच्याः,नारकादीनां शुक्ललेश्याया अभावादिति, 'किण्हलेस्सनीललेसाण पि एगो गमो' औघिक एवेत्यर्थः, विशेषमाह-नवरं 'वेयणा' इत्यादि, कृष्णलेश्यादण्डके नीललेश्यादण्डके च वेदनासूत्रे-" दुविहा णेरइया पन्नत्ता-सन्निभूया य असन्निभूया य" त्ति, औघिकदण्डकाधीतं नाध्येतव्यम्, असंज्ञिनां प्रथमपृथिव्यामेवोत्पादात्, 'असण्णी खलु पढमम्मि' त्ति वचनात्, प्रथमायां च कृष्णनीललेश्ययोरभावात्, तर्हि किमध्येतव्यमित्याह-' मायिमिच्छादिट्ठि उववन्नगा य ' इत्यादि, तत्र मायिनो मिथ्यादृष्टयश्च महावेदना भवन्ति, यतः प्रकर्षपर्यन्तवर्त्तिनीं स्थितिमशुभां ते निर्वर्त्तयन्ति, प्रकृष्टायां च तस्यां महती वेदना संभवति, इतरेषां तु विपरीतेति । तथा मनुष्यपदे क्रियासूत्रे यदप्यौघिकदण्डके 'तिविहा मणुस्सा पन्नत्ता, तं जहा--संजया ३, तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सरागसंजया य, वीयरागसंजया य । तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-पमत्तसंजया य अप्पमत्तसंजया य' त्ति पठितं, तथाऽपि कृष्णनीललेश्यादण्डकयोर्नाऽध्येतव्यं, कृष्णनीललेश्योदये संयमस्य निषिद्धत्वात्, यच्चोच्यते-' पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेस्साए ' त्ति, तत्कृष्णादिद्रव्यरूपां द्रव्यलेश्यामङ्गीकृत्य न तु कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितात्मपरिणामरूपां भावलेश्याम्, एतच्च प्रागुक्तमिति, एतदेव दर्शयन्नाह-' मणुस्से ' त्यादि, तथा कापोतलेश्यादण्डकोऽपि नीललेश्यादण्डकवदध्येतव्यो, नवरं नारकपदे वेदनासूत्रे नारका औघिकदण्डकवदेव वाच्याः, ते चैवम्— ' नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सन्निभूया य, असन्निभूया य त्ति, असंज्ञिनां प्रथमपृथिव्युत्पादेन कापोतलेश्यासम्भवात् आह—' काउलेस्साण वि ' इत्यादि । तथा तेजोलेश्या पद्मलेश्या च यस्य जीवविशेषस्यास्ति तस्या— [illegible] दण्डकस्तथा [illegible] भणितव्यो नवरमेवं—नारकाणां विकलेन्द्रियाणां तेजोलेश्या [illegible] एव [illegible] पृथिव्यप्वनस्पतीनां [illegible] पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां तु [illegible] इति ।

आह च—

" किण्हा नीला काऊ—तेऊलेसा य भवणवंतरिया ।
जोइससोहम्मीसा-ण तेउलेसा मुणेयव्वा ॥ १ ॥
कप्पे सणंकुमारे , माहिंदे चेव बंभलोगे य ।
एएसु पम्हलेसा, तेण परं सुक्कलेस्सा उ ॥ २ ॥ "

तथा-

" पुढवीआउवणस्सइ-बायरपत्तेयलेस चत्तारि ।
गब्भयतिरियनरेसुं , छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥ ३ ॥ "

केवलमौघिकदण्डके क्रियासूत्रे मनुष्याः सरागवीतरागविशेषणा अधीताः , इह तु तथा न वाच्याः, तेजःपद्मलेश्ययोर्वीतरागत्वासम्भवात् शुक्ललेश्यायामेव तत्सम्भवात् , प्रमत्ताप्रमत्तास्तूच्यन्त इति, एतदेव दर्शयन्नाह—' तेउलेसा पम्हलेसे' त्यादि । 'गाह' त्ति-उद्देशकादितः सूत्रार्थसङ्ग्रहगाथाऽपि सुखबोधार्थमुच्यते-दुःखमायुश्चोदीर्णं वेदयतीत्येकत्वबहुत्वाभ्यां दण्डकचतुष्टयमुक्तम् , तथा 'आहारे' त्ति- ' नेरइया किं समाहारा ? ' इत्यादि, तथा 'किं समकम्मा ?' तथा ' किं समवन्ना ? ' तथा किं समलेसा ? तथा ' किं समवेयणा ?' तथा ' किं समकिरिया ? ' तथा किं समाउया समोववन्नगा ' त्ति गाथार्थः । भ० १ श० २ उ० । (सर्वे द्वीपकुमाराः समाहारा इति ' दीवकुमार ' शब्दे चतुर्थभागे २५४२ पृष्ठे गतम् ।) (वाणमन्तराः सर्वे समाहाराः इति ' वाणमंतर शब्दे षष्ठे भागे गतम् ।)

नैरयिकादीनां समाहारत्वादिपृच्छाविषयकाणि सूत्राणि भगवतीसूत्रवद्वक्तव्यानि तानि चेहैवोक्तानि , अथ प्रज्ञापनाटीकायां विशेष इति कृत्वा सा प्रदर्श्यते—

समशब्दः पूर्वार्द्धे प्रत्येकमपि सम्बध्यते, उत्तरार्द्धे प्रतिपदं साक्षात्सम्बन्धित एवास्ति, ततोऽयमर्थः—प्रथमोऽधिकारः सर्वे समाहाराः सर्वे समशरीराः सर्वे समोच्छ्वासा इति प्रश्नोपलक्षितः, द्वितीयः समकर्माण इति तृतीयः समवर्णा इति, चतुर्थः समलेश्याका इति, पञ्चमः समवेदनाका इति, षष्ठः समक्रिया इति, सप्तमः समायुष इति । अथ लेश्यापरिणामविशेषाधिकारः कथममीषामर्थानामुपन्यासोपपत्तिः? उच्यते-अनन्तरप्रयोगपदे उक्तम्-'कतिविहे णं भंते! गइप्पवाए पण्णत्ते, गोयमा ! पंचविहे गइप्पवाए पण्णत्ते, तं जहा-पओगगई ततगई बंधणछेयणगई उववायगई विहायगई । तत्थ जा सा उववायगई सा तिविहा-खेत्तोववायगई भवोववायगई नोभवोववायगई तत्थ भवोववायगई चउव्विहा-नेरइयभवोववायगई देवभवोववायगई तिरिक्खजोणियभवोववायगई मणुस्सभवोववायगई इति । तत्र नारकत्वादिभवेषूत्पन्नाः जीवा नानानुपपात्तसमयादारभ्य आहाराद्यर्थसम्बन्धोऽवश्यम्भावी ततो लेश्याप्रक्रमेऽपि तदानुपूर्व्यात् सूत्रम् ' यथोद्देशं निर्देशः ' इति न्यायात् , प्रथमं समाहारा इत्यादिप्रश्नोपलक्षितमर्थाधिकारमाह—' नेरइया णं भंते ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह-' गोयमा ' इत्यादि नायमर्थः समर्थः-नायमर्थ उपपन्न इति भावः , पुनः प्रश्नयति-' से केणट्ठेणं ' इत्यादि, [illegible] । अथ केनार्थेन केन कारणेनैवं प्रज्ञापयसि , भदन्त ! एवमुच्यते नैरयिकाः सर्वे समाहारा इत्यादि ?। भगवानाह-' गोयम '

त्यादि, इहाल्पत्वं महत्त्वं चापेक्षिकं, तत्र जघन्यमल्पत्वम् अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रत्वम् , उत्कृष्टं महत्त्वं पञ्चधनुःशतमानत्वम् , एतच्च भवधारणीयशरीरापेक्षया , उत्तरवैक्रियापेक्षया तु जघन्यमल्पत्वम् अङ्गुलसङ्ख्यातभागमात्रत्वम् इतरद् धनुःसहस्रमानत्वम् , एतावता च किं समशरीरा इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमुक्तम् । अथ शरीरप्रश्नो द्वितीयस्थानोक्तः तत्कथमस्य प्रथमत एव निर्वचनमुक्तम् ?, उच्यते-शरीरविषमताभिधाने सति आहारोच्छ्वासयोर्वैषम्यं सुप्रतिपादितं भवतीति द्वितीयस्थानोक्तस्यापि शरीरप्रश्नस्य प्रथमं निर्वचनमुक्तम् । इदानीमाहारोच्छ्वासयोर्निर्वचनमाह-' तत्थ णं ' मित्यादि , तत्र-अल्पशरीरमहाशरीररूपराशिद्वयमध्ये ' ण ' मिति वाक्यालङ्कारे ये यतो महाशरीरास्ते तदपेक्षया बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति महाशरीरत्वादेव , दृश्यते हि लोके बृहच्छरीरो बह्वाशी यथा हस्ती , अल्पशरीरोऽल्पभोजी शशकवत् , बाहुल्यापेक्षं चेदमुदाहरणमुपन्यस्यते , अन्यथा कोऽपि बृहच्छरीरोऽप्यल्पमश्नाति कश्चिदल्पशरीरोऽपि भूरि भुङ्क्ते तथाविधमनुष्यवत् , नारकाः पुनरुपपाताद्विसद्वेद्यानुभावादन्यत्रासद्वेद्योदयवर्त्तित्वादेकान्तेन यथा महाशरीरा. दुःखितास्तीव्राहाराऽभिलाषाश्च भवन्ति तथा नियमाद् बहुतरान्पुद्गलानाहारयन्ति तथा बहुतरान् पुद्गलान् परिणामयन्ति, आहारपुद्गलानुसारित्वात् परिणामस्य . परिणामश्चापृष्टोऽप्याहारकार्यमित्युक्तः , तथा ' बहुतराए पुग्गले उस्ससंति ' इति—बहुतरान् पुद्गलान् उच्छ्वासतया गृह्णन्ति 'नीससति' इति-निःश्वासतया मुञ्चन्ति, महाशरीरत्वादेव, दृश्यन्ते हि बृहच्छरीरास्तज्जातीयेतरापेक्षया बहूच्छ्वासनिःश्वासा इति , दुःखिता अपि तथैव , दुःखिताश्च नारका इति । आहारस्यैव कालकृतवैषम्यमाह—' अभिक्खणं ' मित्यादि, अभीक्ष्णं—पौनःपुन्येनाहारयन्ति, ये यतो महाशरीरास्ते तदपेक्षया शीघ्रशीघ्रतराहारग्रहणस्वभावा इत्यर्थः , अभीक्ष्णम् उच्छ्वसन्ति अभीक्ष्णं निःश्वसन्ति , महाशरीरत्वेन दुःखिततरत्वादनवरतमुच्छ्वासादि कुर्वन्तीति भाव , ' तत्थ णं जे ते ' इत्यादि , ' जे ते ' इति इह ये इत्येतावतैवार्थसिद्धौ ये ते इति (यद्) उच्यते तद्भाषामात्रमेव , अल्पशरीरास्ते अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति , ये यतोऽल्पशरीरास्ते तदाहारणीयपुद्गलापेक्षया अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति , अल्पशरीरत्वादेवेति भावार्थ , ' आहच्च आहारयन्ति ' इति-कदाचिदाहारयन्ति कदाचिन्नाहारयन्ति , महाशरीराहारग्रहणान्तरालापेक्षया बहुतरकालान्तरतयेत्यर्थः, 'आहच्च ऊससंति आहच्च नीससति' एते हि अल्पशरीरत्वेनैव महाशरीरापेक्षया अल्पतरदुःखत्वात्,' आहच्च' कदाचित् सान्तरमित्यर्थः,उच्छ्वासादि कुर्वन्तीति भाव ,अथवा अपर्याप्तिकाले अल्पशरीरा सन्तो लोमाहारापेक्षया नाहारयन्ति उच्छ्वासापर्याप्तकत्वेन च नोच्छ्वसन्ति, अन्यदा त्वाहारयन्ति उच्छ्वसन्ति चेत्यत आह—' आहच्च आहारयन्ति आहच्च ऊससन्ति ' इत्युक्तम् । ' से एएणट्ठेणमि ' त्यादि निगमनवाक्य सुगमम् । सम्प्रति समकर्मत्वाधिकारमाह—' नेरइयाणं ' मित्यादि ' पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य ' इति पूर्वं-प्रथमम् उपपन्ना. पूर्वोपपन्ना. तत एव स्वार्थिकः क इति कप्रत्ययविधानात् पूर्वोपपन्नकाः, एवं पश्चादुपपन्नकाः, तत्र पूर्वोत्पन्नपश्चादुत्पन्नानां मध्ये ये पूर्वोत्पन्नास्तैर्नरकायुर्नरकगत्यसातवेदनीयादिक प्रभूतं निर्जीर्णमल्पं विद्यत इति अल्पकर्मतरकाः, इतरे तद्विपर्ययात् महाकर्मतरकाः, एतच्च समानस्थितिका ये नारकास्तानधिकृत्य प्रणीतमवसेयम् , अन्यथा हि रत्नप्रभायाम् उत्कृष्टस्थितेर्नारकस्य बह्वायुषि क्षयमिते पल्योपमावशेषे च तिष्ठति तस्यामेव रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्रस्थितिर्नारकोऽन्यः कश्चिदुत्पन्नः स किं प्रागुत्पन्नं पल्योपमावशेषायुषं नारकमपेक्ष्य वक्तुं शक्यो यथा महाकर्मेति ?, वर्णसूत्रे—विशुद्धवर्णतरका' इति—विशुद्धतरवर्णा इत्यर्थः , कथमिति चेद् , उच्यते—इह यस्मान्नैरयिकाणामप्रशस्तवर्णनामकर्मणोऽशुभस्तीव्रोऽनुभागोदयो भवापेक्षः, तथा चोक्तम्-" कालभवखेत्तपेक्खो उदओ सविवागअविवागो । " नन्वायूंषि तत्र भवविपाकानि उक्तानि तत्कथमप्रशस्तवर्णनामकर्मण उदयो भवापेक्षो वर्ण्यते ?, सत्यमेतत् तथाप्यसौ वर्णनामकर्मणोऽप्रशस्तस्योदयस्तीव्रानुभागोऽध्रुवश्च भवापेक्षः पूर्वाचार्यैर्व्यवहृत', स पूर्वोत्पन्नैः प्रभूतो निर्जीर्णः स्तोकावशेषोऽवतिष्ठते, पुद्गलविपाकि च वर्णनाम, तेन पूर्वोत्पन्ना विशुद्धतरवर्णाः, पश्चादुत्पन्नैस्तु नाद्यापि प्रभूतो निर्जीर्ण इति ते अविशुद्धतरवर्णाः, एतदपि समानस्थितिनैरयिकविषयमवसेयम् , अन्यथा पूर्वोक्तरीत्या व्यभिचारसंभवात् ' एवं जहेव वन्ने भणिया ' इत्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण यथैव वर्णे भणितास्तथैव लेश्यास्वपि वक्तव्याः, तद्यथा-' नेरइयाणं भंते ! सव्वे समलेस्सा ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ' इत्यादि, सुगमं चैतत् , नवरं पूर्वोत्पन्ना विशुद्धलेश्याः यस्मात्पूर्वोत्पन्नैः प्रभूतान्यप्रशस्तलेश्याद्रव्याणि अनुभूय अनुभूय क्षयं नीतानि तस्मात्ते विशुद्धलेश्याः, इतरे पश्चादुत्पन्नतया विपर्ययादविशुद्धलेश्याः, एतदपि लेश्यासूत्रं समानस्थितिकनैरयिकापेक्षमवसेयम् ,समवेदनपदोपलक्षितार्थाधिकारप्रतिपादनार्थमाह-' नेरइया णं भंते ! ' इत्यादि, समवेदना -समानपीडाः 'सन्निभूया य' इति संज्ञिनः-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सन्तो भूता-नारकत्वं गताः संज्ञिभूताः ते महावेदनाः तीव्राशुभाध्यवसायेनाशुभतरकर्मबन्धनेन महानरकेषूत्पादात् , असंज्ञिनः-असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सन्तो भूता असंज्ञिभूता , असंज्ञिनो हि चतसृष्वपि गतिषूत्पद्यन्ते, तद्योग्यायुर्बन्धसंभवात् , तथा चोक्तम्-" कइविहे णं भंते ! असन्निआउए पन्नत्ते ?, गोयमा ! चउव्विहे असन्निआउए पन्नत्ते ?, तं जहा—नेरइयअसन्निआउए तिरिक्खजोणियअसन्निआउए मणुस्सजोणियअसन्निआउए देवअसन्निआउए, इति, तत्र देवेषु नैरयिकेषु च असङ्ख्यायुषो जघन्यतः स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतः पल्योपमासंख्येयभाग ,तिर्यक्षु मनुष्येषु च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् उत्कर्षतः पल्योपमासंख्येयभाग , एवं चासंज्ञिनः सन्तो ये नरकेषूत्पद्यन्ते तेऽतितीव्राशुभाध्यवसायाभावात् रत्नप्रभायामनतितीव्रवेदनेषु नरकेषूत्पद्यन्ते अल्पस्थितिकाश्चेत्यल्पवेदनाः, अथवा— संज्ञीभूता -पर्याप्तकीभूतास्ते महावेदनाः पर्याप्तत्वादेव, इतरसंज्ञिनस्तु अल्पवेदनाः अपर्याप्ततया प्रायो वेदनाया असंभवात् । यदिवा -'सन्निभूय' त्ति सम्या-

सम्यग्दर्शनं सा एषामस्तीति संज्ञिनः संज्ञिनो भूता-याता. संज्ञीभूताः, संज्ञित्वं प्राप्ता इत्यर्थः ते महावेदना', तेषा हि यथावस्थित पूर्वकृतकर्मविपाकमनुस्मरतामहो महद्दुःखसंकटमिदमस्माकमापतितं न कृता भगवदर्हत्प्रणीत. सकलदुःखक्षयंकरोऽतिविषमविषयविषपरिभोगविप्रलुब्धचेतोभिर्धर्म्म इत्येवं महद्दुःख मनस्युपजायते, ततो महा वेदना', असंज्ञिनस्तु मिथ्यादृष्टय', ते तु स्वकृतकर्म्मफलमिदमित्येवं न जानते, अजानानाश्चानुपतप्तमानसा अल्पवेदना इति। अधुना समकिरिया इत्यधिकार विभावयिपुराह-' नेरइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ' इत्यादि, समा'—तुल्या. क्रियाः-कर्म्मनिवन्धनभूता आरम्भिक्यादिका येषां ते समक्रियाः ' चत्तारि किरियाओ कज्जंति ' इति-क्रियन्ते इति कर्म्मकर्त्तरि प्रयोगः तेन भवन्तीत्यर्थः', आरम्भः—पृथिव्याद्युपमर्दनं स प्रयोजनं-कारणं यस्याः सा आरम्भिकी ' परिग्गहिय ' त्ति—परिग्रहो-धर्म्मोपकरणवर्जवस्तुस्वीकार, धर्म्मोपकरणमूर्च्छा वा, स च प्रयोजन यस्याः सा पारिग्रहिकी 'मायावत्तिया' इति-माया-अनार्जवमुपलक्षणत्वात् क्रोधादिरपि स च प्रत्यय.-कारणं यस्यास्सा मायाप्रत्यया 'अप्पच्चक्खाणकिरिया' इति-अप्रत्याख्यानेन-निवृत्त्यभावेन क्रिया-कर्मवन्धकारणम्, अप्रत्याख्यानक्रियेति, ' निय इयाओ' इति नैयतिक्यो,नियता इत्यर्थ. अवश्यभावित्वात्, सम्यग्दृष्टीनां त्वनियता., संयतादिपु व्यभिचारात्, ' मिच्छादंसणवत्तिय ' त्ति—मिथ्यादर्शनं प्रत्यय —कारणं यस्या. सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया, ननु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा' कर्म्मवन्धहेतव इति प्रसिद्धिः, इह तु आरम्भिक्यादयस्तेऽभिहिता इति कथं न विरोध ?, उच्यते-इहारम्भपरिग्रहशब्दाभ्यां योग परिगृहीतो.योगानां तद्रूपत्वात्, शेषपदैस्तु शेषा वन्धहेतव इत्यदोष, सव्वे समाउआ ' इत्यादे. प्रश्नस्य या निर्वचनचतुर्भङ्गी तद्भावना क्रियते-निवद्धदशवर्षसहस्रप्रमाणायुषो युगपच्चोत्पन्ना इति प्रथमो भङ्ग., तेषु एव दशवर्षसहस्रस्थितिषु नरकेषु एके प्रथमतरमुत्पन्ना. अपरे पश्चादिति द्वितीयः, अन्यैर्विषममायुर्निवद्ध कैश्चिद्दशवर्षसहस्रस्थितिपु कैश्चिच्च पञ्चदश—वर्षसहस्रस्थितिपु, उत्पत्ति. पुनर्युगपदिति तृतीय., केचित् सागरोपमस्थितय., केचित्तु-दशवर्षसहस्रस्थितय इत्येवं विषमाश्चायुषो विषममेव चोत्पन्ना इति चतुर्थ.। संप्रति असुरकुमारादिषु आहारादिपदनवक विभावयिपुरिदमाह—' असुरकुमारा णं भंते !' सव्वे समाहारा ' इत्यादि, तत्रास्मिन् सूत्रे नारकसूत्रसमानेऽपि भावना विशेषण लिख्यते—असुरकुमाराणामल्पशरीरत्व भवधारणीयशरीरापेक्षया जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानत्वं महाशरीरत्व तूत्कर्षत. सप्तहस्तप्रमाणत्वम्, उत्तरवैक्रियापेक्षया तु अल्पशरीरत्वं जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमानत्वम्, उत्कर्षतो महाशरीरत्व योजनलक्षमानत्वमिति । तत्रैते महाशरीरा वहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, मनोभक्षणलक्षणाहारापेक्षया, देवाना हि असौ संभवति . प्रधानश्च। प्रधानापेक्षया च शास्त्रे निर्देशो वस्तूना. ततोऽल्पशरीरग्राह्याहारपुद्गलापेक्षया ये पुद्गला वहुतरास्ते तानाहारयन्ति, महुतरान्परिणामयन्तीत्यादिपदत्रयव्याख्यान प्राग्वत्, न-थाऽभीक्ष्णमाहारयन्ति अभीक्ष्णमुच्छ्वसन्ति, अत्र ये चतुर्थादिरूपर्याहारयन्ति स्तोकसप्तकादेश्चोपर्युच्छ्वसन्ति ताना-श्रित्याभीक्ष्णमुच्यते, ये सातिरेकवर्षसहस्रस्योपर्याहारयन्ति सातिरेकपक्षस्य चोपर्युच्छ्वसन्ति तानङ्गीकृत्यैतेषाम-ल्पकालीनाहारोच्छ्वासत्वेन पुन. पुनराहारयन्तीत्यादिव्यपदेशविषयत्वात्, तथाऽल्पशरीरा अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति उच्छ्वसन्ति च अल्पशरीरत्वादेव, यत्पुनस्तेषा कादाचित्कत्वमाहारोच्छ्वासयोस्तन्महाशरीराहारोच्छ्वासान्तरालापेक्षया वहुतमान्तरालत्वात्, तत्र हि अन्तराले ते आहारादि न कुर्व्वन्ति तदन्यत्र ते कुर्व्वन्तीत्येवं विवक्षणान्महाशरीराणामप्याहारोच्छ्वासयोरन्तरालमस्ति किं तु तदल्पमित्यविवक्षितत्वादभीक्ष्णमित्युक्त, सिद्धं च महाशरीराणा तेषामाहारोच्छ्वासयोरल्पान्तरत्वम्, अल्पशरीराणां तु महान्तरत्वं, यथा सौधर्मादिदेवाना सप्तहस्तमानतया महाशरीराणां तयोरन्तरं वर्षसहस्रद्वयं पक्षद्वयं च अनुत्तरसुराणां च हस्तमानतयाऽल्पशरीराणा त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रयस्त्रिंशदेव च पक्षा इति, एषा च महाशरीराणामभीक्ष्णाहारोच्छ्वासाभिधानेनाल्पस्थितिकत्वमवसीयते इतरेषा तु विपर्यय वैमानिकवद्वेति, अथवा-लोमाहारापेक्षयाऽभीक्ष्णम्-अनुसमयमाहारयन्ति महाशरीरा. पर्याप्तकावस्थायामुच्छ्वासस्तु य थोक्तमानेनापि भवन् परिपूर्णभवापेक्षया पुन. पुनरित्युच्यते, अपर्याप्तकावस्थाया त्वल्पशरीरा लोमाहारतो नाहारयन्ति ओजा (जआ) हारत एवाहरणात् ततस्ते कदाचिदाहारयन्तीत्युच्यते, अपर्याप्तकावस्थाया च नोच्छ्वसन्ति अन्यदा तूच्छ्वसन्ति तत उच्यते आहच्चोच्छ्वसन्तीति ॥ कर्मसूत्रमाह—'असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समकम्मा' इत्यादि, अत्र नैरयिकसूत्रापेक्षया विपर्यास, नैरयिका हि पूर्वोत्पन्ना अल्पकर्माण उक्ता इतरे तु महाकर्माण. असुरकुमारास्तु ये पूर्वोत्पन्नास्त महाकर्माण. इतरेऽल्पकर्माण., कथमिति चेद्, उच्यते—इहासुकुमारा. स्वभावाद्दुवृत्तास्तिर्यक्षूत्पद्यन्ते मनुष्येषु च, तिर्यक्षूत्पद्यमाना. केचिदेकेन्द्रियेषु पृथिव्यबवनस्पतिषूत्पद्यन्ते केचित् पञ्चेन्द्रियेषु, मनुष्येष्वपि चोत्पद्यमाना. कर्मभूमिकगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषूत्पद्यन्ते न शेषेषु, षण्मासावशेषायुषश्च सन्तः पारभविकमायुर्वध्नन्ति, पारभविकायुर्वन्धकाले च या एकान्ततिर्यग्योनिकयोग्या एकान्तमनुष्ययोग्या वा प्रकृतयस्ता उपचिन्वन्ति, तत. पूर्वोत्पन्ना महाकर्मतरा, ये तु पश्चादुत्पन्नास्ते नाद्यापि पारभविकमायुर्वध्नन्ति नापि तिर्यग्मनुष्ययोग्या प्रकृतीरुपचिन्वन्ति ततस्तेऽल्पकर्मतरा, एवमपि सूत्रं समानस्थितिकसमानभवपरिमितासुरकुमारविषयमवसेय, पूर्वोत्पन्नका अपि वद्धपारभविकायुष पश्चादुत्पन्ना अपि अवद्धपारभविकायुष एतावकालान्तरिता ग्राह्या, अन्यथा तिर्यग्मनुष्ययोग्यप्रकृतिवन्धेऽपि पूर्वोत्पन्नकात् पश्चादुत्पन्न उत्कृष्टस्थितिकोऽभिनवोत्पन्नोऽनन्तसंसारिकश्च महाकर्मतर एव भवति । वर्णसूत्रे ये ते पूर्वोत्पन्नकास्ते अविशुद्धवर्णतरा, कथमिति चेदुच्यते—एतेषा हि भवप्रत्यय प्रशस्तवर्णनाम्न शुभस्यैवानुभाग उदय, स च पूर्वोत्पन्नाना प्रभूत क्षय-

मुपगत इति ते अविशुद्धतरवर्णा, इतरे तु पश्चादुत्पन्नतया नाद्यापि प्रभूतो निर्जीर्ण इति विशुद्धवर्णा, एतच्च समानस्थितिकासुरकुमारविषयं सूत्रम्, 'एवं लेस्साए वी' ति एव वर्णसूत्रवत् लेश्यासूत्रमपि वक्तव्य, पूर्वोत्पन्नाः अविशुद्धलेश्या वक्तव्या पश्चादुत्पन्ना विशुद्धलेश्या इति भाव, काऽत्र भावनेति चेदुच्यते—इह देवाना नैरयिकाणां च तथा भवस्वाभाव्यात् लेश्यापरिणाम उपपातसमयात् प्रभृत्याभवक्षयाद् भवति, यतो वक्ष्यति तृतीये लेश्योद्देशके—' से नूणं भंते ! कण्हलेस्से नेरइए कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेस्से उव्वट्टइ ?' "जल्लेस्से उववज्जइ तल्लेस्से उव्वट्टइ ?" इति । अस्यायं भावार्थ -पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको मनुष्यो वा नरकेपूत्पद्यमानो यथाक्रम तिर्यगायुषि मनुष्यायुषि वा क्षीणे नैरयिकायु.संवेदयमान ऋजुसूत्रनयदर्शनेन विग्रहेऽपि वर्तमानो नारक एव लभ्यते तस्य च कृष्णादिलेश्योदय पूर्वभवायुषि अन्तर्मुहूर्त्तावशेषायुष्के एव वर्त्तमानस्य भवति, तथा चोक्तम्-" अन्तमुहुत्तम्मि गए, अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव । लेस्साहिं परिणयाहिं, जीवा वच्चंति परलोयं ॥१॥" एव देवेष्वपि भावनीय. तथा लेश्याध्ययने नैरयिकादिषु कृष्णादिलेश्यानां जघन्योत्कृष्टा च स्थितिरियमुक्ता-

" दसवाससहस्साइं काऊए ठिई जहन्निया होइ ।
उक्कोसा तिन्नुदही, पलियस्स असंखभागं च ॥ १ ॥
नीलाए जहन्नठिई, तिन्नुदही असखभागपलिय च ।
दस उदही उक्कोसा, पलियस्स असखभाग च ॥ २ ॥
कण्हाए जहन्नठिई, दस उदही असखभागपलिय च ।
तित्तीससागराईं. मुहुत्तअहियाईं उक्कोसा ॥ ३ ॥
एसा नेरइयाण, लेसाण ठिई उ वन्निया इणमो ।
तेण पर वोच्छामि, तिरियाण मणुस्सदेवाण ॥ ४ ॥
अन्तोमुहुत्तमद्धा, लेसाण ठिई जहि जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा, वज्जित्ता केवलं लेसं ॥ ५ ॥ "

अस्या अक्षरगमनिका-अन्तर्मुहूर्त्त कालं यावत् लेश्यानां स्थितिर्जघन्योत्कृष्टा च भवति, कासामित्याह-' जहिं जहिं जा उ ' यस्मिन् यस्मिन्-पृथिवीकायिकादौ समूर्च्छिममनुष्यादौ च या —कृष्णाद्या लेश्यास्तासाम्, एता हि कचित् काश्चिद् भवन्ति, पृथिव्यब्वनस्पतीना कृष्णनीलकापोततेजोरूपाश्चतस्रो लेश्या, तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियसमूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणा कृष्णनीलकापोतरूपास्तिस्र., गर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा गर्भजमनुष्याणा च षडपीति, नन्वेव शुक्ललेश्याया अपि अन्तर्मुहूर्त्तमेव स्थिति प्राप्नोतीत्याशङ्कायामुक्त—वर्जयित्वा केवला शुद्धलेश्या-शुक्ललेश्यामिति भाव । तस्या इय स्थिति -

" मुहुत्तऽद्ध तु जहन्ना उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।
नवहिँ वरिसेहिँ ऊणा नायव्वा सुक्कलेस्साए ॥ १ ॥
एसा तिरियनराण लेसाण ठिई उ वन्निया होइ ।
तेण पर वोच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाण ॥ २ ॥
दसवाससहस्साइं, कण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।
पलियमसंखिज्जइमो उक्कोसा होइ नायव्वा ॥ ३ ॥
जा कण्हाइ ठिई खलु उक्कोसा चेव समय-मब्भहिया ।
नीलाइ जहन्नेण, पलियासंख च उक्कोसा ॥ ४ ॥
जा नीलाइ ठिई खलु, उक्कोसा चेव समयमब्भहिया ।
काऊइ जहन्नेणं पलियासख च उक्कोसा ॥ ५ ॥
तेण परं वोच्छामि, तेउल्लेस्सं जहा सुरगणाणं ।
भवणवइवाणमंतर-जोइसवेमाणियाणं च ॥ ६ ॥
दसवाससहस्साइ, तेऊए ठिई जहन्निया होइ ।
उक्कोसा दो उदही, पलियस्स असंखभागं च ॥ ७ ॥
जा तेऊइ ठिई खलु, उक्कोसा चेव समयमब्भहिया ।
पम्हाइ जहन्नेण, दसमुहुत्ताहियाइ उक्कोसा ॥ ८ ॥ "

दशसागरोपमाण्यन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकान्युत्कृष्टेति भाव, अन्तर्मुहूर्त्तं चाभ्यधिकं यत्प्राग्भवभाव्यन्तर्मुहूर्त्तं यच्चोत्तरभवभावि तद् द्वयमप्येकं विवक्षितत्वोक्त, देवनैरयिकाणां हि स्वस्वलेश्या प्रागुत्तरभवान्तर्मुहूर्त्तद्वयनिजायु कालप्रमाणावस्थाना भवति, तथा—"जा पम्हाइ ठिई खलु, उक्कोसा चेव समयमब्भहिया । सुक्काए जहन्नेणं, तेत्तीसुक्कोसमब्भहिया ॥१॥ " इति । ततोऽस्माल्लेश्यास्थितिपरिमाणात् प्राक्तनाच्च तृतीयलेश्योद्देशवक्ष्यमाणसूत्रादवसीयते देवाना नैरयिकाणा च लेश्याद्रव्यपरिणाम उपपातसमयादारभ्याऽऽभवक्षयात् भवति इति पूर्वोत्पन्नैश्चासुरकुमारै प्रभूतानि तीव्रानुभागानि लेश्याद्रव्याणि अनुभूयानुभूय क्षयं नीतानि स्तोकानि मन्दानुभावान्यवतिष्ठन्ते, ततस्ते पूर्वोत्पन्ना अविशुद्धलेश्या पश्चादुत्पन्नास्तु तद्विपर्ययाद्विशुद्धलेश्या. । 'वेयणाए जहा नेरइया' इति वेदनायां यथा नैरयिका उक्तास्तथा वक्तव्या., तत्राप्यसञ्ज्ञिनोऽपि लभ्यमानत्वात्, तत्र यद्यपि वेदनासूत्र पाठतो नारकाणामिवासुरकुमाराणामपि तथापि भावनाया विशेष., स चायम्-ये सञ्ज्ञीभूतास्ते सम्यग्दृष्टित्वात् महावेदना चारित्रविराधनाजन्यचित्तसन्तापात्, इतरे तु-असञ्ज्ञीभूता मिथ्यादृष्टित्वादल्पवेदना इति, 'अवसेसं जहा नेरइयाणं' ति—अवशेषं क्रियासूत्रमायु सूत्रं च यथा नैरयिकाणा तथा वक्तव्यम्, एतच्च सुगमत्वात् स्वय परिभावनीयम् । 'एवमि' त्यादि, एवमसुरकुमारोक्तेन प्रमाणेन नागकुमारादयोऽपि तावद्वक्तव्या यावत्स्तनितकुमारा । ' पुढविकाइया ' इत्यादि, पृथिवीकायिका आहारकर्मवर्णलेश्याभिर्यथा नैरयिका उक्तास्तथा वाच्या', पृथिवीकायिकानामाहारादिविषयाणि चत्वारि सूत्राणि नैरयिकसूत्राणीव पृथिवीकायिकाभिलापेना भिधातव्यानीति भाव, केवलमाहारसूत्रे भावनैवम्-पृथिवीकायिकानामङ्गुलासंख्येयभागमात्रशरीरत्वेऽप्यल्पशरीरत्वमहाशरीरत्वे आगमवचनादवसेये, स चायमागम.—" पुढविकाइए पुढविकाइयस्स ओगाहणट्टयाए चउट्ठाणवडिए " इत्यादि, तत्र महाशरीरा लोमाहारतो बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्त्युच्छ्वसन्ति च अभीक्ष्णमाहारयन्त्यभीक्ष्ण चोच्छ्वसन्ति, महाशरीरत्वादेव, अल्पशरीराणामल्पाहारोच्छ्वासत्वम् अल्पशरीरत्वादेव, कादाचित्कत्व चाहारोच्छ्वासयो' पर्याप्तत्वावस्थापेक्षमिति । वेदनासूत्रमाह—' पुढविकाइया ण भते ! सव्वे समवेयणा ' इत्यादि, 'असन्नी ति-मिथ्यादृष्टयोऽमनस्का वा 'असन्निभूय ति-असञ्ज्ञिभूता असञ्ज्ञिना या जायते तामित्यर्थ, एतदेव व्यनक्ति-' अणियय' ति-अनियताम्-अनिर्धारिता वेदयन्त, वेदनामनुभवन्तोऽपि न पूर्वोपात्ताशुभकर्मपरिणतिरियमि-

स्यवगच्छन्ति, मिथ्यादृष्टित्वादमनस्कत्वाद्वा मत्तमूर्च्छितादिवदिति भाव. । क्रियासूत्रे-' माइमिच्छादिट्ठि ' त्ति-मायावन्तो हि तेषु प्रायशोत्पद्यन्ते , यदाह—शिवशर्माचार्य - " उम्मग्गदेसओ म—ग्गनासओ गूढहियय माइल्लो । सढसीलो य ससल्लो , तिरियाउ बंधई जीवो ॥ १ ॥ " ततस्ते मायिन उच्यन्ते । अथवा—माया इह समस्तानन्तानुबन्धिकषायोपलक्षणं ततो मायिन इति, किमुक्तं भवति ?— अनन्तानुबन्धिकषायोदयवन्तः , अत एव मिथ्यादृष्टयः , 'ताणं णियइयाओ' इति—तेषां—पृथिवीकायिकानां नैयतिक्यो—नियता' पञ्चैव; न तु त्रिप्रभृतय इत्यर्थ 'स एएणट्ठेण ' मित्यादि , निगमनम् ' जाव चउरिंदिया ' इति. इह महाशरीरत्वाल्पशरीरत्वे स्वस्वावगाहनानुसारेणावसेये , आहारश्च द्वीन्द्रियादीनां प्रक्षेपलक्षणोऽपीति , ' पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया ' इति प्रतीतं , नवरमिह महाशरीरा अभीक्ष्णमाहारयन्ति अभीक्ष्णमुच्छ्वसन्तीति यदुच्यते तत्संख्यातवर्षायुषोऽपेक्ष्य तथैव दर्शनात् , नासंख्यातवर्षायुष' , तेषां प्रक्षेपाहारस्य षष्ठस्योपरि प्रतिपादितत्वात् , अल्पशरीराणां त्वाहारोच्छ्वासयोर्यत् कादाचित्कत्व तदपर्याप्तावस्थाया लोमाहारोच्छ्वासयोरभवनेन पर्याप्तावस्थायां तद्भवनेन चावसेयं, कर्मसूत्रे यत् पूर्वोत्पन्नानामल्पकर्मत्वम् इतरेषां तु महाकर्मत्व तदायुष्कादि तद्भवेऽवद्यकर्मापेक्षं,वर्णलेश्यासूत्रयोरपि यत्पूर्वोत्पन्नानां शुभवर्णाद्युक्तं तत्तारुण्यात् पश्चादुत्पन्नानां चाशुद्धवर्णादि बाल्यादवसेय. लोके तथा दर्शनादिति । तथा 'संजयासंजया' इति—देशविरता स्थूलात् प्राणातिपातादेर्निवृत्तत्वात् इतरस्मादनिवृत्तत्वात् । मनुष्यविषय सूत्रमाह ' मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समाहारा' इत्यादि, सुगम नवरम् 'आहच्च आहारेंति आहच्च ऊससंति आहच्च नीससंति' इति—महाशरीरा हि मनुष्या देवकुर्वादिमिथुनकास्ते च कदाचिदेवाहारयन्ति कावलिकाहारेण"अट्ठमभत्तस्स आहारो ' इति वचनात् उच्छ्वासमपि श्वासमपि तेषा शेषमनुष्यापेक्षया अतिसुखित्वात् कादाचित्को, अल्पशरीरास्त्वभीक्ष्णमल्प आहारयन्ति,बालानां तथादर्शनात् . समूर्च्छिममनुष्याणामल्पशरीराणामनवरतमाहारसंभवाच्च, उच्छ्वासन्ति श्वासावप्यल्पशरीराणामभीक्ष्णं प्रायो दुःखबहुलत्वात् , 'सेसं जहा नेरइयाणं' मिति-शेष-कर्मवर्णादिविषय सूत्र यथा नैरयिकाणा तथाऽवसेय . नवरमिह पूर्वोत्पन्नाना शुद्धवर्णादित्वं तारुण्याद् भावनीय , क्रियासूत्रे विशेषमाह—नवरम् ' किरियाहिं मणुया तिविहा ' इत्यादि, तत्र सरागसंयता—अक्षीणानुपशान्तकषाया वीतरागसंयता-उपशान्तकषाया क्षीणकषायाश्च ' अकिरिया इति वीतरागत्वेनारम्भादीनां क्रियाणामभावात् , ' एगा मायावत्तिया इति—अप्रमत्तसंयतानामेकैव मायाप्रत्यया क्रिया ' कज्जइ ' त्ति—क्रियते भवति , कदाचिदुड्डाह[illegible]प्रवृत्तानाम् [illegible] ' आरंभिया मायावत्तिया इति प्रमत्तसंयतानां हि सर्वं प्रमत्तयोग आरम्भ इति आरम्भिकी क्रिया [illegible] मायाप्रत्ययेति , ' सेसं जहा नेरइयाणं ' मिति—[illegible] नैरयिकाणां तथा वक्तव्य, तच्च सुगममागम् [illegible]

यम् । ' वाणमंतराणं जहा असुरकुमाराणं ' मित्यादि, यथा ' असुरकुमारा सन्निभूया य असन्निभूया य तत्थ णं जे सन्निभूया ते महावेयणा असन्निभूया अप्पवेयणा ' इत्येवमधीता व्यन्तरा अपि तथैवाध्येतव्या., यतोऽसुरादिषु व्यन्तरान्तेषु द्वेष्वसंज्ञिन उत्पद्यन्ते , तथा चोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तौ प्रथमशते द्वितीयोद्देशके—" असन्नी णं जहन्नेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसु " इति-ते चासुरकुमारप्रकरणोक्तयुक्त्याल्पवेदना भवन्तीत्यवसेयं, यत्तु प्राग्व्याख्यातं कृत सन्निन सम्यग्दृष्टयोऽसन्निनस्त्वितरे इति, तदेवमपि घटते इति वृद्धव्याख्यानुसरणत' कृत—मित्यदोष' ' एव ' मित्यादि , एवमसुरकुमारोक्तप्रकारेण ज्योतिष्कवैमानिकानामपि वक्तव्यं , नवरं त वेदनायामेवमध्येतव्या —' दुविहा जोइसिया पन्नत्ता, त जहा—मायिमिच्छद्दिट्ठी उववन्नगा य०' इत्यादि, अथ कस्मादेवमधीयते यावता असुरकुमारवत् , ' असन्निभूया य इति— किन्नाधीयते ?, उच्यते-तेष्वसंज्ञिन उत्पादाभावात्, एतदपि कथमवसेयम् इति चेत् ? उच्यते-युक्तिवशात् .तथाहि· असङ्ख्यायुष उत्कृष्टा स्थिति· पल्योपमासंख्येयभाग , ज्योतिष्काणां च जघन्याऽपि स्थिति पल्योपमसंख्येयभाग , वैमानिकाना पल्योपम , ततोऽवसीयते नास्ति तेष्वसञ्ज्ञी . तदभावाच्चोपदर्शितप्रकारेणैवाध्येतव्या नासुरकुमारोक्तप्रकारेणेति, तत्र मायिमिथ्यादृष्टयोऽल्पवेदना इतर महावेदना शुभवेदनामाश्रित्येति । अथ चतुर्विंशतिदण्डकमेव सलेश्यपदविशेषितमाहारादिपदैर्निरूपयति—'सलेसा णं भंते ! नेरइया इत्यादि, यथा अनन्तरमौघिको—विशेषणरहित प्राक् गम उक्तस्तथा सलेश्यगमोऽपि निर्विशेषो वक्तव्य यावद्वैमानिक —वैमानिकविषय सूत्र. सलेश्यपदस्याविशेषणस्यान्तरेणान्यस्य विशेषणस्य कस्यचिदप्यभावात् । अधुना लेश्याभेदकृष्णादिविशेषितान् पञ्चदण्डकानाहारादिपदैर्विभणिषुराह—' कण्हलेस्सा णं भंते ! नेरइया ' इत्यादि , यथा औघिका-विशेषणरहिता आहारशरीरोच्छ्वासकर्मवर्णलेश्यावेदनाक्रियोपपाताख्यनवभि पदै प्राग् नैरयिका उक्तास्तथा कृष्णलेश्याविशेषिता अपि वक्तव्या , नवर वेदनापदे नैरयिका एवं वक्तव्या ' माइमिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अमायिसम्मादिट्ठी उववन्नगा य इति.न चाभिलापो इय ' सन्निभूया य इति, कस्मादिति चेद् . उच्यते इहाभिहित. प्रथमपृथिव्यामेवोत्पद्यन्ते " असन्नी खलु पढमं " मिति वचनात् प्रथमायां च पृथिव्यां न कृष्णलेश्या , यत्र च पङ्कप्रभादिषु पृथिवीषु कृष्णलेश्या न तत्रासंज्ञिन इति . तत्र मायिनो मिथ्यादृष्टयो महावेदना भवन्ति. तत. प्रकर्षपर्यन्तवर्तिनीं स्थितिमनु[illegible] निर्वर्तयन्ति प्रभूताश्च तस्या [illegible] वेदना [illegible] वर्तिनि । असुरकुमारादयो यावत् [illegible] [illegible]

तानां द्वे क्रिये-आरम्भिकी, मायाप्रत्यया च। कृष्णलेश्या हि प्रमत्तसंयतानां भवति नाप्रमत्तसंयतानां, तेषां तु यथोक्तरूपे एव द्वे क्रिये, संयतासंयतानां तिस्रः—आरम्भिकी, पारिग्राहिकी, मायाप्रत्यया च। असंयतानां चतस्रः—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानक्रिया चेति। ज्योतिष्कवैमानिकास्तु आद्यासु तिसृषु लेश्यासु न पृच्छ्यन्ते, किमुक्तं भवति?—तद्विषयं सूत्रं न वक्तव्यं, तासां तेष्वभावात्, यथा च कृष्णलेश्याविषयं सूत्रमुक्तं तथा नीललेश्याविषयमपि वक्तव्यं, नानात्वाभावात्। एतदेवाह—' एवं जहा किएहलेसा विचारिया तहा नीललेस्सा विचारेयव्वा' नीललेश्याविषयोऽपि सूत्रदण्डक एवमेव, केवलं कृष्णलेश्यापदस्थाने नीललेश्यापदमुच्चरितव्यमिति भावः, 'काउलेस्सा' इत्यादि, कापोतलेश्या हि सूत्रतो नीललेश्येव नैरयिकेभ्य आरभ्य यावद्वयन्तरास्तावद्वक्तव्या, नवरं कापोतलेश्यायां नैरयिकावेदनासूत्रे यथौघिकास्तथा वक्तव्याः—' नेरइया दुविहा पन्नत्ता—सन्निभूया य असन्निभूया य' इत्येवं वक्तव्या इति भावः, असंज्ञिनामपि प्रथमपृथिव्यामुत्पादात् तत्र च कापोतलेश्याभावात्, तेजोलेश्याविषयं सूत्रमाह—' तेउलेस्सा णं भंते! असुरकुमारा' इत्यादि, इह नारकतेजोवायुविकलेन्द्रियाणां तेजोलेश्या न सम्भवति तत प्रथमत एवासुरकुमारविषयं सूत्रमुक्तम्, अत एव तेजोवायुविकलेन्द्रियसूत्रमपि न वक्तव्यम्, असुरकुमारा अपि यथा प्रागोघत उक्तास्तथा वक्तव्याः, नवरं वेदनापदे यथा ज्योतिष्कास्तथा वक्तव्याः, 'सन्निभूया य असन्निभूया य' इति न वक्तव्याः, किं तु 'माइमिच्छद्दिट्ठि उववन्नगा अमाइसम्मद्दिट्ठि उववन्नगा' इति वक्तव्या इति भावः, असंज्ञिनां तेजोलेश्यावत्सूत्पादाभावात्, पृथिव्यब्वनस्पतयः तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च यथा प्रागोघिकास्तथा वक्तव्याः. नवरं मनुष्याः क्रियाभिर्ये संयतास्ते प्रमत्ताश्चाऽप्रमत्ताश्च भणनीयाः, उभयेषामपि तेजोलेश्यायाः सम्भवात्, ' सरागा वीयरागा य नत्थि' त्ति ' सरागसंजया वीअरागसंजया य' इति न वक्तव्या इत्यर्थः, वीतरागाणां तेजोलेश्याया असंभवेन वीतरागपदोपन्यासस्य तेजोलेश्यायाः सरागत्वाव्यभिचारात् सरागपदोपन्यासस्य चायोगात्, ' वाणमंतरा तेउलेसाए जहा असुरकुमारा' इति तेऽपि ' माइमिच्छादिट्ठी उववन्नगा अमाइसम्मादिट्ठी उववन्नगा य ' इत्येवं वक्तव्याः न, तु-' सन्निभूया य असन्निभूया य ' इति, तेष्वपि तेजोलेश्यावत्सु मध्येऽसंज्ञिनामुत्पादाभावात् ' एवं पम्हलेसा वि भाणियव्वा ' इति, एवं—तेजोलेश्योक्तप्रकारेण पद्मलेश्याऽपि वक्तव्या, किमविशेषेण सर्वेष्वपि ?, नेत्याह—' नवरं जेसिं अत्थि ' इति—नवरम्—अयं विशेषः येषां पद्मलेश्याऽस्ति तेष्वेव वक्तव्या, न शेषेषु तत्र पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां वैमानिकानां चास्ति न शेषाणामिति तद्विषयमेवैतस्याः सूत्रं, शुक्ललेश्याऽपि तत्रैव वक्तव्या यथा पद्मलेश्या, साऽपि येषामस्ति तेषां वक्तव्या सर्वमपि सूत्रं तथैव यथौघिकानां गम उक्तः, पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च येषामस्ति तान् साक्षादुपदर्शयति—'नवरं पम्हलेससुक्कलेसाओ ' इत्यादि सुगमम्। प्रज्ञा० १७ पद २ उ०।

समनुगते, रा०। सर्वशब्दार्थे, भ० १ श० ६ उ०। पदैरस्थैश्च समे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। पूर्णे, सू० प्र० १० पाहु०। निम्नोन्नतत्वाभावात् समम्। आकाशे, भ० २० श० २ उ०। उत्त०। संहत्यर्थे, उत्त० १६ अ०। आचा०।

विषयसूचना—

(१) शमस्य स्वरूपनिरूपणम्।
(२) अष्टकेन शमस्य गुणकथनम्।
(३) नैरयिकादीनां समाहारसमशरीरादिविषये पृच्छा।

समइक्कमंत—समतिक्रामत्—त्रि०। नानाप्रदेशान् उल्लङ्घयति, उत्त० १४ अ०। कल्प०। भ०।

समइमा—समतिमा—स्त्री०। शुष्कमण्डके, वृ० १ उ० ३ प्रक०।

समइय—समयिक—न०। सम्यक्शब्दार्थे,समित्युपसर्गः सम्यक् अयः समयः सम्यग्-दयापूर्वकं जीवेषु प्रवर्त्तनं सोऽस्यास्तीति। अतोऽनेकस्वरात् ॥७।२।६॥ ति इकप्रत्ययः। सामायिके, आ० म० १ अ०। विशे०।

' हस्तिनागपुरं तेन, परितः परिवेष्टितम्।
औत्पातिकाभ्रवलये-नेव मार्त्तण्डमण्डलम् ॥ ८॥
निर्यान्ति न बहिस्तेऽथ, दमदन्तोऽभ्यधत्त तान्।
भीरवः फेरव इव, शून्ये स्वैरचरा अहो ॥ ६॥
अस्ति जीवितमन्तश्चे-त्तन्निःसरत संप्रति।
कम्पितुं विक्रमस्वर्भे, निकषोऽह स एष च ॥ १०॥
निर्भर्त्सिता अपि न ते, निर्जीवा इव निर्ययुः।
दमदन्तो चलित्वाऽथ, निजं नगरमागमत् ॥ ११॥
अथान्यदा स निर्विद्य, कामभोगेऽग्रहीद् व्रतम्।
निर्ममत्वेन विहरं—श्चाययौ हस्तिनापुरे ॥ १२॥
तस्थौ बहिः प्रतिमया, सुमेरुरिव निश्चलः।
राजवाटयागतैर्दृष्ट, पाण्डवैः पञ्चभिर्नतः ॥ १३॥
तत्र दुर्योधनोऽप्यागाद्, ज्ञापितः केनचिच्च सः।
स एष दमदन्तोऽह-न्मातुलिङ्गन सोद्यतम् ॥ १४॥
सैन्यैरेकैकशः क्षिप्तैः, सोऽश्मराशीकृतोऽश्मभिः।
राज्ञः कोऽप्याख्यन्माद्रेयो, द्रुतद्राशिमसु व्यधात् ॥ १५॥
राज्ञा विरूपं सोऽभाणि, प्रस्तरास्तेऽपनिन्यिरे।
मर्दितोऽभ्यज्य तैलेन, क्षमितश्चातिभक्तितः ॥ १६॥
भक्तेषु पाण्डुपुत्रेषु, धार्त्तराष्ट्रे च हन्तरि।
समो भावोऽभवत्तस्य, राजर्षेरुपरि द्वयोः ॥ १७॥
आ० क० १ अ०।

समइविकप्प—समतिविकल्प—पुं०। निजबुद्ध्युत्प्रेक्षणे, पञ्चा० १४ विव०।

समउल्ल—समतुल्य—त्रि०। सदृशार्थे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

समंजस—समञ्जस—त्रि०। समीचीने, आचा० १ श्रु०२अ० ३उ०।

समंतओ—समंततस्—अव्य०। सर्वासु दिक्ष्वित्यर्थे, आ० म० १ अ०। जी०। सूत्र०। प्रश्न०। विपा०। रा०। ज्ञा०।

समंतभद्द—समन्तभद्र—पुं०। बुद्धे शाक्यसिंह,स्वानामख्यातेविदुषि, द्वा० ४ द्वा०। स्था०।

समंता—समन्तात्—अव्य०। सर्वत इत्यर्थे, भ० ७ श० ६ उ०। विनिश्चितार्थे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

समंस-समांश-पुं०। समच्छेदे, स० ६७ सम०।

चंदमंडले णं एगसट्ठिविभागविभाइए समंसे पएणत्ते, एवं सूरस्स वि। (सू०-६१+)

'चन्द्रमण्डले' चन्द्रविमानं णमित्यलङ्कृतौ 'एगसट्ठि' त्ति-योजनस्यैकषष्टिभागैर्विभाजितं-विभागैर्व्यवस्थापितं समांशं-समविभागं प्रज्ञप्तं, न विषमांशं, योजनस्यैकषष्टिभागाना षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणत्वात्तस्यावशिष्टस्य च भागस्याविद्यमानत्वादिति, 'एव सूरस्स वि' त्ति-एवं सूर्यस्यापि मण्डलं वाच्यम्, अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागमात्रं हि तत् न चापरमंशान्तरं तस्याप्यस्तीति समांशतेति। स० ६१ सम०।

समंसु-श्मश्रु-न०। कूर्चरोमणि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

समकडग-समकटक-न०। स्वनामख्याते नगरे, उत्त० १३ अ०।

समकम्म-समकर्मन्-त्रि०। कर्मसमे, भ० १ श० २ उ०।

समकरण-समकरण-पुं०। मौषे, "झोसि त्ति वा समकरण ति वा एगट्ठा" व्य० १ उ०।

समकरणी-समकरणी-स्त्री०। तुल्यरेखाभेदे, यत्र प्रदेशे धरणकसहिता तुला ध्रियमाणा समा भवति तत्र प्रदेशे समताषरिज्ञानार्थमेका रेखा भवतीत्यर्थः। ज्यो० २ पाहु०।

समकिरिय-समक्रिय-त्रि०। समानक्रिये, भ० १ श० २ उ०। (अत्र दण्डकः 'सम' शब्दे, अस्मिन्नेव भागे विस्तरतो गतः।)

समक्ख-समक्ष-त्रि०। सम्मुखे, आ० म० १ अ०। आव०। स्था०।

समक्खाय-समाख्यात-पुं०। कथिते, संथा०। प्रतिपादिते,

समिक्खिय-समीक्षित-पुं०। समीहिते, पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोचिते, प्रश्न० २ संव० द्वार।

समखुर-समखुर-त्रि। तुल्यशफे, 'समखुरवालिहाणे' समखुरवालिधानौ तुल्यशफपुच्छौ। उपा० ७ अ०।

समखेत्त-समक्षेत्र-न०। समं-स्थूलं न्यायमाश्रित्य त्रिंशन्मुहूर्तभोग्यं क्षेत्रमाकाशलक्षणं येषां तानि। स्था० ६ ठा० ३ उ०। यावत्प्रमाणं क्षेत्रमहोरात्रेण गम्यते नक्षत्रैस्तावत् क्षेत्रप्रमाणं चन्द्रेण सह योगं यान्ति गच्छन्ति तानि समक्षेत्राणि। च० प्र० १० पाहु०। सू० प्र०। इह यावत्प्रमाणं क्षेत्रमहोरात्रेण गम्यते सूर्येण तावत्प्रमाणं चन्द्रेण सह योगं यान्ति गच्छन्ति तानि समक्षेत्राणि। समं महोरात्रप्रमितं क्षेत्रं (ज्यो० ६ पाहु०।) चन्द्रयोगमधिकृत्याऽस्ति येषां तानि समक्षेत्राणि। तथाविधेषु ज्योतिश्चक्रचारक्षेत्रेषु, सू० प्र० १० पाहु०।

समग-समक-न०। सार्द्धशब्दार्थे, व्य० २ उ०। युगपदेककाले, दश० ४ अ०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। आ० म०। पुं०। वैताढ्यपर्वतेषु विद्याधरमनुष्येषु, आ० चू० १ अ०।

समगवोच्छिज्जमाणबंधोदया-समकव्युच्छिद्यमानबन्धोदया-स्त्री०। समक-समकालं व्यवच्छिद्यमानो बन्धोदयो यासां ताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। युगपद्बन्धोदयशालिनीषु कर्मप्रकृतिषु पं० सं० ३ द्वार।

समगब्भसत्थ-समगर्भशास्त्र-न०। प्रशमगर्भशास्त्रे, पो० ४ विव०।

समग्ग-समग्र-त्रि०। सम्पूर्णे, तं०। समस्ते, बृ० १ उ० १ प्रक०। परिपूर्णे, पञ्चा० १४ विव०। औ०। दश०। प्रव०। दर्श०। प्रश्न०। सू० प्र०। समन्विते, उत्त० ८ अ०। निरवशेषे, अनु०।

समचउरंस-समचतुरस्र-न०। समं-नाभेरुपर्यधश्च सकलपुरुषलक्षणोपेतावयवतया तुल्यम्, अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तच्चतुरस्रं, समं च तच्चतुरस्रं च समचतुरस्रम्। तं०। तुल्यारोहपरिणाहे, सम्पूर्णाङ्गावयवस्वाङ्गुलाष्टशतोच्छ्रये, तुल्यारोहपरिणाहत्वेन समत्वात् पूर्णावयवत्वेन चतुरस्रत्वात्तस्य चतुरस्रं लक्षणमिति पर्यायौ। भ० १४ श० ७ उ०। प्रज्ञा०। कर्म०। जी०। च० प्र०। अनु०। समाः-शरीरलक्षणोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम्, अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवास्तथा सर्वेऽप्यवयवा शरीरलक्षणोक्तप्रमाणाव्यभिचारिणो यस्य न तु न्यूनाधिकप्रमाणा। तुल्यशरीरलक्षणोपेतावयवयुक्तेषु, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

समचउरंससंठाण-समचतुरस्रसंस्थान-न०। समाः-शास्त्रोक्तलक्षणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्संस्थानं पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम्। संस्थानभेदे, कर्म० १ कर्म०। स०। च० प्र०। उत्त०।

समचउरंससंठाणसंठिय-समचतुरस्रसंस्थानसंस्थित-त्रि०। समचतुरस्रं च तत्संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानं तेन संस्थिता। समचतुरस्रसंस्थानवस्तु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। सू० प्र०।

समचक्कवालसंठिय-समचक्रवालसंस्थित-त्रि०। समचक्रवालं समचक्रवालरूपं संस्थितं संस्थानं यस्य स तथेति विग्रहः। वृत्त, चं० प्र० ४ पाहु०।

समच्छेय-समच्छेद-पुं०। भङ्गे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

समज-श्रमज-न०। शरीरजले, प्रव० ४० द्वार।

समजोइभूय-समज्योतिर्भूत-पुं०। सम-तुल्यो ज्योतिषाऽग्निना भूतो जातो यः स तथा। अग्निकल्पीभूते, विपा० १ श्रु० ६ अ०। भ०। विशे०।

समज्जुणिंसु-समार्जिवत्-क्रिया। गृहीतवति, भ० २८ श० १ उ०।

समज्जिणित्ता-समर्ज्य-अव्य०। शुभकर्मोपचयं कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

समज्जिय-समर्जित-त्रि०। रागद्वेषाभ्यामुपागते, उत्त० २६ अ०। कचवरापनयने, भ० ११ श० १० उ०।

समट्ठ-समर्थ-त्रि०। प्रतिपत्तु योग्ये, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०। च० प्र०। ज्ञा०। उपपन्ने, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०। भ०। सङ्गत कर्मपुद्गलानां सातिशयं ज्ञानगम्यत्वात्। औ०।

समट्ठिइ-समस्थिति-त्रि०। सममेवोत्पन्ने,भ० ३४ श० १ उ०।

समण-शमन-पुं०। चिकित्सायाम्, आव० ४ अ०। रोगप्रशमने, नि० चू० २० उ०। औषधे, व्य० ३ उ०।

समण-पुं०। समिति समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते इति समणः प्राकृतनया सर्वत्र 'समण' त्ति। स्था० ४ ठा० ४ उ०। अणत्यनेकार्थत्वाद्धातूनां प्रवर्तते इति समणो निरुक्तिवशात्। सर्वत्र तुल्यप्रवृत्तिमति, भ० १ श० १ उ०। स्था०। सूत्र०। अनु०।

जह मम ण पिअं दुक्खं, जाणिआ एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणई तेण सो समणो ॥३॥

यथा मम-स्वात्मनि हननादिजनितं दुःखं न प्रियमेवमेव सर्वजीवानां तन्नाभीष्टमिति ज्ञात्वा-चेतसि भावयित्वा समन्तानपि जीवान् हन्ति स्वयं, नाप्यन्यैर्घातयति, चशब्दात्-घ्नतश्चान्यान्न समनुजानीत इत्यनेन प्रकारेण 'सममणति' त्ति-सर्वजीवेषु तुल्यं वर्त्तते यतस्तेनासौ समण इति गाथार्थः। अनु०।

समनस्-पुं०। सह मनसा शोभनेन निदानपरिणामलक्षणतापरहितेन च वर्तते इति समनाः, तथा-समानं स्वजनपरजनादिषु तुल्यं मनो यस्य स समनाः। सर्वत्र समभावेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

तदेवं सर्वजीवेषु समत्वेन समणतीति समण इत्येकः पर्यायो दर्शितः, एवं समं मनोऽस्येति समना इत्यन्योऽपि पर्यायो भवत्येवंति दर्शयन्नाह-

णत्थि य से कोइ वेसो,पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ ४ ॥

नास्ति च 'से' तस्य कश्चिद् द्वेष्यः प्रियो वा,सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वाद्,अनेन भवति सम मनोऽस्येति निरुक्तविधिना समना इत्येषोऽपि पर्याय इति गाथार्थः। अनु०।

श्रमण-पुं०। श्राम्यतीति श्रमणः। साधौ, स्था० ४ ठा० ४ उ०। श्राम्यति-श्रममानयति पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमणः। दर्श० ३ तत्त्व। पं०चू०। श्राम्यति-संसारविषयखिन्नो भवति तपस्यतीति वा नन्दादित्वात् कर्तर्यनट्। श्रमणः। ध० २ अधि०। "कृत्यल्युटो बहुलमिति" वचनात् कर्तरि ल्युट्। दश० १ अ०। श्रमु तपसि खेदे च। आ० चू० ३ अ०। आव०। श्राम्यतीति श्रमणः। विश०। उत्त०। स्था०। आचा०। सूत्र०।

तदेव पूर्वोक्तप्रकारेण सामायिकवतः साधोः स्वरूपं निरूप्य प्रकारान्तरेणापि तन्निरूपणार्थमाह-

उरगगिरिजलणसागर-नहतलतरुगणसमो अ जो होइ।
भमरमियधरणिजलरुह-रविपवणसमो अ सो समणो॥५॥

स श्रमणो भवतीति सर्वत्र संबध्यते, यः कथंभूतो भवतीत्याह-उरगः-सर्पस्तत्समः परकृताश्रयनिवासादित्येवं समशब्दोऽपि सर्वत्र योज्यते, तथा गिरिसमः परीषहोपसर्गनिष्प्रकम्पत्वात्, ज्वलनसमस्तपस्तेजोमयत्वात् तृणादिष्विव सूत्रार्थेष्वतृप्तेः, सागरसमो गम्भीरत्वात् ज्ञानादिरत्नाकरत्वात् स्वमर्यादानतिक्रमाच्च, नभस्तलसमः सर्वत्र निरालम्बनत्वात्, तरुगणसमः सुखदुःखयोरदर्शितविकारत्वात्, भ्रमरसमोऽनियतवृत्तित्वात्, मृगसमः संसारभयोद्विग्नत्वात्, धरणिसमः सर्वखेदसहिष्णुत्वात्, जलरुहसमः कामभोगोद्भवत्वेऽपि पङ्कजलाभ्यामिव तदूर्ध्वं वृत्तेः, रविसमः धर्मास्तिकायादिलोकमधिकृत्याविशेषेण प्रकाशकत्वात्, पवनसमश्च सर्वत्राप्रतिबद्धत्वात्, स एवंभूतः श्रमणो भवतीति गाथार्थः।

यथोक्तगुणविशिष्टश्च श्रमणस्तदा भवति यदा शोभनमनो भवेदिति दर्शयति-

सो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे अ जणे य समो, समो अ माणाऽवमाणेसु ॥६॥

ततः श्रमणो यदि द्रव्यमनः आश्रित्य सुमना भवेत्, भावमनश्चाश्रित्य यदि न भवति पापमनाः। सुमनस्त्वचिह्नान्येव श्रमणगुणत्वेन दर्शयति-स्वजने च-पुत्रादिके जने च-सामान्ये समो-निर्विशेषः मानापमानयोश्च सम इति गाथार्थः। अनु०। पञ्चा०। दश०। "यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च। तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः" ॥ १ ॥ इति। दश० १ अ०।

श्रमणनिक्षेपः-

समणस्स उ निक्खेवो, चउक्कओ होइ आणुपुव्वीए।
दव्वे सरीरभविओ, भावेण उ संजओ समणो ॥१५३॥

श्रमणस्य तु-तुशब्दोऽन्येषां च मङ्गलादीनामिह तु श्रमणेनाधिकार इति विशेषणार्थः, निक्षेपश्चतुर्विधो भवत्यानुपूर्व्या नामाऽऽदिक्रमेण। नामस्थापने पूर्ववत्। द्रव्यश्रमणो द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च। आगमतो ज्ञातानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तोऽभिलापभेदेन द्रुमवदवसेयस्त चानेनोपलक्षयति। 'दव्वे सरीरभविओ' त्ति-भावश्रमणोऽपि द्विविध एव-आगमतो ज्ञातोपयुक्तः, नोआगमतस्तु चारित्रपरिणामवान् यतिः। तथा चाह-भावतस्तु संयतः श्रमण इति गाथार्थः।

अस्यैव स्वरूपमाह-

जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य,सममणई तेण सो समणो ॥१५४॥
नत्थि य से कोइ वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ १५५ ॥
तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो उ माणावमाणेसु ॥१५६॥
उरगगिरि जलण सागर-णहयलतरुगणसमो य जो होइ।
भमरमिगधरणिजलरुह-रविपवणसमो जओ समणो१५७

(गाथाचतुष्टयं सुगमम्।)

विसतिणिसवायवंजुल-कणियारुप्पलसमेण समणेणं।
भमरुंदुरुनडकुक्कुड-अद्दागसमेण होयव्वं ॥ १ ॥ (प्र०)

श्रमणेन विषसमेन भवितव्यं भावतः सर्वरसानुपातित्व- मधिकृत्य तथा तिनिशसमेन मानपरित्यागतो नम्रेण वात- समेनेति पूर्ववत् । वञ्जुलो-वेतसस्तत्समेन क्रोधादिविषा- भिभूतजीवानां तदपनयनेन । एवं हि श्रूयते—किल वेतस- मवाप्य निर्विषा भवन्ति सर्पा इति । कर्णिकारसमेनेति तत्पुष्पवत्प्रकटेन अशुचिगन्धापेक्षया च निर्गन्धेनेति । उत्प- लसदृशेन प्रकृतिधवलतया सुगन्धित्वेन च, भ्रमरसमेनेति पूर्ववत् । उन्दुरुसमेन उपयुक्तदेशकालचारितया, नटसमेन तेषु तेषु प्रयोजनेषु तत्तद्वेषकरणेन, कुर्कुटसमेन संविभाग- शीलतया, स हि किल प्राप्तमाहारं पादेन विक्षिप्यान्यैः सह भुङ्क्ते इति, आदर्शसमेन निर्मलतया तरुणाद्यनुवृत्तिप्रति- बिम्बभावेन च । उक्तं च—" तरुणम्मि होइ तरुणो, थेरो थेरेहिं डहरए डहरो । अद्दाओ विव रूव, अणुयत्तइ जस्स जं सील " ॥ १ ॥ एवभूतेन श्रमणेन भवितव्यमिति गा- थार्थः ।

इयं किल गाथा भिन्नकर्तृकी अतः पवनाऽऽदिषु न पुन- रुक्तदोष इति । साम्प्रतं तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति न्यायाच्छ्र- मणस्यैव पर्यायशब्दानभिधित्सुराह—

पव्वइय अणगारे, पासंडे चरग तावसे भिक्खू ।
परिवाइए य समणे, निग्गंथे संजए मुत्ते ॥ १५८ ॥

प्रकर्षेण व्रजितो-गतः प्रव्रजितः । आरम्भपरिग्रहादिति ग- म्यते । अगारं-गृहं तदस्यास्तीत्यगारो गृही न अगारोऽनगारः । द्रव्यभावगृहरहित इत्यर्थः । पाखण्डं—व्रतं तदस्यास्तीति पाखण्डी । उक्तं च-' पाखण्डं व्रतमित्याहु-स्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि । स पाखण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद्विनिर्गतः ॥ २ ॥ " चरतीति चरकस्तप इति गम्यते । तपोऽस्यास्तीति ता- पसः । भिक्षणशीलो भिक्षुः, भिनत्ति वाऽष्टप्रकारं कर्मेति भिक्षुः । परि समन्तात्पापवर्जनेन व्रजति—गच्छतीति परि- व्राजकः । चः समुच्चये । श्रमणः पूर्ववत् । निर्गतो ग्रन्था- न्निर्ग्रन्थः बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहित इत्यर्थः । समेकीभावे- नाहिंसादिषु यतः—प्रयत्नवान् संयतः । मुक्तो बाह्या- भ्यन्तरेण ग्रन्थेनैवेति गाथार्थः ।

तिन्नेताई दविए, मुणी य खंते य दंतविरए य ।
लूहे तीरट्ठे वि य, हवंति समणस्स नामाइं ॥ १५६ ॥

तीर्णवांस्तीर्णः संसारमिति गम्यते । त्रायत इति त्रा- ता धर्मकथादिना संसारदुःखेभ्य इति भावः, रागा- दिभावरहितत्वाद् । द्रव्यम्—द्रवति गच्छति तांस्तान् ज्ञा- नादिप्रकारानिति द्रव्यम् । मुनिः पूर्ववत् । चः समुच्चये । क्षाम्यतीति क्षान्तः—क्रोधविजयी एवमिन्द्रियादिदमना- द्दान्तः, विरतः—प्राणातिपातादिनिवृत्तः, स्नेहपरित्यागाद् रूक्षः, तीरेणार्थोऽस्येति तीरार्थी संसारस्येति गम्यते । ती- रस्थो वा सम्यक्त्वादिप्राप्तेः संसारपरिमाणात् एतानि भवन्ति श्रमणस्य नामानि-अभिधानानीति गाथार्थः । निरूपितः श्रवणशब्दः । दश० २ अ० । स० । आ० म० । न० । उत्त० । सूत्र० । अनु० । स्था० । रा० । जं० । द- र्श० । सर्वत्राऽरक्तद्विष्टचित्ते, उत्त० १२ अ० । स्था० । आचा० । सर्वत्र वासीचन्दनकल्पे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । ' निग- थ सक्क तावस-गेरुय आजीव पंचहा समणा ।' इति वचनात् पञ्चपाखण्डान्याश्रिते साधौ, अनु० । सूत्र० । जं० । पिं० । प्रश्न० ।

इदानीं ' समण ' त्ति वतुर्नवतं द्वारमाह—

निग्गंथ सक्क तावस, गेरुय आजीव पंचहा समणा ॥
तम्मि य निग्गंथा ते, जे जिणसासणभवा मुणिणो ॥३८॥
सक्का य सुगयसिस्सा, जे जमिला ते उ तावसा गीया ।
जे धाउरत्तवत्था, तिदंडिणो गेरुया ते उ ॥ ३६ ॥
जे गोसालगमयमणु-सरंति भन्नंति ते उ आजीवा ॥
समणत्तणेण भुवणे, पंच वि पत्ता पसिद्धिमिमे ॥४०॥

निर्ग्रन्थाः शाक्यास्तापसा गेरुक्या आजीवाश्च पञ्चधा पञ्चभेदाः श्रमणा भवन्ति ' तम्मि ' त्ति प्राकृतत्वादेकव- चन, ततस्तेषु निर्ग्रन्थानां मध्ये निर्ग्रन्थास्ते भण्यन्ते ये जिनशासनभवाः—प्रतिपन्नपारमेश्वरप्रवचना मुनयः-सा- धवः, तथा शाक्याः सुगतशिष्या बौद्धा इत्यर्थः, ये च जटिला-जटाधारिणो वनवासिपाखण्डिनस्ते तापसा गी- ताः-कथिताः, ये धातुरक्तवस्त्रास्त्रिदण्डिनस्ते तु गेरुकाः- परिव्राजका इत्यर्थः, तथा ये गोशालकमतमनुसरन्ति भण्यन्ते ते तु आजीवका इति । एते पञ्चापि श्रमणत्वेन भुवने प्रसिद्धिं प्राप्ता इति । प्रव० ६४ द्वार । दश० । आचा० । तपस्विनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । स्था० । अनु० ।

साम्प्रतं श्रमणशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमुद्भावयन्नाह—

एत्थ वि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च अ- तिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च लोहं च पिज्जं च दोसं च इच्चेव । जओ जओ आदाणं अप्पणो पदोसहेऊ ततो तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइ- वाया सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे ॥२॥

अत्राप्यनन्तरोक्ते विरत्यादिके गुणसमूहे वर्त्तमानश्रमणो ऽपि वाच्यः । एतद्गुणयुक्तेनापि भाव्यमित्याह-निश्चयेनाधि- क्येन वा श्रितो निश्रितः, न निश्रितोऽनिश्रितः क्वचिच्छरीरा- दावप्यप्रतिबद्धस्तथा न विद्यते निदानमस्येत्यनिदानो-नि- राकाङ्क्षोऽशेषकर्मक्षयार्थी सयमानुष्ठाने प्रवर्त्तेत, तथा दीयते- स्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं येन तदादानं कषायाः परिग्रहः सा- वद्यानुष्ठान वा, तथाऽतिपातनमतिपातः प्राणातिपात इत्य- र्थः, तं च प्राणातिपातं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरि- ज्ञया परिहरेदेवमन्यत्रापि क्रिया योजनीया । तथा मृषावा- दोऽलीकवादस्तं च, तथा 'बहिद्धं ' ति-मैथुनपरिग्रहौ तौ च सम्यक् परिज्ञाय परिहरेत् । उक्ता मूलगुणाः, उत्तरगुणा- नधिकृत्याह क्रोधम्-अप्रीतिलक्षणं मानं-स्तम्भात्मकं मायां च परवञ्चनात्मिकां लोभं-मूर्छास्वभावं तथा प्रेम-अभिष्वङ्ग- लक्षणं तथा द्वेष-स्वपरात्मनोर्बाधारूपमित्यादिकं संसारावतर- णमार्गं मोक्षाध्वनोऽपध्वंसकं सम्यक् परिज्ञाय परिहरेदिति । एवमन्यस्मादपि यतो यतः कर्मोपादानाद्-इहामुत्र चानर्थं इह नोरात्मनोऽपाय पश्यति प्रद्वेषहेतूंश्च ततस्तत प्राणातिपाता दिकादनर्थदण्डादानात् पूर्वमेव-अनागतमेवात्महितमिच्छ-

न प्रतिविरतो भवेत्—सर्वस्मादनर्थहेतुभूतादुभयलोकविरुद्धाद्वा सावद्यानुष्ठानान्मुमुक्षुर्विरतिं कुर्यात् । यश्चैवंभूतो दान्त शुद्धो द्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया व्युत्सृष्टकाय· स श्रमणो वाच्य· । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । 'अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमलुब्धता ।' इत्येतच्छ्रमणलक्षणम् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । तीर्थिके, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । यतौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अनु० । स्था० । आचा० । तपस्युद्युक्ते, निश्चलमनसि, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० । द्वादशप्रकारतपोनिष्टप्तदेहे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । कल्प० । जं० । स्था० । तप श्रीसमालिङ्गिते, स० । महातपस्विनि, औ० । परमसमाध्युपेते, आ० म० १ अ० । परिव्राजकविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । त्रिदण्डिप्रभृतौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । मुक्त्यर्थं विद्यमाने साधौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । प्रव्रजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आ० म० । कृतमहाव्रताङ्गीकारे, तप· संसारखेदरूपेण 'श्रमू' खेदतपसोरिति धात्वर्थेन युक्ते (आतु० ।) साधौ, अनु० । सूत्र० । उत्त० । द्वा० । पञ्चा० । ग० । जी० । मुनौ, उत्त० १ अ० । (पञ्चभि स्थानैः श्रमणो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवतीति ' महाणिज्जर ' शब्द षष्ठे भागे १८८ पृष्ठे गतम् ।) तथाविधबहुलोकसम्मतया गृहस्थपर्यायेऽपि लब्धश्रमणाभिधाने वीरस्वामिनि , अने० १ अधि० । भ० । जं० । विशे० । कल्प० । " समणे भीमभयभेरव ओरालं अचेलयं परीसहं सहइ त्ति कट्टु देवेहिं से णाम कय समणे भगव महावीरे ।" आचा० २ श्रु० ३ चू० । श्रमणनिक्षेप·—दव्वसमणा निन्हगाई भावसमणा जे सव्वविरएसु अहिंसादिसु वत्तन्ति । आ० चू० ४ अ० । स्वप्नपाठका इव चारणश्रमणादय· स्वप्नफल कथयन्ति नवेति ? प्रश्न । अत्रोत्तरम्-यथा स्वप्नपाठका स्वप्नफल कथयन्ति तथा चारणश्रमणा अपि, यथा—" मज्झिमउवरिमगेविज्जगाउ तो चविअ कंदिसेणसुरो । अवयरिओ तम्मुअं, तो सा चउदस निवइ सुमिणे ॥३५॥ एत्थंतरम्मि नाणी, चारणसमणो समागओ तत्थ । विहिणा पुट्ठो रण्णा, सुमिणाण फल कहइ एव ॥ ३६ ॥" इति ॥२४॥ सेन० ।

श्रवणा—पुं० । विष्णुनक्षत्राके नक्षत्रभेदे, चं० प्र० १० पाहु० ।

समनस्—पुं० । मन·पर्यायज्ञानसहिते, कर्म० ४ कर्म० । भावसहित, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

समणग—श्रमणक—पुं० । श्रमण एव श्रमणक· । साधौ, औ० ।

समणगपइ—श्रमणकपति—पुं० । साधुसंघाधिपतौ, औ० ।

समणगुण—श्रमणगुण—पुं० । श्रमणाना गुणा· श्रमणगुणा । मूलगुणोत्तरगुणेषु, तत्र पञ्च महाव्रतानि मूलगुणा उद्गमोत्पादनैषणादय अष्टादश शीलाङ्गसहस्राणि च उत्तरगुणा । नि० चू० १६ उ० ।

समणगुणमुक्कजोगि—श्रमणगुणमुक्तयोगिन्—पुं० । श्रमणाना गुणा मूलोत्तरगुणरूपा श्रमणगुणास्तैर्मुक्ता परित्यक्तास्तद्रहिता ये योगा मनोवाक्कायव्यापारास्ते यस्य सन्ति स श्रमणगुणमुक्तयोगी । संयमदुर्बले व्य० २ उ० ।

समणगुणविउ—श्रमणगुणविद्—पुं० । श्रमणगुणान् वेत्तीति, विद—ज्ञाने, श्रमणगुणविद् । मूलोत्तरगुणज्ञातरि , नि० चू० १६ उ० ।

समणघाय—श्रमणघात—पुं० । साधुमारके, "एस समणघाए" श्रमणघातको (गोशालक) श्रमणयोस्तेजोलेश्याक्षेपलक्षणघातदानात् । भ० १५ श० ।

समणच्छन्न—श्रमणच्छन्न—पुं० । श्रमणवेषधारिणि अश्रमणे । नि० चू० १६ उ० ।

समणजोगमुक्कधुर—श्रमणयोगमुक्तधुर—पुं० । परित्यक्तश्रमणव्यापारे , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

समणत्त—श्रमणत्व—न० । साधुत्वे, उत्त० १६ अ० ।

समणधम्म—श्रमणधर्म—पुं० । श्राम्यन्तीति श्रमणाः—साधवस्तेषा धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रमणधर्मः । पा० । आव० । ध० । साधुधर्मे, आ० चू० ४ अ० । ओघ० ।

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तं जहा-खंती १ मुत्ती २ अज्जवे ३ मद्दवे ४ लाघवे ५ सच्चे ६ संजमे ७ तवे ८ चियाए ९ बंभचेरवासे १० । (सू० १४)

स० १० समा० । स्था० । नं० । पञ्चा० । ल० । दश० । भ० । ति० । सं॰था । प्रश्न० । (' समण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेव पञ्चविधः श्रमणधर्म उक्त· ।)

समणपज्जुवासणा—श्रमणपर्युपासना—स्त्री० । श्रमण (साधु) शुश्रूषायाम् , भ० ।

तहारूवं भंते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किंफला पज्जुवासणा ?, गोयमा ! सवणफला , से णं भंते ! सवणे किं फले ?, णाणफले, से णं भंते ! नाणे किं फले ? विण्णाणफले, से णं भंते ! विन्नाणे किंफले ?, पच्चक्खाणफले, से णं भंते ! पच्चक्खाणे किंफले ? , संजमफले , से णं भंते संजमे किंफले ? अणण्हयफले, एवं अणण्हए तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले , से णं भंते ! अकिरिया किंफला ?, सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता, गोयमा !, गाहा—"सवणे णाणे य विण्णाणे , पच्चक्खाणे य संजमे । अणण्हए तवे चेव , वोदाणे अकिरिया सिद्धी " ॥ १ ॥ (सू० ११२)

' तहारूव ' मित्यादि तथारूपम्—उचितस्वभाव कञ्चन पुरुष श्रमण वा तपायुक्तम् , उपलक्षणत्वादस्योत्तरगुणवन्तमित्यर्थ , माहन वा-स्वय हनननिवृत्तत्वात्पर प्रति मा हनेति वादिनम् , उपलक्षणत्वादेव मूलगुणयुक्तमिति भाव· , वाशब्दौ समुच्चये , अथवा—श्रमण·—साधु· माहन —श्रावक· 'सवणफले'त्ति—सिद्धान्तश्रवणफला, 'णाणफले त्ति-श्रुतज्ञानफलम् , श्रवणाद्धि श्रुतज्ञानमवाप्यते, 'विण्णाणफले ' त्ति—विशिष्टज्ञानफल श्रुतज्ञानादि हेयोपादेयविवेककारिविज्ञानमुत्पद्यत एव, ' पच्चक्खाणफले ' त्ति—विनिवृत्तिफलम् , विशिष्टज्ञानो हि पाप प्रत्याख्याति, 'संजमफले त्ति-कृतप्रत्याख्यानस्य हि संयमो भवत्येव, 'अणण्हयफले त्ति—अनाश्रवफल , संयमवान् किल नव कर्म-

नोपादत्ते, ' तवफले ' त्ति—अनाश्रवो हि लघुकर्मत्वात्तपस्यतीति, ' वोदाणफले ' त्ति—व्यवदानं कर्मनिर्जरणं तपसा हि पुरातनं कर्म निर्जरयति, ' अकिरियाफले ' त्ति—योगनिरोधफलं, कर्म निर्जरातो हि योगनिरोधं कुरुते, ' सिद्धिपज्जवसाणफले ' त्ति—सिद्धिलक्षणं पर्यवसानफलं—सकलफलपर्यन्तवर्त्ति फलं यस्यां सा तथा। ' गाह ' त्ति—संग्रहगाथा, एतल्लक्षणं चैतद्-" विषमाक्षरपादं वा " इत्यादि छन्दःशास्त्रप्रसिद्धमिति। भ० २ श० ५ उ०।

समणभद्द–श्रमणभद्र–पुं०। चम्पायां जितशत्रुनृपस्य पुत्रे युवराजे, उत्त० २ अ०। (दंसमसगपरि(री)सह' शब्दे चतुर्थभागे २४३६ पृष्ठे कथा।)

समणभूय–श्रमणभूत–पुं०। श्रमणः—साधुः स इव यः सः श्रमणभूतो भूतशब्दस्योपमानर्थत्वाच्छ्रमणो निर्ग्रन्थस्तद्वद्यस्तदनुष्ठानकरणात् स श्रमणभूतः। साधुकल्पे, स० ११ सम०। एकादशीमुपासकप्रतिमां प्रतिपन्ने श्रावके, प्रश्न० ५ सव० द्वार। ध०। उपा०। आ० म०।

समणमाहणपडिलाभ–श्रमणब्राह्मणप्रतिलाभ–पुं०। श्रमणेभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च प्रतिलाभने, भ० ७ श० १ उ०। (तत्फलम् ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे १३ पृष्ठे उक्तम्।)

समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति ?, गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जति। समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाण० जाव पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ। समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं अस्संजयअविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असणपाण० जाव किं कज्जइ ?, गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ। (सू० ३३२)

' समणे ' त्यादि, ' किं कज्जइ ' त्ति—किंफलं भवतीत्यर्थ, 'एगतसो' त्ति—एकान्तेन तस्य श्रमणोपासकस्य। ' नत्थि य से' त्ति—नास्ति चैतद् यत् 'से' तस्य पापं कर्म क्रियते-भवति अप्रासुकदान इवेति, ' बहुतरिय ' त्ति—पापकर्मापेक्षया, ' अप्पतराए ' त्ति—अल्पतर निर्जरापेक्षया, अयमर्थ —गुणवते पात्राय अप्रासुकादिद्रव्यदाने चारित्रकायोपष्टम्भो जीवघातो व्यवहारतस्तच्चारित्रबाधा च भवति, ततश्च—चारित्रकायोपष्टम्भान्निर्जरा जीवघातादेश्च पाप कर्म्म, तत्र च स्वहेतुसामर्थ्यात्पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पाप भवति। इह च विवेचका मन्यन्ते, असंस्तरणादिकारणत एवाप्रासुकादिदाने बहुतरा निर्जरा भवति नाकारणे, यत उक्तम्— संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गेण्हतदिंतयाण हियं। आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हिय असंथरणे ॥ १ ॥ " इति। अन्ये त्वाहुः—अकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशाद्बहुतरा निर्जरा भवत्यल्पतरं च पापं कर्म्मेति, निर्विशेषणत्वात् सूत्रस्य परिणामस्य च प्रमाणत्वात्। आह च—"परमरहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडगझरियसाराणं। परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं " ॥ १ ॥ यच्चोच्यते—'संथरणम्मि असुद्धं ' मित्यादिनाऽशुद्धं द्वयोरपि दातृगृहीत्रोरहितायेति तद्ग्राहकस्य व्यवहारतः संयमविराधनात्, दायकस्य च लुब्धकदृष्टान्तभावितत्वेनाव्युत्पन्नत्वेन वा ददतः शुभाल्पायुष्कतानिमित्तत्वात्, शुभमपि चायुरल्पमहित विवक्षया, शुभाऽल्पायुष्कतानिमित्तत्वं चाप्रासुकादिदानस्याल्पायुष्कताफलप्रतिपादकसूत्रे प्राक् चर्चितं, यत्पुनरिह तत्त्वं तत्केवलिगम्यमिति। तृतीयसूत्रे ' अस्संजयअविरये ' त्यादिनाऽगुणवान् पात्रविशेष उक्तः। ' फासुएण वा अफासुएण वा ' इत्यादिना तु प्रासुकाऽप्रासुकादेर्दानस्य पापकर्मफलता निर्जराया अभावश्चोक्तः, असंयमोपष्टम्भस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्, यश्च प्रासुकादौ जीवघाताभावेन अप्रासुकादौ च जीवघातसद्भावेन विशेषः सोऽत्र न विवक्षितः, पापकर्म्मणो निर्जराया अभावस्यैव च विवक्षितत्वादिति, सूत्रत्रयेणापि चानेन मोक्षार्थमेव यद्दानं तच्चिन्तितम्, यत्पुनरनुकम्पादानमौचित्यदानं वा तन्न चिन्तितम्, निर्जरायास्तत्रानपेक्षणीयत्वाद्, अनुकम्पौचित्ययोरेव चापेक्षणीयत्वादिति। उक्तञ्च—" मोक्खत्थ जं दाणं, तं पइ एसो विही समक्खाओ। अणुकंपादाणं पुण, जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्ध " ॥१॥ इति। भ० ८ श०६ उ०।

समणलिंग–श्रमणलिङ्ग–न०। साधुलिङ्ग, आव० ३ अ०।

समणवरगंधहत्थि–श्रमणवरगन्धहस्तिन्–न०। श्रमणगजकलभाना यूथाधिपत्यपदमुद्वहमाने, सू० १ उ० २ प्रक०।

समणविंदपरिवड्ढय–श्रमणवृन्दपरिवर्द्धक–पुं०। श्रमणा एव श्रमणकास्तेषां वृन्दस्य परिवर्द्धको—वृद्धिकारी श्रमणवृन्दपरिवर्द्धक.। श्रमणसमुदायवर्द्धके, औ०।

समणव्वय–श्रमणव्रत–न०। साधुव्रते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

समणसंघ–श्रमणसंघ–पुं०। साधुसंघे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

समणसिज्जा–श्रमणशय्या–स्त्री०।साधुवसतौ,ध० २ अधि०।

समणसीह–श्रमणसिंह–पुं०। मुनिपुंगवे,प्रश्न०५ संव० द्वार।

समणी–श्रमणी–स्त्री०। व्रतिन्याम् ,प्रव० १ द्वार। नि०चू०। आर्यिकाया संयत्याम्, जी० १ प्रति०। " ईदूतोर्ह्रस्वः " ॥ ८। ३। ४२ ॥ आमन्त्रणे सौपरेऽनन्त्यकारस्य ह्रस्व। हे समणि ॥ प्रा० ३ पाद।

समणुजाणणा–समनुज्ञापना–स्त्री०। अनुमोदने,पा०। "समणुजाणेमाणा ' आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

समणुण्ण–समनोज्ञ–त्रि०। एकसामाचारीप्रतिबद्धे, औ०। आचा०। व्य०। साम्भोगिके नि० चू० ५ उ०। आचा०। बृ०। चारित्रवति संविग्ने, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०। अनुमोदिते, पा०। आचा०।

स्वमनोज्ञ--पुं० । स्वमनोज्ञमात्मविशेषशब्दादिविषय तत्साधनवस्तुनि ।

समनुज्ञ--पुं० । सविज्ञविहारिभाविने, आचा०१ श्रु० ८ अ० १ उ० । स्था० ।

समणुण्णया--समनुज्ञता--स्त्री०।परस्परोपसंपदि,व्य० ४ उ० ।

समणुण्णा--समनुज्ञा--स्त्री० । समिति संगता औत्सर्गिकगुणयुक्तत्वेनोचिता आचार्यादितया अनुज्ञा समनुज्ञा । आचार्यादित्वेन समनुज्ञापने, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

तिविधा समणुन्ना पन्नत्ता, तं जहा-आयरियत्ताते, उवज्झायत्ताते, गणित्ताते । (सू० १७४ +)

' अणुन्न ' त्ति-अनुज्ञानमनुज्ञा-अधिकारदानम् ,आचर्यते-मर्यादावृत्तितया सेव्यत इत्याचार्यः , आचारे वा पञ्चप्रकारे साधुरित्याचार्यः, आह च--"पंचविहं आयारं, आयसमाणा तहा पयासंता । आयारं दंसेन्ता, आयरिया तेण वुच्चंति ॥ १ ॥" तथा "सुत्तत्थविऊ लक्खण-जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य । गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थ वाएइ आयरिओ ॥ २ ॥ " तद्भावस्तत्ता तया, उत्तरत्र गणाचार्यग्रहणादनुयोगाचार्यतयेत्यर्थः, तथा उपेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः, आह च-' सम्मत्तनाणदंसण-जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू । आयरियठाणजोगो, सुत्तं वाएइ उवज्झाओ ॥१॥" इति । तद्भाव उपाध्यायता तया, 'तथा गण'--साधुसमुदायो यस्यास्ति स्वस्वामिसम्बन्धेनासौ गणी--गणाचार्यस्तद्भावस्तत्ता तया, गणनायकतयेति भाव इति, तथा समिति--सङ्गता औत्सर्गिकगुणयुक्तत्वेनोचिता आचार्यादितया अनुज्ञा समनुज्ञा, तथाहि--अनुयोगाचार्यस्यौत्सर्गिकगुणाः-" तम्हा वयसपन्ना' कालोचियगहियसयलसुत्तत्था । अणुजोगाणुन्नाए, जोगा भणिया जिणिंदेहिं ॥१॥ इह पर (रहा) मोसावाओ, पवयणखिंसा य होइ लोयम्मि । सेसाण वि गुणहाणी, तित्थुच्छेओ य भावेणं ॥ २ ॥ " इति, गणाचार्योऽप्यौत्सर्गिक एवम्-"सुत्तत्थे निम्माओ, पियदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो । जाईकुलसंपन्नो, गभीरो लद्धिमतो य ॥ १ ॥ संगहुवग्गहनिरओ, कयकरणो पवयणाणुरागी य ॥ एवंविहो उ भणिओ , गणसामी जिणवरिंदेहिं ॥२॥ " अथैवंविधगुणाभावे अनुज्ञाया अभ्यभावात् कथमन्या समनुज्ञा भविष्यतीति ?, अत्रोच्यते--उक्तगुणानां मध्यात् अन्यतमगुणाभावेऽपि कारणविशेषात् सम्भवत्येवासौ, कथमन्यथा विधीयते--"जे या वि मंदि त्ति गुरु विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा । हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करेंति आसायण ते गुरूण ॥१॥ " इति । अतः केषाञ्चित् गुणानामभावेऽप्यनुज्ञा , समग्रगुणभावे तु समनुज्ञेति स्थितम् । अथवा--स्वस्य मनोज्ञा --समानसामाचारीकतया अभिरुचिता स्वमनोज्ञा सह वा मनोज्ञैर्ज्ञानादिभिरिति समनोज्ञाः--एकसाम्भोगिका साधव , कथ त्रिविधा इत्याह--'आचार्यतये' त्यादि भिक्षुक्षुल्लकादिभेदा सन्तोऽपि न विवक्षिता , त्रिस्थानकाधिकारादिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । मनोज्ञाऽऽहारतया लम्पटे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

समणुबद्ध--समनुबद्ध--न०। अनवच्छिन्ने, ओघ०। प्रश्न० । रा०।

समणुबद्धवेरि--समनुबद्धवैरिन्--त्रि० । अव्यवच्छिन्नवैरिभावे, भ० १३ श० ६ उ० ।

समणुमणिय-समनुमान्य--अव्य०।संभाष्येत्यर्थे, नि० चू०१उ०।

समणुवासणा--समनुवासना--स्त्री० । विधाने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सम्यग्विधाने, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

समणुसट्ठ--समनुसृष्ट--त्रि०। दत्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

समणुसुविहिय--समनुसुविहित--त्रि० । शोभनं विहितमनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः, श्रमणाश्च ते सुविहिताश्च श्रमणसुविहिताः । श्रमणशब्देन सह विशेषणसमासः । शोभनानुष्ठानवत्सु साधुषु, व्य० १ उ०। दशा० ।

समणोवासग--श्रमणोपासक--पुं० । श्रमणानुपास्ते सेवत इति श्रमणोपासकः । दशा० १ अ० । देशविरतेन सह यः श्रमणोपासनमहिम्ना प्रतिदिनप्रवर्द्धमानसंवेगो यावज्जीवं सूक्ष्मबादरादिभेदपरिज्ञानवान् भवति । भ० ८ श०५ उ०। सूत्र०। आव० । श्रा० । स्था० । श्रावके, स्था० ।

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा--रायणिए समणोवासए महाकम्मे तहेव ४ । (सू० ३२०)

श्रमणोपासकश्रमणोपासिकासूत्राणि ' चत्तारि गम ' त्ति-त्रिष्वपि सूत्रेषु चत्वार आलापका भवन्तीति । स्था० ४ ठा० ३ उ । (शेषपदानां व्याख्या स्वस्वशब्दे ।)

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा--अम्मापिइसमाणे भाइसमाणे मित्तसमाणे सवत्तिसमाणे । (सू० ३२१)

'अम्मापिइसमाणे' त्ति-मातापितृसमानः, उपचारं विना साधुषु एकान्तेनैव वत्सलत्वात्, भ्रातृसमानः अल्पतरप्रेमत्वात्तत्त्वविचारादौ निष्ठुरवचनादप्रीतेः तथाविधप्रयोजने त्वत्यन्तवत्सलत्वाच्चेति मित्रसमानः सोपचारवचनादिना प्रीतिक्षतेः, तत्क्षतौ चापद्युपेक्षकत्वादिति समान'--साधारणः पतिरस्याः सा सपत्नी, यथा सा सपत्न्या ईर्ष्यावशादपराधान् वीक्षते एवं यः साधुषु दूषणदर्शनतत्परोऽनुपकारी च स सपत्नीसमानोऽभिधीयत इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता,तं जहा--अद्दागसमाणे पडागसमाणे खाणुसमाणे खरकंटकसमाणे । (सू०३२१×)

'अद्दाग'त्ति--आदर्शसमानो यो हि साधुभिः प्रज्ञाप्यमानानुत्सर्गापवादादीनागमिकान् भावान् यथावत्प्रतिपद्यते सन्निहितार्थानादर्शकवत् स आदर्शसमानः, यस्यानवस्थितो बोधो विचित्रदेशना वायुना सर्वतोऽपह्रियमाणत्वात् पताकेव स पताकासमान इति, यस्तु कुतोऽपि कदापनाकेव स पताकासमान इति, यस्तु कुतोऽपि ... स्थाणुसमान इति, यस्तु प्रज्ञाप्यमानो न केवल स्वाग्रहान्न चलति अपि तु प्रज्ञापक दुर्वचनकण्टकैर्विध्यति स खरकण्टकसमान, खरा--निरन्तरा निष्ठुरा वा कण्टा --कण्टका यस्मिस्तत् खरकण्टं ब-

च्चूलादिडालं खरणमिति लोके यदुच्यते तच्च विलग्नं चीवरं न केवलमविनाशितं न मुञ्चति अपि तु तन्निमोचकं पुरुषादिकं हस्तादिषु कण्टकैर्विध्यतीति। अथवा—खरण्टयति—लेपवन्तं करोतीति यत्तत्खरण्टम्-अशुच्यादि तत्समानो यो हि कुबोधापनयनप्रवृत्तं सलग्नमात्रादेव दूषणवन्तं करोति,कुबोधकुशीलता दुष्प्रसिद्धिजनकत्वेनोत्सूत्रप्ररूपकोऽयमित्यसद्दूषणोद्भावकत्वेन चेति। स्था० ४ ठा० ३ उ०। प्रति०। ध०।

कहं णं भंते! समणोवासगा आराहियपक्खा भविस्संति। जंबू! चउव्विहा समणोवासगा वुह्या-रायसमाणा पियसमाणा मायसमाणा सवत्तिसमाणा। जे रायसमाणा भविस्संति ते साहूणं साहुणीणं उवद्दवे आयवलेणं धणवलेणं कुंडुंबलेणं णिवारणा भविस्संति, तंसिमवि साहुसाहुणीणं असमंजसायारे दट्ठूणं एगंते हक्कारिऊण महुराए भासाए कहिस्संति। भो भो महाणुभागा! सिरिसुहम्मं सामिं अपट्टपरंपरेणं अमुगे अमुगे एयारिसे छत्तीसगुणगणधारए पावभीरू आयरिए जाए। तेहिं एअस्स गणस्स ठवणा किं अम्हगणमज्झे वि एरिसे गुणसंपन्नो आयरिए उवज्झाए जाए तेहिं णियपदे तुमं पि आरोविया कहं एरिसपमायधरा जाया। सारणवारणचोयणाए कहमकुसला भवह, तुम्हेहिं पमायं वहंतेहिं अम्हाणं का गई भविस्सइ। तुम्हा णं जं किंचि वि लोयज्जइ तं अम्हाणं थेरे वहु अत्थि। असणपाणखाइमवत्थपडिग्गहं कंवलपायपुच्छणओसहभेज्जेणं। पीढफलगसिज्जासंथारएहिं अम्हे णियरिद्धिमणुदएणं पडिलाभिस्सामो पुण तुम्हारिमेहिं महाणुभागेहिं पमाओ ण कायव्वो। तहावि ते ण पडिवुज्झंति तओ महाणुभागा सावया णो णियगणस्स सामायारिं चइस्संति। अक्खए वराडए पमुहे दसविहे पुव्वायरियाणं भागाणं ठवणा काऊण आवस्सए करिस्संति, परपासंडीणं परगणस्स समायारिलोवगाणं किरियाए फडाडोयं दट्ठूण णो णियगणस्स समाचारीए चइस्संति। ते महाणुभागा समणोवामगा हविस्संति। भरहवासे थोवा चेव रायसमाणा मन्नत्थ उचियकरणसीला गुणाणुरागिणो अगुणे ममज्झत्थभाविणो दीहदंसिणो सगणे परगणे वा साहुदिट्ठीए दट्ठूण वहुआनंदपूरिया समुस्ससियरोमकूवा हरिसवसविसप्पमाणहियया अभिगमणवंदणनमंसणणं पडिपुच्छणं पज्जुवासणाए पज्जुवासिस्संति, पर णो णियगणसामायारीए लेममवि चइस्संति ते महारायतुल्ला। जहा राया णियरज्जविरित्तिं ण चइति तहा ते समणोवासगा पुव्वायरियाणं गुणं संभरंता एगंतओ आराहगा सत्तट्ठभवग्गहाइं नाइक्कमिस्संति। मायपियसमाणा वि एरिसा चेव परं- विसेसो- जे मायापियसमाणा ते गणवासियाणं आयरियाणं पासित्ता णिच्चसो अक्कोसिस्संति, पुत्तमिव असणपाणाइविहीए पोसणमवि करिस्संति परं णो णियकुलक्कमाऽऽगयं लंघिस्संति ते आराहिया णो विराहिया। अङ्ग०।

(श्रमणोपासकनिर्जरा 'महाणिज्जरा' शब्दे पञ्चभागे १८८ पृष्ठे व्याख्याता।) श्रमणोपासका आनन्दादयः उपासकदशाभिहिता इति। स्था० ४ ठा० ३ उ०। दानाधिकारे तु श्रूयते द्विविधाः श्रमणोपासकाः-संविग्नभाविताः, लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्चेति। यथोक्तम्-'संविग्गभावियाणं, लुद्धयदिट्ठंतभावियाए च। मुत्तूण खेत्तकाले, भावं च कहिंति सुद्धुञ्छं" ॥१॥ इति। स्था० ३ ठा० १ उ०। (कृतसामायिकस्य श्रमणोपासकस्य प्रत्याख्यानभङ्गाः 'सामाइयकड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यन्ते।)

समणोवासगधम्म-श्रमणोपासकधर्म-पुं०। श्रमणानुपासते सेवन्त इति श्रमणोपासकास्ते च श्रमणोपासनतोऽभिगतजीवाजीवस्वभावास्तथोपलब्धपुण्यपापास्तेषां धर्मः। श्रावकधर्मे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

समणोवासगपडिमा-श्रमणोपासकप्रतिमा-स्त्री०। श्रावकाभिग्रहविशेषेषु, पञ्चा०।

अथ कियत्य किमादिकाश्च ता इत्यस्यामाशङ्कायामाह—

समणोवासगपडिमा, एक्कारस जिणवरेहिँ पण्णत्ता।
दंसणपडिमादीया, सुयकेवलिणा जतो भणियं ॥ २ ॥

व्याख्या—श्रमणोपासकप्रतिमाः श्रावकाभिग्रहविशेषाः। एकादश संख्यया जिनवरैरर्हद्भिः—प्रज्ञप्ता—उक्ताः दर्शनप्रतिमादिका:-सम्यक्त्वाभिग्रहप्रभृतिकाः। एतदेव भद्रबाहुस्वामिवचनेन समर्थयन्निदमाह—श्रुतकेवलिना—परिपूर्णश्रुतधरेण भद्रबाहुस्वामिनेत्यर्थः। यतो—यस्माद्भणितमुक्तम्, इति गाथार्थः ॥२॥ पञ्चा०१०विव०। (ताश्च स्वरूपत 'उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीयभागे १०९६ पृष्ठे उक्ताः।)

समणोवासिया-श्रमणोपासिका-स्त्री०। श्राविकायाम्,स्था०।

चत्तारि समणोवासियाओ पण्णत्ताओ,तं जहा-रयणिया समणोवासिया महाकम्मा तहेव चत्तारि गमा। (सू० ३२० X) स्था० ४ ठा० ३ उ०।

समण्णागय-समन्वागत-पुं०। आसाना संयुक्ते,ग०१ अधि०। रत्ना०। नि० चू०। समनुप्राप्ते, रा०।

समण्णाहार-समन्वाहार-पुं०। समागमने. स्था०४ ठा० २ उ०।

समण्णिय-समन्वित-त्रि०। सहिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। संयुक्ते पो० १४ विव०। आव०। सूत्र०।

समतल-समतल-न०। अविषमे प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। अविषमासने, (पादादौ) याने, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

समतलपइया-समतलपादिका-स्त्री०। समतले इत्यादि भुवि विन्यस्ताव्यावपि पादौ यस्या सा समतलपादिका। अन्यत्रापि पादाभ्यां भुवि लग्नाभ्याम्, आ० १ श्रु० १ अ०।

समता–समता–स्त्री०। इष्टानिष्टेषु वस्तुषु विवेकेन तत्त्वधियाम्, प० व० १ द्वार। द्वा०।

व्यवहारकुदृष्टयोच्चै–रिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
कल्पितेषु, विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते ॥ २२ ॥

व्यवहारकुदृष्टया अनादिमत्या वितथगोचरया कुव्यवहारवासनयाऽविद्याप्रराभिधानया उच्चैरतीव कल्पितेषु इष्टानिष्टेषु इन्द्रियमनःप्रमोददायिषु तदितरेषु च वस्तुषु शब्दादिषु विवेकेन तानेवार्थान् क्षिपतस्तानेवार्थान प्रलीयमानस्य निश्चयतो नानिष्ट न विद्यते किंचिदिष्टं वेत्यादि निश्चयालोचनेन तत्त्वधीरिष्टानिष्टत्वपरिहारेण तुल्यतार्धीरूपेक्षालक्षणा समतोच्यते। यदुक्तम्–"अविद्याकल्पितपूर्वे–रिष्टानिष्टेषु वस्तुषु। संज्ञानात्सद्व्युदासेन, समता समतोच्यते ॥१॥" द्वा० १८ द्वा०।

समताल–समताल–त्रि०। समशब्दः प्रत्येक संबध्यते तेन समास्ताला–हस्तताला उपचारात्तद्धोऽस्मिंस्तत्समतालम्। तालैः समे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। गीतादिमानकलितानां समोऽन्यूनाधिकमात्रकत्वेन यस्माद् ज्ञायते तत्समतालविज्ञानम्। कलाभेदे, ज० २ वक्ष०। स०।

समतिणमणिलेट्ठुकंचण –समतृणमणिलेष्टुकाञ्चन–त्रि०। समानि तुल्यानि तृणमणिलेष्टुकाञ्चनानि यस्य स तथा। निःस्पृहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

समतिपवित्ति–स्वमतिप्रवृत्ति–स्त्री०। आत्मबुद्धिपूर्विकायां चेष्टायाम्, पञ्चा० ७ विव०।

समतीरा–समतीरा–स्त्री०। समं–गर्त्ताभावात् अविषमं तीरं–तीरजलापूरितं स्थानं यासां ताः समतीरा.। अविषमतटासु नद्यादिषु, रा०। जी०।

समत्त–समस्त-त्रि०। "स्तस्यथोऽसमस्त–स्तम्बे' ॥८।२।४५॥ अत्रासमस्तग्रहणात् समस्तशब्दस्य न स्तस्य थकार. स्यात्। समत्तो। सम्पूर्णे, प्रा०। आ० म०। उत्त०। प्रव०। प्रश्न०। संथा०। विशे०।

समाप्त–त्रि०। सम्यक् प्रकारेण सपूर्णमधीतम्। पूर्णतां नीते, उत्त० २६ अ०। ध०। ज्ञा०। सूत्र०। संथा०।

समत्तकप्प–समाप्तकल्प–पुं०। व्यवस्थाभेदे, ध० ३ अधि०। साधुपञ्चकविहारे, प० व० ४ द्वार।

समत्तकप्पिय-समाप्तकल्पित-त्रि०। पृथक्कल्पापेते, व्य०४उ०।

समत्तगणिपिडगब्भत्थसार–समस्तगणिपिटकाभ्यस्तसार–पुं०। परिपूर्णद्वादशाङ्गज्ञानतत्त्वे, जी० १ प्रति०।

समत्तगोल–समस्तगोल–पुं०। सपूर्णगोले, भ० ११ श० ११ उ०।

समत्तदंसि(ण्)–सम्यक्त्वदर्शिन्–त्रि०। रागद्वेषरहिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

समत्तपइण्ण–समाप्तप्रतिज्ञ–त्रि०। समाप्ताभिग्रहे, भ० १५ श०।

समत्थ–समर्थ–पुं०। शक्ते, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। ज०। रा०। स्या०। स्था०। भ०। विशे०।

समत्थणा–समर्थना–स्त्री०। विधौ, विशे०।

समत्थिय–समर्थित–त्रि०। उपपादिते, प्रति०।

समदंसि–समदर्शिन्–त्रि०। समानदृष्टौ, "विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १ ॥" सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

समपत्थर–समप्रस्तर–पुं०। समपाषाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

समपद–समपद–न०। द्वयोरपि पादयोः समत्वेन नैरन्तर्येण स्थापने योधस्थानभेदे, द्वावपि पादौ समौ नैरन्तर्येण स्थापयति। उत्त० ४ अ०।

समपदुक्खेव–समप्र(तिपे)त्युत्क्षेप–न०। समः प्रत्युत्क्षेपः प्रतिक्षेपो वा मुरजकंसतालाद्याताघानां यो ध्वनिस्तल्लक्षणो नृत्यपादक्षेपलक्षणो वा यस्मिंस्तत्समप्रत्युत्क्षेपं समप्रतिक्षेपञ्चेति। गेयभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

समपाद–समपाद–न०। युद्धस्थानभेदे, "समपादट्ठितो जुज्झत्ति तं समपाद। अण्णे भणति ज एतेसिं चेव ठाणाणं जहासंभवं चलिय ठितो पासतो पिट्ठतो वा जुज्झति। नि० चू० १ उ०।

समपायपुया–समपादपुता–स्त्री। यस्यां पादौ पुतौ च समतः सा समपादपुता। स्था० ५ ठा० १ उ०। समौ समतया भूलग्नौ पादौ च पुतौ च यस्यां सा। निषद्याभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

समपासि–समदर्शिन्–पुं०। समम्–अविपरीत पश्यतीत्येवंशीले, ग० १ अधि०।

समप्पभ–समप्रभ–त्रि०। समा–सदृशी प्रभा दीप्तिर्यत्र तत्तथा। सनत्कुमारदेवलोके स्वनामख्याते विमाने, स० ७ सम०। प्रश्न०।

समप्पिय–समर्पित–त्रि०। ढौकिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

समभंग–समभङ्ग–त्रि०। समो–दन्तुरो भङ्गश्छेदो यस्य भवति तत्समभङ्गम्। अदन्तुरच्छेदे पत्रादौ, प्रव० ४ द्वार।

समभरघडता–समभरघटता–स्त्री०। समो न विषमो घटैकदेशमनाश्रितत्वेन भरो–जलसमुदायो यत्र स समभर.। सर्वथा भृतो वा समभर.। समशब्दस्य सर्वशब्दार्थत्वात्,समभरश्चासौ घटश्चेति समास'। समभरघट इव समभरघटस्तद्भावस्तत्ता। सर्वथा भृतघटाकारतायाम्, भ० १ श० ६ उ०। जी०।

समभाव–समभाव–पुं०। रागादिविहितवैषम्यविरहितपरिणामे, पञ्चा० ५ विव०। मध्यस्थाध्यवसाये, पञ्चा० ११ विव०। रागद्वेषमध्यवर्तिनि, आव० ५ अ०।

समभिआवन्न -समभ्यापन्न–त्रि०। अभिमुख समापन्ने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

समभिएणाण–समभिज्ञान–न०। सम्यगाभिमुख्येन परिच्छेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। गुरुसाक्षिगृहीनप्रतिज्ञानिर्वाहे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

समभिभूय-समभिभूत--त्रि० । परिभूते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।
समभिरूढ-समभिरूढ-पुं० । वाचकं वाचकं प्रति वाच्यभेदं समभिरोहयत्याश्रयति यः स समभिरूढः । स्था०३ ठा०३ उ०। पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहयन् समभिरूढः । स्था० । पर्यायशब्दानां प्रविभक्तार्थाभिमन्तरि नयभेदे, स्या० । विशे० ।

अथ समभिरूढनयमाह—

जं जं सणं भासइ, तं तं चिय समभिरोहए जम्हा ।
सणंतरत्थविमुहो, तओ तओ समभिरूढो त्ति ॥२२३६॥

यां यां संज्ञां घटादिलक्षणां भाषते—वदति तां तामेव यस्मात् संज्ञान्तरार्थविमुखः कुटकुम्भादिशब्दवाच्यार्थनिरपेक्षः समभिरोहति समध्यास्ते तत्तद्वाच्यार्थविषयत्वेन प्रमाणीकरोति , ततस्तस्माद् नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढो नय. । यो घटशब्दवाच्योऽर्थस्तं कुटकुम्भादिपर्यायशब्दवाच्यं नेच्छत्यसावित्यर्थ' इति ।

यदुक्तं निर्युक्तिकृता 'वत्थुओ संकमणं,होइ अवत्थु-नए समभिरूढे ' इति, तद्व्याख्यानार्थमाह—

दव्वं पज्जाओ वा, वत्थं वयणंतराभिधेयं जं ।
न तदन्नवत्थुभावं, संकमए संकरो मा भू ॥ २२३७ ॥
न हि सद्दंतरवच्चं, वत्थुं सद्दंतरत्थतामेइ ।
संसयविवज्जएग-त्तसंकराइप्पसंगाओ ॥ २२३८ ॥

द्रव्यं-कुटादि, पर्यायस्तु तद्गतो वर्णादिस्तल्लक्षण प्रस्तुतघटादिवचनाद् यत्-कुटादि वचनान्तर तदभिधेय यद् वस्तु न तदन्यवस्तुभाव घटादिशब्दाभिधेयवस्तुभाव संक्रामति । कुतः ? , इत्याह—वस्तुनो वस्त्वन्तरसंक्रमे मा भूत् संकरादिदोष इति । एतदेव भावयति—नहि शब्दान्तरवाच्य वस्तु शब्दान्तरवाच्यार्थरूपतामेति । एव हि घटादौ पटाद्यर्थसक्रमे किमयं घट. पटादिर्वा ? इति संशय स्यात्; विपर्ययो वा भवेत् , घटादावपि पटादिनिश्चयात् , पटादौ वा घटाद्यध्यवसायादेकत्व वा घट-पटाद्यर्थाना प्राप्नुयात् , मेचकमणिवत् सकीर्णरूपता वा घटपटाद्यर्थाना भवेदिति । इयमत्र भावना—घट. कुट कुम्भ इत्यादिशब्दात् पटस्तम्भादिशब्दादिव भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाद् भिन्नार्थगोचराणेव समभिरूढनयो मन्यते , तथाहि—घटनाद् घट इति विशिष्टचेष्टावानर्थो घट इति गम्यते, तथा 'कुट ' कौटिल्ये, कुटनात् कौटिल्ययोगात् कुट , तथा 'उभ' 'उम्भ' पूरणे, कुम्भनात् कुत्सितपूरणात् कुम्भ इति भिन्ना. सर्वेऽपि घट—कुटाद्यर्था. । ततश्च यदा घटाद्यर्थे कुटादिशब्द. प्रयुज्यते तदा वस्तुन. कुटादेस्तत्र संक्रान्ति. कृता भवति, तथा च सति यथोक्तसंशयादिदोष इति ।

ततो घटकुटाद्यर्थाना भेदसाधनायैव प्रमाणयन्नाह-

घडकुडसद्दत्थाणं, जुत्तो भेओऽभिहाण भेआओ ।
घडपडसद्दत्थाण व, तओ न पज्जायवयणं ति ।२२३६।

घटकुटकुम्भादिशब्दवाच्यानामर्थाना भेद एव परस्परं युक्त इति प्रतिज्ञा । अभिधानभेदाद्—वाचकध्वनिभेदादिति हेतुः । घटपटस्तम्भादिशब्दवाच्यानामिवार्थानामिति दृष्टान्तः । नत एतदभिप्रायेण घटादेः कुटकुम्भकलशादिक पर्यायवचनं नास्त्येव, एकस्मिन्नर्थेऽनेकशब्दप्रवृत्त्यनभ्युपगमादिति ।

अतिक्रान्तशब्दनयशिक्षणार्थमाह—

धणिभेयाओ भेओ, ऽणुमओ जइ लिंग वयणभिन्नाणं ।
घडपडवचाणं पिव,घटकुडवचाण किमणिट्ठो ॥२२४०॥

हन्त ! यदि लिङ्गवचनभिन्नानां घटपटस्तम्भादिशब्दवाच्यानामिवार्थाना ध्वनिभेदाद् भेदस्तवानुमतः, तर्हि घटकुटकुम्भकलशादिशब्दवाच्यानामर्थानां किमिति भेदो नेष्टः, ध्वनिभेदस्यात्रापि समानत्वात् । तस्मादस्मत्पथवर्तित्वं भवतोऽपि बलादापतितमिति ।

वसतिप्रस्थकादिविचारेऽप्यस्य पूर्वनयेभ्यो भेद
इति दर्शयन्नाह—

आगासे वसइ त्ति य, भणिए भणइ किह अन्नमन्नम्मि ।
सोऽणुणायसहावं, वसेज्ज वत्थुं विहम्मम्मि ? । २२४१ ।
वत्थं वसइ सहावे, सत्ताओ चेयणा व जीवम्मि ।
न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने छायातवे चेव ।२२४२।

' क्वाऽसौ साध्वादिर्वसति ? ' इति पृष्टे ' लोकग्रामवसत्यादौ वसति' इति नैगमादिनयवादिनो वदन्ति । ऋजुसूत्रनयवादी तु वदति—' यत्रावगाढस्तत्राकाशखण्डे वसति ' । ततश्च ऋजुसूत्रेणैवं भणिते भणति समभिरूढः—नन्वात्मस्वभाव मुक्त्वा कथमन्यद् वस्त्वन्यस्मिन् विधर्मक आत्मविलक्षणे वस्तुनि वसेत् ? न कथञ्चिदित्यर्थ. । तर्हि क्व वसति ? इत्याह—सर्वमेव वस्त्वात्मस्वभाव वसति , सत्त्वात् , जीवे चेतनावत् । भिन्ने त्वात्मविलक्षणस्वरूपे वस्तुन्यन्यद् न वसति, यथा छायाऽऽतप इति । एष त्रयाणामपि शब्दनयानामभिप्राय इति ।

अथ प्रस्थकविचारमधिकृत्याह-

माणं पमाणमिट्ठं, नाणसहावो स जीवओऽणन्नो ।
कह पत्थयाइभावं, वएज्ज मुत्ताइरूवं सो ॥२२४३॥
नहि पत्थाइ पमाणं, घडो व्व मुत्ति चेयणाइ विरहाओ ।
केवलमिव तन्नाणं,पमाणमिट्ठं परिच्छेआ ।२२४४॥

इह यद् मानं तत् प्रमाणमेवेष्टम् , प्रमीयते-परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कृत्वा । प्रमाण च परिच्छेदात्मक जीवस्वभाव एव, स च जीवादनन्य, अत कथ मूर्तादिस्वभावम् , आदिशब्दाद्चेतनस्वभावं प्रस्थकादिस्वभाव व्रजेदसौ , येन नैगमादय काष्ठमय प्रस्थादिकमानामिच्छन्ति ? । नहि शब्दनयाना कि प्रस्थकादि प्रमाणम् किं वा न प्रमाणम् ? , इत्याह—नहि-नैव काष्ठघटित प्रस्थादिक प्रमाणम् . चेतनादिरहितत्वात् घटपटलोष्टादिवत् किंतु-तस्य प्रस्थकस्य ज्ञान तज्ज्ञान तदुपयोगस्तत्परिच्छेद प्रमाणं मानमिष्टम् .नैव तत्त्वत प्रमीयमाणत्वात् । परिच्छेद्या ' इति पाठान्तर वा, तेनैव परिच्छेदात् . केवलज्ञानवत् । तस्मात् प्रस्थकज्ञानमेव प्रस्थक इति स्थितम् ।

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

पत्थादओ वि तक्का-रणं ति माणं मई न तं तेसु ।
जमसंतेसु वि बुद्धी,कामइ संतेसु वि न बुद्धी ॥२२४५॥
तक्कारणं ति वा जइ, पमाणसिद्धं तओ पमेयं पि ।
सव्वं पमाणमेवं, किमप्पमाणं पमाणं वा ॥२२४६॥

प्रस्थादयोऽपि मानमिति प्रतिज्ञा, तत्कारणत्वात्—प्रस्थकज्ञानकारणत्वात्, यथा 'नड्वलं पादरोग' इत्येवंभूता परस्य मति स्यात्। तदेतद् न,यतस्तेषु प्रस्थकादिष्वसत्स्वपि कस्यापि धान्यराश्यवलोकनमात्रेणापि कलनशक्तिसम्पन्नस्य अतिशयज्ञानिनो वा प्रस्थकपरिच्छेदबुद्धिरुपजायते । कस्यापि पुनर्नालिकेरद्वीपाद्यायातस्य सत्स्वपि तेषु प्रस्थकपरिच्छेदबुद्धिर्न सम्पद्यते, इत्यनैकान्तिका एव काष्ठमयप्रस्थकादयः प्रस्थकज्ञानजनने, इति कथं तत्कारणत्वात् ते प्रस्थकादिमानरूपा भवेयुः ?, यदि वा-भवन्तु ते तत्कारणम् ,तथापि न तत्कारणत्वेन तेषां प्रस्थादिमानरूपता, अतिप्रसङ्गादिति दर्शयति-'तक्कारणं ति वे' त्यादि, यदि प्रस्थकज्ञानकारणतामात्रेणापि ते काष्ठमयप्रस्थकादयः प्रमाणमिष्टाः, तर्हि प्रमेयमपि प्रमाणं प्राप्नोति, प्रमाणज्ञानकारणत्वात् । एवं च सति दधिभक्षणादीनामपि परम्परया तत्कारणत्वेन प्रमाणत्वात् किं नामाप्रमाणं स्यात् ?। यदि च सत्यपि तत्कारणत्वेऽन्यत् सर्वं दधिभक्षणादिकं न प्रमाणम्, तर्हि काष्ठमयप्रस्थकादयोऽपि न प्रमाणम्, अतः किं नाम प्रमाणं भवेत् ?-न किञ्चित् । ततो विशीर्णा प्रमाणाप्रमाणव्यवस्था । तस्मात् प्रस्थकज्ञानमेव प्रस्थकप्रमाणं त्रयाणामपि शब्दनयानामिति ।

तथा—पञ्चानां—धर्माऽधर्माऽऽकाशजीवपुद्गलास्तिकायानां देशप्रदेशकल्पनायामस्य षष्ठीसमासादि नेष्टम्। किं तर्हि ? देशी चासौ देशश्चेत्यादि कर्मधारयमेव मन्यतेऽसौ नयः कुतः ? इत्याह—

देसी चेव य देसो, नो वत्थुं वा न वत्थुणो भिन्नो।
भिन्नो व न तस्स तओ,तस्स व जइ तो न सो भिन्नो२२४७
एत्तो चेव समाणा-हिगरणया जुज्जए पयाणं पि ।
नीलुप्पलाइयाणं, न रायपुरिसाइसंसग्गो ॥२२४८॥

धर्मास्तिकायादिको देश एव हि देशो न पुनस्तस्माद् घटादिवारघट्टोऽत्यन्तभिन्नः स्वतन्त्रवस्तुदेशः । अथ न स्वतन्त्रवस्तुदेशः, किन्तु तत्सम्बन्धित्वादस्वतन्त्रोऽपि देशितो भिन्नो देश इति चेत्। तदप्ययुक्तम्। कुतः ? इत्याह—न वा देशिलक्षणाद् वस्तुनो भिन्नोऽसौ देशः । अथ भिन्नस्तस्मादिष्यते सः, तर्ह्यन्यस्यान्यत्र विन्ध्यहिमवदादीनामिव सर्वथा सम्बन्धायोगाद् न तस्य देशिनस्तकोऽसौ देशः। यदि पुनस्तस्य देशिनः सम्बन्धी देशोऽभ्युपगम्यते तर्हि घटादि स्वस्वरूपवद् न स देशस्तस्माद् देशिनो भिन्नः किन्तु तदात्मक एवेति। अत एव विशेषणविशेष्यभूतानां सर्वेषां पदानां समानाधिकरणता—कर्मधारय एव समासो युज्यत इत्यर्थः यथा नीलोत्पलादीनाम्, उपलक्षणं चैतत्—धवखदिरपलाशादीनां द्वन्द्वोऽपि स्यात्, न तु राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इति षष्ठ्यादिसमासः, यतो भिन्नानामन्योन्यं संसर्गः संबन्धो न घटते, तथाहि—सबद्धवस्तुद्वयात् संबन्धो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा ?। यदि भिन्न, तर्हि संबद्धवस्तुद्वयाद् भिन्नं स्वतन्त्रं तृतीयमेव वस्तु तत् स्याद् न तु संबन्ध इति कथं तद्वशात् षष्ठ्यादिविभक्तिः ?। नहि विन्ध्यहिमवदादिभ्यो भिन्नो घटादिः संबन्धो भण्यते । नापि तद्वशात् तेषां षष्ठ्यादिविभक्तिः प्रवर्तते। अथ सबद्धवस्तुद्वयादभिन्नः सबन्धः, तर्हि नासौ षष्ठ्या विहेतुः, संबद्धवस्तुद्वयाद्व्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्, इत्यादि बहुत्र वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गादिति ।

अपरमपि समभिरूढनयाभिप्रायभेदं दर्शयन्नाह—

घडकारविवक्खाए, कत्तुरणत्थंतरं जओ किरिया ।
न तदत्थंतरभूए, समवाओ तो मओ तीसे ॥२२४९॥
कुंभम्मि वत्थुपज्जा-यसंकराइप्पसंगदोसाओ ।
जो जेण जं व कुरुए, तेणाभिन्नं तयं सव्वं ॥२२५०॥

'घटं करोति' इति घटकारः इत्यस्यां विवक्षायां प्ररूपणाया यस्मात् तस्य घटकर्तुरनर्थान्तरमव्यतिरिक्ता घटकरणक्रिया, कर्तर्येव घटकारे तस्याः समवायात्। 'तो' त्ति तस्माद् न तदर्थान्तरभूते कर्तुर्व्यतिरिक्ते कुम्भे घटे तस्याः समवायः समभिरूढस्य मतः। कुतः?। वस्तुपर्यायसंकरादिदोषप्रसङ्गात्—वस्तूनां ये पर्यायाः—धर्मास्तेषां परस्परं संकरः संकीर्णत्वमेकत्वं वा स्यात्, कर्तृगतक्रियायाः कुम्भेऽपि समवायाभ्युपगमात्। ततश्च यः कुम्भकारादिर्येन क्रियाविशेषेण यत् कुम्भादिकं कुरुते तेन क्रियाविशेषेण तत्क्रियारूपतयेत्यर्थः, सर्वं तत् कर्तृकर्माद्यभिन्नं स्यात् तस्मात् कर्तृगतक्रियाया न कर्मणि संक्रमः, किन्तु कुर्वन् कारकः, कुम्भनादिभ्य एव कुम्भादय इति मन्यते समभिरूढ इति । उक्तः समभिरूढनयः। विशे०। न०। आ० चू०। आ०म०।(समभिरूढनयव्याख्या 'णय' शब्देऽपि चतुर्थभागे १८५७ पृष्ठे गता।) (एतदाभासव्याख्या 'णयाभास' शब्दे चतुर्थभागे १६०३ पृष्ठे गता।) दृष्टिवादस्य सूत्रभेदे, स०। अष्ट०। सूत्र०। अनु०। सम्म०। स्था०।

समभूमि-समभूमि-स्त्री०। अविषमक्षितितले, आव० ४ अ०।

समय-समक-न०। सममेव समकम् । सरसविरसादिष्वभिष्वङ्गादिविशेषरहिते, उत्त० १ अ०। सहार्थे, उत्त० ४ अ०। युगपदर्थे, व्य० २ उ०। एककाले, प्रज्ञा० १ पद। विशे०। जं०। ज्ञा०। सम्यगीयते परिच्छिद्यते इति समयः। सम्म० १ काण्ड। सम्यक् प्रमाणान्तराविसंवादित्वेनायनं परिच्छेदनं इति समयः। सम्म० २ काण्ड। सम्यगवैपरीत्येनायन्ते ज्ञायन्ते जीवादयोऽर्था अनेनेति समयः, सम्यगयन्ति गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन्निति समयः। स्था०। सूत्र०। आ० म०। आगमे, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ०। सूत्र०। अनु०। जिनादिसिद्धान्ते, न०। व्य०। विशे०। जैनागमे, विशे०। सिद्धान्ते, स्था०३ ठा०४ उ०। सम्म०। जी०। संथा०। स्वसमयोऽर्हन्मतानुसारिशास्त्रात्मकः, परसमयः कपिलाद्यभिप्रायानुवर्तिग्रन्थरूपः, उभयसमयस्तूभयमतानुगतशास्त्रस्वभावः, तत्रास्य स्वसमयवक्तव्यतायामवतारः, स्वसमयपदार्थानाम·

चात्र वर्णनात्, यत्रापि परोभयसमयपदार्थवर्णनं तत्रापि स्वसमयवक्तव्यतैव परोभयसमययोरपि सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतत्वेन स्वसमयत्वात्, अत एव सर्वाध्ययनानामपि स्वसमयवक्तव्यतायामेवावतारः । उत्त० १ अ० । दर्श० । आत्मीयप्रवचने, व्य० ३ उ० । सांख्यादीनां सिद्धान्ते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अवसरे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । कल्प० । रा० । ज्ञा० । विशिष्टकाले, आचा० २ श्रु० ३ चू० । सं० प्र० । निर्विभागे सर्वसूक्ष्मकालांशे, अनु० । विशे० । परमनिकृष्टे काले, आ० म० १ अ० । नं० । कालविशेषे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । स्था० । विशे० । आ० म० । तं० । अहोरात्रादिकालस्य विशिष्टे भागे, भ० १ श० १ उ० । कल्प० । विपा० । सम्म० । च० प्र० । अनु० ।

समयप्ररूपणम्—

से किं तं समए ? , समयस्स णं परूवणं करिस्सामि, से जहानामए तुन्नागदारए सिआ तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पातंके थिरग्गहत्थे दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणते तलजमलजुयलपरिघणिभवाहू चम्मेट्ठगदुहणमुट्ठिअसमाहतनिचित(य)गत्तकाए उरस्सबलसमण्णागए लंघणपवणजइणवायामसमत्थे छेए दक्खे पत्तट्ठे कुसले मेहावी निउणे निउणसिप्पोवगए एगं महतीं पडसाडियं वा पट्टसाडियं वा गहाय सयराहं हत्थमेत्तं ओसारेज्जा, तत्थ चोअए पण्णवयं एवं वयासी—तेणं कालेणं तेणं समएणं तुन्नागदारएणं तीसे पडसाडिआए वा पट्टसाडिआए वा सयराहं हत्थमेत्ते ओसारिए से समए भवइ ? , नो इणट्ठे समट्ठे , कम्हा ? , जम्हा संखेज्जाणं तंतूणं समुदयसमितिसमागमेणं एगा पडसाडिआ निप्फज्जइ, उवरिल्लम्मि तंतुम्मि अच्छिण्णे हिट्ठिल्ले तंतू न छिज्जइ , अण्णम्मि काले उवरिल्ले तन्तू छिज्जइ, अण्णम्मि काले हेट्ठिल्ले तन्तू छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ । एवं वयंतं पण्णवयं चोयए एवं वयासी-जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तीसे पडसाडिआए वा पट्टसाडिआए वा उवरिल्ले तंतू छिण्णे से समए भवइ ?, न भवइ । कम्हा ?, जम्हा संखेज्जाणं पम्हाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगे तंतू निप्फज्जइ, उवरिल्ले पम्हे अच्छिण्णे हेट्ठिल्ले पम्हे न छिज्जइ, अण्णम्मि काले उवरिल्ले पम्हे छिज्जइ, अण्णम्मि काले हेट्ठिल्ले पम्हे छिज्जइ , तम्हा से समए न भवइ । एवं वयंतं पण्णवयं चोअए एवं वयासी-जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तस्स तंतुस्स उपरिल्ले पम्हे छिण्णे से समए भवइ ?, न भवइ । कम्हा ? , जम्हा अणंताणं संघायाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगे पम्हे निप्फज्जइ, उवरिल्ले संघाए अविसंघाइए हेट्ठिल्ले संघाए न विसंघाइज्जइ, अण्णम्मि काले उवरिल्ले संघाए विसंघाइज्जइ अण्णम्मि काले हिट्ठिल्ले संघाए विसंघाइज्जइ तम्हा से समए न भवइ । एत्तो वि अणं सुहुमतराए समए पण्णत्ते समणाउसो ! । (सू० १३८×)

अथ कोऽयं समय इति पृष्टे सत्याह-समयस्य प्ररूपणां—विस्तरवर्ती व्याख्यां करिष्यामि, सूक्ष्मत्वात् संक्षेपतः कथितोऽपि नासौ सम्यक् प्रतीतिपथमवतरतीति भावः, तदेवाह—'से जहानामए' इत्यादि, स कश्चित् यथानामकोयत्प्रकारनामा देवदत्तादिनामेत्यर्थः, 'तुन्नागदारए' सूचिकइत्यर्थः, स्यात्—भवेत्, य०, किमित्याह—तरुणादिविशेषणविशिष्टः पटसाटिकां पट्टसाटिकां वा गृहीत्वा 'सयराहं' झटिति कृत्वा हस्तमात्रमपसारयेत्—पाटयेदिति सण्टङ्कः, अथवा-'स' इति पूर्ववत् 'यथे' त्युपदर्शने, 'नाम' ति सम्भावनायाम्, 'ए' इति वाक्यालङ्कारे, ततश्च स कश्चिदेव तावत्सम्भाव्यते तुण्णागदारको यस्तरुणादिविशेषणः, स्यात्—कदाचित् पटसाटिकां पट्टसाटिकां वा गृहीत्वा झटिति हस्तमात्रमपसारयेत्—पाटयेदिति तथैव सम्बन्धः, तत्र तरुणः—प्रवर्द्धमानवयाः, आह—दारकः प्रवर्द्धमानवयाः एव भवति, किं विशेषणेन ?, नैवम्, आसन्नमृत्योः प्रवर्द्धमानवयस्त्वाभावात्, तस्य चासन्नमृत्युत्वेन विशिष्टसामर्थ्यानुपपत्तेः, विशिष्टसामर्थ्यप्रतिपादनार्थश्चायमारम्भः अन्ये तु वर्णादिगुणोपचितोऽभिनवस्तरुण इति व्याचक्षते, बल-सामर्थ्यं तदस्यास्तीति बलवान्, युग-सुषमदुष्षमादिकाल सोऽदुष्टो—निरुपद्रवो विशिष्टबलहेतुर्यस्यास्त्यसौ युगवान्, कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतुरितीत्थं विशेषणम्, 'जुवाणे' त्ति-युवा-यौवनस्थः प्राप्तवया एव इत्येवम् अणति—व्यपदिशति लोको यमसौ निर्शङ्कवशात् युवान', बाल्यादिकालेऽपि दारकोऽभिधीयेत अतो विशिष्टवयोऽवस्थापरिग्रहार्थमेतद्विशेषणम्, अल्पशब्दोऽभाववचनः, अल्प आतङ्को—रोगो यस्य स तथा, निरातङ्क इत्यर्थः, स्थिर —प्रकृतपट पाटयतोऽकम्पोऽग्रहस्तो हस्ताग्रं यस्य स तथा, दृढ पाणिपादं यस्य, पार्श्वौ पृष्ठ्यन्तरे च ऊरू च परिणते-परिनिष्ठिततां गते यस्य स तथा, सर्वावयवैरुत्तमसंहनन इत्यर्थः, 'तलजमलजुयलपरिघणिभवाहू' तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमल—समश्रेणीकं यद् युगल—द्वयं परिघश्च-अर्गला तन्निभौ-तत्सदृशौ दीर्घसरलपीनत्वादिना बाहू यस्य स तथा, आगन्तुकोपकरणजं सामर्थ्यमाह—चर्मेष्टकाद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रकाय —चर्मेष्टकया द्रुघणेन मुष्टिकेन च समाहतानि प्रतिदिनमभ्यासप्रवृत्तस्य निचितानि-निबिडीकृतानि गात्राणि स्कन्धोरपृष्ठादीनि यत्र स तथाविध कायो-देहो यस्य स तथा, चर्मेष्टकादयश्च लोकप्रतीता एव, औरस्यबलसमन्वागत —आन्तरोत्साहवीर्ययुक्त , व्यायामवत्ता दर्शयति—'लङ्घनप्लवनजवनव्यायामसमर्थ —जवनशब्द शीघ्रवचन छेक —प्रयोगज्ञ. दक्ष —शीघ्रकारी प्राप्तार्थ —अधिकृते कर्मणि निष्ठां गत , प्राप्त इत्यन्ये , कुशल —आलोचितकारी मेधावी—सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञ निपुण —उपायारम्भक निपुणशिल्पो-

पगतः—सूक्ष्मशिल्पसमन्वितः एवंविधो क्षणेनैव कालेन शाटिकां पाटयतीति बहुविशेषणोपादानम् स इत्थंभूत एकां महतीं पटशाटिकां पट्टशाटिकां वा पटशाटिकाया इयं श्लक्ष्णतरेति भेदेनोपादानम् , गृहीत्वा ' सयराह ' मिति सकृत् झटिति इत्वेत्यर्थः , हस्तमात्रमपसारयेत्—पाटयेदित्यर्थः , तत्रैवं स्थिते प्रेरकः—शिष्यः प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापको—गुरुस्तमेवमवादीत् , किम् ?—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्याः पटशाटिकायाः पट्टशाटिकाया वा सकृद्धस्तमात्रमपसारितं—पाटितमसौ समयो भवति ? , प्रज्ञापक आह—नायमर्थः समर्थः—नैतदेवमित्युक्तं भवति, कस्मादिति पृष्ट उपपत्तिमाह–यस्मात् संख्येयानां तन्तूनां समुदयसमितिसमागमेनेति पूर्ववद् , एकार्था वा सर्वेऽप्यमी समुदायवाचकाः, पटशाटिका निष्पद्यते तत्र च 'उवरिल्ले' त्ति—उपरितने तन्तौ अच्छिन्ने—अविदारिते 'हेट्ठिल्ले' त्ति—आधस्त्यतन्तुर्न छिद्यते अतोऽन्यस्मिन् काले उपरितनस्तन्तुः छिद्यते अन्यस्मिन् काले आधस्त्यः , तस्मादसौ समयो न भवति—एवं वदन्त प्रज्ञापकं प्रेरक एवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्याः—पटशाटिकाया उपरितनस्तन्तुश्छिन्नः स समयः ?, किं भवतीति शेषः, अत्र प्रज्ञापक आह—न भवतीति , कस्मात् ? , यस्मात्संख्येयानां पक्ष्मणां लोके प्रतीतस्वरूपाणां समुदायत्यादि सर्वं तथैव यावत्तस्मादसौ समयो न भवति, एवं वदन्त प्रज्ञापकमित्याद्युपरितनपक्ष्मसूत्रमपि तथैव व्याख्येयम् , नवरमनन्तानां परमाणूनां विशिष्टैकपरिणामापत्तिः सङ्घातः , तेषामनन्तानां यः समुदयः—संयोगस्तेषां समुदयानां या अन्योऽन्यानुगतिरसौ समितिः, तासां समागमनं—एकवस्तुनिवर्त्तनाय मीलनेन उपरितनपक्ष्मोत्पद्यते, समुदायवाचकत्वेनैकार्थाः वा समुदयादयः , तस्मादसावुपरितनैकपक्ष्मच्छेदनकालः समयो न भवति , कस्तर्हि समय इत्याह– ' एत्तोऽवि अएण ' मित्यादि, एतस्माद् उपरितनैकपक्ष्मच्छेदनकालात् सूक्ष्मतरः समयः प्रज्ञप्तो हे श्रमण ! आयुष्मन्निति, अत्राह–ननु यद्यनन्तैः परमाणुसङ्घातैः पक्ष्म निष्पद्यते ते च सङ्घाताः क्रमेण छिद्यन्ते , तर्ह्येकस्मिन्नपि पक्ष्मणि विदीर्यमाणे अनन्ताः समयाः लगेयुः , एतच्चागमेन सह विरुध्यते , तत्रासंख्येयास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु समयासंख्येयकस्यैव प्रतिपादनात् , यत उक्तम्—" असंखेज्जासु णं भंते ! उस्सप्पिणीअवसप्पिणीसु केवइया समया पण्णत्ता ?, गोयमा !, असंखेज्जा। अणंतासु णं भंते ! उस्सप्पिणीअवसप्पिणीसु केवइया समया पण्णत्ता ?, गोयमा !, अणंता" तदेतत्कथम् ?, अत्रोच्यते–अस्त्येतत् , किन्तु–पाटनप्रवृत्तपुरुषप्रयत्नस्याचिन्त्यशक्तित्वात् प्रतिसमयमनन्तानां सङ्घातानां छेदः सपद्यते, एवं च सत्येकस्मिन् समये यावन्तः सङ्घाताश्छिद्यन्ते तैरनन्तैरपि स्थूलतर एक एव सङ्घातो विवक्ष्यते, एवम्भूताः स्थूलतरसङ्घाता एकस्मिन्पक्ष्मणि असंख्येया एव भवन्ति, तेषां च क्रमेण छेदने असंख्येयैः समयैः पक्ष्म छिद्यते, अतो न कश्चिद्विरोधः , इत्थं च विशेषतः सूत्रे अनुक्तमप्यवश्यं प्रतिपत्तव्यम् , अन्यथा ग्रन्थान्तरैः सह विरोधप्रसङ्गात् सूत्राणां च सूचामात्रत्वादिति , ततोऽसंख्येयैरेव समयैर्यथोक्तपक्ष्मणो विदीर्यमाणत्वाच्छद्मस्थानुभवविषयस्य च समयप्रमाणकस्य विशिष्टक्रियाविशेषस्य कस्यचिद्दर्शयितुमशक्यत्वाद् 'एत्तोऽवि णं सुहुमतराए समए' इति सामान्येनैवोक्तवानिति, एकस्मादुपरितनपक्ष्मच्छेदनकालादसंख्याततमोंऽशः समय इति स्थितम् युगपदनन्तसङ्घातविदारणहेतुपूर्वोक्तप्रयत्नविशेषसिद्धिश्च नगरादिप्रस्थितानवरतप्रवृत्तपुरुषादेः प्रयत्नविशेषात् प्रतिक्षणं बहुनभःप्रदेशान् विलङ्घ्याचिरेणैवेष्टदेशप्राप्तिर्भावनीया, यदि पुनरसौ क्रमेणैकैकं व्योमप्रदेशं लङ्घयेत् तदा असंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरेवेष्टदेशं प्राप्नुयाद् ' अङ्गुलसेढीमित्ते उस्सप्पिणीउ असंखेज्जा' इत्यादिवचनादिति भावः । नन्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु एकान्तेन युक्तिनिष्ठैर्भाव्यम् सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद् , उक्तं च—

" आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं विद्धि लक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥
आगमश्चाप्तवचन—माप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात् ॥ २ ॥
उपपत्तिर्भवेद्युक्ति—र्या सद्भावप्रसाधिका ।
साऽन्वयव्यतिरेकादि—लक्षणा सूरिभिः कृता ॥ ३ ॥ "

इति, निदर्शितं चेहोभयमपीत्यलं विस्तरेण । अनु० । स्था० ।

एगे समए । (सू० ४४ ×)

परमनिकृष्टकालः उत्पलपत्रशतव्यतिभेददृष्टान्ताज्जरत्पटशाटिकापाटनदृष्टान्ताद्वा समयप्रसिद्धादवबोद्धव्यः , स चैक एव वर्तमानस्वरूपोऽतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाभावात् । अथवा–असावेकस्वरूपेण निरंशत्वादिति । स्था० १ ठा० । आचा० । कल्प० । नि० । स० । जी० । तं० । राजनीतिशास्त्रे, बृ० ३ उ० । सङ्केते, आ० म० १ अ० । पं० व० । सू० प्र० । चं० प्र० । ज्ञा० । विशे० । कर्म० । समिति सम्यक्शब्दार्थे उपसर्गः , सम्यगयः समयः । सम्यग् दयापूर्वकं जीवेषु विषये प्रवर्त्तने, विशे० । आचारे, अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । मुक्तिमार्गप्रवर्त्तने, विशे० । नास्तिकादिसमयप्रतिपादनपरमध्ययनं समय एवेति । स० १६ सम० । सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमेऽध्ययने, आव० ४ अ० ।

साम्प्रतं निक्षेपावसरः , स च त्रिधा–ओघनिष्पन्नो, नामनिष्पन्नः , सूत्रालापकनिष्पन्नश्च । तत्रौघनिष्पन्नेऽध्ययनम् , तस्य च निक्षेप आवश्यकादौ प्रबन्धेनाभिहित एव , नामनिष्पन्ने तु समय इति नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह—

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले कुतित्थसंगारे ।
कुलगणसंकरगंडी, बोधव्वो भावसमए य ॥ २६ ॥

'नाम ठवणा' इत्यादि, नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालकुतीर्थसंगारकुलगणसङ्करगण्डीभावभेदात् द्वादशधा समयनिक्षेपः , तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यसमयो द्रव्यस्य सम्यगयनं-परिणतिविशेषः स्वभाव इत्यर्थः , तद्यथा—जीवद्रव्यस्योपयोगः पुद्गलद्रव्यस्य मूर्त्तत्वं धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहदानलक्षणः । अथवा–यो यस्य द्रव्यस्यावसरः—द्रव्यस्योपयोगकाल इति, तद्यथा–' वर्षासु लवणममृतं, शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ' ॥ १ ॥ क्षेत्रसमयः–क्षेत्रम्—आकाशं तस्य समयः—

स्वभाव, यथा 'एगेण वि से पुरणे, दोहि वि पुरणे सयं पि माएज्जा। लक्खसएण वि पुरणे, कोडिसहस्सं पि माएज्जा' ॥ १ ॥ यद्विा—देवकुरुप्रभृतीनां क्षेत्राणामीदृशोऽनुभावो यदुत तत्र प्राणिनः सुरूपा नित्यसुखिनो निर्वैराश्च भवन्तीति, क्षेत्रस्य वा परिकर्मणावसरः क्षेत्रसमय इति, कालसमयस्तु सुषमादेरनुभावविशेषः उत्पलपत्रशतभेदाभिव्यङ्ग्यो वा कालविशेषः कालसमय इति, अत्र द्रव्यक्षेत्रकालप्राधान्यविवक्षया द्रव्यक्षेत्रकालसमयता द्रष्टव्येति कुतीर्थसमयः पाखण्डिकानामात्मीय आगमविशेषः। तदुक्तं वाऽनुष्ठानमिति, सगार–संकेतस्तद्रूपः समयः सगारसमयः यथा सिद्धार्थसारथिदेवेन पूर्वकृतसगारानुसारेण गृहीतहरिशवो—बलदेव प्रतिबोधित इति, कुलसमयः—कुलाचारो यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः, गणसमयो यथा मल्लानामयमाचारो—यथा यो ह्यनाथो मल्लो म्रियते स तैः संस्क्रियते, पतितश्चोद्ध्रियत इति सङ्करसमयस्तु संकरो—भिन्नजातीयानां मीलकस्तत्र च समयः—एकवाक्यता, यथा वाममार्गोद्वाघनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति, गण्डीसमयो–यथा शाक्यानां भोजनावसरे गण्डीताडनमिति, भावसमयस्तु नोआगमतः एतदेवाध्ययनम्, अनेनैवात्राधिकारः शेषाणां तु शिष्यमतिविकाशार्थमुपन्यास इति। सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

समयंतर–समयान्तर–न०। परसमये, पं० व० ४ द्वार।

समयकप्प–समयकल्प–पुं०। सिद्धान्तविचारणायाम्, संथा०।

समयकयपिंडणाम–समयकृतपिण्डनामन्–न०। समयकृतपिण्डनाम्नि, पिं०। (व्याख्या 'पिंड' शब्दे पञ्चमभागे ६१७पृष्ठे।)

समयखेत्त–समयक्षेत्र–न०। समयः कालस्तद्विशिष्टं क्षेत्रं समयक्षेत्रम्। मनुष्यक्षेत्रे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। मनुष्यलोके, स्था० ३ ठा० १ उ०। स०।

किमिदं भंते! समयक्खेत्ते त्ति पवुच्चइ?, गोयमा! अड्ढाइज्जा दीवा दो य समुद्दा एस णं एवइए समयखेत्ते त्ति पवुच्चइ। तत्थ णं अयं जंबुद्दीवे सव्वदीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भितरे एवं जीवाभिगमवत्तव्वया नेयव्वा ०जाव अब्भितरपुक्खरद्धं जोइसविहूणं ॥ ६ ॥

'किमि'त्यादि। तत्र समयः कालस्तेनोपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रं, कालो हि दिनमासादिरूपः सूर्यगतिसमभिव्यङ्ग्यो मनुष्यक्षेत्र एव न परतः, परतो हि नादित्याः सञ्चरिष्णव इति। एवं जीवाभिगमवक्तव्यता नेतव्वा त्ति। एषा चैवम्–'एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं' इत्यादि। जोइसविहूणं' ति–तत्र जम्बूद्वीपादिवस्तुप्ररूपणपरायणा जीवाभिगमोक्ताः [illegible] अपि तत्र [illegible] यथा [illegible] जीवाभिगमप्ररूपणा नेतव्येति। वाचनान्तरे तु—'जोइसचक्कविहूणं इत्यादि [illegible] तत्र—जहु [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

जंबूद्दीवेणं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं लवणस्स दाहिणेणं० जाव तत्थ २ देसे २ तहिं २ जंबुरुक्खा जंबुवणा० जाव उवसोभेमाणा चिट्ठंति से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ जंबुद्दीवे दीवे इत्यादीनि प्रत्येकमर्थसूत्राणि च सन्ति, ततश्चैतद्विहीनं यथा भवत्येवं जीवाभिगमवक्तव्यतया नेयमस्योद्देशकस्य सूत्रम्। 'जाव इमा गाह' त्ति–सङ्ग्रहगाथा। सा च–'अरहंतसमयबायर–विज्जूथणिया बलाहगा अगणी। आगरनिहिनइउवरा–गनिग्गमे वुड्ढिवयणं च' ॥ १ ॥ अस्याश्चार्थस्तत्रानेन सम्बन्धेनायातो जम्बूद्वीपादीनां मानुषोत्तरान्तानामर्थानां वर्णकस्यान्ते इदमुक्तम्–'जावं च णं माणुसुत्तरे पव्वए तावं च णं अस्सि लोए त्ति पवुच्चइ। मनुष्यलोक उच्यत इत्यर्थः। तथा 'अरहंते त्ति जाव च णं अरहंता चक्कवट्टी ०जाव सावियाओ मणुया पगइभद्दया विणीया ताव च णं अस्सिलोए त्ति पवुच्चइ, समय त्ति, जाव च णं समयाइ वा आवलियाइ वा०जाव लोए त्ति पवुच्चइ, एवं जाव च णं बायरे विज्जुयारे बायरे थणियसद्दे जाव च णं बहवे उराला बलाहया संसेयंति, अगणि त्ति जाव च णं बायरे तेउयाए जाव च णं आगराइ वा निहीइ वा नईउ वा उवराग त्ति, चंदोवरागाइ वा सूरोवरागाइ वा ताव च णं अस्सि लोए त्ति पवुच्चइ। उपरागो–ग्रहणम्। 'निग्गमे वुड्ढिवयणं च त्ति–यावन्निर्गमादीनां वचनं प्रज्ञापनं तावन्मनुष्यलोक इति प्रकृतम्, तत्र–'जावं च णं चंदिमसूरियाणं ०जाव ताराख्वाणं अइगमणं निग्गमणं वुड्ढिनिवुड्ढी आघविज्जइ, तावं च णं अस्सि लोए त्ति पवुच्चइ अतिगमनमिहोत्तरायणं, निर्गमनं दक्षिणायनं, वृद्धिर्दिनस्य वर्द्धनं निर्वृद्धिस्तस्यैव हानिः। भ० २ श० ६ उ०।

समयचज्जा–समयचर्या–स्त्री०। समयपरिभाषया उपक्रमे, विशे०।

समयज्झयण–समयाध्ययन–न०। समयाख्ये सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमे अध्ययने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आ० चू०।

समयणा(णा)य–समयन्याय–पुं०। आगमप्रामाण्ये पञ्चा० १२ विव०।

समयणिबद्ध–समयनिबद्ध–न०। मनसा निबद्धे सङ्केते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

समकनिबद्ध–त्रि०। सिद्धान्तप्रतिपादिते [illegible] सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

समयणीइ–समयनीति–स्त्री०। सिद्धान्तव्यवस्थायाम् आव० ६ अ०।

समयण्णु–समयज्ञ–त्रि०। सिद्धान्तविदि, पं० व० ४ द्वार। आगमज्ञे पञ्चा० १७ विव०। आचा०।

समयपरमत्थवित्थर–समयपरमार्थविस्तर–पुं०। [illegible] [illegible]

समयपरिसुद्ध–समयपरिशुद्ध–त्रि०। सिद्धान्तपरिशुद्धे, पञ्चा० ३ विव०।

समयपाहुड–समयप्राभृत–न०। स्वनामख्याते ग्रन्थविशेषे, अष्ट० १३ अष्ट०।

समयभणिय–समयभणित–न०। सिद्धान्तप्रतिपादिते, दर्श० १ तत्त्व।

समयय–समयज–न०। अन्वर्थरहिते समय एव प्रसिद्धे नामाने, पिं०।

समयलुक्खया–समयरूक्षता–स्त्री०। कालरूक्षतायाम्, भ० ७ श० ६ उ०।

समयविउ–समयविद्–त्रि०। आगमवेदिनि, षो० १२ विव०, भद्रबाहुप्रभृतिषु सिद्धान्तवेदिषु, पञ्चा० ४ विव०।

समयविरुद्ध–समयविरुद्ध–त्रि०। स्वसिद्धान्तविरुद्धे, विशे०। यथा साङ्ख्यस्यासत्कारणम्, कार्यं सद्वैशेषिकस्येत्यादि। आ० म० १ अ०। अनु०। यथा वैशेषिको व्रते प्रधानं कारणं जैनो वदति नास्ति जीव इत्यादि। सू० १ उ० १ प्रक०।

समयविहाण–समयविधान–न०। सिद्धान्तनीतौ, पं० व० ४ द्वार।

समयसण्णा–समयसंज्ञा–स्त्री०। आगमपरिभाषायाम्, सू० १ उ० ३ प्रक०।

समयसब्भाव–समयसद्भाव–पुं०। सिद्धान्तार्थे, आव० ४ अ०।

समयसागर–समयसागर–पुं०। समयः–आगमस्तस्य सागर इव रत्नाकरः। स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

समयसिद्ध–समयसिद्ध–त्रि०। आगमोक्ते, पञ्चा० १६ विव०।

समयसुन्दर–समयसुन्दर–पुं०। सकलचन्द्रगणिशिष्ये, येन १६८६ संवत्सरे गाथासाहस्री विचारशतक दशवैकालिकटीका चेति ग्रन्था रचिता। जै० इ०।

समयसो–समयशस्–अव्य०। समयेनेत्यर्थे, क० प्र० १ प्रक०।

समया–समता–स्त्री०। समो रागद्वेषमध्यस्थस्तद्भावस्समता। आ० म० १ अ०। समभावे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। सूत्र०। आ० चू०। आत्मपरतुल्यतायाम्, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। परक्राद्विष्टतायाम्, अष्ट० १४ अष्ट०। सामायिके, रागद्वेषविरहे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। आ० चू०। आचा०। माध्यस्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०। यो० विं०।

समयाजोगि–समतायोगिन्–पुं०। ध्यानबलेन भस्मीभूतमोहकर्मातत्त्वादिपरिणतिरहिते योगिनि, अष्ट० ६ अष्ट०।

समताणुपेहि(ण्)–समतानुप्रेक्षिन्–त्रि०। समतया प्रेक्षितुं शीलमस्येति समतानुप्रेक्षी। प्रियद्वेष्यरहिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

समयातीय–समयातीत–त्रि०। आगमादतिक्रान्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

समयाणुभाव–समतानुभाव–पुं०। कालविशेषसामर्थ्ये, भ० ७ श० ६ अ०।

समर–शबर–त्रि०। "शबरे वो मः" ॥ ८। १। २५८॥ इत्यनेनात्र बकारस्य मकारः। समरो। प्रा०। वन्यमनुष्यजातिभेदे, को०। अष्ट०।

समर–पुं०। जनमरकयुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। संग्रामे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उत्त०।

सम–त्रि०। समत्वेन युक्ते, रकारः प्राकृतत्वात्। उत्त० २ अ०। शत्रुञ्जयपर्वतस्य मूलनायकोद्धारकर्त्तरि स्वनामख्याते साधौ, ती० १ कल्प।

समरवहिय–समरव्यथित–त्रि०। संग्रामे हते, भ० ७ श० ९ उ०।

समरभड–समरभट–पुं०। संग्रामभटे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

समरसावत्ति–समरसापत्ति–स्त्री०। समे भावे रसोऽभिलाषो यस्या सा समरसा सा चासावापत्तिश्च प्राप्तिरधिगमतिरधिगम इत्यनर्थान्तरम्। षो० ६ विव०। समतापत्तौ, आयमाहितसर्वज्ञरूपोपयोगोपयुक्तस्य तपोयोगानन्यवृत्तेः परमार्थतः सर्वज्ञरूपतयाऽऽलम्बनाकारोपयुक्तत्वेन मनसो ध्यानविशेषरूपायां तत्फलभूतायां वा समाधौ, षो० २ विव०।

समरसीह–समरसिंह–पुं०। स्वनामख्याते मेदपाट(मेवाड)देशाधिपतौ, ती० १६ कल्प।

समराइच्च–समरादित्य–पुं०। स्वनामख्याते राजनि, तच्चरित्रं श्रीहरिभद्रसूरिकृतं समरादित्यचरित्रादवसेयम्। ध० २ अधि०।

समरीइय–समरीचिक–त्रि०। बहिर्विनिर्गतकिरणजालसहिते, जी० ३ प्रति०। स०। रा०। आ०।

समल्लीण–समालीन–त्रि०। आसन्ने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आ० म०।

समलेस्स–समलेश्य–त्रि०। लेश्यया तुल्ये, भ० १ श० २ उ०। (अत्र दण्डकः 'सम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः।)

समवण्ण–समवर्ण–त्रि०। वर्णतस्तुल्ये, भ० १ श० २ उ०। (अत्र दण्डकः 'सम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः।)

समवतार–समवतार–पुं०। सम्यगवतारणे, नि० चू० १ उ०।

समवया–समवयस्–त्रि०। सवयस्ये, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

समवसरण–समवसरण–न०। अवसरणकरणे, ही० २ प्रका०। औपपातिकदेवनानिमित्ते जिनधर्मदेशने, पञ्चा० २ विव०। ('समोसरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्या वक्ष्यामि।)

समवसरणबिंबरूव–समवसरणबिम्बरूप–न०। समवसरणे जिनधर्मदेशनार्थमौपपातिकदेवतानिर्मितानि तस्यैव बिम्बानि–प्रतिकृतयस्तेषामिव रूपं स्वभावो यस्य स समवसरणबिम्बरूपः। विशिष्टरूपे चतुर्मुखे, पञ्चा० २ विव०।

समवाइकारण–समवायिकारण–न०। सम्–एकीभावे अवशब्द अपृथक्त्वे, अय गतौ इण् गतौ वा। ततश्चैकीभावेन अपृथग्गमनं समवायः–सश्लेषः स विद्यते येषां ते समवायिनस्तन्तव, यस्मात्तेषु पटः समवैति इति। समवायिनश्च त

कारणं च समवायिकारणम्, तन्तुसंयोगास्तु कारणरूपद्रव्यान्तरधर्मत्वेन पदार्थस्यकार्यद्रव्यान्तरवर्त्तित्वात्समवायिनस्त एव कारणम्। कारणभेदे, विशे०। आ० चू०। ('कारण' शब्दे तृतीयभागे ४६५ पृष्ठे इदमुक्तम्।)

समवाय–समवाय–पुं०। समवयनं समवायः। वणिजादीनां संघाते, पिं०। ओघ०। गोष्ठीनां मेलापके, आ० म० १ अ०। आचा०। समिति सम्यगवैत्यधिक्येन अयनमय परिच्छेदो जीवाजीवादिविविधपदार्थसार्थस्य यस्मिन्नसौ समवायः। समवसन्ति समवतरन्ति संमिलन्ति नानाविधा आत्मादयो भावा अभिधेयतया यस्मिन्नसौ समवायः चतुर्थेऽङ्गे, स० १ सम०। पा०। अनु०। नं०। स०।

से किं तं समवाए?, समवाएणं ससमया सूइज्जंति परसमया सूइज्जंति ससमयपरसमया सूइज्जंति ० जाव लोगालोगा सूइज्जंति। समवाएणं एकाइयाणं एगट्ठाणं एगुत्तरियं परिवुड्ढीए दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समणुगाइज्जइ, ठाणगसयस्स य बारसविहवित्थरस्स सुयणाणस्स जगजीवहियस्स भगवओ समासेणं समायारे आहिज्जति, तत्थ य णाणाविहप्पगारा जीवाजीवा य वणिया वित्थरेणं, अवरे वि अ बहुविहा विसेसा नरगतिरियमणुअसुरगणाणं आहारुस्सासलेसा आवाससंखआयप्पमाणउववायचवणउग्गहणोवहिवेयणाविहाणउवओगजोगा इंदियकसाया विविहा य जीवजोणी विक्खंभुस्सेहपरिरयप्पमाणं विहिविसेसा य मंदरादीणं महीधराणं कुलगरतित्थगरगणहराणं सम्मत्तभरहाहिवाणं चक्कीणं चेव चक्कहरहलहराण य वासाण य निगमा य समाए एए अन्ने य एवमाइ एत्थ वित्थरेणं अत्था समाहिज्जंति। समवायस्स णं परित्ता वायणा०जाव से णं अङ्गट्ठयाए चउत्थे अंगे एगे अज्झयणे एगे सुयक्खंधे एगे उद्देसणकाले एगे समुद्देसनकाले एगे चउयाले पदसहस्से पदग्गेणं पण्णत्ता, संखेज्जाणि अक्खराणि० जाव चरणकरणपरूवणया आघविज्जंति। सेत्तं समवाए। (सू० १३६) स०।

"समवायववच्छेदो, तस्स हि होहिंति वासाणं। नाढरगोत्तस्स इह, संभूतजतिस्स मरणम्मि" ति०। संबन्धविशेषे, आ० म० १ अ०। अयुतसिद्धानामकार्याधारभूतानाम् इहेति प्रत्ययहेतौ सम्बन्धे, सम्म० ३ काण्ड। सूत्र०। स्या०। (अन्नत्या व्याख्या 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६६४ पृष्ठतो द्रष्टव्या।

समविसम–समविषम–त्रि०। अनुकूलप्रतिकूले शय्यासनादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

समवेयण–समवेदन–त्रि०। वेदनया तुल्ये, भ० १ श० २ उ०।

समसण्ण–सममंज्ञ–त्रि०। तुल्यबुद्धौ, आव० ४ अ०।

समसहाव–समस्वभाव–पुं०। सम.–तुल्यः स्वभाव.–स्वरूपं यस्य तत्तथा। तुल्यरूपे, स० २३ सम०।

समसार–शमसार–त्रि०। शमप्रधाने, द्वा० २३ द्वा०।

समसील–शमशील–त्रि०। समस्वभावे, अष्ट० ३ अष्ट०।

समसुहदुक्ख–समसुखदुःख–त्रि०। विगतरागे, पं० चू० ३ कल्प।

समसुहाकिरा–शमसुधाकिरा–स्त्री०। क्रोधादिपरित्यागः समस्तदेव सुधा–अमृत तस्या. किरणं किरा–सेवनं यस्या. सा तथा। शमतामृतमय्यां दृष्टौ. अष्ट० २ अष्ट०।

समसेढि–समश्रेणि–स्त्री०। अविषमश्रेणौ, नं०।

समस्सा–समस्या–स्त्री०। समस्यते–संक्षिप्यतेऽनया। सम्–अस्–क्यप्। संक्षेपेण उक्तस्य श्लोकपदादे. परकृतेन स्वकृतेन वा अवशेषेण भागान्तरेण संघटनार्थं कृते प्रश्ने, वाच०। आ० म० १ अ०।

समा–समा–स्त्री०। आत्मपरतुल्यतायाम्, दर्श० १ तत्त्व। संवत्सरात्मके कालविशेषे, व्य० ३ उ०। स्था०।

दो समाओ पन्नत्ताओ, तं जहा–उस्सप्पिणी समा चेव, ओसप्पिणी समा चेव। स्था० २ ठा० १ उ०।

('लोक' शब्दे षष्ठे भागे विस्तरो गत.।)

समाइण्ण–समाचीर्ण–त्रि०। भाद्रपदशुद्धचतुर्थीपर्युषणापर्वदाचरिते, जी० १ प्रति०।

समाउ–समायुष्–त्रि०। उदयापेक्षया समकालायुष उदये, भ० २६ श० १ उ०।

समाउत्त–समायुक्त–त्रि०। युक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। औ०।

समाउय–समायुष्क–न०। आयुषा तुल्ये, भ० ६ श० १ उ०।

(अत्र दण्डक 'सम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्त.।)

समाउल–समाकुल–त्रि०। सम्मिश्रे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। रा०। उत्त०।

समाओग–समायोग–पुं०। सम्यग् आयोग समायोग। आव० १ अ०। तं०। स्थिरीभावे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

समागम–समागम–पुं०। परस्पर संघटनतया विशिष्टप्राणिगणसमुदाये, अनु०। संयोगे, एकीभवने, समुदये, अनु०। संपर्के, व्य० ६ उ०। प्राप्तौ, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

समागय–समागत–त्रि०। एकीभूते, पं० व० ३ द्वार। स्था०।

समाण–भुज–धा०। जेमने, "भुजो भुञ्ज–जिम–जेम–कम्माऽण्ह–समाण–चमढ–चड्डा" ॥ ८।४।११०॥ इति भुजेः समाणादेश। समाणइ। भुङ्क्ते। प्रा० ४ पाद।

समाप्–धा०। समाप्तौ "समापे: समाणः" ॥८।४।१४२॥ इत्यनेनात्र समाप्नोतेर्वैकल्पिक समाण आदेश। समाणइ। समावेइ। प्रा० ४ पाद।

समान–त्रि०। समे, नि० चू० ४ उ०। उत्त०। ग०। सदृशे, उत्त० ३२ अ०। रा०।

सत्-त्रि० । विद्यमाने, स्था० ३ ठा० १ उ०। द्वा०। आचा० । प्रश्न० । औत्तराहे आदासिकेन्द्रे , स्था० २ ठा० ३ उ० ।

समाणइत्ता-समाप्य-अव्य०।समाप्तिं नीत्वेत्यर्थे, आव०४अ०।

समाणकप्प-समाणकल्प-पुं० । तुल्याध्यवसाये , कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

समाणी-सती-स्त्री०। विद्यमानायाम् , प्रज्ञा० १५ पद । जं० ।

समाणु-समम्-अव्य० । " एत्र-परं-समं-ध्रुवं-मा-मनाक्-एम्व-पर-समाणु ध्रुवु म मणाउं ", ॥ ८ । ४ । ४१८ ॥ अनेन अपभ्रंशेऽर्थे समम समाणु इत्यादेशः । सहार्थे, समाणु । समम् । प्रा० ४ पाद ।

समादहमाण-समादहत्-त्रि० । शीतस्पर्शे सहमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

समादाण-समादान-न० । ग्रहणे, सूत्र० २ श्रु० २अ० ।

समादाय-समादाय-अव्य० । गृहीत्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सूत्र० ।

समादेज्ज-समादेय-त्रि० । ग्राह्ये, विशे० ।

समादेस-समादेश-पुं० । निर्ग्रन्थानां साधूनां कृते औद्देशिकभेदे , ध० ३ अधि० ।

समाय-समवाय-पुं० । समवायनं समवाय , प्राकृतत्वेन व कारलोपः । सम्यक्परिच्छेदे सङ्केतौ , ग्रन्थे च । समो रागद्वेषरहितत्वाद्वयो-गमनं समायः । आ० म० १ अ० । समो रागद्वेषवियुक्तो य सर्वभूतान्यात्म-वत्पश्यति , अयो-लाभः-प्राप्तिरिति पर्यायाः । समस्याऽयः समायः । समो हि प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्निरुपमसुखहेतुभिः अथ कृतचिन्तामणिकल्पद्रुमैर्युज्यते स एव समायः , आव० ६ अ० । अनु० । सामायिके, आव० ६ अ० । सूत्र० ।स्था० । चतुर्थेऽङ्गे, स० १३६ सूत्र ।

समा(म)क-न० । युगपदित्यर्थे , भ० २६ श० १ उ० । मृषावादे , सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

समायकरण-समायकरण-न० । समतासमागमपरिज्ञाननिमित्तरेखाकरणे, ज्यो० २ पाहु० ।

समायरंत-समाचरत्-त्रि० । सेवमाने, पं० व० १ द्वार। कुर्वति , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

समायरण-समाचरण-न० ।करणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

समायरित्ता-समाचर्य-अव्य०। कृत्वेत्यर्थे, विपा० १ श्रु० १अ०।

समायरियव्व-समाचरितव्य-त्रि० । सेव्ये, आव० ६ अ० ।

समायाण-समादान-न० । ग्रहण, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३उ०।

समायार-समाचार-पु० । समाचरणं समाचारः । अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । सूत्र० । स्था० । शिष्टाजनाचरिते क्रियाकलापे, अनु० । स्था० ।

समायारग-समाचारक-त्रि० । समाचरतीति समाचारकः । कर्त्तरि, नं० । आ० म० ।

समायारी-समाचारी-स्त्री० । समाचरणे , पं० व० ५ द्वार । ध्य० । ती० । जी० । उत्त० । द्वा० । ('सामायारी' शब्दे अस्मिन्नेव भागे दशधा सामाचारी वक्ष्यते ।)

समार-सम् आ रच्-धा० । निर्माणे, "समारचेरुवहत्थ-सारव-समार-केलायाः" ॥ ८ । ४ । ९५ ॥ अनेन समारचेः समारादेशः । समारइ । समारचयति । प्रा० ४ पाद ।

समारंभ-समारम्भ-पुं० । उपद्रावणहेतौ, आचा० १ श्रु० १ १ अ० १ उ० । परितापकरे व्यापारे, ध्य० १ उ० । व्यापादने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्याने, दशा० । त्रिविधः समारम्भः मानसिकवाचिककायिकभेदात् , तत्र मानसिकः मन्त्रादिध्यानम् , परमारणहेतोः प्रथम समारम्भः परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्यानम् । वाचिको यथा आरम्भः परव्यापादनसमर्थक्षुद्रविद्यादिपरावर्तनासंकल्पसूचको ध्वनिरेव समारम्भः । परपरितापकरमन्त्रादिपरावर्त्तनम् । कायिको यथा आरम्भोऽभिघाताय यष्टिमुष्ट्यादिकरणं, समारम्भः परितापकरो मुष्ट्याद्यभिघातः । दशा०६ अ० । अङ्गारकर्मणि, पं० सू०१ सूत्र। "सकप्पो संरंभो, परितापकरो भवे समारंभो ।" भ०३ श० ३ उ० । स्था० । नि० चू० । आचा० । उत्त० । सूत्र० । जीवोपमर्दे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । प्रस्थापने,विशे० । सेवने, सूत्र०१ श्रु० ८ अ० । आचा० । ताडने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । आचा० । स्था०

समारंभमाण-समारम्भमाण-त्रि० । समारम्भं कुर्वति, स्था० १० ठा० ३ उ० । जीवानां विनाशके, औ० । व्यापादयति, स्था० ६ ठा० ३ उ० । संघट्टादीनां विषयीकुर्वति, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

समारंभावण-समारम्भण-न० । समनुज्ञाने, आचा० १ श्रु०१ अ० २ उ० ।

समारंभि(न्)-समारम्भिन्-त्रि० । कृतसमारम्भे, कर्त्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

समारंभित्ता-समारभ्य-अव्य० । प्रज्वाल्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

समारोव-समारोप-पु० । अतस्मिन् तदध्यवसाये, अतत्प्रकारे पदार्थे तत्प्रकारतानिर्णये, (रत्ना०१ परि० ।) यथा क्षणिके अक्षणिकज्ञानम् । सम्म० १ काण्ड ।

समारोह-समारोह-पुं० । सम्यक् क्लेशेनोर्ध्वगमने,आव०४अ०।

समालवण-समालपन-न० । अतिविषमत्वादल्पाक्षरैरसम्यगवबोधे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

समाव-समाप्-धा० । समाप्तिनयने, " समापेः समाणः " ॥ ८ । ४ । १४२ ॥ अनेन पाक्षिकः समाणादेशः । तत्पक्षे-समावइ । समापयति । प्रा० ४ पाद ।

समावडिय-समापतित-त्रि० । समापन्ने, औ० । प्रश्न० ।

समावण्ण-समापन्न-त्रि० । निष्ठानयने, आव० ३ अ० । भ० । आचा० । समागते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । सम्यगापन्ने, प्राप्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

समावत्ति-समापत्ति-स्त्री० । अवधानेन मनस्तादात्म्यापादने, द्वा० २२ द्वा० । प्रति० । पो० ।

मनोबिम्बप्रतिच्छाया, समापत्तिः परात्मनः ।
क्षीणवृत्तिर्भवेद् ध्याना-दन्तरात्मनि निर्मितम् ॥ १ ॥
द्वा० २२ द्वा० ।

('जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६३० पृष्ठे व्याख्यातमिदम् ।)

समावयंत-समापतत्-त्रि० । एकीभावेनाभिमुखं पतति, दश० ६ अ० ३ उ० ।

समाविभाग-समाविभाग-पुं० । कालविभागे, ज्यो०६ पाहु० ।

समास-समास-पु० । असुक्षेपणे, असनमास क्षेप इत्यर्थः, शोभनमसन समासः । संसाराद्बहिर्जीवात् कर्मणो वा क्षेपणे, आ० म०१ अ० । संक्षेपे, सामान्ये, ओघ० । सामायिके, विशे० । सशब्दः प्रशंसायाम्, असु क्षेपणे, शोभनमसन संसाराद्बहिर्जीवस्य जीवात्कर्मणो वा क्षेपणं समासः । अथवा—संशब्दः सम्यगर्थः सम्यगासः समासः । रागद्वेषरहितस्य समस्य वा आसः समासः । विशे० । 'अप्पक्खरं समासो' त्ति-महार्थत्वेऽप्यल्पाक्षरत्वात्सामायिक समास उच्यते । 'अहवाऽऽसो सम' त्ति-अथवा-असु क्षेपणे इत्यस्य धातोर्घञ्युत्पाद्यते । आकारश्चेह प्रश्लिष्टो द्रष्टव्य, ततश्च असनमासो जीवात्कर्मणः क्षेप इत्यर्थः । णकारस्यानुस्वारश्चेह लुप्तो दृश्य । समशब्दार्थमाह- महासण सव्वे'त्ति-अव्ययानामनेकार्थत्वात्सम्मिहत्कर्मणोऽसन समसन समासः । वा इति अथवा, सच्छोभनमसन समासः कर्मक्षेपणस्य शोभनत्वादिति । अथवा--सम्यगर्थे समर्थे वा संशब्द । तत्किमित्याह-'सम्म समस्स वाऽऽसो' त्ति-सम्यक् समस्य वा रागद्वेषरहितस्यासः कर्मक्षेप इति कृत्वा सामायिक समासो भवति । विशे० । आ० चू० । (कथा 'चिलाईपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११८८ पृष्ठे गता ।) संक्षेप, नं० । आतु० । आचा० । आ० म० । पञ्चा० । रा० । विशे० । उत्त० पा० । स्था० । अनु० । 'समास' त्ति-संशब्द प्रशंसायामसु क्षेपणे । शोभनमसनम्-संक्षेपेण विस्तरवत संकोचन समासः' । पदानामेकीकरणे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

से किं तं समासिए ?, समासिए सत्त समासा भवंति, तं जहा-"दंदे अ बहुव्वीही, कम्मधारए दिग्गू अ । तप्पुरिसे अव्वईभावे, एक्कसेसे अ सत्तमे" ॥ १ ॥ अनु० ।

द्वयोर्बहूना पदाना वा समसनं—संमीलनं समास । अनु० । (द्वन्द्वादिपदाना व्याख्या स्वस्वस्थाने ।)

समासओ-समासतस्-अव्य० । संक्षेपेणेत्यर्थे, नि० चू० १ उ० । कर्म० ।

समासज्ज-समासाद्य-अव्य० । प्राप्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

समासण-समासन--न० । समानोपवेशने आव० ४ अ० ।

समासत्थ--समासार्थ-पुं० । संक्षिप्तार्थे, आ० म० १ अ० ।

समासदोस-समासदोष-पु० । समासदोषार्थे, आ० म० १ अ० । यत्र समासाविधि प्राप्तं समास न करोति, व्यत्ययेन वा करोति, तत्र समासदोष । अनु० । विशे० ।

समासिय-समाश्रित--त्रि० । अभ्युपगवति, आ० म० १ अ० ।

समासिक-न० । द्वयोर्बहूना वा पदानां समसनं—संलीन समासस्तन्निर्वृत्त समासिकम् । समासजे नामनि, अनु० । यथा राजपुरुषोऽयमिति । अत्र तत्पुरुषे समासे कर्तव्ये विशेषणसमासकरणं बहुव्रीहिसमासकरणम् । यदिवा-अत्र समासकरणं, यथा-राज्ञः पुरुषोऽयमिति । आ० म० १ अ० ।

समाहट्टु-समाहृत्य-अव्य० । सम्यगुपादायेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

समाहड-समाहृत-त्रि० । शुद्धे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । अङ्गीकृते सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

समाहय-समाहत-त्रि० । परस्परेणोपहते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अभिभूते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । रा० । अमनोज्ञे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

समाहरण-समाहरण-न० । गोपने, उपसंहरणे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विस्रोतसिकाराहित्येनादाने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

समाहाण-समाधान-न० । विषयार्थौत्सुक्यनिवृत्तिलक्षणे स्वास्थ्ये, अनु० । आव० । सम्यगाख्याने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अनादिकालात्सहत्यावस्थानं, धातूनामनेकार्थत्वात् । विशे० । चित्तसमाधाने, आ० चू० ।

तत्रोदाहरणम्—

णयरं सुदंसणपुरं, सुसुणाए सुजस सुव्वए चेव ।
पव्वज्ज सिक्खमादी, एगविहारे य फासणया ॥ १२९८ ॥

सुदंसण पुरं नगर, सुसुणागो गाहावई, सुजसा से भज्जा, सुहाणि ताणि सुवत्ता पुत्तो णाम सुहेण गब्भे अच्छितो, सुहेण जातो, एव वड्डितो, एवं जाव जोव्वणत्थो संबुद्धो, आपुच्छित्ता पव्वइतो पढितो, एगल्लविहारपडिमं पडिवण्णो । सपरसंगा, देवेहिं परिक्खितो । अणुकूलेण वयणो, कुमारबंभयारी एकगु, विनिण्ण को पुत्रो कुलसताणकंडवयाओ अवक्षांत्ति ?, सो भगव समो । एव मातापिताणि य विसयपसत्ताणि ट सिताणि । पच्छा मारिज्जनगाणि कलुणं कुव्वंति, तहा वि समो । पच्छा सव्व तुट्टा विउव्विता दिव्वाए इन्वगाए सविब्भम पलोइयं मुक्काहनीसासमवगूढो तहा वि सजमे समाहितनरो जातो णाण उप्पण्णं जाव सिद्धो । आ० चू० ४ अ० । आव० ।

समाहार-समाहार-पु० । समानाहारे, प्रज्ञा० १७ पद १ उ० । (अत्र दण्डक 'सम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत ।)

समाहारा-समाहारा-स्त्री० । द्वादशी नादिना, ज० ७ वक्ष० । ज्यो० । दक्षिणरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, आ० चू० १ अ० । आ० म० । द्वी० । ज० । आ० क० । स्था० । च० प्र० ।

समाहि समाधि-पु० । समाधान समाधिः । सम्यगोलम्बनमाधान स० ३० सम० । रागादिपरित्यागरूप धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । स्वास्थ्ये, आ० म० २ अ० ।

चेत स्वास्थ्ये, स० ३२ सम०। आचा० । आ० चू० । आव०। ध० । नीरोगतायाम्, व्य० १ उ० । उत्त० । इन्द्रियप्रणिधाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । योगे, उत्त० २ अ० । धर्मध्यानादिके, सूत्र० १ श्रु० २ अ०३ उ० । सम्यगवस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । सम्यग्दर्शनादिकाया मोक्षपद्धतौ,सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । प्रशमवाहितायां ज्ञानादौ च । स्था० ४ ठा० १ उ० । एकाग्रे निरुद्धे चित्ते समाधिरिति । द्वा० ११ द्वा० । ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके चित्तस्वास्थ्ये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । प्रशस्तभावे, स्था० २ ठा० ३ उ० । समाधानं समाधि, स च द्रव्यभावभेदात् द्विविध' । तत्र द्रव्यसमाधिर्यदुपयोगात् स्वास्थ्यं भवति, येषां वा विरोध इति, भावसमाधिस्तु ज्ञानादिसमाधानमेव, तदुपयोगादेव परमस्वास्थ्ययोगादिति, यतश्चायमित्थं द्विधा, अतो द्रव्यसमाधिव्यवच्छेदार्थमाह-वरं-प्रधानं भावसमाधिमित्यर्थः, (ददतु) । आव० २ अ० । प्रव० । सन्मार्गानुष्ठाने, ध० ३ अधि० । द्वा० ।

प्रशान्तवाहिता वृत्तेः, संस्कारात् स्यान्निरोधजात् ।
प्रादुर्भाव-तिरोभावौ, तद्व्युत्थानजयोरयम् ॥ २३ ॥

प्रशान्तेति—प्रशान्तवाहिता परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपरिणामिता, वृत्तेर्वृत्तिमयस्य चित्तस्य निरोधजात् संस्कारात् स्यात्, तदाह—" तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् " (३-१०) । कोऽय ?, निरोध एवेत्यत आह—तद्व्युत्थानजयोर्निरोधजव्युत्थानजयो संस्कारयो प्रादुर्भावतिरोभावौ-वर्त्तमानाध्वाभिव्यक्तिकार्यकरणसामर्थ्यावस्थानलक्षणौ, अयं निरोध चलत्वेऽपि गुणवृत्तस्योक्तोभयक्षयवृत्तित्वान्वयेन चित्तस्य तथाविधस्थैर्यमादाय निरोधपरिणामशब्दव्यवहारात् । तदुक्तम्—" व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्ताऽन्वयो निरोधपरिणाम " इति (३—९) ।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः, समाधिस्तु क्षयोदयौ ।
तुल्याविकाग्रताशान्तो-दितौ च प्रत्ययाविह ॥ २४ ॥

सर्वार्थेतेति-सर्वार्थता-चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणम् ; चित्तस्य विक्षेपो-धर्म , एकाग्रता-एकस्मिन्नेवाऽऽलम्बने सदृशपरिणामिता तयो क्षयोदयौ तु अत्यन्ताभिभवाभिव्यक्तिलक्षणौ, समाधिरुद्रिक्तसत्त्वचित्तान्वयितयाऽवस्थित., समाधिपरिणामोऽभिधीयते । यदुक्तम्—" सर्वार्थतैकाग्रतयो क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणाम " इति (३—११) । पूर्वत्र विक्षेपस्याभिभवमात्रम्, इह त्वत्यन्ताभिभवोऽनुत्पत्तिरूपोऽनीताध्वप्रवेश इत्यनयोर्भेद । इहाधिकृतदर्शने तुल्यावेकरूपालम्बनत्वेन सदृशौ शान्तोदितौ अतीताध्वप्रविष्टवर्त्तमानाध्वस्फुरितलक्षणौ च प्रत्ययौ एकाग्रता उच्यते समाहितचित्तान्वयिनी । तदुक्तम्- 'शान्तोदितौ हि तु (तौ तु) ल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम ' (३-१२) । नचैव मन्वयव्यतिरेकवस्त्वसंभव , यतोऽन्यत्रापि धर्मलक्षणावस्थापरिणामा दृश्यन्ते । तत्र धर्मिण पूर्वधर्मनिवृत्तावुत्तरधर्मापत्तिर्धर्मपरिणाम , यथा—मृल्लक्षणस्य धर्मिण पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तरस्वीकार । लक्षणपरिणामश्च यथा-तस्यैव घटस्यानागताऽध्वपरित्यागेन वर्त्तमानाध्वस्वीकार , तत्परित्यागेन वाऽतीताध्वपरिग्रह । अवस्थापरिणामश्च यथा-तस्य घटस्य प्रथमद्वितीययो क्षणयो सदृशयोरन्वयित्वेन चलगुणवृत्तीना गुणपरिणामन धर्मीव शान्तोदितेषु शक्तिरूपेण स्थितेषु सर्वत्र सर्वात्मकत्वव्यपदेशेषु धर्मेषु कथञ्चिद्भिन्नेष्वन्वयी दृश्यते, यथा—पिण्डघटादिषु मृदेव प्रतिक्षणमन्यान्यत्वाद्धिपरिणामान्यत्वम् । तत्र केचित्परिणामा प्रत्यक्षेणैवोपलक्ष्यन्ते, यथा—सुखादय संस्थानादयो वा । केचिदनुमानगम्या , यथा—कर्मसंस्कारशक्तिप्रभृतय । धर्मिणश्च भिन्नाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुगम इति न काचिदनुपपत्ति. । तदिदमुक्तम्-" एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याता " (३-१३) । " शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी " (३-१४) " क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुरिति " (३-१५) ॥२४॥ । द्वा०) (२५ श्लोक ' सप्पवित्तिपथावहा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत.।) (२६ श्लोक. ' परा ' शब्दे पञ्चमभागे २४६ पृष्ठे गत. ।)

स्वरूपमात्रनिर्भासं, समाधिर्ध्यानमेव हि ।
विभागमनतिक्रम्य, परे ध्यानफलं विदुः ॥२७॥

स्वरूपेति-स्वरूपमात्रस्य' ध्येयस्वरूपमात्रस्य निर्भासो यत्र तत्तथा । अर्थाकारसमावेशेन भूतार्थरूपतया न्यग्भूतज्ञानस्वरूपतया च ज्ञानस्वरूपशून्यतापत्ते ध्यानमेव हि समाधि. । तदुक्तम्—" तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि " इति । (३-३) विभागमष्टाङ्गो योग इति प्रसिद्धमनतिक्रम्यानुल्लङ्घ्य परे ध्यानफल समाधिरिति विदु ।

निराचारपदो ह्यस्या-मतः स्यान्नातिचारभाक् ।
चेष्टा चास्याखिलाभुक्त-भोजनाभावचन्मता ॥२८॥

निराचारेति -अस्या दृष्टौ योगी नातिचारभाक् स्यात् तन्निबन्धनाभावात् । अतो निराचारपद प्रतिक्रमाद्यभावात् , चेष्टा चास्यैतद्दृष्टिमतोऽखिलाभुक्तभोजनाभाववन्मता आचारजेयकर्माभावात्, तस्य भुक्तप्रायत्वात्, सिद्धत्वेन तदिच्छाविघटनात् ।

कथं तर्हि भिक्षाटनाद्याचारोऽत्रेत्यत आह-

रत्नशिक्षादृगन्या हि, तन्नियोजनदृग्यथा ।
फलभेदात्तथाचार-क्रियाऽप्यस्य विभिद्यते ॥२९॥

रत्नेति-रत्नशिक्षादृशोऽन्या हि यथा शिक्षितस्य रत्नस्तन्नियोजनदृक्, तथाऽऽचारक्रियाऽप्यस्य भिक्षाटनादिलक्षण फलभेदाद्विभिद्यते । पूर्वं हि साम्परायिककर्मक्षय. फलम्, इदानीं तु भवोपग्राहिकर्मक्षय इति ।

कृतकृत्यो यथा रत्न-नियोगाद्रत्नविद्भवेत् ।
तथाऽयं धर्मसंन्यास-विनियोगान्महामुनिः ॥३०॥

कृतकृत्य इति-यथा रत्नस्य नियोगात् शुद्धदृष्ट्या यथेच्छव्यापाराद्वाणिज्यकारि कृतकृत्यो भवेत् तथाऽयमधिकृतदृष्टिस्थो धर्मसन्यासविनियोगात् द्वितीयापूर्वकरणे महामुनि कृतकृत्यो भवति ।

केवलश्रियमासाद्य, सर्वलब्धिफलान्विताम् ।
परंपरार्थं संपाद्य, ततो योगान्तमश्नुते ॥ ३१ ॥

केवलेति-केवलश्रियं-केवलज्ञानलक्ष्मीमासाद्य-प्राप्य सर्वलब्धिफलान्विता सर्वौत्सुक्यनिवृत्त्या परंपरार्थं यथा भव्यसम्यक्त्वादिलक्षण संपाद्य ततो योगान्तं-योगपर्यन्तमश्नुते

प्राप्नोति ।

तत्रायोगाद्योगमुख्या-द्भवोपग्राहिकर्मणाम् ।
क्षयं कृत्वा प्रयात्युच्चैः, परमानन्दमन्दिरम् ॥ ३२ ॥

तत्रेति-तत्र योगान्ते शैलेश्यवस्थायाम् अयोगादव्यापारात् योगमुख्यात् भवोपग्राहिणां कर्मणां क्षयं कृत्वा उच्चैर्लोकान्ते परमाऽऽनन्दमन्दिरं प्रयाति । द्वा० २५ द्वा० ।
साम्प्रतं समाधिरुच्यते तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यादिसमाधिमाह—

दव्वं जेण व दव्वे-ण समाही आहिअं च जं दव्वं ।
भावसमाहि चउव्विह-दंसणनाणे तवचरित्ते ॥३२७॥

द्रव्यमिति—द्रव्यमेव समाधिः द्रव्यसमाधिर्यथा मात्रकम्, अविरोधि वा क्षीरगुडादि, तथा येन वा द्रव्येणोपयुक्तेन समाधिरिक्षुफलादिना तद् द्रव्यसमाधिरिति । तथा आहितं वा यद् द्रव्यं समतां करोति तुलारोपितपलश्वतादिवत् स्वस्थाने तद् द्रव्यं समाधिरिति । उक्तो द्रव्यसमाधिः ॥ भावसमाधिमाह--भावसमाधिः प्रशस्तभावविशेषलक्षणश्चतुर्विधः, चातुर्विध्यमेवाह—दर्शनज्ञानतपश्चारित्रेषु एतद्विषयो दर्शनादीनां व्यस्तानां समस्तानां वा सर्वथा अविरोध इति गाथार्थः । दश० १० अ० १ उ० । पा० । उत्त० । मोक्षे, सम्यग्ध्याने, सदनुष्ठाने च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । स्था० ।

दसविहा समाही पण्णत्ता, तं जहा-पाणाइवायवेरमणे मुसावायवेरमणे अदिण्णादाणवेरमणे मेहुणवेरमणे परिग्गहवेरमणे इरियासमिई भासासमिई एसणासमिई आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई उच्चारपासवणखेलसिंघाणगपारिट्ठावणियासमिई । (सू० ११x)

समाधानं समाधिः, समता सामान्यतो रागाद्यभाव इत्यर्थः, स चोपाधिभेदात् दशधेति । स्था० १० ठा० ३ उ० । संथा० । सदनुष्ठाने,सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । सम्यग्मार्गानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । गुर्वादीनां कार्यकारणद्वारेण चित्तस्वास्थ्योत्पादने, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ० । आ० क० । ('समाहाण' शब्दे अस्मिन्नेव भागे कथानकम् ।) शुभलेश्याध्यवसाये, दश० २ चू० । भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति सप्तदशे तीर्थकरे, स० ८४ सम० । ति० । सत्तरसो रेवइजीवो समाही । ती० २ कल्प । समतायाम् ,प्रश्न० १ सव०द्वार । धर्मे समाधिः कर्त्तव्यः, सम्यगाधीयते व्यवस्थाप्यते मोक्षं तन्मार्गं वा प्रति येनात्मा धर्मध्यानादिना स समाधिः धर्मध्यानादिकः । स च सम्यग् ज्ञात्वा स्पर्शनीयः । नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

आयाणपदेणाऽऽघं, गोणं नामं पुणो समाहि त्ति ।
णिक्खिविऊण समाहिं, भावसमाहीइ पगयं तु ॥१०३॥
णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ समाहीए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १०४ ॥
पंचसु विसएसु सुभेसु, दव्वम्मि त्ति भवे समाहि त्ति ।
खेत्तं तु जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जो उ ॥१०५॥
भावसमाही चउव्विह, दंसणणाणे तवे चरित्ते य ।
चउसु वि समाहियप्पा, सम्मं चरणट्ठिओ साहू ॥१०६॥

आदीयते—गृह्यते प्रथमम्-आदौ यत्तदादानम् आदानं च तत्पदं च सुबन्तं तिङन्तं वा तदादानपदं तेन 'आघ' ति नामास्याध्ययनस्य, यस्मादध्ययनादाविद सूत्रम्—"आघ मईमं मणुवीइधम्म" इत्यादि, यथोत्तराध्ययनेषु चतुर्थमध्ययनं प्रमादाप्रमादाभिधायकमप्यादानपदेन 'असंखय' मित्युच्यते, गुणनिष्पन्नं पुनरस्याध्ययनस्य नाम समाधिरिति, यस्मात्स एवात्र प्रतिपाद्यते, त च समाधिं नामादिना निक्षिप्य भावसमाधिनेह प्रकृतम्—अधिकार इति । समाधिनिक्षेपार्थमाह—नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्,एष तु समाधिनिक्षेपः षड्विधो भवति । तुशब्दो गुणनिष्पन्नस्यैव नाम्नो निक्षेपो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावनार्थं इति । नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिकमधिकृत्याह—पञ्चस्वपि शब्दादिषु मनोज्ञेषु विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां यथास्वं प्राप्तौ सत्यां यस्तुष्टिविशेषः स द्रव्यसमाधिः, तदन्यथा त्वसमाधिरिति । यदिवा-द्रव्ययोर्द्रव्याणां वा सम्मिश्राणामविरोधिनां सता न रसोपघातो भवति, अपितु रसपुष्टिः स द्रव्यसमाधिः । तद्यथा-क्षीरशर्करयोर्दधिगुडचातुर्जातकादीनां चेति,येन वा द्रव्येणोपभुक्तेन समाधिपानकादिना समाधिर्भवति तद् द्रव्यं द्रव्यसमाधिः । तुलादावारोपितं वा यद् द्रव्यं समतामुपैतीत्यादिको द्रव्यसमाधिरिति । क्षेत्रसमाधिस्तु यस्य यस्मिन् क्षेत्रे व्यवस्थितस्य समाधिरुत्पद्यते स क्षेत्रप्राधान्यात् क्षेत्रसमाधिः । यस्मिन् वा क्षेत्रे समाधिर्व्यावर्ण्यत इति । कालसमाधिरपि यस्य य कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते तद्यथा—शरदि गवां नक्तमुलूकानामहनि बलिभुजा, यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति यस्मिन् वा काले समाधिर्व्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति । भावसमाधिं त्वधिकृत्याह—भावसमाधिस्तु दर्शनज्ञानतपश्चारित्रभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र चतुर्विधमपि भावसमाधिं समासतो गाथापश्चार्धेनाह—मुमुक्षुणा चर्यत इति चरणं तत्र सम्यक् चरणे चारित्रे व्यवस्थितः समुद्युक्तः साधु—मुनिश्चतुर्ष्वपि भावसमाधिभेदेषु दर्शनज्ञानतपश्चारित्ररूपेषु सम्यगाहितो-व्यवस्थापित आत्मा येन स समाहितात्मा भवति । इदमुक्तं भवति-यः सम्यक्चरणे व्यवस्थितः-स चतुर्विधभावसमाधिसमाहितात्मा भवति । यो वा भावसमाधिसमाहितात्मा भवति, स सम्यक्चरणे व्यवस्थितो द्रष्टव्य इति । तथाहि—दर्शनसमाधौ व्यवस्थितोजिनवचनभावितान्तःकरणो निवातशरणप्रदीपवन्न कुमतिवायुभिर्भ्राम्यते,ज्ञानसमाधिना तु यथा यथाऽपूर्वं श्रुतमधीते तथा तथाऽतीव भावसमाधावुद्युक्तो भवति । तथा चोक्तम्-

"जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, णवणवसंवेगसद्धाए ॥ १ ॥"

चारित्रसमाधावपि विषयसुखनिःस्पृहतया निरिकञ्चनोऽपि परं समाधिमाप्नोति , तथा चोक्तम्-"तणसंथारणिसण्णो, ऽवि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ? ॥ १ ॥ नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधो-र्लोकव्यापाररहितस्य ." ॥ २ ॥ इत्यादि ,

सप समाधिनाऽपि विकृष्टतपसोऽपि न सन्निधीयते तथा क्षुत्पिपासादिपरीषहजयो नोपार्जितः, तथा ज्ञानाभ्यास-स्तपोध्यानाभिरतमना स निराशंस इव न समग्रं [illegible] साधयन् इत्येवं चतुर्विधभावसमाधिना [illegible]-गामितो भवति साधुरिति ।

गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलिता-दिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम्, तच्चेदम्-

आघं मईमं मणुवीय धम्मं,
अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिन्न भिक्खू उ समाहिपत्ते,
अणियाणभूतेसु परिव्वएज्जा ॥ १ ॥
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ॥ २ ॥
सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे,
लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी,
चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ॥ ३ ॥
सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु,
चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते,
दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे ॥ ४ ॥

अस्य चानन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा--स-र्वशास्त्रपरिज्ञानेन मुनिरित्यमनुमन्यतेत्येवंभूतानु-ष्ठानाद्ययनात् समाध्ययनान्, [illegible] समाख्यातवान् इति, 'आघ' ति—आख्यातवान् कोऽसौ ?-- म तिमान्—मननं मतिः—समस्तपदार्थपरिज्ञानं तद् विद्यते यस्यासौ मतिमान् केवलज्ञानीत्यर्थः, तथाऽस्य तीर्थकरो-गोपादानात्तीर्थकृद् गृह्यते, तत्रापि प्रत्यासन्नत्वाद्वर्ध-मानस्वामी गृह्यते, किमाख्यातवान् ?— धर्म—श्रुतचा-रित्राख्यम्, कथम् ?—अनुविचिन्त्य—केवलज्ञानेन ज्ञात्वा-प्रज्ञापनायोग्यान् पदार्थानाश्रित्य धर्मं भाषते, यदि वा--ग्राहकमनुविचिन्त्य कस्यार्थस्याय ग्रहणसमर्थः ?, तथा-कोऽयं पुरुषः ? कञ्च नतः ? किं वा दर्शनमापन्नः ? इत्ये-वं पर्यालोच्य, धर्मशुश्रूषको वा मन्यते, यथा--प्रत्येक-मस्मदभिप्रायमनुविचिन्त्य भगवान् धर्मं भाषते, युगप-त्सर्वेषां स्वभाषापरिणत्या संशयापगमादिति, किं भूत धर्मं भाषते ?—ऋजुम्—अवक्रं यथावस्थितवस्तुस्वरूपनि-रूपणतो, न यथा शाक्याः सर्वं क्षणिकमभ्युदगमस्य कृतनाशा-कृताभ्यागमदोषभयात्सन्तानाभ्युपगमं कृतवन्तः, तथा वन-स्पतिमचेतनत्वेनाभ्युपगम्य स्वयं न छिन्दन्ति तच्छेदना-द्युपदेशं तु ददति, तथा कार्षापणादिकं हिरण्यं स्वतो न स्पृशन्ति अपरेण तु तत्परिग्रहतः क्रयविक्रयं कारय-न्ति, तथा सांख्याः सर्वमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव-नित्यमभ्युपगम्य कर्मबन्धमोक्षाभावप्रसङ्गदोषभयादाविर्भा-वतिरोभावावाश्रितवन्त इत्यादिकौटिल्यभावपरिहारेणावक्र-

तत्त्वं धर्ममाख्यातवान्, तथा भगवता स्थित-मोक्षं तत्कार्ये वा प्रत्यक्षं योग्यं [illegible]—[illegible] येन धर्मार्थी धर्मं समाधिरूपं समाख्यातवान् । यदि वा-धर्ममाख्यातवान्-[illegible] स धर्मं प्रतिपादितवान् । सुधर्मस्वाम्याह— तमिमं—धर्मं समाधिं वा भगवदुपदिष्टं शृणुत यूयम् । तद्यथा न विद्यते इहलोकपरलोकरूपा प्रतिज्ञा—आशंसा तपोऽनुष्ठाने कुर्वतो यस्यासावप्रतिज्ञो, भिक्षणशीलो भिक्षुः, [illegible], समाधिं प्राप्तः समाधिप्राप्तः, धर्मं धर्मसमाधिं स प्राप्तोऽसावेवेति । ('अणियाणभूतेसु परि-व्वएज्जा' अस्य पदस्य व्याख्या 'अणियाणभूय' शब्दे प्रथमभाग ३३८ पृष्ठे गता ।) तथा प्राणातिपातादीनि तु कर्माणि निदानानि वर्तन्ते, प्राणातिपातोऽपि द्रव्यभेदका-[illegible] । तत्र प्राणातिपातनिवृत्तिरूपं समा-ऽपि प्राणातिपातं क्रियमाणः [illegible] क्रियते । यदि वा—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु त्रिषु लोकेषु तथा प्राच्यादिषु दिक्षु विदिक्षु सर्वत्र, इत्यत्र प्राणातिपातस्वरूप— दर्शयति यथा—द्वीन्द्रियादयो ये च स्थावराः पृथि-व्यादयः, [illegible], [illegible]-[illegible] वा प्राणाः—प्राणिनः, भावसा-[illegible] लाढ-एतान् प्राणिनः प्राणिनो हस्तपादाभ्यां सं-यम्य-बद्ध्वा उपलक्षणार्थत्वात् [illegible] कायेन वा [illegible] तु [illegible] न कुर्यात् । यदि वा-एतान् प्राणिनो हस्तौ पादौ च संयम्य नैव हिंस्यात् । चशब्दादुत्त्रासनं व्या-[illegible] मनोवाक्कायकर्मसु सं-यतो भवन् भावसमाधिमनुपालयन् । तथा परैरदत्तं न गृह्णीयादिति तृतीयव्रतोपन्यासः, अदत्तादाननिषेधाच्चा-[illegible] परिग्रहो निषिद्धो भवति, [illegible] इति [illegible] । समस्तमनन्यवृत्तपालनोपदेशश्च सू-त्रपादेऽप्यर्थतो निरस्त इति ॥२॥ ज्ञानदर्शनसमाधिमधिकृ-त्याह—स्वाख्यातः श्रुतचारित्राख्यो धर्मो येन साधुनाऽ-सौ स्वाख्यातधर्मा, अनेन ज्ञानसमाधिरुक्तो भवति, न हि [illegible] स्वाख्यातधर्मत्वमुपपद्यत इति भावः । तथा विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिर्विद्वज्जुगुप्सा वा तां [वि] तीर्णः—अतिक्रान्तः 'तदेव च नि:शङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितम्' इत्यनेन निःशङ्कतया न क्वचिच्चित्तविप्लुतिं विधत्त इत्यनेन दर्शनसमाधिः प्रतिपादितो भवति, येन केनचित्प्रासुकाहा-रोपकरणादिगतेन विधिनाऽऽत्मानं यापयति—पालयतीति लाढः, स एवम्भूतः संयमानुष्ठानं चरेद्—अनुतिष्ठेत्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः—पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वा-त्मातुल्यः, आत्मवत्सर्वप्राणिनः पश्यतीत्यर्थः, एवम्भूत एव भावसाधुर्भवतीति । तथा चोक्तम्-"जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं । ण हणेइ ण हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो ॥ १ ॥" यथा च ममाऽऽक्रुश्यमानस्या-भ्याख्यायमानस्य वा दुःखमुत्पद्यते एवमन्येषामपीत्येवं म-त्वा प्रजास्वात्मसमो भवति । तथा इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतं कालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी वा 'आय' कर्माश्रवलक्षणं न कुर्यात् । तथा—चयम्-उपचयमाहारोप-करणादेर्धनधान्यद्विपदचतुष्पदादेर्वा परिग्रहलक्षणं सञ्चय-मायत्यर्थं सुष्ठु तपस्वी सुतपस्वी-विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहो भि-

क्षुर्न कुर्यादिति ॥ ३ ॥ (गाथापूर्वार्द्धव्याख्या ' इत्थी ' शब्दे द्वितीयभाग ६१४ पृष्ठे गता ।) स एवम्भूतः सर्वबन्धनविप्रमुक्तः सन् पश्य-अवलोकय पृथक् पृथिव्यादिषु कायेषु सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् सत्त्वान्-प्राणिनः अपिशब्दाद्वनस्पतिकाये साधारणशरीरिणोऽनन्तानप्येकत्वमापन्नान् पश्य, किं भूतान् ?-दुःखेन-असातवेदनीयोदयरूपेण दुःखयतीति वा दुःखम् अष्टप्रकारं कर्म तेनार्त्तान्-पीडितान् परिसमन्तात्संसारकटाहोदरे स्वकृतेनेन्धनेन परिपच्यमानान्-क्वथ्यमानान्, यद्वा—दुष्प्रणिहितेन्द्रियानार्त्तध्यानोपगतान्मनोवाक्कायैः परितप्यमानान् पश्येति सम्बन्धो लगनीय इति ।

अपि च—

एतेसु बाले य पकुव्वमाणे,
आवट्टती कम्मसु पावएसु ।
अतिवायतो कीरति पावकम्मं,
निउंजमाणे उ करेइ कम्मं ॥ ५ ॥
आदीणवित्तीव करेति पावं,
मंता उ एगंतसमाहिमाहु ।
बुद्धे समाही य रते विवेगे,
पाणातिवाता विरते ठियप्पा ॥ ६ ॥
सव्वं जगं तू समयाणुपेही,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो,
संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥ ७ ॥
आहाकडं चेव निकाममीणे,
नियामचारी य विसण्णमेसी ।

एतेषु प्राग् निर्दिष्टेषु प्रत्येकसाधारणप्रकारेषु एतापक्रियया बालवत् बाल अज्ञश्चशब्दादितरोऽपि संघट्टनपरितापनापद्रावणादिकेनानुष्ठानेन पापानि-कर्माणि प्रकर्षेण कुर्वाणस्तेषु च पापेषु कर्मसु सत्सु एतेषु वा पृथिव्यादिजन्तुषु गतः सन् तेनैव संघट्टनादिना प्रकारेणानन्तश आवर्त्यते-पीड्यते दुःखभाग्भवतीति । पाठान्तरं वा-एव तु बाले—एवमित्युपदर्शने यथा चौरः पारदारिको वा असदनुष्ठानेन हस्तपादच्छेदान् [illegible]वधादींश्चेहैवाप्नोत्येवं सामान्यदृष्टेनानुमानेनान्योऽपि पापकर्मकारी इहामुत्र च दुःखभाग्भवति, ' आउट्टति त्ति क्वचित्पाठ , ततोऽशुभान् कर्मविपाकान् दृष्ट्वा श्रुत्वा मत्वा वा तेभ्योऽसदनुष्ठानेभ्य 'आउट्टति' त्ति-निवर्त्तते , कानि पुन पापकारणानि येभ्य पुन प्रवर्त्तते निवर्त्तते वा इत्याशङ्क्य तानि दर्शयति-अतिपातत -प्राणातिपातत प्राण्य[illegible] [illegible]पणात् ततोऽत्यर्थमशुभम्—ज्ञानावरणादिकं कर्म क्रियते-समादीयते, तथा परानपि भृत्यादीन् प्राणातिपातादौ नियोजयन्—व्यापारयन् पापं कर्म करोति, तुशब्दान्मृषावादादिकं च कुर्वन् कारयंश्च पापकं कर्म समुपचिनोतीति ॥ ५ ॥ [illegible]—[illegible]—[illegible]—[illegible] वृत्ति-[illegible] [illegible] [illegible]

म्भूतोऽपि पापं कर्म करोति, पाठान्तरं वा (आदीनभोज्यपि पापं करोतीति ' आईणभोइ ' शब्दे द्वितीयभाग ७ पृष्ठे गतम् ।) द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनैकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्ति, अन्ते चावश्यमसमाधिमुत्पादयन्ति, तथा चोक्तम्-" यद्यपि निषेव्यमाणा, मनसः परितुष्टिकारका विषयाः । किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ता ॥ १ ॥ " इत्यादि , तदेवं बुद्धः-अवगततत्त्वः स चतुर्विधेऽपि ज्ञानादिके रतो-व्यवस्थितो विवेके वा आहारोपकरणकषायपरित्यागरूपे द्रव्यभावात्मके रतः सन्नेवभूतश्च स्यादित्याह-प्राणानां दशप्रकाराणामप्यतिपातो-विनाशस्तस्माद् विरतः स्थितः सम्यग्मार्गेषु आत्मा यस्य सः, पाठान्तर वा—'ठियच्चि' त्ति-स्थिता शुद्धस्वभावात्मना अर्चिः-लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चिः, सुविशुद्धस्थिरलेश्य इत्यर्थः ॥ ६ ॥ किंच—सर्वं—चराचरं जगत्—प्राणिसमूहं समतया प्रेक्षितुं शीलमस्य स समतानुप्रेक्षी समतापश्यको वा, न कश्चित्प्रियो नापि द्वेष्य इत्यर्थः तथा चोक्तम्-"नत्थि य सि कोइ वि(दि)स्सो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु ।" तथा-' जह मम ण पियं दु ख ' मित्यादिसमन्वितश्च न कस्यचित्प्रियमप्रियं वा कुर्यान्निःसङ्गतया विहरेद्, एवं हि सम्पूर्णभावसमाधियुक्तो भवति । कश्चित्तु भावसमाधिना सम्यगुत्थानेनोत्थाय परीषहोपसर्गैस्तर्जितो दीनभावमुपगम्य पुनर्विषण्णो भवति, विषयार्थी वा कश्चिद्गार्हस्थ्यमप्यवलम्बते, रससातागौरवगृद्धो वा पूजासत्काराभिलाषी स्यात् , तदभावे दीन सन् पार्श्वस्थादिभावेन वा विषण्णो भवति, कश्चित्तथा सम्पूजनं वस्त्रपात्रादिना प्रार्थयेत् , श्लोककामी च-श्लाघाभिलाषी च व्याकरणगणितज्योतिषनिमित्तशास्त्राण्यधीते कश्चिदिति ॥ ७ ॥ किंचान्यत्-साधूनाधाय—उद्दिश्य कृतं निष्पादितमाधाकर्मेत्यर्थ , तदेवम्भूतमाहारोपकरणादिकं निकामम्—अत्यर्थं य प्रार्थयते स निकाममीणे इत्युच्यते । तथा-निकामम्-अत्यर्थम् आधाकर्मादीनि तन्निमित्तं निमन्त्रणादीनि वा सरति-चरति तच्छीलश्च स तथा, एवम्भूत पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादा संयमोद्योगे विषण्णाना विषण्णभावमेषते, सदनुष्ठानविषण्णतया संसारपङ्कावमग्नो भवतीति यावत् , (इत्थीसु' इत्यारभ्य ' परिग्गह शब्दे पञ्चमभाग ५५६ पृष्ठे गतम् ।) तथा ' वेराणुबिद्ध ' इत्यादि ' धम्म ' शब्दे ४ भाग २६७६ पृष्ठे गतम् ।)

किंचान्यत्—

आय ण कुज्जा इह जीवियट्ठी,
असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धिं ,
हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ॥ १० ॥
आहाकडं वा ण णिकामएज्जा ,
णिकामयंते य ण संथवेज्जा ।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे,
चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणो ॥ ११ ॥
[illegible] इत्यादेरभिमानिमित्तपादिनोऽप्रकार-

कर्म लाभो वा तम्, इह—अस्मिन् संसारे असंयमजीवितार्थी भोगप्रधानजीवितार्थीत्यर्थः। यदिवा—आजीविकाभयात् द्रव्यसञ्चयं न कुर्यात्। पाठान्तरं वा—'छन्दणं कुज्जा' इत्यादि, छन्दः-प्रार्थनाभिलाष इन्द्रियाणां स्वविषयाभिलाषो वा तत् न कुर्यात्, तथा असज्जमानः-सङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकलत्रादिषु परिव्रजेत्-उद्युक्तविहारी भवेत्, तथा 'गृद्धिं'—गार्ध्यं विषयेषु शब्दादिषु विनीय—अपनीय निशम्य—अवगम्य पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भावको भवेत्, तदेव दर्शयति-हिंसया-प्राण्युपमर्दरूपया अन्वितां-युक्तां कथां न कुर्यात्—न तत् ब्रूयात् यत्परात्मनोरुभयोर्वा बाधकं वच इति भावः। तद्यथा—अश्नीत पिवत खादत मोदत हत छिन्त प्रहरत पचतेत्यादिकथां पापोपादानभूतां न कुर्यादिति ॥ १० ॥ अपि च—साधूनाधाय कृतमाधाकृतमौद्देशिकमाधाकर्मेत्यर्थः, तदेवंभूतमाहारजातं निश्चयेनैव न कामयेत्—नाभिलषेत् तथाविधाहारादिकं च निकामयत'—निश्चयेनाभिलषत' पार्श्वस्थादींस्तत्सम्प्रदानप्रतिग्रहसंवाससंभाषणादिभिः न सस्थापयेत्—नोपबृंहयेत्, तैर्वा सार्धं संस्तवं न कुर्यादिति। किञ्च—'उरालं' ति-औदारिकं शरीरं—विकृष्टतपसा कर्मनिर्जरामनुप्रेक्षमाणो धुनीयात्—कृशं कुर्यात्। यदि वा—'उरालं' ति बहुजन्मान्तरसञ्चितं कर्म तदुदारं मोक्षमनुप्रेक्षमाणो धुनीयात्—अपनयेत्, तस्मिँश्च तपसा धूयमाने कृशीभवति शरीरके कदाचित् शोकः स्यात्, तं त्यक्त्वा याचितोपकरणवदनुप्रेक्षमाणः शरीरकं धुनीयादिति सम्बन्धः। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

किञ्चाऽन्यत्—

इत्थीसु या आऽरय मेहुणाउ,
परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे।
उच्चावएसुं विसएसु ताई,
निस्संसयं भिक्खु समाहिपत्ते ॥ १३ ॥

दिव्यमानुषतिर्यग्रूपासु त्रिविधास्वपि स्त्रीषु विषयभूतासु यत् मैथुनम्—अब्रह्म तस्माद् आ—समन्तान्न रत —अरतो निवृत्त इत्यर्थ, तुशब्दात्प्राणातिपातादिनिवृत्तश्च, तथा परि-समन्ताद् गृह्यते इति परिग्रहो धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिसंग्रह तथाऽऽत्माऽऽत्मीयग्रहस्तं चैवाकुर्वाण सन्नुच्चावचेषु-नानारूपेषु विषयेषु यदिवोच्चा-उत्कृष्टा अवचा जघन्यास्तेष्वरक्ताद्विष्ट त्रायी-अपरेषां च त्राणभूतो विशिष्टोपदेशदानतो नि सशय—निश्चयेन परमार्थतो भिक्षु —साधुरेवम्भूतो मूलोत्तरगुणसमन्वितो भावसमाधिं प्राप्तो भवति. नापर कश्चिदिति। उच्चावचेषु वा विषयेषु भावसमाधिं प्राप्तो भिक्षुर्न सशयं याति नानारूपान् विषयान् न सश्रयनीत्यर्थ ॥ १३ ॥ (१४ गाथा 'परिसह' शब्दे पञ्चमभागे ६४७ पृष्ठे उक्ता।)

किञ्चान्यत्—

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो,
लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा।
गिहं न छाए ण वि छायएज्जा,
संमिस्सभावं पयहे पयासु ॥ १५ ॥

वाचि वाचा वा गुप्तो वाग्गुप्तो-मौनव्रती सुपर्यालोचितधर्मसम्बन्धभाषी वेत्येवं भावसमाधिं प्राप्तो भवति, तथा शुद्धां लेश्यां तैजस्यादिकां समाहृत्य-उपादाय अशुद्धां च कृष्णादिकामपहृत्य परि—समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेत् गच्छेदिति। किंचान्यत्—गृहम्—आवसथ स्वतोऽन्येन वा न छादयेदुपलक्षणार्थत्वादस्यापरमपि गृहादेरुरगवत्परकृतबिलनिवासित्वात्संस्कारं न कुर्यात्। अन्यदपि गृहस्थकर्तव्य परिजिहीर्षुराह—प्रजायन्त इति प्रजास्तासु—तद्विषये येन कृतेन सम्मिश्रभावो भवति तत्प्रजह्यात्। एतदुक्तं भवति-प्रव्रजितोऽपि सन् पचनपाचनादिकां क्रियां कुर्वन् कारयंश्च गृहस्थैः सम्मिश्रभाव भजते। यदि वा—प्रजा—स्त्रियस्तासु ताभिर्वा यः सम्मिश्रीभावस्तमभिकलसयमार्थी प्रजह्यात्-परित्यजेदिति ॥ १५ ॥ ('जे केइ'० इत्यादि १६—गाथा 'अकिरियाआय' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे गता।)

किंचान्यत्—

पुढो य छंदा इह माणवा उ,
किरियाकिरियं च पुढो य वायं।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं,
पवड्ढती वेरमसंजतस्स ॥ १७ ॥

पृथक्—नाना छन्द —अभिप्रायो येषां ते पृथक्छन्दा इह अस्मिन्मनुष्यलोके मानवा-मनुष्या, तुरवधारणे, तमेव नानाभिप्रायमाह—क्रियाऽक्रिययो पृथक्त्वेन क्रियावादमक्रियावाद च समाश्रिता, तद्यथा-" क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्। यत स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥ १ ॥ " इत्येवं क्रियैव फलदायित्वेनाभ्युपगता क्रियावादमाश्रिता, एवमेतद्विपर्ययेणाक्रियावादमाश्रिताः, एतयोश्चोत्तरत्र स्वरूप न्यक्षेण वक्ष्यते ते च नानाभिप्राया मानवा' क्रियाऽक्रियादिक पृथग्वादमाश्रिता मोक्षहेतु धर्ममजानाना आरम्भेषु सक्ता इन्द्रियवशगा रससातागौरवाभिलाषिण एतत्कुर्वन्ति, तद्यथा- 'जातस्य-उत्पन्नस्य बालस्य—अज्ञस्य सदसद्विवेकविकलस्य सुखैषिणो देहम्—शरीरं 'पकुव्व' त्ति—खण्डश कृत्वाऽऽत्मन सुखमुत्पादयन्ति, तदेव परोपघातक्रिया कुर्वतोऽसयतस्य कुतोऽप्यनिवृत्तस्य जन्मान्तरशतानुबन्धि वैरं परस्परोपमर्दकारि प्रकर्षेण वर्धते। पाठान्तरं वा—'जायाएँ बालस्स पगब्भणाए' बालस्य—अज्ञस्य हिंसादिषु कर्म्मसु प्रवृत्तस्य निरनुकम्पस्य या जाता प्रगल्भता-धार्ष्ट्यं तया वैरमेव प्रवर्धत इति सम्बन्ध। ॥ १७ ॥ (१८-गाथा 'आउक्खय' शब्दे द्वितीयभागे २७ पृष्ठे गता।)

किंचान्यत्—

जहाहि वित्तं पसवो य सव्व,
जे बंधवा जे य पिया य मित्ता।
लालप्पती सेऽवि य एइ मोहं,
अन्ने जणा तंसि हरंति वित्तं ॥ १६ ॥

सीहं जहा खुड्डुमिगा चरंता ,
दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं ,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥ २० ॥

वित्त-द्रव्यजातं तथा पशवो-गोमहिष्यादयस्तान् सर्वान् जहाहि-परित्यज तेषु ममत्वं मा कृथाः, ये बान्धवा मातापित्रादय. श्वशुराद्यश्च पूर्वापरसंस्तुता ये च प्रिया मित्राणि सह पांसुक्रीडितादयस्ते एते मातापित्रादयो न किंचित्तस्य परमार्थतः कुर्वन्ति, सोऽपि च वित्तपशुबान्धवमित्रार्थी अत्यर्थं पुनः पुनर्वा लपति लालप्यते तद्यथा-हे मातः ! हे पितरित्येवं तदर्थं शोकाकुलः प्रलपति, तदर्जनपरश्च मोहमुपैति । रूपवानपि कण्डरीकवत्, धनवानपि मम्मणवणिग्वत् धान्यवानपि तिलकश्रेष्ठिवद्, इत्येवमसावप्यसमाधिमान् मुह्यते (ति) यच्च तेन महता क्लेशेनापरप्राण्युपमर्देनोपार्जितं वित्तं तदन्ये जनाः ' से ' तस्यापहरन्ति जीवत एव मृतस्य वा, तस्य च क्लेश एव केवलं पापबन्धश्चेत्येवं मत्वा पापानि कर्माणि परित्यजेत्तपश्चरेदिति ॥ १९ ॥ तपश्चरणोपायमधिकृत्याह—यथा क्षुद्रमृगाः—क्षुद्राटव्यपशवो हरिणजात्याद्याः चरन्तः-अटव्यामटन्तः सर्वतो बिभ्यतः परिशङ्कमाना. सिंहं व्याघ्रं वा आत्मोपद्रवकारिणं दूरेण परिहृत्य चरन्ति-विहरन्ति, एवं मेधावी-मर्यादावान् , तु-विशेषणे सुतरां धर्मं समीक्ष्य-पर्यालोच्य पापं कर्म-असदनुष्ठानं दूरेण मनोवाक्कायकर्मभि. परिहृत्य परि-समन्ताद् व्रजेत् सयमानुष्ठायी तपश्चारी च भवेदिति, दूरेण वा पापं-पापहेतुत्वात्सावद्यानुष्ठान सिंहमिव मृग. स्वहितमिच्छन् परिवर्जयेत्-परित्यजेदिति ॥ २० ॥

अपि च—

संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाई दुहाई मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ २१ ॥
मुसं न बूया मुणि अत्तगामी,
णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं ।
सयं न कुज्जा न य कारवेज्जा,
करंतमन्नं पि य णाणुजाणे ॥२२॥

मननं मतिः सा शोभना यस्यास्त्यसौ मतिमान्, प्रशंसाया मतुप्, तदेवं शोभनमतियुक्तो मुमुक्षुर्नर. सम्यक् श्रुतचारित्राख्य धर्मं भावसमाधिं वा बुध्यमानस्तु-विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वाणस्तु पूर्वं तावन्निषिद्धाचरणात् निवर्तेत , अतस्तद्दर्शयति—पापात्—हिंसानृतादिरूपात्कर्मण आत्मान निवर्तयेत्, निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदा भवतीत्यतोऽशेषकर्मक्षयमिच्छन्नादावेव आश्रवद्वाराणि निरुन्ध्यादित्यभिप्राय. । किं चान्यत्-हिंसा-प्राणिव्यपरोपण तया ततो वा प्रसूतानि—जातानि यान्यशुभानि कर्माणि तान्यत्यन्त नरकादिषु यातनास्थानेषु दु खानि-दु खोत्पादकानि वर्त्तन्ते, तथा वैरमनुबध्नन्ति तच्छीलानि च वैरानुबन्धीनि—जन्मशतसहस्रदुर्मोचानि, अत एव महद्भयं येभ्यः सकाशात्तानि महाभयानीति, एवं च मत्वा मतिमानात्मानं पापान्निवर्तयेदिति । पाठान्तरं वा 'निव्वाणभूए व परिव्वएज्जा' अस्यायमर्थः—यथाहि निर्वृतो निर्व्यापारत्वात्कस्यचिदुपघाते न वर्तते एव साधुरपि सावद्यानुष्ठानरहितः परि—समन्ताद् व्रजेदिति ॥२१॥ तथा आप्तो-मोक्षमार्गस्तद्गामी-तद्गमनशील आत्महितगामी वा, आप्तो वा प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञस्तदुपदिष्टमार्गगामी मुनिः—साधुः मृषावादम्-अनृतमयथार्थं न ब्रूयात् सत्यमपि प्राण्युपघातकमिति, ' एतदेव मृषावादवर्जनम् ' कृत्स्न-संपूर्णं भावसमाधिं निर्वाणं चाहुः, सांसारिका हि समाधयः-स्नानभोजनादिजनिताः शब्दादिविषयसंपादिता वा अनैकान्तिका नात्यन्तिकत्वेन दुःखप्रतीकाररूपत्वेन वा असम्पूर्णा वर्तन्ते, तदेवं मृषावादमन्येषां वा व्रतानामतिचारं स्वयमात्मना न कुर्यान्नाप्यपरेण कारयेत्तथा कुर्वन्तमप्यपरं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुमन्येत इति ॥२२॥ सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आ० चू० । सामर्थ्ये, आव० ६ अ० । शीले , स्था० ४ ठा० १ उ० । (आहारविषयकसमाधिवक्तव्यता ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ५२२ पृष्ठे गता ।) (समाधिद्वारं 'समाहाण ' शब्देऽस्मिन्भागे गतम् ।)

समाहिइंदिय-समाहितेन्द्रिय-पुं० । संयतेन्द्रिये,सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

समाहिकाम-समाधिकाम-त्रि०।समाधिमभिलषति,व्य०१उ०।

समाहिजोय-समाधियोग-पुं० । समाधिः-धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधानो योगः-मनोवाक्कायव्यापारः । मनोवाक्कायव्यापारेण धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

समाहिट्ठाण-समाधिस्थान-न० । समाधे-रागादिरहितचित्तस्य स्थानानि—आश्रयाः समाधिस्थानानि । पा० । प्रशान्ताश्रयेषु, स० १० सम० । दशा० । चित्तसमाधिस्थानानि ' चित्तसमाहिट्ठाण ' शब्दे तृतीयभागे ११८३ पृष्ठे गतानि ।) (ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानान्यपि स्वस्वस्थाने ।)

समाहिट्ठाय-समाधिष्ठातृ-त्रि० । प्रभौ, आचा० । गृहपतौ, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० ।

समाहिपडिमा-समाधिप्रतिमा-स्त्री० । समाधिः श्रुतचारित्रं च तद्विषया प्रतिमा-प्रतिज्ञाभिग्रह समाधिप्रतिमा । प्रतिमाभेदे , स्था० ३ ठा० १ उ० । समाधिप्रतिमा दशाश्रुतस्कन्धोक्ता द्विभेदा-श्रुतसमाधिप्रतिमा, सामायिकादिचारित्रसमाधिप्रतिमा च । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-समाहिपडिमा, उवहाणपडिमा, विवेगपडिमा, विउसग्गपडिमा । (सू० २५१×)

(व्याख्या ' पडिमा ' शब्दे पञ्चमभागे ३३२ पृष्ठे गता ।)

समाहिवहुल-समाधिवहुल-त्रि० । चित्तस्वास्थ्यप्रचुरे, प्रश्न० ३ सव० द्वार । समाधिस्तु प्रशमवाहिता ज्ञानादि वा । तत्प्रचुरे , स्थ० ३ ठा० ४ उ० ।

समाहिमरण-समाधिमरण-न० । भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनानामन्यतमस्मिन् मरणभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

समाहिय-समाधित-त्रि० । शोभने, बीभत्से,दुष्टे च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

समाहित-त्रि० । सम्यगाहिते व्यवस्थापिते च । सूत्र०१ श्रु० ५ अ० १ उ० । समापिते, घिशे० । शुभाऽध्यवसयासहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । सम्यगाख्याते , सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । धर्मादिध्यानयुक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । उपयुक्ते, आचा० २ श्रु० ४ चू० । समाधिं प्राप्ते , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । आचा० । व्य० । आ०म० । समाधियुक्ते, सघा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

समाहृत-त्रि० । गृहीत, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० , सम्यग्व्यवस्थापिने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । आ० म०

समाहियच्च-समाहितार्च-त्रि० । सम्यगाहिता-व्यवस्थापिता अर्चा-शरीरं येन स समाहितार्चः । नियमितकायव्यापारे, अर्चा-लेश्या सम्यगाहिता लेश्या येन स समाहितार्चः । अतिविशुद्धाध्यवसाये, यदि वा-अर्चा-क्रोधाऽध्यवसायात्मिका ज्वाला । समाहिता-उपशमिता अर्चा येन स तथा । अक्रोधने , आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

समाहियप्प-समाहितात्मन्-त्रि० । सम्यक्चरणे, चारित्रे व्यवस्थित. समुद्युक्त साधुर्मुनिश्च चतुर्ष्वपि भावसमाधिभेदेषु दर्शनज्ञानतपश्चारित्ररूपेषु सम्यगाहितो व्यवस्थापित-आत्मा येन स समाहितात्मा । ध्यानापादकगुणेषु उपयुक्तात्मनि , दश० १० अ० ।

समाहियमण-समाहितमनस्-त्रि० । समं-तुल्यं रागद्वेषाकलितमाहितमुपनीतमात्मनि मनो येन स तथा । समाहितात्ममनस्के, प्रश्न० १ सव० द्वार ।

समाहिरय-समाधिरत-त्रि० । ऐकान्तिकात्यन्तिकसुखोत्पादके समाधौ रते , सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

समाहिराय-समाधिराज-पुं० । सर्वयोगाग्रेसरत्वात् (बौद्धमतेन) नैरात्म्यदर्शने , द्वा० २४ द्वा० ।

समाहिवीरिय-समाधिवीर्य-न० । मनआदीना समाधाने , नि० चू० १ उ० ।

समि-शमिन्-त्रि० । शमोऽस्यास्तीति शमी । जितमनोवेगे , आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

समिइ-समिति-स्त्री० । सम् पूर्वस्येण् गतावित्यस्य क्तिन्प्रत्यान्तस्य समितिर्भवति । समेकीभावेनेति -समिति । शोभनैकाग्रपरिणामस्य चेष्टायाम् , आव० ४ अ० । उत्त० । सूत्र० । दशा० । सम्यक् प्रवृत्तौ , प्रश्न० १ संव० द्वार । संथा० । समितिरिति पञ्चाना चेष्टाना तान्त्रिकी संज्ञा । ध० २ अधि० । नि० चू० । प्रव० । दश० । चतुर्विंशतिसङ्ख्याके उत्तराध्ययने , स० ३६ समं० । उत्त० । सम्यग्वर्जने , प्राणातिपातवर्जने, ओघ० । स० । आचा० । स्था० । आव० । द्वा० । सम्यग्गमने, सम्यक् प्रवर्त्तने , उत्त० २५ अ० । समागमे , स० ।

पंच समिईओ पएणत्ताओ , तं जहा-इरियासमिई भासासमिई एसणासमिई आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिई । (सू० ५ +)

तथा समितयः-सङ्गताः प्रवृत्तयः , तत्रेर्यासमितिः-गमने सम्यक् सत्त्वपरिहारतः प्रवृत्तिः , भाषासमितिः-निरवद्यवचनप्रवृत्तिः , एषणासमितिः-द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जनेन भक्तादिग्रहणं प्रवृत्तिः , आदाने-ग्रहणे भाण्डमात्रयोरुपकरणपरिच्छदस्य निक्षेपणे अवस्थापने समितिः-सुप्रत्युपेक्षितादित्वाक्त्वेन प्रवृत्तिश्चतुर्थी , तथोच्चारस्य-पुरीषस्य प्रस्रवणस्य-मूत्रस्य खेलस्य-निष्ठीवनस्य शिङ्घाणस्य-नासिकाश्लेष्मणो जल्लस्य-देहमलस्य परिष्ठापनायां-परित्यागे समितिः-स्थण्डिलादिदोषपरिहारतः प्रवृत्तिरिति पञ्चमी । स० ५ सम० ।

अट्ठ समितितो पण्णत्ताओ , तं जहा-ईरियासमिती भासासमिती एसणासमिती आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिती उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिती मणसमिती वइसमिती कायसमिती । (सू० ६०३)

'अट्ठ समिईं' त्यादि, सम्यगिति -प्रवृत्तिः समितिः, ईर्यायां-गमने समितिश्चक्षुर्व्यापारपूर्वकतयेतीर्यासमितिः, एवं भाषायां निरवद्यभाषणतः , एषणायामुद्गमादिदोषवर्जनतः , आदाने-ग्रहणे भाण्डमात्रायाः-उपकरणमात्राया भाण्डस्य वा-वस्त्राद्युपकरणस्य मृन्मयादिपात्रस्य वा मात्रस्य च-साधुभाजनविशेषस्य निक्षेपणायां च समिति. सुप्रत्युपेक्षितसुप्रमार्जितक्रमेणेति, उच्चारप्रश्रवणखेलशिङ्घाणजल्लाना पारिष्ठापनिकाया समिति स्थण्डिलविशुद्धादिक्रमेण, खेलो-निष्ठीवन शिङ्घाणो-नासिकाश्लेष्मेति, मनस कुशलतायां समिति , वाचोऽकुशलत्वनिरोधे समिति , कायस्य स्थानादिषु समितिरिति । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

अट्ठसु वि समिईसु अ, दुवालसंगं समोअरइ जम्हा ।
तम्हा पवयणमाया, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥ ४५६॥

'अष्टास्वपि' अष्टसङ्ख्यास्वपि समितिषु द्वादशाङ्ग-प्रवचनं समवतरति-संभवति यस्मात्, ताश्चेहाभिधीयन्त इति गम्यते, तस्मात्प्रवचनमाता प्रवचनमातरो वोपचारत इदमध्ययनं भवति ज्ञातव्यमिति गाथार्थ । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेप । उत्त० । (य' समित स गुप्त इति ' अब्भुट्ठाण ' शब्दे, प्रथमभागे ६६३ पृष्ठे उक्तम् ।)

एषणासमितिमाह-

गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा ।
आहारमुवहिसिज्जाए, एए तिन्नि विसोहिए ॥ ११ ॥
उग्गमुप्पायणं पढमे, बिइए सोहेज्ज एसणं ।
परिभोगम्मि चउक्कं तु, विसोहिज्ज जयं जई ॥ १२ ॥

गवेषणायाम्-अन्वेषणाया ग्रहण च-स्वीकारं, उभयत्र प्राकृतत्वादेषणेति सबध्यते, ततो गवेषणायामेषणा ग्रहणे

चेषणा परिभोग—आसेवन तद्विषयैषणा परिभोगैषणा च था. 'आहारोवहिसिज्जाए' त्ति—वचनव्यत्ययात् आहारोपधिशय्यासु प्रतीतास्वैता-उक्तरूपा एषणा. सूत्रत्वाल्लिङ्गव्यत्ययात्तिस्रो विशोधयेत्-निर्दोषा विदध्यात्, पठ्यते च-"गवेसणाए गहणेणं, परिभोगेसणाणि य । आहारमुवहि सेज्जं, एए तिन्नि विसोहिय" ॥१॥ त्ति । इति अस्य च गवेषणादिभिराहारादीनि त्रीणि विशोधयेदिति सक्षेपार्थ, कथ विशोधयेत् ?, इत्याह-उद्गमश्चोत्पादना च उद्गमोत्पादनामति, समाहारस्तत्किमित्याह-विशोधयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः । किमुक्त भवति-आधाकर्मादिदोषपरिहारत उद्गम धात्र्यादिदोषपरित्यागतश्चोत्पादना शुद्धामादधीत 'पढमे' त्ति-प्रथमाया गवेषणायां 'बीए' त्ति-द्वितीयाया ग्रहणैषणायां शोधयेत् शङ्कितादिदोषत्यागत एषणां-ग्रहणकालभाविग्राह्यगतदोषान्वेषणात्मिका, परिभोगैषणायां चतुष्कं पिण्डशय्यावस्त्रपात्रात्मकम्, उक्तं हि-'पिंड सेज्जं च वत्थं च, चउत्थ पायमेव य' त्ति-विशोधयेदिह चतुष्कशब्देन तद्विषय उपभोग उपलक्षितः, ततस्त विशोधयेदिति । कोऽर्थः ?, उद्गमादिदोषत्यागतः शुद्धमेव चतुष्क परिभुञ्जीत, यदि वोद्गमादीनां दोषोपलक्षणत्वात्, 'उग्गम' त्ति-उद्गमदोषान् 'उप्पायण' त्ति-उत्पादनादोषान् 'एसण' त्ति-एषणादोषान् विशोधयेत्, चतुष्कं च संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणात्मकम्, अङ्गारधूमयोर्मोहनीयान्तर्गतत्वेनैकतया विवक्षितत्वाद् विशोधयेदुभयत्र शोधनमपनयनं 'जय' त्ति-यतमानो यतिस्तपस्वी । व्याख्याद्वयेऽपि च पुनस्तस्या एव क्रियाया अभिधानमतिशयख्यापनार्थमिति सूत्रद्वयार्थः ।

इदानीमादाननिक्षेपणसमितिमाह—

ओहोवहुवग्गहियं, भंडगं दुविहं मुणी ।
गिण्हंतो निक्खिवंतो य, पउंजेज्ज इमं विहिं ॥१३॥
चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जिज्जा जयं जई ।
आइए निक्खिविज्जा वा, दुहओ व समिए सया॥१४॥

'ओहोवहुवग्गहियं' ति—उपधिशब्दो मध्यनिर्दिष्टत्वात् डमरुकमणिग्रन्थिवदुभयत्र सबध्यते, तत ओघोपधिमौपग्रहिकोपधिं च भाण्डकमुपकरणं रजोहरणदण्डकादि द्विविधम्-उक्तभेदतो द्विभेदं मुनिः गृह्णन्नाददानो निक्षिपश्च क्वचित् स्थापयन् प्रयुञ्जीत व्यापारयेदिमं-वक्ष्यमाण विधिन्यायम् । तमेवाह-चक्षुषा-दृष्ट्या 'पडिलेहित्त' त्ति-प्रत्युपेक्ष्यावलोक्य प्रमार्जयेत्-रजोहरणादिना विशोधयेत् यतमानो यतिस्तत 'आइए' त्ति-आददीत-गृह्णीयात् निक्षिपेद् वा स्थापयेत् 'दुहओ वं' त्ति-द्वावपि प्रक्रमादौधिकौपग्राहिकोपधी, यद्वा-द्विधाऽपि द्रव्यतो भावतश्च समितः प्रक्रमादादाननिक्षेपणासमितिमान् सन् सदा-सर्वकालमिति सूत्रद्वयार्थः । उत्त० २४ अ० । नैरन्तर्येण मीलनायाम्, अनु० । समुदये, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

समिइजोग-समितियोग-पुं० । सत्प्रवृत्तिसम्बन्धे, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

समिइमा-समितिमा-स्त्री० । समिता कणिका तया निष्पन्ना समितिमा । मण्डके पूपलिकायां च । बृ०१ उ०२ प्रक०।

समिक्ख-समीक्ष्य-अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, आव० ४ अ० । सूत्र० । केवलज्ञानेनार्थान् परिज्ञायेत्यर्थे,सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

समिच्च समेत्य-अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । मिलित्वेत्यर्थे, आ० म० १ अ० । आचा० ।

समि(द्ध)ड्ढ-समृद्ध-त्रि० । धनधान्यादिविभूतियुक्ते,च० प्र० १ पाहु०।ज्ञा० । नि० । वृद्धिमुपगते,प्रज्ञा० १ पद । उत्त० । पा० । व्य० । रा० । प्रश्न० । आ० म० । चन्द्रगुप्तसमये पाटलिपुत्रे नगरे स्थितानां सुस्थिताभिधसूरीणां शिष्ये, पिं० । ('खुड्ड' शब्दे तृतीयभागे ११६६ पृष्ठे कथा ।)

समिड्ढय-समृद्धक—पुं० । पक्षस्य षष्ठे दिवसे,ज्यो०४पाहु० ।

समिड्ढयर-समृद्धतर-पुं० । विशिष्टतरसंपदि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

समि(ड्ढि)द्धि-समृद्धि-स्त्री० । "अतः समृद्ध्यादौ वा" ॥८। १ । ४४ ॥ अनेनादेरत. प्राकृतो दीर्घादेशः । तदभावे-समिद्धी । प्रा० । "इत्कृपादौ" ॥८।१।१२८॥ अनेन ऋत इत्वम् । प्रा० । अहिंसायाम्,समृद्धिहेतुत्वेन समृद्धिरेवोच्यते । प्रश्न० १ संव०द्वार । सम्यक् प्रकारेण ऋद्धौ, संपदि, विभूतौ च । आव० ४ अ० । स्था० ।

समिय-शमिक-पुं० । शम एव शमिकः । शमभावे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

समिय-समित-त्रि० । सम्यगितः-प्राप्तो ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमसौ समित । प्राप्तज्ञानादिके, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । समितिभिः सहिते,सदायत्ने,आचा० १ श्रु० ९ अ०४उ० । ज्ञा० । संयते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । शुभेतरेषु रागद्वेषरहिते, आव० १ अ० । सम्यक् प्राप्ते, आव० ४ अ० । युक्ते, आचा० १ श्रु० ५अ०४ उ०।सदाचारानुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । समायुक्ते, बृ०६ उ० । उत्त० । प्रमाणोपेताङ्गे, पिं० । ज्ञा० । दशा० । भ० । 'समिया ण' ति-सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातस्तेन सम्यक्त्वे व्याकर्तुं वर्त्तन्ते, अविपर्यासास्त इत्यर्थ, सम्यञ्च, समञ्जन्तीति वा समिता वा सम्यक् प्रवृत्तयः। भ०२श०५उ०। समितो णाम पंचहिं समितीहिं समिता । नि० चू० २ उ० । उपयुक्ते, ज० २ वक्ष० । प्रश्न० । सम्यग्वा मोक्षमार्गं गते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आघ० । अष्टके, ध० ३ अधि० । चू० । सप्रमाणे, भ० ३ श० ८ उ० । निरन्तरे, स्था०१०ठा० ३ उ० । पुं० । गवेषणायामुदाहृते उपशमं नीते (आचा०१ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।) स्वनामख्याते आचार्ये, पिं० । वज्रस्वामिना मातुलके, आ० म० १ अ० ।

श्रमित-त्रि० । अभ्यासवत्सु, भ० २ श० ५ उ० ।

समियदंसण-समितदर्शन-पुं० । सम्यग् इत-गतं दर्शन यस्य स समितदर्शन । सम्यग्दृष्टौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

समिया-शमिता-स्त्री० । उपशमवत्तायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । सम्यक् समञ्जसे, आचा०१ श्रु० ६ अ० २ उ० । (अत्रत्या वक्तव्यता 'असमिय' शब्दे प्रथमभागे ८४४ पृष्ठे । तथा 'लोगसार' शब्दे षष्ठे भागे गता ।)

शमिता-स्त्री० । शमिनो भाव शमिता । शमे, आचा १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

साम्य–न०। सर्वत्र समरूपतायाम्, आचा०१श्रु०८अ०८उ०।

स(श)मि(ता)का–स्त्री०। उत्तमत्वेन स्थिरप्रकृत्या समवर्ती स्वप्रभार्या कोपोत्पत्त्यादिभावात् शमयत्युपादेयवचनतयेति शमिका। शमिता वा। सर्वेषामिन्द्राणामभ्यन्तरपर्षदि, भ० ३ श० १० उ०।

समियाचार–सम्यगाचार–पुं०। सम्यग्–स्वशास्त्रविहितानुष्ठानादविपरीत आचार –अनुष्ठानं येषां ते सम्यगाचाराः। सदाचारेषु साधुषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

समिताचार–पुं०। सम्यग् वा इतो व्यवस्थित. आचारो येषां ते समिताचारा। सदाचारेषु भिक्षुषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

समियापरियाय–शमितापर्याय–पुं०। शमिता शमोऽस्यास्तीति शमी, तद्भाव शमिता, पर्याय'–प्रव्रज्या शमितया पर्याय प्रव्रज्याऽस्येति बहुव्रीहि'। तथाविधे सुश्रमणे, आचा०१श्रु०।

सम्यक्पर्याय–पुं०। सम्यक् पर्यायोऽस्येति सम्यक्पर्यायः। साधुपर्यायवति साधौ, आचा० १ श्रु०।

समिला–समिला–स्त्री०। शकटोपकरणभेदे, आ० म० १ अ०।

समिसंगलिया–शमीसङ्गलिका–स्त्री०। शमी वृक्षविशेषस्तस्य सङ्गलिका–फलिका। शमीवृक्षफलिकायाम्, अनु०।

समिहा–समिधा–स्त्री०। काष्ठखण्डे, पिं०। काष्ठिकायाम्, भ० ११ श० ६ उ०। इन्धनभूते काष्ठे, अन्त०१ श्रु० १ वर्ग ८ अ०। आचा०। नि०। आ० म०।

समी–शमी–स्त्री०। वृक्षविशेषे, अनु०।

समीकत–समीकृत–त्रि०। सम्यग् व्यवस्थापिते, क्षुदेयत्वेन व्यवस्थापिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

समीकरण–समीकरण–न०। समानतानयने, विशे०।

समीखल्लय–शमीखल्लक–न०। शमीसम्बन्धिनि पत्रपुटे, वृ० १ उ० ३ प्रक०।

समीर–समीर–पुं०। वायौ, को०।

समीरण–समीरण–न०। सम्यगीरणं समीरणम्। प्रेरणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

समीरिय–समीरित–त्रि०। प्रेरिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। पापेन कर्मणा चोदिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

समीव–समीप–पुं०। सन्निधाने, पो० १६ विव०।

समीहा–समीहा–स्त्री०। सम्यगुद्यमे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

समीहिय–समीहित–त्रि०। इष्टे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। मीमांसिते, व्य० ३ उ०।

समुइ–समुद्–पुं०। स्वभावे, व्य० ७ उ०।

समुइं–देशी–अभ्यासकरणे, वृ० १ उ० २ प्रक०।

समुइय–समुदित–त्रि०। समुदायाङ्गतामाप्ते, विशे०।

समुइयसत्ति–समुदितशक्ति–स्त्री०। अनन्तरकारणमध्ये विद्यमानाया द्वितीयाया सामान्यशक्तौ द्रव्या० अध्या०।(समुदितशक्ति 'सत्ति' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

समुक्करिसण–समुत्कर्षण–न०। उत्कर्षे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। आ० म०। उत्कृष्टताविधाने, स्था० ३ ठा० १ उ०। मदने, व्य० ४ उ०। स्था०।

समुक्कित्तण–समुत्कीर्तन–न०। समुच्चारणे, अनु०। आ० चू०। सशब्दने, विशे०।

समुक्खित्त–समुत्क्षिप्त–त्रि०। निसर्गार्थं समुत्क्षिप्ते, व्याप्ते, पिं०। पा० १ श्रु० ३ अ०।

समुक्खिया–समुत्क्षिका–स्त्री०। स्नानगृहाङ्गणे जलच्छटकदायिकायाम्, स्था० ? श्रु० ८ अ०।

समुग्ग–समुद्ग–पुं०। पात्रविशेषे, जी० ३ प्रति० २ उ०। पक्षिविशेषे जी० ३ प्रति० ४ अ०।

समुग्गनिमग्गगूढजाणु–समुद्गनिमग्नगूढजानु–त्रि०। समुद्गस्येव समुद्गकपक्षिण इव निमग्ने–अन्त प्रविष्टे गूढे मांसलत्वादनुद्धते जानुनी अष्ठीवन्तौ येषां ते तथा। समुद्गकपक्षिण इव निगूढजानुनि पुरुषाङ्गे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

समुग्गपक्खि–समुद्गपक्षिन्–पुं०। समुद्गकवत्पक्षौ येषां ते समुद्गकपक्षिण। समासान्त इन्प्रत्यय। पक्षिभेदे, स्था०४ ठा० ४ उ०। प्रज्ञा०। सूत्र०। जी०। "से किं तं समुग्गपक्खी ?, समुग्गपक्खी एगागारा पण्णत्ता, ते णं णऽत्थि इह बाहिरएसु दीवसमुद्देसु भवंति। सेत्तं समुग्गपक्खी।" जी०टी०१ प्रति०।

समुग्गय–समुद्गक–न०। अभिन्नावस्थे कार्पासीफले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। समुद्गक इव समुद्गका.। सूतिकागृहे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। रा०। तैलाद्याधारविशेष, उक्तं च जीवाभिगमसूत्रटीकायाम्–तैलसमुद्गकौ सुगन्धितैलाधारौ। रा०।

समुग्घाय–समुद्घात–पुं०। वेदनादिभि. सह एकीभावेन प्राबल्यतया निर्जरणे, प्रज्ञा०।

विषयसूचना–

(१) गतिपरिणामविशेष संग्रहणिगाथया चिन्त्यते।

(२) संग्रहणिगाथोक्तमर्थं स्पष्टयन् प्रथमत समुद्घातसंख्याविषय प्रश्नसूत्रम्।

(३) चतुर्विंशतिदण्डकमधिकृत्य एकैकस्य जीवस्य कति वेदनादय समुद्घाता अतीता कति भाविन इति चिन्तनम्।

(४) नैरयिकादि प्रत्येकसमुदायरूपेण समुद्घातचिन्तनम्।

(५) चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रे कषायसमुद्घातं चिन्तयति।

(६) मारणान्तिकसमुद्घातचिन्तनम्।

(७) नैरयिकाणां वेदनासमुद्घातचिन्तनम्।

(८) समुद्घातानां परस्परमल्पबहुत्वम्।

(९) कषायसमुद्घातगतां विशेषवक्तव्यता।

(१०) क्रोधादिसमुद्घाते शेषसमुद्घातेश्च समवहतानामसमवहतानां च परस्परमल्पबहुत्वचिन्तनम्।

(११) यस्मिन् समुद्घाते वर्तमाना यावत् क्षेत्र समुद्घातवशतो यै पुद्गलैर्व्याप्तानि तन्निरूपणम्।

(१२) वैक्रियसमुद्घातविषयचिन्तनम्।

(१३) समुद्घातद्वारविस्तर।

(१) गतिपरिणामविशेष एव समुद्घातश्चिन्त्यते, तत्र समु-
द्घातवक्तव्यताविषये इयमादौ संग्रहणिगाथा—

वेयणकसायमरणे, वेउव्वियतेयए य आहारे ।
केवलिए चेव भवे, जीवमणुस्साण सत्तेव ॥ १ ॥

'वेयण' त्यादि, इह समुद्घाताः सप्त भवन्ति, तद्यथा-'वेय-
णकसायमरणे' इति,वेदनं च कषायाश्च मरणं च वेदनकषाय-
मरणं समाहारो द्वन्द्वस्तस्मिन् विषये त्रयः समुद्घाता भव-
न्ति,तद्यथा-वेदनासमुद्घातः कषायसमुद्घातो मरणसमुद्घा-
तश्च, 'वेउव्विय'त्ति-वैक्रियविषयश्चतुर्थः समुद्घातः, तैजसः
पञ्चमः समुद्घातः, षष्ठ आहार इति—आहारकशरीर-
विषयः, सप्तमः केवलिकः-केवलिषु भवति, 'जीवमणु-
स्साण सत्तेव' त्ति-सामान्यतो जीवचिन्तायां मनुष्यद्वा-
रचिन्तायां सप्तैव-सप्तपरिमाणाः समुद्घाता वक्तव्याः, न
न्यूनाः, सप्तानामपि तत्र सम्भवात्, 'सत्तेव' त्ति-एवकारो
ऽत्र परिमाणे,वर्त्तते च परिमाणे एवशब्दः,यदाह शाकटाय-
नन्यासकृत्-'एवोऽवधारणपृथक्त्वपरिमाणेष्विति, शेषद्वार-
चिन्तायां तु यथासम्भव वाच्याः,ते चाग्रे स्वयमेव सूत्रकृताऽ-
भिधास्यन्ते इत्येष संग्रहणिगाथासंक्षेपार्थः । अथ समुद्घात
इति कः शब्दार्थः?,उच्यते-समिति-एकीभावे,उत्प्राबल्ये, ए-
कीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः,केन सह एकीभावगमन-
मिति चेत्,उच्यते-अर्थाद्वेदनादिभिः,तथाहि-यदाऽऽत्मा वे-
दनादिसमुद्घातगतो भवति तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानपरिणत
एव भवति, नान्यज्ञानपरिणतः, प्राबल्येन कथं घात इति
चेत्, उच्यते-इह वेदनादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वे-
दनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवयोग्यानुदीरणाकर-
णेनाकृष्योदयावलिकायां प्रक्षिप्यानुभूय च निर्जरयति, आ-
त्मप्रदेशैस्सह संश्लिष्टान् सातयतीति भावः, 'पुव्वकय-
कम्मसाडणं तु निज्जरा' इति वचनात्, तथाहि—
वेदनासमुद्घातोऽसद्वेद्यकर्माश्रयः कषायसमुद्घातः कषा-
याख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः, मारणान्तिकसमुद्घातः
अन्तर्मुहूर्त्त शेषायुः कर्माश्रयः, वैकुर्विकतैजसाहारकसमुद्-
घाता यथाक्रमं वैक्रियशरीरतैजसशरीराहारकशरीरनाम-
कर्माश्रयाः, केवलिसमुद्घातः सदसद्वेद्यशुभाशुभनामो-
च्चनीचैर्गोत्रकर्माश्रयः, (प्रज्ञा०) (तत्र वेदनासमुद्घातगता
ऽऽत्मवक्तव्यता 'वेयणासमुग्घाय' शब्दे षष्ठे भागे
गता ।) कषायसमुद्घातसमुद्घातः कषायाख्यचारित्रमोहनी-
यकर्मपुद्गलपरिशातं विधत्ते, तथाहि-कषायोदयसमाकुलो
जीवः प्रदेशान् बहिर्विक्षिपति तैः प्रदेशैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि
कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामतो विस्तरतश्च देहमात्रं
क्षेत्रमभिव्याप्य वर्त्तते,तथाभूतश्च प्रभूतान् कषायकर्मपुद्गला-
न् परिशातयति । (प्रज्ञा०) (इतोऽग्रे 'मारणंतियसमुग्घाय' श-
ब्दे षष्ठे भागे २५४-२५५ पृष्ठे गतम् ।)(वैक्रियसमुद्घातवक्तव्य-
ता 'वेउव्वियसमुग्घाय' शब्दे षष्ठे भागे गता ।) एवं तै-
जसाहारसमुद्घातावपि भावनीयौ, नवरं तैजससमुद्घातस्ते-
जोलेश्याविनिर्गमकाले तैजसनामकर्मपुद्गलपरिशातहेतुः,
आहारकसमुद्घातगतस्त्वाहारशरीरनामकर्मपुद्गलान् परि-
शातयतीति, केवलिसमुद्घातगतः केवली सदसद्वेद्यादिक-
र्मपुद्गलपरिशातं करोति, स च यथा कुरुते तथा विनेयज-
नानुग्रहाय भाव्यते इति, केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिकः, तं
च कुर्वन् केवली प्रथमसमये बाहल्यतः स्वशरीरप्रमाणमू-
र्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तम् आत्मप्रदेशानां दण्डमारचयति,
द्वितीयसमये पूर्वापरं दक्षिणोत्तरं वा कपाटं तृतीये मन्थानं,
चतुर्थेऽवकाशान्तराणां पूरणं, पञ्चमेऽवकाशान्तराणां संहारं,
षष्ठे मन्थः, सप्तमे कपाटस्य, अष्टमे स्वशरीरस्थो भवति,
वक्ष्यति च—" पढमे समये दंडं करेइ, बीए कवाडं करेइ "
इत्यादि, तत्र दण्डसमयात् प्राक् या पल्योपमासङ्ख्येयभाग-
मात्रा वेदनीयनामगोत्राणां स्थितिरासीत् तस्या बुद्ध्या अ-
सङ्ख्येयभागाः क्रियन्ते, ततो दण्डसमये दण्डं कुर्वन् असं-
ख्येयान् भागान् हन्ति, एकोऽसङ्ख्येयो भागोऽवतिष्ठते, यश्च
प्राक्कर्मत्रयस्यापि रसस्तस्याप्यनन्ता भागाः क्रियन्ते, ततस्त-
स्मिन् दण्डसमये असातवेदनीय १ प्रथमवर्जसंस्थान६ संह-
ननपञ्चका ११ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयो १५ पघाता १६ऽप्रशस्त-
विहायोगति १७ दुःस्वर १८ दुर्भगा १९ ऽस्थिरा २०ऽपर्या-
प्तका २१ऽशुभा २२ऽनादेया २३ऽयशःकीर्त्ति २४ नीचैर्गोत्ररू-
पाणां २५ पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तान् भागान् हन्ति,एकोऽ-
नन्तभागोऽवशिष्यते, तस्मिन्नेव च समये सातवेदनीय १
देवगति २ मनुष्यगति ३ देवानुपूर्वी ४ मनुष्यानुपूर्वी ५
पञ्चेन्द्रियजाति ६ शरीरपञ्चको ११ पाङ्गत्रय १४ प्रथम-
संस्थान १५ संहनन १६ प्रशस्तवर्णादिचतुष्टया २० ऽगु-
रुलघु २१ पराघातो २२ च्छ्वास २३ प्रशस्तविहायोगति २४
त्रस २५ बादर २६ पर्याप्त २७ प्रत्येकाऽऽतपो २९ द्योत ३०
स्थिर ३१ शुभ ३२ सुभग ३३ सुस्वरा ३४ ऽऽदेय ३५
यशःकीर्ति ३६ निर्माण ३७ तीर्थकरो ३८ च्चैर्गोत्ररूपा-
णा ३९ मेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुभागोऽप्रशस्तप्र-
कृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेनापहन्यते, समुद्घातमाहात्म्यमेतत् ।
तस्य चोद्धरितस्य स्थितेरसङ्ख्येयभागस्यानुभागस्य चान-
न्तभागस्य पुनर्यथाक्रममसङ्ख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते
ततो द्वितीये कपाटसमये स्थितेरसङ्ख्येयान् भागान्
हन्ति एकोऽवशिष्यते, अनुभागस्य चानन्तान् भागान्
हन्ति एकं मुञ्चति । अत्राप्यप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवे-
शनेन प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातो द्रष्टव्यः, पुनरप्येतत् समयेऽ-
वशिष्टस्य स्थितेरसङ्ख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततम-
भागस्य पुनर्बुद्ध्या यथाक्रममसङ्ख्येया अनन्ताश्च भागाः
क्रियन्ते ततस्तृतीये समये स्थितेरसंख्येयान् भागान्
हन्ति, एकं मुञ्चति, अनुभागस्य चाऽनन्तान् भागान्
हन्ति, एकमनन्तभागं मुञ्चति । अत्रापि प्रशस्तप्रकृत्य-
नुभागघातोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेनावसेयः । ततः
पुनरपि तृतीयसमयावशिष्टस्य स्थितेरसङ्ख्येयभागस्यानु-
भागस्य चानन्ततमभागस्य बुद्ध्या यथाक्रममसङ्ख्येया अ-
नन्ताश्च भागाः क्रियन्ते, ततश्चतुर्थसमये स्थितेरसङ्ख्ये-
यान् भागान् हन्ति, एकस्तिष्ठति, अनुभागस्याप्यनन्तान्
भागान् हन्त्येकोऽवशिष्यते, प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातश्च पूर्व-
वदवसेयः । एवं च स्थितिघातादि कुर्वतश्चतुर्थसमये स्वप्र-
देशापूरितसमस्तलोकस्य भगवतः केवलिनो वेदनीयादि-
कर्मत्रयस्थितिरायुषः सङ्ख्येयगुणा जाता, अनुभागस्त्वद्या-
प्यनन्तगुणः, चतुर्थसमयावशिष्टस्य च स्थितेरसङ्ख्येयभा-

गस्यानुभागस्य चानन्ततमभास्य भूयोऽपि बुद्ध्या यथाक्रम संख्यया अनन्ताश्च भागा क्रियन्ते , ततोऽवकाशान्तर-संहारसमये स्थितेः संख्येयभागान् हन्ति, एकं संख्येय भाग शेषीकरोति , अनुभागस्यानन्तान् भागान् हन्ति एकं मुञ्चति । एवमन्तेषु पञ्चसु दण्डादिसमयेषु प्रत्येक सामयिक कण्डकमुत्कीर्ण , समये समय स्थितिकण्डकानु-भागकण्डकघातनात् , अत पर षष्ठसमयादारभ्य स्थितिक, गडकमनुभागकण्डकं चान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन विनाशयति , प्रयत्नमन्दीभावात् , षष्ठादिषु च समयेषु कण्डकस्य प्र-तिसमयमेकैक शकल तावदुत्किरति यावदन्तर्मुहूर्त्तचरम समयं सकलमपि तत्कण्डकमुत्कीर्ण भवति । एवमान्त-र्मौहूर्तिकानि स्थितिकण्डकान्यनुभागकण्डकानि च घातयन् तावद्वेदितव्य यावत् सयोग्यवस्थाचरमसमय. , सर्वा-ण्यपि चामूनि स्थित्यनुभागकण्डकान्यसंख्येयान्यवगन्त-व्यानीति कृत प्रसङ्गेन । प्रकृत प्रस्तुमः ।

(२) तत्र समुद्घातगाथार्थमर्थ स्पष्टयन् प्रथमत. समु-द्घातसंख्याविषय प्रश्नसूत्रमाह—

कति णं भंते ! समुग्घाया पएणत्ता,गोयमा ! सत्त समुग्घा-या पएणत्ता, तं जहा-वेदणासमुग्घाते १ कसायसमुग्घाते २ मारणंतियसमुग्घाते ३ वेउव्वियसमुग्घाते ४ तेयासमुग्घाते ५ आहारसमुग्घाते ६ केवलिसमुग्घाते ७। वेदणासमुग्घाए णं भंते ! कति समइए पएणत्ते ?, गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिते पएणत्ते,एवं०जाव आहारसमुग्घाते। केवलि-समुग्घाए णं भंते ! कति समइए पएणत्ते ? , गोयमा ! अट्ठ समइए पएणत्ते । नेरइया णं भंते ! कति समुग्घाया पएणत्ता ? , गोयमा ! चत्तारि समुग्घाया पएणत्ता , तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमु-ग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए । असुरकुमाराणं भंते ! कति समुग्घाया पएणत्ता ? , गोयमा ! पंच समुग्घाया पएणत्ता, तं जहा—वेदणासमुग्घाए कसायस-मुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयासमु-ग्घाए एवं जाव थणियकुमारा णं । पुढविकाइया णं भंते ! कति समुग्घाया पएणत्ता ?, गोयमा ! तिरिण समुग्घाया पएणत्ता, तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणं-तियसमुग्घाए, एवं०जाव चउरिंदियाणं, नवरं वाउकाइ-याणं चत्तारि समुग्घाया पएणत्ता, तं जहा—वेदणासमु-ग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्विय-समुग्घाए पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ०जाव वेमा-णिया णं भंते ? कति समुग्घाया पएणत्ता ?, गोयमा ! पंच समुग्घाया पएणत्ता,त जहा-वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयासमुग्घाए नवरं मणुस्साणं सत्तविहे समुग्घाए पएणत्ते, त जहा-वेदणास-मुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्विय-समुग्घाए तेयासमुग्घाए आहारगसमुग्घाए केवलिसमुग्घाए । (सू० ३३१)

' कइ ण ' मित्यादि , कति-किंपरिमाणा णमिति वाक्याऽ-लंकारे , ' भदन्ते ' ति-भगवतो वर्द्धमानस्वामिन आम-न्त्रण , भदन्तत्वं च भगवत. परमकल्याणयोगित्वात् , यद्वा-भवान्तेति , द्रष्टव्य , सकलसंसारपर्यन्तवर्त्तित्वात् , अथवा—भयान्त ! इहपरलोकादिभेदभिन्नसप्तप्रकारभयवि-नाशकत्वात् . समुद्घाता —उक्तशब्दार्था प्रज्ञप्ता , भगवा-नाह—' गोयमे ' त्यादि , गौतम ! सप्त समुद्घाता प्र-ज्ञप्ता. , तद्यथा—वेदनासमुद्घात इत्यादि , वेदनायाः समुद्घातो वेदनासमुद्घातः , एवं यावदाहारकसमु-द्घात इति , केवलिसमुद्घात इति—केवलिन समु-द्घात. केवलिसमुद्घात । सम्प्रति क समुद्घातः , कि-यन्तं काल यावद्भवतीत्येतन्निरूपणार्थमाह—' वेयणे ' त्यादि , सुगमं , नवरं ' जावे ' त्यादि , एवमुक्तप्रकारेणा-भिलापेनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणतया च समुद्घाता. क्रमेण ताव-द्वान्या यावदाहारकसमुद्घातः , एत षडप्याद्या आन्त-र्मुहूर्तिका , केवलिसमुद्घातस्त्वष्टसामायिक , स चानन्त-रमेव भावित. , एतानेव समुद्घातान् चतुर्विंशतिदण्डक-क्रमेण विचिन्तयिषुराह—' नेरइयाण ' मित्यादि , नै-रयिकाणामाद्याश्चत्वारः , तेषा तेजोलब्ध्याऽऽहारकलब्धि-केवलित्वाभावत शेषसमुद्घातत्रयासम्भवात् , असुरकु-मारादीना दशानामपि भवनपतीना तेजोलेश्यालब्धिभावात् आद्या. पञ्च समुद्घाता , पृथिवीकायिकाप्कायिकतैजस्का-यिकवनस्पतिकायिकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामाद्यास्त्रय , त-षा वैक्रियादिलब्ध्यभावत. उत्तरेषा चतुर्णामपि समुद्घा-तानामसम्भवात् , वायुकायिकानामाद्याश्चत्वारस्तेषा वैक्रि-यलब्धिसंभवेन वैक्रियसमुद्घातस्यापि सम्भवात् , पञ्चेन्द्रि-यतिर्यग्योनिकानामाद्या. पञ्च , केषाञ्चित्तेषा तेजोलब्धेरपि भावात् , मनुष्याणा सप्त मनुष्येषु सर्वसम्भवात् व्यन्तर-ज्योतिष्कवैमानिकानामाद्या पञ्च , वैक्रियतेजोलब्धिभावात् उत्तरौ तु द्वौ न सम्भवत. आहारकलब्धिकेवलित्वाऽयो-गात् ।

(३) सम्प्रति चतुर्विंशतिदण्डकमधिकृत्य एकैकस्य जीव-स्य कति वेदनादय समुद्घाता, अतीता कति भाविन इति विचिन्तयिषुराह—

एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया वेदणास-मुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता , केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि, कस्सइ नऽत्थि । जस्सऽत्थि तस्स जहएणेणं एक्को वा दो वा तिएिण वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा एवं असुरकुमारस्स वि निरंतरं०जाव वेमाणियस्स, एवं ०जा-व तेयगसमुग्घाए एवमेते पंच चउवीसा दंडगा । ए-गमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया आहारगसमु-ग्घाया अतीता ? , कस्सइ अत्थि कस्सइ नऽत्थि, जस्स अत्थि तस्स जहएणेणं एक्को वा दो वा उ-

क्कोसेणं तिन्नि, केवइया पुरेक्खडा, कस्सइ अत्थि कस्सइ नऽत्थि, जस्सऽत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं चत्तारि, एवं निरंतरं ०जाव वेमाणियस्स, नवरं मणूसस्स अतीता वि पुरेक्खडा वि जहा नेरइयस्स पुरेक्खडा। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवतिया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! नऽत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि एक्को, एवं ० जाव वेमाणियस्स, नवरं मणूसस्स अतीता कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि एक्को, एवं पुरेक्खडा वि । (सू०३३२ ×)

'एगमेगस्स णं भंते !' इत्यादि, एकैकस्य सूत्रे मकारोऽलाक्षणिकः, भदन्त ! नैरयिकस्य सकलमतीतं कालमधिकृत्य 'केवइय' त्ति—कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीता—अतिक्रान्ता ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, नारकादिस्थानानामनन्तशः प्राप्तत्वादेकैकस्मिंश्च नारकादिस्थानप्राप्तिकाले प्रायोऽनेकशो वेदनासमुद्घातानां भावात्, एतच्च बाहुल्यापेक्षयोच्यते, बहवो हि जीवा अनन्तकालमसंव्यवहारराशेरुद्वृत्ता वर्त्तन्ते, ततस्तदपेक्षया एकैकस्य नैरयिकस्यानन्ता अतीता वेदनासमुद्घाता उपपद्यन्ते । ये तु स्तोककालमसंव्यवहारराशेरुद्वृत्तास्तेषां यथासम्भवं संख्येया असंख्येया वा प्रतिपत्तव्याः, केवलं ते कतिपये इति न विवक्षिताः । 'केवइया पुरेक्खड' त्ति इदं सूत्रपाठसूचामात्रं, सूत्रपाठस्त्वेवम्—'एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया वेयणासमुग्घाया पुरेक्खडा' इति, सुगमं, नवरं पुरेऽग्रे कृता—तत्परिणामप्राप्तियोग्यतया व्यवस्थापिताः, सामर्थ्यात् तत्कर्तृजीवेनेति गम्यते, पुरस्कृता अनागतकालभाविन इति तात्पर्यार्थः । अत्र भगवानाह—कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, यस्यापि सन्ति, तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, उत्कर्षतः संख्येया वा असंख्येया वा अनन्ता वा । इयमत्र भावना—यो नाम विवक्षितप्रश्नसमयानन्तरं वेदनासमुद्घातमन्तरेणैव नरकादुद्वृत्यानन्तरमनुष्यभवे वेदनासमुद्घातमप्राप्त एव सेत्स्यति तस्य पुरतो वेदनासमुद्घात एकोऽपि नास्ति, यस्तु विवक्षितप्रश्नसमयानन्तरमायुःशेषे कियत्कालं नरकभवे स्थित्वा तदनन्तरं मनुष्यभवमागत्य सेत्स्यति तस्य एकादिसम्भवः, संख्यातकालसंसारावस्थायिनः संख्याताः, असंख्यातकालसंसारावस्थायिनोऽसंख्याताः, अनन्तकालसंसारावस्थायिनोऽनन्ताः, 'एव' मित्यादि, एवं नैरयिकोक्तप्रकारेणासुरकुमारस्यापि यावत् स्तनितकुमारस्य वाच्यम् । ततश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकस्य । किमुक्तं भवति ?—सर्वेष्वपि असुरकुमारादिषु स्थानेषु अतीता वेदनासमुद्घाता अनन्ता वाच्याः, पुरस्कृतास्तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा इति वाच्याः । भावनाऽपि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिभावनीया, एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण कषायसमुद्घातो मारणान्तिकसमुद्घातो वैक्रियसमुद्घातस्तैजससमुद्घातश्च प्रत्येकं, तत एव पञ्चचतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि भवन्ति । तथा चाह—'एव जाव तेयगसमुग्घाए' इत्यादि, एवं वेदनासमुद्घातप्रकारेण शेषसमुद्घातेष्वपि प्रत्येकं तावद्वक्तव्यं यावत्तैजससमुद्घातः । शेषं सुगमम्, 'एगमेगस्स ण' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त ! नैरयिकस्य पाश्चात्यं सकलमतीतं कालमपेक्ष्य कियन्त आहारकसमुद्घाता अतीता ?, भगवानाह—गौतम ! कस्यापि 'अत्थि' त्ति—अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनो, यदाह शाकटायनन्यासकृत्—"अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनेष्वि" ति ततोऽयमर्थः—कस्यापि अतीता आहारकसमुद्घाताः सन्ति कस्यापि न सन्ति, येन पूर्वं मानुष्यं प्राप्य तथाविधसामग्र्यभावतश्चतुर्दशपूर्वाणि नाधीतानि, चतुर्दशपूर्वाधिगमे वा आहारकलब्ध्यभावतः तथाविधप्रयोजनाभावतो वा आहारकशरीरं न कृतं तस्य न सन्तीति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको वा द्वौ वा उत्कर्षतस्तु त्रयो, न तु चत्वारः, चतुष्कृत्वः कृताहारकशरीरस्य नरकगमनाभावात्, आह च मूलटीकाकारः—"आहारसमुग्घाया उक्कोसेण तिन्नि, तदुवरि नियमा नरगं न गच्छइ जस्स चत्तारि भवन्ति" इति, पुरस्कृता अपि कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र यो मानुष्यं प्राप्य तथाविधसामग्र्यभावतश्चतुर्दशपूर्वाधिगममाहारकसमुद्घातं चान्तरेण सेत्स्यति तस्य न सन्ति, शेषस्य तु यथासम्भवं जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः, तत ऊर्ध्वमवश्यं गत्यन्तरासंक्रमणाहारकसमुद्घातमन्तरेण च सिद्धिगमनभावात् 'एव' मित्यादि, एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेण चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकस्य सूत्रम् । नवरं मनुष्यस्यातीता अपि पुरस्कृता अपि यथा—नैरयिकस्य पुरस्कृतास्तथा वाच्याः, अतीता अपि चत्वारः, पुरस्कृता अपि चत्वार उत्कर्षतो वाच्या इत्यर्थः । सूत्रपाठश्चैवम्—'एगमेगस्स णं मणूसस्स भंते ! केवइया आहारसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि' अत्र भावना—इह यश्चतुर्थवेलमाहारकशरीरं करोति स नियमात् तद्भव एव सिद्धिमासादयति, न गत्यन्तरं, कथमेतदवसीयते इति चेत् ?, उच्यते—सूत्रपौर्वापर्यपर्यालोचनात्, तथा—यदि चतुर्थवेलमप्याहारकशरीरं कृत्वा गत्यन्तरं संक्रामेत ततो नैरयिकादावन्यतरस्यां गतौ उत्कर्षतश्चत्वारोऽप्याहारकस्य समुद्घाता उच्येरन् न चोच्यन्ते, ततोऽवसीयते—चतुर्थवेलमाहारकशरीरं कृत्वा नियमात् तद्भव एव मुक्तो भवति, न गत्यन्तरगामी तत्र यः प्रागाहारकशरीरं कदाचनापि न कृतवान् तस्यातीतमाहारकसमुद्घातो नास्ति, तदपेक्षयोक्तं 'कस्सइ नत्थि' त्ति—यस्यापि अस्ति सोऽपि यदि एकवारमाहारकशरीरं कृतवान्

तस्यैकोऽतीत आहारकस्य समुद्घातः द्वौ वारौ कृतवतो द्वौ, त्रीन् वारान् कृतवतस्त्रयो यश्चतुर्थवेलमाहारकशरीरं कृत्वा आहारकसमुद्घाताच्चतुर्थेऽप्यनिवृत्तो वर्त्तते न चाद्यापि मनुजभवं विजहाति तस्य चत्वारः पुरस्कृता अपि समुद्घाताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति । तत्र यश्चतुर्थवेलमाहारकशरीरं कृत्वा आहारकसमुद्घातात् प्रतिनिवृत्तो, यद्वा-पूर्वमकृताहारकशरीरोऽपि, अथवा-एकवारकृताहारकशरीरोऽपि, यद्वा-द्विष्कृत्वः कृताहारकशरीरोऽपि, यद्वा-त्रिष्कृत्वः कृताहारकशरीरोऽपि तथाविधसामग्र्यभावात् उत्तरकालमाहारकशरीरमकृत्वैव मुक्तिमवाप्स्यति तस्य पुरस्कृता आहारकसमुद्घाता न सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्येन एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः तत्र एकादिसम्भवः पूर्वोक्तभावनानुसारेण स्वयं भावनीयः यस्तु पूर्वकालमेकवारमपि आहारकशरीरं न कृतवान्, अथ चोत्तरकालं तथाविधसामग्रीभावतो यावत्सम्भवमाहारकशरीरकर्त्ता तस्य चत्वारो न शेषस्य । सम्प्रति केवलिसमुद्घातविषयं दण्डकसूत्रमाह-' एगमेगस्स णं ' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त ! नैरयिकस्य निरवधिकमतीतं कालमधिकृत्य कियन्तः केवलिसमुद्घाता अतीताः ? भगवानाह—' नत्थि ' त्ति—नास्त्यतीत एकोऽपि केवलिसमुद्घातः, केवलिसमुद्घातानन्तरमन्तर्मुहूर्तेन नियमतो जीवाः परमपदमश्नुवते, ततो यद्यभविष्यत्केवलिसमुद्घातस्तर्हि नरकमेव नागमिष्यद्, अथ च सम्प्रति नरकगामिनो वर्त्तन्ते तस्मान्नास्त्येकस्याप्यतीतः केवलिसमुद्घातः, ' केवइया पुरेक्खड ' त्ति—कियन्तः पुरस्कृताः केवलिसमुद्घाता इति प्रश्नः, भगवानाह-' गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि ' त्ति—इह केवलिसमुद्घात एकस्य प्राणिन आकालमेक एव भवति, न द्वित्राः, ततोऽस्तीति निपातोऽत्र एकवचनान्तो वेदितव्यः, ततश्चायमर्थः—कस्यापि केवलिसमुद्घातः पुरस्कृतोऽस्ति, यो दीर्घतरेणापि कालेन मुक्तिपदप्राप्त्यवसरे विषमस्थितिकर्मा इति, कस्यापि नास्ति, यो मुक्तिपदमवाप्तुमयोग्यो योग्यो वा केवलिसमुद्घातमन्तरेणैव मुक्तिपदं गन्ता तथा च वक्ष्यति—" अगंतूण समुग्घायं—मणंता केवली जिणा । जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥ १ ॥ " इति, इह अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनः इत्यविदितसिद्धान्तस्य बहुत्वाशङ्कापि कस्यचित् स्यात् ततस्तदपनोदार्थमाह-' जस्स अत्थि ' एक्को यस्यास्ति पुरस्कृतः केवलिसमुद्घातस्तस्य एको, भूयः संसाराभावात्, ' एवं जाव वेमाणियस्स ' त्ति एवं—नैरयिकगताभिलापप्रकारेण चतुर्विंशतिदण्डकक्रममनुसृत्य तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकस्य सूत्रम्, तच्चेदम्—एगमेगस्स णं भंते ! वेमाणियस्स केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि एक्को ' इति, तत्रैव विशेषमाह- नवर ' मित्यादि नवरमयं विशेषः—मनुष्यस्य केवलिसमुद्घातस्य चिन्तायामतीतः कस्याप्यस्ति कस्यापि नास्तीति वक्तव्यं, तत्र यः केवलिसमुद्घातात् प्रतिनिवृत्तो वर्त्तते न चाद्यापि मुक्तिपदमवाप्नोति तस्यास्त्यतीतः केवलिसमुद्घातः, ते च सर्वसङ्ख्यया उत्कर्षपदे शतपृथक्त्वप्रमाणा वेदितव्याः, कस्यापि नास्ति अतीतः केवलिसमुद्घातो यो न समुद्घातं गतवान्, ते च सर्वसङ्ख्यया असङ्ख्येया द्रष्टव्याः शतपृथक्त्वव्यतिरेकेणान्येषां सर्वेषामप्यसम्प्राप्तकेवलिसमुद्घातत्वात्, अत्राप्यस्तीति निपातस्य सर्वलिङ्गवचनत्वात्, ' कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि ' इत्युक्ते बहुत्वाशङ्का स्यात्, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह—यस्य मनुष्यस्यातीतः केवलिसमुद्घातस्तस्य नियमादेको न द्वित्राः एकेनैव केवलिसमुद्घातेन प्रायः समस्तघातिकर्मणां निर्मूलकापकषितत्वात्, ' एवं पुरेक्खडा वि ' त्ति—एवम्—अतीतगतेन प्रकारेण पुरस्कृता अपि केवलिसमुद्घाता वाच्याः, ते चैवम्-' कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि जस्सत्थि एक्को ' इति । अत्र भावना पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं भावनीया ।

(४) तदेवमतीतमनागतं च कालमधिकृत्य एकैकस्य नैरयिकादेर्वेदनादिसमुद्घातचिन्ता कृता, सम्प्रति नैरयिकादेः प्रत्येकं समुदायरूपस्य तच्चिन्तां चिकीर्षुराह—

नेरइयाणं भंते ! केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ? गोयमा ! अणंता, एवं ०जाव वेमाणियाणं, एवं० जाव तेयगसमुग्घाए, एवं एते वि पंच चउवीसदंडगा, नेरइयाणं भंते ! केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! असंखेज्जा, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! असंखेज्जा, एवं० जाव वेमाणियाणं, णवरं वणस्सइकाइयाणं मणूसाण य इमं णाणत्तं-वणस्सइकाइयाणं भंते ! केवइया आहारगसमुग्घाया अईया ?, गोयमा ! अणंता मणूसाणं भंते ! केवइया आहारगसमुग्घाया अईया ?, गोयमा ! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, एवं पुरेक्खडा वि । नेरइयाणं भंते ! केवइया केवलिसमुग्घाया अईया ? गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! असंखेज्जा, एवं० जाव वेमाणियाणं, णवरं वणस्सइमणूसेसु इमं णाणत्तं-वणस्सइकाइयाणं भंते ! केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! अणंता, मणूसा णं भंते ! केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सतपुहुत्तं, केवतिया पुरेक्खडा ?, सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा । (सू० ३३२)

' नेरइयाणं ' मित्यादि, नैरयिकाणां विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां सर्वेषां समुदायेन भदन्त ! कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, बहूनामनन्तकालसंव्यवहारराशेरुद्वृत्तत्वात्, कियन्तः पुरस्कृताः ?, अत्रापि प्रश्नसूत्रपाठः परिपूर्ण एवं द्रष्टव्यः—' नेरइयाणं भंते ! केवइया वेयणासमुग्घाया पुरेक्खडा ' इति, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, बहूनामनन्त-

कालभाविसंसारावस्थानभावात्, एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकानां यथा च वेदनासमुद्घातश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तितः तथा कषायमरणवैक्रियतैजससमुद्घाता अपि चिन्तनीयाः, तथा चाह—' एवं जाव तेयगसमुग्घाए ' एवं च सति—एतान्यपि बहुत्वविषयाणि पञ्च चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि भवन्ति. एतदेवाह—'एवमेए वि य पंच चउव्वीसदंडगा' इति, आहारकसमुद्घातचिन्तां कुर्वाणाह—'नेरइयाण' मित्यादि अत्र प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! असंख्येया। इयमत्र भावना-इह नैरयिकाः सर्वदाऽपि प्रश्नसमयभाविनः सर्वसंख्ययाऽप्यसंख्येयाः, तेषामपि मध्ये कतिपयाः संख्यातीताः कृतपूर्वाहारकसमुद्घातास्ततोऽसंख्येया एव तेषामतीताहारसमुद्घाता भवन्ति, नानन्ता नापि संख्येया, एवं पुरस्कृता अपि भावनीया.। एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकानाम्, आह च—'एवं जाव वेमाणियाणं' अत्रैव यो विशेषस्तं विदर्शयिषुराह—'नवर मित्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकचिन्तायां मनुष्यचिन्तायां च नैरयिकापेक्षया नानात्वमवसेयम्, तदेव नानात्वमाह— वणप्फइकायाण' मित्यादि, अत्र प्रश्नसूत्रं सुगमम्, भगवानाह—गौतम! अनन्ता, अनन्तानामधिगतचतुर्दशपूर्वाणां कृताहारकसमुद्घातानां प्रमादवशत उपचितसंसाराणां वनस्पतिषु भावात्, पुरस्कृता अनन्ता अनन्तानां वनस्पतिकायादुद्धृत्य चतुर्दशपूर्वाधिगमपुरस्सरं कृताहारकसमुद्घातानां भाविसिद्धिगमनभावात्, 'मणुस्सा णं भंते!' इत्यादि, अत्रापि प्रश्नसूत्रं प्रतीतम्, भगवानाह-गौतम! स्यादिति निपातोऽनेकान्तद्योती, ततोऽयमर्थः—कदाचित् संख्येया, कदाचिदसंख्येया, कथमिति चेत्, उच्यते—इह सम्मूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तसमुदायचिन्तायाम् उत्कृष्टपदे मनुष्या अङ्गुलमात्रक्षेत्रे यावान् प्रदेशराशिस्तस्य यत्प्रथमं वर्गमूलं तत् तृतीयवर्गमूलेन गुणितं सत् यावत्प्रमाणं भवति एतावत्प्रदेशप्रमाणानि खण्डानि घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्या श्रेण्या यावन्ति भवन्ति एतावत्प्रमाणा एकहीना, ते चातीव शेषनारकादिजीवराश्यपेक्षया स्तोकाः, तत्रापि ये पूर्वभवेषु कृताहारकशरीरास्ते कतिपयाः, ते च कदाचित् विवक्षितप्रश्नसमये संख्येयाः, कदाचिदसंख्येयाः, तत उक्तम्—'सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा' इति, अनागतेऽपि काले विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां मध्ये कति संख्या एवाहारकशरीरमारप्स्यन्ति तेऽपि कदाचित् संख्येयाः कदाचिदसंख्येयाः, तत आह—' एवं पुरेक्खडा वि ' त्ति एवं अतीतगतेन प्रकारेण वनस्पतिकायिकानां मनुष्याणां च पुरस्कृता अपि आहारकसमुद्घाता वेदितव्याः, ते चैवम्—'वणप्फइकाइया णं भंते! केवइया आहारगसमुग्घाया पुरेक्खडा? गोयमा! अणंता। मणुस्सा णं भंते! केवइया आहारगसमुग्घाया पुरेक्खडा? गोयमा! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा' इति केवलिसमुद्घातविषयप्रश्नसूत्रमाह— नेरइयाणं भंते!' इत्यादि सुगमम्, भगवानाह-गौतम! न सन्ति केचनातीता नैरयिकाणां केवलिसमुद्घाताः कृतकेवलिसमुद्घातानां नारकादिगमनासम्भवात्, कियन्तः पुरस्कृता इति प्रश्नः, भगवानाह—गौतम! असंख्येयाः, सर्वदा विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां मध्येऽसंख्यातानां भाविकेवलिसमुद्घातत्वात्, तथा केवलवेदसोपलब्धेः, एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वाच्यं यावद् वैमानिकानां सूत्रं, तथा चाह—' एवं जाव वेमाणियाणं ' अत्रैव विशेषमाह—' नवरं ' मित्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकेषु मनुष्येषु चेदं वक्ष्यमाणलक्षणं नानात्वम्, तदेवाह—' वणप्फइकाइयाणं ' मित्यादि, अत्र प्रश्नसूत्रं सुप्रतीतम्, उत्तरसूत्रे निर्वचनम्-'अनन्ताः', अनन्तानां भाविकेवलिसमुद्घातानां तत्र भावात्, ' मणुस्साणं ' मित्यादि, अत्रापि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! स्यात् सन्ति स्यान्न सन्ति। किमुक्तं भवति?-यदा प्रश्नसमये समुद्घातान्निवृत्ताः प्राप्यन्ते तदा सन्ति, शेषकाले न सन्ति, तत्र ' जइ अत्थि ' त्ति—यदि प्रश्नसमये कृतकेवलिसमुद्घाता मनुष्यत्वमनुभवन्तः प्राप्यन्ते तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षतः शतपृथक्त्वम्, एतावतामेककालमुत्कृष्टपदे केवलिनां केवलिसमुद्घातासादनात् ' केवइया पुरेक्खड ' त्ति—कियन्तो मनुष्याणां केवलिसमुद्घाताः पुरस्कृताः?, भगवानाह—स्यात् संख्येयाः स्यादसंख्येयाः, मनुष्या हि सम्मूर्च्छिमा गर्भव्युत्क्रान्ताश्च सर्वसमुदिता उत्कृष्टपदे प्रागुक्तप्रमाणास्तत्रापि विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां मध्ये कदाचित्केवलिसमुद्घाताः संख्येयाः, बहूनामभव्यानां भावात्, कदाचिदसंख्येयाः, बहूनां भाविकेवलिसमुद्घातानां भावात्।

(४) सम्प्रति एकैकस्य नैरयिकत्वादिभावेषु वर्तमानस्य प्रत्येकं कति वेदनासमुद्घाता अतीताः कति भाविन इति निरूपयितुकाम आह—

एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं असुरकुमारत्ते ०जाव वेमाणियत्ते। एगमेगस्स णं भंते! असुरकुमारस्स नेरइयत्ते केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि तस्स सिय संखेज्जा सिय अणंता। एगमेगस्स णं भंते! असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं नागकुमारत्ते वि ०जाव वेमाणियत्ते, एवं जहा० वेयणासमुग्घाएणं असुरकुमारे नेरइयाऽऽदिवेमाणियपज्जवसाणेसु भणितो तहा नागकुमाराऽऽदिया अवसेसेसु सट्ठाणेसु परट्ठाणेसु भाणितव्वा ०जाव

वेमाणियस्स वेमाणियत्ते। एवमेते चउव्वीसा-चउव्वीसं दंडगा भवंति। (सू० ३३३)।

'एगमेगस्स ण' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त! नैरयिकस्य सकलमतीतकालमवधीकृत्य तदा तदा नैरयिकत्वे वृत्तस्य सतः सर्वसंख्यया कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः? भगवानाह—गौतम! अनन्ता, नरकस्थानस्यानन्तशः प्राप्तत्वादेकैकस्मिंश्च नरकभवे जघन्यपदेऽपि संख्येयानां वेदनासमुद्घातानां भावात्, 'केवइया पुरेक्खडा' त्ति-कियन्तो भदन्त! एकैकस्य नैरयिकस्याऽऽसंसारमोक्षमनागतं कालमवधीकृत्य नैरयिकत्वे भाविनः सतः सर्वसंख्यया पुरस्कृता वेदनासमुद्घाताः?, भगवानाह-'गौतम! कस्सइ अत्थि' इत्यादि, तत्र य आसन्नमृत्युर्वेदनासमुद्घातमप्राप्यान्तिकमरणेन नरकादुद्वृत्य सेत्स्यति तस्य नास्ति, नैरयिकत्वे भावी एकोऽपि पुरस्कृतो वेदनासमुद्घातः शेषस्य तु सन्ति, तस्यापि जघन्यतः एको द्वौ वा त्रयो वा, एतच्च क्षीणशेषायुषा तद्भवजानामनन्तरं सेत्स्यतां द्रष्टव्यम्, न भूयो नरकेषूत्पत्स्यमानानां, भूयो नरकेषूत्पत्तौ जघन्यपदेऽपि संख्येयानां प्राप्यमाणत्वात्। यदाह मूलटीकाकारः—"नरकेषु जघन्यस्थितिषूत्पन्नस्य नियमतः संख्येया एव वेदनासमुद्घाता भवन्ति, वेदनासमुद्घातप्रचुरत्वान्नारकाणामिति, उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया वा अनन्ता वा, तत्र सकृत् नरकेषु जघन्यस्थितिषूत्पत्स्यमानस्य संख्येया, अनेकशो दीर्घस्थितिषु असकृद्वा उत्पत्स्यमानस्य असंख्येया, अनन्तश उत्पत्स्यमानस्य अनन्ता। 'एव' मित्यादि, एवम्-नैरयिकगतेनाभिलापप्रकारेणासुरकुमारत्वेन तदनन्तरं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकत्वे, तच्चैवम्—'एगमेगस्स ण भंते! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया वेयणासमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अनन्ता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा' तत्रातीतसूत्रेऽनन्तशोऽसुरकुमारत्वस्य प्राप्तत्वादुपपद्यते तद्भावमापन्नस्यानन्ता अतीता वेदनासमुद्घाताः, पुरस्कृतचिन्तायां योऽनन्तरभवेन नरकादुद्वृत्तो मानुष्यं प्राप्य सेत्स्यति प्राप्तो वा परम्परया सकृदसुरकुमारभवं न वेदनासमुद्घातं गमिष्यति तस्य नास्त्येकोऽपि पुरस्कृतोऽसुरकुमारत्वेन वेदनासमुद्घातः। यस्तु सकृदसुरकुमारत्वं प्राप्तः सन् सकृदेव वेदनासमुद्घातं गन्ता तस्य जघन्यतः एको द्वौ वा त्रयो वा शेषस्य शेषस्यसङ्ख्येयान् वारान् असुरकुमारत्वं यास्यतः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः। एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नागकुमारत्वादिषु स्थानेषु निरन्तरं सूत्रपाठस्तावद् वक्तव्यो यावद्वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्, 'एगमेगस्स ण' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त! असुरकुमारस्य पूर्वं नैरयिकत्वेन वृत्तस्य सतः सकलमतीतं कालमपेक्ष्य सर्वसंख्यया कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः?, भगवानाह—गौतम! अनन्ता अतीताः, अनन्तशो नैरयिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, एकैकस्मिंश्च नैरयिकत्वभवे जघन्यपदेऽपि संख्येयानां वेदनासमुद्घातानां भावात्, कियन्तः पुरस्कृताः?, स्यात् सन्ति स्यान्न सन्ति, कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति इति भावः। अत्रापीयं भावना-योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो न नरकं यास्यति किन्त्वनन्तरं परम्परया वा मनुजभवं प्राप्य सेत्स्यति तस्य नैरयिकत्वावस्थाभाविनः पुरस्कृता वेदनासमुद्घाता न सन्ति, नैरयिकत्वावस्थाया एवासम्भवात्। यस्तु तद्भवादूर्ध्वं पारम्पर्येण नरकं गमिष्यति तस्य सन्ति, तत्रापि कस्यचित्संख्येया, कस्यचिदसंख्येया, कस्यचिदनन्ताः। तत्र यः सकृज्जघन्यस्थितिषु मध्ये समुत्पत्स्यते तस्य जघन्यपदेऽपि संख्येयाः, सर्वजघन्यस्थितावपि नरकेषु संख्येयानां वेदनासमुद्घातानां भावात्। वेदनाबहुलत्वान्नारकाणाम्। असकृद् जघन्यस्थितिषु, दीर्घस्थितिषु सकृदसकृद्वा गमने असंख्येयाः, अनन्तशो नरकगमने अनन्ताः। तथा एकैकस्य भदन्त! असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे स्थितस्य सतः सकलमतीतकालमधिकृत्य कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः?, भगवानाह—गौतम! अनन्ताः, पूर्वमप्यनन्तशस्तद्भावस्य प्राप्तत्वात्, प्रतिभवं च वेदनासमुद्घातस्य प्रायो भावात्, पुरस्कृतचिन्तायां कस्यचित् सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, यस्य प्रश्नसमयादूर्ध्वमसुरकुमारत्वेऽपि वर्तमानस्य न भावी वेदनासमुद्घातो नापि ततः उद्वृत्य भूयोऽप्यसुरकुमारत्वं प्राप्स्यति तस्य न सन्ति, यस्तु सकृत् प्राप्स्यति तस्य जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा, संख्येयान् वारान् उत्पत्स्यमानस्य संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः, एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नागकुमारत्वादिषु स्वस्थानेष्वसुरकुमारस्य निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकत्वे, तथा चाह—'एवं नागकुमारत्ते वि' इत्यादि, तदेवमसुरकुमाराणां वेदनासमुद्घातश्चिन्तितः, सम्प्रति नागकुमारादिष्वतिदेशमाह—'एवं' मित्यादि, उपदर्शिताभिलापेन यथा चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण असुरो नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यवसानेषु भणितस्तथा नागकुमारादयोऽवशेषेषु समस्तेषु स्वस्थानपरस्थानेषु भणितव्या यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे, एवं चैतानि नैरयिकचतुर्विंशतिदण्डकसूत्रादीनि वैमानिकचतुर्विंशतिदण्डकसूत्रपर्यवसानानि चतुर्विंशतिः सूत्राणि भवन्ति। तदेवं चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्वेदनासमुद्घातश्चिन्तितः।

(४) सम्प्रति चतुर्विंशत्यैव चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैः कषायसमुद्घातं विचिन्तयिषुरिदमाह—

एगमेगस्स ण भंते! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया कसायसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्सत्थि एगुत्तरियाते० जाव अणंता। एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया कसायसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता, एवं० जाव

नेरइयस्स थणियकुमारत्ते, पुढविकाइयत्ते एगुत्तरियाए नेतव्वं, एवं० जाव मणुयत्ते, वाणमंतरत्ते जहा असुरकुमारत्ते, जोइसियत्ते अतीता अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय असंखेज्जा सिय अणंता। एवं वेमाणियत्ते वि सिय असंखेज्जा सिय अणंता, असुरकुमारस्स नेरइयत्ते अतीता अणंता , पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता। असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते अतीता अणंता पुरेक्खडा एगुत्तरिया, एवं नागकुमारत्ते०जाव निरंतरं वेमाणियत्ते जहा नेरइयस्स भणितं तहेव भाणितव्वं, एवं० जाव थणियकुमारस्स वि वेमाणियत्ते, नवरं सव्वेसिं सट्ठाणे एगुत्तरियाए परट्ठाणे जहेव असुरकुमारस्स,पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते० जाव थणियकुमारत्ते अतीता अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता । पुढविकाइयस्स पुढविकाइयत्ते० जाव मणूसत्ते अतीता अणंता पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि एगुत्तरिया,वाणमंतरत्ते जहा णेरइयत्ते। जोइसियवेमाणियत्ते अतीता अणंता,पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय असंखेज्जा सिय अणंता,एवं०जाव मणुसत्ते वि नेयव्वं। वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा, णवरं सट्ठाणे एगुत्तरियाए भाणितव्वे० जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते, एवं एते चउवीसं चउवीसा दंडगा। (सू० ३३४)

'एगमेगस्स णं' मित्यादि, तत्र नैरयिकस्य नैरयिकत्वविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्,पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति,तत्र य. क्षीणशेषायु. प्रश्नसमये भवपर्यन्ते वर्तमान. कषायसमुद्घातमप्राप्त एव नरकभवादुद्वृत्यानन्तरं पारम्पर्येण वा सेत्स्यति न भूयो नरकवासगामी तस्य न सन्ति पुरस्कृता नैरयिकत्वे कषायसमुद्घाता., शेषस्य तु सन्ति, तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, ते च क्षीणायु शेषाणां तद्भवभाजामवसेयाः । उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया वा अनन्ता वा,तत्र संख्येयवर्षायुःशेषाणां संख्येया , असंख्येयवर्षायु शेषाणामसंख्येयाः । यदि वा-सकृद् जघन्यस्थितौ उत्पत्स्यमानानां संख्येया , असकृत् जघन्यस्थितौ सकृदसकृद्दीर्घस्थितावुत्पत्स्यमानानामसंख्येया.,अनन्तश उत्पत्स्यमानानामनन्ता., तथा नैरयिकस्यैवासुरकुमारत्वविषयेऽतीतसूत्रं, तथैव पुरस्कृतसूत्रे ' कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि' त्ति—यो नरकादुद्वृत्तोऽसुरकुमारत्वं न प्राप्स्यति तस्य न सन्ति पुरस्कृता असुरकुमारत्वविषयाः कषायसमुद्घाता. , यस्तु प्राप्स्यति तस्य सन्ति, ते च जघन्यपदे संख्येया जघन्यस्थितावप्यसुरकुमाराणां संख्येयानां कषायसमुद्घातानां भावात् , लोभादिकषायबहुलत्वात् तेषाम् , उत्कृष्टपदेऽसंख्येया अनन्ता वा,तत्र सकृद् दीर्घस्थितावसकृज्जघन्यस्थितिषु वा उत्पत्स्यमानानामसंख्येया',अनन्तश उत्पत्स्यमानानामनन्ताः । एवं नैरयिकस्य नागकुमारत्वादिषु स्थानेषु निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत् स्तनितकुमारत्वे, तथा चाह--' एव जावे ' त्यादि , पृथिवीकायिकत्वेऽतीतसूत्रं तथैव, पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यचित् सन्ति कस्यचिन्न सन्ति , तत्र यो नरकादुद्वृत्तो न पृथिवीकायभवगामी तस्य न सन्ति , योऽपि गन्ता तस्यापि जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षत. सख्येया असंख्येया वा अनन्ता वा, ते चैवं--तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवान् मनुष्यभवाद्देवभवाद्वा कषायसमुद्घातसमुद्घतः सन् यएकवारं पृथिवीकायिकेषु गन्ता तस्य एको द्वौ वारौ गन्तुर्द्वौ, त्रीन् वारान् त्रय., सख्येयान् वारान् संख्येया, असख्येयान् वारान् असंख्येया, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । तथा चाह--' पुढविकाइयत्ते एगुत्तरियाए नेयव्वं ' ति-- तथा—' एवं ताव मणूसत्ते ' इति--एवं पृथिवीकायिकगतेनाभिलापप्रकारेण तावद् वक्तव्यं यावन्मनुष्यत्वे, तच्चैवम्--' एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स आउकाइयत्ते केवइया कसायसमुग्घाया अईया ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को (वा) दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं सखेज्जा असंखेज्जा वा अणंता वा ' एव यावन्मनुष्यसूत्रं , तत्राप्कायादिवनस्पतिपर्यन्तसूत्रभावना पृथिवीकायसूत्रवत् , द्वीन्द्रियसूत्रे पुरस्कृतचिन्तायां जघन्येन एको द्वौ वा त्रयो वेति सकृत् जघन्यस्थितिकं द्वीन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्यसंख्येयान् वारान् प्राप्तुकामस्य संख्येया, असख्येयानसयेया, अनन्तान् अनन्ताः । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये, तिर्यक् पञ्चेन्द्रियमनुष्यसूत्रविषया त्वेव भावनासकृत्पञ्चेन्द्रियभव प्राप्तुकामस्य स्वभावत एवाल्पकषायस्य जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा शेषस्य सख्येयान् वारान् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्य सख्येया , असंख्येयान् वारान् असंख्येया , अनन्तात् वारान् अनन्ता । मनुष्यसूत्रे तु पुरस्कृतविषया भावनैयम्—यो नरकभवादुद्वृत्तोऽल्पकषाय. सन् मनुष्यभव प्राप्य कषायसमुद्घातमप्राप्त एव सिद्धिपुरं गन्ता तस्य न सन्ति, शेषस्य सन्ति , तस्यापि एकं द्वौ त्रीन् वारान् कषायसमुद्घातान् प्राप्य सेत्स्यत एको द्वौ त्रयो वा संख्येयान् भवान् , यदि वा-एकस्मिन्नपि भव संख्येयान् कषायसमुद्घातान् गन्तु. सख्येया, असंख्येयान् भवान् प्राप्तुकामस्यासख्येया , अनन्तान् अनन्ताः। ' वाणमंतरत्ते जहा-असुरकुमारत्ते ' आगुक्तम् । किमुक्तं भवति ?- पुरस्कृतचिन्तायाम् एवं वक्तव्यम्— जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणता वा ' इति नत्वेकोत्तरिका वक्तव्या , व्यन्तराणामप्यसुरकुमाराणामिव जघन्यस्थितावपि संख्येयानां कषायसमुद्घातनां लभ्यमानत्वात् , असख्येयानन्तभावनाऽप्यसुरकुमारवत्, 'जोइसियत्ते' इत्यादि, ज्योतिष्कत्वेऽतीता अनन्ता वक्तव्या. , पुरस्कृतास्तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, एतदपि प्राग्वद् भावनीयं, यस्यापि सन्ति तस्यापि कस्यचिदसख्येया. कस्यचिदनन्ता., नतु स्यात् संख्येया इति वक्तव्यम् । कुत इति

चेत् ? , उच्यते—ज्योतिष्काणां जघन्यपदेऽप्यसंख्येयकालायुष्कतया जघन्यतोऽपि असंख्येयानां कषायसमुद्घातानां लभ्यमानत्वात्, अनन्तशस्तत्र जिगमिषूणामनन्ता, एवं वैमानिकत्वेऽपि पुरस्कृतचिन्तायां स्यात्सङ्ख्येयाः स्यादनन्ता इति वक्तव्यम्। भावना प्राग्वत्। तदेवं नैरयिकस्य स्वस्थाने परस्थाने च कषायसमुद्घाताश्चिन्तिताः, सम्प्रत्यसुरकुमारेषु तान् चिचिन्तयिषुराह—'एगमेगस्स णं' मित्यादि, एकैकस्य असुरकुमारस्य नैरयिकत्वे कषायसमुद्घाता अतीता अनन्ता भाविनः कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति तत्र योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो नरकं न यास्यति तस्य न सन्ति, यस्तु यास्यति तस्य सन्ति। तस्यापि जघन्यतः सङ्ख्येयाः, जघन्यस्थितावपि सङ्ख्येयानां कषायसमुद्घातानां नरकेषु भावात्, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येया अनन्ता वा तत्र जघन्यस्थितिष्वसकृद्गमनेऽपि नरकस्थानेषु सकृद्गच्छतो जिगमिषोरसङ्ख्येयाः, अनन्तशो जिगमिषोरनन्ता असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे अतीता अनन्ता। पुरस्कृता एगुत्तरिया इत्यादि, पुरस्कृतास्तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवे पर्यन्तवर्ती न च कषायसमुद्घातं याता नापि तत्र प्रभ्रष्टो भूयोऽसुरकुमारभवं लब्धा किन्त्वनन्तरं पारम्पर्येण वा सत्स्यति तस्य सन्ति, शेषस्य तु न सन्ति। यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः सङ्ख्येया असङ्ख्येया अनन्ता वा। तत्र एकादयः क्षीणायुःशेषाणां तद्भवभाजां भूयस्तत्रैवानुत्पत्स्यमानानामवगन्तव्याः, सङ्ख्येयादयो नैरयिकत्वे इव भावनीया। एवमित्यादि एवम्—उक्तेन प्रकारेण नागकुमारत्वे तत ऊर्ध्वं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं यावद्वैमानिकत्वे वैमानिकत्वविषयं सूत्रं यथा नैरयिकस्य भणितं तथैव भणितव्यम्। किमुक्तं भवति ?,-नागकुमारत्वादिषु स्तनितकुमारपर्यवसानेषु पुरस्कृतचिन्तायां 'कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता' पृथिवीकायिकत्वादिषु मनुष्यत्वपर्यवसानेषु 'जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा' व्यन्तरत्वे 'जस्स अत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता' ज्योतिष्कत्वे— 'जस्स अत्थि सिय असंखेज्जा सिय अणंता' वैमानिकत्वेऽप्येवमेवेति वक्तव्यमिति, 'एवं जाव' त्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण असुरकुमारवन्नागकुमारस्य यावत्स्तनितकुमारस्य प्रत्येकं यावद् वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रं तावद्वक्तव्यम्। अत्रैव विशेषमाह—नवरं सर्वेषां नागकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां स्वस्थाने नियमतः पुरस्कृता एकोत्तरिका, परस्थाने यथैवासुरकुमारस्य तथैव वक्तव्या, 'पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते' इत्यादि पृथिवीकायिकस्य नैरयिकत्वे यावत् स्तनितकुमारत्वे अतीता अनन्ता। अत्र भावना प्राग्वत्, पुरस्कृता कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र यः पृथिवीकायभवादुद्वृत्तो नरकेष्वसुरकुमारेषु यावत् स्तनितकुमारेषु न गमिष्यति किन्तु मनुष्यभवं प्राप्य सिद्धिं गन्ता तस्य न सन्ति, शेषस्य तु सन्ति यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यतः सङ्ख्येयाः जघन्यस्थितावपि नरकादिषु सङ्ख्येयानां कषायसमुद्घातानां भावात्, उत्कर्षतोऽसंख्येया अनन्ता वा, तच्च प्राग्वद् भावयितव्या पृथिवीकायिकत्वे यावन्मनुष्यत्वेऽतीतास्तथैव, भाविन एकोत्तरिकया वक्तव्या, तच्चैवम्—'कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा' तच्च नैरयिकस्य पृथिवीकायिकत्व इव भावनीया, 'वाणमंतरत्ते जहा नेरइयत्ते' इति व्यन्तरत्वे यथा नैरयिकत्वे तथा वक्तव्यम्। किमुक्तं भवति ?-एकोत्तरिका न वक्तव्या—किन्तु 'सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता' इति वक्तव्यं, 'जोइसिय' इत्यादि, ज्योतिष्कत्वे वैमानिकत्वे चातीतास्तथैव पुरस्कृता यदि सन्ति ततो जघन्यपदे असङ्ख्येया उत्कृष्टपदे अनन्ता एवमप्कायिकस्य यावन्मनुष्यस्य नेतव्यं व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां यथा असुरकुमारस्य, नवरं पुरस्कृतचिन्तायां सर्वे स्वस्थाने एकोत्तरिकया वक्तव्यम्, परस्थाने यथा असुरकुमारस्य सूत्रम्। सूत्रपर्यन्तं दर्शयति- 'जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते' इति-यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्, एवमेते कषायसमुद्घातगताश्चतुर्विंशति -चतुर्विंशतिसंख्याश्चतुर्विंशतिदण्डका— २४ भणितव्याः। तदेवमुक्ताश्चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैः कषायसमुद्घातः।

(६) सम्प्रति चतुर्विंशत्यैव चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्मारणान्तिकसमुद्घातमाह—

मारणंतियसमुग्घाओ सट्ठाणे वि परट्ठाणे वि एगुत्तरियाए नेयव्वो० जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते, एवमेते चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा। (प्रज्ञा०) तेयगसमुग्घाए जहा मारणंतियसमुग्घाए, णवरं जस्सऽत्थि एवं एते वि चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणितव्वा। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! णत्थि, एवं० जाव वेमाणियत्ते, नवरं मणूसत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा उक्कोसेणं तिन्नि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं चत्तारि, एवं सव्वजीवाणं मणुस्साणं भाणियव्वं, मणूसस्स मणूसत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि-जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं चत्तारि, एवं पुरेक्खडा वि, एवमेते चउवीसं चउवीसा दंडगा० जाव वेमाणियत्ते। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! नत्थि, एवं० जाव वेमाणियत्ते, णवरं मणूसत्ते अतीता नत्थि, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि,

जस्सत्थि इक्को, मणूसस्स मणूसत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि एक्को, एवं पुरेक्खडा वि। एवमेते चउवीसं चउवीसा दंडगा। (सू०३३५)

'मारणंतिए' त्ति—मारणान्तिकसमुद्घातः पुरस्कृतचिन्तायां स्वस्थाने परस्थाने वा एकोत्तरिकया नेतव्यो यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्—तच्चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया मारणंतियसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा' तत्र यो मारणान्तिकसमुद्घातमन्तरेण कालं कृत्वा नरकादुद्वृत्तः अनन्तरं पारम्पर्येण वा मनुष्यभवं प्राप्य सेत्स्यति न भूयो नरकगामी तस्य न सन्ति पुरस्कृता मारणान्तिकसमुद्घाताः, यः पुनस्तद्भवे वर्त्तमानो मारणान्तिकसमुद्घातेन कालं कृत्वा नरकादुद्वृत्तः सेत्स्यति तस्यैकः पुरस्कृतो मारणान्तिकसमुद्घातः, यः पुनर्भूयोऽपि नरकमागत्य सर्वसंख्यया द्वौ मारणान्तिकसमुद्घातौ गन्ता तस्य द्वौ, एवं त्रिप्रभृतयोऽपि भावनीयाः, संख्येयान् वारान् नरकमागन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः, एवमसुरकुमारत्वे आलापको वाच्यः, नवरमत्रैव भावना—यो नरकादुद्वृत्तो मनुष्यभवं प्राप्य सेत्स्यति, यदिवा—तस्मिन् भवे मारणान्तिकसमुद्घातमगत्वा मृत्युमासाद्य ततोऽन्यभवे सिद्धिं गन्ता तस्यैव न सन्ति, शेषस्य त्वेकादिभावना प्रागिव, व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु यथा नैरयिकस्य, (यथा नैरयिकस्य) नैरयिकादिषु चतुर्विंशतिस्थानेषु चिन्ता कृता तथा असुरकुमारादीनां वैमानिकपर्यवसानानां चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण कर्त्तव्या, तदेवमन्यान्यपि चतुर्विंशतिर्दण्डकसूत्राणि भवन्ति। तथा चाह—'एवं एए चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा' इति, उक्तो मारणान्तिकसमुद्घातश्चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रे। (वैकुर्विकसमुद्घातवक्तव्यता 'वेउव्वियसमुग्घाय' शब्दे षष्ठे भागे गता।) सम्प्रति तैजससमुद्घातमतिदेशत आह—'तेयगे' त्यादि, तैजससमुद्घातो यथा मारणान्तिकसमुद्घातस्तथा वक्तव्यः। किमुक्तं भवति?—स्वस्थाने परस्थाने च एकोत्तरिकया स वक्तव्य इति, नवरं यस्य नास्ति—न सम्भवति तैजससमुद्घातस्तस्य न वक्तव्यः, तत्र नैरयिकपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु न सम्भवतीति न वक्तव्यः, शेषेषु तु वक्तव्यः, स चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया तेउसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! नत्थि, एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया तेयगसमुग्घाया अतीता? गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा? गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अनन्ता वा' इत्यादिसूत्रोक्तं विशेषमुपजीव्य स्वयं परिभावनीयम्, अत्रापि सूत्रसंख्यामाह—'एवं' मित्यादि एवम्—मारणान्तिकसमुद्घातगतेन क्वचित् सर्वथा निषेधरूपेण च प्रकारेण एतेऽपि—तैजससमुद्घातगता अपि चतुर्विंशतिः चतुर्विंशतिका—दण्डका भणितव्याः। सम्प्रत्याहारकसमुद्घातं चिन्तयन्नाह—'एगमेगस्स णं' मित्यादि, इह सर्वेष्वपि स्थानेषु मनुष्यत्वचिन्तायामतीता जघन्यतः—एको द्वौ वा उत्कर्षतस्त्रयश्च, पुरस्कृता जघन्यत एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः, शेषेषु स्थानेषु अतीताः पुरस्कृताश्च प्रतिषेद्धव्याः, मनुष्यस्य मनुष्यत्वचिन्तायामतीताः पुरस्कृताश्च जघन्यत एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः। अत्रार्थे च कारणं प्रागेवोक्तम्, अत्रापि सूत्रसंख्यामाह—'एवं' मित्यादि, एवम्—उपदर्शितेन प्रकारेण एते आहारकसमुद्घातविषयाश्चतुर्विंशतिसंख्याका दण्डका वक्तव्याः, कियद् दूरं यावदित्याह—यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्, तच्चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! वेमाणियस्स वेमाणियत्ते केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! नत्थि' इति। अधुना केवलिसमुद्घातमभिधित्सुराह—'एगमेगस्स णं भंते!' इत्यादि, अत्राप्ययं तात्पर्यार्थः—सर्वेष्वपि स्थानेषु मनुष्यत्वचिन्ताव्यतिरेकेणातीताः पुरस्कृताश्च प्रतिषेद्धव्याः, मनुष्यवर्जेषु मनुष्यत्वचिन्तायामतीताः प्रतिषेद्धव्याः, पुरस्कृतास्तु कस्याप्यस्ति कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति तस्याप्येक एवेति वक्तव्यः, मनुष्यस्य मनुष्यत्वचिन्तायामतीतः कस्यापि अस्ति कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति तस्याप्येक एव एतच्च प्रश्नसमये केवलिसमुद्घातादुत्तीर्णं केवलिनमधिकृत्य, पुरस्कृतोऽपि कस्यापि अस्ति कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति तस्याप्येक इति वक्तव्यम्। अत्रापि सूत्रसंख्यामाह—'एवमित्यादि एवम्—उपदर्शितेन प्रकारेण एते केवलिसमुद्घातविषयाश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिसंख्याका दण्डका भवन्ति। तदेवं सर्वसंख्यया एकत्वविषयाणां चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणामष्टषष्ट्यधिकं शतं जातम्। एतावत्संख्याकान्येव बहुत्वविषयाण्यपि सूत्राणि भवन्ति।

(७) तान्युपदिदर्शयिषुराह—

नेरइयाणं भंते! नेरइयत्ते केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! अणंता, एवं०जाव वेमाणियत्ते, एवं सव्वजीवाणं भाणितव्वं०जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते, एवं०जाव तेयगसमुग्घाए, णवरं उवउज्जिऊण नेयव्वं जस्सत्थि—वेउव्वियतेयगा। नेरइयाणं भंते! नेरइयत्ते केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! नत्थि, एवं जाव०वेमाणियत्ते, णवरं मणूसत्ते अतीता असंखेज्जा पुरेक्खडा असंखेज्जा एवं०जाव वेमाणियाणं। णवरं वणस्सइकाइयाणं मणूसत्ते अतीता अणंता पुरेक्खडा अणंता, मणूसाणं मणूसत्ते अतीता सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, एवं पुरेक्खडा वि, सेसा सव्वे जहा नेरइया, एवं एते चउवीसं चउवीसा दंडगा। नेरइयाणं भंते! नेरइयत्ते केवइया केवलिसमुग्घाया अ-

तीता ?, गोयमा ! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा ? गोयमा ! नत्थि, एवं० जाव वेमाणियत्ते, णवरं मणूसत्ते अतीता णत्थि, पुरेक्खडा असंखेज्जा, एवं० जाव वेमाणिया, नवरं वणस्सइकाइयाणं मणूसत्ते अतीता नत्थि, पुरेक्खडा अणंता, मणूसाणं मणूसत्ते अतीता सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहएणेणं एक्को वा दो वा तिएिण उक्कोसेणं सतपुहुत्तं, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, एवं एते चउव्वीसं चउव्वीसा दंडगा सव्वे पुच्छाए भाणितव्वा ०जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते । (सू० ३३६)

'नेरइयाणं' मित्यादि, नैरयिकाणां विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां सर्वेषां भदन्त ! पूर्वं सकलमतीत कालमवधीकृत्य यथासम्भवं नैरयिकत्वे वृत्तानां सतां समुदायेन सर्वसंख्यया कियन्तो वेदनासमुद्धाता अतीता: ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ता, बहूनामनन्तकालमसंव्यवहारराशेरुद्वृत्तत्वात्, कियन्तः पुरस्कृता: ?, एतच्च सूत्रं सूचामात्रं, परिपूर्णस्तु पाठ एवम्—' नेरइयाणं भंते ! नेरइयत्ते केवइया वेयणासमुग्घाया पुरेक्खडा ? ' इति । भगवानाह—गौतम ! अनन्ता, बहूनामनन्तशो भूयोऽपि नरकेष्वागमनसम्भवात् । 'एवं' मित्यादि, एवमुक्तेन प्रकारेणासुरकुमारत्वादिषु स्थानेषु क्रमेण तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रम् । तच्चेदम्—'नेरइयाणं भंते ! वेमाणियत्ते केवइया वेयणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! अणंता' इति, अत्र अतीता अनन्ता सुप्रतीता, सर्वेसांव्यवहारिकजीवै: प्रायोऽनन्तशो वैमानिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, पुरस्कृतास्त्वनन्ता, प्रश्नसमयभाविनां नैरयिकाणां मध्ये बहुभिरनन्तशो वैमानिकत्वस्य प्राप्स्यमानत्वात्, एवमपान्तरालवर्त्तिष्वपि असुरकुमारत्वादिषु स्थानेषु भावना भावनीया, यथा च नैरयिकाणां नैरयिकत्वादिषु चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणातीता: पुरस्कृताश्च वेदनासमुद्धाता भणिता, एवं सर्वजीवानामसुरकुमारादीनां भणितव्या, कियद् दूरं यावदित्याह-यावद्वैमानिकानां वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषया, ते चैवम्—' वेमाणियाणं भंते ! वेमाणियत्ते केवइया वेयणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ? अणंता' इति, एवं कषायमरणवैक्रियतैजससमुद्धाता अपि नैरयिकादीनां वैमानिकपर्यवसानानां सर्वेषु नैरयिकत्वादिषु स्थानेषु चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण वक्तव्या, तथा चाह— 'एवं जाव' त्यादि, एवं—वेदनासमुद्धातगतेन प्रकारेण कषायादिसमुद्धाता अपि तावद्वक्तव्या: यावत्तैजससमुद्धातः, किमविशेषेण वक्तव्या: ?, नेत्याह—' नवरं ' मित्यादि, नवरमुपयुज्य—उपयोगं कृत्वा सर्वं सूत्रं बुद्ध्या नेतव्यम् । किमुक्तं भवति ?,—ये यत्र समुद्धाता घटन्ते ते तत्रातीता पुरस्कृताश्च अनन्ता वक्तव्या, शेषेषु च स्थानेषु प्रतिषेद्धव्या । एतदेव वैविक्त्येनाह—' जस्स अत्थी' त्यादि, यस्य जीवराशेर्नैरयिकादेरसुरकुमारादेश्च सन्ति वैक्रियतैजससमुद्घातास्ते तस्य वक्तव्याः शेषेषु पृथिव्यादिषु स्थानेषु प्रतिषेद्धव्या इति सामर्थ्यलभ्यम्, कषायमारणान्तिकसमुद्घाता पुन: सर्वत्रापि वेदनासमुद्घातवदविशेषेणातीता:, पुरस्कृताश्चानन्ता वक्तव्या:, नतु क्वापि निषेद्धव्या । सम्प्रति आहारसमुद्घातविषयं सूत्रमाह—'नेरइयाणं' मित्यादि, आहारकसमुद्धातो ह्याहारकलब्धौ सत्यामाहारकशरीरप्रारम्भकाले भवति, नान्यथा आहारकलब्धिश्चोपजायते, चतुर्दशपूर्वाधिगमे तेषां चतुर्दशानां पूर्वाणामधिगमो मनुष्यत्वावस्थाया न शेषायामवस्थायामिति मनुष्यत्ववर्जासु शेषास्ववस्थास्वतीतानां पुरस्कृतानां चाहारकसमुद्धातानां प्रतिषेध:, मनुष्यत्वावस्थायामपि पूर्वमतीता असंख्येया:, प्रश्नसमयभाविनां नारकाणां मध्ये बहूनामसंख्येयानां नारकाणां पूर्वं तदा तदा मनुष्यत्वमवाप्य अधिगतचतुर्दशपूर्वाणां प्रत्येकं सकृद् द्विस्त्रिर्वा कृताहारकसमुद्धातत्वात्, पुरस्कृता अपि असंख्येया प्रश्नसमयभाविनां नारकाणां मध्ये बहुभिरसंख्येयैर्नारकैर्नरकादुद्वृत्त्यानन्तर्येण पारम्पर्येण वा तदा मनुष्यत्वावाप्तौ चतुर्दश पूर्वाण्यधीत्य प्रत्येकमाहारकसमुद्धातानामेकशो द्विस्त्रिश्चतुर्वा करिष्यमाणत्वात्, ' एवं जाव वेमाणियाण' मिति, नैरयिकाणां चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्ता कृता, एवमसुरकुमारादीनामपि प्रत्येकं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्या यावद्वैमानिकानां, केवलं यत्रास्ति विशेषस्तं दर्शयति—' नवरं ' मित्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकानां मनुष्यत्वचिन्तायामतीता: पुरस्कृताश्च प्रत्येकमनन्ता वक्तव्या, अनन्तानां पूर्वमधिगतचतुर्दशपूर्वाणां यथायोगमेकशो द्विस्त्रिर्वा कृताहारकसमुद्धातानां वनस्पतिष्ववस्थानात् अनन्तरमेव वनस्पतिकायादुद्वृत्त्यानन्तर्येण पारम्पर्येण वा मानुषत्वमवाप्य यथायोगमेकशो द्विस्त्रिश्चतुर्वाऽऽहारकसमुद्धातानां निर्वर्त्तयिष्यमाणत्वात्, मनुष्याणां मनुष्यत्वावस्थायामतीता पुरस्कृताश्च स्यात्संख्येया स्यादसंख्येया, कथमिति चेत्, उच्यते—ते हि प्रश्नसमयभाविनः उत्कर्षपदेऽपि सर्वस्तोका, श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, ततो विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां मध्ये कदाचिदसंख्येया:—यथायोगं प्रत्येकमेकशो द्विस्त्रिश्चतुर्वा कृतकरिष्यमाणाहारकसमुद्घाता प्राप्यन्ते । उपसंहारमाह-'एवं'मित्यादि एवम्-उक्तेन प्रकारेण एते आहारकसमुद्धातविषयाश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिसंख्याका दण्डका वक्तव्या । सम्प्रति केवलिसमुद्घातं चिन्तयन्नि-'नेरइयाणं ' मित्यादि, केवलिसमुद्घातोऽपि मनुष्यत्वावस्थायां भवति, न शेषास्ववस्थासु, न च कृतकेवलिसमुद्घात संसारं पर्यटति, केवलिसमुद्घातानन्तरमन्तर्मुहूर्तेनावश्यं नि:श्रेयसपदाधिगमात्, ततो नारकाणां मनुष्यत्ववर्जासु शेषास्ववस्थास्वतीता पुरस्कृताश्च केवलिसमुद्घाता प्रतिषेद्धव्या, मनुष्यत्वावस्थायामप्यतीता: प्रतिषेद्धव्या, कृतकेवलिसमुद्घातानां नरके गमनाभावात्, भाविनश्च भविष्यन्ति, प्रश्नसमयभाविनां मध्ये बहूनामसंख्येयानां नारकाणां मुक्तिपदगमनयोग्यत्वात्, तत पुरस्कृता असंख्येया इत्युक्तम्, 'एवं ' मित्यादि, यथा नैरयिकाणां केवलिसमुद्घातचिन्ता कृता एवमसुरकुमारादीनामपि कर्त्तव्या, सा च तावत् यावत् वैमानिकानाम् । अत्रैव विशेषमाह-' नवरं मि-

स्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकानां मनुष्यत्वावस्थाचिन्ता-यामतीताः प्रतिषेद्धव्या', कृतकेवलिसमुद्धातानां संसाराभावात्, पुरस्कृतास्त्वनन्ता वाच्याः, प्रश्नसमयभाविनां वनस्पतिकायिकानां मध्ये बहूनामनन्तानां वनस्पतिकायिकानां वनस्पतिकायादुद्वृत्त्यानन्तर्येण पारम्पर्येण वा कृतकेवलिसमुद्धातानां सेत्स्यमानत्वात्, मनुष्याणां मनुष्यत्वावस्थाचिन्तायामतीताः कदाचित्सन्ति कदाचिन्न सन्ति, कृतकेवलिसमुद्धातानां सिद्धत्वभावादन्येषां चाद्यापि केवलिसमुद्धाताप्रतिपत्तेः, यदाऽपि सन्ति तदाऽपि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः शतपृथक्त्वं, पुरस्कृताः स्यात्संख्येयाः स्यादसंख्येयाः, प्रश्नसमयभाविनां मनुष्याणां मध्ये कदाचित्संख्येयानां कदाचिदसंख्येयानां यथायोगमानन्तर्येण पारम्पर्येण कृतकेवलिसमुद्धातानां सेत्स्यमानत्वात्। सूत्रसर्वसंख्यामाह—एवमुक्तेन प्रकारेण एते केवलिसमुद्धातविषयाश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिदण्डकाः, ते च सर्वेऽपि पृच्छाया पृच्छापुरस्सरं भणितव्या, कियद्दूरं यावदित्याह-वैमानिकानां वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्। तच्चेदम्-'वेमाणियाणं भंते ! वेमाणियत्ते केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! नत्थि' इति। तदेवमुक्ता नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यवसानेष्वेकत्वविशिष्टेषु बहुत्वविशिष्टेषु च भूतभाविवेदनादिसमुद्धातसम्भवाऽसम्भवपुरस्सरं संख्याप्रमाणप्ररूपणा।

(८) सम्प्रति तेन तेन समुद्घातेन यावत् केवलिसमुद्घातेन समुद्घातानामसमुद्घातानां च परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

एतेसि णं भंते ! जीवाणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं आहारगसमुग्घाएणं केवलिसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा आहारगसमुग्घाएणं समोहया केवलिसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा तेयगसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया अणंतगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं विसेसाहिया असमोहया असंखिज्जगुणा। (सू०३३७) एतेसि णं भंते ! नेरइयाणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमु०वेउव्वियस० समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा, वेदणासमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा असमोहया संखेज्जगुणा। एतेसि णं भंते ! असुरकुमाराणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा असुरकुमारा तेयगसमुग्घाएणं समोहया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा असमोहया असंखिज्जगुणा एवं० जाव थणियकुमारा। एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाइया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया कसायसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया असमोहया असंखिज्जगुणा, एवं०जाव वणस्सइकाइया, णवरं सव्वत्थोवा वाउकाइया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया असमोहया असंखेज्जगुणा। बेइंदियाणं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?, गोयमा ! सव्वथोवा बेइंदिया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा कसायसमुग्घायएणं समोहया असंखेज्जगुणा असमोहया संखेज्जगुणा, एवं ०जाव चउरिंदिया। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहया कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयासमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिन्दियतिरिक्खजोणिया तेयासमुग्घाएणं समोहया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा असमवहता संखेज्जगुणा। मणुस्साणं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहयाणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं आहारगसमुग्घाएणं केवलिसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?, गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा आहारगसमुग्घाएणं समोहया केवलिसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा तेयगसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया

संखेज्जगुणा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा असमोहया असंखेज्जगुणा वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं । (सू० ३३८)

'एएसि णं' मित्यादि एतेषां प्राक् समवहताऽसमवहतत्वेन निरूपितानां भदन्त ! सामान्यतो जीवानां वेदनासमुद्घातेन यावत् केवलिसमुद्घातेन समवहतानामसमवहतानां च मध्ये कतरे कतरेभ्योऽल्पाः कतरे कतरेभ्यो बहुकाः -संख्येयाऽसंख्येयादिगुणतया प्रभूताः, कतरे कतरैस्तुल्याः समसंख्याकाः । अत्रापि सूत्रे विभक्तिपरिणामः स्वयं योजनीयः, कतरे कतरेभ्यो विशेषाधिका—मनागधिकाः, वाशब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्था भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोका जीवा आहारकसमुद्घातेन समुद्धताः, आहारकशरीरिणो हि कदाचिदिह लोके षण्मासान् यावन्न भवन्त्यपि यदापि भवन्ति तदापि जघन्येन एको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षेण सहस्रपृथक्त्वं, केवलमाहारकसमुद्घात आहारकशरीरप्रारम्भकाले न शेषकाले ततः स्तोका एव युगपदाहारकसमुद्घाताः प्राप्यन्ते इति सर्वस्तोका आहारकसमुद्घातेन समुद्धताः, तेभ्यः केवलिसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, तेषामेककाले शतपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्, यद्यप्याहारकशरीरिणः सत्तया समकालम् एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेण सहस्रपृथक्त्वमानाः प्राप्यन्ते तथापि (ते स्तोकानामा)हारकसमुद्घातसम्भवात् एककालमतिस्तोकाः प्राप्यन्ते इति न तेभ्यः केवलिसमुद्घातसमुद्धतानां संख्येयगुणत्वविरोधः, केवलिसमुद्घातसमुद्धतेभ्यस्तैजससमुद्घातेन समवहताः असंख्येयगुणाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां देवानामपि च तैजससमुद्घातसम्भवात्, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः असंख्येयगुणाः नारकवातकायिकानामपि वैक्रियसमुद्घातसम्भवात्, वातकायिकाश्च वैक्रियलब्धिमन्तो न स्तोकाः किन्तु देवेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः । कथमेतदिति चेत् उच्यते—इह बादरपर्याप्तवायुकायिकाः स्थलचरपञ्चेन्द्रियेभ्योऽसंख्येयगुणाः, महादण्डके तथा पठितत्वात्, स्थलचरपञ्चेन्द्रियाश्च देवेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः ततो यद्यपि बादरपर्याप्तवायुकायिकानां संख्येयभागमात्रस्य वैक्रियलब्धिसम्भवः । यत उक्तम्—' तिण्हं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, बायरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइभागमेत्ताणं ' ति तथापि संख्येयभागमात्रा वैक्रियलब्धिमन्तो देवेभ्योऽप्यसंख्येयगुणा भवन्ति ततो नैरयिकाणां वायुकायिकानां च वैक्रियसमुद्घातसम्भवादुपपद्यन्ते तैजससमुद्घातसमुद्धतेभ्यो वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धता असंख्येयगुणाः तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्धता अनन्तगुणाः, कथम्? उच्यते, इह निगोदजीवानामनन्तानामसंख्येयो भागः सदा विग्रहगतौ वर्त्तमानः प्राप्यते स च प्रायो मारणान्तिकसमुद्घातसमुद्धत इति एतेभ्योऽनन्तगुणाः तेभ्योऽपि कषायसमुद्घातसमुद्धता असंख्येयगुणाः, निगोदजीवानामेवानन्तानां विग्रहगत्यापन्नेभ्योऽसंख्येयगुणानां कषायसमुद्घातसमुद्धतानां सदा प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धता विशेषाधिकाः, तेषामेव निगोदजीवानामनन्तानां कषायसमुद्घातसमुद्धतेभ्यो मनाक् विशेषाधिकानां सदा वेदनासमुद्घातेन समुद्धततयाऽवाप्यमानत्वात्, तेभ्योऽपि एकेनापि समुद्घातेनासमुद्धता असंख्येयगुणाः, वेदनाकषायमरणसमुद्घातसमुद्धतेभ्यो निगोदजीवानामेवासंख्येयगुणानामसमवहतानां सदा लभ्यमानत्वात् । सम्प्रत्येतदेवाल्पबहुत्वं जीवविशेषेषु नैरयिकादिषु चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण यथायोगं चिचिन्तयिषुराह—' नेरइयाणं ' मित्यादि प्रश्नसूत्रं, भगवानाह—सर्वस्तोका नैरयिका मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्धताः, मारणान्तिको हि समुद्घातो मरणकाले भवति, मरणं च शेषजीवनारकराश्यपेक्षयाऽतिस्तोकानां, न च सर्वेषां म्रियमाणानामविशेषेण मारणान्तिकसमुद्घातः, किन्तु कतिपयानाम्, ' समोहया वि मरंति असमोहया वि मरंती ' ति वचनात् । अतः सर्वस्तोका मारणान्तिकसमुद्घातसमुद्धताः, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धता असंख्येयगुणाः, सप्तस्वपि पृथिवीषु प्रत्येकं बहूनां परस्परवेदनोदीरणाय निरन्तरमुत्तरवैक्रियसमारम्भसम्भवात्, तेभ्योऽपि कषायसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, कृतोत्तरवैक्रियाणामकृतोत्तरवैक्रियाणां च सर्वसंख्ययोत्तरवैक्रियारम्भकेभ्योऽसंख्येयगुणानां कषायसमुद्घातसमुद्धतत्वेन प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, यथायोगं क्षेत्रजपरमाधार्मिकोदीरितपरस्परोदीरितवेदनाभिः प्रायो बहूनां सदा समुद्धतत्वेन प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽप्येकेनापि समुद्घातेनासमवहताः संख्येयगुणाः, वेदनासमुद्घातमन्तरेणाप्यतिबहूनां सामान्यतो वेदनामनुभवतां सम्भवात् । सम्प्रत्यसुरकुमाराणामल्पबहुत्वमाह— ' एएसि णं ' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोका असुरकुमारास्तैजससमुद्घातेन समुद्धताः तैजससमुद्घातो हि महति कोपावेशे क्वचित् कदाचित्कस्यचिद्भवति, ततस्तेन समुद्घातेन समुद्धताः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्धता असंख्येयगुणाः, तेभ्यो वेदनासमुद्घातेन समुद्धता असंख्येयगुणाः, परस्परं युद्धादौ बहूनां वेदनासमुद्घातेन समुद्धतानां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि कषायसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, येन तेन वा कारणेन बहूनां कषायसमुद्घातगमनसम्भवात् तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, परिचारणाद्यनेकनिमित्तमतिबहूनामुत्तरवैक्रियकरणारम्भसम्भवात्, तेभ्योऽप्यसमवहता असंख्येयगुणाः, बहूनामुत्तमजातीनां सुखसागरावगाढानां पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणानां केनापि समुद्घातेनासमवहतानां सदा लभ्यमानत्वात् । ' एव ' मित्यादि, यथा असुरकुमाराणामल्पबहुत्वमुक्तमेवं सर्वेषां भवनपतीनां द्रष्टव्यं, यावत् स्तनितकुमाराणामिति ॥ सम्प्रति पृथिवीकायिकादीनामल्पबहुत्वमाह— ' एएसि णं ' मित्यादि, अत्र कषायसमुद्घातसमवहताना

अनन्ता वा, तत्र सख्येयं कालं संसारावस्थायेन संख्येया, असंख्येयं कालमसंख्येया", अनन्तकालमनन्ताः। एवमसुरकुमारादिक्रमेण तावद् वाच्यं यावद्वैमानिकस्य, 'एव' मित्यादि, एव—चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण मानादिकषायसमुद्घातसमुद्घातास्तावद्वक्तव्या यावल्लोभसमुद्घात.। एवमेते चत्वार. चतुर्विंशतिदण्डका भवन्ति, एते चैकैकनैरयिकादिविषया उक्ता.। सम्प्रत्येतानेव चतुश्चतुर्विंशतिदण्डकान् सकलनारकादिविषयानाह—'नेरइयाणं' मित्यादि, अतीतसूत्र सुप्रतीतं, पुरस्कृता अनन्ता., प्रश्नसमयभाविनां नारकाणां मध्ये बहूनामनन्तकालमवस्थायित्वात्। एवं—नैरयिकोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्य' यावद्वैमानिकानां यथा चैषः क्रोधसमुद्घातश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणोक्त एवं मानादिसमुद्घाता अपि तावद् वक्तव्या यावल्लोभसमुद्घातः। एवमेतेऽपि सकलनारकादिविषयाश्चत्वारश्चतुर्विंशतिदण्डका भवन्ति। साम्प्रतमेकैकस्य नैरयिकादेर्नैरयिकादिपु भावेपु वर्तमानस्य कति क्रोधसमुद्घाता अतीता. कति भाविन इति निरूपयितुकाम आह—'एगमेगस्स ण' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त! नैरयिकस्य विवक्षितप्रश्नसमयकालात् पूर्व सकलमतीतं कालमवधीकृत्य तदा तदाऽस्य नैरयिकत्वं प्राप्तस्य सत. सर्वसंख्यया कियन्त क्रोधसमुद्घाता अतीता'?, भगवानाह—गौतम! अनन्ता., नरकगतेरनन्तश. प्राप्तत्वात्, एकैकस्मिंश्च नरकभवे जघन्यपदेऽपि संख्येयानां क्रोधसमुद्घातानां भावात्, 'एवं जहे' त्यादि, एवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथा वेदनासमुद्घातः प्राग् भणितस्तथा क्रोधसमुद्घातोऽपि भणितव्य, कथं भणितव्य.?, इत्याह—निरवशेषं, क्रियाविशेषणमेतत्, सामस्त्येनेत्यर्थ.। कियद्दूरं यावद् भणितव्यमित्याह—यावद् वैमानिकत्वे, वैमानिकस्य वैमानिकत्व इत्यालापकम्। यावदित्यर्थः, स चैवम्—'केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा। कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहरणेणं एको वा दो वा तिरिण वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवमसुरकुमारत्ते० जाव वेमाणियत्ते, 'एगमेगस्स णं भंते! असुरकुमारस्स नेरइयत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि तस्थ सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता। एवमेगस्स ण भंते! असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि- जस्सत्थि जहएणेण एक्को वा दो वा तिरिण वा उक्कोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं नागकुमारत्ते० जाव वेमाणियत्ते, एवं जहा असुरकुमारेसु नेरइया वेमाणियपज्जवसाणेसु भणिया तहा णागकुमारादिया सट्ठाणपरट्ठाणेसु भाणियव्वा० जाव वेमाणियत्ते' इति, अस्यार्थ—कियन्तो भदन्त! एकैकस्य नारकस्यासंसारमोक्षमनन्तं कालं मर्यादीकृत्य नैरयिकत्वे भाविन स(न्त)त सर्वसंख्यया पुरस्कृता क्रोधसमुद्घाता?, भगवानाह—'कस्सइ अत्थि' इत्यादि, य आसन्नमरण क्रोधसमुद्घातमनासाद्यात्यन्तिकमरणेन नरकादुद्वृत्त सेत्स्यति तस्य नास्ति नैरयिकत्वभाविन एकोऽपि पुरस्कृत' क्रोधसमुद्घात", शेषस्य तु सन्ति। यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, एतच्च प्राणशत्रायुषां तद्भवस्थानां भूयो नरकेपु उ (त्प) त्पद्यमानानां वेदितव्य, भूयो नरकेषूत्पत्तौ हि जघन्यपदेऽपि संख्येयाः प्राप्यन्ते, नैरयिकाणां क्रोधसमुद्घातप्रचुरत्वात्, उत्कर्पतः संख्येया वा असंख्येया वा अनन्ता वा। तत्र सकृन्नरकेपु जघन्यस्थितिकेषु पत्स्यमानस्य संख्येया अनेकश', यदि वा—दीर्घस्थितिकेपु सकृदपि उत्पत्स्यमानस्यासख्येया., अनन्तशो उत्पत्स्यमानस्यानन्ता., 'एव' मित्यादि, एवं नैरयिकोक्तप्रकारेणासुरकुमारत्वे तदनन्तरं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकत्वविषय सूत्रम्, तच्चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स वेमाणियत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अईया?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिरिण वा उक्कोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा' अत्राप्ययं भावार्थः-अतीतचिन्तायामनन्ताः, अनन्तशो वैमानिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, पुरस्कृतचिन्तायां योऽनन्तरभवे नरकादुद्वृत्तो मानुषत्वमवाप्य सेत्स्यति, प्राप्तौ वा परम्परया सकृद्वैमानिकभव न क्रोधसमुद्घात गन्ता तस्यैकोऽपि पुरस्कृतः क्रोधसमुद्घातो वैमानिकत्वे न विद्यते, यस्त्वसकृद्वैमानिकत्वं प्राप्त. सन् सकृदेव क्रोधसमुद्घात याता तस्य—जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, शेषस्य संख्यातान् वारान् वैमानिकत्वं प्राप्स्यतः संख्येया., असंख्येयान् वारान् असंख्येया, अनन्तान् वारान् अनन्ता। 'एगमेगस्स ण' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, 'गोयमा! अणंता' इति, अनन्तशो नैरयिकत्वे प्राप्तस्य, एकैकस्मिंश्च नैरयिकभवे जघन्यपदेऽपि संख्येयानां क्रोधसमुद्घातानां भावात्, पुरस्कृता कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति। किमुक्तं भवति?,-योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो न नरकं यास्यति किन्त्वनन्तरं परम्परया वा मनुष्यभवमवाप्य सेत्स्यति तस्य नैरयिकावस्थाभाविन पुरस्कृताः क्रोधसमुद्घाता न सन्ति नैरयिकत्वावस्थाऽ' ऽप्रावाप्सम्भवात्, यस्तु तद्भवादूर्ध्वं पारम्पर्येण नरकगामी तस्य सन्ति, तस्यापि कस्यचित्संख्येया, कस्यचिदसंख्येया, कस्यचिदनन्ता। तत्र य सकृज्जघन्यस्थितिकेपु नरकमध्येषु समुत्पत्स्यते तस्य जघन्यपदेऽपि संख्येया. दशवर्षसहस्रप्रमाणायामपि स्थितौ संख्येयानां क्रोधसमुद्घातानां भावात्, क्रोधबहुलत्वान्नारकाणाम्, असकृद्दीर्घस्थितिषु सकृद्वा गमनेऽसंख्येया, अनन्तशो नरकगमनेऽनन्ता। तथा एकैकस्य भदन्त! असुरकुमारस्य असुरकुमारत्वे स्थितस्य सत' सकलमतीतकालमधिकृत्य कियन्त. क्रोधसमुद्घाता अतीता?, भगवानाह—अनन्ता अनन्तशोऽसुरकुमारभावस्य प्राप्तत्वात्, प्रतिभव च क्रोधसमुद्घातस्य प्रायो भावात्, पुरस्कृतचिन्तायां कस्यापि सन्ति कस्यापि न-सन्ति, यस्य प्रश्नकालादूर्ध्वमसुरकुमारत्वेऽपि वर्तमानस्य न भावी क्रोधसमुद्घातो नापि तत उद्वृत्ता भूयोऽप्यसुरकुमारत्व याता तस्य न सन्ति, यस्तु सकृदसु-

केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ? गोयमा ! अणंता केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स नागकुमारत्ते पुच्छा ?, गोयमा ! अणंता. केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता, एवं ०जाव थणियकुमारत्ते । पुढविकाइयत्ते ०जाव वेमाणियत्ते जहा नेरइयस्स भणितं तहेव भाणियव्वं, एवं ०जाव थणियकुमारस्स वेमाणियत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । पुढविकाइयस्स असुरकुमारत्ते अतीता अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय संखेज्जा वा सिय असंखेज्जा वा सिय अणंता, एवं०जाव थणियकुमारत्ते पुढविकाइयत्ते अतीता अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं ०जाव मणूसत्ते । वाणमंतरत्ते जहा असुरकुमारत्ते, जोइसियत्ते वेमाणियत्ते अतीता अणंता पुरेक्खडा, कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता । एवं ०जाव मणूसस्स वेमाणियत्ते । वाणमंतरस्स जहा असुरकुमारस्स एवं जोइसियवेमाणियाणं पि' अस्यायमर्थः —नैरयिकस्य नैरयिकत्वे अतीता लोभसमुद्धाता अनन्ता. अनन्तशो नैरयिकत्वस्य प्राप्तत्वात् ,पुरस्कृतचिन्तायां कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र य प्रश्नसमयादूर्ध्वं लोभसमुद्घातमप्राप्त एव नरकभवादुद्वृत्त्यानन्तरं पारम्पर्येण वा सेत्स्यति न च भूयो नरकमागामी नचागतोऽपि लोभसमुद्घातं गन्ता तस्य नैकोऽपि पुरस्कृतो लोभसमुद्धात , शेषस्य तु भावी तस्यापि कस्यचिदेक. कस्यचिद् द्वौ, कस्यचित् त्रय । एतच्च प्रश्नसमयादूर्ध्वमपि तद्भवभाजा सकृन्नरकभवगामिना वा वेदितव्यम् , उत्कर्षत संख्येया वा असंख्येया वा अनन्ता वा । तत्र संख्येयान् वारान् नरकभवमागामिन संख्येया., असंख्येयान् वारान् असंख्येया , अनन्तान् वारान् अनन्ता । तथा नैरयिकत्वस्यासुरकुमारत्वविषयेऽतीतसूत्रं तथैव भावनीयम् ,पुरस्कृतसूत्रे-' कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि ' त्ति-यो नरकभवादुद्वृत्तो नासुरकुमारत्वं प्राप्स्यति तस्य न सन्त्यसुरकुमारत्वविषया पुरस्कृता लोभसमुद्धाता , यस्तु प्राप्स्यति तस्य सन्ति । ते च जघन्यपदे संख्येया , जघन्यस्थितावप्यसुरकुमाराणां संख्येयानां लोभसमुद्घातानां भावात् लोभबहुलत्वाच्चैषाम् , उत्कृष्टपदेऽसंख्येया अनन्ता वा तत्र सकृद्दीर्घस्थितावसकृज्जघन्यस्थितिषु दीर्घस्थितिषु वा उत्पत्स्यमानानामवसेयम् , अनन्तश उत्पत्स्यमानानामनन्ताः, एवं नैरयिकस्य नागकुमारत्वादिषु स्थानेषु निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमारत्वे, तथा चाह-'एवं जाव थणियकुमारत्ते ' पृथिवीकायिकत्वेऽतीतसूत्रं तथैव । पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति , तत्र नरकादुद्वृत्तो यो न पृथिवीकायिकत्वं प्राप्स्यति तस्य न सन्ति, योऽपि गन्ता तस्य जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा । ते चैवम्- तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवात् मनुष्यभवाद्वा लोभसमुद्घातेन समुद्धत सन् य एकवारं पृथिवीं गन्ता तस्य एक' द्वौ वारौ गन्तुर्द्वौ, त्रीन् वारान् गन्तुस्त्रय , संख्येयान् वारान् संख्येयाः , असंख्येयान् वारान् असंख्येया', अनन्तान् वारान् अनन्ता', ' एवं० जाव मणूसत्ते ' इति, एवं—पृथिवीकायिकगतेनाभिलापप्रकारेण तावद्वक्तव्यम् , यावन्मनुष्यत्वे । तच्चैवम्—' एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स आउकाइयत्ते ' इत्यादि , यावन्मनुष्यसूत्रं, तत्राप्कायिकादिवनस्पतिपर्यन्तसूत्रभावना पृथिवीकायसूत्रवत् ,द्वीन्द्रियसूत्रे पुरस्कृतचिन्तायां जघन्येन एको द्वौ वा त्रयो वेति, एतत् सकृत् द्वीन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्य वेदितव्यम् , उत्कर्षेण संख्येया असंख्येया अनन्ता वा,तत्र संख्येयान् वारान् द्वीन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्य संख्येयाः,असंख्येयान् वारान् असंख्येया , अनन्तान् वारान् अनन्ता ।एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रविषया त्वेवं भावना-सकृत्पञ्चेन्द्रियभवं गन्तुकामस्य स्वभावत एवाल्पलोभस्य जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा , शेषस्य तूत्कर्षतः संख्येयान् वारान् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवं यन्तु संख्येया ,असंख्येयान् वारान् असंख्येया ,अनन्तान् वारान् अनन्ता । मनुष्यसूत्रे तु पुरस्कृतविषया भावना मूलत एवम्-यो नरकभवादुद्वृत्तोऽल्पलोभकषाय सन् मनुष्यभवं प्राप्य लोभसमुद्घातमगत्वा सिद्धिपुरं यास्यति तस्य न सन्ति पुरस्कृता लोभसमुद्घाता, शेषस्य तु सन्ति। यस्य सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा , ते च एकं द्वौ त्रीन् वा लोभसमुद्धातान् प्राप्य सेत्स्यतो वेदितव्याः। संख्येयाद्य प्राग्वद् भावनीया । ' वाणमंतरत्ते जहा असुरकुमारा' इति यथा नैरयिकस्यासुरकुमारत्वे पुरस्कृतविषये सूत्रमुक्तं तथा व्यन्तरेष्वपि वक्तव्यम् । किमुक्तं भवति-पुरस्कृतचिन्तायामेव वक्तव्यम् 'कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता' इति,न त्वेकादिका वक्तव्या , व्यन्तराणामप्यसुरकुमाराणामिव जघन्यस्थितावपि संख्येयानां लोभसमुद्घातानां भावात् । ' जोइसियत्ते ' इत्यादि ज्योतिष्कत्वे अतीता अनन्ता , अनन्तशो ज्योतिष्कत्वस्य प्राप्तत्वात् , पुरस्कृता कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, एतद् प्राग्वद् भावनीयम् । यस्यापि सन्ति तस्यापि कस्यचिदसंख्येया., कस्यचिदनन्ता', न तु जातुचित् संख्येया , ज्योतिष्काणां जघन्यपदेऽप्यसंख्येयवर्षायुष्कतया जघन्यतोऽप्यसंख्येयानां लोभसमुद्घातानां भावात् लोभबहुलत्वाच्चजाते ।एवं वैमानिकत्वेऽपि पुरस्कृतचिन्तायां वक्तव्यम् ,तदेवं स्वस्थाने परस्थाने च लोभसमुद्घाताभिहिता' सम्प्रत्यसुरकुमारस्य त चिचिन्तयिषुरिदमाह—' एगमेग-

स्स ए' मित्यादि एकैकस्य असुरकुमारस्य नैरयिकत्वे लोभसमुद्घाता अतीता अनन्ताः, नैरयिकत्वस्यानन्तशः प्राप्तत्वात्, पुरस्कृताः कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो न नरकं याता नापि सकृद् गतोऽपि लोभसमुद्घातं गन्ता तस्य न सन्ति, यस्तु यास्यति तस्य जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ताः। तत्र सकृन्नरकगामिनः एकादयो नैरयिकाणामिष्टद्रव्यसंयोगाभावतः प्रायो लोभसमुद्घातस्यासंभवात्। उक्तं च मूलटीकायाम्—"नेरइयाणं लोभसमुग्घायरा थोवा चेव भवन्ति, तेसिमिट्ठदव्वसंजोगाभावाओ एगादिसंभव" इति। संख्येयान् वारान् नरकं गन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः। असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे अतीता अनन्ताः सुप्रतीताः, पुरस्कृताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवे चर्मत्वर्ती न च लोभसमुद्घातं याता नापि तत उद्वृत्तो भूयोऽप्यसुरकुमारत्वं याता किन्त्वनन्तरं पारम्पर्येण वा सेत्स्यति तस्य न सन्ति, यस्य तु सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ता। तत्र एकादयः क्षीणायुःशेषाणां तद्भवभाजां भूयस्तथैवानुत्पद्यमानानामवगन्तव्या, संख्येयादयो नैरयिकस्येव भावनीया। असुरकुमारस्य नागकुमारत्वेऽतीताः प्राग्वत्। पुरस्कृताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो न नागकुमारभवं गन्ता तस्य न सन्ति, शेषस्य तु सन्ति यस्यापि सन्ति तस्यापि स्यात् संख्येयाः, स्यादसंख्येया, स्यादनन्ता। तत्र सकृन्नागकुमारभवं प्राप्तुकामस्य संख्येया, जघन्यस्थितावपि संख्येयानां लोभसमुद्घातानां भावात्, असंख्येयान् वारान् प्राप्तुकामस्य असंख्येया, अनन्तान् वारान् अनन्ता। एवं यावत् स्तनितकुमारत्वे पृथिवीकायिकत्वे यावद्वैमानिकत्वे यथा नैरयिकस्य भणितं तथैव भणितव्यम्। एवमसुरकुमारस्येव नागकुमारादेरपि तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमारस्य। वैमानिकत्वे-वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्, तच्चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! थणियकुमारस्स वेमाणियत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता?' इत्यादि, एवं एगमेगस्स णं भंते! पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते' इत्याद्यपि सूत्रं पूर्वोक्तक्रमानुसारेण स्वयं भावनीयम्, तदेवं नैरयिकादेरेकत्वविषया क्रोधादिसमुद्घाताः प्रत्येकं चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्विचिन्तिताः॥ सम्प्रति तानेव नैरयिकादिबहुत्वविषयान् विचिन्तयिषुरिदमाह—'नेरइयाणं भंते!' इत्यादि, नैरयिकाणां भदन्त! नैरयिकत्वे कियन्तः क्रोधसमुद्घाता अतीता?, भगवानाह—गौतम! अनन्ताः, अनन्तशो नैरयिकत्वस्य सर्वजीवैः प्राप्तत्वात्, कियन्तः पुरस्कृताः?, गौतम! अनन्ताः, प्रश्नसमयभाविना मध्ये बहूनामनन्तशो नैरयिकत्वं प्राप्तुकामत्वात्, 'एव' मित्यादि, एवं—नैरयिकगतेनाभिलापप्रकारेण चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकविषयं सूत्रम्, तच्चैवम्—'वेमाणियाणं भंते! वेमाणियत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! अणंता' भावना प्राग्वत्। यथा च क्रोधसमुद्घाताः सर्वेषु जीवेषु स्वस्थाने परस्थाने चातीताः पुरस्कृताश्चानन्तत्वेनाभिहिताः तथा मानादिसमुद्घाता अपि वाच्याः, तथा चाह—'एव' मित्यादि, एवं—क्रोधसमुद्घातगतेन प्रकारेण चत्वारोऽपि समुद्घाताः सर्वत्रापि स्वस्थानपरस्थानेषु वाच्याः, यावल्लोभसमुद्घातो वैमानिकत्वविषय उक्तो भवति। स चैवम्—'वेमाणियाणं भंते! वेमाणियत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! अणंता' सुगमम्। तदेवं नैरयिकादिबहुत्वविषया अपि क्रोधादिसमुद्घाताः प्रत्येकं चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैश्चिन्तिताः।

(१०)सम्प्रति क्रोधादिसमुद्घातैः शेषसमुद्घातैश्च समवहतानामसमवहतानां च परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुः प्रथमतः सामान्यतो जीवविषयं तावदाह—

एतेसि णं भंते! जीवाणं कोहसमुग्घाएणं माणसमुग्घाएणं मायासमुग्घाएणं लोभसमुग्घाएण य समोहयाणं अकसायसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?, गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा अकसायसमुग्घाएणं समोहयाणं माणसमुग्घाएणं समोहया अणंता०, कोहसमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया मायासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया लोभसमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया असमोहया संखेज्जगुणा। एतेसि णं भंते! नेरइयाणं कोहसमुग्घाएणं माणसमुग्घाएणं मायासमुग्घाएणं लोभसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा नेरइया लोभसमुग्घाएणं समोहया, मायासमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा वा, माणसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, कोहसमुग्घाएणं संखेज्जगुणा, असमोहया संखेज्जगुणा। असुरकुमाराणं पुच्छा, गोयमा! सव्वत्थोवा असुरकुमारा णं,कोहसमुग्घाएणं समोहया माणसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा,मायासमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा। लोभसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा असमोहया संखेज्जगुणा, एवं सव्वदेवा० जाव वेमाणिया। पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा! सव्वत्थोवा पुढविकाइया माणसमुग्घाएणं समोहया, कोहसमुग्घाएणं समोहया, विसेसाहिया मायासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया लोभसमुग्घाएण य समोहयाया विसेसाहिया असमोहयाया संखेज्जा, एवं० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया, मणुस्सा जहा जीवा, णवरं मायासमुग्घाएणं समोहयाया असंखेज्जा। (सू० ३४०)

'एएसि णं' मित्यादि, एतेषां भदन्त ! जीवानां क्रोधसमुद्घातेन मानसमुद्घातेन मायासमुद्घातेन लोभसमुद्घातेन च समवहतानाम् अकषायेणेति—कषायव्यतिरेकेण शेषेण समुद्घातेन समवहतानामसमवहतानां च कतरे कतरेभ्य' अल्पा वा बहवो वा ?, 'अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम' इति न्यायात् पञ्चम्या स्थाने तृतीयापरिणामनात् कतरे कतरैस्तुल्या वा, तथा कतरे कतरेभ्यो विशेषाधिका, एवं गौतमेन पृष्टे भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोका जीवा अकषायसमुद्घातेन कषायव्यतिरिक्तेन शेषवेदनादिसमुद्घातपट्केन समवहता, कषायव्यतिरिक्तसमुद्घातसमुद्घता हि कचित् कदाचित् केचिदेव प्रतिनियता लभ्यन्ते, ते चोत्कर्षपदेऽपि कषायसमुद्घातसमवहतापेक्षया अनन्तभागे वर्तन्ते, ततः स्तोका, तेभ्यो मानसमुद्घातसमवहता अनन्तगुणा, अनन्तानां वनस्पतिजीवानां पूर्वभवसंस्कारानुवृत्तितो मानसमुद्घाते वर्तमानानां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्यः क्रोधसमुद्घातेन समवहता विशेषाधिका, मानापेक्षया क्रोधिनां प्रचुरत्वात्, तेभ्यो मायासमुद्घातेन समवहता विशेषाधिका:, क्रोध्यपेक्षया मायाविनां प्रचुरत्वात्, तेभ्योऽपि लोभसमुद्घातेन समवहता विशेषाधिका, मायाविभ्यो लोभवतामतिप्रभूतत्वात्, तेभ्योऽपि केनाप्यसमवहताः संख्येयगुणा, चतसृष्वपि गतिषु प्रत्येकं समवहतेभ्योऽसमवहतानां सदा संख्येयगुणतया प्राप्यमाणत्वात्। सिद्धास्त्वेकेन्द्रियापेक्षयाऽनन्तभागवर्त्तिन इति ते सन्तोऽपि न विवक्षिता। एतदेवाल्पबहुत्वं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयन्नाह—'एएसि णं' मित्यादि सुगमं, नवरं सर्वस्तोका नैरयिका लोभसमुद्घातेन समवहता इति, नैरयिकाणामिष्टद्रव्यसंयोगाभावात् प्रायो लोभसमुद्घातस्तावन्नोपपद्यते, तेषामपि च केषाञ्चिद्भवति ते कतिपया इति शेषसमुद्घातसमवहतापेक्षया सर्वस्तोका, असुरकुमारादिविषयाल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका क्रोधसमुद्घातसमुद्घता इति, देवा हि स्वभावतो लोभबहुलास्ततोऽल्पतरा मानादिमन्त, ततोऽपि कदाचित्कतिपये क्रोधवन्त इति शेषसमुद्घातसमवहतापेक्षया सर्वस्तोका, 'एवं सव्वदेवा॰जाव वेमाणिया' इति, एवम्-असुरकुमारगतेनाल्पबहुत्वप्रकारेण सर्वे देवा नागकुमारादयस्तावद्वक्तव्या यावद्वैमानिकाः। पृथिवीकायिकचिन्तायां सामान्यतो जीवपद इव भावना भावनीया, समानत्वात्। 'एवं जाव' इत्यादि, एवं-पृथिवीकायिकोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्या यावत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया, मनुष्या यथा जीवा, नवरमकषायसमुद्घातसमवहतापेक्षया मानसमुद्घातेन समवहता असंख्येयगुणा वक्तव्या। (छाद्मस्थिकसमुद्घातवक्तव्यता 'छाउमत्थियसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे १३५८ पृष्ठे गता।)

(१०) सम्प्रति यस्मिन् समुद्घाते वर्तमानो यावत् क्षेत्रं समुद्घातवशतस्तैस्तैः पुद्गलैर्व्याप्नोति तदेतन्निरूपयति—

जीवे णं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभति तेहि णं भंते ! पोग्गलेहिं केवइए खेत्ते अफुण्णे केवतिते खेत्ते फुडे ?, गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं नियमा छद्दिसिं एवतिते खेत्ते अफुण्णे एवतिते खेत्ते फुडे। से णं भंते ! खेत्ते केवतिकालस्स अप्फुडे केवइए फुडे ?, गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुण्णे एवइयकालस्स फुडे। ते णं भंते ! पोग्गले केवइकालस्स निच्छुभति ?, गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तस्स उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं। ते णं भंते ! पोग्गला निच्छूढा समाणा जाति तत्थ पाणाति भूयाति जीवाति सत्ताति अभिहणंति वत्तेंति लेसेंति संघाएंति संघट्टेति परितावेति किलामेति उद्दवेंति तेहिंतो णं भंते ! से जीवे कतिकिरिए ?, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। ते णं भंते ! जीवा ताओ जीवाओ कतिकिरिया?, गोयमा ! सिय तिकिरिया सिय चउकिरिया सिय पंचकिरिया। से णं भंते ! जीवे ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परंपराघाएणं कतिकिरिया ?, गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि। नेरइए णं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहते, एवं जहेव जीवे, णवरं णेरइयाभिलावो, एवं निरवसेसं ॰जाव वेमाणिते एवं कसायसमुग्घाओ वि भाणितव्वो। जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता जे पोग्गले णिच्छुभति तेहिं णं भंते ! पोग्गलेहिं केवतिते खेत्ते अप्फुण्णे केवतिते खेत्ते फुडे ?, गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं एवति खेत्ते अफुण्णे एवतिते खेत्ते फुडे। से णं भंते ! खेत्ते केवइकालस्स अफुण्णे केवइकालस्स फुडे ?, गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुण्णे एवतिकालस्स फुडे, सेसं तं चेव ॰जाव पंचकिरियाओ। एवं नेरइए वि, णवरं आयामेणं जहण्णेणं साइरेगं जोयणसहस्सं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोअणाइं, एगदिसिं एवतिते खेत्ते अफुण्णे एवतिते खेत्ते फुडे। विग्गहेणं एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा भण्णति, सेसं तं चेव॰ जाव पंचकिरिया वि। असुरकुमारस्स जहा जीवपदे, णवरं विग्गहो तिसमइओ जहा नेरइयस्स, सेसं तं चेव जहा असुरकुमारे एवं॰ जाव वेमाणिए, णवरं एगिंदिए जहा जीवे निरवसेसं।

(प्र० ३४२)

'जीवे णं भंते !' इत्यादि जीवो णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त ! वेदनासमुद्घाते वर्तमान ... [illegible]

निच्छुभइ' इति—विक्षिपति आत्मविश्लिष्टान् करोतीत्यर्थः, 'तेहिं णं'मिति—तैः पुद्गलैः कियत् क्षेत्रमापूर्णम्, आपूर्णत्वमपान्तराले कियदाकाशप्रदेशाः संस्पर्शनेऽपि व्यवहारत उच्यते, तत आह—कियत् क्षेत्रं स्पृष्टं—प्रतिप्रदेशापूरणेन व्याप्तम्, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह—'सरीरे' त्यादि नियमात्—नियमेन 'छद्दिसिं' ति—षड्दिशो यत्रापूरणे स्पर्शने वा षड्दिक् तद्यथा भवति एवं विष्कम्भतो—विस्तरेण बाहल्यतः—पिण्डतः शरीरप्रमाणमात्रं, यावत्प्रमाणः स्वशरीरस्य विष्कम्भो यावत् प्रमाणं च बाहल्यम् एतावन्मात्रमापूर्णं स्पृष्टं चेति वाक्यशेषः, तदेव निगमनद्वारेणाह—' एवइए खेत्ते अफुण्णे एवइए खेत्ते फुडे' इति, इह वेदनासमुद्घातो वेदनातिशयात्, वेदनातिशयश्च लोकनिष्कुटेषु जीवानां न भवति, निरुपद्रवस्थानवर्त्तित्वात् तेषां, किन्तु—त्रसनाड्या अन्तः, तत्र परोदीरणसम्भवात्, तत्र च षड्दिक्सम्भव इति नियमाच्छद्दिसिमित्युक्तम्, अन्यथा 'सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पञ्चदिसिं'मित्याद्युच्येत। अथ स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यमेव क्षेत्रमापूर्णं स्पृष्टं च विग्रहगतौ जीवस्य गतिमधिकृत्य कियद्दूरं यावद्भवति कियन्तं च कालमित्येतन्निरूपणार्थमाह— 'से णं भंते!' इत्यादि; नपुंसकत्वे पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्, तत्—अनन्तरोक्तप्रमाणं णमिति प्राग्वद्, भदन्त! क्षेत्रं कालस्य इति—प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी, कियता कालेन पूर्णं कियता कालेन स्पृष्टम्। किमुक्तं भवति?,—कियन्तं कालं यावत् स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रं निरन्तरं विग्रहगतौ जीवस्य गतिमधिकृत्यापूर्णं स्पृष्टं च लभ्यते इति?, भगवानाह—गौतम! एकसमयेन वा द्विसमयेन वा त्रिसमयेन वा विग्रहेण। किमुक्तं भवति?—एकसमयेन वा द्विसमयेन वा त्रिसमयेन वा विग्रहेण यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते इयद्दूरं यावत् स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं भृतं जीवस्य गतिमधिकृत्यावाप्यते, तत एतद्गतमुत्कृष्टतस्त्रिसामयिकेन विग्रहेण यावन्मात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यते एतावदात्मविश्लिष्टैर्वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं लभ्यते। इह चतुःसामयिकः पञ्चसामयिकश्च विग्रहो यद्यपि सम्भवति तथापि वेदनासमुद्घातः प्रायः परोदीरितवेदनावशात् उपजायते परोदीरिता च वेदना त्रसनाड्यां व्यवस्थितस्य न बहिः, त्रसनाडीव्यवस्थितस्य च विग्रह उत्कर्षतोऽपि त्रिसामयिक इति उत्कर्षतोऽपि त्रिसामयिकेन विग्रहेणेत्युक्तं, न चतुःसामयिकेन पञ्चसामयिकेन चेति। उपसंहारवाक्यमाह—' एवइयकालस्स अफुण्णे एवइयकालस्स फुडे' एतावता उत्कर्षतोऽपि त्रिसमयप्रमाणेनेत्यर्थः, कालेनापूर्णमेतावता कालेन स्पृष्टम्। किमुक्तं भवति?—विग्रहगतावुत्कर्षतः त्रीन् समयान् यावत् त्रिभिश्च समयैः यावन्मात्रं व्याप्यते, इयन्तीं सीमामभिव्याप्य स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं भृतं च जीवस्य गतिमधिकृत्य व्याप्यते। अथवा—'केवइयकालस्स' त्ति—षष्ठ्येव व्याख्येया, ततः स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं भृतं च जीवस्य विग्रहगतिमधिकृत्य कियतः कालस्य सम्बन्धि, कियन्तं कालं यावद्वाप्यते इत्यर्थः। भगवानाह—एकसमयेन द्विसमयेन त्रिसमयेन वा विग्रहेणाऽपूर्णं स्पृष्टं च लभ्यते इति वाक्यशेषः, ततः एतावता उत्कर्षतः—त्रिसमयप्रमाणस्य कालस्य सम्बन्धि यथोक्तप्रमाणं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णमेतावता कालस्य सम्बन्धि स्पृष्टमिति॥ सम्प्रति यावन्तं कालं वेदनाजननयोग्यान् पुद्गलान् विक्षिपति तावत्कालप्रमाणप्रतिपादनार्थमाह—' से णं भंते!' इत्यादि, तान्-वेदनाजननयोग्यान् पुद्गलान्, णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त! परमकल्याणयोगिन्! परमसुखयोगिन्! वा पुद्गलान् कियतः कालस्य सम्बन्धिनो विक्षिपति?, कियत्कालं वेदनाजननयोग्यान् विक्षिपतीति भावः। भगवानाह—जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तस्य सम्बन्धिन उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तस्य, केवलं मनाक् बृहत्तरस्य सम्बन्धिनः विक्षिपति। किमुक्तं भवति—ये पुद्गला जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तं यावद्वेदनाजननसमर्थाः तान् तथा तथा वेदनार्त्तः सन् स्वशरीरगतान्-स्वशरीराद्बहिरात्मप्रदेशेभ्योऽपि विश्लिष्टान् विक्षिपति, यथाऽत्यन्तदाहज्वरपीडितः सन् सूक्ष्मपुद्गलान्, प्रत्यक्षसिद्धं चैतदिति, ' ते णं भंते!' इत्यादि, ते णमिति पूर्ववत्, भदन्त! पुद्गला विक्षिप्ताः सन्तः शरीरसम्बद्धा असम्बद्धा वा ' जाइं तत्थे' त्यादि प्राकृतत्वात् पुंस्त्वेऽपि नपुंसकता, यान् तत्र वेदनासमुद्घातगतपुरुषसंस्पृष्टक्षेत्रे प्राणान्-द्वित्रिचतुरिन्द्रियान् शङ्खकीटिकामक्षिकादीन् भूतान् वनस्पतीन् जीवान्—पञ्चेन्द्रियान् गृहगोधिकासर्पादीन् सत्त्वान्-शेषपृथिवीकायिकादीन् अभिघ्नन्ति-अभिमुखमागच्छन्तो घ्नन्ति वर्त्तयन्ति आवर्त्तपतितान् कुर्वन्ति लेशयन्ति—मनाक् स्पृशन्ति सङ्घातयन्ति-परस्परं तान् संघातमापन्नान् कुर्वन्ति सङ्घट्टयन्ति-अतीव सङ्घातविशेषमापादितान् कुर्वन्ति परितापयन्ति-पीडयन्ति क्लमयन्ति-मूर्च्छापन्नान् कुर्वन्ति अपद्रावयन्ति—जीवितात् व्यपरोपयन्ति तेभ्यः पुद्गलेभ्यः तथा प्राणादीनां विषये भदन्त! स—अधिकृतो वेदनासमुद्घातगतो जीवः कतिक्रियः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! 'सिय तिकिरिए' इति, स्यात् शब्दः कथञ्चित्पर्यायः, कथञ्चित् कदाचित् कांश्चिच्च जीवानधिकृत्येत्यर्थः त्रिक्रियः। किमुक्तं भवति?—यदा न केषाञ्चित् सर्वथा परितापनं जीविताद् व्यपरोपणं वा करोति तदा सर्वथा त्रिक्रिय एव, यदापि केषाञ्चित्परितापं मरणं वा आपादयति तदापि येषां नाबाधामुत्पादयति तदपेक्षया त्रिक्रियः, ' सिय चउकिरिए' इति—केषाञ्चित्परितापकरणे तदपेक्षया चतुष्क्रिय इति, केषाञ्चिदपद्रावणे तदपेक्षया पञ्चक्रिय इति॥ सम्प्रति तमेवाधिकृतं वेदनासमुद्घातगतं जीवमधिकृत्य तेषां वेदनासमुद्घातगतपुरुषपुद्गलस्पृष्टानां जीवानां क्रियां निरूपयति—' ते णं भंते!' इत्यादि ते—वेदनासमुद्घातगतपुद्गलस्पृष्टाः णमिति पूर्ववद्, भदन्त! जीवास्ततो—वेदनासमुद्घातपरिगतात् जीवात् अत्र 'स्थानिनप कर्माधारयो' इति स्थानिनं यपमधिकृत्य पञ्चमीयम्, अयमर्थः—तं वेदनासमुद्घातपरिगतं जीवमधिकृत्य कतिक्रियाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! स्यात् त्रिक्रियाः, यदा न काञ्चित्तस्याबाधामापादयितुं प्रभविष्णवः, स्याच्चतुष्क्रियाः यदा तं परितापयन्ति। स्पृश्यन्ते शरीरेण स्पृश्यमानाः परिताप-

बन्तो वृश्चिकादय', स्यात् पञ्चक्रिया. ये तं जीवितादपि व्यपरोपयन्ति, सिद्धाश्च प्रत्यक्षतः शरीरेण स्पृश्यमाना जीविताच्च्यावयन्त. सर्पादय इति। सम्प्रति तेन वेदनासमुद्घातगतेन जीवेन व्यापाद्यमानैर्जीवैर्येऽन्ये जीवा व्यापाद्यन्ते ये चान्यैर्जीवैर्व्यापाद्यमाना वेदनासमुद्घातगतेन जीवेन व्यापाद्यन्ते तानधिकृत्य तस्य वेदनासमुद्घातपरिगतस्य तेषां च समुद्घातगतजीवसम्बन्धिपुद्गलस्पृष्टाना जीवानां क्रियानिरूपणार्थमाह—' से णं भंते ! जीवे ते य जीवा ' इत्यादि, स—अधिकृतो वेदनासमुद्घातगतो जीव', ते च वेदनासमुद्घातपरिगतजीवसम्बन्धिपुद्गलस्पृष्टा' अन्येषा जीवानामपदर्शितेन प्रकारेण यः परम्पराघातस्तेन परम्पराघातेन कतिक्रियाः प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम ! स्यात् त्रिक्रिया इत्यादि पूर्ववत् भावयितव्य, एनमेव वेदनासमुद्घातमुक्तेन प्रकारेण नैरयिकादिषु चतुर्विंशतिस्थानेपु चिन्तयन्नाह—' नेरइए णं भंते ! ' इत्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण यथैव प्राक् सामान्यतो जीवो वेदनासमुद्घातमधिकृत्य चिन्तितः तथा नैरयिकोऽपि चिन्तयितव्य, नवरं जीवाभिलापस्थाने नैरयिकाभिलाप कर्त्तव्य. । यथा ' नेरइए णं भंते ! वेयणासमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ ' इत्यादि, ' एवं निरवसेसं ०जाव वेमाणिए ' इति—एव—नैरयिकोक्तेन प्रकारेण शेषेष्वपि स्थानेपु स्वस्वाभिलापपूर्वकं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिका—वैमानिकाभिलाप. । तदेवमुक्तो वेदनासमुद्घात. ॥ सम्प्रति कषायसमुद्घातं समानवक्तव्यत्वादतिदेशतोऽभिधित्सुराह—' एव कसायसमुग्घाओ वि भाणियव्वो ' इति एव—वेदनासमुद्घातगतेन प्रकारेण सामान्यतो जीवपदे चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण च कषायसमुद्घातोऽपि वक्तव्य, स चैवम्—' जीवे णं भंते ! कसायसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ ' यान् पुद्गलान् शरीरान्तर्गतान् कषायसमुद्घातवशसमुत्थप्रयत्नविशेषत स्वशरीराद् बहिरात्मप्रदेशेभ्योऽपि विश्लिष्टान् करोति, ' तेहि णं भंते ! पोग्गलेहिं केवइए खेत्ते अफुण्णे केवइए खेत्ते फुडे ?, गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं नियमा छद्दिसिं एवइए खेत्ते अफुण्णे एवइए खेत्ते फुडे ' कषायसमुद्घातो हि प्रथमभूद्भवति त्रसजीवाना, तेषामेव तीव्रतराध्यवसायसम्भवाद्, एकेन्द्रियाणा तु पूर्वभवानुवृत्तित, त्रसजीवाश्च त्रसनाड्या न ततो बहि, त्रसनाड्यां च व्यवस्थित स्वशरीरप्रमाणं विष्कम्भबाहल्य क्षेत्रमात्मविश्लिष्टैः पुद्गलै. भृतं षड्दिक्त्वमवश्यमुपपद्यते इति ' नियमा छद्दिसि ' मित्युक्तम्, ' एवइए खेत्ते अफुण्णे एवइए खेत्ते फुडे ' इत्यादि, सर्वं समानम् ॥ सम्प्रति मरणसमुद्घातमभिधित्सुराह—'जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं' मित्यादि, इति पूर्ववत्, भदन्त ! कश्चिन्मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहन समवहत्य च यान पुद्गलान् तैजसादिशरीरान्तर्गतान् ' निच्छुभइ ' इति—क्षिपति, आत्मप्रदेशेभ्यो विश्लिष्टान् करोति तैर्भदन्त ! पुद्गलै. कियत् क्षेत्रमापूर्णं कियत् क्षेत्रं भृतम् ?, भगवानाह—गौतम ! विष्कम्भबाहल्यत. शरीरप्रमाणमायामतो जघन्यतः स्वशरीरातिरेकादङ्गुलासंख्येयभागमात्रं यदा तावन्मात्रे क्षेत्रे उत्पद्यते उत्कर्षतोऽसंख्येयानि योजनानि एतच्च यदा तावति क्षेत्रे अन्यथा वा द्रष्टव्यम् । एकदिशि—एकस्या दिशि न तु विदिशि स्वभावतो जीवप्रदेशाना दिशि गमनसम्भवात्, एतावत् क्षेत्रमापूर्णमेतावत् क्षेत्रं स्पृष्टं, जघन्यतः उत्कर्षतो वा आत्मप्रदेशैरपि एतावत् क्षेत्रस्य पूरणसम्भवात् । सम्प्रति विग्रहगतिमधिकृत्यापूरणविषयं स्पर्शनविषय च कालप्रमाणमाह—' से णं भंते ! ' इत्यादि, तत उत्कर्षेणायामतोऽनन्तरोक्तप्रमाणं भदन्त ! क्षेत्रं विग्रहगतिमधिकृत्य ' केवइयकालस्स ' त्ति—तृतीयार्थे षष्ठ्या भावात् कियता कालेनापूर्णं कियता कालेन स्पृष्टम् । किमुक्तं भवति ?—विग्रहगतिमधिकृत्य कियता कालेनोत्कर्षतोऽसंख्येययोजनप्रमाणं क्षेत्रमायामत. पुद्गलैरापूर्णं स्पृष्टं भवतीति, भगवानाह—गौतम ! एकसमयेन वा द्विसमयेन वा त्रिसमयेन वा चतु समयेन वा विग्रहेणापूर्णं स्पृष्टम्, इह पञ्चसामयिकोऽपि विग्रहः सम्भवति परं स कादाचित्क एव इति न विवक्षित' । इयमत्र भावना—उत्कृष्टपदे आयामतोऽसंख्येययोजनप्रमाण क्षेत्र विग्रहगतिमधिकृत्योत्कर्षत. चतुर्भि' समयैरापूर्णं स्पृष्ट वा भवतीति । अथ कथ चतु सामयिक. पञ्चसामयिको वा विग्रहः सम्भवति ?, उच्यते—त्रसनाड्या बहिरधस्तनभागादुपरितने भागे, यद्वा—उपरितनभागादधस्तने भागे समुत्पद्यमानो जीवो विदिशो वा दिशि दिशो वा विदिशि यत्रोत्पद्यते तदा एकेन समयेन त्रसनाडीं प्रविशति, द्वितीयेनोपरि अधो वा गमन, तृतीयेन बहिर्निःसरणं, चतुर्थेन दिशि उत्पत्तिदेशप्राप्ति. अय चतु'सामयिको विग्रह. । एवं पञ्चसामयिकस्तु त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो विदिशि उत्पत्तौ लभ्यते, तद्यथा—प्रथमसमये त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो दिशि गमन, द्वितीये त्रसनाड्या मध्ये प्रवेश, तृतीये उपर्यधो वा गमन, चतुर्थे बहिर्निस्सरणं, पञ्चमे विदिश्युत्पत्तिदेशगमनमिति । उपसंहारमाह—' एवइयकालस्स अप्फुण्णे एवइयकालस्स फुडे ' इति—एतावता कालेनापूर्णमेतावता कालेन स्पृष्टमिति, ' सेसं तं चेव जाव पंचकिरिए ' इति—अत ऊर्ध्वं शेष तदेव सूत्रम्—' ते णं भंते ! पुग्गला निच्छूढा समाणा जाइं तत्थ पाणाइं ' इत्यादि यावत् ' पञ्चकिरिया ' इति पदम् । तदेव सामान्यतो जीवपदे मारणान्तिकसमुद्घातश्चिन्तित, सम्प्रति एनमेव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयन् प्रथमतो नैरयिकातिदेशमाह—' एव ' मित्यादि, एव सामान्यतो जीवपद इव नैरयिकेऽपि वक्तव्यं नवरमयं विशेष', सामान्यतो जीवपदे क्षेत्रमायामतो जघन्येनाङ्गुलासंख्येयभागमात्रमुक्तम्, इह तु जघन्यत' सातिरेक योजनसहस्रम् । किमत्र कारणमिति चेत् ?, उच्यते—इह नैरयिका नरकादुद्वृत्ता स्वभावत एव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मध्ये उत्पद्यन्ते मनुष्येषु वा नान्यत्र, सर्वजघन्यचिन्ता चात्र क्रियते, ततो यदा पातालकलशसमीपवर्ती नैरयिक' पातालकलशमध्ये द्वितीये तृतीये वा त्रिभागे मत्स्यतयोत्पद्यते तदा पातालकलशठिकरिकाया योजनसहस्रमानत्वात्, यथोक्त

जघन्यमानं नातोऽपि न्यूनतरं कथंचनेति, उत्कर्षतो-ऽसंख्येयानि योजनानि, तानि सप्तमपृथिवीगतनारकापेक्षया भावनीयानि। अत्रैवोपसंहारमाह-'एगदिसिं एवइए' इत्यादि, एकस्यां दिशि जघन्यत उत्कर्षतश्च एतावत् अनन्तरोक्तप्रमाणं क्षेत्रमापूर्णमेतावत् क्षेत्रं स्पृष्टं, विग्रहगतिमधिकृत्य विशेषमाह—'विग्गहेणे' त्यादि, विग्रहेणापूर्णं स्पृष्टं वा वक्तव्यमेकसामयिकेन द्विसामयिकेन त्रिसामयिकेन वा, नन्वेतत् सामान्यतो जीवपदेऽप्युक्तं तत्कोऽत्र विशेषस्तत आह—'नवरं चउसमइएण वा ण भण्णइ' इति—नवरमत्र सामान्यजीवपद इव चतुःसामयिकेनेति न भण्यते, नैरयिकाणामुत्कर्षतोऽपि विग्रहस्य त्रिसामयिकत्वात्, ते च त्रयः समया एवं भवन्ति, इह कश्चिन्नैरयिको वायव्यां दिशि वर्तमानो भरतक्षेत्रे पूर्वस्यां दिशि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतया मनुष्यतया वोत्पित्सुः प्रथमसमये ऊर्ध्वमागच्छति, द्वितीयसमये वायव्या दिशः पश्चिमदिशं तृतीये तत्र पूर्वदिशमिति। एवमसुरकुमारादिष्वपि यथायोगं त्रिसमयविग्रहभावना कार्या। 'सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया वि' इति—शेषं सूत्रं तदेव वेदनासमुद्घातगतं, 'ते णं भंते! पोग्गला केवइया कालस्स निच्छुभंति?, गोयमा! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तस्स उक्कोसेण अंतोमुहुत्तस्से' त्यादि तावद्वक्तव्यं यावदन्तिमं पद 'पंचकिरिया वि' इति। असुरकुमारविषये अतिदेशमाह—'असुरकुमारस्स जहा जीवपदे' इति, यथा सामान्यतो जीवपदेऽभिहित तथा असुरकुमारस्याप्यभिधातव्यम्। एतावता किमुक्तं भवति?—यथा जीवपदे आयामतः क्षेत्रं जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रम्, उत्कर्षतोऽसंख्येयानि योजनानि तथा अत्रापि वक्तव्यम्। कथं जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रमिति चेत्, उच्यते—इहासुरकुमारादय ईशानदेवपर्यन्ताः पृथिव्यम्बुवनस्पतिष्वप्युत्पद्यन्ते, ततो यदा कोऽप्यसुरकुमारः संक्लिष्टाध्यवसायी स्वकुण्डलाद्येकदेशे पृथिवीकायिकत्वेनोत्पित्सुर्मरणसमुद्घातमादधाति तदा जघन्येनायामतः क्षेत्रमङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणमवाप्यते इति यथा जीवपदे इत्युक्तं, ततोऽत्रापि विग्रहगतिश्चतुःसामायिकी प्राप्नोति, तत आह—नवरं विग्रहस्त्रिसामयिको यथा नैरयिकस्य। शेषं सूत्रं तदेव यत् सामान्यतो जीवपदं। नागकुमारादिष्वतिदेशमाह—'जहा असुरकुमारे' इत्यादि, यथा असुरकुमारेऽभिहितमेवं नागकुमारादिषु तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकविषयं सूत्रम्, नवरमेकेन्द्रिये पृथिव्यादिरूपे यथा जीवे सामान्यतो जीवपदे तथा निरवशेषं वक्तव्यम्। किमुक्तं भवति?—यथा जीवपदे चतुःसामयिकोऽपि विग्रह उक्तः तथा पृथिव्यादिष्वपि पञ्चसु स्थानेषु वक्तव्यः शेषं तथैवेति। तदेवमुक्तो मारणान्तिकसमुद्घातः।

(१२) साम्प्रतं वैक्रियसमुद्घातमभिधित्सुराह—

जीवे णं भंते! वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहये समोहणित्ता जे पुग्गले निच्छुभति तेहिं णं भंते! पोग्गलेहिं केवतिते खेत्ते अफुसे केवतिते खित्ते फुडे?, गोयमा! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जतिभागं उक्कोसेणं संखिज्जाइं जोअणाइं एगदिसिं विदिसिं वा एवइए खित्ते अफुसे एवतिते खेत्ते फुडे। से णं भंते! केवतिकालस्स अफुसे केवतिकालस्स फुडे?, गोयमा! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गेहणं एवतिकालस्स अफुसे एवतिकालस्स फुडे, सेसं तं चेव० जाव पंचकिरिया वि, एवं नेरइए वि, णवरं आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं संखिज्जाइं जोअणाइं एगदिसिं, एवतिते खेत्ते, केवतिकालस्स?, तं चेव जहा जीवपदे, एवं जहा नेरइयस्स तहा असुरकुमारस्स, नवरं एगदिसिं विदिसिं वा, एवं०जाव थणियकुमारस्स। वाउकाइयस्स जहा जीवपदे, णवरं एगदिसिं पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स निरवसेसं जहा नेरइयस्स, मणूसवाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स निरवसेसं जहा असुरकुमारस्स। जीवे णं भंते! तेयगसमुग्घाएणं समोहते समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभति तेहि णं भंते! पोग्गलेहिं केवतिते खित्ते अफुसे केवइए खेत्ते फुडे, एवं जहेव वेउव्विते समुग्घाते तहेव, णवरं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं सेसं तं चेव एवं०जाव वेमाणियस्स, णवरं पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स एकदिसिं एवतिते खेत्ते अफुसे एवइखित्तस्स फुडे। जीवे णं भंते! आहारगसमुग्घातेणं समोहते समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभति तेहि णं भंते! पोग्गलेहिं केवइए खित्ते अफुसे केवइए खेत्ते फुडे?, गोयमा! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं संखेज्जाइं जोयणाइं एगादिसिं एवतिते खेत्ते एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुसे एवतिकालस्स फुडे, ते णं भंते! पोग्गला केवतिकालस्स निच्छुभति?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तस्स उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तस्स, ते णं भंते! पोग्गला निच्छूढा समाणा जातिं तत्थ पाणातिं भूयातिं जीवातिं सत्तातिं अभिहणंति०जाव उद्दवेंति, ते णं भंते! जीवे कतिकिरिए?, गोयमा! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ते णं भंते! जीवाओ कतिकिरिया गोयमा! एवं चेव, से णं भंते! ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परंपराघाएणं कतिकिरिया?, गोयमा! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि, एवं मणूसे वि। (सू० २४६)

'जीवे णं भंते! वेउव्विए' इत्यादि प्राग्वद्, नवरमायामत उत्कर्षतः संख्येयानि योजनानि। एतच्च वायुकायिकवर्ज—नैरयिकाद्यपेक्षया द्रष्टव्यं, ते हि वैक्रियसमुद्घातमारभमाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषभावतः संख्येयान्येव योजनान्युत्कर्षतोऽप्यात्मप्रदेशानां दण्डमारचयन्ति, नासंख्येयानि योज-

नानि । वायुकायिकास्तु जघन्यतो वा उत्कर्षतो वा अङ्गुलासंख्येयभागं, तावत्प्रमाणं चोत्कर्षतो दण्डमारचयन्तस्तावति प्रदेशे तैजसादिशरीरपुद्गलान् आत्मप्रदेशेभ्यो विक्षिपन्ति, ततस्तैः पुद्गलैर्भृतं क्षेत्रमायामत उत्कर्षतोऽपि संख्येयान्येव योजनान्यवाप्यन्ते । एतच्चैव क्षेत्रप्रमाणं केवलं वैक्रियसमुद्घातसमुद्भव प्रयत्नमधिकृत्योक्तम्, यदा तु कोऽपि वैक्रियसमुद्घातमधिरूढो मरणसमुपश्लिष्टः कथमप्युत्कृष्टदेशेन त्रिसामयिकेन विग्रहेणोत्पत्तिदेशमभिगच्छति तदा संख्यातीतान्यपि योजनानि यावदायामक्षेत्रमवसेयम् तावत्प्रमाणं क्षेत्रापूरणं मरणसमुद्घातप्रयत्नसमुद्भवमिति सदपि न विवक्षितम् । 'एकदिसिं विदिसिं वा' इति - तत जघन्यत उत्कर्षतो वा यथोक्तप्रमाणमायामक्षेत्रमेकस्या दिशि विदिशि वा द्रष्टव्यम्, तत्र नैरयिकाणां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वायुकायिकानां च नियमादेकदिशि नैरयिका हि परवशा अल्पर्द्धयश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाश्चाल्पर्द्धय एव वायुकायिका विशिष्टचेतनाविकलास्ततस्तेषां वैक्रियसमुद्घातमारभमाणानां यदि परं तथा स्वाभाव्याद्देहात्मप्रदेशदण्डविनिर्गमस्तेभ्यश्चात्मप्रदेशेभ्यो विश्लिष्य पुद्गलानां च स्वभावतोऽनुश्रेणिगमनं न तु विश्रेणि ततो दिश्येव नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियवायुकायिकानामायामतः क्षेत्रं द्रष्टव्यम्, न तु विदिशि.ये तु भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका मनुष्याश्च ते स्वेच्छाचारिणो विशिष्टलब्धिसम्पन्नाश्च भवन्ति ततस्ते कदाचित्प्रयत्नविशेषतो विदिश्यप्यात्मप्रदेशानां दण्डं विक्षिपन्तस्तत्र तेभ्य आत्मप्रदेशेभ्यः पुद्गलान् विक्षिपन्तीति तेषामेकस्या दिशि विदिशि वा प्रत्येतव्यम् । वैक्रियसमुद्घातगतश्च कोऽपि कालमपि करोति, विग्रहेण चोत्पत्तिदेशमभिसर्प्पति ततो विग्रहगतिमधिकृत्य कालनिरूपणार्थमाह—' से णं भंते ! ' इत्यादि, तत् भदन्त ! क्षेत्रं विग्रहगतिमधिकृत्योत्पत्तिदेशं यावत् ' केवइकालस्स ' त्ति-तृतीयार्थे षष्ठी, कियता कालेनापूरणं कियता कालेन स्पृष्टम्, ?, भगवानाह-गौतम ! एकसामयिकेन वा द्विसामयिकेन वा त्रिसामयिकेन वा विग्रहेण आपूर्णं स्पृष्टमिति गम्यते । किमुक्तं भवति ?,-विग्रहगतिमधिकृत्य मरणदशाया आरभ्य उत्पत्तिदेशं यावत् क्षेत्रस्यापूरणमुत्कर्षतः त्रिभिः समयैरवाप्यते न चतुर्थेनापि समयेन, वैक्रियसमुद्घातगतो हि वायुकायिकोऽपि प्रायस्त्रसनाड्यामेवोत्पद्यते, त्रसनाड्यां च विग्रह उत्कर्षतोऽपि त्रिसामयिक इति । उपसंहारमाह- ' एवइकालस्स ' इत्यादि सुगमम् ' सेसं तं चेव ' त्यादि अत ऊर्ध्वं शेषं सूत्रं तदेव यत्प्राक् वेदनासमुद्घाते उक्तम्, तच्च तावत् यावदन्तिमपदं ' पंचकिरिया वि ' इति ' एवं नेरइएण वि ' इत्यादि सूत्रं तु स्वयं भावनीयम् । यस्तु दिग्विदिगपेक्षया विशेषः स प्रागेव दर्शितः ॥ सम्प्रति तैजससमुद्घातमभिधित्सुराह-' जीवे णं भंते ! तेयगसमुग्घाएणं ' मित्यादि, सुगमं, नवरमयं तैजससमुद्घातश्चतुर्देवनिकायतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां सम्भवति न शेषाणां, ते च महाप्रयत्नवन्त इति तेषां तैजससमुद्घातमारभमाणानां जघन्यतोऽपि क्षेत्रमायामतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणं भवति, न तु संख्येयभागमानम्, उत्कर्षतः संख्येययोजनप्रमाणम् । तच्च जघन्यत उत्कर्षतो वा यथोक्तप्रमाणं क्षेत्रं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियवर्जानामेकस्यां दिशि विदिशि वा वक्तव्यम्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तु दिश्येव । अत्र युक्तिः प्रागुक्तैवानुसर्तव्या, तथा चाह—' एवं जहा वेउव्वियसमुग्घाए ' इत्यादि । तदेवमुक्तस्तैजससमुद्घातः ॥ साम्प्रतमाहारकसमुद्घातं प्रति पिपादयिषुराह—' जीवे णं भंते ! ' इत्यादि, एतच्च सूत्रं तैजससमुद्घातवद्भावनीयं, नवरमयमाहारकसमुद्घातो मनुष्याणां तत्राप्यधीतचतुर्दशपूर्वाणां तत्रापि केषाञ्चिदेवाहारकलब्धिमतां न शेषाणां, ते चाहारकसमुद्घातमारभमाणा जघन्यत उत्कर्षतो वा यथोक्तप्रमाणमायामतः क्षेत्रमात्मप्रदेशविश्लिष्टैः पुद्गलैरापूरयन्त्येकस्यां दिशि, न तु विदिशि । विदिशि तु प्रयत्नान्तरविशेषादात्मप्रदेशदण्डविक्षेपः पुद्गलैरापूरणं च । न च ते प्रयत्नान्तरमारभते प्रयोजनाभावात्, गम्भीरत्वाच्चेति । आहारकसमुद्घातगतोऽपि च कोऽपि कालं करोति विग्रहेण चोत्पद्यते विग्रहश्चोत्कर्षतस्त्रिसामयिक इति ' एगदिसिं एवइए खेत्ते फुडे ' तथा ' एगसमइएण वा दुसमइएण वा ' इत्याद्युक्तम् । तथा मनुष्याणामेवायमाहारकसमुद्घात इति चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तोपक्रमे ' एवं मणूसे वि ' इत्युक्तम्, अस्यायमर्थः-एवं सामान्यतो जीवपदे इव मनुष्येऽपि—मनुष्यचिन्तायामपि सूत्रं वक्तव्यम्, जीवपदे मनुष्यानेवाधिकृत्य सूत्रस्य प्रवृत्तत्वात्, अन्येषामाहारकसमुद्घातासम्भवात् । तदेव पञ्चानामपि छाद्मस्थिकानां समुद्घातानामारम्भे जघन्यत उत्कर्षतो वा यावत्प्रमाणं क्षेत्रमात्मविश्लिष्टैः पुद्गलैर्यथायामौदारिकादिशरीरायन्तर्गतैरापूरितं भवति तावत्प्रमाणमावेदितम् । प्रज्ञा० ३६ पद । विशे० । भ० । स० । आ० चू० । आ० म० । पं० स० ।

(१३) अधुना समुद्घातद्वारविस्तरः—

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति समुग्घाया पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा-वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए । (सू०१३+)

तत्र समुद्घाताः सप्त, तद्यथा—वेदनासमुद्घातः १ कषायसमुद्घातः २ मारणसमुद्घातः ३ वैक्रियसमुद्घातः ४ तैजससमुद्घातः ५ आहारकसमुद्घातः ६ केवलिसमुद्घातश्च ७ । तत्र वेदनायाः समुद्घातो वेदनासमुद्घातः, स चासातवेदनीयकर्माश्रयः १, कषायेण—कषायोदयेन समुद्घातः कषायसमुद्घातः, स च कषायचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः २, मरणे भवो मारणः, चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घातः ३, वैक्रिये प्रारभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घातः, स च वैक्रियशरीरनामकर्माश्रयः ४, (तैजसेन हेतुभूतेन समुद्घातस्तैजससमुद्घातः तैजसशरीरनामकर्माश्रयः) ५, आहारके प्रारभ्यमाणे समुद्घात आहारकसमुद्घातः, स चाहारकशरीरनामकर्माश्रयः ६, केवलिनि अन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे समुद्घातः केवलिसमुद्घातः ७।(जी०)तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा वेदनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति,तथाहि-वेदनाकरालितो जीवः स्वप्रदेशाननन्तानन्तकर्मपरमाणुवेष्टितान् शरीराद्बहिरपि विक्षिपति,तैश्च प्रदेशैर्वदनजघनादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामतो विस्तरतश्च शरीरमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मु-

हूर्त्तं यावदवतिष्ठते,तस्मिश्चान्तर्मुहूर्त्ते प्रभूतासातवेदनीयकर्म पुद्गलपरिशातं करोति, कषायसमुद्धातसमुद्धत कषायाख्य-चारित्रमोहनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। तथाहि-कषायोदयसमाकुलो जीव. स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिप्य तैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामविस्तराभ्यां देहमात्र क्षेत्रमभिव्याप्य वर्त्तते, तथाभूतश्च प्रभूतकषायकर्मपुद्गलपरिशातं करोति , एव मरणसमुद्घातगत आयु कर्मपुद्गलपरिशातं करोति । वैक्रियसमुद्घातगत पुनर्जीव स्वप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निष्काश्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामत संख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति, निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्बद्धान् शातयति । तथा चोक्तम्—" वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दडं निसिरइ, निसिरित्ता अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ" इति, तैजसाहारकसमुद्धातौ वैक्रियसमुद्धातवदवसातव्यौ, केवलं तैजससमुद्घातगतस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, आहारकसमुद्घातगत आहारकशरीरनामकर्मपुद्गलपरिशातं करोति , केवलिसमुद्घातसमुद्धतस्तु केवली सदसद्वेदनीयशुभाशुभनामोच्चनीचगोत्रकर्मपुद्गलपरिशात (करोति), केवलिसमुद्घातवर्जा शेषा षडपि समुद्घाता प्रत्येकमान्तर्मौहूर्त्तिका., केवलिसमुद्घात । पुनरष्टसामयिक , उक्तं च प्रज्ञापनायाम्—" वेयणासमुग्घाएणं कइसमइए पण्णत्ते ?, गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतमुहुत्ते, एवं ०जाव आहारगसमुग्घाए। केवलिसमुग्घाए णं भंते ! कइसमइए पण्णत्ते ?, गोयमा ! अट्ठसमइए पण्णत्ते।" इति , तदेवमनेकसमुद्घातसम्भवे सूक्ष्मपृथिवीकायिकाना तान् पृच्छति—'तेसि णं भंते !, इत्यादि सुगमं, नवरं वैक्रियाहारकतैजसकेवलिसमुद्घाताभावो वैक्रियादिलब्ध्यभावात्। जी० १ प्रति०। विशे०। भ०।

समुग्घायकम्म-समुद्घातकर्मन्-न० । समुद्घात एव कर्म्म समुद्घातकर्म्म। समुद्घातरूपक्रियायाम् , विशे०।

समुच्चय-समुच्चय-पुं०। द्वयो. कोट्योरेकत्रान्वये, " अयं न संशय. कोटे-रैकयात्र च समुच्चय.।" नयो०।

समुच्चयबंध-समुच्चयबन्ध-पुं०। संगत उच्चयापेक्षया विशिष्टतर उच्चय समुच्चय स एव बन्ध. समुच्चयबन्ध.। आलिकापनबन्धभेदे, भ० ८ श० ६ उ०।

समुच्छलिय-समुच्छलित-त्रि०। ऊर्ध्वमुत्थिते , आ० म० १ अ०। रा०।

समुच्छिन्न-समुच्छिन्न-त्रि०। क्षीणे , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

समुच्छिन्नकिरिय-समुच्छिन्नक्रिय-त्रि०। समुच्छिन्ना-क्षीणा क्रिया-कायिक्यादिका शैलेशीकरणे निरुद्धयोगत्वेन यस्मिंस्तत्तथा। तथाविधं शैलेशीकरणे, स्था० ४ ठा० १ उ० । ग०। भ०।

समुच्छेय-समुच्छेद-पुं० । उत्पत्त्यनन्तरं सं—सामस्त्येन उत्-प्राबल्येन प्रकर्षेण छेदो—विनाश समुच्छेद । सर्वथा विनाशे, आ० म० १ अ०।

समुच्छेयवाइ-समुच्छेदवादिन्-पुं०। समुच्छेदं प्रतिक्षण निरन्वयनाश वदति य. स समुच्छेदवादी। अक्रियावादिभेदे , स्था०। तथाहि-वस्तुन. सत्त्वं कार्यकारित्व कार्याकारिणोऽपि वस्तुत्वे खरविषाणस्यापि सत्त्वप्रसङ्गात्. कार्यं च नित्य वस्तु क्रमेण न करोति नित्यस्यैकस्वभावतया कालान्तरभाविसकलकार्यभावप्रसङ्गात् ,न चैवं प्रतिक्षण स्वभावान्तरोत्पत्त्या नित्यत्वहानिरिति। यौगपद्येनापि न करोति अध्यक्षसिद्धत्वाद्यौगपद्याकरणस्य। तस्मात् क्षणिकमेव वस्तु कार्यं करोतीति। एव च-अर्थक्रियाकारित्वात्क्षणिकं वस्त्विति। अक्रियावादी चायमित्थमवसेय , निरन्वयनाशाभ्युपगमे हि परलोकाभाव. प्रसजति, फलार्थिना च क्रियास्वप्रवृत्तिरिति, तथा सकलक्रियासु प्रवर्त्तकस्यासंख्येयसमयसंभव्यनेकवर्णोल्लेखवतो विकल्पस्य प्रतिसमयक्षयित्वे एकाभिसन्धिप्रत्ययाभावात् सकलव्यवहारोच्छेद स्यात्, अत एवैकान्तक्षणिकात्कुलालादे सकाशादर्थक्रिया न घटत इति । तस्मात्पर्यायतो वस्तुसमुच्छेदवत् द्रव्यतस्तु न तथेति । स्था० ८ ठा० ३ उ०। स०।

समुज्जलण-समुज्ज्वलन-न०। कोपाग्निप्रकटने, आ० म०१अ०।

समुज्जाय-समुद्यात-त्रि०। निर्गते , विशे०। सम्यक् च पुनरावृत्त्या ऊर्ध्वं याते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। जं०।

समुट्ठाइ(न्)-समुत्थायिन्-पुं० । सम्यगुत्थातुमभ्युद्यन्तु , शीलमस्येति समुत्थायी। सम्यगुद्यते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

समुट्ठाण-समुत्थान-न०। सम्यक् सगतं चोत्तिष्ठतेऽस्मादिति समुत्थानम्। निमित्ते, विशे०। समुट्ठाणं नाम—समं उट्ठाण सममाचार्यादीनामुपस्थापनम्। आ० चू० १ अ० । समुपस्थापनं भूयस्तत्रैवाऽऽवासने, नं०।

समुट्ठाणसुय-समुत्थानश्रुत-न०। सम्यगुत्थानं समुत्थानं-समुपस्थापन भूयस्तत्रैवाऽऽवासन तद्धेतुः श्रुतमुपस्थापनश्रुतम्। समुत्थानहेतौ श्रुतभेदे , पा० । नं० । तत. कार्ये निष्पन्ने समुत्थानश्रुते परावर्त्यमान त कुलग्रामदेशादय स्वस्थीभूय पुनर्निविशन्ते। व्य० १० उ०।

समुट्ठाय-समुत्थाय-अव्य०। सम्यक्—संयमानुष्ठानेनोत्थायेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। अभ्युपगम्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

समुट्ठिय-समुत्थित-त्रि०। आश्रिते, जं०४वक्ष०। रा०। उत्पन्ने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । सम्यक्—सत्संयमानुष्ठानेनोत्थिता. समुत्थिता. । सत्साधुषु उद्युक्तविहारिषु , सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। सम्यगारम्भपरित्यागेनोत्थिते,सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। अनुष्ठिते , सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । प्रश्न०। प्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०२ उ०। संयमक्रियानुष्ठान प्रत्युद्यते, उत्त० १६ अ०। आचा०। सम्यक्—सतत सगत वा सयमानुष्ठानेनोत्थित । नानाविधशास्त्रकर्मनमारम्भोपरते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । सम्यग्योगत्रिकेणोत्थिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

समुएणइय--समुन्नयित--त्रि० । गर्विते, पिं० ।

समुत्तजालाकुलाभिराम--समुक्तजालाकुलाभिराम--पुं० । मुक्ताफलयुक्त यज्जालं गवाक्षस्तेन आकुलो व्याप्तोऽभिरामश्च । तस्मिन् , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

समुत्थ--समुत्थ--त्रि० । उद्भूते , आव० ४ अ० ।

समुत्थिय--समुत्थित--त्रि० । सम्यगुत्थित. समुत्थित. । चारित्रस्थे, पं० चू० १ कल्प ।

समुदय--समुदय--पुं० । उदयवर्त्तितत्वे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

समुदाय--पु० । परिवारोदितसमुदाये, औ० पौरादिमीलने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । समूहे, स० ५५ सम० । त्रिचतुरादिमेलके, ज्यो० २ पाहु० । भ० । विशे० ।

समुदाण--समुदान--न० । प्रयोगक्रियैकरूपतया गृहीतानां कर्मवर्गणानां सम्यक् प्रकृतिबन्धादिभेदेन देशसर्वोपघातिरूपतया च आदानं-स्वीकरणं समुदानं निपातनात्साधु । स्था० ३ ठा० ३ उ० । स्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थया स्वीकरणे, आचा०१श्रु०२अ०१उ० । आव० । भिक्षाटने, नि०१श्रु०३ वर्ग ४ अ० । उच्चावचकुलेषु भिक्षाचरणे, वृ० १ उ० २ प्रक० । भिक्षासमूहे. सूत्र० २ श्रु० १ अ० । वृ० । अणु० । आचा० । भिक्षायाम् , सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

समुदाणकम्म-समुदानकर्मन्-न०।स्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थया स्वीकरणं समुदानं तदेव कर्म समुदानकर्म, संपूर्वादाङ्पूर्वाच्च दाधातोर्ल्युडन्तात्पृषोदरादिपाठेन आकारस्योकारादेशेन रूपम् । कर्मभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

समुदाणकिरिया--समुदानक्रिया--स्त्री० । कर्मोपादाने क्रियाभेदे, स्था० । ('किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५३३ पृष्ठे वक्तव्यता गता) समग्गमुपादान समुदाणं समुदाओ-अट्ठ कम्माणि तेसिं ज उपादाणं कज्जइ,सा समुदाणकिरिया,सा दुविहा-देसोवघाया समुदाणकिरिया, सव्वोवघाया समुदाणकिरिया । आव० ४ अ० । समुदानक्रिया तु यत्कर्मप्रयोगगृहीतं समुदायावस्थ सत्प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपतया यया व्यवस्थाप्यते सा समुदानक्रिया, सा च मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसपराय यावद्भवति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

समुदाणचरग--समुदानचरक--पुं० । समुदानेन शिक्षया तथाविधाभिग्रहग्राहिले साधौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

समुदाणिय--सामुदानिक--पु० । समुदान नाम-उच्चावचकुलेषु भिक्षाग्रहण तत्र लब्ध सामुदानिक । 'अध्यात्मादिभ्य इकण्॥६।३।७८॥ (सू० सि०)इति इकण् प्रत्यय. । वृ०१ उ० २ प्रक० । आ० चू० । भैक्षगे-याञ्चाया भव. सामुदानिक । स्था० ४ ठा० २ उ० । इतस्ततो भिक्षाग्रहणे , भ० ७ श० १ उ० ।

समुदाय--समुदाय--पुं० । स्वामियोग्यादिसमस्तपरिवारे, रा० । समूहे, आ० चू० १ अ० । स्था० । इतस्ततो भिक्षायाम्, भ० ७ श० १ उ० ।

समुदायार--समुदाचार--पुं० । यत्किञ्चनानुष्ठाने, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० । सूत्र० । औ० ।

समुदिएण--समुदीर्ण--न० । सम्यगुदयं प्राप्ते, व्य० ६ उ० । विशे० ।

समुद्द--समुद्र--पुं० । सह मुद्रया मर्यादया वर्तते इति समुद्रः । अनु० । स० । "द्रेरो न वा" ॥ ८।२।८०॥ अस्य पाक्षिकत्वादत्र रेफस्य लोपनिषेधो न । प्रा० । लवणादिके सागरे, को० । स० । प्रज्ञा० । जी० । सूत्र० । जलधौ, उत्त० ७ अ० । जलराशौ । अनु० ।

समुद्रद्विस्थानकमाह—

अंतोमणुस्सखेत्तस्स दो समुद्दा पण्णत्ता, तं जहा-लवणे चेव कालोदे चेव । (सू० १११) । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

त्रयः समुद्राः—

तओ समुद्दा पगईए उदगरसेणं पण्णत्ता, तं जहा-कालोदे पुक्खरोदे सयंभुरमणे । तओ समुद्दा बहुमच्छकच्छभाऽऽइन्ना पण्णत्ता,तं जहा-लवणे कालोदे सयंभुरमणे । (सू० १४६)

प्रकृत्या स्वभावेनोदकरसेन युक्ता इति, क्रमेण चैते द्वितीयतृतीयान्तिमा' प्रथमद्वितीयान्तिमाः समुद्रा बहुजलचरा., अन्ये स्वल्पजलचरा इति । उक्तं च—

" लवणे उदगरसेसु य, महोरया मच्छकच्छहा भणिया ।
अप्पा सेसेसु भवे, न य ते निम्मच्छया भणिया ॥ १ ॥"

अन्यच्च—

" लवणे कालसमुद्दे. सयंभुरमणे य हुंति मच्छाओ ।
अवसेससमुद्देसु न हुंति मच्छा य मयरा वा ॥ १ ॥
नत्थि त्ति पउरभाव, पडुच्च न उ सव्वमच्छपडिसेहो ।
अप्पा सेसेसु भवे, न य ते निम्मच्छया भणिया ॥ २ ॥"

इति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

चत्वारः समुद्राः —

चत्तारि समुद्दा पत्तेयरसा पण्णत्ता,तं जहा-लवणोदए १ वारुणोदे २ खीरोदे ३ घओदे ४ । (सू० ३८४)

समुद्रसूत्रं व्यक्तं , नवरं एकमेकं प्रति भिन्नो रसो येषां ते प्रत्येकरसा , अतुल्यरसा इत्यर्थ , लवणरसोदकत्वाल्लवण । पाठान्तरे तु लवणमिवोदकं यत्र स लवणोदः, निपातनादिति प्रथम. । वारुणी-सुरा तया समान वारुण वारुणमुदक यस्मिन् स वारुणोद चतुर्थ., क्षीरवत्तथा घृतवदुदकं यत्र स क्षीरोद पञ्चम', घृतोद षष्ठ', कालोदपुष्करोदस्वयम्भुरमणा उदकरसा , शेषास्तु इक्षुरसा इति । उक्तञ्च—
" वारुणिवरखीरवरो, घयवर लवणो य होंति पत्तेया ।
कालो पुक्खरउदही, सयभुरमणो य उदगरसा ॥ १ ॥"
इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सप्त समुद्राः—

णंदीसरवरस्स णं दीवस्स अंतो सत्त समुद्दा पण्णत्ता,

तं जहा-लवणे कालोदे पुक्खरोदे वारुणोदे खीरोदे घओदे खोतोदे । (सू० ५८०×) स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सर्वद्वीपसमुद्राणामभ्यन्तरवर्त्ती जम्बूद्वीपस्तत्परिक्षेपी लवणसमुद्रस्तदनन्तरं धातकीखण्डाभिधानो द्वीपस्ततः कालोदः समुद्र' तदनन्तर पुष्करवरो द्वीप., अत ऊर्ध्वं दीपसदृशनामानः समुद्राः, ततः पुष्करवरसमुद्र', तदनन्तरं वरुणवरो द्वीपो वरुणवरः समुद्रः, क्षीरवरो द्वीप क्षीरोदः-समुद्रः, घृतवरो द्वीपो घृतोदः समुद्र', इक्षुवरो द्वीपो इक्षुवरः समुद्र', नन्दीश्वरो द्वीपो नन्दीश्वर' समुद्रः, एतेऽष्टावपि च समुद्रा एकप्रत्यवतारा:, एकैकरूपा इति भावः । अत ऊर्ध्वं 'द्वीपाः समुद्राश्च त्रिप्रत्यवतारा:, तद्यथा—अरुण इति—अरुणोऽरुणवरः अरुणवरावभास', कुण्डलः कुण्डलवरः कुण्डलवरावभासः, रुचको रुचकवरो रुचकवरावभास इत्यादि । एष चात्र क्रमः—नन्दीश्वरसमुद्रानन्तरम् अरुणो द्वीपोऽरुण' समुद्रः, ततोऽरुणवरो द्वीपोऽरुणवर' समुद्र इत्यादि, कियन्तः खलु नामग्राहं द्वीपसमुद्रा वक्तुं शक्यन्ते ?, ततस्तन्नामसंग्रहमाह—'आभरणवत्थे' त्यादि. गाथाद्वयम् , यानि कानिचिदाभरणनामानि—हारार्द्धहाररत्नावलिकनकावलिप्रभृतीनि, यानि च वस्त्रनामानि-चीनांशुकप्रभृतीनि, यानि च गन्धनामानि—कोष्ठपुटादीनि , यानि चोत्पलनामानि-जलरुहचन्द्रोद्द्योतप्रमुखानि, यानि च तिलकप्रभृतीनि वृक्षनामानि, यानि च पद्मनामानि—शतपत्रसहस्रपत्रप्रभृतीनि, यानि च पृथिवीनामानि-पृथिवीरत्नशर्करावालुकेत्यादीनि, यानि च नवानां निधीनां चतुर्दशानां चक्रवर्तिरत्नानां चुल्लहिमवदादिकानां वर्षधरपर्वतादीनां पद्मादीनां ह्रदानां गङ्गासिन्धुप्रभृतीनां नदीनां कच्छादीनां विजयानां माल्यवदादीनां वक्षस्कारपर्वतानां सौधर्म्मादीनां कल्पानां शक्रादीनामिन्द्राणां देवकुरूत्तरमन्दराणामावासानां-शक्रादिसम्बन्धिनां मेरुप्रत्यासन्नादीनां कूटानां चुल्लहिमवदादिसम्बधिनां नक्षत्राणां कृत्तिकादीनां चन्द्राणां सूर्याणां च नामानि तानि सर्वाण्यपि द्वीपसमुद्राणां त्रिप्रत्यवताराणि वक्तव्यानि । यथा—हारो द्वीपो हारः समुद्र., हारवरो द्वीपो हारवर. समुद्र'; हारवरावभासो द्वीपो हारवरावभासः समुद्र इत्यादिना प्रकारेण त्रिप्रत्यवतारास्तावद् वक्तव्या. यावत् सूर्यो द्वीपः सूर्यस्समुद्र., सूर्यवरो द्वीपः सूर्यवरस्समुद्र. सूर्यवरावभासो द्वीपो सूर्यवरावभासः समुद्रः । उक्तं च जीवाभिगमचूर्णौ—' अरुणाई दीवसमुद्दा तिपडोयारा " यावत् सूर्यवरावभास. समुद्र', ततः सूर्यवरावभासपरिक्षेपी देवो द्वीपस्ततो देव' समुद्र , तदनन्तर नागो द्वीपो नाग. समुद्र. , ततो यक्षो द्वीपो यक्ष. समुद्रः, ततो भूतो द्वीपो भूतः समुद्रः , स्वयम्भूरमणो द्वीपः स्वयम्भूरमण' समुद्र , एते पञ्च देवादयो द्वीपा' पञ्च देवादय. समुद्रा. एकरूपा', न पुनरेषां प्रत्यवतारः, उक्तं च जीवाभिगमचूर्णौ-एते पञ्च द्वीपा. पञ्च समुद्रा एकप्रकारा इति , जीवाभिगमसूत्रेऽप्युक्तम्—" देवे नागे जक्खे भूए सयभूरमणे य एक्केक्को चेव भाणियव्वो , तिपडोयारं नत्थि त्ति " इति । प्रज्ञा० १५ पद १ उ० । अष्टमबलदेववासुदेवयो रामनारायणयो. पूर्वभवधर्माचार्ये , स० । ति० । अन्धकवृष्णेर्धारिणीकुक्षिजे पुत्रे, स्था० १० ठा० ३ उ०। (स चारिष्टनेमेरन्तिकं प्रव्रज्य शत्रुञ्जयेऽनशनेन मृत्वा शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गे द्वितीयाध्ययने सूचितम् ।) स्वनामख्याते शाण्डिल्यशिष्ये , न० । नेमिनाथस्य पितरि, पूर्वं नामास्य समुद्रविजय इति । कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

समुद्दघोस–समुद्रघोष–पुं० । स्वनामख्याते सूरौ , पिं० ।

समुद्दजाणी–समुद्रयानी–स्त्री० । अब्धिगायां नावि, समुद्दजाणीए चेव णावाए । नि० चू० १ उ० ।

समुद्दतरण–समुद्रतरण–न० । समुद्रलङ्घने, " तव प्रसादाद्वचसः प्रसादा-द्भर्तुश्च ते देवि ! तव प्रसादात् । साधुप्रसादाच्च पितुःप्रसादा-त्तीर्णो मया गोपदवत्समुद्रः ॥१॥ " ग०२ अधि० ।

समुद्ददगपूरग–समुद्रदकपूरक–पुं० । जलधिवेलावर्धके चन्द्रे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

समुद्ददत्त–समुद्रदत्त–पुं० । शौर्यपुरनगरवासिनि शौर्यदत्तपितरि स्वनामख्याते मत्स्यबन्धके, विपा० १ श्रु० ८ अ० । चतुर्थवासुदेवस्य पूर्वभवे जीवे, ति० । स० । ' माया ' शब्द उदाहृते स्वनामख्याते सर्वाङ्गसुन्दरीभ्रातरि , आ० क० १ अ० । आ० म० । आ० चू० । धातकीखण्डभरते हरिषेणस्य राज्ञो भार्यायाः समुद्रदत्तायाः सुते, उत्त० ६ अ० ।

समुद्दपाल–समुद्रपाल–पुं० । स्वनामख्याते पालितपुत्रे, उत्त० २१ अ० ।

समुद्रपालनिक्षेपाभिधानायाह निर्युक्तिकृत्—

समुद्देण पालियम्मि अ, निक्खेवो चउक्कओ दुहा दव्वे ।
आगमनोआगमओ,नो आगमओ य सो तिविहो।४२३।
समुद्दपालियाऊ, वेयंतो भावओ उ नायव्वो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, समुद्दपालिज्जमज्झयणं ॥ ४२४ ॥

गाथाद्वयं प्रतीतार्थमेव नवरं समुद्रपालनिक्षेपप्रस्तावे यत्समुद्रेण पालित इत्युक्तं तत्समुद्रपाल इत्यत्र समुद्रेण पाल्यते स्मेति समुद्रपाल इति व्युत्पत्तिख्यापनार्थमिति गाथाद्वयार्थः । गतो नामनिष्पन्ननिक्षेप. ।

सम्प्रति सूत्रालापकनिक्षेपावसर स च सति ' सूत्र ' इति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्—

चंपाए पालिए नामं , सावए आसि वाणिए ।
महावीरस्स भगवओ, सीसो सो उ महप्पणो ॥ १ ॥
निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए ।
पोएण ववहारंते, पिहुंडं नगरमागए ॥ २ ॥
पिहुंडे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूअरं ।
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसं अह पत्थिए ॥३॥
अह पालियस्स घरिणी, समुद्दम्मि पसवई ।
अह दारए तहिं जाए, समुद्दपालि त्ति णामए ॥ ४ ॥
खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं ।
संवड्ढइ घरे तस्स, दारए से सुहोइए ॥ ५ ॥

वावत्तरी कलाओ, सिक्खिए नीइकोविए ।
जोव्वणेण य अप्फुण्णे, सुरूवे पियदंसणे ॥६॥
तस्स रूववइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणिं ।
पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुंदओ जहा ॥ ७ ॥
अह अन्नया कयाइं, पासायालोयणे ठिओ ।
वज्झमंडणसोभाग, वज्झं पासइ वज्झगं ॥ ८ ॥
तं पासिऊण संविग्गे, समुद्दपालो (इ) णमब्ववी ।
अहोऽसुभाण कम्माणं, निज्जाणे पावए इमं ॥ ९ ॥
संबुद्धो सो तहिं भगवं, परं संवेगमागओ ।
आपुच्छ अम्मापियरो, पव्वइए अणगारियं ॥ १० ॥

सूत्राणि दश इदमुत्तरं चाध्ययन क्वचित्सोपस्कारतया व्याख्यास्यते-चम्पाया-चम्पाभिधानायां पुरि पालितो नाम सार्थवाह श्रावक· श्रमणोपासक आसीद्-अभूद् । वणिगेव वाणिजो-वणिग्जातिर्महावीरस्य भगवत· शिष्यो—विनय 'स' इति स· तुर्विशेषणे, महात्मन —प्रशस्यात्मन· स च कीदृग् ?, इत्याह-'निग्गंथ' त्ति-नैर्ग्रन्थे-निर्ग्रन्थसम्बन्धिनि 'पावयणि' त्ति-प्रवचने श्रावक 'स' इति-पालितो विशेषेण कोविद -पण्डितो विकाविद , कोऽर्थ , विदितजीवादिपदार्थ पोतेन व्यवहरन् प्रवहणवाणिज्य कुर्वन् 'पिहुड' पिहुण्डनामकं नगरमागत -प्राप्त , तत्र च पिहुण्डे व्यवहरते तद्गुणाकृष्टचेता कश्चिद्वाणिजो ददाति-यच्छति 'धूयर' ति-दुहितरमुदूढवांश्च तामसौ स्थित्वा च तत्र कियन्तमपि काल ता ससत्त्वामित्यापन्नसत्त्वा परिगृह्य-आदाय स्वदेशमथानन्तरं प्रस्थित —चलित , तत्र चागच्छतोऽथ पालितस्य गृहिणी समुद्रे-जलधौ प्रसूते—गर्भं विमुञ्चति स्मेति शेष । 'अथे' त्युपन्यासे, दारक· सुतस्तस्मिन्निति प्रसवने जात·-उत्पन्न 'समुद्रपाल' इति नामतो नामाश्रित्य क्रमेण चागच्छन् क्षेमेण-कुशलेनागतश्चम्पाया श्रावको वणिजो 'घर' ति चस्य गम्यमानत्वाद् गृह च स्वकीयं कृत च तत्र वर्द्धापनकादि सवर्द्धते च गृह-वेश्मनि तस्येति पालिताभिधानवणिजा दारक स सुखोचित सुकुमार , एवं च प्राप्त· कलाग्रहणयोग्यता द्विसप्ततिकलाश्च शिक्षित शिक्षते वा पाठान्तर त । जातश्च नीतिकोविदो—नयाभिज्ञ 'जोव्वणेण य अप्फुण्णे' त्ति-चस्य भिन्नक्रमत्वात् यौवनेनापूर्णश्च परिपूर्णशरीरश्च, पठ्यते च-'जोव्वणेण य सपन्ने' त्ति-तत्र च संपन्नो-युक्तोऽत एव सुरूप सुसस्थान प्रियदर्शन -सर्वस्यैवानन्ददाता परिणयनयोग्यता च तस्य विज्ञाय रूपवतीं-विशिष्टाकृतिं भार्या पत्नी पिता पालितवणिगानयति तथाविधरूपिणीं कुलादागमयति, रूपिणीनाम्नीं परिणायितश्च तामसौ प्रासादे क्रीडति—रमते तया सह रम्ये-(अ) रतिहेतौ देवो दुगुन्दको यथा, अथ अन्यदा कदाचित् प्रासादालोकने उक्तरूपे स्थित· सन् वधमर्हति वध्यस्तस्य मण्डनानि-रक्तचन्दनकरवीरादीनि तै· शोभा—तत्कालोचितपरभागलक्षणा यस्यासौ वध्यमण्डनशोभाकस्तं वध्यं-वधार्ह कचन तथाविधाकार्यकारिण पश्यति बाह्यं-नगरबहिर्वर्तिप्रदेश गच्छतीति बाह्यगस्त कोऽर्थो बहिर्निष्क्रामन्तम् , यद्वा-वध्यगमिह वध्यशब्देनोपचाराद्वध्यभूमिरुक्ता तथाविध वध्यं दृष्ट्वा संवेग· ससारवैमुख्यतो मुक्त्यभिलापस्तद्धेतुत्वात् सोऽपि संवेगस्तं समुद्रपाल इदम्-वक्ष्यमाणमब्रवीत् , यथा-अहो अशुभाना कर्मणा-पापानामनुष्ठानानां निर्याणम्-अवसानं पापकम् अशुभमिद-प्रत्यक्ष यदसौ वराको वधार्थमित्थ नीयते इति भावः , एवं परिभावयन् सबुद्ध·-अवगततत्त्वः स वणिक्पुत्रस्तत्रेति तस्मिन्नेव प्रासादालोकने भगवान्माहात्म्यवान् माहात्म्येऽपि भगवच्छब्दस्य दर्शनात्परं-प्रकृष्टं संवेगमागतस्ततश्चापृच्छ्य मातापितरौ 'पव्वए' त्ति-प्राव्राजीत्—प्रकर्षेण गतवान् , कोऽर्थ ?, प्रतिपन्नवान् ,अनगारिता—नि सङ्गतामिति सूत्रदशकार्थ· ।

सम्प्रत्यनुवादोऽपि स्पष्टताहेतुर्व्याख्याङ्गमिति ख्यापनार्थमेवो क्तमेवार्थमनुवदन् विशेषं च वदन्नाह निर्युक्तिकृत्—

चंपाए सत्थवाहो, नामेणं आसि पालगो नामं ।
वीरवरस्स भगवओ, सो सीसो खीणमोहस्स ॥४२५॥
अह अन्नया कयाई, पोएणं गणिमधरिम-भरिएणं ।
तो नगरं संपत्तो, पे (पि) हुंडं नामनामेणं ॥ ४२६॥
ववहरमाणस्स तहिं, पेहुंडे देइ वाणिओ धूयं ।
तं पि य पत्तिं घेत्तू-ण णिग्गओ सो सदेसस्स ॥४२७॥
अह सा सत्थाहसुया, समुद्दमज्झम्मि पसवई पुत्तं ।
पियदंसणसव्वंगं, नामेण समुद्दपालि त्ति ॥ ४२८ ॥
खेमेणं संपत्तो, सो पालिय सावओ घरं निययं ।
धाइदसद्धपरिवुडो, अह वड्ढइ सो उदहिनामो ॥४२९॥
वावत्तरिं कलाओ, य सिक्खिओ नीइकोविदो जाहे ।
तो जोव्वणमप्फुन्नो,जाओ पियदंसणो अहियं ॥४३०॥
अह तस्स पिया पत्तिं, आणेई रूविणि त्ति नामेणं ।
चउसट्ठिगुणोवेयं, अमरवहूणं सरिसरूवं ॥ ४३१ ॥
अह रूविणी य सहितो,कीलइ सो भवणपुंडरीयम्मि ।
दोगुंदगु व्व देवो, किंकरपरिवारिओ निच्चं ॥४३२ ॥
अह अन्नया कयाई, ओलोयणसंठिओ सदेवीओ ।
वज्झं नीणिज्जंतं, अन्निज्जंतं जणसएहिं ॥४३३॥
अह भणइ सन्निनाणी, भीओ संसारियाण दुक्खाणं ।
नीयाण पावकम्मा-ण हा जहा पावगं इणमो॥४३४॥
संबुद्धो सो भगवं, संवेगमणुत्तरं च संपत्तो ।
आपुच्छिऊण जणए, निक्खंतो खायजसकित्ती ।४२५।

गाथा एकादश व्याख्यातप्राया एव, नवर 'वीरवरस्स' त्ति—नामतोऽन्येऽपि वीरा· सम्भवन्ति , स तु भगवान् भावतोऽपि 'वीर' इति प्राधान्यख्यापक वरग्रहणम् , अनेन भगवत्समकालतामप्यस्य दर्शयति—'गणिमधरिमभरिएण' ति-गणिमं-पूगफलादि धरिम-सुवर्णादि प्रियदर्शनानि-सकलजनाभिमतावलोकनानि सर्वाण्यङ्गानि शिरउरःप्रभृतीन्यस्येति प्रियदर्शनसर्वाङ्गस्तं 'धातीदसद्धपरिवुड' त्ति दशार्द्धधात्रीपरिवृतो दशार्द्ध च पञ्च ताश्च क्षीरमज्जनमण्-

एडनक्रीडनाङ्का धाड्य. उदधिनामा उदधिसमानार्थसमुद्रप-दोपलक्षिताभिधान समुद्रपालनामेति यावत् ' जोव्वणम-ष्फुएण' त्ति—मकारोऽलाक्षणिक. जातः प्रियदर्शनोऽधिक-मित्यतिशयेन सविशेषलावण्यहेतुत्वाद् यौवनस्य चतु-षष्टिगुणा अश्वशिक्षादिकलाष्टकरहिता. कला एव विज्ञा-नापरनामिका उच्यन्ते, भवनपुण्डरीके-भवनप्रधाने पुण्ड-रीकशब्दस्येह प्रशंसावचनत्वात् वध्य पश्यन्तीति शेष। 'नी-णिज्जत ' त्ति—नीयमानं ' अग्गिज्जंत ' त्ति—अन्वीय-मानम्—अनुगम्यमान जनशतैरविवेकिभिरिति गम्यते, प-ठन्ति च-' वज्झं नीणिज्जत, पेच्छति तं सो जणवएहिं ' ति स्पष्टम् संज्ञी-सम्यग्दृष्टिः स चासौ ज्ञानी च संज्ञिज्ञानी भीतस्त्रस्त. सन् संसारिकेभ्यो दु खेभ्य इति आर्षत्वाच्च सुब्व्यत्यय., किं भणति, इत्याह—नीचानां-निकृष्टाना, पापकर्मणा-पापहेत्वनुष्ठानानां चौर्यादीना ' हा ' इति खेदे यथा पापकं फलमिति गम्यते, ' इणमो ' त्ति—इद—प्रत्य-क्षम्, किमुक्त भवति—यथाऽस्य चोरस्यानिष्ट फल पापकर्म-णां तथाऽस्माद्देशामपीति निर्युक्तिगाथैकादशकार्थ.।

प्रव्रज्य च यदसौ कृतवाँस्तदाह सूत्रकृत्—

जहाय सङ्गत्थमहाकिलेसं,
महंतमोहं कसिणं भयाणगं।
परियायधम्मं च भिरोयएज्जा,
वयाइँ सीलाइँ परिस्सहे य ॥ ११ ॥
अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो अबंभं अपरिग्गहं च।
पविज्जिया पंच महव्वयाइं,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसिय विऊ ॥ १२ ॥
सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपे,
खंतिक्खमे संजय बंभचारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो,
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इंदिए ॥ १३ ॥
कालेण कालं विहरिज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण ण संतसेज्जा,
वयजोग सोच्चा ण असब्भमाहु ॥ १४ ॥
उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा,
पियमप्पिय सव्वं तितिक्खएज्जा।
ण सव्व सव्वत्थ ऽभिरोयएज्जा,
न यावि पूयं गरिहं च संजए ॥ १५ ॥
अणेगछंदा मिहमाणवेहिं,
जे भावओ से पकरेति भिक्खू।
भय भेरवा तत्थ उवेंति भीमा,
दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥ १६ ॥
परिस्सहा दुव्विसहा अणेगे,
सीयंति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खु,
संगामसीसे इव नागराया ॥ १७ ॥
सीयोसिणा दंसमसगा य फासा,
आतंका विविहा फुसंति देहं।
अकुक्कुओ तत्थ हि आसएज्जा,
रयाइ खेवेज्ज पुरा कडाइं ॥ १८ ॥
पहाय रागं च तहेव दोसं,
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे।
मेरु व्व वाएण अकंपमाणे,
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥ १९ ॥
अणुन्नए नावणए महेसी,
नेया वि पूयं गरहं च संजए।
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए,
णिव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥ २० ॥
अरइरइसहे पहीणसंथवे,
विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपदे हि चिट्ठइ,
छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥ २१ ॥
विवित्तलयणाइँ भइज्जताइं,
निरोवलेवाइँ असंथडाइं।
इसीहि चिण्णाइँ महाजसेहिं,
काएण फासेज्ज परीसहाइं ॥ २२ ॥
सण्णाणणाणोवगए महेसी,
अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरे णाणधरे जसंसी,
ओहावई सूरिए वंतलिक्खे ॥ २३ ॥

त्रयोदश सूत्राणि प्राय. सुगमान्येव, नवरं हित्वा-त्यक्त्वा संश्चासौ ग्रन्थश्च सद्ग्रन्थ. प्राकृतत्वाद् बिन्दुलोपस्तं, पठन्ति च-'जहित्तु सग च त्ति 'जहाय सग च' त्ति धा उभयत्र हित्वा सङ्गं स्वजनादिप्रतिबन्ध च पूरणे निपात., महान् क्लेशो यस्माद्यस्मिन् वा तं महाक्लेशम् ' महंतमोह ' त्ति—महान्मोह -अभिष्वङ्गो यस्मिन् यतो वा त तथाविध'कसिण' त्ति—कृत्स्न कृष्ण वा कृष्णलेश्यापरिणामहेतुत्वेन भयानकं महाक्लेशादिरूपत्वादेव विवेकिनां भयावहम्। 'परियाय' त्ति-प्रक्रमात्प्रव्रज्यापर्यायस्तत्र धर्म पर्यायधर्मस्त, चशब्द पादपूरणे, ' अभिरोयएज्ज त्ति-आर्षत्वाद् ह्यस्तन्यर्थे सप्तमी-ततोऽभ्यरोचत-अभिरोचितवाँस्तदनुष्ठानविषया प्रीतिं कृतवान उपदेशरूपता च तत्र न्यायेन स्थापयितुमित्थ प्रयोग यद्वा-आत्मानमवायमनुशास्ति यथा हे आत्मन! सङ्ग त्यक्त्वा प्रव्रज्याधर्ममभिरोचयेद् भवानेवमुत्तरक्रियास्वपि यथासम्भव भावनीयम्। प्रव्रज्यापर्यायधर्ममेव विशेषत आह-

व्रतानि-महाव्रतानि शीलानि पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणरूपाणि परीषहानिति भीमसेनन्यायेन परिषहसहनानि च। एतदभिरुच्य तदनन्तरं च यत्कृतवांस्तदाह-अहिंसां सत्यमस्तैन्यकं च ' तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च त्ति—ततश्च ब्रह्मचर्यमपरिग्रहं च प्रतिपद्य-अङ्गीकृत्य ' अबंभपरिग्गहं च ' इति तु पाठे परिवर्ज्य चेत्यध्याहार्यं पञ्च महाव्रतानि-उक्तरूपाणि 'चरिज्ज ' त्ति-प्राग्वन्न्वरत् नाङ्गीकृत्यैव निष्ठेदिति भाव ,धर्मं श्रुतचारित्ररूपं जिनदेशितं विउ ' त्ति—विद्वान् जानान । 'सव्वेहिं भूतेहिं ' सुपव्यत्यात् सर्वेष्वशेषेषु प्राणिषु दयया-हितोपदेशादिदानात्मिकया रक्षणरूपया वा अनुकम्पनशीलो दयानुकम्पी पाठान्तरतो दयानुकम्पो वा क्षान्त्या न त्वशक्त्या क्षमते प्रत्यनीकाद्युदीरितदुर्वचनादिकं सहत इति क्षान्तिक्षम', सयत इति सयत ,स चासौ ब्रह्मचारी च सयतब्रह्मचारी पूर्वं ब्रह्मप्रतिपत्त्यागत्वेऽपि ब्रह्मचारीत्यभिधानं ब्रह्मचर्यस्य दुरनुचरत्वख्यापनार्थम् ,अनेन च मूलगुणरक्षणोपाय उक्त।'कालेण कालं ' ति-रूढित. काले-प्रस्तावे , यद्वा—कालेन-पादोनपौरुष्यादिना कालमिति कालोचित प्रत्युपेक्षणादि कुर्वन्निति शेष ,राष्ट्रे-मण्डले बलाबल सहिष्णुत्वासहिष्णुत्वलक्षण ज्ञात्वाऽऽत्मनो यथा यथा संयमयोगहानिर्न जायते तथा तथेत्यभिप्राय , अन्यच्च सिंहवच्छब्देन—प्रस्तावाद्भयोत्पादकेन न समत्रस्यत्त्वं सत्त्वाच्चलितवान् , सिंहदृष्टान्ताभिधान च तस्य सात्त्विकत्वेनातिस्थिरत्वादत एव वाग्योगम्-अर्थाद् दु खोत्पादक 'सोच्च त्ति—श्रुत्वा न-नैवा-सभ्यमश्लीलरूपम 'आहु त्ति-उक्तवान्। तर्हि किमयमकरोदित्याह-उपेक्षमाणस्तमवधारयन् पर्यव्रजत् तथा प्रियमनुकूलमप्रियमननुकूल ' सव्व तितिक्खएज्ज ' त्ति—सर्वमतितिक्षत-सोढवान्। किञ्च ' न सव्व ' त्ति—सर्वं वस्तु सर्वत्र स्थानेऽभ्यरोचयत न यथा दृष्टाभिलाषुकोऽभूदिति भाव । यदि वा-यदेकत्र पुष्टालम्बनत सेवित न तत्सर्वमभिमताहारादि सर्वत्राभिलषितवान् , नत्रापि पूजा गर्हा वाऽभ्यरोचयनेति सम्बन्ध , इह च गर्हातोऽपि कर्मक्षय इति केचिदतस्तन्मतव्यवच्छेदार्थं गर्हाग्रहणं , यद्वा-गर्हा-परापवादरूपा, ननु भिक्षोरपि किमन्यथाभाव सम्भवति?, येने त्थमित्थं च तद्गुणाभिधानमित्याह-' अणेग ' त्ति-वृत्तार्द्ध तत्र च ' अणेग ' त्ति—अनेके छन्दा -अभिप्राया' सम्भवन्तीति गम्यते, ' मिह ' त्ति-मकारोऽलाक्षणिक , इह जगति 'माणवेहिं' ति-सुब्व्यत्ययात मानवेषु ' ये ' इति याननेकान् छन्दानुभावतस्तत्त्वत्रयौदयिकादिभावतो वा स प्रकरोति भृशं विधत्ते ' भिक्खु ' त्ति—अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् भिक्षुरपि-अनगारोऽपि सन् अत इत्थमित्थं च तद्गुणाभिधानमिति भाव । अपरं च-' भयभेरवा ' भयोत्पादकत्वेन भीषणास्तत्रेति ब्रह्मप्रतिपत्तौ ' उइंति ' त्ति-उद्यन्ति उदय यान्ति पठ्यते च-' उवेंति ' त्ति-उपयन्ति भयभैरवा इत्यनेनापि गते-भीमा इति पुनरभिधानमतिरौद्रताख्यापनायोक्त,दिव्या इत्यादावुपसर्गा इति गम्यते । 'तिरिच्छ'त्ति तैरश्चा. तथा परीसह त्ति-परीषहाश्च उद्यन्तीति सम्बन्ध ,सीदन्ति-सयमं प्रति शिथिलीभवन्ति 'जत्थ' त्ति-यत्र येषूपसर्गेषु परीषहेषु च सत्सु 'से' इति-स तत्र तेषु'पत्ते' त्ति-वचनव्यत्ययात् , प्राप्तेषु प्राप्तो वानुभवनद्वारेणायातो न (व्यथेत ,स्यात)व्यथाभीतश्चलितो वा सत्त्वाद् भिक्षु सन् सग्रामशीर्षे-युद्धप्रकर्षे इव नागराजो-हस्तिराजः स्पर्शास्तृणस्पर्शादय आतङ्का -रोगाः स्पृशन्ति-उपतापयन्ति'अकुक्कुय'त्ति आर्षत्वात् कुत्सित कूजति-पीडित. सन्नाक्रन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूज', पठ्यते च-'अकक्करि'त्ति-कदाचिद्वेदनाकुलितोऽपि न कर्कशायितकारी. अनेन चानन्तरसूत्रोक्त एवार्थो विस्पष्टतार्थमन्वयेनोक्त ,एवंविधश्च स रजासीव रजांसि जीवमालिन्यहेतुतया कर्माणि ' खवेज्ज ' त्ति-अक्षिपत् परीषहसहनादिभि क्षिप्तवान् , 'मोह '(म) इति-मिथ्यात्वहास्यादिरूपाऽज्ञान वा गृह्यते, आत्मना गुप्त आत्मगुप्त कूर्मवत् सकुचितसर्वाङ्ग' अनेन परीषहसहनोपाय उक्त , किञ्च-' न यावि पूय गरिहं च संजए ' त्ति-न चापि पूजा गर्हां च प्रतीति शेष असजत्-सङ्गं विहितवान् , तत्र च अनुन्नतत्वमनवनतत्व च हेतुर्भावत उन्नता हि पूजा प्रति अवनतश्च गर्हां प्रति सङ्ग कुर्यात्त्वन्यथेति भाव , पूर्वमभिरुचिर्निषेध उक्त इह तु सङ्गस्येति पूर्वस्माद्विशेष:, स इति-स एवगुण-ऋजुभावम्-आर्जव प्रतिपद्य-अङ्गीकृत्य संयतो निर्वाणमार्गं सम्यग्दर्शनादिरूप विरत' सन्नुपैति विशेषेण प्राप्नोति, वर्तमाननिर्देश इहोत्तरत्र च प्राग्वत्त स तदा कीदृश किं करोतीत्याह-अरतिरती सयमासयमविषये सहते न ताभ्यां बाध्यत इत्यरतिरतिसह. 'पहीणसथवे' त्ति-प्रहीणसस्तव सस्तवप्रहीणो वा सस्तवश्च पूर्वपश्चात्सस्तवरूपो वचनसंवासरूपो वा गृहिभि सह, प्रधान स च सयमो मुक्तिहेतुत्वात् यस्यास्त्यसौ प्रधानवान् परम प्रधानोऽर्थ पुरुषार्थो वाऽनयो कर्मधारये परमार्थो मोक्ष ,स पद्यते-गम्यते यैस्तानि परमार्थपदानि सम्यग्दर्शनादीनि सुब्व्यत्ययात् तेषु तिष्ठति अविराधकतयाऽऽस्ते ' छिन्नसोय ' त्ति छिन्नशोक छिन्नानि वा श्रोतासीव श्रोतासि—मिथ्यादर्शनादीनि येनासौ छिन्नश्रोता , अत एव अममो—ऽकिञ्चन , इह च सयमविशेषाणामानन्त्यात्तदभिधायिपदाना पुन पुनर्वचनेऽपि न पौनरुक्त्य , तथा विविक्तलयनानि—स्त्र्यादिविरहितोपाश्रयरूपाणि विविक्तत्वादेव च ' निरोवलेवाइ ' ति-निरुपलेपानि-अभिष्वङ्गरूपोपलेपवर्जितानि भावतो द्रव्यतस्तु तदर्थं नोपलिप्तानि असस्तृतानि—बीजादिभिरव्याप्तानि अत एव च निर्दोषतया ऋषिभि —मुनिभिश्चीर्णान्यासेवितानि , चीर्णशब्दस्य तु सुचीर्ण प्रोषितव्रतमितिवत्साधुता ' फासिज्ज ' त्ति—अस्पृशत्—सोढवानित्यर्थ पुन पुन परीषहस्पर्शनाभिधानमतिशयख्यापनार्थम् , तत स कीदृग्भूदित्याह ' स ' इति समुद्रपालनामा मुनिर्ज्ञानामह श्रुतज्ञान तेन ज्ञानम्-अवगम. प्रक्रमाद्यथावत् क्रियाकलापस्य तेनोपगतो युक्तो ज्ञानज्ञानोपगत , पाठान्तरत सन्ति-शोभनानि नानत्यनेकरूपाणि ज्ञानानि सङ्ख्यागपर्यायधर्माभिरुचितत्वाद्यवबोधात्मकानि तैरुपगत सन् ज्ञायधर्मसञ्चयं-क्षान्त्यादियतिधर्मसमुदयम् अनुत्तरज्ञानोपगत धर्मसञ्चयं-क्षान्त्यादियतिधर्मसमुदयम् अणुत्तरं णाणधरि' त्ति-एकारस्यालाक्षणिकत्वादनुत्तरज्ञान-केवलाख्य तद्धारयत्यनुत्तरज्ञानधर , पठ्यते च-'गुणुत्तरे णाणधरि'त्ति—तत्र च गुणोत्तरो-गुणप्रधानो ज्ञान प्रस्तावात् केवलज्ञान तद्धर ,एकारस्यालाक्षणिकत्वाद् गुणाकर यज्ज्ञान तद्धरो वाऽत एव यशस्वी 'ओभासइय त्ति—अवभासते-प्र-

काशते सूर्यवदन्तरिक्षे यथा नभसि सूर्योऽवभासते तथा असावप्युत्पन्नकेवलज्ञान इति त्रयोदशसूत्रार्थः।

सम्प्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरंस्तस्यैव फलमाह—

दुविहं खवेऊण य पुन्नपावयं,
निरंजणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं,
समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥ २४ ॥

द्विविधं—द्विभेदं घातिकर्मभवोपग्राहिभेदेन पुण्यपाप-शुभाशुभप्रकृतिरूप निरञ्जनः-कर्मसङ्गरहित. पठ्यते च-'निरंगणे' त्ति—अगेर्गत्यर्थत्वान्निरङ्गनः—प्रस्तावात् संयम प्रति निश्चलः शैलेश्यवस्थाप्राप्त इति यावत्, अत एव सर्वत इति बाह्यादान्तराच्च प्रक्रमादभिष्वङ्गहेतोस्तीर्त्वा-उल्लङ्घ्य समुद्रमिव अतिदुस्तरतया महांश्चासौ भवौघश्च देवादिभवसमूहस्त शेषं स्पष्टमिति सूत्रार्थ ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

काऊण तवच्चरणं, बहूणि वासाणि सो धुयकिलेसो।
तं ठाणं संपत्तो, जं संपत्ता न सोयंति ॥ ३५ ॥

सुगममेव, 'इति' परिसमाप्तौ. ब्रवीमीति पूर्ववत्। उक्तोऽनुगम , संप्रति नयास्तेऽपि प्राग्वद्। उत्त० २१ अ०।

समुद्दरवभूय-समुद्ररवभूत-त्रि०। जलधिशब्दप्राप्ते, विपा० १ श्रु० ३ अ०। भ०।

समुद्दलिक्खा-समुद्रलिक्षा-स्त्री०। द्वीन्द्रियजीवभेदे,प्रज्ञा०१पद।

समुद्दवायग-समुद्रवाचक-पुं०। वाचकवरे समुद्राख्ये आचार्ये, आ० चू० १ अ०।

समुद्दवायस-समुद्रवायस-पुं०। चर्मपक्षिभेदे, जी० १ प्रति०।

समुद्दविजय-समुद्रविजय-पुं०। सौर्यपुरे दशदशाराणां मध्ये ज्येष्ठ दशारे नेमिनाथस्वामिनः पितरि, उत्त० २२ अ०। आ० चू०। स०। आव०। आ० म०। अन्त०। आ० क०। दश०।

अट्ठारसयसहस्सा, सीसाणं आसि रिट्ठनेमिस्स।
कण्हेण पणमियम्मि य, सिवा समुद्देण तणयस्स ॥८८॥

ति०। प्रव०। कल्प०। वासुदेवपितरि, आव० १ अ०।

समुद्दवीइ-समुद्रवीचि-स्त्री०। सागरतरङ्गे, तं०।

समुद्दसूरि-समुद्रसूरि-पुं०। स्वनामख्याते कस्यचित्प्रतिष्ठाकल्पविशेषस्य कर्त्तरि आचार्ये,जीवा०१ अधि०१३ गाथा टी०।

समुद्दिस्स-समुद्दिश्य-अव्य०। सम्यगुद्दिश्य प्रतिज्ञायेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०। अधिकृत्येत्यर्थे, (आचा०) आश्रित्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०।

समुद्दिसित्तए-समुद्देष्टुम्-अव्य०। योगसामाचार्यैव स्थिरपरिचित कुर्विदमिात वक्तुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ०।

समुद्देस-समुद्देश-पुं०। व्याख्यायाम् , व्य० १ उ०। आ० म०। जीत०। शिष्येण हीनादिलक्षणोपेते अधीते गुरोर्निवेदिते स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति गुरुवचनविशेषे , अनु०। समुद्देशविधिः-अङ्गादिसमुद्देशेऽप्ययमेव विधिर्वक्तव्यो नवरं पूर्वं प्रवेदिते योग कुर्वित्युक्तमत्र तु स्थिरपरिचितं कुर्विति वदति योगोत्क्षेपकायोत्सर्गौ नन्द्याकर्षणं प्रदक्षिणात्रयविधिश्च न क्रियते, शेषः सप्तवन्दनकादिको विधिस्तथैव। अनु०। दश०। (अधिक 'जोगविहि' शब्दे चतुर्थभागे १६४५ पृष्ठे उक्तम्) भोजने,ग०।

जत्थ समुदे(द्दे)सकाले, साहूणं मंडलीइ अज्जाओ।
गोअम! ठवेंति पाए, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥६६॥

यत्र-गणे समुद्देशकाले—भोजनसमये साधूनां मण्डल्याम् आर्या —संयत्य पादौ स्थापयन्ति मण्डल्यां समागच्छन्तीत्यर्थ., हे इन्द्रभूते! तत् स्त्रीराज्यं जानीहि, न तं गच्छम्। अत्र समुद्देशशब्देन भोजनमुच्यते, यत उक्तमोघनिर्युक्तिवृत्तौ। तथाहि-

" जइ पुण विआलपत्ता, य एव पत्ता उवस्सयं ण लभे।
सुन्नघरे देउले वा, उज्जाणे वा अपरिभोगे " ॥ १ ॥

यदि पुनर्विकाल एव प्राप्तास्ततश्च तेषां विकालवेलाया वसतौ प्रविशतां प्रमादकृतो दोषो न भवति,' य एव पत्त' त्ति-ये चैवाप्रत्यूषस्येव प्राप्ता. किं तु उपाश्रय न लभन्ते तत. क्व समुद्दिशन्तु? शून्यगृहं देवकुले वा उद्याने वा अपरिभोगे लोकपरिभोगरहिते समुद्दिशन्तीति क्रियां वक्ष्यति

"आवायचिलिमिलाए, रक्खे वा णिब्भए समुद्दिसणं।
सभए पच्छन्नाऽसइ, कमढगकुरुया य संतरिया ॥१॥"

अथ शून्यगृहादौ सागारिकाणामापातो भवति ततः आपाते सति चिलिमिली जवनी च दीयते, 'रक्खे व' त्ति—अथ शून्यगृहादि सागारिकाक्रान्तं ततोऽरण्ये निर्भये समुद्दिशनं क्रियते, सभयं अरण्ये प्रच्छन्नस्य वा असति-अभावे ततो वसतिसमीप एव कमठकेषु शुष्केन लेपेन सबाह्याभ्यन्तरेषु लिप्तेषु भुञ्जनोऽकुरुकुचा पादप्रक्षालनादि क्रियते, सान्तरा.-सावकाशा वृहदन्तराला उपविश्य इदानीं भुक्त्वा बहिः पुनर्विकाले वसतिमन्विषन्तीत्यादि गाथाच्छन्दः ॥६६॥ ग० २ अधि०।

समुद्धिय-समुद्धृत-त्रि०।सम्-एकीभावेनाविप्रतिपत्त्या उद्धृता समुद्धृताः। षो०१६विव०। उत्क्षिप्तेषु, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

समुपविट्ठ-समुपविष्ट-त्रि०। सम्यक् परस्पराबाधया उपविष्टा. समुपविष्टाः। सम्यक्स्थितेषु,जी० ३ प्रति०४ अधि०।

समुपेहिय-समुपेक्ष्य-अव्य०।सम्यग् दृष्ट्वेत्यर्थे, दश० ७ अ०।

समुप्पण्ण-समुत्पन्न-त्रि०। जाते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३उ०। नि०। सिद्धे, प्रव० ३५ द्वार। प्राप्ते,कल्प० १ अधि० १ क्षण।

समुप्पत्तुकाम-समुत्पत्तुकाम-त्रि०। उत्पतुमिच्छौ , स्था० ४ ठा० २ उ०। भवितुकामे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

समुप्पाय-समुत्पाद-पुं०।प्रादुर्भावे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० ३ उ०।

समुप्पेक्खमाण-समुत्प्रेक्षमाण-त्रि०। निरूपयति , ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

समुवगय-समुपगत-त्रि०। समीपमुपगते, व्य० ४ उ०।

समुब्भव-समुद्भव-पुं०। उत्पत्तौ, विशे०। दशा०।

समुब्भूय-समुद्भूत-त्रि०।अतिप्रबलतयोत्पन्ने,स्था०४ठा०१उ०।

समुयाण-समुदान-न०।भैक्षणे,याञ्चायाम् ,स्था० ४ठा०२उ०।

समुयाय-समुदाय-पुं०। वृन्दे, अनु०।

समुल्लाव-समुल्लाप-पुं०। जल्पे, ज्ञा० १ श्रु० ३अ०। प्रमाणिते. विपा० १ श्रु० ७ अ०। आ० म०।

समुवट्ठिय-समुपस्थित-त्रि०। सम्यगुपस्थिते, उत्त०२४ अ०।

समुवसपण्ण-समुपसंपन्न-त्रि०। संमिति-सम्यग्गृहवृत्त्या सर्वथा समर्पणरूपया उपपन्न। सम्यक् सामीप्यमागते.ध०३अधि०।

समुवागय-समुपागत-त्रि०। समायाते, भ० ११ श० १२ उ०।

समुवेहमाण-समुपेक्षमाण-त्रि०। पश्यति,आचा०१ श्रु०५ अ०।

समुसरण-समवसरण-न०। तीर्थकृता सदेवमनुजासुराया पर्षदि, पिं०। (अत्रत्या वक्तव्यता 'पिंड' शब्दे पञ्चमभागे गता।)

समुस्सय-समुच्छ्रय-पुं०। काये, आव० ५ अ०। सूत्र०। कर्मोपचये. आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ०।

समुस्सिय-समुत्सृत-त्रि०। सम्यगूर्ध्वीकृते, रा०।

समुह-सन्मुख-न०। "मांसादेर्वा" ॥ ८।१।२९ ॥ इत्यनुस्वारस्य पाक्षिको लोप। समुह। समुह। प्रा०। अभिमुखे, रा०।

समुहा-श्वमुखिका-स्त्री०। शुनो मुखं श्वमुखं, तस्येवाचरणं श्वमुखिका। कौलेयकस्येव भषणे, 'समुहिं तुरियं चवलं धमन ति' शुनो मुखं श्वमुखं तस्येवाचरणं श्वमुखिका-कौलेयकस्येव भषणं त्वरितचपलम्-अतिचटुलतया धमन् शब्दं कुर्वन्नित्यर्थ। ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

समुहागय-समुखागत-त्रि०। उद्भटवेषवति, "समुहागय आसरिअ" पाइ० ना० १८५ गाथा।

समूसिय-समुच्छ्रित-त्रि०। सम्यगूर्ध्वं श्रित. समुच्छ्रित। ऊर्ध्वं व्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

समूसियरोमकूव-समुच्छ्रितरोमकूप-त्रि०। समुच्छ्रितानि रोमाणि कूपेषु यस्येति समुच्छ्रितरोमकूप। रोमाञ्चिते, ज्ञा०१ श्रु० १ अ०। कल्प०।

समूह-समूह-पुं०। द्वित्र्यादिपरमाणूना संयोगे, आ० म० १ अ०। समुदाये, विशे०। स्कन्धे, अनु०। संहे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। समूहीभूतानि बहूनीत्यर्थ। कल्प०१ अधि०३ क्षण।

समेच्च-समेत्य-अव्य०। ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०।

समेमाण-समयत्-त्रि०। समागच्छति, आचा० १ श्रु०८ अ०।

समेय-समेत-त्रि०। मिलिते, विशे०।

समोडहमाण-समुपदहत्-त्रि०। भस्मसात्कुर्वति, भ०८ श०।

समोणय-समवनत-त्रि०। ईषदवनते,आ० म० १ अ०। रा०।

समोयरत-समवतरत्-त्रि०। सर्वतो विस्तरति, त०।

समोयार-समवतार-पुं०। सम्यग् अविरोधेन वर्तनं समवतार। अविरोधवृत्तितायाम्, अनु०। ('आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीयभागे १३४ पृष्ठे गता वक्तव्यता।)

समवतार निरूपयितुकाम आह—

से किं तं समोयारे ?, समोयारे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-णामसमोयारे ठवणासमोयारे दव्वसमोयारे खेत्तसमोयारे कालसमोयारे भावसमोयारे। नामठवणाओ पुव्वं वण्णिआओ०जाव से तं भवियसरीरदव्वसमोयारे। से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसमोयारे ?, दव्वस०तिविहे पण्णत्ते,तं जहा-आयसमोयारे परसमोयारे तदुभयसमोयारे। सव्वदव्वा वि णं आयसमोआरेणं आयभावे समोयरंति, परसमोयारेणं जहा कुंडे बदराणि, तदुभयसमोयारेणं जहा घरे खंभो आयभावे अ, जहा घडे गीवा आयभावे अ। अहवा जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसमोयारे दुविहे पण्णत्ते,तं जहा-आयसमोयारे अ, तदुभयसमोयारे अ। चउसट्ठिआ आयसमोयारेणं आयभावे समोयरइ, तदुभयसमोतारेणं बत्तीसिआए समोअरइ, आयभावे अ बत्तीसिआ आयसमोतारेणं आयभावे समोतरइ, तदुभयसमोतारेणं सोलसिआए समोअरइ आयभावे अ, सोलसिआ आयसमोआरेणं आयभावे समोअरइ, तदुभयसमोतारेणं अट्ठभाइआए समोअरइ आयभावे अ, अट्ठभाइया आयसमोआरेणं आयभावे समोअरइ तदुभयसमोआरेणं चउभाइआए समोअरइ आयभावे अ, चउभाइया आयसमोआरेणं आयभावे समोअरइ, तदुभयसमोआरेणं अद्धमाणीए समोअरइ आयभावे अ, अद्धमाणी आयसमोआरेणं आयभावे समोअरइ, तदुभयसमोयारेणं माणीए समोअरइ आयभावे अ,से तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसमोआरे। से तं णोआगमओ दव्वसमोयारे से तं दव्वसमोयारे। से किं तं खेत्तसमोयारे?, खेत्तसमोयारे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-आयसमोयारे अ, तदुभयसमोयारे य। भरहे वासे आयसमोयारे य आयभावे समोयारे अ,तदुभयसमोयारेणं जंबुद्दीवे समोयारेण आयभावे य, जंबुद्दीवे आयसमोयारेण आयभावे समोतरइ, तदुभयसमोतारेणं तिरियलोए समोतरइ आयभावे अ, तिरियलोए आयसमोतारेण आयभावे समोअरइ तदुभयसमोतारेणं लोए समोतरइ आयभावे अ। से तं खेत्तसमोया (आ)रे। से किं तं कालसमोयारे ? कालस० दुविहे पन्नत्ते, तं जहा-आयसमोयारे अ, तदुभयसमोयारे य। समए आयसमोयारेण आयभावे समोयरइ, तदुभयसमोयारेणं आवलियाए समोयरइ आयभावे अ, एवमाणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे ऊऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससते वाससहस्से वाससतसहस्से वा पुव्वंगे पुव्वे तुडिअंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववंगे अववे हूहूअंगे हूहूए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णलिणंगे णलिणे अत्थनिउरंगे अत्थनिउरे अउअंगे अउए नउअंगे नउए पउअंगे पउए चूलिअंगे चूलिया सीसपहेलिअंगे सीसपहेलिया पलिओवमे सागरोवमे आयसमोयारेणं आयभावे समोअरइ

तदुभयसमोतारेणं ओसप्पिणीउस्सप्पिणीसु समोतरइ आयभावे अ, ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ आयसमोयारेणं आयभावे समोयारेणं तदुभयसमोतारेणं पोग्गलपरिअट्टे समोअरइ आयभावे अ, पोग्गलपरिअट्टे आयसमोयारेणं आयभावे समोतरइ तदुभयसमोतारेणं तीतद्धाअणागतद्धासु समोअरइ आयभवेणं । तीतद्धा अणागतद्धाओ आयसमोआरेणं आयभावे समोआरेणं तदुभयसमोतारेणं सव्वद्धाए समोतरइ आयभावे अ । से तं कालसमोयारे । से किं तं भावसमोयारे ?, भावसमोयारे दुविहे पणत्ते, तं जहा– आयसमोयारेणं तदुभयसमोतारेणं कोहे आयसमोतारेणं आयभावे समोयारेणं तदुभयसमोतारेणं माणे समोतारेणं आयभावे अ, एवं माणे, माया, लोभे, रागे, मोहणिज्जे, अट्ठ कम्मपयडीओ आयसमोयारेणं आयभावे समोअरइ, तदुभयसमोयारेणं छव्विहे भावे, समोतरइ आयभावे अ । एव छव्विहे भावे, जीवे जीवत्थिकाए आयसमोयारेणं आयभावे समोअरइ तदुभयसमोयारेणं सव्वदव्वेसु समोअरइ आयभावे य । एत्थ संगहणीगाहा–"कोहे माणे माया, लोभे रागे य मोहणिज्जे अ । पगडीभावे जीवे, जीवत्थिकायदव्वा य" ॥ १ ॥ से तं भावसमोयारे । से तं समोतारे । (सू० १५३×)

'से किं तं समोयारे' इत्यादि, समवतरणं वस्तूनां स्वपरोभयत्र-वर्त्तित्वचिन्तनं समवतारः, स च नामादिभेदात् षोढा, तत्र नामस्थापने सुचर्चिते, एवं द्रव्यसमवतारोऽपि द्रव्यावश्यकादिवदभ्यूह्य वक्तव्यः, यावज्ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यसमवतारस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—आत्मसमवतार इत्यादि, तत्र सर्वद्रव्याण्यप्यात्मसमवतारेण चिन्त्यमानान्यात्मभावे स्वपर्यायस्वरूपे समवतरन्ति—वर्तन्ते, तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषां व्यवहारतस्तु परसमवतारेण परभावे समवतरन्ति यथा कुण्डे बदराणि, निश्चयतः सर्वाण्यपि वस्तूनि नागुरुलघुरूपत्वात् स्वात्मन्येव वर्तन्ते, व्यवहारतस्तु स्वात्मनि चाधारे च कुण्डादिके वर्तन्त इति भावः । तदुभयसमवतारेण तदुभये वस्तूनि वर्त्तन्ते, यथा कटकुड्यदेहली पट्टादिसमुदायात्मके गृहे स्तम्भो वर्त्तते आत्मभावे च नचेव देहल्यादिना । एवं पृथ्वोदरकपालात्मके घटे ग्रीवा वर्तते आत्मभावे चेति, आह–यद्येवमशुद्ध नदा परसमवतारो नास्त्येव कुण्डादौ वृत्तानामपि बदरादीनां स्वात्मनि वृत्तेर्विवक्षितत्वात्, किन्तु तत्र स्वात्मनि वृत्तिर्विवक्षामात्रेण तथोपन्यासः कृतो, परमार्थतस्तु द्विविध एव समवतारः, अत एवाह । अथवा-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यसमवतारो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-आत्मसमवतारस्तदुभयसमवतारश्च, शुद्धस्य परसमवतारस्य वाच्यस्याभावात्, न हि स्वात्मसमवतारमन्तरेण परस्मिन् समवतारो घटत इति भावः पूर्वमात्मसमवतारसामान्येन्द्रियसमवतारो अस्य चतुःषष्टिका आत्मसमवतारेण विवक्षिता ... तदा तम

पष्टिका चतुष्पलमाना पूर्वं निर्णीता ततश्चैषा लघुप्रमाणत्वाद् द्व्यष्टपलमानत्वेन बृहत्प्रमाणायां द्वात्रिंशतिकायां समवतरतीति प्रतीतमेव, एवं द्वात्रिंशतिकाऽपि षोडशपलमानायां षोडशिकायां षोडशिकाऽपि द्वात्रिंशत्पलमानायामष्टभागिकायामष्टभागिकाऽपि चतुःषष्टिपलमानायां चतुर्भागिकायां चतुर्भागिकाऽप्यष्टाविंशत्यधिकशतपलमानायामर्द्धमाणिकायाम, एषाऽपि षट्पञ्चाशदधिकपलशतद्वयमानायां माणिकायां समवतरति आत्मसमवतारस्तु सर्वत्र प्रतीत एव । समाप्तो द्रव्यसमवतारः ॥ अथ क्षेत्रसमवतारं विभणिषुराह–'से किं तं खेत्तसमोयारे' इत्यादि, इह भरतादीनां लोकपर्यन्तानां क्षेत्रविभागानां यथा पूर्वं लघुप्रमाणस्य यथोत्तरं बृहत्क्षेत्रे समवतारो भावनीयः । एवं कालसमवतारोऽपि समयादेः कालविभागस्य लघुत्वादावलिकादौ बृहति कालविभागे समवतारः सुबोध एव । आत्मसमवतारस्तु सर्वत्र स्पष्ट एव ॥ अथ भावसमवतारं विवक्षुराह–'से किं तं भावसमोयारे' इत्यादि, क्रोधादिरभावरूपत्वात्क्रोधादयो भावसमवतारेऽभिहितास्तत्र क्रोधाहङ्कारमन्तरेण कोपासंभवात्मानवानेव हि कुप्यतीति कोपस्य माने समवतार उक्तः क्षपणकाले च मानदलिकं मायायां प्रक्षिप्य क्षपयतीति मानस्य मायायां समवतारः मायादलिकमपि क्षपणकाले लोभे प्रक्षिप्य क्षपयतीति मायाया लोभे समवतारः, एवमन्यदपि कारणं परस्परान्तर्भावेऽभ्यूह्य सुधिया वाच्यं लोभात्मकत्वाच्च रागस्य लोभो रागे समवतरति, रागोऽपि मोहभेदत्वान्मोहे मोहोऽपि कर्मप्रकारत्वादष्टासु कर्मप्रकृतिषु, कर्मप्रकृतयोऽप्यौदयिकौपशमिकादिभावरूपत्वात्षट्सु भावेषु, भावा अपि जीवाश्रितत्वाज्जीवे, जीवाऽपि

१०३

नयसमवतार उक्त, तथाऽपि साम्प्रत तथाविधनयविचाराभावाद्वस्तुवृत्त्याऽनवतार एव, यत इदमप्युक्तम्-' मूढनइय सुयं कालिय तु न नया समोयरंति ' इदमित्यादि महामतिनाऽप्युक्तम्-'मूढनयं तु न सपइ नयप्पमाणावआरो से' त्ति- गुणप्रमाणमपि जीवाजीवगुणभेदतो द्विधा प्रोक्तं, तत्रास्य जीवोपयोगरूपत्वाज्जीवगुणप्रमाणे समवतारस्तस्मिन्नपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदतस्त्र्यात्मके अस्य ज्ञानरूपतया ज्ञानप्रमाणेऽवतारस्तत्रापि प्रत्यक्षानुमानोपमानागमभेदाच्चतुर्विधे प्रकृताध्ययनस्याप्तोपदेशरूपतया आगमेऽन्तर्भावस्तस्मिन्नपि लौकिकलोकोत्तरभेदभिन्ने परमगुरुप्रणीतत्वेन लोकोत्तरिके तत्रापि आत्मागमानन्तरागमपरम्परागमभेदतस्त्रिविधेऽप्यस्य समवतार, संख्याप्रमाणेऽपि नामादिभेदभिन्ने प्रागुक्ते परिमाणसंख्यायामस्यावतार, वक्तव्यतायामपि स्वसमयवक्तव्यतायामिदमवतरति, यत्रापि परोभयसमयवर्णन क्रियते तत्रापि निश्चयत स्वसमयवक्तव्यतैव परोभयसमययोरपि सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतत्वेन स्वसमयत्वात्, सम्यग्दृष्टिर्हि परसमयमपि विपयविभागेन योजयति न त्वेकान्तपक्षनिक्षेपेणेत्यत सर्वोऽपि तत्परिगृहीत स्वसमय एव, अत एव परमार्थत सर्वाध्ययनानामपि स्वसमयवक्तव्यतायामेवावतार, तदुक्तम्—"परसमओ उभय वा, सम्मद्दिट्ठिस्स ससमओ जेण। तो सव्वज्झयणाइं, ससमयवत्तव्वनिययाइं " ॥ १॥ एव चतुर्विंशतिस्तवादिष्वपि वाच्यमित्यलमतिविस्तरेणेति समाप्त समवतार । अनु०।

उस्सग्गं सव्वसुयं, ससमयवत्तव्वयं समोयरइ।
अहिगारो कप्पणाए, समोयारो जो जहिं एस ॥२७१॥

उत्सर्ग—सर्वकालं सर्वश्रुतं स्वसमयवक्तव्यताया समवतरति, अथाधिकारो मूलगुणेषूत्तरगुणेषु वा अपराधमापन्नानां प्रायश्चित्तकल्पनायाम्।

सम्प्रति यदुक्त स्वसमयवक्तव्यताया समवतरति तदिदानीं सिंहावलोकितेनापवदति—

परपक्खं दूमित्ता, जम्हा उ सपक्खसाहणं कुणइ।
णो खलु अदूसियम्मि,परे सपक्खंजसा सिद्धी ॥२७२॥

परसमयवक्तव्यतायामप्यवतरति, यस्मात् परपक्ष दूपयित्वा स्वपक्षसाधन करोति, न खल्वदूषिते परपक्षे स्वपक्षस्याञ्जसा व्यक्ता प्रधाना वा सिद्धिर्भवति। तत परसमयवक्तव्यतायामवतार., तदेवमिद कल्पाध्ययनमुपक्रमे आनुपूर्व्यादौ यत्र यत्र समवतरति तत्र तत्र समवतारितम्। बृ०१ उ०१ प्रक०।

सम्प्रति निक्षेपमाह—

इक्किकं तं चउहा, णामाऽऽईयं विभासितुं ओहे।
भावे तत्थ उ चउसु वि,कप्पज्झयणं समोयरइ ॥२७४॥

एकैकमध्ययनादिक यथाऽनुयोगद्वार नामादीना भेदतश्चतुर्द्धा विभाष्य चतुर्ष्वपि तत्र तेष्वध्ययनादिषु भावे भावविषये तु कल्पाध्ययनमिदं समवतरति। बृ० १ उ० १ प्रक०।

समोववएणग-समोपपन्नक-पुं०। विवक्षितायुष्कक्षये, समकमेव भवान्तरे उपपन्ना समोपपन्नका। (भ०) विषमकालायुष्कोदयसमकालभवान्तरोत्पत्तिमत्सु, भ० ३४ श० १ उ०।

समोसढ-समवसृत-त्रि०। स्थिते, धर्मदेशनार्थं प्रवृत्ते, दश० ५ अ० २ उ०। सू० प्र०। आ० म०।

समोसरण-समवसरण-न०। सृ-गतौ सम्यगेकत्र गमन समवसरणम्। निचये,सञ्चये, ओघ०। समवसरन्त्यवतरन्त्येष्विति समवसरणानि। विविधमतमीलकेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्र०। समवसरन्ति नाना परिणामा जीवाः कथञ्चित्तुल्यतया येषु तानि समवसरणानि। समवसृतयो वाऽन्योऽन्यभिन्नेषु क्रियावादादिमतेषु कथञ्चित्तुल्यत्वेन कचित्केषाञ्चिद्वादिनामवतारा समवसरणानि। भ० ३० श०१ उ०। (चत्वारि वादिसमवसरणानि 'वाइसमवसरण' शब्दे षष्ठभागे गतानि।)

विषयसूचना—

(१) नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे समवसरणमित्येतन्नाम तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिः।
(२) समवसरणविषये सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेत सूत्रम्।
(३) समवसरणवक्तव्यताद्वारगाथा।
(४) यत्र भगवान् धर्ममाचष्टे तत्र समवसरणं नियमता भवति उत नेत्याशङ्कापनोदमुखेन प्रथमद्वारव्याख्यानम्।
(५) यत्र समवसरणं भवति तत्र सर्वत्रापि पूर्वोक्त एव नियोग उत न? इत्येतच्छङ्कासमाधानम्।
(६) समवसरणे भुवनगुरुरूपस्य त्रैलोक्यगतरूपेभ्य सुन्दरतरत्वात् त्रिदशकृतप्रतिरूपकाणा किं सामान्यासामान्य (व्यर्थं वेत्या) चैत्याशङ्कानिरास।
(७) समवसरणे स्थितानां देवनराणां मर्यादाप्रतिपादनम्।
(८) समवसरणविषये द्वितीयद्वारप्रतिपादनम्।
(९) समवसरणे कियन्ति सामायिकानि मनुष्यादय प्रतिपद्यन्ते।
(१०) कृतकृत्यो भगवान् समवसरणे तीर्थप्रणाम करोतीति किमिति शङ्कानिरास.।
(११) क केन साधुना कियतो वा भूभागात्समवसरणे आगन्तव्यम्? अनागच्छतो वा किं प्रायश्चित्तम्?।
(१२) समवसरणे रूपपृच्छाद्वारप्रकटनम्।
(१३) असातावेदनीयाद्या प्रकृतयो नाम्नो याऽप्रशस्ता कथं भगवत तु सदा न भवन्ति? इति शङ्कोच्छेद.।
(१४) समवसरणे युगपत्सर्वशङ्कोच्छेदे गुणनिदर्शनम्।
(१५) समवसरणे सर्वसंशयिना पारमेश्वरीवागशेपसंशयोन्मूलनेन स्वभाषया परिणमते।
(१६) भगवान् येषु ग्रामनगरादिषु विहरति तेभ्यो वार्तां ये आनयन्ति तेभ्यो यत्प्रयच्छन्ति वृत्तिदान प्रीतिदानं च चक्रवर्त्यादयस्तदुपदर्शनम्।
(१७) समवसरणे भगवान् प्रथमा सपूर्णपौरुषीं धर्ममाचष्टे, अत्रान्तरे बलि प्रविशति, कस्तं करोति? इति निदर्शनम्।

(१८) समवसरणे भगवत्युत्थिते द्वितीयस्यां पौरुष्यामाद्यगणधरोऽन्यो वा गणधरो धर्ममाचष्टे स्यान्मतिः किं कारणं द्वितीयस्यामपि पौरुष्यां तीर्थकर एव धर्मं न कथयतीति ? शङ्का तत्समाधाननिरूपणम् ।

(१९) समवसरणकल्पः ।

(२०) समवसरणरचनानिदर्शनम् ।

(२१) समवसरणस्तवनिदर्शनम् ।

(२२) समवसरणे रचनाभूमिप्रमाणम् ।

(२३) प्रकीर्णकवार्ताः ।

(१) नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे समवसरणमित्येतन्नाम तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

समवसरणे वि छक्कं, सच्चित्ताचित्तमीसगं दव्वे ।
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले जं जम्मि कालम्मि ॥११६॥

'समवसरण' मित्यादि, समवसरणमिति सृगतावित्यस्य धातोः समवोपसर्गपूर्वस्य ल्युडन्तस्य रूपम्, सम्यगेकीभावेनावसरणमेकत्र गमनं-मेलापकः समवसरणं तस्मिन्नपि न केवलं समाधौ षड्विधौ नामादिको निक्षेपस्तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यविषयं पुनः समवसरणं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिविधम् । सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदाऽपदभेदात् त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानां साधुप्रभृतीनां तीर्थकृज्जन्मनिष्क्रमणप्रदेशादौ मेलापकः, चतुष्पदानां गवादीनां निपानप्रदेशादौ, अपदानां तु वृक्षादीनां स्वतो नास्ति समवसरणं विवक्षया तु काननादौ भवत्यपि, अचित्तानां तु द्व्यणुकाभ्रादीनां तथा मिश्राणां सेनादीनां समवसरणसद्भावोऽवगन्तव्य इति क्षेत्रसमवसरणं तु परमार्थतो नास्ति, विवक्षया तु यत्र द्विपदादयः समवसरन्ति व्याख्यायते वा समवसरणं यत्र तत्क्षेत्रप्राधान्यादेवमुच्यते । एवं कालसमवसरणमपि द्रष्टव्यमिति ।

इदानीं भावसमवसरणमधिकृत्याह—

भावसमोसरणं पुण, णायव्वं छव्विहम्मि भावम्मि ।
अहवा किरियअकिरिया, अन्नाणी चेव वेणइया ॥११७॥

'भावसमवसरण' मित्यादि, भावानामौदयिकादीनां समवसरणम्--एकत्र मेलापको भावसमवसरणम् । तत्रौदयिको भाव एकविंशतिभेदः, तद्यथा--गतिश्चतुर्द्धा--कषायाश्चतुर्विधा एवं लिङ्गं त्रिविधं, मिथ्यात्वाज्ञानाऽसंयतत्वाऽसिद्धत्वानि प्रत्येकमेकैकविधानि, लेश्या कृष्णादिभेदेन षड्विधा भवन्ति, औपशमिको द्विविधः, सम्यक्त्वचारित्रोपशमभेदात् । क्षायोपशमिकोऽप्यष्टादशभेदभिन्नः, तद्यथा-ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायभेदाच्चतुर्द्धा, अज्ञानम्-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गभेदात् त्रिविधं, दर्शनं-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदात् त्रिविधमेव, लब्धिर्दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा, सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाः प्रत्येकमेकप्रकारा इति । क्षायिको नवप्रकारः, तद्यथा--केवलज्ञानं केवलदर्शनं दानादिलब्धयः पञ्च सम्यक्त्वं चारित्रं चेति । जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिभेदात्पारिणामिकस्त्रिविधः, सान्निपातिकस्तु द्विकत्रिचतुःपञ्चकसंयोगैर्भवति, तत्र द्विकसंयोगः सिद्धस्य क्षायिकपारिणामिकभावद्वयसद्भावादवगन्तव्यः, त्रिकसंयोगस्तु मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्ट्यविरतानामौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावादवगन्तव्यः, तथा भवस्थकेवलिनोऽप्यौदयिकक्षायिकपारिणामिकभावसद्भावाद्विज्ञेय इति, चतुष्कसंयोगोऽपि क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावात्तथौपशमिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावच्चेति, पञ्चकसंयोगस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुपशमश्रेण्यां समस्तोपशान्तचारित्रमोहानां भावपञ्चकसद्भावाद्विज्ञेय इति । तदेवं भावानां द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगात्सम्भविनः सान्निपातिकभेदाः षड् भवन्ति, अत एव त्रिकसंयोगचतुष्कसंयोगगतिभेदात्पञ्चदशधा प्रदेशान्तरेऽभिहिता इति, तदेवं षड्विधे भावे भावसमवसरणं भावमीलनमभिहितम् । अथवा अन्यथा भावसमवसरणं निर्युक्तिकृदेव दर्शयति, क्रिया जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिका वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, एतद्विपर्यस्ता अक्रियावादिनः, तथा अज्ञानिनो ज्ञाननिह्नववादिनस्तथा वैनयिका विनयेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा वैनयिकाः, एषां चतुर्णामपि सप्रभेदानामपेक्षां कृत्वा यत्र विक्षेपः क्रियते तद्भावसमवसरणमिति, एतच्च स्वयमेव निर्युक्तिकारोऽन्त्यगाथया कथयिष्यति ।

साम्प्रतमेतेषामेवाभिधानान्वर्थतादर्शनद्वारेण स्वरूपमाविष्कुर्वन्नाह—

अत्थि त्ति किरियवादी, वयंति णत्थि अकिरियवादी य ।
अण्णाणी अण्णाणं, विणइत्ता वेणइयवादी ॥ ११८ ॥

'अत्थि त्ती' त्यादि, जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीति क्रियावादिनस्ते चैवं वादित्वान्मिथ्यादृष्टयः, तथाहि-यदि जीवोऽस्त्येवेत्येवमभ्युपगम्यते ततः सावधारणत्वान्न कथंचिन्नास्तीत्यतः स्वरूपसत्तावत्पररूपापत्तिरपि स्यात्, एवं च नानेकं जगत् स्यान्न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिनोऽक्रियावादिनः, तेऽप्यसद्भूतार्थप्रतिपादनान्मिथ्यादृष्टय एव, तथा ह्येकान्तेन जीवास्तित्वप्रतिषेधे कर्तुरभावात् नास्तीत्येतस्यापि प्रतिषेधस्याभावः, तदभावाच्च सर्वास्तित्वमनिवारितमिति तथा न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन्ति, एतेऽपि मिथ्यादृष्टय एव, तथा 'अज्ञानमेव श्रेय' इत्येतदपि न ज्ञानमृते भणितुं पार्यते, तदभिधानाच्चावश्यं ज्ञानमभ्युपगतं तैरिति । तथा वैनयिका विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलपन्तो मिथ्यादृष्टयो यतो न ज्ञानक्रियाभ्यामन्तरेण मोक्षावाप्तिरिति । एषां च क्रियावादादीनां स्वरूपं तन्निराकरणं चाऽऽचारटीकायां विस्तरेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ।

साम्प्रतमेतेषां भेदसंख्यानिरूपणार्थमाह—

असियसयं किरियाणं, अकिरियाणं च होइ चुलसीति ।
अन्नाणी सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा ॥ ११९ ॥

'असिये' त्यादि, क्रियावादिनामशीत्यधिकं शतं भवति, तच्चानया प्रक्रियया, तद्यथा--जीवादयो नव पदार्थाः प-

रिपाट्या स्थाप्यन्ते, तदध स्वतः परतः इति भेदद्वयं, ततोऽप्यधो नित्यानित्यभेदद्वय,ततोऽप्यधस्तात्परिपाट्या कालस्वभावनियतीश्वरात्मपदानि पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते, ततश्चैवं चारणिकाप्रक्रम . तद्यथा-अस्ति जीव स्वतोऽनित्य कालत , तथा अस्ति जीव स्वतोऽनित्य कालत एव, एव परतोऽपि भङ्गकद्वय सर्वेऽपि च चत्वार कालेन लब्धा , एव स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येक चतुर एव लभन्ते, तत पञ्चापि चतुष्कका विंशतिर्भवन्ति , साऽपि जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येक विंशति लभन्ते , ततश्च नव विंशतयो मीलिता क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शत भवतीति । इदानीमक्रियावादिना न सन्त्येव जीवादय पदार्था इत्येवमभ्युपगमवतामनेनोपायेन चतुरशीतिरवगन्तव्या , तद्यथा—जीवादीन् पदार्थान् सप्ताभिलिख्य तदध स्वपरभेदद्वय व्यवस्थाप्य, ततोऽप्यध कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मपदानि षड् व्यवस्थाप्यानिभङ्गकानयनोपायस्त्वयम्-नास्ति जीव स्वत कालत , तथा नास्ति जीव परत कालत , एव यदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभि प्रत्येक द्वौ द्वौ भङ्गकौ लभ्येते,सर्वेऽपि द्वादश,तेऽपि च जीवादिपदार्थसप्तकेन गुणिताश्चतुरशीतिरिति । तथा चोक्तम्—' कालयदृच्छानियति-स्वभावश्वरात्मतश्चतुरशीति । नास्तिकवादिगणमत, न सन्ति भावा स्वपरसस्था ' ॥ १ ॥ साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवक्षितकार्यसिद्धिमिच्छता ज्ञान तु सदपि निष्फल बहुदोषवच्चेत्येवमभ्युपगमवता सप्तषष्टिरनेनोपायेनावगन्तव्या ,जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् परिपाट्या व्यवस्थाप्य तदधोऽमी सप्त भङ्गका संस्थाप्या . सत् असत् सदसद् अवक्तव्यम् सदवक्तव्यम् असदवक्तव्यं सदसदवक्तव्यमिति । अभिलापस्त्वयम्—सन् जीव को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? १ , असन् जीव , को वेत्ति ?,-किं वा तेन ज्ञातेन २, सदसन् जीव , को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ३, अवक्तव्यो जीव , को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? ४, सदवक्तव्यो जीव, को वेत्ति ?,-किं वा तेन ज्ञातेन ? ५, असदवक्तव्यो जीव को वेत्ति ?,- किं वा तेन ज्ञातेन ? ६, सदसदवक्तव्यो जीव, को वेत्ति ?,-किं वा तेन ज्ञातेन ? ७, एवमजीवादिष्वपि सप्त भङ्गका , सर्वेऽपि मिलितास्त्रिषष्टि । तथाऽपरेऽमी चत्वारो भङ्गका , तद्यथा—सती भावोत्पत्ति को वेत्ति ?,-किं वा अनया ज्ञातया? १, असती भावोत्पत्ति को वेत्ति ?, किं वा अनया ज्ञातया ? २,सदसती भावोत्पत्ति को वेत्ति ?, किं वा अनया ज्ञातया ? ३, अवक्तव्या भावोत्पत्ति को वेत्ति ?, किं वा अनया ज्ञातया ? ४, सर्वेऽपि सप्तषष्टिरिति। उत्तर भङ्गकत्रयमुत्पन्नभावावयवापेक्षमिह भावोत्पत्तौ न सम्भवतीति नोपन्यस्तम् , उक्त च-'अज्ञानिकवादिमतं, नव जीवादीन् सदादि सप्तविधान् । भावोत्पत्ति सदसद्, द्वेधा वाच्या च को वेत्ति ॥ १ ॥ ' इदानीं वैनयिकाना विनयादेव, केवलात् परलोकमपीच्छता द्वात्रिंशदनेन प्रक्रमेण योज्यातद्यथा—सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु मनसा वाचा कायेन दानेन चतुर्विधो विनयो विधेय , सर्वेऽप्यष्टौ चतुष्कका मिलिता द्वात्रिंशदिति । उक्त च- वैनयिकमत विनय--श्चेतोवाक्कायदानत कार्यं । सुरनृपतियतिज्ञाति-- स्थविराधममातृपितृषु सदा'।१। सर्वेऽप्येते क्रियाक्रियाज्ञानिवैनयिकवादिभेदा एकीकृताखीणि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रावादुकमतशतानि भवन्ति । (सूत्र०) (क्रियावादिना विषयः गाथाद्वयेन 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे ५५१ पृष्ठे उक्त.।)

(२) साम्प्रत सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेत सूत्रमुच्चारयितव्य, तच्चेदम्-

चत्तारि समोसरणाणि माणी,
पावाणिया जाइँ पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणियति तइयं,
अन्नाणमाहसु चउत्थमेव ॥ १ ॥

'चत्तारि' इत्यादि, अस्य च प्राक्तनाध्ययनेन सहाऽयं सम्बन्ध , तद्यथा-साधुना प्रतिपन्नभावमार्गेण कुमार्गाश्रिता परवादिन सम्यग् परिज्ञाय परिहर्तव्या , तत्स्वरूपाविष्करण चानेनाध्ययनेनोपदिश्यत इति, अनन्तरसूत्रस्यानेन सूत्रेण सह सबन्धोऽय , तद्यथा—सवृत्ता महाप्रज्ञो वीरो दत्तैषणा चरत्नभिनिर्वृत्त इति मृत्युकालमभिकाङ्क्षेदेतत्केवलिनो भाषित, तथा परतीर्थिकपरिहार च कुर्यात्, एतच्च केवलिनो मतम्, अनन्तरपरिहारार्थं तत्स्वरूपनिरूपणमनेन क्रियते ' चत्तारि ' ति चत्वार्यवमपरसत्यानिवृत्यर्थं समवसरणानि परतीर्थिकाभ्युपगमसमूहरूपाणि यानि प्रावादुका पृथक् पृथग्वदन्ति, तानि चामूनि अन्वर्थाभिधायिभि सज्ञापदैर्निर्दिश्यन्त, तद्यथा—क्रियामस्तीत्यादिका वदितु शील येषा ते क्रियावादिनस्तथाऽक्रिया नास्तीत्यादिकां वदितु शीलं येषा तेऽक्रियावादिन , तथा तृतीया वैनयिकाश्चतुर्थास्त्वज्ञानिका इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । (अज्ञानिन 'अण्णाणिय' शब्दे प्रथमभागे ४८६ पृष्ठे उक्ता ।) (वैनयिकवादिनो ' वेणइय ' शब्द षष्ठभाग उक्ता ।) (अक्रियावादिन ' अकिरियवाइ ' शब्दे प्रथमभागे १२८ पृष्ठे गता ।) (आदित्यवक्तव्यता 'आइच्च' शब्दे द्वितीयभागे ३ पृष्ठे गता ।) (अष्टाङ्गनिमित्तवक्तव्यता ' अट्ठंगणिमित्त शब्दे प्रथमभागे २३६ पृष्ठे उक्ता ।) (क्रियावक्तव्यता ' किरिया ' शब्दे तृतीयभागे ५५६ पृष्ठेऽस्ति ।) (प्रत्यक्षवक्तव्यता ' पयत्थ ' शब्दे पञ्चमभागे ५०४ पृष्ठे प्रतिपादिता ।) (मनसा वक्तव्यता ' मण ' शब्दे षष्ठभागे ७४ पृष्ठे उक्ता ।) (हेतुवक्तव्यता ' हेउ ' शब्दे वक्ष्यते ।) (द्रव्यवक्तव्यता ' दव्व ' शब्दे चतुर्थभागे २४६५ पृष्ठे उक्ता ।) (अस्मिन् विषये बौद्धमतप्रतिपादनम् ' बुद्ध ' शब्दे पञ्चमभागे गतम्) तीर्थकृता सदेवमनुजासुराया पर्षदि, पिं० । भ० । समवसरण नाम पुष्पफलसवागरत्त्यादिभिर्भगवतो विभूती । आ० चू० १ अ० । तद्विधिश्चैवम्—

(३) साम्प्रतं समवसरणवक्तव्यता प्रपञ्चत प्रतिपिपादयिषुरिमा द्वारगाथामाह—

समोसरणे केवइया, रूव पुच्छ वागरण सोयपरिणामे ।
दाणं च देवमल्ले, मल्लाणयणे उवरि तित्थं ॥ ५४३ ॥

प्रथम समवसरणविषयो विधिर्वक्तव्य , य दथा यत्प्राकाराटि यद्विध यथा कुर्वन्ति तथा वक्तव्यमिति भाव , ' केवइय ' त्ति-कियन्त सामायिकानि भगवति कथयति मनु-

ष्यादयः प्रतिपद्यन्ते , कियतो वा भूभागादपूर्वे समवसरणे दृष्टपूर्वे वा साधुना आगन्तव्यम् , 'रूव' त्ति-भगवतो रूप व्यावर्णनीयं 'पुच्छ' त्ति-किमुत्कृष्टरूपतया भगवत. प्रयोजनमिति पृच्छा कार्या, उत्तर च वक्तव्य , कियन्तो वा हृद्गत संशय पृच्छन्तीति 'वागरण' त्ति—व्याकरणं भगवतो वक्तव्यम् ,यथा युगपदेव सख्यातीतानामपि पृच्छतां व्याकरोतीति 'पुच्छवागरण' त्ति-एक वा द्वार पृच्छाया व्याकरण तद्वक्तव्यम् ' सोयपरिणामो' त्ति-श्रोतृषु परिणाम श्रोतृपरिणाम ,स च वक्तव्यो, यथा सर्वश्रोतॄणा भागवती वाक् स्वभाषया परिणमते, 'दान च' त्ति-वृत्तिदान प्रीतिदान च कियत्प्रयच्छन्ति चक्रवर्त्यादयस्तीर्थकरप्रवृत्ति— कथकेभ्य इति वक्तव्यम् । 'देवमल्ल' त्ति-गन्धप्रक्षेपादेवाना सम्बन्धिमाल्य देवमाल्यं बल्यादिक करोति, कियत्परिमाण वेत्यादि । 'मल्लाणयणे' त्ति—माल्यानयने यो विधि असौ वक्तव्य , 'उवरि तित्थं' ति-उपरि-पौरुष्या , किमुक्त भवति-पौरुष्यामनिक्रान्तायां तीर्थमिति प्रथमगणधरोऽन्यो वा तदभावे देशना करोतीत्येष द्वारगाथासमासार्थ । विस्तरार्थ प्रतिद्वार वक्ष्याम. । तत्र ।

(४) नन्विद समवसरण यत्र भगवान् धर्ममाचष्टे तत्र नियमतो भवत्युत नेत्याशङ्कापनोदमुखेन प्रथम द्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

जत्थ अपुव्वोसरणं, जत्थ व देवो महिड्ढिओ एइ ।
वाउदयपुप्फवद्दल-पागारतियं च अभिओगा ॥५४४॥

यत्र क्षेत्रे ग्रामे नगरे वा अपूर्वमभूतपूर्व समवसरण भवति, तथा यत्र वा भूतपूर्वसमवसरणे क्षेत्रे देवो महर्द्धिको एति-आगच्छति, तत्र किमित्याह-वातं रेणवाद्यपनोदाय उदकवाईल भाविरेणुसन्तापोपशान्तये, पुप्पवाईल पुष्पवृष्टिनिमित्त तत्क्षितिविभूषणाय , वार्दलशब्द उदकपुष्पयो प्रत्येकमभिसंबध्यते । तथा प्राकारत्रिक च सर्वमेतत् अभियोगमर्हन्तीत्याभियोग्या देवा , कुर्वन्तीति वाक्यशेष । अन्यत्र त्वनियम । एव तावत् सामान्येन समवसरणविधिरुक्त ।

सम्प्रति विशेषण प्रतिपादयति—

मणिकणगरयणचित्तं, भूमीभागं समंततो सुरभिं ।
आयोयणंतरेणं, करेति देवा विचित्त तु ॥ ५४५ ॥

इह यत्र समवसरण भवति तत्र योजनपरिमण्डलक्षेत्रमाभियोग्या देवा संवर्तकवात विकुर्वित्वा तेन विशुद्धरज. कुर्वति, तत सुरभिगन्धोदकवृष्ट्या निहतरजस्तत आयोजनान्तरेण योजनपरिमाणं भूमिभागं मणयश्चन्द्रकान्तादय कनक—देवकाञ्चन रत्नानि—इन्द्रनीलादीनि, अथवा—स्थलसमुद्भवा मणयो जलसमुद्भवानि—रत्नानि , तैश्चित्र समन्तत -सर्वासु दिक्षु सुरभि-सुगन्धिगन्धयुक्त मणीना सुरभिगन्धोदकस्य पुष्पाणा वाऽतिमनोहारिगन्धयुक्तत्वात् विचित्रम्-अपूर्व देवा -आभियोग्या कुर्वन्ति ।

विंटट्ठाइं सुरभिं, जलथलयं दिव्वकुसुमनीहारिं ।
पइरंति समंतेणं, दसद्धवण्णं कुसुमवासं ॥ ५४६ ॥

आभियोग्या देवाः प्रकिरन्ति समन्तत सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दशार्द्धवर्णं कुसुमवर्ष, किंविशिष्टमित्याह-वृन्तस्थायि वृन्तमधोभागे यत्राग्रमुपरि इत्येवं स्थानशील सुरभिगन्धोपेतत्वात् दिव्यकुसुमनिर्हारि-दिव्य -प्रधानः-कुसुमानां निर्हारी प्रबलो गन्धप्रसरो यस्मात्तद्दिव्यकुसुमनिर्हारि ।

मणिकणगरयणचित्ते, चउद्दिसिं तोरणे विउव्वंति ।
सच्छत्तसालभंजिय-मकरद्धयचिधसंठाणे ॥५४७॥

चतसृष्वपि दिक्षु मणिकरत्नविचित्राणि तोरणानि व्यन्तरदेवा विकुर्वन्ति । किं विशिष्टानीत्याह—छत्रं प्रतीत, शालभञ्जिका -स्तम्भपुत्तलिका ' मकर त्ति मकरमुखोपलक्षण ध्वजा प्रतीता चिह्नानि-स्वस्तिकादीनि संस्थानमत्यद्भुतो रचनाविशेषः सन्ति-शोभनानि छत्रशालभञ्जिकामकरध्वजचिह्नसंस्थानानि येषु तानि तथोच्यन्ते ।

तिन्नि य पागारवरे, रयणविचित्ते तहिं सुरगणिंदा ।
मणिकंचणकविसीसग-विभूसिए ते विउव्वेंति॥५४८॥

तत्र समवसरणे ते वक्ष्यमाणा सुरगणेन्द्रास्त्रीन् प्राकारवरान् रत्नविचित्रान् मणिकाञ्चनकपिशीर्षकविभूषितान् विकुर्वन्ति । भावार्थ उत्तरगाथया व्याख्यास्यते ।

सा चेयम्—

अब्भिंतर मज्झ बहिं, विमाणजोइभवणाहिवकयाओ ।
पागारा तिन्नि भवे, रयणे कणगे य रयए य ॥५४९ ॥

अभ्यन्तरे मध्ये बहिर्विमानज्योतिर्भवनाधिपकृता' प्राकारास्त्रयो भवन्ति, रत्न कनके रजते च । यथाक्रमं रत्नमय कनकमयो रजतमय इत्यर्थ । एष भावार्थ. । अभ्यन्तरप्राकारो रात्नस्तं विमानाधिपतय. कुर्वन्ति, मध्यम कनकमय कानकस्त ज्योतिर्वासिन. कुर्वन्ति, बाह्यो रातजस्त भवनपतय. कुर्वन्ति ।

मणिरयणहेममया वि य, कविसीसा सव्वरयणिया दारा ।
सव्वरयणमय चिय, पडागधयतोरणविचित्ता ॥५५०॥

यथाक्रमं मणिरत्नहेममयानि कपिशीर्षकाणि , तद्यथा-प्रथमप्राकारे पञ्चवर्णमणिमयानि कपिशीर्षकाणि तानि वैमानिका. कुर्वन्ति , द्वितीये रत्नमयानि तानि ज्योतिष्का विदधते, तृतीये हेममयानि तानि भवनपतय कुर्वन्ति, तथा सर्वरत्नमयानि द्वाराणि तानि भवनपतय. कुर्वन्ति, तथा सर्वरत्नमयान्येव मूलदलापेक्षया पताकाध्वजप्रधानानि तोरणानि विचित्राणि कनकस्वस्तिकादिभिश्चित्ररूपाणि तानि व्यन्तरदेवा कुर्वन्ति ।

तत्तो य समंतेणं, कालागुरुकुंदुरुक्कमीसेणं ।
गंधेण मणहरेणं, धूवघडीओ विउव्वन्ति ॥ ५५१ ॥

तत समन्तत -सर्वासु दिक्षु कृष्णागरुकुन्दुरुक्कमिश्रेण गन्धेन मनोहारिणा युक्ता. किं धूपघटिका विकुर्वन्ति, व्यन्तरदेवा. ।

उक्किट्ठिसीहनायं, कलयलसद्देण सव्वओ सव्वं ।
तित्थयरपायमूले, करेंति देवा निवयमाणा ॥ ५५२ ॥

तीर्थकरपादमूले निपतन्तो देवा उत्कृष्टिसिंहनाद कुर्वन्ति , उत्कृष्टिर्हर्षविशेषप्रेरितो ध्वनिविशेषस्तत्प्रधान. सिंहनाद उत्कृष्टिसिंहनादस्त तथा कलकलशब्देन समन्तत — सर्वासु दिक्षु युक्त सर्वमशेष कुर्वन्ति ।

चेइदुमपीढछन्दग, आसणछत्तं च चामराओ य ।
जं चऽण्णं करणिज्जं, करेति तं वाणमंतरिया ॥ ५५३ ॥

अभ्यन्तरप्राकारस्य रत्नमयस्य बहुमध्यदेशभागे अशोकवरपादपो भवति, स च भगवतः प्रमाणात् द्वादशगुणस्तस्याधस्तात्सर्वरत्नमयं पीठ तस्य पीठस्योपरि चैत्यवृक्षस्याधो देवच्छन्दकं तस्य अभ्यन्तरे सिंहासनं सपादपीठं स्फटिकमय तस्योपरि छत्रातिच्छत्रम् । चशब्द. समुच्चये,चामरे च उभयो पार्श्वयो यक्षहस्तगते, चशब्दात्—धर्मचक्रं पद्मप्रतिष्ठितं यच्चान्यच्छातोदकादि करणीयं तद् व्यन्तरदेवा कुर्वन्ति , एप सर्वतीर्थकृतां सर्वसमवसरणन्यायोऽस्मिंस्तु-भगवत. समवसरणे अशोकपादपं छत्रातिच्छत्रमीशानो विकुर्विनवान् , चामरे चामरधारौ बलिचमराविति सम्प्रदायः ,

(५) आह यत् (त्र) यत् समवसरणं भवति तत्र सर्वत्रापि पूर्वोक्त एव नियोग उत नेत्यत आह—

साहारण ओसरणे, एवं जत्थिड्डिमं तु ओसरइ ।
एको च्चिय तं सव्वं, करेइ भयणा उ इयरेसिं ॥ ५५४ ॥

साधारणे सामान्यं यत्र सर्वे देवेन्द्रा आगच्छन्ति तस्मिन् साधारणसमवसरणे एवम्-उक्तप्रकारेण नियोग (नियम) यत्र पुन ऋद्धिमान् इन्द्रसामानिकादि. समवतरति तत्र एक एव तत् प्राकारादि सर्व करोति 'भयणाउ इयरेसिं' ति—यदि इन्द्रा इन्द्रसामानिका वा केचिन्महर्द्धिका नायान्ति ततो भवनवास्यादय इतरे समवसरण कुर्वन्ति, वा नवेत्येवं भजना इतरेषाम् ।

सूरुदयपच्छिमाए, ओगाहंतीएँ पुव्वओ एइ ।
दोहि पउमेहि पाया, मग्गेण य होन्ति सत्तन्ने ॥५५५॥

एवं देवैर्निष्पादिते समवसरणे सूर्योदये प्रथमाया पौरुष्याम् अन्यदा पश्चिमायाम् 'ओगाहति'त्ति-अवगाहमानायामागच्छन्त्यामिति भाव , पूर्वत -पूर्वद्वारेण एति-आगच्छति, प्रविशतीत्यर्थ' , कथमित्याह—द्वयो पद्मयो' सहस्रपत्रयोर्देवपरिकल्पितयो पादौ स्थापयन्निति वाक्यशेष , 'मग्गेण य होन्ति सत्तन्ने' त्ति—मार्गत पृष्ठतो भगवत सप्तान्यानि पद्मानि भवन्ति, तेपा च यत् पश्चिम तत् पादन्यास कुर्वतो भगवत पुरतस्तिष्ठनीति ।

आयाहिणपुव्वमुहो, तिदिसिं पडिरूवगा उ देवकया ।
जेट्ठगणी अन्नो वा, दाहिणपुव्वे अदूरम्मि ॥ ५५६ ॥

स एवं भगवान् पूर्वद्वारेण प्रविश्य ' आयाहिण त्ति—चैत्यद्रुमप्रदक्षिणा कृत्वा पूर्वाभिमुख उपविशति, शेपास्तु तिसृपु दिक्षु प्रतिरूपकाणि तीर्थकराकृतीनि सिंहासनादियुक्तानि देवकृतानि भवन्ति । शेपदेवादीनामप्यस्माकं कथयतीति प्रतिपत्त्यर्थं भगवतश्च पादमूलमेकेन गणधरेणाविरहितमेव । स च ज्येष्ठोऽन्यो वा ? प्रायो ज्येष्ठ इति भाव ,स च ज्येष्ठगणी अन्यो वा दक्षिणपूर्वे दिग्भागे अदूरे प्रत्यासन्ने भगवतो भगवन्तं प्रणम्य निपीदति इति क्रियाध्याहार , शेपा गणधरा अप्येवमेव भगवन्तमभिवन्द्य तीर्थकरस्य मार्गत. पार्श्वतश्च निपीदन्ति ।

(६) भुवनगुरुरूपस्य त्रैलोक्यगतरूपेभ्यः सुन्दरतरत्वात् त्रिदशकृतप्रतिरूपकाणां किं साम्यमसाम्य वेत्याशङ्कानिरासार्थमाह—

जे ते देवेहि कया, तिदिसिं पडिरूवगा जिणवरस्स ।
तेसिं पि तप्पभावा, तयाणुरूवं हवइ रूवं ॥ ५५७ ॥

यानि तानि देवैः कृतानि जिनवरस्य तिसृपु दिक्षु प्रतिरूपकाणि तेपामपि तत्प्रभावात्तीर्थकरप्रभावात्तदनुरूप तीर्थङ्कररूपानुरूप भवति रूपमिति ।

तित्थातिसेससंजय-देवीवेमाणियाण समणीओ ।
भवणवइवाणमंतर-जोइसियाणं च देवीओ ॥ ५५८ ॥

तीर्थ गणधरः पूर्वद्वारेण प्रविश्य तीर्थकर त्रिकृत्वो वन्दित्वा दक्षिणपूर्वे दिग्भागे निपीदति, एव शेपगणधरा अपि, नवरं त तीर्थस्य मार्गतः पार्श्वेपु च निपीदन्ति । तदनन्तर अतिशेषसयता अतिशायिनः—केवल्यादयः सयता एव निपीदन्ति । किमुक्त भवति—ये केवलिनस्ते पूर्वद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं त्रिकृत्व प्रदक्षिणीकृत्य नमस्तीर्थायेति भणित्वा तीर्थस्य प्रथमगणधरस्य शेपगणधराणा च पृष्ठतो निपीदन्ति, येप्यवशेषा अतिशायिनो मन पर्ययज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वधरास्त्रयोदशपूर्वधरा यावद्दशपूर्वधरा नवपूर्वधरा. खलौपधय आमर्पौपधयो जल्लौपध्यादयश्च तेऽपि पूर्वद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय प्रथमगणधररूपाय नम केवलिभ्य इत्युक्त्वा केवलिनः पृष्ठतो यथाक्रम निपीदन्ति, येचाऽवशेपा अनतिशायिन. संयतास्तेऽपि पूर्वद्वारेणैव प्रविश्य त्रिकृत्वो भगवन्त प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्य इत्युक्त्वा अतिशायिना पृष्ठतो निपीदन्ति । वैमानिकाना देव्य. पूर्वद्वारेण प्रविश्य भगवन्त त्रिकृत्व. प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नम. केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्यो नमः साधुभ्य इति भणित्वा निरतिशायिनां पृष्ठतस्तिष्ठन्ति, न तु निपीदन्ति । श्रमण्य' पूर्वद्वारेण प्रविश्य तीर्थकरं त्रिकृत्व प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नम केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्यो नम शेपसाधुभ्य इति इत्युक्त्वा वैमानिकदेवीना पृष्ठतस्तिष्ठन्ति न तु निपीदन्ति । भवनवासिन्यो व्यन्तर्यो ज्योतिष्कयश्च दक्षिणद्वारेण प्रविश्य त्रिकृत्व. तीर्थकर प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा दक्षिणपश्चिमाया दिशि नैर्ऋतकोणे इत्यर्थ , तिष्ठन्ति न तु निपीदन्ति, भवनवासिनीनां पृष्ठतो ज्योतिष्कदेव्यस्तासा पृष्ठतो व्यन्तर्य ।

एतदेव सविशेषं प्रतिपिपादयिपुरिदमाह—

केवलिणो तिउण जिणं,तित्थपणामं च मग्गओ तस्स ।
मणमाई वि नमंता, वयंति सट्ठाणसट्ठाणं ॥ ५५९ ॥

केवलिनस्त्रिगुणं त्रि' प्रदक्षिणीकृत्य जिन-तीर्थकर तीर्थप्रणाम च कृत्वा तस्य गणधरस्य मार्गत पृष्ठतो निपीदन्ति क्रियाध्याहार , ' मणमाई वी ' त्यादि, मन आदयोऽपि मन -पर्यायज्ञान्यवधिज्ञानिचतुर्दशपूर्वधरा यावन्नवपूर्वधरा खेलौपध्यादिनिरतिशयसंयतवैमानिकदेवीश्रमण्यस्तथा ज्योतिष्कभवनपतिव्यन्तरदेव्य पूर्वक्रमेण तीर्थकरादीन् नमन्त्यो व्रजन्ति स्वस्थान-स्वं स्व स्थानमित्यर्थ , भावार्थ. प्रागेवोक्त' ।

भवणवई जोइसिया, बोधव्वा वाणमंतरसुरा य ।
वेमाणिया य मणुया, पयाहिणं जं च निस्साए ॥५६०॥

भवनपतयो ज्योतिष्का व्यन्तरसुरा एते पश्चिमद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं त्रि:प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्यो नमः शेषसाधुभ्यः इति भणित्वा यथोपन्यासमुत्तरपश्चिमे दिग्भागे निषीदन्ति, तद्यथा-भवनपतीनां पृष्ठतो ज्योतिष्कास्तेषामपि पृष्ठतो व्यन्तरा इति, तथा वैमानिका मनुष्याश्चशब्दात् स्त्रियश्च । अस्य चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, किं 'पयाहिणं' ति-उत्तरद्वारेण प्रविश्य प्रदक्षिणां कृत्वा तीर्थकरादीनभिवन्द्य उत्तरपूर्वे दिग्भागे यथोपन्यासं निषीदन्ति, तद्यथा-वैमानिकानां पृष्ठतो मनुष्यास्तेषामपि पृष्ठतो मनुष्यस्त्रियः । इहैवं सम्प्रदायः-देव्यः सर्वा एव न निषीदन्ति देवा मनुष्या मनुष्यस्त्रियश्च निषीदन्ति इति, तथा विवृतं, 'जं च निस्साए' यः परिवारो यां च निश्रां कृत्वा समायातः स तत्पार्श्वे एव तिष्ठति नान्यत्र। आ० म० १ अ० ।

अत्रान्तरे भाष्यादर्शेषु केषुचिदेता गाथा दृश्यन्ते-

अणगारा वेमाणिय, वरं गणो सो गणी य पुव्वेणं ।
पविसंति विविहमणिरय-णकिरणनिकरेण दारेणं ॥१॥
जोइसियभवणवणयर-दयितालायचरूवकलियाओ ।
पविसंति दक्खिणेणं, पडायकयपंति कलिएणं ॥ २ ॥
जोइसियभवणवणयर-संसभमा ललियकुंडलाहरणा ।
पविसंति पच्छिमेणं, वितुंगदिप्पंतसिहरेणं ॥ ३ ॥
समहिंदा कप्पोवग-देवा राया नरा य नारीओ ।
पविसंति उत्तरेणं, परमणियओहओहेणं ॥ ४ ॥

एताश्च द्वयोरपि चूर्ण्योरगृहीतत्वात्प्रक्षेप (प्रक्षिप्त) गाथा सम्भाव्यन्ते । उक्तार्थाः । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

साम्प्रतमभिहितमेवार्थं भाष्यकारः पूर्वद्वारादिप्रवेशविस्पष्टं स्पष्टतरं प्रतिपादयति-

संजय वेमाणित्थी, संजयपुव्वेण पविसिउं वीरं ।
काउं पयाहिणं पु-व्वदक्खिणे ठंति दिसिभागे ॥११६॥

संयता वैमानिकस्त्रियः संयताः पूर्वेण-पूर्वद्वारेण प्रविश्य वीरं प्रदक्षिणं कृत्वा पूर्वदक्षिणे दिग्भागे तिष्ठन्तीति ।

जोइसियभवणवंतर-देवीओ दक्खिणेण पविसंति ।
चिट्ठंति दक्खिणावर-दिसिम्मि तिगुणं जिणं काउं ॥११७॥

ज्योतिष्कभवनव्यन्तरदेव्यो दक्षिणेन द्वारेण प्रविश्य त्रिगुणं प्रदक्षिणं जिनं कृत्वा दक्षिणापरदिग्भागे पूर्वक्रमेण तिष्ठन्ति ।

अवरेण भवणवासी, वंतरजोइससुरा य अतिगंतुं ।
अवरुत्तरदिसिभागे, चिट्ठंति जिणं नमंसित्ता ॥ ११८ ॥

अपरेण-पश्चिमद्वारेण भवनवासिन्यो व्यन्तरज्योतिष्कसुराश्च अभिगत्य--प्रविश्य जिनं नमस्कृत्यापरोत्तरदिग्भागे वायव्यकोणे इत्यर्थः, पूर्वक्रमेण तिष्ठन्ति ।

समहिंदा कप्पसुरा, राया नरनारिओ उदिएणेणं ।
पविसित्ता पुव्वुत्तर-दिसाएँ चिट्ठंति पंजलिया ॥११९॥

समहेन्द्रा महर्द्धिभिरिन्द्रैः सहिताः कल्पोपपन्ना देवा राजानो नराः सामान्यपुरुषा नार्यश्च उदीच्येनोत्तरेण द्वारेण प्रविश्य भगवन्तं प्रणम्य प्राञ्जलयः पूर्वोत्तरदिग्भागे तिष्ठन्ति ।

अभिहितार्थोपसंग्रहमाह-

एक्केक्किए दिसाए, तिगं तिगं होइ सन्निविट्ठं तु ।
आइचरमे विमिस्सा, थीपुरिसा सेसपत्तेयं ॥ ५६१ ॥

एकैकस्यां पूर्वदक्षिणादिकायां दिशि त्रिकं २ भवति सन्निविष्टं ' तद्यथा-पूर्वदक्षिणस्यां संयतवैमानिकदेवीश्रमणीरूपं, दक्षिणापरस्यां भवनवासिज्योष्कव्यन्तरदेवीरूपम्, अपरोत्तरस्यां भवनपतिज्योतिष्कव्यन्तरदेवरूपम्, उत्तरपूर्वस्यां वैमानिकमनुष्यमनुष्यस्त्रीरूपमिति । आदिमे च त्रिके पूर्वदक्षिणदिग्गते चरमे च त्रिके पूर्वोत्तरदिग्गते विमिश्रा भवन्ति, स्त्रियः पुरुषाश्च तिष्ठन्तीति भावः । शेषे त्रिकद्वये प्रत्येकं भवति, अपरादक्षिणे दिग्भागे केवलाः स्त्रियः एव अपरोत्तरे च दिग्भागे पुरुषा एवेति भावार्थः ।

(७) तेषां चेत्थं स्थितानां देवनराणामियं मर्यादा-

एंतं महिड्डियं पणि-वयंति ठियमवि वयंति पणमंता ।
ण वि जंतणा न विकहा, न परोप्परमच्छरो न भयं ।५६२।

ये अल्पर्द्धयो भगवतः समवसरणे पूर्वनिषण्णास्ते आगच्छन्तं महर्द्धिकं प्रणिपतन्ति । अथ महर्द्धिकाः प्रथमं समवसरणे निषण्णास्ततः पश्चात् ये अल्पर्द्धिका समागच्छन्ति ते तान् पूर्वस्थितान् महर्द्धिकान् प्रणिपतन्तो व्रजन्ति । तथा तेषां स्थितानां नापि यन्त्रणा, आयत्तता नापि विकथा, न च परस्परं मत्सरो, नापि विरोधिनामपि सत्त्वानां परस्परं भयं भगवतोऽनुभावात् । एतत् सर्वं प्रथमप्राकारान्तरे व्यवस्थितम् ।

अथ द्वितीयप्राकारान्तरे तृतीयप्राकारान्तरे च किं व्यवतिष्ठते इत्याह-

बिइयम्मि होंति तिरिया, तइए पागारमंतरे जाण ।
पागारजढे तिरिया, वि होंति पत्तेयमीसा वा ॥ ५६३ ॥

द्वितीये प्राकारान्तरे भवन्ति तिर्यञ्चस्तथा तृतीये प्राकारान्तरे यानानि, प्राकाररहिते, बहिरित्यर्थः । तिर्यञ्चोऽपि भवन्ति, अपिशब्दात्-मनुष्यदेवा अपि । ते च प्रत्येकं कदाचिद्भवन्ति कदाचित्तिर्यञ्च एव, कदाचिन्मनुष्या एव कदाचिद्देवा एव, तथा कदाचिन्मिश्रा वा । एते च प्रत्येकं, मिश्रा वा प्रविशन्तो निर्गच्छन्तश्च वेदितव्याः । गतं समवसरणद्वारम् ।

(८) अधुना द्वितीयद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

सव्वं च देसविरतिं, सम्मं घेच्छइ व होइ कहणा उ ।
इहरा अमूढलक्खो, न कहेइ भविस्सइ न तं च । ५६४ ।

विरतिशब्द उभयत्रापि सम्बध्यते, सर्वस्मर्वविरतिं देशविरतिं सम्यक्त्वं वा ग्रहीष्यति । वाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, ततः कथना--कथनं भगवतः प्रवर्त्तते 'इहर' त्ति इतरथा अमूढलक्ष्या समस्तज्ञेयाविपरीतवेदना किं न कथयति? आह-यद्येवं समवसरणकरणप्रयासो विबुधानामनर्थकः, कुतेऽपि नियमतो कथनादित्यत आह--भविष्यति न तच्च यद्भगवति कथयति अन्यतमोऽप्यन्यतमत्सामायिकं न प्रतिपद्यत इति भविष्यत्कालनिर्देशस्त्रिकालोपलक्षकः ।

(९) अथ कियन्ति सामायिकानि मनुष्यादयः प्रतिपद्यन्ते ?, इत्येतदाह—

मणुए चउमन्नयरं, तिरिए तिन्नि व दुवे य पडिवज्जे ।
जइ नत्थि नियमसो च्चिय, सुरेसु सम्मत्तपडिवत्ती ५६५

मनुष्ये प्रतिपत्तरि चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत्-अन्यतरसामायिकप्रतिपत्तिर्भवति, पाठान्तर-'मणुओ चउमन्नयर' तत्र मनुष्यश्चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यते इति व्याख्यम्, तिर्यङ् त्रीणि वा सर्वविरतिवर्जानि द्वे वा सम्यक्त्वश्रुतसामायिके प्रतिपद्यते इति । यदि नास्ति मनुष्यतिरश्चा कश्चित्प्रतिपत्ता ततो नियमत एव सुरेषु सम्यक्त्वप्रतिपत्तिर्भवति ।

स च भगवानित्थ धर्म्ममाचष्टे—

तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं ।
सव्वेसिं सन्नीणं, जोयणणीहारिणा भयवं ॥ ५६६ ॥

नमस्तीर्थाय प्रवचनरूपायेत्यभिधाय प्रणाम च कृत्वा कथयति प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य साधारणेन शब्देन अर्द्धमागधभाषात्मकेन । केषा साधारणेनेत्याह-सर्वेषाममरनरतिरश्चां संज्ञिनाम् । किं विशिष्टेन योजननिर्हारिणा-योजनव्यापिना भगवान्, किमुक्तं भवति-भगवतो ध्वनिरशेषसमवसरणस्थसंज्ञिजिज्ञासितार्थप्रतिपत्तिनिबन्धन भवति भगवत सातिशयत्वादिति ।

(१०) ननु कृतकृत्यो भगवान् तत. किमिति तीर्थप्रणामं करोति ?,उच्यते—

तप्पुव्विया अरहया, पूइयपूया य विणयकम्मं च ।
कयकिच्चो वि जह कहं, कहए नमए तहा तित्थं ।५६७।

तत्पूर्विका—प्रवचनरूपतीर्थपूर्विका अर्हता—तीर्थकरता प्रवचनविषयाभ्यासवशतस्तीर्थकरत्वप्राप्ते. । यश्च यत उपजायेत स तं प्रणमतीति भगवान् तीर्थं प्रणमति । तथा पूजितेन पूजा पूजितपूजा, सा चास्य कृता भवति । पूजितपूजको हि लोक. भगवांश्च भुवनत्रयेऽपि पूज्यस्ततो यदि भगवता पूजितं भवति तत सकलेऽपि जगति तत्पूजित भवतीति प्रणमति, तथा विनयकर्म्म च वक्ष्यमाणवैनयिकधर्ममूल कृत भवति। किमुक्तं भवति ?-विनयमूलो धर्मो भगवता प्रज्ञापनीयस्तद्यदि प्रथम स्वयमेव भगवान् विनय प्रयुङ्क्ते ततो लोक. सम्यग् विनयं प्रज्ञाप्यमानं श्रद्धत्ते करोति । अथवा—यथा कृतकृत्योऽपि भगवान् कथां कथयति तथा तीर्थमपि नमति । आह-नन्विदमपि धर्मकथन भगवत. कृतकृत्यस्यायुक्तमेव,न, तस्य तीर्थकरनामकर्म्मविपाकप्रभावत्वात्। उक्त च प्राक्—' तं च कह वेइज्जइ ' इत्यादि ।

(११) क केन साधुना कियतो वा भूभागात्समवसरणे खल्वागन्तव्यम् ? अनागच्छतो वा किं प्रायश्चित्तमित्यत आह—

जत्थ अपुव्वोसरणं, न दिट्ठपुव्वं व जेण समणेणं ।
बारसहिं जोयणेहिं, सो एइ अणागए लहुगा ॥५६८॥

यत्र तत्तीर्थकरापेक्षया अपूर्वम्-अभूतपूर्वं समवसरण न दृष्टपूर्वं वा येन श्रमणेन स द्वादशभ्यो योजनेभ्य. आगच्छति । अथ नागच्छति अवज्ञया ततोऽनागते सति ' लहुय ' त्ति—चतुर्लघवः प्रायश्चित्तम् । गत ' केवइय ' त्ति-द्वारम् ।

(१२) अधुना रूपपृच्छाद्वारप्रकटनार्थमाह—

सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्वेज्जा ।
जिणपादंगुट्ठं पइ, न सोहए तं जहिंगालो ॥ ५६९ ॥

अथ कीदृग् भगवतो रूपम् ?, उच्यत-सर्वे सुरा अशेषसुन्दररूपनिर्माणशक्त्या यदि अङ्गुष्ठप्रमाणक रूप विकुर्वीरन् तथापि तज्जिनपादाङ्गुष्ठं प्रति न शोभते यथा अङ्गार. ।

साम्प्रतं प्रसङ्गतो गणधरादीनां रूपसपदमभिधित्सुराह—

गणहर आहार अणु-त्तरा य जाव वणचक्किवासुबला ।
मंडलिया जा हीणा, छट्ठाणगया भवे सेसा ॥ ५७० ॥

तीर्थकररूपाद्गणधराणां रूपमनन्तगुणहीनं भवति,तीर्थकरेभ्यो गणधरा रूपेणानन्तगुणहीना भवन्तीति भाव । गण—धरेभ्यो रूपेण खल्वाहारकदेहा अनन्तगुणहीना आहारकदेहेभ्यो रूपेणानन्तगुणहीना -'अणुत्तरा' अनुत्तरवैमानिकाः, एव ग्रैवेयकाऽच्युतारणप्राणतानतसहस्रारमहाशुक्रलान्तकब्रह्मलोकमाहेन्द्रसनत्कुमारेशानसौधर्मभवनवासिज्योतिष्कव्यन्तरचक्रवर्त्तिवासुदेवबलदेवमहामाण्डलिकानामनन्तरानन्तरापेक्षया रूपेणानन्तगुणहीना अवगन्तव्या । तथा चाह—' जाव वणचक्किवासुबला । मंडलिया जा- हीण ' त्ति—यावद् व्यन्तरचक्रवर्तिवासुदेवबलदेवमाण्डलिका तावदनन्तगुणा हीना' , ' छट्ठाणगया भव सेस ' त्ति—शेषा राजानो जनपदलोकाश्च षट्स्थानगता भवन्ति । अनन्तभागहीना वा असंख्येयभागहीना वा संख्येयभागहीना वा संख्येयगुणहीना वा असंख्येयगुणहीना वा अनन्तगुणहीना वा इति ।

उत्कृष्टरूपतायां भगवत प्रतिपादयितु प्रक्रान्तायामिदं प्रासङ्गिक रूपसौन्दर्यनिबन्धनं संहननादिप्रतिपादयन्नाह—

संघयणरूपसंठा-णवण्णगइ सत्तसारऊसासा ।
एमाइऽणुत्तराइं, भवंति नामोदया तस्स ॥ ५७१ ॥

संहननं-वज्रर्षभनाराच रूपमुक्तलक्षण संस्थानं-समचतुरस्रं वर्णो-देहच्छाया गति-गमन सत्त्वं-वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमादिजन्य आत्मपरिणाम., सारो द्विधा—बाह्य., आन्तरश्च । बाह्यो गुरुत्वम्, आन्तरो ज्ञानादि, उच्छ्वास प्रतीत, तत एतेषा पदाना द्वन्द्वमेवमादीनि वस्तूनि आदिशब्दाद् रुधिर गोक्षीराभमित्यादिपरिग्रह , अनुत्तराणि तस्य भगवतो नामोदयान्नामकर्मोदयाद् भवन्ति'।

आह-अन्यासा प्रकृतीना वेदना गोत्रादयो नाम्नो वा ये इन्द्रियादय. प्रशस्ता उदया भवन्ति ते किमनुत्तरा भगवत. छद्मस्थकाले केवलिकाले वा भवन्ति किं वा नेति ?, उच्यते—

पयडीणं अन्नासु वि, पसत्थउदया अणुत्तरा होंति ।
खयउवसमे वि य तहा,खयम्मि अविकप्पमाहंसु।५७२।

'अन्नासु वि' त्ति-षष्ठ्यर्थे सप्तमी,अन्यासामपि प्रकृतीनाम् अपिशब्दान्नाम्नोऽपि प्रशस्ता उदया वा उच्चैर्गोत्रादयो भवन्ति, किम् इतरजनस्येव ? नेत्याह अनुत्तरा-अनन्यसदृशा इत्यर्थ । ' खओवसमे वि य ' त्ति—क्षयोपशमे सति ये दानलाभादयः कार्यविशेषा अपिशब्दादुपशमेऽपि य केचन तेऽपि अनुत्तरा

भवन्तीति क्रियायोगस्तथा कर्मणः क्षये आत्यन्तिककर्मक्षये सति क्षायिकज्ञानादिगुणसमुदयमविकल्प—व्यावर्णनादिक रूपमतीतं सर्वोत्तममाख्यातवन्तस्तीर्थकरगणधरा. ।

(१३) आह-असातवेदनीयाद्याः प्रकृतयो नाम्नो वाऽप्रशस्ता' कथ तस्य तु सदा न भवन्ति ?, उच्यते—

अस्सायमाइयाओ, जा वि य असुभा हवंति पयडीओ ।
निंबरसलवो व्व पए,न होंति ता असुहया तस्स ॥५७३॥

असाताद्या या अपि च प्रकृतयोऽशुभा भवन्ति, अपि निम्बरसलव इव लवो विन्दु पयसि क्षीरे न भवन्ति ता असुखदास्तस्य भगवतस्तीर्थकृत । उक्तमानुषङ्गिकम् ।

प्रकृत द्वारमधिकृत्य प्रोच्यते । तत्र कश्चिदाह उत्कृष्टरूप तथा भगवत कि प्रयोजनमत आह—

धम्मोदएण रूवं, करेंति रूवस्सिणो वि जइ धम्मं ।
गिज्झवतो य सुरूवो, पसंसिमो तेण रूवं तु ॥५७४॥

धर्मस्योदयो धर्मोदयस्तेन रूपं भवतीति श्रोतारोऽपि धर्मे प्रवर्त्तन्ते, तथा कुर्वन्ति रूपस्विनोऽपि-रूपवन्तो यदि धर्म ततः स शेषै. सुतरां कर्त्तव्य इति श्रोतृबुद्धि. प्रवर्त्तते । तथा ग्राह्यवाक्यश्च सुरूपो भवति, चशब्दात् श्रोतृणां रूपाद्यभिमानापहारी अत एतै कारणैर्भगवतो रूप प्रशंसाम' ।

अथवा-पृच्छेति भगवान् देवनरतिरश्चां प्रभूनसंशयिनां कथ व्याकरणं कुर्वन् संशयव्यवच्छित्तिं करोति-
त्युच्यते—युगपत् । किमित्याह—

कालेण असंखेण वि, संखाईयाण संसईणं तु ।
मा संसयवोच्छित्ती, न होज्ज कमवागरणदोसा ॥५७५॥

यदि एकैकस्य परिपाट्या एकैक संशयं छिन्द्यात् तत संख्यातीतानां देवाना संशयिना संख्येयेनापि कालेन संशयव्यवच्छित्तिर्न स्यात्, कुत इत्याह-क्रमेण व्याकरणं क्रमव्याकरणं स एव दोष क्रमव्याकरणदोषस्तस्मात्ततो युगपद् व्याकरोति ।

(१४) युगपद्व्याकरणे गुणमुपदर्शयति—

सव्वत्थ अवि समत्तं, रिद्धिविसेसो अकालहरणं च ।
सव्वण्णुपच्चओ वि य,अचिंतगुणभूइओ जुगवं ॥५७६॥

सर्वत्र-सर्वसत्त्वेषु समत्वम्-अविषमत्व युगपत्कथनेन भगवतो रागद्वेषरहितस्य प्रथितं भवति, अन्यथा तुल्यकालसंशयिना युगपज्जिज्ञासुतयोपस्थिताना कालभेदकथने रागेतरगोचरचित्तवृत्तिप्रसङ्ग, सामान्यकेवलिना तत्प्रसङ्ग इति चेन्न तेषामित्थं देशनाकरणायोगात् । तथा ऋद्धिविशेष एव तावत् प्रथितो भवति यत् युगपत्सर्वेषामेव संशयिनामशेषसंशयव्यवच्छित्ति करोति । तथा अकालहरणं भवति भगवता युगपत् संशयोपनोदात् । क्रमेण कथने तु कस्यचित् संशयिनोऽनिवृत्तसंशयस्यैव मरणं स्यात्, न च भगवन्तमप्यवाप्य संशयनिवृत्त्यादिफलरहिता प्राणिनो भवन्तीति युक्तम् । सर्वज्ञप्रत्ययोऽपि तेषामेवमुपजायते यथा स सर्वज्ञोऽय इदृताऽशेषसंशयापनोदात् । न खल्वसर्वज्ञ एककालमशेषसंशयापनोदायालमिति । क्रमव्याकरणे तु कस्यचिद नपगतसंशयस्य सर्वज्ञप्रतीत्यभाव स्यात् । तथा अचिन्त्यगुणभूतिरचिन्त्या गुणसम्पद्भगवतः स्वभाविकी, ततो यस्मादेते गुणा अतो युगपत्कथयति, गत पृच्छा द्वारम् ।

(१५) अधुना श्रोतृपरिणामः पर्यालोच्यते, तत्र यथा सर्वसंशयिनां सा पारमेश्वरी वागशेषसंशयोन्मूलनेन
स्वभाषया परिणमते तथा प्रतिपादयति—

वासोदयस्स व जहा, वन्नाई होंति भायणविसेसा ।
सव्वेसिं वि सभासा, जिणभासापरिणमे एवं ॥५७७॥

वर्षोदकस्य—वृष्ट्युदकस्य वाशब्दादन्यस्य वा यथैकरूपस्य सतो भाजनविशेषात् वर्णादयो भवन्ति, कृष्णसुरभिमृत्तिकायां स्वच्छं सुगन्धि रसवच्च भवति ऊषरे तु विपरीतम् । एवं सर्वेषामपि श्रोतृणा स्वभाषया जिनभाषापरिणमने ।

तीर्थकरवाच. सौभाग्यगुणप्रतिपादनार्थमाह—

साहारणासवत्ते, तदुवओगो उ गाहगगिराए ।
न य निव्विज्जइ सोया,किढिवाणियदासिओहरणा॥५७८॥

साधारणा भगवतो वाणी अनेकप्राणिषु स्वभाषात्वेन परिणमनात्, नरकादिभयरक्षणपरत्वात् असपत्ना—असदृशी-अद्वितीया, साधारणा चासौ असपत्ना साधारणाऽसपत्ना तस्यामुपयोगस्तदुपयोग एव भवति श्रोतुः तु-शब्दस्यावधारणार्थत्वात् कस्याम् ?, ग्राहयतीति ग्राहका सा चासौ गीश्च ग्राहकगीस्तस्यां ग्राहकगिरि, उपयोगे सत्यपि अन्यत्र निर्वेदो दृश्यते, तत आह-न च निर्विद्यते श्रोता,कथमयमर्थ. खल्ववगन्तव्य इत्याह-किढिवणिग्दास्यु(को)दाहरणात्, तच्चेदम्-'एगस्स वाणियस्स एगा किढी दासी, किढी नामथेरी, सा गोसे कट्ठाणं गया, तण्हाछुहाकिलंता मज्झण्हे आगया । अतिथोवाणि कट्ठाणि आणियाणि त्ति पिट्टिता, भुक्खियतिसिया पुणो पट्ठविया । सा य वड्ड कट्ठभार गहाय आगाहतीए पोरिसीए आगच्छति, कालो य जेट्ठमासो, अह ताए थेरीए कट्ठभाराओ एगं कट्ठ पडियं, ताहे ताए ओणमित्ता त गहिय । तं समय च जोयणनीहारिणा सरेण भयवं तित्थयरो धम्मं कहेइ । सा थेरी त सद्दं सुणंती तहेव ओणतासोउमाढत्ता, उण्हं खुह पिवासं परिस्सम च न विंदइ । सूरत्थमणो तित्थयरो धम्म कहेउमुट्ठितो, थेरी गया । एव-

सव्वाउयं पि सोया, खिवेज्ज जइ हु सययं जिणो कहए ।
सीउण्हखुप्पिवासा, परिस्समभए वि अविगणंतो॥५७९॥

भगवति कथयति भगवत्समीपवर्त्त्येव सन् सर्वायुष्कमपि श्रोता क्षपयेत् यदि हु सततमनवरतं जिन कथयेत्, किं विशिष्ट' सन् इत्याह—शीतोष्णक्षुत्पिपासापरिश्रमभयान्यविगणयन् । गतं श्रोतृपरिणामद्वारम् ।

(१६)सम्प्रति दानद्वार भाव्यते, तत्र भगवान् येषु ग्रामनगरा
दिषु विहरति तेभ्यो वार्ता ये खल्वानयन्ति
तेभ्यो यत्प्रयच्छन्ति वृत्तिदान प्रीतिदानं
चक्रवर्त्यादयस्तदुपदर्शयन्नाह—

वित्ती उ सुवण्णस्स, वारस अद्धं च सयसहस्साइं ।
तावइयं चिय कोडी, पीईदाणं तु चक्कीणं ॥ ५८० ॥

वृत्तिस्तु वृत्तिरेव नियुक्तपुरुषेभ्य. सुवर्णस्य द्वादशशतसहस्राणि अर्द्ध च अर्द्धत्रयोदशसुवर्णलक्षा इत्यर्थ., चक्रवर्त्तिना दीयते तथा एतावत्य एव कोटय. प्रीतिदान चक्रवर्त्तिन ।

तत्र वृत्तिर्या कालमानेन परिभाषिता नियुक्तपुरुषेभ्यो दीयते, प्रीतिदानं यद्भगवदागमन निवेदिते परमहर्षान्नियुक्तेनरेभ्यो दीयते, तथा वृत्ति -सवत्सरनियता प्रीतिदानमनियतमिति।

एयं चेव पमाणं, नवरं रययं तु केसवा देंति ।
मंडलियाण सहस्सा, वित्ती पीइ(दाणं)सयसहस्सा ॥५८१॥

एतदेव प्रमाणं वृत्तिप्रीतिदानयो केशवाना नवरं रजतं रूप्य केशवा-वासुदेवा ददति, तथा-माण्डलिकाना राज्ञामर्द्धत्रया-दशसख्यानि सहस्राणि रूप्यस्य वृत्तिदानं प्रीतिदानं शत-सहस्राणि लक्षाणि अर्द्धत्रयोदशसख्यानि ।

किमेते एव महापुरुषा प्रयच्छन्ति नेत्याह—

भत्तिविहवाणुरूवं, अन्ने वि य देंति इब्भमाईया ।
सोऊण जिणागमणं, नियुत्तमणिओइएसुं वा ॥ ५८२ ॥

इभ्यो महाधनपतिरादिशब्दान्नगरग्रामभोगिकादिपरिग्रह, अन्येऽपि च इभ्यादयो भक्तिविभवानुरूप श्रुत्वा जिनागमन ददति, केभ्य ?, इत्याह-नियुक्तेभ्योऽनियोजितेभ्यो वा ।

अथ तेषामित्थ प्रयच्छता के गुणा ?, उच्यते—

देवाणुवित्तिभत्ती, पूयाथिरकरणसत्तअणुकंपा ।
सातोदयदाणगुणा, पभावणा चेव तित्थस्स ॥५८३॥

देवानुवृत्ति कृता भवति, देवा अप्यनुवर्त्तिता भवन्ति, कथम्?,यतो,देवा भगवत्पूजा कुर्वन्ति,प्रवृत्तिकथकेभ्यश्च दानं ददति, अतस्तेऽनुवर्तिता भवन्ति, तथा भक्तिर्भगवत कृता भवति, पूजा च । तथा अभिनवश्राद्धकाणा स्थिरकरण, तथा वार्त्तानिवेदकस्य सत्त्वस्यानुकम्पा कृता भवति, तथा सातोदय सातावेदनीय कर्म ए-वमुपचीयते एते वृत्तिप्रीतिदानगुणा भवन्ति, तथा प्रभा-वना तीर्थस्यैव कृता भवतीति, गत दानद्वारम् ।

(१७)अधुना माल्यद्वारमधिकृत्य प्रोच्यते,तत्र भगवान् प्रथमा सपूर्णपौरुषीं धर्ममाचष्टे, अत्रान्तरे देवमाल्यं प्रविशति; बलिरित्यर्थः । अथ कस्त बलि करोतीत्यत आह—

राया व रायमच्चो, तस्साऽसइ पउरजणवओ वा वि ।
दुब्बलिखंडियबलिछडिय-तंदुलाणाढयं कलमा ॥५८४॥

राजा—चक्रवर्त्तिमाण्डलिकादि राजामात्यो वा अमात्यो-मन्त्री तस्य राज्ञोऽमात्यस्य वा असति—अभावे नगरनिवासिविशिष्टलोकसमुदाय पौरं तत् करोति । ग्रामादिषु जनपदो वा । अत्र जनपदशब्देन तन्निवासी लोक परिगृह्यते, स बलि किंविशिष्ट किंपरिमाणो वा क्रियते ? इत्याह-'दुर्बलि' इत्यादि, दुर्बलिकया ख(क)ण्डिताना बलीति बलिकया छटिताना तन्दुलाना, 'कलमा' इति—प्राकृतशै-ल्या कलमानाम् आढक चतु प्रस्थप्रमाणं करोति ।

किंविशिष्टानामित्याह—

भाइय पुणाऽऽणियाणं, अखंडफुडियाण फलगसरियाणं।
कीरइ बली सुरा वि य, तत्थेव छुहंति गंधाई ॥ ५८५ ॥

भाजिता—ईश्वरादिगृहेषु वीननार्थमर्पिता स्तेभ्य प्रत्या-नीता पुनरानीता भाजिताश्च ते पुनरानीताश्च, तेषा किं-विशिष्टानाम्? इत्याह-अखण्डा –सम्पूर्णावयवा अस्फुटिता-राजीरहिता अखण्डाश्च ते अस्फुटिताश्चेति विशेषणस-मासस्तेषाम्, 'फलकसरिताण' ति-फकवीनितानाम् एव-भूतानामाढकः क्रियते । बलि' सिद्धः, सुरा अपि च तत्रैव बलौ प्रक्षिपन्ति गन्धादीन् । गतं देवमाल्यद्वारम् । आ० म० १ अ० ।

अधुना माल्यानयनद्वारम्,तमित्थं तन्दुलाढकपरिमाण सि-द्ध बलिमुपादाय राजादिस्त्रिदशगणपरिवृतो महता पटुपट-हादितूर्यनिनादेन सकलमपि दिग्मण्डलमापूरयन्नागत्य पूर्व-द्वारेण प्रवेशयति । आह च चूर्णिकृत्—"त आढगं तंदुलाण सिद्धं देवमल्ल राया वा रायमच्चो वा गामो वा जणवओ वा गहाय महया तूरियरवेणं देवपरिवुडो पुरच्छिमिल्लेण दारेण पविसइ" त्ति । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

तस्मिंश्च प्रवेश्यमाने भगवानपि धर्मदेशना-मुपसहरतीत्याह—

बलिपविसणसमकालं, पुव्वद्दारेण ठाइ परिकहणा ।
तिगुणं पुरओ पाडण, तस्सद्धं अवडियं देवा ॥५८६॥

पूर्वद्वारेण बलेरभ्यन्तरे-प्राकाराभ्यन्तरे प्रवेशन बलिप्रवेशन तत्समकाल तिष्ठति-उपरमते धर्मकथना-धर्मकथा । किमुक्त भवति-अभ्यन्तरे प्राकाराभ्यन्तरे यदा बलि प्रविशति तदा भगवान् धर्मकथामुपसहृत्य तूष्णीकोऽवतिष्ठते तत स राजादिर्बलिव्यग्रहस्तो देवपरिवृतो भगवन्तं तीर्थंकर त्रि कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य त बलिं तत्पादान्तिके पुरत पातयति तस्यार्द्धमपतित देवा गृह्णन्ति ।

अद्धऽद्धं अहिवइणो, अवसेसं होइ पागयजणस्स ।
सव्वामयप्पसमणी, कुप्पइ नन्नो य छम्मासे ॥ ५८७ ॥

शेषस्य अर्द्धस्यार्द्धमर्द्धार्द्ध तत् अधिपतेर्भवति राज्ञ इत्यर्थ, अवशेष यद्बलेरास्ते तद्भवति कस्य? प्रकृतिषु भव प्राकृत स चासौ जनस्तस्य,स चैवरूपसामर्थ्य',यदेकमपि सिक्थ तस्स बन्धि यस्य शिरसि प्रक्षिप्यते तस्य पूर्वोत्पन्नो व्याधि खलूपशम याति, अपूर्वश्च षण्मासान् यावद् न भवति । तथा चाह-सर्वामयप्रशमन, सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देश प्राकृतत्वात् कुप्यति नान्यश्च षण्मासान् यावदिरय बलौ प्रक्षिप्त भगवान् प्रथमप्रकारादुत्तरद्वारेण निर्गत्य द्वितीय प्राकारान्तरे पूर्व-स्यां दिशि देवच्छन्दके यथासुखं समाधिना व्यवतिष्ठते ।

(१८) सम्प्रति'उवरि तित्थ' ति द्वारमभिधीयत । भगवत्यु त्थिते द्वितीयस्या पौरुष्यामाद्यगणधरोऽन्यो वा गणधरो धर्ममाचष्टे स्यान्मति किं कारण द्वितीयस्यामपि पौरुष्या तीर्थंकर एव धर्मं न कथयति ?, तथा आह—

खेयविणोओ सीसगु—णदीवणा पच्चओ उभयओ वि ।
सिस्सायरियकमो वि य,गणहरकहणे गुणा होंति।।५८८

खेदविनोद परिश्रमविनाशो भगवतो, भवति, तथा शिष्य गुणदीपना-शिष्यगुणप्रख्यापना च कृता भवति, तथा प्रत्यय उभयतोऽपि श्रोतृणमुपजायते, यथा भगवताऽभ्यधायि तथा गणधरेणापि, यदिवा—गणधरे तदनन्तर तदुक्तानुवादिनि प्रत्यय श्रोतृणां भवति, यथा नान्यथावाद्ययमिति, तथा शिष्याचार्यक्रमोऽपि दर्शितो भवति,आचार्यादुपश्रुत्य योग्य-शिष्येण तदर्थान्वाख्यानं कर्त्तव्यमिति । एते गणधरकथने गुणा भवन्ति ।

आह स गणधरः क निषण्णः कथयति ? उच्यते–

राओवणीयसीहा–सणे णिविट्ठो व पायपीढे ।
जेट्ठो अन्नयरो वा, गणहारी कहेइ बीयाए ॥५८९॥

राज्ञा उपनीतं–राजोपनीतं तच्च तत् सिंहासनं च राजोपनीतसिंहासनं तत्र तदा उपविष्टस्तदभावे तीर्थंकरपादपीठे वा उपविष्टः स च ज्येष्ठः अन्यतरो वा गणम्–साध्वादिसमुदायलक्षणं धारयितुं शीलमस्येति गणधारी द्वितीयायां पौरुष्याम् कथयति ।

आह–स कथयन् कथं कथयतीति ?, उच्यते–

संखातीते वि भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छिज्जा ।
नयणं अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थो ॥५९०॥

संख्यातीतानपि असंख्येयानपीत्यर्थः, भवान् 'साहइ' इति देशीवचनमेतत् कथयति, किमुक्तं भवति ?,–असंख्येयेषु भवेषु यदभवत् भविष्यति, यद्वा–वस्तुजातं परः पृच्छेत् तत्सर्वं कथयति, अनेनाशेषाभिलाप्यपदार्थप्रतिपादनशक्तिरावेदिता. किं बहुना ?, नच–नैव णमिति वाक्यालंकारे, 'अनतिशेषी' अनतिशयी अवध्याद्यतिशयरहित इत्यर्थः, विजानाति यथा एष गणधरश्छद्मस्थ इति अशेषप्रश्नोत्तरप्रदानसमर्थत्वात्तस्य । एवं तावत्समवसरणवक्तव्यता सामान्येनोक्ता । आ० म० १ अ० । वृ० । आव० ।

(१६) समवसरणकल्पः ।

नमिऊण जिणं वीरं, कप्पं सिरिसमवसरणरयणाए ।
पुव्वायरियकयाहिं, गाहाहिं चेव जंपेमि ॥ १ ॥
वाऊ मेहा कमसो, जोअणभूमीहि सुरहिजलवुट्ठिं ।
मुणिरयणभूमिरयणं, कुणंति पुण कुसुमवुट्ठिवणा ॥२॥
पायारेंति अ कमसो, कुणंति वररुप्पकणयरयणमयं ।
कंचणवसुमणिकविसी–ससोहिआभवणजोइवणा ॥३॥
गाउयमेगं छस्सय–धणुहपरिछिन्नमंतरं तेसिं ।
अट्ठंगुलिकरयणी, तित्तीसं धणुहबाहल्लं ॥ ४ ॥
पंचसयधणुच्चत्तं, चउदारविराइयाण वप्पाणं ।
सव्वप्पमाणमेयं, नियनिअहत्थेण य जिणाणं ॥ ५ ॥
सोवाणदससहस्सा, भूमीओ गंतु पढमपायारो ।
पन्नासधणुहपयरो, पुणो वि सोवाणपणसहस्स ॥ ६ ॥
तत्थ वि बीओ वप्पो, पुव्वुत्तविही तयंतरे नेया ।
तत्तो तइओ एवं, वीससहस्सा य सोवाणो ॥ ७ ॥
दस पंच पंच सहस्सा, सव्वे हत्थु व्व हत्थवित्थिण्णा ।
बाहिरमज्झब्भिंतर, वप्पाण कमेण सोवाणं ॥ ८ ॥
तम्मज्झे मणिपीढं, भूमीओ सड्ढदुन्नि कोसुच्चं ।
दोधणुसयवित्थिन्नं, चउदारं धणुजिणधणुसमुद्दं ॥९॥
सिंहासणाइचउरो, मणिपडिछिन्नाइ तेसु चउरूवो ।
पुव्वमहे ठाइ सयं, छत्तत्तयभूमिओ भव्वं ॥ १० ॥
समहिअजोयणपिहुलो, तहा असोगो दुसोलसधणुच्चो ।
पडिबिंबत्तयपमुहं, किच्चं तु कुणंति वंतरिया ॥ ११ ॥
परिसाअग्गे आइसु, मुणिवरवेमाणिणीउ समणीओ ।
भवणवइजोइदेवी, देवा वेमाणियनरित्थी ॥ १२ ॥
जोअणसहस्सदंडो, धम्मझओ फुडइ केउसंकिण्णो ।
दो जक्खचामरधरा, जिणपुरओ धम्मचक्कं च ॥१३॥
ऊसिअधयमणितोरण–अट्ठमंगलपुन्नकलसदामाइं ।
पंचालिअछत्ताइं, पइदारं धूवघडियाओ ॥१४॥
हेमसिअरत्तसामल–वणासरवयणजोइभवणवइ ।
पइदारं वसुवप्पे, पव्वाइ सुणंति पडिवारा ॥१५॥
जयविजयादि अ अवरा, जिअगोरा रत्तकणयनीलाभा ।
देवी पुव्वकमेणं, सत्थकरा वंतिकक्खयमए ॥१६॥
जडमउडमंडिआ तह, तुंबरुखंडंगपुरिससिरिमाली ।
बहिवप्पदारदोसु वि, पासेसुं ठंति पइवप्पं ॥ १७ ॥
बहिवप्पे जाणाइं, बीए स तु विभिन्नभावगया ।
तिरिआगमणमयत्थं, देइ स पुण रयणवप्पबर्हि ॥१८॥
बहिवप्पयारमज्झे, दो दो वावी वि हुंति वट्टंति ।
चउरंससमोसरणे, इग इग वावीउ कोणेसुं ॥ १९ ॥
उक्किट्ठिसीहनायं, कलयलसद्देण सव्वओ सव्व ।
तित्थयरपायमूले, करेंति देवा निवयमाणा ॥२०॥
चेइदुमपीढछंदग, आसणछत्तं च चामराओ य ।
जं च ऽन्नं करणिज्जं, करेति ते वाणमंतरिया ॥२१॥
साहारणचउमरणे, एवं जच्छिड्ढिमंत ओसरइ ।
इक्कुच्चिअ तं सव्वं, करेइ भयणा उ इअरेसिं ॥२२॥
सूरुदय पच्छिमाए, उग्गाहंतीइ पुव्वओ एइ ।
दोहिं पउमेहि पाया, मग्गेण य हुंति सत्तन्ने ॥२३॥
आदाहिण पुव्वमुहो, तिदिसिं पडिरूवगाउ देवकाया ।
जिट्ठगणी अन्नो वा, दाहिणिपुव्वे अदूरम्मि ॥२४॥
जे ते देवेहि कया, तिदिसिं पडिरूवगा जिणवरस्स ।
तेसिं च तप्पभावा, तयाणुरूवं हवइ रूवं ॥२५॥
इड्ढि महड्ढिय पडिवयं–ति विअमवि जंति पणमंता ।
न वि जंतणा न विकहा, न परुप्परमच्छरो न भयं ॥२६॥
तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं ।
सव्वेसिं सन्नीणं, जोअणनीहारिणा भयवं ॥ २७ ॥
जत्थ अपुव्वोसरणं, अदिट्ठपुव्वं व जेण समणेणं ।
बारसहिं जोयणेहिं, सो एइ अणागमो लहुआ ॥२८॥
साहारणासवंते, तदुवओगो अ गाहगगिराए ।
न य निव्विज्जइ सोया, किढिवाणिअदासिआहरणा ॥२९॥
सव्वाउअंपि सोआ, भविज्ज जइ हु सययं जिणो कहइ ।
सीउण्हखुप्पिवासा, परीसहे अविगणंतो य ॥ ३० ॥
वित्तिउ सुवण्णस्स, बारस अद्धं च सयसहस्साइं ।
तावइयं चिय कोडि, पीइदाणं तु चक्किस्स ॥३१॥

एयं चेव पमाणं, नवरं रयणं तु केसवा देंति ।
मंडलिआण सहस्सा, पीइदाणं सयसहस्सा ॥ ३२ ॥
भत्तिविभवाणुरूवं, अन्नेऽवि य देंति इब्भमाईया ।
सोऊण जिणागमणं, निउत्तमणिओइएसुं वा ॥ ३३ ॥
राया य रायमच्चो, तस्सासइ पवरजणवओ वावि ।
दुब्बलिखंडिअबलिछडिअ-तंदुलाणाढगं कलमा ॥३४॥
भाइअमुणाणिआणं,अखंड फुडिआण फलगसरियाणं ।
कीरइ बलिं सुरा वि अ, तत्थेव छुभंति गंधाइं ॥ ३५ ॥
बलिपविसणसमकालं, पुव्वद्दारेण ठाइ परिकहणा ।
तिगुणं पुरओ पाडण, तस्सद्धं अवडिअं देवा ॥ ३६ ॥
अद्धद्धं अहिवइणो, अवसेसं होइ पागयजणस्स ।
सव्वामयप्पसमणी, कुप्पइ नऽन्नो अ छम्मासा ॥ ३७ ॥
राओवणीअसीहा-सणोवविट्ठो व पायपीढम्मि ।
जिट्ठो अन्नयरो वा, गणहारी करेइ वीआए ॥ ३८ ॥
इअ समवसरणरयणा, कप्पो सुत्ताणुसारओ लिहिओ ।
लेसुद्देसेण इमो, जिणपहसूरीहिं पढिअव्वो ॥ ३९ ॥

ती० ४४ कल्प । आ० चू० । वृ० । जिनप्रतिमाऽग्रे तत्प्रतिकृत्यनुकरणे, पञ्चा० ।

(२०) स च समवसरणादिरचनादिरूपः, अतः समवसरणरचनां तावद्दर्शयन्नाह—

वाउकुमाराईणं, आहवणं णियणिएहि मंतेहिं ।
मुत्तासुत्तीए किल, पच्छा तक्कम्मकरणं तु ॥ १२ ॥

वायुकुमारादीनामागमप्रसिद्धदेवविशेषाणामादिशब्दान्मेघकुमारादिपरिग्रहः, आह्वानं-संशब्दनं कार्यमिति शेषः । कैरित्याह-निजनिजैः स्वकीयस्वकीयैर्मन्त्रैः प्रणवनमःपूर्वकस्वाह्वान्ततन्नामरूपैर्यथासम्प्रदायमागतैः, मुक्ताशुक्त्या मुक्ताफलयोन्याकारया हस्तविन्यासमुद्रया, किलेत्याप्तसम्प्रदायसूचकमाह्वानस्य वा अतात्त्विकत्वसूचकं, तदतात्त्विकं चाह्वानेऽपि तेषां प्रायः आगमनासम्भवात् तत्संस्मरणस्यैवेह विधेयत्वादिति । पश्चादाह्वानानन्तरं तत्कर्मकरणे तु तेषां प्राग् वायुकुमारमेघकुमारादिदेवानां यत्कर्म भूप्रमार्जनोदकसेचनादिरूपो व्यापारस्तस्य विधानमेव। तुशब्द एवकारार्थः, पुनःशब्दार्थो वा । स चैव दृश्यः पश्चात्पुनः । इति गाथार्थः ।

एतदेव दर्शयितुमाह—

वाउकुमाराहवणे, पमज्जणं तत्थ सुपरिसुद्धं तु ।
गंधोदगदाणं पुण, मेहकुमाराहवणपुव्वं ॥ १३ ॥

वायुकुमाराह्वाने-मरुत्कुमारदेवसंशब्दने कृते सतीति गम्यः प्रमार्जनं-भूमिशुद्धिरूपं कर्त्तव्यं भवतीति गम्यम् । 'तत्र' ति समवसरणभूमौ, सुपरिशुद्धं तु सर्वकचवराद्यपहरणेनातिशुद्धमेव, एते किल मयाऽऽहूता वायुकुमारदेवा भगवत्समवसरणभुवं शोधयन्तीति कल्पनयेति हृदयम् । गन्धोदकदानं सुरभिजलवर्षणं पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणताप्रतिपादनार्थः मेघकुमाराह्वानपूर्वं मेघकारिदेवसंशब्दनपुरस्सरं स्वयमेव कार्यं, भगवत्समवसरणे हि वायुकुमारैर्भूमिशुद्धौ कृतायां रजःप्रशमनार्थं मेघकुमारा गन्धोदकवर्षं कुर्वन्तीति स्थितिः । कल्पना तु पूर्ववदेवेति गाथार्थः ।

तथा—

उउदेवीणाहवणे, गंधड्ढा होइ कुसुमवुट्ठि त्ति ।
अग्गिकुमाराहवणे, धूवं एगे इहं बेंति ॥१४॥

ऋतुदेवीनां वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराभिधानदेवतानामाह्वाने-संकीर्त्तने कृते सति गन्धाढ्या-सद्गन्धगुणसमृद्धा, भवति-वर्त्तते विधेयेति गम्यः, कुसुमवृष्टिः पञ्चवर्णपुष्पवर्षः । इतिशब्दः समाप्त्यर्थे । ततश्च कुसुमवर्षकरणेनैव ऋतुदेवीकर्म परिसमाप्तं भवतीति भणितं भवति । अग्निकुमाराह्वाने तैजसदेवसंकीर्त्तने कृते सति धूपं-कालागुरुप्रभृतिकम्। एके-केचन आचार्या इह-समवसरणव्यतिकरे, ब्रुवते-अग्निभाजनप्रक्षेप्यतया प्रतिपादयन्ति, अन्ये तु सामान्यतो देवाह्वानं यत आवश्यकटीकाकृतोक्तं धूपघटिका विकुर्वन्ति त्रिदशा एवेति गाथार्थः ।

तथा—

वेमाणियजोइसभव-णवासिया इवण पुव्वगं तत्तो ।
पागारतिगण्णासो, मणिकंचनरुप्पवण्णाणं ॥१५॥

वैमानिकाश्च-सौधर्मिकादयो ज्योतींषि च-चन्द्रादयो भवनवासिनश्चासुरादयस्तेषामाह्वान-सशब्दनं पूर्वं-प्रथमं यत्र प्राकारत्रयन्यासकरणे तत्तथा, क्रियाविशेषणमिदं, ततो धूपदानानन्तरं प्राकाराणां-शालानां त्रिकस्य-त्रयस्य न्यासो न्यसनं प्राकारत्रिकन्यासः,कर्त्तव्यो भवतीति शेषः । किंभूतानां प्राकाराणाम् ?,इत्याह-मणिकाञ्चनरूप्याणामिव-रत्नस्वर्णकलधौतानामिव वर्णश्छाया येषां ते तथा तेषाम् ,भगवतो हि समवसरणे वैमानिकादयो देवा अन्तर्मध्ये बहिश्च क्रमेण मणिमयादीन् त्रीन् प्राकारान् कुर्वन्तीति । इह च प्राकार इत्यस्य पदस्य समासान्तर्भूतस्याप्यन्नवर्णिपदप्रत्ततामाश्रित्य मणिकाञ्चनरूप्यवर्णानामित्यतत्पदविशेषणतया सबध्यते । अथवा-मणिकाञ्चनरूप्यवर्णानां द्रव्याणां सत्कः प्राकारत्रयन्यास इति गाथार्थः ।

तथा—

वंतरगाहवणाओ, तोरणमाईण होइ विण्णासो ।
चितितरुसीहासणछ-त्तचक्कधयमाइयाणं च ॥१६॥

व्यन्तरा एव व्यन्तरकास्तदाह्वानात्-सशब्दनात्, 'तोरणमाईण' त्ति-इह मकारः प्राकृतशैलीप्रभवस्तेन तोरणादीनां द्वारावयवविशेषप्रभृतीनाम् आदिशब्दात्-पीठदेवच्छन्दकपुष्करिण्यादिपरिग्रहो भवति जायते-विन्यासो-रचना,तथा चैत्यतरुसिंहासनच्छत्रचक्रध्वजादीनां च,तत्र चैत्यतरुरशोकवृक्षः ,अथवा-अचैत्यानि जिनप्रतिबिम्बानि तदरशोकवृक्षः सिंहासनं-सिंहाकृतियुक्तविष्टरं छत्राण्ययातपत्रत्रयं चक्रं धर्मचक्रं, ध्वजा -सिंहध्वजचक्रध्वजमहेन्द्रध्वजगोपुरादिध्वजाश्च,आदिशब्दात्-पद्मचामरपरिग्रहः,एतानि हि व्यन्तरा समवसरणे विदधति । यदाह-"चेइदुमपीढछंदग,आसण छत्तं च चामराओ य । जं चऽन्न करणिज्जं, करेंति तं वाणमंतरिया" ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ।

तथा—

भुवनगुरुणो य ठवणा, मयलजगपियामहस्स तो मज्झं ।
उकिट्ठवप्पगोवरि, समवसरणबिंबरूवस्स ॥ १७ ॥

भुवनगुरोश्च-त्रिभुवननायकस्य पुनः स्थापना-अर्हतः स्थापनान्यासः कर्त्तव्य इति शेषः। किंभूतस्य लोके पिता पूज्य. पितामहस्तु पूज्यतरः पितुरपि पूज्यत्वात्तत. सकलजगत -समस्तभुवनजनस्य पितामह इव पितामहः सकलजगत्पितामह'। अथवा-सकलजगतो धर्मः पिता पालनाभियुक्तत्वात्तस्यापि भगवान् पिता भगवत्प्रभवत्वाद्धर्मस्येति. पितुः पिता पितामह., सकलजगतः पितामहः इति विग्रह, अतस्तस्य 'तो' त्ति-ततश्चैत्यतरुसिंहासनादिन्यासानन्तर सम्यग्—अवैपरीत्येन, क्व स्थापना कार्या?, इत्याह-उत्कृष्टवर्णकस्य प्रधानचन्दनस्योपरि, उपरिष्टात्—उत्कृष्टवर्णकोपरि, किंभूतस्य भुवनगुरोः? समवसरणे जिनधर्मदेशनाभूमौ यानि देवतानिर्मितानि तस्यैव बिम्बानि-प्रतिकृतयस्तेषामिव रूपं स्वभावो यस्य स समवसरणबिम्बरूपोऽतस्तस्य चतुर्मुखस्य विशिष्टरूपस्यैवेति गाथार्थः।

तथा—

एयस्स पुव्वदक्खिण-भागेणं मग्गओ गणधरस्स।
मुणिवसभाणं वेमा-णिणीण तह साहुणीणं च ॥१८॥

एतस्य-भुवनगुरो पूर्वदक्षिणाया आग्नेयदिशो भाग. एकदेश पूर्वदक्षिणदिग्भागस्तेन करणभूतेन--हेतुभूतेन वा मार्गत -पृष्ठतो गणधरस्य-गणनायकस्य मुनिवृषभाणा सातिशयादियतिपुङ्गवानाम्, तथा विमानिकदेवास्तेषामेता वैमानिन्य अतस्तासा वैमानिनीनां देवीना, तथेति समुच्चयार्थस्तेन स्थापना कार्येति संबध्यते। साध्वीना—तपस्विनीना चशब्द. समुच्चयार्थे इति गाथार्थः।

तथा—

इय अवरदक्खिणेणं, देवीणं ठावणा मुणेयव्वा।
भवणवइवाणमंतर-जोइससंबंधिणीणं ति ॥ १९ ॥

इति-एवमेव यथा मुनिवृषभादित्रयस्यासकीर्णतया स्थापना कृता एव भवनपत्यादिदेवीत्रयस्यापि सा कार्येत्यर्थ, अपरदक्षिणेन अपरदक्षिणस्या दिशि सप्तम्यर्थे ह्ययमेनप्रत्यय', देवीना-सुरवधूनां स्थापना-न्यासः 'मुणेयव्व' त्ति-ज्ञातव्या कर्त्तव्यतयेति शेष, भवनपतयो-देवालयविशेषनाथा असुरादय., 'वाणमंतर' त्ति-वनानाम्-उद्यानानामन्तराणि कुहराणि विशेषा वा वनान्तराणि तेषु भवा मकारवर्णागमाद्वानमन्तरा व्यन्तरा, ज्योतिषि ज्योतिश्चक्रे भवा ज्योतिषा ज्योतींषि वा ज्योतिष्कदेवा', एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तेषां सम्बन्धिन्य. सत्कायास्तास्तथा तासाम्, इतिशब्दो द्वितीयपर्षद समाप्तिप्रदर्शनार्थ इति गाथार्थ.।

तथा—

भवणवइवाणमंतर-जोइसियाणं च एत्थ देवाणं।
अवरुत्तरेण णवरं, निद्दिट्ठा समयकेऊहिं ॥ २० ॥

भवनपतिवानमन्तरा उक्तनिर्वचना 'जोइसिय' त्ति-ज्योतिषि-ज्योतिश्चक्रे जाता ज्योतिषिजा ज्योतिषि वा भवा ज्योतिषास्त एव ज्योतिषिका. एषा द्वन्द्वोऽतस्तेषा भवनपतिवानमन्तरज्योतिषिकाणां वा, वाशब्द समुच्चये, तद्भावना चैवम्-भवनपत्यादिदेवीना स्थापना मन्तव्या, भवनपतिवानमन्तरज्योतिषिजानां च। अत्र समवसरणे देवाना—सुराणा किंविशिष्टेयमुभयेषामपीत्यत आह—अपरोत्तरेणापरोत्तरस्या दिशि। नवरं केवलं निर्दिष्टा अभिहिताः। समयकेतुभिः-प्रवचनचिह्नभूतैरिति गाथार्थः।

तथा—

वेमाणियदेवाणं, णराण णारीगणाण य पसत्था।
पुव्वुत्तरेण ठवणा, सव्वेसिं णियगवण्णेहिं ॥२१॥

विमानेषु भवा वैमानिकास्ते च ते देवाश्च सुरा इति समासोऽतस्तेषाम्, तथा नराणाम् नृणा, नारीगणाना मनुष्यस्त्रीसमूहानामिह च गणशब्दोपादानं पुरुषापेक्षया स्त्रीजनस्य बहुत्वख्यापनार्थ, चशब्द. समुच्चये, प्रशस्ता-मङ्गल्या पूर्वोत्तरेण-पूर्वोत्तरस्यां दिशि स्थापना—न्यास. कार्येति शेषः। स्थापनाया एव विशेषार्थमाह-सर्वेषा—समस्तानां मनुष्येषु वर्णविशेषाभावाद्भवनपत्यादिदेवाना निजवर्णैः स्वकीय २ शरीरच्छायाभि. तत्र भवनपतिव्यन्तरा. पञ्चवर्णाज्योतिष्का रक्तवर्णा., वैमानिका. पुना रक्तपीतसितवर्णाः, विशेषः पुन., काला—असुरकुमारा इत्यादेरागमादवसेयम्। इति गाथार्थ.।

तथा—

अहिणउलमयाहिव-पमुहाणं तह य तिरियसत्ताणं।
बितियंतरम्मि एसा, तइए पुण देवजाणाणं ॥२२॥

अहिनकुलमृगमृगाधिपप्रमुखाणा—भुजगबभ्रुहरिणसिंहप्रभृतिकानां, प्रमुखग्रहणादश्वमहिषादिपरिग्रह' 'तहय' त्ति-समुच्चये, अथवा--तथैव तेनैव प्रकारेण देवानामिव निजवर्णविशिष्टतालक्षणेन, परस्परविरोधलक्षणेन वा तिर्यक्सत्वाना तिर्यग्योनिजन्तूना द्वितीयान्तरे—द्वितीयप्रकारमध्ये एषा स्थापना कार्येति शेष, तृतीये-तृतीयप्राकारान्तरे पुन.-शब्दो विलक्षणताख्यापनार्थ., देवयानाना--देववाहनानां करिमकरकेसरिकलपिकलहंसाद्याकारधारिणामिति गाथार्थ.।

अथ समवसरणविधिं निगमयन् शेषदीक्षाविधिं दर्शयन्नाह-

रइयम्मि समोसरणे, एवं भत्तिविहवाणुसारेणं।
सुइभूओ उ पदोसे, अहिगयजीवो इहं एइ ॥२३॥

रचिते--स्थापिते समवसरणे-समयसिद्धे, एवम्-उक्तनीत्या भक्तिविभवानुसारेण—बहुमानऋद्ध्यानुरूप्येण शुचिभूतस्तु शौचप्राप्त एव द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यत. स्नात. श्रीचन्दनानुलिप्तगात्र सितवसननिवसन. शुचिविद्याक्लृप्तगात्रश्च, भगवतस्तु विशुद्धधमानमानस'। प्रदोषे-दिवसाऽवसाने उपलक्षणत्वादस्य प्रशस्ततिथिकरणवारनक्षत्रयोगचन्द्रबललग्नादौ अधिकृतजीव. प्रस्तुतसत्त्वो दीक्षणीय इत्यर्थ', इहाधिकृतसमवसरणदेशे एति—आगच्छतीति गाथार्थः।

ततश्च—

भुवनगुरुगुणक्खाणं, तम्मीसं जायतिव्वसद्धस्स।
विहिसासणमोहेणं, तत्रो पवेसो तहिं एवं ॥२४॥

भुवनगुरो -त्रिभुवनबान्धवस्य जिनस्य ये गुणा रागादिवैरिवारविदारकत्वसमस्तवस्तुस्तोमविषयविज्ञायकत्वनिखिलनाकिनिकायकाभिनम्यत्वसद्भूतपदार्थप्रकाशकारी वाग्वादित्वशिवसुखनायकत्वतद्दानसामर्थ्यादयस्तेषा यदाख्यानम्-अभिधानं तत्तथा तस्माद्भुवनगुरुगुणाख्यानाद्धेतोः। तस्मिन्

भुवनगुरौ संजाततीव्रश्रद्धस्य समुत्पन्नोत्कटगुरुरुचेर्देवतात्वेन प्रतिपत्तिं प्रतीति गम्यते अधिकृतजीवस्येति। प्रकृतं विधिसाधनमनुष्ठानप्रकाशनं, यदुत जिनदीक्षायां प्रतिपन्नायां न तत्र कल्पते अन्यतीर्थिकदेवानामन्यतीर्थिकानां च वन्दनादि, कल्पते च जिनानां जैनमुनीनां जैनागमस्य च वन्दनादि कर्तुमित्यादि। अथवा-तवाञ्जलौ पुष्पाणि दास्यन्ते अक्षिस्थगनं च वस्त्रेण करिष्यते, तानि च पुष्पाणि त्वया अक्षुभितेन समवसरणमध्यस्थापितजिनाभिमुखं निक्षेप्तव्यानि, आत्मा च सस्तुतधनादिर्गुरवे निवेदनीय इति, विधिः, ओघेन-सामान्येन विशेषतस्तु दीक्षादानावसरात्पूर्वमेव तद्विषयविधेराख्यातत्वात्। ततो विधिसाधनानन्तरं प्रवेशः-प्रवेशनं तस्मिन् समवसरणे, एव वक्ष्यमाणन्यायेनेति गाथार्थः।

ततश्च—

वरगंधपुप्फदाणं, सियवत्थेणं तह च्छिठयणं च।
आगइगइविरणाणं, इम्मस्स तह पुप्फपाएण ॥२५॥

वरगन्धपुष्पदानं सुगन्धिकुसुमानाम्, अथवा प्रधानानां वासाना पुष्पाणां च दानं वितरणं वरगन्धपुष्पदानमञ्जलौ कर्त्तव्यमस्येति योगः। तथा सितवस्त्रेण शुक्लवाससा। तथा तेन प्रकारेण अपीडोत्पादनलक्षणेन विद्वत्प्रसिद्धेन वाक्योपलेपमात्रो वा तथाशब्दः, अक्षिस्थगनं लोचनावरणं कार्यं,चशब्दः समुच्चये, ततश्चासौ तानि कुसुमान्यावृताक्ष एव जिननाथाभिमुखः प्रक्षेपयितव्यः, गुरुणा चाधिकृतपुष्पपातलक्षणनिमित्तानुसारेण यथासम्प्रदायं शुभादिनरस्माद्वा भवादागतोऽयं,तथा दीक्षाराधनविराधनाभ्यां शुभेतरा वा गतिरस्य भविष्यतीति दीक्षादानार्थं तत्पग्हिारार्थं च परिज्ञानं विधेयम्। एतदेवाह-आगतिगतिविज्ञानं शुभाशुभपूर्वजन्मानागतजन्मना निर्णयनं कार्यम्। अथवा-गत्या-गमनेनास्खलितत्वादियुक्तेन गतिविज्ञानमागामिभवज्ञानमागतिगतिविज्ञानम्। इह व्याख्याने समासितमपि गतिविज्ञानमित्येतत्पदं प्राकृतत्वेनोत्तरत्र सम्बन्धनीयमिति, इमस्स'त्ति-अस्य दीक्षाधिकृतजीवस्य, तथेति समुच्चये। अथवा-तथा-तत्प्रकारेण साम्प्रदायिकेन पुष्पपातेन-कुसुमपतनेन दीक्षणीयनरविहितेन। एतदर्थमेव पूर्वं पुष्पदानं तदञ्जलौ कृतमासीतिदि। इह च समवसरणमध्ये पुष्पपाताद्दीक्षाराधनाजनिता सुगतिस्तद्बहिः पाताच्च तद्विराधनाजनिता कुगतिरस्येत्येतावन्मात्रमतो ग्रन्थादवसीयते। शेषं तु ग्रन्थान्तराद्विशिष्टसम्प्रदायाद्वाऽवसेयमिति गाथार्थः।

अथ शुभाशुभगतिविज्ञानविषये मतान्तरं दर्शयन्नाह—

अभिवाहरणा अएणे, णियजोगपवित्तिओ य केइ त्ति।
दीवाइजलणभेया, तहुत्तरसुजोगओ चेव ॥ २६ ॥

अभिव्याहरणात्-संशब्दनात् दीक्षणीयेनान्येन वा दीक्षावसरे विहितात् शुभाशुभार्थसंसूचकात् सिद्धिवृद्धीत्यादिरूपाद्, अथवा— इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं दंसणपडिमं सम्मत्तसामाइयं वा आरोवेह' इत्यादि, दीक्षणीयाभिव्याहारात् 'आरोवेमि खमासमणाण हत्थेण आरोविय'मित्यादर्वाऽऽचार्याभिव्याहारादस्खलितादिगुणदोषानुगताद्, अन्ये-अपरे सूरयो दीक्षाराधनविराधनाजन्यशुभाशुभगतिपरिज्ञानमस्याधिकृतस्य कर्त्तव्यमित्याहुरिति गम्यम्, तथा निजयोगानामाचार्यसत्कमनःप्रभृतीनां प्रवृत्तिः-प्रवर्त्तनं निजयोगप्रवृत्तिस्ततो निजयोगप्रवृत्तितः,चशब्दः समुच्चये,इतिशब्दस्योत्तरस्येह दर्शनादिति,एतत् केचिदपरे प्राहुरिति गम्यम्। इदमुक्तं भवति-तदा यद्याचार्यस्य क्रोधलोभमोहभयादिभिरव्याकुलं मनो यथदा वाच्य तद्विषयाव्यक्तत्वादिगुणा च वाक् साध्वसाद्यनुपहतश्च कायः प्रवर्त्तते तदा शुभा गतिरिति। अन्यथा-चाशुभा गतिरस्य ज्ञायत इति। तथा दीपादीनां दीपचन्द्रतारकादीना यज्ज्वलन-दीपनं तस्य ये भेदो—विशेषः, स तथा तस्मात्। इदमुक्तं भवति-यदि तदा दीपादयः प्रवृद्धतेजसो भवन्ति तदाऽस्य शुभम्, अन्यथा त्वशुभमिति। तथति समुच्चये, उत्तरे—दीक्षोत्तरकालभाविनो ये सुयोगाः-शुभव्यापारा दीक्षितगतास्ते उत्तरसुयोगास्तेभ्य एव चैवशब्दस्यावधारणार्थत्वात्केचिदिति प्रकृतमिति गाथार्थः। पञ्चा० २ विव०। सूत्रार्थयोर्मेलने, अङ्गे श्रुतस्कन्धे, अध्ययने,नि०चू०।

जे भिक्खू उद्देसे हेट्ठिल्लाइं समोसरणाइं अवाइत्ता उवरिमं सुयं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ॥१७॥नि०चू० १६ उ०।

जिनस्तवनरथानुयानपट्टयात्रादिषु बहूनां साधूनां मेलने, स० १२ सम०। (समवसरणे सम्भागविसम्भोगौ 'संभोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६ पृष्ठे उक्तौ।) ('अणुयाण'शब्दे प्रथमभागे ३७५ पृष्ठे साधूना समेलक उक्तः।) समवसरणं नाम कुलसमवायो गणसमवायः संघसमवायो वा। वृ० १ उ० १ प्रक०।

(२१) अथ समवसरणप्रस्तावात्समवसरणस्तवमाह—

थुणिमो केवलिवत्थं, वरविज्जाणंदधम्मकित्तिऽत्थं।
देविंदनयपयत्थं, तित्थयरं समवसरणत्थं ॥ १ ॥

अवचूरिः—वयं ' थुणिमो ' स्तुमः। कम् ? तीर्थङ्करं, केवलिनाऽवस्था यस्य स केवल्यवस्थस्तम्। वराः—प्रधाना विद्यानन्दधर्मकीर्त्तिरूपा अर्था यस्य स वरविद्यानन्दधर्मकीर्त्यर्थस्तम्। अथवा—किमर्थं स्तुमः ? वरविद्यानन्दधर्मकीर्त्यर्थम्। पुनः कथंभूतम् ? देवेन्द्रैर्नतं यत्पदं तीर्थकरपदवीरूपं तत्र तिष्ठतीति देवेन्द्रनतपदस्थस्तम्। समवसरणे तिष्ठतीति समवसरणस्थस्तम्। अथवा-समवसरणे आस्था स्थितिर्यस्य स समवसरणस्थस्तम् तथा।

पयडिअसमत्थभावो, केवलिभावो जिणाण जत्थ भवे।
सोहंति सव्वओ तहिँ, महिमाजोयणमनिलकुमरा॥२॥

अवचूरिः—प्रकटिताः—समस्ता भावास्त्रिभुवनान्तर्वर्त्तिनस्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिपदार्था यत्र स तथा। केवलिभावः—केवलित्वं जिनाना यत्र स्थाने भवेत् तस्मिन् स्थाने शोधयन्ति सर्वतः महीं—पृथिवीम् आयोजनं—याजनमभिव्याप्य अनिलकुम(मा)राः—वायुकुमाराः।

वरिसंति मेहकुमरा, सुरहिजलं उउसुरा कुसुमपसरं।
विरयंति वणा मणिकण-गरयणचित्तं महियलं तो॥३॥

अवचूरिः-मेघकुमारास्तत्र सुरभिजलं वर्षन्ति। ' उउसुरा ' इति-ऋतुसुराः षण्णामृतूनामधिष्ठातारः सुराः—व्यन्तरा इत्यर्थः कुसुमप्रसरं वर्षन्ति, अधोमुखवृन्तान्

पुष्पप्रकरान् कुर्वन्तीत्यर्थः । ततः ' वणा ' इति—वानमन्तराः मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः , इन्द्रनीलादीनि रत्नानि । अयं भाव:—मणिकनकरत्नैश्चित्रं महीतलं रचयन्ति—पीठबन्ध कुर्वन्तीत्यर्थः ।

(२२) समवसरणरचनामाह—

अब्भिंतरमज्झ बहिं,तिवप्प मणि-रयण कणय-कविसीसा
रयणज्जुणरुप्पमया, वेमाणिअजोइभवणकया ॥४॥

अवचूरिः—अयं भावः—अभ्यन्तरो वप्रो वैमानिककृतो रत्नमयो मणिकपिशीर्षकः १ । मध्यमः प्राकारो ज्योतिष्ककृतोऽर्जुनसंज्ञसुवर्णमयो रत्नकपिशीर्षक' २ । बहिर्वप्रो भवनपतिकृतो रूप्यमयः कनककपिशीर्षक. ३ ।

वट्टम्मि दुतीसंगुल, तित्तीसधणुपिहुल पणसयधणुच्चा ।
छद्धणुसयइगकोसं—तरा य रयणमयचउदारा ॥ ५ ॥

अवचूरिः—अथ समवसरणं द्विधा स्यात् , वृत्तं चतुरस्रं वा । तत्र वृत्ते समवसरणे वप्रत्रयभित्तयः प्रत्येकं त्रयस्त्रिंशद् (३३)धनुर्द्वात्रिंश (३२) दङ्गुलपृथुला भवन्ति । तथा त्रयाणामपि वप्राणामन्तराणि उभयपार्श्वान्तरमिलनेन एकक्रोश (१) षट्शत (६००) धनुःप्रमाणानि भवन्ति । अत्र च चतुर्विंशत्याऽङ्गुलैर्हस्तो ज्ञेय । चतुर्भिर्हस्तैर्धनु । धनु सहस्रद्वयम क्रोशः । क्रोशैश्चतुर्भिस्तु योजनम् । तथा बहिर्वर्त्तीनि सोपानानि दशसहस्र (१००००) मितानि योजनमध्ये न गण्यन्ते । तत. प्रथमवप्रादग्रे पञ्चाशद् (५०) धनु.प्रतरः । ततोऽग्रे पञ्चसहस्र (५०००) सोपानानि तेषां च हस्तमानत्वाच्चतुर्भिर्भागे लब्धानि पञ्चाशदधिकानि द्वादशशतानि (१२५०) धनूंषि । ततो द्वितीयवप्रात् पञ्चाश (५०) द्धनुः प्रतरः , ततः पुन. पञ्चसहस्र (५०००) सोपानाना पञ्चाशदधिकानि द्वादश शतानि धनूंषि भवन्ति । ततस्तृतीयो वप्र., तत. त्रयोदश शतानि (१३००) धनूंषि गत्वा पीठमध्यम् । अथ तिसृष्वपि वप्रभित्तय. प्रत्येक त्रयस्त्रिंशद् (३३) धनुरेक(१) हस्ताऽष्टाङ्गुल (८) पृथुला भवन्ति । तत्र सर्वेषा धनुषा मिलने नवनवत्यधिकानि एकोनचत्वारिंशच्छतानि (३९९९) धनूंषि जातानि । तथा शेषाणि द्वात्रिंशदङ्गुलानि त्रिगुणीक्रियन्ते भित्तित्रयभावात् , षण्णवत्य (९६) ङ्गुलानि जातानि । षण्णवत्याऽङ्गुलैश्चैकं धनुर्भवति , हस्तचतुष्टयमितत्वाद्धनुष । एव चत्वारि सहस्राणि (४०००) धनुषा जातानि । इत्थमेकस्मिन् पार्श्वे क्रोशद्वयमेवं द्वितीयेऽपि क्रोशद्वयमिति मिलितं वृत्तसमवसरणं योजनम् ॥ ५ ॥

चउरंसे इगधणुसय-पिहुवप्पा सड्ढकोसअंतरिया ।
पढमबिआ बिअतइआ, कोसंतरपुव्वमिव सेसं ॥६॥

अवचूरि—चतुरस्रे समवसरणे वप्रत्रयभित्तय प्रत्येक शतधनु पृथुला ज्ञया', तथा—'सड्ढ' त्ति—प्रथमद्वितीयवप्रयोरन्तरमुभयपार्श्वमिलनेन सार्द्धक्रोश. । ' बिअतइय'त्तिद्वितीयतृतीययोश्चान्तरमुभयपार्श्वमिलनेन क्रोश । 'पुव्वमिव सेस' ति—शेषं मध्यभित्योरन्तरमेक (१) क्रोशषट्शत(६००) धनुःप्रमाण पूर्ववद् वृत्तसमवसरणवद् ज्ञेयम् । अथात्रापि एकपार्श्वे योजनार्द्धं मील्यते । तद्यथा—चतुरस्रे बाह्यवप्रभित्तिर्योजनमध्ये न गण्यते । ततश्च बाह्यवप्रमध्यवप्रयोरन्तरं दश शतानि (१०००) धनूंषि । द्वितीयवप्रभित्तिः शत (१००) धनूंषि । अभ्यन्तरवप्रमध्यवप्रयोरन्तरं पञ्चदशशत (१५००) धनुर्मानम् । अभ्यन्तरवप्रभित्ति' शत (१००) धनुर्मानम् । अभ्यन्तरवप्रात् त्रयोदशशतानि (१३००) धनूंषि गत्वा पीठमध्यम् , एवम् एतन्मिलने चतुस्सहस्राणि धनूंषि जातानि । तथा च क्रोशद्वयं भवति । एव यथैकत्र पार्श्वे क्रोशद्वय भवति तथा द्वितीयेऽपि । एवं चतुरस्रसमवसरणेऽपि योजन मिलति स्म ॥ ६ ॥

सोवाणसहसदस कर-पिहुच्च गंतुं भुवो पढमवप्पो ।
तो पन्नाधणुपयरो, तओ अ सोवाण पणसहसा ॥ ७ ॥

अवचूरि·—सोपानानि दश सहस्राणि करपृथुलानि उच्चानि च हस्तमात्रपृथुलोच्चानीत्यर्थः । भुवो—भूमितो गत्वा प्रथमो वप्र. । तत. पञ्चाशद् (५०) धनूंषि प्रतरो रमणभूमि', समा भूमिरित्यर्थ. । शेषं सुगमम् ॥ ७ ॥

तो बियवप्पो पन्न(न्ना)ध-णुपयरसोवाणसहसपण तचो ।
तइओ वप्पो छस्सय-धणुइगकोसेहि तो पीढं ॥ ८ ॥

अवचूरि·—ततस्तृतीयो वप्रस्तस्य चान्तः षड्धनु शतेनाधिकैकक्रोशेन प्रमितमिति गम्यम् । एक (१) क्रोशषट्शत (६००) धनु प्रमाणमित्यर्थः । पीठ समाभूमिरस्ति ॥ ८ ॥

चउदार तिसोवाणं, मज्झे मणिपीढयं जिणतणुच्चं ।
दोधणुसयपिहुदीहं, सड्ढदुकोसेहि धरणिअला ॥ ९ ॥

अवचूरि—चतुर्द्वारं त्रिसोपानं सोपानत्रयान्वितम् । समवसरणस्य मध्ये मणिमयं पीठ जिनदेहपरिमाणेनोच्चं द्विशत (२००) धनूंषि पृथुल दीर्घं च, तच्च धरणितलात् सार्द्धक्रोशद्वयेन भवति ॥ ९ ॥

जिणतणुबारगुणुच्चो, समहिअ जोयणपिहू असोगतरू ।
तयहो य देवछंदो, चउसीहासणसपयपीढा ॥ १० ॥

अवचूरि·—"तिन्नेव गाऊआइं, चेइअरुक्खो जिणस्स पढमस्स । सेसाण बारसगुणो, वीरे बत्तीस य धणूणि ॥ १ ॥" वीराद् द्वादशगुण एकविंशतिर्धनु.प्रमाणो (२१) भवति केवलोऽशोकस्तदुपरि शालवृक्ष एकादश (११) धनूंषि । एवमुभयोर्मिलने द्वात्रिंशद्धनूंषि (३२) चैत्यद्रुमो भवति , वीरस्येति सम्प्रदाय । अत्र शालश्च श्रीवीरस्वामिनोऽभूत् । अन्येषां तीर्थकृता न्यग्रोधादय । उक्तं च समवायाङ्ग-" चउवीसाए तित्थयराणं चउवीसं चेइअरुक्खा हुत्था । तं जहा—
" निग्गोह सत्तवन्ने, साले पिअए पिअंगु छत्ताहो ।
सरसे अ नागरुक्ख, माली अ पिअंगुरुक्खे अ ॥ १ ॥
तंदुग पाडल जंबू , आसत्थे खलु तहेव दधिवन्ने ।
नंदीरुक्खा तिलओ, अंबगरुक्खो असोगे अ ॥ २ ॥
चंपय बउलो अ तहा, वेडसरुक्खो तहेव धवरुक्खा ।

सालो अ वद्धमाणस्स, चेइअरुक्खा जिणवाणं ॥ ३ ॥"
" बत्तीसं धणुआइं, चेइअरुक्खो अ वद्धमाणस्स ।
निच्चोअगो, उच्छन्नो सालरुक्खेणं ॥ १ ॥
सच्छत्ता सपडागा, सवेइया तोरणेहिं उववेआ ।
सुरअसुरगरुलमहिया, चेइअरुक्खा जिणवराणं ॥ २ ॥"

इदं प्रवचनसारोद्धारे सविस्तरमभिहितमस्ति । नित्यमृतुरेव पुष्पादिकालो यस्येति नित्यर्तुकं । अवच्छन्नअशालवृक्खेणेति वचनादशोकोपरि शालवृक्षोऽपि कथंचिदस्तीति ज्ञायत इति। तथाऽशोकवृक्षस्याधस्तादेवच्छन्दके चत्वारि सिंहासनानि सपादपीठानि ॥ १० ॥

तदुवरि चउ छत्ततिआ , पडिरूवतिगं तहट्ठचमरधरा ।
पुरओ कणयकुसेसय-ठिअफालिअधम्मचक्कचऊ ॥११॥

अवचूरिः—तेषामुपरि चत्वारि छत्रत्रिकाणि छत्रातिच्छत्ररूपाणि । तथा प्रतिरूपत्रिकं च व्यन्तरेन्द्रकृतं प्रभुप्रभावान्मुख्यरूपतुल्यमेव भवति । तथाऽष्टौ चामरधरा भवन्ति । एकैकरूपं प्रति द्वयोर्द्वयोश्चामरधारकयोः सद्भावात् । तथा कनककुशेशयस्थितानि स्फाटिकानि धर्मचक्राणि चत्वारि सिंहासनपुरतो भवन्ति ॥११ ॥

झयछत्तमयरमंगल—पंचालीदामवेइवरकलसे ।
पइदारं मणितोरण—तिअधूवघडी कुणंति वणा ।१२।

अवचूरिः—वप्रेषु प्रतिद्वारं ध्वजच्छत्रमकरमुखमङ्गलपाञ्चालीपुष्पदामवेदिपूर्णकलशान् , मणिमयतोरणत्रिकाणि धूपघटीश्च कुर्वन्ति वानव्यन्तरा—व्यन्तरसुराः ॥ १२ ॥

जोयणसहस्सदंडा, चउज्झया धम्ममाणगयसीहा ।
ककुभाइजुया सव्व, माणमिणं निअनिअकरेणं ॥१३॥

अवचूरिः—धर्मध्वज १ मानध्वज २ गजध्वज ३ सिंहध्वज ४ नामानश्चत्वारो ध्वजाश्चतुर्दिक्षु चतुर्ग-(चत्वारो ग) जसिंहलाञ्छिता इत्यर्थः । ' ककुभाइजुय ' त्ति—लघुलघुतरध्वजादियुताः । ककुप्शब्देन घण्टिकापताकिकाद्युच्यते । सर्वं चैतन्मानं निजनिजहस्तेन ॥ १३ ॥

पविसिअ पुव्वाइ पहू , पयाहिणं पुव्वआसणं निविट्ठो ।
पयपीढठवियपाओ , पणमिअतित्थो कहइ धम्मं ॥ १४ ॥

अवचूरिः—प्रदक्षिणया प्रविश्य ' पणमिअतित्थो ' त्ति—नमो तित्थस्स ' इत्यादि जीतमर्यादया प्रणमितं तीर्थं चतुर्विधं सङ्घो येन सः,प्रभोर्वाणी योजनं यावत्प्रसरति यतो वप्राणामधस्तात्तिष्ठन्तो जनाः शृण्वन्ति ॥ १४ ॥

मुणि वेमाणिणि समणी, सभवणजोइवणदेविदेवतिअं ।
कप्पसुरनरित्थितिअं, ठंति ग्गेयाइविदिसासु ॥ १५ ॥

अवचूरिः—आग्नेयीनैर्ऋतीवायवीशानीविदिक्षु यथोक्तं सभात्रयं यथाक्रमं पूर्वस्यां दक्षिणाया (णस्यां) पश्चिमायमुत्तराया प्रविश्य प्रदक्षिणां दत्त्वा तिष्ठति ॥१५॥

चउदेविसमणि उद्ध-ट्ठिआ निविट्ठा नरित्थिसुरसमणा ।
इय पण ५ सग ७ परिस सुणं-ति देसणं पढमवप्पंतो ।१६।
इय आवस्सयवित्ती-वुत्तं चुन्नीइ पुण मुणि निविट्ठा ।
दो वेमाणिणिसमणी, उड्ढा सेसा ठिआ उ नव॥१७॥

अवचूरिः—गाथाद्वयं स्पष्टम् । (नवरं) मुनयो नि विष्टा उत्कुटुकासनेनेति शेषः । वैमानिका देवी श्रमणीद्वयमूर्ध्वस्थिताः शेषा नव सभाःस्थिता उपविष्टाः । तथा चैतयो (गाथयोः) रक्षराणि (एवम्)-" अवसेसा संजया निरइसेसिआ पुरच्छिमेण चेव दारेण पविसित्ता भयवंतं तिपयाहिण काउं वंदित्ता नमो अइसेसिआण त्ति भणित्ता अइसेसिआणं पिट्ठओ निसीअंति । वेमाणिआ (णी) देवीओ पुरच्छिमेण चेव दारेण पविसित्ता भयवंतं तिपयाहिणीकरित्ता नमो तित्थस्स नमो अइसेसिआण नमो साहूणं ति भणित्ता निरइसेसिआणं पिट्ठओ ठायंति न निसीयंति । समणीओ पुरिच्छिमेणं चेव दारेणं पविसित्ता तित्थयरं तिपयाहिणं करित्ता वंदित्ता नमो तित्थस्स नमो अइसेसिआणं नमो साहूणं ति भणित्ता वेमाणिआणं देवीणं पिट्ठओ ठायंति न निसीयंति । भवणवासिणीओ देवीओ जोइसिणीओ वंतरीओ दाहिणदारेण पविसित्ता तित्थयर तिपयाहिणीकरित्ता दाहिणपच्छिमेण ठायंति भवणवासिणीणं पिट्ठओ जोइसिणीओ तासिं पिट्ठओ वंतरीओ । भवणवासिदेवा जोइसिआ देवा वाणवंतरा देवा एए अवरदारेणं पविसित्ता त चेव विहिं काउ उत्तरपच्छिमेण ठायंति जहासंख पिट्ठओ । वेमाणिआ देवा मणुस्सा मणुस्सीओ अ उत्तरेण दारेण पविसित्ता उत्तरपुरच्छिमेण ठायंति जहासंख पिट्ठओ "। एषा चूर्णिः। अथ वृत्तिः । अत्र च मूलटीकाकारेण भवनपतिप्रभृतीनां स्थानं निषीदनं वा स्पष्टाक्षरैर्नोक्तम्,अवस्थानमेव प्रतिपादितम् ।पूर्वाचार्योपदेशेन लिखितपट्टिकादिचित्रकर्मबलेन तु सर्वाश्चतस्र एव देव्यो न निषीदन्ति,देवाश्चत्वारः पुरुषाः स्त्रियश्च निषीदन्तीति प्रतिपादयन्ति केचनेत्यलं प्रसङ्गेन ॥ १३१७ ॥

बीअंतो तिरि ईसा-णि देवछंदो अ जाण तइअंतो ।
तह चउरंसे दु दु वा-वी कोणओ वट्टि इक्किका ॥१८॥

अवचूरिः—द्वितीयवप्रान्तस्तिर्यञ्चः तत्रैवेशानकोणे प्रभोर्विश्रामार्थं देवच्छन्दको रत्नमयः 'जाण' त्ति-यानानि वाहनानि भवन्ति तृतीयवप्रान्तः । तथा चतुरस्रे समवसरणे कोणे कोणे द्वे द्वे वाप्यौ । वृत्ते च समवसरणे कोणे कोणे एकैका वापी । ' बहिवप्पदारमज्झे, दो दो वावी अ दुति कोणेसु । ' इति च स्तोत्रान्तरे पाठः ॥ १८ ॥

पीअ-सिअ-रत्त सामा,सुर-वण-जोइ-भवणा रयणवप्पे ।
धणु दंड-पास-गयह-त्थ सोम-जम-वरुण-धणयक्खा१६

अवचूरिः—अथ रत्नमये प्रथमवप्रे पूर्वादिद्वारचतुष्केऽपि क्रमेण द्वारपालदेवानां नामादिकमाह—सोम १ यम २ वरुण ३ धनदाख्याः ४ । यथाक्रमं पीतादिवर्णाः । सुरादयः । धनुर्दण्डपाशगदाहस्ता द्वारपालाः ॥ १६ ॥

जय-विजया-ऽजिय-अपरा-
जिअ सिसिय अरुणा-पीअ नीलाभा ।
बीए देवी जुअला,
अभयंकुस-पास-मगरकरा ॥ २० ॥

तइअ बहि सुरा तुं(तु)वरु,खट्टंगि-कवालजडमउडधारी।

पुव्वाइदारवाला, तंबरुदेवो अ पडिहारो ॥ २१ ॥
सामन्नसमोसरणे, एस विही एइ जइ महिड्ढिसुरो ।
सव्वमिणं एगोऽविहु, स कुणइ भयणोयरसुरेसु ॥२२॥

अवचूरि.—गाथाद्वयं स्पष्टम् । 'सामन्नसमोसरणे'त्ति-एष विधि. सामान्यसमवसरणे ज्ञेयः ॥ यदि महर्द्धिक कश्चिद्देव एति-आगच्छति तदा स एकोऽपि सर्वमिदं करोति, यदीन्द्रा नागच्छन्ति तदा भवनपत्यादयः समवसरणं कुर्वन्ति वा न वा ? इत्याह—'भयणोयरसुरेसु' त्ति-इतरसुरेषु भजना, कोऽर्थः ? कुर्वन्त्यपि न कुर्वन्त्यपीत्यर्थ ॥२०।२१।२२॥

पुव्वमजायं जत्थ उ, जत्थेइ सुरो महिड्ढिमघवाई ।
तत्थोसरणं नियमा, सययं पुण पाडिहेराइं ॥ २३ ॥

अवचूरि.—यत्र च तत्तीर्थङ्करापेक्षयाऽभूतपूर्व-समवसरणं यत्र च महर्द्धिको देव इन्द्रादिर्वा समेति समागच्छति तत्र समवसरणरचना नियमान्निश्चयाद्भवति । अष्टमहाप्रातिहार्यादिक पुन सतत भवत्येवेत्यर्थ. । तथा येन च श्रमणेन समवसरणमदृष्टपूर्व तेन तत्र द्वादशयोजनेभ्य आगन्तव्यं स्यात् । अनागमने तु तस्य चतुर्लघव. प्रायश्चित्त भवति । तदुक्तम्—" जत्थ अपुव्वोसरणं, अदिट्ठपुव्व च जेण समणेणं । बारसहिं जोअणेहिं, स एइ अणागए लहुआ ॥ १ ॥ " तथा प्रभु' प्रथमपौरुषीं सपूर्णां यावद्धर्ममाचष्टे । अत्रान्तरे बलि. प्रविशति, तं च बलिं प्रक्षिप्यमाणं देवादयः सर्वेऽपि यथोचितं गृह्णन्ति, सर्वामयप्रशमनश्च सः, तेन च षण्मासान्तरे नान्य. प्रकुप्यति रोगः । बलिक्षेपाद्नु प्रभुराद्यवप्रादुत्तरेण निर्गत्येशानदिशि देवच्छन्दकमेति, गणधरश्च द्वितीयपौरुष्या धर्ममाचष्टेऽसंख्येयभवकथयिता इत्यादिविस्तर. श्रीआवश्यकादौ प्रोक्तोऽस्तीति ॥ २३ ॥

दुत्थिअसमत्थअत्थिअ-जणपत्थिअअत्थसत्थसुसमत्थो ।
इत्थं थुओ लहु जणं, तित्थयरो कुणउ सुपयत्थं ॥ २४ ॥

अवचूरि.—दु स्थिता-दु.खिता ये समस्ता अर्थिकजना-याचकलोकास्तेषां ये प्रार्थिता अर्थास्तेषां सार्था. समूहास्तेषु समर्थ, सर्वमनोरथपूरकत्वात् । इत्थं स्तुतो लघु-शीघ्र जन भव्यलोक तीर्थकर. सुपदस्थ मोक्षपदस्थं स्वपदस्थ वा करोत्वित्यर्थ. ॥२४॥ इति श्रीसमवसरणस्तवस्यावचूरि समाप्ता॥

(२३) श्रीतीर्थकृतां समवसरणाभावे व्याख्यानावसरे चतुर्मुखत्व स्यान्नवेति प्रश्न., अत्रोत्तरम्-तीर्थकृता 'दानशीलतपोभाव' ति श्लोकवृत्त्यनुसारेण समवसरणे देशनावसरे चतुर्मुखत्व संभाव्यत इति ॥ ५६ ॥ सेन० २ उल्ला० । 'बारसजोअणउसहे' इत्येतद्गाथानुसारेण श्रीवृषभादितीर्थकृता समवसरणमानमुत्सधाङ्गुलनिष्पन्नयोजनैरुच्यतेऽन्यथा वेति प्रश्न, अत्रोत्तरम्—' बारसजोअणउसहे ' इत्यनया गाथयोत्सधाङ्गुलयोजनैर्वृषभादितीर्थकृतां समवसरणमानं मतान्तरेणोक्तं दृश्यते, परमस्या गाथाया. पारम्पर्य न ज्ञायते इति समवसरणावचूर्णाविति ॥ २६ ॥ सेन० ३ उल्ला० । श्रीवर्द्धमानजिनस्य प्रथमसमवसरणे सालवृक्ष ऊर्ध्वमभूत्कि वा सर्वदाऽपि सार्थेऽचलदिति ? प्रश्न., अत्रोत्तरम्-यत्र भगवन्तास्तिष्ठन्ति यत्र च निषीदन्ति तत्र देवा अशोकवृक्ष विकुर्वन्तीति समवायाङ्गादावभिप्रायोऽस्ति, तेन तदुपरिवर्तिनः सालवृक्षस्यापि तथैव सम्भावना, न तु सार्द्ध चलन प्रथमसमवसरण एव वा तद्विधानमिति ॥१७६॥ सेन० ३ उल्ला० । तीर्थकृता समवसरणाभावे चतुर्मुखत्वाभावे च कथ द्वादशपर्षदा व्यवस्थितिरिति, प्रश्नः—अत्रोत्तरम्—समवसरणाभावेऽपि तीर्थकृता द्वादशपर्षदामवस्थितिर्यथा समवसरणे तथैवेत्यवसीयते ॥१८१॥ सेन० ३ उल्ला० ।

समोसरणतव-समवसरणतपस्–न० । भाद्रपदषोडशभिरेकाशननिर्विकृतिकाचाम्लोपवासैर्यथाशक्तिकृते. समवसरणपूजान्विते तपोभेदे, पञ्चा० १९ विव० ।

समोसवेइत्ता-समवसृत्य–अव्य० । खण्डश कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

समोहय-समवहत–त्रि० । कृतसमुद्घाते, भ० १७ श० ६ उ० । स्था० । (अविशुद्धलेश्य. समवहतो देवो विशुद्धलेश्य जानाति. न वा इति 'विभगणाण' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् ।)

सम्पक्खालि-सप्रक्षालिन्–त्रि० । संप्रक्षालयति कर्मरजः शोधयति इत्येव शीलः संप्रक्षाली कर्ममलशोधके, पा० ।

सम्म-शर्मन्–न० । क्षेमे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । क्षमदामशिम्नो नम ॥८ । १ । ३२॥ इति पुंस्त्वं बाहुलकादत्र न । प्रा० ।

सम्यच्–त्रि० । समञ्चतीति सम्यक् । अविपरीते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सुसाधुनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । उत्त० । शोभने, युक्तिसगते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । आचा० । उत्त० । अविपर्यासे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । प्रशंसायाम्, प्रव० ६ द्वार । विशे० । नं० । आव० । आ० म० । औचित्ये, स्था० ५ ठा० १ उ० । यथावस्थिते, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा-णाणसम्मे दंसणसम्मे चरित्तसम्मे । (सू० १६४×)

सम्यग्—अविपरीत मोक्षसिद्धिं प्रतीत्यानुगुणमित्यर्थः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । रा० । अष्ट० । जं० । (जं सम्मं ति पासह तं मोणं ति पासह त्ति मुणि' शब्दे षष्ठभागे व्याख्यातम् ।)

साम्य–न० । समस्य भाव साम्यम् । समतायाम्, आतु० । आ० म० । इष्टानिष्टतारहिते तुल्यत्वे, अष्ट० २१ अष्ट० ।

सात्म्य–न० । " पानाहारादयो यस्या-विरुद्धाः प्रकृतेरपि । सुखित्वाय च कल्पन्ते, तत्सात्म्यमिति गीयते " ॥१॥ इत्युक्तलक्षणे भोजनादौ, ध० १ अधि० ।

सम्मअ-सम्मत–त्रि० । इष्टे, स० ।

सम्मअणणुपालणा-सम्यगननुपालना–स्त्री० । पोषधव्रतस्य सम्यगनासेवने, आव० ६ अ० ।

सम्मइ-सम्मति–पुं० । स्वनामख्याते सिद्धसेनदिवाकररचिते अभयदेवसूरिकृतवृत्तिसंवलिते प्रकरणग्रन्थे, आचा० । " स्फुरद्भागशुनिर्ध्वस्त—मोहान्धतमसोदयम् । वर्द्धमानार्कमभ्यर्च्य, यते सम्मतिवृत्तये ॥ १ ॥ " सम्म० १ काण्ड । मिथ्यात्वकलङ्करहिताया शोभनायां मत्याम्, स्त्री० । आचा० । प्रश्न० । विशिष्टाभिनिबोधिकज्ञाने, श्रुतज्ञाने, अवधिज्ञाने वा । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । 'पामिच्च'-शब्दे पञ्चमभागे ८५४ पृष्ठे उदाहृताया देवराजकुटुम्बिनो दारिकायाम्, पिं० ।

सम्मग्ग–सन्मार्ग–पुं०। सम्यगविपरीते मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

" ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुग् व्यालुप्तशिश्नो हरः,
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलङ्काङ्कितः।
स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः,
सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ॥ १ ॥ "

सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

सम्मग्गपइट्ठिय–सन्मार्गप्रतिष्ठित–त्रि०। आप्तोक्तमार्गप्रवृत्ते, ग० १ अधि०।

सम्मचरणाट्ठिय–सम्यक्चरणास्थित–त्रि०। सम्यक्चरणे चारित्रे व्यवस्थितः समुद्युक्तः। संयमसमुत्थिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

सम्मड्ड–सम्मर्द–पुं०। "गर्त्तसंमर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिते र्दस्य" ॥ ८। २ ३६ ॥ अनेन र्दस्य डकारः। सम्मड्डो। जनसङ्कुलत्वे' प्रा० २ पाद।

सम्मड्डिअ–सम्मर्दित–त्रि०। "गर्त्तसंमर्द-वितर्दि०"-॥८।२।३६॥ इत्यादिना डकार। सम्यग् मर्दिते, प्रा० २ पाद।

सम्मणोरह–सन्मनोरथ–पुं०। उद्यतविहारविशेषसूत्राध्ययनाद्यभिलाषे, ध० ३ अधि०।

सम्मत्त–सम्यक्त्व–न०। सम्यगित्यस्य भावः सम्यक्त्वम्। सम्यक् शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा। सम्यग्-जीवः तद्भावः सम्यक्त्वम्। कर्म०४कर्म०। विशे०। आचा०। दर्श०। 'सम्म' त्ति सम्यक् शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा। सम्यग्जीवस्तद्भावः सम्यक्त्वं प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा। प्रशमसंवेगादिलक्षण आत्मधर्म इति यावत्। यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः — "सेयं सम्मत्तं पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमक्खयसमुत्थो (त्थे) पसमसंवेगाइलिंगं सुहे आयपरिणामे ॥" इत्यादि। कर्म० ४ कर्म०। दर्श०। सम्यग्भावे, भ० ६ श० ३१ उ०। तत्त्वार्थश्रद्धाने, आव० ६ अ। तत्त्वप्रीतौ, ध० ३ अधि०। सम्यग्दर्शने, प्रश्न०५ संव०द्वार। स्था०। मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमादिसमुत्थे जीवपरिणामे, प्रश्न० ४ संव०द्वार। स्था०। प्रति०। उत्त०। आव०। अष्ट०। ज्ञानदर्शनचारित्राणां यत्परस्या प्रयोजनं तदात्मकत्वात् सामयिके, आ० म०१ अ०। आचा०। "तत्तत्थसद्दहाणं सम्मत्तं" तत्त्वार्थानां सर्वविदुपदिष्टतया पारमार्थिकानां जीवादिपदार्थानां श्रद्धानम् एतदेव सम्यक्त्वम्। पञ्चा० १ विव०।

विषयसूचना—

[१] इदानीम् 'एगविहाइदसविहं सम्मत्तं' ति एकोनपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

एकविह दुविह तिविहं, चतुहा पंचविह दसविहं सम्मं।
दव्वाइकारगाई, उवसमभेएहि वा सम्मं ॥ ९५६ ॥

एकविधं द्विविधं त्रिविधं चतुर्धा पञ्चविधं दशविधं सम्यक्त्वं भवतीति शेषः। तत्र एकविधं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वम्, एतच्चानुक्तमप्यविवक्षितोपाधिभेदत्वेन सामान्यरूपत्वादवसीयते इत्यस्या गाथाया न विवृतं, द्विविधादि तु न ज्ञायते इत्युल्लेखमाह—' दव्वाइ ' इत्यादि, द्विविधं द्रव्यादिभेदतः, तत्र च ' दव्व ' त्ति-सूचामात्रत्वाद् द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यतो विशोधिविशेषेण विशुद्धिकृता मिथ्यात्वपुद्गला एव, भावतस्तु तदुपष्टम्भोपजनितो जीवस्य जिनोक्ततत्त्वरुचिपरिणामः। आदिशब्दः प्रकारान्तरैरपि द्विविधत्वदर्शनार्थः, तेन नैश्चयिकव्यावहारिकभेदतः पौद्गलिकाऽपौद्गलिकभेद-

तो नैसर्गिकाधिगमिकभेदतोऽपि च द्विविधमिति । तत्र यद्देशकालसंहननानुरूपं यथाशक्ति यथावत्संयमानुष्ठानरूपं मौनम्-अविकलं मुनिवृत्तं तन्नैश्चयिक सम्यक्त्व,व्यावहारिक तु सम्यक्त्व न केवलमुपशमादिलिङ्गगम्यः शुभात्मपरिणाम', किं तु-सम्यक्त्वहेतुरपि । अर्हच्छासनप्रीत्यादिः कारणे कार्योपचारात्सम्यक्त्वं तदपि हि पारंपर्येण शुद्धचेतसामपवर्गप्राप्तिहेतुर्भवतीति. उक्तं च—" जं मोणं त सम्म, तम्मिह होइ मोण तु । निच्छयओ इयरस्स तु. सम्मं सम्महेऊ वि ॥ १ ॥" व्यवहारनयमतमपि च प्रमाण तद्बलेनैव तीर्थप्रवृत्ते',अन्यथा तदुच्छेदप्रसङ्गात् ,तदुक्तम्-' जइ जिणमयं पवज्जह,ता मा ववहारनिच्छय मुयह । ववहारनयोच्छेए, तित्थुच्छेओ हु ओवस्स'।१। इति तथा अपनीतमिथ्यास्वभाव सम्यक्त्वपुञ्जगतपुद्गलवेदनस्वरूपं क्षायोपशमिक पौद्गलिक सर्वथा मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानां क्षयोपशमाज्जात केवलजीवपरिणामरूप क्षायिकमौपशमिकं चापाद्गलिक. नैसर्गिकाधिगमिके पुनरग्रे वक्ष्येते, तथा त्रिविधं कारकादि' कारकरोचकदीपकभेदत'उवसमभेएहिं व' त्ति—वाशब्द. त्रैविध्यस्यैव प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थ. बहुवचन च गुणार्थ, ततस्त्रिविधं चतुर्विधं दशविधं सम्यक्त्वमुपशमादिभेदैर्भवतीति,इदमुक्तं भवति—औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक भेदात् त्रिविधम् ,औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसास्वादनभेदाच्चतुर्विधम् , औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसास्वादनवेदकभेदात्पञ्चविधम् , एतदेव प्रत्येक निसर्गाधिगमभेदाद्दशविधमिति । कथ पुनर्द्विविधादिभेदं सम्यक्त्वमित्याह-सम्यग्-अवैपरीत्येन आगमोक्तप्रकारेण न तु स्वमतिपरिकल्पितभेदैरिति भाव. ।

अथैनामेव गाथां स्फुटतरं व्याख्यानयन्नाह—

एगविहं सम्मरुई, निसग्गभिगमेहि तं भवे दुविहं ।
तिविहं तं खइयाई, अहवा वि हु कारगाई य ॥६५७॥

एकविधम्-एकप्रकारमुपाधिभेदाविवक्षया निर्भेदमित्यर्थः, सम्यग्रुचिः सम्यगज्ञानसंशयविपर्यासनिरासेन इदमेव तत्त्वमिति निश्चयपूर्विका जिनोदितजीवादिपदार्थेष्वभिप्रीतिः जिनोक्तानुसारितया तत्त्वार्थश्रद्धानरूपमेकविध सम्यक्त्वमिति भावः । तथा निसर्गाधिगमाभ्यां तत्सम्यक्त्वं भवेद् द्विविध, तत्र निसर्ग. स्वभावो गुरूपदेशादिनिरपेक्षस्तस्मात्सम्यक्त्व भवति, यथा नारकादीनामधिगमो गुरूपदेशादि स्तस्मात्सम्यक्त्वं भवतीति प्रतीतमेव । अयमभिप्राय -तीर्थकराद्युपदेशदानमन्तरेण स्वत एव जन्तोर्यत्कर्मोपशमादिभ्यो जायते तन्निसर्गसम्यक्त्वम् । यत्पुनस्तीर्थकराद्युपदेशजिनप्रतिमादर्शनादिबाह्यनिमित्तोपष्टम्भत कर्मोपशमादिना प्रादुर्भवति तदधिगमसम्यक्त्वमिति,तथा त्रिविधं तत्सम्यक्त्व क्षायिकादि, अथवा-त्रिविधं कारकादि ।

तत्र क्षायिक-क्षायोपशमिके व्याख्यातुमाह—

सम्मत्तमीसमिच्छ-त्तकम्मखयओ भणंति तं खइयं ।
मिच्छत्तखओवसमा, खाओवसमं ववइसंति ॥५८॥

सम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वकर्मक्षयाद्भणन्ति तीर्थकरगणधरा। क्षायिक सम्यक्त्वं त्रिविधस्यापि ,दर्शनमोहनीयस्य क्षयेणनिर्मूलोच्छेदेन निर्वृत्तं क्षायिकम् , अयमर्थः-अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयानन्तर मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वपुञ्जलक्षणे त्रिविधे दर्शनमोहनीयकर्मणि सर्वथा क्षीणे क्षायिकं सम्यक्त्व भवतीति, तथा मिथ्यात्वमोहनीयकर्मण उदीर्णस्य क्षयादनुदीर्णस्य चोपशमात्सम्यक्त्वरूपतापत्तिलक्षणाद्विष्कम्भितोदयस्वरूपाच्च क्षायोपशमिकसम्यक्त्व व्यपदिशन्ति-कथयन्ति। इदमुक्त भवति—यदुदीर्णमुदयमागतं मिथ्यात्व तद्विपाकोदयेन वेदितत्वात् क्षीण—निर्जीर्णं. यच्च शेषसत्तायामनुदयागत वर्तते तदुपशान्तम् । उपशान्त नाम-विष्कम्भितोदयमपनीतमिथ्यास्वभावं च । मिथ्यात्वमिश्रपुञ्जावाश्रित्य विष्कम्भितोदयं, शुद्धपुञ्जमाश्रित्य पुनरपनीतमिथ्यात्वस्वभावमित्यर्थः । तदेवमुदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण, अनुदीर्णस्य चोपशमेन निवृत्तत्वात् त्रुटितरस शुद्धपुञ्जलक्षण मिथ्यात्वमपि क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमुच्यते । शोधिता हि मिथ्यात्वपुद्गला अतिस्वच्छवस्त्रमिव दृष्टेर्यथावस्थिततत्त्वरुच्यध्यवसायरूपस्य सम्यक्त्वस्यावारका न भवन्ति अतस्तेऽप्युपचारतः सम्यक्त्वमुच्यन्ते इति । प्रव० १४६ द्वार । श्रा० ।

(२) अथ तत्सम्यग्दर्शनं कतिविधमत आह—

उवसामग सासायण, खओवसमियं च वेदगं खइयं ।
सम्मत्तं पंचविहं, जह लब्भइ तं तहा वोच्छं ॥ ६४ ॥

सम्यक्त्वं पञ्चविधम् , तद्यथा—औपशमिकं सासादनं क्षायोपशमिकं वेदक क्षायिकं च । एतत्पञ्चप्रकारमपि यथा लभ्यते तथा वक्ष्यामि । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

(३) संप्रति पञ्चविध सम्यक्त्वमाह-

वेयगसम्मत्तं पुण, एयं चिय पंचहा विणिद्दिट्ठं ।
सम्मत्तचरिमपोग्गल-वेयणकाले तयं होइ ॥ ६६२ ॥

एतदेव-पूर्वोक्तं चतुर्विधं सम्यक्त्वं वेदकसयुक्तं पुन. पञ्चधा-पञ्चविधं विनिर्दिष्ट-विशेषत. कथितं वीतरागै । तच्च वेदकसम्यक्त्वं सम्यक्त्वपुञ्जस्य बहुतरक्षपितस्य चरमपुद्गलाना वेदनकाले-ग्राससमये भवति । वेदयति-अनुभवति सम्यक्त्वपुद्गलानीति वेदकोऽनुभविना तदनर्थान्तर्भूतत्वात्सम्यक्त्वमपि वेदकम् , यथा आह्रियत इत्याहारकं तथा वेद्यत इति वेदकम् । इदमत्र तात्पर्य-क्षपकश्रेणि प्रतिपन्नस्यानन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयमपि क्षपयित्वा मिथ्यात्वमिश्रपुञ्जे पु सर्वथा क्षपितेपु सम्यक्त्वपुञ्जमप्युदीर्योदीर्यानुभवेन निर्जरयतो निष्ठितोदीरणीयस्य चरमग्रासेऽवतिष्ठमानेऽद्यापि सम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानां कियतामपि वेद्यमानत्वाद्वेदक सम्यक्त्वमुपजायते इति । अत्राह--नन्वेव सति क्षायोपशमिकेन सहास्य को विशेष ? सम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानुभवस्योभयत्रापि समानत्वात्, सत्यं, किंत्वैतदशेषोदितपुद्गलानुभूतिमात्रोक्तम् , इतरे तु उदितानुदितपुद्गलस्यैतन्मात्र प्रकृतो विशेष , परमार्थतस्तु क्षायोपशमिकमेवेद चरमग्रासशेषाणां पुद्गलाना क्षयाच्चरमग्रासवर्तिनां तु मिथ्यास्वभावापगमलक्षणस्योपशमस्य सद्भावादिति ।

अथ दशविधं सम्यक्त्वमाह—

एयं चिय पंचविहं, निस्सग्गाभिगमभेयओ दसहा ।
अहवा निस्सग्गरुई, इचाइ जमागमे भणिअं ॥६६३ ॥

एतदेवानन्तरोदितं पञ्चविधं सम्यक्त्वं निसर्गाधिगमभेदाभ्यां दशधा भवति । क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकसास्वादनवेदकानां प्रत्येकं निसर्गतोऽधिगमतश्च जायमानत्वाद्दशविधत्वमित्यर्थः । अथवेति प्रकारान्तरोपप्रदर्शनार्थः । निसर्गरुचिरुपदेशरुचिरित्यादिरूपतया सद्रागमे प्रज्ञापनादौ प्रतिपादितं तेन च दशविधत्वमवगन्तव्यम् ।

तदेवाह—

निस्सग्गुवएसरुई, आणारुइसुत्त-बीय-रुइमेव ।
अहिगमवित्थाररुई, किरियासंखेवधम्मरुई ॥ ६६४ ॥

अत्र रुचिशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततो निसर्गरुचिरुपदेशरुचिरिति द्रष्टव्यम् । अथ निसर्गः-स्वभावस्तेन रुचिर्जिनप्रणीततत्त्वाभिलापरूपा यस्य स निसर्गरुचिः, उपदेशो-गुर्वादिभिर्वस्तुतत्त्वकथनं, तेन रुचिरुक्तस्वरूपा यस्य स उपदेशरुचिः, आज्ञा—सर्वज्ञवचनात्मिका, तस्यां रुचिरभिलापो यस्य स आज्ञारुचिः, 'सुत्तबीयरुइमेव' त्ति-अत्रापि रुचिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, सूत्रमाचाराद्यङ्गप्रविष्टम्, अङ्गबाह्यं चावश्यकदशवैकालिकादि, तेन रुचिर्यस्य स सूत्ररुचिः, बीजमिव बीजं-यदेकमप्यनेकार्थप्रबोधोत्पादकं वचः, तेन रुचिर्यस्य स बीजरुचिः, अनयोश्च पदयोः समाहारद्वन्द्वः, तेन नपुंसकनिर्देशः । एवेति समुच्चये । 'अहिगमवित्थाररुइ' त्ति अत्रापि रुचिशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः, ततोऽधिगमरुचिर्विस्ताररुचिश्च । तत्राधिगमो—विशिष्टं परिज्ञानं तेन रुचिर्यस्यासावधिगमरुचिः, विस्तारो—व्यासः सकलद्वादशाङ्गस्य नयैः पर्यालोचनमिति भावः, तेनोपबृंहिता रुचिर्यस्य स विस्ताररुचिः, 'किरियासंखेवधम्मरुइ' त्ति-रुचिशब्दस्यात्रापि प्रत्येकमभिसंबन्धात् क्रियारुचिः, संक्षेपरुचिर्धर्मरुचिरिति द्रष्टव्यम् । तत्र क्रिया-सम्यक्संयमानुष्ठानं, तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः, संक्षेपः—संग्रहस्तत्र रुचिर्यस्य, विस्तरार्थापरिज्ञानात् संक्षेपरुचिः, धर्मेऽस्तिकायधर्मे श्रुतधर्मादौ वा रुचिर्यस्य स धर्मरुचिः, यदिह सम्यक्त्वस्य जीवानन्यत्वेनाभिधानं तद्गुणगुणिनोः कथंचिदनन्यत्वख्यापनार्थमिति गाथासंक्षेपार्थः । प्रव० ६३ द्वार । संथा० । सम्म० ।
(वेदकसम्यक्त्वं 'वेदग' शब्दे षष्ठभागे ऽस्ति ।)

(४) सम्प्रति क्षायिकदर्शनमाह—

दंसणमोहे खीणे, खयदिट्ठी होइ निरवसेसम्मि ।
केण उ सम्मो मोहो, पडुच्च पुव्वं तु पन्नवणं ॥ १२६ ॥

दर्शनमोहे निरवशेषे विप्रकारेऽपि क्षीणे क्षयदृष्टिः क्षायिकं सम्यग्दर्शनं भवति, आह—यन्मिथ्यात्वदर्शनं तन्मोहः स्यात्तस्य सम्यग्दर्शनमोहकत्वात्, यत्सम्यग्दर्शनं तत्केन कारणेन मोहः ?, सूरिराह-पूर्वां प्रज्ञापनां प्रतीत्य । किमुक्तं भवति—यथा मदनकोद्रवाणां निर्मदनीकृतानामप्योदनः स एष मदनकोद्रवौदन इति व्यपदिश्यते तेषां पूर्वं समदनत्वादेवं तेऽपि सम्यक्त्वपुद्गलाः, पूर्वं मिथ्यात्वपुद्गला आसीरन् ते च दर्शनमोहकाः, अतः पूर्वभावप्रज्ञापनामधिकृत्य तेऽपि दर्शनमोह इति व्यपदिश्यन्ते । बृ० १ उ० २ प्रक० । सम्यग्दर्शनयुक्तोऽयमिति । अत्र च पञ्चलक्षणप्रदर्शनेन तत्सहचारिणस्ता सप्तषष्टिरपि भेदा सूचिताः, सम्यक्त्वं च तैर्विशुद्धं स्याद्, यदाहुः—

चउसद्दहणतिलिंगं, दसविणयतिसुद्धिपंचगयदोसं ।
अट्ठपभावणभूसण-लक्खणपंचविहसंजुत्तं ॥ १ ॥
छव्विहजयणाऽऽगारं, छब्भावणभाविअं च छट्ठाणं ।
इयसत्तसट्ठिदंसण-भेअविसुद्धं तु सम्मत्तं ॥ २ ॥

" चउसद्दहण " त्ति—

परमत्थसंथवो खलु, सुमुणिअपरमत्थजइजणनिसेवा ।
वावन्नकुदिट्ठीण य वज्जणा सम्मत्तसद्दहणा ॥ ३ ॥

' तिलिंग ' त्ति—

सुस्सूसधम्मराओ, गुरुदेवाण जहा समाहीए ।
वेयावच्चे नियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥ ४ ॥

' दसविणयं ' ति—

अरिहंत१सिद्ध चेइअ३, सुए अ४धम्मे अ५साहुवग्गे अ६।
आयरिअ७उवज्झाए८,पवयणे९दंसणे१०विणओ ॥ ५ ॥
भत्तीपूआवन्न, (स्स) जणणं नासणमवन्नवायस्स ।
आसायणपरिहारो, दंसणविणओ समासेणं ॥ ६ ॥

' तिसुद्धि ' त्ति—

मुत्तूण जिणं मुत्तूण, जिणमयं जिणमयट्ठिए मुत्तुं ।
संसारकत्तवारं, चिंतिज्जंतं जगं सेसं ॥ ७ ॥

' पचगयदोस ' ति—

संका१कंख२विगिच्छा ३, पसंस ४ तह संथवो५कुलिंगीसु ।
सम्मत्तस्सऽइयारा, परिहरिअव्वा पयत्तेण ॥ ८ ॥

' अट्ठपभावण ' त्ति—

पावयणी धम्मकही २, वाई नेमित्तिओ ४ तवस्सी अ ५ ।
विज्जा ६ सिद्धो अ ७ कई ८, अट्ठेव पभावगा भणिआ ॥ ९ ॥

' भूसण' त्ति—

जिणसासणे कुसलया१, पभावणा२तित्थसेवणा३थिरया४।
भत्ती अ ५ गुणा सम्म—त्तदीवया उत्तमा पंच ॥ १० ॥

'लक्खणपचविहसंजुत्त' त्ति—लक्षणान्युक्तान्येवात्र गाथाऽपि ।
संवेगो च्चिअ १ उवसम २, निव्वेओ३तह य होइ अणुकंपा४।
अत्थिक्कं च्चिअ एए, सम्मत्ते लक्खणा पंच ॥ ११ ॥

' छव्विहजयण ' त्ति—

नो अन्नतित्थिए अ-न्नतित्थिदेवे २ य तह सदेवाइं ।
गहिए कुतित्थिएहिं, वंदामि १ न वा नमंसामि २ ॥ १२ ॥
नेव अणालत्तो आ-लवेमि ३ नो संलवेमि ४ तह तेसिं ।
देमि न असणाईअ ५, पेसमि न गंधपुप्फाई ६ ॥ १३ ॥

' छ आगारं ' ति—

रायाभिओ य गणाभिओगो, बलाभिओगो अ सुराभिओगो।
कंतारवित्ती गुरुनिग्गहो अ, छ छिंडिआउ जिणसासणम्मि ॥

'छब्भावणभाविअ' ति—

मूलं १ दार २ पइट्ठाणं ३, आहारो ४ भायण ५ निही ६ ।
दुछक्कस्सावि धम्मस्स, सम्मत्तं परिकित्तिअं ॥ १५ ॥

'छट्ठाणं' ति—

अत्थि अ१ णिच्चो २ कुणई ३, कयं च वेएइ ४ अत्थि णिव्वाणं ५ ।
अत्थि अ मुक्खो वाओ ६, छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं ॥ १६ ॥

अथैतासां विषमपदार्थो यथा—

परमार्थो जीवादयस्तेषां संस्तवः-परिचयः १, सुमुनितपरमार्था यतिजना आचार्यादयः, तेषां सेवनं २, व्यापन्नदर्शना-निह्नवादयः ३ कुदर्शना-शाक्यादयः ४ तेषां वर्जनं—त्यागः ' सम्मत्तसद्दहणा " इति—सम्यक्त्वे श्रद्धा-

यतेऽस्तीति प्रतिपद्यतेऽनेनेति सम्यक्त्वश्रद्धानं, न चाङ्गारम-र्दकादेरपि परमार्थसंस्तवादिसम्भवाद् व्यभिचारिता शङ्क्या तात्त्विकानामेतेषाम् इहाधिकृतत्वात्, तस्य च तथाविधानामेषामसंभवादिति । इह प्राकृतत्वाल्लिङ्गमतन्त्रमिति स्त्रीत्वे? मूलद्वारगाथाया च चतुःश्रद्धानादिशब्दाना,चतुर्विधं श्रद्धानं चतुःश्रद्धानं,त्रिविधं लिङ्ग त्रिलिङ्गम , दशविधो विनयो दशविनय , त्रिविधा शुद्धिस्त्रिशुद्धिरित्यादि व्युत्पत्तिर्ज्ञेया । त्रिलिङ्गे श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा,सद्बोधावन्ध्यनिबन्धनधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छेत्यर्थः । सा च वैदग्ध्यादिगुणवत्तरुणतरकिन्नरगानश्रवणरागादप्यधिकतमा सम्यक्त्वे सति भवति । यदाह-

" यूनो वैदग्ध्यवत', कान्तायुक्तस्य कामिनोऽपि दृढम् । किन्नरगेयश्रवणा—दधिको धर्मश्रुतौ राग ॥ १ ॥ " इति १ ।

तथा धर्मे-चारित्रलक्षणे राग , श्रुतधर्मरागस्य तु शुश्रूषापदेनैवोक्तत्वात् । स च कर्मदोषात्तदकरणेऽपि कान्तारातीतदुर्गतबुभुक्षाक्षामकुक्षिब्राह्मणघृतभोजनाभिलाषादप्यतिरिक्तो भवति । २ । तथा गुरवो—धर्मोपदेशका देवा-अर्हन्तस्तयो वैयावृत्त्ये तत्प्रतिपत्तिविश्रामणाभ्यर्चनादौ नियमोऽवश्यं कर्त्तव्यताङ्गीकार. ; स च सम्यक्त्वे सति भवतीति । तानि सम्यग्दृष्टेः धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् सम्यक्त्वस्य लिङ्गानि, एभिस्त्रिभिर्लिङ्गैः सम्यक्त्वं समुत्पन्नमस्तीति निश्चीयत इति भाव: । वैयावृत्त्यनियमस्य च तपोभेदत्वेन चारित्रांशरूपत्वेऽपि सम्यक्त्वे सत्येवावश्यभावित्वेऽपि नाविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकाऽभावप्रयोजकतोद्भाव्या, एतद्रूपचारित्रस्याल्पतमत्वेनाचारित्रतया विवक्षितत्वात् । सम्मूर्च्छनजाना संज्ञामात्रसद्भावेऽपि विशिष्टसंज्ञाऽभावादसंज्ञित्वव्यपदेशवदिति । उपशान्तमोहादिषु तु कृतकृत्यत्वादेषां साक्षादभावेऽपि फलतया सद्भावान्न नैष्फल्येनैषां व्यभिचार. । वैयावृत्त्यनियमश्चोपरिष्टात् श्रावकविधिपाठेन दर्शयिष्यत इति ततोऽवसेय । दशविनये चैत्यान्यर्हत्प्रतिमा ,प्रवचन-जीवादितत्त्व,दर्शन-सम्यक्त्वं तद्भेदोपचारात्तद्वन्तोऽपि दर्शनमुच्यते । एतेषु दशसु भक्तिरभ्युत्थानासनप्रदानपर्युपास्त्यञ्जलिबन्धादा,पूजा-सत्काररूपा बहु-प्रशंसा, तज्जनितमुत्साहनम , अवर्णवादस्याश्लाघाया वर्जन-परिहार. । आशातना-प्रतीपवर्त्तनं तस्याः परिहार.। एव दशस्थानविषयत्वाद्दशविधो दर्शनविनय , सम्यक्त्वं सत्यस्य भावात् सम्यक्त्वविनय. । त्रिशुद्धया जिन वीतराग जिनमत स्याद्वादलाञ्छनं जिनमतस्थिताश्च साधवस्तान् मुक्त्वा शेषमसारभूतं जगदपि संसारमध्ये कचवरप्रायम् , इत्यालोचनमित्यर्थ . इति चिन्तया सम्यक्त्वस्य विशोध्यमानत्वादेतास्तिस्र शुद्धय इति । पञ्च दोषा अमी सूत्र एव वक्ष्यमाणा , अष्टप्रभावनायां-प्रभवति जैनेन्द्र शासनं, तस्य प्रभवत प्रयोजका प्रभावना सा चाष्टधा प्रभावकभेदेन । तत्र प्रवचनं द्वादशाङ्गं गणिपिटकं तदस्यास्तीति प्रावचनी युगप्रधानागम. १, धर्मकथा प्रशस्ताऽस्यास्तीति धर्मकथी, ' निन्दादिभ्य इन ' (निन्दादिभ्य इन) (श्री सि० ७-२-४) [illegible] । [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] [illegible] [illegible] वादी ३. निमित्तं—त्रैकालिकलाभालाभप्रतिपादकं शास्त्रं, तद्वेत्त्यधीते वा नैमित्तिकः ४, तपो-विकृष्टमष्टमाद्यस्यास्तीति तपस्वी ५. विद्या -प्रज्ञप्त्यादयस्तद्वान् विद्यावान् ६, सिद्धयोऽञ्जनपादलेपतिलकगुटिकाकर्षणवैक्रियत्वभूतयस्ताभि' । सिद्ध्यति स सिद्ध ७, कवते गद्यपद्यादिभि प्रबन्धैर्वर्णनामिति कविर्गद्यपद्यप्रबन्धरचक ८ । एते प्रवचन्यादयोऽष्टौ, प्रभवतो भगवच्छासनस्य यथायथ देशकालाद्यौचित्येन साहाय्यकरणात् प्रभावका', प्रभवन्तं स्वत प्रकाशकस्वभावमेव प्रेरयन्तीति व्युत्पत्त. तेषा कर्म प्रभावना इत्थं च मूलद्वारगाथायामष्टौ प्रभावना यत्रेति समास । भूषणपञ्चके-जिनशासनेऽर्हद्दर्शनविषये कुशलता-नैपुण्यं ?, प्रभावना-प्रभावनमित्यर्थ' । सा च प्रागष्टधाऽभिहिता यत्पुनरिहोपादानं तदस्याः स्वपरोपकारित्वेन तीर्थकृन्नामकर्मनिबन्धनत्वेन च प्राधान्यख्यापनार्थम् । ध० १ अधि० १३ गुण ।

(५) अधुना नामनिष्पन्ननिक्षेपायातस्य सम्यक्त्वाभिधानस्य निक्षेपं निर्युक्तिकृदाह-

नामं ठवणं सम्मं, दव्वसम्मं च भावसम्मं च ।
एसो खलु सम्मस्स, निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥२१७॥

अक्षरार्थ· सुगम . भावार्थ तु सुगम नामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यभावगत निर्युक्तिकार प्रतिपिपादयिषुराह-

अह दव्वसम्म एच्छा-णुलोमियं तेसु तेसु दव्वेसु ।
कयसंखयसंजुत्तो, पउत्तजढभिण्णछिण्णं वा ॥ २१८ ॥

अथेति-आनन्तर्ये, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यसम्यक्त्वमित्याह, ऐच्छानुलोमिकम्-इच्छा-चित्त प्रवृत्तिरभिप्रायस्तस्यानुलोमम्-अनुकूलं तत्र भवमिच्छानुलोमिकं तच्च तेषु तेष्विच्छाभावानुकूल्यताभाक्षु द्रव्येषु कृतादुपाधिभेदेन सप्तधा भवति, तद्यथा-कृतम्-अपूर्वमेव निर्वर्त्तित रथादि तस्य यथाऽवयवलक्षणनिष्पन्नेर्द्रव्यसम्यक्त्वं तन्निमित्तचित्तस्वास्थ्योत्पत्त', यदर्थं वा कृत तस्य शोभनाशुकरणतया समाधानहेतुत्वाद्वा द्रव्यसम्यग् १, एव संस्कृतेऽपि योज्यं, तस्यैव रथादेस्तज्जीर्णोपाद्यपनयनसंस्कारादिति २, तथा ययोर्द्रव्ययो संयोगो गुणान्तराधानाय नोपमर्दाय उपभोक्तुर्वा मन प्रीत्यै एव शर्करयोरिव तत्संयुक्तद्रव्यसम्यक् ३. तथा यत्प्रयुक्त द्रव्य लाभहेतुत्वादात्मन. समाधानाय प्रभवति तत्प्रयुक्तद्रव्यसम्यक् ४, पाठान्तरं वा- उवउत्त त्ति तदुपयुक्तम-अभ्यवहृतं द्रव्य मन समाधानाय प्रभवति तदुपयुक्तद्रव्यसम्यक् ४, तथा जढ-परित्यक्तं यद्भारादि तत्त्यक्तद्रव्यसम्यक् ५, तथा दधिभाजनादि भिन्नं सत् काकादिसमाधानोत्पत्तेर्भिन्नद्रव्यसम्यक् ६, तथाऽधिकमांसादिच्छेदाच्छिन्नसम्यक् ७, सर्वमप्येतत्समाधानकारणत्वाद् द्रव्यसम्यक् विपर्ययादसम्यगिति गाथार्थ ।

(६) भावसम्यक्त्वप्रतिपादनायाह—

निच्छयं तु भावसम्मं, दंसण नाणे तहा चरित्ते य ।
दंसणनाणं निच्छय, नाणे दुविहं तु नायव्वं ॥ २१९ ॥

[illegible] भावसम्यक्त्व-[illegible] , [illegible] [illegible] दर्शनज्ञाने [illegible] त्रिविधं, [illegible]

अनादिमिथ्यादृष्टेरकृतत्रिपुञ्जस्य यथाप्रवृत्तकरणक्षीणशेषकर्म्मणो देशोनसागरोपमकोटिकोटिस्थितिकस्यापूर्वकरणभिन्नग्रन्थेर्मिथ्यात्वानुदयलक्षणमन्तरकरणं विधायानिवृत्तिकरणेन प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयत औपशमिकं दर्शनम् १, उक्तं च—" ऊसरदेसं दड्ढ-ल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्साणुदए उवसमसम्म लहइ जीवो ॥ १ ॥ " उपशमश्रेण्या चौपशमिकमिति २, तथा सम्यक्त्वपुद्गलोपष्टम्भजनिताध्यवसायः क्षायोपशमिकं २, दर्शनमोहनीयक्षयात् क्षायिकं ३, चारित्रमप्युपशमश्रेण्यामौपशमिकं १, कषायक्षयोपशमात् क्षायोपशमिकं चारित्रं २, चारित्रमोहनीयक्षयात्क्षायिकं ३, ज्ञानं तु भावसम्यग् द्विधा ज्ञातव्यं, तद्यथा-क्षायोपशमिकं क्षायिकं च । तत्र चतुर्विधज्ञानावरणीयक्षयोपशमात् मत्यादि चतुर्विधं क्षायोपशमिकं ज्ञानं, समस्तक्षयात्क्षायिकं केवलज्ञानमिति । तदेव त्रिविधेऽपि भावसम्यक्त्वे दर्शिते सति परश्चोदयति—यद्येवं त्रयाणामपि सम्यक्त्वादसम्भवे कथं दर्शनस्यैव सम्यक्त्ववादो रूढो ? यदिहाध्ययने व्यावर्ण्यते, उच्यते-तद्भावभावित्वादितरयोः, तथाहि—मिथ्यादृष्टेस्ते न स्तः, अत्र च सम्यक्त्वप्राधान्यख्यापनाय अन्धेतरराजकुमारद्वयेन बालाङ्गनावबोधार्थं दृष्टान्तमाचष्टे—तद्यथा—उदयसेनराजस्य वीरसेन-सूरसेनकुमारद्वयं, तत्र वीरसेनोऽन्ध, स च तत्प्रायोग्या गान्धर्वादिका कला ग्राहितः, इतरस्त्वभ्यस्तधनुर्वेदो लोकश्लाघ्यां पदवीमगमत्, एतच्च समाकर्ण्य वीरसेनेनापि राजा विज्ञप्तो यथाऽहमपि धनुर्वेदाभ्यासं विदधे, राज्ञाऽपि तदाग्रहमवगम्यानुज्ञात । ततोऽसौ सम्यगुपाध्यायोपदेशात् प्रज्ञातिशयादभ्यासविशेषाच्च शब्दवेधी सञ्जज्ञे । तेन चारूढयौवनेन स्वभ्यस्तधनुर्वेदविज्ञानक्रियेणागणितचक्षुर्दर्शनसदसद्भावेन शब्दवेधित्वावष्टम्भात्परबलोपस्थाने सति राजा युद्धायादेश याचित । तेनापि याच्यमानेन वितेरे । वीरसेनेन च शब्दानुवेधितया परानीकं जजृम्भे, परैश्चावगतकुमारान्धभावैर्मूकतामालम्ब्यासौ जगृहे, सूरसेनेन च विदितवृत्तान्तेन राजानमापृच्छ्य निशितशरशतजालावष्टब्धपरानीकेन मोचित । तदेवमभ्यस्तविज्ञानक्रियोऽपि चक्षुर्विकलत्वान्नालमभिप्रेतकार्यसिद्धये इति ।

एतदेव निर्युक्तिकारो गाथयोपसंहर्तुमाह—

कुणमाणो वि य किरियं, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए ।
दिंतो वि दुहस्स उरं, न जिणइ अंधो पराणीयं ॥१६॥

कुर्वन्नपि क्रियां परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान् ददद्पि दुःखस्योरः न जयत्यन्धः परानीकमिति गाथार्थः ।

(७) तदेव दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह-

कुणमाणो वि नियत्तिं, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए ।
दिंतो वि दुहस्स उरं, मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झइ उ॥२५१॥

कुर्वन्नपि निवृत्तिम्-अन्यदर्शनाभिहितां, तद्यथा-पञ्च यमाः, पञ्च नियमाः इत्यादिकां तथा परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान् पञ्चाग्नितपआदिना ददद्पि तु दुःखस्योरः मिथ्यादृष्टिर्न सिध्यति । तुरवधारणे, नैव सिध्यति, दर्शनविकलत्वाद्, अन्धकुमारवत् असमर्थः कार्यसिद्धये । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कर्म० । नैतदेव येन कर्मणा मुनिनैव तत्त्वानि श्रद्दधाति तत् सम्यक्त्वं, किंविशिष्टं ? 'खइयाइबहुभेय' ति-क्षायिकमादौ येषां ते क्षायिकादयो बहवो भेदाः प्रकारा यस्य तत्क्षायिकादि बहुभेदम् । इहादिशब्दाद्वेदकौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकग्रहणम् । एतद्व्याख्यानगाथाः-

'खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि खाइयं भवे सम्मं ।
वेयगमिह सव्वोइय, चरमिल्लयपुग्गलग्गासं ॥ १ ॥
उवसमसेढिगयस्स उ, होइ हु उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ २ ॥
उवसमसम्मत्ताउ, चइउं मिच्छं अपावमाणस्स ।
सासायणसम्मत्तं, तयंतरालम्मि छावलियं ॥ ३ ॥
मिच्छत्तस्स जमुइण्णं, त खीणं अणुइयं च उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसम ॥ ४ ॥ "

इत्युक्तं सम्यक्त्वम् । कर्म० १ कर्म० । दर्श० । आ० म० । त्रिविधं सम्यक्त्वं क्षायिकं क्षायोपशमिकमौपशमिकं च । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । कर्म० ।

[८] यत एवं ततः किं कर्तव्यमत आह—

तम्हा कम्माणीयं, जेउं मणोदंसणम्मि पयएज्जा ।
दंसणवओ हि सफला-णि हुंति तवनाणचरणाइं ॥२२२॥
सम्मत्तुप्पत्ती सा-वए य विरए अणंतकम्मंसे ।
दंसणमोहक्खवए, उवसामंते य उवसंते ॥ २२३ ॥
खवए य खीणमोहे, जिणे य सेढी भवे असंखेज्जा ।
तव्विवरीओ कालो, संखिज्जगुणाइ सेढीए ॥ २२४ ।
आहारउवहिपूआ-इड्ढीसु य गारवेसु कइतवियं ।
एमेव बारसविहे, तवम्मि न उ कइतवे समणो ॥२२५॥

यस्मात्सिद्धिमार्गमूलास्पदं सम्यग्दर्शनमन्तरेण न कर्मक्षयः स्यात्तस्मात्कारणात् कर्मानीकं जेतुमनाः सम्यग्दर्शने प्रयतेत, तस्मिंश्च सति यद्भवति तद्दर्शयति-दर्शनवतो हि यतो, यस्मात् सम्यग्दर्शनिनः सफलानि भवन्ति तपोज्ञानचरणान्यतस्तत्र यत्नवता भाव्यमिति गाथार्थः । प्रकारान्तरेणापि सम्यग्दर्शनस्य तत्पूर्वकाणां च गुणस्थानकानां गुणमाविर्भावयितुमाह-'सम्मत्तुप्पत्ति' त्ति सम्यक्त्वस्योत्पत्तिः सम्यक्त्वोत्पत्तिस्तस्यां विवक्षितायामसंख्येयगुणश्रेणिर्भवेदित्युत्तरगाथार्द्धान्ते क्रियामपदस्य सम्बन्धो लगयितव्य । कथमसंख्येयगुणा श्रेणिर्भवेदिति ?, अत्रोच्यते-इह मिथ्यादृष्टय देशोनकोटिकोटिकर्मस्थितिकाग्रन्थिकसत्त्वास्ते कर्मनिर्जरामाश्रित्य तुल्याः धर्मप्रच्छकोत्पन्नसञ्ज्ञास्तेभ्योऽसंख्येयगुणनिर्जरकाः ततोऽपि पिपृच्छिषुः सन् साधुसमीपं जिगमिषुस्तस्मादपि क्रियाविष्टः प्रच्छकस्ततोऽपि धर्मं प्रतिपित्सुरस्मादपि क्रियाविष्टः प्रतिपद्यमानस्तस्मादपि पूर्वप्रतिपन्नोऽसंख्येयगुणनिर्जरक इति सम्यक्त्वोत्पत्तिर्व्याख्याता, तदनन्तरं विरताविरतिं प्रतिपित्सुः प्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नानामुत्तरोत्तरस्यासंख्येयगुणा निर्जरा योज्या, एवं सर्वविरतावपीति ततोऽपि पूर्वप्रतिपन्नसर्वविरतेः सकाशात् 'अणंतकम्मंस' त्ति पदैकदेशे पदप्रयोग इति, यथा भीमसेनो भीमः सत्यभामा भामा, एवमनन्तशब्दोपलक्षिता अनन्तानुबन्धिनः । ते हि मोहनीयस्यांशाः भागाः, तान् क्षपयितुरसंख्येयगुणनिर्जरकः, ततोऽपि क्षपकः, तस्मादपि क्षीणानन्तानुबन्धिक-

षायः। एतदेव दर्शनमोहनीयत्रयेऽभिमुखक्रियारूढापवर्गत्रयमायोज्यं, ततोऽपि क्षीणसप्तकात् क्षीणसप्तक एवोपसमश्रेण्यारूढोऽसंख्येयगुणनिर्जरकस्ततोऽप्युपशान्तमोहस्तस्मादपि चारित्रमोहनीयक्षपकस्ततोऽपि क्षीणमोहः, अत्र चाभिमुखादि त्रयं यथासंभवमायोजनीयमस्मादपि जिनो भवस्थकेवली तस्मादपि शैलेश्यवस्थोऽसंख्येयगुणनिर्जरकस्तदेवं कर्मनिर्जरायै असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणनिष्पादितसंयमस्थानप्रचयोपात्तश्रेणिः सोत्तरोत्तरेषामसंख्येयगुणा,उत्तरोत्तरप्रवर्द्धमानाध्यवसायकण्डकोपपत्तेरिति । कालस्तु नाद्विपरिनोऽयोगिकेवलिन आरभ्य प्रतिलोमतया संख्येयगुणया श्रेण्या ज्ञेयः,इदमुक्तं भवति-यावत्कालेन यावत्कर्मायोगिकेवली क्षपयति तावन्मात्रं कर्म सयोगिकेवली संख्येयगुणेन कालेन क्षपयति, एवं प्रतिलोमतया यावद्धर्मापिपृच्छिषुस्तावन्नेयमिति गाथाद्वयार्थः ।

एवमन्तरोक्तया नीत्या दर्शनवतः सफलानि तपोज्ञानचरणान्यभिहितानि, यदि पुनः केनचिदुपाधिना विदधाति ततः सफलत्वाभावः । कश्चासावुपाधिस्तमाह—

आहारउवहिपूआ, इड्ढीसु य गारवेसु कइतविये ।
एमेव वारसविहे, तवम्मि न हु कइतवे समणो ॥२२५॥

आहारश्च उपधिश्च पूजा च ऋद्धिश्चामर्षौषध्यादिका आहारोपधिपूजर्द्धयस्तासु निमित्तभूतासु ज्ञानचरणक्रियां करोति । तथा गारवेषु त्रिषु प्रतिबद्धो यत्करोति तत् कृत्रिममित्युच्यते, यथा च ज्ञानचरणयोराहाराद्यर्थमनुष्ठानं कृत्रिमं सन्न फलवद्भवत्येवं सबाह्याभ्यन्तरे द्वादशप्रकारे तपस्यपीति । न च कृत्रिमानुष्ठायिनः श्रमणभावो न चाश्रमणस्यानुष्ठानं गुणवदिति । तदेव निरुपधेर्दर्शनवतस्तपोज्ञानचरणानि सफलानीति स्थितमतो दर्शने यतितव्यम् । दर्शनं च तत्त्वार्थश्रद्धानं, तत्त्वं चोत्पन्नापगतकलङ्काशेषपदार्थसत्ताव्यापिज्ञानैस्तीर्थकृद्भिर्यदभाषि । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कर्म० । प्रति० ।

(९) साम्प्रतं विशेषतो गृहिधर्मव्याख्यानावसरः, स च सम्यक्त्वमूलक इति प्रथमं सम्यक्त्वं प्रस्तूय तदेव लक्षयति—

न्याय्यश्च सति सम्यक्त्वे-ऽणुव्रतप्रमुखग्रहः ।
जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिः, शुद्धा सम्यक्त्वमुच्यते ॥२१॥

सति-विद्यमाने सम्यक्त्वे-सम्यग्दर्शने चकारोऽत्रैवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, ततः सम्यक्त्वे सत्येवेत्यर्थो लभ्यते । अणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतानां ग्रहोऽभ्युपगमो न्याय्यः-उपपन्नः, नत्वन्यथा—सम्यक्त्वेऽसति, निष्फलत्वप्रसङ्गात् , यथोक्तम्—" सस्यानीवोषरक्षेत्रे, निक्षिप्तानि कदाचन । न व्रतानि प्ररोहन्ति, जीवे मिथ्यात्ववासिते ॥ १ ॥ सयमा नियमाः सर्वे, नाश्यन्ते तेन पावनाः । क्षयकालानलेनेव, पादपाः फलशालिनः ॥ २ ॥ " इति । सम्यक्त्वमेव दर्शयति—' जिनोक्ते ' इत्यादि, जिनोक्तेषु तत्त्वेषु जीवाजीवादिपदार्थेषु या शुद्धा—अज्ञानसंशयविपर्यासनिराकरणेन निर्मला रुचिः—श्रद्धानं सा ' सम्यक्त्वमुच्यते ' जिनैरिति शेषः । तद्विशेषतो गृहिधर्म इति , पूर्वप्रतिज्ञातं सर्वत्र योज्यम् । नन्वित्थं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमिति पर्यवसन्नम् , तत्र श्रद्धानं च तथेति प्रत्ययः , स च मानसोऽभिलाषः । नचायमपर्याप्तकाद्यवस्थायामिष्यते, सम्यक्त्वं तु तस्यामपीष्टं , षट्षष्टिसागरोपमरूपायाः साद्यपर्यवसितकालरूपायाश्च तस्योत्कृष्टस्थितेः प्रतिपादनादिति कथं नागमविरोधः ? इत्यत्रोच्यते—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वस्य कार्यं, सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्यः शुभ आत्मपरिणामविशेषः । आह च—" से अ समत्ते, पसत्थसंमत्तमोहणीअकम्माणुवेअणोवसमक्खयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिङ्गे सुहे आयपरिणामे पण्णत्ते । " इदं च लक्षणममनस्केषु सिद्धादिष्वपि व्यापकम् । इत्थं च सम्यक्त्वे सत्येव यथोक्तं श्रद्धानं भवति , यथोक्तश्रद्धाने च सति सम्यक्त्वं भवत्येवेति श्रद्धानवता सम्यक्त्वस्यावश्यम्भावित्वोपदर्शनाय कार्ये कारणोपचारं कृत्वा तत्त्वेषु रुचिरित्यस्य तत्त्वार्थश्रद्धानमित्यर्थपर्यवसानं न दोषाय । तथा चोक्तम्—" जीवाइनवपयत्थे , जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं । भावेण सद्दहंते , अयाणमाणे वि सम्मत्तं ॥ १ ॥ " ति । नन्वेवमपि शास्त्रान्तरे—तत्त्वत्रयाध्यवसायः सम्यक्त्वमित्युक्तम् । यतः—" अरिहं देवो गुरुणो , सुसाहुणो जिणमय पमाणं च । इच्चाइसुहो भावो, सम्मत्तं बिंति जगगुरुणो ॥ १ ॥ " [इति] कथं न शास्त्रान्तरविरोधः ? इति चेन्न, अत्र प्रकरणे जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिरिति यतिश्रावकाणां साधारणं सम्यक्त्वलक्षणमुक्तं , शास्त्रान्तरे तु गृहस्थानां देवगुरुधर्मेषु पूज्यत्वोपास्यत्वानुष्ठेयत्वलक्षणोपयोगवशाद्देवगुरुधर्मतत्त्वप्रतिपत्तिलक्षणं सम्यक्त्वं प्रतिपादितं, तत्रापि देवा गुरवश्च जीवतत्त्वे , धर्मः शुभाश्रवे संवरे चान्तर्भवतीति न शास्त्रान्तरविरोधः । सम्यक्त्वं चार्हद्धर्मस्य मूलभूतं यतो द्विविधं त्रिविधेनेत्यादिप्रतिपत्त्या श्राद्धद्वादशव्रती सम्यक्त्वोत्तरगुणरूपभेदद्वययुतामाश्रित्य त्रयोदशकोटिशतानि चतुरशीतिकोट्यः सप्तविंशतिः सहस्राणि द्वे शते च द्व्युत्तरे भङ्गाः स्युः । एषु च [केवलं] सम्यक्त्वं विना च नैकस्यापि भङ्गस्य सम्भवः, अत एव ' मूलं दारं ' मित्यादि, षड्भावना वक्ष्यमाणा युक्ता एवेति । ध० २ अधि० ।

[१०] एतस्य फलं चैवमाहुः —

अंतोमुहुत्तमित्तं, पि फासिअं हुज्ज जेहिँ सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल-परिअट्टो चेव संसारो ॥ १ ॥
सम्मद्दिट्ठी जीवो, गच्छइ नियमा विमाणवासीसु ।
जइ न विगयसम्मत्तो, अहव न बद्धाउओ पुव्विं ॥२॥
जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तयम्मि सद्दहणा ।
सद्दहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं ॥ ३ ॥

शिष्यव्युत्पादनार्थं चेत्थमुपाधिभेदेन सम्यक्त्वभेदनिर्देशः, तत्र कांश्चित्केषांश्चिदन्तर्भावेऽपि न क्षतिरित्युत्तराध्ययनवृत्तौ । यथा च नान्तर्भावस्तथोक्तमस्माभिः, तथापि नैतदन्यतरत्वं सम्यक्त्वलक्षणं, रुचीनां तत्तद्विषयभेदेन परिगणनस्याशक्यत्वात् , रुचेः प्रीतिरूपत्वेन वीतरागसम्यक्त्वेऽव्याप्तेश्च । दसविहे सरागसम्मत्तदंसणे पण्ण-

से ' इति स्थानाङ्गसूत्रस्य स्वारस्येन सरागसम्यक्त्वस्यैव लक्ष्यत्वेन च रागस्याननुगतत्वेन लक्ष्यभेदाल्लक्षणभेदोऽवश्यमनुसरणीय इति। वस्तुतो लक्षणमिह लिङ्ग व्यञ्जकमिति यावत् व्यञ्जकस्य च वह्निव्यञ्जकधूमालोकवदननुगमेऽपि न दोष.। अत एव च-'नाण च दंसण चेव' इत्यादिना ज्ञानदर्शनचारित्रतप.प्रभृतीनामननुगतानामेव जीवस्वरूपव्यञ्जकत्वरूपजीवलक्षणत्वम्। उक्तलिङ्ग विनाऽपि लैङ्गिकसद्भावेऽप्यविरोधश्च। यदाहुरध्यात्ममतपरीक्षायामुपाध्यायश्रीयशोविजयगणय -' जं च जिअलक्खणं तं, उवइट्ठ तत्थ लक्खणं लिङ्ग। तेण विणा सो जुज्जइ, धूमेण विणा हुआसु व्व ॥ १॥ " त्ति। एवं च रुच्यभावेऽपि वीतरागसम्यक्त्वसद्भावान्न क्षतिः। व्यङ्ग्यं त्वकमनाविलसकलज्ञानादिगुणैकरसस्वभावं शुद्धात्मपरिणामरूपं परमार्थतोऽनाख्येयमनुभवगम्यमेव सम्यक्त्वम्। तदुक्तं धर्मबीजमधिकृत्योपदेशपदे-" पायमणक्खेअमिणं, अणुहवगम्मं तु सुद्धभावाण। भवखयकरं ति गरुअ, बुहेहिँ सयमेव विण्णेयं ॥ १॥ " ति। स्वयमिति निजोपयोगत., इक्षुक्षीरादिरसमाधुर्यविशेषाणामिवानुभवेऽप्यनाख्येयत्वात्। उक्त च-" इक्षुक्षीरगुडादीनां, माधुर्यस्यान्तर महत्। तथापि न तदाख्यातुं, सरस्वत्याऽपि पार्यते ॥ १॥ " इति। यदि च धर्मबीजस्याप्येवमनुभवैकगम्यत्वं, का वार्त्ता तर्हि भवशतसहस्रदुर्लभस्य साक्षान्मोक्षफलस्य चारित्रैकप्राणस्य सम्यक्त्वस्य ? इति शुद्धात्मपरिणतिस्वरूपे हि तत्र नातिरिक्तप्रमाणाना प्रवृत्ति। उक्त च शुद्धात्मस्वरूपमधिकृत्याचारसूत्रे-"सव्वे सराणि अट्टति, तक्का जत्थ ण विज्जइ, मइ तत्थ ण गाहिआ " इत्यादि, तदेतद् ज्ञानादिगुणसमुदायाद्भेदाभेदादिना विवेचयितुमशक्यमनुभवगम्यमेवेति स्थितम्। अत्र पद्ये—" न भिन्नं नाभिन्नं ह्युभयमपि नो नाप्यनुभय, न वा शाब्दन्यायाद्भवति भजनाभाजनमपि। गुणासीनं लीनं निरवधिविधिव्यञ्जनपदं, यदेतत्सम्यक्त्वं तदनुकुरुते पानकरसम् ॥ १॥ न केनाप्याख्यात न च परिचित नाप्यनुमित, न चार्थादापन्न क्वचिदुपमित नापि विबुधै.। विशुद्ध सम्यक्त्वं न च हृदि न नालिङ्गितमपि, स्फुरत्यन्तर्ज्योतिर्निरुपधिसमाधौ समुदितम् ॥ २ ॥ " इत्यल प्रसङ्गेन। प्रकृतमनुसराम.। निसर्गाधिगमयोरुभयोरप्येकमन्तरङ्ग कारणमाह—मिथ्यात्वपरिहाणैव—मिथ्यात्व जिनप्रणीततत्त्वविपरीतश्रद्धानलक्षण, तस्य परिहाणैव सर्वथा त्यागे त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानेनेति यावत्। आह च—' मिच्छत्तपडिक्कमण ' तिविह तिविहेण नायव्वं ' ति। ध० २ अधि०। देवा दुर्लभ सम्यक्त्वपरिणाम इह इत्युक्तं तद्भावश्च यत्प्रतिपत्त्या मनागसन्नपि भवति तत्प्रतिपत्तिश्च येषां प्रतिपत्तिर्विधेया तद्धि बन्धकत्वेन वाववुध्य हेयास्तानुपदिदर्शयिषु सर्वस्यास्य शास्त्रस्य मूलबीजकल्पां देवादिद्वारपञ्चकप्रतिपादिकामिमां गाथामाह-

देवो धम्मो मग्गो, साहू तत्ताणि चेव सम्मत्तं।
तव्विवरीयं मिच्छ-त्तदंसणं देसियं समए ॥ ५ ॥

दीव्यते-स्तूयते च कश्चित्पूर्वभवशुभपरंपरोपात्ततीर्थकृन्नामकर्मोदयतो नमन् । त्रिविष्टपाधिपसुरेश्वरमर्त्याधिपति—भिरिति देवः,सम्यक्त्वमिति-पूर्वपदस्येह संबन्धादेवकारस्य च पूर्वपदस्थस्य ततश्च भण्यमानविशेषणकदम्बकयुक्त एव सम्यक्त्वं भवतीति गम्यते इत्थंभूतदेवताविशेषप्रतिपत्तौ च प्राय: सम्यक्त्वमुदेत्यत. कारणे कार्योपचरादित्थमुपन्यास इत्येवं सर्वपदेष्वपि भावनीयम्। कुगतिगर्त्तादिम पतनाद्धारयतीति धर्म्मः सर्वविल्प्रणीतो हिंसादिलक्षणः सोऽपि सम्यक्त्वमिति—मोक्षलक्षणमहानगरस्य मार्ग इव पन्था इव मार्ग. सम्यग्ज्ञानादि, सोऽपि सम्यग्ज्ञानदर्शनचरित्रैर्मोक्षं, साधयन्तीति साधवः तेऽपि च सर्वविदुपदिष्टत्वेन यथावस्थितवस्तुस्तोमस्वरूपाविर्भावकानि तत्त्वानि जीवादीनि तानि च सम्यक्त्वं भवतीति योज्यम्। सर्वत्र चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ.। एवकारोऽवधारणार्थस्तौ च योजितावेव। तद्विपरीतं मिथ्यात्वदर्शनमिति-इत्थभूतदेवधर्ममार्गसाधुतत्त्वविपरीत-विपर्ययत्वं स चाज्ञप्रणीतत्वेन शिवसौख्यसाधन प्रत्यनर्हत्वात्, मिथ्यादर्शन-विपरीतदर्शनमिति यावदिति, दर्शित समय—सिद्धान्ते तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति आद्यद्वारगाथासमासार्थ.। दर्श० ४ तत्त्व। पं० स०। कर्म०।

औपशमिकसम्यक्त्वं तूपशमश्रेण्यां प्रथमसम्यक्त्वलाभे वा भवति जीवस्य। उक्तं च-"उवसामगसेढिगय-स्स होइ उवसामिय तु सम्मत्त। जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥१॥" ननु क्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वयोः क प्रतिविशेष ? उच्यते क्षायोपशमिके मिथ्यात्वदलिकवेदनं विपाकतो नास्ति प्रदेशत पुनर्विद्यते, औपशमिके तु प्रदेशतोऽपि नास्तीति विशेष.। कर्म० २ कर्म०। सूत्र०। ('किरियावाइ' शब्दे तृतीयभाग ५५६ पृष्ठे कालादिवादिनां वक्तव्यता गता।)

(११) कर्मक्षेत्रादिप्रपञ्चसारविचारपरित्यागेन सम्यक्त्वस्वरूपस्यैव प्रकाशने हेतुमाह-

सुयसायरो अपारो, आउं थोवं जिया य दुम्मेहा।
तं किं पसिक्खियव्वं, जं कज्जकरं व थोवं च ॥३॥

श्रुतमङ्गादिभेदाभिन्नं जिनागमः तदेव सागर श्रुतसागरः, अपारोऽपर्यन्तोऽतिवहुत्वात् आयुर्जीवित स्तोक-स्वल्पम्, जीवा·-प्राणिन. चशब्द पुनरर्थस्तत. किमित्याह-तत् किमपि शिक्षितव्यमभ्यसनीय यत् कार्यकरमसुष्यवृत्त्यैव प्रयोजननिष्पादक तत्, अयमर्थ.-श्रुतसागरोऽपारो नि.सीमा आयुरपि तदधिगमहेतुकं स्वल्प, साम्प्रतपुरुषापेक्षया प्रायो वर्षशतान्तर्गतत्वात्, जीवाश्च पुनस्तदवतारे दुर्म्मेधस तदवगमहेतुबुद्धिविकला पूर्वपुरुषापेक्षयाऽल्पमतित्वादित्यवधार्य यदेवार्थक्रियाकारि अल्पं च तदेवाभ्यासार्हमिति गाथार्थ·।

सम्यक्त्वस्यैव दुर्लभत्ववर्णनद्वारेणैकान्तत कार्यकारितामाह—

मिच्छत्तमहामोहऽ-न्धयारमूढाण एत्थ जीवाणं।
पुण्णेहिँ कह वि जायइ,दुलहं सम्मत्तपरिणामा॥४॥

महाश्चासौ मोहश्च महामोहो मिथ्यात्वमेव महामोहः तस्मात्तेन वाऽन्धकारं सम्यक्त्वस्यावरणं तस्मिन् तेन च मूढाः मिथ्यात्वमहामोहान्धकारमूढास्तेषाम्, अत्रेत्यस्मिन् जिनशासने चतुर्दशरज्ज्वात्मके वा लोके जीवानां भव्यप्राणिनां पु-

स्यैः सम्यग्दर्शनाचरणत्रयोपशमसमुत्थैः कथमपि महता कष्टेन आयते-समुत्पद्यते दुर्लभो-दुराप एव सम्यक्त्वपरिणामो मिथ्यात्वापगमेन यथावस्थितवस्तुस्वरूपानुष्ठानलक्षण, अयमभिप्राय -अनाद्यनन्तके पर्यटतां भव्यप्राणिनामपि मिथ्यात्वमोहमोहितानां सकलमलकलङ्कविकलशिवसुखतरुबीजं तत सम्यक्त्वपरिणाम एव दुर्लभ, यतः-"राजन्ति भूतिविपुलं सुरसंपदश्च, नागेन्द्रचन्द्रपदमुत्तमसौख्यहेतु। मातङ्गतुरगारथसन्ततिश्च, नार्यो वराश्च कुचकुम्भभरावनिम्राः॥ ६॥ अन्यश्च चारु यदिहास्ति शुभं शुभानां, संसारपारगमनैककरं विमुच्य। सद्दर्शनं जिनगुरुप्रतिपत्तिहेतुः, नैवास्ति दुर्लभमहो भुवनेऽखिलेऽपि॥७॥" दर्श०४ तत्त्व।

इदमेव निदर्शनमङ्गीकृत्योपदिशन्नाह—

इय सव्वेण वि सम्मं, सक्के अप्पत्तियं सइ जणस्स।
नियमा परिहरियव्वं, इयरम्मि सतत्तचिंता तु॥ १७॥

इति—श्रीमद्वीरवर्द्धमानस्वामिना चेत्यर्थः सर्वेणापि-समस्तेनापि जिनभवनानि विधानार्थिना—स्वयमार्थिना वा न कतरेणैवेत्यर्थ अप्रीतिक परिहर्त्तव्यमिति योग, कथ सम्यग्भावशुद्ध्या, किंभूतं तदित्याह-शक्य शक्यपरिहारमेव न त्वशक्यमपि तस्य परिहर्तुमशक्यत्वादवाशक्यानुष्ठानापदे शरूपत्वात् 'अप्पत्तियं'-ति अप्रीतिरप्रीतिक सकृत् सदा सर्वकाल जनस्य-लोकस्य नियमाच्च तथा परिहर्त्तव्यं वर्जनीयमितरस्मिन्नशक्यपरिहारे प्रीतिके स्वतत्त्वचिन्ता तु स्वभावपर्यालोचनमेव विधेयम्। दर्श०१ तत्त्व।

इदानीं सम्यक्त्व एव आदराधानाय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपदर्शनपूर्वक सम्यक्त्वमाहात्म्यवर्णनद्वारेणोपदिशन्निमा गाथामाह—

कुणमाणो विहिकिरियं, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए।
दिंतो वि दुहस्स उरं, न जयइ अंधो पराणीयं॥ १८॥

व्याख्या—कुर्वन्नपि—विदधानोऽपि क्रिया-प्राणापहारप्रहरणव्रणादिकां परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान्-तत्प्रतिबन्धे हि सम्यग्व्यापारारम्भवाप्न साध्यसिद्धि लभ्यति, ततस्तत्प्रतिहार इहोच्यते, ददत्सपि दुःखस्योर न जयत्यन्धः परानीक परसैन्य परकगणभयकारि सम्यग्मूलकारणनयनरहितत्वादित्येवमक्षरार्थ। दर्श० ४ तत्त्व।

(१२) सम्यक्त्वं मोक्षबीजम्—

सम्मं च मोक्खबीअं, तं पुण भूअत्थसद्दहणरूवं।
पसमाइलिंगगम्मं, सुहाय परिणामरूव तु॥ १०२८॥

सम्यक्त्वं च मोक्षबीजं वर्त्तते, तत्पुन स्वरूपेण भूतार्थश्रद्धानरूपं तथा प्रशमादिलिङ्गगम्यमेतत्। शुभात्मपरिणामरूपं जीवधर्म्म इति गाथार्थ।

तम्मि सइ सुद्धं नेअं, अकलुनभावस्स हंदि जीवस्स।
अणुबंधो न सहो खलु, धम्मपरस्स भावेण॥१०२९॥

तस्मिन् सति शुभ ज्ञेय-सम्यक्त्वे अनुभवस्य इति जीवस्य शुभानबन्ध, अनुबन्ध शुभ खलु तस्मिन् सति धर्मप्रधानस्य भावेन—परमार्थेन गाथार्थः।

भूअत्थसद्दहाणं, च होइ भूअत्थवायगा पायं।

सुअधम्माओ सो पुण, पहीणदोसस्स वयणं तु॥१०३०॥

भूतार्थश्रद्धानं च सम्यक्त्वं भवति भूतार्थवाचकात् प्राय इति श्रुतधर्म्माद्-आगमात्। स पुन प्रक्षीणदोषस्य वचनमेवेति गाथार्थ।। पं० व०४ द्वार। (नयेषु मिथ्यात्वसम्यक्त्वं 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८६७ पृष्ठे उक्तम्।) अनभिक्रान्तसंयोगस्य भावतमसि वर्त्तमानस्य सम्यक्त्वलाभो नास्तीत्युक्तम्।

(१३) तदेव सूत्रानुगमायातेन सूत्रेण दर्शयति—

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघित्तव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए समिच लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तं जहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा, तच्चं चेयं तहा चेयं अस्सिं चेय पवुच्चइ। (सू०१२६×)

सर्वेऽपि प्राणिनः पर्यायशब्दावेदिना न हन्तव्याः दण्डकशादिभि० नाज्ञापयितव्या प्रसह्याभियोगदानत०, न परिग्राह्या भृत्यदासदास्यादिममत्वपरिग्रहत०, न परितापयितव्याः शारीरमानसपीडोत्पादनत०, नापद्रावयितव्याः प्राणव्यपरोपणत० एष—अनन्तरोक्तो धर्म्म०, दुर्गत्यर्गलासुगतिसोपानदेश्य०। अस्य च प्रधानपुरुषार्थत्वाद्विशेषणं दर्शयति—शुद्धः—पापानुबन्धरहित० न शाक्यादिगृजातीनामिवैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियवधानुमतिकलङ्काङ्कितः तथा नित्य०—अप्रच्युतिरूप०, पञ्चस्वपि विदेहेषु सदाभवनात्, तथा शाश्वत० शाश्वतगतिहेतुत्वात्, यदिवा नित्यत्वाच्छाश्वतो, न तु नित्यं भूत्वा न भवति, भव्यत्ववत्, अभूत्वा च नित्य भवति घटाभाववदिति, अयं तु त्रिकालवस्थायीति, अमुं च लोकं—जन्तुलोक दुःखसागरावगाढ समेत्य—ज्ञात्वा तदुत्तरणाय खेदज्ञै—जन्तुदुःखपरिच्छेत्तृभि० प्रवेदित—प्रतिपादित इति, एतच्च गौतमस्वामी स्वमनीषिकापरिहारेण शिष्यमतिस्थैर्याय वभाषे।

एतमेव सूत्रोक्तमर्थं निर्युक्तिकार० सूत्रसंस्पर्शकेन गाथाद्वयेन दर्शयति—

जे जिणवरा अईया, जे संपइ अणागए काले।
सव्वे वि ते अहिंसं, वदिसु वदिहिंति वि वदिंति॥२२६॥

छप्पिय जीवनिकाए, णो वि हणे णोऽवि य हणाविज्जा।
नोऽवि य अणुमन्निज्जा, सम्मत्तस्सेस निज्जुत्ती॥२२७॥

गाथाद्वयमपि सुगमम्। तीर्थकरोपदेशश्च परोपकारित्वाद्यन्यामात्रार्थं प्रवर्त्तमानो भास्करोदय इव प्रयोज्य विशेषनिरपेक्षतया प्रवर्त्तते तदर्थेनादिना दर्शयति—'न उट्ठिएसु वा' इत्यादि, धर्मचरणायोद्यता उत्थिता-ज्ञानदर्शनचारित्राराधनापन्ना०, तद्विपर्ययेणानुत्थिता, तेषु निमित्तभूतेषु तान्-उद्दिश्य भगवता सर्वज्ञेन धर्मः प्रवेदित०, एव सर्वत्र लगनीयम्, दण्डा-उपध-

तानुत्थितेषु द्रव्यतो निषण्णानिषण्णेषु , तत्रैकादशसु ग-णधरेषूत्थितेष्वेव वीरवर्द्धमानस्वामिना धर्म: प्रवेदित , तत उपस्थिता धर्म शुश्रूषवो जिघृक्षवो वा तद्विपर्ययेणानुप-स्थितास्तेष्विति । निमित्तसप्तमी चेयम्-यथा ' चर्मणि द्वी-पिनं हन्ती ' ति, ननु च भावोपस्थितेषु चिलातिपुत्रादि-ष्विव धर्म्मकथा युक्तिमती अनुपस्थितेषु तु क गुणं पुष्णाति ?, अनुपस्थितेष्वपीन्द्रनागादिषु विचित्रत्वात्कर्म्म-परिणते क्षयोपशममापादनाद् गुणवत्येवेति यत्किञ्चिदेतत् , प्राणिन आत्मानं वा दण्डयतीति दण्ड , स च मनोवाक्का-यलक्षण , उपरतो दण्डो येषा ते तथा, तद्विपर्ययेणानुपरत-दण्ड', तेषूभयरूपेष्वपि । तत्रोपरतदण्डेषु तत्स्थैर्यगुणान्त-राधानार्थं देशना, इतरेषु तूपरतदण्डत्वार्थमिति । उपधी-यते—संगृह्यत इत्युपधि , द्रव्यतो हिरण्यादि' , भावतो माया । सह उपधिना वर्त्तन्त इति सोपधिकास्तद्विपर्ययेणा-नुपधिकास्तेष्विति, संयोग—सम्बन्ध पुत्रकलत्रमित्रादि-जनितस्तत्र रता सयोगरतास्तद्विपर्ययेणैकत्वभावनाभा-विता असयोगरतास्तेष्विति, तदेवमुभयरूपेष्वपि यद्भग-वता धर्म्मदेशनाऽकारि तत् तथ्यं—सत्यमेतदिति, चश-ब्दो नियमार्थं , तथ्यमेवैतद्भगवद्वचनम् । यथाप्ररूपितवस्तु-सद्भावात्तथ्यता वचसा भवतीत्यतो वाच्यमपि तथैवेति दर्शयति-तथा चैतद्वस्तु यथा भगवान् जगाद । यथा-सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि, एवं सम्यग्दर्शन श्रद्धान विधे यम् , एतच्चास्मिन्नेव मौनीन्द्रप्रवचने सम्यग्मोक्षमार्गवि-धायिनि समस्तदम्भप्रवन्धोपरते प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यत इति, न तु यथा अन्यत्र ' न हिंस्यात्सर्वभूतानी ' त्यभि-धायान्यत्र वाक्ये यज्ञपशुवधाभ्यनुज्ञानात् पूर्वोत्तरबाधेति ।

(१४) तदेवं सम्यक्त्वस्वरूपमभिधाय तदवाप्तौ यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

तं आइत्तु न निहे न निक्खिवे जाणित्तु धम्मं जहा तहा, दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा,नो लोगस्सेसणं चरे।(सू०१२७)

तत्—तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनमादाय—गृहीत्वा तत्कार्याकरणतो ' न निहे ' त्ति—न गोपयेत् तथाविधसंस-र्गादिनिमित्तोत्थापितमिथ्यात्वोऽपि जीवसामर्थ्यगुणान्न त्य-जेदपि, यथा वा शैवशाक्यादीना गृहीत्वा व्रतानि पुनरपि व्रतेश्वरयागादिविधिना गुरुसमीपे निक्षिप्योत्प्रव्रजनम् ,एवं गुर्वादे सकाशादवाप्य सम्यग्दर्शनं न निक्षिपेत्—न त्य-जेत् , किं कृत्वा ?—यथा तथाऽवस्थितं धर्म्मं ज्ञात्वा श्रु-तचारित्रात्मकमवगम्य, वस्तूना वा धर्म्म—स्वभावमवबुध्ये-ति । तदवगमे तु किं चापर कुर्यादित्याह—'दिट्ठेहिं ' इत्यादि दृष्टैरिष्टानिष्टरूपैर्निर्वेद गच्छेद्—विराग कुर्यादित्यर्थ , तथा-हि-शब्दै श्रुतै रसैरास्वादितैर्गन्धैराघ्रातै स्पर्शै स्पृष्टै सद्भिरेव भावयेत्—यथा शुभेतरतापरिणामवशाद्भवती-त्यत कस्तेषु रागो द्वेषो वेति । किं च-' नो लोयस्स' इत्या-दि, लोकस्य—प्राणिगणस्यैषणा-अन्वेषणा इष्टेषु-शब्दादिषु प्रवृत्तिरनिष्टेषु तु हेयबुद्धिस्ता न चरेत्—न विदध्यात् ।

(१५) यस्य चैषा लोकैषणा नास्ति तस्यान्याप्यप्रशस्ता मतिर्नास्तीति दर्शयति—

जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया ? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पकप्पंति । (सू० १२८)

यस्य मुमुक्षोरेषा ज्ञाति —लोकैषणाबुद्धिः नास्ति—न विद्यते, तस्यान्या सावद्यारम्भप्रवृत्ति कुत स्यात् ?, इद-मुक्तं भवति-भोगेच्छारूपा लोकैषणा परिजिहीर्षोर्नैव सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तिरुपजायते,तदर्थत्वात्तस्या इति,यदिवा-इमा—अनन्तरोक्तत्वात् प्रत्यक्षा सम्यक्त्वज्ञातिः प्राणिनो न हन्तव्या इति वा यस्य न विद्यते तस्यान्या अविवेकिनी बुद्धि कुमार्गसावद्यानुष्ठानपरिहारद्वारेण कुत स्यात् ?। शिष्यमतिस्थैर्यार्थमाह—'दिट्ठं' मित्यादि, यदेतन्मया परिक-थ्यते तत्सर्वज्ञै केवलज्ञानावलोकेन दृष्ट,तत शुश्रूषुभि श्रुत, लघुकर्म्मणा भव्याना मतं, ज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्विशे-षेण ज्ञात विज्ञातम् , अतो भवताऽपि सम्यक्त्वादिके म-त्कथिते यत्नवता भवितव्यमिति । ये पुनर्यथोक्तकारिणो न स्यु ते कथम्भूता भवेयुरित्याह—'समेमाणा' इत्यादि , त-स्मिन्नेव मनुष्यादिजन्मनि शाम्यन्तो-गार्ध्येनात्यर्थमासेवा कुर्वन्त , तथा प्रलीयमाना —मनोज्ञेन्द्रियार्थेषु पौनःपुन्ये-नैकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिकां जातिं प्रकल्पयन्ति-संसाराविच्छि-त्तिं विदधतीत्यर्थः ।

यद्येवमविदितवेद्या साम्प्रतेक्षिणो यथा जन्मकृतरतय इन्द्रियार्थेषु प्रलीना पौनःपुन्येन जन्मादिकृतसन्धाना ज-न्तवस्तत किं कर्त्तव्यमित्याह—

अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि । (सू० १२९)

अहश्च रात्रिं च यतमान एव यत्नवानेव मोक्षाध्वनि धीर—परीषहोपसर्गाक्षोभ्य सदा—सर्वकालम् आगत—स्वीकृत प्रज्ञान-सदसद्विवेको यस्य स तथा, प्रमत्तान्-असय-तान् परतीर्थिकान्वा धर्म्माद्बहिर्व्यवस्थितान् पश्य, तांश्च तथाभूतान् दृष्ट्वा किं कुर्यादित्याह—' अप्पमत्ते ' इत्यादि, अप्रमत्त सन् निद्राविकथादिप्रमादरहितोऽक्षिनिमेषोन्मे-षादावपि सदोपयुक्त: पराक्रमेथा कर्म्मरिपून् मोक्षाध्वनि वा । इतिरधिकारसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति सम्य-क्त्वाध्ययने प्रथमोद्देशकटीका परिसमाप्ता । उक्त प्रथमो-द्देशक ।

साम्प्रतं द्वितीयव्याख्या प्रतन्यते, अस्य चायमभिस-म्बन्ध—इह अनन्तरोद्देशके सम्यग्वाद प्रतिपादित , स च प्रत्यनीकमिथ्यावादव्युदासेनात्मलाभ लभते , व्युदासश्च न परिज्ञानमन्तरेण, परिज्ञानं च न विचा-रमृते,अतो मिथ्यावादभूततीर्थिकमतविचारणायेदमुपक्रम्य-ते, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्येदमादिसूत्रम्-' जे आसवा ' इत्यादि, यदिवेह सम्यक्त्वमधिकृत , तच्च स-प्तपदार्थश्रद्धानात्मकम् ,तत्र मुमुक्षुणाऽवगतशास्त्रपरिज्ञाजीवा जीवपदार्थेन संसारमोक्षकारण निर्णेतव्ये , तत्र संसार-कारणमास्रवस्तद्ग्रहणाच्च बन्धग्रहणं, मोक्षकारण तु निर्ज-रा तद्ग्रहणाच्च सवरस्तत्कार्यभूतश्च मोक्ष सूचितो भव-

तीत्यत आश्रवनिर्जरे संसारमोक्षकारणभूते सम्यक्त्वविचारायाते दर्शयितुमाह—

जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा,जे अणासवा ते अपरिस्सवा जे अपरिस्सवा ते अणासवा, एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं । (सू० १३०)

'य' इति सामान्यनिर्देशः, आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म्म यैरारम्भैस्ते आस्रवा, परि.—समन्तात्स्रवति-गलति यैरनुष्ठानविशेषैस्ते परिस्रवाः, य एवास्रवा.—कर्मबन्धस्थानानि त एव परिस्रवा -कर्म्मनिर्जरास्पदानि। इदमुक्तं भवति-यानि इतरजनाचरितानि स्रगङ्गनादीनि सुखकारणतया तानि कर्म्मबन्धहेतुत्वादास्रवा', पुनस्तान्येव तत्त्वविदां विषयसुखपराङ्मुखानां नि सारतया संसारसरणिदेश्यानीति कृत्वा वैराग्यजनकानि अतः परिस्रवा'-निर्जरास्थानानि। सर्ववस्तूनामनैकान्तिकतां दर्शयितुमनदेव विपर्ययेणाह-' जे परिस्सवा ' इत्यादि, य एव पारिश्रवा -निर्जरास्थानानि—अर्हत्साधुतपश्चरणदशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानादीनि तान्येव कर्म्मोदयावष्टब्धशुभाध्यवसायस्य दुर्गतिमार्गप्रवृत्तसार्थवाहस्य जन्तोर्महाशातनावत सातर्द्धिरसगारवप्रवणस्यास्रवा भवन्ति—पापोपादानकारणानि जायन्ते। इदमुक्त भवति—यावन्ति कर्म्मनिर्जरार्थ संयमस्थानानि तद्वन्धनायासंयमस्थानान्यपि तावन्त्येव, उक्तं च-"यथाप्रकारा यावन्त.,संसारावेशहेतव.। तावन्तस्तद्विपर्यासा-निर्वाणसुखहेतव ॥१॥" तथाहि-रागद्वेषवासितान्त करणस्य विषयसुखोन्मुखस्य दुष्टाशयत्वात्सर्वे संसाराय, पिचुमन्दरसवासितास्यस्य दुग्धशर्करादिकटुकत्वापत्तिवदिति। सम्यग्दृष्टेस्तु विदितसंसारोदन्वतः न्यक्कृतविषयाभिलाषस्य सर्वमशुचि दु खकारणमिति च भावयत. सञ्जातसंवेगस्येतरजनसंसारकारणमपि मोक्षायेति भावार्थ । पुनरेतदेव गतप्रत्यागतसूत्रं सप्रतिषेधमाह-'जे अणासवा' इत्यादि, प्रसज्यप्रतिषेधस्य क्रियाप्रतिषेधपर्यवसानतया परिस्रवा इत्यनेन सह सम्बन्धाभावात् पर्युदासोऽयम्, आस्रवेभ्योऽन्येऽनास्रवा'—व्रतविशेषा., तेऽपि कर्म्मोदयादशुभाध्यवसायिनोऽपरिस्रवा' कर्म्मणः, कोङ्कणार्यप्रभृतीनामिवेति, तथाऽपरिस्रवा'—पापोपादानकारणानि केनचिदुपाधिना प्रवचनोपकारादिना क्रियमाणा कणवीरलताभ्रामकक्षुल्लकस्येवानास्रवा —कर्म्मबन्धनानि न भवन्ति, यदिवा-आस्रवन्तीत्यास्रवा, पचाद्यच् एवं परिस्रवन्तीति परिस्रवा', अत्र चतुर्भङ्गिका—तत्र मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैर्य एव कर्म्मणामास्रवा.—बन्धका त एवापरेषां परिस्रवा —निर्जरकाः, एते च प्रथमभङ्गपतिता सर्वेऽपि संसारिणश्चतुर्गतिका', सर्वेषां प्रतिक्षणमुभयसद्भावात्, तथा ये आस्रवास्तेऽपरिस्रवा इति शून्योऽयं द्वितीय भङ्गको, बन्धस्य शाटाविनाभावित्वाद्, एव येऽनास्रवास्ते परिस्रवा, एते चायोगिकेवलिनस्तृतीयभङ्गपातिता, चतुर्थ भङ्गपतितास्तु सिद्धा, तेषामनास्रवत्वादपरिस्रवत्वाच्चेति, अत्र चाद्यन्तभङ्गकौ सूत्रेपात्तौ, तदुपादाने च मध्योपादानस्यावश्यभावित्वात् मध्यभङ्गकद्वयग्रहणं द्रष्टव्यमिति। यच्च ततः किमित्याह-' एए पए' इत्यादि, एतानि-अनन्तरोक्तानि पद्यते—गम्यते येभ्योऽर्थस्तानि पदानि, तद्यथा—ये आस्रवा इत्यादीनि, परस्य चार्थावगत्यर्थ शब्दप्रयोगादेतत्पदवाच्यानर्थांश्च सम्यग्—अविपर्यासेन बुध्यमानस्तथा लोकं-जन्तुगणमास्रवद्वारायातेन कर्म्मणा बध्यमान तपश्चरणादिना च मुच्यमानमाज्ञया—तीर्थकरप्रणीतागमानुसारेणाभिसमेत्य—आभिमुख्येन सम्यक् परिच्छिद्य चशब्दो भिन्नक्रम. पृथक् प्रवेदितं चाभिसमेत्य पृथगास्रवोपादान निर्जरोपादानं चेत्येतच्च ज्ञात्वा को नाम धर्म्मचरणं प्रति नोद्यच्छेदिति ?, कथं प्रवेदितमिति चेत् ?. तदुच्यते, आस्रवस्तावज्ज्ञानप्रत्यनीकतया ज्ञाननिह्नवेन ज्ञानान्तरायेण ज्ञानप्रद्वेषेण ज्ञानात्याशातनया ज्ञानविसंवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म्म बध्यते, एवं दर्शनप्रत्यनीकतया यावद्दर्शनाविसंवादेन दर्शनावरणीय कर्म्म बध्यते, तथा प्राणिनामनुकम्पनतया भूतानुकम्पनतया जीवानुकम्पनतया सत्त्वानुकम्पनत्वेन बहूनां प्राणिनामदु'खोत्पादनतया अशोचनतया अजूरणतया अपीडनतया अपरितापनतया सातावेदनीयं कर्म्म बध्यते. एतद्विपर्ययाच्चासातावेदनीयमिति। तथाऽनन्तानुबन्ध्युत्कटतया तीव्रदर्शनमोहनीयतया प्रबलचारित्रमोहनीयसद्भावान्मोहनीय कर्म्म बध्यते, महारम्भतया महापरिग्रहतया पञ्चेन्द्रियवधात् कुणिमाहारेण नरकायुष्क बध्यते, मायावितया अनृतवादेन कूटतुलाकूटमानव्यवहारात्तिर्यगायुर्बध्यते, प्रकृतिविनीततया सानुक्रोशतया अमात्सर्यान्मनुष्यायुष्क. सरागसंयमेन देशविरत्या बालतपसा अकामनिर्जरया देवायुष्कमिति, कायर्जुतया भावर्जुतया भाषर्जुतया अविसंवादनयोगेन शुभनाम बध्यते, विपर्ययाच्च विपर्यय इति, जातिकुलबलरूपतप श्रुतलाभैश्वर्यमदाभावादुच्चैर्गोत्र, जात्यादिमदात् परपरिवादाच्च नीचैर्गोत्र. दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायविधानादान्तरायिक कर्म्म बध्यते। एते ह्यास्रवाः॥ साम्प्रतं परिश्रवा प्रतिपाद्यन्ते-अनशनादि सबाह्याभ्यन्तरं तप इत्यादि, एवमास्रवकनिर्जरका' सप्रभेदा जन्तवो वाच्या., सर्वेऽपि च जीवादयः पदार्थो मोक्षावसाना वाच्या' । एतानि च पदानि सम्बुध्यमानैस्तीर्थकरगणधरैर्लोकमभिसमेत्य पृथक् पृथक् प्रवेदितम्।

(१४)अन्योऽपि तदाज्ञानुसारी चतुर्दशपूर्वविदादि सत्त्वहिताय परेभ्य आवेदयतीत्येतद्दर्शयितुमाह—

आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवन्नाणं संबुज्झमाणाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्टावि संता अदुवा पमत्ता अहा सच्चमिणं ति बेमि। (सू० १३१)

ज्ञान सकलपदार्थाविर्भावकं विद्यते यस्यासौ ज्ञानी स आख्याति—आचष्टे इहेति प्रवचने केषा ?-मानवानां, सर्वसंवरचारित्राहत्वात्तेषाम्, अथवोपलक्षणं चैतद्देवादीनां, तत्रापि केवल्यादिव्युदासाय विशेषणमाह-' संसार' इत्यादि, संसारं-चतुर्गतिलक्षणं प्रतिपन्ना. संसारप्रतिपन्ना, तत्रापि ये धर्म्मं भोत्स्यन्ते प्रहीप्स्यन्ते च मुनिसुव्रतस्वामिघोटकदृष्टान्तेन तेषामेवाख्यातीत्येतद्दर्शयति-' सम्बुध्यमानानां ' यथोपदिष्ट धर्म्मं सम्यगवबुध्यमानानां, छद्मस्थेन त्वज्ञातबुध्यमानेतरविशेषेण यादृग्भूताना कथयितव्यं तान् सूत्रेणैव दर्शयति-' विज्ञानप्राप्ताना ' हिताहितप्राप्तिपरिहाराध्यवसायो-विज्ञानं तत्प्राप्ता विज्ञानप्राप्ता., समस्त-

पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः, संज्ञिन इत्यर्थः, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"आघाइधम्मं खलु से जीवाणं, तं जहा-संसारपडिवन्नाणं माणुसभवत्थाणं आरंभविणईणं दुक्खुव्वेअसुहेसगाणं धम्मसवणगवेसयाण सुस्सूसमाणाण पडिपुच्छमाणाणं विराणाणपत्ताणं" एतच्च प्रायो गतार्थमेव, नवरमारम्भविनयिनामित्यारम्भविनयः-आरम्भाभावः स विद्यते येषामिति मत्वर्थीयस्तेषामिति । यथा च ज्ञानी धर्ममाचष्टे तथा दर्शयति—' अट्टा वि ' इत्यादि, विज्ञानं प्राप्ता धर्मं कथ्यमानं कुतश्चिन्निमित्तादार्त्ता अपि सन्त चिलातिपुत्रादय इव, अथवा-प्रमत्ता विषयाभिष्वङ्गादिना शालिभद्रादय इव तथाविधकर्मक्षयोपशमापत्तेर्यथा प्रतिपद्यन्त तथाऽऽचष्टे—यदिवाऽऽर्त्ताः—दुःखिनः प्रमत्ता -सुखिनः, तेऽपि प्रतिपद्यन्ते धर्मं किं पुनरपरे ?, अथवाआर्त्ताः-रागद्वेषोदयेन प्रमत्ता विषये, ते च तीर्थिका गृहस्था वा संसारकान्तारं विशन्तः कथं भवना विज्ञातश्रेयानां करुणास्पदानां रागद्वेषविषयाभिलाषोन्मूलनाय न प्रभवन्ति । एतच्चान्यथा मा मंस्था इति दर्शयितुमाह-' अहासच्च 'मित्यादि, इद यन्मया कथितं कथ्यमानं च तयथासत्यं याथातथ्यमित्यर्थः इत्येतदहं ब्रवीमि, यथा दुर्लभम्—वाप्य सम्यक्त्व चारित्रपरिणाम वा प्रमादो न कार्यः । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । (धर्मविषयवक्तव्यता 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६८७ पृष्ठे उक्ता ।)

(१३) परमतव्युदासद्वारेण सम्यक्त्वमविचलं प्रतिपादयता तत्सहचरितं ज्ञानं तत्फलभूता च विरतिरभिहिता, सत्यपि चारित्रत्रये न पूर्वोपात्तकर्मणो निरवद्यतपोऽनुष्ठानमन्तरेण क्षयो भवतीत्यतस्तदधुना प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायतस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्—

उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगम्मि जे केइ विएणु, अणुवीए पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयचा धम्मविउ त्ति अंजू ,आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु सम्मत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिणमुदाहरंति इय कम्मं परिणाय सव्वसो । (सू० १३४)

योऽयमनन्तरं प्रतिपादितः पाषण्डिलोक एनं धर्माद्वहिर्व्यवस्थितमुपेक्षस्व—तदनुष्ठानं मा अनुमंस्थाः, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थ , तदुपदेशमभिगमनपर्युपासनदानसंस्तवादिकं च मा कृथा इति । यः पाषण्डिलोकोपेक्षकः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह—' से सव्वलोए ' इत्यादि, यः पाषण्डिलोकमनार्यवचनमवगम्य तदुपेक्षां विधत्ते स सर्वस्मिंल्लोके मनुष्यलोके ये केचिद्विद्वांसस्तेभ्योऽग्रणीर्विद्वत्तम इति स्यात् , लोके केचन विद्वांसः सन्ति ? येभ्योऽधिक स्यादित्यत आह— ' अणुवीइ ' इत्यादि, ये केचन लोके निक्षिप्तदण्डा —निश्चयेन क्षिप्तो निक्षिप्त —परित्यक्तः कायमनोवाङ्मयः प्राण्युपघातकारी दण्डो यैस्ते विद्वांसो भवन्त्येव एतदनुविचिन्त्य—पर्यालोच्य पश्य—अवगच्छ । के चोपरतदण्डा इत्यत आह— ' जे केइ ' इत्यादि, ये केचनावगतधर्माणः सत्त्वा —प्राणिनः ' पलित ' मिति कर्म तत्यजन्ति, ये चोपरतदण्डा भूत्वाऽष्टप्रकारं कर्म क्षपयन्ति ते विद्वांस इत्येतदनुविचिन्त्य—अक्षिनिमीलनेन पर्यालोच्य पश्य—विवेकिन्या मत्याऽवधारय । के पुनरशेषकर्मक्षयं कुर्वन्ति ? इत्यत आह—' नरं ' इत्यादि, नराः—मनुष्यास्त एवाशेषकर्मक्षयायालं नान्ये, तेऽपि न सर्वे अपि तु मृतार्चाः-मृतेव मृता संस्काराभावादर्चा शरीरं येषां ते तथा, निष्प्रतिकर्मशरीरा इत्यर्थः, यदिवा—अर्चा-तेजः, स च क्रोधः, स च कषायोपलक्षणार्थ , ततश्चायमर्थो-मृता-विनष्टा अर्चा कषायरूपा येषां ते मृतार्चाः, अकषायिण इत्यर्थः, किं च-धर्मम्—श्रुतचारित्राख्यं विदन्तीति धर्मविदः, इति हेतौ, यत एव धर्मविदोऽत एव ऋजवः-कौटिल्यरहिताः । स्यादेतत्—किमालम्ब्यैतद्विधेयमित्यत आह-' आरंभज ' मित्यादि, सावद्यक्रियानुष्ठानमारम्भस्तस्माज्जातमारम्भजं, किं तद् ?-दुःखमिदमिति सकलप्राणिप्रत्यक्षं, तथाहि-कृषिसेवावाणिज्याद्यारम्भप्रवृत्तो यच्छारीरमानसं दुःखमनुभवति तद्वाचामगोचरमित्यतः प्रत्यक्षाभिधायिनेदमुक्तम् । ' इति ' उपप्रदर्शने, इत्येतदनुभवसिद्धं दुःखं ज्ञात्वा मृतार्चा धर्मविद ऋजवश्च भवन्तीति । एतच्च समस्तवेदिनो भाषन्त इति दर्शयति-' एव ' मित्यादि, एवम्पूर्वोक्तप्रकारेण आहुः-उक्तवन्त , के एवमाहुः ?-सम्यक्त्वदर्शिनः-सम्यक्त्वदर्शिनः समस्तदर्शिनो वा, यदुद्देशकादेरारभ्योक्तं तदेवमूचुरित्यर्थः, कस्मात्त ऊचुरित्याह-' ते सव्वे ' इत्यादि, यस्मात्ते सर्वेऽपि सर्वविद ' प्रावादिकाः ' प्रकर्षेण मर्यादया वदितुं शील येषां ते प्रावादिनः त एव प्रावादिकाः —यथावस्थितार्थस्य प्रतिपादनाय वावदूकाः , दुःखस्य-शारीरमानसलक्षणस्य तदुपादानस्य वा कर्मणः कुशला-निपुणास्तदपनोदोपायवेदिनः सन्त ते सर्वेऽपि ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय हेयार्थस्य प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति, ' इति ' उपप्रदर्शने, इत्येव पूर्वोक्तनीत्या कर्मबन्धोदयसत्कर्मताविधानतः परिज्ञाय सर्वशः —सर्वैः प्रकारैः कुशला प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति, यदिवा-मूलोत्तरप्रकृतिप्रकारैः सर्वैः परिज्ञायेति मूलप्रकारा अष्टौ उत्तरप्रकृतिप्रकारा अष्ट पञ्चाशदुत्तर शतम्, अथवा-प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशप्रकारैः, यदिवा उदयप्रकारैर्बन्धसत्कर्मताकार्यभूतैरागामिबन्धसत्कर्मताकारणैश्च कर्म परिज्ञायेति, ते चामी उदयप्रकारा , तद्यथा—मूलप्रकृतीनां त्रीण्युदयस्थानानि, अष्टविधं सप्तविधं चतुर्विधमिति, तत्राष्टापि कर्मप्रकृतीर्यौगपद्येन वेदयतोऽष्टविधं, तच्च कालतोऽनादिकमपर्यवसितमभव्यानां, भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितं सादिसपर्यवसितं चेति, मोहनीयोपशमे क्षये वा सप्तविधं, घातिक्षये चतुर्विधमिति ॥ साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानान्युच्यन्ते—तत्र ज्ञानावरणीयान्तराययोः पञ्चप्रकारं एकमुदयस्थानं, दर्शनावरणीयस्य द्वे, दर्शनचतुष्कस्योदयाच्चत्वारि अन्यतरनिद्रया सह पञ्च, वेदनीयस्य सामान्येनैकमुदयस्थानं सातमसातं वेति, विरोधाद्यौगपद्योदयाभावः, मोहनीयस्य सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा—दश नव अष्टौ सप्त षट् पञ्च चत्वारि द्वे एकं चेति, तत्र—दश मिथ्यात्व १ अनन्तानुबन्धी क्रोधोऽप्रत्याख्यानः प्रत्याख्यानावरणः संज्व-

लनश्चेत्येतत्क्रोधचतुष्टयम् ५ एवं—मानाऽऽदिचतुष्टयमपि योज्यम् अन्यतरो वेद ६ हास्यरतियुग्मम् अरतिशोकयुग्म वा ८ भयं ९ जुगुप्सा १० चेति, भयजुगुप्सयोरन्यतरभावे नव, द्वयाभावेऽष्टौ, अनन्तानुबन्ध्यभावे सप्त, मिथ्यात्वाभावे षट्, अप्रत्याख्यानोदयाभावे पञ्च, प्रत्याख्यानावरणाभावे चत्वारि, परिवर्त्तमानयुगलाभावे संज्वलनान्यतरवेदोदये सति द्वे, वेदाभावे एकमिति, आयुषोऽप्येकमेवोदयस्थानं चतुर्णामायुषामन्यतरदिति, नाम्नो द्वादशोदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशतिः सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ चेति, तत्र संसारस्थाना सयोगिनां जीवाना दशोदयस्थानानि नाम्नो भवन्ति अयोगिना तु चरमद्वयमिति। अत्र च द्वादश ध्रुवोदया कर्मप्रकृतय, तद्यथा-तैजसकार्मणे शरीरे १-२ वर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्टयम्, ६ अगुरुलघु ७ स्थिरम् ८ अस्थिरं ९ शुभम् १० अशुभ ११ निर्म्माण १२ मिति। तत्र विंशतिरतीर्थकरकेवलिन समुद्घातगतस्य कार्मणशरीरयोगिनो भवति, तद्यथा-मनुष्यगति १ पञ्चेन्द्रियजाति २ त्रस ३ बादरं ४ पर्याप्तकं ५ सुभगम् ६ आदेय ७ यश कीर्त्तिरिति ८ ध्रुवोदय १२ सहिता विंशति २०, एकविंशत्यादीनि तूदयस्थानानि एकत्रिंशत्पर्यन्तानि जीवगुणस्थानभेदादनेकभेदानि भवन्ति, तानि चेह ग्रन्थगौरवभयात् प्रत्येक नोच्यन्त इत्यत एकैकभेदावेदनं क्रियते, तत्रैकविंशति गति १ जाति २ आनुपूर्वी ३ त्रसं ४ बादर ५ पर्याप्तापर्याप्तयोरन्यतरत् ६ सुभग दुर्भगयोरन्यतरत् ७ आदेयानादेययोरन्यतरत् ८ यश कीर्त्त्ययशःकीर्त्त्योरन्यतरत् ९, एताश्च नव ध्रुवोदय १२ सहिता एकविंशति २१, चतुर्विंशतिस्तु तिर्यग्गति १ एकेन्द्रियजाति २ औदारिकं ३ हुण्डसंस्थानम् ४ उपघातं ५ प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरत् ६ स्थावर ७ सूक्ष्मबादरयोरन्यतरत् ८ दुर्भगम् ९ अनादेयम् १० अपर्याप्तकं ११ यश कीर्त्त्ययश कीर्त्त्योरन्यतर १२ दिति। तत्रैवापर्याप्तकापनयनं पार्याप्तकपराघाताभ्या प्रक्षिप्ताभ्या पञ्चविंशतिः २५, षड्विंशतिस्तु याऽसौ केवलिनो विंशतिरभिहिता सैवौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गद्वयान्यतरसंस्थानाद्यसंहननोपघातप्रत्येकसहिता वेदितव्या मिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्य २६, सैव तीर्थकरनामसहिता केवलिसमुद्घातवतो मिश्रकाययोगिन एव सप्तविंशति २७, सैव प्रशस्तविहायोगतिसमन्विताऽष्टाविंशतिः २८ तत्र तीर्थकरनामापनयने उच्छ्वास १ सुस्वर २ पराघात ३ प्रक्षेपे सति त्रिंशद्भवति ३० तत्र सुस्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत् २९ सैव त्रिंशत्तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशत् ३१, नवोदयस्तु मनुष्यगति १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ त्रस ३ बादर ४ पर्याप्तक ५ सुभगम् ६ आदेय ७ यशःकीर्त्ति ८ स्तीर्थकरमिति ९, एता अयोगितीर्थकरकेवलिन, एता एव तीर्थकरनामरहिता अष्टाविति ८, गोत्रस्यैकमेव सामान्येनोदयस्थानम्, उच्चनीचयोरन्यतरद् यौगपद्येनोदयाभावो विरोधादिति। तदेवमुदयभेदैरनेकप्रकारता कर्मण परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्तीति।

(१७)यदि नाम कर्मपरिज्ञामुदाहरन्ति तत किं कार्यमित्याह-

इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं,-जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ। एवं अत्तसमाहिए अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे। (सू० १३५)

इह—अस्मिन् प्रवचने आज्ञामाकाङ्क्षितुं शीलमस्येति आज्ञाकाङ्क्षी—सर्वज्ञोपदेशनुष्ठयी, यश्चैवम्भूतः स पण्डितो विदितवेद्य अस्निहो भवति, स्निह्यते— श्लिष्यतेऽष्टप्रकारेण कर्मणेति स्निहो न स्निहोऽस्निहः, यदिवा-स्निह्यतीति स्निहो रागवान् यो न तथा सोऽस्निह उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य रागद्वेषरहित इत्यर्थ । अथवा-निश्चयेन हन्यत इति निहत भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभि, यो न तथा सोऽनिहत इह प्रवचने आज्ञाकाङ्क्षी पण्डितो भावरिपुभिरनिहतो, नान्यत्र, यश्चानिहतः स परमार्थतः कर्मण परिज्ञाता। यश्चैवम्भूतः स किं कुर्यादित्याह—'एगमप्पाण, मित्यादि, सोऽनिहतोऽस्निहो वा आत्मानमेकं धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रशरीरादिव्यतिरिक्त सम्प्रेक्ष्य—पर्यालोच्य धुनीयाच्छरीरक, सम्भावनाया लिङ्, सर्वस्मादात्मानं व्यतिरिक्त पश्यतः सम्भाव्यत एतच्छरीरविधूननमिति । तच्च कुर्वता संसारस्वभावैकत्वभावनैवरूपा भावयितव्येति—

"ससार एवायमनर्थसारः,
क कस्य कोऽत्र स्वजन परो वा ?।
सर्वे भ्रमन्तः स्वजना परे च,
भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः ॥ १ ॥
विचिन्त्यमेतद्भवताऽहमेको,
न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात्।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव,
अहम्पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥ २ ॥
सदैकोऽहं न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम ॥ ३ ॥"

तथा—

"एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्।
जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥ १ ॥"

इत्यादि, किं च—'कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं' परव्यतिरिक्त आत्मा शरीरं तत् कष्टतपश्चरणादिना कृशं कुरु, यदिवा—कष—कस्मै कर्मणेऽलमित्येवं पर्यालोच्य यच्छक्तोपि तत्र नियोजयेदित्यर्थ, तथा जरशरीरक जरीकुरु, तपसा तथा कुरु यथा जराजीर्णमिव प्रतिभासते, विकृतिपरित्यागद्वारेणात्मानं नि सारतामापादयेदित्यर्थ, किमर्थमित्येतदिति। चेदाह—'जहा' इत्यादि, यथा जीर्णानि-नि साराणि काष्ठानि हव्यवाहो हुतभुक्प्रमथ्नाति—शीघ्रं भस्मसात् करोति, दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—'एवं अत्तसमाहिए' एवम्-अनन्तरोक्तदृष्टान्तप्रकारेणात्मना समाहित आत्मसमाहितः, ज्ञानदर्शनचारित्रोपयोगेन सदोपयुक्त इत्यर्थ, आत्मा वा समाहितोऽस्येत्यात्मसमाहित, सदा शुभव्यापारवानित्यर्थः, आहिताग्न्यादिदर्शनादार्षत्वाद्वा निष्ठान्तस्य परनिपात, यदिवा-प्राकृते पूर्वोत्तरनिपातोऽतन्त्र, समाहितात्मेत्यर्थ। अस्निह - स्नेहरहितः सस्तपोऽग्निना कर्मकाष्ठं दहतीति भावार्थ।

(१८) एतदेव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकगतमर्थं निर्युक्तिकारो गाथयोपसञ्जिघृक्षुराह—

जह खलु झुसिरं कट्ठं, सुचिरं सुक्कं लहुं डहइ अग्गी ।
तह खलु खवंति कम्मं, सम्मचरणे ठिया साहू ॥२३४॥

गतार्थो । अत्र चाक्षिहपदेन रागनिवृत्तिं विधाय द्वेषनिवृत्तिं विधित्सुराह—'विगिंच कोह' मित्यादि, कारणेऽकारणे चाऽतिक्रूराध्यवसाय क्रोधं तं परित्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयति—अविकम्पमानः ।

(१९) किं विगणय्यैतत्कुर्यादित्याह—

इमं निरुद्धाउयं संपेहाए , दुक्खं च जाण अदु आगमेस्सं , पुढो फासाइं च फासे , लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया , तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि त्ति बेमि । (सू० १३६)

इदं-मनुष्यत्वं निरुद्धायुष्कं—निरुद्धं—परिगलितमायुष्कं सम्प्रेक्ष्य-पर्यालोच्य क्रोधादिपरित्यागं विदध्यात्, किं च-'दुक्ख' मित्यादि क्रोधादिना दन्दह्यमानस्य यन्मानसं दुःखमुत्पद्यते तज्जानीहि, तज्जनितकर्मविपाकापादितं चागामि दुःखं सम्प्रेक्ष्य क्रोधादिकं प्रत्याख्यानपरिज्ञया जानीहि, परित्यजेरित्यर्थः, आगामिदुःखस्वरूपमाह-'पुढो' इत्यादि, पृथक् सप्तनरकपृथिवीसम्भवशीतोष्णवेदनाकुम्भीपाकादियातनास्थानेषु स्पर्शान्—दुःखानि, चः समुच्चये, न केवलं क्रोधाध्मातस्तस्मिन्नेव क्षणे दुःखमनुभवतीत्यगामीनि पृथक् दुःखानि च स्पृशेद्—अनुभवेत्, नेन चातिदुःखेनापरोऽपि लोको दुःखित इत्येतदाह—'लोयं च' इत्यादि, न केवलं क्रोधादिविपाकादात्मा दुःखान्यनुभवति, लोकं च शारीरमानसदुःखापन्नं विस्पन्दमानमस्वतन्त्रमितश्चेतश्च दुःखप्रतीकाराय धावन्तं पश्य—विवेकचक्षुषाऽवलोकय । ये त्वेवं न ते किम्भूता भवन्तीत्यत आह—'जे निव्वुडा' इत्यादि, ये तीर्थकरोपदेशवासितान्तःकरणा विषयकषायाभ्युपशमान्निर्वृता:-शीतीभूता पापेषु कर्मसु अनिदाना—निदानरहितास्ते परमसुखास्पदतया व्याख्याता:, औपशमिकसुखभाक्त्वेन प्रसिद्धा इत्यर्थः, यत एव ततः किमित्याह—'तम्हा' इत्यादि, यस्माद्रागद्वेषाभिभूतो दुःखभाग्भवति तस्मादतिविद्वान्-विदिनागमसद्भावः सन्न प्रतिसञ्ज्वले—क्रोधाग्निनाऽऽत्मानं नोद्दीपयेः, कषायोपशमं कुर्वित्यर्थः । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, सम्यक्त्वाध्ययने तृतीयोद्देशकटीका समाप्तेति । उक्तस्तृतीयोद्देशकः ।

साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके निरवद्यं तपोऽभिहितं, तच्चाविकलं सत्संयमव्यवस्थितस्य भवतीत्यतः संयमप्रतिपादनाय चतुर्थोद्देशक इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशस्यादि सूत्रम्—

आवीलए पवीलए निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं, तम्हा अविमणे वीरे , सारए समिए सहिए सया जए , दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामिणं, विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि । (सू० १३७)

आङीषदर्थे, ईषत्पीडयेद् अविकृष्टेन तपसा शरीरकमापीडयेद्, एतच्च प्रथमप्रव्रज्याऽवसरे, तत ऊर्ध्वमधीतागमः परिणतार्थसद्भावः सन् प्रकर्षेण विकृष्टतपसा पीडयेत्प्रपीडयेत्, पुनरध्यापितान्तेवासिवर्गः सङ्क्रामितार्थसारः शरीरं निर्ममत्वो मासार्द्धमासक्षपणादिभिः शरीरं निश्चयेन पीडयेन्निष्पीडयेत्, स्यात्—कर्मक्षयार्थं तपोऽनुष्ठीयते । स च पूजालाभख्यात्यर्थेन तपसा न भवत्यतो निरर्थक एव शरीरपीडनोपदेश इत्यतोऽन्यथा व्याख्यायते—कर्मैव कार्मणशरीरं वा आपीडयेत्प्रपीडयेन्निष्पीडयेत्, अत्रापीषदर्थाधिका प्रकर्षगतिरवसेया, यदि वा—आपीडयेत्कर्म अपूर्वकरणादिकेषु सम्यग्दृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु, ततोऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोः प्रपीडयेत्, सूक्ष्मसम्परायावस्थायां तु निष्पीडयेत्, अथवा-आपीडनमुपशमश्रेण्यां,प्रपीडनं क्षपकश्रेण्या, निष्पीडनं तु शैलेश्यवस्थायामिति । किं कृत्वैतत्कुर्यादित्याह-'जहित्ता' इत्यादि, पूर्वः संयोगः पूर्वसंयोगो-धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतस्तं त्यक्त्वा, यदि वा-पूर्वः असंयमोऽनादिभवाभ्यासात्तेन संयोगः पूर्वसंयोगस्तं त्यक्त्वा 'आवीलये' दित्यादिसम्बन्धः, किं च-'हिच्चा' इत्यादि, हि गतावित्यस्मात् पूर्वकाले क्त्वा हित्वा—गत्वा किं तत् ?-उपशमम्-इन्द्रियनोइन्द्रियजयरूपं संयमं वा गत्वा-प्रतिपद्यापीडयेदिति वर्तते । इदमुक्तं भवति—असंयमं त्यक्त्वा संयमं प्रतिपद्य तपश्चरणादिनाऽऽत्मानं कर्म वाऽऽपीडयेत् प्रपीडयेन्निष्पीडयेदिति, यतः कर्मापीडनार्थमुपशमप्रतिपत्तिस्तत्प्रतिपत्तौ चाविमनस्कतेत्याह-'तम्हा' इत्यादि, यस्मात्कर्मक्षयायासंयमपरित्यागस्तत्परित्यागे चावश्यंभावी संयमस्तत्र च न चित्तवैमनस्यमिति, तस्मादविमना विगतं भोगकषायादिष्वरतौ वा मनो यस्य स विमना यो न तथा सोऽविमना, कोऽसौ ?, वीरः-कर्मविदारणसमर्थः, । अविमनस्कत्वाच्च यत्स्यात्तदाह-'सारए' इत्यादि, सुष्ठु—जीवनमर्यादया संयमानुष्ठाने रतः स्वारतः, पञ्चभिः समितिभिः समितः, सह हितेन सहितो ज्ञानादित्रिसमन्वितो वा सहितः, सदा—सर्वकालं सकृदारोपितसंयमभारः सन्तत्र यतेत—यत्नवान् भवेदिति । किमर्थं पुनः-पौनःपुन्येन संयमानुष्ठाने प्रत्युपदेशो दीयते ? इत्याह-'दुरणुचरो' इत्यादि, दुःखेनानुचर्यत इति दुरनुचरः, कोऽसौ ?—मार्गः—संयमानुष्ठानविधिः, केषां ?-वीराणाम्-अप्रमत्तयतीनां, किम्भूतानामित्याह-'अणियट्ट' इत्यादि, अनिवर्त्तो—मोक्षस्तत्र गन्तुं शील येषां ते तथा तेषामिति, यथा च तन्मार्गानुचरणं कृतं भवति तद्दर्शयति-'विगिंच' इत्यादि, मांस-शोणितं-दर्पकारि विकृष्टतपोऽनुष्ठानादिना विवेचय—पृथक्कुरु, तद्ध्रास विधेहीति यावत्, एवं वीराणां मार्गानुचरणं कृतं भवतीति भावः । यश्चैवम्भूतः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह-'एस' इत्यादि, एष-मांसशोणितयोरपनेता पुरि शयनात् पुरुषः द्रव-संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकः भव्यार्थोऽयम्,

द्रव्यभूतो वा मुक्तिगमनयोग्यत्वात्, कर्मरिपुविदारणसहिष्णुत्वाद्वीर इति, मांसशोणितापचयप्रतिपादनाच्च तदुत्तरेषामपि मेदआदीनामपचय उक्त एवं द्रष्टव्य., तद्भावभावित्वात्तेषामिति । किं च—'आयाणिज्जे' इत्यादि, स वीराणां मार्गं प्रतिपन्नः मांसशोणितयोरपनेता मुमुक्षूणामादानीयो—ग्राह्य आदेयवचनश्च व्याख्यात इति । कथंभूत इत्याह—' जे धुणइ' इत्यादि, ' ब्रह्मचर्ये ' संयमे मदनपरित्यागे वोषित्वा यः समुच्छ्रय-शरीरकं कर्म्मोपचयं वा तपश्चरणादिना धुनाति-कृशीकरोति स आदानीय इति विविधमाख्यातो व्याख्यात इति सम्बन्ध. ।

(२०)उक्ता अप्रमत्ताः, तद्विधर्म्मणस्तु प्रमत्तानभिधित्सुराह

निचेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगढिए बाले, अव्वोच्छिन्नबंधणे अणभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो नत्थि त्ति बेमि । (सू० १३८)

नयत्यर्थदेशम्—अर्थक्रियासमर्थमर्थमाविर्भावयन्तीति नेत्राणि—चक्षुरादीनीन्द्रियाणि तैः परिच्छिन्नैः—यथास्वं विषयग्रहणं प्रति निरुद्धैः सद्भिरादानीयोऽपि भूत्वोषित्वा ब्रह्मचर्ये पुनर्मोहोदयादादानस्रोतो गृद्ध.—आदीयते-सावद्यानुष्ठानेन स्वीक्रियत इत्यादानं-कर्म्म संसारबीजभूतं तस्य स्रोतांसि-इन्द्रियविषया मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा वा तेषु गृद्ध -अध्युपपन्नः स्यात्, कोऽसौ ?-'बाल.' अज्ञ रागद्वेषमहामोहाभिभूतान्त.करण. । यश्चादानस्रोतोगृद्ध. स किम्भूत स्यादित्याह- अव्वोच्छिन्नबंधणे' इत्यादि. अव्यवच्छिन्न जन्मशतानुवृत्ति बन्धनम्-अष्टप्रकारं कर्म्म यस्य स तथा, किं च-'अणभिक्कंत' इत्यादि, अनभिक्रान्त —अनतिलङ्घितः संयोगो—धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतोऽसंयमसंयोगो वा येनासावनभिक्रान्तसंयोग. तस्य चैवम्भूतस्येन्द्रियानुकूलरूपे मोहात्मके वा तमसि वर्त्तमानस्यात्महितं मोक्षोपायं वाऽविजानत आज्ञाया —तीर्थकरोपदेशस्य लाभो नास्तीत्येतदहं ब्रवीमि तीर्थकरवचनोपलम्भसद्भावा इति, यदि वा-आज्ञा—बोधिः सम्यक्त्वम्, अस्तिशब्दश्चायं निपातस्त्रिकालविषयी, तेनायमर्थ —तस्यानभिक्रान्तसंयोगस्य भावतमसि वर्त्तमानस्य बोधिलाभो नासीन्नास्ति न भावीति ।

एतदेवाह—

जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ?, से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, संममेयं ति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं, निक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तओ निज्जाइ वेयवी । (सू० १३९)

यस्य कस्यचिदविशेषितस्य कर्म्मादानस्रोतोगृद्धस्य बालस्याव्यवच्छिन्नबन्धनस्यानभिक्रान्तसंयोगस्य ज्ञानतमसि वर्त्तमानस्य पुरा—पूर्वजन्मनि बोधिलाभो नास्ति—सम्यक्त्वं नासीत्' पश्चादपि ' एष्येऽपि जन्मनि न भावि मध्ये—मध्यजन्मनि तस्य कुतः स्यात् इति ?, एतदुक्तं भवति—यस्यैव पूर्वं बोधिलाभः संवृत्तो भविष्यति वा तस्यैव वर्त्तमानकाले भवति, येन हि सम्यक्त्वमास्वादितं पुनर्मिथ्यात्वोदयात्तत्प्रच्यवते तस्यापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तेनापि कालेनावश्यं तत्सद्भावात्, न ह्ययं सम्भवोऽस्ति प्रच्युतस्य सम्यक्त्वस्य पुनरसम्भव एवेति । अथवा-निरुद्धेन्द्रियोऽपि आदानस्रोतो गृद्ध इत्युक्तं, तद्विपर्ययभूतस्य त्वतिक्रान्तसुखस्मरणमकुर्वतः आगामि च दिव्याङ्गनाभोगमनभिकाङ्क्षतो वर्त्तमानसुखाभिष्वङ्गोऽपि नैव स्यादित्येतद्दर्शयितुमाह—' जस्स नत्थि ' इत्यादि, यस्य भोगविपाकवेदिनः पूर्वभुक्तानुस्मृतिर्नास्ति नापि पाश्चात्यकालभोगाभिलाषिता विद्यते तस्य व्याधिचिकित्सारूपान् भोगान् भावयतो मध्ये—वर्त्तमानकाले कुतो भोगेच्छा स्यात् ?, मोहनीयोपशमान्नैव स्यादित्यर्थ. । यस्य तु त्रिकालविषया भोगेच्छा निवृत्ता स किम्भूतः स्यादित्याह- ' से हु ' इत्यादि, ' हु ' यस्मादर्थे, यस्मान्निवृत्तभोगाभिलाषस्तस्मात्स प्रज्ञानवान्—प्रकृष्ट ज्ञानं प्रज्ञानं—जीवाजीवादिपरिच्छेत्तृ तद्विद्यते यस्यासौ प्रज्ञानवान्, यत एव प्रज्ञानवानत एव बुद्ध.—अवगततत्त्वो, यत एवम्भूतोऽत एवाह—' आरंभोवरए ' सावद्यानुष्ठानमारम्भस्तस्मादुपरत आरम्भोपरत । एतच्चारम्भोपरमणं शोभनमिति दर्शयन्नाह—' सम्म ' मित्यादि, यदिदं सावद्यारम्भोपरमणं सम्यगेतत्—शोभनमेतत् सम्यक्त्वकार्यत्वाद्वा सम्यक्त्वमेतदित्येवं पश्यत—एवं गृह्णीत यूयमिति । किमित्यारम्भोपरमणं सम्यगिति चेदाह—' जेण ' इत्यादि, येन कारणेन सावद्यारम्भप्रवृत्तो बन्धं निगडादिभि वधं कशादिभिः घोरं—प्राणसंशयरूपं परितापं—शारीरमानसं दारुणम्—असह्यमवाप्नोत्यत आरम्भोपरमणं सम्यग्भूतं कुर्यात् । किं कृत्वेत्याह—' पलिच्छिन्दि ' इत्यादि, परिच्छिन्द्य—अपनीय, किं तत् ?—स्रोत.-पापोपादान, तच्च बाह्य धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादरूपं हिंसाद्याश्रवद्वारात्मकं वा, चशब्दादान्तरं च रागद्वेषात्मकं विषयपिपासारूपं वेति, किं च—' णिक्कम्मदंसी ' त्यादि, निष्क्रान्त. कर्म्मणो निष्कर्म्मा—मोक्ष. संवरो वा तं द्रष्टुं शीलमस्येति निष्कर्म्मदर्शी, इहेति—संसारे मर्त्येषु मध्ये य एव निष्कर्मदर्शी स एव बाह्याभ्यन्तरस्रोतसश्छेत्तेति स्यात् । किमभिसन्धय स बाह्याभ्यन्तरसंयोगस्य छेत्ता निष्कर्मदर्शी वा भवेत् इत्यत आह- ' कम्माण ' इत्यादि, मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः क्रियन्ते—बध्यन्त इति कर्माणि-ज्ञानावरणीयादीनि तेषां सफलत्वं दृष्ट्वा स वा निष्कर्मदर्शी वेदविद्वा कर्मणां फलं दृष्ट्वा, तेषां च फलं—ज्ञानावरणीयस्य ज्ञानावृति दर्शनावरणस्य दर्शनाच्छादनं वेदनीयस्य विपाकोदयजनिता वेदनेत्यादि, ननु च न सर्वेषां कर्म्मणां विपाकोदयमिच्छन्ति, प्रदेशानुभवस्यापि सद्भावात् तपसा च क्षयोपपत्तेरित्यत कथं कर्म्मणां सफलत्वं ?, नैष दोषो, नात्र प्रकारकार्त्स्न्यमभिप्रेतम्, अपितु द्रव्यकार्त्स्न्यं, तच्चास्त्येव, तथाहि—यद्यपि प्रतिबन्धव्यक्तिं न विपाकोदयस्तथाप्यष्टानामपि कर्म्मणां सामान्येन सोऽस्त्येवेत्यत. कर्म्मणां सफलत्वमुपलभ्यते, तस्मात्—कर्म्मणस्तदुपादानादास्रवाद्वा निश्चयेन याति निर्याति-निर्गच्छति, तत्र विधत्त इति यावत्, कोऽसौ ?-' वेदविद् ' वे-

यते सकलं चराचरमनेनेति वेदः--आगमस्तं वेत्तीति वेद-वित्, सर्वज्ञोपदेशवर्त्तीत्यर्थः।

[२१] न केवलस्य ममैवायमभिप्रायः, सर्वेषामेव तीर्थकराणामयमाशय इति दर्शयितुमाह--

जे खलु भो! वीरा ते समिया सहिया सयाजया संघडदंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा पाईणं पडीणं दाहिणं उईणं इय सच्चंसि परि (चिए) चिट्ठिंसु, साहिस्सामो नाणं वीराणं समियाणं सहियाणं सयाजयाणं संघडदंसीणं आओवरयाणं अहातहं लोयं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही?, पासगस्स न विज्जइ नत्थि त्ति-बेमि। (सू० १४०)

यदिवा उक्तं सम्यग्वादो निरवद्यं तपश्चारित्रं च,अधुना तत्फलमुच्यते--'जे खलु' इत्यादि, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, ये केचनातीतानागतवर्त्तमाना. 'भो' इत्यामन्त्रणे, वीरा--कर्मविदारणसहिष्णवः समिता. समितिभि' सहिता ज्ञानादिभिः सदा यता 'सत्संयमेन 'संघडदंसिणो' त्ति-निरन्तरदर्शिनः शुभाशुभस्य आत्मोपरता. पापकर्मभ्यो यथा तथा अवस्थितं लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं कर्मलोकं वोपेक्षमाणा --पश्यन्त. सर्वासु प्राच्यादिषु दिक्षु व्यवस्थिता इत्येवप्रकारा 'सत्य' मिति--ऋतं तपः संयमो वा तत्र परिचित--स्थिरे तस्थु -स्थितवन्त., उपलक्षणार्थत्वात् त्रिकालविषयता, द्रष्टव्या तत्रातीते काले अनन्ता अपि सत्ये तस्थु, वर्त्तमाने पञ्चदशसु कर्मभूमिषु सङ्ख्येयास्तिष्ठन्ति अनागते अनन्ता अपि स्थास्यन्ति, तेषां चातीतानागतवर्त्तमानानां सत्यवता यज्ज्ञानं-योऽभिप्रायस्तदहं कथयिष्यामि भवता शृणुत यूय, किम्भूताना तेषां?-वीराणामित्यादीनि विशेषणानि गतार्थानि। किम्भूतं ज्ञानमिति चेदाह-किं प्रश्ने अस्ति- विद्यते?, कोऽसौ?-उपाधि.-कर्मजनितं विशेषण, तद्यथा--नारकस्तिर्यग्योनः सुखी दु खी सुभगो दुर्भगः पर्याप्तकोऽपर्याप्तक इत्यादि, आहोस्विन्न विद्यत इति परमतमाशङ्क्य त ऊचु पश्यकस्य--सम्यग्वादादिकमर्थं पूर्वोपात्तं पश्यतीति पश्य स एव पश्यकस्तस्य कर्मजनितोपाधिर्न विद्यते, इत्येतदनुसारेणाहमपि ब्रवीमि न स्वमनीषिकयेति। गत. सूत्रानुगम। तद्गतौ च समाप्तश्चतुर्थोद्देशको नयविचारातिदेशात् समाप्तं सम्यक्त्वाध्ययनं चतुर्थमिति। आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ०। ['तए णं से आणंदे गाहावई' इत्यारभ्य पाठ 'आणंद' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठे गत।] ['पसत्थखित्ते' इत्यादि पाठ. 'अणुव्वय' शब्दे प्रथमभागे ४१७पृष्ठे गत।] ['अहाछंद' शब्दे प्रथमभागे ८६५ पृष्ठे यथाछन्दाचरणसम्यक्त्वफलमुक्तम्।]

[२२] यस्मात् श्रावकधर्मस्य तावत् मूलं सम्यक्त्वं तस्मात् तद्गतमेव विधिमभिधातुकाम आह-

तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिकमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ। (आव०) नत्तत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं से अ सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीअकम्माणुवेअणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइ-लिंगे सुहे आयपरिणामे पन्नत्ते।

श्रमणामुपासक. श्रमणोपासक. श्रावक इत्यर्थः, श्रमणोपासकः पूर्वमेव आदावेव श्रमणोपासको भवन्-मिथ्यात्वात् तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपात्प्रतिक्रामति-निवर्त्तते न तन्निवृत्तिमात्रमत्राभिमतं' किं तर्हि? तन्निवृत्तिद्वारेण सम्यक्त्वं तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूपम्, उप-सामीप्येन प्रतिपद्यते, सम्यक्त्वमुपसपन्नस्य सतः न 'से' तस्य कल्पते-युज्यते अद्यप्रभृति सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकालादारभ्य किं न कल्पते अन्यतीर्थिकाश्चरकपरिव्राजकभिक्षुभौतादीन् अन्यतीर्थिकदैवतानि रुद्रविष्णुसुगतादीनि अन्यतीर्थिकपरिगृहीतानि वा अर्हत्'चैत्यानि वा अर्हत्प्रतिमालक्षणानि यथा भौतपरिगृहीतानि वीरभद्रमहाकालादीनि वन्दितुं वा नमस्कर्तुं वा। तत्र वन्दनम्-अभिवादनं नम करणं-प्रणामपूर्वकं प्रशस्तध्वनिभिर्गुणोत्कीर्त्तनं को दोषः स्यात्?,अन्येषां तद्भक्तानां मिथ्यात्वादिस्थिरीकरणादिरिति,तथा पूर्वम्-आदावनालप्तेन सता अन्यतीर्थिकैस्तानेवालप्तुं वा संलप्तुं वा, तत्र सकृत् सम्भाषणमालापनं पौनःपुन्येन संलपनम्। को दोष. स्यात्ते हि तप्ततरायोगोलककल्पा. खल्वासनादिक्रियायां नियुक्ता भवन्ति तत्प्रत्ययः कर्मबन्ध, तथा तेन वा प्रणयेन गृहागमनं कुर्यु. अथ च श्रावकस्य स्वजन परिजनो वा अगृहीतसमयसारस्तैस्सह सम्बन्धं यायादित्यादि प्रथमालप्तेन त्वसम्भ्रमं लोकापवादभयात्कीदृशस्त्वमित्यादि वाच्यमिति,तथा तेषामन्यतीर्थिकानामशन--घृतपूर्णादि पानं--द्राक्षापानादि खादिमं अपुपफलादि स्वादिमं-कक्कोललवङ्गादि दातुं वा अनुप्रदातुं वा न कल्पते इति। तत्र सकृत् दानं पुन पुनरनुप्रदानमिति, किं सर्वथैव न कल्पत इति?, न अन्यथा राजाभियोगेनेति-राजाभियोगं मुक्त्वा बलाभियोगं मुक्त्वा देवताभियोगं मुक्त्वा गुरुनिग्रहेण गुरुनिग्रहं मुक्त्वा 'वित्तिकंतारे', त्ति--वृत्तिकान्तारं मुक्त्वा। एतदुक्तं भवति--राजाभियोगादिना ददत्पि न धर्ममतिक्रामति इह चोदाहरणानि 'कह रायाभियोगेण देंतो नातिचरति धम्मं' तत्रोदाहरणम्--' हत्थिणापुरे नयरे जियसत्तू राया कत्तिओ सेट्ठी नेगमसहस्सपढमासणिओ सावगचक्खगो एव कालो वच्चइ,तत्थ य परिव्वायगो मास मासेण खमति तं सव्वलोगो आढइ,कत्तिओ नाढाइ। ताहे से सो गेरुओ पओसमावण्णो छिद्दाणि मग्गइ, अन्नया रायाए निमंतिओ पारणए नेच्छइ। बहुसो राया निमंतेइ ताहे भणइ-जइ नवरं मम कत्तिओ परिवेसेइ तो नवरं जेमेमि। राया भणइ एवं करेमि। राया समणुसो कत्तियस्स घरं गओ। कत्तिओ भणइ संदिसह, राया भणइ--गेरुयस्स परिवेसेहि। कत्तिओ भणइ न वट्टइ अम्ह तुमं विसयवासि त्ति करेमि चिंतेइ य-जइ पव्वइओ हों तो तो न एव भवत पच्छा ऽणेण परिवेसिय। सो परिवेसिज्जते अंगुली चालेइ। किह ते?,पच्छा कत्तिओ तेण निव्वेएण पव्वइओ। नगमसहस्सपरिवारो मुणिसुव्वयसमीवे बारस अंगाणि

पडिओ बारस वरिसाणि परियाओ सोहम्मे कप्पे सक्को जाओ सो परिव्वायगो तेण अभिओगेण आभिओगिओ एरावणो जाओ । पेच्छिय सक्कं पलाइओ, गहिउं सक्को विलग्गो । दो सीसाणि कयाणि । सक्का वि दो जाया । एव जाव इयाणि सीसाणि विउव्वइ तावइयाणि सक्को वि सक्करूवाणि विउव्वइ । ताहे नासिउमारद्धो सक्केणाहओ पच्छा ठिओ । एव रायाभियोगेणं देंतो नाइक्कमइ,किंत्तिया एयारिसिया होर्हिति जे पव्वइस्संति तम्हा न दायव्वं । गणाभिओगेण वरुणो रहमुसले निउत्तो एवं को वि सावगो गणाभियोगेण भत्त दवाविज्जा देंतो वि सो नातिचरइ धम्मं बलाभिओगो वि एवमेव, देवयाभिओगेणं देंतो नाइक्कमइ । जहा—एगो गिहत्थो सावगो जाओ,तेण वाणमंतराणि चिरपरिचियाणि उज्झियाणि एगा तत्थ वाणमतरी पओसमावन्ना गावीरक्खगो पुत्तो तीए वाणमतरीए गावीहिं समं अवहरिओ । ताहे उद्दन्ना साहइ तज्जंती-किं ममं उज्झसि न व त्ति । सावगो भणति-नवरि मा मम धम्मविराहणा भवउ । सा भणइ ममं अच्चेहि । सो भणइ-जिणपडिमाए अवसाणे ठाहिं आम ठामि । तेण ठविया । ताहे दारगो गावीओ य आणीयाओ एरिसा केत्तिया होर्हिति तम्हा न दायव्वा दवाविज्जंतो नाइचरति । गुरुनिग्गहेण भिक्खूवासगपुत्तो सावग धूयं मग्गइ । ताहे ताणि न देंति सो कवडसड्ढत्तणेण साधू सेवइ । तस्स भावतो उवगयं पच्छा साहेइ । एएण कारणेण पुव्वं ढुक्कमि इयाणिं सब्भावो सावगो । साहू पुच्छइ तेहिं कहियं, ताहे दिन्ना धूया । सो सावगो जुयगं घरं करेइ । अन्नया तस्स मायापियरो भत्त भिक्खुगाण करेंति । ताइ भणति अज्ज पक्कसि वच्चाहि । सो गतो भिक्खुपाहिं विज्जाए अभिमंतिऊण फलं दिन्नं । ताए वाणमंतरीए अधिट्ठिओ घरं गओ तं सावगधूयं भणइ—भिक्खुगाण भत्तं देमो । सा नेच्छइ, दासाणि सयणे य आरद्धो सज्जेतु । साविया आयरियाण गंतु कहेइ । तेहिं जोगपडिभेओ दिन्नो, सो से पाणिएण दिन्नो सा वाणमतरी नट्ठा । साभाविओ जाओ पुच्छइ, कहं व त्ति ? कहिए पडिसंहेइ । अन्ने भणति-तीए मयणमिंजाए सो पाविओ तो साभावितो जाओ । भणइ—अम्मापिउकुलेण मना विवंचितुत्ति किर फासुय साहूणं दिन्न एरिसया केत्तिया आयरिया होहेंति तम्हा परिहरेज्जा । वित्तिकतारेणं देज्जा—सोरट्ठगो सड्ढो उज्जेणिं वच्चइ दुक्काले तच्चन्निएहिं समं तस्स पत्थयण खीण । भिक्खुगेहिं भणइ-अम्ह एहिं वहाहि पत्थायण तो तुज्झ वि दिज्जिहिति तेण पडिवन्न अन्नया तस्स पोट्टसरणी जाया । सो चीवरेहिं वेढिओ तेहिं अनुकंपाए सो भट्टारगाणं नमोक्कारं करेंतो कालगओ देवो वेमाणिओ जाओ । ओहिणा तच्चनियसरीरं पेच्छइ ताहे स भूसणेण हत्थेण पविसेइ, सड्ढाणोहावणा आयरियाण आगमण कहणं च, तेहिं भणियं जाह अग्गहत्थं गेण्हिऊण भणह नमो अरहंताणं ति बुज्झगुज्झगा २ तेहिं गंतूण भणियो संबुद्धो वंदित्ता लोगस्स कहेइ जहा नत्थि एत्थ धम्मो तम्हा परिहरेज्जा । आव० ६ अ० । आव० । दर्श० ।

(२३) अधुना प्रकृतं योजयति—

एयमिह सद्दहंतो, सम्मद्दिट्ठी तओ अ नियमेण ।
भवणिव्वेयगुणाओ, पसमाइगुणासओ होति ॥८४॥

एतदनन्तरोदितं जीवाजीवादीह लोके प्रवचने वा श्रद्दधान एवमेवेदमित्यार्द्रान्तःकरणतया प्रतिपद्यमानः सम्यग्दृष्टिरभिधीयते अविपरीतदर्शनादिति तकश्च नियमेनासावश्यन्तया भवनिर्वेदगुणात्-ससारनिर्वेदगुणेन प्रशमादिगुणाश्रयो भवति, उक्तलक्षणानां प्रशमादिगुणानामाधारो भवति । भवति चेत्थं ज्ञाने ससारनिर्वेदगुणस्तस्माच्च प्रशमादयः प्रतीतमेतदिति ।

(२४) अस्यैव व्यतिरेकमाह—

विवरीयसद्दहाणे, मिच्छाभावाउ णत्थि केइ गुणा ।
अणभिणिवेसो तु कया-इ होइ संमत्तहेऊ वि ॥ ८५ ॥

विपरीतश्रद्धाने उक्तलक्षणाना जीवादिपदार्थानाम् अन्यथा श्रद्धाने मिथ्याभावान्न सन्ति केचन गुणाः सर्वत्रैव विपर्ययादिति भावः,विपरीतश्रद्धानेऽप्यनभिवेशस्तु एवमेवैतदित्यनध्यवसायस्तु कदाचित्कस्मिंश्चित्काले यद्वा कदाचिन्न नियमेनैव भवति-सम्यक्त्वहेतुरपि जायते,सम्यक्त्वकारणमपि यथेन्द्रनागादीनामिति । श्रा० ।

(२५) पञ्चातिचाराः—

सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणिअव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-संका १ कंखा २ वितिगिच्छा ३ परपासंडपसंसा ४ परपासडसंथवे ५ ।

' सम्मत्तस्स समणोवासएण ' इत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या-सम्यक्त्वस्य प्राग्निरूपितस्वरूपस्य श्रमणोपासकेन—श्रावकेण एते वक्ष्यमाणलक्षणाः, अथ वा-अमी ये प्रक्रान्ताः पञ्चेति संख्यावाचकः, अतिचारा-मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयादात्मनोऽशुभाः परिणामविशेषा इत्यर्थः । यैः सम्यक्त्वमतिचरति ज्ञातव्याः ज्ञपरिज्ञया,न समाचरितव्याः-नासेव्या इति भावार्थः । तद्यथेत्युदाहरणप्रदर्शनार्थः । शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा परपाषण्डप्रशंसा परपाषण्डसंस्तवश्चेति । आव० ६ अ० । ध० । (शङ्कादयो स्वस्वस्थाने व्याख्याताः ।)

(२६) श्रावकधर्मस्य सम्यक्त्वं मूलम्—

समणोवासगधम्मस्स मूलवत्थुं सम्मत्तं ।

श्रमणोपासकधर्मस्य किं पुनर्मूलवस्तु इति ?, अत्रोच्यते सम्यक्त्व, तथा चाह ग्रन्थकारः—' एयस्से ' त्यादि सूत्रम् अस्य पुनः श्रमणोपासकधर्मस्य पुन शब्दोऽवधारणार्थः, अस्यैव शाक्यादिश्रमणोपासकधर्मे सम्यक्त्वाभावात् न मूलवस्तु सम्यत्वं,वसन्त्यस्मिन्नणुव्रतादयो गुणास्तद्भावभावित्वेनेति वस्तु मूलभूतं द्वारभूतं च तद्वस्तु च मूलवस्तु,तथा चोक्तम्-"द्वारं मूल प्रतिष्ठान-माधारो भाजनं निधिः । द्विषट्कस्यास्य धर्मस्य, सम्यक्त्व परिकीर्त्तितम् ॥१॥" सम्यक्त्व प्रशमादिलक्षणम् । उक्तं च "प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्व" मिति (तत्त्वा० भाष्ये१ अ०२ सू०)

(२७) कथं पुनरिदं भवतीत्यत आह—

तन्निसग्गेणं वा, अधिगमेण वा इमं च सम्मत्तं ।

' तन्निसग्गेण वा अधिगमेण वे ' त्ति सूत्रम् , अस्य व्याख्या-तन्मूलवस्तुभूत सम्यक्त्वं निसर्गेण वा अधिगमेन वा भवति इति क्रिया । तत्र निसर्गः—स्वभावः अधिगमस्तु यथावस्थितपदार्थपरिच्छेद इति, आह-मिथ्यात्वमोहनीयक-

क्षयोपशमादेरिह भवति, कथमुच्यते निसर्गेण चेत्यादि ?, उच्यते-स एव क्षयोपशमादिनिसर्गाधिगमजन्मेति न दोषः उक्तं च-'ऊसरदेसं दड्डि-ल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्स अणुदए,उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥१॥ जीवादीण-मधिगमो, मिच्छस्सस्स तु खओवसमभावे । अधिगमसम्मं जीवो, पावेइ विसुद्धपरिणामो ॥२॥" इति । अलं प्रसङ्गेनेति । इह भवोदधौ दुष्प्रापा सम्यक्त्वादिभावरत्नावाप्ति विशा-योपलब्धजिनप्रवचनसारेण श्रावकेण नितरामप्रमादपरेणा-तिचारपरिहारवता भवितव्यमित्यस्यार्थस्योक्तस्यैव विशे-षख्यापनायानुक्तशेषस्य चाभिधानायेदमाह ग्रन्थकारः-' प ञ्चातिचारविशुद्ध ' मित्यादि सूत्रम्, इदं च सम्यक्त्वं प्राग् निरूपितशङ्कादिपञ्चातिचारविशुद्धमनुपालनीयमिति शेषः । आव० ६ अ० । आ० चू० । ति० ।

(२८) क्षीणदर्शनोऽपि सम्यग्दृष्टिः । प्रेरकः प्राह-

खीणम्मि दंसणतिए, किं होइ तओ ति दंसणाईओ ।
भण्णइ सम्मद्दिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्मं ॥ १३१८ ॥

ननु मिथ्यात्वादिकदर्शनत्रिके क्षीणे किं नकोऽसौ क्षपक-स्त्रिदर्शनातीतो भवति ?, न मिथ्यादृष्टिः,मिथ्यात्वस्य क्षीण-त्वात्, न मिश्रः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यात्वाभावा न्न च सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वासत्वादित्येव प्राप्तोति ? इत्यर्थः। आचार्य आह-भण्यतेऽत्रोत्तरम्-दर्शनत्रिके क्षीणे विशुद्धस-म्यग्दृष्टिः भवत्यसौ । पुनरपि परः प्राह-ननूक्तं मया सम्य-क्त्वक्षये सति कुतोऽयं सम्यग्दृष्टिः ? न घटत एवेत्यर्थः ।

सूरिराह--

निव्वलियमयणकोद्दव-रूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं ।
खीणं न तु जो भावो,सद्दहणालक्खणो तस्स ॥१३१९॥
सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपोग्गलक्खयओ ।
दिट्ठि व्व सुण्हसुद्ध-ब्भपटलविगमे मणूसस्स ॥१३२०॥
जह सुद्धजलाणुगयं, वत्थं सुद्धं जलक्खए सुतरं ।
सम्मत्तसुद्धपोग्गल-परिक्खए दंसणं चेवं ॥ १३२१ ॥

हन्त ! यः सम्यक्पदार्थश्रद्धानुरूपो जीवस्य भावः-परिणा-मः स एव तावन्मुख्यतः सम्यक्त्वमुच्यते, यस्तु शोधितमि-थ्यात्वपुद्गलपुञ्जः स तत्वतो मिथ्यात्वमेव केवलं सम्यक्त-त्वश्रद्धानरूपस्य जीवभावस्याशुद्धमिथ्यात्वपुञ्जवदनावारक-त्वादुपचारतः सम्यक्त्वमुच्यते । एवं च सति यदाच्छादित-मदनकोद्रवरूपं मिथ्यात्वमेव सदुपचारतः सम्यक्त्वं प्रसि-द्धम्, तदेव तस्य क्षपकस्य क्षीणं न तु यस्तत्त्वश्रद्धानल-क्षणो जीवस्य भावः । स च तस्य तत्त्वश्रद्धानभाव औपचा-रिकसम्यक्त्वरूपे सम्यक्त्वपुद्गलपुञ्जे क्षपिते प्रत्युत विशु-द्धतरो जायते, यथा श्लक्ष्णशुद्धाऽभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य लोचनद्वयरूपा दृष्टिः, स्वच्छाभ्रपटलसदृशो हि सम्यक्त्वपु-द्गलपुञ्जः, स च क्षपिताऽभ्रपटलमिव दृष्टेर्यच्च यावच्च तत्त्वश्रद्धानपरिणामस्य विघातक एव ततोऽनर्थरूपे तस्मिन् क्षपितेऽभ्रपटलविगमे लोचनद्वयीव तत्त्वश्रद्धानपरिणतिर्नि-र्मलतरैव भवति । दृष्टान्तान्तरमाह-' जहे ' त्यादि । यथा सुधौतं शुद्धं निर्मलीकृतं जलानुगतं किंचिदार्द्रं वस्त्रम् आतपशोषात्समस्तजलक्षये सुतरामेव शुद्धं भवति; एवमौ पचारिकसम्यक्त्वरूपा ये शुद्धपुद्गलास्तत्परिक्षयात्पारमार्थि करुचिरूपं सम्यग्दर्शनमपि सुतरां निर्मलं भवति ।

अपरमपि दृष्टान्तमाह—

सेसन्नाणावगमे, सुद्धयरं केवलं जहा नाणं ।
तह खाइयसम्मत्तं, खओवसमसम्मविगमम्मि ॥१३२२॥

यथेह शेषस्य क्षायोपशमिकस्य मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्या पगमेऽप्यन्यत् क्षायिकं शुद्धतरं केवलज्ञानलक्षणं ज्ञानान्तर मादुरस्ति न पुनरज्ञो भवति जीवः ,तद्वत् क्षायोपशमिकसम्य-क्त्वविगमेऽप्यपरं विशुद्धतरं क्षायिकं सम्यग्दर्शनान्तरमुप-जायते, नत्वदर्शनीभवति जीवः ।

(२९)ननु कथं पुनः क्षायिकं सम्यक्त्वं विशुद्धतरं,क्षायोपश-मिकं त्वविशुद्धमित्याह—

निव्वलियमयणकोद्दव-भत्तं तिल्लाइ मीसियं मदए ।
न तु सोऽवाओ निव्वलि-यमीसमयकोद्दवच्चाए॥१३२३॥
तह सुद्धमिच्छसम्म-त्त पुग्गलामिच्छमीसिया मिच्छं ।
होज परिणामओ वा,सोऽवाओ खाइए नत्थि॥१३२४॥

इह निर्वलिता-निर्वलीकृता शोधिता ये मदनकोद्रवास्त-न्निर्वृत्त यद्भक्तमोदनस्तत्तैलादिविरुद्धद्रव्यमिश्रितं भुज्यमानं मदयेदिकिया गमयेदेव भोक्तारम् । न पुनः सोऽपायोऽस्ति क सति ? निर्वलितमिश्रमदनकोद्रवत्यागे सति । इदमुक्तं भ-वति—यः शोधितानां शुद्धाशुद्धस्वरूपाणां वा मदनकोद्रवाणां भुङ्क्ते तस्याज्ञानस्वरूपो मदनलक्षणोऽपायो न भवत्येव, तथा तेनैव प्रकारेण शुद्धं च तन्मिथ्यात्वं शुद्धमिथ्यात्वम् अपू-र्वकरणाध्यवसायेनापनीतमिथ्यात्वभावमित्यर्थः । तदुपो-पचारतः सम्यक्त्वं शुद्धमिथ्यात्वसम्यक्त्वं तस्य पुद्गलाः शुद्धमिथ्यात्वसम्यक्त्वपुद्गलाः शोधितमदनकोद्रवस्थानीयाः विरुद्धतैलादिद्रव्यकल्पनेन मिथ्यात्वेन मिश्रिताः सन्तस्त-त्क्षणं एव मिथ्यात्वं भवति, कुतीर्थिकसंसर्गतद्वचःश्रव-णादिजनितपरिणामाद्वा क्लिष्टबहुरसीकृता मिथ्यात्वरूपता प्रतिपद्यन्ते । ततस्तथैव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुनः संसाराटवीं-धिं वभ्रमीति । स चैवंभूतोऽपायः क्षायिकसम्यक्त्वे नास्ति, सर्वानर्थमूलानां शुद्धानामशुद्धानां वा मिथ्यात्वपुद्गलानां क्ष-पितत्वेनासत्वात् । तस्मात् शुद्धतरं क्षायिकसम्यक्त्वम्,मली मसं च क्षायोपशमिकम् । अत एतदपगमेऽपि क्षायिकसम्य-क्त्वभावान्नादर्शनी जीवः, किं तु प्रत्युत विशुद्धसम्यग्दर्शनीति स्थितम् । विशे० । ध० ।

(३०) अथ तस्य चोत्पादे द्वयी गतिर्निसर्गः, अधिगमश्चेति । तांस्तद्भेदांश्चाह—

निसर्गाद्वाऽधिगमतो , जायते तच्च पञ्चधा ।
मिथ्यात्वपरिहारेणैव , पञ्चलक्षणलक्षितम् ॥ २२ ॥

निसर्गाद्धिगमाद्वा तत् सम्यक्त्वं जायते—उत्पद्यते, तत्र निसर्गः -स्वभावो गुरूपदेशादिनिरपेक्ष इति भावः । अधि-गमः -गुरूपदेशः यथावस्थितपदार्थपरिच्छेद इति यावत् ।

तथाहि--योगशास्त्रवृत्तौ-

" अनाद्यनन्तसंसारा-ऽऽवर्त्तवर्त्तिषु देहिषु ।
ज्ञानदृग्वावृतिवेद्य-नीयान्तरायकर्मणाम् ॥ १ ॥
सागरोपमकोटीनां , कोट्यस्त्रिंशत्परा स्थिति. ।
विंशतिर्गोत्रनाम्नोश्च, मोहनीयस्य सप्ततिः ॥ २ ॥
ततो गिरिसरिद्ग्राव-घोलनान्यायतः स्वयम् ।
एकाब्धिकोटिकोटयूना, प्रत्येकं क्षीयते स्थितिः ॥ ३ ॥
शेषाब्धिकोटिकोट्यन्तः, स्थितौ सकलजन्मिनः ।
यथाप्रवृत्तिकरणा-द्ग्रन्थिदेशं समियूति ॥ ४ ॥
रागद्वेषपरीणामो, दुर्भेदो ग्रन्थिरुच्यते ।
दुरुच्छेदो दृढतर:, काष्ठादेरिव सर्वदा ॥ ५ ॥
ग्रन्थिदेश तु सप्राप्ता, रागादिप्रेरिताः पुनः ।
उत्कृष्टबन्धयोग्याः स्यु-श्चतुर्गतिजुषोऽपि च ॥ ६ ॥

युग्मम्—

तेषां मध्ये तु ये भव्या., भाविभद्राः शरीरिणः ।
आविष्कृत्य परं वीर्य—मपूर्वकरणे कृते ॥ ७ ॥
अतिक्रामन्ति सहसा, तं ग्रन्थि दुरतिक्रमम् ।
अतिक्रान्तमहाऽध्वानो, घट्टभूमिमिवाध्वगा. ॥ ८ ॥
अथानिवृत्तिकरणा-दन्तरकरणे कृते ।
मिथ्यात्वं विरल कुर्यु-र्वेदनीयं यदग्रतः ॥ ९ ॥
आन्तर्मुहूर्त्तिकं सम्य—ग्दर्शन प्राप्नुवन्ति यत् ।
निसर्गहेतुकमिदं, सम्यग्श्रद्धानमुच्यते ॥ १० ॥
गुरूपदेशमालम्ब्य, सर्वेषामपि देहिनाम् ।
यत्तु सम्यक्त्वश्रद्धानं, तत्स्यादधिगमं परम् ॥ ११ ॥
यमप्रशमजीवातु-र्बीज ज्ञानचरित्रयोः ।
हेतुस्तप.श्रुतादीनां, सद्दर्शनमुदीरितम् ॥ १२ ॥
श्लाघ्य हि चरणज्ञान-वियुक्तमपि दर्शनम् ।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते ॥ १३ ॥
ज्ञानचारित्रहीनोऽपि, श्रूयते श्रेणिक किल ।
सम्यग्दर्शनमाहात्म्या-त्तीर्थकृत्त्वं प्रपत्स्यते ॥ १४ ॥

इति अत्राह-मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्षयोपशमादेरिह भवति, कथमुच्यते निसर्गादधिगमाद्वा तज्जायत इति?,अत्रोच्यते- स एव क्षयोपशमादिर्निसर्गाधिगमजन्मेति न दोष. । उक्तं च- " ऊसरदेसं दड्ढि ल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्साणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ १ ॥ जीवाईणमधिगमो, मिच्छत्तस्स उ खओवसमभावे । अधिगमसम्म जीवा, पावइ विसुद्धपरिणामो " ॥ २ ॥ इति । कृत प्रसङ्गेनेति । ध० २ अधि० । प० सं० । आ० म० ।

(३१)सप्तमनरकपृथिव्यां सम्यक्त्विनो गमनागमने निषिद्धे-

आगमणं पि निसिद्धं, चरिमा उ एइ जं तिरिक्खेसु ।
सुरनारगा य सम्म-द्दिट्ठी जं यन्ति मणुएसु ॥ ४३१ ॥

चरमायाः—सप्तमपृथिव्या न केवल गमनमपित्वागमनमपि गृहीतसम्यक्त्वस्यागमे निषिद्धम् , यतस्तस्या उद्धृत्य सर्वोऽप्येत्यागच्छति तिर्यक्ष्वेव न मनुष्येषु "सत्तममहिनेरइया तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा । न य पावे माणुस्सं" इति वचनादिति सुरनारकाश्च सम्यक्त्वसहिता यस्मान्मनुष्येष्वेवायान्ति अतः सामर्थ्यात्तिर्यग्गतिगामिन. सप्तमपृथ्वीनारकामिथ्यात्वसहिता एवागच्छन्तीति गाथार्थ । पिं० । ध० ।

(३२) सम्यक्त्वादिश्रावकधर्मं वक्ष्य इत्युक्तं , तत्र— सम्यक्त्वं तावत् स्वरूपतः फलतश्च निरूपयन्नाह-

तत्तत्थसद्दहाणं, सम्मत्तमसग्गहो ण एयम्मि ।
मिच्छत्तखओवसमा, सुस्सूसाई उ होंति दढं ॥ ३ ॥

व्याख्या—तत्त्वार्थानां सर्वविदुपदिष्टतया पारमार्थिकाना जीवादिपदार्थानां श्रद्धानमेतदेवमेवेतिप्रत्ययः । तत्त्वेन वा भावतोऽर्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम् । तत्किमित्याह- सम्यगिति प्रशंसार्थो निपात. , समञ्चतीति वा सम्यक् , तद्भावः सम्यक्त्वमित्यस्य स्वरूपमभिहितम् । अथास्यैव दोषविशेषनिवृत्तिरूपं फलमाह—अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं निह्नवानामप्यस्तीति तेषामपि सम्यक्त्वं स्यादित्याशङ्क्याह-असद्ग्रहोऽशोभनाभिनिवेश आप्तवचनबाधितार्थपक्षपात इत्यर्थः । 'न' नैव , यथोक्तश्रद्धानविरुद्धत्वात् असद्ग्रहस्य भवतीति गम्यते । एतस्मिन्ननन्तराभिहितलक्षण सम्यक्त्वे सति । ततो निह्नवानां कथं तदिति । अथ कस्मादयमिह सति न भवतीत्याह—मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वमोहनीयकर्मदलिकस्य क्षयेणोदीर्णस्य विनाशेन सहोपशमो विपाकोदयापेक्षया विष्कम्भितोदयत्वं मिथ्यात्वक्षयोपशमस्तस्माद्धेतो. । उपलक्षणत्वादस्य क्षयादुपशमाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । मिथ्यात्वोदयो ह्यसद्ग्रहहेतु. । मिथ्यात्वकर्मोदयश्च सम्यक्त्वे सति नास्तीत्यसद्ग्रहाभावोऽत्रेति भाव. । के पुनरिह सति गुणा भवन्तीत्याह—शुश्रूषादयः धर्मशास्त्रश्रवणेच्छाप्रभृतयो वक्ष्यमाणाः । तुशब्द. पुन.शब्दार्थ. । भवन्ति जायन्ते । मिथ्यात्वक्षयोपशमादेरवानेनापि सम्यक्त्वस्य फलमभिहितम् । ननु मिथ्यात्वोदयेऽपि ते केचन संभवन्तीत्याह—दृढमतिशयेन यादृशैस्तैः सम्यक्त्वमभिव्यज्यत इति भावः । अतिशायितां च तेषां दर्शयिष्याम । ननु तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमित्युक्तम् । श्रद्धान च तथेति प्रत्यय. । स च मानसोऽभिलाष. । न चायमपर्याप्तकाद्यवस्थायामिष्यते । सम्यक्त्वं तु तस्यामभीष्ट, षट्षष्टिसागरोपमरूपाया साद्यपर्यवसितकालरूपायाश्च तस्योत्कृष्टस्थिते. प्रतिपादनादिति कथं नागमविरोध. ? इत्यत्रोच्यते—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वस्य कार्यं , सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्यो शुद्धिरूप आत्मपरिणामविशेष. । आह च-" से य सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे पण्णत्ते"। अत एवामनस्काना सिद्धादीना तदिष्यते । इह च सम्यक्त्वे सत्येव यथोक्तं श्रद्धान भवति,यथोक्तश्रद्धाने च सति सम्यक्त्वं भवत्येवेति श्रद्धानवता सम्यक्त्वस्यावश्यंभावित्वोपदर्शनाय कार्ये कारणोपचार कृत्वा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमिति। ननु मिथ्यात्वोदयजन्यत्वेनासद्ग्रहस्य सम्यक्त्वे सति तत्क्षयोपशमाद्युक्तोऽसद्ग्रहाभाव , शुश्रूषादिगुणाना तु ज्ञानचारित्रांशरूपत्वेन ज्ञानावरणीयचारित्रमोहनीयवीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमलभ्यत्वान्न युक्त सम्यक्त्वसद्भावमात्रे तद्भाव इति । अत्रोच्यते—सम्यक्त्वहेतोर्मिथ्यात्वक्षयोपशमस्यावसरे ज्ञानावरणानन्तानुबन्धिकषायलक्षणचारित्रमोहनीयादिकर्मणामपि क्षयोपशमोऽवश्यमेव भवतीति ते. वा सम्यक्त्वे सति ते भवन्तीत्यभिधीयते यथा केवलज्ञानावरणा-

क्षयलभ्यमपि केवलज्ञानं कषायक्षये लभ्यत इत्यभिधीयते । आह च-" केवलियनाणलंभो नन्नत्थखए कसायाणं " यथा वा मिथ्यात्वक्षयोपशमलभ्यमपि सम्यक्त्वमनन्तानुबन्धिरूपचारित्रमोहनीयोदये न लभ्यत इत्यभिधीयते । आह च-" पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं । सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धिया वि न लहंति ॥ १ ॥ " ननु वैयावृत्त्यनियमस्य तपोभेदत्वेन चारित्रांशरूपत्वात् सम्यक्त्वसद्भावे चावश्यभावित्वादविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकाभाव आप्नोतीति । नैवम्, वैयावृत्त्यनियमरूपचारित्रस्याल्पतमत्वेनाचारित्रतया विवक्षितत्वात् । यथा संमूर्छनजानां सञ्ज्ञामात्रसद्भावेऽपि विशिष्टसञ्ज्ञाया अभावादसंज्ञित्वमिष्टम् । विरतत्वं हि महाव्रताणुव्रतादिरूपानल्पचारित्रसद्भाव एवेष्यते । यतो न कार्षापणमात्रधनेन धनवान्, एकगवेन वा गोमानिति । ननु सम्यक्त्वे सति शुश्रूषादयो भवन्तीति न युक्तं व्यभिचारित्वात् । तथाहि-उपशान्तमोहादीनां सम्यक्त्वसद्भावेऽपि न शुश्रूषादयो भवन्ति, सकलविकल्पकल्लोलमालाविकलत्वेन निस्तरङ्गमहामकराकरोपमत्वात्तदन्तःकरणस्येति । अत्रोच्यते—यद्यपि शुश्रूषादय उपशान्तमोहादीनां साक्षान्न भवन्ति, कृतकृत्यत्वादिति, तथापि फलतो भवन्ति, तद्भावस्य तत्फलत्वादिति कुतो व्यभिचारः ? श्रावकधर्माधिकाराद्वा, यच्छ्रावकावस्थायां सम्यक्त्वं तदाश्रित्य शुश्रूषादयस्तु भवन्ति इदमित्यभिहितमतो न दोष इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

शुश्रूषादयस्तु भवन्तीत्युक्तम्, अथ तानेवाह—

सुस्सूस धम्मराओ, गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे णियमो, वयपडिवत्तीए (इ) भयणा उ ॥४॥

व्याख्या—श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा । इस्वत्वं तु प्राकृतशैलीवशात् । सद्बोधावन्ध्यनिबन्धनधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छेत्यर्थः । सा च वैदग्ध्यादिगुणवत्तरुणनरकिन्नरगानश्रवणरागादप्यधिकतमा सम्यक्त्वे सति भवति । यदाह-" यूनो वैदग्ध्यवतः, कान्तायुक्तस्य कामिनोऽपि दृढम् । किन्नरगेयश्रवणादधिको धर्मश्रुतौ रागः ॥ १ ॥ " तथा धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणे । तत्र श्रुतधर्मरागस्य शुश्रूषापदेनैवोक्तत्वादिह धर्मरागश्चारित्रधर्मरागोऽभिमतः । स च कर्मदोषान्नदकरणेऽपि कान्तारातीतदुर्गतबुभुक्षाक्षामकुक्षिद्विजघृतपूर्णभोजनाभिलाषादप्यतिरिक्तोऽत्र भवति । तथा गुरवो धर्मोपदेशका आचार्यादयः, देवाश्चाराध्यतमा अर्हन्तो गुरुदेवास्तेषाम् । इह च गुरुपदस्य पूर्वनिपातो विवक्षया गुरूणां पूज्यतरत्वख्यापनार्थः । न हि सद्गुरूपदेशं विना सर्वविदेवाधिगम इति भावः । यथासमाधि-यथासमाधानानतिक्रमेण । इह चाव्ययीभावसमासादपि तृतीयाया अलोपः प्राकृतत्वात्, असमासाद्वा । व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यं तस्मिन् तत्प्रतिपत्तिविश्रामणाभ्यञ्जनादौ । नियमोऽवश्यकर्तव्यताङ्गीकारः । स च सम्यक्त्वे सति भवतीति प्रक्रमः । एतेषां च शुश्रूषादीनां यथोत्तरं हेतुफलभावोऽवसेयः । अथ यथा शुश्रूषादयोऽत्र भवन्ति, तथा किं व्रतान्यपि भवन्तीत्याशङ्क्याह-व्रतानाम्-अणुव्रतादीनां प्रतिपत्तिरङ्गीकरणं व्रतप्रतिपत्तिः । तुशब्दस्य पुनरर्थस्येह सम्बन्धात्तस्यां व्रतप्रतिपत्तौ तु पुनर्भजना-विकल्पना भवति । सम्यक्त्वे सति व्रतानि कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति भाव इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

(३३) भजनाकारणमेवाह-

जं सा अहिगयराओ, कम्मखओवसमओ ण य तओ वि ।
होइ परिणामभेया, लहुं ति तम्हा इहं भयणा ॥ ५ ॥

यद्-यस्मात्कारणात्सा व्रतप्रतिपत्तिः अधिकतरात् सम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तभूतकर्मक्षयोपशमापेक्षया समर्गलतरात्कर्मक्षयोपशमतः चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाद्भवति, ननु सम्यक्त्वलाभावसर एवासौ कुतो न भवतीत्याह-न च-नैव । , तको वि त्ति-तकोऽपि सोऽपि यदैव सम्यक्त्वप्रतिपत्तिहेतुः कर्मक्षयोपशमो भवति न तदैव व्रतप्रतिपत्तिहेतुभूतस्तदधिकतरोऽपीत्यपिशब्दार्थः । अन्ये तु 'तओ उ' इति पठन्ति , तत्र व्याख्या-न च-नैव तकः पुनर्भवति जायते । कुतः पुनरेवमित्याह-परिणामभेदात्तथा भव्यत्वहेतुकात्माध्यवसायविशेषाद्विशिष्टतरपरिणामनिबन्धनत्वात्तस्येति भावः 'लहुं ति' त्ति-लघ्विति शीघ्रमेव । सम्यक्त्वनिबन्धनक्षयोपशमानन्तरमेवेत्यर्थः । तस्मात्-ततः कारणादिह-व्रतप्रतिपत्तौ भजना-विकल्पना । शुश्रूषादिषु पुनर्नियमः , इयमत्र भावना-यद्यपि ग्रन्थिभेदादेव सम्यक्त्वमुदेति , तत्र च व्रतप्रतिपत्तिमेवोपादेयतरामध्यवस्यति , तथापि यावत्यां कर्मस्थितौ सत्यां सम्यक्त्वलाभो भवति , न तावत्यामेव व्रतप्रतिपत्तिरपि तत्त्वतो भवतीति गाथार्थः ।

इदमेवाह—

सम्मापलियपुहुत्तेऽवगए कम्माण भावओ हौंति ।
वयपभितीणि भवणव-तरंडतुल्लाणि णियमेण ॥ ६ ॥

'सम्म' त्ति-सूचनात्सूत्रमिति न्यायात् सम्यक्त्वलब्धादनन्तरं पल्योपमानामागमप्रसिद्धानां कालपरिमाणविशेषलक्षणानां पृथक्त्वं द्विप्रभृतिनवान्तसङ्ख्यालक्षणं पल्योपमपृथक्त्वं तस्मिन् । अपगते-अपेते वेदित इत्यर्थः । केषां पल्योपमपृथक्त्वमित्याह—कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । इह च कर्मस्थितेरिति वाच्ये स्थितेः-स्थितिमतां चाभेदविवक्षया कर्मणामित्युक्तम् । यतो मोहनीयादिकर्मणां सागरोपमकोटीकोटीसप्तत्यादिकायाः स्थितेर्मध्यात्कोटीकोट्यादिकां स्थितिं यथाप्रवृत्तिकरणेन क्षपयति तावद्यावच्छेषा पल्योपमासङ्ख्येयभागोना सागरोपमकोटीकोटीशेषा । ततो ग्रन्थिभेदेन सम्यक्त्वं लभते । ततः शेषकर्मस्थितेः पल्योपमपृथक्त्वे क्षपिते सत्यणुव्रतानि लभत इत्यागममुद्रा । ततः किमित्याह-भावतः परमार्थवृत्तिमाश्रित्य , द्रव्यतः पुनरतिदीर्घतरायामपि कर्मस्थितौ महाव्रतान्यपि भवन्ति । तदुक्तम्-' सव्वजियाणं जम्हा , सुत्ते गेविज्जगेसु उववाओ । भणिओ जिणेहिं सो न य , लिंगं मोत्तुं जओ भणियं ॥ १ ॥ जे दंसणवावण्णा , लिंगग्गहणं करिंति सामन्ने । तेसिं पि य उववाओ , उक्कोसो जाव गेविज्जा ॥ २ ॥ " 'हौंति' त्ति-भवन्ति-जायन्ते । कानीत्याह-व्रतप्रभृतीन्यणुव्रतादीनि । किंविधानि तानीत्याह—भवार्णवतरण्डतुल्यानि-संसारसागरोत्तरणद्रोणादिकल्पानि । नियमेनावश्यंभावेन ।

गरे—संसारसमुद्रे दु खार्ते—शारीमानसैर्दु.खैरभिभूतमित्यर्थः; अविशेषतः-सामान्येनात्मीयेतरविचाराभावेनेत्यर्थः। अनुकम्पाम्—दयां द्विधापि-द्रव्यतो , भावतश्च । द्रव्यतः प्राशुकपिण्डादिदानेन . भावतो-मार्गयोजनया सामर्थ्यतः स्वशक्त्यनुरूप करोतीति।

मन्नइ तमेव सचं , निस्संकं जं जिणेहिँ पन्नत्तं ।

सुहपरिणामो सव्वं, कंखाइविसुत्तियारहिओ ॥ ५६ ॥

मन्यते-प्रतिपद्यते तदेव सत्य नि.शङ्क-शङ्कारहितं यज्जिनैः प्रज्ञप्त-यत्तीर्थकरैः प्रतिपादितं शुभपरिणाम' सन् साकल्येनानन्तरोदितसमस्तगुणान्वित. सर्व-समस्त मन्यते, न तु किंचिन्मन्यते किंचिन्नेति भगवत्यविश्वासायोगात् । पुनरपि स एव विशिष्यते। किंविशिष्ट सन्? काङ्क्षादिविस्रोतसिकारहित' काङ्क्षा अन्योन्यदर्शनग्राह इत्युच्यते , आदिशब्दाद्विचिकित्सापरिग्रह. , विस्रोतसिका तु संयमशस्यमङ्गीकृत्याध्यवसायसलिलस्य विस्रोतो—गमनमिति ।

उपसंहरन्नाह—

एवंविहपरिणामो, सम्मद्दिट्ठी जिणेहिँ पन्नत्तो ।

एसो य भवसमुद्दं , लंघइ थोवेण कालेण ॥ ६० ॥

एवंविधपरिणाम इत्यनन्तरोदितप्रशमादिपरिणाम. सम्यग्दृष्टिर्जिनै. प्रज्ञप्त इति प्रकटार्थ । अस्यैव फलमाह-एष च भवसमुद्रं लङ्घयति-अतिक्रामति स्तोकेन कालेन। प्राप्तबीजत्वादुत्कृष्टतोऽप्यपार्धपुद्गलपरावर्तान्त.सिद्धिप्राप्तरिति। (श्रा० ।) [एवंविधमेव सम्यक्त्वम् इत्येतत्प्रतिपादितम् 'मउण ' शब्दे षष्ठे भाग ।] " जइ जिणमय पवज्जह , ता मा ववहारनिच्छए मुयह । ववहारनयुच्छेए, तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं ॥१॥" इत्यादीनि । वाचकमुख्येनोक्तम्—" तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं " [तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् १—२]।

(३५) तदपि प्रशमादिलिङ्गमेवेति दर्शयन्नाह—

तत्तत्थसद्दहाणं , सम्मत्तं तम्मि पसममाईया ।

पढमकसाओवसमा—दविक्खया हुंति नियमेण ॥६२॥

तत्त्वार्थश्रद्धानं—सम्यक्त्व तस्मिन्प्रशमादयोऽनन्तरोदिताः प्रथमकषायोपशमाद्यपेक्षया भवन्ति नियमेन। अयमत्र भावार्थ —न ह्यनन्तानुबन्धिक्षयोपशमादिमन्तरेण तत्त्वार्थश्रद्धान भवति। सति च तत्क्षयोपशमे तदुदयघद्भय. सकाशादपेक्षयाऽस्य प्रशमादयो विद्यन्त एवेति तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमित्युक्तम्। श्रा० । तच्च सम्यक्त्व शुभात्मपरिणामरूपमस्मदीयानामप्रत्यक्षं केवलं लिङ्गैर्लक्ष्यते । अत आह--सम्यक्त्व कीदृशं भवति ?, पञ्चेति—पञ्चभि शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यरूपैर्लक्षणैर्लिङ्गैर्लक्षितम्-उपलक्षित भवति एभिर्लक्षणै. परस्थं परोक्षमपि सम्यक्त्व लक्ष्यत इति भाव। ध०२ अधि०। सम्यक्त्वद्वार निश्चयव्यवहारनयाभ्या विचारस्तत्र व्यवहारनयो मन्यते मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञानयो प्रतिपद्यमानको भवति , ननु सम्यक्त्वज्ञानसहित निश्चयनयस्तु ब्रूते सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च । सम्यक्ज्ञाने प्रतिपद्यते न तु मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी च । आ० म० १ अ० । (केषु द्रव्येषु मध्ये पर्यायेषु वा सम्यक्त्वमिति 'सामाइय' शब्दे व क्ष्यते ।) सद्दर्शने तथैवास्य सम्यक्त्वे सति जायते । कर्म० ५ कर्म० । था. प्रथमसम्यक्त्वस्य लाभकाले अन्तरकरणप्रविष्टस्यावस्थिताध्यवसायस्य सम्यक्त्वादिलब्धयो भवन्ति ता अनाकारोपयोगेऽपि भवन्ति । विशे० । (सम्यक्त्वपालनाद् दृष्टान्तीकृतसप्रतिनृपाख्यानकं ' संपइ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम् ।)

मिच्छत्तं दमिऊणं, सम्मत्तम्मि धणिअं अहिगारो ।

कायव्वो बुद्धिमया, मरणसमुग्घायकालम्मि ॥द० प०।

सम्यक्त्व च दयादानक्रियामूलं प्रकीर्तितम् । द्रव्या० ६ अध्या०। "सम्यक्त्वशीलतुम्बाया भवाब्धिस्तीर्यते सुखम्। तं दधानो मुनिर्जम्बुः, स्त्रीनदीषु कथ बुडेत् ॥ १ ॥ " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । (सम्यक्दृष्टिमिथ्यादृष्टित्व दण्डकः ' दिट्ठि ' शब्दे चतुर्थभागे २५११ पृष्ठे गत. ।) दर्शनमोहनीयकर्मभेदे, यदुदयात्पुन' सम्यग्जिनप्रणीत तत्त्वं श्रद्धते तदिति । कर्म० ६ कर्म० । प० स० । सम्यक्त्वमचल विधयम् , न तापसादीनां कष्टतप सेविनामष्टगुणैश्वर्यमुद्वीक्ष्य दृष्टिमोह कार्य इति प्रतिपादनपरे (स्था०) आचारप्रथमश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थेऽध्ययने, स्था० ६ ठा०३ उ० । स० । आव० । यथा सिद्धपञ्चाशिकायामनन्तकालच्युतसम्यक्त्वादिविशेषणविशिष्टा एवैकस्मिन् समयेऽष्टोत्तर शत सिध्यन्तीत्युक्त, तथा च सति ऋषभादय सर्वेऽष्टोत्तरशतमनन्तकालच्युतसम्यक्त्वादिविशेषणविशिष्टा एव अन्यथापि वा?, विशिष्टा एव चेत्तदा ऋषभदेवस्यानन्तकालच्युतसम्यक्त्वमन्यथा वा? अनन्तकालच्युतसम्यक्त्वं चेत्तदा ऋषभदेवस्य त्रयोदश भवा एव कथ? पूर्वमपि सम्यक्त्वलाभात्, अन्यथापि वेति पक्षश्चेत्तदा सिद्धपञ्चाशिकादिग्रन्थैस्सह कथं संवाद ? आश्चर्यकृत्वेन चेत्तदा तदाश्चर्यं किमुत्कृष्टावगाहनया तीर्थकृत्वेन वा सख्यातकालपतितत्वादिना वा ? त्रिधाऽपि वेति व्यक्त्या प्रसाद्यमिति, प्रश्न ?, अत्रोत्तरम्-एकस्मिन् समयेऽष्टोत्तरं सिध्यन्तस्सर्वेऽप्यनन्तकालच्युतसम्यक्त्वादिविशेषणविशिष्टा एव सिध्यन्तीत्यक्षराणि यदि सिद्धपञ्चाशिकादिषु भवन्ति तदा बाहुबलं. प्रभृत्युत्कृष्टप्रमाणायुषोऽपवृत्तिरिव श्रीऋषभदेवस्यापि सिद्धिराश्चर्यकृत्वेन समर्थनीया, एव तदधिकारे यद्यदसंभवि तत्सर्वमाश्चर्ये एवान्तर्भावनीयम् ॥ १६३ ॥ सेन० २ उल्ला० । सिद्धानां ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याण्यनन्तानि प्रोक्तानि तत्कथ घटते तेषा पृथक् पृथगेकैकसद्भावात् तद्व्यक्त्या प्रसाद्यमिति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरम्—ज्ञानादीनां चतुर्णां तदावरणकर्मपुद्गलानामनन्तानां क्षयात्तेषामप्यानन्त्य घटत एव, यदुक्तम्—

" ज्ञानादयस्तु भावा , प्राणमुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि ।
तस्मात्तज्जीवत्व. नित्य सर्वस्य जीवस्य ॥ १ ॥
अनन्तं केवलज्ञानं, ज्ञानावरणसंक्षयात् ।
अनन्तं दर्शनं चापि, दर्शनावरणक्षयात् ॥ २ ॥
क्षायिके शुद्धसम्यक्त्व—चारित्रे मोहनिग्रहात् ।
अनन्तसुखवीर्ये च, वेद्यविघ्नक्षयात् क्रमात् ॥ ३ ॥
आयुष क्षीणभावत्वात् , सिद्धानामक्षया स्थिति' ।
नामगोत्रक्षयादेवा-ऽनन्ताऽमूर्त्ताऽवगाहना ॥ ४ ॥ "

इति ॥ ५७ ॥ सेन० ३ उल्ला० । दर्शनसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ? येन द्वयोरप्यतीचाराः, परमार्थतः परस्परं केचन सदृशा एव दृश्यन्ते, तेन तयोर्व्यक्त्या भेदः प्रसाद्य इति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरम्-दर्शनसम्यक्त्वयोर्वस्तुगत्याऽभेदेऽपि कथञ्चिन्निःशङ्कित्वाद्यभाव एव सम्यक्त्वातिचार उच्यते, शङ्कादिसद्भावस्तु दर्शनातिचार इति व्यक्तं प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ षष्ठे द्वारे ॥ ३८० ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

सम्मत्तंग–सम्यक्त्वाङ्ग–न० । सम्यक्त्वप्रधानस्याङ्गीभूते सम्यक्त्वफलेनैव फलवति, प्रति० ।

सम्मत्तकारण–सम्यक्त्वकारण–त्रि० । सम्यक्त्वं कारणमस्येति । सम्यक्त्वजन्ये, पं० सं० १ द्वार ।

सम्मत्तकिरिया–सम्यक्त्वक्रिया–स्त्री० । सम्यक्त्वं–तत्त्वश्रद्धानं तदेव जीवव्यापारत्वात्क्रिया, सम्यक्त्वस्य क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । सम्यग्दर्शने वा सति क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । स्था० २ ठा० १ उ० । क्रियाभेदे, यया सम्यग्दर्शनयोग्याः कर्मप्रकृतीः सप्तसप्ततिसङ्ख्या बध्नाति सा सम्यक्त्वक्रिया अभिधीयते । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सम्मत्तणाणचरणाणुवाई–सम्यक्त्वज्ञानचरणानुपातिन्–त्रि० । सम्यक्त्व-सद्दर्शन ज्ञान-सद्बोधरूप चरणम्-आगमानुसारि क्रियानुष्ठानं सम्यक्त्वं च ज्ञानं चेति एकवद्भावात्तान्यनुपतनीत्येवं शील सम्यक्त्वज्ञानचरणानुपाती । मोक्षमार्गानुगे, दर्श० ४ तत्त्व ।

सम्मत्तदंसि(ण्)–सम्यक्त्वदर्शिन्–त्रि० । सम्यक् तत्त्वं सम्यक्त्वं तद्दर्शी । परमार्थदर्शिनि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

सम्मत्तपज्जव–सम्यक्त्वपर्यव–पुं० । सम्यक्त्वपरिणामविशेष, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

सम्मत्तपरक्कम–सम्यक्त्वपराक्रम–न० । सम्यक्त्वे सति वर्द्धमानगुणे कर्मशत्रुजयलक्षण पराक्रमो—बलं यस्मिंस्तत् सम्यक्त्वपराक्रम् । उत्तराध्ययनानामेकोनत्रिंशेऽध्ययने, उत्त० १८ अ० ।

ज्ञानादीनि मुक्तिमार्गत्वेनोक्तानि संवेगादिमूलानि अकर्मतावसानानि तानीहोच्यन्ते । अस्याध्ययनस्य, चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्य नामनिष्पन्ननिक्षेपोऽभिधेय, स च नामपूर्वक इत्येतन्नामनिर्देशायाह निर्युक्तिकृत्—

आयाणपएणेयं, सम्मत्तपरक्कमेति अज्झयणं

गुणणं तु अप्पमायं, एगे पुण वीयरागसुयं ॥ ५०३ ॥

आदीयत इत्यादानम्—आदि 'प्रथममित्यर्थः, तच्च तत्पदं च—निराकाङ्क्षतयाऽर्थगमकत्वेन वाक्यमेवादानपदं तेन, उपचारतश्चेह तदभिहितमपि तथोक्तं तत आदानपदाभिहितेन प्रक्रमाज्ज्ञास्य 'इद मिति प्रस्तुत सम्यक्त्वपराक्रमम् इति-उपप्रदर्शनं, उच्यत इति शेषः, 'अध्ययनं' प्राग्निरुक्तं, वक्ष्यति हि- इह खलु सम्मत्तपरक्कमे णामऽज्झयणे पण्णत्ते ' त्ति, गुणैर्हि निर्वृत्तं गौणम्, तु-अवधारणे गौणमेव, अप्रमाद इत्युपलक्षणत्वाद् अप्रमादश्रुतम्, एके पुनर्वीतरागश्रुतं, कोऽर्थः ?—संवेगादयोऽत्र वर्ण्यन्ते, तद्रूप एव च तत्त्वतोऽप्रमाद इति तदभिधायि श्रुतरूपत्वादप्रमादश्रुतमिति ब्रुवते, अन्ये त्वप्रमादोऽपि वीतरागता-फल इति तत्प्राधान्याश्रयणतो वीतरागश्रुतमिति गाथार्थः । अत्र चादानपदनाम्न सूत्रान्तर्गतत्वात्सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेरेव तत्र व्यापार इति तदुपेक्ष्य वीतरागश्रुतनाम च तस्य केषाञ्चिदेवाभिमतत्वात् ' मध्यग्रहणे आद्यन्तौ गृहीतावेव भवत ' इति न्यायतो वा द्वयमप्यनादृत्याप्रमादश्रुतनिक्षेपमभिधातुमाह—

निक्खेवो अपमाए, चउव्विहो दुविहो उ होइ दव्वम्मि ।

आगम नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥ ५०४ ॥

जाणगभवियसरीरे, तव्वइरित्ते अमित्तमाईसु ।

भावे अन्नाणअसं-वराईसु होइ नायव्वो ॥ ५०५ ॥

निक्खेवो अ सुअम्मि, चउक्कओ दुविहो य होइ दव्वम्मि ।

आगम नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥ ५०६ ॥

जाणगभवियसरीरे, तव्वइरित्ते अ सो उ पंचविहो ।

अंडयबोंडयवालय-वागय तह कीडए चेव ॥ ५०७ ॥

भावसुअं पुण दुविहं, सम्मसुअं चेव होइ मिच्छसुयं ।

अहियारो सम्मसुए, इहमज्झयणम्मि नायव्वो ॥ ५०८ ॥

गाथापञ्चक प्रायः प्रतीतार्थमेव, नवरम् 'अमित्तमाईसु त्ति- अमित्राः-शत्रव आदिशब्दाद्-व्यालादिपरिग्रहस्तेषु योऽप्रमादः स तद्व्यतिरिक्तोऽप्रमाद उच्यते, द्रव्यत्वं चास्य तथाविधाप्रमादकार्याप्रसाधकत्वात् द्रव्यविषयत्वाद्वा, भाव इति-भावे विचार्ये अज्ञान—मिथ्याज्ञानमसंवरः-अनिरुद्धाश्रवता, आदिशब्दात्-कषायपरिग्रह, एतेषु प्रक्रमादप्रमाद - एतज्जयं प्रति सदा सावधानतारूपो भवति ज्ञातव्य । तथा ' सो उ पंचविधो ' त्ति—स इति तत्—तद्व्यतिरिक्तसूत्रं तु-पुनरर्थे पञ्चविध—पञ्चप्रकारं, पञ्चविधत्वमेवाह— अण्डजं-हंसाद्यण्डकेभ्यो यज्जायते यथा क्वचित्पट्टसूत्रं, पौण्डकं (वोण्डजं) यद्गमनिनिन्दुकोद्भवं यथा कर्पाससूत्रम्, वालजं यदूरणकादिकेशोत्पन्न यथोर्णासूत्रम्, वाकज-सनाऽतस्यादिवाकेभ्यो यज्जायते यथा सनसूत्रम् कीटजं च यत्तथाविधकीटेभ्यो लालात्मकं प्रभवति यथा पट्टसूत्रम्, तथा सम्यक्श्रुतम्—अङ्गप्रविष्टादि मिथ्याश्रुतं—कनकसप्तत्यादि, अधिकार —प्रकृतं सम्यक्श्रुतेन, सुव्यत्ययात्तृतीयार्थे सप्तमी, इह—अध्ययने ज्ञातव्यः—अवबोद्धव्यः, तद्रूपत्वादस्येति गाथापञ्चकार्थः ।

सम्प्रति गौणनामेवास्य नाम्नो वक्तुमाह—

सम्मत्तमप्पमाओ, इहमज्झयणम्मि वण्णिओ जेणं ।

तम्हेयं अज्झयणं, णायव्वं अप्पमायसुअं ॥ ५०९ ॥

'सम्मत्त त्ति-सुव्यत्ययात्सम्यक्त्वे उपलक्षणत्वाज्ज्ञानादिषु चाप्रमाद उक्तन्यायेन संवेगादिफलोपदर्शनतः काका तदनुष्ठाने प्रत्युद्यमदर्शनेन वा ' इहमज्झयणम्मि ' त्ति इहाध्ययने वर्णितो यत तस्मादेतदध्ययनं ज्ञातव्यम्, अप्रमादश्रुतम्-अप्रमादश्रुतनामकमिति गाथार्थः । गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नामज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइयं जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तइत्ता रोयइत्ता फासित्ता पाल-

इत्ता तीरित्ता कित्तइत्ता सोहइत्ता आराहित्ता आणा-ए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥ १ ॥

श्रुतम्—आकर्णितं मे—मया आयुष्मन्निति शिष्यामन्त्रणम्, एतच्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह, तेनेति—यः सर्वजगत्प्रतीत, तेनापि कीदृशेनेत्याह-भगवता—समग्रैश्वर्यादिमता श्रमणेन महावीरेण एवमिति—वक्ष्यमाणप्रकारेण आख्यातं—कथितं, तमेव प्रकारमाह—इह—अस्मिन् जगति जिनप्रवचने वा, खलु—निश्चितं सम्यक्त्वमिति गुणगुणिनोरनन्यत्वात्सम्यक्त्वगुणान्वितो जीवस्तस्य सम्यक्त्वे वोक्तरूपे सति पराक्रमः-उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्त्या कर्मारिजयसामर्थ्यलक्षणो वर्ण्यतेऽस्मिन्निति सम्यक्त्वपराक्रमं नामाध्ययनमस्तीति गम्यते । नन्वेवमिदमपि गौणमेव नाम तत्किमिति निर्युक्तिकृताऽऽदानपदेनेत्युक्तम् ?, इतरे तु गौणे इति, सत्यमेतत्, किन्तु नाम्नोऽनेकविधत्वसूचनार्थं निर्युक्तिकृतेत्थमुक्तं न त्वस्य गौणत्वव्यवच्छेदार्थम्, तच्च केन प्रणीतमित्याह—श्रमणेन—श्रामण्यमनुचरता धर्मकायावस्थामास्थितेनेत्यर्थः, भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितं-स्वतः प्रवेदितमेव भगवता ममेदमाख्यातमित्युक्तं भवति । अनेन वक्तृद्वारेण प्रस्तुताध्ययनस्य माहात्म्यमाह । ननु सुधर्मस्वामिनोऽपि श्रुतकेवलित्वात्तद्द्वारेणाप्यस्य प्रामाण्यं सिध्यत्येव तत्किमेवमुपन्यासः ?, उच्यते—लब्धप्रतिष्ठैरपि गुरूपदिष्टं गुरुमाहात्म्यं च ख्यापयद्भिः सूत्रमर्थश्चाख्येय इतिख्यापनार्थमेवमुपन्यास । इत्थं वक्तृद्वारेणास्य माहात्म्यमभिधाय सम्प्रति फलद्वारेणाह—यदिति—प्रस्तुताध्ययनं सम्यग्-अवैपरीत्येन श्रद्धाय—शब्दार्थोभयरूपं सामान्येन प्रतिपद्य प्रतीत्य—उक्तरूपमेव विशेषत इत्थमेवेति निश्चित्य यद्वा—संवेगादिजनितफलानुभवलक्षणेन प्रत्ययेन प्रतीतिपथमवतार्य, रोचयित्वा-तदभिहितार्थानुष्ठानविषयं तदध्ययनादिविषयं वाऽभिलाषमात्मन उत्पाद्य, संभवति हि क्वचिद् गुणवत्तयाऽवधारितेऽपि कदाचिदरुचिरित्येवमभिधानं, 'फासित्त' त्ति-तदुक्तानुष्ठानतः स्पृष्ट्वा पालयित्वा—तद्विहितानुष्ठानस्यातीचाररक्षणेन तीरयित्वा—तदुक्तानुष्ठानं पारं नीत्वा कीर्त्तयित्वा—स्वाध्यायविधानतः संशुद्धय—शोधयित्वा तदुक्तानुष्ठानस्य तत्तद्गुणस्थानावाप्तित उत्तरोत्तरशुद्धिप्राप्त्येन आराध्य—यथावदुत्सर्गापवादकुशलतया यावज्जीवं तदर्थासेवनेन, एतत् सर्वं स्वमनीषिकातोऽपि स्यादत आह—आज्ञया—गुरुनियोगात्मिकया अनुपाल्य—सततमासेव्य, यद्वा—स्पृष्ट्वा योगत्रिकेण मनोवाक्कायलक्षणेन, तत्र मनसा—सूत्रार्थोभयचिन्तनेन वचसा-वचनादिना कायेन-भङ्गकरचनादिना, एवं पालनाराधनयोरपि योगत्रयं वाच्यम्, पालयित्वा—परावर्त्तनादिनाऽभिरक्ष्य तीरयित्वा—अध्ययनादिना परिसमाप्य कीर्त्तयित्वा—गुरोर्विनयपूर्वकमिदमित्थं मयाऽधीतमिति निवेद्य शोधयित्वा—गुरुवदनुभाषणादिभिः शुद्धं विधाय आराध्य-उत्सूत्रप्ररूपणादिपरिहारेणाराधयित्वा शेषं प्राग्वदेव, परम् आज्ञयेति जिनाज्ञया, उक्तं हि—" फासिय जोगतिएणं, पालियमविराहियं च एमेव । तीरियमंतं पाविय, कित्तिय गुरुकहणं जिणमाणा ॥ १ ॥"

एवं च कृत्वा किमित्याह—बहवः-अनेक एव जीवाः—प्राणिनः सिध्यन्ति-इहैवागमसिद्धत्वादिना, बुध्यन्ते—घातिकर्मक्षयेण, विमुच्यन्ते—भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयेन, ततश्च परिनिर्वान्ति—कर्मदावानलोपशमेन अत एव सर्वदुःखानां—शारीरमानसानाम् अन्तं-पर्यन्तं कुर्वन्ति मुक्तिपदावाप्त्येति सूत्रार्थः । उत्त० पाई० २९ अ० ।

सम्प्रति विनेयानुग्रहार्थं सम्बन्धाभिधानपुरस्सरं प्रस्तुताध्ययनार्थमाह—

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहा-संवेगे १ निव्वेए २ धम्मसद्धा ३ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४ आलोअणया ५ निंदणया ६ गरहणया ७ सामाइए ८ चउवीसत्थए ९ वंदणे १० पडिक्कमणे ११ काउस्सग्गे १२ पच्चक्खाणे १३ थयथुइमंगले १४ कालपडिलेहणया १५ पायच्छित्तकरणे १६ खमावणे १७ सज्झाए १८ वायणया १९ पडिपुच्छणया २० परियट्टणया २१ अणुप्पेहा २२ धम्मकहा २३ सुत्तस्स-आराहणया २४ एगग्गमणसंनिवेसणया २५ संजमे २६ तवे २७ वोदाणे २८ सुहसाए २९ अपडिबद्धया ३० विवित्तसयणासणसेवणया ३१ विणियट्टणया ३२ संभोगपच्चक्खाणे ३३ उवहिपच्चक्खाणे ३४ आहारपच्चक्खाणे ३५ कसायपच्चक्खाणे ३६ जोगपच्चक्खाणे ३७ सरीरपच्चक्खाणे ३८ सहायपच्चक्खाणे ३९ भत्तपच्चक्खाणे ४० सब्भावपच्चक्खाणे ४१ पडिरूवणया ४२ वेयावच्चे ४३ सव्वगुणसंपुन्नया ४४ वीयरागया ४५ खंती ४६ मुत्ती ४७ मद्दवे ४८ अज्जवे ४९ भावसच्चे ५० करणसच्चे ५१ जोगसच्चे ५२ मणगुत्तया ५३ वयगुत्तया ५४ कायगुत्तया ५५ मणसमाहारणया ५६ वयसमाहारणया ५७ कायसमाहारणया ५८ नाणसंपन्नया ५९ दंसणसंपन्नया ६० चरित्तसंपन्नया ६१ सोइंदियनिग्गहे ६२ चक्खिंदियनिग्गहे ६३ घाणिंदियनिग्गहे ६४ जिब्भिंदियनिग्गहे ६५ फासिंदियनिग्गहे ६६ कोहविजए ६७ माणविजए ६८ मायाविजये ६९ लोभविजए ७० पिज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७१ सेलेसि ७२ अकंमया ७३ ।

एतस्य सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनस्य श्रीमहावीरेण यथानुक्रममर्थो व्याख्यातः, तद्यथा—संवेगो मोक्षाभिलाषः १, निर्वेदः संसाराद्विरक्तता २, धर्मे श्रद्धा धर्मे रुचिः ३, गुरवस्तत्त्वोपदेष्टारः, तस्य गुरुः, साधर्मिकाः समानधर्मकर्तुश्च शुश्रूषणा-सेवा ४, आलोचना-गुरोरग्रे पापानां प्रकाशनम् ५, निन्दना-आत्मसाक्षिकमात्मनो निन्दा ६, गर्हणा-अपरलोकानां पुरतः स्वदोषप्रकाशनम् ७, सामायिकं-शत्रौ मित्रे साम्यम् ८, चतुर्विंशतिस्तवो 'लोगस्सुज्जोयगरे' इत्यादि चतुर्विंशतिजिननामपठनम् ९, वन्दनं-द्वादशावर्त्तवन्दनेन गुरोः

वंन्दना १०, प्रतिक्रमणं-पापान्निवर्त्तनम्११, कायोत्सर्गोऽतीचारशुद्ध्यर्थे कायस्य व्युत्सर्जनं कायममत्वत्वर्जनम्१२, प्रत्याख्यानं-मूलगुणोत्तरगुणधारणम् १३, स्तवस्तुतिमङ्गल, स्तव' शक्रस्तवपाठ , स्तुतिरुर्ध्वीभूय अघन्येन चतुष्टयस्तुतिकथन, मध्यमेनाष्टस्तुतिकथन, उत्कृष्टेन १०८ अष्टोत्तरशतस्तुतिकथनम् , स्तवश्च स्तुतयश्च स्तवस्तुनय , स्तवस्तुनय एव मङ्गलं स्तवस्तुतिमङ्गलम् १४, कालप्रतिलेखना कालस्य व्याघाति-प्रभृतिकालचतुष्टयस्य प्रतिलेखना प्ररूपणा कालग्रहणरूपा कालप्रतिलेखना १५, प्रायश्चित्तकरणं—लग्नस्य पापस्य नवृत्त्यर्थे तपसः करणम् १६, क्षमापना अपराधक्षामणम् १७, स्वाध्यायश्चतुर्विधो वाचनादिकः १८, वाचना—गुरुसमीपे सूत्राक्षराणां ग्रहणम् १६, प्रतिपृच्छना—गुरोः पुरत' संदेहस्य पृच्छनम् २०. परिवर्तना सूत्रपाठस्य मुहुर्मुहुर्गुणनम् २१, अनुप्रेक्षा-सूत्रस्य चिन्तनम् २२,धर्मकथा-धर्मसंवद्धाया वार्त्ताया कथनम् २३, श्रुताराधना-सिद्धान्तस्याराधना २४, एकाग्रमन सन्निवेशना, चित्तस्यैकस्मिन् प्रधाने ध्येयवस्तुनि स्थिरीकरणम् २५, संयम—आश्रवाद्विरतिरूप· २६, तपो—द्वादशविधम् २७, व्यवदान-विशेषणावदान कर्मशुद्धिर्व्यवदानं कर्मणां निर्जरा २८, सुखशात—सुखस्य विषयसुखस्य शातं-शातनं स्पृहानिवारणम् २८, अप्रतिवद्धता-नीरागत्वम् ३०, विविक्तशयनासनसेवना—स्त्रीपशुपण्डकादिरहितशयनासनानामासेवना ३१, विनिवर्त्तना—पञ्चेन्द्रियाणां विषयेभ्यो विशेषेण निवर्त्तनम् ३२, संभोगप्रत्याख्यान—संभोग एकमण्डलीभोक्तृत्वं, तस्य प्रत्याख्यानं, गीतार्थावस्थायां जिनकल्पाचारग्रहणेन परिहारः संभोगप्रत्याख्यानम् ३३ , उपधिप्रत्याख्यानं—रजोहरणमुखवस्त्रिकां विहायाऽन्योपधिपरिहार· ३४, आहारप्रत्याख्यानं-सदोषाहारपरिहारः ३५, कषायप्रत्याख्यान—क्रोधादिपरिहार' ३६, योगप्रत्याख्यान-मनोवाक्कायाना व्यापारो योगस्तस्य प्रत्याख्यान परिहार· ३७, शरीरप्रत्याख्यानं—प्रस्तावे समागते शरीरस्यापि व्युत्सर्जनम् ३८, साहाय्यप्रत्याख्यानं—साहाय्यकारिणा परिहारः ३६, भक्तपानप्रत्याख्यानमनशनग्रहणम् ४०, सद्भावप्रत्याख्यानं-सद्भावेन पुनरकरणेन परमार्थवृत्त्या प्रत्याख्यानं सद्भावप्रत्याख्यानम् ४१, प्रतिरूपता-प्रति· सादृश्ये, तत· प्रति· स्थविरकल्पिमुनिसदृशो रूपं वेषो यस्य स प्रतिरूप·, प्रतिरूपस्य भाव· प्रतिरूपता, स्थविरकल्पिसाधुयोग्यवेषधारित्वम् ४२, वैयावृत्त्यव्यावृतो गुर्वादिकार्येषु व्यापारवान् , तद्भावो वैयावृत्त्यं साधूनामाहाराद्यानयनसाहाय्यम् ४३, सर्वगुणसंपन्नता-ज्ञानादिगुणसहितत्वम् ४४, वीतरागता-रागद्वेषनिवारणम् ४५, क्षान्ति -क्षमा ४६, मुक्तिर्निर्लोभता ४७, मार्दव-मानपरिहारः ४८, आर्जवं—सरलत्व ४६, भावसत्यमन्तरात्मन· शुद्धत्वम् ५०, करणसत्यं-प्रतिलेखनादिक्रियाविषये निरालस्यम् ५१, योगसत्यं-मनोवाक्काययोगेषु सत्यं योगसत्यम् ५२, मनोगुप्तित्वं-मनसोऽशुभपदार्थाद्गोपनम् ५३, वचोगुप्तित्वं-वचसोऽशुभपदार्थाद्गोपनम् ५४, कायगुप्तित्वं-कायस्याशुभव्यापाराद्गोपनम् ५५, मनःसमाधारणा-मनस· शुभस्थाने स्थिरत्वेन स्थापनम् ५६, वचः समाधारणा-वचनस्य शुभकार्ये स्थापनम् ५७,कायसमाधारणा-कायस्य शुभकार्ये स्थापनम् ५८, ज्ञानसंपन्नता-श्रुतज्ञानसहित्वम्५६दर्शनसंपन्नत्व सम्यक्त्वसहितत्वम् ६०, चारित्रसंपन्नत्वं यथाख्यातचारित्रयुक्तत्वम्६१, श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह· ६२,चक्षुरिन्द्रियनिग्रह· ६३ घ्राणेन्द्रियनिग्रह· ६४, जिह्वेन्द्रियनिग्रह· ६५, स्पर्शेन्द्रियनिग्रह· ६६ क्रोधविजय· ६७, मानविजय· ६८, मायाविजय· ६६ , लोभविजय· ७०, प्रेय्यद्वेषमिथ्यादर्शनविजयः, प्रेय्यं-प्रेमरागरूपं, द्वेषोऽप्रीतिरूप·, मिथ्यादर्शन-साशयिकादि, तेषां विजय·, प्रेय्यं च द्वेषश्च मिथ्यादर्शनं च प्रेय्यद्वेषमिथ्यादर्शनानि , तेषां विजयः प्रेय्यद्वेषमिथ्यादर्शनविजयः ७१ , शैलेशी चतुर्दशगुणस्थानस्थायित्वम् ७२, अकर्मता-कर्मणामभावः ७३ । उत्त० २६ अ०।

अथ संवेगादिधर्मान् फलतोऽभिधित्सुरिदमाह-

अह भंते ! संवेगे निव्वेए गुरुसाहम्मियसुस्सूमणया आलोयणया निंदणया गरहणया खमावणया सुयसहायता विउसमणया भावे अप्पडिवद्धया विणिवट्टणया विवित्तसयणासणसेवणया सोइंदियसंवरे ० जाव फासिंदियसंवरे जोगपच्चक्खाणे सरीरपच्चक्खाणे कसायपच्चक्खाणे संभोगपच्चक्खाणे उवहिपच्चक्खाणे भत्तपच्चक्खाणे खमाविरागया भावसच्चे जोगसच्चे करणसच्चे मणसमन्नाहरणया वयसमन्नाहरणया कायसमन्नाहरणया कोहविवेगे ०जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे णाणसंपन्नया दंसणसंप० चरित्तसंप०वेदणअहियासणया मारणंतियअहियासणया एए णं भन्ते ! पया किंपज्जवसाणफला पण्णत्ता ?, समणाउसो ! गोयमा ! संवेगे निव्वेगे ०जाव मारणंतियअहियासणया एए णं सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता , समणाउसो ! । (सू० ६००)

'अहे'त्यादि, अथेति परिप्रश्नार्थ 'संवेए'त्ति संवेजनं संवेगो· मोक्षाभिलाष· 'निव्वेए ' त्ति-निर्वेद·--संसारविरक्तता 'गुरुसाहम्मियसुस्सूसणय ' त्ति-गुरूणा--दीक्षाद्याचार्याणा साधर्मिकाणा च--सामान्यसाधूना या शुश्रूषणता-सेवा स। तथा ' आलोयण ' त्ति-आ--अभिविधिना सकलदोषाणा लोचना--गुरुपुरत प्रकाशना आलोचना सैवालोचनता निंदणय त्ति--निन्दनम्-आत्मनैवात्मदोषपरिकुत्सन ' गरहणय ' त्ति-गर्हणं--परसमक्षमात्मदोषोद्भावनं ' खमावणय ' त्ति परस्यासन्तोषवत क्षमोत्पादनम् 'विउस्समणय ' त्ति-व्यवशमनता--परस्मिन् क्रोधान्निवर्त्तयति सति क्रोधोज्झनम् , एतच्च क्वचिन्न दृश्यते, 'सुयसहायय ' त्ति-श्रुतमेव सहायो यस्यासौ श्रुतसहायस्तद्भावस्तत्ता, ' भावे अप्पडिवद्धय' त्ति-भावे--हासादावप्रतिवद्धता--अनुवन्धवर्जनं ' विणिवट्टणय' त्ति-विनिवर्त्तन-विरमणमसंयमस्थानेभ्य· ' विवित्तसयणासणसेवणय ' त्ति-विविक्तानि-स्त्र्याद्यसंसक्तानि यानि शयनासनानि उपलक्षणत्वादुपाश्रयश्च तेषां या सेवना सा तथा श्रोत्रेन्द्रियसंवराद्यः प्रतीताः 'जोगपच्चक्खाणे ' त्ति-कृतकारितानुमतिलक्षणाना मन·प्रभृतिव्यापाराणां प्राणातिपातादिषु प्रत्याख्यानं--निरोधप्रतिज्ञान योगप्रत्याख्यानं , ' सरीरपच्चक्खाण ' त्ति-शरीरस्य प्रत्याख्या-

नम्-अभिग्रहप्रतिवर्जनपरिज्ञानं शरीरप्रत्याख्यानम्,'कसायपच्चक्खाणे' त्ति-क्रोधादिप्रत्याख्यानं--तान् न करोमीति प्रतिज्ञानम् 'संभोगपच्चक्खाणे' त्ति-सममिति--संकरेण स्वपरलाभमीलनात्मकेन भोगः सम्भोग--एकमण्डलीभोक्तृत्वमित्येकोऽर्थः तस्य यत् प्रत्याख्यान-जिनकल्पादिप्रतिपत्त्या परिहारस्तत्तथा,'उवहिपच्चक्खाणे' त्ति-उपधेराधिकस्य नियमः भक्तप्रत्याख्यानं व्यक्तम्, 'खम' त्ति-क्षान्तिः 'विरागय' त्ति वीतरागता--रागद्वेषापगमरूपा 'भावसच्चे' त्ति-भावसत्यं-शुद्धान्तरात्मतारूप पारमार्थिकावितथत्वमित्यर्थः 'जोगसच्चे' त्ति-योगा-मनोवाक्कायास्तेषां सत्यम्-अवितथत्व योगसत्यम्,'करणसच्चे'त्ति-करणे-प्रतिलेखनादौ सत्यं-यथोक्तत्व करणसत्यम्, 'मणसमन्नाहरणय' त्ति-मनस समिति--सम्यक् अन्विति-स्वावस्थानुरूपेण आडिति-मर्यादया आगमाभिहितभावाभिव्याप्त्या वा हरण-सङ्क्षेपणं मन समन्वाहरण तदेव मन समन्वाहरणता, एवमितरे अपि, 'कोहविवेगे' त्ति--क्रोधविवेकः-कोपत्याग तस्य दुरन्ततादिपरिभावनेनोदयनिरोध 'वेयणअहियासणय' त्ति--क्षुधादिपीडासहनम्. 'मारणंतियअहियासणय' त्ति--कल्याणमित्रबुद्ध्या मारणान्तिकोपसर्गसहनमिति। भ० १७ श० ३ उ०।

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पन्नविए परूविए दंसिए निदंसिए उवदंसिए त्ति बेमि। सम्मत्तपरक्कमज्झयणं सम्मत्तं।

एष--अनन्तरोक्त खलु--निश्चये--सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्य अर्थ.--अभिधेय श्रमणेन भगवता महावीरेण 'आघविए' त्ति-आर्षत्वाद् आख्यात--सामान्यविशेषपर्यायाभिव्याप्तिकथनेन प्रज्ञापित.-हेतुफलादिप्रकाशनात्मकप्रकर्षज्ञापनेन प्ररूपित--स्वरूपकथनेन दर्शित'--नानाविधभेददर्शनेन निदर्शित-दृष्टान्तोपन्यासेन उपदर्शितः उपसंहारद्वारेण, इदमपि चूर्णिमाश्रितमेव। इति--परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, गतोऽनुगम., सम्प्रति नया., तेऽपि तथैव। उत्त० पाई० २९ अ०।

सम्मत्तवाय-सम्यक्त्ववाद-पु०। परस्परसव्यपेक्षकालादिरूपे सम्यग्वादे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

सम्मत्तविसुद्धया-सम्यक्त्वविसुद्धता--स्त्री०। स्थिरत्वे, सम्यक्त्वविसुद्धौ, स०।

सम्मत्तसद्दहण-सम्यक्त्वश्रद्धान--न०। सम्यक्त्वं श्रद्धीयतेऽस्तीति प्रतिपद्यतेऽनेनेति सम्यक्त्वश्रद्धानम्। सम्यक्त्वास्तिक्ये, ध० २ अधि०।

सम्मत्तसामाइय-सम्यक्त्वसामायिक--न०। सम्यक्त्वमुक्तरूपमेव सामायिक सम्यक्त्वसामायिकम्। सामायिकभेदे, विशे०।

इमे च तत्पर्याया.--

सम्मद्दिट्ठि अमोहो, सोही सब्भावदंसणं बोही।
अविवज्जओ सुदिट्ठी--एवमाई निरुत्ताइं ॥ २७८५ ॥

विशे०। (एषां पदानां व्याख्या तत्तच्छब्देषु।) (अस्य सर्वा वक्तव्यता 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यामि।)

सम्मत्तसुद्धि-सम्यक्त्वशुद्धि--स्त्री०। सम्यक्त्वशौचे, आव०।

योगाः सगृह्यन्ते, तत्थ उदाहरणगाहा--

सागेयम्मि महाबल, विमलपहे, चेव चित्तकम्मे य।
निप्फत्ति छट्ठमासे, भूमीकम्मस्स करणं च ॥१२९७॥

अस्या व्याख्या कथानकादवसेया, साएए महबलो राया अत्थाणीए दूओ पुच्छिओ-किं नत्थि मम जं अन्नेसिं रायाणं अत्थि त्ति?, चित्तसभ त्ति, कारिया, तत्थ दो वि चित्तकरावप्रतिमौ विख्यातौ-विमल.,प्रभाकरश्च। तेसिं अद्धद्धेणं अप्पिया, जवणियतरिया चिंतइ, एगेण निम्मविय, एगेण भूमी कया,राया तस्स तुट्ठो, पूइयो य पुच्छिओ य। प्रभाकरो पुच्छिओ भणइ--भूमी कया, न ताव चित्तेमि त्ति, राया भणइ--केरिसया भूमी कय त्ति?, जवणिया अवणीया, इयरं चित्तकम्मं निम्मलयर दीसइ, राया कुविओ, विन्नविओ--पभा एत्थ सकंत त्ति, तं छाइयं, नवर कुइ तुट्ठेण एवं चेव अच्छउ त्ति भणिओ, एवं सम्मत्त विसुद्धं कायव्वं, तनैव योगा. सगृहीता भवन्ति १२। आव० ४ अ०। आ० क०।

सम्मत्तोवरि-सम्यक्त्वोपरि--अव्य०। सम्यक्त्वलाभकालस्योर्ध्वे, पञ्चा० १० विव०।

सम्मद्द-सम्मर्द--पु०। संघर्षे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। भ०।

सम्मद्दंसण-सम्यग्दर्शन--दर्शनमोहनीयभेदाना क्षयजसम्यक्त्वलक्षणे दर्शनभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। मिथ्यात्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयक्षयोपशमसमुत्थे आत्मपरिणामे, भ० ८ श० २ उ०। आ० म०। ('दसण' शब्दे चतुर्थभागे २४२६ पृष्ठे अस्य भेदद्वय गतम्।) तत्त्वार्थश्रद्धाने, स्था०।

स्वप्नदर्शनकाले भगवान् सरागसम्यग्दर्शनीति सरागसम्यग्दर्शन निरूपयन्नाह--

दसविधे सरागसम्मद्दंसणे पन्नत्ते,तं जहा-"निसग्गु १वते सरुई २, आणरुती ३ सुत्त४बीतरुतिमेव ५। अभिगम ६ वित्थाररुती ७, किरिया ८ संखेव ९ धम्मरुती १० ॥१॥" (सू० ७५१)

'दसविहे' त्यादि, सरागस्य--अनुपशान्ताक्षीणमोहस्य यत्सम्यग्दर्शन--तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्तथा, अथवा--सराग च तत्सम्यग्दर्शन चेति विग्रह, सरागं सम्यग्दर्शनमस्येति वेति, 'निसग्ग' गाहा रुचिशब्द प्रत्येक योज्यते, ततो निसर्ग --स्वभावस्तेन रुचि --तत्त्वाभिलाषरूपाऽस्येति निसर्गरुचिर्निसर्गतो वा रुचिरिति निसर्गरुचि, यो हि जातिस्मरणप्रतिभादिरूपया स्वमत्याऽवगतान् सद्भूतान् जीवादीन् पदार्थान् श्रद्दधाति स निसर्गरुचिरिति भाव, यदाह--"जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे (द्रव्यादिभि.) सद्दहाइ सयमेव। एमेव नन्नह त्ति य, निसग्गरुइ त्ति नायव्वो

॥ १ ॥ " इति । तथोपदेशो-गुर्वादिना कथनं तेन रुचिर्यस्य स उपदेशरुचिः तत्पुरुषवत् ' समासलघूचः सर्वत्रेति, यो हि जिनोक्तानेव जीवादीनर्थान् तीर्थकरभिन्नाद्विनोपदिष्टान् श्रद्धत्ते स उपदेशरुचिरिति भावः । यत आह—" एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ । छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुई मुणेयव्वो ॥ १ ॥ " इति । तथाऽऽज्ञा—सर्वज्ञवचनात्मिका तया रुचिर्यस्य स तथा, यो हि प्रतनुरागद्वेषमिथ्याज्ञानतयाऽऽचार्यादीनामाज्ञयैव कुग्रहाभावाज्जीवादि तथेति रोचते माषतुषादिवत् स आज्ञारुचिरिति भावः, भणितं च—" रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ । आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई होइ ॥ १ ॥ " इति । ' सुत्तबीयरुईमेव ' त्ति-इहापि रुचिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सूत्रेण—आगमेन रुचिर्यस्य स सूत्ररुचिः, यो हि सूत्रागममधीयानस्तेनैवाङ्गप्रविष्टादीनां सम्यक्त्वं लभते गोविन्दवाचकवत् स सूत्ररुचिरिति भावः, अभिहितं च—" जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं । अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥ १ ॥ " इति । तथा बीजमिव, बीजं यदेकमप्यनेकार्थप्रतिबोधोत्पादकं वचस्तेन रुचिर्यस्य स बीजरुचिः, यस्य ह्येकेनापि जीवादिना पदेनावगतेनानेकेषु पदार्थेषु रुचिरुपैति स बीजरुचिरिति भावः, गदितं च—" एगपएणेगाइं पयाइं, जो पसरई उ सम्मत्ते । उदए व्व तिल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥ १ ॥ " इति, ' एव ' ति समुच्चये, । तथा ' अभिगमवित्थाररुइ ' त्ति—इहापि प्रत्येकं रुचिशब्दः सम्बन्धनीयः, तत्राभिगमो—ज्ञानं ततो रुचिर्यस्य सोऽभिगमरुचिः, येन ह्याचारादिकं श्रुतमर्थतोऽधिगतं भवति सोऽभिगमरुचिः, अभिगमपूर्वकत्वात्तद्रुचेरिति भावः, गाथाऽत्र—" सो होइ अभिगमरुई, सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं । एक्कारस अंगाइं, पइन्नयं दिट्ठिवाओ य ॥ १ ॥ " इति । तथा विस्तारो—व्यासस्ततो रुचिर्यस्य स तथेति, येन हि धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां सर्वपर्यायाः सर्वैर्नयप्रमाणैर्ज्ञाता भवन्ति स विस्ताररुचिः, ज्ञानानुसारिरुचित्वादिति, न्यगादि च—" दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा । सव्वाहिँ नयविहीहिं, वित्थाररुई मुणेयव्वो ॥ १ ॥ " इति । तथा क्रिया—अनुष्ठानं रुचिशब्दयोगात् तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः । इदमुक्तं भवति—दर्शनाद्याचारानुष्ठाने यस्य भावतो रुचिरस्तीति स क्रियारुचिरिति, उक्तं च—" नाणेण दंसणेण य, तवे चरित्ते य समिइगुत्तीसु । जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई होइ ॥ १ ॥ " इति । तथा संक्षेपः—संग्रहस्तत्र रुचिरस्येति संक्षेपरुचिः, यो ह्यनभिगृहीतकुदृष्टिरपि अनभिज्ञश्च जिनप्रवचनानभिज्ञश्च संक्षेपेणैव चिलातिपुत्रवदुपशमादिपदत्रयेण तत्त्वरुचिमवाप्नोति स संक्षेपरुचिरिति भावः । आह च—" अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो । अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥ १ ॥ " इति । तथा धर्मे—श्रुतादौ रुचिर्यस्य स तथा, यो हि धर्मास्तिकायं श्रुतधर्मं चारित्रधर्मं च जिनोक्तं श्रद्धत्ते स धर्मरुचिरिति ज्ञेयः, यद्गादि—" जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च । सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥ १ ॥ " इति । स्था० १० ठा० ३ उ० । सूत्र० । नं० । आ० म० । (' सम्मत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे भेदा उक्ताः ।) " द्वारमूलं प्रतिष्ठान-माधारो भाजनं निधिः । षट्कस्यास्य च धर्मस्य, सम्यग्दर्शनमिष्यते ॥ १ ॥ " आ० चू० ६ अ० । आचा० ।

दृष्ट्वा ज्ञात्वा च सम्यक् पन्थानमासेव्य च कृतं मार्गार्थं, तथा चाऽऽह—

सम्मद्दंसणदिट्ठो, नाणेण य सुट्ठु तेहिं उवलद्धो ।
चरणकरणेण पहओ, निव्वाणपहो जिणिंदेहिं ॥९१०॥

व्याख्या--सम्यग्दर्शनेन--अविपरीतदर्शनेन दृष्टः, ज्ञानेन च सुष्ठु--यथाऽवस्थितः तैरर्हद्भिर्ज्ञातः, चरणं च करणं चेत्येकवद्भावस्तेन प्रहतः--आसेवितः निर्वाणपथः--मोक्षमार्गो जिनेन्द्रैः । तत्र व्रतादि-चरणं, पिण्डविशुद्ध्यादि च करणं, यथोक्तम्--" वयसमणधम्मसंजम—वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ । णाणादितियं तव कोह-निग्गहाई चरणमेयं ॥ १ ॥ पिंडविसोही समिई, भावण पडिमा य इंदियनिरोहो । पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ॥ २ ॥ " इति गाथार्थः । आव० १ अ० ।

सम्यग्दर्शनप्राप्त्युपायमाह--

बंधट्ठितीपमाणं, सामित्तं चेव सव्वपगईणं ।
को केवइयं बंधइ, खवेइ वा केत्तियं होइ ॥ ९५ ॥

सम्यक्त्वं कर्मणः क्षयत उपशमतः क्षयोपशमतश्चोपजायते, क्षयादयश्च त्रयः प्रकारा बद्धानां कर्मणां नाबद्धानामिति प्रथमतो बन्धनस्थितिप्रमाणं जघन्यत उत्कर्षतश्च वक्तव्यम् । तच्चैवम्-ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्या उत्कृष्टं स्थितिपरिमाणं मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटाकोट्यः, नामगोत्रयोर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः आयुषस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तथा जघन्यं वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ता नामगोत्रयोरष्टौ शेषाणामन्तर्मुहूर्तम्, तथा सर्वप्रकृतीनां सत्तामधिकृत्य स्वामित्वं वक्तव्यं, तच्चैवम्—मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहा अष्टानामपि प्रकृतीनां स्वामिनः मोहनीयवर्ज्यानां सप्तानां क्षीणमोहाः वेद्यायुर्नामगोत्राणां सयोग्ययोगिकेवलिनः तथा कः कियत् बध्नातीति वक्तव्यं तत्र मिथ्यादृष्ट्याद्यऽप्रमत्तान्ताः सप्तविधबन्धका वा अष्टविधबन्धका वा अपूर्वकरणानिवृत्तिबादराः सप्तविधबन्धकाः, सूक्ष्मसंपरायाः षड्विधबन्धकाः उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनः सातावेदनीयैकबन्धकाः अबन्धका अयोगिकेवलिनः, तथा को वा कियत् क्षपयतीति वक्तव्यं तत्र मिथ्यादृष्ट्यादय उपशान्तमोहपर्यन्ता असत्त्वाष्टप्रकृतिकाः, क्षीणमोहाः क्षीणमोहनीयमिति असत्त्वसप्तप्रकृतिकाः सयोग्ययोगिकेवलिनः क्षीणघातिकर्माणः ।

अथ कस्य कर्मण उत्कृष्टायां स्थितौ कस्य नियमेन उत्कृष्टा स्थितिः कस्य वा भजनयेत्यत आह—

मोहुक्कोसा तु ठिई, मोहोकम्मम्मि होइ उक्कोसो ।

मोहविवज्जुकोसो, मोहो सेसो उ भइयव्वो ॥९६॥

मोहोत्कर्षे मोहनीयस्योत्कृष्टाया स्थितौ सत्यां नियमतः आयुर्वर्जत्वात् शेषाणां कर्मणामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति मोह विवर्जस्य ज्ञानावरणीयादेरुत्कर्षे-उत्कृष्टाया स्थितौ मोहो-मोहनीय शेषाश्च प्रकृतयो भङ्गा.-विकल्पिता. कदाचिदुत्कृष्टस्थितिका भवन्ति कदाचिन्नेति भाव.। तत्र सर्वेषां कर्मणामुत्कृष्टस्थितौ वर्त्तमान. प्रबलमोहाऽऽच्छादितत्वान्न किमपि सम्यग्दर्शन लभते, उक्तं च-"अट्ठण्ह वि पगडीण, उक्कोसठिईए उ वट्टमाणो उ। न लभति सम्मद्दंसण--मिच्छत्तेण वि मोहा उ॥१॥" किंतु सप्तानामायुर्वर्जानामभ्यन्तरकोटीकोट्या वर्त्तमाना.।

तथा चाह--

अंतिमकोडाकोडी-ए होइ सव्वासि कम्मपगडीणं।

पलियामसंखभागे, खीणे सेसे हवइ गंठी ॥९८॥

आयुर्वर्जानां सर्वासा कर्मप्रकृतीनामन्तिमाया कोटीकोट्या स्थितायां तत्रापि पल्योपमस्यासंख्येयतमे भागे क्षीणे शेषे स्थितिदलिके सति सम्यग्दर्शनलाभो भवति, केवल तदानीं सम्यग्दर्शनलाभान्तरायात्मत कर्कशघनरूढगुपिलवक्रग्रन्थिरिव दुर्भेदो घनरागद्वेषपरिणामरूपो ग्रन्थिर्भवति। ततस्तस्मिन् भिन्ने प्रतिपत्तव्यं, तस्य च भेद करणवशात्।

अथ करणवक्तव्यतामाह--

तिविहं च होइ करणं, अहापवत्तं तु भव्वभव्वाणं।

भवियाण इमे अन्ने, अपुव्वकरणा नियत्ती य ॥९९॥

करणं नाम परिणामविशेषस्तत्त्रिविधं-त्रिप्रकार भवति। तद्यथा-प्रथमं यथाप्रवृत्ताख्यं भव्यानाम्, अभव्याना च साधारणम्। भव्याना पुनरिमे द्वे अन्ये करणे अपूर्वकरणमनिवृत्तिश्चानिवृत्तिकरणं च।

सांप्रतमेषामेव त्रयाणां करणानां कालविभागमाह-

जा गंठी तप्पढमं, गंठीसमतित्थतो भवे बीयं।

अनियट्टी करणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥१००॥

यावद् ग्रन्थिस्तावत् प्रथम यथाप्रवृत्ताख्य करण ग्रन्थि समतिक्रामतो भिन्दतस्येत्यर्थ पुनरपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणं तु सम्यक्त्वपुरस्कृत येन सम्यक्त्वपुरस्कृतस्तस्मिन् जीवे सम्यक्त्वाभिमुखे इत्यर्थ। अथ यावत् ग्रन्थिस्तावन्निर्गुणस्य सत कथं कर्मराशे क्षपणम्? उच्यते गिरिसरित्प्रस्तरदृष्टान्तात्।

ततस्तमेव दृष्टान्तं तत्प्रसङ्गतः शेषकरणयोरपि।
दृष्टान्तानभिधित्सुर्द्वारगाथामाह--

नदिपहजरवत्थजले, पिपीलिया पुरिसकोद्दवा चेव।

सम्मद्दंसणलंभे, एते अट्ठ उ उदाहरणा ॥१०१॥

करणवशात्सम्यग्दर्शनलाभे एतान्यष्टावुदाहरणानि, तद्यथा-'नदि' त्ति-गिरिनदीप्रस्तरोदाहरणं पथदृष्टान्तः ज्वरोदाहरणं वस्त्रोदाहरणं जलोदाहरणं पिपीलिकोदाहरणं पुरुषोदाहरणं कोद्रवोदाहरणम्।

तत्र प्रथमतो गिरिसरित्प्रस्तरोदाहरण भावयति-

गिरिसरियपत्थरेहिं, आहरणं होइ पढमए करणे।

एवमणाभोगियकरण-सिद्धितो खवण जा गंठी॥१०२॥

गिरिसरित्प्रस्तरैरुदाहरण--दृष्टान्तः प्रथमे यथाप्रवृत्ताख्ये करणे भवति, तच्चैवम्-यथा गिरिसरित्प्रस्तरा-गिरिसदुपला-वेगतो घर्षणघोलनादिना केचिद्वर्तुला भवन्ति. केचित्त्र्यस्रा एवमनाभोगकरणसिद्धितो यथाप्रवृत्तकरणप्रभावत सुदीर्घाया अपि कर्मस्थितेस्तावत् क्षपण यावत् ग्रन्थिरिति। अथानिवृत्तिकरणं सम्यक्त्वपुरस्कृते जीवे भवतीत्युक्तम्, तत्सम्यक्त्व कथ लभते?, उच्यते-उपदेशतः स्वय वा।

तथा चात्र पथदृष्टान्त'--

उवएसेण सयं वा, नट्ठपहो कोइ मग्गमोतरति।

जरितो य ओसहेहिं, पउणइ कोई विणा तेहिं ॥१०३॥

नष्टपथ' कोऽपि पुरुष उपदेशेनान्य दृष्ट्वा तस्योपदेशेन मार्गमवतरति कश्चिन्मार्गानुसारी प्रज्ञतया स्वयमेवोहापोह कृत्वा, एवमिहापि सम्यग्दर्शनमाचार्यादीनामुपदेशतो लभते। कश्चित् स्वयमेव जातिस्मरणादिना अत्रैव ज्वरदृष्टान्तमाह-ज्वरितोऽपि कश्चिदौषधं. प्रगुणति-प्रगुणीभवति कश्चित्पुनस्तैरौषधैर्विना एवमेव। एवमत्रापि कस्यचिद्दर्शनमोह आचार्याद्युपदेशतोऽपगच्छति, कस्यचित्पुनरेवमव मार्गानुसारितया तत्त्वपर्यालोचनत। इह ज्वरस्थानीयो दर्शनमोह औषधस्थानीय आचार्याद्युपदेश.। इह यस्तत्प्रथमतया क्षायोपशमिकसम्यक्त्वरुचिरुपजायते सोऽपूर्वकरणवशात् मिथ्यात्वदलिकं त्रिधा करोति, तद्यथा-मिथ्यात्वम्, सम्यग्मिथ्यात्वम्, सम्यक्त्वं च।

अथ वस्त्रदृष्टान्त जलदृष्टान्त चाह--

मइलदरसुद्धसुद्धं, जह वत्थं होइ किंचि सलिलं च।

एसेव य दिट्ठंतो, दंसणमोहम्मि तिविहम्मि ॥ १०४॥

यथा किंचिद्वस्त्रं सलिलं वा मलिन भवति, किंचिद् दरशुद्धमीषद्विशुद्धं, किंचित् शुद्धम्, एष एव दृष्टान्तो दर्शनमोहे त्रिविधे भावनीय.। तदप्यपूर्वकरणवशात्किंचित् शुद्ध सम्यक्त्वरूप, किंचिदीषद्विशुद्ध सम्यग्मिथ्यात्वरूप, किंचित्तथैव मलिन मिथ्यात्वरूप स्थितमिति भाव।

अत्राह कथमभव्यास्तस्मिन् पथि देशेऽवतिष्ठन्ते कथं वा तत' प्रतिपतन्ति. भव्या वा कथ ग्रन्थि विभिद्य ततः परतो गच्छन्ति उच्यते। पिपीलिकादृष्टान्तात् तमेवाह--

अहभावेण पसरिया, अपुव्वकरणेण खाणुमारूढा।

चिट्ठंति तत्थ काइ, पिवीलिया काइ उड्डंति ॥ १०५॥

पच्चोरुहणट्ठा खाणु, आतो चिट्ठन्ति तत्थ एवावि।

पक्खविहूणातो पिवी-लियाउ उड्डंति उ सपक्खा॥१०६॥

काश्चित्पिपीलिका यथाभावेन अनाभोगत' प्रसरिता--बिलान्निर्गत्य इतस्ततो गन्तुं प्रवृत्ता। काश्चित्पुनरपूर्वकरणेन स्थाणुमारूढास्तासामपि मध्ये काश्चित्तत्र स्थाने एव तिष्ठन्ति याः पक्षविहीना। काश्चित्सजातपक्षास्तत उड्डयन्ते-ऊर्ध्वमाकाशेन गच्छन्ति। उत्तरार्द्धस्यैव व्याख्यानायेमनन्तरगाथा 'पच्चोरुहणट्ठा' इत्यादि, काश्चित्पक्षविहीना

पिपीलिकाः स्थाणौ प्रत्यवरोहणार्थं तत्रैव स्थाणावेव तिष्ठन्ति,अपिशब्दात्प्रत्यवरोहन्ति च । यास्तु सपक्षास्ता उड्डीयन्ते । इह पिपीलिकानामितस्ततः प्रसरणं यथा प्रवृत्तकरणतः, स्थाण्वारोहणमपूर्वकरणतः,उड्डयनमनिवृत्तकरणात् । एवमत्रापि ग्रन्थिदेशगमनं यथाप्रवृत्तिकरणेन,ग्रन्थिभेदनमपूर्वकरणतः , सम्यग्दर्शनमनिवृत्तिकरणेन । यथा च काश्चित् पिपीलिकाः पक्षविहीनत्वात् स्थाणावेव स्थिता. स्थित्वा च ततः प्रत्यवतीर्णास्तथा कोऽपि मन्दाध्यवसायतया तीव्रविशोधिरहितोऽपूर्वकरणेन ग्रन्थिभेदमाधातुमुद्यत. समुच्छलितघनरागद्वेषपरिणामस्तत्रैव तिष्ठति स्थित्वा च पुनः पश्चात्ततः प्रतिनिवर्त्तते ।

अस्मिन्नेवार्थे पुरुषदृष्टान्तमाह—

जह वा तिन्नि मणूसा, सभयं पंथं भएण वच्चंता ।
वेलाइक्कमतुरिया, वयंति पत्ता य दो चोरा ॥ १०७ ॥
तत्थेगो उ निउत्तो, एगो बद्धो अ तिरिथतो एको ।
कमगतिअहापवत्तं, भिन्नतरं धावणं तइए ॥ १०८ ॥

वाशब्दो दृष्टान्तान्तरसमुच्चये, यथा त्रयो मनुष्या सभयं पन्थानं भयेन पाठान्तरक्रमेण व्रजन्तो वेलातिक्रमत्वरिता. संध्यासमापतनेन गमने वेलातिक्रमतस्त्वरमाणा व्रजन्ति । अत्रान्तरे चोभयपार्श्वत. प्राप्तौ पाणिकृपाणकरालौ द्वौ चौरौ तौ च हक्कयन्तावेवमाक्षिपतः क यास्यथ यूयं मरणमेव युष्माकमिदानीं समापतितमिति । तत्रैक. पुरुषस्तौ समापतन्तौ दृष्ट्वा प्रथमत एव निवृत्त.,एक. पुनर्द्वितीयो हक्काश्रवणात उद्गीर्णकृपाणदर्शनतश्च भयेन शोचंस्तत्रैव स्थितः ,एकस्तृतीय. पुनः परमसाहसिकः प्रत्युद्गीर्णखड्गस्तौ द्वावपि चोरौ पश्चात्कृत्य तत्स्थानमतिक्रान्तो । इह या त्रयाणामपि पुरुषाणा प्रथमत. क्रमेण गति' सा यथाप्रवृत्तिकरणं यत्पुनस्तद्भयं भिन्न तत इतरदपूर्वकरणादपूर्वकरणम् ,यत्तु तत्परतो धावनं तत् तृतीये निवृत्ताख्यं करणे द्रष्टव्यम् ।

तदेव दृष्टान्तद्वयमपि विधाय सांप्रतमुपनयमाह-

एवं संसारीणं, जोएअव्वाई तिन्नि करणाई ।
भवसिद्धिसलद्धीया य,पक्खालपिवीलिया उवमा ।१०६।

एवम्-अमुना दृष्टान्तगतेन प्रकारेण यानि त्रीणि करणानि प्रागभिहितानि तानि सर्वाणि संसारिणा योजयितव्यानि तत्र पिपीलिकादृष्टान्तमाधिकृत्य प्रागेव योजिता. ,नवरं या. पक्षवत्य. पिपीलिका उक्तास्ताभिरुपमा भवसिद्धिसलब्धिकाना द्रष्टव्या । भवे. सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकाः कतिपयभवमोक्षगामिन इत्यर्थ.,तेऽपि कदाचित्प्रतिपतन्ति, तत आह-सलब्धिः-उत्तरोत्तरविशुद्धाध्यवसायप्राप्तिर्येषां ते सलब्धिकास्तेषां विशेषणसमासस्तेषाम् । किमुक्तं भवति-सपक्षपिपीलिका इव केचिरससारिणो भवसिद्धिका. सलब्धिका. स्थाणोरिव ग्रन्थिदेशादपि परतो गच्छन्ति, केचित्पुनरभव्या भव्या वा केचन पक्षविहीनपिपीलिका इव स्थाणोरिव ग्रन्थिदेशात्प्रतिपतन्ति । पुरुषदृष्टान्तमधिकृत्यैवं योजना—पुरुषस्थानीया संसारिजीवा , कर्मस्तपणस्थानीय पन्था , भयस्थानीयो ग्रन्थि', द्वौ चौरौ रागद्वेषौ, यस्तु मन्दपराक्रमो न पुरतो न मार्गत. किं तु भयेन तत्रैव स्थितस्तत्सदृशे ग्रन्थिदेशे वर्त्तमानो भव्योऽभव्योऽवा । स च तत्र संख्येयमसंख्येयं वा काल तिष्ठति । तत्र स्थितस्य को लाभ इति चेत् ? उच्यते-श्रुतलाभ. ।

तथा चाह—

दट्ठूण जिणवराणं, पूअं अन्नेण वावि कज्जेण ।
सुयलंभो उ अभव्वे, हविज्ज थंभेण उवणीतं ॥ ११० ॥

यस्तम्भेन उपनीतं उपनयं प्राणिनस्तस्मिन् अभव्ये तु-शब्दाद्भव्ये च भवति श्रुतलाभो द्रव्यश्रुतलाभः । कथमिति चेदत आह—' दट्ठूणे ' त्यादि, स हि ग्रन्थिकसत्त्वो भव्योऽभव्यो वा भगवतां जिनवराणा पूजां दृष्ट्वा अहो कीदृशं तपसः फलमिति परिभाव्य तदर्थिकतया अन्येन वा कार्येन स्वर्गसुखार्थित्वादिना प्रव्रज्यामभ्युपगच्छति, ततः सामायिकादिद्रव्यश्रुतलाभ., ग्रन्थौ चैव कियन्तं कालं स्थित्वा पुन पश्चात्प्रतिनिवर्त्तते , येनाप्यनिवृत्तिकरणतः सम्यक्त्वमासादित तस्यापि द्वौ प्रकारौ केचित्परिणामतो वर्द्धन्ते केचित् हानिमुपगच्छन्ति । तत्र ये हानिं गच्छन्ति ते प्रतिपतन्ति, इतरे श्रावकत्वादीनि लभन्ते । तत्र जघन्यत. समकमेव, यत उक्तम्—" सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं च सम्मत्तं " ।

उत्कर्षत पुनरेवम्—

समत्तम्मि उ लद्धे, पल्लपुहत्तेण सावओ होज्जा ।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥ १११ ॥
एवं अप्पडिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ ११२ ॥

सम्यक्त्वे लब्धे पल्यपृथक्त्वेन-पल्योपमपृथक्त्वेन श्रावको देशविरती भवति, ततश्चरणोपशमक्षयाणामन्तराणि संख्यातानि सागरोपमाणि भवन्ति । इयमत्र भावना—देशविरतिप्राप्त्यनन्तरं सख्यातेषु सागरोपमेषु गतेषु चरणलाभस्तदनन्तरं भूय. संख्यातेषु सागरोपमेषु गतेषूपशमश्रेणिलाभस्ततोऽपि परत. सख्येयेषु सागरोपमेष्वतिक्रान्तेषु क्षपकश्रेणिस्ततस्तद्भवे मोक्षः, एवममुना प्रकारेणाप्रतिपतितसम्यक्त्वे देवमनुजजन्मसु वर्त्तमानस्य प्रतिपत्तव्यम् । यदिवा-अन्यतरश्रेणिवर्जमुपशमश्रेणिवर्जे क्षपकश्रेणिवर्जे वा एकभवेन सर्वाणि देशविरत्यादीनि प्रतिपद्यते । श्रेणिद्वयप्रतिपत्तिस्त्वेकस्मिन् भवे न भवति, यत उक्तम् "मोहोपशम एकस्मिन् , भवे द्वि. स्यादसंतत. । यस्मिन् भवे तूपशम , क्षयो मोहस्य तत्र न " ॥ १ ॥

संप्रति यदुक्तं प्राक् मिथ्यात्वमपूर्वकरणेन त्रिधा करोति तत्र कोद्रवदृष्टान्तमाह-

अप्पुव्वेण तिपुंजं, मिच्छं काऊण कोद्दवोवमया ।
तिन्नि वि अवेदयंतो, उवसासगसम्मदिट्ठीउं ॥ ११३ ॥

कोद्रवोपमया-कोद्रवदृष्टान्तेन अपूर्वकरणेन मिथ्यात्वं त्रिपुञ्जं कृत्वाऽनिवृत्तिकरणेन तत्-प्रथमतया क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमासादयति, तत. परिणामवशतः कालान्तरेण मिश्रं मिथ्यात्वं वा गच्छति, यत्पूर्वकरणमारूढोऽपि मन्दाध्यवसायतया मिथ्यात्वं त्रिपुञ्जीकर्तुमसमर्थ स निवृत्तिक-

रणमुपगतोऽन्तरकरणं कृत्वा तत्र प्रविष्टो न किंचिदपि वेद-यते, स च त्रीण्यपि त्रयाणामन्यतमदप्यवेदयमाने उप-शमकः। सम्यग्दृष्टिरुच्यते कोद्रवोपमयेत्युक्तम्।

अतस्तामेव कोद्रवोपमां भावयति—

जह मयणकोद्दवा उ, दरनिव्वलिया य निव्वलीया य।
एमेव मिच्छ मीसं, सम्मं वा होति जीवाणं॥ ११४॥

यथा कोद्रवास्त्रिविधा भवन्ति, तद्यथा-मदनकोद्रवा दर-निर्वलिता-ईषदपगतमदनभावानिर्वलिताः-सर्वथापगतमद-नभावा. एव जीवानां मिथ्यात्वं त्रिधा भवति-मिथ्यात्वम्, मिश्रम्-सम्यग्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं वा।

कालेणुवक्कमेण व, जह नासति कोद्दवाण मदभावो।
अहिगमसम्मं नेस-ग्गियं च तह होइ जीवाणं॥११५॥

यथा कोद्रवाणां मदनभाव केषांचित्कालेन एवमेवापग-च्छति केषांचित् गोमयादिभिरुपक्रमत', एव केषांचित् जीवानामुपक्रमसदृशमधिगमसम्यक्त्वं भवति, के-षांचित् कालेन स्वत एवापगतमदनभावे कोद्रवाणां स-दृशं नैसर्गिकसम्यक्त्वम्, किमुक्तं भवति—केषांचिदधिग-मतो मिथ्यात्वपुद्गला सम्यक्त्वीभवन्ति, केषांचित् स्वत ए-व तथापरिणामविशेषभावत।

एतदेव स्पष्टयति—

सोऊण अहिसमेच्चा, करेइ सोवड्डमाणपरिणामो।
मिच्छे सम्मामिच्छे, मीसे वि य पोग्गले समयं॥११६॥

श्रुत्वा केवलिप्रभृतीना वाचोऽभिसमेत्य वा जातिस्मर-णादिना सम्यक्त्वमवगम्य सोऽपूर्वकरणे वर्तमानो वर्द्ध-मानपरिणाम समकम्—एककाल मिथ्यात्वपुद्गलान् त्रि-धा करोति। तद्यथा—'मिच्छे' इति—मिथ्यात्वपुद्गलान्, सम्यग्मिथ्यात्वपुद्गलान्, सम्यक्त्वपुद्गलानिति। अथैषां पुद्ग-लाना परस्पर संक्रमो भवति किं वा नेति?, उच्यते—भवति इति ब्रूमः।

तथा चाह—

मिच्छत्ताओ मीसो, मीसस्स उ होज्ज संकमो दोसुं।
सम्मे मिच्छे वासं, सम्मामिच्छं च पुण मीस॥११७॥

मिथ्यात्वात्—मिथ्यात्वदलिकात् सम्यग्दृष्टि प्रवर्द्धमा-नपरिणाम पुद्गलानाकृष्य मिश्रे उपलक्षणमेतत् सम्य-क्त्वे च संक्रमयति मिश्रस्य पुद्गलाना संक्रमो द्वयोर्भवति, तद्यथा-सम्यक्त्वे मिथ्यात्वे च। तत्र सम्यग्दृष्टि स-म्यक्त्वे सक्रमयति, मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वे सम्यक्त्वान्-स-म्यक्त्वदलिकान् पुन पुद्गलान् मिथ्यात्वे सक्रमयति। न पुन. मिश्रमिति।

साम्प्रतममुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह—

मिच्छत्ताओ अहवा, मीसं सम्मं च कोइ संकमति।
मीसाओ वा सम्मं, गुणवुड्ढी हायतो मिच्छं॥११८॥

अथवेत्युक्तस्यैवार्थस्य भणनप्रकारान्तरद्योतने मिथ्यात्वात्-मिथ्यात्वदलिकान् पुद्गलानाकृष्य कश्चिन्मिश्र सम्यक्त्व च सं-क्रमयति। यद्वा-कश्चिद् गुणैर्वृद्धिर्यस्य स गुणवृद्धि' प्रव र्द्धमानपरिणाम. सम्यग्दृष्टिरित्यर्थ, मिश्रान्-मिश्रदलिका-न् पुद्गलानादाय सम्यक्त्व सक्रमयति, हायको-हीनपरि-णामो मिथ्यादृष्टिरित्यर्थः, मिश्रान् पुद्गलानाकृष्य मिथ्या-त्व सक्रमयति।

मिच्छत्ता संकंती, अविरुद्धा होंति सम्ममीसे तु।
मीसातो वा दुन्नि वि,ण उ सम्मा परिणमे मीसं॥११६॥

मिथ्यात्वात् पुद्गलसक्रान्ति' सम्यक्त्वमिश्रयोरप्यविरुद्धा, मिश्रतो वा सम्यग्मिथ्यात्वतो वा पुद्गलानादाय द्वावपि सं-क्रमयति, तद्यथा—मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं च यथोक्तमनन्तरं सम्यक्त्वात्सम्यक्त्वदलिकात्पुन. पुद्गलानादाय न मिश्रं मिश्रभाव परिणमति।

हायंते परिणामे, ते पुण मीसे उ पोग्गले सम्मा।
न य सोहिया सि विज्जति,केई जे दाणि वेएज्जा॥१२०॥
सम्मत्तपोग्गलाणं, न च देउं सो य अंतिमं गासं।
पच्छाकडसम्मत्तो, मिच्छत्तं चेव संकमति॥ १२१॥

यस्य तु सम्यग्दर्शनलाभे हीयमानपरिणामः स तस्मिन् हीयमाने परिणामे न मिश्रान् पुद्गलान् तुशब्दात्-मिथ्यात्व-पुद्गलांश्च सम्यक्त्वपुद्गलान् करोति, न च 'से' तस्य शो-धिता केचिदन्ये पुद्गला विद्यन्ते यानिदानीमधिकृतसम्य-क्त्वपुञ्जनिष्ठाकाले वेदयेत, ततः सम्यक्त्वपुद्गलानामन्ति-मग्रास वेदयित्वा पश्चात्कृतसम्यक्त्वोऽपि मिथ्यात्वमेव सक्रामति।

मिच्छत्तम्मि अखीणे, ते पुंजी सम्मदिट्ठिणो नियमा।
खीणम्मि उ मिच्छत्ते, दुएकपुंजोव खवगो वा॥१२२॥

अक्षीणे मिथ्यात्वे ये सम्यग्दृष्टयस्ते नियमात् त्रिपुञ्जिन. क्षीणे तु मिथ्यात्वे द्विपुञ्जी मिथ्यात्वपुञ्जस्य क्षीणत्वात्, एक पुञ्जी वा मिश्रपुञ्जक्षये, यद्वा—क्षपकः सम्यक्त्व पुञ्जस्या पि क्षयं तदेव त्रयाणामपि पुञ्जाना दृष्टान्तेन निर्णय. स्वतः स्वरूपं च व्याचष्टयेताम्।

साम्प्रतं पुञ्जत्रयस्याप्यवेदनत औपशमिकसम्यग्दृष्टिमाह-

उवसमसेढिगयस्स, होति उ उवसामियं तु सम्मत्तं।
जो वा अकयतिपुंजो,अखवियमिच्छो लहइ सम्मं॥१२३॥

उपशमकश्रेणिगतस्य भवति सम्यक्त्वमौपशमिकम्, या वा अकृतत्रिपुञ्ज —अपूर्वकरणे पुञ्जत्रयकरणतस्तत्र क्षपको-ऽपि दर्शनसप्तकस्यापूर्वकरणमारूढ पुञ्जत्रय न करोति। ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-अक्षपितमिथ्यात्वो यल्लभते सम्य क्त्व तदौपशमिक सम्यक्त्वमिति। एतौ द्वावप्यौपशमिक-सम्यग्दृष्टी सम्यक्त्वमौपशमिकमन्तर्मुहूर्तमनुभूय तदनन्त-रमवश्य प्रतिपतत.।

तत्र दृष्टान्तद्वयमाह-

वाही असव्वछिन्नो, कालावेक्खऽकुरु व्व दड्ढदुमो।
उवसामगाण दोण्ह वि,एते खलु होंति दिट्ठंता॥१२४॥

यथा व्याधिरसर्वच्छिन्न कालापेक्ष क्रियाविशेषणमेतत् का-लमपेक्ष्येत्यर्थ, पुनरुद्भवति। दग्धो वा द्रुम कालापेक्ष यथा-

कुरं मुञ्चति । एवमुपशमितमपि मिथ्यात्वं कालमपेक्ष्य पुनरुद्रिक्तं भवतीति द्वयोरपि प्रतिपातः। तथा चाह—द्वयोरप्युपशमिकयोरेतौ भवतो दृष्टान्तौ, तत्रोपशमश्रेणिगत औपशमिकसम्यग्दर्शनी देशप्रतिपातेन वा प्रतिपतति सर्वप्रतिपातेन वा, इतरोऽवश्यमेव सर्वप्रतिपातेन प्रतिपतति,मिथ्यात्वं गच्छति इत्यर्थः ।

तत्र दृष्टान्तमाह—

आलंबणमलहंति, जह सट्ठाणं न मुंचए इलिया ।

एवं अकयतिपुंजो, मिच्छं चिय उवसमी एति ॥ १२५ ॥

इह या तृणादिषु सुखप्रदेशेन सर्वतोऽग्रेतनं स्थानं परित्यजतोऽग्रेतनं स्थानं संक्रामति, अन्यथा पश्चाद्वलते, स इलिका यथा पुरतः आलम्बनमलभमाना स्वस्थानं न मुञ्चति एवमकृतत्रिपुञ्जो गत्यन्तराभावात् मिथ्यात्वमेवोपशमयति । इयमत्र भावना—द्विविधस्तत्प्रथमतया सम्यग्दर्शनप्रतिपत्ता अतिविशुद्धो मन्दविशुद्धश्च । तत्र यः अतिविशुद्धः सोऽपूर्वकरणमारूढो मिथ्यात्वं त्रिपुञ्जीकरोति कृत्वा चानिवृत्तिकरणे प्रविष्टस्तत्प्रथमतया क्षायोपशमिकं सम्यग्दर्शनमासादयति सम्यक्त्वपुञ्जोदयात् । यस्तु मन्दविशुद्धः सोऽपूर्वकरणमप्यारूढस्तीव्राध्यवसायाभावात् न मिथ्यात्वं त्रिपुञ्जीकर्तुमलम् , ततो निवृत्तिकरणमुपगतोऽत्र करणं कृत्वा तत्र प्रविष्टस्तत्प्रथमतया औपशमिकसम्यग्दर्शनं तु भवति, अन्तरकरणं चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमतस्तदद्धाक्षये अन्येषा पुद्गलानामभावतो मिथ्यात्वमेति ।

एतदेवाह—

खीणम्मि उदिन्नम्मि, अणुइज्जं ते य सेसम्मिच्छत्ते ।

अंतोमुहुत्तकालं, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ १२६ ॥

अनिवृत्तिकरणे प्रविष्टस्य यत् मिथ्यात्वमुदीर्णमुदयावलिकाप्रविष्टं तस्मिन् क्षीणे शेषे च मिथ्यात्वेऽपान्तराले उत्तरकरणतोऽनुदीयमानेऽन्तर्मुहूर्त्तकालमौपशमिकं सम्यक्त्वं जीवो लभते मिथ्यात्वदर्शनवेदनाभावात् ।

सोऽपि कथमित्यत आह—

ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प ।

इय मिच्छत्त(स्स)अणुदए, उवसमसम्मं मुणेयव्वं।१२७।

यथा वनदवः ऊषरं देशं-तृणादिरहितं प्रदेशं दग्धं वा प्राप्य विध्मापयति । इति-एवमन्तरकरणे प्रविष्टस्य मिथ्यात्वपुद्गलाभावान्मिथ्यात्वस्य-मिथ्यादर्शनस्याऽनुदयावेदनं ततस्तस्मिन्नस्यौपशमिकं सम्यक्त्वं ज्ञातव्यम् ।

किंच—

जिज्झी(ज्झी)भवंति उदया,कम्माणं अत्थि सुत्तउवदेसो ।

उववायादी सायं, जह नेरइया अणुभवंति ॥ १२८ ॥

द्विविधेऽप्यौपशमिकसम्यग्दृष्टौ शेषाणामपि कर्मणामुदयात् जिज्झीभवन्ति न चैतद्वचनमात्रं यतोऽस्त्येव तत्र अन्धान्तररूपे साक्षादुपदेशो यथा-नैरयिका उपपातादौ सातमनुभवन्तीति ।

एनामेव दर्शयति—

उववाएण व सायं, नेरइओ देवकम्मुणा वावि ।

अज्झवसाणनिमित्तं , अहवा कम्माणुभावेणं ॥१२६॥

नैरयिक उपपातेन सातमनुभवति. किमुक्तं भवति-उपपातकाले सातं वेदयते तदानीं हि न तस्य क्षेत्रजा वेदना न परस्परोदीरितानापि परमाधार्मिकोदीरितेति । अथवा-देवकर्मणा-देवक्रियया सातमनुभवति, देवो हि कश्चित् महर्द्धिकः पूर्वभवस्नेहतः तत्र गत्वा कस्यापि किंचित्कालं वेदनामुपशमयति ततः सातं वेदयते। अथवा-अध्यवसाननिमित्तं तथाविधशुभाध्यवसायप्रवृत्तिनिमित्तं सातमासादयति यथा सम्यग्दर्शनं लभमानः, सम्यग्दर्शनलाभे हि जात्यन्धस्य चक्षुर्लाभ इव जायते महान् प्रसाद इति । 'अहवा कम्माणुभावेण' ति, अथवा—तीर्थकरजन्माद्यधिकृत्य यः कर्मणां सातवेदनीयप्रभृतीनां शुभानामनुभवः-अनुभवनमुदयेन वेदनं तेन सातमनुभवति, तथाहि-भगवतां तीर्थकृतां जन्मनि दीक्षादिने च तत्प्रभावतो नरकेऽप्यालोको जायते, नैरयिकाणामपि शुभकर्मोदये प्रसरति सातमिति ॥ अथ मिथ्यादृष्टिर्यदा सम्यक्त्वं संक्रामति तदा स तत्समयं कतिज्ञानानि लभते-उच्यते द्वे त्रीणि वा ।

तथा चाह—

विब्भंगी उ परिणमं, सम्मत्तं लहति मतिसुतोहीणि ।

तयभावम्मि मतिसुते, सुतलंभं केइ उभयं ति ॥१३०॥

विभङ्गी-विभङ्गज्ञानी सम्यक्त्वं परिणमयन् तत्समये मतिश्रुतावधीन् लभते, तदभावे-तस्य विभङ्गस्याभावे मिथ्यादर्शनी सम्यक्त्वं परिणमयन् तत्कालं मतिश्रुते-मतिज्ञानश्रुतज्ञाने लभते, केचित्पुनः श्रुतलाभं भजन्ति-विकल्पयन्ति यस्याधीतं श्रुतं स लभते श्रुतज्ञानमितरो न लभत इत्याचक्षते इति भावः । तथाहि—ये स्वयंभूरमणसमुद्रे मत्स्यास्ते प्रतिमासंस्थितान् मत्स्यान् उत्पलानि वा दृष्ट्वेहापोहादि कुर्वन्तो जातिस्मरणतः सम्यक्त्वमासादयन्ति आभिनिबोधिकज्ञानं च, ये तु श्रुतज्ञानं तत्रासादयन्त्यनधीतश्रुतत्वात् ये त्वधीतश्रुतास्ते त्रीण्यपि युगपदासादयन्ति ।

एतद् दूषयितुमाह—

अन्नाणमती मिच्छे, जढम्मि मतिणाणं तं जहा एति ।

एमेव य सुयलंभो, सुयअन्नाणे परिणयम्मि ॥ १३१ ॥

यथा मिथ्यात्वे त्यक्ते मतिरज्ञानस्वरूपा मतिज्ञानतामेति एवमेव श्रुतज्ञाने परिणतोपगते श्रुतलाभो भवति । किं च ते प्रष्टव्या सम्यक्त्वलाभसमये श्रुतज्ञानमस्ति किं वा न? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तर्हि तस्याज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टित्वप्रसङ्गः । अथ नास्ति तर्हि श्रुताज्ञानमपि केवलमाभिनिबोधिकज्ञानं स्यान्न चैतदुपपन्नं श्रुतज्ञानमन्तरेण केवलस्याभिनिबोधिकज्ञानस्याभावात् "जत्थ मतिनाणं तत्थ सुयनाणं. जत्थ सुयनाणं तत्थ मतिणाणं। दो वि सयाइं अण्णोन्नसमणुगयाइं" इति वचनादिति । तदेवमुक्तमौपशमिकं सम्यक्त्वम् । वृ० १ उ० १-प्रक० । आ० चू० ।

सम्मदंसणजोग-सम्यग्दर्शनयोग-पुं० । तत्त्वार्थश्रद्धानसंबन्धे, पो० ११ विव० ।

सम्मद्दा-सम्मर्दा-स्त्री० । दुष्प्रत्युपेक्षणाभेदे, यत्र च वस्त्रस्य मध्यप्रदेशे सवलिता कोणा भवन्ति यत्र वा प्रत्युपेक्षणीयोपधिवेण्टिकायामेवोपविश्य प्रत्युपेक्ष्यते सा सम्मर्देति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । ध० । पं० व० । उत्त० ।

सम्मद्दिट्ठि–सम्यग्दृष्टि–पुं० । सम्यगिति प्रशसार्थे दर्शनम्–दृष्टि पदार्थपरिच्छित्तिः । सूत्र०१ श्रु०१२अ । स्था० । प्रज्ञा० । आच० । सम्यग्–अविपरीता दृष्टि–र्जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्ति र्यस्य स सम्यग्दृष्टि. । न० । सम्यग्दर्शनधरे, पञ्चा० ८ विव० । आतु० । प्रति० । सम्यग्दर्शनिनि, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सम्यग्दृष्टिस्वरूपं लिङ्गत आह–

सुस्सूसधम्मराओ,, गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे णियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥ ५ ॥

श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा धर्मशास्त्रविषया गेयरागिनरकिन्नरगेय शुश्रूषाधिका जिज्ञासोत्तरकालभाविनी । इह च ह्रस्वता प्राकृतत्वात् । तथा धर्मराग.–कुशलानुष्ठानानुराग. सामग्रीवैकल्यात्तदकरणेऽपि चेतसोऽनुबन्ध कान्तारातीतदरिद्रब्राह्मणहवि.पूर्णभोजनाभिलाषातिरिक्त · । तथा गुरुदेवानां–धर्माचार्यपरमाराध्यानाम् , यथासमाधि—स्वसमाधानानतिक्रमेण न पुनरसद्ग्रहणेन वैयावृत्ये व्यावृ (पृ) तभावे तत्कर्मणि वा नियमो नियोगोऽवश्य मयैतद् गुरुकार्यं देवकार्यं वा कर्तव्यमित्याभिनिवेशलक्षणो गुणश्रद्धालुमनुष्यचिन्तामणिवैयावृत्त्यनियमाधिक । इह चशब्दो लुप्तो द्रष्टव्य. । किमित्याह–सम्यग्दृष्टेरविरतसम्यग्दर्शनिनो जीवस्य लिङ्गानि—लक्षणानि भवन्ति ग्रन्थिभेदेन तस्य तीव्रभावात् । इति गाथार्थ. । पञ्चा० ३ विव० ।

सम्प्रति सम्यग्दृष्टे. स्वरूपमाह—

सम्मद्दिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ।
सद्दहइ असब्भावं, अजाणमाणो गुरुनियोगा ॥ २४ ॥

‘ सम्मद्दिट्ठि ’ त्ति–सम्यग्दृष्टिर्जीवो गुरुभिरुपदिष्ट प्रवचनं नियमात्–यथावत् श्रद्धत्ते, एव तुरेवकारार्थो,भिन्नक्रमश्चा य. पुन. सम्यग्दृष्टिरपि असद्भावम्–असद्भूत प्रवचन श्रद्दधाति सोऽवश्यमजानन् स्वयं सम्यक्परिज्ञानविकल सन् । यद्वा–गुरोस्तथाविधसम्यक्परिज्ञानाविकलस्य मिथ्यादृष्टेर्वा जमालिप्रभृतेस्य नियोगाद्दाज्ञापारतन्त्र्यात् , नान्यथा । क० प्र० ६ प्रक० ।

अपुनर्बन्धकोत्तर सम्यग्दृष्टिर्भवतीति तत्स्वरूपमाह—

लक्ष्यते ग्रन्थिभेदेन, सम्यग्दृष्टिः स्वतन्त्रतः ।
शुश्रूषाधर्मरागाभ्यां, गुरुदेवादिपूजया ॥ १ ॥

लक्ष्यते इति—ग्रन्थिभेदेन—अतितीव्ररागद्वेषपरिणामविदारणेन स्वतन्त्रतः—सिद्धान्तनीत्या सम्यग्दृष्टिः लक्ष्यते । सम्यग्दर्शनपरिणामात्मना ऽप्रत्यक्षोऽप्यनुमीयते । शुश्रूषाधर्मरागाभ्या तथा गुरुदेवादिपूजया त्रिभिरेतैर्लिङ्गै., यदाह— " शुश्रूषाधर्मरागश्च, गुरुदेवादिपूजनम् । यथाशक्ति विनिर्दिष्टं, लिङ्गमस्य महात्मभि ॥ १ ॥ ”

भोगिकिन्नरगेयादि–विषयाधिक्यमीयुषी ।
शुश्रूषाऽस्य न सुप्तेश–कथार्थविषयोपमा ॥ २ ॥

भोगीति—भोगिनो–यौवनवैदग्ध्यकान्तासन्निधानवत कामिनः किन्नरादीना गायकविशेषाणा गेयादौ—गीतवर्णपरिवर्ताभ्यासकथाकथनादौ विषय —श्रवणरसस्तसादाधिक्यम–अतिशयम् ईयुषी–प्राप्तवती किन्नरगेयादिजिनोक्त्योर्हेत्वोस्तुच्छत्वमहत्त्वाभ्यामतिभेदोपलम्भात् । अस्य सम्यग्दृष्टेः शुश्रूषा भवति । न पर सुप्तेशस्य सुप्तनृपस्य कथार्थविषयः समुग्धकथार्थश्रवणाभिप्रायलक्षणः तदुपमा तत्सदृशीअसंबद्धतत्तदज्ञानलवफलायास्तस्या दौर्वैदग्ध्यबीजत्वात् ।

अप्राप्ते भगवद्वाक्ये, धावत्यस्य मनो यथा ।
विशेषदर्शिनोऽर्थेषु, प्राप्तपूर्वेषु नो तथा ॥३॥

अप्राप्त इति—अस्य–सम्यग्दृशः अप्राप्ते—पूर्वमश्रुते भगवद्वाक्ये—वीतरागवचने यथा मनो धावति—श्रोतुमनुपरतेच्छं भवति । यथा विशेषदर्शिन सतः प्राप्तपूर्वेष्वर्थेषु धनकुटुम्बादिषु न धावति । विशेषदर्शनेनापूर्वत्वभ्रमस्य दोषस्य चोच्छेदात् ।

धर्मरागोऽधिको भावा द्भोगिनः स्त्र्यादिरागतः ।
प्रवृत्तिस्त्वन्यथाऽपि स्या- त्कर्मणो बलवत्तया ॥ ४ ॥

धर्मराग इति—धर्मरागश्चारित्रधर्मस्पृहारूप. अधिक.–प्रकर्षवान् भावत —अन्त करणपरिणत्या भोगिनो–भोगशालिन. स्त्र्यादिरागतो भामिन्याद्यभिलाषात् । प्रवृत्तिस्तु–कायचेष्टा तु अन्यथापि—चारित्रधर्मप्रातिकूल्येनापि व्यापारादिना स्यात् । कर्मणश्चारित्रमोहनीयस्य बलवत्तया नियतप्रबलविपाकतया ।

तदलाभेऽपि तद्राग–बलवत्त्वं न दुर्वचम् ।
पूयिकाद्यपि यद्भुङ्क्ते, घृतपूर्णप्रियो द्विजः ॥ ५ ॥

तदिति—तदलाभेऽपि कथंचिदन्यथाप्रवृत्त्या चारित्राप्राप्तावपि । तद्रागबलवत्त्वं चारित्रेच्छाप्राबल्य स्वहेतुसिद्धम् । न–नैव दुर्वचं–दुरभिधानम् । यद्–यस्मात्तथाविधविषमप्रग्रहकवशात् । पूयिकाद्यपि पूयं–नाम कुथितो रसस्तदस्यास्तीति पूयिकम् । आदिशब्दाद्–रूक्ष पर्युषित च वल्लचनकादि । किं पुनरितरदित्यपिशब्दार्थ. । घृतपूर्णा प्रिया–वल्लभा यस्य स तथा । द्विजो—ब्राह्मणो भुङ्क्ते—अश्नाति यदत्र द्विजग्रहणं कृतं तदस्य जातिप्रत्ययादेव अन्यत्र भोक्तुमिच्छाया अभावादिति । अन्येच्छाकालेऽपि प्रबलेच्छाया वासनात्मना न नाश इति तात्पर्यम् ।

गुरुदेवादिपूजाऽस्य, त्यागात्कार्यान्तरस्य च ।
भावसारा विनिर्दिष्टा, निजशक्त्यनतिक्रमात् ॥ ६ ॥

गुर्विति—अस्य सम्यग्दृश. गुरुदेवादिपूजा च कार्यान्तरस्य—त्यागभोगादिकरणीयस्य त्यागात्—परिहारात् निजशक्तेः स्वसामर्थ्यस्यानति (क्रमात्) लङ्घनादनिगूहनात् । भावसारा भोक्तु क्षीरस्वगोचरगौरवादनन्तगुणेन बहुमानेन प्रधाना विनिर्दिष्टा प्ररूपिता परमपुरुषै. ।

स्यादीदृक्करणे चान्त्ये, सत्त्वानां परिणामतः ।
त्रिधा यथाप्रवृत्तं त–दपूर्वं चानिवर्ति च ॥ ७ ॥

स्यादिति—ईदृगुपदर्शितलक्षण सम्यक्त्वं चान्त्ये करणे " जाते सतीति " गम्यम् । स्याद्–भवेत् तत् करण सत्त्वाना—प्राणिना परिणामत त्रिधा—त्रिप्रकार यथाप्रवृत्तम् अपूर्वम् अनिवर्त्ति चेति ।

ग्रन्थि यावद्भवेदाद्यं, द्वितीयं तदतिक्रमे ।
भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु, योगिनाथैः प्रदर्शितम् ॥८॥

ग्रन्थिमिति—आद्यं यथाप्रवृत्तकरण ग्रन्थि यावद्भवेत्,

द्वितीयमपूर्वकरण तदतिक्रमे—ग्रन्थ्युल्लङ्घने क्रियमाणे, तृतीयं त्वनिवर्तिकरण भिन्नग्रन्थे. कृतग्रन्थिभेदस्य योगिनाथैस्तीर्थकरै. प्रदर्शितम् ।

पतितस्यापीति नामुष्य, ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य बन्धनम् ।
स्वाशयो बन्धभेदेन, सतो मिथ्यादृशोऽपि तत् ॥ ९ ॥

पतितस्यापीति—अमुष्य-भिन्नग्रन्थेः पतितस्यापि तथाविधसंक्लेशात् सम्यक्त्वात् परिभ्रष्टस्यापि । न—नैव ग्रन्थिग्रन्थिभेदकालभाविनी कर्मस्थितिम् उल्लङ्घ्यातिक्रम्य सप्ततिकोटीकोट्यादिप्रमाणस्थितिकतया बन्धनं—ज्ञानावरणादिपुद्गलग्रहणं तत्तस्मान्मिथ्यादृशोऽपि सतो भिन्नग्रन्थेः बन्धभेदेनाल्पस्थित्या कर्मबन्धविशेषेण । स्वाशयः शोभनः परिणामः बाह्यासदनुष्ठानस्य प्राय' साम्येऽपि बन्धाल्पत्वस्य सुन्दरपरिणामनिबन्धनत्वादिति भावः ।

तदुक्तम्—

" भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु, सम्यग्दृष्टेरतो हि न ।
पतितस्याप्यतो बन्धो, ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य देशित. ॥ १ ॥
एवं सामान्यतो ज्ञेय., परिणामोऽस्य शोभनः ।
मिथ्यादृष्टेरपि सतो. महाबन्धविशेषत ॥ २ ॥
सागरोपमकोटीनां, कोट्यो मोहस्य सप्तति ।
अभिन्नग्रन्थिबन्धोऽयं न त्वेकोऽपीतरस्य तु ॥ ३ ॥
तदत्र परिणामस्य, भेदकत्व नियोगत ।
बाह्यं त्वसदनुष्ठान, प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥ ४ ॥ "

" बंधेणं न बोलइ कयाइ " इत्यादिवचनानुसारिणां सैद्धान्तिकाना मतमेतत् । कार्मग्रन्थिका' पुनरस्य मिथ्यात्वप्राप्तावुत्कृष्टस्थितिबन्धमपीच्छन्ति, तेषामपि मते तथाविधरसाभावात्तस्य शोभनपरिणामत्वे न विप्रतिपत्तिरिति ध्येयम् ।

एवं च यत्परैरुक्तं, बोधिसत्त्वस्य लक्षणम् ।
विचार्यमाणं सन्नीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ॥ १० ॥

एवं चेति—एव च—भिन्नग्रन्थेर्मिथ्यात्वदशायामपि शोभनपरिणामत्वे च यत् परै'—सौगतै' बोधिसत्त्वस्य लक्षणमुक्त, तदपि सन्नीत्या—मध्यस्थवृत्त्या विचार्यमाणम् अत्र सम्यग्दृष्टावुपपद्यते ।

तप्तलोहपदन्यास-तुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ।
इत्युक्तेः कायपात्येव, चित्तपाती न स स्मृतः ॥ ११ ॥

तप्तेति—तप्तलोहे य. पदन्यासस्तत्तुल्याऽतिसकम्पत्वात् वृत्तिः—कायचेष्टा क्वचिद् गृहारम्भादौ यदि परम् इत्युक्ते. इत्थं वचनात्, कायपात्येव स सम्यग्दृष्टिः न चित्तपाती स्मृत । इत्थ च ' कायपातिन एव बोधिसत्त्वा ' इति लक्षणमत्रोपपन्नं भवति । तदुक्तम्—" कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वा' परोदितम् । न चित्तपातिनस्ताव-देतदत्रापि युक्तिमत् ॥ १ ॥ "

परार्थरसिको धीमान्, मार्गगामी महाशयः ।
गुणरागी तथेत्यादि, सर्वं तुल्यं द्वयोरपि ॥ १२ ॥

परार्थेति-परार्थरसिक -परोपकाररुचिः. धीमान्—बुद्ध्यनुगतः मार्गगामी-कल्याणप्रापकपथयायी महाशय.—स्फीतचित्तः गुणरागी-गुणानुरागवान् तथेति—बोधि-

सत्त्वगुणान्तरसमुच्चयार्थ । इत्यादि शास्त्रान्तरोक्तम् सर्वं तुल्य-समम् द्वयोरपि-सम्यग्दृष्टिबोधिसत्त्वयोः ।

अन्वर्थतोऽपि तुल्यतां दर्शयति-

बोधिप्रधानः सत्त्वो वा, सद्बोधिर्भावितीर्थकृत् ।
तथाभव्यत्वतो बोधि-सत्त्वो हन्त सतां मतः ॥ १३ ॥

बोधीति—बोधि -सम्यग्दर्शनं तेन प्रधान. सत्त्वो वा । सताम्-साधूनाम्, हन्तेत्यामन्त्रणे, बोधिसत्त्वो मतः-इष्ट' । यदुक्तम्-" यत्सम्यग्दर्शन बोधि-स्तत्प्रधानो महोदय' । सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्त-स्तस्माद्धन्तैति पूर्ववत् ॥ १ " वा-अथवा सद्बोधि -तीर्थकरपदप्रायोग्यसम्यक्त्वसमेतः । तथा भव्यत्वतो-भावितीर्थकृद्-यस्तीर्थकृद्भविष्यति स बोधिसत्त्व. । तदुक्तम्-" वरबोधिसमेतो वा, तीर्थकृद्यो भविष्यति । तथा भव्यत्वतोऽसौ वा . बोधिसत्त्व सतां मतः ॥ १ ॥ " भव्यत्वं नाम-सिद्धिगमनयोग्यत्वम् अनादिपारिणामिको भाव' । तथा भव्यत्व चैतदेव कालनैयत्यादिना प्रकारेण वैचित्र्यमापन्न एतद्भेद एव च बीजमाध्यादि (सिद्ध्यादि) फलभेदोपपत्ति. । अन्यथा तुल्यायां योग्यताया सहकारिणोऽपि तुल्या एव भवेयु. तुल्ययोग्यतासामर्थ्याक्षिप्तत्वात्तेषामिति सद्बोधेर्योग्यताभेद एव पारंपर्येण तीर्थकरत्वनिबन्धनमिति भावनीयम् ।

तत्तत्कल्याणयोगेन, कुर्वन् सत्त्वार्थमेव सः ।
तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति, परं कल्याणसाधनम् ॥ १४ ॥

तत्तदिति—तस्य तस्य कल्याणस्य परिशुद्धप्रवचनाधिगमातिशायिधर्मकथाऽविसंवादिनिमित्तादिलक्षणस्य योगेन-व्यापारेण कुर्वन्—विदधान. । सत्त्वार्थमेव मोक्षबीजाधानादिरूप नत्वात्मम्भरिरपि स सद्बोधिमान् तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति-लभते पर-प्रकृष्टम् कल्याणसाधन भव्यसत्त्वशुभप्रयोजनकारि स्वजनादिभवोद्दिधीर्षया सद्बोधिप्रवृत्तिस्तु गणधरपदसाधनं भवतीति द्रष्टव्यम् । यत उक्तम्—" चिन्तयत्येवमेवैत—त्स्वजनादिगतं तु यः । तथाऽनुष्ठानत. सोऽपि, धीमान् गणधरो भवेत् ॥ १ ॥ "

संविग्नो भवनिर्वेदा-दात्मनिःसरणं तु यः ।
आत्मार्थसंप्रवृत्तोऽसौ, सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥ १५ ॥

संविग्न इति—संविग्नं " तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते । साधौ सर्वग्रन्थसंदर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुराग ॥ १ ॥ " इति काव्योक्तलक्षणसंवेगभाक् । भवनैर्गुण्यात्—संसारवैरस्यात् । आत्मनि सरणं तु—जरामरणादिदारुणदहनात्स्वनिष्कासनं पुन यश्चिन्तयतीति गम्यते । आत्मार्थसंप्रवृत्तः स्वप्रयोजनमात्रप्रतिबद्धचित्तोऽसौ सदा—निरन्तरं स्याद्-भवेत् । मुण्डकेवली-द्रव्यभावमुण्डनप्रधानस्तथाविधबाह्यातिशयशून्य केवली पीठमहापीठवत् । (द्वा०) (सम्यग्दृष्टेश्च शिष्टत्वमिति ' सिट्ठ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।)

एतदेवाह –

मिथ्यादृष्टिगृहीतं हि , मिथ्यासम्यगपि श्रुतम् ।
सम्यग्दृष्टिगृहीतं तु, सम्यग्मिथ्येति नः स्थितिः ॥२९॥

मिथ्यादृष्टीति-मिथ्यादृष्टिगृहीतं हि सम्यगपि श्रुतमाचारादिकं मिथ्या भवति , त प्रति तस्य विपरीतबोधनिमित्तत्वात् । सम्यग्दृष्टिगृहीतं तु मिथ्यापि श्रुत वेदपुराणादिकं सम्यक् , तं प्रति तस्य यथार्थबोधनिमित्तत्वात् । इति न.—अस्माकं स्थिति —सिद्धान्तमर्यादा । प्रमानिमित्तत्वमात्रमेतदभ्युपगतं न तु प्रमाकरणत्वमिति चेन्न , त्वदुक्तं प्रमाकरणत्वमेव प्रमाणत्वमिति सर्वेषा प्रमातॄणामनभ्युपगमात् ।

तात्पर्यं वः स्वसिद्धान्तो-पजीव्यमिति चेन्मतिः ।
ननु युक्त्युपजीव्यत्वं , द्वयोरप्यविशेषतः ॥ ३० ॥

तात्पर्यमिति-वो—युष्माक स्वसिद्धान्तोपजीव्यं—स्वसिद्धान्तपुरस्कारि तात्पर्यम् , तथा चान्यागमानुपजीव्यतात्पर्ये सकलवेदप्रामाण्याभ्युपगमनिवेशान्न दोष इति चेद् यदि तव मति., ननु तदा द्वयोरप्यावयोरविशेषतो युक्त्युपजीव्यत्वम् , अय भाव.-अन्यागमानुपजीव्यत्व ह्यन्यागमा-(म) संवादित्वं चेत्तत्संवादिनि स्वाभिप्रायेऽव्याप्तिरयौक्तिका तदसंवादित्वं चेदस्माकमपि तात्पर्यमयौक्तिकागमासंवाद्येव , सर्वस्यैव भगवद्वचनस्य युक्तिप्रतिष्ठितत्वात् मिथ्याश्रुततात्पर्यस्यापि स्याद्वादसनयुक्त्यैव गृह्यमाणत्वात् ।

यत'–

उद्भावनमनिग्राह्यं , युक्तेरेव हि यौक्तिके ।
प्रमाण्ये च न वेदत्वं , सम्यक्त्वं तु प्रयोजकम् ॥ ३१ ॥

उद्भावनमिति-यौक्तिके ह्यर्थे युक्तेरेवोद्भावनमनिग्राह्यम-निग्रहस्थानम् अन्यथा निग्रहाभिधानात् । यद्वादी—" जो हेउवायपक्ख-म्मि हेतुओ आगमे अ आगमिओ। सो समयपन्नवओ, सिद्धातविराहगो अन्नो ॥१॥" इति अथ वेदत्वमेव प्रामाण्यप्रयोजकमित्यभ्युपगमे यावद्वेदप्रमाण्याभ्युपगमः स्यादित्यत आह—प्रमाण्ये च वेदत्व न प्रयोजक किं तु सम्यक्त्वमेव, लोकशब्दस्याप्यविसंवादिन प्रमाणत्वादिति श्रद्धामात्रमेवदिति न किंचिदेतत् ।

शिष्टत्वमुक्तमत्रैव , भेदेन प्रतियोगिनः ।
तमानुभविकं बिभ्रत् , परमानन्दवत्यतः ॥ ३२ ॥

शिष्टत्वमिति-अत्र परोक्तशिष्टलक्षणनिरासात् । अत्रैव सम्यग्दृष्टावेव उक्तम् अंशत' क्षीणदोषत्वम् । शिष्टत्वम् । परमानन्दवति दुर्भेदमिथ्यात्वमोहनीयभेदसमुत्थनिरतिशयानन्दभाजने । शिष्टत्वलिङ्गाभिधानमेतत् । प्रतियोगिनो दोषस्य क्षीयमाणस्य भेदेन त भेदमानुभाविकं सकलजनानुभवसिद्ध बिभ्रत् । भवति हि अयमस्मात् शिष्टतरोऽयमस्माच्छिष्टतम इति सार्वजनीनो व्यवहार । स चाधिकृतापेक्षयाऽधिकतराधिकतमदोषक्षयविषयतयाऽनुपपद्यते । परेषा तु न कथंचित् सर्वेषा वेदप्रामाण्याभ्युपगमादौ विशेषाभावात् । एतेन वेदविहितार्थानुष्ठातृत्व शिष्टत्वमित्यपि निरस्तम् । यावत्तदेकदेशविकल्पाभ्यामसंभवातिव्याप्त्यो प्रसङ्गाच्च । यत्त्वदृष्टसाधनताविषयकमिथ्याज्ञानाभाववत्त्व शिष्टलक्षणमुच्यते तत्त्वस्मदुक्तशिष्टत्वव्यञ्जकमेव युक्तमाभाति, न तु परनीत्या स्वतन्त्रलक्षणमेव । गङ्गाजले कूपजलत्वारोपानन्तरमिदं कूपजल नादृष्टसाधनमिति भ्रमवत' कूपजल एव गङ्गाजलत्वारोपानन्तरमिद गङ्गाजलमदृष्ट(ष्ट) साधनमिति भ्रमवतो गङ्गाजले उच्छिष्टत्वारोपानन्तर नादृष्टसाधनमिति भ्रमवतश्चाशिष्टत्ववारणायादृष्टसाधनतावच्छेदकरूपपुरस्कारेण निषेधमुखेनादृष्टसाधनताविरोधिरूपापुरस्कारेण चादृष्टसाधनताविषयकत्वविवक्षायामपि स्वाप दिदशायां चौत्रादावतिव्याप्तेरेतावदग्रहेऽपि सर्वत्र शमादिलिङ्गेन शिष्टत्वव्यवहाराच्चेति किमनया कुसृष्ट्या । द्वा० १५ द्वा० । धा० विं० । दर्श० ।

सम्प्रति सम्यग्दृष्टिस्वरूपमाविर्भावयंस्तस्य फलमाह—

एवंविहपरिणामो, सम्मद्दिट्ठी जिणेहिँ पन्नत्तो ।
एसो उ भवसमुद्दं, लंघइ थोवेण कालेण ॥ ५१ ॥

एवविधपरिणामः—उपशमादिलिङ्गयुक्तः तथा—विशुद्धबुद्धितया सम्यग्दृष्टिर्जिनै. प्रज्ञप्तः—प्ररूपित., एष एव च भवसमुद्र—संसारार्णव लङ्घयति स्तोकेनापि कालेनेति गाथार्थ. ।

एवं सम्यक्त्वस्याप्येकस्य शिवसुखसाधनायन्धवर्णनायां कस्यचिदत्यन्तप्रमादवत एकान्तेनात्रैवास्थायन्धो मा भवत्विति बुद्ध्या सम्यग्दृष्टेरपि तपसोऽबहुफलत्वप्रतिपादनाय गाथाद्वयमाह—

सम्मद्दिट्ठिस्स वि अवि-रयस्स न तवो बहुफलो होइ ।
हवइ हु हत्थिन्हाणं,बुंदं छियपं व तं तस्स ॥ ५२ ॥

सम्यग्दृष्टेरपि न केवल मिथ्यादृष्टेरित्यपिशब्दार्थ. , अविरतस्य—विरतिरहितस्य तेनैव तपो बहुफल भवति—जायते । हिशब्दश्चैवार्थ. , तत्तो हस्तिस्नानमिव—चुन्दाछितमिव वा । यथाहि-हस्ती प्रथम जलेन स्नान विधाय पुनर्धूल्यावगुण्ठति चुन्दाछितं पुनरेकेन देशेनाकृष्य पुनर्द्वितीयेन पूर्यते एव सम्यग्दृष्टेरपि विरतिरहितस्यैकतस्तपसोपार्जितं शुभमन्यतोऽविरत्या सावद्यचरणरूपया हार्यते जीवोपमर्दादिगुरुकर्मबन्धहेतुत्वादिति ।

तथा च—

चरणकरणेहिँ रहिओ, न सिज्झई सुद्धसम्मदिट्ठी वि ।
जेणागमम्मि सिट्ठो, रहंधपंगूण दिट्ठंतो ॥ ५३ ॥

चरणकरणाभ्या-वक्ष्यमाणस्वरूपाभ्या रहितस्त्यक्तो न सिध्यति-न कर्माभावं करोति सुष्टु-अतिशयेन सम्यग्दृष्टिरपि येन कारणेनागमे भगवदावश्यकनिर्युक्तौ शिष्ट -प्रतिपादित , रथान्धपङ्ग्वादिदृष्टान्त-उदाहरणम् । दर्श० ५ तत्त्व । सम्यगिति प्रशंसायाम् ,सम्यक्-प्रशस्ता मोक्षाविरोधित्वात् दर्शन दृष्टिरर्थाना जीवादीनामिति गम्यते सम्मग्दृष्टि । आ० म०१ अ० । सम्यागिति प्रशसार्थ ,दर्शन-दृष्टि. सम्यग्-अविपरीता दृष्टि सम्यग्दृष्टि । सम्यक्त्वे, स्त्री० । विशे० । स्था० ।

सम्मद्दिट्ठिगुणट्ठाण-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान-न० । द्वितीयगुणस्थाने, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानत्वेनद व्याख्यातम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

सम्मद्दिट्ठिदेव-सम्यग्दृष्टिदेव-पुं० । सम्यग्दृष्टयश्च देवाश्च-देव्यश्चेत्येकशेषाद्देवा. । यक्षाम्बाप्रभृतिषु अर्हत्पाक्षिकेषु देवेषु, ध० २ अधि० ।

सम्मद्दिट्ठिय-सम्यग्दृष्टिक-पुं० । सम्यग्-अविपरीता दृष्टिः-दर्शनं रुचिस्तत्त्वानि प्रति येषां ते सम्यग्दृष्टिका.। मिथ्यात्वमोहनीयक्षायोपशमजसम्यग्दृष्टौ, स्था० १ ठा० ।

सम्मप्पणीयमग्ग-सम्यक्प्रणीतमार्ग-पुं० । सम्यग्दृष्टिभिर्गणधरादिभिः सम्यग्वा यथावस्थितवस्तुतया च निरूपणया प्रणीते सम्यग्ज्ञानं दर्शनं चारित्रं चेति त्रिविधे भावमार्गे, "तवसंजमप्पहाणा,गुणधारी जे वयंति सब्भावं। सव्वजगजीवहियं, तमाहु सम्मप्पणीयमिणं ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सम्मब्भावाणुगत-सम्यग्भावानुगत-त्रि० । अविपरीततत्त्वैदंपर्यसंगते, पञ्चा० १६ विव० ।

सम्ममिच्छद्दिट्ठि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-पुं० । सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्येषां ते सम्यग्मिथ्यादृष्टय. । येषामेकस्मिन्नपि वस्तुनि तत्पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्याज्ञानाभावतो न सम्यक् श्रद्धानं तथैकान्ततो विप्रतिपत्तिस्तेषु , नं० । शतकबृहच्चूर्णौ-" जहा नालिकेरदीववासिस्स खुहाइयस्स वि एत्थ समागयस्स ओयणाइए अणेगविहे ढोइए, तस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जओ तेण सो ओअणाइओ आहारो न कयावि दिट्ठो नावि सुओ एव सम्ममिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयट्ठाणं उवरिं न य रुई नावि निंद " त्ति । नं० । स० । स्था० । आव० ।

सम्मय-सम्मत-त्रि० । अप्रतिषिद्धे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । तेषु तेषु कार्येषु प्रयोजनेषु इष्टे, व्य० ३ उ० । तत्कृतकार्यस्य सम्मतत्वात् , नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । भ० । जी० । ' पामिच्च ' शब्दे पञ्चमभागे ८७४ पृष्ठे उक्तस्य देवराजनाम्नः कुटुम्बिनो भार्यायाः सारिकायाः पुत्रे, पिं० ।

सम्मयसच्चा-सम्मतसत्या-स्त्री० । सकललोकसम्मततया प्रसिद्धे भाषाभेदे , ध० ३ अधि० । प्रज्ञा० । सम्मतसत्या या सकललोकसाम्मत्येन सत्यतया प्रसिद्धा, कुमुदकुवलयोत्पलतामरसाना समानेऽपि पङ्कसंभवत्वे आगोपालजना अरविन्दमेव पङ्कज मन्यते न शेषमित्यरविन्दे पङ्कजमिति । प्रज्ञा० ११ पद ।

सम्मरुइ-सम्यग्रुचि-स्त्री० । सम्यग्ज्ञाने, संशयविपर्यासनिरासेन इदमेव तत्त्वमिति निश्चयपूर्विकायां जिनोदितजीवादिपदार्थेष्वभिप्रीतौ, जिनोक्तानुसारितया तत्त्वार्थश्रद्धानरूपे सम्यक्त्वे , प्रव० १४१ द्वार ।

सम्मसुद्ध-सम्यक्शुद्ध-त्रि० । तत्त्वतो निर्मले , पञ्चा० २ विव० ।

सम्मसुय-सम्यक्श्रुत-न० । सम्यग्दृष्टिपरिगृहीते यथावस्थितार्थे वा श्रुतज्ञाने, विशे० ।

अंगाणंगपविट्ठं, सम्मसुयं लोइयं तु मिच्छसुयं ।
आसज्ज उ सामित्तं, लोइए लोउत्तरे भयणा ॥५२७॥

इहाङ्गमावश्यकमाचारादि श्रुतम् अनङ्गप्रविष्टं चावश्यकादि श्रुतम्, एतद् द्वितयमपि स्वामिचिन्तानिरपेक्ष स्वभावेन सम्यक्श्रुतम् । लौकिक तु भारतादि प्रकृत्या मिथ्याश्रुतम् । स्वामित्वमासाद्य स्वामित्वचिन्तायां पुनर्लौकिके भारतादौ लोकोत्तरे चाचारादौ भजना-विकल्पना ऽवसेया । सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं भारताद्यपि सम्यक्श्रुतं सावद्यभाषित्वभवहेतुत्वादि यथावस्थिततत्त्वस्वरूपबोधतो विषयविभागेन योजनात् , मिथ्यादृष्टिपरिगृहीत त्वाचाराद्यपि मिथ्याश्रुतम् अयथावस्थितबोधतो वैपरीत्येन योजनादिति भावार्थ इति । विशे० । कर्म० । आ० चू० । बृ० । नं० ।

से किं तं सम्मसुयं ? २, जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाणदंसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं तीयपडुप्पन्नमणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा-आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ विवाहपन्नत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुयं ११ दिट्ठिवाओ य १२ इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुयं अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं तेण तेण परं भिण्णेसु भयणा सेत्तं सम्मसुयं । (सू० ४०)

अथ किं तत्सम्यक्श्रुतम्?,आचार्य आह-सम्यक्श्रुतं यदिदमर्हद्भिः अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः तीर्थकराः तैरर्हद्भिः ते चार्हन्तः कैश्चित् शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतानुसारिभिरनादिसिद्धा एव मुक्तात्मानोऽभ्युपगम्यन्ते । तथा च ते पठन्ति-" ज्ञानमप्रतिघ यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च,सह सिद्ध चतुष्टयम् ॥१॥" इत्यादि एवरूपाश्चापि ते बहव इष्यन्ते-स्थापनादिद्वारेण च विशिष्टां पूजामर्हन्ति ततोऽर्हन्तोऽप्युच्यन्ते ततस्तद्व्यवच्छेदार्थ विशेषणान्तरमाह-भगवद्भि. भग -समग्रैश्वर्यादिरूपः। उक्तं च-"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशस. श्रिय'। धर्मस्याऽथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥ १॥ " भगो विद्यते येषां ते भगवन्त. तैर्भगवद्भि' । इहानादिसिद्धाना रूपमात्रमपि नोपपद्यते किं पुनः समग्र रूपम् अशरीरत्वात्, शरीरस्य च रागादिकार्यतया तेषां रागादिरहितानामसंभवात् , ततो भगवद्भिरित्यनेन परपरिकल्पितानादिसिद्धार्हद्व्यवच्छेदमाह । अथ मन्येथा अनादिशुद्धा अप्यर्हन्तो यदा स्वेच्छया समग्ररूपादिगुणोपेत शरीरमारचयन्ति तदा तेऽपि भगवन्तो भवन्ति, ततः कथ तेषा व्युदास इत्याशङ्कापनोदनार्थं भूयोऽपि विशेषणान्तरमाह-उत्पन्नज्ञानदर्शनधरै'-उत्पन्न ज्ञान--केवलज्ञानं दर्शन--केवलदर्शनं धरन्तीत्युत्पन्नज्ञानदर्शनधरा , " लिहादिभ्य " इत्यच् प्रत्यय. । न च येऽनादिविशुद्धा. ते उत्पन्नज्ञानदर्शनधरा भवन्ति, " ज्ञानमप्रतिघं यस्य " त्यादि वचनविरोधात्, तत उत्पन्नज्ञानदर्शनधरैरितिविशेषणेन तेषां व्यवच्छेदो भवति, ननु यद्येवं तर्हि उत्पन्नज्ञानदर्शनधरैरित्येतावदेवास्तामल भगवद्भिरिति विशेषणोपादानेन तदयुक्तम्-उत्पन्नज्ञानदर्शनधरा हि सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति, न च तेषामवश्यं समग्ररूपादिसंभवस्ततस्तत्कल्पानर्हतो मा ज्ञासिषुरमी विनेयजना इति समग्ररूपादिगुणप्रतिपत्त्यर्थं भगवद्भिरिति विशेषणोपादानम्, तदेवं शुद्ध-

द्रव्यास्तिकनयमतानुसारिकल्पितमुक्तव्यवच्छेद कृत । सम्प्रति पर्यायास्तिकनयमतानुसारिपरिकल्पितमुक्तव्यवच्छेदार्थ विशेषणान्तरमाह-त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजितै त्रयो लोका त्रिलोका' भवनपतिव्यन्तरविद्याधरज्योतिष्कवैमानिका ,त्रिलोका एव त्रैलोक्यं भेषजादित्वात् स्वार्थे ष्यणप्रत्यय , निरीक्षिताश्च ते महिताश्च त पूजिताश्च ते निरीक्षितमहितपूजिता ,त्रैलोक्येन निरीक्षितमहितपूजिता. त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजिता' तत्र निरीक्षिता मनोरथपरम्परासपत्तिसभवविनिश्चयसमुत्थसम्मदविकाशिलोचनैरालोकिता: महिता यथावस्थिताऽनन्यसाधारणगुणोत्कीर्तनलक्षणेन—भावस्तवेनार्चिता -पूजिता सुगन्धिपुष्पप्रकरप्रक्षेपादिना द्रव्यस्तवेन, तत्र सुगमना अपि पर्यायास्तिकनयमतानुसारिभि त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजिता इष्यन्ते, तथा चाह स्वयंभू —" देवागमनभोयान-चामरादिविभूतय. । मायाविष्वपि दृश्यन्ते,नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥ " इति । ततस्तद्व्यवच्छेदार्थ विशेषणान्तरमाह-अतीतप्रत्युत्पन्नानागतज्ञैर्नचाऽतीतानागतज्ञा सुगता. सभवन्ति तेषामेकान्तक्षणिकत्वाभ्युपगमेन सर्वथातीतानागतयोरसत्त्वाद् , असतां च ग्रहणासभवात् इत्यत्र बहु वक्तव्य तच्च प्राय. प्रागेवोक्तमन्यत्र च धर्मसंग्रहणिटीकादाविति नोच्यते, इह व्यवहारनयमतानुसारिभि. कैश्चित् ऋषयोऽप्यतीतप्रत्युत्पन्नानागतज्ञा इष्यन्ते तथा च तद् ग्रन्थ -' ऋषयस्संयतात्मान , फलमूलानिलाशना. । तपसैव प्रपश्यन्ति,त्रैलोक्य सचराचरम्॥१॥ अतीतानागतान्भावान् वर्त्तमानाश्च भारत ! । ज्ञानालोकेन पश्यन्ति,त्यक्तसङ्गा जितेन्द्रिया ॥२॥" इत्यादि । तत तद्व्यवच्छेदार्थमाह-सर्वज्ञै सर्वदर्शिभि —ते तु ऋषय सर्वज्ञा.-सर्वदर्शिनश्च न भवन्ति,ततस्तेषा व्युदास । तदेव द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयमतव्यवच्छेदफलतया विशेषणसाफल्यमुक्तम् , विचित्रनयमताभिज्ञेन तु अन्यथापि विशेषणसाफल्यमुक्तम् ,न कश्चिद्विरोध । प्रणीतम्-अर्थकथनद्वारेण प्ररूपितम् ,किं तदित्याह-द्वादशाङ्ग श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्याङ्गानीनीवाङ्गानि द्वादशाङ्गान्याचारादीनि यस्मिन् तत् द्वादशाङ्ग 'गणिपिडगं' ति-गणो गच्छो गुणगणो वाऽस्यास्तीति गणी-आचार्य तस्य पिटकमिव पिटक सर्वस्वमित्यर्थ., गणिपिटकम् । अथवा-गणिशब्द परिच्छेदवचनोऽप्यस्ति । तथा चोक्तम्-'आयारम्मि अहीए,ज नाओ होइ समणधम्मो उ । तम्हा आयारधरो,भन्नइ पढम गणिट्ठाणं ।१। "ततश्च गणिना पिटक गणिपिटक, परिच्छेदसमूह इत्यर्थ. । तद्यथा-'आयारो' इत्यादि पाठसिद्ध यावद् दृष्टिवाद. अनङ्गप्रविष्टमप्यावश्यकादि तत्त्वतोऽर्हत्प्रणीतत्वात्परमार्थतो द्वादशाङ्गातिरिक्तार्थाभावाच्च द्वादशाङ्गग्रहणेन गृहीत द्रष्टव्यम् ,एव च द्वादशाङ्गादि सर्वमेव द्रव्यास्तिकनयमतापेक्षया तदभिधेयपञ्चास्तिकायभाववन्नित्य स्वाम्यसबन्धचिन्तायां च स्वरूपेण चिन्त्यमान सम्यक्श्रुत,स्वामिसबन्धचिन्तायां तु सम्यग्दृष्टे सम्यक्श्रुत मिथ्यादृष्टेर्मिथ्याश्रुतम् ,एतदेव श्रुतपरिमाणतो व्यक्त दर्शयति—इत्येतद् द्वादशाङ्ग गणिपिटकम् । यश्चतुर्दशपूर्वी तस्य सकलमपि सामायिकादिबिन्दुसारपर्यवसान नियमात्सम्यक्श्रुतम् ,ततोऽधोमुखपरिहाण्या नियमत. सर्व सम्यक्श्रुत तावद्वक्तव्यं यावदभिन्नदशपूर्विण सपूर्णदशपूर्वधरस्य, सपूर्णदशपूर्वधरत्वादिक हि नियमत सम्यग्दृष्टेरेव न मिथ्यादृष्टे तथास्वाभाव्यात्, तथाहि-यथाऽभव्यो ग्रन्थिदेशमुपागतोऽपि तथास्वभावत्वान्न ग्रन्थिभेदमाधातुमलम् , एव मिथ्यादृष्टिरपि श्रुतमवगाहमान प्रकर्षतोऽपि तावदवगाहते यावत्किञ्चिन्न्यूनानि दशपूर्वाणि भवन्ति , परिपूर्णानि तु तानि नावगाढु शक्नोति तथास्वभावत्वादिति, ' तेण पर भन्नइ भयणा ' अत्र ' तेण ' त्ति—व्यत्ययोऽप्यासामिति प्राकृतलक्षणवशात्पञ्चम्यर्थे तृतीया, ततोऽयमर्थ -तत सपूर्णदशपूर्वधरत्वात्पश्चानुपूर्व्या. पर भिन्नेषु दशसु पूर्वेषु भजना—विकल्पना कदाचित्सम्यक्श्रुत कदाचिन्मिथ्याश्रुतमित्यर्थ. । इयमत्र भावना—सम्यग्दृष्टे प्रशमादिगुणगणोपेतस्य सम्यक्श्रुत यथावस्थितार्थतया तस्य सम्यक्परिणमनात् , मिथ्यादृष्टेस्तु मिथ्याश्रुतम् , विपरीतार्थतया तस्य परिणमनात् , ' सेत्त ' मित्यादि, निगमन तदेतत् सम्यक्श्रुतम् । नं० ।

सम्माण—सम्मान—पु० । स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणे , आव० ५ अ० । प्रति० । ध० । तथाविधे उचितप्रतिपत्तिकरणे , भ० १४ श० ३ उ० । ज्ञा० । स्था० । दशा० । वस्त्रपात्रादिपूजने , स्था० ७ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । ध० । प्रव० । औ० ।

सम्माणइत्ता—सम्मानयित्वा—अव्य० । प्रतिविशेषेण सम्मानं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सम्माणणिज्ज—सम्माननीय—त्रि० ।जिनाचितप्रतिपत्तिविशेषे, भ० १० श० ५ उ० । चं० प्र० । बहुमानविशेषे, औ० । वस्त्रादिभिर्वा पूजनीये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

सम्माणपत्तिय—सम्मानप्रत्यय—पुं० । स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरण सम्मान , तथा मनस प्रीतिविशेष इत्यन्ये सुव्यत्ययो निमित्त यस्येति । सम्माननिमित्त, ल० । रा० ।

सम्माणिय—सम्मानित—त्रि० । तथाविधया वचनादिप्रतिपत्त्या पूजिते , औ० । अभ्युत्थानादिभि. पूजिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सम्माणियदोहला—सम्मानितदोहदा—स्त्री०।प्राप्तस्याभिलषितार्थस्य भोगात् (भ० ११ श० ११ उ० ।)वाञ्छितार्थसम्माननात् (विपा० १ श्रु० २ अ० ।) सम्प्राप्ताभिलाषायामन्तर्वत्न्याम् , कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

सम्माणुसव्वविरइअहक्खायचारित्तघायकर-सम्यगणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातकर—पु० । 'सम्म'ति—सम्यक्त्व च ' अणुसव्वविरइ त्ति-विरतिशब्दस्य प्रत्येक सबन्धात् अणुविरतिश्च-देशविरति सर्वविरतिश्च, यथाख्यातचारित्र च सम्यगणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्राणि तेषा घातो-विनाश सम्यगणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातस्त कुर्वन्ती—त्येवशीला सम्यगणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रविघातकरा । कषायेषु,कर्म० १ कर्म० । (अनन्तानुबन्धिन कषाया सम्यक् घातकरा इति ' कसाय ' शब्द तृतीयभाग ३१८ पृष्ठ गतम् ।)

सम्मामिच्छत्त—सम्यग्मिथ्यात्व—न० । सम्यक्त्वमिथ्यात्व-

थे,कर्म०१कर्म०। पं० सं०। मिथ्यात्त्वपुद्गला एव ईषद् विशु- सम्यग्मिथ्यात्वव्यपदेशभाज । कर्म० ६ कर्म०। यदुद- त्पुनर्जिनप्रणीत तत्त्व न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति मति र्वेल्यादिना सम्यक् असम्यक् वा एकान्तेन निश्चयाकर- न. सम्यक्श्रद्धानैकान्तविप्रतिपत्त्ययोगात् तत्सम्यग्मि- थ्यात्वम् । कर्म० ६ कर्म० । प्रज्ञा० । (दृष्टान्तोपन्यास. इहैव सम्मामिच्छदिट्ठि ' शब्देऽस्ति ।)

मामिच्छादंसण–सम्यङ्मिथ्यादर्शन–न०। सम्यग्मिथ्या- रूपे दर्शनभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

मामिच्छादिट्ठिगुणट्ठाण-सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान-न०। म्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्तस्य गु स्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । द्वितीयगुणस्थान- र्तिनि साधौ , कर्म० । इहानन्तराभिहितविधिना लब्धेनौप- मिकसम्यक्त्वेन औषधिविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानी- मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति, यथा-शुद्धमर्द्धविशुद्धमविशुद्ध चेति । स्थापना- तत्र त्रयाणां ञ्जाना मध्ये यदाऽर्द्धविशुद्ध. पुञ्ज उदेति तदा तदुदया- त्तस्यार्द्धविशुद्धं जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धान भवति, तेन तदा- सौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमन्तर्मुहूर्त्तं कालं स्पृशति , त ऊर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्व मिथ्यात्व वा गच्छतीति । कर्म० २ कर्म० । प० सं० । दर्श० ।

म्मावाइ–सम्यग्वादिन्––पु० । सम्यग् वदितु शीलं स्वभा- वो यस्य स सम्यग्वादी । सम्यग्वादशीले, प्रति० ।

म्मावाय–सम्यग्वाद–पुं० । सम्यग्-रागद्वेषपरिहारेण वदनं वाद सम्यग्वाद । रागादिपरित्यागेन यथार्थवदने, आ० म० १ अ० । ध० । सामायिके, तस्य तथात्वात् । आ० चू० १ अ० । सम्यक् यथास्थितवदनात् । आव० ।

सामाइयं समइयं, सम्मावाओ समास संखेवो ।
अणवज्जं च परिण्णा, पच्चक्खाणे य ते अट्ठ ॥८६४॥

' सामायिकम् ' इति—रागद्वेषान्तरालवर्ती सम·—म- ध्यस्थ उच्यते, ' अय ' गताविति , अयनम् अय —गमन- मित्यर्थ , समस्य अय समाय , स एव विनयादिपाठात् स्वार्थिकठक्प्रत्ययोपादानात् सामायिकम्,एकान्तोपशान्ति- गमनमित्यर्थ , समयिकं—समिति सम्यक्शब्दार्थ उपसर्ग , सम्यगय· समय -सम्यग्-दयापूर्वकं जीवेषु गमनमित्यर्थ. समयोऽस्यास्तीति , ' अत इनिठनौ (पा० ५-२-११५) इति ठन् समयिक सम्यग्वाद —रागादिविरह· सम्यक् तेन तत्प्रधानं वा वदनं सम्यग्वाद , रागादिविरहेण यथा- वद्वदनमित्यर्थ । समास.–' असु ' क्षेपणे इति, असनम् आस -क्षेप इत्यर्थ , सशब्द प्रशंसार्थ शोभनमसन स- मास , अपवर्गे गमनमात्मन कर्मणो वा जीवात् पदत्रय- प्रतिपत्तिवृत्त्या क्षेप. समास । संक्षेप —सक्षेपणं-सक्षेप स्तोकाऽक्षर सामायिकं महार्थं च द्वादशाङ्गपिण्डार्थत्वात् । अनवद्यं चेति-अवद्य-पापमुच्यते नास्मिन्नवद्यमस्तीत्यन- वद्य सामायिकमिति , परि.—समन्ताज्ज्ञान पापपरित्यागेन

परिज्ञा सामायिकमिति । परिहरणीयं वस्तु वस्तु प्रति- आख्यानं प्रत्याख्यानं च, त एते सामायिकपर्याया अष्टा- विति गाथार्थ· । आव० १ अ० ।

अथ सम्यग्वादे कालिकाचार्यकथा—

" पुरी तुरुमिणी तत्र , जितशत्रुर्नराधिप ।
भद्राङ्गजो द्विजो दत्त. , कालिकाचार्ययामिज ॥ १ ॥
दत्तश्च मद्यपो धूर्त्त , प्रारेभ सेवितु नृपम् ।
अभवद्वाहको राज्ये, भेदयित्वाऽथ सन्निधिम् ॥ २ ॥
राजान पञ्जरे क्षिप्त्वा , स्वय राजा बभूव स. ।
अनेकानिष्टवान् यागान् , कालिकार्योऽन्यदाऽगमत् ॥ ३ ॥
प्रणन्तु तमगाद्दत्तो-पृच्छद्यागफलं तत ।
गुरुराख्यदहो धर्म., कारुण्यादपरो न हि ॥ ४ ॥
पुन· पृष्टे गुरु. स्माह , हिंसा दुर्गतिहेतवे ।
सेर्ष्यं मत्तोऽवदद्दत्त , स्पष्टदुष्टाशयो गुरून् ॥ ५ ॥
यदि वेत्सि तदाचार्य ! , प्रश्नस्य वितरोत्तरम् ।
नि शङ्कोऽथ गुरु स्माह, यागानां नरक फलम् ॥ ६ ॥
ततो दत्त. क्रुधाऽवादी—दाचार्य ! प्रत्ययोऽत्र क ।
गुरुरूचे प्रत्ययोऽस्मा-द्वित. सप्तमवासरे ॥ ७ ॥
पत्स्यसे शुनकुम्भ्यां त्व, दत्तोऽथ सविशेषरुट् ।
ऊचे क प्रत्ययोऽत्रापि. गुरुरूचे निशम्यताम् ॥ ८ ॥
कुर्वतो राजपाटीं ते. वदने सप्तमे दिने ।
तुरङ्गमखुरोत्क्षिप्त , प्रवेक्ष्यत्यशुचेर्लव ॥ ९ ॥
सोऽथातिकुपितोऽवादी-त्तवाचार्य ! क्व मृति· ।
गुरुरूचे चिरं कृत्वा , व्रत यास्याम्यहं दिवि ॥ १० ॥
अथोत्तस्थौ गुरो पर्षा-द्दत्तश्चित्ते व्यचिन्तयत् ।
यन्ममाख्यदमावस्य , तत्कारण्येऽप्यमूनहानि ॥ ११ ॥
तत. प्रविश्य सौधान्त—र्दत्तस्तस्थौ दिनानि षट् ।
षष्ठोऽपि दिवसस्तेन, ज्ञात. सप्तम इत्यथ ॥ १२ ॥
मार्गानशोधयन् साय, तलारक्षैररक्षि यत् ।
निशान्ते मालिक कोऽप्या-गच्छन् सञ्जातुरोऽभवत् ॥१३॥
व्युत्सृज्य राजमार्गे द्राग् , पिधाय कुसुमैरगात् ।
दत्तोऽपि निर्ययौ राज-पाटिका सप्तमेऽहनि ॥ १४ ॥
मार्गे चाश्वखुरोत्क्षिप्त-स्तस्यास्येऽगात्लवो शुचे ।
तेनाभिज्ञानतो ज्ञात, मृत्युरद्य स्फुटं मम ॥ १५ ॥
प्रधानैश्चेति संकेत , कृतोऽग्रेऽस्तीति दुर्मदम् ।
धृत्वाऽमुं स्थापनीयोऽत्र , राजा प्राकृत एव स. ॥ १६ ॥
दत्त. सौधान्तरे नष्टुं , ववलेऽथ सपद्यपि ।
मन संकेतमज्ञासी-त्प्रधानैरिति शङ्कितम् ॥ १७ ॥
तत. सौध विशस्तैरा—धृतो मौल. कृतो नृप ।
राज्ञा तेनाथ दुष्ट स, क्षिप्त कुम्भ्यां शुनै सह ॥ १८ ॥
अध. प्रज्वालितो वह्नि-स्तापार्त्तैरथ स श्वभि. ।
खण्डमानोऽभवन्मृत्वा, रौद्रध्यानेन नारक ॥ १९ ॥ "

आ० क० १ अ० । (" सम्मावाय. कहिइ " इत्यर्धद्रसूत्रम् ' विक्खेवणी ' शब्दे षष्ठभागे गतम् ।) सम्यग् अविपरीत

तो वादः सम्यग्वाद । यथावस्थितवस्त्वाविर्भावने, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । (एतच्चाऽऽचाराङ्गीयसम्यक्त्वाध्ययने उक्तमस्माभि 'सम्मत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितम् ।) सम्यग्-अविपरीतो वाद सम्यगवाद । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सम्मिस्स-सम्मिश्र-त्रि० । विस्फुटितत्वचि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

सम्मूढमण-संमूढमनस्-त्रि० । तत्त्वान्तरे भ्रान्तचित्ते, आव० ४ अ० ।

सम्मिस्सभाव-संमिश्रभाव-पुं० । अस्तित्वनास्तित्वापगमे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सम्मुइ-सम्मुक्ति-पुं० । महापद्मतीर्थकृत्समकालिकैरवतजतीर्थकृत सिद्धार्थस्य पितरि, ति० ।

सम्मुच्छ-सम्मूर्छ-पुं० । सम्मूर्छनं सम्मूर्छ । गर्भोपपातव्यतिरेकेणैवमेव प्राणिनामुत्पादे, जी० १ प्रति० ।

सम्मुच्छय-सम्मूर्च्छज-पुं० । सम्मूर्छनाजात सम्मूर्छजा । शलभपिपीलिकामक्षिकाशालिकादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । त्रसेषु, दश० ४ अ० । स्था० । पद्मिनीशृङ्गाटकपाढाशैवलादिषु वनस्पतिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सम्मुच्छिम-सम्मूर्छिम-पुं० । 'मूर्छा' मोहसमुच्छ्राययोः, समूर्छनं सम्मूर्छा भावे घञ्प्रत्ययः । तेन निर्वृत्ता सम्मूर्छिमा । नं० । समूर्छन्ति इति सम्मूर्छिमा । प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधतृणादय , नचैते न सम्भवन्ति दग्धभूमावपि सम्भवात् । दश० ४ अ० । दग्धभूमौ बीजासत्त्वेऽपि ये तृणादय उत्पद्यन्ते ते सम्मूर्छिमाः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । सम्मूर्छन्ति तथाविधकर्मोदयाद् गर्भमन्तरेणैवोत्पद्यन्ते इति सम्मूर्छिमाः । अनु० । अगर्भव्युत्क्रान्तिजेषु , प्रज्ञा० २१ पद । सम्मूर्छिमानां स्त्र्यादिभेदो नास्ति । स्था० ३ ठा० १ उ० । अनु० । भ० । व्यजनादिजन्ये वायुकाये , स्था० ५ ठा० ३ उ० । आ० म० ।

सम्मेदसेल-सम्मेदशैल-पुं० । स्वनामख्याते विन्ध्यगिरिशिखरभेदे , यत्र ऋषभवासुपूज्यनेमिवीरवर्ज्यास्तीर्थकरा विंशतिः सिद्धा , आ० म० १ अ० । ज्ञा० ।

सम्मेयसेलसिहर-सम्मेदशैलशिखर-पुं० । पर्वतविशेषकूटे , पञ्चा० १६ विव० ।

सम्मेल-सम्मेल-न० । परिजनसम्मानभक्ते, गोष्ठीभक्ते,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । गोष्ठ्यां च । नि० चू० ११ उ० ।

सम्मोह-सम्मोह-पुं० । मूढतायाम् , स्था० ४ ठा० । किंकर्तव्यतामूढतायाम् , अनु० । विशे० । आव० । संनिपातोपहतस्येव सर्वतोऽनध्यवसाये , द्वा० १३ द्वा० । समुह्यतीति सम्मोह । मूढात्मनि देवविशेषे, स्था० ६ ठा० ।

सम्मोही-साम्मोही-स्त्री० । समुह्यन्तीति सम्मोहा मूढात्मानो देवविशेषास्तेषामियं साम्मोही । भावनाभेदे, ध० ३ अधि० ।

संप्रति सामोहीमाह—

उम्मग्गदेसणाम-ग्गदूसणामग्गविप्पडीवत्ती ।
मोहेण य मोहित्ता, संमोहं भावणं कुणइ ॥४६१॥

उन्मार्गदेशना १ उन्मार्गदूषणा २ मार्गविप्रतिपत्तिकश्च भवतीति वाक्यशेष , मोहेन च य. स्वयं मुह्यति एव कृत्वा च परं मोहयित्वा सामोही भावनां करोति । इति निर्युक्तिगाथासमासार्थ । बृ० १ उ० २ प्रक० । ग० । प्रव० ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा सम्मोहत्ताए कम्मं पगरेंति , तं जहा-उम्मग्गदेसणाए मग्गंतराएणं कामासंसप्पओगेणं भिज्जा नियाणकरणेणं । (सू० ३५४ +)

समुह्यतीति संमोहो मूढात्मा देवविशेष एव तद्भावस्तत्ता तस्यै सम्मोहतायै सम्मोहत्वाय सम्मोहनया वति उन्मार्गदेशनया सम्यग्दर्शनादिरूपभावमार्गातिक्रान्तधर्मप्रकथनेन मार्गान्तरायेण मोक्षाध्वप्रवृत्ततद्विघ्नकरणेन कामाशंसाप्रयोगेण-शब्दादावभिलाषकरणेन भिज्ज' त्ति-लोभो-गृद्धिस्तेन निदानकरणमेतस्मात्तप.प्रभृतेश्चक्रवर्त्यादित्वं मे भूयादिति निकाचनाकरणं तेनेति । स्था०४ठा०४उ० ।

सय-शत-न० । दशावृत्तदशसंख्यायाम् ,तत्संख्येये चा।अनु० ।

स्वक-त्रि० । आत्मीये,विशे० । सूत्र० । ज्ञा० । आचा० । भ० । स्वकीये, विशे० । देहगृहादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सयओवभोग-सततोपभोग-पुं० । नैरन्तर्येणोपभोगे , नि० चू० १ उ० ।

सयं-स्वयम्-अव्य० । आत्मनेत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० । आव० । आचा० । पञ्चा० । उत्त० । स्था० । परोपदेशमन्तरेणेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स० । पा० । नि० चू० । भ० । प्रश्न० । विपा० । आचा० ।

सयंकड-स्वयंकृत-त्रि० । आत्मना कृते, भ० ।

जीवा स्वयंकृत दु ख वेदयन्ति—

रायगिहे नगरे समोसरणं, परिसा निग्गया० जाव एवं वयासी-जीवे णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेइ ? , गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ , से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ ? , गोयमा ! उदिन्नं वेएइ अणुदिन्नं नो वेएइ, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ-अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगतियं नो वेएइ, एवं चउव्वीसदंडएणं० जाव वेमाणिए ॥ जीवा णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेएन्ति ?, गोयमा ! अत्थेगइयं वेयन्ति अत्थेगइयं णो वेयन्ति, से केणट्ठेणं ?, गोयमा ! उदिन्नं वेयन्ति नो अणुदिन्नं वेयन्ति से तेणट्ठेणं,एवं०जाव वेमाणिया ॥ जीवे णं भंते ! सयंकडं आउयं वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा आउएण वि दो दंडगा एगत्तपुहुत्तिया,एगत्तेणं० जाव वेमाणिया पुहुत्तेण वि तहेव ॥ (सू० २०)

'रायगिहे' इत्यादि पूर्ववत्, 'जीवे ण' मित्याहि तत्र 'सयकड दुक्ख'ति यत्परकृत तन्न वेदयतीति प्रतीतमेवात· स्वयकृतमिति पृच्छति स्म 'दुक्खं'ति सासारिक सुखमपि वस्तुतो दु खमिति दु खहेतुत्वाद् दु खं—कर्म वेदयतीति, काकुपाठात् प्रश्न , निर्वचनं तु यदुदीर्ण तद्वेदयति , अनुदीर्णस्य हि कर्मणो वेदनमेव नास्ति तस्मादुदीर्णं वेदयति नानुदीर्णं न च वन्धानन्तरमेवोदेति अतोऽवश्यं वेद्यमप्येक वेदयत्येक न वेदयति इत्येव व्यपदिश्यते , अवश्यं वेद्यमेव च कर्म "कडाण कम्माण ण मोक्खो अत्थि" इति वचनादिति । एव 'जाव वेमाणिए' इत्यनेन चतुर्विंशतिदण्डक सूचित , स चैवम्—' नेरइए ण भंते ! सयंकड' मित्यादि । एवमेकत्वेन दण्डक , तथा बहुत्वेनान्य· स चैवम्—'जीवा ण भते ! सयकडं दुक्ख वेदेंती' त्यादि तथा ' नेरइया ण भंते ! सयकड दुक्ख मित्यादि, नन्वेकत्वे योऽर्थो बहुत्वेऽपि स एवेति किं बहुत्वप्रश्नेन ? इति, अत्रोच्यते-क्वचिद्वस्तुनि एकत्वबहुत्वयोरर्थविशेषो दृष्टो यथा सम्यक्त्वादे एकं जीवमाश्रित्य षट्षष्टिसागरोपमाणि साधिकानि स्थितिकाल उक्ता नानाजीवानाश्रित्य पुन सर्वाद्धा इति, एवमत्रापि सभवेदिति शङ्कायां बहुत्वप्रश्नो न दुष्ट ,अव्युत्पन्नमतिशिष्यव्युत्पादनार्थत्वाद्वेति ॥ अथायु प्रधानत्वान्नारकादिव्यपदेशस्यायुराश्रित्य दण्डकद्वयम्—एतस्य चेयं वृद्धोक्तभावना-यदा सप्तमक्षितावायुर्बद्धं पुनश्च कालान्तरे परिणामविशेषात्तृतीयधरणीप्रायोग्य निर्वर्त्तितं वासुदेवेनेव तत्तादृशमङ्गीकृत्योच्यते—पूर्वबद्धं कश्चिन्न वेदयति , अनुदीर्णत्वात्तस्य, यदा पुनर्यैव बद्धं तत्रैवोत्पद्यते तदा वेदयतीत्युच्यते, तथैव तस्योदितत्वादिति । भ० १ श० २ उ० ।

सयंकरण–स्वयङ्करण-न० । साक्षात्परेण कारणे, सयंकरण नाम-कारवणमित्यर्थ । नि० चू० १ उ० । आत्मन· कस्यचिद्विवक्षितस्य कार्यस्य निर्वर्तने, उत्त० २६ अ० । नि० चू० ।

सयंगहिय–स्वयंगृहीत–त्रि० । आत्मना प्रतिपन्ने, पञ्चा० ५ विव० ।

सयंगहियलिङ्ग–स्वयंगृहीतलिङ्ग–स्त्री० । केनाप्याचार्येण अदत्तलिङ्ग आत्मनैवात्तसाधुवेष , आव० ४ उ० ।

सयंगाह–स्वयंग्राह–पुं० । स्वयमात्मना गृह्णातीति स्वयंग्रहा·–स्वयगृह्णतु , व्य० १ उ० । प्रश्न० ।

सयजय–शतंजय–पुं० । लोकोत्तररीत्या त्रयोदशे दिवसे, जं० ७ वक्ष० । कल्प० ।

सयजल–शतंजल–न० । ऐरवते वर्तमाने चतुर्दशे जिने, प्रव० ७ द्वार । ज० । शक्रलोकपालस्य वरुणस्य विमाने , भ० ३ श० ७ उ० ।

कहि णं भंते! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारन्नो सयजले नामं महाविमाणे पन्नत्ते, गोयमा ! तस्स णं सोहम्मवर्डिंसयस्स महाविमाणस्स पच्चच्छिमेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जहा सोमस्स तहा विमाणरायहाणीओ भाणियव्वाओ० जाव पासायवडेंसया णवरं नामं नाणत्तं । (सू० १६७×) भ० ३ श० ७ उ० ।

जम्बूद्वीपे द्वीपेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते प्रथमे कुलकरे , स्था० १० ठा० ३ उ ।

सयंत–श्रयमाण–त्रि० । प्रतिपदं लभमाने, भ० १३ श० ६ उ० ।

सयंपभ–स्वयंप्रभ–त्रि० । स्वयमादित्यादिनिरपेक्षरत्नबहुलतया प्रभा-प्रकाशो यस्य स स्वयंप्रभः । हैमपर्वते , चं० प्र० ५ पाहु० । सू० प्र० । ज० । स० । षट्षष्टितमे महाग्रहे, स्था० २ ठा० २ उ० । कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुलकरे , स्था० ७ ठा० ३ उ० । स० । भारते वर्षे भविष्यति चतुर्थे कुलकरे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । स० । चित्रकनकाख्यदिक्कुमार्यावासे दिग्गजेन्द्रदक्षिकूटे, द्वी० । भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति चतुर्थे तीर्थकरे, 'चउत्थो पोट्टिलजीवो सयं पभो' ती० २० कल्प । तुरिमिण्यां नगर्यां जितशत्रुराजस्य बलादाक्रमके राजनि, ति० । कल्प० । आ० चू० । कल्प० । ऋषभपूर्वभवजीवस्य ललिताङ्गदेवस्य भार्यायाम्, स्त्री० । आ० म० १ अ० । सघा० । आव० ।

सयंपरिहार–स्वयंपरिहार–पुं० । स्वयमाचारकथनेन असदाचारस्य परिहारे ध० १ अधि० । (स्वयपरिहार इति अस्य कथनेन परिहारोऽसदाचारस्य संपादनीय· स च ' असदायार ' शब्दे प्रथमभागे ८४० पृष्ठे गत ।)

सयंपव्वज्जा–स्वयंप्रव्रज्या–स्त्री० । आचार्यमन्तरेण स्वयमेव लिङ्गग्रहणे, अङ्ग० ।

तन्निषेधो यथा—

परं जे जंबू ! पव्वावणाविहीए बहिया जे इ गिहत्था अत्थसाभिलासिएहिं पासत्थेहिं सुत्तत्थं गहिया वेरग्गभइया । परंपरागयसाहूण साहुणीणं बहुअरे पमाए दट्ठूण सयमेव पव्वइस्संति, सयमेव मुंडाविस्संति , सयमेव वत्थपत्ताइ गिण्हिस्संति, गुरूणं अणणुन्नाए सिरे लोअं करिस्संति, सयमेव तवोकम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्संति, सयमेव भिक्खाए भिक्खं करिस्संति । ते जंबू ! पासंडमइया दिट्ठिए वि दिट्ठा महामिच्छत्तकारिणो मिच्छत्तपरियायवड्ढगा सम्मत्तपरियायहायगा । दुरायारा निद्धंधसा भासिणो अह नाणपन्ना अह संजमाराहगा अम्हे गुणसंपन्ना अम्हे सुद्धजिणमइया एवं भासंता मम परंपरागयसाहुसाहुणीणं हीलंता निंदंता खिंसंता बहुभवपरंपराऽणुबद्धा अणंतखुत्तो संसारे भमिहिस्संति । पावमइया तेसिं निण्हवाणं सावयसाविया कुमयमई दिट्ठिराएणं गहिया संता अबोहिपविट्ठा अणंतखुत्तो संसारे बुब्बुद व्व परिभमिस्सति जंबू ! णत्थित्थि संदेहो । तए णं अज्जजंबू जायसंसए जायकोउहल्ले उट्ठाय उट्ठित्ता एवं वयासी–कहं णं भंते ! तेसिं संजमकिरिया तवोकम्मे निप्फले होइ । संजमं पासंता वि संजमविराहगा भणिया । एवं खलु जंबू ! ते अभिमाणगहिया

एवं पुच्छिया मम साहूहिं एवं भासिस्संति । परंपरागए साहुणो । तेसिं पाविट्ठमइयाणं सुमहुराए भासाए एवं पुच्छिस्संति-भो भो महाणुभागा ! तुम्हाणं को गणो ? का साहा?किं कुलं ? को गुरू ? कस्स धम्मायरियस्स परंपराए तुमे संजमो गहिओ ?, केण दिक्खिया ?, कस्स अणुण्णाए उद्देससमुद्देसे संदिसंति?यं सुत्तत्थधारगा जाया केण महाणुभागेण कालग्गहणविही दंसिया ? कस्स गुरुणो अंगीकारेणं दुवालसावत्तवंदण विहियं ? कस्स य परियाए से णं विहारो वट्टइ? केणायरिएणं दुविहमिक्खं गाहिया ? ।तओ ते एवं भासिस्संति-तुम्हारिसाणं अम्हारिसेहिं आलावो संलावो न कप्पइ-तुम्हे हीणायारिया पंडुरपडपाउरणा पासत्थविहारिया ओसन्नविहारिया धणकणगाइधारगा अम्हे एगंतसाहू सुद्धायारपालगा अम्हाणं का य पडिसिद्धी,जहा-हंसकागाणं तुरगखराणं महिमगइंदाणं सूरकायराणं समवाओ ण होति,तहा तुम्हाणं अम्हेहिं पडिवादो कओ । तओ तुब्भं तिया वि सावयसाविया एयं वइस्संति-सव्वे एए संजया महाणुभागा मलमलिणसरीरा निल्लोहा अरसविरसाहारिणो एए पासत्था हट्ठा बलियसरीरा अवियारभासगा एएसिं का पडिसिद्धी,तम्मि पुरओ एवं कहित्ता चिट्ठिस्संति । पुणो जंबू ! मम परंपराए पोसहसालाए पमायं चइत्ता एके महाणुभावसूरिणो गणपडिधारगा संजमेहिं वट्टंता पुच्छिस्संति-तेसिं रिमिथेमे दट्ठूण भो भो महाणुभागा ! तुम्हाणं को गुरू? को गणो ? का साहा? किं कुलं०जाव केणायरिएणं दुविहं सिक्खं गाहिया ?।जंबू!एवं ते पुच्छिया कोवेणं धमधमंता मिसिमिसेमाणा सम्मुहं वइस्संति-तुम्हाणं को गणो०जाव केणायरिएणं दुविहसिक्खं तुमे गाहिया । तओ ते जंबू ममाओ परंपरा गाहिऊण कहिस्संति । हे देवाणुप्पिया ! अम्हाणं अमुगअमुगे० जाव अमुगाऽऽयरिएणं दुविहसिक्खं गाहिया । तेसिं महाणुभागाणं भयहरणं परंपराए अहमेव धम्मं वयमाणा विहरामो । तओ जंबू ! ते परंपराऽऽगमरहिया एवं कहिस्संति-जाणिया मो तुम्हे,तुम्हाणं गणो वि जाणिओ०जाव दुविहसिक्खा मि गाहिया सा वि जाणिया । ते पमादपरा अम्हेहिं दिट्ठा पंडुरपडपाउरणा परिग्गहधारिणो गया इव निरंकुसा घट्ठा मट्ठा चिट्ठंति, ते तुम्हेहिं कहं मोइया ? तेसिं मंडलिए तुम्हे आवस्सयाइं करणीयं कहं न कुणह ?आहारं पुढो कहं कुणह? कहं सेयपडधारगा ? तुमे कहं मलमलिणगत्ता ?तेहिं पासत्थविहारीहिं दिक्खिया कओ तुम्हे साहू?कओ तुम्हे संजमाराहगा?कओ तुम्हाणं किरियाफले?किं निवरुक्खे अम्बफलानि होंती?ति।एवं भासेमाणा परूवेमाणा जंबू !महाभिच्छत्तनिवेसियदिट्ठिया बहु पावं समज्जणित्ता बहूणं सम्मत्तविघायं मिच्छत्तं ठावयंता अणंतकालं संसारे परियट्टिस्संति। तओ पुणो वि मम परंपरागया एवं कहिस्संति-तो तुम्हाणं को गणो ? तुमं समं पुच्छिया कहं विसमं बूहओ, अम्हाणं जारिसी परंपरा अत्थि सा पच्छा कहिस्सामो तुमे वज्जरहत्थ तओ ते भणिस्संति-अम्हाणं सीमधरो गुरु सीमंधरसमिस्स सम्मुहं होऊण वयाणि पडिवज्जियाणि । सव्वे केवलिणो गुरू,सव्वे सिद्धा गुरुणो,सव्वेसिं सिद्धाणं सव्वेसिं केवलिसमक्खं अम्हे सामाइयचरित्तं पडिवज्जियं चउद्दसरज्जूहिं पासमाणेहिं अम्हे वि पासिया अम्हाणं संजमकिरिया वि पासिया,सुत्तपरक्खं पवट्टामो,अम्हाणं सुविसुद्धा किरिया, णो एयारिसाणं हीणायरियाणं सामायारीए अम्हे वट्टामो।एगंतसो सव्वन्नूभासियं करिस्सामो णो केसिं पि गणसामायारीए अम्हे वट्टामो, एगंतसो सव्वन्नूभासियं करिस्सामो णो केसिं पि गणसामायारीए अम्हाणं पओअणं । सुत्तस्स पक्खं आराहेमो मोक्खमग्गं पयडीकरिस्सामो, जिणाणाए आराहगा भविस्सामो जहा पत्तेयबुद्धेहिं करकंडुअनग्गतिदोम्मुहनमिपमुहेहिं केणि गुरूणं समीवे संजममागहियं।पत्तेयबुद्धाणं को गणो?का साहा ? किं तुब्भं ? ते कहं कुलगणगुरुबाहिरा विराहिया वियाहिया भगवया तं वज्जरहत्थ। तओ पुणो वि जंबू ! ममं परपरागया अणगारा तेसिं पाविट्ठाणं पइचरदाणेणं मलिमुहे करिस्संति । जहा रे रे पासंडिया तुमे पत्तेयबुद्धाणं सयंसंबुद्धाणं महाणुभागाणं पाडिसिद्धिं कुणह । तुमे तत्तुल्लयाए वयाइं पालह । तेसिं महाणुभागाणं देवयाहिं रयहरणाइलिंगे दिन्ने पुव्वभवअब्भसियं सुअं तेसिं पयडीहूअं । जाइसरणे पुव्वभवसंभरित्ता पुव्वभवगुरुपायमूलं संजमं गहियं , तमेव संजमुच्चारेणं तमेव पुव्वगुरुं अंगीकरित्ता संजमं पालियं । पुव्वभवे धम्मायरियाणं समीवे उद्देस-समुद्देस-अणुण्णा-अणुओगा संदिसाविआ । अंगोवंगाणं कालियसुअस्स उक्कालियसुयस्स ०जाव दिट्ठिवायस्स जोगोवहाणेणं आसायणाविरहियाणं तेसिं पुव्वभवअब्भसियं पुव्वभवाओ अहियरं सुअं लहिऊण पव्वइया । अक्खलियस्स अ णाणोवओगेणं तमेव गुरुं मणसीकरेमाणा ते कहं विराहिया होंति ? परं एरिसा वि लिंगपव्वयणेणं अमाहम्मिया बूड्या सोहम्माओ परपरधारगा गणी ते महाभागा संजमिया संता एगे चउम्मुहचेइयहरे पगेप्परं मिलिया वि परतत्तिनिवारगा जाया । अप्पगवेसिणो णो गणपडिणीगधारगा णो सिस्ससिस्सणीणं दिक्खाए पयट्टा—

णे । आयरियउवज्झायवोयणायरियथेरपवत्तगरायणिथपूआपरमपूआसिरिपूआइ पडट्ठायणाए बूइआ अक्खलिअचरित्ता, णो गिहत्थीणं आवज्जगा, णो लोगस्स रंजणाए उट्ठिया , णो अप्पपसंसं परनिंदं कुणंता , णो परघररक्खणपरा , णो णिच्चादेसणाकुमला , णो अप्पथुतिकारगा । तेसिं महाणुभागाणं पाडिसिद्धं कियमाणा तुमे तुम्हाणं सावयसावियाइ सव्वे भिच्छादिट्ठिया भवह । अनाथिहरिकेसिपमुहा अन्ने देवयादत्तलिङ्गा पव्वइया णो तेहिं गणट्ठिती भंडिया । एयारिमाणं मयहराणं तुलणा पवट्टमाणा एगंतपावदिट्ठिया तुमं ति विद्धाडिया संता मिसमिसेमाणा सायारसगारविया कुमयमयालिवासिणो संसारे परिवडंति अवोहिकलुसकदा चिट्ठंति । पुणरवि ते एवं भासिस्संति अम्हाणं वायपडिवाए न किं पि पओयणं । अम्हे पावभीरू, अप्पणो कज्जं साहेमो किं वाएण किं जुइवाए कियमाणे ण किंचि कुसलत्तणं हवइ । एवं भासंता ते आयरियाणं पडिकूला अणारिया एव भवंति । कलहकोहणसीला ते सीलं पालंता वि कुसीला । अज्जमग्गं मुहे बूअमाणा वि अणज्जा, उम्मग्गपइआ तेसिं दसणं पि दिट्ठिमिच्छत्तजणयं । एवं जंबू ! ते पासंडिया पुव्वायरियपडणीया उवज्झायपडणीया आयरियउवज्झायाणं परंपराए पडिणीया । चाउव्वणस्स समणसंघस्स पडिणीया , एरिसाणं महाणुभागाणं गीयत्थाणं अणवकंखा अयसका अकिंत्तिकारका बहूहिं असब्भावणाहि मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा , उप्पाएमाणा तवतेणिया सुत्ततेणिया अत्थतेणिया तदुभयतेणिया समणस्स भगवओ महावीरस्स आणाए बहिया संघवहिया सयमेव मुंडे भवित्ता मम गणपरंपराणं साहूणं साहुणीणं आयारवंताणं आयारं दट्ठूणं पुच्छित्ता सिक्खित्ता तेणियं करंता अभिमाणं धरंता ण वाहका भविस्संति । कहिस्संति अम्हाणं अमुगो गच्छो तेसिं सीसस्स सीसा वइस्संति अम्हाणं धम्मायरिएणं निदिट्ठं तं करिस्सामो । अम्हाणं अमुगरिमीहिंतो गणपरंपरा पवट्टिया । तस्स पदाऽणुकमेणं अम्हे वि पुव्वपट्टधारगा अम्हे वि जोगवाहगा आलोअणादायगा चाउव्वणस्स समणसंघस्स अणा वि गणवासी आयरियउव्वज्झायसीसो जो अम्हाणं मिलिस्सइ । अम्हाणं मंडलीए पंचसं करिस्सइ सो वि जिणाणाए आराहगो भविस्सइ । एयं वुअंताणं ण को वि तारिसे तित्थयरस्स समो आयरिओ । सारणचोयणकुसलो भविस्सित्ता तेसिं पाविट्ठाणं निद्धाडिस्सइ । तेसिं सावए कलहकरे दट्ठूण तुसिणीए चिट्ठिस्संति । णो पमायमवि वइस्संति । तेसिं पाविट्ठाणं सुत्तत्थे अत्थलोभेण दाइस्संति । ते वि विराहगा भविस्संति । अविहीए सुत्तत्थपाढगाणं वोहिनासो त्ति । परं जंबू ! विक्कमवच्छराओ पच्छा सोलसवाससए वइक्कंते पन्नासवासमज्झे गणे एगे केइ महाणुभागा सूरिणो पमायं पमुत्तूणं संजमधरा भारवसहा इव जिणपन्नत्ते मग्गे उट्ठिस्संति । तेसिं अ बलं गहिऊण निरालंवणाणं निच्छोडिस्संति । कओ रे पाविट्ठा ! तुम्हाणं गणो कओ ? केहिं तुमे पाढिया ? केहिं तुमं अणुण्णा गहिऊण जोगे वहणे ? केहिं तुम्हाणं उद्देससमुद्देसे संदिसाविए ? आगासे कुसुमं केरिसं होइ ?, वज्झाए पुत्ता केरिसा हुंति ? । ससविसाणे केरिसे होइ ? । तहा तुमे वि गुरुपरंपराबाहिरा कओ साहू ?। तया के वि तब्भत्तिया सावयसाविया तेसिं सूरीणं नाऊण नियणियगणपरंपराए सामायारिं ठाइस्संति । के वि दूरभविया तेसिं परम्मुहो होऊण परगणस्स सामायारिं गहिस्संति । के वि कुग्गहग्गहगहिया अणंतकालदुक्खगमणसीला णो तेसिं मोइस्संति णो परिहरिस्संति सेवं भंते ! सेवं भंते तमेव सच्चं णिस्संकं जं णिणेहिं पवेइयं । हंता जंबू ! तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं । कहं आगासमंडलाओ निवडिया इव भासइ अम्मापिउणं संजोए अ संताणे भवति किं अन्नहा वि भवति हि ? पवेइयं हंता जंबू ! तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं । कहं णं भंते ! तेसिं सावयसाविया सम्मत्तमूला ण दुवालस वयाइं धरिस्संति णो वा ते वयधारगा आराहगा वा हविज्जा । एवं खलु जंबू ! पुव्विं जेसिं पासे वयाणि पडिवज्जियाणि तेसिं पासे वयाणि णत्थि, तेसिं आलोयणा णो तेसिं सम्मत्तधारणं तओ सावयसावियाणं कहं समत्तगुणे भवति ? वयगुणे भवति?, आलोयणागुणे भवति ?, कओ एगवीसगुणे सावयाणं भवंति तेहिं सावएहिं परंपरागयं सावयकुलं भंडियं । एवं खलु जंबू ! महाणुभावेहिं सूरिवरेहिं मिच्छत्तकुलाओ उस्सग्गववाएणं पडिवोहिऊण जिणमए ठाविया, वत्तीसअणंतकायभक्खणाओ वारिया महुमज्जमंसाइ वावीस अभक्खणाओ णिसेहिया सम्मत्तमूलाइं दुवालस वयाइं गाहिया जीवाऽजीवाइं नवपरूवणा सिक्खाविया चाउद्दसट्ठपुण्णमासिणीसु पोसहपडिपुण्णपालणा य ठाविया । कुदेवकुगुरुकुधम्माओ वारिया लोइयलोउत्तरदेवगुरुमंबंधमिच्छत्ताओ णिसेहिया । णि-

यणियगणसामायारीए समणसंघमज्झे आरोविया । तेसिं अज्जयपज्जएहिं सा सामारी सुसेविया पालिया फासिया तीरिया किट्टिया सा सेवमाणा ण कयावि दुट्ठा । परं जंबू ! तेसिं संताणिएहिं महाभगाणं सूरीण सिरीहाणं पडुपरं- पराए केइ मणयायमे सिढिलकिरिए दट्ठूण समसामायारि चइस्सति । ताणं पासंडियाणं किरियाण फडाडोवं पासित्ता तेसिं दुट्ठवयणेणं अणुमोदणं करंता हु कुलक्कमं लंघित्ता पमादपराणं पमादं आलोइत्ता तं गणं हीलना णिंदता खिंसता गरिहित्ता । कहं ते कुलक्कमओ भट्ठा असहया हवंति ? । कहं तेसिं पासंडियाणं किरियाए फडाडोवं अणुमन्निऊण कुलक्कमागयगणसामायारी लंघियाओकहं ते वि पासंडिया णिचकाल तारिसी किरिया पवड्ढंता चिट्ठिस्सति । जंबू ! ते वि पासंडिया पुव्वकिरियाडम्बर दंसिच्च तेसिं मुद्धरूवयाणं विमोहइत्त पुरिसदुगं ति । तिगं० जाव किरिया फडाडोवं करिस्संति । पच्छातीया हसणसीला कोउहलसीला कलहसीला भुइकम्मसीला । जोइसविज्जामंततंतसीला कम्मणमोहणवसीकरणाइपओगेणं सावयसावियाणं आवज्जगा गीयनायनट्टविहीए नाडीजणमोहगा मन्नपाणाइवायमुसावायअदत्तादाणमेहुण- परिग्गहकोहमाणमायालोभपिज्जदोसकलहअब्भक्खाणअरइपसुन्नपरिवायमायामोसमिच्छादंसणसल्लाइकेयाइं अट्ठारस पावट्ठाणाइं सेवमाणा भविस्संति । अप्पत्थुतिं पसंसमाणा परेसिं णिंदणपरा सड्ढगगहे कुसला एवं जंबू ! जहा सूयगडंगस्स बीयए सुयक्खंधे पुंडरीकज्झयणे चत्तारि पुरिसा पुंडरिय घेत्तकम्मा णो पराए णो हव्वाए ०जाव, तहा ते वि जयभासाभासमाणा जाणियव्वा । जंबू ! जद्दिअहा तेसिं सामायारी पयडिस्सइ तद्दिअहो च्चेव भारहे वासे पडोयारं भविस्सइ । महागयमरणाणि अभक्खभक्खणाणि धणकणगरयणमंतगारयावंतयनामखाणि कुलवहुणा मिच्छकुले गमणाणि णिस्संततीओ उच्छालिस्संति । एवमाइए उवद्दवे उट्ठिस्सति भरहे । तए णं से जंबू अज्जसुहम्मं एवं वयासी—कहं णं भंते ! तब्भत्तियाणं एव भविस्सइ ? । अन्नेसि सवि एवं भविस्सइ ? । एवं खलु जंबू ! तब्भत्तियाण वि अब्भत्तियाण वि । से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ ? । जंबू ! जहा केइ गामागरणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणा सिया तव्वासिणो एगेण परचक्केण विणासे कए तद्दामंगण परचक्किया रायाणो सन्नद्धबद्धकवया चाउरंगिणीए सेणाए संपरिवुडा आगया । जुज्झेजिणित्ता तव्वासिया सव्वे विणासिज्जंति । तहा तेसिं कुमयमईणं संसग्गाओ वि बहूणं चित्ते मलिणे भविस्सइ । जइ वि गच्छसामायारीसु दढव्वा तह वि मणे कलुसभावणाए परिग्गहिया संता अप्पणो आयारे हीलता पासंडियाऽऽयारे पसंसंता ते वि तासिं चेव, जहा पासत्थाणं संसग्गीए सुसाहू विणस्सइ तहा चोरपल्लीए वसंता माहणा वि हीणगा विणयं मुंचंति । तहा तेसिं संसग्गीए बहुलोणाणं उवद्दवो भविस्सइ, जम्मि रायकुले तब्भत्तिया वि मावया पहाणपुरिसे किज्जति, अणुक्कमेणं तं रायकुलमविक्खयं भविस्सइ । एवं जहा पढमा वाही कोढपमुहा उववज्जमाणा तं सरीरं भासुरं दीसंति तओ पच्छा अणुक्कमेणं हत्थंगुलिया ओगलंति पायंगुलिया ओगलंति नासा ओगलति पूअरुहिरे कलेवरे वसति तहा तब्भत्तिअणुगएणं धणकणगाइरिद्धिमंता भवंति पच्छा ते वि असंभासिया दीणहमक्खाणिया अपसंसणिया भवन्ति । जंबू ! तेसिं संसग्गीए णो कल्लाणे भविस्सइ । तब्भत्तियाणं सेवं भंते ! सेवं भंते ! । अङ्ग० ।

सयंपालण–स्वयंपालन–न० । आत्मनैव सेवायाम् , पञ्चा० ५ विव० ।

सयंपालणा–स्वयंपालना–स्त्री० । आत्मनैव प्रत्याख्याताहारपालनायाम् , पञ्चा० ५ विव० ।

सयंबुद्ध–स्वयंबुद्ध–पुं० । स्वयमात्मनैव बुद्धस्तत्त्व ज्ञानवान् । पा० । अपरोपदेशेन सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या मिथ्यात्वनिद्रापगमेन सम्बोधन प्राप्ते, रा० । कल्प० । आ० म० । औ० (प्रत्येकबुद्धेभ्य एषां बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेषः ' पत्तेयबुद्ध ' शब्दे पञ्चमभागे ४२४ पृष्ठे उक्तः ।)

सयंबुद्धसिद्ध–स्वयंबुद्धसिद्ध–पुं० । स्वयंबुद्धेषु सत्सु सिद्धेषु, पा० । था० । ध० । प्रज्ञा० । ल० । नं० ।

सयंभु–स्वयं(भु)भू–पुं० । स्वयं भवतीति स्वयंभूः । विष्णौ, ब्रह्मणि,सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । देवेषु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । नं० । स्वयं भवनात् स्वयंभूः । जीवे,भ० २० श० २ उ० । स्वयम्-आत्मनैव परोपदेशनिरपेक्षतया ऽवगततत्त्वो भवतीति स्वयंभूः । स्वयंसम्बुद्ध, स्या० । भारते वर्षेऽवसर्पिण्यां जाते तृतीयवासुदेवे,ति० । प्रव० । तृतीयदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, नपुं० । स० ६ सम० ।

सयंभुकड–स्वयम्भु(म्भू)कृत–त्रि० । स्वयं भवतीति स्वयम्भुर्विष्णुरन्यो वा तत्कृत । विष्णुकृते, ' सयंभुणा कड लोए ' सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । (अस्य व्याख्या ' कडवाइ ' शब्दे तृतीयभागे २०४ पृष्ठे गता ।)

स्वयम्भूनिर्मितजगद्वादिनो भणन्ति-

" आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टस्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रणष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते ।

अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तप ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् ।
तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् पद्मे स भगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न--स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
अदितिः सुरसङ्घानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् ।
विनता विहङ्गमानां, माता विश्वप्रकाराणाम् ॥ ६ ॥
कद्रूः सरीसृपाणां, सुलसा माता च नागजातीनाम् ।
सुरभिश्चतुष्पदाना-मिला पुनः सर्वबीजानामिति ॥ ७ ॥"
एवमुक्तक्रममेतदनन्तरोदितं वस्तु अलीकं भ्रान्तज्ञानादिभिः प्ररूपितत्वात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

सयंभुदत्त-स्वयम्भु(म्भू)दत्त-पु० । स्वनामख्याते काञ्चनपुरवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, ध० र० ।

स्वयंभुदत्तकथा पुनरेवम्--

" जलहिजलनेहपुन्ने,-सुमेरुदण्ड सुजोइकंतिल्ले ।
जंबुद्दीवे दीवे, इहऽत्थि कंचणपुरं नयरं ॥ १ ॥
तत्थासि वासिओ जिण-मयम्मि सिट्ठी सयंभुदत्तु त्ति ।
पायं परिवज्जिय पउ-र तिव्वआरंभसरंभो ॥ २ ॥
उल्लसिरनिरंतर अ-तरायवसओ न तस्स सपडइ ।
आजीविया वि निरव--ज्ज अप्पसावज्जवित्तीए ॥ ३ ॥
तत्तो अनिव्वहंतो, आरभइ जाव करिसणं एसो ।
कूरग्गहदोसेणं, ता जाया तत्थ उणावुट्ठी ॥ ४ ॥
तीए वसेण अविरल-रत्तरोलाउलियइब्भभवणाइ ।
जणियजणदुक्खलक्खं दुब्भिक्खं निवडियं घोरं ॥ ५ ॥
तत्थ य सयंभुदत्तो, तयणु अकामो अनिव्वहंतो य ।
वसहाण वाहणेणं, आरभइ जीवणोवायं ॥ ६ ॥
तेण वि दुब्भिक्खवसा, जाव न निव्वहइ ताव केणावि ।
महया सत्थेण समं, चलिओ देसंतराभिमुहं ॥ ७ ॥
दूरपहमइक्कंते, सत्थे आवासिए अरन्नम्मि ।
तो मुक्कपक्कहक्का--चिलायधाडी समावडिया ॥ ८ ॥
तो भल्लसिल्लवावल--पमुहप्पहरणकरा समरधीरा ।
सत्थसुहडा वि तीए, सद्धिं जुज्झिंसि सलग्गा ॥ ९ ॥
खडियपयडसुहड--विहडियरणरहसनस्सिरनराइं ।
उप्पिच्छ सत्थनाहं, दारुणमाओहणं जायं ॥ १० ॥
पबलबलेन खणेणं, तेणं सुमहल्लभिल्लनिवहेणं ।
कालिकालेण व धम्मो, सत्थो गलहत्थिओ सयलो ॥ ११ ॥
घित्तूण सारभंडं सुरूवरामाजणं मणुस्से य ।
बन्दिग्गहेण य तओ चिलायसेणा गया पल्लिं ॥ १२ ॥
सो वि हु सयंभुदत्तो, गयसव्वस्सो पलायमाणो य ।
धणवंतु त्ति विचिंतिय, गहियो भिल्लेहिं दुट्ठेहिं ॥ १३ ॥
निद्दयकसघायनिघाय-वघणाईहिं ताडिओ वि दढं ।
सो इच्छइ जाव न किं, चि देयदव्वं तओ तेहिं ॥ १४ ॥
पत्ते दिणे पुणोवाइय, चिलायकीरन तप्पणविहीए ।
चामुंडाए पुरओ, उवहारत्थं स उवणीओ ॥ १५ ॥
रे रे वणिया ! जइ जी-वियव्वमहिलससि ता वहुं दविणं ।
अज्जवि मग्गसु अम्हे, कालमुहं जासि किमकाले ॥ १६ ॥
एवं तं जपंता, सयंभुदत्तं न जाव खग्गेण ।
निहणंति ताव सहसा, रमुट्ठिओ वहलहलबोलो ॥ १७ ॥
भो भयह चयह पयं, करागमगुरुरहं वेलिवाउमिणं ।
थीबालवुड्ढविंद्र-सकाणमिणं मा विराहेह ॥ १८ ॥
एसा हम्मइ पल्ली, डज्झति इमाइँ सयलगेहाइं ।
इय उल्लावं सोउं, सयंभुदत्तं विमुत्तूण ॥ १९ ॥
पवणजइणा जवेणं, सुमरिय चिरवइरिसुहडसंपाया ।
चामुंडाभवणाओ, ते भिल्ला झत्ति नीहरिया ॥ २० ॥
जाओ अज्जेव अहं, अज्जंत्र य सयलसंपय पत्तो ।
इय चिंततो तुरियं, सयंभुदत्तो अवक्कंतो ॥ २१ ॥
भीसणचिलायभयतर-लिओ य गिरिकुहरमज्झमज्झेण ।
वहलतरुवल्लिपडला-उलेण अपहेण वच्चंतो ॥ २२ ॥
कसिणभुयंगेण डक्को, उप्पन्ना वेयणा महाघोरा ।
परिचिंतिय च तेणं, हत्ताहे नणु विणस्सामि ॥ २३ ॥
जइ कह वि चिलाएहिं, परिमुक्को ता कयंततुल्लेण ।
डसिओ भुयंगमेणं, अलघणिज्जं अहह दिव्वं ॥ २४ ॥
अहवा जम्मी मरणेण, जुव्वणं सह जराइ सयराहं ।
संजोगो य विओगे-ण जायए किमिह सोगेणं ॥ २५ ॥
इय चिंतंतो जा किं चि, सणियं सणियं स अग्गओ जाइ ।
ता तिलयतरुस्स अहे, चारणसमणं नियच्छेइ ॥ २६ ॥
विसमभुयंगमविस विहु रियस्स सरणं तुमं मम मुणिंद ! ।
इय भणिरो मुणिपुरओ, विचेयणो झत्ति सो पडिओ॥२७॥
मुणिचिंतियगरुल अज्झयणं, सरणवसजायआसणपकंपी ।
मणिणो वरदाणपरो, गरुलवई तत्थ संपत्तो ॥ २८ ॥
तो तिमिरं पिव दिवसयर-किरणहणियं गयं महाहिविसं ।
तह सुत्तविबुद्ध व्व, उट्ठिओ सो वि पहट्ठदेहो ॥ २९ ॥
अह अज्झयणसमत्तीइ गरुलनाहो पयंपए हिट्ठो ।
मुणिपवरवरेसु वरं, आह इमो धम्मलाहो ते ॥ ३० ॥
तं दट्ठु मुणिमणीहं, नमिय सठाणं गओ गरुलनाहो ।
तुट्ठो सयंभुदत्तो, वि तं मुणि पइ इमं भणइ ॥ ३१ ॥
भयवं ! भमंत भीसत्थ, साययकुलसंकुडाइ अडवीए ।
गुरुपुन्नेण नूणं, तुह जोगो मह इह जाओ ॥ ३२ ॥
जइ मुणिवरिंद ! न तुमं, इह हुंतो फुरियगुरुयकारुन्नो ।
अइदुट्ठदुट्ठविसहर--विसविसो तो मरतो हं ॥ ३३ ॥
ता मह पसिऊण मुणिं--द वदखयरिंदविंदनयचलण ! ।
आरंभसंभसर--भवज्जिय देसु पव्वज्जं ॥ ३४ ॥
तो समयभणियविहिणा, गुरुणा, पव्वाविओ इमो सुइरं ।
पालियवय सुहम्मं, पत्तो गमिही सिवं कमसो ॥ ३५ ॥
कृपालोर्जीवानां तनिपु हृदयालोर्जिनमते,
स्वयंभूदत्तस्य प्रकटमिति बुद्ध्वा सुचरितम् ।
निरारम्भे भावं कुरुत मनसा वृत्तिमतुलां,
सदा तीव्रारम्भान् परिहरत हे श्रावकजनाः ॥ ३६ ॥
इति स्वयंभुदत्तकथा । ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० ।

सयं (भू) भुभद्द-स्वयं (भू) म्भुभद्र-पु० । स्वयम्भुरमणद्वीपदेवे, सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० ।

सयं (भु) भुमहाभद्द-स्वय (म्भू) म्भुमहाभद्र-पुं० । स्वयम्भूरमणद्वीपदेवे, च० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

सय (भु) भुमहावर-सयं (भु) भूमहावर--पु० । स्वयम्भूरमणसमुद्राधिपती देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० ।

सयंभूरमण-स्वयम्भूरमण-पुं०। स्वयं भवन्तीति स्वयंभुवो देवास्ते यत्रागत्य रमन्तीति स स्वयम्भूरमण.। उत्त०११अ०। स्था०। अनु०। उत्त०। सथा०। आव०। अर्द्धरज्जुप्रमाणप्रान्तसमुद्रे, अष्ट० ६ अष्ट०। सू० प्र०। जी०।

सयंभूरमणे दीवे सयंभूरमणभद्दसयंभूरमणमहाभद्दा य इत्थ दो देवा महिड्डिया। (सू० १८५×)

स्वयंभूरमणे द्वीपे स्वयंभूभद्रस्वयंभूरमणमहाभद्रौ स्वयंभूरमणे समुद्रे स्वयंभूवरस्वयंभूमहावरौ। जी० ३ प्रति० ९ उ०। प्रज्ञा०।

सयंभूरमणोद-स्वयम्भूरमणोद-पुं०। स्वयम्भूरमणस्वामिन समुद्रे, जी०।

सयंभूरमणं णं दीवं सयंभूरमणोदे नामं समुद्दे वट्टे वलया० जाव असंखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं परिक्खेवेणं०जाव अट्ठो गोयमा! सयंभूरमणोदए उदये अत्थे पत्थे जच्चे तणुए फलिहवण्णाभे पगतिए उदगरसेणं पण्णत्ते, सयंभुरमणवरसयंभुरमणमहावरा इत्थ दो देवा महिड्डिया सेसं तहेव० जाव असंखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभिंसु वा सोभंति वा सोभिस्संति वा। (सू० १८५×)

स्वयंभूरमणसमुद्रस्योदकं पुष्करोदसदृशम्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सयंभूवर-स्वयम्भूवर-पुं०। स्वयम्भूरमणोदसमुद्रस्य स्वनामके देवे, सू० प्र० १९ पाहु०। चं० प्र०।

सयंवर-स्वयंवर-पुं०। स्वयमात्मना वरो वरणम्। कन्यया आत्मनैव स्वपतेर्वरणे,वाच०।आ० म०। (द्रौपद्या स्वयंवरवक्तव्यता ' दुवई ' शब्दे चतुर्थभागे २५८६ पृष्ठे गता।)

सयंवाइ-स्वयंवादिन्-पुं०। तृतीयदेवलोकविमानभेदे, स० ६ सम०। विशालपुरराजस्य सोमप्रभस्य पुत्रे, दर्श० १ तत्त्व।

सयंस-शतांश-पुं०। शतभागस्य वस्तुन. शततमेंऽशे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

सयंसंबुद्ध-स्वयंसंबुद्ध-पुं०।स्वयमपरोपदेशेन सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्वनिद्रापगमसम्बोधेन स्वयसम्बुद्धा। जी० १ प्रति०। तीर्थकृत्सु ल०। 'सयसंबुद्धाणं'। तथा भव्यत्वादिसामग्रीपरिपाकत. प्रथमसम्बोधेऽपि स्वयोग्यताप्राधान्यात् त्रैलोक्याधिपत्यकारणाचिन्त्यप्रभावतीर्थकरनामकर्मयोगेन चापरोपदेशेन स्वयम्-आत्मनैव सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्वनिद्रापगमसम्बोधेन स्वयंसम्बुद्धा। न चै कर्म्मणो योग्यताऽभावे तत्र क्रिया क्रिया, स्वफलाप्रसाधकत्वात्, अश्वमाषादौ शिलापक्त्याद्यपलया। सकललोकसिद्धमेतदिति नाभव्ये सदाशिवानुग्रह, सर्वत्र तत्प्रसङ्गाद्, अभव्यत्वाविशेषादिति भावनीयम्।ल०। औ०। कल्प०।

सयकम्म-स्वककर्मन्-न०। स्वानुष्ठिते पापे कर्मणि "जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चती सयकम्मुणा" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

सयकम्मकप्पिय-स्वककर्मकल्पित-त्रि०। स्वकीयेन ज्ञानावरणीयादिना कर्म्मणा व्यवस्थापिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

सयकित्ति-शतकीर्त्ति-पुं०। भारते वर्षे उत्सर्पिण्या भविष्यति दशमे, शतकजीवे तीर्थकरे. ती० २० कल्प। प्रव०। स०।

सयक्कउ-शतक्रतु-पुं०। शतं क्रतूनां-प्रतिमानाम्-अभिग्रहविशेषाणां श्रमणोपासकपञ्चमप्रतिमारूपाणां वा यस्याऽसौ शतक्रतु। भ० ३ श० २ उ०। उपा०। प्रज्ञा०। द्वी०। शक्रेन्द्रे, ' वज्जपाणी पुरंदरे सयक्कऊ सहस्सक्खे ' शत क्रतव श्राद्धपञ्चमप्रतिमारूपा यस्य स शतक्रतु। इद हि कार्त्तिकश्रेष्ठिभवापेक्षया, तथाहि--पृथ्वीभूषणनगरे प्रजापाला नाम राजा कार्त्तिकनामा श्रेष्ठी। तेन श्राद्धप्रतिमानां शत कृत तत. शतक्रतुरिति ख्याति।कल्प०१ अधि० १ क्षण।जी०।

सयग-शतक-पुं०। पुष्कलीत्यपरनामके श्रावके, स्था० ६ ठा० ३ उ०। ती०। प्रव०। (सख ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८ पृष्ठे कथोक्ता।) शतप्रमाणग्रन्थे,पद्सु कर्मग्रन्थेष्वन्यतमे शतके, कर्म०।

" यो विश्वविश्वभविना भवबीजभूत,
कर्मप्रपञ्चमवलोक्य कृपापरीत.।
तस्य क्षयाय निजगाद सुदर्शनादिरत्नत्रय स जयतु प्रभुवर्धमान॥ १॥
अग्रायणीयपूर्वा--दुद्धृत्य परोपकारसारधिया।
येनाभ्यधायि शतक, स जयतु शिवशर्मसूरिवर॥ २॥
अनुयोगधरान् पूर्वान्. धर्माचार्यान्मुनींस्तथा नत्वा।
स्वोपज्ञशतकसूत्र, विवृणोमि यथाश्रुत किंचित्॥ ३॥
कर्म० १ कर्म०।

सम्प्रति शतगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थनामक शतकशास्त्र समर्थयन्नाह-

देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा॥ १००॥

देवेन्द्रसूरिणा करालकलिकालपातालतलावमग्नजिनशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीण--श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीककल्पेन लिखितमक्षरविन्यासीकृत कर्मप्रकृतिपञ्चसग्रहबृहच्छतकादिशास्त्रेभ्य इति शेष। किमित्याह--शतकं शतगाथाप्रमाणमिदमधुनैव व्याख्यानस्वरूपम्। किमर्थमित्याह--आत्मस्मरणार्थमात्मस्मृतिनिमित्तमिति॥ ॥ १००॥ (कर्म०) श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञशतकटीका समाप्ता। कर्म० ५ कर्म०।

सयग्गसो-शताग्रशस्-अव्य०। शतसंख्यभेदैरित्यर्थे, सू० १ उ० ३ प्रक०। सूत्र०। शतपरिमाणेनत्यर्थे, भ० २५ श० ६ उ०।

सयग्गु-शतग्गु-पुं०। सुरभिनामके वनस्पतिभेदे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

सयग्घी-शतघ्नी-स्त्री०। महायष्टौ, महाशिलासु या उपरिष्टात् पातिता सत्य शतानि पुरुषाणां घ्नन्तीति। आ० १ श्रु० १ अ०। औ०। प्रज्ञा०। प्रश्न०। रा०। जी०। शतघ्न्यो हि यन्त्रविशेषरूपा। उत्त० १ अ०।

सयण-शयन-न० । शय्यते एष्विति शयनानि । वसतिषु, आचा०१श्रु०६अ०१ उ० । शय्यते स्थीयते उत्कुटुकासनादिभिरस्मिन् । आश्रयस्थाने. आचा०१श्रु० ६ अ० १ उ० । खट्वायाम् , आचा० ६ श्रु० १ अ० ५ उ० । पर्यङ्कादौ, स्था० ८ ठा० ३ अ० । शय्यायाम् ,उत्त०१अ० । प्रश्न०।ध० ।वातूलीपर्यङ्के, प्रवरपटोपधानयुक्ते . सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । तूलादिशयनीये , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । संस्तारके, सूत्र० २श्रु० १ अ० ।स्था० । आव० । स्वापे, प्रश्न० ४ सव० द्वार । उत्त० । सं० । (संथार' शब्देऽस्मिन् भागे १५० पृष्ठे संस्तारपौरिषीप्रस्तावे शयनविधिरुक्त ।) ('अज्जा' शब्दे प्रथमभागे २२१ पृष्ठे च गता ।)

साम्प्रत श्रावकस्य रात्रिविषयं यद्विधेयं तद्दर्शयन्नाह—

गत्वा गृहेऽथ कालेऽर्ह-द्गुरुस्मृतिपुरस्सरम् ।
अल्पनिद्रोपासनं च, प्रायेणाब्रह्मवर्जनम् ॥ ६७ ॥

अथेति—स्वाध्यायानन्तर्ये , गृहे गत्वा काले—अवसरे रात्रेः प्रथमे यामेऽर्द्धरात्रे वा शरीरसात्म्येन, निजगृहे स्वकीयपुत्रादीनां पुरतो धर्मदेशनाकथनेन निद्रावसरे जात इत्यर्थः । अल्पनिद्राया उपासनं—सेवनं , विशेषतो गृहिधर्मो भवतीति सम्बन्ध । यतो दिनकृत्ये—" काऊण सयणवग्गस्स , उत्तमं धम्मदेसणं । सिज्जाठाणं तु गतूणं ,नओ अन्नं करे इमं ॥ १ ॥ " इति । अत्र निद्रेति विशेष्यम् , अल्पेति विशेषण , विशेषणस्य चात्र विधि , सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामत इति न्यायात् , निद्रेति विशेष्य , तेन न तत्र विधिः , दर्शनावरणकर्मोदयेन निद्रायाः स्वत सिद्धत्वात् । ' अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थव 'दिति (निद्राया अल्पत्वे विधिरित्यवसेयम् ।) कथं निद्रा कुर्यादित्याह—अर्हदिति—अर्हन्त —तीर्थकरा गुरवो-धर्माचार्यास्तेषा स्मृति —मनस्यारोपणं पुरस्सरापूर्वं यस्य तत्तथा, क्रियाविशेषणमिदम् , उपलक्षणं चैतत् चतुःशरणगमनदुष्कृतगर्हा सुकृतानुमोदना सर्वजीवक्षमणप्रत्याख्यानकरणाष्टादशपापस्थानवर्जनपञ्चनमस्कारस्मरण-प्रभृतीना—न ह्येतद्विना श्रावकस्य शयनं युक्तम् , तत्र देवस्मृतिः—'नमो वीअरागाणं , सव्वण्णूण तेलोक्कपूइयाणं जहट्ठिअवत्थुवाईणं ' मित्यादि । गुरुस्मृतिश्च—' धन्यास्त ग्रामनगरजनपदादयो , येषु मदीयधर्माचार्या विहरन्तीत्यादि , ' चैत्यवन्दनादिना वा नमस्करणं स्मृतिः , यदाह दिनकृत्ये—" सुमरित्ता भुवणनाहे " त्ति , वृत्तौ—स्मृत्वा धातूनामनेकार्थत्वाद्वन्दित्वा , भुवननाथान्—जगत्प्रभून् , चैत्यवन्दना कृत्वेत्यर्थः । (ध०) (चतुःशरणगमनम् 'चउसरण' शब्दे तृतीयभागे १०५८ पृष्ठे गतम् ।) सुकृतानुमोदन त्वेवम—'एवया सव्व चिअ वी-अरायवयणाणुसारि जं सुकयं । कालत्तए वि तिविहं, अणुमोयमो तयं सव्वं ॥ १ ॥' इत्यादि । सर्वजीवक्षमणं यथा—' खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे । मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥ १ ॥ ' इत्यादि । प्रत्याख्यानं च चतुर्विधाहारादिविषयं ग्रन्थिसहितेन सर्वमनःप्रकर्षेणापकारित्वविभ्रमवस्त्रीवस्त्रं च , यदुक्तं दिनकृत्ये—

"पाणिवहमुसाऽदत्तं " इत्यादि गाथाद्वयं प्राग् लिखितमेव, तथा शेषपापस्थानवर्जन यथा—

' तहा कोहं च माणं च, मायं लोभं तहेव य ।
पिज्जं दोसं च वज्जेमि, अब्भक्खाणं तहेव य ॥ १ ॥
अरई रइपेसुन्नं , परपरिवायं तहेव य ।
मायामोसं च मिच्छत्तं, पावट्ठाणाणि वज्जिमो ॥ २ ॥ ' इति

तथा—

' जइ मे हुज्ज पमाओ , इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए ।
आहारमुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥१॥ '

नमस्कारपूर्वकमनया गाथया त्रि साकारानशनस्वीकरणं पञ्चनमस्कारस्मरणं च स्वापावसरे कार्यं, ततो विविक्तायामेव शय्यायां शयितव्यं, नतु स्त्र्यादिसंसक्तायाम् , तथा सति सतताभ्यस्तत्वाद्विषयप्रसङ्गस्योत्कटत्वाच्च वेदोदयस्य पुनरपि तद्वासनया बाध्येत जन्तु , अत सर्वथोपशान्तमोहन धर्मवैराग्यादिभावनाभावितेनैव च निद्रा कार्येति स्वापविधि । तथा ' प्रायेण ' इति बाहुल्येन , गृहस्थत्वादस्य अब्रह्म—मैथुनं तस्य वर्जनं—त्यजनं , गृहस्थेन हि यावज्जीवं ब्रह्मव्रतं पालयितुमशक्तेनापि पर्वतिथ्यादिबहुदिनेषु ब्रह्मचारिणैव भाव्यम् । ध०२ अधि० ।

सदन-न० । अङ्गग्लानौ , ध० १ अधि० । गृहे , रा० ।

स्वजन-पुं० । मातापितृभ्रात्रादिके, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । आ० म० । पुत्रपितृव्यादौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । स० । आचा० । पूर्वापरसंस्तुते मातापितृव्यश्वशुरादिके , आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । पितृमातृपत्नीपक्षोद्भवाः पुंसा स्वजना । ध० २ अधि० । सूत्र० । प्रश्न० ।

सयणकाल-शयनकाल-पुं० । स्वापावसरे, सूत्र०२ श्रु०१अ० ।

सयणकिडग-स्वजनक्रीडक-पुं० । स्वजनादिना क्रीडाकारके, सूत्र० १ श्रु०४ अ० १ उ० ।

सयणवग्ग-स्वजनवर्ग-पुं० । स्वकीयलोके, पञ्चा० ८ विव० ।

सयणविरहिय-स्वजनविरहित-त्रि० । भ्रात्रादिबन्धुविवर्जिते, पं० चू० ४ द्वार ।

सयणविहि-शयनविधि-पुं० । शयनं स्वापः तद्विषयको विधिः । स्वप्नविधौ , ज० । (शयनविधिः ' कला ' शब्दे तृतीयभागे ३७७ पृष्ठे उक्तः ।)

सयणाइजुत्त-स्वजनादियुक्त-त्रि० । स्वजनहिरण्यादिसमन्विते, पं० व० १ द्वार ।

सयणासण-शयनासन-न० । पल्यङ्कादीनि शयनानि पीठिकादीनि आसनानि । पल्यङ्कपीठिकादिषु , वृ० १ उ० २ प्रक० । प्रश्न० । जीत० ।

सयणिज्ज-शयनीय-त्रि० । पर्यङ्के , कल्प० १ अधि०२ क्षण । सू० प्र० । जं० । विपा० ।

सयदुवार शतद्वार-न० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे वैताढ्यगिरिपादमूले पुण्ड्रजनपदप्रधाने नगरे , यत्र महापद्मस्तीर्थकृद्भविष्यति । स्था०६ ठा०३ उ० । अन्त० । ती० । ति० । भ० ।

सयधणु-शतधनुष्-पुं० । जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति अष्टमे कुलकरे, स० । ति० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति नवमे कुलकरे, स्था० १० ठा० ३ उ० । बलदेवस्य रेवत्या जाते पुत्रे, नि० १ श्रु० ५ वर्ग १० अ० । (स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्ध इति निरयावलिकाया. पञ्चमे वर्गे दशमेऽध्ययने सूचितम् ।)

सयपइया-शतपदिका-स्त्री० । स्वेदजजन्तुभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सयपत्त-शतपत्र-न० । पत्रशतसंख्योपेते पद्मे । चं० प्र० १ पाहु० । आ० म० । ती० । जं० । रा० । ओघ० । प्रश्न० । शत्रुञ्जये, ती० १ कल्प । सू० प्र० । प्रश्न० । स० । औ० । रा० ।

सयपव्व-शतपर्वन्-न० । बहुपर्वे वंशजातीये वनस्पतौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सयपाग-शतपाक-न० । शतकृत्वो यत्पक्वं परावरौषधै रसेन सह शतेन वा कार्षापणानां पक्तिमे,स्था० १श्रु० १ अ० । औ० । शत पाकानामौषधिक्काथाना वा पाको यस्य,औषधिशतेन वा सह पच्यते यत् शतकृत्वः पाको यस्य, शतेन वा रूपकाणां मूल्यतः पच्यते यत्र तच्छतपाकम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । शतवारं नवनवौषधरसेन पक्वानि । अथवा—यस्य पाके शतं सौवर्णा लगन्ति तत् । शतद्रव्यैः पक्वे तैलादौ , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सयपोरागकिमिय-शतपर्वककृमिक-पुं० । इक्षुपर्वकृमिषु, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सयबल-शतबल-पुं० । ऋषभपूर्वभवजीवस्य वैताढ्यपर्वते गान्धारविषये जातस्य महाबलस्य राज्ञः पितामहे, आ० चू० १ अ० । आतु० । आ० म० ।

सयभिसय-शतभिषज्-स्त्री० । शततारे वरुणदेवताके स्वनामख्याते नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्ष० । स्था० । सू० प्र० । स० ।

सयमाण-स्वपत्-त्रि० । शयाने, "अजयं सयमाणो य पाणभूयाइँ हिंसइ " । दश० ४ अ० । आचा० ।

सयमारंभवज्जण—स्वयमारम्भवर्जन—न० । अष्टम्या प्रतिमाया श्रावककर्त्तव्ये , साक्षादारम्भनिषेधे , ' वज्जइ सयमारंभं सावज्ज कारवेति पेसेहिं । वित्तिणिमित्तं पुव्वयगुणजुत्तो अट्ठ जा मासा " इति । उपा० १ अ० ।

सयमास-स्वकमास-पुं० । स्वकीयमासे, नि० चू० २० उ० ।

सयमुह-शतमुख-न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र गुणचन्द्र. श्रेष्ठी चन्द्रिकया भार्यया सहासीत् । पिं० ।

सयय-शतत-न० । अनवरते, आचा० १श्रु० ८अ० ४ उ० । उत्त० । शतक-पुं० । उत्सर्पिण्यां भविष्यतो दशमतीर्थकृत. पूर्वभवजीवे स्वनामख्याते श्रावके, स० ८४ सम० । ति० ।

सययबंध-सततबन्ध-पुं० । शतत बन्ध सततबन्ध' । नामनामन्तरेणैकार्थ्ये समासो बहुलमिति समास. । यथा विस्पष्ट पटु विस्पष्टपटुरित्यादौ । निरन्तरबन्धकाले बन्धे, कर्म० ५ कर्म० ।

सययब्भास-सतताभ्यास-पुं० । नित्यमेव मातापितृविनयादिवृत्तौ, ध० १ अधि० ।

सयरह-शतरथ-पुं० । भारते वर्षेऽतीतायामवसर्पिण्यां जाते दशमे कुलकरे, स० ।

सयराह-देशी-युगपदर्थे, त्वरिते च । आ० म० १ अ० । झटित्यर्थे, अनु० । आ० म० । प्रश्न० ।

सयरि-सप्तति-स्त्री० । सप्तावृत्तदशसंख्यायाम् , ' सयरिं मासाण ' महा० १ चू० ।

सयरिसह-शतवृषभ-पुं० । त्रयोविंशतितमे अहोरात्रमुहूर्ते, चं० प्र० १० पाहु० ।

सयल शकल-त्रि० । सम्पूर्णे , विशे० ' सयलजगजीवहिय । ' कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

सयलजगप्पियामह-सकलजगत्पितामह-पुं० । सकलजगतः समस्तभुवनजनस्य पितामह इव पितामहः सकलजगत्पितामहः । अथवा-सकलजगतो धर्मः पिता पालनानियुक्तत्वात्स्यापि भगवान् पिता भगवत्प्रभवत्वाद्धर्मस्येति पितुः पिता-पितामहः । सकलजगत पितामह इति विग्रह. । तीर्थकृति, " भुवणगुरुणो य ठवणा सयलजगप्पियामहस्स तो सम्मं " पं० स० ।

सयलसमाहियसिद्धि-सकलसमाहितसिद्धि-स्त्री० । निखिलेप्सितार्थनिष्पत्तौ, पञ्चा० ६ विव० ।

सयलादेश-सकलादेश-पुं० । समग्ररूपतया प्रतिपादने, रत्ना० ४ परि० । (सकलादेशस्वरूपम् ' सत्तभंगी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।)

सयलिंदियविसयभोगपज्जंत-सकलेन्द्रियविषयभोगप्रत्यन्त-पुं० । अशेषभोगपर्यन्ते, ध्रा० ।

सयवसह-शतवृषभ-न० । अहोरात्रस्य त्रयोविंशे मुहूर्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । जं० । ज्यो० ।

सयवार-शतवार-पुं० । शतश इत्यर्थे, ' त किंहि ' एकेहिँ लोअणेहिं जोइज्जउ सयवार ' प्रा० ४ पाद ।

सयसहस्स शतसहस्र-न० । लक्षे , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । स्था० । सू० । जं० । अनु० ।

सयसहस्सपत्त-शतसहस्रपत्र-न० । लक्षदलोपेते पद्मे, औ० ।

सयसामत्थाणुरूव-स्वकसामर्थ्यानुरूप-त्रि० । निजशक्त्यनुसारे, पञ्चा० १८ विव० ।

सयसाहस्सिय-शतसाहस्रिक-त्रि० । लक्षप्रमाणे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

सया-सदा-अव्य० । सर्वकाले , आचा० १ श्रु० १४ अ० १ उ० । स्था० । दश० । सूत्र० । आव० । नित्य शब्दार्थे, भ० ३ श० ३ उ० । स्था० । सातत्ये, चं० प्र० २० पाहु० । प्रवाहतोऽपर्यवसित काले , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सयाउ-शतायुष्-पुं० । जम्बूद्वीपे भारते क्षेत्रे अतीतायामुत्सर्पिण्या जाते द्वितीये कुलकरे , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

त्ति० । स० । सुराविशेषे,शतवारानपि शोधिताऽपि या स्वरूप न जहाति । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० ।

सयागुत्त-सदागुप्त-त्रि०। सर्वकाल प्रहरणादिभी रक्षिते,जी० ३ प्रति० ३ अधि० ।

सयाज(य)य-सदायत-त्रि० । सर्वकालं प्रयत्नपरे , दश० ४ अ० । आचा० । दश० । आचा० ।

सयाजला-सदाजला-स्त्री० । सदा-सर्वकालं जलम् उदकं यस्यां सा तथा । सदा जलाभिधानायां नरकनद्याम् , "सयाजला नाम नदी भिदुग्गा पविज्जला लोहविलीणतत्ता ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

सयाणिय--शतानीक--पुं० । कौशाम्ब्या नगर्यां स्वनामख्याते राजनि उदयनपितरि, विपा०१श्रु०५ अ० । आचा० । विशे०। अत्रैव भरतक्षेत्रे यमुनानदीकूले पृथ्वीदिग्वधूकण्ठनिवेशितमुक्ताफलकण्ठिकेव कौशाम्बी नाम नगरी । तत्र च सहस्रानीकराजसूनुः स्वकुलमहाम्बरः सरसि जायमानः शतानीको नाम राजा । तस्य च चेटकराजदुहिता श्रीमहावीरजिनक्रमकमलमधुकरी च भुवनातिशायिरूपा मृगावतीनाम पट्टमहादेवी । अन्यदा च शतानीकनरपतिना निजमनःकुविकल्पसंभाविताऽलीकापराधेन स्वनगरीनिर्वासितस्तो-पितसाकेतपुरप्रतिष्ठितसुरप्रियाभिधानयक्षावासवरस्य निरपराधस्यैवैकस्य चित्रकरस्याऽङ्गुष्ठप्रदेशिन्योरग्रं छेदितम् । ततस्तेन 'निरर्थकमपमानितोऽहम्' इति गाढं प्रकुपितेनोपायं विमृश्य स्त्रीलोलत्वादनिवलिष्ठत्वाच्चोज्जयिनीनिवासिनश्चण्डप्रद्योतनरनाथस्य चित्रफलके वरलब्धतया यथावस्थितं मृगावतीरूपं प्रदर्शितम् । ततस्तेनातिमदनपरवशेन तद्याचनाय शतानीकान्तिके दूतः प्रेषितः । स च शतानीकेन बाढमपमान्य निर्भर्त्स्य च विसर्जितः ततस्तद्वचनाकर्णनप्रकुपितश्चण्डप्रद्योतो महाबलैरनेकभटकोटिस्वामिभिर्बद्धमुकुटैश्चतुर्दशभिर्भूपालैः , महता स्वबलेन च सह प्रचलितः शतानीकस्योपरि । तं च तथा महाबलभरेणाऽऽगच्छन्तं श्रुत्वा आत्मानं चाल्पसामर्थ्यं ज्ञात्वा हृदयसङ्घट्टेन संजातातीसाररोगः पञ्चत्वमुपगतः शतानीकः । ततो मृगावत्या चिन्तितम्—धिङ् मम रूपम् , यदर्थं मद्भर्तुस्तावद् मरणमागतम् । न चैतावता स्थास्यतीदम् , किन्तु भवकोटीष्वप्यतिदुरवापं श्रीमन्महावीरोपदेशात सुचिरमनुपालितं मम शीलाभरणमपि विलुण्ठयन् लग्नम् । तस्मादुपायमत्र चिन्तयामि, इति विमृश्य तया स्वबुद्धिलब्धसद्गुणोपायया चण्डप्रद्योतस्यागच्छतो दूरस्थितस्यैव निरूपितः सम्मुखो दूतः । तेन च गत्वा मृगावतीवचनात् प्रोक्तम् यथा—राजन्! मृगावती भणति-यद्-भर्तरि मृते स्वाधीनैव तावत् तवाहम् , परं किन्त्वद्यापि राजा बालः पर्यायमुदायननामा मत्पुत्रः । ततो यदस्य सुस्थमकृत्वाऽहं त्वया सह गच्छामि तदा सीमालराजादिभिरसौ परिभूयते । तस्मादिहैव दूरं स्थितोऽमुं सुस्थं कुरु । यथाऽस्मिन् राज्येऽपरमेवाऽरिरत्र सीमायां स मत्पुत्रं तदा विपत्तिप्रयागतो भविष्यामि । ततश्चण्डप्रद्योतेनोक्तम्—मयि विद्यमाने न कोऽप्यस्य संमुखमप्यवलोकयिष्यति । ततो दूतेनोक्तम्—नैवम् , यत उच्छीर्षस्थितविषधरस्य योजनशतस्थायि वैद्य किं कुरुते ?, तस्माद् सुस्थं कुरु । तेनोक्तम्--कथं पुनरेतत् संपद्यते ? । ततो दूतेनोक्तम्--उज्जयिनीनगरीसत्का बलिष्ठा इष्टका भवन्ति , ताभिः कौशाम्ब्याः प्राकारः कार्यः । उज्जयिन्याश्चातिदूरे कौशाम्बी, ततो गन्त्र्यादिवाहनैरिष्टका आनेतुं न शक्यन्ते । अतः पदातिपुरुषप्राचुर्याच्चण्डप्रद्योतेन तान् परम्परया व्यवस्थाप्य हस्ताद् हस्तसंचारेणेष्टका आनाय्य कारितः कौशाम्ब्याः प्राकारः । ततो मृगावत्या प्रोक्तम्—धान्यजलतृणादिकं यथा नगरीमध्ये प्रचुरं भवति तथा कार्यं । ततो रागान्धत्वेन नष्टबुद्धिना तेन सर्वं तत् तथैव कारितम् । ततो रोधकशल्याया तस्या नगर्याः संजाताया व्यभिचरिता मृगावतीश्चण्डप्रद्योतस्य । ततो नगरीद्वारे समायातो विलक्षीभूतस्तिष्ठत्यसौ । ततो मृगावत्या चिन्तितम्--पुत्रराज्योपद्रवव्यतिकरे निश्चिन्ता संजाताऽहं तावत् , ततो धन्यास्ते ग्रामनगरादिप्रदेशा येषु भगवान् महावीरो विचरति, धन्यश्च स एव लोको यस्तत्पादरजोरञ्जितभालतलः सततं तदन्तिकोपासीनस्तद्वचः—पीयूषवृष्टिभिर्निर्वाप्यमानः कालं निर्वाहयति , तद् यद्यत्र कथमपि भगवान् समागच्छति, ततोऽवलोकितातिदुरन्तसंसारवैरस्याऽहमप्येतत् करोमि प्रव्रज्यां चाऽभ्युपगच्छामि । एतच्च तदाकूतं विज्ञाय समागतस्तत्र भगवान् । मृगावतीश्चण्डप्रद्योतश्च तत्र वन्दनार्थमुपगतः । धर्मकथावसाने च मृगावत्या व्रतग्रहणार्थं चण्डप्रद्योतो मुत्कलापितः । तेनापि भगवल्लज्जया तस्याश्च सदेवमर्त्याऽसुरायाः परिषदो लज्जमानेन सा मुत्कलिता, प्रव्रजिता च । विशे० । भ० । कल्प० । ती० । आ० क० । वासजनपदे कौशाम्ब्या राज्ञः शतानीकस्य जयन्तीनाम भगिन्यासीत् । बृ० २ उ० । सथा० । आव० । आ० चू० ।

सयाथिमिय-सदास्तिमित-स्त्री० । अविरहित प्रशान्ते , पं० सू० ४ सूत्र ।

सयामग-श्यामक-पुं० । गर्दभिल्लराजादनन्तरशकराजाच्च पूर्वमभिषिक्ते भारतप्रधानराजे, ति० ।

सयालि-सदालि-पुं० । भारते आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यतोऽष्टादशतीर्थकरस्य संवरस्य पूर्वभवजीवे , ती० २० कल्प । स० ।

सयावरी-शतावरी-त्रि० । वल्लीभेदे, ध० ३ अधि० । प्रव० । श्रीन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ० ।

सयावियडभाव-सदाविकटभाव-पुं० । सर्वकालं प्रकटभावे, 'सयावियडभावे असमत्त जिदविए ।' दश० ८ अ० ।

सयासव-सदाश्रव-त्रि० । आश्रवतीत्याश्रवः जलं येभ्यस्ते आश्रवाः -सूक्ष्मरन्ध्राणि तन्तो विद्यमाना सदा वा-सर्वदा वा आश्रवा यस्य स सदाश्रवः । आश्रवे. सदा सच्छिद्रे, भ० १ श० ६ उ० ।

शताश्रव-त्रि० । शतसंख्या आश्रवा यस्य सः । शतसंख्याकाश्रवोपेते, भ० १ श० ६ उ० ।

सयासिव-सदाशिव-पुं० । न० । सदा शिवमस्येति सदाशिवम् । ल० । शा० । परब्रह्मणि,शैवोपास्ये परतत्त्वे, द्वा० २द्वा०।

सयासोक्ख–सदासौख्य–न० । नित्यसुखे, अपवर्गे, आव०६ अ० । पञ्चा० ।

सयह–सह्य–त्रि० । 'ह्य ह्यो ' ॥ ८ ।२। १२४ ॥ इति ह्यशब्दे-हकारयकारयोर्व्यत्ययो वा । सहनीये , प्रा० २ पाद ।

सयोग–सयोग–पुं०। योगेन सहित । संसारी जीवभेदे, स्था० २ ठा ४ उ० ।

सर–शर–पुं० । वाणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अक्षे,प्रव० द्वार । ध० । संथा० । आ० म० । औ० । सूत्र० । स० ।

सरस्–न० । स्वय सम्भूते जलाशये, अनु० । स्था० । प्रश्न० । नि० चू० । भ० । औ० । रा० । प्रश्न० । उत्त० । ज्ञा० । बहूनि केवलानि पुष्पावकीर्णानि सरांसीत्युच्यन्ते, प्रश्न० २ पद्व ।

स्वर्–अव्य० । स्वर्लोके , देवलोके , गा० ।

स्वर–पुं० । शुद्धेष्वकाराद्यक्षरेषु, पुं०। "अक्खरसरणेण सरा" 'स्वृ' शब्दोपतापयो , अक्षराणां व्यञ्जनाना स्वरणेन सशब्दनेन स्वरा अकारादयः प्रोच्यन्ते । अथवा—अक्षरस्य चैतन्यस्य स्वरणात् संशब्दनात् स्वरा., शब्दोच्चारणमन्तरेणाऽन्तर्विज्ञानस्य बोद्धुमशक्यत्वात् , शब्दे च स्वरसद्भावादिति । विशे० ।

सुद्धा वि सरंति सयं,मारंति य वंजणाइँ जं तेणे ।
होंति सरा न कयाइ वि,तेहिँ विणा वंजणं सरइ ॥४६२॥
वंजिज्जइ जेणत्थो,घडो व्व दीवेण वंजणं तो तं ।
अत्थं पायेण सरा, वंजंति न केवला जेणं ॥ ४६३ ॥

शुद्धा केवला व्यञ्जनरहिता अपि अकारादय स्वरा स्वयमेव स्वरन्ति-शब्दयन्ति विष्णुप्रमुख वस्तु , व्यञ्जनानि चैत संयुक्ता सन्त स्वरयन्ति उच्चारणयोग्यानि कुर्वन्ति यत, तेन कारणेन स्वरा भवन्त्येते । न हि कापि तै. स्वरैर्विना व्यञ्जनस्य स्वरणम्-अर्थप्रतिपादन दृश्यत । नापि परगमने पिण्डीभूतानि व्यञ्जनानि स्वरैर्विनोच्चारयितु शक्यन्ते,अतो व्यञ्जनस्वरणादप्येते स्वरा उच्यन्त इति भावः । व्यज्यते प्रकटी क्रियते प्रदीपनेव घटादिरर्थोऽनेनेति कृत्वा व्यञ्जनमभिधीयते व्यञ्जनसाहाय्यविरहिता यत केवला स्वरा प्रायो न कदाचिद् वाह्यमर्थ व्यञ्जयन्ति, अप्रणीतव्यञ्जनं हि वाक्य न विवक्षितार्थप्रतिपादनायाऽल दृश्यते, यथा—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि ' इत्यत्र वाक्ये व्यञ्जनापगमे एते स्वरा समवतिष्ठन्ते–'अ-अ-अ-अ-अ-आ-अ-आ-इ-आ-इ' । न चैत विवक्षितमर्थ प्रतिपादयितुं समर्था । अकारेकारादय केवला अपि विष्णुमन्मथादिकमर्थ प्रतिपादयन्तीति प्रायोग्रहणम् । अत्राह–नन्वकारादयो विष्णुप्रभृतीना संज्ञा एव । एव च सति यथा केवलेन स्वरेण संज्ञा, तथा संकेतवशात् केवलेन व्यञ्जनेनाप्यसौ भविष्यति तत्कथ पूर्वगाथायामुक्तम्—'न कयाइवि तेहिँ विणा वंजणं सरइ'इति ? सत्यम् , तत्राऽयमभिप्राय –स्वरै केवलैरपि काचित् काचित् संज्ञा दृश्यते , व्यञ्जनैस्तु सर्वथा तद्राहितैर्न काचित् संज्ञा वक्ष्यत इति । तदेवमक्षर वर्ण इति पर्यायौ सामान्यवर्णवाचकौ, स्वरो व्यञ्जनमित्येतौ तु प्रत्येक वर्णविशेषवाचकाविति।विशे०। सकलजनादेयत्वप्रकृतिगम्भीरतादिगुणाद्यलकृते ध्वनौ , अनु० । विशे० । सूत्र० । स्था० । तं० । रा० । जं० । 'स्वृ' शब्दोपतापयो , स्वरणं स्वर. । ध्वनिविशेषे, अनु० ।

सरा.—

सत्त सरा पण्णत्ता,तं जहा–"सज्जे रिसभे गंधारे, मज्झिमे पंचमे सरे । धेवते चेव णिसाते,सरा सत्त वियाहिता ॥१॥"
एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा–
सज्जं तु अग्गजिब्भाते, उरेण रिसभं सरं ।
कंठुग्गतेण गंधारं, मज्झजिब्भा तु मज्झिमं ॥ २ ॥
णासाए पंचमं बूया, दंतोट्ठेण य धेवतं ।
मुद्धाणेण य णिसातं, सरट्ठाणा वियाहिता ॥ ३ ॥
सत्त सरा जीवनिस्सिता पण्णत्ता, तं जहा–
सज्जं रवति मयूरो, कुक्कुडो रिसहं सरं ।
हंसो णदति गंधारं, मज्झिमं तु गवेलगा ॥४॥
अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं ।
छट्ठं च सारसा कोंचा,णिसायं सत्तमं गता ॥५॥
सत्त सरा अजीवनिस्सिता पण्णत्ता, तं जहा–
सज्जं रवति मुइंगो, गोमुही रिसभं सरं ।
संखो णदति गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी ॥ ६ ॥
चउचलणपतिट्ठाणा, गोहिया पचम सरं ।
आडंबरो रेवतितं, महाभेरी य सत्तमं ॥ ७ ॥
एतेसि णं सत्तसएणं सत्त सरलक्खणा पण्णत्ता,तं जहा–
सज्जेण लभति वित्तिं, कतं च ण विणस्सति ।
गावो मित्ता य पुत्ता य, णारीणं चेव वल्लभो ॥८॥
रिसभेण उ एसज्ज, सेणावच्चं धणाणि य ।
वत्थगन्धमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ॥ ९ ॥
गंधारे गीतजुत्तिण्णा, वज्जवित्ती कलाहिता ।
भवंति कतिणो पन्ना, जे अन्ने सत्थपारगा ॥ १० ॥
मज्झिमस्सरसंपन्ना, भवंति सुहजीविणो ।
खायती पीयती देती, मज्झिम सरमस्सितो ॥ ११ ॥
पंचमस्सरसंपन्ना, भवंति पुढवीपती ।
सूरा संगहकत्तारो, अणेगगणणातगा ॥ १२ ॥
रेवतस्सरसंपन्ना, भवन्ति कलहप्पिया ।
साउणिता वग्गुरिया, सोयरिया मच्छबन्धा य ॥१३ ॥
चंडाला मुट्ठिया सेवा, जे अन्ने पावकम्मिणो ।
गोघातगा य जे चोरा, णिसायं सरमस्सिता ॥१४॥
एतेसिं सत्तण्हं सराणं तओ गामा पण्णत्ता,तं जहा–सज्जगामे मज्झिमगामे गंधारगामे । सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पण्णत्ताओ, त जहा–
मंगी कोरव्वीया, हरी य रयणी य सारकंता य ।
छट्ठी य सारसी णाम, सुद्धसज्जा य सत्तमा ॥ १५ ॥
मज्झिमगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पण्णत्ताओ,त जहा–
उत्तरमंदा रयणी, उत्तरा उत्तरासमा ।

आसोकंता य सोवीरा , अभीरु हवति सत्तमा ॥ १६ ॥
गंधारगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पणत्ताओ तं जहा–
णंदीति खुदिमाँ पूरि--मा य चउत्थी य सुद्धगंधारा।
उत्तरगंधारा तित्त , पंचमिता हवति मुच्छा उ ॥ १७ ॥
सुट्ठुत्तरमायामा, सा छट्ठी णियमसो उ णायव्वा।
अह उत्तरायता को--डिमातसा सत्तमी मुच्छा॥ १८ ॥
सत्त सराओ कओ सं--भवंति ? गेयस्स का भवति जोणी ?
कति समता उस्सासा ?, कति वा गेयस्स आगारा ? ।१६।
सत्त सरा णाभीतो, भवंति गीतं च रू(रु) यजोणीतं।
पादसमा ऊमासा, तिन्नि य गीयस्स आगारा ॥ २० ॥
आइमिउ आरभंता, समुव्वहंता य मज्झगारम्मि।
अवसाणे तज्झ वितो,तिन्नि य गेयस्स आगारा ॥ २१ ॥
छद्दोसे अट्ठगुणे , तिन्नि य वित्ताइं दो य भणितीओ।
जाणाहि ति सो गाहिइ, सुसिक्खिओ रंगमज्झम्मि॥२२॥
भीतं दुतं रहस्सं , गायंतो मा तगाहि एत्तालं।
काकस्सरमणुनासं च होंति गेयस्स छद्दोसा ॥ २३ ॥
पुन्नं१ रत्तं२ चअलं--कियं ३ च वत्तं ४ तहा अविग्घुट्ठं ५।
मधुरं ६ सम७ सुकुमारं८,अट्ठ गुणा होंति गेयस्स ।२४।
उरकंठसिरपसत्थं, त गेज्जते मउरिमिअपदबद्धं।
समतालपडुक्खेवं, सत्त सरसीहरं गीयं ॥ २५ ॥
निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं।
उवणीय सोवयारं च,मियं मधुरमेव य ॥ २६ ॥
सममद्धसमं चेव, सव्वत्थ विसमं च जं।
तिन्नि वित्तप्पयाराइं, चउत्थं नापलब्भती ॥ २७ ॥
सकता पागता चेव, दुहा भणितीउ आहिया।
सरमंडलम्मि गिज्जते , पसत्था इसिभासिता ॥ २८ ॥
केसी गायति मधुरं , केसी गायति खरं च रुक्खं च।
केसी गायति चउरं , केसि विलंब दुतं केसी ॥ २९ ॥
विस्सरं पुण केरिसि ? ।
सामा गायइ मधुरं , काली गायइ खरं च रुक्खं ज।
गोरी गायति चउरं, काण विलंबं दुतं अंधा ॥ ३० ॥
विस्सरं पुण पिंगला।
तंतिसम तालसमं , पादसमं लयसमं गहसमं च।
नीससिऊससियसमं, संचारसमा सरा सत्त ॥ ३१ ॥
सत्त सरा य ततो गामा, मुच्छणा एकवीसती।
ताणा एगूणपण्णासा , सम्मत्तं सरमंडलं ॥ ३२ ॥
(सू० ५५३) इति सरमंडलं समत्तं ॥

सुगमं चेद , नवर स्वरणानि स्वरा --शब्दविशेषा , ' सज्जे ' त्यादि श्लोका , पड्भ्यो जात षड्ज , उक्त हि- "नासा कण्ठमुरस्तालु . जिह्वा दन्ताश्च संश्रित' । पड्भि. सञ्जायते यस्मा--त्तस्मात् षड्ज इति स्मृत. ॥ १ ॥" तथा ऋषभो--वृषभस्तद्वद् यो वर्त्तते स ऋषभ इति । आह च--" वायु. समुत्थितो नाभे , कण्ठशीर्षसमाहत', नर्दत्यृषभवद् यस्मात् , तस्मादृषभ उच्यते ॥ १ ॥ " तथा गन्धो विद्यते यत्र स गन्धार. स- एव गान्धारो , गन्धवाहविशेष इत्यर्थ । अभाणि हि--" वायु समुत्थितो नाभे . कण्ठशीर्षसमाहत । नानागन्धावह पुण्यो, गान्धारस्तेन हेतुना ॥ १ ॥ " तथा मध्ये कायस्य भवो मध्यम , यदवाचि--" वायु समुत्थितो नाभे-रुरोहृदि समाहत । नाभि प्राप्तो महानादो . मध्यमत्व समश्नुत ॥ १ ॥ " तथा पञ्चानां षड्जादिस्वराणां निर्देशक्रममाश्रित्य पूरण पञ्चम । अथवा--पञ्चसु नाभ्यादिस्थानेषु मातीति-पञ्चम स्वर. , यदभ्यधायि--' वायु समुत्थितो नाभे--रु (हृत्)कण्ठशिरोहत । पञ्चस्थानोत्थितस्याऽस्य, पञ्चमत्व विधीयते ॥ १ ॥ तथा अभिसन्धयते--अनुसन्धयति शेषस्वरानिति निरुक्तिवशाद् धैवत. , यदुक्तम्-" अभिसन्धयते यस्मा-देतान् पूर्वोत्थितान् स्वरान् । तस्मादस्य स्वरस्यापि , धैवतत्व विधीयते ॥ १ ॥ " पाठान्तरेण रैवतश्चेवेति . तथा निपीदन्ति स्वरा यस्मिन् स निपाद . यतोऽभिहितम्--" निषीदन्ति स्वरा यस्मान्निषादस्तेन हेतुना । सर्वांश्चाभिभवत्येष , यदादित्योऽस्य दैवतम् ॥ १ ॥ " इति, तदेव स्वरा सप्त ' वियाहिय ' त्ति--व्याख्याता' । ननु कार्य हि कारणायत्त जिह्वा च स्वराणां कारणं सा चासंख्येयरूपा तत कथ स्वराणा संख्यातत्वमिति , उच्यते--असख्याता अपि विशेषत. स्वराः सामान्यत सर्वेऽपि सप्तस्वन्तर्भवन्ति । अथवा--स्थूलस्वरान् गीत--चाऽऽश्रित्य सप्त उक्ता , आह च-"कज्ज करणायत्त, जीहा य सरस्स ता असखेज्जा । सरसखमसंखेज्जा, करणस्सारूवयत्ताओ ॥१॥ सत्त य सुत्तनिवद्धा, कह न विरोहो ? तओ गुरू आह । सत्तणुवाई सव्वे, वायरगहण च गेय वा ॥ २ ॥ " इति । स्वरान्नामतोऽभिधाय कारणतस्तन्निरूपणायोपक्रमते--"पएसि ण' मित्यादि , तत्र नाभिसमुत्थ. स्वरोऽविकारी आभोगेन अनाभोगेन वा य प्रदेशं प्राप्य विशेषमासादयति तत्स्वरस्योपकारकमिति स्वरस्थानमुच्यते , 'सज्जं' मित्यादि श्लोकद्वयं ब्रूयादिति सर्वत्र क्रिया, षड्जं तु प्रथमस्वरमेव अग्रभूता जिह्वा अग्रजिह्वा जिह्वाग्रमित्यर्थ' , तथा यद्यपि षड्जभणने स्थानान्तराण्यपि व्याप्रियन्ते अग्रजिह्वा वा स्वरान्तरेषु व्याप्रियते तथापि सा तत्र बहुतरव्यापारवतीति कृत्वा तया तमेव ब्रूयादित्यभिहितम् , उरो--वक्षस्तेन ऋषभस्वरं, ' कंठुग्गएण ' त्ति--कण्ठश्चासावुग्रकश्च--उत्कट कण्ठोग्रकस्तेन कण्ठस्य चोग्रत्व यत्तेन कण्ठोग्रत्वेन कण्ठाद्वा यदुद्गतम्--उद्गति. स्वरोद्गमलक्षणा क्रिया तेन कण्ठोद्गतेन गन्धार, जिह्वाया मध्यो भागो मध्यजिह्वा तया मध्यमं, तथा दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठ तेन धैवत रैवतं चेति । 'जीवनिस्सिय' त्ति--जीवाश्रिता जीवेभ्यो वा नि.सृता--निर्गता' , 'सज्जं' मित्यादि श्लोक. , 'नदति--रौति 'गवेलग' त्ति--गावश्च एलकाश्च--ऊरणका गवेलका , अथवा--गवेलका ऊरणका एव इति. 'अह कुसुम' इत्यादिरूपकं गाथाभिधानम् , "विपमाक्षरपादं वा, पादैरसम दशधं-

मेयम् । तन्त्रेऽस्मिन् गद्यमिर्क्त, गायति तत्र पञ्चसंमम ॥ १ ॥" इति वचनात्, 'अवि' त्ति—विशेषार्थः, विशेषार्थेना चैवम्—यथा मयूरा स्वभावेन सततं षड्ज स्वरं नदन्ति न तथा कोकिला पञ्चमम्, अपि तु कुसुमसम्भवे का ल इति, कुसुमकाला वासन्तिका पञ्चमं स्वरं गायन्ति न तथा तत्र, सर्वत्रेत्यर्थः । 'अजीवनिस्सिय' त्ति—तदेव नवरं जीवनिश्रितास्तु स्वराः । 'सज्ज' मित्यादि श्लोकः, मृदङ्गो-मर्दलः, गोमुखी—काहला सा गोमुखाकारा मुखे गो-श्रृङ्गमस्याः क्रियत इति, 'चउ' इत्यादि श्लोकः चतु-र्भिश्चरणैः प्रतिष्ठाने भुवि यस्याः सा तथा, गौर्गा च भव-त्यवसेयेति गोधिका वाद्यविशेषो दर्दरिकानामकोऽपि आ-डम्बर -पटह समस्तीमांसनिषाद । 'एएसि' णं 'मित्यादि, 'सत्त' त्ति—स्वरमण्डलस्य स्वरलक्षणानि यथा स्व फल प्रति आणवादिसनाविष्ट स्वरस्थानानि भवन्ति, तान्येव फलत आह—'सज्जेणं' त्यादि श्लोकाः सप्त, षड्-जेन लभते वृत्तिम्' अयमर्थः—षड्जस्वरेण गायन्—स्वरकरणं यत्र येन वृत्तिं—जीवन लभते पुरुषस्तन्न चरणं प्राणिनां, एतच्च मनुष्यादपेक्षया लभ्यते, मनुष्याणामेवासुखमेति, कृतं च न विनश्यति तस्येति शेषः निःपन्नापीयसा न भव-तीत्यर्थः, गावो मित्राणि च पुत्राश्च भवन्तीति शेषः ।

षड्जं' ति—ऐश्वर्यं मन्त्रादि गीतयुक्तिज्ञः पर्यन्तरूप—प्रधानजीविका कलानिर्मिता अपि च—सारस्वतानि शाला —मद्दोषा, ये च उक्ताः गीतयुक्तिज्ञाः स्त्रीऽस्य-शास्त्रपारगा -मनुष्यैर्दारिद्र्यमानितस्ते भवन्ति, शकुनैश्च-श्येनलक्षणेन चरन्ति—पापर्द्धिं कुर्वन्ति शकुनान् वा घ्नन्ति, शाकुनिका, वागुरा—मृगबन्धन तया चरन्तीति वागु-रिका, शूकरैः शूकरवधार्थं चरन्तीति शूकरान् वा घ्नन्तीति शौकरिका, मौष्टिका मल्ला इति, 'एएसि' मित्यादि, तत्र व्याख्यानगाथा—' सज्जाइ तिहा गामा, ससमुच्छा मुच्छनाउ विन्नेया । ता सत्त एक्कमेक्के, तो सत्त सराण इगवीसा ॥ १ ॥ अन्नवसरारोवणेणं, उत्तायतरम मुच्छणा भणिया । कत्ता व मुच्छिउ व्व इय, वन्नई मुच्छा य सा य ति ॥ २ ॥' कर्त्ता वा मूर्च्छित इव करोति, मूर्च्छितेव वा म करोतीत्यर्थः, इह च मङ्गीप्रभृतीनामेकविंशतिमूर्च्छनाना स्वर-विशेषाः पूर्वगते स्वरप्राभृते भणिताः, अधुना तु तद्विनिर्ग-तेभ्यो भरतवैशाखिलादिशास्त्रेभ्यो विज्ञेया इति । 'सत्त स रा कओ' गाहा, इह स्वराः प्रश्ना, तत्र पुन इति स्थानात् का योनिरिति का जाति तथा कति समया यत्र ते कतिस मया, उच्छ्वासाः किंपरिमाणकाला इत्यर्थः, तथाऽऽकाराः आकृतय स्वरूपाणीत्यर्थः, 'सत्तसरा' गाहा प्रश्ननिर्वचना-र्था स्पष्टा, नवरं रुदितं योनि -जाति: समानरूपतया यस्य तद् रुदितयोनिकं, पादसमया उच्छ्वासा यावद्भिः समयै पादो वृत्तस्य नीयते तावत्समया उच्छ्वासा गीते भवन्तीत्य र्थः । आकारानाह- 'आई' गाहा आदौ-प्रारम्भे मृदु कोम-लमादिमृदु गीतमिति गम्यते, आरभमाणा ,इह समुदितप्र-योगैर्द वहुवचनमन्यथा एक एव आकारो द्वयमन्यद् बहव-माणलक्षणमिति, तथा समुद्वहन्तश्च महता गीतध्वनेरिति गम्यते,मध्यकारं-मध्यभागे, तथा अवसाने च क्षपयन्तो गी-तध्वनिं मन्द्रीकुर्वन्तस्त्रयो गीतस्याकारा भवन्ति,आदिमध्या

वसानेषु गीतस्यैव मृदुनामन्द्रकरणात् क्रमेण भवतीति भाव । किं चान्यत्—'छद्दोस' इत्यादि, षड् दोषा वर्जनी-या , तानाह-'भीयं' गाहा भीत-उत्त्रासमानम् १ द्रुत-त्वरि-तं २ 'रहस्सं' ति—ह्रस्वस्वरं लघुशब्दमित्यर्थः, शास्त्रान्तरे 'उप्पिच्छं' श्वासयुक्तं त्वरितं चेति उत्तालम्-उत्प्राबल्यार्थे ३ र्थो तालमस्थानतालं वा, तालस्तु कंसिकादिशब्दविशेष इति ४ । काकस्वरं—श्लक्ष्णाश्रव्यस्वरम् अनुनासं च—सानु-नासिकं नासिकाकृतस्वरमित्यर्थः., किमित्याह—गायन् गा-यमानस्य इत्यादि ! मा गासीः , किमिति ?, यत एते गेय-स्य षड् दोषा इति । अष्टौ गुणानाह—" पुण्णं " गाहा—पूर्णं स्वरकलाभिः १ रक्त गेयरागानुरक्तस्य २ अलङ्कृत-मन्यान्यस्फुटशुभस्वरविशेषकरणात् ३ व्यक्त-मक्षरस्वरस्फुटकरणात् ४ 'अविघुट्ठ' विक्रोशनमिव यन्न भवति ५ मधुर—मधुरस्वरं कोकिलारुतवत् ६ सम—तालवंशस्वराद्यनुगतं ७ सुकुमार ललितं ललतीव यत् स्वरघोलनाप्रकारेण श्रोत्रेन्द्रियस्य सुखो-त्पादनादिति ८, एभिरष्टाभिर्गुणैर्युक्तं गेयं भवति । अन्यथा विडम्बना । किं चान्यत्—'उर' गाहा-उरःकण्ठशिरःसु प्र शस्त-विशुद्धम् , अयमर्थो-यद्युरसि स्वरो विशालस्तत उरो विशुद्ध , कण्ठे यदि स्वरो वर्तितोऽस्फुटितश्च तत क-ण्ठविशुद्ध , शिरसि प्राप्तो यदि नानुनासिकस्ततः शिरो-विशुद्धम् , अथवा—उर कण्ठ शिर. सु श्लेष्मणा अ-व्याकुलेषु विशुद्धेषु—प्रशस्तेषु यद्गीयते. चकारो गेय-गुणान्तरसमुच्चये, गीयते-उच्चार्यते गेयमिति सम्बन्ध-ते , किं विशिष्टमित्याह १-मृदुकं-मधुरस्वरं रिभितं-यत्रा-क्षरेषु घोलनया सञ्चरन् स्वरो रङ्गतीव घोलनाबहु-लमित्यर्थः, पदबद्ध—गेयपदैर्निबद्धमिति , पद्त्रयस्य कर्म-धारय , 'समतालपदुत्क्षेप' ति—समशब्दः प्रत्येकं सं-बध्यते तेन समास्ताला-हस्ततालाः उपचारात् तच्छब्दो यस्मिंस्तत्समतालं, तथा सम प्रत्युत्क्षेप प्रतिक्षेपो वा—मुरजादिकातोद्यानां यो ध्वनिस्तत्सम मृदुत्पादवे-पत्पादो वा यस्मिंस्तत्समप्रत्युत्क्षेप समप्रतिक्षेप चेति, तथा-' सत्तसरसीभरं ' ति—सप्तस्वराः ' सीभर ' ति-अ-क्षरादिभिः समा यत्र तत् सप्तस्वरसीभरं, ते चामी-' अ-क्खरसमं १ पयसमं २ तालसमं ३ लयसमं ४ गहसमं च ५ नीससियं ऊससियसमं ६ सञ्चारसमं ७ सरा सत्त ॥१॥" त्ति, इयं च गाथा स्वरप्रकरणोपान्ते ' ततिसमं ' मित्यादिरधीताऽपि इहाक्षरसममित्यादि व्याख्यायते, अनुयोगद्वारटीकायामेव यत्र दीर्घमक्षरं दीर्घं स्वरं क्रियते, मेव दर्शनादिति , तत्र दीर्घे अक्षरे दीर्घं स्वरं क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्वं ,प्लुते प्लुतं ,सानुनासिके सानुनासिकं तदक्षरस-मम , तथा यद्गेयपद—नामिकादिकमन्यतरबन्धेन बद्धं यत्र स्वरं अनुपाति भवति तत्तत्रैव यत्र गीते गीयते तत्पदसममि-ति , यत्परस्पराहतहस्ततालस्वरानुवर्ति भवति तत्तालस-म, शृङ्गदार्वाद्यन्यतरमयेनाङ्गुलिकोशकेनाहतायास्तन्त्र्या स्व-रप्रकारो लयस्तमनुसरतो गातुर्यद्गेय तल्लयसम, प्रथमतो वंशतन्त्र्यादिभिर्य स्वरो गृहीतस्तत्सम गीयमानं ग्रहस-म निःश्वसितोच्छ्वसितमानमनतिक्रामतो यद्गेयं तन्निःश्वसितोच्छ्वसितसम , तथैव वंशतन्त्र्यादिभिर्यदङ्गुलिसञ्चारस-मं गीयते तत्सञ्चारसमं , गेय च सप्त स्वरास्तदात्मकमिक्ष-

र्थः। यो गेये सूत्रबन्धः स एवमष्टगुण एव कार्य इत्याह- ' निद्दोसं सिलोगो'—तत्र निर्दोषम्—"अलियमुवघायजणयं" इत्यादि द्वात्रिंशत्सूत्रदोषरहित १ सारवद् अर्थेन युक्तं हेतुयुक्तम् अर्थगमककारणयुक्तम् ३ अलङ्कृतं—काव्यालङ्कारयुक्तम् ४ उपनीतम्—उपसंहारयुक्त ५ सोपचारम्-अनिष्ठुरा-विरुद्धा लज्जनीयाभिधानं सोत्प्रास वा ६ मितं पदपादाक्षरैः नापरिमितमित्यर्थः ७ मधुरं त्रिधाशब्दार्थाभिधानतो ८ गेयं भवतीति शेष.। ' तिन्नि य वित्ताइं ' ति—यदुक्तं तद्व्याख्या—' समं ' सिलोगो, तत्र—समं पादैरक्षरैश्च , तत्र पादैश्चतुर्भिरक्षरैस्तु—गुरुलघुभिः अर्द्धसमं त्वेकतरसमं, विषम तु सर्वत्र पादाक्षरापेक्षयेत्यर्थः, अन्य तु व्याचक्षते—समं—यत्र चतुर्ष्वपि पादेषु समान्यक्षराणि . अर्द्धसम यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च समत्व, तथा सर्वत्र—सर्वपादेषु विषमं च-विषमाक्षरं—यद् यस्माद् वृत्त भवति तनस्त्रीणि वृत्तप्रजातानि—पद्यप्रकारा , अत एव चतुर्थ नापलभ्यन इति। दोन्नि य भणिइओ ' त्ति—अस्य व्याख्या-' सक्कया ' सिलोगो , भणितिः—भाषा ' आहिया '-आख्याता स्वरमण्डले-षड्जादिस्वरसमूहे, शेष कण्ठ्यम् । कीदृशी स्त्री कीदृश गायतीति प्रश्नमाह—' केसी ' गाहा— ' केसि ' त्ति-कीदृशी ' खरं ' ति—स्वरस्थानं रूक्ष—प्रसिद्ध चतुर-दक्ष विलम्ब-परिमन्थरं द्रुत-शीघ्रमिति, विस्सरं पुण ' केरिसि ' त्ति-गाथाधिकामिति , उत्तरमाह- ' सामा ' गाहा कण्ठ्या , ' पिंगल ' त्ति—कपिला , ' तंति ' गाहा तन्त्रीसमं-वीणादितन्त्रीशब्देन तुल्यं मिलितं च, शेषं प्राग्वत् , नवरं पादो—वृत्तपादः , तन्त्रीसममित्यादिषु गेय सम्बन्धनीयं तथा गेयस्य स्वरानर्थान्तरत्वादुक्तम् ' संचारसमा सरा सत्त ' त्ति—अन्यथा सञ्चारसममिति वाच्य स्यात् , 'तंतिसमा तालसमे' त्यादि योत, अयं च स्वरमण्डलसङ्क्षेपार्थ , 'सत्त सरा' सिलागो, तता तन्त्री तानो भण्यते, तत्र षड्जादि· स्वरः प्रत्येक सप्तभिस्तानैर्गीयत इत्येवमेकोनपञ्चाशत्ताना· सप्ततन्त्रिकाया वीणाया भवन्तीति,एवमेकतन्त्रीकाया त्रितन्त्रिकाया च कण्ठेनापि गीयमाना एकोनपञ्चाशदेवेति । स्था० ७ ठा० ३ उ० । उत्त० । आ० म० । प्रव० । जी० । तं० । प्रज्ञा० । जीवाजीवविनस्वरस्वरूपफलाभिधायके शास्त्रे, नपु० । स० ३१ सम० ।

स्मर–पुं०। "पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मा म्हः" ॥८।२।७४॥ इति क्वाचित्कत्वादत्र न । स्मर । सरो ।प्रा०।"अधो म-न-याम्" ॥८।२।७८॥ इति मलोप । प्रा० । कन्दर्पे , अष्ट० २२ अष्ट० । सृ–धा० । गतौ, "ऋवर्णस्यार. " ॥८।४।२३४॥ इति सृधातो ऋवर्णस्यार. । सरइ । प्रा० ४ पाद ।

स्मृ–धा० । आध्याने, " स्मरः झूर भूर० " ॥ ८।४। ७४ ॥ इत्यस्य पक्षे । सरइ । स्मरसि । प्रा० ४ पाद ।

सरअ–पुं०स्त्री०।शरद्–स्त्री०। "शरदादेरत्" ॥८।१।१८॥ इति अन्त्यव्यञ्जनस्य अत् । प्रा० । " प्रावृट्-शरत्तरणय. पुंसि " ॥ ८ । १ । ३१ ॥ इति वा पुंस्त्वम् । आश्विनकार्तिकमासात्मके ऋतौ, प्रा० १ पाद ।

सरउ–सरयु–स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणस्यां भारते वर्षे गङ्गासङ्गतायां महानद्याम् । स्था० १० ठा० ३ उ० । या अयोध्यायाः सन्निकटे वहति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सरक्ख–सरजस्क–त्रि० । सक्षारे, बृ० ३ उ० । रजसोपगुण्ठिते, उत्त० १७ अ० । सभस्मनि, ओघ० ।

सरक्ख–त्रि० । रक्षा-भस्म, सह रक्षया वर्तत इति सरक्षम् । सभस्मनि , पिं० । आ० म० ।

सरक्खधूलि–सरक्षधूलि–स्त्री० । सह रजसा श्लक्ष्णधूलिरूपेण वर्त्तत इति सरजस्का,सा चासौ धूलिश्चेति । रजःसहितधूलौ,

सरक्खामोस–सरजस्कामर्श–पुं० । सह पृथिव्यादिरजसा युक्त यद्वस्तु तस्य आमर्श·-तत्संस्पर्शः । रजोयुक्तवस्तुस्पर्शे , आव० ४ अ० ।

सरग–शरक–पुं०। अग्निनिर्मन्थनदारुणि, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ० । शरिकाभि कृते शूर्पादौ, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०११ उ० ।

सरगय–स्वरगत–न०। गीतमूलभूतानां षड्जऋषभादिस्वराणां ज्ञाने, ज० २ वक्ष० । ज्ञा० । स० ।

सरघ–सरघ–पुं० । मधुमक्षिकायाम् , सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

सरट्ठाण–स्वरस्थान–न० । नाभिसमुत्थस्वरोऽधिकारी आभोगेन अनाभोगेन वा यं प्रदेशं प्राप्य विशेषमासादयति तत् स्वरस्योपकारकमिति स्वरस्थानम् । स्वराणां विशेषापादके स्थाने, स्था० ८ ठा० ३ उ० । अनु० । "नासाए पंचम बूया, दतोट्ठेण य धेवयं । मुद्धाणेण य णेसायं , सरट्ठाणा वियाहिया " (इतीयं ' सर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्याता ।)

सरड–शरट–पुं० । कृकलासे, ओघ० । प्रज्ञा० । आ० क० । प्रश्न० । 'सरडकयमालियाए' शरटैः कृकलासैः कृता माला स्रग् मुण्डे वक्षसि वा येन तत्तथा । उपा० २ अ० ।

सरडुअ–सरडुक–न० । अबद्धास्थिके फले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । बृ० ।

सरडुफल- सरडुफल–न० । अबद्धास्थिकफले, ध० २ अधि० । आचा० । नि० । चू० ।

सरण–शरण–न० । आश्रये,३ त०१ अ० । रागादिपरिभूताश्रितसत्त्ववात्सल्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० । तं० । प्रश्न० । नानाविधोपद्रवोपद्रुतानां रक्षास्थाने, त्राणे , भ० १ श० १ उ० । कल्प० । प्रश्न०। सूत्र० । संसारकान्तारगतानामतिप्रबलरागादिपीडितानां समाश्वासनस्थानकल्पे तत्त्वचिन्तारूपेऽध्यवसाने , रा०। आचा० । "जन्मजरामरणभयैरभिभूते व्याधिवेदनाग्रस्ते। जिनवरवचनादन्य-न्नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥१॥" स्था० ४ ठा० १ उ० । जी० । तृणमयवासरिकादौ, अनु० । भ० । प्रश्न० । गृहे, आचा०१ श्रु० ५ अ०५ उ० । सूत्र० ।

सरण–न० । गमने, उत्त० १६ अ० । आचा० ।

स्मरण–न० । पूर्वोपलब्धार्थानुस्मृतौ , द्वा० १६ अष्ट० । सूत्र० । मनसि धारणे, पञ्चा० १ विव० । ज्ञा० ।

सरणद–शरणद–पुं० । शरणं त्राणमज्ञानोपद्रवोपद्रुतानां तद्रक्षा-स्थानं तच्च परमार्थतो निर्वाणं तद्ददातीति शरणदः ।

तीर्थकृति , स० १ सम० । रा० । भ० । जी० । ध० । 'शरण-देभ्य ' इह शरणं-भयार्त्तत्राणं तच्च संसारकान्तारगताना-मतिप्रबलरागादिपीडिताना दुःखपरम्परासंक्लेशविच्छोभन समाश्वासनस्थानकल्प तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानम् , विविदिषेत्यन्ये , अस्मिंश्च सति तत्त्वगोचराः शुश्रूषाश्रवण-ग्रहणधारणाविज्ञानेहापोहतत्त्वाभिनिवेशा प्रज्ञागुणा भवन्ति, तत्त्वचिन्तामन्तरेण तेषामभावात् । संभवन्ति तामन्तरेणापि तदाभासा न पुन । स्वार्थसाधकत्वेन भावसारा । तत्त्वचिन्तारूपं च शरण भगवद्भ्य एव भवतीति शरण ददतीति शरणदा । ध० २ अधि० ।

सरणिज्ज–स्मरणीय–त्रि० । क्षुद्रोपद्रवविद्रावणादिकृते तद्गुणानुचिन्तनादिनोपबृंहणीये , सथा० १ अधि० १ प्रस्ता० । आ० म० ।

सरणी–सरणी–स्त्री० । मार्गे, " पथो मग्गो सरणी " पाई० ना० ५२ गाथा ।

सरण्ण–शरण्य–त्रि० । शरणे साधु शरण्यः । शरणदातरि , ध० ३ अधि० ।

सरतल–सरस्तल–न० । पानीयेन भृत तडाग सरस्तस्य तलम्-उपरितनोभाग सरस्तलम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । उपरिभागावच्छिन्ने सरसि, भ० ६ श० ७ उ० । ' पुक्खरेइ वा सरतलेइ वा करतलेइ वेति " वृत्तवर्णक । अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति निर्वात जलपूर्णं सरो ग्राह्यमन्यथा वातोद्धूयमानो वा जलत्वेन विवक्षित-समभावो न स्यादित्यर्थ । ज० १ वक्ष० । रा० ।

सरद–पु० ।–शरद–स्त्री० । प्राकृते पुंस्त्वम् । कार्तिकमार्गशीर्षयो , भ० ७ श० ३ उ० । अनु० । ज्ञा० । आश्विनकार्तिक-मासात्मके ऋतौ, वाच० । प्रावृ० । ८ । १ । ३१ । प्रा०१ पाद ।

सरदहतलायसोसणया–सरोहृदतडागशोषणता–स्त्री० । सरस –स्वय रूम्भूतजलाशयविशेषस्य ह्रदस्य-नद्यादिषु निम्नतरप्रदेशलक्षणस्य तडागस्य-कृत्रिमजलाशयविशेषस्य परिशोषणं यत्तत्तथा तदेव प्राकृतत्वात् स्वार्थिकताप्रत्यये सरोहृदतडागपरिशोषणता । आ० । उपा० । भ० । गोधूमादिवापनार्थ सरआदिशोषणरूपं कर्मणि उपभोगपरिभोगवततातिचारलक्षणे कर्मादाने, आव० ६ अ० । ध० । सरस. शोप सर शोष. धान्यादिवपनार्थं सारणीकर्षणं, सरोग्रहणं जलाशयान्तराणामुपलक्षण तेन सिन्धुहृदतडागादिपरिग्रह । यत सर शोप. सर.सिन्धुहृदादेरप्युर्भूपप्लवस्तत्र अखात सर , खात तु तडागमित्यनयोर्भेद । इह हि जलस्य तद्गताना त्रसाना तत्प्लाविताना च षण्णा जीवनिकायाना वध इति दोष । ध० २ अधि० । पञ्चा० । ध० र० ।

सरपंति–सरःपङ्क्ति–स्त्री० । एकपङ्क्त्या व्यवस्थितेषु बहुषु सर सु, रा० । आचा० । भ० । प्रज्ञा० । सरसा पद्धतौ, न० । यत्रैकस्मात् सरसोऽन्यस्मिन् अन्यस्मादन्यत्र संचारकपाटकेनोदक सचरति सा सर पङ्क्ति । प्रश्न० ५ संव० द्वार । नि० चू० । जी० । ज० । अनु० । स्था० । ज्ञा० ।

सरपणी–शरपर्णी–स्त्री० । मुञ्जे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सरपाय–शरपात–पुं० । शरा–इषव पात्यन्ते–क्षिप्यन्ते येन इति शरपात । धनुषि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सरपाहुड–स्वरप्राभृत–न० । पूर्वगते स्वराधिकारप्रतिपादकेऽधिकारविशेषे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सरप्पमाण–सरःप्रमाण–न० । सर एवोक्तलक्षण प्रमाण महाकल्पादेर्मान सर प्रमाणम् । गोशालकमतप्रसिद्धे कालमात्रभेदे, भ० १५ श० । (' गोसालग ' शब्दे तृतीयभागे १०२३ पृष्ठे वक्ष्यतेऽस्य ।)

सरभ–शरभ–पु० । परासरेति पर्याये अष्टापदे महाकायाटव्यपशुविशेषे, यो हस्तिनमपि पृष्ठे समारोपयति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रा० । जं० । प्रज्ञ० । कल्प० । भ० । ज्ञा० । व्य० ।

सरभस–सरभस–त्रि० । सहर्षे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

सरमंडल–स्वरमण्डल–न० । षड्जादिस्वरसमूहे, अनु० । स्था० । (सर' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽस्य स्वरूपं गतम् ।)

सरमह–सरोमह–पुं० । विशिष्टे काले सरस. पूजायाम् ,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

सरमाण–स्मरत्–त्रि० । अयमीदृश इति जानाने, व्य०४ उ० । आचा० ।

सरय–सरक–पु० । गुडधातकीसिद्धे मद्ये, प्रश्न०५ संव०द्वार ।

शरक–पु० । निर्मन्थनकाष्ठे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० ।

शरद–स्त्री० । कार्तिकमार्गशीर्षयो , ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । ज्यो० । भ० । स्था० । सू० प्र० । सरयरयणीकरसोमवयणा ' कल्प० ९ अधि० ३ क्षण ।

सररुह–सरोरुह–न० । " ओतोऽद् वाऽन्योन्यप्रकोष्ठातोद्यशिरोवेदनामनोहरसरोरुहे क्तोश्च व ॥८।१।१५६॥ इति ओतोऽत्व वा । सररुह सरोरुह । कमले प्रा० १ पाद ।

सरल–सरल–त्रि० । देवदारुवृक्षे, ज० २ वक्ष० । आचा० ' प्रज्ञा० । भ० । अवक्रे, आ० क० १ अ० । " सरलास्तत्र छिद्यन्ते, कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपा । " ध० र० २ अधि० ।

सरलक्खण–स्वरलक्षण–न० । यथास्वरफल प्रति प्रापणाव्यभिचारिणि स्वरस्वरूपे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । (तानि च सप्त 'सर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितानि ।)

सरवण–शरवन–न० । स्वनामख्याते शरप्रधाने सन्निवेशे यत्र गोबहुलस्य ब्राह्मणस्य गोशालाया गोशालको जन्म लेभे । भ० १५ श० । सथा० । आ० म० । आ० चू० । स्था० ।

सरवत्त–शरपत्र–न० । बृहदिषिकायाम् , आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सरवर–सरोवर–न० । महति सरसि, "सरिहिं न सरवरेहिं न वि उज्जाणवणेहिं, " प्रा० ढु० ४ पाद ।

सरविजय–स्वरविजय–पुं० । स्वर पाटकीशियादीकृतरूपस्तस्य विजयस्तत्सम्बन्धी शुभाशुभनिरूपणाभ्याम । सर्गच्छायाम् . यथा–" गतिस्तारास्वरो वाम., पादक्या शुभद स्मृत । विपरीत प्रदेशे तु,स च्याभीष्टदायक ॥१॥ ' इत्यादि, तथा "दुर्गास्वरत्रय स्यात् ,ज्ञानवच्च शाकुनेन नैपुण्यात् । चलितविलशब्द सकल , सुमध्यमा वर्त्तते विफल ॥१॥" इत्यादि । 'अ,२स्स विजयं जो विउआहि न जीवइ से भिक्खू ।' उत्त०१५ अ० । आव० ।

सरएव-शरण्य-त्रि० । शरणदेये, द्वा० २७ द्वा०। उत्त०। औ०।

सरस-सरस-त्रि० । रुधिरादियुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। रा०। रसोपेते, स०। रक्तचन्दनविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। "सरसचंदणाणुलित्तगत्ते," सरसेन सुरभिणा च गोशीर्षचन्दनेन च अनुलिप्तं गात्रं यस्य स तथा । कल्प० १ अधि० ३ क्षण। सद्यस्के, कल्प० १ अधि० १ क्षण। आव०। 'सरसरुहिरमंसावलित्तगत्ते' सरसाभ्या रुधिरमांसाभ्याम-वलिप्तं गात्रं यस्य तत्तथा। उत्त० २० अ०।

सरसंचित-शरसञ्चित-त्रि०। शरजालसंचिते, शरशताकुले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

सरसपारिजायग-सरसपारिजातक-न०। अम्लानसुरद्रुमविशेषकुसुमे, अन्त० १ श्रु० २ वर्ग ८ अ०।

सरसय-शरशत-त्रि० । शराणां शतं प्रत्येकं येषु ते शर शतानि। प्रत्येक शराणां शतेन परिपूर्णेषु, रा०। ' सरसयबत्तीसतोरणपरिमंडिया ' शराणां शतं प्रत्येक येषु तानि शरशतानि तानि च तानि द्वात्रिंशत्तोरणानि च वाणाश्रया-शरशतद्वात्रिंशत्तोरणानि तैर्मण्डिता शरशतद्वात्रिंशत्तो-रणमण्डिता । जी० ३ प्रति० ४ अधि०। भ०।

सरसर-सरसर-पु० । सर्पगतेरनुकरणे, भ० १५ श०। ज्ञा०। लौकिकानुकरणभाषायाम्, उपा० २ अ०।

सरसरपंति-सरःसरःपङ्क्ति-स्त्री० । परस्परं संलग्नेषु बहुषु सरस्सु, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ०। येषु सरस्सु पङ्क्त्या व्यवस्थितेषु एकस्मात् सरसोऽन्यस्मिन् तस्मादन्यत्रैवं सचारकपाटकेनोदकं सञ्चरति । जं०१ वक्ष०। जी०। नि० चू०। प्रज्ञा०। अनु०। भ०।

सरसी-सरसी-स्त्री०। महति सरसि, औ०। महान्ति सरांसि सरसीत्युच्यते । औ०। पिं०। " पुक्खरिणी दीहिया सरसी " पाइ० ना० १३० गाथा।

सरस्सई-सरस्वती-स्त्री०। भद्रनन्दीकुमारमातरि, ऋषभपुरनगरराजस्य धनवाहस्य भार्यायाम्, विपा० २ श्रु० २ अ०। भारत्याम्, कौ०। भगिन्यौ, उपा० २ अ०। दश०। " यस्याः संस्मृतिमात्राद्, भवन्ति मनयः सुदृष्टपरमार्थाः। वाचश्च बोधविकला, सा जयतु सरस्वती देवी ॥१॥" पो० १ विव०। स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०। " सव्वसुयसमुद्दमती, वामकरे गहियपोत्थया देवी । जक्खकुडुंडीसहिया, देतु अविग्घ मम नाणं।" पं० भा० ५ कल्प । गीतरतेर्नामिगन्धर्वेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, " नम. श्रीवर्द्धमानाय, श्रीपार्श्वप्रभवे नम । नम. श्रीमत्सरस्वत्यै, सहायेभ्यो नमो नम. "। ॥१॥ ज्ञा० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ०। स्वनामख्याते नदीभेदे, ती० २५ कल्प।

सरस्सईकंठाभरण-सरस्वतीकण्ठाभरण-न०। विंशतिव्याकरणेष्वन्यतमे व्याकरणे, कल्प०१ अधि०१ क्षण। इन्द्रभूतिसहगते विदुषि, पुं०। कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

सरस्सईलद्धप्पसाय-सरस्वतीलब्धप्रसाद-पुं०। इन्द्रभूतिसहगते पण्डिते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

सरसोस-सरःशोष-पुं० । जलाश्रयशोषणे, ध० २ अधि०। ('सरदहतलावसोसणया' शब्दे इहैव व्याख्यातम्।)

सरहस्स-सरहस्य-त्रि०। रहस्ययुक्ते, ' सरहस्साणं वेयाणं ' कल्प० १ अधि० १ क्षण।

सरहा-सरघा-स्त्री०। मधुमक्षिकायाम्, "अल्पमधमं परार्थ्या, क्रूरं सरघा नटीश्च षट् क्षुद्रान्।" इति। स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सरहि-शरधि-पुं०। तूणीरे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

सराग-सराग-पुं०। सह रागेणाभिष्वङ्गलक्षणेन यः स सरागः। स्था० ८ ठा० ३ उ०। अनुपशान्तक्षीणमोहे, स्था० १० ठा० ३ उ०। मायालोभलक्षणेन रागेण सहिते, भ० १७ श० २ उ०। अपरिपाकप्राप्तयोगे ध० २ अधि०। सूत्र०।

सरागत्थ-सरागस्थ-पु० । सह रागेण वर्त्तत इति सरागः-स्वभावस्तस्मिन् तिष्ठतीति तत्तथा । स्वभावस्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

सरागदंसणाऽऽरिय-सरागदर्शनार्य-पुं०। सह रागेणाभिष्वङ्गलक्षणेन य स सराग , स एव संयमः सरागस्य वा साधो संयमो य स तथा कर्मधारयः। स्था० ६ ठा० ३ उ०। सरागदर्शनिनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

सरागसंजम-सरागसंयम-पुं० । सकषायचारित्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ० (सरागसंयम द्विविधमिति ' चरित्तधम्म ' शब्दे तृतीयभागे ११४६ पृष्ठे गतम्।)

सरागसम्मद्दंसण-सरागसम्यग्दर्शन-सरागस्य अनुपशान्ताक्षीणमोहस्य यत्सम्यग्दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्तथा। अथवा सराग च तत्सम्यग्दर्शनं चेति विग्रह । सरागं सम्यग्दर्शनमस्येति वेति । सम्यग्दर्शनभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०। ('सम्मद्दंसण' शब्देऽस्मिन् भागे दशविधत्वमस्य गतम्।)

सराव-शराव-पुं०। मल्लके, बृ० ३ उ०। आव०।

सरासण-शरासन-पुं०। न०। शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्ते अस्मिन्निति शरासन । इषुधौ, जी० ४ प्रति० १ उ०। धनुषि, रा०। औ०। ज० " कोयंडं गंडीवं धम्मं धणुह सरासणं चावं।" पाइ० ना० ३७ गाथा।

सरासणपट्टिया-शरासनपट्टिका-स्त्री०। धनुर्यष्टौ, बाहुपट्टिकाया च। विपा० १ श्रु० २ अ०।

सरिआ-सरित्-स्त्री०। नद्याम्, 'स्त्रीयामादविद्युतः" ॥८।१।१५॥ इति अन्ते आत्वम्। प्रा०। नद्याम्, 'सरिआ तरंगिणी णिण्णया णई" पाइ० ना० २८ गाथा।

सरिउं-स्मृत्वा-अव्य०। अनुचिन्त्येत्यर्थे, पञ्चा० ५ विव०। ज०। नि० चू०।

सरिकप्प-सदृक्कल्प-पु०। समानस्थितकल्पस्थापनाकल्पादिविविधकल्पकर्त्तरि, बृ० ६ उ०।

आहारउवहिसेज्जा, उग्गमउप्पादणेसणा सुद्धा।
जो परिगिण्हति णियमं,उत्तरगुणकप्पिओ स खलु३६६

य आहारोपधिशय्या उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धा-नियत निश्चितं परिगृह्णाति स खलु उत्तरगुणकल्पिको मन्तव्य ।

एतेषु सदृशकल्पेनेह किं कर्तव्यमित्याह—

सरिकप्पे सरिछंदे, तुल्लचरित्ते विसिट्ठतरए वा ।
साहूहिँ संथवं कुजा, णाणीहिँ चरित्तगुत्तेहिं ।।३६७।।

सदृक्कल्प -स्थितकल्प स्थापनाकल्पादिर्विविध , कल्पकर्ता सदृक्छन्द-समानसामाचारीक, तुल्यचारित्र' समानसामायिकादिसंयम , विशिष्टतरो वा-तीव्रतरशुभाध्यवसायविशेषेणोत्कृष्टतरेषु संयमस्थानकण्डकेषु वर्तमाना ईदृशा ये ज्ञानिनश्चारित्रगुप्ताश्च तै संस्तवं—सूत्रपरिचयमेकत्र संधासादिकं कुर्यात् ।

सरिकप्पे सरिछंदे, तुल्लचरित्ते विसिट्ठतरए वा ।
आदिज भत्तपाणं, सतेण लाभेण वा तुस्से ।।३६८।।

य सदृशकल्प सदृक्छन्दस्तुल्यचारित्रो विशिष्टतरो वा तेनैवंविधेन साधुना आनीतं भक्तपानम् आददीत। स्वकीयेन वा आत्मीयलाभेन तुष्येत् हीनतरसत्कं न गृह्णीयात् । तदेव मुक्त्वा छेदोपस्थापनीयकल्पस्थिति । बृ० ६ उ० ।

सरिच्छ-सदृत्त-त्रि० । " दृश क्विप्टक्सक " ॥ ८।१। १४२॥ इति दृशधातो ऋवर्णस्य रिरादेश । प्रा० । " छोऽक्ष्यादौ " ॥ ८ । २ । १७ ॥ इति क्षस्य छत्वम् , प्रा० ।" अत समृद्ध्यादौ वा" ॥८।१।४४॥ इति आदेरकारस्य दीर्घो वा । सारिच्छो। सरिच्छो । समाने , प्रा० । " सरिसो समो सरिच्छो " पाइ० ना० ७४ गाथा ।

सरिच्छंद-सदृक्छन्द-पुं० । समानसामाचारीके, बृ० ६ उ० ।

सरित्तय-सदृक्त्वच्-त्रि० । सदृशी-सदृग्वर्णा त्वग् येषान्ते तथा । रा० । सदृशच्छविषु , भ० ११ श० ११ उ० । सदृक्छविषु , अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० ।

सरित्ता-स्मर्तृ-त्रि० । चिन्तयितरि, " नो पुव्वरयं पुव्विकीलियं सरित्ता भवइ । " स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सरिरूप-सदृग्रूप-त्रि० । " दृश क्विप् " ति ऋत इत्वम् । समानरूपे , प्रा० १ पाद ।

सरिवन्न-सदृग्वर्ण-त्रि० । " दृश क्विप्-टक्सक " ॥ ८ । १ । १४२ ॥ इति दृशेर्धातो ऋतो रिगादेश । समानवर्णे, प्रा० ।

सरिव्वय-सदृग्वयस्-त्रि० । सदृक्-समानं वयो येषा ते तथा । रा० । सवयस्के, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

सरिस-सदृश-त्रि० । समाने , सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । विशे० भ० । पञ्चा० । नि० चू० । औ० । समानाकारे , रा० । तुल्ये , उत्त० १ अ० । अनु० । वृत्तिहेतुसामान्यरूपे , स्था० २ ठा० २ उ० । ज० । ' सरिसभंडमत्तोवगरणे ' सदृशी भण्डमात्रा प्रहरणा शोकादिरूपा उपकरण च कट्टादिक यस्य स तथा । भ० ७ श० ६ उ० । " सरिसो समो " पाइ० ना० ७४ गाथा० ।

सरिसय-सदृशक-पुं० । समाने, भ० ७ श० ८ उ० । अन्त० ।

सरिसव-सरीसृप-पुं० । उर परिसर्पभुजपरिसर्पभेदाद् द्विविधे पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु, स० ३४ सम० ।

सर्षप-पुं० । सिद्धार्थके, भ० ६ श० ७ उ० । स्था० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । नि० । प्रव० ।

सरिसवमाणचलण-सदृशोपमानचरण-त्रि० । सदृश युक्तमुपमान ययोस्तौ सदृशोपमानौ एवंविधौ चरणौ यस्य स तथा । तुल्योपमानपदे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

सरिसवय-सर्षपक-पुं० । सिद्धार्थके, ज्ञा० ।

सरिसवया णं भंते ! किं भक्खेयव्वा, अभक्खेयव्वा ?।
गोयमा ! भक्खेयव्वा वि अभक्खेयव्वा वि ।

एकत्र सदृशवयस'-समानवयस' अन्यत्र—सर्षपा —सिद्धार्थका' । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । शुकशब्दे, अनु० ।

सरिसिया-सदृशी-स्त्री० । समानायाम्, भ० ११ श० ११ उ० ।

सरिसु—देशी-पुं० । वृक्षविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सरिहा-सरिका-स्त्री० । मुक्तावल्याम्, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

शरिका-स्त्री० । लघुशरपत्रे, शरपत्राग्रे च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० ।

सरीर-शरीर-न० । शीर्यते प्रतिक्षण विशरारुभावं बिभर्तीति शरीरम् । प्रज्ञा० २१ पद । " कृशॄपॄभाभञ्जिकुटिपटिकडिशौण्डिभ्यः ईरः " इति ईरप्रत्यय । आ० म० १ अ० । देहे, आ० म० १ अ० । काये, आ० चू० ५ अ० । शरीरपर्याया - शरीरं वपु कायो देह कलेवरमित्यादय । विशे० । बोन्दिस्तु शरीरमित्यनर्थान्तरम् । आ० म० १ अ० । प्रश्न० । कर्म० । पं० स० । प्रज्ञा० । आव० ।

विषयसूची—

(२१) शरीराधिकारात् दण्डकेन शरीरोत्पत्तिनिरूपणम् ।
(२२) लोकस्थ शरीरिशरीराणां सर्वत्र आश्रयस्वरूप ।
(२३) शरीरबन्धनप्रकार. ।
(२४) शरीरनिर्माणस्वरूप तत्र नाड्यादिसंख्या वेदनानुभवप्रकारश्च ।
(२५) शरीरस्यासुन्दरत्वम् ।
(२६) विशेषत. शरीराशुभत्वम् ।
(२७) शरीराणां वर्णादि ।
(२८) आत्मा शरीरं स्पृष्ट्वा निर्याति ।

(१) केषां कति शरीराणि—

कति णं भंते ! सरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! पंच सरीरा पण्णत्ता, तं जहा–ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए । (सूत्र०–१७६ ×)

'कइ णं भंते ! सरीरा पण्णत्ता,' इत्यादि उत्पत्तिसमयादारभ्य प्रतिक्षणं शीर्यन्ते इति शरीराणि तानि भदन्त ! कति-कियत्संख्याकानि णमिति वाक्यालङ्कारे, प्रज्ञप्तानि, भगवानाह-पञ्च शरीराणि प्रज्ञप्तानि तान्येव नामत आह—' ओरालिए ' इत्यादि, अमीषा शब्दार्थमात्रमग्रे वक्ष्यामस्तथाऽपि स्थानाशून्यार्थे किञ्चिदुच्यते—उदार प्रधान प्राधान्य चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात् । अथवा—ओराल नाम विस्तरवत्, विस्तरवत्ता चास्यावस्थितस्वभावस्य सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात्, वैक्रियं चैतावदवस्थितप्रमाण न लभ्यते, उत्कर्षतोऽप्यवस्थितप्रमाणस्य पञ्चधनु शतप्रमाणत्वात्, तच्च तावत्प्रमाण सप्तम्या नान्यत्र, यत्तूत्तरवैक्रिय योजनलक्षप्रमाणं न तदवस्थितमाभववर्त्तित्वाभावात्, ततो न तदपेक्षा आह च चूर्णिकृत्—" ओराल नाम वित्थरालं विसाल ति जं भणियं होइ, कह ? साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियप्पमाणमोरालिय अन्नमेद्दहमेत्त नत्थि त्ति, विउव्विय होज्जा , तं तु अणवट्ठियप्पमाणं , अवट्ठियं पुण पंचधणुसयाइं अहे सत्तमाए , इमं पुण अवट्ठियप्पमाण साइरेगं जोयणसहस्सं " वनस्पतीनामिति । अथवा-उरलं-विरलप्रदेश न तु घन स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् बृहत्त्वाच्च भण्डवत् । यदिवा ओराल—समयपरिभाषया मांसास्थिस्नाय्वाद्यवबद्धं, सर्वत्र स्वार्थिक इकप्रत्यय । इहोदारमेव औदारिक पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्ति । प्राकृतत्वात्-'ओरालिय' मिति । उक्तं च—

" तत्थोदारमुराल. उरल ओरालमेव विण्णेयं ।
ओरालियं ति पढम, पडुच्च तित्थेसरसरीरं ॥ १ ॥
भण्णइ य तहोरालं, वित्थरवत वणस्सइ पप्प ।
पगईए नत्थि अन्नं, एद्दहमित्तं विसालं ति ॥ २ ॥
उरलं थेवपएसो-वचिय ति महल्लगं जहा भिण्डं ।
मंसट्ठिण्हारुबद्धं , ओरालं समयपरिभासा ॥ ३ ॥ "

तथा विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्या भव वैक्रियम । उक्त च—" विविहा विसिट्ठगा वा, किरिया तीए उ ज भव तमिह । वेउव्वियं तयं पुण, नारगदेवाण पगईए ॥१॥ " अथवा-वैकुर्विकमिति शब्दसंस्कार ,तत्र विकुर्व इति सिद्धान्तप्रसिद्धोऽयं धातु.विकुर्वणं विकुर्व. । विविधा क्रिया इत्यर्थ । तेन निर्वृत्तं वैकुर्विकम् २, तथा चतुर्दशपूर्वविदा कार्योत्पत्तौ योगबलेनाह्रियते इत्याहारकम् ३, तेजसो विकारस्तैजसम् ४ कर्मणो जातं कर्मजमिति ५ । नन्वौदारिकादीनां शरीराणामित्थमुपन्यासे किञ्चिदस्ति प्रयोजनमुत यथाकथञ्चिदेष प्रवृत्त इति ?, उच्यते—अस्तीति ब्रूमः । किं तदिति चेत् ?, उच्यते-परम्परप्रदेशसौक्ष्म्यं परम्परं वर्गणासु प्रदेशबाहुल्यं च, तथा हि-औदारिकाद् वैक्रियस्य प्रदेशसौक्ष्म्यं, वैक्रियादप्याहारकस्य, आहारकादपि तैजसस्य, तैजसादपि कार्मणस्य , तथा-औदारिकाद् वैक्रियस्य वर्गणासु प्रदेशबाहुल्य, वैक्रियादाहारकस्याहारकादपि तैजसस्य, तैजसादपि कार्मणस्येति ।

(२) एतान्येव शरीराणि नैरयिकादिषु सम्भवतश्चिन्तयति—

नेरइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ? , गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता, तं जहा–वेउव्विए तेयए कम्मए , एवं असुरकुमाराण वि० जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता, तं जहा–ओरालिए तेयए कम्मए , एवं वाउकाइयवज्जं० जाव चउरिंदियाणं । वाउकाइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि सरीरया पण्णत्ता ?, तं जहा–ओरालिए वेउव्विते तेयए कम्मए । एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि । मणुस्साणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ? , गोयमा ! पंच सरीरया पण्णत्ता , तं जहा–ओरालिए वेउव्विते आहारए तेयए कम्मए, वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं, जहा नारगाणं । (सू० १७६×)

' नेरइयाणं भंते ! केवइया सरीरा पण्णत्ता' इत्यादि, पाठसिद्ध, शरीराणि च जीवानां द्विविधानि, तद्यथा–बद्धानि , मुक्तानि च । तत्र यानि चिन्ताकाले जीवै. परिगृहीतानि वर्त्तन्त तानि बद्धानि, यानि च पूर्वभवेषु परित्यक्तानि तानि मुक्तानि, तेषां बद्धानां मुक्तानां च परिमाणमिदानीं द्रव्यक्षेत्रकालै. प्ररूपणीयम् , तत्र द्रव्यैरभव्यादिभि. क्षेत्रेण श्रेणिप्रतरादिना कालेनावलिकादिना ।

(३) तत्रौदारिकशरीरमधिकृत्याह—बद्धानि मुक्तानि सरीराणि—

केवइया णं भंते ! ओरालियसरीरया पण्णत्ता ? , गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता ?,तं जहा–बद्धिल्लया, य मुक्किल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धिल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा, तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो अणंता लोगा अभवसिद्धिएहिंतो अणंतगुणा सिद्धा (ण) णंतभागो । (सू० १७७×)

'केवइया णं भंते ! ओरालियसरीरया पन्नत्ता' इत्यादि, इह प्राकृतलक्षणवशादिल्लप्रत्ययः कप्रत्ययश्च स्वार्थे, ततः 'बद्धिल्लया' इति बद्धानीत्यर्थः, 'मुक्किल्लया' इति—मुक्तानीत्यर्थः, तत्र बद्धान्यसङ्ख्येयानि। असङ्ख्येयत्वमेव प्रथमतः कालतो निरूपयति—'असंखिज्जाहिं' इत्यादि, प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारेण असङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरनवयवशोऽपहियन्ते। किमुक्तं भवति ?—असङ्ख्येयासु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि बद्धान्यौदारिकशरीराणि वर्तन्ते। इदं कालतः परिमाणम्। क्षेत्रत आह— खेत्तओ असंखेज्जा लोगा, इति-क्षेत्रतः परिसङ्ख्यानमसंख्येया लोकाः। एतदुक्तं भवति—सर्वाण्यपि बद्धान्यौदारिकशरीराणि आत्मीयात्मीयावगाहनाभिराकाशप्रदेशेषु परस्परमपिण्डीभावेन क्रमेण स्थाप्यन्ते, तदानीं तैरेवमास्तीर्यमाणैरसंख्येया लोका अवाप्यन्ते। इह एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे एकैकौदारिकशरीरस्थापनया असंख्येया लोका व्याप्यन्ते परं पूर्वाचार्या आत्मीयावगाहनास्थापनया प्ररूपणां कुर्वन्ति, ततोऽपसिद्धान्तदोषो मा प्रापदित्यस्माभिरपि तथैव प्ररूपणा क्रियते। आह च चूर्णिकारोऽपि—'जइ वि इक्केके पएसे सरीरमेगं ठविज्जइ तोऽवि असंखेज्जा लोगा भवंति किन्तु अवसिद्धंतदोसपरिहरणत्थमप्पणियाहिं ओगाहणाहिं ठविज्जति" इति, आह—नन्वनन्ता जीवास्ततः कथमसंख्येयान्यौदारिकशरीराणि ?, उच्यते—इह द्विविधा जीवाः—प्रत्येकशरीरिणः, अनन्तकायिकाश्च। तत्र ये ते प्रत्येकशरीरिणस्तेषां प्रतिजीवमेकैकौदारिकशरीरमन्यथा प्रत्येकशरीरत्वायोगात्, ये त्वनन्तकायिकास्तेषामनन्तानामनन्तानामेकैकमौदारिकशरीरमतः सर्वसंख्ययाऽपि असंख्येयान्यौदारिकशरीराणि, मुक्तान्यौदारिकशरीराणि अनन्तानि। तच्चानन्तत्वं कालक्षेत्रद्रव्यैर्निरूपयति—'अणंताहिं' इत्यादि, कालतः परिमाणं प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारेऽनन्ताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः सर्वात्मनाऽपहियन्ते। किमुक्तं भवति ?—अनन्तासु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानीति, क्षेत्रतः परिमाणमनन्ता लोकाः, अनन्तेषु लोकप्रमाणेष्वाकाशखण्डेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीत्यर्थः, द्रव्यतः परिमाणमभवसिद्धिकेभ्य—अभव्येभ्योऽनन्तगुणानि। यद्येवं तर्हि सिद्धराशिप्रमाणानि भविष्यन्ति, तत आह—सिद्धानामनन्तभागः अनन्तभागमात्राणि। ननु द्वयोरपि राश्योरभवसिद्धिकसिद्धिरूपयोर्मध्ये पठ्यन्ते प्रतिपतितसम्यग्दृष्टयः तत् किं तद्राशिप्रमाणानि भवन्तु ?, उच्यते—यदि तत्प्रमाणानि स्युस्तर्हि तथैव निर्देशः क्रियेत सुखप्रतिपत्तिकृतप्रतिज्ञा हि भगवन्त आर्यश्यामाः, ततस्तथा निर्देशाभावादवसीयते—न तद्राशिप्रमाणानि। ननु तर्हि तेषां प्रतिपतितसम्यग्दृष्टीनामधस्ताद् भवेयुरुपरि वा ?, उच्यते—कदाचिदधस्तात्कदाचिदुपरि, कदाचित्तुल्यान्यपि अनियतप्रमाणत्वात्, न तु सर्वकालं तत्प्रमाणानीति। आह च चूर्णिकृत्—"तो किं पडिवडिय सम्मद्दिट्ठिरासिप्पमाणाइं होज्जा ?, तेसिं दोण्ह वि रासीणं, मज्झे पढिज्जंति त्ति काउ ?, भण्णइ—जइ तप्पमाणाइं होंताइ तो तेसिं चेव निद्देसो होंतो तम्हा न तप्पमाणाइं, तो किं तेसिं हिट्ठा होज्जा उवरिं होज्जा ?, भन्नइ-कयाइ हेट्ठा कयाइ उवरिं होंति कयाइ तुल्लाइ न निच्चकालं तप्पमाणाइं" इति। अपरः प्राह-कथं मुक्तानि यथोक्तानन्तसंख्यापरिमाणान्युपपद्यन्ते ?, यतो यदि तावदौदारिकादिशरीराणि यावदविकलानि तावद् गृह्यन्ते ततस्तेषामनन्तकालमवस्थानाभावादनन्तत्वं न घटते, यदि ह्यनन्तमपि कालमवस्थानं भवेत् ततोऽनन्तेन कालेन तत्तच्छरीरगणनादनन्तानि भवेयुः यावताऽनन्तं कालमवस्थानं नास्ति, पुद्गलानामुत्कर्षतोऽप्यसंख्येयकालावस्थानाभिधानात्। अथ च ये पुद्गला जीवैरौदारिकत्वेन गृहीत्वा मुक्ता अतीताद्धायां तेषां ग्रहणं तर्हि सर्वेऽपि पुद्गलाः सर्वैरपि जीवैः प्रत्येकमौदारिकत्वेन गृहीत्वा मुक्ता इति सर्वपुद्गलग्रहणमापन्नम्, तथा च सति यदुक्तम्—अभवसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागमात्राणीति तद् विरुध्यते, सर्वजीवेभ्योऽनन्तानन्तगुणकारेणानन्तगुणत्वस्य प्रसक्तत्वादिति चेत् ? उच्यते—इह मुक्तानामौदारिकशरीराणां नाविकलानामेव केवलानां ग्रहणं नाप्यौदारिकत्वेन गृहीत्वा मुक्ताः पुद्गलाः, तेषामुक्तदोषप्रसङ्गात्, किं तु यच्छरीरमौदारिकं जीवेन गृहीत्वा मुक्तं तत् विशरारुभावं बिभ्राणमनन्तभेदभिन्नं भवति ते चानन्ता भेदा भवन्तो यावत्ते पुद्गला औदारिकपरिणामं न जहति तावत्प्रत्येकमौदारिकशरीरव्यपदेशं लभन्ते, ये पुनरौदारिकपरिणामं त्यक्तवन्तस्ते न गण्यन्ते, तत एवमेकस्यापि शरीरस्यानन्तानि शरीराणि जातानि, एवं सर्वशरीरेष्वपि भावनीयम्। तथा च सत्येकैकस्य शरीरस्यानन्तभेदभिन्नत्वादेकस्मिन्नपि समये प्रभूतान्यनन्तानि शरीराण्यवाप्यन्ते, तेषां चासंख्येयकालमवस्थानम्, तेन चासंख्येयेन कालेनान्यानि जीवैर्विप्रमुक्तान्यसंख्येयान्यवाप्यन्ते, तान्यपि च प्रत्येकमनन्तभेदभिन्नानि, तेषु च मध्ये तावता कालेन यान्यौदारिकशरीरपरिणामं विजहति तानि परित्यज्यन्ते शेषाणि गण्यन्ते। तत एवं मुक्तानि यथोक्तप्रमाणानन्तसंख्याकान्यौदारिकशरीराण्युपपद्यन्त इति। न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत आह चूर्णिकृत्—"न वि अविगलाणमेव केवलाण पि गहणं एवं न य ओरालियगहणमुक्काणं सव्वपुग्गलाणं, किन्तु जं सरीरमोरालियं जीवेण मुक्कं तं चेव अणंतभेयभिन्नं च होइ जाव ते पुग्गला तं जीवनिव्वत्तियं ओरालियसरीरकायप्पओगं न मुचंते न ताव अन्नपरिणामेण परिणमंति ताइ पत्तेय सरीराइं भण्णन्ति एवमेक्केकस्स ओरालियसरीरस्स अणंतभेयभिन्नत्तणओ अणंताइ चेव ओरालियसरीराइ भवंति" इत्यादि, आह—कथमेकैकशरीरद्रव्यदेशः शरीरत्वेन व्यवह्रियते ?, उच्यते—लवणदृष्टान्तेन, तथाहि—सार्थपि लवणमुच्यते द्रोणोऽपि लवणमाढकोऽपि लवणं यावदेकाऽपि शर्करा लवणम्, एवमिहापि सकलमप्यौदारिकशरीरमुच्यते तदर्द्धमपि तदेकदेशोऽपि यावदनन्तभागोऽपि शरीरमिति। कोऽत्राभिप्राय इति चेत् ?, उच्यते—इह यथा लवणपरिणामपरितः स्तोको बहुर्वा पुद्गलसंघातो लवणमुच्यते तथौदारिकशरीरयोग्यपुद्गलसंघातोऽपि औदारिकत्वेन परिणतः स्तोको वा बहुर्वा औदारिकशरीरव्यपदेशं लभते। अथवा—भवति स-

सुदायैकदेशेऽपि समुदायशब्दोपचार., यथा—अङ्गुल्यग्रे स्पृष्टे स्पृष्टो मया देवदत्त इत्यादौ, तत उपचाराच्च काश्चद्दोष । ननु यद्येवं कथं तान्यनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यौदारिकशरीराण्येकस्मिन् लोकेऽवगाढानि ?, उच्यते-प्रदीपप्रकाशवत्, तथाहि-यथैकस्यापि प्रदीपस्यार्चींषि सकलभवनावभासीनि भवन्ति, अन्येषामनेकेषां प्रदीपानामर्चींषि तत्रैवानुप्रविशन्ति, परस्परमविरोधात्, तथौदारिकाण्यपि एव शेषशरीरेष्वपि मुक्तेष्वायोज्यम् । ननु द्रव्यक्षेत्रे विहाय किमिति प्रथमत कालेन प्ररूपणा कृता ?, उच्यते-कालान्तरावस्थायितया पुद्गलेषु शरीरोपचारो नान्यथा तत कालो गरीयान् इति प्रथमतरतेन प्ररूपणा । उक्तान्यौदारिकाणि ।

(४) सम्प्रति वैक्रियसूत्रमाह—

केवतिया णं भंते ! वेउव्वियसरीरया, पणत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पणत्ता, तं जहा-बद्धेल्लया य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जातो सेढीओ पयरस्स असंखेज्जतिभागो । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो जहा ओरालियस्स मुक्केल्लया तहेव वेउव्वियस्स वि भाणियव्वा । (सू०-१७७ +)

'केवतिया णं भंते !' इत्यादि, बद्धान्यसंख्येयानि, तत्र कालतः परिमाणं प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारे सामस्त्येनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते । किमुक्तं भवति ?—असंख्येयासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्त. समयास्तावत्प्रमाणानीति, क्षेत्रतोऽसंख्येया श्रेणयस्तासां श्रेणीना परिमाणं प्रतरस्यासंख्येयो भाग. । किमुक्तं भवति ?—प्रतरस्यासंख्येयतमे भागे यावत्य श्रेणयस्तासु च श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि बद्धानि वैक्रियशरीराणीति । अथ श्रेणिरिति किमभिधीयते ?, उच्यते—घनीकृतस्य लोकस्य सर्वतः सप्तरज्जुप्रमाणस्यायामत. सप्तरज्जुप्रमाणा मुक्तावलिरिवैकाकाशप्रदेशपङ्क्ति । कथं पुनर्लोको घनीक्रियते ? कथं वा सप्तरज्जुप्रमाणो भवति इति चेत् ?, उच्यते—इहलोके ऊर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणोऽधस्ताद्विस्तरतो देशोनसप्तरज्जुप्रमाण एकरज्जुर्मध्यभागे ब्रह्मलोकप्रदेशे बहुमध्यदेशभागे पञ्चरज्जुरुपरि एका रज्जुर्लोकान्ते, रज्जोश्च परिमाणं स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य पूर्ववेदिकान्तादारभ्यापरवेदिकान्त यावत्, एव प्रमाणस्य लोकस्य वैशाखस्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारस्य बुद्ध्या त्रसनाड्या दक्षिणभागवर्त्यधोलोकखण्डमधोदेशोनत्रिरज्जुविस्तारमतिरिक्तसप्तरज्जूच्छ्रयं परिगृह्य त्रसनाड्या उत्तरपार्श्वे ऊर्ध्वाधोभागविपर्यासेन सङ्घात्यते, ऊर्ध्वभागोऽध क्रियते अधोभागस्तूर्ध्वमिति सङ्घात्यते इति । तत ऊर्ध्वलोके त्रसनाड्या दक्षिणभागवर्तिनी ये द्वे खण्डे कूर्पराकारसंस्थिते प्रत्येकं देशोनार्द्धचतुष्टयरज्जूच्छ्रये ते बुद्ध्या समादाय वैपरित्येनोत्तरपार्श्वे सङ्घात्येते, एवं च किं जातम् ? अधस्तनं लोकार्धं देशोनचतूरज्जुविस्तारं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयम् । उपरितनमर्द्धं त्रिरज्जुविस्तारं देशोनसप्तरज्जूच्छ्रय, तेन उपरितनमर्द्धं बुद्ध्या गृहीत्वाऽधस्तनस्यार्द्धस्योत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते, तथा च सति सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयो देशोनसप्तरज्जुविस्तारो घनो जातः, अतः सप्तरज्जूनामुपरि यदधिकं तत्परिगृह्य ऊर्ध्वाध आयतमुत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते, ततो विस्तरतोऽपि परिपूर्णाः सप्त रज्जवो भवन्ति, एवमेष लोको घनीक्रियते, घनीकृतश्च सप्तरज्जुप्रमाणो भवति । यत्र च क्वचन घनत्वेन सप्तरज्जुप्रमाणता न पूर्यते तत्र बुद्ध्या परिपूरणीयम् एतच्च पट्टिकादौ लिखित्वा दर्शयितव्यम् । सिद्धान्ते च यत्र क्वचनापि श्रेणेः प्रतरस्य वा ग्रहण तत्र सर्वत्राप्येवं घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्यावसातव्यं, मुक्तान्यौदारिकवद् भावनीयानि ।

(५) कति आहारकशरीराणि—

केवतिया णं भंते ! आहारगसरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ? दुविहा, पणत्ता, तं जहा--बद्धेल्लया य, मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहणेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं सहस्सपुहुत्तं । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता जहा ओरालियस्स मुक्किल्लया तहेव भाणियव्वा । (सू० १७७+)

आहारकविषय सूत्र 'केवतिया ण भंते ! आहारगसरीरगा' इत्यादि, 'बद्धानि सिय अत्थि सिय नत्थि' इति अस्तीति निपातो बहुवचनगर्भ. कदाचित् सन्ति ! कदाचित् न सन्तीत्यर्थ । यस्मादन्तरमाहारकशरीरस्य जघन्यत एक समय उत्कर्षत षण्मासा, उक्तं च—" आहारगाइँ लोए, छम्मासे जा न होंति वि कयाइ । उक्कोसेणं नियमा, एक्कं समय जहन्नेण ॥ १ ॥ ' इति । यदाऽपि भवन्ति तदाऽपि जघन्यत एकं द्वे वा उत्कर्षत सहस्रपृथक्त्वं, मुक्तान्यौदारिकवत् ।

(६) तैजसशरीरविषय सूत्रमाह—

केवतिया णं भंते ! तेयगसरीरया पणत्ता ?, गोयमा !, दुविहा पणत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्तओ अणंता लोगा, दव्वओ सिद्धेहिंतो अणंतगुणा सव्वजीवाणंतभागूणा । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो अणंता लोगा, दव्वओ सव्वजीवेहितो अणंतगुणा जीववग्गस्साणंतभागे । एवं कम्मगसरीराणि वि भाणितव्वाणि ।

'केवइया ण भंते ! तेयगसरीरया' इत्यादि, तत्र बद्धान्यनन्तानि, अनन्तत्वं कालक्षेत्रद्रव्यैर्निरूपयति—' अणंताहिं ' इत्यादि, कालत परिमाणमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयप्रमाणानि क्षेत्रतोऽनन्तलोकप्रमाणाकाशखण्डप्रदेश-

परिमाणानि, द्रव्यत परिमाण सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानि । तैजसं हि शरीरं सर्वससारिजीवानां प्रत्येक, ससारिणश्च जीवा सिद्धेभ्योऽनन्तगुणा, ततस्तैजसशरीराण्यपि सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानि भवन्ति । 'सव्वजीवअणतभागूणा' इति सर्वजीवाना योऽनन्ततमो भागस्तेनोनानि । इयमत्र भावना-सिद्धाना तैजसशरीरं न विद्यते सर्वशरीरातीतत्वात् तेषाम्, सिद्धाश्च सर्वजीवानामनन्तभागे, ततस्तेनोनानि सर्वजीवानामनन्तभागोनानि भवन्ति । मुक्तानि अनन्तानि । तदेवानन्तत्वं कालक्षेत्रद्रव्यै प्ररूपयति-'अणताहिं' इत्यादि कालक्षेत्रसूत्रे प्रागृवत् द्रव्यत परिमाण सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानि । कथमिति चेत् ?, उच्यते—इह एकैकस्य ससारिजीवस्य एकैकं तैजसशरीर, तानि च जीवैर्विप्रमुक्तानि सन्ति प्रागुक्तयुक्तेरनन्तभेदभिन्नानि भवन्ति, तेषा चासख्येय काल यावदवस्थान तावता च कालेन जीवैर्विप्रमुक्तान्यन्यानि तैजसशरीराणि प्रतिजीवमसख्येयानि अवाप्यन्ते, तेषामपि प्रत्येक प्रागुक्तयुक्त्या अनन्तभेदभिन्नतेति भवन्ति सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानि । तत्किं जीववर्गप्रमाणानि भवेयुरत आह—' जीववग्गस्स अणतभागे ' इति- जीववर्गस्यानन्तभागप्रमाणानि, जीववर्गप्रमाणानि कस्मान्न भवन्तीति चेत् ? उच्यते—यदि एकैकस्य जीवस्य सर्वजीवराशिप्रमाणानि किञ्चित्समधिकानि वा भवेयुर्येन सिद्धानन्तभागपूरणं भवति ततो जीववर्गप्रमाणानि भवन्ति, वर्गो हि तेनैव राशिना तस्य राशेर्गुणने भवति, यथा चतुष्कस्य चतुष्केन गुणने षोडशात्मको वर्ग इति । न चैकैकस्य जीवस्य सर्वजीवप्रमाणानि किञ्चित्समधिकानि वा तैजसशरीराणि किन्त्वतिस्तोकानि, तान्यपि असंख्येयकालावस्थायीनीति, तावता कालेन यान्यन्यान्यानि भवन्ति तान्यपि स्तोकानि, कालस्य स्तोकत्वात्, ततो जीववर्गप्रमाणानि न भवन्ति, किन्तु जीववर्गस्यानन्तभागमात्राणि । अनन्तभागप्रमाणतायां च पूर्वाचार्यप्रदर्शितमिद निदर्शनम्—सर्वजीवास्तत्त्वतया अनन्ता अपि असत्कल्पनया दशसहस्राणि, तेषां च दशसहस्राणां वर्गो दश कोट्य, तैजसशरीराणि च मुक्तान्यसत्कल्पनया दशलक्षप्रमाणानि, तत सर्वजीवेभ्य किल शतगुणानीति सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान्युक्तानि । जीववर्गस्य च शततमे भागे वर्त्तन्ते, ततो जीववर्गस्यानन्तभागमात्राणि । एव कार्मणशरीराण्यपि बद्धानि मुक्तानि च भावनीयानि, तैजसै सह समानसंख्यत्वात् । उक्तान्यौघिकानि पञ्चापि शरीराणि ।

(७) संप्रति नैरयिकादिविशेषणविशेषितानि शरीराणि चिन्त्यन्ते—

नेरइयाणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं णत्थि, तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते ण अणंता जहा ओरालियमुक्केल्लगा तहा भणियव्वा । नेरइयाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखिज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो । तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलं बितियवग्गमूलपडुप्पण्णं अह व णं अंगुलबितियवग्गमूलघणप्पमाणमेत्ताओ सेढीतो । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालियस्स मुक्केल्लगा तहा भाणियव्वा । नेरइयाणं भंते ! केवइया आहारगसरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लया य, मुक्केल्लया य । एवं जहा ओरालिए बद्धेल्लगा मुक्केल्लगा य भणिया तहेव आहारगा वि भाणियव्वा तेयाकम्मगाइं जहा एएसिं चेव वेउव्वियाइं । (सू० १७८)

' नेरइयाणं भंते ! ' इत्यादि नैरयिकाणां बद्धान्यौदारिकशरीराणि न सन्ति, भवप्रत्ययतस्तेषामौदारिकशरीरासम्भवात् मुक्तान्यौघिकमुक्तौदारिकशरीरवत् । वैक्रियाणि बद्धानि यावन्तो नैरयिकास्तावत्प्रमाणानि, तानि चासख्येयानि । तदेवासख्येयत्व कालक्षेत्राभ्या प्ररूपयति-' असंखेज्जाहिं ' इत्यादि, कालत परिमाण प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारे सामस्त्येनासख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्त । किमुक्त भवति ?-असख्येयासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्त समयास्तावत्प्रमाणानि क्षेत्रतोऽसख्येया श्रेणय, असख्येयासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीति भाव । अथ प्रतरेऽपि सकले असंख्येया श्रेणयो भवन्ति प्रतरस्यार्द्धभागे त्रिभागादौ च । तत कियत्सख्याकास्ता श्रेणय इत्याशङ्कायां विशेषनिर्द्धारणार्थमाह—प्रतरस्यासख्येयभाग । किमुक्त भवति ?-प्रतरस्यासख्येयतमे भागे यावत्य श्रेणयस्तावत्य परिगृह्यन्ते, इदमन्यद्विशेषतरपरिमाणम्—' तासि णं सेढीण विक्खंभसूई ' इत्यादि, तासा श्रेणीना विष्कम्भतो—विस्तारमधिकृत्य सूचि-एकप्रादेशिकी श्रेणिरङ्गुलप्रथमवर्गमूल द्वितीयवर्गमूलगुणितम् । इयमत्र भावना—इह प्रज्ञापकेन घनीकृत सप्तरज्जुप्रमाणो लोक पट्टिकादौ स्थापनीय, श्रेणिश्च रेखाकारेण दर्शनीया, दर्शयित्वा चैव प्रमाण वक्तव्यम्—अङ्गुलप्रमाणमात्रस्य प्रदेशस्य क्षेत्रस्य यावान् प्रदेशराशिस्तस्यासंख्येयानि वर्गमूलानि भवन्ति, तद्यथा—प्रथम वर्गमूल, तस्यापि यद्वर्गमूल तद् द्वितीय वर्गमूल, तस्यापि यद् वर्गमूल तत् तृतीय मूल तद् द्वितीय वर्गमूल, तस्यापि यद् वर्गमूल तत् तृतीय वर्गमूलम्—एवमसंख्येयानि वर्गमूलानि भवन्ति । तत्र प्रथम वर्गमूलं तद् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते, गुणिते च सति यावन्त प्रदेशा भवन्ति तावत्प्रदेशात्मिका सूचिर्बुद्ध्या क्रियते, कृत्वा च विष्कम्भतो दक्षिणोत्तरायततया स्थापनीया, तया च स्थाप्यमानया यावत्य श्रेणय स्पृश्यन्ते तावत्य परिगृह्यन्ते । तत्रेद निदर्शनम्—अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिस्तत्त्वतोऽसख्यातोऽप्यसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिक द्वे शते कल्प्येते, तयो प्रथम वर्गमूलं षोडश द्वितीय चत्वारस्तृतीयं द्वौ । तत्र द्वितीयेन वर्गमूलेन चतु-

ष्कलक्षणेन प्रथमं वर्गमूलं षोडशलक्षणं गुण्यते जाताः चतुःषष्टिः, एतावत्य श्रेणयः परिगृह्यन्ते । अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेण कथयति-' अहव ण ' मित्यादि अथवेति प्रकारान्तरे, णमिति वाक्यालङ्कारे, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्द्वितीयस्य वर्गमूलस्यासत्कल्पनया चतुष्कलक्षणस्य यो घनस्तावत्प्रमाण, इह यस्य राशेर्यो वर्गः स तेन राशिना गुण्यते ततो घनो भवति, यथा द्विकस्याष्टौ । तथाहि-द्विकस्य वर्गश्चत्वारस्ते द्विकेन गुण्यन्ते जाता अष्टाविति, एवमिहापि चतुष्कस्य वर्गः षोडश ते चतुष्केण गुण्यन्ते ततश्चतुष्कस्य घनो भवति । तत्रापि सैव चतुःषष्टिरिति, प्रकारद्वयेऽप्यर्थाभेदः । इहायं गणितधर्मो यद्वहु स्तोकेन गुण्यते, तत सूत्रकृता प्रकारद्वयमेवोपदर्शितम्, अन्यथा तृतीयोऽपि प्रकारोऽस्ति ' अङ्गुलविइयवग्गमूल पढमवग्गमूलपडुप्पएण ' मिति । अन्ये त्वाभदधति-अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः स्वप्रथमवर्गमूलेन गुणने यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणया सूच्या यावत्यः स्पृष्टा श्रेणयस्तावतीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि नैरयिकाणा बद्धानि वैक्रियशरीराणीति, मुक्तान्यौदारिकवत् । आहारकाणि बद्धानि न सन्ति, तेषां तल्लब्ध्यसम्भवात् । मुक्तानि पूर्ववत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि वैक्रियवत् मुक्तानि पूर्ववत् ।

(८) असुरकुमाराणा पृथिवीकायिकानां च शरीराणि—

असुकुमाराणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहा नेरइयाणं ओरालियसरीरा भणिता तहेव एतेसिं भणितव्वा । असुकुमाराण भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जाओ सेढीतो पयरस्स असंखेज्जतिभागो तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स संखेज्जतिभागो । तत्थ ण जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालियस्स मुक्केल्लगा तहा भाणियव्वा, आहारगसरीरगा जहा एतेसिं चेव ओरालिया तहेव दुविहा भाणियव्वा । तेयाकम्मगसरीरा दुविहा वि जहा एतेसिं चेव विउव्विया, एवं० जाव थणियकुमारा । (सू० १७८)

पुढविकाइयाणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो अणंता लोगा, अभवसिद्धिएहिंतो अणंतगुणा सिद्धाणं अणंतभागे । पुढविकाइयाणं भंते ! केवतिया वेउव्वियसरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं णत्थि । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा—एएसिं चेव ओरालिया तहेव भाणियव्वा । एवं आहारगसरीरा वि । तेयाकम्मगा जहा एएसिं चेव ओरालिया । एवं आउकाइयतेउकाइया वि । वाउकाइयाणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य, दुविहा वि जहा पुढविकाइयाणं ओरालिया । वेउव्वियाणं पुच्छा, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा पलियोवमस्स असंखेज्जइभागमेत्तेणं कालेणं अवहीरंति नो चेव णं अवहिया सिया । मुक्केल्लगा जहा पुढविकाइयाणं, आहारयतेयाकम्मा जहा पुढवीकाइयाणं । वणप्फइकाइयाणं जहा पुढविकाइयाणं णवरं तेयाकम्मगा जहा ओहिया तेयाकम्मा । बेइंदियाणं भंते ! केवइया ओरालिया सरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लया य, मुक्केलया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई असंखेज्जाओ जोयणकोडीकोडीओ असंखेज्जाइं सेढिवग्गमूलाइं । बेइंदियाणं ओरालियसरीरेहिं बद्धेल्लगेहिं पयरो अवहीरति, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं कालतो, खेत्ततो अंगुलपयरस्स आवलियाते य असंखेज्जतिभागपलिभागेणं । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते जहा ओहिया ओरालियमुक्केल्लगा, वेउव्विया आहारगा य बद्धिल्लगा णत्थि । मुक्किल्लगा जहा ओहिया ओरालियमुक्केल्लगा, तेयाकम्मगा जहा एतेसिं चेव ओहिया ओरालिया, एव ०जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एवं चेव, नवरं वेउव्वियसरीरएसु इमो विसेसो । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, बद्धेल्लया य, मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखिज्जा, जहा असुरकुमाराणं, णवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स असंखेज्जइभागो, मुक्केल्लगा तहेव ।

मणुस्साणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरगा पएणत्ता ?, गोयमा! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य,मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा। जहएणपदे संखेज्जा संखेज्जाओ कोडाकोडीओ तिजमलपयस्स उवरिं चउजमलपयस्स हिट्ठा, अहव णं छट्ठो वग्गो अहव णं छण्णउईछेयणगदाइरासी, उक्कोसपए असंखिज्जा। असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो,खेत्ततो रूवपक्खित्तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ। तीसे सेढीए आकासखेत्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं कालतो,खेत्ततो अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पण्ण, तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते जहा ओरालिया ओहिया मुक्केल्लगा। वेउव्वियाणं भंते ! पुच्छा,गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता,तं जहा-बद्धेल्लगा,मुक्केल्लगा। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं संखिज्जा, समए समए अवहीरमाणे २ संखेज्जेणं कालेणं अवहीरंति, नो चेव णं अवहीरिया सिया, तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालिया ओहिया, आहारगसरीरा जहा ओहिया, तेयाकम्मगा जहा एतेसिं चेव ओरालिया। वाणमंतराणं जहा नेरइयाणं ओरालिया आहारगा य। वेउव्वियसरीरगा जहा नेरइयाणं, नवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई असंखेज्जजोअणसयवग्गपलिभागो पयरस्स, मुक्केल्लया जहा ओरालिया, आहारगसरीरा जहा असुरकुमाराणं तेयाकम्मया जहा एतेसि णं चेव वेउव्विता। तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई वि छप्पन्नंगुलसयवग्गपलिभागो पयरस्स, वेमाणियाणं एवं चेव, नवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलबितियवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं अहव णं अंगुलतइयवग्गमूलघणप्पमाणमेत्ताओ सेढीओ, सेसं तं चेव। (सू०-१८० X) सरीरपयं सम्मत्तं ॥ १२ ॥

असुरकुमाराणामौदारिकशरीराणि नैरयिकवत्, वैक्रियाणि बद्धान्यसङ्ख्येयानि, तदेवासङ्ख्येयत्वं कालक्षेत्राभ्यां प्ररूपयति-तत्र कालसूत्रं प्राग्वत्, क्षेत्रतोऽसङ्ख्येयाः श्रेणयः, असङ्ख्येयासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीत्यर्थः, ताश्च श्रेणयः प्रतरस्यासङ्ख्येयो भागः, प्रतरासङ्ख्येयभागप्रमिता इत्यर्थः, नवरं नारकचिन्तायामपि प्रतरासङ्ख्येयभागप्रमिता उक्ता। ततो विशेषतरं परिमाणमाह-'तासि णं' मित्यादि, तासां श्रेणीनां परिमाणाय या विष्कम्भसूचिः सा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनः प्रथमवर्गमूलस्य सङ्ख्येयो भागः। किमुक्तं भवति ?—अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्य यत्प्रथमवर्गमूलं षोडशलक्षणं तस्य सङ्ख्येयतमो भागो यावन्त आकाशप्रदेशा असत्कल्पनया पञ्च षड् वा तावत्प्रदेशात्मिका श्रेणिः परिमाणाय विष्कम्भसूचिरवसातव्या, एवं च नैरयिकापेक्षयाऽमीषां विष्कम्भसूचिरसङ्ख्येयगुणहीना। तथाहि—नैरयिकाणां श्रेणिपरिमाणाय विष्कम्भसूचिरङ्गुलप्रथमवर्गमूलं द्वितीयवर्गमूलप्रत्युत्पन्नं यावद् भवति तावत्प्रदेशात्मिका द्वितीयं च वर्गमूलं तत्त्वतोऽसङ्ख्यातप्रदेशात्मकं ततोऽसङ्ख्येयगुणप्रथमवर्गमूलप्रदेशात्मिका। नैरयिकाणां च सूचिः, अमीषां त्वङ्गुलप्रथमवर्गमूलसङ्ख्येयभागप्रदेशात्मिकेति, युक्तं चैतत्, यस्मान्महादण्डके सर्वेऽपि भवनपतयो रत्नप्रभानैरयिकेभ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणहीना उक्तास्ततः सर्वनैरयिकापेक्षया सुतरामसङ्ख्येयगुणहीना भवन्ति, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, आहारकाणि नैरयिकवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धवैक्रियवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, यथा चासुरकुमाराणामुक्तं तथा शेषाणामपि भवनपतीनां वाच्यं, यावत्स्तनितकुमाराणाम्। पृथिव्यप्तेजःसूत्रेषु बद्धान्यौदारिकशरीराणि असङ्ख्येयानि, तथापि कालतः परिमाणचिन्तायां प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारे सामस्त्येनासङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, क्षेत्रतः परिमाणचिन्तायामसङ्ख्येया लोकाः—आत्मीयावगाहनाभिरसङ्ख्येया लोका व्याप्यन्ते, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, वायुकायस्याप्यौदारिकशरीराणि पृथिव्यादिवत्, वैक्रियाणि बद्धान्यसङ्ख्येयानि, तानि च प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारे पल्योपमासङ्ख्येयभागेन निःशेषतोऽपह्रियन्ते। किमुक्तं भवति ?—पल्योपमासङ्ख्येयभागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानीति न पुनरभ्यधिकानि स्युः, तथाहि-वायुकायिकाश्चतुर्विधाः, तद्यथा-सूक्ष्माः, बादराश्च एकैके द्विधा -पर्याप्ताः, अपर्याप्ताश्च। तत्र बादरपर्याप्तव्यतिरिक्ताः शेषास्त्रयोऽपि प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, ये तु बादरपर्याप्तास्ते प्रतरासङ्ख्येयभागप्रमाणाः, तत्र त्रयाणां राशीनां वैक्रियलब्धिरेव नास्ति, बादरपर्याप्तानामपि सङ्ख्येयभागमात्राणां लब्धिः न शेषाणाम्। आह च चूर्णिकृत्—" तिएहं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, बायरपज्जत्ताण पि संखेज्जइभागमेत्ताण लद्धी अत्थि " इति। तत पल्योपमासङ्ख्येयभागसमयप्रमाणा एव पृच्छासमये वायवो वैक्रियवर्त्तिनोऽवाप्यन्ते नाधिका' इति। इह केचिदाचक्षते-सर्वे वायवो वैक्रियवर्त्तिन एव, अवैक्रियाणां चेष्टाया एवासम्भवात्, तदसमीचीनं, वस्तुगतेरपरिज्ञानात्, वायवो हि स्वभावाच्चलास्ततोऽवैक्रिया अपि ते वान्ति इति प्रतिपत्तव्यं वातीति वायुरिति व्युत्पत्तेः। आह च चूर्णिकृत्-" जए सव्वेसु चेव लोगागासेसु चला वायवा वायंति तम्हा अवेउव्विया वि वाया वायंतीति घित्तव्वं " मिति, मुक्तानि वैक्रियाण्यौधिकमुक्तवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत् मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, वनस्पतिकायिकचिन्तायामौदारिकाणि पृथिव्यादिवत्, तैजसकार्मणान्यौधिकतैजसकार्मणवत्। द्वीन्द्रियसूत्रे बद्धान्यौदारिकशरीराणि असङ्ख्येयानि, ततः कालतः परिमाणचिन्तायामसङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते-असङ्ख्यातासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्-

प्रमाणानीति भाव । क्षेत्रतोऽसंख्येया श्रेणयोऽसंख्येयासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीत्यर्थ, तासां श्रेणीनां परिमाणविशेषनिर्द्धारणार्थमाह—प्रतरासंख्येयभाग प्रतरस्यासंख्येयभागप्रमिता असंख्येया श्रेणय प्रतिगृह्यन्त इति भाव. । प्रतरासंख्येयभागो नैरयिकभवनपतीनामपि प्रतिपादितस्ततो विशेषतरपरिमाणनिरूपणार्थं सूचीमानमाह—'तासि णं सेढीण' मित्यादि, तासां श्रेणीनां परिमाणावधारणाय या विष्कम्भसूची सा असंख्येयायोजनकोटीको(इय)टी असंख्येयायोजनकोटीकोटिप्रमाणा इत्यर्थ । अथवेदमन्यद्विशेषन परिमाणम्—'असंखेज्जाइ सेढिवग्गमूलाइं' इति—एकस्या. परिपूर्णाया श्रेणेर्प्रदेशराशिस्तस्य प्रथमं वर्गमूलं द्वितीयं तृतीयं च वर्गमूलं यावदसंख्येयतमं वर्गमूलम् । एतानि सर्वाण्यप्येकत्र सङ्कल्प्यन्ते, तेषु च सङ्कलितेषु यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रदेशात्मिका विष्कम्भसूचिरवसेया । अत्र निदर्शनम्—श्रेणौ किल प्रदेशा असंख्यातास्ते असत्कल्पनया पञ्चषष्टि सहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ६५५३६, तेषां प्रथमं वर्गमूलं द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके २५६ द्वितीयं षोडश १६ तृतीयं चत्वार ४ चतुर्थं द्वौ २, एतेषां च सङ्कलने जाते द्वे शते अष्टसप्तत्यधिके २७८ एतावन्तः किलासत्कल्पनया प्रदेशाना सूचिरिति । अथैते द्वीन्द्रियाः किं प्रमाणाभिरवगाहनाभिरास्तीर्यमाणा कियता कालेन सकलं प्रतरमापूरयन्ति ?, उच्यते-अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणाभिरवगाहनाभि प्रत्यावलिकाऽसंख्येयभागमेकैकावगाहनारचनेनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरापूर्यन्ते। इयमत्र भावना—एकैकस्मिन्नावलिकाया. असंख्येयतमे भागे एकैका अङ्गुलासंख्येयप्रमाणा अवगाहना रच्यते, ततोऽसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभि सकलमपि प्रतर द्वीन्द्रियशरीरैरापूर्यते । एतदेवापहारद्वारेण सूत्रकृदाह-'बेइंदियाणं' मित्यादि द्वीन्द्रियाणां सम्बन्धिभिरौदारिकशरीरैर्बद्धैः प्रतरमसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपहियते, अत्र प्रतरमिति क्षेत्रत परिमाणम्, उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरिति कालत । किंप्रमाणेन पुन क्षेत्रेण कालेन वा अपहरणमत आह-'अंगुलपयरस्स आवलियाए य असंखेज्जइभागपलिभागेण' ति अङ्गुलमात्रस्य प्रतरस्य एकप्रादेशिकश्रेणिरूपस्य असंख्येयभागप्रतिभागप्रमाणेन खण्डेन, इदं क्षेत्रविषय परिमाणम् । कालपरिमाणमावलिकाया असंख्येयभागप्रतिभागेनासंख्येयतमेन प्रतिभागेन । किमुक्तं भवति ?-एकेन द्वीन्द्रियेणाङ्गुलासंख्येयभागप्रमाण खण्डमावलिकाया असंख्येयतमेन भागेनापहियते, द्वितीयेनापि तावत्प्रमाणं खण्डं तावता कालेन, एवमपहियमाण प्रतरं द्वीन्द्रियै. सर्वैरसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभि सकलमपहियते इति, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत्, वैक्रियाणि पुनर्बद्धानि तेषां न सन्ति, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्. एव त्रिचतुरिन्द्रियाणामपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां बद्धानि मुक्तानि चौदारिकाणि द्वीन्द्रियवत् वैक्रियाणि बद्धानि असंख्येयानि । तत्र कालत परिमाणचिन्तायामसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपहियन्ते, क्षेत्रतोऽसंख्येयासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि, तासां च श्रेणीनां परिमाणं प्रतरस्यासंख्येयो भागः । तथा चाह-'जहा असुरकुमाराणं' मिति. यथा असुरकुमाराणां तथा वक्तव्यं, नवर विष्कम्भसूचिपरिमाणचिन्तायां तत्राङ्गुलप्रमाणवर्गमूलस्य संख्येयो भाग उक्त, इह त्वसंख्येयो भागो वक्तव्य. । किमुक्तं भवति ?-अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशे यत् प्रथमं वर्गमूलं तस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रदेशात्मिका सूचि परिगृह्यते, तावत्या व सूच्या या श्रेणय. स्पृष्टास्तासु श्रेणिषु यावन्तः आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां बद्धानि वैक्रियशरीराणि । उक्तं च—अङ्गुलमूलासंखे—भागप्पमियां उ होंति सेढीओ । उत्तरविउव्वियाण, तिरियाणं सन्निपज्जाणं ॥ १ ॥" मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् । मनुष्याणा बद्धान्यौदारिकशरीराणि स्यात्—कदाचित् संख्येयानि कदाचिदसंख्येयानि । कोऽत्राभिप्राय इति चेत्?, उच्यते-इह द्वये मनुष्या -गर्भव्युत्क्रान्तिका, सम्मूर्च्छिमाश्च । तत्र गर्भव्युत्क्रान्तिका. सदावस्थायिनो, न स कश्चित्कालोऽस्ति यो गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यरहितो भवति, सम्मूर्च्छिमाश्च कदाचिद्विद्यन्ते कदाचित्सर्वथा तेषामभावो भवति. तेषामुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तायुष्कत्वात्, उत्पत्त्यन्तरस्य चोत्कर्षतश्चतुर्विंशतिमुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, ततो यदा सर्वथा सम्मूर्च्छिममनुष्या न विद्यन्ते किन्तु केवला गर्भव्युत्क्रान्तिका एव तिष्ठन्ति तदा स्यात् संख्येया., संख्येयानामेव गर्भव्युत्क्रान्तिकानां भावात्, महाशरीरत्वे प्रत्येकशरीरत्वे च सति परिमितक्षेत्रवर्त्तित्वात् । यदा तु सम्मूर्च्छिमास्तदा असंख्येया, सम्मूर्च्छिमानामुत्कर्षत. श्रेण्यसंख्येयभागवर्त्तिनभ.प्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तथा चाह—'जहन्नपदे संखेज्जा' इत्यादि, जघन्यपदं नाम-यत्र सर्वस्तोका मनुष्या. प्राप्यन्ते, आह—किमत्र सम्मूर्च्छिमानां ग्रहणमुत गर्भव्युत्क्रान्तिकानाम् ?, उच्यते गर्भव्युत्क्रान्तिकानाम्, तेषामेव सदाऽवस्थायितया सम्मूर्च्छिमविरहे सर्वस्तोकतया प्राप्यमाणत्वात्, उत्कृष्टपदे तूभयेषामपि ग्रहण, यदाह मूलटीकाकार —"सेतराणां ग्रहणमुत्कृष्टपदे, जघन्यपदे गर्भव्युत्क्रान्तिकानामेव केवलाना ग्रहण" मिति, अस्मिन् जघन्यपदे संख्येया मनुष्या. तत्र संख्येयकं संख्येयभेदभिन्नमिति न ज्ञायते कियन्तस्ते इति विशेषसंख्या निर्द्धार्यति—संख्येया. कोटीकोट्यः, अथवा—इदमन्यत् विशेषतर परिमाणम् 'तिजमलपयस्स उवरिं चउजमलपयस्स हेट्ठा' इति, इह मनुष्यसंख्याप्रतिपादकान्येकोनत्रिंशदङ्कस्थानानि, वक्ष्यमाणानि, तत्र समयपरिभाषया अष्टानामष्टानामङ्कस्थानानां यमलपदमिति सञ्ज्ञा । चतुर्विंशत्या चाङ्कस्थानै त्रीणि यमलपदानि लब्धानि, उपरि पञ्चाङ्कस्थानानि तिष्ठन्ति । अथ च यमलपदमष्टभिरङ्कस्थानैस्ततश्चतुर्थं यमलपद न प्राप्यते तत उक्त त्रयाणा यमलपदानामुपरि पञ्चभिरङ्कस्थानैर्वर्द्धमानत्वात् चतुर्थस्य च यमलपदस्याधस्तात्—त्रिभिरङ्कस्थानैर्हीनत्वात् । अथवा—द्वौ द्वौ वर्गौ समुदितौ एकं यमल, चत्वारो वर्गा समुदिता द्वे यमले षड् वर्गा. समुदितास्त्रीणि यमलपदानि, अष्टौ वर्गा. समुदिताश्चत्वारि

यमलपदानि । तत्र यस्मात् पराणा वर्गाणामुपरि वर्त्तन्ते सप्तमस्य च वर्गस्याधस्तात् तत उक्तम्-त्रियमलपदस्योपरि चतुर्यमलपदस्याधस्तादिति । त्रियमलपदस्येति-त्रितयाना यमलपदाना समाहारस्त्रियमलपदं तस्य, तथा चतुर्णा यमलपदाना समाहारश्चतुर्यमलपदं तस्य, सम्प्रति स्पष्टतर सख्यानमुपदर्शयति—' अहव ए छट्टुवग्गो पंचमवग्गपडुप्पएणो ' इति—अथवेति पक्षान्तरे, णमिति वाक्यालङ्कारे, षष्ठो वर्ग पञ्चमवर्गेण प्रत्युत्पन्नो—गुणित सन् यावान् भवति तावत्प्रमाणा जघन्यपदे मनुष्याः, तत्र एकस्य वर्ग एक एव, स च वृद्धिं न गत इति वर्गो न गण्यते, द्वयोर्वर्गश्चत्वार एष प्रथमो वर्ग ४ चतुर्णा वर्ग षोडश एष द्वितीयो वर्ग. १६, षोडशाना वर्गे द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके एष तृतीयो वर्ग २५६, द्वयो शतयो षट्पञ्चाशदधिकयोर्वर्ग पञ्चषष्टि सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि, एष चतुर्थो वर्ग ६५५३६, एतस्य वर्गश्चत्वारि कोटीशतानि एकोनत्रिंशत्कोट्य एकोनपञ्चाशल्लक्षा‘ सप्तषष्टि‘ सहस्राणि द्वे शते षण्णवत्यधिक एष पञ्चमो वर्ग ४२९४९६७२९६, उक्तं च—" चत्तारि य कोडिसया, अउणत्तीस च होन्ति कोडीओ । अउणावन्नं लक्खा, सत्तट्ठी चेव य सहस्सा ॥ १ ॥ दो य सया छरणउया, पचमवग्गो समासओ होइ । एयस्स कतो वग्गो, छट्ठो जो होइ त वोच्छं ॥२॥ " एतस्य पञ्चमस्य वर्गस्य यो वर्ग स षष्ठो वर्ग, तस्य परिमाणमेक कोटीकोटीशतसहस्रं चतुरशीति कोटीकोटीसहस्राणि चत्वारि सप्तषष्ट्यधिकानि कोटीकोटीशतानि चतुश्चत्वारिंशत्कोटीलक्षाणि सप्तकोटीसहस्राणि त्रीणि सप्तत्यधिकानि कोटीशतानि पञ्चनवतिर्लक्षा एकपञ्चाशत्सहस्राणि षट् शतानि षोडषोत्तराणि, १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ एष षष्ठो वर्ग, उक्तं च—

‘ लक्खं कोडाकोडी, चउरासीइभवे सहस्साइं ।
चत्तारि य सत्तट्ठा, होंति सया कोडिकोडीणं ॥ १ ॥
चउयाल लक्खाइं, कोडीण सत्त चेव य सहस्सा ।
तिरिण सया सत्तयरी, कोडीण हुंति नायव्वा ॥ २ ॥
पंचाणउइं लक्खा, एकावन्न भवे सहस्साइं ।
छसोलसुत्तरसया, एसो छट्ठो हवइ वग्गो ॥ ३ ॥ " इति ।

एष षष्ठो वर्ग पञ्चमवर्गेण गुण्यते, गुणिते च सति यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणा जघन्यपदे मनुष्या, ते च एतावन्तो भवन्ति, ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ एतान्येकोनत्रिंशदङ्कस्थानानि, एतानि च कोटीकोट्यादिद्वारेण कथमपि अभिधातु न शक्यन्ते, तत पर्यन्तवर्तिनोऽङ्कस्थानादारभ्य अङ्कस्थानसग्रहमात्र पूर्वपुरुषप्रणीतेन गाथाद्वयेनाभिधीयते— छ त्तिन्नि तिन्नि सुन्न पच्चेव य नव य तिरिण चत्तारि । पचेव तिरिण नव प-च सत्त तिरणेव (तिरिण) ति चउछट्टो ॥ १ ॥ दो चउ इक्को पच, दो छक्कएकग च अट्ठेव । दो दो णव सत्तेव य, ठाणाइ उवरि हुंताइ ॥ २ ॥ " छ त्तिन्नि तिन्नि सुन्न, पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि । पचेव तिरिण नव प-ञ्च सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥ १ ॥ चउ छद्दो चउ एक्को, पण छक्केक्को य अट्ठेव । दो दो नव सत्तेव य, अकट्ठाणा पग हुना ॥ २ ॥ " इत्यनुयोगद्वारवृत्तौ) अथवाऽयमङ्कस्थानप्रथमाद्दरसङ्ग्रह ‘छत्ति तिसु पण नव ति च पातणपस ति ति चउ छदो । च(प्प)उ दो छ ए अट्ठेव—सपदुमकएगसत्तियट्ठाणा ॥ १ ॥ ' एतेषामेव एकोनत्रिंशदङ्कस्थानाना पूर्वपुरुषै पूर्वाङ्गे परिसख्यान कृत तदुपदर्शयति—तत्र चतुरशीतिर्लक्षाणि पूर्वाङ्ग चतुरशीतिर्लक्षाश्चतुरशीतिर्लक्षैर्गुण्यन्ते तत पूर्व भवति, तस्य परिमाणम्—सप्तति कोटिलक्षाणि षट्पञ्चाशत्कोटिसहस्राणि ७०५६००००००००००, एतन भागो ह्रियत तत इदमागतम्—एकादश पूर्वकोटीकोटयो द्वाविंशति पूर्वकोटिलक्षाणि चतुरशीति पूर्वकोटी—सहस्राणि अष्टादशोत्तराणि पूर्वकोटीशतानि, एकाशीति पूर्वलक्षाणि पञ्चनवति पूर्वसहस्राणि त्रीणि षट्पञ्चाशदधिकानि पूर्वशतानि, अत ऊर्ध्व पूर्वभागो न लभ्यते तत पूर्वाङ्गैर्भागहरणम् तत्रेदमागतम्—एकत्रिंशति पूर्वाङ्गलक्षाणि सप्तति पूर्वाङ्गसहस्राणि षट् एकोनपञ्चाधिकानि पूर्वाङ्गशतानि, तत ऊर्ध्व च इदमन्यत् उद्वरितमवतिष्ठते—त्र्यशीतिर्लक्षाणि पञ्चाशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि षट्त्रिंशदधिकानि मनुष्याणामिति ११२२८४११८। ८१९५३५६। २१७०६५६। तथा च पूर्वाचार्यप्रणीता अत्र गाथा —

" मणुयाण जहन्नपदे, एक्कारस पुव्वकोडिकोडीउ ।
बावीसकोडिलक्खा, कोडिसहस्साइं चुलसीइं ॥ १ ॥
अट्ठेव य कोडिसया, पुव्वाण दसुत्तरा तओ होंति ।
एकासीईलक्खा, पंचाणउइं सहस्साइं ॥ २ ॥
छप्पराणा तिन्नि सया, पुव्वाणं पुव्ववरिणया अणे ।
एत्तो पुव्वंगाइं इमाइं अहियाइं अरणाइं ॥ ३ ॥
लक्खाइं एगवीसं, पुव्वंगाण सयरिसहस्सा य ।
छच्चेवेगूणट्ठा, पुव्वंगाण सया होंति ॥ ४ ॥
तेसीयसयसहस्सा पणास खलु भवे सहस्साइं ।
तिरिण सया छत्तीसा, एवइया अविगला मणुया ॥ ५ ॥"

इति, इमामेव सख्या विशेषोपलम्भनिमित्त प्रकारान्तरेणाह—' अहव ण छरणउई छेयणगदायी रासी ' इति ' अहवणे-त्ति—प्राग्वत्, षण्णवतिच्छेदनकानि यो राशिर्ददाति स षण्णवतिच्छेदनकदायी राशि । किमुक्तं भवति ?—यो राशिरर्द्धेनार्द्धेन छिद्यमानः षण्णवति वारान् छेदं सहते पर्यन्ते च सकलमेकं रूपं पर्यवसित भवति स षण्णवतिच्छेदनकदायी राशिरिति, क पुनरेवंविध इति चेत् ?, उच्यते-एष एव षष्ठो वर्ग पञ्चमवर्गगुणित, कोऽत्र प्रत्यय इति चेत् ?, उच्यते-इह प्रथमवर्गश्छिद्यमानो द्वे छेदनके ददाति, तद्यथा-प्रथमच्छेदनक द्वौ द्वितीयमेकमिति. द्वितीयो वर्गश्चत्वारि छेदनकानि, तत्र प्रथममष्टौ द्वितीयं चत्वारस्तृतीयं द्वौ चतुर्थमेकं इति, एव तृतीयवर्गोऽष्टौ छेदनकानि प्रतीय द्वौ चतुर्थमेक इति, एव तृतीयवर्गोऽष्टौ छेदनकानि प्रयच्छति, चतुर्थ षोडश, पञ्चमो द्वात्रिंशत, षष्ठश्चतु षष्टिम् । स चैव पञ्चमवर्गेण गुणित षण्णवति, कथमेतदवसेयमिति चेत् ?, उच्यते-इह यो या वर्गो यत येन वर्गेण गुण्यते तत्र तत्र तयोर्द्वयोरपि छेदनकानि प्राप्यन्ते, यथा प्रथमवर्गेण गुणिते द्वितीयवर्गेण पद, तथाहि द्वितीयो वर्ग षोडशलक्षण प्रथमवर्गेण चतुष्करूपेण गुण्यते जाता चतु षष्टि,

तस्या प्रथम छेदनक द्वात्रिंशत्, द्वितीय षोडश, तृतीयमष्टौ, चतुर्थं चत्वार पञ्चम द्वौ षष्ठम् एक इति। एवमन्यत्रापि भावनीयम्। तत्र पञ्चमवर्गे द्वात्रिंशच्छेदनकानि षष्ठे चतु षष्टिः। ततः पञ्चमवर्गेण षष्ठे वर्गे गुणिते षण्णवतिच्छेदनकानि प्राप्यन्ते। अथवा-एक रूपं स्थापयित्वा तत षण्णवतिवारान् द्विगुणद्विगुणीक्रियते, कृतं च सत् यद तावत्प्रमाणो राशिर्भवति ततोऽवसानव्यम् एष षण्णवतिच्छेदनकदायी राशिरिति। तदेव जघन्यपदमभिहितम्। इदानीमुत्कृष्टपदमाह—' उक्कोसपए असंखेज्जा ' इत्यादि, उत्कृष्टपदे ये मनुष्या भवन्ति ते असंख्येया .तत्रापि कालत परिमाणचिन्तायां प्रतिसमयमेकैकमनुष्यापहारे सामस्त्येनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते. क्षेत्रतो रूपे प्रक्षिप्ते मनुष्यैरेका श्रेणि' परिपूर्णाऽपह्रियते। किमुक्त भवति ?—उत्कृष्टपदे ये मनुष्यास्तेषु मध्य एकस्मिन्नसत्कल्पनया रूप प्रक्षिप्ते सकलाऽपि श्रेणिरेकाऽपह्रियंत, तस्याश्च श्रेणे क्षेत्रकालाभ्यामपहारमार्गणा कालतस्तावदसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभि क्षेत्रतोऽङ्गुलप्रथमवर्गमूल तृतीयवर्गमूलप्रत्युत्पन्नम्। किमुक्त भवति ?—अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्तस्य यत्प्रथमं वर्गमूलमसत्कल्पनया षोडशलक्षणम, ततस्तृतीयेन वर्गमूलेनासत्कल्पनया द्विकलक्षणेन गुण्यत्त, गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति असत्कल्पनया द्वात्रिंशत एतावत्प्रमाणैः खण्डैरपह्रियमाणा यावत् श्रेणिर्निष्ठामियर्त्ति तावत् मनुष्या अपि निष्ठामुपयान्ति। आह—कथमेकस्या श्रेणेर्यथोक्तप्रमाणैः खण्डैरपह्रियमाणाया असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो लगन्ति ? उच्यते—क्षेत्रस्यातिसूक्ष्मत्वात्, उक्त च सूत्रेऽपि—" सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयर हवइ खेत्त। अंगुलसेढीमित्ते, उस्सप्पिणीओ असंखेज्जा ॥ १ ॥" इति मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् वैक्रियाणि बद्धानि संख्येयानि, गर्भव्युत्क्रान्तिकानामेव केषांचित् वैक्रियलब्धिसंभवात् मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् आहारकाण्यौधिकाहारकवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, व्यन्तराणामौदारिकाणि यथा नैरयिकाणां वैक्रियाणि बद्धान्यसंख्येयानि। तत्र कालत परिमाणचिन्ताया प्रतिसमयमेकैकापहारे असंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते. क्षेत्रतोऽसंख्येया श्रेणय, असंख्यातासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीति भाव। ताश्च श्रेणय कियत्य इति चेत् ? उच्यते—प्रतरस्यासंख्येयो भाग, प्रतरासंख्येयभागप्रमिता इत्यर्थ, तथा चाह—' वेउव्वियसरीरा जहा नेरइयाण ' मिति—वैक्रियशरीराणि व्यन्तराणा यथा नैरयिकाणाम्, केवल सूच्या विशेष। तथा चाह—' नवर ' मित्यादि नवर तासा श्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्वक्तव्येति शेष, सा च सुप्रसिद्धत्वान्नोक्ता। कथ सुप्रसिद्धेति चेत् ? उच्यते-इह महादण्डके पञ्चेन्द्रियतिर्यग्नपुंसकेभ्योऽसंख्येयगुणहीना व्यन्तरा पठ्यन्ते, तत एषा विष्कम्भसूचिरपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविष्कम्भसूचेरसंख्येयगुणहीना द्रष्टव्या इति आह च मूलटीकाकारोऽपि—' जम्हा महादंडए पंचिंदियतिरियनपुंसएहिंतो असंखेज्जगुणहीना वाणमंतरा पढिज्जंति, तम्हा विक्खंभसूई वि तेहिंतो असंखेज्जगुणहीणा चेव भाणियव्वा ' इति, सम्प्रति प्रतिभाग उच्यते—प्रतिभागो नाम खण्डम् ' संखेज्जजोयणसयवग्गपलिभागो पयरस्स ' इति संख्येययोजनशतवर्गप्रमाण प्रतिभाग प्रतरस्य पूरणे अपहरणे वा इति वाक्यशेष। इयमत्र भावना—असंख्येययोजनशतवर्गप्रमाणे श्रेणिखण्डे यदि एकैको व्यन्तर स्थाप्यते ततस्ते सकलमपि प्रतरमापूरयन्ति, यदि वा—यद्येकैकव्यन्तरापहारे एकैक संख्येययोजनशतवर्गप्रमाणं श्रेणिखण्डमपह्रियते तत एकत्र व्यन्तरा निष्ठा यान्ति परत. सकलं प्रतरमिति। मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् आहारकाणि नैरयिकवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धवैक्रियवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्। ज्योतिष्काणामौदारिकाणि नैरयिकवत्, वैक्रियाणि बद्धान्यसंख्येयानि। तत्र कालतो मार्गणायां प्रतिसमयमेकैकापहारे सामस्त्येनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते। क्षेत्रतोऽसंख्येया. श्रेणय, ताश्च श्रेणय प्रतरासंख्येयभागप्रमिता। तथा चाह—' जोइसियाणं एव चेव ' इति, नवरमित्यादिना विशेषं दर्शयति—नवर तासा श्रेणीना विष्कम्भसूचिर्वक्तव्येति शेष। इयमपि सुप्रसिद्धत्वान्नोक्ता. कथमिय सुप्रसिद्धेति चेत् ?. उच्यते—यस्मान्महादण्डके व्यन्तरेभ्यो ज्योतिष्का संख्येयगुणा उक्तास्तत एतेषा विष्कम्भसूचिरपि तेषा विष्कम्भसूचे संख्येयगुणा द्रष्टव्या। तथा चाह—मूलटीकाकार— ' जम्हा वाणमंतरेहिंतो जोइसिया संखिज्जगुणा पढिज्जंति, तम्हा विक्खंभसूई वि तेसिं तेहिंतो संखेज्जगुणा चेव भवति, ' इति नवरं प्रतिभागे स्पष्टतरो विशेषस्तमेवाह—' बिछप्पन्नगुलसयवग्गपलिभागो पयरस्स ' इति षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलवर्गप्रमाण प्रतिभाग प्रतरस्य पूरणेऽपहरणे च। अत्रापीय भावना—षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलवर्गप्रमाणे श्रेणिखण्डे यद्येकैको ज्योतिष्कोऽवस्थाप्यते ततस्ते सकलमपि प्रतरमापूरयन्ति, यदिवा-यद्येकैकज्योतिष्कापहारेण एकैकं षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलवर्गप्रमाण श्रेणिखण्डमपह्रियते तत एकत्र ज्योतिष्का परिसमाप्तिमुपयान्ति अपरत्र सकल प्रतरमिति, एव च ज्योतिष्काणां व्यन्तरेभ्य संख्येयगुणहीन प्रतिभाग संख्येयगुणाभ्यधिका सूचि। पञ्चसंग्रह पुन षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाण एव प्रतिभाग उक्तो न तु षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयवर्गप्रमाण, तथा च तद्ग्रन्थ "छप्पन्नदोसयगुल-सइपएसेहिं भाइओ पयर। जोइसिएहिं हीरइ" इति. मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, आहारकाणि नैरयिकवत्. तैजसकार्मणानि बद्धानि वैक्रियवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्। वैमानिकानामौदारिकाणि नैरयिकवत् वैक्रियाणि बद्धानि असंख्येयानि, तत्र कालतो मार्गणा ज्योतिष्कवत्, क्षेत्रतो मार्गणाऽसंख्येया. श्रेणय. किमुक्तं भवति ?—असंख्येयासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीति, तासा च श्रेणीनां परिमाण प्रतरस्यासंख्येयो भाग., प्रतरासंख्येयभागप्रमिता ग्राह्या इत्यर्थ। तत्र प्रतरासंख्येयभागो नैरयिकादिमार्गणास्वपि गृहीत इति विशेषतर परिमाणं प्रतिपादयति—' तासि णं ' मित्यादि.

तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिरङ्गुलद्वितीयवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलप्रत्युत्पन्नम् । एतदुक्तं भवति-अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्य यद् द्वितीयं वर्गमूलम्, असत्कल्पनया चतुष्कलक्षणं, तत्तृतीयेन वर्गमूलेन, असत्कल्पनया द्विकरूपेण गुण्यते गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति, असत्कल्पनया अष्टौ तावत्प्रदेशात्मिकया विष्कम्भसूच्या परिमिता श्रेणय परिमातव्या । तत्रापि ता एव अष्टौ श्रेणय इति प्रकारद्वयेऽप्यर्थो भेद । आहारकाणि नैरयिकवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धवैक्रियवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् । प्रज्ञा० १२ पद । भ० ।

(९) संग्रह.—

विहिसंठाणपमाणे, पोग्गलचिणणा सरीरसंजोगो ।
दव्वपएसऽप्पबहुं, सरीरओगाहणऽप्पबहुं ॥ १ ॥

' विहिसंठाणपमाणे ' इत्यादि प्रथमं विधया—भेदा शरीराणा वक्तव्या, तदनन्तरं संस्थानानि तत प्रमाणानि, तदनन्तर, कतिभ्यो दिग्भ्य शरीराणा पुद्गलोपचयो भवतीत्येव पुद्गलचयन वक्तव्यं, तत कस्मिन् शरीरे सति किं शरीरमवश्यंभावीत्येवंरूप परस्परसंयोगो वक्तव्य, ततो द्रव्याणि च प्रदेशाश्च द्रव्यप्रदेशा ते च द्रव्याणि च प्रदेशाश्च द्रव्यप्रदेशा । 'समानानामेकशेष ' इत्येकशेषस्तैरल्पबहुत्व वक्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?—द्रव्यार्थतया प्रदेशार्थतया द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया च पञ्चानामपि शरीराणामल्पबहुत्वमभिधातव्यमिति, तत पञ्चानामपि शरीराणामवगाहनाविषयमल्पबहुत्व वाच्यमिति गाथासंक्षेपार्थ ।

(१०) तत्र यथोद्देश निर्देश इति प्रथमतो विधिद्वारमाभिधित्सुरादौ शरीरमूलभेदान् प्रतिपादयति—

कति णं भंते ! सरीरया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच सरीरेया पण्णत्ता, तं जहा–ओरालिए १ वेउव्विए २ आहारेए ३ तेयए ४ कम्मए ५ । (२६७ ×)

'कइ ण भंते ! ' इत्यादि, कति—किंपरिमाणानि णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त ! शीर्यन्ते—प्रतिक्षणं विशराहभाव बिभ्रतीति शरीराणि शरीराण्येव शरीरकाणि, स्वार्थे कप्रत्यय, भगवानाह–गौतम ! पञ्च शरीराणि प्रज्ञप्तानि मया अन्यैश्च शेषै तीर्थकृद्भि, तान्येव नामत आह—' ओरालिए ' इत्यादि उदारं प्रधानं,प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीराण्यधिकृत्य, ततोऽन्यस्यानुत्तरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा-उदार सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाण, बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथा उत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते । उदारमेव औदारिकं विनयादिपाठादिकण्, तथा विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भव वैक्रियम् । तथाहि—तदेक भूत्वा अनेकं भवति, अनेक भूत्वा एकं, तथा अणु भूत्वा महद्भवति महच्च भूत्वा अणु तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति भूमिचरं भूत्वा खचर, तथा दृश्यं भूत्वा अदृश्यं भवति अदृश्य भूत्वा दृश्यमित्यादि, तच्च द्विविधम्—औपपातिकं, लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिर्मितं तच्च देवनारकाणां, लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणां, तथा ' आहारए ' इति—आहारकं चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकं तथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते-निर्वर्त्यते इत्याहारकम्, 'कृद्बहुलं ' मिति वचनात् कर्मणि ण्वुल्, यथा पादहारक इत्यत्र । उक्तं च—" कज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए । जं एत्थ आहरिज्जइ, भणियं आहारगं तं तु ॥ १ ॥ " कार्यं चेदम्— " पाणिदयरिद्धिदंसण-सुहुमपयत्थावगहणहेउं वा । संसयवोच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि ॥ २ ॥ " तच्च वैक्रियशरीरापेक्षया अत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकं, तेजसा—तैजसं तेजस —तेजःपुद्गलाना विकारस्तैजसं ' विकारे ' इत्यण्, तत ऊष्मलिङ्गं भुक्ताहारपरिणमनकारणं, तद्वशाच्च विशिष्टतप,समुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गम उक्तं च–" सव्वस्स उम्हसिद्धं, रसाइआहारपाकजणगं च । तेयगलद्धिनिमित्तं, च तेयगं होइ नायव्वं ॥ १ ॥ " ' कम्मए ' इति—कर्मणो जातं कर्मजम् । प्रज्ञा० २१ पद ।

(११ जीवस्पृष्टानि वैक्रियादीनि शरीराणि—

चत्तारि सरीरगा जीवफुडा पण्णत्ता, तं जहा–वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए ।

' चत्तारि ' त्यादि व्यक्तं, किन्तु जीवेन स्पृष्टानि—व्याप्तानि जीवस्पृष्टानि, जीवेन हि स्पृष्टान्येव वैक्रियादीनि भवन्ति, न तु यथा औदारिकं जीवमुक्तमपि भवति मृतावस्थायां तथैतानीति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

(१२) कति महालयानि पृथ्वीशरीराणि—

के महालए णं भंते ! पुढविसरीरे पन्नत्ते ?, गोयमा ! अणंताणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमवाउसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमवाउसरीराणं जावतिया सरीरा से एगे सुहुमतेउसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमतेउकाइयसरीराणं जावतिया सरीरा से एगे सुहुमे आउसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमआउकाइयसरीराणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमे पुढविसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमपुढविकाइयसरीराणं जावइया सरीरा से एगे बादरवाउसरीरे, असंखेज्जाणं बादरवाउकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे बादरतेउसरीरे, असंखेज्जाणं बादरतेउकाइयाणं जावतिया सरीरा से एगे बादरआउसरीरे, असंखेज्जाणं बादरआउसरीरे जावतिया सरीरा से एगे बादरपुढविसरीरे, एमहालए णं गोयमा ! पुढविसरीरे पन्नत्ते । (सू० ६५२×)

'के महालए ण मित्यादि, 'अणंताणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमवाउसरीरे' त्ति-इह यावद्ग्रहणेनासंख्यातानि शरीराणि ग्राह्याणि अनन्तानामपि वनस्पतीनामेकाद्यसंख्येयान्तशरीरत्वाद् अनन्तानां च तच्छरीराणामभावात् प्राक् च सूक्ष्मवनस्पत्यवगाहनाऽपेक्षया सूक्ष्मवाय्ववगाहनाया असंख्यातगुणत्वेनोक्तत्वादिति, 'असंखेज्जाणं,मि-

त्यादि. 'सुहुमवाउसरीराणं'ति-वायुरेव शरीरं येषां ते तथा सूक्ष्माश्च ते वायुशरीराश्च—वायुकायिकाः सूक्ष्मवायुशरीरास्तेषामसंख्येयानां 'सुहुमवाउकाइयाणं' ति-क्वचित्पाठ स च प्रतीत एव, 'जावइया सरीर'त्ति-यावन्ति शरीराणि प्रत्येकशरीरत्वात्तेषामसङ्ख्येयान्येव 'से एगे सुहुमे तेउसरीरे'त्ति-तदेक सूक्ष्मतेजः शरीरं तावच्छरीरप्रमाणमित्यर्थ । भ० १६ श० ३ उ० ।

(१३) संप्रत्यौदारिकशरीरस्य जीवजातिभेदतो-ऽवस्थाभेदतश्च भेदानाभिधित्सुराह—

ओरालि सरीरे णं भंते ! किंसंठिते पन्नत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिते पएणत्ते, एगिंदियओरालियसरीरे किंसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिते पएणत्ते, पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीरे किंसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं सुहुमपुढवीकाइयाण वि, बादराण वि एवं चेव, पज्जत्ताऽपज्जत्ताण वि एवं चेव । आउकाइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! थिबुकबिंदुसंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं सुहुमबादरपज्जत्तापज्जत्ताण वि, तेउकाइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पएणत्ते ? गोयमा ! सूईकलावसंठाणसंठिते पएणत्ते ?, एवं सुहुमबादरपज्जत्तापज्जत्ताण वि, वाउकाइयाण वि, पडागासंठाणसंठिते, एवं सुहुमबादरपज्जत्तापज्जत्ताण वि, वणप्फइकाइयाण णाणासंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं सुहुमबादरपज्जत्तापज्जत्ताण वि । बेइंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पएणत्ते?. गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि, एवं तेइंदियचउरिंदियाण वि । पंचिंदियतिरिक्खजोणियपंचिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पएणत्ते, ?, गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिते पएणत्ते, तं जहा-समचतुरंससंठाणसंठिते० जाव हुंडसंठाणसंठिते वि, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि ३, संमुच्छिमतिरिक्खजोणियपंचिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि, गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियाण वि पंचिंदियतिरिक्खजोणियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिते पएणत्ते, तं जहा-समचउरंसे० जाव हुंडसंठाणसंठिते, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि ३, एवमेते तिरिक्खजोणियाणं ओहियाणं णव आलावगा जलयरपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं ओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिते पएणत्ते, तं जहा-समचउरंसे ०जाव हुंडे, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि, संमुच्छिमजलयरा हुंडसंठाणसंठिता, एतेसिं चेव पज्जत्ता वि अपज्जत्तगा वि, एवं चेव गब्भवक्कंतियजलयरा छव्विहसंठाणसंठिता, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि, एवं थलयराण वि णव सुत्ताणि, एवं चउप्पयथलयराण वि, उरपरिसप्पथलयराण वि, भुयपरिसप्पथलयराण वि, एवं खहयराण वि णव सुत्ताणि, नवरं सव्वत्थ सम्मुच्छिमा हुंडसंठाणसंठिता भाणितव्वा, इयरे छसु वि । मणूसपंचिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिते पएणत्ते, तं जहा-समचउरंसे ० जाव हुंडे, पज्जत्तापज्जत्ताण वि एवं चेव, गब्भवक्कंतियाण वि एवं चेव, पज्जत्तापज्जत्ताण वि एवं चेव । सम्मुच्छिमाणं पुच्छा गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिता पएणत्ता । (सू० २६८)

'ओरालियसरीरे णं भंते !' इत्यादि, नानासंस्थानसंस्थितं जीवजातिभेदत संस्थानभेदभावात्, एकेन्द्रियौदारिकशरीरे नानासंस्थानसंस्थितता पृथिव्यादिषु प्रत्येकं संस्थानभेदात्, तत्र पृथिवीकायिकाना सूक्ष्माणा बादराणां पर्याप्तानामपर्याप्ताना चौदारिकशरीराणि मसूरचन्द्रसंस्थानसंस्थितानि, मसूरो—धान्यविशेषः तस्य चन्द्रः—चन्द्राकारमर्द्धदलं तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितानि, अप्कायिकाना सूक्ष्मादिभेदत चतुर्भेदानामौदारिकशरीराणि स्तिबुकबिन्दुसंस्थानसंस्थितानि, स्तिबुकाकारो यो बिन्दुर्न पुनरितस्ततो वातादिना विक्षिप्त स्तिबुकबिन्दुस्तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितानि, तैजसकायिकानां सूक्ष्मादिभेदतश्चतुर्भेदानामौदारिकशरीराणि सूचिकलापसंस्थानसंस्थितानि, वायुकायिकानां सूक्ष्मादिभेदतश्चतुर्भेदानामौदारिकशरीराणि पताकासंस्थानसंस्थितानि, वनस्पतिकायिकाना सूक्ष्माणां बादराणां पर्याप्तानामपर्याप्तानां च प्रत्येकमौदारिकशरीराणि नानासंस्थानसंस्थितानि, देशकालजातिभेदत तेषा संस्थानानामनेकभेदभिन्नत्वात्, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं पर्याप्तानामपर्याप्तानामौदारिकशरीराणि हुण्डसंस्थानसंस्थितानि, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं सामान्यत षड्विधसंस्थानसंस्थितम्, तदेवोपदर्शयति—' समचउरंससंठाणसंठिए ' इत्यादि, ' यावत्करणात्—' नग्गोहपरिमण्डलसंठाणसंठिए साइसंठाणसंठिए वामणसंठाणसंठिए खुज्जसंठाणसंठिए हुण्डसंठाणसंठिए ' इति परिग्रहः, तत्र समा—सामुद्रिकशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयः—चतुर्दिग्विभागोपलक्षिता शरीरावयवा यस्य तत्समचतुरस्रं, समासान्तोऽच्प्रत्यय, समचतुरस्रं च तत्संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानं तेन संस्थितं समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं, तथा न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य तत् न्यग्रोधपरिमण्डलं यथा न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णप्रमाणोऽधस्तु हीन तथा यत्संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णप्रमाणम् अधस्तु न तथा तत् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, तथा सादिरिहोत्सेधाख्यो नाभेरधस्तनो देहभागो-

यतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे वि थलयरसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे वि खहयरसंखिज्ज०गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे वि, जइ जलयरसंखिज्जवासाउयग० किंपज्जत्तगजलयरसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजो० वेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगजलयरसंखिज्जवा० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे य ?, गोयमा ! पज्जत्तगजलयरसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे नो अपज्जत्तगसंखिज्ज० जलयरगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे । जति थलयरपंचिंदिय०जाव सरीरे किं चउप्पय०जाव सरीरे किं परिसप्प० जाव सरीरे ?,गोयमा ! चउप्पय०जाव संखिज्ज०परिसप्प० जाव सरीरे, एवं सव्वेसिं णेयव्वं० जाव खहयराणं पज्जत्ताणं नो अपज्जत्ताणं । जति मणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं संमुच्छिममणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! णो संमुच्छिममणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे । जइ गब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे अकम्मभूमग०गब्भवक्कंतिमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?,गोयमा! कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णो अकम्मभूमग०णो अंतरदीवग०जइ कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसवेउव्वियसरीरे, असंखिज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?,गोयमा! संखेज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे नो असंखेज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे, जति संखज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे, किं पज्जत्तयसंखेज्ज ०कम्मभूम० मणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगसंखिज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तगसंखिज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे नो अपज्जत्तगसंखेज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे। जइ देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे० जाव वेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि० जाव वेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि । जइ भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं असुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे० जाव थणियकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! असुरकुमार० जाव थणियकुमारवेउव्वियसरीरे वि । जइ असुरकुमारदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि अपज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि, एवं० जाव थणियकुमाराण दुगतो भेदो, एवं वाणमंतराणं अट्ठविहाणं जोतिसियाणं पंचविहाणं । वेमाणिया दुविहा-कप्पोवगा, कप्पातीता य । कप्पोवगा बारसविहा तेसिं पि एवं चेव दुहतो भेदो, कप्पातीता दुविहा गेवेज्जगा य, अणुत्तरोववाइया य । गेवेज्जगा णवविहा अणुत्तरोववाइया पंचविहा, एतेसिं पज्जत्तापज्जत्ताभिलावेणं दुगतो भेदो भाणियव्वो । (सू०-२७०)

'वेउव्वियसरीरे णं भंते !' इत्यादि, वैक्रियशरीरं मूलतो द्विभेदम्—एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्, तत्रैकेन्द्रियस्य वातकायस्य तत्रापि बादरस्य तत्रापि पर्याप्तस्य, शेषस्य वैक्रियलब्ध्यसम्भवात्। उक्तं च—" तिण्हं ताव रासीण वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, बायरपज्जत्ताण पि संखज्जइभागमेत्ताणं " अत्र 'तिण्हं' ति—त्रयाणां पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादररूपाणाम। पञ्चेन्द्रियचिन्तायामपि जलचरचतुष्पदोरःपरिसर्पभुजपरिसर्पखचरान् मनुष्यांश्च गर्भव्युत्क्रान्तिकान् सङ्ख्येयवर्षायुषो मुक्त्वा शेषाणां प्रतिषेधः, भवस्वभावतया तेषां वैक्रियलब्ध्यसम्भवात्। उक्ता भेदाः ।

(१५) संस्थानान्यभिधित्सुराह—

वेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पन्नत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिते पण्णत्ते, वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पन्नत्ते?, गोयमा ! पडागासंठाणसंठिते पण्णत्ते, नेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पन्नत्ते ?, गोयमा ! नेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे दुविधे पन्नत्ते, तं जहा-भवधारणिज्जे य, उत्तरवेउव्विए य । तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं हुंडसंठाणसंठिते पन्नत्ते, तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विते से वि हुंडसंठाणसंठिते पण्णत्ते । रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किं संठाणसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! रयणप्पभापुढविनेरइयाणं दुविधे सरीरे पन्नत्ते, तं जहा-भवधारणिज्जे य, उत्तरवेउव्विए य । तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं हुंडसंठाणसंठिते, जे से उत्तरवेउव्विते से वि हुंडे, एवं ०जाव

अधेसत्तमापुढविनेरइयवेउव्वियसरीरे । तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किं संठाणसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं जलयरथलयरखहयराण वि, थलयराण वि चउप्पयपरिसप्पाण वि उरपरिसप्पभुयपरिसप्पाण वि । एवं मणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि । असुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहे सरीरे पएणत्ते, तं जहा-भवधारणिज्जे य, उत्तरवेउव्विते य। तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं समचउरंससंठाणसंठिते पण्णत्ते, तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विते से णं णाणासंठाणसंठिते पण्णत्ते एवं ०जाव थणियकुमारदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे। एवं वाणमंतराण वि, णवरं ओहिया वाणमंतरा पुच्छिज्जंति, एवं जोतिसियाण वि ओहियाणं, एवं सोहम्मे कप्पे ०जाव अच्चुयदेवसरीरे, गेवेज्जकप्पातीतवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! गेवेज्जगदेवाणं एगे भवधारणिज्जे सरीरे, से णं समचउरंससंठाणसंठिते पण्णत्ते, एवं अणुत्तरोववाइयाण वि। (सू० २७१)

'वेउव्वियसरीरे णं भंते!' इत्यादि सुगमं, नवरं नैरयिकाणां भवधारणीयमुत्तरवैक्रियं च हुण्डसंस्थानमत्यन्तांक्लिष्टकर्मोदयवशात्, तथाहि—तेषां भवधारणीयं शरीरं भवस्वाभवत एव निर्मूलविलुप्तपक्षोत्पाटितसकलग्रीवादिरोमपक्षिसंस्थानवदतीव बीभत्सं हुण्डसंस्थानं, यदप्युत्तरवैक्रियं तदपि वयं शुभं करिष्याम इत्यभिसन्धिना कर्तुमारब्धमपि त थाविधात्यन्ताशुभनामकर्मोदयवशादतीवाशुभतरमुपजायते इति हुण्डसंस्थानम्। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च वैक्रियं नानासंस्थानसंस्थितमिच्छावशतः प्रवृत्तेः दशविधभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्माद्यच्युतपर्यवसानवैमानिकानां भवधारणीयं भवस्वभावतया तथाविधशुभनामकर्मोदयवशात् प्रत्येकं सर्वेषां समचतुरस्रसंस्थानम्, उत्तरवैक्रियं त्विच्छानुरोधतः प्रवृत्तेर्नानासंस्थानसंस्थितं, ग्रैवेयकाणामनुत्तरोपपातिनां चोत्तरवैक्रियं न भवति, प्रयोजनाभावात्। उत्तरवैक्रियं ह्यत्र गमनागमननिमित्तं परिचारणानिमित्तं वा क्रियते, न चैतेषामेतदस्ति। यत्तु भवधारणीयमेतेषां तत्समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितमिति। उक्तानि स्थानानि। (वैक्रियशरीरस्यावगाहना 'ओगाहणा' शब्दे ३ भागे ७८पृष्ठे गता।

(१६) संप्रत्याहारकशरीरस्य प्रतिपिपादयिषुराह—

आहारगसरीरे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?, गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते, जइ एगागारे किं मणूसआहारगसरीरे, अमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! मणूसआहारगसरीरे नो अमणूसआहारगसरीरे जइ मणूसआहारगसरीरे किं सम्मुच्छिममणूसआहारगसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! नो सम्मुच्छिममणूसआहारगसरीरे, गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे। जइ गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे नो अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, जइ कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, किं संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, असंखेज्जवासाउयकम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, गोयमा ! संखिज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो असंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, जति संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, अपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारयसरीरे, नो अपज्जत्तकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, जइ पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ? किं सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे मिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, सम्मामिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे नो सम्मामिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे जइ सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, किं संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, संखेज० कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, असंजतसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे संजयासंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो असंजतसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयमणूसआहारगसरीरे, नो संजतासंजतसम्मद्दिट्ठिआहा-

रमसरीरे जइ संजतसम्मद्दिट्ठिपज्जतगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, किं पमत्तसंजतसम्मद्दिट्ठिमणूसआहारगसरीरे, अप्पमत्तसंजतसम्मद्दिट्ठिसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मद्दिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो अप्पमत्तसंखेज्जमासाउयसम्मद्दिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, जइ अप्पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मद्दिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगमणूसआहारगसरीरे, किं इड्ढिपत्तप्पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मद्दिट्ठिकम्मभूमगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, अणिड्ढिपत्तपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियआहारगसरीरे, गोयमा ! इड्ढिपत्तप्पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मद्दिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो अणिड्ढिपत्तपमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मद्दिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, आहारगसरीरे णं भंते ! किं संठिते पण्णत्ते । गोयमा ! समचउरंससंठाणसंठिते पण्णत्ते । (सू० २७२+)

'आहारगसरीरे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ' इत्यादि सुगमं, नवरं ' संजय ' त्ति—' यम् ' उपरमे , सयच्छन्ति स्म सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमन्ति स्मेति संयताः , ' गत्यर्थनित्याकर्मका ' दिति कर्त्तरि क्तप्रत्ययः , सकलचारित्रिणः , असंयता—अविरतसम्यग्दृष्टयः संयतासंयता—देशविरतिमन्त , तथा ' पमत्त ' त्ति—प्रमाद्यन्ति स्म मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः सञ्ज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगत. संयमयोगेषु सीदन्ति स्म प्रमत्ताः, पूर्ववत्कर्त्तरि क्तप्रत्ययः , ते च प्रायो गच्छवासिनस्तेषां क्वचिदनुपयोगसम्भवात् , तद्विपरीता अप्रमत्ताः , ते च प्रायो जिनकल्पिकपरिहारविशुद्धिकयथालन्दकल्पिकप्रतिमाप्रतिपन्नास्तेषा सततोपयोगसम्भवात् । इह जिनकल्पिकादयो लब्धि नोपजीवन्ति , तेषां तथाकल्पत्वात् , येऽपि च गच्छवासिन आहारकशरीरं कुर्वन्ति तेऽपि तदानीं लब्ध्युपजीवनेनौत्सुक्यभावतः प्रमादवन्तो , मोचनेऽपि च प्रमादवन्त', आत्मप्रदेशानामौदारिकशरीरे सर्वात्मनोपसंहरणेन व्याकुलीभावात् । आहारकशरीरे चान्तर्मुहूर्त्तावस्थानं ,ततो यद्यपि तन्मध्यभागे कियत्कालं मनाक् विशुद्धिभावतः कार्मग्रन्थिकैरप्रमत्ततोपवर्ण्यते तथापि सलब्ध्युपजीवनेन प्रमत्त एवेत्यप्रत्तस्य 'नो अपमत्तसंजए' इत्यादिना प्रतिषेध. कृतः । ' इड्ढिपत्त ' त्ति—ऋद्धी.—आमर्षौषध्यादिलक्षणा. प्राप्तः ऋद्धिप्राप्तस्तद्विपरीतोऽनृद्धिप्राप्त , ऋद्धीश्च प्राप्नोति प्रथमतो विशिष्टमुत्तरोत्तरमपूर्वापूर्वार्थप्रतिपादकश्रुतमवगाहमान श्रुतसामर्थ्यतस्तीव्रतीव्रतरशुभभावनामधिरोहन् अप्रमत्त सन् । उक्त च—

"अवगाहते च स श्रुत-जलधिं प्राप्नोति चावधिज्ञानम् ।
मानसपर्याय वा , ज्ञानं कोष्ठादिबुद्धिर्वा ॥ १ ॥
चारणवैक्रियसर्वौ—षधिताद्या वाऽपि लब्धयस्तस्य ।
प्रादुर्भवन्ति गुणतो , बलानि वा मानसादीनि ॥ २ ॥ "

अत्र ' स ' इति—अप्रमत्तसंयत , मानसपर्यायमिति—मानसा'—मनसः सम्बन्धिनः पर्याया—विषया यस्य तन्मानसपर्यायं मन पर्यायज्ञानमित्यर्थः , कोष्ठादिबुद्धिर्वा इत्यात्रादिशब्दात् पदानुसारिबीजपरिग्रह.। तिस्रो हि बुद्धयः परमातिशयरूपाः प्रवचने प्रतिपाद्यन्ते , तद्यथा—कोष्ठबुद्धि. १ , पदानुसारिबुद्धि· २ , बीजबुद्धि ३ श्च । तत्र कोष्ठक इव धान्यं या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थानौ च सूत्रार्थौ धारयति न किमपि तयो. कालान्तरे गलति सा कोष्ठबुद्धि. १ , या पुनरेकमपि सूत्रपदमवधार्य शेषमश्रुतमपि तदवस्थमेव श्रुतमवगाहते सा पदानुसारिणी २, या पुनरेकमर्थपद तथाविधमनुसृत्य शेषमश्रुतमपि यथावस्थित प्रभूतमर्थमवगाहते सा बीजबुद्धि ३, सा च सर्वोत्तमप्रकर्षप्राप्ता भगवता गणभृताम् । ते हि उत्पादादिपदत्रयमवधार्य सकलमपि द्वादशाङ्गात्मकं प्रवचनमभिसूत्रयन्ति तथा , चारणाश्च वैक्रियं च सर्वौषध्यश्च तद्भावश्च चारणवैक्रियसर्वौषधिता , तत्र चरणं—गमन तद्विद्यते येषां ते चारणा. ' ज्योत्स्नादिभ्योऽण् ' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः , तत्र गमनमन्येषामपि मुनीनां विद्यते ततो विशेषणान्यथानुपपत्त्या चरणमिह विशिष्टं गमनमभिगृह्यते , अत एव चातिशायने मत्वर्थीय. , यथा—रूपवती कन्या इत्यत्र । ततोऽयमर्थ—अतिशायिचरणसमर्थाश्चारणा , आह च भाष्यकृत् स्वकृतभाष्यटीकायाम्-" अतिशयचरणाच्चारणाः। अतिशयगमनादित्यर्थः , " ते च (त) द्विविधा-जङ्घाचारणाः , विद्याचारणाश्च । तत्र ये चारित्रतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनविषयलब्धिविशेषास्ते जङ्घाचारणाः , ये पुनर्विद्यावशत. समुत्पन्नगमनलब्ध्यतिशयास्ते विद्याचारणाः, जङ्घाचारणाश्च रुचकवरद्वीप यावत् गन्तु समर्थाः, विद्याचारणा नन्दीश्वरम् । तत्र जङ्घाचारणा यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छवस्तत्र रविकरानपि निश्रीकृत्य गच्छन्ति , विद्याचारणास्त्वेवमेव । जङ्घाचारणश्च रूचकवरद्वीपं गच्छन् एकेनैवोत्पातेन गच्छति , प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति द्वितीयेन स्वस्थानम् , यदि पुनर्मेरुशिखरं जिगमिषुस्तर्हि प्रथमेनैवोत्पातेन पण्डकवनमधिरोहति प्रतिनिवर्त्तमानस्तु प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनमागच्छति द्वितीयेन स्वस्थानमिति , जङ्घाचारिणो हि चारित्रातिशयप्रभावतो भवन्ति , ततो लब्ध्युपजीवनेन औत्सुक्यभावत. प्रमादसम्भवाच्चारित्रातिशयनिबन्धना लब्धि. परिहीयते , तत प्रतिनिवर्त्तमानो द्वाभ्यामुत्पाताभ्यां स्वभुवमायाति, विद्याचारण. पुन. प्रथमेनोत्पातेन मानुषोत्तरं पर्वतं गच्छति द्वितीयेन तु नन्दीश्वरं, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायातीति।तथा स एवोर्ध्वं गच्छन् प्रथमोत्पातेन नन्दनवनं गच्छति द्वितीयेनोत्पातेन पण्डकवन, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायातीति विद्याचारणो विद्यावशतो भवति,विद्या च परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते,अत. प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्त्य-

तिशयसम्भवादेकेनोत्पातेन स्वस्थानाऽऽगमनमिति । उक्तं च-

" अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहि चारणा मुणओ ।
जंघाहि जाइ पढमो, नीसं काउं रविकरे वि ॥ १ ॥
एगुप्पाएण गओ, रुयगवरम्मि उ तओ पडिनियत्तो ।
बिइएण नंदीसर—मिहं तओ एइ तइएण ॥ २ ॥
पढमेणं पंडगवणं बिइउप्पाएण नंदणं एइ ।
तइउप्पाएण तओ, इह जंघाचारणो एइ ॥ ३ ॥
पढमेण माणुसोत्तर-नगं स नंदिस्सरं तु बिइएण ।
एइ तओ तइएणं, कयचेइयवंदणो इहइं ॥ ४ ॥
पढमेणं नंदणवणे, बिइउप्पाएण पंडगवणम्मि ।
एइ इहं तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ ॥ ५ ॥ "

तथा सर्व-विड्मूत्रादिकमौषधं यस्य स सर्वौषधः । किमुक्तं भवति ?-यस्य * मूत्रं विट् श्लेष्मा शरीरमलो वा रोगोपशमसमर्थो भवति स सर्वौषधः, आदिशब्दादामर्षौषध्यादिलब्धिपरिग्रहः । एताश्च ऋद्धीरप्रमत्तः सन् प्राप्य पश्चात् प्रमत्तो भवति, तेनैवेह प्रयोजनम्, ननु उक्तम् ' इड्डिपत्तपमत्तसंजये'त्यादि, आह-मनुष्यस्याहारकशरीरमित्युक्ते सामर्थ्यादमनुष्यस्य नाहारकशरीरमित्यवसीयते तत् कस्मादुच्यते ' नो अमणुस्साहारगसरीरे'इत्यादि ? निरर्थकत्वात्, उच्यते इह त्रिविधा विनेयाः, तद्यथा—उद्घटितज्ञा, मध्यमबुद्धयः, प्रपञ्चितज्ञाश्च । तत्र ये उद्घटितज्ञा मध्यमबुद्धयो वा ते यथोक्तसामर्थ्यमवबुध्यन्ते, ये पुनरद्याप्यव्युत्पन्नत्वात् न यथोक्तसामर्थ्यावगमकुशलास्ते प्रपञ्चितमेवावगन्तुमीशते नान्यथा, ततस्तेषामनुग्रहाय सामर्थ्यलब्धस्यापि विपर्त्तनिषेधस्याभिधानं, महीयांसो हि परमकरुणापरीतत्वात् अविशेषेण सर्वेषामनुग्रहाय प्रवर्तन्ते, ततो न कश्चिद्दोषः । (प्रज्ञा०) (आहारकशरीरस्य कतिमहालयाऽवगाहनेति 'ओगाहणा' शब्दे तृतीयभागे ८१ पृष्ठे उक्तम् ।) * (अत्रार्थे 'मोयपडिमा' शब्दो द्रष्टव्यः ।)

(१७) सम्प्रति तैजसस्य तान्यभिधित्सुराह—

तेयगसरीरे णं भंते ! कतिविधे पएणत्ते ?, गोयमा ! पंचविहे पएणत्ते, तं जहा—एगिंदियतेयगसरीरे ०जाव पंचिंदियतेयगसरीरे । एगिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ?, गोयमा ! पंचविधे पएणत्ते, तं जहा—पुढविकाइय० जाव वणस्सइकाइय-एगिंदियसरीरे, एवं जहा ओरालियसरीरस्स भेदो भणितो तहा तेयगस्स वि० जाव चउरिंदियाणं । पंचिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! कतिविधे पणत्ते ?, गोयमा ! चउव्विहे पणत्ते, तं जहा-नेरइयतेयगसरीरे० जाव देवतेयगसरीरे । नेरइयाणं दुगतो भेदो भाणितव्वो, जहा वेउव्वियसरीरे । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणूसाण य जहा ओरालियसरीरे भेदो भाणितो तहा भाणियव्वो । देवाणं जहा वेउव्वियसरीरभेदो भाणितो तहा भाणितव्वो, ०जाव सव्वट्ठसिद्धदेव त्ति । तेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पणत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पणत्ते, एगिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पणत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पणत्ते, पुढविकाइयएगिंदियतेयगसरीरे णं भंते !, किंसंठिए पणत्ते गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिते पणत्ते, एवं ओरालियसंठाणाणुसारेण भाणितव्वं ०जाव चउरिंदियाण वि । नेरइयाणं भंते ! तेयगसरीरे किंसंठिते पणत्ते ?, गोयमा ! जहा वेउव्वियसरीरे, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणूसाणं जहा एतेसिं चेव ओरालियं ति, देवाणं भंते ! किंसंठिते तेयगसरीरे पणत्ते ?, गोयमा ! जहा वेउव्वियस्स० जाव अणुत्तरोववाइय त्ति । (सू० २७४)

'तेयगसरीरे णं भंते !' इत्यादि, इह तैजसशरीरं सर्वेषामवश्यं भवति ततो यथा एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियगत औदारिकशरीरभेदो भणितस्तथा चतुरिन्द्रियान् यावत् तैजसशरीरभेदोऽपि वक्तव्यः पञ्चेन्द्रियतैजसशरीरचिन्तायां चतुर्विधं पञ्चेन्द्रियतैजसशरीरम्, नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवभेदात्, तत्र नैरयिकतैजसशरीरचिन्तायां यथा प्राक् वैक्रियशरीरं पर्याप्ताऽपर्याप्तविषयतया द्विगतो भेद उक्तस्तथाऽत्रापि वक्तव्यः, स चैवम्- जइ नेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे किं रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे० जाव किं अहेसत्तमापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे ?, गोयमा ! रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे वि० जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे वि, जइ रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे किं पज्जत्तगरयणप्पभ' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां च यथा प्रागौदारिकशरीरभेद उक्तस्तथाऽत्रापि वक्तव्यः, स चैवम्—'तिरिक्खजोणियपंचिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! कइविहे पणत्ते ?' इत्यादि, देवानां यथा वैक्रियशरीरभेद उक्तस्तथा भणितव्यः, स चैवम्—' जइ देवपंचिंदियतेयगसरीरे किं भवणवासिदेवपंचिंदियतेयगसरीरे' इत्यादि, यावत् सर्वार्थसिद्धदेवसूत्रम् । उक्तो भेदः ॥ सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह—' तेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पएणत्ते ?' इत्यादि, सुगमम्, इह जीवप्रदेशानुरोधि तैजसशरीरं ततो यदेव तस्य २ यानावौदारिकशरीरानुरोधेन वैक्रियशरीरानुरोधेन च जीवप्रदेशानां संस्थानं तदेव तैजसशरीरस्यापि इति प्रागुक्तमेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यगतमौदारिकसंस्थानं नैरयिकदेवेषु वैक्रियसंस्थानमतिदिष्टमिति । गतं संस्थानम् । (तैजसानामवगाहनामानम् ' ओगाहणा ' शब्दे तृतीयभागे ८१ पृष्ठे गतम् ।) (कति कार्मणशरीराणि इति ' कम्मय ' शब्दे तृतीयभागे ३४० पृष्ठे गतम् ।)

(१८) सम्प्रति पुद्गलचयनमाह—

ओरालियसरीरस्स णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला चिज्जंति ?, गोयमा ! निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघाय पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं । वेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला चिज्जंति ?, गोयमा ! णियमा छद्दिसिं । एवं आहारगसरीरस्स वि । तेयाकम्मगाणं जहा ओरालियसरीरस्स । ओरालियसरीरस्स

णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला उवचिज्जंति ? , गोयमा ! एवं चेव० जाव कम्मगसरीरस्स , एवं उवचिज्जंति , अवचिज्जंति । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं , जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ? , गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय नत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं,जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ? , गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं णियमा अत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं जस्स तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ? , गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं नियमा अत्थि, जस्स पुण तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, एवं कम्मगसरीरं पि । जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं, जस्स आहारगसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं ? , गोयमा ! जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं णत्थि, जस्स वि आहारगसरीरं तस्स वि वेउव्वियसरीरं णत्थि । तेयाकम्माइं जहा ओरालिएण समं तहेव आहारगसरीरेण वि समं तेयाकम्मगाइं चारेयव्वाणि । जस्स णं भंते ! तेयगसरीरं, तस्स कम्मगसरीरं, जस्स कम्मगसरीरं तस्स तेयगसरीरं ? , गोयमा ! जस्स तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स वि कम्मगसरीरं तस्स वि तेयगसरीरं णियमा अत्थि । (सू० २७६)

ओरालियसरीरस्स णं भंते ! ' इत्यादि , औदारिकशरीरस्य ' णं ' इति वाक्यालङ्कारे , भदन्त ! 'कइ दिसिं' इति पञ्चम्यर्थे द्वितीया बहुवचने चैकवचनं प्राकृतत्वात् , ततोऽयमर्थः-कतिभ्यो दिग्भ्यः समागत्य पुद्गलाश्चीयन्ते , कर्मकर्त्तर्ययं प्रयोगः , स्वयं चयनमागच्छन्तीत्यर्थः । भगवानाह—निर्व्याघातेन-व्याघातस्याभावो निर्व्याघातमव्ययीभाव ' तेन वा तृतीयायाः' इति विकल्पेनाम्विधानाभावः ' छद्दिसिं ' ति-षड्भ्यो दिग्भ्यः । किमुक्तं भवति ?-यत्र त्रसनाड्या मध्ये बहिर्वा व्यवस्थितस्यौदारिकशरीरिणो नैकापि दिग् अलोकेन व्याहता वर्त्तते तत्र निर्व्याघाते व्यवस्थितस्य नियमात् षड्भ्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमनं व्याघातम् अलोकेन प्रतिस्खलनं प्रतीत्य ' सिय तिदिसिं ' ति-स्यात्-कदाचित्तिसृभ्यो दिग्भ्यः स्याच्चतसृभ्यः स्यात् पञ्चभ्यः', कथमिति चेत् ?, उच्यते-सूक्ष्मजीवस्यौदारिकशरीरिणो यत्रोर्ध्वं लोकाकाशं न विद्यते नापि तिर्यक् पूर्वदिशि नापि दक्षिणदिशि तस्मिन् सर्वोर्ध्वप्रतरे आग्नेयकोणरूपे लोकान्ते व्यवस्थितस्याधः पश्चिमोत्तररूपाभ्यस्तिसृभ्यो दिग्भ्यः पुद्गलोपचयः, शेषदिक्त्रयस्यालोकेन व्याहतत्वात् पुनः स एव सूक्ष्मजीव औदारिकशरीरी पश्चिमां दिशमनुसृत्य तिष्ठति तदा पूर्वदिगभ्यधिका जाता इति चतसृभ्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमनम् । यदा पुनरधो द्वितीयप्रतरे गतः पश्चिमदिशमवलम्ब्य तिष्ठति तदा ऊर्ध्वदिगप्यधिका लब्धेति केवलं दक्षिणा दिगलोकेन व्याहतेति पञ्चभ्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमनं वैक्रियशरीरमाहारकशरीरं च त्रसनाड्या मध्ये एव सम्भवति नान्यत्रेति तयोरपि पुद्गलचयो नियमात् षड्भ्यो दिग्भ्यः । तैजसकार्मणे सर्वसंसारिणां ततो यथौदारिकस्य निर्व्याघातेन षड्भ्यो दिग्भ्यो व्याघातं प्रतीत्य पुनः स्यात् तिसृभ्यः स्याच्चतसृभ्यः स्यात् पञ्चभ्यः तथा तैजसकार्मणयोरपि द्रष्टव्यः । यथा चयस्तथा उपचयोऽपचयश्च वक्तव्यः । तत्र उपचयः—प्राचुर्येण चयः अपचयः—ह्रासः शरीरात् पुद्गलानां निःसरणमिति यावत् । उक्तं पुद्गलचयनम् । इदानीं शरीरसंयोगमाह—' जस्स णं भंते ! ' इत्यादि यस्यौदारिकं तस्य वैक्रियं स्यादस्ति स्यान्नास्ति । य औदारिकशरीरी सन् वैक्रियलब्धिमान् वैक्रियमारभ्य तत्र वर्त्तते तस्यास्ति, शेषस्य नास्तीति भावः । यस्य वैक्रियशरीरं तस्यौदारिकशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति , देवनारकाणां वैक्रियशरीरवतामौदारिकशरीरं नास्ति , तिर्यग्मनुष्याणां तु वैक्रियशरीरवतामस्तीति भावार्थः, आहारकशरीरेणापि सह चिन्तायां यस्यौदारिकशरीरं तस्याहारकशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति, य औदारिकशरीरी चतुर्दशपूर्वधर आहारकलब्धिमान् आहारकशरीरमारभ्य वर्तते तस्यास्ति शेषस्य नास्तीत्यर्थः । यस्य पुनराहारकशरीरं तस्यौदारिकशरीरं नियमादस्ति , औदारिकशरीरविरहे आहारकस्याऽसम्भवात् । तैजसशरीरेण सह चिन्तायां यस्यौदारिकशरीरं तस्य नियमात्तैजसशरीरं, तैजसशरीरविरहे औदारिकशरीराऽसम्भवात् । यस्य पुनस्तैजसशरीरं तस्यौदारिकं स्यादस्ति स्यान्नास्ति, देवनैरयिकाणां नास्ति तिर्यग्मनुष्याणामस्तीति भावः । एवं कार्मणशरीरेणापि सह चिन्ता कर्त्तव्या, तैजसकार्मणयोः सहचारित्वात् ॥ सम्प्रति वैक्रियशरीरस्याहारकशरीरादिभिः सह संयोगचिन्तां कुर्वन्नाह-'जस्स णं भंते ! ' इत्यादि, यस्य वैक्रियशरीरं न तस्याहारकशरीरं यस्याहारकशरीरं न तस्य वैक्रियशरीरं , युगपदेतयोरेकस्याऽसम्भवात् , तैजसकार्मणे यथौदारिकशरीरेण सह चिन्तिते तथा वैक्रियशरीरेणापि सह चिन्तयितव्ये , आहारकशरीरेणापि सह तथैव । तैजसकार्मणयोस्तु परस्परमविनाभावित्वात् , यस्य तैजसं तस्य नियमात् कार्मणं यस्य कार्मणं तस्य नियमात् तैजसम् । गतं संयोगद्वारम् ।

(१६) इदानीं द्रव्यप्रदेशार्थैरल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

एतेसि णं भंते ! ओरालियवेउव्वियआहारगतेयग-कम्मगसरीराणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? , गोयमा ! सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाते वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए अ-

संखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा तेयाकम्मगसरीरा दो वि तुल्ला दव्वट्ठयाते अणंतगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरा पदेसट्ठयाए वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, तेयगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, कम्मगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाते वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ओरालियसरीरेहिंतो दव्वट्ठयाएहिंतो आहारगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा। तेयाकम्मा दो वि तुल्ला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, तेयगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, कम्मगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा। (सू०-२७७) एतेसि णं भंते ! ओरालियवेउव्वियआहारगतेयगकम्मगसरीराणं जहण्णियाए ओगाहणाए उक्कोसियाए ओगाहणाए जहण्णुक्कोसियाए ओगाहणाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा ओरालियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा, तेयाकम्मगाणं दोण्ह वि तुल्ला जहण्णिया ओगाहणा विसेसिया वेउव्वियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहारगसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, उक्कोसियाए ओगाहणाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा ओरालियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, वेउव्वियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, तेयाकम्मगाणं दो वि तुल्ला उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, जहण्णुक्कोसियाते ओगाहणाते सव्वत्थोवा ओरालियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा तेयाकम्माणं दोण्ह वि तुल्ला जहण्णिया ओगाहणा विसेसिया वेउव्वियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। आहारगसरीरस्स जहण्णियाहिंतो ओगाहणाहिंतो तस्स चेव उक्कोसिया ओगाहणा विसेसिया, ओरालियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, वेउव्वियसरीरस्स णं उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, तेयाकम्माणं दोण्ह वि तुल्ला उक्कोसिया ओगाहणा असंखिज्जगुणा। (सू० २७८)

'एएसि णं भंते !' इत्यादि, सर्वस्तोकान्याहारकशरीराणि द्रव्यार्थतया, शरीरमात्रद्रव्यसंख्यया इत्यर्थः, उत्कृष्टपदेऽपि तेषां सहस्रपृथक्त्वस्य प्राप्यमाणत्वात्, 'उक्कोसेण उ जुगवं पुहुत्तमेत्तं सहस्साण' मिति वचनात् तेभ्योऽपि वैक्रियशरीराणि द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणानि, सर्वेषां नैरयिकाणां सर्वेषां च देवानां कतिपयतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यबादरवायुकायिकानां च वैक्रियशरीरसम्भवात्, तेभ्योऽप्यौदारिकशरीराणि द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणानि, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामौदारिकशरीरभावात्, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीराणां च प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि तैजसकार्मणशरीराणि द्रव्यार्थतयाऽनन्तगुणानीति, सूक्ष्मबादरनिगोदजीवानामनन्तानन्तानां प्रत्येकं तैजसकार्मणशरीरभावात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यानि, परस्पराविनाभावित्वादेकस्याभावेऽन्यस्याप्यभावात्। प्रदेशार्थचिन्तायां सर्वस्तोकान्याहारकशरीराणि सहस्रपृथक्त्वमात्रशरीरप्रदेशानामल्पत्वात्, तेभ्योऽपि वैक्रियशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि। इह यद्यपि वैक्रियशरीरयोग्यवर्गणाभ्यः आहारकशरीरवर्गणाः परमाण्वपेक्षया अनन्तगुणास्तथापि स्तोकाभिर्वर्गणाभिराहारकशरीरं निष्पद्यते हस्तमात्रत्वादतिप्रभूताभिर्वैक्रियशरीरवर्गणाभिर्वैक्रियम् उत्कर्षेन, सातिरेकलक्षयोजनप्रमाणत्वात्, अतिस्तोकानि चाहारकशरीराणि सहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् अतिप्रभूतानि वैक्रियशरीराणि असंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् तत उपपद्यन्ते आहारकशरीरेभ्यः प्रदेशार्थतया वैक्रियशरीराण्यसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽप्यौदारिकशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणतया तेषां लभ्यमानत्वेन तत्प्रदेशानामतिप्रभूतानां सम्भवात्, तेभ्योऽपि तैजसशरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि, द्रव्यार्थतयाऽपि तेभ्यस्तेषामनन्तगुणत्वात्, तेभ्योऽपि कार्मणशरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि, तैजसवर्गणाभ्यः कार्मणवर्गणानां परमाण्वपेक्षयाऽनन्तगुणत्वात्। द्रव्यार्थप्रदेशार्थचिन्तायां 'सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाए वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा' इत्यत्र भावना प्रागुक्ताऽनुसर्तव्या, तेभ्यो द्रव्यार्थतयौदारिकशरीरेभ्य आहारकशरीराणि प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणानि, औदारिकशरीराणि सर्वसंख्ययाऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, आहारकशरीरयोग्यवर्गणायां त्वेकैकस्यामप्यभव्येभ्योऽनन्तगुणाः परमाणव इति, तेभ्योऽपि वैक्रियशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि, तेभ्योऽप्यौदारिकशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि। अत्र भावना प्रागेव कृता, तेभ्योऽपि तैजसकार्मणानि द्रव्यार्थतया अनन्तगुणानि अतिप्रभूतानन्तसंख्योपेतत्वात्, तेभ्योऽपि तैजसशरीराणि प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणानि, अनन्तपरमाण्वात्मिकाभिरनन्ताभि (र्व- र्गणाभि) रेकैकस्य तैजसशरीरस्य निष्पाद्यत्वात्, तेभ्योऽपि कार्मणशरीराणि प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणानि। अत्र कारणं प्रागेवोक्तम्। तदेवं पञ्चानामपि शरीराणां द्रव्यप्रदेशोभयैरल्पबहुत्वमुक्तम्॥ इदानीं जघन्योत्कृष्टाभयावगाहनाविषयमल्पबहुत्वमाह— 'एएसि णं' मित्यादि सर्वस्तोका औदारिकशरीरस्य जघन्याऽवगाहना, अङ्गुला-

संख्येयभागमात्रप्रमाणत्वात् , तैजसकार्मणयोर्जघन्यावगाहना द्वयोरपि परस्पर तुल्या । औदारिकजघन्यावगाहनातो विशेषाधिका । कथमिति चेत् ? , उच्यते-इह मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्य पूर्वशरीरात् यद्बहिर्विनिर्गत तैजसशरीरं तस्याऽऽयामबाहल्यविस्तारैरवगाहना चिन्त्यते इत्युक्त प्राक् , तत्र यस्मिन् प्रदेशे उत्पत्स्यन्ते सोऽपि प्रदेश औदारिकशरीरावगाहनाप्रमितोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणो व्याप्त , यदप्यपान्तरालमतिस्तोक तदपि व्याप्तमित्यौदारिकजघन्यावगाहनातो विशेषाधिका , ततोऽपि वैक्रियशरीरस्य जघन्यावगाहना असंख्येयगुणा , अङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वात् , ततोऽप्याहारकशरीरस्य जघन्यावगाहनाऽसंख्येयगुणा , देशोनहस्तप्रमाणत्वात् । उत्कृष्टावगाहनाचिन्तायां सर्वस्तोका आहारकशरीरस्योत्कृष्टाऽवगाहना हस्तमात्रत्वात् , ततोऽप्यौदारिकशरीरस्य उत्कृष्टावगाहना संख्येयगुणा , सातिरेकयोजनसहस्रप्रमाणत्वात् , ततोऽपि वैक्रियशरीरस्योत्कृष्टावगाहना संख्येयगुणा , सातिरेकयोजनलक्षमानत्वात् , तैजसकार्मणयोरुत्कृष्टावगाहना द्वयोरपि परस्पर तुल्या वैक्रियशरीरोत्कृष्टावगाहनातोऽसंख्येयगुणा ,, चतुर्दशरज्ज्वात्मकत्वात् , जघन्योत्कृष्टावगाहनाचिन्तायाम्—आहारकशरीरस्य ' जहरिणयाहिंतो ओगाहणाहिंतो तस्स चेव उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ' इति. देशेन समधिकत्वात् शेषं सुगमम् , अनन्तरमेव भावितत्वात् । प्रज्ञा० २१ पद । (अल्पबहुत्वम् ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे २७१ पृष्ठे गतम् ।) (शरीरमेवात्मेति ' तज्जीवतच्छरीरवाइ (ण्) ' शब्दे चतुर्थभागे २१७२ पृष्ठे उक्तम् ।) (शरीरमाश्रित्याहारकत्वानाहारकत्वचिन्तनम् ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ५१५ पृष्ठे गतम् ।)

(२०) नैरयिकादीनां शरीरोत्पत्तिः—

णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ती सिता, तं जहा-कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं, एवं ०जाव वेमाणियाणं। णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं निव्वत्तिते सरीरे पएणत्ते, तं जहा-कोहनिव्वत्तिए ०जाव लोभनिव्वत्तिए, एवं ०जाव वेमाणियाणं । (सू० ३७१)

शरीरस्योत्पत्तिनिर्वृत्तिसूत्राणा दण्डकद्वयं , कण्ठ्यं चैतत् , नवरं क्रोधादय. कर्मबन्धहेतव., कर्म च शरीरोत्पत्तिकारणमिति कारणकारणे कारणोपचारात् क्रोधादय शरीरोत्पत्तिनिमित्ततया व्यपदिश्यन्त इति । ' चउहिं ठाणेहिं सरीरे' त्याद्युक्तम् , क्रोधादिजन्यकर्मनिर्वर्त्तितत्वात् क्रोधादिभिर्निर्वर्त्तित शरीरमित्युपदिष्टम् , इह चोत्पत्तिरारम्भमात्र , निर्वृत्तिस्तु निष्पात्तिरिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

(२१) शरीराधिकारात् शरीरोत्पत्तिं दण्डकेन निरूपयन्नाह—

नेरइयाणं दोहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ती सिया. तं जहा-रागेण चेव, दोसेण चेव ० जाव वेमाणियाणं, नेरइयाणं दुट्ठाणनिव्वत्तिए, सरीरगे पण्णत्ते , तं जहा-रागनिव्वत्तिए चेव, दोसनिव्वत्तिए चेव० जाव वेमाणियाणं । (सू०७५×)

' नेरइयाण ' मित्यादि, कण्ठ्यं. किन्तु या रागद्वेषजनितकर्मणा शरीरोत्पत्ति सा रागद्वेषाभ्यामेवेति व्यपदिश्यते, कार्ये कारणोपचारादिति, ' जाव वेमाणियाणं ' ति दण्डकः सूचित । शरीराधिकाराच्छरीरनिर्वर्त्तनसूत्रं, तत्रप्येवं, नवरमुत्पत्ति आरम्भमात्रं निर्वर्त्तना तु निष्ठानयनमिति । स्था० २ ठा० १ उ० । (केषां शरीराणां कतिविधं करणमित्युक्तम् ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६० पृष्ठे ।) (शरीरतया द्रव्यग्रहणं ' दव्व ' शब्दे चतुर्थभागे २४६४ पृष्ठ गतम् ।) (' जीव ' शब्दे चतुर्थभागे १५२६ पृष्ठे सुरा नैरयिकाश्च निसृपु शरीरेषु वर्तन्ते इत्युक्तम् ।)

(२२) लोकस्य शरीरशरीराणां सर्वत आश्रयस्वरूप इति नारकादिशरीरिदण्डकेन शरीरप्ररूपणायाह-

णेरइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता , तं जहा-अब्भंतरगे चेव, बाहिरगे चेव। अब्भतरए कम्मए, बाहिरए वेउव्विए। एवं देवाणं भाणियव्वं । पुढविकाइयाणं दो सरीरगा पएणत्ता, तं जहा--अब्भंतरगे चेव,बाहिरगे चेव । अब्भंतरगे कम्मए, बाहिरगे ओरालियगे , ०जाव वणस्सइकाइयाणं । बेइंदियाणं दो सरीरा पण्णत्ता, तं जहा-अब्भंतरए चेव, बाहिरए चेव। अब्भंतरगे कम्मए, अट्ठिमंससोणितबद्धे, बाहिरए, ओरालिए ०जाव चउरिंदियाणं। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा-अब्भंतरगे चेव , बाहिरगे चेव । अब्भंतरगे कम्मए , अट्ठिमंससोणियण्हारुछिराबद्धे, बाहिरए ओरालिए । मणुस्साण वि एवं चेव । विग्गहगइसमावन्नगाणं नेरइयाणं दो सरीरगा पएणत्ता, तं जहा-तेयए चेव, कम्मए चेव । निरंतरं ० जाव वेमाणियाणं । (सू० ७५×)

' णेरइयाण ' मित्यादि, प्राय. कण्ठ्य , नवरं शीर्यते—अनुक्षणं चयापचयाभ्यां विनश्यतीति शरीरं तदेव शटनादिधर्मतयाऽनुकम्पितत्वात् शरीरकं त च द्वे प्रज्ञप्ते जिनै., अभ्यन्त.—मध्ये भवमाभ्यन्तरम् , आभ्यन्तरत्वं च तस्य जीवप्रदेशै सह क्षीरनीरन्यायेन लोलीभवनात् । भवान्तरगतावपि च जीवस्यानुगतिप्रधानत्वादपवरकाद्यन्त.प्रविष्टपुरुषवदनतिशायनामप्रत्यक्षत्वाच्चेति , तथा बहिर्भवं बाह्यम् , बाह्यता चास्य जीवप्रदेशै कस्यापि केषुचदवयवेष्वव्याप्तेर्भवान्तराननुयायित्वाच्चिरनिशयानामपि प्राय प्रत्यक्षत्वाच्चेति । तत्राभ्यन्तरं ' कम्मए ' त्ति—कार्मणशरीरनामकर्मोदयनिर्वर्त्यमशेषकर्मणां प्ररोहभूमिराधारभूतम् , तथा संसार्यात्मनां गत्यन्तरसंक्रमणे साधकतमं तत् कार्मणवर्गणास्वरूपम् , कर्मैव कर्मकमिति , कर्मकग्रहणे च तैजसमपि गृहीतं द्रष्टव्यम् , तयोरव्यभिचारित्वेनैकत्वस्य विवक्षितत्वादिति । 'एव देवाण भाणियव्व ' ति-अयमर्थो-यथा नैरयिकाणा शरीरद्वय भणितमेवं देवानाम् असुरादीनां वैमानिकान्ताना भणितव्यम् , कार्मणवैक्रिययोरेव तेषां भावात् . चतुर्विंशतिदण्डकस्य च विवक्षि-

तत्वादिति । 'पुढवी' त्यादि पृथिव्यादीनां तु बाह्यमौदारिकम् -औदारिकशरीरनामकर्मोदयादुदारपुद्गलनिर्वृत्तमौदारिकं केवलमेकेन्द्रियाणामस्थ्यादिविरहितम् वायुना वैक्रिय यत्तन्न विवक्षितं प्रायिकत्वात् तस्येति । 'बेइंदियाणं' मित्यादि. अस्थिमांसशोणितैर्बद्ध-नद्धं यत्तत्तथा, द्वीन्द्रियादीनामौदारिकत्वेऽपि शरीरस्याय विशेष । 'पचेंदिए' त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां पुनरय विशेषो यदस्थिमांसशोणितस्नायुशिराबद्धमिति । अस्थ्यादयस्तु प्रतीता इति, प्रकारान्तरेण चतुर्विंशतिदण्डकेन शरीरप्ररूपणामेवाह-'विग्गहे' त्यादि. विग्रहगति —वक्रगतिर्यदा विश्रेणिव्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानं गन्तव्य भवति तदा या स्यात्ता समापन्ना विग्रहगतिसमापन्नास्तेषां द्वे शरीरे, इह तैजसकार्मणयोरभेदेन विवक्षेति, एव दण्डक. शरीराधिकारात् । स्था० २ ठा० १ उ० । अनु० ।

(२३) शरीरबन्धनप्रकार.—

नेरइयाणं तत्रो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा--वेउव्विते तेयए कम्मए । असुरकुमाराणं तत्रो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा-एवं चेव, एव सव्वेसिं देवाणं, पुढवीकाइयाणं ततो सरीरगा पण्णत्ता, त जहा--ओरालिते तेयए कम्मते, एवं वाउकाइयवज्जाणं ०जाव चउरिंदियाणं । (सू० २०७)

'नेरइयाण' मित्यादि, दण्डक कण्ठ्य, किन्तु एव 'सव्वदेवाण' ति—यथा असुराणां त्रीणि शरीराणि एवं नागकुमारादिभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानाम्, 'एव वाउकाइयवज्जाण' ति—वायूना हि आहारकवर्जानि चत्वारि शरीराणीति तद्वर्जनमय पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि चत्वारि मनुष्याणां तु पञ्चापीति त इह न दर्शिता । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

(२४) शरीरनिर्माणस्वरूप तत्र नाड्यादिसख्यां शरीरांपदया दर्शयतीत्याह—

आउसो ! जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुन्नं मणाम मणभिरामं थिज्जं वेसासियं संमयं बहुमयं अणुमयं भंडकरंडगसमाणं रयणकरंडओ विव सुसंगोवियं चेलपेडा विव सुसंपरिवुडं तिल्लपेडा विव सुसंगोवियं मा णं उण्हं मा णं सीयं मा णं वाला मा णं खुहा मा णं पिवासा मा णं चोरा मा णं दंसा मा णं मसगा मा णं वाइयपित्तियसंनिवाइयविविहा रोगायंका फुसंति त्ति कट्टु एवं पियाइं अधुवं अनियमं असासयं चयावचइयं विप्पणासधम्मं पच्छा व पुरा व अवस्स विप्पचइयव्वं । एयस्स वि याइं आउसो ! आणुपुव्वेणं अट्ठारस य पिट्ठकरंडगसंधीओ बारस पंसलिया करंडा छप्पंसुलिए कडाहे विहत्थिया कुच्छी चउरंगुलिया गीवा चउपलिया जिब्भा दुप्पलियाणि अच्छीणि चउकवालं सिर बत्तीसं दंता सत्तंगुलिया जीहा अद्धुट्ठपलियं हिययं पणवीसं पलाइं कालिज्जं दो अंता पंच वामा पण्णत्ता, तं जहा--थूलंते य तणुयंते य । तत्थ णं जे से थूलंते ते णं उच्चारे परिणमइ, तत्थ णं जे से तणुयंते ते णं पासवणे परिणमइ । दो पासा पण्णत्ता, तं जहा-वामे पासे य, दाहिणे पासे य । तत्थ णं जे से वामे पासे से सुहपरिणामे, तत्थ णं जे से दाहिणे पासे से दुहपरिणामे । आउसो ! इमम्मि सरीरए सट्ठि संधिसयं सत्तुत्तरं मम्मसयं तिन्नि अट्ठ दामसयाइं नव ण्हारुसयाइं सत्त सिरासयाइं पंच पेसीसयाइं नव धमणीओ नवनउइं च रोमकूवसयसहस्साइं विणा केसमंसुणा सह केसमंसुणा अद्धुट्ठाओ रोमकूवकोडीओ आउसो ! इमम्मि सरीरए सट्ठिं सिरासयं नाभिप्पभवाणं उड्ढगामिणीणं सिरमुवगयाणं जाओ रसहरणीओ त्ति वुच्चंति, जाणंसि निरुवघाएणं चक्खुसोयघाणजीहाबलं च भवइ, जाणं सि उवघाएणं चक्खुसोयघाणजीहाबलं उवहम्मइ । आउसो ! इमम्मि सरीरए सट्ठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं अहोगामिणीणं पायतलमुवगयाणं जाणं सि निरुवघाएणं जघाबलं भवइ, ताणं चेव से उवघाएणं सीसवेयणा अद्धसीसवेयणा मत्थयसूले अच्छीणि अंधिज्जंति ॥ (सू० २४)

'आउसो ! जं' इत्याद्यालापकसूत्रम्, हे आयुष्मन् ! यदपि च इद शरीर-वपु इष्टम् इच्छाविषयत्वात् कान्त कमनीयत्वात् प्रियं प्रेमनिबन्धनत्वात् मनसा ज्ञायते-उपादीयत इति मनोज्ञम् मनसा अम्यते गम्यत इति मनोम मनसोऽभिराम मनोभिराम सनत्कुमारचक्रिवत् स्थैर्य स्थैर्यगुणयोगात् वैश्वासिक-विश्वासस्थान सम्मतं तत्कृतकार्याणां सम्मतत्वात् बहुमत बहुष्वपि कार्येषु बहुर्वाऽवलपतयाऽस्तोकतया मत बहुमत अनु विप्रियकरणात् पश्चान्मतमनुमत भण्डकरण्डकसमानम्-आभरणभाजनतुल्यमादेयमित्यर्थः । रत्नकरण्डक इव सुसंगोपित वस्त्रादिभि चेलपेटेव-वस्त्रमञ्जूषेव सुष्ठु सर्वाग्वृत निरुपद्रवे स्थाने निवेशित गृहस्थावस्थायां शालिभद्रवपुर्वत्, तैलपेटा-तैलगोलिकेव सुसगोपित भङ्गभयात्, तेल्लकेला इव सुसगोविय' ति—पाठान्तर तैलकला-तैलाश्रया भाजनविशेष.—सौराष्ट्रप्रसिद्ध सा च सुष्ठु सगोप्या सगोपनीया भवत्यन्यथा लुठति ततश्च हानि स्यादिति, सूत्रेणैव हेतून् दर्शयतीत्याह-'मा णं' माशब्दो निषेधार्थ, णं वाक्यालङ्कार । अथवा-'मा णं' ति मा इद शरीरमिति स्पृशन्त्वित्येयम्, तत सर्वेऽपि उष्णादयो मा स्पृशन्तु छुपन्तु, भक्षयेयम् पालित्वित्यर्थ 'त्ति कट्टु इति कृत्वा अथवा-इत्यभिसंधाय पालितमिति शेष, तत्रोष्णत्व ग्रीष्मादावुष्णत्व शीत-शीतकाले शीतत्व व्याला -श्वापदा सर्पा वा क्षुधा-बुभुक्षा पिपासातृषा चौरा-निशाचरा दंशा -मशका एते विकलेन्द्रियज-

न्तुविशेषः, वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसांनिपातिका विविधाः रोगातङ्काः रोगाः-कालसहा व्याधयः आतङ्कास्त एव सद्योघातिनः 'एवं पियाइं' ति-एतम्-उक्तप्रकारेण अपि चेति अभ्युच्चये, 'आइं' ति-वाक्यालङ्कारे, इदं शरीरं न ध्रुवम् अध्रुवं सूर्योदयवन्न प्रतिनियतकालेऽवश्यभावि, अनियतं सुरूपादपि कुरूपादिदर्शनात् हरितिलकराजसुतविक्रमकुमारशरीरवत् अशाश्वतं क्षणं क्षणं प्रति विनश्वरत्वात् सनत्कुमारशरीरवत्, 'चयावचइयं' ति—इष्टाहारोपभोगतया धृत्युपष्टम्भादौदारिकवर्गणापरमाणूपचयाच्चयः त—दभावे तद्विघटनादपचयः चयापचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिक, पुष्टिगलनस्वभावमित्यर्थः । करकण्डुप्रत्येकबुद्धवैराग्यहेतुवृषभशरीरवत्, विप्रणाशो—विनश्वरो धर्म्मः-स्वभावो यस्य तद् विप्रणाशधर्म्मम् 'पच्छा व' त्ति-पश्चाद्विवक्षितकालात् परतः 'पुरा व' त्ति-विवक्षितकालात् पूर्वञ्च, यद्वा-'पच्छा पुरा य' त्ति पाठ तु विवक्षितकालस्य पश्चात्पूर्वं च, सर्वदैवेत्यर्थः, अवश्यम् 'विप्पचइयव्वं, ति-विप्रत्यक्तव्य, त्याज्यमित्यर्थः। 'एयस्स वि याइं' ति-एतस्य एतस्मिन्नपि च वा वपुष वपुषि वा आइं' ति-वाक्यालकारे 'आउसो' हे आयुष्मन्! आनुपूर्व्या-अनुक्रमेण अष्टादशपृष्ठिकरण्डकस्य-पृष्ठिवंशस्य संधयो ग्रन्थिरूपा भवन्ति, यथा वंशस्य पर्व्वाणि तेषु चाष्टादशसु सन्धिषु मध्ये द्वादशभ्य सन्धिभ्यो द्वादश पांशुलका निर्गत्योभयपार्श्वावावृत्य वक्षःस्थलमध्योर्ध्ववर्त्त्यस्थीनि लगित्वा पल्लकाकारतया परिणमन्ति, अत आह-'बारस०' शरीरे द्वादश पांशुलिकारूपा करण्डका—वंशका भवन्ति, तथा 'छप्पंसु०' तस्मिन्नेव पृष्ठिवंशे शेषषट्सन्धिभ्यः षट् पांशुलिका निर्गत्य पार्श्वद्वयमावृत्य हृदयस्योभयतो वक्षःपञ्जरादधस्तात्कुक्षिबिलकुक्षेस्तूपरिष्टात्परस्परासंमिलितास्तिष्ठन्ति । अयं च कटाह इत्युच्यते द्वे वितस्ती कुक्षिर्भवति चतुरङ्गुलप्रमाणा ग्रीवा भवति, तौल्येन—मगधदेशप्रसिद्धपलेन चत्वारि पलानि जिह्वा भवति, अक्षिमांसगोलकौ द्वे पले भवत, चतुर्भिः कपालैरस्थिखण्डरूपै शिरो भवति, मुखेऽशुचिपूर्णे प्रायो द्वात्रिंशद्दन्ता-अस्थिखण्डानि भवन्ति,'सत्तंगु०' जिह्वा-मुखाभ्यन्तरवर्तिमांसखण्डरूपा दैर्घ्येणात्माङ्गुलतः सप्ताङ्गुला भवति,'अद्धट्ठ हृदयान्तरवर्तिमांसखण्ड सार्द्धपलत्रयं भवति, 'पणवि' कालिज्जं,वक्षोऽन्तर्गूढमांसविशेषरूपं पञ्चविंशति पलानि स्युः, द्वे अन्त्रे प्रत्येकं पञ्चपञ्चवामप्रमाणे प्रज्ञप्ते जिनैः, तद्यथा-स्थूलान्त्र तन्वन्त्र (च)। तत्र यत् स्थूलान्त्र तेनोच्चारः परिणमति, तत्र च यत् तन्वन्त्रं तेन प्रश्रवण-मूत्रं परिणमति,'दो पा०' द्वे पार्श्वे प्रज्ञप्ते तद्यथा-वामपार्श्वं दक्षिणपार्श्वं च। तत्र तयोर्मध्ये यत् वामपार्श्वं तत् शुभपरिणामं भवति। तत्र च यत् दक्षिणपार्श्वं तद् दु खपरिणामं भवति। तथा 'आउसो' हे आयुष्मन्! अस्मिन शरीरे षष्टिं संधिशतस्थानत्य, तत्र सधय -अङ्गुलाद्यस्थिखण्डमेलापकस्थानानि 'सत्तुरे' सप्तोत्तरं मर्म्मशत भवति, तत्र—मर्म्माणि शङ्खानि कायियरकादीनि तिन्नि त्रीणि अस्थि दामशतानि हड्डमालाशतानि भवन्ति'नव ण्हारुयसयाइं'ति-स्नायूनाम्-अस्थिबन्धनशिराणां नव शतानि 'सत्त०' सप्त शिराशतानि-रसहरणीनां, पञ्च पेशीशतानि 'नव ध०' नव धमन्यो-रसहरणाड्यः 'नव०' नवनवतिः रोमकूपे शतसहस्राणि रोम्णा-तनूरुहाणां कूपा इव कूपा रोमकूपा, रोमरन्ध्राणीत्यर्थः तेषां नवनवतिर्लक्ष इति विना केशश्मश्रुभिः, केशश्मश्रुभिः सह पुनः सार्द्धास्तिस्रो रोमकूपकोटयो भवन्ति मनुष्यशरीरे इति । अथ पूर्वोक्तानि शिरासप्तशतानि कथं भवन्ति इति सूत्रेणैवाह-'आउसो०'। हे आयुष्मन्! शरीरे 'सट्ठि०' इह पुरुषशरीरे नाभिप्रभवाणि शिराणां सप्तानां सप्त शतानि भवन्ति, तत्र षष्ट्यधिकं शतं शिराणां नाभिप्रभवाणाम् ऊर्ध्वगामिनीनां शिरस्युपागतानां भवन्ति,यास्तु रसहरिण्य इत्युच्यन्ते 'जाओ'सि'त्ति यासामूर्ध्वगामिनीनां शिराणां 'से'तस्य जीवस्य निरुपघातेनानुग्रहेण चक्षुः१श्रोत्र२घ्राण३जिह्वा४ बल च भवति,यासां 'से' तस्य उपघातेन-विघातेन चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाबलमुपहन्यते। तथा 'आउसो'० हे आयुष्मन्! अस्मिन् शरीरे षष्ट्यधिकं शत१६०शिराणां नाभिप्रभवाणां,नाभेरुत्पन्नानामित्यर्थः।अधोगामिनीनां पादतलं उपगतानां प्राप्तानां भवति यासां निरुपघातेन जङ्घाबलं भवति तासां चैव'से'तस्य जीवस्य उपघातेन विकारप्राप्तेन शीर्षवेदना-सर्वमस्तकपीडा अर्द्धशीर्षवेदना मस्तकशूलं च भवति 'अच्छिणि, त्ति—अक्षिणी—लोचने 'अंधिज्जंति' त्ति—अन्धीभवत इत्यर्थः ।

आउसो! इमम्मि सरीरए सट्ठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं तिरियगामिणीणं हत्थतलमुवगयाणं जाणं सि निरुवघाएणं बाहुबलं हवइ ताणं चेव से उवघाएणं पासवेयणा पुट्ठिवेयणा कुच्छिवेयणा कुच्छिसूलं हवइ। आउसो! इमस्स जंतुस्स सट्ठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं अहोगामिणीणं गुदपविट्ठाणं जाणं सि निरुवघाएणं मुत्तपुरीसावाउकम्मं पवत्तइ ताणं चेव उवघाएणं मुत्तपुरीसावाउनिरोहेणं अरिसा खुब्भंति पंडुरोगो भवइ। आउसो! इमस्स जंतुस्स पणवीसं सिराओ पित्तधारिणीओ सिंभधारिणीओ दस सिराओ सुक्कधारिणीओ सत्त सिरासयाइं पुरिसस्स तीसूणाइं इत्थियाए वीसूणाइं पंडगस्स, आउसो! इमस्स जंतुस्स रुहिरस्स आढयं वसाए अद्धाढयं मत्थुलिंगस्स पत्थो मुत्तस्स आढयं पुरीसस्स पत्थो पित्तस्स कुडओ सिंभस्स कुडवो सुक्कस्स अद्धकुडवो जं जाहे दुट्ठं भवइ तं ताहे अइप्पमाणं भवइ, पंचकोट्ठे पुरिसे छकोट्ठा इत्थिया नवसोए पुरिसे इक्कारससोया इत्थीया, पंचपेसीसयाइं पुरिसस्स तीसूणाइं इत्थीयाए वीसूणाइं पंडगस्स। (सू० १६)

तथा 'आउसो०!' हे आयुष्मन् अस्मिन् प्रत्यक्षे प्राणिशरीरे षष्ट्यधिकं शत शिराणां नाभिप्रभवाणां तिर्यग्गामिनीनां हस्ततले उपागतानां भवति यासां निरुपघातेन-निरुपद्रवेण बाहुबलं भवति, तासां चैव 'से' तस्य उपघातेन-उपद्रवेण पार्श्ववेदना पृष्ठिवेदना कुक्षिवेदना कुक्षिशूलं च भवति, तथा 'आउसो०' हे आयुष्मन्! अस्य-जन्तोः षष्ट्यधिकं शतं

शिराणां नाभिप्रभवाणाम् अधोगामिनीना गुद प्रविष्टानां भवति, यासा निरुपघानेनोपद्रवाभावेन मूत्रपुरीषवातकर्म प्रश्रवणकर्म्म विष्ठाकर्म्म वायुकर्म्म प्रवर्त्तते, मूत्रादिकं सुखेन कर्तु शक्यत इत्यर्थ, तासां चैव गुदप्रविष्टशिराणामुपघातेन मूत्रपुरीषवातनिरोधो भवति. निरोधेन अर्शांसि गुदाङ्कुरा'हरस' इति लोकोक्ति. क्षुभ्यन्ति-क्षोभं यान्ति;परमपीडाकरं रुधिरं मुञ्चन्तीत्यर्थ भवभावनोक्तकालर्पित्त् पाण्डुरोगश्च भवति. तथा 'आउसो० हे आयुष्मन ! अस्य जन्तो पञ्चविंशति शिरा 'सिंभधारिणि' त्ति-श्लेष्मधारण्यो भवन्ति, 'पंच०'पञ्चविंशति शिरा पित्तधारिण्य, दश शिरा शुक्रधारिण्य'. 'सत्त सि०' पुरुषस्योक्तप्रकारेण सप्तशिराशतानि भवन्ति. कथं ?,शरीरे ऊर्ध्वं गामिन्य १६० अधोगामिन्य १६० निर्यग्गामिन्य' १६० अधोगामिन्यो गुदप्रविष्टा १६० श्लेष्मधारिण्यः २५ पित्तधारिण्यः २५ शुक्रधारिण्य १० एव सर्वा. ७०० शिरा भवन्ति पुरुषाणा शरीरे इति। 'तीसू०' पुरुषोक्ता यास्ता त्रिंशदूना. स्त्रिया भवन्ति, सप्तत्यधिकानि षट्शतानि भवन्तीत्यर्थ' ६७० 'वीसू०' पुरुषोक्ता यास्ता विंशत्यूना. पण्डकस्य, अशीत्यधिकानि षट्शतानि भवन्तीत्यर्थ ६८०॥ अथ शरीरे रुधिरादिमानमाह-'आउ०' हे आयुष्मन् ! अस्य जन्तो रुधिरस्याढक भवति, वसाया अर्द्धाढक, 'मत्थुलिंगस्से' त्ति मस्तकभेज्जकस्य फिप्फिसादेर्वा प्रस्थ मूत्रस्याढकं पुरीषस्य प्रस्थ. पित्तस्य-कुडव श्लेष्मण. कुडव. शुक्रस्यार्द्धकुडवो भवति, एतच्चाढकप्रस्थादिमान बालकुमारतरुणादीनाम् 'दो असईओ पसई, दो पसईओ य सेइया होइ।चत्तारि सेइयाओ कुलओ चत्तारि कुलआ पत्थो चत्तारि पत्था आढग इत्यात्मीयात्मीयहस्तेनामेनव्यमिति.'ज जाहे०'यत् रुधिरादिकं यदा दुष्ट भवति तत्तदाऽतिप्रमाण भवति। अयमाशय —उक्तमानस्य शुक्रशोणितादेर्हीनाधिक्य स्यात्तत्र वातादिदूषितत्वेनावसेयमिति। 'पंच०'पञ्च कोष्ठ. पुरुष ,पुरुषस्य पञ्च कोष्ठका. भवन्तीत्यर्थ., षट्कोष्ठा स्त्री, कोष्ठकस्वरूपं सम्प्रदायादवगन्तव्यमिति। नव श्रोत्र पुरुष तत्र कर्णद्वय२चक्षुर्द्वय२ घ्राणद्वय२ मुख७ पायु८ पस्थ९ लक्षणेन पुरुष. स्यात्। एकादशश्रोत्रा स्त्री भवति पूर्वोक्तानि नव स्तनद्वययुक्तानि एकादश श्रोत्राणि स्त्रीणा भवन्तीति एतन्मानुषीणामुक्त गवादीना तु चतुस्तनीना त्रयोदश १३शूकर्यादीनामष्टस्तनीनां सप्तदश निर्व्याघाते, एव व्याघाते पुनरेकस्तन्य अजाया दश१० त्रिस्तन्याश्च गोर्द्वादशेति, 'पच०' पुरुषस्य पञ्चपेशीशतानि भवन्ति ५०० त्रिशदूनानि स्त्रिया. ४७० विंशत्यूनानि पञ्चपेशीशतानि नपुंसकस्य ४८०। उक्त शरीरस्वरूपम्।

(२५) अथास्यैवासुन्दरत्वं दर्शयन्नाह—

अब्भितरंसि कुणिमं, जो परियत्तेउ बाहिरं कुज्जा।
तं असुइं दट्ठूणं, सया वि जणणी दुगुंछिज्जा ॥१॥(८३)

'अब्भितरसी'त्ति-शरीरमध्यप्रदेशे 'जो' त्ति-यत् कुणिमम्-अपवित्र मास वर्त्तते तन्मासं परियत्तेउ' त्ति-परावर्त्य परावर्त्त कृत्वा यदि बहि -बहिर्भागे कुर्यात् ,तदा तन्मासम्'असुइ' अशुचि—अपवित्रं दृष्ट्वा स्वका अपि—आत्मीया अपि अन्या आस्तां स्वजननी-स्वमाता 'दुगुंछिज्ज' त्ति—जुगुप्सां कुर्यात् हा ! किं मयाऽपवित्रं दृष्टमिति।

माणुस्सयं सरीरं, पूइयमं मंससुक्कहड्डेणं।
परिसंठवियं सोहइ,अच्छायणगंधमल्लेणं ॥२॥ (८४)

'माणुस्सयं' मानुष्यकं—मनुष्यसम्बन्धि शरीर-वपु 'पूइयम' त्ति- पूतिमत् ; अपवित्रमित्यर्थ। 'परि०' 'परि-समन्तात् सर्वत्र सम्यग् स्थापित-रचित केन मांसशुक्रेण हड्ड देश्यमस्थिवाचीति 'परिसंठविय' त्ति-विभूषित सत् सोहइ इति—शोभते, केन आच्छादनगन्धमाल्येन-तत्राच्छादनं-वस्त्रादि गन्ध -कर्पूरादि माल्य-पुष्पमालादि।

इमं चेव य सरीरं सीसघडीमेयमज्जमंसट्ठियमत्थुलुंगसोणियवालुंडयचम्मकोसनासियसिंघाणयधीमलालयं असणुन्नगं सीसघडीभंजियं गलतनयणं कन्नुट्ठगंडतालुयं अवालुयाखिल्लचिक्कणं चिलिचिलियं दंतमलमइलं बीभच्छदरिसणिज्ज अंसलगबाहुलगअंगुली अंगुट्ठगनहसंधिसंघायसंधियमिणं बहुरसियागारं नालखंधच्छिराअणेगण्हारुबहुधमणिसंधिनद्धं पागडउदरकवालं कक्खनिक्खुडं कक्खगकलियं दुरंतं अट्ठिधमणिसंताणसंतयं सव्वओ समंता परिसवंतं च रोमकूवेहिं सय असुइं सभावओ परमदुग्गंधि कालिज्जयअंतपित्तजरहिययफोफसफेफसपिलिहोदरगुज्झकुणिमनवच्छिड्डधिविधिवंतहिययं दुरहिपित्तसिंभमुत्तोसहाययणं सव्वओ दुरंतं गुज्झोरुजाणुजंघापायसंघायसंधियं असुइ कुणिमगंधि, एवं चिंतिज्जमाणं बीभच्छदरिसणिज्जं अधुवं अनियय असासयं सडणपडणविद्धंसणधम्मं पच्छा व पुरा व अवस्स चइयव्वं निच्छयओ सुट्ठ जाणएणं आइनिहणं एरिसं सव्वमणुयाण देह एस परमत्थओ सभावो। (सू०-१७)

'इमं चेव य' इत्यादि गद्यम इदमेव च मनुजशरीर-वपु शीर्षघटीव मस्तकहड्ड मेदश्च अस्थिरुत् चतुर्थो धातुरित्यर्थ। मज्जा च शुक्रकर षष्ठो धातुरित्यर्थ., मांसं च पललं तृतीयो धातुरित्यर्थं अस्थि च कल्पं पञ्चमो धातुरित्यर्थ, मस्तुलुङ्गश्च मस्तकस्नेह शोणित च रुधिर द्वितीयो धातुरित्यर्थ, वालुण्डकश्च अन्तरशरीरावयवविशेष चर्मकोशश्च त्वक्कोश नासिकासिङ्घाणश्च घ्राणमलविशेष धिग्मल च अन्यदपि शरीरोद्भव नित्यमल तानि तथामालय गृहमित्यर्थ ,असनोज्ञकं मनाज्ञभाववर्जित शीर्षघटीकराटिका तया भञ्जितम्—आक्रान्तमित्यर्थ, गलन्नयन यत्र तद् गलन्नयन कर्णोष्ठगण्डतालुकम् 'अवालुयाँ इति-लोकोक्त्या अवालुखिल्लश्च 'खील' इति जनोक्ति ताभ्या चिक्कण पिच्छिलमित्यर्थ, 'चिलिचिलियमि' त्ति-चिराचिरायमाण मलिनावस्थादौ दन्ताना मल दन्तमलं तेन 'मइल' त्ति—मलिनं मलीमसमित्यर्थ बीभत्स-भयंकर दर्शनमाकारदर्शन-

ते वा रोगादिना कृशावस्थायां यस्य वपुस्तत् बीभत्स-दर्शनम् ' अंसलग ' त्ति—अंशयोः स्कन्धयो 'बाहुलग' त्ति बाह्वोर्भुजयोः अङ्गुलीनां-करशाखानाम् ' अङ्गुट्ठग' त्ति-अङ्गुष्ठयोरङ्गुल्योर्नखानां महाराजानां ये सन्धयस्तेषां सन्धानेन समूहेन सन्धितमिदं वपुः,'बहु०' बहुरसिकागारम् 'नालख०' नालैः स्कन्धशिराभिः-अनेकधमनीभिः'अणेगण्हारु' त्ति-अनेकस्नायुभिः अस्थिबन्धनशिराभिः बहुधमनीभिरनेकशिराभिः सन्धिभिरस्थिमलापकस्थानैश्च, ' नद्ध ' त्ति-नियन्त्रित प्रकर सर्वजनदृश्यमानम् उदरकपाले जठरकडल्लके यत्र तत् प्रकटोदरकपाले कक्षेव दोर्मूलमिव निष्कुटम्—कोटरं जीर्णशुष्कवृक्षवद् यत्र तत्कक्षानिष्कुटं कक्षायां गच्छन्तीति कक्षागा अधिकारनिष्कुटस्थितबालास्तैः कलितं सदा सन्निहित कक्षागकलितम् , यद्वा-कक्षायां भवाः कात्तकास्तैस्तृणकेशप्रतानाद्यैः कलितं, ' दुरंतं ' ति-दुष्टोऽन्तो विनाशं प्रान्तो वा यस्य तद् दुरन्तं दुष्पूरं वा अस्थिधमन्यो सन्तानेन परम्परया ' सतयं ' ति-व्याप्तं यत्तदस्थिधमनिसन्तानसन्ततं,सर्वतः-सर्वप्रकारं समन्ततः-सर्वत्र रोमकूपैः-रोमरन्ध्रैः परिस्रवत् गलगलत् सर्वत्र सच्छिद्रघटवत् चशब्दादन्यैरपि नासिकादिरन्ध्रैः परिस्रवत् , ' सय ' ति-स्वयमेव अशुचिपर्यायैः ' सभावउ ' त्ति-स्वभावेन परमदुर्गन्धीति 'कलिज्जयअन्तपित्तजरहियफोप्फसफेफसप्पिलिह ' त्ति-प्लीहा-गुल्म ' उदर ' त्ति—जलोदरं गुह्यकुणिमं मांसं-नवच्छिद्राणि यत्र तत्त थि(थि)थि(थि)थिवंत त्ति-द्रिगद्रिगायमान हियय त्ति-हृदयं यत्र तत्,परम-यावत् हृदय,नव छिद्राणि तु-नयनद्वयश्रवणद्वयनासिकाद्वयजिह्वाशिश्नापानलक्षणानीति'दुर्गंध' त्ति-दुर्गन्धानां पित्तश्लेष्ममूत्रलक्षणानामौषधानामायतनं गृहं सर्वौषधायतनं रोगादावस्मिन् सर्वौषधप्रक्षेपात् ,सर्वत्र-सर्वाणि दुष्टोऽन्तो विनाशः प्रान्तो यस्य तत् सर्वतो दुरन्तम् ' गुज्झो० ' गुह्योरुजानुजङ्घापादसंघातसन्धितमुपस्थसक्थिन लक्षणानर्त्तकनीलकमणपरस्परमीलनसमूहसीवितम अशुचि-कुणिमस्य-अपवित्रमांसस्य गन्धो यत्र तदशुचिकुणिमगन्धि, ' एवं चि० ' एवम—पूर्वोक्तप्रकारेण चिन्त्यमानं बीभत्स—दर्शनीय-भयंकररूपम् अध्रुव अनियत अशाश्वत च ' ति-पदत्रयव्याख्या पूर्ववत् , ' सडण० ' शटनपतनविध्वंसनधर्मम् तत्र शटनं पुष्ठादिनाऽङ्गुल्यादे , पतनं बाह्वादेः खड्गच्छेदादिना विध्वस्तं सर्वथा क्षय एते धर्माः—स्वभावा यस्य तत्तथा 'पच्छा व पुरा व अवस्स चइयव्वं' ति-पूर्ववत् ' निच्छ० ' निश्चयतः सुष्ठु भृशं त्वं ' जाण' त्ति—जानीहि एतन्मनुष्यशरीरम् ' आइनिहणं ' ति-आदिनिधनं सादिसान्तमित्यर्थः ईदृशं पूर्ववर्णितं वक्ष्यमाणं वा सर्वमनुजानां समस्तमनुष्याणां देह —शरीरम् एव पूर्वोक्तः शरीरस्य परमार्थतः—तत्त्वतः स्वभावः।

(२६) अथ विशेषतः शरीरादेः अशुभत्वं दर्शयति—

सुक्कम्मि सोणियम्मि य,
संभूओ जणणिकुच्छिमज्झम्मि।
तं चेव अमिज्झरसं,
नवमासे घुंटियं संतो ॥ ८५ ॥

'सुक्कम्मि' इत्यादि ' सुक्कं० ' जननीकुक्षिमध्ये-मातृजठरान्तरे शुक्रे वीर्ये शोणिते-लोहिते चशब्दादेकत्र मिलिते सति प्रथमं संभूतः उत्पन्नः तदेवामेध्यरसं—विष्ठारसं ' घुंटियं ' ति-पिबन् सन् नव मासान् यावत् स्थित इति।

जोणीमुहनिप्फिडिओ, थणगच्छीरेण वड्ढिओ जाओ।
पगई अमिज्झमइओ, कह देहो धोइउं सक्को ॥८६॥

योनिमुखनिष्फाटितः-स्मरमन्दिरकुण्डनिर्गतः 'थणग' ति-प्राकृतत्वादनुस्वारः स्तनकक्षीरेण वर्द्धितः -पयोधरदुग्धेन वृद्धि गतः प्रकृत्याऽमेध्यमयो जातः, एवंविधो देहः कथं 'धोइउ' ति-धौतुं-क्षालयितुं शक्यः ?। त०। (शेषवक्तव्यता ' इत्थी ' शब्दे द्वितीयभागे ६०४ पृष्ठे गता।) ' रसासृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्रान्त्रवर्चसाम्। अशुचीनां पदं काय, शुचित्वं तस्य तत् कुतः ॥ १ ॥ अष्ट० १६ अष्ट०।

नारकादिशरीराणि बीभत्सान्युदाराणि च दृष्टानि न केवलदर्शनं स्वभावातीति शरीरप्ररूपणाय ' नेरइयाणं ' मि—त्यादिसूत्रप्रपञ्च —

णेरइयाणं सरीरगा पंचवण्णा पंचरसा पण्णत्ता , तं जहा-किण्हा० जाव सुक्किल्ला, तित्ता० जाव मधुरा, एवं निरंतरं० जाव वेमाणियाणं । सू० (३९५X)

'णेरइयाणं' मित्यादि, कण्ठ्य नवरं पञ्चवर्णत्वं नारकादिवैमानिकान्तानां शरीराणां निश्चयनयात् , व्यवहारतस्तु एकवर्णप्राचुर्यात् कृष्णादिप्रतिनियतवर्णतैवेति ' ०जाव सुक्किल्ल' त्ति किण्हा नीला लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला य० जाव महुर ' त्ति 'तित्ता कडुया कसाया अंबिला महुरा ०जाव वेमाणियाणं ' ति । चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि । स्था० ५ ठा० १ उ०।

(२७) शरीराणां वर्णादि-

ओरालियसरीरे पंचवन्ने पंचरसे पण्णत्ते , तं जहा-किण्हे० जाव सुक्किल्ले, तित्ते० जाव महुरे एवं० जाव कम्मगसरीरे सव्वे वि णं बादरबोंदिधरा कलेवरा पंचवण्णा पंचरसा दुगंधा अट्ठफासा। (सू० ३९५+)

तथा सर्वाण्यपि बादरबोन्दिधराणि पर्याप्तकत्वेन स्थूलाकारधारीणि कलेवराणि शरीराणि मनुष्यादीनां पञ्चादिपञ्चेन्द्रियावयवभेदेनेति अक्षिगोलकादिषु तथैवोपलम्भ ।'दो गंध' त्ति सुरभिदुरभिभेदात् ।'अट्ठफास' त्ति-कठिनमृदुशीतोष्णगुरुलघुस्निग्धरूक्षभेदादिति, अबादरबोन्दिधराणि तु न नियतवर्णादिव्यपदेश्यानि , अपर्याप्तत्वेनावयवविभागाभावादिति । स्था० ५ ठा० १ उ० । (कस्मादौदारिकादि. शरीरमिति क्रिया. इति 'किरिया ' शब्दे तृतीयभागे ५३६ पृष्ठे गतम्।) " पाणीयसत्थभिन्नसमेदि च देहतरेनतमणं तरह जीवो मुहुत्तेण। " महा० ६ ठा०। (औदनादयो वनस्पतयोऽग्निकायत्वेन पश्चात्या स्युरिति 'वणस्सइजीवसरीर' शब्दे प्रथमभागे १५६ पृष्ठे गतम्।) (निर्ग्रन्थानां शरीरहानि 'णिग्गंथ' शब्दे चतुर्थभागे २०३६ पृष्ठे गतम्।) ('सव' शब्देऽस्मिन्नेव भाग ३६३ पृष्ठे नैरयिकादयः सर्वाहाराः सर्वशरीरा इत्युक्तम्।) (पृथिवीकायस्य सूक्ष्मबादरशरीराणि 'पुढवी-

काइय' शब्दे पञ्चमभागे उक्तानि ।) "शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीराच्छ्रवते धर्मः, पर्वतात्सलिलं यथा ॥ १ ॥" इति शरीरस्य धर्मोपग्राहिता । स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्र० । ध० । आचा० । (शरीराश्रयेण जीवभेदः 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५२५ पृष्ठे उक्तः ।)

(२८) आत्मा शरीरं स्पृष्ट्वा निर्याति निर्जरणे च कर्मणो देशतः सर्वथा वा भवान्तरे सिद्धो वा गच्छतः शरीरान्निर्याणं भवतीति सूत्रपञ्चकेन तदाह—

दोहिं ठाणेहिं आता सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, तं जहा-देसेण वि आता सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, सव्वेण वि आया सरीरगं फुसित्ता णं णिज्जाति एवं फुरित्ता, एवं फुडित्ता, एवं संवट्टतित्ता, एवं निव्वट्टतित्ता । (सू० ६७)

'दोहीं' त्यादिकं कण्ठ्यं, नवरं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां 'देसेण वि' त्ति—देशेनापि कतिपयप्रदेशलक्षणेन कर्पाञ्चित्प्रदेशानां इलिकागत्योत्पादस्थानं गच्छता जीवेन शरीराद्बहिः क्षिप्तत्वात्; आत्मा-जीवः,—शरीरं-देहं स्पृष्ट्वा—स्पृष्ट्वा निर्याति शरीरान्मरणकाले निःसरतीति, 'सव्वेण वि' त्ति—सर्वेण-सर्वात्मना सर्वैर्जीवप्रदेशैः कन्दुकगत्योत्पादस्थानं गच्छता शरीराद् बहिः प्रदेशानामप्रक्षिप्तत्वादिति, अथवा-देशेनापि-देशतोऽप्यपिशब्दः सर्वेणापीत्यपेक्षः. आत्मा-शरीरं कोऽर्थः ? शरीरदेशं पादादिकं स्पृष्ट्वाऽवयवान्तरस्य प्रदेशसंहारान्निर्याति, स च संसारी. 'सव्वेणावि सर्वतयाऽपि. अपिर्देशेनापीत्यपेक्ष , सर्वमपि शरीरं स्पृष्ट्वा निर्यातीति भाव . स च सिद्धः . वक्ष्यति च— 'पायणिज्जाणे णिरएसु उववज्जति' त्यादि यावत् ' सव्वंगणिज्जाणसिद्धेसु त्ति—आत्मना शरीरस्य स्पर्शने सति स्फुरणं भवतीत्यत उच्यते-'एव मित्यादि 'एव' मिति—'दोहिं ठाणेहिं' त्याद्यभिलापसूचनार्थः , तत्र देशेनापि निर्यान्नित्यात्मप्रदेशैरिलिकागतिकाले 'सव्वेण वि'त्ति-सर्वैरपि गेन्दुकगतिकाले शरीरं 'फुरित्ता ण' ति—स्फोरयित्वा सस्पन्दं कृत्वा निर्याति. अथवा—शरीरकं देशतः शरीरदेशमित्यर्थः , स्फोरयित्वा पादादिनिर्याणकाले, सर्वतः-सर्वं शरीरं स्फोरयित्वा सर्वाङ्गनिर्याणावसर इति । स्फोरणञ्च सात्मकत्वं स्फुटं भवतीत्याह-'एव मित्यादि, 'एव' मिति—तथैव देशेन- आत्मदेशेन शरीरकं 'फुडित्ता ण ति-सचेतनतया स्फुरणलिङ्गेन स्फुटं कृत्वा इलिकागतौ, सर्वेण सर्वात्मना स्फुटं कृत्वा गेन्दुकगताविति । अथवा—शरीरकं देशतः —सात्मकतया स्फुटं कृत्वा पादादिना निर्याणकाले-सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणप्रस्ताव इति । अथवा—' फुडित्ता ' स्फोटयित्वा विशीर्णं कृत्वा . तत्र देशतोऽक्ष्यादिविघातेन, सर्वतः सर्वविशरणेन देवदीपादिजीववदिति । शरीरं सात्मकतया स्फुटीकुर्वन्नन्सवर्त्तनमपि कश्चित्करोतीत्याह- एव मित्यादि 'एव' मिति-तथैव 'संवट्टइत्ता ण' ति-संवर्त्य-सङ्कोच्य शरीरकं देशेनेलिकागतौ शरीरस्थितप्रदेशैः , सव्वेण सर्वात्मना गेन्दुकगतौ सर्वात्मप्रदेशाना शरीरस्थितत्वान्निर्यातीति । अथवा-शरीरकं शरीरिणमुपचाराद्दण्डयोगाद्दण्डपुरुषवत् , तत्र देशतः सवर्त्तनं ससारिणां म्रियमाणस्य पादादिगतजीवप्रदेशसंहारात् ,सर्वतस्तु सिद्धस्य गन्तुरिति । अथवा-शरीरकं देशतः सवर्त्य-हस्तादिसङ्कोचनेन, सर्वतः सर्वशरीरसङ्कोचनेन पिपीलिकादिवदिति आत्मनश्च संवर्तनं कुर्वन् शरीरस्य निवर्तनं करोतीत्याह-एव 'निव्वट्टयित्ता णं' ति-तथैव निवर्त्य-जीवप्रदेशेभ्यः शरीरकं पृथक्कृत्वेत्यर्थः , तत्र देशेनेलिकागतौ, सर्वेण गेन्दुकगतौ । अथवा-देशतः शरीरं निवर्त्यात्मनः पादादिनिर्याणवान् , सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणवानिति । अथवा-पञ्चविधशरीरसमुदायापेक्षया देशतः शरीरम् औदारिकादि निवर्त्य तैजसकार्मणे त्यादायैव, तथा सर्वेण सर्वं शरीरसमुदायं निवर्त्य निर्याति, सिध्यतीत्यर्थः । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पुव्विं पेयं पच्छा पेयं भिउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितियं असासयं चयोवइयं विपरिणामधम्मं पासह । (सू० १४७ +)

आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । (इदं 'लोगसार' शब्दे षष्ठे भागे व्याकृतम् ।) " आत्मानं सर्वतो रक्ष्य, प्राहुर्धर्मविदो जनाः । यदिदं चैव शरीरं, धर्मस्याद्यं हि साधनम् ॥ १ ॥ जीवन् भद्राण्यवाप्नोति, जीवन् पुण्यं करोति च । मृतस्य देहनाशोऽस्ति , धर्माद्युपरमस्तथा ॥२॥" सघा० १ अधि० १ प्रस्ता० । वर्त्तमानचतुर्विंशतितीर्थकृतां 'पउमाऽऽभा वासुपुज्जा रत्ते' ति रक्तादिवर्णविभागः किं शरीरेषु दृश्यमान उत ध्यानाद्यर्थं कल्पनामात्रमिति प्रश्न ?,अत्रोत्तरम्-एतद्गाथोक्तवर्णविभागस्तीर्थकृतां शरीरगतो ज्ञेय इति ॥ ३४६ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

सरीरकाय-शरीरकाय-पुं० । कायभेदे, आव० १ अ० । (स च 'काय' शब्दे तृतीयभागे ४८५ पृष्ठे औदारिकादिभेदात्पञ्चधोक्तः ।)

सरीरग-शरीरक-न० । शरीरमेव शरीरकं स्वार्थे कः । आत्मनो भोगायतने, स्था० १ ठा० । (पञ्चधा शरीराणि 'सरीर' शब्दे अस्मिन्नेव भागे उक्तानि ।) अनुकम्पितादिधर्म्मोपेते शरीरे, स्था० १ ठा० । भ० । अनु० ।

सरीरजड्ड-शरीरजड-पुं० । शरीरक्रियायामनिपुणे, व्य० १० उ० । आव० । भ० । अनु० । ('जड्ड' शब्दे चतुर्थभागे १३८६ पृष्ठेऽस्य विस्तरेणोक्तः ।)

सरीरणाम-शरीरनामन्-न० । शरीरनिबन्धने नामकर्मभेदे, यदुदयादौदारिकादिशरीरं करोति । तच्च पञ्चधा औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणशरीरभेदात् । प्रव० २१६ द्वार। धा०। कर्म०। स० । शरीरपर्याप्त्यैव सिद्धे, स० । (एतत्प्रयोजनं 'णामकम्म' शब्दे चतुर्थभागे १९९९ पृष्ठे उक्तम् ।)

सरीरणिव्वत्ति-शरीरनिर्वृत्ति-स्त्री० । औदारिकादिपञ्चविधशरीरनिष्पत्तौ, भ० १९ श० ८ उ० । (चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे उक्ता ।)

सरीरथामावहारविजढ-शरीरस्थामापहाररहित-त्रि० । शरीरस्य स्थाम-प्राणस्तथाऽपहारोऽपलपनं तेन विजढो-रहितः शरीरं स्थामापहाररहितः । दैहिकबलवियुक्ते, व्य० ३ उ० ।

सरीरदोब्बल्ल-शरीरदौर्बल्य-न० । वपुषो दौर्बल्ये, दर्श० ३ तत्त्व० ।

सरीरदोस-शरीरदोष-पुं०। ज्वरशूलादिभिः शरीरदौष्ट्ये, द्वा० २७ द्वा०।

सरीरपओगबंध-शरीरप्रयोगबन्ध-पुं०। औदारिकादिशरीराणां वीर्यान्तरायक्षयोपशमादिजनितव्यापारेण शरीरपुद्गलोपादाने शरीरप्रयोगस्य बन्धे च। भ० ८ श० ६ उ०।

सरीरपच्चक्खाण-शरीरप्रत्याख्यान-न०। शरीरस्याभिष्वङ्गपरिवर्जनप्रतिज्ञाने, भ० १७ श० ३ उ०। प्रस्तावे समागते शरीरस्यापि व्युत्सर्जने, उत्त०।

सरीरपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइं सयगुणत्तं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्नेणं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥ ३८ ॥

हे भगवन् ! शरीरप्रत्याख्यानेन-शरीरव्युत्सर्जनेन जीवः किं लाभं जनयति ?, गुरुराह-शरीरप्रत्याख्यानेन सिद्धातिशयगुणत्वं निर्वर्त्तयति-कोऽर्थः ? सिद्धानां ये अतिशयगुणाः-सर्वोत्कृष्टगुणास्तेषां भावः सिद्धातिशयगुणत्वं यतो हि सिद्धा न नीला न लोहिता न हारिद्रा न शुक्ला इत्यादय एकत्रिंशद्गुणास्तद्भावं प्राप्नोतीत्यर्थः, प्राप्तसिद्धातिशयगुणो जीवो लोकाग्रं मोक्षमुपगतः सन् सुखी भवति। यद्यपि योगप्रत्याख्यानेन शरीरप्रत्याख्यानं समागतं तथापि मनोवाक्काययोगशरीरस्य प्राधान्यख्यापनाय पृथक् उपादानम्। उत्त० २९ अ०। (एतत्फलम् 'मग्ग' शब्दे षष्ठभागे ११ पृष्ठे विस्पष्टीकृतम्।)

सरीरपज्जत्ति-शरीरपर्याप्ति-स्त्री०। यया शरीरतयाऽऽहाररसादिरूपमातमेदो ऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति। प्रव० २३१ द्वार। प्रज्ञा०। कर्म०। पं० सं०। न०।

सरीरबंध-शरीरबन्ध-पुं०। समुद्घाते सति विस्तारितसङ्कोचितजीवप्रदेशसम्बन्धविशेषवशात्तजसादिशरीरप्रदेशानां बन्धविशेषे, भ० ८ श० ९ उ०।

सरीरबंधणणाम-शरीरबन्धननामन्-न०। औदारिकशरीरपुद्गलानां पूर्वबद्धानां बध्यमानानां च सम्बन्धकारणे नामकर्मभेदे, स० ४२ सम०।

सरीरभेय-शरीरभेद-पुं०। शरीरस्य भेदो विनाशः। (तस्मिन्) शरीरविनाशे, उत्त० ३१ अ०। आचा०।

सरीरवक्कंति-शरीरव्युत्क्रान्ति-स्त्री०। विग्रहशरीरत्यागे, "अवक्कंतीए सरीरवक्कंतीए कुव्वन्ति अयं एए चयन्ति" कल्प० १ अधि० १ क्षण।

सरीरवग्गणा-शरीरवर्गणा-स्त्री०। औदारिकादिशरीरग्रायोग्यवर्गणायाम्, पं० सं० ५ द्वार। ('वग्गणा' शब्दे षष्ठभागे स्पष्टर्शि।)

सरीरविउस्सग्ग-शरीरव्युत्सर्ग-पुं०। नारकायुष्कादिहेतूनां मिथ्यादृष्टित्वादीनां त्यागे, आ०।

सरीरवोच्छेयण-शरीरव्यवच्छेदन-न०। देहत्यागे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सरीरसघायण-शरीरसङ्घातन-न०। औदारिकादिशरीरपुद्गलानां गृहीतानां शरीररचनायाम्, स० ४२ सम०।

सरीरसंपया-शरीरसंपद्-स्त्री०। विशिष्टशरीरतारूपे गणिसंपद्भेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। ('गणिसंपया' शब्दे तृतीयभागे ८२६ पृष्ठे गता वक्ष्यता।)

सरीरसक्कार-शरीरसत्कार-पुं०। देहविभूषायाम्, पञ्चा० ६ विव०।

सरीरसक्कारपोसह-शरीरसत्कारपौषध-पुं०। देशतः शरीरसत्कारस्यैकतरस्याकरणे, सर्वतस्तु सर्वस्यापि तस्याकरणे, ध० २ अधि०। आव०।

सरीरसक्कारसंगय-शरीरसत्कारसङ्गत-त्रि०। देहविभूषानुगते, पञ्चा० ६ विव०।

सरीराणुगय-शरीरानुगत-त्रि०। व्यञ्जनादिजन्ये शरीराश्रये वायुकाये, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

सरीरि-शरीरिन्-पुं०। शरीरमस्यास्तीति शरीरी। संसारिजीवभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

सरीरोगाहणा-शरीरावगाहना-स्त्री०। शरीराणामाधारभूते क्षेत्रे, स्था० ४ ठा० १ उ०। येषु प्रदेशेषु शरीरमवगाढम्। स०। भ०।

प्रकारान्तरेण पृथिवीकायिकावगाहनाप्रमाणमाह-

पुढविकाइयस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स वन्नगपेसिया तरुणी बलवं जुगवं जुवाणी अप्पायंका वन्नओ०जाव निउणसिप्पोवगया नवरं चम्मेट्टदुहणमुट्ठियसमाहयणिचियगत्तकाया न भणति सेसं तं चेव ०जाव निउणसिप्पोवगया तिक्खाए वइरामईए सण्हकरणीए तिक्खेणं वइरामएणं वट्टावरएणं एगं महं पुढविकाइयं जतुगोलासमाणं गहाय पडिसाहरिय २ पडिसंखिविय पडिसंखिविय ०जाव इणामेव त्ति कट्टु तिसत्तक्खुत्तो उप्पीसेज्जा तत्थ णं गोयमा ! अत्थेगतिया पुढविकाइया आलिद्धा अत्थेगइया पुढविकाइया नो आलिद्धा अत्थेगइया संघाट्ट (ट्टि) या अत्थेगइया नो संघाट्ट (ट्टि)या अत्थेगइया परियाविया अत्थेगइया नो परियाविया अत्थेगइया उद्दविया अत्थेगइया नो उद्दविया अत्थेगइया पिट्ठा अत्थेगइया नो पिट्ठा, पुढविकाइयस्स णं गोयमा ! एमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता। (सू० ६५३ ×)

'पुढवी' इत्यादि 'वन्नगपेसिया' त्ति चन्दनपेषिका तरुणीति प्रवर्द्धमानवयाः 'बलवं' ति सामर्थ्यवती 'जुगवं' ति सुषमदुष्षमादिकालविशिष्टकालवती 'जुवाणि' त्ति वयःप्राप्ता 'अप्पायंक' त्ति नीरोगा 'वन्नओ' त्ति अनेनेदं सूचितम् 'थिरग्गहत्था दढपाणिपायपिट्ठंतरोरुपरिणया' इत्यादि, इह वर्णके 'चम्मेट्टदुहण' त्ति यत्पठ्यते तदिह न वाच्यम् एतस्य विशेषणस्य स्त्रिया असंभवात्, अत एवाह-'चम्मेट्टदुहणमुट्ठियसमाहयणिचियगत्तकाया न भणइ' त्ति तत्र च चम्मेट्ठादीनि व्यायामक्रियायामुपकरणानि तैः स-

माहतानि व्यायामप्रवृत्तावस्त एव निचितानिःचा—घनीभूतानि गात्राणि—अङ्गानि यस्य स तथा, तथाविध. कायो यस्याः सा तथेति, 'तिक्खाए' त्ति परुषाया 'वइरामई-ए' त्ति वज्रमय्या सा हि नीरन्ध्रा कठिना च भवति 'सण्हकरणीए' त्ति श्लक्ष्णानि—चूर्णरूपाणि द्रव्याणि क्रियन्ते यस्या सा श्लक्ष्णकरणी—पेषणशिला तस्या 'वट्टावरएण' ति वर्त्तकवरेण—लोष्टकप्रधानेन 'पुढविकाइय' ति पृथिवीकायिकसमुदय 'जतुगोलासमाणं' ति डिम्भरूपक्रीडनकजतुगोलकप्रमाणं, नातिमहान्तमित्यर्थः, 'पडिसाहरिय' त्यादि इह प्रतिसंहरणं शिलाया. शिलापुत्रकाच्च संहृत्य पिण्डीकरणं प्रतिसंक्षेपणं तु शिलाया पतनं संरक्षणम्। 'अत्थेगइय' त्ति सन्ति एके—केचन 'आलिद्ध' त्ति आदृष्टा शिलायां शिलापुत्रके वा लग्नाः 'संघट्टिय' त्ति संघट्टिता 'परिताविय' त्ति पीडिता 'उद्दविय' त्ति मारिता, कथम्?, यत 'पिट्ठ' त्ति पिष्टा 'एमहालिय' त्ति एव महतीति महती चातिसूक्ष्मेति भावः, यतो विशिष्टायामपि पेषणसामग्र्या केचिन्न पिष्टा नैव च छुप्ता अपीति। 'अत्थेगइया संघट्टिया' त्ति प्रागुक्तम्। भ० १६श०३उ०।

सरीरोवहि—शरीरोपधि—पुं०। शरीररूपायामुपधौ, स्था० १ ठा०।

सरीसिव—शरीसृप—पुं०। गोधादिषु भुजोरुभ्यां सर्पणशीलेषु तिर्यक्षु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आचा०। सूत्र०।

सरूप—स्वरूप—त्रि०। आत्मरूपे, द्वा० ३१ अष्ट०। स्वभावे, प्रश्न० १६ विव०।

सरूवि(ण्)—सरूपिन्—पुं०। सह रूपेण मूर्त्या वर्त्तत इति समासान्त इन्प्रत्यये सरूपी। संस्थानवर्णादिमति सशरीरे जीवे, स्था० २ ठा० १ उ०। भ०।

सरोरुह—सरोरुह—कमले, "सरोरुहं पुंडरीअं" पाइ० ना० १० गाथा।

सरोस—सरोष—त्रि०। क्रुद्धे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

सलक्खण—स्वलक्षण—न०। लक्ष्यते तदन्यव्यपोहेनावधार्यते वस्त्वनेनेति लक्षणम्। स्वञ्च तल्लक्षणं च स्वलक्षणम्। असाधारणधर्मे, यथा जीवस्योपयोगः, यथा वा प्रमाणस्य स्वपरावभासकज्ञानत्वम्। स्था० १० ठा० ३ उ०।

सलक्खण—पुं०। लक्ष्मणाख्ये कवौ, दश० २ अ०।

सलक्खणकारणहेउदोस—स्वलक्षणकारणहेतुदोष—पुं०। हेतुदोषविशेषे, स्था०।

सलक्खणकारणहेउदोसे। (सू० ७३ ×)

तथा लक्ष्यते तदन्यव्यपोहेनावधार्यते वस्त्वनेनेति लक्षणम्, स्वं च तल्लक्षणं च स्वलक्षणं यथा जीवस्योपयोगो यथा वा प्रमाणस्य स्वपरावभासकज्ञानत्वम् ४, तथा करोति कारणं परोक्तार्थनिर्णयनिमित्तमुपपत्तिमात्रं यथा निरुपमसुखः सिद्धो ज्ञानानाबाधप्रकर्षात्, नात्र किल सकललोकप्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्तीत्युपपत्तिमात्रता, दृष्टान्तसद्भावेऽस्यैव हेतुव्यपदेशः स्यात्। तथा—हिनोति गमयतीति हेतुः साध्यसद्भावभावनदभावा-भावलक्षणः, ततश्च स्वलक्षणादीनां द्वन्द्वः, तेषां दोषः, स्वलक्षणकारणहेतुदोषः। इह कारणशब्दः छन्दोऽर्थे ह्रस्वीर्घो ध्येयः। अथवा—सह लक्षणेन यौ कारणहेतू तयोर्दोष इति विग्रहः। तत्र लक्षणदोषोऽव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा, तत्राव्याप्तिर्यथा-यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणमिति इदं स्वलक्षणलक्षणम्, इदं चेन्द्रियप्रत्यक्षमेवाश्रित्य स्यात् न योगिज्ञानम्, योगिज्ञाने हि न सन्निधानासन्निधानाभ्यां प्रतिभासभेदोऽस्तीत्यनस्तदपेक्षया न किञ्चित्स्वलक्षणं स्यादिति। अतिव्याप्तिर्यथा अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणम् इह चार्थोपलब्धिहेतुभूताना चक्षुर्दध्योदनभोजनादीनामानन्त्येन प्रमाणयत्ता न स्यात्। अथवा-दार्ष्टान्तिकाऽर्थो लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं-दृष्टान्तस्तद्दोषः-साध्यविकलत्वादिः, तत्र साध्यविकलता यथा-नित्यः शब्दो मूर्त्तत्वाद्, घटवद्। इह घटे नित्यत्वं नास्तीति कारणदोषः। साध्यं प्रति तदव्यभिचारो यथा-अपौरुषेयो वेदो वेदकारणस्याश्रूयमाणत्वादिति, अश्रूयमाणत्वं हि कारणान्तरादपि सम्भवतीति। हेतुदोषोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वलक्षणः, तत्रासिद्धो यथाऽनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वाद् घटवदिति, अत्र हि चाक्षुषत्वं शब्दे न सिद्धं, विरुद्धो यथा-नित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवद्, इह घटे कृतकत्वं नित्यत्वविरुद्धमनित्यत्वमेव साधयतीति, अनैकान्तिको यथा-नित्यः शब्दः प्रमेयत्वादाकाशवद्। इह हि प्रमेयत्वमनित्येष्वपि वर्त्तते ततः संशय एवेति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

सलद्धिजोग—स्वलब्धियोग—पुं०। स्वकीयायाः प्राप्तेऽर्हे, ध०।

अथ स्वलब्धियोग्यतामाह—

दीक्षावयःपरिणतो, धृतिमाननुवर्त्तकः।
स्वलब्धियोग्यः पीठादि-ज्ञाता पिण्डैषणादिवित्॥१३६॥

दीक्षावयोभ्यां परिणतः समाप्तस्थिरप्रव्रजितः पूर्णपर्यायश्चेत्यर्थः। धृतिमान् स्वयं सुस्थः अनुवर्त्तकः सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्त्ता पीठादिज्ञाता कल्पपीठनिर्युक्तिज्ञाता पिण्डैषणादिवित् प्रतीतार्थः ईदृशः स्वलब्धियोग्यः स्वस्य स्वकीया लब्धिः-प्राप्तिस्तस्या योग्यः-अर्हो भवति, पूर्वं गुरुपरीक्षिता वस्त्रादिलब्धिरासीत् इदानीं स्वयं वस्त्रादिपरीक्षितुं योग्यो जात इति भावः।

अस्यैव विहारविधिमाह—

एषोऽपि गुरुणा सार्द्धं, विहरेद्वा, पृथग्गुरोः।
तद्दत्ताहंपरीवारो-ऽन्यथा वा पूर्णकल्पभाक्॥१४०॥

एषोऽपि—स्वलब्धिमान् आस्ता गुरुलब्धिपरतन्त्र इत्यपिशब्दार्थः, गुरुणा—स्वलब्ध्यनुज्ञाचार्येण सार्द्धम्-समा विहरेत्—ग्रामाद्ग्रामान्तरं गच्छेत्। अत्रापवादमाह-गुरोः पूर्वोक्ताद् वेति पक्षान्तरे पृथक् भिन्नतया विहरेत्, कीदृशः सन्नित्याह-तद्दत्ताहंपरीवारः सन्—गुरुणा दत्त—अर्पितः अर्हो—योग्यः परीवारः—परिच्छदो यस्य स तथा, तत्रापवादमाह—अन्यथेति गुरुदत्तयोग्यपरिवाराभावे, वेति पक्षान्तरे, पूर्णकल्पभाक् पूर्णं—समाप्तं कल्पव्यवस्थाभेदं भजतीति तथा समाप्तकल्पेन विहरतीत्यर्थः। ध० ३ अधि०।

सलभ--शलभ--पुं० । पतङ्गे , स्था० ६ ठा० ३ उ० । आचा० ।

सलभपईववाइ(ण्)-शलभप्रदीपवादिन्-पुं० । वादिन. शलभतुल्यान् कुर्वंति प्रदीपकल्पे प्रतिवादनि. यथैक पतङ्गामेन्द्रभूतिना सह गत. । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

सललिय--सललित--न० । यत् स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव तत् सह ललितेनेति सललितम् । यदिवा यत् श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दस्पर्शनमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत् सललितम् । जी० ३ प्रति०४ अधि० । रा० । समाधुर्ये, (त्रि०) ओघ० । लालित्योपेते, औ० । सुप्रसन्नतोपेते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

सलह--शलभ--पुं० । पतङ्ग , पाइ० ना० २६२ गाथा ।

सलोगा--शलाका--स्त्री० । नेत्रादौ (नि० चू० १ उ० । खातस्वरूघटिता सलागा । ग० २ अधि० । स० । नि० चू० ।) अञ्जनार्थवर्त्तौ , सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । शल्ये, 'पढमा सलागा पक्खिविज्जइ ' प्रथमा शलाका--एक सर्षप प्रक्षिप्यते । अनु० । कस्यचिद् वस्तुनोऽनेकभेदज्ञापनार्थं काष्ठकरेखासु २४ तीर्थकरा. १२ चक्रिण ६ बलदेवा ६ वासुदेवाः ६ प्रतिवासुदेवाश्चेति त्रय षष्टि शलाकापुरुषा । ती० २० कल्प ।

सलाघण--श्लाघन--न० । प्रशंसायाम् , ' उववूहण त्ति वा पसंस त्ति वा सद्धाजणण त्ति वा सलाघण त्ति वा एगट्ठा ' नि० चू० १ उ० ।

सलाहा--श्लाघा--स्त्री० । "क्ष्मा-श्लाघा--रत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात्" ॥ ८ । २ । १०१ ॥ इति लकारात् पूर्वोऽकार. । प्रशंसायाम् , प्रा० २ पाद ।

सलाहणिज्ज--श्लाघनीय--त्रि० । श्लाघ्ये , प्रशस्ये , विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

सलिंग--स्वलिङ्ग--न० । रजोहरणगोच्छकादिधारित्वे, आ० । रयहरणमुहपुत्तियापडिग्गहादिधारण सलिंगं भण्णति । नि० चू० १ उ० ।

सलिंगसिद्ध--स्वलिङ्गसिद्ध--पुं० । स्वलिङ्गे--रजोहरणादिरूपे व्यवस्थिता सन्ता ये सिद्धास्ते स्वलिङ्गसिद्धा । नं० । प्रज्ञा० । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य रजोहरणगोच्छकादिधारिषु सिद्धेषु , पा० । ध० ।

सलिल--सलिल--न० । उदके सूत्र० १श्रु० १२ अ० । पाइ० ना० । जले ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । पो० । प्रश्न० । दर्श० । औ० । " लो ल " ॥ ८ । ४ । ३०८ ॥ इति पैशाच्यामपि लस्य ल एव । सलिल । प्रा० ४ पाद ।

सलिलकुंड--सलिलाकुण्ड--न० । षष्ठीतत्पुरुष , गङ्गादिनदीना प्रपातकुण्डेषु, प्रभवकुण्डेषु च । स्था० ।

सव्वे वि णं सलिलकुंडा दस जोयणाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता । (सू० ७७६×)

' सलिलकुंड ' त्ति--सलिलाना--गङ्गादिनदीनां कुण्डानि--प्रपातकुण्डानि प्रभवकुण्डानि च सलिलाकुण्डानीति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सलिलरासि--सलिलराशि--पुं० । समुद्रे , " रयणायरो सलिलरासि । " पाइ० ८ गाथा ।

सलिलविल--सलिलबिल--न० । निर्झरे , भ० ७ श० ६उ० ।

सलिला--सलिला--स्त्री० । गङ्गादिमहानदीषु , स० १३८ सम० । (जम्बूद्वीपे यावत्य सलिलास्तावत्यः ' जम्बूदीव ' शब्दे चतुर्थभागे १३७५ पृष्ठे दर्शिता ।)

सलिलावई--सलिलावती--स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे सीतोदाया महानद्या दक्षिणे चक्रवर्तिविजये, स्था०८ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे अपरविदेहे सलिलावतीविजये वीतशोकायां राजधान्यां महाबलाभिधानो राजा । स्था० ७ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । आ० म० ।

सलिलुच्छय--सलिलोत्सव--पुं० । प्लाविते, "पव्वालिअं आउंबालिअं च सलिलुच्छय जाण " पाइ० ना० ७८ गाथा ।

सलिलोदगवासि--सलिलोदकवर्षि--पुं० । सलिलाः शीतादिमहानद्यस्तासामिव यदुदकं रसादिगुणसाधर्म्यात् तस्य वर्षं । महानदीजलकल्पे वृष्ट्युदके, ' दिव्व सलिलोदगं वासं वासइ । ' भ० १५ श० ।

सलेस--सलेश्य--त्रि० । लेश्यया सहितः । संसारिणि , स्था० २ ठा० ४ उ० ।

सल्ल--शल्य--न० । शल्यते--बाध्यतेऽनेनेति शल्यम् । द्रव्यतस्तोमरादौ , भावतो मायादौ , स्था० ।

तओ सल्ला पण्णत्ता , तं जहा--मायासल्ले णियाणसल्ले मिच्छादंसणसल्ले । (सू० १४२×)

शल्यते--बाध्यते अनेनेति शल्य द्रव्यतस्तोमरादि , भावतस्तु इदं त्रिविध--माया--निकृति सैव शल्यं मायाशल्यम् , एव सर्वत्र नवर नितरां दीयते--लूयते मोक्षफलमनिन्द्यब्रह्मचर्यादिसाध्यं कुशलकर्मकल्पतरुवनमनेन देवर्द्ध्यादिप्रार्थनपरिणामनिशितासिनेति निदान, मिथ्या--विपरीतं दर्शनं मिथ्यादर्शनमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । (' मरण ' शब्दे षष्ठे भागे १३६ पृष्ठे १४२ पृष्ठे च एतद्विस्तर उक्त. ।) पापानुष्ठाने , तज्जनिते कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । उत्त० । अपराधलक्षणे मोक्षगमनव्याघातकारिजात कर्मणि च । व्य० १ उ० ।

शल्यभेदा.--

अत्थेगे गोयमा ! पाणी, जेरिममवि कोडिं गए ।
ससल्ले चरती धम्मं , आयहियं नावबुज्झइ ॥ १६ ॥
ससल्लो जइ वि कट्ठुग्गं, घोरवीरं तवं चरे ।
दिव्व वाससहस्सं पि , ततो वी तं तस्स निप्फलं॥१६॥
सल्लं पि भण्णई पावं, जन्नालोइयनिंदियं ।
न गरहियं न पच्छित्तं, कयं जं जह य भाणियं ॥ १७ ॥
मायाडंभमकत्तव्वं, महापच्छन्नपावया ।
अजयमाणायारं च, मल्लं कम्मट्ठमंगहो ॥ १८ ॥
असजमं अहम्म च, निसीलव्वत्तभावियं ।
सकलुसत्तमसुद्धी य, सुकयनासो तहेव य ॥ १६ ॥

दुग्गइगमणमणुत्तारं, दुक्खे सारीरमाणसे।
अव्वोच्छिन्ने य संसारे, विगोवणया महंतिया ॥२०॥
केसिं निरूवरूवत्तं, दारिद्दं दोग्गइं गया।
हाहा भूयं सवेयणया, परिभूयं पि जीवियं ॥ २१ ॥
निग्घिणत्तं सकूरत्तं, निद्दयनिक्कामिया वि य।
निल्लज्जं गूढदहियत्तं, वंकविवरीयचित्तया ॥ २२ ॥
रागदोसो य मोहो य, मिच्छत्तं घणचिक्कणं।
संमग्गणासो य तहा, एगे संसित्तमेव य ॥ २३ ॥
आणाभंगमबोही य, ससल्लत्तं भवे भवे।
एवमादी य सल्लस्स, नामे एगट्ठिए बहु ॥ २४ ॥
जेणं सल्लियहियस्स, एगस्सिं बहु भवंतरे।
सव्वंगोवंगसंधीओ, पसल्लंती पुणो पुणो ॥ २५ ॥
से य दुन्निहे समक्खाए, सल्ले सुहुमे य बायरे।
एकेके तिविहे णेए, घोरुग्गुग्गतरे तहा ॥ २६ ॥
घोरा चउव्विहा माया, घोरुग्गं माणसंजुयं।
माया लोभे य कोहे य, घोरुग्गुग्गतरे मुणे ॥ २७ ॥
सुहुमबायरभेएणं, सप्पभेयं पि तं मुणी।
अरइं समुद्धरे खिप्पं, ससल्लो णेव सो खणं ॥ २८ ॥
खुड्डलागि त्ति अहिपोए, सिद्धत्थतुल्ले सिही।
संपलग्गे खयं णेइ, णगपुरे विज्झाइई ॥ २९ ॥
एवं तणु तणुयरं, पावसल्लमणुद्धियं।
भवभवंतरकोडीओ, बहुसंतावपदं भवे ॥ ३० ॥
भयवं! सुदुद्धरे एस, पावसल्ले दुहप्पए।
उद्धरियं पि ण याणंती, बहवे जह उद्धरिज्जई ॥३१॥
गोयम! निम्मूलमुद्धरणं, नियमे तस्स भासियं।
सुदुद्धरिस्स वि सल्लस्स, सव्वंगोवगभेदिणो ॥ ३२ ॥
सम्मद्दंसणं पढमं, सम्मन्नाणं बिइज्जियं।
तइयं च सम्मचारित्त-मेगभूयमिमं तिगं ॥३३॥
खेत्तीभूते वि जे जित्ते, जे गूढे दंसणं गए।
जे अट्ठीसुं ठिए केई, जे त्थिमज्झंतरं गए।
सव्वंगोवंगमखुत्ते, जे अब्भिंतरबाहिरे।
सल्लंती जेण सल्लती, तं निम्मूलं समुद्धरे ॥३४॥ (महा०)
ताणि सल्ले भवित्ताणं, सव्वसल्ल विवज्जिए।
जे धम्ममणुचिट्ठेज्जा, सव्वभूयप्पकंपिया ॥३९॥
तस्स तं सफलं होज्जा, जम्मजम्मंतरेसु वि।
विउला संपयरिद्धी य, लभेज्जा सासयं सुहं ॥ ४० ॥
महा० १ अ०।
तिविह सल्ल महाराय', अस्सिं देहे समुट्ठिया।
वायमुत्तपुरीसाणं, पत्त वेग न धारए ॥ ओघ०।

"अथ शल्या महाराज!, अस्मिन् देहे समुत्थिताः। वायु-मूत्रपुरीषाणां, प्राप्तं वेगं न धारयेत् ॥ १ ॥" पं० चू० १ कल्प। "उद्धरियसव्वसल्लो, सिज्झइ जीवो धुयकिलेसो" द० प०। नि० चू०। ('मरण' शब्दे षष्ठभागे १३५ पृष्ठे विस्तर.।)

सल्लइ-सल्लकी-स्त्री०। स्कन्धबीजवनस्पतिभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० स्था०। आचा०। आ० म०। उत्त०। गजप्रियाख्ये वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

सल्लइपत्त-सल्लकीपत्र-न०। शल्लक्याख्यवृक्षविशेषदले, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

सल्लकत्तण-शल्यकर्त्तन-न०। कृन्ततीति कर्त्तनं शल्यानि-मायाशल्यादीनि तेषां कर्त्तनं शल्यकर्त्तनम्। मायादिशल्य-च्छेदके, आव० ४ अ०। तद्भाविताना हि भावशल्यानि व्युच्छेदमायान्तीति। औ०। आ० म०। भ०। ज्ञा० उपा०। भ०। शल्यं-पापानुष्ठानं तज्जनितं वा कर्म तत्कर्त्तयति-छिनत्ति तच्छल्यकर्त्तनम्। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

सल्लग-सल्लग-न०। रगे लगे संवरणे। शोभनं लगनं संवरण-मिन्द्रियसंयमरूप सल्लगस्तद्भावः। इन्द्रियसंवरणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

शल्यग-न०। शल्यवच्छल्यं मायानुष्ठानकार्यं गायति-कथयति शल्यगम्। मायापरिज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आ० म०। प्रश्न०।

सल्लगहत्त-शल्यकहत्य-न०। शल्यस्य हत्या-हननमुद्धार-इत्यर्थ. शल्यहत्या तत्प्रतिपादकम् शल्यहत्यम्। शल्योद्धारवैद्यकशास्त्रे, विपा० १ श्रु० ७ अ०। स्था०।

सल्लुद्धरण-शल्योद्धरण-न०। शल्यानां मायाशल्यादीनां समुद्धरणकारणत्वाच्छल्योद्धरणम्। पा०। शल्यकर्त्तने, कण्टकाद्युद्धारे.पञ्चा०१६विव०।न०। आलोचनायाम्, ओघ०।

आलोयणा वियडणा, सोही सब्भावदायणा चेव।
निंदण गरिह विउट्टण, सल्लुद्धरणं ति एगट्ठा ॥७९१॥

आलोचना विकटना शुद्धिः सद्भावदायणा निन्दण गरहणा विउट्टण सल्लुद्धरण चेत्यकार्थिकानीति।

एत्तो सल्लुद्धरणं, वुच्छामि धीरपुरिसपन्नत्तं।
जं नाऊण सुविहिया, करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥७९२॥ओघ०।

(अत्रत्या वक्तव्यता 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४०५ पृष्ठे गता।) (कण्टकोद्धरणम् 'कण्टगाइउद्धरण' शब्दे तृतीयभागे १७० पृष्ठे गतम्।) (अन्यथाकरणे प्रायश्चित्तं 'पच्छित्त' शब्दे पञ्चमभागे १३० पृष्ठे प्रतिपादितम्।) (प्रतिसेवना कृत्वाऽऽलोचयत् इति 'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे ३६३ पृष्ठे गतम्।)

भोगो अणेसणाणीए, समियत्तं भावणाए भावणया।
जह सत्ति चाकरणं, पडिमाए पडिग्गहाणं च ॥३३॥

भोगो भोजनम् अनेषणीये कल्पेऽशनादौ विषयभूते इत्य-य पिण्डाद्यशुद्धिलक्षण उत्तरगुणेऽतिचार। तथा असमितत्वमप्रयत्न इति शेषसमितिचतुष्टये भावनाना महाव्रतरक्षणोपायभूताना पञ्चविंशतेरनुप्रेक्षाणां वा द्वादशानां किमित्याह-अभावनता प्राकृतत्वेन तावप्रत्ययस्य स्वार्थिक-

स्वाद्भावना अभावनस्य वाऽविद्यमानभावनस्य भावोऽभावनताऽनासेवनमिति भावनातिचारः । तथा यथाशक्ति च यथाबलं च अकरणमसेवा, प्रतिमाना भिक्षुप्रतिमानां मासिक्यादीनाम् अभिग्रहाणां च द्रव्यादिनियमानां चशब्दाद्विविधतपसश्चेति तत प्रतिमाभिग्रहाणामतिचार इति ।

एते इत्थऽइयारा, ऽसद्दहणादी य गुरुयभावाणं ।
आभोगाणाभोगा–दि सेविया तह य ओहेणं ॥ ३४ ॥

एतेऽनन्तरोक्ताः 'एत्थ' त्ति-एतेषु यथाक्रमं मूलगुणोत्तरगुणेषु अतिचारा-अतिक्रमाः, तथा अश्रद्धानादयश्च-अश्रद्धान-विपरीतप्ररूपणादयश्च भावाना जीवादिपदार्थानाम् अतिचारा इति प्रकृतम् । किंविधा इत्याह-'गुरुग' त्ति-गुरुकाः पृथिवीसंघट्टनादिभ्यः सकाशान्महान्तः, सद्धर्मप्रासादमूलकल्पसम्यक्त्वदूषकत्वादेषाम् । एते च सर्वेऽपि आभोगानाभोगादिसेविता आभोगानाभोगादिकृताः, तत्र आभोगोऽकर्त्तव्यमिदमिति ज्ञानम्, अनाभोगस्त्वज्ञानम्, आदिशब्दात्सहसाकारभयरागद्वेषादिपरिग्रहः । तथा चेति समुच्चये । ओघेनाभोगानाभोगादिविशेषाभावेनोपयुक्तगमनागमनादिना । अथवा-ओघेन-लोकप्रवाहेण । अथवा—तथा चेत्येवस्थिते, ओघेन—सामान्येन सामस्त्येनेति यावत् आलोचयेदिति योग इति गाथार्थः ।

ततः किमित्याह—

संवेगपरं चित्तं, काऊणं तेहिँ तेहिँ सुत्तेहिं ।
सल्लाणुद्धरणविवा–गदंसगादीहिँ आलोए ॥ ३५ ॥

संवेगपरं-भवभयप्रधान, मोक्षं प्रति प्रचलनवशा चित्तं-मनः कृत्वा-विधाय । कैरित्याह—तैस्तैः प्रवचनप्रसिद्धैः । सूत्रैः-वाक्यविशेषैः । किंविधैः ? शल्यानुद्धरणेऽकृत्यकरणभावशल्याप्रकाशने यो विपाको—दुष्टपरिणामस्त दर्शयन्ति यानि तानि तथा, तदादिभिः—तत्प्रभृतिभिः आदिशब्दाच्छल्योद्धरणगुणसदर्शकसूत्रपरिग्रहः आलोचयेद् गुरवे निवेदयेत् । आलोचकोऽतिचारानिति प्रकृतम्, अथवा-आलोचयेदिति आलोचयेद् गुरुः शिष्यमिति गाथार्थः ।

अथ शल्यस्यैव लक्षणमाह—

सम्मं दुच्चरितस्स, परसक्खिगमप्पगासणं जं तु ।
एयमिह भावसल्लं, पण्णत्तं वीयरागेहिं ॥ ३६ ॥

सम्यग्भावतः दुश्चरितस्य-दुष्कृतस्य परसाक्षिकं-गीतार्थाभ्यन्तम् अप्रकाशनम्-अप्रकटनम्, यत्तु-यत्पुनः एतद् दुश्चरिताप्रकाशनम् इह शल्यविचारे भावशल्यं द्रव्यशल्येतरत् प्रज्ञप्तं—प्ररूपितं वीतरागैः—जिनैरिति गाथार्थः ।

शल्यानुद्धरणविपाकदर्शकादिभिः सूत्रैरित्युक्तमथ
तद्दर्शनाय गाथाद्वयमाह—

ण वि तं सत्थं व विसं, दुप्पउत्तो व कुणति वेतालो ।
जं तं व दुप्पउत्तं, सप्पो व पमादिओ कुद्धो ॥ ३७ ॥
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धितं उत्तिमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहबोहीयत्तं, अणंतसंसारियत्तं च ॥ ३८ ॥

नापि-नैव तमपायं करोतीति योगः । शस्त्रं वा खड्गादि कवभूतम् विषं वा हलाहलं दुष्प्रयुक्तो वा दुःसाधितो वा करोति—विधत्ते । वेतालः—पिशाचः यन्त्रं वा शतघ्न्यादि दुष्प्रयुक्तं—दुर्व्यापारितम्, सर्पो वा भुजङ्गः प्रमादितोऽवगीतः क्रुद्धः—कुपितः सन्निति वाशब्दो विकल्पार्थः । यमपायं करोति—विधत्ते भावशल्यं—दुश्चरितम् । अनुद्धृतमनाकृष्टं जीवदेहात् उत्तमार्थः-प्रधानप्रयोजनं-पण्डितमरणं समस्तानुष्ठानशेखरकल्पत्वात्तस्य कालः-अवसर उत्तमार्थकालस्तस्मिन् । शस्त्रादीनि ह्येकभविकमेव मरणं कुर्वन्ति, एतच्चानन्तजन्ममरणपरम्पराम्, अत एवाह-दुर्लभबोधित्वमसुलभजिनधर्मताम् । अनन्तसंसारिकत्वमनन्तभवभाक्त्वम् । च समुच्चये । सम्यक्त्वचरणभ्रष्टो ह्युत्कर्षेणापार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणसंसारभाजनं भवतीति, भावशल्योद्धारगुणसंदर्शकसूत्राणि पुनरेवम्—" आलोयणापरिणओ सम्मं काऊण सुविहिओ कालं । उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥१॥" इत्यादीनीति गाथाद्वयार्थः । पञ्चा० १५ विव० ।

सल्लमुद्धरिउकामेणं, सुपसत्थे य सोहणे दिणे ।
तिहिकरणमुहुत्तनक्खत्ते, जोगे लग्गे ससीबले ॥ ४१ ॥
कायव्वायंबिलक्खमणं, दस दिणे पञ्च मङ्गलं ।
परिजवियव्वं अट्ठसयं, सयहा तदुवरिं अहयं करे ॥ ४२ ॥
अट्ठमभत्तेण पारित्ता, काऊणायंबिलं ततो ।
चेइयसाहू य वंदित्ता, करिज्ज खंतमरिसियं ॥ ४३ ॥
जे केइ दुट्ठु संलत्ते, जस्सुवरिं दुट्ठु चिंतियं ।
जस्स य दुट्ठु कयं जेण, परिदुट्ठु व कयं भवे ॥ ४४ ॥
तस्स सव्वस्स तिविहेणं, वाया मणसा य कम्मुणा ।
णीसल्लं सव्वभावेणं, दाउं मिच्छा मि दुक्कडं ॥ ४५ ॥
पुणो वि वीयरागाणं, पडिमाओ चेइयालए ।
पत्तेयं संथुणे वंदे, एगग्गो भत्तिनिब्भरो ॥ ४६ ॥
वंदितु चेइए सम्मं, छट्ठभत्तेण परिजवे ।
इमं सुयदेवयं विज्जं, लक्खहा चेइया लहे ॥ ४७ ॥
उवसंतो सव्वभावेणं, एगचित्तो सुनिच्छओ ।
आउत्तो अव्वक्खित्तो, रागरइअरइवज्जिओ ॥ ४८ ॥

महा० १ अ० ।

सव–शव न० । मृतशरीरे, 'कुणवं सवं च मडयं' पाइ० ना० १५८ गाथा ।

सवण–शपन–न० । अभिधाने, आक्रोशे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

श्रवण–न० । वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणरूपे उपलब्धिविशेषे, आ० म० १ अ० । अभिलापसाचितार्थग्रहणस्वरूपे उपलब्धिविशेषे, अनु० । आ० म० । कर्णे, "सवणा कण्णा" पाइ० ना० २५१ गाथा । (द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा शब्दं शृणोति इति 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभाग ५५६ पृष्ठे गतम् ।) श्रवणविषयीकरणे, द्रव्या० १० अध्या० । आकर्णने, पञ्चा० १ विव० । साधुसमीपे जिनागमाकर्णने, पञ्चा० १ विव० । ध० । सूत्र० । उत्त० ।

सम्प्रति श्रवणविधिप्रतिपादनार्थमाह—

निद्दाविगहापरिव-ज्जिएहिँ गुत्तेहिँ पंजलिउडेहिं ।
भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥ ७०७ ॥
अभिकंखंतेहिँ सुभा-सियाइँ वयणाइँ अत्थसाराइं ।
विम्हियमुहेहिँ हरिसा-गएहिँ हरिसं जणंतेहिं । ७०८॥

निद्राविकथापरिवर्जितैः परिवर्जितनिद्राविकथैरित्यर्थः, गुप्तैः-मनोवाक्कायगुप्तैः पञ्जलिउडेहिं इति-निष्ठान्तस्य प्राकृतत्वात् परनिपात इति कृतप्राञ्जलिभिः भक्तिः यथोचिता बाह्या प्रतिपत्तिर्बहुमानम्-आन्तरः प्रीतिविशेषस्तत्पूर्वम् उपयुक्तैः श्रवणैकनिष्ठस्तत्तो गुरुमुखाद्विनिर्गतानि वचनानि 'सुभाषितानि शब्दार्थदोषरहितानि तथा अर्थसाराणि विपुलार्थसमन्वितानि अभिकाङ्क्षद्भिः पूर्वापूर्वश्रवणतो हर्षागतैरागतहर्षैरित्यर्थः, हर्षोत्कर्षवशादेव विस्मितमुखैस्तथा अन्येषां संवेगकरणादिना हर्षं जनयद्भिः श्रोतव्यम् । एवं च तैः शृण्वद्भिर्गुरोरतीव परितोषप्रकर्षेण प्रकृष्टेन आराध्यते ।

तत्र किमित्याह—

गुरुपरितोसगएणं, गुरुभत्तीए तहेव विणएणं ।
इच्छियसुत्तत्थाणं, खिप्पं पारं समुवयंति ॥ ७०९ ॥

गुरुपरितोषगतेन-गुरुपरितोषप्रकारेण प्रकृष्टेन गुरुपरितोषेणेत्यर्थः, सोऽपि कथमित्याह-गुरुभक्त्या—आन्तरप्रीतिविशेषरूपया तथैव विनयेन च देशकालाद्यपेक्षया यथोचितप्रतिपत्तिकरणलक्षणेन, किमित्याह—सम्यक् सद्भावप्ररूपणया ईप्सितसूत्रार्थयोः क्षिप्र-शीघ्रं पारं समुपयान्ति । आ० म० १ अ० । स्था० । पं० व० । विशे० ।

श्रवणविधिमाह—

मूयं हुंकारं वा, वाढक्कारपडिपुच्छवीमंसा ।
तत्तो पसंगपारा-यणं च परिणिट्ठ सत्तमए ॥ ५६५ ॥

मूकमिति-मूकः शृणुयात् । इदमुक्तं भवति-प्रथमवारश्रवणे संयतगात्रः सन् तूष्णीमाश्रितः सर्वमवधारयेत् । द्वितीयवारया तु हुङ्कारं दद्याद् वन्दनं कुर्यादित्यर्थः, तृतीये श्रवणे वाढक्कारं कुर्यादेवमेतन्नान्यथेति ब्रूयादित्यर्थः, चतुर्थे तु गृहीतपूर्वापरसूत्राऽभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात्कथमेतत् ? इति, पञ्चमे तु मीमांसा विदध्यात्तत्र मातुमिच्छा मीमांसा प्रमाणजिज्ञासेति यावत्, ततः षष्ठे तदुत्तरोत्तरगुणप्रसङ्गः पारगमनं चाऽस्य भवति, सप्तमे श्रवणे परिनिष्ठा भवति । एतदुक्तं भवति-गुरुवदनुभाषते एव सप्तमवारायामिति । तदेवं शिष्यगतः श्रवणविधिरुक्तः । विशे० । नं० । ध० प्र० ।

जिनवचनश्रवणस्य सारतामुपदर्शयन्नाह—

न वि तं करेइ देहो, ण य सयणो णेय वित्तसंघाओ ।
जिणवयणसवणजणिया, जं संवेगाइया लोए ॥ ४ ॥

नापि तत्करोति देहो न च स्वजनो न च वित्तसंघातः जिनवचनश्रवणजनिता यत्संवेगादयो लोके कुर्वन्ति । तथा ह्यशाश्वतः प्रतिक्षणभङ्गुरो देहः शोकायासकारणं क्षणिकसङ्गमश्च स्वजनः अनिष्ठितायासव्ययमायास्पदं च वित्तसंघात इत्यसारता तीर्थकरभाषिताकर्णनाकृताश्च संवेगादयो जातिजरामरणरोगशोकाद्युपद्रवव्यतिरहितापवर्गहेतव इति सारता, अतः श्रोतव्यं जिनवचनमिति

अथवा—

होइ दढं अणुराओ, जिणवयणे परमनिव्वुइकरम्मि ।
सवणाइँ गोयरो तह, सम्मद्दिट्ठिस्स जीवस्स ॥ ५ ॥

भवति-क्रियमेतेन निर्गतः एव भवति-जायते दृढम्-अत्यर्थमनुरागः-प्रीतिविशेषः क्व ? जिनवचने-तीर्थकरभाषिते किंविशिष्टे परमनिर्वृतिकरे-उत्कृष्टसमाधिकरणशीले किं गोचरोऽनुरागो भवति इत्यत्राह—श्रवणादिगोचरः—श्रवणश्रद्धानानुष्ठानविषय इत्यर्थः, तथा तेन प्रकारेण कस्येत्यत्राह-सम्यग्दृष्टेः जीवस्य प्रक्रान्तत्वात् श्रावकस्येत्यर्थः, अतोऽसौ श्रवणे प्रवर्त्तत एव, ततश्च शृणोति इति श्रावक इति युक्तमिति गाथाभिप्रायः । श्रा० । द० शा० । आचा० । 'सवणे नाणफले' प्रव० २ द्वार । कर्णे, श्रोत्रोपलब्धिरूपे निर्वृत्तिरूपे च शब्दग्रहणेन्द्रिये, ग० ३ अधि० । औ० । स्वनामख्याते विष्णुदेवताके (श्रनु०) त्रितारे नक्षत्रभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ज्यो० । सू० प्र० । जं० । स० । सू० प्र० ।

सवन–न० । कर्मसु प्रेरणे, 'षू' प्रेरणे इति वचनात् । सू० प्र० १० पाहु० ।

सवणया–श्रवणता–स्त्री० । श्रूयतेऽनेनेति श्रवणमेकसामयिकसामान्यार्थावग्रहरूपोऽर्थावग्रहरूपो बोधपरिणामस्तद्भावश्च श्रवणता । श्रवणभावे, श्रवणार्थे, भ० ६ श० ३१ उ० । स्था० । औ० ।

सवणसंवच्छर–सवनसंवत्सर–पुं० । सवनं कर्मसु प्रेरणम् 'षू' प्रेरणे इति वचनात्, । तत्प्रधानः संवत्सरः सवनसंवत्सरः । कर्मसंवत्सरापरनामके संवत्सरभेदे, 'कम्मो त्ति सावणो त्ति य, उउ त्ति य तस्स नामाणि" । सू० प्र० १० पाहु०'

सवण्ण–सवर्ण–त्रि० । सदृशे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सवत्ती–सपत्नी–स्त्री० । समानः—साधारणः पतिरस्या सा सपत्नी । स्वपत्युर्द्वितीयभार्यायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सवध–सपथ–पुं० । इदमित्थमेव करिष्यामि इति निश्चितवाक्ये, प्रा० ४ पाद ।

सवयणणिराकय–स्ववचननिराकृत–त्रि० । आत्मीयवचनैरेव खण्ड्यते वाक्यं, यथा यदहं वच्मि तन्मिथ्येति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सवस–स्ववश–त्रि० । स्वतन्त्रे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सवसयण–शवशयन–न० । श्मशाने, नि० चू० १२ उ० ।

सवह–शपथ–पुं० । "पो वः" ॥ ८ । १ । २३१ ॥ इति पस्य वः । प्रा० । "नावर्णात्पः" ॥८।१।१७९॥ इति पस्य लुक् न भवति । सवहो । प्रा० । वाक्यविशेषे, सू० १ श्रु० १ अ० ।

सवहसाविय–शपथश्रा(शा)पित–त्रि० । शपथान् देवगुरुद्रोहिका भविष्यसि त्वं यदि विकल्पं नाख्यासीत्यादिकान् वाक्यविशेषान् श्रापिता श्रोत्रेन्द्रियोपसमभिहिता, शपथैर्वा श्रापिता शपथश्रापिता, शपथशापिता वा । शप्तेषु आक्रुष्टेषु, सू० १ श्रु० १ अ० ।

सवाय-सवाद-पुं०। सह वादेन सवादः। वादसहिते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

सद्वाद-पुं०। शोभनभारत्याम्, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

सद्वाच्-स्त्री०। शोभनवचने, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

सवार-सवार-न०। प्रभाते, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सवित-शपयत्-त्रि०। इदं चेदं परुत्परारि वा भविष्यति इत्थंभूतवचांसि श्रावयति, औ०।

सविज्जविज्जाणुगय-स्वविद्यविद्यानुगत-पुं०। स्वा आत्मीया विद्या स्वविद्या परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा तया स्वविद्यया अनुगता युक्ता न पुनः परविद्यया इहलोकोपकारिण्येति। लोकोत्तरागमयुक्तेषु, ' सव्वोवसत्ता अममा अकिंचणा, सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो। ' दश० ६ अ०।

सविट्ठा-श्रविष्ठा-स्त्री०। धनिष्ठापरपर्याये नक्षत्रभेदे, चं० प्र० १० पाहु०। सू० प्र०।

सवित्तिय-सवृत्तिक-त्रि०। चैत्यप्रतिबद्धगृहक्षेत्रादिवृत्तिभागिषु, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सवियप्पसमाहि-सविकल्पसमाधि-पुं०। संप्रज्ञातसमाधौ, द्वा० २० द्वा०। (' जोग ' शब्दे चतुर्थभागे १६२९ पृष्ठे विस्तरेण गत।)

सविया-सवितृ-पुं०। आदित्ये, आ० म० १ अ०। (आदित्यादेव दिग्विभाग इति 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे दर्शितम्।) हस्तनक्षत्रे, हस्तनक्षत्रस्य सविता देव इति हस्तोऽपि सविता। अनु०।

दो सविया। (सू० ६० +) स्था० २ ठा० ३ उ०।

सवियार-सविचार-पुं०। विचरणं विचारः। अर्थाद् व्यञ्जने व्यञ्जनादर्थे मनःप्रभृतियोगानां चान्यस्मादन्यस्मिन् विचरणम्। भ० २५ श० ७ उ०। आव०। सह विचारेण वर्तत इति सविचारं। अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रमे, आव० ४ अ०। दर्श०। सविस्तरे आह च चूर्णिकृत्-'सवियारो त्ति वित्थरो' बृ० १ उ० २ प्रक०।

सविकार-त्रि०। भ्रूचेष्टादिसहिते, तं०।

सवियारवयणवज्जण-सविकारवचनवर्जन-न०। सश्रृङ्गारभणितानां वर्जने, ध०।

सवियारजपियाइं, नूणमुईरंति रागग्गि ॥ ४० ॥

सविकारजल्पितानि-सश्रृङ्गारभणितानि नूनं-निश्चितमुदीरयन्त्युद्दीपयन्ति रागाग्निमतस्तानि न ब्रूते इति शेष। उक्तं च-" जं सुणमाणस्स फ.ड. सुदट्ठुयरं जलइ मागसे मयणो। मणसोण सावण वि, न सा कहा होइ कहियव्वा ॥ १ ॥" उपलक्षणं चैतत् उपानरमप्युद्दीपयन्ति केषांचिदिति अतोऽनवस्थायकानि मिश्रसैनस्येव सविकारजल्पितानि न आपनीयानि। ध० र० २ अधि० २ लक्ष०। (मिश्रसैनकथा ' मित्तसेण ' शब्दे षष्ठभागे गता।)

सवियारसमाहि-सविचारसमाधि-पुं०। सापस्मिरञ्जस्पान्ध्यो समाधौ द्वा०। (अत्र 'जाग' शब्दे चतुर्थभागे १६२९ पृष्ठे।)

सवियारि (ण्)-सविचारिन्-न०। सविचारेण सह इति सविचारि। सर्वधनादित्वादिन् समासान्तः। अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ते, स्था० ४ ठा० १ उ०। ग०।

सविसाण-सविषाण-त्रि०। सशृङ्गे, निर्ग्रन्थीभिः सविषाणे आसने नोपवेष्टव्यम्। तत्र सविषाणं नाम, यथा कपाटस्योभयतः शृङ्गे भवतः यत्र मिसिकादौ पीठफलके वा विषाणं शृङ्गं भवति। बृ० ५ उ०।

सविसेस-सविशेष-त्रि०। सह विशेषेण वर्तते इति सविशेषम्। सोत्तरगुणे, उत्त० ७ अ०। नि० चू०।

सविसेसतर-सविशेषतर-त्रि०। बृहत्तरे, नि० चू० १ उ०।

सविहोड-सविहोड-त्रि०। सजुगुप्सनीये, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सवीरिय-सवीर्य-त्रि०। वीर्यशक्त्युपेते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

सवेंटय-सवृन्तक-त्रि०। नालयुक्ते, बृ० ५ उ०।

सवेयग-सवेदक-पुं०। स्त्र्यादिवेदयुक्ते, भ० १७ श० २ उ०। स्त्रीवेदाद्युदयवति, स्था० २ ठा० ३ उ०। संसारिणि, स्था० २ ठा० ४ उ०।

सव्व-शर्व-पुं०। शिवे रुद्रे, वाच०।

सर्व-त्रि०। सृ गतौ स्रियतेऽसौ स्रियतेऽनेनेति वा सर्वम्, विशे०। " सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८। २। ७९॥ इति रलोपे द्वित्वम्। प्रा०। अशेषे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। उत्त०। अपरिशेषे, नि० चू० १ उ०। आचा०। समस्ते, पा०। पञ्चा०। दश०। औ०। प्रश्न०। आ० म०। दर्श०। सकले, आ० चू० १ अ०। विश्वशब्दार्थे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

चत्तारि सव्वा पण्णत्ता, तं जहा-णामसव्वए ठवणसव्वए आएसमव्वए णिरवसेसमव्वए। स्था०४ठा०१उ०।

(व्याख्या ' सर ' शब्दे) सर्वत्र ककारः स्वार्थिको द्रष्टव्यः। विशे०।

अथ सर्वशब्दं व्याचिख्यासुराह—

किं पुण तं सामइयं, सव्वसावज्जजोगविरइ त्ति।

सिय एस तेण सव्वो,तं सव्वं कइविहं सव्वं ?।३४८४।

किं पुनस्तद् यथोक्तशब्दार्थं सामायिकम्, इत्याह—सर्वसावद्ययोगविरतिरिति। अथ सर्व इति कः शब्दार्थः ?। उच्यते-' सृ गतौ ' इत्यस्य धातोः स्रियते स इति स्रियतेऽनेनेति औणादिके वप्रत्यये सर्वः पदार्थो वस्तुनि तु वाच्ये। ननु सर्वं यस्मिन्नति भवति कतिविधं पुनरिदं सर्वं भवति ?। इति गाथार्थः।

अथ ' कतिविधं सर्वम् ,' इति प्रश्नोत्तरमाह—

नामं ठवणा दविए, आएसे चेव निरवसेसे य।

तह सव्वधत्ता सव्वं, च भाव सव्वं च सत्तमगं।३४८५।

नामसर्वम्, स्थापनासर्वम्, द्रव्यसर्वम्, आदेशसर्वम्, निरवशेषसर्वम्, तथा सर्वधत्तासर्वम्, भावसर्वं च सप्तमकम्, इति निर्युक्तिगाथार्थः।

तत्र नामस्थापनासर्वं सुगमम् , द्रव्यसर्वं तु ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तं व्याचिख्यासुराह—

कसिणं दव्वं सव्वं, तद्देसो वा विवक्खयाऽभिमश्रो ।
दव्वे तद्देसम्मि य, सव्वा सव्वे चउब्भंगा ॥ ३४८६ ॥
सव्वासव्वे दव्वे, देसम्मि य नायमंगुलीदव्वं ।
संपुएणं देसोणं, पव्वं पव्वेगदेसो य ॥ ३४८७ ॥

इहाङ्गुल्यादिद्रव्यं यदा कृत्स्नं सर्वैरपि निजावयवैः परिपूर्णं विवक्ष्यते तदा सर्वमुच्यते । एवं तस्याङ्गुल्यादिद्रव्यस्य पर्वादिको देशो निजावयवपरिपूर्णत्वविवक्षया सर्वोऽभिमतः । वाशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे व्याख्यातः । एतदेव चाङ्गुल्यादिद्रव्यं तद्देशो वा यदाऽपरिपूर्णतया विवक्ष्यते तदा प्रत्येकमसर्वत्वं द्रष्टव्यम् । ततश्च द्रव्ये तद्देशे च सर्वासर्वत्वेन विवक्षिते चतुर्भङ्गी—भङ्गचतुष्टयं भवति , तद्यथा-द्रव्यसर्वं देशोऽपि सर्वः , द्रव्यं सर्वं देशोऽसर्वः , देशः सर्वो द्रव्यमसर्वम् , देशोऽसर्वो द्रव्यमप्यसर्वमिति । अत्र द्रव्यस्य सर्वत्वेऽसर्वत्वे च देशस्यापि सर्वत्वेऽसर्वत्वे च यथाक्रमं ज्ञातमुदाहरणम् , तद्यथा-अङ्गुलिद्रव्यं संपूर्णं विवक्षितं द्रव्यसर्वमुच्यते , तदेव देशोनं विवक्षितं द्रव्यासर्वमभिधीयते , पर्व पुनः संपूर्णं विवक्षितं देशसर्वं विवक्षितम् , पर्वैकदेशस्तु देशासर्वमिति । उक्तं द्रव्यसर्वम् । (विशे० ।) (आदेशवक्तव्यता ' आएससव्वय ' शब्दे द्वितीयभागे ४७ पृष्ठे उक्ता ।)

निरवशेषसर्वमाह—

दुविहं तु निरवसेसं, सव्वासेसं तदेकदेसो य ।
सव्वासेसं सव्वे, अणिमिसनयणा जहा देवा ॥३४८९॥
तद्देसा परिसेसं , सव्वे असुरा जहा असियवएणा ॥
जह जोइसालया वा, सव्वे किर तेउलेस्सागा ।३४९०।

निरवशेषं पुनर्द्विविधम्—विवक्षितसर्ववस्तुनिरवशेषं , तद्देशनिरवशेषं च । तत्र सर्वनिरवशेषं यथा-सर्वेऽनिमिषनयना देवा । इहानिमिषनयनत्वमपरिशेषेष्वपि देवेषु वर्त्तते सनिमिषत्वस्य तेष्वभावादिति । तद्देशापरिशेषं तु यथा सर्वेऽप्यसितवर्णा -कृष्णा असुरा ,यथा वा ज्योतिष्कालया देवा सर्वे किल तेजोलेश्याकाः । इहासुरा ज्योतिष्कालयाश्च देवा समस्तदेवानां प्रत्येकमेकदेशे वर्तन्ते , तेषु सर्वेषु यथासङ्ख्यं कृष्णवर्णत्वं तेजोलेश्यायुक्तत्वं च वर्तते इति देशापरिशेषं मन्तव्यमिति ।

अथ सर्वधत्तासर्वमाह—

जीवाजीवा सव्वं, तं धत्ते तेण सव्वधत्त त्ति ।
सव्वे वि सव्वधत्ता, सव्व जमश्रो परं णत्थं ॥ ३४९१ ॥

इह सर्वस्मिन्नपि लोके यदस्ति तत् सर्वं जीवाश्चाऽजीवाश्च , तत् सर्वं धत्ते धारयति येन करणेन तेन सा विवक्षा निपातनात् सर्वधत्ता , सैव चेह जीवाजीवरूपा विवक्षा सर्वधत्ता सर्वमुच्यते । यस्मादितो जीवाजीवराशिद्वयात् परं नान्यत् किञ्चिदस्तीति ।

आह—ननु द्रव्यसर्वस्यादेशसर्वस्य निरवशेषसर्वस्य-सर्वधत्ता सर्वस्य च कः प्रतिविशेषः ? इत्याह—

अह दव्वसव्वमेगं, दव्वाधारं ति भिन्नमन्नेहिं ।
एगाणेगाधारो—वयारभेएण चादेसं ॥ ३४९२ ॥
भिण्णमसेसं जमिहे—गजाइविसयं ति - सव्वधत्ताश्रो ।
भिन्ना य सव्वधत्ता, सव्वाधारो त्ति सव्वेसिं ।३४९३।

अथ ' द्रव्यसर्वादीनां भेद उच्यते ' इति शेषः । तत्र द्रव्यसर्वं तावदेकद्रव्याधारमुक्तमित्यन्येभ्यो भिन्नम् , तेषां तद्रूपत्वाभावात् । आदेशसर्वं त्वेकानेकद्रव्याधारमिति कृत्वा तथापचारभेदेन च ' भिन्नमन्येभ्यः ' इति वर्तते इति । अशेषसर्वमपि सर्वधत्ता सर्वस्मात् पूर्वोक्ताभ्यां च भिन्नम् , यस्मादेकजातिविषयं तदिति । सर्वधत्ताऽपि सर्वेभ्यः पूर्वेभ्यो भिन्ना सर्ववस्त्वाधारत्वादिति ।

अथ भावसर्वमाह—

कम्मोदयस्सहावो, सव्वो असुहो सुहो य ओदइओ ।
मोहोवसमसहावो, सव्वो उवसामिओ भावो ।३४९४।
कम्मक्खयस्सहावो,खइओ सव्वो य मीसओ मीसो ।
अह सव्वदव्वपरिणइ—रूवो परिणामिओ सव्वो ३४९५

ननु सप्तविधसर्वमध्यात् केनात्राधिकारः ? इत्याह—

अहिगयमसेससव्वं, विसेसओ सेसयं जहाजोगं ।
गरहियमवज्जजुत्तं, पावं सह तेण सावज्जं ॥ ३४९६ ॥

'इह सर्वसावद्य योगं प्रत्याख्यामि' इति सवन्धाद् निरवशेषसर्वं विशेषतोऽधिकृतम् ,शेषकं तु षड्विधं सर्वं यथायोगं यद् यत्र युज्यते तत् तत्र योजनीयमिति । तदेवं ' करणे भए य अंते सामाइयसव्वए' इत्यादि । विशे० । आचा० । आ० म० । आ० चू० । न० । स्था० ।

सव्वअंजणमय—सर्वाञ्जनकमय—त्रि० । अञ्जनकः कृष्णरत्नविशेषस्तन्मया सर्वं एवानन्यमयत्वेन सर्वथैवाञ्जनमयाः सर्वाञ्जनमया । परमकृष्णेषु, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

सव्वउय—सर्वर्तुक—त्रि० । सर्वर्तुसम्भवे , औ० । स० ।

सव्वओ—सर्वतस्—अव्य० । सर्वैः प्रकारैरित्यर्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आचा० । सूत्र० । जी० । दशा० । कल्प० । रा० । विपा० । 'सव्वओ समन्ता सपरिक्खित्ते ' सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्तात् सर्वैरेवात्मप्रदेशैः सर्वैर्वा विशुद्धस्पर्द्धकैः , उक्तं च चूर्णौ-'सव्वओ त्ति सव्वासु दिसि विदिसासु समंता इति ' सव्वायप्पएसेसु सव्वेसु वा विसुद्धफड्डगेसु ' इति अत्र तृतीयार्थे सप्तमी । नं० ।

सव्वओगुत्त सर्वतोगुप्त- त्रि० । सर्वप्रकारतयेन्द्रियनोइन्द्रियरूपयो गुप्तागुप्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

सव्वओभद्द—सर्वतोभद्र—न० । सर्वावस्थसुखे, "वहाणि सव्वओ इह परलोए भद्दं वो सव्वओ भद्दो" पं० चू० १ कल्प । दशमदेवकल्पेन्द्रस्याच्युतस्य पारियानिके विमाने, स्था० १० ठा० ३ उ० । प्रव० । जं० । औ० । महाशुक्रदेवलोके स्वनामख्याते (स० १३ सम० ।) यक्षभेदे, पुं० । प्रज्ञा० १ पद । दृष्टिवादस्य स्वनामके सूत्रे , स० । सर्वतो भद्राणि मुखानि यस्य । चतुर्द्वारयुक्ते गृहभेदे, न० । प्रतिष्ठादौ पूज्यदेवतानां मण्डलभेदे ज्योतिषोक्ते शुभाऽशुभ-

ज्ञानार्थे चक्रभेदे, अलङ्कारोक्तबन्धभेदात्मके चित्रकाव्ये च । सर्वतोभद्रमस्य । निम्बवृत्ते , पुं० । नाम्नार्यां तटयोपिति स्त्री० । शुभाशुभज्ञानार्थे चक्रभेदे, न० । आ० म० १ अ० । स्वनामख्याते भारतवर्षीये पुरे यत्र बृहस्पतिदत्तनामा ब्राह्मणकुमार आसीत् । विपा० १ श्रु० ५ उ० ।

सव्वओ(तो)भद्दपडिमा-सर्वतोभद्रप्रतिमा-स्त्री०। दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्रकायोत्सर्गे अहोरात्रदशकप्रमाणे, प्रतिमाभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० । औ० (सा च ' महासव्वओभद्दपडिमा ' शब्दे षष्ठे भागे उपपादिता ।)

पडिमाए सव्वभद्दाए, पणछसत्तट्ठनवदसेक्कारा ।
तह अड नव दस एक्का-रस पण छ सत्त य तहेक्कारा १५५१
पण छ सत्तग अडनव, दस तहग सत्तट्ठ नव दसेक्कारा ।
पण छ तह दस एक्कार-पण छ सत्त ट्ठ नव व य तहा १५५२
छ ग सत्त ड नव दसगं, एक्कारस पंच तह नवग दसगं ।
एक्कारस पण छक्कं, सत्त ट्ठ य इह तवे हुंति ॥ १५५३ ॥
तिन्नि सया वा णउया, इत्थुववासाण होंति संखाए ।
पारणया गुणवन्ना, भद्दाइतवा इमे भणिआ ॥ १५५४ ॥

प्रतिमायां सर्वभद्रायां, सर्वतोभद्रतपसीत्यर्थः, पञ्च षट् सप्त अष्टौ नव दश एकादश उपवासा इति प्रथमलता , अष्टौ नव दश एकादश पञ्च षट् सप्तेति द्वितीया, एकादश पञ्च षट् सप्त अष्टौ नव दशेति तृतीया, सप्त अष्टौ नव दश एकादश पञ्च षडिति चतुर्थी , दश एकादश पञ्च षट् सप्त अष्टौ नवेति पञ्चमी , षट् सप्त अष्टौ नव दश एकादश पञ्चेति षष्ठी , नव दश एकादश पञ्च षट् सप्त अष्टाविति सप्तमी । स्थापना चेयम्—

स	र्व	तो	भ	द्र	स्था	पना
५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८

अत्र च सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि द्विनवत्युत्तराणि उपवासानां भवन्ति एकोनपञ्चाशच्च पारणकानामुभयमीलने चत्वारि शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि दिनानां भवन्तीति तदेवमेतानि भद्रादीनि भद्रमहाभद्रभद्रोत्तरसर्वतोभद्ररूपाणि चत्वारि तपांसि भणितानि । ग्रन्थान्तरे पुनरमून्यन्यथाऽपि दृश्यन्ते , एतेष्वपि चतुर्षु तपस्सु प्रागवत्पारणकभेदतः प्रत्येकं चातुर्विध्य द्रष्टव्यं दिनसर्वसंख्या च यथायथमानेतव्येति । प्रव० २७१ द्वार ।

सव्वओसहाययण-सर्वौषधायतन-न० । देहे, रोगादावसिन् सर्वौषधप्रक्षेपात् । तं० ।

सव्वंकस-सर्वङ्कष-त्रि । सर्वङ्कषति कष—खच् । पापे , आव० १ अ० ।

सव्वंग-सर्वाङ्ग-न० । सर्वशरीरे, 'सव्वंगओ दाहो' सर्वाङ्गः, सर्वशरीरव्यापी दाहः । तं० ।

सव्वंगसुंदर-सर्वाङ्गसुन्दर-न० । निखिलावयवप्रधाने, स० । सर्वाङ्गानि सुन्दराणि यतस्तयोर्विशेषात्सर्वाङ्गसुन्दरः । चित्रतपोविशेषे, पुं० । पञ्चा० ।

अथ सर्वाङ्गसुन्दरादितपोविशेषान् विवृण्वन्नाह-
अट्ठोवासा एगं-तरेण विहिपारणं च आयामं ।
सव्वंगसुन्दरो सो, होइ तवो सुक्कपक्खम्मि ॥ ३० ॥
खमयादभिग्गहो इह, सम्मं पूया य वीयरागाणं ।
दाणं च जहासत्तिं, जइदीणाईण विधेयं ॥ ३१ ॥

अष्टावुपवासाः प्रसिद्धाः कथमेकेन पारणकदिनेनानन्तरं व्यवधानमेकान्तरं तेनैकान्तरेण । विधिपारणं च प्रत्याख्यानस्पर्शनादिविधानयुक्तभोजनं च आयाममाचामाम्लमागमसिद्धं यत्र तपोविशेषे सर्वाङ्गसुन्दरोऽसौ भवति । 'तवो' त्ति-तपोविशेषः शुक्लपक्षे प्रतीते इति । तथा क्षास्यतीति क्षमस्तद्भावः क्षमता क्षान्तिस्तदादौ क्षान्तिमार्दवार्जवादावभिग्रहो नियमः क्षमताद्यभिग्रहः इह तपसि विधेयो भवति । तथा सम्यग्भावतः पूजा चाभ्यर्चनं वीतरागाणां, दानं च यथाशक्ति यतिदीनादीनां विधेयमिति व्यक्तमिति गाथाद्वयार्थः । पञ्चा० १९ विव० ।

सव्वंगसुदरी-सर्वाङ्गसुन्दरी-स्त्री० । सर्वेष्वङ्गेषु सुन्दरीति । गजपुरे शङ्खश्राद्धस्य सुतायाम् , आ० म०१ अ०। आ० चू०। ('माया' शब्दे षष्ठे भागे एतद्वक्तव्यतोक्ता ।)

सव्वंगिय-सर्वाङ्गीण-त्रि० । सर्वाङ्गाणि व्याप्नोति । सर्वावयवव्यापके , ' तत्थ य सव्वंगिओ पुरिसो दीसइ ' । आ० म० १ अ० । अत्र-" सर्वाङ्गादीनस्येकः " ॥ ८ । २ । १५१ ॥ सर्वाङ्गात् सर्वादं पथ्यङ्गेत्यादिना विहितस्येनस्य स्थाने इक इत्यादेशः । सर्वाङ्गीणम् । सर्वगात्रे, प्रा० २ पाद ।

सव्वब्भंतरय-सर्वाभ्यन्तरक-पुं० । सर्वात्मना—सामस्त्येनाभ्यन्तरः सर्वाभ्यन्तरः । स एव सर्वाभ्यन्तरकः प्राकृतलक्षणात् स्वार्थे कप्रत्ययः । सर्वात्मनाऽभ्यन्तरे, " एस ण जम्बूदीवे सव्वदीवसमुद्दाण सव्वब्भंतरए । " जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सव्वकणगामय-सर्वकनकमय-त्रि० । सर्वात्मना कनकमये , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सव्वकम्म-सर्वकर्मन्-पुं० । पक्षस्य सप्तमतिथिदिवसे , ज० १ वक्ष० ।

सव्वकम्मक्खयउवसम-सर्वकर्मक्षयोपशम-पुं० । निखिलज्ञानावरणादिघातिकर्मणा विगमविशेषे , पञ्चा० २ विव० ।

सव्वकम्मावह-सर्वकर्मावह-पुं० । सर्वपापोपादानभूते आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

सव्वकाम-सर्वकाम-त्रि० । सर्वाभिलापे, आ० चू० १ अ० ।

सव्वकामगुणिय-सर्वकामगुणित-त्रि० । सर्वे कामगुणाः-कमनीयपर्यायाः विकृत्यादयो विद्यन्ते यत्र तत्तथा । रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणाः सन्तः संजाता वा यत्र तत्सर्वकामगु—

णितम् । श्रा० १ श्रु० ८ अ० । सर्वे कामगुणा—अभिलापविषयभूता रसादयः सजाता यत्र तत्सर्वकामगुणितम् । भ० १५ श० । श्रा० म० । श्रा० क० । सर्वाभिलषणीयरसादिसम्पन्ने, 'जहा सव्वकामगुणियं पुरिसो मोचूण भोयणं को इ" औ० ।

सव्वकामाविरत्तया–सर्वकामविरक्तता–स्त्री० । सर्वाभिलाषनिवर्त्तने, श्रा० चू० १ अ० । समस्तविषयवैमुख्ये, स० ३२ सम० । आव० ।

सर्वकामविरक्ततामाह—

उज्जेणी देवलासुय, अणुरत्तालोअणा य पउमरहो ।
संगयओ मणुमइआ, असिअगिरिअद्धसंकासा ।१३०६।

अभूदुज्जयिनीपुर्यां भूपतिर्देवलासुत ।
तस्याग्रमहिषी राज्ञे, नाम्नाऽनुरक्तलोचना ॥ १ ॥
केशान विन्यस्तयन्ती सा, राज्ञः पलितमन्यदा ।
वीक्ष्य साऽऽक्षेपमाचख्यौ, स्वामिन् ! दूत समागतः ॥ २ ॥
राजा ससम्भ्रम स्माह क्वासौ पश्याम्यहं न किम् ? ।
साऽवदद्धर्मदूतोऽ— पलिताख्यो निरीक्ष्यताम् ॥ ३ ॥
तं निरीक्ष्याधृतिं चक्रे, राजाऽस्मत्पूर्वजा पुरा ।
अदृष्टपलिता. प्रापु—र्दीक्षा धिग्मा प्रमद्वरम् ॥ ४ ॥
सुतं पद्मरथं राज्ये, न्यस्याभूत्तापस स्वयम् ।
देवी सगतको दास , प्रेष्याणुमातका तथा ॥ ५ ॥
सर्वाण्यप्यसितगिरिं, प्रययुस्तापसाश्रमम् ।
दासी दासी च कालेन, तावुत्प्रव्रज्य जग्मतु' ॥ ६ ॥
गर्भ. सन्नपि नाख्यातो, देव्या वृद्धिं गतोऽथ स ।
अयशोभीरुणा राज्ञा, प्रच्छन्नं धारिताऽथ सा ॥ ७ ॥
प्रसुवाना मृता देवी, जाता तु दुहिताऽद्भुता ।
पिबन्ती स्तन्यमन्यासा, तापसीनामवर्द्धत ॥ ८ ॥
सोक्ता नाम्नाऽर्द्धसकाशा, क्रमाद्यौवनमासदत् ।
विश्राम्यति स्म पितरं, साऽब्रवीत सदागतम् ॥ ९ ॥
यौवनेऽस्या. स रक्तोऽथ, विषमा विषया खलु ।
दध्यावन्येद्युराश्लेष्टुं, चस्खालोटजदारुणि ॥ १० ॥
पतितोऽचिन्तयत्पाप-मत्रैव फलिन हहा ।
नामुष्मिकं ज्ञायते स्म प्रबुद्धो जातिमस्मरत् ॥ ११ ॥
सर्वकामविरक्ताख्य, बभाषेऽध्ययन तथा ।
दत्ता सुताऽपि साध्वीना, स सिद्ध. साऽपि निर्वृता ॥१२॥
एव सर्वविरक्तैर्योगा संगृह्यन्ते । श्रा० क० ४ अ० । प्रश्न० ।

सव्वकामविरय–सर्वकामविरत–त्रि० । समस्तशब्दादिविषयेभ्यो निवृत्ते, औ० ।

सव्वकामसमिद्ध–सर्वकामसमृद्ध–त्रि० । पक्षस्य पञ्चदशाना दिवसाना षष्ठे दिवसे, जं० ७ वक्ष० । रुचकपर्वतदेवे, च० प्र० १० पाहु० । द्वी० ।

सव्वकामसमप्पिय–सर्वकामसमर्पित–पुं० । सर्वे कामा अभिलाषा अर्पिता सम्पन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पित. । इच्छामात्रेऽभिलषितोपार्जके, स हि यान्यान् कामान् कामयते तेऽस्य सर्वे सिद्ध्यन्तीति यावत् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सव्वकाल–सर्वकाल–पुं० । अतीतानागतवर्त्तमानकालेषु, रा० । प्रश्न० ।

सव्वकालिया–सार्वकालिका–स्त्री० । सर्वकालेषु भवा सार्वकालिका । ध० २ अधि० । अतीतादिना कालेन निर्वृत्तायाम्, आव० ३ अ० ।

सव्वकिरिया–सर्वक्रिया–स्त्री० । धर्मलोकाश्रिते समस्तव्यापारे "वित्तिव्वोच्छेयम्मि य,गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ ।" पञ्चा० ४ विव० ।

सव्वक्कसुद्धि–सद्वाक्यशुद्धि–स्त्री० । शोभनायामात्मीयाया वाक्यशुद्धौ, दश० ८ अ० । " सव्वक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिर तु दुट्ठ परिवज्जए सया ।" दश० ७ अ० ।

सव्वक्खरसण्णिवाइ–(ण्)–सर्वाक्षरसन्निपातिन्–पुं० । सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च तत्संयोगा , सर्वेषा वाऽक्षराणां सन्निपाता. सर्वाक्षरसन्निपाता ते अनन्ता अभिलाप्यानन्तत्वात् यस्य ज्ञेयतया सन्ति स सर्वाक्षरसन्निपाती । सर्वाक्षरसंयोगविदि, भ० १ श० १ उ० ।

श्रव्याक्षरसन्निवादिन्–पुं० । श्रव्याणि-श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साक्षरत्वेन नितरा वदितु शीलमस्येति श्रव्याक्षरसन्निवादी । भ० १ श० १ उ० । स्था० । अक्षरादिसंयोगा विद्यन्ते येषा ते तथा स्वार्थिक इन्प्रत्ययोपादानात् ।विदितसकलवाङ्मये, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सकलप्रज्ञापनीयभावपरिज्ञानकुशले, जं० १ वक्ष० । रा० । औ० ।

सव्वक्खरसण्णिवाइया–सर्वाक्षरसन्निपातिका–स्त्री० । सर्वाक्षराणां सन्निपातोऽवतारो यस्यामस्ति,सर्वे वाऽक्षरसन्निपाता. संयोगा. सन्ति यस्या सा सर्वाक्षरसन्निपातिका । सकलवाङ्मयश्रीजिनवाण्याम् , उपा० २ अ० । औ० ।

सव्वखुड्डाय–सर्वक्षुद्रक–त्रि० । सर्वेभ्य क्षुद्रक सर्वक्षुद्रक । दीर्घत्व प्राकृतत्वात् । सर्वलघौ, " अय च ण जबूदीवे सव्वखुड्डाए " । औ० । जी० ।

सव्वग–सर्वग–त्रि० । सर्वं गच्छति-जानातीति सर्वग ।सर्वज्ञे, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् । स्या० ।

सव्वगुणपसाहण–सर्वगुणप्रसाधन–न० । सकलगुणावहे तपोविशेषे , पञ्चा० १ विव० । ('तव' शब्दे चतुर्थभागे २००३ पृष्ठे गता वक्तव्यता ।)

सव्वगुणसंपण्णया–सर्वगुणसम्पन्नता–त्रि० । ज्ञानादिगुणसहितत्वे, उत्त० २९ अ० ।

सव्वगुणसमिद्ध–सर्वगुणसमृद्ध–स्त्री० । शौर्योपशमादिभि सवैर्गुणै स्फीते, रा० ।

सव्वगा–सर्वगा–स्त्री० ।उत्तररुचकवरपर्वतस्य रुचकोत्तमकूटवास्तव्याया दिक्कुमार्याम् स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सव्वगोत्तावगय–सर्वगोत्रापगत–त्रि० ।सर्वस्मादुच्चैर्गोत्रादेरपगते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सव्वग्ग–सर्वाग्र–न० । सर्वसंख्यायाम् , ज्यो० २ पाहु० ।आचा० ।

सवग्घ–सर्वघ्न–न० । सर्वघातिनि, तच्च, केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं च । पं० सं० ३ द्वार ।

सव्वघाइ–सर्वघातिन् -त्रि० । सर्वघात्यं केवलज्ञानादिलक्षणं गुणं सर्वथा घातयन्तीत्येवं शीलानि सर्वघातीनि गिन् । ज्ञानदर्शनावरणीयरसस्पर्द्धकेषु, पं० सं० ५ द्वार । स० ।

सव्वघाइणी–सर्वघातिनी–स्त्री० । सर्वस्वविषयघातिनीषु कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० । (एताश्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६५ पृष्ठे सप्रपञ्चमभिहिता ।)

सव्वघाइरस–सर्वरसघाति–त्रि० स्वविषयं ज्ञानादिकं सकलमपि घातयति स्वकार्यसाधनं प्रत्यसमर्थं करोति इति सर्वरसघाति । ज्ञानादिगुणनाशके, पं० सं० ३ द्वार ।

सव्वजंबूणयामय–सर्वजाम्बूनदमय–त्रि० । सर्वात्मना जाम्बूनदमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सव्वजगवच्छल–सर्वजगद्वत्सल–त्रि० । पृथिव्यादीनां सर्वभूतानां रक्षणादिना वात्सल्यकर्त्तरि, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सव्वजगहिय–सर्वजगद्धित–पुं० । सर्वस्मिन् जगति ये जीवास्तेभ्यो हितं पथ्यम् तद्रक्षणतस्तदुपदेशदानतो वा । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । उपदेशनात् सर्वप्राणिलोकस्य हितकारिणि, पा० १४ विव० ।

सव्वजगुज्जोयग–सर्वजगदुद्योतक–पुं० । सर्वं समस्तं जगत्लोकाऽलोकात्मकमुद्योतयति-प्रकाशयति केवलज्ञानदर्शनाभ्यामिति सर्वजगदुद्योतकः । जिने, न० ।

सव्वजगुज्जोयगस्स । (३)

" सर्वजगदुद्योतकस्य " सर्वं—समस्तं जगत्—लोकालोकात्मकमुद्योतयति—प्रकाशयति केवलज्ञानदर्शनाभ्यामिति सर्वजगदुद्योतकः, तस्य ' भद्रायुष्यक्षेमसुखहितार्थहितैराशिषि ' ति विकल्पेन चतुर्थीविधानात् षष्ठ्यपि भवति, यथा आयुष्यं देवदत्ताय आयुष्यं देवदत्तस्य, अनेन ज्ञानातिशयमाह । ननु विशेषणं तदुपादीयते यत्सम्भवति, ' सम्भवे व्यभिचारे च विशेषण ' मिति वचनात्, न च सर्वजगदुद्योतकत्वं सम्भवति प्रमाणेनाग्रहणात् । तथाहि-सर्वजगदुद्योतकत्वं भगवतः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते ?, उतानुमानेन, आहोस्विदागमेन, उताहो उपमानेन, अथवा-अर्थापत्त्या ?, तत्र न तावत्प्रत्यक्षेण—भगवतश्चिरातीतत्वात् । अपि च—परविज्ञानं सदैव प्रत्यक्षाविषयः, अतीन्द्रियत्वात्, ततस्तत्कालेऽपि न प्रत्यक्षेण ग्रहणम् । नाप्यनुमानेन-तद्धि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणपुरस्सरमेव प्रवर्त्तते । लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणं च किं प्रत्यक्षेण उतानुमानेन ?, तद्धि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणपुरस्सरमेव प्रवर्त्तते, लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणं च किं प्रत्यक्षेणानुमानेन वा ?, तत्र न प्रत्यक्षेण, सर्ववेदनस्यात्यन्तपरोक्षतया प्रत्यक्षेण तस्मिन्नगृहीते तेन सह लिङ्गस्याविनाभावनिश्चयायोगात् । न चानिश्चितविनाभावं लिङ्गं लिङ्गिनो गमकम् अतिप्रसङ्गात् यतः कुतश्चिद्यस्य तस्य वा प्रतिपत्तिप्रसक्तेः नाप्यनुमानेन लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणम् अनवस्थाप्रसङ्गात् । तथाहि—तदप्यनुमानं लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणतो भवेत्, ततस्तत्रापि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणमनुमानान्तरात्कर्त्तव्यम् तत्रापि चैवमेव वार्त्तेत्यनवस्था । नाप्यागमतः सर्ववेदनविनिश्चयः स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ?, पौरुषेयोऽपि सर्वज्ञकृतो, रथ्यापुरुषकृतो वा ? । तत्र न तावत् सर्वज्ञकृतः, सर्वज्ञासिद्धौ सर्वज्ञकृतत्वस्यैवाविनिश्चयात् । अपि च—एवमभ्युपगमे सतीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः, तथाहि—सर्वज्ञसिद्धौ तत्कृतागमसिद्धिः, तत्कृतागमसिद्धौ च सर्वज्ञसिद्धिः । अथ रथ्यापुरुषप्रणीत इति पक्षस्तर्हि न स प्रमाणमुन्मत्तकप्रणीतशास्त्रवत्, अप्रमाणाच्च तस्माच्च सुनिश्चितसर्वज्ञसिद्धिः, अप्रमाणात्प्रमेयासिद्धेः, अन्यथा प्रमाणपर्येषणं विशीर्येत । अथापौरुषेय इति पक्षस्तर्हि ऋषभः सर्वज्ञो वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञ इत्यादिरर्थवादः प्राप्नोति, ऋषभाद्यभावेऽपि भावात् । तथाहि—सर्वकल्पस्थायी आगमः, ऋषभादयस्त्वधुनातनकल्पवर्तिनः ततः ऋषभाद्यभावेऽपि पूर्वमप्यस्यागमस्यैवमेव भावात्कथमेतेषामृषभादीनामभिधानं तत्र परमार्थसत् ?, तस्मादर्थवाद एषः, न सर्वज्ञप्रतिपादनमिति । अपि च—यद्यपौरुषेयागमाभ्युपगमस्तर्हि किमिदानीं सर्वज्ञेन ? । आगमादेव धर्माधर्मादिव्यवस्थासिद्धेः, तस्मात् नागमगम्यः सर्ववेदी, नाप्युपमानगम्यः, तस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् । तथाहि—प्रत्यक्षप्रसिद्धगोपिण्डस्य यथा गौः तथा गवय इत्यागमाहितसंस्कारस्याटव्यां पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरं तन्नामप्रतिपत्तिरुपमानं प्रमाणं वर्ण्यते, न चैकोऽपि सर्वज्ञः प्रत्यक्षसिद्धो येन तत्सादृश्यावष्टम्भेनान्यस्य विवक्षितपुरुषस्योपमानप्रमाणेन सर्वज्ञ इति प्रतीतिर्भवेत् । नाप्यर्थापत्तिगम्यः, सा हि प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरीकृतार्थान्यथानुपपत्त्या प्रवर्त्तते, न च कोऽप्यर्थः सर्वज्ञमन्तरेण नोपपद्यते, तत्कथमर्थापत्तिगम्यः ?, तदेवं प्रमाणपञ्चकानुवृत्तेरभावप्रमाणमेव सर्वज्ञं क्रोडीकरोति । उक्तं च—' प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपे न जायते । वस्त्वसत्तावबोधार्थं, तत्राभावप्रमाणता ॥ १ ॥ " अपि च—सर्वं वस्तु जानाति भगवान् केन प्रमाणेन ?, किं प्रत्यक्षेण उत यथासम्भवं सर्वैरेव प्रमाणैः, तत्र न तावत्प्रत्यक्षेण, देशकालविप्रकृष्टेषु सूक्ष्मेष्वमूर्त्तेषु च तस्याप्रवृत्तेः, इन्द्रियाणामगोचरत्वात् । यदि पुनस्तत्रापीन्द्रियं व्याप्रियेत तर्हि सर्वः सर्वज्ञो भवेत्, अथेन्द्रियप्रत्यक्षादन्यदतीन्द्रियं प्रत्यक्षं तस्यास्ति तेन सर्वं जानातीति मन्येथाः, तदप्ययुक्तम्, तस्यास्तित्वे प्रमाणाभावात् । न च प्रमाणमन्तरेण प्रमेयसिद्धिः, सर्वस्य सर्वेष्टार्थसिद्धिप्रसक्तेः । अथवा—अस्तु तदपि तथापि सर्वमेतावदेव जगति वस्तु इति न निश्चयः, न खल्वतीन्द्रियमप्यवधिज्ञानं सर्ववस्तुविषयं सिद्धम्, तदपरिच्छिन्नानामपि धर्माधर्मास्तिकायादीनां सम्भवात्, एवं केवलज्ञानापरिच्छिन्नमपि किमपि वस्तु भविष्यतीत्याशङ्काऽनतिवृत्तेर्न सर्वविषयं केवलज्ञानं वक्तुं शक्यम् । तथा च कुतः सर्वज्ञस्यापि स्वयमात्मनः सर्वज्ञत्वविनिश्चयः ? अथ यथायथं सर्वैरेव प्रमाणैः सर्वं वस्तु जानातीति पक्षः तन्नैवं सति य एवागमे कृतपरिश्रमः स एव सर्वज्ञत्वं प्राप्नोति, आगमस्य प्रायः सर्वार्थविषयत्वात् तथा च कः प्रतिविशेषो वर्द्धमानस्वाम्यादौ ? येन स एव प्रमाणमिष्यते न जैमिनिरिति । अन्यच्च—यथाऽवस्थितसकलवस्तुवेदी सर्वज्ञ इष्यते, ततोऽशुच्यादिरसानामपि यथावस्थिततया संवेदनादशुच्यादिर-

सास्वादप्रसङ्ग , आह च-"अशुच्यादिरसास्वादप्रसङ्गश्चानिवारित." किं च—कालतोऽनाद्यनन्त. ससार', जगति च सर्वदा विद्यमानान्यपि वस्तून्यनन्तानि, तत. संसार वस्तूनि च क्रमेण विदन् कथमनन्तेनापि कालेन सर्ववेदी भविष्यति ?,उक्तं च—'क्रमेण वेदन कथ' मिति, अत्र प्रतिविधीयते-तत्र यत्तावदुक्तम्-'सर्वजगदुद्द्योतकत्वं भगवतः केन प्रमाणेन प्रतीयते ?'इत्यादि, तत्रागमप्रमाणादिति ब्रूम.। स चागम. कथञ्चिन्नित्य. प्रवाहतोऽनादित्वात् , तथाहि यामेव द्वादशाङ्गीं कल्पलताकल्पां भगवान् ऋषभस्वामी पूर्वभवेऽधीतवान् , अधीत्य च पूर्वभवे इहभवे च यथावत्पर्युपास्य फलभूतं केवलज्ञानमवाप्तवान् , तामेवोत्पन्नकेवलज्ञान सन् शिष्येभ्य उपदिशति, एव सर्वतीर्थकरेष्वपि द्रष्टव्यम् ,ततोऽसावागमोऽर्थरूपापेक्षया नित्य' । तथा च वक्ष्यति—"एसा दुवालसङ्गी न कयावि नासी न कयावि न भवइ न कयावि न भविस्सइ, धुवा नीया सासया अक्खया अव्वया अव्वाबाहा अवट्ठिया निच्चा"इति, अस्मिश्चागमे यथा संसारी संसारं पर्यटति यथा कर्मणामभिसमागम । यथा च तप संयमादिना कर्मणामपगमे केवलाभिव्यक्ति तथा सर्वं प्रतिपाद्यते , इति सिद्ध आगमात्सर्वज्ञ. । यदप्युक्तम्—' स पौरुषेयो वा' इत्यादि, तत्रार्थतोऽपौरुषेय , स च न सर्वज्ञप्रकाशितत्वादेव प्रमाणं, किन्तु कथञ्चित् स्वतोऽपि, निश्चितावपरीतप्रत्ययोत्पादकत्वात् , ततो नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्ग , सर्वज्ञप्रणीतत्वावगमाभावेऽपि निश्चिताविपरीतप्रत्ययोत्पादकतया तस्य प्रामाण्यनिश्चयात् , तत सर्वज्ञसिद्धि', अथैवमागमात् सर्वज्ञ. सामान्यत सिद्ध्यति न विशेषनिर्देशेन यथाऽयं सर्वज्ञ इति, तत' कथ सर्वज्ञकालेऽपि सर्व्वज्ञोऽयमिति व्यवहार ?, उच्यते—पृष्टचिन्तितसकलपदार्थप्रकाशनात्। तथाहि—यद् यद् भगवान् पृच्छ्यते यच्च यच्च स्वचेतसि पृष्टा चिन्तयति तत्तत्सर्व्वं प्रत्ययपूर्व्वमुपदिशति, ततोऽसौ ज्ञायते यथा सर्वज्ञ इति। तेन यदुच्यते भट्टेन—'सर्व्वज्ञोऽसाविति ह्येतत् , तत्कालेऽपि बुभुत्सुभि । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-रहितैर्गम्यते कथम् ? ॥ १ ॥ इति, तदपास्तं द्रष्टव्यम् , पृष्टचिन्तितसकलपदार्थप्रकाशनेन तस्य सर्व्वज्ञत्वनिश्चयात्। नन्वेवं व्यवहारतो निश्चयो न निश्चयन., निश्चयतो हि तदा सर्व्ववेदी विदितो भवति यदा तज्ज्ञेयं सर्व्वं विदित्वा सर्वत्र संवादो गृह्यते, न चैतत्कर्तुं शक्यम् । अथैकत्र संवाददर्शनादन्यत्रापि संवादी द्रष्टव्य., एवं तर्हि मायावी बहुजल्पाक' सर्वोऽपि सर्वज्ञ. प्राप्नोति, तस्याप्येकदेशसंवाददर्शनाद् । आह च- " एकदेशपरिज्ञानं, कस्य नाम न विद्यते ? । न ह्येकं नास्ति सत्यार्थं, पुरुषे बहुजल्पिनि ॥ १ ॥" तदयुक्तम् ,व्यवहारतोऽपि निश्चयस्य सम्यगनिश्चयत्वात् , वैयाकरणादिनिश्चयवत् । तथाहि—वैयाकरण कतिपयपृष्टशब्दव्याकरणाद्यं सम्यग्वैयाकरण इति निर्श्चीयते, एव पृष्टचिन्तितार्थप्रकाशनात् सर्वज्ञोऽपि । न चैव मायाविनोऽपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्ग , मायाविनि सर्वेषु पृष्टेषु चिन्तितेषु चार्थेषु संवादायोगात् , निपुणेन च प्रतिपत्त्रा भवितव्यम्। अथ वैयाकरणोऽन्यन वैयाकरणेन सकलव्याकरणशास्त्रार्थसंवादनिश्चयतोऽपि ज्ञातुं शक्यते । ननु सर्व्वज्ञोऽप्यन्येन सर्वज्ञेन यथावत् ज्ञातुं शक्यत एवेति समानम् । अथ तदानीमन्येन सर्वज्ञेन निश्चयतो विज्ञायताम् इदानीं तु स कथं ज्ञायते ?, उच्यते—इदानीं तु सम्प्रदायादव्याहतप्रवचनार्थप्रकाशनाच्च । यदप्यवादीत्—ऋषभः सर्वज्ञो वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञ इत्यादिरर्थवाद प्राप्नोतीत्यादि तदप्यसारम्, आगमो ह्ययं कल्प.—यो यः सर्वज्ञ उत्पद्यते तेन तेन तत्तत्कल्पवर्त्तिनां तीर्थकृतां सर्वेषामप्यवश्यं चरितानि वक्तव्यानि, ततो, न ऋषभाद्यभिधानमर्थवादः। यदप्यभिहितम्-' नाप्युपमानप्रमाणगम्य ' इत्यादि, तदप्ययुक्तम् , एकं सर्वज्ञं यदा व्यवहारतो यथावद्विनिश्चित्यान्यमपि सर्वज्ञं व्यवहारत. परिज्ञाय एषोऽपि सर्वज्ञ इति व्यवहरति तदा कथं नोपमानप्रमाणविषय. ?, अर्थापत्तिगम्योऽपि भगवान् , अन्यथाऽऽगमार्थस्य परिज्ञानासम्भवात् , न खल्वतीन्द्रियार्थदर्शनमन्तरेणागमस्यार्थोऽतीन्द्रियः पुरुषमात्रेण यथावदवगन्तु शक्यते , तत आगमार्थपरिज्ञानान्यथाऽनुपपत्त्या सर्वज्ञोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य. । एतेन यदुक्त प्राक्—' किमिदानीं सर्वज्ञेन ?, आगमादेव धर्माधर्मव्यवस्थासिद्धे' रिति, तत्प्रतिक्षिप्तमवसेयं सर्वज्ञमन्तरेणागमार्थस्यैव सम्यक् परिज्ञानासम्भवात् । यच्चोक्तम्—' सर्वं वस्तु जानाति भगवान् केन प्रमाणेने ' त्यादि, तत्र प्रत्यक्षेणेति पक्ष , तदपि च प्रत्यक्षमतीन्द्रियमवसेयम् , ननु तत्राप्युक्तम्—' तस्यास्तित्वे प्रमाणाभावादि ' ति, उक्तमिदमयुक्त तूक्तम् , तदस्तित्वेऽनुमानप्रमाणसद्भावाद् , तथानुमानमिद-यत्तारतम्यवत् तत्सर्वान्तिमप्रकर्षभाक् यथा परिमाणं, तारतम्यवच्चेद ज्ञानमिति । न चायमसिद्धो हेतु, तथाहि—दृश्यते प्रतिप्राणिप्रज्ञामेधादिगुणपाटवतारतम्य ज्ञानस्य , ततोऽवश्यमस्य सर्वान्तिमप्रकर्षेण भवितव्यम् , यथा परिमाणस्याकाशे, सर्वान्तिमप्रकर्षश्च ज्ञानस्य सकलवस्तुस्तोमप्रकाशकत्वम् । अथ यद्विषय. तरतमभाव. सर्वान्तिमप्रकर्षोऽपि तद्विषय एव युक्त, तरतमभावश्चेन्द्रियाश्रितस्य ज्ञानस्योपलब्ध , तत. सर्वान्तिमप्रकर्षोऽपि तस्यैवेति कथमतीन्द्रियज्ञानसम्भव ?, इन्द्रियाश्रितस्य च ज्ञानस्य प्रकर्षभावेऽपि न सर्वविषयता , तस्य सूक्ष्मादावप्रवृत्ते । अथोच्यते—मनोज्ञानमप्यतीन्द्रियज्ञानमुच्यते, तस्य च तरतमभाव शास्त्रादौ दृष्ट एव। तथाहि—तदेव शास्त्र कश्चित् झटित्येव पठति अवधारयति च , अपरस्तु मन्दं, बोधतोऽपि कश्चिन्मुकुलितार्थावबोधमपरो विशिष्टावबोधः एवमन्यास्वपि कलासु यथायोगं मनोविज्ञानस्य तारतम्यं परिभाव्यते , तत. तस्य सर्वान्तिम' प्रकर्ष. सर्वविषयो भविष्यति । तदसद् , यतो मनोविज्ञानस्यापि तरतमभावः शास्त्राद्यालम्बन एवोपलब्धः , ततः प्रकर्षभावोऽपि तस्य शास्त्राद्यालम्बन एव युक्त्योपपद्यते न सर्वविषयः, न खल्वन्यविषयोऽभ्यासोऽन्यविषय प्रकर्षभावमुपजनयति, तथाऽनुपलब्धे. । उक्तं च—" शास्त्राद्यभ्यासत शास्त्र—प्रभृत्येवावगच्छत। । साकल्यवेदनं तस्य, कुत एवागमिष्यति ? ॥ १ ॥ " अत्रोच्यते—इह तावदिन्द्रियज्ञानाश्रित. तरतमभावो न प्राप्त, अतीन्द्रियप्रत्यक्षसाधनाय हेतोरुपन्यासात्, तथाहि—सकलवस्तुविषयमतीन्द्रियप्रत्यक्षमिदानीं

साधयितुमिष्टं, ततः तरतमभावोऽपि हेतुत्वेनोपन्यस्तोऽतीन्द्रियज्ञानस्यैव वेदितव्य', अन्यथा भिन्नाधिकरणस्य हेतोः पक्षधर्मत्वायोगात्, साक्षाच्चातीन्द्रियग्रहणं न कृतं, प्रस्तावादेव लब्धत्वात्। अतीन्द्रियं च ज्ञानमिन्द्रियानाश्रितं सामान्येन द्रष्टव्यम्, तेन मनोज्ञानमपि गृह्यते। यदप्युक्तम्—' मनोज्ञानस्यापि तरतमभाव' शास्त्राद्यालम्बन एवेति प्रकर्षभावोऽपि तद्विषय एव युक्त ' इति, तदप्यसमीचीनं, शास्त्राद्यनेकान्तस्यापि तरतमभावस्य सम्भवात्। तथाहि—योगिनः परमयोगमिच्छन्त. प्रथमतः शास्त्रमभ्यसितुमुद्यतन्ते, यथाशक्ति च शास्त्रानुसारेण सकलमप्यनुष्ठानमनुतिष्ठन्ति, मा भूत्किमपि क्रियावैगुण्यं प्रमादाद्योगाभ्यासयोग्यताहानिर्वेति कृत्वा, ततो निरन्तरमेव यथोक्तानुष्ठानपुरस्सर शास्त्रमभ्यस्यतां शुद्धचेतसां प्रतिदिवसमभिवर्द्धन्ते प्रज्ञामेधादिगुणा., ते चाभ्यासादभिवर्द्धमाना अद्यापि स्वसंवेदनप्रमाणेनानुभूयन्ते ततो नासिद्धा., तत. शनैः शनैरभ्यासप्रकर्षे जायमाने शास्त्रसन्दर्शिता वाचः वचनगोचरातीनाः शेषप्राणिगणसंवेदनागम्या. सिद्धिपदसम्पद्धेतव सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थविपया मनाक् समुल्लसत् स्फुटप्रतिभासा ज्ञानविशेषा उत्पद्यन्ते, तत. किञ्चिदूनात्यन्तप्रकर्षसम्भवे मनसोऽपि निरपेक्षमत्यादिज्ञानप्रकर्षपर्यन्तोत्तरकालभावि केवलज्ञानादर्वाक्तनं सवितुरुदयात् प्राक् तदालोककल्पमशेषरूपादिवस्तुविपयं प्रातिभं ज्ञानमुदयते, तच्च स्पष्टाभतयेन्द्रियप्रत्यक्षादधिकतर, न चेदमसिद्ध, सर्वदर्शनेष्वप्यध्यात्मशास्त्रेषु तस्याभिधानात्। अथ प्रथमतो मनःसापेक्षमभ्यासमारब्धवान्, अभ्यासप्रकर्षे तूपजायमाने कथं मनोऽपि नालम्बते ?, उच्यते—अत्यन्ताभ्यासप्रकर्षवशतो मनोनिरपेक्षमपि शक्तत्वात्। तथाहि—तरणंशिक्षितुकाम. प्रथमं तरण्डमपेक्षते, ततोऽभ्यासप्रकर्षयोगत तरणनिष्णातस्तरण्डमपि परित्यजति, एव योग्यपि वेदितव्यः। तत. सर्वोत्कृष्टप्रकर्षसम्भवेऽतीव स्फुटप्रतिभासं सकललोकालोकविपयमनुपममबाध्य केवलज्ञानमुदयते, ततो यदुक्तम्—' शास्त्राद्यभ्यासत. शास्त्र—प्रभृत्येवावगच्छत ' इत्यादि, तदत्यन्तमध्यात्मशास्त्रयाथात्म्यवेदिगुरुसम्पर्कवहिर्भूतत्वसूचकमवसेयम्। स्यादेतत् तारतम्यदर्शनादेस्तु ज्ञानस्य प्रकर्षसम्भवानुमानं, स तु प्रकर्षः सकलवस्तुविपय इति कथं श्रद्धेयम् ?, न खलु लङ्घनमभ्यासतः तारतम्यवदप्युपलभ्यमान सकललोकविपयमुपलभ्यते, तदसद्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्। तथाहि—न लङ्घनमभ्यासादुपजायते, किन्तु बलविशेषत. तथाहि—समानेऽपि गरुत्मच्छावाप्रमृगशावकयोरभ्यासे न समानं लङ्घनम्, उक्तं च—" गरुत्मच्छावाप्रमृगयो-र्लङ्घनाभ्याससम्भव। समानेऽपि समानत्वं, लङ्घनस्य न विद्यते ॥ १ ॥" अपि च—पुरुषयोरपि द्वयो. समानप्रथमयौवनयोरपि समानेऽप्यभ्यासे एक. प्रभूतं लङ्घयितुं शक्नोति, अपरस्तु स्तोकम्, तस्माद्बलसापेक्षं लङ्घनं नाभ्यासमात्रहेतुकम्, अभ्यासस्तु केवलं देहगतगुणमात्रमपनयति, तच्च बलं वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमात्, क्षयोपशमश्च जातिभेदापेक्षी द्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षी च। ततो यस्य यावद्बल तस्य तावदेव लङ्घनमिति तत्र सकललोकविपयं, ज्ञेयवस्तु ग्राह्य ... स्वरूपेण सकलजगत्प्रकाशनस्वभावः, केवलमावरणघनपटलतिरस्कृतप्रभावत्वात् न तथा प्रकाशते। उक्तं च—" स्थित. शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया। चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत् ॥ १ ॥" ततो यथा प्रचण्डनैर्ऋतपवनप्रहता घनपटलपरमाणवः शनैः शनैर्विश्लेषीभूयापगच्छन्ति, तदपगमनानुसारेण च चन्द्रस्य प्रकाशो जगति वितनुते, तथा जीवस्यापि रागादिभ्यः चित्तं विनिवर्त्य कायवाक्चेष्टासु संयतस्य सम्यक्शास्त्रानुसारेण च यथावस्थितं वस्तु परिभावयतो ज्ञानादिभावनाप्रभावतो ज्ञानावरणीयादिकर्मपरमाणवः शनैः शनैर्विश्लेषीभूयात्मन. प्रच्यवन्ते. कथमेतत्प्रत्येयमिति चेत्?, उच्यते—इहाज्ञानादिनिमित्तकं ज्ञानावरणीयादि कर्म्म, ततः तत्प्रतिपक्षज्ञानाद्यासेवनेऽवश्यं तदात्मनः प्रच्यवते। उक्तं च—"वधइ जहेव कम्मं,अन्नाणाईहिं कलुसियमणो उ। तह चेव स विवक्खे, सब्भावओ मुच्चई जेण ॥१॥" ज्ञानावरणीयकर्म्मपरमाणुप्रच्यवनानुसारेण चात्मन. शनैः शनैर्ज्ञानमधिकमधिकतरमुल्लसति, यदा तु ज्ञानादिभावनाप्रकर्षवशेनाशेषज्ञानावरणीयादिकर्मपरमाण्वपगम. तदा सकलाभ्रपटलविनिर्मुक्तशशाङ्क इव आत्मा लब्धयथावस्थितात्मस्वरूपः सकलस्यापि जगतोऽवभासकः, ततो ज्ञानस्य प्रकर्षः सकललोकविपय.। अथवा-सर्व वस्तु सामान्येन शास्त्रेऽपि प्रतिपाद्यते यथा पञ्चास्तिकायात्मको लोक., आकाशास्तिकायात्मकआलोक',किञ्चिद्विशेषतश्च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकाकाशानां सविस्तर तत्राभिधानात्,शास्त्रानुसारेण च ज्ञानाभ्यास.। ततः तरतमभावोऽपि ज्ञानस्य सकलवस्तुविपय एवेति प्रकर्षभावः तद्विषयो न विरुध्यते, लङ्घनं तु सामान्यतोऽपि न सकललोकविपयमिति कथमभ्यासतः तत्प्रकर्ष. सकललोकविपयो भवेत्?। स्यादितद्-यद्यपि सामान्यतः शास्त्रानुसारेण सकलवस्तुविषयं ज्ञानमुपजायते तथाऽप्यभ्यासत. तत्प्रकर्षः सकलवस्तुगताशेपविशेपविपय इति कथं ज्ञायेत?, न ह्यत्र किञ्चित् प्रमाणमस्ति, न चाप्रमाणकं वचो विपश्चितः प्रतिपद्यन्ते, विपश्चित्त्वक्षतिप्रसङ्गात्। तदसत्. अनुमानप्रमाणसद्भावात्, तच्चानुमानमिदम्-जलधिजलपलप्रमाणादयो विशेषा. कस्यचित्प्रत्यक्षा., ज्ञेयत्वात् घटादिगतरूपादिविशेषवत्, ज्ञेयत्वं हि ज्ञानविपयतया व्याप्तम्, न च जलधिजलपलप्रमाणादिरूपेषु विशेषेषु प्रत्यक्षमन्तरेण शेषानुमानादिज्ञानसम्भव., तथाहि—न ते विशेषा अनुमानप्रमाणगम्याः, लिङ्गाभावात्। नाप्यागमगम्या., तस्य विधिप्रतिषेधमात्रविपयत्वात्। नाप्युपमानगम्या ., तस्य प्रत्यक्षपुरस्सरत्वात्। उक्तं च—' न चागमेन यद्मी, विध्यादिप्रतिपादक.। अग्रन्यक्षत्वतो नैषोपमानस्यापि सम्भव ॥ १ ॥" नाप्यर्थापत्तिविपयाः, सा हि दृष्ट श्रुतो वाऽर्थो यदन्तरेण नोपपद्यते यथा काष्ठस्य भस्मविकारोऽग्निसंपर्कमन्तरेण तद्विपया वर्ण्यते, न च दृष्टः श्रुतो वा कोऽप्यर्थ नान् विशेषान्तरेण नोपपद्यते, ततो नार्थापत्तिगम्या.। न चैते विशेषा. स्वरूपेण न सन्ति, विशेषान् विना सामान्यस्यैवासम्भवात्, न च वाच्यमन एव सामान्यस्यान्यथानुपपत्तेरर्थापत्तिगम्या', नियतरूपतयाऽनवगमात्, प्रामिनियतरूपेव च विशेषाणां तत्स्वरूपम्, अन्यथा विशेषहाने सामान्यरूपताप्रसङ्गात्। न च

तेषा ज्ञेयत्वमेवासिद्धमिति वाच्यम् , अभावप्रमाणव्यभिचारप्रसङ्गात् । तथाहि-यदि केनापि प्रमाणेन न ज्ञायन्ते तर्हि-'प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपे न जायते । वस्त्वसत्तावबोधार्थं, तत्राभावप्रमाणता ॥ १ ॥' इति वचनादभावप्रमाणविषया स्यु , अभावाख्यं च प्रमाणमभावसाधनमिष्यते । अथ च ते विशेषा स्वरूपेणैवावतिष्ठन्ते, ततोऽभावप्रमाणव्यभिचारप्रसङ्ग , तस्माद्विपक्षव्यापकानुपलब्ध्या विशेषाणा ज्ञेयत्व प्रत्यक्षविषयतया व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धि । स्यादेतत्—ज्ञेयत्वादिति हेतुर्विशेषविरुद्ध . तथाहि-घटादिगता रूपादिविशेषा इन्द्रियप्रत्यक्षेण प्रत्यक्षा उपलब्धा , तत तज्ज्ञेयत्वमिन्द्रियप्रत्यक्षविषयतया प्रत्यक्षत्वेन व्याप्त निश्चित सत् जलधिजलपलप्रमाणादिष्वपि विशेषेषु प्रत्यक्षत्वमिन्द्रियप्रत्यक्षविषयता साधयति , तच्चानिष्टमिति । तदयुक्तम् , विरुद्धलक्षणासम्भवात् , तथाहि—विरुद्धो हेतु तदा भवति यदा बाधकं नोपजायते, 'विरुद्धोऽसति बाधके' इति वचनाद् , अत्र च बाधकं विद्यते, यदि हि इन्द्रियप्रत्यक्षविषयतया प्रत्यक्षत्वं भवेत् ततोऽस्मादृशामपि ते प्रत्यक्षा भवेयु , न च भवन्ति, तस्मादस्मादृशै प्रत्यक्षत्वेनासंवेदनमेव तेषामिन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वसाधने बाधकमिति न विशेषविरुद्धः । अन्य. आह—न विशेषविरुद्धता हेतोर्दूषणम् , अन्यथा सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् , तथाहि—यथा धूमोऽग्निं साधयति , अग्निप्रतिबद्धतया महानसे निश्चितत्वात् , तथा तस्मिन् साध्यधर्मिण्यनन्यभावमपि साधयति , तत्रापि सह महानसे प्रतिबन्धनिश्चयात् , तद्यथा-नात्रत्येनाग्निना अग्निमान् पर्वतो धूमवत्त्वात् , महानसवत् . ततश्चैव न कश्चिदपि हेतुः स्यात् , तस्मात् न विशेषविरुद्धता हेतोर्दोष । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि-" यदि विशेषविरुद्धतया जितिर्ननु न हेतुरिहास्ति न दूषित । निखिलहेतुगणप्रतिरोधिनी, न हि न सा सकलेन विरुद्धता ॥ १ ॥ " यच्चोक्तम्—' अथवा अस्तु तदपि तथापि, सर्वमेतावदेव जगति वस्त्विति न निश्चय ' इत्यादि तदप्यसार , यतोऽवधिज्ञान तदावरणकर्मदेशक्षयोत्थ ततोऽतीन्द्रियमपि तन्न सकलवस्तुविषय , केवलज्ञान तु निर्मूलसकलज्ञानावरणकर्मपरमाण्वपगमसमुत्थ तत कथमिव तन्न सकलवस्तुविषय भवेत् ? न ह्यतीन्द्रियस्य देशादिविप्रकर्षा प्रतिबन्धका , न च केवलप्रादुर्भावे आवरणदेशस्यापि सम्भव., ततो यद्वस्तु तत्सर्वं भगवत प्रत्यक्षमवेति भवति सर्वज्ञस्यैवमात्मना निश्चय —एतावदेव जगति वस्त्विति । यदप्युक्तम्—'अशुच्यादिरसास्वादप्रसङ्ग इति, तदपि दुरन्तदीर्घपापाद्यविजृम्भितम् , अज्ञानतो भगवत्यधिक्षेपकरणात् , यो हि यादृग्भूतोऽशुच्यादिरसो येषा च प्राणिना यादृग्भूता प्रीतिमुत्पादयति येषा च विद्विष तत्सर्वं तदवस्थतया भगवान् वेत्ति , तत कथमशुच्यादिरसास्वादप्रसङ्ग ? । अथ यदि तटस्थतया वेत्ति तर्हि न सम्यक् , सम्यक् चेत् यथास्वरूप वेत्ता तर्हि नियमात् तदास्वादप्रसक्ति. । उक्त च—" तटस्थत्वेन वेद्यत्वं , तत्त्वेनाऽवेदन भवेत् । तदात्मना तु वेद्यत्वेऽशुच्यास्वाद प्रसज्यते ॥ १ ॥ " तदसत् , भवान् हि सकर्मा करणाधीनज्ञान तता रस यथावस्थितमवश्य जिह्वेन्द्रियव्यापारपुरस्सरमास्वादत एव जानाति, भगवांस्तु करणव्यापारनिरपेक्षोऽतीन्द्रियज्ञानी ततो जिह्वेन्द्रियव्यापारसम्पाद्यास्वादमन्तरेणैव रस यथावस्थित तटस्थतया सम्यग् वेत्तीति न कश्चिद्दोष. । एतेन पररागादिवेदने रागित्वादिप्रसङ्गापादनमप्यपास्तमवसेय, पररागादीनामपि यथावस्थिततया तटस्थेन सत्तावेदनात् । यदप्युक्तम्-'कालतोऽनादिरनन्त. ससार ' इत्यादि तदप्यसम्यग् ,युगपत्सर्ववेदनाद्, न च युगपद् सर्ववेदनमसम्भवि, दृष्टत्वात् । तथाहि—सम्यग्जिनागमाभ्यासप्रवृत्तस्य बहुशो विचारितधर्माधर्मास्तिकायादिस्वरूपस्य सामान्यत पञ्चास्तिकायविज्ञान युगपदपि जायमानमुपलभ्यते, एवमशेषविशेषकलितपञ्चास्तिकायविज्ञानमपि भविष्यति । तथा चायमर्थोऽन्यैरप्युक्त —"यथा सकलशास्त्रार्थ , स्वभ्यस्त प्रतिभासते । मनस्यैकक्षणेनैव, तथाऽनन्तादिवेदनम् ॥ १ ॥" यदप्युच्यते—'कथमतीत भावि वा वेत्ति ?, विनष्टानुत्पन्नत्वेन तयोरभावा' दिति, तदपि न सम्यक् , यतो यद्यपीदानीन्तनकालापेक्षया ते असन्तो, तथापि यथाऽतीतमतीत कालेऽवर्त्तिष्ट यथा च भावि (वार्स्यति) वर्त्तिष्यत तथा ते साक्षात्करोति ततो न कश्चिद्दोष । स्यादेतत्—यथा भवद्भिर्ज्ञानस्य तारतम्यदर्शनात्प्रकर्षसम्भवोऽनुमीयते तथा तीर्थान्तरीयैरपि, ततो यथा भवत्सम्मततीर्थकरोपदर्शिता. पदार्थराशय. सत्यतामश्नुवते तथा तीर्थान्तरीयसम्मततीर्थकरोपदर्शिता अपि सत्यतामश्नुवीरन् ,विशेषाभावाद् , अन्यथा भवत्सम्मततीर्थकरोपदर्शिता अपि असत्यतामश्नुवीरन् । अथ तीर्थान्तरीयसम्मततीर्थकरोपदिष्टा पदार्थराशयोऽनुमानप्रमाणेन बाध्यन्ते ततो न ते सत्या , तदयुक्तम् , अनुमानप्रमाणेनातीन्द्रियज्ञानस्य बाधितुमशक्यत्वात् , आह च—' अतीन्द्रियानसंवेद्यान् , पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा । ये भावान् वचन तेषा, नानुमानेन बाध्यते ॥ १ ॥ " अथ सम्भवति जगति प्रज्ञालवोन्मेषदुर्विदग्धा. कुतर्कशास्त्राभ्याससम्पर्कतो वाचाला. तथाविधाद्भुतेन्द्रजालकौशलवशेन दर्शितदेवागमनभोयानचामरादिविभूतय कीर्त्तिपूजादिलब्धुकामा. स्वयमसर्वज्ञा अपि सर्वज्ञा वयमिति ब्रुवाणा ,तत एतावदेव न ज्ञायते यदुत—तेषा सर्वोत्तमप्रकर्षरूपमतीन्द्रियज्ञानमभूत् , यदि पुनर्यथोक्तस्वरूपमतीन्द्रियज्ञानमभविष्यत् तर्हि वचनमपि तथा नाबाधिष्यत, अथ च दृश्यते बाधा ततस्त कैनवभूमयो न सर्वज्ञा इति प्रतिपत्तव्यम् । तदेतदर्हत्यपि समानम् ,न समानम्,अर्हद्वचसि प्रमासंवाददर्शनात् । उक्त च-" जैनेश्वर हि वचसि , प्रमासवाद दृश्यत । प्रमाणबाधा त्वन्येषा—मतो द्रष्टा जिनेश्वर. ॥ १ ॥ " अथ पुरुषमात्रसमुत्थ प्रमाणमतीन्द्रियविषये न साधक नापि बाधकमविषयत्वात् , समानकक्षतापन्ना हि बाध्यबाधकभाव , तथा चोक्तम्— ' समानविषया यस्मा-द्बाध्यबाधकसंस्थिति । अतीन्द्रिये च संसारी, प्रमाण न प्रवर्त्तते ॥ १ ॥ " तत कथमुच्यते—अर्हतो वचसि प्रमासंवाददर्शन प्रमाणबाध्यत्वमन्येषामिति ?, तदपि न सम्यक् , यतो न भगवान् केवलमतीन्द्रियमस्मादृशामगम्यपरिच्छेदमेवोपदिशति, यदि पुन तथाभूतमुपदिशेत् तर्हि न कोऽपि तद्वचनेन प्रवर्तेत, अतीन्द्रियार्थे वच

सर्वेषामेव विद्यते परस्परविरुद्धं च, ततः कथं तद्वचनतः प्रेक्षावतां प्रवृत्ति ?, ततोऽवश्यं परान् प्रतिपादयता भगवता परैः शक्यपरिच्छेदमप्युपदेष्टव्य, शक्यपरिच्छेदेषु चार्थेषु भगवदुक्तेषु यत्तथाप्रमाणेन संवेदन तत्तद्विषयं साधक प्रमाणमुच्यते, विपरीतं तु बाधकम् । अस्ति च भगवदुक्तेषु शक्यपरिच्छेदेष्वर्थेषु प्रमाणसवाद । तथाहि-घटादय पदार्था अनेकान्तात्मका उक्ता', ते च तथैव प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा निश्चीयन्ते मोक्षोऽपि च परमानन्दरूपशाश्वतिकसौख्यात्मक उक्त', ततः सोऽपि युक्त्या सङ्गतिमुपपद्यते, यत संसारप्रतिपक्षभूतो मोक्ष ससारे जन्मजरामरणादिदुःखहेतवो रागादय ते च निर्मूलमपगता मोक्षावस्थायामिति न मोक्षे दु खलेशस्यापि सम्भवः । न च निर्मूलमपगता रागादयो भूयोऽपि जायन्ते, ततः तत्सौख्यं शाश्वतिकमुपवर्ण्यते, ननु यदि न तत्र रागादयस्तर्हि न तत्र मत्तकामिनीगाढालिङ्गनपीनस्तनापीडनवदनचुम्बनकराघातादिप्रभव रागनिबन्धनं सुखं, नापि द्वेषनिबन्धनं प्रबलवैरितिरस्कारापादनप्रभव , नापि मोहनिबन्धनमहङ्कारममुत्थमात्मीयविनीतपुत्रभ्रातृप्रभृतिबन्धुवर्गसेहवाससम्भवं च, तत कथमिव स मोक्षो जन्मिनामुपादेयो भवति ?। आह च—
" वीतरागस्य न सुखं, योषिदालिङ्गनादिजम् । वीतद्वेषस्य च कुतः, शत्रुसेनाविमर्दजम् ? ॥ १ ॥ वीतमोहस्य न सुखमात्मीयाभिनिवेशजम् । तन किं तादृशा तेन, कृत्यं मोक्षेण जन्मिनाम् ?॥२॥" अपि च-क्षुदादयोऽपि तत्र सर्वथा निवृत्ता इष्यन्ते, ततोऽत्यन्तबुभुक्षाक्षामकुक्षेर्यद् विशिष्टाहारभोजनेन यद्वा ग्रीष्मादौ पिपासापीडितस्य पाटलाकुसुमादिवासितसुगन्धिशीतसलिलपानेनोपजायते सुखं तदपि तत्र दूरतोऽपास्तप्रसरमिति न कार्यं तेन,तदेतदतीवासमीचीनम् ,यतो यद्यपि रागादय प्रथमत क्षणमात्रसुखदायितया रमणीया प्रतिभासन्ते तथापि ते परिणामपरम्परयाऽनन्तदु खसहननरकादिदु खसम्पातहेतवः, तत पर्यन्तदारुणतया विषान्नभोजनसमुत्थमिव न रागादिप्रभव सुखमुपादेय प्रेक्षावता भवति । प्रेक्षावन्तो हि बहुदु खमपहाय यदेव बहुसुखं तदेव प्रतिपद्यन्ते । यस्तु स्तोकसुखनिमित्तं बहुदु खमाद्रियते स प्रेक्षावानेव न भवति, किन्तु कुबुद्धि', रागादिप्रभवमपि च सुखमुक्तनीत्या बहुदु खहेतुकम् , अपवर्गसुखं चैकान्तिकात्यन्तिकपरमानन्दरूपं, तत तदेव तत्त्ववेदिनामुपादेयं, न रागादिप्रभवमिति । यदि पुनर्यदपि तदपि सुखमभिलषणीयं भवत तर्हि पानशौण्डाना यत् मद्यपानप्रभवं यच्च गर्ताशूकराणा पुरीषभक्षणसमुत्थं यच्च रक्षसा मानुषमांसाभ्यवहारसम्भव यच्च दासस्य सत स्वामिप्रसादादिहेतुकं यदपि च पारसीकदेशवासिनो मात्रादिश्रेणीसङ्गमनिबन्धन तत्सर्वं भवतो द्विजातिभवे सति न सम्पद्यते इति पानशौण्डाद्यप्यभिलषणीयम् । अपि च-नरकदु खमप्राप्तस्य न तद्वियोगसम्भव सुखमुपजायते ततो नरकदु खमप्यभिलषणीयम् । (अथ—विशिष्टमेव सुखमभिलषणीयमिति ' मोक्खमग्ग ' शब्दे षष्ठभागे गतम् ।) तदेवं भगवदुपदिष्टेषु शक्यपरिच्छेदेष्वनुमेयेषु च यथाक्रमं प्रत्यक्षाऽनुमानसवाददर्शनात् मोक्षाऽदिषु च युक्त्योपपद्यमानत्वाद्भगवानेव सर्वज्ञो न सुगतादिरिति स्थितम् । नं० ।

सव्वजिण-सर्वजिन-पुं० । सर्वतीर्थकृति- दर्श० ४ तत्त्व ।

सव्वजिणसासणग-सर्वजिनशासनक- त्रि० । सर्वैर्जिनै शिष्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते यानि तानि सर्वजिनशासनानि तान्येव सर्वजिनशासनकानि । सर्वतीर्थकरप्रज्ञप्तेषु , प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सव्वजिणाणाविमुह-सर्वजिनाज्ञाविमुख-त्रि० । सकलसर्वविदुपदेशविराधके, दर्श० ४ तत्त्व ।

सव्वजोग-सर्वयोग-पुं० । समस्तव्यापारे, पञ्चा० ७ विव० ।

सव्वजोणिय-सर्वयोनिक-त्रि० । सर्वा योनय उत्पत्तिस्थानानि येषां सत्त्वानां ते सर्वयोनिका । सर्वगतिभाक्षु, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सर्वा हि योनय -संवृतविवृतोभयशीतोष्णोभयसचित्ताचित्तोभयरूपा । सूत्र०२श्रु०४ अ० ।

सव्वज-सर्वज्ञ-त्रि० । " ज्ञो ञ " ॥ ८ । २ । ८३ ॥ इति अस्य लुक् । केवलज्ञानिनि, प्रा० २ पाद ।

सव्वज्जुइ-सर्वद्युति-स्त्री० । आभरणादिसम्बन्धिन्यां समस्तद्युतौ, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।
सर्वयुति-स्त्री० । उचितेष्टवस्तुघटनायाम् , विपा० १ श्रु० ६ अ० । कल्प० । रा० । भ० ।

सव्वज्जुय-सर्वर्जुक-पुं० । सर्वै प्रकारैः ऋजु प्रगुणो विवक्षितमोक्षगमनं प्रत्युतकुटिलः। सर्वर्जुसयमे, सद्धर्मे च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

सव्वट्ठ-सर्वार्थ-पुं० । सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्थाः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । अशेषप्रयोजनेषु, आचा० २ श्रु० २ चू० । बाह्याभ्यन्तरे धनधान्यकलत्रममत्वादौ अशेषप्रयोजनीयवस्तुनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । एकोनत्रिंशत्तमेऽहोरात्रमुहूर्त्ते, ज्यो० २ पाहु० । जं० । सू० प्र० । कल्प० ।

सव्वट्ठसिद्ध-सर्वार्थसिद्ध-पुं० । पञ्चानामनुत्तरविमानानां मध्यमे,अणु० । स० । स्था० । प्रज्ञा० । एकोनत्रिंशेऽहोरात्रमुहूर्त्ते, स० ३० सम० । कल्प० ।

सव्वट्ठसिद्धिय-सर्वार्थसिद्धिक-पुं० । सर्वार्थसिद्धविमानवासिनि देवे, स० । औ० । ऐरवते वर्षे भविष्यति षष्ठे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार ।

सव्वट्ठाण-सर्वस्थान-न० । शय्याभोजनमन्त्रादिस्थानेषु , विशे० ।

सव्वणट्ठ-सर्वनष्ट-त्रि० । सर्वप्रकारैर्विनाशमापन्ने, विशे० ।

सव्वणय-सर्वनय-पुं० । सर्वेषु नैगमादिनयेषु, उत्त० २ अ० ।

सव्वणयमय-सर्वनयमत-न० । द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकज्ञानक्रियानयसंमते, पञ्चा० १२ विव० ।

सव्वणयविसुद्ध-सर्वनयविशुद्ध-त्रि० । सर्वे निरवशेषास्ते च ते नयाश्च सर्वनयास्तेषा विशुद्धं निर्दोषतया संमतम् । उत्त० । २ अ० । सर्वनयसम्मते, दश० १ अ० । " तं सव्वणयविसुद्धं, ज चरणगुणट्ठिओ साहू " आव० ६ अ० ।

सव्वणयसमूहमय–सर्वनयसमूहमय–त्रि०। द्रव्यास्तिकादिनयसंघातात्मके, दर्श० ४ तत्त्व।

सव्वणाडय–सर्वनाटक–पुं०। समस्तनाटयकर्तृषु, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

सव्वणाण–सर्वज्ञान–न०। सर्वं जानातीति सर्वज्ञानम्। केवलज्ञाने, विशे०। सर्वपरिपूर्णज्ञानम्। क्षायिकज्ञाने केवलज्ञाने, विशे०।

सव्वणाणावरणिज्ज–सर्वज्ञानावरणीय–न०। सर्वज्ञानं केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयम्। केवलज्ञानावरणे, आदित्यकल्पकेवलज्ञानरूपस्य जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पं हि तत्। स्था० २ ठा० ४ उ०।

सव्वणास–सर्वनाश–पुं०। सर्वात्मना नाशे, विशे०। प्रश्न०।

सव्वणीइ–सर्वनीति–स्त्री०। समस्तनैगमादिनये, द्वा०१अष्ट०।

सव्वण्णु–सर्वज्ञ–पुं०। सर्वं जानातीति सर्वज्ञः। ल०। पं० सं० १ द्वार। ध०। सर्वं–समस्त, द्रव्यप्रदेशपर्यायरूपं वस्तु जानाति विशेषग्रहणतः समस्तावरणक्षयप्रविर्भूतकेवलसंवेदनेनावबुध्यत इति सर्वज्ञः। ल०। "ज्ञो णत्वेऽभिज्ञादौ" ॥ ८। १। ५६॥ इति कृतणत्वस्य ज्ञस्य अत उत्वम्। प्रा०। अनु०। वस्तुस्तोमस्य विशेषतयाऽनुज्ञापके, भ० १ श० १ उ०। विशे०। सूत्र०। उपा०। आव०। स्था०। (एतद्विषये 'अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५२२ पृष्ठे 'अत्त' शब्दे च ४६६ पृष्ठे गता वक्तव्यता।) "रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषा–स्तस्यानृतकारणं किं स्यात्॥१॥" इति वचनात्। प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेवेति सिद्ध आगमादप्यात्मा। "एगे आया" इत्यादिवचनात्, तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता प्रमेयं चानन्तरमेव बाह्यार्थसाधने साधितम्, तत्सिद्धौ च 'प्रमाणं ज्ञानम्' तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु निर्विषयत्वात्, इति प्रलापमात्रम् कारणमन्तरेण क्रियासिद्धेरयोगाद्, लवनादिषु तथादर्शनात्। यच्च अर्थसमकालमित्याद्युक्तम् तत्र विकल्पद्वयमपि स्वीक्रियत एव। असदादिप्रत्यक्षं हि समकालार्थाऽऽकलनकुशलं स्मरणमतीतार्थस्य ग्राहकम् शब्दानुमाने च त्रैकालिकस्याऽऽप्यर्थस्य परिच्छेदके निराकारं चैतद् द्वयमपि। नचातिप्रसङ्गः स्वज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्तेः शेषविकल्पानामस्वीकार एव तिरस्कारः। प्रमितिस्तु प्रमाणस्य फलं स्वसंवेदनसिद्धैव। नह्यनुभवेऽप्युपदेशापेक्षा फलं च द्विधा, आनन्तर्यपारम्पर्यभेदात्, तत्राऽऽनन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम्, पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम्, शेषप्रमाणानां तु हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः। इति सुव्यवस्थितं प्रमात्रादिचतुष्टयम्। ततश्च–'नासन्नसन्नसदस–न्नचाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं, तत्त्वमाध्यात्मिका विदुः॥ १' इत्युन्मत्तभाषितम्। किञ्च–इदं प्रमात्रादीनामवास्तवत्वं शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावदेष्टव्यम्। तच्चासौ प्रमाणात् अभिमन्यते, अप्रमाणाद्वा ?। न तावदप्रमाणात्, तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्। अथ प्रमाणात्, तन्न। अवास्तवत्वग्राहकं प्रमाणं सावृतम्, असावृतम् वा स्यात् ?। यदि सावृतम्, कथं तस्मादवास्तवाद् वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः ?, तथा तदसिद्धौ च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रादिव्यवहारः प्राप्तः। अथ तद् ग्राहकं प्रमाणं स्वयमसावृतम्, तर्हि क्षीणा प्रमात्रादिव्यवहाराऽवास्तवत्वप्रतिज्ञा, तेनैव व्यभिचारात्। तदेवं पक्षद्वयेऽपि 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' इति न्यायेन व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधः। स्या०। स्था०। न०।

वीर एव सर्वज्ञः–सुगतादयोऽपि सौगतादिभिः सकलवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिण इष्यन्ते, तत्किं सुगतादिः सकलवस्तुस्तोमसाक्षात्कारीति प्रतिपद्यतामस्माभिः, किं वा भगवद्वर्द्धमानस्वामीति तदवस्थ एव निश्चयाभावः ?, स्यादेतत्–किमत्र संशयेन ?, यस्य पादारविन्दयुगलं प्रणितसवो दिवौकसः परस्परमहमहमिकया विशिष्टविशिष्टतरविभूतिद्युतिपरिकलिताः शतसहस्रसङ्ख्येन विमाननिवहेन सकलमपि नभोमण्डलमाच्छादयन्तो महीमवतीर्य पूजादिकमातन्वन्ति स स भगवान् वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञो न शेषाः सुगतादयः, मनुष्या हि मूढमनस्का अपि सम्भाव्यन्ते न देवाः, ततो यदि शेषा अपि सुगतादयः सर्वज्ञा अभविष्यन् तर्हि तेषामपि देवाः पूजामकरिष्यन्, न च कृतवन्तस्तस्मान्न ते सर्वज्ञाः। तदतत्त्वदर्शनानुरागतरलितमनस्कतासूचकम्, यतो वर्द्धमानस्वामिनो दिवः समागत्य देवास्तथा पूजां कृतवन्त इत्येतदपि कथमवसीयते ?, भगवतश्चिरातीतत्वेनेदानीं तद्भावग्राहकप्रमाणाभावात्। सम्प्रदायादवसीयते इति चेत्, ननु सोऽपि सम्प्रदायो न धूर्त्तपुरुषप्रवर्त्तितः–किन्तु सत्यपुरुषप्रवर्त्तित एवेति कथमवगन्तव्यम् ?, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, नचाप्रमाणकं वयं प्रतिपत्तुं क्षमाः, मा भूत्प्रेक्षावत्ताप्रसङ्गः। अन्यच्च मायाविनः स्वयमसर्वज्ञा अपि जगति स्वस्य सर्वज्ञभावं प्रचिकटयिषवस्तथाविधेन्द्रजालवशाद्दर्शयन्ति देवानितस्ततः सञ्चरतः, स्वस्य च पूजादिकं कुर्वतः, ततो देवागमदर्शनादपि कथं तस्य सर्वज्ञत्वनिश्चयः ?। तथा चाह भावत्क एव स्तुतिकारः समन्तभद्रः–'देवागमनभोयान–चामरादिविभूतयः। मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्॥ १॥' भवतु वा वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञः तथापि तत्सत्कोऽयमाचारादिक उपदेशो न पुनः केनापि धूर्त्तेन स्वयं विरचय्य प्रवर्त्तित इति कथमवसेयम् ?, अतीन्द्रियत्वेनैतद्विषये प्रमाणाभावात्। अथवा–भवत्वेषोऽपि निश्चयो यथाऽयमाचारादिक उपदेशो वर्द्धमानस्वामिन इति, तथापि तस्योपदेशस्यायमर्थो नान्य इति न शक्यं प्रत्येतुम्, नानार्था हि शब्दा लोके प्रवर्त्तन्ते, तथादर्शनात्, ततोऽन्यथाऽप्यर्थसम्भावनायां कथं विवक्षितार्थनियमनिश्चयः ?, अथ मन्येथास्तदात्वे तत एव सर्वज्ञात् साक्षाच्छृण्वतो गौतमादेरर्थनियमनिश्चयोऽभूत् ततः आचार्यपरम्परयेदानीमपि भवतीति, तदप्ययुक्तम्, यतो नाम गौतमादेरपि छद्मस्थः, छद्मस्थस्य च परचेतोवृत्तिरप्रत्यक्षा, तस्या अतीन्द्रियत्वेनैतद्विषये चक्षुरादीन्द्रियप्रत्यक्षप्रवृत्तेरभावात्, अ-

प्रत्यक्षायां च सर्वज्ञस्य विवक्षायां कथमिदं ज्ञायते एष सर्वज्ञस्याभिप्रायोऽनेन चाभिप्रायेण शब्दः प्रयुक्तो नाभिप्रायान्तरेण ? , तत एवं सम्यक् परिज्ञानाभावात् यामेव वर्णावलीमुक्तवान् भगवान् तामेव केवलां पृष्ठतो लग्नो गौतमादिरभिभाषते , न पुनः परमार्थतस्तस्योपदेशस्यार्थमवबुध्यते । नं० । (प्रपञ्चतः सार्वज्ञाक्षेपप्रतिक्षेपौ ' केवलणाण ' शब्दे तृतीयभागे ६४२ पृष्ठे प्रतिपादितौ ।) ' वीतरागादि सर्वज्ञा, न मिथ्या ब्रुवते ततः । यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां, तथ्यंभूतार्थदर्शनम् ॥१॥ ' । सू० १ उ० १ प्रक० । तथा च तद्वचनम्- " सर्वं पश्यतु वा मा वा , तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ १ ॥ " तथा—"तस्मादनुष्ठानगतं, ज्ञानमस्य विचार्यताम् । प्रमाणं दूरदर्शी चे—देते गृध्रानुपास्महे ॥ १ ॥ " तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव । विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याऽप्यर्थस्य यथावत्परिज्ञानाऽभावात् । तथा चार्षम्—" जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ । " तथा " एको भावः सर्वथा येन दृष्टः , सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥ १ ॥ " इति । ननु तर्हि अबाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थकं यथोक्तगुणयुक्तस्याव्यभिचारिवचनत्वेन तदुक्तसिद्धान्तस्य बाधाऽयोगात् । न । अभिप्राया ऽपरिज्ञानात् । निर्दोषपुरुषप्रणीत एव अबाध्यः सिद्धान्तो नापरेऽपौरुषेयाद्याः , असम्भवादिदोषाघ्रातत्वात् इति ज्ञापनार्थम् , आत्ममात्रतारकमूकाऽन्तकृत्केवल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो यथोक्तसिद्धान्तप्रणयनाऽसमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत् । स्या० । (" सर्वज्ञो मुख्य एवैकस्तत्प्रतीतिश्च यावताम् । सर्वेऽपि ते तमापन्ना , मुख्यं , सामान्यतो बुधाः ॥ १ ॥ " इति सर्वतीर्थिकसंमततानां सार्वज्ञ्यं ' कुतक्क ' शब्दे तृतीयभागे ५८२ पृष्ठे साधितम् ।) सर्वं सर्वतत्त्वस्वरूपाभिन्नमात्मानं जानाति वेत्तीति सर्वज्ञः । आत्मज्ञानि , अष्ट० ४ अष्ट० ।

अथ सर्वज्ञतां साधयति—

तथाहि-ये देशकालस्वभावविप्रकर्षवन्तः सदुपलम्भकप्रमाणविषयभावमनापन्ना भावा न ते प्रेक्षावता सद्व्यवहारपथावतारिणः यथा नाकपृष्ठादयस्तथात्वेनाभ्युपगमविषयाः । तथा च समस्तवस्तुविस्तारव्यापिज्ञानसंपत्समन्वितः पुरुष इति सद्व्यवहारप्रतिषेधफलानुपलब्धिः । नचासिद्धो हेतुः । तथाहि—सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानाऽङ्कनाऽऽलिङ्गितः पुरुषः प्रत्यक्षसमधिगम्यो वा अभ्युपगम्यते, अनुमानादिसंवेद्यो वा ? , न तावदध्यक्षगोचरः , प्रतिनियतसंनिहितरूपादिविषयनियमितसाक्षात्करणस्वभावा हि चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादितात्मलाभा ज्ञप्तयो न परस्थं संवेदनामात्रमपि तावदालम्बितुं क्षमाः किमङ्ग ! पुनरनाद्यनन्तातीतानागतवर्त्तमानसूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थसाक्षात्कारि संवेदनविशेषं , तदध्यासितं वा पुरुषम् । अविषये चक्षुरादिकरणप्रवर्त्तितस्य ज्ञानस्य प्रवृत्त्यसम्भवात् ? , सम्भवे वाऽन्यतमकरणप्रवर्त्तितस्यापि ज्ञानस्य रूपादिसकलविषयग्राहकत्वेन संभवात् , शेषेन्द्रियपरिकल्पना व्यर्था । नच सूक्ष्मादिसमस्तपदार्थग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम् । ग्राह्याग्रहणे तद्ग्राहकत्वस्यापि तद्गतस्य तेनाग्रहणात् । तदग्रहे च तद्धर्माध्यासितसंवेदनसमन्वितस्यापि न प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तिः । नाप्यनुमानतः सकलपदार्थज्ञप्रतिपत्तिः , अनुमानं हि निश्चितस्वसाध्यधर्म—धर्मिसंबन्धाद् हेतोरुदयमासादयत्प्रमाणतामाप्नोति ; प्रतिबन्धश्च समस्तपदार्थज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतोः किं प्रत्यक्षेण गृह्यते, उतानुमानेन । न तावदध्यक्षेण, अध्यक्षस्यात्यक्षज्ञानवत्सत्त्वसाक्षात्करणाक्षमत्वेन तदवगतिनिमित्तहेतुप्रतिबन्धग्रहणेऽप्यक्षमत्वात् । नह्यनवगतसंबन्धिना तद्गतसंबन्धावगमो विधातुं शक्यः । नाप्यनुमानेन तद्गतसंबन्धावगमः । तथाभ्युपगमेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषद्वयानतिवृत्तेः । नचागृहीतप्रतिबन्धाद्धेतोरुपजायमानमनुमानं प्रमाणतामासादयति । तथा धर्मिसंबन्धावगमोऽपि न प्रत्यक्षतः । अनक्षज्ञानवत्प्रत्यक्षेऽक्षप्रभवस्याध्यक्षस्याप्रवृत्तेः । प्रवृत्तौ वाऽध्यक्षेणैव सर्वविदः संवेदनात् , अनुमाननिबन्धनहेतुव्यापारण व्यर्थम् । नचानुमानतोऽप्यनक्षज्ञानवतोऽवगमः । हेतुपक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैव धर्मिग्राहकस्याप्रवृत्तेः । नचाप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुः प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्तिहेतुरिति नानुमानतोऽपि सर्वज्ञप्रतिपत्तिः । किंच—सर्वज्ञसत्तायां साध्यायां त्रयीं दोषजातिं हेतुर्नातिवर्त्तते असिद्धविरुद्धानैकान्तिकलक्षणाम् । तथाहि—सकलज्ञसत्त्वे साध्ये किं भावधर्मो हेतुः , उताभावधर्मः , आहोस्विदुभयधर्मः । तत्र यदि भावधर्मः , तदाऽसिद्धः । अथाभावधर्मः तदा विरुद्धः । भावे साध्ये अभावधर्मस्याभावाव्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । अथोभयधर्मः, तदोभयाव्यभिचारित्वेन सत्तासाधनेऽनैकान्तिकत्वमिति न सकलज्ञसत्त्वसाधने कश्चित् सम्यग् हेतुः सम्भवति । अपि च—यद्यानयतः कश्चित् सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेतः , तदा तत्कृतप्रतिनियतागमाश्रयणं नोपपन्नं भवताम् । अथ प्रतिनियत एक एवार्हन् सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते, तदा तत्साधने प्रयुक्तस्य हेतोरपरसर्वज्ञस्याभावेन दृष्टान्तानुवृत्त्यसंभवादसाधारणानैकान्तिकत्वादसाधकत्वम् । किंच—यत एव हेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञः तत एव बुद्धोऽपि स स्यादिति कुतः प्रतिनियतसर्वज्ञप्रणातागमाश्रयणमुपपत्तिमत् ? इति न कश्चित् सर्वज्ञसाधको हेतुः । अथ सर्वे पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वादग्न्यादिवदिति तत्साधनहेतुसद्भावः तदसत् ; यतोऽत्र किं सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सर्वपदार्थानां साध्यत्वेनाऽभिप्रेतम् , आहोस्वित् प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वमिति कल्पनाद्वयम् । यद्याद्यः पक्षः ; स न युक्तः ; प्रतिनियतरूपादिविषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्न्यादिदृष्टान्तधर्मिणि , प्रमेयत्वलक्षणस्य हेतोरुपलम्भाद्धेतुविरुद्धत्वसाध्यविकलदृष्टान्तदोषद्वयाघ्रातत्वात् । अथ द्वितीयः , सोऽप्यसङ्गतः ; सिद्धसाध्यतादोषप्रसङ्गात् । तथा प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानं, किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमभ्युपगम्यते, उत अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपम् , आहोस्वित् उभयव्यक्तिसाधारणसामान्यस्वभावमिति विकल्पाः । तत्र यदि प्रथमः पक्षः , स न युक्तः ; विवादाध्या-

सितपदार्थेषु तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्यासिद्धत्वात् । सिद्धत्वे वा साध्यस्यापि हेतुवत् सिद्धत्वात् व्यर्थ हेतूपादानम्, तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्तेऽग्न्यादिलक्षणेऽसिद्धे सन्दिग्धान्वयश्च हेतुः स्यात् । अथास्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वं हेतुः, तदा तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरेष्वतीन्द्रियेष्वसंभवादसिद्धो हेतुः । सिद्धौ वा ततस्तथाभूतप्रत्यक्षत्वसिद्धिरेव स्यात्, तत्र चाविवाद इति न हेतूपन्यासः सफलः । अथोभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्वसामान्यं हेतुरिति पक्षः, सोऽप्यसङ्गतः; अत्यन्तविलक्षणातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाधारणस्य सामान्यस्यासम्भवात्, नहि शावलेयकर्कव्यक्तिद्वयसाधारणमेकं गोत्वसामान्यमुपलब्धमिति प्रमेयत्वसामान्यलक्षणो हेतुरसिद्ध इति नानुमानादपि सर्वज्ञसिद्धिः । नागमशब्दात् । यतः शब्दोऽपि तत्प्रतिपादकोऽभ्युपगम्यमानः किं नित्यः, उतानित्य इति कल्पनाद्वयम् । न तावत् नित्यः, सर्वज्ञबोधकस्य नित्यस्यागमस्याभावात् । भावेऽपि तत्प्रतिपादकत्वेन तस्य प्रामाण्यासम्भवात्, कार्येऽर्थे तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् । अथानित्यस्तत्प्रतिपादक इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः । यतोऽनित्योऽपि किं तत्प्रणीतः स तदवबोधकः, अथ पुरुषान्तरप्रणीत इति विकल्पद्वयम् । तत्र न सर्वज्ञप्रणीतः स तदवबोधक इति पक्षो युक्तः इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—तत्प्रणीतत्वं तस्य प्रामाण्यम्, ततः तस्य तत्प्रतिपादकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । नापि पुरुषान्तरप्रणीतस्तदवबोधकः तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रमाणत्वात् । तन्न शब्दादपि तस्य सिद्धिः । नाप्युपमानात् तत्सिद्धिः । यतः उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बनं तदभ्युपगम्यते । नचोपमानभूतः कश्चित् सर्वज्ञत्वेन प्रत्यक्षतः सिद्धः, येन तत्सादृश्यादन्यस्य सर्वज्ञत्वमुपमानात् साध्यते । सिद्धौ वा प्रत्यक्षत एव सर्वज्ञस्य सिद्धत्वान्नोपमानादपि तत्सिद्धिः । सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्यार्थस्य कस्यचिदभावात् नार्थापत्तेरपि सर्वज्ञसत्त्वासिद्धिः । नचागमप्रामाण्यलक्षणस्यार्थस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानस्य तत्परिकल्पकत्वम् । अतीन्द्रिये स्वर्गाद्यर्थे तत्प्रणीतत्वनिश्चयमन्तरेण तस्य प्रामाण्यानिश्चयात् । अपौरुषेयत्वादपि तत्प्रामाण्यसंभवात् कुतस्तस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानता, तन्नार्थापत्तितोऽपि तत्सिद्धिः । अभावाख्यस्य तु प्रमाणस्याभावसाधकत्वेन व्यापारात् न तत्सद्भावसाधकत्वम् । न चोपमानार्थापत्त्यभावप्रमाणानां भवता प्रामाण्यमभ्युपगम्यते इति न तेभ्यस्तत्सिद्धिः । तदुक्तम्—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति, लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥ ११७ ॥
न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः ।
नच मन्त्रार्थवादानां, तात्पर्यमवकल्पते ॥ ११८ ॥
नचागमेन सर्वज्ञ-स्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् ।
नरान्तरप्रणीतस्य, प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥ ११९ ॥"
(श्लो० वा० सू० २)

इत्यादि । ततो 'ये देशकाल' इत्यादिप्रयोगे नासिद्धो हेतुः । असद्व्यवहारनिषेधश्च, अनुपलम्भमात्रनिमित्तः । अनेकधाऽनेन अन्यत्र प्रवर्त्तित इत्यत्रापि तन्निमित्तसद्भावात् प्रवर्त्तयितुं युक्तः । अथ 'यथाऽस्माकं तत्सद्भाववेदकं प्रमाणं नास्ति तथा भवतां तदभाववेदकमपि नास्तीति सद्व्यवहारवदभावव्यवहारोऽपि न प्रवर्त्तयितव्यः । तथाहि—सर्वविदोऽभावः किं प्रत्यक्षसमधिगम्यः, प्रमाणान्तरगम्यो वा ? । तत्र न तावत्प्रत्यक्षसमधिगम्यः' यतः प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभाववेदकमभ्युपगम्यमानम्, 'किं सर्वत्र सर्वदा सर्वं सर्वज्ञो न' इत्येवं प्रवर्त्तते, उत 'क्वचित्कदाचित् कश्चित् सर्वज्ञो नास्तीत्येवमिति कल्पनाद्वयम् । तत्र यदि सर्वत्र सर्वदा सर्वं सर्वज्ञो नेति प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिः, तर्हि न सर्वज्ञाभावः, तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वात् । नहि सकलदेशकालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण तदाधारमसर्वज्ञत्वमवगन्तुं शक्यम् । तत्साक्षात्करणे च कथं न तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञत्वमिति, नाद्यः पक्षः । द्वितीयेऽपि पक्षे न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति न प्रत्यक्षात् सर्वज्ञाभावसिद्धिः । अथ न प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावसाधकम् किंतु निवर्त्तमानम् । ननु यदि निखिलदेशकालाधारसकलपुरुषपरिषदाश्रितानन्तपदार्थसंविद्व्यापकम्, कारणं वा तत् स्यात्, तदा तन्निवर्त्तमानं तथाभूतं सर्वज्ञत्वं व्यावर्त्तयेत्, नान्यथा । तथाभूतनिवृत्तौ तन्निवृत्तेरसिद्धेः । तथाभ्युपगमे वा स एव सर्वज्ञ इति न तेन तन्निषेधः । किंच-प्रत्यक्षनिवृत्तिर्यदि प्रत्यक्षमेव, तदा स एव दोषः । अथ प्रत्यक्षादन्या तदाऽसौ प्रमाणमप्रमाणं वा । अप्रमाणत्वे, नातः सर्वज्ञाभावसिद्धिः । प्रमाणत्वे नानुमानत्वम्, सर्वात्मसंबन्धिन्या तन्निवृत्तेर्यथासंख्यमसिद्धानैकान्तिकत्वदोषद्वयसद्भावात् । नच तुच्छा तन्निवृत्तिः तदभावज्ञापिका । तुच्छायाः केनचित् सहप्रतिबन्धाभावेन सर्वसामर्थ्यविरहेण च ज्ञापकत्वासम्भवात् । तन्न प्रवर्त्तमानं, निवर्त्तमानं वा प्रत्यक्षं तदभावं साधयति । प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि तदभावो न तावदनुमानगम्यः । तदभावसाधकानुमानाभावात् । अथ विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदित्यमानं तदभावसाधकम् । नन्वत्र किं प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वं हेतुः, उत तद्विपरीतस्य, आहोस्वित् वक्तृत्वमात्रमिति वक्तव्यम् । यदि प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वादिति हेतुः, तदा विरुद्धो हेतुः । तथाभूतवक्तृत्वस्य सर्वज्ञ एव भावात् । अथ प्रमाणान्तरविसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वादिति हेतुः, तदा सिद्धसाधनम् । तथाभूतस्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेनास्माभिरभ्युपगमात् । अथ वक्तृत्वमात्रं हेतुः । न । तस्य साध्यविपर्ययेण सर्वज्ञत्वेनानुपलब्धेन सहानवस्थानलक्षणस्य तदन्येन परस्परपरिहारस्वरूपस्य च विरोधवच्छेदस्वभावेन च परस्परपरिहारस्वरूपस्य च विरोधस्याभावात् न ततो व्यावृत्तिसिद्धिरिति न स्वसाध्यनियतत्वम्, तदभावान्न स्वसाध्यसाधकत्वम् । अथ सर्वज्ञो वक्ता नोपलब्ध इति ततो व्यावृत्तिसिद्धिः, न; सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्यासम्भवात् । सर्वज्ञ एव वक्तृत्वमात्मन्युपलप्स्यते, सर्वज्ञान्तरेण वा तत्तत्र संवेदिष्यते इति न सम्भवः सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य । अथ सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात् सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभवः । ननु अन्यतः प्रमाणात् सर्वज्ञाभावः कुतः सिद्धः । अन्यत प्रमाणात् चेत् । तत एव तदभावसिद्धेरस्य वैयर्थ्यम् । 'अतः

एवानुमानादिति न वक्तव्यम् । इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । सिद्धेऽतोऽनुमानात् सर्वज्ञाभावे, सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भसंभवसामर्थ्यात् हेतोर्विपक्षतो व्यावृत्तिः स्यात् तस्य च विपक्षाद्व्यावृत्तस्य तत्साधकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । भवतु वा सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भसंभव, तथापि सकलपुरुषचेतोवृत्तिविशेषाणामसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्तेरसिद्धः सर्वसबन्ध्यनुपलम्भ इति न ततो विपक्षव्यावृत्तिनिश्चयो वक्तृत्वस्येति कुत. संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकाद् हेतोस्तदभावसिद्धि. । नापि स्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भात् तद्व्यतिरेकनिश्चय. , तस्य स्वपितृव्यपदेशहेतुनाऽप्यनैकान्तिकत्वात् । नचैवंभूतादपि हेतो साध्यसिद्धि· तथाऽभ्युपगमे न कश्चित्सर्वज्ञाभावमवबुध्यते वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति तदभावावगमाभावस्यापि सिद्धिः स्यात् । अथान्यत्रापि हेतावयं दोषः समान इति सर्वानुमानोच्छेद. । तदयुक्तम् । अन्यत्र विपक्षव्यावृत्तिनिमित्तस्यानुपलम्भव्यतिरेकेण बाधकप्रमाणस्य सद्भावात् । नचात्रापि तस्य सद्भाव इति शक्य वक्तुम् । तदभावस्य हेतुलक्षणप्रस्तावे वक्ष्यमाणत्वात् । किंच—सर्वज्ञप्रतिपादकप्रमाणाभावे तस्यासिद्धत्वात् तदभावसाधनायोपन्यस्यमान. सर्वोऽपि हेतुराश्रयासिद्ध इति न तस्मादभावसिद्धि । अथ तद्ग्राहकत्वेन प्रमाणं प्रवर्त्तेत इत्याश्रयासिद्धत्वाभाव., तर्हि तत्साधकप्रमाणबाधितत्वात् पक्षस्य न तत्साधनाय हेतुप्रयोगसाफल्यमिति नानुमानावमेय. सर्वज्ञाभाव. । अपौरुषेयत्वस्य प्राक्तनन्यायेनासिद्धत्वात्, सर्वज्ञप्रणीतत्वानभ्युपगमे शब्दस्य पुरुषदोषसंक्रान्त्याऽप्रामाण्यात् न ततोऽपि तदभावसिद्धि'। नच तदभावाभिधायकं किञ्चिद्वेदवाक्यं श्रूयते, केवलं तद्भावावेदकवेदवचनोपलब्धिरविगानेन समस्ति—
'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण ।
सवेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुष महान्तम्'।
(श्वेताश्व० ३ । १६)

तथा हिरण्यगर्भं प्रकृत्य "सर्वज्ञ" इत्यादि । नच स्वरूपेऽर्थे तस्याप्रामाण्यम्, तत्र तत्प्रामाण्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्, तन्न शब्दादपि तदभावसिद्धि. । नाप्युपमानात्तदभावावगम. । यत उपमानमुपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बनमुदेति, अन्यथा—
" तस्माद्यत् स्मर्यते तत्स्यात्, सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य, सादृश्य वा तदन्वितम् "॥
(श्लो० वा० सू० ५ उपमान० श्लो ३७)

इत्यभिधानात् प्रत्यक्षेणोपमानोपमेययोरग्रहणे उपमेये स्मरणासंभवात्, कथ स्मर्यमाणपदार्थविशिष्टं सादृश्यं, सादृश्यविशिष्ट वा स्मर्यमाणं वस्तु उपमानविषय स्यात् । तस्मादिदानींतनोपमानभूताशेषपुरुषप्रत्यक्षत्वम्, उपमेयाशेषान्यकालमनुष्यवर्गसाक्षात्करण चावश्यमभ्युपगमनीयम् । तदभ्युपगमे च स एव सर्वज्ञ इति कथ उपमानात् तदभावावगमो युक्त । अतो यदुक्तम्—
" यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु, यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं संप्रति लोकस्य, तथा कालान्तरेऽप्यभूत् "॥ इति ।
(श्लो० वा० सू० २ श्लो० ११३)

तन्निरस्तम् । उपमानस्योक्तन्यायेनात्र वस्तुन्यप्रवृत्ते । नाप्यर्थापत्तितस्तदभावावगम', तस्याः प्रमाणत्वेऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात् । तथाहि—'दृष्ट श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्येत' इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्ति. । नचासावर्थोऽन्यथानुपपद्यमानत्वानवगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम् । अन्यथा स येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चितस्तमपि परिकल्पयेत्; येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत् । अनवगतस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वासंभवात् । संभवे वा लिङ्गस्याप्यनिश्चितनियमस्य परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति, तदपि नार्थापत्त्युत्थापकादर्थाद्भिद्येत । स चान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगम, तस्यार्थस्य न भूयो दर्शननिमित्तः सपक्षे । अन्यथा लोहलेख्यं वज्र पार्थिवत्वात्, काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धि स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपलम्भनिमित्तोऽसौ । व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्, किन्तु—विपर्यये तद्बाधकप्रमाणनिमित्त । तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्ते. प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थस्य तत्र प्रवृत्तिमदभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽभ्युपगम्यमाने यावत्तस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वं नावगतम्, न तावदर्थापत्तिप्रवृत्ति.; यावच्च न तत्प्रवृत्ति., न तावदर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगम इतीतरेतराश्रयत्वान्नार्थापत्तिप्रवृत्ति. । अत एव यदुक्तम्—
" अविनाभाविता चात्र, तदैव परिगृह्यते ।
न प्रागवगतेत्येव, सत्यप्येषा न कारणम् ॥
तेन सबन्धवेलायां, संबन्ध्यन्यतरो ध्रुवम् ।
अर्थापत्त्यैव मन्तव्य., पश्चादस्त्वनुमानता "॥
(श्लो० वा० सू० ५ अर्थापत्ति० श्लो० ३० । ३३) इत्यादि ।

तन्निरस्तम् । एवमभ्युपगमेऽर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपादितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगम. किं दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्य., आहोस्वित् स्वसाध्यधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्य इति । तत्र यद्याद्य. पक्ष तदाऽत्रापि वक्तव्यम् । किं तत् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्त प्रमाणम्, साध्यधर्मिण्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहोस्वित् दृष्टान्तधर्मिण्येव । तत्र यद्याद्य. पक्ष. तदाऽर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिङ्गस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापार प्रति न कश्चिद्विशेष. । अथ द्वितीय. स न युक्त । नहि दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथा भवति । नच तथात्वेनानिश्चित· स साध्यधर्मिणि स्वसाध्यं परिकल्पयतीति युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ लिङ्गस्य दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणत्ववशात्सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चय, अर्थापत्त्युत्थापकस्य त्वर्थस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तात्प्रमाणात्सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थान्यथाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चय इति लिङ्गार्थापत्त्युत्थापकयोर्भेद । नास्माद्भेदादर्थापत्तेरनुमानं भेदमासादयति । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विपर्ययाद्धेतुव्यावर्त्तकत्वेन प्रवृत्त प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादित्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभावात्कथ तत्र प्र-

१—(मीमा० शाबर० सू० ५ ।

वर्त्तमान बाधक प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वानियतत्त्वमवगमयेत् भरवस्य ?। नच साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च प्रवर्त्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्युत्थापकस्यार्थस्य, लिङ्गस्य च यथाक्रमं प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्त्यनुमानयोर्भेदोऽभ्युपगन्तु युक्तः। अन्यथा पक्षधर्मत्वसहितहेतुसमुत्थादनुमानात्तद्रहितहेतुसमुत्थमनुमान प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणषट्कवादो विशीर्येत। नियमवतो लिङ्गात्परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविशेषात् न ततस्तद्भिन्नमित्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाभूतादर्थादर्थप्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादर्थापत्तेः कथं नाभेदः ?। तदेवं प्रमाणत्वेऽर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात्, अनुमानस्य च सर्वज्ञाभावप्रतिपादकस्य निषेधात्तन्निषेधे चार्थापत्तेरपि तदभावग्राहकत्वेन निषेधान्नार्थापत्तिसमधिगम्योऽपि सर्वज्ञाभावः। अभावाख्यं तु प्रमाणमप्रमाणत्वादेव न तदभावसाधकम्। प्रमाणत्वेऽपि किमात्मनोऽपरिणामलक्षणं तत्, आहोस्विदन्यवस्तुविज्ञानलक्षणमिति। तत्र यद्यात्मनोऽपरिणामलक्षण तदभावसाधकमिति पक्ष स न युक्त, तस्य सत्त्वनाभ्युपगते परचेतोवृत्तिविशेषेऽपि सद्भावेनानैकान्तिकत्वात्। अथान्यविज्ञानलक्षणमिति पक्षः, सोऽप्यसङ्गतः। यतः सर्वज्ञत्वादन्यद्यदि किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयज्ञानं तदन्यज्ञानं, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्; किं सकलदेशकालव्यवस्थितपुरुषाधार किञ्चिज्ज्ञत्वम् अभ्युपगम्यते, आहोस्वित् कतिपयपुरुषव्यक्तिसमाश्रितमिति ?। तत्र यदि समस्तदेशकालाश्रितपुरुषाधारं किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञान तत्सर्वज्ञाभावप्रसाधकम्, तदयुक्तम्। सकलदेशकालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणव्यतिरेकेण तदाधारस्य किञ्चिज्ज्ञत्वस्य विषयीकर्तुमशक्तेर्न तद्विषयस्य तदन्यज्ञानस्य सर्वज्ञाभावावगमनिमित्तत्वं युक्तम्। सर्वदेशकालव्यवस्थिताशेषपुरुषसाक्षात्करणे च स एव सर्वदर्शीति न तदभावाभ्युपगमः श्रेयान्। अथ कतिपयपुरुषव्यक्तिव्यवस्थितं किञ्चिज्ज्ञत्वं तदन्यत् तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञान सर्वज्ञाभावावेदकम्, तदप्ययुक्तम्। तज्ज्ञानात् तदभावावगमे कतिपयपुरुषव्यक्तिव्यवस्थितस्यैव सर्वज्ञत्वस्याभाव सिद्ध्येत्, न सर्वत्र सर्वदा सर्वपुरुषेषु। तथा च सिद्धसाधनम्। अस्माभिरपि कुत्रचित्कस्यचिद्रथ्यापुरुषादेरसर्वज्ञत्वेनाभ्युपगमात्। अथ सर्वज्ञत्वादन्यस्तदभावस्तद्विषय ज्ञान तदन्यज्ञानम्, तदाऽत्रापि किं सर्वदा सर्वत्र सर्वः सर्वज्ञो न इत्येव तत्प्रवर्त्तते, उत कुत्रचित्कदाचित्कश्चित् सर्वज्ञो न इत्येवम्। तत्र नाद्य पक्ष। सकलदेशकालपुरुषासाक्षात्करणे तदाधारस्य तदभावस्यावगन्तुमशक्यत्वात्, प्रदेशाप्रत्यक्षीकरणे तदाधारस्य घटाभावस्येव, तत्साक्षात्करणे च तदेव सर्वज्ञत्वमिति न तदभावसिद्धि। अथ द्वितीयः पक्ष। तदा न सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति तदेव सिद्धसाधनम्। प्रमाणपञ्चकनिवृत्तेस्तदभावज्ञानमित्यादि सर्व प्रतिविहितमिति नाभावप्रमाणादपि तदभावावगमोऽभ्युपगन्तुं युक्त इत्यादि यत्, तदप्यविदितपराभिप्रायस्य सर्वज्ञवादिनोऽभिधानम्। यतो नास्माकमतीन्द्रियसर्वज्ञादिपदार्थबाधक प्रत्यक्षादिप्रमाण स्वतन्त्रं प्रवर्त्तत इत्यभ्युपगमः। अतीन्द्रियेषु स्वतन्त्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य भवदभिहितप्राक्तनदोषदुष्टत्वेन प्रवृत्त्यसंभवात्। किन्तु-प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण सर्वमेव सर्वज्ञप्रतिक्षेपप्रतिपादकं युक्तिजालमभिहितं यथार्थमभिधानमुद्वहद्भिर्मीमांसकैः। अत एव तदभिप्रायप्रकाशनपर भगवतो जैमिने सूत्रम्—'सत् सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्॥४॥' इति। यतो नानेनापि सूत्रेण स्वातन्त्र्येण प्रत्यक्षलक्षणमभ्यधायि भगवता। किन्तु-लोकप्रसिद्धलक्षणलक्षितप्रत्यक्षानुवादेन तस्य धर्म प्रत्यनिमित्तत्व विधीयते। नचैतदत्रापि वक्तव्यम्, कतरस्य प्रत्यक्षस्य धर्मे प्रत्यनिमित्तत्व विधीयते, अस्मदादिप्रत्यक्षस्य, सर्वज्ञप्रत्यक्षस्य वा। अस्मदादिप्रत्यक्षस्य तदनिमित्तत्वप्रतिपादने सिद्धसाधनम्। सर्वज्ञप्रत्यक्षस्य भवन्मतेनाप्रसिद्धत्वाच्छशविषाणस्येव कथ त प्रत्यनिमित्तताविधिः। अथापि स्यात् परेण तस्याभ्युपगतत्वात्, तं प्रत्यनिमित्तत्व तत्प्रसिद्धयैवोच्यते। तदयुक्तम्। परीक्षापूर्वकत्वेनाभ्युपगमस्य स्थितत्वात्। तत्पूर्वकश्चेत् परस्याभ्युपगमः, तदा भवतोऽपि तस्य तद्भाव, परीक्षायाः प्रमाणरूपत्वात्। प्रमाणसिद्धं च न परस्यैव सिद्धम्। प्रमाणसिद्धस्य सर्वैरेवाभ्युपगमनीयत्वात्। अथ प्रमाणव्यतिरेकेण परेण सर्वज्ञप्रत्यक्षमभ्युपगतम्, तदाऽसौ प्रमाणाभावादेव नाभ्युपगमो युक्त। नच प्रमाणाभ्युपगतस्यास्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणस्य सर्ववित्प्रत्यक्षस्य त प्रत्यनिमित्तत्व विधातुं युक्तम् 'यतोऽस्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणत्वं सर्ववित्प्रत्यक्षस्य धर्मादिग्राहकत्वेनैव, तच्चेत्प्रमाणतोऽभ्युपगतं, कथ तस्य तं प्रत्यनिमित्तत्वमुपपद्येत। तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात्। किञ्चाय परस्परविरुद्धोऽपि वाक्यार्थः स्यात्, प्रमाणतो धर्मादिग्राहक सर्ववित्प्रत्यक्षं यत्प्रसिद्धं तद् धर्मादिग्राहक न भवतीति। यतो न प्रसङ्गसाधने आश्रयासिद्धत्वादिदूषणं क्रमते। नहि प्रमाणमूलपराभ्युपगमपूर्वकमेव प्रसङ्गसाधनं प्रवर्त्तते। किं तर्हि यद्यर्थाभ्युपगमदर्शनपूर्वकम्। अत एव प्रसङ्गसाधनस्य विपर्ययफलत्वम्। विपर्ययस्य च अतीन्द्रियपदार्थविषयप्रत्यक्षनिषेधफलत्वम्, तन्निषेधे च किं प्रत्यक्षस्य धर्मिणो निषेधः, अथ तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वस्येति?। पूर्वस्मिन् पक्षे हेतूनामाश्रयासिद्धतेति प्रतिपादितम्, उत्तरत्र प्रत्यक्षत्वनिषेधे प्रमाणान्तरत्वप्रसक्ति, विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानलक्षणत्वात्, इति न प्रेर्यम्। यतो विशेषनिषेधे तस्य विशेषरूपत्वेन सत्त्वस्यैव प्रतिषेधः। नच धर्म्यसिद्धत्वादिदोष। यद्यर्थस्याभ्युपगतत्वात्। कथ पुनरत्र प्रसङ्गः, विपर्ययो वा क्रियते इति चेत्। तदुच्यते—सार्वज्ञ प्रत्यक्ष यद्यभ्युपगम्यते तदा तत् धर्मग्राहक न भवति, विद्यमानोपलम्भनत्वात्। नचासिद्धो हेतु। तथाहि—विद्यमानोपलम्भनमतीन्द्रियार्थजप्रत्यक्ष, सत्सम्प्रयोगजत्वात्, अस्याप्यसिद्धतोद्भावन एव वक्तव्यम्। विवादगोचरं प्रत्यक्ष सत्सम्प्रयोगजं, प्रत्यक्षत्वात्। तच्छब्दवाच्यत्वाद्वाऽस्मदादिप्रत्यक्षं सर्वत्र दृष्टान्त इति प्रसङ्गः। विपर्ययस्त्वेवम्—तद्धर्मग्राहकं चेत् न विद्यमानोपलम्भनम्, अविद्यमानत्वात् धर्मस्य। अविद्यमानोपलम्भनत्वे न सत्संप्रयोगजम्। असत्सम्प्रयोगजत्वे न प्रत्यक्ष नापि तच्छब्दवाच्यम्। प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेणैव यद्यर्थापत्तपण वार्त्तिककृताऽप्यभिहितम्—

"यदि षड्भि प्रमाणैः स्यात्, सर्वज्ञ केन वार्यते॥
एकेन तु प्रमाणेन, सर्वज्ञो येन कल्प्यते।
नूनं स चक्षुषा सर्वान्, रसादीन् प्रतिपद्यते॥

र्म निषिद्धत्वात् । तर्हि सर्वदाऽग्निप्रभव एव धूमोऽन्यभावे कदाचनापि न भवतीत्यत्रापि प्रत्यक्षस्य सन्निहितवर्त्तमानार्थग्राहकत्वेनाप्रवृत्तेः, अनुपलम्भस्यापि नाहिविक्तप्रदेशविषयप्रत्यक्षस्वभावस्यात्र वस्तुनि व्यापारासंभवात्, न कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः स्यात् । नाप्यनुमानतोऽपि प्रकृतः प्रतिबन्धः सिद्धिमासादयति इतरेतराश्रयानवस्थादोषप्रसङ्गस्य प्रदर्शितत्वात् । न चान्यत्प्रतिबन्धप्रसाधकं प्रमाणमस्तीति प्रसिद्धानुमानस्यापि सर्वज्ञाभावावेदकानुमाननिरासयुक्त्युपक्षेपमिच्छतोऽत्राभावः प्रसक्तः । अथ प्रसिद्धानुमाने साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धः, तत्प्रसाधकं च प्रमाणं किञ्चिदस्ति; तर्हि स एव प्रतिबन्धः किञ्चिज्ज्ञत्ववक्तृत्वयोः, तत्प्रसाधकं च तदेव प्रमाणं भविष्यतीति सिद्धः प्रतिबन्धः किञ्चिज्ज्ञत्ववक्तृत्वयोरग्निधूमयोरिव। अत एव व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र दर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनमिति तल्लक्षणस्य युष्मदभ्युपगमेनात्र सद्भावात् भवत्येवातोऽनुमानात् सर्वज्ञाभावसिद्धिः । पक्षधर्मताभावप्रतिपादनं च यत्प्रकृतप्रसङ्गसाधने प्रतिपादितं, तदभ्युपगमवादान्निरस्तम् । तत्र पक्षधर्मताया हेतोरभावेऽपि गमकत्वस्य सिद्धत्वात् । शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थोऽनभ्युपगमान्निरस्त इति न प्रत्युच्चार्य दूषितः । अतोऽयुक्तमुक्तं सर्वज्ञवादिना यथा तत्साधकप्रमाणाभावात् न तद्विषयः सद्व्यवहारः, तथा तदभाववादिना मीमांसकादीनां तदभावग्राहकप्रमाणाभावादेव न तदभावव्यवहार इति प्रसङ्गसाधनस्य तदभावसाधकस्य समर्थितत्वात् । अथ यदभ्यासविकलचक्षुरादिजनितं प्रत्यक्षं तद्धर्मादिग्राहकं न भवतीति प्रसङ्गसाधनात्सिध्यति, न पुनरन्यादृग्भूतम् । चोदनावदन्यादृशस्य धर्मग्राहकत्वाविरोधात् । ननु किं तज्ज्ञानं प्रतिनियतचक्षुरादिजनितं धर्मादिग्राहकम्, उताभ्यासजनितम्, आहोस्वित् शब्दजनितं, किंवाऽनुमानप्रभावितम् । तत्र यदि चक्षुरादिप्रभवम् । तदयुक्तम् । चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवस्य तज्ज्ञानस्य धर्मादिग्राहकत्वायोगात् । अत एव 'यदि षड्भिः' इत्याद्युक्तं दूषणमत्र पक्षे । अथाभ्यासजनितं तदिति पक्षः । तथाहि—ज्ञानाभ्यासात्प्रकर्षतरतमादिप्रक्रमेण तत्प्रकर्षसम्भवे तदुत्तरोत्तराभ्याससमन्वयात्सकलभावातिशयपर्यन्तं संवेदनमवाप्यत इति । तदपि मनोरथमात्रम् । यतोऽभ्यासो हि नाम कस्यचित्प्रतिनियतशिल्पकलादौ प्रतिनियतोपदेशसद्भाववतो जन्मतो जनस्य सम्भाव्यते, न तु सर्वपदार्थविषयोपदेशसम्भवः । नच सर्वपदार्थविषयानुपदेशज्ञानसम्भवः, येन तज्ज्ञानाभ्यासात्सकलज्ञानप्राप्तिः । तत्सम्भवे वा सकलपदार्थविषयज्ञानस्य सिद्धत्वात्किमभ्यासप्रयासेन । किंच—तदभ्यासप्रवर्त्तकं ज्ञानं यदि चक्षुरादिप्रतिनियतकरणप्रभवमप्यन्येन्द्रियविषयरसादिगोचरम्, अतीन्द्रियार्थगोचरं च स्यात्, तदा पदार्थशक्तेः प्रतिनियतत्वेन प्रमाणसिद्धाया अभावात्, प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसक्तिसद्भावात् सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । अथाभ्याससहायाना चक्षुरादीनामपि सर्वज्ञावस्थायामतीन्द्रियदर्शनशक्तिः, नच व्यवहारोच्छेदः, अस्मदादिचक्षुरादीनामनभ्यासदशायां शक्तिप्रतिनियमादस्मदादय एव व्यवहारिण इति । एतदप्यसमीचीनम् । न सत्यभ्यासे सत्यप्यन्यतो वा हेतोः कस्यचिदतीन्द्रियदर्शनं चक्षुरादिभ्य उपलभ्यते, दृष्टानुसारिण्यश्च कल्पना भवन्तीति । किंच—सर्वपदार्थवेदनं चक्षुरादिजनितज्ञानात्तदभ्यासः, तत्सहायं च चक्षुरादिकं सर्वज्ञावस्थायां सर्वपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानं जनयतीति कथमितरेतराश्रयमेतत्कल्पनागोचरचारि चतुरचेतसो भवत इति न द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तिक्षमः । अथ शब्दजनितं तज्ज्ञानम् । ननु शब्दस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्ये सर्वपदार्थविषयज्ञानसंभवः, तज्ज्ञानसंभवे च सर्वज्ञस्य तथाभूतशब्दप्रणेतृत्वमितीतरेतराश्रयदोषानुषक्तः । अत एवोक्तम्-"नर्ते तदागमात् सिध्येत् नच तेनागमो विना"। इति। (स्याद्वा० श्लो० २ सू० १४२)

नच शब्दजनितं स्पष्टाभमिति न तज्ज्ञानवान् सकलज्ञ इत्यभ्युपगम्यते । एवं च प्रेरणाजनितज्ञानवतो धर्मज्ञत्वम् । अत एवोक्तम्—' चोदना हि भूतं भवन्तम् ' इत्यादि । तन्न तृतीयपक्षोऽपि युक्तिसङ्गतः । अनुमानजनितज्ञानेन तु सर्वविस्त्वं न धर्मज्ञत्वम् । धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापकलिङ्गत्वेनाभ्युपगम्यमानस्यार्थस्य तेन सह संबन्धासिद्धेः । असिद्धसंबन्धस्य चाज्ञापकत्वान्न ततो धर्माद्यनुमानम्, इत्यनुमानजनितं ज्ञानं न सकलधर्मादिपदार्थवेदकम् । किंच—तथाभूतपदार्थज्ञानेन यदि सर्वविदभ्युपगम्यते, तदाऽस्मदादीनामपि सर्वविस्त्वमनिवारितप्रसरम् । भावाभावोभयरूपं जगत् प्रमेयत्वादित्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात्, अस्पष्टं वाऽनुमानमिति तज्जनितस्याप्यवैशद्यसम्भवान्न तज्ज्ञानवान् सर्वज्ञो युक्तः । अथानुमानज्ञानं प्रागविशदमपि तदेवाशेषपदार्थविषयं पुनः पुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयद्वैशद्यभाग् भवति । दृष्टं चाभ्यासबलाज्ज्ञानस्यानक्षजस्यापि कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुतस्य वैशद्यम् । नन्वेवं तज्ज्ञानवदतीन्द्रियार्थविद्विज्ञानस्याप्युपप्लुतत्वं स्यादिति तज्ज्ञानवत् कामाद्युपप्लुतपुरुषवद्विपर्यस्तत्वम् । अथ यथा रजोनीहाराद्यावरणावृतवृक्षादिदर्शनमविशदम्, तदावरणापाये वैशद्यमनुभवति, एवं रागाद्यावारकाणां विज्ञानावैशद्यहेतूनामपाये सर्वज्ञज्ञानं विशदतामनुभविष्यतीति । असदेतत् । रागादीनामावरणत्वासिद्धेः । कुड्यादीनामेव ह्यावारकत्वं लोके प्रसिद्धं, न रागादीनाम् तथाहि-रागादिसद्भावेऽपि कुड्याद्यावरणकाभावे विज्ञानमुत्पद्यमानं दृष्टम्, रागाद्यभावेऽपि कुड्याद्यावारकसद्भावे न विज्ञानोदय इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कुड्यादीनामेवावरणत्वावगमो, न रागादीनामिति न रागादय आवारका इति न तद्विगमोऽपि सर्वविद्विज्ञानस्य वैशद्यहेतुः ।

किंच—सर्ववेदनं सर्वज्ञज्ञानेन किं समस्तपदार्थग्रहणम्, उत शक्तियुक्तत्वम्, आहोस्वित् प्रधानभूतकतिपयपदार्थग्रहणम् । तत्र यद्याद्यः पक्षः तत्रापि वक्तव्यम् । किं क्रमेण तद्ग्रहणम्, आहोस्विद् यौगपद्येन । तत्र यदि क्रमेण तद्ग्रहणम् । तदयुक्तम् । अतीतानागतवर्त्तमानपदार्थानामपरिसमाप्तेस्तज्ज्ञानस्याप्यपरिसमाप्तित सर्वज्ञताऽयोगात् । अथ युगपत् अनन्तातीतानागतपदार्थसाक्षात्कारि तद्वेदनमभ्युपगम्यते । तदप्यसत् । परस्परविरुद्धानां शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रति-

भासासंभवात्। संभवे वा न कस्यचिदर्थस्य प्रतिनियतस्य तद्ग्राहकं स्यादिति किं तज्ज्ञानेन, अस्मदादिभ्योऽपि व्यवहारिभ्यो हीनतर इति कथ सर्वज्ञः। किंच-यदि युगपत् सर्वपदार्थग्राहकं तज्ज्ञानं, तदेकक्षणे एव सर्वपदार्थग्रहणात्, द्वितीयक्षणे किञ्चिज्ज्ञ एव स्यात्, ततश्च ाक तेन तादृशा किञ्चिज्ज्ञेन सर्वज्ञत्वेन। नचानाद्यनन्तसंवेदनस्य परिसमाप्तिः, परिसमाप्तौ वा कथमनाद्यनन्तता। किंच—सकलपदार्थसाक्षात्करणे परस्थरागाऽऽदिसाक्षात्करणमिति रागादिमानपि स स्याद्विट इव। अथ रागादिसंवेदनमव नास्ति, न तर्हि सकलपदार्थसाक्षात्करणम्। तन्न प्रथमः पक्षः। अथ शक्तियुक्तत्वेन सकलपदार्थसवेदनं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते। तदपि न युक्तम्। सर्वपदार्थावेदने तच्छक्तेर्ज्ञातुमशक्तेः, कार्यदर्शनानुमेयत्वाच्छक्तीनाम्। किंच—सर्वपदार्थज्ञानपरिसमाप्तावपीयदेव सर्वमिति कथं परिच्छेदशक्तिः। अथ वेदनाभावादभावोऽपरस्येति सर्वसंवेदनम्। अवेदनाद्भावोऽपरस्येति कुतो निश्चय। तदपेक्षया तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात्। तथाभूतानुपलब्ध्याऽभावनिश्चय इति चेत्। एव सति स एवेतरेतराश्रयदोष। सर्वज्ञत्वनिश्चये तदभावनिश्चय, तदभावनिश्चये च सर्वज्ञत्वनिश्चय इति नैकस्यापि सिद्धि। तन्न द्वितीयोऽपि पक्ष। अथ यावदुपयोगि प्रधानभूतपदार्थजातं तावदसौ वेत्तीति तत्परिज्ञानात्सकलज्ञ, तदपि सर्वपदार्थावेदने नियमेन न सभवति। सकलपदार्थव्यवच्छेदेन तेषामेव प्रयोजननिर्वर्त्तकत्वमिति सकलपरिज्ञानमन्तरेणाशक्यसाधनमिति न तृतीयोऽपि पक्षो युक्त।

किंच—नित्यसमाधानसभवे विकल्पाभावात्कथं वचनम्। वचने वा विकल्पसभवात् समाधानविरोधान्न समाहितत्वमिति भ्रान्तच्छाद्मस्थिकज्ञानयुक्त स स्यात्। कथं वाऽतीतानागतग्रहणम् अतीतादे स्वरूपस्यासंभवात्। असदाकारग्रहणे च तैमिरिकज्ञानवत्प्रमाणत्वं न स्यात्। अथातीतादिकमप्यस्ति, एव सत्यतीतादित्वादेरप्यभाव एव इति सर्वज्ञव्यवहारोच्छेद। अथ प्रतिपाद्यापेक्षया तस्याभाव। तदप्ययुक्तम्। नहि विद्यमानमेवापेक्षया तदेवाविद्यमानं भवति। तस्यानुपलब्धेरविद्यमानत्वमेवेति चेत्। तदनुपलब्धिरेवास्तु कथमविद्यमानम्। नह्यन्यस्याभावेऽन्यस्याप्यभावः। अतिप्रसङ्गात्। तस्यासावविद्यमानत्वेन प्रतिभातीति चेत् स तर्हि भ्रान्त। असद्विकल्पसंभवात्। तस्यासद्विकल्पस्य विषयीकरणात्सर्वज्ञोऽपि भ्रान्त एवेति कथं सर्ववित्। अथ विकल्पस्यापि स्वरूपेऽभ्रान्तत्वमेव, तेन तस्य वेदनं सर्वज्ञज्ञानमभ्रान्तम्। एवं तर्हि स्वरूपसाक्षात्करणमेव केवलं, कथमतीताद्यविद्यमानसाक्षात्करणम्। ततश्चातीतानागतपदार्थाभावात्तत्साक्षात्करणासंभवान्न तद्ग्रहणात्सर्वज्ञः। किंच—स्वरूपमात्रवेदने तन्मात्रस्यैव विद्यमानत्वात्तद्वेदनेऽद्वैतवेदनात् न सर्वज्ञव्यवहार। तद्भावे वा सर्वः सर्ववित् स्यात्। अथापि स्यात्, सत्यस्वप्नदर्शनवदतीतानागतादिदर्शनम्, ततो व्यवहार इति। तदप्ययुक्तम्। सत्यस्वप्नदर्शनस्य स्वरूपमात्रवेदने न सत्यासत्यविभाग, किन्त्वानुमानिक। सत्यस्वप्नस्वरूपसंवेदनस्य तन्मात्रपर्यवसितत्वात्। किंच—अतीतानागतकालसंबन्धित्वात्पदार्थानामतीतानागतत्वम्, तद्धि भवत्किमपरातीतानागतकालसबन्धादतीतानागतत्वमभ्युपगम्यते, आहोस्वित् स्वत एव। यद्यपरातीतानागतकालसबन्धात्कालस्यातीतानागतत्वम्, तदा तस्याप्यपरातीतानागतकालसंबन्धादतीतानागतत्वं, तस्याप्यपरस्मादित्यनवस्था। अथातीतानागतपदार्थक्रियासबन्धात्कालस्यातीतानागतत्वम्, तेनायमदोष। ननु पदार्थक्रियाणामपि कुतोऽतीतानागतत्वम्। यद्यपरातीतानागतपदार्थक्रियासद्भावात्, तदाऽत्रापि सैवानवस्था। अतीतानागतकालसंबन्धात्पदार्थक्रियाणामतीतानागतत्व तर्हि कालस्याप्यतीतानागतपदार्थक्रियासबन्धादतीतानागतत्वमिति व्यक्तमितरतराश्रयत्वम्। तन्न प्रथमः पक्षः। अथ स्वरूपत एव कालस्यातीतानागतत्व, तदा पदार्थानामपि स्वत एवातीतानागतत्वमस्तु, किमतीतानागतकालसंबन्धित्वेन। तच्च पदार्थस्वरूपमस्मदादिज्ञानेऽपि प्रतिभातीति नातीतानागतपदार्थग्राहित्वेनास्मदादिभ्य सर्वज्ञस्य विशेष। अपिच—सबन्धस्यान्यत्र विस्तरतो निषिद्धत्वान्न कस्यचित्केनचित्संबन्ध इत्यतीतानागतादिसबद्धपदार्थग्राहिज्ञानमसदर्थविषयत्वेन भ्रान्त स्यादिति न भ्रान्तज्ञानवान् सर्वज्ञ कल्पयितुं युक्त। भवतु वा सर्वज्ञ, तथाप्यसौ तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातु न शक्यते। तद्ग्राह्यपदार्थाज्ञाने तद्ग्राहकज्ञानवत केनचित्प्रमाणेन प्रतिपत्तुमशक्तेः। तदुक्तम्—

" सर्वज्ञोऽयमिति ह्येत—त्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-रहितैर्गम्यते कथम् ? ॥
कल्पनीयास्तु सर्वज्ञा, भवेयुर्बहवस्तव।
य एव स्यादसर्वज्ञ, स सर्वज्ञं न बुध्यते " ॥

(श्लो० वा० सू० २ श्लो० १३४। १३५।) नच तदपरिज्ञाने तत्प्रणीतत्वेनागमस्य प्रामाण्यमवगन्तुं शक्यम्। तदनवगमे च तद्विहितानुष्ठानं प्रवृत्तिरप्यसङ्गता। तदुक्तम्—

" सर्वज्ञो नाववुद्धश्चे-द्येनैव स्यान्न तं प्रति।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्व, मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥ इति।
(श्लो० वा० सू० २ श्लो० १३६)

तदेवं सर्वज्ञसद्भावग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात्, तत्सद्भावबाधकस्य चानेकधा प्रतिपादितत्वात्, सर्वज्ञाभावव्यवहार प्रवर्त्तयितु युक्तः। तथाहि—ये बाधकप्रमाणगोचरतामापन्नास्ते असदिति व्यवहर्त्तव्या, यथा अङ्गुल्यग्रे करियूथादय, बाधकप्रमाणगोचरापन्नश्च भवदभ्युपगमविषय सकलपदार्थसार्थसाक्षात्कारीत्यसद्व्यवहारविषयत्वं सर्वविदोऽभ्युपगन्तव्यमिति पूर्वपक्ष।

(उत्तरपक्ष सर्वज्ञसत्तासाधनम्)—

अत्र प्रतिविधीयते यत्तावदुक्तम्—' ये देशकालस्वभावव्यवहिता प्रमाणविषयतामनापन्ना न ते सद्व्यवहारगोचरचारिण ' इत्यादि। तदुक्तम्। सर्वविदि प्रमाणविषयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् असिद्धो हेतुस्तदविषयत्वलक्षण। यदप्यभ्यधायि। न तावदक्षसभवज्ञानसवेद्यस्तद्भाव अक्षाणा प्रतिनियतविषयत्वेन तत्साक्षात्करणव्यापारासंभवात्। तत् सिद्धमेव साधितम्। यदप्युक्तम्। नाप्यनुमानस्य तत्र व्यापार। नहि प्रतिबन्धग्रहण पक्षध-

र्मताग्रहणे च हेतो. प्रवर्त्तते । नच प्रतिवन्धग्रहण प्रत्यक्षतस्तत्र सभवतीत्यादि । तद् धूमादेरग्न्यादिप्रभवत्वानुमानेऽपि समानम् । अथाग्न्यादे प्रत्यक्षत्वात्तत एव तत्प्रभवत्वकार्यविशेषत्वयोर्धूमादौ प्रतिवन्धसिद्धि' । ननु धूमस्य किमग्निस्वरूपग्राहकप्रत्यक्षेण पावकपूर्वकत्वमवगम्यते, उत धूमस्वभावग्राहिणेति कल्पनाद्वयम् । तत्र न तावदाद्यः पक्ष. पावकरूपग्राहिप्रत्यक्ष तत् स्वभावमात्रग्रहणपर्यवसितमेव , न धूमरूपप्रवेदनप्रवणम् । तदप्रवेदने च न तदपेक्षया तेन वह्ने' कारणत्वावगम. । नहि प्रतियोगिस्वरूपाऽग्रहणे तं प्रति कस्यचित्कारणत्वमन्यद्वा धर्मान्तरं ग्रहीतु शक्यम् । अतिप्रसङ्गात् । अथ धूमस्वरूपप्रतिपत्तिमता प्रत्यक्षेण तस्य चित्रभानु प्रति कार्यत्वस्वभावं तत्प्रभवत्वं गृह्यते । ननु तस्यापि पावकस्वरूपग्राहकत्वेनाप्रवृत्तेस्तदग्रहणे तदपेक्षं कार्यत्वं धूमस्य कथमवगमविषय । अथाग्निधूमद्वयस्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तयो कार्यकारणभावनिश्चय । तदप्यसङ्गतम् । द्वयग्राहिण्यपि ज्ञाने तयो. स्वरूपमेव भाति , न पुनरग्नेर्धूमं प्रति कारणत्वम् , धूमस्य वा तं प्रति कार्यत्वम् । नहि पदार्थद्वयस्य स्वस्वरूपनिष्ठस्यैकज्ञानप्रतिभासमात्रेण कार्यकारणभावप्रतिभास । अन्यथा घटपटयोरपि स्वस्वरूपनिष्ठयोरेकज्ञानप्रतिभास. क्वचिदस्तीति तयोरपि कार्यकारणभावावगमप्रसङ्ग । अथ यस्य प्रतिभासानन्तरं यत्प्रतिभास एकज्ञाननिबन्धनस्तयोस्तदवगम इति नायं दोष. । तदपि घटप्रतिभासानन्तरं पटप्रतिभासे क्वचित् ज्ञाने समानम् । नच क्रमभाविपदार्थद्वयप्रतिभासमन्वय्येकं ज्ञानमिति शक्य वक्तुम् । प्रतिभासभेदस्य भेदनिबन्धनत्वात् । अन्यत्रापि तद्भेदव्यवस्थापितत्वाद्भेदस्य । स च क्रमभाविप्रतिभासद्वयाध्यासितज्ञाने समस्तीति कथं न तस्य भेद । नचैकमेव ज्ञानं जन्मानन्तरक्षणादिकालमास्त इति भवतामभ्युपगमः । तदुक्तम्—'क्षणिका हि सा , न कालान्तरमास्ते' इति । अथ वह्निधूमस्वरूपद्वयग्राहिज्ञानद्वयानन्तरभाविस्मरणसहकारीन्द्रिय सविकल्पकज्ञानं जनयति, तत्र तद्द्वयस्य पूर्वापरकालभाविन. प्रतिभासात् कार्यकारणभावनिश्चयो भविष्यति । तदप्यसङ्गतम् । पूर्वप्रवृत्तप्रत्यक्षद्वयस्य तत्राव्यापारात्तदुत्तरस्मरणस्य च पदार्थमात्रग्रहणेऽप्यसामर्थ्याच्चक्षुरादीना च तदवगमज्ञानजननेऽशक्तेः । शक्तौ वा प्रथमाक्षसंनिपातवेलायामेव तदवगमज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गात् , अकिञ्चित्करस्य स्मरणादेरनपेक्षणीयत्वात् । परिमलस्मरणसव्यपेक्षस्य लोचनस्य सुरभिचन्दनमित्यविषये गन्धादौ ज्ञानजनकत्वस्येव , तत्रापि तज्जनकत्वविरोधात् । अथ तत्स्मरणसव्यपेक्षलोचनव्यापारानन्तरं कार्यकारणभूते एते वस्तुनी इत्येतदाकारज्ञानसंवेदनात्कार्यकारणभावावगम सविकल्पकप्रत्यक्षनिबन्धनो व्यवस्थाप्यते । नन्वेव परिमलस्मरणसहकारिचक्षुर्व्यापारानन्तरभावी सुरभि मलयजमिति प्रत्यय' समनुभूयत इति परिमलस्यापि चक्षुर्जप्रत्ययविषयत्व स्यात् । अथ परिमलस्य लोचनाविषयत्वात् नायं प्रत्ययस्तज्ज , किन्तु गन्धसहचरितरूपदर्शनप्रभवानुमानस्वभाव । तदेतत्प्रकृतेऽपि कार्यकारणभावे लोचनाविषयत्वं समानम् । प्रत्ययस्य तु तदध्यवसायिनोऽपरं निमित्तं कल्पनीयम् तत्र प्रत्यक्षत. सविकल्पकादपि धूमपावकयो' कार्यकारणत्वावगम' । मानसप्रत्यक्ष तु तदवगमनिमित्त भवता नाभ्युपगम्यते । अपि च—कार्यकारणभाव. सर्वदेशकालावस्थिताखिलधूमपावकव्यक्तिक्रोडीकरणेनावगतोऽनुमाननिमित्ततामुपगच्छति । नच प्रत्यक्षस्येयति वस्तुनि सविकल्पकस्य, निर्विकल्पकस्य वा व्यापार संभवतीत्यसकृत्प्रतिपादितम् । किंच—न कारणस्य प्राग्भावित्वमात्रमेव बौद्धानामिव कारणत्वं, येन तस्य कारणस्वरूपाभेदात्तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावस्य कारणत्वस्याऽप्यवगम , केवलं कार्यदर्शनादुत्तरकालं तन्निश्चीयते, किंतु—कारणस्य कार्यजननशक्तिः कारणत्वम् । सा च शक्तिर्न प्रत्यक्षावसेया, अपि तु कार्यदर्शनसमधिगम्या भवता परिकल्पिता । तदुक्तम्—"शक्तय. सर्वभावना कार्यार्थापत्तिगोचरा." । (श्लो० वा० सू० ५ शून्य० श्लो० २५४) तत. कथं प्रत्यक्षात्कारणस्य कारणत्वावगम. । अथ कार्यादिव कारणस्य कारणत्वावगमो भवतु, किं नश्छिन्नम् ।

ननु कार्यात्कारणस्य कारणत्वावगमेऽनुमानात्तत्त्वावगमः, तत्र च तदपि कार्यं लिङ्गभूतं यदि कारणशक्तिमवगमयति, तदा शक्तिकार्ययो. प्रतिबन्धग्रहणमभ्युपगन्तव्यम् । सच प्रतिबन्धावगमो न प्रत्यक्षादिति प्रतिपादितम् । अनुमानात्तदवगमे इतरेतराश्रयानवस्थादोषावतारोऽत्रापि समान । अर्थापत्तेस्त्वनुमानेऽन्तर्भाव. प्रतिपादित इति न प्रसिद्धानुमानस्यापि प्रवृत्तिर्भवदभिप्रायेण । अथ वह्निगतधर्मानुविधानात् धूमस्य तत्पूर्वकत्व कुतश्चित्प्रमाणात्प्रसिद्धमिति धूमत्वस्य तत्पूर्वकत्वव्याप्तिसिद्धि । अन्यथा धूमादग्न्यसिद्धेः सकललोकप्रसिद्धव्यवहाराभावः । अनुमानाभावे प्रत्यक्षतोऽपि व्यवहारासम्भवात् । तर्हि वचनविशेषस्यापि यदि विशिष्टकारणपूर्वकत्वं तत एव प्रमाणात्प्रसिद्धम् , विवादाध्यासिते वचने वचनविशेषत्वात्साध्येत तदा कोऽपराध । तदप्युक्तम्—' पक्षधर्मत्वनिश्चये —ति हेतोरनुमान प्रवर्त्तते, नच सर्ववित् कुतश्चित्प्रमाणात्सिद्ध. ' इत्यादि । तदप्ययुक्तम् । यतो यदि सर्वविदो धर्मित्वं क्रियेत, तदा तस्यासिद्धत्वात्स्यादप्यपक्षधर्मत्वलक्षण दूषणम् , यदा तु वचनविशेषस्य धर्मित्वं तस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्व साध्यत्वेनोपक्षिप्तम् , तदा तत्र तद्विशेषत्वादिलक्षणो हेतुरुपादीयमान कथमपक्षधर्म. स्यात् । नचापक्षधर्मादपि हेतोरुपजायमानमनुमान प्रमाणं भवताऽभ्युपगच्छता पक्षधर्मत्वाभावलक्षणं दूषणमासञ्जयितुं युक्तम् । अन्यथा—

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन, पुत्रब्राह्मणताऽनुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न, पक्षधर्ममपेक्षते ॥ १ ॥ "

इत्याद्यपक्षधर्महेतुसमुत्थानुमानप्रामाण्यप्रतिपादन भवतोऽप्ययुक्तं स्यात् । यदप्यभ्यधायि—' सर्वज्ञसत्ताया साध्याया त्रयीं दोषजातिं हेतुर्नातिवर्त्तते ' इत्यादि । तत्र स्यादप्ययं दोष , यदि तत्सत्ता साध्यत्वेनाभ्युपगम्यते, यावता पूर्वोक्तप्रकारेण वचनविशेषस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्व साध्यमित्युक्तम् , तत्र चास्य दोषस्योपक्षेपोऽयुक्त एव । यदप्यभ्यधायि—यद्यनियत कश्चित्सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेत इत्यादि । तदप्यसङ्गतमेव । यतो नास्माभि. प्रतिनियत एव कश्चित्सर्वज्ञोऽनुमानात्साध्यते,

ऽग्रहणम्, उत अविद्यमानत्वात्, आहोस्वित् अविशेषण-
त्वात्। तत्र नाद्यः पक्ष । अतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेर्ग्रह-
णाभ्युपगमात्। नाप्यविद्यमानत्वात् भाविधर्मादेरिवातीत-
कालादेरविद्यमानत्वेऽपि प्रतिभासस्य भावात्। अथावि-
शेषणत्वाद्धर्मादेरप्रतिभास.। तदप्यसङ्गतम्। सर्वदा पदार्थ-
जनकत्वेन, द्रव्यगुणकर्मजन्यत्वेन च धर्मादेः सर्पपदार्थवि-
शेषणभावसंभवात्। अतीतातीन्द्रियकालादेरिव तस्यापि
विशेष्यग्रहणप्रवृत्तचक्षुरादिना ग्रहणसंभव इति कथ धर्म-
ग्रत्यनिमित्तत्वप्रसङ्गसाधनस्य,,तद्विपर्ययस्य वा,सभव'। त-
था प्रज्ञादिमन्त्रादिद्वारेण संस्कृत चक्षुर्यथा कालविप्रकृष्ट-
पदार्थग्राहकमुपलभ्यते, तथा धर्मादेरपि यदि ग्राहक क-
स्यचित्स्यात्, तदा न कश्चिद्दोष । अपि च—अनालोकान्ध-
कारव्यवहितस्य मूषिकादेर्नक्तचरवृषदंशादेश्चक्षुर्यथा ग्राह-
कमुपलभ्यते, तथा यद्यतीन्द्रियातीतानागतधर्मादिपदार्थ-
साक्षात्कारि कस्यचित्तदेव स्यात्, तदाऽत्रापि को दोष.।
नच जात्यन्तरस्यान्धकारव्यवहितरूपादिग्राहकं चक्षुर्दृष्टं,
न पुनर्मनुष्यधर्मण इति पतिसमाधानमत्राभिधातु युक्तम्।
मनुष्यधर्मणोऽपि निर्जीविकादेर्द्रव्यविशेषादिनस्कृतं चक्षु
समुद्रजलादिव्यवहितपर्वतादिग्रहणे समर्थमुपलभ्यत इति
धर्मादेरपि देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्य कस्यचित्पुरुषविशे-
षस्य पुण्यादिसंस्कृत चक्षुरादि ग्राहक भविष्यतीति न
कश्चित् दृष्टस्वभावव्यतिक्रम । अथ चक्षुरादे करणस्य
प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेनान्यकरणविषयग्राहकत्वे स्वा-
र्थातिक्रमो व्यवहारविलोपी स्यात्। ननु श्रूयत एव चक्षु
षा शब्दश्रवण प्राणिविशेषाणाम्, 'चक्षु श्रवसा भुजङ्गा'
इति लोकप्रवादात्। मिथ्या स प्रवाद इति चेत्। नैतत्।
प्रवादबाधकस्याभावात्, कर्णच्छिद्रानुपलब्धेश्च। नच
दन्दशूकचक्षुषां जात्यन्तरत्वादित्युत्तरमत्रोपयोगि। अ-
न्यत्रापि प्रकृष्टपुण्यसभारजनितसर्वविच्चक्षुषि समानत्वात्।
तदेव धर्मादिसमस्तपदार्थग्राहकत्वेन चक्षुरादिजनितप्रत्य-
क्षस्य विरोधात्, न प्रत्यक्षत्वसत्संप्रयोगजत्वादेर्व्याप्यव्या-
पकभावसिद्धिरिति न प्रसङ्गविपर्ययो प्रवृत्तिरिति न
ततस्तत्प्रतिक्षेप । एतेन 'यदि षड्भि. प्रमाणै स्यात्
सर्वज्ञ.' इत्यादि वार्त्तिककृत्प्रतिपादितं प्रसङ्गसाधनाभि-
प्रायेण युक्तिजालमखिल निरस्तम्। व्याप्तिप्रतिषेधस्य पूर्वो-
क्तप्रकारेण विहितत्वात्। यच्च किं प्रमाणान्तरसबाध-
र्थस्य वक्तृत्वादित्यादि, तद् धूमादग्न्यनुमानेऽपि समानम्।
तथाहि—अत्रापि वक्तुं शक्यम्, किं साध्यधर्मिसवन्धी
धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्त इत्यादि यावत्सिद्ध. प्रतिबन्धोऽ-
सर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोरग्निधूमयोरिवेति पर्यन्तम्। तदप्ययुक्तम्।
यतोऽसर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोरिव नाग्निधूमयो कार्यकारणत्वप्र-
तिबन्धस्य, तद्ग्राहकप्रमाणस्य वा भाव । नहि वह्निसद्भावे
धूमो दृष्टस्तदभावे च न दृष्ट इत्येतावता धूमस्याग्निकार्य-
त्वमुच्यते,किन्तु।' कार्यं धूमो हुतभुज ,कार्यं धर्मानुवृत्तित."।
नचासौ दर्शनादर्शनमात्रगम्य, किन्तु विशिष्टात्प्रत्यक्षा-
नुपलम्भाख्यात्प्रमाणात्। प्रत्यक्षमेव प्रमाण प्रत्यक्षानुपल-
म्भशब्दाभिधेयम्, तदेव कार्यकारणाभिमतपदार्थविषय
प्रत्यक्षम्, तद्विविक्तान्यवस्तुविषयमनुपलम्भशब्दाभिधेयम्,
कदाचिदनुपलम्भपूर्वकं प्रत्यक्ष तद्भावसाधक, कदाचि-
त्प्रत्यक्षपुर.सरोऽनुपलम्भ.। तत्राद्येन येषा कारणाभि-
मतानां सन्निधानात् प्रागनुपलब्धं सद् धूमादि, तत्सन्नि-
धानादुपलभ्यते, तस्य तत्कार्यता व्यवस्थाप्यते। तथाहि-
एतावद्भि. प्रकारैर्धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्, यद्यग्निसन्निधाना-
त्प्रागपि तत्र देशे स्यात्, अन्यतो वाऽऽगच्छेत् तदन्यहे-
तुको वा भवेत्, तदेतत्सर्वमनुपलम्भपुरस्सरेण प्रत्यक्षेण
निरस्तम्। एतेन प्रागनुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारस
न्निधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तत्कार्यता स्यादिति निर-
स्तम्। तथाहि—तत्रापि यदि रासभस्य तत्र प्रागसत्त्वम्,
अन्यदेशादनागमनम्, अन्याकारणत्वं च निश्चेतु शक्यत,
तदा स्यादेव कुम्भकारकार्यता, केवल तदेव निश्चेतुमश-
क्यम्। एवं तावदनुपलम्भपुरस्सरस्य प्रत्यक्षस्य तत्सा-
धनत्वमुक्तम्। तथा प्रत्यक्षपुरस्सरोऽनुपलम्भोऽपि तत्सा-
धनो येषा सन्निधाने प्रवर्त्तमान तत्कार्य दृष्ट, तेषु मध्ये
यदैकस्याप्यभावो भवति तदा नोपलभ्यते तत्तस्य कारण-
मितरत्कार्यम्। नचाग्निकाष्ठादिसन्निधाने भवतो धूमस्याप-
नीते कुम्भकारादावनुपलम्भोऽस्ति अग्न्यादौ त्वपनीते भव-
त्यनुपलम्भ । एव परस्परसहितौ प्रत्यक्षानुपलम्भावभिमते-
ष्वेव कार्यकारणेषु नि सन्दिग्धं कार्यकारणभाव साधयत ।

सर्वकाल चाग्निसन्निधाने भवतो धूमस्यानग्निजन्यत्व क-
दाचित्सदसतोरजन्यत्वेनाहेतुकत्वेनादृश्यहेतुकत्वेन वा भ-
वेत्। तत्र न तावत्प्रथम पक्ष । असतो जन्यत्वात्। सदेव
च न जन्यते इति त्वदभिप्रायात्, सत एव जन्यमानत्वानु-
पपत्ते., कार्यत्वस्य च कादाचित्कत्वेन सिद्धत्वात्। नाप्यहेतु
कत्वम्। कादाचित्कत्वेनैवाहेतुत्वं तदयोगात् नाप्यदृश्यहे-
तुकत्वम धूमस्याग्न्यादिसामग्र्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्।
अथापि स्यात्, अदृश्यस्याय स्वभावो यदग्न्यादिसन्निधा-
न एव धूमं कर्पूरोर्णादिदाहकाले सुगन्ध्यादियुक्त च करोति
नान्यदेति, तत्किमग्निमन्तरेण कदाचिद् धूमोत्पत्तिर्दृष्टा, येनै
वमुच्यते। नेति चेत्, कथ नाग्निकार्यो धूम तद्भावे भावात्।
धूमोत्पत्तिकाले च सर्वदा प्रतीयमानोऽग्नि ,काकतालीयन्या
येन व्यवस्थित इत्यलौकिकम्। अथ स एवादृश्यस्वभावो यद
ग्निसन्निधान एव धूम करोति। ननु यद्यग्निना नासावुपक्रि-
यते, किमग्निसन्निधानात् न पूर्वं पश्चात् वा धूम विदधाति,
नचान्यदा करोतीति तस्य तज्जन्यस्वभावसव्यपक्षस्य धूम-
जनने तदेवं पारंपर्येणाग्निजन्यत्व धूमस्य। किंच-यथा दे
शकालादिकमन्तरेण धूमस्यानुत्पत्तेस्तदपेक्षा प्रतीयते, तथा-
ऽग्निमन्तरेणापि धूमस्यानुत्पत्तिदर्शनात्तपेक्षा केन वार्यते,
तदपेक्षा च तत्कार्यतैव । यथा चादृश्यभावे एव धूमस्य
भावाद् तज्जन्यत्वमिष्यते, तथा सर्वदाग्निभावे एव धूमस्य
भावदर्शनात्तज्जन्यता किं नेष्यते, यावता च सन्निधाने
भावो दृश्यते तावता हेतुत्व सर्वेषामित्यग्न्यादिसामग्री-
जन्यत्वाद् धूमस्य कुतोऽग्निव्यभिचार । नचाय प्रका-
रोऽसर्वज्ञत्ववक्तृत्वयो सभवति। असर्वज्ञत्वधर्मानुविधा-
नस्य वचने अदर्शनात्। तथाहि—यदि सर्वज्ञत्वादन्यत्पर्यु-
दासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमसर्वज्ञत्वमुच्यते, तदा तद्धर्मानुविधा
नादर्शनान्न तज्जन्यता वचनस्य । नहि किञ्चिज्ज्ञत्वतर-
तमभावात् वचनस्य तरतभाव उपलभ्यते । तथाहि—

१–श्लो॰ वा॰ सू॰ २ श्लो॰ ११।

किञ्चिज्ज्ञत्वं प्रकृष्टमत्यल्पविज्ञानेषु कृम्यादिषु । नच तेषु वचनप्रवृत्तेरुत्कर्ष उपलभ्यते । अथ प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावोऽसर्वज्ञत्वं तत्कार्यं तु वचनम्, तदा ज्ञानरहिते मृतशरीरे तस्योपलम्भः स्यात्, नच कदाचनापि तत्तत्रोपलभ्यते । ज्ञानातिशयवत्सु च सकलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनस्यातिशयभावो दृश्यते इति ज्ञानप्रकर्षतरतमाद्यनुविधानदर्शनात् तत्कार्यता तस्य, धूमस्येवाग्न्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धाद्यनुविधायिनो यथोक्तप्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां व्यवस्थाप्यते । अत एव कारणगतधर्मानुविधानमेव कार्यस्य तत्कार्यतावगमनिमित्तं, न पुनरन्वयव्यतिरेकानुविधामात्रम् ।

तदुक्तम्—

" कार्यं धूमो हुतभुजः, कार्ये धर्मानुवृत्तितः " । इति ।

यच्च यत्कार्यत्वेन निश्चितं तत् तदभावे न कदाचिदपि भवति, अन्यथा तद्धेतुकमेव तन्न स्यादिति सकृदपि ततो न भवेद् भवति च, यच्चात्र निश्चिताविसंवादं वचनं, तत् तदविसंवादिज्ञानविशेषादित्यात्मन्येवासकृन्निश्चितमिति नान्यतस्तस्य भावः ॥

तेन—

" यद्यस्यैव गुणदोषा-न्नियमेनानुवर्त्तते ।
तन्नान्तरीयकं तत्स्या-दतो ज्ञानाद्भव वचः " ॥ १ ॥

अथ यदि नामाविसंवादिज्ञानधर्मानुकरणतोऽविसंवादि वचनमेकं तत्प्रभवं यथोक्तप्रत्यक्षानुपलम्भतोऽवगतं, तदन्यतो न भवति, तथाप्यन्यवचनस्य तद्धर्मानुकरणतो न तत्कार्यत्वसिद्धिरिति तस्यान्यतोऽपि भावसंभवात्कुतो व्यभिचारः । न । ईदृग्भूतं वचनमीदृग्ज्ञानतः सर्वत्र भवतीति सकृत्प्रवृत्तप्रत्यक्षतोऽवगमात् । ननु सकलव्यक्त्यनुगततिर्यक्सामान्यानभ्युपगमे यावन्ति तथाभूतवचांसि तानि सर्वाणि प्रत्यक्षीकरणीयानि तथाभूतज्ञानकार्यतया । अन्यथैकस्यापि वचसस्तथाभूततयाऽप्रत्यक्षीकरणे तेनैव व्यभिचारी हेतुः स्यात् । नचैतावत्प्रत्यक्षीकरणसमर्थं प्रत्यक्षम् । तस्य सन्निहितविषयत्वात् । नचान्येषां स्वलक्षणानामनुमानात् साध्यधर्मेण व्याप्तिग्रहणम् । अनवस्थाप्रसङ्गात् । तदयुक्तम् । यतः प्रत्यक्षं तथाभूतज्ञानसन्निधान एव तथाभूतवचनभेदात् प्रतिपद्येष्वतथाभूतवचनव्यावृत्तं रूपमतथाभूतज्ञानव्यावृत्तज्ञानजन्यमित्यवधारयति यथाऽत्र, तथाऽन्यत्रापि देशकालादौ तथाभूतज्ञानजन्यमेवेत्यप्यवधारयति । अन्यथात्रापि तथाभूतज्ञानजन्यतया न प्रत्यक्षेणावधार्येत । एवं हि तथाभूताऽतथाभूतज्ञानजन्यतया तथाभूतवचनस्य प्रतीतिः स्यात् न तथाभूतज्ञानजन्यतयैव । प्रतीयते च तथाभूतज्ञानजन्यतया तथाभूतं वचनम्, तस्मादन्यत्रान्यदा च तथाभूतज्ञानादेव तथाभूतवचनमिति कुतो व्यभिचारः । यश्च तद्रूपमन्यतो व्यावृत्तमवधारयितुं शक्नोति तस्यैव तदनुमानम्, यथा बाष्पादिविलक्षणधूमावधारणेऽग्न्यनुमानम् । किंच तिर्यक्सामान्यवादिनोऽपि गोपालघटिकादौ धूमसामान्यस्याग्निमन्तरेणापि दर्शनात् व्यभिचाराशङ्कयाऽग्निनियतधूमसामान्यावधारणेनैव तदनुमानम् । अग्निनियतधूमसामान्यावधारणं चाग्निसंबद्धधूमव्यक्त्यवधारणपुरस्सरमेव । नच सर्वदेशादावग्निसंबद्धधूमव्यक्तिविशिष्टस्य धूमसामान्यस्य केनचित्प्रमाणेनावधारणं संभवति । नच महानसादावग्निनियतधूमव्यक्तिविशिष्टं धूमसामान्यं प्रतिपन्नमन्यत्रानुयायि व्यक्तेरनन्वयात् । यच्च धूमसामान्यमनुयायि, तन्नाग्न्यव्यभिचारि । तस्मात् सामान्यव्याप्तिग्रहणवादिनामपि कथं विशिष्टधूमसामान्यं सर्वत्राग्निना व्याप्तं प्रतिपन्नमिति तुल्यं चोद्यम् । अथ विशिष्टधूमस्यान्यत्राग्निजन्यत्वे न किञ्चिद्बाधकमस्ति तदेवेदमिति च प्रतीतेः तत्सामान्यं प्रतीतमिष्यते । अस्माकमपि तदेवेदं वचनमिति प्रत्ययस्योत्पत्तेस्तत्प्रतिपन्नमिति सदृशपरिणामलक्षणसामान्यवादिनो जैनस्य, भवतो वा को विशेषोऽत्र वस्तुनीति यत्किञ्चिदेतत् । तेनाग्निगमकत्वेन धूमस्य यो न्यायः सोऽत्रापि समान इति विशिष्टज्ञानगमकत्वं विशिष्टशब्दस्याभ्युपगन्तव्यम् ।

अथ ज्ञानविशेषग्रहणे प्रवृत्तं सविकल्पकं, निर्विकल्पकं वा ततो भिन्नमभिन्नं वा ज्ञानं न वचनविशेषे प्रवर्त्तते । तस्य तदानीमनुत्पन्नत्वेनासत्त्वात् । तदप्रवृत्तेन च ज्ञानविशेषस्वरूपमेव तेन गृह्यते, न तदपेक्षया तस्य कारणत्वम् । वचनविशेषग्राहकेणापि तत्स्वरूपमेव गृह्यते, न पूर्वं प्रति कार्यत्वम् कारणस्यातीतत्वेनाग्रहणात् । नाप्युभयग्राहिणा भिन्नकालत्वेन तयोरेकज्ञाने प्रतिभासनायोगात् । अत एव स्मरणमपि न तयोः कार्यकारणभावावेदकम् । अनुभवानुसारेण तस्य प्रवृत्त्युपपत्तेः अनुभवस्य चात्र वस्तुनि निषिद्धत्वात् । असदेतत् । यतः कार्यस्य न तावदसावनुत्पन्नस्यैव कार्यत्वं धर्मः । असत्त्वात् तदानीम् । नाप्युत्पन्नस्यात्यन्तभिन्नः, तत्तद्धर्मत्वादेव । तथा कारणस्यापि कारणत्वं कार्यनिष्पत्त्यनिष्पत्त्यवस्थायां न भिन्नमेव । नापि तयोः कार्यकारणभावः संबन्धोऽन्योऽस्ति, भिन्नकालत्वादेव संबन्धस्य च द्विष्ठत्वाभ्युपगमात् । ततस्तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावधर्मरूपं कारणत्वं कार्यत्वं च गृह्यते एव क्षयोपशमवशात् । यत्र तु स नास्ति तत्र कार्यदर्शनादपि न तन्निश्चीयते, यतो नाकार्यकारणयोः कार्यकारणभावः संभवति । नापि तेनाभिन्ना उत्तरकालं तयोः कार्यकारणता कर्तुं शक्या विरोधात् । नापि भिन्ना तयोः स्वरूपेणाकार्यकारणताप्रसङ्गात् । नापि स्वरूपेण कार्यकारणयोरर्थान्तरभूतकार्यकारणभावस्वरूपसंबन्धपरिकल्पनेन प्रयोजनम् । तद्व्यतिरेकेणापि स्वरूपेणैव कार्यकारणरूपत्वात् । नच भिन्नपदार्थग्राहि प्रत्यक्षद्वयं, द्वितीयाग्रहणे तदपेक्षं कार्यत्वं कारणत्वं वा ग्रहीतुमशक्तमिति वक्तुं युक्तम् । क्षयोपशमवतां धूममात्रदर्शनेऽपि वह्निजन्यतावगमस्य भावात् । अन्यथा बाष्पादिवैलक्षण्येन तस्यानवधारणात्, ततोऽनलावगमाभावेन सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । कारणाभिमतपदार्थग्रहणपरिणामापरित्यागवता, कार्यस्वरूपग्राहिणा च प्रत्यक्षेण कार्यकारणभावावगमे न कश्चिद्दोषः । न च कारणस्वभावावभासं प्रत्यक्षं न कार्यस्वरूपावभासयुक्तम्, प्रतिभासभेदेन भेदोपपत्तेरिति प्रेरणीयम् । चित्रप्रतिभासिज्ञानस्य नीलप्रतिभासापरित्यागप्रवृत्तपीतादिप्रतिभासस्यैकत्ववत्प्रकृतज्ञानस्यापि तदविरोधात् । नच चित्रज्ञानस्याप्येकत्वमसिद्धमिति वक्तुं युक्तम् । तथाऽभ्यु-

पगमे नीलप्रतिभासस्यापि प्रतिपरमाणुभिन्नप्रतिभासत्वेन भिन्नत्वात्, एकपरमाण्ववभासस्य चाऽसंवेदनात्प्रतिभासमात्रस्याप्यभावप्रसङ्गात्सर्वव्यवहाराभावः स्यात् । अतः प्रत्यक्षमेव यथोक्तप्रकारेण सर्वोपसंहारेण प्रतिबन्धग्राहकमनुमानवादिनाऽभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा प्रसिद्धानुमानस्याप्यभावः स्यात् । अथेयतो व्यापारान् प्रत्यक्षं कर्तुमसमर्थम्, तस्य सन्निहितविषयबलोत्पत्त्या तन्मात्रग्राहकत्वात् । तर्हि प्रत्यक्षेण प्रतिबन्धग्रहणाभावेऽनुमानेन तद्ग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषसङ्गावादनुमानाप्रवृत्तिप्रसङ्गतो व्यवहारोच्छेदभयादवश्यमनुमानप्रवृत्तिनिबन्धनाविनाभावनिश्चायकमपरमस्पष्टमर्वपदार्थविषयमूहाख्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा सर्वमुभयात्मकं वस्त्विति कुतोऽनुमानप्रवृत्तिर्मीमांसकस्य । ततोऽसर्वज्ञत्वरागादिमत्त्वसाधने वक्तृत्वलक्षणस्य हेतोः प्रतिबन्धस्य, तत्साधकप्रमाणस्य च प्रसिद्धावनुमान इवाभावाद्य प्रसङ्गसाधनानुमानप्रवृत्तिर्न सर्वज्ञाभावसिद्धिः । विपर्ययेण वचनविशेषस्य व्याप्तत्वदर्शनाद्विपर्ययसिद्धिरेव ततो युक्ता ।

यच्च सर्वज्ञज्ञानं किं चक्षुरादिजनितमित्यादि पक्षचतुष्टयमुत्थाप्य चक्षुरादिजन्यत्वेन चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन धर्मादिग्राहकत्वायोगस्तज्ज्ञानस्य दूषणमभ्यधायि । तदप्यसङ्गतम् धर्मादिग्राहकत्वाविरोधस्य चक्षुरादिज्ञाने प्राक् प्रतिपादितत्वात् । अभ्यासपक्षे तु यत् दूषणमभ्यधायि न सकलपदार्थविषय उपदेशः संभवति, नापि समस्तविषयोऽभ्यास इति । तदपि न सम्यक् । 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (त० अ० ५ सू० २६) इति सकलपदार्थविषयस्योपदेशस्य सामान्यतः संभवात् । नचास्याप्रामाण्यम्, अनुमानादिप्रमाणसंवादतः प्रामाण्यसिद्धेः । अनुमानादिप्रवृत्तेर्नद्वारेण चैतदर्थाभ्यासे कथं न सकलविषयाभ्याससंभवः । यदपि, न च समस्तपदार्थविषयमुपदेशज्ञानं संभवतीत्युक्तम् । तदप्यचारु । सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादित्यनुमाननिबन्धनव्याप्तिप्रसाधकप्रमाणस्य सकलपदार्थविषयस्य संभवात् । अन्यथाऽनुमानाभावस्य प्रतिपादितत्वात् । नच तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वाद् व्यर्थोऽभ्यासः । सामान्यविषयत्वेनास्पष्टरूपस्यैवास्य ज्ञानस्य भावात् । अभ्यासजस्य च सकलतद्गतविशेषविषयत्वेन स्पष्टत्वान्न तदभ्यासो विफलः । यदपि तदभ्यासप्रवर्तकं चक्षुरादिजनितं यद्यतीन्द्रियविषयमित्याद्यवादि तदपि प्रतिक्षिप्तम् । अतीन्द्रियार्थग्राहकत्वस्यान्येन्द्रियविषयग्राहकत्वस्य च प्राक् प्रतिपादनाद्व्यवहारोच्छेदाभावस्य च दर्शितत्वात् । अतीन्द्रियेऽपि च कालादौ विशेषणभूते चक्षुरादेः प्रवृत्तिप्रतिपादनाच्चेतरेतराश्रयत्वदोषस्याप्यनवकाशः पूर्वपक्षप्रतिपादितस्य । शब्दज्ञानजनितज्ञानपक्षे तु इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गापादनमप्ययुक्तम् कारणपक्षे तदसंभवात् । अन्यसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वेन ज्ञानस्य कथमितरेतराश्रयत्वम् । तदागमप्रणेतुरप्यन्यसर्वज्ञप्रणीतागमपूर्वकत्वेऽनवस्था स्यात् । सा चेष्यत एव, अनादित्वादागमसर्वज्ञपरम्परायाः । यदप्यवादि । शब्दजनितं ज्ञानमस्पष्टाभम्, तज्ज्ञानवतः कथं सकलज्ञत्वमिति । तदप्यसङ्गतम् । नहि शब्दजनितेन ज्ञानेनाभ्यासानासादितवैशद्येन सकलज्ञोऽभ्युपगम्यते, येनायं दोषः स्यात्, किन्त्वभ्यासासादितसकलविशेषसाक्षात्कारित्वलक्षणैर्मल्यवता । अत एव प्रेरणाजनितं ज्ञानमस्मदादीनामप्यतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थविषयमस्तीति सर्वज्ञत्वं स्यादिति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम् । अभ्यासजस्य स्पष्टविज्ञानस्य सकलपदार्थविषयस्यास्मदादीनामभावात्, लिङ्गजनितत्वेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियधर्मादिपदार्थसंबन्धानवगमात् । लिङ्गस्यानवगतसाध्यसंबन्धस्य च तस्य, धर्मादिसाध्यानुमापकत्वासंभवादित्यादि, यत्, तदप्यसङ्गतम् । अवगतधर्माद्यतीन्द्रियसाध्यसंबद्धस्य हेतोः प्रसिद्धत्वात् । तथाहि—स्वविषयग्रहणक्षमस्य ज्ञानस्य तद्ग्राहकत्वं विशिष्टद्रव्यसंबन्धपूर्वकम्, पीतहृत्पूरपुरुषज्ञानस्येव । सर्वमनेकान्तात्मकमिति सकलसामान्यविषयस्य च ज्ञानस्य तद्गताशेषविशेषग्राहकत्वं च सुप्रसिद्धमिति भवति पौद्गलिकातीन्द्रियधर्मादिसिद्धिरतो हेतोः । यदप्युक्तम् । अनुमानज्ञानेन सकलज्ञत्वाभ्युपगमेऽस्मदादीनामपि तत्स्यात्, भावनाबलात्तद्वैशद्ये तु कामादिविप्लुतविशदज्ञानवत इवासर्वज्ञत्वं तज्ज्ञानस्य तद्वदुपप्लुतत्वप्राप्तेरिति । तदप्यचारु । यतो भावनाबलाज्ज्ञानं वैशद्यमनुभवतीत्येतावन्मात्रेण दृष्टान्तस्योपात्तत्वात् न सकलदृष्टान्तधर्माणां साध्यधर्मिण्यासञ्जनं युक्तम् । तथाऽभ्युपगमे सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तेः । नचानुमानगृहीतस्यार्थस्य भावनाबलाद्वैशद्ये, तत्प्रतिभासिन्यभ्यासजे ज्ञानेऽनुभवतो वैपरीत्यसंभवः, येन तदवभासिनो ज्ञानस्य कामाद्युपप्लुतज्ञानस्येवोपप्लुतत्वं स्यात् । यदप्यभ्यधायि । रजोनीहाराद्यावरणापाये वृक्षादिदर्शनवद्रागाद्यावरणाभावे सर्वज्ञज्ञानं वैशद्यभाग् भविष्यति, नच रागादीनामावारकत्वं सिद्धमित्यादि । तदप्यसङ्गतम् । कुड्यादीनामप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामावारकत्वासिद्धेः । तथाहि-सत्यस्वप्नप्रतिभासस्यार्थग्रहणे, न कुड्यादीनामावारकत्वम् । निश्छिद्रापवरकमध्यस्थितेनापि आत्यतीन्द्रियार्थस्यान्तरावरणाभावे प्रमाणान्तरसंवादिन उपलम्भात् । कुड्यादीनां त्वावरणत्वे तद्दर्शनमसमाञ्जस्यं स्यात् । तथा प्रतिभासेनादृष्टार्थेऽपि कुड्यादीनां नावारकत्वम् । यच्च प्रातिभज्ञानं जाग्रदवस्थायां, शब्दलिङ्गाक्षव्यापाराभावेऽपि श्वो भ्राता मे आगन्ता इत्याद्याकारमुत्पद्यमानमुपलभ्यते तत्र कुड्यादीनां कथमावारकत्वं, कथं वा विज्ञानस्य नातीन्द्रियविशेषभूतश्वस्तनकालाद्यवभासकत्वम्, अनिन्द्रियजस्य च ज्ञानस्य बाह्यसूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारित्वं न सिद्धम् । येन सर्वज्ञज्ञानस्यानक्षजत्वे बाह्यानीन्द्रियादिसकलपदार्थसाक्षात्करणं स्पष्टत्वं च न स्यादित्यादि प्रेर्येत । अत एव सकलपदार्थग्रहणस्वभावस्य ज्ञानस्य इन्द्रियादिजन्यत्वकृत एव प्रतिनियतरूपादिग्राहकत्वनियमोऽवसीयते । प्रतिभादौ तदजन्ये तस्याभावात् सकलज्ञज्ञानं चातीन्द्रियमिति कथं 'येऽपि सातिशया दृष्टाः' इत्यादि, तथा 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः' (श्लो० वा० सू० २, श्लो ११४) इत्यादि च दूषणं नव क्रम ते । नहि शब्दज्ञानस्याशेषज्ञेयज्ञानस्वभावस्य कश्चिन्निर्गतनियतं । रूपादिकः स्वार्थः संभवति इत्यसकृदावेदितम् ।

अथ रागादीनामावारकत्वेऽपि कथमात्यन्तिकः क्षय आऽभ्यस्यमानमप्यविशदं ज्ञानं, लङ्घनोदकतापादिवत्प्रकृष्टप्रकर्षावस्थां वैशद्यं चाऽऽप्नोतीति । नैतत्प्रेर्यम् । यदि रागादी-

नामावारकत्वादिस्वरूपं न ज्ञायेत नित्यत्वमाकस्मिकत्वं वा तेषां स्यात्, तद्धेतूनां वा स्वरूपापरिज्ञानं नित्यत्वं वा संभाव्येत, तद्विपक्षस्य वा स्वरूपतोऽज्ञानम् अनभ्यासश्च स्यात्। तदेतन्न स्यादपि, यतो रागादीनां ज्ञानावरणहेतुत्वेनावरणस्वरूपत्वं सिद्धम् नच तेषां नित्यत्वम्। तत्सद्भावे सर्वज्ञज्ञानस्य प्रतिपादयिष्यमाणप्रमाणनिश्चितस्याभावप्रसङ्गात्। नाप्याकस्मिकत्वम्, अत एव। न चैषामुत्पादको हेतुर्नाधिगत । मिथ्याज्ञानस्य तज्जनकत्वेन सिद्धत्वात्। नच तस्यापि नित्यत्वम्। अन्यथाऽविकलकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य भावे प्रबन्धप्रवृत्तरागादिदोषसद्भावात् तदावृतत्वेन सर्वविद्विज्ञानस्य भाव स्यादिति एव स दोष । आकस्मिकत्वेऽपि मिथ्याज्ञानस्य हेतुव्यतिरेकेणापि प्रवृत्तेस्तत्कार्यभूतरागादीनामपि प्रवृत्तिरिति पुनरपि सर्वज्ञज्ञानाभावोऽहेतुकस्य च मिथ्याज्ञानस्य देशकालपुरुषप्रतिनियमाऽभावोऽपि स्यादिति न चेतनाचेतनविभाग. । नच तत्प्रतिपक्षभूतस्योपायस्यापरिज्ञानम्। मिथ्यात्वविपक्षत्वेन सम्यग्ज्ञानस्य निश्चितत्वात्। तदुत्कर्षे मिथ्याज्ञानस्यात्यन्तिक क्षय. । तथाहि—यदुत्कर्षतारतम्याद् यस्यापचयतारतम्यं तस्य विपक्षप्रकर्षावस्थागमने भवत्यात्यन्तिक क्षय , यथोष्णस्पर्शस्य तथाभूतस्य प्रकर्षगमने शीतस्पर्शस्य तथाविधस्यैव सम्यग्ज्ञानोपचयतारतम्यानुविधायी च मिथ्याज्ञानापचयतरतमादिभाव इति तदुत्कर्षेऽस्यात्यन्तिकक्षयसद्भावात् तत्कार्यभूतरागाद्यनुत्पत्तेरावरणाभाव. सिद्ध. । रागादिविपक्षभूतवैराग्याभ्यासाद्वा रागादीना निर्मूलत. क्षय इति कथं नावरणाभाव. ।

नच लङ्घनोदकतापादिवदभ्यस्यमानस्यापि सम्यग्ज्ञानवैराग्यादेर्न परप्रकर्षप्राप्तिरिति कुतस्तद्विपक्षे मिथ्याज्ञानाभावाद्रागादेरात्यन्तिकोऽनुत्पत्तिलक्षण. क्षयलक्षणो वाऽभाव इति वक्तुं युक्तम्। यतो लङ्घन हि पूर्वप्रयत्नसाध्यं यदि व्यवस्थितमेव स्यात् तदोत्तरप्रयत्नस्यापरापरलङ्घनातिशयोत्पत्तौ व्यापारात् भवेल्लङ्घनस्याप्यनपेक्षितपूर्वातिशयसद्भावप्रयत्नान्तरस्य प्रकर्षावाप्ति । न चैवम्। अपरापरलङ्घनातिशयप्रयत्नस्य पूर्वपूर्वातिशयोत्पादने पर्वापक्षीणशक्तित्वात् । [illegible]तत्स्यात्, यदि तत्रापि पूर्वप्रयत्नोत्पादितोऽतिशयो न व्यवस्थित स्यात्, [illegible] प्रथममेव यावल्लङ्घयितव्य तावन्न लङ्घयति [illegible] पूर्वप्रयत्नाहितातिशयसद्भावेऽपि न [illegible] यथा तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता तथा ज्ञानस्यापि भविष्यति । न । यत श्लेष्मादिना जाड्यं शरीरस्य जाड्याद् यावल्लङ्घयितव्यं न तावल्लङ्घयति [illegible] कायो लङ्घते । अभ्यासात्तु [illegible] यावल्लङ्घयितव्य तावल्लङ्घयतीत्यभ्यासस्य सप्रयोजन । ज्ञानस्य तु योऽभ्याससमासादितोऽतिशय. सोऽतिशयान्तरोत्पत्तौ पुन प्राक्तनाभ्यासापेक्षो न भवति [illegible] अपरापरातिशयोत्पादने व्यापारात् न व्यवस्थितोत्कर्षतेति भवति ज्ञानस्य परप्रकर्षप्राप्ति । उदकतापे तु अतिशयेन क्रियमाणे [illegible] [illegible] । [illegible]ऽपि न-[illegible] ।

नच विज्ञानमपि प्राक्तनाभ्यासादासादितातिशयं पूर्वमेव विनष्टम् ,अपराभ्यासादन्यदतिशयवदुत्पन्नमिति कथं पूर्वाभ्याससमासादितोऽतिशयो नाभ्यासान्तरापेक्ष', येन व्यवस्थितोत्कर्षता तस्यापि न स्यादिति वक्तुं युक्तम्। तत्र पूर्वाभ्यासजनितसंस्कारस्योत्तरत्रानुवृत्ते । अन्यथा शास्त्रपरावर्त्तनादिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नापि यदुपचयतारतम्यानुविधायी यदपचयतरतमभावस्तस्य तद्विपक्षप्रकर्षगमनादात्यन्तिक क्षय इत्यत्र प्रयोगे श्लेष्मणा व्यभिचार उद्भावयितुं शक्य. किल । निम्बाद्यौषधोपचारयोगात्प्रकर्षतारतम्यानुभववतस्तरतमभावापचीयमानस्यापि श्लेष्मणो नात्यन्तिकक्षय इति । यतस्तत्र निम्बाद्यौषधोपयोगस्यैव नोत्कर्षनिष्ठा आपादयितुं शक्या । तदुपयोगेऽपि श्लेष्मपुष्टिकारणानामपि तदैवासेवनात् । अन्यथौषधोपयोगाधारस्यैव विनाश स्यात् । चिकित्साशास्त्रस्य च धातुदोषसाम्यापादनाभिप्रायेणैव प्रवृत्त , तत्प्रतिपादितौषधोपयोगस्योद्रिक्तधातुदोषसाम्यविधान एव व्यापारो न पुनस्तस्य निर्मूलने । अन्यथा दोषान्तरस्यात्यन्तक्षये मरणावाप्तेरिति न श्लेष्मणा तथाभूतेनानैकान्तिको हेतु । नच सम्यग्ज्ञानसात्मीभावेऽपि पुनर्मिथ्याज्ञानस्यापि सभवो भविष्यति तदुत्कर्ष इव सम्यग्ज्ञानस्येति वक्तुं युक्तम्। यतो मिथ्याज्ञाने, रागादौ वा दोषदर्शनात्, तद्विपक्षे च सम्यग्ज्ञानवैराग्यलक्षणे गुणदर्शनात्तत्र पुनरभ्यासप्रवृत्तिसंभवात् प्रकृष्टेऽपि मिथ्याज्ञानरागाद्यावुपप्लवेन एव सम्यग्ज्ञानवैराग्ये। नैव तयो प्रकर्षावस्थाया दोषदर्शनं, तत्र तद्विपर्यये वा गुणदर्शन, येन पुनस्तत् सात्मीभावेऽपि मिथ्याज्ञानरागाद्युत्पत्ति' सभाव्येत। नचाक्षजस्य ज्ञानस्य सर्ववित्सम्बन्धिन कथं प्रत्यक्षशब्दवाच्यतेति वक्तुं युक्तम्। यतोऽक्षजत्वं प्रत्यक्षस्य शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तमेव;न पुन. शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्। तन्निमित्त हि तदेकार्थाश्रितमर्थसाक्षात्कारित्वम्। अन्यद्धि शब्दस्य व्युत्पत्तौ निमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तौ। यथा गोशब्दस्य गमन व्युत्पत्तौ, गोपिण्डाश्रितगोत्व प्रवृत्तौ निमित्तम्। अन्यथा यदि यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावपि; तदा गच्छन्त्यामेव गवि गोशब्दप्रवृत्ति. स्यात्, न स्थितायाम्। महिष्यादौ च गमनपरिणामवति गोशब्द प्रवर्त्तेत। तथाऽत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात्प्रत्यक्षव्यपदेश सभवत्येव। यद्वा—यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावप्यस्तु. तथापि तच्छब्दवाच्यतायास्तत्र नाभाव । तथाहि—अश्नुते सर्वपदार्थान् ज्ञानात्मना व्याप्नोतीति व्युत्पत्तिशब्दसमाश्रयणादक्ष आत्मा, तमाश्रितमुत्पाद्यत्वेन न प्रति गतमिति प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्ते, अभ्युपगमवादेन चाभ्यासवशात्प्राप्तप्रकर्षेण ज्ञानेन सर्वज्ञ इति प्रतिपादितम् । नत्वस्माकमयमभ्युपगम . किन्तु ज्ञानाद्यावारकघातिकर्मक्षयोपशमक्षयोद्भूताशेषविषयव्याप्यनिन्द्रियशब्दालक्ष्यसाक्षात्कारिज्ञानवत सर्वज्ञत्वमभ्युपगम्यते। यच्चोक्तम्—यद्यतीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानेन सर्वज्ञस्तदा क्रमेणातीतानागतपदार्थवेदने पदार्थानामानन्त्यात् न ज्ञानपरिसमाप्तिरिति । तदयुक्तम् । तथाऽनभ्युपगमात् । नास्माभि क्रमेणानुभूतेऽप्यत्यन्ताभ्यासात् क्रमेण संवेदनमनुभूयते . तद्वदत्रापि स्या-

त् । यदप्यभ्यधायि । अथ युगपत्सर्वपदार्थवेदकं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा परस्परविरुद्धाना शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रतिभासासंभवात्, संभवेऽपीत्यादि । तदप्ययुक्तम् । यतः परस्परविरुद्धाना किमेकदाऽसभव', किंवा सभवेऽप्येकज्ञानेऽप्रतिभासनं भवता प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् । तत्र यद्याद्य पक्ष स न युक्त. । जलाऽनलादीनां छायाऽऽतपादीनां चैकदा विरुद्धानामपि सभवात् । अथैकत्र विरुद्धानामसंभव , तदाऽसंभवादेव नैकत्र ज्ञाने तेषा प्रतिभासो , न पुनर्विरुद्धत्वात् । विरुद्धानामपि तेषामेकज्ञाने प्रतिभाससवेदनात् । एतेन विरुद्धार्थग्राहकस्य च तज्ज्ञानस्य न प्रतिनियतार्थग्राहकत्वं स्यादित्याद्यपि निरस्तम् । छायाऽऽतपादिविरुद्धार्थग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थग्राहकत्वसंवेदनात् । यच्चोक्तम्— यदि युगपत्सर्वपदार्थग्राहक तज्ज्ञानं तदैकक्षण एव सर्वपदार्थवेदनात् द्वितीयादिक्षणे किञ्चिज्ज्ञ एव स स्यादित्यादि । तदप्यत्यन्तासबद्धम् । यतो यदि द्वितीयक्षणे पदार्थानां तज्ज्ञानस्य चाभाव स्यात्, तदा स्यादप्येतत्, नचैतत्संभवति तथाऽभ्युपगमे द्वितीयक्षणे सर्वपदार्थाभावात्सकलसंसारोच्छेद स्यात् । यदप्यभ्यधायि । अनाद्यनन्तपदार्थसंवेदने तत्संवेदनस्यापरिसमाप्तिरित्यादि । तदप्ययुक्तम् अत्यन्ताभ्यस्तशास्त्रार्थज्ञानस्येव युगपदनाद्यनन्तार्थग्राहिणस्तज्ज्ञानस्यापि परिसमाप्तिसभवात् । अन्यथा भूतभाविष्यत्सूक्ष्मादिपदार्थग्राहिण प्रेरणाजनितज्ञानस्यापि कथं परिसमाप्ति । तत्राप्यपरिसमाप्त्यभ्युपगमे, 'चोदना भूतं भवन्त भविष्यन्तम्' इत्यादिवचनस्य नैरर्थक्य स्यादिति । यदपि, परस्थरागादिसंवेदने सराग स्यादित्यादि । तदप्यसङ्गतम् । नहि परस्थरागादिसवेदनाद्रागादिमान् भवति । अन्यथा श्रोत्रियद्विजस्यापि स्वप्नज्ञानेन मद्यपानादिसंवेदनान्मद्यपानदोष. स्यात् । अथाप्यरसनेन्द्रियज तज्ज्ञानमिति नायं दोष , तर्हि सर्वज्ञज्ञानमपि नेन्द्रियजमिति कथमशुचिरसास्वाददोषस्तत्रासज्येत । नच रागादिसंवेदनाद्रागीति लोके व्यवहार , किन्त्वङ्गनाकामनाद्यभिलाषस्वसंविदितस्याशिष्टव्यवहारकारिण स्वात्मस्वभावस्योत्पत्ते' । नचासौ सर्वत्रेति कथं स रागादिमान् । यदपि, अथ शक्तियुक्तत्वेन सर्वपदार्थवेदनमित्यादि । तदप्यचारु । यथोपलब्धिलक्षणप्राप्ते सन्निहितदेशादावनुपलब्धेरपरमत्र नास्तीति इदानींतनानामियत्ता निश्चय , तथा सर्वज्ञस्यापि स्वशक्तिपरिच्छेदात् । अन्यथा घटादीनामपि क्वचित् प्रदेशेऽभावनिश्चयेऽपरप्रकारासभवात्सकलव्यवहारविलोप. स्यात् अथ यावदुपयोगिप्रधानपदार्थजातमित्याद्यप्ययुक्तम् । सकलपदार्थज्ञत्वप्रतिपादनात् । अत एव-

" ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञ. स्या-दसति प्रतिबन्धरि ।
सत्येव दाह्ये नह्यग्नि , क्वचित् दृष्टो न दाहक. ॥१॥" इति ।

अत्र यदुक्तम् , किं सर्वज्ञत्वात् , अथ किञ्चिज्ज्ञत्वादिति, नोभयथापि हेतु' । यदि तावत् सर्वज्ञत्वादिति हेत्वर्थ परिकल्प्यते, तदा प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुरसिद्ध एव । कथं हि तदेव साध्य तदेव हेतु । अथ किञ्चिज्ज्ञत्वादिति हेतु , तदा विरुद्धता स्यात् । कथ हि किञ्चिज्ज्ञत्व सर्वज्ञत्वेन विरुद्धं सर्वज्ञत्व साधयेत् । अथ ज्ञत्वमात्रं हेतु , तदाऽनैकान्तिक. । ज्ञत्वमात्रस्य किञ्चिज्ज्ञत्वेनाप्यविरोधादिति । तदपि निरस्तम् । सामान्येन सर्वज्ञत्वादित्यस्य हेतुत्वात्, विशेषेण तज्ज्ञत्वस्य साध्यत्वात्, सामान्यविशेषयोश्च भेदस्य कथञ्चित्प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । सामान्येन सर्वज्ञत्वस्य चानुमानव्यवहारिणं प्रति साधितत्वात् एतेन सूक्ष्मान्तरितदूरार्थां कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वादित्यत्र प्रयोगे प्रमेयत्वहेतार्यद् दूषणमुपन्यस्तं पूर्वपक्षवादिना तदपि निरस्तम् । सर्वसूक्ष्मान्तरितपदार्थानां व्याप्तिप्रसाधकेनानुमानप्रमाणेन वा एकेन सामान्यत प्रमेयत्वस्य प्रसाधितत्वात् । यच्च प्रधानपदार्थपरिज्ञान न सकलपदार्थज्ञानमन्तरेण सभवतीति तत् सर्वज्ञवचनामृतलवास्वादसभवो भवतोऽपि कथञ्चित्संपन्न इति लक्ष्यते । तथाहि तद्वच.-"जो एग जाणइ" (आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० १२२ सू०) इत्यादि । तन्मतानुसारिभि. पूर्वाचार्यैरप्ययमर्थो न्यगादि –

"एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्ट ,सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा, एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्ट "॥१॥

अस्यायमर्थ –नह्यसर्वविदा कश्चिदेकोऽपि पदार्थस्तत्त्वतो द्रष्टु शक्य' । एकस्यापि पदार्थस्यानुगतव्यावृत्तधर्मद्वारेण साक्षात्पारपर्येण वा सर्वपदार्थसंबन्धिस्वभावत्वात् । तत्स्वभावावेदने च तस्यावेदनमेव परमार्थतः ततस्तज्ज्ञान स्वप्रतिभासमेव वेत्तीति नार्थो विदित स्यात्, केवलं तत्राभिमानमात्रमेव लोकस्य । अथ सबन्धिस्वभावता पदार्थस्य स्वरूपमेव न भवति , यत्केवलं प्रत्यक्षप्रतीत सन्निहितमात्र स एव वस्तुस्वभाव । सबन्धिता तु तत्र परिकल्पितैव पदार्थान्तरदर्शनसभवतया । तथा चोक्तम्—

" निष्पत्तेरपराधीन—मपि कार्यं स्वहेतुना ।
संबध्यते कल्पनया, किमकार्यं कथञ्चन ? " ॥ १ ॥ इति ।

तदेतदयुक्तम् । एव हि परिकल्प्यमाने स्वरूपमात्रसंवेदनादद्वैतमेव प्राप्तम् तत. सर्वपदार्थाभावे व्यवहाराभाव । अथ व्यवहारोच्छेदभयात् पदार्थसद्भावोऽभ्युपगम्यते, तर्हि सर्वपदार्थसबन्धिताऽपि साक्षात् पारपर्येण च पदार्थस्वभावोऽभ्युपगन्तव्य. । अन्यथा साक्षात्पारंपर्येण वाऽन्यपदार्थजन्यजनकतालक्षणसंबन्धिताऽभ्युपगमे, तद्व्यावृत्त्यनुगतिसबन्धिताऽनभ्युपगमे च पदार्थस्वरूपस्याप्यभाव: तत्पदार्थपरिज्ञाने च तद्विशेषणभूता तत्सबन्धिताऽपि ज्ञातैव । अन्यथा तस्य तत्परिज्ञानमेव न स्यात्, तत्परिज्ञाने च सकलपदार्थपरिज्ञानमस्मदादीनामनुमानत., सर्वज्ञस्य च साक्षात् तज्ज्ञानेन सकलपदार्थज्ञानम् । लोकस्तु प्रत्यक्षेण कथञ्चित् कस्यचित् प्रतिपत्ता । तथाहि—धूमस्याग्निजन्यतया प्रतिपत्तौ बाष्पादिव्यावृत्तधूमस्वरूपप्रतिपत्ति , अन्यथा व्यवहाराभाव । तथा नीलादिप्रतिभासस्य बाह्यार्थसबन्धितयाऽप्रतिपत्तौ बाह्यार्थाप्रतिपत्तौ बाह्यार्थाप्रतिपत्तिरेव स्यात् । तस्मात् सबन्धितयैव पदार्थस्वरूपप्रतिपत्ति । तच्च सबन्धित्व प्रमेयमनुमानेन प्रतीयतेऽभ्यासस्तत्र सदृशायामस्मदादिभि , यत्र क्षयोपशमलक्षणोऽभ्यासस्तत्र तस्य प्रत्यक्षतोऽपि प्रतिपत्तिरिति कथ न प्रधानभूतपदार्थवेदने सकलपदार्थवेदनम् । एकवेदनेऽपि सकलवेदनस्य प्रतिपादितत्वात् । विकल्पाभावेऽपि मन्त्राविष्टकुमारिकादिवचनवन्नित्यसमाहितस्यापि वचनसंभवाद्, विकल्पाभावे कथ वचनमित्यादि निरस्तम् । दृश्यते चात्यन्ताभ्यस्ते

विषये व्यवहारिणां विकल्पनमन्तरेणापि वचनप्रवृत्तिरिति कथं ततः सर्वज्ञस्य छाद्मस्थिकज्ञानासज्ञन युक्तम्। यदप्युक्तम्-अतीतादेरसत्त्वात् कथं तज्ज्ञानेन ग्रहणम्, ग्रहणे वाऽसदर्थग्राहित्वात् तज्ज्ञानवान् भ्रान्तः स्यादित्यादि। तदप्ययुक्तम्। यत. किमतीतादेरतीतादिकालसंबन्धित्वेनासत्त्वम्, उत तज्ज्ञानकालसंबन्धित्वेन। यद्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनेति पक्षः। स न युक्तः। वर्त्तमानकालसंबन्धित्वेन वर्त्तमानस्येव तत्कालसंबन्धित्वेनातीतादेरपि सत्त्वसंभवात्। अथातीतादेः कालस्याभावात् तत्संबन्धिनोऽप्यभाव', तदसत्त्वं च प्रतिपादितं पूर्वपक्षवादिनाऽनवस्थेतरेतराश्रयादिदोषप्रतिपादनेन। सत्यं प्रतिपादितं नच सम्यक्। तथाहि-नास्माभिरपरातीतादिकालसंबन्धित्वादस्यातीतादित्वमभ्युपगम्यते, येनानवस्था स्यात्, नापि पदार्थानामतीतादित्वेन कालस्यातीतादित्वम्, येनेतरेतराश्रयदोषः, किं तु-स्वरूपत एवातीतादिसमयस्यातीतादित्वम्। तथाहि-अनूभूतवर्त्तमानत्वसमयोऽतीत इत्युच्यते, अनुभविष्यद्वर्त्तमानत्वश्चानागत., तत्संबन्धित्वात् पदार्थस्याप्यतीतानागतत्वे अविरुद्धे। अथ यथाऽतीतादे. समयस्य स्वरूपेणैवातीतादित्वं तथा पदार्थानामपि तद्भविष्यतीति व्यर्थस्तदभ्युपगमः। एतच्चाऽत्यन्तासङ्गतम्। नह्येकपदार्थधर्मस्तदन्यत्राप्यासञ्जयितुं युक्तः। अन्यथा निम्बादेस्तिक्तता गुडादावप्यासञ्जनीया स्यात्, नच साऽत्रैव प्रत्यक्षसिद्धेत्यन्यत्रासञ्जने तद्विरोध इत्युत्तरम्। प्रकृतेऽप्यस्योत्तरस्य समानत्वात्। भवतु पदार्थधर्म एवातीतादित्वं, तथापि नास्माकमभ्युपगमक्षति.। विशिष्टपदार्थपरिणामस्यैवातीतादिकालत्वेनेष्टे., ' परिणामवर्त्तनादि (वर्तना विधि)परापरत्व"(प्रश्न म२० प्र० श्लो०२१८) इत्याद्यागमात्। तथाहि-स्मरणविषयत्वं पदार्थस्यातीतत्वमुच्यते। अनुभवविषयत्वं वर्त्तमानत्वं, स्थिरावस्थादर्शनलिङ्गवलोत्पद्यमानकालान्तरस्थाय्ययं पदार्थ इत्यनुमानविषयत्व धर्मोऽनागतकालत्वमिति। तेन यदुच्यते-यदि स्वत एव कालस्यातीतादित्वं, पदार्थस्यापि तत् स्वत एव स्यादिति परेण तत्सिद्धं साधितम्। तद्वदतीतादिकालस्य सत्त्वात्र तत्कालसंबन्धित्वेनातीतादे. पदार्थस्याऽसत्त्वम्। वर्त्तमानकालसबन्धित्वेन त्वतीतादेरसत्त्वप्रतिपादनेऽभिमतमेव प्रतिपादितं भवति। नह्यतीतकालसंबन्धित्वसत्त्वमेवैतज्ज्ञानकालसंबन्धित्वमस्माभिरभ्युपगम्यते। नचैतत्कालसंबन्धित्वेनासत्त्वं स्वकालसंबन्धित्वेनाप्यतीतादेरसत्त्व भवति। अन्यथैतत्कालसंबन्धित्वस्याप्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनासत्त्वात् सर्वाभाव. स्यादिति सकलव्यवहारोच्छेद.। अथापि स्यात्, भवत्वतीतादे. सत्त्वं, तथापि सर्वज्ञज्ञाने न तस्य प्रतिभास., तज्ज्ञानकाले तस्यासन्निहितत्वात्। सन्निधाने वा तज्ज्ञानावभासिन इव वर्त्तमानकालसंबन्धिनोऽतीनादेरपि वर्त्तमानकालसंबन्धित्वप्राप्ते। नहि वर्त्तमानस्यापि सन्निहितत्वेन तत्कालज्ञानप्रतिभासित्वं मुक्त्वाऽन्यद्वर्त्तमानकालसंबन्धित्वम्। एवमतीतादेस्तज्ज्ञानावभासित्वे वर्त्तमानत्वमेवेति वर्त्तमानमात्रपदार्थज्ञानवानस्मदादिवन्न सर्वज्ञ. स्यात्। किंच-अतीतादेस्तज्ज्ञानकालेऽसन्निहितत्वेन तज्ज्ञानेऽप्रतिभास.। प्रतिभासे वा स्वज्ञानसंबन्धित्वेन तस्य ग्रहणात् तज्ज्ञानस्य विपरीतख्यातिरूपताप्रसक्ति। एतदसंबद्धम्। यतो यथाऽस्मदादीनामसन्निहितकालोऽप्यर्थः सत्यस्वप्नज्ञाने प्रतिभाति। नचासन्निहितस्य तस्यातीतादिकालसंबन्धिनो वर्त्तमानकालसंबन्धित्वं, नापि स्वकालसंबन्धित्वेन सत्यस्वप्नज्ञाने तस्य प्रतिभासनात् तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वम्। यत्र ह्यन्यदेशकालोऽर्थोऽन्यदेशकालसंबन्धित्वेन प्रतिभाति सा विपरीतख्यातिः। अत्र त्वतीतादिकालसंबन्ध्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनैव प्रतिभातीति न तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य तत्कालसंबन्धित्वेन वर्त्तमानत्वं, नापि तद्ग्राहिणो विज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वम्। तथा सर्वज्ञज्ञानेऽपि यदाऽतीतादिकालोऽर्थोऽतीतादिकालसंबन्धित्वेन प्रतिभाति, तदा कथं तस्यार्थस्य वर्त्तमानकालसंबन्धित्वम्, कथं वा तज्ज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वमिति। यथा वा विशिष्टमन्त्रसंस्कृतचक्षुषामङ्गुष्ठादिनिरीक्षणेनान्यदेशा अपि चौरादयो गृह्यमाणा न तद्देशा भवन्ति, नापि तज्ज्ञानं तद्देशादिसंबन्धित्वमनुभवति, तथा सर्वविद्विज्ञानमप्यसन्निहितकालं यथार्थमवभासयति, स्वात्मना तत्कालसंबन्धित्वमननुभवदपि, तदा को विरोधः, कथं वा तस्यातीतादेरर्थस्य तज्ज्ञानकालत्वमिति। नच सत्यस्वप्नज्ञानेऽप्यतीताद्यर्थप्रतिभासे समानमेव दूषणमिति न तद्दृष्टान्तद्वारेण सर्वज्ञज्ञानमतीताद्यर्थग्राहक व्यवस्थापयितु युक्तमिति वक्तुं युक्तम्। अविसंवादवतोऽपि ज्ञानस्य विसंवादविषये विप्रतिपत्त्यभ्युपगमे, स्वसंवेदनमात्रेऽपि विप्रतिपत्तिसद्भावादतिसूक्ष्मेक्षिकया तस्यापि तत्स्वरूपत्वासंभवात्सर्वशून्यताप्रसङ्गात्; तन्निषेधस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वादतो न युक्तमुक्तम्, अथ प्रतिपाद्यापेक्षयेत्यादि न भ्रान्तज्ञानवान् सर्वज्ञः कल्पयितुं युक्त इति पर्यन्तम्। यदप्युक्तम्-भवतु वा सर्वज्ञस्तथाप्यसौ तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं न शक्यते इत्यादि। तदप्यसंगतम्। यतो यथा शकलशास्त्रार्थापरिज्ञानेऽपि व्यवहारिणा सकलशास्त्रज्ञ इति कश्चित्पुरुषो निश्चीयते; तथा सकलपदार्थापरिज्ञानेऽपि यदि केनचित् कश्चित् सर्वज्ञत्वेन निश्चीयते, तदा को विरोध'। युक्तं चैतत्। अन्यथा युष्माभिरपि सकलवेदार्थापरिज्ञाने कथं जैमिनिरन्यो वा वेदार्थज्ञत्वेन निश्चीयते। तदनिश्चये च कथ तद्व्याख्यातार्थानुसरणादग्निहोत्रादाद्यनुष्ठाने प्रवृत्तिरिति यत्किञ्चिदेतत् 'सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत्' इत्यादि। तदेव सर्वज्ञसद्भावग्राहकस्य प्रमाणस्य ज्ञत्वप्रमेयत्ववचनविशेषत्वादेर्दर्शितत्वात् तदभावप्रसाधकस्य च निरस्तत्वात्, ये बाधकप्रमाणगोचरतामापन्नास्तेऽसदिति व्यवहर्त्तव्या इति प्रयोगहेतोरसिद्धत्वात्, ये तु निश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वे सति सदुपलम्भकप्रमाणगोचरास्ते सदिति व्यवहर्त्तव्या, यथोभयवाद्यप्रतिपत्तिविषया घटादय., तथाभूतश्च सर्ववित् इति भवत्यतः प्रमाणात्सर्वज्ञव्यवहारप्रवृत्तिरिति। अथापि स्यात् स्वविषयाविसंवादिवचनविशेषस्य तद्विषयाविसंवादिज्ञानपूर्वकत्वमात्रमेव भवता प्रसाधितम्। नचैतावतानन्तार्थसाक्षात्कारिज्ञानवान् सर्वज्ञ सिद्धिमासादयति। सकलसूक्ष्मादिपदार्थसार्थसाक्षात्कारिज्ञानविशेषपूर्वकत्वे हि वचनविशेषस्य सिद्धे तज्ज्ञानवत. सर्वज्ञत्वसिद्धि स्यात्। नच

तथाभूतज्ञानपूर्वकत्व वचनविशेषस्य सिद्धम् । अनुमानादिज्ञानादपि स्वविषयाविसंवादिवचनविशेषस्य संभवात् । नच तथाभूतज्ञानवान् सर्वज्ञो भवद्भिरभ्युपगम्यत इत्येतद् हृदि कृत्वाऽऽह सूरिः—" कुसमयविसासणं " इति । सम्यक् प्रमाणान्तराविसंवादित्वेनेयन्ते-परिच्छिद्यन्ते इति समया , नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधशक्त्यादय पदार्था.,तेषा विविधमन्यपदार्थकारणत्वेन कार्यत्वेन चानेकप्रकार शासन प्रतिपादकम् , यत शासन कु -पृथ्वी तस्या इव ।

अयमभिप्राय —ज्ञत्वप्रमेयत्वादेरनेकप्रकारस्य प्रतिपादितन्यायेन सर्वज्ञसत्त्वप्रतिपादकस्य हेतो. सद्भावेऽपि तत्कृतत्वेन शासनप्रामाण्यप्रतिपादनार्थं सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते , तस्य चान्यतो हेतो प्रतिपादनेऽपि तदागमप्रणेतृत्व हेत्वन्तरात्पुन. प्रतिपादनीय स्यादिति हेत्वन्तरमुत्सृज्य प्रतिपादनगौरवपरिहारार्थं वचनविशेषलक्षण एव हेतुस्तत्सद्भावावेदक उपन्यसनीय । स चानेन गाथासूत्रावयवेन सूचित । अत एव सस्कृत्य हेतु कर्त्तव्य । तथाहि—यो यद्विषयाविसंवाद्यलिङ्गानुपदेशान्वयव्यतिरेकपूर्वको वचनविशेष , स तत्साक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभव । यथाऽस्मदादिप्रवर्त्तित पृथ्वीकाठिन्यादिविषयस्तथाभूतो वचनविशेष । नष्टमुष्टिविशेषादिविषयाविसंवाद्यलिङ्गानुपदेशान्वयव्यतिरेकपूर्वकवचनविशेषश्चाय शासनलक्षणोऽर्थ इति ।

न चात्राविसंवादित्वं वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोर्विशेषणमसिद्धम् । नष्टमुष्ट्यादीनां वचनविशेषप्रतिपादितानां प्रमाणान्तरतस्तथैवोपलब्धेरविसंवादसिद्धे । योऽपि क्वचिद्वचनविशेषस्य तत्र विसंवादो भवता परिकल्प्यते, सोऽपि तदर्थस्य सम्यगपरिज्ञानात् सामग्रीवैकल्याच्च पुनर्वचनविशेषस्यासत्यार्थत्वात् । नच सामग्रीवैकल्यादेकत्रासत्यार्थत्वे सर्वत्र तथात्वं परिकल्पयितु युक्तम् । अन्यथा प्रत्यक्षस्यापि द्विचन्द्रादिविषयस्य सामग्रीवैकल्येनोपजायमानस्यासत्यत्वसंभवात् समग्रसामग्रीप्रभवस्याप्यसत्यत्वं स्यात् । अथाविकलसामग्रीप्रभव प्रत्यक्ष विकलसामग्रीप्रभवात्तस्माद्विलक्षणमिति नायं दोष । तदत्रापि समानम् । तथाहि—सम्यगज्ञाततदर्थाद्वचनाद् यन्नष्टमुष्ट्यादिविषय विसंवादिज्ञानमुत्पद्यते तत्सम्यगवगततदर्थवचनोद्भवाद्विलक्षणमेव । यथा च विशिष्टसामग्रीप्रभवस्य प्रत्यक्षस्य न क्वचिद् व्यभिचार इति तस्याविसंवादित्वम् तथाऽवगतसम्यगर्थवचनोद्भवस्यापि नष्टमुष्ट्यादिविषयविज्ञानस्येति सिद्धमत्राविसंवादित्वलक्षण विशेषणं प्रकृतहेतो. ।

नाप्यलिङ्गपूर्वकत्वं विशेषणमसिद्धम् । नष्टमुष्ट्यादीनामस्मदादीन्द्रियाविषयत्वेन तल्लिङ्गत्वेनाभिमतस्याप्यर्थस्यासदाद्यक्षाविषयत्वाच्च तत्प्रतिपत्ति । प्रतिपत्तौ वाऽस्मदादीनामपि तल्लिङ्गदर्शनाद्वचनविशेषमन्तरेणापि ग्रहोपरागादिप्रतिपत्ति. स्यात् । नहि साध्यव्याप्तलिङ्गनिश्चयेऽग्न्यादिप्रतिपत्तौ वचनविशेषापेक्षा दृष्टा, न भवति चास्मदादीना वचनविशेषमन्तरेण कदाचनापि प्रतिनियतदिक्प्रमाणफलाद्यविनाभूतग्रहोपरागादिप्रतिपत्तिरिति तथाभूतवचनप्रणेतुरतीन्द्रियार्थविषयं ज्ञानमलिङ्गमभ्युपगन्तव्यमित्यलिङ्गपूर्वकत्वमपि विशेषण प्रकृतहेतोर्नासिद्धम् ।

नाप्ययमुपदेशपरम्परयाऽतीन्द्रियार्थदर्शनाभावेऽपि प्रमाणभूत. प्रबन्धेनानुवर्तत इत्यनुपदेशपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिरिति वक्तु युक्तम् । उपदेशपरम्पराप्रभवत्व नष्टमुष्ट्यादिप्रतिपादकवचनविशेषस्य वक्तुरज्ञानदुष्टाभिप्रायवचनाकौशलदोषे श्रोतुर्वा मन्दबुद्धित्वविपर्यस्तबुद्धित्वगृहीतविस्मरणै प्रतिपुरुष हीयमानस्यानादौ काले मूलतश्चिरोच्छेद एव स्यात् । तथाहि—इदानीमपि केचित् ज्योति शास्त्रादिकमज्ञानदोषादन्यथोपदिशन्त उपलभ्यन्ते, अन्ये सम्यगवगच्छन्तोऽपि दुष्टाभिप्रायतया, अन्ये वचनदोषादव्यक्तमन्यथा चेति । तथा श्रोतारोऽपि केचिन्मन्दबुद्धित्वदोषादुक्तमपि यथावन्नावधारयन्ति, अन्ये विपर्यस्तबुद्धय सम्यगुपदिष्टमप्यन्यथाऽवधारयन्ति, केचित् पुन सम्यक्परिज्ञातमपि विस्मरन्तीत्येवमादिभि कारणै प्रतिपुरुष हीयमानस्य, एतावन्तं काल यावदागमनमत्र न स्याच्चिराच्छिन्नत्वे नागच्छति च । तस्मादन्तराऽन्तरा विच्छिन्न सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानवता केनचिदभिव्यक्त इयन्त काल यावदागच्छतीत्यभ्युपगमनीयमिति नानुपदेशपूर्वकत्वविशेषणासिद्धि ।

नाप्यन्वयतिरेकाभ्यां नष्टमुष्ट्यादिक ज्ञात्वा तद्विषयवचनविशेषप्रवर्त्तन कस्यचित् संभवति, येनानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणासिद्धि स्यात् । यतो नान्वयव्यतिरेकाभ्या ग्रहोपरागौषधशक्त्यादयो ज्ञातु शक्यन्त । प्रावृट्समये शिलीन्ध्रोद्भेदवत् ग्रहोपरागादीना दिक्प्रमाणफलकालादिषु नियमाभावात् । द्रव्यशक्तिपरिज्ञानाभ्युपगमेऽन्वयव्यतिरेकाभ्या यावन्ति जगति द्रव्याणि तान्येकत्र मीलयित्वा एकस्य रस कल्कादिभेदेन, कर्षादिमात्राभेदेन, बालमध्यमाद्यवस्थाभेदेन, मूलपत्राद्यवयवभेदेन, प्रक्षेपोद्धाराभ्यामेकोऽपि योगो युगसहस्रेणापि न ज्ञातु पार्येत, किमुतानेक इति कुतस्ताभ्यामौषधशक्त्यवगम । तेन नानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणस्यासिद्धि । नापि नष्टमुष्ट्यादिविषयवचनविशेषस्यापौरुषेयत्वात् विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वस्यासिद्धेरसिद्ध प्रकृतो हेतु । अपौरुषेयस्य वचनस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात् । नाप्यसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेऽपि प्रकृतवचनविशेषस्य संभवादनैकान्तिक । सविशेषणस्य हेतोर्विपक्षे सत्त्वस्य प्रतिषिद्धत्वात् । अत एव न विरुद्ध. । विपक्ष एव वर्त्तमानो विरुद्ध । नचास्य पूर्वोक्तप्रकारेणावगतस्वसाध्यप्रतिबन्धस्य विपक्षे वृत्तिसंभव । अथ भवतु ग्रहोपरागाभिधायकवचनस्य तत्पूर्वकत्वसिद्धि , अतो हेतो. । तत्र तस्य संवादात् । धर्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिस्तु कथम् ?, तत्र तस्य संवादाभावात् । न । तत्रापि तस्य संवादात् । तथाहि—ज्योति -शास्त्रादेर्ग्रहोपरागादिक विशिष्टवर्णप्रमाणदिग्विभागादिविशिष्ट प्रतिपद्यमान. प्रतिनियताना प्रतिनियतदेशवर्त्तिना प्राणिना प्रतिनियतकाले प्रतिनियतकर्मफलसंसूचकत्वेन प्रतिपद्यते । उक्त च तत्र-

" नक्षत्रग्रहपञ्जर—महर्निशं लोककर्मविक्षिप्तम् ।
भ्रमति शुभाशुभमखिल, प्रकाशयत् पूर्वजन्मकृतम् ॥ १ ॥"

अतो ज्योति शास्त्र ग्रहोपरागाऽऽदिकमिव धर्माऽधर्मावपि

प्रमाणान्तरसंवादतोऽवगमयति। तेन ग्रहोपरागादिवचनविशेषस्य धर्माऽधर्मसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धम्. तत्सिद्धौ सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धिमासादयति। नहि धर्माधर्मयोः सुखदुःखकारणत्वसाक्षात्करणं सहकारिकारणाशेषपदार्थतदाधारभूतसमस्तप्राणिगणसाक्षात्करणमन्तरेण संभवति। सर्वपदार्थानां परस्परप्रतिबन्धादेकपदार्थसर्वधर्मप्रतिपत्तिश्च सकलपदार्थप्रतिपत्तिनान्तरीयका प्राक् प्रतिपादिता। अतो भवति सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिरतो हेतोर्वचनविशेषस्य। तत्सिद्धौ च तत्प्रणेतुः सूक्ष्मान्तरितदूरानन्तार्थसाक्षात्कार्यतीन्द्रियज्ञानसम्पत्समन्वितस्य कथं न सिद्धिः । नाप्येतद्वक्तव्यम्। साध्योक्तितदावृत्तिवचनयोरनभिधानात् न्यूनतानामाऽत्र साधनदोषः । प्रतिज्ञावचनेन प्रयोजनाभावात्। अथ विषयनिर्देशार्थं प्रतिज्ञावचनम्। ननु स एव किमर्थं । साधर्म्यवत्प्रयोगादिप्रतिपत्त्यर्थं । तथाहि—असति साध्यनिर्देशे यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते किमयं साधर्म्यवान् प्रयोगः, उत वैधर्म्यवानिति न ज्ञायेत । उभयं ह्यत्राशङ्क्येत वचनविशेषत्वेन साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वे साध्ये साधर्म्यवान्, असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेन वचनविशेषत्वे साध्ये वैधर्म्यवानिति हेतुविरुद्धानैकान्तिकप्रतीतिश्च न स्यात् । प्रतिज्ञापूर्वके तु प्रयोगे शब्दविशेषः साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः शब्दविशेषत्वादिति हेतुभावः प्रतीयते । असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वादिति विरुद्धता । चक्षुरादिकरणजनितज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वादित्यनैकान्तिकत्वम्। हेतोश्च त्रैरूप्यं न गम्येत। तस्य साध्यापेक्षया व्यवस्थितेः । सति प्रतिज्ञानिर्देशेऽवयवे समुदायोपचारात् साध्यधर्मी इति पक्ष इति तत्र प्रवृत्तस्य वचनविशेषत्वस्य पक्षधर्मत्वम्; साध्यधर्मसामान्येन च समानोऽर्थः सपक्ष इति तत्र वर्तमानस्य सपक्षे सत्त्वम्, न सपक्षोऽसपक्ष इत्यसपक्षेऽप्यसत्त्वं प्रतीयते तदिदमनालोचिताभिधानम्। तथाहि-यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इति एतावन्मात्रमभिधाय नैव कश्चिदास्ते, किन्तु हेतोर्धर्मिण्युपसंहारं करोति। तत्र यदि वचनविशेषश्चायं नष्टमुष्ट्यादिविषयो वचनसंदर्भ इति ब्रूयात्, तदा साधर्म्यवत्प्रयोगप्रतीतिः । अथासाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकश्चेत्यभिदध्यात्, तदा वैधर्म्यवत इति सबन्धवचनपूर्वकात्पक्षधर्मत्ववचनात् प्रयोगद्वयावगतिः, विवक्षितसाध्यावगतिश्च। हेतुविरुद्धानैकान्तिका अपि पक्षधर्मत्ववचनमात्रेण न प्रतीयन्ते, तदा तु सबन्धवचनमपि क्रियते तदा कथमप्रतीतिः। तथाहि-यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते हेतुरवगम्यते विधीयमानेनानूद्यमानस्य व्याप्तेः । यो वचनविशेषः सोऽसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते विरुद्धः । विपर्ययव्याप्तेः यो वचनविशेषः स चक्षुरादिजनितज्ञानपूर्वक इति अनैकान्तिकोऽव्यभिचारात्। तथा त्रैरूप्यमपि हेतोर्गम्यत एव। यतो व्याप्तिप्रदर्शनकाले व्यापको धर्मः साध्यतया अवगम्यते । यत्र तु व्याप्यो धर्मो विवादास्पदीभूते धर्मिण्युपसंहियते स समुदायैकदेशतया पक्ष इति तत्रोपसंहृतस्य व्याप्यधर्मस्य पक्षधर्मत्वमवगम्यते । स च व्याप्तिप्रदर्शनधर्मिण्युपदर्शितः स साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः प्रतीयत इति सपक्षे सत्त्वमप्यवगम्यते । सामर्थ्यात् (च) हि व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तिर्यत्रावसीयते सोऽसपक्ष इति असपक्षेऽप्यसत्त्वमपि निश्चीयते इति नार्थः प्रतिज्ञावचनेन । तदाह धर्मकीर्त्तिः यदि प्रतीतिरन्यथा न स्यात् सर्वं शोभेत, दृष्टा च पक्षधर्मसंबन्धवचनमात्रात् प्रतिज्ञावचनमन्तरेणापि प्रतीतिरिति कस्तस्योपयोगः । यदा च प्रतिज्ञावचनं नैरर्थक्यमनुभवति तदा तदावृत्तिवचनस्य निगमनलक्षणस्य सुतरामनुपयोग इति न प्रतिज्ञाद्यवचनमपि प्रस्तुतसाधनस्य न्यूनतादोषः; केवलं तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य स्वसाध्याविनाभूतस्य हेतोः स्वसाध्यधर्मिण्युपसंहारमात्रादेव सिद्धत्वात्। अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनरभिधानं निग्रहस्थानमिति प्रतिज्ञादिवचनं वादकथायां क्रियमाणं तद्वक्तुर्निग्रहमापादयति उपनयवचनं तु हेतोः पक्षधर्मत्वप्रतिपादनादेव लब्धमिति तस्यापि ततः पृथक् प्रतिपादने पुनरुक्ततालक्षण एव दोष इति न तदनभिधानेऽपि न्यूनं साधनवाक्यम्, ततः सर्वदोषरहितत्वात् साधनवाक्यस्य भवत्यतः प्रकृतसाध्यसिद्धिः । स्वसाध्याविनाभूतश्च हेतुः साध्यधर्मिण्युपदर्शयितव्यो वादकथायामित्यभिप्रायवता आचार्येण गाथासूत्रावयवेन तथाभूतहेतुप्रदर्शनं कृतमिति । तथाहि—'समयविशासनम्' इत्यनेन गाथासूत्रावयववचनेन स्वसाध्यव्याप्तस्य हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहारः सूचितः । हेतोश्च स्वसाध्यव्याप्तिः प्रमाणतः सर्वोपसंहारेण प्रदर्शनीया । तच्च प्रमाणं व्याप्तिप्रसाधकं कदाचित् साध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तं तां तस्य साधयति, कदाचित् दृष्टान्तधर्मिणि । यत्र हि सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादित्यादौ प्रयोगे न दृष्टान्तधर्मिसद्भावः, तत्र व्याप्तिप्रसाधकं प्रमाणं प्रवर्त्तमानं साध्यधर्मिण्येव सर्वोपसंहारेण हेतोः स्वसाध्यव्याप्तिं प्रसाधयति। यत्र तु प्रकृतप्रयोगादौ दृष्टान्तधर्मिणोऽपि सत्त्वं तत्र दृष्टान्तधर्मिण्यपि प्रवृत्तं तत्प्रमाणं सर्वोपसंहारेणैव तस्याः प्रसाधकमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा दृष्टान्तधर्मिणि हेतोः स्वसाध्यव्याप्तावपि साध्यधर्मिणि तस्य तदव्याप्तौ न ततस्तत्र तत्प्रतिपत्तिः स्यात् । दृष्टान्तधर्मिण्येव तेन तस्य व्याप्तत्वात्, बहिर्व्याप्तेर्विद्यमानाया अपि साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तावनुपयोगात् सादृश्यमात्रस्याकिञ्चित्करत्वात्। अन्यथा शुक्लः सुवर्णः सत्त्वादञ्जनवदित्यत्रापि शुक्लत्वप्रतिपत्तिः स्यात्। अथात्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं, प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं वा दोषः । तदयुक्तम् । बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात् । तथाहि—सत्येव साध्यधर्मिणि साध्ये हेतुर्वर्त्तत इति तस्य तदविनाभावः, तत्प्रतिपादितसाध्यधर्माभावश्च प्रमाणतो बाधा। साध्यधर्मभावाऽभावयोश्चैकत्र धर्मिण्येकदा विरोध इति नैतद्दोषादुष्टस्य साधनस्य दुष्टत्वम्, किन्तु साध्यधर्मिणि साध्यधर्माविनाभूतत्वेनानिश्चयः । न च बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतोः साध्यसाधकत्वाभ्युपगमेऽन्यत्रापि समान इति नानुमानात् क्वचिदपि साध्यनिश्चयः स्यात्। अतो दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तेन प्रमाणेन व्याप्त्या हेतोः स्वसाध्याविनाभावो निश्चेयः । न च निश्चिताविनाभावो यत्र धर्मिण्युपलभ्यते तत्र

स्वसाध्यमविद्यमानप्रमाणान्तरबाधनं निश्चाययति, यथाऽत्रैव सर्वज्ञमात्रलक्षणे साध्ये वचनविशेषलक्षणे साध्यधर्मिणि तद्विशेषत्वलक्षणो हेतुः । प्रतिबन्धप्रसाधकं चास्य हेतोः प्रागेव दृष्टान्तधर्मिणि प्रमाणं प्रदर्शितमित्यभिप्रायवत्तैवाचार्येणापि 'कुसमयविसासणं' इति सूत्रे कुरित्यनेन दृष्टान्तसूचनं विहितम्, न च पक्षवचनाद्युपक्षेपः सूचित. । ननु भवत्वस्माद्धेतोर्यथोक्तप्रकारेण सर्वज्ञमात्रसिद्धिर्न पुनस्तद्विशेषसिद्धि. । तथाहि—यथा नष्टमुष्ट्यादिविषयवचनविशेषस्यार्हत्सर्वज्ञप्रणीतत्व वचनविशेषत्वात् सिद्ध्यति, तथा बुद्धादिसर्वज्ञपूर्वकत्वमपि तत एव सेत्स्यतीति कुतस्तद्विशेषसिद्धि· । नच नष्टमुष्ट्यादिप्रतिपादको वचनविशेषोऽर्हच्छासन एवेति वक्तु युक्तम् । बुद्धशासनादिष्वपि तस्योपलम्भादित्याशङ्क्याह सूरि.—"सिद्धत्थाणं" इति अस्यायमभिप्रायः—प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणविषयत्वेन प्रतिपादिता शासनेन ये ते तद्विषयत्वेनैव तैर्निश्चिता इति सिद्धास्ते च-अर्थ्यन्त इत्यर्था उच्यन्ते, तेषा शासन प्रतिपादकमर्हत्सर्वज्ञशासनमेव, न बुद्धादिशासनम् । अतो वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोस्तेष्वसिद्धत्वात् कुतस्तेषामपि सर्वज्ञत्वम्, येन विशेषसर्वज्ञत्वसिद्धिर्न स्यात् । यथा चागमान्तरेण प्रत्यक्षादिविषयत्वेन प्रतिपादितानामर्थानां तद्विषयत्वं न सभवति, तथाऽत्रैव यथास्थानं प्रतिपादयिष्यते । अथवा—सिद्धार्थानामित्यनेन हेतुसंसूचनं विहितमाचार्येण । सिद्धा प्रमाणान्तरसंवादतो निश्चिता येऽर्था नष्टमुष्ट्यादयस्तेषां शासनं प्रतिपादकम्, यतो द्वादशाङ्गं प्रवचनमतो जिनाना कार्यत्वेन संबन्धि, तेनाय प्रयोगार्थं सूचित· । प्रयोगश्च प्रमाणान्तरसंवादि यथोक्तनष्टमुष्ट्यादिसूक्ष्मान्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्जिनप्रणीत शासनम् । अत्र च सूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकत्वान्यथाऽनुपपत्तिलक्षणस्य हेतोर्जिनप्रणीतत्वलक्षणेन स्वसाध्येन व्याप्ति साध्यधर्मिण्येव निश्चितेति तन्निश्चायकप्रमाणविषयस्येह दृष्टान्तस्य प्रदर्शनमाचार्येण न विहितम् । तदर्थस्य तद्व्यतिरेकेणैव सिद्धत्वात् । यथा चार्थापत्ते· साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयाद् दृष्टान्तव्यतिरेकेणापि तदुत्थापकादर्थादुपजायमानाया· सर्वज्ञप्रतिक्षेपवादिभिर्मीमासकै· प्रामाण्यमभ्युपगम्यते, तथा प्रकृतादन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणाद्धेतोरुपजायमानस्याऽस्याऽनुमानस्य तत् किं नेष्यते ? । प्रतिपादितश्चार्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भाव· प्रागिति भवत्यतो हेतो· प्रकृतसाध्यसिद्धि· । अत एव पूर्वाचार्यैर्हेतुलक्षणप्रणेतृभिरेकलक्षणो हेतु·—

"अन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नाऽन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १ ॥"

इत्यादिवचनसंदर्भेण प्रतिपादितम् इति मन्वानेनाचार्येणापि न दृष्टान्तसूचन विहितमत्र प्रयोगे । 'कुसमयविशासनमिति' चात्र व्याख्याने बुद्धादिशासनानामसर्वज्ञप्रणीतत्वप्रतिपादकत्वेन व्याख्येयम् । तथाहि—कुत्सिता· प्रमाणबाधितैकान्तस्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेन, समया कपिलादिप्रणीतसिद्धान्तास्तषा 'संन्ति पञ्च महब्भूया०' [1] इत्यादिवचनसन्दर्भेण दृष्टेष्टविषये विरोधाद्युद्भावकत्वेन विशासन विध्वसकं यतोऽतो द्वादशाङ्गमेव जिनाना शासनमिति भवत्यतो विशेषणात् सर्वज्ञविशेषसिद्धिरिति । सम्म०१ काण्ड ।

सव्वएणुत्त–सर्वज्ञत्व–न० । सर्वथा शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन स्थितानां यथावद्विवेकजज्ञाने, तदुक्तम्—"सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वम्" । सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिमात्रस्वभावाधिष्ठातृत्वे, द्वा०२६द्वा० ।

सव्वएणुदंसण–सर्वज्ञदर्शन–न० । सर्वज्ञागमे, सूत्र०१ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

सव्वएणुप्पवाय–सर्वज्ञप्रवाद–पुं० । सर्वज्ञवाक्ये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

सव्वएणुभासिय–सर्वज्ञभाषित–त्रि० । समस्तवित्प्रणीते, द्वा० २१ अष्ट० । तीर्थकृताभिहिते, द्वा० १७ द्वा० ।

सव्वएणुमय–सर्वज्ञमत–न० । सर्ववेदिप्रवचनविषये, पञ्चा०७ विव० । जिनशासनविषये, पञ्चा० ६ विव० ।

सव्वएणुवयण–सर्वज्ञवचन–न० । सत्यवक्तृवीतरागवचने, दश० ४ अ० ।

सव्वतंतसिद्धंत–सर्वतन्त्रसिद्धान्त–पुं० । सर्वतन्त्राऽविरुद्धे स्वतन्त्रेऽधिकृतेऽर्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । यथा स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि स्पर्शादय इन्द्रियार्थाः प्रमाणै प्रमेयस्य ग्रहणं समानम् । तथा चोक्तम्—

"संति पमाणाइँ पमे–यसाहगाइं तु सव्वतंतो उ ।
थेज्जवई वसुमई, आपा य दवा चलो वाऊ ॥ १ ॥"

सन्ति प्रमाणानि–प्रत्यक्षादीनि प्रमेयसाधकानि यथा–स्थैर्यवती पृथ्वी, आपो द्रवा, चलो वायुरेष सर्वतन्त्रसिद्धान्त· सर्वेषु तन्त्रेषु अस्यार्थस्य सिद्धत्वात् । वृ० १ उ० १ प्रक० ।

सव्वतवणिज्जमय–सर्वतपनीयमय–त्रि० । सर्वात्मना तपनीयरूपसुवर्णमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । दशा० ।

सव्वतुरियसद्दसण्णिणाय–सर्वतूर्यशब्दसन्निनाद–पुं० । सर्वतूर्यशब्दाना मीलने महाघोषे, भ० १ श० १ उ० ।

सव्वतूवर–सर्वतुवर–पुं० । समस्तकषायद्रव्ये, रा० ।

सव्वत्तया–सर्वात्मता–स्त्री० । सर्वेष्वात्मन परिणामेषु, उपा० २ अ० । सर्वसामर्थ्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

सव्वत्थ–सर्वत्र–अव्य० । समस्तदेश इत्यर्थे, पञ्चा० ६ विव० । समस्तकाले, सर्वस्यामवस्थायामपीत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । समस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु, पञ्चा० ६ विव० ।

सव्वत्थया–सर्वार्थता–स्त्री० । चलत्वाज्ज्ञानाविधार्थग्रहणे "सर्वार्थतैकाग्रतयो·, समाधिस्तु क्षयोदयौ ।" द्वा० २४ द्वा० ।

सव्वत्थविसम–सर्वत्रविषम–न० । सर्वपादेषु विषमाक्षरे वृत्ते, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सव्वदंसण–सर्वदर्शन–न० । सर्वं-सम्पूर्णं दर्शनं सर्वदर्शनम् । क्षायिकसम्यक्त्वे, विशे० ।

१—सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

१–पृथ्व्या चलाऽचलत्वविचार 'भूगोल' शब्दे षष्ठे भागे गत । 'लोक' शब्दे च पञ्चमे भागे गोलक कल्पना च ।

सव्वदंसि(ण्)-सर्वदर्शिन्-पुं०। सर्वं जगत् चराचरं सामान्येन द्रष्टुं शीलमस्येति सर्वदर्शी। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। भ०। रा०। अनाकारोपयोगसामर्थ्यात्। (उपा०७ अ०। सर्वस्य वस्तुस्तामस्य सामान्यरूपतया द्रष्टरि, भ० १ श० १ उ०। स्था०। कल्प०। केवलदर्शनेन एकेन्द्रियद्वीन्द्रियजीवादिद्रष्टरि, अनु०। सूत्र०। सर्वं प्राणिगणमात्मवत्पश्यतीति सर्वदर्शी। आत्मसाम्यदर्शिनि, उत्त० १५ अ०।

सव्वदरिसि-सर्वदर्शिन्-पुं०। सर्वज्ञे, ध० २ अधि०।

सव्वदव्व-सर्वद्रव्य-न०। धर्मास्तिकायादिषु भ०१२ श०५उ०।

सव्वदा-सर्वदा-स्त्री०। सर्वकाल इत्यर्थे, ल०। भ०।

सव्वदिसाग-सर्वदिक्क-त्रि०। सर्वा दिशो यत्र तत्सर्वदिक्कम्। सर्वदिगवच्छिन्ने, विशे०।

सव्वदी(दी)वसमुद्द-सर्वद्वीपसमुद्र-पुं०। अशेषद्वीपसमुद्रेषु, सू० प्र० १ पाहु०।

सव्वदुक्ख-सर्वदुःख-त्रि०। समस्तशारीरमानसादिभेदभिन्नेषु असातेषु, ध० ३ अधि०।

सव्वदुक्खप्पहीण-सर्वदुःखप्रहीण-पुं०। प्राकृतत्वात्प्रकर्षेण हीनानि-हानिं गतानि प्रक्षीणानि वा सर्वदुःखानि यस्मिन्, यद्वा-सर्वदुःखाना प्रहीणं प्रक्षीणं वा यस्मिस्तत्तथा। सिद्धक्षेत्रे, उत्त० २८ अ०। दुःखानि शरीरमानसानि तानि प्रहीणानि यस्य स तथा। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। मुक्ते, मोक्षे च। ध० ३ अधि०। आतु०। जं०।

सव्वदुक्खप्पहीणमग्ग-सर्वदुःखप्रहीणमार्ग-पुं०। सर्वदुःखप्रहीणो मोक्षस्तत्कारणं मार्गः-पन्थाः। ध० ३ अधि०। आव०। औ०। सकलाशर्मक्षयोपाये, भ० ३३ श० १ उ०।

सव्वदुक्खविमोक्ख-सर्वदुःखविमोक्ष-पुं०। सर्वाण्यशेषाणि बहुभिर्भवैरुपचितानि दुःखकारणत्वाद् दुःखानि कर्माणि तेभ्यो विमोक्षो-विमोक्षणं, विमोचनम्। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। निर्वाण, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। कर्मक्षये, स०।

सव्वदुक्खहर-सर्वदुःखहर-त्रि०। मोक्षहेतौ, पं० व० ४ द्वार।

सव्वदुह-सर्वदुःख-न०। समस्तशारीरमानसदुःखे, दश० २ चू०।

सव्वदूरमूल-सर्वदूरमूल-न०। सर्वथा दूर-विप्रकृष्टं मूलं च निकटं सर्वदूरमूलं तद्योगाच्छन्दोऽपि सर्वदूरमूलः। अत्यर्थंदूरवर्त्तिनि अत्यर्थासन्ने च। 'सव्वदूरमूलमणंतियं सव्व जाणइ पासइ'। भ० ५ श० ४ उ०।

सव्वदेवसूरि-सर्वदेवसूरि-पुं०। वृद्धगच्छप्रथमसूरौ, ग० ३ अधि०।

सव्वदेसघाइणी-सर्वदेशघातिनी-स्त्री०। सर्वं-समस्तं देशं-स्वावार्यगुणं घ्नन्तीत्येवंशीला सर्वदेशघातिन्यः। तथाविधासु कर्मप्रकृतिषु कर्म० ४ कर्म०।

सव्वद्धा-सर्वाद्धा-स्त्री०। अतीतानागतवर्त्तमानकालस्वरूपे अद्धाकालभेदे, अनु०।

सव्वधत्ता-सर्व(हिता)धत्ता-स्त्री०। सर्वं जीवाजीवाख्यं वस्तु धत्ते निहितमस्या विवक्षायामिति सर्वहिता। ननु दधातेर्हीति शब्दादेशाद् हितं भवितव्यं कथं धत्तमित्युच्यते प्राकृते देशीपदस्याविरुद्धत्वान्न दोषः। अथवा-धत्त इति डित्थवदव्युत्पन्न एव यदृच्छाशब्दः। अथवा-सर्वं दधातीति सर्वधं निरवशेषवचनं सर्वधमात्तमागृहीतं यस्यां विवक्षायां सा सर्वधत्ता। एवमपि निष्ठान्तस्य न पूर्वनिपातः। "जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम्" इति परनिपात एव। सर्वग्राहके, सर्वग्रहीतरि, आव० १ अ०।

सर्वधातृ-त्रि०। सर्वधमात्ता सर्वधात्ता। निरवशेषे,आव०१ अ०। आ० म०।

सव्वधत्तासव्व-सर्वधत्तासर्व-पुं०। जीवाजीवविवक्षारूपे सर्वशब्दार्थे, विशे०। आ० म०।

सव्वधम्म-सर्वधर्म-पुं०। समस्तेषु अनुष्ठानरूपेषु स्वभावेषु, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। सर्वेषु क्षान्त्यादिषु धर्मेषु,उपा० १ अ०।

सव्वधम्मपरिब्भट्ठ-सर्वधर्मपरिभ्रष्ट-त्रि०। सर्वधर्मेभ्यः-क्षान्त्यादिभ्यः आसेवितेभ्योऽपि यावत् प्रत्यनुपालनात् लौकिकेभ्योऽपि गौरवादिभ्यः परिभ्रष्टः-सर्वतश्च्युतः। कृतधर्मात्परिच्युते, दश० १ चू०।

सव्वधम्माणुवत्तण-सर्वधर्म्मानुवर्त्तन-त्रि०। सर्वं धर्मं क्षान्त्यादिरूपमनुवर्त्तत इति तदनुकूलाचारतया स्वीकुरुत इत्येवंशीलो यः स तथा। समस्तक्षमादिधर्माऽऽचरणशीले, उत्त० ७ अ०।

सव्वपगइ-सर्वप्रकृति-स्त्री०। राज्ञोऽष्टादशसु नैगमादिनगरवास्तव्यप्रजायाम्, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

सव्वपत्थार-सर्वप्रस्तार-पुं०। समस्तसङ्घापद्रवीभूते,व्य०१उ०।

सव्वपरिण्णाचारि(ण्)-सर्वपरिज्ञाचारिन्-पुं०। सर्वतः सर्वकालं सर्वपरिज्ञया द्विविधयापि चरितुं शीलमस्येति सर्वपरिज्ञाचारी। विशिष्टज्ञानान्विते, सर्वसंवरचारित्रोपेते च। आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावह-सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावह-त्रि०। सर्वे विश्वे ते प्राणाश्च द्वीन्द्रियादयो भूताश्च तरवो जीवाश्च पञ्चेन्द्रियाः सत्त्वाश्च पृथिव्यादय इति द्वन्द्वे सति कर्मधारयस्ततस्तेषां सुखं शुभं वा आवहतीति सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावहम्। सर्वेषां प्राणादीनां संयमप्रतिपादकत्वात्सुखहेतौ, आव० ४ अ०। स्था०।

सव्वपावणिवित्ति-सर्वपापनिवृत्ति-स्त्री०। अशेषावद्यानुष्ठानव्युपरतौ, द्वा० २५ अष्ट०।

सव्वपावपरिवज्जिय-सर्वपापपरिवर्जित-त्रि०। सर्वाऽमङ्गलैः रहिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालङ्कार-सर्वपुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालङ्कार-पुं०। गन्धा-वासा माल्यानि-पुष्पदामानि अलङ्कारा आभरणविशेषा तत समाहारो द्वन्द्वस्ततः सर्वशब्देन सह विशेषणसमासः। समस्तपुष्पादौ, रा०।

सव्वप्पग–सर्वात्मक–पुं०। सर्वत्राप्यात्मा यस्यासौ सर्वात्मक। लोभे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। सर्वस्वरूपे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

सव्वप्पगुण–सर्वात्मगुण–पुं०। येषां परमाणूनां समस्ताना परमाण्वपेक्षया अल्पे गुणा· स्तोका अंशा विभागास्तेषु परमाणुषु. क० प्र० १ प्रक०।

सव्वप्पभा–सर्वप्रभा–स्त्री०। उत्तररुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, आ० क० १ अ०। जं०। आ०चू०। आ० म०।

सव्वफलिहमय–सर्वस्फटिकमय–त्रि०। सर्वात्मना स्फटिकमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सव्वफाससह–सर्वस्पर्शसह–त्रि०। परीषहरूपाणां सर्वेषा शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानां सहिष्णौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

सव्वबंध–सर्वबन्ध–पुं०। सर्वात्मना बन्धे, यथा क्षीरनीरयो·। भ० ७ श० १ उ०।

सव्वबल–सर्वबल–न०। समस्तहस्त्यादिसैन्ये, जी० ६ प्रति० ४ अधि०। भ०। रा०। कल्प०। विपा०।

सव्वबाहाविणिम्मुत्त–सर्वबाधाविनिर्मुक्त–त्रि०। एकान्तसुखसंगने, द्वा० ३१ अष्ट०।

सव्वबुद्ध–सर्वबुद्ध–त्रि०। सर्वतीर्थकरे, दश० ६ अ०।

सव्वब्भन्तर–सर्वाभ्यन्तर–त्रि०। सर्वमध्यवर्त्तिनि, सू० प्र० १ पाहु०। औ०। न०।

सव्वभत्ति–सर्वभक्ति–स्त्री०। सर्ववस्तुप्रकारे, सर्वा भक्तयः–प्रकारा येषा तानि तथा। सर्वप्रकारोपेतेषु, स्था०६ ठा०३ उ०।

सव्वभाव–सर्वभाव–पुं०। सर्वपरिणामे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। शक्त्यनुरूपं सरूपसंरक्षणादौ, दश० ८ अ०। सर्वप्रकारे स्पर्शरसगन्धरूपज्ञाने, "सव्वभावेणं जाणइ पासइ" स्था० १० ठा० ३ उ०। केवलज्ञानसाक्षात्कारे, भ०८श०२ उ०। स्था०।

सव्वभावविउ–सर्वभाववित्–पुं०। भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्या भविष्यति द्वादशे तीर्थकरे, स०।

सव्वभावाहिट्ठाइत्त–सर्वभावाधिष्ठायित्व–न०। सर्वेषा गुणपरिणामाना स्वामिवदाक्रमणे, सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञत्वं च। द्वा० २६ द्वा०।

सव्वभासाणुगामि(ण्)–सर्वभाषानुगामिन्–त्रि०। सर्वभाषा आर्याऽनार्या अमरवाचोऽनुगच्छन्ति–अनुकुर्वन्ति तद्भाषाभाषित्वात् स्वभावयैव वा लब्धिविशेषात् तथाविधप्रत्ययजननात्। अथवा–सर्वभाषा· संस्कृतप्राकृतमागध्याद्या अनुगमयन्ति–व्याख्यान्तीत्येव शीला ये ते तथा। समस्तभाषाविशारदेषु, औ०। रा०।

सव्वभियार–सव्यभिचार–त्रि०। सह व्यभिचारेण वर्तते इति सव्यभिचार। व्यभिचाराख्यहेतुदोषसहित, दश० १ अ०।

सव्वभूइ–सर्वभूति–स्त्री०। सर्वसम्पदि, विपा० १ श्रु०६ अ०।

सव्वभूमिया–सर्वभूमिका–स्त्री०। सर्वप्रासादभूमिकासु, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

सव्वभूय–सर्वभूत–पु०। सर्वेषु त्रसेषु स्थावरेषु च जीवेषु, उत्त० २० अ०। आतु०।

सव्वभूयप्पभूय–सर्वभूतात्मभूत–त्रि०। सर्वभूतेष्वात्मभूतः स र्वभूतात्मभूत। सर्वभूतानामात्मवद्दर्शके, दश० ४ अ०।

सव्वभूयसुहावह–सर्वभूतसुखावह–त्रि०। सर्वप्राणिहिते, दश० ६ अ०।

सव्वभोम–सार्वभौम–पुं०। सर्वासु क्षिप्ताद्यासु चित्तभूमिषु सम्भवन्ति इति सार्वभौमाः। तदुक्तम् एते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना·। सार्वभौमा महाव्रतेषु यमादिषु, द्वा०२१ द्वा०।

सव्वमंगलभेय–सर्वमङ्गलभेद–पु०। सकलकल्याणप्रकारे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सव्वमिच्छोवयारा–सर्वमिथ्योपचारा–स्त्री०। सर्व एव मिथ्योपचारा मातृस्थानगर्भा क्रियाविशेषा यस्यां सा सर्वमिथ्योपचारा। सर्वांशेन मिथ्योपचारयुक्तायामाशातनायाम्, ध० २ अधि०।

सव्वमित्त–सर्वमित्र–पुं०। अपश्चिमदशपूर्वधरे साधौ, ति०।

सव्वय–सद्व्यय–पुं०। पुरुषार्थोपयोगिनि वित्तविनियोगे, द्वा० १२ द्वा०।

सद्व्रत–पु०। शोभनव्रते, स्था० ३ ठा० २ उ०।

सव्वरयण–सर्वरत्न–पुं०। महानिधिभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। जं०। प्रव०। आ० चू०। दर्श०। (रयणाइं सव्वरयणे चउद्दसपवराइं चक्कवट्टिस्स उप्पज्जति य एगिंदियाइं पचिंदियाइ ति तल्लक्षणं 'णिहि' शब्दे चतुर्थभागे २१११ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

सव्वरयणकूड–सर्वरत्नकूट–न०। मानसोत्तरपर्वतस्य स्वनामख्याते तृतीये कूटे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

सव्वरयणा–सव्वरत्ना–स्त्री०। उत्तरपाश्चात्यस्य रतिकरपर्वतस्य पश्चिमदिशि ईशानाग्रमहिष्या वसुमित्राया· राजधान्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। ती०। जी०। द्वा०।

सव्वरयणामय–सर्वरत्नामय–त्रि०। सर्वरत्ना सामस्त्येन रत्नमया नत्वेकदेशे इति सर्वरत्नमयाः। समस्तरत्नमयेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सर्वात्मना रत्नमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। दर्श०।

सव्वरस–सर्वरस–न०। सविकृतिके, पञ्चा० १६ विव०।

सव्वराग–सर्वराग–पु०। समस्तविषयाभिमुख्यहेतुभूतात्मपरिणामविशेषे, औ०।

सव्वरी–सर्वरी–स्त्री०। रात्रौ, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

सव्वल–षड्बल–पुं०। भल्ले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

सव्वलोय–सर्वलोक–पु०। सर्व –खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्न सर्वश्चासौ लोकश्च सर्वलोक·। त्रैलोक्ये, ल०। ध०। आव०। त्रसस्थावरभेदैर्भिन्ने प्राणिगणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। सर्वजने, स० ३० सम०।

सव्वलोयपर–सर्वलोकपर–पु०। सर्वजनात्प्रकृष्टे, 'सव्वलोयपरे तेणे महामोह पकुव्वइ' स० ३० सम०।

सव्वलोयपरियावन्न-सर्वलोकपर्यापन्न-त्रि०। उपपातसमुद्घातस्वस्थानैः सर्वलोके वर्तमाने, भ० ३४ श० १ उ०।

सव्वलोयसारंग-सर्वलोकसारङ्ग-न०। सर्वस्मिन्नपि लोके सारमङ्गं स्वरूपं यस्य तत् सर्वलोकसारङ्गम्। चतुरङ्गे,तस्य सर्वलोकसाररूपत्वात्। "नासेइ अगीयत्थो,चउरंगं सव्वलोयसारंगं।" व्य० ३ उ०।

सव्ववइरामय-सर्ववज्रमय-त्रि०। सर्वात्मना वज्रमये,जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सव्ववाइ-सर्ववादिन्-पुं०। कपिलकणादाक्षपादसौद्धोदनिजैमिनिप्रभृतिमतानुसारिषु समस्तवादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सव्ववाय-सर्ववाद-पुं०। सर्वस्मिन् बौद्धादिके वादे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

सव्ववार-सर्ववार-न०। बहुश. शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

सव्वविग्गहिय-सर्वविग्रहिक-पुं०। विग्रहो वक्रं लघु इत्यर्थस्तदस्यास्तीति विग्रहिक.। सर्वथा विग्रहिकः सर्वविग्रहिक.। सर्वसंक्षिप्ते, भ० १३ श० ४ उ०।

सव्ववित्थाराणंतय-सर्वविस्तारानन्तक-न०। सर्वाकाशास्तिकायरूपेऽनन्तकभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सव्वविभूइ-सर्वविभूति-स्त्री०। समस्तबाह्याभ्यन्तरवैक्रियकरणादिबाह्यरत्नादिसंपदि, रा०। कल्प०। भ०। जी०। समस्तशोभायाम्, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

सव्वविभूसा-सर्वविभूषा-स्त्री०। यावच्छक्तिस्फारोदारशृङ्गारकरणे, रा०।

सव्वविमुक्क-सर्वविमुक्त-पुं०। सिद्धे, आचा० २ श्रु० ४ चू०।

सव्वविरइ-सर्वविरति-स्त्री०। सर्वसंयमे, कर्म० १ कर्म०।

सव्वविरइवाइ-सर्वविरतिवादिन्-पुं०। आत्मानं सर्वविरतिमत्त्वेन ख्यापके, विशे०।

एतदेवाह—

सव्वं ति भाणिऊणं, विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि।
सो सव्वविरइवाई, चुकति देसं च सव्वं च ॥२६८४॥

'सव्वं' ति—अस्योपलक्षणत्वात्सर्वं सावद्ययोगं प्रत्याख्यामि त्रिविधं त्रिविधेनेत्येव भणित्वा—अभिधाय विरति.—सावद्ययोगान्निवृत्ति. खलु यस्य सर्विका सर्वा नास्ति प्रवृत्तकर्मारम्भानुमतिसद्भावात्सर्वविरतिवादी 'चुक्कइ' त्ति नाशयति देशं च 'सव्वं च' त्ति-देशविरतिं सर्वविरतिं च प्रतिज्ञाताकरणादिति निर्युक्तिगाथार्थ.। विशे०।

सव्वविरइसामाइय-सर्वविरतिसामायिक-न०। सर्वविरतिरेव सामायिकमिति। सामायिकभेदे, विशे०।

तत्पर्याया.—

सामाइयं समइयं, सम्मावाओ समाससंखेवो।
अणवज्जं च परिन्ना, पच्चक्खाणं च ते अट्ठा ॥ विशे०।

(वक्ष्यते एषां पदानां तत्तच्छब्देषु व्याख्या। सर्वैव वक्तव्यता 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते।)

सव्वविसनिवारणी-सर्वविषनिवारणी-स्त्री०। सर्वप्राणातिपातविरतिप्रभृतिसंपूर्णपापनिवारिण्यां विद्यायाम्, "सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाइ अलियवयणं च। सव्वमदिन्नादाणं, अव्वंभपरिग्गहं स्वाहा ॥ १२७० ॥" इति तन्मन्त्रः, आव० ४ अ०। (अस्य मन्त्रस्य व्याख्या 'पडिक्कमण' शब्दे पञ्चमभागे २६७ पृष्ठे गता।)

सव्ववेइ(ण्)-सर्ववेदिन्-पुं०। सर्वज्ञे, नं०।

सव्ववेरामय-सर्ववज्रमय-त्रि०। सर्वात्मना वज्रमये, रा०।

सव्वस-सर्वस्व-न०। सर्वसारे, पो० २ विव०। नि० चू०।

सव्वसंकम-सर्वसंक्रम-पुं०। 'चरमट्ठिईए रइयं, पइसमयमसंखिए पएसग्गं। नाबुभइ अंतपगई, जाव त्ति य सव्वसंकमओ' इत्युक्तलक्षणे संक्रमभेदे, पं० सं० ५ द्वार।

सव्वसंका-सर्वशङ्का-स्त्री०। सर्वविषये शङ्काभेदे, यथाऽस्ति वा धर्मो नास्ति वा यथा वा सर्वमिदं प्राकृतनिबद्धत्वात्सर्वमिदं शास्त्रमसमञ्जसमित्यादि। प्रव० ६ द्वार। नि० चू०। ('संका' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३५ पृष्ठेऽस्य वर्णनमुक्तम्।)

सव्वसंगम-सर्वसङ्गम-पुं०। समस्तस्वजनमेलापके, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

सव्वसंगातीत-सर्वसङ्गातीत-त्रि०। वीतरागे, औ०।

सव्वसंगावगय-सर्वसङ्गापगत-त्रि०। अपगतद्रव्यभावसङ्गे, दश० १ अ०।

सव्वसंजम-सर्वसंयम-पुं०। सर्वात्मना मनोवाक्कायसंयमने, रा०। "सव्वसंजमतवसुचरियफलनिव्वाणमग्गेणेति" सर्वसंयमः सर्वात्मना—मनोवाक्कायसंयमनं तस्य सुचरितस्य वा आशंसादिदोषरहितस्य तपसो यत्फलं निर्वाणं तन्मार्गेण। किमुक्तं भवति-सर्वसंयमेन सुचरितेन च तपसा निर्वाणग्रहणमनया. निर्वाणफलत्वख्यापनार्थम्। रा०।

सव्वसंपया-सर्वसम्पत्-स्त्री०। समस्तसम्पद्विधाव्यां देव्याम्, यत्तदर्थं तप क्रियते रूढितो तत् गम्यम्। पञ्चा०१६ विव०।

सव्वसंपयाकरी-सर्वसम्पत्करी-स्त्री०। भिक्षाचर्याभेदे, हा०।

यतिर्ध्यानादियुक्तो यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः।
सदानारम्भिणस्तस्य, सर्वसम्पत्करी मता ॥ २ ॥

यति—साधुस्तस्य सर्वसम्पत्करी मतेति क्रिया, तदा तस्मिन् काले भिक्षाकाल इत्यर्थ.। उपयोग कालोचितप्रशस्तव्यापार कृत्वा-विधाय निर्दोषा गवेषणैषणादिदोषरहिता सर्वसंपत्करीत्यर्थ। हा० ५ अष्ट०। ध०। पञ्चा०।

सव्वसंभम-सर्वसम्भ्रम-पुं०। सर्वोत्कृष्टे सम्भ्रमे, सर्वोत्कृष्टसम्भ्रमश्च स्वनायकविषयकबहुमानख्यापनपरा स्वनायकसंपादनाय यावच्छक्तिप्रत्वरिता त्वरितप्रवृत्ति.। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। समस्तप्रमोदकृतौत्सुक्ये, भ० ८ श० ३३ उ०। कल्प०।

सव्वसत्त-सर्वसत्त्व-पुं०। सर्वप्राणिषु, ध० ३ अधि०। समस्तदेहिषु, पञ्चा० ६ विव०।

सव्वसत्तेगंभावावाइ–सर्वसत्त्वैकंशाश्वतवादिन्–पुं० । नास्तीह कश्चिद् भाजन सत्त्व इति वचनात्सर्वजीवानां मोक्षायोग्यतावादिषु, सू० ।

सव्वसमण्णागयपण्णाण–सर्वसमन्वागतप्रज्ञान–पुं० । सर्वाणि समन्वागतानि प्रज्ञानानि यस्यात्मनः स सर्वसमन्वागतप्रज्ञानः । सर्वावबोधविशेषानुगते सर्वेन्द्रियज्ञाने षड्भिर्यथावस्थितविषयग्राहिभिरविपरीतैरनुगते, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । रा० ।

सव्वसमाहिवत्तियागार–सर्वसमाधिप्रत्ययाकार–पुं० । पौरुषीप्रत्याख्यानापवादे, ध० । कृतपौरुषीप्रत्याख्यानस्य समुत्पन्नतीव्रशूलादिदुःखतया सञ्जातयोरार्त्तरौद्रध्यानयोः सर्वथा निरासः सर्वसमाधिस्तस्य प्रत्ययः कारणं स एवाकारः–प्रत्याख्यानापवादः सर्वसमाधिप्रत्ययाकारः । समाधिनिमित्तमौषधपथ्यादिप्रवृत्तावपूर्णायामपि पौरुष्यां भुङ्क्ते तदा न भङ्ग इत्यर्थः, वैद्यादिर्वा कृतपौरुषीप्रत्याख्यानोऽन्यस्यातुरस्य समाधिनिमित्तं यदा अपूर्णायामपि पौरुष्यां भुङ्क्ते तदा न भङ्गः, अर्द्धभुक्ते त्वातुरस्य समाधौ मरणे चोत्पन्ने सति तथैव भाजनस्य त्यागः । सार्द्धपौरुषीप्रत्याख्यानं पौरुषीप्रत्याख्यान एवान्तर्भूतम् । ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

सव्वसमिद्धि–सर्वसमृद्धि–स्त्री० । परब्रह्मत्वप्राप्तौ, अष्ट० ।

सर्वा–समग्रा समृद्धिः–संपदा सर्वसमृद्धिः । तत्र नामसमृद्धिः उज्ज्ञापनरूपा जीवस्याजीवस्य । स्थापनासमृद्धिः शक्तिरूपा । द्रव्यसमृद्धिः धनधान्यादेरूपा । शक्रचक्र्यादीना लौकिका, लोकोत्तरा पुनः मुनिलब्धिसमृद्धिरूपा ।

"आमोसहिविप्पोसहि,खेलोसहिजल्लमोसही चेव । संभिन्नसोयउज्जुमई, सव्वोसहि चेव बोधव्वा ॥ १ ॥ चारणआसीविसकेवलिय मणनाणिणो य पुव्वधरा । अरिहन्ता चक्कधरा, बलदेवा वासुदेवा य ॥ २ ॥" इत्यादिलब्धयः–ऋद्धयः तत्र केवलज्ञानादिशक्तिलोकोत्तरा भावर्द्धिः, सः–सम्यक् प्रकारेण ऋद्धिः समृद्धिः सर्वा चासौ समृद्धिश्च सर्वसमृद्धिः । अत्र साधनानवच्छिन्नात्मतत्त्वसंपन्नमग्नानां या तादात्म्यानुभवयोग्या समृद्धिः अवसरः नयाश्च प्रस्थकदृष्टान्तभावनया तत्कारणेषु तद्योग्येषु तदुच्यते, तेषु तपोयोगिषु आद्या, तद्गुणेषु सापेक्षेषु अन्त्या इति । अत्र प्रथमम् आत्मनि समृद्धिपूर्णत्वं भासते तथा कथयति–

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु, मुद्रितेषु महात्मनः ।
अन्तरेवावभासन्ते, स्फुटाः सर्वाः समृद्धयः ॥ १ ॥

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु इति–महात्मनः–स्वरूपपररूपभेदज्ञानपूर्वकशुद्धात्मानुभवलीनस्य सर्वसमृद्धयः स्फुटाः–प्रकटा अन्तरेव–आत्मान्त एव–स्वरूपमध्ये एव भासन्ते, यतः स्वरूपानन्दमयोऽहं, निर्मलाऽखण्डसर्वप्रकाशकज्ञानवानहम् इन्द्राद्यर्द्धय औपचारिका अहं त्वनन्तपर्यायसंपत्पात्रोऽहम्, इति स्वसत्ताज्ञानोपयुक्तस्य स्वात्मनि भासन्ते । कीदृशेषु सत्सु ? बाह्यदृष्टिप्रचारेषु–मुद्रितेषु सत्सु, बाह्या दृष्टिः–विषयसञ्चारात्मिका तस्याः प्रचाराः–विस्ताराः मुद्रितेषु–रोधितेषु न हि इन्द्रियप्रचारचलोपयोगैः कर्ममलपटलावगुण्ठिताध्यात्मसंपद् ज्ञायते इत्यनेन बहिर्गमनमुपयोगस्य न कर्त्तव्यमिति ।

समाधिनन्दनं धैर्यं, दम्भोलिः समता शची ।
ज्ञानं महाविमानं च, वासवश्रीरियं मुनेः ॥ २ ॥

समाधिरिति–मुनेः–स्वरूपज्ञानानुभवलीनस्य साधोः इयम्–उच्यमाना वासवस्य–इन्द्रस्य श्रीः–लक्ष्मी, शोभा वर्त्तते । अत्र मुनेः पवित्ररत्नत्रयीपात्ररूपेन्द्रस्य समाधिः–ध्यानध्याताध्येयैकत्वेन निर्विकल्पानन्दरूपः समाधिः स एव नन्दनं वनं,हरेः नन्दनवनक्रीडा सुखाय उक्ता, साधोः समाधिक्रीडा सुखाय, तत्राद्यौपाधिकात्मीयकृतो महान् भेदः । स च अध्यात्मभावनाज्ञेयः । अस्य धैर्यं वीर्याकम्पता औदयिकभावाक्षुब्धतालक्षणं वज्रं–दम्भोलिः पुनः समता–इष्टानिष्टेषु संयोगेषु अरक्तद्विष्टता सर्वेऽपि पुद्गलाः कर्कशचिन्तामण्यादिपरिणताः जीवाश्च भक्ताऽभक्ततया परिणताः ते सर्वे च मम भिन्नाः,एतेषु का रागद्वेषपरिणतिरित्यवलोकनेन समपरिणतिः–समता सा शची स्वधर्मपत्नी ज्ञानं–स्वपरभावयथार्थावबोधरूपं विमानं–सर्वावबोधकरं महाविमानम्, इत्यादिपरिवृतः मुनिः वज्रीव भासते । उक्तं च योगशास्त्रे–"पुसामयत्नलभ्य, ज्ञानवतामव्ययं पदं भूतम् । यद्यात्मन्यात्मज्ञानमात्रमेतत्समाधिहितम् ॥१॥ श्रयते सुवर्णभावं, सिद्धिरसस्पर्शतो यथा लोहम् । आत्मध्यानादात्मा, परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति ॥२॥"

विस्तारितक्रियाज्ञान–चर्मच्छत्रो निवारयन् ।
मोहम्लेच्छमहावृष्टिं, चक्रवर्त्ती न किं मुनिः ॥ ३ ॥

विस्तारितेति–मुनिः–समस्ताश्रवविरतः द्रव्यभावसंवरतः किं चक्रवर्त्ती न ? अपि तु अस्त्येव । किं भूतः ? विस्तारितक्रियाज्ञानचर्मच्छत्रः, क्रिया च ज्ञानं च क्रियाज्ञाने चर्म च छत्रं च चर्मच्छत्रे क्रियाज्ञाने एव चर्मच्छत्रे क्रियाज्ञानचर्मच्छत्रे विस्तारिते क्रियाज्ञानचर्मच्छत्रे येन सः, विस्तारित इत्यनेन सत्क्रियोद्यतः सम्यग्ज्ञानोपयुक्तः । मोह एव म्लेच्छः तस्य महती वृष्टिः तां निवारयन् मोहम्लेच्छा उत्तरखण्डाद्यास्तत्प्रयुक्तमिथ्यात्वदैत्यकृता कुवासनावृष्टिः स्वशुद्धसम्यग्दर्शननिवारितकुवासनाचयः मुनिः भावचक्रवर्त्तीव भासते ।

नवब्रह्मसुधाकुण्ड–निष्ठाधिष्ठायको मुनिः ।
नागलोकेशवद्भाति, क्षमां रक्षन् प्रयत्नतः ॥ ४ ॥

नवब्रह्मेति–मुनिः–भेदज्ञानगृहीतात्मध्यानः, नागलोकेशवत्–उरगपतिवत् भाति । किं कुर्वन् ? क्षमा–पृथ्वी–क्रोधापहरणपरिणतिः वचनधर्मात्मिका क्षमा तां रक्षन् धारयन् इति । उरगपतेः क्षमाधारकत्वं लोकोपचारतः, नहि रत्नप्रभाद्या भूमयः केनचिद् धृताः, उपमा तु महत्त्वज्ञापिका सामर्थ्यज्ञापिका च । पुनः कथंभूतो मुनिः ? नवं यद् ब्रह्मज्ञानं तदेव सुधा तस्याः कुण्डं, निष्ठा–स्थितिस्तस्या अधिष्ठायकः, इत्यनेन तत्त्वज्ञानामृतकुण्डस्थैर्यरक्षक इति ।

मुनिरध्यात्मकैलाशे, विवेकवृषभस्थितः ।
शोभते विरतिज्ञप्ति–गङ्गागौरीयुतः शिवः ॥ ५ ॥

मुनिरध्यात्मेति–अत्र श्लोकत्रये महादेवकृष्णब्रह्मोपमानम् औपचारिकम् ।नहि ते कैलाशगङ्गावृष्टिकरणोधना

किंतु लोकोक्तिरेषा, तेन श्लेषालंकारार्थं हि वाक्यपद्धतिः, न सत्या । मुनिः—तत्त्वज्ञानी अध्यात्मम्—आत्मस्वरूपैकत्वं तद्रूपे कैलाशे आस्थाने, विवेकः—स्वपरविवेचनं स एव वृषभः—बलीवर्दः, तत्र स्थितः, विरतिः—चारित्रफलास्रवनिवृत्तिः, ज्ञप्तिः—ज्ञानकला शुद्धोपयोगता एव गङ्गागौरी, ताभ्यां युतः शिवः—निरुपद्रवः, उपचारात्—शिवः—रुद्रो भासते, रुद्रस्य गङ्गायुतत्वं विद्याधरत्वे पार्वतीमनोरञ्जनाय विक्रियाकाले वाच्यम् ।

ज्ञानदर्शनचन्द्रार्क-नेत्रस्य नरकच्छिदः ।
सुखसागरमग्नस्य, किं न्यूनं योगिनो हरेः ॥ ६ ॥

ज्ञानदर्शनेति—योगिनः—रत्नत्रयपरिणतस्य हरेः—कृष्णात् किं न्यूनं ?, न किमपि । किंभूतस्य योगिनः ?—ज्ञानदर्शनचन्द्रार्कनेत्रस्य, ज्ञानं—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषावबोधः, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यावबोधः दर्शनं, ते एव चन्द्रार्कौ नेत्रे यस्य स तस्य । हरेः चन्द्रार्कनेत्रत्वं तु लोकोक्तिरेव । पुनः किंभूतस्य योगिनः ?—नरकच्छिदः—नरकगतिनिवारकस्य, हरेस्तु—नरकाभिधानशत्रुविदारकस्य, सुखसागरमग्नस्य—कृष्णार्थे इन्द्रियजसुखलीलासमुद्रमग्नत्वं, योगिनः सुखं सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रसमाधिनिष्पन्नं तस्य सागरः तत्र मग्नस्य, आध्यात्मिकसुखपरिणामभाजनस्य साधोः केन सह न्यूनता ?, न केनापि इति ।

या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या, बाह्यापेक्षावलम्बिनी ।
मुनेः परानपेक्षान्त-र्गुणसृष्टिस्ततोऽधिका ॥ ७ ॥

या सृष्टिर्ब्रह्मण इति—या सृष्टिः—रचना ब्रह्मणो विधातुः सा बाह्या—लोकोक्तिरूपा असत्या, पुनः बाह्या या अपेक्षा तस्या अवलम्बिका, मुनेः—स्वरूपसाधनसिद्धिमग्नस्य अन्तः—मध्ये आत्मनि व्यापकरूपा, गुणानां सृष्टिः—रचना गुणप्रागभावप्रवृत्तिपरिणतिरूपा, बाह्यभावतः अधिका । कथंभूता गुणसृष्टिः ? परानपेक्षा, परेषाम् अनपेक्षा अपेक्षारहिता पराश्रयालम्बनविमुक्ता स्वरूपावलम्बनपरा गुणरचना सा सर्वतोऽधिका इति ।

रत्नैस्त्रिभिः पवित्रा या, स्रोतोभिरिव जाह्नवी ।
सिद्धयोगस्य साऽप्यर्ह-त्पदवी न दवीयसी ॥ ८ ॥

रत्नैस्त्रिभिरिति—सिद्धयोगस्याष्टाङ्गयोगसाधनसिद्धस्य साधोः, साऽपि अर्हत्पदवी ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयात्मिकाष्टप्रातिहार्यान्विता जगद्धर्मोपकारिणी न दवीयसी; न दूरा इत्यर्थः । किंभूता पदवी ?—त्रिभिः रत्नैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रैः पवित्रा । का इव ? स्रोतोभिः—प्रवाहैः जाह्नवी—गङ्गा इव, इति त्रैलोक्याद्भुतपरमार्थदायकत्वाद्यतिशयोपेता अर्हत्पदवी साधकपुरुषस्य यथार्थमार्गोपेतस्य न दवीयसी, आसन्ना एव इति । एवं सर्वमपि औपाधिकं अपहाय स्वीयरत्नत्रये साधना विधेया, येन सर्वा ऋद्धयो निष्पद्यन्ते । अष्ट० २० अष्ट० ।

सव्वसमुदय—सर्वसमुदय—पुं० । स्वस्वाभियोग्यादिसमस्तपरिवारे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । पौरादिमीलने, भ० ६ श० ३३ उ० । महाजनमेलके, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । विपा० ।

सव्वसरीरगय—सर्वशरीरगत—त्रि० । सर्वदेहव्यापके, दर्श० ४ तत्त्व ।

सव्वसव्वण्णुसंमय—सर्वसर्वज्ञसंमत—त्रि० । सर्वेषां सर्वज्ञानां सम्मतम्—इष्टं सर्वसर्वज्ञसम्मतम्, सर्वं च तत् सर्वज्ञसम्मतं च सर्वसर्वज्ञसम्मतम् । प्रवचनतत्त्वे, स० ।

सव्वसह—सर्वसह—त्रि० । परिषहोपसर्गसहिष्णौ, आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

सव्वसावज्जविरय—सर्वसावद्यविरत—त्रि० । सर्वसपापयोगनिवृत्ते, पं० सू० १ सूत्र ।

सव्वसाहणणाबंध—सर्वसंहननाबन्ध—पुं० । सर्वेण सर्वस्य वा क्षीरनीरादीनामिव बन्धे, भ० ८ श० ६ उ० ।

सव्वसाहु—स(सा)(अव्य)(व्य)र्वसाधु—पुं० । स्थविरकल्पिकादिभेदभिन्नेषु मोक्षसाधकेषु मुनिषु, ध० २ अधि० ।

नमो लोए सव्वसाहूणं ।

'साहूण' ति—साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः समता वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति निरुक्तिन्यायात्साधवः, यदाह—'निव्वाणसाहए जोए, जम्हा साहेंति साहुणो । समा य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥ १ ॥' सहायकं वा संयमकारिणा धारयन्तीति साधवो निरुक्तेरेव, सर्वे च ते सामायिकादिविशेषणाः प्रमत्तादयः पुलाकादयो जिनकल्पिकप्रतिमाकल्पिकयथालन्दकल्पिकपरिहारविशुद्धिकल्पिकस्थविरकल्पिकस्थितकल्पिकस्थितास्थितकल्पिककल्पातीतभेदाः प्रत्येकबुद्धस्वयंबुद्धबुद्धबोधितभेदाः भारतादिभेदाः सुखमदुःखमादिविशेषिता वा साधवः सर्वसाधवः । सर्वग्रहणं च सर्वेषां गुणवतामविशेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम्, इदं चार्हदादिपदेष्वपि बोद्धव्यं न्यायस्य समानत्वादिति । अथवा—सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिता सार्वास्ते च ते साधवश्च, सार्वस्य वाऽर्हतो न तु बुद्धादेः साधवः सार्वसाधवः, सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति—कुर्वन्ति सार्वान्वाऽर्हतः साधयन्ति तदाज्ञाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा । अथवा—श्रव्येषु श्रवणार्हेषु वाक्येषु । अथवा—सव्यानि—दक्षिणान्यनुकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवो निपुणाः श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो वाऽनस्तेभ्यः "नमो लोए सव्वसाहूणमिति" क्वचित्पाठः तत्र सर्वशब्दस्य देशसर्वतायामपि दर्शनादपरिशेषसर्वतोपदर्शनार्थमुच्यते, लोके—मनुष्यलोके न तु गच्छादौ ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नम इति । एषां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात् । आह च—"असहाए सहायत्तं, करेंति मे संजमं करेंतस्स । एएण कारणेणं, नमामि हं सव्वसाहूणं ॥ १ ॥" इति । भ० १ श० १ उ० । दशा० ।

सव्वसाहुवंदण—सर्वसाधुवन्दन—न० । समस्तसाधुवन्दने, पर्युषणाया सर्वसाधुवन्दनं कर्तव्यम् । कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सव्वसिणेह—सर्वस्नेह—पुं० । मात्रादिसम्बन्धहेतौ स्नेहे, औ० ।

सव्वसिद्ध—सर्वसिद्ध—पुं० । सर्वे च ते सिद्धाश्च, सर्वं वा सिद्धं साध्यं येषां ते सर्वसिद्धाः । तीर्थङ्करसिद्धादिभेदभिन्नेषु सिद्धेषु, आव० ५ अ० । आ० चू० । ल० । दश० । जं० । ध० । आचा० । सू० प्र० ।

सव्वसिद्धा-सर्वसिद्धा-स्त्री० । पञ्चम्यां दशम्यां च रात्रि-तिथौ, ज्यो० ४ पाहु० । चं० प्र० ।

सव्वसिरी-सर्वश्री-स्त्री० । वीरतीर्थे अपश्चिमश्राविकायाम् , 'दुप्पसहो सूरी, फग्गुसिरी अज्जा,नाइलो सावओ, सव्वसिरी साविया, एस अपच्छिमो संघो।" ती० २० कल्प । ति० ।

सव्वसुइ-सर्वशुचि-त्रि० । सर्वत शुचौ, (पवित्रे सर्वशुचिः श्रावक (आ० क० ४ अ० ।) 'सुइ' शब्दे उदाहरिष्यते ।)

सव्वसुराणया-सर्वशून्यता-स्त्री० । सर्वेषां भावानामभावे, सा च बौद्धानां संमता । अनु० ।

सव्वसुविण-सर्वस्वप्न-पुं० । समस्तस्वप्नमहास्वप्नोभयेषु ,

कइ णं भंते ! सव्वसुविणा पण्णत्ता, गोयमा ! बावत्तरिं सव्वसुविणा पण्णत्ता । (सू०-५७८×)

द्वाचत्वारिंशत्स्वप्ना , त्रिंशन्महास्वप्ना , सम्मिलिता द्वास प्तति सर्वस्वप्ना' । भ० १६ श० ६ उ० । कल्प० ।

सव्वसुहप्पभव-सर्वसुखप्रभव-पुं० । सर्वस्य सुखस्योत्पाद-कारणे, व्य० १० उ० ।

सव्वसूयग-सर्वसूचक-पुं० । सूचकानुसूचकादिकथितस्य स्वयमुपलब्धस्य च अमात्यकथके सामन्तराजपुरुषे , व्य० १ उ० ।

सव्वसुहुम-सर्वसूक्ष्म त्रि० । सर्वथा सूक्ष्मे,भ० ११ श०३ उ०।

सव्वसुहुमतर-सर्वसूक्ष्मतर-त्रि० । सर्वेषां मध्ये अतिशयेन सूक्ष्मे, स्वार्थिककप्रत्यये सूक्ष्मतरकोऽप्यत्र । भ०११ श०३ उ०।

सव्वसेट्ठ-सर्वश्रेष्ठ-त्रि० । सर्वप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सव्वसेय-सर्वश्वेत-त्रि० । सर्वात्मना श्वेते, रा० ।

सव्वसो-सर्वशस्-अव्य० । सर्वैः प्रकारैरित्यर्थे, उत्त० ६ अ०। नि० चू० । आचा० । सूत्र० ।

सव्वसोक्ख-सर्वसौख्य-त्रि० । आनन्दे,प्रश्न०३ आश्र० द्वार ।

सव्वसोक्खा-सर्वसौख्या-स्त्री० । समस्तसौख्यदाऽया स्वना मख्यातायां देव्याम् ,यस्या. समस्तगृहिसौख्यविवृद्ध्यर्थं तप क्रियते तच्च रूढिगम्यम् । पञ्चा० ११ विव० ।

सव्वस्स-सर्वस्व-न० । समस्तद्रव्ये , स्था० ३ ठा० १ उ० । सव्वस्सहरणं कयं । नि० चू० १ उ० ।

सव्वहा-सर्वथा-अव्य०। सर्वैः प्रकारैरित्यर्थे,पञ्चा० ६ विव०। द्वा० । विशे० । प्रश्न० । ' सव्वहि ' इत्यपि भवति । सर्वथा । सर्वासिनाति वा नदर्थं । क० प्र० २ प्रक० ।

सव्वहाकयकिच्च-सर्वथाकृतकृत्य-पुं० । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः कृत कृत्यं येन स तथा । निष्ठितार्थे । पं० सू० २ सूत्र ।

सव्वागास-सर्वाकाश-पुं० । सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशम् । लोकाऽलोकाऽऽकाशे , विशे० । नं० ।

सव्वागासपएसग्ग-सर्वाकाशप्रदेशाग्र-न० । सर्वाकाशस्य-लोकालोकाकाशस्य प्रदेशा.-निर्विभागा भागाः सर्वाकाश प्रदेशा तेषामग्र-परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम् । सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तशो गुणिते, न० ।

सव्वागाससेढि-सर्वाकाशश्रेणि-स्त्री० । सर्वाकाशस्य बुद्ध्या चतुरस्रप्रतरीकृतस्य प्रदेशपङ्क्तौ, भ० १२ श० १ उ० ।

सव्वाणुभूइ-सर्वानुभूति-स्त्री० । भारते वर्षे भविष्यति पञ्चमे तीर्थंकरे, ति० । " पढमो दढाउजीवो सव्वाणुभूई " ती० २० कल्प । प्रव० । गोशालेन भस्मसात्कृते श्रीवीरजिन शिष्ये, स्था० १० ठा० ३ उ० । ('गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०२४ पृष्ठे वक्तव्यता गता ।)

सव्वाणुलोमया-सर्वानुलोमता-स्त्री० । गुरो सर्वेष्वुपदेशेषु अप्रतिकूलतायाम् , व्य० १ उ० । ('विणय' शब्दे षष्ठे भागे ११५२ पृष्ठे गता वक्तव्यता ।)

सव्वाणुवत्तय-सर्वानुवर्त्तक-पुं० । सर्वाननुवर्तयतीति सर्वानुवर्त्तक । सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्त्तरि, ध० २ अधि० ।

सव्वातिहि-सर्वातिथि-पु० । साधौ, अनु० ।

सव्वादर-सर्वादर-पुं० समस्तयावच्छक्तितोलने, रा० । जी०। सर्वोचितकृत्यकरणे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

सव्वादि-सर्वादि-पुं० । समस्तवस्तुस्तोममूले नि० चू०११ उ०।

सद्वादिन्-पुं० । सन् शोभनो वादी सद्वादी । आत्मास्ति त्ववादिनि, नि० चू० ११ उ० ।

सव्वाबाहारहिय-सर्वाबाधारहित-त्रि० । शारीरमानसाबाधामुक्ते, पो० १५ विव० ।

सव्वामगंध-सर्वामगन्ध-पुं० । आम च गन्धश्च आम-गन्ध समाहारद्वन्द्व सर्व च तदामगन्ध च सर्वामगन्धम् । कार्त्स्न्येनापरिशुद्धं, पूतिदोषेण दुष्टे च। " सव्वामगंध परिणाय णिरामगंधे परिव्वएज्जा । " आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । (' आमगंध ' शब्दे द्वितीयभागे २८६ पृष्ठे व्याख्या गता ।)

सव्वामरपूइय-सर्वामरपूजित-त्रि० । सकलदेवमहिते,ध० २ अधि० ।

सव्वाय-सद्वाद-पुं० । सन्-शोभनो वाद सद्वाद । परैः सह शोभने वादे, " काऊण पीतणम्मि सव्वाय णिवुत्तो भगव " वृ० ६ उ० ।

सव्वारक्खिय-सर्वारक्षिक-पुं०। सर्वा प्रकृतयो रक्षति यः स सर्वारक्षिक । राज्ञ कुम्भकारादीनां प्रकृतीनां रक्षके, नि० चू० ४ उ० ।

सव्वा(वंति)वत्ति-सर्वापत्ति-स्त्री० । सर्वेणातपेनापत्तिर्व्याप्तिर्यस्य क्षेत्रस्य सा सर्वापत्ति । सर्वातपव्याप्त, सर्वापत्तिस्पृशन् किं क्षेत्र स्पृशति । भ० ।

से नूणं भंते ! सव्वंति सव्वावंति फुममाणकालसमयंसि जावतियं खेत्तं फुसइ तावतियं फुसमाणे पुट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?, हंता गोयमा ! सव्वंति० जाव वत्तव्वं सिया । तं

भंते ! किं पुट्ठं फुसइ अपुट्ठं फुसइ ? , ०जाव नियमा छद्दिसिं । (सू० ५० X)

'से गूण'मित्यादि'सव्वति'त्ति-प्राकृतत्वात्,सर्वतः-सर्वासु दिक्षु।'सव्वावंति'त्ति-प्राकृत्वादेव सर्वात्मना सर्वेण वाऽऽतपेनापत्तिः-व्याप्तिर्यस्य क्षेत्रस्य तत्सर्वापत्तिः। अथवा-सर्व क्षेत्रम्, इतिशब्दो विषयभूत क्षेत्रं सर्वं न तु समस्तमेवेत्यस्यार्थस्योपप्रदर्शनार्थ. तथा सर्वेणाऽऽतपेनापो-व्याप्तिर्यस्य क्षेत्रस्य तत्सर्वापम्, इतिशब्द. सामान्यत. सर्वेणातपेन व्याप्तिर्न तु प्रतिप्रदेशं सर्वेणेत्यस्यार्थस्योपप्रदर्शनार्थः । अथवा—सह व्यापेन—आतपव्याप्त्या यत्तत्सव्यापम्,इतिशब्दस्तु तथैव फुसमाणकालसमयं'ति-स्पृश्यमानक्षणे । अथवा—स्पृशतः—सूर्यस्य स्पर्शनायाः कालसमयः स्पृशत्कालसमयस्तत्र आतपेनेति गम्यते, यावत्क्षेत्रं स्पृशति सूर्य इति प्रकृतं तावत्क्षेत्रं स्पृश्यमानं स्पृष्टमिति वक्तव्य स्यादिति प्रश्न.,हन्तेत्याद्युत्तरम्,स्पृश्यमानस्पृष्टयोश्चैकत्वं प्रथमसूत्राद्‌वगन्तव्यमिति । भ० १ श० ६ उ० ।

सव्वावत्था-सर्वावस्था-स्त्री० । सरागवीतरागादिसमस्तपर्यायेषु, पञ्चा० १६ विव० ।

सव्वाऽवरोह-सर्वाऽवरोध-पुं० । सर्वान्तःपुरे, औ० । कल्प० ।

सव्वासि(ण्)-सर्वाशिन्-पुं० सर्वमश्नाति इत्येवंशील. सर्वाशी। बहुभक्षके, व्य० १ उ० ।

सव्वाहिवइ-सर्वाधिपति-पुं० । स्वदेशेऽन्यत्र वा सर्वत्र प्रभवति । सार्वभौमे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सव्विंदियकायजोगजुंजणया-सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता-स्त्री० । सर्वेन्द्रियाणां काययोगस्य च योजनता-प्रयोजनव्यापारणं सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता । कायविनयभेदे, ग० १ अधि० ।

सव्विंदियगायपल्हायणिज्ज-सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीय-त्रि०। सर्वाणीन्द्रियाणि गात्रं च प्रह्लादयतीति सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयम्। वैशद्यहेतौ,जं० २ वक्ष० । जी० । समस्तेन्द्रियशरीरव्यापारकारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सव्विंदियजोगजुंजणया—सर्वेन्द्रिययोगयोजनता—स्त्री० । सर्वेषामिन्द्रियाणां योगा व्यापारा सर्वे वा ये इन्द्रिययोगास्तेषां योजनता करणं सर्वेन्द्रिययोगयोजनता । कायविनयभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रयोगे, भ० २५ श० १ उ० ।

सव्विंदियणिव्वत्ति-सर्वेन्द्रियनिर्वृत्ति-स्त्री० । सर्वेषामिन्द्रियाणां निष्पत्तौ, भ० १६ श० ८ उ० । ('णिव्वत्ति' शब्दे चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे वक्तव्यता गता ।)

सव्विंदियसमाहिय-सर्वेन्द्रियसमाहित-त्रि० । शब्दादिभिरनाक्षिप्ते, दश० ५ अ० १ उ० । शब्देषु रागद्वेषावगच्छति, दश० ८ अ० ।

सव्विंदियाभिणिव्वुड-सर्वेन्द्रियाभिनिर्वृत-पुं० । सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृत्तः । संवृतेन्द्रिये, जितेन्द्रिये च । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

सव्विड्ढि-सर्वर्द्धि-स्त्री० । समस्तच्छत्रादिराजचिह्नरूपायामाभरणादिसंबन्धिन्यां वा कान्तौ, कल्प० ५ अधि० ५ क्षण । भ० । रा० । औ० ।

सव्विया-सर्विका-स्त्री० । सर्वा स्वार्थेऽकच् । सर्वाशब्दार्थे, विशे० ।

सव्वुक्कड-सर्वोत्कट-पुं० । प्रकृष्टदण्डराज्यस्तेनदेशादिके सर्वोत्तमे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सव्वुक्किट्ठ-सर्वोत्कृष्ट-त्रि० । स्वभावेन सुन्दरे, दशा० ७ अ० ।

सव्वुत्तमट्ठाण-सर्वोत्तमस्थान-न० । परमपदे,पं० व० १ द्वार ।

सव्वुत्तमपुण्णणिम्माण-सर्वोत्तमपुण्यनिर्माण-न० । निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणम् । सर्वोत्तम पुण्यनिर्माणमस्येति । सर्वोत्तमपुण्यनिर्मिते, षो० १५ विव० ।

सव्वुत्तमपुण्णसंजुत्त-सर्वोत्तमपुण्यसंयुक्त-त्रि० । अत्यन्तप्रकृष्टतीर्थकरनामादिलक्षणशुभकर्मसंयुक्ते, पञ्चा० ७ विव० ।

सव्वेय-सर्वैजस्-त्रि० । सर्वतश्चले, भ० २५ श० ४ उ० ।

सव्वेसणा-सर्वैषणा-स्त्री० । सर्वाहाराद्युद्गमोत्पादनग्रासैषणायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

सव्वोउय-सर्वर्तुक-न० । कुसुमसंछन्ने, विपा० १ श्रु० १ अ० । "सव्वोउयसुरभिकुसुमपरिवरियसिरया" सर्वर्तुकसुरभिकुसुमैर्वृता वेष्टिता शिरोजा यस्या. सा तथा । भ० ६ श० ३ उ० । जी० । प्रश्न० ।

सव्वोदग-सर्वोदक-न० । सर्वतीर्थनद्याद्युदके, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सर्वतीर्थसम्भवे जले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सव्वोवयार-सर्वोपचार-पुं० । सर्वेषु प्रकारेषु, षो० ६ विव० ।

सव्वोसह-सर्वौषध-न० । सर्वस्मिन् विण्मूत्रादिके औषधे,ग० ।

सव्वोसहि-सर्वौषधि-पुं० । सर्वे विण्मूत्रकेशनखादयः उक्ताऽनुक्ताश्च औषधयो यस्य स तथा । ग० २ अधि० । सर्वे एव विण्मूत्रकेशनखादयोऽवयवाः सुरभयो व्याध्यपनयनसमर्थत्वादौषधयो यस्यासौ सर्वौषधिः । अथवा—सर्वा आमर्षौषध्यादिका औषधयो यस्यैकस्यापि साधोः स तथा । ऋद्धिविशेषशालिनि, विशे० । आ० म० । प्रव० । आ० चू० ।

सस-शश-पुं० । शशनं शश । घञि प्रत्यये तथारूपम् । पं० व० २० पाहु० । सू० प्र० । आटव्ये चतुष्पदजातिविशेषे, प्रश्न० २ आश्र० । द्वार । रा० । ज्ञा० ।

ससंक-शशाङ्क-पुं० । चन्द्रे, चं० १ उ० ३ प्रक० ।

ससंकिय-सशङ्कित-त्रि० । शङ्कनं शङ्कितं सह शङ्कितं यस्य येन वा स तथा । किं व्रजामि किं वा नेत्येवंरूपशङ्कोपेते, व्य० २ उ० ।

ससंधिय-ससंधित-त्रि० । उपहते सीविते, कृतथिग्गले वस्त्रे, आ० म० १ अ० ।

१-'मोय' शब्द. षष्ठभागस्थो द्रष्टव्य. ।

ससंभमोवत्तिया–ससम्भ्रमोपवर्तिका–स्त्री० । ससंभ्रमं व्याकुलचित्ततया प्रवर्त्ततयाऽपवर्त्तयति क्षिपति या सा तथा । सत्त्वरकार्यकारिण्यां चेटयाम् , भ० ६ श० ३३ उ० ।

ससकसारा–सशक्रसारा–स्त्री० । रतिकरपर्वतानां मध्यगस्य वैश्रवणप्रभस्य पर्वतस्य उपरि दक्षिणदिग्वर्त्तिन्यां राजधान्याम् , द्वी० ।

ससग–शशक–पुं० । खरगोश इति ख्याते आटव्यपशौ , प्रज्ञा० १ पद । अस्मिन् भरतार्द्धे वनवासिन्यां नगर्यां जितशत्रोः राज्ञः पुत्रे सुकुमालिकाभ्रातरि , बृ० ४ उ० । नि० चू० ।

ससण–श्वसन–पुं० । श्वसिति प्राणित्यनेनेति । श्वसनः । वायौ, नं० । निश्वासे, न० । नासिकायाम् , स्त्री० । औ० ।

ससणिद्ध–सस्निग्ध–त्रि० । शीतोदकादिस्तिमिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । बिन्दुरहिते आर्द्रे हस्तादौ, औ० । ईसिं उल्ला ससणिद्धा । नि० चू० १३ उ० ।

ससत्ति–स्वशक्ति–स्त्री० । स्वसामर्थ्ये, ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

ससबिन्दु–शशबिन्दु–पुं० । वल्लीवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

ससमय–स्वसमय–पुं० । अर्हन्मतानुसारिशास्त्रात्मके (उत्त० १ अ० ।) सिद्धान्ते, सम्म० २ काण्ड । अनु० ।

ससमयकुसल–स्वसमयकुशल–पुं० । स्वसिद्धान्तनिपुणे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

ससमय(ण्णु)न्न–स्वसमयज्ञ- पुं० । स्वसमयं जानातीति स्वसमयज्ञः । गीतार्थे, तादृशेनैव भिक्षायां प्रवेष्टव्यं गोचरप्रदेशादौ पृष्टः सन् सुखेनैव भिक्षादोषानाचष्टे । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

ससमयपण्णवग–ससमयप्रज्ञापक–पुं० । जैनसिद्धान्तप्रज्ञापके, पं० व० ४ द्वार । (अत्रत्या वक्तव्यता ' वक्खाण ' शब्दे षष्ठभागे गता ।)

ससमयपरसमइय–स्वसमयपरसमयिक–पुं० । स्वसिद्धान्तपरसिद्धान्तौ यत्र स्तः स स्वसमयपरसमयिकः । स्वपरसमयनिबद्धे , स्था० १० ठा० ३ उ० । नं० ।

ससमयपरसमयविय–स्वसमयपरसमयवित्–पुं० । स्वसमय परसमयं वेत्ति इति स्वसमयपरसमयवित् । स्वपरशास्त्रज्ञे, स हि परेणाक्षिप्तः सुखेन स्वं पक्षं परपक्षं च निर्वाहयति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

ससमयपय–स्वसमयपद–न० । जीवाद्यर्थप्रतिपादके पदे, अनु० ।

ससमयवज्ज–स्वसमयवर्ज–त्रि० । स्वसिद्धान्तशून्ये , दश० ३ अ० ।

ससय–शशक–पुं० । लोमटकाकृतौ आटव्यजीवे , प्रज्ञा० १० पद । विपा० । सुकुमालिकाभ्रातरि जराकुमारपौत्रे जितशत्रोः स्वनामख्याते पुत्रे, नि० चू० ७ उ० ।

ससरक्ख–ससरजस्क–त्रि० । सचित्तरजोयुक्ते, आचा० २श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । तापसविशेषे, जी० १ प्रति० ।

ससरक्खपाणिपाय- ससरजस्कपाणिपाद–पुं० । सचेतनादिरजोगुण्ठितपादे, दशा० १ अ० । आव- । " ससरक्खपाणिपाओ भवइ । ससरक्खपाणिपाए सह सरक्खेणं ससरक्खे अथंडिल्ला थंडिल्लं संकमतो ण पमज्जइ थंडिल्लाओ वि अथंडिल्लं कण्हभोमादिसु विभासा । ससरक्खपाणिपाए ससरक्खेहिं हत्थेहिं भिक्खं गेण्हइ । अहवा–अणंतराहेयाए पुढवीए निसीयणाइ करेंतो ससरक्खपाणिपादो भवति"। आव० ४ अ० ।

ससरक्खमोस–ससरजस्कामर्ष–पुं० । अप्रमृज्य रजोयुक्तस्य स्पर्शने, आव० ४ अ० । (व्याख्याऽस्य ' आमोस ' शब्दे द्वितीयभागे २६१ पृष्ठे गता ।)

ससरीरि(ण्)–सशरीरिन्–पुं० । सह यथासम्भवं पञ्चविधशरीरेण ये ते । इन् समासान्तविधेः सशरीरिणः । संसारिषु, स्था० २ ठा० ४ उ० । भ० ।

ससलोमय–शशलोमज न० । शशलोम्नो जाते सूत्रे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

ससल्ल–सशल्य–त्रि० । शल्यसहिते, ' अहो भयवं सव्वलक्खणसम्पन्नो किं तु ससल्लो पलोयंतेण दिट्ठो कधेसु तेण भाणियव्वं भवइ "। आ० म० १ अ० ।

ससहर–शशधर–पुं० । चन्द्रे, पाइ० ना० ।

ससा–स्वसृ–स्त्री० । " स्वस्रादेर्डा " ॥ ८ । ३ । ३५ ॥ इति डाप्रत्ययः । प्रा० । भगिन्याम् , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

ससागरंता–ससागरान्ता–स्त्री० । समुद्रान्तायाम् , प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

ससागरिय–ससागारिक–त्रि० । सस्त्रीके, आचा०२ श्रु०१ चू० २ अ० ३ उ० ।

ससार–ससार–त्रि० । सञ्जातसारे, ' ससाराओ ओसहीओ ' इत्यालपेत् । ससाराः संजाततन्दुलादिसारा इत्येवमालपेत् । दश० ७ अ० । ज्ञानदर्शनचारित्रसारवति, ओघ० ।

ससि(ण्)–शशिन्–पुं० । "शषोः सः " ॥ ८ । ४ । ३०६ ॥ इति शशयोः सः । प्रा० । चन्द्रे , आ० म० १ अ० । प्रश्न० । दश० । स्था० । ज्ञा० । औ० ।

सम्प्रति चन्द्रस्य लोके शशीति यदभिधानं प्रसिद्धं तदन्वर्थतावगमनिमित्तं प्रश्नं करोति–

ता कहं ते चंदे ससी आहितेति वदेज्जा ? ता चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो मियंके विमाणे कंता देवा कंताओ देवीओ । कंताइं आसणसयणखंभभंडमत्तोवगरणाइं अप्पणा वि णं चंदे देवे जोतिसिंदे जोतिसराया सोमे कंते सुभे पियदंसणे सुरूवे ता एवं खलु चंदे ससी चंदे ससी आहितेति वदेज्जा । (सू० १०५ ×)

' ता कहं ते ' इत्यादि, ता इति पूर्ववत् , कथं-केन प्रकारेण केनान्वर्थेनेति भाव , चन्द्र शशीत्याख्यात इति वदेत् ? भगवानाह– ' ता चंदस्स ण ' मित्यादि , ता इति पूर्ववत् । चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य मृगाङ्के मृगचिह्ने

विमाने अधिकरणभूते कान्ताः कमनीयरूपा देवा कान्ता देव्यः कान्तानि च आसनशयनस्तम्भभाण्डमात्रोपकरणानि आत्मनाऽपि चन्द्रो देवो ज्योतिषेन्द्रो-ज्योतिषराजः सौम्यः- अरौद्राकारः कान्त.—कान्तिमान् सुभग.—सौभाग्ययुक्तत्वात् वल्लभो जनस्य प्रियं—प्रेमकारि दर्शनं यस्य स प्रियदर्शन शोभनम्-अतिशायिरूपम् अङ्गप्रत्यङ्गावयवसन्निवेश विशेषो यस्य स सुरूपः । 'ता' तत. एवं खलु अनेन कारणेन चन्द्रः शशी चन्द्र. शशीत्याख्यात इति वदेत् । किमुक्तं भवति ?-सर्वात्मना कमनीयत्वलक्षणमन्वर्थमाश्रित्य चन्द्र शशीति व्यपदिश्यते । कया व्युत्पत्त्येति,उच्यते-इह'शश' कान्तावित्ति धातुरदन्तश्चौरादिकोऽस्ति चुरादयो हि धातवोऽपरिमिता न तेषामियत्ताऽस्ति, केवलं यथालक्ष्यमनुसर्त्तव्या'। अत एव चन्द्रगोमी चुरादिगणस्यापरिमिततया परमार्थतो यथालक्ष्यमनुसरणमवगम्य कियतोनेव चुरादिधातून् पठितवान् च भूयस. । ततो णिगन्तस्य शशने शश इति घञ् प्रत्यये शश इति भवति । शशोऽस्यास्तीति शशी स्वविमानवास्तव्यदेवदेवीशयनासनादिभिः सह कमनीयकान्तिकलित इति भाव. । अन्ये तु व्याचक्षते—शशीति सह श्रिया वर्त्तते इति सश्री. प्राकृतत्वाच्च शशीति रूपम् । चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । औ० । आ० चू०। भ०। स्था०। चान्द्रमासे, नि० चू० २० उ० ।'

ससिकूड-शशिकूट-न० । जम्बूद्वीपे दक्षिणरुचकवरपर्वतस्य पञ्चमे कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

ससिणिद्ध-सस्निग्ध-त्रि० । सह स्निग्धेन वर्त्तत इति सस्निग्ध. । स्निग्धता चेह बिन्दुरहिता ननु रोहितोदकमेण सम्मिश्रिता । दश० ४ अ० । अगलदुदकबिन्दुके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

ससित्थ-ससिक्थ-त्रि० । भक्तपुलकोपेते, पञ्चा० ५ विव० ।

ससिभूसण-शशिभूषण-पुं०।प्रभासतीर्थे श्रीचन्द्रप्रभप्रतिमायाम् , प्रभासे शशिभूषण. श्रीचन्द्रप्रभश्चन्द्रकान्तिमणिमयः । ती० ४३ कल्प ।

ससिया-शशिका-स्त्री० । शशस्त्रियाम् , प्रश्न० १ संव० द्वार ।

ससिराय-शशिराज-पुं० । स्वनामख्याते राजनि, यो हि मनोवाक्कायैः खेदं कृत्वा नरकं गतः । तं० । चन्द्रे, औ० ।

ससिरिय-सश्रीक-त्रि० । सशोभे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जी० । जं० । रा० । सू० प्र० । स० ।

ससिसयल-शशिशकल-न० । चन्द्रखण्डे, औ० । तं० । जी०।

ससिसोमाकार-शशिसौम्याकार-त्रि०।शशिवत् सौम्याकारे, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । शशिवदरौद्राकारे, 'ससिसोमाकारकतप्पियं' शशीवत् सौम्य आकार. कान्तं-कमनीयं प्रियं—प्रेमावहं च दर्शनं च यथा ते तथा । तं० ।

ससिह-सशिख-पुं० । केशानां धारके, व्य० ४ उ० । अमुण्डितशिरस्के, व्य० १ उ० । पिं० ।

ससुइय-सश्रुतिक-पुं० । हेयोपादेयपरिहारप्रवृत्तिके, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

ससुय-ससुत-त्रि० । पुत्रसहिते, उत्त० १४ अ० ।

ससुर-श्वशुर-पुं० । पत्नीपितरि, पतिपितरि च । अनु० ।

ससुरकुलरक्खिया-श्वशुरकुलरक्षिता-स्त्री० । श्वशुरकुले पालिताया स्त्रियाम् , औ० ।

ससोहग्गगुणसमूसिय-ससौभाग्यगुणसमुच्छ्रित-त्रि० । सौभाग्यं गुणसमुच्छ्रितं च ससौभाग्यगुणसमुच्छ्रितम् । सौभाग्यगुणयुक्ते, भ० ६ श० ३३ उ० ।

सस्स-शस्य-न० । खलकवर्त्तिनि शालिव्रीह्यादिधान्ये, सूत्र० २ श्रु० २ उ० । सू० । स्था० ।

सस्सवई-शस्यवती-स्त्री० । शस्यं यस्यां भूमौ विद्यते सा शस्यवती । शस्यसंपन्नायां धरित्र्याम् , नि० चू० २० उ० ।

सस्सामिवायण-स्वस्वामिवाचन-न० । स्वम्—आत्मीयं सचित्तादि स्वामी-राजा तयोर्वचनम् । स्वस्वामिनो. सम्बन्धप्रतिपादने, "छट्ठी सस्सामिवायणे" अनु० । स्था० ।

सस्सिय-सास्यिक-पुं० । सस्येन चरतीति सास्यिकः । कृषीवले, बृ० ३ उ० ।

सस्सिरीय-सश्रीक-त्रि० । सह श्रिया वचनार्थशोभया यत्तत्सश्रीकम् । स्था०८ ठा० ३ उ० । शोभायुक्ते, भ०६ श० ३३ उ० । औ० । ज्ञा० । जी० । कल्प० । अनुप्रासाद्यलङ्कारोपेतत्वात्सशोभे , जं० २ वक्ष० । अन्त० ।

सस्सिरीयरूवग-सश्रीकरूपक-त्रि० । सश्रीकाणि रूपकाणि यत्र तानि सश्रीकरूपकाणि । जी० ३ प्रति०३ अधि० । सशोभरूपकेषु, भ० ६ श० ३३ उ० ।

सह-सह-अव्य० । सार्द्ध शब्दार्थे , षो० ८ विव० । उत्त० । आचा० । आव० । स्था० । जी० । युगपच्छब्दार्थे , स० । सम्बन्धेन सहशब्द. सम्बन्धवाची । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । त्रि० । सर्वप्रकारै. समर्थे जीत० । सूत्र० । औ० । युगलिकमनुष्यजातिभेदे , भ० ६ श० ७ उ०। जं०।

सहआसित-सहासित-न० । स्त्रीभिः सहैकासने निषदने , नि० चू० १ उ० ।

सहकर-सहकर-पुं० । संघाते, रा० ।

सहकार-सहकार-पुं० । चूते , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सहकारि(ण्)-सहकारिन्-पुं० । कारणसहायके , सम्म० २ काण्ड । आव० ।

सहज-सहज-त्रि० । स्वाभाविके , द्वा० ।

सहजप्पमलत्त-सहजाल्पमलत्व-न० । सहजं—स्वाभाविकं यदल्पमलत्व तदिति । गाढतरमिथ्यात्वे, द्वा० १२ द्वा० ।

सहजबुद्धिपरिणाम-सहजबुद्धिपरिणाम-पुं० । स्वभावसम्पन्नेऽकुसमयश्रवणसंपन्ने मतिस्वभावे, स० । सहजात्-स्वभावसम्पन्नाच्च कुसमयश्रवणसम्पन्नाद् बुद्धिपरिणामान्मतिस्वभावात् संशये जातो येषां ते सहजबुद्धिपरिणामसंशयिता. सन्देहजाताश्च सहजबुद्धिपरिणामसंशयिताश्च ये ते तथा । तेषां श्रमणानामिति अक्रम । स० १३७ सम० ।

सहजभाव–सहजभाव–पुं० । स्वभावे,द्वया० १२ अध्या० ।

सहण–सहन–न० । भयाभावान्मर्षणे ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सहत्थ–स्वहस्त–पुं० । स्वकीये करे , स्था० २ ठा० १ उ० ।

सहत्थपाणाइवायकिरिया–स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया–स्त्री० । स्वहस्तेन स्वप्रमाणान्निर्वेदादिना परप्राणान् वा क्रोधादिना निपातयतः स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया । स्वहस्तेन प्राणिघा [illegible] ठा० [illegible] उ० ।

[illegible]–स्वहस्तापरितापनिकी–स्त्री० । स्वहस्तेन स्वस्य परस्य तदुभयस्य वा परितापना दशा चोदीरणाद्या क्रिया परितापनाकारणमेव वा सा स्वहस्तपारितापनिकी । भ० । स्वहस्तेन स्वदेहस्य परदेहस्य वा परितापनं कुर्वतः स्वहस्तपारितापनिकी । पारितापनिक्या क्रियाया भेदे , भ० ३ श० ३ उ० । स्था० । आ० चू० ।

सहदेव–सहदेव–पुं० । माद्र्या जाते पाण्डुपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

सहदेवी–सहदेवी–स्त्री० । औषधिभेदे, ती० ६ कल्प । अवसर्पिण्या जातस्य चतुर्थचक्रिणः सनत्कुमारस्य मातरि, स । आव० ।

सहभुत्त–सहभुक्त–न० । स्त्रीभिः सहैकभाजने भुक्ते , नि० चू० १ उ० ।

सहमाण–सहमान–त्रि० । गुरुके, अनतिपातिनि च । ' सहमाणेसु य कमेण कायव्वं' । व्य० १ उ० ।

सहम्म–सधर्म–पुं० । समानधर्मशीलतायाम् ,व्य० ५ उ० ।

सहय–सहज–त्रि० । स्वभावसम्पन्ने , भ० । उत्पत्त्या सहैव जाते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । ज्ञा० ।

सहयर–सहचर–पुं० । सहाये,स्था० ४ ठा० ३ उ० ।स्त्रियाम् सहचरी । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

सहरिय–सहरित–त्रि० । सह हरितैर्वर्तत इति सहरितम् । दूर्वाप्रवालादिसहिते, दशा० २ अ० । आचा० ।

सहरिस–सहर्ष–त्रि० । सप्रमोदे, पञ्चा० ६ विव० ।

सहवासिय–सहवासिक–त्रि० । एकगृहवासिनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सहसंऽववण–सहस्राम्रवन–न० । समस्तचूतवृक्षसमुदाये, मथुराया नगर्या बहिः सहस्राऽऽम्रवनमुद्यानम् ,ज्ञा०२ श्रु०१६ अ०। नागपुरस्य बहिः सहस्राम्रवनमुद्यानम् । ज्ञा० २ श्रु० ५ वर्ग १६ अ० । 'काम्पिल्यपुरे सहसंऽववणे उज्जाणे' उपा०६ अ०। 'पालासपुरं णाम नगरं सहसंऽववणं उज्जाणं' उपा० ७ अ० । अन्त० । वीरजिनवर्जा सर्वे तीर्थकराः सहस्राम्रवने उद्याने निष्क्रान्ताः । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सहसंबुद्ध–सहसंबुद्ध–पुं० ।सह आत्मनैव सार्द्धमनन्योपदेशत इत्यर्थः, सम्यक्-यथावद् बुद्धः । हेयोपादेयापेक्षणीयवस्तुतत्त्वाधिगमवादिनि जिने, भ० १ श० १ उ० ।

सहसंमइ–सहसंमति–स्त्री० । सहात्मना या सगता मति सा सहसमतिः । परोपदेशनिरपेक्षायां जातिस्मरणप्रतिभादिरूपाया मतौ,प्रज्ञा० १ पद । ' सह संमइयाए ' आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सहसंमइ–सहसंमति–पुं० । आकस्मिकक्रियायाम् , भ० २५ श० ८ उ० । अविमृश्य कारित्वे, ' पुव्विं अपासिऊण ' छूढे पायम्मि जं पुणो पासे । नय तरइ निअत्तेउं, पाय सहसाकरणमेयं' ॥१॥ इति तल्लक्षणात् । ध० २ अधि० । व्य० । स्था० । (सहसाकारप्रतिसेवनावक्तव्यता ' मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठे भागे पञ्चसु समितेषु समितिषु भाविता । (सहसानाभोगादिषु प्रायश्चित्तम् पडिक्कमणारिह ' शब्दे पञ्चमभागे ३२० पृष्ठे उक्तम् ।)

सहसकारपडिसेवणा–सहसाकारप्रतिसेवना–स्त्री० । प्रतिसेवनाभेदे, नि० चू० १ उ० । (सहसाकारप्रतिसेवनावक्तव्यता ' मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठे भागे गता ।)

सहसब्भक्खाण–सहसाभ्याख्यान–न० । सहसाऽनालोच्य अभ्याख्यानम् । असद्दोषाध्यारोपणं चौरोऽयमित्याद्यभिधान सहसाभ्याख्यानम् । ध० २ अधि० । आव० । ध० र० । अविमृश्य कलङ्करूपे मृषावादविरतेर्द्वितीयेऽतिचारे, ध० २ अधि० । उपा० । पञ्चा० ।

सहसा–सहसा–अव्य० । अकस्मादर्थे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । ग० । प्रव० । स्था० । अनुपयोगे व्य० १ उ० । पूर्वापरमपर्यालोच्येत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

सहसाकलंकण–सहसाकलङ्कन–न० । सहसाऽनालोच्य कलङ्कनं कलङ्कस्य करणम् । सहसाऽभ्याख्याने असद्दोषस्यारोपणे, प्रव० ६ द्वार ।

सहसागर–सहसाकार–पुं० । सहसा करणं सहसाकार । अतिप्रवृत्तयोगानिवर्त्तने , पं० व० २ द्वार । अकस्मात्करणे, स्था० १० ठा० ३ उ० । आव० । ध्रा० । ' आलुपसहसाकारं विविधविद्धुचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो ' आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । (एकद्वक्तव्यता ' लोगविजय ' शब्दे षष्ठभागे गता ।)

सहसासव–सहसाश्रव–न० । स्वनामख्याते उज्जयन्तशैलोपरिशैले,'सहसासवं ति तित्थं करं-जरुक्खेण मणहर सम्म । तत्थ य तुरयायारा, पाहाणा तेसि दो भाया ' ॥१॥ ती० ३ कल्प ।

सहसुद्दाह–सहसोद्दाह–पुं० । सहसा-अकस्मादुद्दाहः प्रकृष्टोद्दाह सहसोद्दाहः । सहसाणा वा लोकस्योद्दाहः सहसोद्दाह । अकस्मादुत्पन्ने बहुलोकोद्दाहे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सहस्स–सहस्र–न० । दशशतसंख्यायाम् , तत्संख्येयेषु च । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० । ज० । प्राचुर्ये , स्था० ८ ठा० ३ उ० । कल्प० । सहस्रात्पर यावदनन्तसंख्यायाम्, आ० म० १ अ० ।

सहस्संतरिय–सहस्रान्तरित–त्रि० । सहस्रेण कृतान्तरे , सू० अ० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सहस्सकमल–सहस्रकमल–पुं० । विमलगिरौ , ती० १ कल्प ।

सहस्सक्ख--सहस्राक्ष--पुं०। सहस्रमक्ष्णां यस्यासौ सहस्राक्षः। शक्रे, इन्द्रे, इन्द्रस्य हि किल मन्त्रिणां पञ्च शतानि सन्ति तदीयानां चाक्ष्णामिन्द्रप्रयोजन व्यापृततया इन्द्रसम्बन्धित्वेन विवक्षणात् सहस्राक्षत्वमिन्द्रस्य। प्रज्ञा० २ पद। आ० म०। कल्प०। भ०। उपा०।

सहस्सजोहि--सहस्रयोधिन्--पुं०। मल्लानां सहस्रेण सहैकाकिन्येव युद्धकारके, आव० ४ अ०।

सहस्सपत्त--सहस्रपत्र--न०। सहस्रदलकलिते महापद्मे, जं० १ वक्ष०। रा०। कल्प०। आ० म०। जी०। प्रज्ञा०। औ०। शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प।

सहस्सपाग--सहस्रपाक--न०।सहस्रं कृत्वोऽपराणौषधीरसेन सह शतेन वा कार्षापणानां पक्के तैलघृतादौ, औ०। उपा०।

सहस्सफणि(ण्)--सहस्रफणिन्--पुं०।वैभारपर्वते फणसहस्रकलिते पार्श्वनाथे, ती० ४३ कल्प।

सहस्सरस्सि--सहस्ररश्मि--पुं०। यद्यपि सहस्रशब्दो दशशतसङ्ख्याया वर्त्तते तथापीहानन्तसङ्ख्यायां वर्त्तते। आ० म० १ अ०। सहस्रं रश्मयो यस्य स.। सूर्ये, अनु०। ज्ञा०। रा०।

सहस्सहुत्त--सहस्रकृत्वस्--अव्य०। "कृत्वसो हुत्तं" ॥ ८। २।१५८॥ इति वाराऽर्थस्य कृत्वसुच् प्रत्ययस्य स्थाने हुत्तादेशः। सहस्रवारे, प्रा० २ पाद।

सहस्साउल--सहस्राकुल--त्रि०। सहस्रेषु मन्मथभावेन परिभ्रममाण, त०।

सहस्साणीय--सहस्रानीक--पुं०। स्वनामख्याते कौशाम्बीनगरीराजे, विशे०।

सहस्सार--सहस्रार--पुं०। सहस्रमुखे,आ० चू० ६ अ० स्थानशब्दोक्तसमस्तवक्तव्यताके अष्टमदेवलोके, स्था० १० ठा० ३ उ०। तदिन्द्रे च। विशे०।प्रज्ञा०। उत्तराध्ययना सहस्रारकल्पस्येन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०। अनु०। औ०।

सहस्सारवडिंसय--सहस्रारावतंसक--न०। अष्टमदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम०।

सहस्सिक--साहसिक--पुं०। सहसा-अवितर्क्य भाषणे ये वर्त्तन्ते ते साहसिका।अविमृश्य कारिषु,प्रश्न० २आश्र० द्वार।

सहा--सभा--स्त्री०। "ख-घ-थ-ध-भाम्" ॥ ८। १। १८७॥ इति भस्य हः। प्रा०। ग्रामजनसमवायस्थाने, व्य० १ उ०। (अस्य वर्णकः 'लवणसमुद्द' शब्दे षष्ठभागे गत.।)

सखा--सखिन् सुविभक्ति। बालवयस्ये, स्था० ३ ठा० ४ उ०।समानभोजनपाने गाढतमस्नेहे,जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सखिशब्दो नान्त. सुविभक्तौ सखेति रूपम्। ततः स्वस्य ह्रत्वे। "टा-ङस्-ङेरदादिदेद्वा तु ङसे."॥८। ३। २६॥ इतिस्त्रिया वर्त्तमानान्नाम्न परेषा टाङस्ङीना स्थाने प्रत्येकम् अत् आत् इत् एत् इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति। सहीअ। सहीआ। सहीइ। सहीए। प्रा० ३ पाद।

स्वधा--अव्य०। पितृभ्यो दाने, प्रति०।

सहाय--सहाय--त्रि०।शिष्ये,उत्त० ३२ अ०। सहचारिणि,ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। परलोकसाधनद्वितीये, दश० २ चू०।

सहायकिच्च--सहायकृत्य--न०। मित्रादिकृते सहायकर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ०।

सहायग--सहायक--पुं०। परस्परेण साहाय्यकारिणि, भ० १० श० ४ उ०।

सहायपच्चक्खाण--सहायप्रत्याख्यान--न०। साहाय्यकारिणां परिहारे, उत्त० २९ अ०।

तत्फलम्--

सहायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ॥ ३६॥

सहायाः--साहाय्यकारिण. सहायकस्य सम्बन्धस्तेषां प्रत्याख्यान स्वसाहाय्यप्रत्याख्यानं तेन साहाय्यप्रत्याख्यानेन हे भगवान्! जीव. किं फल जनयति। गुरुराह--हे शिष्य! साहाय्यप्रत्याख्यानेन एकीभावं जनयति एकीभावभूतश्चैकत्व प्राप्तो जीव एकाग्रं भावयन् एकावलम्बनत्वं चाभ्यस्यन् अल्पशब्द.-अल्पजल्पको भवति। अल्पझञ्झो भवति-अविद्यमानझञ्झोऽविद्यमानवाक्कलहो भवति। पुनरल्पकषायो भवति, अल्पकलहोऽविद्यमानरोषसूचकवचनो भवति, तथा--अल्पतुमंतुमो भवति--अविद्यमानं तुमन्तुमम् इति त्वं त्वम् इति वाक्यं यस्य स अल्पतुमंतुम, त्वम् एव एतत्कार्यं कृतवान् त्वम् एव सदा अकृत्यकारी वर्त्तसे इत्यादि प्रलपन न करोति। पुन. साहाय्यप्रत्याख्यानेन संयमबहुलो भवति संयम सप्तदशविध. स बहुल. प्रचुरो यस्य स सम्वरबहुलस्तादृशो भवति। स च पुनः समाधिबहुलो भवति समाधिश्चित्तस्वास्थ्यं तेन बहुलः समाधिबहुल. समाधिप्रधानो भवति। पुनः समाहितश्चापि भवति ज्ञानदर्शनवांश्च भवतीत्यर्थ.। उत्त० २९ अ०।

सहाव--स्वभाव--पुं०। स्वो भाव.। आत्मीये भावे,नं०। सूत्र०। नि० चू०। धम्मो त्ति सहावो त्ति एगट्ठा। नि० चू०२० उ०। यो० विं०। अनु०। धर्मे,स्था० ६ठा०३उ०।आव०। विशे०। स्वकीयोत्पत्तौ,सूत्र०१ श्रु० १ अ० ३ उ०। उत्पादव्ययध्रौव्यपरिणामे, विशे०। अनं०। निसर्गे,स्था०२ ठा० १ उ०। पं० व०। सूत्र०। सहभावे धर्मे,द्रव्या० ११ अध्या०। स्था०। द्रव्याणां प्रकृतौ, द्रव्या० १२ अध्या०। 'वत्थू वसइ सहावे, सत्ताओ वयण व्व जीवम्मि। न विलक्खणम्मि तणुओ, भिन्ने छायातवे चेव॥१॥ स्था० ३ ठा० ३ उ०। (स्वभावादेव जगत् इति 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे ५५५ पृष्ठे दर्शितम्। यो० विं०।

अत्रैव परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह--

स्वभाववादापत्तिश्चे--दत्र को दोष उच्यताम्।
तदन्यवादाभावश्चे--न्न तदन्यानपोहनात्॥ ७८॥

स्वभाववादापत्ति --" क. कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभाव मृगपक्षिणा च। स्वभावन. सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुत. प्रयत्नः॥ १॥"

एवंलक्षणो य स्वभाववादस्तस्यापत्तिः प्रसङ्गस्तत्स्वभावात्कार्योत्पत्त्यभ्युपगमे चेद्यदि ब्रूषे आचार्य ! अत्र–स्वभाववादापत्तौ को दोष ?, उच्यताम्–भण्यताम् । तदन्यवादाभावः–कालादिशेषकारणापलापः चेत्–यदि ब्रूषे आचार्य !, न–नैव, तत्–परोक्तम् । कुत इत्याह–तदन्यानपोहनात्–तस्मात्तत्स्वाभाव्याद्येऽन्ये कालादयस्तेषामनपोहनाद्–अनिराकरणात्, तेषामपि कारणत्वेनाभ्युपगमात् ।

एतदेव भावयन्नाह–

कालादिसन्निधश्चाय–मिष्ट एव महात्मभिः ।
सर्वत्र व्यापकत्वेन, न च युक्त्या न युज्यते ॥ ७९ ॥

कालादिसन्निधश्च–कालादिसहायः पुनः अयम्–स्वभावः इष्ट एव–संमत एव महात्मभिः–सिद्धसेनमल्लवादिप्रभृतिभिरस्मत्स्वयूथ्यैः । कथमित्याह–सर्वत्र कार्ये व्यापकत्वेन कार्त्स्न्यवृत्त्या सम्मतिप्रभृतिशास्त्रेषु न चैवमागममेवेदं किं तु युक्तियुक्तमपीत्याह–न च–नैव युक्त्या–उपपत्त्या न युज्यते किन्तु युज्यत एव ।

तथाहि–

तथात्मपरिणामात्तु, कर्मबन्धस्ततोऽपि च ।
तथा दुःखादि कालेन, तत्स्वभावादृते कथम् ॥ ८० ॥

तथात्मपरिणामात्तु–तत्प्रकारात्मपरिणतेरेव कर्मबन्धः–कर्मोपादानं संपद्यते ततोऽपि च–कर्मबन्धाच्च तथा दुःखादि–तत्प्रकारसुखदुःखलक्षणं कार्यमुज्जृम्भते । कालेन–ग्रीष्मवर्षादिरूपेण तत्स्वभावादृते–तत्स्वभावं विना कथम्–केन प्रकारेण ?, नैवेत्यर्थः । तत्स्वाभाव्ये तु सति स्वपरिणामादेवोपात्तकर्मतथाविधकालबलेन सुखदुःखभागात्मा भवतीति ।

एवं च तत्स्वाभाव्याधीने सति सर्वस्मिन् कार्ये–

वृथाकालादिवादश्चे–न्न तद्बीजस्य भावतः ।
अकिंचित्करमेतच्चे–न्न स्वभावोपयोगतः ॥ ८१ ॥

वृथा–विफलः कालादिवादस्तत्स्वाभाव्यविलक्षणकारणाभ्युपगम चेद्–यदि ब्रूषे, न–नैव एतद्यदुक्तं परेण । कुत इत्याह–तद्बीजस्य–कालादिबीजस्य तच्छक्तिरूपस्य भावतः सत्त्वात् तत्स्वाभाव्याधीनतायामपि कार्याणाम् अकिंचित्करम्–कार्याकारि । एतत्कालादिबीजं चेत्–यद्युच्यते परेण न–नैव । एतत्कुत इत्याह–स्वभावोपयोगत–स्वभावे सर्वभावाना कार्येषु स्वत एव प्रवर्त्तमाने उपयोगतः कालादिबीजानां सहकारित्वेन व्यापारान्मृद इव घटपरिणतौ चक्रचीवरादीनामिति ।

एतदेव भावयति–

सामग्र्याः कार्यहेतुत्वं, तदन्याभावतोऽपि हि ।
तदभावादिति ज्ञेयं, कालादीनां नियोगतः ॥८२॥

सामग्र्या –समग्रसंयोगलक्षणायाः कार्यहेतुत्वं सामान्येन घटादिसाध्यनिमित्तत्वम् । तदन्याभावतोऽपि हि तस्य परिणामिकारणस्य यान्यन्यानि सहकारिकारणानि तेषामभवतोऽभावात् किं पुनः परिणामिहेतोरभाव इत्यपि हि शब्दार्थः । तदभावात्–कार्याभावात् इति–अस्मात्कारणात् ज्ञेयम्–अवगन्तव्यम्, अस्तुतत्सिद्धि कार्ये कालादीनां सहकारिणां नियोगतो–व्यापारात् तत्स्वाभाव्ये सत्यपि न पुनरन्यथेति ।

प्रस्तुतमेवाभित्याह–

एतच्चान्यत्र महता, प्रपञ्चेन निरूपितम् ।
नेह प्रतन्यतेऽत्यन्तं, लेशतस्तूक्तमेव हि ॥ ८३ ॥

एतच्च–एतत्पुनः सामग्र्याः–कालादिकायाः कार्यहेतुत्वम् । अन्यत्र–शास्त्रवार्तासमुच्चयादिषु महता–पृथुना प्रपञ्चेन निरूपितं–चर्चितं यतः, ततो न नैवेह शास्त्रे प्रतन्यते–विस्तार्यते अत्यन्तमतीव । लेशतस्तु संक्षेपेण पुनरुक्तमेव हि–दर्शितमेव हि । यो० बिं० ।

सहावफुल्ल–स्वभावफुल्ल–त्रि० । स्वभावसिद्धे विकसिते, द० मा० १ अ० ।

सहाववाइ–स्वभाववादिन्–पुं० । अस्ति स्वभावः कारणत्वेनाशेषस्य जगतः स्वभावः, स्वभाव इति कृत्वा, तेन हि जीवाजीवभव्यत्वमूर्त्तत्वादीनां स्वरूपानुविधानात् इत्येवं स्वभावकारणिकवादिषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स्था० । (पुण्यपापे अनभ्युपगच्छतः स्वभाववादिना मतं 'तज्जीवतच्छरीरवाइ (ण्)' शब्दे ४ भागे २१७२ पृष्ठे विस्तरतो गतम् ।) इह सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते, तथाहि–मृदः कुम्भो भवति न पटादिः, तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न कुम्भादिः, एतच्च प्रतिनियतभवनं न तथा स्वभावतामन्तरेण घटाकोटीसण्टङ्कमाटीकते, तस्मात् सकलमिदं स्वभावकृतमवसेयम् । अपि च–आस्तामन्यत् कार्यजातम् इह मुद्गपक्तिरपि न स्वभावमन्तरेण भवितुमर्हति, तथाहि–स्थाली–धनकालादिसामग्रीसम्भवेऽपि न काङ्कटुकमुद्गानां पक्तिरुपलभ्यते, तस्माद्–यद् यद्भावे भवति यदभावे च न भवति तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्कृतमिति स्वभावकृता मुद्गपक्तिरप्येष्टव्या । ततः सकलमेवेदं वस्तुजातं स्वभावहेतुकमवसेयमिति । नं० ।

यदाहुः स्वभाववादिनः–

इह सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते इति, तदपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम्, उक्तरूपाणां प्रायस्तत्रापि समानत्वात्, तथाहि–स्वभावो भावरूपो वा स्यादभावरूपो वा ?, भावरूपोऽप्येकरूपोऽनेकरूपो वेत्यादि सर्वं तदवस्थमत्रापि दूषणजालमुपढौकते । अपि च–यः स्वो भावः स्वभावः, आत्मीयो भाव इत्यर्थः, स च कार्यगतो वा हेतुर्भवेत् कारणगतो वा ? । न तावत्कार्यगतो, यतः कार्ये परिनिष्पन्ने सति स कार्यगतः स्वभावो भविष्यति, नापरिनिष्पन्ने, निष्पन्ने च कार्ये कथं स तस्य हेतुः ?, यो हि यस्यालब्धलाभसम्पादनाय प्रभवति स तस्य हेतुः, कार्यं च परिनिष्पन्नतया लब्धात्मलाभम्, अन्यथा तस्यैव स्वभावस्याभावप्रसङ्गात्, ततः कथं स कार्यस्य हेतुर्भवति ? । कारणगतस्तु स्वभावः कार्यस्य हेतुरस्माकमपि सम्मतः, स च प्रतिकारणं विभिन्नस्तेन मृदः कुम्भो भवति न पटादिः, मृदः पटादिकरणस्वभावाभावात् । तन्तुभ्योऽपि पट एव भवति न घटादिः, तन्तूनां घटादिकरणस्वभावाभावात् । ततो यदुच्यते–'मृदः कुम्भो भव–

1–' काल ' शब्दे द्रष्टव्य. ।

ति न पटादि' रित्यादि तत्सर्वं कारणगसस्वभावाभ्युपगमे सिद्धसाध्यतामध्यमासीनमिति न नो बाधामादधाति। यदपि चोक्तम्—'आस्तामन्यत्कार्यजात' मित्यादि, तदपि कारणगतस्वभावाङ्गीकारेण समीचीनमेवावसेयम्। तथाहि—ते काङ्कटुकमुद्गाः स्वकारणवशतस्तथारूपा एव जाता ये स्थालीन्धनकालादेस्सामग्रीसम्पर्केऽपि न पाकमश्नुवते इति। स्वभावश्च कारणादभिन्न इति सर्वं सकारणमेवेति स्थितम्। उक्तं च—"कारणगओ उ हेऊ.केण व निट्ठो त्ति नियथकज्जस्स ?। न य सो तओ वि भिन्नो,सकारणं सव्वमेव तओ" ॥१॥ नं०। सूत्र०। ('णियई' शब्देऽपि चतुर्थभागे २०८५ पृष्ठे वक्तव्यता।)

सहावसुह–स्वभावसुख–न०।सहजात्यन्तिकैकान्तानन्दे,अष्ट० २ अष्ट०।

सहावहीण–स्वभावहीन–न०। वस्तुनः प्रत्यक्षादिप्रसिद्धे स्वभावमतिरिच्यान्यथावचने, यथा शीतोऽग्निर्मूर्तिमदाकाशमित्यादि। आ० म० १ अ०। विशे०

सहावाद्वेयगामि(ण्)–स्वाभावाद्वैतगामिन्–त्रि०। स्वभावस्य यत् अद्वैतमेकत्वं स्वभावाद्वैतम्। तत्र गमनशीले, अष्ट० १७ अष्ट०।

सहिण–श्लक्ष्ण–त्रि०। सूक्ष्मे, नि० चू० ७ उ०। आचा०। मसृणे, नि० चू० २० उ०।

सहिणकल्लाण–श्लक्ष्णकल्याण–न०। श्लक्ष्णानि—सूक्ष्माणि च तानि वर्णच्छव्यादिभिश्च कल्याणानि शोभनानि वा सूक्ष्मकल्याणानि। सूक्ष्मे शोभने च वस्त्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

सहिणु–सहिष्णु–पुं०।सोढुं समर्थे,नि० चू० ४ उ०। आव०।

सहिय–सहित–त्रि०। मिलिते,आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। समन्विते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। ज्ञा०। आचा०। युक्ते,सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। स्था०। भ०। सह हितेन वर्त्तत इति सहित.।परमार्थभूतैर्हितैः (सूत्र०१श्रु० १६ अ०।)ज्ञानादिभि' समन्विते,सूत्र० २ श्रु० १ अ०। आचा०। आ० चू०। इन्द्रियचतुष्टयोपेते,प्रश्न०१ आश्र० द्वार। आचा०. त्रयोदशे महाग्रहे, स्था०। चं० प्र०। कल्प०। सू० प्र०। जं०। सूत्र०।

दो सहिया, स्था० २ ठा० ३ उ०।

स्वहित–त्रि०। स्वस्मै हित' स्वहितः। परमार्थानुष्ठानविधायिनि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। आत्महिते,सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

सहियव्व–सोढव्य–त्रि०। मर्षणीये,आचा०१श्रु० २अ०६उ०।

सहिवाय–सखिवाद–पुं० । सखित्वेवंवादे,सूत्र०१ श्रु० ६ अ०।

सहिहेउ–सखिहेतु–पुं०। मित्रनिमित्ते, स० ३० सम०।

सहु–सह–त्रि०। समर्थे, नि० चू० १ उ०।

सहेउ–सहेतु–त्रि०। सह हेतुनाऽन्वयव्यतिरेकरूपेण वर्त्तत इति सहेतु.। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। सकारणे , नि० चू० २० उ०।

सहेउं–सहित्वा–अव्य०। समर्थौ भूत्वेत्यर्थे, दश० ३ अ०।

सोढुम्–अव्य०। समर्थौ भवितुमित्यर्थे, 'सक्का सहेउं' दश० ६ अ० ३ उ०।

सहोढ–सहोढ–त्रि०। सदृश. नि० चू० १५ उ०। समोषे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। बृ०।

सहोयर–सहोदर–पुं०। समानृके भ्रातरि, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। अन्त०। आ० म०।

सहोयरी–सहोदरी–स्त्री०। समानृकायां भगिन्याम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सा–श्रा–पुं०। श्राति-पचति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयतीति–श्रा'। श्राद्धिनि, " श्रद्धालुता श्राति पदार्थचिन्तना-द्धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्। " स्था० ४ ठा० ४ उ०।

स्वा–स्त्री०। स्वकीयायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

श्वन् -पुं०। कुक्कुरे, श्वन्शब्दस्य सा साणौ इति प्रयोगौ भवत., प्रा०।

साअड्ढ–कृष–धा०। विलेखने, " कृषे' कड्ढ–साअड्ढाञ्चाणच्छायञ्छाइञ्छाः"॥८। ४ ।१८७॥ इति कृषे. साअड्ढाऽऽदेशः। साअड्ढइ। कर्षति। प्रा० ४ पाद।

साअर–सागर–पुं०। समुद्रे, 'साअरो व्व खीरोओ।" प्रा०।

साइ–साति–पुं०। सातिशयेन द्रव्येण परस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य संयोगे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। भ०।

सादि–न०। आदिरिहोत्सेधाख्यनाभेरधस्तनो देहभागो गृह्यते। सहादिना नाभेरधस्तनकायलक्षणेन वर्त्तते इति सादि। अनु०। उत्सेधबहुले संस्थानभेदे, नं०। स्था०। यद्धि नाभितोऽधश्चतुरस्रलक्षणयुक्तमुपरि च तदनुरूपं न भवति। भ० १४ श० ७ उ०। इह यद्यपि सर्वशरीरमादिना सह वर्त्तत तथाऽपि सादित्वविशेषणान्यथाऽनुपपत्त्या विशिष्ट एव प्रमाणलक्षणोपपन्न आदिरिह लभ्यते, तत उक्तम्—उत्सेधबहुलमिति। इदमुक्तं भवति-यत्संस्थानं नाभेरध. प्रमाणोपपन्नमुपरि च हीन तत्सादीति। जी० १ प्रति०। पं० सं०।

साचि–न०। अपरे तु साचीति पठन्ति, तत्र साचीति प्रवचनवेदिन. शाल्मलीतरुमाचक्षते, ततः साचीव यत्संस्थानम् , यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धकाण्डमतिपुष्टमुपरि च न तदनुरूपा महाविशालता तद्वदस्यापि संस्थानस्याधोभागः परिपूर्णो भवति उपरितनभागस्तु हीन इति। जी० १ प्रति०। पं० सं०।

स्वाति–पुं०। वायुदेवताके (जी०१प्रति०।) नक्षत्रभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ०। हारीतगोत्रे बलिसहशिष्ये श्यामार्यगुरौ,"हारियगोत्तं साइ च वंदामो" बलिसहस्यापि शिष्य हारीतगोत्रं स्वातिनामानं वन्दे। नं०। हैमवतनामकर्मभूमिवृत्तवैताढ्यपर्वतस्य श्रद्धावतीनाम्नोऽधिष्ठायके देवे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

साइजोग–सातियोग–पुं०। अविश्रम्भसम्बन्धे सातिशयेन वा द्रव्येण निरतिशयस्य योगे तत्प्रतिरूपकरणे, भ० १२ श० ५ उ०।

साइज्जणा–स्वादना–स्त्री०। सेवायाम् , स्था० ३ ठा० ३ उ०।

आजेन्तुमने, पनिबन्धविशोन, विदि । अग्गुग्णा. आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । कर्मनन्धास्वादने, सातिजणा दुविहा-अणुमोयणे, कारावणे, य । नि० चू० १ उ० ।

साइज्जत्तए-स्वादयितुम्-अव्य० । भोक्तुमित्यर्थे, औ० ।

सइज्जमाण-स्वादमान-त्रि० । अनुमनने व्य० १ उ० ।

सइज्जिया-स्वादि(साइज्जि)ता-स्त्री० । साइज धातुरास्वादने, तत उपभुज्यमानो यस्तत्सम्बन्धिन्यां प्रमार्जनायाम्, "साइज्जिया पमज्जण" त्ति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

साइणी-शाकिनी-स्त्री० । व्यन्तरीभेदे, प्रति० । सूत्र० ।

साइदत्त-स्वातिदत्त-पुं० । चम्पानगरस्थे स्वनामख्याते ब्राह्मणे, आ० म० १ अ० । आ० चू० । ('वीर' शब्दे पञ्चभागे स्वातिदत्तब्राह्मणवक्तव्यता गता ।)

साइपुत्त-स्वातिपुत्र-पुं० । शौद्धोदनिं ध्वजीकृत्यासन्मार्गप्रकाशके आचार्ये, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

साइबंध-सादिबन्ध-पुं० । य. पूर्वं व्यवच्छिन्न पश्चात्पुनरपि भवति स सादिबन्ध । कर्मबन्धभेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

साइबहुल-सातिबहुल-त्रि० । सातिशयेन द्रव्येण परस्य हीनगुणस्य द्रव्यसयोग सातिस्तद्बहुल. । तत्करणप्रचुरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

साइबुद्ध-सातिबुद्ध-पुं० । भरतवर्षे उत्सर्पिण्या भविष्यति चतुर्विंशे तीर्थकरे, स० ।

साइम-स्वादिम-त्रि० । स्वद आस्वादन इत्यस्य च स्वाद्यते इति स्वादिमम् । आव०६अ० । स्वदनं स्वादस्तेन निर्वृत्त तथैवेदमिति स्वादिमम् । एलाफलकर्पूरलवङ्गपूगीफलहरीतकीनागरादिके आहारभेदे, प्रव० ४ द्वार । पिं० । स्था० । आचा० । आ० चू० । पञ्चा० (स्वादिमस्वरूप 'पच्चक्खाण' शब्दे पञ्चमभागे १०५ पृष्ठे गतम् ।)

साइय-सादिक-न० । सहाऽऽदिना वर्त्तत इति सादिकम् । आदिना सहिते, उत्त० ४ अ० । सादिको लोक इति प्रपञ्चना । तथा चाहु -"आसीदिदं तमोभूत—मप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेय, प्रसुप्तमिव सर्वत ॥१॥ तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टे स्थावरजङ्गमे ।" इत्यादि । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

साइरेग-सातिरेक-त्रि० । साधिके, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

साइसंठाण-सादिसंस्थान-न० । सह आदिना नाभेरधस्तनभागरूपेण यथोक्तप्रमाणयुक्तेन वर्त्तत इति सादि । सर्वमपि हि शरीरं सादि, तत सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्तेरादिरिह विशिष्टो ज्ञातव्य । तच्च सस्थानं चेति । सस्थानभेदे, यत्राभेरधो यथोक्तप्रमाणयुक्तमुपरि च हीनं तत्सादिसस्थानम् । कर्म० १ कर्म० । पं० स० ।

साइसंपओय-सातिसंप्रयोग-पुं० । सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकादिना अपरस्य द्रव्यस्य सम्प्रयोग । रा० । सहातिशयेन सम्प्रयोगा—योग । यदिवा—सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकादिनाऽपरस्य द्रव्यस्य सम्प्रयोग सातिसम्प्रयोग । दशा० ६ अ० । ज्ञा० । लोकवञ्चनार्थे द्रव्यान्तरसयोगे, 'सो होइ साइजोगो, दव्वं ज छुहियअण्णदव्वेसु । दोसगुणा वयणेसु य, अत्थविसवायण कुणइ' ॥ १ ॥ रा० । दशा० ।

साइसपज्जवसिय-सादिपर्यवसित-त्रि० । सहादिना वर्त्तत इति सादि । तथा पर्यवसान पर्यवसित भावे क्त प्रत्यय । सह पर्यवसितेन वर्त्तन्त इति सपर्यवसितम् । नं० । आद्यन्तसहिते श्रुतभेदे, नं० ।

साइसुय-सादिश्रुत-न० । पर्यायास्तिकनयमते सादिसहिते श्रुतभेदे, विशे० ।

साउ-स्वादु-त्रि० । रसनासुखदे, उत्त० ३२ अ० ।

साउणिय-शाकुनिक-पुं० । शकुनैश्चरति शाकुनिक । प्रति० । शकुनान् हन्तीति शाकुनिक । शकुनिवधोपजीविनि, अनु० । प्रश्न० । स्था० ।

साउफल-स्वादुफल-त्रि० । स्वादूनि फलानि येषां ते स्वादुफला । रा० । मिष्टफलेषु, ज्ञा० १ श्र० १ अ० । औ० । जी० ।

साउय-स्वादुक-त्रि० । स्वादुभोजनवति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अनु० ।

साउष्-पुं० । सहायुषा वर्त्तन्त इति सायुष । संसारिजीवेषु, स्था० २ ठा० १ उ० ।

साएय-साकेत-पुं० । अयोध्यायाम्, स्था० १० ठा० ३ उ० । 'कोसलासु साकेयं नाम नगरं' । प्रज्ञा० १ पद । आ० क० । आ० म० । साकेत नगरं कोशलाजनपद । प्रव० २७५ द्वार । आ० म० । सूत्र० । ('अउज्झा' शब्दे प्रथमभागे ३४ पृष्ठे कल्प उक्तः ।)

साक्खिण्-साक्षिन्-पुं० । गौणादित्वाद्रूपनिष्पत्ति । प्रा० । अनुभवकारिणि, पाइ० ना० ।

साग-शाक-पुं० । पूर्वदेशप्रसिद्धे पक्वस्तुलादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । स्था० । नि० चू० । सू० प्र० । शाकस्तक्रसिद्ध इति । भ० ७ श० १० उ० ।

सागडायण-शाकटायन-पुं० । शकटर्षिगोत्रापत्ये, नं० । कल्प० । ('आगम' शब्दे द्वितीयभागे ४३ पृष्ठे विस्तरो गत ।)

सागडि-शाकटि-पुं० । शकटनन्दने स्थूलभद्रे, धृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सागडिय-शाकटिक-पुं० । शकटाना गन्त्रीविशेषाणा समूह, भ० १५ श० । शकटैश्चरति शाकटिक । शकटवहनोपजीविनि, आ० चू० ६ अ० । गन्त्रीवाहके, उत्त० ५ अ० । स्था० ।

सागणिउवस्सय-साग्निकोपाश्रय-पुं० । अग्निसहिते उपाश्रय, आचा० २ श्र० १ चू० २ अ० १ उ० ।

सागपत्त-शाकपत्र-न० । वृक्षविशेषपत्रे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सागपाग-शाकपाक-पुं० । मूलादिशाकपचने, "सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइ दगाहरणं ।" सूत्र०१श्रु०१ अ०१ उ०

सागमपेक्ख-स्वागमापेक्ष-त्रि० । स्वागमानुकारिणि, ध०१ अधि० ।

सागय-स्वागत-न० । शोभनमागमने, भ०२ श०१ उ० । आ० म० । आ० चू० ।

सागर-सागर-पुं० । समुद्रे,तं० । औ० । प्रश्न० । दर्श० । द्वी० । अन्त० । ओघ० । आव० । ' एगं च ण महं सागरम्मि वीई-सहस्सकलियं । स्था० १० ठा० ३ उ० । अन्धकवृष्णेर्धारण्या जाते पुत्रे, अन्त० । स्था० । (स च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गस्य तृतीयेऽध्ययने सूचितम् ।) धातकीखण्डभरतक्षेत्रजे हरिषेणस्य राज्ञः समुद्रदत्तासम्भवे पुत्रे, उत्त० ६ अ० । जिनदत्तस्य भद्रायां भार्यायां जाते आत्मजे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । ऐरवत वर्षे भविष्यति पञ्चमे तीर्थकरे, प्रव०७ द्वार । जम्बूद्वीपे मालवद्वृत्तस्कारपर्वतस्य पञ्चमकूटे, ज० ४ वक्ष० । सप्तमबलदेववासुदेवयोः पूर्वभवधर्माचार्ये, स० । ति० ।

सागरकूड-सागरकूट-न० । जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्य नन्दनवनस्य सप्तमे माल्यवतश्च पञ्चमे कूटे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सागरचंद-सागरचन्द्र-पुं० । द्वारवत्यां नगर्यां निषधस्य पुत्रे बलदेवपौत्रे, विशे० । आ० म० । दर्श० । आ० चू० । रा० । साकेतनगरे चन्द्रावतंसकस्य राज्ञः सुदर्शनागर्भजे पुत्रे , आ० म० १ अ० । दर्श० । (' अणुओग ' शब्दे प्रथमभागे २८८ पृष्ठे कथा गता ।) मुनिचन्द्रपुत्रे स्वनामख्याते साधौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सागरदत्त-सागरदत्त-पुं० । चम्पायां नगर्यामुदुम्बरदत्तस्य पितरि स्वनामख्याते सार्थवाहे, विपा० १ श्रु०७ अ० । स्था० । कौशाम्ब्यां कुर्कुटयुद्धदर्शके स्वनामख्याते श्रेष्ठिपुत्रे, उत्त० १३ अ० । (' बंभदत्त ' शब्दे पञ्चमभागे कथोक्ता ।) जिनदत्तसार्थवाहमित्रे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । (' अंड ' शब्दे प्रथमभागे ५१ पृष्ठे कथोक्ता ।) सुकुमालिकापतौ श्रेष्ठिनि, पिं० । (' उद्देसिय ' शब्दे द्वितीयभागे ८१८ पृष्ठे कथोक्ता ।) भारते वर्षे पद्मिनीखण्डनगरे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ती० ६ कल्प । ('अस्सावबोहि'शब्दे प्रथमभागे ८६०पृष्ठे कल्पोऽयं दर्शितः ।)साकेते नगरेऽशोकदत्तस्य स्वनामख्याते पुत्रे, आ० क०१ अ० । ('माया' शब्दे षष्ठभागे २५१ पृष्ठे कथोक्ता ।) तृतीयबलदेवस्य पूर्वभवजीवे , स० ।

सागरदत्ता-सागरदत्ता-स्त्री० । पञ्चदशस्य तीर्थकरस्य निष्क्रमणशिविकायाम् , स० ।

सागरपविभत्ति-सागरप्रविभक्ति-न० । सागराकाराप्रविभागदर्शके नाट्यभेदे , रा० ।

सागरपोय-सागरपोत-पुं० । ' पच्चक्खाण ' शब्दे पञ्चमभागे ११७ पृष्ठे उदाहृते स्वनामख्याते सार्थवाहे, आव० ६ अ० । आ० चू० ।

सागरमह-सागरमह-पुं० । सागरोद्देशके उत्सवे , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सागरय-सागरक-पुं० । 'तितिक्खा' शब्दोक्ते चतुर्थभागे२४१ पृष्ठे आशिकपर्वतकसहचरदारके, आव० ४ अ० । आ० चू० ।

सागरवट-सागरवड-पुं० । मत्स्यविशेषे, जी० १ प्रति० ।

सागरवर-सागरवर-पुं० । स्वयम्भूरमणे, आव० २ अ० ।

सागरवरगंभीर-सागरवरगम्भीर-पुं० । सागरवरः-स्वयम्भूरमणाख्यसमुद्रः परीषहोपसर्गाद्यक्षोभ्यत्वात्तस्मादपि गम्भीरः । परीषहाद्यक्षोभ्ये सागरवद्गम्भीरे , ' सागरवरगंम्भीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु । ' ध० २ अधि० । दश० ।

सागरवरमेहलाहिवइ-सागरवरमेखलाधिपति-पुं० । सागर एव वरा मेखला काञ्ची यस्याः सा सागरवरमेखला पृथ्वी तस्या अधिपतयो ये ते तथा । राजसु, भ० १२ श० ६ उ० ।

सागरसेण-सागरसेन-पुं० । मुनिसेनभ्रातरि स्वनामके मुनौ, आ० चू० १अ० । (' उसभ ' शब्दे तृतीयभागे ११३७ पृष्ठे ललिताङ्गदेववक्तव्यतायामुक्ताऽस्य वक्तव्यता ।)

सागरोपम-सागरोपम-न० । सागरेणोपमाऽस्मिंस्तत् । स्था० २ ठा० ४ उ० । दशभिः कोटिकोटिभिर्गुणिते पल्योपमकाले, आ० म० १ अ० । अने० । विशे० । स्था० । प्रव० । जी० । प्रश्न० । ज० । "एएसिं य पल्लाणं, कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिआ । तं सागरोवमस्स उ, एगस्स भवे परीमाणं॥१॥" ज०२ वक्ष० । उद्धाराऽद्धाक्षेत्रभेदात् त्रिधा । ति० । ज्यो० । भ० । अनु० । स्था० । (पल्योपमस्वरूपं ' पलिओवम ' शब्दे पञ्चमभागे ७२३ पृष्ठे गतम् ।)

सागवच्च-शाकवर्चस्-न० । यत्र शाकः शटित्वा वर्चोरूपं बिभर्ति तस्मिन् स्थाने, नि० चू० ३ उ० । आचा० ।

सागविहि-शाकविधि-पुं० । शाकप्रकारे,उपा० १ अ० ।('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठेऽस्य सूत्रम् ।)

सागार-साकार-न० । सह आकारैर्ग्राह्यभेदैर्वर्त्तत इति साकारम् । सविशेषे ज्ञाने,सम्म०१काण्ड । विशेषग्रहणप्रवणे ज्ञाने, 'सागारे से णाणे अणागारे दसणे' सम्म०२काण्ड । भ० । दर्श० । कर्म० । सहाकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण "आगारो उ विसेसो"इति वचनाद्विशेषेण वर्तन्त इति साकाराणि । अयमर्थः-वक्ष्यमाणानि चत्वारि दर्शनान्यनाकाराणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि-सामान्यविशेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु, कथमिति चेदुच्यते-दूरादेव हि शालतमालतालवकुलाशोकचम्पककदम्बजम्बूनिम्बादिविशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽनवधारितं तरुनिकरमवलोकयतः सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति तत्सामान्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते । "निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य तालतमालशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव महीरुहसमूहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति तद्विशेषरूपं साकारं ज्ञानम् । अप्रमेयप्रभावपरमेश्वरप्रवचनप्रवीणचेतसः प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति कृत्वा । तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणाबाधितप्रतीतिवशात् सर्वमपि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति ॥११॥ कर्म० ४ कर्म० ।

साकारमिदानीमाह—

महतरयागाराई, आगारेहि जुअं तु सागारं ।
आगारविरहिअं पुण, भणियमणागारनामं ति ॥१६७॥
किं तु अणाभोगो इह, साऽऽगारे अहव दुन्नि भणिअव्वो ।
जेण तिणाइ खिविज्जा, मुहम्मि भिवडिज्ज वा कहवि ॥१६८॥
इय कयआगारदुगं, पि सेसआगाररहिअमणागारं ।
दुब्भिक्खवित्तिकंता--ऽ गाढरोगाइए कुज्जा ॥ १६६ ॥

आ-मर्यादया मर्यादाख्यापनार्थमित्यर्थ , क्रियन्ते—विधीयन्ते इत्याकारा' , अनाभोगसहसाकारमहत्तराकारादय. , अयं महानयमतिशयेन-महान्महत्तरः अतिशये तरप्तमपाविति । महत्तर एवाकारो महत्तराकार., स आदिर्येषां, ते च ते आकाराश्च, तैर्युक्तं साकारमभिधीयते । कोऽर्थः ? भुजिक्रिया प्रत्याख्यानेन मया निषिद्धा, परमन्यत्र महत्तराकारादिभिर्हेतुभूतैरेतेभ्योऽन्यत्रेत्यर्थ । एतेषु सत्सु भुजिक्रियामपि कुर्वतो न भङ्ग इति । यत्र भक्तपरित्याग करोति तत् साकारमिति । प्रव०४ द्वार । आ० चू० । ऋषभदेवस्य एकादशे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सागार-पुं० । सह अगारेण गृहेण वर्तत इति सागारः । गृहस्थे, आ० म० १ अ० । प्रव० । स्था० । सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानभेदे, भ० ७ श० २ उ० ।

सागारकड--साकारकृत—त्रि० । प्रत्याख्यानभेदे, आव० ।

साम्प्रत साकारद्वारं व्याचिख्यासुराह—

मयहरगागारेहिं, अन्नत्थ वि कारणम्मि जायम्मि ।
जो भत्तपरिच्चायं, करेइ सामारकडमेयं ॥ १५७४ ॥

अय च महानय च महान् अनयोरतिशयेन महान् महत्तर', आक्रियन्त इत्याकारा. । प्रभूतैवंविधाकारसत्ताख्यापनार्थं बहुवचनमतो महत्तराकारैर्हेतुभूतैरन्यत्र वा—अन्यस्मिन्नानाभोगादौ कारणजातं सति भुजिक्रियां करिष्येऽहमित्येवं यो भक्तपरित्याग करोति साकारकृतमेतदिति गाथार्थ । "अवयवत्थो पुण-सह आगारेहिं सागार, आगारा उवरिं सुत्ताणुगमे भणिहिति । तत्थ महत्तरागारेहिं महल्लपयोयणेहिं, तेण अभत्तट्ठो पच्चक्खातो । ताहे आयरिएहिं भण्णति-अमुग गाम गतव्वं । तेण निवेइय जथा मम अज्ज अभत्तट्ठो , जति ताव समत्थो करेतु जातु य । ण तरति अण्णो भत्तट्ठितो अभत्तट्ठितो वा , जो तरति सो वच्चतु । णत्थि अण्णो तस्स वा कज्जस्स अ समत्थो ताहे तस्स चव अभत्तट्ठियस्स गुरू विसज्जयन्ति । एरिसस्स तं जेमंतस्स अणभिलासस्स अभत्तट्ठितणिज्जरा जा सा से भवति गुरुणिओएण । एवं उस्सूरलभे वि विणस्सति अअंतं विभासा । जति थोवं ताय जे णमोक्कारइत्ता पोरुसिइत्ता वा तेसिं विसज्जेज्जा, जेण वा पारणइत्ता जे वा असह विभासा । एव गिलाणकज्जेसु अण्णतरे वा कारणे कुलगणसङ्घकज्जादिविभासा । एव जो भत्तपरिच्चागं करेति सागारकडमेतं" ति । गत साकारद्वारं । आव०६ अ० । यत्वया नात्मार्थीकृतं किन्त्वाचार्या एतस्य विज्ञायका इति बुद्ध्या परिगृहीतं तत्साकारकृतम् । व्य० ७ उ० ।

सागारिओग्गह-सागारिकावग्रह—पु० । सहागारेण गेहेन वर्त्तत इति सागार स-एव सागारिक' तस्यावग्रह । वसतिदातुर्गेहे, भ० १६ श० ३ उ० । प्रति० । आचा० ।

सागारिय-सागारिक—पु० । अगारं—गृहं सह तेन वर्त्तते, स सागारिक. । शय्यातरे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । नि० चू० । 'नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विध सागारिकनिक्षेप , स च सागारिकनिक्षेप ' वसहि ' शब्दे षष्ठभागे सागारिकोपाश्रयवसतिप्रस्तावे दर्शित ।) मैथुने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

सागारिकेन भाटकप्रदानेन क्रीतेऽवग्रहः—

सागारिए उवस्सयं वक्कएणं पउंजेज्जा, से य वक्कइयं वएज्जा-इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति । से सागारिए पारिहारिए, से य णो वएज्जा, वक्कइए वएज्जा इमम्मि य २ ओवासे समणा निग्गंथा परिवसंति । से सागारिए पारिहारिए दो वि ते वदेज्जा-अयंसि अयंसि ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंतु । दो वि ते सागारिया परिहारिया ॥१८॥ सागारिए उवस्सयं विक्किणिज्जा । से य वक्कइयं वदेज्जा—इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा निग्गंथा परिवसंति । से सागारिए परिहारिए, से य नो एवं वएज्जा, वक्कइए य वएज्जा—अयंसि अयंसि ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंतु, से सागारिए परिहारिए । दो वि ते वएज्जा—अयंसि अयंसि ओवासे समणा णिग्गथा परिवसंतु दो वि ते सागारिए परिहारिए ॥ १६ ॥ व्य० ७ उ० ।

सागारिक शय्यातर उपाश्रयमवक्रयण कियत्काल भाटकप्रदानेन प्रयुञ्जीत-व्यापारयेत् । स च सागारिकोऽवक्रयिक भाटकेन प्रतिग्राहिकं वदेत्-अस्मिन् अस्मिन् अवकाशे श्रमणा निर्ग्रन्था परिवसन्ति, तस्मादेतत्परिहारेण त्वया भाटकेन ग्रहीतव्यम् , एवमुक्ते-स सागारिकतया परिहार्य परिहर्तव्यः । अथ तेन पूर्वस्वामिना सागारिकेण सर्वमपि भाटकेन प्रदत्तं ततो न किमपि वदेत् , केवलमवक्रयिको वदेत् अस्मिन् अस्मिन् अवकाशे श्रमणा-निर्ग्रन्था वसन्तु तदा अवक्रयिक सागारिक -शय्यातर इति परिहार्य -परिहर्त्तव्य । अथ द्वावपि वदेता यथा पूर्वस्वामिनोक्तमेतावत्येकदेशे श्रमणा वसन्तु तावत्यमात' साधून् दृष्ट्वाऽवक्रयिको ब्रूयाद्यावति मदीयेऽपि प्रदेशे तिष्ठन्तु । एवमवक्रयिकसूत्रमपि भावनीय तदा द्वावपि भावनीये । तदा द्वावपि तौ सागारिकौ-शय्यातरावित्ति परिहार्याविति सूत्रद्वयाक्षरार्थ ।

सम्प्रति भाष्यकार.—

वक्कइयसालठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया ।
दियरातो असिवा पुण, भिक्खगते भुंजणगिलाणे ।४७७।

वैक्रयेण-कियत्काल भाटकप्रदानेन निर्वृत्ता वैक्रयिकी सा चासौ शाला च वैक्रयिकशाला तद्रूपे स्थाने । शालाग्रहणमुपलक्षण तेनापद्वारिकास्थाने वा गृहे वा इत्यपि द्रष्टव्यम् ; यदि तिष्ठन्ति साधवस्तदा तेषा प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्धाता-गुरवो भवन्ति । यतस्तत्र इमे दोषा.—मा शाला अपद्वारिका वा पूर्व संयताना दत्त्वा पश्चात्कोऽपि म॰

हणाय रूपकान् ददाति। ममेमां शालामपद्वारिकां गृहं वा कि यत्कालं भाटकेन प्रयच्छ। ततः स रूपकलोभेन संयतान् निष्काशयेत्, यदि वा-रात्रौ वा उभयत्रापि निष्काशने स्पर्द्धकपतेराचार्यस्य वा प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्, रात्रौ निष्काशने च स्वापदद्विविधस्तेनतोऽशिवापनं-विनाशप्राप्तिरित्यर्थः, अन्यां च वसतिं मार्गयतामप्यलभमानाना जनगर्हा, यद्वेतेषा शुभं कर्म्म तत. पूर्वोपाश्रयादपि न निष्काश्येरन्, अन्यां वा वसतिं लभेरन्। 'भिक्खगय' त्ति--संयता एकं वसतिपालं मुक्त्वा शेषा भिक्षार्थं गता. पश्चात् स एकाकी वसतिपालो निष्काश्येत 'भुंजण' त्ति--भोक्तुकामा वा निष्काश्येरन्, तत्र चोभयत्रापि जनगर्हा। ग्लानो वा कोऽपि वर्त्तते सोऽकाण्डे निष्काशित. कथं क्रियेत। तदेवं शालामधिकृत्योक्तम्।

इदानीमुपलक्षणव्याख्यानसूचितापद्वारिकां गृहं च कायिकमधिकृत्योक्तदोषयोजना साक्षादाह—

ओवरिं व गिहं वा, विक्कएण पउंजए।
पउत्ते तत्थ वाघातो, विणासगरहा धुवा ॥ ४७८ ॥

अपद्वारिकां सागारिकगृह वा यत् शय्यातरो विक्रयेण प्रयोजयति तत्र स्थाने तदेव पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तम्, यतो विक्रयेण प्रयुक्ते तत्र गृहादौ बलादकाण्डनिष्काशने सूत्रार्थव्याघातौ। रात्रौ निष्काशने श्वापदस्तेनैर्विनाश. अन्यवसत्यलाभे भिक्षागतादिनिष्काशने वा ध्रुवा लोके गर्हा। एतच्च सर्वं प्रागेव भावितमिति न भूयो भाव्यते।

एगदेसम्मि वा दिन्ने, तन्निस्सा होज्ज तेणगा।
रसालओ व्व गिद्धा वा, सेहमादी उ जं करे ॥४७९॥

शालाया अपद्वारिकाया गृहस्य वा एकदेशे दत्ते अन्तरा कटके प्रक्षिप्ते यदि तिष्ठन्ति तदा तन्निश्रया:-संयतनिश्रया. स्तेनका.-चौरा भवेयुः। संयतेषु कायिकभूमिगतेषु स्तेना प्रविश्य गृहस्थानां भाण्डकमपहरेयु.। अथवा-रसाल रसवत् यत् तत्र द्रव्य तद्गृद्धा शैक्षकादयो वा यत्कृत्य तत्कुर्यु', ततो गृहस्थेन संयता वा शङ्क्यन्ते, यथा-नूनमेतैरसद्भाण्डमपहृतम्। अथवा-एतेषा द्वारेण स्तेनैरपहृतम्, यदि वा-एतैरेव-संयतै. कस्यापि तु स्थितस्य सम्प्रदत्तमिति एवं शङ्काया स विनाशं वा कुर्यात्। यदि वा--राजकुले अन्यत्र वा नीत्वा ग्रामवृद्धपुरुषपार्श्वे कर्षेयु तत्र भूयसी जनगर्हेति।

पेहावियारसज्झादि, जे य दोसा उदाहिया।
अच्छंते ते भवे तत्थ, वयए भिक्खकप्पता ॥ ४८० ॥

ये दोषा. पूर्वं कल्पाध्ययने-मद्योदकधान्यशालादिषु सागारिके वा उपाश्रये प्रेक्षायां विचारभूमौ स्वाध्यायादौ वा अभिहितास्ते तत्र शालादीनामेकदेशे तिष्ठति भवेयु। अथ तद्दोषभयादन्यत्र व्रजति तर्हि भिन्नकल्पतादोषो मासकल्पे वर्षाकालकल्पे वा अपरिपूर्णे एव सति निर्गमात्।

सम्प्रति भिक्षागतेष्वेतद्व्याख्यानार्थमाह—

भिक्खं गतेसु वा तेसु, निग्गते वेति णीह मे।
णीणिए वावि पाले णं, उवहि स्साऽसियावणा ॥४८१॥

भिक्षा गतेषु वा तेषु साधुषु अवक्रयी भाटकेन गृहीतशालादिको ब्रूते यथा निर्गच्छत यूय मम गृहात्तदा भिक्षाटनव्याघात', तत्कालमन्यवसत्यलाभे गर्हा, सूत्रार्थव्याघातश्च। भिक्षां गतेषु पश्चादागत्य वसतिपालं निष्काशयन्ति, तस्मिन् निष्काशने णमिति वाक्यालङ्कारे, उपधे स्यादशिवपानं-स्तेनैरपहरणं विस्मरणतो वाऽनशनमिति।

अहवा भरियभाणा उ, आगते जइ णिच्छुभे।
भत्तपाणविणासो उ, भुंजाणे सागते इमे ॥ ४८२ ॥

अथ भक्तभृतभाजनान् आगतान् यदि निष्काशयति तदा गृहीतभक्तपानविनाश। गतं भिक्षागतद्वारम्। अधुना भोजनद्वारमाह। अथ भुञ्जानेषु स विक्रयी समागतस्तदा इमे वक्ष्यमाणा दोषा.।

तानेवाह—

जिता अट्ठिसरक्खा वि, लोगो सव्वो विबोहितो।
एगासि से य अन्नेसिं, हीला होइ पवयणे ॥ ४८३ ॥

साधून् साधुक्रियया भुञ्जानान् दृष्ट्वा स विपरिणतभावो ब्रूते--जिता एतैरस्थिसरजस्का अपि कापालिकास्तेभ्यो ऽप्यमी हीनाचारा इति भाव। तथा लोक' सर्वोऽप्येतैः प्रारणकैरविवेकत्र भुञ्जानैर्वाटितो विट्टालितो न केवल स एव तत्र ब्रूते किं त्वन्येषामपि जनानां स प्रकाशयति। प्रकाशिते चाऽन्येषां प्रवचनस्य हीला भवति। तदेवम् 'भुंजण' त्ति-व्याख्यातम्।

अधुना ग्लानद्वारमाह—

सीयवायाभितावेहिं, गिलाणो जं तु पावई।
अमंगलं मउक्खित्ते, ठाणमन्ने वि नो दए ॥ ४८४ ॥

शीतेन वातेन अभितापेन वा ग्लानो यत् आगाढादिपरितापन प्राप्नोति तन्निष्पन्नम् स्पर्धकपतेराचार्यस्य वा प्रायश्चित्तम्। तथा तैर्निष्काशितैर्ग्लान उत्क्षिप्तस्तस्मिन् उत्क्षिप्ते वसतिमन्यां मार्गयता मृतोऽयमित्यमङ्गलमिति कृत्वा मारिस्पृष्टोऽयमिति भयेन वा अन्योऽपि कश्चित् स्थान न ददाति।

गहिते उत्थाणरोगेणं, अच्छंते णीणियम्मि वा।
वोसिरंतम्मि उड्डाहो, धरणे चाऽऽतविराहणा ॥४८५॥

तथा ग्लानं उत्थानरोगेण—अतीसाररोगेण गृहीते तिष्ठति निष्काशिते वाऽतीसारदोष। तथा चाह--व्युत्सृष्टे उड्डाह। धरणे चात्मविराधना—मरणं गाढतरग्लानत्वं वा भवेत्।

उपसंहारमाह-

एए दोसा जम्हा, तहि यं होंति उ ठायमाणाणं।
तम्हा नो ठायव्वं, वक्कयसालाए समणेहिं ॥ ४८६ ॥

यस्मात्तत्र वक्रयशालादौ तिष्ठतामेते-अनन्तरोदिता दोषा भवन्ति तस्मात्तस्यां वक्रयशालायामुपलक्षणमेतत् वक्रयापद्वारिकाया वक्रयगृहे वा श्रमणैर्न स्थातव्यम्।

अत्र परस्यावकाशमाह—

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो उ असति वसहीए।
बहिया वि य असिवादी, कारणे तो न वच्चंति ॥४८७॥

यदि नाम वक्रयशालादौ न स्थातव्यं तर्हि सूत्रमधिकृतमफलम्। सूत्रे वक्रयेऽपि श्रमणानामवस्थानानुज्ञानात्। सूरिराह नेद सूत्रमफलं यतोऽस्य सूत्रस्य निपातोऽवकाशो

वसतेरन्यस्या अभावे बहिरपि निर्गच्छतामशिवादिक कारणं ततो न व्रजन्ति, किं तु-तत्रैव वक्रयशालादौ तिष्ठन्ति ।

तत्र यतनामाह—

एएहिँ कारणेहिं, ठायंताणं इमो विही तत्थ ।

छिंदति तत्थ कालं, उदुबद्धे वासवासे वा ॥ ४८८ ॥

एतै —अनन्तरोदितैरन्यवसत्यलाभे बहिरशिवादिलक्षणैस्तत्र वक्रयशालादौ तिष्ठतामयं वक्ष्यमाणो विधिः । तमेवाह-तत्र काल छिन्दति ऋतुबद्धे वर्षावासे वा । इयमत्र भावना-ऋतुबद्धे शय्यातर प्रति भण्यते—यदि सपूर्णं मासं ददासि, वर्षाकाले भण्यते-यदि चतुरो मासान् ददासि तर्हि तिष्ठामोऽथ न ददासि तर्हि न तिष्ठाम. ।

एतदेवाह—

मासचउमासियं वा,न वि निच्छोढव्वो अम्ह नियमेणं ।

एवं छिन्नठियाणं, वक्कइतो आगतो हुज्जा ॥ ४८६ ॥

ऋतुबद्धे काले मास, वर्षाकाले चतुर्मास नियमेन वयं न निष्काशयितव्याः । एवं छिन्नकाले शय्यातरेण तथैव प्रतिपन्ने तिष्ठन्ति । तेषां च तथा तिष्ठता वक्रयिक.—क्रयेण ग्राही आगतो भवति ।

दिन्नो व सूतएणं, अहवा लोभा सयं पि देज्जाहि ।

अणुलोमिज्जइ ताहे,अदेंति अणुलोमे वक्कइत ॥४६०॥

शय्यातरो वसतिं दत्त्वा प्रवसित , पश्चात्पुत्रस्य समीपे वक्रयी समागत. । स ब्रूते—यत्र संयतास्तिष्ठन्ति तां भाटकेन प्रयच्छ, सा वसतिर्दत्ता सूतकेन—पुत्रेण । अथवा—शय्यातर. प्रभूतभाटकलोभेन स्वयमपि वैक्रयिणे दद्यात्, दत्त्वा च निष्काशयेत् । तत्र यद्यन्या वसतिर्लभ्यते तर्हि न तत्र स्थातव्यम् । अन्यत्र स धर्मकथया अनुलोम्यते-अनुकूल क्रियते । अथ स धर्मकथयाऽनुलोमो न भवति,तर्हि यस्तस्याऽर्हतो गरीयान् पितामहमातामहप्रभृतिकस्तेनानुलोमीक्रियते । अथैवमपि स न ददाति स्थातुं तर्हि तांसम्रुद्दर्शित वैक्रयिकमुक्तप्रकारेणानुलोमयेत् ।

तम्मि वि अदेंति ताहे, छिन्नमछिन्ने व यंति उडुबद्धे ।

वासासु य ववहारो, उदुबद्धे कारणे जाते ॥ ४६१ ॥

तस्मिन्नप्यवक्रयिणि पूर्वप्रकारेणानुलोम्यमानेऽप्यददति ऋतुबद्धे काले छिन्ने वा परिपूर्णे अपरिपूर्णे वा अवधौ निर्गच्छन्ति । वर्षाकाले यद्यन्य कोऽपि साधूनामनुकम्पको न विद्यते यो वसतिं प्रयच्छति तर्हि गत्वा राजकुले व्यवहार कर्त्तव्य', न केवलं वर्षासु किं तु ऋतुबद्धेऽपि कारणे जात सति कर्त्तव्य ।

कारणजातमेव पृच्छति—

किं पुण कारणजातं, असिवोमादी उ बाहि होज्जाहि ।

एएहिँ कारणेहिं, अणुलोमऽणुसट्ठिपुव्वं तु ॥ ४६२ ॥

किं पुन कारणजात यद्वशात् ऋतुबद्धेऽपि काले व्यवहार आश्रीयते ? अशिवौमोदर्यादिकमादिशब्दात्-म्लेच्छपरचक्रादिभयपरिग्रह , बहि कारणजातं भवेत् । तत एतै. कारणै ऋतुबद्धेऽपि काले पूर्वमनुशिष्ट्याऽप्यनुलोमन क्रियते ।

कथं क्रियते इत्याह—

सगिं जंपंति रायाणो, सगिं जंपंति धम्मिया ।

सगिं जंपंति देवा वि, तुं पि ताव सगिं वद ॥ ४६३ ॥

सकृज्जल्पन्ति राजान', सकृज्जल्पन्ति धार्मिका', सकृज्जल्पन्ति देवा अपि, त्वमपि तावत्सकृद्वद । ततः स्वयमुक्त्वा कथमकस्मादस्मान् निष्काशयसि ।

अणुलोमिए समाणे, तं वा अन्नं व जइ उ देज्जाहि ।

अन्नो वऽणुकंपाए, देज्जाही वक्कयं तस्स ॥ ४६४ ॥

एवमुक्तप्रकारेणानुलोमिते सति तामन्या वा यदि वसतिं दद्यात् । यदि वा-अन्योऽनुकम्पया तस्य वक्रयं-भाटकं दद्यात् ।

अन्नं व देज वसहिं, सुद्धमसुद्धं च तत्थ ठायंति ।

असती फरुसा विज्जइ,न खिमो दाउण को तंसि॥४६५॥

अन्या वा वसतिमन्योऽनुकम्पया दद्यात् किं विशिष्टामित्याह-शुद्धामशुद्धा वा शुद्धां विशुद्ध्य विशुद्धिकोटिरहिताम् शुद्धां विशुद्ध्य विशुद्धिकोटिदूषितां वा तत्र तिष्ठन्ति अथ स तामन्यां वा वसतिं न ददाति , नापि कोऽप्यन्यो भाटक शुद्धामशुद्धां वसतिम , तदा असति एकस्याप्युक्तस्य प्रकारस्याभावे स परुष्यते परुषीक्रियते । कथमित्याहत्त्व छिन्नकालां वसतिं दत्त्वा संप्रत्यसंपूर्णे एव काले अस्मान्निष्काशयसि न निर्गच्छाम' कस्त्वं वसतिं दत्त्वा सांप्रतमसि ? "दत्त्वा दानमनीश्वर " इति वचनात् । अथ किञ्चित्क्षमं तर्हि राजकुले गच्छाम: , एव परुषितो यदि तिष्ठति तत' सुन्दरम् । अथ न तिष्ठति तदा राजकुले गन्तव्यम् ।

तथा चाह—

रायकुले ववहारे, चाउम्मासं तु दाउ निच्छुभति ।

पच्छाकडो य तहियं, दाऊणमणीसरो होति ॥४६६॥

राजकुले गत्वा व्यवहार' क्रियते । कथमित्याह-चातुर्मास दत्त्वा एषोऽस्मान्निष्काशयति । तत्र राजपुरुषैः "दत्त्वा दानमनीश्वरो भवति" इति न्यायमनुसरद्भिः पश्चात्कृत' ।

पच्छाकडो भणेज्जा, अच्छउ भंडइ इहं निवायम्मि ।

अह यं करेसि अन्नं, तुब्भं अहवा वि तेसिं तु ॥४६७॥

स उक्तप्रकारेण राजकुले पश्चात्कृतः सन् ब्रूयात्-इह यत्र यूय तिष्ठथ तत्र निवाते भाण्डकवाक्कं तिष्ठतु । अन्यथा कोपिष्यति , युष्माक पुनरन्यां वसतिं करोमि । अथवा-तेषा क्रयाणकाना योग्यमन्यत् स्थानं करोमि ।

असती अण्णाते जं, ताहेँ उवेहा न पव्वणीयत्तं ।

ठायंति जत्थ जंपति,चोए कम्मादि तहि दोसा॥४६८॥

एवमुक्ते यदाऽन्या वसति. प्राप्यते तदा तत्र गन्तव्यम् । अथान्या वसतिर्नास्ति तदा अन्यस्या वसतेरभावे उपेक्षा कर्त्तव्या । किमुक्तं भवति-तदन्या वसतिं क्रीत्वा ददाति अविशोधिकोटिकृता वा तदा तत्रापि स्थातव्यं, न पुनस्तेनैवास्माभि. स्थातव्यमित्याग्रहपरतया तस्य प्रत्यनीकत्वमुत्पादनीयम् । स हि प्रत्यनीकीकृत. सन् साधूनामन्यवसतिदायकस्य वा प्रतिकूलमाचरेत् । अत्र चोदको अप्रतिदायकस्य वा प्रतिकूलमाचरेत् । अत्र नोदकः अवतिष्ठन्ति यत्र तिष्ठन्ति साधवस्तत्र कर्मादय.-आधाकर्मादयो दोषा., आदिशब्दात्मिश्रक्रीतादिदोषपरिग्रहः ।

अत्र सूरिराह—

भण्णइ निताण वहिं, अहिया दोसा बहुतरा हुंति ।

वासासु हरियपाणा,संजमे आयाइकंठादी ॥ ४९९ ॥

भण्यते—अत्रोत्तरं दीयते-ऋतुबद्धे काले निर्गच्छता तत्र यदि बहिर्बहुतरा दोषा अशिवाद्युपद्रवलक्षणा भवन्ति । वर्षाकाले निर्गच्छतां संयमविराधना, आत्मविराधना । स तत्र यत् हरितकायोपमर्दनं द्वीन्द्रियादिप्राणाक्रमणं वा सा संयमे संयमस्य विराधना । कण्टकादिभिरात्मविराधना । तदेवं छिन्ने काले तिष्ठतां विधिरुक्तः । अथ कालच्छेदो न कृतः, अथ च वर्षाकालो वर्तते, अथवा-ऋतुबद्धे काले बहिरशिवादि आगाढं कारणं तदा अन्यस्यां वसतौ गन्तव्यं, न पुन शय्यातर प्रति किमपि वक्तव्यम् । अथान्या शुद्धा वसतिर्न प्राप्यते तदा विशोधिकोटिदूषितायां स्थातव्यम्, तस्या अप्यलाभे अविशोधिकोटिदूषितायामपि स्थातव्यमिति ।

सम्प्रति सागारिकावक्रयिकयोश्शय्यातरत्वचिन्तां कुर्वन्नाह-

सो चेत्र होइ इतरो,तेसिं वा गंतु मोत्तु जइ दिन्नो ।

अह पुण सव्वं दिन्नं,तो देंतो वक्कयी इतरो ॥ ५०० ॥

उच्यते—शालागृहस्य वा अपद्वारिकाया वा अर्द्धत्रिभागो वा विक्रयेण दत्तशेष संयतानां दत्तम् ,यथा-अत्र यूयं तिष्ठथेति,तत्र च साधव. सर्वेऽपि, मान्ति स एव स्वामी शय्यातरो भवति । अथ पुनः तेन पूर्वस्वामिना सर्वमपि शालादि भाटकेन प्रदत्तं तदा निर्गच्छतः साधून् दृष्ट्वा यदि वक्रयी ब्रूते मा निर्गच्छत यूयमहं युष्माकमवकाशं दास्यामि तर्हि सोऽवकाशं ददानो वक्रयी इतर.-शय्यातरः ।

अह पुण एगपदेसे, भणेज अच्छह तहिं न मायंति ।

वक्कति उ बेंति इत्थं, अच्छह नो खित्तभंडेणं ॥५०१॥

अथ तं पूर्वस्वामी भणेत् ,यथा-यूयमस्मिन्नेके प्रदेशे तिष्ठथ तत्र च साधवो न मान्ति, ततोऽमातः साधून् दृष्ट्वा तत्र वक्रयिकोऽनुकम्पया ब्रूते-अत्र तिष्ठत यूयं न किमपि मः-अस्माक भाण्डेन क्षिप्तेन प्रयोजनम् ।

तहियं दो वितराऊ, अहवा गेण्हेज्ज ग्गागयं कोइ ।

दुल्लह अच्चग्घतरं, णाउ तहिं संकमइ तस्स ॥५०२॥

तत्रानन्तरोक्ते प्रकारे द्वावपि शय्यातरौ । अथवा—कोऽपि चिन्तयति यदा भाण्डमेष्यति तदा बहवः क्रयिका भविष्यन्ति, ततोऽत्यर्घतरा महार्घशाला भविष्यति । यदि वहुकेनाऽपि अल्पेन दुःखेन लप्स्यते ततो दुर्लभामत्यर्घतरां च शाला ज्ञात्वा अनागते साधूनामनागमनकाले एव भाटकप्रदानेन गृह्णाति।एतच्च साधुभिरागतैर्ज्ञातम् ,यथा-शाला भाटकेनामुकस्यायत्ता जाता । ततस्तं गत्वायाचन्त, सोऽपि ब्रूयात्—

जाव नागच्छते भंडं, ताव अच्छह साहवो ।

एवं वक्कइतो साहू, भणंतो होइ सारितो ॥ ५०३ ॥

यावन्नागच्छति भाण्ड तावत्साधवो यूयं तिष्ठथ, एवं वक्रयिकशय्यातरो भवति ।

देसं दाऊण गतो, गलमाणं जइ छएज्ज वक्कइतो ।

अत्रो अणुकंपाए, वाहे सागारितो सो सिं ॥५०४॥

पूर्वस्वामी शालादेर्देशमेकं दत्वा क्वाप्यन्यत्र गतः , वर्षाकाले च स देशो गलति । ततस्त गलन्तं प्रदेशं वक्रयिकोऽन्यो वाऽनुकम्पया छादयति तदा स तेषां साधूनां सागारिक.—शय्यातरः ।

एतदेव सविस्तरं भावयति—

मुत्तूणं साधूणं, गहियत्थो वा गहिउ पउसियम्मि ।

हेट्ठा उवरिम्मि ठिते, मीसम्मि पडालिववहारी ॥ ५०५ ॥

साधूनामवकाशं मुक्त्वा तेन पूर्वस्वामिना शय्यान्तरेण वक्रयो-भाटकं गृहीतः, गृहीत्वा च प्रोषित । तस्मिन् प्रोषिते अधस्ताद्वक्रयिकस्य भाण्डमुपरिमाले साधव. , अथवा अधस्तात् शालायां स्थिता. साधव. उपरिमाले वक्रयिकस्य दत्तम् एतन्मिश्रमुच्यते । एव मिश्रे रूपे मिश्रे स्थितानां यदा अधस्तात् शालायां साधव उपरिमाले वक्रयिकस्य भाण्डं तदा पडाली गलति, भाण्डस्योपरीति न काचित्साधूनां क्षतिः । अथ वक्रयिकस्य भाण्डमधस्तात् शालायाम् , उपरिमाले तिष्ठन्ति साधव. पडाली च गलति,तदा वक्रयिकश्चिन्तयति उपरिमाले पडाली गलति तत्र साधूनां कष्टम् , मम तु भाण्डमधस्तात् शालायां ततो न विनश्यतीति एवं चिन्तयित्वा पडालीं न छादयति । तत्र यद्यन्योऽपि कश्चित् न छादयति तदा व्यवहार. कर्त्तव्यः । व्यवहारेण छादयितव्या इति ।

एतदेवाह—

हेट्ठाकयं वक्कइएण भंडं,

तस्सोवरिं वावि वसंति साहू ।

भंडं न मे उल्लइ मालबद्धे,

नो तं छयंतम्मि भवे विवातो ॥ ५०६ ॥

अधस्तात् शालायां कृतं वक्रयिकेण भाण्डं, तस्य भाण्डस्योपरि माले वसन्ति साधवः, ततो न मे भाण्डमस्मिन् मालबद्धे आर्द्रयते तेनेति गम्यते इति विचिन्त्य न ता पडालीं छादयतीति भवेद्विवादो-व्यवहारो जायते ।

कथमित्याह—

वक्कइयछएयव्वे, ववहारकयम्मि वक्कइं बेंति ।

अकयम्मि य साहीणं, वेंति तरं दाइयं वावि ॥ ५०७ ॥

यदि पूर्वं वक्रयकाले एवं वागन्तिको व्यवहारः कृत. यः वक्रयिकेण छादयितव्यमिति तदा वक्रयिकं साधवोऽनुकूलेन अतिकूलेन वा वचसा ब्रुवते, यथा-त्वया छादयितव्या पडालीति । अथ न कृतस्तथारूपो वागन्तिकव्यवहारस्तत्राह-अकृते यथोक्तरूपे वागन्तिके व्यवहारे स्वाधीन शय्यातर ब्रुवते, यथा—छादयत पडालीमिति । अथ स शय्यातरः क्वापि प्रोषितो भवेत् तदा तस्य शय्यातरस्य दायादं वा गोत्रिणं ब्रुवते—

मज्जयंते (अछज्जंते) च दाऊणं, सयं सेज्जायरे घरं ।

अणुसट्ठाई अणिच्छंतं, ववहारेण छायए ॥ ५०८ ॥

अथ शय्यातर मार्गति न छादयति तदा अन्य. कश्चिदभ्यर्थ्यते,ततो येन सा पडाली छादिता सोऽपि शय्यातरो भवति। अथान्य कश्चित् छादयिता न विद्यते तदा शय्यातर स्वयं गृहं दत्वा प्रमादेन नाच्छादयतीति अनुशिष्टिरनुशासनं क्रिय-

ते, आदिशब्दात्-धर्म्मकथा च। तथापि छादयितुमनिच्छन्तं व्यवहारेण येन गृहं दत्तं तेन छादनमपि कर्त्तव्यम्। न च पूर्वमाच्छादनं विचारितं न चास्माकमकिञ्चनाना किंचिद्स्ति येन छादयाम इत्येवं राजकुलेऽपि गत्वा व्यवहारकरणेन छादयेत्। तदेवमवक्रयसूत्रं भावितम्।

इदानीं क्रयिकसूत्रमतिदेशतो व्याख्यानयति—

एसेव कमो नियमा, कइयम्मि वि होइ आणुपुव्वीए।
नवरं पुण णाणत्तं, उव्वत्ता गेण्हती सो उ॥ ५०६॥

य एव क्रमोऽवक्रयिकेऽभिहित स एव क्रमो नियमात् क्रयिके,यथाऽवक्रयिकशय्यातरत्वचिन्ता कृता तथा तयैव रीत्या क्रयिकेऽपि कर्त्तव्येति,नवरं पुनर्वक्रयकात् क्रयिकस्य नानात्वमिदम्—चक्रयिक कियत्कालं मूल्यप्रदानतो गृह्णाति,स तु क्रयिक पुनरुद्धत्वेन गृह्णाति यावज्जीव मूल्यप्रदानत आत्मसत्ताकीकरोति। व्य० ७ उ०।

सागारियपिंड-सागारिकपिण्ड-पुं०। सह अगारेण—गृहेण वर्त्तत इति साऽगार, स एव सागारिकः, सागारिक— शय्यातरस्तस्य पिण्ड आहार। शय्यातरपिण्डे, सूनकगृहपिण्डे च। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। "सागारियं च पिण्डं च, तं विज्जं परिजाणिया।"सागारिक शय्यातर तस्य पिण्ड जुगुप्सित हीन वर्णयितु वा तदेतत्सर्वं विद्वान् परिहरेत्। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। "सागारियपिंडं भुंजमाणे अणुग्घाइओ भवइ"। स्था० २ ठा० १ उ०। स०।

यत्र बहव. सागारिकास्तत्रैक कल्पाकत्वेन स्थापनीयः—

एगे सागारिए पारिहारिए दो तिन्नि चत्तारि पंच सागारिया पारिहारिया, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे निव्विसेज्जा॥१३॥

अथास्य सूत्रस्य क संबन्ध इत्याह निर्युक्तिकार.—

जहुत्तदोसेहिँ विवज्जिया जे,
उवस्सगा तेसु जता वसता।
एगं अणेगे व अणुन्नवित्ता,
वसंति सामिं अह सुत्तजोगे॥ २४२॥

यथोक्तै-बीजविकटादिभिरवकाशतापर्यन्तैर्दोषैर्विवर्जिता ये उपाश्रयास्तेषु यतयो वसन्त एक वा अनेकान् वा गृहस्वामिनोऽनुज्ञाप्य वसन्तीत्यनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यते। अथाय पूर्वसूत्रे सहास्य सूत्रस्य योग -सबन्धः।अनेन सबन्धेनायातस्यास्य(१३सूत्रस्य)व्याख्या-एक सागारिको-वसतिस्वामी परिहारं परित्यागमर्हतीति व्युत्पत्त्या पारिहारिको भिक्षाग्रहणे परिहर्त्तव्य इत्यर्थः। यथा चैक सागारिक पारिहारिकस्तथा द्वौ त्रयश्चत्वार पञ्च सागारिका. पारिहारिका न तेषा बहूनामपि गृहेषु प्रवेष्टव्यमिति भाव।अथ सूत्रेणैव सूत्रमपवदति-"एगं तत्थ कप्पागं"इत्यादि बहुजनसाधारणे देव कुलादौ स्थिता सूत्र तेषु बहुषु सागारिकेषु मध्ये, येन सागारिकतया स्थापितेन शेषगृहेषु प्रवेष्टुं कल्पते, तमेकं कल्पक स्थापयित्वा शेषेषु सागारिककुलेषु निर्विशेयुरिति सूत्रसंक्षेपार्थ।

विस्तरार्थ भाष्यकृद्भिर्भणिपुराह—

सागारिओ त्ति को पुण, काहे वा कतिविहो व से पिंडो।
असिज्जोयरो व काहे, परिहरियव्वो व से तस्स॥२४३॥
दोसा वा के तस्स, कारणजाए व कप्पती कम्मि।
जयणाए वा काए, एगमणेगेसु घेत्तव्वो॥ २४४॥

सागारिक इति पदमेकार्थिकनामभि. प्ररूपणीयम्। कः पुन. सागारिको ? 'तीति' चिन्तनीयम् ?। कदा वा शय्यातरो भवति ?, कतिविधो वा 'से' तस्य पिण्डः अशय्यातरो भवति ?। कदा भवति ?। कस्य वा संयतस्य संबन्धी स सागारिक. परिहर्त्तव्य.?।, के वा तस्य सागारिकपिण्डस्य ग्रहणे दोषा ?। कस्मिन् वा कारणजातेऽसौ कल्पते ?। कया वा यतनया स पिण्ड एकस्मिन् वा सागारिके अनेकेषु वा द्वित्र्यादिषु सागारिकेषु ग्रहीतव्य इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थ।

सागारिकस्य नामादिप्ररूपणा। अथ व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुराह—

सागारियस्स णामो, एगट्ठा णाणवंजणा पंच।
सागारिय सेज्जायर-दाता य तरे धरे चेव॥ २४५॥

सागारिकस्य नामानि—शक्रेन्द्रपुरन्दरादिवदेव कार्याणि नानाव्यञ्जनानि पृथगक्षराणि पञ्च भवन्ति,तद्यथा-१सागारिक., २शय्याकर, ३शय्यादाता, ४शय्यातर, ५शय्याधरश्चेति।

अथैतेषामेव व्याख्यानमाह—

अगम करणादगारं, तस्स ह जोगेण होइ साऽगारी।
सेज्जाकरणा सेज्जा-करो उ दाता तु तद्दाणा॥२४६॥
गोवाइऊण वसहिं, तत्थ वि तेणाइरक्खिओ तरइ।
तद्दाणेण भवोघं, तरति य सेज्जातरो तम्हा॥ २४७॥
जम्हा धारइ सिज्जं, पडमाणिं छज्जलेपमाईहिं।
जं वा तीएँ धरती-तरगा आयंधरो तम्हा॥ २४८॥

न गच्छन्तीत्यगमा वृक्षास्तै कृतमगारं पृषोदरादित्वात् रूपनिष्पत्ति.। तेनाऽगारेण सह यस्य योगो विद्यते स सागारिक।, सर्वधनादेराकृतिगणत्वान्मत्वर्थीय इकप्रत्यय। य तथासौ शय्या प्रतिश्रय करोति अतः शय्याकर.। तस्या शय्याया दानाच्च शय्यादाता भण्यते। यतश्च अशिवे सति गोपायितु-संरक्षितु तरति शक्नोति तत. शय्यातरः। यथा-तत्र तस्या शय्याया स्थितान् साधून् स्तेनादिप्रत्यपायात् रक्षितु तरति ततोऽसौ शय्यातर। अथवा—तस्या शय्याया दानेन भवौघ-संसारं प्रवाहन्ति अत. शय्यातर उच्यते। यस्माच्च शय्यां पतन्तीं छादनलेपनाभ्यामादिग्रहणात्—स्थूणादानादिभि धारयति अत शय्याधर., यद्वा—तथा शय्यया साधूना वितीर्णया नरकादात्मान धारयतीति शय्याधर। गतं सागारिकद्वारम्।

अथ क पुन साऽगारिको भवतीति प्रश्नस्य निर्वचनमाह-

सेज्जायरो पभू वा, पभुसंदिट्ठो व होइ कायव्वो।
एगमणेगे च पभू, पभुसंदिट्ठो वि एमेव॥ २४६॥

शय्यातर प्रभुर्वा प्रभुसादिष्टो वा कर्त्तव्यो भवति। तत्र प्रभु कृपाश्रयस्वामी प्रभुसादिष्टस्तु तेनैव प्रभुणा य कृत प्रमाणतया निर्दिष्टो य. प्रभु स एको वा स्यादनेको वा भवति।

अमुमेवार्थं विशेषत आह—

सागारियसंदिट्ठे , एगमणेगे चउक्कभयणा तु ।
एगमणेगे वज्जा, णेगेसु उ वज्जए एक्कं ॥ २५० ॥

सागारिके संदिष्टे च एकानेकपदनिष्पन्ना चतुष्कभजना कर्त्तव्या । सा चेयम्-एकः प्रभुरेकं सन्दिशति एष प्रथमो भङ्गः । एकः प्रभुरनेकान् संदिशति इति द्वितीयः, अनेके प्रभव एकं सन्दिशन्ति इति तृतीयः, अनेके प्रभवोऽनेकान् सन्दिशन्ति इति चतुर्थः । अत्र चैतेषु वा अनेके वा शय्यातरा वर्ज्याः, अपवादपदे पुनरनेकेषु शय्यातरेष्वेकं सागारिकं स्थापयित्वा वर्जयेत्, शेषेषु तु प्रविशेत् । एतदुपरिष्टाद्व्यक्तीकरिष्यते ।

अथ कदा सागारिको भवतीति प्रश्नस्य प्रतिवचनमाह—

अणुन्नविय उवग्गहं, गुरुपायगयस्स अतिगते विन्ने ।
सज्झाए भिक्खत्ते, णिक्खित्ते भाणे एक्केक्को ॥ २५१ ॥

अत्र नैगमनयाश्रिता बहव आदेशाः, सूत्रके आचार्यदेशी ब्रूते । क्षेत्रे प्रत्युपेक्षिते सति यदाऽवग्रहोऽनुज्ञापितस्तदा सागारिको भवति । अपरो ब्रूते-यदा गुरूणां पार्श्वे उपयोग कृत्वा भिक्षां पर्यटितुं लग्ना, अपरो ब्रूते-यदा भोक्तुमारब्धम्, अन्यो भणति-भाजनेषु विक्षिप्तेषु एको ब्रूते यदा दैवसिकमावश्यकं कृतम् ।

पढमे बितिए ततिए, चउत्थ जामे य होज्ज वाघातो ।
निव्वाघाए भयणा, सो वा इतरो व उभयं वा ॥२५२॥

अपरो भणति रात्रौ प्रथमे यामे गते सति शय्यातरो भवति, तदपरो द्वितीये यामे गते, अन्यस्तृतीये यामे गते, अपरोऽभिधत्ते चतुर्थे यामे गते सति । आचार्य आह-एते सर्वेऽप्यनादेशाः कुत इत्याह-अनुज्ञापितावग्रहा निक्षिप्ता तेषु क्षिपत एवं व्याघातो भवेत्, व्याघाताद्यान्या वसतिम् अन्यद्वा क्षेत्रं गताः कस्यासौ शय्यातरो भवतु ? । आवश्यकादिषु चतुर्थयामपर्यन्तेषु वसतिव्याघातेन बोधिकस्तेनादिभयेन वा अन्यत्र सङ्क्रामतः कः शय्यातरो भवितुमर्हति ? । आदेशः पुनरयम्-निर्व्याघाताभावे यद्यन्यां वसतिं न गताः तथैव रात्रावुषिताः ततो भजना कर्त्तव्या । स च शय्यातरो भवेत्, इतरो वा अन्यतरो वा, उभयं वा ।

मणं कृतं तौ द्वावपि शय्यातरौ भवतः । इदं प्रायः सार्थादिषु प्रभवति आदिशब्दाच्चौराऽवस्कन्दभयादिपरिग्रहः । इतरथा तु ग्रामादिषु वसता भजना—विकल्पना ।

तामेवाह—

अमइ वसहीएँ वीसुं, वसमाणाणं तहिं तु भयितव्वा ।
तत्थ ण तत्थ व वासे, छत्तच्छायं तु वज्जंति ॥२५५॥

यत्र संकीर्णाया वसतौ सर्वेऽपि साधवो न मान्ति तत्र विष्वग् अन्यस्यां वसतौ वसतां साधूनां शय्यातरा भक्तव्याः । तत्र हि साधवः पृथक् वसतौ उषित्वा द्वितीयदिने सूत्रपौरुषीं कृत्वा समागच्छन्ति ततो द्वावपि शय्यातरौ । अथ मूलवसतिमागम्य तत्र पौरुषीं कुर्वन्ति, तत एक एव मूलवसतिदाता शय्यातरः । लाढाचार्याभिप्रायः पुनरयम्-शेषाः साधवः तथा मूलवसतौ,अन्यत्र वा प्रतिवसन्तु न तेषां सम्बन्धिना सागारिकेनेहाधिकारः,किन्तु सकलगच्छस्य छत्रकल्पस्याचार्यस्तस्य छाया वर्जयन्ति मौलशय्यातरगृहमित्यर्थः, इति विशेषचूर्णिनिशीथचूर्ण्योरभिप्रायः । मूलचूर्ण्यभिप्रायस्तु पुनस्तत्र विस्तीर्णाया वसतेरभावे विष्वक् वसतौ वसता शय्यातरा भजनीयाः ,यदि संस्तरन्ति ततः सर्वेऽपि शय्यातराः परिह्रियन्ताम् । अथ न संस्तरन्ति तत एकं शय्यातरकुलं निर्विशन्ति शेषाणि परिहरन्ति । तत्राप्यसंस्तरणे द्व्यादिक्रमेण तावद्ग्रहणं यावदस्य वसतावाचार्यः स एको वर्जनीयः, शेषाः सर्वेऽपि निवेशनीयाः । तथा—'तत्थ व वासे' इत्यादि किलैकस्याचार्यस्य बहव आचार्याः श्रुतार्थमुपसम्पन्नास्तत्रैकस्या वसतावमानाः पृथक् पृथक् वसतिषु स्थिताः सन्तस्तत्र मूलाचार्यसमीपे अन्यत्र वा आत्मीयासु वसतिषु वसन्ति, सर्वेषामपि शय्यातराः परिहर्त्तव्याः । असंस्तरणे तु पूर्वोक्तप्रकारेण तावद्ग्रहणं यावच्छत्रच्छायां वर्जयन्ति मूलाचार्याः शय्यातरमित्यर्थः । गतं कदा सागारिक इति द्वारम् ।

अथ कतिविधः शय्यातरपिण्ड इति द्वारमाह—

दुविह चउव्विह छव्विह,अट्ठविहो होति बारसविहो उ ।
सिज्जातरस्स पिंडो, तव्वज्जितो अपिंडो य ॥ २५६ ॥

द्विविधो वा चतुर्विधो वा षड्विधो वा अष्टविधो वा द्वाद-

श्चत्वार इत्येवंविधास्तथा अशनादीनि पात्रादीनि सू-च्यादीनि चेति त्रीणि चतुष्कानि द्वादश भवन्ति । त द्यथा-अशन १ पानं २ खादिमं ३ स्वादिमं ४, वस्त्रं ५ पात्रं ६ कम्बलं ७ पादप्रोञ्छनं ८ सूची ९ पिप्पलको १० नखच्छेदनक ११ कर्णशोधनकं १२ चेति ।

तणडगलछारमल्लग-सेज्जासंथारपीढलेवादी ।
सिज्जातरपिंडो सो,ण होति सेहो य सो सहिओ ॥२५९॥

तृणडगलक्षारमल्लकशय्यासंस्तारकपीठलेपादिशब्दात्—त-स्मस्तुत्तादिकं च एष शय्यातरपिण्डो न भवति । यदि शय्या तरस्य पुत्रादि सो वस्त्रपात्रसहितं प्रव्रजितुमुपतिष्ठते तदा सागारिकपिण्डो न भवति । अपर आह-यदा निर्गन्तु-कामैः पात्राद्युपकरणमुद्ग्राहितं तदा अशय्यातरः । अन्यो ब्रू-ते—यदा वसतेर्निर्गता भवन्ति तदा, परो भणति—यदा सागारिकस्यावग्रहा निर्गता, एको ब्रूते-सूर्योद्गमे निर्गतानां प्रथमपौरुष्यां गतायाम्,अपरो ब्रूते-तृतीयस्याम्,तदन्य प्राह यावद्दिवसं दिवससत्काश्चतस्रः पौरुष्यस्तावत कालादूर्ध्व-मशय्यातरं । एते सर्वेऽप्यनादेशा ।

सिद्धान्त. पुनरयम्—

आपुच्छिय उग्गाहिय, वसहीओ निग्गतोग्गहे एगो ।
पढमादीया दिवसं, वुच्छे वज्जेज्जऽहोरत्तं ॥२६०॥

' वुच्छे वज्जेज्ज होरत्त ' त्ति—यस्यां वसतौ उ-षितास्ततो यस्या वेलाया निर्गता. तत ऊर्ध्वमहो-रात्रं यावद् गृहे अशनादिकं वर्जयेयु तत परन्तु क-ल्पते, आपृच्छादिषु तु सागारिकावग्रहनिर्गता तेष्वा-देशेषु यदि कथमपि गमनं विघ्नमुत्पन्नं ततो भूयोऽपि तस्या-मेव वसतौ स्थितेषु कथमशय्यातरो भवितुमर्हति ?, ये पुन प्रथमादिप्रहरविभागेनाशय्यातरमिच्छन्ति तेषां सूर्यास्तम-नविनिर्गतानां रात्रौ प्रथमादिपौरुषीविभागेनाशय्यार. प्राप्नोति , तच्च न प्रयुज्यते ।

कुत इति चेदुच्यते—

अग्गहणं जेण णिसिं, अणंतरेगंतरे दुहिं च ततो ।
गहणं सु पोरिसीहिं, चोदग एते अणादेसा ॥ २६१ ॥

येन हेतुना निशि रजन्यामस्माकं भक्तपानादेरग्रहणं,तथा किं चिदनन्तरमेकान्तरादिभिर्वा पौरुषीभिः शय्यातरपिण्डस्य ग्रहणमिच्छन्ति। हे नोदक ! ते एते सर्वेऽप्यनादेशा । आदेश पुनरयम्-संध्यायां दिवा निर्गतानां रजन्याश्चतुरो यामान् श य्यातरस्तत. पर सूर्योद्गमे अशय्यातरः, एवं जघन्यत उक्तम्।

उत्कर्षत पुनरित्थम्—

सूरत्थमणगयाणं,दोण्हं रयणीण अट्ठ जाम भवे ।
देवसियमज्झ चउ दिण-णिग्गतें बितियम्मि सा वेला२६२

सूर्यास्तमनमग्रे रात्रौ निर्गतानामेषा पर य चाहोरात्रं शय्यातरो भवति , ततो द्वयो रजन्योरष्टौ यामा दैव-सिकाश्च , रजनीद्वयमध्यवर्त्तिनश्चत्वारो यामा, एवं द्वा-दशानां यामानामन्ते उत्कर्षत अशय्यातरो भवति । एष एक आदेश। द्वितीय पुनरयम् 'दिणनिग्गए बितियम्मि सा वेल' त्ति-सूर्योदये दिवा यदि निर्गतास्तथा द्वितीये दिने तस्या-मेव वेलायां शय्यातर एवमहोरात्रं वर्जितं भवति । गतं शय्यातर कदेति द्वारम् ।

अथ शय्यातरः कस्य परिहर्त्तव्य इति द्वारनिरूपणायाह—

लिंगत्थस्स उ वज्जो, तं परिहरतो व भुंजतो वा वि ।
जुत्तस्स अजुत्तस्स य, रसावणो तत्थ दिट्ठंतो ॥२६३॥

लिङ्गस्थस्य-साधुलिङ्गधारिणस्तं शय्यातरपिण्डं परिहरतो वा भुञ्जानस्य वा साधुगुणैर्युक्तस्य वा अयुक्तस्य वा शय्या-तरो वर्ज्यो-वर्जनीय , तत्र रसापणो मद्यहट्टो दृष्टान्त। यथा महाराष्ट्रदेशे रसापणे मद्यं भवतु वा मा वा तथापि तत्प-रिज्ञानार्थं तत्र ध्वजो मध्ये आरोप्यते त ध्वजं दृष्ट्वा सर्वे भि-क्षाचरादयः परिहरन्ति । एवमस्माकमपि साधुगुणैर्युक्तो वा भवतु मा वा पर रजोहरणध्वजो दृश्यते इति कृत्वा लिङ्ग-स्थस्यापि शय्यातर. परिह्रियते ।

अथ के दोषा इति द्वारमाह—

तित्थंकरपडिकुट्ठो, आणा अन्नायउग्गमे न सुज्झे ।
अविमुत्ति अलाघवया,दुल्लभसिज्जाएँ वुच्छेओ ॥२६४॥

तीर्थकरै प्रतिकुष्टो निषिद्ध शय्यातरपिण्ड । अथ त गृह्णातीति तेषामाज्ञा न कृता भवति 'अन्नाय' त्ति-आज्ञातो ऽथ मास निवासवशात् आज्ञा-स्वरूपतया न शुद्ध्यति प्रत्या-सन्नतया तत्रैव पुन. पुन. भैक्षपानादिनिमित्त प्रविशत उद्ग-मोऽपि न शुद्ध्यति । अविमुक्तिर्नाम-स्वाध्यायश्रवणादिना आवर्जित शय्यातरो दुग्धदध्यादिप्रणीत द्रव्यं ददाति, त-द्ग्रहणलोलुपतया तद्गृह न विमुञ्चति । अलाघवता तु वि-शिष्टाहारलाभेनोपचितगलकपोलतया शरीरलाघव प्रचुरव-स्त्रादिलाभेनोपकरणलाघवं च न भवेत् , दुर्लभा च शय्या भवति । येन किल शय्या दत्ता तेनाहाराद्यपि देयमिति भया द्भूय शय्यामगारिणो न प्रयच्छन्तीति भाव । व्यवच्छेदश्च-विनाश शय्याया क्रियते । अथवा-भक्तपानादिप्रतिषेध इह व्यवच्छेदशब्देनोच्यते , एष निर्युक्तिगाथासमासार्थ ।

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति—

पुरपच्छिमवज्जेहिं, अविकम्मं जिणवरेहि लेसेणं ।
भुत्तं विदेहपच्छिय,ण य सागारियस्स पिंडो उ ॥२६५॥

पूर्वस्मीथकर ऋषभस्वामी पश्चिम श्रीमन्महावीरस्तद्वर्जै अजितादिभिर्मध्यमजिनवरैर्विदेहजै तीर्थकरैराधाकर्मादि-लेशेन सूत्रादेशतो भुक्त भोक्तुमनुज्ञातमिति भाव । न-त्वेव सागारिकस्यानुज्ञातम् । अयमत्र भावना-मध्यमतीर्थकृता च ये साधवस्तेषां यस्यैव योग्यमाधाकर्म कृतं तस्यैव न कल्प-ते, शेषाणां तु कल्पते इति, तैराधाकर्म भोजनमपि कथंचि-दनुज्ञातं न पुन शय्यातरपिण्ड " सेज्जायरपिंडे या, उभामे वा य पुरिसजिट्ठे य । किइकम्मस्स य करणे, च-त्तारि अनाहिया कप्पा ॥१॥ " इति तैर्वचनात् ।

अथाज्ञाद्वारमज्ञातद्वार चाह—

सव्वेसिं तेसिं आणा,तप्परिहारी ण गेण्हता ण कया ।
अन्नायं च ण सुज्झति,नहिं वि तो गेण्हती तत्थ॥२६६॥

सर्वेषामपि तेषां तीर्थकृतां तत्परिहारिणां शय्यातरपिण्ड-प्रतिषेधकारिणामाज्ञा तत्पिण्डं गृह्णता न कृता भवति । तथा यत्रैव गृहे स्थितस्तत्रैव भिक्षां गृह्णतो न युज्यते-न घटते,न शुध्यतीत्यर्थः । अज्ञातस्य तस्य यदुक्तं भैक्षग्रहणं तदज्ञातमिति व्युत्पत्तेः ।

अथ शुद्धिद्वारमाह-

बाहुल्ला गच्छस्स उ, पढमालियपाणगादिकज्जेसु ।
सज्झाय करण आउ-ट्टियाकरण उग्गमेगतरे ॥२३७॥

गच्छस्य यद् बाहुल्य-साधूनां प्राचुर्यं तस्माद्धेतोः प्रथमालिकापानकौषधादिकार्येषु पुनः पुनः प्रविशन्तस्तथा स्वाध्यायश्रवणेन करणेन च यथोक्तक्रियाकलापानुष्ठानेन आवर्तिता आवर्जिता उद्गमदोषाणामेकतरान् कुर्युः । (बृ०)

अथ दुर्लभशय्याद्वारमाह—

भिक्खापयरणगहणं,दोगच्चं अम्ह आगमे ण देमो उ ।
पयरणं णत्थि ण कप्पति,असाहु तुच्छे य पण्णवणा॥२७१॥

यस्यापि श्रेष्ठिनो गृहे पञ्चशतिको गच्छो वर्षासु स्थितः । स च शय्यातरो गृहमनुष्याणामादिशति-यदि साधवो गृहात्तुच्छैर्भाजनैर्निर्गच्छन्ति ततो महदमङ्गलं स्यात्, अतो दिने दिनेऽमीषां प्रथममेव भिक्षा दातव्या, ततस्ते साधवः सर्वेऽपि तस्मिन् गृहे प्रतिदिनं प्रथमतः प्रतरणभिक्षां गृह्णन्ति, ततश्च शय्यातरस्य कालान्तरेण दौर्गत्यं—दरिद्रता । अन्येषां च साधूनां तत्र गमनं श्रेष्ठिनम् ,वदन्ति-याचन्ते ।स प्राह-विद्यते वसतिः परं न प्रयच्छामि । साधुभिरुक्तं-किं कारणं न प्रयच्छति, स प्राह—प्रतरणं प्रथमदातव्यभिक्षारूपं नास्ति । साधवो ब्रुवते-न कल्पते अस्माकमप्रतरणं ग्रहीतुम् । स प्रतिब्रुवते—असाधु-अमङ्गलमिदं यन्मम गृहात्तुच्छैर्भाजनैर्निर्गच्छन्ति । ततस्तस्य साधुभिः प्रज्ञापना कृता आयुष्मन्निदमेव भवतः परममङ्गलं यदेवं साधूनां वसतिरुपयुज्यते अनया हि दत्तया भवता सर्वमपि भक्तपानादिकं दत्तमेव भवति । इत्थं प्रज्ञापितः स तेषां वसतिं प्रदत्तवान् , एवं दुर्लभा शय्या भवति ।

अथ व्यवच्छेदद्वारमाह—

थल देउलिया ठाणं,सति कालं दट्ठु दट्ठु तहिं गमणं ।
निग्गए वसही भंजणे ,अन्ने उब्भामगा उद्धा ॥२७२॥

कस्यापि ग्रामस्य मध्ये स्थलम् , तत्र ग्रामे मिलित्वा देवकुलिका कारिता, तत्र साधवः सन्ति । ते च तत्राऽन्यतरे देवकुले स्थितास्तत्कालं भिक्षाया देवकुलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा तत्र तेषु कुलेषु भिक्षार्थं गच्छन्ति तत्रैकमपि कुलं ते तां भिक्षां गृह्णन्ति समुद्धरन्ति, एवं च निर्विण्णाः सर्वेऽपि गृहस्थाः । ततो निर्गतेषु साधुषु वसतेर्देवकुलिकायास्तैर्भञ्जनं क्रियते,मा मन्येऽप्यागतास्तापयिष्यन्तीति । इतश्चान्यस्मिन्नीदृशे स्थलग्रामे अनेके साधवो देवकुलिकायां स्थिताः , ते च भगवन्तो निःस्पृहा बहिर्ग्रामे चोद्भ्रामकभिक्षाचर्यां गच्छन्ति स्वाध्यायपराश्च तिष्ठन्ति । ततस्ते गृहस्था आवृत्ताः सम्भूय तान् साधूनिमन्त्रयन्ति । साधवो ब्रुवते—बालवृद्धादीनां कार्ये ग्रहीष्यामः ,एवं घृतादिदुर्लभद्रव्यमपि सुलभं भवति । नच शय्याया व्यवच्छेदो जायते।गत दोषा या के तस्येति द्वारम् ।

अथ कारणजाते कस्मिन् कल्पते इति द्वारगाथामाह—

दुविहे गेलणम्मी, निमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोयरियपओसे, भये य गहणं अणुन्नायं ॥ २७३ ॥

द्विविधे—आगाढे, अनागाढे च १ ग्लानत्वे,तथा निमन्त्रणे २ दुर्लभद्रव्ये ३ अशिवे ४ अवमौदर्ये ५ प्रद्वेषे वा राजद्विष्टे ६ भये वा बोधिकस्तेनादिसमुत्थे ७ एव सप्तसु कारणेषु शय्यातरपिण्डस्य ग्रहणमनुज्ञातम् । एष निर्युक्तिगाथार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

तिपरिरयमणागाढे, आगाढे खिप्पमेव गहणं तु ।
कज्जम्मि वंदिया जे, छिणंति ण य विंति उ अकप्पं ।२७४।

त्रिपरिरयं—त्रीन् वारान् परिभ्रमणं तदनागाढे अग्लानत्वे कर्त्तव्यं,यदि तथापि ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते ततः पञ्चकपरिहाण्या मासलघुप्राप्ताः शय्यातरपिण्डं गृह्णन्ति । आगाढे तु ग्लानत्वे क्षिप्रमेव ग्रहणं कार्यम् । तथा शय्यातरेण भक्तपानमस्मद्गृहे गृहीत एवं वन्दिता—निमन्त्रिताः सन्तो भणन्ति कार्ये समुत्पन्ने ग्रहीष्यामः न च ब्रुवते युष्मदीयं भक्तपानमस्माकं न कल्पते ।

जं वा असहीणं तं, भणंति तं देहि तेण णे कज्जं ।
णिब्बंधे चेव सयं, घेत्तूण पसंगं वारेंति ॥ २७५ ॥

यद्वा यद्द्रव्यं तस्य गृहे अस्वाधीनं नास्तीत्यर्थः, तद्भणन्ति, याचन्ते इत्यर्थः । यथा अमुकं द्रव्यं प्रयच्छत तेनास्माकं गुरुतरं कार्यम् । अथ शय्यातरो निर्बन्धमतीवाग्रहं करोति ततः सकृद्-एकवारं गृहीत्वा भूयः प्रसङ्गं निवारयन्ति ।

दुल्लभदव्वं च सिया, संभारघयादि घेप्पती तं तु ।
ओमसिवे पणगादिसु, जतिऊणमसंथरे गहणं ॥ २७६ ॥

दुर्लभद्रव्यं वा सभारघृतादिकं शय्यातरगृहे स्यात् , सभारो बहुद्रव्यसंयोगस्तत्प्रधानं घृतं संभारघृतम् । आदिशब्दात्-शतपाकतैलादि तच्च ग्लानादिनिमित्तं शय्यातरगृहे गृह्णन्ति अवमौदर्याऽशिवयोरसंस्तरणे पञ्चकहान्या यतित्वा मासलघुप्राप्ताः शय्यातरकुले ग्रहणं कुर्वन्ति ।

उवसमणट्ठ पदुट्ठे, सत्थो जा लब्भते व तावं व ।
अच्छंता पच्छण्णं, गेण्हंति भये वि एमेव ॥ २७७ ॥

प्रद्विष्टस्य राज्ञ उपशमनार्थं तिष्ठन्तो, यद्वा-राज्ञा निर्विषया आज्ञप्ताः सन्तो यावत्तत्र सार्थो न लभ्यते तावत्प्रच्छन्नं तिष्ठन्तः शय्यातरकुले भक्तपानं गृह्णन्ति, मा पर्यटतो राजा वा राजकीया वा द्रक्ष्यन्तीति कृत्वा, भये बोधिकस्तेनादिप्रभवे तत्र बहिर्ग्रामेषु भिक्षां गन्तुं न शक्यते,स्वग्रामे च न लभ्यते । अत एवमेव शय्यातरकुले गृह्णन्ति ।

अथ कया यतनया ग्रहीतव्यम् इति द्वारमाह—

तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, चउद्दिसिं मग्गिऊण कडयोगी ।
दव्वस्स य दुल्लभया, सागारियसेवणा दव्वे ॥ २७८ ॥

स्वक्षेत्रे सक्रोशयोजनाभ्यन्तरे स्वग्रामपरग्रामयोस्त्रिकृत्वस्त्रीन् वारान् चतसृष्वपि दिक्षु 'पुट्ठ' ति भैक्षं दुर्लभद्रव्यं वा मार्गयित्वा यदि न प्राप्नोति ततः कृतयोगी गीतार्थो द्रव्यस्य शुद्धभक्तपानादेः दुर्लभतां मत्वा सागारिकद्रव्यस्य सेवनम्—शय्यातरविषयो विधिः ।

अथानेकशय्यातरविषय विधिमाह-

गेगेसु पियापुत्ता, सवत्ति वणिए घडो वए चेव ।
एएसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २७६ ॥

अनेकेषु शय्यातरेष्वमी भेदा पितापुत्रौ सपत्न्यौ वा वणिजो वा घटोवा-गोष्ठी व्रजो वा-गोकुलम् एतेषा द्वाराणां नानात्व विभागं वक्ष्यामि-प्ररूपयिष्यामि यथानुपूर्व्या ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

पितपुत्ते थेरया य, अप्पभुदोसा य तम्मि उ पउसिए ।
जेट्ठाइअणुसवणा, पाहुणए जं विधिग्गहणं ॥ २८० ॥

यदि पिता पुत्रश्च द्वावपि प्रभूतत उभावप्यनुज्ञापयितव्यौ । अथ पिता स्थविर इति कृत्वा चशब्दात्पुत्रोऽप्यनिवाल इति कृत्वा यदाऽप्रभुस्तदा नानुज्ञापनीय।दोषाश्चानुज्ञापनायां निष्काशनादय प्रभुकृता भवन्ति । अथ स प्रभु प्रोषितस्ततस्तस्यैव यो ज्येष्ठादि आदिशब्दादनुज्येष्ठादयो वा तेषामनुज्ञापना कर्त्तव्या। प्राघूर्णको वा यस्तस्याभ्यर्हित सोऽनुज्ञापनीय' सर्वत्र। यद्विधिना ग्रहण तदेवानुज्ञात भगवद्भिर्नाविधिनेति

अथैनामेव व्याख्यानयति—

दुप्पभिइपिया पुत्ता, जीहँ होंति पभू ततो भणइ सव्वे ।
णातिकमंति जं वा, अपभुं व पभु व तं पुव्वं ॥ २८१ ॥

द्विप्रभृतय. अनियताः पिता पुत्रा यत्र प्रभवो भवन्ति तत्र सर्वेऽपि तान् मिलितान् भणन्ति अनुज्ञापयन्ति । य वा प्रभुमप्रभु वा नातिक्रामन्ति—प्रमाणयन्ति तं पूर्वमनुज्ञापयन्ति ।

अप्पहु लहुओ दियणिसि,पभुणिच्छूढे विणासगरिहा य।
असहीणम्मि पभुम्मि उ,साहीणजेट्ठादणुसवणा॥२८२॥

यद्यप्रभुमनुज्ञापयन्ति ततो मासलघु प्रभुश्च समागतो दिवा निष्काशयति चतुर्गुरु, रात्रौ निष्काशिता स्तेनस्वापदादिभिर्विनाश प्राप्नुवन्ति, अन्यत्र वसतिमलभमाना लोकतो गर्हामासादयन्ति । तथा किं यूय शोभनै कर्मभिर्निर्धाटिता. प्रथममपि न प्रयच्छाम इति । प्रभु पिता न स्वाधीन किं तु प्रोषितस्ततो य स्वाधीनो ज्येष्ठादिपुत्र. आदिशब्दादनुज्येष्ठादिकोऽपि य प्रभु स अनुज्ञापयितव्य' । अथ सर्वे प्रभव ततो युगपत्ते सर्वेऽप्यनुज्ञापनीयाः

पाहुणयं च पउत्थे, भणंति मित्तं व णातगं वा मे ।
तं पि य आगतमेत्तं, भणंति अमुएण णे दत्तं॥ २८३ ॥

प्रभौ प्रोषिते सति प्राघूर्णको यस्तस्याभ्यर्हित' समायात' स च मित्र वा तदीय ज्ञातकं वा-स्वजन भणन्ति-अनुज्ञापयन्ति । तं च प्रभुमागतमात्रमेव भणन्ति—अमुकेन युष्मन्मित्रादिना अस्माकमिद प्रदत्तम् । स चाभीष्टनामग्रहणे कृते न निर्धाटयति ।

अप्रभुविषय विधिमाह-

अप्पभुणा उवदिसे, भणति अच्छामु जा पभू एति ।
एत्ते उ तस्स कहणं, सो उ पमाणं न ते इतरे ॥ २०४ ॥

अप्रभुरनुज्ञापितो भणति-अहं न जानामि,तत साधवो भणन्ति यावत्प्रभुरागच्छति तावद्वय तिष्ठाम .एवमनुज्ञापितेनाप्रभुणा वितीर्णे प्रतिश्रये यदा प्रभु प्राप्तो भवति तदा तस्याप्ययथाभूतं कथयितव्यम् । कथिते च स ददाति वा निष्काशयति, एवमत्र प्रमाण न ते पूर्वानुज्ञापिता इतरे अप्रभव. । एवमुक्तेन स्वामिना यद्वसतेर्ग्रहणं तदेवानुज्ञातमिति ।

इय एसाऽणुसवणा, जतणा पिंडो पभुस्स उववज्जे ।
सेसाणं तु अपिंडो,सो वि य वज्जो दुविहदोसा ॥२८५॥

सा चैवमुक्तप्रकारेण एषा प्रतिश्रयानुज्ञापनाया यतना प्रोक्ता अथ शय्यातरपिण्डपरिहारेण यतनाऽभिधीयते-य. प्रभु शय्यातर इति कृत्वा तद्गृहे पिण्डो वर्ज्य , शेषाणामप्रभूणाम् अपिण्ड -शय्यातरपिण्डो न भवति परं सोऽपि द्विविधदोषात् भद्रकप्रान्तकृतदोषपरिहारार्थं वर्जनीय । गत पितापुत्रद्वारम् ।

अथ सपत्नीद्वारमाह--

एगे महाणसम्मि, एकतो उक्खित्त सेसपडिणीए ।
जेट्ठाएँ अणुसवणा, पउत्थेसुँ य जेट्ठ जाव पभू॥२८६॥

शय्यातरे प्रोषिते सति यास्तदीया. पत्न्यस्तासा यद्भोजन तत्र चतुर्भङ्गी एकत्र राद्धमेकत्र भुक्तम् १ एकत्र राद्ध विष्वक् भुक्तम् २ विष्वक् राद्धमेकत्र भुक्तम् , ३ विष्वक् राद्ध विष्वक् भुक्तम् । ४ तत्र ' एगे महाणसम्मी एकतो ' त्ति-एकस्मिन् महानसे एकतो भुक्तमिति प्रथमभङ्गो गृहीत , ' उक्खित्त ' त्ति-एकत इति पदमनुवर्त्तते एकत.-एकस्मिन् स्थाने उत्क्षित्त भोजनभूमिका नीतं भुक्तमिति यावत् अर्थादापन्न विष्वक् राद्धम् , एतेन तृतीयभङ्ग उपात्त । द्वितीयचतुर्थभङ्गौ पुनरवर्जनीयाविति कृत्वा न गृहीतौ । 'सेसपडिणीए' त्ति-यदेकत्र राद्धमेकत्र भुक्त तत्र भुक्तशेषं यद्यपि शेषसपत्नीभि' स्वगृह प्रत्यानीत तथापि भद्रकप्रान्तदोषपरिहारार्थं वर्जनीयम् । प्रभौ प्रोषिते मदीया ज्येष्ठभार्या वसतिमनुज्ञापयते। अथ सा न सुतमती ततो ज्येष्ठा प्रिया पुत्रवती, द्वयोर्वा पुत्रवत्योर्या ज्येष्ठपुत्रा य पुत्रो वा प्रभुर्या वा स्वय गृहे प्रभु.- प्रामाणभूता सा अनुज्ञापनीया । एषा चिरन्तनगाथा ।

अथैनामेव विवृणोति—

तम्मि य असाहीणे जेठपु(त्त)तमाया व जा व से इट्ठा ।
अह पुत्त माय सव्वा,वी(इ)ट्ठो जेट्ठो पभू वा वि॥२८७॥

तस्मिन् गृहस्वामिन्यस्वाधीनेऽसन्निहिते ज्येष्ठा भार्या पुत्रमाता वा या वा 'से' तस्य गृहपतेरिष्टा वल्लभा सा वसतिमनुज्ञापनीया । अथ सर्वा अपि पुत्रमातर अभीष्टाश्च तता यस्याः पुत्रो ज्येष्ठस्तामनुज्ञापयन्ति । अथ ज्येष्ठपुत्रो न प्रभुः तत कनिष्ठोऽपि यस्या पुत्र' प्रभुः सा अनुज्ञापयितव्या।

पिण्डग्रहणे विधिमाह-

असहीणे पभुपिंडं, वज्जिंती सेसए तु भद्दादी ।
साहीणे जहिँ भुंजइ, सेसेसु वि भद्दपंतेहिं ॥ २८८ ॥

अस्वाधीने गृहस्वामिनि या पत्नी प्रभुस्तस्या पिण्ड साधवो वर्जयन्ति । शेषसपत्नीगृहेषु न शय्यातरपिण्ड पर भद्रकप्रान्तकृता दोषा भवन्ति; अतस्तासामपि पिण्ड परिहर्त्तव्य.'। अथ स्वाधीन शय्यातर ततो यस्या गृहे भु-

भुङ्क्ते तत्र शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा वर्जयन्ति, शेषाण्य-पि सपत्नीगृहाणि भद्रकप्रान्तदोषपरिहारार्थं वर्जयन्ति ।

एगत्थ रंधणे भुं-जणे य वज्जेंति भुत्तसेसं पि ।
एमेव वीसु रद्धे, भुंजंति जहिं तु एगट्ठा ॥ २८९ ॥

एकत्र रन्धनम् एकत्र भुक्तमित्यादि चतुर्भङ्ग्यां यत्रैकत्र र-न्धनं भोजनं वा तत्र भुक्तशेषमपि वर्जयन्ति । प्रथमभङ्गे इत्य-र्थः, एवमेव विष्वक् राद्धेऽपि यत्रैकत्र भुञ्जते तत्र भुक्तशेषमपि न गृह्णन्ति तृतीयभङ्ग इति भावः । एवमस्वाधीनभर्तृका-णां विधिरुक्तः ।

अथ स्वाधीनभर्तृकाणां यो विधिस्तमाह—

णिययं च अणिययं वा, जहिं तरो भुंजती उ तं वज्जं ।
सेसासु वि ण य गिण्हति,मा ओभगमादि भद्दाई॥२९०॥

नियतं वा यत्र शय्यातरो भुङ्क्ते तद्गृहं वर्जनीयम्, नियतं ना-म-यदेकस्य एव गृहे प्रतिदिनं भुङ्क्ते, अनियतं तु वारकेण सर्वासामपि गृहे भुङ्क्ते, शेषपत्नीगृहेषु यद्यपि शय्यातरपि-ण्डो न भवति तथापि न गृह्णन्ति । मा भद्रकप्रान्तकृताच्छोभ-कादयो दोषा भवेयुः स च प्रज्ञापकः भोजनं शेषपत्नीगृहे न भद्रकशय्यातरः कुर्यात् । मम गृहे तावदमी न गृह्णन्ति अत एवमपि दत्त्वा पुण्यमुपार्जयामीति बुद्ध्या, यस्तु प्रान्तः स द्वेषं यायात् अहो दुष्टधर्माण इमे, यदि मदीयगृहे न कल्पते तत एतासां मदीयपत्नीनां गृहं कथं कल्पत इति प्रद्विष्टश्च अविश्रयात् निष्काशयेत् । गतं सपत्नीद्वारम् ।

अथ वणिग्द्वारमाह—

दोसु वि अव्वोच्छिन्ने, सव्वं जं तम्मि जं च पाउग्गं ।
खंधे संखडि अडवी, असती य घरम्मि सो चेव ॥२९१॥

कोऽपि शय्यातरो देशान्तरं गन्तुकामो नगराद्बहिः स्थितो वर्त्तते, तस्य च द्वयोरपि गृहयोरन्तर्गृहाद्बहिर्गृहे बहिर्गृहाद् वाऽऽभ्यन्तरगृहे भक्तादिकमव्यवच्छिन्नं यदा-नीयते तत् न कल्पते । अथासौ शय्यातरस्ततः स्थानात् प्रस्थितः ततो यो निर्गच्छति तस्मिन् सर्वं तद्दिव-सनीतमन्यदिवसनीतं च भक्तपानं कल्पते । सर्व-स्यापि त्यक्ते मा भूदतिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—यच्च प्रायो-ग्यं-प्रान्तजनयोग्यं तत्प्रापणीयं प्रासुकं चेत्यर्थः, 'खंधे' त्ति-स्कन्धप्रदेशयोग्यं कृत्वा बहिर्ग्रामेषु व्यवहरन् शय्यातरः साधूनां दधिदुग्धादिकं दद्यात्, 'संखडि' त्ति—सङ्खडिं कुर्वन् साधूनामपि दद्यात् । 'अडवि' त्ति—अटव्यां वा काष्ठ-फलैन्दनादिनिमित्तं गृहीतशम्बलो गच्छन् साधून् दृष्ट्वा त-त्सम्भवात् तेषामपि दद्यात्, एतेषु त्रिष्वपि न कल्पते । 'अ-सइ य घरम्मि सो चेव' त्ति-यदि शय्यातरः सपुत्रपशुपा-न्धवो गृहे नास्ति किं तु देशान्तरं प्रोषितः, तदा देशान्तर-स्थितोऽपि स एव तत्र शय्यातरो नान्य इति निर्युक्ति-गाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह—

णिग्गमणाए, बहिट्ठिए, अंतरवितम्म वयाए, मक्कं ।
बाहिं नटिगलीए, मनेसु पसंगदोसेणं ॥ २९२ ॥

शय्यातरो वाणिज्येन देशान्तरं गन्तुकामो निर्गमनं, प्रस्थानं च शुभमुहूर्त्ते क्रियते, इत्यादिकारणेन नगराद्बहि-र्गतः अक्षोभयोजनक्षेत्रस्याभ्यन्तरे बहिर्वा स्थितो भवेत् । यद्यसौ क्षेत्राभ्यन्तरे स्थितः तदा सर्वं तद्दिवसान्यदिवस-नीतं शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा वर्जयेत् । अथासौ क्षेत्राद्बहिः स्थितः ततस्तद्दिवसनीतः शय्यातरपिण्डः शेषदिवसनीतं तु यत्परिवासितम्, यद्वा-तत्रैवोपस्कृतं तन्न शय्यातरपिण्डः परं तदपि प्रसङ्गदोषेण मा भद्रकप्रान्तकृतदोषाणां प्रसङ्गो भवेदिति कृत्वा न ग्रहीतव्यम् ।

ठितो जया खेत्तबहिं सगारो,
भत्तादियं तस्स दिणे दिणे य ।
अच्छिन्नमाणिज्जति णिज्जती य,
णिहा तदा होति तहिं वि वज्जे ॥ २९३ ॥

यदा क्षेत्राद्बहिः स्थितस्तदा तस्य भक्तादिकमव्यवच्छिन्नं दिने दिने गृहाद्बहिरानीयते, बहिः स्थानाच्च गृहं नीयते, त-त्सर्वमपि सागारिकपिण्डो भवति तत्र स्थितस्य वर्जनात् ।

बहिट्ठिएँ पट्ठिओ य, सयं व संपत्थिया उ गेण्हंति ।
तत्थ उ भद्दगदोसा,ण होंति ण य पंतदोसाओ ॥२९४॥

शय्यातरः क्षेत्राद्बहिः स्थितो यस्यां वेलायामग्रतो गन्तुं प्रस्थितः स्वयं वा साधुः, पूर्णे मासकल्पे सम्प्रस्थिताः त द्दिवसात् यद्यन्यत्र वसन्ति तदा सर्वमपि प्रायोग्यं भक्तं पानं गृह्णन्ति । कुत इत्याह—तत्र तस्यां वेलायां गृह्यमाणे भद्रक दोषाः प्रान्तदोषाश्च न भवन्ति । पुनर्ग्रहणाभावादिति भावः । अथ स्कन्धपदं सङ्खडिपदमटवीपदं च व्याख्याति—

अंतो बहि कच्छउडिया-दि ववहरंतो पसंगदोसाओ ।
देउल जन्नगमादी, कट्ठा दंडं विवच्चंते ॥ २९५ ॥

क्षेत्रस्यान्ते बहिर्वा शय्यातरः कक्षापुटिकादि -कक्षा प्रदेशे पुटा यस्य स कक्षापुटिको-गृहीतोभयमोदक इत्यर्थः । आ-दिशब्दात्—कौतुकिकादिर्वा,बहिर्ग्रामेषु व्यवहरन् साधूनां दधिदुग्धादिकं दापयति। तत्र क्षेत्रस्यान्तस्तद्दिननीतमन्यदि-ननीतं च शय्यातरपिण्डः । बहिः पुनस्तद्दिवसनीतं श-य्यातरपिण्डः, शेषदिवसनीतं न शय्यातरपिण्डः परं भूयः प्रसङ्गदोषान्न गृह्यते । एवं तद् देवकुलतडागयज्ञादिकं संखडीं कुर्वतः काष्ठादिनिमित्तं शम्बलं गृहीत्वा अटवीं व्रजतः, क्षे-त्रान्तर्दीयमानं शय्यातरपिण्डः । क्षेत्रबहिस्तद्दिवसानीतं श-य्यातरपिण्डः, न द्वितीयदिवसानीतं, परं तदपि न ग्रहीत-व्यम्, मा भूय संसर्गकरणमटवीगमनं वा साधूनां दानार्थं कुर्यादिति कृत्वा ।

अथ गृहे असन् स एव शय्यातर इति पदं व्याचष्टे—

मुत्तूण गेहं तु सपुत्तदारो,
वाणिज्जमातिज्जति कारणेहिं ।
मयं च आयं च वएज्ज देसं,
सेज्जातरो तत्थ स एव होति ॥ २९६ ॥

मुक्त्वा-परित्यज्य गेहं साधूनामर्पयित्वेत्यर्थः, सपुत्रदारः शय्यातरो वाणिज्यादिभिः कारणैर्यदि स्वकमन्यं वा देशं व्रजति तथापि स एव शय्यातरो भवति स पुनर्देशान्तर-स्थितस्य शय्यातरत्वमपगच्छतीति । गतं वणिग्द्वारम् ।

घटाद्वारमाह—

महतरअणुमहतरए, ललियासणकडुयदंडपतिए य ।

एतेहि परिग्गहिया, होंति घडा तो तदा काले ॥२९७॥

महत्तरोऽणुमहत्तरको ललितासनिक कटुको दण्डपातिकश्चेति, एतैः पञ्चभिः परिगृहीतास्तदा पूर्वकाले गोष्ठ्यो भवन्ति बभूवुरित्यर्थः ।

अथामूनेव महत्तरादीन् व्याख्यानयति-

सव्वत्थ पुच्छणिज्जो, महत्तरो जिट्ठमासणधुरे य ।

ठइयं तु असन्निहिए, ऽणुमहत्तरतो धुरे वाति ॥२९८॥

सर्वत्र सर्वेषु गोष्ठिकार्येषूत्पद्यमानेषु सर्वैरपि गोष्ठैः पुरुषैः प्रच्छनीय ,यस्य च ज्येष्ठ महत्तरत्वमासीनाना धुरि च सर्वैरव स्थाप्यन्ते स महत्तरस्ततस्तस्मिन् मूलमहत्तरे असंनिहिते यस्तत्र सर्वैरपि प्रच्छनीय धुरि च प्रथमं तिष्ठति, स. अणुमहत्तरः । (वृ०) (' ललिआसण ' शब्दे षष्ठे भागे गता ललितासनवक्तव्यता ।)

एतेषां महत्तरादीनां यद्देवकुले सत्ताकिं तस्य
कथमनुज्ञापना विधेयेत्याह—

उल्लोमाणुन्नवणा, अप्पभदोसा य एकओ पढमं ।

जिट्ठादिअणुन्नवणा, पाहुणए ज विहिग्गहणं ॥३००॥

महत्तरक्रममुल्लङ्घ्य यद्युल्लोम व्यतिक्रमेणानुज्ञापनां करोति तदा मासलघु प्रभुदोषाश्च निष्काशनादयो भवेयु. । अतः सर्वेऽप्येकतो मिलिता. प्रथममनुज्ञापनीया' । अथ सर्वे मिलिता नावाप्यन्ते ततो ज्येष्ठमहत्तरस्य , तदभावे यथाक्रमं महत्तरादीनामनुज्ञापना विधेया । अथ महत्तरादीनामेकोऽपि गृहे न प्राप्यते ततो यस्तेषामभ्यर्हित. प्राघूर्णकस्तमवज्ञापयन्ति । एवंविधेन हि विधिना यदुपाश्रयस्य ग्रहणं तदेवानुज्ञापना विधिग्रहणम् ।

अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह—

उल्लोम लहु यदि पणम्मि,तेणेकहि पिंडिए अणुन्नवणा ।

असहीणे जिट्ठादि व, जइ व समाणा महतरं वा॥३०१॥

यदि महत्तरादिकमन्यत्यासेनानुज्ञापयति तदा मासलघु, तेनैकत्र पिण्डितानां-मिलितानां पञ्चानामप्यनुज्ञापना कर्त्तव्या । अथ सर्वेऽप्येकतो मिलिता अस्वाधीना न प्राप्यन्ते इत्यर्थ.,ततो ज्येष्ठमहत्तरादेर्गृहे तु गत्वा अनुज्ञापना विधेया। यदिवा-यात्रिप्रभृतीन् तत्र समस्वाधीनान् पश्यन्ति तावत्तेषामनुज्ञापना कुर्वन्ति । महत्तरं वा एकमप्यनुज्ञापयन्ति, अस्य प्रमाणभूततया सर्वेषामनतिक्रमणीयत्वात् । गत घटाद्वारम् ।

व्रजद्वारमाह—

बाहिं दोहणवाडग, दुद्धदहीसप्पितक्कणवणीति ।

आसन्नम्मि ण कप्पति, पंचयए उप्परिं वुच्छं ॥३०२॥

कस्यचिद्धि शय्यातरस्य सबन्धी ग्रामाद्बहिर्वा दोहनवाटको भवेत् , तस्मिन् दुग्धदधिसर्पिस्तक्रनवनीताख्यानि पञ्चकानि द्रव्याणि भवन्ति । एतत्पञ्चकमासन्ने क्षेत्राभ्यन्तरे दीयमान न कल्पते शय्यातरपिण्डत्वात् । अथैतानि दुग्धादीनि क्षेत्रस्योपरि बहिर्वर्त्तन्ते ततस्तद्विषय ग्रहणविधिमहं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

निज्जंतं मोत्तूणं , वारगभयादिवसए भवे गहणं ।

छिण्णं भती य कप्पति, असती य घरम्मि सो चेव॥३०३॥

गोकुलानि दधिदुग्धादिपञ्चक शय्यातरगृहे यन्नीयते स शय्यातरपिण्डो भवति । अतस्तद् दुग्धादि नीयमान मुक्त्वा यदन्यत्तत्रैव गोकुले परिभुज्यते तत्र भवति शय्यातरपिण्ड', पर तदपि भद्रकप्रान्तदोषपरिहारार्थिनो गृह्यते , यस्मिन् पुनर्दिवसे भृतकस्य—गोपालस्य वारकस्तस्मिन् दुग्धादिक शय्यातरस्यापश्यतो ग्रहणं भवेत् , न पश्यत. । तथा भृतिर्नाम गोपालकस्य दुग्धचतुर्थभागादिपरिभाषितादि च सदैव दैवसिकी वृत्ति., तथा छिन्न—विभक्तं यद्-दुग्धादिकं तद्गोपालसत्कमिति कृत्वा कल्पते ग्रहीतु यदि शय्यातरो न पश्यति। तथा यदि साधूनां शय्या समर्प्य शय्यातर.-सपुत्रदारो व्रजिकायां गच्छेत् ततो गृहे अविद्यमानोऽपि स एव शय्यातरो भवति ।

अथास्या एव विषमपदानि विवृणोति—

बाहिरखेत्ते छिण्णे, वारगादिवसे सती य छिण्णे य ।

सो व ण सागारिपिण्डो,वज्जो पुण दिट्ठिभद्दादि ॥३०४॥

स क्रोशयोजनक्षेत्रस्य बहिर्व्यवच्छिन्नो विभाग' शय्यातरगृहे न नीयते,गोपालकवारकदिवसे वा यः सर्वोऽपि गोपसत्कः प्रतिदिवसलभ्यो वा भृत्या छिन्नो यो दुग्धचतुर्थभागादिको विभाग' स एष सर्वोऽपि सागारिकपिण्डो न भवति,परं भद्रकप्रान्तदोषा दृष्टे सति मा भूवन्निति शय्यातरस्य पश्यतः सोऽपि वर्जनीयः ।

अथ यदुक्त सूत्रे 'एग तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे निव्विसेज्जा ' तद्विभावयिषुराह—

एगं ठवेंति विसए, दोसा पुण भद्दिए य पंते य ।

णिस्साए वा छुभणं,विणासगरहं च पावंति ॥ ३०५ ॥

यद्यनेकेषु शय्यातरेषु इतरेण एकं सागारिक स्थापयन्ति शेषान्निर्विशन्ति—उपभुञ्जते ततो भद्रकप्रान्तविषया दोषा भवन्ति । भद्रको निर्दिश्यमानशय्यातरस्य निश्रया तदीय भक्तपानमध्ये प्रक्षेपयति , मम गृहे तावदमी न गृह्णन्ति अतो मदीयमिदं भवद्भि· संयताय दातव्यमिति कृत्वा । यस्तु प्रान्तः स एक एव अस्थाप्यमानः प्रद्वेषं यायात् , प्रद्विष्टश्च वसतेर्निष्काशनं कुर्यात् । निष्काशिताश्च स्तेनश्वापदादिभिर्विनाश लोकाद्वा गर्हामासादयन्ति । कारणे पुनरेकमपि स्थापयन्तो निर्दोषा' ।

कथमित्याह—

सद्देहि वा वि भणिया, एगट्ठ वि ताण निविसेमाणं ।

गणदेउलमादीसु तु, दुक्खं खु विवज्जिउं बहुगा ॥३०६॥

' वा ' शब्द. उत्सर्गपदे तावन्न कल्पते एकः सागारिक. स्थापयितुम् , द्वितीयपदे तु कल्पते । अपिशब्द पक्षान्तरस्य सूचनार्थः । ये श्राद्धा· साधुसमाचारीकोविदास्तैः साधवो भणिता , ' आर्या. ! एक शय्यातरं स्थापयित्वा शेषान्निर्विशत , मा सर्वानपि परिहरत, एवमुक्ता एक स्थापयित्वा शेषान्निर्विशन्ति । अथवा—गण बहुजनसमूह गत्वा सामान्याद् देवकुलसभादौ स्थिता· मनुक्त· अप्येक

स्थापयित्वा शेषानिर्विशन्ति । कुत इत्याह—'दुक्ख' दुष्कर तत्र बहून् वर्जयितुम् ।

गिण्हंति वारएणं, अणुग्गहत्थीसु जहरुई तेसिं ।
एक्केऽत्थ परीमाणं, संतमसंते य से दव्वे ॥ ३०७ ॥

यद्वा—ते सर्वेऽपि शय्यातरा अनुग्रहार्थिन ततो यथा तेषां रुचिरुपजायते तथा वारके गृह्णन्ति, तत्र च एके उपस्कृते अत्र परिमाणं ज्ञातव्यम् । किं परिमितायामुपस्क्रियते उतापरिमितायामिति । तदपि द्रव्यं तस्य गृहे तत्र देशे वा सद्-विद्यमानं यदि पूर्वपरिणामेण द्रव्यमुपस्कुर्वन्ति तदा कल्पते अन्यथा भजनीयम् । एवं तस्य शय्यातरस्य द्रव्ये सम्यगुपयोगो दातव्य.। बृ० २ उ० ।

सागारिकपिण्डं गृह्णाति भुङ्क्ते च—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियपिंडं गिण्हइ गिण्हंतं वा साइज्जइ ॥ ४५॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

'सागारिओ सेज्जातरो तस्स पिंडो ण भोत्तव्वो, जो वा भुंजति तस्स मासलहुं ।' नि० चू० २ उ० ।

सागारिककुलमज्ञात्वाऽनुप्रविशति—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियकुलं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव पिण्डवायपडियाए अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियणीसाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय जाइय जायंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

'सागारिओ पुव्ववण्णिओ कुलं—कुलकुडुंबं भिक्खा—कालाओ पुव्वं—पुव्वदिट्ठे पुच्छा अपुव्वगवेसणं त साहुसमीवे अपुच्छिऊण पविसन्तस्स मासलघु । नि० चू०२ उ०।

सागारिकपिण्डो बहिर्निर्हृत संसृष्ट —

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया अनीहडं असंसट्ठं वा पडिगाहित्तए ॥ १४ ॥ नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा सागारियपिण्डं बहिया अनीहडं संसट्ठं पडिगहित्तए ॥ १५ ॥

अथास्य (सूत्रद्वयस्य १४-१५) सम्बन्धमाह—

अंतो नूणं न कप्पइ, णिक्कासिओं कप्पई उ मा एवं ।
पत्तेयविमिस्सं वा, पिंडे गेण्हेज्ज तो सुत्तं ॥ ३०८ ॥

नूनमन्तर्गृहाभ्यन्तरे पिण्डो न कल्पते, गृहाद्बहिर्निष्काशितस्तु कल्पते, एव विचिन्त्य मा प्रत्येक ससृष्टविमिश्रं वा संसृष्टं पिण्डं गृह्णीयात् । अन एतत्सूत्रमारभ्यते । वक्ष्यमाणसूत्रद्वयस्याप्ययमव संबन्धो द्रष्टव्य, अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (सू०१४-१५) व्याख्या । नो कल्पते निग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकपिण्डं वहिर्वाटकादनिर्हृतमनिष्काशितमससृष्ट वा अन्यदीयपिण्डै सहामीलित, संसृष्टम्-अन्यदीयपिण्डै समीलितं प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रार्थ' ।

१—'साइज्ज' आस्वादने धातु. ।

अथ भाष्यविस्तरः—

वाडगदेउलियाए, इच्छादंतम्मि गहणे तह चेव ।
णीसट्ठमणीसट्ठे, गहणागहणे इमे दोसा ॥ ३०९ ॥

शय्यातरवाटकस्य मध्ये काचिद्देवकुलिका, तस्यां यद्वा-नमन्तरं तदर्थं वाटकवास्तव्या अगारिणः सखडीं कुर्वन्ति । तत्र च भिक्षाचरेभ्यो दातुं तेषामिच्छा समजनि, ततो वाटकवास्तव्यजने ददति दातुमुपस्थिते ग्रहण तथैव मन्तव्यं यथा पूर्वसूत्रे अभिहितम् । तथा निसृष्टं नाम-यद् बल्यादिकं वानमन्तरस्य निवेदितम् । अनिसृष्टं तु तद्विपरीतं तयोर्ग्रहणे अग्रहणे चामी वक्ष्यमाणा दोषा भवन्तीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

उप्पत्तियं वा वि धुवं च भोज्जं,
तस्सेव मज्झम्मि उवागडस्स ।
समस्सिते सागारचोलगम्मि,
अण्णेहिं सो चेव उ तस्स पिंडो ॥ ३१० ॥

तस्यैव—सागारिकस्य वाटकस्य मध्ये वानमन्तरमुद्दिश्य भोज्यं-संखडिर्भवेत्, तच्चौत्पत्तिक वा स्यात् ध्रुवं वा । औत्पत्तिकं नाम-पर्वतिथिमन्तरेणाकस्मिकम्. ध्रुवं तु पर्वतिथिभावि । अथ नवम्यां दशम्यां वा तत्रान्यैश्चोल्लकैः सम मपि श्रितो यः सागारिकश्चोल्लकस्तस्मिन् संखड्यां दीयमाने स एव शय्यातरस्य पिण्डो भवति ।

अस्य निवेदितस्य वा ग्रहणे तावदिमे दोषाः—

भद्दो तन्नीसाए, पंतो घेप्पति दट्ठूणं भणइ ।
अंतोघरे ण इच्छह, ऽहो गमणं दुट्ठधम्मो त्ति ॥३११॥

यः सागारिको भद्रकः स तन्निश्रया वानमन्तरनिवेदनाव्याजेनान्यदप्यात्मीयमाहारजातं तत्र प्रक्षिपेत् । यस्तु प्रान्त. स तथा गृह्णमाण दृष्ट्वा भणति-अन्तर्गृहे-गृहाभ्यन्तरे दीयमानं तदीय पिण्डं नेच्छथ, इह पुनरेवं दीयमानस्य ग्रहणं कुरुध्वम्, अहो दुष्टधर्माणो यूयमिति तथैतद्दोषभयान्न गृह्णन्ति ।

ततः किं भवतीत्याह—

तेसु अगिण्हंतेसु य, चिंता परिसाएँ से समुप्पेज्जा ।
को जाणइ किं एते, साहू घेत्तुं ण इच्छंते ॥ २१२ ॥

तेषु साधुषु तं शय्यातरभक्तं-निवेदनापिण्डमगृह्णमाणेषु तस्या सखडीकारिण्या पर्षदि चिन्ता समुत्पद्येत, यथा को जानाति-को नामामुमर्थं सम्यग् वेत्ति किमेते साधव इदं शय्यातरसत्कमाहारजातं ग्रहीतुं नेच्छन्ति ।

नूणं से जाणंति कुलं व गोत्तं,
आगंतुओ सो य तहिं सागारो ।
भूणग्घ सोयं च ततो घणव्वए,
जं अम्ह इच्छंति ण सेज्ज दातुं ॥ २१३ ॥

नूनं 'से' तस्य शय्यास्वामिनो जानन्त्यमी कुलं वा गोत्रं वा, यथाय नीचकुलोत्पन्नो हीनगोत्रो वेति । स च सागारिकस्तत्र ग्रामादावागन्तुक अतो न तदीय कुलादि तत्र कोऽपि वेत्ति ।

यद्वा ते गृहस्थाश्चिन्तयेयुः -अप्राज्ञो बालमारकोऽयं शुभं वा शुचि समाचरता रूपमस्य नास्ति ; तत एव स्वकीय पिण्डं त्यक्त्वा यदमी अस्माकं चोलकं प्रदातुमिच्छन्ति न शय्यादातुः सम्बन्धि तत् ।

तत. सागारिक इत्थं चिन्तयेत्—

श्रोभासिश्रो खेहि स वासमज्झे,
चंडालभूतो य कतोऽहमेहिं ।
मूढे वि खिच्छंति असाधुधम्मा,
अतो परं किं म करेज्ज अण्णं ॥ ३१४ ॥

अपभ्राजितोऽहममीभि श्रमणकैः स्ववासमध्ये-स्वकीयसहवासिजनमध्ये चण्डालभूतश्च कृतोऽहममीभि. मुण्डे ,गेहेऽपि च मदीये नेच्छन्त्यमी असाधुधर्माण पिण्डं प्रदातुम्, अत पर किंचान्यदपर कुर्यु । यत्कर्तुं योग्य तदमीभि. कृतमिति भाव. ।

ततश्च—

राम्रो दिया माहू वि निग्गसेज्जा,
एगस्स सेगाण व मेज्जछेदं ।
अद्धाण सिंतिं व अलंभं जं तु,
पावेज तं ता वि अगिरहमाणो ॥ ३१५ ॥

रात्रौ दिवा वा साधून् प्रतिश्रयान्निष्काशयेत् ,एकस्य वा तस्यैव गच्छस्य अनेकेषां वा बहूनां गच्छानां शय्यादानस्य व्यवच्छेदं कुर्यात् । ततोऽध्वनि वह्माना निर्गच्छन्तो वा साधव स्तदीयदोषेण वसतिमलभमाना यत् परितापनादिकं प्राप्नुयु' ततस्ते शय्यातरचोलकमगृह्णाना यत्परितापनादि प्राप्नुवन्ति, तन्निष्पन्नं तथा प्रायश्चित्तमिति भाव' । एवमसंसृष्टपिण्डविषयदोष उक्त. ।

अथ संसृष्टपिण्डविषयानाह—

ससट्ठस्स ग्गहणे, तदियं दोसा इमे पसज्जंति ।
तन्नीमाएँ अभिक्खं, संखडिकारावणं होज्जा ॥३१६॥

यद्यन्मदीयचोलके संसृष्टं सागारिकपिण्डं गृह्णन्ति तदा तत्रैते दोषा प्रसज्जन्ति । तन्निश्रया यद्यन्यदीयपिण्डसंसृष्टो मदीयपिण्डोऽमीषां कल्पते तत इत्थं कृत्वा भूयो दापयिष्यामीत्यालम्बनेन बाटकवास्तव्यजनैरभीक्ष्णं सखडीकारापणं भवेत् ।

अल म्ह पिंडेण इमेण अज्जा !,
भुंजेण आणेति जहा स इत्थ ।
साहू वि नेच्छंति इमस्स दोसा,
अम्हे वि वज्जेसु ण को वि एसो ॥३१७॥

अथ भूयो यथैव सागारिक अत्र पिण्डमानयतीत्येवमर्थं साधवो गृहस्थान् ब्रुवते-आर्य ! अलमस्माकमनेन संसृष्टपिण्डेनेति, ततस्ते अगारिणश्चिन्तयेयु —अस्य सागारिकस्य दोषाः, यदि साधवोऽमु पिण्ड नेच्छन्ति ततो वयमपि दानग्रहणादिव्यवहारमनेन सह वर्जयाम., यतो न कोऽप्येष विशिष्टो ज्ञायते आगन्तुकत्वात् ।

अगम्मगामी किलवोऽहवाऽयं,
बोंदी व कुज्जा खि सुणादिणा वा ।
दोसा बहू वेत्थ जहिं सगारा,
पिंडं णए तत्थ उ णाभियच्छे ॥ ३१८ ॥

अथवा योऽगम्यगामी क्लीबो वा नपुंसको वा भविष्यति बोन्दी-कायादिपालना'से'तस्य शय्यातरपिण्डस्य शुनकादिना कृता भवेत्, एवमादयो बहवो दोषा यतो भवन्ति, तेन यत्र सम्बद्धीकरण सागारिक. स्वकीयं पिण्डं नयति तत्र प्रथमत एव नैवाभिगच्छेत् ।

बहिर्निर्गत' सागारिकपिण्ड बहिर्निहृतोऽसंसृष्ट—

नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं असंसट्ठं पडिग्गाहित्तए ॥ १६ ॥ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं संसट्ठं पडिग्गाहित्तए ॥ १७ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवर सागारिकपिण्डो बाटकाद्बहिर्निष्काशितोऽसंसृष्टोऽन्यपिण्डेन सममसंमीलितो न कल्पते, संसृष्टस्तु कल्पते इति ।

अथ भाष्यम्—

बहिया उ असंसट्ठे, दोसा न हु चेव मोत्तु संसट्ठे ।
संसट्ठमणुन्नायं, पच्छउ सागारिश्रो मा वा ॥ ३१६ ॥

सागारिकवाटकाद्बहिर्निष्काशिते असंसृष्टे गृह्यमाणे ते एव पूर्वसूत्रोक्ता भद्रकप्रान्तदोषा., पर मुक्त्वा संसृष्ट, तत्र दोषा न भवन्तीति भाव । अत एव बहिर्वाटकाद्बहिर्निष्काशित तदत्र सूत्रे अनुज्ञातम् , सागारिक पश्यतु वा मा वा इदं पुरस्तात्स्पष्टीकरिष्यते ।

नीसट्ठमसंसट्ठो, वि य पिंडो किमु परेहिं संसट्ठो ।
अप्पत्तियपरिहारी, सागारदिट्ठं परिहरंति ॥ ३२० ॥

निसृष्टो नाम—बहिर्निष्काश्य वानमन्तरस्य निवेदित, यस्य वा याचकादेरर्थाय निष्काशितस्तस्मै प्रदत्त , स यद्यप्यन्यैश्चोलकैरसंसृष्टस्तथाऽप्यपिण्डो न सागारिकपिण्ड किं पुन परैरन्यैश्चोलकै सम संसृष्ट, स सुतरा सागारिकपिण्डो न भवतीत्यर्थ । परम् अप्रीतिकपरिहारिण सन्त सागारिकदृष्ट परिहरन्ति ।

इदमेव सापवादमाह—

अदिट्ठस्स उ गहणं, असती तव्वज्जितेण दिट्ठस्स ।
दिट्ठे वि परिथियाणं, गहणं अंतो व बाहिं वा ॥ ३२१ ॥

प्रथमं सागारिकेण सकुटुम्बेनादृष्टस्य ततोऽसति—सस्तरणाभावे तद्वर्जित तमेक सागारिक वर्जयित्वा शेषकुटुम्बेन दृष्टस्य संसृष्टस्य पिंडस्य ग्रहणमनुज्ञातम् । अथ ते साधवो ग्रामान्तर प्रस्थितास्तत. सागारिकेणापि दृष्टस्य संसृष्टस्य वा तस्यान्तर्बहिर्वा सर्वत्र ग्रहणमनुज्ञातम् । पुनर्ग्रहणाभावेन भद्रकप्रान्तदोषाणामभावात् ।

पाहुणगा वा बाहिं, घेत्तुमसंसट्ठयं च वच्चंति ।
अंतो वा उभयं पी, तत्थ पसंगादश्रो णत्थि ॥ ३२२ ॥

अथवा प्राघूर्णका. साधव केचित्तत्र समायाता , ते च त ग्रामं व्यतीत्यामतो गन्तुकामा वाटकाद्बहिर्निष्काशित

१–' निष्काशित ' इति दन्त्यान्तोऽपि धातु. ।

निसृष्टमसंसृष्टमपि गृहीत्वा समुद्दिश्य च व्रजन्ति, तदभावे अन्तर्वाटकाभ्यन्तरे वर्त्तमानमुभयमपि प्राघूर्णका' साधवो गृह्णन्ति। प्रथमं संसृष्टं तदप्राप्तौ च असंसृष्टमपीत्यर्थ। कुत इत्याह-तथैवविधे प्राघूर्णकानां ग्रहणे प्रसङ्गादयो दोषाः भद्रकप्रान्तकृताः पुनर्ग्रहणाभावान्न सन्ति। तन्निश्रया भूयः सखडीकारापणम् आदिशब्दात्- निष्काशनादिपरिग्रह.।

अथ 'संसट्ठमणुन्नायं' इत्यादिपदानां भावार्थं गाथात्रयेणाह-

जो उ महाजणपिंडे-ण मेलितो बाहि सागारियपिंडो।
तस्स तहिं अपभुत्ता,ण होति दिट्ठे वि अवियत्तं॥३२३॥
जं पुण तेसिं चिय भा-यणेसु अविमिस्सियं भवे दव्वं।
तं दिस्समाणगहियं, करेज्ज अप्पत्तियं पहुणो॥३२४॥
जं पुण तेण अदिट्ठे, दुघाय गहणं तु होति संसट्ठे।
तहियं ताणि कहेज्जा,ण यावि ण य आयरो तत्थ॥३२५॥

यस्तु सागारिकपिण्डो महाजनपिण्डेन सह वाटकाद् बहि मीलित स साधूना कल्पते। कुत इत्याह—तस्य सागारिकस्य तत्राप्रभुत्वात्, महाजनस्यैव च प्रभुत्वात्। दृष्टेऽपि सागारिकस्य नाप्रीतिकं भवति। यत्पुनर्द्रव्य तेषामेव शय्यातरमानुषाणा भाजनेष्विति मिश्रितमसंसृष्ट भवति तत् दृश्यमाने गृही संस्थापयेदिति भाव'। यद्वा-साधुभिरिद पवित्रीकृतमिति मत्वा भद्रकास्तस्यादादे स्वगृहे स्थापनं कुर्यु.। अथ ते प्रान्ता ततो घातं वा बन्धं वा कुपिता सन्त संयतानां कुर्यु। एते तावत् स्वयकरणे दोषा अभिहिता।

अथ स्वयं संसृष्ट कर्तुमसमर्था अन्यैः कारयन्ति, यो वा कोऽप्यन्यत्प्रक्षिपति तमनुमोदयन्ति तत इमे दोषा —

कारावणमन्नेहिं, अणुमोदणउग्गमादिणो दोसा।
दुविहे वतिक्कमम्मि, पायच्छित्तं भवे तिविहं॥३२६॥

अन्यै. कारापणे कुर्वता वा अनुमोदने ऊष्मादयो दोषा भवन्ति, ऊष्मा नाम-तेनात्युष्णद्रव्येण तस्य रागिणो हस्तादौ परिताप.। आदिशब्दाद्यदि द्रव्यमसौ तत्र प्रक्षिपति स तेन सहासखडं कुर्यात्, तस्मात् मदीयं स्पृशत्येवमादयो दोषा.। अत्र च द्विविधे व्यतिक्रमे लौकिकलोकोत्तरिकमर्यादातिक्रमरूपे प्रायश्चित्तं त्रिविध भवति। तथैक स्वयं करणे, द्वितीयं कारापणे, तृतीयमनुमतावििति।

इदमेवोत्तरार्द्धं व्याचष्टे—

लोउत्तरं च मेरं, अतिचरई लोइयं च मेलेत्ता।
अहवा सयं परेहि य,दुविहा उ वतिकमो होति॥३२७॥
पढमिल्लुगम्मि ठाणे, दोहि वि गुरुगा तवेण कालेणं।
वितियम्मि य तव गुरुगा,कालगुरू होंति ततियम्मि३२८

सागारिकचोल्लकमितरेषां चोल्लकै सम मीलयन् लोकोत्तरिकीं मर्यादाम् " न कल्पते सागारिकपिण्डोऽसंसृष्ट कर्तुमिति भगवदालक्षणां ' लौकिकीं च न मीलनीया असाक चोल्लका इत्येवंरूपां मर्यादामतिचरति-अतिक्रामतीत्यर्थ। अथवा-स्वयंकरणं परैश्च क्रियमाणस्य स्वादनमित्येवं द्विविधो व्यतिक्रमो भवति तत्र प्रथमस्थाने स्वयकरणलक्षणे चत्वारो गुरुका', द्वाभ्यामपि गुरुका', तद्यथा-तपसा कालेन च। द्वितीये कारापणे त एव चत्वारो गुरवस्तपोगुरुकाः, तृतीये अनुमोदनालक्षणस्थाने त एव चतुर्गुरुकाः कालगुरवो भवन्ति।

किं च—

अम्हच्चयं छूढमिणं किमट्ठा,
तं केण उत्ते कहिते जतीहिं।
ते चेव तोयादिपवत्तणेया,
असिट्ठतेणेव अ संखडादी॥३२९॥

अस्मदीय तदिदं द्रव्य किमर्थं केनान्यत्र प्रक्षिप्तम्, इत्थं संखडिकारिभि साधैरमुक्तो रक्षपालो ब्रवीति-यतिभिरिदमेकत्र मीलितम्, एवं कथिते सति त एव स्पर्शादय उदकस्पर्शनभण्डनादयो दोषा। अथ ते भद्रकास्ततः साधुहस्तेन पवित्रीभूतमिदमिति मत्वा प्रवर्त्तनं कुर्यु.। अथासौ रक्षपालो न कथयति ततोऽशब्दे—अकथिते तेनैव रक्षपालेन सम संखड कुर्यु। आदिशब्दाद् वधो वा बन्धं वा ते तस्य कुर्वन्ति। यत एते दोषा. ततो नासंसृष्ट कर्त्तव्यं कारयितव्य क्रियमाणमनुमोदयितव्य चेति।

अथ द्वितीयपदमाह—

अद्धाणणिग्गयादी, पविसंता वावि अहव ओमम्मि।
अणुमोदणकारावण, पभुणिक्खंतस्स वा करणं॥३३०॥

अध्वनो निर्गता आदिशब्दाद्-अशिवादिनिर्गताः, अध्वानि वा प्रविशन्त अथवा-अवमौदर्ये वर्तमाना. संसृष्टं पिण्डं कुर्वत अनुमोदनं तत. कारापणमपि प्रतिसेवन्ते। यो वा प्रभुर्बलवान् राजगणसम्मतो वा निष्क्रान्त.—प्रतिपन्नदीक्षितस्तत स्वयमपि करण भवतीति सग्रहगाथासमासार्थः। अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते-साधवो विप्रकृष्टादध्वनो निर्गतास्तं वा प्रविशन्तोऽवमौदर्ये वा अन्यत्र पर्याप्तमलभमानास्तत्सागारिकसत्क द्रव्य स्निग्ध शरीरोपष्टम्भकं मत्वा प्रथम तावदन्य ससृष्टं कुर्वन्तमनुमोदयन्ति। अथान्य. संसृष्ट कुर्वन्न प्राप्यते तत. कारयेयुरपि।

कथमित्याह—

पुराण सागं च महत्तरं वा,
अन्नं व गाहेंति तहिं च वोढुं।
सागारिओ वा वि विगोवितो जा,
सपिंडमन्नेसु तु संदधावि॥३३१॥

पुराणं—पश्चात्कृतं, तदप्राप्तौ प्रतिपन्नाणुव्रत श्रावकं, तदभावे यस्तत्र महत्तरस्तमन्यं वा प्रमाणभूतं तत्रान्यपिण्डेपु सागारिकपिण्ड प्रक्षेप्तुं ग्राहयन्ति-प्रज्ञापयन्तीत्यर्थ'। यो वा सागारिको विकोविदो—विशेषेण साधुसमाचारीकुशलस्स स्वकीय पिण्डमन्येषु संदधाति—मिश्रयतीत्यादि।

संमिस्सियं वाऽवि अमिस्सियं वा,
गिण्हंति गीता इतरे विमिस्सं।
कारेंतदिट्ठं च अगोवितेसु,
दिट्ठं व तप्पच्चयकारि गीता॥३३२॥

यदि सर्वेऽपि गीतार्था तत. सम्मिश्रितं सागारिकपिण्डं गृह्णन्ति नासंसृष्टम्। अथवा—संसृष्टं न प्राप्यते विकोविदाश्च गीतार्थास्तत्र न सन्ति ततोऽदृष्ट-यथा

ते न पश्यन्ति तथा पुरुणादिना संसृष्टं कारयन्ति । अथादृष्टे कार्यमाणे तेषामप्रत्यय उत्पद्यते, यथैते सागारिकपिण्ड एवासंसृष्ट आनीतः ततस्तत्प्रत्ययकारिणो गीतार्थास्तैर्दृष्टमपि संसृष्टं कारयन्ति ।

अथ 'पभुनिक्खंतस्स वा करण' मिति पदं व्याख्याति—

जो उज्जिओ आसि य भूतपुव्वं,
तप्पक्खिओ रायगणच्छिओ वा ।
सवीरिओ पक्खिवती इमं तु,
वोत्तूण किं अच्छइ एस वीसुं ॥३३३॥

यस्तत्र ग्रामे पूर्वमूर्जितो-बलवान् प्रभुर्वाऽधिपतिरासीत्, तत्पाक्षिको वा—तस्य हितैषी राजगणान्वितो वा राजसंमतो मल्लादिगणसम्मतो वा आसीत्; एवंविधोऽपि य. सवीर्यः-शक्तिमान् भाजनभेदादयो दोषास्तस्य न भवन्तीति भाव', स एन सागारिकपिण्डमन्यपिण्डेषु प्रक्षिपति । पर मिदं वचनमेवमुक्त्वा, यथा किमेष पृथक् पृथक् तिष्ठतीति ।

सागारिकपिण्डाहृतिकासूत्रम्—

सागारियस्स आहडिया सागारिएणं पडिग्गाहित्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गहेत्तए ॥ १९ ॥ सागारियस्स आहडिया सागारिएणं अपडिग्गाहित्ता, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गहेत्तए ॥ २० ॥

अथास्य सूत्रस्य क संबन्ध इत्याह—

नीहडसागारिपिंड-स्स विवक्खो आहडो अहउ जोगो ।
णीहडसुत्ते पुणरवि, जोगो संसट्ठओ णाम ॥ ३३४ ॥

'नीहडं'नाम-पूर्वसूत्रे निर्हृत. सागारिकपिण्ड उक्त., इह तु तद्विपक्ष आहृत उच्यते-अथैष प्रस्तुतसूत्रस्य योग -संबन्ध., तथा इत. सूत्रादनन्तर पुनरपि निर्हृतसूत्रं भविष्यति, ततोऽयं सूत्रत्रयस्य संबन्ध. संदंशको नाम मन्तव्यः । किमुक्त भवति-आहृतो निर्हृतस्तत्र अवसाने भूयोऽपि निर्हृतसूत्रम् । एष ईदृशः सबन्धः सदृशः पूर्वापरसूत्रद्वयेन संदंशकेन च गृहीतत्वात् संदंशक इत्यभिधीयते । अनेन वक्ष्यमाणसूत्रस्याप्यत्रैव संबन्धोऽभिहित इत्यनेन सबन्धेन आयातस्यास्य (१९-२०) व्याख्या-आहृतिका प्राहुणकं सागारिकस्य गृहे कुतोऽपि गृहान्तरादागता.सा च सागारिकेण प्रतिगृहीता-स्वीकृता । ततस्तस्या मध्याद् दद्यात् नो'से'तस्य साधो. कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥१९॥ सागारिकस्याहृतिस्सागारिकेणा प्रतिगृहीता न स्वीकृता तस्या मध्याद्दद्यादेवं 'से' तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सूत्र (२०) संक्षेपार्थ ।

सांप्रतं निर्युक्तिविस्तर —

आहडिया उ अभिघरा, कुलपुत्तगभगिणिमट्टिगालित्ते ।
दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होइ आहडिया ॥३३५॥

अभिशब्द पृथगर्थवाचक ततश्चाभिगृहादपरस्माद्देशमतो यदि शिष्टं खाद्यकद्रव्यमागत सा आहृतिका भण्यते । सा चैवं संभवति—कश्चित् कुलपुत्रक कचिद् ग्रामे परिवसति । तस्य चान्यदा प्राघूर्णक' समायात ,तदर्थं विविधम्-अतिशायि द्रव्यमुपस्कृतम् । कुलपुत्रस्य च भगिनी तत्रैव ग्रामे परिणीता तदर्थं स्वकीयभार्याहस्ते घृतपूरादिक प्रेषयति. सा च भगिनी तदानीं मृत्तिकालिप्तहस्ता ततस्तां भ्रातृजायां ब्रवीति स्थापय त्वमिदममुकत्र प्रदेशेऽहमिदानीमक्षणिका तिष्ठामीति । सा चाहृतिका चतुर्धा, तद्यथा-द्रव्याहृतिका क्षेत्राहृतिका कालाहृतिका भावाहृतिका चेति ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथा विवरीषुराह—

आएसट्ठविसेसे, सति काले भगिणि संभरित्ता णं ।
भज्जि भज्जाहत्थे, कुलओ पेसेति भगिणीए ॥ ३३६ ॥

आदेश -प्राघूर्णकस्तदर्थं घृतपू(र)पलपनश्रीप्रभृते खाद्यकद्रव्यस्य विशेषे संजाते काले-भोजनदेशकाले भगिनीं स्वसार स्मृत्वा भार्याहस्तैर्भर्जिका प्राघूर्णक कुलज कुलपुत्रको भगिनीनिमित्त प्रेषयति, एषा आहृतिकोच्यते । अस्या च चत्वारो भङ्गास्तद्यथा—द्रव्यत. प्रतिगृहीता न भावत., भावत प्रतिगृहीता न द्रव्यत , द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि प्रतिगृहीता, नापि द्रव्यतो नापि भावतः प्रतिगृहीता ।

अथ यथाक्रम भावनामाह—

उच्छंगे अणिच्छाए, ठविया दव्वगहिताण पुण भावे ।
एत्थ पुण भद्दपंता, अवियत्तं चेव घेप्पंते ॥ ३३७ ॥
वावारमट्टियऽसुई, लित्ते हत्थे उ बिइयओ भंगो ।
दोसु वि गाहिए तइओ, चउत्थभंगे उ पडिसेहो ॥३३८॥

यदर्थं सा भर्जिका प्रेषिता सा भगिनी तत्रान्तरमपि केनापि कारणेन च रुष्टा सती भ्रातृजायया समर्प्यमाणामर्पितां न गृह्णाति , ततस्तया तदुत्सङ्गे अनिच्छयापि सा भर्जिका स्थापिता, एषा द्रव्यतः प्रतिगृहीता न पुनर्भावत । इय च शय्यातरपिण्डो न भवति, भावतोऽत्र अगृहीतत्वात् , परमत्र भद्रकप्रान्तदोषा भवन्ति । भद्रकस्तत्प्रियया प्रक्षेप, प्रान्तस्तु निष्काशनं वसतिव्यवच्छेदादि कुर्यादिति भाव. । अप्रीतिकं चैवं गृह्यमाणे भवति, किमेष मदीय पिण्डो न भवति येनैव मम इव गृह्णन्ति । तथा सा भगिनी यदा कमपि दलनपेषणादिव्यापार कुर्वाणा मृत्तिकया वा अशुच्या वा लिप्तहस्ता भवति , तदा ब्रवीति स्थापय त्वममुकत्र प्रदेशे एषा भावत प्रतिगृहीता, न द्रव्यत इति द्वितीयो भङ्ग. । तृतीये तु भङ्गे द्वाभ्यामपि द्रव्यभावाभ्या प्रतिगृहीता । चतुर्थभङ्गे द्वाभ्यामपि द्रव्यभावाभ्या प्रतिषेध. । किमुक्त भवति—सा भगिनी रुष्टा सती बलादर्प्यमाणामपि तां भर्जिका हस्ताभ्यामपि न स्पृशतीति । सा चाहृतिका द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्विधा । पुनरेकैका द्विविधा-छिन्ना, अच्छिन्ना च ।

अथैता एव भावयति—

संकप्पियं च दव्वं, दिट्ठा खेत्तेण कालतो छिन्नं ।
दोसु उ पसंगदोसा, सागारिएँ भावतो दुविहो ॥३३९॥

यद् द्रव्य सकल्पितं यथा अमुक घृतपूरादिक तत्र गृहे नेतव्यम् , वाशब्दस्यानुक्तप्रकारान्तरद्योनकत्वात्तत्र गृहे यन्नानीतं पृथक् स्थापित तदुभयमपि द्रव्यतश्छिन्नम् । या पुनराहृतिका स्वगृहमानीयमाना सागारिकेन दृष्टा सा क्षेत्रतश्छिन्ना । तथा

अमुकस्यां वेलायां नेतव्यमिति निर्दिष्टं द्रव्यं कालतश्छिन्नम्। उपलक्षणमिदं तेन नेष्यामीति तत्र भावो निवृत्तस्तद्भावच्छिन्नम्। अच्छिन्ना त्वाहृतिका चतुर्धाप्येतद्विपरीता। तथा द्वयोर्भङ्गयो:-द्रव्यत प्रतिगृहीता न भावत., नापि द्रव्यतो नापि भावत. प्रतिगृहीतेत्येवंलक्षणयोर्न सागारिकपिण्डः, परं प्रसङ्गदोषान्न गृह्यते। 'भावओ' त्ति भावतः प्रतिगृहीता न द्रव्यत इत्येवंरूपो यो भङ्ग., पश्चाद् द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि प्रतिगृहीता इत्येवंलक्षणो द्विविध. प्रतिगृहीतो भङ्गः— एतयोः सागारिकपिण्ड इति कृत्वा न कल्पते।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथा व्याचष्टे—

संकप्पियं वा अहवेगपासे,
सागारिदिट्ठं अमुगं तु वेलं।
नियट्टभावेन मुगं अदिट्ठ,
काले न निद्देसे अछिन्नभावे ॥ ३४० ॥

यत् घृतपूरादि तत्र गृहे नयनाय संकल्पितम्। अथवा-यदेकपार्श्वे विष्वक् स्थापितं तदेतत् द्रव्यतश्छिन्नम्। सागारिकेण स्वगृहमानीयमान यत् दृष्टं तत् क्षेत्रतश्छिन्नम्। अमुकस्या मध्याह्नादिलक्षणायां वेलाया नेतव्यमिति निर्दिष्टं कालतश्छिन्नम्। यत्र न तेषामिति भावो निवृत्तस्तद्भावतश्छिन्न व्याख्यानम्। अथाच्छिन्नं व्याख्याति-'अमुगं' इत्यादि, यद् द्रव्यममुकं नेतव्यमिति न संकल्पितं न वा पृथक् स्थापितं तद् द्रव्यतोऽच्छिन्नम्। या वाऽऽहृतिका सागारिकेण नीयमाना न दृष्टा तत्क्षेत्रतोऽच्छिन्नम्। काले अच्छिन्नं यत् प्रतिनियतायां वेलायां निर्देशो नास्ति। भावे अच्छिन्नं तु यद्यापि नेष्यामीति भावः अव्यवच्छिन्नो न निवर्तते इत्यर्थ'।

अथात्रैव ग्रहणविधिमाह

भावो जाव न छिज्जइ,विपरिणतो गेण्हमो त्ति खेत्तं तु।
खेत्ते वि होति गहणं,अदिट्ठे वि विप्परिणतम्मि॥३४१॥

भावो यावदद्यापि न व्यवच्छिद्यते, तावन्न कल्पते, यदा तु न नेष्यामीति भावो विपरिणतो व्यवच्छिन्नस्तदा क्षेत्रच्छिन्नं तु न कल्पते इति भाव.। अथैतदेव भावयति-' खेत्ते वि' इत्यादि क्षेत्रच्छिन्नस्यापि ग्रहण भवति, यदि स तद् द्रव्यं नयन्नपान्तराले न नेष्यामीति परिणतो भवति, तत्वसागारिकेणादृष्टमदृश्यमानं ग्रहीतव्यम्।

तत.-

पुरतो पसंगपंता, अवियत्तं चेव पुव्वभणियं तु।
वितियततियाउ पिंडो, पढमचउत्था पसंगेहिं ॥३४२॥

अथ सागारिकस्य पुरतो गृह्णन्ति ततो भद्रकः प्रसङ्गं तन्निश्रया तत्र प्रक्षेपं, प्रान्तश्च निष्काशनादिकं कुर्यात्। अप्रीतिकं च पूर्वभणित तस्य तथा पश्यतो गृह्णमाणे भवति, ततः पुरतो न ग्रहीतव्यम्। तथा द्वितीयतृतीयौ भङ्गौ शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा परिहर्त्तव्यौ, प्रथमचतुर्थौ तु शय्यातरपिण्ड. परं प्रसङ्गदोषभयात्तावपि परिहर्त्तव्यौ।

अथाचार्यो विनेयवर्गव्युत्पादनार्थमाक्षेपपरिहारौ निरूपयितुकाम इदमाह-

कप्पइ अपरिग्गहिया, णिक्खेवे चउदुगं अजाणंता।
जाणंता वि य केई, संमोहं कातु लोभा वा ॥ ३४३ ॥

केचिदाचार्या निक्षेपचतुष्कस्य द्रव्यतः प्रतिगृहीता न भावत इत्यादिलक्षण भङ्गचतुष्टयस्य द्विकं प्रथमचतुर्थभङ्गद्वयमाश्रित्य इद सूत्रप्रवृत्तमित्येवविधमवजानतोऽपि तदर्थं केचिदगीतार्थानां संमोहं कृत्वा लोभात् ब्रुवते कल्पते सागारिकेणापरिगृहीता आहृतिका।

इदमेव स्पष्टयति—

जं आहडं होइ परस्स हत्थे,
जं नीहडं वावि परस्स दिन्नं।
तं सुत्तछेदेण वयंति केई,
कप्पं ण भे सुत्तमसुत्तमेवं ॥ ४४१ ॥

यदाहृतं प्राघूर्णकं शय्यातरगृहमानीय परस्य हस्ते भवति, एतेन प्रस्तुतमेव सूत्रं गृहीतं सागारिकगृहान्निष्काशितं परस्य दत्तम्। अनेन वक्ष्यमाणसूत्रमुपात्तम्। तदेवंविधं द्रव्यं सूत्रच्छन्देन-सूत्राभिप्रायेण कल्प्यं-कल्पनीयं न—नैव, चेद्यदि आचार्य एवमस्मदुक्तं मन्यसे ततः सूत्रमसूत्रमेव प्राप्नोति अप्रमाणमित्यर्थः, एवं केचिदाचार्यदेशीया वदन्ति।

अत्र सूरि' प्रतिवचनमाह—

सुत्तं पमाणं जति इच्छितं ते,
ण सुत्तमत्थं अतिरिच्च जाति।
अत्थो जहा पस्सति भूतमत्थं,
तं सुत्तकारीहिँ तहा णिबद्धं ॥३४२॥

यदि ते तव सूत्रं प्रमाणत्वेनेष्टमनुमतं तत इदमप्यक्षिणी निमील्य विचारयन्तु देवानांप्रियाः सूत्रं तावदर्थ—व्याख्यानमतिरिच्य न याति-न प्रवर्त्तते,तावदुच्यते इत्यर्थः। एष एवार्थो निर्युक्तिभाष्यादिरूपो यथा-येन प्रकारेण भूतं-सद्भूतमर्थमभिधेयं पश्यति, सूत्रकारिभिरपि गणधरस्थविरैः सूत्रं तथा-तेनैवाभिप्रायेण निबद्धमवसातव्यम्।

अमुमेवार्थं दृढयति—

छाया जहा छायवतो णिबद्धा,
संपट्ठिए जाति ठिते य ठाति।
अत्थो जहा गच्छति पज्जवेसु,
सुत्तं पि अत्थाणुचरं तहेव ॥ ३४३ ॥

छाया प्रतीता सा यथा छायावत. पुरुषादेर्निबद्धा परतन्त्रा सती तस्मिन् संप्रस्थिते याति, स्थिते च तस्मिन् साऽपि तिष्ठति, यथाऽत्रापि। पुरुषस्थानीयोऽर्थो येषु भङ्गकादिविषयेषु प्रकारेषु गच्छति। सूत्रमपि छायास्थानीयं तस्यैवार्थस्यानुचरं सत्तथैव तेषु तेषु पर्यायेषु गच्छति।

इदमेव स्पष्टतरमाह—

जं केणई इच्छइ पज्जवेणं,
अत्थेण सेसेहिँ उ पज्जवेहिं।
विहीव सुत्ते तहि वारणा वि,
उभे य इच्छंति विकोवणट्ठा ॥ ३४४ ॥

अर्थो—व्याख्यानविधिर्येन केनचित् पर्यायेण यत्सूत्रग्रहीतुमिच्छति न शेषैरपरै. पर्यायैस्तत्र स एव प्रमाणयितव्यो

न शेषा इति वाक्यशेषः। यथैहैव सूत्रे यथा भावेन परिणते आनेतरि यदि सागारिको न पश्यति ततः कल्पते प्रतिग्रहीतुं द्रव्यम्। एतेन पर्यायणार्थम्--आहृतिकामिच्छति न शेषैरपि परिणतक्षेत्रच्छिन्नतादिभिः पर्यायैः। एवमत्रापीप्सितेऽनीप्सिते च वस्तुनि सूत्रकारः कथं सूत्रं बध्नीयादित्याह--विधिर्वा तत्र सूत्रे वक्तव्यः। यथात्रैवाहृतिकासूत्रे द्वितीये आलापके वारणा वा प्रतिषेधः,यथैवेह वधबन्धे आलापके उभय वा विधिप्रतिषेधरूपं क्वचिदेकत्रापि सूत्रे शिष्यमतिविकाशनार्थं सूरय इच्छन्ति। यथा-'कप्पइ निग्गथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिग्गाहित्तये से वि विहिभिन्ने, नो चेव णं अविहिभिन्ने"॥ ५॥ (सू०) (सूत्रस्यास्य व्याख्या'पलंब शब्दे पञ्चमभागे ७१४पृष्ठे गता।)

अपि च--

उस्सग्गओ णेव सुतं पमाणं,
ण वाऽपमाणं कुसला वयंति।
अंधो हि पंगुं वहते स वावि,
कहेइ दोण्हं पि हिताय पंथं॥ ३४५॥

तत्र उत्सर्गत -सामान्येन श्रुत-सूत्र नैव प्रमाणं न वा अप्रमाणम्, किंतु-पूर्वापराविरुद्धवृद्धसंप्रदायागतेनार्थेन युक्त प्रमाणम्, अन्यथा पुनरप्रमाणमित्येव कुशलास्तीर्थङ्करगणधरा वदन्ति। तथाहि यथा किल कश्चिदन्धो देशान्तरं गन्तुमना: स्वय मार्गमपश्यन् पङ्गुं गन्तुमशक्तं चक्षुष्मत्तया स्कन्धे विन्यस्य वहति, स चापि पङ्गुर्द्वयोरप्यात्मनस्तस्य वा हिताय गर्त्ताप्रपाताद्युपद्रवरक्षणाय पन्थानं मार्गं कथयति। एवमर्थेनाप्रबोधित सदन्धस्थानीय सूत्रम्, तद्यदि पङ्गुस्थानीयमर्थमात्मन उपरि कृतं वहति, तदा सोऽप्यर्थ सूत्रनिश्रयागतान् सम्यग् विषयविभागदर्शनतया निष्प्रत्यपायं मुक्तिमार्गमुपदिशति। इत्यतोऽर्थसव्यापेक्षमेव सूत्र प्रमाणमिति स्थितम्।

अथ 'जाणता वि य केई, समाहं कातु लोभा वा' इति पश्चार्द्ध व्याचष्टे--

अप्पसुया जे अविकोविया वा,
ते मोहइत्ता इमिणा सुएण।
तेसिं पगासो वि तमंतमेति,
निसाविहंगेसु व सूरपादा॥ ३४६॥

ये अल्पश्रुता अधीतस्वल्पसूत्रा ये वा अविकोविदा अगीतार्थास्तान् अनेन सूत्रेण मोहयित्वा विजानन्तोऽपि लोभबहुलतया सागारिकस्याहृतिकापिण्डं ग्राहयन्तीति वाक्यशेषः। तेषा चैव मोहिताना प्रकाशप्रस्तुतसूत्रार्थः कथ्यमानोऽपि तमस्तमायते प्रबलान्धकारतया परिणमते,यथा निशाविहगा-उलूकाद्यास्तेषु सूर्यस्य पादा -किरणाः प्रकाशरूपा अतिमहान्धकारीभवन्ति। आह-यद्येव तत कल्पते सागारिकेणापरिगृहीता आहृतिकेति प्रस्तुतसूत्रं कथं नीयते?।

अत्रोच्यते--

अह भावविपरिणए, अदिट्ठं सुयं तु तम्मि उ पउत्थे।
नीहडियाए पुरओ, संखोभगमाइणो दोसा॥ ३४७॥

यस्तमोहृतिका महिणोति--नयति वा नास्मिन् भावं स्वयमेव विपरिणते न ग्रहेष्यामि न नेष्यामीति वा विपरिणाममापन्ने कल्पते। यद्वा-तेन तथा गच्छता श्रुतं यस्य सकाशमहमिदं नयामि स प्रोषितो ग्रामान्तरं गत',ततस्तस्मिन् प्रोषिते सति स नेता न नयामीति परिणत,अत्रान्तरे साधव समायाता:,तत: सागारिकेणादृष्टं कल्पते प्रतिग्रहीतुम्। अत्र सूत्रनिपातः। तथा वक्ष्यमाणसूत्रे भणिष्यमाणाया निर्हृतिकाया सागारिकस्य पुरतो गृह्यमाणायां संक्षोभक प्रक्षेपक आदिशब्दान्निष्काशनशय्याव्यवच्छेदादयश्च दोषा भवन्ति, अत: सागारिकस्य पुरत: सा न ग्रहीतव्या।

अथ कथं स तत्राहृतिकानयने विपरिणमतीत्युच्यते-

नीयं पि से ण घेच्छिति,धम्मो व जतीण होति दिंतस्स।
वसणब्भुदओ वा सिं, भंडणकम्मे य अद्धणा॥३४८॥

मया तत्र नीतमप्येतत् घृतपूरादिकं स न ग्रहीष्यति, यद्वा—यतीनामेवंविध द्रव्य ददतो मम धर्मो महान् भवति। अथवा-येषां समीपे तन्नीयते तेषा स्वजनमरणधनहरणादिक व्यसनं शोककारणमजनिष्ट, अभ्युदयो वा कोऽप्युत्सवविशेषस्तेषां वर्त्तते, भण्डनं--वाक्कलह इदानीं महता भरेण वर्त्तते। कर्मणि कृष्यादौ त अध (न्या)ना — अव्यापृता: सन्ति, ततो नीतमपि नामी ग्रहीष्यन्ति।

इति भावम्मि णियत्ते,तेहिँ अदिट्ठस्स कप्पती गहणं।
छेत्तादिणिग्गतेसु व,कप्पति गहणं जहिं सुत्तं॥३४८॥

इत्यनन्तरोक्तप्रकारेण भावे निवृत्ते सति येषा समीपे तन्नीयते तै शय्यातरमानुषैरदृष्टस्य कल्पते ग्रहणम्। यद्वा-क्षेत्रकालादौ निर्गतेषु ग्रहणं कल्पते, एव यत्र सूत्रमवतरति स एष विषयस्तूक्त इति।

सागारियस्स नीहडिया परेण--अपरिग्गहिता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहत्तिए॥ २१॥ सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गहित्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गहित्तए॥२२॥

अस्य संबन्धस्य प्रागेवोक्तत्वात् व्याख्याऽपि प्राग्वत्,नवर सागारिकद्रव्य यदन्यत्र नीयते सा निर्हृतिकेत्युच्यते। सा यस्य समीपे प्रेषिता तेन प्रतिगृहीता न कल्पते।

अथ भाष्यविस्तर —

पढमचउत्थो पिंडो,बितिओ ततिओ य होति तु अपिंडो।
पुरतो वि विवज्जेज्जा, भद्दगपंतेहिँ दोसेहिं॥ ३५०॥

निर्हृतिकायामपि द्रव्यत' प्रतिगृहीता न भावत इत्यादयश्चत्वारो भङ्गा,नवरमत्र प्रथमचतुर्थौ भङ्गौ शय्यातरपिण्ड,एकत्र भावतोऽपरत्र तु द्रव्यतो भावतश्च प्रतिगृहीतत्वात्। द्वितीयस्तृतीयश्च भङ्गो न भवति शय्यातरपिण्ड, सागारिकस्य पुरस्तादपि द्वितीयतृतीयभङ्गौ भद्रकप्रान्तकभयात् वर्जयेयु। तत्र भद्रकस्तन्निश्रया प्रक्षेप कुर्यात्।

यस्तु प्रान्तक स इद ब्रूयात्—

केणावि अभिप्पाए-ण दिज्जमाणं पि णेच्छियं पुव्विं।
अम्हे ओभावेंता, पुरओ वि य णे पडिच्छंति॥३५१॥
किं तं न होति अम्ह,खेत्तंतरियं व किंचि मम दोसं।

सुव्वत्तसोत्तिगादि व, चरेंति जतिणो वि डंभेणं ॥३५२॥

किमेवमिदानीमस्माकं सत्कं न भवति क्षेत्रान्तरमागतमिति कृत्वा कल्पते, तदप्यसङ्गतम्, यत् क्षेत्रान्तरितमपि सदोष भवति, तदमी सुव्यक्तश्रोत्रिया इव—धिग्जातीया इव यतयोऽपि सन्तो दम्भेन चरन्ति । किमुक्तं भवति—धिग्जातीयाश्च अशूद्रान्नव्रतमिति कृत्वा शूद्रगृहे न समुद्दिशन्ति परं तन्दुलादीनि गृह्णन्ति, तथा तेषामशूद्रान्नव्रतं दम्भ, एवममीषामपि शय्यातरपिण्डपरिहारादिव्रतं न भद्रकं लक्ष्यते ।

अथाहृतिका निर्हृतिका वा पापकारणेन गृह्यत इत्याह-

दुविहे गेलएणम्मि, णिमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोदरिएँ पओसे, भए य गहणं अणुएणायं ॥ ३५३ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अत्र निमन्त्रणापदं विशेषतो भावयति—

णिब्बंधणिमंतंते, भणाति भज्जि दलाहि जा एसा ।
तं पुण अविगीतेसुं, गीया इतरं पि गेरहंति ॥ ३५४ ॥

शय्यातर महता निर्बन्धन निमन्त्रयमाणे साधवो भणन्ति, यत्ते चैषा भर्जिका प्रहेणका आहृतिका वा तां प्रयच्छ तत्पुनराहृतिकाया निर्हृतिकाया वा ग्रहणमगीतार्थाः कुर्वन्ति । ये तु गीतार्थास्ते इतरमपि—सागारिकपिण्डमपि गृह्णन्ति ।

णेच्छंतमगीतं ते-णेव य सुत्तेण पत्तिए वेति ।
सच्छंदेण ण भणिमो, फुडवियडमिणं भणति सुत्तं ।३५५।

अथ गीतार्था आहृतिकां निर्हृतिकां वा नेच्छन्ति ग्रहीतुं तत तेनैव सूत्रेण प्रत्यये ब्रुवन्ति । अथ आचार्या वय स्वच्छन्देन-स्वाभिप्रायेण न भणाम किं तु स्फुटविकटमतीव व्यक्ताक्षरमिदमेव सूत्र भणति । यथा कल्पते सागारिण प्रतिगृहीता आहृतिका परेण च प्रतिगृहीता निर्हृतिकेति ।

अपि च—

जं तं जगप्पदीवे-हिँ पणीयं सव्वभावपएणवणं ।
ण कुणति सुतं पमाणं, ण सो पमाणं पवयणम्मि ॥३५६॥

तत सकलत्रिलोकीप्रसिद्धं जगत्प्रदीपैर्भगवद्भिस्तीर्थकरैः प्रणीत सर्वेषामुत्सर्गापवादनिश्चयव्यवहारादीना भावप्रज्ञापना—प्ररूपणा । यस्तथाविधं श्रुतं य. कश्चित्प्रमाण न करोति नासौ प्रवचने चतुर्वर्णसङ्घमध्ये प्रमाण भवति ।

अमुमेवार्थमन्योक्तिभङ्ग्या दृढयति—

जस्सेव पभावुम्मि-ल्लिताइं तं चेव हयकतग्घाइं ।
कुमुदाइँ अप्पसंभा-वियाइँ चंदं उवहसंति ॥ ३५७ ॥

यस्यैव प्रभावेणोन्मीलितानि-प्रबुद्धानि तमेव चन्द्रं कुमुदान्युपहसन्ति इति संटङ्क । कथंभूतानीत्याह-हतकृतघ्नानि, हतशब्दो निन्दावाचक., कृतघ्नतया पापानीत्यर्थः । आत्मानं संभावयन्ति, वयमेव शोभनानि नामीत्यभिमन्यन्ते तच्छीलानि च यानि तान्यात्मसंभावितानि, एवविधानि परमोपकारिणमपि चन्द्रं वयमतीवावदातानि भवांस्तु सकलङ्कत्वान्न तथेति स्वकीयश्वेतप्रभापटलेनोपहसन्तीत्युच्यते । एवं मार्या भवन्तोऽपि यस्यैव प्रभावेणोन्मीलितविवेकलोचना सञ्जाता तदेव श्रुतं सांप्रतमप्रमाणयन्तो हतकृतघ्ना इव

लक्ष्यन्ते । ते एव प्रज्ञापिता. सन्तः प्रतिपद्यन्ते, सूत्राशातनापातकतया अगीतार्थाः ।

अथाहृतिकादिग्रहणसूत्रम्--

सागारियस्स अंसियाओ अविभत्ताओ अव्वोछिन्नाओ अव्वोगडाओ अनिज्जूढाओ तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ २३ ॥ सागारियस्स अंसियाओ विभत्ताओ वोच्छिन्नाओ वोगडाओ निज्जूढाओ तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ २४ ॥

अथास्य सम्बन्धमाह--

छिन्नममत्तो कप्पति, अच्छिन्न ण कप्पति अह तु जोगे ।
पत्तेगं वा भणितो, इयाणि साहारणं भणिमो॥ ३५८ ॥

आहृतिका निर्हृतिका पिण्डवदंशिका पिण्डोऽपि सागारिकेण छिन्नममत्वो न ममायमिति न भावान्निर्वर्त्तितः कल्पते अच्छिन्नममत्वस्तु न कल्पते । अयेष योगः संबन्ध । यद्वा-प्रत्येकमेकैकस्यैव सागारिकस्य सत्कं पिण्डमाश्रित्य विधिर्भणित , इदानीं तु सागारिकस्यान्येषा च साधारणं पिण्डमधिकृत्य विधिं भणाम., अनेन सवन्धेनायातस्यास्य (२३-२४)व्याख्या-सागारिकस्य या अंशिका तस्या अन्येषामंशिकाभ्योऽविभक्ताया अव्यवच्छिन्नाया अव्याकृताया अनिर्गूढाया मध्यात्कश्चिद्भक्तपानं दद्यात्, नो 'से' तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सागारिकस्य अंशिकादिभक्तव्यवच्छिन्ना व्याकृता निर्गूढा च यस्माद्राशेर्भवति तस्माद् दद्यात् एव 'से' तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

सागारियस्स असिय, अविभत्ता खेत्तज ततो जेसु ।
खीरे मालाकारे, सागारदिट्ठं परिहरंति ॥ ३५९ ॥

सागारिकस्यांशिका अविभक्ता न कल्पते । सा च क्षेत्रे वा भोज्येषु वा क्षीरे वा मालाकारे वा सभवति । अत्र सागारिकदृष्टं सर्वत्रापि परिहरन्तीति निर्युक्तिगाथासमासार्थ. ।

अथैनामेव विवरीषु. सूत्रस्य विषमपदानि तावद्विवृणोति-

असो त्ति व भागो त्ति व, एगट्ठं पुंज एव अविभत्तं ।
कयभागो वि ण सव्वो, विच्छिज्जति सा अवोच्छिन्ना३६०

अंश इति वा भाग इति वा एकार्थपदौ अंश एवांशिका स्वार्थे क प्रत्यय । तत्र यावान् सागारिकादीना साधारणो नोल्लकैरुपस्कृत तावानद्याप्यखण्डपुञ्ज एव । अथांशेन भागादिविवक्षा कृता सा अंशिका—अविभक्तेत्युच्यते । यत्र सुभागा परं मूलराशितो भागोऽपि न सर्वो व्यवच्छिद्यते सा व्यवच्छिन्ना ।

अव्वगडाओ तुम्भे, ममं तु वा जा ण ताव णिद्दिसति ।
तत्थेव अच्छमुणाणी, होति अणिच्छूढिया अंसा ।३६१।

सर्वेषामपि भागा स्थापिता. परमेष भागस्तव एष पुनर्ममैवेति यत्र भागं न निर्दिशति सा अव्याकृताऽभिधीयते । या

तु निर्दिष्टा प्रसाद्यापि न ततोऽन्यत्र नीयते सा अंशिका, तत्रैव तिष्ठन्ती अनिर्गूढा भवति । एवंविधा न कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति ।

अथ क्षेत्रद्वारं व्याचष्टे—

सीताइजन्नो पहुगादि मा वा,
जे कप्पणिज्जा जतिणो भवंति ।
सालीफलादीण व विक्कयम्मि,
पडेज्ज तेल्लं लवणं गुलो वा ॥३६२॥

सागारिकस्यान्यै पञ्च साधारणे क्षेत्रे सीताया–हलपद्धतिदेवताया यज्ञ –पूजा भवेत् ,तत्र शाल्यादिद्रव्यं यदुपस्कृत पृथुकादयो वा ये तत्र क्षेत्रे ते यतीना कल्पनीया भवन्ति । यद्वा–तत्र शालीनां—कलमाधादीना फलादीना—चिर्भटादीनाम् , आदिशब्दात्—गोधूमादिप्रभृतीना धान्याना विक्रीयमाणाना विक्रये तैलं वा लवणं गुडो वा पतेत् एषा सर्वाऽपि क्षेत्रविषया सागारिका ।

अथाशिकायन्त्रद्वारमाह—

जंते रसो गुलो वा, तेल्लं चक्कम्मि तेसु वा जं तु ।
विक्किज्जंते पडितं, पवत्तणंते य पगयं वा ॥३६३॥

यन्त्रमपि सागारिकस्यान्यै सह साधारणं स्यात् , तच्च द्विधा इक्षुयन्त्र तैलयन्त्रं च। तत्र च इक्षुयन्त्रे कोल्हे कास्यरसौ गुडो वा भवेत् ,तिलयन्त्र चक्रमुच्यते,तत्र तैलं तिलातसीसर्षपादीना भवेत्। तैस्तदा रसादेषु विक्रीयमाणेषु यत् तन्दुलघृतवस्त्रादिकमापतति । अथवा–यन्त्रस्य प्रवर्त्तते प्रथमप्रारम्भे अन्ते वा—परिसमाप्तौ यत्ते सभूय प्रकृत—प्रकरणं कुर्वन्ति एषा यन्त्रविषया अंशिका ।

अथ भोज्यक्षीरद्वारे व्याख्यानयति—

गणगोट्ठिमादिभोज्जा, भोत्तुव्वरितं च तत्थ जं किंचि ।
भातुगमादीण पत्रो, अविभत्तं जं च गोवेणं ॥३६४॥

गणो—मल्लादिगणरूप गोष्ठी—महत्तरादिपुरुषपञ्चकपरिगृहीता यज्ञ —याग आदिशब्दाद्—अन्यस्यापि महाजनस्य साधारणानि यानि भोज्यानि संखडय ,यद्वा—किंचित् मोदकप्रभृतिक तत्र भुक्तोर्द्धरित द्रव्यम् एषा भोज्यविषया सागारिकाऽशिका । तथा सागारिकसबन्धिना भ्रातृव्यादीना पयो-दुग्ध यावदद्यापि सागारिकेण सहाविभक्तम् , यद्वा-दुग्धं-वृत्त्यच्छित्र सागारिकदुग्धमध्यादद्यापि गोपेनाविभक्तम् । एषा क्षीरविषया सागारिकाशिका ।

मालाकारद्वारमाह—

पुप्फपणिएण आरा–मिगाण पडियेण जाव उ विरिकं ।
पक्खेवगादिसंमुहं, अवियत्तादी य पुव्वुत्ता ॥३६५॥

पुष्पाणा पणितेन—विक्रयेण यदारामिकाणा मालिकाना घृतादिक पतित तदारामस्वामिना सागारिकेण यावदद्यापि न विरिक्त भवेदेषा अपि सागारिकाशिका । अथवा—क्षेत्रादिमालाकारान्तरेषु द्वारेषु यदि सागारिकस्य समुख पश्यतस्तदीयायामंशिकायामविभक्तायां साधवो भक्तादिकं गृह्णन्ति , तदा भद्रककृता प्रक्षेपकादय , प्रान्त—कृता पुनरप्रीतिकादय पूर्वोक्ता दोषा मन्तव्या ।

मालाकारद्वारं प्रकारान्तरेणाऽऽह—

अहवा वि मालकार–स्स अंसियं अविणयंति भोज्जेसुं ।
सो य सागारो तेसिं, तं पि ण इच्छंति अविभत्तं॥३६६॥

अथवा–मालाकारस्य पुष्पावचयमादिभिर्यन्निष्ठामशिकां भोज्येषु शालिदाल्यादिषु यावत्तस्याभाव्यं तावन्मात्रमगारिण' प्रागेवापनयति, स च मालाकारस्तेषा साधूनां सागारिकोऽतो यावदसौ मालाकाराशिका अविभक्ता तावत्तामपि ग्रहीतुं नेच्छन्ति ।

द्वितीयपदमाह—

गेलन्नमाईसु उ कारणेसु,
मादिप्पसंगो ण य सव्वे गीता ।
गिण्हंति पुंजा अवरेडियातो,
तस्सऽण्णतो वा वि विरेडियाओ ॥ ३६७ ॥

ग्लानत्वावमौदर्यादिषु कारणेषु सस्तरणाभावे मा प्रथमत एव शय्यातरपिण्डग्रहणे अतिप्रसङ्गो भवेदिति कृत्वा न चैते सर्वेऽपि गीतार्था अत• प्रथममविरक्तादन्यै• सम साधारणान्पुञ्जान् ततोऽन्यस्मादपि विरक्तात्तस्य सागारिकस्य सत्कान् पुञ्जान् गृह्णन्ति । वृ० २ उ० । (चैत्यवक्तव्यता ' पूया ' शब्दे पञ्चमभागे गता ।)

शय्यातरपिण्डस्तीर्थकृद्भि• प्रतिक्रुष्ट इति शय्यातर—पिण्डद्वारमाह—

तित्थंगरपडिकुट्ठो, आणाअण्णात उग्गमो ण सुज्झे ।
अविमुत्ति अलाघविता, दुल्लभसेज्जा विउच्छेदो ॥३०१॥

आद्यन्तवर्जैर्मध्यमैर्विदेहजैश्च तीर्थकरैराधाकर्म कथंचित्कर्तुमनुज्ञातम्, पुन शय्यातरपिण्डस्तु तैरपि प्रतिक्रुष्ट इति कृत्वा वर्जनीयोऽयम्'आण'त्ति तं गृह्णता तीर्थकृतामाज्ञा कृता न भवति 'अण्णाये' त्ति-यत्र स्थितस्तत्रैव भिक्षां गृह्णता अज्ञाततया सेविता न स्यात् , 'उग्गमो न सुज्झे' त्ति–आसन्नादिभावत पुन' पुनस्तत्रैव भैक्षपानकादिनिमित्त प्रविशत उद्गमदोषा न शुद्ध्येयु स्वाध्यायश्रमणादिना च प्रीत• शय्यातर क्षीरादिस्निग्धद्रव्य ददाति । तच्च गृह्णतोऽविमुक्तिगार्द्धयाभावो न कृत स्यात् , शय्यातरतत्पुत्रभ्रातृबन्धुतादिभ्यो गृह्णकरण स्निग्धाहार च गृह्णत उपकरणशरीरयोर्लाघव न स्यात्, तत्रैव वाऽऽहारादि गृह्णत शय्यातरवैमनस्यादिकरणात् शय्या दुर्लभा स्यात् , सर्वथा तद्व्यवच्छेदो वा स्यात्, ततस्तत्पिण्डो वर्जनीय• ।

अथ द्वितीयपदमाह—

दुविहे गेलण्णम्मि, निमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोदरियपओसे, भए य गहणं अणुण्णातं ॥ ३०२ ॥

द्विविधे-आगाढानागाढग्लानत्वे शय्यातरपिण्डोऽपि ग्राह्य। तत्रागाढे, क्षिप्रमेव, अनागाढे पञ्चकपरिहाण्या मासलघुके प्राप्ते सति निमन्त्रणे शय्यातरनिर्बन्धे सकृत् गृहीत्वा पुन पुन प्रसङ्गो निवारणीय । दुर्लभे च क्षीरादिद्रव्ये अन्यत्रालभ्यमाने, तथा अशिवे अवमौदर्ये राजप्रद्वेषे तस्करादिभये च शय्यातरपिण्डस्य ग्रहणमनुज्ञातम् ।

अत्र दुर्लभद्रव्यग्रहणविधिमाह—

तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, चउद्दिसिं जोयणम्मि कडजोगी ।

दव्वस्स य दुल्लभता, सागारिणिवेसणा ताहे ॥२०३॥

त्रिकृत्व स्वक्षेत्रे चतुर्षु दिक्षु सक्रोशयोजने गवेषितस्यापि घृतादेर्द्रव्यस्य अथवा-दुर्लभता भवति तदा सागारिकपिण्डनिषेवणं कर्त्तव्यम् । गतं सागारिकपिण्डद्वारम् । बृ० ६ उ० । ध० । पञ्चा० ।

सागारिकस्य आदेशादन्तर्वगडायां विधिमाह—

सागारियस्स आएसे अंतोवगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे पाडिहारिए; तम्हा दावए,णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥१॥ सागारियस्स आएसे अंतोवगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे अपाडिहारिए; तम्हा दावाए,एवं से कप्पति पडिग्गाहित्तए २॥ सागारियस्स आएसे बाहिं वग्गडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावाए,एवं से नो कप्पति पडिग्गाहित्तए ॥ ३ ॥ सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे अपाडिहारिए तम्हा दावाए एवं से कप्पति पडिग्गाहित्तए । ४ ॥ सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा भतिणए वा अंतोवगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावाए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ५ ॥ सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा अंतोवगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे अप्पाडिहारिए तम्हा दावए से कप्पति पडिग्गाहित्तए ॥ ६ ॥ सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा बाहिं वगडाए भुंजति णो णिट्ठिए णिसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ७ ॥ सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा बाहिं वगडाए वा भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे अप्पाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ८ ॥ व्य० ६ उ० ।

सागारिको नाम शय्यातरस्तस्यादेश आयासकर आदेश । यदि वा-आदिशति इति आदेश । अथवा-आदेशत इति शब्दसंस्कारस्तस्य व्युत्पत्तिमग्रे वक्ष्याम । स च नायको मित्रं प्रभु परतीर्थिको वा द्रष्टव्य । वगडा नाम परिक्षेपस्तस्यान्तर्मध्ये भुङ्क्ते पदार्थान्-ओदनादीन्, किंविशिष्टानित्याह-निष्ठितान्-निष्ठा नीतान् निसृष्टान्-प्रातिहारिकान् सागारिकान्-सागारिकभुक्तशेषान् तस्मात्-परिनिष्ठितादिमध्यात् दापयति न 'से' तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥१॥ एवं शेषाण्यपि त्रीणि सूत्राणि भावनीयानि एवं चत्वार्यादेशविषयाणि चत्वारि दासादिविषयाणि । इह यत्र यत्र प्रातिहारिक तत्र तत्र सागारिकपिण्ड इति न कल्पते । यत्र यत्र पुनरप्रातिहारिक तत्र तत्र न सागारिकपिण्ड इति कल्पते । प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमसूत्रेषु सागारिकपिण्ड इति कृत्वा न कल्पते । द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमसूत्रेषु न भवति सागारिकपिण्ड इति कल्पते । केवल भद्रकप्रान्तदोषतो वर्ज्यते इति सूत्राष्टकभावार्थ । व्य०६उ० । ('आएस' शब्दे द्वितीयभागे ४६ पृष्ठे भाष्यकृत्कृता विषमपदव्याख्या गता ।)

१-निसट्ठे इति पुस्तकान्तरे ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तर—

आएसदासभइए, अट्ठहिँ सुत्तेहिं मग्गणा जत्थ ।
सागारियदोसेहिं, पसंगदोसेहि य अगज्झो ॥ ३ ॥

आदेशा-यथोक्तरूप दास -आजन्मावधि किंकर , भृतकः-कियत्काल मूल्येन धृत । आदेशश्च दासश्च भृतकश्च आदेशदासभृतकं तत्र च पिण्डस्याष्टभि सूत्रै मार्गणा कृता । यत्र सागारिकदोषै. प्रसङ्गदोषैश्च भद्रकप्रान्तककृतैरग्राह्यो भवति।

साम्प्रतमष्टानामपि सूत्राणां विभागमाह—

तत्थादिमाइँ चउरो, आएसे सुत्तमादिया ।
दो चेव पाडिहारी, अपाडिहारी भवे दोन्नि ॥ ४ ॥

तत्र तेषामष्टाना सूत्राणा मध्ये आदिमानि चत्वारि सूत्राणि आदेशे प्रागुक्तस्वरूपे आख्यातानि । तत्रापि द्वे सूत्रे प्रातिहारिणि द्रष्टव्ये द्वे च सूत्रे अप्रातिहारिणि । प्रथमतृतीये प्रातिहारिणि, द्वितीयचतुर्थे अप्रातिहारिणि ।

अन्तो बहिं वा वि निवेसणस्स,
आवस्सएणं ठविए सगारो ।
भत्तं न एयस्स विसेसजुत्तं,
तम्मी दलंते खलु सुत्तबंधो ॥ ५ ॥

निवेशन—गृहं तस्यान्तर्बहिर्वा स्थितं सागारिके—शय्यातरे यदि आदेश एव आदेशक.—प्राघूर्णकस्तेन वा सह स्थिते यद्भक्त विशेषयुक्तं—विशेषतो निष्ठां नीतं तन्न एतस्य प्राघूर्णकस्य संबन्धि , किंतु सागारिकस्य-ततस्तस्मिन् ददति सूत्रसंबन्ध.—सूत्रोपनिपात । प्रातिहारिकभोजितया तस्मिन् ददति प्रथमे तृतीये च सूत्रे न कल्पते सागारिकपिण्डत्वात् , द्वितीये चतुर्थे चाप्रातिहारिकभोजितया कल्पते । तदायत्वात्केवलं भद्रकप्रान्तदोषप्रसङ्गतो न गृह्यते ।

एतदेवाह—

दोण्ह सागारियस्स, दोसा दोण्हं पसंगतो दोसा ।
भद्दगपंतादीया, होन्ति य इमे उ मुणेयव्वा ॥ ५ ॥

द्वयो. प्रथमतृतीययो सूत्रयो. सागारिकस्य दोषान् शय्यातरपिण्डत्वान्न कल्पते इति भाव । द्वयोर्द्वितीयचतुर्थयो. प्रसङ्गता दोषा. भद्रकप्रान्तादिका. आदिशब्दादतिभद्रकातिप्रान्तादिपरिग्रह , ते च इमे-वक्ष्यमाणा भवन्ति ।

तानेवाह—

एएण उवाएणं, गेण्हंति मद्दे उग्गमेगतरं ।
पंतो दुदिट्ठधम्मा, विणासगरिहादि य निसिं वा ॥ ६ ॥

भद्रकश्चिन्तयति-साधव एतेनोपायेन मदीय पिण्ड गृह्णन्ति । तत एव चिन्तयित्वा उद्गमदोषाणामेकतरं दोषं कुर्यात् । यस्तु प्रान्त स पापीयान् दुर्दृष्टधर्म्मा तद्गृह पिण्डग्रहणतो दिवा निशि वा कोपावेशतो विनाश कुर्यात् , गर्हां वा दिवानिशमिति ।

सुत्तम्मि कप्पइ त्ति य, वुत्ते किं अत्थतो निसेहेह ।
एगयरदोसेँ कालिय, सुत्तनिवातो इमेहिं तु ॥ ७ ॥

सूत्रे कल्पते इत्युक्ते किं यूयमर्थतो निषेधयत ?, सूरिरा-

ह-एकानन्तदोषात्-भद्रकदोषात् ,प्रान्तदोषप्रसङ्गाद्वा इत्यर्थ. । यद्येवं सूत्रं कस्मात्कल्पते इत्युक्तमत आह-अधिकृतस्य-कालिकसूत्रस्य निपात प्रवर्त्तमानमेभिर्वक्ष्यमाणै कारणै· एतच्च प्रायेन व्याख्यानात् कालिकसूत्रं च व्याख्यानप्रधानम् ।

तथा चाऽऽह—

जं जह सुत्ते भणियं, तहेव तं जइ वियालणा नत्थि ।
किं कालियाणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ॥ ८ ॥

यद्यथा सूत्रे कालिके भणितम् । तद्यदि तथैव प्रतिपत्तव्यं न पुनर्विचारणा काचिदस्ति तर्हि दृष्टिप्रधानै युगप्रधानैरित्यर्थ . किं कस्मात्कालिकानुयोगो दृष्ट , तस्मादस्ति विचारणा, सा चात्र प्रागुक्तस्वरूपेति ।

तत्र यदुक्तोऽस्माभि. कारणै कालिकसूत्रनिपात इति तानि कारणान्याह—

अदिट्ठस्स उ गहणं, अहवा सागारियं तु वज्जेत्ता ।
अन्नो पेच्छउ मा वा, पेच्छंते वावि वच्चंता ॥ ९ ॥

यदि केनापि सागारिकसत्केन तत् दीयमान न दृश्यते तदस्याऽदृष्टस्य ग्रहण भवति । अथवा-सागारिकं-शय्यातर वर्जयित्वा अन्यो दीयमान प्रेक्षता वा मा वा । अथवा-सागारिके प्रेक्षमाणे व्रजन्तो न तिष्ठन्ति, केवलं दानवेलायां तद्दृष्टि परिहियंते । तत उक्तं सूत्रं कल्पते इति ।

तदेवमादेशविषय सूत्रचतुष्टयं भावयति—

दासभइगाण दिज्जइ, उक्खित्तं जत्थ भत्तयं नियय ।
तम्मि वि सो चेव गमो, अतोबाहिं वदे तम्मि ॥ १० ॥

दासभृतिकादिसूत्रचतुष्टयेऽपि प्रथमसूत्रे तृतीयसूत्रे च प्रातिहारिकभजना तस्मिन् दापयति सागारिकपिण्ड इति कृत्वा न कल्पते । यत्र पुनर्द्वितीये चतुर्थे च सूत्रे दासभृतकानामुत्क्षिप्त हस्तोत्पाटितं नियतं भक्तक दीयते दत्त च तैः स्वगृह नीयते , तस्मिन्नपि दासभृतकादौ निवेशनस्यान्तर्बहिर्वा ददति तत्र सूत्रे स एव गम —प्रकार कल्पते वस्तुत , पर भद्रकप्रान्तादिदोषप्रसङ्गतो न गृह्यते । यदा तु केनापि सागारिक सत्केन दृश्यते, यदि वा सागारिक मुक्त्वा अन्य प्रेक्षता वा तदा गृह्यते । यद्येवं तर्हि "सागारियस्स आदेसं वा(पेसं वा)दासं वा भयगे वा" इत्यनेन प्रकारेण चत्वार्येव सूत्राणि कस्मान्न कृतानि ।

उच्यते—

नियया ऽनियय निमित्तो, आएसो होइ दासभयगाणं ।

सागारिकस्य एकचुल्ल्यां पकान्नग्रहणे विधिमाह—

सागारियणायए सिया सागारियस्स एकवगडाए अंतो एगपयाए सारियं चोपजीवइ तम्हा दावए,नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥९॥ सागारियनायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो अभिनिपयाए सागारियं च उवजीवइ तम्हा, दावए णो से कप्पति पडिग्गाहित्तए ॥ १० ॥ सागारियणायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं च उवजीवइ तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ११ ॥ सागारियणायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥१२॥ सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अंतो सागारियस्स एगपयाए सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ १३ ॥ सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए एगणिक्खमणपवेसाए सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ १४ ॥ सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं एगपयाए सारियं चोवजीवइ , तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ १५ ॥ सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं अभिणिप्पयाए सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ १६ ॥

'सागारियस्स' त्यादि अस्य सम्बन्धप्रतिपादनार्थमाह—

नीसट्ठ अपडिहारी, समणुण्णाओ त्ति मा अइपसंगा ।
एगपए परपिंडं, गेण्हं परसुत्तसंबंधो ॥ १३ ॥

डिगाहेत्तए ६। सारियनायए सिया सारियस्स एगवगडाए अन्तो अभिनिपयाए सारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए १०। सारियनायए सिया सारियस्स एगवडाए बाहिं एगपयाए सारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ११। सारियनायए सिया सारियस्स एगवगडाए बाहिं अभिनिपयाए सारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए १२। सारियनायए सिया सारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अन्तो एगपयाए सारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए १३। सारियनायए सिया सारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अभिनिपयाए सारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए १४। सारियनायए सिया सारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं एगपयाए सारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए १५। सारियनायए सिया सारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं अभिनिपयाए सारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए १६। अत्र अभिनिव्वगडाए पृथग्गृहे एकद्वारे एकनिष्क्रमणप्रवेशे एकनिवेशनान्तर्वर्तित्वात्तथा। 'अभिनिपयाए' इति अभि-प्रत्येकं नियता-विविक्ता प्रजा-चुल्ली अभिनिप्रजा तस्यां शेषं सुगमम्।

संप्रति भाष्यविस्तरः—

पुरपच्छासंथुतो वा, वि नायगो उभयसंथुतो वावि।
एगवगडाएँ घरं तु, पयाउ चुल्ली समक्खाया ॥ १४ ॥

ज्ञातको नाम-पूर्वसंस्तुतो, यदि वा-पश्चात्संस्तुतः। अथवा-उभयसंस्तुतः स्वजनपूर्वसंस्तुतः, स्वजनपूर्वसंस्तुतो नाम-मातापितृपक्षवर्ती पश्चात्संस्तुतो भार्यापक्षगतः उभयसंस्तुतः—तथाविधेनात्रासंबन्धविशेषभावतः उभयपक्षवर्ती एकवगडा नाम-एकं गृहं प्रजा तु-चुल्ली समाख्याता प्रकर्षेण जायते पाकनिष्पत्तिरस्यामिति प्रजेति व्युत्पत्तेः।

एगपए अभिनिपए, अट्ठहिँ सुत्तेहिँ मग्गणा जत्थ।
सागारियदोसेहिं, पसंगदोसेहि य अग्गज्झं ॥१५॥

एकस्यां प्रजायामभिनिप्रजायां प्रत्येकं विविक्तायां प्रजायामष्टभिः सूत्रैः पिण्डस्य मार्गणा यत्र येषु सूत्रेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमरूपेषु सागारिकदोषैर्द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमरूपेषु अथ प्रसङ्गदोषैर्भक्तपानमग्राह्यम्।

आइल्ला चउरो सुत्ता, चउस्सालगविक्कतो।
पिहगेरेसुं चत्तारि, सुत्ता एकनिवेसणे ॥ १६ ॥

आदिमानि चत्वारि सूत्राणि एकगृहविषयाणि चतुःशाल्याद्यपेक्षातः चतुःशालादावेव द्वयोः कुटुम्बयोरवस्थानघटनात्, अन्तिमानि चत्वारि सूत्राणि पृथग्गृहेषु तान्यप्येकस्मिन् निवेशने एकस्मिन्परिक्षेपे।

सागारियस्स दोसा, चउसुं चउसुं पसंगदोसा य।
भद्दगपंतादीया, चउसुं पि कमेण नायव्वा ॥ १७ ॥

चतुर्षु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमरूपेषु सूत्रेषु सागारिकस्य दोषाः शय्यातरपिण्डग्रहणे ते दोषास्तत्र ज्ञातव्या इत्यर्थः। चतुर्षु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपेषु सूत्रेषु प्रसङ्गदोषाश्चतुर्ष्वपि सूत्रेषु यथोक्तक्रमेण ज्ञातव्या, भद्रकप्रान्तादिकाः-भद्रकप्रान्तादिकृता आदिशब्दस्तरतमविशेषपरिग्राहकः।

अथ कथं प्रथमतृतीयादिषु चतुर्षु सूत्रेषु शय्यातरदोषाः कथं वा अत्र प्रसङ्गदोषास्तत्र आह—

दारुगलोणे गोरस, सूवोदगअंबिले य सागफले।
उवजीवइ जं सागा-रि एगपएँ वा वि अभिनियए॥१८॥

दारु-काष्ठं लवणं गोरसं च प्रतीतं सूपोदकं मुद्गाद्युदकमाम्लशाकफलानि च प्रतीतानि च, यस्मात् सागारियमिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात्, सागारिकस्य सत्का अनेकस्यां प्रजायां प्रत्येकं विविक्तायां वा प्रजायामुपजीवति तेन कारणेन सागारिकदोषाश्च प्रसजन्ति। एतेन 'सागारियं च उवजीवति' इति व्याख्यातम्।

कस्मादेकां चुल्लीं प्रतिपद्यन्ते तत आह—

भीयाइँ करभयस्स, अंतो बाहिं च होज्ज एगपया।
अभिनियए वि न कप्पइ, पक्खेवगमादिणो दोसा ॥१६॥

भीतानि चुल्लीकरणभयात् गाथायां षष्ठी पञ्चम्यर्थे संबन्धविवक्षाया वा षष्ठी यस्माच्चुल्लीकरणभयात्तानि तेन कारणेनान्तर्बहिर्वा तेषामेका प्रजा-चुल्ली भवति। अभिनिप्रजाया तु सत्यां यद्यपि सागारिकसत्कमुपजीव्यते तथापि निर्भिन्नचुल्लीकतया यत् गृह्यते तत्तेषामेव भवतीति सागारिकदोषा न भवन्ति। तथा प्रसङ्गदोषतो न कल्पते। तथा चैं आह-अभिनिप्रजायामपि न कल्पते, यतो भद्रकप्रान्तकृताः प्रक्षेपादयो दोषाः भद्रकः प्रक्षेपादीन् दोषान् कारयेत्, प्रान्तो-विनाशप्रभृतीन् दोषान् कारयेत्।

तानेवाह—

जं देसी तं देमो, एए घेत्तुं न इच्छते अम्हं।
अहवा वि अकुलजो त्ति य, गेण्हंति अदिट्ठमादीयं॥२०॥

भद्रका ब्रुवते-त्वं साधुभ्यः प्रभूतं देहि यद्दासि तद्वयं तव दास्यामः। यत एतेऽस्माकं गृहे नेच्छन्ति ग्रहीतुम्, गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात्। एवं भद्रककृताः प्रक्षेपादयो दोषाः। अथवा-प्रान्तो ब्रूते-अकुलजा एते इति कृत्वा अदृष्टादिकं गृह्णन्ति एवं गर्हां करोति प्रान्तो विनाशमपि।

अत्रैवापवादमुपदर्शयति—

बिइयपदे ऽदिट्ठगहणं, असती तं वज्जिएण दिट्ठस्स।
दिट्ठे वि पत्थियाणं, गहणं अन्तो व बाहिं वा ॥२१॥

द्वितीयपदेन-अपवादपदेन यदि न केनापि दीयमानं दृष्ट तदाऽस्य दृष्टस्य ग्रहणम्। अथ सर्वथा केनाप्यदृष्टं न प्राप्यते तदा तदभावे तद्वर्जितेन दृष्टस्य ग्रहणम्। तथा प्रस्थितानां गन्तुं चलितानां सागारिकेण दृष्टेऽपि दर्शनेऽपि अन्तर्बहिर्वा ग्रहणं भवति।

सागारिकस्य चक्रिकादिशालाविषयमाह—

सागारियस्स चक्कियासाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥१७॥ सागारियस्स चक्कियासाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता दावए

१-पुस्तकान्तरे सागारिय इति पाठः।

एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥१८॥सागारियस्स गोलियसाला साहारणवक्कियपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पति पडिगाहित्तए॥१९॥सागारियस्स गोलियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए॥२०॥सागारियस्स बोधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,नो से कप्पति पडिगाहित्तए॥२१॥सागारियस्स बोधियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए॥ २२॥ सागारियस्स दोसियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए॥२३॥सागारियस्स दोसियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए॥२४॥ सागारियस्स सोत्तियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २५ ॥ सागारियस्स सोत्तियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२६॥ सागारियस्स बोडियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए. नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २७ ॥ सागारियस्स बोडियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए॥२८॥ सागारियस्स गंधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,नो से कप्पइ पडिगाहित्तए॥२९॥सागारियस्स गंधियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ ३० ॥ सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३१॥ सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए॥६२॥सागारियस्स चक्कियसाला साहारणवधुयपउत्ता तम्हा दावए,नो से कप्पइ पडिगाहित्तए॥३३॥सागारियस्स चक्कियसाला निस्साहारणवधुयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ३४ ॥

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह—

साधारणमेगपय–त्ति किच्च तहिय निवारियं गहणं ।
इदमवि समासं चिय,साहारणसालसुयजोगो ॥ २२ ॥

अनन्तरसूत्रेष्वेकस्या प्रजाया साधारणमिति कृत्वा तच्च ग्रहणं निवारितम् , इदमपि च वक्ष्यमाणं साधारणशालासु सामान्यशालासु सामान्य—साधारणमतो निषिध्यते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य(सू०-१७)व्याख्या-सागारिकस्य शय्यातरस्य चक्रिकाशाला—तैलविक्रयशाला इत्यर्थः , सागारिकेणात्मना सह साधारणा वक्रयप्रयुक्ता यत्तस्या शालाया प्रक्षिप्यते , यश्च तस्य लाभात्सागारिकेण साधारण इत्यर्थ । तस्मात्—शालाया मध्यात् यत्साधूचितं तैलादिकमन्यो दापयति तत् ' से ' तस्य साधोर्न कल्पते इति प्रथमसूत्रार्थः ॥१७॥ तथा सागारिकस्य चक्रिकाशाला—तैलयन्त्रशाला सा निस्साधारणवक्रयप्रयुक्ता न किमपि सागारिकसाधारण तत्र भाण्डं प्रक्षिप्तमस्तीति भाव , तस्मात् निस्साधारणवक्रयशालामध्यात् दापयति एव ' से ' तस्य साधो कल्पते प्रतिग्रहीतुम् , एष द्वितीयसूत्रार्थ ॥१८॥एवं कौलिकशाला-बोधिकशाला-दौषिकशाला सौत्रिकशालागन्धिकशालासूत्राण्यपि भावनीयानि । (व्य० ।)

संप्रति चक्रिकादिशब्दव्याख्यानार्थमाह—

तिल्लियगोलियलोणिय,दोसिय सुत्तियबोहिय कप्पासे ।
गंधिय सोंडियसाला, जा अन्ना एवमादीओ ॥ २३ ॥

चक्रिका नाम—तैलिकास्तैलविक्रयकारिण', एव गोलिका लावणिका दौषिका. सौत्रिका. बोधिका कार्पासा ।गन्धिकाशाला शौण्डिकशाला अन्या अपि च या एवमादिका गन्धप्रधाना सा गन्धिकशालेत्युच्यते ।

ववहारे उद्देस–म्मि नवमए जत्तिया भवे साला ।
तासि परिपिंडियाणं, साहारणवज्जिए गहणं ॥ २४ ॥

व्यवहारे नवमे उद्देशके यावत्य. शाला -शालासूत्राणि भवन्ति-विद्यन्ते तासा सर्वासा परिपिण्डितानामय तात्पर्यार्थ , यत्र साधारणमविभक्तं क्रयाणकं तत्र प्रतिषेध साधारणवर्जिते तु ग्रहणम् ।

सम्प्रति साधारणशब्दशालाशब्दव्याख्यानार्थमाह—

साहारणसामन्नं, अविभत्तमछिन्न संघडेगट्ठं ।
साल त्ति आवणो त्ति य,पणियगिहं चेव एगट्ठं ॥२५॥

साधारणं-सामान्यम्-अविभक्तमच्छिन्नं सघटमिति एकार्थम् , एते सर्वेऽपि शब्दा एकार्थिका इत्यर्थ. , शाला इति वा आपण इति वा पणितगृहमिति वा एकार्थ. ।

साहारणा उ साला, दव्वे मीसम्मि आवणे भंडे ।
साहारणओ पत्ते,छिन्नं वोच्छं अछिन्नं वा ॥२६॥

साधारणा तु शाला भण्यते, मिश्रे द्रव्ये सति । किमुक्तं भवति—अन्यस्यापि तिला एकत्र मिश्रयित्वा पील्यन्ते पीलयित्वा च एकत्र विक्रीडन्ति । अथवा—साधारणेनावक्रयेण युक्ते आपणे भाण्ड वा क्रयाणके साधारणशाला भवति । तथा छिन्नमछिन्न वा वक्ष्ये एष गाथासंक्षेपार्थ ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषु प्रथमतो द्रव्यमिश्रे इति व्याख्यानयति—

पीलंति एक्कतो वा, विक्कंति य एक्कतो करिय तेल्लं ।
अहवा वि वक्कएणं, साहारणवक्कय जाण ॥ २७ ॥

अन्यस्यान्यस्य तिलान् एकत्र समीलयित्वा पीलयन्ति ततो विक्रीणन्ति । अथवा-पृथक् पृथक् तिलान् पीलयित्वा—तैलं कृत्वा एकत्र विक्रीणन्ति , तदेव द्रव्ये मिश्रे साधारणक्रयप्रयुक्ता शाला व्याख्याता। अथवा अन्यथा साधारणवक्रयप्रयुक्तेति व्याख्यानयति। अथवा—वक्रयेण-भाटकेन या साधारणशाला प्रयुक्ता-व्यापरिता तत्र तन्मध्यंत भाण्डक-

तत् शय्यातरस्यान्येषां च साधारणमिति साधारणव— क्रयप्रयुक्तं जानीहि।

अत्र यथा कल्पते यथा वा न कल्पते तथा प्रतिपादयति—

पीलिय वेरेडियम्मि, पुव्वगमेणं तु गहणमदिट्ठे।
एगत्थ विक्कयम्मी,अमेलिया दिट्ठमन्नत्थ ॥ २८ ॥

अन्यस्यान्यस्य तिलानेकत्र मीलयित्वा पीलयित्वा च तैले विरेचिते-विभक्तीकृते पूर्वगमेन-पूर्वप्रकारेण शय्यातरे-णादृष्टे ग्रहणं भवति, दृष्टे तु न कल्पते। मा प्रक्षेपकं कुर्यादिना हेतो, अन्यत्र छ्रातं तु कल्पत एव, तथा पृथक् तिलान् पीलयित्वा च एकत्र विक्रीणन्ति तत एकत्र विक्रये यावन्मूल्य मिलिनम्-अविभक्तमित्यर्थस्तावन्न कल्पते इत्यर्थः। अमीलिते मूल्यकरणेन विभक्तीकृते सागारिकेण अदृष्टे स तु कल्पते। दृष्टे प्रक्षेपदोषसंभवात्। अन्यत्र पुन. स्वयोगेन नीतं नि.शङ्क कल्पते।

साम्प्रतमापणं साधारणवक्रयप्रयुक्तं व्याख्यानयति—

जो उ लाभगभागेणं, पउत्तो होति आवणो।
सो उ साहारणो होइ,तत्थ घेत्तुं न कप्पइ॥२६॥

यस्तु सागारिकेण लाभभागेन त्रिभागादिना आपण प्रयुक्तो भवति साधारणो भवत्यापणस्ततस्तत्र ग्रहीतु न कल्पते।

साम्प्रतं भाण्डं साधारण वक्रयप्रयुक्तं व्याख्यानयति—

छेदे वा लाभे वा, सागारितो जत्थ होइ आभागी।
तं तु साधारणं जाण, सेसमसाहारणं होइ ॥ ३० ॥

अत्र भाण्डच्छेदे लाभे वा सागारिकोऽर्द्धेन त्रि— भागादिना वा आभागी भवति। तत् भाण्डं साधारण—साधारणवक्रयप्रयुक्त जानीयात्, एतद्व्य— तिरिक्तं शेष भाण्डमसाधारण भवति। साधारणे वा भाण्ड यावत् तं न विभज्यते तावत्सागारिकपिण्ड., विभक्ते तु कल्पते। तत्रापि प्रक्षेपदोषप्रसङ्गतो दृष्टे न कल्पते, अदृष्टे तु कल्पते।यदा तु सा शाला भाटकप्रदानेन गृहीता कालेन मया तवैतावत् दातव्य नच भाण्डं शय्यातरेण सह-च्छन्दे लाभे वा त्रिभागादिना साधारणम्। तत्राप्यसाधारण अदृष्टे कल्पते, दृष्टे तु प्रक्षेपदोषप्रसङ्गता नेति।

सम्प्रति 'छिन्न वोच्छं अछिन्नं वे' ति व्याख्यानार्थमाह—

सचित्ते अचित्ते, मीसेण य जा पउंजए साला।
तं दव्वमन्नदव्वे-ण होइ साहारणं तं तु ॥ ३१ ॥

सचित्तेन आचत्तेन गाथाया सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वेन मिश्रेण च प्रयुज्यते शाला-किं विशिष्टेन सचित्तादिनेत्यत आह-द्रव्येण, तावद् द्रव्यं नाम-यत् शालायां प्रक्षिप्तमस्ति। अन्यत् द्रव्य-तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यम्। इयमत्र भावना—यत् शालाया प्रक्षिप्तं सचित्त मिश्र वा कर्पासादि तस्य त्रि-भागादि दातव्यम्। यदि वा—यन्निष्पद्यते कर्पासादिभ्यो वस्त्रादिकमन्यत्तस्य त्रिभागादि दातव्यमिति तद् भवति साधारणमच्छिन्न द्रव्यम्, तन्न कल्पते। सम्प्रति छिन्न द्रव्य तत् कल्पते।

सम्प्रति छिन्नमाह—

तद्दव्वमन्नदव्वे-ण वा वि छिन्ने वि गहणमदिट्ठो।
मा खलु पसंगदोसा, संछोभभयं व मुंचेज्जा ॥ ३२ ॥

तद् द्रव्यं यत् शालायां प्रक्षिप्तम्, अन्यद्रव्य-तद्व्यतिरिक्तम् एतम्वता कालेन द्रव्य मयैतावद्दातव्यमित्येवं तद् द्रव्येण अन्यद्रव्येण छिन्नेऽपि-विभक्तीकृतेऽपि ग्रहणमदृष्टे शय्यातरेण कल्पते, न तु दृष्टे। कुत इत्याह-मा खलु प्रसङ्गदोषा. स्युरिति कृत्वा। एतदेव संछोभो नाम-प्रक्षेपस्तं कुर्यात्, भृतिं वा मूल्यं मुञ्चेत् यावदुपयुज्यते साधूनां तावद् दत्त्व द्रव्य भृतिमध्यात् पातनीयमिति।

जं पि य न एइ गहणं, फलकप्पासो सुरादि वा लोणं।
फासं पि उ सामन्नं, न कप्पए जं तहिं पडियं ॥ ३३ ॥

यद्यपि चाप्रासुकतया ग्रहण नागच्छति,तद्यथा-फलमाम्रादि। कर्पास. सुरादिरादिशब्दात्सरजस्कादिग्रहण लवणम्, एतान्यप्राशुकान्यपि कदाचित्कारणे गृह्यन्ते। तत एवमुक्त प्राशुकमपि तु वस्त्रादि यत्तत्र शालाया शय्यातरेण सह साधारणं तत् तु कल्पते।

तदेव दौषिकशालामधिकृत्य दर्शयति—

अंडजबोंडजवालज, वागज तह कीडजाण वत्थाणं।
नाणादिसागयाणं, साधारणवज्जितं गहणं ॥ ३४ ॥

अण्डजाना-अण्डजसूत्रमयाणां बोण्डजाना-कर्पासिकसूत्रमयाणां वालजाना—कम्बलानां वल्कलजाना—शणत्वग्मयाना कीटजानां वस्त्राणा नानादेशागतानां प्रयोजने समापतिते साधारणवर्जित सागारिकेण सह साधारणरहिते आपणे ग्रहण भवति दोषाभावात्। दृष्टादृष्टविभाषा प्राग्वत्। (व्य०)

सागारिकस्यौषधय —

सागारियस्स ओसहीओ संथडाओ तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ २७ ॥ सागारियस्स ओसहीओ असंथडाओ तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ २८ ॥ (व्य०)

सागारिकस्य-शय्यातरस्य औषधयो गोरसवत्या सस्तृनाः साधारणास्तस्य तन्मध्याद्दापयति सूपकारो नो कल्पते 'से' तस्य साधोः प्रतिग्रहीतुम् ॥२७॥ तथा सागारिकस्यौषधयः असस्तृता असाधारणास्तस्माद्दापयति एव 'से' तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुमेवमाम्रफलसूत्रद्वयमपि भावनीयम्।

संप्रति भाष्यप्रपञ्चस्तत्रौषधिप्रतिपादनार्थमाह—

गोरसगुलतेल्लघता-दिओसहीतो व होंति जा अन्ना।
सूयस्स कट्ठलेण तु, ता संथडऽसंथडा हुंति ॥ ३६ ॥

सूतस्य काष्ठलयने इन्धनगृहे ये गोरसगुडतैलघृताद्या औषधयोऽन्या वा या. सन्ति ता द्विविधा. सागारिकेण सह सस्तृता साधारणा असस्तृता वा असाधारणा वा भवन्ति।

कथं पुन. साधारणास्तत आह—

धुव आवाह विवाहे, जन्ने सड्ढे य करडुगे चेव।
विविहाओ ओसहीओ, उवणीता भत्तसूवस्स ॥ ३७ ॥

जं दड्ढविदड्ढं वा, जो वा तह भत्तसेस उद्धारो।
लभइ जइ सूवकारो, अविरिक्कं तं पि हु न लद्धा ॥३८॥

ध्रुवं-सर्वकालमुपस्करं करोति सूपकारो भोजिकानाम्, आवाहो दारकपक्षिणां वीवाहो वधूपक्षिणां यक्षो नाग—यक्षादि। श्राद्धं-धिग्जातिजनप्रतीत करडुक-मृतकभक्तणम् इन्द्रमहादिरेतेषु सूपकार आनीयते। तस्य भक्तस्तस्य सूपकारस्य विविधा औषधय. पूर्वभणिता उपनीता-ढौकितास्तत्र यत् दग्धमीषत् दग्धं विदग्ध वा-प्रभूत दग्ध यो वा तत्र भक्तशेषस्योद्धारो भक्तशेष यत्तत्रोद्धरितमित्यर्थ , तद्यदि लभते सूपकारस्ततस्तत्कल्पते। अविरिक्तम्-अविभक्तीकृतं तदपि दग्धविदग्धादि हु-निश्चितं ग्रहीतुं दातु वा न लभते ततस्तद् न कल्पते

एतदेवाह—

अविरिक्को खलु पिंडो, सो चेव विरेइतो अपिंडो उ।
भद्दगपंतादीया, धुवा उ दोसा विरिक्के वि ॥ ३६ ॥

अविरिक्त-अविभक्तीकृत खलु भवति पिण्ड सागारिकपिण्ड, स चैव विरेचित-विभक्तीकृत. भवति अपिण्ड-सागारिकपिण्डो न भवति, इति भाव । यद्येव तर्हि स ग्राह्य',तत आह-विरिक्तेऽपि, ध्रुवा भद्रकप्रान्तादिका दोषास्तस्मात्तत्रापि सागारिकसत्का असागारिकेण सह संस्तृतास्ता खलु न कल्पन्ते, (२७सू० व्या०)। यास्त्वसंस्तृता सूतस्य सूपकारस्य संबन्धितया जातास्ता. कल्पन्ते। तदेवमौषधिसूत्रद्वयं भावितम्।

अधुना आम्रफलसूत्रद्वय भावयति—

सागारियस्स अंबफला संथडाओ तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥२१॥ सागारियस्स अंबफला असंथडाओ तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥२२॥

वल्ली वा रुक्खो वा, सागारियसंतिओ भइज्ज परं।
तेसिं परिभोगकाले,समणाण तहिं कहं भणियं ॥४०॥

वल्ली वा सागारिकसत्को वृक्षो वा सागारिकसंबन्धी परस्यावग्रह भजेत। तत्र तेषा वल्लीवृक्षाणा फलपरिभोगकाले श्रमणाना कथ भणितम्? किं कल्पते किं वा न कल्पते? इति एष गाथासंक्षेपार्थ.।

सांप्रतमेनामेव व्याचिख्यासु' प्रथमतो वृक्षवल्लीव्याख्यानमाह—

फणसंबाचिंचतलना-लिकेरमादी हवंति फलरुक्खा।
लोमसिय तउसमुद्दिय, तंबोलादी य वल्लीतो ॥४१॥

पनस आम्रश्चिञ्चा—चिञ्चनिका 'आँबिली' इत्यर्थः तत-स्तालो नालिकेरी इत्येवमादिका भवन्ति फलवृक्षा.। लोमसिका त्रपुषिका ताम्बूलिका इत्येवमादिका वल्ल्य । तदेवं वृक्षा वल्ल्यश्चोक्ता।

संप्रति एतेष्वपरिमितस्य व्याख्यानमाह—

परोग्गहं तु सालेणं, अक्कमेज्ज महीरुहो।
छिंदामि त्ति य तेणुत्ते, ववहारो तहिं भवे ॥४२॥

महीरुहो—वृक्ष आम्रादिसागारिसत्क शालया—शाखया, गाथाया पुस्त्व प्राकृतत्वात्। विवर्द्धमान परगृहमाक्रमेत्, तत्र परेणोक्ते—इयं शाखा मदीयं गृहमाक्रामति ततश्छिनद्मि एवं तेनोक्ते व्यवहारस्तत्र भवेत्।

कथमित्याह—

सागारियस्स कहियं, केवतिओ उग्गहो मुणेयव्वो।
ववहारो तह छिन्नो, पासायगडे विती तिरिए ॥ ४३ ॥

सागारिकस्य-शय्यातरस्य कियान् अवग्रहो ज्ञातव्य इति व्यवहारकारिभिश्छिन्तितम्, तत. शास्त्र परिभाव्य व्यवहारे ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदतश्छिन्न., तत. ऊर्ध्वतोऽवग्रहस्य परिमाणे प्रासादो यावत्प्रमाणमूर्ध्व प्रासादस्योक्त तावदूर्ध्वमवग्रह इत्यर्थः अधोऽवग्रहप्रमाण पालनीय प्रमाणमित्यर्थः, तिर्यग् वृत्तिः।

एतदेवाह—

उड्ढं अहो य तिरियं, परिमाणं तु वत्थूणं।
खायमूसिय मीसं वा, तं वत्थु तिविहोदियं ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्परिमाण वास्तूनां भवति, तच्च वास्तु त्रिधोदितम्। तद्यथा-खातमुच्छ्रित मिश्रं च—खातोच्छ्रितम्। (व्य०) (अत्रत्या व्याख्या 'पासाय' शब्दे पञ्चमभागे गता।)

एवं छिन्ने उ ववहारे, परो भणइ सारियं।
कप्पेमि हंते सालाई, ततो भणइ सारिते ॥ ४७ ॥

एवम्—उक्तेन प्रकारेण व्यवहारे छिन्ने पर. सागारिक भणति-कल्पयामि छिनद्मि अह तवाम्रादिवृक्षसत्क शाखादि आदिशब्दात्—प्रशाखापल्लवादिपरिग्रह'।

तत आह सागारिक.—

मा मे कप्पेहि सालाइं, दाहं ते फलनिकयं।
तत्थ छिन्ने अच्छिन्ने वा, सुत्तसाफल्लमाहितं ॥ ४८ ॥

ममाम्रवृक्षस्य शाखादि मा कल्पयत ते फलानि निकय दास्यामि। तत्र एतावन्ति फलानि दातव्यानीति छिन्न सामान्यत. फलानि दातव्यानि इत्यच्छिन्नं तत्र छिन्ने अच्छिन्ने वा यथायोगं सूत्रद्वयस्य साफल्यमाख्यातम्।

तत्र पर आह—

साहूणं व न कप्पइ, सुत्तमाहु निरत्थयं।
गेलन्नाणओमेसु, गहणं तेसि देसियं ॥ ४६ ॥

केचिदाहु सूत्रद्वयमिदं निरर्थकं यत' साधूनामाम्राणि सचित्तत्वान्न कल्पन्ते। आचार्य आह-तेषामाम्रफलानां ग्लानत्वे अध्वनि शेषभिक्षाया अलाभे अवमौदार्ये च ग्रहणं दर्शितं-कथित महर्षिभिरतो न निरर्थकमिति।

अविरिक्कसारिपिंडो,विरिका वि य सारिदिट्ठ न वि कप्पे।
अदिट्ठसारिएणं, कप्पंति य ताइं घेत्तुं जे ॥ ५० ॥

अविरिक्तान्यपि च सागारिकेण दृष्टानि न वैकल्पन्ते,ततो दृष्टानि सागारिकेण ग्रहीतु कल्पन्ते 'जे' इति पादपूरणे।

उपसंहारमाह—

एवं अत्तट्ठाए, सयं परूढाण वा वि भणियमिणं।
इणमण्णो आरंभो, समणट्ठा वा वि एतम्मि ॥ ५१ ॥

एवमुक्तप्रकारेणात्मार्थमारोपितानां स्वय वा प्ररूढानामिदमनन्तरोक्तं भणितम्। व्य० ६ उ०। (अत्रत्या विशेषवक्तव्यता 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २४२ पृष्ठे गता।)

१-अविरिक्त.।

सागारियागार-सागारिकाकार-पुं० । सहागारेण-गृहेण वर्त्तत इति सागार स एव सागारिको गृहस्थ । स एवाकार प्रत्याख्यानहेतु सागारिकाकारः । सागारिक वर्जयित्वेत्यर्थे, पञ्चा० ५ विव० । ' सागारियागारेणं ' सहागारेण वर्तत इति सागार, स एव सागारिको गृहस्थ., स एवाकारः प्रत्याख्यानापवादः सागारिकाकारस्तस्मादन्यत्र, गृहस्थसमक्ष हि साधूनां भोक्तु न कल्पते, प्रवचनाद्युपघातसंभवात् । यत उक्तम्-" छक्कायदयावतो, वि संजओ दुल्लह कुणइ बोहिं । आहारे नीहारे, दुगं(गु)छिए पिंडगहणे य ॥ १ ॥ " ततश्च भुञ्जानस्य यदि सागारिक कश्चिदायाति, स च यदि चलस्तदा क्षण प्रतीक्षते, अथ स्थिरस्तदा स्वाध्यायादिव्याघातो मा भूदिति तत स्थानादन्यत्रोपविश्य भुञ्जानस्यापि नैकाशनभङ्ग । गृहस्थस्यापि येन दृष्ट भोजनं न जीर्यति तत्प्रमुख सागारिको ज्ञातव्य । प्रव० ४ द्वार । ध० ।

सागारोवओग-साकारोपयोग-पुं० । आकारसहिते, प्रज्ञा० । २८ पद । (व्याख्या ' उवओग ' शब्दे २ भागे ८६० पृष्ठे गता ।)

साडग-शाटक-न० । परिधानवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । वस्त्रमात्रे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । भ० । ज्ञा० ।

साडण- सातन-न० । अङ्गोपाङ्गानां विशरणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

साडणा-साटना-स्त्री० । उत्सर्गे त्याजने, आव० ५ अ० ।

साडिया-साटिका-स्त्री० । परिधानवस्त्रे, अनु० ।

साडी-शाटी-स्त्री० । शटति गच्छति इति शाटी । पयसि, प्रव० ४ द्वार ।

साडीकम्म-शाकटिककर्मन्-न० । शकटानां घटनविक्रयवाहनरूपे, उपा० १ अ० । भ० । शाकटिकत्वेन जीवने , तत्र गवादीना बन्धवधादयो दोषा इति कर्म न उपभोगपरिभोगव्रतातिचारत्वं तस्य । पञ्चा० १ विव० । भ० । आ० । आव० । शकटानां तदङ्गानां चक्रोर्ध्व्यादीनां स्वयं परेण वा वृत्तिनिमित्त निष्पादने, विक्रयवाहने च । ध०२अधि० । ' शकटाना तदङ्गाना, घटन खेटनं तथा । विक्रयश्चेति शकट-जीविका परिकीर्तिता ॥ १ ॥ " प्रव० ६ द्वार ।

साडोल्लय-शाटोल्लक-न० । उत्तरीयवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १८अ० ।

साण-श्वन्-पुं० । श्वन्शब्दस्य साणादेश । कुक्कुरे,उत्त०१अ० । आचा० । अनु० । उत्त० । दश० । नि० चू० । भ० । आचा० ।

साण-पुं० । छुरिकादितैक्ष्ण्योत्तेजके मसृणपाषाणे , अष्ट० १५ अष्ट० । आ० म० । पाइ० ना० ।

साणंदसमाहि-सानन्दसमाधि-पुं० । सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्योद्रेकाधिक्यात्तथाविधे समाधौ, द्वा० २० द्वा० ।

साणय-शाणक-न० । शणवल्कनिष्पन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ उ० १ उ० । स्था०८। बृ० ।

साणि-शाणी-स्त्री० । शणसूत्रमय्यां शाटिकायाम् , दश० ५ अ० १ उ० ।

साणुक्कोस-सानुक्रोश-त्रि० । सहानुक्रोशेन वर्त्तत इति सानुक्रोश । सदये, उत्त० २२ अ० ।

साणुक्कोसया-सानुक्रोशता-स्त्री० । सदयतायाम् औ० । स्था० । सानुकम्पतायाम् , भ० ८ श० ६ उ० । विशे० ।

साणुणाय-सानुनाद-पुं० । यत्र जल्पतां प्रतिशब्द उत्तिष्ठते तस्मिन् प्रदेशे, विशे० ।

साणुदयबंधिणी-स्वानुदयबन्धिनी-स्त्री० । स्वस्यानुदय एव बन्धो विद्यते यासां ता स्वानुदयबन्धिन्यः । ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २७४ पृष्ठे दर्शितासु तथाविधकर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार ।

साणुप्पग-सानुप्रग-न० । प्रत्यूषवेलायाम् , बृ० १ उ० २ प्रक० । चतुर्भागावशेषचरमायां पौरुष्याम् ,नि० चू० १० उ० ।

साणुप्पगभिक्खा-सानुप्रगभिक्षा-स्त्री० । सानुप्रगे-प्रत्यूषवेलायां या लभ्यते भिक्षा सा सानुप्रगभिक्षा । प्रातःकालिक्यां भिक्षायाम् ,बृ० १ उ० २ प्रक० ।

साणुप्पास-सानुप्रास-त्रि० । अनुप्राससहिते, अनु० ।

साणुबंध-सानुबन्ध-त्रि० । निरुपक्लिष्टे कर्मणि, "अमायोऽपि हि भावेन,माय्येव तु भवेत् क्वचित् । पश्येत्स्वपरयोर्यत्र,सानुबन्धंहितोदयम् ॥१॥ " ध० ३ अधि० ।

साणुबंधदोस-सानुबन्धदोष-पुं० । निरुपक्लिष्टकर्मलक्षणे दोषे, षो० १२ विव० ।

साणुभव-स्वानुभव-पुं० । स्वीयज्ञानप्रसरे, " स्वकीयश्रुतचिन्तोत्तरोत्पन्नभावनाज्ञाने, "श्रुताब्धे संप्रदायाच्च, ज्ञात्वा स्वानुभवादपि । " ध० १ अधि० ।

साणुराग-सानुराग-पुं० । अनुरक्ते, तथाविधानुरागयुक्तत्वेनाप्रशस्तदृष्टौ, महा० ३ अ० ।

साणुलट्ठियागाम-सानुयष्टिकाग्राम-पुं०।स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र छद्मस्थविहारेण विहरन् वीरजिन भद्रप्रतिमया तस्थौ । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सात-सात-न० । सौख्ये, चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र०। सुखे, उत्त० १ अ० । सुखहेतौ, उत्त० २ अ० । प्रश्न० ।

सातच्च-सातत्य-न० । नैरन्तर्ये , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सातवाहण-सातवाहन-पुं० । स्वनामख्याते नृपभेदे, ती० ५२ कल्प । आ० चू० । तच्चरित्र त्वेवम्-अथ प्रसङ्गतः परसमयलोकप्रसिद्धं सातवाहनचरित्रलेशमपि किंचिदुच्यते-श्रीसातवाहने क्षितिं रक्षति पञ्चाशतवीराः प्रतिष्ठानगरान्तस्तथा वसन्ति स्म पञ्चाशन्नगराद्वाह्यः । इतश्च तत्रैव पुरे एकस्य द्विजस्य सूनुर्दर्पोद्धत शूद्रकाख्य समजनि । स च युद्धश्रमं दर्प्येण कुर्वाण पित्रा स्वकुलानुचितमिति प्रतिषिद्धो नास्थात् । अन्येद्यु --सातवाहननृपति वापला-खूंदलादिपुरान्तर्वर्त्तिवीरपञ्चाशदन्वित पञ्चाशद्धस्तप्रमाणां शिलां श्रमार्थमुत्पाटयन् दृष्ट , पित्रा समं गच्छता द्वादशाब्ददेशीयेन शूद्रकेण केनापि वीरेणाङ्गुलचतुष्टयं , केनचित्षडङ्गुलान्यपरेण त्वङ्गुलान्यष्टौ शिला भूमितस्तत्रोत्पाटिता महीजानिना त्वाजानुनीता इत्यवलोक्य शूद्रक स्फूर्जितदूर्जित

मवादीत्-भो-भो भवत्सु मध्ये किं शिलामिमा मस्तकं न कश्चिदुद्धर्त्तुमीष्टे। तेऽपि सदर्पमवादिपुर्यथा त्वमेवोत्पाट्य यदि समर्थम्मन्योऽसि। शूद्रकस्तदाकर्ण्यं शिला वियति तथोच्छालयांचकार यथा-सा दूरमूर्द्धमगमत्—पुनश्चादि शूद्रकेन यो भवत्स्वलंभूष्णु स खल्विमा निपतन्तीं विभर्तु। सातवाहनादिवीरैर्भयोद्भ्रान्तलोचनैरूचे स एव सानुनयम्। यथा भो महाबल! रक्ष रक्षास्माकीनान् प्राणानिति। स पुनस्तां पतयालु तथा मुष्टिप्रहारेण प्रहतवान् यथा सा त्रिखण्डतामन्वभूत्। तत्रैकं शकल योजनत्रयोपरि न्यपतत्, द्वैतीयिक च खण्डं नागह्रदे तृतीय तु प्रतोलीद्वारे, चतुष्पथमध्ये न पन्तिमद्यापि तथैव वीक्ष्यमाणास्ते जना', तद्बलविलसितचमत्कृतचेता क्षोणिनेता शूद्रक सुतरा सत्कृत्य पुराऽऽरक्षकमकरोत्। शस्त्रान्तरेण प्रतिषिध्य दण्डधारकस्य तस्य दण्डमेवायुधमन्वाज्ञासीत्। न च शूद्रको बहिश्चरान् पुरमध्ये प्रवेष्टुमपि न दत्तवान्, अनर्थनिवारणार्थम्। अन्यदा सम्यौधस्योपरितले शयान सातवाहन क्षितिपतिर्मध्यरात्रे शरीरचिन्तार्थमुत्थित, पुराद्बहि परिसरे करुणं रुदितमाकर्ण्य तत्प्रवृत्तिमुपलब्धु कृपाणपाणि परदु खितहृदयतया गृहान् निरगमत्। अन्तराले शूद्रकेणाऽवलोक्य नमश्च प्रणत पृष्टश्च महानिशाया निर्गमनकारणम् धरणीपतिरवादीत्-अयं बहि पुर परिसरं करुणक्रन्दितध्वनि श्रवणध्वनिपथिकीभावमनुभविन्नस्ति, तत्कारण ज्ञातु मजन्नसीति राज्ञोक्ते शूद्रको व्यजिज्ञपत्--देव! प्रतीक्ष्यपादैस्वसौधालंकरणाय पादाववधार्यतामहमेव तत्प्रवृत्तिमानेष्यामीत्याभिधाय वसुधानायक व्यावृत्य स्वयं रुदितध्वन्यानुसारेण पुराद्बहिर्गन्तुं प्रवृत्त। पुरस्ताद् व्रजन् दत्तकर्णो गोदावर्यां स्रोतसि तद् रुदनमश्रौषीत्। तत परिकरबन्धं विधाय शूद्रकस्तीर्त्वा यावत्सरितो मध्य प्रयाति तावत्पय पूरप्लाव्यमान नरमेकं रुदन्तं वीक्ष्य बभाषे-भो' कस्त्वं किमर्थं च रोदिषीत्यभिहित। स नितरां रुदति निबन्ध केनापि यादसा विधृतोऽयं भवेदित्याशङ्क्य सद्य कृपाणिकामेवाऽवसहत्रामास शूद्रक। तदनु शिरोमात्रमेवं शूद्रकस्योद्धर्तुं करतलमारोहत्। लघुनया तच्छिर प्रक्षरद्रुधिरधारामिवालोक्य शूद्रको विषादमापन्नश्चिन्तयति स्म। धिग्मामप्रहर्त्तरि प्रहर्तारं शरणागतरक्षक चेत्यात्मान निन्दन् वज्राहत इव क्षण मूर्च्छितस्तस्थौ। तदनु समधिगतचैतन्यश्चिरमचिन्तयत्कथमिवैतत् स्वदुश्चेष्टितमवनिपतये निवेदयिष्यामि इति लज्जितमनास्तथैव काष्ठैश्चिता विरचय्य तत्र ज्वलन प्रज्वाल्य तच्छिर सह गृहीत्वा यावदर्चिषि प्रवेष्टु प्रववृते तावत्तेन मस्तकेन निजगदे भो महापुरुष! किमर्थमित्थं व्यवसीयते, भवता यावदह शिरोमात्रमेवास्मि, सैंहिकेयवत्सदा तद् वृथा मा विषीद, प्रसीद मा राज्ञ समीपमुपनयति तद्वचनं निशम्य चमत्कृतचित्त प्राणित्ययमिति प्रहृष्ट शूद्रकस्तच्छिर पट्टांशुकवेष्टितं विधाय प्रातस्सातवाहनमुपानयत, अपृच्छदथ पृथ्वीनाथ। शूद्रक! किमिदम्? सोऽप्यवोचत् देव! सोऽयं यस्य क्रन्दितध्वनिर्देवेन राज्ञौ शुश्रुवे इत्युक्त्वा तस्य प्रागुक्त वृत्त सकलमचिद्यत्। पुना राज्ञ तमव मस्तकममाक्षीत्-भो कस्त्वम्? किमर्थं चात्र भवदागमनमिति?-तेनाभिदधे—महाराज! भवत कीर्त्ति समाकर्ण्य करुणरुदितव्याजेनात्मानं ज्ञापयित्वा त्वामहमुपागमम्, दृष्टश्च भवान् कृतार्थे मेऽद्य चक्षुषी जाते, इति। कां कलां सम्यग् वेत्सीति राज्ञा पृष्टे तेनोक्तम्-देव! गीतकला वेद्मि। ततो राज्ञ आज्ञया निरवगीत गीत गातु प्रचक्रमे। क्रमेण तद्गानकलया मोहिता सकलाऽपि नृपतिप्रमुखा परिषत्। स च मायासुरनामकोऽसुरस्ता माया निर्माय महीपतेर्महिषीं महनीयरूपधेयां अपजिहीर्षुरुपागतो बभूव। न च विदितचरमेतत्कस्यापि। लोकैस्तु शीर्षमात्रदर्शनात्तस्य प्राकृतभाषया 'सीसूला' इति व्यपदेश कृत। तदनु प्रतिदिन तस्मिन्नपि तुम्बुरौ मधुरतर गायति सति श्रुततत् स्वरूप महादेव्या,दासीमुखेन भूप विज्ञाप्य तच्छीर्षं स्वान्तिकमानायितम्,प्रत्यहं तमाजिज्ञपत् राज्ञी। दिनान्तरे गात्रौ प्रस्तावमासाद्य सद्य एवापहरति स्म ता मायासुर', आरोपयामास च ताम्। घण्टावलम्बिनामनि स्वविमाने। राज्ञी च करुण क्रन्दितुमारेभे। अहोऽह केनाप्यपह्रिये। अस्ति कोऽपि वीर पृथिव्या यो मां मोचयति। तच्च खूंदलाभिख्येन चोरेण श्रुत्वा धावित्वा समुत्पत्य च तद्विमानघण्टा पाणिना गाढमधार्यत। ततस्तत् पाणिनावरुद्धं विमान पुरस्तान्न प्राचालीत्। तदनु चिन्तित मायासुरेण। किमर्थं विमानमेतन्न सर्पति। यावदद्राक्षीत्त वीरं हस्तावलम्बितघण्टाम्। तत खड्गेन तद्धस्तमच्छिन्दत्, पतित स पृथिव्याम्। स चासुर पुर प्राचलत्। ततो विदितदेव्यपहारवृत्तान्त क्षितिकान्त पञ्चाशतमेकोनां वीरानादिशत्, यत्पट्टदेव्या शुद्धि क्रियता, केनेयमपहृतेति। ते प्रागपि शूद्रकं प्रत्यसूयापरा प्रोचु —महाराज! शूद्रक एव जानीते। तेनैव तच्छीर्षकमानीत, तेनैव च देवी जह्रे, ततो नृपतिस्तस्मै कुपित शूलारोपणमाज्ञप्यत्। तदनु देशरीतिवशात्तं रक्तचन्दनानुलिप्ताङ्ग शकटेशायित्वेन सह गाढ बध्वा शूलायै यावद्राजपुरुषाश्चेलुस्तावत्पञ्चाशदपि वीरा सभूय शूद्रकमवोचन्। भो महावीर! किमर्थमेवं दिदण्डेव म्रियते भवान्, 'अशुभस्य कालहरणमि' ति न्यायात् मार्गय नरेन्द्रात् कतिपयदिनावधिम्, शोधय सर्वत्र देव्यपहारिणम्। किमकाण्ड एव स्वकीया वीरत्वकीर्त्तिमपनयसि। तेनोक्तम्-गम्यता तर्हि उपराज,विज्ञपयतामेतमर्थं राजा। तैरपि तथाकृते प्रत्यानायित शूद्रक क्षितीन्द्रेण। तेनापि स्वमुखेन विज्ञप्ति कृता-महाराज। दीयताम् अवधि, येन विचिनोमि प्रतिदिश देवीम्, तदपहारिणं च। राज्ञा दिनदशकमवधिर्दत्त शूद्रकगृहं च सारमेयद्वयमासीत्तत्सहचारि, नृपतिरवदत्-एतद्भषणयुगल प्रतिभूयमस्मत् पार्श्वे मुञ्च स्वयं पुनर्भवान् देव्युदन्तोपलब्धये हिण्डता महीमण्डलम्, सोऽप्यादेश प्रमाणमित्युदीर्यवान् प्रतस्थे। भूचक्रशक्रस्तत्कौलेयकद्वन्द्वशृङ्खलाबद्धं स्वसद्मपादयोरबध्नात्। शूद्रकस्तु परित पर्यटयमानोऽपि यावत् प्रस्तुतार्थस्य वार्त्तामात्रमपि क्वापि नोपलेभे तावदचिन्तयत्, अहो ममेदमपयश प्रादुरभूयदय-स्वामिद्रोही मध्ये भूत्वा देवीमुपाजीहरदिति। न च क्वापि सिद्धिशुद्धिर्लब्धा तस्यास्तन्मरणमेव मम शरणमिति विमृश्य दारुभिश्चितामरचयत्, ज्वलन चाज्वालयत्, यावन्मध्ये प्राविशत्, तावत्ताभ्या शुनका

भ्या देवताधिष्ठिताभ्या ज्ञातम्। यदस्मदधिपतिर्निधनापन्नो-ऽस्तीति । ततो दैवनशक्त्या-शृङ्खलानिर्गतौ गतौ तत्र. यत्रासीद् शूद्रकरचिता चिता। दशनै. काष्ठमाकृष्य शूद्रकं बहिर्निष्काशयामासतु। तेनाप्यकस्मात् तौ विलोक्य विस्मितमनसा निजगदे—रे पापीयांसौ !, किमेतत् कृत भवद्भ्याम् ?, यत् राज्ञो मनसि विश्वासनिरासो भविष्यति यत्प्रतिभुवावपि तेनात्मना सह नीनाविति । भषणाभ्यां बभाषे। धीरो भव, अस्मद्दर्शितां दिशमनुसर सरभसम्। का चिन्ता तवेत्यभिधाय पुरोभूय प्रस्थितौ, तेन सार्द्ध क्रमात् प्राप्तौ कोल्लापुरम्। तत्रस्थं महालक्ष्मीदेव्या भवनं प्रविष्टौ। तत्र शूद्रकस्तां देवीमभ्यर्च्य कुशस्रस्तरासीनस्त्रिरात्रमुपावसत्। अनुप्रत्यक्षीभूय भगवती महालक्ष्मीस्तमवोचत्-वत्स ! किं मृगयसे ? शूद्रकेणोक्तम्-स्वामिनि ! सातवाहनमहीपालमहिष्या शुद्धिम्। वद—काऽऽस्ते केनेयमपहृता ?। श्रीदेव्योदितं—सर्वान् यक्षराक्षसभूतादिदेवगणान् समील्य तत्प्रवृत्तिमह निवेदयिष्यामि. परं तेषां कृते त्वया बल्युपहारादि प्रगुणीकृत्य धार्यम्। यावच्च ते कणेहत्य बलात्मुपभुज्य प्रतीना न भवेयुस्तावत् त्वया विस्तरेणक्षणीया., तत शूद्रकस्तेषां स्वाज्ञा तर्पणार्थं कुण्डं विरचय्य होममारेभे। मिलिताः सकलदैवतगणा स्वां स्वां भुक्तिमग्निमुखेन जगृहे, तावत्तद्धोमधूम प्रसृमर. प्रापतत् स्थान यत्र मायासुरोऽभूत्। तेनापि परिज्ञातलक्ष्म्यादिष्टशूद्रकहोमस्वरूपेण प्रेषित स्वभ्राता कोल्लासुरनामा होमप्रत्यूहकरणाय। समागतश्च वियति कोल्लासुर. स्वसेनया सम । दृष्टश्च दैवतगणैश्चकितंभूतै ,ततो भषणौ दिव्यशक्त्या युयुधाते दैत्यै. सह। क्रमात् मारितौ च तौ दैत्यै । तत. शूद्रक स्वयं योद्धुं प्रावृतत्। क्रमेण दण्डव्यतिरिक्तप्रहरणान्तराभावाद्दण्डेनैव बहून् निधनं नीतवानसुरान्। ततो दक्षिणबाहुं दैत्यास्तस्य चिच्छिदु । पुनर्वामहस्तेन दण्डयुद्धमकरोत्तस्मिन्नपि छिन्ने दक्षिणाङ्घ्रिणोपात्तदण्डो योद्धुं लग्न । साऽपि दैत्यैर्लून तत्तो वामपद्धृतयष्टिरयुध्यत, तमपि क्रमादच्छिन्दन्नसुरा. । ततो दन्तैर्दण्डमादाय युयुधे ततस्तैर्मस्तकमच्छेदि। अथ कवन्धतृप्ता दैवगणास्त शूद्रक भूमिपतितशिरस्क दृष्ट्वा, अहो अस्मद्भुक्तिदातुर्वराकस्य किं जातमिति परितप्य योद्धु प्रवृत्ता । कोल्लासुरममारयन् तत श्रीदेव्या अमृतेनाभिषिच्य पुनरनुसंहिताङ्गश्चक्रे शूद्रक, प्रत्युज्जीवितश्च, सारमेयावपि पुनर्जीवितौ, देवी च प्रसन्ना सति तस्मै खड्गरत्न प्रददौ। अनेन त्वमजेयो भविष्यसीति च वर व्यतरत्। ततो महालक्ष्म्यादिदैवतगणै सह सातवाहनदेव्या शुद्ध्यर्थं समग्रमपि भुवनं परिभ्राम्यन् प्राप्त शूद्रको महार्णवम्। तत्र चैक वटतरुमुच्चस्तरं निरीक्ष्य विश्रमार्थमारुरोह, यावत्पश्यति तच्छाखाया लम्बमानमध शिरसं काष्ठकीलिकाप्रवेशितोर्ध्वपाद पुरुषमेकम्। स च मदोन्मादिष्णुर्मदग्रज प्रतिष्ठानाधिपते सातवाहनस्य महिषीं रिरंसुरपाहरत् सीतामिव दशवदन। सा च पतिव्रता तं नेच्छति, तदनु मया प्रोक्तोऽग्रजन्मा-न युज्यते परदारापहरण तव। " विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि, परस्त्रीषु रिरंसया। कृत्वा कुलक्षय प्राप, नरकं दशकन्धर ॥ १ ॥ " इत्यादिवचोभिर्निषिद्ध क्रुद्धो मगु मायासुरोऽस्यां वटशाखाया टङ्कित्वा मामित्थं व्यडम्बयत्, अहं च प्रसारितरसनसमुद्रान्तःसंचरन्मे जलचरादीन् व्यवहरन् प्राणयात्रां करोमि, इति श्रुत्वा शूद्रकोऽप्यभाणीत्, अह तस्यैव महीभृतो भृत्य शूद्रकनामा, तामेव देवीमन्वेष्टुमागतोऽस्मि। तेनोक्तमेव चेत्तर्हि मा मोचयत। यथाऽह सह भूत्वा तं दर्शयामि तां च देवीम्। तेन स्वस्थानं परितो जातुषं दुर्गं कारितमस्ति लक्ष निरन्तरं प्रज्वलदेवास्ते ततस्तदुल्लङ्घ्य मध्ये प्रविश्य तं निपात्य देवी प्रत्याहर्तव्या, इत्याकर्ण्य शूद्रकस्तेन कृपाणेन तत् काष्ठबन्धनानि छित्त्वा तं पुरोधाय दैवनगणपरिवृतः प्रस्थाय प्राकारमुल्लङ्घ्य तत्स्थानान्त. प्राविशत्। दैवनगणांश्चावलोक्य मायासुर स्वसैन्यं युद्धाय प्राहिणोत्। तस्मिन् पञ्चनामञ्चिते स्वय योद्धुमुपतस्थे। तत. क्रमेण शूद्रकस्तेनासिना तमवधीत्। ततो घण्टावलम्बविमानमारोप्य देवीं दैवतगणैस्सह प्रस्थित प्रतिष्ठानं प्रति, इतश्च दशदिनमवधीकृतमनागतमवगत्य जगत्याधिपतिर्व्याहृतवान् अहो न मम महादेवी, न च शूद्रकवीरो नापि च तौ रसनालिहौ, सर्व मयैव कुबुद्धिना विनाशितमिति शोचन् सपरिच्छद एव प्राणत्यागं चिकीर्षु पुराद्बहिश्चितामरचयच्चन्दनादिदारुभिः। यावत् क्षणाद्शुशुक्षणिं क्षेप्स्यति परिजनश्चितौ तावद्वर्द्धापक एको देवगणमध्यात् समयासीत्, व्यजिज्ञपत्सप्रश्रयम्। देव ! दिष्ट्या वर्द्धसे महादेव्यागमनेन। तन्निशम्य श्रवणरम्यं नरेश्वर. स्फुरदानन्दकन्दलितहृदय ऊर्द्धमवलोकयन्नालुलोके नभसि दैवतगणं शूद्रकं च। अयमपि विमानादुत्तीर्य राज्ञः पादावपतत्, महादेवी च। अभिनन्द सानन्दं मेदिनीन्दु शूद्रकम्, राज्यार्द्ध चैव तस्मै प्रादित। सोत्सवमन्तर्नगरं प्रविश्य श्रुतशूद्रकचारुचरितः सह महिष्या राज्यश्रियमुपबुभुजे महाभुज.। इत्थंकारं नानाविधान्यवदातानि सातक्षितिपालस्य कियन्ति नाम व्यावर्णयितु पार्यन्ते। स्थापिता चानेन गोदावरीसरित्तीरे महालक्ष्मी प्रासाद, अन्यान्यपि यथार्हं दैवतानि निवेशितानि तत्तत्स्थानेषु। राज्य चिर भुञ्जति जगतीजानावन्यदा कश्चिद्दारुभारहारक. कस्यचिद्वणिज वीथ्यौ प्रत्यहं चारूणि दारूण्याहृत्य विक्रीणीते स्म। दिनान्तरे च तस्मिन्ननुपेयुषि वणिजा तद्भगिनी पृष्टा भवद्भ्राताऽद्य नागतो मद्वीथ्याम्, तया बभाणे, श्रेष्ठिन् ? मत्सोदर्य स्वर्गिषु संप्रति प्रतिवसति। वणिग् अभाणीत्, कथमिव साऽवदत्कङ्कणबन्धादारभ्य विवाहप्रकरणे दिनचतुष्टय नर स्वर्गिष्विव वसन्तमात्मान मन्यते। तत्तदुत्सवालोकनकौतूहलात्तच्चाकर्ण्य राजाप्यचिन्तयत्, अहो अह किन्न स्वर्गिषु वसामि, चतुर्ष्वपि दिनेष्वनवरत विवाहोत्सवमय एव स्थास्यामीति विचार्य चातुर्वर्ण्यं यां यां कन्या युवतिं वा रूपशालिनीं पश्यति शृणोति स्म वा तां ता सोत्सव पर्यणैषीत्। एवं च भूयस्यनेहसि गच्छति लोकैश्चिन्तितमहो कथ भाव्यमनपत्यैरेव सर्ववर्णै. स्थेयम्, सर्वकन्यास्तावद्राज्ञैव विवोढा। योषिदभावे च कुत संततिरिति। एव प्रतिपन्नेषु लोकेषु विवाहवाटिकानाम्नि ग्रामे वास्तव्य एको द्विज. पीठजादेवीमाराध्य व्यजिज्ञपद्भगवति। विवाहकर्मास्मदपत्यानां कथं भावीति। देव्योक्तम्-त्वद्भवनेऽहमात्मानं कन्यारूपं कृत्वाऽवतरिष्यामि। यदा मां राजा प्रार्थयते तदा तस्मै दयाशेषमह लभिष्ये। तथैव राजा

तां रूपवतीं श्रुत्वा विप्रमयाचत । सोऽपि जगाद । दत्ता मया परं महाराज ! तत्रागत्य मत्कन्योद्वोढव्या । प्रतिपन्नं राज्ञा । गणकदत्ते लग्ने क्रमाद्विवाहाय प्रचलितः, प्राप्तश्च तं ग्रामं स्वकुल च नृपति , देशाचारानुरोधाद्वधूवरयोरन्तराले जवनिका दत्ता । अञ्जलीर्युगधरीलाजैर्नृपतिर्लग्नवेलायां तिरस्करणीमपनीय यावदन्योन्यस्य शिरसि लाजान् विकरीतुं प्रवृत्तौ तदनु किल हस्तलेपो भविष्यति तावद्राजा तां रौद्ररूपां राक्षसीमिवैक्षिष्ट। ते च लाजा कठिनपाषाणकर्करूपा राज्ञ शिरसि लगितुं लग्ना । क्षितिपतिरपि किमपि वैकृतमिदमिति विभावयन् पलायत। तावत्सा पृष्ठलग्नाश्मशकलानि वर्षन्ती प्राप्ता । ततो नरपतिर्नागह्रद प्राविशन्निजजन्मभूमिम् , तत्रैव च निधनमानशे इति। अद्यापि सा पीठजा देवी प्रतोल्या बहिरास्ते निजप्रासादस्था। शूद्रकोऽपि क्रमेण कालिकादेव्या स्वरूपं विकृत्य वाप्यां प्रविष्टया करुणरसितेन विप्रालभ्यत, निष्कामणार्थं प्रविशन् पतितस्य तस्य कृपाणस्य कूपद्वारे तिर्यक्पतनाच्छिन्नाङ्गः पञ्चतामानञ्च । महालक्ष्या हि वरवितरणावसरोऽस्मादेव कौक्षेयकादुपदिष्टास्मात्सिर्भवित्रीत्यादिष्टमासीत् । ततः शक्तिकुमारो राज्येऽभिषिक्तः सातवाहनायतौ, तदन्तरमद्यापि राजा न कश्चित्प्रतिष्ठाने प्रविशति वीरक्षेत्रे इति। अत्र च यदसंभाव्य कचिद्भवेत् तत्र परसमय एव मन्तव्यो हेतुः,यन्नासगतवाग् जनो जैनः । इति प्रतिष्ठानकल्प । सातवाहनचरित्रलेशश्च । विरचित श्रीजिनप्रभसूरिभिः । "चक्रे प्रतिष्ठानकल्प श्रीजिनप्रभसूरिभि । सातवाहनभूपस्य, कथाशश्च प्रसङ्गत ॥१॥" ती० ३३ कल्प । आ० चू० । (सातवाहन कथा 'दित्तचित्त' शब्दे चतुर्थभागे २५१८ पृष्ठे गता ॥)

साता–साता–स्त्री० । सुखरूपाया वेदनयाम्, प्रज्ञा० ३५ पद।

साताकम्म–सातकर्म्मन्–न० । बन्धदशानां दशमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ० । तच्च विच्छिन्नमिदानीं नोपलभ्यते स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सातागारव-सातगौरव-न०। सुखशीलतायाम्,सूत्र०१श्रु०८अ०।

सातागारवणिहुय–सातगौरवनिभृत–त्रि० । सुखशीलतार्थमनुद्युक्ते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सातासाता–सातासाता–स्त्री० । सुखदु खात्मिकायां वेदनायाम् , प्रज्ञा० ३५ पद ।

सातासायपरितावणमय–सातासातपरितापनमय–त्रि० । सातं च सुखमसात परितापनं च दु खजनितोपताप एतन्मयमेतद्वात्मकम् । सुखदुःखमये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

सातासोक्ख–सातसौख्य–न० । आह्लादरूपे सौख्ये, जी० ४ प्रति० ३ उ० ।

साति–साति–अविश्रम्भे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

स्वाति–स्त्री० । नक्षत्रभेदे, सू० प्र० १० पाहु० ।

सातिजोग–सातियोग–पुं० । मायाविशेषे, स० ।

सातिजोगजुत्त–सातियोगयुक्त–त्रि० । अशुभमनोयोगयुक्ते , आव० ४ अ० ।

सातिज्जणा–स्वादना–स्त्री० । कर्मबन्धास्वादे, नि०चू०१ उ०।

सातिणक्खत्त–स्वातिनक्षत्र–न०। वायुदेवताके नक्षत्रभेदे,स०।

स्वातिनक्षत्रं कतितारकम्—

सातिणक्खत्ते एगतारे पण्णत्ते। (सू०१X) स०१ समः ।

सातोवभोग–सातोपभोग–त्रि० । सातस्य—सातवेदनीयस्य कर्मणो भोगो यत्र तत्सातोपभोगम् । सुखस्थाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सादंडी–सादण्डी–स्त्री० । कन्दविशेषे, भ० ७ श० ३ उ० ।

सादि–सादि–त्रि० । आदियुक्ते, उत्त० १ अ० ।

सादिय–साद्विक–त्रि० । सहादिना-मायया वर्त्तत इति साद्विकम् । समाये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सादिवीससाकरण–सादिविश्रमाकरण–न० । रूपिद्रव्याणां द्व्यणुकादिप्रक्रमेण भेदसंघाताभ्यां स्कन्धत्वापत्तौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सादिव्व–सादिव्य–न० । देवताप्रयुक्ते अस्वाध्यायिके, प्रव० २५४ द्वार ।

सादीणगंगा–सादीनगङ्गा–स्त्री० । गोशालकपरिभाषिते सप्त महागङ्गात्मके परिमाणभेदे, भ० १५ श० ।

साधग–साधक–त्रि० । निर्वर्त्तके, प० सू० १ सूत्र ।

सापाणि–स्वकपाणि–पुं० । स्वहस्ते, 'सापाणिणा असिणा छिंदित्ता कमडलुं पक्खिविस्सए'। भ० १४ श० ८ उ० ।

साबर-शाबर-पुं० । शबररूपधारिशिवप्रोक्ते मन्त्रे,आ०म०१अ०।

साबाधा–साबाधा–स्त्री० । सह आबाधया । अनुदयकालेन सह वर्त्तमाने, प्रव० १ द्वार ।

साभरग साभरक-देशीवचनात् ,(बृ०१उ० १प्रक०) सुराष्ट्राया दक्षिणस्यां दिशि समुद्रद्वीपे प्रचलिते रूपके, द्वावुत्तरापथे एको रूपकः । बृ० ३ उ० ।

साभाविय–स्वाभाविक–त्रि० । स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविक । प्राकृते, सूत्र० १ अ० १ अ० १ उ० । अकैतवकृते, आ० १ श्रु० १६ अ० । आ० म० ।

साभिग्गह–साभिग्रह–त्रि०। अभिग्रहे, अभिगृह्यन्त इत्यभिग्रहाः प्रतिज्ञाविशेषाः, सहाभिग्रहेण वर्त्तन्त इति साभिग्रहाः । गृहीताभिग्रहेषु, । आव० ६ अ० । नि० चू० ।

साम–सामन्-न० । सर्वेषामपि जीवानां प्रिये,विशे०।आ०म०। प्रियवचनादौ,स्था०३ ठा० ३ उ० । ज्ञा०। विपा०। प्रेमोत्पादने विपा०१ अ०३ अ०। साम मित्ती । सर्वजीवेषु मैत्री साम भण्यते । विशे० । स्था० । सामनि, स्था० । "परस्परोपकाराणां दर्शनं १ गुणकीर्त्तनम् २। सम्बन्धस्य समाख्यानं ३-मायत्या सम्प्रकाशनम् ४॥१॥"अस्मिन्नेवं कृतेऽस्माकयोर्भविष्यतीत्यायःयोजनमायतिः सम्प्रकाशनमिति । 'वाचा पेशलया साधु तवाहमिति चार्पणम् । इति सामप्रयोगज्ञैः, साम पञ्चविधं स्मृतम् " ॥२॥ स्था० ३ ठा० ३ उ० । आ० म० ।

सामनिक्षेपः—

निक्खेवो साममिम य,चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि।
आगम नोआगमओ,नोआगमओ य सो तिविहो॥४८०॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते अ सकराईसुं।
भावम्मि दसविहं खलु, इच्छा मिच्छाइयं होइ॥४८१॥
इच्छा मिच्छा तहक्कारो, आवस्सिआ अ निसीहिआ।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा॥४८२॥
उवसंपया य काले, सामायारी भवे दसविहा उ।
एएसिं तु पयाणं, पत्तेयपरूवणं वुच्छं॥ ४८३॥
आयारे निक्खेवो, चउक्कओ दुविहो य होइ नायव्वो।
आगम नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो॥४८४॥
जाणयसरीरभविए, तव्वइरित्ते य नामणाईसुं।
भावम्मि दसविहाए, सामायारीइ आयरणा॥ ४८५॥

'निक्खेवो' इत्यादि गाथाः षट् प्रायः प्रतीतार्थाः। सूत्रव्याख्याने च काश्चिद्व्याख्यास्यन्ते, नवरं तद्व्यतिरिक्त च' ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं च। द्रव्यसाम-शर्करादिषु, आदिशब्दात्क्षीरादिपरिग्रहः, ततश्च शर्करात्क्षीरदधिगुडादीनां यत्परस्परमविरोधेन व्यवस्थानम्, भावे साम दशविधं 'खलु' अवधारणे, दशविधमेवेच्छामिथ्यादिकं सामाचारीस्वरूपमिति गम्यते, भावसामत्वं चास्य तात्त्विकस्य क्षायोपशमिकादिभावरूपत्वात् परस्परमविरोधेन चावस्थानात् तथा प्रत्येकप्ररूपणा वक्ष्ये इति प्रतिज्ञामभिधाय यत् प्ररूपणानभिधानं तदावश्यकनिर्युक्तौ कृतत्वात्, तद्गाथयोरेव चैककर्तृकत्वेनेह लिखितत्वाच्च दुष्टमिति भावनीयम्। सूत्रक्रमोल्लङ्घनं तु यथाविधं सर्वेषां सदा कृत्यत्वेन पूर्वापरभावस्याभावप्रदर्शनार्थम्। उत्त० २६ अ०। आ० म०।

सामं समं च सम्मं, इगमवि सामाइअस्स एगट्ठा।
नामं ठवणा दविए, भावम्मि अ तेसि निक्खेवो॥१०३०॥
महुरपरिणाम सामं, सम्म तुला सम्म खीरखंडजुई।
दोरे हारस्स चिई, इगमेआई तु दव्वम्मि॥ १०३१॥

इह सामं समं च सम्यक् 'इगमवि' देशीपदं क्वापि प्रदेशार्थे वर्तते, सम्पूर्णशब्दावयवमेवाधिकृत्याऽऽह सामायिकस्यैकार्थिकानि। अमीषां निक्षेपमुपदर्शयन्नाह-नामस्थापनाद्रव्येषु, भावे च नामादिविषय इत्यर्थः, तेषां—सामप्रभृतीनां निक्षेपः, कार्य इति गम्यते। स चायम्-नामसाम स्थापनासाम, द्रव्यसाम, भावसाम च। एवं समसम्यक्पदयोरपि द्रष्टव्यः। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एव, द्रव्यसामप्रभृतींश्च प्रतिपादयन्नाह-' महुरे' त्यादि,—इहौघतो मधुरपरिणामं द्रव्यं-शर्करादि द्रव्यसाम समं ' तुला ' इति भूतार्थालोचनायां समं तुलाद्रव्यं, सम्यक् क्षीरखण्डयुक्ति -क्षीरखण्डयोजनं द्रव्यसम्यगिति, तथा 'दोरे' इति सूत्रदवरके मौक्तिकान्येवाधिकृत्य भाविपर्यायापेक्षया, हारस्य-मुक्ताकलापस्य चयनं चितिः-प्रवेशनं द्रव्येक(ग)म्,अत एवाह-'एयाइं तु दव्वम्मि' त्ति-एतान्युदाहरणानि द्रव्यविषयाणीति गाथाद्वयार्थः।

साम्प्रतं भावसामादि प्रतिपादयन्नाह—

आओवमाइ परदु-क्खमकरणं १ रागदोसमज्झत्थं २।
नाणाइतिगं ३ तस्सा-इ पोअणं ४ भावसामाई १०३२

आत्मोपमया-आत्मोपमानेन परदुःखाकरणं भावसामेति गम्यते, इह चानुस्वारोऽलाक्षणिकः। एतदुक्तं भवति-आत्मनीव परदुःखाकरणपरिणामो भावसाम, तथा 'रागद्वेषमाध्यस्थ्यम्' अनासेवनया रागद्वेषमध्यवर्तित्वं समं, सर्वत्राऽऽत्मनस्तुल्यरूपेण वर्तनमित्यर्थः। तथा ज्ञानादित्रयमेकत्र सम्यगिति गम्यते, तथाहि—ज्ञानदर्शनचारित्रयोजनं सम्यगेव, मोक्षप्रसाधकत्वादिति भावना, तस्य इति सामादि सम्बध्यते,आत्मनि प्रोतनम्-आत्मनि प्रवेशनम् इदम् उच्यते, अत एवाऽऽह-'भावसामाई' भावसामादावेतान्युदाहरणानीति गाथार्थः। आव० १ अ०। आ० चू०। सामवेदे, विपा० १ श्रु०५अ०। सप्तमदेवलोकविमानभेदे, स०।

श्याम-त्रि०। कृष्णे, आचा० १ श्रु० २ अ ३ उ०। प्रज्ञा०। श्यामवर्णत्वाच्छ्यामम्। आकाशे, भ० २० श० २ उ०। परमाधार्मिकविशेषे, यो हि रज्जुहस्तप्रहारादिभिः शातनपातनादि करोति, वर्णनश्च श्याम इति। स० १५ सम०।

साडण पाडण तोडण, बंधण रज्जुलयप्पहारेहिं।
सामा णेरइयाणं, पवत्तयंती अपुण्णाणं॥ ७२॥

तथा अपुण्यवताम्-तीव्रासातोदये वर्त्तमानानां नारकाणां सामाख्याः परमाधार्मिकाः एतच्चैतच्च प्रवर्त्तयन्ति। तद्यथा-शातनम्—अङ्गोपाङ्गानां छेदनम्,तथा पातनं-निष्कुटादधोवज्रभूमौ प्रक्षेपः, तथा प्रतोदनम्—शूलादिना तोदन—व्यधन—सूच्यादिना नासिकादौ वेधः,तथा रज्ज्वादिना क्रूरकर्मकारिणं बध्नन्ति, तथा तादृग्विधलताप्रहारैस्ताडयन्त्येव दुःखोत्पादनं दारुणं शातनपातनवेधनबन्धनादिकं बहुविधं प्रवर्तयन्ति-व्यापारयन्तीति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रश्न०।

सामइय-सामयिक-पुं०। समयः—साङ्ख्यादीनां सिद्धान्तस्तदाश्रितः सामयिकः। समयसिद्धान्तिते,स्था० ३ ठा० ३ उ०। मगधजनपदे वसन्तपुरग्रामे स्वनामख्याते कुटुम्बिनि, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

सामइयसण्णा-सामयिकसंज्ञा-स्त्री० । सिद्धान्तसङ्केतितभाषायाम्, नि० चू० १ उ०।

सामंत-सामन्त-पुं०। न०। समीपे, स्था १०ठा०३उ०। ज्ञा०। नि०। संनिकृष्टे, चं० प्र० १ पाहु०। म०।

सामंतकिरिया-समन्तक्रिया-स्त्री० । सामन्तोपनिपातिन्यां क्रियायाम्,सा च द्विधा-देशसामन्तक्रिया, सर्वसामन्तक्रिया चेति। प्रेक्षकान् प्रति यत्रैकदेशेनागमो भवति असयताना सा देशसामन्तक्रिया। सर्वसामन्तक्रिया यत्र सर्वतः-समन्तात् प्रेक्षकाणामागमो भवति सा सर्वसामन्तक्रिया। आ० चू०४अ०।अथवा समन्तादनुपतन्ति पमत्तसंजयाणं अन्नपाणं प्रति अवगुरित्ते सपानिमा सत्ता विणस्सति। आव० ४अ०।

सामंतभद्दसूरि–सामन्तभद्रसूरि–पुं० । चन्द्रकुलमूलस्य चन्द्रसूरे शिष्ये, 'पूर्वगतश्रुतजलधिस्तस्मात् चन्द्रगुरोः सामन्तभद्रसूरीन्द्र' ।' ग० ३ अधि० ।

सामंतसिंह–सामन्तसिंह–पुं० । अणहिलपट्टननगरस्य सप्तमे चौलुक्यवंशीये राजनि, ती० २५ कल्प ।

सामंतोवनिवाइय–सामन्तोपनिपातिक–न० । अभिनयभेदे, रा० । स्था० ।

सामंतोवणिवाइया–सामन्तोपनिपातिकी–स्त्री० । समन्तात् सर्वत उपनिपातो जनमीलकस्तस्मिन् भवा सामन्तोपनिपातिकी । क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० । सामन्तोवनिवाइया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–जीवसामन्तोवनिवाइया, अजीवसामन्तोवनिवाइया । सामंतोवणिवाइया सम्मंतादणुपततीति सामंतोवणिवाइया सा दुविधा अजीवजीवसामन्तोवणिवाइया । जधा एगस्स सडो त जणो पलोएति । जधा जधा पलोएति, तहा तहा सो हरिसं गच्छति, एव अजीवं विरहकम्मादिसु । आ० चू० ४ अ० । आव० ।

सामकंति–श्यामकान्ति–त्रि० । श्यामा कान्तिर्यस्येति । श्यामले, प्रव० २६ द्वार ।

सामकरिल्ल–श्यामकरील–न० । प्रियङ्गो' प्रत्यग्रे कन्दले, अणु० ।

सामकोह–श्यामकोष्ठ–पुं० । नमिजिनसमकालिकैरवतजिने. "नमिजिणचंदो भरहे, एरवए सामकोट्ठजिणचंदो । एगसमएण आया, दस वि जिणा अस्सिणी जोगा'। ति० ।

सामग–श्यामक–त्रि० । (सॉमा) धान्ये, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । सूत्र० ।

सामग्ग–श्लिष्–धा० । आलिङ्गने, "श्लिषेः सामग्गावयास-परिअन्ताः" ॥ ८ । ४ । १६० ॥ इति श्लिष्यते सामग्गादेशः । सामग्गइ । श्लिष्यति । प्रा० ४ पाद ।

सामग्गिय–सामग्र्य–न० । समग्रतायाम्, 'तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ज सव्वट्ठेहिं समितं सया जए' त्ति । आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१ उ० । सामग्र्यं समग्रता यदुद्गमोत्पादनग्रहणैषणासंयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणैः सुपरिशुद्धस्य पिण्डस्योपादानं सम्पूर्णो भिक्षुभाव । आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

सामचंद्र–श्यामचन्द्र–पुं० । भरतजसुपार्श्वजिनसमकालिके ऐरवतजे तीर्थकरे, ति० ।

सामच्छ–सामर्थ्य–न० । "सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा" ॥ ८ । २ । २२ ॥ इति संयुक्तस्य च्छो वा । प्रा० । शक्तौ, वीर्ये, आ० चू० १ अ० ।

सामच्छण–देशी–पर्यालोचने, वृ० १ उ० ३ प्रक० । आ० म० । नि० चू० ।

सामज्ज–श्यामार्य–पुं० । स्वातिशिष्ये हारीतगोत्रे स्थविरे, "हारियगुत्तं साइं च वंदामो हारियं च सामज्जं ।" नं० । अयमेव प्रज्ञापनाकारकः कालिकाचार्य । जै० इ० ।

सामण–श्रामण–त्रि० । श्रमणानामय श्रामण । श्रमणसम्बन्धिनि, आव० १ अ० । आ० म० ।

सामणि–श्रामणि–पुं० । श्रमणस्यापत्य श्रामणिः । श्रमणेन परस्त्रियामुत्पादिते पुत्रे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सामणिय–श्रामणिक–त्रि० । श्रमणाना सम्बन्धिनि, दश० १ अ० ।

सामण्ण–श्रामण्य–न० । श्रमणस्य भाव श्रामण्यम् । सपूर्णसंयमे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । चारित्रे, उत्त० १८ अ० । दश० । षड्जीवनिकायरूपे श्रमणभावे, दश० ४ अ० । श्रमणत्वे, कल्प०३अधि० ६ क्षण । सकलयतिसमाचारे, दर्श० ५ तत्त्व । उत्त० । साधुत्वे, उत्त० २ अ० । व्रते, अवद्यहेतुत्यागो हि व्रतम् । रागद्वेषावेव तत्त्वतस्तद्धेतू उक्तनीतितश्च न क्षीण्य पर तन्मूलमिति । उत्त० २ अ० । (" सव्वुत्तमलाभाणं सामन्नं चेव लाभमन्नंति । " 'संथार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५३ पृष्ठे व्याख्यातम् ।) " श्रामण्यस्य फलं मोक्षः प्रधानमितरत्पुनः । तत्त्वतोऽफलमेवेह, ज्ञेय कृषिपलालवत् ॥ १ ॥" पं० सू० ४ सूत्र ।

निक्षेप –

सामण्णपुव्वगस्स उ, निक्खेवो होइ नामनिप्फन्नो ।
सामण्णस्स चउक्को, तेरसगो पुव्वयस्स भवे ॥१५२॥

श्राम्यतीति श्रमण, श्राम्यति–तपस्यति तद्भावः श्रामण्यं, तस्य पूर्वं–कारणं श्रामण्यपूर्वं तदेव श्रामण्यपूर्वकमिति संज्ञायां कन् । श्रामण्यकारणं च धृतिः, तन्मूलत्वात्तस्य, तत्प्रतिपादकं चेदमध्ययनमिति भावार्थ । अतः श्रामण्यपूर्वकस्य तु निक्षेपो भवति नामनिष्पन्न, कोऽसौ ?–अन्यस्याश्रुतत्वात् श्रामण्यपूर्वकमित्ययमेव, तुशब्दः सामान्यविशेषवन्नाम विशेषणार्थ, श्रामण्यपूर्वकमिति सामान्यम्, श्रामण्य पूर्वं चेति विशेष, तथा चाह–श्रामण्यस्य चतुष्कस्त्रयोदशक पूर्वकस्य भवेन्निक्षेप इति गाथार्थः । दश० २ अ० । समानस्य भाव सामान्यम् । साम्ये, विशे० । (सामण्णनिपयो विस्तर णाण शब्दे चतुर्थभागे १६४० पृष्ठे गत. ।) अविकल्पायां सत्तायामत्र सामान्यम् । विशे० । ('तच्च जाइ' शब्दे चतुर्थभागे १४३७ पृष्ठे प्रतिपादितम् ।) अत्यन्तव्यावृत्ताना पिण्डानां यत कारणाद् अन्योऽन्यस्वरूपानुगम प्रतीयते तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतु सामान्यम् । तच्च द्विविधम्, परमपरं च । तत्र परं सत्ता, भावो, महासामान्यमिति चोच्यते, द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्याऽपेक्षया महाविषयत्वात् । अपरसामान्य च द्रव्यत्वादि एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते । तथाहि–द्रव्यत्व नवसु द्रव्येषु वर्त्तमानत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वात् विशेष, तत कर्मधारये सामान्यविशेष इति । एव द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपर, तदपेक्षया घटत्वादिकम् । एव चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्व सामान्य, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेष । एव गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकम्, तदपेक्षया नीलत्वादिकम् । एव पञ्चसु कर्मसु वर्तनात्

कर्मत्वं सामान्यम् , द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेष.। एवं कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेणत्वादिकं ज्ञेयम्। तत्र सत्ता-द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कथा युक्तथा ?, इति चेद् , उच्यते—न द्रव्यं सत्ता, द्रव्यादन्येत्यर्थ' , एकद्रव्यवत्त्वाद्-एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्त्तमानत्वादित्यर्थः , द्रव्यत्ववत्-यथा द्रव्यत्वम्-नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्त्तमान द्रव्यं न भवति , किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव , एवं सत्ताऽपि वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं वा द्रव्यम् , अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम् । तत्राऽद्रव्यं द्रव्यम्-आकाश', कालो, दिगाऽऽत्मा,मन', परमाणव , अनेकद्रव्यं तु—द्व्यणुकादस्कन्धाः , एकद्रव्य तु-द्रव्यमेव न भवति, एकद्रव्यवती च सत्ता , इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वाद् न द्रव्यम् । एव न गुण -सत्ता , गुणेषु भावाद् गुणत्ववत् । यदि हि सत्ता गुण स्याद् न तर्हि गुणेषु वर्त्तेत, निर्गुणत्वाद् गुणानाम् । वर्तते च गुणेषु सत्ता, सन् गुण इति प्रतीते । तथा सत्ता-कर्म , कर्मसु भावात् कर्मत्ववत् । यदि च सत्ता कर्म स्याद् न तर्हि कर्मसु वर्त्तेत ; निष्कर्मत्वात् कर्मणाम् , वर्तते च कर्मसु भावः, सत् कर्मेति -प्रतीते' , तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता । स्या० । जात्यादिकल्पनारहिते वस्तुमात्रे , विशे० । वस्तुनः समाने परिमाणे, स्था० १ ठा० । एकप्रकारे, आ० चू० १ अ० । द्रव्यत्वजीवत्वाजीवत्वादिके, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । विशे० । आ० चू० । आ० म० । (सामान्यलक्षणम् अर्पितम् , अनर्पितं ' लक्खण ' शब्दे षष्ठभागे गतम् ।)

तत्र सामान्यं द्विविधम्—परम् , अपरं च । परं च सत्ताख्यम् , तच्च त्रिषु द्रव्यगुणकर्मसु पदार्थेष्वनुवृत्तिप्रत्ययस्यैव कारणत्वात् सामान्यमेव न विशेष । अपरं तु द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिलक्षणम् , तच्च स्वाश्रयेषु द्रव्यादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यमित्युच्यते, स्वाश्रयस्य च विजातीयेभ्यो व्यावृत्तप्रत्ययहेतुतया विशेषणात् सामान्यमपि सद्विशेषसंज्ञां लभते तथाहि-द्रव्यादिषु 'अगुण' इत्यादिका येयं व्यावृत्तबुद्धिरुत्पद्यते तां प्रत्येषामेव हेतुत्व नान्यस्य न ह्यगुणत्वादिकमपरमस्ति । अपेक्षाभेदाच्चैकस्य सामान्यविशेषभावो न विरुद्ध्यते । यद्वा-सामान्यरूपता मुख्यतो विशेषसंज्ञा तूपचारतो विशेषाणामिव द्रव्यत्वादीनामपि व्यावृत्तबुद्धिनिबन्धनत्वात् सामान्यस्य चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यनुगताकारप्रत्ययग्राह्यत्वादध्यक्षत. प्रसिद्धिः । तथा-अनुमानाच्च । तथाहि-व्यावृत्तेषु खण्डमुण्डशावलेयादिष्वनुगताकार' प्रत्ययस्तद्व्यतिरिक्तानुगताकारनिमित्तनिबन्धनः , व्यावृत्तेष्वनुगताकार प्रत्ययत्वात् । यो यो व्यावृत्तेष्वनुगताकार. प्रत्यय स तद्व्यतिरिक्तानुगतनिबन्धनो यथा चर्मचीरकम्बलेषु नीलप्रत्यय , तथा चायं शावलेयादिषु गौर्गौरिति प्रत्ययस्तस्मात्तद्व्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धन इति । तथाहि—नेदमनुस्यूताकारज्ञानं पिण्डेषु निर्हेतुकं कादाचित्कत्वात् । न शावलेयादिपिण्डनिबन्धनं तेषा व्यावृत्तरूपत्वात् अस्य चाऽनुगतरूपत्वात् । यदि चेदं पिण्डमात्रप्रभवं स्यात् तदा शावलेयादिष्विव कर्कादिष्वपि ' गौर्गौ. ' इत्युल्लेखेनोत्पद्येत पिण्डरूपतायास्तेष्वप्यविशेषात् । अथवा—इह दोहाद्यर्थक्रियानिबन्धनेष्वेव तेषु ' गौर्गौ ' इति प्रत्ययहेतुता न तदर्थक्रियाभावेऽपि वत्सादौ गोबुद्धिप्रवृत्तेः, महिष्यादौ तत्सद्भावेऽपि चाप्रवृत्तेः । न च दुष्टकारणप्रभवत्वं विशदं, किंचार्थक्रियाया अपि प्रतिव्यक्तिभेदे कुतोऽनुगताकारज्ञानहेतुता अभेदे सिद्धमनुगतनिमित्तनिबन्धनत्वमस्य ज्ञानस्य । नचास्य बाधितत्वं सर्वदा सर्वत्र सर्वप्रमातृणां शावलेयादिष्वनुस्यूतप्रत्ययोत्पत्तेः । नच दुष्टकारणप्रभवत्वं, विशदनेत्राणामप्यनुस्यूताकारस्याक्षजप्रत्यये प्रतिभासनात् । नच संशयविपर्ययानध्यवसायरूपतयाऽस्योत्पत्तिः तद्वैपरीत्येनास्य प्रतिभासनात् । नचैवभूतस्यापि प्रत्ययस्याप्रमाणता स्वलक्षणविषयस्यापि तस्याऽप्रमाणताप्रसक्ते. । न च प्रतीयमानस्याप्यनुगतप्रत्ययस्यापलाप' शक्यते कर्तुं सर्वप्रत्ययापलापप्रसक्ते । तस्मादनुगतप्रत्ययनिमित्तत्वात् सामान्यसद्भाव. सिद्ध. । अत्र प्रतिविधीयते—यत्तावदुक्तमध्यक्षप्रत्ययादेव सामान्यं प्रतीयत इति तदयुक्तम् , शावलेयादिव्यतिरेकेणापरस्यानुगताकारस्याक्षजप्रत्यये सामान्यस्याप्रतिभासनात् , नह्यक्षव्यापारेण शावलेयादिषु व्यवस्थित सूत्रकण्ठे गुण इव भिन्नमनुगताकारं सामान्यं केनचिल्लक्ष्यते 'गौ.' 'गौ.' इति विकल्पज्ञानेनापि त एव समानाकारा. शावलेयादयो बहिर्व्यवस्थिता अवसीयन्ते अन्तश्च शब्दोल्लेख., न पुनस्तद्भिन्नमपरं गोत्वं, तत्र निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वाऽध्यक्षेण सामान्य व्यवस्थापयितु शक्यम् । यदपि कार्यभूतानुगतप्रत्ययेनानुमानतः सामान्यव्यवस्थापनं तदप्यसङ्गतं तस्य प्रत्ययहेतुत्वेन प्रमाणतो निश्चयात् । तथाहि-अनुगताकारज्ञानस्य निमित्तस्यासंभवात्केनचित् निमित्तेन भाव्यं, इत्येतावन्मात्रं सिद्ध्यति । तच्च सामान्यमन्यद्वेति न निश्चयो भवताम् । कार्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां च कारणत्वावधारण,पिण्डानां च विज्ञानजन्मनि ततः सामर्थ्यं विशेषप्रत्यये सिद्धमिति । इहापि तेषामेव सामर्थ्यप्रकल्पनं, न सामान्यस्य तस्य क्वचिदपि सामर्थ्यानवधारणात् । तथाहि-पिण्डसद्भावे अनुगताकारं ज्ञानमुपलभ्यते तदभावे न इति वरमध्यक्षप्रत्ययावसेयानां तेषामेव तन्निमित्तता कल्पनीया । यदपि ' पिण्डानामविशिष्टत्वात् प्रतिनियमो न स्यात् तज्जन्मनि ' इत्यभिधान, तदप्यसङ्गतम्, यतो यथा पिण्डादिरूपतयाऽविशेषेऽपि तन्तूनामेव पटजन्मनि हेतुत्वं न कपालादीनां, तथा शावलेयादीनामेव ' गौ. ' ' गो. ' इति ज्ञानोत्पादने सामर्थ्यं भविष्यति, न कयाचिद् युक्त्या न कर्कादीनाम् । यथा वा गुडूच्या एव ज्वरादिशमने सामर्थ्यं प्रतीयते न दध्यादे' वस्तुरूपतयाऽविशेषेऽपि तथा प्रकृतेऽपि भविष्यतीति न पर्यनुयोगो युक्त । किञ्च-सामान्यं परेण मूर्त्तमभ्युपगम्यते अमूर्त्तं वा ? । यद्यमूर्त्तं, न सामान्यं स्यात् रूपवत् , अथ मूर्त्तं, तथा च न सामान्यं घटादिवत् । तथा यदि अनंश सामान्यमभ्युपगम्यते, तर्हि न सामान्यमनंशत्वात् परमाणुवत् । सांशत्वेऽपि न सामान्य घटवत् । किं च—यदि पिण्डेभ्यो भिन्नं सामान्यं भेदेनैवोपलभ्यते घटादिभ्य इव पट । न चैकान्ततो व्यक्तिभ्य. सामान्यस्य भेदे 'गोर्गोत्वम्' इति व्यपदेशोपपत्ति. संबन्धाभावात् , समवायस्य तत्संबन्धत्वेन निषेत्स्यमानत्वात् व्यक्तिभ्यस्तस्याभेदे अन्यत्राननुयायित्वान्न सामान्यरूपता पिण्डस्वरूपवत् । न च भेदेन व्यक्तिभ्यस्तस्यानुपलक्षणं

भिन्नप्रतिभासविषयत्वादसिद्धं, बुद्धिभेदस्य व्यक्तिनिमित्तत्वेन प्रतिपादनात्। किंच यदि सामान्यबुद्धिर्व्यक्तिभिन्नसामान्यनिबन्धना भवेत् तदा व्यक्त्यग्रहणेऽपि भवेत्, अश्वबुद्धिवद्गोपिण्डाग्रहणेन च कदाचित्तथा भवेत्, ततो न व्यक्तिव्यतिरिक्तसामान्यसद्भाव। अथ आधारप्रतिपत्तिमन्तरेणाधेयप्रतिपत्तिर्न भवतीति तद्ग्रहे एव, तद्ग्रहो नाभावाद् अन्यथा कुण्डाद्याधारप्रतिपत्तिमन्तरेण बदराधेयस्य अप्रतिपत्तेः' तस्याऽप्यभाव एव स्यात्, न बदराऽऽदे. प्रतिनियताधारमन्तरेणापि स्वरूपेणोपलब्धेर्नाभाव. गोत्वादेस्तु प्रतिनियतपिण्डोपलम्भमन्तरेण स्वरूपेण कदाचनाप्यनुपलब्धेरभाव एव। तेन तदग्रहे तद्बुध्यभावादित्यत्र सामान्याभिव्यञ्जकपिण्डग्रहणे एव तदभिव्यङ्ग्यसामान्यबुद्धिसद्भावात् प्रकाशग्रहण एव गृह्यमाणघटादिसत्त्ववत्, सामान्यस्यापि सत्त्वमिति यदुक्त तन्निरस्त भवति। सम्म० ३ काण्ड। ('णेगम' शब्दे चतुर्थभागे २१५७ पृष्ठे सामान्यस्यैवैकस्य सत्त्वम्।) सामान्यविशेषौ वक्ष्यमाणलक्षणावादिर्यस्य सदसदाद्यनेकान्तस्य तत्तदात्मक तत् स्वरूपं वस्त्विति। एव च केवलस्य, सामान्यस्य विशेषस्य तदुभयस्य वा स्वतन्त्रस्य प्रमाणविषयत्वं प्रतिक्षिप्त भवति। अथैतदाकर्ण्य कर्णाम्रेडिपीडिता इव यौगा. सगिरन्ते। नन्वहो जैनाः! केनेदं सुहृदा कर्णपुटविटङ्कितमकारि युष्माकम्, स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ न प्रमाणभूमिरिति। सर्वगत हि सामान्यं गोत्वादि, तद्विपरीतास्तु शबलशाबलेयबाहुलेयादयो विशेषा, तत. कथमेषामैक्यमाकर्णयितुमपि सकर्णै. शक्यम्? तथा च सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्, यावेवं तावेवम्, यथा पाथ पावकौ, तथा चैतौ, तस्मात्तथा, ततो न सामान्यविशेषात्मकत्व घटादेर्घटते। तदेतत्परमप्रणयपरायणप्रणयिनीप्रियालापप्रायं वासवेश्मान्तरेव राजते। तथाहि—यदिदं सर्वगतत्वं सामान्यस्य न्यरूपि, तत् किं व्यक्तिसर्वगतत्वम्?, सर्वसर्वगतत्वं वा स्वीकृत्य?, यदि प्राक्तनम्, तदा तर्णकोत्पाददेशे तदाविद्यमानं वर्णनीयम् अन्यथा व्यक्तिसर्वगतत्वव्याघातात्। तत्रोत्पन्नायां च व्यक्तौ कुतस्तत् तत्र भवेत्? किं व्यक्त्या सहैवोत्पद्येत व्यक्त्यन्तराद्वा समागच्छेत्?। नाद्य. पक्ष.। नित्यत्वेनास्य स्वीकृतत्वात्। द्वितीयपक्षे तु ततस्तदागच्छेत् पूर्वव्यक्तिं परित्यज्यागच्छेत्?, अपरित्यज्य वा?। प्राचिकविकल्पे प्राक्तनव्यक्तेर्नि.सामान्यताऽऽपत्ति.। द्वितीयपक्षे तु किं व्यक्त्या सहैवागच्छेत्? केनचिदंशेन वा?। आद्ये शाबलेयेऽपि बाहुलेयोऽयमिति प्रतीति. स्यात्। द्वितीयपक्षे तु सामान्यस्य सांशताऽऽपत्ति., सांशत्वे चास्य व्यक्तिवदनित्यत्वप्राप्ति। अथ विचित्रा वस्तूनां शक्ति. 'यथा मन्त्रादिसंस्कृतमस्त्रमुदरस्थं व्याधिविशेष छिनत्ति, नोदरम्, तद्वदिहापि सामान्यस्येदृशी शक्ति., यथा—स्वहेतुभ्य. समुत्पद्यमानेऽर्थे पूर्वस्थानादचलदेव तत्र वर्त्तत इति चेत्, स्यादेतदेवम्, यद्येकान्तेनैक्य सामान्यस्य प्रमाणेन प्रसिद्धं स्यात्, नचैवम्, तस्यैव तत्त्वतो विचारयितुमुपक्रान्तत्वात्। तथाहि—यद्यस्यैकान्तैक्य कीर्त्यते तदा भिन्नदेशकालासु व्यक्तिषु वृत्तिर्न स्यादिति। यदि तु स्वभाववादालम्बनमात्रेणैवेयमुत्पाद्यते, तदा किममुना सामान्येन?, किंतरां वाऽन्येनापि भूयसा वस्तुना परिकल्पितेन? पकैव काचित् पद्मनि धीयमाना व्यक्तिरभ्युपगम्यताम्। सा हि तथास्वभावत्वात् तथा तथा प्रथिष्यत इति लाभाभिलाषुकस्य मूलोच्छेदः। तन्न व्यक्तिसर्वगतत्वमेतस्य संक्रान्तिगोचरीभावमभजत्। नापि सर्वसर्वगतत्वम्, खण्डमुण्डादिव्यक्त्यन्तरालेऽपि तदुपलम्भप्रसङ्गात्। अव्यक्तत्वात्तत्र तस्यानुपलम्भ इति चेत्, व्यक्तिस्वात्मनोऽप्यनुपलम्भोऽत एव तत्रास्तु। अन्तराले व्यक्त्यात्मन सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्, असत्त्वादेवानुपलम्भे सामान्यस्यापि सोऽसत्त्वादेव तत्रास्तु विशेषाभावात्। किञ्च—प्रथमव्यक्तिसमाकलनवेलायां तदभिव्यक्तस्य सामान्यस्य सर्वात्मनाऽभिव्यक्तिर्जातैव, अन्यथा व्यक्ताव्यक्तस्वभावभेदेनानेकत्वानुषङ्गादसामान्यस्वरूपताऽऽपत्तिः। तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य खव्यक्त्यन्तराले सामान्यस्यानुपलम्भादसत्त्वम्, व्यक्तिस्वात्मवत्। अपि च—अव्यक्तत्वात् तत्र तस्यानुपलम्भस्तदा सिध्येद्, यदि व्यक्त्यभिव्यङ्ग्यता सामान्यस्य सिद्धा स्यात्, न चैवम्—नित्यैकरूपस्यास्याभिव्यक्तेरेवानुपपत्ते.। तथाहि—व्यक्तिरुपकार कञ्चित्कुर्वती सामान्यमभिव्यञ्जयेत्, इतरथा वा। कुर्वती चेत्, कोऽनया तस्योपकार. क्रियते? तज्ज्ञानोत्पादनयोग्यता चेत्, सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा विधीयेत। भिन्ना चेत्, तत्करणे सामान्यस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्यानभिव्यक्ति.। अभिन्ना चेत्, तत्करणे सामान्यमेव कृतं स्यात्, तथा चानित्यत्वप्राप्ति। तज्ज्ञान चेदुपकार. तर्हि कथं सामान्यस्य सिद्धि?, अनुगतज्ञानस्य व्यक्तिभ्य एव प्रादुर्भावात्। तत्सहायस्यास्यैवात्र व्यापार इत्यपि श्रद्धामात्रम्; यतो यदि घटोत्पत्तौ दण्डाद्युपेतकुम्भकारवद् व्यक्त्युपेतं सामान्यमनुगतज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियमाणं प्रतीयेत, तदा स्यादेतत्, तच्च नास्त्येव। न किञ्चित् कुर्वत्याश्च व्यञ्जकत्वे विजातीयव्यक्तेरपि व्यञ्जकत्वप्रसङ्ग। तन्नाव्यक्तत्वात् तत्र तस्यानुपलम्भ', किन्त्वसत्त्वादेव, इति न सर्वसर्वगतमप्येतद् साधितुमर्हति, किन्तु-प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद्विभिन्नम्, कथञ्चित्तदात्मकत्वाद्, विसदृशपरिणामवत्। यथैव हि काचित् व्यक्तिरुपलभ्यमानाद् व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनाद्व्यवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति, तेनायं समानो गौ, सोऽनेन समान इति प्रतीति.। नच व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातोऽस्य, रूपादेरप्यत एव गुणरूपताव्याघातप्रसङ्गात्। कथञ्चिद् व्यतिरेकस्तु रूपादेरिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव। ननु प्रथमव्यक्तिदर्शनवेलायां कथं न समानप्रत्ययोत्पत्ति.?, तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्, तवापि विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तिस्तदानीं कस्मान्न स्याद्?, वैसदृश्यस्यापि भावात्। परापेक्षत्वात् तस्याप्रसङ्गोऽन्यत्रापि तुल्य। समानप्रत्ययोऽपि हि परापेक्ष., परापेक्षामन्तरेण क्वचित् कदाचिदप्यभावात्, अणुमहत्त्वादिप्रत्ययवत्। विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्याद् विपरीतधर्माणो भवितुमर्हन्ति, यतो यदि सामान्यं सर्वगत सिद्ध भवेत् तदा तेषामव्यापकत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यास स्यात्, न चैवम्-सामान्यस्य विशेषाणां च कथञ्चित्परस्पराव्यतिरेकेणानेकरूपतयाऽवस्थितत्वात्। विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तत्वाद्धि

सामान्यमप्यनेकमिष्यते, सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरे-कात्तेऽप्येकरूपा इति। एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम्। रत्ना० ५ परि०। सम्म०।

सामान्यविशेषयोरन्योन्यानुविद्धस्वरूपत्वदर्शनम्—

सामण्णम्मि विसेसो, विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो।
दव्वपरिणाममन्नं, दाएइ तयं च णियमेइ ॥ १ ॥

सामान्येऽस्तीत्येतस्मिन् विशेषो द्रव्यमित्ययं,तथा विशेषपक्षे च घटादावस्तीत्येतस्य वचनस्य नाम-नामवतोरभेदात्सत्तासामान्यस्य विनिवेश:—प्रदर्शनं द्रव्यपरिणतिमन्यां सत्ताख्यस्य द्रव्यस्य पृथिव्याख्या परिणतिमन्यां सत्तारूपापरित्यागेनैव वृत्तं दर्शयति—विशेषाभावे सामान्यस्याप्यन्यथाभावप्रसक्तेः, यद् यदात्मकं तत्तदभावे न भवति, घटाद्यन्वयमविशेषाभावे मृद्वद्विशेषात्मकं च सामान्यमिति तदभावे तस्याप्यभावः, तथा तक च विशेषम्, द्वितीयपक्षे सामान्यात्मनि नियमयति विशेष सामान्यात्मक एव तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गाद् यत सामान्यात्मकस्य विशेषस्य सामान्याभावे घटादेरिव मृदभावे न भावो युक्त।

(सामान्यविशेषयोरेकान्तभेदं वदतो दोषाऽऽपत्तिप्रकटनम्) न च विशेषाद् व्यतिरिक्तं सामान्यमेकान्ततः, तस्माद्वा विशेषाश्चियमतो भिन्न इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अध्यक्षादिप्रमाणविरोधादित्याह—

एगंतणिव्विसेसं, एगंत विसेसियं च वयमाणो।
दव्वस्स पज्जवे प-ज्जवा य दवियं णियत्तेइ ॥ २ ॥

एकान्तेन निर्गता विशेषा यस्मात्सामान्यात् तद्विशेषविकलं सामान्यं वदन् तद् द्रव्यस्य पर्यायानृजुत्वादीन् निवर्तयति ऋजु-वक्रतापर्यायाङ्गुल्यादिद्रव्यस्याध्यक्षादिप्रमाणप्रतीयमानस्य विनिवृत्तिप्रसक्तेरध्यक्षादिप्रमाणबाधापत्तिः तथैकान्तविशेषसामान्यरहितं वदन् पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यो द्रव्यं निवर्तयति एव चाङ्गुल्यादिद्रव्यव्यतिरिक्त ऋजु-वक्रत्वादिविशेषस्य प्रत्यक्षस्याद्यवगतस्य निवृत्तिप्रसक्ति। नचाबाधितप्रमाणविषयीकृतस्य तथाभूतस्य तस्य निवृत्तिर्युक्ता, सर्वभावनिवृत्तिप्रसक्ते अन्याभावाभ्युपगमस्यापि तन्निबन्धनत्वात् तदप्रतीतस्याप्यभावे सर्वव्यवहाराभाव इति प्रतिपादितम। अत्राह-'सामण्णम्मि' इत्यादिकाण्डं नारब्धव्यम् मुक्तार्थत्वात् यतो न तावदनेन वस्त्वनेकान्तात्मकं प्रतिपाद्यते 'एगदवियम्मि ' (प्र० का० गा० ३१) इत्यादिना ' दव्वट्ठिसमूहसिद्ध' (प्र० का० गा०२७) इत्यादिना च तस्य प्रतिपादितत्वात्, तथा-'उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं।' (प्र० का० गा० २) इत्यनेन लक्षणद्वारेण सर्वस्य सत अनेकान्तात्मकत्व प्रदर्शितमेव अर्थप्रमाणविषयवाक्यनिरूपणार्थमिदं प्रस्तूयते तदपि न सम्यक्, 'सवियप्पणिवियप्पंमि' (प्र० का० गा० ३५) इत्यादिना तस्यापि निरूपितत्वात्, वाक्यस्य च वस्तुत्वात् तन्निरूपणे तस्यापि निरूपितत्वात् न तन्निरूपणार्थमप्येतत् पुनरुक्तम् एवमेतत् किन्तु प्रमेयप्राधान्येन तद्ग्राहकस्य प्रमाणस्यापि निरूपणमित्यतत्प्रदर्शनद्वारेण तत्प्रतिपादकवाक्यावतार प्राग् विहित, इह त्वविद्यमानप्रमेयस्य प्रमाणस्य प्रमाणत्वानभ्युपगमात् प्रमाणनिरूपणद्वारेण प्रमेयनिरूपणमिति प्रदर्शनद्वारेणैतद्वाक्यावतारः इत्यदोष। यद्वा—अनेकान्तपक्षोक्तदोषपरिहारोऽनेकधा व्यवस्थाप्यत इति न कश्चिद्दोष। 'सामण्णम्मी ' त्यादिसूत्रसन्दर्भविरचने।

सामान्यविशेषाऽनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकं वचनमाप्तस्य इतरस्येत्येतदेव दर्शयन्नाह—

पच्चुप्पन्नं भावं, विगयभविस्सेहि जं समाणेइ।
एयं पडुच्च वयणं, दव्वंतरणिस्सियं जं च ॥ ३ ॥

प्रत्युत्पन्नं भाव वस्तु वर्त्तमानपरिणामं विगतभविष्यद्भ्यां पर्यायाभ्यां यत्समानरूपतया नयति—प्रतिपादयति वच. तत्प्रतीत्य वचन-समीहितार्थवचनं, सर्वज्ञवचनमित्यर्थ., अन्यज्ञानाप्तवचनम्। ननु वर्त्तमानपर्यायस्य प्रागपि सद्भावे कारकव्यापारवैफल्यं क्रियागुणव्यपदेशाना च प्रागप्युपलम्भप्रसङ्गश्च,उत्तरकाल च सद्भावे विनाशहेतुव्यापारनैरर्थक्यम् उपलब्ध्यादिप्रसङ्गश्च। ततो यदैवोपलम्भादि कार्यकृत्तदैव, न, प्राग् न पश्चात् तदर्थक्रियालक्षणसत्त्वविरहे वस्तुनोऽभावात् असदेतत्,तस्य प्रागसत्वे दलस्येत्ययोगत् न चात्मादि द्रव्य विज्ञानादिपर्यायोत्पत्तौ दलं तस्य निष्पन्नत्वात् न च निष्पन्नस्यैव पुनर्निष्पत्ति. अनवस्थाप्रसङ्गात् न च तत्र विद्यमान एव ज्ञानादिकार्योत्पत्तिस्तत्रेति सम्बन्धाभावतोऽव्यव्यपदेशाभावप्रसङ्गात्,समवायसम्बन्धप्रकल्पनाया तस्य सर्वत्राविशेषात्तद्वदाकाशादावपि तत् स्यात्। अथात्मादि द्रव्यमेव तेनाकारेणोत्पद्यत इति नादलोत्पत्ति' कार्यस्य भवत्येवमुत्पत्तिः किं त्वात्मद्रव्यं पूर्वमप्यासीत् पश्चादपि भविष्यति, तत्सर्वावस्थासु तादात्म्यप्रतीतेरन्यथा पूर्वोत्तरावस्थयोस्तत्प्रतिभासो न भवेत्। न चैकत्वप्रतिभासो भ्रान्तो बाधकाभावे भ्रान्त्यसिद्धे। नचार्थक्रियाविरोधो नित्यत्वे बाधक., अनित्यत्वे एव तस्य बाधकत्वेन प्रतिपादनात्। नचोत्पादविनाशयोरपि तत्र प्रतिपत्तावेकान्ततो नित्यत्वमेव, परिणामनित्यतया तस्य नित्यत्वात्; अन्यथा खरविषाणवत् तस्याभावप्रसङ्गात्। न चैव तस्य विकारित्वप्रसङ्गो दोषाय, अभीष्टत्वात् न च नित्यत्वविरोधस्तथैव तत्तत्त्वप्रतीतेः न च तस्य तथात्वप्रतिपत्तिर्भ्रान्ति बाधकाभावादित्युक्तत्वात्। अथ ज्ञानपर्यायादात्मनो व्यतिरेके भेदेनोपलम्भ. स्यादव्यतिरेके पर्यायमात्रं द्रव्यमात्रं वा भवेत् व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षस्तु विरोधाघ्रात, अनुभयपक्षस्त्वन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधेनापरविधानादसङ्गत, असदेतत्-व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षस्याभ्युपगमात् नच व्यतिरेकपक्षभावी तद्यतिरेकेणोपलब्धिप्रसङ्गो दोष, एकज्ञानव्यतिरेकेण ज्ञानान्तरेऽपि तस्य प्रतीतेर्व्यतिरेकेणोपलम्भस्य सद्भावात्। अव्यतिरेकोऽपि ज्ञानात्मकत्वेन तस्य प्रतीते, नच व्यतिरेकाव्यतिरेकयोरन्योन्यपरिहारेणावस्थानाद् विरोधोऽबाधितप्रमाणविषयीकृते वस्तुतत्त्वे विरोधासंभवात्; अन्यथा संशयज्ञानस्यैकानेकरूपस्य वैशेषिकेण ग्राह्यग्राहकसंवित्तिरूपस्य बुद्ध्यात्मनश्चैकानेकस्वभावस्य सौगतेन कथ प्रतिपादनमुपपत्तिमद् भवेत्, यदि प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुतत्त्वे विरोध. समवच्छेतेत्यादि पूर्वमेव प्रतिपादितम्, वर्त्तमानपर्यायस्यान्वयिद्रव्यद्वारेण त्रिकालास्तित्वप्रतिपादक प्रतीत्य वचनमिति सिद्ध 'परमाण्वारम्भकद्व्यात् कार्यद्रव्य द्व्यणुकादि 'द्रव्यान्तर ' वैशेषिकाभिप्रायतस्तेन नि.सृत संबन्धं

कारणं परमाणवादि यत्प्रतिपादयति तदपि प्रतीत्य वचनम्, तथाहि—व्यणुकरूपा ये परमाणव प्रादुर्भूता द्व्यणुकतया प्रच्युता. परमाणुरूपतया अविचलितस्वरूपा अभ्युपगन्तव्या, अन्यथा तद्रूपतयाऽनुत्पादिप्राक्तनरूपताऽपगमो न स्यात् परमाणवस्थावत् प्राक्तनरूपानपगमे वा नोत्तररूपतयोत्पत्तिस्तदवस्थावत्। परमाणुरूपतयाऽपि विनाशोत्पत्त्यभ्युपगमे पूर्वोत्तरावस्थयो निराधारविगमप्रादुर्भावप्रसक्ति' न च तदवस्थयोरेवाधारत्वम्, तयोस्तदानीमसत्त्वात्। न च 'पूर्वोत्तरावस्थयोर्द्रव्यविनाशप्रादुर्भावयो' कारणस्याऽविनाशप्रादुर्भावौ ततस्तस्यैकान्ततो हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदप्रसक्ते। न च कारणाश्रितस्य कार्यद्रव्यस्योत्पत्तेर्नायं दोष, तयोर्युतसिद्धि कुण्डबदरवत् पृथगुपलब्धिप्रसक्ते। अयुतसिद्धावपि कार्योत्पत्तौ कारणस्याप्युत्पत्तिप्रसक्ति', अन्यथाऽयुतसिद्धयनुपपत्ते। अथायुताश्रयसमवायित्वमयुतसिद्धि, सा च कार्योत्पत्तौ कारणानुत्पत्तावपि भवत्येव न समवायासिद्धावयुतसिद्ध्यसिद्धे. नचायुतसिद्धित एव समवायसिद्धि, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्ते। नचाध्यक्षत' समवायसिद्धेर्नायं दोष',तन्त्वात्मकपटप्रतिभासमन्तरेणाध्यक्षप्रतिपत्तावपरसमवायाप्रतीते –'इह तन्तुषु पट 'इत्यत्रापि प्रत्यये 'इह तन्तुषु' इति प्रतिपत्तिस्तन्त्वालम्बना 'पट' इति प्रतिपत्ति. पटालम्बनासंवेद्यत इति नापरसमवायप्रतिभास। न च 'इह तन्तुषु पट' इति लौकिकी प्रतिपत्ति' ' किं तु 'पटे तन्तव'' इति। नचान्यथाभूतप्रतिपत्त्याऽन्यथाभूतार्थव्यवस्था। नचानुमानादपि समवायप्रसिद्धिः,प्रत्यक्षाभावे तत्पूर्वकस्य तस्य तत्राऽप्रवृत्ते। अनुमानपूर्वकस्य तु तस्यानवस्थादिदोषाघ्रातत्वात् तत्राप्रवृत्तिरित्यनेकश प्रतिपादित न पुनरुच्यत इति व्यवस्थितमेतत्। तथाभूतवस्तुप्रतिपादकमेवापूर्ववचनमेकान्तप्रतिपादकं तु नासवचनम् ॥ अथवा-एकद्रव्यादन्यत् द्रव्य द्रव्यान्तरं तस्मिन्नि सूतमवद्ध संवद्ध यत्तदपि प्रतीत्य वचनम्, यथा-दीर्घतरमङ्गुलिद्रव्यमपेक्ष्य ह्रस्वतरमङ्गुष्ठकद्रव्यमिति वच। ह्रस्वदीर्घादिकस्तु स्वधार एव द्रव्यान्तरविषयाभिव्यङ्ग्य. पितेव पुत्रादिना ॥ यद्वा—गोत्वसदृशपरिणतियुक्तात् शावलेयद्रव्याद् तत्सदृशपरिणतियुक्त बाहुलेयादि द्रव्यान्तरम्, तस्मिन्नाश्रित—संबद्धं वाचकत्वेन 'गौ.' इ ति यद्वचन तदपि प्रतीत्य वचनम्। न पुन केवलतिर्यक्सामान्य-विशेष-तदुभयादिप्रतिपादकमसद्भूतार्थप्रतिपादकत्वादुन्मत्तवाक्यवत्। ननु प्रत्युत्पन्नपर्यायस्य स्वकालवदतीतानागतकालयो सत्त्वे अतीतानागतकालयोर्वर्त्तमानकालताऽऽपत्ते अन्यथा तद्रूपतया तयोस्तत्सत्त्वासम्भवात् त्रैकाल्यायोगात् तस्य तद्विशिष्टतानुपपत्ते।

तथाभूतार्थप्रतिपादकं वचनमप्रतीत्य वचनमेवेत्याशङ्क्याह-

दव्वं जहा परिणयं,तहेव अत्थि त्ति तम्मि समयम्मि।
विगयभविस्सेहिं उप्प-ज्जवेहिं भयणा विभयणा वा॥४॥

द्रव्यम्-चेतनाचेतन,यथा तदाकारार्थग्रहणरूपतया,घटादिरूपतया वा परिणतं वर्तमानसमये तथैवास्ति। विगतभाविष्यद्भिस्तु पर्यायैर्भजना-कथञ्चित् तैस्तस्यैकत्व,विभजना-विगता भजना नानात्वं,कथञ्चिद्वाशब्दस्य कथंचिदर्थस्य तत् तत: प्रत्युत्पन्नपर्यायस्य विगतभविष्यद्भ्यां न सर्वथैकत्वमिति कथ तत्प्रतिपादकवचस्याप्रतीत्यैव वचनतेति भाव.।

ननु घटादेरर्थस्य कै पर्यायैरस्तित्वमनास्तित्व चेत्याह—

परपज्जवेहि असरिस-गमेहि णियमेण णिच्चमवि नत्थि।
सरिसेहिं वि वंजणओ, अत्थि ण पुणऽत्थपज्जाए॥५॥

वर्त्तमानपर्यायव्यतिरिक्तभूतभविष्यत्पर्याया. परपर्यायास्तैर्विसदृशगमैर्विजातीयज्ञानग्राह्यैर्नियमेन—निश्चयेन नित्य-सर्वदा नास्ति तद् द्रव्यम्,तैरपि तदा तस्य सद्भावे प्रत्यासंकीर्णताप्रसक्त। सदृशैस्तु व्यञ्जनतः सामान्यधर्मैः सद्द्रव्यपृथिवीत्वादिभि. विशेषात्मकैश्च शब्दप्रतिपाद्यैरस्ति सामान्यविशेषात्मकस्य शब्दवाच्यत्वात्। सामान्यमात्रस्य तद्वाच्यशब्दादप्रवृत्तिप्रसक्ते, अर्थक्रियासमर्थस्य तेनानुक्तत्वात्,सामान्यमात्रस्य च तदुक्तस्यार्थक्रियाया अनिवर्त्तकत्वात्,विशेषमन्तरेण सामान्यस्यासम्भवात्। सामान्यप्रतिपादनद्वारेण लक्षणया विशेषप्रतिपादनमपि शब्दात् न संभवति,क्रमप्रतिपत्तेरसंवेदनात्,विशेषाणा त्वानन्त्यात्, संकेतासम्भवत. शब्दावाच्यत्वम् परस्परव्यावृत्तसामान्यविशेषयोरप्यवाच्यत्वमुभयदोषप्रसङ्गात्। तत उभयात्मकवस्तुगुणप्रधानभावेन शब्देनाभिधीयत इति सदृशैर्व्यञ्जनतोऽस्तीत्युपपन्न,न पुनर्नैवार्थपर्यायैः ऋजुसूत्राभिमतार्थपर्यायेण तदस्ति अन्योन्यव्यावृत्तवस्तुस्वलक्षणग्राहकत्वात् तस्य। अयं चार्थ पूर्वसूत्र एव प्रदर्शित इत्यन्यथा गाथासूत्र व्याख्येयम्—अन्यवस्तुगता पर्याया विसदृशसदृशतया द्विप्रकारा', तत्र विसदृशैर्विवक्षितो घटादिर्नास्ति। सदृशैस्तु कैश्चिद्युक्तवदस्ति, कैश्चिन्नेति तात्पर्यार्थ.।

ननु प्रत्युत्पन्नपर्यायेण भावस्यास्तित्वनियमे एकान्तवादापत्तिरित्याह—

पच्चुपण्णम्मि विपज्जयम्मि भयणागइं पडइ दव्वं।
जं एगगुणाईया, अणंतकप्पागमाविसेसा॥६॥

वर्त्तमानेऽपि परिणामे स्वपररूपतया—सदसदात्मकतां अधोमध्योर्ध्वादिरूपेण च भेदाऽभेदात्मकतां च भजनागतिमासादयति द्रव्यं, यत् एकगुणकृष्णत्वादयोऽनन्तप्रकाराश्च गुणविशेषा तेषा च मध्ये केनचिद् गुणविशेषेण युक्त तत्, तथाहि-कृष्णं द्रव्यं तद् द्रव्यान्तरेण तुल्यमाधिकं ऊन वा भवेत् प्रकारान्तराभावात् प्रथमपक्षे सर्वथा तुल्यत्वे तदेकतापत्तिः, उत्तरपक्षयोः संख्येयादिभागगुणवृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानकप्रतिपत्तिरवश्यंभाविनी। स्यादेतत्-पुद्गलद्रव्यस्य तादृग्भूतापरपुद्गलद्रव्यापेक्षया अनेकान्तरूपता युक्ता प्रत्युत्पन्ने त्वात्मद्रव्यपर्याये कथमनेकान्तरूपता ? न आत्मपर्यायस्यापि ज्ञानादेस्तत्तद्ग्राह्यार्थापेक्षयाऽनेकान्तरूपता पुद्गलवन्न विरुध्यते, तथा द्रव्यकषाययोगोपयोगज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यप्रभेदात्मकत्वादात्मनः पुद्गलवदनेकान्तरूपता आर्षे प्रतिपादितैव। 'कइविहे णं भंते ! आया पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविहे,तं जहा—दविए आया' (भगवती सू० श० १२, उ० १०।) इत्यादि।

इतश्चानेकान्तात्मकता आत्मन. प्रतिपत्तव्येत्याह—

कोवं उप्पायंतो, पुरिसो जीवस्स कारओ होई।

तत्तो वि य भइयव्वो, परम्मि सयमेव भइयव्वो ॥ ७ ॥

कोपपरिणतिमुदयं पुरुषो जीवस्य परभवप्रादुर्भावे निवर्त्तको भवति, तन्निमित्तस्य कर्मण उपादानात् । कोपपरिणाम समासाद्यमानश्च पुरुष. तत परभवजीवाद्विभजनीयो भिन्नो व्यवस्थापनीय',कार्यकारणयोर्मृत्पिण्डघटवत्कथंचिद्भेदात् ,अन्यथा कार्यकारणभावाऽभावप्रसङ्गात् न चासौ ततो भिन्न एव परस्मिन्भवे स्वयमेव पुरुषो भजनीयः, आत्मरूपतया अभेदेन व्यवस्थाप्यत इति भाव.. घटाद्याकारपरिणतमृद्द्रव्यवत्कदाचिद्भिन्न , कदाचिद्भिन्न इत्यनेकान्तः । यद्वा-कोपपरिणतिमन्यस्मिन् जीव उत्पादयन्पुरुषः कारको भवति । ततोऽसौ कोपकारकत्वेन विभजनीय', कोपपरिणतियोग्यजीवे कारकोऽन्यथाऽकारक इति ।

द्रव्यं गुणादिभ्योऽनन्यत् तेऽपि द्रव्यादनन्य एवेत्येतदनेकान्तं सूचयमाणा आहु.—

रूपरसगन्धफासा, असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा ।
तम्हा दव्वाणुगया, गुण त्ति ते केइ इच्छंति ॥ ८ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शा असमानग्रहणलक्षणा यस्मात्ततो द्रव्याश्रिता गुणा इति केचन वैशेषिकाद्या स्वयूथ्या वा सिद्धान्तानभिज्ञा अभ्युपगच्छन्ति । तथाहि-गुणा द्रव्याद् भिन्ना', भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात् भिन्नलक्षणत्वाच्च, स्तम्भात् कुम्भवत् । नचासिद्धो हेतु , द्रव्यस्य 'यमहमद्राक्ष तमेव स्पृशामि' इत्यनुसंधानाध्यक्षग्राह्यत्वाद्रूपादीना, च प्रतिनियतेन्द्रियप्रभवप्रत्ययावसेयत्वात् 'दार्शन स्पार्शन च द्रव्यम्' इत्याद्यभिधानादसमानग्रहणता द्रव्यगुणयो. सिद्धा । तथा-विभिन्नलक्षणत्वमपि "क्रियावत् गुणवद् समवायिकारणं द्रव्यम्" (वैशेषिकद० १-१-१५) " द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष ' (वैशेषिक द० १-१-१६)इति वचनात् सिद्धम् । सम्म० ३ काण्ड । बहूना प्राणिना साधारणे, पञ्चा० ६ विव० ।

सामण्णओविणिवाइय-सामान्यतोविनिपातित-त्रि० । अभि-[illegible], आ० म० १ अ० । ज० ।

सामण्णकिरिया-सामान्यक्रिया-स्त्री० । अस्ति भवति विद्यते इत्यादिरूपाया क्रियायाम् , आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

सामण्णगुण-सामान्यगुण-पुं० । सर्वद्रव्यवर्तिषु गुणेषु, अथ रूपरसगन्धस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणास्तथा संख्यापरिमा (णानि) च पृथक्त्व संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते सामान्यगुणा' । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सामण्णगुणपसंसा-सामान्यगुणप्रशंसा-स्त्री० । लोके लोकोत्तराविरुद्धनिरवद्याचरणशौर्यादिगुणस्तुतौ. पञ्चा० ६ विव० ।

सामण्णग्गहण-सामान्यग्रहण-न० । सामान्येन वस्तु स्वेव गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम् । दर्शने, सम्म० २ काण्ड ।

सामण्णछल-सामान्यच्छल-न० । न्यायप्रसिद्धे च्छलभेदे, [illegible] अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्ग कश्चिद् वदति, संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति । तच्छलवादी-ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते-यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद् भवति तर्हि व्रात्येऽपि सा भवेत् । व्रात्येऽपि ब्राह्मण एवेति औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् । स्या० ।

सामण्णणय-सामान्यनय-पुं० । नामात्मादिपदार्थानामेकत्वस्याभिमन्तरि सामान्यवादिनि नये,स्या० । तदुक्तम्-"निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वे न , विशेषास्तद्वदेव हि ॥ १ ॥ " ततः सिद्धे सामान्यविशेषाऽऽत्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य परमब्रह्मण. प्रमाणविषयत्वम् ? । यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम् , तदप्येतेनैवापास्तं बोद्धव्यम् , पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतो. कालात्ययापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्व साधनमुक्तम् , तदपि साधनाऽऽभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायाल,प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वत ,परतो वा ? । न तावत् स्वत., घटपटमुकुटशकटादीना स्वत. प्रतिभासमानत्वेनासिद्धे. । परत. प्रतिभासमानत्व च-परं विना नोपपद्यते, इति । यच्च परमब्रह्मविवर्तवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम् , तदप्यन्वेत्रन्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबध्नात्येव । नच घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात् । ततो न किञ्चिदेतदपि,अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः । किञ्च-पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायभूता. परस्पर भिन्नाः, अभिन्ना वा ? । भेदे-द्वैतसिद्धि. । अभेदे त्वेकरूपताऽऽपत्ति. । तत् कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति ? । यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धि. स्यात् , तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रत. कथ न सिद्धि' ? । तदुक्तम्—"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् , द्वैतं स्याद् हेतुसाध्ययो. । हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ? ॥ १ ॥ " " पुरुष एवेदं सर्वम् " इत्यादे , सर्वं वै खल्विद ब्रह्म" इत्यादेश्चागमादपि न तत्सिद्धि., तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैत प्रति प्रामाण्यासम्भवात् , वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात् । तदुक्तम्—'कर्मद्वैतं फलद्वैतं , लोकद्वैतं विरुध्यते । विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्, बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ १ ॥' तत. कथमागमादपि तत्सिद्धि ? । ततो न पुरुषाऽद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषय. । इति सुव्यवस्थित प्रपञ्च. । स्या० ।

सामण्णणिसेह-सामान्यनिषेध-पुं० । निर्विशेषतया निवारणायाम् , पञ्चा० ११ विव० ।

सामण्णपरिणाम-श्रामण्यपरिपाक-पुं० । सर्वचारित्रपरिपाके , औ० ।

सामण्णपुव्विया-श्रामण्यपूर्विका-स्त्री० । श्रामणस्य पूर्वं कारण श्रामण्यपूर्वं तदस्य श्रामण्यपूर्वकमिति संज्ञाया कन् । श्रामण्यकारणं च धृतिस्तन्मूल.चास्य तत्प्रतिपादकं चेदमध्ययनम् , दश० । दशवैकालिकस्य द्वितीयेऽध्ययने, दश० ।

तत्र सूत्रम्—

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीदंतो, संकप्पस्स वसंगओ ? ॥ १ ॥

एवं च संहितादिक्रमेण प्रतिसूत्रं व्याख्याने ग्रन्थगौरवमिति तत्परिज्ञाननिबन्धनं भावार्थमात्रमुच्यते—तत्रापि कल्यहं कदाऽहं कथमहमित्याद्यदृश्यपाठान्तरपरित्यागेन दृश्य व्याख्यायते—कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं य. कामान्न निवारयति ?, कथ—केन प्रकारेण, नु क्षेपे, यथा कथं नु स राजा यो न रक्षति ?, कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते, एवं कथं नु स कुर्यात् श्रामण्य—श्रमणभावं यः कामान् न निवारयति—न प्रतिषेधते ?, किमिति न करोति ?, तत्र "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीना प्रायो दर्शनम्" इति वचनात्, कारणमाह—पदे पदे विषीदन् संकल्पस्य वशङ्गत कामानिवारणेनेन्द्रियाद्यपराधपदापेक्षया पदे पदे विषीदनात्सङ्कल्पस्य वशङ्गतत्वात् (अप्रशस्ताध्यवसाय संकल्प) इति सूत्रसमासार्थ । दश० २ अ० । (कामादीनां सरूपं स्वस्वस्थाने ।)

आयावयाहि चय सोगमल्लं,
 कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं,
 एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥

संयमगेहान्मनसोऽनिर्गमनार्थम् आतापय-आतापनां कुरु 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' मिति न्यायाद् यथानुरूपमूनोदरतादेरपि विधि', अनेनात्मसमुत्थदोषपरिहारमाह-तथा त्यज सौकुमार्य—परित्यज सुकुमारत्वम्, अनेन तूभयसमुत्थदोषपरिहारम्, तथाहि-सौकुमार्यात्कामेच्छा प्रवर्त्तते योषिता च प्रार्थनीयो भवति, एवमुभयासेवनेन कामान्प्राग्निरूपितस्वरूपान् क्राम—उल्लङ्घय, यतस्तै' क्रान्तैः क्रान्तमेव दु ख भवति, इति शेष, कामनिबन्धनत्वाद् दु खस्य । खुशब्दोऽवधारणे । अधुनाऽऽन्तरकामक्रमणविधिमाह-छिन्धि द्वेषं व्यपनय राग सम्यग्ज्ञानबलेन विपाकालोचनादिना, क्व ?, कामेष्विति गम्यते । शब्दादयो हि विषया एव कामा इति कृत्वा । एवं कृते फलमाह—एवम्—अनेन प्रकारेण प्रवर्त्तमान, किम् ? सुखमस्यास्तीति सुखी भविष्यसि, क्व ?-संपराये-संसारे, यावदपवर्ग न प्राप्स्यसि तावत्सुखी भविष्यसि, संपराये-परीषहोपसर्गसंग्राम इत्यन्ये । कृतं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थ ।

किं च संयमगेहान्मनस एवानिर्गमनार्थमिदं चिन्तयेत् यदुत—

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥ ६ ॥

प्रस्कन्दति-अध्यवस्यन्ति ज्वलितम्-ज्वालामालाकुलं न मुर्मुरादिरूपम्, कम् ?, ज्योतिषम्-अग्निं-धूमकेतुम्-धूमचिह्न धूमध्वजं नोल्कादिरूपं दुरासदम्-दु खेनासाद्यतेऽभिभूयत इति दुरासदस्त, दुरभिभवमित्यर्थ । चशब्दलोपात्-नचेच्छन्ति-नच वाञ्छन्ति वान्त भोक्तुं परित्यक्तमादातु, विषमितिगम्यते । के ? नागा इति गम्यते । किं विशिष्टा इत्याह-कुले जाता –समुत्पन्ना अगन्धने । नागानां हि भेदद्वयं गन्धनाश्च, अगन्धनाश्च । तत्र गन्धणाणामज्झे डसिए मंतेहिं आकड्ढिया त विस वणमुहाओ आवियंति, अगंधणाओ अवि मरणमज्झवस्संति ण य वंतमावयंति । उदाहरणं द्रुमपुष्पिकायामुक्तमेव । उपसंहारस्त्वेव भावनीय -यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यभिमानमात्रादपि जीवितं परित्यजन्ति, न च वान्तं भुञ्जते तत्कथमहं जिनवचनाभिज्ञो विपाकदारुणान् विषयान् वान्तान् भोक्ष्ये ? इति सूत्रार्थ. । अस्मिन्नेवार्थे द्वितीयमुदाहरणम्-"जया किल अरिट्ठणेमी पव्वइओ तया रहणेमी तस्स जेट्ठो भाउओ राइमई उवयरइ, जइ णाम एसा ममं इच्छिज्जा, सा वि भगवई निव्विण्णकामभोगा, णायं च तीए-जहा एसो मम अज्झोववण्णो, अण्णया य तीए महुघयसंजुत्ता पेज्जा पीया, रहनेमी आगओ, मयणफलं मुहे काऊण य तीए वंतं, भणिय च—एयं पेज्जं पियाहि । तेण भणियं—कहं वन्तं पिज्जइ ?, तीए भणिओ-जइ न पिज्जइ वंत तओ अह पि अरिट्ठनेमिसामिणा वंता कहं पिविउमिच्छसि ?।

तथा ह्यधिकृतार्थसंवादेवाह—

धिरत्थु ते जसो कामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ ७ ॥

तत्र राजीमति किलैवमुक्तवती-धिगस्तु-धिक्शब्द कुत्सायाम्, अस्तु—भवतु ते—तव, पौरुषमिति गम्यते, हे-यशस्कामिन्निति सासूयं क्षत्रियामन्त्रणम् । अथवा-अकारप्रश्लेषादयशस्कामिन् धिगस्तु तव, यस्त्वं जीवितकारणात्-असंयमजीवितहेतो वान्तमिच्छस्यापातु परित्यक्तां भगवता अभिलषसि भोक्तुम्, अत उत्क्रान्तमर्यादस्य श्रेयस्ते मरणं भवेत् शोभनतरं तव मरणं, न पुनरिदमकार्यासेवनमिति सूत्रार्थ । तओ धम्मो से कहिओ, संबुद्धो पव्वइओ य । राईमई वि तं बोहेऊणं पव्वइया । पच्छा अन्नया कयाइ सो रहनेमी बारवईए भिक्खं हिंडिऊणं सामिसगासमागच्छन्तो वासवद्दलएण अब्भाहओ एक्क गुहं अणुप्पविट्ठो । राईमई वि सामिणो वदणाए गया । वंदित्ता पडिस्सयमागच्छइ । अतरे य वरिसिउमाढत्तो, तिताय (भिन्ना) तमेव गुहमणुप्पविट्ठा—जत्थ सो रहनेमी, वत्थाणि य पविसारियाणि, ताहे तीए अंगपच्चंग दिट्ठ. सो रहणेमी तीए अज्झोववण्णो, दिट्ठो अणाए इंगियागारकुसलाए य णाओ असो भावो एयस्स ।

ततोऽसाविदमवोचत—

अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥ ८ ॥
जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारीओ ।
वायाविद्धु व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ ९ ॥
तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ १० ॥
एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥ ११ ॥ त्ति बेमि ।

अहं च भोगराज्ञ —उग्रसेनस्य, दुहितेति गम्यते, त्वं च भवसि अन्धकवृष्णे.-समुद्रविजयस्य, सुत इति गम्यते, अतो मा एकैकप्रधानकुले आवां गन्धनौ भूव. उक्तं च-' जह

म सप्पतुल्ला होमु त्ति भणियं होइ ' अतः संयमं निभृ-
तश्चर—सर्वदु खनिवारणं क्रियाकलापमव्याक्षिप्त कुर्विति
सूत्रार्थः । किञ्च-यदि त्व करिष्यसि भावम्—अभिप्रायं,
प्रार्थनामित्यर्थः, क ?—या या द्रक्ष्यसि नारी.—स्त्रिय., ता-
सु तासु एताः शोभना एताश्चाशोभना अतः सेवे का—
ममित्येवंभूत भावं यदि करिष्यसि ततो वाताविद्ध इव
हडः—वातप्रेरित इवाबद्धमूलो वनस्पतिविशेष अस्थिता-
त्मा भविष्यसि, सकलदु खक्षयनिबन्धनेषु संयमगुणेष्व—
(प्रति) बद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इत-
श्चेतश्च पर्यटिष्यसीति सूत्रार्थः । तस्याः—राजीमत्या.
असौ—रथनेमि. वचनम्—अनन्तरोदितं श्रुत्वा—आ—
कर्ण्य, किंविशिष्टायास्तस्या. ?—संयताया.—प्रव्रजिताया
इत्यर्थ , किंविशिष्टं वचनम् । सुभाषितम्—संवेगनिबन्ध-
नम् , अङ्कुशेन यथा नागो—हस्ती एव धर्मे संप्रतिपादि-
त.—धर्मे स्थापित इत्यर्थ , केन ? अङ्कुशतुल्येन वचनेन ।
'अङ्कुसेन जहा नागो' त्ति-एत्थ उदाहरणं-वसतपुरं नयरं,
तत्थ एगा इब्भण्हुया नदीए ण्हाइ, अन्नो य तरुणो त
दट्ठूण भणइ-' सुण्हाय ते पुच्छइ, एसा नइपवरसोहिय-
तरङ्गा । एए य नदीरुक्खा, अह च पाएसु ते पडिओ ॥ १ ॥
ताहे सा पडिभणइ-' सुहया होउ नई ते, चिर च जीवतु जे
नईरुक्खा । सुण्हाय पुच्छयाणं, घत्तीहामो पिय काउ
॥ १ ॥ ' सो य तीसे घरं वा दारं वा ण याणइ, तीसे य
बितिज्जियाणि चेडरूवाणि रुक्खे पलोयताणि अच्छति,
तेण ताणं पुप्फफलाणि सुबहूणि दिण्णाणि पुच्छियाणि—
य-का एसा ?, ताणि भणन्ति—अमुगस्स सुण्हा, सो य
तीए विरहं न लहति, तओ परिव्वाइयं ओलग्गिउमाढ—
त्तो, भिक्खा दिन्ना । सा तुट्ठा भणइ—किं करेमि ओल-
गाए फलं ?, तेण भणिया—अमुगस्स सुण्ह मम कए
भणाहि, तीए गन्तूणं भणिया, अमुगो ते एवं गुणजाती-
ओ पुच्छई, ताए रुट्ठाए पउमगाणि धोवन्तीए मसिलि-
त्तएण हत्थेण पिट्ठीए आहया, पचगुलिय उट्ठियं, अवदारेण
निच्छूढा, गया तस्स साहइ—णामं पि सा तव ण सुणेइ,
तेण णाय—कालपचमीए अवदारेण अइगंतव्वं । अइगओ
य, असोगवणियाए मिलियाणि सुत्ताणि य जाव प-
स्सावणागएण ससुरेण दिट्ठाणि, तेण णायं—ण एस म-
म पुत्तो, पारदारिओ कोइ । पच्छा पायाओ तेण णेउरं
गहिय, चेइयं च तीए सो भणिओ—णास लहु, आवइका-
ले साहेज्जं करेज्जासि, इयरी गतूण भत्तार भणइ—एत्थ
घम्मो असोयवणियं वच्चामो, गंतूण सुत्ताणि, खणमेत्त
सुविऊणं भत्तारं उट्ठवेइ भणइ य—एय तुज्झ कुलाणुरूवं ?
जं णं मम पायाओ ससुरो णेउर कड्ढइ, सो भणइ—सुव-
सु पभाए लब्भिहिति । पभाए, थेरेणं सिट्ठ, सो य रुट्ठो भण-
इ विवरीओ थेरो त्ति । थेरो भणइ—मया दिट्ठो अन्नो पु-
रिसो, विवाए जाए सा भणइ—अहं अप्पाणं सोहयामि
एवं करेहि. तओ ण्हाया कयबलिकम्मा गया जक्खघरं ।
तस्स जक्खस्स अतंरणं गच्छतो जो कारगारी सो ल-
ग्गइ, अकारगारी नीसरइ, तओ सो विडपियतमो पिसा-
यरूवं काऊण णिरंतरं घण कठे गिण्हइ, तओ सा ग-
तूण तं जक्ख भणइ—जो मम मायापिउदिन्नओ भत्तारं

तं च पिसायं मोत्तूण जइ अन्नं पुरिस जाणामि तो मे
तुमं जाणिज्जासि त्ति, जक्खो विलक्खो चिंतेइ—एस य
(पास) केरिसाइं धुत्ती मंतेइ ?, अहग पि वंचओ तीए,
णत्थि सइत्तणं खु धुत्तीए, जाव जक्खो चिंतेइ ताव
सा णिप्फिडया । तओ सो थेरो सव्वलोगेण विलक्खी
कओ, हीलिओ य तओ थेरस्स तीए अधिईए णिद्दा ण-
ट्ठा, रन्नो य कन्ने गयं, रन्ना सद्दाविऊण अतेउरवालओ
कओ, अभिसेक्क च हत्थिरयण वासघरस्स हेट्ठा बद्धं
अच्छइ । इओ य एगा देवी हत्थिमिंठे आसत्ता , णवरं
हत्था चोवालयाओ हत्थेण अवतारेइ, पभाए पडिणेइ
एवं वच्चइ कालो । अन्नया य एगाए रयणीए चिरस्स
आगया हत्थिमिंठेण रुट्ठेण हत्थिसंकलाए आहया । सा,
भणइ-एयारिसो तारिसा य ण सुव्वइ, मा मज्झ रूस-
ह, तं थेरो पिच्छइ, चिंतियं य णेण-एवं पि रक्खिज्ज—
माणीओ एयाओ एव ववहरंति, किं पुण ताओ सदा
सच्छंदाओ त्ति ? सुत्तो, पभाए सव्वलोगो उट्ठिओ, सो
ण उट्ठेइ, रन्नो कहिय, रन्ना भणिय-सुवउ । चिरस्स य
उट्ठिओ पुच्छिओ य, कहिय सव्व, भणइ-जहा एगा दे-
वी ण याणामि कयरा वि । तओ राइणा भण्डहत्थी का-
राविओ, भणियाओ-एयस्स अच्चणिय काऊणं ओलण्डेह,
तओ सव्वाहि ओलंडिओ एगा णेच्छइ, भणइ य-अहं
बीहेमि, तओ रन्ना उप्पलेण आहया, मुच्छिया पडिया ,
रन्ना जाणिय-एसा कारि त्ति । भणियं च ' णेण-मत्तगयं-
आरुहंतीए, भडमयस्स गयस्स बीहीहि । तत्थ न मुच्छिय-
सकलाहया, एत्थ मुच्छियउप्पलाहया ॥ १ ॥' तओ सरीरं
जोइय जाव सकलापहारो दिट्ठो तओ परुट्ठेण रण्णा देवी
मिंठो हत्थी य तिण्णि वि छिन्नकडए चडावियाणि, भ-
णिओ य मिंठो-एत्थ वाहेहि हत्थि, दोहि य पासेहिं ते
(वे)लुग्गाहा उट्ठिया, जाव एगो पाओ आगासे ठविओ,
जणो भणइ-किं एअ तिरिओ जाणइ ?, एयाणि मारिय-
व्वाणि, तह वि राया रोसं न मुयइ, जाव तिण्णि
पाया आगासे कया , एगेण ठिओ , लोगेण कओ
अक्कन्दो किमेयं हत्थिरयण विणासिज्जइ ? , रण्णा मिंठो
भणिओ—तरसि णियत्तेउं ? , भणइ—जइ दुयगाण पि अ-
भय देसि, दिन्न,तओ तण अकुसेण नियत्तिओ हत्थि' त्ति ।
दार्ष्टान्तिकयोजना कृतैवेति सूत्रार्थ. ॥ १० ॥ एवं कुर्वन्ति
संबुद्धा—बुद्धिमन्तो बुद्धा सम्यग् दर्शनसाहचर्येण-दर्शनै-
कीभावेन वा बुद्धा संबुद्धा-विदितविषयस्वभावा सम्यग्-
दृष्टय इत्यर्थ. , त एव विशेष्यन्ते पण्डिता. प्रविचक्षणा ।
तत्र पण्डिता. सम्यग्ज्ञानवन्त प्रविचक्षणा. चरणपरिणा-
मवन्त. । अन्ये तु व्याचक्षते—संबुद्धा सामान्येन बुद्धिम-
न्त. पण्डिता वान्तभोगासेवनदोषज्ञा प्रविचक्षणा अवद्य-
भीरव इति, किं कुर्वन्ति ?-विनिवर्तन्ते भोगेभ्य. विविधम्-
अनेकै. प्रकारैरनादिभवाभ्यासबलेन कदर्थ्यमाना अपि
मोहोदयेन (वि) निवर्त्तन्ते भोगेभ्यो-विषयेभ्य., यथा क
इत्यत्राह—यथाऽसौ पुरुषोत्तम.—रथनेमि । आह-कथं त-
स्य पुरुषोत्तमत्वम् ?,यो हि प्रव्रजितोऽपि विषयाभिलाषीति
उच्यते—अभिलाषेऽप्यप्रवृत्ते. , कापुरुषस्त्वभिलाषानुरूपं
चेष्टत एवेति । अपरस्त्वाह—दशवैकालिकं नियतश्रुतमेव,
यत उक्तम्—" गायज्झयगाहग्गा , इसिभासियमो

पइन्नयसुया य । एए हौंति आणियया , णियय पुण
सेसमुस्सन्नं ॥ १ ॥ " तत्कथमभिनवोत्पन्नमिदमुदाहरणं
युज्यते इति ?, उच्यते—एवम्भूतार्थस्यैव नियतश्रुतेऽपि भा
वाद् , उत्सन्नग्रहणाच्चादोषः , प्रायो-नियत न तु सर्वथा नि-
यतमेवेत्यर्थ । ब्रवीमिति न स्वमनीषिकया किन्तु तीर्थकर-
गणधरोपदेशेन । उक्तोऽनुगम , नया पूर्ववदिति । दश०१अ०।

सामण्णभाव-सामान्यभाव-पुं०। सामान्यरूपतायाम् , विशे०।

सामण्णलक्खण-सामान्यलक्षण-न०। लक्षणभेदे , विशे०।
(तत्स्वरूपम् ' लक्खण ' शब्दे षष्ठभागे गतम् ।)

सामण्णविसेस-सामान्यविशेष-पुं०। पृथिवीत्व जलत्व कृष्ण
त्व नीलत्वमित्याद्यवान्तरसामान्यरूपे , आ० म० १ अ०।
सामान्यानि विजातीयेभ्यो व्यावर्त्तनाद्य विशेषा. इति
सामान्यविशेषा । स्वस्वाधाराविशेषेषु अनुगताकारप्र-
त्ययवचनहेतुषु द्रव्यत्वादिषु , आ० म० १ अ० ।
सूत्र० । अनुवृत्तव्यावृत्तावबोधहेतुभूते सामान्ये , स्था० ७
ठा० ३ उ० ।

यच्चोक्तं-(कैश्चित्) एतेन सामान्यविशेषरूपमपि
प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यमित्यादि । तदप्ययुक्तम्-सामान्य-
विशेषरूपस्य वस्तुनोऽनुभवसिद्धत्वात् , तथाहि-
घटादिषु घटो घट इति सामान्याकारा बुद्धिरुत्पद्यते ,
मार्तिकस्ताम्रो राजत इति विशेषाकारा च, पटादिर्वा न
भवतीति । न चार्थसद्भावोऽर्थसद्भावादेव निश्चीयते, सर्व-
सत्त्वानां सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् , सर्वार्थानामेव सद्भावस्यावि-
शेषात् । किं तर्हि ? अर्थज्ञानसद्भावात् । ज्ञानं च सामा-
न्यविशेषाकारमेवोपजायत इति अतोऽनुभवसिद्धत्वात्
सामान्यविशेषरूपं वस्त्विति ।

अधिकारान्तरमधिकृत्याह—यच्चोक्तमित्यादिना । यच्चोक्त
पूर्वपक्षग्रन्थे—एतेन सामान्यविशेषरूपमपि प्रतिक्षिप्तमवग-
न्तव्यमित्यादि । तदप्ययुक्तम् । कुत इत्याह—सामान्यविशे-
षरूपस्य वस्तुनोऽनुभवसिद्धत्वात् । एतदेवाह-तथाहीत्या-
दिना, तथाहि—घटादिषु पदार्थेषु, घटो घट इत्येव सामा-
न्याकारा बुद्धिरुत्पद्यते तथा मार्तिका मृदादिनिर्वृत्तो मार्ति-
क , ताम्रविकारस्ताम्र , रजतविकारो राजत , इति विशेषा-
कारा च बुद्धिरुत्पद्यते, पटादिर्वा न भवतीत्येवम् । इयं च-
वस्तुनस्तद्व्यवस्थानिबन्धनमित्याधिकृत्याह—न चेत्यादि । न-
चाऽर्थसद्भावोऽर्थसद्भावादेव कारणात् , निश्चीयते । कुत-
इत्याह-सर्वसत्त्वाना सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् , प्रसङ्गश्च सर्वार्थाना-
मेव भुवनोदरवर्तिना सद्भावस्याविशेषात् , किं तर्हि ? अर्थ-
ज्ञानसद्भावाद् अर्थसद्भावो निश्चीयते । यदि नामैव , ततः
किमित्याह—ज्ञान च सामान्यविशेषाकारमेवोपजायत इति
निदर्शितम् । अतोऽनुभवसिद्धत्वात् कारणात् ,सामान्यवि-
शेषरूपं वस्त्विति ।

न चैतद्विज्ञान भ्रान्तमिति युज्यते, घटादिसन्निधाववि-
कलतदन्यकारणानां सर्वेषामेवाविशेषेणोपजायमानत्वात् ।
भ्रान्तमेतत् , विकल्पकत्वादिति चेत् । अभ्रान्तं तर्हि की-
दृग् ? इति वाच्यम् । निर्विकल्पकमिति चेत् । न । तस्या-
पि निर्विकल्पकत्वेन भ्रान्ततापत्तेः । अर्थसामर्थ्यजन्यत्वा-
दनापत्तिरिति चेत् । न अस्य विकल्पकेऽपि तुल्यत्वात् ।
क्वचिद्व्यभिचारदर्शनादतुल्यत्वमिति चेत् । न तस्य नि-
र्विकल्पकेऽपि भावात् । न ततः प्रमाणं , तदाभासत्वादि-
ति चेत् । विकल्पकेऽपि तुल्यः परिहारः । अर्थधर्माति-
रिक्तशब्दभावतोऽस्यार्थसामर्थ्यजन्यत्वानुपपत्तिरिति चेत् ।
न । बोधनियतार्थतादिभिर्व्यभिचारात् । न ते, अर्थादन्य-
तो भावादिति चेत् । शब्दोऽपि तद्योग्यद्रव्येभ्यः, इति स-
मानः समाधिः ।

न चेत्यादि । न चैतद्विज्ञानमनन्तरोदितं,भ्रान्तमिति युज्य
ते । कुत इत्याह—घटादिसन्निधौ सति , अविकलतदन्यका-
रणाना सपूर्णालोकादिकारणानामित्यर्थ. । सर्वेषामेव 'प्रमा-
तृणाम्' इति सामर्थ्यगम्यम्, अविशेषेण सामान्येन भिक्षू-
पासकादीनामपि, उपजायमानत्वात् कारणात् । भ्रान्तमेतद-
धिकृतज्ञानम् । कुत इत्याह—विकल्पकत्वादिति चेत् । एत-
दाशङ्क्याह—अभ्रान्त तर्हि कीदृगिति एतद् वाच्यम् । नि-
र्विकल्पकमिति चेत् अभ्रान्तम् । एतदाशङ्क्याह—न, तस्या-
पि निर्विकल्पकस्य, निर्विकल्पकत्वेन हेतुना, भ्रान्ततापत्ते ,
स्वरूपमेव भ्रान्तिनिबन्धनम् , एतच्चास्यापि विद्यते एवेत्य-
भिप्राय । अर्थसामर्थ्यजन्यत्वाद् निर्विकल्पकस्य, अनापत्ति
रिति चेद् भ्रान्ततायाः इति प्रक्रम । एतदाशङ्क्याह—न,
अस्य अर्थसामर्थ्यजन्यत्वस्य, विकल्पकेऽपि तुल्यत्वात् , ए-
तदप्यर्थसामर्थ्यजन्यमेवेत्यर्थ.।क्वचिच्छात्रमनोराज्यविकल्पा-
दौ, व्यभिचारदर्शनात् कारणात् , अतुल्यमिति चेद् न ह्यसा-
वर्थसामर्थ्यजन्य इति । एतदाशङ्क्याह-न, तस्य क्वचिद् व्य
भिचारस्य,निर्विकल्पकेऽपि भावात् । न हि तदपि सर्वमर्थ-
सामर्थ्यजन्यम् । न तत्-अर्थसामर्थ्याजन्यम् ,नोऽस्माकं,प्रमा
णम् , कुत इत्याह-तदाभासत्वात् प्रमाणाभासत्वात् , इति चे
त् । एतदाशङ्क्याह-विकल्पकेऽपि तुल्य परिहार अर्थसाम-
र्थ्याजन्यं विकल्पकमपि न न प्रमाण तदाभासत्वादेवेति । अ
र्थधर्मातिरिक्तश्चासौ शब्दश्चेति विग्रह.,तद्भावत. कारणात्,
अस्य विकल्पस्य,अर्थसामर्थ्यजन्यत्वानुपपत्तिरसम्भव एवेति
चेत्—उक्तं च धर्मकीर्तिना-" न ह्यर्थे शब्दा सन्ति तदात्मा-
नो वा,येन तस्मिन् प्रतिभासेरन्" इति । एतदाशङ्क्याह-
न । बोधनियतार्थतादिभि आदिशब्दात्-कुशलतादिपरिग्र-
ह व्यभिचारात्—अर्थसामर्थ्यजन्यत्वानुपपत्तेरिति । न, ते
बोधादय. , अर्थादन्यत. समनन्तरादेर्भावादिति चेत् । एत-
दाशङ्क्याह—शब्दोऽपि तद्योग्यद्रव्येभ्य शब्दप्रायोग्यद्रव्ये-
भ्योऽन्येभ्य एव,इत्येव, समान -तुल्य , समाधि -परिहार ।
अनेन च" अयमर्थासंस्पर्शी सर्वदनधर्मोऽर्थेषु तद्विनियोजना-
त् " इत्यपि प्रत्युक्तम् , अनभ्युपगमादिति ।

न चैतदभ्युपगममात्रम् , तावत्संघातजस्यैव तथार्थग्रहण-
स्वभावत्वात्,अविगानकृत्तथानुभवसिद्धेः,एवमेव व्यवहार-
दर्शनादिति; तथाहि—एतदिन्द्रियद्वारानुसारेण विज्ञानमा-

विष्टाभिलापम् ' अहिरहिः ' इति योजकं दर्शकं च धारावाहि तथा व्यवहारबीजं प्रतिप्राण्यनुभवसिद्धमेव । न चेहान्यदेवदर्शनम् , अन्य एव च विकल्पः, विकल्पेनाऽदर्शनात्, दर्शनेन चाविकल्पनात् , तयोरसहवृत्तेरुपादानादिभावात् । इत्येकमेवेदमिति ॥

न चेत्यादि । न चैतत्—शब्दोऽपि तद्योग्यद्रव्येभ्य इति यदुक्तमेतत्, अभ्युपगममात्रम्, अपि तु सोपपत्तिकमित्यभिप्राय. । कुत इत्याह—तावदित्यादि । तावत्संघातजस्यैव रूपालोकमनस्कारचक्षुः शब्दसंघातजस्यैव ' विकल्पज्ञानस्य ' इति प्रक्रम. , तथा तेन निश्चितप्रकारेणाऽर्थग्रहणस्वभावत्वात् । एतच्चैवमर्थग्रहणस्वभावत्वम् , अविगानत.-अविगानेन, तथा-तेन प्रकारेणाऽनुभवसिद्धे , अनुभवसिद्धिश्चैवमेव व्यवहारदर्शनादिति । एतदेव निदर्शनेनाह-तथाहीत्यादि । तथाहीत्युपदर्शने,एतद्-वक्ष्यमाणम् , इन्द्रियद्वारानुसार्येव तद्व्यापाराऽभावेऽभावात् ,विज्ञानम्। किंविशिष्टमित्याह-आविष्टाभिलापं प्रविष्टशब्द शब्दसन्मिश्रमित्यर्थ. किंविशिष्टमित्याह-अहिरहिः-सर्प सर्प इत्येवं योजक शब्दस्य,दर्शक चार्थस्येन्द्रियव्यापारेण, धारावाहि तथासन्तानप्रवृत्तम् । एतदेव विशेष्यते व्यवहारबीजमिति । ततस्तथाविधव्यवहारसिद्धे ,प्रतिप्राण्यनुभवसिद्धमेव प्राणिन प्राणिनं प्रति तत्तद्द्रष्ट्रपेक्षया प्रतिप्राणि , प्रतिग्राममिक्षालाभवत् , अनुभवसिद्धमेव नेह कस्यचिद् विगानमिति । न चेहेत्यादि । न चेह प्रस्तुते ज्ञाने, अन्यदेव दर्शन निर्विकल्पकम् .अन्य एव च विकल्पो निश्चयात्मक. । कुत इत्याह—विकल्पेनादर्शनात् । कान्तादिविकल्पे तथानुभवसिद्धमतत् , दर्शनेन चाविकल्पनात् , अनभिप्रेतमूतृणादिदर्शने एतदपि सिद्धमेव । तथा , तयोर्दर्शनविकल्पया., असहवृत्तेर्युगपदवृत्तेरित्यर्थ । कुत इत्याह-उपादानादिभावात् , अवग्रहादिक्रमेणोपादानोपादेयभावादित्यर्थ इत्येवम् ,एकमेवेदमाधिकृत विज्ञानमिति।

स्यादेतत् , सविकल्पाविकल्पयोर्विज्ञानयोः स्वभावभेदेऽपि प्रतिभासभेदेन युगपद्वृत्तेर्विमूढः प्रतिपत्ता तमपश्यन्नैक्यं व्यवस्यति, न तु तथा तत् , अन्यत्रानयोर्यौगपद्येऽपि भेददर्शनात्, अतीताद्यर्थगतविकल्पेनापीन्द्रियज्ञानतो रूपादिग्रहणसिद्धेः । न च स विकल्पो रूपाद्येव गृह्णातीति शक्यं कल्पयितुम् , तस्यातीताद्यर्थाभिधायकत्वत्यागतो वर्तमानार्थयोजनेन प्रवृत्तिप्राप्तेः । नापि वर्तमानार्थाभिधानसंसर्गी तदाऽपरो विकल्पः समस्ति, द्वयोर्विकल्पयोः समप्रवृत्तेः, अविगानेन तथानुभवाभावात् ! अतोऽत्र प्रत्युत्पन्नविषयग्रहणकाले दृश्यमानार्थनामाऽग्रहः स्पष्ट एव । तन्नामग्रहणसम्भूता च कल्पना . तन्नामग्रहाभावे कल्पनाऽभावः । इति सिद्धमविकल्पकमिन्द्रियज्ञानम् , अतोऽन्य एव च विकल्प इति न क्वचिदनयोरैक्यम् , न्यायानुपपत्तेः, भिन्नजातीयत्वादिति । इतश्चैतदेवम् । अन्यथा स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति प्राप्तम ॥

पराभिप्रायमाह-स्यादेतदित्यादिना । स्यादेतदेवं मन्यसे, सविकल्पाविकल्पयोर्विज्ञानयो सामान्येन,स्वभावभेदेऽपि सति,प्रतिभासभेदेन हेतुना युगपद् वृत्ते कारणात् विमूढ प्रतिपत्ता पुरुषः,तमपश्यन्स्वभावभेदम् ,ऐक्य व्यवस्यति तयो. सविकल्पाविकल्पयो., न तु तथा तत् न पुनस्तदैक्यमेव । कुत इत्याह—अन्यत्र जातिभेदे , अनयो. सविकल्पाविकल्पयो , यौगपद्येऽपि सति , भेददर्शनात् । एतदेवाह—अतीताद्यर्थगतविकल्पेनापि प्रमात्रा, इन्द्रि ज्ञानतः-इन्द्रियज्ञानेन, रूपादिग्रहणसिद्धे. । कस्येत्याह—अन्यस्याश्रुतत्वात् तस्यैव प्रमातु । न चेत्यादि । न च स विकल्पोऽतीताद्यर्थगत , रूपाद्येव गृह्णाति ' वार्तमानिकम् ' इति प्रक्रम. , इत्येव, शक्यं कल्पयितुम् । कुतो न शक्यमित्याह-तस्येत्यादि । तस्यातीताद्यर्थगतविकल्पस्य , अतीताद्यभिधायकत्वत्यागतोऽतीतादिवाचकशब्दादित्यागत । वर्तमानार्थयोजनेनेति । वर्तमानोऽर्थोऽभिधेयो यस्य ' अभिधायकस्य ' इति प्रक्रम. स वर्तमानार्थस्तद्योजनेन प्रवृत्तिप्राप्त कारणात् । नापीत्यादिना । नापि वर्तमानार्थाभिधानेन संसृज्यते तच्छीलश्चेति विग्रहः, तदा तस्मिन्नेव काले , अपरो विकल्प. समस्ति-विद्यते । कुत इत्याह-द्वयोर्विकल्पयो. सम युगपत् , अप्रवृत्ते. कारणात् । अप्रवृत्तिश्चाविगानेनाऽविप्रतिपत्त्या , तथा तेन समकालभावेनाऽनुभवाभावात् । अत इत्यादि । अत. स्थितमेतत् , प्रत्युत्पन्नविषयग्रहणकाले दृश्यमानार्थनामाऽग्रह. स्पष्ट एव । यदि नामैव तत. किमित्याह—तन्नामग्रहणेन सभूता तन्नामग्रहणसभूता , एवभूता च कल्पना । तत. किमित्याह-तन्नामग्रहाभावे कल्पनाभाव इति कृत्वा, सिद्धमविकल्पकमिन्द्रियज्ञानम् । अत इन्द्रियज्ञानात् ,अन्य एव च विकल्प इत्येव, न क्वचित् सजातीयादौ , अनयोर्दर्शनविकल्पयो , ऐक्यम्-एकभाव , न्यायानुपपत्ते. , इयं चोक्तैव । सर्वगर्भ त्वाह—भिन्नजातीयत्वात् । सामान्येनैव दर्शनविकल्पयोरिति ' इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यम् ' इति शेष । अन्यथैवमनभ्युपगमे , स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति प्राप्त , व्यवसीयन्ते, प्रतीयन्त इत्यर्थ । कीदृशा इत्याह-स्वाभिधानेत्यादि । स्वाभिधानमेव विशेषण व्यवच्छेदकत्वात् तस्मिन्नपेक्षा येषामर्थानामिति विग्रह ।

अस्त्वेवमपि को दोष इति चेत् । निवृत्तेदानीमिन्द्रियज्ञानवार्ता, अभिधानविशेषस्मृतेरयोगात् , सति ह्यर्थदर्शनेऽर्थसन्निधौ दृष्टे शब्दे ततः स्मृतिः स्यात् , अग्निधूमवत् । न चायमशब्दमर्थं पश्यति , अपश्यन्न न शब्दविशेषमनुस्मरति, अननुस्मरन्न योजयति, अयोजयन्न प्रत्येति, इत्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः । न [illegible] प्रबोधयत्यान्तरं संस्कारं, तेन स्मृतिः , नार्थ[illegible]त । न । तत्संबन्धस्यास्वाभाविकत्वात् . सम[illegible] दर्शनप्रभावात् , पुरुषेच्छातोऽर्थानां स्वभावापरावृत्तेर्न [illegible]त्पत्तिः . स्वभावस्य परावृत्तौ च तस्य [illegible] . अन्यस्यासमयदर्शिनोऽपि स्यात् [illegible]

मात्मभेदः, नैरात्म्यप्रसङ्गात्, आत्मस्थितेरभावात् । तस्मादयमशब्दसंयोजनमेवार्थं पश्यति दर्शनादिति ।

अस्तु—भवत्वेतत्, एवमपि को दोष इति चेत् । एतदाशङ्क्याह--निवृत्तेत्यादि । निवृत्तेदानीमिन्द्रियविज्ञानवार्ता । कस्माद् निवृत्तेत्याह--अभिधानविशेष इत्यादि । अभिधानविशेषो योऽर्थस्तदानीं ग्राह्यस्तस्य यो वाचक. शब्दस्तत्र स्मृतिस्तस्या· स्मृतेरयोगात् । कथमयोग इत्याह--सति ह्यर्थदर्शन इत्यादि । यस्माद् व्यवहारकाले सत्यभिधेयार्थदर्शने तदभिधायिन्यभिधान स्मरणं भवति । तत्रापि न सर्वस्य शब्दस्येत्याह—अर्थसंनिधौ संकेतकाले, दृष्टे शब्द इति, तत इत्यर्थदर्शनात्, स्मृति. स्याद् नान्यथा । निदर्शन हि—अग्निधूमवत् । यथाऽग्निधूमयो· संबन्धज्ञस्याग्निदर्शने धूमे स्मृतिर्भवति, धूमदर्शने चाग्नौ स्मृति, तद्वदत्राप्यवसेयम् । स्यान्मतम्-अर्थं तर्हि दृष्ट्वा शब्दं स्मरिष्यतीत्याह । न चायमित्यादि । न खल्वयं सविकल्पकप्रत्यक्षवादी, शब्दरहितमर्थं पश्यति, स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति नियमात् । तत को दोष इत्याह—अपश्यन् न शब्दविशेषमनुस्मरति ' नियमेन ' इति शेष, यस्मादर्थदर्शन शब्दविशेषस्मृतेर्हेतु, सा च तेन व्याप्ता, कारणं निवर्तमान कार्यं निवर्तयति । भवतु नामैव तत को दोष इति आह—अननुस्मरन्न योजयति अत्रापि शब्दविशेषानुस्मरणं स्मृतियोजनाया कारणं, तदभावात् कार्याभाव. । अत्रापि को दोष इति चेदाह—अयोजयन्न प्रत्येति योजन ह्यर्थप्रतीते कारणमित्यत्रापि कारणानुपलब्धिरेवेति । तस्मादायातमान्ध्यमशेषस्य जगत, न चेष्यते । तस्मान्नेन्द्रियज्ञाने शब्दकल्पना सभवतीति । अथापि स्याद् नार्थदर्शनात् स्मृति, किं तर्हि ?, योग्यदेशावस्थितादेवार्थात् स्मृतिरित्याह-अभिपतन्नेवेत्यादि । अभिपतन्नभिमुखीभवन् । काऽसावित्याह—अर्थो रूपादिको विषय । किं करोति ?, प्रबोधयति--कार्यनिर्वर्तन प्रत्यनुकूलयति । क प्रबोधयति ?, आन्तर सस्कार शब्दस्मृतिवासनाख्य, तेन अर्थाभिपातमात्रेण, सा स्मृति, तेन वा कारणेन, स्मृति, नार्थदर्शनादिति चेत्, तथा च नान्ध्यं, जगत, विकल्पकत्व चेन्द्रियज्ञानस्योपपन्नमिति मन्यते । अर्थाभिपातस्य स्मृतिजनकत्व निराकुर्वन्नाह—न । तत्सबन्धस्येत्यादि । यदेतदुक्तम्· अभिपतन्नेवार्थ प्रबोधयत्यान्तरं सस्कारमिति । तन्न । कुत इत्याह—तत्संबन्धस्य तयो शब्दार्थयो सबन्धस्तत्संबन्धस्तस्य, अस्वाभाविकत्वात् पौरुषेयत्वादित्यर्थ । कथमवसेयमित्याह--समयादर्शन सकेतस्याग्रहणे सति, अभावात् स्मृतिसस्कारप्रबोधस्य, अर्थप्रतीतेर्वेति वाक्यशेष । एतदुक्त भवति--ययो स्वाभाविक सबन्धो न तयो समय प्रति काचिदपेक्षा, यथा चक्षूरूपयो, विपर्ययस्त्वत्र, इति नाकृत्रिमत्व सबन्धस्येति । तत्रैतत् स्यात् समयादुत्तरकाल स्वाभाविक शब्दार्थसबन्धो न पूर्वम्, अत कृतसमयस्याभिपतन्नेवार्थं प्रबोधयत्यान्तरं सस्कारमित्याह-पुरुषेच्छात सकाशात्, अर्थाना स्वभावापरावृत्त पूर्वस्वभावपरित्यागेन विशिष्टस्वभावान्तरानुत्पत्ते कारणात्, न समयकालोत्पत्ति –न समयकाले स्वाभाविकत्वेन शब्दार्थसंबन्धस्य प्रादुर्भाव इत्यर्थ । दोषान्तराभिधित्सयाऽभ्युपगम्यापि स्वभावान्तरपरावृत्तिमाह—स्वभावस्य परावृत्तौ च सत्याम्, अन्यस्यासमयदर्शिनोऽपि स्यात् स्मृतिसस्कारप्रबोध, अर्थप्रतीतिर्वेति शेष, न केवलं समयदर्शिन इत्यपिशब्दार्थ. । कस्मादित्याह—तस्यतादात्म्यात् । स स्मृतिसंस्कारप्रबोधक, अर्थप्रतीतिहेतुको वा आत्मा स्वभावोऽस्येति तदात्मा, तदात्मनो भावस्तादात्म्यं, ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् ष्यञ् । अथोच्यते-समयदर्शिन प्रति स्वभाव, न पुनरदृष्टसमय प्रति, इत्यत आह—न हीत्यादि । न हि पुरुष पुरुष प्रति, अर्थानाम्, आत्मभेद —स्वभावभेद', भवति । कुत इत्याह—नैरात्म्यप्रसङ्गात् । अयमभिप्राय —पुरुषेच्छानामानन्त्यात्, तदनुवर्तिनश्च यद्यर्था स्युस्तदा तेषा नैःस्वभाव्यमेव स्यात्, एकस्यानेकस्वभावाभावात् । स्याद् मतम्—भवतु सामयिकस्वभावस्याभाव, अन्योऽपि तद्व्यतिरिक्तो वस्तुसत्स्वभावोऽस्यास्त्येव, अतो नैरात्म्यप्रसङ्गो न भविष्यतीत्याह-आत्मस्थितेरभावादिति । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तद्व्यतिरेकेणान्यस्य स्वभावस्यानुपलम्भादित्यभिप्राय. । अथवा नन्वेव सति बहुतरस्वभावसिद्धिरेव ; तत्किमुच्यते—नैरात्म्यप्रसङ्गात् ?, इत्याह-आत्मस्थितेरभावात् । पुरुषाणां स्वाभिप्रायवशेनैकत्र विरुद्धस्यापि स्वभावस्याऽभ्युपगमसभवात्, न चैकस्य विरुद्धानेकस्वभावो युक्त इति मन्यते तदेव स्मृत्यसभवेन निर्विकल्पता प्रतिपाद्योपसहरन्नाह—तस्मादित्यादि । यस्मादेवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण शब्दविशेषस्मृतिर्न सभवति, तस्मादय प्रतिपत्ता, अशब्दसयोजनमेवार्थं पश्यति, अविद्यमान शब्दसयोजन यस्यार्थस्येति विग्रह । कुत इत्याह—दर्शनात् । अयमस्यार्थो यस्मादय प्रतिपत्ताऽर्थमुपलभते, तस्मादशब्दसंयोजनमेवार्थं पश्यतीति निश्चीयते ।

किञ्च–विकल्पात्मकत्वेऽस्य निश्चयात्मकमिदमित्यनेकप्रमाणवादहानिः, तेनैव वस्तुनो निश्चयात् नित्यत्वादौ भ्रान्त्यनुपपत्तेः । अनेकधर्मके वस्तुन्यन्यतरधर्मनिश्चयात् तदन्यनिश्चयाय प्रमाणान्तरसाफल्यमिति चेत् । एकधर्मविशिष्टस्यापि निश्चये सर्वधर्मवत्तया निश्चयात्, प्रमाणान्तरस्य निश्चितमेव विषयीकुर्वतः स्मृतिरूपानतिक्रमात्, एकधर्मद्वारेणापि तद्वतो निश्चयात्मना प्रत्यक्षेण विषयीकरणे सकलधर्मोपकारकशक्त्यभिन्नात्मनो निश्चयात् । न ह्यन्य एवान्योपकारको नाम । ततो यदेवास्यैकोपकारकत्वेन निश्चयनम्, तदेव तदन्योपकारकत्वेनापि न चासत्युपकार्योपकारकभावे तद्व्यवस्थाऽतिप्रसङ्गतो युक्ता ।

किञ्चेत्यादि । किञ्च अयमपरो दोष -विकल्पात्मकत्वेऽस्य प्रत्यक्षस्य निश्चयात्मकमिदमित्येवं विकल्पात्मकत्वेन हेतुना । यदि नामैवं तत किमित्याह—अनेकप्रमाणवादहानि —प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणवादहानि. । कुत इत्याह—तेनैव नि-

ध्यात्मना प्रत्यक्षेण वस्तुनो निश्चयात् कारणात्। यथोक्तनिश्चयेऽपि किमित्याह—नित्यत्वादौ धर्मे, भ्रान्त्यनुपपत्तेरिति। परामिप्रायमाह—अनेकधर्मके वस्तुनि नित्यत्वादिधर्मापेक्षया, अन्यतरधर्मनिश्चयाद् यथोचितप्रत्यक्षेण तदन्यनिश्चयाय-धर्मान्तरनिश्चयार्थं, प्रमाणान्तरस्याफल्यमनुमानादिसाफल्यमिति चेत्। एतदाशङ्क्याह—नैकेत्यादि। न—नैतदेवम्। कुत इत्याह—एकधर्मविशिष्टस्यापि 'वस्तुनः' इति प्रक्रमः। निश्चये सति किमित्याह—सर्वे च ते धर्माश्च सर्वधर्मास्तेऽस्य वस्तुनो विद्यन्त इति सर्वधर्मवत् तद्भावः सर्वधर्मवत्ता तया, निश्चयात्। एवं च प्रमाणान्त्यादि। प्रमाणान्तरस्याऽनुमानादेः, निश्चितमेव धर्मान्तरम् इति प्रक्रमः, विषयीकुर्वत् सत्, स्मृतिरूपानतिक्रमात्, 'अनेकप्रमाणवादहानि' इति वर्तते, एकधर्मविशिष्टस्यापि निश्चये सर्वधर्मवत्तया निश्चयादिति यदुक्तं तदुपदर्शयन्नाह—एकधर्मेत्यादि। एकधर्मद्वारेणापि तद्वता—धर्मवतो वस्तुनः, निश्चयात्मना प्रत्यक्षेण सविकल्पकेन विषयीकरणे सति। किमित्याह—सकलाश्च ते धर्माश्च तेषामुपकारिकाश्च ताः शक्तयश्चेति विग्रहः, ताभ्योऽभिन्नश्चासावात्मा चेति समासस्तस्य, निश्चयात् कारणात्, सर्वधर्मवत्तया निश्चयः। एतत्समर्थनायवाह—नहि इत्यादि। न यस्मात्, अन्य एव 'धर्मी वस्त्वात्मा' इति प्रक्रमः, अन्योपकारको नाम धर्मान्तरोपकारको नाम, किं तर्हि?, स्वकृतः स्वकार्यामिति भावनीयम्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथेत्यादि। अन्यथैवमनभ्युपगमे, कल्पनामात्रं स्याद् आधाराधेयभावः। न चैतदेवमित्युपकारमिदि। तथाचेत्यादि। तथा चैव चोपकारिकाणां शक्तीनामनवस्था—यकाभिः शक्तिभिः शक्तीनामुपकारेण ता अपि ततो भिन्ना इति तत्राप्ययमेव वृत्तान्त इत्यनवस्था। ततस्तस्मात् स्वात्मैवाख्योपकारकस्य धर्मिणः, अशेषधर्मोपकारिका शक्तय इति। यतश्चैवम्, अतस्तस्योपकारकस्य धर्मिणः, सर्वधर्मोपकारकत्वेन निश्चये सति। किमित्याह—तदुपकार्या अपि विवक्षितोपकारकोपकार्या अपि, धर्मा निश्चिता एव। कुत इत्याह—तदिधारणान्तरीयकत्वात् उपकार्यधर्मनिश्चयनान्तरीयकत्वात्, उपकारकनिश्चयस्य तदपेक्षमस्योपकारकत्वमित्यर्थः। एतत्स्पष्टनार्थमाह—न हीत्यादि। न यस्मात्, ये भावा यदपेक्षास्तिरः प्रकृत्या ते भावाः, तदनिश्चयेऽपेक्षाऽनिश्चये, तथा निश्चीयन्ते तदपेक्षकत्वेन निश्चीयन्ते इति। निदर्शनमाह—स्वस्वामिवदिति। स च स्वामी च स्वस्वामिनौ तद्भावः स्वस्वामित्वं तद्वत्। 'स्वमस्य अस्य स्वामी' इतीतरेतरप्रतिपत्तिनान्तरीयकौ स्वस्वामिप्रतिपत्ति। उपसंहरन्नाह—एवमपि अनेकप्रमाणवादहानिर्नोऽपि, सविकल्पकप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति।

एव, विवक्षितैकविषयाविकल्पपूर्वक एव इति चेत्। एतदाशङ्कयाह—कथमनयोः अविकल्पविकल्पयोः, युगपद्वृत्तिः। प्रबन्धापेक्षयेति चेद् युगपद्वृत्तिः। एतदाशङ्कयाह-कथमित्यादि। कथ—केन प्रकारेण, आद्यं च तदविकल्पं चेति विग्रहस्तस्मात्, उभयजन्म—सविकल्पाविकल्पजन्म। तत्तदित्यादि। तस्याद्याविकल्पस्य, तत्स्वभावत्वात् सविकल्पाविकल्पजननस्वभावत्वादुभयजन्म, इति चेत्। एतदाशङ्कयाह—कथं कारणभेदो भेदहेतुः कार्याणामिति शेष, नैव, तदभावेऽपि तद्भेदसिद्धेरित्यभिप्रायः। यदि न कारणभेदो भेदहेतु, तत को दोष इति चेत्। एतदाशङ्कयाह—प्रधानादीनाम्। आदिशब्दात्—परमपुरुषग्रह, अनिषेधप्रसङ्गो दोष., ते प्रधानादय', तथाभावजनकास्तथाभावेन—तत्तथाभवनलक्षणेन जनका महदादेरिति चेत्। एतदाशङ्कयाह तत. को दोष इति वाच्यम्। नैकस्मादनेकजन्म तत्सद्भावेन दोष इति चेत्। एतदाशङ्कयाह—कथं न एकस्मादनेकजन्म तत्तत्स्वभावत्वेन तस्य प्रधानादेस्तत्स्वभावत्वेन, तथाभावतोऽनेकजन्मस्वभावत्वेनेत्यर्थ., संक्रान्त्या हेतुभूतया, तत्सद्भावेन तदयुक्तेस्तत्तत्स्वभावत्वायुक्तेर्नैकस्मादनेकजन्मेति चेन्। एतदाशङ्कयाह—तदभावे-संक्रान्त्यभावे, तदेकान्तनिवृत्त्या तद्युक्तिस्तत्तत्स्वभावत्वयुक्ति इत्यद्भुतमाश्चर्यमेतत्। तत. कारणात्, असद्भावाद्—असतो भावेन, अनद्भुतमनाश्चर्यमिति चेत्। एतदाशङ्कयाह-तत्तथाभावत तस्य कारणस्य तथाभावेन कार्यभावेन, असदेकस्मादनेकमसद् भवति तुच्छातुच्छप्रतिपत्त्या, इत्यद्भुतमेवेति परिभाव्यतामेतत्, न ह्यसत् सद् भवति, अतिप्रसङ्गादित्यभिप्रायः।

न चानयोः स्वभावभेद एव, तत्त्वत एकविषयत्वात्, विकल्पस्यापि पारम्पर्येण तद्वस्त्वालम्बनत्वात्, तदुत्थज्ञानोपादानत्वात्, तत्स्वभावानुकारातिरेकेण तदुपादानत्वायोगात्। न च तदतीतमित्यनालम्बनम्, अविकल्पस्यालम्बनत्वात्। न च तद्भावकाले तद्भावः, तदसदुदयाभ्युपगमात्। न चैवमपि न तदतीतता, तदा तदसत्त्वेन तदुपपत्तेः। न च तदाकारतादिना भेदः, द्वयोरपि तदाकारतासिद्धेः, तस्य प्रतिभावनियमात्, बोधामूर्तत्वरूपतया तत्तुल्याकारताऽयोगात्, स्वाकारस्य तु विकल्पेऽपि भावात्, तस्यापि तन्निश्चयात्मकत्वेन तदनुगुणत्वात्। इति व्यवहारतः स्वभावभेदाभावः।

न चेत्यादि। न चानयो —प्रक्रमात् सविकल्पाविकल्पयो प्रस्तुतज्ञानयो, स्वभावभेद एवैकान्तेन। कुत इत्याह—तत्त्वत -परमार्थेन, एकविषयत्वात्। कथमेतदेवमित्याह—विकल्पस्यापि पारम्पर्येण तद्वस्त्वालम्बनत्वात्। एतच्च परदर्शने विकल्पस्य गृहीतग्राहित्वाभ्युपगमेन स्वदर्शने त्ववग्रहापायभावेन,इति सामान्येनैव तद्वस्त्वालम्बनत्वमाह। तदुत्थज्ञानोपादानत्वात् विवक्षितविषयोत्थाऽविकल्पज्ञानोपादानत्वाद् विकल्पस्य। यदि नामैव तत किमित्याह-तत्स्वभावेत्यादि। तत्स्वभावानुकारातिरेकेण तदुत्थज्ञानस्वभावानुकारातिरेकेण, विकल्पस्येति प्रक्रम', तदुपादानत्वायोगात् तदुत्थज्ञानोपादानत्वायोगाद् विकल्पस्य। न ह्यमूर्त्तस्वभावमुदकं मृदुपादानम्, अपि तु घट एव तत्स्वभावानुकारादिति भावनीयम्। दोषान्तरपरिजिहीर्षयाऽऽह-न चेत्यादि। न च तद्विषयवस्तु अतीतमिति कृत्वा क्षणिकत्वेन, अनालम्बनं प्रक्रमाद्विकल्पस्य, किन्त्वालम्बनमेव। कुत इत्याह-अविकल्पस्यालम्बनत्वात् अतीतत्वेऽपीत्यभिप्रायः। न च तद्भावकाले—अविकल्पभावकाले, तद्भावो विषयवस्तुभाव.। कुत इत्याह—तदसदुदयाभ्युपगमात् तस्मिन् विषयवस्तुन्यसत्युदयाभ्युपगमात्, प्रक्रमादविकल्पस्य। न चैवमपि तदसदुदयेऽपि, न तदतीतता-न विषयवस्त्वतीतता। कुत इत्याह तदा विकल्पोदयकाले, तदसत्त्वेन-विषयस्वसत्त्वेन, तदुपपत्ते —अतीततोपपत्ते.। न च तदाकारतादिना-विषयवस्त्वाकारतादिना, आदिशब्दादानन्तर्यादिग्रह. भेद. सविकल्पाविकल्पयोरिति प्रक्रम। कुत इत्याह—द्वयोरपि अनयो. तदाकारताऽसिद्धेर्विषयवस्त्वाकारताऽसिद्धे., तस्याकारस्य प्रतिभावनियमाद्,भाव भावं प्रति नियमात्। न ह्यन्यभावाऽऽकारोऽन्यभावे भवति.तदेकत्वप्रसङ्गादित्यर्थ। तत्तुल्याकारतैव तदाकारता, इत्यप्यसदित्यावेदयन्नाह—बोधेत्यादि। बोधाऽमूर्तत्वरूपेण हेतुनाऽविकल्पज्ञानस्य, तत्तुल्याकारताऽयोगाद्-विषयवस्तुतुल्याकारतायोगात्। स्वाकार एव तदाकारतेत्यप्ययुक्तमित्याह—स्वाकारस्य तु विकल्पेऽपि भावात्। नह्यविकल्प एव स्वाकार,अपि तु-विकल्पेऽपि। तदनुगुणत्वतदाकारतेत्यपि समानमित्यावेदयन्नाह—तस्यापीत्यादि। तस्यापि विकल्पस्य, तन्निश्चयात्मकत्वेन-विषयवस्तुनिश्चयात्मकत्वेन, तदनुगुणत्वाद् बोधापेक्षया विषयवस्त्वनुगुणत्वात्, इत्येव व्यवहारत स्वभावभेदाभाव.। निश्चयतस्तु प्रतिव्यक्ति अयं विद्यत एवेति।

यच्चोक्तम्-विमूढः प्रतिपत्ता तमपश्यन्नैक्यं व्यवस्यति, न तु तथा तदिति। एतदप्ययुक्तम्, अनालोचिताभिधानत्वात् विचाराक्षमत्वात्, तथाहि-कः पुनरत्र प्रतिपत्ता, यस्य तत्स्वभावभेदादर्शनाद् विमोहः,ऐक्यव्यवसायो वा। न तावदेक उभयद्रष्टा, अनभ्युपगमात्। न च सविकल्पाविकल्पे विज्ञाने एव, तयोर्विमोहासिद्धेः, स्वसंवेदनरूपत्वेन स्वस्वभावदर्शनात्, इत्थमपि विमोहे तदनुच्छेदापत्तिः, उपायाभावात्। न चानयोरैक्यव्यवसायः, मिथोभेदाभ्युपगमात्, स्वविषयनियतत्वेन तथाप्रतिभासानुपपत्तेः, एवमपि तदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्।

यच्चोक्तं पूर्वपक्षग्रन्थे—विमूढ प्रतिपत्ता तमपश्यन्नैक्यं व्यवस्यति, न तु तथा तदिति। एतदप्ययुक्तम्। कुत इत्याह अनालोचिताभिधानत्वात्। अनालोचिताभिधानत्व च विचाराक्षमत्वात्। विचाराक्षमत्वमुपदर्शयन्नाह-तथाहीत्यादि। तथाहि क पुनरत्र प्रतिपत्ता भवतोऽभिप्रेत, यस्य तत्स्वभावभेदादर्शनाद् हेतो, विमोह, ऐक्यव्यवसायो वा?। न तावदेक आत्मा, उभयो सविकल्पाविकल्पयोर्द्रष्टा। कुत इत्याह—अनभ्युपगमात् एवम्विधस्य। न च सविकल्पा-

विकल्पे ज्ञाने एव प्रतिपत्तृणां कुत इत्याह—तयोः-सविकल्पाविकल्पज्ञानयोः, विमोहासिद्धेः, असिद्धिश्च स्वसंवेदनरूपत्वेन हेतुना ताभ्यां स्वस्वभावदर्शनादिति । इत्थमपि-स्वस्वभावदर्शनेऽपि सति. विमोहे तदनुच्छेदापत्तिः-मोहानुच्छेदापत्तिः । कुत इत्याह—उपायाभावात् । न हि स्वसंवेदनरूपे कदाचिदन्यथा भवत इत्युपायाभावः । नचेत्यादि । न चानयोः सविकल्पाविकल्पयोर्विज्ञानयोः, ऐक्यव्यवसायः । कुत इत्याह—मिथः-परस्परं, भेदाभ्युपगमात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह-स्वविषयनियतत्वेन हेतुना, तथाप्रतिभासानुपपत्तेः-ऐक्यप्रतिभासानुपपत्तेः । प्रतिभासश्च व्यवसाय इति । एवमपि-तथाप्रतिभासानुपपत्तावपि, तदभ्युपगमे ऐक्यव्यवसायाभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात् शशविषाणादिव्यवसायापत्तेः ।

स्यादेतत्, ऐक्यव्यवसायस्तदपरो विकल्प एव, व्यवसायस्य परिच्छेदात्मकत्वात् । स किंविषय इति वाच्यम् । तदुभयविषय इति चेत् । कथमेतत्प्रतिभासी तद्विषयः ?, तत्प्रतिभासित्वे वा कथमैक्यं व्यवस्यति ?, न चात्यन्तभिन्नयोस्तथाव्यवसाये निमित्तम् । भ्रान्त एवाऽयमिति चेत् । तदन्यैवंविधभावे कथं नेतरयोर्भेदव्यवसायः ? । व्यवसाय एवेति चेत् । न, तथायुक्त्यनुभवाभावेन वाङ्मात्रत्वात् । एतेन 'अन्यत्राऽनयोर्यौगपद्येऽपि भेददर्शनात्,इत्यादि प्रत्युक्तम्,तत्त्वतस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् ।

स्यादेतदित्यादि । स्यादेतत्, ऐक्यव्यवसायोऽधिकृतः, ताभ्यां सविकल्पाविकल्पविज्ञाभ्यामपरः—अन्यो विकल्प एव । कुत इत्याह—व्यवसायस्य परिच्छेदात्मकत्वात् । एतदाशङ्क्याह—स किंविषयो विकल्पः, इति वाच्यम् । तदुभयविषयः-सविकल्पाविकल्पविज्ञानोभयविषय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कथमेतत्प्रतिभासी-सविकल्पाविकल्पविज्ञानाऽप्रतिभासी सन्, तद्विषयः सविकल्पाविकल्पज्ञानविषयः ? । तत्प्रतिभासित्वे वा-सविकल्पाविकल्पविज्ञानप्रतिभासित्वे वा सति, कथमैक्यं व्यवस्यति परिच्छिनत्ति ? तद्भेदव्यवसायरूपत्वादित्यर्थः । न चेत्यादि । न चात्यन्तभिन्नयोर्जातिभेदेन, सविकल्पाविकल्पविज्ञानयोरिति प्रक्रमः, तथाव्यवसायः, ऐक्येन व्यवसाये निमित्तं नीलपीतयोरिव भ्रान्त एवायमपरो विकल्प इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—तदन्येत्यादि । तस्माद् भ्रान्तादन्योऽभ्रान्त एवंविध उभयविषयस्तस्य भावे सति कथं न इतरयोः सविकल्पाविकल्पविज्ञानयोः, भेदव्यवसायस्तदन्येन ?, न ह्यन्यस्मिन् सत्यरूपेऽसत्यस्य भ्रान्ततेति हृदयम् । व्यवसाय एवेति चेत् अन्येनेतरयोः । इत्येतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम्, तथायुक्त्यनुभवाभावेन हेतुना, वाङ्मात्रत्वादर्थशून्यत्वादधिकृतवचस । युक्त्यभावश्चेह स्वलक्षणसामान्यलक्षणयोरेकत्राप्रतिभासनात्, अनुभवस्य चासंकीर्णोभयग्राहिणोऽभावादिति । एतेनेत्यादि । एतेनानन्तरोदितेन दूषणजातेन 'अन्यत्राऽनयोर्यौगपद्येऽपि भेददर्शनात्' इत्यादि पूर्वपक्षोक्तं, प्रत्युक्तम्-निराकृतम् । कुत इत्याह तत्त्वतः-परमार्थतः, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति ।

किञ्च-अनयोर्भिन्नविषयत्वेन तथापि जन्माऽयुक्तम्, अन्यदर्शनस्यान्यविकल्पानिमित्तत्वात्, निमित्तत्वे वाऽतिप्रसङ्गात्, नीलदर्शनादपि पीतादिविकल्पापत्तेः,तदभावप्रसङ्गात्, निश्चयबलाद्धि, तद्भावसिद्धिः स चेदन्यदर्शनादप्यन्यविषयः, अप्रमाणिकाऽन्यसत्तेति विश्वस्य नीलमात्रतापत्तिः । भिन्नदर्शनविषयाः,पीतादय इति चेत् न । तेषामनिश्चयात्मकत्वेन तथातानधिगतेः, न च तन्निश्चयात् तदधिगतिर्युक्ता, तस्यान्यतोऽपि भावेन तत्प्रतिबन्धासिद्धेः । स पारम्पर्येण तद्दर्शनसामर्थ्योद्भूत एव,सदाऽतद्दर्शिनोऽभावादिति चेत् । न । इत्थं सर्वत्राऽनाश्वासेनाऽसमञ्जसत्वापत्तेः, सन्निहितार्थदर्शनबलोत्पन्ननिश्चयादपि पारम्पर्येणार्थान्तरदर्शनशक्तिजत्वाऽऽरेकातः प्रवृत्त्याद्ययोगात् । समानविषययोः पुनरनयोर्भावस्तथा भवन्नपि न नो बाधायै, अक्रमेणाऽप्रवृत्तेः । एवं च 'अतीतार्थगतविकल्पेनापीन्द्रियज्ञानतो रूपादिग्रहणसिद्धेः' इत्यादि यावद् 'भिन्नजातीयत्वात्' इत्येतद् व्युदस्तमवसेयम्,अक्रमप्रवृत्तावतीतादिविकल्परूपादिग्रहणयोरस्य साफल्योपपत्तेः, अन्यथा वाङ्मात्रत्वात् ।

किञ्चेत्यादिनाऽभ्युच्चयमाह-किञ्च. अनयोः सविकल्पाविकल्पज्ञानयोरुदाहृतयोः, भिन्नविषयत्वेन हेतुना, जातिभेदतः, तथापि प्रक्रमात्-क्रमेणापि यथैकजातीययोस्तथापि, जन्मायुक्तमघटमानकम् ।कुत इत्याह—अन्यदर्शनस्य—रूपादिदर्शनस्य, अन्यविकल्पानिमित्तत्वाद्-अतीताद्यर्थगतविकल्पानिमित्तत्वात्, निमित्तत्वे वाऽतिप्रसङ्गात् । एतमेवाह—नीलदर्शनादपि सकाशात्, पीतादिविकल्पापत्तेः । यदि नामैवं ततः किमित्याह-तदभावप्रसङ्गात्-पीताद्यभावप्रसङ्गात् । एतदेव स्पष्टयति-निश्चयेत्यादिना । निश्चयबलाद् यस्मात्, तद्भावसिद्धिः—पीतादिभावसिद्धिः, स चेद् निश्चयः, अन्यदर्शनादप्यन्यविषयो भवति, अप्रमाणिकाऽन्यसत्ता, इह तावत्प्रक्रमादन्यत् पीतादि, ततश्चाप्रमाणिका पीतादिसत्तेति कृत्वा, विश्वस्य सर्वस्य नीलमात्रतापत्तिः, यावत् किञ्चित् सत् तत्सर्वं नीलमिति पीतादिनिश्चयस्तु नीलदर्शनादेवेति न्यायोपपत्तेः, भिन्नदर्शनविषयाः-पीतादिदर्शनविषयाः, पीतादय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-नेत्यादि । न-नैतदेवं, तेषां दर्शनानाम्, अनिश्चयात्मकत्वेन हेतुना, तथा तानधिगतेः पीतादिरूपतया भिन्नताऽनधिगतेः । न चेत्यादि । न च तन्निश्चयात्-पीतादिनिश्चयात्, तदधिगतिर्दर्शनानां तथा भिन्नताधिगतिर्युक्ता । कुत इत्याह-तस्य सामान्येन निश्चयस्य, अन्यतोऽपि-दर्शनान्तरादपि, भावेन-हेतुना, तत्प्रतिबन्धासिद्धेः पीतादिदर्शनभेदेन सह पीतादिनिश्चयस्य प्रतिबन्धासिद्धेः । स पीतादिनिश्चयः, पारम्पर्येण तद्दर्शनसामर्थ्योद्भूत एव-पीतादिदर्शनसामर्थ्योद्भूत एव । कुत इत्याह—सदाऽतद्दर्शिनः—पीताद्यदर्शिनः; अभावादिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम् इत्थमेवं, सर्वत्रानाश्वासेन हेतुना । किमित्याह—असम-

ऽसत्त्वापत्तेः । एतमेवाह-सन्निहितार्थदर्शनबलोत्पन्नानिश्च-यादपि सकाशात्, पारम्पर्येणार्थान्तरदर्शनशक्तिजत्वाऽऽरे-कात'-आशङ्कातः कारणात्, प्रवृत्त्याद्ययोगात्, आदिशब्दा-त्-प्राप्तिपरिग्रहः । एवं तावद् भिन्नविषययोः सविकल्पावि-कल्पज्ञानयोर्यौगपद्यमसंभव्येव निदर्श्य साम्प्रतमिदमाह-समानेत्यादि । समानविषययोः पुनरनयोः सविकल्पाविक-ल्पज्ञानयोर्भावः, तथा हेतुफलभावेन, भवन्नपि ' अहिर-हि. ' इत्यादौ, न नो बाधायै-नास्माकं बाधार्थम् । कुत-इत्याह-अक्रमेणाप्रवृत्तेः-अवग्रहकल्पादविकल्पादवायक-ल्पसविकल्पभावेन क्रमेण प्रवृत्तेरित्यर्थः । एवं चेत्यादि । एवं सति ' अतीताद्यर्थगतविकल्पेनापि प्रमात्रा, इन्द्रिय-ज्ञानतो रूपादिग्रहणसिद्धेः ' इत्यादि पूर्वपक्षोक्तं यावद् ' भि-न्नजातीयत्वात् ' इत्येतद्, व्युदस्तमपाकृतमवसेयम् । कुत इत्याह-अक्रमप्रवृत्तौ सत्याम्, अतीतादिविकल्परूपादिग्रह-णयोरस्य-पूर्वपक्षोक्तस्य, साफल्योपपत्तेः अन्यथाऽक्रमप्रवृ-त्तिमन्तरेण वाङ्मात्रत्वादिति ।

आह-यद्यत्र क्रमः, कथं न संलक्ष्यत इति ? । उच्य-ते-उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् कालसौक्ष्म्यात्, छद्म-स्थप्रमातुरनाभोगबहुलत्वात्, अदृष्टप्रतिबन्धात्, वस्तु-नोऽनेकधर्मत्वात्, यथाक्षयोपशममवबोधप्रवृत्तेः, तस्य च तत्तद्धेतुभेदतो वैचित्र्यादिति ।

आह-यद्यत्र सविकल्पाविकल्पविज्ञानद्वये, क्रमः, कथं न संलक्ष्यते ? इति । उच्यते उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् कालसौ-क्ष्म्याद् न सलक्ष्यत इति । किमेतदेवमित्याह-छद्मस्थप्र-मातुरनाभोगबहुलत्वात् । अनाभोगबहुलत्वं चादृष्टकर्मप्र-तिबन्धात्, तथा, वस्तुनः प्रमेयस्यानेकधर्मकत्वात्, तथा चिभ्रमादिनिबन्धनत्वेन यथाक्षयोपशमं यस्य यथा क्षयोप-शमस्तथाऽवबोधप्रवृत्तेः, तस्य च क्षयोपशमस्य, तत्तद्धेतु-भेदतो द्रव्यादिभेदेन, वैचित्र्यात्, क्रमो न सलक्ष्यत इति ।

आह-यदि कालसौक्ष्म्यादत्र क्रमाऽलक्षणम् । एवं तर्हि 'सरः' इत्येवमादिकयोर्वर्णयोरुच्चारणे नितरां का-लसौक्ष्म्यमित्यक्रमग्रहणं स्यात् । तथाच क्रमालक्षणात् श्रुतिभेदो न भवेत्, यथा सरो रस इति । इतश्च न भवेद्-युगपदगोचरीभूतविषयेन्द्रियवतोऽविच्छेदेन सर्वोपलब्धौ क्रमपक्षेऽप्यक्रमस्यैव दर्शनात्, स हि वंशादिवादयितु-रूपं पश्यति, तदैव ततः शब्दं शृणोति, नीलोत्पलादि-गन्धं जिघ्रति, कर्पूरादेः रसमास्वादयति आसनादिस्पर्शं स्पृशति, चिन्तयति च किञ्चित्, इति तत्त्वतोऽस्यानवरतं सर्वपरिच्छित्तिः । एवं यावदत्राप्ययुगपत्पक्षेऽपि समा-श्रीयमाणे पञ्चभिर्विज्ञानैर्व्यवधानेऽपि क्रमभावि सत् तेषामेकैकं विज्ञानमविच्छिन्नमिव प्रतिभाति, तथानुभूतेः । यदैतदेवम्, तदा कथमन्यविज्ञानावृत्तौ वर्णयोर्न सक्-च्छ्रुतिः,इत्यविच्छिन्नमेकघनीभूतायतवर्णाकार दर्शनं न भ-वति;न च भवति तथाऽप्रतीतेः, इति यत्र क्रमस्तत्र कालसौ-क्ष्म्येऽप्युपलभ्यत एव । न च प्रतीतिं विहाय पदार्थ-तत्त्वव्यवस्थापनोपायः, इति यथाप्रत्ययं युगपद्विज्ञानप्र-वृत्तिर्न्यायविदाऽङ्गीकर्तव्या, अन्यथोक्तवद् न्यायोच्छेद-प्रसङ्गादिति ।

आह-यदि कालसौक्ष्म्यादत्र अधिकृते सविकल्पाविक-ल्पज्ञानद्वये, क्रमालक्षणम्, एवं तर्हि ' सर ' इत्येवमादि-कयोर्वर्णयोः, आदिशब्दाद्-रसादिग्रहः, उच्चारणे नितरां कालसौक्ष्म्यम्, अव्यवधानेनोच्चारणात्, इत्यक्रमग्रहणं स-रवर्णयोः स्यात् । तथा चेत्यादि । तथा च सति क्रमालक्षणात् कारणात्, श्रुतिभेदः-श्रवणभेदो भवेत्, यथा सरो रस इति द्विवर्णविषयः । इतश्च न भवेच्छ्रुतिभेदः । कुत इत्याह-यु-गपदित्यादि । युगपदेकदैव, गोचरीभूतविषयाणि च तानी-न्द्रियाणि चेति विग्रहः, तान्यस्य विद्यन्त इति तद्वान्, तस्याऽविच्छेदेन प्रबन्धवृत्त्या, सर्वेषां प्रक्रमाद्विषयाणामु-पलब्धिः, सर्वोपलब्धिः, अस्यां सर्वोपलब्धौ सत्याम् ।' किमित्याह-क्रमपक्षेऽपि विज्ञानविषये, अक्रमस्यैव दर्शनात् एतदेवाक्रमदर्शनमाह-स हीत्यादिना । सहि युगप-द्गोचरीभूतविषयेन्द्रियवान्, वंशादिवादयितुः रूपं पश्यति, तदैव तत वंशादिवादयितुः सकाशात्, शब्दं शृणोति, तथा, नीलोत्पलादिगन्धं जिघ्रति, तथा, कर्पूरादेः रसमा-स्वादयति, एवमासनादिस्पर्शं स्पृशति, चिन्तयति च कि-ञ्चिन्मनसा, इत्येवं, तत्त्वतोऽस्य युगपद्गोचरीभूतविषयेन्द्रि-यवतः प्रमातुः । किमित्याह-अनवरतं सर्वपरिच्छित्तिः अनवरतसर्वपरिच्छित्तिरेव, युगपदेवेन्द्रियविषयसंबन्धसि-द्धेः । एवं तत्त्वव्यवस्थिते सति, यावदत्रापि युगपदनुम-तेऽपि तात्त्विके, अयुगपत्पक्षेऽपि समाश्रीयमाणे किमित्याह पञ्चभिर्विज्ञानैर्व्यवधानेऽपि सति अधिकृतन्यायेन, क्रमभा-वि सद् भवत्, तेषां पण्णां विज्ञानानाम्, एकैकं विज्ञान शब्दादिगोचरादि, अविच्छिन्नमिव-युगपदिव, प्रतिभाति । प्रकृतयो-कुत इत्याह-तथानुभूतेः-अविच्छेदेनानुभूतेः । प्रकृतयो-जनामाह-यदेत्यादि । यदैतदेवमनन्तरोदितम्, तदा कथ-मन्यविज्ञानावृत्तावपान्तराले, वर्णयोः सरादिरूपयोः, न स-कृच्छ्रुतिर्न युगपच्छ्रवणमिति । एतदेवाह-अविच्छिन्नम्-एक-दैव एकघनीभूतश्चासावायतवर्णश्चेति विग्रहः, तदाकार दर्श-नं न भवति । स्यादेतद् भवत्येव, इत्याशङ्कानिरासार्थमाह-न च भवति । कुत इत्याह-तथाऽप्रतीतेः । इत्येवं, यत्र क्रमस्तत्र कालसौक्ष्म्येऽप्युपलभ्यत एव यथाऽधिकृतवर्ण-योः । न च प्रतीतिं विहाय-परित्यज्य, पदार्थतत्त्वव्यवस्था-पनोपायः, इत्येवं, यथाप्रत्ययं-यथानुभवं, युगपद्विज्ञानप्र-वृत्तिः षडंशतया प्रस्तुतद्वयापेक्षया वा, न्यायविदा प्रमात्रा, अङ्गीकर्तव्या, अन्यथैवमनभ्युपगमे, उक्तवद् यथोक्तं तथा न्यायोच्छेदप्रसङ्गात् प्रतीतिबाधेन न्यायानुपपत्तेस्तस्यापि प्रतीतिबीजत्वादित्यभिप्राय इति ।

अत्रोच्यते-यत्किञ्चिदेतत्, वर्णयोः मात्रयत्त्वेनोक्तो-पानुपपत्तेः, सराऽऽदयो हि वर्णाः मात्रयत्त्वेनानेकक्षण-लब्धवृत्तयः, तथोपलब्धितस्तत्तत्स्वभावत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः, न क्षणिकज्ञानग्राह्याः, तस्य परमाणुव्य-

तिक्रान्तिमात्रत्वेनात्यन्तसूक्ष्मत्वात् , तदनुभवस्य तत्त्वेनैवार्वाग्दर्शिनाऽनुपलक्षणात् , तथाऽप्रतीतेः इति पूर्ववर्णज्ञानेनोत्तरवर्णज्ञानस्य मिश्रणाभावात् , उभयोः प्रदीर्घस्थूरोपयोगरूपत्वात् ; तथा, आलम्बनजातिभेदात् , तत्तत्स्वाभाव्यात् , तथाक्षयोपशमयोगात् , दृढानुभवसिद्धेः, अविगानेन तथावेदनात् कोटिसङ्गस्याप्रयोजकत्वात् , तद्दीर्घतिरस्करणात् , इत्थमपि तथापादनेऽतिप्रसङ्गात् , नीलपीतज्ञानयोरपि तद्भावेन क्वचिन्मिश्रणप्रसङ्गात् । इति कथं सकारादाविवाविच्छिन्नमेकधर्माभूतायतवर्णाकारं दर्शनं भवेत् ? । सकारादौ तु कालादिभेदेऽपि प्रभूततरधर्मप्रत्यासत्तेर्भवति , तथानुभवादिति । एतेनाऽलातचक्रादिदर्शनं प्रत्युक्तम् , प्रत्यवयवं प्रदीर्घस्थूरोपयोगादिविपर्ययात् , अन्यथा तत्रापि तथादर्शनानुपपत्तेः ।

अत्रोच्यते—यत्किञ्चिदेतत् ; असारमित्यर्थः । कुत इत्याह—वर्णयोः-स-राऽऽदिलक्षणयोः ,सावयवत्वेन हेतुना, उक्तदोषानुपपत्तेः । एतदेव प्रकटयति—सरादय इत्यादिना । सरादयो हि वर्णाः सावयवत्वेन जातिभेदतः , अनेकलक्षणलब्धवृत्तयो वर्तन्ते । कुत इत्याह—तथोपलब्धितः अनेकक्षणवृत्तित्वेनोपलब्धेः , उपलब्धिश्च तत्तत्स्वभावत्वात् तयोरुपलब्धवर्णयोस्तत्स्वभावत्वात् अनेकक्षणवृत्तित्वेनोपलब्धिस्वभावात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा तदनुपपत्तेः एवमनभ्युपगमे, वर्णोपलब्ध्ययोगादित्यर्थः । यत एवम् ; अतो न क्षणिकज्ञानग्राह्याः । कुत इत्याह—तस्य क्षणस्य, परमाणुमात्रव्यतिक्रान्तिमात्रत्वेन परमाणुव्यतिक्रान्तिकाल एकः क्षणो मत इति न्यायेनाऽत्यन्तसूक्ष्मत्वात् । तदनुभवस्य—क्षणानुभवस्य, तत्त्वेनैव—क्षणानुभवत्वेनैव , अर्वाग्दर्शिना प्रमात्रा, अनुपलक्षणात् , अनुपलक्षणं च तथा तत्त्वेनैवाऽप्रतीतेः । इत्येवं पूर्ववर्णज्ञानेन—सकारादिज्ञानेन, उत्तरवर्णज्ञानस्य—रेफादिज्ञानस्य , मिश्रणाऽभावात् कारणात् , कथं सकारादाविवाविच्छिन्नमेकघनीभूतायतवर्णाकार दर्शनं भवेदिति योगः । मिश्रणाभावश्च उभयोर्ज्ञानयोः सकारादिगोचरयोः , प्रदीर्घस्थूरोपयोगरूपत्वात् तथालम्बनजातिभेदात् , भिन्नजातीयौ सकाररेफाविति कृत्वा , तथा तत्तत्स्वाभाव्यात् तयोर्वर्णोपयोगयोस्तत्स्वाभाव्याद्-मिश्रणस्वाभाव्यात् । एतच्च तथाक्षयोपशमयोगात् तेन मिश्रणाभावज्ञानजनकत्वप्रकारेण, क्षयोपशमयोगात् । एतद्योगश्च दृढानुभवसिद्धेः , इयमप्यविगानेन तथावेदनाद् दृढानुभवरूपेण वेदनात् । कोटिसङ्गस्य वर्णज्ञानसंबन्धिनः , प्रयोजकत्वात् । प्रभूततराऽसङ्गेन तद्दीर्घतिरस्करणात् तयोर्वर्णज्ञानयोर्दीर्घं प्रदीर्घस्थूरोपयोगलक्षणं सामर्थ्यं तेन तिरस्करणात् कोटिसङ्गस्य । इत्थमप्येवमपि कोटिसङ्गस्य तद्दीर्घतिरस्करणेऽपि , तदापादने—अक्रमात् मिश्रणापादनेऽतिप्रसङ्गात् । एतमेवाह—नीलपीतज्ञानयोरपि तद्भावेन—कोटिसङ्गभावेन, क्वचिच्चित्रपटवादौ, मिश्रणप्रसङ्गात् न-

चैतदेवम् , इत्येव, कथ सकारादाविव सजातीयव्यक्तिरूपम् अविच्छिन्नमेकदैव एकघनीभूतायतवर्णाकारं दर्शनं भवेत् नैव भवति , निमित्ताभावात् । सकारादौ तु सजातीये तथैकावयवित्वेन कालादिभेदेऽपि , आदिशब्दादजातिग्रहः । प्रभूततरधर्मप्रत्यासत्तेस्तथैकारम्भकत्वेन भवत्येकघनीभूतायतवर्णाकारदर्शनम् । कुत इत्याह—तथानुभवात् । एकघनीभूतायतवर्णाकारदर्शनत्वेनाऽनुभवादिति । एतेनानन्तरोदितेन, अलातचक्रदर्शनं प्रत्युक्तम् । कथमित्याह—प्रत्यवयवम् अवयवमवयवं प्रति अलातचक्रसंबन्धिनं, प्रदीर्घस्थूरोपयोगादिविपर्ययात् अप्रदीर्घसूक्ष्मोपयोगभावात् ; एवं च तत्र भवति तन्मिश्रणमित्यर्थः । अन्यथैवमनभ्युपगमे , तत्राप्यलातचक्रे , तथादर्शनानुपपत्तेः प्रत्यवयवं प्रदीर्घस्थूरोपयोगभावेन तन्मिश्रणाभावेनेति भावः ।

न चैवं सर्वक्रमोपलम्भनिबन्धनं सविकल्पाविकल्पयोः, अविकल्पे क्षणिकत्वेन जात्यादिभेदेऽपीहादेस्तदितरवैकल्यादिति । या च युगपद्गोचरीभूतविषयेन्द्रियवतोऽविच्छेदेन सर्वोपलब्धिरुक्ता, साऽसिद्धा,द्रव्येन्द्रियविषययोगेऽप्यर्वाग्दर्शिनः प्रतिबन्धकसामर्थ्येन तावतां विज्ञानानामेकदाऽनुदयात् , तथाऽननुभूतेः, प्रतीत्यभावात् , युक्त्यनुपपत्तेः, उपादानायोगात् , एकोपादानतोऽनेकासिद्धेः, भिन्नोपादानत्वे तदत्यन्तभेदेनानुसन्धानायोगात् , अस्य चानुभवसिद्धत्वात् । एवं च क्रमपक्षेऽप्यक्रमस्यैव दर्शनादित्ययुक्तम् , तथाननुभवात् , एकदैकज्ञानसंवेदनात् , कालसौक्ष्म्याद्विभ्रमतस्तथाऽप्रतीतेः ।

प्रकृतयोजनायाह—न चैवं यथाधिकृतवर्णयोः , सर्वं-निरवशेषं सावयवत्वादि , क्रमोपलम्भनिबन्धनम् । कयोरित्याह—सविकल्पाविकल्पयोः प्रस्तुतविज्ञानयोः । कुत इत्याह—अविकल्पं क्षणिकत्वेन अवग्रहस्य क्षणिकत्वात् । जात्यादिभेदेऽपीहादेः , सविकल्पत्वेन आदिशब्दात्—प्रतिभासग्रहः , तदितरवैकल्यात् प्रदीर्घस्थूरोपयोगरूपवैकल्यादिति । या चेत्यादि । या च युगपद्गोचरीभूतविषयेन्द्रियवतः प्रमातुः , अविच्छेदेन सर्वोपलब्धिरुक्ता पूर्वपक्षग्रन्थे , साऽसिद्धा । कुत इत्याह—द्रव्येन्द्रियविषययोगेऽपि निर्वृत्युपकरणरसादिसंबन्धेऽपि , अर्वाग्दर्शिनः प्रमातुः , प्रतिबन्धकसामर्थ्येन हेतुना कर्मसामर्थ्येन , तावतां विज्ञानानां षण्णाम् , एकदैकस्मिन् काले , अनुदयात्-अनुत्पादात् , अनुदयश्च तथाननुभूतेः एकदाभावेनाननुभूते । अननुभूतिश्च प्रतीत्यभावात् । प्रतीत्यभावश्च युक्त्यनुपपत्ते । युक्त्यनुपपत्तिश्च उपादानायोगात् । उपादानायोगश्च एकोपादानतोऽनेकासिद्धेः स्वतः परतश्च । भिन्नोपादानत्वे तेषां षण्णामत्यन्तभेदेन सन्तानान्तरवदनुसन्धानायोगात् ' मया रूपं दृष्टं , शब्दः श्रुतः ' इत्यनुसंधानायोगात् । अस्य चानुसन्धानस्यानुभवसिद्धत्वात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—एवं च ' क्रमपक्षेऽप्यक्रमस्यैव दर्शनात् ' इत्ययुक्तं पूर्वपक्षोक्तम् । कुत इत्याह—तथाननुभवात् । अक्रमदर्शनेनाऽननुभवात् । अननुभवश्च एकदैकज्ञान-

संवेदनात्, इति कल्पनान्तरबाधिका युक्ति । अत एवाह—कालसौक्ष्म्यविभ्रमन कारणात् . तथाऽप्रतीते —एकदैकज्ञानसंवेदनत्वेनाऽप्रतीते ,विभ्रमाद् युगपत्प्रवृत्तेरित्यर्थे ।

किञ्च–कुतोऽयममीपामत्यन्तभेदे युगपत्सर्वानुभव इत्यवगमः ?, न तेभ्य एव, प्रत्यर्थनियतत्वात् इतरेतरानवगमात्, अवगमे स्वरूपहानिप्रसङ्गात्, ज्ञानान्तरालम्बनत्वापत्तेः, तस्यापि चायोगात्, युगपद्भावात्, प्रतिबन्धविरहात्, इतरेतरालम्बनत्वानुपपत्तेः, युक्तिभिरयोगात् ,स्वभावभेदप्रसङ्गात्, तथा च तदयोगादिति। न चान्यतः, एकस्य तदालम्बनत्वाभावात्, तेषां भिन्नजातीयत्वात् । अत एवैककारणादतदुत्पन्नात् तत्परिच्छित्त्यसिद्धेः, तदाकारत्वायोगात् ,योगेऽपि मेचकरूपतापत्तेः, तत्सारूप्याभावात्, तेषामसङ्कीर्णत्वात्, एवमप्यवगमेऽतिप्रसङ्गात्, तत एव सर्वार्थावगमापत्तेः, तथाऽनुभवाभावात् ,इत्यनवगताभिधानञ्चैतद् । यदुत–'युगपत्सर्वानुभवः' इति । चित्रज्ञानवत्परामर्शाविकल्पात् तदवगम इति चेत् । न । अस्याप्ययोगात् । तथानुभवसिद्धत्वात् कथमयोग इति चेत् स्वकृतान्तप्रकोपात्। कथमत्र तत्प्रकोप इति चेत्। यथोक्तं प्राक् । परामर्शविकल्पोऽन्य एवेति चेत् । न। ततस्तदवगम इति यत्किञ्चिदेतत्। क्रमानुभवोऽपि कथं गम्यते ? इति चेत् । अन्वयिन्यात्मनि सुखेनैव, तस्यैव तथाभावात्, चित्रस्वभावत्वात्, बोधान्वयोपपत्तेः, तदावरणविगमात्, क्रमानुभवाविरोधात्, तथामनोवृत्तेः । इति न युगपत्सर्वथा सविकल्पाविकल्पज्ञानभावः ।

दूषणान्तरमाह—किञ्चेत्यादिना । किञ्चायमपरो दोष —कुतोऽयममीषां षएणा विज्ञानानाम्, अत्यन्तभेदे सति, युगपत्सर्वोनुभव इत्येवंभूत , अवगम —परिच्छेद । न तेभ्य एव षड्भ्यो विज्ञानेभ्य । कुत इत्याह—प्रत्यर्थनियतत्वात् तेषाम् ,तथाहि–रूपादिविषयत्वेन नियतानि तानि । यदि नामैवं तत किमित्याह—इतरेतरानवगमात् । न रूपज्ञाने रसादिज्ञानमवगम्यते, नापि तैस्तत्, इतीतरेतरानवगम' । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अवगमे स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । यदैव रूपज्ञानं रसादिज्ञानान्यवैति तदैव तदालम्बनत्वात् तदाकारतया रूपज्ञानता परित्यज्यान्यथा तदवगम , एव रसादिज्ञानेष्वपि योजनीयम् ,इत्यवगमे स्वरूपहानिप्रसङ्ग । एतदेवाह—ज्ञानान्तरालम्बनत्वापत्ते न ह्येतदालम्बन तदवगमयतीति भाव । यदि नामैव तत किमित्याह—तस्यापि चायोगात् तस्यापि च ज्ञानान्तरालम्बनत्वस्य , अयोगात् । अयोगश्च युगपद्भावात् । रूपरसादिज्ञानाना युगपद्भावे दोषमाह—प्रतिबन्धविरहात् तादात्म्यतदुत्पत्त्ययोगेन । दोषान्तरमाह–इतरेतरालम्बनत्वानुपपत्ते रूपज्ञानस्य रसान्तरालम्बनत्वानुपपत्ते , रसादिज्ञानस्य च रूपज्ञानान्तरालम्बनत्वानुपपत्ते । अनुपपत्तिश्च युक्तिभिरयोगात् । युक्त्ययोगश्च स्वभावभेदप्रसङ्गात् । रूपज्ञान हि रसादिज्ञानान्तरालम्बनमालम्ब्य च । न चैतदुभय स्वभावाभेदे इति स्वभावभेद' । यदि नामैवं तत किमित्याह—तथा च तदयोगादिति । स्वभावभेदे च रूपादिविज्ञानायोगात् ,ततस्तद्व्यतिरिक्तेतराविकल्पद्वारेण, इति 'न तेभ्य एवाऽमीषां युगपत्सर्वानुभव' इत्यवगम , इत्येतत् स्थितम् । अन्यतो भविष्यतीत्याशङ्कापनोदायाह—न चान्यत इत्यादि । न चान्यतोऽमीषा युगपत्सर्वानुभव इत्यवगम । कुत इत्याह—एकस्येत्यादि । एकस्यान्यस्य, तदालम्बनत्वाभावात् अधिकृतषड्विज्ञानालम्बनत्वाभावात् । अभावश्च तेषा भिन्नजातीयत्वात् षएणां विज्ञानानाम् । यदि नामैवं तत किमित्याह—अत एवैककारणात् । न हि भिन्नजातीया रूपादय एक पृथग्जनज्ञानं कुर्वन्ति । न चैतदुत्पन्नं तत्परिच्छेदकमित्येतदाह—अतदुत्पन्नादित्यादि । तेभ्यः षड्भ्यो विज्ञानेभ्य , उत्पन्न तदुत्पन्नं , न तदुत्पन्नमतदुत्पन्न तस्मात् ,एकस्मादिति प्रक्रम । तत्परिच्छित्त्यसिद्धे षड्ज्ञानपरिच्छित्त्यसिद्धे ,असिद्धिश्च तदाकारत्वायोगात् । उपचयमाह–योगेऽपि कथञ्चित् , तदाकारत्वस्य मेचकरूपतापत्तेरधिकृतग्राहकज्ञानस्य । यदि नामैवं तत किमित्याह–तत्सारूप्याभावात् । तैर्ज्ञेयज्ञानै षड्भि सारूप्याभावत् मेचकरूपस्य ग्राहकज्ञानस्य । अभावश्च तेषामसंकीर्णत्वात ज्ञेयज्ञानानाम् । न च सारूप्याभावे तदवगमो न्याय्य इत्येतदाह–एवमपीत्यादि । एवमपि सारूप्याभावेऽपि, ज्ञानज्ञेययोरवगमेऽभ्युपगम्यमाने अतिप्रसङ्गात् । अतिप्रसङ्गश्च,तत एव सर्वार्थावगमानुभवाच्च. इत्येवम्, अनवगताभिधानमेतत् पूर्वपक्षवचनं, यदुत 'युगपत्सर्वानुभव' उक्तवत्तद्यौगपद्याज्ञानादिति । चित्रज्ञानवदित्यादि । चित्रज्ञानवदिति निदर्शनम् , यथा चित्रज्ञाने सामर्थ्याच्चित्रावगम ,तथा परामर्शविकल्पात्-षड्ज्ञानगतात् , तदवगम , प्रक्रमादमीषा युगपत्सर्वानुभवावगम इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नाऽस्याऽप्ययोगात् चित्रज्ञानस्य । तथेत्यादि । तथा चित्रज्ञानत्वेनानुभवसिद्धत्वात् कारणात्, कथमयोग इति चेत् चित्रज्ञानस्य । एतदाशङ्क्याह—स्वेत्यादि । स्वकृतान्तप्रकोपात्-स्वसिद्धान्तविरोधादयोग । कथमत्र तथानुभवसिद्धौ, तत्प्रकोप इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—यथोक्त प्राक्-पूर्वम् 'एकस्यानेकालम्बनत्वाभावात्,इत्यादिना परामर्शविकल्पोऽनन्तरप्रस्तुत ,अन्य एव तथाविधानुभवनिमित्त न षड्ज्ञानगत इति चेत् । एतदाशङ्क्याह–न तत्, परामर्शविकल्पादन्यस्मात्, तदवगम प्रक्रमादमीषा युगपत्सर्वानुभवावगम , इत्येव, यत्किञ्चिदेतदनन्तरोदितम् , सर्वमेवासारमित्यर्थ । क्रमानुभवोऽपि रूपादिज्ञानगत इति प्रक्रम , कथ गम्यत इति चेत्, तत्क्रमग्राह्यान्यद् विज्ञानान्तर न विद्यत एव त्यभिप्राय ।एतदाशङ्क्याह-अन्वयिन्यात्मनि सुखेनैव गम्यते, एतदेवाह–तस्यैव प्रक्रमाद्रूपादिज्ञानानुभवितुरात्मन , तथा भावाद्–रूपादिज्ञानरूपेण भावात् ,तत्तथाभावश्च चित्रस्वभावात् ,अनुवृत्तिव्यावृत्तिस्वभावत्वादित्यर्थ । एतच्च बोधान्वयोपपत्ते , न व्यावृत्तिमन्तरेणान्वय इत्युपपत्ति । युक्त्यन्तरमाह–तदावरणविगमात्–क्रमानुभवज्ञानावरणविगमात् । न चायमसिद्ध इत्याह–क्रमानुभवाविरोधात् कारणसाकल्येन-

स्यर्थः । अविरोधश्च तथामनोवृत्तेः युगपज्ज्ञानानुपपत्तित्वेन मनोवृत्तेः कारणात् । प्रक्रान्तोपसंहारमाह—इति न युगपदित्यादिना । इत्येवं, न युगपत्सविकल्पाविकल्पज्ञानभावः ।

परमाप्तवचनविरुद्धश्चायम्, "अस्थानमेतत्, यद् द्वे चित्ते युगपदुत्पद्येयाताम्" इति वचनप्रामाण्यात् । अन्यार्थमेतदिति चेत् । कोऽस्यार्थ इति वाच्यम् । भिन्नजातीयेनेति चेत् । न । अधिकृतज्ञानयोरपि तत्त्वात् । भिन्नालम्बनेनेति चेत् । न । तयोरपि त्वन्मते भावात् । कथं पुनर्भाव इति चेत् । रसादिगतचित्तस्यापि रूपदर्शनाभ्युपगमादिति । न चाविकल्पकेनेति, पञ्चानां प्ररूपणात् । न चात एव न द्वे, छलमात्रत्वात् । न चेहैव न्याय्यो भरः, अस्थानप्रयासत्वात् । न च नास्थानप्रयासः, द्वयोरुपलक्षणत्वात्, अन्यथा यत्र पञ्च न तत्र द्वे इत्यतिकौशलमाप्तस्य, त्र्यादीनामपि प्रतिषेधापत्तेः ।

उपचयमाह-परमाप्तवचनविरुद्धश्चाय परमाप्तो-भगवान् वृद्धस्तद्वचनविरुद्धश्च, अयं युगपत्सविकल्पाविकल्पज्ञानभाव. । एतदेवाह-अस्थानमित्यादिना । अस्थानमिति-एतन्न न्यायस्थान यद् द्वे चित्ते द्वे ज्ञाने, युगपदेकदा,उत्पद्येयाताम्, इत्येवं वचनप्रामाण्यात् कारणात् परमाप्तवचनविरुद्ध इति । अन्यार्थमेतत् परमाप्तवचनमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कोऽस्य परमाप्तवचनस्यार्थ इति वाच्यम् । भिन्नजातीये न द्वे चित्ते युगपदुत्पद्येयातामिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न, अधिकृतज्ञानयोरपि-सविकल्पाविकल्पयो , तत्त्वात्-भिन्नजातीयत्वात् । भिन्नालम्बने न द्वे चित्ते युगपदुत्पद्येयातामिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न । तयोरपि भिन्नालम्बनयोरपि, त्वन्मते-त्वत्पक्षे, भावात् । कथ पुनर्भावो भिन्नालम्बनयोर्मत्पक्षे, इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-रसादिगतचित्तस्यापि प्रमातु , रूपदर्शनाभ्युपगमात् । अभ्युपगमश्च " अतीताद्यर्थगतविकल्पेनापि रूपादिग्रहणसिद्धेः " इति वचनात् । न चाविकल्पकेनेति द्वे चित्ते युगपदुत्पद्येयातामिति । कुत इत्याह--पञ्चानां प्ररूपणात् । स हि वंशादिवादयितुः रूपं पश्यतीत्यादिना ग्रन्थेन, नचात एव--पञ्चप्ररूपणादेव, न द्वे । कुत इत्याह-छलमात्रत्वात् । यत्र पञ्च तत्र द्वे अपि भवत इति कृत्वा । न चेहैव प्रक्रमाच्छलादौ, न्याय्यो भरस्तथाविधाऽऽस्थारूपः । कुत इत्याह--अस्थानप्रयासत्वात् । न च नास्थानप्रयास एष., किन्त्वस्थानप्रयास एव । कुत इत्याह-द्वयोरुपलक्षणत्वात् पञ्चादीनाम् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा उपलक्षणत्वानभ्युपगमे, यत्र पञ्च न तत्र द्वे इत्यतिकौशलमाप्तस्य, इत्युपहासवचनम् । अत एव आह-त्र्यादीनामपि प्रतिषेधापत्त कारणात् ।

स्यादेतत्, अलमनेन वाग्जालेन, सविकल्पेनोत्पद्येते इति वचनार्थात् । न, अत्र प्रमाणाभावात्, तद्विवक्षाया अत्यक्षत्वात् बाधकवचनाभावात्, भावेऽपि तदर्थनिश्चयायोगात्, विनेयानुगुण्यतोऽन्यथापि तद्वचनप्रवृत्तेः । साऽऽभिप्रायिक्येवेति चेत्, कस्तस्याभिप्राय इति क एतद्वेद ?। यो युक्तिबाधितो न स स इति चेत् । कः पुनरसौ भवतोऽभिप्रेतः ?। विकल्पद्वयायुगपद्भाव इति चेत् । का खल्वन्यथा युक्तिबाधा ? इति कथनीयम् । तथानुभव एवेति चेत् । सोऽविकल्पकद्वयेऽपि तुल्य एवेत्युक्तम् । न च विकल्पयोरसदंशानुवेधतश्चित्ततैव युक्ता । न च तत्स्वसंविदो वस्तुत्वेनायमनपराधः, तत्तद्व्यतिरिक्तेतरविकल्पदोषापत्तेः अन्यथा तदयोगात् । इति यत्किञ्चिदेतत् । अतः सामान्येनैवोभयचिन्ताप्रतिषेधोपपत्तेः, आप्तवचनप्रामाण्यात्, तथानुभवभावतः सिद्धमिन्द्रियद्वारानुसार्येव विज्ञानमाविष्टाभिलापम् ' अहिरहिः ' इत्येवमादि ।

स्यादेतदलमनेन वाग्जालेनान्तरोदितेन, सविकल्पे न उत्पद्येते द्वे चित्ते युगपदिति वचनार्थात्, कारणात् अलमनेन । एतदाशङ्क्याह-न अत्र वचनार्थे. प्रमाणाभावात् । अभावश्च तद्विवक्षाया अत्यक्षत्वात्--अतीत्याक्षमिन्द्रिय वर्तत इत्यत्यक्षा तद्भावस्तस्मात् परोक्षत्वादित्यर्थः । अत्यक्षापि वचनान्तरावसेया भविष्यतीत्याह—बाधकवचनाभावात् । अविकल्पयौगपद्याभिधायि बाधकं वचनम्, अत्र न च तदस्तीति गर्भ. । उपचयमाह-भावेऽपीत्यादिना । भावेऽपि बाधकवचनस्य ' पञ्च बाह्यविज्ञानानि भिक्षवः ! युगपदुत्पद्यन्ते ' इत्यादे' । किमित्याह-तदर्थनिश्चयायोगात् । अविकल्पज्ञानानां युगपद्भावस्तदर्थस्तन्निश्चयायोगात्, अयोगश्च विनेयानुगुण्यत.-शिष्यानुगुण्येन, अन्यथापि श्रौतं शब्दार्थं विहायाऽपि. तद्वचनप्रवृत्ते.-आप्तवचनप्रवृत्ते..ब्राह्मणमृतजायाऽमृतवचनवत् । सेत्यादि । सा तद्वचनप्रवृत्ति., आभिप्रायिक्येव अभिप्रायेण निर्वृत्ता आभिप्रायिकी अभिप्रायस्तथार्थदर्शनमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह कस्तस्य आप्तस्याऽभिप्राय' अर्थयाथात्म्यमधिकृत्य किमविकल्पयौगपद्यमेव, उत विकल्पयौगपद्यमिति ?। क एतद्वेद—क एतज्जानाति ?, न ह्यसौ पृथग्जनप्रज्ञाविषय इत्यर्थ । य इत्यादि । योऽभिप्रायो युक्तिबाधितो—युक्तिविरहित', न स स इति-नासौ तदभिप्रायः, अर्थयाथात्म्यमधिकृत्येति प्रक्रमः, इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—क पुनरसौ अभिप्राय' , भवतोऽभिप्रेत. ?। विकल्पेत्यादि । विकल्पद्वयायुगपद्भावोऽभिप्राय. ' अस्थानमेतत् ' इत्यादिसूत्रे इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—का खल्वन्यथा विकल्पद्वययुगपद्भावे, युक्तिबाधा ?, इत्येतत् कथनीयम् । तथा विकल्पद्वययौगपद्येन, अनुभव एव युक्तिबाधेति चेत् । एतदाशङ्क्याह-सोऽविकल्पद्वयेऽपि यौगपद्येनाऽनुभव, तुल्य एवेत्युक्तं प्राक् । किंच-कुतोऽयममीषामत्यन्तभेदे युगपत् सर्वानुभव इत्यवगम ?, इत्यादिना सूत्रेण । उपचयमाह—न चेत्यादिना । न च विकल्पयोरसदंशानुवेधत कारणात्, अविद्यमानप्रतिभासित्वाभ्युपगमेन, चित्ततैव युक्ता, यदसत्प्रतिभासि तदसदेवेति भावनीयम् । पराभिप्रायमाह—न चेत्यादिना । न च तत् स्वसंविदो विकल्पस्य स्वसंविद, वस्तुत्वेन हेतुना . अयमसदंशानुवेधतश्चित्तताऽयोगलक्षण., अनपराधोऽदोषो न च । कुत इत्याह-तत्तद्व्यतिरिक्तेतरविकल्पदोषापत्ते तस्या स्वसंवि-

वस्तद्व्यतिरिक्तेतरविकल्पदोषापत्तेः-असदंशव्यतिरिक्ताव्य तिरिक्तविकल्पदोषप्रसङ्गात्—सा हि स्वसंविदसदंशाद् वि कल्पानुवेधकाद् व्यतिरिक्ता वा स्यादव्यतिरिक्ता वा ? । व्यतिरिक्तत्वे तस्येति सङ्घायोगः । अव्यतिरिक्तत्वे तस्यापि वस्तुता ,स्वसंविदो वाऽवस्तुतेत्यादि । अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदयोगात्-तत्स्वसंविदोऽयोगात् ,तथाहि-यदि सा ततो न व्यतिरिक्ता , नाप्यव्यतिरिक्ता, न विकल्प एवेति कुतस्तत्स्वसंवित् ? इत्यालोचनीयम् । इत्येव , यत्किंचिदसारमेतद् यदुत-' तत्स्वसंविदो वस्तुत्वेनायमनपराध ' इति । अप्रान्तरालपूर्वपक्षमधिकृत्योपसंहारमाह—अत इत्यादिना । अतोऽस्मात् कारणात् , सामान्येनैवोभयचित्तप्रतिषेधोपपत्तेः, । प्रक्रमादधिकृतसूत्रे ' अस्थानमेतत्-' इत्यादौ सविकल्पाविकल्पोभयचित्तप्रतिषेधोपपत्तेः । किमित्याह-आप्तवचनप्रामाण्यात् कारणात् । तथा , अनुभवभावत एकचित्तरूपत्वेनानुभवभावत ,सिद्धे—प्रतिष्ठितम् । किमित्याह-इन्द्रियद्वारानुसार्येव विज्ञानम् , ईहादिक्रमेणाऽऽविष्टाभिलापम् ' अहिरहिः ' इत्येवमादि । आदिशब्दात्तदन्यैवंविधपरिग्रह , तदपि सिद्धमित्यर्थः ।

न चेदं नेन्द्रियनिमित्तं, तद्भावभावित्वानुविधानात् ,अन्धादेरनुत्पत्तेः । इन्द्रियादविकल्पजन्म तत इदमिति तदनुत्पत्तिरिति चेत् । न । आद्यविद्युत्संपातादौ तद्भावेऽपि तदभावात् । स मानसाभावतोऽभावो नाक्षव्यापाराभावत इत्यतोऽदोष इति चेत् । नात्र किञ्चिदुभयसिद्धं प्रमाणात् । इति यत् किञ्चिदेतत् । तथाविधविकल्पानुत्पत्तिरेव प्रमाणमिति चेत् । न । अस्या एव विवादगोचरापन्नत्वात् । अत एवैतन्निर्णीतेरयमदोष इति चेत् । न । चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्यस्याः समानत्वादिति ।

इहैवोपचयमभिधातुमाह-न चेत्यादि। न चेद नेन्द्रियनिमित्तं किं तर्हि, इन्द्रियनिमित्तमेव । कुत इत्याह-तद्भावभावित्वानुविधानात् इन्द्रियभावभावित्वानुकरणात् । तदेवाह-अन्धादेरनुत्पत्ते ।आदिशब्दाद्-अन्यापृतेन्द्रियग्रह ।इन्द्रियादित्यादि।इन्द्रियात् सकाशात् ,अविकल्पजन्मा-अविकल्पोत्पादः, ततोऽविकल्पात् , इद विज्ञानमाविष्टाभिलापम् , इत्येवं तदनुत्पत्तिरन्धादेर्विवक्षितविज्ञानानुत्पत्तिरिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-आद्यविद्युत्संपातादौ । आदिशब्दात्—तदन्याद्भुतदर्शनग्रहः । तद्भावेऽपि-इन्द्रियादविकल्पजन्मभावेऽपि तदभावात्—आविष्टाभिलापविज्ञानाभावात् । स मानसाभावतः स्वविषयानन्तराविषयसहकारीन्द्रियज्ञानजनितमानसाभावेन, अभाव , आविष्टाभिलापविज्ञानाभावः । नाक्षव्यापाराभावतो-नेन्द्रियव्यापाराभावेन, इत्यतोऽस्मात् कारणात्, अदोष ' आद्यविद्युत्संपातादौ तद्भावेऽपि तदभावात् ' इत्ययमनपराध इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नात्र 'स मानसाभावत:' इत्यादौ, किञ्चिदुभयसिद्धं वादिप्रतिवादिप्रतिष्ठितम् , प्रमाणमक्षव्यापारापोहेन मानसनिबन्धनत्वव्यवस्थापकम् , इत्येवं, यत्किञ्चिदेतदसारमित्यर्थः । तथाविधेत्यादि ।तथाविधविकल्पानुत्पत्तिरेवाविष्टाभिलापविज्ञानानुत्पत्तिरेवेत्यर्थः । प्रमाणमक्षव्यापाराभावेन मानसनिबन्धनत्वव्यवस्थापकमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न अस्या एव तथाविधविकल्पानुत्पत्तेरेव, विवादगोचरापन्नत्वात् विप्रतिपत्तिविषयत्वादिति योऽर्थः । अत एवेत्यादि । अत एव तथाविधविकल्पानुत्पत्तेरेव सकाशात्, एतन्निर्णीतेः ' स मानसाभावतोऽभावो नाक्षव्यापाराभावतः ' इत्येतन्निश्चयात् कारणात् , अयमनन्तरोदितः ' न, अस्या एव विवादगोचरापन्नत्वात् ' इत्यदोषोऽनपराध इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न, चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्यस्याः, अत एव तन्निर्णीते , समानत्वात्—तुल्यत्वादिति । तथाहि—अत एव तथाविधविकल्पानुत्पत्तेरेव सकाशात्, एतन्निर्णीतेः सोऽक्षव्यापाराभावतोऽभावो न मानसाभावत इत्येतन्निश्चयात् कारणात् , इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् तुल्यत्वमिति भावनीयम् ।

किञ्च-इदमपि मानसं तद्विषयमात्रग्राहकत्वेन न तद्भिन्नशक्तिकमिति । किञ्चानेन, निरंशैकस्वभावत्वाच्च वस्तुनोऽनुभवोऽपि न पटीयानपटीयांश्च युज्यते अत्यन्ताऽसत उत्पादेन सर्वथा हेत्वनन्वयतोऽभ्यासवासने च; अन्यथाऽसंपूर्णवस्तुग्रहणमपि स्यात् , तथा च न निरंशैकस्वभावमेवैतत् । न चान्यथाऽपटीयस्त्वादि, अनुभवस्य तन्मात्रग्रहणत्वात् , तदतिरिक्तरूपान्तराभावात् , अन्येनोपकाराद्ययोगादिति । एवमभ्यासवासनोपगमाद् नात्यन्तासत एवोत्पादः, सत्यस्मिंस्तयोर्वाध्यत्वात् , तदात्मातिरेकेणाऽऽकालं तदभावात् , पूर्वस्मादत्यन्तभिन्नत्व ? तथापि तदभ्यासादावतिप्रसङ्गात् । इतीन्द्रियजमेवैतत् ।

अभ्युच्चयमाह—किञ्चेत्यादिना । किञ्च—इदमपि मानसं स्वविषयानन्तरेत्यादिलक्षणवत् , तद्विषयमात्रग्राहकत्वेन प्रक्रमादक्षज्ञानविषयमात्रग्राहकत्वेन हेतुना स्वलक्षणमात्रग्राहकत्वेनेत्यर्थः , न तद्भिन्नशक्तिकं नाक्षज्ञानभिन्नशक्तिकमिति । किञ्चानेन परिकल्पितेन, तथाविधविकल्पोत्पत्तौ समानमेतदक्षज्ञानेनेति भाव । पक्षान्तरपरिजिहीर्षयाह-निरंशैकस्वभावत्वाच्च कारणात् , वस्तुन अनुभवोऽपि-प्रक्रमात्तदनुभव , न पटीयानपटीयांश्च युज्यते, निरंशैकस्वभावाद् वस्तुनस्तथाविधैकस्वभावस्यैवास्य भावात् , तद्भेदोऽपि न तथाविधविकल्पोत्पत्त्यनुत्पत्तिनिमित्तमिति प्रकृतयोजना । तथा , अत्यन्तासत उत्पादेन हेतुना, अनुभवस्य सर्वथा हेत्वनन्वयत कारणात्, तत्तथाभावाभावेनाऽभ्यासवासने च ' अनुभवस्य न युज्येते ' इति वर्तते, पौनःपुन्यकरणमभ्यास , पूर्वानुभूतसंस्कारानुवेधश्च वासना, नैते अत्यन्तासत उत्पादे भवत इति भावनीयम् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा एवमनभ्युपगमे, असंपूर्णवस्तुग्रहणमपि स्यात् अनुभवापटीयस्त्वादिभावेन । यदि नामैवं तत किमित्याह-तथा च न निरंशैकस्वभावमेवैतद् वस्तु, किन्तु-साशानेकस्वभावमिति । न चान्यथोक्तप्रकारं विहाय, अपटीयस्त्वादि, आदिशब्दात्पटीयस्त्वग्रह ,

अनुभवस्याधिकृतस्य । कुत इत्याह -तन्मात्रग्रहणत्वाद् वस्तुमात्रग्रहणस्वरूपत्वात्, अनुभवस्य, तदतिरिक्तरूपान्तराभावात् तन्मात्रग्रहणतस्त्वातिरिक्तरूपान्तराभावात् । अभावश्चान्येन वस्तुव्यतिरिक्तेनोपकाराद्ययोगात् ततश्च वस्तुग्रहणभेदकृतमेवापटीयस्त्वाद्यरयेति साक्षानेकस्वभावमेतदिति स्थितम् । एवमभ्यासवासनोपगमात् कारणात् । किमित्याह—नात्यन्तासत एवोत्पादः । कुत इत्याह—सत्यस्मिन् अत्यन्तासत उत्पादे, तयोरभ्यासवासनयोः, वाङ्मात्रत्वात् । वाङ्मात्रत्वमेवाह—तदात्वातिरेकेण तदाभावातिरेकेण, आकाल—यावदपि कालस्तावदपि, तदभावादत्यन्तासत उत्पद्यमानस्याभावात्, अभावश्च पूर्वस्मादत्यन्तभिन्नत्वात् अत्यन्तासत उत्पद्यमानस्य, तथाप्येवमपि, तदभ्यासादौ तस्यानुभवस्याभ्यासवासनाभावे, अतिप्रसङ्गादनुभवान्तरस्याप्यभ्यासादिशून्यस्य तद्भावप्रसङ्गात् । इतीन्द्रियजमेवैतद् विज्ञानमाविद्याभिलापम् 'अहिरहि' इत्येवमादीत्यधिकारोपसहार ।

एतच्चानेकधर्मके वस्तुनि ज्ञानावरणाच्छादितस्य प्रमातुस्तथाविधक्षयोपशमभावत उभयोस्तथास्वभावत्वेनावग्रेहेहावायधारणारूपं प्रवर्तत इति । अनेकधर्मकत्वं च वस्तुनोऽनेकविज्ञानजनकत्वात्, योग्ययोगिभिर्भेदेनोपलब्धेः, अन्यथा तदभेदप्रसङ्गात्, द्वयोरपि तत्तन्निमित्तत्वात्, तद्भावभावित्वानुविधानात् । मरावल्पभावे महद्दर्शनमनिमित्तमिति चेत् । न । अल्पस्यैव तन्निमित्तत्वात्, तदभावेऽभावात्, विप्रकर्षाद्युपप्लवात्, तत्तत्स्वभावत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः, ततस्ततोऽन्यत्वाच्च, स्वभावभेदेन व्यावृत्तेः, अन्यथा तदेकत्वप्रसङ्गात्, तदन्यत्वहेतुत्वेनाविशेषात्, अन्यत्वस्य चाकल्पितत्वात्, कल्पितत्वे तत्वतस्तदभावापत्तेः ।

एतच्चेत्यादि । एतच्चाधिकृतज्ञानम्, अनेकधर्मके वस्तुनि घटरूपादौ, ज्ञानावरणाच्छादितस्य प्रमातुर्जीवस्य, तथाविधक्षयोपशमभावतो द्रव्यादिनिमित्तचित्रक्षयोपशमभावात्, उभयो. प्रमातृविषययो., तथास्वभावत्वेन चित्रग्राह्यग्राहकस्वभावत्वेन हेतुना, अवग्रहेहावायधारणारूपं प्रवर्तत इति ग्रहणकवाक्यसमुदायार्थ । अवयवार्थ तु स्वयमेवाह ग्रन्थकार —अनेकधर्मकत्व च वस्तुन इत्यादिना ग्रन्थेन । अनेकधर्मकत्वं च वस्तुनो घटरूपादे । कुत इत्याह—अनेकविज्ञानजनकत्वात्—अनेकेषां विज्ञानजनकमनेकविज्ञानजनक तद्भावस्तस्मात् । एकेनैव स्वभावेनैव भविष्यतीत्याह—योग्ययोगिभि प्रमातृभि., भेदेनोपलब्धे संपूर्णाऽसपूर्णधर्मसाक्षात्करणेन दर्शनादित्यर्थ । अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदभेदप्रसङ्गाद्–योग्ययोगिनोरभेदप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च द्वयोरपि योग्ययोगिनो., तत्तन्निमित्तत्वात्–तस्या उपलब्धेस्तन्निमित्तत्वात् अधिकृतवस्तुनिमित्तत्वात् । तन्निमित्तत्वं च तद्भावभावित्वानुविधानात्—अधिकृतवस्तुभावभावित्वानुकरणात् । अतन्त्रमेतदर्वाग्दृशामित्येतदेवाह–मरावित्यादिना । मरौ विषये, अल्पभावेऽल्पस्य छगणादे. सत्तायां, महद्दर्शनं महतो वत्सादेरिति दर्शनम्, अनिमित्तम्, अल्पस्याप्रतिभासनेन निमित्तत्वायोगादिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न, अल्पस्यैव छगणादे., तन्निमित्तत्वाद्–महद्दर्शननिमित्तत्वात् । तन्निमित्तत्वं च तदभावेऽभावात्, अल्पाऽभावेऽभावाद्, महद्दर्शनस्य । कथमिदमतत्प्रतिभासीत्याह—विप्रकर्षाद्युपप्लवात् विप्रकर्षो—देशविप्रकर्षः, आदिशब्दात्—तथाविधज्ञानावरणक्षयोपशमपरिग्रह., ताभ्यामुपप्लवाद् भ्रान्ते । उपप्लवश्च तत्तत्स्वभावत्वात् तस्य विप्रकर्षादे. तत्स्वभावत्वादुपप्लवजननस्वभावत्वात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यमित्याह—अन्यथा तदनुपपत्ते, अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदनुपपत्तेरुपप्लवानुपपत्ते., न ह्यसावन्यनिमित्तोऽनिमित्तो वेति भावनीयम् । मूलसाध्य एव हेत्वन्तरमाह–ततस्ततोऽन्यत्वाच्च । ततस्तत सजातीयेतरादविचित्राद् वस्तुन, अन्यत्वाच्च—भिन्नत्वाच्च कारणात्, अनेकधर्मकं वस्त्विति । यदि नामैव तत किमित्याह—स्वभावभेदेन व्यावृत्ते ततस्तत । किमित्येतदेवमित्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे, स्वभावभेदमन्तरेण ततस्ततो व्यावृत्त्यभ्युपगम इत्यर्थ, तदेकत्वप्रसङ्गाद्–व्यावर्त्यमानैकत्वप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च तदन्यत्वहेतुत्वेनाविशेषात् तस्य वस्तुनो व्यावृत्तिमत. अन्यत्वहेतुत्वेन अविशेषाद् व्यावर्त्यमानानाम्, तद्धि तेभ्योऽन्यत्, तदन्यत्वस्य च त एव हेतव, यदेव चैकमपेक्ष्य तदन्यत्व तदेवापरमपि, न चैतत् तदभेदमन्तरेणेति हृदयम् । किमनेन कल्पितेनेत्याशङ्कानिरासायाह–अन्यत्वस्य चाकल्पितत्वात् तस्य व्यावृत्तिमतो व्यावर्त्यमानेभ्य । इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यमित्याह—कल्पितत्वे तदन्यत्वस्य तेभ्य, तत्वत —परमार्थत, तदभावापत्तेस्तस्य व्यावृत्तिमतोऽभावापत्ते, व्यावर्त्यमानाऽनन्यत्वेन ।

स्वहेतुत एव तत्तदन्येभ्योऽन्यत्वैकस्वभावं भवतीति चेत् । न । पटान्यत्वैकस्वभावान्यत्वे पटवत् कटादीनां तद्भावापत्तेः, तथास्वभावादन्यस्वभावत्वात्, अचित्रस्यानेकान्यत्वैकत्वायोगे तच्चित्रतयैकान्तैकत्वाभावात्, पारम्पर्येणानेकजन्यजनकत्वाच्च, अन्यथा सद्भावासिद्धेः, परम्पराहेतुतोऽपि भावात् तथाविधतद्भावभावित्वोपपत्तेः पुष्कलस्य चानन्तरेणाप्ययोगात् तदा तद्भावाभावादिति । अनन्तरजन्यत्वमेव परम्पराजन्यत्वमिति चेत् । न । परम्पराजनकानामनन्तरजनकत्वायोगात्, तत्स्वभावादिभेदात् तद्भेदेन च तत्तज्जनकत्वे न तदेव तत् ।

पराभिप्रायमाह–स्वहेतुत एव तद् वस्तु प्रस्तुतम्, तदन्येभ्यो व्यावर्त्यमानेभ्य, अन्यत्वैकस्वभावम् । अन्यत्वमेवैक. स्वभावो यस्य तत्तथा भवतीति चेत् । एतदाशङ्क्याह–नेत्यादि । नैतदेवम् । कुत इत्याह—पटान्यत्वैकस्वभावान्यत्वे पटान्यत्वमेवैक स्वभावो यस्य वस्तुनोऽधिकृतस्य तत्पटान्यत्वैकस्वभावं तस्मादन्यत्वं पटान्यत्वैकस्वभावान्यत्वं तस्मिन् पटान्यत्वैकस्वभावान्यत्वे सति पटवदिति निदर्शनम्, कट–

शकटादीनां भावाना तद्भावापत्तेः-पटभावापत्ते ,आपत्तिश्च तथास्वभावात् पटान्यत्वैकस्वभावादधिकृतवस्तुनः , अन्यस्वभावत्वात् कटादीनां पटभावापत्ति ,पटकटादिसमुदायान्यत्वैकस्वभावं कथ पटान्यत्वैकस्वभावमुच्यत इत्युच्यते-अचित्रस्यानेकान्यत्वैकत्वायोगात्। तथा चाह-अचित्रस्येत्यादि। अचित्रस्य विवक्षितवस्तुनः , एकस्वभावस्य अनेकान्यत्वैकत्वायोगे , अनेकेभ्य. पटादिभ्य अन्यत्वमनेकान्यत्व तस्यैकत्वमनेकान्यत्वैकत्वम् , तस्यायोगे, उक्तवत्तदेकत्वप्रसङ्गेन तस्मिन् सति तच्चित्रतया विवक्षितवस्त्वेकस्वभावस्य चित्रतया। किमित्याह-एकान्तैकत्वाभावात्। विवक्षितवस्तुनः, एकस्वभावस्येति प्रक्रम.। हेत्वन्तरमाह—पारम्पर्येणानेकजन्यजनकत्वाच्च अनेकधर्मकत्व वस्तुन इति । पारम्पर्येणैकादिव्यवधानापेक्षया, जन्यश्च जनकश्च जन्यजनक अनेकेषां जन्यजनक., अनेकजन्यजनकस्तद्भावस्तस्मात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे, तद्भावासिद्धेरचित्रवस्तुभावासिद्धे । असिद्धिश्च परम्पराहेतुनोऽपि सकाशात्, भावादधिकृतवस्तुन , न हि पितामहाद्यभावेऽपि पौत्रादिभाव इति भावनीयम् । इहैव युक्तिमाह—तथाविधतद्भावभावित्वापत्ते.। तथाविधमेकादिव्यवधानवच्च तत् तद्भावभावित्वं च परम्पराकारणभावभावित्वं चैतदेवोपपत्तिस्ततः । एतदप्यङ्गीकर्तव्यमित्याह-पुष्कलस्य च तद्भावभावितस्य, अनन्तरेणापि कारणेन , सहायोगात्। अयोगश्च तदा कारणादिकाले , तद्भावाभावात्—कार्यादिभावाभावात् ; अन्यथा जन्यजनकत्वाभाव सव्येतरगोविषाणवदिति । अनन्तरजन्यत्वमेव कार्यस्य परम्पराजन्यत्वमिति चेत्। एतदाशङ्क्याह-न परम्पराजनकानां हेतूनाम् , अनन्तरजनकत्वायोगात्। अयोगश्च स्वभावादिभेदात् , स्वभावभेद प्रतीतः , आदिशब्दात्-कालभेदपरिग्रह.। तद्भेदेन च-स्वभावादिभेदेन च, तत्तज्जनकत्वे तेषामनन्तरपरम्पराहेतूनां, तज्जनकत्वे-प्रक्रमाद् विवक्षितकार्यजनकत्वे। किमित्याह-न तदेव तत् नानन्तरजन्यत्वमेव परम्पराजन्यत्वमिति निगमनम्।

एवं जनकत्वेऽपि योजनीयमिति तच्चित्रस्वभावता, सुखदुःखादिहेतुत्वाच्च, रागाद्यभेदेन सुखादिजनकत्वात् , तेषां चाह्लादादिरूपत्वेन ज्ञानादन्यत्वात् , तत्स्वरूपेण बाह्यावेदनात् , ज्ञानभावेऽपि क्वचित्तदभावात् , तथानुभवसिद्धत्वात् । अज्ञानत्वे कथममीषामनुभवः ?, इति चेत् । सत्त्वादिवत्कथञ्चिज्ज्ञानाभेदात् , तदुदग्रत्वेन तथा तज्ज्ञानरञ्जनात् , उभयोस्तत्स्वभावत्वात् , युगपत्प्रवृत्त्यविरोधात् , सुखादिज्ञाने तथानुभवसिद्धत्वात् , तत्तद्वचनसिद्धेश्च 'आविर्भावतिरोभावधर्मकं वस्तु न कृतार्थे प्रकृतिप्रवृत्तिः , तद्विरागात् तदवृत्तिसंक्षयाच्च' इति वचनप्रामाण्यात् । तथा 'अनित्यता सर्वसंस्कृतानां, दुःखता सर्वसाश्रवाणां, शून्यानात्मकते सर्वधर्माणाम् , अविकारिणी तथता' इति वचनप्रामाण्याच्चेत्यनेकधर्मकं वस्तु।

एवमित्यादि। एवम्-उक्तनीत्या. जनकत्वेऽपि योजनीयम्। पारम्पर्येणानेकजनकत्वादधिकृतवस्तुन. , अन्यथा तद्भावासिद्धेः—ततोऽनकभावासिद्धे परम्पराहेतुनोऽपि भावादनेकेषाम्। एव शेषमपि स्वधिया योजनीयम्। इत्येव , तच्चित्रस्वभावता—तस्य वस्तुनश्चित्रस्वभावता । अनेकधर्मकत्वमित्यर्थ । हेत्वन्तरमाह-सुखदु खादिहेतुत्वाच्च अनेकधर्मक वस्तु । कथमेतदेवमित्याह-स्वभावभेदेन सुखादिजनकत्वाद् वस्तुन ।आदिशब्दाद्-दु खमोहज्ञानादिग्रह । न ते तत्फलज्ञानतोऽन्ये,इत्याशङ्कापोहायाह-तेषां च सुखादीनामाह्लादादिरूपत्वेन हेतुना.आह्लादरूप सुखम् , परितापरूप दुःखम् .असंवित्स्वभावो मोह इति कृत्वा। किमित्याह ज्ञानादन्यत्वात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह तत्स्वरूपेण आह्लादादिलक्षणेन ज्ञानेनव,बाह्यावेदनात्। इतश्चैतदेवम्-ज्ञानभावेऽपि क्वचिद्विरक्ताऽऽदौ, तदभावादाह्लादाद्यभावात् , अभावश्च तथाऽनुभवसिद्धत्वात् , आह्लादाद्यभावेनापि भाववेदनादित्यर्थ । अज्ञानत्वे सति, कथममीषां सुखादीनाम् , अनुभव इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—सत्त्वादिवत्। इति निदर्शनम्। आदिशब्दाद्-ज्ञेयत्वादिग्रह ,कथञ्चित् ज्ञानाभेदात् ,तथाहिन सत्त्वमेव ज्ञानम् ,सत्त्वमात्रत्वे ज्ञानस्य सर्वत्र ज्ञानप्रसङ्ग । अथ च ज्ञाने न तदात्मीयमनुभूयत इति। युक्त्यन्तरमाह—तदुग्रत्वेन-सुखाद्युदग्रत्वेन, तथैकलोलीभावेन, तज्ज्ञानरञ्जनात्-सुखादिज्ञानरञ्जनात्। एतच्चैवमित्थमित्याह—उभया. सुखादिज्ञानयो., तत्स्वभावत्वात् रञ्ज्यरञ्जकस्वभावत्वात् । अत एव युगपत्प्रवृत्त्यविरोधात्, सुखादीना ज्ञानस्य चेति प्रक्रम.। अविरोधश्च सुखादिज्ञाने, तथा कथञ्चिद्भिन्नसुखादिवेदकत्वेन , अनुभवसिद्धत्वात् कारणात् अमीषामनुभव इति योग । हेत्वन्तरमाह—तत्तद्वचनसिद्धेश्च हेतो. । अनेकधर्मकं वस्तु । तस्मिंस्तस्मिन् सांख्यादिवचने यथासिद्धं तत् तथाभिधातुमाह—आविर्भावेत्यादि। आविर्भाव -प्रकटभाव , तिरोभावस्त्वप्रकटभाव ,एतद्धर्मक वस्तु प्रधानाख्यम् , इत्यनेकधर्मकता। तथा न कृतार्थे पुंसि प्रकृतिप्रवृत्तिर्महदादिभावेन, तद्विरागात्-पुरुषविरागात्, तदवृत्तिसंक्षयाच्च-प्रकृतिवृत्तिसंक्षयाच्च ततश्चाविरक्ते प्रवृत्ति , विरक्ते वृत्तिसंक्षयश्च, पुरुषोऽपि विरक्तश्चाविरक्तश्चेत्यनेकधर्मकता, इति वचनप्रामाण्यात्। तथा,अनित्यता नश्वरता,सर्वसंस्कृतानां सर्वकृतकानां, दु खता बाधायुक्तता, दु.खपरिणाम-दु खसंस्कार-दु खापेक्षया-यथासंभव सर्वसाश्रवाणां सर्वरागादिक्लेशवताम् , शून्यानात्मकते तत्त्वतस्तुच्छरूपे, सर्वधर्माणां व्यावृत्तिद्वारपरिकल्पितानामनित्यदु खादिधर्मतोऽनेकधर्मकता, तथा, अविकारिणी उपादाननिमित्तकृतविकारशून्या, तथाता-वृद्धता तथाभावरूपा प्राग्विकाराभावेनानेकधर्मता,इति वचनप्रामाण्याच्च इत्येवम् ,अनेकधर्मकं वस्तु। एते च सर्व एव वस्तुनोऽनेकविज्ञानाद्युपाधिभेदभिन्ना. स्वभावहेतुभेदा इति गमका , तथाहि—अनेकविज्ञानजनकत्व तत्स्वभाव , स च कथञ्चित् तद्भिन्नतयाऽनेकधर्मकतया व्याप्त , अन्यथा ततस्ततोऽन्यत्वाद्यभाव । एवं शेषेष्वपि हेतुषु भावनीयमिति।

इह च ज्ञानावरणाद्याच्छादितश्छद्मस्थः प्रमाता, बोध-

विशेषदर्शनात्, तस्याहेतुकत्वेऽप्ययोगात्, सदाभावादिप्रसङ्गात्, बोधमात्रस्याहेतुत्वात्, भेदकाभावे विशिष्टत्वाभावात्, न्यायतोऽतिप्रसङ्गात्; तद्भावे च तस्यैवावरणत्वात्; इति तथाविधनयनपटलादिकल्पं तज्ज्ञानविशेषकारि विरुद्धचेष्टादिनिमित्तं ततोऽन्यत्, तदिति तत्त्ववादः। क्षयोपशमभावश्चास्य कालपरिणत्या विशिष्टानुष्ठानतश्च तत्तत्स्वभावतया नयनपटलादिह्रासरूपः प्रतिप्राण्येव यथोचितं तथाविधचित्रावबोधलिङ्गावसेयः। तस्मिंश्च सति तत्सामर्थ्यत एव विषयस्य तज्ज्ञेयत्वपरिणतिभावात्, विषयिणोऽपि तज्ज्ञातृत्वपरिणत्युपपत्तेः, उभयोस्तथास्वभावत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः, अतिप्रसङ्गात्, नयनपटलादिह्रास इव स्थूरावबोधादि, तदनुरूप्यत आविद्वदङ्गनासिद्धं तथाविधवस्तुग्राह्येवाऽवग्रहेहावायधारणारूपं मतिज्ञानसंज्ञितमिन्द्रियज्ञानमुपजायते, "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" इति वचनात्।

इह चेत्यादि। इह चानेकधर्मके वस्तुनि, जगति वा। किं, मित्याह-ज्ञानावरणाद्याच्छादित तत्पुद्गलप्रतिबद्धसामर्थ्यं, छद्मस्थः प्रमाता प्राणी। कुत एतदेवमित्याह—बोधविशेषदर्शनात्-बोधभेदोपलब्धेः, इह वस्तुनि तस्य बोधविशेषस्य, अहेतुकत्वे सति, अयोगात्, अयोगश्च सदाभावादिप्रसङ्गात्। आदिशब्दाद्—अभावग्रहः। बोधमात्रस्याऽहेतुत्वाद् बोधविशेषं प्रति, भेदकाभावे—तदन्यवस्त्वभावे, विशिष्टत्वाभावाद् बोधमात्रस्य, न्यायतोऽतिप्रसङ्गात् सर्वबोधविशिष्टत्वापत्त्या। तद्भावे च भेदकभावे च तस्यैव भेदकस्य, आवरणत्वात् इत्येवं, तथाविधनयनपटलाऽऽदिकल्पं तथाविधं स्वच्छं नैकान्ततो बोधविघातकारि नयनपटलं प्रतीतम्, आदिशब्दात्-श्रोत्रादिमलग्रहः, एतत्कल्पम्-एतत्तुल्यं, तज्ज्ञानविशेषकारि-तस्य छद्मस्थप्रमातुर्बोधविशेषकरणशीलं क्षयोपशमतो भावाभावाभ्याम्, इति ज्ञानावरणव्यापार उक्तो वेदितव्यः। विरुद्धचेष्टादिनिमित्तमित्यनेन तु आदिशब्दात्-क्लिष्टचारित्रमोहनीयादिव्यापार इति, ततश्छद्मस्थप्रमातुः, तद्बोधादेर्वा, अन्यदर्थान्तरभूतं, तत् ज्ञानावरणादिकर्म, इति तत्त्ववादः। क्षयोपशमभावश्चास्य कर्मणः, कालपरिणत्या मन्दानुभावस्य, विशिष्टानुष्ठानतश्च तीव्रविपाकस्य। अथवा-कालपरिणत्या विशिष्टानुष्ठानतश्चेति समुच्चयपक्षः। तत्स्वभावतया तस्य कर्मणः, तत्स्वभावतया—कालपरिणत्यादिक्षयोपशमस्वभावतयेत्यर्थः, नयनपटलादिह्रासरूपः क्षयोपशमभावः, तदेकान्तानिवृत्तेः, इत्थं निदर्शनमिति भावनीयम्, प्रतिप्राण्येव प्राणिनं प्राणिनं प्रति प्रतिप्राण्येव, यथोचितमिति क्रियाविशेषणम्, यस्य य उचितस्तथाविधचित्रावबोधलिङ्गावसेयः, तथाविधः उच्चावचादिभेदेन चित्रावबोधस्तत्तद्विषयभेदतः एतल्लिङ्गावसेयः क्षयोपशमभावः। तस्मिंश्च सति क्षयोपशमभावे, तत्सामर्थ्यत एव—क्षयोपशमभावसामर्थ्यत एव, अवग्रहादिरूपमिन्द्रियज्ञानमुपजायत इति योगः। कथमित्याह-विषयस्य घटरूपादेः, तज्ज्ञेयत्वपरिणतिभावाद्-चित्रादिनेन्द्रियज्ञानज्ञेयत्वपरिणतिभावात्, विषयिणोऽप्यविकृतेन्द्रियज्ञानस्य, तज्ज्ञातृत्वपरिणत्युपपत्तेः-प्रस्तुतविषयज्ञातृत्वपरिणत्युपपत्तेः। उपपत्तिश्च उभयोर्विषयज्ञानयोः, तथास्वभावत्वात्-तज्ज्ञेयत्वतज्ज्ञातृत्वभवनस्वभावत्वात्, अन्यथा तत्तत्स्वभावत्वमन्तरेण, तदनुपपत्तेः—विषयविषयिणोस्तज्ज्ञेयत्वतज्ज्ञातृत्वपरिणत्यनुपपत्तेः। अनुपपत्तिश्चातिप्रसङ्गात् तत्तत्स्वभावतामन्तरेण तज्ज्ञेयत्वतज्ज्ञातृत्वभावे तद्वदन्तरापत्त्याऽतिप्रसङ्ग इति भावनीयम्। नयनपटलादिह्रास इवेति निदर्शनम्। स्थूरावबोधादि, आदिशब्दात्-तथाविधचेष्टाग्रहः। तदानुरूप्यतः-प्रक्रमात् क्षयोपशमभावानुरूप्येण, आविद्वदङ्गनादिसिद्धमविप्रतिपत्त्या तथाविधवस्तुग्राह्येव-तज्ज्ञेयत्वपरिणतवस्तुग्राह्येव, न त्वविषयं सदाभावादिप्रसङ्गेन, अवग्रहेहावायधारणारूपं परिस्थूरज्ञानभेदेन, मतिज्ञानसंज्ञितं व्यवहारतः इन्द्रियज्ञानमुपजायते, सविकल्पमेव इन्द्रियज्ञानता चाऽस्य "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" इति वचनात्। तन्मतिज्ञानम्, इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। अनिन्द्रियं मनः। एतन्निमित्तम्। इति सविकल्पकमेतत्।

अवग्रहस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह—

तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः। अवगृहीते विषयार्थैकदेशात् शेषानुगमनेन निश्चयविशेषजिज्ञासाचेष्टा ईहा। अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोऽपायः। धारणा-प्रतिपत्तिः, यथास्वं मत्यवस्थानम्, अवधारणं च न चैकत्वाद् बोधस्येह चातुर्विध्याभावः,सर्वथैकत्वासिद्धेः क्रमेण भावात्, संपूर्णभवनेऽनियमात् दृश्यत एवेह,यथा-वेऽपि क्वचिदवग्रहमात्रम्, तथा निरपायेहा, अनिर्धारणश्चापायः, तथा तदनुभवसिद्धेः। अत एवैकत्वमपि कथञ्चिदेकाधिकरणत्वात् तत्रैव प्रवृत्तेः तद्वेद्यधर्माणामितरेतरानुवेधात् तथा च यदिदं तदा दृष्टमपि नोपलक्षितम्, ईषल्लक्षितमपि न सम्यग्ज्ञातम् तदिदानीमवधारितम्, इ-इत्यस्ति व्यवहारः। न चायं भ्रान्तः, अविगानेन प्रवृत्तेः। अत इदमेकाऽनेकमन्वयव्यतिरेकवद् दीर्घमपि कालसौक्ष्म्यात् तथानभासत इति।

तत्राव्यक्तमित्यादि तत्रेति पूर्ववत्, अव्यक्तमस्फुटम्, आलोचनावधारणमिति योगः। तदेव विशिष्यते यथास्वमिति यथात्मीयम् इन्द्रियैः स्पर्शनादिभिः विषयाणाम्—स्पर्शादीनां, यथात्मीयः यो यस्य विषय इत्यर्थः, आलोचनावधारणमिति—आङ् मर्यादायां, लोचनं-दर्शनम्। एतदुक्तं भवति-मर्यादया सामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूपनामादिकल्पनारहितस्य,दर्शनम् आलोचनं तदेवावधारणमालोचनावधारणम्, एतदवग्रहोऽभिधीयते, अवग्रहणमवग्रह इत्यन्वर्थयोगादिति। एवमवग्रहं कथयित्वा ईहास्वरूपं कथयन्नाह-अवगृहीत इत्यादि। अवगृहीत इत्यनेन क्रमं दर्शयति।

अवगृहीते सामान्ये, ईहा प्रवर्तते। तामाह—विषयार्थैके-
स्यादि। विषय -स्पर्शादि, स एवाऽर्थ(र्यं)माणत्वादर्थो विष-
यार्थ, तस्यैकदेश सामान्यमनिर्देश्यादिरूपम्, तस्माद् वि-
षयार्थैकदेशात् परिच्छिन्नादनन्तर स्पर्शमात्रग्रहे तस्य सर्प-
मृणालस्पर्शसाधर्म्याच्छेषानुगमनेन सद्भूतासद्भूतोष्णत्वादि
विशेषत्यागोपादानाभिमुख्यरूपेण, न संशय इव सर्वात्म-
परिकुण्ठचित्तस्वभावतोऽननुगमनेन। किमित्याह—निश्चयवि-
शेषजिज्ञासाचेष्टेति। निश्चीयतेऽसाविति निश्चयः मृणाल-
स्पर्शादि, स एव विशेष्यतेऽन्यस्मादिति विशेष, तस्य
ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा तया चेष्टा-बोध. स्वतत्त्वात्मव्यापा-
ररूपा, ईहोच्यते। एवमीहामभिधायाऽवायमभिधातुमाह-
अवगृहीत इत्यादि। अनेनापि क्रममाचष्टे। अवगृहीते वि
षये स्पर्शसामान्यादौ, तत. सम्यगसम्यगिति, मृणालस्प-
र्श इत्येवमादानाभिमुख्यं सम्यक्, तत्र तद्धर्मानुगुण्यात्,
न अहिस्पर्श इत्येव परित्यागाभिमुख्यमसम्यक्, तत्र त-
द्धर्मवैगुण्यात्। इति एवमीहायां प्रवृत्तायां सत्याम्, ततः
किमित्याह-गुणदोषविचारणाव्यवसायापनोद -अवाय इति।
इह मृणाले, साधारणो धर्मो गुण, तत्रासंभवी तु दोष,
तयोर्विचारणा—मार्गणा तया व्यवसायो-विमलतरबोध
स एवापनोद -मृणालस्पर्श एवेति निश्चयादपनुदति तत्रे-
हामिति कृत्वाऽवाय इत्ययमेवंविधोऽपनोदोऽवाय इति,
अवैतीत्यवाय.-निश्चयेन परिच्छिनत्तीत्यर्थ। एवमवायमभि-
धायाधुना धारणामभिधित्सयाऽऽह-धारणेत्यादि। धारणेति
लक्ष्य, प्रतिपत्तिरुपयोगादप्रच्युति। यथास्वमिति। यथावि-
षय यो य स्पर्शादिविषय मृणालस्पर्शानुभवस्याऽनाश
इत्यर्थ, तथा मत्यवस्थानमित्युपयोगान्तरेऽपि शक्तिरूपा-
या मते. क्वचिदवस्थानम्, तथाऽवधारणं चेति कालान्त-
रानुभूतविषयगोचरं स्मृतिज्ञानमिति भाव। एवमेतेनावि-
च्युतिवासना-स्मरणरूपा त्रिविधा धारणेत्युक्तं भवति। न
चेत्यादि। न चैकत्वादवबोधस्याऽवबोधसामान्यापेक्षया, इह
मतिज्ञाने इन्द्रियप्रत्यक्षे, चातुर्विध्याभावोऽवग्रहादिभेदेन।
कुत इत्याह—सर्वैकत्वासिद्धे अवबोधस्य। असिद्धिश्च
क्रमेण भावादवग्रहादीनाम्, तथा सपूर्णभवनेऽवग्रहादार-
भ्य धारणान्तभवने, अनियमात् कारणात्। अधिकृतोप-
दर्शनायाह—दृश्यन इत्यादि। दृश्यन एव लोके, ईहाद्य-
भावेऽपि, आदिशब्दादवायादिग्रह., क्वचिद्देवदत्तादौ,
अवग्रहमात्रम् तथा निरवायेहा दृश्यते कचित्, निर्धारण
श्चावायो दृश्यते क्वचित्, तथा तदनुभवसिद्धे केवलत्वे-
नाऽवग्रहादीनामनुभवसिद्धे कारणात्, न चातुर्विध्याभाव.।
अत एव तथा तदनुभवसिद्धेरेव, एकत्वमप्यवग्रहादीनाम्।
युक्तिमाह—कथंचिदेकाधिकरणत्वात्। तत्तद्धर्मग्रहणेन। अ-
त एव आह—तत्रैव प्रवृत्ते अवग्रहादिगृहीत एवेहादि-
प्रवृत्ते, कथञ्चिदिति वर्तते। एतत्स्पष्टनायैवाह—तद्भेद्य-
धर्माणाम्-अवग्रहादिवेद्यस्वभावानाम्, इतरेतरानुवेधात्-अ-
न्योन्यानुवेधात्। एतदेव भावयति-तथाचेत्यादिना। तथाच
यदिह तदा—तस्मिन् काले, दृष्टमपि सदिति, अनेनावग्र-
हव्यापारमाह। नोपलक्षितं न सामीप्येन तदितरधर्मालो-
चनया लक्षितम्, अनेनेहाव्यापारनिषेधमाह। तथैपर्णाद्वि-
तमपीहया, न सम्यग्ज्ञातमवायरूपेण, तदिदानीं यद् न
सम्यग् ज्ञात तत्सांप्रतम्, अवधारित सम्यग्विज्ञाय चेत-
सि स्थापितम्, इत्यस्ति व्यवहारस्तद्वेद्यधर्माणामितरेतरा-
नुवेधव्यवस्थापक। न चाय व्यवहारो भ्रान्त। कुत इत्याह
अविगानेन प्रवृत्ते कारणात्। प्रकृतयोजनया निगमनमाह-
अत इत्यादिना। अतोऽस्मात् कारणात्, इद मतिज्ञानस-
ञ्ज्ञितमिन्द्रियज्ञानम्, एकानेकमवग्रहादिसमुदायात्मकत्वेन,
अन्वयव्यतिरेकवदनुवृत्तिव्यावृत्तिस्वभावं दीर्घमप्यवग्रहा-
दिक्रमभावित्वेन, कालसौक्ष्म्याद्धेतो तथावभासते अक्रमाद्
युगपदिवावभासते, न तु युगपदेवेत्यर्थ।

आह—एवमपि तत्तद्धर्मावग्रहणादेः सर्वेषामवग्रहादित्वप्र-
सङ्गः। न, स्थूरेतरधर्मालम्बनावरणभेदतः क्रमभवनेन त-
थाप्ररूपणात्, तत्त्वतस्त्वयमदोष एव। एवं चावग्रहादि-
भावे तत्तद्धर्मबोधात् केषाञ्चित् तथास्वभावत्वेनाक्षरानुग-
तबोधवोध्यत्वात्, तेष्वन्यथा नीलादाविव पीतादित्वेन
बोधाप्रवृत्तेः, क्षयोपशमसामर्थ्यतोऽक्षरप्रायोग्यद्रव्यग्रह-
णाविरोधात्, तथाविधानुभवस्यान्यथानुपपत्तेः, स्व-
संवेद्यत्वेन प्रतिक्षेपायोगात् सन्न्यायत एव सिद्धं सविक-
ल्पकं प्रत्यक्षमिति।

आह—एवमप्यवग्रहादिभावे, तत्तद्धर्मावग्रहणादे, आदिश-
ब्दात्-तत्तद्धर्मासमर्थपर्यालोचनादिग्रह, सर्वेषामवग्रहादी-
ना मतिभेदानाम्, अवग्रहादित्वप्रसङ्गोऽन्वर्थयोगेन, आदि-
शब्दादीहादिग्रह। एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि। न-नैतदेवम्।
कुत इत्याह—स्थूरेतरधर्मालम्बनावरणभेदत कारणात्,
स्थूरेतराश्च ते धर्माश्च स्थूरेतरधर्मा, इतरे—सूक्ष्मा, त
एवालम्बनम्, एतच्चावरणं चेति विग्रह, तयोर्भेदस्तस्मात्,
क्रमभवनेन तथाप्ररूपणादवग्रहादित्वेन प्ररूपणात्, तथा
हि—स्थूरधर्मालम्बनोऽवग्रह, सूक्ष्मधर्मालम्बना ईहादय,
एवमन्यदवग्रहावरणम्, अन्यच्चेहादे, इह चावरणग्रहण
क्षयोपशमोपलक्षणमवसेयम्। इत्थमुपन्यासस्तु भिन्नमेव तद्
बोधावारकमिति निदर्शनार्थम्, क्रमभवन तु प्रसाधितमेव,
इत्यतस्तथाप्ररूपणा न्याय्यमेवेति भावनीयम्। तत्त्वतस्त्वय
सर्वेषामवग्रहादित्वप्रसङ्ग, अदोष एवान्वर्थयोगतस्तथा-
घटनादिति। एवं चोक्तनीत्या, अवग्रहादिभावे सन्न्यायत
एव सिद्धं सविकल्पक प्रत्यक्षमिति योगः। कुत इत्याह-
तत्तद्धर्मबोधात्-वस्तुसदादिधर्मबोधात्। तथा, केषाचिद्ध-
र्माणा, तथास्वभावत्वेन हेतुना, अक्षरानुगतबोधबोध्यत्वा-
दीहादिगोचराणां, विशिष्टमनोऽनुगतत्वोपलक्षणमेतत्।
यदि नामैव तत किमित्याह—तेषु अक्षरानुगतबोधबा-
ध्येषु धर्मेषु, अन्यथा नीलाऽऽदाविव वस्तुनि पीतादित्वेन
रूपेण, बोधाऽप्रवृत्ते कारणात्। कुतस्तत्राक्षरप्रायोग्यद्र-
व्यग्रहणमित्याशङ्कानिरासायाह-क्षयोपशमेत्यादि। क्षयो-
पशमसामर्थ्यत कारणात्, अक्षरप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाविरो-
धात्, स हि क्षयोपशम एव तादृशो यो भाषाद्रव्याणि ग्रा-
हयतीत्यर्थ। इत्थ चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—तथाविधानुभ-
वस्य अक्षरानुगतबोधरूपस्य, अन्यथाक्षरप्रायोग्यद्रव्यग्रह-

णमन्तरेण, अनुपपत्ते कारणात्। अस्य च स्वसंवेद्यत्वेन हेतुना, प्रतिक्षेपायोगात्। किमित्याह—सन्न्यायत एव-उक्तनीत्या सिद्धं सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति।

एतेन यत्परेणाभ्यधायि-'इतश्चैतदेवम्, अन्यथा स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति प्राप्तम्, अस्त्वेवमपि को दोष इति चेत्, एतदाशङ्क्य निवृत्तेदानीमिन्द्रियज्ञानवार्ता अभिधानविशेषस्मृतेरयोगात्, इत्यादि। तदपि परिहृतमवगन्तव्यम्, अभिधानविशेषयोजनासिद्धेः वाच्यतद्बोधयोरेव तत्स्वभावत्वात्। न हि सर्वत्रैव स्मृत्यपेक्षो वाच्ये वाचकप्रयोगः, तथाऽननुभवात्, अन्तर्जल्पाकारबोधोपलब्धेः, प्रयोगे उच्चार्यमाणस्य शब्दान्तरत्वात्, तस्यापि तद्बलेनैव प्रवृत्तेः, तदसंपृक्तबोधवताऽनुच्चारणात्। प्रष्ट्रा व्यभिचार इति चेत्। न, तस्यापि प्रश्नाभिलापसंपृक्तबोधवत्त्वात्, अन्यथा प्रश्नाभावात् वस्तुनश्चानेकस्वभावत्वेन तस्याप्यभिधेयत्वात्, सर्ववस्तूनामेव प्रायस्तथा तथा सर्वशब्दवाच्यस्वभावत्वात्, तत्तद्द्रव्याद्यपेक्षक्षयोपशमभेदतस्ततस्ततस्तत्र तत्राविलम्बितादिप्रतीतिभावात्, अविगानेन तथा व्यवहारसिद्धेः, अस्य चान्यथाऽयोगात्, निमित्तानुपपत्तेः।

एतेन—अनन्तरोदितेन न्यायेन. यत्परेण-पूर्वपक्षवादिना, अभ्यधायि—अभिहितं पूर्वपक्षग्रन्थे। यदभ्यधायि तदाह—' इतश्चैतदेवम् अन्यथा स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्थो विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति प्राप्तम्, अस्त्वेवमपि को दोष इति चेत्, एतदाशङ्क्य निवृत्तेदानीमिन्द्रियज्ञानवार्ता. अभिधानविशेषस्मृतेरयोगादित्यादि' व्याख्यातमेवैतदिति न व्याख्यायते। तदपि परिहृतमवगन्तव्यम्। कथमित्याह—अभिधानविशेषयोजनाऽसिद्धेः कारणात्।असिद्धिश्च वाच्य तद्बोधयोरेव-अर्थतज्ज्ञानयोरेव, तत्स्वभावत्वात् प्रक्रमात् स्मृत्यनपेक्षाभिधानविशेषप्रवर्त्तनस्वभावत्वात्। अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-न हीत्यादि। न यस्मात्सर्वत्रैव वाच्य इति योग, स्मृत्यपेक्षो वाचकप्रयोग। कुतो नेत्याह—तथा स्मृत्यपक्षप्रयोगरूपत्वेन, अननुभवात् कारणात्। कथमननुभव इत्याह—अन्तर्जल्पाकारबोधोपलब्धेः। इह प्रक्रमे तत्त्वतोऽस्यैव स्मृतित्वादित्यर्थः। तथा चाह—प्रयोगे- -भाषाविषये, उच्चार्यमाणस्य शब्दस्य, शब्दान्तरत्वात्, अन्तर्जल्पाऽऽकारबोधशब्दमधिकृत्य, तस्याऽपि प्रयोगे उच्चार्यमाणस्य शब्दान्तरस्य, तद्बलेनैवाऽन्तर्जल्पाकारबोधशब्दसामर्थ्येनैव, प्रवृत्तेः। कुत एतदेवमित्याह—तदसंपृक्तबोधवता—शब्दासंपृक्तबोधवता, अविकल्पबोधवतेत्यर्थः, भणकेनेति प्रक्रमः। किमित्याह—अनुच्चारणात् कारणात्, प्रष्ट्रा पुरुषेण व्यभिचार स हि तदसंपृक्तबोधवान् तत्पृच्छन् समुच्चारयति, अन्यथा प्रश्नायोगस्तदज्ञानादेवेति चेत्। एतदाशङ्क्याह—न। तस्यापि प्रष्टुः, प्रश्नाभिलापसंपृक्तबोधवत्त्वात्। इदं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा एत-

मनभ्युपगमे, अविकल्पबोधवतः प्रश्नाभावात् तस्मात्किञ्चिज्जानन् किञ्चिदजानानस्तत्रैव पृच्छतीति भावनीयम्। वस्तुनश्च वाच्यस्य, अनेकस्वभावत्वेन हेतुना, तस्यापि प्रश्नशब्दस्य अभिधेयत्वात् कारणात्। अभिधेयत्वं च सर्ववस्तूनामेव, प्रायो बाहुल्येन, अनभिलाप्यधर्मान् विहाय, तथा चित्रसमयादियोगेन, सर्वशब्दवाच्यस्वभावत्वात्। एतदेव लेशतः प्रकटयति—तत्तदित्यादिना। तच्च तत् तद्द्रव्यं च तत्तद्द्रव्यमुदकादि, आदिशब्दात्—क्षेत्रकालादिग्रह, तत्तद्द्रव्याद्यपेक्षत इति तत्तद्द्रव्याद्यपेक्षः तत्तद्द्रव्याद्यपेक्षश्चासौ क्षयोपशमभेदश्च भेदो—विशेष इति विग्रहस्तस्मात्। ततस्ततः प्रक्रमाच्छब्दान्नीरोदकादेः, तत्र तत्रोदकादौ वस्तुनि, अविलम्बितादिप्रतीतिभावात्, अविलम्बिता—अव्यवहिता, यथा नीरशब्दाद्दाक्षिणात्यस्योदकार्थे तत्प्रतीतिः, विलम्बिता तु तस्यैवान्यदेशमागतस्य अन्यथा समयग्रहणे उदकशब्दात् तत्रेति, इयमादिशब्देन गृह्यते। अन्या च चित्रा सत्येतरादिरूपेति प्रतीतिभावश्च, अविगानेन तथाविलम्बितादित्वेन, व्यवहारसिद्धेः कारणात्, अस्य च व्यवहारस्य, अन्यथा सर्ववस्तूनामेव प्रायस्तथा सर्वशब्दवाच्यस्वभावतामन्तरेण, अयोगात्। अयोगश्च निमित्तानुपपत्ते, तथाहि-किमत्रान्यन्निमित्तम्, तत्तत्स्वभावतामन्तरेण?, अनिमित्तस्य च सदाभावादिदोष इति भावनीयम्।

एवं च सर्वशब्दानामपि प्रायो यथोक्तं सर्ववस्तुवाचकत्वमिति। क्षयोपशमानुरूपा च छद्मस्थानां प्रतीतिः। इति न समं सर्वथा वा तदवसायः। न ह्यनेकप्रदीपावभासितेऽपीन्द्रनीलादौ मन्दलोचनादीनां सर्वाकारं समो वा तद्बोधः, तथाऽननुभवात्, निमित्तभेदात्। न चासौ न तन्निमित्तः, तद्भावे भावात्, तदभावे चाभावादिति। दीपमण्डलादिदर्शनाद् व्यभिचार इति चेत्। न। तस्य तन्निमित्तत्वेऽपि भ्रान्तत्वात्, आन्तरदोषवैगुण्येनोत्पत्तेः, तद्विकलेनादर्शनात्; इन्द्रनीलादिधर्माणां तु तदन्यवेदिनाऽपि वेदनात्, सूक्ष्मधर्मद्रष्ट्राऽपि स्थूराणां ग्रहणात्, तथाप्रतीतेः। न चैवं दीपादिद्रष्ट्रा तद् गृह्यते, इति दोषविजृम्भितमेतत्।

एवं च सर्वशब्दानामपि नीरोदकादीनां, यथोक्तम्—प्रायस्तथा सर्ववस्तुवाचकस्वभावत्वेन, इह प्रायोग्रहणाद् मृषाभाषावर्गणात्यवन्ध्यशब्दव्यवच्छेद, एव यथोक्तम्, सर्ववस्तुवाचकत्व सर्वशब्दानामपि। क्षयोपशमानुरूपा च छद्मस्थानां विशेषणान्यथानुपपत्त्या प्रमातॄणां, प्रतीतिरिति कृत्वा, न समे—न युगपत्, सर्वथा वा सर्वैर्वा प्रकारैरविलम्बितादिभि., तदवसाय. प्रक्रमाद् वाच्यवस्तुस्वभावावसाय। अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेणोपदर्शयन्नाह-न हीत्यादिना। न यस्मादनेकप्रदीपावभासितेऽपीन्द्रनीलादौ रत्नविशेषे,मन्दलोचनादीनां प्रमातॄणाम आदिशब्दाद्-अमन्दलोचनादिग्रहः। सर्वाकार तत्प्रदीपावभासापेक्षया, समो वा तुल्यो वा, तद्बोध -इन्द्रनीलादिबोध। कुतो नेत्याह—

तथाऽननुभवात् सर्वाकारसमन्वेनाऽननुभवात्। अननुभवश्च निमित्तभवात् प्रदीपावभासितेन्द्रनीलादिगतधर्मभेदादित्यर्थः । न चासावसर्वाकारोऽसमञ्जिन्त्सद्बोध , न तन्निमित्तोऽतेन्द्रनीलादिनिमित्त । कुत इत्याह—तद्भावे—प्रस्तुतेन्द्रनीलादिभावे, भावात् तदभावे चाभावादिति । न तद्भावभाविवमात्रं नियमेन तन्निमित्तत्वे निमित्तमित्याह-दीपमण्डलादिदर्शनात् आदिशब्दात्—गुञ्जादिग्रह , व्यभिचारस्तद्भावभावित्वस्य नियमनिमित्तत्वे , उक्तं च—"मयूरचन्द्रकाकार, नीललोहितसन्निभम । सपश्यन्ति प्रदीपादे-र्मण्डल मन्दचक्षुष ॥ १ ॥" इत्यादीति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न , तस्य मण्डलादिदर्शनस्य , तन्निमित्तत्वेऽपि-प्रदीपनिमित्तत्वेऽपि , भ्रान्तत्वात् कारणात्। भ्रान्तत्व चान्तरदोषाद् नयनरोगाद् वैगुण्यम् आन्तरदोषवैगुण्य तेन प्रधानहेतुना, उत्पत्ते । एतच्चैवमेवेति द्रष्टव्यमाह—सहितकेन—आन्तरदोषविकलेन द्रष्टेति सामर्थ्यात्, अदर्शनाद् दीपे सत्यपि दीपमण्डलादे , इत्यान्तरदोषवैगुण्यस्य प्रधानता । मा भूदिन्द्रनीलादावप्येवमिति व्यतिरेकमाह—इन्द्रनीलादिधर्माणा तु अनेकदीपावभासितानां, तदन्यवेदिनापि—धर्मान्तरवेदिनापि प्रमात्रा , वेदनात्। एतदेवाह—सूक्ष्मधर्मद्रष्ट्राऽपि प्रमात्रा , स्थूराणा ग्रहणात् । ग्रहण च तथाप्रतीते , सरलस्थानादिधर्मग्रहणसगतैव तत्कान्त्यादिप्रतीतिरिति भावनीयम् । न चैव दीपादिद्रष्ट्रा पुरुषेण, अविशेषत एव तद् दीपमण्डलादि गृह्यते । इति दोषविजृम्भितमेतद् दीपमण्डलादेदर्शनमिति ।

दोषादसद्दर्शनसिद्धेः सर्वधर्मदर्शनमेव दोषजमस्त्विति चेत् । अदोषजं तर्हि कीदृक् ?। निर्विकल्पेन निरंशवस्तुग्रहणम् । न। तत्राप्युक्तवत्तदाशङ्काऽनिवृत्तेः। एकस्यानेकस्वभावत्वविरोधात्, तस्यान्याव्यत्वात् तन्निवृत्तिरिति चेत्। किं तदेकमेकस्वभावम् ?। किमत्रोच्यते? , वस्तुस्वलक्षणमेव । न, तस्य स्थूराकारप्रतिभासिनोऽसत्त्वात् , अणूनां चाप्रतिभासनात्, समूहस्याद्रव्यसत्त्वात्, तेषामेव तत्त्वे तद्वदनुपलम्भात्, समुदायदृश्यस्वभावत्वेनैकस्वभावत्वप्रसङ्गात्, प्रत्येकमदृश्यस्वभावत्वात्,तत्तद्भेद तदनणुत्वप्रसङ्गात् समुदायदृश्यस्वभावतया अन्यथा योगिभिरप्यदर्शनात् , तथापि तदणुत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गात्, अन्याणूनां समुदायादर्शनेऽपि तद्भावप्रसङ्गात्, तैस्तद्भेददर्शने चानेकस्वभावतापत्तेः , तेषामयोगिभिरन्यथा दर्शनात्. अन्यथाऽन्यतरविज्ञानस्याविषयत्वप्रसङ्गात्, इष्टेष्टविरोधात्, भिन्नसस्थानबुद्धव्यसिद्धेः , तत्त्वतोऽणुसमुदायाविशेषतस्तदयोगात्' अस्यानुभवसिद्धत्वात् प्रतिक्षेपायोगात्, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गाद्, विशेषहेत्वभावात्, तत्त्वव्यवस्थानुपपत्तेः । इति बाह्यालम्बनवादिनैकानेकस्वभावमेव तदङ्गीकर्तव्यम्। तत्राप्यनुपप्लुतप्रमात्रविगानसंवेद्याः स्वभावाः वस्तुसन्तः , तदन्ये तूल्लेखिनोऽर्दस, यथालोक तु भवसिद्धेः,अन्यथा तदुल्लाघया सर्वसामञ्जस्यम्,अनिबन्धनत्वात् ,इत्यणुक्षेकान्ततः शुष्कतर्कानुसारिणी सूक्ष्मेक्षिका, अनया हि भवदभ्युपगतलक्षणमप्यसंभव्येवेति वक्ष्यामः।

दोषादित्यादि । दोषात् सकाशात् , असद्दर्शनसिद्धे कारणात् , सर्वधर्मदर्शनमेव , सत्त्वादिदर्शनमित्यर्थ , दोषजमस्त्विति चेत्। एतदाशङ्क्याह—अदोषज तर्हि कीदृग् दर्शनम् , यदपेक्षयैतद्दोषजमित्यर्थः । निर्विकल्पेन ज्ञानेन, निरंशवस्तुग्रहणमदोषजं दर्शनमित्यभिप्राय । एतदाशङ्क्याह-न तत्रापि यथोदिते दर्शने, उक्तवद् यथोक्तम्-दोषादसद्दर्शनसिद्धेरित्यादि, तदाशङ्काऽनिवृत्ते -दोषजाशङ्कानिवृत्त। एकस्य वस्तुन अनेकस्वभावत्वविरोधात् कारणात् , तस्याऽन्याय्यत्वादनेकस्वभावत्वस्य तन्निवृत्तिर्निर्विकल्पेन—निरंशवस्तुग्रहणे दोषजाशङ्कानिवृत्ति , तद्भावसंभवादिति चेत्। एतदाशङ्क्याह—किं तदेकमेकस्वभाव निरंश , यद्भावसंभवेन तद्दर्शनमदोषज स्यादिति । किमत्रोच्यते , वस्तुस्वलक्षणमेवैकमेकस्वभावम्। एतदाशङ्क्याह—न, तस्य स्वलक्षणस्य , स्थूराकारेणोर्ध्वादिलक्षणेन प्रतिभासते तच्छील तेन विग्रहस्तस्य घटादेरित्यर्थ , असत्त्वात् कारणात् , सत्त्वगम्यकत्वेनाऽणूना चाप्रतिभासनात् , इत्यादेर्बाह्यालम्बनवादिनैकानेकस्वभावमेतदङ्गीकर्तव्यमिति योग । तथा, अणूना चाप्रतिभासनादिति सिद्धमेव। न ह्यणव पृथग्जनविज्ञाने प्रतिभासन्ते, तत्समूह प्रतिभासत इत्यतन्निरासायाह—समूहस्य प्रक्रमादणुसमूहस्य , अद्रव्यसत्त्वादपरमार्थसत्त्वात्। तद्व्यतिरिक्तोऽद्रव्यसन् , त एव तु सन्त इत्येतद्व्यपोहायाह—तेषामेव अणूना, तत्त्वे—समूहत्वे , तद्वदणुवत् , अनुपलम्भात् , तथाहि—अणव एव समूह ते चाऽदृश्या इति । समुदायदृश्यस्वभावा इति समूहे उपलभ्यन्त इत्यप्यसदित्याह-समुदायदृश्यस्वभावत्व प्रक्रमादणूनाम् । किमित्याह—अनेकस्वभावत्वप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च प्रत्येकमदृश्यस्वभावत्वात्। अणूना तेभ्य एव समुदितेभ्यो भेद इत्यत्रापि दोषमाह—तत्तद्भेदे तेभ्य -प्रत्येकमदृश्यस्वभावेभ्य . तद्भेदे समुदायदृश्यस्वभावाऽणुभेदेऽभ्युपगम्यमाने , तदनणुत्वप्रसङ्गात् तेषा समुदायदृश्यस्वभावानामनणुत्वप्रसङ्गात्। प्रसङ्गश्च समुदायदृश्यस्वभावतया कारणेन। अन्यथा प्रत्येकत्वेनादृश्यस्वभावतया , योगिभिरप्यदर्शनात् । ततश्च समुदायदृश्यस्वभावा अपर एवैते भावा, नाणव इति भावार्थ । आह च—तथापि-योगिभिरप्यदर्शनेऽपि, तदणुत्वकल्पने-समुदायदृश्यस्वभावानामणुत्वकल्पने । किमित्याह-अतिप्रसङ्गात्। प्रसङ्गश्च प्रत्याणूनां प्रत्येकमदृश्यस्वभावानाम् . समुदायादर्शनेऽपि सति, तद्भावप्रसङ्गात्-समुदायभावप्रसङ्गात्। तैरित्यादि। तैर्योगिभिरिति प्रक्रम , तद्भेददर्शने च तेषा समुदायदृश्यस्वभावानामेव भेददर्शने च प्रत्येकदर्शने चाभ्युपगम्यमाने , अनेकस्वभावतापत्तेस्तेषाम्। आपत्तिश्च तेषामेव योगिभेददर्शनगोचराणाम् , अयोगिभिरन्यथादर्शनात् . समुदायत्वेन दर्शनादित्यर्थ । अन्या चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा एवमनभ्युपगमे . अन्यतरविज्ञानस्य, योगिविज्ञानस्य योगिविज्ञानस्य वा , अविषयत्वप्रसङ्गात् तथालम्बनत्वात्

वाभावेन । न चायं न्यायस्य प्रसङ्गः स्यात्—दृष्टेष्टविरोधात् । अयोगिज्ञानाविषयत्वे दृष्टविरोधः, योगिज्ञानाविषयत्वे चाभ्युपगमविरोध इति भावः । दोषान्तरमाह—भिन्नसंस्थानबुद्ध्यसिद्धेः अणुसमुदायाविशेषेण घटशरावादिबुद्ध्यसिद्धेरित्यर्थः । अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-तत्त्वतः-परमार्थेन, अणुसमुदायाविशेषतः कारणात्, तदयोगाद् भिन्नसंस्थानायोगेन तद्बुद्ध्ययोगात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—अस्याश्च भिन्नसंस्थानबुद्धेः, अनुभवसिद्धत्वात्, अत एव प्रतिक्षेपायोगात्, अयोगश्च सर्वज्ञानाश्वासप्रसङ्गात्, अनुभवप्रतिक्षेपे सति । न चासावणुसमुदायमात्रविषय इत्याह—विशेषहेत्वभावात् अनुभवस्याणुसमुदायमात्रालम्बनत्वेन । सर्वज्ञानाश्वासे च तत्त्वव्यवस्थानुपपत्तेर्विसंवादिबोधाशङ्कया, इति-एवं. बाह्यालम्बनवादिना सर्वेण, एकानेकस्वभावमेव तदालम्बनम्, अङ्गीकर्तव्यमित्याह—तत्रापि एवंभूते आलम्बने, अनुपप्लुतप्रमात्रविगानसंवेद्याः स्वभावा धर्माः, वस्तुसन्तः-परमार्थसन्तः, इन्द्रनीलादौ स्थूरादिधर्मवत्, तदन्ये पुनर्न-उपप्लुतप्रमातृविगानसंवेद्या दीपमण्डलादिवदिति । कुत एतदेवमित्याह—तथालोकानुभवसिद्धेः कारणात् । अन्यथैवमनभ्युपगमे, तद्बाधया-लोकानुभवबाधया, सर्वमेवासमञ्जसम् । कुत इत्याह—अनिबन्धनत्वाद् नियामकाभावात् । इत्येवमयुक्तैकान्ततः शुष्कतर्कानुसारिणी जातिवादप्रधाना. सूक्ष्मेक्षिका । किमित्ययुक्तेत्याह—अनया यस्माच्छुष्कतर्कानुसारिण्या सूक्ष्मेक्षिकया, भवदध्यक्षलक्षणमपि—भवतोऽध्यक्षलक्षणं "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" इत्याद्यपि, असंभव्येवेति वक्ष्यामः ।

अतोऽनेकस्वभावे वस्तुनि क्षयोपशमानुरूपप्रतिपत्तावुक्तवदन्तर्जल्पाकारबोधसिद्धेरभिधानविशेषस्मृत्ययोगोऽबाधक एव । यदपि क्वचिद् वाच्योपलब्धौ तद्वाचकविशेषास्मरणं तदप्यनेकवाचकवाच्यत्वेऽस्य तथाविधावरणभावाद् विकल्पबोधवत एव, अभिलापाद्यसंसृष्टबोधेनाननुस्मरणात् तथाप्रतीतेरिति । एवं च 'सति ह्यर्थदर्शनेऽर्थसन्निधौ दृष्टे शब्दे ततः स्मृतिः स्याद्, अग्निधूमवत्' इति नैकान्तसुन्दरम्, तदर्थस्याभिलापासंसृष्टबोधेनादर्शनात्, तथास्वभावत्वात्, शब्दान्तरस्मृतौ चोक्तवददोषात् । एवं च 'न चायमशब्दमर्थं पश्यति' इति विचारणीयम् । यदि शब्दानास्कन्दितमिति । तदसिद्धम्, केवलस्यैव दर्शनात् । अथाविकल्पज्ञानेन ततः सिद्धसाध्यता, शब्दार्थस्य तेनादर्शनात् । एवं च 'अपश्यंश्च न शब्दविशेषमनुस्मरति' इत्येतदपि विचारास्पदमेव । यदि येनैव संसृष्टविज्ञानस्तमेव नानुस्मरतीति सिद्धसाध्यता तस्य तदा तेनैव वध्यमानत्वात् । अथ तत्प्रतिबद्धं शब्दान्तरमिति । तदसिद्धम्, तस्य सति क्षयोपशमे तद्दर्शनात् स्मरणोपपत्तेः । एवम् 'अननुस्मरन्नयोजयति' इत्यप्ययुक्तम्, तद्विज्ञानसंसृष्टस्य तथा योजनात्, इतरस्यापि तत्संभवाविरोधात् । एवम् 'अयोजयन्न प्रत्येति' इत्यप्यसङ्गतमेव, शब्दान्तरमधिकृत्यायोजयतोऽपि प्रतीतेः, तद्वद्विङ्गिन तूक्तवद्योग एव 'इत्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः' इत्युक्तिमात्रम्, विवक्षिताभिधेयार्थशून्यत्वात्, उक्तवदयोगादिति ।

एवं प्रासङ्गिकमभिधाय प्रकृतमुपक्रमते—अत इत्यादिना । अतोऽनेकस्वभावे वस्तुन्युक्तनीत्या व्यवस्थिते, क्षयोपशमानुरूपप्रतिपत्तौ सत्याम्, उक्तवद् यथोक्तं तथा, अन्तर्जल्पाकारबोधसिद्धेः कारणात्, अभिधानविशेषस्मृत्ययोगोऽबाधक एव, स्मृतेरेवान्तर्जल्पाकारबोधरूपतयाऽप्रवृत्तिप्रसङ्गादिति हृदयम् । दोषान्तरपरिजिहीर्षयाह—यदपि क्वचिद् वाच्योपलब्धौ सत्याम्, तद्वाचकविशेषास्मरणं किमिदमित्यादि सामान्यवाचकप्रवृत्तावेव, तदप्यनेकवाचकवाच्यत्वेऽस्य वस्तुनः, तथाविधावरणभावाद्-वाचकविशेषस्मरणावरणभावात् विकल्पबोधवत एव-अस्मृतिपूर्वकशब्दसंपृक्तबोधवत एवेत्यर्थः । कुत इत्याह—अभिलापाद्यसंसृष्टबोधेन आदिशब्दात्तद्विशिष्टमनःपरिग्रहः, अननुस्मरणात् कारणात् । अननुस्मरणं च तथाप्रतीतेः, न ह्यवग्रहमात्रात् स्मृतिः, एवं च कृत्वा सति ह्यर्थदर्शने-अर्थसन्निधौ दृष्टे शब्दे ततः स्मृतिः स्यादग्निधूमवदिति पूर्वपक्षोदितम्, नैकान्तसुन्दरम् । कुत इत्याह-तदर्थस्य-शब्दार्थस्य, अभिलापासंसृष्टबोधेनादर्शनात् । अदर्शनं च तथास्वभावः । न-अभिलापासंसृष्टबोधेनादर्शनस्वभावत्वात् । शब्दान्तरस्मृतौ च-वाचकविशेषस्मृतौ च उक्तवद् यथोक्तम्—तथाविधावरणभावादित्यादि तथा, अदोषात् । एवं च कृत्वा न चायमशब्दमर्थं पश्यतीत्येतत् पूर्वपक्षोदितं विचारणीयम् । किमुक्तं भवति-अशब्दमिति ?, यदि शब्दानास्कन्दितमिति । तदसिद्धम् । कुत इत्याह-केवलस्यैव शब्दानास्कन्दितस्य, दर्शनात् । अथाविकल्पज्ञानेनाशब्दमर्थं पश्यति । एतदाशङ्क्याह-ततः सिद्धसाध्यता । कुत इत्याह-शब्दार्थस्य तेन अविकल्पज्ञानेनाऽदर्शनात् । ततश्च विकल्पज्ञानेन सशब्दमर्थं पश्यतीति भवति । अयमेव च शब्दार्थ इति भावः । एवं चापश्यंश्च न शब्दविशेषमनुस्मरतीत्येतदपि पूर्वपक्षोपन्यस्तं, विचारास्पदमेव । किमुक्तं भवति—न शब्दविशेषमनुस्मरति ?. यदि येनैव शब्दविशेषेण संसृष्टविज्ञानः प्रमाता तमेव शब्दविशेषं नानुस्मरतीति, एवं सिद्धसाध्यता । कुत इत्याह—तस्य शब्दविशेषस्य, तदा तेनैव ज्ञानेन, वेद्यमानत्वात् तद्बोधाविनिर्भागेन । अथ तत्प्रतिबद्धम्-एकस्माद् दृश्यवस्तुप्रतिबद्धं शब्दान्तरम्, न शब्दविशेषमनुस्मरतीति । एतदधिकृत्याह—तदसिद्धम् । तस्य-शब्दान्तरस्य, सति क्षयोपशमे तज्ज्ञानावरणकर्मणः, तद्दर्शनाद्—न्यायप्रापितशब्दार्थदर्शनात्, स्मरणोपपत्तेः—स्मरणसंभवात् । एवमननुस्मरन्न योजयतीत्यपि पूर्वपक्षोक्तम्, अयुक्तम् । कुत इत्याह—तद्विज्ञानसंसृष्टस्य—शब्दस्येति प्रक्रमः । तथा—वाचकत्वेन, योजनात् । इतरस्यापि—तत्प्रतिबद्धशब्दान्तरस्य तत्संभवाविरोधात्—योजनासंभवाविरोधात् । 'एवमयोजयन् न प्रत्येतीत्यपि' पूर्वपक्षस्य च असांप्रतमेव-अशोभनमेव । कुत इत्याह-शब्दान्तरमधिकृत्य तदप्रतिबद्धम्, अयोजयतोऽपि प्रतीतेः, प्रक्रमात्

वस्तुन , इति तद्व्यतिरिक्तेन तु प्रक्रमाद् विज्ञानसस्पृष्टेन, उक्तवद्-यथोक्तम् तथा, योग एव, इत्येवम् , आयातमान्ध्यमशेषस्य जगत इत्युक्तिमात्रम्—वचनमात्रम् । कुत इत्याह—विवक्षिताभिधेयार्थशून्यत्वात् । शून्यत्वं चोक्तवद्—यथोक्तं तथा, तदयोगाद्-विवक्षितार्थायोगादिति ।

यत्पुनरेतदाशङ्कितम्—‘ अभिपतन्नेवार्थः प्रबोधयत्यान्तरं संस्कारं, तेन स्मृतिर्नार्थदर्शनात् ’ इति । एतदर्थतः साध्वेव, क्षयोपशमस्य द्रव्यादिनिमित्तत्वाभ्युपगमात् , तदनुसारेण तत्प्रवृत्तिसंभवात् । यत्पुनरिदमुक्तम्–‘ न, तत्संबन्धस्याऽस्वाभाविकत्वात् ’ इति । एतदसाधु, उक्तवदस्वाभाविकत्वासिद्धेः , वक्ष्यमाणत्वाच्चापोहाधिकारे । अतः समयाऽदर्शनेऽभावादित्ययुक्तम् । तस्य क्षयोपशमव्यञ्जकत्वात् , तद्भावे तु तदभावेऽपि भावात् , क्वचित् तथोपलब्धेः, अन्यथा सदा तदपेक्षा स्यात् । एवं च पुरुषेच्छातोऽर्थानां स्वभावापरावृत्तेरित्यादि यावच्छब्दसयोजनमेवार्थं पश्यति दर्शनात् । इति । एतन्निर्विषयमेव, अत्र ह्यनेकस्वभावतापत्त्या वस्तुनो नैरात्म्यमिति परं दूषणम् । एतच्चैकानेकस्वभावतयाऽस्य तत्त्वतोऽदूषणमेव, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गादित्युक्तप्रायम् । अतो विरोधिशब्दवाच्यत्वेऽपि तत्तत्स्वभावतया तथोपलब्धेर्न कश्चिद् दोषः ।

यत्पुनरित्यादि । यत्पुनरेतदाशङ्कितं परेण । किमित्याह—‘ अभिपतन्नेवार्थं प्रबोधयत्यान्तर सस्कार, तेन स्मृतिर्नार्थदर्शनादिति । एतदर्थत अर्थमधिकृत्य, साध्वेव—शोभनमेव । कथमित्याह-तदनुसारेण—अर्थाभिपतनानुसारेण, तत्प्रवृत्तिसभवात्-क्षयोपशमप्रवृत्तिसभवादिति । यत् पुनरिदमुक्त पूर्वपक्षग्रन्थ एव—न, तत्सबन्धस्याऽस्वाभाविकत्वात् इति । एतदसाधु—अशोभनम् । कुत इत्याह-उक्तवद् यथोक्त प्राक् ‘ सर्ववस्तूनामेव प्रायस्तथा तथा सर्वशब्दवाच्यस्वभावत्वादित्यादिना ’ तथा, अस्वाभाविकत्वासिद्धेस्तत्संबन्धस्य वक्ष्यमाणत्वाच्चापोहाधिकारे तदसाध्विति । अत. समयादर्शनऽभावादिति यदुक्तम् , तदयुक्तम् । कुत इत्याह—तस्य समयस्य, क्षयोपशमव्यञ्जकत्वात् , तद्भावे तु-क्षयोपशमभावे तु तदभावेऽपि-समयाभावेऽपि, भावात्—शब्दविशेषस्मृतेरिति प्रक्रम. । शब्दविशेषस्मृतिग्रहण चाऽत्र प्रतिपत्त्युपलक्षण वेदितव्यम् । भावश्च क्वचिद् विशिष्टक्षयोपशमवति प्रमातरि, तथोपलब्धे समयाभावेऽपि-शब्दविशेषस्मृत्युपलब्धे । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथेत्यादि । अन्यथा—क्षयोपशमभावेऽपि, समयापेक्षाभ्युपगमे, सदा—सर्वकाल, तदपेक्षा स्यात्—समयापेक्षा स्यात् , ततश्च सदा संकेताकरणाप्त्या व्यवहाराभावः । एवं च ‘ पुरुषेच्छातोऽर्थाना स्वभावाऽपरावृत्तेरित्यादि पूर्वपक्षवचनं यावच्छब्दसंयोजनमेवार्थं- पश्यति दर्शनात् ’ इत्येतत् , निर्विषयमेव । कुत इत्याह-अत्रेत्यादि । अत्र यस्माद् , ह्यनेकस्वभावतापत्त्या वस्तुनो नैरात्म्यमिति परं दूषणमुक्तम् । एतच्च दूषणमेकानेकस्वभावतयाऽस्य वस्तुनस्तत्त्वतोऽदूषणमेव, अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदसत्त्वप्रसङ्गाद् वस्तुनोऽसत्त्वप्रसङ्गात् , इत्युक्तप्राय प्रायेणोक्तम् , अतो विरोधिशब्दवाच्यत्वेऽपि सति, वस्तुन इति प्रक्रम , तत्तत्स्वभावतया कारणेन तथोपलब्धे'-विरोधिशब्दवाच्यत्वेनोपलब्धे , नित्यानित्यादिशब्दप्रवृत्तितया न कश्चिद् दोष इति प्रस्तुताधिकारनिगमनम् ।

स्यादेतत् , अनलशब्दो ह्यनलं तदभिधानस्वभावतया यमभिधेयपरिणाममाश्रित्य प्रवर्त्तते , स जले नास्ति, जलानलयोरभेदप्रसङ्गात् , प्रवर्त्तते च समयाज्जलेऽनलशब्दः, 'तथाप्रतीतेः । इति कथमनयोर्वास्तवो योगः ? इति । उच्यते-शब्दस्यानेकस्वभावत्वात् , न ह्यनलशब्दस्याऽनलगताभिधेयपरिणामापेक्षी तदभिधानस्वभाव एवैकः स्वभावः, अपि तु तथाविलम्बितादित्वेन जलगताभिधेयपरिणामापेक्षी तदभिधानस्वभावोऽपि, तथा तत्प्रतीतेः, तद्वैचित्र्येण दोषाभावात् , क्षयोपशमवैचित्र्यतस्तथाप्रवृत्तेः, अन्यथा अहेतुकत्वेन तदभावप्रसङ्गादिति । एतेन तथानुभवसिद्धेन शब्दार्थक्षयोपशमस्वभाववैचित्र्येण, एतदपि प्रत्युक्तम् , यदुक्तम्–‘ शब्देन्द्रियार्थयोर्भेद एव, अव्यापृतेन्द्रियस्याऽन्यवाङ्मात्रेणैन्द्रियार्थाविभावनात् , इन्द्रियादेव च शब्दार्थाप्रतीतेः ’ इत्यादि । न एत्वऽव्यापृतेन्द्रियोऽपि तत्क्षयोपशमयुक्तः, अन्यवाङ्मात्रेण न विभावयत्येवेन्द्रियार्थम् , तद्वर्णमानचिह्नादिनिश्चितेः, तदन्यतुल्यजातीयमध्येऽपि भेदेन प्रवर्त्तनात् , कश्चित्तत्प्रमेयस्तथा निवेदनात् , तथाऽस्पष्टं तु तत्साक्षात्कारेणाक्षव्यापारवैकल्यात् , न त्वतद्विषयत्वेन । एवमिन्द्रियादपि क्वचित्तथाविधक्षयोपशमभावे, सङ्केतमन्तरेणापि भवति शब्दार्थविभावनम् , तथान्तर्जल्पाकारादिबोधसिद्धेः, लोकानुभवप्रामाण्यादिति ।

स्यादेतदित्यादि । स्यादेतत् , अनलशब्दो ह्यनलेऽभिधेय तदभिधानस्वभावतया—अनलाभिधानस्वभावत्वेन, यमभिधेयपरिणाममाश्रित्य प्रवर्त्तते, वास्तवं स जले नास्ति परिणाम । कुत इत्याह—जलानलयोरभेदप्रसङ्गात् तदेकाभिधेयपरिणामभावेन । यदि नामैव तत किम् ?, इत्याह—प्रवर्त्तते च समयात्-सङ्केतेन, जले अनलशब्द । कुत इत्याह—तथाप्रतीते समयद्वारेण प्रवृत्तिप्रतीते , इत्येवं कथमनयो' ,प्रक्रमाद् वस्तुवाचकयो , वास्तवो योगस्तात्त्विक सम्बन्ध. ?, इति । एतदाशङ्क्याह-उच्यते तत्र परिहार , शब्दस्यानेकस्वभावत्वात् शब्दग्रहण वस्तूपलक्षणम् । उभयोरनेकस्वभावत्वात्, अनयोर्वास्तवो योग इति । अमुमेवार्थं प्रकटयन्नाह—न ह्यनलेत्यादि । न यस्माद् , अनलशब्दस्याऽनलगताभिधेयपरिणामापेक्षी अनलगतमभिधेयपरिणाममपेक्षते तच्छीलश्च इति विग्रह , तदभिधानस्वभाव एव—अनलाभिधानस्वभाव एव, एक-

स्वभावः, अपि तु तथाविलम्बितादित्वेन समयापेक्षित—स्मृतिपूर्वकत्वेन, जलगाऽभिधेयपरिणामापेक्षी, तदभिधानस्वभावोऽपि—जलाभिधानस्वभावोऽपि । कुत इत्याह—तथा तत्प्रतीते·—तथाविलम्बितादित्वेन जलप्रतीतेरिति । तद्वैचित्र्येण-प्रक्रमादनलशब्दस्वभाववैचित्र्येण, दोषाभावात्-पूर्वोक्तदोषनिवृत्तेरित्यर्थ । क्षयोपशमवैचित्र्यतः कारणात्, तथाप्रवृत्ते -जलेऽनलशब्दसमयप्रवृत्तेः । अन्यथैवमनभ्युपगमे, अहेतुकत्वेन, तदभावप्रसङ्गात्—तथा प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गादिति । एतेनाऽनन्तरोदितेन, तथानुभवसिद्धेनोक्तनीत्या, समयाद् जलेऽप्यनलशब्दात्, प्रतीतिभावत· संवेदनसिद्धेन शब्दार्थक्षयोपशमानां स्वभाववैचित्र्येण, किमित्याह—एतदपि प्रत्युक्तम् । यदुक्तं परैः, किं तदित्याह—शब्देन्द्रियार्थयोः शब्दश्चेन्द्रिय च शब्देन्द्रिये, तयोरर्थौ—विषयौ तयोर्भेद एव । कुत इत्याह-अव्यापृतेन्द्रियस्य पुंसः, अन्यवाग्मात्रेणैव—अन्यस्माद् वाग्मात्रं तेनैव, इन्द्रियार्थाऽविभावनात्—इन्द्रियार्थाऽदर्शनाद्, विभावनं-दर्शनं, तथाहि-प्रतीतमेतत्, न शब्दादेव पश्यतीति । तथेन्द्रियादेव च सकाशात्, शब्दार्थाप्रतीतेर्नहि पनसं पश्यन्नप्यकृतसमयो वाह्लीक· पनसमित्यवैतीत्यादि । आदिशब्दात्—" अन्यदेवेन्द्रियग्राह्य--मन्यः शब्दस्य गोचरः । शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो, न तु प्रत्यक्षमीक्षते " ॥ १ ॥ इत्याद्येतत् समानं गृह्यत, इत्येतदपि प्रत्युक्तम् । यथा प्रत्युक्तम्, तथा मन्दमतिहिताय मनागुपप्रदर्शयन्नाह—न खल्वित्यादिना । न खलु—नैव, अव्यापृतेन्द्रियोऽपि पुमान् । किं विशिष्ट इत्याह-तत्क्षयोपशमयुक्त·—प्रक्रमात, इन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशमयुक्त' , अन्यवाङ्मात्रेण हेतुना, न विभावयत्येव--न पश्यत्येव, मत्याभोगेनेन्द्रियार्थम्, " द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयत· " इति कृत्वा, किं तु विभावयत्येव । कुत इत्याह-तद्वर्णमानचिह्नादिनिश्चिते' तस्येन्द्रियार्थस्य, वर्ण·-कृष्णादिः, मानं—प्रमाणं महदल्पादि चिह्नं खण्डादि, आदिशब्दात्-मसृणत्वादिग्रह, एतन्निश्चिते । तथाहि-कृष्ण महान्तं खण्डं मसृणमपूर्वमपवरकाद् घटमानयेत्युक्ते तज्ज्ञानावरणक्षयोपशमयुक्तः पुमानध्यक्षमिव मत्या तथैव प्रतिपद्यते । कथमेतदेवम ? इत्याह—तदन्यतुल्यजातीयमध्येऽपि तदाऽऽनयनाय तं प्रति भेदेन प्रवर्त्तनात् । न ह्यसौ तथा भोगशून्य· प्रवर्त्तत इति भावनीयम् । तथा क्वचित् प्रतिबन्धाभावे, तत्प्राप्ते प्रक्रमात् तस्यान्यवाङ्मात्रोक्तस्य प्राप्ते·, तथा निवेदनात्-तथाऽन्यवाङ्मात्रबोधितत्वेन निवेदनात्, नैव—न विभावयति इन्द्रियार्थमिति । तथाऽस्पष्टं तु तद्विभावनम्, साक्षात्कारणाऽक्षव्यापारवैकल्यात्, नत्वतद्विषयत्वेन-न पुनरिन्द्रियार्थाविषयत्वेन, प्रणिधानव्यापारेण तत्रेन्द्रियव्यापारादिति । एवमिन्द्रियादपि सकाशात् क्वचित् न सर्वत्र, तथाविधक्षयोपशमभावे सङ्केतानपेक्षशब्दार्थविभावनफलक्षयोपशमभावे, सङ्केतमन्तरेणाऽपि, किमित्याह—भवति शब्दार्थविभावनम् । कुत इत्याह-तथाऽन्तर्जल्पाकारादिबोधसिद्धे' किमिदमित्यालोचयतस्तदिद पूर्वोक्तलिङ्गवत् पनसमिति बोधसिद्धेरित्यर्थ·, सिद्धिश्च लोकानुभवप्रामाण्यादिति ।

स्यादेतत् , इत्थमनेकस्वभावत्वे वस्तुनोऽनेकस्यैवाऽनेकप्रमातृभिरवसायः, तथाहि-यदि य एव तत्स्वभाव एकावसायस्य निमित्तं स एवापरावसायस्य, ततस्तयोरैक्यं सर्वथैकनिमित्तत्वात्, इतरतरस्वात्मवत्, तदभेदेऽपि-तदवसायभेदे, तदेकस्वभावतापत्तिः, तदन्यकार्याणामपि तत्तथातयाऽविरोधादिति । अत्रोच्यते-एकान्तवादिन एवायं दोषः नानेकान्तवादिनः; तस्य ह्यचित्रमेवैकम् । न चानेककार्यजननैकस्वभावतां विहाय ततोऽनेकं भवति, अनेककार्यजनने च नाचित्रमेकत्वं, तद्भावेऽपि कार्त्स्न्येनैकेन तद्ग्रहात् तदपरावसायग्रहणप्रसङ्गः, तस्य तज्जननस्वतत्त्वस्याऽन्यथा ग्रहणायोगात् , तस्सावधिकत्वात् न निरवधिकं ग्रहणं तद्ग्रहणमिति भावनीयम् । मलसामर्थ्यात् तदग्रहणं , तदग्रहणमेव सर्वथैकत्वात् , अन्यथाऽस्य ग्रहणाग्रहणप्रसङ्गः, तथा च सत्यस्मन्मतानुवाद एव गृह्यमाणागृह्यमाणयोरेकत्वविरोधादिति । तच्चित्रतयैव कथंचित् तद्ग्रहणादेकस्याप्यनेकप्रमातृभिरवसायः,नान्यथा, इत्युक्तदोषानिवृत्तेरित्यलं प्रसङ्गेन ।

स्यादेतत् ,इत्थम्-उक्तनीत्याऽनेकस्वभावत्वे,वस्तुन·-इन्द्रियार्थादेः. नैकस्यैवाऽनेकप्रमातृभिरवसाय· । एतदेव भावयति-तथाहीत्यादिना । तथाहि-यदि य एव तत्स्वभावो-वस्तुस्वभाव ,एकावसायस्येति-एकस्य प्रमातुरिति प्रक्रम ,अवसाय एकावसायस्तस्य, निमित्तं स एवाऽपराऽवसायस्य प्रमात्रन्तरावसायस्य, ततस्तयोरवसाययोरैक्यम् । कुत इत्याह-सर्वथैकनिमित्तत्वात् , अधिकृतवस्तुस्वभावैकत्वेन इतरेतरस्वात्मवदिति निदर्शनम् । एतच्च ' यत· स्वभावतो जातमेकम् ' इत्यादिना त्वयाऽभ्युक्तमेव । तदभेदेऽपि-तत्स्वभावाभेदेऽपि,तदवसायभेदे—एकाऽपरप्रमात्रवसायभेदे, तदेकस्वभावतापत्ति·—तस्य वस्तुन· एकस्वभावतापत्तिः । कुन इत्याह—तदन्यकार्याणामपि—तस्माद् विवक्षितस्वभावादन्ये तदन्ये स्वभावा इति प्रक्रमः, तेषा कार्याणि—सदादिविज्ञानादीनि तत्कार्याणि तेषामपि, तत्तथा तया—तस्य वस्तुन· , तथाता एकजातीयविज्ञानापेक्षया एकस्वभावा अनेककार्यजननैकस्वभावता, तया , सामान्येनाऽप्येकस्वभावापेक्षया सदाद्यनेकविज्ञानादिकार्यजननैकस्वभावतया, अविरोधात् तदेकस्वभावतापत्तिरिति । एतदाशङ्क्याह—अत्रोच्यते-एकान्तवादिन एवायमनन्तरोदित —' ततस्तयोरैक्यम्' इत्यादिलक्षणो दोष नानेकान्तवादिन· । कुत एतदित्याह-तस्येत्यादि । तस्य एकान्तवादिनः, यस्मात् , चित्रमेवैकमेकान्तैकरूपम् । यदि नामैव ततः किमित्याह-न चानेककार्यजननैकस्वभावता विहाय तत एकस्मात् , इह प्रक्रमे, अधिकृतैकस्वभावात् , अनेक भवत्येकापरविज्ञानादि । यदि नामैवं तत' किमित्याह-अनेककार्यजनने या नाऽचित्रमेकत्वम् । अनेकगर्भैकत्वस्य सर्वथैकत्वविरोधात् । दोषान्तरमाह—तद्भावेऽपीत्यादिना । तद्भावेऽपि-अचित्रैकस्वभावेऽपि, कार्त्स्न्येन—सामस्त्येन, एकेन प्र-

मात्र. तद्ग्रहात्-अधिकृतस्वभावग्रहात् , तदपरायत्तायग्रहणप्रसङ्ग.—तस्मात्-एकस्मात् प्रमातुरपर प्रमातुः , प्रमातार एव तदपरे तेषामपायाः -हानानि तेषां ग्रहणम्-अवगमस्तत्प्रसङ्ग इति समासः । कुत इत्याह—तस्येत्यादि । तस्याऽधिकृतस्वभावस्य , किं विशिष्टस्येत्याह—तज्जननस्वतरस्य अपरापायजननस्वभावत्वस्य, अन्यथा तदपराऽपायग्रहणमन्तरेण, ग्रहणाऽयोगात् , अयोगश्च तत्साध्यधिकत्वात् ,—तदपरापायजननस्वभावो धर्मोऽपि तत्स्वाधिक । यदि नामैवं ततः किमित्याह—न निरवधिक ग्रहणं तदपराऽपायजननस्वभावविकलं ग्रहणम्, सद्ग्रहणं तदपरापायजननस्वभावग्रहणमिति भावनीयमेतत् । पराभिप्रायमाह—सामान्यमर्थाद् हेतो तद्ग्रहणम्-तदपरापायाद्याकस्याप्रहणम् । एतदाशङ्क्याऽऽह-तद्ग्रहणमेव-तस्याधिकृतस्वभावस्याऽग्रहणमेव । कुत इत्याह-सर्वथैकत्वात् एक एव ह्यसौ तदपराऽपायजननस्वभाव इति, तदग्रहणेऽग्रहणमिति गर्भः । इत्थ चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे—तदग्रहणानभ्युपगमे, अस्य स्वभावस्य, ग्रहणाऽग्रहणप्रसङ्ग । सामान्येन ग्रहणात् अवविशेषतयाऽग्रहणात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—तथा च सति एव च सति, असम्भवानुवाद एव तद्विरताविधानेन.अत एवाह-गृह्यमाणाऽगृह्यमाणयोर्धर्मयो. एकत्वविरोधादिति । एव तन्निश्चिततयैव-स्वभावविशेषतयैव, कथञ्चित् केनचित् प्रकारेण, तद्ग्रहणात्-अधिकृतस्वभावग्रहणात् , एकस्याऽपि वस्तुन , सामान्येन अनेकप्रमातृभिरपायाः , नान्यथा । कुत इत्याह—उक्तदोषानतिवृत्ते 'ततस्तदपरस्यम्' इत्याद्युक्तदोषानतिवृत्ते , इत्यलं प्रसङ्गेनेति ।

यच्चोक्तम्-किञ्च विकल्पात्मकत्वेऽस्य ' निश्चयात्मकमिदम् ' इत्यनेकप्रमाणवादहानिः , तेनैव वस्तुनो निश्चयात् , नित्यत्वादौ भ्रान्त्यनुपपत्तेः , अनेकधर्मके वस्तुन्यन्यतरधर्मनिश्चयात् , तदन्यनिश्चयाय प्रमाणान्तरसाफल्यमिति चेत् , इत्याशङ्क्य-' नैकधर्मविशिष्टस्यापि निश्चये सर्वधर्मवत्तया निश्चयात् , प्रमाणान्तरस्य निश्चितमेव विषयीकुर्वतः स्मृतिरूपानतिक्रमात् , एकधर्मद्वारेणाऽपि तद्वतो निश्चयात्मना प्रत्यक्षेण विषयीकरणे सकलधर्मोपकारकशक्त्यभिन्नात्मनो निश्चयात् ' इत्यादि, तदप्ययुक्तम् । छद्मस्थज्ञानस्येत्थमप्रवृत्तेः, ज्ञेयतज्ज्ञानक्षयोपशमानां तथास्वभावत्वादित्युक्तप्रायम् , केवलिनां तु तथानिश्चयः, प्रमाणान्तराभावश्च, इति न कश्चिद्दोषः । आह-एवमप्यनेकस्वभावतया ततस्तथानियतात् कथमनन्तानां केवलिनां तदविकलात्मग्राहकज्ञानभावः , एकत्र कार्त्स्न्योपयोगित्वेन तत्तज्जननस्वभावत्वात् , अपरस्यापि तद्भावापत्तेर्हेत्वविशेषादिति, न , हेत्वविशेषासिद्धेः, ज्ञानिनोऽन्यत्वात् , अधिकृतवस्तुनश्च विचित्रत्वात् , तत्तज्ज्ञान्यपेक्षया तत्र तत्र तदा तदाऽविकलात्मग्राहकज्ञानाभिव्यञ्जकात्मकत्वेनैकत्र कार्त्स्न्योपयोगित्वादिति । न चैवमपरस्यापि तद्भावापत्तिः , अधिकृतवस्तुनस्तथात्वनिरोधादिति सूक्ष्मधिया भावनीयम् । एकान्तैकस्वभाववस्तुवादिनस्त्वेष दोषोऽनिवारितप्रसर एव, तद्भेदनिबन्धनाधिकृतवस्तुवैचित्र्यानुपपत्तेरिति । किञ्च-निर्विकल्पकेनाऽपि प्रत्यक्षेणैकस्वभावे वस्तुनि परिच्छिन्ने कथं नाऽनेकप्रमाणवादहानिरिति चिन्त्यम् ? । प्रत्यक्षस्यानिश्चयरूपत्वाद्भ्रान्तितश्चैतत् ।

यच्चोक्तं पूर्वपक्षे—किञ्च विकल्पात्मकत्वेऽस्येत्यादि । यावदेकधर्मद्वारेणाऽपि तद्वतो निश्चयात्मना प्रत्यक्षेण विषयीकरणे सकलधर्मोपकारकशक्त्यभिन्नात्मनो निश्चयादित्यादि, तदप्ययुक्तम् । कुत इत्याह—छद्मस्थज्ञानस्येत्थमप्रवृत्तेः कारणात् , अप्रवृत्तिश्च ज्ञेयतज्ज्ञानक्षयोपशमानां त्रयाणामपि तथास्वभावत्वात् विषयतया-असर्वधर्मवत्तया निश्चयनिबन्धनस्वभावत्वात् , इत्युक्तप्राय प्रायेणोक्तम् । केवलिनां तु क्षीणसकलावरणानां, तथानिश्चय —सकलधर्मवत्तया निश्चय , प्रमाणान्तराभावश्च केवलिनामनुमानाद्यभावश्चेति । न कश्चिद् दोष । आह—एवमपि केवलिनां तु तथानिश्चयेऽपि सति, अनेकस्वभावतया, ततो वस्तुन , तथानियतात्—समग्रानेकस्वभावतया नियतात्, एकस्वभावत्वविकलत्वादित्यर्थ । कथमनन्तानां प्रमातॄणां केवलिनां वृषभादीनाम् , तदविकलात्मकग्राहकज्ञानभाव तस्यानेकस्वभावतया तथानियतस्य वस्तुनोऽविकलो य आत्मा, तद्ग्राहकज्ञानोत्पादस्तत कथम् ?, नैवेत्यर्थ । कथ नेत्याह—एकत्रेत्यादि । एकत्र—ऋषभादिज्ञाने, कार्त्स्न्योपयोगित्वेन हेतुना, तत्तज्जननस्वभावत्वात्—अधिकृतवस्तुन ऋषभादिज्ञानजननस्वभावत्वात्, नान्यथा ततस्तथा तदुत्पाद इति भावनीयम् । यदि नामैव ततः किमित्याह-अपरस्यापि वर्द्धमानादिज्ञानस्य तद्भावापत्ते-ऋषभादिज्ञानापत्ते । कथमित्याह—हेत्वविशेषादिति । ऋषभादिज्ञानजननस्वभावं ह्यधिकृतं वस्तु तद्धेतुस्ततस्तस्याऽपि तद्वत्तद्भावापत्ते, अतो न ततोऽनन्तानां तदविकलात्मग्राहकज्ञानभाव इति । उक्तं च यत —' सर्वेषामन्योन्यभावतो जातम् ' इत्यादि, असर्वज्ञता वा सर्वेषामन्योऽधिकृतवस्तुनोऽनुत्पत्तितस्तदनधिगमादिति पराभिप्राय । एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न—नैतदेवम्, यदभ्यधायि परेण, कुत इत्याह—हेत्वविशेषासिद्धे । कथमसिद्धिरित्याह—ज्ञानिनोऽन्यत्वाद् वर्द्धमानादे , द्वयमिह ज्ञानहेतु —जीव , अधिकृतवस्तु च । न चैतदप्येकरूपमेवेत्याह—अधिकृतवस्तुनश्च अनेकस्वभावतया तथानियतस्य विचित्रत्वात् । ततः किमित्याह-तत्तज्ज्ञान्यपेक्षया—ऋषभवर्द्धमानादिज्ञान्यपेक्षया, तत्र तत्र सिद्धार्थवनऋजुपालिकातीरादौ क्षेत्रे, तदा तदा सुषमदुःषमादु षमसुषमान्तादौ काले, अविकलात्मग्राहकज्ञानाभिव्यञ्जकात्मकत्वेन एवंभूतेनात्मना, एकत्र ऋषभादिज्ञाने, कार्त्स्न्योपयोगित्वात्—सामस्त्येनोपयोगित्वादिति । न चेत्यादि । न चैवम्—उक्तेन प्रकारेण, अप-

रस्याऽपि वर्धमानादिज्ञानस्य, तद्भावापत्तिः-ऋषभादिज्ञानस्यापत्तिः । कुत इत्याह—अधिकृतवस्तुनः अनेकस्वभावतया तथानियतस्य तद्वद् विचित्रस्य, तथाभ्युपगमात् तत्तज्ज्ञानस्वभावत्वाद्यादिभ्यविरोधात् । तथाहि—ऋजुपालिकातीरादौ दुःषमदुःषमान्ते च वर्धमानादिज्ञानरूपतया अविकलात्मग्राहकज्ञानाभिव्यञ्जकात्मकत्वेन एव एतत् ऋषभादिज्ञाने, अस्य कार्त्स्न्योपयोग इति वर्धमानादिज्ञानाऽभावे तथात्वविरोध । एवमन्यापेक्षयाऽप्यतिसूक्ष्मधिया भावनीयमेतद् अतिगहनत्वादिति । एकान्तेत्यादि । एकान्तैकस्वभाववस्तुवादिनस्तु बौद्धादेः, एष दोषः-अनन्तानां तद्विकलात्मग्राहकज्ञानाऽभावलक्षण अनिवारितप्रसर एव । कथमित्याह—तद्भेदनिबन्धना—अनन्तज्ञानभेदनिबन्धना, अधिकृतवस्तुवैचित्र्यानुपपत्तेः, उक्तवद् अधिकृतवस्तुवैचित्र्यमेवाऽत्र कारणमिति । दूषणान्तरमाह—किञ्चेत्यादिना । किञ्च—निर्विकल्पकेनाऽपि प्रत्यक्षेण भवदभिमतेन, एकस्वभावे—एकान्तैकस्वभावे, वस्तुनि भवदभिमते परिच्छिन्ने सति कथं नाऽनेकप्रमाणवादहानिरिति वाच्यम् । प्रमेयान्तराभावेन प्रमाणान्तराभावाद् हानिरेवेत्यर्थ । पराभिप्रायमाह—प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकस्य, अनिश्चयरूपत्वात् कारणाद् चिन्तितमेवैतद् ।

यदुक्तं भवता न च एतद् अपूर्वमिति उपदर्शयन्नाह—

आह च न्यायवादी-न प्रत्यक्षं कस्यचिद् निश्चायकम्, तद् यमपि गृह्णाति तं न निश्चयेन, किं तर्हि ?, तत्प्रतिभासेन । तच्च यत्रांशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति तत्रैव प्रमाणत्वमात्मसात्कुरुते, यत्र तु भ्रान्तिकारणसद्भावाद् अशक्तं तत्र प्रमाणान्तरं व्याप्रियते, समारोपव्यवच्छेदार्थमिति भ्रान्तिव्युदासाय प्रमाणान्तरप्रवृत्तिरिति ।

आह च न्यायवादी धर्मकीर्तिर्वार्तिके, किमाह ?, इत्याह-न प्रत्यक्षं कस्यचित् पदार्थस्य निश्चायकम्, तद् यमपि पदार्थं गृह्णाति तं न निश्चयेन 'एवमेतद्' इत्येवरूपेण, किं तर्हि ?, तत्प्रतिभासेन आदर्शवत् गृह्यमाणाऽऽकारेण तच्च एवंभूतं प्रत्यक्षम्, यत्रांशे वस्तुगते, पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति नीलादौ तत्रैवांऽशे प्रामाण्यमात्मसात्कुरुते नीलादौ । यत्र तु अंशेऽनित्यादौ, भ्रान्तिकारणसद्भावात् कारणात्, अशक्तं पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुम्, तत्रांशे प्रमाणान्तरं व्याप्रियतेऽनुमानम् । किमर्थमित्याह—समारोपव्यवच्छेदार्थं-परिकल्पितसमारोपव्यवच्छेदार्थम्, इत्येव भ्रान्तिव्युदासाय-समारोपव्युदासाय, प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः-अनुमानप्रवृत्तिः ।

इत्येवं पूर्वपक्षमाशङ्क्याह—

अत्रोच्यते-यदुक्तम्- "न प्रत्यक्षं कस्यचिद् निश्चायकम्" इति, अत्र कोऽयं निश्चयो नाम ?, स्वालम्बनोऽध्यवसाय एवेति चेत्, नाऽयं तदाकारोत्पत्तिव्यतिरेकेण । अस्त्वेवं ततः को दोषः ?, इति चेत्, नासौ-न प्रत्यक्षेऽपि, कथमनिश्चायकं तत् ?, वस्तुमात्रप्रतिभासनाद् इति चेत्, अवस्तुप्रतिभासी तर्हि निश्चयः । न । तत्रैव दृढः प्रत्यय इति चेत्, कथं तदाकारशून्यस्तत्रेति । किञ्च-किं पुनरस्य दार्ढ्यम् किं निर्विकल्पकसमनन्तरत्वम् ?, किं वा वासनाजन्म ?, उताऽध्यवसिततद्भावता ?, आहोस्विद् ध्वनियोगः ?। न तावद् निर्विकल्पकसमनन्तरत्वम्, तदपरानिर्विकल्पकेन व्यभिचारात् निर्विकल्पकसमनन्तराद् निर्विकल्पकोत्पत्तेः । नाऽपि वासनाजन्म, निर्विकल्पकस्याऽपि तत उत्पत्तेः, तत्-तत्समनन्तराऽव्यतिरेकात् । नापि अध्यवसिततद्भवता, अतदाभेन तत्परिच्छेदायोगात् तत्त्वतस्तदनुपपत्तेः । नाऽपि ध्वनियोगः, तत्तादात्म्याद्ययोगतस्तदसिद्धेः, तद्युक्तस्यापि तदाकारोत्पत्तिमन्तरेण तत्त्वादिति । न च सैव केवला अनिश्चयः, स्वालम्बनपरिच्छेदात् न च न सोऽपि, तत्त्वतः तत्स्वभावतया ततस्तद्बोधोपपत्तेः । न च मूककल्पत्वाद् नेति, बोधस्याऽनिश्चयत्वविरोधात् । न चाऽस्पष्टतया नेति, तस्याः स्पष्टताऽभ्युपगमादिति ।

अत्रोच्यते—यदुक्तमित्यादि । यदुक्तमादौ—'न प्रत्यक्षं कस्यचिद् निश्चायकम्' इति । अत्र व्यतिकरे कोऽयं निश्चयो नाम ?, स्वाऽऽलम्बनाध्यवसाय-स्वविषयपरिच्छेद एवेति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नायं यथोदिताध्यवसायः, तदाकारोत्पत्तिव्यतिरेकेण-स्वालम्बनाऽऽकारोत्पत्तिव्यतिरेकेण, अस्त्वेवम्-भवतु स्वालम्बनाकारोत्पत्तिरेव निश्चयः, ततः को दोष इति चेत् ?। एतदाशङ्क्याह—नासौ स्वालम्बनाकारोत्पत्तिः, न प्रत्यक्षेऽपि, किं तर्हि अस्त्येव । अतः कथमनिश्चायकं तत् प्रत्यक्षम् ?, भवदभिप्रेतनिश्चयलक्षणोपपत्तेर्निश्चायकमेव इत्यर्थः । वस्तुमात्रप्रतिभासनाद् अनिश्चायकं तद् इति चेत् । एतदाशङ्क्याऽऽह—अवस्तुप्रतिभासी तर्हि निश्चयः, ततोऽनिश्चय इति गर्भः । नाऽवस्तुप्रतिभासी, किंतु तत्रैव वस्तुनि, दृढः प्रत्ययो निश्चय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—कथं तदाकारशून्यो—वस्त्वाकारशून्यस्तन्मात्रप्रतिभासनेन तत्रेति-वस्तुनीति । अभ्युच्चयमाह—किञ्चेत्यादिना । किं पुनरस्य प्रत्ययस्य दार्ढ्यम् ?, किं निर्विकल्पकसमनन्तरत्वम्, निर्विकल्पकं समनन्तरं यस्येति विग्रहस्तद्भावो निर्विकल्पकसमनन्तरत्वं तत् ?। किं वा-वासनाजन्म वासनातो जन्म तत् ?। उताऽध्यवसिततद्भावता-अध्यवसायेन -परिच्छिन्नः तद्भावोऽवस्तुभावो येनेति विग्रहस्तद्भावोऽध्यवसिततद्भावता ?। आहोस्विद् ध्वनियोगः-शब्दसम्बन्धः प्रत्ययदार्ढ्यमिति? एवं विकल्पचतुष्टयमुपन्यस्याऽऽह-न तावद् निर्विकल्पकसमनन्तरत्वं प्रत्ययदार्ढ्यम् । कुत इत्याह-तदपरनिर्विकल्पकेन व्यभिचारात् तस्माद् अधिकृतप्रत्ययाद् अपरं च तन्निर्विकल्पकं च तेनाऽनैकान्तिकत्वात् । एतत्प्रकटनायैवाऽऽह—निर्विकल्पकसमनन्तरात् सकाशात्, एतस्य निर्विकल्पकोत्पत्तेः । नाऽपि वासनाजन्म प्रत्ययदार्ढ्यम् । कुत इत्याह-निर्विकल्पकस्यापि ततो वासनातः, उक्तं कारणात् उत्पत्तेश्च तत्—तत्समनन्तराऽव्यतिरेकात् तस्याः—वासनायाः तत्समनन्तराऽव्यतिरेकात् निर्विकल्पकसम-

न्तराव्यतिरेकात् समनन्तराच्च अविकल्पकजन्मेति भावना । नाऽप्यध्यवसिततद्भावता प्रत्ययदार्ढ्यम् । कुत इत्याह—अतदाभेन-अवस्त्वाकारेण ज्ञानेन, तत्परिच्छेदाऽयोगाद्-वस्तुपरिच्छेदाऽयोगात्, अयोगश्च तत्त्वत-परमार्थत तदनुपपत्ते-अध्यवसिततद्भावतानुपपत्ते नाऽतदाभं तत्परिच्छेदकम्, नचाऽतो न, अध्यवसिततद्भावतेति भावनीयम् । नाऽपि ध्वनियोग.—प्रत्ययदार्ढ्यम् । कुत इत्याह—तत्तादात्म्याद्यऽयोगत. तस्य-प्रत्ययस्य, तेन-ध्वनिना, तादात्म्याद्ययोगत—तादात्म्यमेकत्वम् आदिशब्दात्—तदुत्पत्तिग्रह, तदसिद्धे—ध्वनियोगासिद्धे, तथा तद्युक्तस्याऽपि ध्वनियुक्तस्याऽपि प्रत्ययस्यैति प्रक्रम, तदाकारोत्पत्तिप्रधानत्वाद् विषयाकारोत्पत्तिप्रधानत्वादिति । न चेत्यादि । न च सा एव—तदाकारोत्पत्तिः, केवला ध्वनियोगरहिता, अनिश्चयः-अपरिच्छेद । कुत इत्याह—स्वालम्बनपरिच्छेदात्—स्वविषयपरिच्छेदात्, केवलयाऽपि न च-न सोऽपि-स्वालम्बनपरिच्छेद, तत्त्वत.-परमार्थेन । कुत इत्याह-तत्स्वभावतया-स्वालम्बनपरिच्छेदस्वभावतया,तत. स्वालम्बनात्, तद्बोधोपपत्तेः—विवक्षितालम्बनबोधोपपत्ते., अन्यथा तदुत्तरक्षणवत् ततो भावेऽपि अबोधरूपतैवेति हृदयम् । न चेत्यादि । न च मूककल्पत्वात् केवलायास्तदाकारोत्पत्तेरिति प्रक्रम, नेति-न निश्चयरूपता । कुत इत्याह—बोधस्याऽनिश्चयत्वविरोधात्,बोधो निश्चयोऽवगम इति तुल्याऽर्था. । न चेत्यादि । न चाऽस्पष्टतया कारणेन, नेति-न निश्चयरूपता, केवलायास्तदाकारोत्पत्तेरिति प्रक्रम. । कुत इत्याह—तस्या.—तदाकारोत्पत्ते., स्पष्टताऽभ्युपगमादिति ।

यच्चोक्तम्—" तच्च यत्रांऽशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति तत्रैव प्रमाण्यमात्मसात्कुरुते " । एतदप्ययुक्तम्, तस्य निरंशत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा परसिद्धान्तापत्तिः । व्यावृत्तयोऽशा इति चेत् । न । तासां परमार्थतस्तदव्यतिरिक्तत्वेन तन्मात्ररूपत्वात्, तस्यैव त्रैलोक्यव्यावृत्त्येकस्वभावत्वादिति । कथं च निश्चयस्य विकल्पात्मकत्वात् तत्त्वतो निर्विषयत्वात् तद्विषयता युक्ता ?, येनोच्यते " यत्रांशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति " इति । स ततो भवतीति तन्निश्चय इति चेत् । न । अतिप्रसङ्गात् नीलादि पश्यतः क्वचित् भिन्नजातीयविकल्पाभ्युपगमात्, तस्य च ततो भावात्, अन्यथा ऽहेतुकत्वापत्तेः । संवादको निश्चय इति चेत् । न । अप्राप्यदेशगतजलादिनिश्चयेन व्यभिचारात् । न च संवादनशक्तिरेव संवादनमित्यदुष्टम्, शक्तेरप्रत्यक्षत्वात् कार्यमन्तरेण तद्भावानवगतेः, न च ततोऽनन्या शक्तिरिति तदवगताविव तदवगतिः, तदाभासतोऽप्रवृत्तिप्रसङ्गात् तच्छक्त्यवगमापत्तः, न च तदाभासत्वतो न तच्छक्त्यवगमः, तेनाऽपि आत्मवेदनात् तस्याश्च तदनन्यत्वात्, न च सम्यग् निश्चयशक्तेरेवाऽवगतिरिति युक्तम्, तत्त्वतो वचनमात्रत्वात् तथाप्रतीत्यभावात्, इति । एवं च तत्रैव प्रामाण्यमात्मसात्कुरुत इति वचनमात्रम् ।

यच्चोक्तं पूर्वपक्षग्रन्थे एव-'तच्च यत्रांशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितु शक्नोति तत्रैव प्रामाण्यमात्मसात्कुरुते ' । एतदप्ययुक्तम् । कुत इत्याह-तस्य अक्रमात् प्रमेयवस्तुनः, निरंशत्वाऽभ्युपगमात्, अन्यथा एवमनभ्युपगमे, परसिद्धान्तापत्तिस्तत्साशतापत्त्या इत्यर्थ. । व्यावृत्तयोऽशा इति चेत्, तथाहि-त्रैलोक्यव्यावृत्त तदिति । एतदाशङ्क्याह-न । तासां व्यावृत्तीनाम्, परमार्थतस्तदव्यतिरिक्तत्वेन—वस्त्वव्यतिरिक्तत्वेन हेतुना, तन्मात्ररूपत्वात्—वस्तुमात्ररूपत्वात् । एतदेव स्पष्टयन्नाह-तस्यैव वस्तुन, त्रैलोक्यव्यावृत्तिरेव एकः स्वभावो यस्य तत् तथेति विग्रहस्तद्भावस्तस्मादिति । दोषान्तरमाह—कथञ्चेत्यादिना । कथं च निश्चयस्य विकल्पात्मकत्वात् कारणात्, तत्त्वतः-परमार्थेन निर्विषयत्वात्, तद्विषयता-वस्तुविषयता युक्ता, येनोच्यते ' यत्रांशे पाश्चात्यं निश्चय जनयितुं शक्नोति ' इति, नहि एतद्-अतद्विषयत्वे चारु । स तत इत्यादि । स-निश्चयः, ततो वस्तुन भवतीति कृत्वा तन्निश्चयो-वस्तुनिश्चय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न । अतिप्रसङ्गात् । एनमेवाह-नीलादि पश्यत. प्रबन्धेन क्वचिद् अर्थान्तरावगमे, भिन्नजातीयाविकल्पाभ्युपगमात्—स्मार्त्तपीतादिविकल्पाभ्युपगमात्, तस्य च विकल्पस्य, ततो नीलादिदर्शनाद् भावात् । अन्यथा एवमनभ्युपगमे, अहेतुकत्वापत्तेस्तस्याऽतिप्रसङ्ग इति । निश्चयमेवाऽधिकृत्य, प्रकारान्तरमाह-संवादको निश्चय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न । अप्राप्यदेशगतजलादिनिश्चयेन व्यभिचारात्, स हि निश्चयोऽसंवादकश्च । न च संवादनशक्तिरेव संवादनमित्यदुष्टम्, किं तु दुष्टमेव । कुत इत्याह-शक्तेरप्रत्यक्षत्वात् । यदि नामैव तत किमित्याह-कार्यमन्तरेण संवादनादिरूपम्, तद्भावानवगते.—शक्तिभावानवगते. । न चेत्यादि । न च ततो निश्चयात्, अनन्या शक्तिरिति कृत्वा तदवगतावेव-निश्चयावगतावेव,तदवगति - शक्त्यवगतिः । कुत इत्याह-तदाभासतो-निश्चयाभासत । किमित्याह-अप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च-तच्छक्त्यवगमापत्ते.—तदाभासशक्त्यवगमापत्ते । न चेत्यादि । न च तदाभासत्वतः कारणात्, न तच्छक्त्यवगमो-न तदाभासशक्त्यवगम., किन्तु अवगम एव । कुत इत्याह-तेनाऽपि तदाभासेन, आत्मवेदनात् कारणात् । यदि नामैव तत किमित्याह-तस्याश्च तदाभासशक्ते., तदन्यत्वात्-तदाभासाऽनन्यत्वात् । न चेत्यादि । न च सम्यग् निश्चयशक्तेरेवाऽवगतिरिति युक्तम् । कुत इत्याह-तत्त्वतो वचनमात्रत्वात्, वचनमात्रं च तथा सम्यग् निश्चयशक्त्यवगमरूपेण प्रतीत्यभावादिति । एवं च यथोक्तनीत्या, तत्रैव प्रामाण्यमात्मसात्कुरुत इति वचनमात्रं निरर्थकमित्यर्थ ।

इतश्च वचनमात्रम्-"यत्र तु भ्रान्तिकारणसद्भावाद् प्रमाणं तत्र प्रमाणान्तरं व्याप्रियते" इत्याद्युपन्यासात् । तथाहि यदि तत्क्वचिद् अशक्तं पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुमेवं तर्हि अशक्तमेव, सर्वथैकत्वात् एकस्य चैकस्वभावत्वेन प्रमाणा-

शक्तत्वविरोधात्, कथञ्चिद् अविरोधेऽप्यभ्युपगमविरोधात्, भिन्नांशविषयनिश्चयभावाभावयोस्तु न तस्य किञ्चिद् इति कथं क्वचिद् प्रामाण्यमात्मसात्कुरुत इति ?। नैवं समारोपव्यवच्छेदार्थमपि प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः, न्यायतः समारोपस्यैवाऽयोगात्, सजातीयेतरविविक्तैकस्वभावस्य वस्तुन इन्द्रियज्ञाने प्रतिभासनात्, रूपादिनिश्चयज्ञानवत् तन्निबन्धननिश्चयज्ञानानां तमन्तरेणैव प्रवृत्तिसम्भवात्। तथाहि-यद् रूपादिदर्शनानन्तरमलिङ्गं निश्चयज्ञानं भवति तत्कथमसति समारोपे भवत् तद्व्यवच्छेदविषयम् ?।

इतश्च वचनमात्रम्—" यत्र तु भ्रान्तिकारणसद्भावाद् अशक्त तत्र प्रमाणान्तरं व्यापिप्रर्थते " इत्याद्युपन्यासात् पूर्वपक्षग्रन्थ एव । इदैव भावनार्थमाह-तथाहीत्यादिना । तथाहि—यदि तत् प्रक्रमाद् अविकलम्, क्वचिदशक्तं पाश्चात्य निश्चयं जनयितुम्, एव तर्हि अशक्तमेव एकान्तेन । कुत इत्याह—सर्वथैकत्वात् कारणात्, एकस्य च वस्तुन., एकस्वभावत्वेन हेतुना, शक्तत्वाऽशक्तत्वविरोधात् । तथाहि-एकमेकस्वभाव यदि शक्तं शक्तमेव, अथाऽशक्तमशक्तमेवेति भावनीयम्। कथञ्चिद् अविरोधेऽपि निमित्तभेदेन शक्तत्वाऽशक्तत्वस्य, अभ्युपगमविरोधाद् अनेकान्तवादापत्त्या । अथ भिन्ना अस्यांऽशा इति । एतद् व्यपोहायाऽऽह--भिन्नांशेत्यादि । भिन्नौ च तौ प्रत्यक्षादिनि प्रक्रम', अंशौ च भिन्नांशौ, तौ विषयौ ययोस्तौ भिन्नांशविषयौ भिन्नांशविषयौ च तौ निश्चयौ चेति विग्रह, तयोर्भावाऽभावौ तयो, पुनर्न तस्य प्रत्यक्षस्य, किञ्चिद् इति एवम्, कथं क्वचित् प्रामाण्यमात्मसात्कुरुत-इति । नैवमित्यादि । नैवम्-उक्तेन प्रकारेण, समारोपव्यवच्छेदार्थमपि प्रमाणान्तरप्रवृत्ति । कुत इत्याह--न्यायतो-न्यायेन, समारोपस्यैव अयोगात्, अयोगश्च सजातीयेतरविविक्तैकस्वभावस्य वस्तुन इन्द्रियज्ञाने प्रतिभासनात् कारणात्, रूपादिनिश्चयज्ञानवदिति निदर्शनम्। तन्निबन्धननिश्चयज्ञानानाम्-अधिकृतवस्तुनिबन्धननिश्चयज्ञानानाम्, तमन्तरेण-समारोपमन्तरेणैव, प्रवृत्तिसंभवात् कारणात्, न समारोपव्यवच्छेदार्थमपि प्रमाणान्तरप्रवृत्ति, अनित्यत्वादिनिश्चयानामपि समारोपव्यवच्छेदमन्तरेणैव भावप्रसङ्गादित्यर्थ । अधिकृतार्थभावनायैवाऽऽह--तथाहीत्यादि । तथाहि इति—उपप्रदर्शने । यद् रूपादिदर्शनाऽनन्तरम्-अव्यवधानेन, अलिङ्गम्-लिङ्गरहितम्. निश्चयज्ञान भवति प्रक्रमाद् रूपादिविषयमेव, तत्कथमसति समारोपे अरूपादिविषये भवद्—उत्पद्यमानम्, तद्व्यवच्छेदविषय--समारोपव्यवच्छेदविषयम्, नैव समारोपाभावेन तद्व्यवच्छेदाऽयोगादिति ।

स्यादेतद्, असमारोपविषये भावात् तद्व्यवच्छेदविषयम्, यत्र हि अस्य समारोपो भवति यथा स्थिरः सात्मक इति वा, न तत्र निश्चयो भवति, तद्विविवेक एव चान्यापोह इति तदपि तन्मात्राऽपोहगोचरमेव, न वस्तुस्वभावनिश्चयात्मकमिति ?। एतदपि यत्किञ्चित्, वाङ्मात्रत्वात् ।

स्यादेतद् असमारोपविषये भावात् तद्व्यवच्छेदविषयमिति-समारोपस्य विषय समारोपविषय न समारोपविषयोऽसमारोपविषय तस्मिन् समारोपशून्य इत्यर्थ . भावाद्-उत्पत्ते कारणाद् अधिकृतनिश्चयज्ञानस्य, तद्व्यवच्छेदविषयमिति । एतद्भावनायैवाह—यत्र पदार्थे, हिशब्दोऽवधारणे, अस्य पुरुषस्य, समारोपो भवति. यथा स्थिर. सात्मक इति वाय पदार्थ । न तत्र निश्चयो भवति अनित्यत्वादिनिश्चयस्तद्याथात्म्यविषय', तद्विवेक एव च—समारोपविवेक एव च, अन्यापोह तद्व्यवच्छेद', इति—एवम्, तदपि अधिकृतनिश्चयज्ञानम्. तन्मात्रापोहगोचरमेव; समारोपापोहमात्रगोचरमित्यर्थ । न वस्तुस्वभावनिश्चयात्मक—न स्वलक्षणनिश्चायकमिति योऽर्थ । एवं पूर्वपक्षमाशङ्क्याह—एतदपि यत् किञ्चिद्-असारम्, कुत इत्याह-वाङ्मात्रत्वात् वाच्याऽर्थशून्यत्वात् ।

यत्तावदुक्तम्-"असमारोपविषये भावाद्" इत्यत्र समारोपाभावेऽस्य वृत्तिरुक्ता, अयं च समारोपाभावो यदि प्रसज्ज्यप्रतिषेधरूपः, न क्वचिदस्य वृत्तिस्तस्य तुच्छत्वात्, तत्त्वत इत्थमेव इदमिति चेत् कथमतुच्छप्रतिभासं रूपादिनिश्चयज्ञानम् ?, तुच्छप्रतिभासमेव तद इति चेत्, अनुभवविरोधः--रूपादिप्रतिभासस्य वेद्यमानत्वात्, अन्यथा तदनाकारत्वेन वेदनाऽयोगादिति । अथ पर्युदासरूपः, कथं न वस्तुस्वभावनिश्चयात्मकं तत् ?, तत्रैव प्रवृत्तेर्न तत् तदा इति चेत्, कथमसमारोपविषयेऽस्य भावः ?, अयमस्यैव आत्मा न त्वन्य इति चेत्, स्वात्मन एव तदितरविकलस्य तत्त्वकल्पनायामतिप्रसङ्गः---स्वलक्षणज्ञानस्याऽपि तत्त्वेन तद्भावापत्तेरिति ।

एतदेव दर्शयति-यत्तावदुक्तमित्यादिना । तत्र यत्तावदुक्तम्-पूर्वपक्षग्रन्थे " असमारोपविषये भावाद् " इत्यत्र ग्रन्थे, समारोपाभावे अस्य निश्चयस्य वृत्तिरुक्ता, एतद् ऐदंपर्यम् । यदि नामैव तत किमित्याऽऽह—अय च समारोपाऽभावो यदि प्रसज्ज्यप्रतिषेधरूप समारोपाभवनमात्रलक्षण । तत किमित्याह-न क्वचित् अस्य निश्चयस्य, वृत्ति । कुत इत्याह-तस्य प्रसज्ज्यप्रतिषेधरूपस्य समारोपाऽभावस्य, तुच्छत्वात्—असत्त्वादित्यर्थ । तत्त्वत इत्यादि । तत्त्वत -परमार्थेन, इत्थमेवेदं न क्वचित् अस्य वृत्ति, इति चेत् । एवदाशङ्क्याह—कथमतुच्छप्रतिभासं रूपादिवस्त्वाऽऽकार रूपादिनिश्चयज्ञानम् ? । तुच्छेत्यादि । तुच्छप्रतिभासमेव, तत्-रूपादिनिश्चयज्ञानम्, इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-अनुभवविरोध । एव कथमित्याह—रूपादिप्रतिभासस्य—रूपादिनिश्चयज्ञाने वेद्यमानत्वात्, अन्यथा एवमनभ्युपगमे, तस्य-रूपादिनिश्चयज्ञानस्य, अनाकारत्वेन हेतुना । किमित्याह—वेदनाऽयोगाद्. तद् हि अनाकारं कस्य वेदनम् ?, इति भावनीयम् । एवं प्रसज्ज्यपक्षे दोषम-

भिधाय पक्षान्तरे दोषमभिधातुमाह—अथ पर्युदासरूप प्रस्तुत. समारोपाभाव । एतदाशङ्क्याह—कथं न वस्तुस्वभावनिश्चयात्मक तद् रूपादिनिश्चयज्ञानम् ? , नचैव-रूपादावेव प्रवृत्ते , न तद् रूपादि, तदा निश्चयज्ञानकाले-इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—कथमसमारोपविषये-समारोपाभावे पर्युदासात्मके, अस्य-रूपादिनिश्चयज्ञानस्य, भाव ? । अयमित्यादि । अयम्-असमारोपविषय , अस्यैव अधिकृतनिश्चयज्ञानस्य आत्मा, न तु अन्यो-व्यतिरिक्त . इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—स्वात्मन एव ज्ञानसम्बन्धिन , तदितरविकलस्य-विषयविकलस्य , तत्त्वकल्पनाया-विषयत्वकल्पनायाम् , उक्तनीत्या । किमित्याह—अतिप्रसङ्ग । कथमित्याह—स्वलक्षणज्ञानस्याऽपि तत्त्वेन तदितरविकलत्वेन हेतुना, तद्भावापत्ते -असमारोपविषयभावापत्ते.-निश्चयज्ञानत्वापत्तेरित्यर्थ ।

यच्चोक्तम्-"यत्र हि अस्य समारोपो भवति यथा स्थिरः सात्मक इति वा, न तत्र निश्चयो भवति " एतदप्ययुक्तम् परमार्थेन तस्याऽस्थिरानात्मकस्यैव ग्रहणात् तत्र रूपादाविव समारोपप्रवृत्त्ययोगात् । स्यादेतत् , नहि तथा गृहीतोऽपि भावस्तथैव प्रत्यभिज्ञायते, क्वचिद्भेदे व्यवधानसंभवात् यथा शुक्तेः शुक्तित्वे । यत्र तु प्रतिपत्तुर्भ्रान्तिनिमित्तं नास्ति तत्रैव अस्य दर्शनाऽविशेषेऽपि स्मार्त्तो निश्चयो भवति, समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाधकभावाद् इति । एतदप्यसत् , निरंशे तथा गृहीते क्वचिद् व्यवधानं क्वचित् न इत्ययन्यायत्वात् भेदाभावेन तत्त्वत एकनिश्चयज्ञानप्रसङ्गात् , न खलु रूपे एव तदेकस्वभावनिबन्धनानि भूयांसि निश्चयज्ञानानि ।

यच्चोक्तम्—अधिकृतपूर्वपक्षग्रन्थे—" यत्र हि अस्य समारोपो भवति यथा स्थिर सात्मक इति वा , न तत्र निश्चयो भवति " एतदपि अयुक्तम् । कथमित्याह—परमार्थेन-वस्तुस्थित्या, तस्य पदार्थस्य; अस्थिराऽनात्मकस्यैव ग्रहणात् , नान्यत् तस्य रूपमिति कृत्वा । तत किमित्याह—तत्र अस्थिरत्वादौ रूपादाविव समारोपप्रवृत्त्ययोगात् , नहि रूपे रूपतया गृहीते समारोप । स्यादेतदित्यादि । स्यादेतद् , नहि तथा स्वरूपेण , गृहीतोऽपि भाव पदार्थ तथैव प्रत्यभिज्ञायते-निश्चयज्ञानेन गम्यते । कथमित्याह—क्वचिद् भेदे भावविशेषे , व्यवधानसंभवात् प्रत्यभिज्ञानस्य समारोपेण इति भाव । निदर्शनमाह—यथा शुक्ते —शीप्रकद्रव्यस्य , शुक्तित्वे व्यवधानसंभवः प्रत्यभिज्ञान प्रति रजतसमारोपेण , यत्र तु भावभेदे पदार्थे, प्रतिपत्तु पुरुषस्य, भ्रान्तिनिमित्त सादृश्य नास्ति , तत्रैव-भावभेदे , अस्य-पुरुषस्य , दर्शनाऽविशेषेऽपि—उभयत्र यत् तत्र तद् दृश्यते इति दर्शनाऽविशेषस्तस्मिन्नपि सति, स्मार्तो निश्चयो भवतीति गृहीतग्राही । किमेतदेवमित्याह—समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाधकभावात् , समारोपो बाध्य , निश्चयो बाधक इति । पूर्वपक्षमाशङ्क्याह—एतदपि-अनन्तरोदितम् , असद्-अशोभनम् । कुत इत्याह—निरंश इत्यादि । निरंशे वस्तुनि तथा निरंशतया गृहीते , क्वचिद् व्यवधान क्वचिद् न इति अपन्यायत्वाद् , एतद् अपि असत् , अपन्यायत्वं च भेदाऽभावेन हेतुना निरंशत्वेन, तत्त्वत -परमार्थेन, एकनिश्चयज्ञानप्रसङ्गात् निबन्धनैकत्वेन । एतद्भावनायैवाह—न खल्वित्यादि । न खलु-नैव , रूपे एव आलम्बने, तदेकस्वभावनिबन्धनानि तद् रूपमेव एक स्वभावो निबन्धनं येषां तानि तथा, भूयांसि प्रभूतानि, प्रक्रमाद् जातिभेदमधिकृत्य निश्चयज्ञानानि रूपरसादिलक्षणानि. किं तर्हि प्रभूतानि अपि व्यक्तिभेदाऽपेक्षया रूपज्ञानानि एव ? , एव भेदाऽभावेन तत्त्वत. एकनिश्चयज्ञानप्रसङ्ग ।

दूषणान्तरमाह—

किंच-असौ भावः स्वप्रत्यभिज्ञानजनने व्यवधानसम्भवस्वभावो वा स्याद् , न वा ? , उभयथाऽपि क्वचिद् भेदे व्यवधानसंभावाद् ,इत्यपि अयुक्तम् , यथाक्रमं सर्वत्रैव तत्सम्भवाऽसम्भवापत्तेः, अन्यथा एकस्वभावत्वविरोधात् अतन्निबन्धनत्वे च निश्चयानां न तेभ्यस्तत्त्वव्यवस्था , इत्यफला तत्कल्पना, एवं च "यथा शुक्तेः शुक्तित्वे" इत्यनुदाहरणमेव, भवन्नीत्या तदयोगात् शुक्तिकाया अपि अक्षज्ञानेन नीलादिवत् तत्त्वेनैव ग्रहणात् ।

किंच, असौ भाव -पदार्थ , स्वप्रत्यभिज्ञानजनने-स्वनिश्चयज्ञानजनने, व्यवधानसंभवस्वभावो वा स्याद् न वा ?, इति द्वयी गति । उभयथाऽपि पक्षद्वयेऽपि क्वचिद् भेदे व्यवधानसंभावाद् इति अयुक्तम् । कुत इत्याह—यथाक्रमम्-यथासंख्यम् , सर्वत्रैव क्वचिद् इत्येतद् व्युदासेन सर्वत्रैव वस्तुनि, तत्संभवाऽसंभवापत्ते —तस्य व्यवधानस्य, संभवश्चासंभवश्च तत्संभवासंभवौ , तयोरापत्ति', तत एतदुक्तं भवति—यदि असौ भाव स्वप्रत्यभिज्ञानजनने व्यवधानसंभवस्वभावस्ततस्तत् संभवत्येव सर्वत्र व्यवधानम् , न चेद् , न संभवत्येव इति हृदयम् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा एकस्वभावत्वविरोधात् एकस्वभावो हि स्वप्रत्यभिज्ञानजनने व्यवधानसंभवैकस्वभाव , तदसंभवैकस्वभावो वा, अन्यथा तच्चित्रस्वभावता एव इति भावनीयम् । अतन्निबन्धनत्वे च—विवक्षितभावानिबन्धनत्वे च निश्चयानाम् । किमित्याह—न तेभ्यो निश्चयेभ्य , तत्त्वव्यवस्था-विवक्षितभावतद्भावव्यवस्था, इति एवम् अफला-निष्प्रयोजना, तत्कल्पना-प्रक्रमाद् व्यवधानसंभवकल्पना, एवं च सति " यथा शुक्ते शुक्तित्वे " इत्यनुदाहरणमेव । कथमित्याह—भवन्नीत्या-त्वद्दर्शनाऽनुसारेण, तदयोगात्-प्रक्रमाद् व्यवधानसंभवायोगात् , अयोगश्च शुक्तिकाया अपि अक्षज्ञानेन—इन्द्रियज्ञानेन, नीलादिवद् इति निदर्शनम् , तत्त्वेन —शुक्तिकात्वेन एव ग्रहणात् ।

इत्थमेव इदमिति चेत् , कथं व्यवधानसम्भवः ? ततस्तन्निश्चयानुत्पत्तेरिति चेत् , सैव तावत्किमिति चिन्त्यम्, निश्चयान्तरोत्पादाद् इति चेत् . कथमनुभवान्तराद् निश्चयान्तरोत्पादः ?, तत्-तत्स्वभावत्वाद् इति चेत् , अनु-

अनुभवान्तरवद् न तस्य तत्त्वम्, तत्त्वे वा ततस्तदुत्पादे व्यवहारनियमोच्छेदः, एवं हि नीलाऽनुभवजन्योऽपि तन्निश्चयः पीताद्यनुभवस्य तत्स्वभावतया तज्जन्योऽपि सम्भाव्यत एव । एवमन्यत्राऽपि इति न न्यायविदस्ततो व्यवहारे नियमतः प्रवृत्तिर्युक्ता सर्वत्राऽऽशङ्कानिवृत्तेरिति, न अनिवृत्तिः सर्वत्र बीजाभावाद् वैधर्म्येण साधर्म्याऽसिद्धेः, साधर्म्याच्च समारोप इति ।

इत्थमेव दृष्टमिति चेत् । तत्त्वेनैव ग्रहणमित्यर्थः । एतदाशङ्क्याह—कथं व्यवधानसंभवः ?, नहि तस्य व्यवधानजनकत्वमित्यर्थः । ततः शुक्तिकाज्ञानाद् इन्द्रियजात्, तन्निश्चयाऽनुत्पत्तेः-शुक्तिकानिश्चयाऽनुत्पत्तेः, व्यवधानसंभव इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नैव तावद् निश्चयाऽनुत्पत्तिः किं केन कारणेन ?, इति चिन्त्यम्, निश्चयान्तरोत्पादाद् रजतनिश्चयोत्पादात् इति चेत्, तन्निश्चयाऽनुत्पत्तिः । एतदाशङ्क्याह-कथमनुभवान्तरात्, शुक्तिकानुभवरूपात् निश्चयान्तरोत्पादो रजतनिश्चयोत्पादः ?, तस्य शुक्तिकाऽनुभवस्य, तत्स्वभावत्वाद्—रजतनिश्चयोत्पादनस्वभावत्वात्, इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—अनुभवान्तरवद्—रजतानुभववद् इत्यर्थः न तस्य—शुक्तिकाऽनुभवस्य, तत्त्व—शुक्तिकानुभवतत्त्वम्, तत्त्वे वा—शुक्तिकाऽनुभवतत्त्वे वा, ततः शुक्तिकाऽनुभवात्, तदुत्पादे—निश्चयान्तरोत्पादे । किमित्याह—व्यवहारनियमोच्छेदः । एतमेव भावयन्नाह—एवं हीत्यादि । एवं यस्मात्, नीलानुभवजन्योऽपि तन्निश्चयो—नीलनिश्चयः पीताद्यनुभवस्य, तत्स्वभावतया नीलनिश्चयजननस्वभावतया, तज्जन्योऽपि-पीताद्यनुभवजन्योऽपि सम्भाव्यत एव, विजातीयशुक्तिकाऽनुभवाद्—विजातीयरजतनिश्चयोपपत्तेः, एवमन्यत्रापि रागादिनिश्चये, इति एवम्, न न्यायविदः पुरुषस्य, ततो निश्चयात्, व्यवहारे प्रस्तुते, नियमतो-नियमेन, प्रवृत्तिर्युक्ता । कुतो न युक्ता इत्याह—सर्वत्र विकल्पे, उक्तप्रकारं प्रति आशङ्कानिवृत्तेः कारणात्, न अनिवृत्तिराशङ्काया इति प्रक्रमः । कुत इत्याह—सर्वत्र बीजाभावात् आशङ्काबीजाभावात्, किन्तु निवृत्तिरेव । प्रस्तुतमेवाऽऽह—वैधर्म्येण हेतुना, साधर्म्याऽसिद्धेः सर्वत्र । यदि नामैव ततः किमित्याह—साधर्म्याच्च-समारोप इति । 'नास्ति' च शुक्तिका-रजतयोः तद् इत्यभिप्रायः ।

यद्येवम्, स्थिरेतरादीनां किं साधर्म्यम् ?, क्व वा तेषां ग्रहणम् ?, येन अस्थिरादिषु तत्समारोपः । सदृशाऽपराऽपरोत्पत्तिविप्रलम्भात् अयमिति चेत्, किमिदं सजातीयेतरविविक्तैकस्वभावानां भावानां सादृश्यम् ?, कथं वा सदपि एतत् तदेकग्राहिणा ज्ञानेन गम्यते ? । तेषामेव तत्स्वभावतया तथा ग्रहणेन इति चेत् । आकालं तदेकग्रहणे कुतोऽयं नभस आस्रवादः ?, अनेकभिन्नकालभावग्रहणे च एकेन अपैति क्षणिकता । तथाविधभावाऽनुभवसामर्थ्यजनिश्चयात् तदवगम्यत इति चेत्, न युक्तमस्य इमामक्रमागतामन्वयमश्रियं प्रतिपत्तुम्, तत्पूर्वक्षणानां च न्यायतस्तद्बीजाभाव उक्तः । तथानुभवसिद्धत्वात् सर्वं भद्रकमिति चेत्, न खलु अनुभव इत्येव तत्त्वव्यवस्थाहेतुः, न्यायबाधितस्य तदनुपपत्तेः, अस्य च उक्तवत् न्यायबाधितत्वात्, क्षणिकत्वेन तथाऽसम्भवाच्च । एतेन "यत्र तु प्रतिपत्तुर्भ्रान्तिनिमित्तं नास्ति तत्रैव अस्य दर्शनाविशेषेऽपि पाश्चात्यो निश्चयो भवति समारोप-निश्चययोर्बाध्यबाधकभावात्" इति यदुक्तम्, तदपि प्रत्युक्तमेव, सर्वथैकस्वभावत्वे वस्तुनो दर्शने चेत्थमभिधानाऽयोगात्, एकत्र भ्रान्तिनिमित्तसम्भवे सर्वत्र तदापत्तेः तत्तदेकस्वभावत्वतत्त्वात्, अन्यथा यत्र भ्रान्तिनिमित्तं न यत्र च अस्ति, अनयोः कथञ्चिद्भेद इति बलात् तदनेकस्वभावता, शुक्तिकादावपि तन्नियमाऽभावाच्च, अतन्निबन्धनत्वे च निश्चयानां न तेभ्यस्तत्तत्त्वव्यवस्था इत्युक्तम् ।

एतदाशङ्क्याह—यद्येवम्, स्थिरेतरादीनाम्-नित्याऽनित्यादीनाम् 'किं साधर्म्यम् ?', लक्षणभेदाद् न किञ्चिद् इत्यर्थः । क्व वा तेषां ग्रहणम् ?, नित्यानामभावेन तदयोगात्, येनाऽस्थिरादिषु भावेषु आदिशब्दाद्-अनात्मादिग्रहः, तत्समारोपो-नित्याऽऽत्मादिसमारोपः, सदृशाऽपराऽपरोत्पत्तिप्रलम्भात् कारणात्, अयमिति-आत्मादिसमारोपः, इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—किमिदं सजातीयेतरविविक्तैकस्वभावानां भावानाम्—अत्यन्तविलक्षणानामित्यर्थः, सादृश्यम् ?, न किञ्चित् । कथं वा सद् अपि एतत् सादृश्यम्, तदेकग्राहिणा तेषां भावानामेकग्रहणशीलं तदेकग्राहि तेन ज्ञानेन गम्यते ?, तदनेकग्रहणनान्तरीयकत्वात् तदवगमस्य न गम्यत इत्यर्थः । तेषामेवेत्यादि । तेषामेव भावानाम्, तत्स्वभावतया-सदृशस्वभावतया तथाग्रहणेन-सदृशग्रहणेन, इति चेद् गम्यते । एतदाशङ्क्याह—आकालं यावदपि कालस्तावदपि—सर्वकालमित्यर्थः, एकग्रहणे सति कुतोऽयं "तेषामेव तत्स्वभावतया" इत्यादिलक्षणः, नभसः—आकाशात् आस्रवादः ?, अनेकभिन्नकालभावग्रहणे च एकेन अक्रमाद् ज्ञानेन । किमित्याह—अपैति क्षणिकता भावानामिति । तथाविधेत्यादि । तथाविधभावानुभवसामर्थ्यजनिश्चयात्—संतानप्रवृत्तान्त्यक्षणभावानुभववीर्योत्पन्ननिश्चयाद् इति भावः, तत्-सादृश्यम्, अवगम्यते इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न युक्तमस्य निश्चयस्य, इमामक्रमाऽऽगतामन्वयाभावेन, अवगमश्रियं पदार्थतया विसदृशबोधरूपा प्रतिपत्तुम्, यदाह कश्चित्— "असत्सङ्गाद् दैन्यात् प्रस्खलच्चरितैर्वा बहुविधैरनद्भूतैर्भूतिर्यदि भवति भूतेरभवनि । सहिष्णोः सद्बुद्धेः परहितरतस्योन्नतिमतः, परा भूषा पुंसः स्वविधिविहितं वल्कलमपि ॥१॥" स्वविधिश्च क्षणिकस्य परतो निरपेक्षिता इति भावनीयम् ; तत्पूर्वक्षणानां च—विवक्षितक्षणभावानुभवपूर्वक्षणानां च, न्यायतो-न्यायेन, निरन्वयनश्वरतया, तद्बीजाभावो-विवक्षितक्षणबीजाभावः, उक्तः 'प्राग्' नित्यानित्यवस्तुनिरूपणाधिकारे एकान्त इत्यादिना ग्रन्थेन । तथेत्यादि । तथाऽनुभवसिद्धत्वात्-सदृशान्येनानुभवसिद्धत्वात् कारणात् स-

र्थसम्मयुक्तम् , भद्रकमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न वस्तु-नैव, अनुभव-वलेन एतावता भवेत, तत्त्वव्यवस्थाहेतु- । कथं न ?, इत्याह—न्यायबाधितस्य अनुभवस्य,तदनुपपत्तेः-तत्त्वव्यवस्थाहेतुत्वानुपपत्तेः , नीत्या द्विचन्द्रानुभवादौ त-थाऽभ्युपगमादिति'। यदि नामैवं ततः किमित्याह—अस्य प्रकान्तलक्षणानुभवस्य उक्तवद् यथोक्तं तथा न्यायबा-धितत्वात् , क्षणिकत्वेन हेतुना, तथा पदार्थबोधानुभवरूपे-णासम्भवाच्च , तथाहि—निश्चयानुभवोऽपि क्षणिक एव इति भावना । एतेन इत्यादि । एतेन-अनन्तरोदितेन वस्तु-जातेन, ' यत्र-तु प्रतिपत्तुर्भ्रान्तिनिमित्तं नास्ति तत्रैव अस्य दर्शनाविशेषेऽपि याथात्म्या निश्चयो भवति , समारोप—निश्चययोर्बाध्यबाधकभावाद् " इति यदुक्तम् । तत् किमि-त्याह—तदपि प्रत्युक्तमेव । कथमित्याह—सर्वथैकस्वभावत्वे वस्तुनो वाह्यस्य दर्शने च तस्य इत्थं यथोक्त तथा अभि-धानाऽयोगात् , अयोगश्च एकत्र वस्तुनि, भ्रान्तिनिमित्तस-म्भवे सति, सर्वत्र तदापत्ते.—भ्रान्तिनिमित्तसम्भवापत्ते , आपत्तिश्च तत्तदेकस्वभावत्वतत्त्वात्-तस्य वस्तुनो भ्रान्ति-निमित्तसम्भवैकस्वभावत्वरूपत्वात् । अन्यथेत्यादि । अन्य-था-एवमनभ्युपगमे, यत्र वस्तुनि भ्रान्तिनिमित्तम् , न घट-पटादौ यत्र च अस्ति शुक्तिकारजतादौ, अनयो -वस्तुनो , क थञ्चित् स्वभावभेद , वस्त्वभेदेऽपि स्वमत्ताभेद , इति-एवम् , वलात् तदनेकस्वभावता, तस्य-वस्तुन . सामान्येनाऽनेकस्व-भावता, तदेकान्तैकस्वभावत्वे तु न एतद् उत्पद्यत इति । उप-पत्त्यन्तरमाह- शुक्तिकादावपि-शुक्तिकारजतादौ अपि, तन्नि-यमाऽभावाच्च-नक्रमाद् भ्रान्तिनिमित्तसम्भवस्वभावत्वनि-यमाऽभावाच्च, वलाद् तदनेकस्वभावता इति वर्तते । तथा-हि—न शुक्तिकादौ, अपि सर्वस्य समारोप एव कस्यचिद् दर्शनाद् अनन्तर शुक्तिकानिश्चय , अपरस्य तदा तत्रैव स-मारोप इति न एतद् एकान्तैकस्वभावत्वे वस्तुन इति भावनी-यम् । अतद्-इत्यादि । तद्-वस्तु, निबन्धनं-कारणम् ,येषां ते तन्निबन्धना न तन्निबन्धना अतन्निबन्धनास्तद्भावस्तस्मिन् , अतन्निबन्धनत्वे च-अवस्तुनिबन्धनत्वे इत्यर्थः । केषामि-त्याह-निश्चयानां न तेभ्यो-निश्चयेभ्य , तत्तत्त्वव्यवस्था-वस्तुतत्त्वव्यवस्था, इति उक्तं प्राक् ।

एवं च यत्र स्वत एव निश्चयः स प्रत्यक्षः, यत्र तु न सोऽनुमेय इति सन्न्यायप्राप्तिः, अन्यथाऽसमञ्जसत्वात् । न चैवं सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनोऽपि अनेकस्वभावत्वाद् वस्तुनः क्षयोपशमवैचित्र्येण तथानिश्चयप्रवृत्तौ कश्चिद् दोषः, निरुपचरिततन्निबन्धनभावात् । दृश्यते च कथ-ञ्चिद् एकत्र एव एकाऽनेकप्रमातृपेक्षः शब्दलिङ्गाऽ-ध्यक्षैः प्रतीतिभेदः, तथाहि-अत्र निकुञ्जे वह्निरस्तीति शब्दतस्तथाविधदेशमात्रावच्छिन्नमग्निसामान्यं प्रतीयते, धूमदर्शनात् तु विशिष्टदेशावच्छिन्नस्तद्विशेषः , अध्य-क्षतस्तु विशिष्टतरो ज्वालादिरित्याऽऽगोपालाङ्गनाप्रसि-द्धत्वाद् अत्याज्य एव इति । एवं च सन्न्यायसिद्धे प्रमा-णानां वस्तुविषयत्वे यदुक्तं पुरस्तात् " नहि अन्य एव अन्योपकारको नाम " इत्यादि, तदयुक्तमेव । परमा-र्थतो निर्विषयत्वात् । न च वस्तु अपि तदेकमनेकधर्मो-पकारकशक्तिमद् इष्यते जैनैः, एकाऽनेकस्वभावत्वाऽभ्यु-पगमात् पृथग्भूतधर्म्यसिद्धेः । इति कृतमत्र प्रसङ्गेन ॥

एव च यत्राऽस्य वस्तुज्ञानस्य निश्चयः नीलादौ, स्वत एव निश्चय. समारोपव्यवच्छेदमन्तरेण , स प्रत्यक्षो-ऽस्य , यत्र तु अनित्यत्वादौ, सोऽनुमेय इति सन्न्यायप्राप्ति । कुत इत्याह—अन्यथाऽसमञ्जसत्वात् इत्येतच्च निदर्शितमसकृत् । यदि नामैवं ततः कि मित्याह—न चैवं सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनोऽपि वादिन , अनेकस्वभावत्वाद् वस्तुन , क्षयोपशमवैचित्र्येण हेतुना, तथानिश्चयप्रवृत्तौ अनन्तरोदितक्रमेण कश्चिद् दोष , कथ न दोष ? । इत्याह-निरुपचरिततन्निबन्धनभावाद्-वास्त-वप्रवृत्तिनिबन्धनभावादित्यर्थ । अमुमेवाऽर्थमुपदर्शयति—दृश्यते चेत्यादिना । दृश्यते च कथञ्चिद् एकत्रैव वस्तुनि, एकाऽनेकप्रमातृपेक्ष शब्दलिङ्गाऽध्यक्षै -आगमानुमानप्रत्य-क्षै प्रतीतिभेद , तथाहि-'अत्र निकुञ्जे वह्निरस्ति इति शब्द-त -शब्दात् तथाविधदेशमात्राऽवच्छिन्न सद् अग्निसामान्य प्रतीयते , धूमदर्शनात् तु विशिष्टदेशावच्छिन्नस्तद्विशेष - अग्निविशेष. पूर्वसामान्यापेक्षया , अध्यक्षतस्तु प्रत्यक्षत पुन , विशिष्टतरा ज्वालादि. प्रतीयते इति, आगोपालाङ्ग-नाप्रसिद्धत्वात् कारणात् , अत्याज्य एष प्रतीतिभेद इति । एवं च सन्न्यायसिद्धे सति, प्रमाणाना-प्रत्यक्षादीना वस्तु-विषयत्वे यदुक्त पुरस्तात् पूर्वपक्षग्रन्थे—' नहि अन्य एव-अन्योपकारको नाम " इत्यादि । तत् किमित्याह—तदयु-क्तमेव परमार्थतो निर्विषयत्वात् तस्य उक्तस्य । न चस्या-दि । न च-वस्त्वपि तद्-एक सद्-अनेकधर्मोपकारकश-क्तिमद् इष्यते वैशेषिकैरिव जैनैः । कुत इत्याह—एकाने-कस्वभावत्वाभ्युपगमात् कारणात्, पृथग्भूतधर्म्यऽसिद्धे-धर्मधर्मिस्वभावत्वाद् वस्तुन., इति कृतमत्र प्रसङ्गेन ।

यच्चोक्तम्–" समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाधकभावाद् " इति, एतदप्ययुक्तम् । परनीत्या समारोपनिश्चययोर्भेदा-ऽसिद्धेः समारोपस्यापि निश्चयत्वात् , तदभावभावित्वस्य च उभयत्राविशेषात् , पौर्वापर्यस्य च अनित्यादि-मकत्वात् क्वचित् तस्याऽपि तुल्यत्वात् । अनित्यादि-प्रतिपत्तावपि पुनर्नित्यादिनिश्चयोपलब्धेः वस्तुन एव पारम्पर्येण तद्भावाद् , तदन्यतराऽपरनिमित्तत्वे तदि-तरत्र तन्निमित्तत्वानाश्वासात् , विशेषहेत्वभावात् अ-नित्यस्यापि अर्थक्रियायोगादिति निर्लोठयिष्यामः ।

यच्चोक्तमाधिकृतपूर्वपक्षे—" समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाध-कभावाद् " इत्येतदपि अयुक्तम् । कथमित्याह—परनीत्या समारोपनिश्चययोर्भेदासिद्धे , असिद्धिश्च—समारोपस्या-ऽपि शुक्तिकादौ रजतादिरूपस्य निश्चयत्वात्, तथाहि—शुक्तिकायां रजतनिश्चय एव समारोप., तदभावभावित्वस्य च-शुक्तिकाद्यभावभावित्वस्य चशब्दात्—तदनुभयोगदा-नत्वस्य च, उभयत्र समारोपे निश्चये चाविशेषात् , नहि

गन्तृत्वाभावात् , वस्तुरूपस्य अध्यक्षत एव अभिगमात् , स्वाधिगमस्य च इतरत्रापि भावात् , तदन्यस्य च इतरत्रापि अभावादिति । एवं प्रवर्त्तकत्वादि अपि अस्य समानमितरेण, तत्रापि रूपादिनिश्चयादेव प्रवृत्तेः । व्यवहारे प्रमाणमेवाऽयमिति चेत् , क्व तर्हि अप्रमाणमिति ?, रूपादावेव इति चेत् , कुतोऽयं तत्राऽकारणो द्वेषः ?, प्रागेव तदधिगमादिति चेत् , समानोऽयं त्वन्नीत्या अनित्यत्वादौ, तथापि न तद्वत् तद्दर्शनमिति चेत् , न तर्हि प्राक् तद्वत् तदधिगमोऽन्यथा रूपादिनिश्चयवत् स्यात् तदा एवाऽयं निमित्ताविशेषात् , तदधिगमस्यैव तत्त्वतस्तन्निमित्तत्वात् बाधकानुपपत्तेः विशेषेण भावात् एकान्तैकत्वात् , अन्यथा तदनुपपत्तेः ।

तथा च आह—न हि प्रत्यक्षं भागशो—भागेन उत्पद्यते, कुत इत्याह—तस्य निरंशत्वात् सुलक्षणमेतद् इति निरंशम् , सत्यं नोत्पद्यते भागशः प्रत्यक्षम् , इति—अस्मात् अनुमानविकल्पपरामर्शाऽऽलम्बनम् अपि , तत्र—वस्तुनि , गृहीतमेव—अक्रमाद् प्रत्यक्षेण, केवलं गृहीतेऽपि—सति , येषु आकारेषु-अनित्यत्वादिषु, न तदनन्तरमेव—न दर्शनाऽनन्तरमेव,निश्चयोत्पत्ति , भूयसा—बाहुल्येन, व्याप्तिदर्शनात्-अविनाभावदर्शनेन पुनर्भवति , तद्विषय एव—अनित्यत्वादिविषय एव , अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् कारणात् , प्रमाणमनुमानविकल्पो नेतरो—रूपादिविकल्प इति । एतदाशङ्क्याह--यत् किञ्चिदेतत्-अनन्तरोदितमसारमित्यर्थ । कुत इत्याह--अनालोचिताभिधानत्वात् कारणात् , अनालोचिताभिधानत्वं च आहे—वस्तुनि आकाराभावात् , अभावश्च सर्वथा-एकान्तेन , एकस्वभावत्वाभ्युपगमाद् वस्तुन इति , परिकल्पितास्ते इति । एतदपोहाय आह--परिकल्पितानाम्—आकाराणाम् ,असत्त्वात् तत्त्वेन, तत्सत्त्वे--परिकल्पिताऽऽकारसत्त्वे, नियमतो--नियमेन , अतिप्रसङ्गात् परिकल्पनया विरोध्याऽऽकारभावेन-तथा युक्तितो न्यायत. , व्याप्त्यसिद्धे. कारणात् , असिद्धिश्च तद्भावस्य-व्याप्तिभावस्य, कथञ्चिद् भेदनिमित्तत्वात् व्याप्यव्यापकयोरिति प्रक्रम. । किमित्येतदेवमित्याह--अन्यथा-एवमनभ्युपगमे, व्याप्यव्यापकयो एकान्ताभेदादौ इत्यर्थ. , तदयोगात्--व्याप्तिभावायोगात् । एतदेव भावयति--नहीत्यादिना न यस्मात् , अभेदवत एव एकान्तैकस्य एव इत्यर्थ , अनित्यत्वस्य स्वात्मना अनित्यत्वेन एव व्याप्ति , अनित्यत्वस्य अनित्यत्वेन व्याप्तिरिति व्यवहाराऽयोगाद् । न च भिन्नयोरेव एकान्तेन हिमवद्विन्ध्ययोरिति भावनीयम् । तथा अनधिगतार्थाऽधिगन्तृत्वाऽभावाद् अनुमानविकल्पस्य । अभावश्च वस्तुरूपस्य अध्यक्षत एव-प्रत्यक्षेण एव इत्यर्थ , अधिगमात् , ततश्च आत्मानमेव अधिगच्छति अनुमानविकल्प इति पराभ्युपगम. । एनमेवाधिकृत्य आह--स्वाधिगमस्य च इतरत्रापि रूपादिविकल्पं भावात् , तदन्यस्य च अनधिगतस्य, इतरत्राऽपि-अनुमानविकल्पेऽपि अभावात् , इति अनालोचिताऽभिधानत्वमिति । एव प्रवर्त्तकत्वादि अपि अस्य प्रक्रमाद् अनुमानविकल्पस्य समानम् , इतरेण रूपादिविकल्पेन । कुत इत्याह-तत्राऽपि-रूपादिविकल्पे सति, रूपादिनिश्चयादेव प्रवृत्तेरिति, व्यवहारे—प्रवृत्त्यादिरूपे, प्रमाणमेवाऽय , रूपादिविकल्प इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—क्व तर्हि अप्रमाणमिति ?, रूपादौ एव इति चेत् अप्रमाणम् , कुतोऽय तत्र रूपादौ, अकारणो द्वेष ?, प्रागेव अविकल्पेन, तदधिगमात्-रूपाद्यधिगमात् इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—समानोऽयम्—अधिगम., त्वन्नीत्या अनित्यत्वादौ अनुमेये तथाऽपि-एवमपि, न तद्वद्-रूपादिवद् तद्दर्शनम्-नित्यत्वादिदर्शनमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न तर्हि प्राग् अविकल्पेन, तद्वद्-रूपादिवत् , तदधिगम -अनित्यत्वाद्यधिगम', अन्यथा यदि स्यात् , ततो रूपादिनिश्चयवत् , स्यात् , तदा एवायं नित्यत्वादिनिश्चय । कुत इत्याह—निमित्ताऽविशेषात् अविशेषश्च तदधिगमस्य एव अविकल्पेन रूपाद्यधिगमस्य एव, तत्त्वत —परमार्थेन, तन्निमित्तत्वात्-अनित्यादिनिश्चयनिमित्तत्वात् , बाधकानुपपत्तेः रूपादिनिश्चयानुमानेन, तथा च आह-अविशेषेण भावात् रूपाद्यधिगमवद् अनित्यत्वाद्यधिगमत्वेन भावात् , भावश्च एकान्तैकत्वात् अधिकृताधिगमस्य । इत्थं च एतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा तदनुपपत्ते । एकान्तैकत्वाऽनुपपत्तेरधिकृतानुभवस्य रूपादिनिश्चयवत् स्यात् तदा एव अयमिति स्थितम् ।

दूषणान्तरमभिधातुमाह-

किञ्च-अयमधिकृताधिगमः किं स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभावः ?, उत-समारोपजननस्वभावः ? , आहोस्विद्-उभयजननस्वभावः ?, उताहो-अनुभयजननस्वभाव इति ?। यदि स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभावः, निरवकाशः समारोपः, न चासौ अन्यनिमित्तोऽनिमित्तो वा। अथ समारोपजननस्वभावः, कुतोऽस्माद् निश्चयजन्म, अतत्स्वभावे अतिप्रसङ्गात् । उभयजननस्वभावत्वे विरोधः, न्याभावे अतिप्रसङ्गात् । उभयजननस्वभावत्वे विरोधः, न्यायाऽविरोधेऽपि अभ्युपगमबाधा । अनुभयजननस्वभावत्वे एकान्तेन तदुभयाभावः, तथा च प्रतीतिविरोध इति । एकान्तेन च निर्विकल्पकप्रत्यक्षवादिनो न न्यायतो रूपादिनिश्चयाऽनुमाननिश्चययोर्भेद इति सूक्ष्मधिया भावनीयम् ।

किञ्चेत्यादि । किञ्च--अयमधिकृताधिगम' अविकल्परूप', किं स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभाव ?, उत-समारोपजननस्वभाव. ?, आहोस्विद् उभयजननस्वभाव ?, उताहो-अनुभयजननस्वभाव इति ? । किञ्चात ?, सर्वथाऽपि दोष इति । आह च—यदि स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभाव । तत. किमित्याह-निरवकाश. समारोप. तन्निमित्ताधिगमस्य स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभावत्वात् , न च असौ-समारोप अधिकृताधिगमनिमित्तोऽनिमित्तो वा, किं तर्हि ?, अन्यनिमित्तोऽनिमित्तो वा, किं तर्हि ?, अधिकृताधिगमनिमित्त एव, तदा अन्यस्य अभावात् । अथ समारोपजनन-

स्वभावोऽधिकृताधिगम., कुतोऽस्माद् निश्चयजन्म ?, कथं च न स्याद् ?, इत्याह-अतत्स्वभावात्—अधिकृताधिगमात्, समारोपजनस्वभावत्वेन भावनिश्चयजन्मन. अतिप्रसङ्गात्, तद्वद् निश्चयान्तरभावेन। उभयजननस्वभावत्वेऽगृहीतनिश्चयसमारोपोभयजननस्वभावत्वे विरोध., न्यायाविरोधेऽपि तत्तथाचित्रस्वभावतया अभ्युपगमबाधा—अनेकान्तवादापत्ते.। अनुभयजननस्वभावत्वे अधिकृताधिगमस्य। किमित्याह—तदुभयाऽभावो-निश्चयसमारोपोभयाभावोऽस्तु इति आरेकाऽपोहायाऽऽह—तथा च एवं च सति प्रतीतिविरोध., तदुभयस्य तथावेदनात्, इति-एवमुक्तनीत्या, एकान्तेन निर्विकल्पप्रत्यक्षवादिनो वादिन, न न्यायतः-उक्तनीत्या,रूपादिनिश्चयाऽनुमाननिश्चययोर्भेद इति-एतद्, सूक्ष्मधिया भावनीयम्।

कथं तर्हि अनुमानविकल्पो नाऽनन्तरम् ?, सन्न्यायतोऽक्षज्ञानेन तद्विषयानधिगतेः। वस्तुनोऽनेकधर्मत्वात् क्षयोपशमवैचित्र्याद् इत्युक्तप्रायम्। अतो न निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षम्।

आह-यदि एवम्, कथं तर्हि अनुमानविकल्पो न अनन्तरं दर्शनस्य इति प्रक्रम. ?। एतदाशङ्कयाह-सन्न्यायत -तत्त्वनीत्या, अक्षज्ञानेन—अविकल्पेन, तद्विषयानधिगते.-अनुमानविकल्पविषयानधिगते, कथं कस्यचिद् अधिगति., कस्यचिद् न इत्येतदपि युक्तिमदिति ?। एतदाशङ्कयाह—वस्तुनोऽनेकधर्मत्वात्, एतदपि युगपदेव प्रायश इत्याह-क्षयोपशमवैचित्र्याद् इत्येतद् उक्तप्रायम्। प्रायेण उक्तम्, अतो न निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति निगमनम्।

लक्षणायोगाच्च, "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" इति लक्षणम्, न चैतद् न्याय्यं परनीत्याऽनेकदोषापत्तेः, कल्पनापोढत्वस्य अव्यापकत्वात्, कल्पनायामपि स्वसंविदः प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, तस्याश्च तदव्यतिरिक्तत्वात्, व्यतिरिक्तत्वेऽधिकृतविशेषणायोगात्, तत्त्वतो व्यवच्छेद्यानुपपत्तेः अवस्तुत्वात् कल्पनायाः। स्वसंविदा तत्त्वेतरविकल्पाभ्यां दोषापादनमयुक्तमिति चेत्। न। तदवस्तु तत्त्वेन विकल्पधियोऽभावप्रसङ्गात्, स्वसंविन्मात्रस्यैव भावात्, असत्योपरागायोगात् क्लिष्टताऽसिद्धेरिति।

तथा लक्षणाऽयोगाच्च न निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति। लक्षणाऽयोगमाह-"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" इति लक्षण परकीयम्, न च एतद् न्याय्यम्। कुत इत्याह-परनीत्या अनेकदोषापत्ते. अस्य लक्षणस्य, आपत्तिश्च कल्पनापोढत्वस्य लक्षणत्वेन उपन्यस्तस्य अव्यापकत्वात्। अव्यापकत्व च कल्पनायामपि स्वसंविद परेण प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, कल्पनाऽपि स्वसंवित्ताऽधिष्ठानार्थे विकल्पनाद् इति। तस्याश्च कल्पनाया, तदव्यतिरिक्तत्वात्—स्वसंविदव्यतिरिक्तत्वात्। इत्थ चैतत् अङ्गीकर्तव्यमित्याह-व्यतिरिक्तत्वे कल्पनाया, स्वसंविदोऽभ्युपगम्यमाने। किमित्याह-अधिकृतविशेषणाऽयोगात्, अयोगश्च तत्त्वत.-परमार्थेन, व्यवच्छेद्यानुपपत्ते. सर्वस्या एव स्वसंविदः कल्पनापोढत्वात्। अत्राह-अवस्तुत्वात् कल्पनाया. स्वसंविदा सह तत्त्वेतरविकल्पाभ्या—नत्वाऽन्यत्वविकल्पाभ्यामित्यर्थ., दोषापादनमनन्तरोदितमयुक्तमिति चेत्। एतदाशङ्कयाह-न-नैतद् एवम्, तदवस्तुत्वेन तस्या -कल्पनाया अवस्तुत्वेन हेतुना। किमित्याह-विकल्पधिय. कल्पनाबुद्धे अभावप्रसङ्गात्, प्रसङ्गश्च स्वसंविन्मात्रस्य एव भावात्, सर्वत्र "इयमेव कल्पना उपरक्ता विकल्पधी" इत्यपि असद्। इति आवेदयन्नाह-असत्याः कल्पनाया अवस्तुत्वन। किमित्याह—उपरागायोगात् स्वसंविदेव क्लिष्टा विकल्पधी, इत्यपि अयुक्तिमद्, इत्याह—क्लिष्टताऽसिद्धेरिति स्वसंविन्मात्रत्वेन, अत स्थितमेतत्, न च एतद् न्याय्यमिति।

किञ्च-एकान्तवादिनः सर्वथा कल्पनाऽपोढत्वे कल्पनाऽपोढकल्पनातोऽपि अपोढत्वात् कल्पनाऽपोढत्वलक्षणायोगः। प्रत्यक्षसामान्यं लक्षणविषय इति चेत्। न। तस्य ततो व्यतिरिक्तेतरविकल्पायोगात्, व्यतिरिक्तत्वे न तदध्यक्षलक्षणम्, अव्यतिरिक्तत्वे तु उक्तवल्लक्षणायोगः। निरूपणाऽनुस्मरणविकल्पाभ्यामविकल्पकं स्वभावविकल्पेन तु सविकल्पकमिति चेत्। न। विरोधात्, अन्यथा अनेकान्तापत्तेः स्वाभ्युपगमपरित्यागादिति।

दूषणान्तरमाह—किञ्चेत्यादिना। किञ्च, एकान्तवादिनो वादिन. एकान्तेन कल्पनापोढमेतत्, ततश्च सर्वथा कल्पनापोढत्वे सति। किमित्याह-कल्पनापोढकल्पनातोऽपि अपोढत्वात् कारणात्, कल्पनापोढत्वलक्षणाऽयोग', तत्र तद्योग्यताऽभावादिति। प्रत्यक्षसामान्यम् अप्रत्यक्षव्यावृत्तिरूपम् लक्षणविषय इति चेत् तत्र तद्योगता इति भाव.। एतदाशङ्कयाह—न, तस्य—प्रत्यक्षसामान्यस्य, ततः—प्रत्यक्षात्। किमित्याह—व्यतिरिक्तेतरविकल्पाभ्यामयोगात्। आह च-व्यतिरिक्तत्वे प्रत्यक्षात् तत्सामान्यस्य न तदध्यक्षलक्षणं तद्व्यतिरिक्ततत्सामान्यलक्षणत्वात्, अव्यतिरिक्तत्वे तु प्रत्यक्षात् तत्सामान्यस्य, उक्तवद् यथोक्तं तथा। किमित्याह—लक्षणाऽयोगः तत्र तद्योग्यताऽभावाद् इति। अत्राह—निरूपणाऽनुस्मरणविकल्पाभ्याम्—एवभूतमेतद् इति, तदात्वे आयत्यां चैतद्गोचराभ्यामविकल्पकमेतत्, स्वभावविकल्पेन तु कल्पनापोढस्वभावत्वलक्षणेन सविकल्पकमेव इति चेत्। एतदाशङ्कयाह—न, विरोधात् 'अविकल्पकं सविकल्पक च' इति विरोध., अन्यथा निमित्तभेदतो विरोधमन्तरेण। किमित्याह-अनेकान्तवादापत्ते.। तत. किमित्याह—स्वाभ्युपगमपरित्यागाद् नेति योग।

एवमभ्रान्तत्वविशेषणमपि असङ्गतमेव, परनीतितो व्यवच्छेद्याऽयोगात्। इन्दुद्वयादिज्ञानं व्यवच्छेद्यमिति चेत्। न। तस्याऽभ्रान्तत्वात्, एतच्च लक्षणोपपत्तेः तस्याऽपि तत्प्रकाशकस्वभावहेतुजत्वतश्च भ्रान्तताऽसिद्धेः, अन्यथा तदयोगात्, तस्य चाऽनुभवसिद्धत्वात्, न च बहिस्तद्विषयानुपलब्ध्या तत्सिद्धिः, तद्ग्रहणस्वभाव-

धिया तद्विषयानुपलब्ध्यसिद्धेः, अन्यथाऽनुपलब्धौ तद्भावाऽसिद्धेरतिप्रसङ्गात्। न चाऽतैमिरिकस्याऽपि तत्प्रत्ययप्रसङ्गः, तस्य तिमिरतदन्यहेतुजन्यस्वभावत्वात्, अतैमिरिकाणां च तदभावात् तथा लोकप्रसिद्धेः। न च बाधातोऽस्य भ्रान्तता, बाधाऽसिद्धेः भिन्नकालविषयप्रत्ययेन तदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, क्वचिद् अभ्रान्तस्याऽपि असर्पादौ तदन्यतो बाधोपलब्धेश्च। न चाऽनर्थक्रियाकरणतः, अप्राप्यदेशगतजलादिज्ञानेन व्यभिचारात्, संविन्मात्रार्थक्रियाविधाने चास्य इतरत्रापि तद्भावात् तथाप्रतीतेः, न च लोकप्रतीतितः, अभ्युपगमविचाराद् तेन च तदप्राप्तेः, तस्य च इहाधिकृतत्वादिति अलमनया लोकागमानुभवविरुद्धया अतिसूक्ष्मेक्षिकया उक्तवत् सर्वत्र असमञ्जसतापत्तेः। यस्तु लोकादिसापेक्षः तस्यैव तद्भेदस्य विद्वदङ्गनादिलोकप्रतिष्ठितत्वात् अविगानतस्तथाऽप्रतीतेः तद्व्यवस्थाकारिसदागमभावाद् उक्तदोषाभाव इति।

एवं यथा कल्पनापोढत्वविशेषणम्, तथा अभ्रान्तत्वविशेषणमपि असंगतमेव। कुत इत्याह—परनीतितो व्यवच्छेद्याऽयोगात्। इन्दुद्वयादिज्ञानम्-आदिशब्दाद्—वियत्केशज्ञानादिग्रहः, व्यवच्छेद्यमिति चेत्। एतदाशङ्क्याह—न, तस्य इन्दुद्वयादिज्ञानस्य अभ्रान्तत्वात्, एतच्चाऽभ्रान्तत्व तल्लक्षणोपपत्तेः—अभ्रान्तलक्षणोपपत्तेः, उपपत्तिश्च तस्याऽपि इन्दुद्वयादिज्ञानस्य, तत्प्रकाशकस्वभावत्वेन-इन्दुद्वयादिप्रकाशकस्वभावत्वेन, तादृक्फलजननस्वभावहेतुजत्वतश्च इन्दुद्वयादिज्ञानजननस्वभावहेतूत्पन्नत्वेन च अस्य भ्रान्तताऽसिद्धेः, अन्यथा—एवमनभ्युपगमे, तदयोगात्—इन्दुद्वयादिज्ञानाऽयोगात्, तस्य च इन्दुद्वयादिज्ञानस्य अनुभवसिद्धत्वात्। न च बहिर्वियदादौ, तद्विषयाऽनुपलब्ध्या—इन्दुद्वयादिज्ञानविषयाऽनुपलब्ध्या कारणेन, तत्सिद्धिः-भ्रान्ततासिद्धिः। कुत इत्याह—तद्ग्रहणस्वभावधिया—बहिस्तद्विषयग्रहणस्वभावधिया, इन्दुद्वयादिग्रहणस्वभावबुद्ध्या इत्यर्थः, तद्विषयानुपलब्ध्यसिद्धेः-इन्दुद्वयादिज्ञानविषयानुपलब्ध्यसिद्धेः, तद्ग्रहणस्वभावा हि तद् गृह्णात्येव, अन्यथा तत्स्वभावताऽयोगः। अन्यथेत्यादि। अन्यथा—अतद्ग्रहणस्वभावया धिया इति प्रक्रमः, अनुपलब्धिः बहिस्तद्विषयस्य इति प्रक्रम एव इत्यन्यथानुपलब्धिस्तस्याम्। किमित्याह—तदभावाऽसिद्धेः-बहिस्तद्विषयाऽभावाऽसिद्धेः, इन्दुद्वयाद्यभावासिद्धेरित्यर्थः। कुत इत्याह—अतिप्रसङ्गात्—पटादिग्रहणस्वभावया धिया घटो न गृह्यत इति तस्यापि अभावप्रसङ्गाद् इत्यर्थः। न चेत्यादि। न च अतैमिरिकस्याऽपि प्रक्रमात् प्रमातुः तत्प्रत्ययप्रसङ्गः-इन्दुद्वयादिप्रत्ययप्रसङ्गः, तदस्ति इति कृत्वा। कुत इत्याह—तस्येत्यादि। तस्य-इन्दुद्वयादिप्रत्ययस्य तिमिरसहायतदन्यहेतुजन्यस्वभावत्वात् तिमिरसहायचक्षुरादिजन्यस्वभावो हि इन्दुद्वयादिप्रत्ययः। यदि नामैवं ततः किमित्याह-अतैमिरिकाणां च प्रमातॄणाम्, तदभावात्-तिमिराऽभावात्, ततश्च कारणवैकल्यात् कार्याऽभाव इति स्थितम्। इत्थं च एतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-तथा लोकप्रसिद्धेः अतैमिरिकाणां तिमिराऽभावेन न इन्दुद्वयादिप्रत्यय इति लोकप्रसिद्धेः। न चेत्यादि। न च बाधातः कारणात्, अस्य इन्दुद्वयादिज्ञानस्य इति प्रक्रमः भ्रान्तता। कुत इत्याह—बाधासिद्धेः तस्यैव तिमिराऽपगमे एकेन्द्वादिज्ञानभावतो बाधा। इत्यारेकानिरासाय आह—भिन्नेत्यादि। भिन्नौ कालविषयौ यस्य स भिन्नकालविषयः, एवभूतश्चासौ प्रत्ययश्च इति विग्रहस्तेन, तदभ्युपगमे—बाधाऽभ्युपगमे। किमित्याह—अतिप्रसङ्गात्-सर्व एवभूत तदन्यस्य बाधक इति अतिप्रसङ्गः। दोषान्तरमाह—क्वचिदित्यादिना। क्वचिद् मन्दमन्दप्रकाशादौ, अभ्रान्तस्याऽपि प्रक्रमाद् ज्ञानस्य, असर्पादौ—असर्पादिविषयस्य, तदन्यतो भ्रान्ताद् ज्ञानाद् इति प्रक्रम एव। किमित्याह-बाधोपलब्धेश्च तथा रज्जुचलनादेः सर्पज्ञाने न तदसर्पज्ञानस्य, इति नाऽलौकिकमेतद् अतो भावनीयमिति। दोषान्तरमभिधातुमाह—न चेत्यादि। न च अनर्थक्रियाकरणतोऽस्य भ्रान्तता इति वर्तते। कुत इत्याह—अप्राप्यदेशगतजलादिज्ञानेन व्यभिचाराद् इति भावितार्थमेतत्। संविन्मात्राऽर्थक्रियाविधाने च अस्य-अनन्तरोदितज्ञानस्य। किमित्याह—इतरत्राऽपि प्रक्रमाद् इन्दुद्वयादिज्ञानेऽपि, तद्भावात्-संविन्मात्राऽर्थक्रियाविधानभावाद्, भावश्च तथाप्रतीतेः। न चेत्यादि। न च—लोकप्रतीतितोऽस्य भ्रान्तता इति प्रक्रमः। कुत इत्याह-अभ्युपगमविचारात्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—तेन च-अभ्युपगमेन, तदप्राप्तेः-उक्तवद् भ्रान्तताऽप्राप्तेः, तस्य च-अभ्युपगमस्य, इह-प्रक्रमे अधिकृतत्वात्, ततश्च-ततो यत् सिद्ध्यति तत् तत्त्वम्, अतोऽन्यद् अतत्त्वमित्यलमनया एवभूतया, लोकाऽऽगमाऽनुभवविरुद्धया अतिसूक्ष्मेक्षिकया। किमित्यत आह—उक्तवद्—यथोक्त तथा, सर्वत्र असमञ्जसतापत्तेः, अतो जातिरियमिति प्रतिपत्तव्या सर्वत्र तत्त्वेन। यस्तु लोकादिसापेक्षो-लोका-ऽऽगमाऽनुभवसापेक्षो वादी इति गम्यते, तस्य उक्तदोषाऽभाव इति संबन्धः। कथमित्याह-एतद्भेदस्य—प्रक्रमाद् भ्रान्तेतरज्ञानभेदस्य, आविद्वदङ्गनादिलोकप्रतिष्ठितत्वात् कारणात्, एतत्-प्रतिष्ठितत्वं च अविगानतस्तथा भ्रान्तेतरत्वेन प्रतीतेः, तथा तद्व्यवस्थाकारिसदागमभावाद्—अधिकृततद्भेदव्यवस्थाकारिसर्वज्ञप्रणीतागमभावादित्यर्थः, उक्तदोषाऽभावः जातियुक्तिभिर्भ्रान्तेतरज्ञानयोः समत्वाऽऽपादनमुक्तदोषस्तदभावः, उपन्यस्तहेत्वन्यथानुपपत्तिरिति।

दूषणान्तराभिधित्सयाऽऽह—

किञ्च—निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्यत्र न प्रमाणं, तेनैव तदनधिगतेः अर्थविषयत्वात् तस्य च ततोऽन्यत्वात्, तथाहि—न तन्निर्विकल्पकत्वमेव तदर्थः, न चानर्थो विषयः, न चाऽविषयेऽधिगतिरिति न तत्रास्य प्रमाणता, अतिप्रसङ्गात्। उभयं विषय इति चेत्। न। उभयोस्तत्प्रव-

णायोगात् स्वनिर्विकल्पकत्वस्य तदकारणत्वात्, अकारणस्य चाऽविषयत्वात्, अन्यथा अभ्युपगमविरोधात्। एतेन स्वसंविदितत्वं प्रत्याख्यातम्।

किञ्चेत्यादि। किंच--निर्विकल्पक प्रत्यक्षम् इति-अन्नार्थे न प्रमाणम्। कुत इत्याह--तेनैव--प्रत्यक्षेण, तदनधिगते-तस्य निर्विकल्पकस्य अनधिगतेः, अनधिगतिश्च अर्थविषयत्वात् प्रत्यक्षस्य, तस्य च-अर्थस्य, ततः--प्रत्यक्षाद् अन्यत्वात्, प्रस्तुतैदंपर्यमाह-तथाहीत्यादिना। तथाहि-न तद् निर्विकल्पकत्वमेव-अधिकृतप्रत्यक्षनिर्विकल्पकत्वमेव, तदर्थ-प्रत्यक्षाऽर्थः, न च अनर्थो विषय-" रूपाऽऽलोकमनस्कार-चक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्त्तते। विज्ञानं मणिसूर्याऽशु-गोशकृद्भ्य इवाऽनलः॥ १॥" इति वचनात्, न च अविषये अधिगतिः, अपन्यायाद्, इति-पक्षम्, न तत्र-निर्विकल्पकत्वे, अस्य-प्रत्यक्षस्य प्रमाणता। कुत इत्याह-अतिप्रसङ्गात्-विषयलक्षणाऽयोगेन प्रमाणताभ्युपगमे सर्वत्र प्रमाणतापत्तिरिति अतिप्रसङ्गः, उभयम्-स्वनिर्विकल्पकत्वार्थोभयम्, विषयः प्रत्यक्षस्य इति चेत्। एतदाशङ्क्याह-न। उभयोः-स्वनिर्विकल्पकत्वार्थयोः, तल्लक्षणाऽयोगात्--विषयलक्षणाऽयोगात्, अयोगश्च स्वनिर्विकल्पकत्वस्य तदकारणत्वात्-प्रत्यक्षाऽकारणत्वात्, अकारणस्य च अविषयत्वात्। इत्थं चैतद् अङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथाऽभ्युपगमविरोधात्। विरोधश्च "नाऽकारणं विषयः" इति वचनप्रामाण्यात्, तदेव नोभयं विषय इति। एतेनेत्यादि। एतेन-अनन्तरोदितेन, स्वसंविदितत्वं प्रत्याख्यातं प्रत्यक्षस्य इति प्रक्रमः।

अनेन विषयाऽवेदनप्रसङ्गात् सर्वथैकस्वभावत्वाद्, निर्विषयतापत्तेः। न च स्वसंवेदनमेव विषयवेदनम्। तयोः कालादिभेदात्, तद्वेदनस्यैकत्वाभावात् तच्चित्रताप्रसङ्गादित्येकस्वभावत्ववस्तुवादिनः, अन्याऽवेदनप्रसङ्ग एव। एवं च सति स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनात्, तत्सामर्थ्यतस्तत्पृष्ठभावी विकल्पः स्वतस्तद्विषय एव स्यात् रूपादिविकल्पवत्, न च भवति तथाऽप्रतीतेः, न च तमन्तरेण, तत्तथाताऽव्यवस्थितिरतिप्रसङ्गादिति, एतेन यदाह न्यायवादी—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं, प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां, विकल्पो नाम संश्रयः॥ १॥
संहृत्य सर्वतश्चिन्तां, स्तिमितेनाऽनन्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूप-मीक्षते साऽक्षजा मतिः॥ २॥
पुनर्विकल्पयन् किञ्चि-दासीन्मे कल्पनेदृशी।
इति वेत्ति न पूर्वोक्ता-वस्थायामिन्द्रियाद् गतौ॥ ३॥"

इत्यादि, तदपाकृतमवसेयम्, उक्तवत्प्रत्यक्षेणैव असिद्धेः तदेकस्वभावत्वविरोधादिति।

इहैव उपचयमाह-अनेन-स्वसंविदितेन प्रत्यक्षेण। किमित्याह-विषयाऽवेदनप्रसङ्गात्, प्रसङ्गश्च सर्वथा एकस्वभावत्वाद् अस्य। एवमपि को दोष इत्याह-निर्विषयतापत्तेः स्वसंविदितत्वेन। न चेत्यादि। न च स्वसंवेदनमेव विषयवेदनम्। कुत इत्याह-तयोः-स्वविषययोः, कालादिभेदात् आदिशब्दात्-स्वरूपग्रहः। यदि नामैवं ततः किमित्याह-तद्वेदनस्य-तयोः स्वविषययोर्वेदनं तद्वेदनं तस्य। किमित्याह-एकत्वाऽभावात् उभयवेदनेन, अत एव तच्चित्रताप्रसङ्गाद् इत्येवमेकस्वभावत्ववस्तुवादिनो वादिनः। किमित्याह-अन्याऽवेदनप्रसङ्ग एव-स्वव्यतिरिक्तविषयाऽवेदनप्रसङ्ग एव इत्यर्थः, एवं च सति-स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनात् कारणात्, तत्सामर्थ्यत-स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनसामर्थ्येन हेतुना, तत्पृष्ठभावी विकल्प—प्रक्रमात् सामान्येन प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पः, स्वतः-आत्मना एव समारोपव्यवच्छेदमन्तरेण, तद्विषय एव स्यात्-स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनविषय एव भवेत् रूपादिविकल्पवद् इति, निदर्शनम्। न च भवति स्वत एव, तथाऽप्रतीतेः कारणात्, न च तमन्तरेण विकल्पम्, तत्तथाताऽव्यवस्थितिः-तस्य प्रत्यक्षस्य तथाताव्यवस्थितिः-स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनभावव्यवस्थितिः, स्वसंविदितत्वव्यवस्थितिरित्यर्थः। कथं न इत्याह-अतिप्रसङ्गात्—विषयान्तरविषयवेदनाऽभावप्रसङ्गादिति, एतेन-अनन्तरोदितेन, यदाह न्यायवादी धर्मकीर्तिर्वार्तिके-"प्रत्यक्षमित्यादि" तदपाकृतमवसेयमिति योगः-प्रत्यक्षं प्रस्तुतम्, कल्पनापोढमित्येतत् प्रत्यक्षेणैव सिध्यति। कथमित्याह-प्रत्यात्मवेद्यो यस्मात् सर्वेषां प्रमातॄणाम्, विकल्पो नाम—संश्रय शब्दानुविद्ध इत्यर्थः॥ १॥ तथा संहृत्य सर्वतश्चिन्तां विकल्परूपाम्, स्तिमितेन अन्तराऽऽत्मना-प्रसन्ननिर्व्यापारेण, स्थितोऽपि सन्, चक्षुषा रूपमीक्षते—पश्यति, यया बुद्ध्या सा अक्षजा मतिः॥ २॥ ईक्षित्वा पुनर्विकल्पयन् किंचित् पश्चाद् आसीद् मे कल्पना ईदृशी एवभूता इति वेत्ति, न पूर्वोक्तावस्थायां चक्षुषा रूपेक्षणलक्षणायाम्, इन्द्रियाद् गतौ॥ ३॥ इत्यादि यदाह न्यायवादी तद् अपाकृतम्-अपास्तमवसेयम्। कथमित्याह-उक्तवत्-यथोक्तं तथा, प्रत्यक्षेण एव असिद्धेः—प्रत्यक्षेणैव सिध्यति इत्यस्य असिद्धेः, असिद्धिश्च तदेकस्वभावत्वविरोधात् तस्य प्रत्यक्षस्य—एकस्वभावत्वविरोधात् स्वविषयपरिच्छेदकत्वेन इति भावितार्थमेतदिति।

सामान्यसिद्धावनुमानप्रामाण्यं निरस्यति—

न चानुमानमत्र प्रमाणम्, अस्य स्वलक्षणत्वात् अनुमानस्य च सामान्यलक्षणालम्बनत्वात्, न चेदं परपक्षे चारु, गमकलिङ्गाऽसम्भवात् स्वभावकार्याऽसिद्धेः, स्वभावस्य तादात्म्येन तत्त्वात् तद्वत् तदग्रहणात्, तद्ग्रहे साध्यप्रतिपत्तेः, तदप्रतिपत्तौ तद्ग्रहणाऽयोगात् एकान्तैकत्वात्, तथाग्रहे मोहाऽभावात्, भावे वा निवृत्त्यनुपपत्तेः उपायाऽभावादिति। अनेन शिंशपादिप्रतिपत्तौ वृक्षाऽप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता, तुल्ययोगक्षेमत्वात्, अन्यथा कथञ्चित् तद्भेदापत्तेः। व्यावृत्तिभेदोऽभ्युपगम्यत एव इति चेत्, न तर्हि तदेकस्वभावता। सोऽपारमार्थिक इति चेत्, किमर्थमस्योप-

न्यासः ?, व्यवहारार्थमिति चेत् कीदृशोऽमता व्यवहारः ?, परमार्थतो भ्रान्त इति चेत्, न तत्त्वतः साध्यसाधनभाव इति। एतेन "सर्व एव अयमनुमानाऽनुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन" इत्येतदपि प्रत्युक्तम्, अस्य तावदर्थाऽप्रतिबद्धत्वात्, तस्य एकत्वेन अतथाभूतत्वात् नीलात् नीलपीतबुद्ध्याकारतुल्यत्वात् परप्रतिपादनोपायत्वानुपपत्तेरतिप्रसङ्गादिति न स्वभावहेतोस्तदवगतिः।

न चेत्यादि। न च अनुमानमत्र—प्रक्रमाद् निर्विकल्पकत्वे प्रत्यक्षस्य प्रमाणम्। कुत इत्याह-अस्य-प्रत्यक्षस्य, स्वलक्षणत्वात्। यदि नामैव ततः किमित्याह-अनुमानस्य च सामान्यलक्षणाऽऽलम्बनत्वात् तत् कथम् अन्याऽऽलम्बनमन्यत्र प्रमाणं भवति ?। दूषणान्तरमाह-न चेदमित्यादि। न च इदम् अनुमानम्, परपक्षे-एकान्तैकस्वभाववादिपक्षे, चारु-शोभनम्, गमकलिङ्गाऽसम्भवात्, असंभवश्च स्वभावकार्याऽसिद्धेः—स्वभावश्च कार्यं च स्वभावकार्ये लिङ्गे इति प्रक्रम तयोरसिद्धेः, असिद्धिश्च स्वभावस्य सत्त्वादेः तादात्म्येन—साध्यात्म्येन हेतुना, तत्त्वात्—साध्यत्वात्। यदि नामैव ततः किमित्याह—तद्वत्—साध्यवत्, तद—ग्रहणात्—स्वभावाऽग्रहणात्। इत्थं चैतत् अङ्गीकर्तव्यमित्याह—तद्ग्रहे—स्वभावग्रहे, साध्यप्रतिपत्ते। नान्यथा इदमित्याह—तदप्रतिपत्तौ-साध्याऽप्रतिपत्तौ तद्ग्रहणाऽयोगात्-स्वभावग्रहणाऽयोगात्, अयोगश्च एकान्तैकत्वात् प्रक्रमात् साध्यहेत्वोः। मोहव्यावृत्त्यर्थमपि अस्य प्रवृत्तिरयुक्ता इत्याह—तथाग्रहे-एकत्वेन ग्रहे मोहाऽभावात्, भावे वा तथाग्रहेऽपि मोहस्य। किमित्याह—निवृत्त्यनुपपत्ते, अनुपपत्तिश्च उपायाऽभावात्, तत्स्वरूपग्रहेऽपि तन्मोहस्य निवृत्तौ क उपाय इति ?, अनेन अनन्तरोदितेन, शिंशपादिप्रतिपत्तौ सत्यां वृक्षाऽप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता। कुत इत्याह-तुल्ययोगक्षेमत्वात्—शिंशपात्वस्य एव वृक्षत्वाद इत्यर्थः। अन्यथेत्यादि। अन्यथा एवमनभ्युपगमे, कथंचित् तद्भेदापत्तेः शिंशपात्ववृक्षत्वयोर्भेदापत्ते, व्यावृत्तिभेदोऽभ्युपगम्यत एव शिंशपात्ववृक्षत्वयोः शास्त्राऽधिकृताऽनित्यत्वकृतकत्वयोर्वा इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—न तर्हि तदेकस्वभावता—शिंशपादेः एकस्वभावता, स—व्यावृत्तिभेद, अपारमार्थिक इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—किमर्थमस्य अपारमार्थिकस्य उपन्यासः ?, व्यवहारार्थमिति चेत्। एतदाशङ्क्याह—कीदृशोऽमता व्यवहारः ? परमार्थतो भ्रान्त इति चेद् व्यवहारः। एतदाशङ्क्याह—न तत्त्वतः—परमार्थेन, साध्यसाधनभावो भ्रान्तव्यवहारविषयत्वादिति। एतेन इत्यादि। एतेन—अनन्तरोदितेन, 'सर्व एव अयमनुमानाऽनुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन" इत्येतदपि भवता उक्तं प्रत्युक्तम्। कुत इत्याह—अस्य तावद् बुद्ध्याऽऽरूढस्य धर्मधर्मिभावस्य, अर्थाऽप्रतिबद्धत्वाद्—अस्त्वप्रतिबद्धत्वात् अप्रतिबद्धत्वं च तस्य अर्थस्य, एकत्वेन—एकस्वभावत्वेन हेतुना, अतथाभूतत्वात् धर्मधर्मितया अभूतत्वात्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—नीलात् सकाशात्, नीलपीतबुद्ध्याऽऽकारतुल्यत्वात् बुद्ध्याऽऽरूढधर्मधर्मिभावस्य ततोऽभावादित्यर्थः, ततश्च परप्रतिपादनोपायत्वाऽनुपपत्ते, तदसद्रूपतया माऽसत उपायत्वम्। इत्याह—अतिप्रसङ्गात्—असत उपायत्वे सर्वसिद्ध्यापत्त्या अतिप्रसङ्गः, इत्येवमुक्तनीते असिद्धेन स्वभावहेतो सकाशात्, तदवगति—प्रक्रमात् प्रत्यक्षनिर्विकल्पकत्वाऽवगतिः।

सामान्यसिद्धौ कार्यहेतुतां निरस्यति-

एवं न कार्यहेतोरपि, तन्निर्विकल्पकत्वकार्यत्वेन कस्यचिद् असिद्धेः, सदा एकेन एकवेदनात्, तत्कार्यत्वस्य च तदवधिकत्वात् तदग्रहणे तथा अग्रहणात्, अन्यथा न्यायाऽयोगात्। तत्तत्स्वभावत्वतः तथाग्रहणेऽतिप्रसङ्गात्, अन्यतरदर्शनात् अन्यतराऽवगमापत्तेः तथा विशिष्टस्य ग्रहणात्, अभ्युपगमे अनुभवविरोधात्, अविनाभावग्रहणमन्तरेण तदयोगात्, लोके तथोपलब्धेः तस्य च परपक्षेऽभावात्, ज्ञानानां प्रतिनियतार्थत्वात् तत्तथाऽभावतोऽनुसन्धानाऽयोगात्, तथाविधविकल्पस्याऽपि असिद्धेः, तस्याऽपि क्षणिकत्वात्, तथा तत्तन्निश्चयाऽनुपपत्तेरित्यत्राऽपि-बुद्ध्यारूढधर्मधर्मिन्यायतोऽपि अधिकृतव्यवहाराऽभावः, उक्तवद् न्यायतस्तदयोगात्, योगेऽपि अभिलपितार्थाऽसिद्धिरेव। अर्थस्याऽर्थगमकत्वाऽभ्युपगमात् तत्तथाताया च निश्चयाऽभावात्, तस्य तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमात्, पारम्पर्यतस्तत्तद्भावे प्रमाणाऽभावात्, परनीतितस्तदसिद्धेरिति। एतेन धूमात् अग्न्यनुमानं निषिद्धम्, समानयुक्तित्वादिति। यस्य पुनरन्वयव्यतिरेकवत् एकाऽनेकस्वभावं निश्चयात्मकमेव प्रत्यक्षं तस्य उक्तदोषाऽभावः, सर्वेषामनुपचरितनिबन्धनभावात्, प्रतीतिमञ्चितत्वचित्रस्वभावतया तदविरोधात् इत्यलं प्रसङ्गेन।

एवमित्यादि। एवं न कार्यहेतोरपि सकाशात् तदवगतिरिति प्रक्रमः। कुतो न इत्याह—तन्निर्विकल्पकत्वकार्यत्वेन-प्रत्यक्षनिर्विकल्पकत्वकार्यत्वेन कस्यचित् पदार्थस्य, असिद्धेः कारणात्, असिद्धिश्च सदा-सर्वकालम्, एकेन ज्ञानेन इति सामर्थ्यम्, एकवेदनाद्-एकाऽनुभवात्। यद्येवं ततः किमित्याह—तत्कार्यत्वस्य च प्रक्रमात् प्रत्यक्षनिर्विकल्पकत्वकार्यत्वस्य च। किमित्याह-तदवधिकत्वात्—अधिकृतप्रत्यक्षाऽवधिकत्वात्। एवमपि किमित्याह-तदग्रहणे-विवक्षिताऽवध्यग्रहणे सति। किमित्याह-तथा तदवधिकत्वेन अग्रहणात्। इत्थं च एतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा-एवमनभ्युपगमे, न्यायाऽयोगात्, अयोगश्च तत्तत्स्वभावत्वतः, तस्य-विवक्षितकारणकार्यत्वस्य तत्स्वभावत्वतः—तदवधिकस्वभावत्वतः तज्जन्यत्वेन, तथा तदवधिकत्वेन ग्रहणे सति। किमित्याह—अतिप्रसङ्गात्। तदकिमित्याह—अन्यतरदर्शनाद् हेतुफलयोः। किमित्याह-

अन्यतराऽवगमापत्तेः हेतुफलयोरेव, आपत्तिश्च तथा इतरेतराऽधिकत्वेन, विशिष्टस्य तत्स्वभावतया ग्रहणात्। अस्त्वेवमित्यधिकृत्य आह--अभ्युपगमे-अधिकृतग्रहणस्य अनुभवविरोधात्, विरोधश्च अविनाभावग्रहणमुभयमन्तरेण, तद्योगात्-तथाविशिष्टस्य ग्रहणाऽयोगात्, अयोगश्च लोके तथोपलब्धे अविनाभावग्रहणमन्तरेण संबन्धिन. संबन्धन्तरविशिष्टतया अग्रहणोपलब्धेः। अविनाभावग्रहात्, एतदेवं भविष्यति इत्याह--तस्य च-अविनाभावग्रहणस्य परपक्षे अभावात्, अभावश्च ज्ञानानां प्रतिनियताऽर्थत्वात् क्षणिकत्वेन, यथोक्तम्-"एकमर्थं विजानाति, न विज्ञानद्वयं यथा। विजानाति न वि...न-मेकमर्थद्वयं तथा॥ १॥" इत्यादि। तत्तथेत्यादि। तस्य-हेतुज्ञानस्य, तथा फलज्ञानत्वेन, अभावत. कारणात्। किमित्याह-अनुसन्धानाऽयोगात् 'अत इदम्' इत्यनुसन्धानम्, तथाविधविकल्पस्याऽपि तत्पृष्ठभाविन. असिद्धेः, असिद्धिश्च तस्याऽपि-विकल्पस्याऽपि, क्षणिकत्वात् स्वसंविन्निष्ठितत्वेन, ततश्च तथा इतरेतराऽव्यनुसन्धानत्वेन, तन्निश्चयाऽनुपपत्तेः प्रक्रमात् तस्य कस्यचित्, तन्निश्चयः तन्निर्विकल्पकत्वकार्यत्वनिश्चयः तत्तन्निश्चय तस्य अनुपत्ति. तत., न कार्यहेतोरपि तदकातिरिति क्रियायोगः। अत्राऽपि-कार्यहेतौ अपि, बुद्ध्यारूढधर्मधर्मिन्यायतोऽपि अधिकृतव्यवहाराऽभाव.-अनुमानाऽनुमेयव्यवहाराऽभाव.। कुत इत्याह-उक्तवत् यथोक्तं तथा, न्यायतो-न्यायेन, तदयोगात्-अधिकृतव्यवहाराऽयोगात्, योगेऽपि बुद्ध्यारूढधर्मधर्मिन्यायेन अधिकृतव्यवहारस्य अभिलषिताऽर्थाऽसिद्धिरेव। कुत इत्याह--अर्थस्य अर्थगमकत्वाऽभ्युपगमात्। यदि नामैवं तत' किमित्याह-तत्तथातायां च अर्थाद् अर्थगमकतायां च निश्चयाऽभावात्, अभावश्च तस्य--अर्थस्य, तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमाद्-विकल्पविषयत्वाऽनभ्युपगमात्, पारम्पर्यत --पारम्पर्येण, तत्तद्भावे तस्य विकल्पस्य तस्माद्--अर्थाद् भावे। किमित्याह-प्रमाणाऽभावात्, अभावश्च परनीतित.--परनीत्या, तदसिद्धेः-प्रमाणासिद्धेः, स्वलक्षणात्--स्वलक्षणज्ञानं ततो विकल्प इति। नहि एव स्वलक्षणसामान्यलक्षणाऽऽलम्बनं परनीत्या प्रमाणमस्ति, इति भावनीयम्, एवमभिलषिताऽर्थाऽसिद्धिरेव इति। एतेनेत्यादि। एतेन--अनन्तरोदितेन, धूमाद् अग्न्यनुमानं निषिद्धम्। कुत इत्याह--समानयुक्तित्वाद् धूमाद् अग्न्यनुमानस्य। न च अयं सर्वस्यैव वादिनो दोष इत्याह--यस्य पुनरित्यादि। यस्य पुनर्वादिनः, अन्वयव्यतिरेकवद् नित्याऽनित्यमित्यर्थ, अत एव एकाऽनेकस्वभाव निश्चयात्मकमेव प्रत्यक्षम्--'इदम्--इत्थमिति' तस्य उक्तदोषाऽभाव, निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्यत्र न प्रमाणं तेनैव तदनधिगतेः, अर्थविषयत्वाद् इत्येवमादय', उक्ता दोषा. तदभाव। कथमित्याह--सर्वत्र--सविकल्पकादौ निरूप्ये। किमित्याह--अनुपचरितनिबन्धनभावात्-तात्त्विकनिबन्धनभावादित्यर्थ'। अत एव आह--प्रतीत्यादि। त.: प्रत्यक्षस्य, चित्रस्वभावता स्वक्रियग्रहणरूपाविच्छिन्नार्थग्रहणस्वभावसंवेदनवेक्षनेन तच्चित्रस्वभावता, प्रतीतिसचिवा चासौ तथाप्रतीते तच्चित्रस्वभावता च इति विग्रहः, तया प्रतीतिसचिवतच्चित्रस्वभावतया कारणेन, तद्विरोधात्-प्रक्रमाद् उक्तदूषणविपक्षत., सविकल्पकत्वादौ तेनैव तदनधिगत्याद्यविरोधात्, अविरोधश्च पूर्वपक्षग्रन्थाऽनुसारतः प्रतिपक्षोपन्यासेन स्वतन्त्रनीत्या स्वयमेव भावनीय इति अलं प्रसङ्गेन।

अस्तु वा निर्विकल्पकमपि प्रत्यक्षम्, तत्र असाधारणमेव वस्तु प्रतिभासते इत्येतद् अयुक्तम्, न्यायाऽनुभवविरोधात्। तत्प्रतिभासो हि निश्चयबलेन व्यवस्थाप्यते, अन्यथा तदयोगात्, भावतस्तेनैव तदनधिगतेस्तथा अनुभवाऽभावात्, एवमपि तत्कल्पने अतिप्रसङ्गापत्तेः नियामकाऽभावादिति। न च प्राग्दर्शनात् तन्निश्चयः अपि तु सदादिमात्रस्य, अतः प्रथमाऽक्षसंनिपाते तदेव प्रतिभासत इति एतत् युक्तम्, सितेतरादिषु अपि शीघ्रादिदर्शने तावन्मात्रनिश्चयात्, न च तत्र तदग्रहणमेव, तथा अनुभवविरोधात्, न च अन्यथाग्रहणेऽन्यथानिश्चयोत्पादः प्रमाणाऽभावात्। न च सन्नपि अयं न्याय्यः असमञ्जसत्वापत्तेः, न च वैभ्रमिक एव अयम, तद्भावभावित्वोपलब्धेः। अवग्रहादपि अयमयुक्त इति चेत्। सत्यम्, अदोषस्तु तन्मात्राऽनभ्युपगमात्। एवमपि दृष्टबाधा इति चेत्। न। अन्तरालाऽवायत एव तद्भावात्। कथमेतत् अवगम्यत इति चेत्?, अवग्रहबोधस्य अल्पत्वात्। यदि नामैवं ततः किमिति चेत्?, नाऽसौ विशिष्टाध्यवसायबीजम्, यस्तु भवति सोऽवान्तराऽवायरूपः, अवायबहुत्वात्। एवं सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावं वस्तु तदितरधर्माऽऽलोचनेन समानधर्मव्यवच्छेदतः तद्बोधपूर्वकत्वात्, तदितरबोधस्य तथाऽनुभवतस्तत्तथास्वभावत्वाऽवगमात्, प्रथममेव विशेषाऽग्रहणात् इन्द्रियद्वारेणैव तथाऽर्थविशेषप्रतिपत्तिः, सकललोकसिद्धत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः, प्राग्दर्शने क्वचिदभावात् शीघ्राऽवगमस्याऽपि दीर्घत्वात् कालसौक्ष्म्यादिति। वस्तुनोऽनेकस्वभावात् सर्वेषां सदा भावात्, अन्यथा तदनुपपत्तेश्चित्राऽऽस्तरणवद् एकदैव किं नाऽर्थविशेषप्रतिपत्तिः?, येन 'एतदेवम्' इति ग्रहीतुः क्षयोपशमाऽभावादित्युक्तप्रायम्।

इहैव उच्चयमाह--अस्तु वा इत्यादिना। अस्तु वा-भस्तु वा, निर्विकल्पकमपि प्रत्यक्षम्, तत्र निर्विकल्पके प्रत्यक्षे, असाधारणमेव--सजातीयेतरविविक्तमेव, वस्तु-रूपादि, घटादि, प्रतिभासते। इति-एतद् अयुक्तम्--अघटमानकम्। कुत इत्याह--न्यायाऽनुभवविरोधात्-न्यायप्रधानोऽनुभवो न्यायाऽनुभव' तेन विरोधात्। अथवा न्यायो-युक्ति', अनुभव-प्रत्यक्षम्, ताभ्यां विरोधात्। एतमेवाऽऽह--तत्प्रतिभासो हि इत्यादिना। तत्प्रतिभासो हि

प्रत्यक्षाऽऽकारो यस्माद् निश्चयबलेन व्यवस्थाप्यते, अन्यथा निश्चयबलमन्तरेण, तदयोगाद् व्यवस्थाऽयोगात्, अयोगश्च भावत परमार्थेन, नैनैव-निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण, तदनधिगते -प्रत्यक्षाऽऽकारस्याऽनधिगते, अनधिगतिश्च तथा स्वाऽऽकारग्रहणतया अनुभवाऽभावात्, एवमपि-अनुभवाऽभावेऽपि तत्कल्पने-तेनैव तदधिगतिकल्पने, अतिप्रसङ्गापत्ते प्रतिभासान्तरकल्पनया इति भाव । इत्थ चैतद् अङ्गीकर्तव्यमित्याह—नियामकाऽभावादिति. अत स्थितमेतद् अयुक्तमिति । न चेत्यादि । न च द्रागदर्शनात्-शीघ्रदर्शनात्, तन्निश्चय.-अक्रमाद् असाधारणवस्तुनिश्चय, अपि तु-सदादिमात्रस्य निश्चय, अत -अस्मात् कारणात्, प्रथमाऽक्षसन्निपाते अवग्रहणकाले तदेव सामान्यं प्रतिभासते, इति एतद् युक्तम् । उपपत्त्यन्तरमाह—सितेतरादिष्वपि क्षिप्रादिदर्शने आदिशब्दाद्-मन्ददर्शनग्रह . तावन्मात्रनिश्चयात्-सदादिमात्रनिश्चयात्, न च तत्र क्षिप्रादिदर्शने, तदग्रहणमेव-सदादिमात्राग्रहणमेव । कुत इत्याह—तथा सदादिमात्रनिश्चयत्वेन अनुभवविरोधात्, न च अन्यथाग्रहणे-सितेतरादित्वेन ग्रहणे इत्यर्थ, अन्यथा सदादिमात्रत्वेन निश्चयोत्पाद । कुत इत्याह—प्रमाणाऽभावात् । न च सन्नपि अयम् अन्यथा ग्रहणे अन्यथा निश्चयोत्पादो न्याय्य. । कुत इत्याह—असमञ्जसत्वापत्ते सितेतरादिव्यवस्थाऽभावेन, न च वैभ्रमिक एव अयं-अक्रमाद् द्रागदर्शनेन निश्चय सदादिमात्रस्य । कुत इत्याह—तद्भावभावित्वोपलब्धे -सदादिमात्रभावभावित्वोपलब्धे, अवग्रहाद् अपि अनिर्देश्यसदादिमात्रगोचराद् । अयं सदादिनिश्चय, न शब्दाऽरूपितत्वेन युक्त इति चेत्, एतदाशङ्क्याह—सत्यम्, एवमेतत्, अदोषस्तु तन्मात्राद्-अवग्रहमात्रात् अनिर्देश्यसदादिमात्रगोचरात्, अनभ्युपगमात् सदादिमात्रनिश्चयस्य । एवमपि दृष्टबाधा इति चेत्—तदनन्तरमेव भावाद् अधिकृतनिश्चयस्य, इत्यभिप्राय । एतदाशङ्क्याह—न, अन्तरालाऽवायत एव गेयत्वाद्यपेक्षया-सदसदीहोत्तरकालभाविन सकाशात्, तद्भावात् सदादिमात्रनिश्चयभावात्, शब्दाऽरूषितबोधाऽनन्तरभावी एष अय निश्चय इत्यर्थ । कथमेतद्-अनन्तरोदितमवगम्यते इति चेत् ? । एतदाशङ्क्याह—अवग्रहबोधस्य अक्रमाद् नैश्चयिकाऽवग्रहसम्बन्धिन । किमित्याह—अल्पत्वाद् अनवबोधव्यावृत्तिमात्ररूपत्वेन । यदि नामैव तत. किमिति चेत् ? । एतदाशङ्क्याऽऽह-नाऽसौ अल्पबोधरूप सन् विशिष्टाऽध्यवसायबीजम्, नहि अणुमात्राद् द्व्यणुकादिभाव., यस्तु भवति विशिष्टाऽध्यवसायबीज सोऽवान्तराऽवायरूप शब्दाऽरूषितबोधस्वलक्षण । कुत एतद् एवमित्याऽऽह—अवायबहुत्वात् कालक्षयोपशमादिभेदेन, अत प्रथमाऽक्षसन्निपाते तदेव प्रतिभासते इति युक्तमिति स्थितम्, एवम्-उक्तनीत्या, सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावे वस्तुनि इन्द्रियद्वारेण एव तथाऽर्थविशेषप्रतिपत्तिरिति योग । कथमित्याह-सद्द्रव्याद्यनेकस्वभाव वस्तु प्रायशो निदर्शनमेव, तथा निदर्शयिष्याम, ततश्च सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावे वस्तुनि सति । किमित्याह-तदितरधर्माऽऽलोचनेन, ते-अन्वयिन, इतरे-व्यतिरेकिण, ते च इतरे च तदितरे, तदितरे च ते धर्माश्च तेषामालोचनं-स्वरूपनिरीक्षणमिति विग्रह, तेन समानधर्मव्यवच्छेदतो गेयत्वादिव्यवच्छेदेन व्यवच्छेदश्च सद्बोधपूर्वकत्वात्-समानधर्मबोधपूर्वकत्वात्, तदितरबोधस्य सत्त्वादिविशेषधर्मबोधस्य, एतच्च अस्य तथाऽनुभवन इत्थं क्रमाऽनुभवेन, तथास्वभावत्वाऽवगमाद् तत्तुत । इत्थं चैतद् अङ्गीकर्तव्यमित्याह-प्रथममेव-आदौ एव, विशेषाऽग्रहणात् सर्वत्र । किमित्याह-इन्द्रियद्वारेण एव तथा समानधर्मग्रहणपुरस्सरा अर्थविशेषप्रतिपत्ति. । इत्थ चैतद् अङ्गीकर्तव्यमित्याह-सकललोकसिद्धत्वात् कारणात्, अन्यथा उक्तप्रकारव्यतिरेकेण, तदनुपपत्ते.-अर्थविशेषप्रतिपत्त्यनुपपत्ते., अनुपपत्तिश्च द्रागदर्शने क्वचिद् विद्युत्सपातादौ, अभावाद् अर्थविशेषप्रतिपत्ते । अन्यत्र भविष्यति इत्याशङ्कानिरासाय आह-शीघ्राऽवगमस्याऽपि लोकदृष्ट्या दीर्घत्वात् तत्त्वदर्शनेन, दीर्घत्व च कालसौक्ष्म्यात्, इति इन्द्रियद्वारेण एव तथाऽर्थविशेषप्रतिपत्तिरिति क्रिया । आह-वस्तुनोऽनेकस्वभावत्वाद् भवन्नीत्या सर्वेषां स्वभावा सत्ता भावात् त्वन्नीत्या एव, अन्यथा तस्य वस्तुनः, तदनुपपत्ते —अनेकस्वभावत्वाऽनुपपत्ते । किमित्याह—चित्राऽऽस्तरणवद् इति निदर्शनम्, एकदा एव—एकस्मिन् एव काले, किं न अर्थविशेषप्रतिपत्ति सन्निधानाऽविशेषेऽपि इति गर्भ ?, येन एतद्—अनन्तरोदितम्, एव तदितरधर्माऽऽलोचनादित्वेन इति । एतदाशङ्क्याऽऽह—ग्रहीतु क्षयोपशमाऽभावाद् एतद्—एवमित्युक्तप्राय प्रायेण उक्त प्राक् ।

एवम्, ईहादेः-कथञ्चिद् अनधिगताऽर्थाऽधिगन्तृत्वात्, एकाऽधिकरणत्वात्, बोधवृद्ध्युपपत्तेः, आलोचिताऽधिगमात्, तत्स्थैर्यसिद्धेः तथाऽनुभवभावात्, प्रतिक्षेपाऽयोगात्, बाधकानुपपत्तेः न्यायत एव व्यवस्थितं प्रामाण्यम् ।

एवमित्यादि । एवम्-उक्तनीत्या, ईहादे.-मतिविशेषजातस्य न्यायत एव व्यवस्थित प्रामाण्यमिति योग. । हेतुनाह—कथंचिद् अनधिगताऽर्थाऽधिगन्तृत्वाद्-अवग्रहबाधाऽपेक्षया, तथा एकाऽधिकरणत्वात्-तद्वस्तुनरनाऽपेक्षया, तथा बोधवृद्ध्युपपत्ते —अर्थाऽनुभवभावेन, तथा आलोचिताऽधिगमाद्—दृष्टपरिच्छेदेन, तथा तत्स्थैर्यसिद्धे —बाधाऽनवस्थानेन, तथा अनुभवभावात्-अविच्युतिरूपधारणाया, तथा प्रतिक्षेपाऽयोगात्—अधिकृतानुभवस्य, अयोगश्च बाधकाऽनुपपत्ते कथंचिद् ग्रहणमपि यथायोग योजनीयम् । एवं न्यायत एव व्यवस्थित प्रामाण्यम्-ईहादेरिति प्रक्रम ।

तथा सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावता च वस्तुनस्तथाऽनुभवसिद्धत्वादिति । किं हि सत्त्वाद् अन्यद् द्रव्यादि इति चेत्? प्रतीतमेतद्; यत् तस्मिन् गृहीतेऽपि कथञ्चिद् गृह्यत इति । नैवंविधं किञ्चिद् अवगच्छाम इति चेत्, किं न भवति भवतः क्वचिद् घटादौ सन्मात्रग्रहेऽन्याग्रहः ? । किं तद् यद् भूयो गृह्यत इति चेत् ?, ननु बालादिसिद्धं तदनुविद्धमेव विशिष्टं मृद्रूपादि । न तत् तत्सत्त्वतोऽन्यद् एव इति

चेत् , सत्यमेतत् ,किन्तु तत्सन्मात्रमपि न भवतीति । तथाऽप्रतीतेर्निश्चयाऽनुभवेन अविगानत एव एकत्र मन्मृद्रूपाऽऽकारवेदनात् , सन्मात्राद् एव एतदनुपपत्तेरतिप्रसङ्गात् , रूपमात्राद् रूपरसादिनिश्चयापत्तेः । न च सत्त्वाऽऽकारयोरपि अभेद एव, अनेकदोषप्रसङ्गात् , तथाहि-घटस्तावद् एक तस्य मृद्रूपाद्यात्मकत्वे एकत्वहानिः , तदनभ्युपगमे प्रतीतिबाधा । तथा एकत्वेऽपि कस्य असौ आकार इति वाच्यम् ?, न रूपसत्त्वस्य , त्वगिन्द्रियेणाऽपि ग्रहणात् , तस्य च रूपाऽविषयत्वात् तथाऽप्रतीतेः , तत्सत्त्वस्य च तत्त्वात् न स्पर्शसत्त्वस्य, चक्षुषाऽपि उपलब्धेः स्पर्शात् तत्सत्त्वभेदप्रसङ्गात् रूपेऽपि अनुगमोपपत्तेः, अन्यथा अनुभवविरोधात् , न च उभयसत्त्वस्य तदेकत्वाऽयोगात् इन्द्रियसङ्करप्रसङ्गात् , लोकविरोधापत्तेः असमञ्जसत्वादिति । न च तयोराकारयोर्भेद एव तथा प्रतीत्यभावात् , तत्त्वत उभयाऽयोगात् तत्सत्त्वैकत्ववृत्तेः, तथा च अभ्युपगमविरोधादिति ।

तथा सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावता च वस्तुनो—न्यायत एव व्यवस्थिता । कथमित्याह—तथाऽनुभवसिद्धत्वाद् अवग्रहादिप्रकारेण अनुभवसिद्धत्वादिति । किं हि सत्त्वाद् अन्यद्-अर्थान्तरभूतं , द्रव्यत्वादि इति चेत् ? । एतदाशङ्क्याह--प्रतीतमेतद् यत् तस्मिन्--सत्त्वे , गृहीतेऽपि-सति कथंचिद् न गृह्यते इति , नैवाविध किञ्चिद् यत् नास्मिन् गृहीतेऽपि कथञ्चिद् न गृह्यत इति, तद् अवगच्छाम इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-किं न भवति भवतः क्वचिद् घटादौ-वस्तुनि , सन्मात्रग्रहे सति . अन्यऽग्रहो-वस्त्वन्तराऽग्रह ? किं तद्-वस्तु, यद् भूय -पुन - सन्मात्रग्रहोत्तरकालं गृह्यत इति चेत् । एतदाशङ्क्याऽऽह-ननु इति-अक्षमायाम् , बालादिसिद्ध तदनुविद्धमेव-सन्मात्राऽनुविद्धमेव विशिष्ट मृद्रूपादि , न तद् मृद्रूपादि , तत्सत्त्वत -सन्मात्रसत्त्वाद् ,अन्यद् एव इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—सत्यमेतद् , अन्यद् एव न किन्तु तन्मात्रमपि—सन्मात्रमपि न भवति । कुत इत्याह--तथा--सन्मात्रत्वेन अप्रतीते , अप्रतीतिश्च निश्चयाऽनुभवेन अवग्रहोत्तरकालम् , अविगानत अविगानेन एव , एकत्र वस्तुनि । किमित्याह--सन्मृद्रूपाऽऽकारवेदनात् । यदि नामैव तत किमित्याह--सन्मात्राद् एव एकस्वभावात् , एतदनुपपत्ते --सन्मृद्रूपाकारवेदनाऽनुपपत्ते अनुपपत्तिश्च अतिप्रसङ्गात् . अतिप्रसङ्गश्च रूपमात्रात् सकाशात् , रूपरसादिनिश्चयापत्ते सन्मात्राद् इव विजातीयनिश्चयन्यायेन इहैव-दोषान्तरमधिकृत्य आह--न चेत्यादि न च सत्त्वाऽऽकारयो अपि इह अधिकृतयो , अभेद एव एकान्तेन । कुत इत्याह--अनेकदोषप्रसङ्गात् । एतमेव आह--तथाहि इत्यादिना । तथाहि-' घटसत्त्वं तावद् एक निरंशं स्वलक्षणम् ' इत्यविचारितरमणीयेन भवदभ्युपगमे न, तस्य मृद्रूपाद्यात्मकत्वे सकललोकाऽनुभवसिद्धे अभ्युपगम्यमाने एकत्वहानि मृदादिभावत्वेन , तदनभ्युपगमे मृद्रूपाद्यात्मकत्वाऽनभ्युपगमे, प्रतीतिबाधा मृद्रूपादिप्रतीते.,तथा एकत्वेऽपि सत्त्वाऽऽकारयोरिति प्रक्रम , कस्य असौ आकार. रूपादिसत्त्वाऽपेक्षया इति वाच्यम् ?, किञ्च अतः?, सर्वथा अपि दोष इत्याह—न रूपसत्त्वस्य असौ आकार । कुत इत्याह—त्वगिन्द्रियेण अपि ग्रहणात् कारणात् । यद्येवं तत किमित्याह-तस्य च त्वगिन्द्रियस्य रूपाऽविषयत्वात् ,अविषयत्वं च तथा त्वगिन्द्रियस्य रूपविषयत्वेन अप्रतीतेः, तत्सत्त्वस्य च रूपसत्त्वस्य च. तत्त्वात् रूपत्वात् ,एवं न स्पर्शसत्त्वस्य असौ आकार इति वक्ष्यते । कुत इत्याह—चक्षुषा अपि उपलब्धे. कारणात् । तत. किमित्याह-स्पर्शात् सकाशात् , तत्सत्त्वभेदप्रसङ्गात् स्पर्शसत्त्वभेदप्रसङ्गात् , प्रसङ्गश्च रूपे अपि अनुगमोपपत्ते । इत्थं च एतत् इत्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे अनुभवविरोधात् , चक्षुषा तदुपलब्धिरिति अनुभव , न च उभयसत्त्वस्य रूपस्पर्शसत्त्वस्य, असौ आकार इति प्रक्रमः । कुत इत्याह-तदेकत्वाऽयोगात् तस्य आकारस्य एकत्वाऽयोगात् ,उभयाऽव्यतिरेकेण योगे अपि इन्द्रियसङ्करप्रसङ्गात् विषयसाङ्कर्येण, सङ्करे च लोकविरोधाऽऽपत्ते, एवमसमञ्जसत्वादिति । न च इत्यादि । न च तयोराकारयो. चक्षुस्त्वग्ग्राह्ययो, भेद एव एकान्तेन । कुत इत्याह-तथा भेदस्याभेनया, प्रतीत्यभावात् स्पर्शनात् अपि ' सोऽयं यो दृष्ट ' इत्यवसायाद् , तथा तत्त्वत उभयाऽयोगात् तदभ्युपगमेव तथा च आह-तत्सत्त्वैकत्ववृत्ते घटसत्त्वैकत्ववृत्तेरित्यर्थ , तथा च एवं च, अभ्युपगमविरोधात् वस्तुनोऽनेकस्वभावत्वाऽऽपत्त्या न च तयोराकारयो भेद एव इति स्थितम् । एवं बौद्धमतव्यक्तव्यतामधिकृत्य एतत् उक्तम् ।

अधुना वैशेषिकमतमुररीकृत्य आह-

न च एतेभ्योऽन्य एव घटः, अग्रहणप्रसङ्गात् अरूपाद्यात्मकत्वात् , तत्तद्वृत्तौ अपि तत्तद्रूपताऽनापत्तेः, इत्थमपि तद्ग्रहणे इन्द्रियाणां स्वधर्माऽतिक्रमात् । कथमतिक्रम इति चेत् ? , चक्षुरादेररूपादिग्रहणात् । एवमपि को दोष इति चेत् ?, ननु रसादिग्रहणापत्तिः, प्रतीतिबाधिता इयमिति चेत् , तदविरिक्ततद्ग्रहे का प्रतीतिः ? । न तस्य एकत्वबुद्धिरिति चेत् , ततः किमिति वाच्यम् ? । अस्ति इयमिति चेत् , न खलु अस्यां विगानम् , य एतन्निमित्तः (स) स तस्योऽन्य इति चेत् , संख्यायाः तद्भावप्रसङ्गः । न सा तदनाश्रिता इति चेत् , एवमपि तत्त्वतोऽन्या एव । यदि नामैवं ततः किमिति चेत् ?, तन्निमित्तकबुद्धिः सा तद्विशेषणभूता इति चेत्, कथमेतत् विनिश्चीयत इति ?, एकोऽयमिति व्यवसायादिति चेत् , न असौ मदादिभिन्नप्रतिभासीति तथाऽननुभवात् । एवमपि तत्कल्पनेऽतिप्रसङ्गात् तदन्तरापत्तेर्निराकरणाऽयोगात् , अननुगमाऽविशेषादिति तदेकत्वपरिणामनिबन्धन एव अयम । तेषामत्र एकाऽने-

कात्मकत्वाद् भेदाऽभेदभावात् , तथास्वभावत्वाद्विरोधाऽनुपपत्तेः, प्रतीतिसिद्धत्वाद् बाधाभावादिति । सद्-द्रव्याद्यनेकस्वभावे वस्तुनि वस्तुमात्रग्राहि एव अवग्रह-कल्पमविकल्पकमङ्गीकर्तव्यम् , अन्यथा उक्तदोषाऽनतिवृत्तिः । एवंभूते च अस्मिन् आवयोरविवाद एव , एवं विधाऽवग्रहस्य अस्माभिरप्यभ्युपगतत्वात् , न च अत्र कश्चिद्दोषः , अपि तु शुक्तिकादौ अपि क्वचिद् रजतादिनिश्चयस्य न्यायत एव आपत्त्या गुणः,तस्य हि अवग्रहोत्तरकालमीहाप्रवृत्तस्य तथाविधसमानधर्मोपलब्धुरेव असत्त्वयोपशमभावतो भावाद् , अन्यथा उक्तवत् तदयोगादिति ।

न चेति-नच एतेभ्य. सन्मृद्रूपाकारेभ्य अन्य एव घट एकान्तेन । कुत इत्याह-अग्रहणप्रसङ्गाद् घटस्य प्रसङ्गश्च अरूपाद्यात्मकत्वात् , एतच्च सन्मृद्रूपाकारेभ्योऽन्यत्वाऽभ्युपगमेन, उपन्यासश्च एवम्—चक्षुर्ग्रहणाऽऽनुगुण्येन । तत्तद्वृत्तौ-अपि इत्यादि । तेषा सन्मृद्रूपाऽऽकाराणा तस्मिन् घटे वृत्तौ अपि सामान्यद्रव्यगुणाना यथासंभव तद्वृत्त्यभ्युपगमेन द्रव्यवृत्तौ कारणद्रव्येपु स एव वर्तते इति कृत्वा । किमित्याह—तत्तद्रूपताऽनापत्ते -तस्य घटस्य तद्रूपताऽनापत्ते सन्मृद्रूपाऽऽकाररूपताऽनुपपत्ते । इत्थमपि इत्यादि । इत्थमपि—एवमपि तत्तद्रूपताऽनापत्तौ अपि, तद्ग्रहणे—घटग्रहणे अभ्युपगम्यमाने । किमित्याह-इन्द्रियाणा स्वधर्माऽनिक्रम —स्वमर्यादापरित्याग , कथमतिक्रम इति चेत् ? । एतदाशङ्क्याह—चक्षुरादे आदिशब्दात्-त्वगिन्द्रियग्रह , अरूपादिग्रहणाद् , घटादिग्रहणाद् इत्यर्थ । एवमपि को दोष इति चेत् ?, द्विविधं हि द्रव्यम्—दार्शन , स्पार्शनं च । रूपादिप्रतीते तद्धामित्वेन तदवसानत्वाद् इत्यभिप्राय । एतदाशङ्क्याह—ननु रसादिग्रहणाऽऽपत्ति रसादेरपि घटवद् अरूपादित्वात् , सार्वेन्द्रिय च एव द्रव्यं प्राप्नोति , रसादिप्रतीतेरपि तद्धामित्वेन तदवसानत्वाद् इति भावनीयम् । प्रतीतिबाधिता इय रसादिग्रहणाऽऽपत्ति. इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-तदतिरिक्तग्रहे प्रक्रमाद् रूपादिव्यतिरिक्तघटग्रहे का प्रतीति ?, ननु किमनया ?, न तेभ्यो रूपादिभ्य एकत्वबुद्धि , अनेकत्वाद् अमीषामिति चेत् । एतदाशङ्क्याऽऽह—तत किमिति वाच्यम् ?, किमपि, अत्राऽस्ति च इयमेकत्वबुद्धिरिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न खलु अस्यामेकत्वबुद्धौ विगानम् , य. कश्चित् , एतन्निमित्तम्-एतस्या एकत्वबुद्धे आलम्बनम् , (स) स इति स घट , तेभ्यो रूपादिभ्योऽन्य इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-संख्याया -एकसंख्याया , एकत्वबुद्धिनिमित्तत्वेन तद्भावप्रसङ्ग -घटभावप्रसङ्ग , न सा सख्या , तदनाश्रिता-घटाऽनाश्रिते इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-एवमपि-तदाश्रितत्वेऽपि, तत्त्वत —परमार्थेन, अन्या एव सन्मृदरूपाऽऽकारेभ्य इति । यदि नामैवं तत किमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-तन्निमित्ता-सदादिभिन्नसख्यानिमित्ता एकत्वबुद्धि , सा सख्या , तद्विशेषणभूता प्रस्तुता एकाऽवयवविशेषणभूता , इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कथमेतद् विनिश्चीयते यदुत सा तद्विशेषणभूता इति ?, एकोऽयमिति व्यवसायाद् इति, चेद् विनिश्चीयते इति । एतदाशङ्क्याह-नासौ व्यवसाय , सदादिभिन्नप्रतिभासी इति । कुत इत्याह-तथा सदादिभिन्नप्रतिभासित्वेन अननुभवात् , एवमपि तथा अननुभवेऽपि, तत्कल्पने—सदादिभिन्नाऽवयविकल्पने अतिप्रसङ्गात् अतिप्रसङ्गश्च तदन्तरापत्ते—तत्रैव अवयव्यन्तरापत्ते आपत्तिश्च निराकरणाऽयोगात् तदन्तरस्य, अयोगश्च अननुभवाऽविशेषाद् द्वयोरपि इति, इत्येव तदेकत्वपरिणामनिबन्धन एव अय प्रक्रमात् सन्मृद्द्रव्याऽऽकारैकत्वपरिणामनिबन्धन एवायम् , एकोऽयमिति व्यवसाय । तेषामेव सदादीनामेकाऽनेकात्मकत्वात् , एतच्च भेदाऽभेदभावात् , अयं च तथास्वभावत्वात् , तथास्वभावत्वं च विरोधाऽनुपपत्ते , अनुपपत्तिश्च प्रतीतिसिद्धत्वात् । नहि प्रतीतिरेव सिद्धौ निमित्तमित्याशङ्काऽपोहाय आह-बाधाभावादिति तदेकत्वपरिणामनिबन्धन एव अयम् , इति पर सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावे वस्तुनि । किमित्याह-वस्तुमात्रग्राहि एव अवग्रहकल्पमविकल्पकमङ्गीकर्तव्यम् । किमित्याह-अन्यथा उक्तदोषाऽनतिवृत्ति , उक्तदोषा -" न्यायाऽनुभव विरोधाद् " इत्येवमादय तदनतिवृत्ति , एव भूते च अस्मिन् अविकल्पके । किमित्याह—आवयो -तव मम च, अविवाद एव । कुत इत्याह—एवविधाऽवग्रहस्य अविकल्पकस्य अस्माभि. अभ्युपगतत्वात् , न चाऽत्र अभ्युपगमे कश्चिद् दोष', अपि तु शुक्तिकादौ अपि, आदिशब्दाद् मरीचिकाग्रहः, क्वचिद् रजतादिनिश्चयस्य आदिशब्दाद् जलनिश्चयग्रह , न्यायत एव आपत्त्या गुण । न्यायत एव आपत्तिमाह-तस्य इत्यादिना । तस्य हि शुक्तिकादौ रजतादिनिश्चयस्य, अवग्रहोत्तरकालमीहाप्रवृत्तस्य सत । कस्य इत्याह-तथाविधसमानधर्मोपलब्धुरेव शुक्तिकादि-रजतादिसमानधर्मोपलब्धुरेव प्रमातुर्नान्यस्य, असत्त्वयोपशमभावत -असत्त्वयोपशमभावेन भावात् , अन्यथा एवमनभ्युपगमे, उक्तवत् यथोक्तम्—' शुक्तिकाया अपि अतत्त्वज्ञानेन नीलादिवत् तत्त्वेन एव ग्रहणाद् " इत्यादि तथा अयोगाद् इति ।

यच्च उच्यते—" गृहीतग्राहित्वाद्विकल्पोऽप्रमाणम् " इति, एतदपि अयुक्तम् । स्वमतविरोधात् , निर्विकल्पकज्ञानेन स्वलक्षणस्य गृहीतत्वाद्विकल्पस्य तद्ग्राहित्वानुपपत्तेः , तत्प्रतिभासशून्यत्वात् , एवमपि तत्तथाताऽभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात् , नीलविकल्पस्य पीतग्राहित्वापत्तेः पारम्पर्येण तत्तज्जनकत्वाविशेषात् , उपलब्धपीत-नील-द्रष्टुरपि तद्भावादिति ।

यच्च उच्यत परै - गृहीतग्राहित्वाद् विकल्प. अप्रमाणम् " इति एतदपि अयुक्तम् । कथमित्याह--स्वमतविरोधाद् , विरोधश्च निर्विकल्पकज्ञानेन स्वलक्षणस्य गृहीतत्वात् , विकल्पस्य तद्ग्राहित्वाऽनुपपत्ते -स्वलक्षणग्राहित्वाऽनुपपत्ते., अनुपपत्तिश्च तत्प्रतिभासशून्यत्वात् . स्वलक्षणाऽऽकारशून्यत्वादित्यर्थ । एवमपि तत्प्रतिभास-

शून्यत्वेऽपि सति, तत्तथाताऽभ्युपगमे-विकल्पस्य तद्ग्राहित्वाभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात्, अतिप्रसङ्गश्च नीलविकल्पस्य पीतग्राहित्वाऽऽपत्ते । नासौ पारम्पर्येण अपि तज्जन्य इत्याशङ्काऽपोहाय आह-तत्तज्जनकत्वाऽविशेषात्, तस्य पीतस्य नीलविकल्पजनकत्वाऽविशेषात् । एतद्भावनाय एव आह-उपलब्धपीतनीलद्रष्टुरपि प्रमातुः, तद्भावात् नीलविकल्पभावात्, तदपि अयुक्तमिति स्थितम् ।

न च गृहीतग्राहि ज्ञानमप्रमाणमेव, एकत्र नीलादौ अनेकप्रमातृज्ञानानां प्रमाणत्वाऽभ्युपगमात्, तेषां चान्योऽन्यं गृहीतग्राहित्वात्, अन्यथा तद्ग्रहणानुपपत्तेः, तथा अगृहीतग्राहिज्ञानाऽसम्भवात् सर्ववस्तूनां सर्वबुद्धैस्सदा ग्रहणात्, तेषां सर्वज्ञत्वादन्यथा तत्त्वायोगात्, एकसन्तानाऽपेक्षया च गृहीतग्राहिज्ञानाऽसम्भव एव, सर्वेषां सर्वदा अगृहीतग्रहणादिति ।

दूषणान्तरमाह-नच इत्यादिना । न च गृहीतग्राहि ज्ञानमप्रमाणमेव एकान्तेन भवत । कुत इत्याह—एकत्र नीलादौ अनेकप्रमातृज्ञानाना प्रमाणत्वाऽभ्युपगमात् परेणापि, तेषां च अधिकृतज्ञानानाम् अन्योऽन्यं परस्पर गृहीतग्राहित्वात् । इत्थं च एतदङ्गीकर्तव्यमित्याह अन्यथा तद्ग्रहणाऽनुपपत्ते -अधिकृतनीलादिग्रहणाऽनुपपत्ते । तथा इत्यादि । तथा अगृहीतग्राहिज्ञानाऽसंभवात्, असंभवश्च सर्ववस्तूनां नीलादीनाम्, सर्वबुद्धै सदा ग्रहणात्, ग्रहण च तेषां बुद्धाना सर्वज्ञत्वादिति, अन्यथा तत्त्वाऽयोगात्-तेषां सर्वज्ञत्वाऽयोगात् । एकसन्तानेत्यादि । एकसन्तानाऽपेक्षया अवगृहीतग्रहिज्ञानाऽसंभव एव तस्य अर्थस्य च क्षणिकत्वात्, सर्वेषां ज्ञानानाम्, सर्वदा सर्वकालम्, अगृहीतग्रणात् द्वयोरपि क्षणिकत्वेन इति, यद्वा तदभावे भावात् अभिधानमात्र ग्रहणमिति अग्रहीतग्रहणमिति ।

स्यादेतद्, न तत्त्वतो गृहीतग्राहित्वेन अस्य अप्रामाण्यम्, अपि तु अविषयत्वेन इति । कथमयमविषय इति वाच्यम् ?, यदनेन वेद्यते न तदस्तीति चेत्, क्क तन्नास्तीति ? । किं तत्रैव उच्यते, उताहो बहिरिति ? । यदि तत्रैव कथं वेद्यते, वेद्यमानं वा कथं न तत्रेति चिन्त्यम् ?, अथ बहिः, अविकल्पकेऽपि समानः प्रसङ्गः, तेनाऽपि वेद्यमानस्य बहिरभावात् स्वरूपस्यैव वेदनात् तद्बहिस्थतुल्यरूपमित्यदोष इति चेद्, केयं तत्तुल्यरूपतेति वाच्यम् ?, किं तत्साधारणरूपभावः ?, उताहो तत्तद्ग्रहणस्वभावता इति । न तावत् साधारणरूपभावः, चेतनाऽचेतनत्वेन तद्वैलक्षण्यसिद्धेः, सामान्यवेदनेन तदप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । तत्तद्ग्रहणस्वभावतातदङ्गीकरणे च विकल्पज्ञानेऽपि तुल्यः परिहारः, तस्यापि तद्ग्रहणस्वभावताऽभ्युपगमात् । तथाविधग्राह्याभावादस्य कुतस्तद्ग्रहणस्वभावतेति चेत् । न, तथाविधग्राह्यभावे प्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वेन तत्राप्रवृत्तेः, अनुमानस्याप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थविषयत्वात् तस्य च तदभावाभ्युपगमात् । न हि साधारणं रूपमुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिष्यते भवद्भिः, तदवस्तुत्वप्रतिज्ञानात्, अनीदृशानुपलब्धेश्चाभावनिश्चायकत्वानुपपत्तेः । एतेन तद्बाधकप्रमाणप्रवृत्तिः प्रत्युक्ता, उक्तवत्प्रत्यक्षादेस्तद्बाधकत्वायोगात् । युक्त्या, तदयोगो बाधक इति चेत् । न । विकल्पानुपपत्तेः । युक्तिर्हि प्रमाणमप्रमाणं वा स्यात् ?। प्रमाणं चेत् । न प्रत्यक्षादेरन्यदिति, अत्र चोक्तो दोषः । अप्रमाणत्वे तु तद्बाधकत्वानुपपत्तिः, अतिप्रसङ्गात् ।

स्यादेतद् न तत्त्वतो गृहीतग्राहित्वेन हेतुना, अस्य विकल्पस्याप्रामाण्यम्, अपि त्वविषयत्वेनेति । एतदाशङ्क्याह-कथमयं विकल्पोऽविषय इति वाच्यम् ? । यदनेन वेद्यते विकल्पेन न तदस्तीति अविषय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-क्क तद् नास्ति यदनेन वेद्यते, किं तत्रैव विकल्पे, उत बहिरिति ? । यदि तत्रैव विकल्प एव नास्ति, कथ तेन वेद्यते ?, वेद्यमान वा कथं न तत्र विकल्पे इति चिन्त्यम् । द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—अथ बहिः यदनेन वेद्यते न तदस्तीति । एतदाशङ्कयाह—अविकल्पकेऽपि समान प्रसङ्गोऽविषयत्वप्रसङ्ग । कथमित्याह-तेनापि अविकल्पकेन वेद्यमानस्य बहिरभावात्, अभावश्च स्वरूपस्यैव वेदनात् । तदित्यादि । तदविकल्पकं वेद्यमानबहिःस्थतुल्यरूपं विषयतुल्यरूपम्, इत्यस्माददोष इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—केयं तत्तुल्यरूपता बहिःस्थतुल्यरूपता ? इति वाच्यम् । किं तत्साधारणरूपभावो बहिःस्थसामान्यरूपभावोऽविकल्पकस्य, उत तद्ग्रहणस्वभावता-बहिःस्थग्रहणस्वभावतेति ?, किञ्चात ? उभयथाऽपि दोष, तथा चाह—न तावत् साधारणरूपभावः तत्तुल्यरूपता । कुत इत्याह—चेतनाचेतनत्वेन हेतुना तद्वैलक्षण्यसिद्धे तयोरविकल्पकबहिःस्थयोर्वैलक्षण्यसिद्धे । दोषान्तरमाह—सामान्यवेदनेन हेतुना साधारणरूपभावत तदप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च अविकल्पकस्याप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च न तत्साधारणरूपभावस्तत्तुल्यरूपतेति । तत्तद्ग्रहणस्वभावतातदङ्गीकरणे च-तस्याविकल्पकस्य तद्ग्रहणस्वभावता-बहिःस्थग्रहणस्वभावता तस्यास्तदङ्गीकरण-तत्तुल्यरूपताङ्गीकरणमिति विग्रह, तस्मिन् । किम् ? इत्याह-विकल्पज्ञानेऽपि तुल्य परिहार तत्तद्बहिःस्थतुल्यरूपमित्ययम् । कुत ? इत्याह-तस्यापि विकल्पज्ञानस्य तद्ग्रहणस्वभावताभ्युपगमात्-बहिःस्थग्रहणस्वभावताभ्युपगमात् । तथाविधेत्यादि । तथाविधग्राह्याभावात्-विकल्पज्ञानग्राह्याभावादस्य—विकल्पज्ञानस्य कुतस्तद्ग्रहणस्वभावता-बहिःस्थग्रहणस्वभावतेति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न, तथाविधग्राह्याभावे-विकल्पज्ञानग्राह्याभावे प्रमाणाभावात् । अभावश्च प्रत्यक्षस्य तावत् स्वलक्षणविषयत्वेन हेतुना तत्र तथाविधग्राह्याभावेऽप्रवृत्ते, अनुमानस्याप्यनुपलब्धिरूपस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थविषयत्वात् । तत किम् ? इत्याह—तस्य तथाविधग्राह्यस्य तद-

भावाभ्युपगमाद्-उपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थविषयत्वाभावाभ्युपगमात्। एतद्भावनायैवाह—नहि साधारणं रूपं विकल्पग्राह्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिष्यते भवद्भि । कुत इत्याह—तदवस्तुत्वप्रतिज्ञानात्-तस्य साधारणरूपस्यावस्तुत्वप्रतिज्ञानात्,अनीदृशानुपलब्धेश्चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेश्च। किमित्याह-अभावनिश्चायकत्वानुपपत्ते तथाभ्युपगमात्। एतेनेत्यादि। एतेन—अनन्तरोदितेन तथाविधग्राह्याभावे प्रमाणाभावेन । किमित्याह—तद्बाधकप्रमाणप्रवृत्ति —प्रत्युक्ता तस्मिंस्तथाविधग्राह्ये बाधकप्रमाणप्रवृत्तिर्निराकृता । कुत इत्याह—उक्तवत् यथोक्त तथा प्रत्यक्षादे प्रत्यक्षानुमानद्वयस्य तद्बाधकत्वायोगात्-तथाविधग्राह्यबाधकत्वायोगात । युक्त्या तदयोगस्तथाविधग्राह्यायोग. साधारणरूपयोग इत्यर्थ ' बाधक इति चेत्। एतदाशङ्कयाह—न, विकल्पानुपपत्ते' । अनुपपत्तिश्च-युक्तिर्हि प्रमाणमप्रमाण वा स्यात्? । किञ्चात ?, उभयथापि दोष इत्याह--प्रमाणं चेत्। न प्रत्यक्षादेरन्यादिनि , अत्र चोक्तो दोष, प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वेन तत्राप्रवृत्तेरित्यादि । अप्रमाणत्वे तु युक्ते, किमित्याह—तद्बाधकत्वानुपपत्ति.—तथाविधग्राह्यबाधकत्वानुपपत्ति । कुत इत्याह-अतिप्रसङ्गात् स्वलक्षणस्यापि युक्तिबाधितत्वोपपत्ते , अविषयेऽपीयं प्रवर्त्तत इति भावना । एवं विकल्पज्ञानस्यापि कस्यचित् प्रामाण्यमङ्गीकर्तव्यमित्यैदपर्यम्।

इत्थमनभ्युपगमे दोषमाह—

अखिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिनश्च तत्सामर्थ्योत्थं वचनमपि तादृगेवेति सुस्थिता तत्तत्त्वनीतिः ।न हि भ्रान्तमात्मनो भ्रान्ततामवैति, द्विचन्द्रज्ञानादावात्मनि भ्रान्तताधिगमव्यपोहेन चन्द्रद्वयाद्यधिगतिदर्शनात्, तत्स्थानोपजातवचसोऽपि स्वभ्रान्तताभिधानपरित्यागेन चन्द्रद्वयाद्यभिधानात् , इति सकलमेव शास्त्रज्ञानाभिधानं भ्रान्तिमात्रम्, इति कथं ततस्तत्त्वनिश्चय इति चिन्त्यम्?, तथाहि—अस्य नित्या-ऽऽत्मादिविकल्पवत् कृतकत्वादिलिङ्गद्वारायाता अनित्याऽनात्मादिविकल्पा अपि भ्रान्ता एव, इति कथं तेभ्यस्तन्निश्चितिः? । निश्चितौ वा कथं न नित्यादावपि, तद्विकल्पानामपि ततो भावात्?।

अखिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिनश्च' किमित्याह-तत्सामर्थ्योत्थं—निःशेषविकल्पज्ञानभ्रान्ततासामर्थ्योत्थं वचनमपि तादृगेव-भ्रान्तमेव, इति-एव सुस्थिता तत्तत्त्वनीतिस्ताभ्या भ्रान्तविकल्पज्ञानवचनाभ्यां तत्त्वनीतिरित्युपहसति, न सुस्थितेत्यर्थ । कथमित्याह—न हीत्यादि। न यस्मात् भ्रान्तज्ञानमिति प्रक्रम , आत्मनो भ्रान्ततामवैति। कुत इत्याह—द्विचन्द्रज्ञानादौ आदिशब्दात्-मायाजलज्ञानग्रह., आत्मनि स्वरूपे भ्रान्तताधिगमव्यपोहेन चन्द्रद्वयाद्यधिगतिदर्शनात्. आदिशब्दात्-मायाजलग्रह .तत्स्थानोपजातवचसोऽपि-भ्रान्तज्ञानसामर्थ्योपजातवचनस्यापि स्वभ्रान्तताभिधानपरित्यागेन चन्द्रद्वयाद्यभिधानात्, इत्येवं सकलमेव शास्त्रज्ञानाभिधानं भ्रान्तिमात्रमिति कृत्वा कथ तत शास्त्रज्ञानाभिधानात् तत्त्वनिश्चय इति चिन्त्यम् ?—नैव तत्त्वनिश्चय इति । एतद्भावनायैवाह—तथाहीत्यादि। तथाह्यस्याखिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिनो नित्याऽऽत्मादिविकल्प. वदिति निदर्शनम् , कृतकत्वादिलिङ्गद्वारायाताऽनित्याऽनात्मादिविकल्पा अपि भ्रान्ता एव नाऽभ्रान्ताः, इत्येव कथं तेभ्यो भ्रान्तविकल्पेभ्यस्तन्निश्चितिरनित्याऽनात्मादिनिश्चिति. ? । निश्चितौ वा तेभ्योऽनित्याऽनात्मादे कथ न नित्यादावपि निश्चिता ?। कुत इत्याह—तद्विकल्पानामपि-नित्यात्मादिविकल्पानामपि ततो वस्तुनो भावात्।

स्यादेतत्स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पाः, तथापि केषाञ्चिदेव तत्प्रतिबद्धजन्मनां विकल्पानामतत्प्रतिभासित्वेऽपि वस्तुन्यविसंवादः, मणिप्रभायामिव मणिभ्रान्तेः, नान्येषाम्, तद्भेदप्रसवे सत्यपि यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य किञ्चित्सामान्यग्रहणेन विशेषान्तरसमारोपात्, दीपप्रभायामिव मणिबुद्धेः, इति संवादिभ्य एव तन्निश्चितिर्नासंवादिभ्यः।

स्यादेतदित्यादि। स्यादेतदथैव मन्यसे-स्वलक्षणदर्शनेनाहिता या वासना तया कृत विप्लवरूप येषा ते तथाविधा सर्वे एव विकल्पा' सामान्येन , तथाप्येवमपि व्यवस्थिते सति केषाञ्चिदेवानित्याऽनात्मादिरूपाणा तत्प्रतिबद्धजन्मना-वस्तुप्रतिबद्धजन्मना विकल्पानामतत्प्रतिभासित्वेऽपि—वस्त्वप्रतिभासित्वेऽपीत्यर्थ, किमित्याह-वस्तुन्यविसवाद. । निदर्शनमाह—मणिप्रभायामिव विषयभूतायां मणिभ्रान्ते कुञ्चिकादिविवरोपलम्भेन, नान्येषा नित्याऽऽत्मादिविकल्पानाम्, तद्भेदप्रसवे सत्यपि वस्तुभेदोत्पादे सत्यपीत्यर्थ , यथादृष्टविशेषानुसरण परित्यज्य। कथमित्याह—किञ्चित्सामान्यग्रहणेन सदृशापरा परहेतुना विशेषान्तरसमारोपाद् हेतो , ' नान्येषाम् ' इति वर्त्तते। निदर्शनमाह-दीपप्रभायामिव विषयभूतायां मणिबुद्धे. कुञ्चिकादिविवरोपलम्भेनेव, इत्येव संवादिभ्य एव विकल्पेभ्यस्तन्निश्चितिरभिप्रेततत्त्वनिश्चितिर्नासंवादिभ्य.।

इत्थं पूर्वपक्षमाशङ्कयाह—

एतदप्यसत्, अविचारितरमणीयत्वात्। तत्र यत्तावदुक्तम् 'स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पाः' इति। अत्र किमिदं स्वलक्षणदर्शनं नाम?, का वा तदाहिता वासना,यत्कृतविप्लवरूपाः? सर्व एव विकल्पाः इति।वस्त्वनुभवः स्वलक्षणदर्शनम्,तदाहितवासना तु तथाविधविकल्पजननशक्तिः?। यद्येवम्, कथ निरंशवस्तुविषयात् निरंशानुभवात् तथाविधविकल्पजननशक्तीनां प्रभूतानां सम्भवः?, कथं चैकस्या एवानेकविकल्पजन्म?। समुत्पद्यन्ते च स्वलक्षणदर्शनानन्तरं नित्याऽनित्यादिविकल्पाः, क्रमेणैकस्य, अक्रमेण चानेकप्रमातृणाम् न चैते शक्तिभेदं-क्रमेणैकानेकजनकत्वे विना। न च भूयसामपि निरंशवस्तुविषयानिरंशानुभवानां तत्त्वतस्तत्त्वे विशेषः, रूपादिस्वलक्षणा-

त्तामिव । तन्न तेषामिवैकस्य बहूनां वाऽनन्तरं पारम्पर्येण वा तथाविधफलभेदोऽमीषां न्याय्य इति भाव्यमेतत्। का चेयं तथाविधविकल्पजननशक्तिः, किं तदुत्तरं मानसम्, उतान्यैव काचित् ? । यदि मानसम्, कथं स्वलक्षणादस्वलक्षणजन्म ? । अस्वलक्षणं च विकल्पः, असदाकाररूपत्वात्। न स्वसंवित्तिस्तत्रास्वलक्षणम्, अपि तु वहिर्मुखावभास एवेति चेत्। न खलु सा ततोऽन्या, इति कथं नास्वलक्षणम् ? । असन्नसौ,सा तु सती, स्वसंविदितत्वादेवेति चेत्। कथमसौ तन्मात्रतत्त्वो विकल्प इति चिन्त्यम् ? । असदाकारानुवेधादिति चेत्। कथमसताऽनुवेधो नाम ? । स निर्विषयत्वादसत्, न तु तथाप्रतिभासेनेति चेत्। न स्वसंवित्तिस्तथाप्रतिभासनादन्या, इत्यस्वलक्षणत्वमेव ।

एवं पूर्वपक्षमाशङ्क्याह-एतदपि-असत्-अशोभनम्। कुत इत्याह—अविचारितरमणीयत्वात् कारणात्। एतदेवाह—तत्रेत्यादिना। तत्र यत्तावदुक्तमादौ ' स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपा सर्व एव विकल्पा ' इति-एतत्। अत्र किमिदं स्वलक्षणदर्शनं नाम ? । का वा तदाहिता-स्वलक्षणदर्शनाहिता वासना, यत्कृतविप्लवरूपा सर्व एव विकल्पा इति ? । अत्राह वस्त्वनुभव शुद्ध स्वलक्षणदर्शनम्, तदाहितवासना तु तथाविधविकल्पजननशक्ति , तथाविधस्य संवादिनोऽसंवादिनश्च । एतदाशङ्क्याह-यद्येवम् ,कथ निरंशवस्तुविषयाद् निरंशानुभवात् तथाविधविकल्पजननशक्तीना प्रभूताना संभव सामान्येन ? । कथ वैकस्या एव शक्तेरनेकविकल्पजन्म ? । को वा किमाह ? न चैतदेवम्, इत्याशङ्कानिरासायाह-समुत्पद्यन्ते च स्वलक्षणदर्शनानन्तर नित्यानित्यादिविकल्पा क्रमेणैकस्य प्रमातु साख्यादिबौद्धादिमतप्रतिपत्त्या, अक्रमेण चानेकप्रमातृणा सौख्यबौद्धादीना नित्यानित्यादिविकल्पा । शक्तिभेदश्चैकानेकजनकत्व चेति विग्रह, ते चैते, एते विना, क्रमाक्रमपक्षद्वयेऽपीति। एतदेवाह—न चेत्यादि। न च भूयसामपि क्रमपक्षे। केषामित्याह—निरंशवस्तुविषयनिरंशानुभवाना तुल्यस्वलक्षणानुभवानामित्यर्थ । किमित्याह—तत्त्वत-परमार्थेन; तत्त्वे-तद्भाव रूपादिस्वलक्षणानुभवत्व इत्यर्थ , विशेषो भेद । किं तर्हि ? सर्व एवैते—रूपादिस्वलक्षणानुभवा एवेति । इहैव निदर्शनमाह—रूपादिस्वलक्षणानामिव ' एकस्य प्रमातु ' इति प्रक्रम , तथाविधानुभवानिबन्धनानामिति , तथाहि—क्रमेणापि रूपादिस्वलक्षणानि स्वाकारमनुभव कुर्वाणानि न रूपादिस्वलक्षणत्वेन विशिष्यन्त इति । प्रकृतयोजनामाह—तत्—तस्माद् न तेषामिव-रूपादिस्वलक्षणानामिव ' एकस्य प्रमातु, इति प्रक्रम ,बहूना वा प्रमातृणामनन्तरं बहूनां पारम्पर्येण वैकस्य तथाविधफलभेदो भिन्नजातीयविज्ञानादिकार्यभेदोऽमीषा निरंशवस्तुविषयनिरंशानुभवाना न्याय्य इति भाव्यमेतद्-भावनीयमेतत्। एतदुक्त भवति-यथा तेषा रूपादिस्वलक्षणाना न रसादिफलभेदो न्याय्य , एवमनित्याऽनात्मकवस्त्वनुभवानामपि न नित्या ऽऽत्मादिविकल्पजननशक्त्याख्य. फलभेदो न्याय्य । इहैवाभ्युच्चयमाह—का चेयमित्यादिना। का चेय तथाविधविकल्पजननशक्तिर्भवतोऽभिप्रेता ? किं तदुत्तर प्रक्रमादविकल्पप्रत्यक्षोत्तरं मानसं स्वविषयानन्तरेत्यादिलक्षणम्, उतान्यैव काचिदालयगता ?, उभयथापि दोषमाह-यदि मानसम्, कथ स्वलक्षणाद् मानसात् स्वलक्षणजन्म विकल्पोत्पाद ?।विकल्पास्वलक्षणत्वमाह-अस्वलक्षण च विकल्पो भवन्नीत्या। कुत इत्याह-असदाकाररूपत्वात्—असदाकारो विकल्पबुद्धिप्रतिभासोऽस्वलक्षणत्वाभ्युपगमात् स एव रूप यस्य स तथा तद्भावस्तस्मात् न स्वसंवित्तिस्तत्र विकल्पेऽस्वलक्षणम्, अपि तु वहिर्मुखावभास एवास्वलक्षणमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न खलु सा स्वसंवित्तिस्ततो वहिर्मुखावभासादन्या , इत्येवं कथं नास्वलक्षणम् ?-अस्वलक्षणमेव । असन्नसौ बहिर्मुखावभास., सा तु स्वसंवित्ति सती-विद्यमाना, स्वसंविदितत्वादेव कारणादिति चेत्। एतदाशङ्क्याह-कथमसौ स्वसंवित्तिस्तन्मात्रत्वा-स्वसंवित्तिमात्रतद्भावा विकल्प इति चिन्त्यम्,न तत्र स्वलक्षणातिरिक्तोऽश इति कृत्वा।असदाकारानुवेधादसौ विकल्प इति चेत्। एतदाशङ्क्याह-कथमसता आकारेणानुवेधो नाम स्वसंविद ?-नैवेत्यर्थ । स आकारो निर्विषयत्वात् कारणादसंस्तुच्छ , न तु तथाप्रतिभासनेन—न पुनर्वहिर्मुखावभासप्रतिभासनेनासन्निति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न स्वसंवित्तिरधिकता तथाप्रतिभासनाद् वहिर्मुखावभासप्रतिभासनादन्याऽर्थान्तरभूतेति कृत्वाऽस्वलक्षणत्वमेव स्वसंविद ।

तस्य विभ्रमरूपत्वात् तदन्याऽनन्यत्वकल्पनैवायुक्तेति चेत्। कोऽयं विभ्रम इति कथनीयम् ? । अनिरूप्यस्वरूपस्तत्त्वतोऽसद्रूप इति चेत् । कथमयं स्वसंवित्तिभेदक इति वाच्यम् ? । न तत्त्वत इति चेत्। उत्सन्नो विकल्पः। अस्त्विति चेत् । प्रतीत्यादिबाधा। चेतनैव तथाभूता विकल्प इति चेत्। किंभूतेति चिन्त्यम् ? असदाकारेति चेत्। अस्वलक्षणमेवेयम्, असदाकारत्वात्। न स्वसंवित्तिस्तत्रास्वलक्षणम्, अपि तु वहिर्मुखावभास एवेति चेत् । न खलु सा ततोऽन्येति समानं पूर्वेण , इति यदि मानसं कथं स्वलक्षणादस्वलक्षणजन्म साधीयः ? इति । कथं वा निर्विकल्पकत्वेनाभिन्नात् भिन्नविकल्पसम्भवः ? । हि नीलादिमात्रात् क्वचिद्रमादिभावः तथाऽदर्शनात्। न चात्र किञ्चिद्भेदकम्, अनभ्युपगमात्। अभ्युपगमेऽपि ततोऽतिशयासिद्धेरिति निवेदयिष्यामः ।

तस्य वहिर्मुखावभासप्रतिभासस्य विभ्रमरूपत्वात्कारणात् तदन्याऽन्यत्वकल्पनैव तया स्वसंवित्त्याऽन्यानन्यत्वकल्पनैवायुक्तेति चेत्। एतदाशङ्क्याह-कोऽयं विभ्रमो यद्रूपत्वादन्याऽनन्यत्वकल्पनाऽयोग इति कथनीयम् ?। अनिरूप्य स्वरूप यस्य वैतथ्येन स तथा तत्त्वत परमार्थतोऽसद्रूप इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कथमयं विभ्रमोऽ-

सद्रूप सन् स्वसंवित्तिभेदक इत्येतद् वाच्यम् ? । न तत्त्वम इति चेत् स्वसंवित्तिभेदक । एतदाशङ्कयाह-उत्सन्नो विकल्प अविशिष्टस्वसंवित्तिमात्रभावेन । अस्त्विति चेद् विकल्पाभाव । एतदाशङ्कयाह-प्रतीत्यादिबाधा, आदिशब्दाद्—भावेतरभेदबाधाग्रह । चेतनैव तथाभूता विशिष्टा विकल्प इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—किंभूता तथाभूतेति चिन्त्यम् ? । असदाकारा असन्नाकारो यस्या सा तथेति चेत् । एतदाशङ्कयाह-अस्वलक्षणमेवेयं चेतना, असदाकारत्वात् । न स्वसंवित्तिस्तत्र चेतनायामस्वलक्षणम्, अपि तु बहिर्मुखावभास एवास्वलक्षणमिति चेत् । एतदाशङ्कयाह-न खलु नैव सा चेतना स्वसंवित्तिस्ततो बहिर्मुखावभासादन्येति समान पूर्वेण ' कथं नास्वलक्षणम्, इत्यादिनोक्तेन । इत्येव यदि मानस कथं स्वलक्षणादस्वलक्षणजन्म साधीय -शोभनतरम् ?-नैवेत्यर्थ । कथ चेत्यादि । कथ वा निर्विकल्पकत्वेनाभिन्नाद मानसाद् भिन्नविकल्पसम्भवो विकल्पकत्वेन । कथं च न स्यादित्याह—न हि नीलादिमात्राद् वस्तुनोऽन्यरहितात् क्वचिद् रसादिभाव । आदिशब्दाद्—गन्धादिग्रह । कथ न रसादिभाव इत्याह-तथाऽदर्शनात् । न चात्र मानसाद् विकल्पजन्मनि किञ्चिद् भेदकमस्ति । कुत इत्याह-अनभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि सति भेदकस्य वासनादे, ततो भेदकादतिशयासिद्धेरिति निवेदयिष्याम ऊर्ध्वम् । गतो मानसपक्ष ।

विकल्पान्तरेणाह—

अथान्यैव काचित् । काऽसाविति वाच्यम् ? । अनादिमदालयगतशक्तेः स्वलक्षणदर्शनसहकारिभावतो विशेषकरणम्, तथाहि-सा तदनुभवं प्राप्याक्षेपेण तथाविधविकल्पजननस्वभावोपजायत इति स्वलक्षणदर्शनाहितेत्युच्यते । अत एव न भिन्नविकल्पसम्भवाभावः, तथाविधशक्तिसहकारित्वेन तदनुभवस्य तदविरोधादिति । एतदपि यत्किञ्चित्, तस्य तत्सहकारित्वासिद्धेः, ततस्तस्या उपकाराभावात्, अनुपकार्योपकारकयोश्च सहकारित्वायोगात् । द्विविधो हि वः सहकारार्थः परस्परातिशयाधानेन सन्ताने विशिष्टक्षणोत्पादनलक्षणः, पूर्वस्वहेतोरेव समग्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्षणश्च । न चानयोरेकोऽपि सम्भवति, क्षणिकत्वेन परस्परातिशयाधानायोगात् । अतिशय उपकार इत्यनर्थान्तरम् । न चासावन्यतोऽन्यस्य, विकल्पायोगात् ।

द्वितीय विकल्पमधिकृत्याह—अथान्यैव काचित् तथाविधविकल्पजननशक्ति । एतदुररीकृत्याह-काऽसाविति वाच्यम् ? । अनादिमती चासावालयगतशक्तिश्चेति विग्रह, तस्या स्वलक्षणदर्शनसहकारिभावत -,—प्रवृत्तिविज्ञानसहकारिभावत इत्यर्थ, विशेषकरणमतिशयकरण सा । एतदेव भावयति-तथाहीत्यादिना । तथाहि—साऽनादिमदालयगतशक्तिस्तदनुभव प्राप्य—स्वलक्षणदर्शनमासाद्य, आक्षेपेणाव्यवधानेन, तथाविधविकल्पजननस्वभावा-अनित्यादिविकल्पजननस्वभावोपजायत इति कृत्वा स्वलक्षणदर्शनाहितेत्युच्यते । अत एव कारणात् न भिन्नविकल्पसंभवाभाव, किं तर्हि ? सम्भव एव । कुत इत्याह—तथाविधशक्तिसहकारित्वेन हेतुना तदनुभवस्य-स्वलक्षणानुभवस्य प्रवृत्तिविज्ञानस्येत्यर्थ तदविरोधादिति प्रक्रमाद् भिन्नविकल्पसंभवाविरोधात् शक्तिरस्योपादानमित्यभिप्राय इति । एतदाशङ्कयाह—एतदपि यत् किञ्चित् । कथमित्याह—तस्य स्वलक्षणानुभवस्य तत्सहकारित्वासिद्धे -प्रस्तुतशक्तिसहकारित्वासिद्धे' । असिद्धिश्च ततोऽधिकृतानुभवात् । तस्या शक्ते, किमित्याह-उपकाराभावात् । यदि नामैवं तत किमित्याह—अनुपकार्योपकारकयोश्च भावयो सहकारित्वायोगात् । एतमेवाह-द्विविधो हि वो—युष्माकं सहकारार्थ । द्वैविध्यमाह-परस्परातिशयाधानेन क्षणपरम्परया संताने प्रबन्धे विशिष्टक्षणोत्पादनलक्षणो विवक्षितकार्ययोग्यताकारीत्यर्थ, तथा पूर्वस्वहेतोरेवोपादानादे समग्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्षणश्च समग्रोत्पन्नानामेककार्यक्रियाऽन्यथानां विवक्षितकार्योत्पत्तिसैव लक्षणं यस्य सहकारार्थस्य स तथेति समास । न चेत्यादि । न चानयो —सहकारार्थयोरेकोऽपि सम्भवति । कुत इत्याह—क्षणिकत्वेन हेतुना परस्परातिशयाधानायोगात् । एतदेव भावयति-अतिशय उपकार इत्यनर्थान्तरम् । न चासावतिशयोऽन्यत सकाशादन्यस्य । कथ नेत्याह—विकल्पाऽयोगात् ।

तदनुभवो हि तच्छक्तेरनुत्पन्नायाः,उत्पन्नायाः, निरुद्धाया एव वोपकुर्यात् ? । न तावदनुत्पन्नायाः, तस्या अभावात्, असतश्चोपकाराकरणात् । नाप्युत्पन्नायाः,तस्या अनाधेयातिशयत्वात्, क्षणादूर्ध्वमनवस्थितेः । द्वाभ्यामप्येकीभूय तदन्यकरणमेवातिशयाधानम्, तदेव चोपकार इति चेत् । न, उपादानकारणविशेषाधानमन्तरेण ततः कार्यविशेषासिद्धेः । न चैककालभाविनाऽन्यतो भवत्या अन्यत एव भवता तस्या अतिशयाधानम्, तन्निबन्धनस्य तत्कृतविशेषासिद्धेः । तदभ्युपगमे च तत्राप्ययमेव दृष्टान्तः, एवं निबन्धनपरम्परायामपि वाच्यम्, इत्यत्राणं निबन्धनपरम्परा ।

एतमेवाह—तदनुभवो हीत्यादिना । तदनुभवोऽधिकृतस्वलक्षणानुभवो यस्माच्छक्तेरनादिमदालयगतशक्तेरनुत्पन्नाया उत्पन्नाया निरुद्धाया एव वोपकुर्यादिति सर्वविना विकल्पा । न तावदनुत्पन्नाया उपकरोति तदनुभव । कुत इत्याह—तस्या एव शक्तेरसत्त्वात् । न चासावनुत्पन्नाऽस्ति । यदि नामैव तत किमित्याह—असतश्च सामान्येनोपकाराकरणात् । नाप्युत्पन्नाया उपकरोति तदनुभव । कुत इत्याह—तस्या उत्पन्नाया निष्पन्नत्वेनानाधेयातिशयत्वात् । एतच्च क्षणादूर्ध्वमनवस्थिते कारणात् । द्वाभ्यामपि शक्त्यनुभवाभ्यामेकीभूय तदन्यकरणमेव विशिष्टशक्तिकरणमेवातिशयाधानम्, तदेव चान्यकरणमुपकार इति चेत् । एतदाशङ्कयाह-नेत्यादि । न-नैतदेवम् । कुत इति युक्तिमाह—उपादानकारणविशेषाधानमन्तरेण इह तावदधिकृतशक्तिविशेषाधान विना, ततो विवक्षितानुभवात्, कार्यविशेषासिद्धे प्रस्तुतविकल्पकार्यभेदासिद्धेरित्यर्थ । न

नैककालभाविना शक्त्या सहानुभवेनान्यतो भवन्त्याः श-क्तेरन्यत एव स्वहेतोर्भवताऽनुभवेन तस्याः शक्तेरतिशया-धाने 'न्याय्यम्' इति शेषः। कुत इत्याह—तन्निबन्धनस्य अधिकृतशक्त्युपादानस्य तत्कृतविशेषासिद्धेर्विवक्षितानुभ-वकृतविशेषासिद्धेः। तदभ्युपगमे च सामान्येन तन्निबन्धन-स्य तत्कृतविशेषाभ्युपगमे च तत्रापि तन्निबन्धनेऽयमेवान-न्तरोदितो 'सोपादानकारणविशेषाधानमन्तरेण ततः कार्य-विशेषासिद्धेः' इत्यादिर्वृत्तान्तः। एवमुक्तनीत्या निबन्धन-परम्परायामपि वाच्यम्। इति एवम्, अत्राणं निबन्धन-परम्परा अनादावपि संसारे कस्यापि निबन्धनस्योक्तनीत्या विशेषाधानायोगादिति भावनीयम्।

स्वहेतुपरम्परात एव सा शक्तिस्तथास्वभावोत्पन्ना याऽनुपकारिणमपि तदनुभवं सहकारिणमपेक्ष्य विशिष्टं कार्यं जनयत्यतो न दोष इति चेत्। न। अनुपकारिणोऽपेक्षाऽयोगात्। तदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, तत्तथाविधस्वभावाधायकहेतोरप्यस्थानपक्षपातित्वापत्तेः, स्वभावापर्यनुयोगस्य च प्रमाणोपपन्नस्वभावविषयत्वात्। स्वपरिकल्पनागर्भवाङ्मात्रोदितस्वभावविषयत्वे तु तत्त्वव्यवस्थानुपपत्तिः, अतथाविधस्वभावानामपि तथाविधस्वभावत्वाभिधानाविरोधात्। एवं च सहेतुकनाशापत्तिः, 'स्वहेतुपरम्परातस्तथास्वभाव एवासावुत्पन्नो भावो योऽकिञ्चित्करमपि नाशहेतुमपेक्ष्य नश्यति' इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्, स्वभावपर्यनुयोगासिद्धेः, अचिन्त्यशक्तित्वात्, अन्यथा त्वत्पक्षेऽपि तुल्यत्वादिति। नापि निरुद्धायाः, तस्या एवासत्त्वात्, असतश्चोपकाराकरणात्। न च प्रकारान्तरेणोपकारकरणं संभवति। एवं तावदाद्यपक्षे सहकारार्थाभाव इति।

स्वहेत्वित्यादि। स्वहेतुपरम्परात एव सा शक्तिरधिकृता तथा-स्वभावोत्पन्ना, याऽनुपकारिणमपि तदनुभवमधिकृत-स्वलक्षणानुभवं सहकारिणमपेक्ष्य विशिष्टं कार्यं जनयत्य-धिकृतविकल्पाख्यम्, अतो न दोष इति चेत् अधिकृतः। एतदाशङ्क्याह—न, अनुपकारिणः तदनुभवस्य। किमि-त्याह—अपेक्षाऽयोगात्। तदभ्युपगमेऽनुपकारिणोऽपेक्षाऽ-भ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, तद्वद् विश्वापेक्षापत्तेः। तत्तथाविधे-त्यादि। तस्याः शक्तेस्तथाविधस्वभावाधायकोऽनुपकारिण-मपि तदनुभवं सहकारिणमपेक्ष्य विशिष्टं कार्यं जनयतीत्ये-वंविधस्वभावाधायकश्चासौ हेतुश्चेति समासः, तस्यापि, किमित्याह—अस्थानपक्षपातित्वापत्तेः नेति क्रियायोगः। उक्तं च—"अस्थानपक्षपातश्च, हेतोरनुपकारिणि। अपेक्षा-या नियुङ्क्ते यतः कार्यमन्याविशेषतः ॥ १ ॥" इत्यादि। स्व-भावापर्यनुयोगस्य च न स्वभावः पर्यनुयोगमर्हतीति इत्यस्य। किमित्याह-प्रमाणोपपन्नस्वभावविषयत्वात् प्रतीतिसचिव-स्वभावविषयत्वादित्यर्थः। स्वपरिकल्पनागर्भश्चासौ वाङ्मा-त्रोदितस्वभावश्चेति समासः, स एव विशेषो यस्य स्वभा-वापर्यनुयोगस्य स स्वपरिकल्पनागर्भवाङ्मात्रोदितस्वभा-वविषयस्तस्य भावस्तस्मिन् पुनरस्याभ्युपगम्यमाने, कि-मित्याह—तत्त्वव्यवस्थानुपपत्तिः। कुत इत्याह—अत-थाविधस्वभावानामपि भावानां तथाविधस्वभावत्वाभिधा-नाविरोधात्। ततः किमित्याह-एवं च सहेतुकनाशापत्तिः। कथमित्याह-स्वहेतुपरम्परातः सकाशात् तथास्वभाव ए-वासावुत्पन्नो भावः पदार्थो योऽकिञ्चित्करमपि नाशहेतुमपे-क्ष्य नश्यति इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् तथास्वभावपर्यनुयो-गासिद्धेरुक्तनीत्या। असिद्धिश्चाचिन्त्यशक्तित्वात् स्वभाव-स्य। इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यमित्याह-अन्यथा त्वत्पक्षेऽपि स्व-हेतुपरम्परात एव सा शक्तिस्तथास्वभावोत्पन्नेत्यस्मिन्नपि, तुल्यत्वात् पर्यनुयोगस्य। इति सर्वत्र 'न, अनुपकारिणोऽ-पेक्षाऽयोगात्' इत्यतो यथायोगं 'न' इति क्रिया योजनी-या। नापि निरुद्धायाः 'शक्तेरुपकरोति तदनुभवः' इति प्रक्रमः। कुत इत्याह—तस्या एव निरुद्धायाः शक्तेरसत्त्वा-त्, असतश्च तुच्छस्य चोपकाराकरणात्। न चेत्यादि। न च प्रकारान्तरेणोक्तप्रकारत्रयातिरिक्तेनोपकारकरणं संभव-ति वस्तुतस्तस्यैवाभावात्। एवं तावदाद्यपक्षे—उपन्या-सक्रमप्राधान्यात् 'परस्परातिशयाधानेन सताने विशिष्ट-क्षणोत्पादनलक्षणः' इत्यस्मिन्, सहकारार्थाभाव इति।

एतेन पूर्वस्वहेतोरेव समग्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्षणोऽपि सहकारार्थो निषिद्धः, तत्त्वतः प्रथमसहकारार्थाविशेषात्, 'स्वहेतुपरम्परात एव सा शक्तिस्तथास्वभावोत्पन्ना' इत्यादिना तु सुतरामभेदात्, प्रत्येकं तत्तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावेतरविकल्पदोषापत्तेश्च। प्रथमपक्षे किमन्योन्यापेक्षया?, एकत एव तत्सिद्धेः। द्वितीयपक्षे चापेक्षायामपि तदसिद्धेः, प्रत्येकमतत्स्वभावत्वात्।

एतेनेत्यादि। एतेन-अनन्तरोदितेन,पूर्वस्वहेतोरेव समग्रोत्प-न्नैककार्यक्रियालक्षणोऽपि सहकारार्थः प्राग् निदर्शितस्व-रूपो निषिद्धः। कुत इत्याह—तत्त्वतः—परमार्थेन, प्रथमस-हकारार्थाविशेषात्। अस्य सहकारार्थस्य परस्परातिशया-धानेन सताने विशिष्टक्षणोत्पादनलक्षणः प्रथमः, तदयमपि पूर्वस्वहेतोरेव समग्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्षणः सदा संता-नापक्षयैवंभूत एव, तस्य तस्य कार्यस्य विशिष्टक्षणोत्पाद-जलक्षणत्वादिति भावनीयम्। 'स्वहेतुपरम्परात एव सा शक्तिस्तथास्वभावोत्पन्ना' इत्यादिना त्वनन्तरोदितग्रन्थेन सुतरामभेदात्—द्वयोरपि सहकारार्थयोः फलाभेदादिति-गर्भः। दोषान्तरमाह—प्रत्येकमित्यादिना। प्रत्येकमेकमेकं प्रति, तेषां समग्रोत्पन्नानां तथाविधं विशिष्टं यद् विव-क्षितं विज्ञानादि कार्यं तज्जननसमर्थस्वभावश्चेतरश्चातज्ज-ननसमर्थस्वभावश्चेति विकल्पाभ्यां दोषास्तदापत्तेश्च कार-णाद् 'द्वितीयोऽपि सहकारार्थो निषिद्धः' इति क्रिया। एतदुक्तं भवति-पूर्वस्वहेतोरेव समग्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्ष-णो द्वितीयः सहकारार्थः। तत्र ये समग्रा उत्पन्नास्ते प्रत्येकं तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावाः स्युः, न वा त-थाविधकार्यजननसमर्थस्वभावा इति द्वयी गतिः। तत्र प्रथमपक्षे—प्रत्येकं ते तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावा इ-त्यस्मिन्, किमन्योन्यापेक्षया?, एकत एव तथाविधका-

र्यजननसमर्थस्वभावात् समग्रात्, तत्सिद्धेस्तथाविधकार्यस्यासिद्धे, अन्यथा तत्तत्स्वभावत्वानुपपत्तिरिति हृदयम्। द्वितीयपक्षे च—प्रत्येकं ते न तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावा इत्यस्मिन्। किमित्याह-अपेक्षायामपि सत्या, तदसिद्धे -विवक्षितकार्यासिद्धेः। असिद्धिश्च प्रत्येकमतत्स्वभावत्वात् समग्राणाम्। न हि प्रत्येकं तैलाजननस्वभावा सिकताएव परस्परापेक्षया ऽपि तैलं जनयन्ति, तज्जननस्वभावत्वविरोधादिति।

तेषामत एव प्रत्येकत्वाभावादप्रत्येकत्वत एव तत्स्वभावत्वाददोष इति चेत्। न। अनेकतः सर्वथैकभवनासिद्धेः, तद्भिन्नस्वभावत्वात्, अन्यथाऽनेकत्वायोगात्। एवं चेतरेतरस्वभाववैकल्येन तत्रानुपयोगात्। तत्स्वभावविकलस्तद्रूपो न स्याद्, नातत्कार्य इति चेत्। न। तत्स्वभावविकलस्य तत्कार्यत्वविरोधाद्, तज्जननैकस्वभावादेव ततस्तदुत्पत्तेः, अन्यतस्तदभावात्, तस्यापि तत्त्वेऽन्यत्वाभाव इति निरूप्यतां सम्यग्, अन्यथा कार्यैकत्वानुपपत्तिः, समग्रस्यैव तस्योत्पत्तेः, अनेकजन्यत्वे च तदयोगात्, सर्वेषां तज्जनकत्वाद्, एकभाविनोऽपरभावासिद्धेः तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, समग्रजनकत्वेऽप्येकस्यापि जनकत्वाद्, अन्यथा समग्रजनकत्वविरोधाद्, भेदश्च तद्भावापत्तेः, अन्यतज्जनकत्वे च कुतस्तत्स्वभाववैकल्यम्? इति यत्किञ्चिदेतत्।

तेषामित्यादि। तेषां-समग्रोत्पन्नानां समग्राणाम्, किमित्याह-अत एव हेतोः, प्रत्येकत्वाभावात् कारणात्, अप्रत्येकत्वत एव-अप्रत्येकत्वेनैव समग्रतयेत्यर्थः, तत्स्वभावत्वात् तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावत्वाददोष इति चेदनन्तरविकल्पयुगलकोपनीतः। एतदाशङ्क्याह--नानेकेत्यादिना। न-नैतदेवम्। कुत इत्याह—अनेकतोऽनेकेभ्यः समग्रेभ्यः, सर्वथैकभवनासिद्धेर्निरंशभवनासिद्धेरित्यर्थः। असिद्धिश्च तद्भिन्नस्वभावत्वात्--तेषामनेकेषां भिन्नस्वभावत्वात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह--अन्यथा एवमनभ्युपगमेऽभिन्नस्वभावत्वादनेकत्वायोगात्। एवं चेत्यादि। एवं चानेकत्वे सति इतरेतरस्वभाववैकल्येन न य एवैकस्य स्वभावः स एवापरस्य, तदभेदप्रसङ्गादितीतरेतरस्वभाववैकल्यं तेन, तत्र सर्वथैकभवने, अनुपयोगाद् नानेकतः सर्वथैकभवनमिति। तत्स्वभावविकलस्तस्य विवक्षितस्य कस्यचित् तथाविधकार्यजननसमर्थस्य समग्रस्य स्वभावस्तत्स्वभावस्तेन विकलो रहितोऽपरः समग्र एव तत्स्वभावविकलः सः, तद्रूपोऽधिकृतसमग्रान्तररूपः, न स्याद्--न भवेत् तद्वैकल्येन, नातत्कार्यो न समग्रान्तराकार्यः, किन्तु तत्कार्य एव समग्रान्तरवत्, तस्यापि तज्जननस्वभावत्वादिति चेत्। एतदाशङ्क्याह--नेत्यादि। न-नैतदेवम्। कुत इत्याह-तत्स्वभावविकलस्य विवक्षितसमग्रतथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावविकलस्य समग्रान्तरस्येति प्रक्रमः। किमित्याह—तत्कार्यत्वविरोधात्—समग्रान्तरकार्यत्वविरोधात्। विरोधश्च तज्जननैकस्वभावादेव-तथाविधकार्यजननैकस्वभावादेव, ततः प्रथमसमग्रात्, तदुत्पत्तेस्तथाविधकार्योत्पत्तेः, अन्यतः स-मग्रान्तरात्, तदभावः-अन्योत्पाद्यकार्याभावात् तत एवोत्पन्नं तदिति किमन्यस्मादुत्पादेन?। सोऽपि तज्जननस्वभाव इत्येवं तज्जनयतीत्याशङ्कानिरासायाह—तस्यापि अन्यस्य समग्रान्तरस्य, तत्त्वे तज्जननैकस्वभावत्वे। किमित्याह—अन्यत्वाभावः तत्स्वभावस्य तत्त्वादिति निरूप्यतां सम्यक्। अन्यथैवमनभ्युपगमे, किमित्याह—कार्यैकत्वानुपपत्तिः। कुत इत्याह—समग्रस्यैव—अखण्डस्यैव, तस्य कार्यस्योत्पत्तेः। यदि नामैवं ततः किमित्याह—अनेकजन्यत्वे च सति कार्यस्य, तदयोगात्-समग्रोत्पत्त्ययोगात्। अयोगश्च सर्वेषां समग्राणां तज्जनकत्वाद्—विवक्षितैककार्यजनकत्वात्। किमेवं न समग्रोत्पत्तिरित्याह—एकभाविन इति, एकस्माद् भवितुं शीलमस्येत्येकभावि कार्यं गृह्यते तस्य, किमित्याह-अपरस्माद् भावोऽपरभावः, भवनं भाव उत्पादः, तदसिद्धेः। असिद्धिश्च तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गादपरवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नैको जनकः समग्रा एव जनका इत्यसद्ग्रहव्यपोहायाह—समग्रजनकत्वेऽपि सति, किमित्याह—एकस्यापि जनकत्वात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे, समग्रजनकत्वविरोधात्, नैकाद्यभावे सामग्र्यमिति भावनीयम्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—भेदश्च भेदे, तद्भावापत्तेः-कार्यभावापत्तेः, न तत्रैकोऽन्यजनकः, न चाशजनक इति कृत्वा। अथान्योऽपि तदेव जनयति यदेकेन जनितमित्यत्राह—अन्यतज्जनकत्वे च अन्यस्यापि समग्रस्य तज्जनकत्वे समग्रान्तरजनकत्वे चाभ्युपगम्यमाने। किमित्याह—कुतस्तत्स्वभाववैकल्यं समग्रान्तरस्वभाववैकल्यम्?-नैव, तज्जन्यजनकत्वान्यथानुपपत्तेः। उक्तं च-"उत्पद्यते यदेकस्मादनंशं नान्यतोऽपि तत्। समग्रभावे सामग्र्या, नैकं कार्यं सुनीतितः॥ १॥" इति यत् किञ्चिदेतत्-'तत्स्वभावविकलस्तद्रूपो न स्याद् नातत्कार्यः', इति।

हेतुभेदात् फलभेद इति चापन्यायः। तथा च सत्ययमेव खलु भेदो भेदहेतुर्वा भावानां यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेत्युक्तिमात्रम्, भावार्थशून्यत्वात्, सामग्र्ययोगात्, समग्रेभ्यस्तद्भेदाभेदासिद्धेः, तत्त्वतः समग्रमात्रत्वात्। तदुपादानादिभेदेन तद्भेद इति चेत्। न। तत्स्वभावभेदमन्तरेण तदसिद्धेः, तद्भेदे चानेकस्वभावतापत्तेः, अन्यथोभयोस्तुल्यतापत्तेस्तत्कार्ययोरपि तुल्यता, तत्तथासामस्त्येनोभयजननस्वभावादुभयादुभयप्रसूतेः, तत्तथास्वकल्पनायास्तद्वैचित्र्यापादनेनायोगात्। इति प्रपञ्चितमेतदन्यत्र, नेह प्रतन्यते इति परमते सहकारार्थासिद्धेरशोभनस्तदुपन्यास इति परिचिन्त्यतामेतत्।

दोषान्तरमाह-हेतुभेदात् सकाशात् फलभेद इति चापन्यायः तथानेकैकभावेन। तथा च सति 'अयमेव खलु भेदो भेदहेतुर्वा भावाना, यदुत—विरुद्धधर्माध्यासो भेदः, कारणभेदश्च भेदहेतुः, इत्युक्तिमात्रम्। कुत इत्याह-भावार्थशून्यत्वात्। भावार्थशून्यत्वं च सामग्र्ययोगात्। अयोग-

जश्च समग्रेभ्यः सकाशात्, तद्भेदाभेदासिद्धेस्तस्याः सामग्र्या भेदाभेदाभ्यामसिद्धेः, तत्त्वतः-परमार्थतः, समग्रमात्रत्वात् सामग्र्या इति। तदुपादानादिभेदेन-तेषां समग्राणामुपादाननिमित्तभेदेन, तद्भेदः-सामग्रीभेदः, तथाहि-रूपाऽऽलोकादिसामग्र्यामेकत्र रूपमुपादानमालोकादयो निमित्तम्, अपरत्रालोकादय उपादान रूपं निमित्तमिति सामग्रीभेद इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि। न-नैतदेवम्। कुत इत्याह—तत्स्वभावभेदमन्तरेण तेषां समग्राणां स्वभावभेदमन्तरेण, तदसिद्धेः सामग्रीभेदासिद्धेः, उक्तं च—“ रूपं येन स्वभावेन, रूपोपादानकारणम्। निमित्तकारणं ज्ञाने, तत् तेनान्येन वा भवेत्? ॥ १ ॥ यदि तेनैव विज्ञाने, बोधरूपं न युज्यते। अथान्येन बलाद् रूपं, द्विस्वभावं प्रसज्यते ॥ २ ॥ ” इति। तद्भेदे च—स्वभावभेदे च, समग्राणामनेकस्वभावताऽपराधो महानयमेकान्तैकस्वभाववादिनः। अन्यथेत्यादि। अन्यथैवमनभ्युपगमे, उभयोः समग्रयोरिति सामग्र्युपलक्षणम्। किमित्याह—तुल्यतापत्तेः कारणात्, तत्कार्ययोरपि रूपाऽऽलोकादिरूपयोः, तुल्यता। कुत इत्याह—सामस्त्येनोभयजननस्वभावात्। उभयादेकस्वभावात् समग्रोभयात्, उभयप्रसूतेरुभयभावात्। तत्तथात्वेत्यादि। तस्याधिकृतस्वभावद्वयस्य तथात्वकल्पनायाः--भिन्नजातीयोभयजननैकस्वभावत्वकल्पनायाः, तद्वैचित्र्यापादनेनाधिकृतस्वभावद्वयवैचित्र्यापादनेन हेतुना, अयोगात्; तथाहि--वाचित्रात् स्वभावद्वयाच्चित्रद्वयभावः, भवन्नपि द्वयभावोऽचित्रादेकस्वभावतया तुल्य एव स्यादिति प्रपञ्चितमेतदन्यत्रानेकान्तसिद्धौ, नेह प्रतन्यते। इति एव, परमते सहकार्यसिद्धेः कारणात्, अशोभनस्तदुपन्यासः--सहकार्युपन्यास इति परिचिन्त्यतामेतत्।

भिन्नविकल्पसंभवाभावोऽपि न्यायतस्तदवस्थ एव, तदनुभवस्यानेकशक्तिसहकारित्वविरोधात्, एकस्वभावत्वात्, तस्य चानित्याद्यन्यतमविकल्पशक्तिसहकारित्वतत्त्वात्; अन्यथा तदेकस्वभावत्वासिद्धेः। एकान्तैकस्वभावत्वे च कथमस्य नित्यादिविकल्पशक्तिसहकारिभावः? इति चिन्त्यम्। न हि नीलविज्ञानजन्मसहकारिस्वभावं नीलं कदाचिद् रसादिविज्ञानजन्मसहकारितां प्रतिपद्यते, तत्तत्त्वविरोधादिति।

भिन्नविकल्पसम्भवाभावोऽपि निमित्तान्तराभावेन पूर्वोक्तः, न्यायतस्तदवस्थ एव। कुत इत्याह-तदनुभवस्य-प्रस्तुतस्वलक्षणानुभवस्य, अनेकशक्तिसहकारित्वविरोधात्। विरोधश्चैकस्वभावत्वात्। तस्य चैकस्य स्वभावस्यानित्याद्यन्यतमविकल्पशक्तिसहकारित्वतत्त्वात् सहकारित्वस्वभावत्वात्। अन्यथैवमनभ्युपगमे तदेकस्वभावत्वासिद्धेः-तस्यानुभवस्यैकस्वभावत्वासिद्धेश्चित्रशक्तिसहकारिभावेन एकान्तैकस्वभावत्वे च कथमस्यानुभवस्य नित्यादिविकल्पशक्तिसहकारिभावः? इति चिन्त्यम्--नैवानित्यादिविकल्पशक्तिं विहाय सहकारिभाव इत्यर्थः। अमुमेवार्थं निदर्शनेनाह-न हीत्यादिना। न यस्माद् नीलविज्ञानजन्मसहकारिस्वभावं नीलं कदाचित् रसादिविज्ञानजन्मसहकारिता प्रतिपद्यते। किं न प्रतिपद्यते? इत्याह—तत्तत्त्वविरोधात् तस्य नीलस्य नीलविज्ञानजन्मसहकारिस्वभावत्वं तत्त्वं तद्विरोधादिति।

अनेनानेकशक्तिसहकार्यैकस्वभावत्वकल्पना प्रत्युक्ता, अनेकगर्भस्य तस्यैकत्वायोगात्, अतिप्रसङ्गात्, निबन्धनव्यवस्थाभावात्, विश्वस्यैकनिबन्धनतापत्तेः इति ‘ स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पाः ’ इति वचनमात्रमेव।

अनेनानेकशक्तिसहकार्यैकस्वभावत्वकल्पना प्रत्युक्ता। कथमित्याह—अनेकगर्भस्य तस्य अधिकृतस्वभावस्य, एकत्वायोगात्। अनेकगर्भश्चानेकशक्तिसहकार्यैकस्वभाव इति परिभावनीयम्। योगेऽप्यतिप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वसहकारिकल्पनया। ततश्च निबन्धनव्यवस्थाऽभावात् ‘ नेदमस्य कारणम् ’ इति। व्यवस्थाभावे च विश्वस्यैकनिबन्धनतापत्तेः ‘ अनेककार्यकरणैकस्वभावत्वादेकस्य ’ इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। इति ‘ अनन्तरोदिता कल्पना प्रत्युक्ता ’ इति क्रियायोगः। इति-एवं ‘ स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पाः ’ इति वचनमात्रमेव, अभिप्रेतार्थशून्यत्वादिति गर्भः।

तत्प्रतिबद्धजन्मत्वासिद्धेश्च, तथाहि-कस्तेषां वस्तुना प्रतिबन्धः? इति वाच्यम्। न तादात्म्यम्, तद्देशादिभेदात्, अनभ्युपगमाच्च। न तदुत्पत्तिः, तदसरूपत्वात्, तदनन्तराभावाच्च। पारम्पर्येण तत्तदुत्पत्तिरिति चेत्। न। विहितोत्तरत्वात्, तत्तद्भावेऽपि तन्निमित्तत्वाविशेषात् नित्यादिविकल्पेभ्योऽपि तन्निश्चितिसिद्धेः, वस्तुनस्तथात्वप्रसङ्गात्, अनेकान्तापत्तेरिति। न च न नित्यादिविकल्पानामपि तत्प्रतिबन्धः, तेषामपि तद्भेदप्रसवाभ्युपगमात्, ‘ नान्येषाम् तद्भेदप्रसवे सत्यपि ’ इत्याद्युपन्यासात्। तद्भेदप्रसवश्चार्थभेदादुत्पादः। स चानित्यादिविकल्पानामिवामीषां तत इति। तत्कथं न तेभ्यस्तन्निश्चितिः?।

इहैवोपपत्त्यन्तरमाह—तत्प्रतिबद्धजन्मत्वासिद्धेश्च—वस्तुप्रतिबद्धजन्मत्वासिद्धेश्च ‘ विकल्पानाम् ’ इति प्रक्रमः। तथाहि इत्युपप्रदर्शने। कस्तेषामधिकृतविकल्पानां वस्तुना सह प्रतिबन्धः? इति वाच्यम्। न तादात्म्यं प्रतिबन्धः, तद्देशादिभेदाद्-वस्तुदेशादिभेदात्। आदिशब्दात्—कालस्वभावादिग्रहः। अनभ्युपगमाच्च। न हि परेणापि वस्तुविकल्पयोस्तादात्म्यमभ्युपगम्यते। न तदुत्पत्तिः प्रतिबन्धः, विकल्पानां वस्तुना। कुत इत्याह-तदसरूपत्वात्-वस्त्वसरूपत्वाद् विकल्पानाम्। उपपत्त्यन्तरमाह-तदनन्तराभावाच्च--वस्त्वनन्तराभावाच्च कारणादिति। पारम्पर्येण स्वलक्षणज्ञानव्यवधानेन, तत्तदुत्पत्तिः—तस्माद् वस्तुनो विकल्पोत्पत्तिरिति चेत् एतदाशङ्क्याह-न, विहितोत्तरत्वात् परदर्शने निमित्तान्तराभावेन विहितोत्तरमेतत् कथं वा निर्विकल्पकत्वेनाभिन्नाद् भिन्नवि-

कल्पसंभवः ? ' इत्यादिना ग्रन्थेन । इतश्चैतद् न तत्तद्भावेऽपि-वस्तुनो विकल्पभावेऽपि, तन्निमित्तत्वाविशेषाद्-वस्तुनिमित्तत्वाविशेषात् ,नित्यादिविकल्पेभ्योऽपि सकाशात् , तन्निश्चितिसिद्धेर्वस्तुनिश्चितिसिद्धे कारणात् । किमित्याह-वस्तुनस्तथात्वप्रसङ्गात् , नित्यत्वादिप्रसङ्गात् अनेकान्तापत्तेरिति,न नैतदेवमिति क्रिया । न चेत्यादि । न च न नित्यादिविकल्पानामपि, तत्प्रतिबन्धो-वस्तुप्रतिबन्ध , किन्तु प्रतिबन्ध एव । कुत इत्याह-तेषामपि नित्यादिविकल्पानाम् , तद्भेदप्रसवाभ्युपगमाद्—वस्तुभेदप्रसवाभ्युपगमात् । अभ्युपगमश्च ' नान्येषाम् , तद्भेदप्रसवे सत्यपि ' इत्याद्युपन्यासात् प्राक् । तद्भेदप्रसवश्च क ? । उच्यते-अर्थभेदादुत्पाद स्वलक्षणादित्यर्थ । स चेत्यादि । स चानित्यादिविकल्पानामिवामीषा नित्यादिविकल्पानाम् , तत इति वस्तुन । तत्-तस्मात् , कथ न तेभ्यो नित्यादिविकल्पेभ्य. , तन्निश्चितिर्वस्तुनिश्चिति. ? इति ।

ननूक्तमत्र ' यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य किञ्चित्सामान्यग्रहणेन विशेषान्तरसमारोपात् ' इति । उक्तमिदम् , अयुक्तं तूक्तम् , इतरत्राप्युक्तन्यायतुल्यत्वात् , ' अनित्यादिविकल्पानामपि नित्यादिरूपयथादृष्टविशेषनिश्चयपरित्यागेनावस्थाभेदग्रहणतो विशेषान्तरसमारोपेण प्रवृत्तेः ' इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । नित्यस्य भेदाभेदविकल्पद्वारेणावस्थाभेद एवायुक्त इति चेत् । न । ततस्तद्भेदाभेदविकल्पाप्रवृत्तेः, अवस्थानामुत्प्रेक्षितत्वात् , तथातत्त्वानामपि समचित्रनिम्नोन्नतसमारोपवत् तथासमारोपहेतुत्वाविरोधः , आन्तरदोषसामर्थ्यात् , तस्य चासद्दर्शनवासनारूपत्वात् , नित्यप्रमातुरपि तत्स्वभावत्वतोऽनित्यस्याभेदवासनावत् तथावासनोपपत्तेः । इतीतरत्राप्युक्तन्यायतुल्यत्वमिति ।

आह—ननूक्तमत्र प्राक् , ' यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य किञ्चित्सामान्यग्रहणेन विशेषान्तरसमारोपाद् न तेभ्यस्तन्निश्चिति ' इति । एतदाशङ्क्याह—उक्तमिदम् , अयुक्तं तूक्तम् । कथमित्याह—इतरत्रापि प्रक्रमाद् वस्त्वनित्यत्वादौ, उक्तन्यायतुल्यत्वात् ' यथादृष्टविशेषानुसरण परित्यज्य ' इत्यादिरुक्तो न्याय. , अस्य तुल्यत्वात् । तुल्यत्वमेवाह—अनित्यादिविकल्पानामपीत्यादिना । तत्र 'यथादृष्टविशेषानुसरण परित्यज्य ' इत्यादि भङ्ग्यन्तरेणाधिकृतपक्षविपक्षे योजयति-अनित्यादिविकल्पानामपीति न केवलं नित्यादिविकल्पानाम् , नित्यादिरूपयथादृष्टविशेषनिश्चयपरित्यागेन नित्यादिरूपस्य यथादृष्टविशेषो नित्यादिरूप एव तन्निश्चयपरित्यागेन । परित्यागश्चावस्थाभेदग्रहणतोऽवस्थाभेदग्रहणात् कारणात् , विशेषान्तरसमारोपेणाभेदसमारोपेण, प्रवृत्तेरनित्यादिविकल्पानामपि । इत्यपि—एवमपि , वक्तु शक्यत्वात नात्र जिह्वान्तरं डोकर । नित्यस्येत्यादि । नित्यस्य वस्तुन , भेदाभेदविकल्पद्वारेण-एतन्मुक्तेनेत्यर्थ , अवस्थाभेद एवायुक्तोऽघटमानक , तथाहि-तास्ततो भेदेन वा स्यु , अभेदेन वा ? । भेदे ' अस्यता ' इति क. संबन्ध ? । अभेदेऽवस्थातैवासौ , अवस्था वा, इति नित्यस्यावस्थाभेदाभाव इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम् , ततो नित्याद् वस्तुन , तद्भेदाभेदविकल्पाप्रवृत्ते —तासामवस्थाना भेदाभेदविकल्पाप्रवृत्ते । अप्रवृत्तिश्चावस्थानामुत्प्रेक्षितत्वात्-अवस्तुत्वादित्यर्थ । तथातत्त्वानामपि-उत्प्रेक्षिततद्भावानामपि 'अवस्थानाम् ' इति प्रक्रम , समचित्रनिम्नोन्नतसमारोपवदिति निदर्शनम् , समचित्रे निम्नोन्नतसमारोप इति विग्रह., तद्वत् , तथा समारोपो भेदसमारोपस्तद्धेतुत्वाविरोधस्तथातत्त्वानामप्यवस्थानामिति । कुत इत्याह—आन्तरदोषसामर्थ्यात् कारणात् , तस्य चान्तरदोषस्य, असद्दर्शनवासनारूपत्वात्—असद्दर्शनवासनाऽनित्यादिदर्शन —वासना तद्रूपत्वात् , नित्यप्रमातुरपि तत्स्वभावत्वतोऽसद्दर्शनवासनास्वभावत्वेन, अनित्यस्य प्रमातु , अभेदवासनावदिति निदर्शनम् , ' तत्स्वभावत्वत. ' इति योज्यते , तथावासनोपपत्तेर्भेदप्रकारेण वासनोपपत्ते । इति एवम् , इतरत्रापि वस्त्वनित्यत्वादौ, उक्तन्यायतुल्यत्वमिति निगमननिदर्शनमेतत् ।

किञ्च–'यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य, इत्यत्र 'तथा दृष्टो नान्यथा' इत्यत्र न प्रमाणम् । प्रत्यक्षमेवात्र प्रमाणमिति चेत् । न तत्कस्यचित् निश्चायकम् । तथ्यमपि गृह्णाति न तन्निश्चयेन , किं तर्हि ? , तत्प्रतिभासेन । स चैवंभूत एव नान्यथेति ऋतेऽतीन्द्रियार्थदर्शितामतिशयश्रद्धां वा न विनिश्चयोपायः । न तदेव, संप्रमुग्धमूककल्पत्वात् । नानुमानम् , तथाविधलिङ्गासिद्धेः । न चान्यत् , अनभ्युपगमात् । अनित्यतादिरूपस्यैव वस्तुनि विद्यमानत्वात् स एवभूतो नान्यथेति चेत् । कुतस्तत्रास्यैव विद्यमानतासिद्धिः ? इति वाच्यम् । तत्तथाप्रत्यक्षप्रतिभासादेवेति चेत् । सोऽयमितरेतराश्रयदोषोऽनिवारितप्रसरः । कथं वा तत्तत्प्रतिभासत्वे तन्नीलत्वादिवत्तदनिश्चयः ? । किञ्चित्सामान्यग्रहणेन विशेषान्तरसमारोपादिति चेत् । किमत्यन्तभेदिनां सामान्यम् ? । सदृशापरापरोत्पत्तिरिति चेत् । प्रतिनियतैकग्राहिज्ञानतत्त्ववादे कुतोऽस्याः खल्ववगमः ? । न हि कथञ्चिदेकस्यानेकग्राहिणो विज्ञानस्याभावे ' केनचित् सदृशोऽयम् ' इति भवति, अतिप्रसङ्गात् , रूपग्रहणस्यापि रसग्रहणसदृशतापत्तेः । एवं च व्यवस्थानुपपत्तिः । न रूपज्ञानं रसज्ञानोपादानमतोऽयमदोष इति चेत् । न । न भवति,क्वचित्तथाभावोपपत्तेः, रूपज्ञानसमनन्तरभाविनो रसज्ञानस्य तदनुपादानत्वेऽनुपादानत्वप्रसङ्गात् । किं वा-तत्तथाभावाभावेऽत्यन्तासत एव भवतोऽस्योपादानचिन्तया ? । तत्तथाभावे चानिवारितोऽन्वयः । एतेन सदा सत्त्वोपलम्भः प्रत्युक्तः, तत्त्वतस्तस्यापि मार-

श्यनिबन्धनत्वात् तस्य चोक्तवद् ग्रहणायोगात् भ्रान्तरतद्विकल्पबीजस्याप्रमाणत्वात् ,तथापि तत्कल्पनायाश्चेतरत्रापि तुल्यत्वादित्युक्तप्रायम् ।

इहैव दूषणान्तरमाह--किञ्चेत्यादिना । किञ्च-'यथा दृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य ' इत्यत्र तथादृष्टोऽनित्यादिरूपत्वेन , नान्यथा-न नित्यादिरूपत्वेन, इत्यत्र न प्रमाणम्-नास्मिन् विषये प्रत्यक्षं प्रवर्तते , नाप्यनुमानमित्यर्थ । प्रत्यक्षमेवात्र ' तथादृष्ट ' इति विषये प्रमाणमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह--न तदित्यादि-न तत् , प्रत्यक्ष कस्यचिद् वस्तुनो निश्चायकम् । तथ्यमप्यर्थविशेषं गृह्णाति न तत् निश्चयेन 'एवमेतत्' इत्येवंरूपेण । किं तर्हि ?, तत्प्रतिभासेन तदाकारेण ग्राह्याकारेणेत्यर्थ. । स चेत्यादि । स च प्रतिभास एवंभूत एव-अनित्यादिरूप एव , नान्यथेति न नित्यादिरूप', इति-एवम् , ऋते-विना , अतीन्द्रियार्थदर्शितामतिशयश्रद्धां वा न विनिश्चयोपाय. । न तदेव प्रत्यक्षं विनिश्चयोपाय. । कुत इत्याह-संप्रमुग्धमूककल्पत्वात् तस्य संप्रमुग्धो हि मूक स्वप्रतिभासमपि न विनिश्चिनोतीति लौकिकमेतत् । अतोऽत्र न प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति । अनुमानं तर्हि भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाह-नानुमानम् ' अत्र प्रमाणम् ' इति प्रक्रमः कुत इत्याह-तथाविधलिङ्गासिद्धेः स एवंभूत एवेत्याद्यर्थाविनाभूतलिङ्गासिद्धे । न चान्यत् 'अत्र मानम्' इति प्रक्रम कुत इत्याह-अनभ्युपगमात् अन्यस्य मानस्य । अनित्यत्वादिरूपस्यैव वस्तुनि रूपादौ विद्यमानत्वात् कारणात् , स प्रतिभास , एवभूतोऽनित्यादिरूप एव नान्यथेति न नित्यादिरूप इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कुतस्तत्र वस्तुनि, तस्यैवानित्यत्वादिरूपस्यैव , विद्यमानतासिद्धि ? इत्येतद् वाच्यम् । तत्तथेत्यादि । तस्मिन् वस्तुनि तथाऽनित्यादिरूपतया प्रत्यक्षप्रतिभास. प्रत्यक्षाकारस्तत्तथाप्रत्यक्षप्रतिभासस्तस्माद्भवेति चेत् तस्यैव विद्यमानतासिद्धिरिति । एतदाशङ्क्याह- सोऽयमितरेतराश्रयदोषोऽनिवारितप्रसर. तथाहि अनित्यत्वादिरूपता वस्तुन प्रत्यक्षप्रतिभासबलेन, सोऽपि तथा वस्तुनोऽनित्यत्वादिरूपतया, इतीतरेतराश्रयदोष' कथं नेत्यादि । कथं वा तस्य प्रत्यक्षस्य , तत्प्रतिभासत्वे प्रक्रमादनित्यत्वाद्याकारत्वे, तन्नीलत्वादिवत् तस्य वस्तुनो नीलत्वादिवदिति निदर्शन व्यतिरेकेण , तदनिश्चयोऽनित्यत्वाद्यर्थानिश्चय । किञ्चित् सामान्यग्रहणेनापरसदादिग्रहणेनेत्यर्थ , विशेषान्तरसमारोपात् सर्वसदादिसमारोपादिति चेत् तदनित्यत्वाद्यनिश्चय । एतदाशङ्क्याह-किमत्यन्तभेदिना सामान्यं ' वस्तूनाम् ' इति प्रक्रम । सदृशापरापरोत्पत्तिरिति चेत् प्रस्तुतसामान्यम् । एतदाशङ्क्याह-प्रतिनियतैकग्राहिज्ञानतत्त्ववादे क्षणिकत्वेन कुतोऽस्या सदृशापरापरोत्पत्ते खल्ववगम. ? नैवेत्यर्थ । एतदेव भावयति--न हीत्यादिना। न हि कथञ्चिदेकस्यानेकग्राहिणो विज्ञानस्याभावेऽन्वयिन इत्यर्थ , केनचित् सदृशोऽयम् ' प्रक्रमाद् ' भाव ' इति भवति । किं न भवति ? इत्याह-अतिप्रसङ्गात् । एतमेवाह-रूपग्रहणस्यापि रसग्रहणसदृशतापत्ते , तेन तद्ग्रहणाविशेषादिति भाव । एव चातिप्रसङ्गे सति व्यवस्थानुपपत्ति. । न रूपज्ञानं रसज्ञानोपादानम् , यथा रूपज्ञानोपादानमेव, अतोऽयमतिप्रसङ्गदोषोऽदोष इति चेत् । एतदाशङ्क्याह--न-न भवति रूपज्ञानं रसज्ञानोपादानम् , किन्तु-भवत्यपि कचित् सामान्येन तथाभावोपपत्ते. रूपज्ञानस्य रसज्ञानोपादानभावोपपत्ते । एतदेवाह--रूपज्ञानसमनन्तरभाविनो रसज्ञानस्य तदनुपादानत्वे-रूपज्ञानानुपादानत्वे, अनुपादानत्वप्रसङ्गात् । न तदपरं ज्ञानमुपादानम् , न च--न भवति रूपज्ञानानन्तरं रसज्ञानमिति भावनीयम् । किं वा तत्तथा--भावाभावे तस्य--रूपज्ञानस्य तथा रसज्ञानतया भावाभावे , अन्वयानभ्युपगमेनात्यन्तासत एव भवतः , अस्य--रसज्ञानस्य , उपादानचिन्तया , परमार्थत सर्वत्रासत् सद् भवतीति कृत्वा ? । तत्तथाभावे च तस्य रूपज्ञानस्य तथाभावे च रसज्ञानभावे चाभ्युपगम्यमाने सति । किमित्याह--अनिवारितोऽन्वय. बलादापद्यत इत्यर्थ । एतेनेत्यादि । एतेनानन्तरोदितेन, सदा सत्त्वोपलम्भ. प्रत्युक्त । कथमित्याह--तत्त्वत -परमार्थत , तस्यापि सदासत्त्वोपलम्भस्य , सादृश्यनिबन्धनत्वात् । यदि नामैव तत किमित्याह--तस्य च सादृश्यस्य , उक्तवद् यथोक्तम्--' प्रतिनियतैकग्राहिज्ञानतत्त्ववादे ' इत्यादि तथा ग्रहणायोगात् , भ्रान्तरतद्विकल्पबीजस्य--असदृशनवासनाख्यनित्यत्वादिविकल्पबीजस्य, अप्रमाणत्वात् , नैतद्ग्राहकं प्रमाणमस्ति , तथापि प्रमाणाभावेऽपि , तत्कल्पनायाश्चान्तरतद्विकल्पबीजकल्पनायाश्च, इतरत्रापि प्रक्रमादनित्यत्वादौ, तुल्यत्वादित्युक्तप्रायम्-प्रायेणोक्तम्'भ्रान्तरदोषसामर्थ्यात् ' इत्यादिना ग्रन्थेन ।

प्रकारान्तरेण पूर्वपक्षयन्नाह--

एवं प्रदीपप्रभोदाहरणं सर्वत्रगत्वादनुदाहरणमेव । न च दीपप्रभाया मण्यर्थेन प्रतिबन्धः, अस्ति च मणिप्रभायाः । न चैवमनित्येतरादिविकल्पानां केषांचिदेव वस्तुना प्रतिबन्धो नान्येषाम्, इति वैषम्यमपि दार्ष्टान्तिकेन । अयोनिशोमनस्कारपूर्वकत्वान्नित्यादिविकल्पानां न वैषम्यमिति चेत् । न । अस्यापि तुल्यत्वात्, अनित्यादिविकल्पानामप्येवंभूतभावस्य वक्तुं शक्यत्वात्, उभयत्र तन्नियामकत्वानुपपत्तेः, निबन्धनाविशेषादिति । अतः स्थितमेतत्-'अखिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिनश्च तत्मामर्थ्योत्थं वचनमपि तादृगेव' इति दुःस्थिता तत्त्वनीतिः ।

पूर्वपक्षान्तरमधिकृत्याह--एवमित्यादि । एवमुक्तनीत्या, प्रदीपप्रभोदाहरणं परप्रणीतं, सर्वत्रगत्वात् कारणाद् विपक्षेऽप्युपनयकरणेन, किमित्याह-अनुदाहरणमेव । अभ्युच्चयमाह-न चेत्यादिना । न च दीपप्रभाया मण्यर्थेन सह प्रतिबन्धोऽस्ति, अस्ति च मणिप्रभाया इत्युभयसिद्धमेतत् । न चैवमनित्येतरादिविकल्पानामनित्यनित्यादिविकल्पानाम्, केषाञ्चिदेवानित्यादिविकल्पानामेव, वस्तुना प्रतिबन्धो नान्येषा नित्यादिविकल्पानाम् , किं तर्हि ? अविशेषेण, ' नान्येषा तद्भेदप्रसवे सत्यपि इत्यादिवचनात् , इत्येव, वैषम्यमपि, दार्ष्टान्तिकेन । अयोनिशोमनस्कारपूर्वकत्वाद् नित्यादिविकल्पाना सर्वथा वस्तुशून्यत्वादित्यर्थ , न वैषम्य

मिति चेद् दार्ष्टान्तिकेन, एतदाशङ्कयाह—न , अस्यापि तु-
ल्यत्वात् । एतदेवाह—अनित्यादिविकल्पानामपि पराभिम-
तानाम् , एवंभूतभावस्य—अयोनिशोमनस्कारपूर्वकत्वभाव-
स्य , वक्तु शक्यत्वात् ; तथाहि—अनित्यादिविकल्पा एवा-
योनिशोमनस्कारपूर्वका वस्त्वसंस्पर्शिनः , सतोऽसत्त्वाना-
पत्त्या , असतश्च सद्भावविरोधेन वस्तुन एवभूतस्यासं-
भवात् , इति बाधकप्रमाणवृत्ति॰ , अत॰ स्थितमेतत् अनि-
त्यादिविकल्पानामप्येवभूतभावस्य वक्तुं शक्यत्वात्' इ-
ति । उभयत्रेत्यादि उभयत्र नित्यादिविकल्पपक्षेऽनित्यादि-
विकल्पपक्षे च , तन्नियामकत्वनुपपत्ते तस्यायोनिशोमन-
स्कारपूर्वकत्वस्य नियामकत्वानुपपत्ते॰ । अनुपपत्तिश्च नि-
बन्धनाविशेषात् । निबन्धनाविशेषश्च सर्वेषा तद्भेदप्रसव-
त्वेनेति । अत॰ स्थितमेतत् ' अखिलविकल्पज्ञानभ्रान्तताचा-
दिनश्च तत्सामर्थ्योत्थं—विकल्पसामर्थ्योत्थं वचनमपि ता-
दृगेव—भ्रान्तमेव, इत्येवं , तु स्थिता तत्त्वनीति॰ ।

भ्रान्तिज्ञानवन्तोऽपि कामलिप्रभृतयः शङ्खादौ संस्था-
नादितत्त्वनिश्चयनिबन्धनं दृश्यन्त एवेति चेत् । न । तेषां
तत्राभ्रान्तत्वात् ; अन्यथा पीतवर्णादिवत्तत्त्वनिश्चयनिब-
न्धनाभावः । विकल्पज्ञानमपि स्वसंवित्तावभ्रान्तमेवेति
चेत् । क्व तर्हि भ्रान्तम् ? इति वाच्यम् । कल्पनायामि-
ति चेत् । न । तस्यास्तदव्यतिरेकात् ; अन्यथा विकल्प-
ज्ञानायोगात् , स्वसंवित्तेर्भेदकासिद्धेः, बोधमात्राद्—बोध-
मात्रभावात् , तदतिरिक्तदोषानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे च
तद्वस्तुत्वेन तद्योगजविकारकल्पनाया वस्तुत्वापत्तेरिति।

भ्रान्तीत्यादि । भ्रान्तिज्ञानवन्तोऽपि कामलिप्रभृतय॰ प्रमा-
तार ,शङ्खादौ प्रमेये,संस्थानादितत्त्वनिश्चयनिबन्धन दृश्यन्त एवे-
ति चेत् ; ततश्च तद् भ्रान्त च ज्ञानं, तत्त्वनिश्चयनिबन्धन च,
एवमनित्यादिविकल्पा अपि भविष्यन्ति, इत्याह-नेत्यादि ।
न, तेषा कामलिप्रभृतीनां , तत्र शङ्खादिसंस्थानादितत्त्वनि
श्चयनिबन्धनाभाव , अभ्रान्तत्वात् । इत्थ चैतदङ्गीकर्तव्य-
मित्याह-अन्यथा पीतवर्णादौ यथा पीतवर्णादौ तथा, तत्त-
त्त्वनिश्चयनिबन्धनाभाव —शङ्खादिसंस्थानादितत्त्वनिश्च-
यनिबन्धनाभाव ,सर्वथा भ्रान्तत्वादिति भावना। विकल्पज्ञा-
नमपि स्वसंवित्तौ, किमित्याह-अभ्रान्तमेवेति चेत् ततश्च
किलोक्तदोषानुपपत्ति॰, इत्याशङ्क्याह-क्व तर्हि भ्रान्तम् ?
इति वाच्यम् । कल्पनायामिति चेद् भ्रान्तम् । अत्राह
न, तस्या॰ कल्पनायाः,तदव्यतिरेकात्—स्वसंवित्त्यव्यतिरे-
कात् । इत्थ चैतदित्याह—अन्यथा व्यतिरेके सति स्वसं-
वित्ते॰ कल्पनाया , विकल्पज्ञानायोगात् । अयोगश्च स्वसं
वित्तेश्चिद्रूपाया॰, भेदकासिद्धेरज्ञकासिद्धे॰ । असिद्धिश्च
बोधमात्रात् सकाशात् कारणगतात् , बोधमात्रभावात् ।
तत्कार्ये तदेव दोषसंपृक्तं विकल्पज्ञानमित्येतन्निरासायाह—
तदतिरिक्तदोषानभ्युपगमात्—बोधमात्रातिरिक्तदोषानभ्युप-
गमात्। अभ्युपगमे च तदतिरिक्तदोषाणा , तद्वस्तुत्वेन-
दो(षा)पवस्तुत्वेन हेतुना, ' तद्योगजविकारकल्पनाया—दो-
षयोगजविकारकल्पनाया , वस्तुत्वापत्ते 'न, तेषा तत्राभ्रा-
न्तत्वात्' इत्यतो नेति क्रियायोग इति ।

आह-अस्तु दोषजं वस्तुत्वमस्याः, शङ्खपीतादिप्रति-
भासतुल्यं तु तत् , संस्थानादितत्त्वनिश्चयकल्पा तु स्व-
संवित्तिरिति । यदि नामैवम् , ततः किम् ? इति वाच्यम्
विकल्पज्ञानस्याप्यभ्रान्तता । एवमपि का भवत इष्टसिद्धिः?
ननु ततस्तत्त्वनीतिभावः । अनिश्चयात्मिकायाः कथ-
मसौ ? । हन्त ! कल्पनानुवेधात् । स खलु नित्यता-
दिकल्पनयाऽपि । इति विपक्षसाधारणत्वात् नेष्टसिद्ध्य-
र्थमेवेत्ययुक्त एव । न च निरंशवस्तुवादिनो यथोक्तक-
ल्पनैव संभवति, तदेकस्वभावत्वेन कल्पनाबीजायोगात्,
स्वभावभेदमन्तरेण हेत्वभेदतः फलभेदासिद्धेः ।

आह-अस्तु दोषज वस्तुत्वम् अस्या -कल्पनाया॰।शङ्खपी-
तादिप्रतिभासतुल्य तु तद्—वस्तुत्वम् , संस्थानादितत्त्वनि-
श्चयकल्पा तु स्वसंवित्तिरिति । एतदाशङ्क्याह—यदि ना-
मैव, तत किम् ? इति वाच्यम् । विकल्पज्ञानस्याप्यभ्रा-
न्तता । एतदाशङ्कयाह—एवमपि का भवत इष्टसिद्धि ?।
ननु तत -अभ्रान्ताया स्वसंवित्ते , तत्त्वनीतिभाव इतीष्ट-
सिद्धि॰ । एतदाशङ्कयाह—अनिश्चयात्मिकाया स्वसंवित्ते ,
कथमसौ तत्त्वनीतिभाव॰ ? । हन्त ! कल्पनानुवेधात् । एत-
दाशङ्क्याह—स खलु-कल्पनानुवेध , नित्यत्वादिकल्पनया-
ऽपि-सह, इति-विपक्षसाधारणत्वात् कारणात्, ' नेष्टसि-
द्ध्यर्थमेव ' इति कृत्वाऽयुक्त एवेति किञ्चिदनेन । अभ्यु-
च्चयमाह—न च निरंशवस्तुवादिन॰—परस्य , यथोक्तक-
ल्पनैव संभवति । इत्याह—तदेकस्वभावत्वेन-निरंशवस्तुन
एकस्वभावत्वेन हेतुना कल्पनाबीजायोगात् । अयोगश्च
स्वभावभेदमन्तरेण—अक्रमाद्विकल्पज्ञानवस्तुन , हेत्वभेदतः
कारणात् , फलभेदासिद्धे॰ । फलभेदश्चाविकल्पज्ञानात् कल्प-
नेति भावनीयम् ।

भवतोऽपि कथमेकं भ्रान्ताभ्रान्तम् ? इति चेत् । चि-
त्रस्वभावत्वेन तथात्वाविरोधात् , तत्त्वत एकत्वासिद्धेः,
दोषसामर्थ्योपयोगात् , अविगानतस्तथा तत्प्रतीतेरिति ।
अतोनिर्विकल्पकवद् विकल्पकमप्यक्षव्यापारानुसारि य-
थावस्थितवस्तुविषयमविगानतः स्पष्टतुल्यविनिश्चयं क्ष-
यक्षयोपशमजन्म बाधाविज्ञानरहितमवगमादिफलमभ्रान्तमे-
ष्टव्यम् , अन्यथोक्तवत् तत्तत्त्वनिश्चयाभावः । इति विक-
ल्पकत्वेऽपि न भ्रान्तमधिकृतविज्ञानमिति । अतः सामा-
न्यविशेषरूपवस्तुसिद्धिरिति ।

भवतोऽपि कथमेक प्रक्रमात् कामलिशङ्खपीतज्ञान, भ्रा-
न्ताभ्रान्तम् ? इति चेत् । एतदाशङ्क्याह चित्रस्वभावत्वेन
अधिकृतज्ञानस्य , तथात्वाविरोधाद्-भ्रान्ताभ्रान्तत्वावि-
रोधात् , तत्त्वत॰—परमार्थेन , एकत्वासिद्धेरकान्त—
कत्वादित्यर्थः । हेतुभेदमाह—दोषसामर्थ्योपयोगात् का-
मलस्य सामर्थ्याद्धि तत् तथा, तदभावेऽभावात् । इत्थ
चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अविगानत —अविगानेन लोक,
तथा दोषजत्वेन, तत्प्रतीत —शङ्खपीतज्ञानप्रतीतेरिति नि-

लौख्यानुषङ्गिकम्—प्रकृतमाह—अतो निर्विकल्पकवत् इति निदर्शनम् । विकल्पकमप्यभ्रान्तमप्रत्यमिति योग । किंविशिष्टमित्याह-अक्षव्यापारानुसारि-अक्षव्यापारानुसरणशीलम्, यथावस्थितवस्तुविषयं सामान्यविशेषरूपवस्तुगोचरम्, अविगानतोऽविगानेन, स्पष्टतुल्यविनिश्चयं प्रमात्रन्तरमधिकृत्य,सत्क्षयोपशमजन्म-विशिष्टक्षयोपशमोत्पादम्, बाधविज्ञानरहितं तथा अनुभवदाढर्येन,अवगमादिफलं परिच्छित्तिप्रवृत्तिप्राप्तिफलमर्थमधिकृत्य, अभ्रान्तमेष्टव्यम् । अन्यथा—तदनिष्टौ, उक्तवद् यथोक्त तथा, तत्तत्त्वनिश्चयाभावो—यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिश्चयाभाव, प्रत्यक्षस्यानिश्चायकत्वात्, विकल्पानां च मिथो विरुद्धानामपि प्रवृत्तेरिति । इति—एवं, विकल्पकत्वेऽपि सति, न भ्रान्तमधिकृतविज्ञानं-सामान्यविशेषावसायरूपमिति । अत.-अस्माद् विज्ञानाद्, सामान्यविशेषरूपवस्तुसिद्धिरिति ।

यच्चोक्तम्-'एकं सामान्यमनेके विशेषाः' इत्यादि । तदप्ययुक्तम्, तथानभ्युपगमात् । न हि यथोक्तस्वभावं सामान्यमभ्युपगम्यतेऽस्माभिः,युक्तिरहितत्वात्, तथाहि-तदेकादिस्वभावं सामान्यमनेकेषु-दिग्देश-समय-स्वभावभिन्नेषु विशेषेषु सर्वात्मना वा वर्त्तेत, देशेन वा ? । न तावत्सर्वात्मना, सामान्यानन्त्यप्रसङ्गात्, विशेषाणामनन्तत्वात्, एकविशेषव्यतिरेकेण वाऽन्येषां सामान्यशून्यतापत्तेः, आनन्त्ये चैकत्वविरोधात् । नापि देशेन, सदेशत्वप्रसङ्गात् । न च गगनवद् व्यापित्वात् वर्त्तेत इति ब्रूम इत्यकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः; अविचारितरमणीयत्वात्, कार्त्स्न्यदेशव्यतिरेकेण वृत्त्यदर्शनात् । उभयव्यतिरेकेण नभसो वृत्तिरिति चेत् । न, असिद्धत्वात्, नभसः सप्रदेशत्वाभ्युपगमात्, निष्प्रदेशत्वे चानेकदोषप्रसङ्गात्, तथाहि—येन देशेन विन्ध्येन सह संयुक्तं नभः, हिमवन्मन्दरादिभिरपि किं तेनैव, आहोस्विदन्येनेति ? । यदि तेनैव, विन्ध्यहिमवदादीनामेकत्रावस्थानप्रसङ्गः, निष्प्रदेशैकाकाशसंयोगान्यथानुपपत्तेः । अथान्येन, आयातं तर्हि सदेशत्वमाकाशस्य ।

यच्चोक्तम्-' एकं सामान्यमनेके विशेषा ' इत्यादि मूलपूर्वपक्षे । तदप्ययुक्तम् । इत्याह-तथाऽनभ्युपगमात् । एतदेवाह—न हीत्यादिना । न हि यथोक्तस्वभावमेकादिधर्मकं सामान्यमभ्युपगम्यतेऽस्माभि । कुत इत्याह-युक्तिरहितत्वात् । एतदेवाह—तथाहि—तदेकादिस्वभाव सामान्यम् एक, नित्यं, निरवयवं, निष्क्रिय च, अनेकेषु दिग्देशसमयस्वभावभिन्नेषु विशेषेषु घटादिषु, सर्वात्मना वा वर्त्तेत, देशेन वा ? । न तावत् सर्वात्मना वर्त्तते । कुत इत्याह—सामान्यानन्त्यप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च विशेषाणामनन्तत्वात् । दोषान्तरमाह—एकविशेषव्यतिरेकेण वाऽन्येषां विशेषाणाम्, किमित्याह—सामान्यशून्यतापत्ते एकत्रैव सामान्यवृत्तेरिति । आनन्त्ये च सामान्यानाम्, एकत्वविरोधाद् न नापि देशेन वर्त्तते सामान्यं विशेषेषु ' इति प्रक्रम, सदेशत्वप्रसङ्गात् सामान्यस्य । न च गगनवदिति दृष्टान्त, व्यापित्वात् कारणात्, वर्त्तेत इति ब्रूमः, इत्यकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वच । कुत इत्याह—अविचारितरमणीयत्वात् । एतदेवाह-कार्त्स्न्यदेशव्यतिरेकेण वृत्त्यदर्शनाल्लोके । उभयव्यतिरेकेण—कार्त्स्न्यदेशोभयव्यतिरेकेण, नभस—आकाशस्य, वृत्तिरिति चेद् भावप्वाधेयादित्वेन । एतदाशङ्क्याह-न, असिद्धत्वात् अधिकृतनभोवृत्ते । असिद्धिश्च नभस सप्रदेशत्वाभ्युपगमाज्जैनै. । यदा च सप्रदेशं नभ., तदा देशकार्त्स्न्याभ्या नियोगतोऽस्य वृत्तिः, उभयनिमित्तभावात् । इत्थ चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-निष्प्रदेशत्वे च नभस., अनेकदोषप्रसङ्गात् । एतदेव भावयति—तथाहीत्यादिना । तथाहीत्युपप्रदर्शने । येन देशेन विन्ध्येन सह पर्वतेन संयुक्त नभ, हिमवद्—मन्दरादिभिरपि पर्वतैः, किं तेनैव देशेन, आहोस्विदन्येन ? इति । किञ्चातः ? उभयथापि दोष इत्याह—यदि तेनैव, ततो विन्ध्यहिमवदादीना पर्वतानाम्, एकत्र देशे, अवस्थानप्रसङ्गः । कुत इत्याह—निष्प्रदेशं च तदेकाकाशं च तेन संयोगस्तदन्यथानुपपत्तेरिति । अथान्येन । एतदाशङ्क्याह—आयात तर्हि सप्रदेशत्वमाकाशस्य, तथाऽभ्युपगमात् ।

स्यादेतददेशत्वात् वियतो यथोक्तविकल्पासंभवः, तत्रैकस्मिन्नेव तेषामवस्थितत्वात् । इदमप्ययुक्तम्, वस्तुतः पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । न च सर्वव्यापिनो विन्ध्यादय इति, येन 'तस्मिन्नेव तेषामवस्थितत्वात्' इति सफलं भवेदिति । अतो यत्र विन्ध्यभावो यत्र चाभाव इत्यनयोर्नभोभागयोरनन्यत्वम्, अन्यत्वं वेति वाच्यम् ? । किञ्चातः ? । यद्यनन्यत्वम्, किमु सर्वथा, आहोस्वित्कथञ्चित् । यदि सर्वथा, हन्त ! तर्हि यत्र विन्ध्यभावस्तत्राप्यभावः स्यात्, तदभाववन्नभोभागाव्यतिरिक्तत्वात्, तद्भाववन्नभोभागस्य विपर्ययो वा । अथ कथञ्चित्, अनेकान्तवादाभ्युपगमात् स्वकृतान्तप्रकोपः । अथान्यत्वम् । किं सर्वथा, उत कथञ्चित् ? । यदि सर्वथा, अन्यतरस्यानभोभागत्वप्रसङ्गः, सर्वथा भेदान्यथानुपपत्तेः । अथ कथञ्चित्, स्वदर्शनपरित्यागदोष इति । स्यादेतद्भागानभ्युपगमाद् व्योम्नो यथोक्तदोषानुपपत्तिरिति । अभ्युपगममात्रभक्तो देवानांप्रियः सुखैधितो नोपपत्तिप्राप्तानपि भागानवगच्छतीति; ननु विशिष्टभावभावाऽभावगम्या एव भागा इत्यवगमे निवेश्यतां चित्तमित्यलं प्रसङ्गेन । एतेन नित्यव्यापिनिर्देशसामान्यवृत्तिरपि प्रत्युक्ता ।

स्यादेतददेशत्वात् वियत-आकाशस्य यथोक्तविकल्पासंभव । तत्र-वियति, एकस्मिन्नेव निष्प्रदेशे, तेषां विन्ध्यादीनाम्, अवस्थितत्वात् । एतदाशङ्क्याह—इदमप्ययुक्तम्, वस्तुत -परमार्थेन, पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः—विन्ध्यहिमवदादीनामेकत्रावस्थानादिप्रसङ्ग. पूर्वोक्तो दोष., तदनति-

वृत्ते । एनमेव प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह—न च सर्वव्यापिनो विन्ध्यादय इति येन 'तस्मिन्नेकस्मिन्नेव तेषामवस्थितत्वात्' इति सफलं भवेत्। अतो यत्रैव देशे विन्ध्यभावः, यत्र चाभावः, इत्यनयोर्नभोभागयोराकाशदेशयोः, किमित्याह अनन्यत्वमन्यत्वं वेति वाच्यम्?। किञ्चातः । यद्यनन्यत्वम् किं सर्वथा, आहोस्वित् कथञ्चित्?। यदि सर्वथाऽनन्यत्वम्, हन्त! तर्हि यत्र विन्ध्यभावस्तत्राप्यभावः स्यात्। कुत इत्याह—तद्भाववन्नभोभागाव्यतिरिक्तत्वात्-विन्ध्याभाववन्नभोभागाव्यतिरिक्तत्वात्, तद्भाववन्नभोभागस्य-विन्ध्यभाववन्नभोभागस्य. विपर्ययो वा, यत्राभावस्तत्रापि भावप्राप्ते । अथ कथञ्चिदनन्यत्वम्। एतदाशङ्क्याह—अनेकान्तवादाभ्युपगमात् स्वकृतान्तप्रकोपः—स्वसिद्धान्तविरोध इत्यर्थः । द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—अथान्यत्वम् अधिकृतनभोभागयोः, किं सर्वथाऽन्यत्वम्, उत कथञ्चित्?। यदि सर्वथा—एकान्तेनान्यत्वम्। ततः किमित्याह—अन्यतरस्य यत्र विन्ध्यभावो यत्र चाभाव इत्यनयोरेकस्य इत्यनयोरेकस्य किमित्याह-अनभोभागत्वप्रसङ्गः । कुत इत्याह-सर्वथा भेदान्यथाऽनुपपत्तेः. सर्वधर्मवैलक्षण्ये हि सर्वथा भेदः, तस्मिंश्च सत्येकस्य भावरूपता,अपरस्य साऽपि न,इत्येतदेव भवतीति भावना । अथ कथञ्चिदन्यत्वमधिकृतनभोभागयोरित्यत्राह-स्वदर्शनपरित्यागदोषः एकान्तदर्शनं हि परस्य स्वदर्शनं तत्परित्यागदोष इति स्यादेतद् भागानभ्युपगमाद् व्योम्न-आकाशस्य, यथोक्तदोषानुपपत्तिरित्येतदधिकृत्याह—अभ्युपगममात्रभक्तो देवानांप्रियो, मूर्ख इत्यर्थः, सुखैधितः-शास्त्रग्रहणपरिश्रमत्यागेन सुखवर्धितः, नोपपत्तिप्राप्तानपि विन्ध्यभावभावाऽभावाभ्यां भागानभ्युपगच्छतीति । एतद्भावनायैवाह—ननु विशिष्टभावभावाऽभावगम्या एव भागाः—विशिष्टभावोऽन्यथाऽनुपपत्त्या विन्ध्यभाव एव तद्भावाऽभावगम्या एव भागा व्योम्नः । न हि निर्भागे परमाणौ कार्यस्य द्व्यणुकादेः क्वचिद् भावः क्वचिद् नेति स्वदर्शनस्थित्यभ्युपगमे निवेश्यतां चित्तमित्यलं प्रसङ्गेन । एतेने-त्यादि । एतेनैकसामान्यवृत्तिनिराकरणेन,नित्यव्यापिनिर्देशसामान्यवृत्तिरपि प्रत्युक्ता विशेषेषु, नित्यस्यैकस्वभावतया कालभिन्नासु व्यक्तिषु वृत्त्ययोगः, व्यापिनः सर्वगतत्वेन निर्देशस्य देशाभावेनेति भावनीयम् ।

आह-अनुभवसिद्धत्वात् सामान्यस्य न युज्यते सहृदयतार्किकस्य तत्प्रतिक्षेपेणात्मानमायासयितुम्, आयासस्य निष्फलत्वात्, तथाहि-यदि सनातनं वस्तुसद् व्याप्येकमनवयवं सामान्यवस्तु न स्यात् न तदा देशकालस्वभावभेदभिन्नेषु घटशरावोष्ट्रिकोदञ्चनादिषु बहुषु विशेषेषु सर्वत्र 'मृद् मृद्' इत्यभिन्नौ बुद्धिशब्दौ स्याताम् । न खलु हिमतुषारकरकोदकाङ्गारमुर्मुरज्वालानलझञ्झामण्डलिकोत्कलिकापवनखदिरोदुम्बरबदरिकादिष्वत्यन्तभिन्नेषु बहुषु विशेषेष्वेकाकारा बुद्धिर्भवति, नाप्येकाकारः शब्दः प्रवर्त्तत इति। अतोऽस्य यथोक्ताऽभिन्नबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनस्य वस्तुसतः सामान्यस्य सत्त्वमाश्रयितव्यमिति ।

आह परः, अनुभवसिद्धत्वात् सामान्यस्य, विशेषेषु तुल्यबुद्धिभावेन, न युज्यते सहृदयतार्किकस्य भावाशून्यस्य, तत्प्रतिक्षेपेण-सामान्यप्रतिक्षेपेण, आत्मानमायासयितुम् । कुतो न युज्यत इत्याह—आयासस्य निष्फलत्वात् । एतदेवाह—तथाहीत्यादिना । तथाहीति पूर्ववत्। यदि सनातनं नित्यम्, वस्तुसत्—अपरिकल्पितम्, व्यापि-विशेषव्यापनशीलम्, एकं-स्वरूपेण, अनवयवम्-अवयवरहितम्, सामान्यवस्तु न स्यात्, ततः किं स्यादित्याह—न तदा देशकालस्वभावभेदभिन्नेषु, केष्वित्याह—घटशरावोष्ट्रिकोदञ्चनादिषु उदञ्चनो-लोटकः, आदिशब्दादलिञ्जरादिग्रहः, बहुषु विशेषेषु सर्वत्र 'मृद् मृद्' इत्येव अभिन्नौ तुल्यावेकरूपावित्यर्थः, कावित्याह—बुद्धिशब्दौ स्याताम्। किमिति न स्यातामित्याह-न खल्वित्यादि। नैव 'हिमतुषार-करकोदकानि च इत्यनेन जलभेदानाह, 'अङ्गारमुर्मुर-ज्वालानलाश्च' इत्यनेन त्वग्निभेदान्, 'झञ्झामण्डलिको-त्कलिकापवनाश्च' इत्यनेन वायुभेदान्, 'खदिरो-दुम्बर-बदरिकादयश्च' इत्यनेन च वनस्पतिभेदानाह, आदिशब्दः प्रत्येकं धारादिसंग्रहार्थः, एतेष्वत्यन्तभिन्नेषु, जातिभेदापेक्षया बहुषु, विशेषेषु भेदेषु, एकाकारा बुद्धिर्भवति, तथाऽननुभवात्। नाप्येकाकारः शब्दः प्रवर्त्तत इति 'मृद् मृद्' इत्यादिशब्दवत्। अतोऽस्य सामान्यस्येति योगः। यथोक्तं च तद् 'मृद् मृद्' इत्यादिरूपतयाऽभिन्नं च तद् बुद्धि—शब्दद्वयं चेति विग्रहः, प्रवृत्तिनिबन्धनं—प्रवृत्तिकारणम्, तस्य वस्तुसतः पारमार्थिकस्य सामान्यस्य सत्त्वमाश्रयितव्यमिति।

पुनराशङ्क्याह—

अत्रोच्यते—न खल्वस्माभिर्यथोक्तबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनं निषिध्यते । किं तर्हि ?। एकादिधर्मयुक्तं परपरिकल्पितं सामान्यमिति । तच्च यथा विशेषवृत्त्ययोगेन न घटां प्राञ्चति तथा लेशतो निदर्शितमेव, प्रपञ्चतस्त्वन्यत्र वृत्त्ययोग-संख्यादिव्यभिचार-तद्वत्प्रत्ययप्रसङ्गादिना युक्तिकलापेन निराकृतमिति नेह प्रयासः ।

एतदाशङ्क्याह—अत्रोच्यते न खल्वस्माभिः जैनैः, यथोक्तबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनं निषिध्यते । किं तर्हि ?। एकादिधर्मकं परपरिकल्पितं सामान्यमिति-सामान्यं निषिध्यते । तच्चैकादिधर्मकं सामान्यम्, यथा विशेषवृत्त्ययोगेन हेतुना, न घटां प्राञ्चति—न घटनं गच्छति, तथा लेशतो निदर्शितमेव, प्रपञ्चतस्त्वन्यत्र स्याद्वादकुचोद्यपरिहारादौ, वृत्त्ययोगश्च संख्यादिव्यभिचारश्च तद्वत्प्रत्ययप्रसङ्गादिश्चेति समासः, तेन, केनेत्याह-युक्तिकलापेन उपपत्तिसंघातेन, निराकृतमिति कृत्वा, नेह प्रयासो-नेह प्रयत्नविशेषः । तत्र वृत्त्ययोगो दर्शित एव । 'यदेकबुद्ध्येकशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तत् सामान्यम्' इत्यभ्युपगमे संख्यादिभिर्व्यभिचारः-एकसंख्याऽपि भवत्येकबुद्ध्येकशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, आदिशब्दात्-तत्समवायश्च, न चासौ सामान्यमिति व्यभिचारः । तथाभावेऽपि सामान्यस्य विशेषेषु तद्वत्प्रत्ययप्रसङ्गः 'एकसामान्यवन्तो विशेषाः' इति प्रत्ययः प्रा-

प्मात, न समाना.' इति । आदिशब्दाद्-विशेषविनाशे तत्र तत्कवलग्रहणप्रसङ्ग । इति संक्षेपगर्भार्थ । इत्यलं प्रसङ्गेन ।

आह—कि पुनर्यथोक्तबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनम् ? इति । उच्यते-अनेकधर्मात्मकानां वस्तूनां तथाविधः समानपरिणाम इति । न चात्र सामान्यवृत्तिपरीक्षोपन्यस्तविकल्पयुगलप्रभवदोषसंभवः, समानपरिणामस्य तद्विलक्षणत्वात्,तुल्यज्ञानपरिच्छेद्यवस्तुरूपस्य समानपरिणामत्वात्, अस्यैव च सामान्यभावोपपत्तेः समानानां भावः सामान्यमिति यत्तत्समानैस्तथा भूयत इत्यन्वर्थयोगात् , अर्थान्तरभूतभावस्य च तद्व्यतिरेकेणापि तत्समानत्वेऽनुपयोगात्, अन्यथा समानानामित्यभिधानाभावादयुक्तैव तत्कल्पना। समानत्वं च भेदाविनाभाव्येव,तदभावे सर्वथैकत्वतः समानत्वानुपपत्तेः । इति तथाविधः समानपरिणाम एव समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तम् ।

आह-किं पुनर्यथोक्तबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनम्? इति । उच्यते-अनेकधर्मात्मकाना सत्त्वज्ञेयत्वाद्यपेक्षया , वस्तूनां घटशरावाद्युष्ट्रिकादञ्चनादीनाम्, तथाविधो ' मृद् मृद् ' इत्यभिन्नबुद्धिशब्दद्वयप्रवर्तकः,समानपरिणाम इति । न चात्र समानपरिणामे, सामान्यवृत्तिपरीक्षायामुपन्यस्तं च तद् विकल्पयुगलकं च ' तथाहि—तदेकादिस्वभाव सामान्यमनेकेषु दिग्देशसमयस्वभावभिन्नेषु विशेषेषु सर्वात्मना वा वर्त्तते,देशेन वा ' इत्येतत्, तत्प्रभवाश्च ते दोषाश्च सामान्यानन्त्यादय ,तेषां संभवो न च । कुत इत्याह—समानपरिणामस्य तद्विलक्षणत्वात् एकादिधर्मकसामान्यविलक्षणत्वात्। वैलक्षण्यमेवाह—तुल्येत्यादिना । तुल्यज्ञानपरिच्छेद्य च तद् वस्तुरूपं चेति विग्रहस्तस्य , समानपरिणामत्वात् । अस्यैव-समानपरिणामस्य,सामान्यभावोपपत्त' । उपपत्तिश्च, समानाना भावः सामान्यमिति यत् तत्समानैस्तथा भूयत इति कर्तरि षष्ठी , इत्येवमन्वर्थयोगात् । नायं परपक्ष इत्याह-अर्थान्तरभूतभावस्य च संबन्धपक्षे समानाना संबन्धिन ,तद्व्यतिरेकेणापि-भावव्यतिरेकेणापि तदर्थान्तरत्वेन, तत्समानत्वे—तेषा समानानां समानत्वे, प्रकृत्यैवेति भाव', किमित्याह-अनुपयोगात् अधिकृतभावस्य, तमन्तरेणैव ते समाना इति कृत्वा । अन्यथैवमनभ्युपगमे तमन्तरेण तदसमानत्वे प्रकृत्या ' समानानाम् ' इत्यभिधानाभावात्, अयुक्तैव तत्कल्पना—अधिकृतभावकल्पना' ' समानाना भावः' इत्येतत्संबन्धिना समानानामिति कृत्वा । उपचयमाह-समानत्वं च-तुल्यत्वं च भेदाविनाभाव्येव 'अयमनेन समान.' इति नीतेः । तदभावे—भेदाभावे, सर्वथैकत्वत कारणात्, किमित्याह—समानत्वानुपपत्ति । इति एवम्, तथाविधो ' मृद् मृद् ' इत्यभिन्नबुद्धिशब्दद्वयप्रवर्तक , समानपरिणाम एव समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तमिति स्थितम् ।

आह-यथा असमाना अपीन्द्रियादयस्तथास्वभावत्वाद् रूपज्ञानाद्येककार्यकारिणः , तथैतेऽपि भावास्तथाविधसमानपरिणामविकला अपि तथाविधबुद्ध्यादिहेतवः किं नेष्यन्ते ? । उच्यते—असमानेभ्यः समानबुद्ध्याद्यसिद्धेः, तन्निबन्धनस्वभाववैकल्यात्, तथाहि-न चक्षुरादिषु समानबुद्ध्यादिभावः तथाऽप्रतीतेः । रूपज्ञानाद्येककार्यकारित्वं चात्रानर्थकमेव, सिद्धसाधनत्वात् । को हि नाम तथाऽसमानेभ्योऽपि तथैकं कार्यं नेच्छति ? । तथाविधसमानपरिणामविकलास्तु समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिहेतवो न भवन्ति, न तथाविधैककार्याः, इत्यभिदधति विद्वांसः । ततश्चानेन-न किञ्चिदुपद्रूयते, असमानेभ्यः समानबुद्ध्याद्यसिद्धेः ।

आह—यथाऽसमाना अपीन्द्रियादय'—इन्द्रियमनस्काराऽऽलोकरूपादयो जातिभेदेन, तथास्वभावत्वाद्—रूपादिज्ञानजननस्वभावत्वात् कारणात् रूपज्ञानादि , आदिशब्दात्—स्वसंसतातिविन्द्रियादिकार्यग्रह , एतदेक—कार्यकारिणः, तथैतेऽपि भावा घट—शरावो—ष्ट्रिकोदञ्चनादय' , तथाविधसमानपरिणामविकला अपि , तात्त्विकसमानपरिणामविरहिता अपीत्यर्थ , तथाविधबुद्ध्यादिहेतव.—समानबुद्धिशब्दद्वयहेतव , किं नेष्यन्ते ? । एतदाशङ्क्याह—उच्यते—असमानेभ्यो जातिभेदेन , समानबुद्ध्याद्यसिद्धे -समानबुद्धिशब्दद्वयानुपपत्ते. । असिद्धिश्च, तन्निबन्धनस्वभाववैकल्यात् । समानबुद्ध्यादिनिबन्धस्वभाववैकल्यात् । एतदेवाह—तथाहि—न चक्षुरादिषु विषयेषु, समानबुद्ध्यादिभावो विषयत्वेन । कुत इत्याह—तथाऽप्रतीते' चक्षुरादिषु विषयत्वेन समानबुद्ध्याद्यप्रतीतेः, नीलादिष्विव समानेष्विति व्यतिरेकेण भावना । रूपज्ञानाद्येककार्यकारित्वं चात्र व्यतिकरं, अनर्थकमेव । कुत इत्याह—सिद्धसाधनत्वात् । एतदेवाह—को हि नाम वादी, तथा—असमानेभ्योऽपि विशिष्टसमानपरिणामापेक्षया, तथैकं कार्यं—सामग्रीजनकत्वेनैकं कार्यं नेच्छति ? । तथाविधसमानपरिणामविकला. पुनश्चक्षुरादय. समानबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिहेतवो न भवन्ति, न तथाविधैककार्यास्तथाविधैककार्या भवन्त्येवेत्यर्थ , इत्यभिदधति विद्वांसो जैनाः । ततश्चानेनानन्तरोदितेन, न किञ्चिदुपद्रूयते । कुत इत्याह—असमानेभ्य —चक्षुरादिभ्य , सामानबुद्ध्याद्यसिद्धे , तत्सिद्धौ च नो बाधेति भावना ।

नासिद्धिः प्रधानेश्वरादिकार्यत्वसमानपरिणामविकलेभ्योऽपि भावेभ्यः ' प्रधानादिकार्याः प्रधानादिकार्याः ' इति केषाञ्चित्समानबुद्ध्यादिसिद्धेः । न । तस्याः सङ्केतसंमोहहेतुत्वात्, अविद्वदङ्गनादीनामविशेषेण समानपरिणामवद्भावेष्विवाचदर्शनत एव तदप्रवृत्तेः । तथादर्शनमपि न तत्रार्थयाथात्म्यतः, अपि तु-जन्मान्तरवासनात इति चेत् । तत्रापि किं निमित्तम् ? इति वाच्यम् । जन्मान्तरवासनयैवेति चेत् । अनवस्था । अनादित्वात् तद्वासनाया अयमप्यदोष इति चेत् । न । अना–

दितथाध्यदर्शनादर्थयाथात्म्यसिद्धेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् , रूपाद्यध्यदर्शनस्यापि तत्रार्थयाथात्म्यत एतदिति निश्चयाभावात् , उक्तवद्वासनाकल्पनोपपत्तेः । इत्यलं प्रसङ्गेन ।

आह—नासिद्धिः ' असमानेभ्य समानबुद्ध्याद्दे ' इति प्रक्रमः । कुत इत्याह-प्रधान--श्वरादिकार्यत्वसमानपरिणामविकलेभ्योऽपि भवद्दर्शननीत्या, भावेभ्यो महदादिभ्यः. ' प्रधानादिकार्या प्रधानादिकार्या ' इत्येव केषाञ्चित् साङ्ख्यादीनाम् , समानबुद्ध्यादिसिद्धेः । एतदाशङ्कयाह-नेत्यादि । न-नैतदेवम् , तस्या समानबुद्ध्यादिसिद्धेः, संकेतसंमोहहेतुत्वात्-असच्छास्त्रसंकेतसमोहनिबन्धनत्वात् । कथमेतदेवमित्याह—अविद्धदङ्गनादीना प्रमातृणाम् , अविशेषेण—सामान्येन, समानपरिणामवद्भावेष्विव घट—शरावोष्ट्रिको-दञ्चनादिषु, अध्यदर्शनत एव तदप्रवृत्तेः ' प्रधानादिकार्या. प्रधानादिकार्या ' इति समानबुद्ध्याद्यप्रवृत्तेः , अध्यदर्शनतश्चाविशेषेण घटादिषु समानबुद्ध्यादिसिद्धिः । आह-तथाध्यदर्शनमपि समानतया, न तत्र घटादौ, अर्थयाथात्म्यत -अर्थयाथात्म्यभावेन, अपि तु-जन्मान्तरवासनात इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—तत्रापि जन्मान्तरे, किं निमित्तम् ? इति वाच्यम् । जन्मान्तरवासनैवेति चेद् निमित्तम् । एतदाशङ्क्याह—अनवस्था तत्राप्युक्तदोषानतिवृत्तेः । अनादित्वात् तद्वासनाया.-तथाध्यदर्शनवासनायाः, अयमपि अनवस्थालक्षण ,अदोष इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-नेत्यादि। न-नैतदेवम्. अनादि च तत् तथाध्यदर्शन च, प्रक्रमात् समानतयाऽध्यदर्शन चेति विग्रहस्तस्मादनादितथाध्यदर्शनात् , किमित्याह—अर्थयाथात्म्यसिद्धेः अनादितथाभावेन । इत्थ चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथातिप्रसङ्गात् एवमनभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात् । एतमेवाह—रूपाद्यध्यदर्शनस्यापि रूपादेरक्षैर्दर्शन रूपाद्यध्यदर्शनं तस्यापि, अर्थयाथात्म्यतोऽर्थयाथात्म्यात् , एतदिति—निश्चयाभावात् । अभावश्च, उक्तवद् यथोक्त तथा, वासनाकल्पनोपपत्ते ' रूपाद्यध्यदर्शनमपि न तत्रार्थयाथात्म्यत , अपि तु—जन्मान्तरवासनात ' इत्यादेरपि वक्तु शक्यत्वात् , इत्यल प्रसङ्गेन ।

बुद्ध्याकार एवायमिति चेत् । कोऽस्य हेतुः ? इति वाच्यम् । तदेककार्यकारिणामतत्कारिभेद इति चेत् । न इन्द्रियादिभिर्व्यभिचारात् । न रूपज्ञानाद्येककार्यमिह गृह्यते, अपि तु-समानजातीयक्षणोत्पादस्तेषामतत्कारिभेदोऽत्र विवक्षित इति चेत् । न । सर्वेषामेवासौ विद्यते, रूपज्ञानादिभावेऽपीन्द्रियादिसमानजातीयक्षणोत्पत्तेः, इति तैरेव व्यभिचारात् ।

बुद्ध्याकार एवाय—समानाकारो घटादिगत , इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कोऽस्य हेतु ? इति वाच्यम् । तदेककार्यकारिणामिह प्रक्रमे, मृत्पुद्धलानामेककार्यकारिणां घट-शरावो-ष्ट्रिको-दञ्चनादीनाम् , अतत्कारिभेद अतत्कारिभ्यो हिम-तुषार-करकादिभ्यो भेदोऽतत्कारिभेदः, इति अस्य हेतु । एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम् , इन्द्रियादिभिर्व्यभिचारात्, इन्द्रिय-मनस्कारा-ऽऽलोकाद्यस्तदेककार्यकारिणोऽतत्कारिभिन्ना , न च यथोक्तबुद्ध्याकारहेतव । आह—न रूपज्ञानादि, आदिशब्दाद्-रसज्ञानादिग्रह , एककार्यमिह गृह्यते येन तदेककार्यकारित्वमिन्द्रियादीना भवति, अपि तु—समानजातीयक्षणोत्पाद एक कार्यमिह गृह्यते , तेषां समानजातीयैककार्याणाम् , अतत्कारिभ्य — समानजातीयैककार्याकारिभ्यो भेद , अत्र प्रक्रमे, विवक्षित इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम् । कुत इत्याह-सर्वेषामेव इन्द्रियादीनाम् , असौ समानजातीयक्षणोत्पादो विद्यते , कथमित्याह—रूपज्ञानादिभावेऽपि सति, इन्द्रियादिसमानजातीयक्षणोत्पत्ते कारणात्, तैरिन्द्रियादिभि , व्यभिचारात् । न हीन्द्रियादीनामपि समानजातीयक्षणोत्पाद , अतत्कारिभेदश्च न विद्यते, तथापि न ते समानबुद्ध्याकारहेतव इति तैरेव व्यभिचार ।

तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनामतत्कारिभेद इह गृह्यत इति चेत् । न । तस्य तेभ्यो भेदाऽभेदविकल्पानुपपत्तेः, भेदे तेषामिति संबन्धाभावः, तादात्म्याद्यसिद्धेः, भेदमात्रत्वात् , वस्तुत्वापत्तेश्च । अभेदे त एव ते । इति कथमसमानास्तद्धेतवो नाम ? । न हि रसादिभ्यः समानो रूपबुद्ध्याकारः, तथाननुभवात् , व्यवस्थानुपपत्तेश्च । नान्य एव तत्तद्धेदः, अपि तु-त एव तत्स्वभावा इति, अतस्त एव तद्धेतवो नान्ये, अतत्स्वभावत्वादिति चेत् । तेषामेवासौ स्वभाव इति कुतः ? स्वहेतुभ्य उत्पत्तेः । न अन्येषामपि तत्प्रसङ्गात् , तेषामपि स्वहेतुभ्य एवोत्पत्तेः । न, तथाविधेभ्यस्तेषां यथाविधेभ्य एषामिति चेत् । किमिदं तथाविधत्वम् ? । तुल्यकार्यैकजनकत्वम् । नेदं तत्तुल्यसामर्थ्यमन्तरेण । तदङ्गीकरणे चाङ्गीकृत एव मदीयोऽभ्युपगमः, अतुल्यसामर्थ्येभ्यस्तुल्यसमानजातीयकार्यानुत्पत्तेः, इन्द्रियादिषु तददर्शनात् । तदतुल्यसामर्थ्यनिबन्धनमेतत् । अतोऽन्यत् तत्तुल्यसामर्थ्यकारणमिति सन्न्यायः । तुल्यसामर्थ्यमेव च नो भावानां समानपरिणाम इति परिभाव्यतामेतत् ।

तुल्येत्यादि । तुल्य च तत् समानजातीयकार्यं चेति विग्रह , तदुत्पादयितु शीलास्तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनस्तेषाम् , अतत्कारिभेद , इहाधिकारे, गृह्यत इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न, तस्य अतत्कारिभेदस्य, तेभ्य —तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिभ्य , भेदाऽभेदविकल्पानुपपत्ते । एतामेवाह—भेद इत्यादिना । भेदे तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिभ्योऽतत्कारिभेदस्याभ्युपगम्यमाने, तेषां 'तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिना भेद ' इत्येव, संबन्धाभाव । कुत इत्याह—तादात्म्याद्यसिद्धेः तुल्यसमाजातीयकार्योत्पादिनामतत्कारिभेदस्य च तादात्म्याद्यसिद्धे , आदिशब्दात्—तदुत्पत्तिपरिग्रह । असिद्धिश्च भेदमात्रत्वात् कारणात् तादात्म्यासिद्धि , वस्तुत्वापत्तेश्च भेदस्य तदुत्पत्त्यसिद्धि । द्वितीयविकल्पमधिकृत्याह-अभेदे तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिभ्योऽतत्कारिभेदस्याभ्युपगम्यमाने । किमित्याह-त एव--न

तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिन एव ते-केवला', न तदतिरिक्तं किञ्चित्। इति-एवं, कथमसमाना प्रकृत्या, तद्धेतव-समानबुद्ध्याकारहेतवो नाम?। एतदेव प्रकटयति नेत्यादिना। न हि रसादिभ्य प्रकृत्याऽसमानेभ्य', समानो रूपबुद्ध्याकार.। कुतो न हीत्याह-तथाननुभवात्-समानरूपबुद्ध्याकारतयाऽननुभवाद् रसादीनाम्, एतत्फलपाश्च तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिन इन्द्रियादय इष्यन्त इत्यर्थ। दोषान्तरमाह—व्यवस्थानुपपत्तेश्च अननुभवेऽपि समानबुद्ध्याकारपरिकल्पने रसादिभेदाभावप्रसङ्गादिति भाव.। आह-नान्य एव तत्तद्भेद तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिभ्योऽतत्कारिभेद', अपि तु-त एव तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिन, तत्स्वभावा'-प्रक्रमादधिकृतबुद्ध्याकारजननस्वभावा., इत्यत कारणात्, त एव—विशिष्टास्तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनो घट-शरावो-ष्ट्रिको-दञ्चनादय इत्यर्थ', तद्धेतव.—प्रक्रमादधिकृतबुद्ध्याकारहेतव., नान्य इन्द्रियादय। कुत इत्याह—अतत्स्वभावत्वात् सोऽधिकृतबुद्ध्याकारहेतु, स्वभावो येषां ते तत्स्वभावा न तत्स्वभावा अतत्स्वभावास्तद्भावस्तस्मात्, इति चेदिन्द्रियादीनाम्। एतदाशङ्क्याह-तेषामेव-घटादीनाम्, असौ स्वभाव.-प्रक्रमादधिकृतबुद्ध्याकारजननस्वभाव, इति एतत्, कुत ? अत्राह-स्वहेतुभ्य. सकाशात्, उत्पत्तेर्विशिष्टेभ्य इति पराकूतम्। एतदनादृत्य सामान्यमेव गृहीत्वाह-नेत्यादि। न-नैतदेवम्, अन्येषामपीन्द्रियादीनाम्, तत्प्रसङ्गादधिकृतबुद्ध्याकारजननस्वभावत्वप्रसङ्गात्। प्रसङ्गश्च, तेषामप्यन्येषामिन्द्रियादीनाम्, किमित्याह—स्वहेतुभ्य एवोत्पत्ते। न हि तेऽप्यन्यहेतुका अहेतुका वेति भावनीयम्। न तथाविधेभ्यस्तेषामित्यन्येषामिन्द्रियादीनां, यथाविधेभ्य एषामधिकृतबुद्ध्याकारहेतूनां घटादीनाम्, इति चेत्। एतदाशङ्क्याह-किमिदं तथाविधत्व तद्धेतूनामिति ?। अत्राह—तुल्यकार्यकृज्जनकत्व-तुल्यकार्यकरणशीलास्तुल्यकार्यकृत इह प्रक्रमे तावद् घटादयस्तेषां जनकास्तद्धेतव इति प्रक्रम, तद्भावस्तुल्यकार्यकृज्जनकत्व तथाविधत्वमिति। एतदाशङ्क्याह-तद तुल्यकार्यकृज्जनकत्वम्, तत्तुल्यसामर्थ्यमन्तरेण तेषां तद्धेतूनां तुल्यसामर्थ्यं विना। यदि नामैव तत. किमित्याह—तदङ्गीकरणे च तत्तुल्यसामर्थ्याङ्गीकरणे च, अङ्गीकृत एव मदीयोऽभ्युपगम, तुल्यसामर्थ्यस्यैव समानपरिणामत्वात्। एतदेव विपक्षबाधाभिधानेनाभिधातुमाह—कथमङ्गीकृत एव मदीयोऽभ्युपगम, अतुल्यसामर्थ्येभ्य इन्द्रियादिभ्यस्तुल्यसमानजातीयकार्यानुत्पत्ते। न रूपादिज्ञानैककार्यकारिभ्योऽपीन्द्रियादिभ्य स्वसन्ततौ तुल्यानि समानजातीयकार्याण्युत्पद्यन्ते, यतुत-सर्वाणीन्द्रियाण्येव मनस्कारा वेत्यादीनि भावना। आह च—इन्द्रियादिषु अतुल्यसामर्थ्येषु, तददर्शनात् तुल्यसमानजातीयकार्यादर्शनादिति, भावितमेतत्। यदि नामैवं तत किमित्याह—तदतुल्यसामर्थ्यनिबन्धनम्-इन्द्रियादीनामतुल्यसामर्थ्यनिबन्धनम्. एतत्-तुल्यसमानजातीयकार्यादर्शनम्। अतोऽन्यत्—प्रक्रमात् तुल्यसमानजातीयकार्यदर्शनं गृह्यते. एतच्चेह मृद्रूपमात्रतयाऽधिकृतघट-शरावो-ष्ट्रिको-दञ्चनादिविषयमेवावगन्तव्यम्, तत्तुल्यसामर्थ्यकारणमिति घटादीनां तुल्यसामर्थ्यकारणम्, अतुल्यसामर्थ्येभ्यो हिमादिभ्य एव मृद्रूपताऽयोगात्, इति सन्न्याय', अन्वयव्यतिरेकबलप्रतिष्ठितत्वात् तत्तुल्यसामर्थ्यस्य। एवमपि काऽनिष्टसिद्धिरित्याह-तुल्यसामर्थ्यमेव च न-अस्माकम्, भावानां घटादीनाम्, समानपरिणाम., इति परिभाव्यतामेतत्। एतदुक्तं भवति—येषामेव भावानां पिण्डादीनां तुल्य सामर्थ्यं त एव घटादीन् मृद्रूपमात्रतया तुल्यान् समानजातीयान् कुर्वन्ति, नान्ये हिमादय, घटादिष्वेव च 'मृद् मृद्', इति समानाकारा बुद्धिरुत्पद्यते, न हिमादिषु; अतस्तात्त्विकसमानपरिणामनिबन्धनेयमिति सूक्ष्मधिया ऽऽलोचनीयम्।

अविषय एवायं बुद्ध्याकारोऽनादिवासनादोषादुपप्लव इति चेत्। कथं वासना नाम ?-किं बोधमात्रम्, उतान्यदेव किञ्चित् ?। यदि बोधमात्रम्, अनुत्तरज्ञानेऽपि तथाविधाकारापत्तिः, तस्यापि बोधमात्रभावाद्, अनिष्टं चैतत्, तत्र तदनभ्युपगमात्। अथान्यदेव किञ्चित्। तदेवास्य विषय इति कथमविषयो नाम ?। अवस्त्वेव तदिति चेत्। कथं ततः स आकारः ? इति वाच्यम्। अहेतुक एवायमिति चेत्। सदा तद्भावादिप्रसङ्गः। विशिष्ट बोधरूपं वासना न बोधमात्रमिति चेत्। किंकृतमस्य वैशिष्ट्यम् ? इति वाच्यम्। अनादिहेतुपरम्पराकृतमिति चेत्। न। तत्रापि तन्मात्राविशेषात्। स समुद्रोर्मिवद् यतस्तदेव तदिति चेत्। न। तस्यापि वाय्वादिना विना तत एवाभावात्। अनागमो वाय्वादिकल्प इति चेत्। न। तदभावेऽपि क्वचित्तद्भावोपपत्तेः। स्वचित्तोभोद्भवसमुद्रोर्मितुल्यः स इति चेत्। स एव तदा कुतः। इति वाच्यम्। तस्यैव तत्स्वभावत्वादिति चेत्। न। तदविशेषेण सदा समुद्रोर्मिप्रसङ्गात्। तस्य तत्क्षणविशेषत्वादप्रसङ्ग इति चेत्। न। तस्य तन्मात्रत्वेन विशेषत्वासिद्धेः। ऊर्मिजननस्वभावत्वं विशेष इति चेत्। न स्वभावः स्वभाववतोऽन्य इति तन्मात्रत्वमेव। तन्मात्रत्वेऽपि तद्भेदवद्भेद एवेति चेत्। न। तादृशस्यास्याप्रयोजकत्वात्, तत्तद्भावेऽतिप्रसङ्गात्, तत्स्वभावानामपि केषाञ्चित् तथाभेदाद् नित्यतया फलभेदापत्तेः।

आह—अविषय एव-अनालम्बन एव, अयं-प्रक्रान्तो 'मृद् मृद्' इति समानो बुद्ध्याकार.। कुतः किमात्मको वाऽयमित्याह—अनादिवासनादोषात् अयमुपप्लव स्वरूपेण, इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—कथं वासना नाम ?। किं बोधमात्रं निर्विशेषमेव, उतान्यदेव किञ्चिद् बोधाद् भिन्नं वस्तु ?। उभयथाऽपि दोषमाह—यदि बोधमात्रं निर्विशेषणमेव वासना। तत. किमित्याह—अनुत्तरज्ञानेऽपि भगवत सर्वान्धिनि, तथाविधाकारापत्ति, प्रक्रमाद् 'मृद् मृद्' इति सामानबुद्ध्याकारापत्ति, कुत इत्याह-तस्यापि अ-

नुत्तरज्ञानस्य, बोधमात्रभावात्, एतदेव वासनेति बोधाद्बोधवज्ञान्याकारानुत्तरज्ञानजन्मेति, अनिष्टं चैतत्। कुत इत्याह-तत्र अनुत्तरज्ञाने, तदनभ्युपगमात्-तथाविधाकारानभ्युपगमात्। द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह--अथान्यदेव किञ्चित् वस्तु वासनेति। एतदाशङ्क्याह--तदेव अन्यत् किञ्चिद् वासनाख्यम्, अस्याधिकृतबुद्ध्याकारस्य विषय, इति-एवम्, कथमविषयो नामाय बुद्ध्याकार.?। अवस्त्वेव तदिति चेदन्यत् किञ्चिद् वासनाख्यम्। एतदाशङ्क्याह-कथं तत वस्तुन, स आकारोऽधिकृतबुद्ध्याकार.? इति वाच्यम्। अहेतुक एवायं बुद्ध्याकार इति चेत्। एतदाशङ्क्याह--सदा तद्भावादिप्रसङ्ग नित्य सत्त्वमसत्त्वं चेति नीते। विशिष्टं बोधरूप वासना, न च बोधमात्रमविशिष्टमिति चेत्, ततश्च किल यथोक्तदोषाभाव इति। एतदाशङ्क्याह--किंकृतमस्य बोधरूपस्य, वैशिष्ट्यमिति वाच्यम्। अनादिहेतुपरम्पराकृतमिति चेत्। एतदाशङ्क्याह--न, तत्रापि अनादिहेतुपरम्परायाम्, तन्मात्राविशेषाद्--बोधरूपमात्राविशेषात्। स बुद्ध्याकारः-समुद्रोर्मिवदिति निदर्शनम्. यतो बोधरूपात्, तदेव बोधरूपं, तद् वैशिष्ट्यम्, इति चेत्। एतदाशङ्क्याह--न, तस्यापि समुद्रोर्मे, वाय्वादिना विक्षोभकारणेन, विना, तत एव समुद्रमात्रात्। अभावात्। ततश्च दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमित्यर्थ। अनागमस्तीर्थिकसंबन्धी, वाय्वादिकल्प इति चेत् ततो न वैषम्यमित्यभिप्राय। एतदाशङ्क्याह-न, तद्भावेऽपि अनागमाभावेऽपि, कश्चिद् बालविकल्पादौ. तद्भावोपपत्ते. प्रक्रमादधिकृतबुद्ध्याकारोपपत्ते। स्वेत्यादि। स्वविक्षोभादुद्भवो यस्य समुद्रोर्मे. स तथा, स्वविक्षोभोद्भवश्चासौ समुद्रोर्मिश्चेति समास., तेन तुल्य स इति चेत् प्रस्तुतबुद्ध्याकार। एतदाशङ्क्याह-स एव स्वविक्षोभोद्भव समुद्रोर्मि, तदा तस्मिन्नेव काले, कुत? इति वाच्यम्। तस्यैवेत्यादि। तस्यैव समुद्रस्य, तत्स्वभावत्वात्-तदोर्मिजननस्वभावत्वात्, इति चेत् स एव तदेति। एतदाशङ्क्याह-नेत्यादि। न-नैतदेवम्, तदविशेषेण-समुद्राविशेषेण हेतुना, सदा समुद्रोर्मिप्रसङ्गात्, तन्मात्रनिबन्धनो ह्यूर्मि, विशिष्ट च भेदकाभावेन परस्य तन्मात्रत्वमिति भावना। तस्येत्यादि। तस्य स्वविक्षोभोद्भवसमुद्रोर्मिहेतो समुद्रस्य, तत्क्षणविशेषत्वात्-समुद्रक्षणविशेषत्वात् अप्रसङ्ग इति चेत् सदोर्मिप्रसङ्गोऽनन्तरोदितः, स एव क्षणस्तत्स्वभावो नान्य तत्क्षण इत्यभिप्राय। एतदाशङ्क्याह-न, तस्य समुद्रक्षणस्य, तन्मात्रत्वेन समुद्रक्षणमात्रत्वेन हेतुना, विशेषत्वासिद्धे। ऊर्मिजननस्वभावत्व विशेष इति चेत्, तथाहि-न सर्वे तत्स्वभावा., सर्वेभ्य ऊर्मिभावापत्ते, न चेयम्, तथाऽदर्शनादिति भावनेति। एतदाशङ्क्याह-न स्वभाव इत्यादि। न स्वभाव स्वभाववत स काशात्, अन्य इति कृत्वा, तन्मात्रत्वमेव, समुद्रक्षणमात्रत्वमेव ततश्च 'ऊर्मिजननस्वभावत्व विशेष' इति वचनमात्रमेव। तन्मात्रत्वेऽपि-समुद्रक्षणमात्रत्वेऽपि, तद्भेदवत्-समुद्रक्षणभेदवत्, भेद एवेति चेद् विशेष एवोर्मिजननस्वभावस्य तक्षस्येति। एतदाशङ्क्याह--न, तादृशस्य तुल्यस्वरूपभेदमात्रहेतो, अस्य क्षणभेदस्य, अप्रयोजकत्वात् स्वभावभेदेनोर्मिजननं प्रति। एतदेवाह-तत्तद्भावे--तस्य भेदमात्रस्य तद्भावे स्वभावभेदेनोर्मिजननं प्रति प्रयोजकत्वादित्यर्थ., किमित्याह--अतिप्रसङ्गात्। एतमेवाह--तत्स्वभावानामपि केषाञ्चित् पदार्थाना तथा भेदात् तुल्यस्वरूपभेदमात्रहेतुतया भेदात्, नित्यतया-नित्यस्वभावत्वेन फलभेदापत्त समुद्रोर्मिवदनित्यभावविलक्षणफलभेदापत्तेरित्यतिसूक्ष्मधिया भावनीयम्।

न नित्यता केषाञ्चिदपि। किं न? इति वाच्यम्। न तद्धेतुस्तथाभूताद् हेतोस्तस्यैव यदिति चेत्। न। मोक्षहेतोः कैश्चित् तथाविधत्वाभ्युपगमात्, अहेतोरपि तथाभावकल्पनाऽविरोधात्, अस्याप्यर्थक्रियोपपत्तेः, तत्करणस्वभावत्वात्, अनित्यत्वादेः सर्वतः-सर्वार्थक्रियाभावेनेहाप्रयोजकत्वात्; तत्करणस्वभावत्वस्य च प्रयोजकत्वात्, तद्वैचित्र्येण परोदितदोषासिद्धेः, क्रम-यौगपद्यार्थक्रियाकरणस्वभावत्वात्, तस्य च पर्यनुयोगायोगात्; अन्यथा समानत्वात्, इति समुद्रोर्मिकल्पश्चाधिकृतो बुद्ध्याकारः, स यदेवं न युज्यते। स्वसंवेदनसिद्धश्च प्रतिप्रमातृ, अतो यथोक्तनिबन्धन एव, इति युक्तमभ्युपगन्तुम्, अन्यथा तदुच्छेदापत्तेः। इति तथाविधः समानपरिणाम एव समानबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तम्।

अत्राह--न नित्यता केषाञ्चिदपि भावानाम्। एतदाशङ्क्याह--किं न? इति वाच्यम्। न तद्धेतु-नित्यभावहेतु, तथाभूताद्-नित्यभावजननस्वभावजननस्वभावादिति याऽर्थ हेतो-कारणात्, तस्येव--प्रक्रमादूर्मिजननस्वभावसमुद्रक्षणस्येव, यदिति चेत्, ऊर्मिजननस्वभावो हि समुद्रक्षण ऊर्मिजननस्वभावसमुद्रक्षणजननस्वभावात् समुद्रक्षणादुत्पन्न इति विद्यतेऽस्य तथाभूतो हेतु, नैवं नित्यभावजननस्वभावजननस्वभावो हेतुरस्ति, तन्नित्यत्वविरोधादित्यभिप्राय। एतदाशङ्क्याह--नेत्यादि। न-नैतदेवम्, मोक्षहेतोर्विशिष्टज्ञानादे, कैश्चिद् नैयायिकादिभि, तथाविधत्वाभ्युपगमाद् नित्यभावजननस्वभावत्वाभ्युपगमात्; तथा, अहेतोरपि--अविद्यमानहेतोरप्यनाद्यणवादे, किमित्याह--तथाभावकल्पनाविरोधात्-तथाभावो-नित्यभावस्तत्कल्पनाविरोधात्, तथाहि--अहेतुरेव कश्चित् स स्वभाव. सन् नित्य इति किमत्र दूषणम्?। नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोध इत्याशङ्कापोहायाह--अस्यापि अधिकृतनित्यस्य, अर्थक्रियोपपत्ते। उपपत्तिश्च, तत्करणस्वभावत्वात्-अर्थक्रियाकरणस्वभावत्वात्। अथ चात्र प्रधान इति विपक्षे बाधामाह--अनित्यत्वादे. 'इहार्थक्रियायामप्रयोजकत्वात्' इति योग.। अप्रयोजकत्वं च, सर्वत.-सर्वार्थक्रियाभावेन। न ह्यनित्य इत्येव सर्वो भाव सर्वामर्थक्रिया करोति, नित्य इत्येव वा, तथाऽदर्शनात्। अतो यो यदर्थक्रियाकरणस्वभावः स ता करोतीति तत्करणस्वभावत्वमेवात्र प्रयोजकमिति। अत एवाह--तत्करणस्वभावत्वस्य च-अर्थक्रियाकरणस्वभावत्वस्य च, प्रयोजकत्वात्, 'इह' इति वर्तते, तथाहि--यतोऽर्थक्रियाकरणस्वभाव, अतोऽर्थक्रियां करोति, किमत्रानित्यत्वादिना?, सत्यप्यस्मिन् सर्वत. सर्वा-

र्थक्रियाऽसिद्धेरिति । तथा, तद्वैचित्र्येण—स्वभाववैचित्र्येण, परोदितदोषासिद्धेः क्रम—यौगपद्याभ्याम—र्थक्रियाविरोध इति परोदितो दोषस्तदसिद्धेः । असिद्धिश्च, क्रम-यौगपद्यार्थक्रियाकरणस्वभावत्वात्। ततश्च क्रमसाध्यं क्रमेण करोति, यौगपद्यसाध्यं यौगपद्येन । इति न कश्चिद् दोषः, तथास्वभावत्वात्। तस्य च स्वभावस्य, पर्यनुयोगायोगात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा ऽसमानत्वात् ऊर्मिजननस्वभावत्वपरिकल्पितस्वभावस्यापि पर्यनुयोगप्राप्ते, इति—एवम्, समुद्रोर्मेरप्यभावापत्ते, समुद्रोर्मिकल्पश्चाधिकृतो बुद्ध्याकारः समानबुद्ध्याकार, स यद्येवम्-उक्तनीत्या, न युज्यते, स्वसंवेदनसिद्धश्च प्रतिप्रमातृ, प्रमातारं प्रमातारं प्रति । अतः-अस्मात् कारणात्, यथोक्तनिबन्धन एव-तथाविधसमानपरिणामनिबन्धन एव, इति युक्तमभ्युपगन्तुम्, अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदुच्छेदापत्तेः-समानबुद्ध्याकाराच्छेदापत्तेः । इति-एवम्, तथाविधो वास्तवः, समानपरिणाम एव समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तमिति निगमनम् ।

यद्येवम्, कथं क्वचित् तद्व्यतिरेकेणाप्यस्य प्रवृत्तिः ? । ननु चास्येत्ययुक्तम्, वस्तुनिबन्धनस्य तद्व्यतिरेकेण कदाचिदप्यप्रवृत्तेः, तथातद्दर्शनस्य च तदाभासविषयत्वेनाविरोधात्, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यविषयत्वापत्तिः । इति समानपरिणाम एव सामान्यम् ।

यद्येवमित्यादि । यद्येवम्, कथं क्वचित्—प्रधाने-श्वरादिकार्यत्वादौ, तद्व्यतिरेकेणापि-प्रधाने-श्वरादिकार्यत्वव्यतिरेकेणापि, अस्येति—अक्रमात् समानबुद्धि-शब्दद्वयस्य, प्रवृत्तिर्भवतीति यथोक्तं प्रागिति । एतदाशङ्क्याह—नन्वित्यादि । ननु च 'अस्य' इत्ययुक्तम् । कथमित्याह-वस्तुनिबन्धनस्य समानबुद्धिशब्दद्वयस्य, तद्व्यतिरेकेण—वस्तुव्यतिरेकेण, कदाचिदप्यप्रवृत्तेर्घट-शरावादिष्विव हिमाङ्गारादिष्वदर्शनादिति भावना । तथातद्दर्शनस्य च सकेतविप्रलम्भद्वारेण समानबुद्धिशब्दद्वयदर्शनस्य च, प्रधान-श्वरादिकार्यत्वादौ, तदाभासविषयत्वेन-समानबुद्धिशब्दद्वयाभासविषयत्वेन, अविरोधात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा एवमनभ्युपगमे, प्रत्यक्षस्यापि निर्विकल्पकस्य, किमित्याह-अविषयत्वापत्तिः अविगानेन तथाऽनुभवादर्शाधिकृतबुद्ध्याकारेऽपि भावात्, तस्य च निर्विषयत्वात्, न चैतदेवम् । इति-एवम्, समानपरिणाम एव सामान्यमिति महानिगमनम् ।

यतश्चैवम्, अतो न य एवासावेकस्मिन् विशेषे स एव विशेषान्तरे । किं तर्हि ? । समानः । इति कुतः सामान्यवृत्तिविचारोदितभेदद्वयमुत्थापराधावकाशः ? इति । न चैवं सति परस्परविलक्षणत्वाद् विशेषाणां समानबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्त्यभावः, सत्यपि वैलक्षण्ये समानपरिणामसामर्थ्यतः प्रवृत्तेः, असमानपरिणामनिबन्धना च विशेषबुद्धिरिह । इति यथोदितबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिः ।

तथा चोक्तम्—

" वस्तुन एव समानः,परिणामो यः स एव सामान्यम् ।
असमानस्तु विशेषो, वस्त्वेकमनेकरूपं तु ॥ १ ॥ "

ततश्च तद् यत एव सामान्यरूपमत एव विशेषरूपम्, समानपरिणामस्याऽसमानपरिणामाऽविनाभूतत्वात्, यत एव च विशेषरूपमत एव सामान्यरूपम्, असमानपरिणामस्यापि समानपरिणामाविनाभावादिति । न चानयोर्विरोधः,अन्योऽन्यव्याप्तिव्यतिरेकेणोभयोरसत्त्वापत्तेः, उभयोरपि स्वसंवेदनसिद्धत्वात्, संवेदनस्योभयरूपत्वात् उभयरूपतायाश्च व्यवस्थापितत्वात् ।

यतश्चेत्यादि, यतश्चैवम्, अतो न य एवासौ समानपरिणाम एकस्मिन् विशेषे घटादौ, स एव विशेषान्तरे शरावादौ । किं तर्हि ? । समान । इत्येवम्, कुतः सामान्यवृत्तिविचारोदितं तद्भेदद्वयं च देशकार्त्स्न्यरूप विकल्पद्वयमिति विग्रहः,तत्समुत्थाश्च तेऽपराधाश्च सदेशत्वप्रसङ्गादयस्तेषामवकाशः कुतः ?-नैव,समानपरिणामस्य तद्विलक्षणत्वादिति । न चैवमित्यादि । न चैव सति,परस्परविलक्षणत्वाद् विशेषाणां घटशरावादीनाम्, समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्त्यभाव, हिमाङ्गारादीनामिव । कुत इत्याह-सत्यपि वैलक्षण्ये समानपरिणामसामर्थ्यतः प्रवृत्तेः कारणात्, समानबुद्धि-शब्दद्वयस्येति । व्यतिरेकमाह-असमानपरिणामनिबन्धना च विशेषबुद्धिरिह प्रक्रमे घट शरावादिबुद्धिवत् । इति-एवम्, यथोदितबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्ति सामानबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तथा चोक्तमिति अधिकृतार्थप्रसाधकं ज्ञापकमाह-वस्तुन एव घटादे समान परिणामो यो मृदादि, स एव सामान्यम् । असमानस्तु विशेष ऊर्ध्वतादि । वस्त्वेकमनेकरूप तु सामान्यविशेषोभयरूपमपि तदनेकत्वतोऽनेकरूपमित्यर्थ ।ततश्चेत्यादिना मूलपूर्वपक्षग्रन्थं परिहरति-ततश्च तद् वस्तु घटादि, यत एव सामान्यरूप मृदाद्यात्मकतया, अत एव कारणात्, विशेषरूपमूर्ध्वादिरूपापेक्षया । कुत इत्याह-समानपरिणामस्य प्रस्तुतस्य, असमानपरिणामाविनाभूतत्वाद्-विशेषपरिणामाविनाभूतत्वादित्यर्थ । यत एव च कारणात्, विशेषरूपमूर्ध्वाद्यपेक्षया, अत एव सामान्यरूपं मृदाद्यात्मकतया । भावनामाह-असमानपरिणामस्यापि ऊर्ध्वादिरूपस्य, समानपरिणामाविनाभावाद्—मृदादिपरिणामाविनाभावादिति । न चानयो समानाऽसमानपरिणामयो विरोध । कुत इत्याह-अन्योन्यव्याप्तिव्यतिरेकेण उभयो समानाऽसमानपरिणामयो, असत्त्वापत्तेः । आपत्ति प्राक् प्रदर्शितैव, तथा, उभयोरपि स्वसंवेदनसिद्धत्वात् तथानुभवभावेन । अत एवाह—संवेदनस्योभयरूपत्वात् सामान्य-विशेषोभयापेक्षया, उभयरूपतायाश्च संवेदनस्य, व्यवस्थापितत्वादध न चानयोर्विरोध ' इति क्रियायोग ।

यच्चोक्तम्-'सामान्यविशेषोभयरूपत्वे सति वस्तुनः सकललोकप्रसिद्धसंव्यवहारनियमोच्छेदप्रसङ्गः' इत्यादि । तदपि जिनमतानभिज्ञतासूचकमेव केवलम्, न पुनरिष्टार्थ-

प्रसाधकमिति । न हि ' मधुरक-लड्डुकादिविशेषानर्थान्तरं सर्वथैकस्वभावमेकमनवयवं सामान्यम् ' इत्यभिदधति जैनाः । अतः किमुच्यते-' न विष विषमेव मोदकाद्यभिन्नसामान्याव्यतिरेकात् ' इत्यादि ? । किं तर्हि ? । समानपरिणामः । स च भेदाविनाभूतत्वाद् न य एव विषादभिन्नः स एव मोदकादिभ्योऽपि, सर्वथा तदेकत्वे समानत्वायोगात् ।

यच्चोक्तं पूर्वपक्षग्रन्थे. ' सामान्यविशेषोभयरूपत्वे सति, वस्तुनो-घटादे, सकललोकप्रसिद्धसंव्यवहारनियमोच्छेदप्रसङ्ग ' इत्यादि, तदपि, किमित्याह—जिनमतानभिज्ञतासूचकमेव केवलम् , न पुनरिष्टार्थप्रसाधकं वस्त्वनुपपत्तिरिष्टोऽर्थ इति न तत्प्रसाधकम् । कथमित्याह-न हीत्यादि । न यस्माद् मधुरक-लड्डुकादिविशेषानर्थान्तरमभिन्नम् , सर्वथैकस्वभावमेकमनवयवं सामान्यमित्यभिदधति जैना —भणन्त्यार्हता. । अत. किमुच्यतेऽनभ्युपगतोपालम्भप्रायम् , यदुत-' न विष विषमेव, मोदकाद्यभिन्नसामान्याव्यतिरेकात् ' इत्यादि ? । किं तर्हि ? । समानपरिणाम सामान्यमित्यभिदधति जैना इति । स च समानपरिणाम , किमित्याह भेदाविनाभूतत्वात् कारणात् , न य एव विषादभिन्न स एव मोदकादिभ्योऽपि । कथं नेत्याह-सर्वथा तदेकत्वे समानपरिणामैकत्वे, समानत्वायोगात् । न ह्येकं समानमिति भावना ।

स्यादेतत् समानपरिणामस्यापि प्रतिविशेषमन्यत्वादसमानपरिणामवत् तद्भावानुपपत्तिरिति । एतदप्ययुक्तम् , सत्यप्यन्यत्वे समानासमानपरिणामयोर्भिन्नस्वभावत्वात् , तथाहि-समानधिषणा—ध्वनिनिबन्धनस्वभावः समानपरिणामः, तथा विशिष्टबुद्ध्यभिधानजननस्वभावस्त्वितर इति यथोक्तसंवेदनाभिधानसंवेद्याभिधेया एव च विषादय इति प्रतीतमेतत् , अन्यथा यथोक्तसंवेदनाद्यभावप्रसङ्गात् । अतो यद्यपि द्वयमप्युभयरूपम् , तथापि विषार्थी विष एव प्रवर्तते, तद्विशेषपरिणामस्यैव तत्समानपरिणामाविनाभूतत्वात् , न तु मोदके, तत्समानपरिणामाविनाभावाभावात् तद्विशेषपरिणामस्येति । अतः प्रयासमात्रफला प्रवृत्तिनियमोच्छेदचोदनेति ।

स्यादेतदित्यादि । स्यादेतद् , अथैव मन्यसे, समानपरिणामस्यापि मृदाद्यात्मकस्य, प्रतिविशेष,—विशेष विशेषं प्रति घट-शरावादिलक्षणम् , अन्यत्वात् कारणात् , असमानपरिणामवदिति निदर्शनम् , तद्भावानुपपत्ति —समानपरिणामभावानुपपत्तिरिति । एतदाशङ्क्याह-एतदप्ययुक्तम् । कथमित्याह—सत्यप्यन्यत्वे समानपरिणामस्य प्रतिविशेषम् , समाना-ऽसमानपरिणामयोरुक्तलक्षणयो , भिन्नस्वभावत्वात् । भिन्नस्वभावत्वमेवाह—तथाहीत्यादिना । तथाहीत्युपप्रदर्शने । समानधिषणा ध्वनिनिबन्धनस्वभावस्तुल्यबुद्धिशब्दहेतुस्वभाव समानपरिणाम', यत खलु घट-शरावादिषु ' मृद् मृद् ' इत्यविशेषेण भवना-धिषणा-ध्वनी तथा विशिष्टबुद्ध्यभिधानजननस्वभावस्त्वितरोऽसमानपरिणाम' , यत खलु घटादिष्वेव ' घट शरावम् ' इत्यादिविशेषेण भवतो बुद्ध्यभिधाने इति । एवमधिकृतोदारणापेक्षया भावार्थमभिधाय पूर्वपक्षोपन्यस्तभेदापेक्षया प्रक्रान्तनिगमनायाह—यथोक्तसंवेदनेत्यादि । यथोक्ते च ते संवेदनाभिधाने च तयो. संवेद्याभिधेया इति विग्रहः , एवभूता एव च विषाऽऽदय , तथाहि—' सत् सत् ' इति विषादय. संवेद्यन्ते , अभिधीयन्ते च, तथा ' विषमोदक. इत्येव चेति प्रतीतमेतत् । अन्यथा यथोक्तसंवेदनाभिधानसंवेद्याभिधेयत्वाभावे , यथोक्तसंवेदनाद्यभावप्रसङ्गात् ,आदिशब्दाद्-यथोक्ताभिधानग्रह' अतो यद्यपि द्वयमपि विष मोदकश्चेति , उभयरूपं-सामान्यविशेषरूपम् , तथापि विषार्थी प्रमाता विष एव प्रवर्तते । कुत इत्याह-तद्विशेषपरिणामस्यैव-विषविशेषपरिणामस्यैव , तत्समानपरिणामाविनाभूतत्वाद्—विषसमानपरिणामाविनाभूतत्वात् , न तु मोदके—न पुनर्मोदके । कुत इत्याह—तत्समानपरिणामाविनाभावाऽभावात्-मोदकसमानपरिणामाविनाभावाभावात् , तद्विशेषपरिणामस्येति विषविशेषपरिणामस्येति । अत उक्तन्यायात् ,प्रयासमात्रफला प्रवृत्तिनियमोच्छेदचोदना पूर्वपक्षसबन्धिनीति ।

एतेन ' विषे भक्षिते मोदकोऽपि भक्षितः स्यात् ' इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम् , तुल्ययोगक्षेमत्वादिति । यच्चापरेणाप्युक्तम्-' सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ' इत्यादि । तदपि कूटनटनृत्तमिवाविभावितानुष्ठानं न विदुषां मनोहरमित्यपकर्णयितव्यम् , वस्तुतः प्रदत्तोत्तरत्वात्, सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनः सम्यग्व्यवस्थापितत्वात् ।

एतेनेत्यादि, एतेनानन्तरोदितेन ग्रन्थेन, ' विषे भक्षिते मोदकोऽपि भक्षित स्यात् ' इत्यपि पूर्वपक्षोक्त प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम् , तुल्ययोगक्षेमत्वादिति । यच्चापरेणाप्युक्तम्—' सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।' इत्यादि । तदपि कूटनटनृत्तमिवेति निदर्शनम् , अविभावितानुष्ठान दर्शनभावार्थपरिज्ञानशून्यत्वेन, न विदुषां मनोहरमिति कृत्वा , अपकर्णयितव्य-न श्रोतव्यम् । कुत इत्याह—वस्तुतः प्रदत्तोत्तरत्वात् । तथा, सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुन. सम्यग्व्यवस्थापितत्वात् । अने० ३ अधि० ।

सामत्थ-सामर्थ्य-न० । समर्थस्य भाव। सामर्थ्यम् । वीर्ये, आ० म० १ अ० । बले, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । 'चेट्ठा सत्ती सामत्थ ति य जोगस्स हवति पज्जाया । ' आ० चू० १ अ० । बल ति वा वीरिय ति वा सामत्थ ति वा एगट्ठा । नि० चू० ११ उ० । आ० चू० । वीर्येणापि वीर्यस्य सामत्थ समत्थशब्दो वा युक्तवाचक वीर्ययुक्त इत्यर्थ. । नि० चू २ उ० । साधुव्यसनपरित्राणबले, पञ्चा० २ विव० । पर्यालोचने ,व्य० ६ उ० पञ्चा० ।

समत्थजोग-सामर्थ्ययोग-पु० । शास्त्रोक्ते क्षपकश्रेणिद्वितीये अपूर्वकरणभाविनि योगे, षो० १५ विव० । शास्त्रीयेऽतिशक्तौ योगे, द्वा० १६ द्वा० । (' जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६०७ पृष्ठ व्याख्यानमेतत् ।)

सामत्थजोग्गया-सामर्थ्ययोग्यता-स्त्री० । सामानफलसाधकस्वरूपेण सामर्थ्येन योग्यतायाम् , षो० १२ विव० ।

सामपाय-श्यामपाद-पुं० । कस्मिंश्चिदाचार्ये, कर्म०४ कर्म० ।

सामपुव्वग-सामपूर्वक-त्रि० । प्रेमोत्पादकवचनपुरस्सरे दानादौ, पञ्चा० ६ विव० ।

साममुही-श्याममुखी-स्त्री०। श्यामलकान्तिमुख्या स्त्रियाम् , आ० म० १ अ० ।

सामय-प्रतीक्ष्-धा० । " प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विरमालाः " ॥ ८ । ४ । १६३ ॥ इति प्रतीक्षतेः सामयादेशः । सामयइ । प्रतीक्षते । प्रा० ४ पाद ।

सामलय-श्यामलक-पुं०। वनस्पतिविशेषे,जी०३प्रति०४अधि०।

सामलया-श्यामलता-स्त्री० । प्रियङ्गुलतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । प्रज्ञा० । पिं० । जं० ।

सामलि-शाल्मलि-स्त्री० । सेमरनामके वृक्षविशेषे,सूत्र०१श्रु० ६अ० । जी० । आचा० । स्था० । त० । "सामलिवोंडघणनिचियच्छेडिया" शाल्मली वृक्षविशेषः । स च प्रतीत एव तस्य वोएडं-फल तद्वत् छेटिना अपि अतिशयेन नमिता शाल्मलीवोएटघननिचितच्छेटिना' । जी०३ प्रति०४ अधि० । त० ।

सामलेर-शावलेय-पुं० । शवलाया गोरपत्ये, अनु० ।

सामवण्ण-श्यामवर्ण-त्रि० । श्यामले, प्रव० २६ द्वार ।

सामवेय-सामवेद-पुं० । गानप्रतिबद्धे वेदे, उत्त० २२ अ० ।

सामहत्थि(ण्)-श्यामहस्तिन्-पुं० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य स्वनामख्यातेऽनगारे, भ० १० श० ४ उ० । (अत्रत्या वक्तव्यता 'तायत्तीसग' शब्दे चतुर्थभाग २२२४ पृष्ठे गता ।)

सामा-श्यामा-स्त्री० । " शषोः सः " ॥८।१।२६०॥ इति शस्य सः । प्रा० । "अधो म-न-याम्" ॥ ८।२।७८ ॥ इति यलुक्वा । प्रा० । षोडशवार्षिक्यां, श्यामवर्णाया वा स्त्रियाम्, 'सामा गायइ महुरं' । स्था० ७ ठा० ३ उ० । अनु० । शक्रलोकपालस्य सोममहाराजस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । रात्रौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । सिन्धुदत्तपुत्र्या ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाम्, उत्त० १३ अ० । अनु० । प्रियङ्गुवल्लीविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । ज्ञा० । विमलस्य त्रयोदशतीर्थकरस्य मातरि, स० । प्रव० । सम्भवस्य जिनस्य प्रवर्त्तिन्याम्, स० । आव० । ति० । नी० । प्रव० । सुप्रतिष्ठिते नगरे सिंहसेनस्य राज्ञो भार्यायाम्, स्था० १० ठा० ३ उ० । आचा० । श्रीपद्मप्रभस्य अच्युतापरनाम्न्यां शासनदेव्याम्, सा च श्यामवर्णा नरवाहना चतुर्भुजा वरदवाणान्वितदक्षिणकरद्वया कार्मुकाभययुतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

सामाइय-सामायिक-न० । रागद्वेषविरहितः समस्तस्य प्रतिक्षणमपूर्वापूर्वकर्मनिर्जराहेतुभूताया विशुद्धेरायो-लाभः समायः स एव सामायिकम् । विशे० । 'सामायिकम्' इति समाना-ज्ञानदर्शनचारित्राणां आयः-समायः, समाय एव सामायिकं, विनयादिपाठात् स्वार्थे ठक् । आह-समय शब्दस्तत्र पठ्यते तत्कथं समाये प्रत्ययः ?, उच्यते-' एकदेशविकृतमनन्यवद्भवती ' ति न्यायात्, तच्च सावद्ययोगविरतिरूपं, ततश्च सर्वमप्येतच्चारित्रम् अविशेषतः सामायिकम् । आव० १ अ० । (सम्मावाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अस्यैकार्थिकान्युक्तानि) (' संजम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे किंनामसामायिकमिति किञ्चिदुक्तम् ।)

विषयसूचना-

काना लाभादिभावनिरूपणम् ।
(४३) कस्यां दिशि किं सामायिकम् ।
(४४) वद्यमाणनिर्युक्तिगाथाप्रस्तावना ।
(४५) कालद्वारनिरूपणम् ।
(४६) गतिद्वारम् ।
(४७) मिश्रशब्दभावार्थ ,व्यवहारनिश्चयनयमतविचारश्च ।
(४८) आहारकपर्याप्तकद्वारम् ।
(४९) सुप्तजन्मद्वारद्वयनिरूपणम् ।
(५०) स्थितिद्वारनिरूपणम् ।
(५१) वेद-सञ्ज्ञा-कषायद्वारत्रयप्रतिपादनम् ।
(५२) आयुर्ज्ञानद्वारद्वयनिरूपणम् ।
(५३) योगोपयोगशरीरद्वारत्रयनिरूपणम् ।
(५४) कथं पुनरौपशमिकसम्यक्त्व जीवस्याभ्युपगन्तव्यम् ।
(५५) कथ पुनरस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभेऽवस्थितपरिणामत्वम् ।
(५६) 'ओरालिए चउक्कं ' इत्यादिगाथाव्याख्या ।
(५७) संस्थानादिद्वारत्रयम् ।
(५८) लेश्याद्वारनिरूपणम् ।
(५९) परिणामद्वारप्रतिपादनम् ।
(६०) वेदनासमुद्घातकर्मद्वारद्वयम् ।
(६१) निर्वेष्टनोद्वर्तनद्वारद्वयम् ।
(६२) आश्रवकरणद्वारनिरूपणम् ।
(६३) अलङ्कारशयनाऽऽसनस्थानचङ्क्रमणद्वारकदम्बकव्याख्यानम् ।
(६४) परस्यातिधैर्यनिपुणत्वमवलोक्य सूरिकृताऽतिनिपुणत्वेन तत्प्रतिविधान प्रतिपादितम् ।
(६५) मानुषत्वे लब्धेऽपि एतै कारणै दुर्लभं सामायिकमनुकम्पादिभिरवाप्यते ।
(६६) किं कारणं तीर्थकर सामायिक भाषते ।
(६७) गणधरा केन कारणेन सामायिकश्रवणं कुर्वन्ति । कियच्चिरमिति कालद्वारम् ।
(६८) श्रुतवर्जसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपतितश्रुतसामायिकस्य च निरूपणम् ।
(६९) यस्य नयस्य यत्सामायिक मोक्षमार्गत्वेनानुमत तद्दर्शनस्वरूपमनुमनद्वारम् ।
(७०) कस्माज्जीव एव सामायिक प्राप्नोति नाजीवादि ।
(७१) एकस्मिन्नपि महाव्रतादिके चारित्रसामायिक निर्युक्तिकृत साक्षात् सर्वद्रव्योपयोगदर्शनम् ।
(७२) द्वितीयस्य द्रव्यार्थिकनयस्याभिप्रायनिदर्शनम् ।
(७३) सामायिकस्य वैशेषिकलक्षणेन प्रतिपादनम् ।
(७४) सामायिकपदव्याख्यानं सूत्रम् ।
(७५) विनयद्वारप्रतिपादनम ।
(७६) चालनाप्रतिपादनम ।
(७७) आद्य-मध्यवर्जविनययोर्विवरणम ।
(७८) आलोचनादीनि सामायिकवन्त एव भवन्ति ।
(७९) प्रकीर्णकवार्ता ।

(१) सामायिकस्वरूपमाह–

सामाइय छेय परिहा–र सुहुम अहखाय देस जय अजया।
चक्खु अचक्खु ओही, केवल दंसण अणागारा ॥ १२ ॥

समाना-ज्ञानदर्शनचारित्राणामायो लाभ· समाय समाय एव सामायिक विनयादि ॥७।२।१६१॥ आकृतिगणत्वादिकण्प्रत्यय· यद्वा समो रागद्वेषविप्रमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति, आयो लाभ· प्राप्तिरिति पर्याया । समस्याय समाय । समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमणसंक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभिरध कृतचिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, समाय एव सामायिकं मूलगुणानामाधारभूतं सर्वसावद्यविरतिरूप चारित्रम् । यदाह वाचकमुख्य·– " सामायिक गुणाना—माधार· खमिव सर्वभावानाम् । न हि सामायिकहीना—श्चरणादिगुणान्विता येन ॥१॥ तस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम् । शारीरमानसान—कटु खनाशस्य मोक्षस्य ॥२॥ " यद्यपि च सर्वमपि चारित्रमविशेषत· सामायिकं तथापि छेदादिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थत शब्दान्तरतश्च नानात्व भजते । प्रथम पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते "सामायिकमिति" । तच्च द्विधा इत्वर, यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरम्—भाविव्यपदेशान्तरत्वात् स्वल्पकालम्, तच्च प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थे भरतैरवतेषु यावदद्यापि शैक्षकस्य महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावद्विज्ञेयम् । आत्मन· कथा यावद्यदास्ते तद्यावत्कथ यावज्जीवमित्यर्थ । यावत्कथमेव यावत्कथिकम् , एतच्च भरतैरवतेषु प्रथमचरमवर्जमध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तर्गतसाधूनां महाविदेहतीर्थकरमुनीना चावसेयम् , तेषामुपस्थापनाया अभावात् । कर्म० ४ कर्म० । आ० म० ।

"सव्वमिण सामाइयं, छेयाइविसेसिय पुण विभिन्न ।
अविसेसियसामइय, ठियमिह सामन्नसन्नाए ॥ १ ॥
सावज्जजोगविरइ, त्ति तत्थ सामाइय दुहा त च ।
इत्तरमावकहं ति य, पढम पढमऽतिमजिणाण ॥ २ ॥
तित्थेसु अणारोविय-वयस्स सेहस्स थेवकालीय ।
सेसाणमावकहिय, तित्थेसु विदेहयाण च ॥ ३ ॥ "

ननु चेत्वरमपि सामायिक करोमि 'भदत ! सामायिकं याव ज्जीवमि त्येव यावदायुरागृहीत, तत उत्थापनाकाले तत्परित्यजन कथ न प्रतिज्ञालोप· । " नणु जावज्जीवाए, इत्तिरियं पि गहियं सुय तस्स । होइ पइण्णालोवो , जहाऽऽरकहिय सुयं तस्स ॥ १ ॥ "

उच्यते ननु प्रागेवोक्त यत् सर्वमेवेद चारित्रमविशेषत सामायिक, सर्वत्रापि सर्वसावद्ययोगविरतिसद्भावात् , केवल छेदादिविशुद्धिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थत शब्दान्तरतश्च नानात्व भजते ततो यथा यावत्कथिक सामायिक—छेदोपस्थापन वा परमविशुद्धिविशेषरूपसूक्ष्मसपरायादि चारित्रावाप्तो न भङ्गमास्कन्दति तथेत्वरमपि सामायिक विशुद्धि विशेषरूपच्छेदोपस्थापनावाप्तौ नैव भङ्ग प्राप्नोति । यदि हि प्रव्रज्या परित्यज्यते तर्हि तद्भङ्ग आपद्यत, न तु तस्यैव विशुद्धिविशेषावाप्तो । उक्त च–" नणु भणिय सव्व चिय, सामइयमिण

विसुद्धितो भिन्नं। सावज्जविरइमइयं, को वयलोवो विसु-द्धीए॥ उन्निक्खमतो भगो,जो पुण तं चिय करेइ सुद्ध-यरं। सन्नामेत्तविसिट्ठं, सुहुम पि व तस्स को भगो ॥२॥" पं० सं० १ द्वार। आव०। सर्वसावद्यपरित्यागनि-रवद्यासेवनरूपे व्रतविशेषे, ध० र० २ अधि०।

(२) सामयिकमाह—

सामाइयं नाम, सावज्जजोगपरिवज्जणं-निरवज्जजोगप-डिसेवणं च।

"सिक्खा दुविहा गाहा, उववायठिई गई कसाया य।
बंधंता वेयंता, पडिवज्जा इक्कमे पंच ॥ १ ॥
सामाइअम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ २ ॥
सव्वं ति भाणिऊणं,विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि।
सो सव्वविरइवाई, चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥ ३ ॥"

सामाइयस्स समणोवायस्स इमे पञ्च अइयारा जा-णियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-मणदुप्पणिहाणे वइ-दुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइ अकरण-या सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया ॥ ६ ॥

समो—रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः, समस्यायः समायः, स-मो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्निरुपमसुखहे-तुभिरधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, स एव समा-यः प्रयोजनमस्य क्रियानुष्ठानस्येति सामायिकं, सामाय ए-व सामायिकम्। नामशब्दोऽलङ्कारार्थे, अवद्यं-गर्हितं पापं, सहावद्येन सावद्यः योगो-व्यापारः कायिकादिस्तस्य परि-वर्जनं—परित्यागः कालावधिनेति गम्यते। तत्र मा भूत् सा-वद्ययोगपरिवर्जनमात्रमपापव्यापारासेवनशून्यमित्यत आह-निरवद्ययोगप्रतिसेवनं चेति, अत्र सावद्ययोगपरिवर्जनव-न्निरवद्ययोगप्रतिसेवनेऽप्यहर्निशं यत्नः कार्य इति दर्शनार्थ म्।चशब्दः परिवर्जनप्रतिसेवनक्रियाद्वयस्य तुल्यकक्षतादृभा-वनार्थः। आव० ६ अ०। आर्त्तरौद्रध्यानपरिहारेण धर्मध्या-नकरणेन शत्रुमित्रकाञ्चनादिषु समतायाम्, ध०। आतु०। सूत्र०। ध०।

(३) तत्राद्यं शिक्षापदव्रतमाह—

सावद्यकर्ममुक्तस्य, दुर्ध्यानरहितस्य च।
समभावो मुहूर्त्तं तद्-व्रतं सामायिकाह्वयम् ॥३७॥

सावद्यम्-वाचिकं कायिकं च कर्म, तेन मुक्तस्य तथा दुर्ध्यानम्—आर्त्तरौद्ररूपं तेन रहितस्य प्राणिनः मनोवाक्-कायचेष्टापरिहारं विना सामायिकं न भवतीति विशेषण-द्वय तादृशस्य मुहूर्त्तं घटिकाद्वयकालं यावत् योऽसौ स-मभावो-रागद्वेषहेतुषु मध्यस्थभावस्तत् सामायिकाह्वयं व्र-तं ज्ञेयम्। ध० २ अधि०।

उपदेशान्तरमाह—

उवणीयतरस्स ताइणो,
भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं,
जो अप्पाणभएण दंसए ॥ १७ ॥

उप-सामीप्येन नीतः-प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा अतिशयेनोपनीत उपनीततरस्तस्य, तथा तायिनः—परात्मोपकारिणः त्रायिणो वा-सम्यक्पालकस्य, तथा भ-जमानस्य-सेवमानस्य विविक्तम्-स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितम्, आस्यते-स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं-वसत्यादि, तस्यैव-म्भूतस्य मुनेः सामायिकम् समभावरूपं सामायिकादिचा-रित्रमाहु सर्वज्ञाः, यद्—यस्मात् ततश्चारित्रिणा प्राक्स्व-वस्थितस्वभावेन भाव्यम्, यश्चात्मानं भये-परीषहोपसर्ग-जनिते न दर्शयेत्—तद्भीरुर्न भवेत् तस्य सामायिकमाहुरि-ति सम्बन्धनीयम्। सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

(४) श्रावकस्य सामायिककरणविधिः—

सामाइयं सावएण कथं कायव्वं ति?, इह सावगो दुविहो-इड्ढिपत्तो,अणिड्ढिपत्तो य। जो सो अणिड्ढिपत्तो सो चेतियघरे साधुसमीपे वा घरे वा पोसधसालाए वा जत्थ वा विस-मति अच्छति वा निव्वावारो सव्वत्थ करेति तत्थ, च-उसु ठाणेसु णियमा कायव्वं। चेतियघरे साधुमूले पोस-धशालाए घरे आवासगं करेतो त्ति, तत्थ जति साधुस-गासे करेति तत्थ का विधी?, जति परं परभयं नत्थि जति वि य केणइ समं विवादो णत्थि जति कस्सइ ण धरेइ मा तेण अञ्छवियञ्छियं कज्जिहिति, जति य धा-रणगं दट्ठूण न गेण्हति मा णिज्जिहिति, जति वावारं ण वावारंति, ताधे घरे चेव सामायिकं कातूणं वच्चति। पंचसमिओ तिगुत्तो इरियाउवउत्ते जहा साहू भासाए सावज्जं परिहरंतो एसणाए कट्ठं लेट्ठुं वा पडिलेहिउं प-मज्जेतु एव आदाणे णिक्खेवणे, खेलसिंघाणं ण विगिंच-ति, विगिंचंतो वा पडिलेहेति य पमज्जति य जत्थ चि-ट्ठति तत्थ वि गुत्तिरोधं करेति। एताए विधीए गन्ता ति-विधेण णमित्तु साधुणो पच्छा सामाइयं करेति, 'करेमि भन्ते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविधं तिविधे-णं जाव साधू पज्जुवासामि त्ति कातूण। पच्छा इरिया-वहियाए पडिक्कमति। पच्छा आलोएत्ता वंदति आयरि-यादी जधा रायणिणिया। पुणो वि गुरु वंदित्ता पडिले-हित्ता णिविट्ठो पुच्छति पढति वा। एवं चेतियाइएसु वि जदा स गिहे पोसधसालाए वा आवासाए वा तत्थ ण-वरि गमणं णत्थि, जो इड्ढिपत्तो (सो) सव्विड्ढीए एति तेण जणस्स उच्छाहो वि आढिता य साधुणो सुपुरि-सपरिग्गहेणं, जति सो कयसामाइतो एति ताधे आसहत्थि-मादिणा जणेण य अधिकरणं वट्टति,ताधे ण करेति। कय-सामाइएण य पादेहिं आगन्तव्वं तेण ण करेति, आगतो साधुसमीवे करेति, जति सो सावओ तो ण कोइ उट्ठेति। अह अहाभद्दओ ता आढितो होतु त्ति भण(ण्ण)ति, ता-धे पुव्वरइयं आसणं कीरति, आयरिया उट्ठिता य अच्छ-ति। तत्थ उट्ठेणमणुट्ठेंते दोसा विभासितव्वा॥ पच्छा सो इड्ढिपत्तो सामाइयं करेइ अणेण विधिणा—' करेमि भन्ते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविधं तिविधेण जाव नियमं पज्जुवासामि' त्ति, एवं सामाइयं

काउं पडिक्कंतो वंदित्ता पुच्छति, सो य किर सामाइयं करेंतो मउडं अवणेति कुण्डलाणि णाममुद्दं पुप्फतंबोलपावारगमादी वोसिरति। एसा विधी सामाइयस्स।" आह-सावद्ययोगपरिवर्जनादिरूपत्वात् सामायिकस्य कृतसामायिकः श्रावको वस्तुतः साधुरेव, स कस्माद् इत्वरं सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानमेव न करोति त्रिविधं त्रिविधेनेति?, अत्रोच्यते-सामान्येन सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्यागारिणोऽसम्भवादारम्भेष्वनुमतेरव्यवच्छिन्नत्वात्, कनकादिषु चाऽऽत्मीयपरिग्रहादनिवृत्तेः, अन्यथा सामायिकोत्तरकालमपि तद्ग्रहणप्रसङ्गात्, साधुश्रावकयोश्च प्रपञ्चेन भेदाभिधानात्। आव० ६ अ०। प० व। पञ्चा०।

(५) तथा चाह ग्रन्थकारः

सिक्खा दुविधा गाहा, उववात ठिती गती कसाया य।
बंधंता वेदेन्ता, पडिवज्जा इक्कमे पंच ॥ १ ॥

इह शिक्षाकृतः साधुश्रावकयोर्महान् विशेषः, सा च शिक्षा द्विधा-आसेवनाशिक्षा, ग्रहणशिक्षा च। आसेवनाप्रत्युपेक्षणादिक्रियारूपा, शिक्षा-अभ्यासः, तत्रासेवनाशिक्षामधिकृत्य सम्पूर्णामेव चक्रवालसामाचारीं सदा पालयति साधुः। श्रावकस्तु न तत्कालमपि सम्पूर्णामपरिज्ञानादसम्भवाच्च। ग्रहणशिक्षां पुनरधिकृत्य साधुः सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातरः उत्कृष्टतस्तु बिन्दुसारपर्यन्तं गृह्णातीति, श्रावकस्तु सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातरः उत्कृष्टतस्तु षड्जीवनिकाया यावदर्थतोऽर्थतस्तु पिण्डैषणा यावत्, न तु तामपि सूत्रतो निरवशेषामर्थत इति सूत्रप्रामाण्याच्च विशेषः। तथा चोक्तम्-"सामाइयम्मि तु कते, समणो इव सावओ हवइ जम्हा। एतेण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ १ ॥" इति, गाथासूत्रं प्राग् व्याख्यातमेव, लेशतस्तु व्याख्यायते-सामायिके प्रागनिरूपितशब्दार्थे, तुशब्दोऽवधारणार्थः, सामायिके एव कृते न शेषकालं श्रमण इव-साधुरिव श्रावको भवति यस्मात्, एतेन कारणेन बहुशः-अनेकशः सामायिकं कुर्यादित्यत्र श्रमण इव चोक्तं न तु श्रमण एवेति, यथा समुद्र इव तडागः न तु समुद्र एवेत्यभिप्रायः। तथोपपाते विशेषकः, साधुः सर्वार्थसिद्धे उत्पद्यते श्रावकस्त्वच्युते परमोपपातेन जघन्येन तु द्वावपि सौधर्म एवेति। तथा चोक्तम्-"अविराधितसामण्ण-स्स साधुणो सावगस्स उ जहण्णो। सोधम्मे उववातो, भणिओ तेलोक्कदंसीहिं ॥ १ ॥" तथा स्थितिर्भेदिका, साधोरुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्या तु पल्योपमपृथक्त्वमिति श्रावकस्य तूत्कृष्टा द्वाविंशतिः सागरोपमाणि जघन्या तु पल्योपममिति। तथा गतिर्भेदिका, व्यवहारतः साधुः पञ्चस्वपि गच्छति, तथा च कुरुटोत्कुरुटौ नरकं गतौ कुणालादृष्टान्तेनेति श्रूयते, श्रावकस्तु चतसृषु न सिद्धगताविति। अन्ये च व्याचक्षते-साधुः सुरगतौ मोक्षे च, श्रावकस्तु चतसृष्वपि। तथा कषायाश्च विशेषकाः, साधुः कषायोदयमाश्रित्य संज्वलनापेक्षया चतुस्त्रिद्व्येककषायोदयवानकषायोऽपि भवति छद्मस्थवीतरागादिः, श्रावकस्तु द्वादशकषायोदयवान् अष्टकषायोदयवांश्च भवति। यदा द्वादशकषायवांस्तदाऽनन्तानुबन्धवर्जा गृह्यन्ते, एते चाविरतस्य विज्ञेया इति। यदा त्वष्टकषायोदयवान् तदा अनन्तानुबन्धि अप्रत्याख्यानकषायवर्जा इति; एते च विरताविरतस्य। तथा बन्धश्च भेदकः, साधुर्मूलप्रकृत्यपेक्षया अष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्विधबन्धको वा एकविधबन्धको वा। उक्तं च-

"सत्तविधबंधगा हुंति, पाणिणो आउवज्जगाणं तु।
तह सुहुमसंपरागा छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥ १ ॥
मोहाउयवज्जाणं, पगडीणं ते उ बंधगा भणिया।
उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविधबंधा ॥ २ ॥
ते पुण दुसमयठितिय-स्स बंधगा ण पुण संपरागस्स।
सेलसीपडिवण्णा, अबंधगा होंति विण्णेया ॥ ३ ॥"

श्रावकास्तु अष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा। तथा वेदनाकृतो भेदः, साधुरष्टानां सप्तानां चतसृणां वा प्रकृतीनां वेदकः, श्रावकस्तु नियमादष्टानामिति। तथा प्रतिपत्तिकृतो विशेषः, साधुः पञ्च महाव्रतानि प्रतिपद्यते, श्रावकस्त्वेकमणुव्रतं द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च वा। अथवा-साधुः सकृत् सामायिकं प्रतिपद्य सर्वकालं धारयति, श्रावकस्तु पुनः पुनः प्रतिपद्यते इति। तथाऽतिक्रमो विशेषकः, साधुरेकव्रतातिक्रमे पञ्चव्रतातिक्रमः, श्रावकस्य पुनरेकस्यैव, पाठान्तरं वा। किं च इतरश्च सर्वशब्दं न प्रयुङ्क्ते, मा भूद्देशविरतेरप्यभाव इति। आह च-'सामाइयम्मि उ कए' 'सव्वं ति भाणिऊण' गाहा, सर्वमित्यभिधाय-सर्वं सावद्यं योगं परित्यजामीत्यभिधाय विरतिः खलु यस्य सर्वा-निरवशेषा नास्ति, अनुमतेर्नित्यप्रवृत्तत्वादिति भावना, स एवंभूतः सर्वविरतिवादी 'चुक्कइ' त्ति-भ्रश्यति देशविरतिं सर्वविरतिं च प्रत्यक्षमृषावादित्वादित्यभिप्रायः। पर्याप्तं प्रसङ्गेन। प्रकृतं प्रस्तुमः इदमपि च शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यत-आह-'सामाइयस्स समणो'(गाहा) सामायिकस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा-मनोदुष्प्रणिधानम् प्रणिधानं-प्रयोगः दुष्टं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानं मनसो दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानम्, कृतसामायिकस्य गृहसत्केतिकर्तव्यता सुकृतदुष्कृतपरिचिन्तनमिति। उक्तं च-"सामाइयं ति (तु) कातुं, घरचिन्तं जो तु चिंतये सड्ढो। अट्टवसट्टमुवगतो, निरत्थयं तस्स सामइयं ॥ १ ॥" वाग्दुष्प्रणिधानं कृतसामायिकस्यासभ्यनिष्ठुरसावद्यवाक्प्रयोग इति। उक्तं च-"कइसामइओ पुव्वं, बुद्धीए पेहितूण भासज्जा। सइ णिरवज्जं वयणं, अण्णह सामाइयं ण भवे ॥ २ ॥" कायदुष्प्रणिधानं कृतसामायिकस्याप्रत्युपेक्षितादिभूतलादौ करचरणादीनां देहावयवानामनिभृतस्थापनमिति। उक्तं च-"अणिरिक्खियापमज्जिय, थंडिले ठाणमादिसेवंतो। हिंसाभाव णिणसा, कडसामइओ पमादाओ ॥ १ ॥" सामायिकस्य स्मृत्यकरणं सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मरणा-स्मृतिः उपयोगलक्षणा तस्या अकरणम्-अनासेवनमिति। एतदुक्तं भवति-प्रबलप्रमादवान् नैव स्मरत्यस्यां वेलायां मया यत्सामायिकं कर्तव्यं कृतं न कृतमिति वा। स्मृतिमूलं च

मोक्षसाधनानुष्ठानमिति । उक्तं च-" ण सरइ पमादजुत्तो, जो सामइय कदा तु कातव्व । कतमकतं वा तस्स हु, कय पि विफल तयं णेयं ॥ १ ॥ " सामायिकस्यानवस्थितस्य करणमनवस्थितकरणम् , अनवस्थितमल्पकालं वा करणानन्तरमेव त्यजति, यथा कथञ्चिद् वाऽनवस्थितं करोतीति । उक्तं च-"कातूण तक्खणं चिय,पारेति करेति वा जधिच्छाए। अणवट्ठियँ सामइयं, अणादरातो न तं सुद्ध ॥ ॥ " उक्तं सातिचारं प्रथमं शिक्षापदव्रतम् । आव० ६ अ० । ध० । पञ्चा० । (सामायिके आकारा न सन्ति इति ' पच्चक्खाण ' शब्दे पञ्चमभागे १०४ पृष्ठे गतम् ।) (श्रावकस्य सामायिकादिग्रहणविधिः ' अणुव्वय ' शब्दे प्रथमभागे ४१७ पृष्ठे गता ।) इह श्रावको द्विविधः—ऋद्धिप्राप्तः, अनृद्धिकश्च । योऽसावनृद्धिकः स चैत्यगृहे साधुसमीपे वा गृहे वा पौषधशालायां वा यत्र विश्राम्यति, निर्व्यापारो वाऽऽस्ते, तत्र सर्वत्र तत्करोति , चतुर्षु स्थानेषु पुनर्नियमात्करोति; तद्यथा-चैत्यगृहे साधुसमीपे पौषधशालायां स्वगृहे वावश्यकं कुर्वाणः । तत्र यदि साधुसमीपे करोति , तदाऽयं विधिः—यदि परं परभयं नास्ति , यदि केनापि समं विवादो नास्ति, यदि कस्यापि द्रव्यं न धारयति मा भूत्तत्कृता कर्षापकर्षिका, यदि च धारणक दृष्ट्वा न गृह्णाति मा भूद्भङ्गः , यदि च व्यापारं न करोति , तदा स्वगृह एव सामायिक कृत्वा व्रजति । पञ्च समितस्त्रिगुप्त.-ईर्यायामुपयुक्तः , यथा साधुर्भाषायां सावद्यं परिहरन् , एषणायां काष्ठं वा लेष्टु वाऽनुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च गृह्णन् , एवमादाने निक्षेपे च , तथा खेलसिंघाणादीन्न विवेचयति , विवेचयंश्च स्थण्डिल प्रत्युपेक्षते प्रमार्ष्टि च, यत्र तिष्ठति तत्रापि गुप्तिनिरोधं करोति । अनेन विधिना गत्वा, त्रिविधेन साधून्नत्वा सामायिकं करोति- " करेमि भंते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव साहू पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं " इत्याद्युच्चारणतः । तत ईर्यापथिकायाः प्रतिक्रामति, पश्चादालोच्य वन्दते आचार्यादीन् यथारात्निकतया, पुनरपि गुरु वन्दित्वा प्रत्युपेक्ष्य निविष्ट. पृच्छति वा पठति वा । एव चैत्येष्वपि । यदा तु स्वगृहे पौषधशालाया वा तदा गमनं नास्ति । य. पुन ऋद्धिप्राप्तः स सर्वर्द्ध्याऽऽयाति,तेन जनस्यास्था भवति, आदृताश्च साधव. सुपुरुषपरिग्रहेण भवन्ति । यदि त्वसौ कृतसामायिक एति, तदाश्वहस्त्यादिभिरधिकरणं स्यात्तच्च न वर्त्तते कर्तुमित्यसौ तत्र करोति । तथा कृतसामायिकेन पादाभ्यामेवागन्तव्यमिति च तत्र करोति। तथा यद्यसौ श्रावकस्तदा तं न कोऽप्यभ्युत्तिष्ठति । अथ यदा भद्रकस्तदा पूजा कृता भवत्विति पूर्वरचितमासनं क्रियते , आचार्याश्चोत्थिता एवासते । मोत्थानानुत्थानकृता दोषा भूवन् । पश्चादसावृद्धिप्राप्तश्रावक. सामायिक करोति । कथम्? " करेमि भंते ! सामाइयं सावज्जं जोग पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं जाव नियमं पज्जुवासामि " इत्यादि । एव सामायिकं कृत्वेर्याप्रतिक्रान्तो वन्दित्वा पृच्छति वा पठति वा । स च किल सामायिकं कुर्वन् मुकुटं कुण्डले नाममुद्रां चापनयति । पुष्पताम्बूलप्रावारादिकं न्न व्युत्सृजतीत्येष विधिः सामायिकस्यति । पञ्चा० १ विव० । श्रा० । ध० । आ० चू० ।

(६) अथ सामायिकाध्ययनमत्र व्याख्येयं तस्य चानेके अधिकारा अन्यत्र गतास्तानिह संसूचयन् तत्र तत्राऽऽगतान् दर्शयामि । सामायिकनिर्युक्ति । तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमतोऽधिकृतावश्यकाद्यध्ययनसामायिकाख्योपोद्घातनिर्युक्तिमभिधित्सुराह—

सामायियनिज्जुत्तिं, वोच्छं उवएसियं गुरुजणेणं ।
आयरियपरम्परए-ण आगयं आणुपुव्वीए ॥ ६७ ॥

सामायिकस्य निर्युक्तिः सामायिकनिर्युक्तिस्तां वक्ष्ये । कथंभूतामित्याह-उप-सामीप्येन देशिता उपदर्शिता तां केन? गुरुजनेन तीर्थकरगणधरलक्षणेन पुनरुपदेशनकालादारभ्य आचार्यपारंपर्येणागताम् । स च परंपरको द्विधा-द्रव्यतो,भावतश्च । तत्र द्रव्यपरंपरकः पुरुषपारंपर्येण इष्टकानामानयनम् । अत्र चासंमोहार्थं कथानक गाथाविवरणसमाप्तौ वक्ष्यामः । भावपरंपरकस्त्वियमेव उपोद्घातनिर्युक्तिराचार्यपारंपर्येणागतेति । कथमाचार्यपारपर्येणागतामिति चेदत आह-आनुपूर्व्या—परिपाट्या, तद्यथा-जम्बूस्वामिना प्रभवेनानीता ततोऽपि शय्यंभवादिभिरिति । अथवा-जिनगणधरेभ्य आरभ्य आचार्यैः पारंपर्येणागतां पश्चात्स्वकीयगुरुजनेनोपदर्शितामिति । आ० म० १ अ० । आव० ।

(७)सामायिकस्य अनुयोगद्वाराणि । सामायिकाध्ययनस्य चत्वारि द्वाराणि इत्याह—

अणुओगद्दाराइं, महापुरस्सेव तस्स चत्तारि ।
अणुओगो त्ति तदत्थो,दाराइं तस्स उ मुहाइं ॥६०७॥

तस्य च-सामायिकाध्ययनस्य महापुरस्य द्वाराणीव-चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति तत्रानुयोगः किमुच्यते?,इत्याह-तदर्थ.-अध्ययनार्थ. । आह-नन्वनुयोगो व्याख्यानमुच्यते,तत् कथं तदेवाध्ययनार्थ उच्यते ? । सत्यम् , किन्तु व्याख्यानेऽप्यध्ययनार्थ. कथ्यते, अतोऽभेदोपचारात् तदपि तथोच्यत इत्यदोष । द्वाराणि पुनस्तत्प्रवेशमुखानि ।

अथैनामेव पुरकल्पना द्वारकल्पना चार्थवती दर्शयन्नाह-

अकयद्दारमनगरं, कएगदारं पि दुक्खसंचारं ।
चउमूलद्दारं पुण, सपडिद्दारं सुहाहिगमं ॥ ६०८ ॥

अकृतद्वार नगर संततप्राकारवलयवेष्टितमनगरमेव भवति' जनप्रवेशनिर्गमाभावात् । तथा—कृतैकद्वारमपि हस्त्यश्वरथजनसकुलत्वाद् दु खसंचारं जायते, कार्यातिपत्तये च भवति । कृतचतुर्मूलं प्रतोलीद्वारं तु सप्रतिद्वारं सुखाधिगमम्—सुखनिर्गमप्रवेश भवति, कार्यानतिपत्तये च सपद्यते इति ।

(८)तथा किम् ?,इत्याशङ्क्य निर्दिष्टदृष्टान्तस्योपनयमाह-

सामाइयमहपुरमवि, अकयद्दारं तहेगदारं वा ।
दुरहिगमं चउदारं, सपडिद्दारं सुहाहिगमं ॥ ६०९ ॥

एव सामायिकमहापुरमप्यर्थाधिगमोपायभूतद्वारशून्यमशक्याधिगमम् ,कृतैकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेण द्राघीयसा च कालेनाधिगम्यते विहितसप्रभेदोपक्रमादिद्वारचतुष्टयं पुनरयत्नेनाऽल्पीयसा च कालेनाधिगम्यत इति ।

(९) कानि पुनस्तान्यनुयोगद्वाराणि ?, इत्याह-

ताणीमाणि उवक्कम-निक्खेवाऽणुगमनयसनामाइं ।

छ त्ति दु दु विगप्पाइँ, पभेयश्रोऽणेगभेयाइं ॥ ६१० ॥

तानि-चैनान्यनन्नुयोगद्वाराणि. तद्यथा-उपक्रमो वद्यमाण भेदादिस्वरूप , निद्वेप —अनुगमः , नयश्चेत्यनैर्नामभि· सनामानि साभिधानानीति । पञ्चमं द्वारोपन्यासद्वारं समाप्तम् । अथ ' तब्भेय ' त्तिं तद्भेदद्वारमाह-' छत्ती ' त्यादि इह यथासङ्ख्यं सम्बन्धः उपक्रमः षड्विकल्प· , निक्षेपस्त्रिभेद , अनुगमो द्विभेद· , नयोऽपि द्विभेदः । प्रभेदतस्तूपक्रमादयोऽनेकभेदा· । एषां च भेदप्रभेदानां स्वरूप पुरस्तात् विस्तरेण वद्यते । इति षष्ठं तद्भेदद्वारम् ' विशे० ।

(१०) प्रथमाध्ययनस्य सायायिकत्वम्—

तत्थ पढमं अज्झयणं सामाइयं, तस्स णं इमे चत्तारि अणुओगदारा भवंति, तं जहा-उवक्कमे १ , निक्खेवे २, अणुगमे ३, नए ४, (सू० ५६ ×) ।

तत्र—तेषु अनन्तरोद्दिष्टेषु षट्सु अध्ययनेषु मध्ये प्रथमम्-आद्यम् अध्ययनं सामायिकम्, आद्युपन्यासश्चास्य नि.शेषचरणादिगुणाधारत्वेन प्रधानमुक्तिकारणत्वात् , उक्त च—" सामायिकं गुणाना-माधार खमिव सर्वभावानाम् । न हि सामायिकहीना—श्चरणादिगुणान्विता येन ॥ १ ॥ तस्माज्जगाद भगवान् , सामायिकमेव निरुपमोपायम् । शारीरमानसाने-कदु खनाशस्य मोक्षस्य ॥ २ ॥ " तत्र योधादेरधिकम् अयनं-प्रापणमध्ययनं प्रपञ्चतो वद्यमाणशब्दार्थ, सामायिकमित्यत्र य. सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति स रागद्वेषवियुक्त सम तस्याऽऽय.—प्रतिक्षणं ज्ञानादिगुणोत्कर्षप्राप्ति समाय. , समो हि—प्रतिक्षणमपूर्वैः ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमणहेतुसक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभि सयुज्यते , समाय प्रयोजनमस्याध्ययनस्य ज्ञानक्रियासमुदायरूपस्येति सामायिकम् , समाय एव सामायिकम् , तस्य सामायिकस्य, 'णमि ति वाक्यालङ्कारे, 'इमे' त्ति—अमूनि-वद्यमाणलक्षणानि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्राध्ययनार्थकथनविधिरनुयोग., द्वाराणीव द्वाराणि महापुरस्येव सामायिकस्यानुयोगार्थं व्याख्यानार्थ द्वाराण्यनुयोगद्वाराणि, अत्र नगरदृष्टान्त वर्णयन्त्याचार्या., यथा हि-अकृतद्वार नगरमनगरमेव भवति, निर्गमप्रवेशोपायाभावतोऽनधिगमनीयत्वात् । कृतैकद्विकादिद्वारमपि दुरधिगम कार्यातिपत्तये च भवति, चतुर्मूलद्वार तु प्रतिद्वारानुगतं सुखाधिगम कार्यानतिपत्तये च सम्पद्यते , एवं सामायिकपुरमप्यर्थाधिगमोपायद्वारशून्यमशक्याधिगमं स्याद् , एकादिद्वारानुगतमपि दुरधिगम भवेत् , सुप्रभेद चतुर्द्वारानुगत तु सुखाधिगम भवति,अत फलवाँस्तदधिगमार्थो द्वारोपन्यास कानि पुनस्तानीति तद्दर्शनार्थमाह—' तद्यथे ' त्यादि । तत्रोपक्रमणम्—दूरस्थस्य वस्तुनस्तैस्तै प्रतिपादनप्रकारै समीपमानीय निक्षेपयोग्यताकरणमुपक्रम , उपक्रान्त हि—उपक्रमान्तर्गतभेदैर्विचारितं हि निक्षिप्यते नान्यथेति भाव । उपक्रम्यते वा—निक्षेपयोग्य क्रियतेऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रम । अथवा—उपक्रम्यते अस्मिन् शिष्यश्रवणभावे सतीत्युपक्रम । अथवा—उपक्रम्यते अस्माद्विनीतविनेयविनयादित्युपक्रम.,विनयेनाराधितो हि गुरुर्निक्षेपयोग्यं शास्त्रं करोतीति भाव ,तदेवं करणाधिकरणापादानकारकैर्गुरुवाग्योगावयोऽर्था भेदेनोक्ता.,यदि त्वेकोऽप्यन्यतरोऽर्थ. करणादिकारकवाच्यत्वेन विवद्यते तथापि न दोष. । एव निक्षेपण शास्त्रादेर्नामस्थापनादिभेदैर्न्यसन—व्यवस्थापनं निक्षेप ,निक्षिप्यते—नामादिभेदैर्व्यवस्थाप्यते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेप·, वाच्यार्थविवक्षा तथैव । एवमनुगमन—सूत्रस्यानुकूलमर्थकथनमनुगम । अथवा-अनुगम्यते—व्याख्यायते सूत्रमनेनास्मिन्नस्मादिति वाऽनुगम. , वाच्यार्थविवक्षा तथैव । एवं नयन नयो नीयते—परिच्छिद्यते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा नय. , सर्वत्रानन्तधर्माध्यासितं वस्तुन्यकांशग्राहको बोध इत्यर्थ. । अत्र चोपक्रान्तमेव निक्षेपयोग्यतामानीतमेव निक्षिप्यत इत्युपक्रमानन्तरं निक्षेप उपन्यस्त , नामादिभेदैर्निक्षिप्तमेव चानुगम्यत इति निक्षेपानन्तरमनुगम·, अनुगम्यमानमेव च नयैर्विचार्यते नान्यथेति तदनन्तर नय इति यथोक्तक्रमेणोपन्यास. फलवानिति । अनु० ।

(११) कोपक्रमे सामायिकमवतरति । तत्र षड्नाम्नि क्षायोपशमिके भावे सामायिकस्याध्ययनस्यावतार इति दर्शयन्नाह-

छव्विहनामे भावे, खओवसमिए सुयं समोयरइ ।
जं सुयनाणावरण-क्खओवसमजं तयं सव्वं ॥ ६४५॥

अनुयोगद्वाराध्ययने षड् नाम्न्यौदयिकादय. षड् भावा पठ्यन्ते । तत्र च क्षायोपशमिके भावे सर्वमप्याचारादि श्रुतं समवतरति यद्—यस्मात् सर्वमपि तत् श्रुत श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादेव जायते, नान्यत., तस्मात् क्षायोपशमिक एव भावे समवतरति । अत इद सामायिकाध्ययनमपि श्रुतविशेषरूपत्वात् क्षायोपशमिक एव भावे समवतरति,नान्यत्रेत्यर्थादुक्तं भवति। इत्युक्त सक्षेपतो नाम।

(१२)साम्प्रतं प्रमाणमभिधित्सुराह—

दव्वाइचउब्भेयं, पमीयए जेण तं पमाणं ति ।
इदमज्झयणं भावो–त्ति भावमाणे समोयरइ ॥६४६॥

द्रव्य—क्षेत्र-काल-भावभेदाच्चतुर्विध प्रमेयम् , प्रमेयचातुर्विध्याच्च प्रमाणमपि चतुर्विधम्—द्रव्यप्रमाणम्, क्षेत्रप्रमाणम् , कालप्रमाणम् , भावप्रमाणं चेति । द्रव्यादिक चतुर्विधं प्रमेय प्रमीयतेऽनेनेति कृत्वा । तत्रेद सामायिकाध्ययन श्रुतज्ञानविशेषत्वेन जीवपर्यायत्वाज्जीवभावत्वाद् भावप्रमाणे समवतरति । आह—ननु भावप्रमाणमपि त्रिविधम् गुणप्रमाणम् , नयप्रमाणम् , सङ्ख्याप्रमाण चेति । तत्र सामायिक क्व समवतरति ? इति । उच्यते—गुणप्रमाणे । ननु गुणप्रमाणमपि द्विविधम्-जीवगुणप्रमाणम् , अजीवगुणप्रमाण च । तत्र सामायिकं क्व समवतरति ? इति । उच्यते जीवानन्यत्वेन जीवगुणप्रमाणे । ननु जीवगुणोऽपि त्रिविध.-ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् । तत्र क्व सामायिकस्यावतार ?, उच्यते-बोधात्मकत्वात् ज्ञानगुणे । ननु ज्ञानमपि प्रत्यक्षाऽनुमानोपमाना-ऽऽगमभेदाच्चतुर्विधम् , तत्र क्वेदमवतरति ? इति । उच्यते—आगमे । ननु सोऽपि लौकिक—लोकोत्तरभेदाद् द्विविध· लोकोत्तरोऽपि सूत्रार्थोभयरूपत्वात् त्रिविध एव तत् क्वेद समवतरति ? इति । उच्यते-सूत्रार्थोभयभेदात् त्रिविधेऽपि लोकोत्तर आगमे समवतरति तत्स्वभावात्—तत्स्वरूपत्वादिति ।

एतदेवाह—

जीवाणाइसु तणओ, जीवगुणे बोहभावओ नाणे ।
लोउत्तरसु नत्थो-भयागमे तस्स भावाओ ॥ ६४७ ॥

व्याख्यातार्थैव ।

(१३) आह-ननु आत्मागमानन्तरागमपरम्परागमभेदतोऽपि लोकोत्तरागमस्त्रिविधः तत् क्वेदमवतरति ? इत्याशङ्क्याह-

सुयओ गणहारीणं, तस्सिस्साणं तहाऽवसेसाणं ।
एवं अत्ताणंतर-परंपरागमपमाणम्मि ॥ ६४८ ॥
अत्थेण उ तित्थंकर-गणहर-सेसाणमेवमेवेदं ।

यथा जीवगुणादिष्वस्यावतारः , एवमात्मानन्तरपरम्परागमप्रमाणेऽप्यवतारो मन्तव्यः । कथम् ? , इत्याह-सूत्रतो गणधराणामिदमात्मागम , तैरेव तत्सूत्रस्य निर्वर्तितत्वात् , अत आत्मन एव सकाशादागमनमस्येति कृत्वा । तच्छिष्याणां तु जम्बूस्वाम्यादीनां सामायिकसूत्रमनन्तरागम , अनन्तरादेव गणधरादागमनमागमोऽस्येति हेतो । तथाऽवशेषाणां प्रभवशय्यंभवादीनामेतत् सूत्रं परंपरागम सूरिपरम्परयाऽऽगमनमागमोऽस्येति युक्तेः । तदेवं सूत्रतो यथासंख्येन गणधरादीनामात्मागमादित्वयोजना कृता॥६४८॥ अर्थेनाप्येवमेवेदं सामायिकं यथासंख्येन तीर्थकरगणधरशेषजम्बूप्रभृतीनामात्मागमानन्तरागमपरम्परागमत्वेन वक्तव्यमिति ।

(१४) ननु नयनप्रमाणे समवतारोऽस्य भवति, न वा ?, इत्याशङ्क्य गाथोत्तरार्धमाह—

मूढनयं ति संपइ, नयप्पमाणेऽवयारो से ॥ ६४९ ॥

' मूढनइय सुयं कालिय, न नया समोयरंति इहं ' इति वचनाद् मूढनय चिरन्तनमुनिभि· शिष्यव्यामोहभयाद् निषिद्धनयविचारं सम्प्रति श्रुतम् , अतो नयप्रमाणे नाऽस्यावतार इति ।

(१५) आह ननु कियत· कालादर्वात् कालिकश्रुतेन नयविचारो निषिद्ध ? , इत्याह—

आसी पुरा सो नियओ, अणुओगाणमपुहुत्तभावम्मि ।
संपइ नत्थि पुहुत्ते, होज्ज व पुरिसं समासज्ज ॥ ६५० ॥

पुरा·-पूर्व चरणकरणधर्मकथागणितद्रव्यानुयोगलक्षणाना चतुर्णामनुयोगानामपृथग्भावे प्रतिसूत्र चतुर्णामप्यवतारे स नयावतारो नियतो निश्चित आसीत् । साम्प्रत पुनरनुयोगाना पृथक्त्वे-"कालियसुयं च इसिभा-सियाइँ तइया य सूरपन्नत्ती । सव्वो य दिट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो ॥ १ ॥" इति वचनात् पार्थक्येन व्यवस्थापने सति नास्त्यसौ नयावतार । किं सर्वथा ? , न , इत्याह—भवेद् वा प्राज्ञपुरुषविशेष समासाद्य कोऽपि कियानपीति । इदमुक्त भवति—श्रीमदार्यरक्षितसूरीन् यावदेकैकस्मिन् सूत्रेऽनुयोगचतुष्टयव्याख्यानम् , नयविचारश्च विस्तरेणाऽऽसीत् । ततश्च तैरेव श्रीमदार्यरक्षितसूरिभिर्विचारबाहुल्याद् मुहुः शिष्यानवलोक्य चत्वारोऽप्यनुयोगा भेदेन व्यवस्थापिता , तद्यथा—कालिकश्रुते चरणकरणानुयोग एवं व्याख्येय·, उत्तराध्ययनादिषु धर्मकथानुयोग , सूर्यप्रज्ञप्त्यादिषु गणितानुयोग· , दृष्टिवादे द्रव्यानुयोगः । नयविचारश्चाऽर्वाक् प्रायो - निषिद्ध· । इति न सामायिकस्य प्रायो नयेष्ववतार इति ।

(१६) सङ्ख्याप्रमाणे तर्ह्यवतरतीदं न वा ? इत्याह—

संखामाणे कालिय-सुयपरिमाणे परित्तपरिमाणं ।
सुयओ तदत्थओ पुण, भणियं तमणंतपज्जायं ॥६५१॥

संख्या नाम—स्थापना-द्रव्य-क्षेत्रकालौ-पम्य—परिमाण-भावभेदाऽनुयोगद्वारेष्वष्टधा प्रोक्ता । तत्र संख्यामाने-सङ्ख्याप्रमाणे विचार्यमाणे कालिकश्रुतपरिमाणे एतदवतरति । तत्र कालिकश्रुतपरिमाण द्विविधम्—सूत्रत , अर्थतश्च । तत्र सूत्रतस्तु सामायिकाध्ययनं परीत सङ्ख्याताक्षरादि नियतपरिमाणम् । तस्य सामायिकस्यार्थस्तदर्थस्तत· पुनरनन्तपर्यायत्वादनन्तपरिमाण भणितमिति । तदेव प्रमाणमप्युक्तं संक्षेपत· ।

(१७) अथ वक्तव्यतामभिधित्सुराह—

समओ जो सिद्धंतो, सो सपरोभयगओ तिविहभेओ ।
तत्थ इमं अज्झयणं, ससमयवत्तव्वया निययं ॥ ६५२ ॥

यः सिद्धान्त स तावद् समय उच्यते । स च त्रिविध स्वसमय—परसमयो—भयसमयभेदात् । अत एव वक्तव्यताऽनुयोगद्वारेषु त्रिविधा प्रोक्ता स्वसमयवक्तव्यता , परसमयवक्तव्यता, स्वपरोभयवक्तव्यता चेति । तत्रेदं सामायिकाध्ययनं स्वसमयवक्तव्यतानियतम् स्वसमयस्यैवेह प्रतिपाद्यमानत्वादिति ।

न केवलमिदमध्ययनम् , किन्तु सर्वाण्यप्यध्ययनानि स्वसमयवक्तव्यतानियतान्येव । कुत· ?, इत्याह—

परसमओ उभयं वा, सम्मद्दिट्ठिस्स समसओ जेणं ।
तो सव्वज्झयणाइं, ससमयवत्तव्वनिययाइं ॥६५३॥

यतः परसमय , उभयसमयो वा सम्यग्दृष्टेः स्वसमय एव, यथावद्विषयविभागेन व्यवस्थापनात् । ततो यद्यपि केषुचिदध्ययनेषु परोभयसमयवक्तव्यताऽपि श्रूयते, तथापि तानि सर्वाण्यपि स्वसमयवक्तव्यतानियतान्येव, सम्यग्दृष्टिपरिग्रहात् , एतच्च पूर्वमनेकशो भावितमेवेति ।

किञ्च-

मिच्छत्तमयसमूहं, सम्मत्तं जं च तदुवगारम्मि ।
वट्टइ परसिद्धंतो, तो तस्स तओ ससिद्धंतो ॥६५४॥

मिथ्यात्वानामेकान्तक्षणिकत्वा-ऽक्षणिकत्ववादिसौगतादिमतानां य· समूह·-समुदाय· स्यात्पदलाञ्छित , स एव यस्मात् सम्यक्त्वं, नान्यत् । यस्माच्च तस्य—स्वसमयस्योपकारस्तदुपकारस्तस्मिन् वर्त्तते परसिद्धान्त , परसिद्धान्तव्यावृत्त्यैव स्वसिद्धान्तसिद्धेः असमञ्जसवादित्वं परसिद्धान्ताना दृष्ट्वा स्वसिद्धान्ते स्थैर्यसिद्धेश्चेति । ततस्तस्मात्तस्य सम्यग्दृष्टेस्तक परसिद्धान्त· स्वसिद्धान्त एव । तदेव सम्यग्दृष्टे सर्वोऽपि विषयविभागेन स्थापित स्वसिद्धान्त एव , इति सर्वाण्यप्यध्ययनानि स्वसमयवक्तव्यतानियतान्येवेति स्थितम् । तदेवमभिहिता वक्तव्यता ।

(१८) अथार्थाधिकारमभिधित्सुराह—

सावज्जजोगविरई, अज्झयणत्थाहिगार इह सो य ।

मण्णइ समुदायत्थो, ससमयवत्तव्वया देसो ॥९५५॥

इह सावद्ययोगविरतिः-सामायिकाध्ययनस्यार्थाधिकारः, स च समुदायार्थो भण्यत इति प्रागप्युक्तमेव । स एव च स्वसमयवक्तव्यतायाः सम्पूर्णाया एकदेशोऽभिधीयत इति । उक्तोऽर्थाधिकारः ।

(१९) अथ समवतारमभिधित्सुराह--

अहुणा य समोयारो, जेण समोयारियं पइद्दारं ।
सामाइयँ सोऽणुगओ,लाघवओ नो पुणो वओ ॥९५६॥

अधुना समवतारोऽवसरप्राप्तः । चकारो भिन्नक्रमे, तद्यथा--स च 'लाघवउ' त्ति--लाघवमाश्रित्य लाघवार्थमित्यर्थः, अनुगतः पूर्वमेव गतः-अतिक्रान्तः पूर्वमेवाभिहित इत्यर्थः । कथम् ?, इत्याह--येन यस्मात् प्रतिद्वारं सामायिकाध्ययनं समवतारितमेव । ततो नेदानीं पुनरपि समवतारो वाच्यः , तद्व्यापारस्याऽऽध्ययनसमवतारणलक्षणस्य प्रतिद्वारमनिष्ठितत्वात् । एतदुक्तं भवति--अधुना षष्ठ उपक्रमभेदः समवतारः प्रस्तुतः , स च लाघवार्थं सामायिकस्य प्रतिद्वारं समवतारितत्वात् पूर्वमेवाभिहितः , इति न पुनरप्यत्रोच्यते , पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् इति । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

(२०) अथानुगमलक्षणं तृतीयमनुयोगद्वारं संम्बन्धोपदर्शनपूर्वकमाह—

संपयमोहाईणं , संनिक्खित्ताणमणुगमो कज्जो ।
सोऽणुगमो दुविगप्पो, नेओ निज्जुत्तिसुत्ताणं ॥९७१॥

ओघादीनां निक्षिप्तानां सतां साम्प्रतमनुगमस्तद्व्याख्यानरूपः कार्य इत्यानुगमस्यावसरः । स च द्विविधः निर्युक्त्यनुगमः , सूत्रानुगमश्च । छन्दोऽनुवृत्त्या च कयाचिदित्थं व्यत्ययोपन्यासः । इत्थं च पुनर्द्रष्टव्यः-सूत्रानुगमः, निर्युक्त्यनुगमश्चेति । तथा चानुयोगद्वारेऽप्युक्तम्-" अणुगमे दुविहे पन्नत्ते , तं जहा-सुत्ताणुगमे , निज्जुत्तिअणुगमे य । निज्जुत्तिअणुगमे तिविहे पन्नत्ते, तं जहा-निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे , उवग्घायनिज्जुत्तिअणुगमे , सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिअणुगमे य । " इति । विशे० ।

(२१) अथ नामनिष्पन्नं निक्षेपमभिधित्सुरध्ययनस्य विशेषनाम तन्निक्षेपं चाह—

सामाइयं ति नामं . विसेसविहियं चउव्विहं तं च ।
नामाइनिरुत्तीए , सुत्तप्फासे व तं वोच्छं ॥ ८६२ ॥

प्रस्तुताध्ययनस्य सामायिकमिति विशेषविहितं नाम । तच्च चतुर्विधम् । कथम् ?, इत्याह-नामादि-नामसामायिकम् , स्थापनासामायिकम् , द्रव्यसामायिकम् , भावसामायिकं चेति । एतच्चार्थनिरूपणतो वक्ष्येऽहम् । क ?, इत्याह-निरुक्तौ ' उद्देसे निद्देसे य निग्गमे ' इत्याद्युपोद्घातनिर्युक्तिगतगाथाद्वयपर्यन्ते ' भवागरिसफासणनिरुत्ती, इति यद् निर्युक्तिद्वारं तत्रार्थतोऽभिधास्य इत्यर्थः । यदि वा-निर्युक्त्यनुगमभेदरूपायामेव सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तौ वक्ष्य इति ।

(२२) अत्राक्षेपपरिहारौ प्राह—

इह जइ कीस निरुत्ते,तत्थ व भणियमिह भण्णए कीस ? ।
निक्खेवमित्तमिहइं , तस्स निरुत्तीएँ वक्खाणं ॥९६३॥

आह—यद्यत्रापीदं चतुर्विधं विशेषनाम भणनीयत्वेनावसरप्राप्तम् , तर्हि किमुच्यते-निरुक्त्यादौ वक्ष्ये ? । अथ तत्र वक्ष्यते, तर्ह्यत्र किमर्थमुच्यते ? । अत्रोत्तरमाह-' निक्खेवे ' त्यादि,इह नामादिनिक्षेपमात्रस्यैव भणनावसरः, स च नामादिचातुर्विध्यभणनादुक्त एव , निरुक्तौ तु तदर्थो निरूपयिष्यत इत्यदोषः ।

पुनरप्यन्यथाऽऽक्षिप्य परिहरति—

तो कीस पुणो सुत्ते, सुत्तालावो तओ न तन्नामं ।
इह उण नामं नत्थं, तं वक्खायं निरुत्तीए ॥९६४॥

हन्त ! यदि निरुक्तौ सामायिकं व्याख्यायते, तर्हि 'करोमि भदन्त ! सामायिकम् ' इत्यादि किमिति पुनरपि सूत्रे व्याख्यायते ? । नैवम् , यतः--सूत्रालापक एव तकोऽसौ व्याख्यायते न पुनस्तन्नाम व्याख्यानम् , इह पुनर्नामादिभेदैः सामायिकनाम न्यस्तम् तच्च निरुक्तौ व्याख्यातम् , इति विषयविभागात् सर्वं सुस्थमिति ।

पुनः प्रेर्यमुत्थाप्य परिहरति-

इह पुण कीस न भण्णइ,जं निक्खेवो इमो स निज्जुत्ती ।
निज्जुत्ती वक्खाणं, निक्खेवो नासमेत्तं तु ॥९६५॥

नन्विहैव निक्षेपद्वारे किमिति न भण्यते—न व्याख्यायते-सामायिकम् , येन निरुक्तौ व्याख्यायते ? । अत्रोच्यते-यद्-यस्मादसौ निक्षेपः प्रस्तुतः, तत्र च प्रस्तुते व्याख्यानस्य कोऽवसरः ? । 'स निज्जुत्ति' त्ति-सा पुनर्वक्ष्यमाणा निर्युक्तिरुपोद्घातनिर्युक्तिद्वाररूपत्वाद् निर्युक्तिः । यदि नाम सा निर्युक्तिः तथापि तत्र व्याख्यानस्य किमायातम् ? । इत्याह-'निज्जुत्तिवक्खाण' त्ति-निर्युक्तिरनुगमभेदत्वाद् व्याख्यानात्मिकैव भवति अतो युक्तं तस्यां व्याख्यानम् । निक्षेपोऽपि तर्हि व्याख्यानरूपो भविष्यति, इत्याह—'निक्खेवो नासमेत्तं तु ' त्ति—निक्षेपस्तु नामादिन्यासमात्रात्मक एव वर्तते, न तु व्याख्यानरूपः, अनुगमस्यैव तद्रूपत्वात् । अतः कोऽत्र निक्षेपे व्याख्यानावसरः ? इति ।

पुनरपि परमतमाशङ्क्य प्रतिविधातुमाह—

नणु निज्जुत्ति अणुगमे,भणिया एसा वि नासनिज्जुत्ती ।
सच्चमियं निज्जुत्ती, इयं तु निक्खेवमित्तस्स ॥९६६॥

ननु यदि निर्युक्तावेव व्याख्यानमिष्यते भवद्भिः, तर्ह्यत्रापि ब्रूमो वय वदुत-एषाऽपि निर्युक्त्यनुगमे न्यासनिर्युक्तिर्भणिता, अयमपीह प्रस्तुतो निक्षेपो वक्ष्यमाणे निर्युक्त्यनुगमे निक्षेपनिर्युक्तित्वेन भणिष्यत इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति-अनुगमो द्विविधो वक्ष्यते, तद्यथा-सूत्रानुगमः, निर्युक्त्यनुगमश्च । निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधोऽभिधास्यते-निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्चेति । यथा-" से किं त निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे ? । निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे अणुगए , वक्खमाणे य " । एतदपि वक्ष्यते । तत्रायमर्थ —अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकादिपदानां नाम-स्थापनादिनिक्षेपद्वारेण यद् व्याख्यान कृतम् , तेन निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः प्रोक्तो-द्रष्टव्यः , सूत्रालापकाना निक्षेपप्रस्तावे पुनर्वक्ष्यते च । तदेवमेतेनैषोऽपि निक्षेपो निक्षेपनिर्युक्तित्वेनाऽनुगमे प्ररूप्यमाणोऽभिधा-

स्यते । अतः किमुच्यते—' नेह व्याख्यानम् ' किन्तु-निरुक्तावेव इति ? । तदेवमतिनिपुणं परस्य प्रेर्यमवलोक्याऽभ्युपगमपूर्वकमुत्तरमाह-' सच्चं ' मित्यादि, ' सत्यम् ' इयमपि प्रस्तुतनिक्षेपलक्षणा निर्युक्तिः, किन्त्वियं निक्षेपमात्रस्य नामस्थापनादिनिक्षेपस्वरूपमिरूपणायैव, न विशेषार्थस्येत्यर्थः, निरुक्तौ तु "सम्मद्दिट्ठि अमोहो, सोही सब्भावदंसणं बोही" इत्यादिना ग्रन्थेन शब्दार्थादिविचारः करिष्यत इति भावः ।

अथवा—किमनेन बहुना प्रोक्तेन ? , अतिगहनं प्रकरणमिदम् , अतः संक्षिप्य विशेषविषयविभागतात्पर्यमुच्यते, तथा चाह—

निक्खेवे मित्तमिह वा, अत्थवियारो य नासजुत्तीए ।
सद्दगओ य निरुत्ते, सुत्तप्फासम्मि सुत्तगओ ॥ ६६७ ॥

अथवा—इह निक्षेपद्वारे सामायिकस्य नामादिनिक्षेपमात्रमेवोच्यते , तदर्थनिरूपणामात्रमेव च निक्षेपनिर्युक्तौ निर्दिश्यते । नैरुक्तस्तु शब्दगतो विचार उपोद्घातनिर्युक्त्यन्तर्गते निर्युक्तिद्वारे-' सम्मद्दिट्ठि अमोहो ' इत्यादिना ग्रन्थेन शब्दार्थविचारः करिष्यत इत्यर्थः । सूत्रस्पर्शे तु सूत्रगतो विचारः सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्तौ सूत्रालापकद्वाराऽऽयातस्य सामायिकस्यार्थविचारः क्रियते , न तु सामायिकनाम्न इत्यर्थः । एवं विषयविभागेनाऽवस्थानात् सर्वं समञ्जसमिति । तदेवमभिहितो नामनिष्पन्नोऽपि निक्षेपः ।

(२३) अथ सूत्रालापकनिक्षेपस्यावसरः , तत्राह—

जो सुत्तपयन्नासो, सो सुत्तालावयाण निक्खेवो ।
इह पत्तलक्खणो सो,निक्खिप्पइ न पुण किं कज्जं ।६६८।
सुत्तं चेव न पावइ, इह सुत्तालावयाण कोऽवसरो ? ।
सुत्ताणुगमे काहिइ, तण्णासं लाघवनिमित्तं ॥ ६६६ ॥

' करेमि भन्ते ! सामाइयं ' इत्यादिसूत्रपदानां यो नामस्थापनादिरूपेण न्यासः , स सूत्रालापकनिक्षेपः । स चेह प्राप्तलक्षणः-प्राप्तावसर एव , न पुनर्निक्षिप्यते-न पुनः सूत्रालापक , इदानीमेव निक्षिप्यत इति भावः । किं कार्यं-कस्माद्धेतोः ?, इत्याह-सूत्रमेव तावदिदानीं न प्राप्नोति , अतः सूत्रालापकानामिह निक्षेपे कर्त्तव्ये कोऽवसरः ? । इदमुक्तं भवति-सूत्रानुगम एव सूत्रमुच्चारयितव्यम् उच्चारिते च सूत्रे तदालापकविभागः , तदविभागे च तन्निक्षेपः । अतः सूत्राभावात् कः सूत्रालापकानामिह निक्षेपेऽवसरः ? । तर्हि कदा तन्निक्षेपो विधेयः ?, इत्याह-सूत्रानुगमे प्राप्ते करिष्यति लाघवार्थं सूरिस्तन्निक्षेपमिति ।

अथ पूर्वापरासंबद्धतामाशङ्क्य परिहरति—

इह जइ पत्तो वि तओ, न नस्सए कीस भणए इहइं।
दाइज्जइ सो निक्खे-वमेत्तसामण्णओ नवरं ॥ ६७० ॥

नन्विह प्राप्तावसरोऽपि यदि तकोऽसौ सूत्रालापकनिक्षेपो न न्यस्यते-न विधीयते, तर्हीत्र किमर्थं भण्यते-' सूत्रालापकनिक्षेपश्च इत्येव निक्षेपतृतीयभेदत्वेन किमर्थमिहोपन्यस्यते ?, अनुगमेऽपि किमिति न भण्यते ? इति भावः । सत्यम् , किन्त्वोघनिष्पन्नादिना निक्षेपेण सह निक्षेपमात्रसाम्यात् नवरं—केवलं दर्श्यत एवाऽयमत्र , न तूपन्यस्यते , ग्रन्थगौरवभयात् । इति । विशे० ।

(२४) चतुर्विधस्य सामायिकस्य क्रिया-कारकभेदपर्यायैः शब्दार्थकथनं निर्वचनं निरुक्तिः । तत्र सम्यक्त्व-सामायिकनिरुक्तिमभिधित्सुराह—

सम्मद्दिट्ठि अमोहो, सोही सब्भावदंसणं बोही ।
अविवज्जओ सुदिट्ठी, एवमाई निरुत्ताइं ॥ २७८४ ॥

सम्यग् इति—प्रशंसार्थः, दर्शन दृष्टिः , सम्यग्—अविपरीता दृष्टिः सम्यग्दृष्टिः अर्थानाम्—इति गम्यते । मोहनं मोहो वितथग्राहः, न मोहः अमोहः—अवितथग्राहः । शोधन शुद्धिर्मिथ्यात्वमलापगमात् सम्यक्त्वं शुद्धिरुच्यते । सत्—जिनाभिहितं प्रवचनम् , तस्य भावः सद्भावः , तस्य दर्शनम्-उपलम्भः, सद्भावदर्शनम् । बोधनं बोधिरित्यौणादिक इन् परमार्थबोधः । अतस्मिंस्तदध्यवसायो विपर्ययो न विपर्ययोऽविपर्ययस्तत्त्वाध्यवसाय इत्यर्थः । सुशब्दः प्रशंसायाम् , शोभना दृष्टिः सुदृष्टिः । इत्येवमादीनि सम्यग्दर्शनस्य निरुक्तानीति ।

(२५) श्रुतसामायिकनिरुक्तिप्रदर्शनायाह—

अक्खर सन्नी सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥२७८५॥

इयं च पीठे व्याख्यातत्वाद् न विव्रियते ।

देशविरतिसामायिकनिरुक्तिमाह—

विरयाविरई संवुड-मसंवुडे बालपंडिए चेव ।
देसिक्कदेसविरई, अणुधम्मोऽगारधम्मो य ॥२७८६॥

विरमणं विरतम् , न विरतिरविरतिः, विरत चाविरतिश्च यस्यां निवृत्तौ सा विरताविरतिः । संवृतासंवृताः-स्थगितास्थगिताः परित्यक्तापरित्यक्ताः सावद्ययोगा यस्मिन् सामायिके तत् संवृताऽसंवृतम् । एवमुभयव्यवहारानुगतत्वाद् बालपण्डितम् । देशः प्राणातिपातादिः , एकदेशस्तु वृक्षच्छेदनादिस्तयोर्विरमणं-विरतिर्यस्यां निवृत्तौ सा देशैकदेशविरतिः । बृहत्साधुधर्मापेक्षयाऽणुः-अल्पो धर्मोऽणुधर्मो देशविरतिलक्षणः । न गच्छन्तीत्यगा—वृक्षास्तैः कृतमगारं—गृहम् , तद्योगादगारो गृहस्थस्तद्धर्मश्चेति ।

(२६) सर्वविरतिसामायिकनिरुक्तिमुपदर्शयन्नाह—

सामाइयं समइयं, सम्मावाओ समाससंखेवो ।
अणवज्जं च परिन्ना, पचक्खाणं च ते अट्ठा ॥ २७८७ ॥

समो राग—द्वेषरहितत्वाद् मध्यस्थः, अयनमयो गमनमित्यर्थः समस्यायः समायः स एव सामायिकमेकान्तप्रशमगमनमित्यर्थः । सामायिकमिति—' सम् ' इति सम्यक्शब्दार्थ उपसर्गः , सम्यगयः समयः, सम्यग् दयापूर्वक जीवेषु विषये गमन , प्रवर्तनमित्यर्थः , समयोऽस्यास्तीति सामयिकम् । ' सम्मावाउ ' त्ति—सम्यग्शब्देनेह रागद्वेषविरह उच्यते , तेन तत्प्रधानो वादो वदन सम्यग्वादो रागादिविरहेण यथावद् वदनमित्यर्थः । ' समास ' त्ति—सशब्दः प्रशंसायाम् , असु क्षेपणे , शोभनमसनं संसारादू बहिर्जीवस्य जीवात् कर्मणो वा क्षेपण समासः । अथवा,—सशब्द सम्यगर्थः, सम्यगासः समास । रागद्वे-

परहिस्य समस्य वा आस० समासः । 'संखेवो' त्ति-संक्षेपणं संक्षेप० सामायिकमुच्यते, महार्थस्यापि स्तोकाक्षरत्वादस्येति । 'अणवज्ज' ति-अवद्यं—पापं नास्मिन्नवद्यमस्तीत्यनवद्यं सामायिकम् । 'परिएण' त्ति—परितः-समन्ताज्ज्ञान पापपरित्यागेन परिज्ञा सामायिकम् । 'पच्चक्खाण' ति—प्रति हरणीयं वस्तु आख्यानं गुरुसाक्षिकं निवृत्तिकथन प्रत्याख्यानम् । एतेऽष्टौ सामायिकपर्यायाः । इति निर्युक्तिगाथाचतुष्टयार्थ । विशे० ।

'सामाइय समइयं' इत्यादिचारित्रनिरुक्तेस्तु व्याख्यानं-साक्षादेवाह—

राग-द्दोसविरहिओ,समो त्ति अयणं अओत्ति गमणं ति ।
समयागमो समाओ, स एव सामाइयं होइ ॥ २७९२ ॥
सम्ममओ समउ त्ति य, सम्मं गमणं ति सव्वभूएसु ।
सो जस्स तं समइयं,जम्मि य भेओवयारेण ॥ २७९३ ॥
रागाइरहो सम्मं, वयणं वाओऽभिहाणमुत्ति त्ति ।
रागाइरहियवाओ , सम्मावाओ त्ति सामइयं ॥२७९४॥
अप्पक्खरं समासो, अहवाऽऽसोऽसण महासणं सव्वा ।
सम्मं समस्स वासो, होइ समासो त्ति सामइयं ।२७९५।
संखिवणं संखेवो, सो जं थोवक्खरं महत्थं च ।
सामइयं संखेवो,चोद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति ॥ २७९५ ॥
पावमवज्जं सामा-इयं अपावं ति तो तदणवज्जं ।
पावमणं ति न जम्हा,वज्जिज्जइ तेण तदसेसं ॥ २७९७ ॥
पावपरिच्चायत्थं,परितो नाणं मया परिएण त्ति ।
पइवत्थुमिहक्खाणं,पचक्खाणं निवित्ति त्ति ॥ २७९८॥
विशे० ।

रागद्दोसविरहिओ,समो त्ति अयणं अओ त्ति गमणं ति ।
समगमणं ति समाओ, स एव सामाइयं नाम ॥३२७७॥
अहवा भवं समाए, निव्वत्तं तेण तम्मयं वा वि ।
जं तप्पओयण वा , तेण व सामाइयं नेयं ॥ ३४७८ ॥
अहवा समाइँ सम्म-त्त नाण चरणाइँ तेसु तेहिं वा ।
अयणं अओ समाओ, स एव सामाइयं नाम । ३४७९ ।
अहवा समस्स आओ,गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो ।
अहवा समाणमाओ, नेओ सामाइयं नाम ३४८० ॥

भागपि निरुक्तिद्वारे प्रायश्चर्चितार्था , सुगमाश्चेति ।

अथवा—अन्यथा व्युत्पत्तिरित्याह-

अहवा सामं मित्ति, तत्थ अओ तेण होइ सामाओ ।
अहवा सामस्साओ, लाभो सामाइयं नाम ॥ ३४८१ ॥
सम्ममओ वा समओ , सामाइयमुभयविद्धि भावाओ ।
अहवा सम्मस्साओ, लाभो सामाइयं होइ ॥ ३४८२ ।

अथवा-सर्वजीवेषु मैत्री-साम भण्यते तत्र साम्नि अयो-गमनम् साम्ना वाऽयो गमनं-वर्त्तन सामाय । अथवा-साम्न आयो-लाभ सामाय स एव सामायिक नामेति । अथवा-सम्यगर्थसशब्दपूर्वकोऽयं धातुः , सम्यग् अयनवर्त्तनं समय०, समय एव स्वार्थिके कञ्प्रत्ययोपादानादुभयत्र वृद्धिभावाच्च सामायिकम् । अथवा—सम्यगायो-लाभ० समाय०, स एव सामायिकम् । अथवा-समस्य भावः साम्यम् , साम्यस्यायो निपातनात् सामाय० , स एव सामायिकमिति ।

अथवा-अन्यथा निरुक्तविधिरुच्यत इत्याह-

अहवा निरुत्तविहिणा, सामं सम्मं समं च जं तस्स ।
इकमप्पए पवेसण-मेयं सामाइयं नेयं ॥ ३४८३ ॥

अथवा-निरुक्तविधिना बहुव्युत्पत्तिकमेतत् सामायिक ज्ञेय ज्ञातव्यमिति कथम् ? इति । अत्रोच्यते—इकशब्दो देशीवचन क्वापि प्रवेशार्थे वर्त्तते । आत्मोपमया परेषा दुःखस्याकरण सामेष्ट गृह्यते तस्य आत्मनि इक यदात्मनि प्रवेशनम् नकारस्यायादेशनिपातनात् , तत् सामायिकम् । तथा—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्य परस्पर योजन सम्यगिहोच्यते,निर्वाणसाधकत्वेन तद्योगस्यैव परमार्थत० सम्यग्रूपत्वात् , तस्य सम्यग्दर्शनादिरूपस्य सम्यग्-इत्येतस्यात्मनि यत् इकं-प्रवेशनम् यकारादेरयादेशनिपातने सकारस्य च दीर्घत्वे, तत् सामायिकम् । तथा—रागद्वेषमाध्यस्थ्यमात्मन० सर्वत्र तुल्यरूपेण वर्तनं सममुच्यते, तस्य समस्यात्मनि यत् इकं—प्रवेशनम् , समशब्दादयागमे सकारस्य दीर्घत्वे तत् सामायिकमिति । विशे० । स्था० । आव० । आ० म० । आ० । आ० चू० । (सामायिकसयमव्याख्या 'संजम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता) (" साम समं० " (१०३०) इत्यादिगाथया सामायिकशब्दस्यैकार्थिकानि 'साम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तानि ।) (कियन्ति सामायिकानि मनुष्यादय प्रतिपद्यन्ते इति 'समोसरण' शब्देऽस्मिन्नेवभागे गतम् ।) (दमदन्त उदाहरणकथा 'दमदन्त' शब्दे चतुर्थभागे २४५६ पृष्ठे गता ।) सामायिकशब्दयोजना चैव द्रष्टव्या—इहाऽऽत्मन्येव साम्न इकं निरुक्तनिपातनात् [यद् यल्लक्षणेनानुपपन्न तत् सर्वं निपातनात् सिद्धमिति] साम्नो नकारस्याऽऽय आदेश०, ततश्च सामायिकम् , एवं समशब्दस्याऽऽयादेश० समस्य वा आय० समाय० स एव सामायिकमिति , एवमन्यत्रापि भावना कार्येति कृत प्रसङ्गेन ।

साम्प्रतं सामायिकपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

समया सम्मत्त पस-त्थ संति सुविहिअ सुहं अनिंदं च ।
अदुगुंछिअमगरिहिअं,अणवज्जमिमेऽवि एगट्ठा ॥१०३३॥

व्याख्या—निगदसिद्धैव । आह-अस्य निरुक्तावेव 'सामाइयं समइय ' मित्यादिना पर्यायशब्दा प्रतिपादिता एव तत् पुन किमर्थमभिधानमिति ? , उच्यते—तत्र पर्यायशब्दमात्रता, इह तु वाक्यान्तरेणार्थनिरूपणमिति , एव प्रतिशब्दमर्थभेदतोऽनन्ता गमा अनन्ता पर्याया इति चैकस्य सूत्रस्येति ज्ञापित भवति, अथवाऽसम्मोहार्थं नवाक्तावप्यभिधानमदुष्टमेव इत्यत एवोक्तम्-' इमेऽवि एगट्ठ ' त्ति एतेऽपि तेऽपीत्यदोष ।

(नामनिष्पन्नसामायिकस्य चातुर्विध्यम् ' णिक्खेव ' शब्दे चतुर्थभागे २०२७ पृष्ठे गतम् ।)

(२७) चतुर्विधं सामायिकम्

णामठवणाओ पुव्वं भणिआओ । दव्वसामाइए वि तहेव, ०जाव से तं भविअसरीरदव्वसामाइए । से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए ?, जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए पत्तेयपोत्थयलिहिअं। से तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए। से तं णोआगमओ दव्वसामाइए । से तं दव्वसामाइए । से किं तं भावसामाइए ?, भावसामाइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-आगमओ अ,नोआगमओ अ । से किं तं आगमओ भावसामाइए ?, आगमओ भावसामाइए , जाणए उवउत्ते । से तं आगमओ भावसामाइए । से किं तं नोआगमओ भावसामाइए ?, नोआगमओ भावसामाइए "जस्स सामाणिओ अप्पा,संजमे णिअमे तवे । तस्स सामाइअं होइ,इइ केवलिभासिअं॥१॥जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ । तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥२॥" (अनु०) से तं नोआगमओ भावसामाइए। से तं भावसामाइए । (सू०-१५४ +)

'जस्स सामाणिओ अप्पा' इत्यादि, यस्य सत्त्वस्य सामानिक:-संन्निहित आत्मा सर्वकाले व्यापारात् क ?—संयमे मूलगुणरूपे , नियमे—उत्तरगुणसमूहात्मके तपसि-अनशनादौ तस्यैत्थंभूतस्य सामायिकं भवतीत्येतत्केवलिभाषितमिति श्लोकार्थ: ।'जो समो' इत्यादि, यः सम: सर्वत्र मैत्रीमात्रातुल्य: सर्वभूतेषु-सर्वजीवेषु त्रसेषु स्थावरेषु च तस्य सामायिकं भवतीत्येतदपि केवलिभाषितम् , जीवेषु च समत्वं संयमसान्निध्यप्रतिपादनात्पूर्वश्लोकेऽपि लभ्यते , किंतु जीवदयामूलत्वाद्धर्मस्य तत्प्राधान्यख्यापनाय पृथगुपादानमिति । (अनु०) इह च ज्ञानक्रियारूपं सामायिकाध्ययनं नोआगमतो भावसामायिकं भवत्येव , ज्ञानक्रियासमुदाये आगमस्यैकदेशवृत्तित्वात् , नोशब्दस्य च देशवचनत्वाद् , एवं च सति सामायिकवत: साधोरपीह नोआगमतो भावसामायिकत्वेनोपन्यासो न विरुध्यते, सामायिकतद्वतोरभेदोपचारादिति भाव: । नामनिष्पन्नो निक्षेप: समाप्तः ।

(२८) एपूदाहरणानि । सामायिके तावत्—

"इहास्ति भरतक्षेत्रे , नगरं हस्तिशीर्षकम् ।
सुवृत्तरत्नमुक्ताढ्यं , हस्तिशीर्षविवोन्नतम् ॥ १ ॥
दमदन्तः प्रभुस्तत्र , धरित्रीधवपुङ्गव ।
य सौन्दर्याच्च शौर्याच्च , विषमायुधदर्पहृत् ॥ २ ॥
इत पुरं गजपुर, यद् दृष्ट्वा मन्यते जन: ।
साक्षात्तु स्वर्ग एवायं , धात्रैवान्याभिधायिनी ॥ ३ ॥
राज्य युधिष्ठिरस्तत्र , विधत्ते शक्रवद्दिवि ।
चतुर्भिर्भ्रातृभिर्युक्तो लोक-पालैरिव पुरस्कृत: ॥ ४ ॥
विषया इव जीवस्य , दमन्तस्य तेऽरय ।
सोऽन्यदागाद्राजगृहे, जरासंधस्य सन्निधौ ॥ ५ ॥
पाण्डवास्तेऽथ तद्देशं, मुमुषु: पुपुषुस्तथा ।
राजनीतिरियं राज्ञां , बलवत्सु छलं बलम् ॥ ६ ॥
तदाकर्ण्य ससंरम्भः, सर्वौघेण महाबलः ।
दमदन्तः क्षतारातिर्—दन्तिदन्तः समागमत् ॥ ७ ॥"
आ० क० १ अ० । आ० चू० । (शेषा कथा 'समइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।)

पुन: सामायिकस्यैव स्वरूपनिरूपणायाह—

समभावो सामाइयं, तणकंचणसत्तुमित्तविसउ त्ति ।
णिरभिस्संगं चित्तं, उचियपवित्तिप्पहाणं च ॥ ५ ॥

समभावो मध्यस्थाध्यवसायः । सामायिकमुक्तनिर्वचनं भवति । किंविषयोऽसौ समभाव इत्याह—तृणकाञ्चने प्रतीते हेयोपादेयेऽजीवरूपे तदन्यहेयोपादेयाचेतनवस्तूपलक्षणभूते । शत्रुमित्रे च प्रतीते एवाप्रीतिप्रीतिनिबन्धने सचेतने तदन्यैवभूतवस्तूपलक्षणभूते, विषयो गोचरो यस्यासौ तृणकाञ्चनशत्रुमित्रविषय: । इतिर्वाक्यार्थसमाप्तौ । किमुक्तं भवति ?-निरभिष्वङ्ग—रागद्वेषलक्षणाभिष्वङ्गवर्जितं चित्तं मनः सामायिकं भवतीति प्रकृतम् । एवंविधमेव चित्तं सामायिकमिति मन्यमाना बाह्यप्रवृत्तिमकिञ्चित्करीं केचित्कल्पयन्ति, अतस्तच्छिक्षणार्थमाह—उचितप्रवृत्तिप्रधानं सचेष्टासारम् ,निरभिष्वङ्गे हि चित्ते सति प्राय उचितैव प्रवृत्तिर्जायते, साभिष्वङ्गचित्तकार्यत्वाद्भावतोऽनुचितप्रवृत्तेः । इदं चोक्तमनेन 'वीतरागाणां परोपकारप्रवृत्तिर्न समभावं सामायिकं बाधते' इति । चशब्दः समुच्चयार्थ: । इति गाथार्थ ॥५॥ पञ्चा० ११ विव० ।

(२९) द्विविधं सामायिकम्—

सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—इत्तरिए य, आवकहिए य । (सू० १४७×)

सामायिकं—पूर्वोक्तशब्दार्थ तच्च इत्वरं, यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरम्—भाविव्यपदेशान्तरत्वात् स्वल्पकालम् , तच्चाद्यचरमतीर्थकरकालयोरेव यावदद्यापि महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावच्छिष्यस्य संभवति, आत्मनः कथा यावदास्ते तद् यावत्कथं—यावज्जीवमित्यर्थ , यावत्कथमेव यावत्कथिकम् । एतच्च भरतैरावतेष्वाद्यचरमवर्जमध्यमतीर्थकरसाधूना महाविदेहतीर्थकरयतीना च संभवति । अनु० । पं० चू० । तेषामुपस्थापनाया अभावत् । पञ्चा० ११ विव० ।

द्विविधं सामायिकम्—

दुविहे सामाइए, पण्णत्ते, तं जहा—अगारसामाइए चेव, अणगारसामाइए चेव । (सू० ८४×)

' दुविहे ' त्यादि समाना—ज्ञानादीनामायो—लाभ: समायः स एव सामायिकमिति तद् द्विविधम्—अगारवदनगारस्वामिभेदाद् देशसर्वविरतीत्यर्थ: । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

(३०) सामयिकस्योद्देशादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि तत्रोपोद्घातदर्शनायाह—

उद्देसे १ निद्देसे २,
निग्गम ३ खित्ते य ४ काल ५ पुरिसे ६ अ ।

कारण ७ पच्चय ८ लक्खण ६,
नए १० समोआरणा ११ ऽणुमए १२ ॥ ४० ॥
किं १३ कइविहं १४ कस्स १५ कहिं, १६,
केसु १७ कहं १८ केच्चिरं १६ हवइ कालं ।
कइ २० संतर २१ मविरहिअं २२ ,
भवा२३ऽऽगरिस२४फासण२५निरुत्ती२६ ॥१४१॥

उद्देशो वक्तव्य., एवं सर्वेषु क्रिया योज्या। उद्देशनमुद्देश - सामान्याभिधानमध्ययनमिति१। निर्देशनं निर्देश· विशेषाभिधानं सामायिकमिति २। तथा निर्गमनं निर्गमः ३। कुतोऽस्य निर्गमनमिति वाच्यम्, क्षेत्रं वक्तव्यम् कस्मिन् क्षेत्रे ? ४। कालो वक्तव्य· कस्मिन् काले ? ५। पुरुषश्च वक्तव्य कुतः पुरुषात् ? ६। कारणं वक्तव्य किं कारणं गौतमादय· शृण्वन्ति ? ७। तथा प्रत्याययतीति प्रत्यय· स च वक्तव्य., केन प्रत्ययेन भगवतदमुपदिष्टम्?को वा गणधाराणां श्रवण इति८। तथा लक्षणं वक्तव्यं श्रद्धानादि ६। तथा नया-नैगमादय १०। तथा तेषामेव समवतरणं वक्तव्यं यत्र समवतिं, वक्ष्यति च-'मूढणइयं सुय कालियं तु ' इत्यादि ११। अनुमतम् इतिकस्य व्यवहारादे· किमनुमतं—सामायिकमिति , वक्ष्यति-'तवसजमो अणुमओ' इत्यादि १२। क समायिकम् ? 'जीवो गुणपडिवन्नो' इत्यादि वक्ष्यति १३। कतिविधं सामायिकम्? ' सामाइयं च तिविहं , सम्मत्तसुयं तहा चारित्त च ' इत्यादि प्रतिपादयिष्यते १४। कस्य सामायिकमिति, वक्ष्यति 'जस्स सामाणिओ अप्पा' इत्यादि १५। क सामायिकम्, क्षेत्रादाविति, वक्ष्यति-'खेत्तकालदिसिगतिभविय' इत्यादि १६। केषु सामायिकमिति , सर्वद्रव्येषु वक्ष्यति-' सव्वगतं सम्मत्त सुए चरित्तण पज्जवा सव्वे ' इत्यादि १७। कथमवाप्यते ?, वक्ष्यति-'माणुस्सखित्तजाइ' इत्यादि १८। कियच्चिर भवति ? कालमिति , वक्ष्यति—' सम्मत्तस्स सुयस्स य, छावट्ठी सागरोवमाइ ठिती' इत्यादि १६ कति इति कियन्त· प्रतिपद्यन्ते ? पूर्वप्रतिपन्ना वेति वक्तव्यम् , वक्ष्यति च-'सम्मत्तदेसविरया, पलियस्स असंखभागमित्ता उ इत्यादि २०। सान्तरम् इति सह अन्तरेण वर्तते इति सान्तरम् किं सान्तरं , निरन्तर वा ? , यदि सान्तर किमन्तरं भवति ?, वक्ष्यति-' कालमणंतं च सुते, अद्धापरियट्टगो य देसूणो। ' इत्यादि २१। अविरहितम् इति अविरहित कियन्तं काल प्रतिपद्यन्त इति , वक्ष्यति-' सुतसम्मअगारीणं, आवलिया संखभाग ' इत्यादि २२। तथा भवा-इति कियतो भवानुत्कृष्टत स्वल्ववाप्यन्ते ' सम्मत्तदेसविरता, पलियस्स असंखभागमित्ता उ। अट्ठ भवा उ चरित्ते ' इत्यादि २३। आकर्षणमाकर्ष· . एकानेकभवेषु ग्रहणानीति भावार्थ ' तिण्ह सहस्सपुहुत्तं , सयपुहुत्तं च होति विरईए । एगभवे आगरिसा ' इत्यादि, २४। स्पर्शना वक्तव्या, कियत्क्षेत्र सामायिकवन्त· स्पृशन्तीति, वक्ष्यति-'सम्मत्तचरणसहिआ, सव्व लोगं फुसे निरवसेसं।' इत्यादि २५। निश्चिता उक्तिर्निरुक्तिर्वक्तव्या—' सम्मद्दिट्ठि अमोहो, सोही सब्भावदसणं बोही। ' इत्यादि, वक्ष्यति २६। अयं तावद्गाथाद्वयसमुदायार्थ·। अवयवार्थ तु प्रतिद्वारं प्रपञ्चेन वक्ष्याम· । अत्र कश्चिदाह—पूर्वमध्ययन सामायिक तस्यानुगमद्वारचतुष्टयमुपन्यस्तम् , अतस्तदुपन्यास एव उद्देशनिर्देशावुक्तौ , तथौघनामनिष्पन्ने निक्षेपद्वये च , अतः पुनरनयोरभिधानमयुक्तमिति । अत्रोच्यते—तत्र हि अत्र द्वारा गोक्तयोरनागतग्रहणं द्रष्टव्यम्, अन्यथा तद्ग्रहणमन्तरेण द्वारोपन्यासादय एव न स्यु· । अथवा—द्वारोपन्यासादिविहितयोस्तत्राभिधानमात्रमिह त्वर्थानुगमद्वाराधिकारे विधानतो लक्षणतश्च व्याख्या क्रियत इति । आह—यद्येव निर्गमो न वक्तव्य , तस्यागमद्वार एवाभिहितत्वात्, तथा च ' आत्मागम ' इत्याद्युक्तम्, ततश्च तीर्थकरगणधरेभ्य एव निर्गतमिति गम्यते इति । उच्यते—सत्यं किं तु इह तीर्थकरगणधराणामेव निर्गमोऽभिधीयते , कोऽसौ तीर्थकरो गणधराश्चेति वक्ष्यते—वर्धमानो गौतमादयश्चेति । यथा च तेभ्यो निर्गतं तथा क्षेत्रकालपुरुषकारणप्रत्ययविशिष्टमित्यतोऽदोष इति । आह—यद्येव लक्षण = वक्तव्यम् उपक्रम एव नामद्वारे क्षायोपशमिकभावेऽवतारितत्वात्, प्रमाणद्वारे च जीवगुणप्रमाणे आगमे इति । उच्यते-तत्र निर्देशमात्रत्वात्, इह तु प्रपञ्चतोऽभिधानाददोष । अथवा-तत्र श्रुतसामायिकस्यैवोक्तम्, इह तु चतुर्णामपि लक्षणाभिधानाददोष·। आह—नया· प्रमाणद्वार एवोक्ता कि—मिहोच्यन्ते ?, स्वस्थाने च मूलद्वारे वक्ष्यमाणा एवेति । उच्यते—प्रमाणद्वारोक्ता एवेह व्याख्यायन्ते । अथवा—प्रमाणद्वाराधिकारात्तत्र प्रमाणभावमात्रमुक्तम् इह तु स्वरूपावधारणमवतारो वाऽऽरभ्यते, एते च सर्व एव सामाधिकसमुदायार्थमात्रापेक्षया प्रमाणोक्ता उपोद्घातोक्ताश्च नया सूत्रविनियोगिन·, मूलद्वारोपन्यस्तनयास्तु सूत्रव्याख्योपयोगिन एवेति । आह—प्रमाणद्वारे जीवगुण· सामायिकं ज्ञानं चेति प्रतिपादितमेव, ततश्च किं सामायिकमित्याशङ्कानुपपत्ति· । उच्यते—जीवगुणत्वे ज्ञानत्वे च सत्यपि किं तज्जीव एव आहोस्विद् जीवादन्यदिति संशय· तदुच्छित्त्यर्थमुपन्यासाददोष· । आह—नामद्वारे क्षायोपशमिक सामायिकमुक्त तत्तदावरणक्षयोपशमाल्लभ्यत इति गम्यत एव, अत· कथ लभ्यत इत्यतिरिच्यते , न, क्षयोपशमलाभस्यैवेह शेषाङ्गलाभचिन्तनादिति । एव यदुपक्रमनिक्षेपद्वारद्वयाभिहितमपि पुन प्रतिपादयति अनु॰ गमद्वारावसरे तदशेषं,निर्दिष्टनिक्षिप्तप्रपञ्चव्याख्यानार्थमिति। आह—उपक्रम प्राय· शास्त्रसमुत्थानार्थ उक्त , अयमप्युपोद्घात शास्त्रसमुद्घातप्रयोजन एवेति कोऽनयोर्भेद ?, उच्यते-उपक्रमा ह्युद्देशमात्रनियत ,तदुद्दिष्टवस्तुप्रवाधनफलस्तु प्राय· णोपोद्घात· अर्थानुगमत्वात् इत्यलं विस्तरेण प्रकृतमुच्यते ।

तत्रोद्देशद्वारावयवार्थप्रतिपादनायेदमाह—

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले समासे उद्देसे ।
उद्देसुद्देसम्मि अ, भावम्मि अ होइ अट्ठमओ ॥१४२॥

तत्र नामोद्देश·-यस्य जीवादेरुद्देश इति नाम क्रियते, नाम्नो वा उद्देश· नामोद्देश· । स्थापनोद्देश· स्थापनाभिधानम्। उद्देशन्यासो वा,द्रव्ये इति द्रव्यविषय उद्देशो द्रव्योद्देश , स च आगमनोआगमज्ञशरीरेतरव्यतिरिक्तः द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्ये वा उद्देशो द्रव्योद्देश , द्रव्यस्य—द्रव्यमिदमिति , द्रव्येण

द्रव्यपतिरथमिति , द्रव्ये-सिंहासने राजा , चूते कोकिलः , गिरौ मयूर इति । एवं क्षेत्रविषयोद्देशोऽपि वक्तव्य. , एवं कालविषयोऽपीति । 'समासः-संक्षेपस्तद्विषय उद्देश. समासोद्देश., स च अङ्गश्रुतस्कन्धाध्ययनेषु द्रष्टव्य. । तत्र अङ्गसमासोद्देश.--अङ्गम् , अङ्गी तदध्येता तदर्थज्ञ इत्येवमन्यत्रापि योजना कार्या । उद्देश --अध्ययनविशेष. तस्य उद्देश उद्देशोद्देश., तद्विषयश्च उद्देश इति, स चोद्देशोद्देशोऽभिधीयते-उद्देशवान् तदध्येता तदर्थज्ञो वेति । भावविषयश्च भवति उद्देश' अयमक इति , स चायं-भाव. भावी भावज्ञो वेति गाथार्थ । आव० १ अ० ।

(३१) उद्देशादीनि द्वाराणि । अथ प्रेरकः प्राह—

दारोवन्नासाइसु, निक्खेवे ओहनाम निप्फन्ने ।

उद्देसो निद्देसो, भणिओ इह किं पुणग्गहणं ॥ ६७६ ॥

आह-नन्वसावावश्यकशास्त्रस्य प्रथममध्ययन सामायिकम् , तस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, इत्यादिना द्वारोपन्यासादिषु प्रक्रमेषु । यदि वा-ओघनिष्पन्ननामनिष्पन्नयोर्निक्षेपयो. सामान्यनामरूप उद्देश. , विशेषनामरूपश्च निर्देशोऽनेकश -प्रोक्त एव, किमर्थमिहोपोद्घातनिर्युक्तौ पुनरपि तयोर्ग्रहणम् ? इति ।

अत्रोत्तरमाह—

इह विहियाणमणागय-गहणं तत्थन्नहा कहं कुणउ ।

तेसिं गहणमकाउं, दारन्नासाइकज्जाइं ॥ ६७७ ॥

इहोपोद्घाते आद्यद्वारद्वयविहितयोरेवोद्देश-निर्देशयोस्तत्र द्वारोपन्यासादौ शास्त्रकृताऽनागतमेव ग्रहण कृतम् , अन्यथा हि तयोः सामान्यविशेषनामरूपयोरुद्देशनिर्देशयोस्तत्र अग्रहणमकृत्वा कथं निराश्रयाणि द्वारोपन्यासादिकार्याणि करोतु ? इति ।

प्रतिविधानान्तरमाह—

अहवा तत्थुद्देसो, निद्देसो वि य कओ इहं तेसिं ।

अत्थाऽणुगमावसरे, विहाणवक्खाणमारद्धं ॥ ६७८ ॥

अथवा-तत्र द्वारोपन्यासादौ सामान्यविशेषाभिधानरूप उद्देशो, निर्देशश्च कृत इत्युपगमच्छाम. केवलमिहार्थानुगमावसरेऽर्थव्याख्याप्रस्तावे तयो' पूर्वविहितयोरुद्देशनिर्देशयोर्विधानतो-भेदतो व्याख्यानमारब्धमित्यदोष इति ।

अन्ये तु ब्रुवते । किम् ? , इत्याह—

अन्ने उ विसेसमिहं, भणंति नोद्देसवद्धमेयं ति ।

जाणावियमज्झयणं, समासदारावयारेणं ॥ ६७६ ॥

अन्ये तु पूर्वविहितयोरपीह विशेषमाचक्षते नोद्देशकबद्धमिदमध्ययनमित्येतज्ज्ञापित किल । कुत ? , अङ्गश्रुतस्कन्धाध्ययनसमासद्वारावतारात् । इदमत्र हृदयम्—"नाम ठवणा दविए , खेत्ते काले समासे उद्देसे । उद्देसुद्देसम्मि य , भावम्मि य होइ अट्ठमओ ॥ १ ॥ ' इति पुरस्तादिहैव वक्ष्यमाणगाथायामुद्देशोऽष्टविधोऽभिधास्यते , तथा ' एमेव य निद्देसो ' इत्यादिगाथाया निर्देशोऽपि चाष्टविधो वक्ष्यते । तत्र च समासद्वारे सक्षेपाभिधायक नाम समासोद्देश इति व्याख्यास्यते, तद्यथा—अङ्गम् , श्रुतस्कन्ध अध्ययनम् , उद्देश इत्यादि । तत्रेदं सामायिकाध्ययन किलाध्ययनोद्देशो भवति , न तूद्देशोद्देश. , उद्देशरहितत्वात् । एतच्च तत्र व्याख्यास्यते । तदत्रोद्देशनिर्देशयोरष्टविधत्वभणनेन षष्ठ समासद्वारमायातम् । अनेन च समासद्वारेण विचार्यमाणेदमध्ययनमुद्देशरहितमिति ज्ञापितम् । एतच्चेहोद्देशनिर्देशाभणनेन निर्मूलस्य समासद्वारस्यैवाऽऽभावात् किल न ज्ञायेतेति ।

एतच्च यत्किञ्चिदेव , इति दर्शयति—

अंगाइ पण्हकाले, कालिय सुयमाणसमवयारे य ।

तमणुद्देसयबद्धं, भणियं चिय इह किमब्भहियं ? ।६८०।

आवश्यकं किमङ्गम् , अङ्गानि ? इत्यादि, प्रश्नकाल एव कालिकश्रुतपरिमाणसंख्यावतारे चाध्ययनसंख्यावतारात् , नोद्देशक' नोद्देशका इति निषेधाच्च तत् सामायिकाध्ययनमुद्देशकवद्धं न भवतीति भणितमेव , इह किमभ्यधिकमज्ञातं ज्ञायते ? । तस्माद् यत्किञ्चिदेवेदम् । अत एतयोरिह भणन व्याख्यानार्थमेवेति स्थितम् । तदेवं कृतोद्देशनिर्देशविषया चालना , प्रत्यवस्थानं च ॥ अथ निर्गमनं निर्गम. । स च कुत. सामायिकम् निर्गतम् ? इत्येवंरूपो वक्ष्यते ।

(३२) अत्राक्षेपपरिहारौ प्राह—

नणु निग्गमो गउ च्चिय, अत्ताणंतरपरंपरागमओ ।

तित्थयराईहिंतो, आगयमेयं परंपरया ॥ ६८१ ॥

ननु पूर्वमागमद्वार एवात्माऽनन्तरपरम्परागमतस्तीर्थकरादिभ्यः परम्परया समागतमेतत् सामायिकमित्यभिधानात् तीर्थकरादिभ्यो निर्गमनमस्य , इत्यवगतत्वाद् गतार्थ एव निर्गम. , किं पुनरिहोपात्तः ? इति ।

परिहारमाह—

इह तेसिं चिय भण्णइ, निद्देसो निग्गमो जहा तं च ।

उवयातं तेहिंतो , खेत्ताइविसेसियं बहुहा ॥ ६८२ ॥

तेषामेव तीर्थकरादीना सामान्योद्देशमात्रेण प्रागवगतानामिह विशेषाभिधानरूपो निर्देशो भण्यते , यथा श्रीमन्महावीरतीर्थकरादेतत् सामायिकमर्थतो निर्गतम् , सूत्रतस्तु गौतमादिगणधरेभ्यो निर्गतम् , तथा निर्गमश्चेह मिथ्यात्वाविरत्यादितमसस्तेषां तीर्थकरादीनामत्रोच्यते ' अवरविदेहे गामस्स चिंतओ ' इत्यादिना ग्रन्थेन । तथा, तच्च सामायिकं बहुधा—अनेकश क्षेत्रकालपुरुषकारणप्रत्ययविशेषितं तेभ्यस्तीर्थकरादिभ्यो यथोपयातमागतम् , तच्चेह भण्यत इति विशेष ।

अथ लक्षणद्वारविषयमाक्षेपमाह—

अज्झयणलक्खणं णणु,खओवसमियं गुणप्पमाणे वा ।

नाणागमाइगहणे,भणियं किमिहं पुणो गहणं ॥ ६८३ ॥

लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् , तच्च—'सद्दहण जाणणा खलु ' इत्यादिना सामायिकस्य सावद्ययोगविरत्यादिकं वक्ष्यति । अत्र पर. प्रेरयति—नन्वध्ययनस्याऽस्य क्षायोपशमिको भावो लक्षणम्, इति प्रागुपक्रमभेदरूपे षड् नाम्नि क्षायोपशमिके भावे समवतारादर्थापत्त्या भणितमेव । अथवा—

'गुणप्रमाणे ज्ञानमिदम्, तत्राप्यागमः' इत्याद्यभिधानादिह क्षायोपशमिकभावरूप लक्षणमर्थापत्त्याऽभिहितमेव ?, आगमस्य क्षायोपशमिकभावलक्षणत्वात्, किमिहानुगमे लक्षणस्य पुनर्ग्रहणम् ? इति।

परिहारमाह—

निद्देसमेत्तमुत्तं, वक्खाणेज्जइ सवित्थरं तमिह।
अहवा सुयस्स भणियं,लक्खणमिह तं चउण्हं पि॥९८४॥

निर्देशमात्रमेव लक्षणस्य प्रागुक्तम्—निर्दिष्टमेव पूर्वं लक्षणम्, न तु तथाविधव्याख्यया व्याख्यातमित्यर्थः। इह त्वनुगमे व्याख्यानप्रस्तावात् सविस्तरं तद् व्याख्यायते। अथवा—स क्षायोपशमिको भावः श्रुतसामायिकस्यैव पूर्वं लक्षणमुपपद्यते, इह तु श्रद्धानज्ञानदेशविरति—सर्वविरतिरूपं चतुर्णामपि सम्यक्त्वश्रुतदेशचारित्रसर्वचारित्रसामायिकानां लक्षणमुच्यत इति विशेषः।

अथ नयद्वारे आक्षेपमाह—

भणिया नयप्पमाणे, भणंतीहं नया पुणो कीस ?।
मूलद्दारे य पुणो,एएसिं को णु विणिओगो॥९८५॥

ननु पूर्वं नयप्रमाणे भणिता एव नयाः, किमिहोपोद्घाते पुनरपि भण्यन्ते, तथा, वक्ष्यमाणे चतुर्थे नयलक्षणे मूलानुयोगद्वारे भणिष्यन्ते। तदमीषां पूर्वमनेकशो भणितानां पुनर्भणने को विनियोगः किं फलम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः।

अत्र परिहारमाह—

जे चिय नयप्पमाणे, ते चिय इहइं सवित्थरा भणिया।
जं तमुवक्कममेत्तं, वक्खाणमिणं अणुगमो त्ति॥९८६॥

य एव प्राक् प्रमाणद्वारे संक्षेपमात्रेण नया उक्ताः, त एवेह सविस्तरा भणिताः, अग्रे भणिष्यन्त इति भावः। कुतः ?, यतस्तदध्ययनोपक्रमणरूपमुपक्रममात्रम्, एतत् त्वर्थानुगम इति कृत्वा नयानां व्याख्यानमिति।

परिहारान्तरमाह—

अहवा तत्थ पमाणं, इहं सरूवावहारणं तेसिं।
तत्तो वक्तंता वा, इह तदणुमयावयारोऽयं॥ ९८७॥

अथवा-प्रमाणद्वाराधिकारात् प्रमीयते वस्त्वेभिरिति प्रमाणं—भावमात्रं नयानां तत्राभिहितम्। इह तु-उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमे तेषां सरूपव्याख्यानम्। अथवा—तत्रोपक्रान्ता, इह त्वयं तदनुमतावतारश्चिन्त्यते। इदमुक्तं भवति-प्रागुपक्रमाधिकारादध्ययनं नयैरुपक्रम्यते, इह तु कस्य नयस्य किं सामायिकमनुमतम् ? इति चिन्त्यते, तथा च वक्ष्यति-" तव संजमो अणुमओ, निग्गंथं पवयणं च ववहारो। सद्दुज्जुसुयाणं पुण, निव्वाणं संजमो चेव ॥ १॥" तेषां च नयानामिह समवतारः, समवतारो यत्र संभवति तत्र दर्शनीयः, यद् वक्ष्यते-' मूढनइयं सुयं का-लियं तु न नया समोयरंति इहं।' इत्यादीति।

(३३) मूलद्वारनयैः सहामीषां भेदमाह—

सामाइयसमुदाय-त्थमेत्तवावारतप्परा एए।
मूलद्दारनया पुण,सुत्तप्फासोवओगपरा॥९८८॥

सर्वेऽपि चैते नय-प्रमाणोक्ताः उपोद्घातनिर्युक्तिद्वारोक्ताश्च नयाः सामायिकसमुदायार्थमात्रे व्याप्रियन्ते, न तु सूत्रार्थविनियोगिनः। वक्ष्यमाणास्तु मूलद्वारनयाः प्रतिपदं सूत्रार्थविषया इति विशेष इति।

अथ किंद्वारे आक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह—

जीवगुणो नाणं ति य,भणिए इह किं ति का पुणो संका।
तं चिय किं जीवाओ, अण्णमणन्नं ति संदेहो॥ ९८९॥

ननु प्रमाणद्वारभेदे गुणप्रमाणे सामायिकं जीवगुणः तत्रापि ज्ञानम्, इत्याद्युक्तेऽत्र किं सामायिकम् ?, इति का शङ्का येन किंद्वारमुच्यते ?, इत्याह— '' तं चिये ' त्यादि, तदेव सामायिकं किं जीवादन्यत्, अनन्यद् वा ? इति संदेहः, तदपनोदार्थमिह किंद्वारोपन्यास इति।

अथ कथं द्वारविषयावपेक्षप-परिहारौ प्राह—

भणिए खओवसमियं-ति किं पुणो लब्भए कहं तं ति।
इह सो चिय चिंतिज्जइ,किह लब्भए सो खओवसमो॥९९०॥

ननु नामद्वारे क्षायोपशमिकं सामायिकम्—इत्युक्ते ' तदावरणक्षयोपशमात् तल्लभ्यते ' इत्यर्थादुक्तमेव भवति। अतः ' कथं तल्लभ्यते ? ' इत्यर्थप्रतिपादकं किमितीह पुनरपि कथं द्वारमुच्यते ?। अत्रोत्तरमाह—इह कथमिति द्वारे स एव क्षयोपशमश्चिन्त्यते। कथम् ?, इत्याह—कथं लभ्यते स क्षयोपशमः ?, इत्येष विशेषः।

अथ द्वारबाहुल्याद् ग्रन्थविस्तरमवलोक्य संक्षिपन्नाह-

किं बहुणा जमुवक्कम-निक्खेवेसु भणियं पुणो भणइ।
अत्थाणुगमावसरे, तं वक्खाणाहिगारत्थं॥ ९९१॥

किं बहुना ?, सर्वेष्वप्येतेषूपोद्घातद्वारेषु यदुपक्रम-निक्षेपयोर्भणितमपि पुनरप्याचार्यो भणति, तदिहार्थानुगमावसरे पूर्वोपक्रान्तनिक्षिप्तवस्तुव्याख्यानाधिकारार्थम्, इत्येवं भावनीयमिति।

तदेवमुपोद्घातोक्तेष्वेतेषूद्देशादिद्वारेषु प्रत्येकं विशेषतश्चालनाप्रत्यवस्थाने अभिधाय, इदानीं सामान्येन सर्वस्याऽप्युपोद्घातस्य चालनामाह—

सत्थसमुत्थाणत्थो, पायेणोवक्कमो तहाऽयं पि।
सत्थस्सोवग्घाओ, को एएसिं पइविसेसो॥ ९९२॥

आह-ननु उपक्रमोऽपि प्रायः शास्त्रसमुत्थानार्थमेव, तत्रानुपूर्व्यादिभिर्द्वारैरुपक्रमस्य शास्त्रं नामादिन्यासव्याख्यानयोग्यतामानीयत इत्यर्थः, तथाऽयमप्युपोद्घातः शास्त्रस्योद्देशनिर्देशनिर्गमादिभिर्द्वारैरुत्थानमुपवर्ण्य व्याख्यानयोग्यतामुपकल्पयति, इति कोऽनयोर्विशेषः ? न कश्चिद्। ततः एतयोर्द्वयोरन्यतर एव वाच्य इत्यभिप्राय इति।

प्रत्यवस्थानमाह—

उद्देसमेत्तनियओ, उवक्कमोऽयं तु तन्निओहत्थं।
पाएणोवग्घाओ,णणु भणिओऽयं जओऽणुगमो॥९९३॥

उद्देशमात्रनियतः एवोपक्रमः—नामस्थापनाद्रव्यादिभिः, आनुपूर्व्यादिभिश्च भेदैरुपक्रमः शास्त्रमुद्दिश्यैव न तु व्याख्यानयतीत्यर्थः। अयं पुनरुपोद्घातः प्रायेण तस्य शास्त्रस्य विबोधार्थो-व्याख्यानार्थः। कुत इदं ज्ञायते ?, इत्याह— ननु यस्मादयं प्रस्तुतोऽनुगमो भणितः, उपोद्घातश्चानुगम-

भेद एव, अनुगमस्य च व्याख्यानरूपत्वात् सिद्धमुपोद्घातस्य व्याख्यानार्थत्वमिति

परिहारान्तरमाह—

नासस्स व संबंधण-मुवक्कमोऽयं तु सुत्तवक्खाए ।
संबंधोवग्घाओ, भण्णइ जं सा तदंतम्मि ॥ ९९४ ॥

अथवा-न्यासस्याऽध्ययनसंबन्धिनो नामादिनिक्षेपस्य संबन्धनं तद्योग्यताऽऽपादनमुपक्रम उच्यते, तदन्ते तत्प्रतिपादनात् । अयं तूपोद्घातः सूत्रव्याख्याया सबन्धस्तद्योग्यताव्यवस्थापनरूपः यद्—यस्मात् तदन्ते—उपोद्घातान्ते सैव सूत्रव्याख्या भण्यते, इत्युपक्रमोपोद्घातयोर्विशेषः । तदेवमभिहितं संक्षेपेणोपोद्घातनिर्युक्तेर्भावार्थमात्रम् । विशे० ।

[३४] अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्भाष्यकार उद्देशनिर्देशविषयमाक्षेप चेतस्याशङ्क्य परिहार तावदाह-

उद्देडं निद्दिस्सइ, पाय सामन्नओ विसेसो त्ति ।
उद्देसो तो पढमं, निद्देसोऽणंतरं तस्स ॥ १४८६ ॥

ननु कस्मात् प्रथममुद्देशस्ततो निर्देशः ? इत्याशङ्क्य परिहरति—' उद्देट्ठु ' मित्यादि, सामान्येन हि पूर्वं वस्तूद्दिश्य ततः पश्चाद् विशेषतो निर्दिश्यते, इति शास्त्रे लोके च स्थितिः । तथा—ज्ञानमपि प्रायः प्रथमं वस्तुनः सामान्याकारग्राहकमुत्पद्यते, ततो विशेषाकारग्राहकम् । तत —तस्मात् कारणाद् वस्तुनः सामान्याभिधानलक्षणः प्रथममुद्देश ततस्तस्यैव विशेषाभिधानरूपो निर्देश इति गाथार्थः । विशे० ।

(३५) एतानि द्वाराणि क्रमशो व्याख्यानयामि तत्रानुमतद्वारम् । कस्य जीवस्य किं सामायिकम् । साम्प्रत 'कस्य सामायिक भवति ? ' इति द्वारे प्रस्तुते यस्य तद् भवति तदभिधित्सया प्राह—

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥ २६७९ ॥
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥ २६८० ॥

यस्य सामायिकः निसंनिहितोऽप्रोषित इत्यर्थः, आत्मा जीवः । क ? । सयमे—मूलगुणरूपे, नियम उत्तरगुणात्मके, तपसि—अनशनादिलक्षणे । तस्यैवंभूतस्याप्रमादिन सामायिक भवतीत्येवं केवलिभिर्भाषितमिति । तथा, य समो मध्यस्थ आत्मानमिव पर पश्यतीत्यर्थः, सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु त्रसेषु-द्वीन्द्रियादिषु, स्थावरेषु च पृथिव्यादिषु तस्य सामायिक भवतीत्येतच्च केवलिभिर्भाषितमिति ।

साम्प्रत फलप्रदर्शनद्वारेणास्य करणविधानं प्रतिपादयन्नाह-

सावज्जजोगं परिरक्खणट्ठा,
सामाइयं केवलियं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मा परमं ति नचा,
कुज्जा बुहो आयहियं परत्था ॥ २६८१ ॥

सावद्ययोगपरिरक्षणार्थ सामायिकं केवलिक-परिपूर्णं—प्रशस्तं-पवित्रम् , एतदेव हि गृहस्थधर्मात् परम-प्रधानं, ज्येष्ठम् , इत्येवं ज्ञात्वा कुर्यात् बुधो-विद्वानात्महितम्-आत्मोपकारकम इहलोके, परत्र च । अथवा—परो मोक्षस्तदर्थं कुर्याद् ; नतु सुरलोकाद्यर्थम् । इति निर्युक्तिरूपकत्रयार्थः ।

अथ भाष्यगाथा—

केवलियं पडिपुन्नं, परमं जेट्ठं गिहत्थधम्माओ ।
तं हियमिओ परत्था, सिवं परं वा तदत्थं वा ।२६८२।

गतार्था।नवरम् 'त हियमिओ परत्थ' त्ति-तत् सामायिकमात्मनो हितम् । क ? इत्याह-इतः—इहलोके,परत्र-परलोके चेति ।

अथ वक्ष्यमाणगाथायाः प्रस्तावनां कुर्वन् भाष्यकार एवाह-

गिहिणा वि सव्ववज्जं, दुविहं तिविहेण छिन्नकालं तं ।
कायव्वमाह सव्वे, को दोसो भण्णएऽणुमई ॥ २६८३ ॥

इह परिपूर्णसामायिककरणशक्त्यभावे- सम्पूर्णसंयमाङ्गीकारभावसार्थ्याभावे गृहिणाऽपि-गृहस्थेनाऽपि सता तत् सामायिकं, छिन्नकालं-द्विघटिकादिकालमानोपेतं सर्ववर्ज-सर्वशब्दोच्चारणरहित द्विविधं त्रिविधेन कर्त्तव्यमेव । अत्राह-परः-सर्वे—सर्वशब्दोच्चारणे को दोषः, येन सर्ववर्जम्-इति विशिष्यते ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्-सर्वशब्दोच्चारणं कुर्वतस्तस्य सावद्ययोगानुमतिलक्षणो दोषः, तेन हि गृहादिषु प्रागनेक आरम्भा प्रवर्तिताः सन्ति, तदनुमतिश्च सामायिके तिष्ठतस्तस्यानुवर्तत एव ततः सर्वसावद्ययोगनिषेधं कुर्वतो गृहस्थस्य व्रतभङ्ग एव स्यादिति भाव । इति गाथाद्वयार्थः । (विशे०)(सर्वविरतिविषया 'सव्वविरइवाइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्या गता ।)

अत्रापेक्ष-परिहारौ भाष्यकारः प्राह-

आहाणुमई व न सो, किं पचक्ख त्ति भन्नइ न सत्तो ।
पुव्वपउत्तियसाव-ज्ज कम्मसाइजणं मोत्तुं ॥ २६८४ ॥

वाशब्दोऽप्यर्थ , आह परः—ननु यथा सावद्ययोगस्य करणकारणे तथाऽनुमतिमप्यसौ किमिति न प्रत्याख्याति ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्-नासौ गृही शक्तः—समर्थः । किं कर्तुम्? । मोक्तुम् । किं तत् ? इत्याह-पूर्वप्रयुक्तस्य प्राग् गृहादिषु प्रवर्तितस्य सावद्यकर्मणः सावद्ययोगस्य ' साइज्जण ' तिअभिष्वङ्गनम् प्रतिबन्धविधानमित्यर्थः । शक्यमेव ह्यनुष्ठानं विधीयते, नाशक्यम् । पूर्वप्रवृत्ते च सावद्ययोगे गृहस्थोऽभिष्वङ्ग मोक्तु न शक्नोति । अतो न सावद्ययोगानुमतिमसौ प्रत्याख्याति, व्रतभङ्गप्रसङ्गादिति ।

पुनरपि पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

णणु तिविहं तिविहेणं,पच्चक्खाणं सुयम्मि गिहिणो वि।
तं थूलवहाईणं, न सव्वसावज्जजोगाणं ॥ २६८६ ॥

ननु गृहस्थस्य सावद्ययोगानुमतिप्रत्याख्याननिषेधं कुर्वतस्तव श्रुतविरोधः, यतस्त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यान श्रुते गृहिणोऽपि भणितम्-इति शेष , तथा च भगवत्यामुक्तम्-"समणोवासगस्स ण भंते ! पुव्वमेव थूले पाणाइवाए अपच्चक्खाए भवइ, से ण भंते ! पच्छा पच्चाइक्खमाणे किं करइ ? । गोयमा ! तीयं पडिक्कमइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ । तीयं पडिक्कममाणे किं तिविहं तिविहेण पडिक्कमइ, तिविहं दुविहेण पडिक्कमइ , तिविहं एगविहेण पडिक्कमइ ? ०जाव एक्कविहं एक्कविहेण

पडिक्कमइ?। गोयमा! तिविहं तिविहेणं पडिक्कमइ० जाव एकविहं एकविहेण वा पडिक्कमइ"। तदेवमिह श्रुते त्रिविधं त्रिविधेनापि गृहस्थस्य प्रत्याख्यानमुक्तम् , तत् कथमस्य निषेधो भवता विधीयते? इति। सत्यम् , किन्तु त्रिविधं त्रिविधेन श्रुतोक्तं प्रत्याख्यानं स्थूलवधमृषावादादीनामेव द्रष्टव्यम् , यथा कोऽपि सिंहसरभगजादीनां वधादीनतिवादरांस्त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्याति , न पुनस्तत् सामान्येन सावद्ययोगविषयमवगन्तव्यमिति ।

अतो विशेषित एव क्वचिद् विवक्षितसावद्ययोगे त्रिविध त्रिविधेनापि प्रत्याख्यानमदोषाय भवतीति दर्शयति–

जइ किंचिदप्पओयण, मप्पप्पं वा विसेसियं वत्थुं ।
पच्चक्खेज्ज न दोसो, सयंभुरमणाइ मच्छु व्व ॥२६८७॥
जो वा निक्खमिउमणो, पडिमं पुत्ताइ संतइनिमित्तं ।
पडिवज्जेज्ज तओ वा, करेज्ज तिविहं पि तिविहेणं॥२६०८॥
जो पुण पुव्वारद्धा–णुज्झिय सावज्जकम्म संताणो ।
तदणुमइ परिणाइं सो, न तरइ सहसा नियत्तेउं ॥२६८९॥

न विद्यते प्रयोजनं येन तदप्रयोजन काकमांसादिकं विशेषितं वस्त्वाश्रित्य , अप्राप्यं वा मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्दन्तिदन्तचित्रकचर्मादिक किमपि विशिष्ट वस्त्वधिकृत्य यदि त्रिविध त्रिविधेन प्रत्याचक्षीत तदा न कश्चिद् दोष । यथा कश्चित् स्वयभूरमणादिमत्स्यानधिकृत्य तद्वध त्रिविध त्रिविधेन प्रत्या।चष्ट इति । यो वा व्रतं जिघृक्षु पुत्रसन्तत्यादिनिमित्त विलम्बमान एकादशी प्रतिमा प्रतिपद्यते तको वाऽसौ त्रिविधं त्रितिधनापि सावद्ययोगप्रत्याख्यानं कुर्याद् न दोष इति । य पुन पूर्वारब्धानुज्झितसावद्यकर्मसंतानस्तदनुमतिपरिणति न शक्नोति सहसा निवर्तयितुम् , अतस्त्रिविधं त्रिविधेन नासौ प्रत्याख्याति , इति गाथापञ्चकार्थ ।

(३६) तथापि गृहस्थसामायिकमपि परलोकार्थिना कार्यमेव, तस्यापि-विशिष्टफलसाधकत्वादित्याह—

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ २६९० ॥

कृते पुनर्गृहस्थ सामायिकेऽपि श्रमण इव श्रावको भवति, यस्मात् प्रायोऽशुभयोगरहितत्वाद् बहुतरकर्मनिर्जरोऽसौ भवतीति भाव । अनेन कारणेन बहुशोऽनेकधा सामायिक कुर्याद् मध्यस्थो भूयादिति ।

मध्यस्थस्यैव लक्षणमाह–

जो न विवट्टइ रागे, न वि दोसे दोण्ह मज्झयारम्मि ।
सो होइ उ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झत्था ॥२६९१॥

सुगता, नवरं मध्ये रागद्वेषयोरन्तराले तिष्ठतीति मध्यस्थ. न रागेण स्पृश्यते, नापि द्वेषेणेति भाव. । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः । विशे० ।

आकर्षद्वारमाह—

'तिण्हँ सहस्सपुहुत्तं सयं पुहुत्तं च होइ विरईए ।
एगभवे आगरिसा, एवइया हुंति नायव्वा ॥ २७८० ॥

आकर्षणमाकर्षस्तत्प्रथमतया, मुक्तस्य वा ग्रहणमित्यर्थ. । तत्र त्रयाणां सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिसामायिकानामेकभवे सहस्रपृथक्त्वमाकर्षाणां भवति । विरतेस्तु चारित्रस्यैकभवे शतपृथक्त्वमाकर्षाणां भवतीति । एवमेत उत्कृष्टत एकभविका आकर्षा. प्रोक्ताः, जघन्यतस्त्वेक एव सर्वेषामाकर्ष इति ।

नानाभवगतमाह—

दोण्ह पुहुत्तमसंखा, सहसपुहुत्तं च होइ विरईए ।
नाणभवे आगरिसा, सुए अणंता उ नायव्वा ॥२७८१॥

द्वयो सम्यक्त्वदेशविरतिसामायिकयोर्नानाभवेषूत्कृष्टतोऽसंख्येयानि सहस्रपृथक्त्वान्याकर्षाणां सम्भवन्ति । एक हि सहस्रपृथक्त्वमसंख्येयैस्तत्प्रतिपत्तिभवैर्गुणितमसङ्ख्येयानि सहस्रपृथक्त्वानि भवन्ति । तथा विरतेश्च चारित्रस्य नानाभवेष्वाकर्षाणां सहस्रपृथक्त्वं भवति, श्रुते तु सामान्येनाक्षरात्मकेऽनन्तेषु भवेष्वनन्ता आकर्षा भवन्ति । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थ । विशे० । प्रव० । आ० म० । आ० चू० । (उद्देशद्वारम् ' उद्देस ' शब्दे द्वितीयभागे ७१६ पृष्ठे उक्तम् ।)

(३७) अथ कतिविधं सामायिकम् ? इति द्वार व्याचिख्यासुराह—

सामाइयं पि तिविहं, सम्मत्तसुयं तहा चरित्तं च ।
दुविहं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं चेव ॥ २६७३ ॥

त्रिविधम्—त्रिभेदं सामायिकम् , अनुस्वारलोपात् सम्यक्त्वम्—सम्यक्त्वसामायिकम् । श्रुतम्–श्रुतसामायिकम् । तथा चारित्रम्–चारित्रसामायिकम् । चशब्द. प्रत्येक स्वगतानेकभेदसूचनार्थः । तत्र सक्षेपेण मूलभेदतश्चारित्र चारित्रसामायिक द्विविधमेव-द्विभेदमेव, तद्यथा-अगा.-वृक्षास्तैः कृतमगार-गृहं तदस्यास्तीति मतुब्लोपादगारो-गृहस्थस्तस्येदमगारिकं-देशचारित्रसामायिक देशविरतिसामायिकमिति यावत् । एतच्च पुनरप्यनेकभेदम् , देशविरतेश्चित्ररूपत्वात् । न विद्यतेऽगारं-गृह यस्यासावनगार साधुस्तस्येदमनगारिकं सर्वचारित्रसामायिकम्—सर्वविरतिसामायिकमित्यर्थ । इदमपि स्वस्थानेऽनेकभेदमेवेति ।

(३८) श्रुतसामायिकस्यापि सक्षेपतो भेदकथनार्थमाह—

अज्झयणं पि य तिविहं, सुत्ते अत्थे अ तदुभए चेव ।
सेसेसु वि अज्झयणे–सु होइ एसेव निज्जुत्ती ॥२६७४॥

अधीयते विनयादिक्रमेण गुरुसमीप इत्यध्ययन सामान्येन श्रुतमिह गृह्यते, श्रुतसामायिकमित्यर्थ , तदपि त्रिविधम्—त्रिभेदम् ' सुत्ते ' त्यादि, सूत्रत', अर्थत , तदुभयतश्चेत्यर्थ. । उपलक्षणत्वात्, अपिशब्दाद्—वा सम्यक्त्वसामायिकमप्यौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदात् त्रिविध द्रष्टव्यम् । अथ प्रक्रान्तोपोद्घातनिर्युक्तेरशेषाध्ययनव्यापिता दर्शयन्नाह-' सेसेसु वी ' त्यादि, प्रस्तुतसामायिकाध्ययनात् शेषेष्वपि चतुर्विंशतिस्तवादिष्वन्येषु चाध्ययनेष्वेषैवोद्दे— निर्देशादिका निरुक्तिपर्यवसानोपोद्घातनिर्युक्तिर्भवति । एवं सर्वत्र द्रष्टव्येत्यर्थ. । आह—ननूपोद्घातनिर्युक्तौ सर्वस्यापि समर्थितायामित्थमतिदेशो युज्यते, न चेयमद्यापि

समर्थ्यते ' भयागारिसफोसणानिरुत्ती ' इति निरुक्तिद्वार एव तस्याः समर्थयिष्यमाणत्वात् ? । सत्यम् , किन्तूपोद्घातनिर्युक्तिमध्यमिदम् , मध्ये चातिदेशः कृतः पर्यन्तेऽपि लभ्यते " मध्यग्रहणे आद्यन्तयोर्ग्रहणम् " इति न्यायात् । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ।

(३९) अथ भाष्यकारः सम्यक्त्वादिसामायिकानां भेदनिरूपणार्थमाह—

सम्मं निसग्गओऽहिग-मओ य दसहा य तप्पभेयाओ ।
कारयरोयगदीवग-महवा खइयाइयं तिविहं ॥२६७५॥
सुत्तत्थतदुभयाइं, बहुहा वा सुत्तमक्खरसुयाई ।
खइयाइँ विहा सामा-इयाई वा पंचहा चरणं ॥२६७६॥
दुविहतिविहाइ णाणु-व्वयाइ बहु एगदेसचारित्त ।
वीसुं सव्वाइं पुण, पज्जायओ ऽणंतभेयाइं ॥ २६७७ ॥

सम्यक्त्वं तावद् निसर्गतोऽधिगमतश्चेत्येव द्विधा भवति । तत्र निसर्गः—स्वभावस्तस्मात् सम्यक्त्वं भवति, यथा नारकादीनाम् , अधिगमस्तीर्थकरादीनां समीपे धर्मश्रवण तस्मात् सम्यक्त्वं भवतीति प्रतीतमेव, यथा स्कन्दकादीनाम् । अथवा—'तप्पभेयाओ' त्ति—तस्य सम्यक्त्वस्य प्रकृष्टः सूक्ष्मो भेदस्तस्मात् प्रभेदतश्चिन्त्यमानमिदम् , द्विविधमपि समुदितं दशधा भवति । तत्रौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् , निसर्गजं पञ्चधा, एवमधिगमसमुत्थमपि पञ्चधैव । तदेवं समुदितं सद् दशधा भवति । अथवा-कारकरोचकदीपकभेदात् क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभेदात् त्रिधा सम्यक्त्वं भवति । तत्र क्षायिकादयो भेदाः प्रतीता एव । कारकादीनां त्वयमर्थः-यस्मिन् सम्यक्त्वे सति सदनुष्ठानं श्रद्धत्ते, सम्यक् करोति च, तत् कारयति सदनुष्ठानमिति कारकं सम्यक्त्वमुच्यते । एतच्च साधूनां द्रष्टव्यम् । यत्तु सदनुष्ठानं रोचयत्येव केवलम् न पुनः कारयति तद् रोचकम् , यथा श्रेणिकादीनाम् । यत्तु स्वयं तत्त्वश्रद्धानरहित एव मिथ्यादृष्टिः परस्य धर्मकथादिभिस्तत्त्वश्रद्धानं दीपयत्युत्पादयति तत्सम्बन्धि सम्यक्त्वं दीपकमुच्यते, यथाऽङ्गारमर्दकादीनामिदं सम्यक्त्वमुच्यते, परमार्थतस्तु मिथ्यात्वमेवेति । सूत्राऽर्थतदुभयभेदात्—सूत्रं श्रुतसामायिकं त्रिधा भवति । ' अक्खरसण्णी सम्मं, साइयं खलु सपज्जवसियं च । गमियं-अङ्गपविट्ठं ' इत्यादिना प्रतिपादिताक्षरश्रुतानक्षरश्रुतादिभेदाद् बहुधा वा श्रुतसामायिकं भवति । चरणं चारित्रसामायिकं पुनः क्षायिकम् , क्षायोपशमिकम् , औपशमिकमित्येवं त्रिधा भवति । यद्वा-सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातभेदात् पञ्चधा तद् भवति । यत् त्वणुव्रताद्येकदेशविषयं चारित्रं देशविरतसामायिकमित्यर्थ , तद् बहुधा-बहुभेदं भवति । केन ? इत्याह—' दुविहतिविहाइए ' त्ति । " दुविहं तिविहेण पढमओ, दुविहं दुविहेण बीअओ होइ । दुविहं एक्कविहेण, एगविहं चेव तिविहेणं ॥ १ ॥ " इत्यादि—ग्रन्थप्रतिपादितभङ्गजालेन हेतुभूतेनेत्यर्थ । ' वीसुं ' त्ति—एतेषां सामायिकानामेते पूर्वोक्ता भेदाः विष्वग् एकैकशश्चिन्त्यमानानां द्रष्टव्याः यदा तु सर्वाण्यप्येतानि समुदितानि भेदतश्चिन्त्यन्ते तदा पर्यायतः पर्यायानाश्रित्यानन्तभेदानि द्रष्टव्यानि । सयमश्रेण्यामध्यवसायस्थानानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् , एकैकस्य चाध्यवसायस्थानस्यानन्तपर्यायत्वादि नि ।

' सेसेसु वि अज्झयणेसु ' इत्यादेर्व्याख्यानमाह—

चउवीसत्थयाइसु, सव्वज्झयणेसु याऽणुओगम्मि ।
एस च्चिय निज्जुत्ती, उद्देसाई निरुत्तंता ॥ २६७८ ॥

शेषेष्वपि चतुर्विंशतिस्तवादिषु, चशब्दाद्-अन्येषु च शस्त्रपरिज्ञादिष्वध्ययनेष्वनुयोगे विधीयमाने आद्यावेवोद्देशादिका निरुक्त्यन्तोपोद्घातनिर्युक्तिर्द्रष्टव्या । इति गाथाचतुष्टयार्थः । विशे० । आ० चू० । आ० म० ।

(४०) कति सान्तरं सामायिकम् । अथ सान्तरद्वारमाह—

कालमणंतं च सुए, अद्धा परियट्टओ य देसूणो ।
आसायणबहुलाणं, उक्कोसं अन्तरं होइ ॥ २७७५ ॥

इह जीव एकदा सम्यक्त्वादिसामायिकमवाप्य ततस्तत्परित्यागे यावता कालेन पुनरपि तदवाप्नोति सोऽपान्तरकालः-अन्तरमुच्यते । तत्र सामान्ये अक्षरात्मके श्रुते जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् उत्कृष्टतस्त्वनन्तं कालं भवति । इदमुक्तं भवति-इह द्वीन्द्रियादिः कश्चित् श्रुतं लब्ध्वा मृतो यः पृथिव्यादिषूत्पद्य तत्रान्तर्मुहूर्तं स्थित्वा पुनरपि द्वीन्द्रियादिष्वागतः श्रुतं लभते तस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमन्तरं भवति । यस्तु द्वीन्द्रियादिर्मृतः—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिषु पुनः पुनरुत्पद्यमानोऽनन्तं कालमतिवाह्यते, ततः पुनरपि द्वीन्द्रियादिष्वागत्य श्रुतं लभते, तस्यायमेकेन्द्रियावस्थितिकाललक्षणोऽनन्तकाल उत्कृष्टतोऽन्तरं भवति । अथ चासङ्ख्यातपुद्गलपरावर्त्तमानो द्रष्टव्यः । शेषस्य तु सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतिसामायिकत्रयस्येति द्वयम्-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कृष्टतस्तु देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तोऽन्तरं भवति । इदं चोत्कृष्टमन्तरमाशातनाबहुलानां जीवानां द्रष्टव्यम् , उक्तं च—" तित्थयरपवयणसुयं, आयरिय गणहरमहिड्ढीयं । आसायंतो बहुसो , अणंतसंसारिओ होइ ॥ १ ॥ " इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

भाष्यम्-

मिच्छसुयस्स वणस्सइ-कालो सेसस्स सेससामण्णो ।
हीणं भिण्णमुहुत्तं, सव्वेसिमिहेगजीवस्स ॥ २७७६ ॥

इह योऽयं वनस्पतिकालो वनस्पतेरुपलक्षणत्वादेकेन्द्रियकालोऽसंख्यातपुद्गलपरावर्तात्मकः श्रुतस्योत्कृष्टोऽन्तरं प्रोक्तः, स मिथ्याश्रुतस्य मिथ्याश्रुतमङ्गीकृत्य द्रष्टव्यः । ' सेसस्स सेससामण्णो ' त्ति—शेषस्य तु सम्यक्श्रुतस्य शेषैः सम्यक्त्वादिसामायिकैः सामान्यः—तुल्यो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तलक्षण उत्कृष्टोऽन्तरकालो द्रष्टव्यः । ' हीणं ' त्ति-हीनं-जघन्यमन्तरं सर्वेषामपि सम्यक्त्वादिसामायिकानां निर्युक्तिगाथायामनुक्तत्वाद् भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तं द्रष्टव्यम् इदं च जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमेकजीवस्य मन्तव्यम् , नानाजीवानां सम्यक्त्वाद्यन्तराभावादिति गाथार्थः ।

(४१) अथ क किं सामायिकम् ? इति निरूपणार्थं द्वारगाथात्रयमाह—

खेत्तदिसि कालगई, भवियसन्नि(उ)सासदिट्ठिमाहारे ।
पज्जत्तसुत्तजम्म–ट्ठिइ वेयसन्ना कसायाऽऽउं ॥ २६६२ ॥

नाणे जोगुवओगे, सरीरसंठाणसंघयणमाणे ।
लेसा परिणामं वे–यणा य समुग्घाय कम्मे य॥२६६३॥

निव्वेढणमुव्वट्टे, आसवकरणं तहा अलंकारं ।
सयणासणठाणट्ठे, चंकमंते य किं कहियं ॥२६६४ ॥

आसां समुदायार्थ क्षेत्रदिक्कालगतिभव्यसंज्ञ्युच्छ्वासदृष्ट्या हारकानङ्गीकृत्यालोचनीयं ' किं कहियं ' ति–' किं क सामायिकम् ? ' इति सबन्ध , तथा, पर्याप्तसुप्तजन्मस्थितिवेदसंज्ञाकषाया–ऽऽयूंषि चेति । तथा, ज्ञान योगोपयोगौ, शरीरसंस्थानसंहननमानानि, लेश्यापरिणामं, वेदना, समुद्घातकर्म चाश्रित्यालोचनीयम्, ' किं क सामायिकम् ? ' इति । तथा, निर्वेष्टनोद्वर्तने आश्रवकरणम्, तथाऽलङ्कारम्, शयनाऽऽसनस्थानस्थाश्चङ्क्रमतश्चाश्रित्य चिन्तनीय ' किं क सामायिकम् ? ' इति । विशे० । आ० म० ।

(४२) एतानि द्वाराणि अक्षरानुक्रमण्यान्विख्यासुरपि वस्तूना सहैव व्याख्यातत्वान्न शक्नोमि तथा समावेष्टुम् इति द्वारगाथोक्तक्रमेण ज्ञेयम् ।

इदानीमवयवार्थ उच्यते । तत्रोर्ध्वलोकादिक्षेत्रमङ्गीकृत्य सम्यक्त्वादिसामायिकाना लाभादिभावमभिधित्सुराह—

सम्मसुयाणं लाभो, उड्ढं य अहे य तिरियलोए य ।
विरई मणुस्सलोए, विरयाविरई य तिरिएसु ॥२६६५॥

सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोर्लाभ –प्राप्तिरूर्ध्वे चाधश्च तिर्यग्लोके भवति , तत्रोर्ध्वलोके मेरुसुरलोकादिषु निसर्गतोऽधिगमाद् वा सम्यक्त्वसामायिकस्य, तथा श्रुताज्ञानस्य तत्समकालमेव श्रुतज्ञानतया परिणामात् श्रुतसामायिकस्य च लाभो भवति । एवमधोलोकेऽप्यधोलौकिकग्रामेषु नरकेषु च ये सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते तेषा यथोक्तसामायिकद्वयलाभो वक्तव्य', एव तिर्यग्लोकेऽपि यथोक्तसामायिकद्वयलाभो वक्तव्य' । इह च त्रिष्वपि लोकेषु यथोक्तसामायिकद्वय लभ्यत एवेतीत्थमवधारणीयम्, न पुनर्यथोक्तसामायिकद्वयमेव लभ्यत इति, यत आह—' विरई मणुस्सलोए ' त्ति—तिर्यग्लोकविशेषभूतेऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षणे मनुष्यलोके विरति सर्वविरतिसामायिकमपि लभ्यते । इह चेहैव लभ्यते नान्यत्रेति द्रष्टव्यम्, मनुष्या एवैतत्प्रतिपत्तारो नान्य इत्यर्थ । क्षेत्रनियम तु विशिष्टश्रुतविदो विदन्ति । विरताविरतिश्च देशविरतिसामायिकलक्षणा लाभविचारे तिर्यक्षु भवति, मनुष्येषु च केषुचिदिति ।

पुव्वपडिवन्नया पुण, तीसु वि लोएसु नियमओ तिण्हं ।
चरणस्स दोसु नियमा, भयणिज्जा उड्ढलोगम्मि॥२६६६॥

पूर्वप्रतिपन्नकास्तु त्रयाणां सामायिकानां नियमेन त्रिष्वपि लोकेषु विद्यन्ते । चतुर्थस्य सामायिकस्य द्वयोरेवाधोलोकतिर्यग्लोकयो· पूर्वप्रतिपन्ना नियमत' सन्ति । ऊर्ध्वलोके पुनर्भाज्या कदाचिद् भवन्ति कदाचिद् नेति । गतं क्षेत्रद्वारम् । विशे० ।

(४३) दिग्द्वारम्–कस्यां दिशि किं सामायिकम् । इह नाम स्थापनाद्रव्यदिग्भिरनधिकार एव शेषासु यथासंभव सामायिकस्य प्रतिपद्यमानक । पूर्वप्रतिपन्नो वा वाच्य । तथा चाह चूर्णिकृत्–' एत्थ पुण चउहिं दिसाहिं अहिगारो खेत्तदिसानात्रखेत्तपन्नवगभावदिसाहिं तामादी निष्ठि परूवणानिमित्तं " ति । तत्र क्षेत्रदिशाऽधिकृत्य तावदाह—

पुव्वाईयासु महा–दिसासु पडिवज्जमाणतो होइ ।
पुव्वपडिवन्नतो पुण, अन्नयरीए दिसाए उ ॥

पूर्वादिकासु क्षेत्रतो महादिक्षु विवक्षिते काले सर्वेषामपि समायिकाना प्रतिपद्यमानको भवति । तत्सभवस्तास्वस्ति न पुनर्भवत्येव कदाचित्तस्य तासु भवनात् । पूर्वप्रतिपन्न पुनश्चतुर्णामपि सामायिकानामन्यतरस्या दिशि भवत्येव । पुन शब्दस्यैवकारार्थत्वात् न पुनर्न भवति । एतदपि सामान्येनोक्तम् विशेषतस्त्वेवमवगन्तव्यम् । त्रयाणा सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकदेशविरतिसामायिकाना चतसृष्वपि पूर्वादिकासु महादिक्षु नियमेन पूर्वप्रतिपन्नकोऽस्ति । सर्वविरतिसामायिकस्य तु पूर्वापरदिशोर्नियमेन दक्षिणोत्तरयोस्तु भजनया । एकान्तदुष्षमादिकाले भरतैरवतेषु सर्वविरतेरुच्छेदात् विदिक्षु पुनश्चतसृष्वपि तथा ऊर्ध्वाधोदिग्द्वये च चतुर्णामपि सामायिकाना न पूर्वप्रतिपन्नो, नापि प्रतिपद्यमानक· तासामेकदेशिकत्वेन चतु प्रादेशिकत्वेन च जीवावगाहनासंभवात् । स्पर्शनामात्रं पुनर्भवेदपि । तथा चाह भाष्यकार·–" छिन्नावलिरुयगादी, दिसासु सामाइयं न ज तासु । सुद्धासु नावगाहइ, जीवो ताओ पुण फुसेज्जा " ॥ २७०७ ॥

तापक्षेत्रविषये प्रज्ञापकदिशावधिकृत्याह–

अट्ठसु चउण्ह नियमा, पुव्वपवन्नो उ दोसु दोण्हेवं ।
दोण्ह तु पुव्वपवन्नो, सिय नन्नो ताव पन्नवए ॥

तापक्षेत्रविषये प्रज्ञापकविषये च ,पुनरष्टसु पूर्वादिकासु दिक्षु चतुर्णामपि सामायिकाना नियमात् पूर्वप्रतिपन्नोऽस्ति, प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्य कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति । तथा द्वयोरूर्ध्वाधोरूपयोर्दिशो द्वयो —सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकयोरेव पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्य इत्यर्थ । ' दोण्ह उ ' इत्यादि द्वया — पुनर्देशविरतिसामायिकसर्वविरतिसामायिकयोरूर्ध्वाधोदिशो स्यात् भजनया, पूर्वप्रतिपन्न कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति । अन्य पुन प्रतिपद्यमानक सर्वथा नेति ।

भावदिशमधिकृत्याह—

उभयाभावो पुढवा–इएसु विगलेसु होज्ज उववन्ने ।

१–विशेषावश्यकेऽपि व्याख्याते इमे गाथे ।

पंचिंदियतिरिएसुं, नियमा तिएहँ सिय पवज्जे ॥
नारय-देव-अकम्मय, अंतरदीवेसु दोएह भयणाओ ।
कम्मजनरेसु चउसुं, मुच्छेसुं उभयपडिसेहो ॥

पृथिव्यादिषु—पृथिव्यप्तेजोवायुमूलबीजस्कन्धबीजाग्रबीजपर्वबीजेषु उभयाभावश्चतुर्णामपि सामायिकानां न पूर्वप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यमानकः । विकलेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु पूर्वप्रतिपन्नो भवेत् । व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकयोः कदाचित् पूर्वप्रतिपन्नो भवेत्सासादनसम्यक्त्ववतां तेषु मध्ये उत्पादसंभवात् । प्रतिपद्यमानकस्तु नोपपद्यते उपदेशश्रवणादिसामग्र्ययोगात् । देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोः पुनर्न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु सर्वविरतिवर्जानां त्रयाणामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति । यः पुनः प्रतिपद्यते प्रतिपद्यमानकः स्यात् भजनया-कदाचित् विवक्षिते काले कदाचिन्नेति भावः । सर्वविरतिसामायिकस्य तु न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकस्तथा भवस्वाभाव्यात् । नारकदेवेष्वकर्मभूमिजान्तरद्वीपजमनुष्येषु च द्वयोः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति । इतरस्य तु प्रतिपद्यमानकस्य भजना-स्याद्वा न वा । इतरयोस्तु—देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोर्न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकस्तथा स्वाभाव्यात् । कर्मजनरेषु—कर्मभूमिजमनुष्येषु चतुर्णामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नोऽस्त्येव । प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्यः । संमूर्च्छिमेषु तु मनुष्येषु चतुर्णामपि सामायिकानां विषये उभयप्रतिषेधो न पूर्वप्रतिपन्नो नापि पूर्वप्रतिपद्यमानक इति भावः । आ० म० १ अ० । विशे० ।

(४४) अथ भाष्यकारो वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथायाः प्रस्तावनामाह—

खेत्तदिसासुं पगयं, सेसदिसाओ पसंगओऽभिहिया ।
संभवओ वा वच्चं, सामइयं जत्थ जं हुज्जा ॥ २७०५ ॥

इह दिग्द्वारे विचार्यमाणे रुचकादारभ्य या—पूर्वादिका दिशः प्ररूपितास्ताभिरेवेह प्रकृतं प्रयोजनम्, शेषास्तु नामस्थापनादिका दिशो दिक्साम्यात् प्रसङ्गतोऽभिहिताः । यदि वा-अशेषदिशां मध्ये यस्यां दिशि यत् सामायिकम् सम्भवति तदभ्यूह्य वाच्यम्, मूलावश्यकाद् वाऽवसेयम्, इति गाथार्थः ।

' इह क्षेत्रदिग्भिः प्रयोजनम् ' इत्युक्तम्, किं पुनस्तत् ?, इत्याह—

पुव्वाईयासु महा-दिसासु पडिवज्जमाणओ होइ ।
पुव्वपडिवण्णओ पुण, अण्णयरीए दिसाए उ ॥२७०६॥

पूर्वाद्यासु शकटोर्द्धसंस्थितासु पूर्वोक्तासु चतसृषु महादिक्षु विवक्षिते काले चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानको भवति, तत्सम्भवस्तास्वस्ति, न पुनर्भवत्येव कदाचित् तस्य तासु भवनात् कदाचिदभवनादिति । पूर्वप्रतिपन्नकः पुनरन्यतरस्यां दिशि भवत्येव । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

ऊर्ध्वाऽधो दिग्द्वये विदिक्षु च तर्हि का वार्त्ता ? इत्याशङ्क्य भाष्यकारः प्राह—

छिण्णावलि रुयगागी, दिसासु सामाइयं न जं तासु ।
सुद्धासु नावगाहइ, जीवो ताओ पुण फुसिज्जा ॥२७०७॥

एकप्रदेशिकत्वेन छिन्नमुक्तावलीकल्पासु चतसृष्वपि विदिक्षु 'रुयगागि' त्ति—रुचकाकारयोः प्रत्येकं चतुष्प्रदेशिकयोरूर्ध्वाऽधोदिशोश्च 'सामाइयं न' त्ति—सर्वमपि सम्पूर्णं—सामायिकं न लभ्यते इति शेषः । कुतः ? इत्याह-' जं तास्वित्यादि ' यद्—यस्मात् तासु शुद्धासु—केवलासु एकस्वपि जीवः सम्पूर्णो नावगाहते, तस्य जघन्यतोऽप्यसङ्ख्येयप्रदेशावगाहित्वात्, एतासां चैकप्रदेशिकत्वेन चतुष्प्रदेशिकत्वेन चैतावत्प्रमाणावगाहासम्भवात् । इतस्ततः संचरणादौ पुनः सामायिकवाञ्जीवस्ताः षडपि देशतः स्पृशेद् न विरोध इति गाथार्थः । उक्तं दिग्द्वारम् ।

(४५) साम्प्रतं कालद्वारमभिधित्सुराह—

सम्मत्तस्स सुयस्स य, पडिवत्ती छव्विहे वि कालम्मि ।
विरइं विरयाविरइं, पडिवज्जइ दोसु तिसु वावि ॥२७०८॥

सम्यक्त्वस्य श्रुतस्य च द्वयोरप्यनयोः सामायिकयोः प्रतिपत्तिः षड्विधेऽपि सुषमसुषमादिके काले सम्भवति । पूर्वप्रतिपन्नकास्त्वनयोर्विद्यन्त एव । विरतिं सम्यक्चारित्रलक्षणाम्, तथा, विरताविरतिं-देशचारित्रात्मिकां प्रतिपद्यते कश्चिदुत्सर्पिण्यां द्वयोः कालयोर्दुःषमसुषमायाम् सुषमदुःषमायां चेति, अवसर्पिण्यां तु त्रिषु कालेषु सुषमदुःषमायाम् दुःषमसुषमायाम्, दुःषमायां चेति । पूर्वप्रतिपन्नस्त्विह विद्यत एव । अपिशब्दात्—संहरणं प्रतीत्य पूर्वप्रतिपन्नक सर्वकालेष्वेव सम्भवति । प्रतिभागकालेषु तु त्रिषु सम्यक्त्वश्रुतयोः प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव, चतुर्थे च प्रतिभागे चतुर्विधस्यापि सामायिकस्य प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्तु विद्यत एव बाह्यद्वीपसमुद्रेषु तु कालरहितेषु त्रयाणां सामायिकानां प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव, चरणस्यापि नन्दीश्वरादौ विद्याचारणादिगमने पूर्वप्रतिपन्नः सम्भवति इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम्—

तइयाइसु तिसु ओस-प्पिणीएँ उस्सप्पिणीएँ दोसुं तु ।
नोउस्सप्पुस्सप्पिणि-काले तिसु सम्मसुत्ताइं ॥२७०६॥
पलिभागम्मि चउत्थे, चउव्विहं चरणवज्जियमकाले ।
चरणं पि हुज्ज गमणे, सव्वं सव्वत्थ साहरणे ॥२७१०॥

' तइयाइसु तिसु ओसप्पिणीए ' त्ति—अवसर्पिण्या तृतीयादिषु त्रिषु कालेषु सुषमदुष्षमादिषु त्रिष्वरकेष्वित्यर्थः । ' सर्वविरतिदेशविरतिसामायिकयोः प्रतिपत्ति लभ्यते ' इत्यध्याहारः । पूर्वप्रतिपन्नस्त्विह चतुर्णामस्त्येव । एवमुत्तरत्रापि पूर्वप्रतिपन्नो यथासम्भवमभ्यूह्य वक्तव्य इति । ' उस्सप्पिणीए दोसु ' ति—उत्सर्पिण्या पुनर्द्वयोर्दुःषमसुषमासुषमदुःषमालक्षणयोः कालविशेषयोस्तत्प्रतिपत्तिः प्राप्यते । ' नो इत्यादि ' इह देवकुरूत्तरकुरुषु

सुषमसुषमाप्रतिभागः, हरिवर्षरम्यकेषु—सुषमाप्रतिभागः, हैमवतैरण्यवतेषु सुषमदुःषमाप्रतिभागः, पञ्चसु महाविदेहेषु दुःषमसुषमाप्रतिभागः। इह चतुर्ष्वपि स्थानेषूत्सर्पिण्यवसर्पिण्यभावाद् नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालोऽयमभिधीयते, यथाक्रमं च सुषमसुषमादिभिः कालविशेषैः सह प्रतिभागस्य सादृश्यस्य विद्यमानत्वाच्चत्वारः सुषमसुषमादयः प्रतिभागा एते भण्यन्ते। तदस्मिन् प्रतिभागचतुष्टयलक्षणे नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीकाले चिन्त्यमाने 'तिसु' त्ति—आद्येषु सुषमसुषमाप्रतिभागादिषु त्रिषु प्रतिभागेषु द्वे सम्यक्त्वश्रुतसामायिके जीवः प्रतिपद्यते। 'पलिभागम्मि चउत्थे चउव्विहं' ति—महाविदेहेषु चतुर्थे दुःषमसुषमाप्रतिभागे चतुर्विधमपि सामायिकं प्रतिपद्यते। 'चरणवज्जियमकाले' त्ति—अकाले—कालाभावे बाह्यद्वीपसमुद्रेषु चरणवर्जितमाद्यं सामायिकत्रयं मत्स्यादयः प्रतिपद्यन्ते। 'चरणं वि हुज्ज गमणे' त्ति—नन्दीश्वरादौ विद्याचारणादीनां गमने चरणमपि पूर्वप्रतिपन्नं सर्वविरतिसामायिकमपि भवेदित्यर्थः। 'सव्वं सव्वत्थ साहरणे' त्ति—देवादिना तु संहरणं प्रतीत्य सर्वं चतुर्विधमपि सामायिकं सर्वत्र निःशेषेऽपि काले प्राप्यते। इति गाथाद्वयार्थः। गतं कालद्वारम्।

(४६) इदानीं गतिद्वारं विभणिषुराह—

चउसु वि गईसु नियमा, सम्मत्तसुयस्स होइ पडिवत्ती।
मणुएसु होइ विरई, विरयाविरई य तिरिएसु ॥२७११॥

चतसृष्वपि नारकतिर्यग्नरामरगतिषु सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोर्नियमात् प्रतिपत्तिर्भवति, न पुनर्न भवतीत्येव नियमो द्रष्टव्यः, भवत्येव सदैव तत्प्रतिपत्तिरित्येव तु न नियमः, कदाचिदन्तरस्यापि तत्प्रतिपत्तेरिहैव वक्ष्यमाणत्वादिति पूर्वप्रतिपन्नास्तु सदैव लभ्यन्त इति। तथा, मनुष्येषु प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य भवति विरतिश्चारित्रात्मिका, नान्यगतिषु, पूर्वप्रतिपन्नास्तु तस्याः सदैवेह विद्यन्त इति। विरताविरतिश्च देशविरतिस्तिर्यक्षु 'भवति' इत्यनुवर्तते, इहापि सम्भवतस्तत्प्रतिपत्तिर्द्रष्टव्या पूर्वप्रतिपन्नास्तु सदैव सन्तीति।

अथ भव्यसंज्ञिद्वारद्वयमभिधातुमाह—

भवसिद्धिओ य जीवो, पडिवज्जइ सो चउण्हमण्णयरं।
पडिसेहो पुणऽसण्णि—म्मि मीसए सण्णिपडिवज्जे॥२७१२॥

भवा भाविनी सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिको भव्यो जीवः, स चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत् सामायिकम् प्रतिपद्यते। इदमुक्तं भवति—कदाचित् सम्यक्त्वश्रुतसामायिके प्रतिपद्यते, कदाचिद् देशविरतिम्, कदाचित् सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यत इति। पूर्वप्रतिपन्नास्तु नाना भव्याश्चतुर्णामपि सामायिकानां सदैव लभ्यन्त इति। एवं संज्ञ्यपि चतुर्णामपि सामायिकानां कदाचित् किञ्चित् प्रतिपद्यते। तथा चाह—'सण्णिपडिवज्जे' त्ति—पूर्वप्रतिपन्नास्तु संज्ञिनोऽपि भव्यवत् सदैव प्राप्यन्त इति। 'पडिसेहो' इत्यादि, पूर्वप्रतिपन्नान् प्रतिपद्यमानकांश्चाश्रित्य चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिषेधः कार्यः। क? इत्याह—असंज्ञिनि, मिश्रके, अभव्ये च "सिद्धे नो सण्णी, नो असण्णी, नो भव्वे, नो अभव्वे" इति वचनाद् मिश्रकः सिद्धोऽभिधीयते। ततश्चैते त्रयोऽप्यसंज्ञ्यभव्यमिश्रकाश्चतुर्णामपि सामायिकानां न पूर्वप्रतिपन्ना नापि प्रतिपद्यमानका लभ्यन्त इति भावार्थः। पुनःशब्दादसंज्ञी सास्वादनमाश्रित्य सम्यक्त्व-श्रुतसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो भवेदिति द्रष्टव्यम्, तथा मिश्रोऽपि भवस्थकेवली सम्यक्त्वचारित्रसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो भवेदित्यपि द्रष्टव्यम्। अयं च न संज्ञी नाप्यसंज्ञीति मिश्रता द्रष्टव्या। आह—यद्येवं सिद्धोऽपि सम्यक्त्वसामायिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते, अतोऽस्यापि— किमिति सर्वसामायिकनिषेधः क्रियते?। सत्यम्, किन्तु सम्यक्त्ववर्जं सामायिकत्रयं संसारस्थानामेव सम्भवति। तत्साहचर्यात् सम्यक्त्वसामायिकमपि संसारिणां सम्बन्धि विचार्यते, तथाभूतं तु सिद्धे नास्तीति निषिध्यत इत्यदोषः, इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः।

पुनःशब्दस्य व्याख्यानं भाष्यकारोऽप्याह—

पुणसद्दाउ असण्णी, सम्मसुए होज्ज पुव्वपडिवण्णो।
मीसो भवत्थकाले, सम्मत्तचारित्तपडिवण्णो ॥२७१३॥

गाथार्थः।

अथोच्छ्वासनिःश्वासकदृष्टिद्वारद्वयाभिधित्सया प्राह—

ऊसासय नीसासय—मीसे पडिसेहो दुविह पडिवण्णो।
दिट्ठी य दो नया खलु, ववहारो निच्छओ चेव॥२७१४॥

उच्छ्वसितीत्युच्छ्वासकः, निःश्वसितीति निःश्वासकः, आनापानपर्याप्तिपरिनिष्पन्न इत्यर्थः। 'स चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नकस्त्वस्त्येव, इति वाक्यशेषः। मिश्रः खल्वानापानपर्याप्त्यपर्याप्तो भण्यते। तत्र प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य प्रतिषेधः, नासौ चतुर्णामपि प्रतिपद्यमानकः सम्भवतीति भावना। 'दुविहपडिवण्णो' त्ति स एव द्विविधस्य सम्यक्त्वश्रुतसामायिकस्य प्रतिपन्नः पूर्वप्रतिपन्नो भवति देवादिजन्मकाल इति। अथवा-मिश्रः सिद्धः, तत्र चतुर्णामपि सामायिकानां पूर्वोक्तयुक्तेरुभयथाऽपि प्रतिषेधः 'दुविह पडिवण्णो' त्ति-इह मिश्रः शरीररहितत्वाद् नोउच्छ्वासनिःश्वासकत्वेन शैलेशीगतोऽयोगिकेवली गृह्यते, स द्विविधस्य—सम्यक्त्वचारित्रसामायिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो भवति। दृष्टौ विचार्यमाणायां द्वौ नयौ खलु विचारकौ व्यवहारो निश्चयश्चैव। तत्राद्यस्य यथा मतिज्ञानविचारेऽज्ञानी ज्ञानं प्रतिपद्यते, तथेहाप्यसामायिकी-असामायिकवान् सामायिकं प्रतिपद्यते, तथाऽसामयिकी दीर्घकालिकी तत्प्रतिपत्तिः। द्वितीयस्य तु यथा ज्ञानी ज्ञानं प्रतिपद्यते तथात्रापि सामायिकी-सामायिकवान् सामायिकं प्रतिपद्यते, सामयिकी च तत्प्रतिपत्तिः, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्। इति निर्युक्तिगाथार्थः।

(४७) मिश्रशब्दभावार्थं व्यवहारनिश्चयनयमतविचारं च भाष्यकारोऽप्याह—

मीसो नो उस्सासय—नीसासो तेहिँ जो अपज्जत्तो।
हुज्ज पवण्णो दोन्नि उ, सेलेसिगओ चरित्तं च॥२७१५॥
पढमस्सासामइगी, पडिवज्जइ बिइयगस्स सामइगी।

ववहारनिच्छयमयं, नेयं मइनाणलाभो व्व ॥ २७१६ ॥

इह मिश्रो नो उच्छ्वासकनिःश्वासकोऽयोगिकेवली गृह्यते । तथा-ताभ्यामुच्छ्वासनिःश्वासाभ्यामपर्याप्तकश्चेह मिश्रः । स चापर्याप्तको देवादिर्जन्मकाले द्विविधस्य सम्यक्त्वश्रुतसामायिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते । यस्तु नोउच्छ्वासकनिःश्वासको मिश्रः शैलेशीगतोऽयोगिकेवली, स चारित्रसामायिकं चशब्दात्—सम्यक्त्वसामायिकं चाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यत इति । इष्टौ नयविचारे प्रथमस्य व्यवहारनयस्यासामायिकी-असामायिकवान् सामायिकं प्रतिपद्यते, द्वितीयस्य तु निश्चयनयस्य सामायिकी—सामायिकवान् सामायिकं प्रतिपद्यत इत्येवमादिव्यवहारनिश्चयनयमतमतिज्ञानलाभ इवात्रापि विज्ञेयम् इति गाथाद्वयार्थः ।

(४८) अथाहारकपर्याप्तकद्वारद्वयमाह—

आहारगो उ जीवो, पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं ।
एमेव य पज्जत्तो, सम्मत्तसुए सिया इयरो ॥२७१७॥

आहारयतीत्याहारकस्तु यो जीवः स चतुर्णां सामायिकानां मध्यादन्यतरत् प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव, षड्भिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तकोऽप्येवमेव चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव । 'सम्मत्तसुए सिया इयरो' त्ति—इतरोऽनाहारकोऽपर्याप्तश्च, तत्रानाहारकोऽपान्तरालगतौ सम्यक्त्वश्रुते अङ्गीकृत्य स्यात्—भवेत् पूर्वप्रतिपन्नः, 'प्रतिपद्यमानस्तु नैव' इति वाक्यशेषः । केवली तु समुद्घातशैलेश्यवस्थायामनाहारको दर्शनचरणसामायिकद्वयस्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते, अपर्याप्तोऽपि सम्यक्त्वश्रुते अधिकृत्य स्यात् पूर्वप्रतिपन्नः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अत्र भाष्यम्—

पुव्वपवन्नोऽणाहा-रगो दुगं सो भवंतरालम्मि ।
चरणं सेलेसाइसु, इयरो त्ति दुगं अपज्जत्तो ॥२७१८॥

गतार्था, नवरं 'चरणं सेलेसाइसु' त्ति—आदिशब्दात्समुद्घातपरिग्रहः । ततश्च शैलेश्यां समुद्घाते च केवल्यनाहारकश्चरणस्योपलक्षणत्वात् सम्यक्त्वसामायिकं चारित्रसामायिकं चाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते । इतरस्त्वपर्याप्तको देवादिजन्मकाले सम्यक्त्व-श्रुतलक्षणसामायिकद्विकमाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यत इति ।

(४९) साम्प्रतं सुप्तजन्मद्वारद्वयव्याचिख्यासयेदमाह—

निद्दाइभावओ वि य, जागरमाणो चउण्हमण्णयरं ।
अंडय तह पोयजरो-वयाइदो तिण्णि चउरो वा ॥२७१९॥

इह सुप्तो द्विविधः-द्रव्यसुप्तः, भावसुप्तश्च । एवं जाग्रदपीति । तत्र द्रव्यसुप्तो निद्रया, भावसुप्तस्तु मिथ्यादृष्टिः । तथा द्रव्यजागरो—निद्रारहितः, भावजागरः सम्यग्दृष्टिः । तत्र निद्रया भावतोऽपि च जाग्रच्चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत् प्रतिपद्यते । 'पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव' इत्यध्याहारः । अपिशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि ? । भावजागरः सम्यग्दृष्टिर्द्वे आद्यसामायिके प्रतीत्य पूर्वप्रतिपन्न एव व्यवहारनयमतेन भवेत्, निश्चयनयमतेन तु तत्प्रतिपत्ताऽपि भवति । चरणं देशविरतिं चाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्यमानकश्च भवति । निद्रासुप्तस्तु चतुर्णामपि प्रतिपन्नो भवति, न तु प्रतिपद्यमानकः, निद्रासुप्तस्य तथाविधविशुद्ध्यादिसामग्र्यभावात् । भावसुप्तस्तूभयविकलः, तस्य मिथ्यादृष्टित्वात्, वक्ष्यति च—"मिच्छो उ भावसुत्तो न पवज्जइ" इति । अथवा-नियमतो निश्चयव्यवहारनयाभिप्रायात् स भावसुप्तः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वयप्रतिपत्तिकाले सम्यग्दृष्टिर्वा मिथ्यादृष्टिर्वाऽभिहितः, तथा च वक्ष्यते—'सोऽहवा नयमयाओ । सम्मो वा मिच्छो वा, निच्छयववहारओऽभिहिओ' इति । इदमुक्तं भवति—निश्चयनयस्य सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, व्यवहारनयस्य तु मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । अतो व्यवहारनयमतेन भावसुप्तो मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वादिसामायिकद्वयस्य प्रतिपत्ता लभ्यत इति । जन्म चतुर्विधम्—अण्डजम्, पोतजम्, जरायुजम्, औपपातिकं चेति । तत्राण्डजा—हंसादयः, पोतजा-हस्त्यादयः, जरायुजा-मनुष्याः, औपपातिका-देवनारकाः । एतेषां यथासंभवं द्वे, त्रीणि, चत्वारि वा सामायिकानि भवन्ति । तत्र हंसादयो द्वे त्रीणि वाऽऽद्यसामायिकानि कदाचित् प्रतिपद्यन्ते, पूर्वप्रतिपन्नास्त्वेषां ते नियमतः सन्त्येव । एवं पोतजा हस्त्यादयोऽपि वक्तव्याः । जरायुजास्तु मनुष्याश्चत्वार्यपि सामायिकानि प्रतिपद्यन्ते । पूर्वप्रतिपन्नास्तु तेषां नियमतः सन्ति, देवनारकाः पुनराद्ये द्वे सामायिके प्रतिपद्यन्ते, प्रतिपन्नास्त्वस्य सामायिकद्वयस्य तु नियमतः सन्ति । इह च मूलावश्यकनिर्युक्त्यामेव पाठो दृश्यते—"अंडज पोयज जराउय तिग तिग चउरो भवे कमसो" इति, टीकायां तु तत्रैवं व्याख्यानमभिधीयते-जन्म त्रिविधम्-अण्डज-पोतज जरायुजभेदभिन्नम् । तत्र यथासंख्यं-'तिगतिगचउरो भवे कमसो' । ततोऽण्डजादीनां त्रयाणामपि व्याख्याने कृते पश्चाद् व्याख्यानम्—'औपपातिकास्तु प्रथमयोर्द्वयोरेव' इति । भाष्यटीकाकृताऽप्येतद् मूलावश्यकटीकागतं सर्वं प्रायस्तदवस्थमेव लिखितम् । भाष्ये तु गाथायामौपपातिकानामुपादानं कृतं दृश्यते । ततोऽस्या गम्भीरार्थके समाधानं बहुश्रुता एव विदन्ति । अस्माभिस्तु यथा भाष्ये दृष्टं तथा व्याख्यातम्, सगतमसंगतं वेति पुनस्त एव जानन्ति । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यव्याख्यानम्—

सम्मद्दिट्ठी किर भा-वजागरो दुण्हि पुव्वपडिवन्नो ।
होज्ज पडिवज्जमाणो, चरणं सो देसविरइं च ॥२७२०॥

मिच्छो उ भावसुत्तो,
न पवज्जइ सोऽहवा नयमयाओ ।
सम्मो वा मिच्छो वा,
निच्छय-ववहारओऽभिहिओ ॥ २७२१ ॥

चउरो जराउजम्मे,
हुज्ज पवन्नो पवज्जमाणो वा ।
सेसं तिन्नि पवण्णो,
दोण्णि तओ वा पवज्जेज्ज ॥ २७२२ ॥

निगदोऽप्युक्तार्था चेति । नवरं 'सेसं तिन्नि पवण्णो' इत्या-

द्वि , इह शेषग्रहणेनाण्डजपोतजलक्षणं जन्मद्वयमेव गृ-
ह्यते . औपपातिकास्तु पूर्वप्रतिपन्ना. प्रतिपद्यमानकाश्चाद्य-
योर्द्वयोरेव भवन्तीति द्रष्टव्यमिति ।

(५०) अथ स्थितिद्वारमाह—

उक्कोसयट्ठिईए ,
पडिवज्जंते य नत्थि पडिवन्नो ।
अजहन्नमणुक्कोसे ,
पडिवज्जे यावि पडिवन्ने ॥ २७२३ ॥

आयुर्वर्जाना ज्ञानावरणादिकर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटी-
कोट्यादिकायामुत्कृष्टस्थितौ वर्त्तमानो जीवश्चतुर्णामपि सा-
मायिकाना न प्रतिपद्यमानको न चापि पूर्वप्रतिपन्नः प्रा-
प्यते, तस्यातिसंक्लिष्टत्वेन तदसम्भवात् । आयुषस्त्रयस्त्रिंश-
त्सागरोपमलक्षणायामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमानोऽनुत्तरसुर. पूर्वप्र-
थमसामायिकद्वयस्य प्रतिपन्न प्राप्यते, सप्तमपृथिव्यप्रति-
ष्ठाननारकस्तु षण्मासावशेषायुस्तथाविधविशुद्धियुक्तत्वात्त-
स्यैव सामायिकद्वयस्य प्रतिपद्यमानक' पूर्वप्रतिपन्नश्च ल-
भ्यते , तथा च वक्ष्यति-' आउक्कोसे दोण्णि उ पवज्जमा-
णो पवण्णो वा ' इति । जघन्यायां तु क्षुल्लकभवग्रहणलक्ष-
णायामायु स्थितौ वर्त्तमानो निगोदादिश्चतुर्णामपि न प्रति-
पद्यमानको नापि पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते, तस्या विशुद्ध-
त्वेन तदयोग्यत्वादिति । शेषे तु ज्ञानावरणादिकर्मसप्तके
जघन्यामन्तर्मुहूर्तादिकां स्थितिं बध्नन् दर्शनसप्तकानिक्रा-
न्तोऽन्तकृत्केवलित्वप्राप्स्यन् क्षपको देशविरतिवर्जितस्य
सम्यक्त्वश्रुतसर्वविरतिलक्षणसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नो
लभ्यते , तस्यातिविशुद्धत्वेनातिजघन्यस्थितिबन्धकत्वात् ,
क्षपकस्य च देशविरतेरसंभवात् , सम्यक्त्वादिप्रतिपत्तेश्च
पूर्वमेव संजातत्वादिति । जघन्यस्थितिकर्मबन्धकत्वेन चेह
जघन्यस्थितिकत्वं गृह्यते , नतूपात्तकर्मसत्तापेक्षयेति ,
व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरिति । ' अजहण्णमणुक्कोसे '
इत्यादि , अजघन्योत्कृष्टे तु कर्मण्यष्टानामपि कर्मणा
मध्यमायां स्थितौ वर्तमानो जीव इत्यर्थ । चतुर्णा-
मपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानक. पूर्वप्रतिपन्नश्च लभ्यते ।
इति निर्युक्तिगाथार्थ. ।

अथ भाष्यम्—

उक्कोसट्ठिइकम्मो, न पवज्जंतो न यावि पडिवन्नो ।
आउक्कोसे दुण्णि उ, पवज्जमाणो पवन्नो वा ॥ २७२४ ॥
न जहन्ना उ ठिईए, पडिवज्जइ नेयपुव्वपडिवन्नो ।
सेसे पुव्वपवन्नो, देसविरइवज्जिए होज्ज ॥ २७२५ ॥

व्याख्यातार्थे एव ।

(५१) साम्प्रतं वेदसंज्ञाकषायद्वारत्रय व्याचिख्यासुराह—

चउरो वि तिविहवेए,
चउसु वि सण्णासु होइ पडिवत्ती ।
हेट्ठा जहा कसाएँ—
सुवण्णियं तह य इहयं पि ॥ २७२६ ॥

चत्वार्यपि सामायिकानि-स्त्रीपुनपुंसकलक्षणे त्रिविधेऽपि
वेदे प्राप्यन्ते । इदमुक्तं भवति-चत्वार्यपि सामायिकान्यधि-
कृत्य त्रिविधवेदे विवक्षिते काले प्रतिपद्यमानक संभवति,
पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव । अवेदस्तु देशविरतिरहितानां त्रया-
णां पूर्वप्रतिपन्न. स्यात् , न तु प्रतिपद्यमानक' । तथा,
चतसृष्वपि संज्ञास्वाहारभयमैथुनपरिग्रहरूपासु चतुर्विध-
स्यापि सामायिकस्य भवति प्रतिपत्ति'—प्रतिपद्यमानको
भवति, न न भवतीत्यर्थः, पूर्वप्रतिपन्नकस्त्वस्त्येव । 'हेट्ठ'
त्ति—अधो यथा ' पढमिल्लुआण उदए नियमा संजोयणा
कसायाणं ' इत्यादिना कषायेषु वर्णितं तथेहापि वर्णयित-
व्यम् , सामान्येन तु सकषायी चतुर्णामपि प्रतिपद्यमा-
मानक', पूर्वप्रतिपन्नश्च भवति । अकषायी तु छद्मस्थवीत-
रागो देशविरतिवर्जसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नो भवति,
न तु प्रतिपद्यमानक इति । गतं वेदादिद्वारत्रयम् ।

(५२) साम्प्रतमायुर्ज्ञानद्वारद्वयाभिधित्सया प्राह-

संखेज्जाऊचउरो, भयणा सम्मसुएऽसंखवासाणं ।
ओहेण विभागेण य,नाणी पडिवज्जए चउरो ॥२७२७॥

संख्यातवर्षायुर्जीवश्चत्वारि सामायिकानि प्रतिपद्यते, प्र-
तिपन्नस्त्वस्त्येव ' इति शेषः । ' भयणे ' त्यादि भजना—वि
कल्पना सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोरसंख्येयवर्षायुषाम् । इ-
यमत्र भावना—विवक्षितकालेऽसंख्येयवर्षायुषां सम्यक्त्व-
श्रुतयोः प्रतिपद्यमानक. सम्भवति पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येवे-
ति द्वारम् । ' ओहेण ' त्यादि ओघेन—सामान्यतो निश्च-
यनयमतेन ज्ञानी चत्वार्यपि सामायिकानि प्रतिपद्यते,
व्यवहारनयमतेन त्वज्ञानिन एव सम्यक्त्वश्रुतप्रतिपत्तेः ।
पूर्वप्रतिपन्नस्तु ज्ञानी चतुर्णामप्यस्त्येव । विभागेन च
भेदेन यदा ज्ञानी चिन्त्यते तदा मतिश्रुतज्ञानी द्वे सम्य-
क्त्व—श्रुतसामायिके युगपत् प्रतिपद्यते । देशसर्वविरति-
सामायिके तु भजनया प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नस्तु चतु-
र्णामप्यस्त्येव । अवधिज्ञानी तु सम्यक्त्व--श्रुतसामायिक-
योः पूर्वप्रतिपन्न एव न प्रतिपद्यमानक । देशविरतिसामा-
यिक तु न प्रतिपद्यते । देवनारकयतिश्रावका हि चत्वारो-
ऽवधिस्वामिन । तत्राद्यत्रयस्य देशविरतिप्रतिपत्तेरसम्भव
एव , श्रावकोऽप्यवधिज्ञानं प्राप्य देशविरतिं प्रतिपद्यत
इत्येवं न, किन्तु पूर्वमभ्यस्तदेशविरतिगुण पश्चादवधिं
प्रतिपद्यते, देशविरत्यादिगुणप्राप्तिपूर्वकत्वादवधिज्ञानप्रति-
पत्तेरित्येतावद् गुरुभ्योऽस्माभिरवगतम् , तत्त्व तु केवलिनो
विदन्ति । सर्वविरतिसामायिक तु प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्न-
स्तु सर्वेषामप्यस्त्येव । मन.पर्यायज्ञानी तु देशविरतिरहित-
सामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्न एव, न तु प्रतिपद्यमान., युग
पद्वा सह तेन वा चारित्र प्रतिपद्यते तीर्थकृत् , उक्त च-" प
डिवन्नम्मि चरित्ते, चउनाणी जाव छउमत्थो " इति । भव-
स्थकेवलिसम्यक्त्वचारित्रसामायिकयो. पूर्वप्रतिपन्नो भव-
ति, न तु प्रतिपद्यमानक. । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थ ।

भाष्यम्—

दोसु जुगवं चिय दुगं, भयणा देसविरइए य चरणे य ।
ओहिम्मि न देसवयं,पडिवज्जइ होइ पडिवन्नो ॥२७२८॥
देसव्वयवज्जं मा—णसे पवन्नो समं पि च चरित्तं ।

भवकेवले पवन्नो, पुव्वं सम्मत्तचारित्तं ॥ २७२६ ॥

उक्तार्थे एव,नवरं 'दोसु जुगवं चिय दुगं' ति-द्वयोर्मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्युगपदेव प्रतिपत्तिमाश्रित्य सम्यक्त्व-श्रुतसामायिकद्विकं प्राप्यत इति ।

(५३) अथ योगोपयोगशरीरद्वारत्रयाभिधित्सया प्राह—

चउरो तिविहे जोए, उवओगदुगम्मि चउरो पडिवज्जे ।

ओरालिए चउक्कं, सम्मसुयविउव्विए भयणा ॥२७३०॥

चत्वार्यपि सामायिकानि सामान्यतस्त्रिविधयोगे मनोवाक्कायलक्षणे सति प्रतिपत्तिमाश्रित्य विवक्षिते काले सम्भवन्ति, प्राक्प्रतिपन्नतां त्वधिकृत्य विद्यन्त एव । विशेषतस्त्वौदारिककाययोगवति योगत्रये चत्वार्युभयथाऽपि लभ्यन्ते । वैक्रियसहिते तु योगत्रये सम्यक्त्वश्रुते उभयथाऽपि प्राप्येते, देशसर्वविरती तु पूर्वप्रतिपन्ने लभ्येते । आहारकयुक्ते तु योगत्रये देशविरतिरहितानि त्रीणि पूर्वप्रतिपन्नानि भवन्ति, तैजसकार्मणयोग एव केवलेऽपान्तरालगतावाद्य सामायिकद्वय प्राक् प्रतिपन्नतामधिकृत्य प्राप्यते । केवलिसमुद्धाते तु सम्यक्त्वचारित्रसामायिके पूर्वप्रतिपन्ने प्राप्येते । मनोयोगे केवले न किञ्चित् , तस्यैवाभावात् । एवं वाग्योगेऽपि काय-वाग्योगद्वये द्वीन्द्रियादिषूत्पन्नमात्रस्य सास्वादनस्य पूर्वप्रतिपन्ने सम्यक्त्वश्रुते प्राप्येते इत्यलं विस्तरेण । 'उवओगे' त्यादि, साकारानाकारभेदे उपयोगे उपयोगद्वये चत्वारि प्रतिपद्यते , प्राक् प्रतिपन्नस्तु विद्यत एव । अत्राऽऽक्षेपपरिहारौ भाष्यकार एव वक्ष्यति । 'ओरालिए' इत्यादि, औदारिकशरीरे सामायिकचतुष्कमुभयथाऽप्यस्ति । सम्यक्त्वश्रुतयोर्वैक्रियशरीरे भजना-विकल्पना कार्या देवादिः कदाचित् ते प्रतिपद्यते, कदाचिद् नेति । देशविरतिसर्वविरतिसामायिके तु वैक्रियशरीरिणस्तिर्यग्मनुष्या अपि न प्रतिपद्यन्ते । विक्रियाप्रवृत्तित्वेन किल तेषां प्रमत्तत्वादिति । पूर्वप्रतिपन्नस्तु वैक्रियशरीरे चतुर्णामपि प्राप्यत एव । शेषशरीरविचारः प्रस्तुतगाथायामेवादौ निरूपितयोगद्वारानुसारत एव भावनीय, इति निर्युक्तिगाथार्थ ।

यदुक्तम् 'उवओग दुगम्मि चउरो पडिवज्जे' इति । तत्र भाष्यकारः प्रेर्यमुत्थापयन्नाह—

सव्वाओ लद्धीओ,जइ सागारोवओगभावम्मि ।

इह कहमुवओगदुगे,लब्भइ सामाइयचउक्कं ॥२७३१॥

आह ननु, 'सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स भवति" इत्यागमे प्रोक्तम् ,ततो यदि एतस्मादागमात् सर्वा अपि लब्धयः साकारोपयोग एव भवन्ति, तर्हि कथमिह प्रोच्यते-'उपयोगद्वयेऽपि सामायिकचतुष्टय लभ्यते' इति? ।

अत्र परिहारमाह—

सो किर निअमो परिव-ड्डमाणपरिणामयं पइ इहं तु ।

जोऽवट्ठियपरिणामो,लभेज्ज स लभिज्ज बीए वि॥२७३२॥

'सव्वाओ लद्धीओ' इत्यादिको यस्त्वयाऽऽगमोक्तोनियमोऽभिधीयते स किल परिवर्धमानपरिणामकं जीवं प्रति द्रष्टव्य । इह च प्रस्तुते योऽवस्थितपरिणामो जीव सामायिकानि लभते, स द्वितीयेऽप्यनाकारोपयोगे लभेत तानि, इति न विरोध ।

आह ननु यद्येवमनाकारोपयोगेऽपि लब्धौ सत्यां 'सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओग' इत्याद्यागमे साकारोपयोगस्यैव ग्रहणं किमर्थम् ? इत्याशङ्क्याह—

पायं पवड्ढमाणो, लभए सागारगहणया तेण !

इयरो उ जइच्छाए, उवसमसम्माइ लाभम्मि ॥२७३३॥

प्रायो-बाहुल्येन वर्धमान -प्रवर्धमानपरिणाम एव जीवो लब्धीर्लभते ,तेनागमे साकारोपयोगस्यैव ग्रहणं कृतम् । इतरस्त्ववस्थितपरिणामो यदृच्छया सकृत् कदाचिदेवौपशमिकसम्यक्त्वादिलाभकाले प्राप्यते इत्यनाकारोपयोगस्थे स्वल्पत्वेन सतोऽप्यविवक्षितत्वात् सूत्रेऽग्रहणम् । आदिशब्दात्-श्रुतदेशसर्वविरतिसामायिकलाभपरिग्रह. । अयमत्र भावार्थ , यथा—" सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओग " इत्यादिक आगम., तथा-' उवओगदुगम्मि चउरो पडिवज्जे' इत्ययमप्यागम एव , अत. परस्परप्रतिस्पर्द्धिसैद्धान्तिकवचसा व्यवस्था न्याय्या । सा चेयम्—या सम्यक्त्वं लब्ध्वा मिथ्यात्व गताना पुनरपि कुतश्चित् शुभोदयात् प्रतिक्षणं प्रवर्धमानाध्यवसायवतां सम्यक्त्व—चारित्रादिलब्धयो भवन्ति, याश्चावध्यादिलब्धय उत्पद्यन्ते ता सर्वा. साकारोपयोगोपयुक्तस्य द्रष्टव्या. । यास्तु प्रथमसम्यक्त्वलाभकालेऽन्तरकरणप्रविष्टस्यावस्थिताध्यवसायस्य सम्यक्त्वादिलब्धयो भवन्ति ता अनाकारोपयोगेऽपि भवन्ति न कश्चिद् दोष । अन्तरकरणे च वर्तमान सम्यक्त्व-श्रुतसामायिकलाभसमकालमेव कश्चिदतिविशुद्धत्वाद् देशविरतिम् , अपरस्त्वतिविशुद्धत्वात् सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यते, इत्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभकालेऽवस्थितपरिणामस्यानाकारोपयोगवर्तिनोऽपि चत्वार्यपि सामायिकानि भवन्ति, स्वल्पत्वाश्चैतदत्रागमे न विवक्षितमिति ।

(५४)कथ पुनरिदमौपशमिकसम्यक्त्वं जीवस्याभ्युपगन्तव्यम् इत्याह—

ऊसरदेसं दड्ढि-ल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प ।

इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥२७३४॥

यथोषरदेशं पूर्ववद् दग्धप्रदेशं वा प्राप्य वनदवो विध्यायति, इत्येवमन्तरकरणं प्राप्य मिथ्यात्वस्यानुदये मिथ्यात्वोदयवह्नावुपशान्ते औपशमिकं सम्यक्त्वं जीवस्य मुणितव्यमिति ।

कदा पुनरिदं भवति ? इत्याह—

उवसामगसेढिगय-स्स होइ उवसामगं तु सम्मत्तं ।

जो वा अकयतिपुंजो,अखवियमिच्छो लहइ सम्मं॥२७३५

प्रागुक्तार्था ।

(५५) कथं पुनरस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभेऽवस्थितपरिणामत्वम् ? इत्याह—

जं मिच्छस्साणुदओ , न हायए तेण तस्स परिणामो ।

जं पुण सयमुवसंतं, न वड्ढए तेण परिणामो ॥२७३६॥

यद्-यस्मादन्तरकरणे मिथ्यात्वस्यानुदयस्तेन तस्माद् न हीयते तस्य परिणाम . हानिकारणाभावात् । यस्मात् पुन. सत्तागतं मिथ्यात्वमुपशान्तं विष्कम्भितोदयमपनीतमिथ्यास्वभावं च, तेनास्य परिणामो न वर्धते । यथा हि-वनद-

वो दाह्याभावाद् न वर्धते, किन्तु विध्यायति, इत्येवं वेद्यस्य मिथ्यात्वस्याभावात् तदुपगाया निवृत्तिकरणवद् औपशमिकसम्यग्दृष्टेः परिणामो वर्धते किन्त्ववस्थित एवास्ते, अतोऽवस्थितपरिणामत्वमिति ।

(५६) 'ओरालिए चउक्क' इत्यादेर्व्याख्यानमाह—

दुगपडिवत्ती वेउ-व्वियम्मि सव्वाइं पुव्वपडिवन्नो ।
देसव्वयवज्जाइं, आहाराईसु तीसुं तु ॥ २७३७ ॥

उक्तार्था । नवरमाहारकशरीरे देशविरतिवर्जसामायिकत्रयं पूर्वप्रतिपन्नमवाप्यते, चतुर्दशपूर्वविदो देशविरतेरभावात्, शेषाणां तु पूर्वप्रतिपन्नत्वेन प्रतिपत्तेरसम्भवादिति । तैजसकार्मणयोस्तु केवलिसमुद्घाते चतुर्थपञ्चमतृतीयसमयेषु सम्यक्त्वचारित्रसामायिकस्य विग्रहगतौ तु सम्यक्त्वश्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते । इति गाथासप्तकार्थः ।

(५७) अथ संस्थानादिद्वारत्रयमाह-

सव्वेसु वि संठाणे-सु लहइ एमेव सव्वसंघयणे ।
उक्कोसजहन्नं व-ज्जिऊण माणे लभे मणुओ ॥२७३८॥

संस्थिति संस्थानमाकारविशेषलक्षणम् । तच्च 'समचउरंसे निग्गोहमंडले' इत्यादिभेदात् षोढा । तत्र सर्वेष्वपि संस्थानेषु लभते—प्रतिपद्यते चत्वार्यपि सामायिकानि, 'प्राक् प्रतिपन्नोऽप्यस्ति' इत्यध्याहारः ।

(सहनने)—

'एमेव सव्वसंघयणे' त्ति—संहन्ति. संहननमस्थिसञ्चयविशेष, तानि च वज्रर्षभनाराचादिभेदात् षड् भवन्ति । एतेषु च यथासंस्थानेष्वेवमेव निरवशेषो विचार कर्त्तव्य, पूर्वप्रतिपन्नानि प्रतिपद्यमानानि चैतेष्वपि चत्वारि लभ्यन्त इत्यर्थः ।

(अवगाहना)—

'उक्कोसे' इत्यादि मीयते इति मान—शरीरस्य प्रमाणमवगाहनेत्यर्थः । तत्र मनुष्यस्योत्कृष्टमान त्रीणि गव्यूतानि, जघन्यं त्वङ्गुलासङ्ख्येयभाग, एतदुत्कृष्टं जघन्यं च मानं वर्जयित्वा मध्यमशरीरमाने वर्तमानो मनुष्यो लभते-प्रतिपद्यते 'चत्वार्यपि सामायिकानि' इति प्रक्रमाद् गम्यते । पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव । जघन्यावगाहस्तु गर्भजमनुष्यः सम्यक्त्वश्रुतयो पूर्वप्रतिपन्न सम्भवति । न तु प्रतिपद्यमानक उत्कृष्टावगाहनस्तु । त्रिगव्यूत सम्यक्त्व-श्रुतयोर्द्विधाऽप्यस्ति । नारकदेवा अपि जघन्यावगाहना सम्यक्त्वश्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्ना सम्भवन्ति न तु प्रतिपद्यमानका । मध्यमोत्कृष्टावगाहनास्त्वेनयोः प्रतिपद्यमानकाः सम्भवन्ति, पूर्वप्रतिपन्नास्तु सन्त्येव, तिर्यञ्चस्तु पञ्चेन्द्रिया जघन्यावगाहना सम्यक्त्व-श्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति न तु प्रतिपद्यमानका उत्कृष्टावगाहनास्तु पडगव्यूतास्तयोर्द्विधाऽपि लभ्यन्ते । मध्यमावगाहनास्तु द्वयोस्त्रयाणां वा सर्वविरतिवर्जितानां प्रतिपद्यमानका सम्भवन्ति पूर्वप्रतिपन्नास्तु त्रयाणां सन्त्येव इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम्—

न जहन्नोगाहणओ, पवज्जए दोण्णि होज्ज पडिवन्नो ।
उक्कोसोगाहणगो,दुहा विदो तिन्नि उ तिरिक्खो २७३९।

जघन्यावगाहनो गर्भजमनुष्यस्तिर्यङ् च न किञ्चित् प्रतिपद्यते, द्वयोस्त्वाद्ययो पूर्वप्रतिपन्नो भवेत् । उत्कृष्टावगाहनस्त्वनयोर्द्विधाऽपि पूर्वप्रतिपन्न प्रतिपद्यमानकश्च भवति । मध्यमावगाहनो मनुष्यश्चतुर्णामपि सामायिकाना पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्यमानश्च लभ्यत इति द्रष्टव्यम् । पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् पुनर्द्वयोराद्ययोः त्रयाणां वा सर्वविरतिवर्जितानां 'द्विधापि' इत्यत्रापि वर्तते, पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्यमानश्च भवति इति गाथार्थः ।

(५८) अथ लेश्याद्वारमाह—

सम्मत्तसुयं सव्वा-सु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥ २७४० ॥

सम्यक्त्वश्रुतसामायिके सर्वास्वपि कृष्णादिकासु शुक्लान्तासु षट्स्वपि लेश्यासु लभते-प्रतिपद्यते नरकादि । चारित्रं तु देशसर्वविरतिलक्षणं शुद्धास्वेवोपरितनीषु तैजसीपद्मशुक्ललक्षणासु तिसृषु लेश्यासु प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्न. पुन. षण्णामन्यतरस्यामपि लेश्याया चारित्री सम्यग्दृष्टिश्च प्राप्यते । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यकार. प्रेर्यमुत्थापयन्नाह—

ननु मइसुयाइलाभो-ऽभिहिओ सुद्धासु तीसु लेसासु ।
सुद्धासु असुद्धासु य,कहमिह सम्मत्तसुयलाभो ?।२७४१।

ननु पूर्वं ज्ञानपञ्चकविचारे मतिश्रुतादिज्ञानलाभः शुभास्वेव तैजसीप्रभृतिषु तिसृषु लेश्यास्वभिहित, इह तु शुद्धास्वशुद्धासु च षट्स्वपि सम्यक्त्वश्रुतलाभोऽभिधीयमान. कथ न विरुध्यते ? इति ।

अत्र परिहारमाह

सुरनेरइएसु दुगं, लब्भइ य दव्वलेसया सव्वे ।
नाणेसु भावलेसाऽ-हिगया इह दव्व लेसाओ॥२७४२॥

इह तावत् सुरनारकेष्वपि सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वय लभ्यत एव ते च सुरनारका सर्वेऽप्यवस्थितद्रव्यलेश्या भवन्ति, यथासम्भव षडपि कृष्णादिद्रव्यलेश्यास्तेष्ववतिष्ठन्ते इत्यर्थः । भावलेश्यास्तु तेषां परावृत्ता श्रुते प्रतिपाद्यन्ते । तिर्यग्मनुष्याणां त्वन्यथा कस्यचित् कादिदेव भवति । किन्तु-द्रव्यलेश्या, भावस्थिता द्रव्यलेश्या न भवन्ति, किन्तु-द्रव्यलेश्या, भावलेश्या च सर्वेषां परावर्तते । देवनारकाणामपि द्रव्यलेश्यैवावस्थिता, भावलेश्या तु तेषामपि परावृत्त्या कदाचित् काचिदेव भवति । ततश्च सुरनारका अपि यदा सम्यक्त्वादिक लभन्ते तदा भावलेश्या तैजस्यादीनामन्यतरा शुद्धैव भवति, अशुद्धा तु नित्यावस्थितत्वात् तेषां द्रव्यलेश्यैव द्रष्टव्या न तु भावलेश्या । एव च स्थिते ज्ञानेषु मत्यादिषु पूर्वं लाभचिन्तायां भावलेश्यैवाधिकृता भावलेश्यामेवाङ्गीकृत्य शुद्धलेश्यात्रये तल्लाभ उक्त इत्यर्थः । इह तु सम्यक्त्वश्रुतसामायिकलाभचिन्तायां देवनारकानाश्रित्य द्रव्यलेश्या अधिकृता, तेन शुद्धास्वशुद्धासु च सर्वासु लेश्यासु तल्लाभ उक्त इति भाव । भावलेश्यामङ्गीकृत्य पुनरिहापि शुद्धास्वेव तिसृषु तैजस्यादिलेश्यासु तल्लाभोऽवगन्तव्य. । इति न कश्चिद् विरोध । आह—ननु यदि देव नारकाणां कृष्णादिका अशुभा द्रव्यलेश्या सदाऽवस्थिता

भवन्ति तदा सम्यक्त्वादि-लाभकाले कथं तेषां शुभभावलेश्यासम्भवः । द्रव्यलेश्या हि भावलेश्यां जनयन्ति । तत्र कृष्णादिलेश्याद्रव्याण्यशुभानि कथं शुभभावलेश्यां जनयेयुः, अशुभकारणात् शुभकार्यायोगात् ? इति सत्यम्, किन्तु—नारकादीनामपि सम्यक्त्वादिलाभकाले कथमपि यथाप्रवृत्तिकरणेन शुभानि तैजस्यादिद्रव्यलेश्याद्रव्याण्याक्षिप्यन्ते । ततो यथाऽऽदर्शः श्वेतोऽपि जपाकुसुमादिवस्तुप्रतिबिम्बसङ्क्रान्तौ रक्तादिरूपतां प्रतिपद्यते तथा कृष्णाद्यशुभद्रव्याण्यपि तैजस्यादिशुभद्रव्यप्रतिबिम्बसङ्क्रमे निजरूपोत्कटतां परित्यज्य तदाभासतां प्रतिपद्यन्ते । ततो नारकादीनामपि कृष्णाद्यशुभद्रव्यानुभावं मन्दतां नीत्वा शुभानि तैजस्यादिद्रव्याणि शुभां भावलेश्यां जनयन्ति अतोऽवस्थितायामपि कृष्णादिद्रव्यलेश्यायां नारकदेवानां सम्यक्त्वादिलाभकाले शुभभावलेश्यासम्भवो न विरुध्यते । इत्यलं विस्तरेण । तदर्थिना तु—" स नूणं भंते ! किण्हलेसा नीललेसं पप्प नो तारूवत्ताए, नो तावन्नत्ताए " इत्यादि प्रज्ञापनासूत्रं मूलावश्यकटीकादिलिखितमनुसरणीयम् इति गाथाद्वयार्थः ।

(५९) अथ परिणामद्वारमाह—

वड्ढंते परिणामे, पडिवज्जइ सो चउण्हमण्णयरं ।
एमेव वट्ठियम्मि वि, हायंते न किंचि पडिवज्जे ॥२७४३॥

परिणामः–अध्यवसायविशेषः । तत्र शुभशुभतररूपतया वर्धमाने परिणामे प्रतिपद्यते स वर्धमानपरिणामो जीवश्चतुर्णां सम्यक्त्वादिसामायिकानामन्यतरदिति । एवमेव पूर्वोक्तन्यायेनान्तरकरणादाववस्थितेऽपि शुभे परिणामे प्रतिपद्यते स चतुर्णामन्यतरदिति । हीयमाने तु क्षीयमाणे शुभे परिणामे न कश्चित् सामायिकम् प्रतिपद्यते, सङ्क्लिष्टत्वात् । प्राक्प्रतिपन्नस्तु त्रिष्वपि परिणामेषु भवतीति ।

(६०) अथ वेदनासमुद्धातकर्मद्वारद्वयमाह—

दुविहाएँ वेयणाए, पडिवज्जइ सो चउण्हमण्णयरं ।
असमोहओ वि एमे-व पुव्वपडिवन्नए भयणा ॥२७४४॥

द्विविधायां वेदनायां साता-ऽसातरूपायां सत्यां प्रतिपद्यते स चतुर्णामन्यतरत्, प्राक्प्रतिपन्नश्च भवतीति द्वारम् । सम्-एकीभावे, उत्—प्राबल्ये, वेदना-कषायाद्यनुभवपरिणामेन सहैकीभावमापन्नस्य जन्तोर्वेदनीयादिकर्मपुद्गलानां प्राबल्येन हननं—घातः समुद्घातः । स च केवलिसमुद्घातादिभेदात् सप्तविधः, उक्तं च–'केवलिकसायमरणा,वेयणवेउव्वितेयआहारे । सत्तविहसमुग्घाओ, पन्नत्तो वीयरागेहिं ॥ १ ॥' समुद्घात एव कर्म—क्रिया समुद्घातकर्म तद्द्वारमिह प्रोच्यते । तत्र केवल्यादिसमुद्घातेन समवहतस्य विपक्षोऽसमवहतः । सोऽप्येवमेव वेदनावद् वाच्यः, चतुर्णां प्रतिपद्यमानकः पूर्वप्रतिपन्नश्च भवतीत्यर्थः । ' पुव्वपडिवन्नए भयण ' त्ति—इदं साध्याहारं व्याख्येयम्, तद्यथा-यस्तु केवल्यादिसप्तविधसमुद्घातेन समवहतः स न किञ्चित् सामायिकं प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नकं तु भजना-सेवना समर्थनाविधिः कार्य इति यावत् । समवहतो हि सामायिकद्वयस्य त्रयस्य वा पूर्वप्रतिपन्नको भवति । तत्र केवलिसमुद्घाते सम्यक्त्वचारित्रसामायिकद्वयस्य पूर्वप्रतिपन्नको लभ्यते । शेषसमुद्घातेषु पुनर्देशविरतिवर्जसामायिकत्रयस्य चारित्रवर्जस्य वा सामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते इति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे० । आ० म० ।

(६१) निर्वेष्टनोद्वर्तनद्वारद्वयमाह—

दव्वेण य भावेण य, निव्वेढंतो चउण्हमण्णयरं ।
नरएसु अणुव्वट्टे,दुग तिग चउरो सि उव्वट्टे ॥२७४५॥

द्रव्यतः सामान्येन सर्वकर्मप्रदेशान्, विशेषतस्तु तस्य चतुर्विधस्य सामायिकस्य यदावरणं ज्ञानावरणमोहनीयलक्षणं तत्प्रदेशान् निर्वेष्टयन्-निर्जरयन्, भावतस्तु क्रोधाद्यध्यवसायान् निर्वेष्टयन् हा(प)यंश्चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव । सर्वेष्टयस्त्वनन्तानुबन्ध्यादीन् न प्रतिपद्यते, शेषकर्म त्वङ्गीकृत्योभयथाऽप्यस्ति । नरकेष्वधिकरणभूतेष्वनुद्वर्तयस्तत्रस्थ एवेत्यर्थः, आद्यं सामायिकद्वयं प्रतिपद्यते, तदेव चाधिकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो भवति । तत उद्वृत्तः स्यात् कदाचित् तिर्यक्षूत्पन्नः सर्वविरतिवर्जं सामायिकत्रयं प्रतिपद्यते, कदाचित्तु मनुष्येषूत्पन्नश्चत्वार्यपि प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

भाष्यम्—

कम्मं निव्वेढंतो, पवज्जइ विमेसओ तदावरणं ।
दव्वं कम्मपएसे, भावे कोहाइ हाविंतो ॥२७४६॥

उक्तार्थैव ।

तदेवोद्वर्तनाद्वारं तिर्यगादीनधिकृत्याह—

तिरिएसु अणुव्वट्टे, तिगं चउक्कं सिया उ उव्वट्टे ।
मणुएसु अणुव्वट्टे,चउरो वि तियं सि उव्वट्टे ॥२७४७॥
देवेसु अणुव्वट्टे,दुग तिग चउरो सिया उ उव्वट्टे ।
उव्वट्टमाणओ पुण,सव्वो वि न किं चि पडिवज्जे॥२७४८॥

तिर्यक्षु गर्भजेष्वनुद्वृत्तः संज्ञिकमाद्यं सामायिकत्रयमधिकृत्य ' प्रतिपत्ता पूर्वप्रतिपन्नश्च भवति ' इत्यध्याहारः । 'चउक्क'मित्यादि तिर्यग्भ्य उद्वृत्ता मनुष्यादिष्वायातः स्यात् कदाचिच्चतुष्कम्, स्याद् ग्रहणादिदमपि द्रष्टव्यम् । स्यात् त्रिकम्, स्याद् द्विकमधिकृत्योभयथाऽपि भवतीति । 'मणुएसु अणुव्वट्ट चउरो' त्ति–मनुष्येष्वनुद्वृत्तः संश्चत्वारि प्रतिपद्यते, प्राक् प्रतिपन्नश्च भवति । 'वितियं सि उव्वट्टे' मनुष्येभ्य उद्वृत्तो देव-नारकेषूत्पन्नः प्रथमं सामायिकद्वयमधिकृत्योभयथाऽपि लभ्यते । तिर्यक्षूत्पन्नः पुनः सर्वविरतिवर्जसामायिकत्रिकमाश्रित्य द्विधाऽपि भवतीति । 'देवेसु अणुव्वट्ट दुग ' त्ति–देवेष्वनुद्वृत्तः सन्नाद्यं सामायिकद्वयमाश्रित्योभयथाऽपि भवति । ' तिग चउरो सिया उ उव्वट्टे ' त्ति–देवेभ्य उद्वृत्तस्तिर्यक्ष्वायातः सर्वविरतिसामायिकत्रिकम्, मनुष्येषु त्वायातः सामायिकचतुष्कमप्याश्रित्योभयथाऽपि स्यादिति । उद्वर्तमानः पुनरपान्तरालगतौ सर्वोऽप्यमरादिर्न किञ्चित् प्रतिपद्यते, प्राक् प्रतिपन्नस्तु द्वयोर्भवतीति ।

(६२) आश्रवकरणद्वारमाह—

नीसवमाणो जीवो, पडिवज्जइ सो चउण्हमण्णयरं ।

पुव्वपडिवन्नओ पुण,सिय आसवओ व नीसवओ २७४९

यत् सम्यक्त्वादिसामायिकं प्रतिपद्यते तदावारकं मिथ्यात्वमोहनीयादिकर्म निश्रावयन्-निर्जरयन्नेव शेषकर्म तु बध्नन्नपि जीवः प्रतिपद्यते स चतुर्णामन्यतरदिति। यस्तु पूर्वप्रतिपन्नः सः, वाशब्दस्य व्यवहितसंबन्धात् स्यादाश्रावको, बन्धक इत्यर्थः, निश्रावको वा निर्जरकः स्यात्। निर्वेष्टनद्वारोक्त एवार्थोऽत्र पर्यायान्तरेणोक्तः, परमार्थतस्त्वात्यन्तिकभेदाभावादिति।

(६३) अथालङ्कारशयनाऽऽसनस्थानचङ्क्रमणद्वारकद्म्बकं व्याचिख्यासुराह—

उम्मुक्कमणुम्मुक्के, उम्मुच्चंते य केसलंकारे।
पडिवज्जिज्जं नयरं, सयणाईसुं पि एमेव ॥ २७५० ॥

केशोपलक्षितकटककेयूरहारकङ्कणवस्त्रताम्बूलाद्यलङ्कारः। केशालङ्कारस्तत्रोन्मुक्ते परित्यक्ते, अनुन्मुक्ते च-अपरित्यक्ते, तथा उन्मुच्यमाने च केशाद्यलंकारे चतुर्णामन्यतरत् सामायिकं प्रतिपद्यते। अत्र च भरतचक्रवर्त्यादय उदाहरणं मन्तव्याः। एवं शयने, आसने, स्थाने, चङ्क्रमणे च परित्यक्ते अपरित्यक्ते परित्यज्यमाने चैतासु तिसृष्वप्यवस्थासु चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यते प्राक् प्रतिपन्नश्च सर्वत्र लभ्यते। इति निर्युक्तिगाथाचतुष्टयार्थः तदेवमुक्तं विस्तरतः 'कहिं' इति द्वारम्।

अथ 'केषु' सामायिकं लभ्यत इति द्वारमभिधातुमाह—

सव्वगयं सम्मत्तं, सुयचारित्ते न पज्जवा सव्वे।
देसविरइं पडुच्चा, दोण्ह वि पडिसेहणं कुज्जा ॥२७५१॥

अथ केषु द्रव्येषु पर्यायेषु च सामायिकम्?, इति जिज्ञासायामुच्यते सर्वद्रव्यपर्यायगतं सम्यक्त्वम् सर्वद्रव्यपर्यायश्रद्धानरूपत्वात् तस्य। तथा-श्रुते-श्रुतसामायिके,चारित्रे-चारित्रसामायिके द्रव्याणि सर्वाण्यपि भवन्ति। विषयपर्यायास्तु न सर्वे तद्विषयः, श्रुतस्याभिलाप्यविषयत्वात्, पर्यायाणां चाभिलाप्याऽनभिलाप्यरूपत्वादिति। चारित्रस्यापि 'पढमम्मि सव्वजीवा' इत्यादिना सर्वद्रव्याऽसर्वपर्यायविषयतायाः प्रतिपादितत्वादिति। देशविरतिं प्रतीत्य द्वयोरपि सकलद्रव्यपर्याययोः प्रतिषेधनं कुर्यात्-न सर्वद्रव्यविषयम्, नापि सर्वपर्यायविषयं देशविरतिसामायिकमिति भावः, इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यकारव्याख्या—

एगं पि असद्दहओ, जं दव्वं पज्जवं च मिच्छत्तं।
विणिउत्तं सम्मत्तं, तो सव्वयदव्वभावेसु ॥२७५२॥
नाणभिलप्पेसु सुयं, जम्हा न य दव्वमणभिलप्पं ति।
सव्वदव्वेसु तयं, तम्हा न उ सव्वभावेसु ॥ २७५३ ॥
विइयचरिमव्वयाइं, पइ चारित्तमिह सव्वदव्वेसु।
न उ सव्वपज्जवेसुं, सव्वाणुवओगभावाओ ॥२७५४॥

यद् यस्मादेकमपि द्रव्यं पर्यायं वा जिनप्रणीतमश्रद्दधतस्तो मिथ्यात्वमुक्तम्, ततः सम्यक्त्वं विनियुक्तं सर्वद्रव्यपर्यायेषु, श्रद्धानभावेन इति शेषः। यस्माच्च श्रुतज्ञानमनभिलाप्येषु न प्रवर्तते अविषयत्वात् तेषाम्, किन्त्वभिलाप्येष्वेवार्थेषु तत् प्रवर्तते। न च द्रव्यं धर्माऽस्तिकायादिकमनभिलाप्यं किन्त्वभिलाप्यमेव। ततः सर्वद्रव्येषु श्रुतं प्रवर्तते, अभिलाप्यविषयत्वात्, तस्य, न पुनः सर्वभावेषु सर्वपर्यायेषु तेषामभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वात् श्रुतस्य चाभिलाप्यमात्रविषयत्वात्, अभिलाप्यानां चानभिलाप्येभ्योऽनन्तभागमात्रवृत्तित्वादिति। 'विइये' त्यादि द्वितीयं चरमव्रते द्वितीयं मृषावादव्रतम्। चरमं तु परिग्रहव्रतमाश्रित्येह प्रक्रमे चारित्रं सर्वद्रव्येषु प्रवर्तते न तु सर्वपर्यायेष्वित्युक्तम्, मृषावादस्य वचनरूपत्वेन, परिग्रहस्य च मूर्च्छाविकल्पात्मकत्वेन द्रव्येष्वेव सर्वेषु प्रवृत्तेः, तेषामेवाभिलाप्यविषयत्वात्, पर्यायाणां त्वभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वात्। अत एवाह-सर्वेषां पर्यायाणां चारित्रेऽनुपयोगभावात्, अनुपयोगश्चानभिलाप्यानाश्रित्य मन्तव्यः। शेषाणि तु त्रीणि महाव्रतानि सर्वद्रव्यविषयाण्यपि न भवन्ति, किमुत—सर्वपर्यायविषयाणि?। अतोऽद्वितीयचरमव्रते एवाश्रित्य सर्वद्रव्या सर्वपर्यायविषयता चारित्रस्य भावितेति।

सर्वपर्यायाणां चारित्रेऽनुपयोगभावात्, इति यदुक्तं तदुपजीव्य परः प्रेर्यमाह-

णणु सव्वनहपएसा-णंतगुणं पढमसंजमट्ठाणं।
छव्विहपरिवड्ढीए, छट्ठाणासंखया सेढी ॥ २७५५ ॥
अन्ने के पज्जाया, जेऽणुवउत्ता चरित्तविसयम्मि।
जे तत्तोऽणंतगुणा, जेसिं तमणंतभागम्मि ॥ २७५६ ॥
अन्ने केवलिगम्म-त्ति ते मई ते वि के तदब्भहिया।
एवं पि हुज्ज तुल्ला, नाणंतगुणत्तणं जुत्तं ॥ २७५७ ॥

आह—ननु संयमश्रेण्या सर्वजघन्यत्वेन यत् प्रथमम्-आद्यं संयमस्थानं तदपि पर्यायानाश्रित्य सर्वनभःप्रदेशानन्तगुणमागमे प्रोक्तम्—यावन्तः सर्वस्यापि लोकालोकनभसः प्रदेशास्तदनन्तगुणपर्यायराशियुक्तं प्रथममपि संयमस्थानं श्रुतेऽभिहितमित्यर्थः। ततोऽन्यद् विशुद्धितोऽनन्तभागवृद्धम्, तदपरं त्वसंख्यातभागवृद्धम्, अन्यत्तु संख्यातभागवृद्धम्, तदपरं तु संख्यातगुणवृद्धम्, अन्यत् त्वसंख्यातगुणवृद्धम्, तदपरं त्वनन्तगुणवृद्धमित्येवं पुनः पुनः क्रियमाणया षड्विधपरिवृद्ध्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैः षट्स्थानकैर्निष्पन्ना संयमश्रेणिर्भवतीति। ततश्च के नाम तेऽन्ये समधिकाः पर्यायाः, ये 'सर्वानुपयोगभावात्' इति वचनाच्चारित्रविषयानुपयुक्ताः प्रतिपाद्यन्ते?, ये च-'न उ सव्वपज्जवेसु' इत्युक्ताभिप्रायात् ततश्चारित्रादनन्तगुणाः, येषां च पर्यायाणां तच्चारित्रमनन्तभागेऽभिधीयते?। अभिलाप्यपर्यायविषयं हि किल चारित्रम्, ते चानभिलाप्यानामनन्तभाग एव वर्तन्ते,'अतो-'न उ सव्वपज्जवेसु' इत्युक्तेऽनुपयुक्ताः पर्यायाश्चारित्रादनन्तगुणाः,चारित्रं तु तेषामनन्तभागे,इत्यनुक्तमपि सामर्थ्याद् गम्यत इति। एतच्च किल परो न मन्यते, सर्वजघन्यस्यापि संयमस्थानस्य सर्वनभःप्रदेशानन्तगुणपर्यायत्वात्, पर्यायाणां च त्रिभुवनेऽप्येतावन्मात्रत्वात्, चारित्रानुपयुक्तपर्यायाणामसम्भवादिति। 'अन्ने' इत्यादि, अत्रा-

चार्य ! 'ते' तवैवभूता मतिर्भवेश्चारित्रोपयुक्तेभ्योऽन्येऽपि केवलज्ञानगम्या अनभिलाप्या अनन्तगुणाः पर्याया सन्ति, ये चारित्राद्नन्तगुणा , चारित्रं तु येषामनन्तभाग इति । परः प्राह-' ते वि के तद्ब्भहिय ' त्ति—तेऽपि केवलज्ञानगम्या ज्ञेयगता अनभिलाप्या· पर्यायाः । के तदभ्यधिकाः तेभ्यश्चारित्रोपयुक्तेभ्योऽभ्यधिका अतिरिक्ताः स्यु· ? न केचनेत्यर्थ· , संयमस्थानपर्यायै· सर्वस्यापि त्रिजगत्पर्यायराशे· क्रोडीकृतत्वात् तदनुपयुक्तत्वासम्भवादिति । किञ्च-एवमपि चारित्रपर्याया· केवलज्ञानगम्यैर्ज्ञेयगतैः पर्यायैस्तुल्या एव भवेयु· , न पुनस्तेषा केवलज्ञानगम्यपर्यायाणामनन्तगुणत्वं युक्तम् । यावन्तो-हि ज्ञेयस्य पर्यायास्तवन्तस्तदवभासकत्वेन ज्ञानस्याप्येष्टव्या , अन्यथा तदवभासकत्वायोगात् । ततश्च ज्ञानदर्शनचरित्राध्यवसायात्मिकायाः सयमश्रेणरन्तर्गतत्वात् केवलज्ञानस्य संयमश्रेण्यात्मकं चारित्रं पर्यायै· केवलज्ञानगम्यानां ज्ञेयगतपर्यायाणां तुल्यमेव युक्तं न हीनमिति ।

(६४) एव परस्यातिप्रेर्यनिपुणत्वमवलोक्य सूरिरतिनिपुणमेव प्रतिविधानमाह—

सेढी य नाणदंसण-पज्जाया तेण तप्पमाणा सा ।
इह पुण चरित्तमेत्तो-वओगिणो तेण ते थोवा ॥२७५८॥

श्रेण्यां ज्ञानदर्शन-चारित्राध्यवसायात्मिकायां संयमश्रेणौ ज्ञानदर्शनपर्याया मध्ये संलुलिता विवक्षिताः , तेन तत्प्रमाणासौ सर्वनभ प्रदेशानन्तगुणपर्यायराशिप्रमाणाऽसौ प्रोक्ता । इह तु ये चारित्रोपयोगिनस्त एव विवक्षिताः , ते च ग्रहणधारणादिविषयभूता एव केचित् , तेन स्तोका इति न दोषः ।

अथान्यत् प्रेर्यमुत्थापयन्नाह—

नणु सामाइयविसओ, किं दारम्मि वि परूविओ पुव्विं ।
कह न पुणरुत्तदोसो, होज्ज इहं को विसेसो वा ?॥२७५९॥

ननु पूर्वं किंद्वार एव ' तं खलु पच्चक्खाणं आवाए ' इत्यादिना सामायिकानां विषय· प्ररूपित एव , इह पुनरपि ' सव्वगयं सम्मत्तं ' इत्यादिना तद्विषयनिरूपणं कुर्वतः कथं न पुनरुक्तदोषो-भवेत् ? . को वा विशेषोऽत्र, यमाश्रित्य पुनरप्येवमुच्यते ? इति ।

अत्रोत्तरमाह—

किं तं ति जाइभावे-ण तत्थ इह नेयभावओऽभिहियं ।
इह विसयविसइभेओ, तत्थाभेओवयारो त्ति ॥२७६०॥

किं तत् सामायिकम् ? इति जातिभावेन विषयविषयिणोरभेदं चेतसि विधाय सामायिकजातिमात्रमेव तत्र पूर्वे किंद्वारेऽपरेण जिज्ञासितम् , तत· ' आया खलु सामइय ' इत्यनेन तदेव मुख्यतया प्रोक्तम् , तद्विषयस्तु परेण जिज्ञासितोऽपि विषयिणि पृष्टे तदभिन्नत्वाद् गौणवृत्त्यैव प्रोक्त· । इह तु ' कए ' इति द्वारे विषय एव मुख्यतया परेण जिज्ञासित , अतस्तस्यैव विषयस्य ज्ञेयभावेन ज्ञातव्यतयाऽभिहित स्वरूपमित्युपस्कार । पाठान्तर वा-'अभिहिउ' त्ति—तत्रायमर्थ·—इह तु ज्ञेयभावेन—ज्ञातव्यतया विषय स्वाभिहित । किमुक्त भवति ?—इत्याह-' इह ' त्यादि, इह-कएु इतिद्वारे विषयविषयिणोर्भेदो विवक्षित इत्यतो निष्कृष्य विषय एव ज्ञेयभावेनोक्त· , तत्र तु किं द्वारे विषयविषयिणोरभेदोपचार इत्यतो विषयिभूतं सामायिकमेव ज्ञेयभावेन मुख्यतया निर्दिष्टम् । इति गाथानवकार्थ· । साम्प्रतं ' कथं सामायिकं लभ्यते ? ' इति द्वारे महाकष्टलभ्ये तल्लाभक्रमं दर्शयन्नाह—'माणुस्स ' इत्यादिकाः ' अब्भुट्ठाणे विणए' इति पर्यन्ता अष्टाविंशतिगाथाः । एताश्च पाठसिद्धा एव क्वचिद् वैषम्यसम्भवे मूलावश्यकटीकातो बोद्धव्या इति । कथमिति द्वारम् गतम् । विशे० । आ० म० । आ० चू० । (कथं सामायिकमवाप्यते इति ' माणुसत्त ' शब्दे षष्ठे भागे गतम् ।)

(६५) मानुषत्वे लब्धेऽपि एतैः कारणैः दुर्लभं सामायिकमिति प्रतिपादयन्नाह—

आलस्स मोहवन्ना, थंभा कोहा पमायकिविणत्ता ।
भयसोगा अन्नाणा, वक्खेव कुऊहला रमणा ॥
एएहिँ कारणेहिं, लद्धूण सुदुल्लहं पि माणुस्सं ।
न लहइ सुइं हियकरिं, संसारुत्तारणिं जीवो ॥

आलस्यान्न साधुसकाशं गच्छति शृणोति वा, तथा—मोहात् गृहकर्तव्यतया व्याकुलत्वात् , तथा-अवज्ञातः किमेते जानन्तीत्येवंरूपाया·, स्तम्भात्-जाड्यादपि,मानात् उत्तमजातीयोऽहं कथमेतेषा भिक्षाचराणा हीनजातीयाना पार्श्वे गच्छामीत्यादिलक्षणात् ,क्रोधात्तथा च कोऽपि साधुदर्शनादेव कुप्यति,तथा प्रमादात् मद्यादिप्रसक्तिरूपात् ,कृपणत्वात् नूनं गतैस्तेभ्यः किमपि दातव्यं भविष्यतीत्येवं रूपात् ,तथा-भयात् साधवो हि नरकादिभयं गतेभ्यो वर्णयन्तीति,शोकाद्वा इष्टवियोगजात् , अज्ञानात् कुदृष्टिजनितात् , कुबोधात् व्याक्षेपात् अन्यान्यबहुप्रयोजनकरणत आत्मनो व्याकुलीभावसंपादनात् , तथा कुतूहलात् नटादिविषयात् , रमणात् नानाविधकुक्कुटयोधनादिक्रीडाप्रसक्तिरूपात्। 'एतेहिं' एभि· कारणैरालस्यादिभिश्च दुर्लभमपि मानुष्यं लब्ध्वाऽपि हितकरीं संसारोत्तारणीं श्रुतिमिति व्रतादिसामग्रीयुक्तस्तु कर्मारिपुं विजित्याविकलचारित्रसामायिकमाप्नोति । यानादिगुणयुक्तयोध इव जयलक्ष्मीमिति ।

तथा चाऽऽह—

जाणावरणपहरणे,जुद्धे कुसलत्तणं व नीई य ।
दक्खत्तं ववसाओ, सरीरमारोग्गया चेव ॥

यानम्-हस्त्यादि आवरणम्-कवचादि प्रहरणम्-खड्गादि यानावरणप्रहरणानि,तथा-युद्धे कुशलत्वम्-सम्यक्त्वज्ञानम् नीतिश्च निर्गमप्रवेशरूपा,दक्षत्वम्-आशुकारिता व्यवसाय· शौर्य,शरीरमविकलम् आरोग्यता-व्याधिवियुक्तता-एतत्कारणसामग्रीसमन्वित एव योधो जयश्रियमाप्नोति एष दृष्टान्त ।

दार्ष्टान्तिकयोजना त्वियम्—

जीवो जोहो जाणं, वयाणि आवरणमुत्तमाखंति ।
झाणं पहरणमिट्ठं, गीयत्थत्तं व कोसल्लं ॥
दव्वाइ जहोवाया-णुरूवपडिवत्तिवत्तिया नीई ।

दंसणस्स किरियाणं, जं करणमहीणकालम्मि ॥
करणं सहणं च तवो-वसग्गदुग्गा वतीऍ वयमाश्रो ।
एएहिं सुनीरोगो, कम्मरिपुं जिणइ सव्वेहिं ॥

कर्मरिपुविजयपक्षे—ज्ञीयो योधो, महाव्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि यानम्, उत्तमा क्षान्तिरावरणं, ध्यानं च धर्मध्यानमिह प्रहरणं, कौशलम् परमनीतार्थता द्रव्यादिषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु यथोपाय—अनेकोपायमनतिक्रमेण वा अनुरूपप्रतिपत्तिनिदर्शिता, यथा साधनामेतत्—इत्यादि गनेनोपायेन देशकालाद्यभिज्ञेन कर्तव्य ममेदमिति या नीति, तथा क्रियाणा-प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनादीना यत् काले स्वस्वप्रस्तावे अहीन—परिपूर्णं करण तत्-दक्षत्वम्, तथाकरण तपसो द्वादशभेदस्य उपलक्षणमेतत् संयमस्य च सहन चोपसर्गेषु समापतत्सु अत्र बहु वक्तव्यम् । यदि वा-यथा स्वयम्भूरमणसमुद्रमत्स्येन प्रतिमासंस्थितान् मत्स्यान् प्रतिमासंस्थितानि पद्मानि वा दृष्ट्वा सामायिकमवाप्यत । स्वयम्भूरमणे हि मत्स्यानां पद्मानां च सर्वाण्यपि संस्थानानि संभवन्ति मुक्त्वैकं वलयसंस्थानं श्रुतमवाप्यते । आ० म० १ अ० ।

दिट्ठे सुएऽणुभूए, कम्माण खए कए उवसमे ।
मणवयणकायजोगे, अपसत्थे लब्भए बोही ॥८४४॥

दृष्टे भगवत्प्रतिमादौ सामायिकमवाप्यते, यथा श्रेयांसेन भगवद्दर्शनादवाप्तमिति, कथानकं, चाथ कश्चित्समेव श्रुते चावाप्यते यथाऽऽनन्दकामदेवाभ्यामवाप्तमिति, अत्र कथानकमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः, अनुभूते क्रियाकलापे सत्यवाप्यते, यथा वल्कलचीरिणा पितृउपकरणं प्रत्युपेक्षमाणेनेति, कथानकं कथितमेव, कर्मणां क्षये कृते सति प्राप्यते यथा चण्डकौशिकेन प्राप्तम्, उपशमे च सत्यवाप्यते यथाऽङ्गर्षिणा, मनोवाक्काययोगे च प्रशस्ते लभ्यते बोधिः, सामायिकमनर्थान्तरमिति गाथार्थः ।

अथवाऽनुकम्पादिभिरवाप्यते सामायिकमित्याह—

अणुकंपकामणिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे ।
संयोगविप्पओगे, वसणूसवइड्ढि सक्कारे ॥८४५॥
वेज्जे मेंठे तह इं-दणागकयउण्णपुप्फसालसुए ।
सिवदुमहुरवणिभाउय, आहीरदसण्णिलापुत्ते ॥ ८४६ ॥

अनुकम्पाप्रवणचित्तो जीवः सामायिकं लभते, शुभपरिणामयुक्तत्वात्, वैद्यवत्, प्रतिज्ञामेव मनाक् निर्गमितव्या, हेतुदृष्टान्तावन्यत्वं तु प्रतिप्रयोगं भणिष्याम -अकामनिर्जरावान् जीवः सामायिकं लभते, शुभपरिणामयुक्तत्वान्मिण्ठवत्, बालतपोयुक्तत्वादिन्द्रनागवत्, सुपात्रप्रयुक्तयथाशक्ति श्रद्धादानत्वात् कृतपुण्यकवत्, आराधितविनयत्वात् पुष्पशालसुतवत्, प्राप्तविभङ्गज्ञानत्वात् तापसशिवराजर्षिवत्, इष्टद्रव्यसंयोगविप्रयोगत्वात् मथुराद्वयवासिवणिग्द्वयवत्, अनुभूतव्यसनत्वात् भ्रातृद्वयशकटचक्रव्यापादितमहिलाखण्डीलब्धमानुषत्वस्त्रीगर्भजातप्रियद्वेष्यपुत्रद्वयवत्, अनुभूतोत्सवत्वादाभीरवत्, दृष्टमहर्द्धिकत्वाद्दशार्णभद्रराजवत्, सत्कारकाङ्क्षिणोऽप्यलब्धसत्कारत्वाद्विलापुत्रवत् । इयमक्षरगमनिका । साम्प्रतमुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते-बारवतीए कण्हस्स वासुदेवस्स दो वेज्जा-धन्नंतरी, वेतरणी य । धन्नंतरी अभविओ, वेतरणी भविओ, सो साधूण गिलाणाणं पिम्पए साहति, जं जस्स काथव्वं तं तस्स फासुएण पडोआरेण साहति । जति से अप्पणो अत्थि ओसधाणि तो देति, धन्नंतरी पुण जाणि सावज्जाणि ताणि साहति असाधुपाओग्गाणि । तता साहवो भणंति-अम्ह कतो एताणि ?, सो भणति—ण मए समणाणं अट्ठाए अब्भाइयं वेज्जसत्थं, ते दोवि महारंभा महापरिग्गहा य सव्वाए बारवतीए तिगिच्छं करेंति। अण्णदा कण्हो वासुदेवो तित्थगरं पुच्छति-एते बहूणं ढंकादीणं वधकरणं काऊण कहिं गमिस्सति ?, ताधे सामी साहति—एस धन्नंतरी अप्पतिट्ठाणे णरए उववज्जिहिति । एस पुण वेतरणी कालजरवत्तिणीए गंगाए महाणदीए विंझस्स य अंतरा वाणरत्ताए पच्चायाहिति । ताधे सो य एत्तो सयमेव जूहाधिवत्तणं काहिति । तत्थ अण्णया साहुणो सत्थेण समं धाविस्सति । एगस्स य साधुस्स पादे सल्लं लग्गिहिति । ताधे ते भणंति—अम्हे पडिच्छामो । सो भणति—मा सव्वे मरामो । वच्चह तुब्भे अहं भत्तं पच्चक्खामि । ताहे णिब्बंधं काउं सोऽवि ठिओ । ण तीरति सल्लं णीणेतुं । पच्छा थंडिल्लं पावितो छायं च, ते य वि गता । ताहे सो वाणरजूहवती तं पदेसं एति जत्थ सो साधू । जाव पुरिल्लेहिं तं दट्ठूण किलिकिलाइतं, तो तेण जूहाहिवेण तेसिं किलिकिलाइतसद्दं सोऊण तुरिततेण आगतूण दिट्ठो सो साधू । तस्स तं दट्ठूण ईहापूहा करेंतस्स कहिं मया एरिसो दिट्ठो त्ति ?, जाती संभरिता । वारवइं संभरति । ताहे तं साधुं वंदति । तं च से सल्लं पासति । ताहे तिगिच्छं सव्वं संभरति । ततो सो गिरिं विलग्गिऊण सल्लुद्धरणिसंरोहणीओ ओसहीओ य गहाय आगतो । ताधे सल्लुद्धरणीए पादो आलित्तो । ततो एगमुहुत्तेण पडिओ सल्लो । पउणावितो संरोहणीए । ताहे तस्स पुरतो अक्खराणि लिहति । जधा—अहं वेतरणी नाम वेज्जो पुव्वभवे बारवतीए आसि । तेहिं वि सो सुतपुव्वो, ताध सो साधू धम्मं कधेति । ताहे सो भत्तं पच्चक्खाति । तिण्णि रातिंदियाणि जीवित्ता सहस्सारं गतो ।

तथा चाऽऽह—

सो वा जूहवती, कंतारे सुविहियाणुकंपाए ।
भासुरवरबोंदिधरो, देवो वेमाणिओ जाओ ॥८४७॥

निगदसिद्धा । ओहिं पउंजति जाव पेच्छति तं सरीरगं तं च साधुं । ताहे आगतूण देविड्ढिं दाएति । भणति य-तुब्भं प्पसादेण मए देविड्ढी लद्ध त्ति । ततोऽणेण सो साधू साहरितो तेसिं साधूण सगासं ति । ते पुच्छंति-किहऽसि आगतो ?, ताहे साहति । एवं तस्स वाणरस्स सम्मत्तसामाइयसुयसामाइयचरित्ताचरित्तसामाइयाणं अणुकंपाए लाभो जातो, इतरधा णिरयपायोग्गाणि कम्माणि करेंतो णरयं गतो होन्तो । ततो चुतस्स चरित्तसामाइयं भविस्सति सिद्धी य १ । अकामणिज्जराए, वसंतपुरे नगरे इब्भवधूगा णदीए ण्हाति अण्णो य तरुणो तं दट्ठूण भणति—"सुण्हातं ते पुच्छ-

त्ति, एस णदी मत्तवारणकरोरु ! । एते य णदीरुक्खा , अह च पादेसु ते पडिओ ॥ १ ॥" सा भणति—"सुभगा होंतु णदीओ, चिर च जीवतु जे णदीरुक्खा। सुण्हात पुच्छगाए य, घत्तीहामो पिय काउं ॥ २ ॥ " ततो सो तीए घर वा दार वा आयगन्तो चिन्तति—"अन्नपानैर्हरेद्बालां , यौवनस्था विभूषया । वेश्या स्त्रीमुपचारेण , वृद्धा कर्कशसेवया ॥१॥" तीसे चिदिज्जियाणि चेडरूवाणि रुक्खे फलोएताणि अच्छंति , तेण तेसिं पुप्फाणि फलाणि य दाऊण पुच्छिताणि—का एसा ? , ताणि भणंति—अमुगस्स सुण्हा , ताहे सो चिंतेति—केण उवाएण एतीए समं मम सपयोगो भवेज्जा ? , ततो तेण चरिका दाणमाणसंगहीता काऊण विसज्जिता तीए सगास । ताए गंतूण सा भणिता—जधा अमुगो ते पुच्छति , तीए रुट्ठाए पत्तगाणि धोवतीए मसिलित्तेण हत्थेण पिट्ठीए आहता , पचंगुलीओ जाताओ , ओवारेण य णिच्छूढा । सा गता साहति—णाम पि ण सहति । तेण णात जहा—कालपक्खपंचमीए , ताहे तेण पुणरवि पेसिता पवसजाणणणिमित्तं । ताहे सलज्जाए आहणिऊण असोगवणियाए छिंडियाए निच्छूढा । सा गता साहति—णामं पि ण सहति , तेण णातो पवेसो, तेणाव-द्दारेण अइगतो , असोगवणियाए सुत्ताणि , जाव ससुरेण दिट्ठा । तेण णात , जधा—ण मम पुत्तो त्ति, पच्छा से पादातो णेउर गहितं , चेतितं च तीए, भणितो य णाए—णास लहुं , सहायकिच्च करेज्जासि । इतरी गंतूण भत्तार भणति—इत्थ घम्मो , जामो असोगवणिय , गताणि , असोगवणियाए पसुत्ताणि , ताहे भत्तार उट्ठवेत्ता भणति—तुज्झ एत कुलाणुरूव ? , ज मम पादातो ससुरो णेउरं गेण्हति । सो भणति—सुवसु लभिहिसि पभावे । थेरेण दिट्ठ , सा रुट्ठा भणति—विवरीतोऽसि थेरा ? , सा भणति—मए दिट्ठो अण्णो , ताह विवादे सा भणति—अह अप्पाणं सोहेमि । एव करेहि , ण्हाता , ताहे जक्खघर अइगता , जो कारि सो लग्गति दोण्हं जंघाणं अंतरेण वोलतओ, अकारि मुच्चति , सा पधाविता , ताहे सो विडो पिसायरूव काऊण सागतएण गेण्हति । ताहे तत्थ गंतूण जक्ख भणति—जो मम पितिदिण्णओ त च पिसायं मोत्तूण जइ अण्णं जाणामि तो मे तुम जाणासि त्ति जक्खो विलक्खो चिंतेति—पेच्छह केरिसा णि मंतेति ? , अह पि वंचिता णाए, णत्थि सतित्तण धुत्तीए , जाव चिंतेति ताव णिप्फिडिता । ताहे सो थेरो सव्वेण लोगेण हीलितो , तस्स ताए अधितीए निद्दा नट्ठा , ताहे रण्णो त कण्णे गतं । रायाणएण अंतेउरवालओ कतो , आभिसिक्क च हत्थिरयणं रण्णो वासघरस्स हेट्ठा बद्धं अच्छति । देवी य हत्थिमेंठे आसत्तिया , णवरं रत्ति हत्थिणा हत्थो पसारितो , सा पासायाओ ओयारिया , पुणरवि पभाए पडिविलइता , एव वच्चति कालो । अण्णया चिर जान ति हत्थिमेंठेण हत्थिसकलाए हता , सा भणति—सो पुरिसो नाम्मि ण सुवति , मा रूसह । त थेरो पेच्छति , सो चिंतेति—जति एताओ वि एरिसिओ , किंतु नाओ भद्दियाउ त्ति सुत्तो , पभाते सव्वो लोगो उट्ठितो , सो न उट्ठिता । राया भणति—सुवउ सत्तमे दिवसे उट्ठितो । रण्णा पुच्छितेण कहितं—जहेगा देवी ण याणामि कतर त्ति , ताहे रण्णा भेंडमओ हत्थी कारितो , सव्वाओ अंतेपुरियाओ भणियाओ—एयस्स अच्चणियं करेत्ता ओलंडेह । सव्वाहिं ओलंडितो , सा णेच्छति , भणति—अहं बीहेमि । ताहे रण्णा उप्पलणालेण आहता , जाव मुच्छिता पडिया । ततो से उवगत—जधेसा कारि त्ति, भणिता—' मत्तगयमारुहंतीए, भेंडमयस्स गयस्स भयतिए । इह मुच्छित उप्पलाहता , तत्थ न मुच्छित संकलाहता ॥ १ ॥' पुट्ठी से जोइया , जाव सकलपहारा दिट्ठा, ताहे रण्णा हत्थिमेंठो सा य दुयगाणि वि तम्मि हत्थिम्मि विलग्गाविऊण छिण्णकडए विलइताणि । भणितो मिंठो—एत्थ अप्पतणीओ गिरिप्पवातं देहि , हत्थिस्स दोहि वि पासेहिं वेलुग्गाहा ठविता , जाव हत्थिणा एगो पादो आगासे कतो। लोगो भणति—किं तिरिओ जाणति ? , एताणि मारेतव्वाणि , तहावि राया रोसं ण मुयति । ततो दो पादा आगासे ततियवारए तिन्नि पादा आगासे एक्केण पादेण ठितो , लोगेण अक्कंदो कतो—किं एतं हत्थिरयणं विणासेहि ? , रण्णो चित्त ओआलित , भणितो—तरसि णियत्तेउं ? , भणति—जति अभय देह , दिण्णं , तेण णियत्तितो अंकुसेण जहा भमित्ता थले ठितो, ताहे उत्तारेत्ता णिव्विसताणि कयाणि । एगत्थ पच्चंतगामे सुन्नघरे ठिताणि, तत्थ य गामेल्लयपारद्धो चोरो त सुन्नघर अतिगतो, ते भणति—वेढेतु अच्छामो, मा कोवि पविसउ, गोसे घेच्छामो । सोऽवि चोरो छुट्टंतो किहवि तीसे ढुक्को, तीसे फासो वेदितो, सा ढुक्का भणति—कोऽसि तुम ?, सो भणति—चोरोऽहं, तीए भणिय—तुम मम पती होहि । जा एतं साहामो जहा एस चोरो त्ति, तेहिं कल्ल पभाए मेंठो गहिओ । ताहे ओविद्धो सूलाए भिण्णो, चोरेण सम सा वच्चति । जावतराणदी, सा तेण भणिता—जधा एत्थ सरत्थभे अच्छ, जा अह एताणि वत्थाभरणाणि उत्तारेमि, सो गतो, उत्तिण्णो पधावितो । सा भणति—" पुण्णा णदी दीसइ कागवेज्जा, सव्वं पियाभडग तुज्झ हत्थं । जधा तुम पारमतीतुकामो, धुवं तुमं भंड गहीउकामा ॥ १ ॥" सो भणति—" चि (र) संथुतो वालि ! असंथुएण , मेल्लेह पिया ताव धुओऽधुवेणं । जाणेमि तुज्झ प्पयइस्सभाव , अण्णो णरो को तुह विस्ससेज्जा ? ॥ १ ॥ " सा भणति—किं जाहि ? , सो भणति—जहा ते सो मारावितो एवं मम पि कहंचि मारहिसि । इतरो वि नत्थ चिट्ठो उदगं मग्गति , तत्थेगो सट्ठो, सो भणति—जति नमोक्कारं करेसि तो देमि , सो उदगस्स अट्ठा गतो , जाव तम्मि एते चेव सो णमोक्कार करेंतो चेव कालगतो वाणमंतरो जातो । सट्ठो वि आरक्खियपुरिसेहिं गहितो, सो देवो ओहिं पयुंजति, पेच्छति सरीरग सट्ठ च बद्ध । ताहे सो सिलं विउव्वित्ता मोएति, त च पच्छति सरथंभे णिलुक्कं, ताहे से घिणा उप्पण्णा, सियालरूवं विउव्वित्ता मसपेसीए गहियाए उदगतीरेण वोलति । जाव णदीतो मच्छो उच्छलिऊण तड पडितो, ततो सो मसपेसिं मोत्तूण मच्छस्स पधावितो, सो पाणिए पडितो, मसपेसीवि सेणेण गहिता, ताहे सियाला झायति । ताए भण्णति—"मसपेसी परिच्चज्ज,मच्छ पच्छसि जबुआ ! । चुक्को मस च मच्छ च कलुण झायसि—

कोएहुआ ॥ १ ॥" तेण भएणति—" पत्तपुडपडिच्छएणे !,
जणयस्स अयसकारिए ! । चुक्का पतिं च जार च ,
कलुणं भायसि यधकी ! ॥ २ ॥" एव भगिया ना विलिया
जाता, ताहे सो सय रूव दंसेति , पएणविता वुता-पव्व-
याहि, ताहे सो राया नाज्जतो, तेण पडिवएणा , सक्कारेण
णिक्खंता, देवलोय गता एवमकामनिज्जराए भएठस्स ॥ २ ॥
वालतवेण—वसंतपुरं नगर , तत्थ सिट्ठिघरं मारिए उच्छा-
दित, इन्दणागो नाम दारओ, सो छुट्टो , छुहितो गिलाणो
पाणित मग्गति, जाव सव्वाणि मताणि पेच्छति । वार पि
लोगेण कंटियाहिं ढक्किय । ताहे सो सुणइयच्छिद्देण णि
ग्गतूण तम्मि णगरे कप्परेण भिक्ख हिंडति , लोगो स
देइ सदेसभूतपुव्वो त्ति काउ, एव सो संवड्ढइ । इतो य एगो
सत्थवाहो रायगिह जाउकामो घोसणं घोसावेति , तेण
सुत, सत्येण सम पत्थितो । तत्थ तेण सत्थे कूरो लद्धो-
सो जिमितो ण जिएणो , वितियदिवसे अच्छति, सत्थवा-
हेण दिट्ठो, चिंतेति—णूण एस उववासिओ सो य अव्वत्त-
लिंगो, वितियादिवसे हिंडतस्स सेट्ठिणा बहु णिद्ध च दि-
एण, सो तेण दुवे दिवसा अजिएणएण अच्छति । सत्थवा-
हो जाणति—एस छट्ठएणकालिओ, तस्स सद्धा जाता ।
सो ततियदिवसे हिंडतो सत्थवाहेण सद्दावितो , कीस-
ऽसि कल्लं णागतो ?, तुण्हिक्को अच्छति, जाणइ, जधा-
छट्ठं करेतिय , ताहे से दिएण, तेणवि अद्धवि दो दिवसे
अच्छावितो । लोगोऽवि परिणतो, अएणस्स णिमंतेतस्स-
वि ण गेएहति । अएणे भणंति—एसो एगपिंडिओ, तेण
त अट्ठापदं लद्धं, वाणिएण भणिता—मा अएणस्स खण
गेएहेज्जासि , जाव णगर गच्छति ताव अह देमि । गता
णगरं, तेण से णियघरं मढो कतो, ताधे सीसं मुडावेति
कासायाणि य चीवराणि गेएहति, ताधे विक्खातो जणे
जातो ताधे तस्सधि घरे णेच्छति , ताधे जद्दिवसं से
पारणय तद्दिवसं से लोगो आणेइ भत्त , एगस्स पडि-
च्छति । ततो लोगो ण याणति—कस्स पडिच्छिहिति ?,
ताधे लोगेण जाणणाणिमित्त भेरी कता , जो देति सो
ताडेति , ताहे लोगा पविसति , एवं वच्चति कालो ।
सामी य समोसरितो , ताहे साधू सदिसावेत्ता भणि-
ता—मुहुत्त अच्छह , अणेसणा, तम्मि जिमिते भ-
णिता ओयरह । गोतमो य भणितो—मम वयणेण
भणेज्जासि—भो अणेगपिंडिया ! एगपिंडितो ते दट्ठु-
मिच्छति, ताहे गोतमसामिणा भणितो रुट्ठो, तुब्भे अणे
गाणि पिंडसताणि आहारेह,अह एगं पिंड भुजामि, तो अह
च्चेव एगपिंडिओ , मुहुत्तन्तरस्स उवसतो चिंतेति—ण ए
त मुस वदंति , किह होज्जा ?, लद्धा सुती, होमि अणेग
पिंडितो , जद्दिवस मम पारणय तद्दिवस अणेगाणि पिं-
डसताणि कीरति , एत पुण अकतमकारित भुजति , त
सच्च भणति । चिन्तनेण जाती सरिता, पत्तेयबुद्धो जा
तो , अज्झयण भासति । इन्दणागेण अरहता वुत्त , सिद्धो
य । एवं वालतवेण सामाइय लद्ध तेण ॥ ३ ॥ दाणेण
जधा—एगाए वच्छवालीए पुत्तो , लोगेण उस्सवे पायस
ओवक्खडितं । तत्थासन्नघरे दारगरूवाणि पासति पायस
जिमिताणि । ताधे सो मायर भणेइ—ममऽवि पायस रंध-

हि, ताहे णत्थि त्ति सा अद्धितीए परुएणा , ताओ सए-
ज्झियाओ पुच्छंति, णिब्बधे कथितं । ताहिं अणुकपाए अ-
एणाए वि अद्धाए वि आणीत खीर साली तदुला य। ताधे थे
रीए पायसो रद्धो, ततो तस्स दारयस्स एहायस्स पायसस्स
घतमधुसंजुत्तस्स थालं भरेऊण उवट्ठितं । साधू य मास-
खवणपारणते आगतो, जाव थेरी अतो वाउला ताव
तेण धम्मोऽवि मे होउ त्ति तस्स पायसस्स तिभागो दि-
एणो । पुणो चिंतितं—अतिथोव वितिओ तिभागो दिएणो
पुणो वि तेण चिंतित—एत्थ जति अएण अवक्खलगादि
छुभति तोऽवि णस्सति, ताहे तइओ तिभागो दिएणो ।
ततो तस्स तेण दव्वसुद्धेण दायगसुद्धेण गाहगसुद्धेण
तिविहेण तिकरणसुद्धेण भावेणं देवाउए णिबद्धे, ताधे
माता से जाणति—जिमिओ, पुणरवि भरितं, अतीव र-
कत्तणेण भरित पोट्ट । ताधे रत्तिं विसूइयाए मतो देव-
लोगं गतो, ततो चुतो रायगिहे नगरे पधाणस्स धण-
वहस्स पुत्तो भद्दाए भारियाए जातो । लोगो य गब्भगते
भणति—कयपुन्नो जीवो जो उववएणो , ततो से जातस्स
णाम कतं कतपुएणो त्ति । वड्ढितो, कलाओ गहियातो, प-
रिणीतो, माताए दुल्ललियगोट्ठीए छूढो , तेहिं गणियाघर
पवेसितो, वारसहिं वरिसेहिं णिद्धणं कुलं कत । तोऽवि
सो ण णिग्गच्छति, मातापितरोऽवि से मताणि , भज्जा य से
आभरणगाणि चरिमदिवसं पेसेति। गणितामायाए णात णि
स्सारो कतो,ताधे ताणि अण्णं च सहस्सं पडिविसज्जित,गणि
या माताए भएणइ-निच्छुभउ एसो मा णेच्छति,ताहे चोरिय
णीणिओ घरं सज्जिज्जति, उत्तिएणो बाहिं अच्छति, ताहे
दासीए भएणति-णिच्छूढोऽवि अच्छसि ?, ताहे नियघरं
सडियपडिय गतो, ताहे से भज्जा संभमेण उट्ठिता, ताहे से
सव्व कथित, सोगेण अप्फुएणो भवति—अत्थि किंचि ? जा
अन्नहिं जाइत्ता ववहरामि, ताहे जाणि आभरणगाणि गणि-
तामाताए ज च सहस्स कप्पासमोल्लं दिएण ताणि से दासि-
ताणि । सत्थो य तद्दिवस क पि देस गतुकामओ, सा त भ-
डमोल्लं गहाय तेण सत्थेण सम पधावितो, बाहिं देउलियाए
खट्टं पाडिऊणं सुत्तो । अएणस्स य वाणिययस्स माताए सुत,
जधा—तव पुत्तो मतो वाहणे भिन्ने,तीए तस्स दव्व दिएण,
मा कस्सइ कधिज्जासि, तीए चिंतित—मा दव्व जाउ रा-
उल, पविसिहिति मे अपुत्ताए, ताहे रत्तिं त सत्थ एति, जा
कचि अणाहं पासेमि, ताहे त पासति पडिबोधित्ता पवे-
सितो,ताहे घर नेतूण रोवति-चिरणट्ठग त्ति पुत्ता !,सुएहा-
ण चउएहं ताण कधेति—एस देवरो भे चिरणट्ठओ । ताओ
तस्स लाइताओ,तत्थ वि वारस वरिसाणि अच्छति । तत्थ
एक्केक्काए चत्तारि पच चेडरूवाणि जाताणि । थेरीए भणित
एत्ताहे णिच्छुभतु, ताओ ण तरति धरितु । ताधे ताहिं स-
बलमोदगा कता, अतो रयणाण भरिता, वर से एयं पा-
ओग्ग होति,ताधे वियड पाएत्ता ताए चेव देवउलियाए
आसीसए से संवल ठवेत्ता पडियागता । सोऽवि सीतल-
एण पवणेण संबुद्धो पभात च, सोऽवि सत्थो तद्दिवसमा-
गतो । इमाए वि गवसओ पेसिओ,ताहे उट्ठवित्ता घर णी-
तो । भज्जा स सभमेण उट्ठिता,सबल गहित, पविट्ठो, अब्भ-
गादीणि करेति । पुत्तो य स तदा गब्भिणीए जातो,सो ए-

क्कारसवरिसो जाओ , लेहसालाओ आगतो रोयति—देहि मे भत्त, मा उवज्झाएण हम्मिमहामि त्ति । ताए ताओ संवलथइयातो मोयमो दिण्णो, णिग्गतो खायंतो तत्थ रयण पासति, लेहचेडएहिं दिट्ठ , तेहिं पूवियस्स दिए दिवे दिवे अम्ह पोल्लियाओ देहि त्ति । इमेऽवि जिमिते मोयगे भिंदति तेण दिट्ठाणि,भणति खुंकभएण कताणि, तेहिं रयणेहिं तहेव पवित्थरितो । से तणओ य गंधहत्थी णदीए ततुएण गहितो , राया आदएणो , अभयो भणति—जइ जलकंतो अत्थि तो छड्डेति , सो राउले अतिबहुअत्तणेण रतणाण चिरेण लब्भिहिति त्ति काऊण पडहओ णिप्फिडितो--जो जलकंतं देति तस्स राया रज्ज अद्ध धूतं च देति ताधे पुविपए दिएणो , णीतो, उदग पगासित, तंतुओ जाणतिथल णीतो , मुक्को , णट्ठो । राया चिंतेति—कतो ? , पुवियस्स पुच्छति—कतो एस तुज्झे , निव्वंधे सिट्ठं-कयपुएणगपुत्तेण दिएणो राया तुट्ठो , कस्स अएणस्स होहिति ?, रएणा सद्दाविऊण कतपुएणओ धूताए विवाहितो , विसओ से दिएणो , भोगे भुंजति । गणिताऽवि आगता भणति—एचिरं कालं अहं वेणीबंधेण अच्छिता, सव्ववेतालीओ तुम अट्ठाए गवेसाविताओ , एत्थ दिट्ठो त्ति , कतपुएणओ अभयं भणति—एत्थ मम चत्तारि महिलाओ , त च घरं ण याणामि , ताहे चेतियघरं कत , लेप्पगजक्खो कतपुएणगसरिसो कतो , तस्स अच्चणिया घोसाविता , दो य वाराणि कताणि , एगेण पवेसो एगेण णिप्फेडो । तत्थ अभओ कतपुएणओ य एगत्थ वारब्भासे आसणवरगया अच्छंति, कोमुदी आणत्ता , जधा पडिमपवेसो अच्चणियं करेह । णयरे घोसितं—सव्वमहिलाहिं एत्तव्वं , लोगोऽवि एति । ताओऽवि आगताओ, चेडरूवाणि तत्थ वप्पो त्ति उच्छंग णिविसति , णाताओ तेण । थेरी अंबाडिता , ताओऽवि आणिताओ , भोगे भुंजति सत्तहिं वि सहितो । वद्धमाणसामी य समोसरितो , कतपुएणओ सामिं वंदिऊण पुच्छति—अप्पणो संपत्ति विपत्तिं च । भगवता कथित—पायसदाणं, संवेगेण पव्वइतो । एवं दाणेण सामाइयं लब्भति ॥ ४ ॥ इदाणिं विणएणं-मगधविसए गोव्वरगामे पुप्फसालो गाहावती , तस्स भद्दा भारिया , पुत्तो से पुप्फसालसुओ । सो मातापिरं पुच्छति—को धम्मो ?, तेहिं भएणति—मातापितरं सुस्सूसितव्वं—"दो चेव देवताइ,माता य पिता य जीवलोमम्मि। तत्थ वि पिया विसिट्ठो, जस्स वसे वट्टते माता ॥ १ ॥ " सो ताण पगे मुहधोवणादिविभासा , देवताणि व ताणि सुस्सूसति । अएणता गामभोइओ आगतो, ताणि सभताणि पाहुएण करेंति, सो चिंतेति—एताए वि एस देवत , एत पूएमि तो धम्मो होहिति, तस्स सुस्सूसं पकतो । अएणता तस्स भोइओ. तस्स वि अएणो, तस्स वि अएणो, जाव सेणियं रायाण ओलग्गिउमारद्धो सामी समोसढो, सेणिओ इड्ढीए गतूण वंदति, ताहे सो सामिं भणति-अह तुब्भे ओलग्गामि ?, सामिणा भणितं—अहं रयहरणपडिग्गहमत्ताए ओलग्गज्जामि । ताए सुणणाए संवुद्धो, एवं विणएण सामाइय लब्भति ॥ ५ ॥ इदानीं विभंगेण लब्भति , जधा—अत्थि मगधजणवए सिवो राया तस्स धणधन्नहिरएणाइ पइदियहं वड्ढति, चिंता जाया—अत्थि धम्मफलं ति, तो महं हिरएणादि वढति, ता पुएणं करेमि त्ति कलिऊण भोयण कारित, दाणं च देणं दिएणं। ततो पुत्तं रज्जे ठवेऊण सकततवमयभिक्खाभायणकडुच्छुगोवगरणो दिसापोक्खियतावसाए मज्झे तावसो जातो । छट्ठछट्ठमातो परिसडियपडुपत्ताणि आणिऊण आहारेति । एव से चिट्ठमाणस्स कालेण विभंगणाणं समुप्पन्न संखेज्जदीवसमुद्दविसयं, ततो णगरमागतूण जधोवलद्धे भावे पएणवेति । अएणता साधवो दिट्ठा, तेसिं किरियाकलावं विभंगाणुसारेण लोएमाणस्स विसुद्धपरिणामस्स अपुव्व—करण जातं, ततो केवली संवुत्तो त्ति ॥६॥ (आव०) ' इदाणिं वम्पेणं, दो भाउगा सगडेण वच्चति, चक्कुलेएडा य सगडवट्टाए लोलति, महल्लेण भणियं—उव्वत्तेहि भंडि, इतरेण वाहिया भंडी, सा सन्नी सुणेति, छिएणा चक्केण, मता इत्थिया जाया हत्थिणापुरे णगरे, सो महल्लतरो पुव्वं मरित्ता तीसे पोट्टे आयाओ पुत्तो जाओ, इट्ठो, इतरोऽवि तीसे चेव पोट्टे आयाओ, ज सो उववएणो तं सा चिंतेति-सिलं व हाविज्जामि, गब्भपाडणेहिं वि ण पडति, जओ सो जाओ दासीए हत्थे दिएणो,छड्डेहि, सो सेट्ठिणा दिट्ठो णिज्जंतो, तेण घेत्तूण अएणाए दासीए दिएणो, सो तत्थ संवड्ढइ । तत्थ महल्लगस्स णामं रायललिओ इयरस्स गंगदत्तो । सो महल्लो ज किंचि लहइ ततो तस्स वि देति, माऊए पुण अणिट्ठा, जहिं पेच्छइ तहिं कट्ठादीहिं पहणइ । अएणया इदमहो जाओ, तओ पियरेण अप्पसागारिय आणीओ आसदगस्स हेट्ठा कओ, जेमाविज्जइ, ओहाडिओ ताहे कहवि दिट्ठो, ताहे हत्थे घेत्तूण कड्ढिओ चंदणियाए पक्खितो, ताहे सो रुवइ, पिउणा एहाणिओ, एत्थंतरे साहू भिक्खस्स अतियओ ' सिट्ठिणा पुच्छिओ—भगवं ! माउए पुत्तो अणिट्ठो भवइ ?, हता भवइ, किह एए ?, ताहे भणति— यं दृष्ट्वा वर्धते क्रोधः, स्नेहश्च परिहीयते । स विज्ञेयो मनुष्येण, एष मे पूर्ववैरिक ॥ १ ॥ यं दृष्ट्वा वर्धते स्नेह, क्रोधश्च परिहीयते । स विज्ञेयो मनुष्येण, एष मे पूर्वबान्धव ॥ २ ॥' ताहे सो भणइ-भगवं ! पव्वावेह एयं ?, बाढति विसज्जिओ पव्वइओ । तेसिं आयरियाण सगासे भायावि से णेहाणुरागेण पव्वइओ, ते साहू जाया इरियासमिया, अणिस्सितं तवं करेंति । ताहे सो तत्थ णिदाणं करेइ-जइ अत्थि इमस्स तवणियमसजमस्स फलं तो आगमेसाएं जणणयणाणंदो भवामि, घोरं तवं करेत्ता देवलोयं गओ ततो चुओ वसुदेवपुत्तो वासुदेवो जाओ । इयरोऽवि वलदेवो एव तेण वसणेण सामाइ लद्ध ॥ ७ ॥ उस्सवे एगम्मि पच्चंतियगामे आभीराणि, ताणि साहूणं पासे धम्मं सुणेंति, ताहे देवलोए वएणेंति, एवं तेसिं अत्थि धम्मे सुबुद्धी । अएणदा कयाइ इंदमहे वा अएणम्मि वा उस्सवे गयाणि णगरिं, जारिमा बारवई, तत्थ लोयं पासन्ति मंडितपसाहिय सुगंध विचित्तणेवत्थं ताणि तं दट्ठूण भणति—एस सो देवलोओ जो साहूहिं वएिणओ, एत्ताहे जइ वच्चामो सुदर करेमो, अम्हेवि देवलोए उववज्जामो, ताहे ताणि गतूण साहूण साहति—जो तुब्भेहिं अम्ह कहिओ देवलोओ सो पच्चक्खो अम्हेहिं दिट्ठो । साहू भण-

ति—ण नारिसो देवलोश्रो, अएणारिसो, अतो अणंतगुणो । तश्रो ताणि अब्भहियजातविम्हयाणि पव्वइयाणि । एव उस्सवेण सामाइयलभो ॥९॥ 'इड्डि त्ति–दसएणपुरे णगरे दसएणभद्दो राया, तस्स पच देवीसयाणि ओरोहो, एव सो रूवेण जोव्वणेण बलेण य वाहणेण य पडिबद्धो, परिस णत्थि त्ति अएणस्स चिंतेइ। सामी समोसरिश्रो दसएणकूडे पव्वते । ताहे सो चिंतेइ—तहा कल्लं वदामि जहा ण केणइ अएणेण वंदियपुव्वो, तं च अब्भत्थियं सक्को णाऊण चिंतेइ—वराश्रो अप्पाणयं ण याणति। तश्रो राया महया समुदएण णिग्गश्रो वंदिउं सव्विड्डिए, सक्को य देवराया एरावण विलग्गो, तस्स अट्ठ मुहे विउव्वइ, मुहे मुहे अट्ठ अट्ठ दते विउव्वेइ, दते २ अट्ठ अट्ठ पुक्खरणिश्रो विउव्वेइ,एक्केक्काए पुक्खरणीए अट्ठ २ पउमे विउव्वेइ,पउमे २ अट्ठ अट्ठ पत्ते विउव्वेइ, पत्ते २ अट्ठ २ बत्तीसबद्धाणि दिव्वाणि णाडगाणि विउव्वइ। एव सो सव्विड्डीए उवगिज्जमाणो आगश्रो, तश्रो एरावणं विलग्गो चेय निक्खुत्तो आदाहिण पयाहिणं सामिं करेइ, ताहे सो हत्थी अग्गपादेहिं भूमीए ठिश्रो, ताहे तस्स हत्थिस्स दसएणकूडे पव्वते देवतापसाएण अग्गपायाणि उट्ठिताणि, तश्रो से णाम कत गयग्गपादगो त्ति। ताहे सो दसएणभद्दो चिंतेइ—परिसा कश्रो अम्हाणं इड्डि त्ति?, अहो कएणश्रोऽणेण धम्मो, अहमवि करेमि, ताहे सो सव्व छड्डेऊण पव्वइश्रो। एवं इड्डीए सामाइयं लहइ ॥ १० ॥ (आव०)।

अहवा इमेहिं कारणेहिं लंभो—

अब्भुट्ठाणे विणए, परक्कमे साहुसेवणाए य ।
सम्मद्दसणलंभो, विरयाविरईइ विरईए ॥ ८४८ ॥

अभ्युत्थाने सति सम्यग्दर्शनलाभो भवतीति क्रिया, विनीतोऽयमिति साधुकथनात्, तथा विनय–अञ्जलिप्रग्रहादाविति, पराक्रमे–कषायजये सति, साधुसेवनाया च सत्या कथञ्चित् तत्क्रियोपलब्ध्यादे सम्यग्दर्शनलाभो भवतीत्यध्याहार.। विरताविरतेश्च विरतश्चेति गाथार्थ.। कथमिति द्वार गतम्। आव०१ अ०। अत्र पुनर्वल्कलचीरिणोऽधिकार, तथा कर्मणा क्षये सति प्राप्यते सामायिक यथाप्रात चण्डकौशिकेन उपशमे सत्यवाप्यते यथा अङ्गर्षिणा तथा मनोवाक्काययोगे प्रशस्ते लभ्यते बोधि.—सामायिकमिति। आ० म० १ अ०। (अनुकम्पादिभिरवाप्यते सामायिकमिति, अनुकम्पादिशब्देषु कथानकानि गतानि ।) (कारणभेदा ' कारण ' शब्दे तृतीयभागे ४६७ पृष्ठे उक्ता'।) (अत्रत्या व्याख्या ' सक्कार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।) तदेवं नामादिभेदतश्चतुर्विधकारण विचार्य प्रस्तुते येनाधिकारस्तदाह—' अहिगार पसत्थएणत्थ ' त्ति—इह सामायिके विचार्यमाणे प्रशस्तेन भावकारणेनाधिकार. । सामायिकाध्ययनं हि क्षायोपशमिकभावरूप वर्तते । स च प्रशस्त , मोक्षकारणत्वात् अतो युक्तमुक्तम्—प्रशस्तभावकारणेनात्राधिकार, इति। विश०।

(६६) अथ कारणद्वार एव कारणवक्तव्यतानुगतप्रसङ्गेन किञ्चिदाह—

तित्थयरो किं कारणं, भासइ सामाइय तु अज्झयणं ? ।
तित्थयरनामगोत्तं, बद्धं मे वेइअव्वं ति ॥ २१२२ ॥

तीर्थकर किं कारण–किं निमित्तं भाषते सामायिकाध्ययनम् ? । तुशब्दाद्–अन्यानि चाध्ययनानि, केवलज्ञानोत्पत्तितस्तस्य कृतकृत्यत्वात् किं तद्भाषणेन ? इत्यभिप्राय.। अत्रोच्यते—तीर्थकर इति नाम—गोत्रं सज्ञा यस्य तत् तीर्थकरनामसज्ञकं कर्म पूर्वं मया बद्धं तदिदानीमनेन प्रकारेण वेदितव्यम्, इत्यनेन कारणेन स तद् भाषत इति।

पुनरत्रैव च विनेयप्रश्नमुत्तर चाह—

तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं ।
बज्झइ तं तु भगवश्रो,तइयभवो सक्कइत्ता णं ॥२१२३॥
नियमा मणुयगईए, इत्थी पुरिसेयरो व सुहलेसो ।
आसेविय बहुलेहिं वीसाए अन्नयरएहिं ॥२१२४॥

एतयोर्व्याख्यानं पूर्ववदेव, नवरं तत् पुनस्तीर्थकरनामकर्म बद्धं सत् कथ वेद्यते ? इति प्रश्न.। अत्रोत्तरम्–अग्लान्या—निर्वेदन धर्मदेशनादिभि.। तच्च भगवतस्तीर्थकरस्यैव—यस्तीर्थकरो भविष्यति तस्यैव बध्यते-बन्धमायाति। कदा ? इत्याह-सिद्धिगमनभवात् तृतीयभव यावदवष्वष्कय-अपसृत्य। इदमुक्तं भवति—अनेन बद्धेन भवत्रयमेव संसारेऽवतिष्ठते , तत सिध्यति। एकस्तावत् स एव मनुष्यभवो यत्र तद् बध्यते, द्वितीयस्तु देवभव , नरकभवो वा, तृतीयभवे तु तीर्थकरो भूत्वा सिध्यति। तच्च नियमाद् मनुष्यगतावेव प्रारम्भमाश्रित्य सम्यग्दृष्टिमनुष्यो बध्नाति , नान्यगतावन्य.। कथंभूतो मनुष्य. ? इत्याह–स्त्री पुरुष , इतरो वा पुरुषः नपुंसकवेदको मन्त्रादिकारणैरुपहतपुरुषवेद. सन् यो नपुसक , न तु क्लिष्ट, पण्डकादिरित्यर्थ.। कथंभूत. पुन स्त्र्यादि. ? इत्याह–सम्यग्दर्शनादिगुणयुक्तत्वात् शुभलेश्य.। कै पुन. कारणै सोऽपि बध्नाति ? इत्याह–' अरहंत सिद्धपवयण ' इत्यादिना पूर्वमभिहितैर्बहुलै पुन पुनरासेवितै. सम्पूर्णैर्विंशत्या कारणैः अन्यतरैर्वैकद्वित्र्यादिभिरतिपुष्टै नीतैरिति।

(६७) एव तीर्थकृत. सामायिकाध्ययनभाषणकारणमभिधाय , अथ गणभृतामाशङ्काद्वारेण तच्छ्रवणकारणमभिधित्सुराह–

गोयममाई सामा–इयं तु किं कारणं निसामेंति ।
नाणस्स तं तु सुंदर–मंगुलभावाण उवलद्धी ॥२१२५॥
होइ पवित्तिनिवित्ती , संजमतवपावकम्मअग्गहणं ।
कम्मविवेगो य तहा,कारणमसरीरया चेव ॥२१२६॥
कम्मविवेगो असरी–रयाइ असरीरयाऽणबाहाए ।
हो अणबाहनिमित्तं,अवेयणुअणाउलो निरुश्रो॥२१२७॥
निरुयत्ताए अयलो, अयलत्ताए य सासश्रो होइ ।
सासयभावमुवगश्रो, अव्वाबाहं सुहं लहई ॥ २१२८॥

गौतमादयो गणधरा किं कारण—किं निमित्त–किं प्रयोजन सामायिक निशमयन्ति—शृण्वन्ति ? इत्याह—' नाणस्स ' त्ति—विभक्तिव्यत्ययाच्चतुर्थीह द्रष्टव्या, सा च तादर्थ्ये , ततश्च ज्ञानार्थ , ज्ञानायत्यर्थ तेषा भगवद्वदनारविन्दविनिर्गत सामायिकमिद श्रुत्वा तदर्थविषय ज्ञानमुत्पद्यत इति भाव । तच्च ज्ञान सुन्दरमङ्गुलभावाना शुभाऽशुभप-

दार्थानामुपलब्धये—उपलब्धिनिमित्त भवति । तस्याश्च शुभाऽशुभपदार्थोपलब्धेः सकाशात् शुभेषु प्रवृत्ति , इतरेभ्यस्तु निवृत्तिर्भवति । ते च निवृत्तिप्रवृत्ती ' संजमतव ' त्ति संयमतपसो. कारणं—निमित्तं भवत , अशुभनिवृत्ति. संयमकारणम् , शुभप्रवृत्तिस्तु तप कारणमित्यर्थ. । तयोश्च संयमतपसो. पापकर्मणोऽग्रहणम् , तथा-कर्मविवेकश्च कर्मनिर्जरारूपो यथासंख्य कारण निमित्त प्रयोजनमिति यावत् । कर्मविवेकस्य च कारणं प्रयोजनमशरीरतैव चेति । ' अथ विवक्षितमर्थमुक्तानुवादेन प्रतिपादयन्नाह—कर्मविवेक.-कर्मपृथग्भावोऽशरीरताया. कारणम् । अशरीरता पुनरनाबाधताया: कारण भवति । ' हो अणवाहनिमित्त ' त्ति-अनाबाधतानिमित्तम्-अनाबाधताकारणम्,अनाबाधतया हेतुभूतयेत्यर्थ. , अवेदनो-वेदनारहितो भवति जीव । अवेदनत्वाच्चानाकुलोऽविह्वलो भवति । रोगाद्यनाकुलत्वाच्च नीरुक्—समस्तभावरोगरहितो भवति । नीरुक्तया पुनरचल , अचलतया च तत्रैवमुक्तिक्षेत्रे शाश्वतो—नित्यो भवति । शाश्वतभाव चापगत सदव्याबाधसुख लभते । इत्य पारम्पर्येणाव्याबाधमुक्तिसुखनिमित्तं सामायिकश्रवणं सिद्धम् । इति निर्युक्तिगाथादशकार्थ ।

एताश्च गाथा सुगमत्वात् सक्षेपतो भाष्यकार. किञ्चिद् व्याचिख्यासुराह—

तित्थयरनामकम्म-क्खयस्स कारणमिदं जिणिंदस्स ।
सामाइयाभिहाणं , नाणस्स उ गोयमाईणं ॥२१२९॥
तं पि सुभेयरभावो-वलद्धिए सा पवित्तिनियमाणं ।
एवं नेयं कमसो , पुव्वं पुव्वं परनिमित्तं ॥ २१३० ॥

इद सामायिकाभिधान—सामायिकभाषण जिनेन्द्रस्य-तीर्थकरस्य भगवतस्तीर्थकरनामकर्मक्षयस्य कारणं-हेतु. । गौतमादीना पुनर्ज्ञानस्य ' तच्छ्रवण कारणम् ' इति गम्यत । तदपि ज्ञान शुभाऽशुभभावोपलब्ध. कारणम् , एषाऽपि प्रवृत्तिनियमयो -प्रवृत्तिनिवृत्त्यो. कारणम् । एव क्रमश क्रमेण पूर्व परस्य-उत्तरस्य निमित्त तावज्ज्ञेयं यावत् शाश्वतत्वादव्याबाध मुक्तिसुख लभते । इति गाथाद्वयार्थ. । उक्त कारणद्वारम् । विशे० ।

अथ भवद्वारमुच्यते । तत्र कियतो भवानेकजीव सामायिकचतुष्टयमुत्कृष्टत. प्रतिपद्यते ? इत्याह—

सम्मद्देसविरया, पलियस्स असंखभागमेत्ताओ ।
अट्ठ भवा उ चरित्ते, अणंतकालं च सुयसमए॥२७७९॥

सम्यग्दृष्टयो, देशविरताश्च , प्रत्येक क्षेत्रपल्योपमा असख्येयभागमात्रान् भवान् यावद् भवन्ति । इदमुक्तं भवति-क्षेत्रपल्योपमस्यासङ्ख्येयभागे यावन्तो नभ प्रदेशास्तावतो भवानुत्कृष्टत सम्यक्त्व देशविरतिं च प्रतिपद्यन्ते, जघन्यतस्त्वेक भवम् । तत पर सिध्यन्ति । इह च सम्यक्त्वभवासङ्ख्येयकाद् देशविरतिभवासख्येक लघुतर द्रष्टव्यम् । चारित्रे तु विचार्येऽष्टौ भवानुत्कृष्टतस्तत् प्रतिपद्यत , उत्कृष्टतोऽष्टौ तस्यादानभवा , जघन्यतस्त्वेक , तत. सिध्यति । ' अणतकाल च सुयसमए ' त्ति-अनन्तकालोऽनन्तभवरूपस्तमनन्तकालमव प्रतिपत्ता भवत्युत्कृष्टत सामान्यश्रुतमाम । येके,जघन्यतस्त्वेकभवमेव, मरुदेवीवत् । इति निर्युक्तिगा ।र्थ । विशे० । आ० क० । आ०चू० । आव० । आ० म० ।

तदेवं 'दव्वे अद्धाउय' इत्यादिनोपक्षिप्तान् कालभेदान् व्य ाय प्रस्तुत येनाधिकारस्तमाह—

एत्थं पुण अहि ारो, पमाणकालेण होइ नायव्वो ।
खेत्तम्मि कम्मि काल-म्मि भासियं जिणवरिंदेण ।२०८२।

अत्र पुनरनेकविधकालप्ररूपणायामधिकारः—प्रयोजन प्रस्ताव. प्रमाणकालेन भवति-ज्ञातव्य. । आह-ननु 'दव्वे अद्ध अद्धाउय ' इत्यादिद्वारगाथाया ' पगयं तु भावेणं ' इत्युक्तम् , इह पुन अधिकारः प्रमाणकालन भवति-ज्ञातव्य , इत्युच्यत, तत् कथं न पूर्वापरविरोध. ? । अत्रोच्यते-' क्षायिकभावकाल वर्तमानेन भगवता सामायिकाध्ययनं भाषितम् , इत्यभिप्रायवता ' पगय तु भावेण ' इति प्रागुक्तम् , तथा ' पूर्वाह्णलक्षणे प्रमाणकाले च भगवता भाषित सामायिकं इत्यध्यवसायवताऽत्रोक्त ' प्रमाणकालेनाधिकार. ' इत्युभयसंग्रहपरत्वाददोष.। अथवा—अद्धाकालपर्यायत्वात् प्रमाणकालोऽपि भावकाल एवेत्यविरोध. । आह-ननु कस्मिन् क्षेत्रे श्रीमन्महावीरजिनवरेन्द्रेण प्रथमत सामायिकाध्ययन भाषितम् ? , तथा , प्रमाणकालोऽपि दिनप्रथमपौरुषीपूर्वाह्णादिभेदादनेकविध इत्यत. प्रश्न. प्रमाणकाले च कस्मिंस्तज्जिनवरेन्द्रेण भाषितम्—विनेय पृच्छति-कस्मिन् क्षेत्रे काले च क सामायिकस्य निर्गम. ? इत्यर्थ इति ।

अत्रोत्तरमाह—

वइसाहसुद्धएक्का-रसीएँ पुव्वण्हदेसकालम्मि ।
महसेणवणुज्जाणे, अणंतरं परंपरं सेस ॥ २०८३ ॥

वैशाखशुक्लैकादश्यां पूर्वाह्णदेशकाले प्रथमपौरुष्यामित्यर्थः, कालस्यान्तरङ्गत्वख्यापनार्थमेव प्रश्नाद् व्यत्ययेनोत्तरनिर्देश., महासेनवनोद्यानलक्षणे क्षेत्रे चानन्तर निर्गम. सामायिकाध्ययनस्य । ' परंपरं सेस ' ति—अन्ये—ष्वपि गुणशिलकाद्युद्यानक्षेत्रेषु पश्चात् प्ररूपितमेव भगवता सामायिकम् , किन्तु—महासेनवनात् शेषं क्षेत्रजातमधिकृत्य परपरनिर्गम , तस्य केवलज्ञानोत्पत्त्यपापामध्यमानगर्यां महासेनवनोद्यान एव प्रथम तस्य प्ररूपितत्वादिति । तदेव 'नाम ठवणा दविए,खेत्ते काले तहेव भावे अ । एसो उ निग्गमस्स,निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १ ॥' अस्या निर्गमनिक्षेपप्रतिपादकगाथायामुद्दिष्टौ व्याख्यातौ क्षेत्रकालनिर्गमौ ।

अथ भावनिर्गममभिधित्सुराह—

खइयम्मि वट्टमाण-स्स भगवओ निग्गयं जिणिंदस्स ।
भावे खओवसमिय-म्मि वट्टमाणेहि तं गहियं॥२०८४।

भावशब्दोऽत्रापि सबध्यते । ततश्च क्षायिके भावे वर्तमानस्य जिनेन्द्रस्य भगवत श्रीमन्महावीरस्य निर्गत सामायिकम् । क्षायिकोपशमिके भावे च वर्तमानैस्तस्मात् सामायिकमन्यच्च श्रुत गृहीतम्(गणधरादिभि.) इति गम्यते । तत्र भगवतो दर्शनज्ञानचारित्रावरणस्य सर्वथा क्षीणत्वात् क्षायिको भाव ,गणधरादीना तु तदावरणस्य तदानी क्षयोप-

शमावस्थत्वात् क्षायोपशमिको भाव.। निर्गम एव चात्र प्रस्तुत, यत्तु क्षायोपशमिकभावग्रहणप्रतिपादन तत् प्रसङ्गतो द्रष्टव्यम्। तत्र श्रीगौतमस्वामिना निषद्यात्रयेण चतुर्दश पूर्वाणि गृहीतानि। प्रणिपत्य पृच्छा च निषद्योच्यते। प्रणिपत्य पृच्छति गौतमस्वामी-कथय भगवन्! तत्त्वम्। ततो भगवानाचष्टे—"उप्पन्नेइ वा"। पुनस्तथैव पृष्टे प्राह—"विगमेइ वा"। पुनरप्येवं कृते वदति—"धुवेइ वा"। एतास्तिस्रो निषद्या। आसामेव सकाशात्'यत् सत् तदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्, अन्यथा वस्तुन. सत्ताऽयोगात्' इत्येव तेषा गणभृतां प्रतीतिर्भवति। ततश्च ते पूर्वभवभाविनमतयो बीजबुद्धित्वाद् द्वादशाङ्गमुपरचयन्ति। ततो भगवांस्तेषा तदनुज्ञा करोति। शक्रश्च दिव्यं वज्रमयस्थालं दिव्यचूर्णाना भृत्वा त्रिभुवनस्वामिन संनिहितो भवति। तत स्वामी रत्नसिंहासनादुत्थाय परिपूर्णां चूर्णमुष्टिं गृह्णाति। ततो गौतमस्वामिप्रमुखा एकादशापि गणधरा ईषदवनततनव परिपाट्या तिष्ठन्ति। ततो देवास्तूर्यध्वनिगीतशब्दादिनिरोध विधाय तूष्णीका शृण्वन्ति। ततो भगवान् पूर्वं तावदेतद् भणति—'गौतमस्य द्रव्य--गुण-पर्यायैस्तीर्थमनुजानामि' इति, चूर्णाश्च तन्मस्तके क्षिपति। ततो देवा अपि चूर्णपुष्प-गन्धवर्षा तदुपरि कुर्वन्ति गणं च भगवान् सुधर्मस्वामिनं धुरि व्यवस्थाप्यानुजानाति। एवं सामायिकस्यार्थो भगवत सकाशाद् निर्गत, सूत्र तु गणधरेभ्यो निर्गतम्, इत्यल प्रसङ्गेन। इति निर्युक्तिगाथात्रयार्थ।

यदुक्तम्—'एत्थ पुण अहिगारो पमाणकालेण' इत्यादि, तत्र पर. पूर्वापरविरोधमुद्भावयन्नाह—

किह पगयं भावेणं, कहमहिगारो पमाणकालेणं ?।

आचार्य प्राह—

खाइयभावेऽरुहया, पमाणकालेण जं भणियं ॥२०८५॥
अहवा पमाणकालो, वि भावकालो त्ति जं च सेसा वि।
किंचिम्मेत्तविसिट्ठा, सव्वे चिय भावकाल त्ति॥२०८६॥
आहिक्केणं कज्जं, पमाणकालेण जमहिगारो त्ति।
सेसा वि जहासंभव-माउज्जा निग्गमे काला ॥२०८७॥

निगदोऽपि प्रायो व्याख्यातार्थ, नवरं 'अरुहय' त्ति अर्हता श्रीमन्महावीरेण। 'जं च सेसा वी'त्यादि यस्माच्च शेषा अपि द्रव्याऽद्धाकालादय किञ्चिदुपाधिमात्रविशिष्टा सर्वेऽपि भावकाला एव, तथाहि—द्रव्यस्य या चतुर्विकल्पा स्थिति सा द्रव्यकाल उक्त, समया-ऽऽवलिकादयस्त्वद्धाकाल, यथायुष्क चायुष्ककाल इत्यादि। एते च स्थित्यादय सर्वेऽपि जीवाऽजीवपर्यायत्वाद् भावरूपा एवेति परमार्थतो भावकालाद् न विशिष्यन्त इति। पर तथापि 'प्रमाणकालेनात्राधिकार' इति यदुक्त तदाधिक्येन विशेषतस्तेन प्रमाणकालेन कार्यमिति हेतोरवगन्तव्यम्, अन्यथा शेषा अपि द्रव्याद्धाकालादय पारम्पर्यादिना सामायिकनिर्गम यथासंभवमायोजनीया, यथाहि-क्षायिके भावे वर्तमानस्य सामायिक निर्गत भगवतस्तथा रत्नमयसिंहासनलक्षणे द्रव्ये चोपविष्टस्य, यत्र च द्रव्य तत्र तत्स्थितिलक्षण कालोऽप्यस्त्येव, तथा-यथाऽऽयुष्ककाले चानुभवत, कर्माणि चापक्रामत, प्रस्ताव चावगच्छत, आवीचिमरणलक्षणं मरणकाल चानुभवन, जीवादिपदार्थवर्णनाकाले च प्रवृत्तस्य तस्य तन्निर्गतम्, प्रमाण--भावकालौ त्वधिकृतत्वेनोक्तावेव। प्रमाणकाले चाधिकृतेऽद्धाकालोऽधिकृत एव, तस्य तद्विशेषत्वादेवेति। एवं सर्वेऽपि द्रव्यकालादयोऽत्रोपयुज्यन्त एव। केवलमाधिक्येन प्रमाणकालो भावकालश्चेहोपयुज्येते, इति तयोर्विशेषतोऽधिकृतत्वमुक्तमिति। विशे०।

(६७) कियच्चिरम्, कालद्वारम्। साम्प्रतं 'तदित्थ लब्ध किं च्चिर काल भवति?' इति कालद्वारं जघन्योत्कृष्ट सामायिककालमभिधित्सुराह—

सम्मत्तस्स सुयस्स य, छावट्ठी सागरोवमाइँ ठिई।
सेसाण पुव्वकोडी, देसूणा होइ उक्कोसा ॥ २७६१॥

सम्यक्त्वस्य श्रुतस्य च लब्धिमङ्गीकृत्य 'दो वारे विजयाइसु' इत्यादि वक्ष्यमाणन्यायेन षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्वकोटीपृथक्त्वाधिकानि स्थितिर्भवति। शेषयोर्देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयो. पूर्वकोटिर्देशोना भवति। 'उक्कोस' त्ति—एषा सामायिकलब्धेरुत्कृष्टा स्थितिः। इति निर्युक्तिगाथार्थ।

भाष्यकारव्याख्या—

दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिण्णच्चुए य छावट्ठी।
नरजम्मपुव्वकोडी, पुहुत्तमुक्कोसओ अहियं ॥२७६२॥

इयं प्रागिहैव व्याख्याता।

अथ चतुर्णामपि सामायिकाना जघन्यस्थितिं भाष्यकार एवाऽऽह—

अंतोमुहुत्तमित्तं, जहन्नयं चरणमेगसमयं तु।
उवओगंतमुहुत्तं, नाणाजीवाण सव्वद्धं ॥ २७६३॥

जघन्या तु लब्धिमाश्रित्याद्यसामायिकत्रयस्यान्तर्मुहूर्त स्थिति.। सर्वविरतिसामायिकस्य तु समयम्, चारित्रपरिणामारम्भसमयानन्तरमेवायुष्कक्षयसम्भवात्। देशविरतेरप्येव कस्माद् न भवति? इति चेत्? तदयुक्तम्, तस्या प्रतिनियतप्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपत्वात्, तत्र लोचनपरिणतेश्च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात्। तदेव लब्धेः स्थितिकाल। उपयोगतस्तु सर्वेषामन्तर्मुहूर्त स्थिति.। नानाजीवाना तु सर्वाणि सर्वाद्धा इति गाथाद्वयार्थ।

अथ कतिद्वारमुच्यते—तत्र सम्यक्त्वादिसामायिकाना विवक्षितसमये कति प्रतिपत्तार, प्रतिपन्ना, प्रतिपतिता वा भवन्ति? इत्याह--

सम्मत्तदेसविरया, पलियस्स असंखभागमेत्ताओ।
सेढी असंखभागो, सुए सहस्सग्गसो विरई॥ २७६४॥

सम्यक्त्वदेशविरता प्राणिन क्षेत्रपल्योपमस्यासङ्ख्येयभागमात्रा एव। इयमत्र भावना-क्षेत्रपल्योपमस्यासङ्ख्येयभागे यावन्त प्रदेशास्तावन्त एवोत्कृष्टत सम्यक्त्वदेशविरते सामायिकयोरेकदा प्रतिपत्तारो भवन्ति। किन्त्वयं विशेष—देशविरतिप्रतिपत्तृभ्य. सम्यक्त्वप्रतिपत्तारोऽसङ्ख्येयगुणा इति। जघन्यतस्त्वेको द्वौ वेति। 'सेढी असंखभागो सुए' त्ति-इह सवर्तितचतुरस्रीकृतलोकस्यैकप्रादेशिकी सप्तरज्जुप्रमाणा श्रेणिगृह्यते श्रुतमपि सम्यग्मिथ्याश्रुतभेदादिह

सामान्येनाक्षरात्मकमत्राङ्गीक्रियते ततो यथोक्तायाः श्रेणेर-सङ्ख्याततमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावन्तो विवक्षितकाले सामान्यश्रुतस्योत्कृष्टतः प्रतिपत्तारो लभ्यन्ते, जघन्यतस्त्वेको द्वौ वेति। 'सहस्सग्गसो विरई' त्ति--कदाचिद् विवक्षितकाले उत्कृष्टतः सहस्राग्रशः सहस्रपरिगणनया सहस्रपृथक्त्वं विरतेः प्रतिपत्तारो भवन्ति, जघन्यतस्त्वेको द्वौ वेति। तदेवमुक्ताः प्रतिपद्यमानकाः। विशे०। आ० म०।

अथ पूर्वप्रतिपन्नान् प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तदेसविरया, पडिवण्णा संपई असंखेज्जा।
संखेज्जा य चरित्ते, तीसु वि पाडया अणंतगुणा।।२७६५।।

सम्यक्त्वदेशविरताः पूर्वप्रतिपन्नाः साम्प्रतं वर्त्तमानसमये जघन्यत उत्कृष्टतश्चासङ्ख्येयाः प्राप्यन्ते, किन्तु जघन्यपदादुत्कृष्टपदे विशेषाधिकाः। एते च प्रतिपद्यमानकेभ्योऽसङ्ख्येयगुणाः। सङ्ख्येयाश्चारित्रे प्राक् प्रतिपन्नाः। एते तु स्वस्थाने प्रतिपद्यमानकेभ्यः सङ्ख्येयगुणाः। त्रिभ्योऽपि चरण-देश-सम्यक्त्वेभ्य एतानेव चरणगुणान् प्राप्य ये प्रतिपतितास्तेऽनन्तगुणाः। तत्र सम्यग्दृष्ट्यादिभ्यः प्रतिपद्यमानकेभ्यः पूर्वप्रतिपन्नेभ्यश्च चरणप्रतिपतिता अनन्तगुणाः, देशविरतिप्रतिपतितास्तु तेभ्योऽसङ्ख्येयगुणाः। सम्यक्त्वप्रतिपतिताः पुनस्तेभ्योऽसङ्ख्येयगुणा इति विशेषो द्रष्टव्य इति।

(६८) तदेवमत्र श्रुतवर्जसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपतिताश्चोक्ताः। अथ श्रुतमाश्रित्याह—

सुयपडिवण्णा संपइ, पयरस्स असंखभागमेत्ताओ।
सेसा संसारत्था, सुयपडिवडिया हु ते सव्वे।।२७६६।।

सम्यग् मिथ्यारूपस्य सामान्यतोऽक्षरात्मकस्य श्रुतस्य ये पूर्वप्रतिपन्नास्ते साम्प्रतं-वर्तमानसमये प्रतरस्यासङ्ख्येयभागमात्रा भवन्ति। घनसमचतुरस्रीकृतलोकप्रतरस्यासङ्ख्येयभागवर्तिनीष्वसङ्ख्येयासु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावन्तो विवक्षितसमये सामान्यश्रुतस्य पूर्वप्रतिपन्ना लभ्यन्त इत्यर्थः। श्रुतप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकेभ्यस्तु ये शेषाः संसारस्था जीवा भाषालब्धिरहिताः पृथिव्यादय इत्यर्थः, ते सर्वेऽपि भाषालब्धिं प्राप्य प्रतिपतितत्वात् सामान्यश्रुतात् प्रतिपतिता मन्तव्या न हि निरादिके संसारे आभ्यद्भिस्तैर्भाषालब्धिः पूर्वं न लब्धेति। ते च सम्यक्त्वादिप्रतिपतितेभ्योऽनन्तगुणा इति स्वयमेव द्रष्टव्यम्। इति निर्युक्तिगाथात्रयार्थः।

'सेढीअसंखभागो सुए' त्ति--इत्यस्य व्याख्यानं भाष्यकार आह—

सवट्टियचउरस्सी-कयस्स लोगस्स सत्तरज्जूओ।
सेढी तदसंखिजइ-भागो समए सुयं लहइ।।२७६७।।

उक्तार्था।

'सुयपडिवण्णा संपइ पयरस्स' इत्यादेर्व्याख्यानमाह—

सा सेढी सेढिगुणा, पयरं तदसंखभागसेढीणं।
संखाईयाण पए, सरासिमाणा सुयपवन्ना।।२७६८।।

इयमपि गतार्था। नवरं श्रेणिः श्रेण्या गुणिता प्रतरो मन्तव्यः।

'सम्मत्तदेसविरया पलियस्स' इत्याद्युक्तम्, तत्र सम्यक्त्वप्रतिपद्यमानकादीनां संख्यातीतत्वस्य तुल्यत्वादल्पबहुत्वं पूर्वं न विज्ञातम्, तद् भाष्यकारः प्राह—

सइ संखाईयत्ते, थोवा देसविरया दुविहं पि
तदसंखगुणा सम्म-द्दिट्ठी तत्तो य सुयसहिया।।२७६९।।
मीसे पवज्जमाणा, सुयस्स सेसपडिवन्नएहिंतो।
संखाईयगुण च्चिय, तदसंखगुणा सुयपवन्ना।।२७७०।।

सम्यक्त्वदेशविरतानामुभयेषामपि प्रतिपद्यमानकानां पल्योपमासङ्ख्येयभागवर्तित्वेन संख्यातीतत्वेऽसंख्येयत्वे तुल्येऽपि सति द्वयोरप्यनयो राश्योः स्तोका देशविरताः प्रतिपद्यमानकाः, सम्यग्दृष्टयः प्रतिपद्यमानकास्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः। तेभ्यश्च प्रतिपद्यमानसम्यग्दृष्टिभ्यः श्रुतसहिताः सामान्यश्रुतप्रतिपद्यमानकाः असंख्येयगुणाः। मिश्रे-मिलिते समुदितेऽपीत्यर्थः, सम्यग्दृष्टिदेशविरतराशिद्वयेऽवधौ व्यवस्थापिते सामान्यश्रुतस्य ये प्रतिपद्यमानकास्ते, शेषेभ्यः सम्यग्दृष्टिदेशविरतेभ्यो मिलितेभ्यः प्रतिपन्नकेभ्यः पूर्वप्रतिपन्नेभ्य इति भावः, 'संखाईयगुण च्चिय' त्ति-संख्यातीतगुणा एवासंख्यातगुणा एवेत्यर्थः। तदनेन श्रेणेरसंख्यातभागवृत्तित्वात् सामान्येन श्रुतप्रतिपद्यमानकानां प्राचुर्यं सूचितम्। एवं नाम ते सामान्यश्रुतप्रतिपद्यमानका बहवो येन शेषेभ्यः--समुदितसम्यग्दृष्टिदेशविरतेभ्यः पूर्वप्रतिपन्नेभ्योऽप्यसंख्यातगुणाः। 'तदसंखगुणा सुयपवन्न' त्ति-तेभ्योऽपि श्रुतप्रतिपद्यमानकेभ्यस्तस्यैव श्रुतस्य ये पूर्वप्रतिपन्नास्तेऽसङ्ख्यातगुणा इति।

अथ पूर्वप्रतिपन्नानां च प्रतिपद्यमानकानां च सम्यग्दृष्ट्यादीनां स्वस्थानेऽल्पबहुत्वमाह—

सट्ठाणे सट्ठाणे, पुव्वपवन्ना पवज्जमाणेहिं।
हुंति असंखिज्जगुणा, संखिज्जगुणा चरित्तस्स।।२७७१।।

सम्यक्त्वयुक्तश्रुतदेशविरतानां स्वस्थाने स्वस्थाने पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकेभ्योऽसंख्येयगुणाः, चारित्रिणां तु विशेषः, तद्यथा--सर्वस्तोकाः स्वस्थाने चारित्रिणः प्रतिपद्यमानकाः, पूर्वप्रतिपन्नास्तु सङ्ख्येयगुणा इति।

अथ सम्यक्त्वादिप्रतिपतितानामल्पबहुत्वमाह—

चरणपडिया अणंता, तदसंखगुणा य देसविरईओ।
सम्माद संखगुणिया, तओ सुयाओ अणंतगुणा।।२७७२।।

चारित्रं प्राप्य ये प्रतिपतितास्ते सम्यक्त्वादिप्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नकेभ्यः सर्वेभ्योऽप्यनन्ता अनन्तगुणाः, देशविरतिप्रतिपतितास्तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः, सम्यक्त्वप्रतिपतितास्तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः, तेभ्योऽपि श्रुतात् प्रतिपतिता अनन्तगुणा इति।

'सेढी असंखभागो सुए' इत्यादि यदुक्तम्, तत्र किं सामान्यश्रुतं सम्यक्त्वश्रुतं वेह गृह्यते, इत्याशङ्कायामाह—

सामण्णं सुयगहणं, ति तेण सव्वत्थ बहुतरा तम्मि।
इहरा पइ सम्मसुय, सम्मत्तसमा मुणेयव्वा।। २७७३।।

उक्तार्थप्राया, सुगमा चेति ।

इह सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिचारित्रलक्षणेषु चतुर्ष्वपि सामायिकेषु पूर्वप्रतिपन्न-प्रतिपतितपदयोर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नत्वात् तद्विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

पडियपडिवन्नयाणं, सट्ठाणे समहियं जहन्नाओ ।
सव्वत्थुक्कोसपयं, पव्वज्जइ जहन्नओ चेगो ॥ २७७४ ॥

इह सम्यक्त्वादिप्रतिपतितानां यज्जघन्यपदं तस्मात् स्वस्थाने यदुत्कृष्टपदं तत् सर्वत्र समधिकं विशेषाधिकमवगन्तव्यम् । एवं पूर्वप्रतिपन्नानामपि जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकमेव । प्रतिपद्यमानानां तर्हि का वार्त्ता ? इत्याह— 'पवज्जई' त्यादि, प्रतिपद्यते सम्यक्त्वादिगुणं जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कृष्टतस्त्वाद्यसामायिकत्रयमसङ्ख्याताः, चारित्रं तूत्कृष्टतः सङ्ख्याताः प्रतिपद्यन्ते । अत इह जघन्यपदादुत्कृष्टपदमसङ्ख्येयगुणं सङ्ख्येयगुणं वा द्रष्टव्यम् इति गाथाऽष्टकार्थः । विशे० ।

(६६) अथ यस्य नयस्य यत् सामायिकं मोक्षमार्गत्वेनानुमतम् तद्दर्शनस्वरूपमनुमतद्वारं विभणिषुराह—

तवसंजमो अणुमओ, नेग्गंथं पवयणं च ववहारो ।
सद्दुज्जुसुयाणं पुण, निव्वाणं संजमो चेव ॥ २६२१ ॥

तापयतीति तपस्तत्प्रधानः संयमस्तपःसंयमश्चारित्रसामायिकमित्यर्थः । तथा निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यमार्हतमभिमतं भावना, प्रवचनं श्रुतसामायिकमित्यर्थः । चशब्दोऽनुक्तसम्यक्त्वसामायिकपरिग्रहार्थः । एतानि त्रीण्यपि सामायिकानि मोक्षमार्गत्वेन ममानुमतानीति ब्रूते व्यवहारनयः । एतद्ग्रहणे चाद्यौ वर्तिनौ नैगमसंग्रहावपि गृहीतौ द्रष्टव्यौ । ततश्चेदमुक्तं भवति-नैगमसंग्रहव्यवहारास्त्रिविधमपि सामायिकं मोक्षमार्गतयाऽनुमन्यन्ते । शब्दर्जुसूत्रयोः पुनर्निर्वाणं निर्वाणमार्गोऽभिमतः संयम एव चारित्रसामायिकमेवेत्यर्थः, नेतरे द्वे, सर्वसंवररूपचारित्रानन्तरमेव मोक्षप्राप्तेः, इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थं भाष्यकार आह—

कस्स नयस्साणुमयं,किं सामाइयमिह मोक्खमग्गो त्ति ।
भन्नइ नेगमसंगह-ववहाराणं तु सव्वाइं ॥ २६२२ ॥
तवसंजमो त्ति चरितं, निग्गंथं पवयणं ति सुयनाणं ।
तग्गहणे सम्मत्तं, च गहणाओ य बोद्धव्वं ॥ २६२३ ॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम् । नवरं 'सव्वाइं' ति-सम्यक्त्वश्रुतचारित्ररूपाणि त्रीण्यपि सामायिकानीत्यर्थः ।

अथ परप्रश्नमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

तिन्नि वि सामइयाइं, इच्छंता मोक्खमग्गमाइल्ला ।
किं मिच्छद्दिट्ठीया, वयंति जं समुइयाइं पि ॥२६२४॥

आह नन्वाद्या नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणास्त्रयो नया उक्तन्यायेन चारित्रश्रुतसम्यक्त्वरूपाणि सामायिकानि मोक्षमार्गत्वेनेच्छन्तः किमिति मिथ्यादृष्टयः ?-किमिति नयमतमिदं गीयते ?-सम्पूर्णं जिनमतमेव कस्मादेतद् न भवति ? इत्यर्थः । नहि जैनैरपि ज्ञानदर्शनचारित्रेभ्योऽन्यदूनमधिकं वा किमपि मोक्षमार्गत्वेनेष्यते ? । अत्रोत्तरमाह-'वयंती' त्यादि, यत्-यस्मात् समुदितान्यप्येतानि मोक्षमार्गत्वेन वदन्ति नैगमादय, न तु 'ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष' इति नियमं कुर्वते, नयत्वहानिप्रसङ्गात् । अत एते मिथ्यादृष्टय इति ।

'सद्दुज्जुसुयाणं पुण' इत्यादि गाथादलं व्याख्यातुमाह—

उज्जुसुयाइमयं पुण, निव्वाणपहो चरित्तमेवेगं ।
न हि नाणदंसणाइं,भावे वि न तेसिं जं मोक्खो॥२६२५॥

ऋजुसूत्रस्य, त्रयाणां च शब्दनयानां पुनश्चारित्रसामायिकमेवैकं निर्वाणमार्ग इति हि मतम्, हिशब्दः पुनरर्थे, न पुनः श्रुतज्ञानसामायिकं सम्यग्दर्शनसामायिकं च मोक्षमार्गस्तेषामनुमत इत्यर्थः, यद्—यस्मात् तयोर्ज्ञानदर्शनसामायिकयोः सद्भावेऽपि चारित्रमन्तरेण न मोक्षः । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां चारित्रसामायिकमेवैकं तन्मतेन मोक्षमार्ग इति ।

एतदेव भावयति—

जं सव्वनाणदंसण-लंभे वि न तक्खणं चिय विमोक्खो ।
मोक्खो य सव्वसंवर-लाभे मग्गो स एवाओ ।२६२६।

यद्-यस्मात् सर्वम्—परिपूर्णं ज्ञानं सर्वज्ञानं क्षायिकं ज्ञानम्, केवलज्ञानमिति यावत्, तथा—सर्वम्-सम्पूर्णं दर्शनं सर्वदर्शनम्, क्षायिकसम्यक्त्वमित्यर्थः, तयोर्लाभेऽपि न तत्क्षणमेव विमोक्षो—मुक्तिसद्भावः । भवति च मोक्षः, कदा ? इत्याह—सर्वसंवररूपचारित्रसामायिकलाभे । अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां स एव सर्वसंवररूपचारित्रलाभो मोक्षमार्ग इति ।

अत्र पर आह—

आह ननु नाणदंसण-रहियस्सेव सव्वसंवरो दिट्ठो ।
तस्सहियस्सेव तओ,तम्हा तितयं पि मोक्खपहो ।२६२७

आह ननु सोऽपि—सर्वसंवररूपचारित्रलाभो ज्ञानदर्शनरहितस्याकस्मादेवोपजायमानो न कस्यापि दृष्टः, किंतु तत्सहितस्यैव प्रागुत्पन्नज्ञानदर्शनस्यैव तको यथोक्तचारित्रलाभः संजायते । तस्मात् त्रितयमपीदं मोक्षमार्ग इति । अतोऽयुक्तमुक्तम् 'निव्वाणं संजमो चेव' इति ।

एवं नैगमादिभिरुक्ते ऋजुसूत्रशब्दावाहतुः—

जइ तेहिँ विणा णत्थि-त्ति संवरो तेण ताइँ तस्सेव ।
जुत्तं कारणमिह न उ,सवरसज्झस्स मोक्खस्स ।२६२८।

यदि 'ताभ्यां ज्ञानदर्शनाभ्यां विना सर्वसंवररूपचारित्रलाभो नास्ति' इत्युच्यते भवता, 'तेण' त्ति—तर्हि तेन ता हन्त ! 'ताइं' ति—ते ज्ञानदर्शने तस्यैव सर्वसंवरचारित्रस्य कारणमिह युक्तमभिधातुम्, न तु सर्वसंवरचारित्रसाध्यस्य मोक्षस्य, तदनन्तरमात्रभावित्वात् ज्ञानदर्शनद्वयानन्तरमभूतत्वाच्चेति ।

पुनरपि पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

अह कारणोवगारि त्ति, कारणं तेण कारणं सव्वं ।
भुवणं नाणाईणं, जइ णो नेयाइ भावेणं ॥ २६२६ ॥
तह साहणभावेण वि, देहाइपरंपराइबहुभेय ।
निव्वाणकारणं तं,नाणाइतियम्मि को नियमो ।२६३०।
अह पच्चासन्नतरं, हेऊ नेयरमिहोवगारिं पि ।
तो सव्वसंवरमयं, चारित्तं चेव मोक्खपहो ॥२६३१॥

अथ ब्रूषे—कारणस्य सर्वसंवरचारित्रस्योपकारिणी ज्ञानदर्शने, इति ते तस्य कारणम्, 'तेण' त्ति—तर्हि हन्त ! सर्वमपि भुवन यतेर्ज्ञानदर्शनचारित्राणां कारणं प्राप्नोति, ज्ञेयश्रद्धेयप्रवृत्तिनिवृत्तिभावेन सर्वस्यापि भुवनस्य तदुपकारित्वादिति । न केवलं ज्ञेयादिभावेनोपकारमात्रात्, तथा, साधनभावेनापि—साधकतमत्वेनापि देहमातापितृवस्त्रपात्राऽऽहारभेषजादिकं परम्परया बहुभेदं—बहुप्रकारं निर्वाणस्य मोक्षस्य—कारणं विद्यते । ततस्ते—तव ज्ञानादित्रिके को नियम ? 'ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्येवंभूत को निश्चय ?, अन्यस्यापि परम्परया देहादेर्बहुप्रकारस्य तत्कारणस्य विद्यमानत्वादिति । अथ बहुप्रकारकारणसंभवेऽपि यदेव प्रत्यासन्नतरं कारणं तदेव मोक्षस्य हेतुरिष्यते, न पुनरिंतरद् देहादिकमपि परंपरयोपकारकमपि तद्धेतुतयाऽभिधीयते ततो ज्ञानादित्रयमेव मोक्षहेतुरिति नियम । अत्रोच्यते—यदि हन्त ! प्रत्यासन्नतया यदुपकुरुते तदेव मोक्षकारणम्, न व्यवहितम्, ततस्तर्हि सर्वसंवरात्मकं चारित्रमेव मोक्षमार्गो नान्यदिति प्रतिपद्यस्व, तस्यैवातिप्रत्यासन्नत्वादिति ।

आह—ननु यद्येतदनन्तरोक्तं नैगमादिनयमतम्, तर्हि स्थित पक्ष क ? इत्याह—

इट्ठत्थसाहयाइं, सद्दहणाइगुणओ समेयाइं ।

सम्मकिरियाउरस्स व,इह पुण निव्वाणमिट्ठत्थो॥२६३२॥

इह नैगमादय एकैकशो व्यस्तान्यपि त्रीणि सामायिकानि मोक्षकारणत्वेनेच्छन्ति, ऋजुसूत्रादयस्तु चारित्रमेवैकं तद्धेतुत्वेन प्रतिपद्यन्ते, इति तावद् नयमत प्रतिपादितम् । स्थितपक्षे तु त्रीण्यपि ज्ञानादीनि सामायिकानि समुदितान्येवेष्टार्थसाधकानि, न त्वेकम्, व्यस्तानि वा, यथाऽऽतुरस्य वैद्यभेषजाऽऽतुरप्रतिचारकलक्षणसमुदितचतुरङ्गसम्यक्क्रिया । सम्यक्त्वेन हि सम्यक्त्व श्रद्धत्ते, ज्ञानेन तु जानाति, चारित्रेण तु सर्वसावद्याद् विरमतीति । अत 'सद्दहणाइगुणओ' त्ति-श्रद्धानादिगुणयुक्तत्वात् समुदितेभ्य एव ज्ञानादिभ्य इष्टार्थसिद्धिर्नान्यथा । अत्र प्रयोग - इष्टार्थस्य सामग्र्येव साधिका न त्वेकं किञ्चित्, तथैवोपलम्भात् यथाऽऽतुरस्य चतुरङ्गसम्यक्क्रियासामग्री तदिष्टार्थस्य साधिका । स चेष्टार्थ पुनरिह प्रस्तुतं निर्वाणं मोक्षो मन्तव्य इति । तदेवमुक्तमनुमतद्वारम् । तद्भणनेनैव समाप्ता 'उद्देसे निद्देसे य निग्गमे' इत्याद्युपोद्घातप्रथमद्वारगाथा ।

अथ 'किं कइविहं' इत्यादि द्वितीयद्वारगाथावयवभूतं प्रथम 'किम्' इत्येतद्द्वारं व्याख्येयम् । अतस्तत्प्रतिपादकनिर्युक्तिगाथाया प्रस्तावना कुर्वन्नाह—

किं सामइयं जीवो, अजीवो दव्वमहगुणो होजा ।

किं जीवाजीवमयं, होज्ज तदत्थंतरं व त्ति ? ॥ २६३३ ॥

किं सामायिक जीव, उताजीव ? । जीवाजीवत्वेऽपि किं द्रव्य, गुणो वा भवेत् । आहोस्विज्जीवाजीवमयमुभयम् । अथ जीवाऽजीवाभयेभ्योऽर्थान्तरं खरविषाणवन्ध्यापुत्रकल्प किमपि तद् भवेत् ? इति द्वादशगाथार्थ । विशे० । आ० म० ।

तथाह—सामायिकविषयनिरूपण प्रस्तुतं सामायिकाङ्गत्वात् यत् यत् सामायिकाङ्गं तत्तत्प्ररूपण प्रस्तुत यथा सामायिकस्वात्मप्ररूपणमित्यलं विस्तरेण । तत्र यदुक्तम्-'आत्मा खलु सामायिकमिति' तत्र यथाभूतोऽसौ सामायिकं तथाभूतमभिधित्सुराह—

सावज्जजोगविरतो, तिगुत्तो छसु संजतो ।

उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ ॥ १४६ ॥

अवद्यं मिथ्यात्वकषायनोकषायलक्षणं सहावद्य यस्य येन वा स सावद्य स चासौ योगश्च सावद्ययोगस्तस्माद्विरतो-निवृत्त सर्वसावद्ययोगविरतस्तथा त्रिभिर्मनोवाक्कायैर्गुप्तस्त्रिगुप्त । तथा षट्सु जीवनिकायेषु संयतः-प्रयत्नवान्, अथ अवश्यकर्त्तव्येषु योगेषु सततमुपयुक्तो यतमान यतनं तेषामासेवनम् । इत्थंभूत आत्मा सामायिकमिति । इय मूलटीकानुसारेण व्याख्या । आ० म० १ अ० ।

अनन्तरोक्ताशङ्काऽऽसम्भवे इत्याह—

आया खलु सामइयं, पच्चक्खायं तओ हवइ आया ।

तं खलु पच्चक्खाणं, आयाए सव्वदव्वाणं ॥२६३४॥

इह सामायिक क ? इत्याह—'आया खलु' त्ति-आत्मैव-जीव एव सामायिकम्, न त्वजीवादिरिति भाव 'पच्चक्खाय तओ हवइ आय' त्ति—स चात्मा सावद्ययोग प्रत्याचक्षाणस्तत्प्रत्याख्यान कुर्वन् प्रत्याख्यानक्रियाकाले सामायिक भवति, निश्चयनयमतेन 'क्रियमाण कृतम्' इति क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् । न केवल प्रत्याचक्षाणोऽसौ वर्त्तमानकाले सामायिकं भवति, किन्तूपलक्षणत्वात् कृतप्रत्याख्यानोऽपि सामायिकं भवतीति द्रष्टव्यम् । द्वितीयमात्मग्रहण किमर्थम् ? इति चेत् । उच्यते-स एव सावद्ययोगप्रत्याख्यानयुक्त परमार्थत आत्मा, श्रद्धानज्ञानसावद्यनिवृत्तिलक्षणस्वस्वभावावस्थितत्वात् । शेषसंसार पुनरात्मैव न भवति, प्रचुरघातिकर्मभिस्तस्य स्वाभाविकगुणतिरस्करणादिति ज्ञापनार्थं पुनरात्मग्रहणमिति । 'त खलु पच्चक्खाणं' त्ति—खलुशब्द सामायिकस्य जीवपरिणतित्वज्ञापनार्थ । ततोऽयमर्थ —तच्च प्रत्याख्यान जीवपरिणतिरूपत्वाद् विषयमधिकृत्य 'आवाए सव्वदव्वाणं' ति—सर्वेषामपि जीवादिद्रव्याणामापाते अभिमुख्येन समवाये 'निष्पद्यते' इति शेष । सर्वाणि जीवादिद्रव्याणि सामायिकप्रत्याख्यानस्य श्रद्धेयज्ञेयप्रवृत्तिनिवृत्तिभावेनोपयुज्यन्ते, अतस्तत्समवाये तद् निष्पद्यत इत्यभिधीयते । न च सामायिकप्ररूपणे प्रस्तुते तद्विषयनिरूपणमसबद्धमिति वक्तव्यम्, तदङ्गत्वात् तत्स्वरूपवत् इति निर्युक्तिगाथार्थ । विशे० । आ० म० । साम्प्रतमियमेव गाथा कथ कालिकसूत्रेऽपि प्रतिसूत्र पूर्वमवतारणीया इति सकौतुकविनेयजनानुग्रहाय पूर्वसूरिकृतव्याख्यानुसारेण नयैर्व्याख्यायते । सग्रहनय आह—आत्मा सामायिक सामायिकशब्दवाच्यो न तदतिरिक्त गुणान्तर, गुणाना द्रव्यात् पृथग्भूतानामसम्भवात्, अपृथग्भूताना द्रव्य एवान्तर्भावात्, एवं ब्रुवाणं सग्रह प्रति व्यवहारोऽवोचत्-न शक्यमेतत् प्रतिपत्तुमतिप्रसङ्गदोषात् । तथाहि-यद्यसौ सामायिक ततो यो य आत्मा स सामायिकमिति प्रसक्तं तत एव प्ररूपय-'जयमाणो आया सामाइय होइ' इति-यतमानः नाम

प्रयत्नपरस्तथाभूत आत्मा सामायिकं न शेष इति। एवं व्यवहारेणोक्ते सति ऋजुसूत्रनय उवाच-यदि नाम यतमान आत्मा सामायिकं तत एवं तामलिप्रभृतयोऽपि स्वच्छन्दसा यतमानाः सामायिकं प्रसक्तास्तेषामपि स्वसंयमानुगतयतनामात्रसम्भवात्, नचैतदिष्टं तेषां मिथ्यादृष्टित्वात्। तत एवं बुध्यस्व उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति। उपयुक्तो नाम ज्ञेयप्रत्याख्येयज्ञानप्रत्याख्यानपरिणाम, एवं सति तामलिप्रभृतीनां व्यवच्छेदस्तेषां सम्यग्ज्ञानसम्यक्प्रत्याख्यानासम्भवात्। एवम् ऋजुसूत्रेणोक्ते शब्दनयोऽभाणीत्-यद्युपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमेवं तर्ह्यविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताश्च सामायिकं प्राप्नुवन्ति। तेषामपि यथायोगं ज्ञेयज्ञानप्रत्याख्येयप्रत्याख्यानसम्भवात्। तत एवं मन्यस्व-'षट्सु संयत उपसंयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति'। षट्सु—पृथिवीकायिकादिषु सम्यक् सूत्रोक्तनीत्या यतः संघट्टनपरितापनादिभ्यो विरत संयत। एवं चारित्रसम्यग्दृष्टिदेशविरतव्यवच्छेदः, तेषां त्रिविधं त्रिविधेन षड्जीवनिकायपरितापनादिभ्यो विरत्यभावात्। एवमुक्ते समभिरूढ प्राह-यदि षट्सु जीवनिकायेषु संयत उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति। त्रिगुप्तो नाम-मनोवाक्कायगुप्त। किमुक्तं भवति-अकुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिनिरोधी कुशलमनोवाक्कायोदीरक 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' मिति न्यायात् पञ्चसु ईर्याभाषैषणादानभाण्डमात्रनिक्षेपणोच्चारप्रस्रवणादिपरिष्ठापनरूपासु समितिषु समित इत्यपि गृह्यते। तत प्रमत्तसंयतानां व्यवच्छेदः, तेषां निद्राविकथादिप्रमादोपेतानां यथोक्तरूपगुप्तसमित्यभावात्। एवं समभिरूढेणाभिहिते एवंभूतो वदति यदि नाम यथोक्तस्वरूप आत्मा सामायिकं ततोऽप्रमत्तसंयतादयोऽपि सामायिकं भवेयुस्तेषामपि यथोक्तविशेषणविशिष्टत्वभावात्, तत एवं प्रतिपद्यस्व-सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्त षट्सु संयत उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति। सावद्ययोगविरतो नाम अवद्यं कर्मबन्धः सहावद्यं यस्य येन वा स सावद्यः योगो व्यापारः सामर्थ्यं वीर्यमित्येकार्थं 'जोगो विरियं थामं, उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा। सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया॥१॥" इति वचनात् सावद्यश्चासौ योगश्च सावद्ययोगस्तस्मात् विरत —प्रतिनिवृत्त सावद्ययोगविरतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिज्ञातसमस्तसावद्ययोग। किमुक्तं भवति—निरुद्धसूक्ष्मबादरमनोवाक्कायव्यापारो विगतक्रियानिवृत्तिध्यानमधिरूढः शैलेशीं प्रतिपन्नो नामात्मा सामायिकमिति, एवं चाप्रमत्तसंयतादीनां व्यवच्छेदस्तथा मनोवाक्कायव्यापारवत्तया सावद्ययोगपरिकलितत्वात् "नत्थि हु सकिरियाणं अवधग किंचि इह अणुट्ठाणं" मिति वचनात्। नैगमस्य त्वनेकगमत्वात् समस्तैतद्विशेषणविशिष्टोऽन्यतरैकविशेषणविशिष्टो वा द्वित्रिचतुःपञ्चविशेषणविशिष्टो वा सामायिकमित्येतावन्मात्रमभ्युपगम्यत, तत सावद्यव्यापारबहुलानामपि सामायिकत्वप्रसङ्ग। ततो मा वादीरेव, किन्त्वेव वद-सावद्ययोगविरत आत्मा सामायिकमिति। एवं च सावद्यव्यापारनिपुणानां सामायिकत्वव्युदास। ऋजुसूत्र पुन संयममेव सामायिकम् मन्यते, न सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं वा, विरत्यभावे तयोर्निष्फलत्वात्, 'ज्ञानस्य फलं विरति' रिति वचनात्। विरतिभावे च तयोस्तत्रैवान्तर्भावात्। तत उक्तप्रकारेण वदन्तं व्यवहारं प्रति स प्राह-विरतिर्नाम परिज्ञानमात्रेऽपि तत्त्वा शक्यभावतो लोके व्यवह्रियते। तथाहि-केचित् प्रबलचारित्रावरणीयकर्मोदयसमेता कदाचित्तीर्थकरादिसमीपे धर्मश्रवणवेलायां नरकादिदुःखाकर्णनतस्तद्धेतून् विषयान्नरकादिकुगतिप्रपातहेतूनवबुध्य तेभ्यो विरज्यन्ते। हा धिग् यद्वयमेतेष्वेवंरूपेष्वपि प्रसक्ता इति लोकानामपि च तथारूपचेष्टादिदर्शनत एव प्रत्यय उपजायते यदेते विरक्ता इति। परं ते न तान् विषयान् त्यक्तुं शक्नुवन्ति प्रबलचारित्रावरणीयकर्मोदयात्। तत सावद्ययोगविरत आत्मा सामायिकमित्येतावन्मात्रोक्तौ तेषामपि सम्यक्त्वसामायिकवतां च व्यवहारत सावद्ययोगविरतानां सामायिकत्वं प्राप्नोति। तस्मादेवमभिधानीयं सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्त आत्मा सामायिकमिति। त्रिगुप्त इत्यस्य व्याख्यानं प्राग्वत्। त्रिगुप्त इत्युपलक्षणं, तेन पञ्चसमित इत्यपि द्रष्टव्यं शब्दनय पुनर्देशविरतिसामायिकमपि नेच्छति। तत एवमभिदधानमृजुसूत्रं प्रति स ब्रूते—यदि नाम सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्त सामायिकमित्युच्यते ततो देशविरता अपि सामायिकं प्राप्नुवन्ति तेषामपि सामायिकं कुर्वतां सावद्ययोगविरतत्वात्, यथायोगं पञ्चसमितित्रिगुप्तिभावाच्च। ततस्तेषां सामायिकत्वप्रतिषेधार्थमेवमभिधेया —सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयतः आत्मा सामायिकमिति। षट्सु संयतो नाम-त्रिविधं त्रिविधेन षट्सु जीवनिकायेषु संघट्टनपरितापनादिभ्यो विरतस्तत एव देशविरतानां सामायिकमपि कुर्वतां सामायिकत्वव्युदासस्त्रिविधं त्रिविधेन, विरत्यभावात् द्विविधं त्रिविधेनेति, सामायिकसूत्रोच्चारणात्, समभिरूढः पुनः प्रमत्तसंयतानामपि सूक्ष्मसंपरायपर्यन्तानां सामायिकत्वं नेच्छति। तत उक्तप्रकारेण ब्रुवन्तं शब्दनयं प्रति स प्राह- यदि नाम सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्त षट्सु संयत आत्मा सामायिकमिति, उपयुक्तो नाम—कषायोदयलेशेनाप्यकलङ्कितः सन् समभावे व्यापृतस्ते च उपशान्तमोहादय एव न प्रमत्तसंयतादयस्ततस्तेषां व्युदास। एवंभूत पुनः समुद्घातादिगतं सयोगिकेवलिनमयोगिकेवलिनं वा सामायिकमिच्छति, न शेषं यतः सामायिकस्य फलं मोक्षस्ततो यैव सम्यक्—समभावे व्यवस्थितस्य समस्तकर्मविमोक्षार्थमायोजिका करणसमुद्घातादिका व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यानप्रतिपत्तिरूपा वा क्रिया सैव सामायिकशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमतस्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विशेषणान्तरमाह—सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्त षट्सु संयतः उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति। एवं चोपशान्तमोहादीनां सामायिकत्वप्रतिक्षेपस्तेषां यथोक्तलक्षणक्रियारूपाया यतनाया असम्भवात्, नैगमस्त्वनेकगमत्वादेव प्राग्वत् सामायिकमिच्छन् भावनीय। आ० म० १ अ०। आ० चू०।

(७०) ननु कस्माज्जीव एव सामायिकं नाजीवादः' इत्याशङ्काया भाष्यकार प्राह—

सद्दहइ जाणइ जओ, पच्चक्खायं तओ जओ जीवो।

नाजीवो नाभावो, सो च्चिय सामाइयं तेण ॥ २६३५ ॥

यतो—यस्मात् सम्यक्त्वश्रुतसामायिकाभ्या श्रद्धत्ते जानाति च जीव एव नाजीवादि, प्रत्याचत्ताणश्च चारित्रीयतो जीव एव भवति नाजीवो नाप्यभाव., श्रद्धानज्ञानप्रत्याख्यानानां प्रेक्षावत्येव संभवात्, अजीवाऽभावयोश्च प्रेक्षाभावात् तेन तस्मात् स एव जीव सामायिक नाजीवादिरिति।

'तं खलु पच्चक्खाणं' इत्यादेर्व्याख्यानमाह—

सामाइयभावपरिणइ, भावाओ जीव एव सामइयं।
सद्धेयनेयकिरिओ–वओगओ सव्वदव्वाइं ॥ २६३६ ॥

'खलु शब्दः सामायिकस्य जीवपरिणतित्वज्ञापनार्थ.' इत्युक्तमेव। ततश्च सामायिकभावपरिणतिभावात् सामायिकपरिणामानन्यत्वाज्जीव एव सामायिकम्। तस्य च जीवपरिणतिरूपस्य सामायिकस्य को विषय. ? इत्याह--सर्वद्रव्याणि। कुत ?। 'सद्धेयनेयकिरिओवओगओ' त्ति-यथासंख्यं सम्यक्त्वश्रुतचारित्रसामायिकाना श्रद्धेयत्वेन ज्ञेयत्वेन, प्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियया च सर्वद्रव्याणामुपयोगात्, इति गाथाद्वयार्थ.।

(७१) तत्रैकस्मिन्नपि तावद् महाव्रतात्मके चारित्रसामायिके निर्युक्तिकृदेव साक्षात् सर्वद्रव्योपयोग दर्शयति—

पढमम्मि सव्वजीवा, बीए चरिमे य सव्वदव्वाइं।
सेसा महव्वया खलु, तदेगदेसेण दव्वाणं ॥ २६३७ ॥

प्रथमे प्राणातिपातनिवृत्तिरूपे व्रते विषयद्वारेण चिन्त्यमाने सर्वजीवास्त्रसस्थावरसूक्ष्मेतरभेदा विषयत्वेन द्रष्टव्याः, तदनुपालनरूपत्वात् तस्येति। तथा, द्वितीये मृषावादनिवृत्तिरूपे, चरमे च परिग्रहनिवृत्तिरूपे महाव्रते सर्वद्रव्याणि विषयत्वेन द्रष्टव्यानि। कथम् ?। 'नास्ति पञ्चास्तिकायात्मको लोक.' इति मृषावादस्य सर्वद्रव्यविषयत्वात्, तन्निवृत्तिरूपत्वाच्च द्वितीयव्रतस्य। तथा, मूर्च्छाद्वारेण परिग्रहस्यापि सर्वद्रव्यविषयत्वात्, चरमव्रतस्य च तन्निवृत्तिरूपत्वादशेषद्रव्यविषयतेति। 'सेसा' इत्यादि खलुशब्दोऽवधारणे. तस्य च व्यवहितसम्बन्ध। ततश्च शेषाणि महाव्रतानि द्रव्याणा तदेकदेशेनैव 'भवन्ति' इति क्रियाध्याहार। तेन द्रव्याणामेकदेशस्तदेकदेशस्तेनैव हेतुभूतेन विषयत्वेन भवन्ति न तु सर्वद्रव्यैरिति भाव। कथम् ? इति चेत्। उच्यते—तृतीयस्य ग्रहणीयधारणीयद्रव्यादत्तादानविरतिरूपत्वात्, चतुर्थस्य तु "रूवेसु वा रूवसहगेसु वा दव्वेसु" इत्यादिवचनाद् रूप-रूपसहगतद्रव्यसम्बन्धब्रह्मविरतिरूपत्वात्, षष्ठस्य च रात्रिभोजनविरमणरूपत्वादिति। एवममीषा सर्वद्रव्यैकदेशविषयता इति निर्युक्तिगाथार्थ।

कुत पुनरेवम् ? इत्याशङ्क्य भाष्यकारोऽप्याह—

जं सव्वजीवपालण–विसयं पाणाइवायवेरमणं।
मिच्छा मुच्छोवरमा, सव्वदव्वेसु विणिउत्ता ॥ २६३८ ॥
रूवेसु सहगएसुं, बंभवयं गहणधारणिज्जेसु।
तइयं छट्ठवयं पुण, भोयणविणिवित्तियासारं ॥ २६३९ ॥

एवं चारित्तमयं, सव्वद्दव्वविसयं तह सुयं पि।
देसे देसोवरई, सम्मत्तं सव्वभावेसु ॥ २६४० ॥

यद्--यस्मात् त्रसस्थावरसूक्ष्मस्थूलसर्वजीवपालनविषयं प्राणातिपातविरतिव्रतम्, तस्मात् प्रथमे व्रते सर्वजीवा विषयत्वेन सङ्गृहीता। मिथ्या, अनृतम्, मृषेति पर्याया.। मूर्च्छा, गृद्धि., परिग्रह इत्येकार्था.। उपरमणमुपरमो, नियम। अयं चोपरमशब्द. प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ततश्च मिथ्योपरमो मृषावादनियमो द्वितीयव्रतमित्यर्थ। मूर्च्छोपरम परिग्रहनियमश्चरमव्रतमित्यर्थ। एतौ मिथ्योपरम—मूर्च्छोपरमौ द्वितीय—चरमव्रतविशेषौ सर्वद्रव्येषु विनियुक्तौ सर्वद्रव्याणि प्रत्येकं तयोर्विषय इत्यर्थः कथम् ? इति चेत्। उच्यते-शून्यवादे सर्वद्रव्यापलापेन, अन्यथा प्ररूपणेन वा मृषावादस्य सर्वद्रव्यविषयत्वात्, द्वितीयव्रतस्य च तन्निवृत्तिरूपत्वात् सर्वद्रव्यविषयता। पञ्चमव्रतस्यापि 'त्रिभुवनाधिपतिरहम्' 'सर्वमपि मदीयम्' इत्येवंभूतमूर्च्छानिवृत्तिरूपत्वात् सर्वद्रव्यविषयतेति। रूपेषु-तिर्यग्मनुष्यदेवस्त्रीपण्डकादिलक्षणेषु मूर्तवस्तुषु, रूपसहगतेषु च स्तननयनजघनादिषु विषये तत्सेवानिवृत्तिरूपत्वेन ब्रह्मव्रतम्-चतुर्थव्रतं प्रवर्तते, न पुन सर्वद्रव्येषु। तृतीय त्वदत्तादानव्रत ग्रहणीय--धारणीयेषु मूर्तेषु ग्रहणधारणयोग्येषु हिरण्यद्रविणादिषु विषये तदपहारनिवृत्तिद्वारेण प्रवर्तते, न सर्वत्र। षष्ठमपि रात्रिभोजनविरमणव्रतं रात्रिभोजनविनिवृत्तिमात्रव्यापारपरतया न सर्वविषयम्। अतस्त्रयाणामप्येतषा सर्वद्रव्यैकदेशविषयतेति। एवमुक्तप्रकारेणेद चारित्रसामायिक सामान्येन सर्वद्रव्यविषय व्रतविभागविशेषविषयमवगन्तव्यम्। तथा, श्रुतसामायिकमपि "सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु श्रुतम्" इति वचनात् सर्वद्रव्यविषयमवसेयम्। देशोपरतिर्देशविरतिसामायिक तु तद्रूपत्वादेव देशे सर्वद्रव्यैकदेशविषयमेव मन्तव्यम्। सम्यक्त्वसामायिक तु यथावस्थितसमस्तवस्तुस्तोमश्रद्धानरूपत्वात् सर्वद्रव्यविषयमेव बोद्धव्यम्। अतस्त्रीण्यपि सामायिकानि प्रत्येकं समुदितानि च सर्वद्रव्यविषयाणीति सिद्धम्। तत्सिद्धौ च सिद्धमिदम्-'तं खलु पच्चक्खाणं आवाए सव्वदव्वाणं' इति।

अथ परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

किं तं ति पत्थुए किं, थविसयचिंताएँ भण्णइ तओ वि।
सामाइयंगभाव, जाइ जओ तेण तग्गहणं ॥ २६४१ ॥

किं तत् सामायिकम् ? इति ज्ञेयत्वेन प्रस्तुते किमत्र विषयचिन्तया ? इति प्रश्ने भण्यते-प्रतिविधीयते ततोऽपि विषय सामायिकस्याङ्गभावं हेतुभाव याति यस्मात्, तेन तस्य विषयस्य ग्रहणमिह प्ररूपणं कृतमिति न तस्याप्रस्तुतत्वमिति।

अथ वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथाया प्रस्तावनामाह—

दव्वं गुणो त्ति भइयं, सामाइयं सव्वनयमयाधारं।
तं दव्वपज्जवट्ठिय, नयमयमंगीकरऊणं ॥ २६४२ ॥

इह सामायिक सर्वनयमताधार सर्वनयविचारविषय इत्यर्थ, ततस्तन्मतेन भाज्यं भजनीयं द्रव्य गुणो वा भवति। ततस्तद्द्रव्यार्थिक-पर्यायास्तिकनयद्वयमतमङ्गीकृत्य विचार्यते इति गाथापञ्चकार्थ।

कथं विचार्येते ? इत्याह—

जीवो गुणपडिवन्नो, नयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं ।
सो चेव पज्जवट्ठिय-नयस्स जीवस्स एस गुणो ॥२६४३॥

जीव:-आत्मा गुणे प्रतिपन्न -आश्रित , द्रव्यमेवार्थो यस्य न तु पर्याया स द्रव्यार्थिकस्तस्य द्रव्यार्थिकस्य नयस्य मतेन सामायिकम् । (अन्यत्या व्याख्या ' गुण ' शब्दे तृतीयभागे १०६ पृष्ठे गता ।)

अत्र भाष्यम्—

उप्पाय विगम परिणा-मश्रो गुणा पत्तनीलयाइ व्व ।
संति न उ दव्वमिट्ठं,तव्विरहाओ खपुप्फं व ॥२६४६॥
ते जप्पभवा जं वा, तप्पभवं होज्ज होज्ज तो दव्वं ।
न य तं ते चेय जओ, परोप्परप्पच्चयप्पभवा ॥२६५०॥

गुणा एव सन्ति, उत्पादविगमपरिणामत -उत्पादव्ययपरिणामवत्त्वात् , पत्रनीलतादिवदिति । अनभिमतप्रतिपेधमाह-' न उ ' इत्यादि, सन्ति इति बहुवचनव्यत्ययादेकवचनान्तमिहापि सम्बध्यते, न तु ' द्रव्यमस्ति ' इत्यभीष्टं पर्यायार्थिकनयस्य, तद्विरहात्-उत्पादव्ययपरिणामाभावात्, खपुष्पवदिति । यदि हि यस्मात् प्रभवो येषा ते यत्प्रभवास्ते प्रसिद्धा नीलतादयो गुणा', ' जं वा तप्पभव ' ति—यद्वा-तत्प्रभवं तेभ्यो गुणेभ्य प्रभवो यस्य तत् तत्प्रभवं गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं किमपि वस्तु 'होज्ज' त्ति-भवेदित्यर्थ ' होज्ज तो दव्व' ति-ततस्तदेव वस्तु पारमार्थिकं द्रव्यं भवेदिति, 'न य तमि' त्यादि, न च तद्गुणाना कारणभूतं कार्यभूत वा गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं किमपि वस्त्वस्ति, यतस्त एव नीलरक्तादयो गुणा पूर्वापरीभावत सातत्येन प्रवृत्ता दृश्यन्ते, न पुनस्तदतिरिक्तं किमपि द्रव्यमीक्ष्यते । कथभूता गुणा ? इत्याह—' परोप्परे ' त्यादि परस्परम्—अन्योन्य प्रत्ययः—प्रत्ययभाव , प्रत्ययत्वमित्यर्थ , तस्मात् प्रभवो—जन्म येषां ते परस्परप्रत्ययप्रभवा' प्रतीत्य समुत्पादेनोत्पन्ना इत्यर्थ । तस्माद् न गुणेभ्योऽतिरिक्तं द्रव्यमस्तीति ।

अत्र कश्चिदाचार्यदेशीय' स्वात्मन्येव व्याख्यावेत्तृत्वमवगच्छन्नाह—

आहावक्खाणमियं, इच्छइ दव्वमिह पज्जवनओ वि ।
किं तच्चंतविभिन्ने, मन्नइ सो दव्वपज्जाए ॥ २६५१ ॥
उप्पायाइसहावा, पज्जाया जं च सासयं दव्वं ।
ते तप्पभवा न तयं, तप्पभवं तेण ते भिन्ना ॥२६५२॥
जीवस्स य सामइयं, पज्जाओ तेण तं तओ भिन्नं ।
इच्छइ पज्जायनओ, वक्खाणमिणं जहत्थं ति ॥२६५३॥

व्याख्यानिकाभास कश्चिदाह—ननु पर्यायार्थिकनयमनेन यदिद सर्वथा द्रव्याभावव्याख्यानं भवद्भि कृतम् , तदयुक्तमेव,यत इह पर्यायनयोऽपि द्रव्यमिच्छत्येव, किन्तु परस्परमत्यन्तभिन्नावेव द्रव्यपर्यायावसौ मन्यते न पुन कथञ्चित् , इत्येतावता सिद्धान्तादस्य भेद इति। कुत पुन परस्पर मन्यपर्याययोरत्यन्त भेद ? इत्यत्र युक्तिमाह-'उप्पाये' त्यादि, यस्मादुत्पादव्ययपरिणामस्वभावा पर्याया शाश्वतं-नित्य पुनर्द्रव्यम् , अपरं च-ते गुणास्तत्प्रभवा द्रव्याल्लब्धात्मलाभा , न पुनस्तद् द्रव्यं तत्प्रभव गुणेभ्यो लब्धात्मस्वरूपम् , तेन तस्मादुक्तन्यायेन परस्परं भिन्नस्वभावत्वाद् भिन्नास्ते द्रव्यपर्याया अन्योन्यव्यतिरेकाण इति । यस्माच्च जीवस्य शाश्वतस्य तद् व्यतिरिक्त सामायिकं पर्याया धर्मास्तेन तस्मात् सामायिक ततो जीवादत्यन्तं भिन्नमिच्छति पर्यायनय. । अतो मदीयं व्याख्यानमिदं यथार्थ घटमानकमिति।

अत्र सूरिरेतद् व्याख्यानमपाकुर्वन्नाह-

जइ पज्जायनओ च्चिय, सम्मन्नइ दोवि दव्वपज्जाए ।
दव्वट्ठिओ किमत्थं,जइ व मई दो वि जमभिन्ने ॥२६५४॥
इच्छइ सो तेणोभय-मुभयग्गाहे वि सयं पिहब्भूयं ।
मिच्छत्तमिहेगं ता-देगतन्नतगाहाओ ॥ २६५५ ॥

यदि भो. ! पर्यायनय एव द्रव्यपर्यायौ द्वावपि सम्मन्यतेऽभ्युपगच्छति तर्हि द्रव्यार्थिक किमर्थं 'द्रव्यपरिकल्पना त्वयेष्यते' इति शेष , पर्यायनयाभ्युपगमेनापि द्रव्यस्य सिद्धत्वादिति ?। यदि वा एवभूता मति स्यात् परस्या कथ भूता? इत्याह-द्वावपि द्रव्यपर्यायौ यद् यस्मादभिन्नौ परस्परमेकत्वमापन्नाविच्छति,स द्रव्यार्थिकनय इति सम्बन्ध', तेन तस्मादिदमुभय द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयमुभयग्रहेऽपि सति प्रत्येक द्रव्यपर्यायाभ्युपगमेऽपि सतीत्यर्थ । किम् ? इत्याह-'पिहब्भूयं' ति-पृथग्भूत भिन्न द्रव्यार्थिकात् पर्यायार्थिक , तस्माच्च द्रव्यार्थिको भेदवान् न पुनरनयोरेकतेति, एकस्य द्रव्यपर्याययोरत्यन्तमभेदाभ्युपगमात् , अन्यस्य त्वत्यन्त तयोर्भेदाभ्युपगमान्निति । नापि प्रत्येक द्रव्यपर्यायाभ्युपगमेऽप्यनयोः समग्ररूपता, किन्तु मिथ्यात्वम् , द्वयोरपि मिथ्यादृष्टिरूपता कस्मात् ? । उच्यते-इहैकान्तिकान्तैकत्वग्रहादन्यात्यग्रहाच्चेति । इदमत्र हृदयम्-द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्यायौ परस्परमभिन्नाविच्छति, द्रव्यादव्यतिरिक्तमेव पर्यायमिच्छति,अत एतस्य विशेषस्य आत्तय पर्यायार्थिकाद् द्रव्यार्थिको भिन्न परिकल्पित । पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यपर्यायौ परस्परभिन्नावेव मन्यते । अतोऽसौ द्रव्यार्थिकाद् भिन्न इष्यते । मिथ्यादृष्टी च प्रत्येकमेतौ द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्याययोरेकत्वग्रहात्, पर्यायार्थिकस्तु तयोरन्यत्वग्रहादिति ।

एवभूता यदि परस्य मतिस्तदा प्रतिविधीयते ।

कथम् ? इत्याह—

एगत्ते नणु दव्वं, गुणो त्ति पज्जायवयणमित्तमियं ।
तम्हा त दव्वं वा, गुणो व दव्वट्ठियग्गाहो ॥२६५६॥
जइ भिन्नोभयगाही, पज्जायनओ तदेगपक्खम्मि ।
अविरुद्धं चेव तयं, किमओ दव्वट्ठियनएण ? ॥२६५७॥

ननु द्रव्यपर्याययोरेकत्वे त्वदभिप्रायतो द्रव्यार्थिकेनेष्यमाणे ' द्रव्यं ' ' गुणा ' इति यदिदमेकार्थवाचकमिदं पर्यायवचनमात्रमेव स्यात् । त्वादिन्द्रपुरन्दरादिभणितवत् पर्यायवचनमात्रमेव स्यात् । तस्मात् तत् सामायिक द्रव्य वा गुणो वेति द्रव्यार्थिकनयग्राह्य स्यात् , न पुनस्तद् द्रव्यमेवेति तद्ग्राहा भवेत् , न चैवमिष्यत, द्रव्यार्थिकनयमतेन द्रव्यरूपमेव तस्य प्रसिद्धेरिति । तथा, यदि परस्परमत्यन्तभिन्नद्रव्यपर्यायोभयस्य ग्राहक पर्यायनयस्त्वयेष्यते, तदा इन्द्रएकस्मिन् द्रव्यपदे तत् सामायिकमविरुद्धमेव ' द्रव्य-पद '

इति शेष., 'द्रव्यं सामायिकम्' इति द्रव्यपक्षे पर्यायनयमतेनाप्यविरोधत. सिद्धमेवेत्यर्थ., अतः किं द्रव्यार्थिकनयेनोपन्यस्तेन ? इति।

तस्माद् यथाविहितमेव व्याख्यान श्रेय इति दर्शयन्नाह—

तम्हा किं सामइयं, हवेज्ज दव्वं गुणो त्ति चिंतेयं।
दव्वट्ठियस्स दव्वं, गुणो य तं पज्जवनयस्स ॥२६५८॥
इहरा जीवाणन्नं, दव्वनयस्सेयरस्स भिन्नं ति।
उभयनओभयगाहे, घडेज्ज नेक्केक्कगाहम्मि ॥२६५९॥

तस्मात् किं द्रव्यं गुणो वा सामायिकम् ? इतीयं चिन्ताऽत्र प्रस्तुता। अस्या तु चिन्तायामुच्यते- द्रव्यार्थिकनयस्याभिप्रायेण द्रव्यम्, पर्यायार्थिकनयस्य मतेन गुणश्च तत् सामायिकमिति। इतरथाऽन्यथा पुनर्द्रव्यार्थिकस्य जीवादनन्यत् सामायिकम्, इतरस्य तु पर्यायार्थिकस्य जीवाद् भिन्नं तत्, इत्यवमेकैकस्य नयस्य ग्रहेऽभ्युपगमे सति- "जइ पज्जायनउ च्चिय" इत्यादिपूर्वोक्तयुक्तिभ्यो न 'घटते' इति शेष। कथं पुनस्तर्हि घतेत् ? इत्याह-'उभयनओभयगाहे घडेज्ज' त्ति—उभयनयस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणस्य नयद्वयस्य मिलितस्य द्रव्यगुणरूपसामायिकलक्षणस्योभयस्य ग्रहे सर्व घटेत। इदमुक्तं भवति—यदि द्रव्यनयो द्रव्यरूप, पर्यायनयस्तु पर्यायरूप सामायिकमिच्छति, तदित्थमुभयोरपि नययो समुदितयोर्यथोक्तोभयग्रहे सर्वं सुस्थं भवति, न पुनरेकैकस्य नयस्योभयग्रहे सतीति।

अथ यदुक्तम्—'सो चेव पज्जवट्ठियनयस्स जीवस्स एस गुणो' इति, एतदवष्टम्भेन पुनरपि पर प्राह—

नणु भणियं पज्जाय-ट्ठियस्स जीवस्स एस हि गुणो त्ति।
छट्ठीए तओ दव्वं, सो तं च गुणो तओ भिन्नो ॥२६६०॥

ननु 'सो चेव पज्जव'—इत्यादौ निर्युक्तिगाथोत्तरार्धे भणितं—प्रतिपादितं निर्युक्तिकृता-पर्यायार्थिकनयमतेन जीवस्यैव सामायिकलक्षणो गुण इति। हि -यस्मादेवमुक्तम्, ततस्तस्माज्जीवस्यैव गुण इति षष्ठया षष्ठीनिर्देशादवसीयते 'दव्व सो' त्ति—स जीवो द्रव्यम् तच्च सामायिकम्, 'गुणो तओ भिन्नो' त्ति—स च सामायिकगुणस्ततो जीवद्रव्याद् भिन्न, षष्ठीनिर्देशान्यथानुपपत्ते, तस्मात् पर्यायनयमतेन भिन्नद्रव्यपर्यायोभयसद्भावाद् मदीयमेव व्याख्यानं श्रेय इति परस्याकूतमिति।

अत्रोत्तरमाह—

उप्पायभंगुराणं, पइक्खणं जो गुणाण संताणो।
दव्वोवयारमेत्तं, जइ कीरइ तम्मि तन्नाम ॥२६६१॥
तब्भेयकप्पणाओ, तं तस्स गुणो ति होउ सामइयं।
पत्तस्स नीलया जह, तस्संताणो दियत्थमिया ॥२६६२॥

अत्र पर पृच्छाम —ननु पर्यायार्थिकनयमतेन द्रव्य पारमार्थिक त्वयेष्यते, कल्पनाशिल्पिनिर्मितं वा ? । यद्याद्य पक्ष., स न युक्त, 'जइ पज्जाय नउ च्चिय,' इत्यादिना प्रतिविहितत्वात्। अथ द्वितीयपक्ष, तत्रोच्यत-गुणानां य सन्तानो गुणाना या समागसन्ततावनवरतप्रवृत्ति। किं विशिष्टानाम् ?। प्रतिक्षणमुत्पादभङ्गुराणाम्। तस्मिन् यदि सामानबुद्ध्यभिधानहेतुत्वेन निबन्धनेन द्रव्योपचारमात्र क्रियते षष्ठीवादिना भवता. तदा 'तन्नाम' त्ति—'नाम' इत्यभ्युपगमे, मन्यामहे तदित्यर्थ। न हि कल्पितसद्भावापादनेऽस्माक किञ्चित् त्रूयत इति। ततश्च 'तब्भेयकप्पणाउ' त्ति—तेन कल्पितद्रव्येण सह भेदस्तद्भेदस्तस्य कल्पनं तद्भेदकल्पनं तस्मात् सकाशात् तत् सामायिक तस्य कल्पितजीवद्रव्यस्य गुणो भवतु, को निवारयिता ?। कस्य यथा को गुण ? इत्याह—'पत्तस्से' त्यादि यथा गुणसमुदयव्यतिरिक्तस्य कल्पितस्य पत्रद्रव्यस्य नीलतादिर्गुण। कथभूता नीलता ? इत्याह—'तस्संताणे' त्यादि तस्मिन्नेव पुत्रसन्तान उदिता समुत्पन्ना, अस्तमिता च विनष्टेति। इदमुक्तं भवति—यथा कल्पितस्य पत्रादेर्द्रव्यस्य नीलतादयो गुणा भिन्ना व्यपदिश्यन्ते तथा यद्यत्रापि परिकल्पितस्य जीवद्रव्यस्य सामायिकं गुण उच्यते तदा सिद्धसाध्यतैवेति। न च वक्तव्यम्-वास्तव एव सम्बन्धिवस्तुद्वये षष्ठी दृश्यते, यथा 'देवदत्तस्य गाव' इत्यादि, एवमत्रापि वास्तवयोरेव द्रव्यगुणयो सम्बन्धे षष्ठी युज्यते न तु द्रव्यस्य कल्पनयेति, 'राहो शिर.' 'शिलापुत्रकस्य शरीरम' इत्यादिभिर्व्यभिचारादिति।

आह—ननु गुणसन्तानयोरभेद एव तद्भेदनिबन्धनधर्मभेदाभावात् घटते तत्स्वरूपवत्, तत् कथं कल्पितस्यापि गुणव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्य सद्भावः ?। तदयुक्तम्, 'धर्मभेदाभावात्' इत्येतस्य हेतोरसिद्धत्वात्। कथम् ? इत्याह—

उप्पायभंगुरा जं, गुणा य न य सो त्ति ते य तप्पभवा।
न य सो तप्पभवो त्ति य, जुज्जइ तं तदुवयाराओ ॥२६६३॥

यद्—यस्मादुत्पादभङ्गुरा गुणा उत्पद्यन्ते व्ययन्ते चेत्यर्थ.। 'नय सो' त्ति—न पुनरसौ सन्तान उत्पादभङ्गुर, तस्य प्रवाहनित्यतया स्थितत्वात्, इत्येको गुणसन्तानयोर्धर्मभेद। तथा-'ते य तप्पभवे' त्यादि ते सामायिकादयो नीलतादयो वा गुणास्तत्रैव सन्ताने समुत्पन्नत्वात् तत्प्रभवास्तस्मात् सन्तानाल्लब्धात्मजन्मान., न पुनरसौ सन्तानस्तत्प्रभवो गुणेभ्यो लब्धात्मलाभ, तस्य गुणसादृश्यनिबन्धनत्वात्। तदेव कारणमेव संन्तानो न कार्यम्, कार्यमेव च गुणा न कारणम्, इत्येवमपि गुणसन्तानयोर्धर्मभेदे युज्यते-घटते तत्—जीवादिद्रव्यम्। कुत ?। तत्र गुणसन्ताने समानबुद्ध्यभिधाननिबन्धनत्वेनोपचार-कल्पना तदुपचारस्तस्मादिति। तदेवं पर्यायार्थिकनयमतं समर्थ्य पूर्वं 'तम्हा किं सामइय हवेज्ज' इत्यादेनोपसंहार कृत.।

अथ प्रकारान्तरेण तं कुर्वन्नाह—

अहवोदासीणमयं, दव्वनयं पइ न जीवओ भिन्नं।
भिन्नमियरं पइ जओ, नत्थि तदत्थंतरं जीवो ॥२६६४॥

इदमत्र हृदयम्—तस्मात् 'किं सामायिकं द्रव्यं गुणो वा भवेत् ?' इत्यस्या चिन्तायामुक्तम्-'दव्वट्ठियस्स दव्वं गुणो य तं पज्जवनयस्स' इति। अथवा नास्या द्रव्यगुणचिन्तायामिदमुक्तम्, किन्तु 'किं सामायिकम् ?' इति द्वारे प्रस्तुते उदासीनमतमिदम्-द्रव्यपर्यायास्तिकयोरेकतरमतेऽभिनिविष्टवत उदासीनवृत्तिनाऽऽचार्येण शिष्यान् प्रत्यभिहितं युक्तिभिश्च समर्थितमिदमित्यर्थ। किम् ? इत्याह-'दव्व-

नय' मित्यादि। द्रव्यनय प्रति द्रव्यनयाभिप्रायेणेत्यर्थ ,जीवात् सामायिकं न भिन्नम् , किन्तु जीव एव सामायिकम् , तदभिप्रायेण वक्ष्यमाणयुक्त्या जीवादेर्द्रव्यस्यैव सत्त्वात् , गुणानां तु तद्व्यतिरेकिणा परमार्थतोऽसत्त्वादिति । इतर तु पर्यायार्थिकनय प्रति पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण भिन्न जीवद्रव्यात् सामायिकम् ; यतो यस्मात् पूर्वोक्तयुक्तिभिर्नास्ति तेभ्यः—सामायिकादिगुणेभ्योऽर्थान्तर भिन्नो जीव., तन्मतेन जीवादेर्द्रव्यस्य कल्पनामात्रेणैव सत्त्वादिति । तत्र " पज्जायनयमिण " इत्यादिना ग्रन्थेन विस्तरत पर्यायार्थिकनयमतमुपदर्शितम् ।

(७२) अथ द्वितीयस्य द्रव्यार्थिकनयस्याभिप्राय सविस्तर दिदर्शयिषुराह—

वीयस्स दव्वमेत्तं, नत्थि तदत्थंतरं गुणो नाम ।
सामन्ना वत्थाणा—भावाओ खरविसाणं व ॥ २६६५ ॥
आविब्भावतिरोभा—वमेत्तपरिणामिदव्वमेवेयं ।
निच्चं बहुरूवं पि य, नडो व्व वेसंतरावन्नो ॥२६३६॥

प्रथमनिर्दिष्टपर्यायार्थिकनयापेक्षया द्वितीयस्य द्रव्यार्थिकनयस्य सर्व सुवर्णरजतादिक द्रव्यमात्रमेवास्ति , गुणस्तु रक्तत्वश्वेतत्वादिकस्तदर्थान्तरभूतो नास्ति, तस्य सामान्यरूपतयाऽवस्थानाभावात खरविषाणवदिति। एतदेवाह-आविर्भावश्च कुण्डलादिरूपेण, तिरोभावश्च मुद्रिकादिभावेन , आविर्भावतिरोभावौ , तावेव तन्मात्रम् , तेन परिणन्तुं—परिवर्तितुं शील यस्य तदाविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामि सुवर्णादिक द्रव्यमेवेदमस्ति, न तु तदतिरिक्ता गुणा. । कथंभूत द्रव्यम् ? । नित्यमविचलितस्वभावम् , बहुरूप च कङ्कणाऽङ्गदकुण्डलमुद्रिकादिबहुपरिणामम् , रामरावणभीमाऽर्जुनादिसम्बन्धीनि वेषान्तराण्यापन्नः प्राप्तो नट इवेति । यथाहि—बहून् वेषान् कुर्वन्नपि नटो निज देवदत्तादिस्वभाव न जहाति, सर्वास्ववस्थास्वपि तस्यैकस्वरूपत्वात् , एव सुवर्णादिक द्रव्यमपि कङ्कणादि—बहुरूपाण्यापन्नमपि सुवर्णादिरूपता न परित्यजतीति न तद्व्यतिरेकिणः कचनापि गुणा. । इत्यष्टादशगाथार्थ ।

अस्यैव द्रव्यार्थिकनयमतस्य समर्थनार्थ निर्युक्तिकारोऽप्याह-

जं जं जे जे भावे, परिणमइ पओगवीससा दव्वं ।
तं तह जाणाइ जिणो,अपज्जवे जाणणा नत्थि॥२६६७॥

प्रयोगश्चेतनावतो व्यापार , विस्रसा-स्वभावस्ताभ्यां निष्पन्न द्रव्यं प्रयोगविस्रसाद्रव्यमुच्यते । तत्र प्रयोगनिष्पन्न घटपटादि, विस्रसानिष्पन्न त्वभ्रेन्द्रधनुरादि । तत्र प्रयोगविस्रसाद्रव्य कर्तृ यान् यान् कृष्णरक्तपीतशुक्लत्वादीन् भावान् पर्यायान् परिणमति प्रतिपद्यते, ' त तह ' त्ति-वीप्साप्रधानत्वाद् निर्देशस्य तत् तत् तथा तेन तेन रूपेण परिणमद् द्रव्यमेव जानाति. जिन -केवली, न पुनस्तदतिरिक्तान् पर्यायानिति भाव', तेषामुत्प्रेक्षामात्रेणैव सत्त्वात् । न ह्युत्फण—विफण—कुण्डलितादवस्थायामपि सर्पादिद्रव्यस्य स्वस्वरूपव्यतिरिक्त कोऽपि पर्याय. सलक्ष्यते , सर्वावस्थास्वविचलितस्वरूपस्य सर्पादिद्रव्यस्यैव संलक्षणादिति । यदि पर्याया न विद्यन्ते, तर्हि कथमुच्यते ' जे जे भावे परिमणइ ' ? इत्याशङ्क्याह—' अपज्जवे जाणणा नत्थि ' त्ति—अपर्याये पर्यायरहिते वस्तुनि केवल्यादीनां परिज्ञा नास्तीति मन्यामहे , केवलमुत्प्रेक्षामात्रेणैव ते पर्याया., न पुनर्द्रव्यव्यतिरेकिणः. कचनापि वास्तवास्ते विद्यन्ते। अतो द्रव्यमेव परमार्थसत् , इति निर्युक्तिगाथार्थ. ।

अथ भाष्येणैनां व्याचष्टे—

जं जाहे जं भावं, परिणमइ तयं तया तओऽणन्नं।
परिणइ मेत्तविसिट्ठं, दव्वं चिय जाणइ जिणिंदो॥२६६८

इह यद् घटेन्द्रधनुरादिद्रव्यं यदा यस्मिन् काले य रक्तश्वेतादिभाव पर्याय परिणमति प्राप्नोति तत् तदा ततः पर्यायादनन्यदभिन्नं सद्द्रव्यमेव परिणतिमात्रविशिष्टमविचलितस्वरूप जानाति जिनेन्द्र. केवलीति ।

ननु यदि पर्याया वस्तु सन्तो न भवन्ति तर्हि कथमविशिष्टेऽपि सुवर्णादिद्रव्ये कुण्डलाऽङ्गुलीयकनूपुरादयो व्यपदेशा. प्रवर्तन्ते ? । नन्वेते निर्विबन्धना एव भ्रान्ति प्रसक्तादित्याशङ्क्याह—

न सुवण्णादन्नं कुं-डलाइ तं चेय तं तमागारं।
पत्तं तव्वयएसं, लभइ मरूवादभिन्नं ति॥ २६६९ ॥

न सुवर्णादन्यो व्यतिरिक्त कुण्डलादिरर्थोऽस्ति , यत सुवर्णादिद्रव्यव्यतिरेकिण कुण्डलादिपर्याया भवेयु , किन्तु तदेव सुवर्णादि द्रव्य तं तं कुण्डलकङ्कणाद्याकार प्राप्त सत् तस्य तस्य कुण्डलाद्याकारस्य व्यपदेश लभते। कथभूतम् ? । पूर्वावस्थास्वरूपादुत्तरावस्थायामभिन्नमप्यविचलितस्वभावमर्पयति। ततश्च नैते सुवर्णादिद्रव्ये कुण्डलकङ्कणादयो व्यपदेशा निर्निबन्धना , तत्तद्विशिष्टाकारनिबन्धनत्वात्। न च तदाकारस्य द्रव्याद् भिन्नत्वम्, द्रव्यस्य निराकारत्वमसङ्गात्। तस्मादनन्यत्व गुणानामिति।

अथान्यत्वमिष्यते , तत्राह—

जइ वा दव्वादन्ने, गुणादओ नूण सप्पएमत्तं।
होज्ज व रूवाईणं, विभिन्नदेसोवलंभो वि॥ २६७० ॥

यदि पुनर्द्रव्याद् रूपादयो,गुणा , आदिशब्दाद् नवपुराणादय पर्याया अन्ये व्यतिरेकिण इष्यन्ते, तदा नून निश्चित गुणादीना सप्रदेशत्वमेष्टव्य भवता। इदमुक्त भवति-द्रव्यप्रदेशा गुणादय इति रूढम् , यदा च ते द्रव्याद् भिन्ना इष्यन्ते, तदाऽनन्यशरणा सन्त स्वस्यात्मन एव प्रदेशा अन्यथा भवेयु.। न चैतद् दृष्टम् , इष्ट वा, गुणादीना सदैव पारतन्त्र्येण परप्रदेशत्वस्यैव रूढत्वात्। न हि वस्तु स्वात्मन एव स्वयमवयवा भवतीति क्वापि दृश्यते , युज्यते वेति। किञ्च—गुणादीनां द्रव्याद् भिन्नत्व इष्यमाणे रूपरसगन्धादीना घटादिद्रव्याद् भिन्नेऽपि देश उपलब्धि स्यात्। तथाहि—यद् यतो भिन्न तत् ततो भिन्नदेश उपलभ्यते, यथा घटात् पट , न चैव रूपादय , तस्मात् न घटादिद्रव्याद्भिन्ना एवेति द्रव्यमेवास्ति न पर्याय इति ।

अथोपचारतस्तेऽपीष्यन्ते, तर्हि सिद्धसाध्यतेति दर्शयन्नाह-

जइ पज्जओवयारो, लयप्पयासपरिणामभेत्तस्स ।

कीरइ तन्नाम न सो, दव्वादत्थंतरब्भूओ ॥ २६७१ ॥

लयः, लीनता , तिरोभाव इत्यनर्थान्तरम् । प्रकाशः, प्रकटत्वम , आविर्भाव इत्यप्यभिन्नार्थम् । लयश्च प्रकाशश्च लयप्रकाशौ पर्यायाणामाविर्भावतिरोभावौ लयप्रकाशाभ्यां लयप्रकाशरूपतया परिणमनं—परिणामो लयप्रकाशपरिणाम. स एव तन्मात्रं तस्य यदि तत्तद्विशेषवु द्ध्यभिधाननिबन्धनत्वेन पर्यायोपचार क्रियते, तदा तन्नामेति नामशब्दोऽभ्युपगमे , मन्यामहे तदित्यर्थः , केवल नासौ पर्यायो वास्तव कोऽपि द्रव्यादर्थान्तरभूतो विद्यत इत्येतदेव भुजमुत्क्षिप्य ब्रूम इति ।

यदि न वास्तव पर्याय किन्तु कल्पित , तर्हि खरविषाणस्याप्यसौ कथ न भवन्ति कल्पनामात्रस्य तत्रापि सुकरत्वात्? इत्याह—

दव्वपरिणाममेत्तं, पज्जाओ सो य न खरसिंगस्स । ।
तदपज्जवं न नज्जइ, जं नाणं नेयविसयं ति ॥ २६७२ ॥

विशिष्टो द्रव्यपरिणाम एव द्रव्यपरिणाममात्र पर्यायो नान्य. स च न द्रव्याद् भिन्न., तथाऽनुपलम्भात् । नाप्यसौ खरशृङ्गस्य पर्यायस्य द्रव्यपरिणामत्वात्, खरशृङ्गस्य च द्रव्यत्वाभावात् । अत एव तत् खरशृङ्गमद्रव्यत्वादपर्यायं सद् न ज्ञायते केवलिना , यतो ज्ञान ज्ञेयविषयं ज्ञेयग्राहित्वेन प्रवर्तते । तच्चेह ज्ञेयविषयं नास्ति, खरविषाणस्याभावरूपत्वात् । अत एव निर्युक्तिकृता प्रोक्तम्—'अपज्जवे जाणणा नत्थि ' इति गाथापश्चार्धे । तदेवमवसितं सप्रसङ्ग ' किं सामायिकम् ? ' इति द्वारम् । विशे० । आ० म० । आ० चू० । (निर्गमद्वारम् , ' णिग्गम ' शब्दे चतुर्थभागे २०५१ पृष्ठे उक्तम् ।) निर्गमद्वारशेषः तदेवं षोढा निर्गमोऽभिहितस्तत्र जिनगणधरलक्षणद्रव्यनिर्गमभणनेनैवावसितो द्रव्यनिर्गमः ।

इदानीं क्षेत्रनिर्गम प्रस्तुतमप्यतिक्रम्य अन्तरङ्गत्वात्कालनिर्गममभिधित्सुर्भाष्यकारः प्रस्तावनामाह— ,

जिणगणहरणिग्गमणं, भणियमओ खेत्तनिग्गमावसरो ।
कालंतरंगदरिसण—हेओ तु विवज्जओ तह वि ॥२०२६॥

तदित्थ जिनगणधरलक्षणद्रव्यस्य निर्गमन भणितमत ऊर्ध्वं 'नाम ठवणा दविए , खित्ते काले तहेव भावे य ' इति निर्देशक्रमप्रामाण्यात्क्षेत्रनिर्गमस्यावसरः परं तथापि विपर्ययः कालनिर्गमनं तावदभिधाय ततः क्षेत्रनिर्गमो भणिष्यत इत्यर्थः । किमर्थम्—इत्याह—कालस्यान्तरङ्गत्वदर्शनहेतो। अयमभिप्रायः—काल एव द्रव्यस्यान्तरङ्गः क्षेत्रं तु बहिरङ्गम् , अतो द्रव्यनिर्गमानन्तरमन्तरङ्गत्वात्कालनिर्गममभिधाय- पश्चात्क्षेत्रनिर्गममभिधास्यति 'नामं ठवणा दविए ' इत्यादिगाथाया तु निर्युक्तिकृता क्षेत्रस्याल्पवक्तव्यत्वादन्यथोपन्यासः कृत इति । विशे० (निर्देशः ' णिद्देस ' शब्द चतुर्थभागे २०७३ पृष्ठे उक्तः ।) (पुरुषद्वारम् पुरुषभेदा , केन पुरुषेण प्रज्ञापितं सामायिकमिति च ' पुरिस ' शब्द पञ्चमभागे१०११ पृष्ठे उक्तम् ।)(प्रत्ययद्वारम् , प्रत्ययनिक्षेपः'पच्चय' शब्दे पञ्चमभागे १२३ पृष्ठे उक्त ।) सामायिकस्य प्रत्यय ' सव्वे तित्थयरा वि य णं सामाइयं करेमाणा एव , भणति-"करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोग पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं जाव वोसिरामि " " भदंत" इति न भणन्ति, तथाकल्पत्वात् । आ० म० १ अ०।(लक्षणद्वार लक्षणभेदाश्च 'लक्खण' शब्दे षष्ठे भागे उक्ताः)

(७३) अथ सामायिकस्य वैशेषिकलक्षणप्रतिपादनार्थमाह— 'अथवापी'त्यादि, अथवाऽपि भावस्य—सामायिकस्य लक्षणमनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः चतुर्विध श्रद्धानादि एतदेव प्रदर्शयिषुराह—

सद्दहणजाणणा खलु, विरई मीसा य लक्खणं कहए ।
ते वि निसामेंति तहा, चउलक्खणसंजुयं चेवं॥ ७५३ ॥

इह सामायिकं चतुर्विधं भवति तद्यथा—सम्यक्त्वसामायिकम्,श्रुतसामायिकम्,चारित्रसामायिकम्,चारित्राचारित्रसामायिकं च । अस्य यथायोगलक्षणं 'सद्दहण' त्ति-श्रद्धाए लक्षणमिति योगे सम्यक्त्वसामायिकस्य'जाणण' त्ति ज्ञान-ज्ञाः संवित्तिरित्यर्थः , सा च लक्षण श्रुतसामायिकस्य । खलुशब्दो निश्चयत परस्परसापेक्षत्वाविशेषणार्थः । तथा 'विरई' इति विरमणं विरतिः सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिः, सा च चारित्रसामायिकस्य लक्षण ' मीसा य'त्ति-मिश्रा-विरत्यविरतिः, सा च चारित्रसामायिकस्य लक्षणम् , कथयतीत्यनेन समनीषिकापोहमाह भगवान् जिन एव कथयति,तस्य च कथयतस्तेऽपि गणधरादयो निशामयन्ति शृण्वन्ति। तथा तेनैव प्रकारेण चतुर्लक्षणसयुक्तमेव । उक्त लक्षणद्वारम् । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

स्पर्शनाद्वारमाह—

सम्मत्तचरणसहिया, सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं ।
सत्त य चोद्दस भागा, पंच य सुयदेसविरईए ॥२७८२॥

सम्यक्त्वचरणसहिताः—सम्यक्त्वचरणयुक्ताः प्राणिन उत्कृष्टतः सर्वं लोकं स्पृशन्ति । किं बहिर्व्याप्त्या ? नेत्याह— निरवशेष-प्रतिप्रदेशव्याप्त्याऽसख्येयप्रदेशात्मकमपीत्यर्थः । एते च केवलिसमुद्धातावस्थाया केवलिनो द्रष्टव्या । ' जघन्यतस्त्वसंख्येयभागं स्पृशन्ति' इति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । ' सत्त य चोद्दसभागा पंच य सुयदेसविरईए ' त्ति- श्रुतदेशविरत्योरिति यथासङ्ख्येन सम्बध्यते, तद्यथा— श्रुते श्रुतस्य सप्तचतुर्दशभागाः स्पर्शनीयाः , चशब्दात्- पञ्च च देशविरतौ देशविरतस्य पञ्च चतुर्दशभागाः स्पर्शनीयाः, चशब्दाद्-द्व्यादयश्चेति । इयमत्र भावना—कश्चित् तपोधन श्रुतज्ञानी अनुत्तरसुरेष्विलिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य सप्तचतुर्दशभागान् स्पृशति , एकारज्जुर्लोकस्य चतुर्दशभाग उच्यते । ततश्च सप्त रज्जू स्पृशतीत्युक्तं भवति । एवमुत्तरत्रापि भावार्थो विज्ञेयः । चशब्दात् कोऽपि सम्यग्दृष्टिः श्रुतज्ञानी पूर्वं नरके बद्धायुष्कः पश्चाद् विराधिता—त्यक्तसम्यक्त्वः षष्ठपृथिव्यामिलिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य पञ्च चतुर्दशभागान् स्पृशति । देशविरतस्त्वच्युतसुरेष्विलिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य पञ्च चतुर्दशभागान् स्पृशति , चशब्दात्—शेषसुरालयेष्विलिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य द्व्यादींश्चतुर्दशभागान् स्पृशति । आह—नन्वन्यत्र ' छलच्चुए ' इति पठ्यते तत् कथमिहोच्यते समुत्पद्यमानः

पञ्चैव रज्जू स्पृशतीति निगद्यते ? । सत्यम् किन्त्वच्युतग्रैवेयकापान्तरालमपेद्यान्यत्र पञ्च रज्जवः पठ्यन्ते, इह त्वच्युतदेवलोकमपेक्ष्य पञ्चेति वृद्धसम्प्रदायः । अधस्तु घण्टालालान्यायेनापि त परिणाममपरित्यज्य देशविरता न गच्छन्ति अत ऊर्ध्वलोक एव तत्स्पर्शना दर्शिता नाधस्तादिति । तदेवं क्षेत्रमधिकृत्य स्पर्शना प्रोक्ता ।

अथ भावमधिकृत्य तामुपदर्शयन्नाह—

सव्वजीवेहिँ सुयं, सम्मचरित्ताइँ सव्वसिद्धेहिँ ।

भागेहिँ असंखिज्जे-हि फासिया देसविरई उ॥२७९९॥

इह जीवा द्विविधा संसारस्था, सिद्धाश्च । संसारस्था अपि द्विविधा —संव्यवहारराशिगताः, असंव्यवहारराशिगताश्च । तत्र संव्यवहारराशिगतैः सर्वैरपि जीवैः सामान्येनाक्षरात्मकं श्रुतं स्पृष्टम्, द्वीन्द्रियादिभावस्य सर्वैरपि तैः स्पृष्टत्वात्, तत्र च सामान्यश्रुतसद्भावात् । संव्यवहारराशिगतविशेषणं चेह पूर्वटीकाकारैः कृतम्, इति नास्माकं स्वमनीषिका सम्भावनीयेति । सम्यक्त्वचारित्रे तु सर्वैरपि सिद्धैः पूर्वं स्पृष्टे, तत्स्पर्शनामन्तरेण सिद्धत्वायोगात् । देशविरतिस्तु सर्वसिद्धाना बुद्धिपरिकल्पितैरसङ्ख्यातैर्भागैः पूर्वं स्पृष्टा, एकेन तु तदसङ्ख्येयभागेनासौ प्राग् न स्पृष्टा, यथा मरुदेवीस्वामिन्या । इह च सम्यक्त्वादयो जीवपर्यायत्वाद्, भावा, ततस्तेषां स्पर्शनाभाव स्पर्शनोच्यते, इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ।

(७४) सामायिकपदव्याख्या-तत्रेदं सूत्रम्—

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । आव० १ अ० ।

अथ सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिर्वक्तव्या, तत पूर्वोक्तिमुपसंहरन्नुत्तरवक्तव्यसम्बन्धनार्थं भाष्यकार प्राह-

इइ एस उवग्घाओ-ऽभिहिओ सामाइयस्स तस्सेव ।

अहुणा सुत्तप्फासिय-निज्जुत्ती सुत्तवक्खाणं ॥२८००॥

इति पूर्वोक्तक्रमेणैष उपोद्घातोऽभिहित सामायिकस्य अथ तस्यैवाधुना सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिरुच्यते—सूत्रव्याख्यानमभिधीयत इत्यर्थः ।

ननु सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या सूत्रं स्पृश्यते । तच्च क्व सति भवति ? इत्याह—

सुत्तं सुत्ताणुगमो, तं च नमोकारपुव्वयं जेण ।

सो सव्वसुयक्खंध-ब्भंतरभूउ त्ति निद्दिट्ठो ॥२८०१॥

'करेमि भंते ! सामाइयं' इत्यादिसूत्रम्, सूत्रानुगम एतद्व्याख्यानरूपे प्रक्रान्ते सति भवति । तच्च नमस्कारपूर्वकमेव पठ्यते । कथम् ? इत्याह—येन यस्मात् स नमस्कार सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तरभूत पूर्वमिहैव निर्दिष्ट । ततो नमस्कारं व्याख्याय पश्चात् सामायिकसूत्रं व्याख्यास्यत इति भाव ।

अन्ये तु सामायिकसूत्रादिनमस्कारं न मन्यन्ते, किन्त्वन्यदेव किञ्चिद् ब्रुवते । किं पुनस्तत् ? इत्याह—

तं चावसाणमंगल-मन्ने मन्नंति तं च सत्थस्स ।

सव्वस्स भणियमंते, इयमाईए कहं जुत्तं ॥ २८०२ ॥

तं च नमस्कारमुपोद्घातनिर्युक्तिशास्त्रस्यावसानमङ्गलं केचिद् मन्यन्ते, न पुन सूत्रादिम् । इदमुक्तं भवति-शास्त्रस्यादौ मध्येऽवसाने च मङ्गलमिष्यते, तत्रोपोद्घातनिर्युक्त्यादौ नन्दिर्मङ्गलम्, मध्ये तु जिनगणधरोत्पत्त्यादिगुणकीर्त्तनम्, अवसाने तु किलैष नमस्कारो मङ्गलमित्यन्येषां बुद्धिः । सा च न युक्ता । कुत ? इत्याह-'त च सत्थस्से' त्यादि, इयमत्र भावना-यत् शास्त्रस्यावसानमङ्गलं तैर्गीयते, तद्गणिनमेव भद्रबाहुस्वामिना सर्वस्यापि षडध्ययनात्मकस्यावश्यकशास्त्रस्यान्ते प्रत्याख्यानलक्षणं मङ्गलम् । प्रत्याख्यान हि तप, तच्च "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" इत्यादिवचनाद् मङ्गलमेव । ततश्चेदं नमस्कारलक्षणं मङ्गलं सामायिकस्यादौ कथमभिधातुं युक्तम्, अप्रस्तुतत्वात् ? । अप्रस्तुतत्वं चेहादिमध्याऽवसानत्वाभावादिति ।

पुनरपि परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

होज्जाइ मंगलं सो, तं कयमाईएँ किं पुणो तेणं ।

अथवा कयं पि कीरइ,कत्थावत्थाण मेवं ति ॥२८०३॥

अथ सामायिकस्यादौ निर्दिष्टत्वादादिमङ्गलमसौ नमस्कारो भवेदित्युच्यते, तदयुक्तम्, यतस्तदादि मङ्गल कृतमेवादौ नन्द्यभिधानत, किं पुनरप्यत्र तेन विहितेन ? । अथ कृतमप्यादिमङ्गलं पुनरपि क्रियते, तर्ह्येव सति क्वावस्थानम् । पुन पुनस्तत्करणप्रसङ्गादनवस्थाप्राप्तेर्न क्वचिदवस्थानं स्यादिति ।

तर्हि भवन्त एव कथयन्तु—किमिह नमस्कारव्याख्याने कारणम् ?, इत्युपसन्ने प्रेरके सूरिराह—

तम्हा सो सुत्तं चिय, तदाइभावादओ तयं चेव ।

पुव्वं वक्खाणेउं, पच्छा वोच्छामि सामइयं ॥२८०४॥

तस्माद्-नमस्कारस्तत्त्वत सामायिकसूत्रमेव तदादिभावात्-सामायिकादावुपन्याससद्भावात्, "करेमि भंते ! सामाइयं" इत्यादि सामायिकसूत्रावयववदिति । अत परमार्थेन सामायिकसूत्रत्वाद् न पुनर्मङ्गलार्थत्वात् तमेव नमस्कारं पूर्वमादौ व्याख्या पश्चात् सामायिकार्थं वक्ष्यामि इति गाथापञ्चकार्थ । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

सम्प्रति सूत्रोपन्यासार्थं प्रत्यासत्तियोगत परमार्थेन सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिगतामेव गाथामाह-

नंदिअणुओगदारं, विधिवदुवग्घाइयं च नाऊणं ।

काऊण पंच मंगल-मारंभो होइ सुत्तस्स ॥

नन्दिश्चानुयोगद्वाराणि च नन्द्यनुयोगद्वारं समाहारत्वादेकवचनं विधिवत् यथावत् उपोद्घात च । 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिलक्षणं ज्ञात्वा पाठान्तरं भणित्वा अन्यथा कृत्वा पञ्च इत्यादिलक्षणं ज्ञात्वा ... मङ्गलानि, नमस्कारमित्यर्थ । किम् ? आरम्भो भवति सूत्रस्य इह पुनर्नन्द्याद्युपन्यास किल विधिनियमख्यापनार्थ ।नन्यादि ज्ञात्वैव-भणित्वैव वा सूत्रस्यारम्भो भवति नान्यथेति । तथा उपोद्घात -सकलप्रवचनसाधारणत्वेन प्रधानं प्रधानस्य

च सामान्यग्रहणेऽपि भेदेनोपन्यासो भवति, यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इत्यनुयोगद्वारग्रहणेन तस्य ग्रहणेऽपि पृथगुपन्यास. ।

संबन्धान्तरप्रतिपादनार्थमाह—

कयपंचनमोक्कारो, करेइ सामाइयं तु सोऽभिहितो ।
सामाइयंगमेव य, जं सा सेसं अतो वोच्छं ॥१०२६॥

कृत पञ्चनमस्कारो येन स तथाविधः शिष्य. सामायिक करोतीत्यागमः । स च पञ्चनमस्कारोऽभिहितो यस्मादसौ नमस्कार. सामायिकाङ्गमेव । सा च सामायिकाङ्गता प्रागेवोक्ता अत ऊर्द्ध शेषं सूत्रं वक्ष्ये । तच्चेदम्-'करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोग पच्चक्खामि । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं । न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ' । इदं च सूत्रं सूत्रानुगम एव प्राप्तावसरे अहीनाक्षरादिगुणोपेतमुच्चारणीयम् । तद्यथा—अहीनाक्षरमनत्यक्षरम् अव्याविद्धाक्षरमस्खलितममिलितमव्यत्यस्तमनाम्रेडितं प्रतिपूर्णं प्रतिपूर्णघोषं कण्ठौष्ठविप्रमुक्तं वाचनोपगतमिति । अमूनि च पदानि प्राग्व्याख्यातत्वान्न व्याख्यायन्ते । एवरूपे च सूत्रे उच्चारिते सति केषाञ्चिद्भगवतां साधूनां केचन अर्थाधिकारा. अधिगतीभवन्ति, केषांचन त्वनधिगताधिगमनाय व्याख्या प्रवर्त्तते । तल्लक्षणं चेदम्-"संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रह । चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥ १ ॥ " तत्राऽस्खलितपदोच्चारणं संहिता । यथा—' करेमि भंते ! सामाइयमि ' त्यादि ' ०जाव वोसिरामि ' । पदं पञ्चधा, तद्यथा--नामिकं नैपातिकमौपसर्गिकमाख्यातिकं मिश्रं च । तत्र अश्व इति नामिकम् , खल्विति नैपातिकं, परीत्यौपसर्गिकं, धावतीत्याख्यातिकं, संयत इति मिश्रम् । अथवा-द्विविधं पदं स्याद्यन्तम् , तिवाद्यन्तं च । अत्र पञ्चविधानि वा पदानि, तद्यथा-करोमि भयान्त ! सामायिकं सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेनेति मनसा वाचा कायेन,न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजाने, तस्य भयान्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामीति पदानि । अधुना पदार्थः स चतुर्विध । तद्यथा-कारकविषय , समासविषयः, तद्धितविषय निरुक्तिविषयश्च । तत्र कारकविषयो यथा-पचतीति पाचकः । समासविषयो यथा—राज्ञ पुरुषो राजपुरुष. । तद्धितविषयो यथा—वसुदेवस्यापत्यं वासुदेव । निरुक्तिविषयो यथा-भ्रमति रौति च भ्रमर । तत्रापि डुकृञ्करणे इत्यस्य मिप्रत्ययान्तस्य कृञ , तनादिभ्यः' इति उकारे गुणे च कृते करोमीति च भवति । अभ्युपगमश्चास्यार्थ. । एवं प्रकृतिप्रत्ययविभाग सर्वत्र वक्तव्य । इह तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते । भयं प्रतीतम् , तद्यामो वा उपरिष्टात् अन्तो-विनाश भयस्यान्तो भयान्त । अयमेव पदविग्रह , पदपृथक्करणं—पदविग्रह तस्य सम्बोधनं भयान्त ! सामायिकपदार्थ पूर्ववत् सर्वमित्यपरिशेषवाची शब्द' । अवद्यम् -पाप सहावद्यं यस्य येन वा सावद्य , स सपापमित्यर्थ , योग्यो व्यापारस्तं प्रत्याख्यामि प्रतिषेध प्रतिषेधे , आङ् आभिमुख्ये , ख्याप्रकथने , तत. प्रत्याख्यामीति । किमुक्तं भवति-सावद्ययोगस्य प्रतीपमभिमुखं व्यापारं करोमीति । अथवा-'पच्चक्खामीति' प्रत्याचक्षे इति शब्दसंस्कार । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अस्य प्रत्याङ्पूर्वस्य प्रयोग' प्रत्याचक्षे इति । कोऽर्थ. प्रतिषेधस्यादरेणाभिधानम् । करोमि यावज्जीवयेति च । यावच्छब्द परिमाणमर्यादावधारणवचन', तत्र परिमाणे यावत् मम जीवनपरिमाण तावत्प्रत्याख्यामीति, मर्यादायां यावज्जीवनमिति, मरणं मर्यादीकृत्य, अवधारणे यावज्जीवनमेव प्रत्याख्यामि न तस्मात्परत इत्यर्थ. । जीवनं जीवेत्ययं क्रियाशब्द । परिगृह्यते तया । अथवा-प्रत्याख्यानक्रिया परिगृह्यते । यावज्जीवो यस्या सा यावज्जीवा तया त्रिविधमिति तिस्रो विधा यस्य सावद्ययोगस्य स त्रिविधः , स च प्रत्याख्येयत्वेन कर्म सपद्यते कर्मणि च द्वितीया विभक्तिरस्ति । तं त्रिविधं मनोवाक्कायव्यापारलक्षणं ' कायवाङ्मन कर्मयोग ' इति वचनात् । त्रिविधेनेति करणे तृतीया । मनसा वाचा कायेन । तत्र 'मन् बुद्धिमतिज्ञाने, मननं मन्यते वाऽनेनेति मन । औणादिकोऽसुप्रत्यय. । तच्चतुर्द्धा । नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् ,नामस्थापने सुगमे । द्रव्यमनो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तद्योग्यपुद्गलमिदम् । भावमनो मनो जीव एव । वच परिभाषणे , वचनम् उच्यते इति च वाक् , साऽपि चतुर्विधा नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यवाग् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता शब्दपरिणामयोग्यजीवपरिगृहीता पुद्गलाः । भाववाक् पुनस्त एव पुद्गलाः शब्दपरिणाममापन्ना. । तथा-'चञ्' चयने । चयन चीयते इति वा काय , चीत्युपसमाधाना वा संदोहकश्चादिरिति चञो चकारस्य ककारः । पुद्गलान्-अवयवान् पुद्गलानामेवावयवरूपतया समानात् जीवस्य निवासात् प्रतिक्षणं केषांचित्पुद्गलानां शरणात् । काय'-शरीरम् , सोऽपि नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुष्प्रकार. । तत्र नामस्थापने प्रतीते । द्रव्यकायो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त शरीरत्वयोग्या अगृहीतास्तत्स्वामिना वा जीवेन मुक्ता यावत्तं परिणामं न मुञ्चति तावद् द्रव्यकाय. । भावकायस्तु तत्परिणता जीवसंयुताश्च पुद्गला । अनेन त्रिविधेन करणेन त्रिविधं पूर्वाधिकृतं सावद्यं योग न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि-नानुमन्येऽहमिति, तस्येत्यधिकृतस्य सावद्ययोगस्य प्रतिक्रमामि-निवृत्त निन्दामि-जुगुप्से गर्हे इति,स एवार्थ । किं त्वात्मसाक्षिका निन्दा । गुरुसाक्षिका गर्हेति । किं जुगुप्से इत्यत आह-आत्मानमतीतसावद्ययोगकारिणं व्युत्सृजामि विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्द उच्छब्दो भृशार्थ , सृजामि-त्यजामि।विविध विशेषेण वा भृशं त्यजामीति भाव । एवं तावत्पदार्थपदविग्रहौ यथासम्भवमुक्तौ । आ० म०१ अ०।

अधुना चालनाप्रत्यवस्थाने वक्तव्ये । अत्रान्तरे सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिरुच्यते । स्वस्थानत्वादाह निर्युक्तिकार —

अक्खलियसंहियादी,वक्खाणचउक्कए दरिसियम्मि ।
सुत्तप्फासियनिज्जु-त्ति वित्थरत्थो इमो होइ ॥१०१६॥

अस्खलितादौ सूत्रे उच्चरिते संहितादौ च व्याख्यानचतुष्टये दर्शिते सति सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिविस्तरार्थोऽयं भवतीति।

तमेव दर्शयति—

करणे भए य अंते,सामाइयसव्वए अ वज्जे य ।
जोगे पच्चक्खाणे, जावज्जीवाएँ तिविहेण ॥१०१६

आव० १ अ० । (करणव्याख्या 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३६६ पृष्ठे गता ।)

किं सामायिकं कस्मिन् करणे—

भावसुयसद्दकरणे, अहिगारो एत्थ होइ कायव्वो ।
नो सुयकरणं गुणजुं-जणे य जहसंभवं होइ ॥

आ० म० १ अ० ।

अथ विनेयः पृच्छति ननूक्तस्वरूपाणां नामादीनां षएणां करणभेदानां मध्ये सामायिककरणमिदं किं भवतु ?—कस्मिन् भेदेऽवतरतु ? इत्यर्थः ।

अत्र गुरुराह—

सव्वं पि जहाजोगं, नेयं भावकरणं विसेसेणं ।
सुयबद्धसद्दकरणं, सुयसामइयं न चारित्तं ॥३३६१॥

इदं सामायिककरणं सर्वमपि षड्विधमपि नामादिकरणं ज्ञेयम्—सर्वेष्वपि नामादिभेदेष्ववतरेदित्यर्थः । कथं ? यथायोगं—यथासम्भवम् । तत्र सम्यक्त्वश्रुतसंयमादिगुणानां जीवद्रव्यपर्यायत्वात् , पर्यायस्य च द्रव्यानन्यत्वाद् द्रव्यकरणमिदं भवत्येव । एवं नामादिकरणताऽप्यस्य यथासम्भवं भावनीया । भावकरणं त्विदं विशेषतो भवति , सम्यक्त्वादिसामायिकानां जीवभावत्वादिति । आह—ननु भावकरणं पूर्वं बहुभेदमुक्तम् , तत् किं सर्वेष्वपि भावकरणभेदेषु सर्वमपि सामायिकमवतरति ? नेत्याह—'सुए' त्यादि , श्रुतकरणं तथा बद्धश्रुतकरणम् , शब्दकरणं च श्रुतसामायिकमेव भवति , तस्यैवैतद्भेदरूपताघटनात् , न तु चारित्रसामायिकम् , तस्यैतद्रूपासम्भवादिति ।

चारित्रसामायिकं तर्हि कस्मिन् भावकरणभेदेऽवतरति ? इत्याह—

गुणकरणं चारित्तं, तवसंजमगुणमयं ति काऊणं ।
संभवओ सुयकरणं, सुपसत्थं जुंजणाकरणं ॥३३६२॥
कया कयं केण कयं, केसु व दव्वेसु कीरई वावि ।
काहे व कारओ नय-ओ करणं कइविहं कह च ॥३३६३॥

गुणकरणं चारित्रसामायिकं गुणकरणलक्षणे नोश्रुतभावकरणे प्रथमभेदे एतदवतरतीत्यर्थः , तपः-संयमगुणात्मकमिति कृत्वा सम्भवतो-यथासम्भवं श्रुतकरणमप्येतद् भवति । प्रशस्तवागूपायाश्चारित्रभेदभूताया वाक्समितेरत्रावतारादिति । तथा , सुप्रशस्तं योजनाकरणमिति नोश्रुतभावकरणद्वितीयभेदेऽप्येतदवतरतीत्यर्थः , सुप्रशस्तमनोवाक्कायरूपत्वाच्चारित्रस्य । इति गाथार्थः । (विशे० ।)

कृताकृतादिभिर्निरूपयन्नाह—'कयाकयमि' त्यादि ननु करणक्रियायाः पूर्वं सामायिकं किं कृतं क्रियते , अकृतं वा ? उभयथाऽपि वक्ष्यमाणदोषः । अत्रोत्तरमाह-'कयाकयं ' तिनैकान्तेन कृतं क्रियते , नाप्यकृतम् , किन्तु कृताकृतं क्रियत इति । तथा , केन कृतमिदं वक्तव्यम् । तथा , केषु द्रव्येष्विष्वादिषु क्रियते । कदा वा कारकोऽस्य भवति । 'नयउ ' त्ति—नैगमादिनयमतेनात्रोत्तरं वक्तव्यम् । तथा, करणं कतिभेदमिति वाच्यम् । तथा , कथं केन प्रकारेणेदं सामायिककरणं लभ्यते इति चाभिधानीयम् , इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थं तु भाष्यकार आह—

किं कयमकयं कीरइ, किं चातो भणइ सव्वहा दोसो ।
कयमिह सब्भावाओ, न कीरइ चिरकयघडु व्व॥३३६४॥
निच्चक्किरियापसंगा, किरियावेफल्लमपरिणिट्ठा वा ।
अकयकयकज्जमाण-व्वएसा भावया निच्चे ॥३३६५॥

किं कृतं क्रियते सामायिकम् , अकृतं वा ? । किञ्चातः ?-किमनेन प्रश्नेन ? इति गुरुणा प्रोक्ते भणति परः , सर्वथापक्षद्वयेऽपि दोषः—तथाहि—कृतं तावद् न क्रियते, सद्भावादग्रेऽपि विद्यमानत्वात् , चिरकृतघटवदिति । कृतस्य च करणे नित्यं क्रियायाः करणस्य प्रसङ्गः क्रियायाश्च वैफल्यम् , कृतत्वादेवेति । अथ कृतमपि क्रियते , तर्हि करणस्यापरिनिष्ठा, कृतत्वाविशेषादिति । अपि च—'कृतं क्रियते' इत्युच्यमाने वस्तुनः सर्वदैव सत्त्वमभ्युपगतं भवति, यच्च सर्वदा सत् तदाकाशवद् नित्यम्, नित्ये च वस्तुन्यकृतमिदम् , कृतं वा , क्रियमाणं वा इत्यादिव्यपदेशो न भवति, अनित्यत्वप्रसङ्गादिति ।

अकृतपक्षमङ्गीकृत्याह—

अकयं पि नेय कीरइ, अबंताभावओ खपुप्फं व ।
निच्चकिरियाइदोसा, सविसेसयरा व सुत्तम्मि ॥३३६६॥

स्पष्टा ।

अथ क्रियमाणं क्रियते, तत्राह—

सदसदुभयदोसाओ, सव्वं कीरइ, न कज्जमाणं पि ।
इह सव्वहा न कीरइ,सामाइयमओ कओ करणं ॥३३६७॥

तत् क्रियमाणं वस्तु सद्वाऽसद् वा परिकल्प्येत ? यदि-सत् , तर्हि कृतपक्षोक्ताः सर्वेऽपि दोषाः प्रसजन्ति । अथासत् , तर्हि अकृतपक्षदोषानुषङ्गः । अथ सदसत् क्रियमाणं मिष्यते, तदप्ययुक्तम् , उभयपक्षोक्तदोषप्रसङ्गादिति । एवं सर्वथा सर्वप्रकारैः सामायिकं न क्रियते । अतः कस्मात् तस्य करणम् ? इति ।

अत्रोत्तरमाह—

नणु सव्वहा न कीरइ, पडिसेहम्मि वि समाणमेतं ।
पडिसेहस्साभावे, पडिसिद्धं केण सामइयं ? ॥३३६८॥
अह कयमकयं न कयं, न कज्जमाणं कहं तहावि कयं ।
पडिसेहवयणमेयं,तह सामइयं पि को दोसो ? ॥३३६९॥

ननु सर्वथा—सर्वप्रकारैः सामायिकं न क्रियते इत्येवं यत्त्वया प्रतिषेधो विधीयते, तत्रापि प्रतिषेधे समानमेतदम् । किमसौ कृतः क्रियते, अकृतः , क्रियमाणो वेत्यादिप्रतिषेधानुकूल्यायेन सोऽपि सर्वथा न क्रियते । अत प्रतिषेधाभावे केन प्रतिषिद्धं सामायिकम् ? न केनचित् , अतः क्रियत एवैतदिति । अथैवं ब्रूषे प्रतिषेधवचनमेतत् कृतं वा सत् , अकृतं वा सद् , न कृतम् , नापि क्रियमाणं कृतम् ,

तथापि कृतं तावत् केनाप्युच्चारणादिना प्रकारेण । हन्त ! यथा केनापि प्रकारेण त्वयैतत् कृतं तथा सामायिकमपि केनापि प्रकारेण कृतम्, अतस्तत्रापि को दोषस्त्वया दीयते ? इति ।

अथ कृताकृतपक्षं नयमतेनोपदर्श्य सिद्धान्तपक्षमुपदर्शयन्नाह--

अकयमसुद्धनयाणं, निच्चत्तणओ नभं व सामइयं ।

सुद्धाण कयं घड इव, कयाकयं समयसब्भावो ॥३३७०॥

द्रव्यार्थिकरूपाणामशुद्धनयानां नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराणामकृतं सामायिकम्, नित्यत्वात्, नभोवदिति । शुद्धानां तु निश्चयनयरूपाणामृजुसूत्रादीनां कृतं तत्, घटवदिति । समयसद्भावस्त्वयम् नैकान्तेन कृतं सामायिकं क्रियते नाप्यकृतम्, किन्तु कृताकृतं क्रियत इति ।

यदि वा--सिद्धान्तस्थित्या--विवक्षावशात् कृतादिभिश्चतुर्भिर्भङ्गैः किञ्चिद् वस्तु क्रियते, किञ्चिद् त्वेतैश्चतुर्भिरपि भङ्गैर्न क्रियत एवेति दर्शयन्नाह--

कीरइ कयमकयं वा, कयाऽकयं वेह कज्जमाणं वा ।

कज्जमिह विवक्खाए,न कीरए सव्वहा किंचि ॥३३७१॥

इह किञ्चित् कार्यं केनापि रूपेण कृतं क्रियते, केनचिद्रूपेणाकृतं क्रियते, केनापि तु रूपेण कृताकृतं क्रियते । केनचित् प्रकारेण क्रियमाणं वा किञ्चित् क्रियते, अन्यत्तु किञ्चिद् विवक्षया सर्वैरपि कृतादिभिः प्रकारैर्न क्रियत इति ।

अत्र यथासंख्यमुदाहरणम्--

रूवि त्ति कीरइ कओ, कुंभो सठाणसत्तिओ अकओ ।

दोहि वि कयाकओ सो,तस्समयं कज्जमाणो त्ति॥३३७२॥

पुव्वकओ उ घडतया,परपज्जाएहिँ तदुभएहिँ च ।

कज्जंतो य पडतया,न कीरए सव्वहा कुंभो ॥३३७३॥

रूपी--इति कृत्वा पूर्वं कृत एव कुम्भस्तद्रूपतया क्रियते, मृत्पिण्डावस्थायामपि रूपादीनां सद्भावादिति । संस्थानजलाहरणशक्तिभ्यां पूर्वमकृतः क्रियते । रूपतया सस्थानशक्तितश्चेति रूपद्वयेनापि विवक्षितोऽसौ पूर्वं कृताकृतः क्रियते । तत्समयमुत्पत्तिसमये क्रियमाणोऽसौ क्रियत इति । पूर्वकृतस्तु पूर्वं निष्पन्नो घटो घटतया घटपर्यायेण न क्रियते, परपर्यायैस्तु पटादिधर्मैः पूर्वमकृतो घटो न क्रियते, परपर्यायैर्वस्तुनः कर्तुमशक्यत्वात् ।तदुभयैस्तु स्वपरपर्यायैर्विवक्षितः कृताकृतोऽसौ न क्रियते, 'स्वपर्यायाणां पूर्वमेव कृतत्वात्, परपर्यायाणां तु पूर्वमप्यकृतानां कर्तुमशक्यत्वात् । क्रियमाणश्चोत्पत्तिसमये कुम्भः पटतया न क्रियते,अशक्यत्वात् । तदेवं सर्वथा सर्वैरपि कृतादिप्रकारैः कुम्भो न क्रियते,यथोक्तविवक्षया कृतोऽकृतः कृताकृतः क्रियमाणश्च कुम्भो न क्रियत इत्यर्थः ।तदेवं यथाभिहितविवक्षया क्रियमाणत्वमक्रियमाणत्वं च वस्तुनः प्रोक्तम् ।

अथवा विवक्षान्तरेण सर्ववस्तूनां क्रियमाणत्वमक्रियमाणत्वं च दर्शयितुमाह--

वोमाइनिच्चयाओ, न कीरई दव्वयाइ वा सव्वं ।

कीरइ य कज्जमाणं, समए २ सपज्जयओ ॥३३७४॥

इह व्योमाऽऽत्मकालदिगादिकं वस्तु न क्रियते, नित्यत्वात् । अथवा--व्याख्या सर्वमपि व्योमादि घटविद्युद्वनकुसुमादि च वस्तु न क्रियते, द्रव्यतया सर्वस्य सर्वदाऽवस्थितत्वात् । पर्यायतया तु प्रतिसमयं सर्वं वस्तु क्रियमाणं क्रियते, सर्वस्यापि समये समयेऽपरापरस्वपर्यायाणामुत्पादादिति ।

समयसद्भावव्यक्तीकरणपूर्वकं प्रकृतयोजनामाह--

उप्पायट्ठिइभंग-स्सभावओ इय कयाऽकयं सव्वं ।

सामाइयं पि एवं, उप्पायाइस्सहावं ति ॥ ३३७५ ॥

उत्पादस्थितिभङ्गस्वभावत्वादित्युक्तप्रकारेण सर्वमपि वस्तु कृताकृतस्वरूपम्, एवं सामायिकमप्युत्पादादिस्वभावत्वात् कृताकृतस्वरूपं द्रष्टव्यम् । अतः 'कृताकृतं क्रियते' इति स्थितम् ।

अत्र परः प्राह--

णणु दव्वमणत्थंतर-पज्जायंतरविसेसणेहि जुज्जेज्ज ।

उप्पायाइसहावं, न उ सामाइयं गुणो जम्हा ॥ ३३७६ ॥

सो उप्पण्णो उप्पण्णएँ, व विगओ य विगय एवेह ।

किं सेसमस्स जेणिह,कयाकया देसया होज्जा ॥३३७७॥

ननु द्रव्यमनर्थान्तरभूतपर्यायान्तरविशेषणैरुत्पादादिस्वभावं युज्येत न तु सामायिकम्, 'गुणो जम्ह' त्ति-गुणमात्ररूपत्वादिति। स हि गुण उत्पन्नः समुत्पन्न एव, न तु विगतोऽवस्थितो वा, यदा तु विगतस्तदा विगत एव, नतूत्पन्नोऽवस्थितो वा । अतः किं शेषमस्योद्धृतम्, येनेह कृताकृतादेशता--कृताकृतरूपता स्यात् ? इति ।

सूरिरुत्तरमाह--

जं चिय दव्वाणन्नो, पज्जाओ तं च तिविहसब्भावं ।

तो सो वि तिरूवो च्चिय,तत्तो य कयाकयमहावो ॥३३७८॥

यस्मादेव पर्यायो द्रव्यानन्यः, तच्च द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणत्रिविधस्वभावम्, ततो द्रव्यानन्यत्वात् सोऽपि पर्यायस्त्रिरूप एव, अतश्च द्रव्यवत् कृताकृतस्वभावः स्यादेवेति ।

अथवा--स्वतन्त्रस्यापि सामायिकगुणस्य त्रिरूपता घटत एवेति । कथम् ? इत्याह--

जह वा रूवंतरओ, विगमुप्पाए वि रूवसामण्णं ।

निच्चं कयाकयमओ, रूवं परपज्जयाओ वा ॥ ३३७९ ॥

तह परिणामंतरओ, वयविभवे वि परिणामसामण्णं ।

निच्चं कयाकयमओ, सामइयं परगुणाओ वा ॥३३८०॥

यथा वा घटादौ रक्तत्वादिरूपाच्छुक्लत्वादिरूपान्तरोत्पत्तौ पूर्वरूपस्य विगमे उत्तररूपस्योत्पादेऽपि रूपसामान्यं नित्यमवतिष्ठते, अतो रूपगुणस्य त्रिरूपता, अस्माच्च त्रैरूप्यात् कृताकृतं रूपं युज्यते । परपर्यायाद् वा परपर्यायमाश्रित्य कृताकृतं युज्यत इति । तथाऽत्राऽत्तरशुद्धया परिगमतः सामायिकगुणस्य परिणामान्तरात् परिणामोत्पत्तौ पूर्वपरिणामस्य व्यये-विगमे, उत्तरपरिणामस्य तु विभवेऽप्युत्पादेऽपि परिणामसामान्यं नित्यमवतिष्ठते । ततः सामायिकगुणस्य त्रिरूपता । अस्माच्च त्रैरूप्यात् तस्य कृ-

साकृतत्वम्, परगुणत्वाद् वा परगुणमाश्रित्य कृताकृतत्वमिति।

अथवा-अन्यथाऽपि सामायिकस्य कृताकृतत्वं वक्तव्यम्, कथम्? इत्याह—

दव्वाइचउक्कं वा, पडुच्च कयमकयमहव सामइयं।
एगपुरिसाइओ कय-मकयं नाणानराईहिं ॥ ३३८१ ॥

अथवा-द्रव्यादिचतुष्कं द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयं प्रतीत्य-कृतमकृतं च सामायिकं भावनीयम्; तथाहि—एक विवक्षित पुरुषद्रव्यं प्रतीत्य कृतं सामायिकम्, सादिसपर्यवसितत्वात्, नानापुरुषद्रव्याण्याश्रित्य पुनरकृतम्, अनाद्यपर्यवसितत्वादिति। आदिशब्दाद्-भरतैरावतक्षेत्राणि प्रतीत्य कृतम्, महाविदेहक्षेत्रेष्वकृतम्, अव्यवच्छिन्नप्रवाहत्वेन नित्यत्वादिति। तथा, उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालमाश्रित्य कृतम्, व्यवच्छिद्यमानत्वेनानित्यत्वात्। नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालं त्वाश्रित्याकृतम्, अव्यवच्छिन्नत्वेन नित्यत्वात् भावं त्वेकपुरुषोपयोगं प्रतीत्य कृतम्, नानापुरुषोपयोगानाश्रित्य पुनरकृतम्। इत्येवं वा कृताकृतं सामायिकमिति। तदेवमुक्तं कृताकृतद्वारम्।

अथ 'केन कृतम्' इति द्वारं विवरीषुराह—

केण कयं ति य ववहा-रओ जिणिंदेण गणहरेहिं च।
तस्सामिणा उ निच्छय-नयस्स तत्तो जओऽणन्नं ॥३३८२

पाठसिद्धा।

अत्राक्षेपपरिहारौ आह—

ननु निग्गमे कयं चिय,केण कयं तं ति का पुणो पुच्छा।
भण्णइ स बज्झकत्ता, इहंतरंगो विसेसेणं ॥३३८३॥

आह-ननु 'उद्देसे निद्देसे य निग्गमे' इत्यत्र सामायिकस्य निर्गमे भण्यमाने 'महावीरात् तन्निर्गतम्' इत्यादिप्रतिपादनेन केन कृतं तत्' इत्येतद् गतमेव-उक्तार्थमेव, पुनरपीह का पृच्छा?। भण्यतेऽत्रोत्तरम्—स तीर्थकरादिः सामायिकस्य बाह्यकर्ता तत्रोक्तः, इह तु विशेषणान्तरङ्गकर्ता जिज्ञासितः। स च नैश्चयिकः सामायिकानुष्ठाता साध्वादिर्द्रष्टव्यः, सामायिकपरिणामानन्यत्वादिति।

परिहारान्तरमाह—

अहवा सतंतकत्ता, तत्थेह पउज्जकारगोऽभिमओ।
अहवेह सव्वकारग-परिणामाणन्नरूवो त्ति ॥३३८४॥

अथवा—तत्र निर्गमे भगवांस्तीर्थकरः स्वयंबुद्धत्वात् स्वतन्त्रकर्ता अभिहितः, इह तस्यैव भगवतस्तीर्थकरस्य यः प्रयोज्यः—प्रयोधनीयः सन् कारकः साध्वादिः स कर्ताऽभिमतः। अथवा-इह कर्ता सर्वकारकपरिणामानन्यरूपोऽभिमतः, स च साध्वादिरेव सामायिकानुष्ठाता मन्तव्यः, तथाहि—सामायिकं कुर्वन्नसौ कर्ता, क्रियमाणत्वेन च कर्मरूपतत् सामायिकाद्नन्यत्वात् कर्म, सामायिकं येनाध्यवसायेन कारणभूतेनासौ करोति तस्मादनन्यत्वात् करणम्। गुरुणा चास्मै सामायिकं प्रदीयत इति सम्प्रदानम्, सामायिकं चास्मात् शिष्यप्रशिष्यपरम्परया प्रवर्तिष्यत इत्यपादानम्, स्वपरिणामे च सामायिकमव्यवच्छिन्नं धरतीत्यधिकरणमित्येवं सर्वकारकपरिणामानन्यरूपः कर्ता भवत्यसाविति आह—ननु यद्यन्तरङ्गः प्रयोज्यः सर्वकारकपरिणामानन्यरूपश्च कर्ता साध्वादिरिह विवक्षितः, तर्हि 'जिनेन्द्रेण गणधरैश्च कृतं तत्' इति कस्मादुक्तम्, जिनेन्द्रगणधरगणमिहाविवक्षितत्वात्?। सत्यम्। किन्तु-जिनेन्द्रस्यापि सामायिकस्यान्तरङ्गकर्तृत्वं सर्वकारकपरिणामानन्यरूपकर्तृत्वं प्रायो न विरुध्यते, तेनापि तस्यानुष्ठितत्वात्, गणधराणां तु प्रयोज्यकर्तृत्वमपि युज्यत एव, जिनेन्द्रप्रयोज्यत्वात् तेषामिति। अतो जिनेन्द्रगणधराणामप्युपन्यासोऽत्र न विरुध्यत इति। गतं 'केन कृतम्' इति द्वारम्।

अथ 'केषु द्रव्येषु तत् क्रियते' इति द्वारमभिधित्सुराह—

दव्वेसु केसु कीरइ, सामइयं नेगमो मणुन्नेसु।
सयणाइएसु भासइ, मणुन्नपरिणामकारणओ ॥३३८५॥
नेगंतेण मणुन्नं, मणुन्नपरिणामकारणं दव्वं।
वभिचाराओ सेसा, बिंति तओ सव्वदव्वेसु ॥३३८६॥

केषु द्रव्येषु व्यवस्थितस्य सामायिकं क्रियते—निर्वर्त्यते?। अत्र नैगमनयो भाषते—मनोज्ञेषु शयनाऽऽशनादिषु स्थितस्य तत् क्रियते, मनोज्ञपरिणामकारणत्वात्। तथा च कैश्चिदुक्तम्—" मणुन्नं भोयणं भोच्चा, मणुन्नं सयणासणं। मणुन्नम्मि अगारम्मि, मणुन्नं झायए मुणी ॥ १ ॥" इत्यादि। शेषास्तु संग्रहादयो ब्रुवते—नैकान्तेन मनोज्ञद्रव्यं मनोज्ञपरिणामकारणं भवति, व्यभिचारात्, मनोज्ञेऽपि कस्यापि स्वाभिप्रायेण मनोज्ञपरिणामभावात्, अमनोज्ञेऽपि च कस्यापि मनोज्ञपरिणामसद्भावात्। ततः सर्वद्रव्येषु व्यवस्थितस्य सामायिकं क्रियते।

अत्राक्षेपपरिहारावाह—

ननु भणियमुवग्घाए, केसु त्ती इहं कओ पुणो पुच्छा?।
केसु त्ति तत्थ विसओ, इह केसु ठिअस्स तल्लाभो ३३८७

ननूपोद्घाते 'किं कइविहं' इत्यादि गाथायां 'केषु सामायिकं भवति' इति भणितमेव, इह कुतः पुनरपि पृच्छावसरः?। नैवम्, तत्र हि केषु द्रव्यपर्यायाः सामायिकस्य विषये भवन्तीत्युक्तम्, तथा च तत्र निर्वचनम्-' सव्वगयं सम्मत्तं ' इत्यादि। इह तु केषु द्रव्येषु स्थितस्य सामायिकलाभो भवतीत्युच्यत इति महान् भेद इति।

यदि न पौनरुक्त्यम्, तर्ह्यन्यद्दूषणम्। किं तत्? इत्याह—

तो किह सव्वद्दव्वा, वत्थाणं जाइमित्तवयणाओ।
धम्माइसव्वदव्वा-धारो सव्वो जओऽवस्सं ॥३३८८॥

ततस्तर्हि कथं सर्वद्रव्येष्ववस्थानं सम्भवति, येनोच्यते-'सेसा बिंति तओ सव्वदव्वेसु' इति। न हि सर्वेष्वाकाशादिद्रव्येषु कोऽप्यवतिष्ठत' इति। उच्यते?-जातिमात्रवचनात् सर्वद्रव्यमात्रस्येह विवक्षणात्, जातिमात्रं च सर्वद्रव्यैकदेशेऽपि प्राप्यत इति। ननु देशतोऽपि किं सर्वद्रव्याधारः कोऽपि प्राप्यते?। उच्यते-प्राप्यत एव, यतो धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायजीवपुद्गलाधारः सर्वोऽप्यवश्यं जीवलोक इति परिहृतं प्रासङ्गिकं दूषणम्।

अथ प्रस्तुतग्रन्थस्य परिहारान्तरमाह—

विसओ व उवग्घाए, केसु त्ति इहं म एव हेउ त्ति।

सद्धेय नेय किरिया, निबंधणं जेण सामइयं ॥३३८९॥

अथवा-उपोद्घाते सर्वद्रव्याणि सामायिकस्य विषये भणितान्युक्तम्। इह तु स एव सामायिकलाभः सर्वद्रव्येषु हेतुभूतेषु भवतीत्युच्यत इति। कथं पुन सर्वाण्यपि द्रव्याणि सामायिकस्य हेतुर्भवन्ति? इत्याह—'सद्धेये' त्यादि श्रद्धेयानि च ज्ञेयानि च चारित्रक्रियाहेतुभूतानि च यानि द्रव्याणि तन्निबन्धनं तद्धेतुकं येन सामायिकम्। न च श्रद्धेयादिभ्योऽन्यानि सर्वद्रव्याणीति, नापि विषयहेतोरेकत्वमवगन्तव्यम्, विषयस्य गोचररूपत्वात्, जीवघातनिवृत्ते सर्वजीववद्धेतोरुपष्टम्भकत्वात्, अज्ञादिवदिति।

अन्यदपि परिहारान्तरमाह—

अहवा कयाकयाइसु, कज्जं केण व कयं च कत्त त्ति।

केसु त्ति करणभावो, तइयत्थे सत्तमिं काउं ॥३३९०॥

अथवा—कृताकृतादिद्वारेषु प्रथमे कृताकृतद्वारे कर्त्रा यत् क्रियते तत् कार्यं सामायिकमुक्तम्, 'केन कृतम्' इति च द्वितीयद्वारे सामायिकस्यैव कर्त्ता निर्दिष्टः, 'केषु' इति तृतीयद्वारे तु तृतीयार्थे सप्तमी कृत्वा करणमभिहितम्, कैर्द्रव्यैः करणभूतैः सामायिकं क्रियत इति नोपोद्घातेन सह पौनरुक्त्यमिति।

अथ 'कदा कारको भवति' इति नयैर्निरूपयन्नाह—

उद्दिट्ठ च्चिय नेगम-नयस्स कत्ताऽणहिज्जमाणो वि।

ज कारणमुद्देसो, तम्मि य कज्जोवयारो त्ति ॥३३९१॥

इहोद्दिष्ट एव गुरुणा सामायिके नैगमनयस्यानधीयानोऽपि शिष्यस्तत्कर्त्ता भवति। आह-ननु कार्यस्य कर्त्ता भवति, कार्यं च सामायिकमुद्देशस्थले नास्ति, तत् कथं तस्यासौ कर्त्ता भवति? इत्याह—'जम्मि' इत्यादि, यस्मात् सामायिककारणमुद्देश तस्मिंश्चोद्देशलक्षणे कारणे कार्यस्य सामायिकस्योपचारः क्रियत इति सामायिकस्य कर्त्ताऽसौ भवतीति।

सङ्ग्रहव्यवहारनयमतमाह—

संगहववहाराणं, पच्चासन्नयरकारणत्तणओ।

उद्दिट्ठम्मि तदत्थं, गुरुपामूले समासीणो ॥ ३३९२ ॥

सङ्ग्रहव्यवहारयोरुद्दिष्टे सामायिके तत्पठनार्थं गुरुपादमूले समासीनः शिष्यः प्रत्यासन्नतरकारणत्वात् पूर्ववत् तत्र सामायिककार्योपचारत कर्त्ता भवतीति।

ऋजुसूत्रमतमाह—

उज्जुसुयस्स पढंतो, तं कुणमाणो वि निरुवओगो वि।

आमन्नामाहारण, कारणओ सद्दकिरियाणं ॥३३९३॥

ऋजुसूत्रस्यानुपयुक्तोऽपि सामायिकं पठन्, तथा कुर्वंस्तदर्थक्रियामनुतिष्ठन् सामायिकस्य कर्त्ता भवति, सामायिकामन्तरा साधारणकारणत्वात् तद्विषयशब्दक्रिययोरिति।

शब्दादिमतमाह—

सामाइओवउत्तो, कत्ता सद्दकिरियाविउत्तो वि।

सद्दाईण मणुन्नो, परिणामो जेण सामइयं ॥३३९४॥

शब्दादिनयाना सामायिकोपयुक्तः शब्दक्रियावियुक्तोऽपि सामायिककर्त्ता भवति, येन यस्माद् मनोज्ञो विशुद्धपरिणाम एव तेषा सामायिकमिति।

अथ पूर्वोक्तमुपसंहरन्नुत्तरग्रन्थसम्बन्धनार्थमाह—

कत्ता नयओऽभिहिओ, अहवा नयउ त्ति नीइओ नेओ।

सामाइयहेउपउ-ज्जकारओ सो नओ य इमो ॥३३९५॥

तदेव सामायिकस्य कर्त्ता नयतो—नयैरभिहितः। अथवा—'कदा वा कारक.' इत्यस्माद् नय इति पृथगेव द्वारम्। तत्र चायमर्थः -नयतो-नीतितो विधिना सामायिकस्य हेतु कर्त्ता सामायिकस्य प्रयोज्यकारको ज्ञेयः। कः पुनरसौ नय इत्याह स चायम्। इति द्वात्रिंशद्गाथार्थः। विशे०। आ० म०। आ० चू०।

सम्प्रति नय इत्येतद्द्वारं विवरीषुराह—

आलोयणा य विणए, खित्तदिसाभिग्गहे य काले य।

रिक्खगुणसंपयाविय, अभिवाहारे य अट्ठमए॥३३९६॥

विशे०।

इहाभिमुख्येन गुरोरात्मदोषप्रकाशनमालोचनानयः। आ० म० १ अ०। आव०।

अथालोचनानयं भाष्यकारो विवृण्वन्नाह—

सामाइयत्थमुवसं-पया गिहत्थस्स होज्ज जइणो वा।

उभयस्स पउत्ता लो-इयस्स सामाइयं देज्जा ॥३३९७॥

तत्र गृहस्थे—

आलोइयम्मि दिक्खा-रुहस्स गिहिणो चरित्तसामइयं।

बालाइदोसरहिय-स्स देज्ज नियमा न सेसाणं॥३३९८॥

स्पष्टं। नवरम्, आलोचिते—आलोकिते विज्ञाते यथा द्रव्यतो ज्ञातोऽसौ, न नपुंसकादि, क्षेत्रतस्तु विज्ञातो यथा नायमनार्यः, कालतस्त्ववगतो यथा शीतोष्णादिना न क्लाम्यति, भावतस्त्ववबुद्धो यथा नीरोगानलसादिरूपः। ततश्चैवमालोकिते निश्चिते च दीक्षार्हस्य बालादिदोषरहितस्य गृहिणश्चारित्रसामायिकं दद्यादिति।

ननु गृहस्थस्य सामायिकसूत्रार्थमुपसम्पदित्यवगम्यते, श्रमणस्य तु व्रतग्रहणकाल एवाधीतसामायिकत्वात् कथं तदर्थमुपसम्पद् भवेत्? इत्याह—

सामाइयत्थमवणो-वसंपया साहुणो हवेज्जाहि।

वाघायमेसकालं, च पडुसुयत्थं पि होज्जाहि ॥३३९९॥

यदा गुरु' सूत्रमात्रविदेव भवति, सूत्रं चान्यस्य परलोकीभूतो भवेत्, तदा तच्छिष्यस्य साधो सामायिकार्थश्रवणनिमित्तमन्यत्रोपसम्पद् भवेत्। अथवा—'सुयस्स पि होज्जाहि' त्ति—व्याघातमेष्यत्कालं वा प्रति तौ प्रतीत्येत्यर्थः, सूत्रमात्रार्थमपि साधोरन्यत्रोपसम्पद् भवेत्। इदमुक्तं भवति-ग्लानभावेन व्यन्तरोपसर्गादिना वा व्याघातेन पतिते विस्मृते सामायिकसूत्रे, एष्यति वा दुष्षमाकाले प्रज्ञामान्द्यादसमाप्तसामायिकसूत्रमात्रा अपि साधवो भविष्यन्तो निजगुर्वभावी भवनादिना कारणेन सर्वस्यापि सामायिकसूत्रस्य पठनार्थम, असमाप्तस्य वा समाप्त्यर्थमन्यत्र साधोरुपसम्पद् भवेदिति। तदेव चारित्रसामा-

यिकमङ्गीकृत्य तदर्थश्रवणार्थं तत्सूत्रमात्रपठनार्थं वा साधोरन्यत्रोपसम्पदुक्ता ।

अथवा--श्रुतसामायिकमङ्गीकृत्य समस्तद्वादशाङ्गसूत्रार्थोभयार्थमप्युपसम्पद् भवेदिति दर्शयन्नाह-

सव्वं व बारसंगं, सुयसामइयं ति तदुभयत्थं ति ।
होज्जा लोइयभाव-स्स देज्ज सुत्तं तदत्थं वा ॥३४००॥

अथवा-सर्वमपि द्वादशाङ्गं श्रुतसामायिकं भण्यते, अतस्तदुभयार्थं समस्तद्वादशाङ्गसूत्रार्थोभयनिमित्तमप्युपसम्पद् भवेत्, अत आलोचितभावस्य दत्तविशुद्धालोचनस्य सूत्रमर्थं वा दद्यादिति । उक्तमालोचनाद्वारम् ।

(७५) अथ विनयद्वारमभिधित्सुराह-

आलोयणसुद्धस्स वि,देज्ज विणीयस्स नाविणीयस्स ।
नहि दिज्जइ आहरणं,पलिय त्ति य कन्नहत्थस्स॥३४०१॥

सुगमा ।

किमिति विनीतस्यैव दीयते ? इत्याह—

अणुरत्तो भत्तिगओ, अमुई अणुअत्तओ विसेसन्नू ।
उज्जुत्तोऽपरितंतो,इच्छियमत्थं लहइ साहू॥३४०२॥

सुबोधा । नवरम् ' अमुइ ' त्ति-अमोचकः, उद्युक्त--उद्यमपरः, ' अपरितंतो ' अनिर्विण्ण इति ।

क्षेत्रद्वारमभिधित्सुराह—

विणयवओ वि य कयमं-गलस्स तदविग्घपारगमणाए।
देज्ज सुकओवओगो, खित्ताईसु सुपसत्थेसु ॥३४०३॥
उच्छुवणे सालिवणे, पउमसरे कुसुमिए व वणसंडे ।
गंभीरसाणुणाए, पयाहिणजले जिणहरे वा ॥३४०४॥
दिज्ज न उ भग्गभामिय-मसाणसुन्नामणुन्नगेहेसु ।
छारंगारवक्खरा-मेज्झाईदव्वदुट्ठेसु ॥३४०५॥

तिस्रोऽपि सुगमा, नवरमिक्षुवणादीनां समीपे दद्यात् सामायिकम्, न तु भग्नभ्रामितगृहादिप्रदेशे । द्रुमाचन्दनलताद्याच्छादितप्रदेशो-गम्भीर । यत्र जल्पता प्रतिशब्द इत्तिष्ठते स प्रदेश: सानुनाद इति ।

दिगभिग्रहद्वारमाह-

पुव्वाभिमुहो उत्तर-मुहो व दिज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा ।
जाए जिणादओ वा, दिसाइजिणचेइयाइं वा ॥३४०६॥

पाठसिद्धा ।

कालद्वारमाह-

चाउद्दसिं पण्णरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च ।
छट्ठिं च चउत्थिं बा-रसिं च सेसासु देज्जाहि ॥३४०७॥

सुबोधा ।

नक्षत्रद्वारमाह—

मियसिरअद्दा पुस्से, तिन्नि य पुव्वाइं मूलमस्सेसा ।
हत्थो चित्ता य तहा,दस विड्ढिकराइँ नाणस्स ॥३४०८॥
संझागयं रविगयं, विड्डेरं सग्गहं व विलंबं वा ।
राहुहयं गहभिन्नं, च वज्जए सत्त नक्खत्ते॥३४००॥

मृगशिरःप्रभृतिषु नक्षत्रेषु दद्यात् सामायिकम् ॥ संध्यागतादीनि तु वर्जयेत् । तत्र सध्यागत यत्र रविः स्थास्यति । यत्र नक्षत्रे सूर्यस्तिष्ठति तस्माच्चतुर्दश पञ्चदश वा नक्षत्र सन्ध्यागतम्, इत्यन्ये । रविगत यत्र रविस्तिष्ठति । पूर्वद्वारिकेषु नक्षत्रेषु पूर्वदिशागन्तव्येऽपरया गच्छतो विड्डेरम्, ' सग्गह ' च ग्रहाधिष्ठितम्, विलम्बि यद् भास्वता परिभुज्य मुक्तम्, राहुगत यत्र ग्रहणमभूदिति । ग्रहभिन्न ग्रहविदारितमिति ।

गुणसम्पद्द्वारमाह—

पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गोऽवज्जभीरु असढो य ।
खंतो दंतो गुत्तो, थिरव्वय जिइंदिओ उज्जू ॥३४१०॥
असढो तुलासमाणो, समिओ तह साहुसंगइरओ य ।
गुणसंपओववेओ,जुग्गो सेसो अजुग्गो य ॥३४११॥

सुगमं ।

अथाष्टममभिव्यवहारनयमाह—

नेओऽभिव्वाहारो-ऽभिव्वाहरणमहमस्स साहुस्स ।
इयमुद्दिस्सामि सुत्त-त्थोभयओ कालियसुयम्मि॥३४१२
गुणदव्वपज्जवेहिं, भूयावायम्मि गुरुसमाइट्ठे ।
वे उद्दिट्ठमिय मे, इच्छामणुसासणं सीसो ॥ ३४१३ ॥

अभिव्याहरणमभिव्याहार' सामायिकश्रुतोद्देशादिविषयो गुरुशिष्ययोरुक्तिप्रत्युक्तिविशेषो ज्ञेयः, तद्यथा—अहमस्य साधोः कालिकश्रुते इदमङ्ग श्रुतस्कन्धमध्ययनमुद्देशक वा उद्दिस्सामि, वाचयामि । कथम् ? इत्याह-सूत्रतः, अर्थतः, तदुभयतश्चेति । इह च सूचनात् सूत्रस्य, इय भावना द्रष्टव्या-इदमङ्गादिक ममोद्दिशत, इति शिष्येणोक्ते गुरुर्वदति-उद्दिशामि, तत शिष्यो भणति-' संदिशत किं भणामि ? । गुरुराह-वन्दित्वा प्रवेदय, ततः शिष्यो वदति-भवद्भिर्ममेदमङ्गादिकमुपदिष्टम् । गुरुराह—उद्दिष्ट क्षमाश्रमणानां हस्तेन सूत्रेण, अर्थेन, तदुभयेन च । तत शिष्य आह-इच्छामोऽनुशास्तिम् । ततश्च गुरुराह-' सम्यग् योग कर्तव्य ' इति । अत्रेच्छाकारक्षमाश्रमणदानप्रतिपातकायोत्सर्गकरणादिकः शेषो विधिः स्वयमेव द्रष्टव्यः । समुद्देशाऽनुज्ञयोरप्ययमेव विधि, नवर तयोर्यथा संख्य सम्यग् धारय अन्येषा च प्रवेदय, इति गुरुवचन द्रष्टव्यमिति । भूतवादो-दृष्टिवाद, तत्राप्ययमेवोद्देशादिविधि, केवलं द्रव्येण, गुणैः, पर्यायैश्च उद्दिष्टमिदम्' इति गुरुः समादिशति । एव च गुरुसमादिष्टे शिष्यो वदति-उद्दिष्टमिदं मे, इच्छाम्यनुशास्तिम् ' इत्यादीति । तदेव व्याख्यातोऽभिव्याहारनय, तद्व्याख्याने च व्याख्याना ' आलोयणा य विणए ' इत्यादि प्रतिद्वारगाथा ।

अथ मूलद्वारगाथाया यदुक्तम्-' करणम् कतिविधम् ?' इति, तत्राह—

करणं तव्वावारो, गुरुसीसाणं चउव्विहं तं च ।
उद्देसो वायणिआ, तहा समुद्देसणमणुन्ना ॥ ३४१४ ॥

गुरुशिष्ययोस्तद्विषय -सामायिकविषयो व्यापार करणम्, स च गुरुशिष्ययोस्तद्व्यापारश्चतुर्विध, तद्व्यापारविध्याद् तत्स्वरूप करणमपि चतुर्विधम्, तद्यथा—वाचयामि इ-

ति-गुरुप्रतिज्ञारूप उद्देश', ननस्तत्प्रदत्तैव सूत्रस्य परिपाटीरूपा वाचना, तथा, समुद्देश. अनुज्ञा चेति ।

अत्राक्षेपपरिहारावाह—

नणु भणियमणेगविहं, पुव्वं करणमिह किं पुणो गहणं ।
तं पुव्वगहियकरणं,इदमिह दाणग्गहणकाले ॥३४१५॥

ननु पूर्वं नामादिभेदतोऽनेकविध करणमुक्तम्, इह किं पुनरपि भेदकथनगर्भं करणग्रहणम् ? । अत्रोच्यते—तत् प्रागुक्तं पूर्वगृहीतस्य दानग्रहणकालादुत्तीर्णस्य सामायिकस्य सिद्ध करणमुक्तम्, इदं त्विह गुरु--शिष्ययोर्दानग्रहणकाले उद्देशादिविधिना साध्य करणमुच्यत इति विशेष. ।

विशेषान्तरमाह—

पुव्वमविसेसियं वा, इह गुरुसीसकिरिया विसेसाओ ।
करणावसरो वायं, सेसं तत्थं तु वच्चासो ॥ ३४१६ ॥

अथवा—पूर्वमविशेषित करणमुक्तम्, इह तु तदेव गुरुशिष्योक्तिक्रियाविशेषाद् विशेषितमुच्यते । अथवा—अयमेव गुरुशिष्योक्तिप्रत्युक्तिकाले सामायिककरणस्य भणनावसरः । तत्र तर्हि किमैत्युक्तम् ? इति चेत् । उच्यते—अनेकान्तार्थव्यत्यासोऽस्थानभणनम् । न ह्ययं नियमो यदन्यत्र वक्तव्यं तदत्र नोच्यते विचित्रा च भगवत. सूत्रस्य कृतिरिति । गत करणं कतिविधम् ?, इति द्वारम् ।

इदानीं ' कथम् ?, इति द्वारमभिधित्सुराह—

लब्भइ कहं ति भणिए, सुयसामइयं जहा नमोकारो ।
सेसाई तदावरण-क्खयओ समओ हवो भयओ॥३४१७॥

कथं सामायिक लभ्यते ?, इति भणिते सत्युच्यते—श्रुतसामायिकं तावद् यथा नमस्कारः पूर्वमुक्तस्तथा लभ्यते, नमस्कारस्यापि श्रुतान्तर्गतत्वात् । नमस्कारलाभश्च पूर्वमित्थमुक्त'—

" मइ सुयनाणावरणं, दंसणमोहं च तदुवघाईणि ।
तप्फड्डयाइं दुविहा-इ सव्वदेसोवघाईणि ॥ १ ॥
सव्वेसु सव्वघाइसु, हएसु देसोवघाइयाणं च ।
भाएहिं मुंचमाणो, समए समए अणंतेहिं ॥ २ ॥
पढम लहइ नकारं, इक्किक्कं वण्णमेवमण्णं पि ।
कमसो विसुज्झमाणो, लहइ समत्तं नमोक्कारं ॥ ३ ॥ "

इह च सम्यग्दृशामेव नमस्कारो भवतीत्येतावन्मात्रेणैव दर्शनमोहनीयस्य क्षयोपशम उक्त. । मुख्यवृत्त्या तु नमस्कारस्य श्रुतरूपत्वात्, तदावरणक्षयोपशमादेवासौ लभ्यत इत्युक्त द्रष्टव्यम् । एवं श्रुतसामायिकमपि मति-श्रुतक्षयोपशमाल्लभ्यत इति दृश्यम् । शेषाणि तु सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतिसामायिकानि तदावरणस्य यथासम्भवं क्षयत'-शमत, उपशमत इत्यर्थ । अथवा—उभयत. क्षयोपशमाद् भवन्तीति द्रष्टव्यमिति ।

अत्राक्षेपपरिहारावाह—

नणु भणियमुवक्कमया, खओवसमओ पुणो उवग्घाए ।
लब्भइ कहं ति भणियं,इहं कहं का पुणो पुच्छा ।३४१८।

आह-ननु पूर्वमत्रैवोपक्रमतोपक्रमप्रस्तावे ' भावे खओवसमिए दुवालसंग पि होइ सुयनाणं । ' तथा-' बीयकसायाणुदए, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाणं । ' तथा—' तइयकसायाणुदए पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं । देसिक्कदेसविरइं ' तथा-बारसविहे कसाए, खविए उवसामिए व जोएहिं । लब्भइ 'चरित्तलंभो' इत्यादि वचनात्, तदावरणस्य क्षयोपशमात् क्षयादिभ्यश्च सम्यक्त्वादिसामायिकानि लभ्यन्त इति भणितम्, पुनरपि चोपोद्घाते ' किं कइविहं ' इत्यादिगाथायां ' कथ सामायिक लभ्यते ?, मानुष्यादिभ्य ' इति भणितम्, ततश्चेह ' कथ सामायिकं लभ्यते ' इति का पुनः पृच्छा ?—पुनरुक्तत्वाद् नेयमिह युज्यत इति भाव. ।

परिहारमाह—

भणिए खओवसमओ,स एव लब्भइ कहमुवग्घाए ।
सो चेव खओवसमओ,इह केसिं होज्ज कम्माणं ।३४१९।

' भावे खओवसमिए' इत्यादिनोपक्रमे 'क्षयोपशमादिहेतो., सामायिक लभ्यते ?' इति भणिते पुनरुपोद्घाते स एव क्षयोपशमादिहेतु कथं लभ्यते ' मानुष्यादिसामग्रीत.' इत्युक्तम् । इह तु ' स एव क्षयोपशमादि केषां कर्मणा भवेत् ?, इति विचिन्त्यत इति स्थानत्रयभणनस्यापि विषयविभाग इति तदेव व्याख्यातं कृताकृतादिद्वारै. करणम् ।

अथ ' करोमि भदन्त ! सामायिकम् ' इत्यत्र विनेयपृच्छामाशङ्क्योत्तरमाह—

को कारओ करिंतो, किं कम्मं जं तु कीरई तेणं ।
किं कारओ य करणं,च होइ अन्नं अणन्नं ते?॥३४२०॥

कोऽत्र तावत् कारकः ? इति कथ्यताम् । सूरिराह--स्वतन्त्रत्वात् कुर्वन् सामायिकस्य कर्ता । कर्म तर्हि किमत्र ? इत्याह-यत् तेन । क्रियते । तुशब्दात्-किं करणम् ? । उच्यते—मन प्रभृति । एवमुक्ते सत्याह--ते-तव सूरे ! किं कारक. करणं च, चशब्दात्-कर्म चेत्येतत् त्रयं परस्परमन्यद् भिन्नम्, अनन्यद् वा-अभिन्नं भवति ? इति ।

एतदेव विवृण्वन्नाह—

को कारउ त्ति भणिए, होइ करेंतो त्ति भण्णए गुरुणा ।
किं कम्मं ति य भणिए,भण्णइ ज कीरए तेणं॥३४२१॥

गातार्था ।

अथ ' क. कारक. ?, इत्यादित एव प्रश्नमक्षममाणः परस्तावदाह—

केण कयं ति य कत्ता,नणु भणियं तत्थ का पुणो पुच्छा?।
तव्विवरणं चिय इमं,केणं ति व होज्ज मा करणं ॥३४२२॥

आह—ननु ' कयाकयं ' इत्यादिगाथाया ' केन कृतम् ' इति द्वितीयद्वारे ' कर्त्रा ' इति भणितमेव, तत्र का पुनरपीह कर्तु. पृच्छा ? । सत्यम्, केन कृतम् इत्यत्र कर्तरि करणे च तृतीया सम्भवति, अतस्तद्विवरणमेवेदम्-केन इति--अत्र कर्तरि तृतीया, मा भूत् करणमिति ।

अथवा, तेष्वेव कृताकृतादिद्वारेषु सामायिकस्य कर्तारं कर्मकरणभाव च श्रुत्वा कुलालघटदण्डानामिव प्रस्तुते कर्तृकर्मकरणानां प्रविभागमपश्यन् पृच्छति-क' कारक. सामायिकस्य ? इत्यत्रोत्तरं कुर्वन्नयमस्य कारक, किं पुन कर्म ? इत्यत्रोत्तरम्—यत् तेन कर्त्रा क्रियते, तुशब्दाद्—मन प्रभृतिकरण च द्रष्टव्यम् । एतदेवाह—

अहवा कयाकयाइसु, कत्तारं कम्मकरणभावं च ।

सामाइयस्स सोउं, कुलालघडदण्डमाणं व ॥३४२३॥
पविभागमपेच्छतो, पुच्छइ को कारओ करेंतोऽयं ।
किं कम्म जं कीरइ.तो तेण सद्देण करणं च ॥३४२४॥
द्वे अपि गतार्थे ।

अत्राक्षेपमाह-

किं कारओ य करणं, च होइ कम्मं च ते चसद्दाओ ।
अन्नमणन्नं भण्णइ, किंचाह न सव्वहा जुत्तं ॥३४२५॥

कारक करण चशब्दात्—कर्म च 'ते' तव सूरे ! परस्परं किमन्यद् भिन्नम्, अनन्यदभिन्नमिति ?। भण्यतेऽत्रोत्तरम्-किं चातः ? किमनेन तव पृष्टेन ? इति । अत्राह पर — अन्यत्वमनन्यत्व वेति, द्वयोरेकमपि सर्वथा न युक्तमिति ।

अत्रान्यत्वे तावद् दूषणमाह—

अन्नत्ते समभावा-भावाओ तप्पओयणाभावो ।
पावइ मिच्छस्स व से, सम्मामिच्छाऽविसेसोऽयं ।३४२६।

कर्मभूतस्य सामायिकस्य कर्तुर्जीवादन्यत्वे मिथ्यादृष्टेरिव 'से' तस्य कर्तृजीवस्य सामायिकजन्यसमभावाभाव एव स्यात्, अन्यत्वाविशेषात् । ततश्च तत्प्रयोजनभूतस्य मोक्षसुखस्याभाव एव प्राप्नोति । अपर च—अयं कृतसामायिक सम्यग्दृष्टि. अय तु मिथ्यादृष्टि, इत्ययमविशेष एव स्यात्, उभयोरपि सामायिकस्यान्यत्वाविशेषादिति ।

पर एवाचार्यमाशङ्कते—

अहवा मइभिन्नेण वि, धणेण सधणो त्ति होइ वत्रएसो ।
सधणो य धणाभागी, जह तह सामाइयस्सामी ।३४२७।

अथवा—अत्र सूरे ! तवेय मति स्यात्, भिन्नेनापि धनेन 'सधन' इति व्यपदेशो लोके भवति, अपरं चासौ सधनो धनाभागी धनफलभोक्ता यथा दृश्यते तथा भिन्नस्यापि सामायिकस्य स्वामी सामायिकवांस्तत्फलभोक्ता भविष्यति, न्यायस्य समानत्वादिति ।

तदेतत् पर. परिहरति—

तं न जओ जीवगुणो, सामइयं तेण विफलया तस्स ।
णन्नत्तणओ जुत्ता, परसामइयस्स वाऽफलया ।३४२८।

तदेतत् सूरे ! त्वदुक्तं न, यतो जीवगुणः सामायिकम्, तेन जीवगुणस्य सामायिकस्य गुणिना जीवादन्यत्वे विफलता—निष्फलता युक्ता, धन तु धनिनो गुणो न भवति, तेन तस्य भिन्नस्यापि सफलताऽस्त्विति भाव । यथा परसामायिकस्य विवक्षितजीवमपेक्ष्यान्यत्वादफलतेति ।

अपि च—

जइ भिन्नं तब्भावे, वि तओ (सो) तस्स भावरहिओ त्ति ।
अन्नाणी चिय निच्च, अंधोवसमं पईवेण ॥ ३४२९ ॥

यदि कर्तुर्जीवादभिन्न सामायिकम्, तदा तद्भावेऽपि भिन्नसम्यक्त्वादिसामायिकप्रस्तावेऽपि तकोऽसौ कर्तृजीवस्तत्स्वभावरहित. सम्यक्त्वादिसामायिकस्वभावरहित इति कृत्वाऽज्ञान्येव स्यात्, यथा भिन्नेन प्रदीपेन सम वर्तमानोऽपि स्वस्वभावभूतचक्षुर्विकलोऽन्ध इति ।

अथानन्यत्वपक्षं दूषयन्नाह—

एगत्ते तन्नासे. नासो जीवस्स संभवे भवणं ।
कारगसंकरदोसो, तदिक्कया कप्पणा वावि ॥३४३०॥

सामायिकतद्वतोरेकत्वेऽनन्यत्वे तन्नाशे—सामायिकनाशे सामायिकवतो जीवस्यापि नाश प्राप्नोति, घटस्वरूपनाशे घटस्येव सभवे वोत्पत्तौ वा सामायिकस्य, जीवस्यापि भवनमुत्पत्तिमत्त्व स्यात् । न च तस्य तदिष्यते, नित्यत्वात्, तथा-कर्तृकर्मकरणकारकाणां सकरदोषः, तदेकता वा स्यात्, कल्पनामात्ररूपता वा कारकाणा भवेदिति ।

अत्राचार्य उत्तरमाह—

आया हु कारओ मे, सामाइयकम्म करणमाया य ।
तम्हा आया सामा-इयं च परिणामओ इक्कं ॥३४३१॥

आत्मैव. तावत् सामायिकस्य कारक. कर्ता मे—मम, सामायिकमेव क्रियमाणत्वात् कर्म सामायिककर्म तदप्यात्मैव, न पुनस्तद्व्यतिरिक्तमन्यत् किञ्चिदिति, चशब्दाद्—मन.प्रभृतिक करणमप्यात्मैव । तस्मादात्मा सामायिक चशब्दात्-करणं चेति त्रितयमप्येतदेकमेव । कथम् ?, परिणामत.-आत्मपरिणामरूपत्वात् । नहि सामायिक मन.प्रभृतिकरणं चात्मपरिणामरूपत्वमतिक्रम्य वर्तते । अतस्त्रितयमपि परिणाम रूपतयैकमेवेदमिति ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह—

जं नाणाइमभावं, सामइयं जोगमाह करणं च ।
उभयं च सपरिणामो, परिणामाणन्नया जं च ॥३४३२॥

यस्मात् सामायिकं सामान्येन ज्ञानदर्शनचारित्रस्वभावम्, करणमपि मन.प्रभृतिकं योगमाह परमगुरु, उभय चैतदात्मनः स्वपरिणाम., परिणामतद्वतोश्च यस्मादनन्यरूपतैवेति ।

तत किम् ? इत्याह—

तेणाया सामइयं, करणं च चसद्दओ न भिन्नाइं ।
नणु भणियमणन्नत्ते, तन्नासे जीवनासो त्ति ॥३४३३॥

तेन तस्मादात्मा सामायिकम्, चशब्दात्—करण च मन प्रभृति, न परस्परमेतानि भिन्नानि । आह—नन्वेवमनन्यत्वे 'तन्नाशे जीवनाश' इत्यस्मदिकं दूषण भणितमेवेति ।

अत्र सूरिराह—

जइ तप्पज्जयनासो, को दोसो होइ सव्वहा नत्थि ।
जं सो उप्पायव्वय-धुवधम्माणंतपज्जाओ ॥ ३४३४ ॥

स चासौ सामायिकादिरूप पर्यायश्च तत्पर्याय:—तत्पर्यायेण तत्पर्यायरूपेण नाशो जीवस्य तत्पर्यायनाशो यदि भवति, तदा भवतु नाम, को दोष ?। यस्तु पर्यायविनाशे जीवस्य सर्वथा नाश स नास्ति नेष्यते, यस्मादसौ जीव उत्पादव्ययध्रौव्यधर्माऽनन्तपर्याय: । ततश्चैकस्य सामायिकादिपर्यायस्य नाशेऽपि कथ तस्य सर्वथा नाश, शेषानन्तपर्यायैर्विशिष्टस्य तस्य सर्वदाऽवस्थानात् इति ।

न केवलमात्मा, किन्तु सर्वमपि वस्तु जैनानामुत्पादव्ययनित्यतास्वरूपमेवेति दर्शयन्नाह—

सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ नासए य निच्चं च ।

एव चेव य सुह दु-क्ख बंधमोक्खाइसब्भावो॥३४३५॥
पामसकृद् भावितार्थैवेति।

यदप्युक्तम् कारकैकत्वम् कारकैकता प्राप्नोति, अत्राप्याह-

एक चेव य वत्थुं, परिणामवसेण कारगंतरयं।
पावइ तेणादोसो, विवक्खया कारगं जं च॥३४३६॥

एकमेव हि वस्तु परिणामवशेन कारकान्तरता प्राप्नोति तथाहि-एक एव देवदत्त कटादिकर्तृत्वेन परिणत कर्ता, स एव यज्ञदत्तादिप्रयोजककरणतया परिणतत्वात् करणम्, दिदृक्षूणां दृश्यमानतया परिणतत्वात् कर्म, ताम्बूलादिदानग्रहणतया परिणतत्वात् सम्प्रदानम्, स एव निष्पन्नकटस्य मोचनेन परिणतत्वादपादानम्, कटक्रियाधारत्वेन च परिणतत्वादधिकरणमिति। एवमन्यत्रापि भावनीयम्। तेन कारकसंकरादिको न दोष., विवक्षातश्च यस्मात् कारकाणि भवन्ति, तस्मात् कल्पनायामप्यदोष एवेति।

तथाहि—

कुंभो विसिज्जमाणो, कत्ता कम्मं स एव करणं च।
नाणाकारयभावं, लहइ जहेगो विवक्खाए॥३४३७॥
तह वा नाणाणन्नो, नाणी नियओवओगकालम्मि।
एगो वि तिस्सहावो, सामाइयकारओ एवं॥३४३८॥

कुम्भो विशीर्यमाणो विशरणक्रियाया कर्तृत्वेन विवक्षित कर्ता भवति। स एव च विशरणक्रियाव्याप्यत्वेन विवक्ष्यमाण कर्म सम्पद्यते, तेन घटपर्यायेण कृत्वा विशीर्यते, इति करणत्वेन विवक्ष्यमाण स एव करणं सञ्जायते। एवं यथैकोऽपि पदार्थो विवक्षया नानाकारकभाव लभते, यथा वा मत्यादिज्ञानादनन्योऽभिन्नो ज्ञानी-जीवो निजकात्मविषय स्वसंवेदनरूपो य उपयोगस्तत्काल एकोऽपि त्रिस्वभावो भवति, तथाहि स्वोपयोग उपयुज्यमानाऽसौ कर्ता भवति, संवेद्यमानत्वेन तु कर्म, करणभूतज्ञानानन्यत्वाच्च करणमिति। एव सामायिककारक एकोऽपि विवक्षया कर्तृकर्मकरणस्वभावो द्रष्टव्य इति। तदेव करण व्याख्यातम्, तद्व्याख्याने च 'करोमि' इति-सामायिकस्य प्रथमावयवो व्याख्यात। विशे०। आ० म०। आ० चू०। आव०।

अट्ठएहं पयडीणं, उक्कोसठिईउ वट्टमाणो उ।
जीवो न लहइ सामा-इयं चउएहं पि एगयरं॥१०५॥
सत्तएहं पयडीणं, अब्भितरओ उ कोडिकोडीण।
काऊण सागराणं, जइ लहइ चउएहमण्णयरं॥१०६॥

प्रथमगाथाव्याख्या-अष्टानाम् इति-संख्या, कासाम्?—ज्ञानावरणीयादिकर्मप्रकृतीनाम्, उत्कृष्टा चासौ स्थितिश्चोत्कृष्टस्थिति तस्या वर्तमानो भवन् जीव.—आत्मा न लभते—न प्राप्नोति, किं तत्?—सामायिक—पूर्वव्याख्यानम्, किं विशिष्टम्?—चतुर्णामपि—सम्यक्त्वश्रुत—देशविरतिसर्वविरतीरूपाणाम् एकतरम्—अन्यतमत् इति यावत्, अपिशब्दात्—मत्यादि च न केवल न लभते, पूर्वप्रतिपन्नोऽपि न भवति, यतोऽवाप्तसम्यक्त्वो हि न पुनस्तत्परित्यागेऽपि ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य उत्कृष्टस्थितिनी कर्मप्रकृती बध्नाति, आयुष्कोत्कृष्टस्थितौ पुनर्वर्त्तमानः पूर्वप्रतिपन्नको भवति, अनुत्तरविमानोपपातकाले देवो न तु प्रतिपद्यमानक इति। तुशब्दाद् जघन्यस्थितौ च वर्त्तमान पूर्वप्रतिपन्नत्वान्न लभत, आयुष्कजघन्यस्थितौ च वर्त्तमानो न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानक, जघन्यायुष्कस्य क्षुल्लकभवग्रहणाधारत्वात्, तस्य च वनस्पतिषु भावात्, तत्र च पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकाभावात्, प्रकृतीनां च उत्कृष्टेतरभेदभिन्ना खल्वियं स्थिति —आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य परास्थिति, सप्ततिर्मोहनीयस्य, नामगोत्रयोर्विंशति, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य, इति, जघन्या तु द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य, नामगोत्रयोरष्टौ, शेषाणामन्तर्मुहूर्त्त (तत्त्वार्थे अ० ८ सूत्राणि १५-१६-१७-१८-१९-२०-२१) इति गाथार्थ। आह-किमेता—युगपदेव उत्कृष्टा स्थितिमासादयन्ति उत एकस्यामुत्कृष्टस्थितिरूपाया सञ्जातायामन्या अपि नियमतो भवन्ति, आहोस्विदन्यथा वा वैचित्र्यमत्रेति। उच्यते-अत्र विधिरिति, मोहनीयस्य उत्कृष्टस्थितौ शेषाणामपि परणामुत्कृष्टैव, आयुष्कप्रकृतेस्तु उत्कृष्टा वा मध्यमा वा, न तु जघन्येति। मोहनीयरहितानां तु शेषप्रकृतीनामन्यतमाया उत्कृष्टस्थिते सद्भावे मोहनीयस्य शेषाणा च उत्कृष्टा वा मध्यमा वा, न तु जघन्येति प्रासङ्गिकम्। द्वितीयगाथाव्याख्या--सप्तानामायुष्करहितानां कर्मप्रकृतीनां या पर्यन्तवर्तिनी स्थितिस्तामङ्गीकृत्य सागरोपमाणां कोटीकोटी तस्या कोटीकोट्या अभ्यन्तरत एव तुशब्दोऽवधारणार्थे, कृत्वाऽऽत्मानमिति गम्यते यदि लभते—यदि प्राप्नोति, चतुर्णां श्रुतसामायिकादीनामन्यतरत्, तत एव लभते नान्यथेति। पाठान्तरं वा कृत्वा सागरोपमाणां स्थितिं लभते चतुर्णामन्यतरत् इत्यक्षरगमनिका। अवयवार्थोऽभिधीयते-सप्तानां प्रकृतीनां यदा पर्यन्तवर्तिनी सागरोपमकोटीकोटी पल्योपमासङ्ख्येयभागहीना भवति, तदा घनरागद्वेषपरिणामोऽत्यन्तदुर्भेद्यदारुग्रन्थिवत् कर्मग्रन्थिर्भवतीति। आह च--भाष्यकार-" गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरुढगूढगंठि व्व। जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो॥ १ ॥" इत्यादि, तस्मिन् भिन्ने सम्यक्त्वादिलाभ उपजायते, नान्यथेति, तद्भेदश्च मनो—विघातपरिश्रमादिभि दुस्साध्यो वर्त्तते। तथाहि—स जीव कर्मरिपुमध्यगत तं प्राप्य अतीव परिश्राम्यति, प्रभूतकर्मारातिसैन्यान्तःकृतत्वेन संजातखेदत्वात्, संग्रामशिरसीव दुर्जयापाकृतानेकशत्रुनरनरेन्द्रभटवत्। अपरस्त्वाह-किं तेन भिन्नेन? कि-वा सम्यक्त्वादिनाऽवाप्तेन? यथाऽतिर्दीर्घा कर्मस्थिति सम्यक्त्वादिगुणरहितेनैव क्षपिता, एवं कर्मशेषमपि गुणरहित एव क्षपयित्वा विवक्षितफलभाग् भवतु। अत्रोच्यते-स हि तस्यामवस्थायां वर्त्तमानोऽनासादितगुणान्तरा न शेषक्षपणया विशिष्टफलप्रसाधनायालम्, चित्तविघातादिप्रचुरविघ्नत्वात् विशिष्टाप्राप्तपूर्वफलप्राप्त्यासन्नत्वात् प्रागभ्यस्तक्रियया तस्यावाप्तुमशक्यत्वाच्च। अनेकसंचरणरागपालिना चाम्लादिपुरश्चरणक्रियासादितगुणान्तरोत्तरसहायक्रियारहितविद्यासाधकवत् तथा चाह-भाष्यकार -"पाएण पुव्वसेवा,परिसडइ साहणम्मि गु.

रुतरिश्रा। होति मह्याविज्ञाए.किरिया पायं सविग्घा य ॥१॥
तह कम्मठिती खवणे, परिमउई मोक्खसाहणे गरुई। इह दंसणादिकिरिया, दुलभापाय सविग्घा य ॥ २॥" अथवा-यत एव बह्वी कर्मस्थितिरनेन उन्मूलिता, अत एवापचीयमानदोषस्य सम्यक्त्वादिगुणलाभ सजायते, निःशेषकर्मपरिक्षये क्षिद्रत्वत्, तत एव च मोक्ष इति, अतो न शेषमपि कर्मगुणरहित एवापाकृत्य मोक्षं प्रसाधयतीति स्थितम्। आव० १ अ०। (भदन्तशब्दव्याख्या 'भंदत' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता।) सामायिकशब्दार्थ. पूर्व व्याख्यात.।

तस्य चेमे पर्यायाः—

समया समत्त पस-त्थ संति सुविहिय सुहं अणिंदं च।
अदुगुंछियम (ण)गरहिय-मणवज्जमिमे वि एगट्ठा।१०३३।

आव०-१ अ०।

(एषां स्वस्वस्थाने व्याख्या।)(अनन्तशब्दव्याख्या 'अत' शब्दे प्रथमभागे ५४ पृष्ठ उक्ता।) (सर्वशब्दार्थ 'सव्व' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत।) (सावद्यपदार्थ 'सावज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।)

अथ सर्वादिपदानां क्रियया सह संबन्धं कुर्वन्नाह—

सव्वो सावज्जो त्ति य, जोगो सवज्झए तयं सव्वं।
सावज्जं जोगं ति य, पचक्खामि त्ति वज्जेमि ॥ ३५००॥

सर्वो—निरवशेष' सावद्ययोग इति संबध्यते त सर्व सावद्ययोग प्रत्याख्यामीति क्रिया प्रत्याचक्षे वा वर्जयामीत्यर्थ। इह प्रत्याख्यामि प्रत्याचक्षे चेति क्रियाद्वयेऽपि सावद्यायागस्य प्रत्याख्यान गम्यते, अतस्तदेव प्रत्याख्यानं व्याचिख्यासुराह—

पइमद्दो पडिसेहे, अक्खाणं खावणाऽभिहाणं वा।
पडिसेहस्सक्खाण, पचक्खाण निवित्ति त्ति ॥३५०१॥

प्रतिशब्दोऽत्र प्रतिषेधे वर्तते, आख्यान त्वाभिमुख्येन वाऽऽदरेण वा ख्यापना—प्रकथन, चाभिधानं वा, प्रतिपधस्याख्यानं प्रत्याख्यान—निवृत्ति इति। विशे०।

(७६) साम्प्रतं कारकं स्वयमेव चालना प्रतिपादयन्नाह—

को कारओ? करंतो, किं कम्मं?, जं तु कीरई तेण।
किं कारयकरणाण य, अन्नमणन्नं च? अक्खेवो१०३४

इह 'करोमि भदन्त! सामायिकम्' इत्यत्र कर्तृकर्मकरणव्यवस्था वक्तव्या, यथा—करोमि राजन्! घट मित्युक्ते कुलाल. कर्ता घट एव कर्म दण्डादि करणमिति, एवमत्र क कारक कुलालसंस्थानीय? इत्यत आह—'करेंतो' त्ति-तत् कुर्वन्नात्मैव, अथ किं कर्म घटादिसंस्थानीयम्? इत्यत्राऽऽह—यत् क्रियते—निर्वर्त्यते तेन—कर्त्रा तच्च तद्गुणरूप सामायिकमेव, तुशब्द करणप्रश्ननिर्वचनसंग्रहार्थ., यथा कर्म निर्दिष्टमेव किं करणमित्युद्देशादिचतुर्विधमिति निर्वचनम्, एव व्यवस्थिते सत्याह-'किं कारगकरणाण य' त्ति—किं कारककरणयो?, चशब्दात्—कर्मणश्च परस्परत कुलालघटदण्डादीनामिवान्यत्वम्, आहोस्विदनन्यत्वमेवेति?, उभयथाऽपि दोष, कथम्?, अन्यत्वे सामायिकवतोऽपि तत्फलस्य मोक्षस्याभाव., तदन्यत्वाद्, मिथ्यादृष्टेरिव,अनन्यत्वे तु तस्योत्पत्तिविनाशाभ्यामात्मनोऽप्युत्पत्तिविनाशप्रसङ्ग इति, अनिष्टं चैतत्, तस्यानादिमत्त्वाभ्युपगमादित्याक्षेपश्चालनेति गाथार्थ.।

विजृम्भित चात्र भाष्यकारेण—

" अन्नत्ते समभावा-भावाओ तप्फओयणाभावो।
पावइ मिच्छस्स व से, सम्मामिच्छाऽविसेसो य ॥ १॥
अह व मईभिन्नेण वि, धणेण सधणो त्ति होइ ववएसो।
सधणो य धणभागी, जह तह सामाइयस्सामी ॥ २॥
तं ण जओ जीवगुणो, सामइयं तेण विफलता तस्स।
अन्नत्तणओ जुत्ता, परसामइयस्स वाऽफलता ॥ ३॥
जइ भिन्नं तब्भावे-ऽवि नो तओ तस्सभावरहिओ त्ति।
अएणाणिच्चिय णिच्च, अधो व समं पईवेण ॥ ४॥
एगत्ते तन्नासे, नासो जीवस्स सभवं भवए।
कारगसंकरदोसो, तद्देकयाकप्पणा वा वि ॥ ५॥"

इत्यादि, इत्थं चालनामभिधायाधुना प्रत्यवस्थानं प्रतिपादयन्नाह—

आया हु कारओ मे, सामाइय कम्म करणमाया य।
परिणामे सइ आया, सामाइयमेव उ पसिद्धि ॥१०३५॥

इहाऽऽत्मैव कारका मम, तस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्ते., तथा—सामायिक कर्म तद्गुणत्वात्, करण चोद्देशादिलक्षण तत्क्रियत्वादात्मैव, तथाऽपि यथोक्तदोषाणामसम्भव एव, कुत इत्याह—यस्मात् परिणामे सत्यात्मा सामायिक, परिणमन—परिणाम कथञ्चित् पूर्वरूपापरित्यागेनोत्तररूपापत्तिरिति, उक्तं च—"नार्थान्तरगमो यस्मात्, सर्वथैव न चाऽगम.। परिणाम प्रमासिद्धे, इष्टश्च खलु पण्डितै ॥ १॥" इत्यादि, तस्मिन् परिणामे सति। अयमत्र भावार्थ.—परिणामे सति तस्य नित्यानित्याद्यनेकरूपत्वाद् द्रव्यगुणपर्यायाणामपि भेदाभेदसिद्धे, अन्यथा सकलसव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गाद्, एकान्तपक्षेणान्यत्वानन्यत्वयोरनभ्युपगमाद्, इय चैकत्वानेकत्वपक्षयो कर्तृकर्मकरणव्यवस्थासिद्धे, आत्मा—जीव सामायिकमेव तु प्रसिद्धि.। तथाहि—न तदेकान्तेन अन्यत्। तद्गुणत्वान्न चानन्य (त्त) द्गुणत्वादेव ति। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा गुणगुणिनोरेकान्तमेदे विप्रकृष्टगुणमात्रोपलब्धौ प्रतिनियतगुणिविषय एव सशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदाविशेषात्, दृश्यते च यदा कश्चिद्दूरितरुतरुणशाखाविसरसरन्ध्रोदरान्तरत किंचिदा शुक्ल पश्यति तदा किमिय पताका किं वा बलाकेत्येवमपि शुक्ल पश्यति तदा किमिय पताका किं वा बलाकत्वेन प्रतिनियतगुणिविषय इति, अभेदपक्षे तु सशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणत एव तस्यापि गृहीतत्वादित्यल विस्तरेणेति गाथार्थ.।

भाष्यकारदूषणानि त्वमूनि—

" आयाहु कारओ मे,सामाइय कम्म करणमाओ य।
तम्हा आया सामा-इय च परिणामओ एक्क ॥ १॥
जं णाणाइसहाव, सामाइयजोगमाइकरण च।
उभयं च स परिणामो, परिणामाणण्णया जं च ॥ २॥
तेणाया सामइय, करण च चसद्दओ अभिहाइ।
णणु भणियमणण्णत्ते, तण्णासे जीवणासो त्ति ॥ ३॥
जइ तप्पज्जयनासो, को दोसो होउ? सव्वहा नत्थि।

जं सो उप्पायव्वय-धुवधम्माणपज्जाओ ॥ ४ ॥
सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ णासए य णिच्चं च ।
एवं चेव य सुहदु-क्खबधमोक्खाइसब्भावो ॥ ५ ॥
एगं चेव य वत्थु, परिणामवसेण कारगनरय ।
पावइ तणादोसो, विवक्खया कारगं जं च ॥ ६ ॥
कुंभोऽवि सज्जमाणो, कत्ता कम्म स एव करणं च ।
णाणाकारगभावं, लहइ जहेगो विवक्खाए ॥ ७ ॥
जह वा नाणाणणो, नाणी नियओवओगकालम्मि ।
एगोऽवि तस्सभावो, सामाइयकारगो चेवं ॥ ८ ॥"

साम्प्रतं परिणामपक्षे सत्येकत्वानेकत्वपक्षयोरविरोधेन कर्तृकर्मकरणव्यवस्थामुपदर्शयन्नाह-

एगत्ते जह मुट्ठिं, करेइ अत्थंतरे घडाईणि ।
दव्वत्थंतरभावे,गुणस्स किं केण संबद्धं ? ॥१०३६॥

एकत्वे-कर्तृकर्मकरणाभेदे कर्तृकर्मकरणभावो दृष्ट, यथा-मुष्टिं करोति,अत्र देवदत्त. कर्त्ता, तद्धस्त एव कर्म, तस्यैव च प्रयत्नविशेष. करणमिति ।तथाऽर्थान्तरे-कर्तृकर्मकरणानां भेदे दृष्ट एव तद्भावः । तथा चाऽऽह-घटादीनि यथा करोतीति वर्तते । तत्रापि कुलाल. कर्ता, घट कर्म, दण्डादि करणमिति । इह च सामायिकं गुणो वर्तते, स च गुणिन कथञ्चिदेव भिन्न इति । विपक्षे बाधामुपदर्शयति द्रव्यात् सकाशाद् , गुणिन इत्यर्थ , एकान्तेनैवार्थान्तरभावे--भेदे सति,कस्य ?-गुणस्य, किं केन सवद्धमिति ?, न किञ्चित् केनचित् संवद्धं , ज्ञानादीनामपि गुणत्वात्तेषामपि चाऽऽत्मादिगुणिभ्य एकान्तभिन्नत्वात्, सवेदनाभावत सर्वव्यवस्थानुपपत्तेरिति भावना । एवमेकान्तेनानर्थान्तरभावेऽपि दोषा अभ्यूह्या इति गाथार्थ । कण्ठतस्तावदुक्ते चालनाप्रत्यवस्थाने, अत एव चात्र पुनरुक्तदोषोऽपि नास्ति, अनुवादद्वारेण चालनाप्रत्यवस्थानप्रवृत्तेरित्यल प्रसङ्गेन ।

(७७) अथौघ-भवजीवितयोर्विवरणमाह-

आउस्सदव्वतया, सामन्नं पाणधारणमिहोहो ।
भवजीवियं चउद्धा, नेरइयाईण जावत्था ॥३५१२॥

आयुष.-आयुर्मात्ररूपस्य कर्मण सवन्धीनि यानि सन्ति जीवस्य सत्तावर्तीनि द्रव्याणि तान्यायु सद्द्रव्याणि तद्भाव आयु सद्द्रव्यता तया आयु.सद्द्रव्यतया ससारे परिभ्रमतो जीवस्य यत् सामान्य प्राणधारणं यदाश्रित्य सिद्धा एव मृता उच्यन्ते, न संसारिण , तदिह संसारिणा जीवितसामान्यमात्ररूपमोघ ओघजीवितमुच्यत इति । भवन्ति प्राणिनोऽस्मिन्निति भव.--संसारस्तत्रावस्थितिहेतुभूतं भवजीवितम् , तच्चतुर्धा । किं पुनस्तत् ? इत्याह—नारकादीना या जन्मन. प्रथमसमयाच्चरमसमय यावद्दवस्थाऽवस्थितिरवस्थाना तद्धेतुत्वात् सा भवजीवितमिति ।

तद्भवजीवित भोगजीवितं चाह—

तब्भवजीवियमोरा-लियाण जं तब्भवोववन्नाणं ।
चक्कहराईणं भो-गजीवियं सुरवराणं च ॥ ३५१३॥

पुन. पुनस्तत्रैव विवक्षिते भवं उत्पन्नास्तद्भवोत्पन्नास्तेषा तद्भवोत्पन्नाना यज्जीवित तत् तद्भवजीवितमुच्यते । तऔदारिकशरीरिणां तिर्यग्-मनुष्याणामेवावगतन्तव्यम् । तत्रैकेन्द्रियाणां पुन पुनस्तत्रैवैकेन्द्रियभव उत्पद्यमानानामनन्तानि भवग्रहणान्येतदुत्कृष्टतोऽवसेयम् । द्वीन्द्रियाणां तु संख्यातानि भवग्रहणानि । पञ्चेन्द्रियतिरश्चा मनुष्याणां च सप्ताष्टौ वा भवग्रहणानीति मन्तव्यम् । जघन्यतस्तु सर्वत्र द्वे भवग्रहणे । वैक्रियशरीरिणां तु देवनारकाणामिदं न सभवत्येव, पुन. पुनस्तत्रैवोत्पत्त्यभावादिति । चक्रधराऽऽदीनां तु भोगपुरुषाणां सुरवराणां च देवाना जीवितं—भोगजीवितमिति ।

शेषजीवितानि तु त्रीण्याह—

संजमजीवियमिसी-णं असंजमजीवियमविरयाणं ।
जमजीवियं जसोना-मओ जिणाईण लोगम्मि ।३५१४।

पाठसिद्धा, नवरं ' इसीण ' ति—ऋषीणाम् यतीनामिति । ' जसनामओ ' त्ति—यशोनामकर्मोदयादित्यर्थ. ।

नान्येषा मध्यात् किं जीवितमिहाधिकृतम् ? इत्याह—

नरभवजीवियमहिगयं, विसेसओ सेसयं जहाजोगं ।
जावज्जीवामि तयं, ता पच्चक्खामि सावज्जं ॥ ३५१५ ॥

भवजीवितरूप नरभवजीवित मनुष्यभवजीवित विशेषतोऽत्राधिकृतम्, मनुष्याणामेव चारित्रसामायिकाधिकारात्, शेष नामादिजीवितं यथायोगं यद् यत्र युज्यते तत् तत्र योजनीयम् । ततश्च स एव मनुष्य. प्रतिजानीते—यावदनेन नरभवजीवितेन जीवामि तावत् तक सावद्ययोग प्रत्याख्यामीति ।

अथवा-यावच्छब्दस्यार्थमाह-

जावदयं परिमाणे, मज्जायाएऽवधारणे चेइ ।
जावज्जीवं जीवण-परिमाणं जत्तियम्मि त्ति ॥३५१६॥
जावज्जीवमिहारे-ण मरणमज्जायओ न तं कालं ।
अवधारणे वि जाव-ज्जीवणमेवेह न उ परओ ॥३५१७॥

इह यावदय शब्दस्त्रिष्वर्थेषु वर्तते , तद्यथा—परिमाणे-मर्यादायाम्, अवधारणे चेति । तत्र परिमाणार्थ तावदाह—यावज्जीवमिति । किमुक्तं भवति ?—यावद् मे जीवनपरिमाणमिहभवायुष्कस्य परिमाण तावन्त काल प्रत्याचक्ष इति । मर्यादार्थमाह-यावज्जीवमित्यादि । अत्र यावज्जीवमिति । किमुक्तं भवति ?-आरेण मरणमर्यादाया अर्वाक् प्रत्याचक्षे, न पुनस्तत्काल प्रत्याख्यानग्रहणकाल एव, किन्तु मरणसीमा यावत् प्रत्याख्यामीति । अवधारणेऽपि—यावदिहभवजीवितं तावदेव प्रत्याचक्षे, न तु परत , देवाद्यवस्थायामविरतत्वे प्रत्याख्यानभङ्गप्रसङ्गात् । 'परतो मुत्कलम्' इति विधिरपि न कर्त्तव्य , भोगाशसादोषानुषङ्गादिति स्वयमेव द्रष्टव्यमिति ।

अत्राक्षेपपरिहारावाह—

जावज्जीवं पत्ते, जावज्जीवाएँ लिंगवच्चासो ।
भावप्पच्चयओ वा, जा जावज्जीवया ताए ॥ ३५१८ ॥

ननूक्तन्यायेन यावज्जीवमिति निर्देशे प्राप्ते 'यावज्जीवया' इति निर्देश किमर्थ भगवता सूत्रकृता विहित ? ' इति शेष । अत्र परिहारमाह—'लिंगवच्चासो ' त्ति-लिङ्गव्यत्ययोऽत्र भ-

गवतोऽभिमत', तेनेत्थं निर्देश कृत इत्यर्थ । अथवा-यावज्जीवशब्दाद् भावप्रत्यय उत्पाद्यते, ततश्चेत्थं भावप्रत्यये उत्पादिते या यावज्जीवता' इति निष्पद्यते, तया यावज्जीवतया ' प्रत्याख्यामि ' इति सवध्यत इति ।

नन्वित्थमपि 'यावज्जीवतया' इति प्राप्ते 'यावज्जीवया' इति कथ भवति ? इत्याह—

जावज्जीवतया इति, जावज्जीवाएँ वण्णलोवाओ ।
जावज्जीवो जीसे, जावज्जीवाहवा सा उ ॥ ३५१६ ॥

'यावज्जीवतया' इति निर्देशे प्राप्ते यत् 'यावज्जीवया' इत्युक्तम् , तत् तकारलक्षणवर्णलोपादिति द्रष्टव्यम्। तृतीयं परिहारमाह। अथवा-जीवनं जीवो यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवेति बहुव्रीहिस्तया यावज्जीवया इत्येवं द्रष्टव्यमिति ।

अत्र विनेयपृच्छामुत्तरं चाऽऽह—

का पुण सा संवज्झइ, पच्चक्खाणकिरिया तया सव्वं ।
जावज्जीवाएऽहं पच्चक्खामीति सावज्जं ॥ ३५२० ॥

का पुन पूर्वोक्तबहुव्रीहावन्यपदार्थे संवध्यते ? इत्याह—प्रत्याख्यानक्रियेति । तया यावज्जीवया प्रत्याख्यानक्रियया सर्वं सावद्ययोगमहं ' प्रत्याख्यामि ' इति संवन्ध इति ।

परिहारान्तरमाह-

जीवणमहवा जीवा, जावज्जीवा पुरा व सा नेया ।
तीए पाययवयणे, जावज्जीवाइतइएयं ॥ ३५२१ ॥

अथवा-जीवनं जीवेति स्त्रीलिङ्गाभिधायक एवायं शब्द' माध्यन , न तु जीव इति पुलिङ्गाभिधायक । ततश्च यथा पुरा-पूर्वं तथाऽत्राप्यर्थत्रयवृत्तिना यावच्छब्देन सह समासे सा यावज्जीवा ज्ञेया, तद्यथा-यावत्परिमाणा जीवा यावज्जीवा एव मर्यादाऽवधारणयोरपि समास कार्य , तया यावज्जीवया प्रत्याख्यामि, प्राकृतवचने च पर्यन्त एकारनिर्देशेन तृतीयैयमवसेयेति । विशे० ।

तदेव मन.प्रभृति त्रिविधं करणं व्याख्याय प्रस्तुतयोजनामाह-

तेण तिविहेण मनसा, वाया काएण किं तयं तिविहं ।
पुव्वाहिगयं जोग, न करेमिच्चाइ सावज्जं ॥ ३५२६ ॥

तेन यथोक्तस्वरूपेण त्रिविधेन करणेन—मनसा वाचा कायेन, मनो-वाक्-कायलक्षणेनेत्यर्थ. । किम् ? अत आह-तक पूर्वाधिकृत त्रिविध सावद्य योगं न करोमीत्यादि सवध्यत-'न करेमि, न कारवेमि , करंत पि अण्ण ण समणुजाणामि ' इति सवध्यत इत्यर्थ ।

अथवा, अन्यथा संबन्धयन्नाह-

पुव्वं व जमुद्दिट्ठं तिविहं तिविहेण तत्थ करणस्स ।
निविहत्तणं विवरीयं, मणेण वायाए काएणं ॥३५३०॥
निविहमियाणिं जोगं, पचक्खेयमणुभासए सुत्तं ।
किं पुणरुक्कमिऊणं, जोगं करणस्स निद्देसो ?॥३५३१॥

तो न जहुद्देसं चिय, निद्देसो भण्णए निसामेहि ।
जोगस्स करणतंतो-वदरिसणत्थं विवज्जासो ॥३५३२॥
देसियमेवं जोगो, करणवसो नियमप्पहाणो त्ति ।
तब्भावे भावाओ, तदभावे वप्पभावाओ ॥ ३५३३ ॥

अथवा--पूर्वं सूत्रे यदुद्दिष्ट ' त्रिविध त्रिविधेन ' इति, तत्र करणस्य त्रिविधत्वम्--' मणेणं, वायाए, काएणं ' इति सूत्रगतेनैवावयवेन विवृत व्याख्यातमिति । इदानीं तु त्रिविध प्रत्याख्येय योगं सूत्रमनुभाषते--विवृणोति-' न करेमि, न कारवेमि ' इत्यादिनैव सूत्रावयवेन । अत्राह पर --ननु यद्येवम् , तर्हि किं पुन कारणम् , येन योगमुत्क्रम्यातिलङ्घ्य करणस्य प्रथम निर्देश. कृत' ? । उद्देशकाले हि प्रथम ' त्रिविधम् ' इत्युद्देशाद् योगा एव प्रथममुद्दिष्ट , तदनन्तरं ' त्रिविधेन ' इत्यभिधानात् पश्चात् करणस्योद्देश. कृत. । एव च सति ' यथोद्देश निर्देश ' इति न्यायादिह निर्देशोऽपि प्रथम योगस्य, पश्चात् करणस्य प्राप्नोति, तद्यथा--' न करेमि, न कारवेमि, करंत पि अण्ण ण समणुजाणामि मणेण वायाए काएण ' इति । न चैव निर्दिष्टम् , व्यत्ययाभिधानादिति । ' तो ' त्ति-ततो न यथोद्देशमेव निर्देशोऽत्र सजातः, तत् किमत्र कारणमिति वाच्यम् ? । गुरुराह-निशमय-आकर्णय भण्यतेऽत्र कारणम्-करणादिलक्षणस्य योगस्य करणतन्त्रापदर्शनार्थं मनो-वाक्-कायलक्षणकरणायत्ततोपदर्शनार्थमयं व्यत्यास कृत इति । एतदेव भावयति—देशितमुपदिष्टमेव व्यत्यासकरणेन भगवता सूत्रकृता--योऽय करणकरणादिव्यापारलक्षणो योग. स मन प्रभृतिकरणवशस्तदायत्त इति नियनम्-निश्चित स्वयमप्रधान', तद्भावे-करणभाव एव भावात् , तदभावेऽपि च-करणाभावेऽवश्यमभावादिति ।

किमिति योग करणभाव एव भवति, तदभावे तु न भवति ? इत्याह—

तस्स तदाधाराओ, तक्कारणओ य तप्परिणईओ ।
परिणंतुरणत्थंतर-भावाओ करणमेव तओ ॥३५३४॥

तस्य—योगस्य तदाधारत्वात्--करणाधारत्वात् , तथा-तद्--मन प्रभृति करणमेव कारणं यस्य स तत्कारणस्तद्भावस्तस्य तस्मात् , कारणत्वात् तस्य योगस्य, तथा-तत्परिणतित्वात्-करणपरिणतिरूपत्वात्-तस्य, तथा, परिणन्तु करणस्याऽनर्थान्तरत्वादनन्यत्वात् तस्य, यत. करणमेव तकोऽसौ योगः , ततस्तदात्मकत्वात् तद्भाव एव भवति, तदभावे तु न भवति । आह—यद्येवम् , उद्देशोऽप्येव कस्माद् न कृत. ? । उच्यते—योगस्यापि प्रत्याख्येयत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमिति । तदेव योगस्य करणात्मकत्वं दर्शितम् ।

अथ करणयोगयो· पुन समुदितयोर्जीवात्मकत्व दर्शयन्नाह—

एत्तो च्चिय जीवस्स वि, तम्मयया करण-जोगपरिणामा ।
गम्मइ नयंतराओ,कयाइ समए जओऽभिहियं॥३५३५॥

यत एव परिणन्तु परिणामोऽनर्थान्तरमुक्तम्, अत एव जीवस्यापि तन्मयता-स्वपरिणामरूपकरणयोगात्मना ग-

म्यते । कुत इत्याह—'करणजोगपरिणाम' त्ति करणं च योगश्च करण-योगौ तौ परिणामः—स्वभावौ यस्यासौ करणयोगपरिणामस्तद्भावस्तत्त्व तस्मात् करणयोगपरिणामत्वाज्जीवस्य । स हि करण-योगपरिणामेन परिणमति । परिणामश्च परिणन्तुरनर्थान्तरम् । अत. करणयोगात्मता जीवस्य गम्यते , कदाचित् कथञ्चिद् नयान्तराद् निश्चयलक्षण नयान्तरमाश्रित्येति , यत. समये सिद्धान्तेऽभिहितम् ।

किम् ? इत्याह—

आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एस ।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥३५३६॥

इह आत्मा मन.प्रभृतिना करणेन हनन-घातना-ऽनुमतिलक्षणा हिंसां तन्निवृत्तिरूपामहिंसां च करोतीति व्यवहार. । अस्यां च गाथायां निश्चयनयमतेन आत्मैव हननादिलक्षणा हिंसा , स एव च तन्निवृत्तिरूपाऽहिंसेत्युक्तम् । तदनेनात्मन. करणस्य योगलक्षणस्य कर्मणश्चैकत्वमुक्तं भवतीति ।

अत्र परप्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

आहेगत्ते कत्ता, कम्मं करणं ति को विभागोऽयं ।
भण्णइ पज्जायंतर-विसेसणाओ न दोसो त्ति ॥३५३७॥

आह पर.—नन्वेव त्रितयस्याप्येकत्वे कर्ता, कर्म , करण चेति को विभाग. ?—को भेद ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्—पर्यायान्तरेण विशेषणं पर्यायान्तरविशेषण तस्माद्दोष । इदमुक्तं भवति—एक एव कर्ताऽऽत्मा व्यतिरिक्तै कथञ्चिद् भिन्नै. कर्म-करणादिपर्यायान्तरैर्विशिष्यत इति नोक्तदोष इति ।

पूर्वं भावितमपीदं पुनरपि स्मारयन्नाह—

एक्कं पि सव्वकारग-परिणामाणन्नभावयामेइ ।
नाया नाणाणन्नो, जह विन्नेयाइपरिणामं ॥ ३५३८ ॥

एकमपि घटादिक वस्तु सर्वकारकपरिणामलक्षणमन्यान्यभावताम्-अन्यान्यरूपतामेति, यथा ज्ञाता जीवो ज्ञानानन्य. सन् विज्ञेयादिपरिणाममेति । स एव हि स्वज्ञान उपयुज्यमानः कर्ता , करणभूतज्ञानानन्यत्वात् स एव च करणं , स्वयं संवेद्यमानस्तु स एव विज्ञेय इति सविस्तरेण प्रागुक्तमिति ।

ननु 'सर्व सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि ' इत्युक्तम् , क पुनरसौ सावद्यो योगः ? इत्याह—

स य सावज्जो योगो, हिंसाईओ तयं मयं सव्वं ।
न करेमि न कारेमि य, न याणुजाणे करंतं पि ।३५३९।

स च सावद्यो योगो हिंसा-ऽनृतस्तेयादिको मन्तव्य' तकं सर्वमपि स्वयं न करोमि , न कारयाम्यन्यै , एवं नानुजानामि कुर्वन्तमपीति । विशे० आ० म० आ० चू० । सामायिकसूत्रसङ्ग्रह , तत्र ' करेमि भंते ! सामाइय' ति पंच समिईओ गहिआओ, 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि ' त्ति तिण्णि गुत्तीओ गहियाओ, एत्थ समिईओ पवत्तणे निग्गहे य गुत्तीओ त्ति, एयाओ अट्ठ पवयमायाओ जाहिं सामाइयं चोद्दसयपुव्वाणि मायाणि, माउगाओ त्ति मूल भणिय ति होइ "। इहेव प्राय सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिवक्तव्ताया उक्तत्वात् मध्यग्रहणे च तुलादण्डन्यायेनाऽऽद्यन्तयोरप्याक्षेपादिदमाह-' सुत्तप्फासियणिज्जु-त्ति वित्थरत्थो गओ एवं ' ति-सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिविस्तरार्थो गत , एवम्-उक्तेन प्रकारेणेति गाथार्थ ।

साम्प्रतं सूत्र एवातीतादिकालग्रहणं त्रिविधमुक्तमिति दर्शयन्नाह—

सामाइअं करेमी, पचक्खामी पडिकमामि त्ति ।
पच्चुप्पन्नमणागय-अईअकालाण गहणं तु ॥१०४६॥

सामायिकं करोमि, तथा प्रत्याख्यामि सावद्य योगमिति तथा प्रतिक्रमामीति प्राक्कृतस्य इदं हि यथासङ्ख्यमेव प्रत्युत्पन्नानागतातीतकालाना ग्रहणमिति, उक्त च-'अईयं णिंदइ पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ ' त्ति गाथार्थ. ॥१०४६॥ साम्प्रतं तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामीत्येतद् व्याख्यायते-तत्र 'तस्य' त्यधिकृतो योग संवध्यते, ननु च प्रतिक्रमामीत्यस्या' क्रियाया सोऽधिकृतो योग कर्म, कर्मणि च द्वितीया विभक्तिरतस्तमित्यभिधेये तस्येत्यभिधीयते किमर्थमिति ?, आह—प्रयोजनार्थ षष्ठी विवक्षात प्रयुक्ता सम्बन्धलक्षणा, अवयवलक्षणा वा, योऽसौ योगस्त्रिकालविषयस्तस्यातीत सावद्यमशमवयवं प्रतिक्रमामि न शेषं वर्तमानमनागतं वा । केचित् पुनरविभागज्ञा अविशिष्टमेव सामान्य योगं सम्बन्धयन्ति, तन्न युज्यते, अविशिष्टस्य त्रिकालविषयस्य प्रतिक्रमणप्रयोजनाभावात् , ग्रन्थगुरुत्वापत्तेश्च अविशिष्टमपि सवध्य पुनर्विशेषेऽवस्थापनीयस्तच्छब्द इति ग्रन्थगुरुता । यदेतत् प्रतिक्रमणमेतत् प्राय—श्चित्तमध्ये पठितमत प्रायश्चित्तमासेवितेऽतीतविषयमिति गतत्वादतीतप्रतिक्रमणमिति न वक्तव्यम् , इह पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात् , यस्मादस्य प्रतिक्रमामीतिशब्दस्य कर्मणा भवितव्यमवश्य, तच्च भूत सावद्ययोग मुक्त्वा नान्यत् कर्म भवितुमर्हति, यस्मात्तस्येत्यवयवलक्षणया षष्ठ्या सम्बन्ध ।

आह—यद्येवं पुनरुक्तादिभयादभिधीयते तत इदमपरमाशङ्कापदमिति दर्शयति—

तिविहेण ति न जुत्तं, पडिपयविहिणा समाहिअं जेण ।
अत्थविगप्पणयाए,गुणभावणय त्ति को दोसो?।१०४७।

' त्रिविध त्रिविधेन ' त्यत्र त्रिविधेनेत्ययुक्तमिति, अत आह—प्रतिपदविधिना समाहितं येन, यस्मात् प्रतिपदमभिहितमेव, मनसा वाचा कायेन ति । अत्रोच्यते, अर्थविकल्पनया—गुणभावनयेति वा को दोष ? एतदुक्तं भवति—अर्थविकल्पसङ्ग्रहार्थ न पुनरुक्तम् । अथवा—गुणभावना पुन पुनरभिधानाद्भवतीति न दोष । अथवा—मनसा वाचा कायेनेत्यभिहितं प्रतिपद न करोमि, न कारयामि, नानुजानामीति । ' यथासङ्ख्यमनुदेश समानाना ' मिति यथासङ्ख्यकमनिष्ट मा प्रापदिति त्रिविधेनैकैकमुच्यते, त्रिविधमित्यत्राप्ययमेव प्राय परिहार इति गाथार्थ ॥१०४७॥ इत्यल प्रसङ्गेन । प्रकृत प्रस्तुम —' तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामी ' त्यत्र भदन्त पूर्ववद् अतिचारनिवृत्तिक्रियाभिमुखश्च तद्विशुद्ध्यर्थमामन्त्रयत इति, अत्राऽऽह—ननु पूर्वमुक्त एव भदन्त स एवानुवर्तिष्यते एवमर्थं चात्र

प्रयुक्त इत्यत किं पुनरनेनेति ?, अत्रोच्यते-अनुवर्तनार्थमेव च । पुनरनुस्मरणाया प्रयुक्त , यत. परिभाषा-अनुवर्तन्ते न नाम विधया , न चानुवर्तनादेव भवन्ति , किं , तर्हि ?, द नाङ्गवन्ति, स चाय यत्न -पुनरुच्चारणमिति । अथवा-सामायिकक्रियाप्रत्यर्पणवचनाऽय भदन्तशब्द , अनेन चैतत् ज्ञापित भवति-सर्वक्रियावसाने गुरो. प्रत्यर्पण कार्यमिति , उक्त च भाष्यकारेण—, सामाइयपच्चप्पण-वयणोऽय भदतसद्दो त्ति । सव्वकिरियावसाणे, भणिय पच्चप्पणमेण ॥ १ ॥' इति कृत प्रसङ्गेन । प्रतिक्रमामीत्यत्र प्रतिक्रमण-मिथ्यादुष्कृतमभिधीयते । तच्च द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च, तथा चाह निर्युक्तिकार -

दव्वम्मि निण्हगाई, कुलालमिच्छंति तत्थुदाहरणं ।
भावम्मि तदुवउत्तो, मिआवई तत्थुदाहरणं ॥१०४८॥

द्रव्य इति द्वारपरामर्श', द्रव्यप्रतिक्रमणं तद्भेदोपचारात् तद्धेतोरुच्यते । अत एवाह-निह्नवादि, आदिशब्दाद्-अनुपयुक्तादिपरिग्रह , कुलालमिथ्यादुष्कृतं तत्रोदाहरण, तच्चेदम्
एगस्स कुंभकारस्स कुडीए साहुणो ठिया, तत्थेगो चेल्लओ तस्स कुंभगारस्स कोलालाणि अंगुलिधणुहएण पाहाणएहिं विंधइ. कुंभगारेण पडिजग्गिउ दिट्ठो, भणिओ य-कीस मे कोलालाणि काणेसि ?, खुड्डुओ भणइ-मिच्छा मि दुक्कड ति एव सो पुणोऽवि विंधिऊण मिच्छा मि दुक्कडं ति, पच्छा कुंभगारेण तस्स खुड्डगस्स कन्नामोडओ दिन्नो, सो भणइ-दुक्खाविओऽहं. कुंभगारो भणइ-मिच्छा मि दुक्कड एव सा पुणो पुणो कन्नामोडय दाऊण मिच्छा दुक्कड ति करेइ । पच्छा चेल्लगो भणइ-अहो सुन्दरं मिच्छा मि दुक्कड ति, कुंभगारो भणइ-तुज्झ वि एरिसं चेव मिच्छा दुक्कड ति , पच्छा ठिओ विंधियव्वस्स । 'ज दुक्कड ति मिच्छा, तं चेव णिसेवई , पुणो पावं । पच्चक्खमुसावाई , मायाणियडीपसंगो य ॥ १ ॥ एयं दव्वपडिक्कमणं ॥ भावप्रतिक्रमण प्रतिपादयति—भाव इति द्वारपरामर्श एव , 'तदुपयुक्त एव' तस्मिन्—अधिकृते शुभव्यापारे उपयुक्तस्तदुपयुक्तो यत् करोति , मृगावति तत्रोदाहरण तच्चेदम्-भगव वद्धमाणसामी कोसबीए समोसरिओ , तत्थ चंदसूरा भगवंत वंदगा सविमाणा ओइण्णा , तत्थ मियावई अज्जा उदयणमाया दिवसो त्ति काउ चिर ठिया , सेसाओ साहुणीओ तित्थयर वंदिऊण सनिलय गयाओ । चंदसूरा वि तित्थयरं वंदिऊण पडिगया , सिग्घमेव वियालीभूयं , मियावई सभता गया अज्जचंदणासगास । ताओ य ताव पडिक्कताओ, मियावई आलोएउ पवत्ता , अज्जचंदणाए भणइ-कीस अज्जे ! चिर ठियासि ?, न जुत्त नाम तुम उत्तमकुलप्पसूयाए एगागिणीए चिरं अच्छिउ ति । सा सब्भावेण मिच्छा मि दुक्कड ति भणमाणी, अज्जचंदणाए पाएसु पडिया , अज्जचंदणा य ताए वेलाए सथारं गया , ताहे निद्दा आगया, पसुत्ता । मियावईए वि तिव्वसंवेगमावण्णाए पायपडियाए चेव केवलणाणं समुप्पण्णं । सप्पो य तेणतेणमुवागओ । अज्जचंदणाए य सथाराओ हत्थो ओलंबिओ, मियावईए मा खज्जिहिति त्ति सा हत्थो सथारग चडाविओ । सा विवद्धा भणइ—किमेयं ति ?.अज्ज वि तुमं अच्छसि त्ति मिच्छा मि दुक्कड, निद्दापमाएण ण उट्ठाविया सि । मियावई भणइ—एस सप्पो मा भे खाहिइ त्ति अतो हत्थो चडाविओ । सा भणइ—कहिं ? सो, सा दाएइ, अज्जचंदणा अपेच्छमाणी भणइ-अज्जे ! किं ते अइसओ ?, सा भणइ—आम, तो किं छाउमत्थिओ केवलिओ त्ति ?, भणइ—केवलिओ, पच्छा अज्जचंदणा पाएसु पडिऊण भणइ—मिच्छा मि दुक्कड ति । केवली आसाइओ त्ति, इय भावपडिक्कमणं । एत्थ गाहा—'जइ य पडिक्कमियव्व,अवस्स काऊण पावय कम्म । त चेव न कायव्व,तो होइ पए पडिक्कंतो ॥१॥' त्ति गाथार्थ ॥१०४८॥ इह च प्रतिक्रमामीति भूतात्-सावद्ययोगान्निवर्तेऽहमित्युक्त भवति, तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति , तथा निन्दामीति—गर्हामि, अत्र निन्दामीति जुगुप्सेत्यर्थ, गर्हामीति च तदेवोक्तं भवति, एव तर्हि को भेद एकार्थत्वे ?, उच्यते—सामान्यार्थाभेदेऽपीष्टविशेषार्थो गर्हाशब्द, यथा—सामान्ये गमनार्थे गच्छतीति गौ , सर्पतीति सर्प । तथाऽपि गमनविशेषोऽवगम्यते, शब्दार्थादेव, एवमिहापि निन्दागर्हयोरिति । त चार्थविशेष दर्शयति—

सचरित्तपच्छयावो, निंदा तीए चउक्कनिक्खेवो ।
दव्वे चित्तयरसुआ, भावेसु वहू उदाहरणा ॥ १०४९॥

सचरित्रस्य सत्वस्य पश्चात्तापो निन्दा, स्वप्रत्यक्षं जुगुप्सेत्यर्थ , उक्तं च—" आत्मसाक्षिकी निन्दा " ' तीए चउक्कनिक्खेवो' त्ति-तस्यां तस्या वा नामादिभेदचतुष्को निक्षेप इति , तत्र नामस्थापने अनादृत्याऽऽह—'दव्वे चित्तकरसुया, भावेसु वहू उदाहरण' त्ति-द्रव्यनिन्दायां चित्रकरसुतोदाहरण, सा जहा रण्णा परिणीया अप्पाणं णिंदियाइय त्ति । भावनिन्दाया सुवहून्युदाहरणानि योगसग्रहेषु वक्ष्यन्ते, लक्षण पुनरिदम्—'हा ! दुट्ठु कय हा ! दु-ट्ठु कारिय दुट्ठु अणुमय इ त्ति । अतो अतो डज्झइ, पच्छातावेण वेवतो ॥ १ ॥ ' त्ति गाथार्थ ।

गरहा वि तहा जाई, अमेव नवरं परप्पगासणया ।
दव्वम्मि मरुअनायं, भावेसु वहू उदाहरणा ॥१०५०॥

गर्हाऽपि तथाजातीयैवेति—निन्दाजातीयैव, नवरमेतावान् विशेष—परप्रकाशनया गर्हा भवति , या गुरो. प्रत्यक्ष जुगुप्सा सा गर्हेति, " परसाक्षिकी गर्हे " ति वचनाद् , असावपि चतुर्विधैव, तत्र नामस्थापने अनादृत्यैवाह—'दव्वम्मि मरुअणायं भावेसु वहू उदाहरण ' त्ति-तत्र द्रव्यगर्हाया मरुकोदाहरण, तच्चेदम्—आणंदपुरे मरुओ एहुसाए समं सवास काऊण उवज्झायस्स कहेइ, जहा सुविणए एहुसाए समं सवास गओ मि त्ति । भावगर्हाए साधू उदाहरण—' गतूण गुरुसगासो, काऊण य अजलिं विणयमूल । जह अप्पणो तह परे, जाणावण एस गरहा उ ॥ १ ॥ ' त्ति गाथार्थ ॥ १०४९ ॥ तत्र निन्दामि गर्हामीत्यत्र गर्हा जुगुप्सोच्यते, तत्र किं जुगुप्से ?, ' आत्मानम्' अतीतसावद्ययोगकारिणमश्लाघ्यम । अथवा-अत्राणम्-अतीतसावद्ययोगत्राणविरहित जुगुप्से,सामायिकेनाधुना त्राणमिति । अथवा—'अत' सातत्यगमने, अतनमतीत-सावद्ययोग सततभवनप्रवृत्त निवर्तयामीति, व्युत्सृजामीति-

विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्द , उच्छब्दो भृशार्थ , सृजामि त्यजामीत्यर्थ , विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि-व्युत्सृजामि , अतीतसावद्ययोगं व्युत्सृजामीति वा , अवशब्दोऽध शब्दस्यार्थे, विशेषेणाध सृजामीत्यर्थ , नन्वेवं सावद्ययोगपरित्यागात् करोमि भदन्त ! सामायिकमिति सावद्ययोगनिवृत्तिरुच्यते, तस्य व्युत्सृजामि शब्दप्रयोगे वैपरीत्यमापद्यते,नन्न,यस्मात् मासादिविरमणक्रियानन्तर व्युत्सृजामीति प्रयुक्ते तद्विपक्षत्यागो मासभक्तादिनिवृत्तिरभिधीयते, एवं सामायिकानन्तरमपि प्रयुक्ते व्युत्सृजामिशब्दे तद्विपक्षत्यागोऽवगम्यते, स च तद्विपक्ष सुगम एवेत्यन्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते , ग्रन्थविस्तरभयाद् , गमनिकामात्रप्रधानत्वात् प्रारम्भस्य ।

साम्प्रतं व्युत्सर्गप्रतिपादनायाऽऽह ग्रन्थकार—

दव्वविउस्सग्गे खलु, पसन्नचंदो हवे उदाहरणं ।
पडिआगयसंवेगो, भावम्मि वि होइ सो चेव ॥१०५१॥

इह द्रव्यव्युत्सर्ग.-गणोपधिशरीरान्नपानादिव्युत्सर्ग अथवा-द्रव्यव्युत्सर्ग-आर्तध्यानादिध्यायिनः कायोत्सर्ग इति।अत एवाऽऽह-द्रव्यव्युत्सर्गे खलु प्रसन्नचन्द्रो भवत्युदाहरणम्,भावव्युत्सर्गस्त्वज्ञानादिपरित्याग. । अथवा—धर्मशुक्लध्यायिन. कायोत्सर्ग एव,तथा चाऽऽह-प्रत्यागतसंवेगो भावेऽपि भावव्युत्सर्गेऽपि भवति स एव-प्रसन्नचन्द्र उदाहरणमिति गाथाक्षरार्थ ॥१०५१॥भावार्थ. कथानकादवसेय । तच्चेदम्-"खिइपइट्ठिए णयरे पसन्नचंदो राया,तत्थ भगवं महावीरो समोसढो, तओ राया धम्म सोऊण संजायसंवेगो पव्वइओ, गीयत्थो जाओ । अण्णया जिणकप्प पडिवज्जिउकामो सत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ । तेणं कालेणं रायगिहे णयरे मसाणे पडिम पडिवन्नो, भगवं च महावीरो तत्थेव समोसढो, लोगोऽवि वंदगो णीइ । दुवे य वाणियगा खिइपइट्ठियाओ तत्थेव आयाया , पसन्नचंदं पासिऊण एगेण भणियं-एस अम्हाणं सामी रायलच्छिं परिच्चइय तवस्सिरिं पडिवन्नो । अहो से धन्नया, बिइएण भणियं-कुओ एयस्स धण्णया ?, जो असंजायबल पुत्त रज्जे ठविऊण पव्वइओ, सो तवस्सी दाइएहिं परिभविज्जइ, णयरं च उत्तिमक्खय पवण्णं ताव, एयमण्ण बहुओ लोगो दुक्ख ठविओ त्ति अदट्ठव्वो एसो । तस्स त सोऊण कोवो जाओ, चिंतिय चऽणेण-का मम पुत्तस्स अवकरेइ त्ति ?, णूणममुगो, ता किं तेण ?, एयावत्थगओ ण वावाएमि, माणसंसंगामेण रोद्दझाण पवन्नो, हत्थिणा हत्थि विवाएइ त्ति, विभासा । एत्थंतरे सेणिओ भगवं वंदओ णीइ,तेण वि दिट्ठो वंदिओ य अणेण ईसिं पि ण य निज्झाइतओ । सेणिएण चिंतियं-सुक्कज्झाणोवगओ एस भगव, ता एयम्मि झाण कालगयस्स का गई भवइ त्ति भगवंतं पुच्छिस्सं, तओ गओ वंदिऊण पुच्छिओऽणेण भगवं-जम्मि झाणे ठिओ मए वंदिओ पसन्नचंदो तम्मि मयस्स कहिं उववाओ भवइ ?, भगवया भणियं-अहे सत्तमाए पुढवीए । तओ सेणिएण चिंतियं हा ! किमेयं ति ?, पुणो पुच्छिस्सं । एत्थंतरम्मि अ पसन्नचंदस्स माणसे संगामे पहाणनायगेण सद्धावडियस्स असिसत्तिचक्काईणि पमुहाई सयं गयाइं पहरणाइ , तओऽणेण सिरत्ताणेणं वावाएमि त्ति परामुसियमुत्तिमंगं, जाहे लोयं करेति, तओ संवेगमावण्णो महया विसुज्झमाणपरिणामेण अत्ताणं निंदिउं पयत्तो, समाहियं चऽणेण पुणरवि सुक्क झाणं । एत्थंतरम्मि सेणिएण वि पुणोऽवि भगवं पुच्छिओ--भगवं ! जारिसे झाणे संपइ पसन्नचंदो वट्टइ तारिसे मयस्स कहिं उववाओ ?, भगवया भणियं--अणुत्तरसुरेसु ति. तओ सेणिएण भणियं पुव्वं किमन्नहा परूवियं उआहु मया अन्नहा अवगच्छियं-ति ?, भगवया भणियं-न अन्नहा परूवियं, सेणिएण भणियं-किं वा कह व त्ति ?, तओ भगवया सव्वो वुत्तंतो साहिओ । एत्थंतरम्मि य पसन्नचंदसमीवे दिव्वो देवदुंदुहिसणाहो महन्तो कलयलो उद्धाइओ, तओ सेणिएण भणियं भगवं ! किमेयं ति ?, भगवया भणियं-तस्सेव विसुज्झमाणपरिणामस्स केवलणाणं समुप्पण्णं, तओ से देवा महिमं करेंति । एस एव दव्वविउस्सग्ग-भावविउस्सग्गेसु उदाहरणं ।"

साम्प्रतं समाप्तौ यथाभूतोऽस्य कर्ता भवति सामायिकस्य तथाभूत संक्षेपतोऽभिधित्सुराह—

सावज्जजोगविरओ, तिविहं तिविहेण वोसिरिअ पावं ।
सामाइअमाईए, एसोऽणुगमो परिसमत्तो ॥ १०५२ ॥

सावद्ययोगविरत , कथमित्याह—त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृज्य पापं न तु सापेक्ष एवेत्यर्थ , पाठान्तरं वा सावद्ययोगविरत सन् त्रिविध त्रिविधेन व्युत्सृजति पापमेवं, सामायिकादौ—सामायिकारम्भसमये एषोऽनुगम. परिसमाप्त । अथवा-सामायिकादौ सूत्र इति, आदिशब्दात्-सर्वमित्याद्यवयवपरिग्रह इति गाथार्थ ॥ १०५२॥ उक्तोऽनुगम. ।

सम्प्रति नया , ते च नैगमसङ्ग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदभिन्ना खल्वोघत सप्त भवन्ति , स्वरूपं चैतेषामध सामायिकाध्ययने त्वक्षेण प्रदर्शितमेवेति नेह प्रतन्यते, इह पुन. स्थानाशून्यार्थमेते ज्ञानक्रियानयद्वयान्तर्भावद्वारेण समासत. प्रोच्यन्ते, ज्ञाननय. क्रियानयश्च । तथा चाऽऽह—

विज्जाचरणनएसुं, सेससमोआरणं तु कायव्वं ।
सामाइअनिज्जुत्ती, सुभासिअत्था परिसमत्ता ॥१०५३॥

'विज्जाचरणनएसुं' ति—विद्याचरणनययोः ; ज्ञानक्रियानययोरित्यर्थ , 'सेससमोयारण तु कायव्वं' ति-शेषनयसमवतार कर्तव्य , तुशब्दो विशेषणार्थ । किं विशिनष्टि ?—तौ च वक्ष्यमाणौ, सामायिकनिर्युक्ति सुभाषितार्था परिसमाप्तेति प्रकटार्थमिति गाथार्थ ॥१०५३॥

साम्प्रत स्वद्वार एव शेषनयान्तर्भावेनाधिकृतमहिमानौ अनन्तरगाथान्तस्तगाथागतानुशब्देन चावश्यकमङ्गलतया विहितौ ज्ञानचरणनयावुच्येते, तत्र ज्ञाननयदर्शनमिदं--ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात् । तथा चाऽऽह—

नायम्मि गिण्हिअव्वे, अगिण्हिअव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइअव्वमेव इअ जो,उवएसो सो नओ नाम ॥१०५४॥

'नायम्मि' त्ति-ज्ञाते सम्यक्परिच्छिन्ने गिण्हियव्वे त्ति ग्रहीतव्ये-उपादेये अगिण्हियव्वम्मि त्ति-अग्रहीतव्ये अनु-

पादेये हेय इत्यर्थ , चशब्द खलूभयोर्ग्रहीतव्याऽग्रहीतव्ययोर्ज्ञातत्वानुकर्षणार्थः , उपेक्षणीयसमुच्चयार्थो वा, एवकारस्त्ववधारणार्थः, तस्य चैवं व्यवहित. प्रयोगो द्रष्टव्य. ज्ञात एव ग्रहीतव्यं, तथा-अग्रहीतव्ये-तथोपेक्षणीये च, ज्ञात एव नाज्ञाते । ' अत्थम्मि ' त्ति-अर्थे—ऐहिकामुष्मिके, तत्रैहिक ग्रहीतव्य.-स्रक्चन्दनाङ्गनादि , अग्रहीतव्यो-विषशस्त्रकण्टकादि , उपेक्षणीय -तृणादि । आमुष्मिको ग्रहीतव्यः-सम्यग्दर्शनादि , अग्रहीतव्यो-मिथ्यात्वादि , उपेक्षणीयो-विवक्षयाऽभ्युदयादिरिति, तस्मिन्नर्थे ' जइअव्वमेव ' त्ति-अनुस्वारलोपाद् यतितव्यम् , एवम्—अनेन क्रमेणैहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन यतितव्यमेव, प्रवृत्त्यादिलक्षण प्रयत्न' कार्य इत्यर्थ , इत्थ चैतदङ्गीकर्तव्यं , सम्यगृज्ञाते प्रवर्तमानस्य फलविसंवाददर्शनात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्—"विज्ञप्ति फलदा पुसा, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥ १ ॥ " तथा-आमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि ज्ञात एव यतितव्यम् , तथा चागमोऽप्येवमेव व्यवस्थित , यत उक्तम्—"पढम णाण तओ दया , एव चिट्ठइ सव्वसजए । अन्नाणी कि काहिनि , किं वा णाहिनि छेय पावगं ? ॥ १ ॥ " इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं यस्मात्तीर्थकरगणधरैरगीतार्थाना केवलाना विहारक्रियाऽपि निषिद्धा , तथा चागम —"गीयत्थो य विहारो, वितिओ गीयत्थमीसओ भणिओ । एत्तो तइयविहारो, णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥ १ ॥ " न यस्मादन्धेनान्धस्समाकृष्यमाण सम्यक् पन्थान प्रतिपद्यत इत्यभिप्राय. । एवं तावत् क्षायोपशमिक ज्ञानमधिकृत्योक्त, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य विशिष्टफलसाधकत्व तस्यैव विज्ञेय, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधितटस्थस्य दीक्षा प्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्ति सजायते यावज्जीवाजीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदरूपं केवलज्ञानं नोत्पन्नमिति , तस्माज्ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम् । ' इति जो उवएसो सो नयो नाम ' ति-इति-एवमुक्तेन न्यायेन य. उपदेशो ज्ञानप्राधान्यख्यापनपर स नयो नाम, ज्ञाननय इत्यर्थ. । अयं च चतुर्विधे सम्यक्त्वादिसामायिके सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकद्वयमेवेच्छति, ज्ञानात्मकत्वादस्य , देशविरतिसर्वविरतिसामायिके तु तत्कार्यत्वात् तदायत्तत्वान्नेच्छति , गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थः ॥ १०५४ ॥ उक्तो ज्ञाननय अधुना क्रियानयावसर , तद्दर्शन चेदम्-क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारण , युक्तियुक्तत्वात् , तथा चायमप्युक्तलक्षणामेव स्वपक्षसिद्धये गाथामाह-' णायंमि गिण्हियव्वे ' त्यादि, अस्या क्रियानयदर्शनानुसारेण व्याख्या-ज्ञाते ग्रहीतव्ये , अग्रहीतव्ये चैव अर्थे ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना यतितव्यमेव, न यस्मात् प्रवृत्त्यादिलक्षणप्रयत्नव्यतिरेकेण ज्ञानवताऽप्यभिलषितार्थावाप्तिर्दृश्यते । तथा चान्यैरप्युक्तम्-क्रियैव फलदा पुसा , न ज्ञानं फलद मतम् । यत स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो , न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥ १ ॥ " तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना क्रियैव कर्तव्या । तथा च-मुनीन्द्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितम् , यत उक्तम्-" चेइयकुलगणसघे, आयरिआण च पवयणसुए य । सव्वेसु वि तेण कय, तवसजममुज्जमतेणं ॥ १ ॥ " इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं यस्मात् तीर्थकरगणधरैः क्रियाविकलाना ज्ञानमपि विफलमेवोक्तम् , तथा चाऽऽगम —" सुबहु पि सुयमहीय, किं काहि चरणविप्पमुक्कस्स ? । अधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥ १ ॥ " इति—क्रियाविकलत्वात् तस्येत्यभिप्राय , एव तावत् क्षायोपशमिकं चारित्रमङ्गीकृत्योक्त चारित्र क्रियेत्यनर्थान्तर , क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य प्रकृष्टफलसाधकत्व तस्या एव विज्ञेयम्, यस्मादर्हतोऽपि भगवत समुत्पन्नकेवलज्ञानस्यापि न तावन्मुक्त्यवाप्ति सजायते यावदखिलकर्मेन्धनानलभूता ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालावस्थायिनी सर्वसंवररूपा चारित्रक्रिया नावाप्तेति, तस्मात् क्रियैव प्रधाना ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम् । 'इति जो उवएसो सो नओ नाम ' ति-इति—एवमुक्तेन न्यायेन य उपदेश क्रियाप्राधान्यख्यापनपर स नयो नाम , क्रियानय इत्यर्थ , अय च सम्यक्त्वादौ चतुर्विधे सामायिके देशविरतिसर्वविरतिसामायिकद्वयमेवेच्छति क्रियात्मकत्वादस्य , सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिके तु तदर्थमुपादीयमानत्वादप्रधानत्वान्नेच्छति, गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थ ॥ १०५५ ॥ उक्त क्रियानय । इत्थ ज्ञानक्रियानयस्वरूपं ज्ञात्वाऽविदिततदभिप्रायो विनेय सशयापन्नः सन्नाह--किमत्र तत्त्व ?, पक्षद्वयेऽपि युक्तिसम्भवात् , आचार्य पुनराह-' सव्वेसिं पि' गाहा । अथवा-ज्ञानक्रियानयमत प्रत्येकमभिधायाधुना स्थितपक्षमुपदर्शयन्नाह—

सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥१०५५॥

सर्वेषामपि मूलनयानाम् , अपिशब्दात्—तद्भेदाना च नयानाम्-द्रव्यास्तिकादीना बहुविधवक्तव्यता सामान्यमेव विशेषा एव उभयमेव वाऽनपेक्षमित्यादिरूपाम् । अथवा-नामादीना नयाना क क साधुमिच्छतीत्यादिरूपां निशम्य-श्रुत्वा तत् सर्वनयविशुद्ध-सर्वनयसम्मत वचन यच्चरणगुणस्थित साधु , यस्मात् सर्वनया एव भावनिक्षेपमिच्छन्तीति गाथार्थो । आव० ।

'भंते' इत्यतिदेशयन्नाह—

भंति त्ति पुव्वभणियं,तेण च्चिय भणइ किं पुणो भणियं ।
सव्वत्थ सोऽणुवत्तइ,भणिय चादिप्पउत्तो त्ति ॥३५६७॥
अणुवत्तणत्थमेव य, तग्गहणं नाणुवत्तणादेव ।
अणुवत्तंते विधओ,जमिह कया किं तु जत्तेणं ॥३५६८॥

'भंते'इति पद पूर्वमेव भणित व्याख्यातम् , इति नेह व्याख्यायते । तेनैव कारणेन-तेनैव हेतुना तर्हि परा भणति-यदि पूर्वमेवेद भणितम् , तर्हि किं पुनरपीह भणितं सूत्रकृता ?-ननु सर्वत्र सूत्रान्ते यावदनुवर्तत एवासौ,भणित चान्यत्र-'आदौ प्रयुक्तोऽर्थ सर्वत्रानुवर्तते ' इति । गुरुराह-सत्यमेवैतत् , सूत्रान्त यावदनुवर्तनार्थमेव तस्य भदन्तशब्दस्य ग्रहण तद्ग्रहणमादौ कृतम् , केवल नानुवर्तनादेव-नानुवर्तनमात्रादेव यस्मादधिकृता विधयोऽनुवर्तन्ते भवन्ति, किन्तु यत्नेन कृतेन ते भवन्ति, तथा चोक्त परिभाषासु—

'अनुवर्तन्ते च नामविधयो न चानुवर्तनादेव भवन्ति, किं तर्हि ? यत्नाद् भवन्ति'। स चायं यत्न', यत् तस्यानुस्मरणार्थं पुनरुच्चारणमिति।

अथवा, पुनरुक्तदूषणे समाधानान्तरत्रयमाह—

अहवा समत्तसामा-इयकिरिओ तव्विमोहणत्थाए।
तस्माईआरनिय-त्तणाइकिरियत्तराभिमुहो ॥३५६९॥
जं च पुरा निद्दिहं, गुरुं जहावासयाइं सव्वाइं।
आपुच्छिउं करिज्जा, तयणेणं समत्थियं होइ ॥३५७०॥
सामाइयपच्चप्पण-वयणो वाऽयं भदंतसद्दो त्ति।
सव्वकिरियावसाणे, भणियं पच्चप्पणमणेणं ॥३५७१॥

अथवा-समासप्रस्तुतसामायिकप्रतिपत्तिक्रियस्तन्मालिन्यविशुद्धिहेतोस्तस्य सामायिकस्य येऽतिचारा-मालिन्यप्रकारास्तेभ्यो यद् निवर्तनादिरूपं क्रियान्तरम्, आदिशब्दाद्-निन्दागर्हाक्रियान्तरपरिग्रहः, तदभिमुखः पुनरपि भदन्तशब्दमुच्चारयति विनेय इति शेषः। यच्चेहैव पुरा-पूर्व निर्दिष्टं यथा गुरुमापृच्छ्य सर्वाण्यावश्यकानि कुर्याद् विनय'। तदनेन पुनरपि भदन्तशब्दोच्चारणेन समर्थितं भवति। पूर्वं ह्यनेन भदन्तशब्दोच्चारणाद् गुरुमापृच्छ्य सामायिकावश्यकं प्रतिपन्नम्। इदानीं तु तदतीचारप्रतिक्रमणावश्यकं पुनरपि तदुच्चारणात् तमापृच्छ्य कुर्वता यथोक्तार्थः समर्थितो भवतीति। अहवा—' भवन्त पृष्ट्वा यत् पूर्वं कर्तुमारब्धं सामायिकं तदिदानीं कृत—समर्थितं भदन्त ! मया, इत्येवं सामायिकक्रियाप्रत्यर्पणवचनोऽयं भदन्तशब्दः। अनेन च गुरुमापृच्छ्यारब्धानां सर्वासामपि क्रियाणामवसाने गुरोः प्रत्यर्पण—निवेदनमवश्यं विधेयमित्येतद् भणितं भवति।

अथ 'पडिक्कमामि' इत्यादिक्रियाव्याख्यानार्थमाह-

तेयं पडिक्कमामि, त्ति भूयसावज्जओ नियत्तामि।
वत्तो य जा नियत्ती, तदणुमइओ विरमणं जं ॥३५७२॥
निंदामि त्ति दुगुंछे, गरिहामि तदेव तो कओ भेओ ?।
भण्णइ सामण्णत्था, भेए इट्ठो विसेसत्थो ॥३५७३॥
जह गच्छइ त्ति गो स-प्पइ त्ति सप्पो सम वि गच्छत्थे।
गम्मइ विसेसगमणं, तह निंदागरहणत्थाणं ॥३५७४॥

'प्रतिक्रमामि' इत्यस्य व्याख्यानं ज्ञेयम्। किम् ? इत्याह-'भूतसावद्ययोगाद् निवर्तेऽहम्' इति प्रश्नः पृच्छति-भूतसावद्ययोगस्यासेवितत्वात् का नामेदानीं ततो निवृत्ति: ?, इत्याह—यत् तदनुमतेर्विरमणं, न पुनस्तत्करण-कारणाभ्याम्, तयोरासेवितत्वेन विरमणायोगादिति। 'निन्दामि' इति कोऽर्थः ?'जुगुप्से-आत्मानमतीतसावद्ययोगकारिणम्' इति स्वयमेवं वक्ष्यति। 'गर्हामि' इत्यनेनाप्येतदेवोक्तं जुगुप्से इति। आह—ततस्तर्हि कुतो निन्दा-गर्हयोरर्थतो भेदः, द्वयोरपि जुगुप्सार्थत्वात् ?। भण्यतेऽत्रोत्तरम्—सामान्यार्थाभेदेऽपि विशेषार्थो विशेषवदर्थाभिधायक इष्टो गर्हाशब्द इति। यथा गच्छतीति गौः, सर्पतीति सर्पः इत्यनयोः समानेऽपि गत्यर्थे द्वयोरपि विशेषवद् गमनं गम्यते-प्रतीयते तथा निन्दा-गर्हार्थयोरपि विशेषरूपत्वं वक्ष्यतीति।

तदेवाह—

सप्पच्चक्खदुगंछा, तह निंदामि त्ति गम्मए समए।
गुरुपच्चक्खदुगंछा, गम्मइ गरिहामि सद्देणं ॥३५७५॥

'तह' त्ति-यथा गो-सर्पयोर्गमनस्य सामान्यतोऽभेदेऽपि विशेषतो भेदो दृष्टस्तथा निन्दा--गर्हाभिधेयस्यापि जुगुप्सार्थस्य विशेषतो भेदोऽस्ति तथाहि—या स्वप्रत्यक्षाऽऽत्मसाक्षिकी जुगुप्सा सा समये सिद्धान्ते 'निन्दामि' इत्यनेन गम्यते-अवबुध्यते, या तु गुरुप्रत्यक्षा गुरुसाक्षिकी जुगुप्सा सा 'गर्हामि' इत्यनेन शब्देन गम्यत इति।

अथवा—एकार्थयोरपि निन्दा—गर्हयोर्ग्रहणं भृशा-ऽऽदरार्थमिह न विरुध्यत इति दर्शयन्नाह—

एगत्थोभयगहणं, भिसादरत्थं च जमुदियं होइ।
कुच्छामि कुच्छामि, तदेव निंदामि गरिहामि ॥३५७६॥
भिसमायरओ व पुणो, पुणो व कुच्छामि जमुदियं होइ।
पुणरुत्तमणत्थं वे-ह नाणुवादादरादीसुं ॥३५७७॥

एकार्थं च तदुभयं च निन्दा—गर्हालक्षणमेकार्थोभयं तस्य ग्रहणमेकार्थोभयग्रहणं, तदपि चेह भृशादरार्थं न विरुध्यते। ततश्च 'कुच्छामि कुच्छामि' इत्यनेन यदुक्तं भवति, 'निन्दामि गरिहामि' इत्यनेनापि तदेवोक्तं भवतीति भृशमत्यर्थम् आदरतो वा पुनः पुनरेव 'कुच्छामि' इति यदुक्तं भवति-इदमुक्तं भवतीत्यर्थः। न चेहानुवादादरादिषु पुनः पुनरपि प्रत्युक्तमपि वचः पुनरुक्तमनर्थकं वा भवतीति।

अथ 'निंदामि गरिहामि' इत्यनयोः कर्मपदव्याख्यानार्थमाह—

किं कुच्छामऽप्पाणं, अईयमावज्जकारिणमसग्घं।
अत्ताणमयणमहवा, सावज्जमईयजोगं ति ॥३५७८॥

किं 'कुच्छामि-जुगुप्से' ? इत्याह-आत्मानं निजजीवम्। कथंभूतम् ? अतीतसावद्ययोगकारिणम्। अत एवाश्लाघ्यम्-प्रशंसनीयम्। अथवा—अतनं-सततं निपतनमशननम्, अतन वाऽनादिकालात् सातत्यभवनप्रवृत्तमतीतसावद्ययोग 'कुच्छामि जुगुप्से, भवहेतुत्वात्, सर्वविरतिसामायिकस्यैव भवाब्धौ निमज्जता आगन्त्वादिति।

अथ 'व्युत्सृजामि' इति सत्रस्य चरमावयवस्य व्याख्यानार्थ-

विविहं विसेसओ वा, भिसं सिरामि त्ति वोसिरामि त्ति।
छड्डेमि त्ति जमुत्तं, तमेव मम्मईयसावज्जं ॥३५७९॥

विशब्दो विविधार्थो विशेषार्थो वा, उत्सर्गस्तु भृशार्थः, ततश्च विविधं विशेषतो वा भृशमत्यर्थं 'सृज त्यजनं', सृजामि-त्यजामीति यदुक्तं भवति। कम् ? इत्याह—तमेवातीतसावद्ययोगम्। व्युत्सृजामि इति-वाऽथवा-ऽयं शब्दार्थः, विशेषेण सृजामि-सिरामि व्युत्सृजामीति। आह—सर्वं सावद्ययोगप्रत्याख्यानं 'करोमि भदन्त! सामायिकम्' इति सावद्ययोगनिवर्तनमुक्तं तदनन्तरं 'व्युत्सृजामि' इत्युक्ते तत्सावद्ययोगोत्सर्जन व्युत्सृजामि इति तदर्थोत्पन्नमापद्यते। तत्र। कुतः ? इत्याह—

संसाराद्दिगामाणो, ण्णय भणियम्मि वोसिरामि त्ति।

तप्पडिवक्खच्चाओ, गम्मइ सामाइए वेवं ॥ ३५८० ॥

यथेह मासादिविरमणादनन्तरं 'व्युत्सृजामि' इति भणिते तत्प्रतिपक्षत्यागो मांसभक्षणानिवृत्तिरूपो गम्यते-अवसीयते-तथा सव्यवहारदर्शनात्, प्रस्तुतसामायिकेऽप्येवमेवावगन्तव्यम्। इदमुक्तं भवति-यथा मम सुराइय पञ्चक्खामि जावज्जीवाए चउव्विहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण न भुजेमि, न भुजावेमि, वोसिरामि ' इति मांसविरमणादनन्तरं 'व्युत्सृजामि' इत्युक्ते 'मांसादिभक्षणरूप तद्विपक्ष त्यजामि' इति गम्यते, एवमिहापि 'तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं' इत्येतत्पर्यन्तेन सूत्रेण यत् सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानमुक्तम्, तदनन्तरं 'व्युत्सृजामि' इत्युक्ते 'तद्विपक्षरूपं सावद्ययोगाविरमण त्यजामि' इति गम्यत इति ।

अथ क पुन सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानरूपस्य सामायिकस्य विपक्ष ? इत्याशङ्क्य तदुपदर्शनार्थमाह—

सम्मत्ताइमयं तं, मिच्छत्ताईहिँ तव्विवक्खो य ।
ताण विवक्खो गम्मइ, पभासिए वोसिरामि त्ति ।३५८१।

तच्च सामायिक 'सामाइयं च विविहं सम्मत्तसुय तहा चरित्त च' इति वचनात् सम्यक्त्वश्रुताद्यात्मकम्। ततश्च मिथ्यात्वा-ऽज्ञाना-ऽविरतयस्तद्विपक्षोऽवसेय । तत 'व्युत्सृजामि' इति प्रभाषिते तेषां मिथ्यात्वादीनां विसर्गस्त्यागो गम्यत इति ।

तदेवं 'निन्दामि गर्हामि व्युत्सृजामि' इति क्रियात्रयस्य विषयविभागो दर्शित । अथवा—अतीतसावद्ययोगप्रायश्चित्तसग्रहार्थमिद क्रियात्रयमिति दर्शयन्नाह—

अहवा तिच्छियमाव-ज्जयोगपच्छित्तसंगहत्थाय ।
संखेवओ विहाणं, निंदामिच्चाइसुत्तम्मि ॥ ३५८२ ॥
निंदा-गरहग्गहणा-दालोयण-पडिक्कमोभयग्गहणं ।
होइ विवेगाईणं, छेयंताणं विसग्गाओ ॥ ३५८३ ॥

अथवा—अतिक्रान्तसावद्ययोगप्रायश्चित्तस्य संक्षेपेन संग्रहार्थं 'निन्दामि' इत्यादिसूत्रेऽभिधानमिति । तच्च प्रायश्चित्तम्। "आलोयणपडिक्कमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे। तव छेय मूल अणव-ट्ठया य पारंचिए चेव ॥ १ ॥' इति वचनाद् दशविधम् । तत्र निन्दा-गर्हयोर्ग्रहणादालोचनप्रतिक्रमणोभयलक्षणस्याद्यप्रायश्चित्तत्रयस्य ग्रहणम्, 'व्युत्सृजामि' इति विसर्गग्रहणात् पुनर्विवेकादीनां छेदान्तानां चतुर्णां प्रायश्चित्तभेदानां ग्रहणं भवति । मूलादयस्तु त्रय प्रायश्चित्तभेदा इह न सभवन्ति, तेषां चारित्रात्तीर्णजन्तुविषयत्वात् । इह तु प्रतिपन्नचारित्रस्यप्रक्रमादिति तावद् वयमवगच्छाम, तत्त्वं तु केवलिनो बहुश्रुता वा विदन्तीति । तदेवं व्याख्यातं सामायिकसूत्रम्। तद्व्याख्याने चावसितोऽनुगम ।

तत पूर्वोक्तमुपसहरन्नुत्तरनयद्वारसम्बन्धनार्थमाह—

एवं सुत्ताणुगमो, सुत्तन्नासो सुयत्थजुत्ती य ।
भणिया नयाणुजोग-द्दारावसरोऽधुणा ते य ॥३५८४॥

अत्थाणुगमंगं चिय, तेण जहासंभवं तहिं चेव ।
भणिया तहावि पत्थुय-दारासुन्नत्थमुद्देसं ॥ ३५८५ ॥

एवमुक्तप्रकारेण सूत्रानुगम सूत्रालापकाना च न्यासो निक्षेप सूत्रार्थयुक्तिश्च-सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिश्चेत्यर्थ. भणिता-प्रतिपादिता । विशे० । (सामायिके नयौ ज्ञानक्रियात्मका ज्ञानक्रियादिशब्देषु)-तत्र ज्ञाननय , अयं चतुर्विधे सम्यक्त्वादिसामायिके सम्यक्त्वसामायिके श्रुतसामायिक वदयति, अस्य ज्ञानात्मकत्वात्, देशविरतिसामायिकसर्वविरतिसामायिके तु नेच्छति तयोस्तत्कार्यत्वात् गुणत्वे वा इच्छति । उक्तो ज्ञाननय । (आ० म०) क्रियानय सम्यक्त्वादिके चतुर्विधे सामायिके देशविरतिसर्वविरतिरूपसामायिकद्वयमेवेच्छति क्रियाप्रधानत्वादस्य, सम्यक्त्वे सामायिके तु तदर्थमुपादीयमानत्वेनाप्रधानत्वान्नेच्छति गुणभूत वा इच्छतीति । आ० म० १ अ० ।

(७८) आलोचनादीनि सामायिकवत एव भवन्तीति अतस्तत्प्रश्नोत्तरपूर्वं फलमाह—

सामाइएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥ ८ ॥

हे भदन्त ! सामायिकेन—समतारूपेण जीव किं जनयति । गुरुराह—हे शिष्य ! सामायिकेन सावद्ययोगविरतिं जनयति कर्मबन्धकारणेभ्य सपापमनोवाक्काययोगेभ्यो विरतिं पश्चान्निवर्त्तना जनयति ॥८॥ उत्त० २९ अ० । सावद्ययोगविरतिप्रधानं आवश्यकस्य प्रथमे अध्ययनावशेषे, पा० । "सामायिकस्य विवृतिं, कृत्वा यदवाप्तमिह मया कुशलम् । तेन खलु सर्वलोका, लभन्तां सामायिक परमम् ॥ १ ॥ यस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम् । शारीरमानसानेक-दु खनाशस्य मोक्षस्य ॥ २ ॥" आ० म० १ अ० ।

राज्यादिदानपूर्वकं च जगद्गुरु सामायिकं प्रतिपन्नवानिति तत्स्वरूपनिरूपणायाह—

सामायिकं च मोक्षाङ्गं, परं सर्वज्ञभाषितम् ।
वासीचन्दनकल्पाना-मुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥ १ ॥

समस्य-रागद्वेषकृतवैषम्यवर्जितस्य भावस्याऽऽयो लाभ स माय स एव सामायिकं चारित्र तच्च चशब्दात्-ज्ञानदर्शने मा। यदाह-"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" अथवा द्वा चशब्दस्य सामायिकमेव नतु परपरिकल्पित कुशलानुष्ठानम्। अथवा-चशब्द पुनरर्थ तस्य चैव प्रयोग, इह भगवता गजवदानमहादानादीनि कृतानि सामायिक पुनरेषु मोक्षाङ्गम्-निर्वाणकारणम् । नन्वेवं ज्ञानादीनां तदङ्गत्व न स्यादित्यत आह—परं प्रधानमनन्तरमित्यर्थ , ज्ञानादीना हि सामायिककारणत्वेन मोक्षकारणत्वम् , यदाह—'नाणाइयं सामायिककारणत्वेन मोक्षकारणत्वम् " ति अथ स्मर्तस्मं नाण, दुज्जइ नाणाणमेत्तय चरणं" नि स्व विकल्पितं नेति आह-सर्वज्ञभाषितम् । अथवा-कथमिदमवसितमिति चेदत आह—यत सर्वज्ञभाषित सर्वज्ञभाषितम् । मोक्षादयो हि भावा अतीन्द्रियत्वात्र सर्वविद्वचनप्रमेया एव भवन्ति प्रमाणान्तरस्य तत्राप्रवृत्ते । तच्च

किं सर्वेषां भवति नेत्याह-वासी-लोहकारोपकरणविशेषः, वासीव वासी अपकारकारी तां चन्दनमिव-मलयजमिव दुष्कृतक्षयहेतुतयोपकारकत्वेन कल्पयन्ति मन्यन्ते वा— सीचन्दनकल्पाः, यदाह—" यो मामपकरोत्येष, तत्त्वेनोपकरोत्यसौ। शिरामोक्षाद्युपायेन, कुर्वाण इव नीरुजम् ॥ १ ॥" अथ वास्यामपकारिणि चन्दनस्य कल्प इव छेद इव ये उपकारित्वेन वर्तन्ते ते वासीचन्दनकल्पाः, आह च-' अपकारपरेऽपि परे, कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्तः। सुरभीकरोति वासी, मलयजमपि तक्षमाणमपि ॥१॥ " वास्या वा चन्दनस्येव कल्प आचारो येषां ते तथा। अथवा-वास्या चन्दनकल्पाः-चन्दनतुल्या ये ते तथा, भावना तु प्रतीतैव, तेषां वासीचन्दनकल्पानामुक्तमभिहितमार्षेर्नान्येषामेतत्सामायिकम् केषामेव विशेषणानामित्याह-महात्मनाम्-उत्तमसत्त्ववतामिति।

सामायिकं फलतः स्वामितश्च निरूपितम्। अथ स्वरूपतस्तदेव निरूपयन्नाह। अथवा-मोक्षाङ्गं सामायिकं यत आह—

निरवद्यमिदं ज्ञेय-मेकान्तेनैव तत्त्वतः
कुशलाशयरूपत्वात्, सर्वयोगविशुद्धितः ॥ २ ॥

निर्गतम् अवद्यात्-गर्हितकर्मणो हिंसादिक्रोधादेरिति निरवद्यं स्वरूपेणेदं सामायिकं ज्ञेयं-ज्ञातव्यम्। एकान्तेनैव-सर्वथैव न पुनरंशेनापि सावद्यं तथाविधस्य तस्याविशुद्धत्वात्, यदाह-" पडिसिद्धेसु य देसे, विहिएसु य ईसिरागभावम्मि। सामाइयं असुद्धं, सुद्धं समयाए दोण्ह पि ॥१॥" तत्त्वतः—परमार्थतो नतूपचारवृत्त्या उपचरितं ह्यवस्तु तत्कार्याकरणात्। कुत एतदेवमित्याह—कुशलाशयरूपत्वात् शुभाभिसन्धिस्वभावत्वात्तस्य सर्वथा निरवद्यत्वाभावे हि कुशलाशयत्वं न स्यादिति ननु। ज्ञानदर्शनयोरप्येतदस्तीत्याह—सर्वयोगविशुद्धितः-समस्तमनोवाक्कायव्यापारशुद्धिभावान्नहि ज्ञानादिषु योगविशुद्धिरस्तीति।

अथाक्तरूपसामायिकविलक्षणं शाक्यपरिकल्पितं कुशलचित्तं मोक्षाङ्गतया निषेधयन्नाह—

यत्पुनः कुशलं चित्तं, लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम्।
तत्तथौदार्ययोगेऽपि, चिन्त्यमानं न तादृशम् ॥ ३ ॥

सामायिकं तावत् मोक्षाङ्गं, तत् पुनर्यदित्युद्देशः पुनरिति विशेषणार्थः, कुशलं—शुभं चित्तं-मनः, किं तत्त्वतः कुशलं नेत्याह—लोकदृष्ट्या सामान्यजनदर्शनेन—लोकोत्तरजनदृष्ट्या तु तस्य विचार्यमाणस्य कुशलाभासतैव व्यवस्थितम्-प्रतिष्ठितम्, तच्चित्तम्, ' तथे ' ति तथाविधस्य सामान्यबुद्धिजनसंमतस्यौदार्यस्योदारताया योगः—संबन्धः तदौदार्ययोगस्तत्रापि, आस्तां तदयोगेऽपि चिन्त्यमानं-विचार्यमाणम्, न—नैव तादृशं-सामायिकसदृशम्। यत्किल सामायिकादधिकतया समतं परेषां तद्विचार्यमाणं तत्सममपि न भवतीति कथं तन्मोक्षाङ्गमिति।

अथ तदेव मायापुत्रीयकल्पितं कुशलचित्तमुपदर्शयन्नाह—

मय्येव निपतत्वेतज्, जगद्दुश्चरितं यथा।
मत्सुचारित्रयोगाच्च, मुक्तिः स्यात्सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥

मयीति अनेन बोधिसत्त्व आत्मानं निर्दिशति-एवशब्दोऽवधारणे, तेन मय्येव न पुनः परत्र निपततु—नितरामापद्यताम् एतत्प्रतिनिपाणिप्रत्यक्षमहूणं सांसारिकासुखकारणं जगतां-प्राणिनां दुश्चरितं-हिंसादिनिबन्धनं कर्म जगद्दुश्चरितं, यथेत्युपदर्शनार्थे, तस्य चैवं सवन्धः तत्तथौदार्ययोगेऽपि चिन्त्यमानं न तादृशं यथा एतन्मय्येवेत्यादि, तथा मत्सुचरित्रयोगात्-मदीयाहिंसादिसदनुष्ठानसंबन्धाच्चशब्दः समुच्चये, मुक्तिः-मोक्षः स्याद्-भवेत् सर्वदेहिनां-सकलसंसारिणामिति कुशलचित्तमिति।

कस्मादिदं तथौदार्ययुक्तमपि न सामायिकसदृशं भवतीत्याह—

असंभवीदं यद्वस्तु, बुद्धानां निर्वृतिश्रुतेः।
संभवित्वे त्वियं न स्यात्, तत्रैकस्याप्यनिर्वृतौ ॥ ५ ॥

असंभवि—न संभवनस्वभावम् इदमनन्तरोदितं यद्—यस्माद्वस्तु अन्यकृतकर्मणोऽन्यत्र संबन्धलक्षणोऽर्थः, कुत इत्याह—बुद्धानां-बोधिसत्त्वानां निर्वृत्तिश्रुतेर्निर्वाणगमनश्रवणात् तदागमे, तथाहि-"गङ्गावालिकासमा बुद्धा निर्वृता" इति तदागमः। अयमभिप्रायो यदि जगद्दुश्चरितं बुद्धे न्यपतिष्य त्तदा तस्य निर्वाणं नाभविष्यत्, इष्यते च तत्तस्येत्यसंभवीदं वस्तु। एतदेवाह-संभवित्वे तु भवनस्वभावत्वे पुनरस्य वस्तुन इयं स्तूयमाना बुद्धनिर्वृतिर्न स्यात्-न भवेत्तत्र तेषु जगत्सु मध्ये एकस्यापि जगत आस्तां बहूनामनिर्वृतावनिर्वाणे सति अतोऽसंभवित्वादस्य वस्तुन एतत्कुशलचित्तं न सामायिकसदृशमिति।

यदि सामायिकसदृशं नेदं चित्तं तर्हि किंविधमिद—मित्याह—

तदेवं चिन्तनं न्यायात्, तत्त्वतो मोहसंगतम्।
साध्ववस्थान्तरे ज्ञेयं, बोध्यादेः प्रार्थनादिवत् ॥ ६ ॥

तदिति—यस्मादसंभवीदं वस्तु तस्मादेवमनन्तरोदितं मय्येवेत्यादिचिन्तनं ध्यानं न्यायादुपदर्शितादसंभवित्वलक्षणात्तत्त्वतः परमार्थचिन्तायां मोहसङ्गतं-मोहनीयकर्मोदयानुगतम्, मोहोदयाभावे हि समस्तविकल्पोत्कलिकावर्जितमेव चित्तं भवति। सरागावस्थायां पुनः स्यादप्येवंविधं चित्तं साधुता च तस्य स्यादित्याह—साधु-शोभनमनन्तरोदितं प्रणिधानमवस्थान्तरे सरागावस्थायां न पुनः रागक्षये ज्ञेयं-ज्ञातव्यम्। किंवदित्याह—बोध्यादेरारोग्यबोधिलाभादेरादिशब्दात्-समाधिवरपरिग्रहः, प्रार्थनादिवत्-याञ्चादि यथा। यदाह-' आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु' आदिशब्दाद्-अर्हदादिरागपरिग्रहः, यदाह-'अरिहंतेसु य रागो, रागो साहूसु बंभयारीसु। एस पसत्थो रागो, अज्जसरागाण साहूण ॥ १ ॥ ' अयमभिप्रायो यद्यपि प्रार्थनीयानामर्हतां वीतरागतया बोधिलाभादिदानमसंभवि तथापि रागवतो भगवत्सु भक्तिमावेदयतो भावात्कर्षादिदं साध्वेव। आह च-' भासा असच्चमोसा, नवरं भत्तीए भासिया एसा। नहु खीणपेज्जदोसा, देंति समाहिं च बोहिं च ॥१॥ ' यदि च मोहसंगतमप्यौदार्यमात्रापेक्षया मय्येवेत्यादिचिन्तनमनवद्यं स्यात्तदैतदनवद्यतरं भविष्यति, यथा

"अन्धादीना यदज्ञान-मास्तां मय्येव तत्सदा । मदीयज्ञानयोगाश्च, चैतन्य ते(पु)षां सर्वदा।" अथैतदसंभवान्मोहसगतमिति चेदितरत्राप्यसंभवित्व तुल्यमेवेति । अस्य च श्लोकस्य प्रथमपादमन्यथाऽपि पठन्ति । तद्यथा—'एव च चिन्तनं ह्यन्दि ' ति , अर्थस्तु प्रकट एवेति ।

यदपि व्याघ्रादेः स्वकीयमासदानादावनिकुशलं चित्त परेष्वपि तदपि सामायिकापेक्षया अमाध्विति दर्शयन्नाह—

अपकारिणि सद्बुद्धि-र्विशिष्टार्थप्रसाधनात् ।
आत्मम्भरित्वपिशुना, तदपायानपेक्षिणी ॥ ७ ॥

अपकारिणि-अपकरणशीले बुद्धमासभक्षके-व्याघ्रादौ दुर्जने वा विषयभूते सत्-शोभनोऽयमिति बुद्धि -मति सद्बुद्धि कुत इत्याह-विशिष्टार्थस्य-पीडोत्पादकतया कर्मकक्ष कर्तनसहायककरणत सकलशरीरनिवृत्तिहेतुभूतसर्वज्ञनासौधशिखरारोहणलक्षणस्य प्रधानवस्तुन प्रसाधन-निष्पादनं विशिष्टार्थप्रसाधनं तस्मात्या सद्बुद्धि , सा किमित्याह-आत्मानमेव न परं बिभर्त्ति-पुष्णातीत्यात्मम्भरिस्तद्भाव पिशुनयति सूचयतीत्यात्मम्भरित्वपिशुना , कुत एतदित्याह—यतोऽसौ तेषा बुद्धशरीरापकारिणा व्याघ्रादीना ये अपाया—दुर्गतिगमनादयस्तानपेक्षत इत्येवंशीला तदपायानपेक्षिणी आत्मम्भरित्व परापकारानपेक्षित्वं च महद् दूषण महतामिति ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह—

एवं सामायिकादन्य-दवस्थान्तरभद्रकम् ।
स्याच्चित्तं तत्तु संशुद्धे-र्ज्ञेयमेकान्तभद्रकम् ॥ ८ ॥

एवमनन्तरोक्तनीत्या मोहसङ्गतत्वाभिधानलक्षणया सामायिकान्मोक्षभवादिसकलभावोपेक्षालक्षणात् अन्यद्-अपरं मय्येव निपतन्त्वित्यादि परपरिकल्पितम्—'आरुग्ग बोहिलाभमि ' त्यादि जैनकल्पित च चित्तमिति योग । अवस्थान्तरे योग्यताविशेष एव साभिष्वङ्गतायामेव , न तु केवलित्वे भद्रक—कल्याण युक्तमवस्थान्तरभद्रकं स्याद्भवेच्चित्त—मन , तत्तु सामायिक पुन सशुद्धे समस्तदोषवियोगाद्धेतोर्ज्ञेय-ज्ञातव्यमेकान्तभद्रक-सर्वथैव शोभनमिति । हा० २६ अष्ट० ।

परिहार्यदोषप्रदर्शनेन अधुनोपदेशाभिधित्सयाऽऽह—

सीओदगपडिदुगुंछिणो,अपडिसस्स लवावसप्पिणो ।
सामाइयमाहु तस्स ज,जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती॥२०॥

तथा शीतोदकम्-अप्रासुकोदक तत्प्रति जुगुप्सकस्य-अप्रासुकोदकपरिहारिण साधो न विद्यते प्रतिज्ञा-निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञोऽनिदान इत्यर्थ , लव-कर्म तस्मात् 'अवसप्पिणो' त्ति-अवसर्पिण यदनुष्ठान कर्मबन्धोपादानभूत तत्परिहारिण इत्यर्थ , तस्यैवम्भूतस्य साधोर्यस्मात् यत् सामायिकं-समभावलक्षणमाहु सर्वज्ञा , यश्च साधु गृहमात्रे-गृहस्थभाजने कास्यपात्रादौ न भुङ्क्ते तस्य च सामायिकमाहुरिति सवन्धनीयमिति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । त्रिपिटकादि समयवृत्तौ पण्डिते, पु० । दश० ४ अ० ।

आराहणाइजुत्तो, सम्मं काऊण सुविहिओ काल ।
उक्कोसं तिन्नि भवे, गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥ ८०८ ॥

किञ्च—आराधनया युक्त —प्रयतपर सम्यक् कृत्वा सुविहित काल पुनश्च उत्कृष्टत —अतिशयेन सम्यगाराधना कृत्वा त्रीन भवान् गत्वा निर्वाण—मोक्षमवश्य प्राप्नोतीति । एतदुक्तं भवति-यदि परमसमाधानेन सम्यक् कालं करोति ततस्तृतीये भवेऽवश्य सिद्ध्यतीति । आह पर-उत्कृष्टतोऽष्टभवाभ्यन्तरे सामायिक प्राप्य नियमात्सिद्ध्यतीति, जघन्यत पुनरेकस्मिन्नेव भवे सामायिक प्राप्य सिद्ध्यतीत्युक्तं अन्यान्तरे, ततश्च यदुक्त त्रीन् भवानतीत्य सिद्ध्यतीति तदेतन्नाप्युत्कृष्ट नापि जघन्य ततश्च विरोध इति । उच्यते-अनालीढसिद्धान्तसद्भावेन यत्किञ्चिदुच्यते यत्तदुक्तं जघन्यत एकेनैव भवेन सिद्ध्यतीति तद्वज्रर्षभनाराचसहननमङ्गीकृत्योक्तम् , एतच्च छेवट्ठिकासहननमङ्गीकृत्योच्यते , छेवट्ठिकासहननो हि यदतिशयेनाराधनं करोति ततस्तृतीये भवे मोक्ष प्राप्नोति । उत्कृष्टशब्दश्चात्रातिशयार्थे द्रष्टव्यो न तु भवमङ्गीकृत्य, भवाङ्गीकरणे पुनरष्टभिर्भवैरुत्कृष्टतो भवे छेवट्ठिकासहनन सिद्ध्यतीति । ओघ० ।

(७६) प्रकीर्णकवार्ता —

तथा-श्राद्ध सामायिक कुर्वन् 'दुविह तिविहेण ' इत्यादिना सावद्यव्यापारसम्बन्धिकरणकारण एव निषेधयति, नत्वनुमोदनम् ,तथा च सति सामायिकस्थोऽसौ सावद्यव्यापार मनोवाक्कायानामन्यतरेण केनाप्यनुमोदयन् सामायिक खण्डयति नवेति ? प्रश्न , अत्रोत्तरम्—सामायिकस्थ श्राद्धो मनोवाक्काये सावद्यव्यापारमनुमोदयन्नपि सामायिक न खण्डयति, तद्विषयकविरतेरभावात् , यदि च नानुमोदयति तदा भूयो लाभभाग् भवतीति ॥७४॥ सेन० १ उल्ला० । तथा-तीर्थकरगणभृता मिथा भिन्नवाचनत्वेऽपि साम्भोगिकत्व भवति न वा ?, तथा सामाचार्यादिकृतो भदो भवति न वा?, इति प्रश्न , अत्रोत्तरम्-गणभृता परस्पर वाचनाभेदेन सामाचार्या अपि कियान् भेदस्सम्भाव्यते, तद्भेद च कथञ्चिदसाम्भोगिकत्वमपि सम्भाव्यत इति ॥ ८६ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा-व्याख्यानवेलाया कृतसामायिका श्राद्धी आदेशमार्गणपूर्वक प्रतिलेखना करोत्यन्यथा वेति ? प्रश्न, अत्रोत्तरम्—सामायिकमध्ये प्रतिलेखनादेशमार्गण यौक्तिकमिति ॥ १६५ ॥ सेन० २ उल्ला० । तथा-पौषधमध्ये चर्चालापकटिप्पणका वाच्यते न वा ?, इति प्रश्न , अत्रोत्तरम्-सा मनाक् वाच्यते, नतु गाढस्वरेण, सिद्धान्तालापकगर्भितत्वादिति ॥१०१॥ सेन० ४ उल्ला० ।

सामाइयउवक्कम-सामायिकोपक्रम-पुं० । सामायिकम्-आवश्यकप्रथमाध्ययनम् , तस्यानुक्रम -परिपाटीविशेष सामायिक वा अनुक्रम सामायिकानुक्रम । सामायिकस्य सामायिके वाऽनुक्रमणे, दश० १ अ० ।

सामाइयकड-सामायिककृत-पुं० । सामायिक समपर्यालोच्य निरञ्जनतिरस्त्र्यंगासेवनस्वभाव कृत—निर्मित येनासौ सामायिककृत । आहिताग्न्यादित्वात् क्तान्तस्योत्तरपदत्वम् । तदेवमप्रतिपन्नपर्याय स्य वृत्तकारादय

ततोऽनेनमुभयसन्ध्य सामायिककरणं मासत्रय यावत्तृतीया-मुपासकप्रतिमा प्रतिपद्ये, स० ११ सम० । प्रतिपन्नाद्याशिक्षाव्रते पञ्चा० १ विव० । (' उवासगपडिमा ' शब्दे द्वितीयभागे ११३० पृष्ठे इयं प्रतिमोक्ता ।) (सामायिककृतस्य का क्रिया क्रियत इति ' किरिया ' शब्दे तृतीयभागे ५५७ पृष्ठे उक्तम् ।)

सामायिककृतस्य प्रत्याख्यानभङ्गा —

रायगिहे० जाव एवं वयासी-आजीविया णं भंते ! थेरे भगवंते एवं वयासी-समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स केइ भंडे अवहरेज्जा,से णं भंते ! तं भंडं अणुगवेसमाणे किं सयं भंडं अणुगवेसइ परायगं भंडं अणुगवेसइ ? , गोयमा ! सयं भंड अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ , तस्स णं भंते ! तेहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं से भंडे अभंडे भवति ?, हंता भवति । से केणं खाइ णं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सयं भंडं अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ?गोयमा !तस्स णं एवं भवति-णो मे हिरन्ने नो मे सुवन्ने नो मे कंसे नो मे दूसे नो मे विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमादीए संतसारसावदेज्जे, ममत्तभावे पुण से अपरिणाए भवति,से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-सयं भंडं अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ । (सू० ३२८×)

'रायगिहे' इत्यादि गौतमो भगवन्तमेवमवादीत्-'आजीविका'-गोशालकशिष्या भदन्त ! स्थविरान्—निर्ग्रन्थान् भगवत एव—वक्ष्यमाणप्रकारमवादिषु यच्च ते तान् प्रत्यवादिषुस्तद्गौतम स्वयमेव पृच्छन्नाह— समणोवासगस्स ण' मित्यादि, 'सामायियकडस्स' त्ति—कृतसामायिकस्य-प्रतिपन्नाद्यशिक्षाव्रतस्य, श्रमणोपाश्रये हि श्रावक सामायिकं प्राय प्रतिपद्यत इत्यत उक्त श्रमणोपाश्रये आसीनस्येति ' केइ ' त्ति—कश्चित्पुरुष 'भंड' ति वस्त्रादिक वस्तु गृहवार्त्ति साधूपाश्रयवर्त्ति वा 'अवहरेज्ज' त्ति—अपहरेत् ' से ' त्ति-स श्रमणोपासक 'त भंड'ति—तद्—अपहृत भाण्डम् 'अणुगवेसमाणे ' त्ति—सामायिकपरिसमाप्त्यनन्तर गवेषयन् सभंडं' ति—स्वकीय भाण्ड ' परायगं ' ति-परकीय वा ? पृच्छतोऽयमभिप्राय —स्वसम्बन्धित्वात्तत्स्वकीय सामायिकप्रतिपत्तौ च परिग्रहस्य प्रत्याख्यातत्वादस्वकीयमत प्रश्न , अत्रोत्तरम्-' सभंड ' ति-स्वभाण्ड, ' तेहिं' ति-तैर्विवक्षितैर्यथाक्षयोपशम गृहीतैरित्यर्थ , ' सील ' त्यादि तत्र शीलव्रतानि—अणुव्रतानि गुणा-गुणव्रतानि विरमणानि-रागादिविरतय. प्रत्याख्यान—नमस्कारसहितादि पोषधोपवास —पर्वदिनोपवसनं तत एषा द्वन्द्वोऽतस्तै , इह च शीलव्रतादीना ग्रहणेऽपि सावद्ययोगविरत्या विरमणशब्दोपात्तया प्रयोजन तस्या एव परिग्रहस्यापरिग्रहतानिमित्तत्वेन भाण्डस्याभाण्डताभवनहेतुत्वादिति ' से भंड अभंडे भवइ त्ति-तत्—अपहृत भाण्डमभाण्ड भवत्यसव्यवहार्यत्वात् ।' से केण'ति अथ केन खाइ ण' ति-पुन 'अट्ठेण' ति—अर्थेन—हेतुना 'एवं भवइ ' त्ति—एवम्भूतो मन परिणामो भवति— नो मे हिरन्ने' इत्यादि, हिरण्यादिपरिग्रहस्य द्विविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यस्तत्वात् , उक्तानुक्तार्थानुसग्रहेणाह—' नो मे ' इत्यादि, धन-गणिमादि गवादि वा कनक—प्रतीतं रत्नानि—कर्केतनादीनि मणय — चन्द्रकान्तादय. मौक्तिकानि शङ्खाश्च प्रतीता शिलाप्रवालानि-विद्रुमाणि । अथवा—शिला—मुक्ताशिलाद्या' प्रवालानि—विद्रुमाणि रक्तरत्नानि—पद्मरागादीनि तत एषा द्वन्द्वस्ततो विपुलानि-धनादीन्यादिर्यस्य स तत्तथा, ' सत ' त्ति-विद्यमानं ' सार ' त्ति प्रधान ' सावएज्ज ' त्ति-स्वापतेयं द्रव्यम् , एतस्य च पदत्रयस्य कर्मधारय', अथ यदि तद्भाण्डमभाण्ड भवति तदा कथ स्वकीय तद् गवेषयति ? इत्याशङ्कयाह-' ममत्ते ' त्यादि, परिग्रहादिविषये मनोवाक्कायाना करणकारणे तेन प्रत्याख्याते ममत्वभाव', पुन.-हिरण्यादिविषये ममतापरिणाम पुन अपरिज्ञात -अप्रत्याख्यातो भवति, अनुमतेरप्रत्याख्यातत्वात्, ममत्वभावस्य चानुमतिरूपत्वादिति । भ० ८ श० ५ उ० । (' जाया ' शब्दे चतुर्थभागे १४५४ पृष्ठे बहु वक्तव्यं गतम् ।)

सामाइयकप्पट्ठिइ-सामायिककल्पस्थिति-स्त्री०। सामायिकम्-सयमविशेषस्तस्य तदेव वा कल्प करणम्-आचार सामायिककल्प । स च प्रथमचरमतीर्थयो साधूनामल्पकालच्छेदोपस्थापनीयसद्भावात्, मध्यमतीर्थेषु महाविदेहेषु च यावत्कथिकच्छेदोपस्थापनीयाभावाभावात् , तदेव तस्यावस्थिति -मर्यादा सामायिककल्पस्थिति कल्पस्थितिभेद , स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अथैनामेव यथाक्रमं विवरीषु प्रथमत.

सामायिककल्पस्थितिं विवृणोति-

कतिठाणट्ठितो कप्पो, कतिठाणेहि अट्ठितो ।
वुत्तो धूतरजोकप्पो, कतिट्ठाणपतिट्ठितो ॥ २८२ ॥

य किल धूतरजा —अपनीतपापकर्मा सामायिकसाधूनां कल्प आचारो भगवद्भिरुक्त स कतिषु स्थानेषु स्थित. ?, कतिषु स्थानेषु अस्थित ?, कतिस्थानप्रतिष्ठितश्चोक्त. ? ।

सूरिराह-

चउठाणे ठिओ कप्पो, छहिं ठाणेहिं अट्ठिओ ।
एसो धूयरयोकप्पो, दसठाणपतिठिओ ॥ २८३ ॥

चतु स्थानस्थित कल्प षट्सु च स्थानेष्वस्थितस्तदेवमेव धूतरजा सामायिकसंयतकल्पो दशस्थानप्रतिष्ठित , केषुचित् स्थित्या केषुचित्पुनरस्थित्या, दशसु स्थानेषु प्रतिबद्धो मन्तव्य इत्यर्थ ।

इदमेव व्यक्तीकरोति-

चउहिं ठितो छहिं अठितो,पढमा बितिया ठिता दसविहम्मि।
वड्डमाणा णिव्विसगा, जेहिं वहंतेउ णिव्विट्ठा ॥ २८४॥

प्रथमा —सूत्रक्रमप्रामाण्येन सामायिकसयतास्ते चतुर्षु स्थानेषु स्थिता , षट्सु पुनरस्थिता गाथाया सप्तम्यर्थे तृतीया। ये तु द्वितीया —छेदोपस्थापनीयसंयतास्ते दशविधेऽपि कल्पे स्थिता । पश्चार्द्धेन तृतीयचतुर्थकल्पस्थित्यो कल्पशब्दार्थमाह- वड्डमाणा ' इत्यादि । ये परिहारविशुद्धिक

तपो वहन्ति ते निर्विशमानका, येस्तु तदेव तपो व्यूढ ते निर्विष्टकायिका उच्यन्ते। आह—कानि पुनस्तानि चत्वारि षट् वा स्थानानि येषु सामायिकसंयता यथाक्रम स्थिता अस्थिताश्चेति।

अत्रोच्यते—

सिज्जायरपिंडे या, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किंतिकम्मस्स य करणे,चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥२८५॥

'सेज्जातरपिंडे' त्ति-सूचनात् सूत्रमिति शय्यातरपिण्डस्य परिहरणम्, चतुर्याम, पुरुषज्येष्ठश्च धर्म, कृतिकर्मणश्च करणमेते चत्वार' कल्पा, सामायिकसाधूनामप्यवस्थिता। तथाहि-सर्वेऽपि मध्यमसाधवो महाविदेहसाधवश्च शय्यातरपिण्डं परिहरन्ति। चतुर्याम च धर्ममनुपालयन्ति पुरुषज्येष्ठश्च धर्म इति कृत्वा तदीया अप्यार्यिकाश्चिरदीक्षिता अपि तद्दिनदीक्षितमपि साधुं वन्दन्ते। कृतिकर्म च यथा रात्निक तेऽपि कुर्वन्ति, अत एते चत्वार कल्पा अवस्थिता।

इमे पुन षडनवस्थिता -

आचेलक्कुद्देसिय, सपडिक्कमणे य रायपिंडे य।
मासं पज्जोसवणा, छप्पेते ऽणवट्ठिता कप्पा॥ २८६॥

आचेलक्यमौद्देशिकं सप्रतिक्रमणो धर्मो राजपिण्डो मासकल्प पर्युषणाकल्पश्चेति। षडप्येते कल्पा मध्यमसाधूनां-विदेहसाधूनामनवस्थिता। तथाहि-यदि तेषा वस्त्रप्रत्ययो रागो द्वेषो वा उत्पद्यते तदा अचेला, अथ न रागोत्पत्तिस्तत० सचेला महामूल्य प्रमाणातिरिक्तमपि वस्त्र गृह्णन्तीति भाव। औद्देशिक नाम-साधूनुद्दिश्य कृतं भक्तादिकमाधाकर्मेत्यर्थस्तदप्यन्यस्य साधोरर्थाय कृत कल्पते तदर्थ तु कृत न कल्पते प्रतिक्रमणमपि यद्यतिचारो भवति तत कुर्वन्ति, अतिचाराभावे न कुर्वन्ति। राजपिण्डे यदि वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति तत परिहरन्ति, अन्यथा गृह्णन्ति। मासकल्पे यद्येकक्षेत्रे तिष्ठता दोषा न भवन्ति तत पूर्वकोटीमप्यासते, अथ दोषा भवन्ति ततो मासे अपूर्णे वा निर्गच्छन्ति पर्युषणायामपि यदि वर्षासु विहरतां दोषा भवन्ति तत एकत्र क्षेत्रे आसते, अथ दोषा न भवन्ति ततो वर्षारात्रेऽपि विहरन्ति। गता सामायिकसंयतकल्पस्थिति। बृ० ६ उ०।

सामाइयचरित्त–सामायिकचरित्र–न०। सावद्ययोगविरतिरूपे चारित्रभेदे, भ० ८ श० २ उ०। आतु०। औ०।

सामाइयचरित्तलद्धि–सामायिकचरित्रलब्धि–स्त्री०। सावद्ययोगविरतिरूपस्य चारित्रस्य लब्धौ, भ० ८ श० २ उ०।

सामाइयज्झयण–सामायिकाध्ययन–न०। आवश्यकश्रुतस्कन्धस्य सामायिकप्रतिपादके प्रथमे अध्ययने, विशे०। अनु०। आ० म०। आ० चू०। (अत्र वक्तव्यम् 'सामाइय' शब्देऽनुपदमेवोक्तम्।)

सामाइयपडिमा–सामायिकप्रतिमा–स्त्री०। 'वरदंसणवयजुत्तो, सामाइय कुणइ जो उ सञ्झासु। उक्कोसेण तिमास, एसा सामाइयप्पडिमा'॥१॥ इत्येव रूपाया तृतीयायामुपासकप्रतिमायाम्,उपा०१ अ०। त्रीन्मासानुभयकालमप्रमत्तः पूर्वोक्तप्रतिमानुष्ठानसहित० सामायिकमनुपालयतीति। ध० २ अधि०।

सामाइयपय–सामायिकपद–न०। सामायिकप्रतिपादके पदे अनु०।

सामाइयसंजय–सामायिकसंयत–पुं०। सामायिक सर्वसावद्यविरतिरूप तत्प्रधाना संयता सामायिकसंयता। सामायिकाख्यचारित्रप्रधानेषु साधुषु, बृ० ६ उ०। (सामायिकसंयतानां विस्तरतो व्याख्या 'संजय' शब्दे गता)

सामाग–श्यामाक–पुं०। जृम्भकग्रामस्य बहि ऋजुपालिका या नद्यास्तट उषित स्वनामख्याते गृहपतौ, यस्य क्षेत्रे वीरजिनस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम्। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। आ० म०। आ० चू०। धान्यभेदे, वाच०।

सामाणिय–सामानिक–पुं०। सकारस्य प्राकृतत्वाद् दीर्घ। संनिहिते, आ० म० १ अ०। सन्निहिते, अभ्यर्पिते, "जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे। तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिय॥१॥' विशे०। समानतया इन्द्रतुल्यतया ऋद्धया चरन्तीति सामानिका'। इन्द्रसमानर्द्धिषु देवेषु, भ० ३ श० १ उ०। स्था०। सामाने—द्युतिविभवादौ भवा० सामानिका'। अध्यात्मादित्वादिकण्। विमानाधिपतिसूर्याभदेवसदृशद्युतिविभवादिकेषु देवेषु, रा०। आ० म०।

कथमिन्द्राणां कियन्त सामानिका—

चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा तहेव चत्तारि।
भवणवइवाणमंतर–जोइसियाणं च सामाणे॥ ४४॥

द० प०।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो छ सामाणियसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एवं भूयाणंदस्स वि०जाव महाघोसस्स। (सू० ५०६) स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सामाणियपरिसोववण्णग–सामानिकपर्षदुपपन्नक–पुं०। अभ्यन्तरादिपर्षदुपगते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सामाय–श्यामाक–पुं०। धान्यविशेषे, जं० १ वक्ष०।

सामाय–पुं०। साममिति "तत्थ आओ व त्ति तेण सामाओ। अहवा सामस्स आओ" सर्वेषु जीवेषु मैत्री साम भण्यते त त्र साम्नि आयो गमनं साम्ना वा यो गमनं वर्तनं स सामाय। अथ वा साम्न आयो-लाभः सामाय। सामायिके, विशे०। आ० म०। रा०।

सामायारी–सामाचारी–स्त्री०। समाचरणं समाचार,तद्भाव सामाचार्यं तदेव सामाचारी। सव्यवहारे, स्था० १० ठा० ३ उ०। आगमोक्ताहोरात्रक्रियाकलापे, पं० व० १ अधि०।

सामाचारीस्वरूपम्—

सामायारी तिविहा, ओहे दसहा पयविभागे॥ ६६५॥

समाचरण समाचार—शिष्टाचरित क्रियाकलापस्तस्य भाव "गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च" (पा० ५-१-१२४) इति ष्यञ् सामाचार्य्य, पुन स्त्रीत्वविवक्षायाम्-"षिद्गौरादिभ्यश्च" (पा० ४-१-४१) इति ङीष्, "यस्येति च" (पा० ६-४-१४८) इत्यकारलोप, "हलस्तद्धितस्य" (पा० ६-४-१५०) इत्यनेन तद्धितयकारलोप, परगमन सामाचारी। तत्र सामाचारी त्रिविधा—'ओहे दसहा पदविभाग' त्ति-

ओघ—सामान्यम् ओघ सामाचारी सामान्येन सङ्क्षेपाभिधानरूपा१,सा चौघनिर्युक्तिरिति १। दशविधसामाचारी इच्छाकारादिलक्षणा२, पदविभागसामाचारी छेदसूत्राणीति३। तत्रौघसमाचारी नवमात्पूर्वात् तृतीयद्वस्तुन आचाराभिधानात्, तत्रापि विंशतितमात्प्राभृतात्, तत्राप्योघप्राभृतप्राभृतात् निर्व्यूढेति। एतदुक्तं भवति—साम्प्रतकालप्रव्रजितानां तावच्छ्रुतपरिज्ञानशक्तिविकलानामायुष्कादिह्रासमपेक्ष्य प्रत्यासन्नीकृतेति। दशविधसामाचारी पुनः षड्विंशतितमादुत्तराध्ययनात्स्वल्पतरकालप्रव्रजितपरिज्ञानार्थं निर्व्यूढेति। पदविभागसामाचार्यपि छेदसूत्रलक्षणान्नवमपूर्वादेव निर्व्यूढेति गाथार्थः। साम्प्रतमोघनिर्युक्तिर्वाच्या। आव०१अ०।

तत्रौघसामाचारी तावदभिधीयते, अस्याश्च महार्थत्वात् कथञ्चिच्छास्त्रान्तरत्वाच्चादावेवाचार्यो मङ्गलार्थं संबन्धादित्रयप्रतिपादनार्थं च गाथाद्वयमाह—

> अरहंते वंदित्ता, चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी ।
> एक्कारसंगसुत्त-त्थधारए सव्वसाहू य ॥ १ ॥
> ओहेण उ निज्जुत्ती, वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ ।
> अप्पक्खरं महत्थं, अणुग्गहत्थं सुविहियाणं ॥ २ ॥

अर्हतो वन्दित्वा चतुर्दशपूर्विणः तथैव दशपूर्विणः, एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान् सर्वसाधूंश्च, एतावन्ति पदान्याद्यगाथासूत्रे। द्वितीयगाथासूत्रपदान्युच्यन्ते-ओघेन तु निर्युक्तिं वक्ष्ये चरणकरणानुयोगात् अल्पाक्षरां महार्थाम् अनुग्रहार्थं सुविहितानाम् । ओघ० । (ओघनिर्युक्तिपदव्याख्यानम् 'ओहणिज्जुत्ति' शब्दे तृतीयभागे १२७ पृष्ठे गतम् ।) (चरणपदविवरणं 'चरण' शब्दे तत्रैव तृतीयभागे ११२५ पृष्ठे विस्तरतो गतम् ।) (करणपदव्याख्यानम् 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३५६ पृष्ठे गतम् ।) अनुयोगपदव्याख्यानम् 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३५६ पृष्ठे गतम् ।) (अल्पाक्षरमहार्थपदप्ररूपणम् 'अप्पक्खर' शब्दे प्रथमभागे ६१४ पृष्ठे गतम् ।) अनुग्राहार्थं सुविहितानामित्यस्यार्थविस्तरः 'ओहणिज्जुत्ति' शब्दे तृतीयभागे १२८ पृष्ठे तथा 'पडिलेहण० (२) इत्यादिगाथाया ओघनिर्युक्तिप्रतिलेखनापिण्डोपधिप्रमाणायतनप्रतिसेवनाऽऽलोचनाविशुद्धिद्वाराणि च सूचितानि ।) (तत्र प्रतिलेखनाद्वारं 'पडिलेहणा' शब्दे पञ्चमभागे ३३६ पृष्ठे गतम् ।) (अशिवादिकारणे एकाकिविहारविचारविषयः 'एगल्लविहार' शब्दे तृतीयभागे १६ पृष्ठे गतः ।)

गव्यूतिमात्रं यावन्मार्गं वहति । क्रोशद्वयं गव्यूतिः । इदानीं तस्य गच्छतो विधिरुच्यते—

> अत्थंडिलसंकमणे, चलवक्खित्तणुवउत्तसागरिए ।
> पडिपक्खेसु उ भयणा, इयरेण विलंबणा लोगं ॥१३॥

स्थण्डिलादस्थण्डिलं च संक्रामता साधुना पादौ रजोहरणेन प्रमार्जनीयाविति विधिः, मा भूत् सचित्तपृथिव्या अचित्तपृथिव्या व्यापत्तिः, ततश्च पादयोरसौ रजोहरणेन प्रमार्जनं करोति । अथ कश्चित्सागारिकः पथि व्रजतश्चलो भवति, व्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तश्चेति । तत्र चलो—गन्तुं पथि प्रवृत्तः, व्याक्षिप्तो—हलकुलिशवृत्तच्छेदादिव्यग्रः, अनुपयुक्तः-साधुं प्रत्यदत्तावधानः, यद्येवंविधः सागारिको भवति तदा रजोहरणेन प्रमृज्य पादौ याति । 'पडिपक्खेसु उ' इति विसदृशा पक्षा प्रतिपक्षा, असदृशा इत्यर्थः, तेषु प्रतिपक्षेषु भजना—विकल्पना कर्त्तव्या । एतदुक्तं भवति-केषुचित्प्रतिपक्षेषु प्रमार्जनं क्रियते, केषुचित्तु नैव । तुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशेषयति ?, प्रतिपक्षेष्वेव समुदायरूपेषु भजना कर्त्तव्या, न त्वेकैकस्मिन् भङ्ग इति । यदा तु सागारिकः स्थिरोऽव्याक्षिप्त उपयुक्तश्च साधुं प्रति भवति तदा 'इतरेणं' ति इतरशब्देन रजोहरणनिषद्योच्यते तया पादौ प्रमार्ष्टि, न रजोहरणेन, 'विलंबण' त्ति तां च निषद्यां हस्तेन विलम्बमानां नयति, न तच्छरीरसंस्पर्शनं करोति । कियती भुवं यावदित्याह-'आलोयण'त्ति आलोकनमालोको यावत्तद्दृष्टिप्रसर इत्यर्थः, अथवा 'इतरेणं' ति केनचिदौपग्रहिकेण कार्पासिकेन और्णिकेन वा चीरेण, शेषं प्राग्वत्, पश्चात्तं गोपयति । अथवा-'इतरेण विलंवणालोयं' ति-प्राक् तावदेकाकिनो विधिरुक्तः, यदा तु इतरेण—इतरशब्देन सार्थो गृह्यते, तेनेतरेण-सार्थेन सह प्रव्रजता स्थाण्डिल्याच्चास्थण्डिल्यं संक्रामता किं कर्त्तव्यं सार्थपुरतः ? इत्याह-'विलम्बने' ति-विलम्बना कार्या, मन्दगतिना सता स्थण्डिलस्थेन तावत्प्रतिपालनीयं, कियन्तं कालं प्रतिपालनीयम् ? यावदालोकन-दर्शनं तस्य सार्थस्य, अदर्शनीभूते तु प्साटान्तरिते सार्थे पादयोः प्रमार्जनं कृत्वा व्रजतीत्ययं विधिः । उक्तो गाथाऽक्षरार्थः, इदानीमष्टभङ्गिका प्ररूप्यते, सा चेयम्—चलो वक्खित्तो अणुवउत्तो य सागारिओ, एत्थ पमज्जणं, तस्यानुपयुक्तत्वादप्रमार्जनेऽसामाचारीप्रसङ्गात् १ चलवक्खित्त उवउत्त एत्थ नत्थि पमज्जणं सागारियत्तणओ २, च० अव० अणु० एत्थवि पमज्जणं ३, चल० अव० उव० एत्थ वि णत्थि पमज्जणं ४, अच० व० अणु० एत्थ पमज्जणं ५, अच० व० उ० णत्थि पमज्जणं ६, अच० अव० अणु० अत्थि पमज्जणं ७, अच० अव० उ० एत्थ नत्थि पमज्जणं ८ । तत्थ पढमभंगे नियमेण पमज्जणा, सत्तसु भयणा । एतदुक्तं भवति—केषुचित्प्रमार्जनं केषुचिदप्रमार्जना ।

स इदानीं साधुर्मार्गमजानानः पृच्छति, तत्र को विधिरित्याह—

> पुच्छाए तिण्णि तिआ, छक्के पढम जयणा तिपंचविहा ।
> आउम्मि दुविहतिविहा, तिविहा सेसेसु काएसु ॥१४॥

पृच्छायां सत्यां 'तिण्णि तिग' त्ति-त्रयस्त्रिका भवन्ति, तत्र पुरुषः स्त्री नपुंसकं च । तत्रैतेषामेकैकस्त्रिप्रकारः—बालस्तरुणो वृद्धश्चेति, एवमेते त्रयस्त्रिकाः, नवेत्यर्थः, तथा तेनैव साधुना गच्छता 'छक्के पढमजयणा' इति—षट्के पृथिव्यादिलक्षणे यतना कर्त्तव्या, तत्र 'पढमजयणा तिपञ्चविह' त्ति-प्रथमो यः षड्जीवकायः तस्य यतना त्रिपञ्चविधा, तत्र त्रिविधा सचित्तस्य अचित्तस्य मिश्रस्य च । पञ्चविधा पृथिवीकाययतना कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लभेदेनेति, अथवा-त्रिपञ्चविधेति—त्रयः पञ्चकाः पञ्चदशप्रकारेत्यर्थः, तथाहि-सचित्तः पृथिवीकायः शुक्लादिः पञ्चधा, एवमचित्तो, मिश्रश्च, तथाऽप्काये—'दुविहा (जहा जयणा) तिविहा य' तत्र द्विधा अन्तरिक्षाप्काययतना भौमाप्काययतना च, त्रिविधा तु सचित्ताप्काययतना, अचित्ता० मिश्रा०, त्रिविधा

तपो वहन्ति ते निर्विशमानका, येस्तु तदेव तपो व्यूढं ते निर्विष्टकायिका उच्यन्ते। आह—कानि पुनस्तानि चत्वारि षट् वा स्थानानि येषु सामायिकसंयता यथाक्रमं स्थिता अस्थिताश्चेति।

अत्रोच्यते—

सिज्जायरपिंडे या, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥२८५॥

'सज्जातरपिंडे' त्ति-सूचनात् सूत्रमिति शय्यातरपिण्डस्य परिहरणम्, चतुर्याम, पुरुषज्येष्ठश्च धर्म, कृतिकर्मणश्च करणमेते चत्वार कल्पा, सामायिकसाधूनामप्यवस्थिता। तथाहि-सर्वेऽपि मध्यमसाधवो महाविदेहसाधवश्च शय्यातरपिण्डं परिहरन्ति। चतुर्याम च धर्ममनुपालयन्ति पुरुषज्येष्ठश्च धर्म इति कृत्वा तदीया अप्यार्यिकाश्चिरदीक्षिता अपि तद्दिनदीक्षितमपि साधुं वन्दन्ते। कृतिकर्म च यथा राज्ञिक तेऽपि कुर्वन्ति, अत एते चत्वार कल्पा अवस्थिता।

इमे पुन षडनवस्थिता -

आचेलक्कुद्देसिय, सपडिक्कमणे य रायपिंडे य।
मासं पज्जोसवणा, छप्पेतेऽणवट्ठिता कप्पा॥२८६॥

आचेलक्यमौद्देशिकं सप्रतिक्रमणो धर्मो राजपिण्डो मासकल्प पर्युषणाकल्पश्चेति। षडप्येते कल्पा मध्यमसाधूनाविदेहसाधूनामनवस्थिता। तथाहि-यदि तेषां वस्त्रप्रत्ययो रागो द्वेषो वा उत्पद्यते तदा अचेला, अथ न रागोत्पत्तिस्तत सचेला महामूल्य प्रमाणातिरिक्तमपि वस्त्रं गृह्णन्तीति भाव। औद्देशिक नाम-साधूनुद्दिश्य कृत भक्तादिकमाधाकर्मेत्यर्थस्तदप्यन्यस्य साधोरर्थाय कृत कल्पते तदर्थं तु कृत न कल्पते प्रतिक्रमणमपि यद्यतिचारो भवति तत कुर्वन्ति, अतिचाराभावे न कुर्वन्ति। राजपिण्डे यदि वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति तत परिहरन्ति, अन्यथा गृह्णन्ति। मासकल्पे यद्येकक्षेत्रे तिष्ठता दोषा न भवन्ति तत पूर्वकोटीमप्यासते, अथ दोषा भवन्ति ततो मासे अपूर्णे वा निर्गच्छन्ति पर्युषणायामपि यदि वर्षासु विहरता दोषा भवन्ति तत एकत्र क्षेत्रे आसते, अथ दोषा न भवन्ति ततो वर्षारात्रेऽपि विहरन्ति। गता सामायिकसंयतकल्पस्थितिः। बृ० ६ उ०।

सामाइयचरित्त-सामायिकचरित्र-न०। सावद्ययोगविरतिरूपे चारित्रभेदे, भ० ८ श० २ उ०। आतु०। औ०।

सामाइयचरित्तलद्धि-सामायिकचरित्रलब्धि-स्त्री०। सावद्ययोगविरतिरूपस्य चारित्रस्य लब्धौ, भ० ८ श० २ उ०।

सामाइयज्झयण-सामायिकाध्ययन-न०। आवश्यकश्रुतस्कन्धस्य सामायिकप्रतिपादके प्रथमे अध्ययने, विशे०। अनु०। आ० म०। आ० चू०। (अत्र वक्तव्यम् 'सामाइय' शब्देऽनुपदमेवोक्तम्।)

सामाइयपडिमा-सामायिकप्रतिमा-स्त्री०। 'वरदंसणवयजुत्तो, सामाइय कुणइ जो उ संझासु। उक्कोसेण तिमासं, एसा सामाइयप्पडिमा'॥१॥ इत्येवं रूपाया तृतीयायामुपासकप्रतिमायाम्, उपा०१ अ०। श्रीन्मासानुभयकालमप्रमत्तः पूर्वोक्तप्रतिमानुष्ठानसहित· सामायिकमनुपालयतीति। ध० २ अधि०।

सामाइयपय-सामायिकपद-न०। सामायिकप्रतिपादके पदे, अनु०।

सामाइयसंजय-सामायिकसंयत-पुं०। सामायिक सर्वसावद्यविरतिरूप तत्प्रधाना संयता' सामायिकसंयता। सामायिकाख्यचारित्रप्रधानेषु साधुषु. बृ० ६ उ०। (सामायिकसंयतानां विस्तरतो व्याख्या 'संजय' शब्दे गता)

सामाग-श्यामाक-पुं०। जृम्भकग्रामस्य बहि ऋजुपालिकाया नद्यास्तटे उषित स्वनामख्याते गृहपतौ, यस्य क्षेत्रे वीरजिनस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम्। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। आ० म०। आ० चू०। धान्यभेदे, वाच०।

सामाणिय-सामानिक-पुं०। सकारस्य प्राकृतत्वाद् दीर्घ। सन्निहितरूपे, आ० म० १ अ०। सन्निहित, अभ्यर्पित, "जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे। तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासियं॥१॥" विशे०। समानतया इन्द्रतुल्यतया ऋद्धया चरन्तीति सामानिका'। इन्द्रसमानर्द्धिषु देवेषु, भ० ३ श० १ उ०। स्था०। सामाने-द्युतिवैभवादौ भवा. सामानिका। अध्यात्मादित्वादिकण। विमानाधिपतिसूर्याभदेवसदृशद्युतिविभवादिकेषु देवेषु, रा०। आ० म०।

कस्येन्द्रस्य कियन्त सामानिका —

चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा तहेव चत्तारि।
भवणवइवाणमंतर-जोइसियाणं च सामाणे॥४४॥

द० प०।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो छ सामाणियसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एवं भूयाणंदस्स वि० जाव महाघोसस्स। (सू० ५०६) स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सामाणियपरिसोववण्णग-सामानिकपर्षदुपपन्नक-पुं०। अभ्यन्तरादिपर्षदुपगते जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सामाय-श्यामाक-पुं०। धान्यविशेषे, ज० १ वक्ष०।

सामाय-पुं०। साममिति "तत्थ आओ य त्ति तेण सामाओ। अहवा सामस्स आओ" सर्वेषु जीवेषु मैत्री साम भण्यते तत्र साम्नि आयो गमनं साम्ना वा यो गमनं वर्तन स सामाय। अथ वा साम्न आयो-लाभ सामाय। सामायिके, विशे०। आ० म०। रा०।

सामायारी-सामाचारी-स्त्री०। समाचरणं समाचार, तद्भाव सामाचार्य तदेव सामाचारी। सव्यवहारे, स्था० १० ठा० ३ उ०। आगमोक्ताहोरात्रक्रियाकलापे, ग० १ अधि०।

सामाचारीस्वरूपम्—

सामायारी तिविहा, ओहे दसहा पयविभागे॥६६५॥

समाचरण समाचार —शिष्टाचरित क्रियाकलापस्तस्य भाव "गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च" (पा० ५-१-१२४) इति ष्यञ् सामाचार्य, पुन स्त्रीत्वविवक्षायाम्-"षिद्गौरादिभ्यश्च" (पा० ४-१-४१) इति ङीष्, 'यस्येति च' (पा० ६-४-१४८) इत्यकारलोप, "हलस्तद्धितस्य" (पा० ६-४-१५०) इत्यनेन तद्धितयकारलोप, परगमन सामाचारी। तत्र सामाचारी त्रिविधा—'ओहे दसहा पयविभागे' त्ति-

ओघ'—सामान्यम् . ओघ सामाचारी सामान्यन. सङ्क्षेपाभिधानरूपा१,सा चौघनिर्युक्तिरिति १। दशविधसामाचारी इच्छाकारादिलक्षणा२, पदविभागसामाचारी छेदसूत्राणीति३। तत्रौघसमाचारी नवमात्पूर्वात् तृतीय.द्वस्तुन आचाराभिधानात्, तत्रापि विंशतिनमात्प्राभृतात्, तत्राप्योघप्राभृतप्राभृतात् निर्व्यूढेति। एतदुक्तं भवति—साम्प्रतकालप्रव्रजितानां तावच्छ्रुतपरिज्ञानशक्तिविकलानामायुष्कादिह्रासमपेक्ष्य प्रत्यासन्नीकृतेति। दशविधसामाचारी पुन षड्विंशतितमादुत्तराध्ययनात्स्वल्पतरकालप्रव्रजितपरिज्ञानार्थं निर्व्यूढेति। पदविभागसामाचार्यपि छेदसूत्रलक्षणान्नवमपूर्वादेव निर्व्यूढेति गाथार्थः। साम्प्रतमोघनिर्युक्तिर्वाच्या। आव०१अ०।

तत्रौघसामाचारी तावदभिधीयते, अस्याश्च महार्थत्वात् कथञ्चिच्छास्त्रान्तरत्वाच्चादावेवाचार्यो मङ्गलार्थं संबन्धादित्रयप्रतिपादनार्थं च गाथाद्वयमाह—

अरहंते वंदित्ता, चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी।
एक्कारसंगसुत्त-त्थधारए सव्वसाहू य ॥ १ ॥
ओहेण उ निज्जुत्ती, वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ।
अप्पक्खरं महत्थं, अणुग्गहत्थं सुविहियाणं ॥ २ ॥

अर्हतो वन्दित्वा चतुर्दशपूर्विणः तथैव दशपूर्विण', एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान् सर्वसाधूंश्च, एतावन्ति पदान्याद्यगाथासूत्रे। द्वितीयगाथासूत्रपदान्युच्यन्ते-ओघेन तु निर्युक्तिं वक्ष्ये चरणकरणानुयोगात् अल्पाक्षरां महार्थाम् अनुग्रहार्थं सुविहितानाम्। ओघ०। (ओघनिर्युक्तिपदव्याख्यानम् 'ओहणिज्जुत्ति' शब्दे तृतीयभागे १२७ पृष्ठे गतम्।) (चरणपदविवरणं 'चरण' शब्दे तत्रैव तृतीयभागे ११२५ पृष्ठे विस्तरतो गतम्।) (करणपदव्याख्यानम् 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३५६ पृष्ठे गतम्।) अनुयोगपदव्याख्यानम् 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३५६ पृष्ठे गतम्।) (अल्पाक्षरमहार्थपदप्ररूपणम् 'अप्पक्खर' शब्दे प्रथमभागे ६१४ पृष्ठे गतम्।) अनुग्राहार्थं सुविहितानामित्यस्यार्थविस्तर. 'ओहणिज्जुत्ति' शब्दे तृतीयभागे १२८ पृष्ठे तथा 'पडिलेहणं० (२) इत्यादिगाथाया ओघनिर्युक्तिप्रतिलेखनापिण्डोपधिप्रमाणायतनप्रतिसेवनाऽऽलोचनाविशुद्धिद्वाराणि च सूचितानि।) (तत्र प्रतिलेखनाद्वारं 'पडिलेहणा' शब्दे पञ्चमभागे ३३६ पृष्ठे गतम्।) (अशिवादिकारणे एकाकिविहारविचारविषय. 'एगल्लविहार शब्दे तृतीयभागे १६ पृष्ठे गत।)

गव्यूतिमात्र यावन्मार्ग वहति। क्रोशद्वयं गव्यूतिः। इदानीं तस्य गच्छतो विधिरुच्यते—

अत्थंडिलसंकमणे, चलवक्खित्तणुवउत्तसागरिए।
पडिपक्खेसु उ भयणा, इयरेण विलंबणा लोगं ॥१३॥

स्थण्डिलादस्थण्डिलं च सक्रामता साधुना पादौ रजोहरणेन प्रमार्जनीयाविति विधि, मा भूत् सचित्तपृथिव्या अचित्तपृथिव्या व्यापत्ति., तत्र च पादयोरसौ रजोहरणेन प्रमार्जनं करोति। अथ कश्चित्सागारिक. पथि व्रजतश्चलो भवति, व्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तश्चेति। तत्र चलो—गन्तुं पथि प्रवृत्तः, व्याक्षिप्तो—हलकुलिशवृक्षच्छेदादिव्यग्र, अनुपयुक्त.-साधुं प्रत्यदत्तावधान, यदैवंविधः सागारिको भवति तदा रजोहरणेन प्रमृज्य पादौ याति। 'पडिपक्खेसु उ' इति विसदृशा. पक्षा' प्रतिपक्षा, असदृशा इत्यर्थ, तेषु प्रतिपक्षेषु भजना—विकल्पना कर्त्तव्या। एतदुक्तं भवति-केषुचित्प्रतिपक्षेषु प्रमार्जनं क्रियते, केषुचित्तु नैव। तुशब्दो विशेषणार्थे। किं विशेषयति?, प्रतिपक्षेष्वेव समुदायरूपेषु भजना कर्त्तव्या, न त्वेकैकस्मिन् भङ्ग इति। यदा तु सागारिक' स्थिरोऽव्याक्षिप्त उपयुक्तश्च साधुं प्रति भवति तदा 'इतरेणं' ति इतरशब्देन रजोहरणनिषद्योच्यते तया पादौ प्रमार्ष्टि, न रजोहरणेन, 'विलंबणा' त्ति ता च निषद्यां हस्तेन विलम्बमानां नयति, न तच्छरीरसस्पर्शनं करोति। कियती भुवं यावदित्याह-'आलोयणं'त्ति आलोकनमालोको यावत्तद्दृष्टिप्रसर इत्यर्थः,अथवा इतरेणं' ति केनचिदौपग्रहिकेण कार्पासिकेन और्णिकेन वा चीरेण, शेषं प्राग्वत्, पश्चात्तं गोपयति। अथवा-' इतरेण विलंबणालोयं' ति-प्राक् तावदेकाकिना विधिरुक्त, यदा तु इतरेण—इतरशब्देन सार्थो गृह्यते, तेनेतरेण-सार्थेन सह प्रव्रजता स्थाण्डिल्याच्चास्थाण्डिल्यं संक्रामता किं कर्त्तव्यं सार्थपुरत' ? इत्याह-' विलम्बने' ति-विलम्बना कार्या, मन्दगतिना सता स्थण्डिलस्थेन तावत्प्रतिपालनीयं, कियन्तं काल प्रतिपालनीयम्? यावदालोकन-दर्शनं तस्य सार्थस्य, अदर्शनीभूते तु प्रासाटान्तरिते सार्थे पादयो प्रमार्जन कृत्वा व्रजतीत्ययं विधि। उक्तो गाथाऽक्षरार्थः, इदानीमष्टभङ्गिका प्ररूप्यते, सा चेयम्—चलो वक्खित्तो अणुवउत्तो य सागारिओ, एत्थ पमज्जणा, तस्यानुपयुक्तत्वादप्रमार्जनेऽसामाचारीप्रसङ्गात्? चलवक्खित्तु उवउत्तु एत्थ नत्थि पमज्जणं सागारियत्तणओ २, च० अव० अणु० एत्थवि पमज्जणं ३, चल० अव० उव० एत्थ वि णत्थि पमज्जणं ४, अच० व० अणु० एत्थ पमज्जणं ५, अच० व० उ० णत्थि पमज्जणं ६, अच० अव० अणु० अत्थि पमज्जणा ७, अच० अव० उ० एत्थ नत्थि पमज्जणा ८। तत्थ पढमभंगे नियमेण पमज्जणा, सत्तसु भयणा। एतदुक्त भवति—केषुचित्प्रमार्जनं केषुचिदप्रमार्जना।

स इदानीं साधुर्मार्गमजानानः पृच्छति, तत्र को विधिरित्याह—

पुच्छाए तिण्णि तिआ, छक्के पढम जयणा तिपंचविहा।
आउम्मि दुविहतिविहा, तिविहा सेसेसु काएसु ॥१४॥

पृच्छायां सत्यां 'तिण्णि तिग' त्ति-त्रयस्त्रिका भवन्ति, तत्र पुरुष. स्त्री नपुंसक च। तत्रैतेषामेकैकस्त्रिप्रकारः—बालस्तरुणो वृद्धश्चेति, एवमेते त्रयस्त्रिका., नवेत्यर्थः, तथा तेनैव साधुना गच्छता 'छक्के पढमजयणा' इति—षट्के पृथिव्यादिलक्षणे यतना कर्त्तव्या, तत्र 'पढमजयणा तिपंचविह' त्ति-प्रथमो य पृथ्वीकाय. तस्य यतना त्रिपञ्चविधा, तत्र त्रिविधा सचित्तस्य अचित्तस्य मिश्रस्य च। पञ्चविधा पृथिविकाययतना कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लस्येति, अथवा-त्रिपञ्चविधेति—त्रय. पञ्चका पञ्चदशप्रकारेत्यर्थ, तथाहि-सचित्त. पृथिवीकाय शुक्लादि पञ्चधा, एवमचित्तो, मिश्रश्च, तथाऽप्काये—' दुविहा (जहा जयणा) तिविहा य' तत्र द्विधा अन्तरिक्षाप्काययतना भौमाप्काययतना च, त्रिविधा तु सचित्ताप्काययतना, अचित्ता० मिश्रा०, त्रिविधा

तु शेषेषु कायेषु—तेजोवायुवनस्पतित्रसाख्येषु यतना, कथम् ?, सच्चित्तादि, महाद्वारगाथाया समुदायार्थः।

अथाद्यद्वारावयवार्थं पुनस्तदेवाह—

पुरिमो इत्थिनपुंसग, एक्केको थेर मज्झिमो तरुणो।
साहम्मि अन्नधम्मिअ-गिहत्थदुगअप्पणो तइओ॥१५॥

यदुक्तमनन्तरगाथाया पुच्छाए त्ति-पृच्छाया त्रितय संभवति तदा पुरुष स्त्री नपुंसकं चेति,यदुक्तं त्रयस्त्रिका तद्दर्शयन्नाह-एकक स्थविरो मध्यमस्तरुण इत्ययं नवभङ्ग। स चैकैको नवविधोऽपि कदाचित्साधर्मिक स्यात्कदाचित्तु नवविधोऽप्यन्यधार्मिक स्यादित्याह—समाने धर्मे वर्त्तन इति साधर्मिक-श्रावक श्राविका नपुंसक श्रावक च, अन्यधार्मिको मिथ्यादृष्टि। कियन्त पुनस्तेन गच्छता पन्थान प्रष्टव्या इत्यत आह—'गिहत्थदुग' त्ति—साधर्मिकगृहस्थद्वयं पृच्छनीयम्, अन्यधार्मिकगृहस्थद्वय वा। 'अप्पणा तिउ' त्ति-आत्मना तृतीयो युक्तधाऽन्वेषणं विदधाति, एष तावत्सामान्योपन्यास। अथ प्रथम य प्रष्टव्य स उच्यते-तत्र यदि साधर्मिकद्वयमस्ति ततस्तदेवोत्सर्गेण पृच्छ्यते, तस्य प्रत्ययिकत्वात्, अथ नास्ति तत—

साहम्मिअपुरिमासइ,मज्झिमपुरिम अणुसविअ पुच्छे।
सेसेसु होंति दोसा, सविसेसा सजईवग्गे॥१६॥

साधर्मिकपुरुषद्वयाभावेऽन्यधार्मिकमध्यमपुरुषद्वय पृच्छनीयं, कथम् ?—'अणुणविअ' अनुज्ञां कृत्वा धर्मलाभपुरस्सर, तत प्रियपूर्वक पृच्छति। अन्यधार्मिकमध्यमग्रहणत्विह साधर्मिकविपक्षत्वादवसीयत एव, 'सेसेसु' त्ति—अन्यधार्मिकमध्यमपुरुषद्वयव्यतिरिक्तेषु अष्टसु भेदेषु दोषा भवन्ति पृच्छतस्त एव दोषा सविशेषा—समधिका सयतीवर्गे—संयतीवर्गविषये पृच्छत सत।

के च ते दोषा इत्याह—

थेरो पहं न याणइ, बालो पवंचणे न याणई वावि।
पंडित्थिमज्झसंका, इयरे न याणंति सका य॥१७॥

स्थविर—वृद्ध स मार्ग न जानाति, भ्रष्टस्मृतित्वात्, बालस्तु प्रपञ्चयति केलीकिलत्वात् न वा जानाति, क्षुल्लकत्वाद्, बालस्त्वत्र अष्टवर्षादारभ्य यावत्पञ्चविंशतिक इति, असावपि बाल इव बाल, अपरिणतत्वेन रागान्धत्वात्,मध्यमवय-पण्डकमध्यवय स्त्रीपृच्छाया शङ्कोपजायते, नूनमस्य नाभ्या कश्चिदर्थोऽस्ति, इयरे न याणनि' इतरशब्देन स्थविरनपुसक बालनपुसक स्थविरस्त्री बाला स्त्री वाऽभिगृह्यते, एते मार्गानभिज्ञा शङ्का च स्यात्।

क तर्हि व्यवस्थितेन पृच्छनीयमित्याह—

पासट्ठिओ य पुच्छे-ज्ज वंदमाणं अवंदमाण वा।
अणुवइऊण व पुच्छे, तुण्हिक्कं मा य पुच्छिज्जा॥१८॥

पार्श्वस्थित—समीपे व्यवस्थित पृच्छत्, किंविशिष्ट त पृच्छेत् ?-वन्दन कुर्वाणमकुर्वाण वा। अथासौ समीपमतिक्रम्य यात्येव तत 'अणुवइऊण व' अनुव्रजन कृत्वा कतिचित्पदानि गत्वा प्रष्टव्य। अथासौ पृच्छ्यमानोऽपि न किञ्चिद्वक्ति तूष्णीं व्रजति, ततो नैव पृच्छनीय इति।

पंथब्भासे य ठिओ, गोवोई मा य दूरि पुच्छिज्जा।
संकाईया दोसा,विराहणा होइ दुविहा उ॥१६॥

तथा पन्थाभ्यासे—समीपे स्थित कश्चिद्गोपालादि, आदिशब्दात्कर्षकपरिग्रह, स च पृच्छनीय, मा च दूरे व्यवस्थित गोपालादि पृच्छत्, शङ्कादिदोषसद्भावात्, नूनमस्य द्रविणमस्ति बलीवर्दादि (क वा) श्रङ्गिण करोतीत्येवमादय। दूरे च गच्छतो द्विविधा विराधना-आत्मसंयमविषया। आद्या कण्टकादिभिरितराऽनाक्रान्तपृथिव्याद्याक्रमणेन।

यदा तु पुनरन्यधार्मिको मध्यमवया पुरुषो नास्ति य पन्थान पृच्छ्यते तदा क प्रष्टव्य इत्याह—

असई मज्झिम थेरो, दढस्सुई भद्दओ य जो तरुणो।
एमेव इत्थिवग्गे,नपुंसवग्गे य संजोगा॥ २०॥

असति मध्यमपुरुषे स्थविर पन्थानं पृच्छनीय, किंविशिष्ट ?-दृढस्मृति अथ स्थविरो न भवति ततस्तरुण प्रष्टव्य, कीदृश ?-य स्वभावेनैव भद्रक। स्त्रीवर्गेऽप्येवमेव पृच्छा कर्त्तव्या। एतदुक्त भवति-प्रथमं मध्यमवया स्त्रीमार्ग प्रष्टव्या तदभावे स्थविरा दृढस्मृति, अथ स्थविरा न भवति ततस्तरुणी प्रष्टव्या, तदभावे भद्रिका तरुणी, एव मध्यमवयो नपुसक, तस्याभावे स्थविरनपुसक दृढस्मृति, तदभावे बालनपुसकं भद्रकम्, आह च—नपुसकवर्गे च सयोगा—नपुसकवर्गे—नपुसकसमुदाये एवमेव सयोगा ज्ञातव्या। यथैतेऽनन्तरमुक्ता न केवलमेतावन्त एव सयोगा किन्त्वन्येऽपि बहव सन्ति।

आह च—

एत्थ पुण संजोगा, होंति अणेगा विहाणसंगुणिआ।
पुरिसित्थिनपुंसेसुं, मज्झिम तह थेर तरुणेसुं॥२१॥

अत्र पुन—पृच्छाप्रक्रमे सयोगा भवन्त्यनेके कथ ?-विहाणसगुणिय त्ति—विधानेन-भेदप्रकारेण संगुणिता, चारणिकया अनेकशो भिन्ना इत्यर्थ, क च ते भवन्ति ?-'पुरिसित्थिनपुसेसु' पुरुषस्त्रीनपुंसकेषु, किंविशिष्टेषु ?—मध्यमस्थविरतरुणभेदभिन्नेषु, उक्तो गाथाऽक्षरार्थ, । इदानी भङ्गका प्रदर्श्यन्ते—"तत्थ साहम्मिअचारणिआए ताव-दो मज्झिमवया साहम्मिअपुरिसा पुच्छेज्ज एस एक्को उ १, तदभावे दो थेरे साहम्मिए चेव पुच्छिज्जा २, तद भावे दो तरुणे साहम्मिए चेव एस तइओ त्ति ३,। तद्भावे दो साहम्मिणीओ मज्झिमिअमहिलातो ४, तत्तो दो थेरीओ साहम्मिणीओ चेव पचमो एसो५, तत्तो साहम्मिणीओ चिअ दो तरुणीओ छट्ठो सो ६, तदभावे दो साहम्मिआ उ मज्झिमनपुंसया पुच्छ ७, तत्तो दो साहम्मिअथेरपुंसाओ अट्ठमओ ८, दो साहम्मिअतरुणे नपुसया चेव ते उ पुच्छेज्जा ९, अहवा—मज्झिमपुरिसो एगो उ दु चव साहम्मी १०, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणसाहम्मिओ उ पुच्छिज्जइ ११, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिआ १२, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ थेरी य साहम्मिणी १३, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणी य साहम्मिणी १४, म-

ज्झिमपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमसाहम्मिअनपुंसओ अ १५, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ थेरसाहम्मिअनपुंसओ अ १६, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य १७. अहवा—थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणसाहम्मिओ अ १८, थेरपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिणी १९, थेरपुरिसो साहम्मिओ थेरी साहम्मिणी अ २०, थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणी साहम्मिणी य २१, थेरपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमनपुंसओ साहम्मिओ य २२, थेरपुरिसो साहम्मिओ थेरनपुंसओ साहम्मिओ अ २३, थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणनपुंसओ सा० य २४, तरुणपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिणी अ २५, तरुणपुरिसो साहम्मिओ थेरसाहम्मिणी अ २६, तरुणपुरिसो साहम्मिओ तरुणी साहम्मिणी अ २७, तरुणपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ २८, तरुणपुरिसो साहम्मिओ थेरनपुंसयसाहम्मिओ अ २९, तरुणपुरिससाहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ३०, मज्झिममहिला साहम्मिणी थेरी साहम्मिणी अ ३१, मज्झिममहिला साहम्मिणी अ तरुणी साहम्मिणी अ ३२, मज्झिममहिला साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ ३३, मज्झिममहिला साहम्मिणी थेरनपुंसओ साहम्मिओ उ ३४, मज्झिममहिला साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ३५, थेरी साहम्मिणी तरुणी थेरसाहम्मिणी ३६, थेरी साहम्मिणी नपुंसयसाहम्मिओ अ ३७, थेरी साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ उ ३८, थेरी साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ उ ३९ तरुणीसाहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ य ४०, तरुणी साहम्मिणी थेरनपुंसयसाहम्मिओ उ ४१, तरुणी साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य ४२, तरुणी साहम्मिणी मज्झिमो नपुंसयसाहम्मिओ अ ४३, थेरनपुंसयसाहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ४४, एवं ताव साहम्मिअचारणिआए लद्धा ॥ इदानीं अन्नधम्मचारणिआए पय सिज्झइ—अण्णधम्मिआ दो मज्झिमपुरिसा पुच्छिज्जंति पत्तेअं १, अन्नधम्मिआ दो थेरपुरिसा २, अण्णधम्मिआ दो तरुणपुरिसा ३, अण्णधम्मिआउ दो मज्झिममहिला ४, अण्णधम्मिआ थेरी उ दो ५, अण्णधम्मिअतरुणी दो ६, अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसया दो ७, अण्णधम्मिअथेरनपुंसया दो ८, अण्णधम्मिअतरुणनपुंसया दो ९, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो य १०, अण्णधम्मियमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ११, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ १२. अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ अण्णधम्मिअथेरी य १३ अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ १४, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अ १५, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य १६, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ १७, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ १८, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य १९. अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी अ २०, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ २१, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अ २२. अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मियथेरनपुंसगो य २३, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो य २४. अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य २५ अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी य २६. अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ २७, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ २८ अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ २९. अण्णधम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ३० अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरी अ ३१. अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणी अ ३२, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मियमज्झिमनपुंसगो अ ३३, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य ३४, अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ३५, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणी य ३६, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य ३७, अन्नधम्मिअथेरी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो य ३८, अण्णधम्मियथेरी अण्णधम्मियतरुणनपुंसगो अ ३९, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मियमज्झिमनपुंसगो अ ४०, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो य ४१, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो य ४२, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ४३, अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो अ ४४, अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसओ अ ४५, अण्णधम्मिअथेरनपुंसओ अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ४६, एव अन्नधम्मिअचारणियाए लद्धा । न सव्वे य नऊई ॥ इदाणिं साहम्मिअ अन्नधम्मिअ उभयचारणिआ कीरइ—साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अन्नधम्मियमज्झिमपुरिसो य पुच्छिज्जइ १, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मियथेरपुरिसो य २, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणो अ ३, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअ—मज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो य ७, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो य ९, एवं नव साहम्मियमज्झिमपुरिससमुच्चमाणेहिं लद्धा । साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो चेव २, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणो अ ३, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४. साहम्मिअथेरपुरिसो अन्नधम्मिअमहिलाथेरी अ ५, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मियनपुंसगथेरो अ ८. साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअथेरपुरिससमुच्चमाणेहिं लद्धा । साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मियथेरपुरिसो अ २, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३ साहम्मियतरुणपु—

रिसो अन्नधम्मिअमज्झिमहिला अ ४, साहम्मिअतरुणपुरिसो अएणधम्मिअथेरमहिला य ५, साहम्मिअतरुणपुरिसो अएणधम्मियतरुणी अ ६, साहम्मियतरुणपुरिसो अएणधम्मिअमज्झिमनपुसगो अ ७, साहम्मिअनरुणपुरिसो अन्नधम्मिअनरुणनपुसगो अ ८, साहम्मिअनरुणपुरिसो अएणधम्मिअथेरनपुसगो अ ९, एतवि नव साहम्मिअतरुणमुचमाणेहिं लद्धा। साहम्मिअमज्झिममहिला अएणधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअमज्झिममहिला अएणधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मियमज्झिममहिला अएणधम्मिअनरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअमज्झिममहिला अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअमज्झिममहिला अएणधम्मिअथेरमहिला अ ५, साहम्मिअमज्झिममहिला अएणधम्मिअतरुणमहिला अ ६, साहम्मिअमज्झिममहिला अन्नधम्मिअमज्झिमनपुसगो अ ७, साहम्मिअमज्झिममहिला अएणधम्मिअथेरनपुसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिममहिला अएणधम्मिअतरुणनपुसगो अ ९। एते नवसाहम्मिअमज्झिममहिलाए लद्धा। साहम्मिआ थेरी अएणधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरी अएणधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअथेरी अएणधम्मिअतरुणपुरिसो य ३, साहम्मियथेरी अएणधम्मिअमज्झिममहिला अ४, साहम्मिअथेरी अएणधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअथेरी अएणधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरी अएणधम्मिअमज्झिमनपुसगो अ ७, साहम्मियथेरी अन्नधम्मिअथेरनपुसगो अ ८, साहम्मिअथेरी अएणधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते साहम्मियथेरीए अमुच्चमाणीए लद्धा। साहम्मिअतरुणी अएणधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणी अएणधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअतरुणी अएणधम्मियतरुणपुरिसो य ३, साहम्मियतरुणी अएणधम्मिअमज्झिममहिला य ४, साहम्मिअतरुणी अएणधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअतरुणी अएणधम्मिअतरुणी अ ६ साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुसगो अ ७ साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअथेरनपुसगो अ ८ साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअतरुणनपुसगो अ ९, एते नव साहम्मिअतरुणीए अमुच्चमाणेण लद्धा। साहम्मिअमज्झिमनपुसगो अन्नधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ१, साहम्मिअमज्झिमनपुसगो अन्नधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअमज्झिमनपुसगो अन्नधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मियमज्झिमनपुसओ अन्नधम्मियमज्झिममहिला य४, साहम्मियमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअमज्झिमनपुसओ अन्नधम्मियतरुणी अ ६, साहम्मियमज्झिमनपुसओ अन्नधम्मियमज्झिमनपुंसओ अ ७, साहम्मिअमज्झिमनपुसओ अन्नधम्मियथेरनपुसओ अ ८, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअतरुणनपुसओ अ ९, एते नव साहम्मिअमज्झिमनपुंसगेण अमुचमाणेण लद्धा। साहम्मिअथेरनपुसओ अएणधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरनपुसगो अन्नधम्मिअथेरपुरिसो अ २. साहम्मिअथेरनपुसगो अन्नधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअथेरनपुसगो अएणधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअ—थेरनपुसगो अन्नधम्मिअ—थेरी अ ५, साहम्मिअ—थेरनपुंसओ अएणधम्मियतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरनपुंसगो अएणधम्मिअमज्झिमनपुसगो अ ७, साहम्मिअथेरनपुंसगो अएणधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८। साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मियथेरनपुसगेण अमुच्चमाणेण लद्धा। साहम्मिअतरुणनपुंसगा अएणधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अएणधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअनरुणनपुंसगो अएणधम्मिअनरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअतरुणनपुसगो अएणधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअतरुणनपुसगो अएणधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअतरुणनपुसगो अएणधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअतरुणनपुसगो अन्नधम्मिअमज्झिमनपुसगो अ ७, साहम्मिअतरुणनपुसगो अएणधम्मिअथेरनपुसगो अ ८, साहम्मिअतरुणनपुसगो अएणधम्मिअतरुणनपुसगो अ ९, एते नव साहम्मिअतरुणनपुंसगेण अमुच्चमाणेण लद्धा। एते नव नवगा साहम्मिअअन्नधम्मिअचारणिआए होंति। एगत्थ मिलिआ एक्कासीति। उक्तं पृच्छाद्वारम्। ओघ०। (षट्कायनना पृथ्वीकायिकादिशब्देषु) तदेव गच्छतस्तस्य षट्काययतनादिको विधिरुक्त, स इदानीं-गच्छन् ग्रामादौ प्रविशति, तत्र का सामाचारी ?, तद्दर्शनार्थमुपक्रमते—

पढमबिइया गिलाणे, तइए सण्णी चउत्थ साहम्मी ।
पंचमियम्मि अ वसही. छट्ठे ठाणट्ठिओ होइ ॥६१॥

प्रथमद्वारे द्वितीयद्वारे च 'गिलाणे'त्ति-ग्लानविषया यतना वक्तव्या। तृतीय द्वारे संज्ञी-श्रावको वक्तव्य। चतुर्थे द्वारे साधर्मिक-साधुर्वक्तव्य। पञ्चमे द्वारे वसतिर्वक्तव्या। षष्ठे द्वारे वर्षाकालप्रतिघातात्स्थानस्थितो भवति। आह-तृतीयद्वारे षडर्थाधिकारा भविष्यन्ति. तद्यथा-"वइअग्गामे सखडि, सएणी दाणे अ भद्दे अ" त्ति, ततश्च किमिति सञ्ज्ञिन एव केवलस्य ग्रहणमकारि ?, उच्यते—सञ्ज्ञिनोऽतिरिक्तो विधिर्वक्ष्यमाणो भविष्यति अस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं संज्ञिग्रहणमेवाकरोत्। अथवा—तुलादण्डमध्यग्रहणन्यायेन मध्यग्रहणे शेषाण्यपि गृहीतान्यव द्रष्टव्यानि, आह—मध्यमे वैतन्न भवति, यत षडमूनि द्वाराणि, उच्यन्ते, नैतदेव, यत सप्तम चशब्दात्क्षिप्त महानिनादेति द्वारं भविष्यति, संज्ञिग्रहणेन मध्यमेव गृहीतमितीय द्वारगाथा। ओघ०। (साधर्मिकद्वारम् 'साहम्मिय' शब्दे वक्ष्यते।)(श्रमणाना मध्ये ये शुद्धास्तेष्वेव सवास कुर्यादिति 'पडिलेहणा' शब्दे पञ्चमभागे ३३८ पृष्ठे गतम्।) (वसतिद्वारविषय. 'वसहि' शब्दे गत।)(यै कारणै स्थानस्थितो भवति तानि कारणानि 'ठाणट्ठिय' शब्दे चतुर्थभागे १७१६ पृष्ठे गतानि।) ('हिंडग' शब्दे हिएडकस्वरूप वक्ष्यामि।) (आहिएडकाना विषय 'आहिंडग' शब्दे द्वितीयभागे ५२७ पृष्ठे गत.।)

इदानीं बालादीना प्रेषणार्हत्वे प्राप्ते यतना प्रतिपाद्यते, तत्र च गणावच्छेदक प्रेष्यते, तदभावेऽन्यो गीतार्थ। तदभावेऽगीतार्थोऽपि प्रेष्यते। तस्य को विधि ?—

सामायारिमगीए, जोगमणागाढ खवग पराव्वे ।
वेयावच्चे दायण-जुयलसमत्थ व सहिअं वा ॥ १४२ ॥

अगीतार्थस्य समाचारी कथ्यते, ततः प्रेष्यते, तदभावे योगी प्रेष्यते। किंविशिष्टः?-'अणागाढे' त्ति अनागाढयोगी-वाह्ययोगी योग निक्षिप्य पारयित्वा—भोजयित्वा प्रेष्यते,तत स्तदभावे क्षपक प्रेष्यते,कथम् ?-' पारावे' त्ति भोजयित्वा, तदभावे वैयावृत्त्यकर। एतदेवाह-'वेयावच्चे' त्ति वैयावृत्त्यकर प्रेष्यते,'दायण' त्ति स च वैयावृत्त्यकर कुलानि दर्शयति, तदभावे 'जुअल' त्ति युगल प्रेष्यते-वृद्धस्तरुणसहित, बालस्तरुणसहितो वा, 'समत्थे व सहिओ व' त्ति समर्थे वृषभे प्रेष्यमाणे तरुणेन सह वृद्धेन वा सह, द्वितीयो वकार पादपूरण । आह-प्रथम बालादय उपन्यस्ता, तत्कसात्तपामेव प्रेषणविधिर्न प्रतिपादित प्रथमम्?, उच्यते, अयमेव प्रेषणक्रम, यदुत प्रथममगीतार्थ प्रेष्यते, पश्चाद्योगिप्रभृतय इति आह-इत्थमेवोपन्यास कस्मान्न कृत?, उच्यते, अग्रेणार्हत्वं सर्वेषां तुल्यं वर्त्तते, ततश्च योऽस्तु सोऽस्तु प्रथममिति न कश्चिद्दोष.। ओघ०। (लब्धाया वसतौ संस्तारकविधि. 'संथारग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत.।) (शकुनविचार.' सउण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५ पृष्ठे गत.।) (कायोत्सर्गविषय. 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ४१७ पृष्ठे गतः।) (प्रत्युपेक्षणाया पौरुषीप्रमाणम् ' पोरिसी ' शब्दे पञ्चमभागे उक्तम्।) (स्थण्डिलद्वारविषय. 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे २३७० पृष्ठे गत.।) (मार्गप्रत्युपेक्षणाद्वारम् ' पडिलेहणा ' शब्दे पञ्चमभागे ३५१ पृष्ठे गतम्।) (पिण्डनिक्षेप ' पिंड ' शब्दे पञ्चमभागे ९१७ पृष्ठे गत ।) (लपपिण्डव्याख्या ' लेव ' शब्दे षष्ठे भागे गता।) (पात्रकद्वारम् 'पत्त' शब्दे पञ्चमभागे ३६२ पृष्ठे गतम्।) (एषणाविषय.'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ५२ पृष्ठे गत.।) (भावद्वारं 'भाव' शब्दे पञ्चमभागे गतम्।) (भिक्षाविषय.'गोयरचरिया' शब्दे ३ भागे १००४ पृष्ठे गत.।) (भोजनविधि 'भोयण' शब्दे पञ्चमभागे गत.।) (ग्रासैषणाविधि. 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ६७ पृष्ठे गत ।) (परिस्थापनिकाविधि. ' परिट्ठवण ' शब्दे पञ्चमभागे ५७० पृष्ठे गत.)

एसा परिठवणविही, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता।
सामायारी एत्तो, वुच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥ ६२५ ॥

सुगमा।

इदानीं सामाचारी व्याख्यायते—

सत्र तो आगतो चर-मपोरिसिं जाणिऊण ओगाढं ।
पडिलेहणमप्पत्तं, नाऊण करेइ सज्झायं ॥ ६२६ ॥

एव च साधु' सञ्ज्ञा व्युत्सृज्यागत पुन चरमपौरुषी-चतुर्थप्रहर ज्ञात्वा अवगाढम्-अवतीर्ण, तत किं करोतीत्यत आह—प्रत्युपेक्षणा करोति, अथासौ चरमपौरुषी नाद्यापि भवति ततोऽप्राप्तां चरमपौरुषी मत्वा स्वाध्याय तावत्करोति यावच्चरमपौरुषी प्राप्ता। ओघ०। (स्वाध्यायविषय 'सज्झाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत ।)

एसा सामायारी, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता।
एत्तो उवहिपमाणं, वुच्छं सुद्धस्स जह धरणा ॥६६५॥

सुगमा । उक्तं पिण्डद्वारम् , (उपधिद्वारम् ' उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०६४ पृष्ठे गतम्।) (नन्दि-भाजनविषय ' णंदिभायण ' शब्दे चतुर्थभागे १७५७ पृष्ठे गत) (अनायतनद्वारम् ' अणाययण ' शब्दे प्रथमभागे ३१० पृष्ठे गतम्।) (आलोचनाविषय. 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४०० पृष्ठे गत. ।)

दशधा सामाचारी—

दसविहा सामायारी पण्णत्ता, तं जहा-
इच्छा मिच्छा तहक्कारो,आवस्सियाँ निसीहिया ।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा ॥ १ ॥
उपसंपया य काले,सामायारी भवे दसविहा उ।(सू०७४९)

स्था० १० ठा० ३ उ०। अनु०। आ० म०। (आसां व्याख्या स्वस्वस्थाने।)

दसविह सामायारी, जत्थ ठिए भव्वसत्तसंघाए।
सिज्झंति य वुज्झंति य, ण खंडिज्जइ तयं गच्छे ॥
महा० ४ अ० ।

तथा'तव्वइरित्ते य णामणाईसु' त्ति सोपस्कारत्वान्नामनधावनादिषु सुकराणि यानि द्रव्याणि तानि तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार उच्यते, यत उक्तम्-"णामणधोवणवासण-सिक्खावणसुकरणविरोहीणि। दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायार वियाणाहि ॥ १ ॥" भावे दशविधाया इच्छादिभेदेन सामाचार्या आचरणा, अत्र बहुलग्रहणात्स्त्रियां युद्, एवमाप्रच्छनादिष्वपि, भावत्व तु जीवद्रव्यपर्यायत्वादस्येति।

सम्प्रत्यध्ययननामान्वर्थमाह—

इच्छाइसामएसुं, आयरणं वण्णिअं तु जम्हेत्थ ।
तम्हा सामायारी, अज्झयण होइ नायव्वं ॥ ४८६ ॥

'इच्छादिमाम'त्ति सुब्व्यत्ययाद् इच्छादिसामसु एषु—अनन्तराभिहितेषु आचरणम्—एतद्विषयमनुष्ठान वर्णितं—प्ररूपितम् तु -पूरणे यस्मादत्राध्ययने तस्मात्सामाचारीति-सामाचारीनामकमिदमिति प्रक्रमे अध्ययन भवति-ज्ञातव्यम् , अयमाशय.-समाचारोऽत्र वर्ण्यते तत. समाचार भवमिति विवक्षाया शैषिकोऽण्,रूढितश्च स्त्रीलिङ्गता, तथा च-'टिड्ढाणञ्'०(पा० ४-१-१५) इत्यादिना ङीपि सामाचारीति भवतीति गाथार्थ.। गतो नामनिष्पन्ननिक्षेप. ।

सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमुक्खणिं ।
जं चरित्ता ण निग्गन्था, तिण्णा संसारसागरं ॥ १ ॥

समाचरणं—समाचारस्तस्य भावो 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्य' इति (पा० ५-१-१२४) ष्यञ् , तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रियामपि वृत्तिरिति 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा०४-१-४१) इति ङीपि सामाचारी ना-यतिजनेतिकर्त्तव्यतारूपामहं प्रवक्ष्यामि सर्वदु खविमोक्षणीम्—अशेषशारीरमानसाऽसातविमुक्तिहेतुम् , अत एव या सामाचारीं चरित्वा—आसेव्य 'ण' इति वाक्यालङ्कारे, निर्ग्रन्था.—यतयस्तीर्णा. ससारसा-

गरं, मुक्तिं प्राप्ता इति भाव', उपलक्षणत्वाच्च तरन्ति तरिष्यन्ति चेति सूत्रार्थः।

यथाप्रतिज्ञातमाह—

पढमा आवस्सिया नामं, बिइया य निसीहिया।
आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥ २ ॥
पंचमा छंदणा नामं, इच्छाकारो अ छट्ठओ।
सत्तमो मिच्छकारो य, तहकारो य अट्ठमो ॥ ३ ॥
अब्भुट्ठाणं नवमा, दसमा उवसंपया।
एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइया ॥ ४ ॥

सूत्रत्रय स्पष्टमेव, नवरं व्रतग्रहणादप्यारभ्य कारणं विना गुर्ववग्रहे आशातनादोषसम्भवान्न स्थेय, किन्तु ततो निर्गन्तव्य, न च निर्गमनमावश्यकीं विनेति प्रथममावश्यकी. निर्गत्य च यत्रास्पदं स्थेय तत्र नैषेधिकीपूर्वकमेव प्रवेष्टव्यमिति तदनु नैषेधिकी, तत्रापि निष्ठतो भिक्षाटनादिविषयाभिप्रायोत्पत्तौ गुरुपृच्छापूर्वकमेव तत्साधनमित्यनन्तरमापृच्छना, आपृच्छनायामपि गुरुनियुक्तेन पुन. प्रवृत्तिकाले कश्चित्प्रष्टव्या एव गुरव इति तत्पृष्टत प्रतिप्रच्छना, कृत्वाऽपि गुर्वनुज्ञया भिक्षाटनादिक नात्मम्भरिणैव भवितव्यमिति तदनु छन्दना—प्राग्गृहीतद्रव्यजातेन शेषयतिनिमन्त्रणात्मिका, तस्यामपि प्रयोक्तव्य एवेच्छाकार इति तदनु तस्याभिधानम्, अयं चात्यन्तमवद्यभीरुणैव तत्त्वतो विधीयते, तेन च कथञ्चिदतिचारसम्भवे आत्मा निन्दितव्य इति तदनु मिथ्याकार, कृतेऽपि च तस्मिन् बृहत्तरदोषसम्भवे गुरूणामालोचना दातव्या, तत्र च यदादिशन्ति गुरवस्तत्तथेति मन्तव्यम् इति तथाकार, तथेति प्रतिपद्य च सर्वकृत्येषूद्यमवता भाव्यमिति तदनु तद्रूपमभ्युत्थानम्, उद्यमवता च ज्ञानादिनिमित्त गच्छान्तरसङ्क्रमोऽपि विधेय तत्र चोपसम्पद् ग्रहीतव्येत्यनन्तरमुपसम्पदुक्ता। उपसंहारमाह—एषा—अनन्तरोक्ता दशाङ्गा—इच्छादिदशावयवा साधूनां—यतीना सामाचारी प्रवेदिता—तीर्थकरादिभिरुक्तेति सूत्रत्रयगर्भार्थ।

एतामेव प्रत्यवयव विषयप्रदर्शनपूर्वक विधेयतयाऽभिधातुमाह-

गमणे आवस्सियं कुज्जा, ठाणे कुज्जा निसीहियं।
आपुच्छणा सयंकरणे, परकरणे पडिपुच्छणा ॥ ५ ॥
छदणा दव्वजाएणं, इच्छाकारो अ सारणे।
मिच्छाकारो अ निंदाए, तहकारो पडिस्सुए ॥ ६ ॥
अब्भुट्ठाणं गुरुपूया, अच्छणे उवसंपया।
एवं दुपचसजुत्ता, सामायारी पवेइया ॥ ७ ॥

गमनं—तथाविधालम्बनतो बहिर्निःसरणं आवश्यकेषु-अशेषावश्यकर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यकी, उक्त हि-" आवस्सिया उ आव-स्सएहि सव्वेहिं जुत्तजोगस्स " त्यादि, ता कुर्याद्—विदध्यात् श्रीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्-उपाश्रयस्तस्मिन् प्रविशन्निति शेष, कुर्यात्, का?-नैषेधिकीम्, निषेधन निषेध —पापानुष्ठानेभ्य आत्मनो व्याव र्त्तन तस्मिन् भवा नैषेधिकी, निषिद्धात्मन एतत्सम्भवात्, उक्तं हि-" जो होइ निसिद्धप्पा. निसीहिया तस्स भावओ होइ " इत्यादि, आङिति—सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना आप्रच्छना-इदमह कुर्या न वेत्येवरूपा ता स्वयमित्यात्मन' करणं—कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निर्वर्त्तनं स्वयंकरणं तस्मिन्, तथा परकरणे-अन्यप्रयोजनविधाने प्रतिप्रच्छना, गुरुनियुक्तोऽपि हि पुनः प्रवृत्तिकाले प्रतिपृच्छत्येव गुरु, स हि कार्यान्तरमप्यादिशेत् सिद्ध वा तदन्यत' स्यादिति, उभयत्र वा स्वकरणपरकरणे उपलक्षणमिति—उच्छ्वासनिःश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपरसम्बन्धिषु गुरव. प्रष्टव्या, अत' सर्वविषयमपि प्रथमत' प्रच्छनमापृच्छत्युच्यते। तथा च निर्युक्तिकृता सामान्येनैवाचाचि—"आपुच्छणा तु कज्जे' त्ति, तथा स्वपरसम्बन्धिनि सर्वत्रापि कृत्ये गुरुनियुक्तेन पुन प्रवृत्तिकाले यद्गुरुप्रच्छन सा प्रतिपृच्छा, तथा च-" पुव्वनिउत्तेण होइ पडिपुच्छ' त्ति अविशेषेणैवाक्त, छन्दना-उक्तरूपा विधेयति शेष, एवमुत्तरत्रापि, द्रव्यजातेन तथाविधाशनादिद्रव्यविशेषेण प्राग्गृहीतेनेति गम्यते, सूत्रकत्वात्सूत्रस्य, तथा चाह-" पुव्वगहिएण छंदण' ति, इच्छा-स्वकीयोऽभिप्रायस्तया करण—तत्कार्यनिर्वर्त्तनमिच्छाकार, 'सारणे' इत्यौचित्यत आत्मन परस्य वा कृत्यं प्रति प्रवर्त्तने, तत्रात्मसारणे यथेच्छाकारेण युष्मच्चिकीर्षितं कार्यमिदमह करोमीति, अन्याह च-"अहग तुब्भ एय करेमि कज्ज तु इच्छाकारेण"त्ति, अन्यसारणे च मम पात्रलेपनादि सूत्रदानादि वा इच्छाकारेण कुरुतेति, तथा चान्वाह-" जइ अब्भत्थिज्ज पर, कारणजाए करेज्ज से कोइ। तत्थ वि इच्छाकारो, ण कप्पइ बलाभिओगो उ ॥ १ ॥ " तथा मिथ्यालीक मिथ्याकरण मिथ्याकार —मिथ्येदमिति प्रतिपत्ति सा चात्मनो निन्दा—जुगुप्सा तस्या, वितथाचरणे हि धिग्मिद् मिथ्यामया कृतमिति निन्द्यत एवात्मा विदितजिनवचनै, तथाकरण तथाकार —इदमित्थ चेत्यभ्युपगम, स च किं विषय इत्याह—प्रतिश्रवणे प्रतिश्रुत-गुरौ वाचनादिक यच्छत्येवमतदित्यभ्युपगमस्तस्मिन्, तथा चान्वाह-"वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्तअत्थकहणाए। अवितहमेय ति तहा, अविकप्पेण तहकारो ॥१॥" अभीत्याभिमुख्येनोत्थानम्-उद्यमनमभ्युत्थान तच्च गुरुपूय' त्ति सुत्रत्वाद् गुरुपूजाया, सा च गौरवार्हाणाम्—आचार्यग्लानबालादीना यथाचिताहारभेषजादिसम्पादनम्, इह च सामान्याभिधानेऽप्यभ्युत्थान निमन्त्रणारूपमेव परिगृह्यते, अत एव निर्युक्तिकृतेतत्स्थाने निमन्त्रणैवाभिहिता ' छंदणा य निमतणे ' त्ति। तथा ' अच्छणे ' त्ति आसने प्रक्रमादाचार्यान्तरादिसन्निधौ अवस्थाने उप-सामीप्येन सम्पादन-गमन सम्पदादित्वात्क्विपि उपसम्पद्—इयन्त काल भवदन्तिके मयाऽऽसितव्यमित्येवरूपा, च ज्ञानार्थतादिभेदन त्रिधा, तथा चोक्तम्-' उवसंपया य तिविहा, णाणे तह दसणे चरित्ते य " त्ति एवम् इत्युक्तप्रकारेण 'दुपचसजुत्त' त्ति आर्षत्वात् द्विपञ्चकसंयुक्ता, दशसंख्यायुक्तामित्यर्थ, समाचारीं प्रवदयेत्-कथयत् आर्षत्वाद् गुरु शिष्यायेति शेष, अनेन च गुरुणा सदा तदुपदेशपरेणैव भवितव्यमित्यत्र उक्तम्, पठ्यते च-'एसा दसगा साहूण, सामारी पवइय' त्ति, एतच्च स्पष्टमेति सूत्रत्रयार्थ।

एतावता दशविधसामाचारीमभिधायौघसामाचारीं विवक्षुरिदमाह—

पुव्विल्लम्मि चउब्भागे, आइच्चम्मि समुट्ठिए ।
भंडयं पडिलेहित्ता, वंदित्ता य तओ गुरुं ॥८॥
पुच्छिज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं ? ।
इच्छं निओइउं भंते !, वेयावच्चे व सज्झाए ॥९॥
वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वमगिलायओ ।
सज्झाए वा निउत्तेणं, सव्वदुक्खविमुक्खणे ॥१०॥

'पुव्विल्लम्मि' त्ति पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे आदित्ये समुत्थिते—समुद्गते, इह च यथा दशाविकलोऽपि पटः पट एवोच्यते, एवं किञ्चिदूनोऽपि चतुर्भागश्चतुर्भाग उक्तः, ततोऽयमर्थः—बुद्ध्या नभश्चतुर्धा विभज्यते, तत्र पूर्वदिक्सम्बद्धे किञ्चिदूननभश्चतुर्भागे यदाऽऽदित्यः समुदेति तदा पादोनपौरुष्यामित्युक्तं भवति, भाण्डकं—पतद्ग्रहाद्युपकरणं प्रतिलेख्य—सामयिकपरिभाषया चक्षुषा निरीक्ष्योपलक्षणत्वात्प्रमृज्य च वन्दित्वा च—नमस्कृत्य ततः—इति प्रतिलेखनानन्तरं गुरुम्—आचार्यादिकं, किमित्याह-पृच्छेत्—पर्यनुयुञ्जीत प्रक्रमाद् गुरुमेव 'पंजलिउड' त्ति प्राग्वत्कृतप्राञ्जलिः, यथा-किं कर्त्तव्यम्' अनुष्ठेयं 'मये' त्यात्मनिर्देशः इह—अस्मिन् समये इति गम्यते, कदाचिद् गुरवो मन्येरन्-स्वाध्यायवैयावृत्त्ययोरन्यतरस्मिन्नेवास्य नियोगं वाञ्छेत्यतो ब्रूयात्-'इच्छामि णिओइउ' ति अन्तर्भावितण्यर्थत्वान्नियोजयितुं युष्माभिरात्मानमिति शेषः 'भंते' त्ति भदन्त ! 'वेयावच्चे' त्ति वैयावृत्त्ये-ग्लानादिव्यापारे वाशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'सज्झाए' त्ति आर्षत्वात्स्वाध्याये वा, इह च पात्रप्रतिलेखनानन्तरं गुरुं पृच्छेदिति यदुक्तं तत्प्रायस्तदैव बहुतरवैयावृत्त्यविधानसम्भवात् । यद्वा-पूर्वस्मिन्नभश्चतुर्भागे आदित्ये समुत्थित इव समुत्थिते, बहुतरप्रकाशीभवनात्तस्य, भाण्डमेव भाण्डकं ततस्तदिव धर्मद्रविणोपार्जनाहेतुत्वेन मुखवस्त्रिकावर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते,तत्प्रतिलेख्य वन्दित्वा च ततो गुरुं पृच्छेत् शेषं प्राग्वत् । उपलक्षणं चैतद्-यतः सकलमपि कृत्यं विधाय पुनरभिवन्दनापूर्वकं प्रष्टव्या एव गुरव इति, एवं च पृष्ट्वा यत्कर्त्तव्यं तदाह—वैयावृत्त्ये नियुक्तेन—व्यापारितेन कर्त्तव्यं प्रक्रमात् वैयावृत्त्यम्, 'अगिलायउ' त्ति अग्लान्यैव शरीरश्रममविचिन्त्यैवेति यावत्, स्वाध्याये वा नियुक्तेन सर्वदुःखविमोक्षणे, सकलतपःकर्मप्रधानत्वादस्य, स्वाध्यायोऽग्लान्यैव कर्त्तव्य इति प्रक्रम इति सूत्रत्रयार्थः ।

इत्थं सकलौघसामाचारीमूलत्वात्प्रतिलेखनायास्तत्कालं तदभिधेयत्वाद् गुरुपारतन्त्र्यस्य तच्चाभिधायौत्सर्गिकं दिनकृत्यमाह—

दिवसस्स चउरो भागे, कुज्जा भिक्खू वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥११॥
पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं ॥१२॥

सूत्रद्वयं स्पष्टमेव नवरं चतुरो भागान् कुर्याद् बुद्ध्येत्युपस्कारः, 'तत' इति चतुर्भाककरणादनन्तरमिति गम्यते उत्तरगुणान् मूलगुणापेक्षया स्वाध्यायादींस्तत्कालोचितान् कुर्याद्—विदध्यात्, क्व दिनभागे । कमुत्तरगुणं कुर्यादित्याह—प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं—वाचनादिकं, सूत्रपौरुषीत्वादस्याः, कुर्यादितीहोत्तरत्र च क्रियान्तराभावेऽनुवर्त्यते, द्वितीयां प्रक्रमात्पौरुषीं ध्यानं 'झियायइ' त्ति ध्यायेत्, ध्यानं चेहार्थपौरुषीत्वादस्या अर्थविषय एव मानसादिव्यापार उच्यते, ध्यायेदिति वाऽनेकार्थत्वाद्धातूनां कुर्यात्, इह च प्रतिलेखनाकालस्याल्पत्वेनाविवक्षितत्वादुभयत्र—"कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (पा० २-३-५) इति द्वितीया, तृतीयायां भिक्षाचर्यां, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम्, उपलक्षणत्वाच्चतृतीयायां भोजनबहिर्गमनादीनि, इतरत्र तु प्रतिलेखनास्थण्डिलप्रत्युपेक्षणादीनि गृह्यन्ते । इत्थमभिधानं च कालापेक्षयैव कृष्यादेरिव सकलानुष्ठानस्य सफलत्वादिति सूत्रद्वयार्थः । उत्त० २६ अ० । (पर्युषणाकल्पसामाचारी 'पज्जुसवणाकप्प' शब्दे पञ्चमभागे २५२ पृष्ठे तथा रात्रिसामाचारी 'पइदिणकिरिया' शब्दे ५ पृष्ठे गता ।)

उपसंपदि मण्डल्यां च द्विविधा सामाचारी—

दुविहा सामाचारी, उपसंपदे मंडलीए बोधव्वा ।
अणालोइयम्मि गुरुगा, मंडलिमेरं अतो वोच्छं ॥७८१॥

सामाचारी द्विविधा-उपसंपदि मण्डल्यां च बोद्धव्या । तत्रोपसंपत् त्रिविधा-ज्ञानोपसंपत् दर्शनोपसंपत्, चारित्रोपसंपत । आसां च सामान्यत इयं च सामाचारी गच्छान्तरादुपसंपदं प्रतिपत्त्यर्थमायातः साधुः पर्यनुयोक्तव्यः । वत्स ! कस्त्वं कुतो गच्छादागतोऽसि, किंनिमित्तमिहायात इत्येवं यद्यपर्यनुयुज्य तस्योपसंपदं प्रतीच्छति तदा अनालोचिते अपर्यनुयुक्ते सति चत्वारो गुरुकाः, यद्वा-अनालोचिते-आलोचनामदापयित्वा, यदि तं परिभुङ्क्ते वाचयति वा तदा चत्वारो गुरुकाः । अत्र च ज्ञानोपसंपदाऽधिकारः 'मण्डलिमेरं अतो वोच्छं' ति-मण्डली-सूत्रार्थमण्डलीरूपा तस्याः सम्बन्धिनीं मर्यादां सामाचारीमत ऊर्ध्वं वक्ष्ये । बृ०१ उ०१ प्रक० । (सांभोगिकासांभोगिकयोः सह मिलितयोराचार्ययोः सामाचारी 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे ९९८ पृष्ठे गता ।) (गच्छवासिनां जिनकल्पिकानां च सामाचारी 'गच्छवासि' 'जिणकप्पिय' शब्दयोः ।) (चतुर्विधा सामाचारी 'आयारविणय' शब्दे द्वितीयभागे ३६० पृष्ठे व्याख्याता । सा चैवम्-संयमसामाचारी, तपःसामाचारी, गणसामाचारी, एकान्तविहारसामाचारी च । तत्र-संयमः सप्तदशप्रकारः तस्य सामाचारी । तपो द्वादशविधं तस्य सामाचारी । गणस्य साधुसमुदायस्य सामाचारी । एकान्तविहारसामाचारी-एकान्तविहारप्रतिमास्वरूपा ।)

सांप्रतमुपसंहरन्नाह—

एवं सामाचारी, कहिया दसहा समासओ एसा ।
संजमतवड्ढगाणं, निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ ७२२ ॥

एवमेषा-सामाचारी दशधा—दशविधा समासेन संक्षेपेण कथिता । केभ्य-इत्याह-संयमतपोभ्यामाढ्याः-समृद्धाः संयमतपआढ्यास्तेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो महर्षिभ्यः ।

समाचार्यामेवकाना फलमुदर्शयति—

एतं सामायारिं, जुंजंता चरणकरणमाउत्ता ।

साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं ॥ ७२३ ॥

एताम्-अनन्तरोदितस्वरूपां दशविधा सामाचारीं यथाविधि युञ्जानास्तथा चरणकरणायुक्ताश्चरण व्रतादि, उक्तं च—" वय ५ समणधम्म १० संजम १७, वेयावच्च १० च बम्भगुत्तीतो ६ । णाणाइतियं ३ तव १२ को-हनिग्गहा ४ चेव चरणं तु ॥ १ ॥ " करणं पिण्डविशुद्धयादि, तदुक्तम्—" पिंडविसोही ४ समिई ५ भावण ११ पडिमा १२ य इन्दिय निरोहो ५ । पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३, अभिग्गहा ४ चेव करणं तु ॥ १ ॥ " तया चरणकरणयो सयुक्ता सम्यग्-समन्तात् उपयुक्ता साधव क्षपयन्ति कर्म्म अनेकभवसंचितमनन्तमिति । इदानी पदविभागसमाचार्या प्रस्ताव । सा च कल्पव्यवहाररूपा बहुविस्तरा, तत. स्वस्थानादवसेया । आ म० १ अ० ।

विक्कमवच्छराओ पच्छा सोलसवाससए(१६००) वइक्कंते के वि तब्भत्तिया सावयमाविया तेसिं सूरीणं नाऊण नियाणिगणपरंपरं ठाइस्संति । के वि दूरभविया परम्मुहा होऊण परगणस्स सामायारिं गहिस्संति । अङ्ग०

(सामाचारीवैचित्र्यहेतु 'अणुत्ता' शब्दे प्रथमभागे ३६१ पृष्ठे गत ।)

सामायारीउवक्कमकाल–सामाचार्युपक्रमकाल–पुं० । समाचार्या उपक्रमणमुपरितनाच्छ्रुतादिहान यत्र स सामाचार्युपक्रमकाल । उपक्रमकालभेदे, विशे० ।

सामायारीविराहग–सामाचारीविराधक–पुं०।सामाचारी साधूनामहोरात्रक्रियारूपा सद्गच्छमर्यादा तस्या विराधक । सामाचारीखण्डके, ग० १ अधि० ।

सामायारीसीयंतचोयणा–सामाचारीसीदच्चोदना–स्त्री०।सामाचार्या यथायोगं सीदत शिथिलीभवतश्चोदनायाम्, व्य० १ उ० ।

सामालिय(मालिय)पोंड–शाल्मलीपौण्ड–न०।शाल्मलीपुष्पे, "एग सा(मा)लियपोंड, बद्धो आमेलनो होइ । " उत्त० ३ अ० । ('अग' शब्दे प्रथमभागे ३६ पृष्ठे व्याख्या गता ।)

सामास–श्यामास–पुं० । श्यामा—रजनी तस्यामाशनमाश. । रात्रिभोजने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

सामासिया–सामासिकी–स्त्री० । मेतार्यमातुर्मानङ्कथा प्रतिवेशिन्याम्, आ० म० १ अ० ।

सामि(ग्)–स्वामिन्–पुं० । स्वमस्यास्तीति स्वामी । नायके, आ० म० १ अ० । प्रभौ, उपकर्त्तरि, आश्रये, पिं० । ज्ञा० । पा० । प्रभु स्वामीत्यनर्थान्तरम् । आव० ४अ० । राजनि, अनु० । जगद्गुरौ, सू० प्र० १पाहु० । 'लोगणाहाण' पुद्गलपरावर्ते संसार इति कृत्वा लोकनाथा (भगवन्त.) ल० । (चतुर्दशरज्ज्वात्मकोऽय लोक इति 'लोग' शब्दे षष्ठभागे गतम् ।) (चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकगतरुचकपर्वतात् रत्नप्रभापृथिव्या दश दिश गण्यन्ते, ताश्च- जस्स जआओ उदेइ सा भवइ तस्स पुव्वदिसा " इत्यादिगाथाभि 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५०३ पृष्ठे दर्शिता ।) (स च रुचकपर्वत जम्बूद्वीपमध्यगत । स च जम्बूद्वीपः 'जम्बुद्दीव' शब्दे चतुर्थभागे १३७१ पृष्ठे अनादृतनामदेवस्वामिको दर्शित. ।) (एव सर्वे द्वीपा समुद्रा. दिश विदिश देवलोका विमानादयश्च सस्वामिका इति स्वस्वशब्दव्याख्यावसरे दर्शितम् ।)

सामिकत्तिय–स्वामिकार्ति(कय)क–पुं०।कृत्तिकात्मजे स्कन्दे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

सामिकुट्ठ–सामिकुष्ट–पुं० । ऐरवते वर्षे वर्त्तमानावसर्पिण्या जाते विंशे तीर्थंकरे, प्रव० ७ द्वार ।

सामिणी–स्वामिनी–स्त्री० । भर्तृकायाम्, " हले हलि त्ति अन्निति भट्टे सामिणि गोमिणि" इत्येव वदत् । दश० ७ अ० । मरुदेवी सामिणी य " आ० म० १ अ० ।

सामित्त–स्वामित्व–स्वमस्यास्तीति स्वामी तद्भाव । नायकत्वे, ज० १ वक्ष० । प्रज्ञा० । जी० । विपा० । स्वस्वामिसम्बन्धमात्रे, विपा० १ श्रु० २ अ० । औ० । आधिपत्ये, कर्म० ३ कर्म० । स्वामिभावत्वे, स० ७८ सम० । स्वस्वामिभावे, भ० ३ श० १ उ० । ज्ञा० । प० सं० । विशे० । आ० चू० । (त्रिविध स्वामित्वम् 'णमुक्कार' शब्दे चतुर्थभागे २८२० पृष्ठे दर्शितम् ।)

सामिय–स्वामिक–पुं० । अधिपतौ, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

सामिल–सामिल–पुं० । स्वनामख्याते चतुष्कब्राह्मणे, व्य०२उ० ।

सामिस–सामिष–त्रि० । सहाऽऽमिषेण पिशितरूपेण वर्त्तत इति सामिषम् । सस्पृहे भोजनाद्यर्थं लुब्धे, उत्त० । " सामिस कुललं दिस्स, वज्झमाण निरामिस । " उत्त० १४ अ० ।

सामीविय–सामीप्यक–पुं० । सामीप्याधारे, यथा गङ्गाया घोष. । आ० म० १ अ० ।

सामुच्छेय–सामुच्छेद–पुं० । समुच्छेदो-वस्तुविनाश समुच्छेदमधीयते तद्विदन्तीति वा सामुच्छेदिका । तद् वेत्तीत्यण् । क्षणक्षयिभावप्ररूपकेषु अश्वमित्रमतानुसारिषु निह्नवेषु, औ० । आ० म० । आ० चू० । विशे० ।

अथ चतुर्थवक्तव्यतामाह—

वीसा दो वाससया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।

सामुच्छेइयदिट्ठि, मिहिलपुरीए समुप्पन्ना ॥ २३८९ ॥

विंशत्युत्तर वर्षशतद्वय तदा सिद्धिं गतस्य वीरस्यासीत्ततोऽत्रान्तरे सामुच्छेदिकदृष्टिर्मिथिलापुर्या समुत्पन्नेति ।

यथोत्पन्नस्तथा दर्शयन्नाह—

मिहिलाए लच्छिहरे, महगिरिकोडिन्नआसमित्ते य ।

नेउणिय-णुप्पवाए, रायगिहे खंडरक्खा य ॥२३९०॥

मिथिलानगर्या लक्ष्मीगृहे चैत्य महागिरिसूरीणां कौण्डिन्यो नाम शिष्य स्थितस्तस्याप्यश्वमित्रो नाम शिष्योऽनुप्रवादाभिधानपूर्वे नैपुणिकं नामवस्तु पठतिस्म,तत्र छिन्नच्छेदनकनयवक्तव्यतायामालापका सामायातास्तद्यथा "पडुप्पन्नसमयनेरइया सव्वे वोच्छिज्जिस्संति एव जाव वेमाणिय त्ति । एव बीयाइसमएसु वि वत्तव्वं" अत्र तस्य विचिकित्सा जाता, नन्वया प्रत्युत्पन्नसमयनारका. सर्वेऽपि नावद् व्यवच्छेद प्रा-

पश्यन्ति, ततश्च कुत. सुकृतदुष्कृतकर्मफलवेदनम् उत्पादानन्तर सर्वजीवाना नाशादित्येवमादि स्वमतिकल्पितं प्ररूपयन् वक्ष्यमाणभाष्ययुक्तिभिर्गुरुणा प्रज्ञाप्यमानोऽपि यावत्कथमपि न प्रज्ञाप्यते तत उद्धाट्य संघबाह्य कृत, समुच्छेदवाद प्ररूपयन् काम्पिल्यपुरनगरं "राजगृहापरनामक" गत, तत्र च खण्डरक्षाभिधाना श्रावका आसन्, ते शुल्कपालास्तैश्च ते निह्नवा समागता विज्ञाता मारयितु चारब्धा, ततो भीतैरश्वमित्रादिभिस्ते प्रोक्ता —वयं न जानीम श्रावका यूयम्, तत्किमस्मान् श्रमणान्सतो मारयथ ?, ततस्तैरुक्तम्—ये श्रमणास्ते युष्मत्सिद्धान्तेन समुच्छिन्ना, यूयं तु चौराद्यन्यतरा केचिदिति मारयाम, ततस्तैर्भीतैर्मुक्तो निजाग्रह. सबुद्धाश्च दत्तमिथ्यादुष्कृता गता गुरुपादमूल इति। विशे० (खणियवाइ (ण्) शब्दे तृतीयभागे ७०६ पृष्ठे विस्तरो गत.।)

सामुदाइय–सामुदायिक–त्रि०। समुदाये भवं सामुदायिकम्। उत्त० १७ अ०। जनमीलकप्रयोजने, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०।

सामुदाणिय–सामुदानिक–न०। समुदानं—भिक्षा तत्र भवं सामुदानिकम्। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। आचा०। भिक्षापिण्डे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ०। समुदाने लब्ध' सामुदानिक'। 'अध्यात्मादिभ्य इकण्" ।६।३।७८। इति इकण् प्रत्यय। उच्चावचेषु कुलेषु अटित्वा लब्धे पिण्डे, वृ०१ उ० २ प्रक०।

सामुद्दिय–सामुद्रिक–पुं०। समुद्रेण प्रोक्तं वेत्यधीते वा ठञ्। स्त्रीपुरुषशुभाशुभलक्षणज्ञापकग्रन्थाध्येतरि, तद्वेत्तरि च। वाच०। (तानि लक्षणानि 'लक्खणवंजणगुणोववेय' शब्दे षष्ठभागे गतानि।) समुद्रस्यैते सामुद्रिका। भ० ५ श० २ उ०। समुद्रयात्रिषु निर्यामकेषु, आ० क० १ अ०। आ० म०। "अत्थि ण भंते! सामुद्दिया वाया ईसिं हंता अत्थि" सन्ति सामुद्रिका वाता ईषद्वाता हन्त सन्ति। भ० ५ श०२ उ०।

सामूहिय–सामूहिक–पुं०। समूहार्थके प्रत्यये, विशे०।

साय–सात–न०। सुखे, स्था०।

षड्विधसातस्वरूपम्-

छव्विहे साते पण्णत्ते, तं जहा–सोइंदियसाते० जाव नोइंदियसाते। (सू० ४८८ ×)

स्था० ६ ठा० ३ उ०। सूत्र०। आव०। उत्त०। उन्मग्नत्वे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। मनआह्लादकारिणि, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। प्रीत्युत्पादके, अनु०। स्था०। विशे०। स्वाद्यते शारीर मानस च सुखमनेनेति सातम्। सातवेदनीये कर्मणि, उत्त० ३३ अ०। ज्ञा०। प्रव०। दश०। पुण्यप्रकृतौ, स्था० ६ ठा० ३ उ०। दशमकल्पविमानभेदे, स० २० सम०। स्वाद्–पु०। स्वादनं स्वाद। स्था० ३ ठा १ उ०। खर्जूरद्राक्षापानादिस्वादने, प्रव० ४ द्वार। हरितवनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

सायम्–अव्य०। प्रदोषे, आव० ५ अ०। सन्ध्यासमये,सू०प्र० २ पाहु०। पञ्चा०। च० प्र०। उत्त०। सत्र०। सत्ये, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सायंकार–सायंकार–पुं०। शुद्धवागनुयोगभेदे स्था०। सायमिति निपात' सत्यार्थस्तस्माद्वर्णात्कारप्रत्ययः करणं वा कारस्तत' सायकार इति। तदनुयोगो यथा—सत्य तथा वचनमद्धात्वप्रश्नेष्विति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

सायंभुव–स्वायंभुव–पुं०। स्वयंभुवोऽपत्ये प्रथममुनौ स्था०। ('अणेगतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२४ पृष्ठे विस्तरो गतः।)

सायसमय–सायंसमय–पुं०। दिवसावसानरूपे समये, सू० प्र० १० पाहु०।

सायणा–शातना–स्त्री०। खण्डनायाम्, स० ३२ सम०।

स्वादना–स्त्री०। अभिलाषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ०।

सायणी–शायनी–स्त्री०। शाययति-निद्रावन्तं करोति सा शायनी। शेते वा यस्यां सा शायिनी शयिनी वा। स्था० १० ठा० ३ उ। शतायुष. पुरुषस्य नवतिवर्षात्परतो दशवर्षात्मिकायां दशायाम्, तं०।

हीणभिन्नसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ सुयई, संपत्तो दसमिं दसं॥ १०॥

हीनस्वर —लघुध्वनि भिन्नस्वर -स्वभावस्वरादन्यस्वरः दीन -करुणत्वं गत विपरीत. पूर्वावस्थात. विचित्त विचित्रो वा नानास्वरूपः दुर्बल -कृशाङ्ग दु खितो-रोगादिपीडालक्ष्यात्त, एवविधो जीव स्वपिति स्वशरीरे स्वगृहे वासं प्राप्तः का दशमी दशामिति। त०।

सायत्त–स्वायत्त–त्रि०। स्वाधीने, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

सायत्थ–स्वात्मस्थ–त्रि०। परभिन्नस्थे, षो० ६ विव०।

सायबंध–सातबन्ध–पुं०। सुखसंबन्धे, द्वा० २५ द्वा०।

सायय–सायक–पु०। बाणे, पाइ० ना० ३६ गाथा।

सायरसइड्ढिहेउ–सातरसर्द्धिहेतु–त्रि०। सात—सुखं रसो-माधुर्यादिर्य ऋद्धिरुपकरणादिसंपदो हेतवो यस्मिन् प्रयोजने तत्सातरसर्द्धिहेतुकम्। रसाद्यर्थे, "सायरसइड्ढिहेउअभिओगभावेण कुणइ" ग० २ अधि०।

सायवडिया–सातप्रतिज्ञा–स्त्री०। सुखार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

सायवाइ (न्)–सातवादिन्–पुं०। सातं—सुखमभ्यसनीयमिति वदतीति सातवादी। अक्रियावादिभेदे, स्था०। कश्चित् सुखमेवानुशीलनीय सुखार्थिना तन्त्यसातरूपं तपोनियमब्रह्मचर्यादिकारणानुरूपत्वात्कार्यस्य. न हि शुक्लैस्तन्तुभिरारब्ध पटो रक्तो भवति, अपि तु-शुक्ल एव. एवं सुखाऽऽसेवनात् सुखमेवेति। उक्तं च—' मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय-पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे. मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्ट ॥ १॥ अक्रियावादिता चास्य संयमतपसो पारमार्थिकप्रशमसुखरूपयोर्दु खत्वेनाभ्युपगमात् कारणानुरूपकार्याभ्युपगमस्य च विषयसुखादननुरूपस्य निर्वाणसुखस्याभ्युपगमेन बाधितत्वादिति। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

सायसोक्खपडिबद्ध–सातसौख्यप्रतिबद्ध–पुं०। सातात्—पुण्यप्रकृते. सकाशाद्यत्सौख्यं—सुखं गन्धरसस्पर्शादाविषयसंपाद्य तत्र प्रतिबद्धस्तत्पर सातसौख्यप्रतिबद्ध।

सुखप्रतिबद्धे , ' सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ ' इति। प्राकृते दीर्घमध्योऽपि । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सायाउल--साताकुल-त्रि० । भावसुखार्थव्याक्षिप्ते, दश०४अ०।

सायागारव--सा(त)तागौरव -न० । सातया गौरव सातागारवम् । स० ३ सम० । सात—सुखं तेन गौरवम्-गर्व. । अहमेव सुखीत्यभिमाने, आतु० ।

सायागारवज्झाण-सातगौरवध्यान-न० । सातं—सुखं तेन गौरवं-गर्वस्तस्य ध्यानम् । 'नीरपढो ससिराये' त्ति गाथाक्षशशिराजस्येव गर्वोद्धुरं दुर्ध्यानं आतु० ।

सायागारवणिस्सिय-सातगौरवनिश्रित-त्रि० । सुखशीलतायामासक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

सायाणुग-सातानुग-पुं० ।सात— सुखमनुगच्छतीति सातानुग । सुखशील, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

सायावेयणिज्ज-सातवेदनीय-न० । सात-सुखं तद्रूपेण यद् वेद्यते तत्सातवेदनीयम् । वेदनीयभेदे, कर्म० ६ कर्म० । स० । पं० स० । स्था० ।

सायासुक्ख-सातासौख्य-न० । सातासातवेदनीयकर्मण: सकाशात्सुखं शर्म सातसुखं सातं च तत्सुखं च सातसुखम् । अतिशयसुखे, 'सायासोक्खमणुपालताण'पा० । आह्लादप्रधाने सौख्ये जी०३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सार-सार-पुं० ।प्रधाने, विशे० । सामर्थ्ये, विभवे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । परमार्थे ,सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ध० । आव०। कार्यमध्ये, स्था० ४ ठा० १ उ० । आचा० । निष्पन्दे, पा० । भ० । आ० चू० । परमार्थप्रधाने सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। स्था० । नि०। आचा०।ज्ञा० । प्रश्न० ।जी० ।भ० । स० । न्याय्ये, ' एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण । ' सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । उत्त० ।प्रकर्षे,आचा० १श्रु० ५अ० १उ० । सफले, आ० म० १ अ० । स० । उत्कृष्टफलकारिषु , द्वा० १२ द्वा० । शुभपुद्गलोपचयजन्ये धनुर्विशेषे, ज० ३ वक्ष० । सारो द्विधा-बाह्य . आन्तरश्च । बाह्यो गुरुत्वमान्तर सन्दोह ।आव०४अ०।ज्ञानादौ (आव० ४अ० ।)सद्भावे, निष्ठायाम् , आ० चू० १ अ० । आ० म० । विचालितकर्मणि परमार्थे,न०।आ० म० । विषयरागस्य प्राप्तौ आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । बले,पाइ० ना० १६७गाथा । धने ,पाइ० ना० ४६ गाथा । कर्बुरे, पाइ० ना० ६४ गाथा ।

प्रहृ—धा० । मारणे "प्रहृ-(ञ)गे सार " ॥ ८ । ४ । ८४॥ इति प्रपूर्वस्य हृधातोः सार इत्यादेशः । सारइ । पहरइ । प्रहरति , प्रा० ४ पाद ।

सारंग-सारङ्ग-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे जी० १ प्रति०। प्रज्ञा० । मृगे, षष्ठ० ७ अष्ट० । पाइ० ना० । चातकखगे, हरिणे, गजे, भृङ्गे खगभेदे , छत्रे , राजहंसे, चित्रमृगे , वाद्यभेदे वस्त्रे, नानावर्णे मयूरे , कामदेवे चापे, केशे, स्वर्णे, आभरणे पद्मे शङ्खे, चन्दने, कर्पूरे पुष्पे, कोकिले , मेघे सिंहे । रात्रौ,भूमौ दीप्तौ च । स्त्री०।सारङ्गाऽप्यत्र ।वाच०।

सारङ्ग -न० । प्रधानरागे प्रति० । उ० ।

शार्ङ्ग-त्रि०। शृङ्गस्यायम्। ॥ ८।२।१००॥ इति शार्ङ्गं अकारः । प्रा०।शृङ्गस्य विकारः । अण्।शृङ्गजाते, वाच० । विष्णुधनुषि नपुं० । को० ।

सारंगदेव-सारङ्गदेव-पुं० । वाघेलक्षत्रिये गुर्जरधरित्रीश्वरे, ती० २५ कल्प ।

सारंगी-सारङ्गी-स्त्री० । हरिण्याम् , पाइ० ना० ४५ गाथा ।

सारंभ-सारम्भ-त्रि० । सहाऽऽरम्भेण जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्तत इति तदभावेऽप्यौद्देशिकादिभोजित्वात्सारम्भः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । गृहस्थेषु । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । जीवोपमर्दादिकारिषु , सूत्र० २ श्रु० १ अ०। पृथिव्यादीनां परितापकरे आरम्भे , स्था० ।

सत्तविहे सारंभे , पण्णत्ते , तं जहा-पुढविकाइयसारंभे ०जाव अजीवकाइयआरंभे । (सू०५७१×) स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

संरम्भ-पुं० । बहुकल्पे , भ० ८ श० ।

सारक्खणाणुबंधि-संरक्षणानुबन्धिन्-त्रि० । संरक्षणे सर्वोपायैः परित्राणे विषयसाधनस्य धनस्यानुबन्धो यत्र तत्संरक्षणानुबन्धि । आर्तध्याने, भ० २५ श० ७ उ० । औ० ।

सारक्खणा-संरक्षणा-स्त्री० । संगोपनायाम् , आ०म०।अ०।

सारक्खणोवघाय-संरक्षणोपघात-पुं० । संरक्षणेन शरीरादिविषये मूर्छयोपघातः परिग्रहविरतेरिति संरक्षणोपघातः । उपघातभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सारक्खमाणी-संरक्षन्ती-स्त्री० । अपायेभ्यः संरक्षणं कुर्वत्याम् , विपा० १ श्रु० २ अ० ।

सारक्खित्ता-संरक्षयितृ-त्रि० । चौरादिभ्यो रक्षणं कुर्वति , स्था० ७ ठा० ३ उ० । ग० ।

सारग-स्मारक-त्रि० । अन्येषां विस्मृतार्थस्मरणकर्तरि , कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

शारद-त्रि० । शरदि ऋतौ जातं शारदम् । उत्त० १० अ० । शरत्कालजाते, आ० १ श्रु० ४ अ० । जी० । आव० । आ० म० । उपा० । बृ० ।

सारचिय-सारचित-त्रि० । समार्जिते, ' काउं गिरह्रतुवरिं, सारचियपरिम्मया पुढिं' सारचित'-समार्जितं प्रतिश्रयो यैस्ते सारचितप्रतिश्रयाः । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सारणा-सारणा-स्त्री० । विस्मृतस्मारणायाम् , विस्मृते क्वचित्कर्तव्ये भवतेदं न कृतमिति सारणा । ग० १ अधि० ।

सारवंत-सारवत्-त्रि० । गाशब्दादिवद्बहुपर्यायत्वात्, । विशे० । अर्थेन युक्ते, स्था० ७ ठा० ३ उ० । सामायिकशब्दवत् बहुपर्याये गुणवत्सूत्रे, आ० म० १ अ० ।

सारवणा-सारापना-स्त्री० । संगोपनायाम् , "होही पसीति सारवणा । " आव० १ अ० ।

सारवय-सारपद-न० । ज्ञानादिके सारसहिते पदे , आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

सारविज्जंत-सार्यमाण-त्रि० । ध्रियमाणे , व्य० ४ उ० ।

सारस-सारस-त्रि०। दीर्घजानुके लोमपक्षिविशेषे, न०। जी० ।

स्था० । प्रश्न० । कल्प० । औ० । रा० । प्रश्न० । ज्ञा० ।

सारमार-सारसार-पुं० । सारस्यापि सारभूते, आचा० १श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० म० ।

सारसावएज्ज-सारसापतेय-न० । प्रधानद्रव्ये , कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

सारसी-सारसी-स्त्री० । षड्जग्रामस्य षष्ठ्यां मूर्छनायाम् , स्था० ७ ठा ३ उ० ।

सारस्सय-सारस्वत-त्रि० । सरस्वतीसम्बन्धिनि मन्त्रादौ , स्या०।सरस्वतीप्रोक्तव्याकरणे,नपुं० । कल्प० १ अधि०२ क्षण। कृष्णराज्यन्तरालवर्तिविमानवासिनि लोकान्तिकदेवे , पुं० । स्था० ६ ठा० ३ उ० । प्रव० । ज्ञा० । आ० म० ।

सारह-सारघ-न० । मधुनि, पाइ० ना० २२४ गाथा ।

सारहि-सारथि-पुं० । नन्तरि , दश० ८ अ० । आ० म० । सूते , पाइ० ना० २२३ गाथा ।

सारिक्ख-सादृक्ष्य-त्रि० । "छोऽक्ष्यादौ " ॥ ८ । २ ।१७॥ इति संयुक्तस्य छो वा । सारिक्ख । प्रा० । साधर्म्ये, स्था० १ ठा० ।

सारिणी-सारिणी -स्त्री०।दीर्घिकाख्ये जलाशयविशेषे, अनु० ।

सारिय-सारित-त्रि० । छिन्ने प्रवर्तित , ध० ३ अधि० । पा० । शिक्षित , व्य० ७ उ० ।

सारिया-सारिका-स्त्री० । कोशलविषये देवराजस्य कुटुम्बिनो भार्यायाम् , पिं० । मैनापक्षिणि , आचा० १ श्रु० १ अ०६ उ० ।

सारिस-सादृश्य-अव्य० । यथाऽस्मिन् देशे घटा ऊर्ध्वग्रीवा अधस्तात्परिमण्डला विपुलकुक्षयस्तथा अन्येष्वपि देशेष्वि-त्यादिसाधर्म्ये, आ० म० १ अ० ।

सारी-देशी-अक्षीणामासने , मृत्तिकायामित्यन्ये , दे० ना० ८ वर्ग २२ गाथा ।

सारीर-शारीर-त्रि० । शरीरसंभवे, प्रव० २६८ द्वार । आव० ।

सारीरमाणसाणेगदुक्खमोक्ख-शारीरमानसानेकदुःखमोक्ष-पुं० । सकलदेहदुःखक्षये , प० व० ३ द्वार ।

सारीरसम-शारीरसम-न० । कलाभेदे , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सारूवि(ण्)-सारूपिन्-पुं० । सारूपिके, " मुंडसिरोया सुक्किलवत्थधरो न वियत्थ। हिंडइ न वा अभज्जो,सारूवी एरिसो होइ ॥ १ ॥ " इति तल्लक्षणम् । जी० १ प्रति० ।

सारूविय-सारूपिक-पुं० । समान रूपं-सरूप तेन चरती-ति सारूपिकः । रजोहरणवर्जसाधुवेषधारिणि गृहस्थे, "सारूवी धारेइ निसिज्जं च एग ओलंबगं चेव " यस्तु सारूपिकः स एकनिषद्यम्-एकनिषद्योपेतं रजोहरणमव-लम्बकदण्डकमुपलक्षणमेतत् पात्रादिकं च धारयति शि-रश्च मुण्डयति । व्य० ४ उ० । नि० चू० । सारूपिकः-शुक्लाम्बरो मुण्डोऽकच्छो रजोहरणरहितोऽब्रह्मचर्योऽ-भार्यो भिक्षाग्राही । ध०४ अधि० । मुण्डितशिराः शुक्लवास-परिधारी कच्छामबध्नानोऽभार्यको भिक्षां हिण्डमानः सारू-पिक उच्यते । सू० ४ उ० ।

सारूवियसिद्धपुत्त-सारूपिकसिद्धपुत्र-पुं० । मुण्डितशिरस्के रजोहरणरहिते अलघुपात्रेण भिक्षामटति सभार्ये अभार्ये वा गृहस्थे, व्य० ८ उ० ।

सारूट्ठ-संरुष्ट-त्रि० । मनसा रुष्टे , भ० ७ श ६ उ० ।

साल-साल-पुं० । अशीतितमे महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। कल्प० । सू० प्र० । च० प्र० । (साखू) वृक्षविशेषे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । अनु० । प्रज्ञा० । ज० । आचा० । स० । शाखायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जी० । पृष्ठचम्पानगर्याः स्वनामख्याते राजनि , उत्त० १ अ० । आ० क० । ती० ।

तद्वृत्तम्-

" वद्धमाणसामी पिट्ठिचंपाए नयरीए सुभूमिभागे उज्जाणे समोसढो , तत्थ य सालो राया , महासालो जुव-राया । तेसिं भगिणी जसवती , तीसे भत्ता पिठरो , पुत्तो य से गागलीनाम कुमारो, ततो सालो भगवतो समीवे धम्मं सोऊण भणइ-जं नवरं महासालं रज्जे अभिसिं-चामि ततो तुम्ह पादमूले पव्वयामि , तेण गंतूण भणि-ओ महासालो-राया भवसु, अहं पव्वयामि । सो भणइ-अहं पि पव्वयामि, जहा तुब्भे इह अम्हाण मेढीपमाणं त-हा पव्वइयस्स वि त्ति, ताहे गागली कंपिल्लपुरातो आणेउ रज्जे अभिसिंचितो । तस्स माया जसवती कंपिल्लपुरं न-गरे दिण्णिया पिठररायपुत्तस्स , तए ततो आणिओ , त-ए पुण तसिं दो पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ का-रियाओ, ०जाव ते पव्वइया । सा वि तेसिं भगिणी समणो-वासिया जाया, तेऽवि एक्कारसंगाइं अहिज्जिया । अण्णया य भगवं रायगिहे समोसढो, ततो भगवं निग्गतो चंपं जतो पधावितो , ताहे सालमहासाला सामिं पुच्छति-अम्हे पिट्ठिचंपं वच्चामो , जइ नाम कोइ तेसिं पव्वएज्ज सम्मत्तं वा लभेज्ज । सामी जाणइ-जहा ताणि संबुज्झि-हिंति , ताहे तेसिं सामिणा गोतमसामी बिइज्जओ दि-ण्णो, सामी चंपं गतो, गोयमसामीऽवि पिट्ठिचंपं गतो, त-त्थ समवसरणं, गागलि, पिठरो, जसवती य निग्गयाणि, ताणि परमसविग्गाणि, धम्मं सोऊण गागली पुत्तं रज्जे अ-भिसिंचिऊण मातापितिसहितो पव्वइओ । गोयमसामी ता-णि घेत्तूण चंपं वच्चइ, तेसिं सालमहासालाणं चंपं वच्चं-ताणं हरिसो जातो-संसारातो उत्तारियाणं त्ति, ततो-सुभेणऽज्झवसाणेण केवलनाणं उप्पन्नं ।" आव०१ अ०। आ० म० । आ० चू० ।

स्याल-पुं० । भार्याभ्रातरि, अनु० ।

सालंकायण-सालंकायन-पुं० । कौशिकगोत्रान्तर्गते पुरुष-विशेषे, तत्प्रवर्तिते गोत्रविशेषे च । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सालकल्लाण-सालकल्याण-पुं० । वृक्षविशेषे,भ०८ श०३उ० ।

सालंब-सालम्ब-त्रि० । आलम्बनमवलम्बमाने , नि० चू० १ उ० । ज्ञानादिपुष्टालम्बनयुक्ते , दशा० १ अ० । आव० । नि० चू० । त्रिषु लिङ्गेषु । प्राणिनः सन्त्यन्त्ये ज्ञानादि प्रहीष्यामीत्यालम्बनमादिन, व्य० ४ उ० । नि० चू० ।

सालंबसेवि(ण्)-सालम्बसेविन्-त्रि० । पुष्टालम्बनमतीत्य-

विणि, "काह अछिंति अदुवा अधीह, तयोवहाणेसु य उज्जमिस्सं। गणं च णीती अणुसारविस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्ख ॥ १ ॥" । आ० चू० ३ अ०।

सालंबहत्थाभरण-सालम्बहस्ताभरण-त्रि०। सह आलम्बेन-प्रलम्बेन वर्त्तते सालम्ब तानि च हस्ताभरणानि यस्या-धामुख गमनवशादसौ सालम्बहस्ताभरण । हस्तयो प-रिहिताभरणे, भ० ३ श० २ उ०।

सालकोट्ठय-सालकोष्टक-न०। मेण्ढ्रकग्रामस्य बहिरुत्तरपूर्व-दिग्भागे स्वनामख्याते चैत्ये, भ० ३ श० २ उ०।

सालग-शालक-पु०। अवष्टम्भसमन्विते आसनविशेषे, दश० ६ अ०। दीर्घशाखायाम्, आव० १ अ०। स्कन्धे, आचा०२ श्रु० १ चू० ७ अ० २ उ०। अर्द्ध भिन्न बाहिरा छल्ली साल भण्णइ। नि० चू० १५ उ०। सालग पुण तस्स बाहिरा छल्ली। सालग बाहिरा छल्ली भण्णति। नि० चू० १६ उ०।

सालगिह-शालागृह-न०। शालागृहशब्दे, तत्र अकुड्डा साला सकुड्ड गिह । अस्मादिअवाहणाणं सालगिह। नि० चू० ८ उ०।

सालघरय-सालगृहक-न०। शाला -शाखा। अथवा-शाला-वृक्षविशेषास्तत्प्रधान गृहकम्। शालाप्रधाने गृहके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ज्ञा०। जी०। पट्टशालाप्रधाने गृहे, रा०।

सालज्जा-सालार्या-स्त्री०। बहुशालकनामग्रामसमीपवर्त्तिशालवनोद्यानवास्तव्याया व्यन्तर्याम्, आ० म० १ अ०। ('वीर' शब्दे षष्ठभागे तत्कथा गता।)

सालपरियाय-सालपर्याय-पु०।सालस्येव पर्याया धर्मा-बहुलच्छायात्वासेव्यत्वादयो यस्य स सालपर्याय । सालस-धर्मिणि पुरुषजाते स्था० ४ ठा० ४ उ०।

सालभंजिया-शालभञ्जिका-स्त्री०। स्तम्भपुत्रिकायाम्, आ० म० १ अ०। ज्ञा०।

सालरुक्ख-शालवृक्ष-पु०। "वृक्षक्षिप्तयो रुक्ख-छूढौ" ॥ ८।२। १२७ ॥ इति वृक्षस्य रुक्खाऽऽदेश । प्रा०। शालाख्ये वृक्षविशेषे, भ० १४ श० ८ उ०। (अस्य भाविजन्मान्तरवृत्तम् 'वणप्फइ' शब्दे षष्ठभागे गतम्।)

साललट्ठिया-शालयष्टिका-स्त्री०। शालवृक्षस्तम्भे, भ०१४ श० ८ उ०। (इह च यद्यपि शालवृक्षादावनेके जीवा भवन्ति तथापि प्रथमजीवापेक्ष सूत्रत्रयमपि नेतव्यम्, एवंविधप्रश्नाश्च वनस्पतीना जीवत्वमश्रद्दधान श्रोता-रमपेक्ष्य भगवता गौतमेन कृता इति 'वणप्फइ' शब्दे षष्ठभागे गतम्।)

सालवण-शालवन-न०। बहुशालकनामग्रामसमीपवर्त्तिनि उद्याने, आ० म० १ अ०। आ० चू०।

सालवाहण-शालवाहन-पु०। स्वनामख्याते महाराजे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। व्य०। (शालवाहनचरित्रम् 'पगिहि' शब्दे पञ्चमभागे ३८३ पृष्ठे गतम्।)

सालहिआ-देशी-स्त्री०। 'मेना' इति ख्याते पक्षिविशेषे, पाइ० ना० २३६ गाथा।

साला-शाला-स्त्री०। वृक्षस्कन्धे,ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। शाखायाम् आ० १श्रु०५ अ०। स्था०। सूत्र०। रा०। ज०। जन्य भड विक्किणाइ सा साला। अहवा-सकुड्डिम गिह। अकुड्डिमा साला। नि० चू० १२ उ०। अशीतितमे महाग्रहे, स्था०। ठा० साला (सू०६०+) स्था० २ ठा० ३ उ०।

सालाडयतत-शालाक्यतन्त्र-न०। शलाकाया कर्म शालाक्यं तत्प्रतिपादक तन्त्र शालाक्यतन्त्रम्। स्था० ८ ठा० ३ उ०। विपा०। आयुर्वेदाङ्ग तद्धि ऊर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणवदननयनघ्राणादिसंश्रितानामुपशमनार्थमिति। स्था० ८ ३ उ०।

सालाडवि-शालाटवी-स्त्री०। विजयचौरसेनापतिपालितायां चौरपल्ल्याम्, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

सालाहण-सातवाहन-पु०। "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥ ८॥ २। ७९ ॥ इति वलुकि सति। "सातवाहने ल" ॥ ८। २। २११ ॥ इति तस्य ल । सालाहणो। प्रा०। गोदावरीतटवर्त्तिप्रतिष्ठाननगरराजे, बृ० ६ उ०।

सालि-शालि-पु०। कलमादिके धान्ये, स्था० ३ ठा० १ उ०। आचा०। सूत्र०। प्रज्ञा०। ध०। बृ०। रा०। पो०। व्रीहिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कलमशाल्यादिके, व्य० ६ उ०। भ०। जं०। आचा०। तस्य पुव्वण्हे साली चुप्पइ। अवरण्हे जम्मति। आ० म० १ अ०।

सालिउद्देस-शाल्युद्देश-पुं०। षष्ठशतस्य सप्तमोद्देशके, भ० ११ श० ११ उ०।

सालिंगणवट्टिय-सालिङ्गनवर्तित-त्रि०। शरीरप्रमाणेनोपधानेन वर्तमाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

सालिक्खेत्त-शालिक्षेत्र-न०। धान्यक्षेत्रे, कल्प० १ अधि० १ क्षण।

सालिखंडण-शालिखण्डन-न०। शालिधान्यखण्डने, तत्कलायाम्, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

सालिग्गाम-शालिग्राम-पु०। मगधजनपदेषु स्वनामख्याते ग्रामे, आ० क० १ अ०। आ० चू०।

सालिपिट्ठ-शालिपिष्ट-न०। शालिचूर्णे, ज० १ वक्ष०।

सालिपिट्ठरासि-सालिपिष्टराशि-पु०। शालिक्षोदपुञ्जे, रा०।

सालिवाहण-शालिवाहन-पु०। स्वनामख्याते प्रतिष्ठानपुरराजे, विशे०। ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३८५पृष्ठे उदाहरणम्।)

सालिभंजिया-शालिभञ्जिका-स्त्री०। पुत्तलिकायाम्, रा०।

सालिभद्द-शालिभद्र-पु०। राजगृहे स्वनामख्याते गोभद्रश्रेष्ठिन पुत्रे, स्था०। 'शालिभद्र' इति य पूर्वभवे सङ्गमनामा वत्सपालोऽभवत्, सबहुमान च साधवे पायसमदात्, राजगृहे गोभद्र श्रेष्ठिन पुत्रत्वेनोत्पन्नो देवीभूतगोभद्रश्रेष्ठिसमुपनीतदिव्यभोजनवसनकुसुमविलेपनभूषणादिभिर्भोगाङ्गैरङ्गनाना द्वात्रिंशता सह सप्तभूमिकरम्यहर्म्यतलगतो ललति स्म । वाणिजकोपनीतलक्षमूल्यबहुरत्नकम्बला गृहीता ,भद्रया शालिभद्रमात्रा वधूना पादप्रोञ्छनीकृताश्चेति श्रवणाज्जातकुतूहले दर्शनार्थ गृहमागते श्रेणिकमहाराजे जनन्याऽभिहितो, यथा-त्वा स्वामी द्रष्टुमिच्छतीत्यवतर प्रासादशृङ्गात् स्वामिन पश्येति, वचनश्रवणादस्माकमप्यन्य

स्वामीति भावयन् वैराग्यमुपजगाम। वर्धमानस्वामिसमीपे च प्रवव्राज, विकृष्टतपसा क्षीणदेहः शिलातले पादपोपगमनविधिनाऽनुत्तरसुरेषू पन्नवानिति सोऽयमिह सभाव्यते, केवलमनुत्तरोपपातिकाङ्गेनाधीत इति। स्था० १० ठा० ३ उ०। ती०। कपिलमहर्षे स्वगृहे भोजयितरि श्रावस्तीवास्तव्ये व्यवहारिणि, उत्त०८ अ०। ('कविल' शब्दे तृतीयभागे ३८७ पृष्ठे कथा उक्ता।)

सालिभसेल-शालिभसेल-पुं०। व्रीहिकणिकशूके, उपा० २ अ०।

सालिया-शाटिका-स्त्री०। परिधानवस्त्रे, विशे०। आव०।

शालिका-स्त्री०। सम्मूर्छजक्षुद्रजन्तुविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

सालिसच्छियामच्छ-शालिसाच्छिकामत्स्य-पुं०। मत्स्यभेदे, भ० १ श० २ उ०।

सालिसय-सदृशक-त्रि०। समाने, रा०। स्था०। ज्ञा०।

सालिसीस-शालिशीर्ष-पुं०। स्वनामख्याते ग्रामे, स्था०। ग्रामाकम्मन्निवेशात् शालिशीर्षग्रामे उद्याने प्रतिमास्थस्य स्वामिनो माघमासे त्रिपृष्ठभवापमानिता अन्तःपुरि मृत्वा व्यन्तरीभूत्वा तापसीरूपं कृत्वा जलभृतजटाभिरत्युद्रं सह शीतोपसर्गं चक्रे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

सालुज्जाण-शालोद्यान-न०। बहुशालकग्रामाद्बहिरुद्याने आ० चू० १ अ०।

सालुय-शालूक-पुं०। उत्पलकन्दे, भ० ११ श० २ उ०। (शालकोद्देशक 'वणप्फइ' शब्दे उक्तः)

सालइया (सालिही) पिया-शा (सा) लेयिकापितृ-पुं०। स्वनामख्याते गृहपतौ, उपा०।

एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थीणयरी कोट्ठए चेइए जियसत्तू राया, तत्थ णं सावत्थीए णयरीए सालिपियाणामं गाहावई परिवसइ। अड्ढे दित्ते चत्तारि हिरण्णकोडीओ णिहाणपउत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपउत्ताओ चत्तारि वया दस गोसाहस्सिएणं वएणं। फग्गुणी भारिया सामी समोसढो जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ, जहा कामदेवो तहा जेट्ठं पुत्तं ठवेत्ता पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। नवरं निरुवसग्गाओ एक्कारस्स वि उवासगपडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ। एवं कामदेवगमेणं नेयव्वं०जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववण्णे। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिति। ५६। दसण्ह वि ओवमाइं संवच्छरे वट्टमाणाणं चिंता उववण्णा। दसण्ह वि वीसं वासाइंसमणोवासयपरियाओ। एवं खलु जंबू! समणेणं०जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। (सू० ५७)

'सालिहीपिय' त्ति सालेयिकापितृनाम्नः श्रावस्तीनिवासिनो गृहमेधिनो भगवतो बोधिलाभिनोऽनन्तरं तथैव सौधर्मगामिनो वक्तव्यतानिबद्धं सालेयिकापितृनामकं दशममिति। दशाप्यमी विंशतिवर्षपर्याया: सौधर्मे गताश्चतुःपल्योपमस्थितयो देवा जाता महाविदेहे च सेत्स्यन्तीति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

साव-शाप-पुं०। नावर्णात्पः। ८।१।१७६। इति पस्य लुक् न। प्रा०। पो वः। ८।१।२३१। इति पस्य वः। आक्रोशे, प्रा० १ पाद।

सावइत्ता-श्रावयित्वा-स्त्री०। श्रावणं कृत्वेत्यर्थे, "नामगं सावइत्ता" स्वकीयं नाम श्रावयित्वा यदुताहं भदन्त! शक्रो देवराजो भवन्तं वन्दे नमस्यामि चेत्येवम्। भ० १६ श० २ उ०।

श्रावयितृ-त्रि०। श्रवणं कारयितरि, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

सावएज्ज-स्वापतेय-न०। धने, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। द्रव्ये, भ० ८ श० ५ उ०। आचा०।

सावकंख-सावकाङ्क्ष-न०। सह अवकाङ्क्षया वर्तत इति सावकाङ्क्षम्। घटिकाद्वयादनन्तरमहं भोजनं विधास्यामीति वाञ्छासहितेऽनशने, उत्त० ३० अ०।

सावग(य)-श्रावक-पुं०। शृणोति जिनवचनमिति श्रावकः। "अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत्-परं समाचारमनुप्रभातम्। शृणोति यः साधुजनादतन्द्र-स्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः॥१॥" इति। अथवा-श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्रा०, तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वा, तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति का०, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति। जिनवचनश्रद्धाने, स्था० ४ ठा० ४ उ० (एकविंशतिगुणयुक्त एव श्रावको भवतीति 'धम्मरयण' शब्दे चतुर्थभागे २७२७ पृष्ठे उक्तम्।) शृणोति साधुसमीपे साधुसामाचारीमिति श्रावकः। ध० २ अधि०।

श्रावकधर्मस्य प्रक्रान्तत्वात्तस्य श्रावकानुष्ठातृकत्वाच्छ्रावकशब्दार्थमेव प्रतिपादयति—

संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइ जणा सुणेई य।
सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं बिंति॥ २॥

सम्प्राप्तं दर्शनादि येनासौ सम्प्राप्तदर्शनादिः। दर्शनग्रहणात्सम्यग्दृष्टिरादिशब्दाद्-अणुव्रतादिपरिग्रहः, अनेन मिथ्यादृष्टेर्व्युदासः। स इत्थंभूतः प्रतिदिवसं-प्रत्यहं यतिजनात्साधुलोकात् शृणोत्येव किं सामाचारीं परमाम्। तत्र समाचरणं समाचारः-शिष्टाचरितः क्रियाकलापः तस्य भावः 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' ष्यञिति ष्यञ् सामाचार्यं पुनः स्त्रीत्वविवक्षायाम्-"षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीप्। यस्येति चेत्यकारलोपः। 'हलस्तद्धितस्य' इत्यनेन तद्धितयकारलोपः परगमनं सामाचारी ता सामाचारीं परमां प्रधानां, साधुश्रावकसंबद्धामित्यर्थः। यः खलु य एव शृणोति तं श्रावकं ब्रुवते-तं श्रावकं प्रतिपादयन्ति भगवन्तः-तीर्थङ्करगणधराः। ततश्चाय पिण्डार्थः। अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात्साधूनामगारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावक इति। आ०।

श्रावकधर्मं वक्ष्य इति यदुक्तं, तत्र श्रावकशब्दार्थमाह—

परलोयहियं सम्मं, जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।
अइतिव्वकम्मविगमा, सुक्कोसो सावगो एत्थ ॥ २ ॥

यो जिनवचनं शृणोति स श्रावक इत्येवमिह क्रियाभिसंबन्धः। तत्र य इति सामान्येनिर्देशः। तेन यः कश्चित्मार्गी, न पुनर्नियतकुलोत्पन्न एव, यथा ब्राह्मणकुलोत्पन्न एव ब्राह्मणो भवतीति, क्रियाविशेषनिबन्धनत्वात् श्रावकत्वस्येति। ननु श्रवणमात्रनिबन्धनं श्रावकत्वमेव स्यात्तच्च सर्वस्य श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतः संभवति,विशिष्टं च तदिष्यत इत्याशङ्कायामाह—जिनवचनमाप्तागमं, न पुनर्यत्किञ्चनानाप्तवचनं वा, तस्याप्रमाणतया विवक्षितार्थासाधकत्वेन श्रवणानुचितत्वात्। किंभूतं तदित्याह—परलोको जन्मान्तरं प्रधानं जन्म वा तस्मै हितं पथ्यं परलोकहितम्। जिनवचनाराधनाद्धि परलोकोऽनुकूल एव भवतीति। स्वरूपप्रतिपादनपरं चेदं विशेषणं, परलोकहितस्य जिनवचनस्य सर्वथैवाभावेन व्यवच्छेद्याभावात्। अथवा-यज्जिनवचनमिहलोकहितं निमित्तशास्त्रं ज्योतिषप्राभृत (योनिप्राभृत) प्रभृतिकं तद्व्यवच्छेदार्थमेतद्भविष्यति। यद्यपि ज्योतिषप्राभृतादिकमभिप्रायविशेषतः परलोकहितं तथापि तत्मुख्यवृत्त्येहलोकहितमेव। अथाभिप्रायविशेषतोऽपि यत्परलोकहितं तत्परलोकहितमेव, एवं तर्हि सर्वाण्यपि कुशासनानि तथा भवन्तु, किमेकमेव जिनवचनं परलोकहितमित्युच्यते, सर्वेषामपि तेषां विवक्षया परलोकहितत्वेनेष्टत्वात्, यदाह—" जे अत्तिया य हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे। गणणाईया लोया दोण्ह वि पुण्णा भवे तुल्ला ॥ १ ॥ " अतोऽनेन विशेषणेन यत्साक्षात्परलोकहितं साधुश्रावकानुष्ठानगर्भं जिनवचनं तच्छृण्वन्श्रावको भवतीत्यभिहितम्। अत एवान्यत्र पूज्यैरेवोक्तम्—"संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइ जणा सुणेई य। सामायारिं परमं, जो खलु तं सावयं विंति ॥ १ ॥ " कथं शृणोतीत्याह—सम्यगशठतया, प्रत्यनीकादिभावेन शृण्वन्नपि न श्रावको भवतीति भावः। अथवा-ननु कपिलादिवचनमपि परलोकहितं भवति, कथमन्यथाऽभिधीयते-'जावंति वभलोओ चरगपरिव्वायउववाउ त्ति'। अतस्तच्छ्रवणेन कथं जिनवचनमेव शृण्वन् श्रावको भवतीत्याशङ्कायामाह—सम्यक् समीचीनमत्यन्तं परलोकहितमिति यावत्। यथा हि जिनवचनं साक्षात्पारम्पर्येण वा मोक्षहेतुतया सम्यक् परलोकहितं, न तथा कपिलादिवचनमिति भावः। शृणोत्याकर्णयति। किंभूतः सन्नित्याह-उपयुक्तो दत्तावधानोऽनुपयुक्तश्रवणं हि नार्थवदेव तन्निषेधार्थमुक्तम्-" निद्दाविगहापरिव-ज्जिएहिँ गुत्तेहिँ पंजलिउडेहिँ। भत्तिबहुमाणपुव्वं,उवउत्तेहिँ सुणयव्वं ॥१॥" एवंविधे श्रवणे हेतुमाह-अथवा ननु व्यवहारेणोपयुक्तोऽशठश्च जिनवचनमभव्योऽपि कस्याञ्चिदवस्थायां शृणोति, तत्कथमसौ श्रावकः स्यादित्याशङ्क्याह-अतितीव्रस्यात्युत्कटस्य कर्मणो ज्ञानावरणीयमिथ्यात्वादेर्विगमो विनाशोऽतितीव्रकर्मविगमस्तस्मात्। न हि तीव्रकर्मविगममन्तरेणोक्तविशेषणश्रवणसम्भव। पातनान्तरपदे तु उक्तविशेषणवतः शृण्वतोऽप्यतितीव्रकर्मविगम एव विवक्षितश्रावकत्वं भवति। यदाह—"सत्तण्ह पगईणं, अब्भिंतरओ उ कोडिकोडीए। काऊण सागराणं,जइ लहइ चउण्हमण्णयरं ॥ १ ॥ " स इत्यनन्तरोद्दिष्टः। 'उक्कोसो'त्ति उत्कृष्यत इत्युत्कर्षः उत्कृष्टः प्रधानो मुख्यश्रावकव्यपदेशभाजनत्वात्तस्य। यद्वा-शुक्लः-शुक्लपाक्षिकः, अपार्धपुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरीभूतसंसार इत्यर्थः। स उक्तस्वरूपश्रावकः शृणोतीति शब्दव्युत्पत्तिविषयीभूतनामा। अथैतस्मिन् श्रावकधर्मविचारप्रक्रमेऽन्यत्र पुनर्विशेषणेन श्रवणेन श्रावणेन वा नामादिभेदभिन्नो वा श्रावको भवतीति गाथार्थः। पञ्चा० १ विव०। "यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम्। शृणोति धर्मसंबद्धा-मसौ श्रावक उच्यते।"श्राव०' अ०। सम्यग्दर्शनसंपन्नः प्रवचनभक्तिमान् षड्विधावश्यकनिरतः षट्स्थानकयुक्तश्च श्रावको भवति। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। यतिवचनामृतपाननिरते, भ० ७ श० १ उ०। श्रमणोपासके, अनु०। स्था०। पञ्चा०। जिनशासनभक्ता गृहस्था श्रावका भण्यन्ते। आव०४ अ०। सावगा गहिताणुव्वता अगहिताणुव्वता वा। नि० चू० उ०। वभी पव्वइया भरहो नावगो जाओ। आ० म० १ अ०। श्रावका धर्मशास्त्रश्रवणाद् ब्राह्मणाः। अनु०। श्रावका ब्राह्मणाः, प्रथमं भरतादिकाले श्रावकाणामेव सतां पश्चाद् ब्राह्मणत्वभवनात्। अनु०। ज्ञा०। ('उसभ' शब्दे द्वितीयभागे ११४३ पृष्ठे स्पष्टमिदमुक्तम्।)

अधुना श्रावकस्यैव निवासादिविषया सामाचारी प्रतिपादयन्नाह—

निवसिज्ज तत्थ सड्ढो, साहूणं जत्थ होइ संपाओ ।
चेइयघराइ जत्थ य, तयन्नसाहम्मिया चेव ॥३३६॥

निवसेत्तत्र नगरादौ श्रावकः साधूनां यत्र भवति संपातः। संपतनं-संपातः आगमनमित्यर्थः। चैत्यगृहाणि च यस्मिंस्तदन्यसाधर्मिकाश्चैव श्रावकाश्च इति गाथासमासार्थः। अधुना प्रतिद्वारं गुणा उच्यन्ते तत्र साधुसंपाते गुणानाह—

साहूण वंदणेणं, नासइ पावं असंकिया भावा ।
फासुयदाणे निज्जर, उवग्गहो नाणमाईणं ॥ ३४० ॥

साधूनां वन्दनेन करणभूतेन किं नश्यति पापं गुणेषु बहुमानात्तथा अशङ्किता भावास्तत्समीपे श्रवणात्, प्रासुकदाने निर्जरा। कुतः ? उपग्रहो ज्ञानादीनां ज्ञानादिमन्त एव साधव इति। उक्ताः साधुसंपाते गुणाः।

चैत्यगृहे गुणानाह—

मिच्छादंसणमहणं, सम्मदंसणविसुद्धिहेउं च ।
चिइवंदणाइ विहिणा, पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥ ३४१ ॥

मिथ्यादर्शनमथनं मिथ्यादर्शनं—विपरीतपदार्थश्रद्धानरूपं, मथ्यते विलोड्यते येन तत्तथा, न केवलमपायनिबन्धनकदर्शनमेव किन्तु कल्याणकारणोपकारि चेत्याह-सम्यग्दर्शनविशुद्धिहेतु च। सम्यग्-अविपरीतं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं दर्शनं सम्यग्दर्शनं मोक्षादिसोपानं तद्विशुद्धिकरणं च। किं तच्चैत्यवन्दनादि आदिशब्दात्पूजादिपरिग्रहः। विधिना-सूत्रोक्तेन प्रज्ञप्तं-प्ररूपितं वीतरागैरर्हद्भिः स्वामिशुभाध्यवसायप्रवृत्तेरेतच्च चैत्यगृहे सति भवतीति गाथार्थः। उक्ताश्चैत्यगृहगुणाः।

सांप्रतं समानधार्मिकगुणानाह—

साहम्मियथिरकरणं, वच्छल्लं सासणस्स सारो त्ति ।
मग्गसहायत्तणओ, तहा अणासो य धम्माओ ॥३४२॥

समानधार्मिकस्थिरीकरणमिति, यदि कश्चित्कथञ्चिद्धर्मात् प्रच्यवते ततस्तं स्थिरीकरोति, महांश्चायं गुणः। तथा वात्सल्ये क्रियमाणे शासनस्य सार इति सार आसेवितो भवति। उक्तं च-" जिणसासणस्स सारो " इत्यादि तनि च तस्मिन् वात्सल्यमिति, तथा तेन तेनोपबृंहणादिना प्रकारेण सम्यग्दर्शनादिलक्षणमार्गमहायत्वान्नाशश्च भवति,कुतो धर्मोस्तत एवेति गाथार्थः। उक्ताः समानधार्मिकगुणाः।

सांप्रतं तत्र निश्चततो विधिरुच्यते—तत्रापि च प्रायो भावलुप्ताः श्रावकाः ये प्राप्यापि जिनमतं गार्ह—

स्थ्यमनुपालयन्त्यतो निद्रावबोधद्वारेणाह-

नवकारेण विवोहो, अणुसरणं सावओ वयाइम्मि।
जोगो चिइवंदणमो, पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥३४३॥

नमस्कारेण विबोध इति सुप्तोत्थितेन नमस्कारः पठितव्य, तथाऽनुस्मरणं कर्तव्यं श्रावकोऽहमिति व्रतादौ विषये, ततो योग कायिकादि चैत्यवन्दनमिति प्रयत्नेन चैत्यवन्दनं कर्तव्य, ततो गुर्वादीनभिवन्द्य प्रत्याख्यान च विधिपूर्वक सम्यगाकारशुद्धं ग्राह्यमिति।

गोसे सयमेव इमं, काउं तो चेइयाण पूयाई।
साहुसगासे कुज्जा, पच्चक्खाणं अहागहियं ॥ ३४४ ॥

गोसे-प्रत्युषसि स्वयमेवेद कृत्वा गृहादौ ततश्चैत्याना पूजादीनि समार्जनोपलेपपुष्पधूपादिसपादनादि कुर्यात्, तत साधुसकाशे कुर्यात्कि प्रत्याख्यान यथागृहीतमिति। श्रा०।

अत्र च यद्यपि श्रावकयतिधर्मभेदाद्धर्मो द्विधा। श्रावकधर्मोऽपि अविरतविरतश्रावकधर्मभेदाद् द्विधा, तत्राविरतश्रावकधर्मस्य पूर्वसूरिभि -" तत्थहिगारी अत्थी, समत्थओ जो न सुत्तपडिकुट्ठो। अत्थी उ जो विणीओ, समुट्ठिओ पुच्छमाणो अ ॥ १ ॥" इत्यादिनाऽधिकारी निरूपित, विरतश्रावकधर्मस्य " संपत्तदसणाई, पइदियहं जइ जणा सुणेई अ। सामायारिं परम, जो खलु तं सावयं विंति ॥ १ ॥" तथा-" परलोगहिअं ध(स)म्म, जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो। अइतिव्वकम्मविगमा, उक्कोसो सावगो इत्थ ॥ १ ॥" इत्यादिभिरसाधारणैः श्रावकशब्दप्रवृत्तिहेतुभिरधिकारित्वमुक्तम्। यतिधर्माधिकारिणोऽप्येवं तत्प्रस्तावे वक्ष्यमाणा यथा—

" पव्वज्जाए अरिहा, आरिअदेससमि जे समुप्पन्ना।
जाइकुलेहिँ विसिट्ठा, तह खीणप्पा य कम्ममला ॥ १ ॥
तत्तो अ विमलबुद्धी, दुलहं मणुअत्तणं भवसमुद्दे।
जम्मो मरणनिमित्तं, चवलाओ संपयाओ अ ॥ २ ॥
विसया य दुक्खहेऊ, संजोगे निअमओ विओगु त्ति।
पइसमयमेव मरणं, इत्थ विवागो अ अइरुद्दो ॥ ३ ॥
एव पयईए चिअ, अवगयसंसारनिग्गुणसहावा।
तत्तो य तव्विरत्ता, पयणुकसायप्पहासा य ॥ ४ ॥
सुकयण्णुआ विणीआ, रायाईणमविरुद्धकारी अ।
कल्लाणऽगा सड्ढा, धीरा तह समुवसंपन्ना ॥ ५ ॥"

इति पृथक् पृथक् प्रतिपादितास्तथाऽप्येभिरर्थविशेषत्या गुणैः एतत्सधर्मस्याधिकारित्वमिति न व्यामोह कार्यो, यत सर्वाणि सर्वाण्यपि शास्त्राण्यर्वाचीनानि तत्तत्कालीनानि प्रायेण तत्तद्गुणस्याहूनानि दर्शयन्ति। चित्रस्य वर्ण-

शुद्धिविचित्रवर्णतारेखाशुद्धितानाभावप्रतीतिवत्। प्रकृतगुणा पुन सर्वधर्माणां साधारणभूमिकेव चित्रकराणामिति सूक्ष्मबुद्ध्या भावनीयम्। यदुक्तम्-" दुविह पि धम्मरयणं तरइ नरो घित्तुमविगलं सो उ। जस्सेगवीसगुणरयणसंपया होइ सुत्थि त्ति ॥ १ ॥" ते च सर्वेऽपि गुणाः प्रकृते संविग्नादिविशेषणपदैरेव संगृहीता इति सद्धर्मग्रहणार्हः उक्तः ॥ २० ॥ (ध० १ अधि०। श्रा० ।) एषां च भेदानां यथासभवं ज्ञानश्रद्धाचरणविधया सम्यक्त्वस्त्रुपयोगित्वमिति ध्येयम्। इत्थं च देवादितत्त्वश्रद्धानविकलत्वे तथाविधाजीविकादिहेतोः श्रावकाकारधरणे द्रव्यश्रावकत्वमेव च पर्यवसन्न, भावश्रावकत्वं तु यथोक्तविधिप्रतिपन्नसम्यक्त्वादिर्यतिभ्य सकाशान्नित्य धर्मश्रवणादेव, यदुक्तमावश्यकवृत्तौ—" यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो, यतिभ्य प्रत्यह कथाम्। शृणोति धर्मसम्बद्धा-मसौ श्रावक उच्यते ॥ १ ॥" अभ्युपेतसम्यक्त्व इत्यत्राभ्युपेताणुव्रतोऽपीति व्याख्यालेश इति। नचेहाधिकृत भावस्यैव मुख्यत्वात्, भावश्रावकोऽपि दर्शनव्रतोत्तरगुणश्रावकभेदात् त्रिविध', तद्विस्तरस्तु व्रतभङ्गाधिकारे दर्शयिष्यते आगमे चान्यथाऽपि श्रावकभेदा श्रूयन्ते, तथाच स्थानाङ्गसूत्रम्-" चउव्विहा समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा-अम्मापिइसमाणे, भाइसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे। अहवा-चउव्विहा समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा-आयंससमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरंटसमाणे।" इति परमेते साधूनाश्रित्य द्रष्टव्या इति न पार्थक्यशङ्कालेशः। एषामपि नामश्रावकादिचतुष्कविचारे व्यवहारनयमते भावश्रावका एवैते,श्रावकपदव्युत्पत्तिनिमित्तमात्रयोगेन तथाव्यवह्रियमाणत्वात्, निश्चयनयमत पुन सपत्नीखरण्टसमानौ मिथ्यादृष्टिप्रायौ द्रव्यश्रावकौ, शेषास्तु भावश्रावकाः।

यतस्तेषां स्वरूपमेवमागमे व्याख्यायते—

"चिन्तिज्जइ कज्जाइं, न दिट्ठखलिओ वि होइ निन्नेहो।
एगन्तवच्छलो जइ-जणस्स जणणीसमो सड्ढो ॥ १ ॥
हिअए ससिणेहो च्चिअ, मुणीण मंदायरो विणयकम्मे।
भाइसमो साहूणं, पराभवे होइ सुसहाओ ॥ २ ॥
मित्तसमाणो माणा, ईसिं रूसइ अपुच्छिओ कज्जे।
मन्नतो अप्पाणं, मुणीण सयणाउ अब्भहिअं ॥ ३ ॥
थद्धो छिद्दप्पेही, पमायखलिआणि निच्चमुच्चरइ।
सड्ढो सवत्तिकप्पो, साहुजणं तणसमं गणइ ॥ ४ ॥"

तथा द्वितीयचतुष्के—

" गुरुभणिओ सुत्तत्था, बिंबिज्जइ अवितहो मणे जस्स।
सो आयंससमाणो, सुसावओ वण्णिओ समए ॥ ५ ॥
पवणेण पडागा इव, भामिज्जइ जो जणेण मूढेण।
अविणिच्छियगुरुवयणो, सो होइ पडाइआतुल्लो ॥ ६ ॥
पडिवन्नमसग्गाहं, न मुयइ गीअत्थसमणुसिट्ठो वि।
खाणुसमाणो एसो, अप्पओसी मुणिजणे नवरं ॥ ७ ॥
उम्मग्गदेसओ नि-ण्हवो ऽसि मूढो ऽसि मंदधम्मो ऽसि।
इअ सम्म पि कहतं, खरंटए सो खरंटसमो ॥ ८ ॥
जह सिढिलमसुइदव्वं, छुप्पंतं पि हु नरं खरंटेइ।
एवमणुसासगं पि हु, दूसंतो भन्नइ खरंटो ॥ ९ ॥

निच्छयओ मिच्छत्ती, खरटतुल्लो सवत्तितुल्लो वि ।
ववहारओ उ सड्ढा, जयनि ज जिणगिहाईसु ॥ १० ॥"
इत्यल प्रसङ्गेन ।

अत्रोपयोगित्वात् पूर्वसूरिप्रणीतानि भावश्रावकस्य लिङ्गानि धर्मरत्नप्रकरणे यथोपादिष्टानि तथापदर्श्यन्ते । तथाहि—

"कयवयकम्मो१तह सी-लवं च२ गुणव च३उज्जुववहारी४।
गुरुसुस्सूसो ५ पवयण-कुसलो ६ खलु सावगो भावे ॥१॥"

कृतम्-अनुष्ठित व्रतविषय कर्म-कृत्यं येन स कृतव्रतकर्मा १,

अथैनमेव सप्रभेदमाह—

" तत्थायरणण१जाणण२,गिण्हण३पडिसेवणेसु४उज्जुत्तो ।
कयवयकम्मो चउहा , भावत्थो तस्सिमो होइ ॥ २ ॥"

तत्राकर्णन विनयबहुमानाभ्यां व्रतस्य श्रवणं १ , ज्ञानं व्रतभङ्गभेदातिचाराणा सम्यगवबोध २ , ग्रहण गुरुसमीपे इत्वर यावत्काल वा व्रतप्रतिपत्ति ३ , आसेवन सम्यक्पालनम् ४ ।

अथ शीलवत्स्वरूप द्वितीयलक्षण यथा—

" आययण खु निसेवइ १,वज्जइ परगेहपविसणमकज्जे२।
निच्चमणुब्भडवेसो३ , न भणइ सविआरवयणाइ ४ ॥ ३ ॥
परिहरइ बालकील ५ , साहइ कज्जाइँ महुरनीईए ६ ।
इअ छव्विहसीलजुओ , विन्नेओ सीलवंतोऽत्थ ७ ॥ ४ ॥"

आयतन धर्मिजनमीलस्थानम् , उक्तञ्च—" जत्थ साहम्मिआ बहवे , सीलवना बहुस्सुआ । चरित्तायारसपन्ना , आययण तं विआणाहि ॥ १ ॥" तत्सेवते भावश्रावको नत्वनायतनमिति भाव. ॥ १ शेपपदानि सुगमानि , बालक्रीडा द्यूतादिक ५ , मधुरनीत्या सामवचनेन स्वकार्य साधयति , न तु परुषवचनेनेति षट् शीलानि ६ । अधुना तृतीय भावश्रावकलक्षण गुणवत्स्वरूप यथा-

"जइवि गुणा बहुरूवा,तहावि पंचहिँ गुणेहिँ गुणवंता ।
इअ मुणिवरेहिँ भणिओ , सरूवमेसिं निसामेहि ॥ ५ ॥
सज्झाए१ करणम्मि अ२,विणयम्मि अ३निच्चमेव उज्जुत्तो।
सव्वत्थऽणभिनिवेसो ४, वहइ रुइं सुट्ठ जिणवयणे ५ ॥६॥"

स्वाध्याये पञ्चविधे १ , करणे—तपोनियमवन्दनाद्यनुष्ठाने २ , विनये—गुर्वाद्यभ्युत्थानादिरूपे , नित्यमुद्युक्त प्रयत्नवान् भवति ३ , सर्वत्र प्रयोजनेषु अनभिनिवेश प्रज्ञापनीयो भवति ४, तथा वहति धारयति, रुचिम्-इच्छा, श्रद्धानमित्यर्थ , सुष्ठु-बाढ जिनवचने ५, इति पञ्च गुणा । (सम्यक्-व्यवहार ' सम्मत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।)

सामाचारीशेषमाह—

सुणिऊण तओ धम्मं, अहारविहारं च पुच्छिउमिसीण ।
काऊण य करणिज्जं, भावम्मि तहा ससत्तीए ॥ ३५२ ॥

श्रुत्वा ततो धर्म क्षान्त्यादिलक्षण साधुसकाशे इति गम्यते । यथाविहार च तथाविधचेष्टारूप पृष्ट्वा ऋषीणां सबन्धिनं कृत्वा च करणीयम् ऋषीणामेव सबन्धिभाव इत्यास्तिताया करणीयस्य स्वशक्त्या स्वविभवाद्यौचित्येनेति ।

ततो अणिंदिय खलु, काऊण जहोचियं अणुट्ठाणं ।
भुत्तूण जहाविहिणा, पच्चक्खाण च काऊण ॥ ३५३ ॥

ततस्तदनन्तरमनिन्द्य खलु इहलोकपरलोकानिन्द्यमेव कृत्वा यथोचितमनुष्ठान यथा वाणिज्यादि तथा भुक्त्वा यथाविधिना अतिथिसंविभागसंपादनादिना प्रत्याख्यान च कृत्वा तदनन्तरमेव पुनर्भोगेऽपि ग्रन्थिसहितादीनि ।

सेविज्ज तओ साहू, करिज्ज पूयं च वीयरागाणं ।
चिइवंदणसगिहागम-पडिक्कमिम य तुयट्टिज्जा ॥३५४॥

सेवेत तत. साधून् पर्युपासनविधिना कुर्यात् पूजां च वीतरागाणां स्वविभवौचित्येन,ततश्चैत्यवन्दन कुर्यात् , तत. स्वगृहागमन तथैकान्ते तु त्वग्वर्तनं कुर्यात्स्वपेदिति ।

कथमित्याह—

उस्सग्गबंभयारी, परिमाणकडो उ नियमओ चेव ।
सरिऊण वीयरागे, सुत्तविबुद्धो विचिंतिज्जा ॥ ३५५ ॥

उत्सर्गत प्रथमकल्पेन ब्रह्मचारी आसेवन प्रति कृतपरिमाणस्तु नियमादेव आसेवनपरिमाणाकरणे महामोहदोषात् तथा स्मृत्वा वीतरागान् सुप्तविबुद्ध. सन् विचिन्तयेद्वक्ष्यमाणमिति ।

भूएसु जंगमत्तं, तेसु वि पंचेन्दियत्तमुक्कोसं ।
तेसु वि अ माणुसत्तं, मणुयत्ते आरिओ देसो ॥३५६॥

भूतेषु—प्राणिषु जङ्गमत्व द्वीन्द्रियादित्वं तेष्वपि पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम्-प्रधानं तेष्वपि पञ्चेन्द्रियेषु मानुषत्वमुत्कृष्टमिति वर्तते मनुजत्वे आर्यो देश उत्कृष्ट इति ।

देसे कुलं पहाणं, कुले पहाणे य जाइ उक्कोसा ।
तीइवि रूवसमिद्धी, रूवे य बलं पहाणयरं ॥ ३५७ ॥

देशे आर्ये कुल प्रधानम् ,उग्रादिकुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा-मातृसमुत्था, तस्यामपि जातौ रूपसमृद्धिरुत्कृष्टा,सकलाङ्गनिष्पत्तिरित्यर्थ., रूपे च सति बल प्रधानतर सामर्थ्यमिति ।

होइ बले वि य जीयं, जीए वि पहाणयं तु विन्नाणं ।
विन्नाणे सम्मत्तं,सम्मत्ते सीलसंपत्ती ॥३५८॥

भवति बलेऽपि च जीवित प्रधानतरमिति योग ,जीवितेऽपि च प्रधानतरं विज्ञान, विज्ञाने सम्यक्त्व क्रिया पूर्ववत् , सम्यक्त्वे शीलसप्राप्ति प्रधानतरेति ।

सीले खाइयभावे, खाइयभावे य केवलं नाणं ।
केवलिए पडिपुन्ने, पत्ते परमक्खरे मुक्खो ॥ ३४९ ॥

शील क्षायिकभाव प्रधान , क्षायिकभावे च केवलज्ञान,प्रतिपदयोजना सर्वत्र कार्येति, कैवल्ये प्रतिपूर्णे प्राप्ते परमाक्षरे मोक्ष इति ।

न य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मुक्खो उवादेओ ॥३६०॥

न च ससारे सुख जातिजरामरणदु खगृहीतस्य जीवस्यास्ति, यस्मादेव तस्मात् मोक्ष उपादेय. ।

किंविशिष्ट इत्याह—

जम्माइदोसरहिओ, अव्वाबाहसुहसंगओ इत्थ ।
तस्साहणसामग्गी, पत्ता य मए बहू इन्हिं ॥३६१॥

जात्यादिदोषरहितोऽव्याबाधसुखसगतोऽत्र (ससारे)तत्साधनसामग्री प्राप्ता च मया बह्वीदानीम् ।

ता इत्थ जं न पत्तं, तयत्थमेवुज्जमं करेमि त्ति ।

विबुहजणनिंदिएणं, किं संसाराऽणुबंधेणं ॥ ३६२ ॥

तदत्र (सामग्र्या) यन्न प्राप्तं तदर्थमेवोद्यमं करोमीति विबुधजननिन्दितेन किं संसारानुबन्धन । इति निगदसिद्धो गाथात्रयार्थः ।

इत्थं चिन्तनफलमाह—

वेरग्गं कम्मक्खय-विसुद्धनाणं च चरणपरिणामो ।

थिरया आउय बोही, इय चिंताए गुणा हुंति ॥३६३॥

इत्थं चिन्तयतो वैराग्यं भवत्यनुभवसिद्धमेवैतत् , तथा कर्मक्षयः तत्त्वचिन्तनेन , प्रतिपक्षत्वात् विशुद्धज्ञानं च निबन्धनहान , चरणपरिणाम प्रशस्ताध्यवसायत्वात् , स्थिरता धर्मे प्रतिपक्षासारदर्शनात् , आयुरिति कदाचित्परभवायुष्कबन्धस्तत्रस्तच्छुभत्वात्सर्वं कल्याणं बोधिरित्य तत्त्वभावनाभ्यासात् । एवं चिन्तायां क्रियमाणायां गुणा भवन्त्येव चिन्तया वेति ।

गोसम्मि पुव्वभणिओ, नवकारेणं विबोहमाईओ ।

इत्थ विही गमणम्मि य, समासओ संपवक्खामि॥३६४॥

गोसे—प्रत्युषसि पूर्वभणितो नमस्कारेण विबोधादि अत्र विधिः इति गमने च समासतः संप्रवक्ष्यामि विधिमिति ।

अहिगरणं खामणं खलु, चेइयसाहूण वंदणं चेव ।

सदेसम्मि विभासा, जइ गिहिगुणदोसविक्खाए ॥३६५॥

अधिकरणक्षामणं खलु मा भूत्तत्र मरणादौ वैरानुबन्ध इति तथा चैत्यसाधूनामेव च वन्दनं नियमतः कुर्यात् गुणदर्शनात्,स्वदेशे विभाषा (यतिगृहिगुणदोषापेक्षयेति) यते स्वदेशको नीयते न सावद्यो गृहस्थस्य इति चैत्यसाधूनां वन्दनं चेति यदुक्तं तद्विस्फारयति ।

साहूण सावगाण य, सामायारी विहारकालम्मि ।

जत्थ त्थि चेइयाइं, वंदावंती तहिं संघ ॥ ३६६ ॥

साधूनां श्रावकाणां चोक्तशब्दार्थानां (२) सामाचारी-व्यवस्था कदा विहरणकाले-विहरणसमये, किं विशिष्टेत्याह—यत्र स्थाने सन्ति चैत्यानि वन्दयन्ति तत्र संघं चतुर्विधमपि प्रणिधानं कृत्वा स्वयमेव वन्दनं इति ।

पढमं तत्तो य पच्छा, वंदंति सयं सिया ण वेल त्ति ।

पढमं चिय पणिहाणं, करंति संघम्मि उवउत्ता ॥३६७॥

प्रथममिति—पूर्वमेव स्वयं वन्दयन्ति ततः पश्चात्स्वयं वन्दनाऽऽचार्यास्ते वन्दन्ते,स्वयम् आत्मना आत्मनिमित्तमिति स्यात् न वेलेति—स्नानादिसमयसार्थगमनादौ तत्रापि प्रथममेव वन्दनप्रणिधानं कुर्वन्ति सर्वविषयमुपयुक्ताः संघं प्रत्येतद्वन्दनं सर्वोऽयं वन्दत इति ।

पच्छाकयपणिहाणा, विहरंता साहुमाइ दट्टूणं ।

जंपंति अमुगठाणे, देवे वंदाविया तुब्भे ॥ ३६८ ॥

पश्चात्तद्वन्दनकाले कृतप्रणिधानाः सन्तस्तदर्थस्य सर्पादिना पीडितस्य स्व साध्वादीन् दृष्ट्वा साधु साध्वीं श्रावकं श्राविकां वा जल्पन्ति व्यक्तं च भणन्ति । किम् अमुकस्थाने—अमुकस्मिन् देवा वन्दिता यूयमिति ।

ते वि य कयंजलिउडा, सद्धासंवेगपुलइयसरीरा ।

अवणामिउत्तमंगा, तं बहु मन्नंति सुहझाणा ॥३६९॥

तेऽपि च साध्वादयः कृताञ्जलिपुटाः रचितकरपुटाञ्जलयः श्रद्धासंवेगपुलकितशरीराः —श्रद्धाप्रधानसंवेगतो रोमाञ्चितवपुषोऽवनामितोत्तमाङ्गाः सन्तस्तद्वन्दनं बहु मन्यन्ते शुभध्यानाः—प्रशस्ताध्यवसायाः ।

इत्युभयोः फलमाह—

तेसिं पणिहाणाओ, इयरेसिं पि य सुभाउ झाणाओ ।

पुन्नं जिणेहिँ भणियं,नो संकमउ त्ति ते मेरा ॥ ३७० ॥

तेषामाद्यानां वन्दननिवेदकानां प्रणिधानात्तथाविधकुशलचित्तादितरेषामपि च वन्द्यमानानां शुभध्यानात्तच्छ्रवणप्रवृत्त्या पुण्यं जिनैर्भणितम्—अर्हद्भिरुक्तं नच संक्रमत इति न निवेदकपुण्यं निवेद्यसंक्रमेण यतश्चैवमतो मर्यादयमवश्यं कार्येति ।

विपर्यये दोषमाह—

जे पुणऽकयपणिहाणा, वंदित्ता नेव वा निवेयंति ।

पच्चक्खमुसावाई,पावा हु जिणेहिँ ते भणिया ॥३७१॥

ये पुनरनाभोगादिनाऽकृतप्रणिधाना वन्दित्वा नैव वा वन्दित्वा निवेदयन्ति अमुकस्थाने देवा वन्दिता यूयमिति प्रत्यक्षमृषावादिनोऽकृतनिवेदनात्पापा एव जिनैस्ते भणिता मृषावादित्वादेवेति ।

जे वि य कयंजलिउडा, सद्धासंवेगपुलइयसरीरा ।

बहु मन्नंति न सम्मं,वंदणगं ते वि पाव त्ति ॥३७२॥

येऽपि च साध्वादयो निवेदिते सति कृताञ्जलिपुटाः श्रद्धासंवेगपुलकितशरीरा इति पूर्ववत् बहु मन्यन्ते न सम्यक् वन्दनकं कुर्वन्ति तेऽपि पापा गुणवति स्थानेऽवज्ञाकरणादिति ।

क्वचिद्वेलाभावेऽपि विधिमाह—

जइ वि न वंदणवेला, तेणाइभएण चेइए तह वि ।

दट्ठूणं पणिहाणं, नवकारेणावि संघम्मि ॥ ३७३ ॥

यद्यपि क्वचित्स्थल्यादौ न वन्दनवेला स्तेनश्वापदादिभयेषु चैत्यानि तथापि दृष्ट्वा अवलोकनानिबन्धनमपि प्रणिधानं नमस्कारेणापि संघ इति संघविषयं कार्यमिति ।

तम्मि य कए समाणे, वंदवणागं निवेइयव्वं ति ।

तयभावम्मि पमादा,दोसो भणिओ जिणिंदेहिं॥३७४॥

तस्मिन्नपि एवंभूते प्रणिधाने कृते सति वन्दनं निवेदयितव्यमेव वस्तुतः संपादितत्वात् , तदभावे तथाविधप्रणिधानाकरणे प्रमादाद्धेतोर्दोषो भणितो जिनेन्द्रैर्विभागायातशक्यकुशलाप्रवृत्तेरिति ।

उपसंहरन्नाह—

एयं सामायारिं, नाऊण विहीइ जे पउंजंति ।

ते हुंति इत्थ कुसला, सेसा सव्वे अकुसला उ ॥३७५॥

एतामनन्तरोदितां सामाचारीं—व्यवस्थां ज्ञात्वा विधिना ये प्रयुञ्जते,यथावद् ये कुर्वन्तीत्यर्थः , ते भवन्त्यत्र विहरणविधौ कुशलाः शेषाः अकुशला एव—अनिपुणा एव तत्त्वेऽपमयुक्ताः संदिष्टवन्दनकवन्दनास्नपनादिदर्शनादिति । श्रा० ।
(श्रावकादिनाश्रित्य ' साधर्मिकवात्सल्य ' शब्दे वक्ष्यते ।)

अथ श्रावकस्य भावगतानि तान्याह—

"भावगयाइँ सत्तरस, मुणिणो एअस्स विंति लिङ्गाइं ।
जाणि अ जिणमयसारा, पुव्वायरिआ जओ आहु ॥ ११ ॥
इत्थि १, दिअ २, त्थ ३, संसा-र ४, विसय ५, आरंभ ६, गेह ७, दंसणओ ८ ।
गड्डरिगाइपवाहे ९, पुरस्सर आगमपवित्ती १० ॥ १२ ॥
दाणाइ जहासत्ती, पवत्तण ११ विहिअ १२ रत्तदुट्ठे अ १३ ।
मज्झत्थ १४ मसंबद्धो १५, परत्थकामोवभोगी अ १६ ॥ १३ ॥
वेसा इव गिहवासं, पालइ १७ सत्तरसपयनिबद्धं तु ।
भावगयभावसावग लक्खणमेअं समासेणं ॥ १४ ॥"

आसां काचिद्व्याख्या-स्त्र्यादिदर्शनान्तपदाष्टकानां द्वन्द्वे सप्तम्यर्थे तसिल् (इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते इति) अथ भाव —स्त्रीवशवर्त्ती न भवेत् १, इन्द्रियाणि विषयेभ्यो निरुणद्धि, २, नानर्थमूलेऽर्थे लुभ्यति ३, संसारे रतिं न करोति ४, विषयेषु न गृद्धिं कुर्यात् ५, तीव्रारम्भं न करोति, करोति चेदनिच्छन्नेव ३, गृहवासे पाशमिव मन्यमानो वसेत् ७, सम्यक्त्वान्न चलति ८, गड्डुरिकप्रवाहं त्यजति ९, आगमपुरस्सरं सर्वा· क्रिया· करोति १०, यथाशक्ति दानादौ प्रवर्त्तते ११, विह्रीको निरवद्यक्रियां कुर्वाणो न लज्जते १२, ससारगतपदार्थेषु अरक्ताद्विष्टो निवसति १३, धर्मादिस्वरूपविचारे मध्यस्थः स्यात्, न तु मया अयं पक्षोऽङ्गीकृत इत्यभिनिवेशी १४, धनस्वजनादिषु सम्बद्धोऽपि क्षणभङ्गुरतां भावयन्नसम्बद्ध इवास्ते १५, परार्थम् अन्यजनदाक्षिण्यादिना भोगोपभोगेषु प्रवर्त्तते, न तु स्वतीव्ररसेन १६, वेश्येव निराशंसो गृहवासं पालयतीति १७ । ध० २ अधि० ।

[श्रमणेभ्य· श्रावकभेद ' सामाइय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत ।] [श्रावकस्य साधो अन्तरम् ' मरण ' शब्दे षष्ठभागे गतम् ।] " एवं व्रतस्थितो भक्त्या, सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन् । दयया चातिदीनेषु, महाश्रावक उच्यते ॥ १ ॥" इति (' महासावग ' शब्दे षष्ठभागे गतम्) । श्रावकस्य एकविंशतिर्गुणास्ते च पूर्वमुक्ता । दर्श० २ तत्त्व ।

श्वापद—पुं० । प्रायो मांसाहारादिविशेषणविशिष्टे व्याघ्रादौ, ज० २ वक्ष० । मकरग्रहादौ, स० । जलचरक्षुद्रसत्त्वे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । सिंहादिषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० म० । व्याघ्रादिषु, स० १ सम० । प्रश्न० ।

सावगकुल-श्रावककुल-न० । श्रावकान्वये, 'धम्माण जिणवरो सव्वकुलाण च सावयकुलाइ स्था० । केइ एगवीसगुणा सावगाण भवंति, तेहिं सावएहि य परंपराए य सावयकुलं भण्णइ ।' अङ्ग० ।

सावगणंदण-श्रावकनन्दन-पुं० । श्रावककुमारे, आ० क० १ अ० ।

सावगदिणकिच्च-श्रावकदिनकृत्य-न० । श्रावकप्रतिदिनाकियामतिपादके स्वनामख्याते ग्रन्थे, ध० २ अधि० । (श्राद्धदिनकृत्यमित्यपरं नामास्य ।)

सावगदिणकिरिया-श्रावकदिनक्रिया-स्त्री० । श्राद्धप्रतिदिनकृत्ये, ध० ।

सांप्रतं मध्याह्नादिविषयं यत्कर्त्तव्यं तद्दर्शयन्नाह—

मध्याह्नेऽर्चा च सत्पात्र-दानपूर्वं तु भोजनम् ।
संवरणकृतिस्तद्विज्ञैः, साधं शास्त्रार्थचिन्तनम् ॥ ६५ ॥

मध्याह्ने—मध्याह्नकाले चः पुनरर्थे पूर्वोक्तविधिना विशिष्य च प्रधानशाल्योदनादिनिष्पन्नविशेषरसवतीढौकनादिना, द्वितीयवारमित्यर्थः । अर्चा—पूजा श्रावकाधिकारप्रस्तावाज्जिनपूजाविशेषतो गृहिधर्मो भवतीत्यन्वयः, एवमग्रेऽपि । तथा सत्पात्रं साध्वादि तस्मिन् दानपूर्वं दानं दत्त्वेत्यर्थ·, भोजनम्-अभ्यवहरणं तुरेवकारार्थस्तेन सत्पात्रदानपूर्वमेव भोजनमिति निष्कर्ष, अन्वयस्तूक्त एव । अत्र च भोजनमित्यनुवादः मध्याह्निकपूजाभोजनयोश्च न कालनियम, तीव्रबुभुक्षोर्हि बुभुक्षाकालो-भोजनकाल इति रूढे, मध्याह्नादर्वागपि गृहीत प्रत्याख्यानं तीरयित्वा देवपूजापूर्वकं भोजनं कुर्वन्न दुष्यति । अत्र चायं विधि -भोजनवेलायां साधूनिमन्त्र्य तै· सह गृहमायाति स्वयमागच्छतो वा मुनीन् दृष्ट्वा सम्मुखगमनादिकं करोति, साधूनां हि प्रतिपत्तिपूर्वकं प्रतिलम्भनं न्याय्यं श्रावकाणां, सा चेत्थं योगशास्त्रे—" अभ्युत्थानं तदा लोके, ऽभियानं च तदागमे । शिरस्यञ्जलिसंश्लेष, स्वयमासनढौकनम् ॥ १ ॥ आसनाभिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम् । तद्याने ऽनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरो ॥ २ ॥ " दिनकृत्येऽपि—"आसणेण निमंतेत्ता, तओ पणिअणसजुओ । वंदए मुणिणो ताहे, पत्ताइगुणसंजुए ॥१॥ " एवं प्रतिपत्तिं विधाय सविनयं संविग्नासंविग्नभावितक्षेत्र १ सुभिक्षदुर्भिक्षादिकाल २ सुलभदुर्लभादिदेयं च द्रव्य ३ विचार्य आचार्योपाध्यायगीतार्थतपस्विबालवृद्धग्लानसहाऽसहादिपुरुषाद्यपेक्षया च स्पर्द्धामहत्त्वमत्सरस्नेहलज्जाभयदाक्षिण्यपरानुवर्तना प्रत्युपकारेच्छामायाविलम्बानादरविप्रियोक्तिपश्चात्तापदीनाननादिदोषवर्जमेकान्तात्मानुग्रहबुद्ध्या द्विचत्वारिंशद्भिक्षादोषाद्यदूषितं निःशेषनिजान्नपानवस्त्रादिभोजनाद्यनुक्रमेण स्वयं दानं दत्ते दापयति वा पार्श्वे स्थित्वा भार्यादिपार्श्वाद् यतो दिनकृत्ये— " देसं खित्तं तु जाणित्ता, अवत्थं पुरिसं तहा । विज्जो व्व रोगिअस्सेव, तओ किरिअं पउंजए ॥ १ ॥ " देशं मगधावन्त्यादि साधुविहारयोग्यायोग्यरूपं १ क्षेत्रं संविग्नैर्भावितमभावितं वा, तुशब्दात्-द्रव्यमिदं सुलभं दुर्लभं वा, अवस्था सुभिक्षदुर्भिक्षादिका पुरुषमाचार्योपाध्यायबालवृद्धग्लानसहाऽसहादिकं च ज्ञात्वा ' विज्जु व्व रोगिअस्स ' त्ति—यथा किल भिषग् देशकालादि विचार्य व्याधिमतश्चिकित्सां करोत्येव श्रावकोऽपि तत· क्रियामाहारादिदानरूपां प्रयुङ्क्त इति तद्वृत्तिः । तत्र च साधूनां यद्योग्य तत्सर्वं विहारयितुं प्रत्यहं नामग्राहं कथयति, अन्यथा प्राक् कृतनिमन्त्रणस्य वैफल्यापत्ते, नामग्राहं कथने तु यदि साधवो न विहरन्ति, तथापि कथयितु पुण्यं स्यादेव, अकथने तु विलोक्यमानमपि साधवो न विहरन्तीति हानि । एवं गुरून्प्रतिलम्भ्य वन्दित्वा च गृहद्वारादि यावदनुव्रज्य च निवर्तेत । साध्वभावे त्वनभ्रवृष्टिवत्साध्वागमनं जातु स्यात्तदा कृतार्थं स्वात्मानं दिगालोकं कुर्यात्, तथा चाहु · ' जं साहूण न दिन्नं, कहिं पि न सावया न भुंजति ।

पत्ते भोयणसमए, वारस्सालोअण कुज्जा ॥ १ ॥"(ध० ।) "भोजनानन्तरं वाम--कटिस्थो घटिकाद्वयम् । शयीत निद्राया हीनम्--यद्वा पदशत, व्रजेत् ॥ १३ ॥" अथो-त्तरार्द्धव्याख्या--'संवरणे' त्यादि भोजनानन्तरं संवरणं-प्रत्याख्यानं दिवसचरमं ग्रन्थिसहितादि वा, तस्य कृति करणं, सति सम्भवे देवगुरुवन्दनपूर्वमित्यनुक्तमप्यवसेयं, यतो दिनकृत्ये--" देवं गुरुं च वन्दित्ता, काउ संवरणं तत्रा " इति। तथा तत-प्रत्याख्यानकरणानन्तर,शास्त्रार्थानां-शास्त्रप्रतिपादितभावानां चिन्तनं--स्मरणं विचारणं वा इदमित्थं भवति नवेति संप्रधारणमिति यावत्. कथं? सार्द्ध-सह कैः तज्ज्ञैः, त शास्त्रार्थं जानन्तीति तज्ज्ञास्तैर्गीतार्थयतिभिः प्रवचनकुशलश्राद्धपुत्रैर्वेत्यर्थः. ' गुरुमुखाच्छ्रुतान्यपि शास्त्रार्थरहस्यानि परिशीलनाविकलानि न चेतसि सुदृढप्रनिष्ठानि भवन्तीति कृत्वा।

संप्रति सन्ध्याविषयं यत्कर्तव्यं तदाह--

सायं पुनर्जिनाभ्यर्चा, प्रतिक्रमणकारिता ।
गुरोर्विश्रामणा चैव, स्वाध्यायकरणं तथा ॥ ६६ ॥

सायं--सन्ध्यासमयेऽन्तर्मुहूर्तादर्वाक् पुनस्तृतीयवार--मित्यर्थः, जिनाभ्यर्चा--देवपूजनं विशेषतो गृहिधर्मे इति संटङ्कः। एवमग्रेऽपि। अत्र चार्थं विशेषः--उत्सर्गतः श्रावकेणैकवारभोजिनैव भाव्यम्, यदभाणि दिनकृत्ये--"उस्सग्गेण तु सड्ढो उ, सचित्ताहारवज्जओ । इक्कासणगभोई अ,बम्भयारि तहेव य ॥१॥' यश्चैकभक्तं कर्तुं न शक्नोति स दिवसस्याष्टमे भागेऽन्तर्मुहूर्तद्वयलक्षणे यामिनीमुखादौ तु रजनीभोजनमहादोषप्रसङ्गादन्तर्मुहूर्तादर्वागेव चैकालिकं करोति, यतो दिनकृत्ये एव--"अह न सक्केइ काउं जो, एगभत्तं जओ गिही। दिवसस्स ऽट्ठमे भागे, तओ भुंजे जुसावओ॥१॥' चैकालिकानन्तरं च यथाशक्ति दिवसचरमं सूर्योद्गमात्तं मुख्यवृत्त्या दिवसे सति द्वितीयपदे रात्रवपि करोति, कृत्वा च सन्ध्यायाम् अर्द्धबिम्बदर्शनादर्वाग् पुनरपि यथाविधि जिनं पूजयति। सा च दीपधूपरूपा-वसेयेति भावः, तथा प्रतिक्रमणस्य सामायिकम् १, चतुर्विंशतिस्तवो २, वन्दनकम् ३, प्रतिक्रमणम् ४, कायोत्सर्ग ५, प्रत्याख्यानं ६ चेति षड्विधावश्यकक्रियालक्षणस्य कारिता-करणम्. विशेषतो गृहिधर्म इति सम्बन्धः। अयं भावः--सन्ध्यायां जिनपूजनानन्तरं श्रावकः साधुपार्श्वे पौषधशालादौ वा गत्वा प्रतिक्रमणं करोति। प्रतिक्रमणशब्दश्चावश्यकविशेषवाच्यपि। अत्र सामान्येन सामायिकादि षड्विधावश्यकक्रियायां रूढः, अध्ययनविशेषवाचिनोऽपि प्रतिक्रमणशब्दस्य नोआगमतो भावनिक्षेपमपेक्ष्य षडावश्यकरूपज्ञानक्रियासमुदायप्रवृत्तत्वविरोधात्। क्रियारूप एकदेशे आगमस्याभावान्नो आगमत्व.नोशब्दस्य देशनिषेधार्थत्वात्, उक्तं च--"किरिआगमो ण होइ तस्स णिसेधम्मि नो त्ति सद्दो त्ति"। तत्र सामायिकमार्त्तरौद्रध्यानपरिहारेण धर्मध्यानकरणेन शत्रुमित्रकाञ्चनादिषु समता, तच्च पूर्वमुक्तं चतुर्विंशतिस्तवः चतुर्विंशतस्तीर्थकराणां नामोत्कीर्तनपूर्वकं गुणकीर्तनं, तस्य च कायोत्सर्गे मनसाऽनुध्यानं शेषकाले व्यक्तवर्णपाठः, अयमपि पूर्वमुक्तः। वन्दनं वन्दनायोग्यानां धर्माचार्याणां पञ्चविंशत्यावश्यकविशुद्धं द्वात्रिंशद्दोषरहितं नमस्करणं तदप्ययुक्तमेव। ध० २ अधि०। (रात्रिकर्त्तव्यं 'सयण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम्।)

अथ निद्रान्ते किं कर्त्तव्यमित्याह--

निद्राच्छेदेऽङ्गनाऽङ्गाना-मशौचादेर्विचिन्तनम् ।
इत्याहोरात्रिकी चर्या, श्रावकाणामुदीरिता ॥ ६८ ॥

तत परिणतायां रात्रौ निद्रायाः छेदे--नाशे सत्यनादिभवाभ्यासरसोल्लसद्दुर्जयकामरागजयार्थम् अङ्गना स्त्रियस्तासामङ्गानां--शरीराणां यदशौचम्-अपावित्र्यं तस्य विचिन्तनं--विशेषेण विचारणम्, आदिशब्दात्--जम्बूस्वामीस्थूलभद्रादिमहर्षिसुश्राद्धादिदुष्पालनशीलपालनपवित्रचरित्रकषायजयोपायभवस्थितिदुःस्थताधर्ममनोरथानां ग्रहणम् एषामपि चिन्तनमित्यर्थः, तद्विशेषतो गृहिधर्मो भवतीत्यन्वयः। ध० २ अधि०।

अगारिसामाइयङ्गाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगराई न हावए ॥ २३ ॥

अगारी--गृहस्थः सामायिकाङ्गानि सामायिकस्य अङ्गानि सामायिकाङ्गानि निःशङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितनिर्विचिकित्सितामूढदृष्टिप्रमुखाणि कायेन स्पृशति, कीदृशः सन् श्रद्धी-श्रद्धावान् सन् पुनर्गृहस्थ उभयोः-शुक्लकृष्णपक्षयोः पौषधं सेवते चतुर्दशीपूर्णिमाष्टम्यादिषु पौषधम्-आहारपौषधादिकं कुर्यात् एकरात्रिमपि--एकदिनमपि न हापयेत्--न हानिं कुर्यादित्यर्थः। रात्रिग्रहणं दिवाव्याकुलतया रात्रौ अपि पौषधं कुर्यात्। चेत् एवं न स्यात् तदा चतुर्दशी अष्टमी उद्दिष्टा महाकल्याणकपूर्णिमा चतुर्मासकत्रयस्य दिवसे पौषधं कुर्यात्। सामायिकाङ्गत्वेनैव सिद्धे भेदेनोपादानमादरख्यापनार्थम्। उत्त० ५ अ०।

सावगधम्म-श्रावकधर्म-पुं०। श्रावकाणामुक्तशब्दार्थानां दुर्गतिनिपतज्जन्तुधरणप्रवणशुभपरिणामस्तत्पूर्वकमनुष्ठानं श्रावकधर्मः। पञ्चा० १ विव०। आव०। सम्यक्त्वमूलेऽणुव्रतशिक्षाव्रतगुणव्रतरूपे गृहिधर्मे अणुव्रताद्युपासकप्रतिमागतक्रियासाध्ये, ल०। ध०। श्र०। पञ्चा०।

साम्प्रतं द्वादशविधं श्रावकधर्ममुपन्यस्यन्नाह--

पञ्चेवऽणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइं चउरो, सावगधम्मो दुवालसहा ॥ ६ ॥

पञ्चेति सङ्ख्या। एवकारोऽवधारणे। पञ्चैव न चत्वारि षड्वा। अणूनि च तानि व्रतानि चाणुव्रतानि महाव्रतापेक्षया-चाणुत्वमिति, स्थूलप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपाणीत्यर्थः। गुणव्रतानि च भवन्ति त्रीण्येव न न्यूनाधिकानि वा। अणुव्रतानामेवोत्तरगुणभूतानि व्रतानि गुणव्रतानि दिग्व्रतभोगोपभोगपरिमाणकरणानर्थदण्डविरतिलक्षणानि, एतानि च भवन्ति त्रीण्येव। शिक्षापदानि च शिक्षाव्रतानि वा, तत्र शिक्षा-अभ्यासः स च चारित्रनिबन्धनविशिष्टक्रियाकलापविषयस्तस्य पदानि--स्थानानि तद्विषयाणि वा व्रतानि शिक्षाव्रतानि। एतानि च चत्वारि सामायिकदेशावकाशिकपोषधोपवासातिथिसंविभागाख्यानि। एवं श्रावकधर्मो द्वादशधा--द्वादशप्रकार इति गाथासमासार्थः।

अवयवार्थं तु महता प्रपञ्चेन ग्रन्थकार एव वक्ष्यति ।

तथा चाह—

एयस्स मूलवत्थू , सम्मत्तं तं च गंठिभेयम्मि ।
खयउवसमाइ तिविहं,सुहाय परिणामरूवं तु ॥ ७ ॥

एतस्यानन्तरोपन्यस्तस्य श्रावकधर्मस्य मूलवस्तु सम्यक्त्वम् । वमन्त्यस्मिन्नणुव्रतादयो गुणास्तद्भावभावित्वेनेति वस्तु । मूलभूत च तद्वस्तु च मूलवस्तु किं तत्सम्यक्त्वम् । श्रा० । आव० । (एतानि व्रतानि स्वस्वस्थाने ।) 'इत्थ पुण समणोवासगधम्मे पंच अणुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं आवकहियाइं चत्तारि सिक्खावयाइं इत्तरियाइं, आव० ६ अ० । आ०चू० । ध० र० । ननु धर्मो द्विधा-श्रावकधर्मो, यतिधर्मश्च । तत्राद्योऽविरतविरतश्रावकधर्मभेदात् द्विधा। तत्राविरतश्रावकधर्मस्यान्यत्र "तत्थऽहिगारी अत्थी, समत्थओ जो न सुत्तपडिकुट्ठो । अत्थी उ जो विणीओ, समुट्ठिओ पुच्छमाणो य " ॥ १ ॥ इत्यादिनाऽधिकारी निरूपित ,विरतश्रावकधर्मस्य तु "सपत्तदंसणाइं , पइदियहं जइ जणा सुणेई य । सामायारिं परम, जो खलु त सावय बिंति" ॥२॥तथा-परलोगहिय सम्म, जो जिणवयण सुणेइ उवउत्तो। अइतिव्वकम्मविगमा , उक्कोसो सावगो इत्थ ॥३॥" इत्यादिभिरसाधारणैः श्रावकशब्दप्रवृत्तिहेतुभि सूत्रैरधिकारित्वमुक्तम्। यतिधर्माधिकारिणोऽप्यन्यत्रैवमुक्ता., नयथा—

पव्वज्जाए अरिहा, आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना।
जाइकुलेहिँ विसिट्ठा , तह खीणप्पा य कम्ममला ॥ १ ॥
तत्तो य विमलबुद्धी, दुलहं मणुयत्तणं भवसमुद्दे ।
जम्मो मरणनिमित्त, चवलाओ संपयाओ य ॥ २ ॥
विसया य दुक्खहेऊ , संजोगे नियमओ विओगु त्ति
पइसमयमेव मरण , इत्थ विवागो य अइरुद्दो ॥ ३ ॥
एव पयईए चिय , अवगयससारनिग्गुणसहावा ।
तत्तो य तव्विरत्ता , पयणुकसायप्पहासा य ॥ ४ ॥
सुकयन्नुया विणीया , रायाईणमविरुद्धकारी य ।
कल्लाणगा सड्ढा, थिरा तहा समुवसम्पन्ना ॥ ५ ॥ '

इत्यादि । तदेभिरेकविंशत्या गुणैः कतमस्य धर्मस्याधिकारित्वमुक्तमिति ?, अत्रोच्यते—एतानि सर्वाण्यपि शास्त्रान्तरीयाणि लक्षणानि प्रायेण तत्तद्गुणस्याङ्गभूतानि वर्त्तन्ते, चित्रस्य वर्णकशुद्धिविचित्रवर्णता—संख्याशुद्धिनानाभावप्रतीतिवत् , प्रकृतगुणा. पुन. सर्वधर्माणा साधारणा भूमिकेव चित्रप्रकाराणामिति सूक्ष्मबुद्धया परिभावनीयम् । वक्ष्यति च-' दुविह पि धम्मरयण , तरइ नरो घित्तुमविगलसोउ । जस्सेगवीसगुणरय—ण संपया सुत्थिया अत्थि ॥ ६ ॥ " (त्ति) ।

अत एवाह—

सइ एयम्मि गुणोहे, संजायइ भावसावगत्तं पि ।
तस्स पुण लक्खणाइं, एयाइं भणंति सुहगुरुणो ॥२२॥

सति विद्यमाने एतस्मिन्ननन्तरोक्ते गुणौघे सजायते-सम्भवति भावश्रावकत्वमपि—दूरे तावद् भावयतित्वमित्यपेरर्थ । आह—किमन्यदपि श्रावकत्वमस्ति , येनैवमुच्यते भावश्रावकत्वमिति ?, सत्यम्—इह जिनागमे सर्वेऽपि भावाश्चतुर्विधा एव , " नामस्थापनाद्रव्यभावैस्तन्न्यास " इति वचनात् ,तथाहि—नामश्रावक , सचेतनाचेतनस्य पदार्थस्य यत् श्रावक इति नाम क्रियते ।स्थापनाश्रावकश्चित्रपुस्त(का)-कर्मादिगत. । द्रव्यश्रावको ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो देवगुरुतत्त्वादिश्रद्धानविकलस्तथाविधाऽऽजीविकाहेतो श्रावकाकारधारकश्च । भावश्रावकस्तु—" श्रद्धालुता श्राति शृणोति शासनं, दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम् । कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयम, त श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणा ॥ १ ॥" इत्यादिश्रावकशब्दार्थधारी यथाविधि श्रावकोचितव्यापारपरायणो वक्ष्यमाण —स चेहाधिकृत —शेषत्रयस्य स्यात्कथञ्चिदेव भावादिति । ननु—आगमेऽन्यथा श्रावकभेदा श्रूयन्त-यदुक्त श्रीस्थानाङ्गे—' चउव्विहा समणोवासगा पन्नत्ता , त जहा—अम्मापिइसमाणे , भायसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे । अहवा-चउव्विहा समणोवासगा पन्नत्ता , तं जहा-आयससमाणे पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरटसमाणे" एते च साधूनाश्रित्य द्रष्टव्या । तं चामीषा चतुर्णा मध्ये कस्मिन्नवतरन्तीति ?, उच्यते-व्यवहारनयमतेन भावश्रावका एवैते तथा व्यवह्रियमाणत्वात् , निश्चयनयमतेन पुन सपत्नीखरण्टसमानौ मिथ्यादृष्टिप्रायौ द्रव्यश्रावकौ,शेषास्तु भावश्रावका । तथाहि-तेषां सरूपमेवमागमे व्याख्यायते—

"चिंतइ जइ कज्जाइं, न दिट्ठखलिओ वि होइ निन्नेहो ।
एगतवच्छलो जइ-जणस्स जणणीसमो सड्ढो ॥ १ ॥
हियए ससिणेहो चिय, मुणीण मंदायरो विणयकम्मे ।
भाइसमो साहूणं, पराभवे होइ सुसहाओ ॥ २ ॥
मित्तसमाणो माणा, ईसिं रूसइ अपुच्छिओ कज्जे ।
मन्नंतो अप्पाण, मुणीण सयणाउ अब्भहिय ॥ ३ ॥
थद्धो छिद्दप्पेही. पमायखलियाणि निच्चमुच्चरइ ।
सड्ढो सवत्तिकप्पो, साहुजण तणसमं गणइ ॥ ४ ॥"

तथा द्वितीयचतुष्के—

गुरुभणिओ सुत्तत्थो, बिंबिज्जइ अवितहो मणे जस्स ।
सा आयससमाणो, सुसावओ वन्निओ समए ॥ १ ॥
पवणेण पडागा इव, भामिज्जइ जो जणेण मूढेण ।
अविणिच्छियगुरुवयणो, सो होइ पडाइयातुल्लो ॥ २ ॥
पडिवन्नमसग्गाहं, न मुयइ गीयत्थसमणुसिट्ठो वि ।
थाणुसमाणो एसो, अपओसियमुणिजणे नवर ॥ ३ ॥
उम्मग्गदेसओ नि-ण्हवो सि मूढो सि मंदधम्मो सि ।
इइ सम्म पि कहंत, खरंटए सो खरंटसमो ॥ ४ ॥
जह सिढिलमसुइदव्वं, छुप्पंत पि हु नरं खरंटइ ।
एवमणुसासग पि हु, दूसंतो भन्नइ खरंटो ॥ ५ ॥
निच्छयओ मिच्छत्ती, खरंटतुल्लो सवत्तितुल्लो वि ।
ववहारओ उ सड्ढा, वयंति जं जिणगिहाईसु ॥ ६ ॥"

इत्यलमतिप्रसङ्गेन तस्य पुनर्भावश्रावकस्य लक्षणानि चिह्नान्येतानि वक्ष्यमाणानि भणन्ति—अभिदधति—शुभगुरव. सविग्नसूरय इति । ध० र० १ अधि० । ध० । (' णालदइज ' शब्दे चतुर्थभागे २०१३ पृष्ठे श्रावकगतविधिरुक्त ।) जिनवल्लभसूरिकृतप्रकृतालापकरूपदीपालिकाकल्पे लिखितमस्ति ' पडिमारूवो सावगधम्मो वुच्छिज्जिस्सइ' इति, तेन तत्रत्यपुस्तकेष्वय पाठोऽस्ति न वा ? इति प्रश्न ,अत्रोत्तरम्-जिनवल्लभसूरिकृत आलपकरूपो दी-

सावज्जचागरूव–सावद्यत्यागरूप–त्रि० । निखिलसपापव्यापारपरिहारस्वभावे, पञ्चा० ५ विव० ।

सावज्जजोग–सावद्ययोग–पुं० । सकलनिन्द्यकर्मणि, ध० ३ अधि० । आ० म० ।

साम्प्रतं सावद्यावयवव्याख्यानार्थमाह–

कम्ममवज्जं ज गर–हियं ति कोहाइणो व चत्तारि ।
सह तेहिं जो उ जोगो, पच्चक्खाणं भवइ तस्स ॥

कर्म–अनुष्ठानमवद्यं भण्यते, किमविशेषेण ?, नेत्याह–यत् गर्हितमिति यन्निन्द्यमित्यर्थः । अथवा–क्रोधादयश्चत्वारोऽवद्य तेषां सर्वावद्यहेतुतया कारणे कार्योपचारात् सह तेनावद्येन यो योगो व्यापारस्तस्य सावद्ययोगस्य प्रत्याख्यानं निषेधलक्षणं भवति । पाठान्तरम्–'कम्म वज्जं ज गरहियं'ति–तत्र वृजी' वर्जने, वृज्यते इति वर्ज्यं वर्जनीयं त्यजनीयमित्यर्थः, शेषं पूर्ववत्, नवरं सह वर्ज्येन सवर्ज्जं प्राकृतत्वात् सकारस्य दीर्घत्वे सावर्ज्जमिति भवति । आ० म० १ अ० ।

सावज्जजोगपरिवज्जणा–सावद्ययोगपरिवर्जना–स्त्री० । सपापव्यापारपरिहारनिरवद्ययोगासेवायाम्, पञ्चा० १० विव० ।

सावज्जबहुल–सावद्यबहुल–त्रि० । पापभूयिष्ठे, दश० ६ अ० ।

सावज्जा–सावद्या–स्त्री० । श्रमणसाधुनिश्राभेदेन सपापायां वसतौ, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० । ('वसहि' शब्दे षष्ठभागे सूत्रमुक्तम् ।)

सावज्जायरिय–सावद्याचार्य–पुं० । कुवलयप्रभाचार्ये, ग० । श्रीमहानिशीथपञ्चमाध्ययनोक्तसावद्याचार्यस्यैव ज्ञेयम् । तथाहि–अस्या ऋषभादिचतुर्विंशतिकाया प्रागनन्तकालेन याऽतीता चतुर्विंशतिका, तस्यां मत्सदृश सप्तहस्ततनुर्धर्मश्रीनामा चरमतीर्थङ्करो बभूव । तस्मिंश्च तीर्थकरे सप्ताश्चर्याणि अभूवन् । असंयतपूजायां प्रवृत्तायामनेके श्राद्धेभ्यो गृहीतद्रव्येण स्वस्वकारितचैत्यनिवासिनोऽभूवन् । तत्रैको मरकतच्छवि कुवलयप्रभनामाऽनगारो महातपस्वी उग्रविहारी शिष्यगणपरिवृत समागात् । तैर्वन्दित्वोक्तम्–अत्रैकं वर्षारात्रिकं चातुर्मासिकं तिष्ठ, यथा त्वदीयाज्ञयाऽनेके चैत्यालया भवन्ति, कुर्वस्माकमनुग्रहम् । तेनोक्तम्–सावद्यमिदं नाहं वाङ्मात्रेणापि कुर्वे । तदेवमनेन भणता तेन तीर्थकृन्नामकर्मार्जितम् । एकभवावशेषीकृतश्च भवोदधिः । ततस्तैः सर्वैरेकमतं कृत्वा तस्य सावद्याचार्य इति नाम दत्तं प्रसिद्धिं नीतं च । तथाऽपि तस्य तेष्वीषदपि कोपो नाभूत् । अन्यदा तेषां लिङ्गमात्रप्रव्रजितानां मिथ आगमविचारो बभूव । यथा श्राद्धानामभावे संयता एव मठदेवकुलानि रक्षन्ति पतितानि च समारचयन्ति । अन्यदपि यत्तत्र करणीयं तस्यापि करणे न दोषः । केऽप्याहुः–संयमो मोक्षनेता, केचिद् ऊचुः–प्रासादावतंसकपूजासत्कारबलिविधानादिना तीर्थोत्सर्पणेनैव मोक्षगमनम् । एवं तेषां यथेच्छं प्रलपतां विवादेऽन्य आगमकुशलो नास्ति कोऽपि यो विवादं भनक्ति । सर्वैः सावद्याचार्य एव प्रमाणीकृत आकारितो दूरदेशात्सर्वाभिर्मार्गैर्विहरन् समागात् । एकयाऽऽर्यया श्रद्धावशात् प्रदक्षिणीकृत्य झगिति मस्तकेन पादौ संघट्टयन्त्या ववन्दे दृष्टस्तैर्वन्द्यमानः । अन्यदा स तेषामग्रे श्रुतार्थकथनेऽस्यैव महानिशीथस्य पञ्चमाध्ययनव्याख्याने आगतेयं गाथा, "जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरिय कारणे वि उप्पन्ने । अरिहा वि करिज्ज सयं, तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥ १ ॥" आत्मशङ्कितेन तेन चिन्तितं साध्वीवन्दनमेतैर्दृष्टमस्ति सावद्याचार्य इति नाम पुराऽपि दत्तम्, साम्प्रतं तु यथार्थकथनेऽन्यदपि किमपि करिष्यन्ति, अन्यथा प्ररूपणे तु महत्याशातना अनन्तसंसारिता च स्याताम्, ततः किं कुर्वे । अथवा–यद् भवति तद्भवतु यथार्थमेव व्याकरोमीति ध्यात्वा व्याख्याता यथार्था गाथा । तैः पापैरुक्तं यद्येवं तत् त्वमपि मूलगुणहीनो यतः साध्व्या वन्द्यमानया भवान् स्पृष्टः, ततोऽयशोभीरुः स दध्यौ किमुत्तरं ददे । आचार्यादिना किमपि पापस्थानं न सेवनीयं त्रिविधं त्रिविधेन, यः सेवते सोऽनन्तसंसारं भ्राम्यति । तैर्विलक्षं दृष्ट्वोचे किं न वदसि । स दध्यौ किं वदामि । ततस्तेन दीर्घसंसारित्वमङ्गीकृत्योक्तम्–अयोग्यस्य श्रुतार्थो न दातव्यः ' आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥ " इत्यादि तैरुक्तम्–किमसम्बद्धं भाषसे, अपसर दृष्टिपथात् । अहो त्वमपि रुषेन प्रमाणीकृतोऽसि । ततस्तेन दीर्घसंसारित्वमङ्गीकृत्योक्तम्, उत्सर्गापवादैरागमः स्थितो यूयं न जानीथ । " एगंतं मिच्छत्तं, जिणाण आणा अणेगंता । " तैर्हृष्टैर्मानितः ततः स प्रशंसितः । स एकवचनदोषेणानन्तसंसारित्वमुपार्ज्याऽप्रतिक्रान्तो मृत्वा व्यन्तरो बभूव ? । ततश्च्युत्वोत्पन्नः प्रोषितपतिकायाः प्रतिवासुदेवपुरोहितदुहितुः कुक्षौ, कुलकलङ्कभीताभ्यां पितृभ्यां निर्विषयीकृता सा क्वापि स्थानमलभमाना दुर्भिक्षे कल्यपालगृहे, दासीत्वेन स्थिता मद्यमांसदोहदोऽस्याः सञ्जातः । बहूनां मद्यपायकानां भाजनैरुच्छिष्टं मद्यमांसं च भुङ्क्ते, कांस्यदूष्यद्रविणानि चोरयित्वाऽन्यत्र विक्रीय मद्यमांसे भुङ्क्ते गृहस्वामिना राज्ञो निवेदितम् । राज्ञा मारणाय प्रसूतिसमयं यावद्रक्षितुमर्पिता चण्डालानाम् । " अप्रसूता न हन्यते " इति तत्कुलधर्मत्वात् । प्रसूता बालकं त्यक्त्वा नष्टा । राज्ञा पञ्चसहस्रद्रविणदानेन बालः पालितः । क्रमात् सूनाधिपतौ मृते राज्ञा स एव तद्गृहस्वामी कृतः पञ्चशतानामीशः २, ततो मृत्वा सप्तमपृथिव्यां ३३ सागरायुः ३, ततः उद्वृत्यान्तर्द्वीपे एकोरुकजातिर्जातः, ४, ततो मृत्वा महिषः २६ वर्षायुः ५, ततो मनुष्यः ६ ततो वासुदेवः ७, ततः सप्तमपृथिव्यां ८, ततो गजकर्णो मनुष्यो मांसाहारी ९, ततो मृत्वा सप्तमपृथिव्यामप्रतिष्ठाने गतः १०, ततो महिषः ११, ततो बालविधवावन्ध्यकीब्राह्मणसुताकुक्षावुत्पन्नः, गर्भशातनपातनक्षारचूर्णयोगैरनेकव्याधिपरिगतो गलत्कुष्ठी–कृमिभिर्भक्ष्यमाणो गर्भान्निर्गतः लोकैर्निन्द्यमानः क्षुधादिपीडितो दुःखी सप्तवर्षशतानि द्वौ मासौ चत्वारि दिनानि जीवित्वा १२ मृतो व्यन्तरेषूत्पन्नः १३ ततः सूनाधिपो मनुष्यः १४, ततः सप्तम्यां १५, ततश्चाक्रिकगृहे वृषभो वाह्यमानः क्वथितस्कन्धो मुक्तो गृहस्वामिना का–

कुक्कुमिश्वानादिभिर्विलुप्यमान २६ वर्षायुर्मृतो १६. बहुव्याधिमानिभ्यपुत्रो वमनविरेचनादिदु खैरेवास्यगतो मनुष्यभव. १७, एवं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं लोक जन्ममरणै परिपूर्य अनन्तकालेनाऽपरविदेहे मनुष्योऽभवत् । तत्र लोकानुवृत्त्या गतस्तीर्थकरवन्दनाय, प्रतिबुद्ध., सिद्ध.। अत्र अयोविंशतितमश्रीपार्श्वजिनस्य काले गौतमोऽप्राक्षीत्-किंनिमित्तमनेन दु खमनुभूतम्?, गौतम! उत्सर्गापवादैराग-गम. इत्यादि यद् भणित तन्निमित्तम्। यद्यपि प्रवचने उत्सर्गापवादौ अनेकान्तश्च प्रज्ञाप्यन्ते, तथापि अप्कायपरिभोगस्तेज कायपरिभोगो मैथुनसेवनं चैकान्तेन निषिद्धानि, इत्थं सूत्रातिक्रमादुन्मार्गप्रकटनं ततश्चाज्ञाभङ्ग., तस्माच्चानन्तसंसारी। गौतमोऽप्राक्षीत्—कि तेन सावद्याचार्येण मैथुनमासेवितम्?, गौतम! नो सेवित नोऽसेवितम्.यतस्तेन वन्दमानार्यास्पर्शे पादौ नाकुञ्चितौ। भगवन्! तेन तीर्थकरनामकर्मार्जितम्। एकभवावशेषीकृतश्चासीद्भवोदधिः, तत्कथमनन्तसंसारं सम्भ्रान्त?गौतम! निजप्रमाददोषात्, यत सिद्धान्तेऽप्युक्तमस्ति—" चोद्दसपुव्वी-आहा-रगा वि मणनाणिवीयरागा य। हुंति पमायपरवसा, तयणंतरमेव चउगइआ॥१॥" इत्यादि। तस्मात् गच्छाधिपतिना सर्वदा सर्वार्थेषु अप्रमत्तेन भाव्यम्। इति पूर्वाचार्यसंस्कृतसावद्याचार्यसम्बन्ध.। ग० १ अधि०।

जहा ण भयवं! जइ तुममिहाइ एकवासारत्तियं चाउम्मासियं पउंजियंताणमिच्छाए अणेगे चेइयालगे भवन्ति, नूणं। तज्झाणत्तीए ता कीरउ अणुग्गहमम्हाणं इहेव चाउम्मासियं। ताहे भणियं तेण महाणुभागेणं, गोयमा! जहा भो भो पियं वए जइ वि जिणालए तहा वि सावज्जमिणं णाहं वायामित्तेणं पि (णायं) आयरिज्जा। एवं च समयसारपरं तत्तं जहट्ठियं अविपरीअं णीसंकं भणमाणेण तेसिं मिच्छदिट्ठिलिंगीणं साहुवेसधारीणं मज्झे गोयमा! आसकलियं तित्थयरनामकम्मगोयं तेणं कुवलयप्पभेणं एगभवावसेसीकओ भवोयही। तत्थ य दिट्ठो अणुल्लविज्ज नाम संघमेलावगो आसि,तेहिं च बहूहिं पावमईहिं लिंगिणियाहिं परोप्परमेगमयं काऊणं गोयमा! तालं दाऊण विप्पलोइयं चेव। ते तस्स महाणुभागसुमहतवस्सिणो कुलयप्पहाभिहाणं, कयं च से सावज्जायरियाभिहाणं सद्दकरणं गयं च पसिद्धीए। एवं स च वदिज्जमाणो वि सो तेणाऽपसत्थसद्दकरणेण तहा वि गोयमा! इसिं पि ण कुप्पो। अहऽन्नया तेसिं दुरायारीणं सद्धम्मपरम्मुहाणं अगारधम्मोऽणगारधम्मोभयट्ठाणं लिंगमेत्तनामपव्वइयाणं संजाओ परोप्परं आगमवियारो। जहा णं सड्ढगाणं असइ संजया चेव भट्ठदेउले पडिजागरेंति। खंडपडिए व समारयंति। अन्नं च जाव करणिज्जं तं पइमसारंभे कज्जमाणे जइस्सऽवि णं नत्थि दोससंभवं

एवं च केइ भणंति-संजमं मोक्खनेयारं। अन्ने भणंति जहा णं पासायवडिसए पूयासक्कारबलिविहाणाइसु णं तित्थत्थापणाए चेव मोक्खगमणं। एवं तेसिमविइयपरमत्थाणं पावकम्माणं जं जं सिद्धंता तं चेव मुद्धा मुक्खलक्खणं मुहेणं पलवंति। ताहे समुट्ठियं वादसंघट्ट तत्थ य कोइ नत्थि आगमकुसलो तेसिं मज्झे। जो तत्थ जुत्तं वियारेइ, जो पमाणमुवइस्सइ। तहा एगे भणंति जहा अमुगो अमुगगच्छम्मि चिट्ठइ अन्ने भणंति-अमुगो, अन्ने भणंति किमित्थ बहुणा पलविएणं सव्वेसिं अम्हाणं सावज्जायरिओ एत्थ पमाणं ति तेहिं भणियं जहा एवं होउ त्ति हक्काराविहं लहुं। तओ हक्काराविओ गोयमा! सो तेहिं सावज्जायरिओ आगओ दूरदेसाओ अप्पडिबद्धत्ताए विहरमाणो सत्तहिं मासेहिं। जाव णं दिट्ठो एगाए अज्जाए। सा य तं कट्ठुग्गतवच्चरणमोसियसरीरं चम्मट्ठिसेसतणुं अचंतं तवसिरीए दिप्पंतं सावज्जायरिय पेच्छिय सुविम्हियतक्करणा विउक्किउं पपन्ना। अहो किं एस महाणुभागो णं सो अरहा, किं वा णं धम्मो चेव मुत्तिमंतो, कि बहुणा तियसिंदवंदाणं पि वंदणिज्जो पायजुओ एस त्ति चिंतिऊणं भत्तिभरनिब्भरा आयाहिणं पयाहिणं काऊणं उत्तिमंगेणं संघट्टमाणी झगिति निवडिया चलणेसु। गोयमा! तस्स णं सावज्जायरियस्स दिट्ठो य सो तेहिं दुरायारेहिं पणमिज्जमाणो। अन्नया णं सो तेसिं तत्थ जहा जगगुरूहिं उवइट्ठं तहा चेव गुरूवएसाणुसारेणं आणुपुव्वीए जहट्ठियं सुत्तत्थं वागरेइ ते वि तहा चेव सद्दहंति अन्नया ताव वागरियं गोयमा! जाव णं एक्कारसण्हमंगाणं चोद्दसण्हपुव्वाणं दुवालसंगस्स णं सुयनाणस्स णवणीयसारभूयं सयलपावपरिहारऽट्ठकम्मनिम्महणं आगयं इणामेव गच्छमेरापवत्ताणं महानिसीहसुयक्खंधस्स पंचमं अज्झयणं। अत्थेव गोयमा! ताव णं वक्खाणियं जाव णं आगया इमा गाहा—" जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने। अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूलगुणमुक्कं॥१॥" तओ गोयमा! अप्पसंकिएणं चेव चिंतियं तेण सावज्जायरिएणं। जइ इह एयं जहट्ठियं पन्नवेमि तओ जं मम वंदणगं दाउमाणीए तीए अज्जाए उत्तिमंगेण चलणगे पुट्ठे तं सव्वेहिं पि दिट्ठा इमेहिं ति। ता जहा मम सावज्जायरियाभिहाणं कयं तहा अन्नमवि किं चि एत्थ मद्दं किं काहंति। अह अन्नहा सुत्तत्थं पन्नवेमि ता ण महती आसायणा; तो किं करियव्वमेत्थ त्ति, किं एयं गाहं एव उवचयामि, किं वा णं अन्नहा पन्नवेमि। अहवा- हा हा ण-

१-' निजपुत्तो ' इति महानिशीथे।

हरमाणीएसु दट्ठूणं च बहुमज्जपाणगे मज्जमापिवमाणा पोग्गलं च समुद्दिसंते तहेव तीए मज्जमंसस्सोवरिं दोहलगं समुप्पन्नं जाव णं जं तं बहुमज्जपाणगं नडनट्टछत्तवारणं भंडोड्डावेउ तक्करमरिसजातीसु मुज्झियं खुरसीसपुंछकन्नट्ठि-यमयगयं उच्छिट्टं वच्छरखंडं तं समुद्दिसितुं समारद्धा । ताहे तेसु चेव उच्छिट्ठकोडियगेसु जं किंचि वि णाहीए मज्झं विव-क्केइ तमेव मोइउमारद्धा । एवं च कइवयदिणाडक्कमेणं मज्ज-मंसस्सोवरिं दढं गेही संजाया । ताहे तस्सेव रसवाणिज्जगस्स गेहाओ परिमुसिऊणं किंचि वि कंसदूसदविणजायं अन्न-त्थ विक्किणिऊणं मज्जं मंसं परिभुंजइ । तं च णं विन्नायं तेण रसवाणिज्जगेण, साहियं च नरवइणो, तेणावि वज्झा समाइट्ठा । तत्थ य राउले एमो गोयमा ! कुलधम्मो- "जहा णं जा काइ आवन्नसत्ता नारी अवराहदोसेणं सा जाव णं नो पसूया ताव णं नो वावाएयव्वा" । तेहि वि णिउत्तगणिगिंतगेहिं सगेहे नेऊण पसूइसमयं जाव णियंति-ए रक्खेयव्वा । अहऽन्नया णीया तेहिं हरिए सजाईहिं स-गेहिं कालक्कमेण पसूया य दारगं तं सावज्जायरियजीवं । तओ पसूयमेत्ता चेव तं बालयं उज्झिऊण पणट्ठा मरण-भयद्दिया सा गोयमा ! दिसिमेक्कं गंतूणं वियाणियं च तेहिं पावेहिं, जहा पणट्ठा सा पावकम्मा साहियं च नरवइणो सूणाहिवइणा । जहा णं देव ! पणट्ठा सा दुरायारा कय-लीगब्भोवमं दारगं उज्झिऊणं । रन्ना वि पडिभणियं । जहा णं जइ नाम मा गया ता गच्छउ तं बालगं पडिवालेज्जासु सव्वहा तहा कायव्वं जहा तं बालगं ण वावज्जे, गि-ण्हेतु इमं पंचसहस्सा दविणजाइं । तओ नरवइणो संदेसेणं सुयमिव परिवालिओ सो पांसुलीतणओ । अ-न्नया कालक्कमेणं मओ सो पावकम्मो सुणाहिवई । तओ रन्ना समणुजाणिउं तस्सेव बालगस्स घरसारकरो पंच-ण्हं सयाणं अहिवई । तत्थ य सूणाहिवइपइट्ठिओ समाणो ताइं तारिसाइं अकरणिज्जाइं समणुट्ठिताणं तओ सो गोयमा ! सत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणनामे निरयावासे सावज्जायरियजीवो । एवं तं तत्थ तारिसं घोरपयंडरोद्दं सुदारुणं दुक्खं तित्तीसं ३३ सागरोवमं जाव कहवि तेसेणं समणुभविऊणं इहागओ समाणो उववन्नो अंतरदीवे ए-गोरुयजाई । तओ वि मरिऊण उववन्नो तिरियजोणीए महिसत्ताए, तत्थ य जाइं काइं वि णारगदुक्खाइं तेसिं तु सरिसनामाइं अणुभविऊणं छव्वीसं संवच्छराणि तओ गोयमा ! मओ समाणो उववन्नो मणुएसु । तओ वासुदे-वत्ताए सो सावज्जायरियजीवो । तत्थ वि अहाउयं परिवा-लिऊणं अणेगसंगामारंभपरिग्गहदोसेणं मरिऊण गओ स-त्तमाए । तओ वि उव्वट्टिऊणं सुइरकालाओ उववन्नो ग-यकन्नो नाम मणुयजाई । तओ वि उव्वट्टिऊणं पुणो वि उववन्नो तिरिएसु महिसत्ताए, तत्थ वि णं नरगोवमं दु-क्खमणुभवित्ता णं मओ समाणो उववन्नो बालविहवाए पुंसलीए माहणधूयाए कुच्छिंसि । अहऽन्नया निउत्तपच्छ-न्नगब्भसाडणपाडणक्खारचुन्नजोगदोसेणं अणेगवाहिवे-यणापरिगयसरीरो सिडिहडंतकुट्ठवाहीए परिगलमाणो सलसलिंतकिमिजालेणं खज्जंतो नीहरिओ निरओवम-घोरदुक्खनिवासाओ गब्भवासाओ, गोयमा ! सो सावज्जायरियजीवो तओ सव्वलोगेहिं निंदिज्जमाणो गरहिज्जमाणो खिंसिज्जमाणो दुगुंछिज्जमाणो सव्वलो-गपाणखाणभोगोवभोगपरिवज्जिओ गब्भवासपभितीए चे-व विचित्तसारीरमाणसिगघोरदुक्खसंतत्तो सत्त संवच्छर-सयाइं दो य मासे चउरो दिणे य जाव जीवि-ऊणं मओ समाणो उववन्नो वाणमंतरेसु, तओ य उववन्नो मणुएसु, पुणो वि सूणाहिवइत्ताए, तओ वि तक्कम्मदोसेणं सत्तमाए, तओ वि उव्व-ट्टिऊणं उववन्नो तिरिएसुं चक्कियघरंसि गोणत्ताए । तत्थ य चक्कमगडलंगलपट्टणेण अह तिसंझं वारोवणेणं पक्कि-ऊण कुहियाउच्छियखंधं समुट्ठिए य किमी ताहे, अक्खम-मीहूयं खंधं जूवधरणस्स विन्नाय पिट्ठीए वाहउम रद्धो तेणं चक्किएणं । अहऽन्नया कालक्कमेणं जहा खंधं तहा कुच्छिऊ-ण कुहयपिट्ठी तत्थ वि समुट्ठिए किसी सडिऊण धिगयं च पिट्ठिचम्मं तावि परं निप्पओयणं ति णाऊण मोकलियं । गोयमा ! तेणं चक्किएणं तेसल्लं सत्तकिमिजालेहिं णं ध-ज्जमाणं सावज्जायरियजीवं । तओ मोकलिओ समाणो पडिस-डियचम्मो बहुकायमाणं किमिकुलेहिं सवज्झब्भंतरो धि-लुप्पमाणो एक्कूणतीसं संवच्छराइं जाव अहाउगं परिवाले-ऊण मओ समाणो उप्पन्नो अणेगवाहिवेयणापरिगयसरी-रो मणुएसु महाधणस्स णं विज्जगेहे । तत्थ य वमणविरे-यणखारकडुतित्तकसायतिहलागुग्गुलकाढगेआवीयमाणस्स निच्चविसोसिराहिं च असज्झाणुवसमे घोरदारुणदुक्खेहिं पज्जालियस्सेव । गोयमा ! गओ निप्फलो तस्स म-णुयजम्मो । एवं च गोयमा ! सो सावज्जायरियजीवो चोद्दसरज्जुयलोगं जम्मणमरणेहिं णं निरंतरं पडिऊणं सुदीहाणंतकालाओ समुप्पन्नो मणुयत्ताए अवरविदेहे । तत्थ य भागवसेण लोगाणुवत्तीए गओ तित्थयरस्स वंद-णवत्तियाए पडिबुद्धो य पव्वइओ सिद्धो य । इह तेवीसइ-

मतित्थयरसासणस्स काले । एयं च गोयमा ! सावज्जायरिएणं पाविय । महा० ५ अ० ।

सावण-श्रावण-त्रि० । श्रवणं वर्णादिकरणीय, पं० ११ द्वा० । आव० । श्रोत्रेन्द्रियजे ज्ञाने, नपुं० । द्वा० २६ द्वा० । श्रवणयुक्तपौर्णमासीघटिते मासे, पुं० । ज्यो० १ पाहु० ।

सावणमास-श्रावणमास-पुं० । त्रिंशद्रात्रिन्दिवात्मके कर्ममासे, ज्यो० १ पाहु० ।

सावणसंवच्छर-श्रावणसंवत्सर-पुं० । ऋतुसंवत्सरे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सावतेय-स्वापतेय-न० । गुप्ते द्रव्यजाते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

सावत्थिया-श्रावस्तिका-स्त्री० । उडुपाटिकगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सावत्थी-श्रावस्ती-स्त्री० । कुणालजनपदप्रधाननगर्याम्, प्रज्ञा० १ पद । भ० । ज्ञा० । पञ्च श्रावस्त्याम् । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । प्रव० । उत्त० । ज्ञा० । आव० । भ० । स्था० । आ० क० । आ० म० ।

दुहसरियतरणवत्थी, सावत्थी सयलसुक्खपसवत्थी ।
नमिऊण संभवजिणं, तीसे कप्पमि कप्पलव ॥ १ ॥

अत्थि इहेव दाहिणड्ढभारहे वासे अउज्झाजणवयकुणालाविसए सावत्थीनाम नयरी, संपइ काले महेठिति रूढा जत्थ अज्ज वि घणवणगहणमज्झट्ठियसिरिसंभवनाहपडिमाविभूसियं गयणग्गलग्गसिहरं पासट्ठियजिणबिंबमंडियदेवउलियाअलंकरियं जिणभवणं चिट्ठइ पायारपरियरियं । तस्स चेइयस्स दुवारे अदूरसामंते विसालसाहोवसोहिओ अतुच्छपल्लवसिरिगिहं रत्तासोअपायवो दीसइ । तस्स य जिणभवणस्स पउलीए जे कवाडसंपुडा आसि ते माणिभद्दजक्खाणुभावाओ सूरिए अत्थमिते सयमेव लग्गति स्म, उदिए य दिणयरे सयमेव उग्घटंति स्म । कलिकालदुल्ललियवसेण अल्लावदीणसुरत्ताणस्स मल्लिक्केण हब्बसनामेण 'बहराइच्च' नगराओ आगंतूण पायारभित्तिकवाडाइं विहाडियाणि अ भग्गाणि, अप्पभावा हि भवंति दूसमाए अहिट्ठायगा । तहा तस्सेव चेइयस्स सिहरे जत्तागयसंघेण कीरमाणे ण्हवणाइमहूसवे आगंतूण एगो चित्तगो उवविसइ । न य कस्स वि भयं जणइ । जाव मंगलपईवकए सट्ठाणमुवगच्छइ त्ति इत्थेव नयरीए उच्चाययणं चिट्ठइ जत्थ समुद्दवंसीया राया दाणिविक्कलसंभूया राया णो बुद्धभत्ता अज्ज वि नियदेवयस्स पुरओ महग्घमुल्लं पल्लाणीयं अलंकिय विभूसियं महाआसं ढोअंति । 'अंगुलीविज्जा' य इत्थेव बुद्धेण सप्पयासिया महप्पभावा । इत्थेव निप्पज्जति नाणाविहा साली । जंमि सव्वसालिजाईण इक्किके कणीसे निरिक्खमाणे आसिद्धं भरिज्जइ महंत कोट्ठयं । इत्थेव भयवं संभवसामिणो चवणजम्मणकेवलनाणुप्पत्तिकल्लाणगाइं सुरासुरनरसयणमणरंजणाइं अकारि । कोसंबीपुरीए उप्पन्नो जियसत्तुनिवसमाभिरयकासवपुत्तो, जस्स कुरुच्छभूओ कविलो महरिसी, जाणयम्मि विवन्ने विज्जाअहिज्जणत्थं एयं नयरिं समागओ विउमि तहत्ति इंददत्तउवज्झायस्स पासे । सालिभद्दइब्भपत्ती पवसंत गाणं सुवण्णदुगलक्खणत्थं रयणीए पच्छिमजामे घरनिग्गओ तया हिं उप्पण्णकेवलनाणो जाओ । पच्छिमदिसिं पवन्नस्स अज्जधम्मस्स संखित्तं अ । इस्सरो य अम्हुत्तो पयसुज्जाणि पुरिसयणसमाप्पा जिणाविहग्गयपुत्तो पाडलानपुजसाठिओ ... इत्थेव विराहिऊण ... संबुद्धो अ ... इत्थेव जियसत्तुपुत्तो महाउबुज्झिअ ... सत्तुपुत्तो भद्दनामा ... इत्थेव जियसत्तुराया गोयमसामिणा पुट्ठओ ... इह नयरीए संखमहासयगो । हत्थिंगणो गोयमसामी ... गोसालो ... इत्थेव खंदगकुमारो अजियसंति ... जाया । इत्थेव खंदयकुमारो अजियसेणराय...धारिणीसुओ खंदकायरियपुत्तो ... इत्थेव मगहरायापुत्तो ... इत्थेव जियसत्तुस्स ... तेणं नयरी सोहग्गाइविभूमि त्ति ।

"सावत्थिमहातित्थस्स कप्पमेयं पढंतु निउणजणा ।
जिणपवयणभत्तीए इय भणइ जिणप्पहो सूरी ॥ १ ॥"
इति श्रीश्रावस्तीकल्पः । ती० ३९ कल्प ।

सावयगुण-श्रावकगुण-पुं० । अक्षुद्रत्वादिषु श्राद्धगुणेषु, "धम्मरयणस्स जुग्गो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोम्मो । लोगप्पिओ अकूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो ॥ १ ॥ लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोमदिट्ठिगुणरागी । सक्कह सुपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥२॥" ध० र० १ अधि० १ गुण ।

सावसलोणी-स(श्यो)ऽलावण्य-स्त्री० । सर्वांशैर्लावण्ययुक्तायाम्, 'सावसलोणी गारडी, नवखी कवि विसगंठि । भड-पचलिआ सो मरइ, जासु न लग्गइ कंठि ॥१॥' सर्वसलावण्यः काऽपि नवीना विषग्रन्थिः यस्य कण्ठे न लगति स भट कामुक प्रत्युत सम्मुखं म्रियत इत्यर्थः । प्रत्युतेत्यस्य स्थानेऽनेन पचलियाऽऽदेशः । प्रा० ढु० ४ पाद ।

सावसेस-सावशेष-त्रि० । अनस्तमितं, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । प्रश्न० ।

सावा शाखा-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीविशेषे, जी० २ प्रति० ।

सावासग-स्वावासक-पुं० । स्वनीडे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

सावित-श्रावयत्-त्रि० । इह चेद् भविष्यतीत्येवभूतवचासि श्रवणपथमानयति, भ० ६ श० ३३ उ० ।

साविक्ख-सापेक्ष-पुं० । सह अपेक्षा गच्छस्येति गम्यते ये-

र्या ते सापेक्षा । गच्छवासिषु , व्य० १ उ० । गुरुगच्छादिसाहाय्यमपेक्षमाणो य प्रव्रज्या परिपालयति स सापेक्षः । ध० ३ अधि० । आचार्यस्य शिष्यैः प्रातीच्छिकैश्च सर्वं कर्त्तव्यं ते च तथा कुर्वन्तः सापेक्षा उच्यन्ते । व्य०४उ० ।

सावि(न्)--स्वापिन्--पुं० । स्वप्नशीले , सू० १ उ० २ अ० ।

सास--श्वास--पुं० । प्राणने, पनिश्चयन ऊर्ध्वश्वासरूपे रोगभेदे , ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । जी० । उ० । विपा० ।

शस्य--न० । "लुप्त य-र व श ष सां श ष सा दीर्घः" ॥८।१।४३॥ इत्यादे स्वरस्य दीर्घे । श्य इत्यस्य यलोपे सासम् । धान्यवनस्पतौ, प्रा० १ पाद ।

सासंत--शासत्--शिक्षा ददति, उत्त० १ अ० । आज्ञापयति, उत्त० १ अ० ।

सासचउक्क--श्वासचतुष्क--न० । उच्छ्वासोद्योतातपपराघात-समूहे, कर्म० ५ कर्म० ।

सासग--शश्यक--पुं० । रत्नविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सासण--शासन--न० । शास्यन्तेऽनेन जीवा इति शासनम् । द्वादशाङ्गे, आव० १ अ० । प्रवचने , प्रश्न० ५ सव० द्वार । सम्म० । आज्ञायाम् , जं० ३ वक्ष० । प्रव० । सूत्र० । बृ० । प्रतिपादने , न० । शिक्षणे , अनु० । ज्ञा० । शिष्यते प्रतिपाद्यते इति शासनम् । शिक्षणीये , प्रश्न० १ सव० द्वार । सूत्र० ।

सासणगरिहा--शासनगर्हा--स्त्री० । प्रवचननिन्दायाम् , पञ्चा० ७ विव० ।

सासणमालिन्न--शासनमालिन्य--न० । जिनप्रवचनस्य लोकविरुद्धाचरणोपघाते, हा० २३ अष्ट० । (' पभावणा ' शब्दे पञ्चमभागे ४३८ पृष्ठे विस्तरो गतः ।)

सासणसुरी--शासनसुरी--स्त्री० । प्रवचनदेवतायाम् , पञ्चा० ८ विव० ।

सासणाम--श्वासनामन्--न० । उच्छ्वासनामनि,कर्म० ५ कर्म० ।

सासय--शाश्वत--त्रि० । शश्वद् भवतीति शाश्वतम् , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ । शश्वद्भावाच्छाश्वतम् । सततोपयोगे , विशे० । आ० म० । न० । आचा० । नित्ये , सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आव० । विशे० । ध्रुवे, विशे० । अनादौ , स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्र० । ज्ञा० । प्रतिक्षणसत्तालिङ्गत्वादवस्थिते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्र० । प्रव० । आचा० । शश्वद्भवनस्वभावे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अविनाशिनि , सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ । शश्वद्भाविनि , प्रज्ञा० ३६ पद । शश्वद् भवनस्वभावे , न० । प्रतिक्षण सद्भावात् (भ० २ श०१ उ०।) अनादिनिधने , स्था० १ ठा० ३ उ०।दश०। अपुनरागामिनि,दश०६अ०४ उ०। साद्यपर्यवसिते , प्रश्न० ४ सव० द्वार । सर्वकालभाविनि , आ० म० १ अ० । सदाभाविनि , स० । आ० म० । सूत्र० । द्रव्यार्थतयाऽविच्छेदेन प्रवृत्ते, स० ।

जीवाः शाश्वता अशाश्वता वा ?--

जीवा णं भंते ! किं सासया, असासया य ?। गोयमा ! जीवा सिय सासया , सिय असासया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ--जीवा सिय सासया , सिय असासया ?। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव सिय असासया । नेरइया णं भंते ! किं सासया असासया । एवं जहा जीवा तहा नेरइया वि एवं० जाव वेमाणिया० जाव सिय सासया सिय असासया । (सू० २७४ ×)

'दव्वट्ठयाए'त्ति--जीवद्रव्यत्वेनेत्यर्थः।'भावट्ठयाए त्ति--नारकादिपर्यायत्वेनेत्यर्थः' । भ० ७ श० २ उ० ।

पूर्वकृतकर्मणश्च वेदना तच्चत्त्व कथञ्चिच्छाश्वतत्वे सति युज्यत इति तच्छाश्वतत्वसूत्राणि , तत्र च--

नेरइया णं भंते ! किं सासया असासया ? , गोयमा ! सिय सासया सिय असासया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ नेरइया सिय सासया सिय असासया ?, गोयमा ! अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए सासया वोच्छित्तिणयट्ठयाए असासया , से तेणट्ठेणं०जाव सिय सासया सिय असासया एवं० जाव वेमाणिया०जाव सिय असासया । सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥ (सू० २८०)

' अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए ' त्ति अव्यवच्छित्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तिनयस्तस्यार्थो--द्रव्यमव्यवच्छित्तिनयार्थस्तद्भावस्तथा तया अव्यवच्छित्तिनयार्थतया-द्रव्यमाश्रित्य शाश्वता इत्यर्थः , ' वोच्छित्तिणयट्ठयाए' त्ति व्यवच्छित्तिप्रधानो यो नयस्तस्य योऽर्थः--पर्यायलक्षणस्तस्य यो भावः सा व्यवच्छित्तिनयार्थता तया पर्यायानाश्रित्य अशाश्वता नारका इति । भ०७श०३उ० । निर्वाणे, जी० १प्रति० । औ० । जन्ममरणादिरहितत्वात् । सिद्धे , स्था० २ ठा० १ उ० । त्रिकाले फलदायकत्वात् ब्रह्मचर्ये , उत्त० १६ अ० ।

स्वाशय--पुं० । स्वकीये आशये , स्वदर्शनाभ्युपगमे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । शोभनाध्यवसाये , ध० २ अधि० ।

स्वाश्रय--पुं० । स्व--आत्मीय उत्पत्तिप्रत्ययो यासु ताः स्वाश्रयाः । अविनष्टयोनिषु , आचा० २ श्रु १ चू० १ अ० १ उ० ।

स्वासक--पुं० । दर्पणाकारे अश्वालङ्कारविशेषे, जं० ३ वक्ष० ।

सासयचेइय--शाश्वतचैत्य--न० । नन्दीश्वरादिव्यवस्थिते चैत्ये, जीत० ।

सासयजत्ता--शाश्वतयात्रा--स्त्री० । नन्दीश्वरादिषु वैमानिकदेवैः कृतायां तीर्थयात्रायाम् , ध० । अष्टाह्निकास्वपि चैत्राश्विनाष्टाह्निके शाश्वत्यौ, तयोर्वैमानिकदेवा अपि नन्दीश्वरादिषु तीर्थयात्रामुत्सवान् कुर्वन्ति । यदाहु --

" दो सासयजत्ताओ , तत्थेगा होइ चित्तमासम्मि ।
अट्ठाहिआहिमहिमा , बीआ पुण अस्सिण मासे ॥१॥

पश्चात्तो दो वि सासय-जत्ताओ करिंति सव्वदेवा वि ।
नन्दीसरंमि सयरा, अहवा निअगसु ठाणेसु ॥ २ ॥
तह चउमासियतियगं, पज्जोसवणा य तह य इय छम्म ।
जिणजम्मदिक्ख केवल-निव्वाणाइसु ऽसासइया ॥३॥"

अत्र जीवाभिगमे त्वेवम्—" तत्थ णं बहवे भवणवइ-वाणमंतरजोइसवेमाणिया देवा तिहिं चउमासि तिहिं चउमासिएहिं पज्जोसवणाए अट्ठाहिआओ तहा महिमाओ करिंति " इति । ध० २ अधि० ।

सासयट्ठाण--शाश्वतस्थान-न० । मोक्षे, प्रव० १ द्वार ।

सासयदुक्खधम्म-शाश्वतदुःखधर्म-पुं० । शाश्वतं यावदायुस्तच्च तद् दुःखं च शाश्वतदुःखम् तद्धर्मः स्वभावो यस्मिन् स तथा । नरके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सासयबुद्धि-स्वाशयबुद्धि-स्त्री० । कुशलपरिणामवर्जने, ध० २ अधि० । (स्वाशयवृद्धिरित्यस्यनिर्माणे ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२६२ पृष्ठे उक्ता ।)

सासयसुह-शाश्वतसुख-न० । शाश्वत-नित्य च तत्सुखम् । निर्वाणजनितानन्दे, पं०१ प्रस्तु० ।

सासयसोक्ख--शाश्वतसौख्य-न० । निर्वाणस्थाने, औ० १ प्रति० । नित्यसुखे, पञ्चा० ७ विव० ।

सासया-शाश्वती-स्त्री० । अविनश्वर्याम् , औ० ।

सासयाणंतय-शाश्वतानन्तक-न० । अनन्तं जीवादिद्रव्ये, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सासयाऽसासय-शाश्वताऽशाश्वत-त्रि० । शाश्वतं-नित्यं सर्ववस्तुजातं द्रव्यास्तिकनयाश्रयणादशाश्वतं वा नित्यं प्रतिक्षणविनाशरूपं पर्यायनयाश्रयणात् । द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयाश्रयणेन नित्यानित्ये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सासयासाऽसयाणुओग-शाश्वताऽशाश्वतानुयोग-पुं० । शाश्वतं च अशाश्वतं च शाश्वताऽशाश्वतम् । तदनुयोगः । द्रव्यानुयोगभेदे , तत्र जीवद्रव्यमनादिनिधनत्वात् शाश्वतं तदेवापरापरपर्यायप्राप्तितोऽशाश्वतमित्येवमतो द्रव्यानुयोगे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सासवणाल-सर्षपनाल-न० । सर्षपभर्जिकायाम् , आतु० । सर्षपकन्दल्याम् , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

सासायण-सास्वाद(शात)(साद)न-पुं० । निरुक्तविधिना यशोलोपः संदेहलक्षणश्चासौ स्वादनेन वर्तत इति सासादनम् । अथापि मिथ्यात्वोदयाभावादनन्तानुबन्धुदयकलुषितत्वाच्च द्वयान्तरालसासादनामासादयति सम्यक्त्वे,आ समन्तात् शातयन्ति मुक्तिमार्गाद् आशातनेत्याशातनम्।अनन्तानुबन्धकषायवेदने, सहाशातनेन,वर्तत इति साशातनम् । सम्यक्त्वभेदे, विशे० । सासादनं तत्र आयमौपशमिकसम्यक्त्वलक्षणं सादयति-अपनयति आसादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् । अत्र पृषोदरादित्वाद्यशब्दलोपः (३-२-१५५) रम्यादिभ्यः कर्त्तयनट् प्रत्ययः (५-३-१२६) सति हि अस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखदो नि श्रेयसतरुबीजभूतो ग्रन्थिसंभवौपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेणोत्कर्षेण, षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति । नन सहासादनेन वर्तत इति सासादनम् । यद्वा—सासादनं तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनम् , यथाहि—भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीककश्चित् पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथाऽत्रापि गुणस्थाने मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतस्तद्रसास्वादो भवतीति एव सास्वादनमुच्यते इति । कर्म० ४ कर्म० । पं० सं० । आ० चू० । तत्त्वश्रद्धानरसास्वादनेन सह वर्तते इति सास्वादनम् । कणदघण्टालालन्यायेन आय परित्यक्तसम्यक्त्वे, आव० ४ अ० ।

सासादनसम्यक्त्वमाह—

उवसमसम्मा पडणा-साणो मिच्छत्तसंकमणकालो ।
सासायणछावलितो, भूमिगपत्तो व पवडंतो ॥१२५॥

मिथ्यात्वसंक्रमणकाले मिथ्यात्वसंक्रमणाभिमुख उपशमसम्यक्त्वात् प्रपतन् जघन्येन एकसामायिक उत्कर्षेण, षडावलिकः सासादनो भवति । किंवत् इत्याह-भूमिमप्राप्त एव प्रपतन् यथा मालात्प्रपतन् भूमिमप्राप्तोऽपान्तराले वर्त्तते तथोपशमसम्यक्त्वात्प्रपतन् मिथ्यात्वमप्राप्तोऽपान्तराले वर्त्तमानः सासादन इति ।

अथ कथं स सम्यग्दृष्टिरुपशमसम्यक्त्वतः प्रच्यवमानत्वात् , उच्यते-च्यवनेऽप्यस्य सम्यक्त्वगुणवेदनात् । अत्रैव दृष्टान्तमाह—

आसादिउं व गुलं, ओहीरंतो न सुट्ठु जा मुयति ।
सं आयं आदेंतो, सासादो यावि सासाणो ॥१२६॥

यथा कश्चित्पुरुषो गुडमास्वाद्य तदनन्तरमोहांगति निद्रायते,न पुनः सुष्ठु अधाघीति । स च निद्रायमाणोऽव्यक्तमास्वादितगुडमाधुर्यमनुभवति । एवम् उपशमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानो मिथ्यात्वमप्राप्तोऽव्यक्तमुपशमगुणं वेदयन् इति सम्यग्दृष्टिः । सम्प्रति सासादनशब्दव्युत्पत्तिमाह—स्वमात्मीयम् , आय स्वाय यत्र "सासाधो यावि सासाणो" सास्वादो व्यक्तोपशमगुणस्तत्सहित इति कृत्वा सास्वादनः । सह आस्वादनं यस्य स तथेति व्युत्पत्तेः । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

सासायणगुणट्ठाण-सास्वादनगुणस्थान-न० । द्वितीयगुणस्थाने, कर्म० ९ कर्म० ।

सासायणभाव-सासादनभाव-पुं० । सास्वादनसम्यग्दृष्टित्वे, कर्म० ४ कर्म० ।

सासायणसम्मत्त-सास्वादनसम्यक्त्व-न० । सम्यक्त्वभेदे, ध० । सास्वादनं च पूर्वोक्तौपशमिकसम्यक्त्वात्पततो जघन्यतः समये उत्कर्षेतश्च षडावलिकाप्रमाणशिष्टायामनन्तानुबन्ध्युदयात्सद्गमने तदास्वादनरूपम् । यत—"उवसमसम्मत्ताओ,चयओ मिच्छं अपावमाणस्स । सासायणसम्मत्तं, तयतरालंमि छावलिअं ॥१॥ ' इति । ध० २ अधि० ।

सासायणसम्मद्दिट्ठिगुणट्ठाण-सास्वा(सा)दनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान-न० । कर्म० । आयम्-औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति अपनयतीत्यासादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम्

पृषोदरादित्वाद्यशब्दलोपः, कृद्बहुलमिति कर्त्तर्यनट्। सति त-स्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कर्षत षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति, ततः सह आसादनेन व-र्त्तते इति सासादनः, सम्यग्-अविपर्यस्ता दृष्टिर्जिनप्रणीत-वस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः सासादनश्चासौ सम्यग्-दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिस्तस्य गुणस्थानं सासादनसम्य-ग्दृष्टिगुणस्थानं, सास्वादनमिति वा पाठः। तत्र सह स-म्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्त्तत इति सास्वादनः। य-थाहि—भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनका-ले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमु-खतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमास्वादयति। ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुण-स्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। गुणस्थानभेदे,(कर्म०) आन्तर्मौहूर्त्तिक्यामुपशान्ताद्धायां परमनिधिभिः सकलायां ज-घन्यतः समयशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकाशेषायां तस्यां कस्यचिन्महाविभीषिकोत्थानकल्पोऽनन्तानुबन्ध्युदयो भव-ति, तदुदये चासौ सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने वर्त्तते। उपशमश्रेणिप्रतिपतितो वा कश्चित्सासादनत्वं याति त-दुत्तरकालं चावश्यं मिथ्यात्वोदयात्सो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति। कर्म० २ कर्म० । दर्श० । पं० सं० । सू० । आव० । रा० ।

सासिउं-सासितम्-अव्य० । उपदेष्टुमित्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १

साहट्टु-संहृत्य-अव्य० । शरीराभिमुखमाकुञ्च्येत्यर्थे, आ-चा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । विपा० । दशा० । विधाये-त्यर्थे, उपा० २ अ० । अपनीयेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । हस्तमि पादौ क्रमौ जिनमुद्रया व्यवस्थाप्येत्यर्थे पञ्चा० १८ विव० । जिनमुद्रया संहतौ कृत्वेत्यर्थे, दशा० ७ अ० ।

साहट्ठ-संहृष्ट-त्रि० । उद्घर्षिते, 'साहट्ठरोमकूवेहिं' संहृष्टरो-मकूपैरुद्घर्षितरोमभिरित्यर्थः । रा० ।

साहण-साधन-न० । साध्यन्ते मोक्षादयोऽनेनेति साधनम् । ज्ञानदर्शनचारित्रादिके (विशे० ।) करणे, ध० ३ अधि० । कारणे, आव० ४ अ० । उपकरणे, उत्त० २३ अ० । आ० म० । निष्पादने, सं० । प्रमाणे, विशे० । साध्यतेऽनेनेति साधनम् । साधकतमकरणे, पा० ।

साहणण-संहनन-न० । संघाते संयोगे, भ० १२ श० ४ उ० ।

साहणणाबंध-संहननबंध-पुं० । संहननमवयवानां संघातस्त-द्रूपो यो बन्धः स संहननबन्धः । दीर्घत्वादि चेह प्रा-कृतशैलीप्रभवमिति । भ० ८ श० ६ उ० । औदारिकबन्धभेदे, भ० ८ श० ६ उ० । ('बंधण' शब्दे पञ्चमभागे १२२४ पृष्ठे व्या-ख्यातमेतत् ।)

साहणणाभेदाणुवाय-संहननभेदानुपात-पुं० । दीर्घः प्राकृत-त्वात्संहनन—संघातो भेदश्च वियोजनम्—तयोरनुपातो-

सु चतुरो मासान् यावदिति साधर्मिकावग्रहः। अवग्रहभेदे, भ० १६ श० २ उ०। प्रति०। आचा०।

साहम्मिणी-साधर्मिणी-स्त्री०। सयत्याम्, बृ० ३ उ०।

साहम्मिय-साधर्मिक-पुं०। समानेन धर्मेण चरतीति साधर्मिक। भ० १६ श० २ उ०। समानो धर्म सधर्मस्तेन चरतीति साधर्मिक। स्था० १० ठा० ३ उ०। प्रति-पन्नैकप्रवचने, प्रव० ७२ द्वार। लिङ्गप्रवचनाभ्या समानधार्मिके, प्रति०। साम्भोगिके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०। व्य०। नि० चू०। स्था०। प्रश्न०। समानधर्मयुक्ते साधौ, स्था० ६ ठा० ३ उ०। पञ्चा०। बृ०। प्रव०। व्य०।

साहम्मियाण अट्ठा, चउव्विहो लिंगओ जह कुडुंबी।
मंगलसासयभत्तीएँ, जं वा कयं तत्थ आदेसो ॥६६॥

साधर्मिकाणामर्थाय कृत न कल्पते। स च चतुर्विधस्तत्र लिङ्गत साधर्मिकस्तीर्थकरो यथा कुटुम्बी। ततस्तन्निमित्त कृत कल्पते। अन्यच्च भगवता मङ्गलनिमित्त शाश्वतो मोक्षस्तन्निमित्त च भक्त्या यत् क्रियते समवसरणमायतन वा तत्रादेशोऽनुज्ञावस्थानस्येति भाव। व्य० ६ उ०।

सम्प्रति साधर्मिकस्य द्वादशकं निक्षेपमाह—

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य पवयणे लिंगे।
दसणनाणचरित्ते, अभिग्गहे भावणाओ य ॥ १२८॥

'नामं' ति-नाम्नि साधर्मिक.,।१। स्थापनायां साधर्मिक।२। द्रव्ये द्रव्यविषय साधर्मिक ३। क्षेत्रसाधर्मिक।४। कालसाधर्मिक।५। प्रवचनसाधर्मिक।६। लिङ्गसाधर्मिक।७। दर्शनसाधर्मिक।८। ज्ञानसाधर्मिक।६। चारित्रसाधर्मिक।१०। अभिग्रहसाधर्मिक।११। 'भावणाओ य' त्ति—भावनातश्च साधर्मिको भवति ॥ १२ ॥ पिं०।

तत्र नामस्थापनाद्रव्यसाधर्मिकप्रतिपादनार्थमाह-

नामम्मि सरिसनामो, ठवणाए कट्ठकम्ममादीसुं।
दव्वम्मि उ जो भविओ, साहम्मिसरीरगं चेव ॥१३॥

नाम्नि-नामविषये साधर्मिको य सदृशनामा यथा देवदत्तो देवदत्तस्य। स्थापनाया साधर्मिक काष्ठकर्मादिषु स्थाप्यमान, यथा—चारकर्पिरादिशब्दात्—पुस्तकर्मादिवराटकादिपरिग्रह, द्रव्ये द्रव्यरूपतया साधर्मिको यो भव्यो भावी स च त्रिप्रकार, तद्यथा-एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च। आमीपा च भावना द्रव्यभिक्षुवद्भावनीया। यच्च साधर्मिकशरीर व्यपगतजीवित सिद्धशिलातलादिगतं तत् द्रव्यसाधर्मिक., द्रव्यता चास्य भूतभावत्वात्।

क्षेत्रकालप्रवचनलिङ्गसाधर्मिकानाह—

खेत्ते समाणदेसी, कालम्मि उ एक्ककालसंभूतो।
पवयणसंघेगयरो, लिंगे रयहरणमुहपुत्ती ॥१४॥

क्षेत्रे-क्षेत्रत साधर्मिक समानदेशी यथा सौराष्ट्र. सौराष्ट्रस्य। काले कालत साधर्मिक एककालसंभूतो यथा वर्षाजातो वर्षाजातस्य, प्रवचनमिति प्रवचनत. साधर्मिक सघमध्य एकतर. श्रमण. श्रमणी श्रावक श्राविका चेति लिङ्गे-लिङ्गत साधर्मिक. 'रजोहरणमुहपोत्ति' त्ति रजोहरणमुखपोत्तिकायुक्त।

संप्रति दर्शनादिसाधर्मिकानाह—

दंसणणाणे चरणे, तिग पण पण तिविह होइ उ चरित्ते।
दव्वाइओ अभिग्गह, अह भावणमो अणिच्चाई ॥१५॥

दर्शनसाधर्मिक 'तिग' त्ति-त्रिविधस्तद्यथा-क्षायिकदर्शनिन क्षायिकदर्शनी औपशमिकदर्शनिन. औपशमिकदर्शनी क्षायोपशमिकदर्शनिन क्षायोपशमिकदर्शनी। अन्ये पुनराहु-रेव त्रिविधस्तद्यथा-सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यादृष्टि मिश्रस्य मिश्र। ज्ञानत साधर्मिक, 'पण' त्ति-पञ्चविध, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानी आभिनिबोधिकज्ञानिन', एव श्रुतावधिमन पर्यायकेवलेष्वपि भावनीयम्। चरणत साधर्मिक 'पण' त्ति—पञ्चप्रकार सामायिकचारित्रिण सामायिकचारित्री। एव छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसपराययथाख्यातेष्वपि वाच्यम्। 'तिविहो होइ चरित्ते' इति—त्रिविध -त्रिप्रकारो भवति चारित्रं चारित्रतः साधर्मिक। तद्यथा—क्षायिकचारित्री क्षायिकचारित्रिण इत्यादि 'दव्वाईउ अभिग्गह' त्ति—अभिग्रहत साधर्मिको द्रव्यादौ—वेदितव्य, तद्यथा-द्रव्याभिग्रही द्रव्याभिग्रहिण। एवं क्षेत्रे काले भावे अपि भाव्यम्। तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थ। तेन पञ्चादिदत्तपणाभिग्रही पञ्चादिदत्तपणाभिग्रहिण इत्याद्यपि द्रष्टव्यम्। भावनात साधर्मिकोऽनित्यत्वादौ, यथा-एकोऽप्यनित्यत्वभावना भावयत्परोऽप्यनित्यत्वमिति भावनासाधर्मिक एव शेषास्वपि भावनासु द्रष्टव्यम्। तदेवमुक्त साधर्मिकस्य द्वादशको निक्षेप।

संप्रति यदुक्त लिङ्गे भवन्ति भङ्गाश्चत्वार इति तदेतत् व्याचिख्यासुराह—

साहम्मिएहिँ काहिए-हिं लिंगाई होइ चऊभंगा।
नाम ठवणा दविए, भावें विहारे य चत्तारि ॥ १६ ॥

साधर्मिकेषु कथितेषु सत्सु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वाल्लिङ्गादौ प्रवचनादिभि सह भवति प्रत्येक चतुर्भङ्गी। गाथाया पुस्त्वमार्षत्वात्। विहारे च ये चत्वारो भेदा. प्रागुक्तास्ते इमे, तद्यथा—नामविहार. स्थापनाविहारो द्रव्यविहारो भावविहारश्च।

तत्र लिङ्गादिषु प्रवचनादिभि. सह प्रत्येकं चतुर्भङ्गीमाविर्भावयिषु. प्रथमतो लिङ्गप्रवचनेन चतुर्भङ्गीसूत्रमाह—

लिंगेण उ साहम्मी, नो पवयणओ उ निण्हगा सव्वे।
पवयणसाहम्मी पुण, लिंगे दस होंति ससिहागा ॥१७॥

लिङ्गेन—रजोहरणादिना साधर्मिको नो—नैव प्रवचनत. इत्येको भङ्ग। के ते इत्याह—सर्वे निह्नवास्तेषा सघवाह्यत्वात्, रजोहरणादिलिङ्गोपेतत्वाच्च, तथा प्रवचनत साधर्मिको न पुन लिङ्गे लिङ्गत एष द्वितीय। के ते एवभूता इत्याह—दश भवन्ति सशिखाका अमुण्डितशिरस्का श्रावका इति गम्यते। श्रावका हि दर्शनव्रतादिप्रतिमाभेदेन एकादशविधा भवन्ति, तत्र

दश सकेशाः, एकादश प्रतिमाप्रतिपन्नस्तु लुञ्चितशिराः श्रमणभूतो भवति ततस्तद्व्यवच्छेदाय सशिखग्रहणम्। एते हि दश शसिखाकाः प्रवचनतः साधर्मिका भवन्ति, तेषां संघान्तर्भूतत्वान्न लिङ्गतः रजोहरणादिलिङ्गरहितत्वात्। तृतीयचतुर्थौ तु भङ्गौ सुप्रतीतत्वान्नोक्तौ तौ चेमौ प्रवचनतोऽपि साधर्म्मिको लिङ्गतोऽपि साधुः एष तृतीयः । न प्रवचनतो नापि लिङ्गतः इति चतुर्थः । एष शून्यो भङ्गः । तदेवं लिङ्गप्रवचनेन सह चतुर्भङ्गिकोक्ता।

संप्रति दर्शनादिभिः सह चतुर्भङ्गिकाप्रतिपादनार्थमाह—

एमेव य लिंगेणं,दंसणमादी उ होंति भंगा उ।
भइएसु उवरिमेसुं, हेट्ठिल्लपदं तु छड्डेज्जा ॥ १८ ॥

एवमेव-प्रवचनगतेन प्रकारेण लिङ्गेन सह दर्शनादिषु भङ्गा भवन्ति-ज्ञातव्याः । उक्तेषु च उपरितनेषु सर्वेष्वपि भावनापर्यन्तेषु अधस्तनं लिङ्गलक्षणं पदं त्यजेत् त्यक्त्वा च तदनन्तरं द्वितीयपदं गृह्णीयात् । अभिगृह्य च तेनापि सह चतुर्भङ्गिकाक्रमेण योजयेत् । तत्राप्युपरितनेषु सर्वेषु भङ्गेषु तदधस्तनं पदं त्यजेत् । अग्रेतनमनन्तरमाश्रयेत् । तत्राप्ययमेव क्रमः एवं तावद्वाच्यं यावदन्तिमपदद्वयचतुर्भङ्गिका । इह लिङ्गेन सह दर्शनादिषु भङ्गसूचा कृता तत्र लिङ्गग्रहणमुपलक्षणं ततः प्रवचनेनापि सह भङ्गा द्रष्टव्या ते चामी प्रवचनसाधर्म्मिका न दर्शनतः । एष क्षायिके औपशमिके क्षायोपशमिके वा । उक्तं च-'विसरिसदंसणजुत्ता, पवयणसाहम्मिया न दसणतो '। इति दर्शनतः साधर्मिको न प्रवचनतस्तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धश्च तेषां संघानन्तर्वर्त्तित्वाद्,आह च-"तित्थयरा पत्तेया, नो पवयणदंससाहम्मी "। प्रवचनतोऽपि साधर्मिको दर्शनतोऽपि समानदर्शनी । सघमध्यवर्त्ती न प्रवचनतो नापि दर्शनत इति चतुर्थः । एष शून्यः । उक्ता प्रवचनेन सह दर्शनस्य चतुर्भङ्गिका । संप्रति ज्ञानस्योच्यते-प्रवचनतः साधर्मिको न ज्ञानतः, एको द्विज्ञानी एकस्त्रिज्ञानी चतुर्ज्ञानी केवलज्ञानी वा ज्ञानतः साधर्मिको न प्रवजनतः तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो वा प्रवचनतो ज्ञानतोऽपि तृतीयः । न प्रवचनतोऽपि नापि ज्ञानतः इति चतुर्थः । एष शून्यः। तथा प्रवचनतः साधर्मिको न चारित्रतः श्रावकः, चारित्रतो न प्रवचनतः तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो वा, प्रवचनतोऽपि साधुः, न प्रवचनतो नाऽपि चारित्रत एष शून्यः । तथा प्रवचनतो नापि अभिग्रहतः । साधर्मिकोऽनभिग्रहतः । श्रावको यतिर्वा उभयोरप्यन्योन्याभिग्रहयुक्तत्वात् । अभिग्रहतो न प्रवचनतो निह्नवः, तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो वा । उक्तं च-"साहम्मभिग्गहेण, नोपवयणनिण्हतित्थपत्तेया" । इति प्रवचनतोऽप्यभिग्रहतोऽपि श्रावको यतिर्वा समानाभिग्रहः न प्रवचनतो नाप्यभिग्रहत इति शून्यः । तथा प्रवचनतः साधर्मिको न भावनातो भिन्नभावनाकः श्रावको यतिर्वा भावनातः। साधर्मिको न प्रवचनतः समानभावनाकस्तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो निह्नवो वा प्रवचनतोऽपि भावनातोऽपि समानभावनाकः श्रावको यतिर्वा न प्रवचनतोऽपि नापि भावनातः एष शून्यः । उक्ता प्रवचनेन सह दर्शनादिषु भङ्गा । सम्प्रति लिङ्गेन सहोच्यन्ते-लिङ्गतः साधर्मिको न दर्शनतः निह्नवः,दर्शनतः साधर्मिको न लिङ्गतः । प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो लिङ्गतोऽपि समानदर्शनी साधुः । नापि लिङ्गतो नापि दर्शनतः एष शून्यः । तथा लिङ्गतः साधर्म्मिको न ज्ञानतः निह्नवो विभिन्नज्ञानी वा साधुः ज्ञानतो न लिङ्गतः समानज्ञानी श्रावकः प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो वा लिङ्गतोऽपि ज्ञानतोऽपि समानज्ञानी साधुः न लिङ्गतोऽपि नापि ज्ञानतः एष शून्यः । तथा लिङ्गतो न चारित्रतो-निह्नवो विषमचारित्री वा साधुः चारित्रतो न लिङ्गतः प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो वा, चारित्रतोऽपि लिङ्गतोऽपि समानचारित्री साधुः । न लिङ्गतो नापि चारित्रतः एष शून्यः । तथा लिङ्गतो नाभिग्रहतः विचित्राभिग्राही साधुर्निह्नवो वा अभिग्रहतो न लिङ्गतः समानाभिग्रही श्रावकः प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो वा लिङ्गतोऽप्यभिग्रहतोऽपि समानाभिग्रही साधुः लिङ्गतो नाप्यभिग्रहतः । एष शून्यः । तथा लिङ्गतः साधर्म्मिको न भावनातः विषमभावनाकः साधुर्निह्नवो वा, भावनातो न लिङ्गतः समानभावनाकः श्रावकः प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो वा, लिङ्गतोऽपि भावनातोऽपि समानभावनाकः साधुः, न लिङ्गतोऽपि न भावनातः एष शून्यः। तदेवमुक्ता लिङ्गेन सह दर्शनादिषु भङ्गाः । सम्प्रति लिङ्गपदं त्यक्त्वा दर्शनपदमभिगृह्यते । तेन सह ज्ञानादिषु उच्यन्ते । दर्शनतः साधर्मिको न ज्ञानतः, क्षायिकदर्शनी यः एकः केवलज्ञानी एको द्विज्ञानीति ज्ञानतः साधर्म्मिको न दर्शनतः समानज्ञानी विभिन्नदर्शनी दर्शनतोऽपि ज्ञानतोऽपि समानदर्शनज्ञानी । न दर्शनतोऽपि न ज्ञानतः एष शून्यो भङ्गः।तथा दर्शनतः साधर्मिको न चारित्रतः समानदर्शनी श्रावकः चारित्रतो न दर्शनतः समानचारित्री विभिन्नदर्शनी साधुः, चारित्रतोऽपि दर्शनतोऽपि समानदर्शनचारित्री साधुः, न चारित्रतोऽपि नापि दर्शनतः एष शून्यः । तथा दर्शनतो न अभिग्रहतः समानदर्शनी विचित्राभिग्रहः श्रावकः साधुर्वा,अभिग्रहतो न दर्शनतः, सामानाभिग्रही विचित्रदर्शनतः श्रावकादिः, दर्शनतोऽपि अभिग्रहतोऽपि समानदर्शनाभिग्रही न श्रावकादिः न दर्शनतो नाप्यभिग्रहतः एष शून्यः । तथा दर्शनतो न भावनातः । समानदर्शनो विचित्रभावनाकः श्रावकादिः, भावनातो दर्शनतः समानभावनाको विचित्रदर्शनः श्रावकादिः,-दर्शनतोऽपि भावनातोऽपि समानदर्शनभावनाकः श्रावकादिः, न दर्शनतो नापि भावनातः एष शून्यः । तदेवमुक्ता दर्शनेनापि सह ज्ञानादिषु भङ्गाः अधुना दर्शनपदमपहाय ज्ञानपदमभिगृह्यते । तेन सह चारित्रादिषु प्रदर्श्यन्ते । ज्ञानतः साधर्मिको न चारित्रतः समानज्ञानो विचित्रचारित्रसाधुः यदि-वा-श्रावकः चारित्रतः साधर्म्मिको न ज्ञानतः समानचारित्री एकः केवली एकः छद्मस्थः । ज्ञानतोऽपि चारित्रतोऽपि समानज्ञानचारित्री साधुर्न ज्ञानतोऽपि न चारित्रतोऽपि एष शून्यः ।तथा ज्ञानतो नाभिग्रहतः । सामानज्ञानो विचित्राभिग्रहः श्रावकादिः अभिग्रहतो ज्ञानतः। समानाभिग्रहो विचित्रज्ञानी साधुस्तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो वा, ज्ञानतोऽप्यभिग्रहतोऽपि समानज्ञानाभिग्रही साध्वादिः,न ज्ञानतो नाऽप्यभिग्रहतः शून्य एष । तथा ज्ञानतो न भावनातः समानज्ञानो विचित्रभावनाकः श्रावकादिः । भावनातो ज्ञानतः समानभावनो विचित्रज्ञानी श्रावकादिः । ज्ञानतोऽपि भावनतोऽपि समानज्ञानभावनाकः । श्रावकादिर्न ज्ञानतो नाऽपि भावनातः एष शून्यः ।

उक्ता ज्ञानेन सह चारित्रादिषु भङ्गाः । एवमपि ज्ञानपदं विमुच्य चारित्रपदं गृहीत्वा तेन सहाभिग्रहभावनयोर्भङ्गा उच्यन्ते- चरणेन साधर्मिको नाभिग्रहतः समानचरणो विचित्राभिग्रहो साधुः, अभिग्रहतः साधर्मिको न चरणतः श्रावकादिः, चरणतोऽपि अभिग्रहतोऽपि साधुः, न चरणतो नाप्यभिग्रहत एष शून्यः । तथा चरणतो न भावनातः विचित्रभावनाकः साधुः, भावनातो न चरणतः श्रावकः समानभावनाकः साधुर्वा विसदृशचरणः, चरणतोऽपि भावनातोऽपि समानचरणभावनाकः साधुः, न चरणतो नाऽपि न भावनातः शून्य एव । एवमभिग्रहेण सह भावनाया भङ्गाः -अभिग्रहतः साधर्मिको न भावनया, समानाभिग्रहो विचित्रभावनाकः श्रावकादिः, भावनातः साधर्मिको नाऽभिग्रहतः विचित्रोऽभिग्रहः श्रावकादिः, अभिग्रहतोऽपि भावनातोऽपि समानोऽभिग्रहः भावनाकः श्रावकादिः, नाभिग्रहतोऽपि नापि भावनात एष भङ्गः शून्यः । तदेवमुक्ता भङ्गाः ।

साम्प्रतममीषां भङ्गानां विषयविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

पत्तेयबुद्ध निण्हग-उवासए केवली य आसज्ज ।
खइयाइए य भावे, पडुच्च भंगे य जोएज्जा ॥ १९ ॥

प्रत्येकबुद्धान् निह्नवान् उपासकान् केवलिनश्चाश्रित्य तथा क्षायिकादीन् भावान् प्रतीत्य आश्रित्य भङ्गकान् अनन्तरोदितान् योजयेत् । तद्यथा—न प्रवचनतः साधर्मिको लिङ्गत एव भङ्गः प्रत्येकबुद्धान्केवलिनश्च । जिनानाश्रित्य योजनीयः । लिङ्गतो न प्रवचनत इत्यत्र निह्नवान्, प्रवचनतो न लिङ्गत इत्येष श्रावकान्, प्रवचनतो न दर्शनत इत्यादयस्तु क्षायोपशमिकदर्शनज्ञानचारित्रादीनाश्रित्य योजयितव्यास्ते च तथैव यथास्थानं योजिता एवेति । व्य० २ उ० । समानधार्मिको हि सम्यग्दृष्टिः साधुः साध्वी श्रावकः श्राविका च । श्रा० । (साधर्मिकाणां स्तैन्यं कुर्वतोऽनवस्थाप्यो भवतीत्युक्तम् ' अणवट्ठप्प ' शब्दे प्रथमभागे २६३ पृष्ठे) सदृशकल्पिके, समाचारीस्थे. आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे साहम्मियं संभोतितं विसंभोतितं करेमाणे णातिक्कमति, तं जहा-सकिरितट्ठाणं पडिसेवित्ता भवति १ पडिसेवित्ता णो आलोएइ २ आलोइत्ता णो पट्ठवेति ३ पट्ठवेत्ता णो णिव्विसति ४ जाइं इमाइं थेराणं ठितिपकप्पाइं भवंति ताइं अतियंचिय २ पडिसेवेति । से हंदऽहं पडिसेवामि किं मं थेरा करिस्संति ? ५ । पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं पारंचितं करेमाणे णातिक्कमति, तं०-सकुले वसति सकुलस्स भेदाते अब्भुट्ठित्ता भवति १ गणे वसति गणस्स भेताते अब्भुट्ठित्ता भवति २ हिंसप्पेही ३ छिद्दप्पेही ४ अभिक्खणं पसिणायतणाइं पउंजित्ता भवति ५ । (सू० ३९८)

साम्भोगिकम्-एकभोजनमण्डलीकादिकं विसाम्भोगिकं—मण्डलीबाह्यं कुर्वन्नातिक्रामति आज्ञामिति गम्यते, उचितत्वादिति । सक्रियं—प्रस्तावादशुभकर्मबन्धयुक्तं स्थानम् अकृत्यविशेषलक्षणं प्रतिसेविता भवतीत्येकं, प्रतिसेव्य गुरवे नालोचयति—न निवेदयतीति द्वितीयम्, आलोच्य गुरूपदिष्टप्रायश्चित्तं न प्रस्थापयति—कर्तुं नारभत इति तृतीयं, प्रस्थाप्य न निर्विशति—न सम्यक् प्रवेशयति, अथवा—'निर्वेशः परिभोग ' इति वचनात् परिभुङ्क्ते—नासेवत इत्यर्थः इति चतुर्थम्, यानीमानि स्थविराणां कल्पाः प्रत्यक्षाणि स्थविराणां—स्थविरकल्पिकानां स्थिती—समाचारे प्रकल्प्यानि-प्रकल्पनीयानि योग्यानि विशुद्धपिण्डशय्यादीनि स्थितिप्रकल्प्यानि, अथवा—स्थितिश्च—मासकल्पादिका प्रकल्प्यानि च-पिण्डादीनि स्थितिप्रकल्प्यानि तानि ' अइयंचिय अइयंचिय ' त्ति-अतिक्रम्यातिक्रम्येत्यर्थः, प्रतिषेवते तदन्यानीति गम्यते । अथ साहाय्यकाद्वि साधुश्च पर्यालोचयति—यथा नैनमतिप्रेषितुमुचितं गुरवो यदुक्तं करिष्यति, तदंतर आह— 'से' इति तत्कल्प्यजातं 'हंद' त्ति-कोमलामन्त्रणं वचनं, इमित्यकारप्रश्लेषादहं प्रतिषेवामि किं मम स्थविराः—गुरवः करिष्यन्ति ?, न किञ्चित्ते कुपिता अपि मम कर्तुं शक्नुवन्ति इति वक्रोक्त्या नञ्समर्थितेति । ' सरचिय ' त्ति-कुशलपरिच्छिन्नभेदप्रयोजनलिङ्गादिकमित्यर्थं कुर्वाणानिकामति साम्भोगिकमिति गम्यते । कुले—चान्द्रादिके वसति गच्छवासीत्यर्थस्तस्यैव कुलस्य भेदायान्योऽन्यमधिकरणोत्पादनेनाभ्युत्थाता भवति, यतत इत्यर्थः इत्येकम् एवं गणस्यापीति द्वितीयं, तथा हिंसां—वध साध्वादे प्रेक्षते—गवेषयतीति हिंसाप्रेक्षीति तृतीयं, हिंसार्थमेवापध्यानार्था 'छिद्राणि ' प्रमत्ततादीनि प्रेक्षत इति छिद्रप्रेक्षीति चतुर्थम्, अभीक्ष्णमिवोह पुनःशब्दार्थे ततश्चाभीक्ष्णमभीक्ष्णं, पुनः पुनरित्यर्थः, प्रश्ना—अङ्गुष्ठकुड्यादिप्रश्नादयः सावद्यानुष्ठानपृच्छा वा त एवायतनान्यसंयमस्य प्रश्नायतनानि प्रयोक्ता भवति प्रयुङ्क्त इत्यर्थः इति पञ्चमम् । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

इदानीं साधर्मिकद्वारप्रतिपादनायाह—

दिट्ठमदिट्ठा दुविहा, णायगुणा चेव हुंति अन्नाया ।
अदिट्ठा वि य दुविहा,सुय असुय पसत्थमपसत्था ॥९५॥

साधर्मिका द्विविधा—दृष्टा, अदृष्टाश्च । ' णायगुणा तह य चेव अन्नाया' ये ते दृष्टाः साधर्मिकास्ते द्विविधाः कदाचित् ज्ञातगुणा भवन्ति कदाचिदज्ञातगुणाः,'अदिट्ठा वि य दुविहा' येऽप्यदृष्टाः साधर्मिकास्तेऽपि द्विविधाः—' सुय-असुय' त्ति-श्रुतगुणा, अश्रुतगुणाश्च । ' पसत्थापसत्थ' त्ति-ये ते ज्ञातगुणास्ते द्विविधा —प्रशस्तज्ञातगुणा ,अप्रशस्तज्ञातगुणाश्च । येऽपि तेऽज्ञातगुणास्तेऽपि द्विविधाः—प्रशस्ताज्ञातगुणाः,अप्रशस्ताज्ञातगुणाश्चेति । येऽपि ते श्रुतगुणास्तेऽपि द्विविधाः—प्रशस्तश्रुतगुणाः, अप्रशस्तश्रुतगुणाश्च । येऽपि तेऽश्रुतगुणास्तेऽपि द्विविधाः—प्रशस्ताश्रुतगुणाः, अप्रशस्ताश्रुतगुणाश्च ।

आह—ये दृष्टास्ते कथमज्ञातगुणा भवन्तीत्यत आह—

दिट्ठा व समोसरणे, न य नायगुणा हवेज्ज ते समणा ।
सुअगुणपसत्थ इयरे, समणुन्निअरे य सव्वे वि ॥९६॥

दृष्टाः—उपलब्धाः सामान्यतो क्वचित्कि [-समवसर-

णे-स्नात्रादौ, न च ज्ञानगुणास्ते भवेयु श्रमणा., 'सुयगुणपसत्थ इयरे'त्ति-इतरे इति अदयाना परामर्श., ते अदयाः 'सुयगुणे'त्ति-श्रुतगुणा अपि सन्तः 'पसत्थ'त्ति-प्रशस्तश्रुतगुणा गृह्यन्ते, तदनेन 'सुयगुणपसत्थ' इत्ते-भावितम्, 'इयरे' त्ति-इतरे इत्यदयानां परामर्शः ते अदयाः श्रुतगुणा इत्ययमनन्तरगाथोपन्यस्तभङ्गकः एक सूचित इति 'समणुन्नियरे य सव्वेऽवि' सर्वेऽपि चैते श्रुतादिगुणभेदभिन्ना साधवः समनोज्ञा इतरे च—असमनोज्ञा इति च, सांभोगिका असाम्भोगिकाश्चेत्यर्थः । ओघ० ।

साहम्मिअणुववूहण--साधर्मिकानुपबृंहण--न० । सम्यग्दृष्टि साधु साध्वी श्रावक श्राविका च एतषां कुशलमार्गप्रवृत्तानामतिचारे, ध्या० ।

साहम्मियचेइय--साधर्मिकचैत्य--न० । नास्तिकसाध्वादीनां प्रातिकृतिरूपे चैत्ये, जीत० ।

साहम्मियत्तविणय--साधर्मिकत्वविनय--पुं० । सम्यक्त्वग्रहणे, व्य० १० उ० ।

साहम्मियपीइ--साधर्मिकप्रीति--स्त्री० । समानधर्मजनविषयप्रेमजन्यवात्सल्य, कार्ये कारणोपचारात् सामानधर्मकानुरागे, पञ्चा० ३ विव० ।

साहम्मियवग्ग--साधर्मिकवर्ग--पुं० । स्वजनातिरिक्तसमानधार्मिकजने, पञ्चा० ६ विव० ।

साहम्मियवच्छल्ल--साधर्मिकवात्सल्य--न० । साधर्मिकाणां निमन्त्रणभोजने, ध० । साधर्मिकाणां वात्सल्यमपि प्रतिवर्षं यथाशक्ति कार्यं, सर्वेषां तत्करणाशक्तावप्यकद्व्यादीनामवश्यं तत् कार्यं समानधर्माणो हि प्रायेण दुष्प्रापा . यत "सर्वैः सर्वे मिथः सर्वे-सम्बन्धालब्धपूर्विणः । साधर्मिकादिसंबन्ध-लब्धारस्तु मिता क्वचित्" ॥ १ ॥ तेषां महत्पुण्यलभ्यमङ्गमाना प्रतिपत्तिस्तु फलमतुल्यमेव यत । "एगत्थ सव्वधम्मा, साहम्मियवच्छल्लं तु एगत्थ । बुद्धितुलाए तुलिआ, दो वि अतुलाइं भणिआइ ॥ १ ॥" साधर्मिकवात्सल्येनैव च राजामाताशसावभागवतः धन राजपिण्डस्य मुनीनामकल्पत्वादिति तद्विधिस्त्वयम्-सातसामर्थ्ये प्रत्यहमेकद्व्यादिसाधर्मिकाणामन्यथा तु स्वपुत्रादिजन्मोत्सवे विवाहेऽन्यस्मिन्नपि प्रकरणे साधर्मिकजनानां सविनयं निमन्त्रण भोजनवेलायां स्वयं पादप्रक्षालनादिपूर्वकमुपवेश्य विशिष्टासनस्थ संनिवेश्य प्रवरभाजनेषु ना—नाप्यशनखादिमस्वादिमादिभोजनताम्बूलवस्त्राभरणादिदानम् । आपन्निमग्नानां च स्वधनव्ययेनाऽप्युद्धरणम् । अन्तरायकर्मोदयेन विभवक्षये पुनः पूर्वभूमिकारोपणम् । उक्तमपि-" न कयं दीणुद्धरणं, न कयं साहिम्मिआण वच्छल्लं । हिअयम्मि वीअराओ, न धारिओ हारिओ जम्मो ॥ १ ॥ " धर्मे च सीदन्तं तेन तेन प्रकारेण स्थैर्यारोपणं, प्रमाद्यतां च स्मारणवारणचोदनप्रतिचोदनादिकरणम् । यत.-" सारणा वारणा चेव, चोअणा पडिचोअणा । सावयाणं च दायव्वा, सावयस्स हिआवहा ॥ १ ॥" प्रवदर्शो यथा विस्मृतस्य धर्मकृत्यस्य स्मारणं स्मारणा, तथा कुत्सितमार्गाचरणस्य निषेधनं वारणा,एतयोश्च कृतयोः क्रियमाणयोर्हि कस्यचित्प्रमादबहुलस्य नियमस्खलितादौ युक्तम्, किं श्राद्धकुलोत्पन्नस्य तवेत्थं प्रवर्तितुमित्यादिवाक्यैः सोपालम्भं प्रेरणं चोदना. तथा तत्रैवाऽसकृत् स्खलनादौ धिग् ते जन्मेत्यादि निष्ठुरवाक्यैर्गाढतरप्रेरणा प्रतिचोदना । उक्तं च-"एगुत्ते सारणा वुत्ता,अणायारस्स वारणा । चुकाणं चोअणा होइ,निठुर पडिचोअणा॥१॥" त्ति। एतच्च भाववात्सल्यम् । यतो दिनकृत्ये"साहम्मिआण वच्छलं, एअ भव विआहिअं। धम्मट्ठाणसु सीअंत, सव्वभावेण चोअणा ॥१॥" साधर्मिकाणां वात्सल्यमेतदन्तरोक्तं द्रव्यवात्सल्यम्, अन्यदिति भाववात्सल्यमिति तदर्थः ॥४॥इत्थं च तेषां प्रतिपत्तिरेव श्रेयसी ननु तै सह कलहादि. यत "विवाए कलहे चेव वज्जए परिवज्जए। साहम्मिएहिं सद्धिं तु, कुज्जं पुज्जं विआहिअं ॥१॥ जो किर पहणइ साहम्मिअम्मि कोवेण दंसणं थम्मि । आसायणं तु सो कुण-इ निक्किवा लोगबंधूणं ॥२॥" इति साधर्मिकवात्सल्यद्वारम । ध० २ अधि० । (साधर्मिकस्य वैयावृत्यकरणफलम् 'महाणिज्जर' शब्द षष्ठभागे गतम ।)

साहम्मियवेयावच्च--साधर्मिकवैयावृत्य--न० । साध्वा. साध्व्यां वैयावृत्त्यं, औ० ।

साहम्मिया--साधर्मिका--स्त्री० । सधर्मिण्यां संयत्याम्, बृ० ३ उ० ।

साहय--संहृत--त्रि० । संक्षिप्ते, त० । आ० म० ।

साहयसोणंद--संहृतसौनन्द--न० । ऊर्ध्वीकृत उदूखलादिकाग्रे, जी० । "साहयसोणंदमुसलदप्पण०" संहृतसौनन्द नाम ऊर्ध्वीकृतमुदूखलाकृतिकाग्रम्-तच्च मध्ये ननु उभयो पार्श्वयोरेव हृत् मुशल प्रतीतम दर्पणशब्देनैकावयवे समुदायोपचाराद्दर्पणगण्डा गृह्यते । जी० ३ प्रति ४ अधि० ।

साहर-संवृ-धा० । संवरणे, "संवृगे साहर-साहट्टौ" ॥ ८ । ४ । ८२ ॥ इति संवृणोते. साहरादेश । संवृणोति । प्रा० । नयने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आचा० ।

साहरग--साहरक--पुं० । रूपके, नि० चू० २ उ० ।

साहरण--संहरण--न० । देवेन नयने, भ० ६ श० ३१ उ० ।

साहरमाण--संहरत्--त्रि० । अन्यत्र नयति, भ० ५ श० ४ उ० ।

साहराविणए--संहर्तुम्--अव्य० । संस्थापयितुमित्यर्थे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

साहरिज्जमाण--संह्रियमाण--त्रि० नीयमाने, ज० १ वक्ष० । जी० । आचा० । यत्कणादिक शीतलीकरणाय पटद्वादिषु विस्तारित तत्पुनर्भाजने क्षिप्यमाणं संह्रियमाणमुच्यते । औ० ।

साहरिज्जमाणचरय--संह्रियमाणचरक--पुं० । संह्रियमाणस्यैव पिण्डस्य तथाविधाभिग्रहविशेषात् । भिक्षाचरे, औ० ।

साहरित्ता--संहर्तुम्--अव्य० । प्रवेशयितुमित्यर्थे, भ० ५ श० ४ उ० ।

साहरिय-संहृत-त्रि० । नीते, स० । तस्मादन्यत्र क्षिप्ते, ग० १ अधि० । प्रव० । स्था० । आचा० । पञ्चा० । दानानुचित सचित्तेषु पृथिव्यादिषु अचित्तेषु वा केषुचित्पात्रेषु निक्षिप्य तेन रिक्तीकृतपात्रकेणैव भक्तं ददत उत्पादनादोषः, ध० ३ अधि० । प० चू० । (संहृतद्वारम् ' एसणा ' शब्दे तृतीयभागे ५६ पृष्ठे उक्तम् ।)

साहस-साहस-न० । अकार्यकरणे,सूत्र० १ श्रु० ४ अ०१ उ० ।

साहस्र-त्रि० । सहस्रमूल्ये, बृ० ३ उ० ।

साहसकारि(ण्)-साहसकारिन्-त्रि० । साहसं कर्तुं शीलमस्येति साहसकारी । अकार्यकारिणि,सूत्र० १ श्रु० १० अ० । (अत्रोदाहरणम् । ' आउक्खय ' शब्दे द्वितीयभागे २७ पृष्ठे गतम् ।)

साहसविवज्जिय-साध्वसविवर्जित-त्रि० । अविमृश्य प्रवृत्ति साध्वसं तद्विवर्जितं । सम्मुखीभूय युद्धप्रदानलक्षणसाध्वसरहिते, व्य० १ उ० ।

साहसिय-साहसिक-पुं० । सहसाऽविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते इति साहसिकः । भाविनमर्थमविभाव्य प्रवर्तमाने, स्था० । अवितर्कितकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । धैर्यवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सात्त्विके, औ० । अविमृश्य पापकर्मनिवृत्ते, दशा० ६ अ० । अकृत्यकरणपरे, दश० ६ अ० २ उ० । असमीक्षितकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । सहसाऽवितर्क्य प्रवर्तत इति साहसिकः पुरुषः, तत्प्रवर्तितत्वात्साहसिकः । साहसिकप्रवर्तिते प्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

साहस्सिय-साहस्रिक-पुं० । सहस्रयोधिनि मल्ले,व्य० १ उ० ।

साहस्सी-साहस्री-स्त्री० । सहस्रे, भ० ८ श० १ उ० ।

साहा-शाखा-स्त्री० । " खघथधभाम् " ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इत्यनेन खस्य हः । एकाचार्यसन्ततावेव पृथक्पृथगन्वये विख्यातपुरुषसन्ततौ,यथा अस्मदीया वइरस्वामिनाम्नी'वइरी' शाखा । विशे० । एकदेशे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । पल्लवे,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । वृक्षडाले,दश० ४ अ० । वृक्षभुजायाम्, दश० ६ अ० २ उ० । स्था० । स्थूला शाखा सूक्ष्मा प्रशाखा । सम्म० ३ काण्ड । उत्त० । नि० चू० । वेदस्य ऋषिभेदाद्भिन्नपाठे,आ० म० १अ० । "साहाहेउ सहीहेउ महामोहं पकुव्वइ" वशीकरणादिप्रयोगः श्लाघाहेतोः सखिहेतोर्मित्रनिमित्तमित्यर्थः । स० ३० सम० ।

स्वाहा-अव्य० । देवतायै द्रव्यत्यागार्थं प्रयुज्यमाने शब्दे, प्रति० ।

साहाणुसाह-पुं०।अयं पारसीकः शब्दः । राज्ञामपि राजनि, नि० चू० १ उ० ।

साहाभंग-शाखाभङ्ग-पुं० । वृक्षडालैकदेशभङ्गे, दश० ४अ० ।

साहामय-शाखामृग-पुं० । वानरे, पाइ० ना० ।

साहारग-साधारक-त्रि० । साधारे, आ० म० १ अ० ।

साहारण-साधारण-न० । सामान्ये, आचा० २ श्रु० १ चू०१ अ० १ उ० । द्रव्यकारणे, "कारण ति वा कारग ति वा साहारण ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० । द्रव्या० । आव० । आ० म० । सकीर्णे, विशे० । आचा० । स० । साधारणशरीरनामकर्मोदयवर्तिनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अनन्तकायिके, प्रव० ४ द्वार । नि० चू० । उपकारे, स० ३० सम० । (साधारणवनस्पतिकायिकानामपि किं सर्वकालशरीरावस्थामधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरत्वमुत कस्मिंश्चिदवस्थाविशेषेऽनन्तजीवत्वमपि सम्भवतीति ' अणंते-जीव ' शब्दे प्रथमभागे २६४ पृष्ठे उक्तम् ।) (' वणप्फइ ' शब्देऽपि षष्ठभागे उक्तम् ।)

सम्प्रति साधारणलक्षणमाह—

समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं सरीरनिव्वत्ती ।
समयं आणुग्गहणं, समयं ऊसासनीसासो ॥६५॥
इक्कस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाण तं चेव ।
जं बहुयाणं गहणं, समासओ तं पि इक्कस्स ॥६६॥

' समयमि ' त्यादि गाथाद्वयम् , समयं—युगपद् व्युत्क्रान्तानाम्—उत्पन्नाना सता तेषां—साधारणजीवाना समकम्—एककालं शरीरनिर्वृत्तिर्भवति , समकं च प्राणापानग्रहण—प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादानम् , तत समकम्—एककालं तदुत्तरकालभाविनावुच्छ्वासनिःश्वासौ, तथा एकस्य यत् आहारादिपुद्गलाना ग्रहणं तदेव बहूनामपि साधारणजीवानामवसेयम् । किमुक्तं भवति?—यत् आहारादिकमेको गृह्णाति शेषा अपि तच्छरीराश्रिता बहवोऽपि तदेव गृह्णन्तीति, तथा च यद्बहूना ग्रहणं तत्संक्षेपादेकस्य शरीरे समावेशात् एकस्यापि ग्रहणम् ।

सम्प्रत्युक्तार्थोपसंहारमाह—

साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं एयं ॥६७॥

सर्वेषामप्येकशरीराश्रितानां जीवानामुक्तप्रकारेण यत् साधारणं सधारणं, सूत्रे नपुंसकतानिर्देशः आर्षत्वात् आहारः आहारयोग्यपुद्गलोपादानम् , यच्च साधारणं प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादानम् उपलक्षणमेतत् यौ साधारणावुच्छ्वासनिःश्वासौ, या च साधारणा शरीरनिर्वृत्तिः एतत्साधारणजीवानां लक्षणम् । प्रज्ञा० १ पद ।

सम्प्रति पर्याप्तापर्याप्तभेदेन प्रत्येकसाधारणवनस्पतिजीवाना प्रमाणमाह—

पत्तेया पज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमित्ता उ ।
लोगाऽसंखापज्ज-त्तयाण साहारणमणंता ॥१०२॥
एएहिँ सरीरेहिं, पच्चक्खं ते परूविया जीवा ।
सुहुमा आणागिज्झा, चक्खुप्फासं न ते इंति ॥१०३॥

' पत्तेया पज्जत्ता ' इत्यादि । पर्याप्ताः प्रत्येकवनस्पतिजीवाः घनीकृतस्य सर्वान्धिनः प्रतरस्य असंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा भवन्ति , अपर्याप्तानां पुनः प्रत्येकतरुजीवानामसंख्येया लोकाः परिमाणं , पर्याप्तानामपर्याप्ताना च साधारणजीवानाम् अनन्ता लोकाः । किमुक्तं भवति ?-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा अपर्याप्ताः प्रत्येकतरवः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च साधारणजीवा इति । प्रज्ञा० १ पद ।

साहारणकप्प-साधारणकल्प-पु०। शय्योपध्यादिसाधारणसामाचार्याम्, पं० भा०।

एत्तो साहारणं वोच्छं।

सेज्जुवहिमायआहा-रमेव साहार तह य अणुकंपा।
आदिपणगं तु तुल्लं, भइयं अणुसासणाए तु॥
सेज्जुवहिसायआहा-र पसिद्धा एते होंति चत्तारि।
साहारणकप्पे पुण, मूलगुणा उत्तरगुणा य॥
साहरणं तु किं पुण, सेज्जादुप्पादगाण सव्वेसिं।
सामण्णगुणा ते उ, तम्हा साहारणं जाण॥
आदिपणगं दुतुल्लं, जाणसु सेज्जाति जाव साहारं।
ठियमट्ठियाण दोण्ह वि, एते खलु होंति तुल्ला तु॥
अहवादिपणगमूलं, (गुण)पंचेते होंति दोण्हि तुल्ला तु।
समणाण व समणीण व, तम्हा साहारणं जाण॥
दारं।

भइयमणुसासणंती, अणुकंपण सासण त्ति एगट्ठा।
कोइ कदाइ अणिउणो, ण तरति अणुसासणं काउं॥
सुहमारियएणं, होति विसुद्धो य अंतरप्पा से।
तस्स व होंति वताइं, पंच वि साहारणाइं तु॥
आणा तित्थकराणं, सामण्णा संजताण सव्वेसिं।
सुहुमे वि तप्पमाए, अणुसासणयं कुणति जो तु॥
तेसिं अणुकंपया णि-च्छएण जम्हा उवट्ठिता होंति।
तेणऽणुसट्ठिऽणुकंपा, एगट्ठा होंति णायव्वा॥
साहारकप्पो एसो। पं० भा० ५ कल्प।

इयाणिं साहारणकप्पो तत्थ गाहा-सेज्जोवहि,सो कहं भवइ, उच्यते-शय्योपध्याहारादिभिः आयत्तो। कहं सो साहारणो भवइ, उच्यते-एते ताणि आहाराईणि सोहयंताणं महव्वयाणि साहारणाणि भवन्ति सामान्यानीत्यर्थः। सव्वेसिं पि आहाराइं सोहयताणं संपत्ताणं संजयाण ताणि चिधन्ते स्वाध्यायंयोगयुक्तानाम्। अणुकंप त्ति वा अणुसासणं ति वा एगट्ठा। कयाइ कोइ अनिउणो न तरइ अणुसासिउं न सुहमारियाए सुत्तत्थतदुभयाणं अव्वोच्छित्ति काउं वत्थपायाइसु वा संविभाग भावसुद्धा पुण तस्स वि साहारणाणि भवन्ति चेव। एस साहारणकप्पो। पं० चू० ५ कल्प।

साहारणगुणप्पसंसा-साधारणगुणप्रशंसा-स्त्री०। लोकलोकोत्तरयोः सामान्यानां गुणानां प्रशंसायाम्, ध० १ अधि०।

साहारणट्ठिय-साधारणस्थित-त्रि०। साधारणावग्रहस्थिते, व्य० ४ उ०।

साहारणणाम-साधारणनामन्-न०। नामकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म०। आ०। यदुदयादनन्तानां जीवानां साधारणमेकं शरीरं भवति तत्साधारणं नाम। कर्म० १ कर्म०। प्रव०। ननु कथमनन्तजीवानामेकं शरीरमुत्पद्यते। तथाहि-य एव प्रथममुत्पत्तिमागतस्तेन तच्छरीरं निष्पादितं तमनेन च सर्वात्मना क्रोडीकृतं, ततः कथं तत्रान्येषां जीवानामवकाशः न खलु देवदत्तशरीरं देवदत्त इव सकलशरीरेण सहान्योन्यानुगमपुरस्सरमन्येऽपि जीवाः प्रादुस्सन्ति तथा दर्शनात्। अपि च-सत्यवकाशे येनैव तच्छरीरं निष्पाद्यान्योन्यानुगमनेन क्रोडीकृतं स एव तत्र प्रधान इति तस्यैव पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्था प्राणापानादियोग्यपुद्गलोपादानं वा भवेन्न शेषाणामिति। तदेतदसम्यक् जिनवचनपरिज्ञानाभावात्, ते ह्यनन्ता अपि जीवास्तथाविधकर्मोदयसामर्थ्येन समकमेवोत्पत्तिदेशमधितिष्ठन्ति, समकमेव तच्छरीराश्रिताः पर्याप्तिं निर्वर्त्तयितुमारभन्ते, समकमेव च पर्याप्ता भवन्ति, समकमेव च प्राणापानादियोग्यान्पुद्गलानाददते। यच्चैकस्य पुद्गलाभ्यवहरणं तदन्येषामनन्तानामपि साधारणम्। यच्चानन्तानन्तताद्धिवत्वितस्यापि जीवस्य ततो न काचिदनुपपत्तिरिति। पं० सं० ३ द्वार।

साहारणसरीर-साधारणशरीर-न०। अनेकजीवसामान्ये शरीरे, भ० २० श० १ उ०।

सम्प्रति साधारणवनस्पतिकायिकप्रतिपादनार्थमाह-

से किं तं साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया?, साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया अणेगविहा पन्नत्ता, तं जहा-
"अवए पणए सेवा-ले लोहिणी मिहुत्थु हुत्थिभागा (य)
अस्सकन्नि सीहकन्नी, सिउंढि तत्तो मुसुढी य॥४३॥

रुरु कुण्डरिया जीरु,छीरविराली तहेव किट्टीया।
हालिद्द सिंगबेरे य, आलूगा भू(मू)लए इय॥४४॥
कंबूयं कन्नुक्कड,सुमत्तओ वलइ तहेव महुसिंगी।
नीरुह सप्पसुयंधा, छिन्नरुहा चेव बीयरुहा॥४५॥
पाढामियवालुंकी, महुररसा चेव रायवत्ती य।
पउमा माढरि दंती-चडि किट्ठी त्ति या अवरा॥४६॥
मॉसपण्णि मुग्गपण्णी, जीवियरसहे य रेणुया चेव।
काओली खीरकाओली, तहा भंगी नही इय॥४७॥
किमिरासि भद मुच्छा, णंगलई पेलुगा इय।
किण्हपउले य हढे, हरतणुया चेव लोयाणी॥४८॥
कण्हे कंदे वज्जे, सूरणकंदे तहेव खज्जूरे।
एए अणंतजीवा, जे यावन्ने तहाविहा॥४९॥

'से किं तमि' त्यादि। अथ के ते साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः?, सूरिराह-साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिका अनेकविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-'अवए' त्यादि, एते च कोचदतिप्रसिद्धत्वात् केचिद्देशविशेषतः स्वयमवगन्तव्याः 'जे यावन्ने तहाविहा' इति। येऽपि चान्ये उक्तव्यतिरिक्तास्तथाप्रकारा-उक्तप्रकारास्तेऽप्यनन्तजीवा ज्ञातव्या। प्रज्ञा० १ पद। जी०। स०। (पृथ्व्यादीनां साधारणशरीरत्वं 'पुढवीकाइय' शब्दे पञ्चमभागे गतम्।)

साहारमाण-संह्रियमाण-त्रि०। स्वस्थानाच्चलति तेन ह्रियमाणे, व्य०।

अह माहारमाणं तु, वट्टेउं जो उ दावए।

दसलए अपलितो, छट्ठी एसाऽवि एसणा ॥

अथ वर्तयितु सहियमाणं यो दापयेत् तस्य वचनतः स परिवेषकस्तस्मात्स्थानात् मनागप्यचलितो दद्यात्, एतत्साह्रियमाणमुच्यते एषाऽपि षष्ठी एषणा द्रष्टव्या । व्य० ६ उ० ।

साहाविय--स्वाभाविक--त्रि० । अकृत्रिमे, आव० ४ अ० । विशे० । दर्श० । सहजे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

साहिऊण-साधयित्वा--अव्य० । साधन कृत्वेत्यर्थे, दर्श० ४ तत्त्व ।

साहिंत-साधयत्--त्रि० । प्रतिपादयति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । प्रश्न० ।

साहिगरण--साधिकरण--त्रि० । साहाधिकरणेन साधिकरण० । युद्धार्थमुपस्थिते, स्था० ५ ठा० २ उ० । कलहयति, स्था० ६ ठा० ३ उ० । सह अधिकरणेन वर्त्तते इति साधिकरणः । कषायभावप्रभावाधिकरणसहिते, नि० चू० १० उ० ।

साहिगरणि(ण्)--साधिकरणिन्--त्रि० । सह भावनाऽधिकरणेन शरीरादिना वर्त्तत इति समासान्तविधेः साधिकरणी । शरीरादिसहिते, ' साहिगरणी जीवे ' साधिकरणी--संसारिजीवस्य शरीरेन्द्रियरूपाधिकरणस्य सर्वदैव सहचारित्वात्साधिकरणत्वमुपदिश्यते शस्त्राद्यधिकरणापेक्षया तु स्वस्वामिभावस्य तदविरतिरूपस्य सह वर्त्तित्वाज्जीवः साधिकरणीत्युच्यते । भ० १६ श० १ उ० ।

साहिट्ठत्थलव स्वाभीष्टार्थलव--पुं० । स्वाभिमतार्थलेशमात्रे, प्रति० ।

साहिय--स्वाहित--त्रि० । सुष्ठु आहित--उपलब्ध स्वाहितः । स्वजातज्ञानादौ, "अयंस अवरे धम्मे, णायपुत्तेण साहिए ।" आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

साहिज्ज--साहाय्य--न० । सहायकृत्यकरणे, व्य० ३ उ० ।

साहिया--साहिका--स्त्री० । गृहपङ्क्तौ, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

साही--साही--स्त्री० । गृहपतौ, नि० चू० ३ उ० । आव० ।

साही--पारसीकः शब्दः । राजनि, नि० चू० १० उ० ।

साहीण--स्वाधीन--त्रि० । अपरायत्ते, दश० २ अ० । त० । आचा० । स्वायत्ते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

साहीणभोगचागि(ण्)--स्वाधीनभोगत्यागिन्--पुं० । स्वजनक्रियमाणमद्याङ्गनारागाद्यनास्वादने, व्य० २ उ० ।

साहु--साधु--न० । "ख-घ-थ-ध-भाम्" ॥८।१।१८७॥ इति धस्य ह । प्रा० । शोभने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । औ० । निर्दोषे, द्वा० ११ द्वा० । पुं० । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रैर्मोक्षं साधयतीति साधु । दर्श० १ तत्त्व । साधयति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधु । दश० १ अ० । साधयति--पोषयति विशिष्टक्रियाभिरपवर्गमिति साधु । उत्त० १ अ० । विशे० । साधयति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधु । समता च सर्वभूते ध्यायतीति निरुक्तन्यायात् साधु । साहायको वा संयमकारिण साधयतीति वा साधु । दश० १ अ० । भ० । अभिलषितमर्थं साधयतीति साधु । कृवापाजात्यादिना उण्प्रत्ययः । आ० म० १ अ० । निर्वाणसाधकान् योगान् साधयतीति साधुः । आव० ४ अ० । निर्वाणसाधकयोगसाधनात्साधुः । दश० १० अ० । अष्टादशदोषाणां वर्जके, दर्श० ४ तत्त्व । सुव्रते, दर्श० ४ तत्त्व । यतौ, पञ्चा० ११ विव० । मुक्तिसाधके, विशे० । यथावस्थितयतौ, आचा० २ श्रु० ३ चू० । ध० र० । मुनौ, पा० । सूत्र० । ज्ञानदर्शनचारित्रक्रियोपेते मोक्षमार्गव्यवस्थितसाधौ, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । ज्ञानादिक्रियाभिर्मुक्तिसाधनप्रवणे साधौ, पं० प्र० १ प्राभृ० । श्रेष्ठे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० । विशे० । भिक्षौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । सदाचारे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । पारमार्थिकयतौ, पं० व० ४ द्वार । ब्रह्मचर्यादिगुणान्विते, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सत्थुत्तगुणी साहू, ण सेस इइ णो पइण्ण इइ हेऊ ।
अगुणत्ता इति णेओ, दिट्ठंतो पुण सुवण्णं व ॥११६१॥

शास्त्रोक्तगुणी साधुः एवंभूत एव न शेषाः--शास्त्रवाह्या नोऽसाक प्रतिज्ञा; पक्ष इत्यर्थः । इह न शेषा इति अत्र हेतुः--साधकः अगुणत्वादिति ज्ञेयः; तद्गुणरहितत्वादित्यर्थः । दृष्टान्तः पुनः सुवर्णमिवात्र व्यतिरेकत इति गाथार्थः ।

सुवर्णगुणानाह--

विसघाइरसायणमं--गलत्थविणए पयाहिणावत्ते ।
गुरुए अडज्झकुत्थो, अट्ठ सुवण्णे गुणा हुंति ॥११६२॥

विषघाति सुवर्णं तथा रसायनं वयस्तम्भनं मङ्गलार्थं मङ्गलप्रयोजनं विनीतं कटकादियोग्यतया प्रदक्षिणावर्तमग्नितप्त प्रकृत्या गुरु सारतया अदाह्य सारतयैव अकुथनीयमत एवमष्टौ सुवर्णे गुणाः भवन्त्यसाधारणा इति गाथार्थः ।

दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह--

इअ(इ)ह मोहविसं घायइ, सिवोवएसा रसायणं होइ ।
गुणओ अ मंगलत्थं, कुणइ विणीओ अ जोग त्ति ॥११६३॥

इति मोहविषं घातयति, केषांचिद् वैद्योपदेशात्तथा रसायने भवत्येव, परिणतान्मुख्यं गुणतश्च मङ्गलार्थं करोति, प्रकृत्या विनीतश्च योग्य इति कृत्वेव गाथार्थः ।

मग्गणुसारिपयाहिण, गंभीरो गुरु अओ तहा होइ ।
कोहग्गिणा अडज्झो, अकुत्थी सुइसीलभावेणं ॥११६४॥

मार्गानुसारित्वं सर्वत्र प्रदक्षिणावर्तता गम्भीरचेतसा गुरुस्तथा भवति । क्रोधाग्निनाऽदाह्यो, ज्ञेयः अकुथनीयस्सदोचितेन शीलभावेनेति गाथार्थः ।

एवं दिट्ठंतगुणा, सज्झम्मि वि एत्थ होंति णायव्वा ।
ण हि साहम्माभावे, पायं जं होइ दिट्ठंतो ॥ ११६५ ॥

एवं दृष्टान्तगुणा विषघातित्वादयः साध्येऽप्यत्र साधावन्ति--ज्ञातव्या, नहि साधर्म्याभावे एकान्तेनैव प्रायो यद् यस्माद्भवति दृष्टान्त इति गाथार्थः ।

चउकारणपरिसुद्धं, कसछेअताहतालणाए अ ।
जं तं विसघाइरसा-इआइ गुण संजुअं होइ ॥ ११६६ ॥

चतुष्कारणपरिशुद्धं चैतद्भवति, कषेण छेदेन तापेन ताडनया चेति, यदेवभूतं तद्विषघातिरसायनादि गुणसंयुक्तं भवति नान्यत्परीक्षणीयमिति गाथार्थः ।

इअरम्मि कसाईआ, विसिट्ठलेसा तहेगसारत्तं ।
अनगारिणि अणुकंपा-वसणे अइनिच्चलं चित्तं ॥११९७॥
इतरस्मिन् साधौ कषादयो 'यथासंख्यमेते, यदुत-विशिष्ट-कषः-लेश्या, तथैकसारत्व छेदः, अपकारिण्यनुकम्पा तापः, व्यसने अतिनिश्चल चित्तं ताडना, एवं परीक्षेति गाथार्थः ।
तं कसिणगुणोवेअं, होइ सुवर्णं न सेसयं जुत्ती ।
ण वि णामरूवमित्ते-णएवमगुणो हवइ साहू ॥११९८॥
तत् कृत्स्नगुणोपेतं सद्भवति सुवर्णं तात्त्विकं, न शेषकम् 'युक्तिरिति' युक्तिसुवर्णं, नापि नामरूपमात्रेण अहोन एव-गुणेन युक्तं सुवर्णं भवति । एवमगुणः सन्तुपेक्षणीयो भवति साधुरिति गाथार्थः ।
जुत्तीसुवण्णयं पुण, सुवण्णवण्णं तु जइ वि कीरिज्जा(ज्जा) ।
ण हु होइ तं सुवण्णं, सेसेहि गुणेहि संतेहिं ॥११९९॥
युक्तिसुवर्णकं पुनः अतात्त्विकं, सुवर्णवर्णमेव यद्यपि क्रियेत कथञ्चित्तथापि न भवति, तत्सुवर्णं-शेषैर्गुणैर्विषघा-तित्वादिः सद्भिरिति गाथार्थः ।
प्रस्तुतमधिकृत्याह—
जे इह सुत्ते भणिआ, साहुगुणा तेहि होइ सो साहू ।
वण्णेणं जच्चसुव-ण्णयं च संते गुणणिहिम्मि ॥१२००॥
य इह शास्त्रे भणिता मूलगुणादयः साधुगुणास्तैर्भवत्यसौ साधु-, वर्णेन सता जात्यसुवर्णं च सति गुणनिधौ विषघा-तित्वादिरूप इति गाथार्थः ।
दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह-
जो साहू गुणरहिओ, भिक्खं हिंडइ ण होइ सो साहू ।
वण्णेणं जुत्तिसुव-ण्णयं च ऽसंते गुणणिहिम्मि ॥१२०१॥
यः साधुर्गुणरहितः सन् भिक्षामटति न भवत्यसौ साधु, एवं वर्णेन सता केवलेन, युक्तिसुवर्णवद् असति गुणनिधौ विषघातित्वादिरूप इति गाथार्थः ।
उद्दिट्ठकडं भुंजइ, छक्कायपमद्दणो घरं कुणइ ।
पच्चक्खं च जलगए, जो पिअइ कहएणु सो साहू ॥१२०२॥
उद्दिश्य कृतं भुङ्क्ते आकुट्टिकया, षट्कायप्रमर्दनो निरपेक्षतया, गृहं करोति, देवव्याजेन प्रत्यक्षं च जलगतान् प्राणिनो यः पिबत्याकुट्टिकया एव, कथं त्वसौ साधुर्भवति, नैवेति गाथार्थः ।
अणे उ कसाईआ, किर एए इत्थ होन्ति णायव्वा ।
एआहिँ परिक्खाहिं, साहुपरिक्खेह कायव्वा ॥१२०३॥
अन्ये त्वाचार्या इत्थमभिदधति-कषादयः प्रागुक्ताः किल एते उद्दिष्टभोक्तृत्वादयः अत्र-साध्वधिकारे भवन्ति-ज्ञातव्या यथाक्रमम् । किमुक्तं भवति—एताभिः परीक्षाभिर्भा-वसाराभिः साधुपरीक्षा इह-साधुप्रक्रमे कर्त्तव्येति गाथार्थः ।
निगमयन्नाह—
तम्हा जे इह सत्थे, साहुगुणा तेहि होइ सो साहू ।
अच्चंतसुपरिसुद्धेहिँ, मोक्खसिद्धि त्ति काऊणं ॥१२०४॥
तस्माद् इह शास्त्रे भणिता साधुगुणा प्रतिदिनक्रियादयस्तैः करणभूतैर्भवत्यसो भावसाधु, नान्यथा । अत्यन्तसुपरिशुद्धैस्तैरपि न द्रव्यमात्ररूपैर्मोक्षसिद्धिरिति कृत्वा भावमन्तरेण तदनुपपत्तेरिति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार । कृत्स्नसंयमप्रधानविदुषि, प्रवि० । नि० चू० । ज्ञानादीनि साधयतीति साधुः । साधयति शान्तिमिति साधु । दश० १ अ० । आचार्या विशिष्टाः सूत्रार्थदेशका अपरे तूपाध्याया सूत्रपाठकाः, अन्ये त्वेतद्विशिष्टाः सामान्यसाधव एवेति । विशे० । सकललोकाविगीते शिष्टाचाररते, ध० १ अधि० ।

जिअलोअबंधुलोआ, सॉहू सिंधुणो पारगा महाभागा ।
नाणाइएहिँ सिवसु-क्खसाहगा साहुणो सरणं द० प० ।
"नैवास्ति राजराज-स्य तत्सुखं नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधो-र्लोकव्यवहाररहितस्य" ति । स्था० १० ठा० ३ उ० । विहरंता दुविधा गच्छवासिणो, गच्छणिग्गता य । गच्छवासिणो उडुबद्धे मासे न विहरंति, गच्छणिग्गता जिणकप्पिया पडिवण्णगा अहालंदिया सुद्धपरिहारिया य ।' नि० चू० २० उ० । आव० । आलयविहारभाषाचङ्क्रमणस्थानविनयकर्मभिर्ज्ञायते यथैष साधुरिति । दश० ४ तत्त्व । साधूण पडिचोयणकोहणादीहिं कम्मबंधणं त्ति दवेवमादि । आ० चू० ४ अ० ।
सामन्नविसेसोभय-भेया वत्तव्वया बहुविह त्ति ।
अहवा नामाईणं, इच्छइ को कं नओ साहुं ॥३५९८॥
सोउं सद्दहिऊण य, नाऊण य तं जिणोवएसेणं ।
तं सव्वनयविसुद्धं, ति सव्वनयसम्मयं जं तु ॥३५९९॥
चरणगुणसुट्ठिओ होइ, साहू एस किरियानओ नाम ।
चरणगुणसुट्ठियं जं, चरणनया बिंति साहु त्ति ॥३६००॥
सो जेण भावसाहू, सव्वनया जं च भावमिच्छंति ।
नाण-किरियानओभय-जुत्तो य जओ सया साहू ३६०१
एता अपि गतार्थाः, नवरं 'अहवा नामाईणमित्यादि' अथवा, नाम-स्थापना-द्रव्य-भावसाधूनां मध्ये को नयः कं साधुमिच्छति ? इत्यादिकां वक्तव्यतां श्रुत्वा श्रद्धाय ज्ञात्वा चावबुध्येत्यर्थः । 'एस किरियानओ नाम' त्ति एष ज्ञानाविनाभूतक्रियालक्षणो नयो—नीतिपक्ष, स्थितपक्ष इत्यर्थः, यस्माच्चरणनयाश्चरणवृत्तय परममुनयश्चरणगुणसुस्थितमेव साधु ब्रुवते, नापर, स च येन यस्माद् भावसाधुरिह गृह्यते । सर्वनयाश्च यस्माद् भावसाधुमिच्छन्ति ज्ञानक्रियानयोभययुक्तश्च यतः सर्वदैव भावसाधुरुच्यते, तस्माज्ज्ञानक्रियासुस्थितः साधुरित्ययं सम्यक्पक्ष इति । विशे० ।
इदानीं योऽसौ आचार्यादीनां वैयावृत्त्यकरः श्राद्धकुलं प्रविशति स एभिर्दोषैर्विरहितो नियोक्तव्य –
अलसं घसिरं सुविरं, खमगं कोहमाणमायलोहिल्लं ।
कोऊहलपडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा ॥१३३॥ (भा०)
अलसो-आलसितो सो वेयावच्चं न कारेयव्वो, जदि कारवे असमाचारी, सो आलस्सेण ताव अच्छइ जाव फिडिओ देसकालो, ताहे पच्छा सड्ढयाणि जं किंचि देंति तेण आयरिआईणं विराहणा । अहवा सो अइप्पए वच्चइ

कम्मं निव्वाहिअं होउ त्ति, ताहे तत्थ अकाले वच्चंतस्स तम्म ते चेव दोसा। अथवा ताणि धम्मसड्ढियश्रा श्रोसक्कणदोसे उस्सक्कणदोसे वा करेज्जा ठवियगदोसा वा। अहवा आयरियाण निमित्तं पए वा उस्सूरे उवक्खडेज्जा, एते एवमादया अलसे दोसा। घसिरो-बहुभक्खगो, सोवि ण पडुप्पेयव्वो, सो पढमं चेव अप्पणो अट्ठाए हिंडइ गज्जत्तं, जाव सो अप्पणो पज्जत्त हिंडइ ताव फिडिश्रा वेला। अहवा तत्थेव पढमं वच्चइ पच्छा तत्थ य ण चेव वेला होइ, ते चेवोस्सक्कणादिश्रा दोसा अहवा तत्थ सड्ढकुले पभूय गेण्हइ ताहे उग्गमदोसा न सुज्झंति। सुविरो ताव सुयइ जाव फिडिश्रा भिक्खवेला। अहवा पढम तत्थ गतुं अंथलाए पच्छा सुयइ ते चेव दोसा। खमश्रो जइ अप्पणो हिंडइ ताहे आयरिश्रा परितावणादि पावति। अह खमश्रो आयरिश्राण गेण्हइ ततो अप्पणो परितावणादि पावइ। कोहिल्लो पुव्वलाभाश्रो फिडितो सकोहिश्रो संतो भणइ-अम्हे अरणतो लभाम, त पि तुज्झ पच्चएण न गेण्हामो। अहवा येवं लब्भइ तत्थ भडइ, अहवा ऊण पाणेण वा तेमणेण वा तत्थ वि रूसति। माणिश्रो जइ न अब्भुट्ठिज्जति तो पुणो न एइ को विसेसो सावगाण ते? । माइल्लो भद्दग अप्पसागारिश्र भोच्चा पत आणेति। लोभिल्लो जत्तिश्र लभति त सव्व गेण्हति, एसणं वा लोभेणं पेल्लेज्जा। कोऊहल्लिलो जत्थ नडादि पेच्छइ तत्थ पेच्छतो अच्छइ। पडिबद्धो जो सुत्तत्थेसु अच्छिश्रो तो सो ताव अच्छइ जाव कालवेला जाया। एए दोसा तम्हा एरिसं साहु वेयावच्च न कारेज्जा। श्रोघ०।

साहुकार-साधुकार-पुं०। साधु कृतं तत्सुष्ठु कृतमिति विद्वद्भ्य प्रशसायाम्, आ० म० १ अ०। पिं०। न०।

साहुजणाचरिय-साधुजनाचरित-न०। साधुजनैरासेवित्त, प्रश्न० ४ सव० द्वार।

साहुजीवि(ण्)-साधुजीविन्-पुं०। साधु-शोभन परोपकारपूर्वकं जीवितु शीलमस्य स साधुजीवी। सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। साधुना विधिना जीवितु शील यस्य स साधुजीवी। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। सूत्रोक्ते श्रमणव्यापारे, प० व० २ द्वार।

साहुजोणिय-साधुयोनिक-पुं०। साधुपक्षके नि० चू० १ उ०।

साहुणिक्खेवण-साधुनिक्षेपण-न०। साधर्मिकाणामशिवादिकारणैर्निक्षिप्तधारक, नि० चू० १५ उ०।

साहुणी-साध्वी-स्त्री०। रत्नत्रयधारिण्या श्रमण्याम्, ध०२ अधि०। तपस्विन्याम्, पञ्चा० २ विव०। आ० चू०। तथा साध्वी श्राद्धानामग्रे व्याख्यान न करोतीत्यक्षराणि कुत्र ग्रन्थे सन्तीति। अत्र दशवैकालिकवृत्तिप्रमुखग्रन्थमध्ये यति केवलश्राद्धी सभाग्रे व्याख्यान न करोति रागहेतुत्वादित्युक्तमस्ति, एतदनुसारेण साध्व्यपि केवलश्राद्धसभाग्रे व्याख्यान न करोति रागहेतुत्वादिति ज्ञायते। ही० ३ प्रका०।

साहुदंसण-साधुदर्शन-न०। मुनिजनावलोकने, पञ्चा० ७ विव०।

साहुदंसणभाव-साधुदर्शनभाव-पुं०। मुनिजनावलोकनाध्यवसाये पञ्चा० ७ विव०।

साहुदासी-साधुदासी-स्त्री०। मथुरानगरीवास्तव्यस्य जिनदासस्य श्रावकस्य भार्यायाम्, आ० चू० १ अ०। कल्प०।

साहुधम्म-साधुधर्म-पुं०। श्रमणसम्बन्धिचारित्रधर्मे, पञ्चा० ११ विव०। (स च क्षान्त्यादिको दशविध ' अणगारधम्म ' शब्दे प्रथमभागे २७६ पृष्ठे दर्शित ।)

साहुभाव-साधुभाव-पुं०। मालवदेशमण्डले ११८५ सवत्सरे श्रीनेमिनाथस्य मन्दिरनिर्माणकारके, स्वनामख्याते गृहपतौ, ती० ४ कल्प।

साहुमग्ग-साधुमार्ग-पुं०। मुनिपथे, ग० १ अधि०।

साहुमाइ-साध्वादि-पुं०। निर्ग्रन्थशाक्यादौ पञ्चा० १३विव०।

साहुमाणि(ण्)-साधुमानिन्-त्रि०। आत्मोत्कर्षायाऽसदनुष्ठानमानिनि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

साहुया-साधुता-स्त्री०। साधुभावे, उत्त० २ अ०।

साहुरंग-साधुरंग-पुं०। जिनचन्द्रसूरिशिष्यपुण्यप्रधानशिष्यसुमतिसागरशिष्यविद्याविशारदशिष्ये, अष्ट० ३२ अष्ट०।

साहुरक्खिय-साधुरक्षित-पुं०। स्वनामख्याते स्थविरे, एष मित्रवाचकक्षमाश्रमणानामादेश०। साधुरक्षितक्षमाश्रमण० पुनरेषं भवति। व्य० १ उ०।

साहुरयण-साधुरत्न-पुं०। सोमसुन्दरगुरूणा शिष्ये, ग० ३ अधि०। स०। येन सोमप्रभसूरिविरचितयतिजीतकल्पस्य वृत्ति कृता। पञ्चा० १ विव०।

साहुली-देशी-स्त्री०। वृक्षशाखायाम्, नि० चू० १ उ०।

साहुलूसय-साधुलूषक-त्रि०। साधुमोषके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

साहुवग्ग-साधुवर्ग-पुं०। साधूना वृन्दे, ग० १ अधि०।

साहुवयण-साधुवचन-न०। असत्यसत्यामृषावचनपरित्यागे, सथा०।उद्घाटापौरुषीत्यादिके विभ्रमकारिणि,ध०२अधि०।

साहुवसण-साधुव्यसन-न०। दुष्टराज्यादिजनिताया शिष्टजनानामापदि, नि० चू० ६ उ०।

साहुवाय-साधुवाद-पुं०। वर्णवादे, स्था० १० ठा० ३ उ०। आ० म०। द्वी०।

साहुसक्खिय-साधुसाक्षिक-न०। साधवो-मुनयस्ते साक्षिणस्तत्र विरतिप्रतिपत्तिसमकालसमयसमीपवर्त्तिन साक्षिणो यत्र तत्तथा। साधून् साक्षिण० कृत्वा कृतं, पा०।

साहुसचेट्ठा-साधुसच्चेष्टा-स्त्री०। साधूना विनयादिरूपाया सच्चेष्टायाम्, षो० १२ विव०।

साहुसमिक्खा-साधुसमीक्षा-स्त्री०। साध्वी चासौ समीक्षा च साधुसमीक्षा। यथावस्थिततत्त्वपरिच्छित्तौ, समतायाञ्च। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

साहुसामग्गी-साधुसामग्री-स्त्री०। साधूना ज्ञानादिरूपायां सामग्र्याम्, द्वा०।

जिनभक्तिप्रतिपादनानन्तरं तत्साध्यं सामग्र्यमाह—

ज्ञानेन ज्ञानिभावः स्या-द्भिक्षुभावश्च भिक्षया ।
वैराग्येण विरक्तत्वं, संयतस्य महात्मनः ॥ १ ॥

ज्ञानेनेति—व्यक्तः ।

विषयप्रतिभासाख्यं, तथात्मपरिणामवत् ।
तत्त्वसंवेदनं चेति, त्रिधा ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥२॥

तत्त्वं परमार्थस्तत्सम्यक्प्रवृत्त्याद्युपहितत्वेन वेद्यते यस्मिस्तच्च । तत्त्वपदेन मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः, तद्विषयस्येतराशनिषेधाद्यवच्छिन्नत्वेनातत्त्वत्वात्, सम्यक्पदेनाविरतसम्यग्दृष्टिज्ञानेन निवृत्तिः, तस्य ज्ञानाज्ञानसाधारणप्रतिभासत्वप्रयोज्यविषयप्रवृत्त्यद्युपहितत्वेऽपि ज्ञानत्वप्रयोज्यविरतिप्रवृत्त्याद्युपहितत्वाभावादिति । इत्यमुना प्रकारेण त्रिधा ज्ञानं प्रकीर्तितम् । तदाह—" विषयप्रतिभासं चा-त्मपरिणतिमत्तथा । तत्त्वसंवेदनं चैव ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥१॥" (आत्मपरिणतिविषयः 'आतपरिणइ' शब्दे द्वितीयभागे १६० पृष्ठे गतः ।)

आद्यं मिथ्यादृशां मुग्ध-रत्नादिप्रतिभासवत् ।
अज्ञानावरणापाया-ग्राह्यत्वाद्यविनियश्रम् ॥३॥

आद्यमिति—आद्यं विषयप्रतिभासज्ञानं मिथ्यादृशामेव मुग्धस्याज्ञस्य रत्नप्रतिभासादिवत् तत्तुल्यम् । तदाह—"विषकण्टकरत्नादौ बालादिप्रतिभासवत्" इति । अज्ञानं मत्यज्ञानादिकं तदावरणं यत्कर्म तस्यापाय क्षयोपशमस्तस्मात् । तदाह—" अज्ञानावरणापायम् " इति । ग्राह्यत्वादीनामुपादेयत्वादीनामविनिश्चयोऽनिर्णयो यतस्तत् ।तदाह—" तद्धेयत्वाद्यवेदकम् " इति । यद्यपि मिथ्यादृशामपि घटादिज्ञाने घटादिग्राह्यता निश्चीयत एव, तथापि स्वविषयत्वावच्छेदेन तदनिश्चयान्न दोषः, स्वसंवेद्यस्य स्वस्यैव तत्त्वानिश्चयात् ।

भिन्नग्रन्थेर्द्वितीयं तु, ज्ञानावरणभेदजम् ।
श्रद्धावत्प्रतिबन्धेऽपि, कर्मणा सुखदुःखयुक् ॥४॥

भिन्नग्रन्थेरिति—भिन्नग्रन्थेः सम्यग्दृशस्तु द्वितीयमात्मपरिणामवत् ज्ञानावरणस्य भेदः-क्षयोपशमस्तज्जम् । तदाह—" ज्ञानावरणह्रासोत्थम् " इति । श्रद्धावत् वस्तुगुणदोषपरिज्ञानपूर्वकचारित्रेच्छान्वितम् ,प्रतिबन्धेऽपि चारित्रमोहोदयजनितान्तरालक्षणे सति कर्मणा पूर्वार्जितेन । सुखदुःखयुक्-सुखदुःखान्वितम् । तदाह—" पातादिपरतन्त्रस्य तद्दोषादावसंशयम् । अनर्थाद्याप्तियुक्तं च,आत्मपरिणतिमन्मतम् ॥ १ ॥"

स्वस्थवृत्तेस्तृतीयं तु, सज्ज्ञानावरणव्ययात् ।
साधोर्विरत्यवच्छिन्न-मविघ्नेन फलप्रदम् ॥ ५ ॥

स्वस्थेति—स्वस्थाऽनाकुला वृत्तिः कायादिव्यापाररूपा यस्य तस्य साधोः तृतीयम् विरतिः सदसत्प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मिका तयाऽवच्छिन्नमपहितम् । अविघ्नेन-विघ्नाभावेन, फलप्रदम् । तदाह—" स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य तद्धेयत्वादिनिश्चयम् । तत्त्वसंवेदनं सम्यग् यथाशक्ति फलप्रदम् ॥ १ ॥ " इदं च सज्ज्ञानावरणस्य व्ययात्-क्षयोपशमात् प्रादुर्भवति । तदाह—" सज्ज्ञानावरणापायम् " इति ।

निष्कम्पा च सकम्पा च, प्रवृत्तिः पापकर्मणि ।
निरवद्या च सेत्याहु-र्लिङ्गान्यत्र यथाक्रमम् ॥६॥

निष्कम्पा चेति—अत्रोक्तेषु त्रिषु भेदेष्वज्ञानसज्ज्ञानत्वेन फलितेषु यथाक्रमं पापकर्मणि निष्कम्पा दृढा प्रवृत्तिः, सकम्पा चादृढा निरवद्या च सा प्रवृत्तिरिति , लिङ्गान्याहुः । तदुक्तम्—"निरपेक्षप्रवृत्त्यादि लिङ्गमेतदुदाहृतम् ।" तथा—" तथाविधप्रवृत्त्यादिव्यङ्ग्यं सदनुबन्धि च " तथा—" न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादिगम्यमेतत्प्रकीर्तितम् । " इति ।

ननु कैतानि लिङ्गान्युपयुज्यन्त इत्यत आह—

जातिभेदानुमानाय, व्यक्तीनां वेदनात् स्वतः ।
तेन कर्मान्तरात् कार्य-भेदेऽप्येतद्भिदाऽक्षता ॥७॥

जातीति—जातिभेदस्य-निष्कम्पपापप्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकस्याज्ञानादिगतस्य अनुमानाय उक्तानि लिङ्गानीति सम्बन्धः । व्यक्तीनाम्-अज्ञानादिव्यक्तीनां स्वतो-लिङ्गनैरपेक्ष्येणैव वेदनात्-परिज्ञानात् , तेन कर्मान्तरात्-चारित्रमोहादिरूपादुदयक्षयोपशमावस्थानावस्थितात् । कार्यभेदेऽपि-सावद्यानवद्यप्रवृत्तिवैचित्र्येऽपि । तद्भिदा अज्ञानादिभिदाऽक्षता। प्रवृत्तिसामान्ये ज्ञानस्य हेतुत्वात्तद्वैचित्र्येणैव तद्वैचित्र्योपपत्तेः । प्रवृत्तौ कर्मविशेषप्रतिबन्धकत्वस्यापि हेतुविशेषविघटनं विनाऽयोगात् । वस्तुतः कार्यस्वभावभेदे कारणस्वभावभेदः सर्वत्राप्यावश्यकः , अन्यथा हेत्वन्तरसमवधानस्याप्यकिंचित्करत्वादिति विवेचितमन्यत्र ।

योगादेवान्त्यबोधस्य, साधुः सामग्र्यमश्नुते ।
अन्यथा कर्षगामी स्यात् , पतितो वा न संशयः ॥८॥

योगादिति—अन्त्यबोधस्य—तत्त्वसंवेदनस्य योगादेव-संस्काररूपसम्बन्धादेव साधुः सामग्र्यं—पूर्णभावमश्नुते । अन्यथा तत्त्वज्ञानसंस्काराभावे पुनर्योगशक्त्यनुवृत्तौ शङ्काकाङ्क्षादिना कर्षगामी वा स्यात् , तदननुवृत्तौ च पतितो वा न संशयोऽत्र कश्चित् , बाह्यलिङ्गस्याकारणत्वात् ।(द्वा०) (भिक्षाविषयः ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे १००७ पृष्ठे गतः ।)

स्वोचिते तु तदारम्भे , निष्ठिते नाविशुद्धिमत् ।
तदर्थकृतिनिष्ठाभ्यां, चतुर्भङ्ग्यां द्वयोर्ग्रहात् ॥ १७ ॥

स्वोचिते-इति स्वोचिते तु स्वशरीरकुटुम्बादेर्योग्ये तु आरम्भे पाकप्रयत्ने निष्ठिते चरमेन्धनप्रक्षेपेणौदनसिद्ध्युपहिते । तत् स्वभाग्यातिरिक्तपाकशून्यया सङ्कल्पकः स्वार्थमुपकल्पितमन्नम् " इतो मुनीनामुचितेन दानेनात्मानं कृतार्थयिष्यामि " इत्याकारं नाविशुद्धिमत् न दोषान्वितं तदर्थकृतिराद्यपाकः, निष्ठा च चरमः पाकः , ताभ्यां निष्पन्नाया चतुर्भङ्ग्या—तदर्थं कृतिस्तदर्थं निष्ठा, अन्यार्थं कृतिस्तदर्थं निष्ठा,तदर्थं कृतिरन्यार्थं निष्ठा,अन्यार्थं कृतिरन्यार्थं च निष्ठा, इत्येवंरूपाया द्वयोर्भङ्गयोर्ग्रहाच्छुद्धत्वेनोपादानात् । तदुक्तम्—" तस्स कड तस्स निट्ठियं चउभंगो तत्थ दु चरिमा सुद्धा"। यदि च साध्वर्थं पृथक्क्रियमाणारम्भप्रयोजकशुभसंकल्पनमपि गृहिणो दुष्टं स्यात्तदा साधुवन्दनादियोगोऽपि तथा स्यादिति न

किंचिदेतत्। तदिदमुक्तं-"स्वोचिते तु यदारम्भे,तथा सङ्कल्पनं क्वचित्। न दुष्टं शुभभावत्वा-त्तच्छुद्धापरयोगवत् ॥१॥"

प्राय एवमलाभः स्या-दिति चेद्बहुधाऽप्ययम् ।
संभवीत्यत एवोक्तं, यतिधर्मोऽतिदुष्करः ॥ १८ ॥

प्राय इति-एवमसङ्कल्पितस्यैव पिण्डस्य ग्रहणे प्रायोऽलाभ स्यात्-शुद्धपिण्डाप्राप्तिः स्यात्, इति चेन् बहुधाऽपि-संकल्पानिर्मितैर्बहुभिरपि प्रकारैः शुद्धितद्विनादिभिरयमलाभ सम्भवी । अथवा-एवं प्रायोऽसंकल्पितस्यालाभ स्यादिति चेद्बहुधाऽप्ययमसंकल्पितस्य लाभ संभवि । अदित्सूना भिक्षूणामभावेऽपि च बहूनां पाकस्योपलब्धे । तथापि तद्वृत्तेर्दुष्करत्वात्तत्प्रणेतुरनाप्तता स्यादित्यत आह-इत्यत एव यतिधर्मो मूलोत्तरगुणसमुदायरूपोऽतिदुष्कर उक्त । अतिदुर्लभं मोक्षं प्रति आतिदुष्करस्यैव धर्मस्य हेतुत्वात्, कार्यानुरूपकारणवचनेनैवाप्तसिद्धे ।

सङ्कल्पितस्य गृहिणा, त्रिधा शुद्धिमतो ग्रहे ।
को दोष इति चेज्ज्ञाते, प्रसङ्गात्पापवृद्धितः ॥ १६ ॥

संकल्पितस्येति-गृहिणा-गृहस्थेन संकल्पितस्य-यत्यर्थं प्रतिदित्सितस्य त्रिधा शुद्धिमतो-मनोवाक्कायशुद्धस्य साधोर्ग्रहे- ग्रहणे को दोष । आरम्भप्रत्याख्यानस्य लेशतोऽप्यव्याघातादिति चेत्, ज्ञाते-" मदर्थं कृतोऽयं पिण्ड " इति ज्ञाते सति तद्ग्रहणे प्रसङ्गात्, गृहिण पुन तथाप्रवृत्तिलक्षणात् पापवृद्धित तन्निमित्तभावस्य परिहार्यत्वात् ।

यत्यर्थं गृहिणश्चेष्टा, प्राण्यारम्भप्रयोजिका ।
यतेस्तद्वर्जनोपाय-हीना सामग्र्यघातिनी ॥ २० ॥

यत्यर्थमिति-यत्यर्थं गृहिणः प्राण्यारम्भप्रयोजिका चेष्टा निश्चितक्रिया। तद्वर्जनोपायैराधाकर्मिकं कुलपरित्यागादिलक्षणैर्हीना सती यते सामग्र्यघातिनी गुणश्रेणिहानिकर्त्री ।

वैराग्यं च स्मृतं दुःख-मोहज्ञानान्वितं त्रिधा ।
आर्तध्यानाख्यमाद्यं स्या-द्यथाशक्त्यप्रवृत्तितः ॥ २१ ॥

वैराग्यं चेति-दुःखान्वितं मोहान्वितं ज्ञानान्वितं चेति त्रिधा वैराग्यं स्मृतम् । आद्यं दुःखान्वितं आर्त्तध्यानाख्यम् स्यात्। यथाशक्ति-शक्त्यनुसारेण मुक्त्युपायेऽप्रवृत्तितः । तात्त्विकं तु वैराग्यं शक्तिमतिक्रम्यापि श्रद्धातिशयेन प्रवृत्तिं जनयेदिति ।

अनिच्छा ह्यत्र संसारे, स्वेच्छालाभादनुत्कटा ।
नैर्गुण्यदृष्टिजं द्वेष, विना चित्ताङ्गखेदकृत् ॥ २२ ॥

अनिच्छेति-अत्र हि वैराग्ये सति संसारे-विषयसुखे अनिच्छा इच्छाभावलक्षणा आत्मपरिणति नैर्गुण्यदृष्टिजं संसारस्य बलवदनिष्टसाधनत्वप्रतिसन्धानजम् द्वेष विनाऽनुत्कटा । अत एव चित्ताङ्गयो खेदकृत्-मानसशरीरदुःखोत्पादिका । इच्छाविच्छेदो हि द्विधा स्यात् अलभ्यविषयत्वज्ञानाद् द्वेषा आद्य इष्टाप्राप्तिज्ञानाद् दुःखजनक , अन्त्यश्च न तथेति ।

एकान्तात्मग्रहोद्भूत-भवनैर्गुण्यदर्शनात् ।
शान्तस्यापि द्वितीयं स-ज्ज्वरानुद्भवसन्निभम् ॥ २३ ॥

एकान्तेति-एकान्त सर्वथा सन् स्थायी वा य आत्मा तस्य ग्रहादुत्पन्नं यद्भवनैर्गुण्यदर्शनं तत शान्तस्यापि प्रशमवतोऽपि लोकदृष्ट्या , द्वितीयं मोहान्वितं वैराग्यं भवति । एतच्च सत् शक्त्यावस्थितो यो ज्वरस्तस्यानुदयो वेलाप्राक्काललक्षणस्तत्सन्निभं तथा भवेत् । दृष्टजनितस्य वैराग्यस्योत्कटत्वेऽपि मिथ्याज्ञानवासनाऽविच्छेदेदपायप्रतिपातशक्तिसमन्वितत्वात् ।

स्याद्वादविषया ज्ञात्वा, बद्धानां कष्टमङ्गिनाम् ।
तृतीयं भवभीभाजां, मोक्षोपायप्रवृद्धिमत् ॥ २४ ॥

स्याद्वादेति-स्याद्वादस्य सकलनयसमूहात्मकवचनस्य विषयया बद्धानामङ्गिनां कष्टं दुःखं ज्ञात्वा भवभीभाजां समारभयजुषां तृतीयं ज्ञानान्वितं वैराग्यं भवति । तच्च मोक्षोपाय-त्रिरत्नसाम्राज्यलक्षणे प्रवृत्तिमत्-प्रकृष्टवृत्त्युपहितम् ।

सामग्र्यं स्यादनेनैव, द्वयोस्तु स्वोपमर्दतः ।
अत्राङ्गत्वं कदाचित्स्या-द्गुणवत्पारतन्त्र्यतः ॥२५॥

सामग्र्यमिति-अनेनैव-ज्ञानान्वितवैराग्येणैव सामग्र्यं सर्वथा दुःखोच्छेदलक्षणं स्यात् , ज्ञानसहितवैराग्यस्यापारशक्तिप्रतिबन्धकत्वात्। द्वयोस्तु-दुःखमोहान्वितवैराग्ययो स्वोपमर्दत -स्वावनाशद्वारा अत्र-ज्ञानान्वितवैराग्येऽङ्गत्वमुपकारकत्वम् कदाचिच्छुभोदयदशाया स्यात् । गुणवत पारतन्त्र्यम्-आज्ञावशवृत्तित्वं तत ,ज्ञानवत्पारतन्त्र्यस्यापि फलतो ज्ञानत्वात् ।

ननु गुणवत्पारतन्त्र्यं विनाऽपि भावशुद्ध्या वैराग्यसाफल्यं भविष्यतीत्यत आह-

भावशुद्धिरपि न्याय्या, न मार्गाननुसारिणी ।
अप्रज्ञाप्यस्य बालस्य, विनैतत्स्वाग्रहात्मिका ॥ २६ ॥

भावेति-भावशुद्धिरपि यमनियमादिना मनसोऽसंक्लिश्यमानताऽपि । एतत् गुणवत्पारतन्त्र्यं विना अप्रज्ञाप्यस्य-गीतार्थोपदेशावधारणयोग्यतारहितस्य बालस्य-अज्ञानिन स्वाग्रहात्मिका-शास्त्रश्रद्धाविकस्वकल्पनाभिनिवेशमयी मार्गो-विशिष्टगुणस्थानावाप्तिसमवण स्वरसवाही-जीवपरिणामस्तदननुसारिणी न न्याय्या । यदाह-

" भावशुद्धिरपि ज्ञेया, यैषा मार्गानुसारिणी ।
प्रज्ञापनाप्रियाऽत्यर्थं, न पुन स्वाग्रहात्मिका ॥ १ ॥
रागो द्वेषश्च मोहश्च, भावमालिन्यहेतव ।
एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो, हन्तोत्कर्षो य तत्त्वत ॥ २ ॥
तथोत्कृष्टे जगत्यस्मिन् , शुद्धिर्नै शब्दमात्रकम् ।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पि-निर्मितं , यैवद्धेत् ॥ ३ ॥

मोहानुत्कर्षकृच्चैत-दत एवापि शास्त्रवित् ।
क्षमाश्रमणहस्तेने-त्याह सर्वेषु कर्मसु ॥ २७ ॥

मोहेति एतद्-गुणवत्पारतन्त्र्यं च मोहानुत्कर्षकृत् स्वाग्रहहेतुमोहापकर्षनिबन्धनम् । तदाह-"न मोहाद्रिक्तताभावे, स्वाग्रहो जायते क्वचित् । गुणवत्पारतन्त्र्यं हि, तदनुत्कर्षसाधनम् ॥ ॥ " अत एव गुणवत्पारतन्त्र्यस्य मोहानुत्कर्षकृत्त्वादेव शास्त्रविदपि-आगमज्ञोऽपि सर्वेषु कर्मसु-दीक्षादानोद्देशसमुद्देशादिषु क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह । इत्थ-

मभिलापस्य भावतो गुरुपारतन्त्र्यहेतुत्वात् तस्य च मोहापकर्षद्वाराऽतिचारशोधकत्वात्। तदाह—“ अत एवागमज्ञोऽपि दीक्षादानादिषु ध्रुवम्। क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह-सर्वेषु कर्मसु ॥ १ ॥ ”

यस्तु नान्यगुणान् वेद, न वा स्वगुणदोषवित्।
स एवैतन्नाद्रियते, न त्वासन्नमहोदयः ॥ २८ ॥

यस्त्विति—व्यक्त।

गुणवद्बहुमानाद्यः, कुर्यात्प्रवचनोन्नतिम्।
अन्येषां दर्शनोत्पत्ते—स्तस्य स्यादुन्नतिः परा ॥ २६ ॥

गुणवदिति-गुणवतां-ज्ञानादिगुणशालिनां बहुमानात् यः प्रवचनस्योन्नतिं—बहुजनश्लाघा कुर्यात् तस्य स्वतोऽन्येषां दर्शनोत्पत्ते: परा—तीर्थकरत्वादिलक्षणा उन्नति स्यात्। कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य। तदाह—“ यस्तून्नतौ यथाशक्ति, सोऽपि सम्यक्त्वहेतुताम्। अन्येषां प्रतिपद्येह, तदेवाप्नोत्यनुत्तमम् ॥१॥ प्रक्षीणतीव्रसंक्लेशं, प्रशमादिगुणान्वितम्। निमित्त सर्वसौख्याना, तथा सिद्धिसुखावहम् ॥ २ ॥ ”

यस्तु शासनमालिन्ये—ऽनाभोगेनापि वर्तते।
बध्नाति स तु मिथ्यात्वं, महानर्थनिबन्धनम् ॥ ३० ॥

यस्त्विति-यस्तु शासनमालिन्ये—लोकविरुद्धगुणवन्निन्दादिना प्रवचनोपघाते अनाभोगेनाप्यज्ञानेनापि वर्तते, स तु शासनमालिन्योत्पादनावसर एव मिथ्यात्वोदयात् महानर्थनिबन्धनं-दुरन्तसंसारकान्तारपरिभ्रमणकारणं मिथ्यात्वं बध्नाति। यदाह—“ य. शासनस्य मालिन्ये-ऽनाभोगेनापि वर्तते। स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वा—दन्येषां प्राणिनां ध्रुवम् ॥१॥ बध्नात्यपि तदेवालं, परं संसारकारणम्। विपाकदारुण घोरं, सर्वानर्थनिबन्धनम् ॥ २ ॥ ”

स्वेच्छाचारे च बालानां, मालिन्यं मार्गबाधया।
गुणानां तेन सामग्र्यं, गुणवत्पारतन्त्र्यतः ॥ ३१ ॥

स्वेच्छेति-बालानाम्-अज्ञानिना स्वेच्छाचारे च सति। मार्गस्य-बाधया “ अप्रधानपुरुषोऽयं जैनानां मार्ग ” इत्येवं जनप्रवादरूपया मालिन्य भवति मार्गस्य। तेन हेतुना, गुणवत्पारतन्त्र्यत एव गुणाना ज्ञानादीनां सामग्र्यं पूर्णत्व भवति।

इत्थं विज्ञाय मतिमान्, यतिर्गीतार्थमङ्गकृत्।
त्रिधा शुद्धयाचरन् धर्मं, परमानन्दमश्नुते ॥ ३२ ॥

इत्थमिति स्पष्ट। इति साधुसामग्र्यद्वात्रिंशिका द्वा०२६द्वा०।

साहेमाण-साधयत्-त्रि०। प्रतिपादयति, सू० १ श्रु० १३ अ०। नि० चू०।

साहेल्लता-साहित्य-न०। सहिततायाम्, दशा० ४ अ०।

साहोहामिय-माध्वभाषित-न०। संयतेन याचिते, पञ्चा० १३ विव०।

सिआ-स्यात्-अव्य०। “ स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात् ” ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति संयुक्तस्य यात्पूर्व इत्। प्रा०। कदाचिदर्थे, पञ्चा० ३ आधि० ६ सूत्र।

सिआल-शृगाल-पुं०। “ इत्कृपादौ ” ॥ ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्त्वम्। जम्बूके, प्रा० २ पाद।

सिउंठा-असिकुण्ठा-स्त्री०। साधारणशरीरवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

सिं-एतस्य-एतद् इस् “वेदंतदेतदो ङसाऽऽम्भ्यां सेसिमौ ’ ॥ ८ । ३ । ८१ ॥ इति आमा सहितस्य एतस्य स्थाने सिमादेशः। सिं गुणा। सिं सीलं। तेषां शीलम्। प्रा० ३ पाद।

सिंग-शृङ्ग-न०। “ मसृणमृगाङ्कमृत्युशृङ्गधृष्टे वा ” ॥ ८ । १ । १३० ॥ इति ऋत उत्त्वम्। प्रा०। विषाणे, विशे०। अनु०। आचा०। आ० चू०। प्रश्न०। आ० म०।

सिंगक्खोड-शृङ्गस्फोट-न०। शृङ्गप्रदेशे, ध०३ अधि०। ओघ०।

सिंगणाइय-शृङ्गनादित-न०। सर्वेषु कार्येषु शृङ्गभूते कार्ये, “ कज्जेसु सिंगभूत कज्जं तु सिंगणाइय होइ ”। प० भा० ३ कल्प। बृ०। पं० चू०।

सिंगधम-शृङ्गधम-त्रि०। शृङ्ग धमति शृङ्गधम।। शृङ्गवादके, ‘ सिंगं धमति। अण्णया वा तेणोवासेण चोरा गावीओ हरंति तेण समावतिए धतं चोरओ कुट्ठो आगओ ’ त्ति। नि० चू० १ उ०।

सिंगपाय-शृङ्गपात्र-न०। शृङ्गमये पात्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ०।

सिंगभेय-शृङ्गभेद-पुं०। महिषादिविषाणच्छेदे, सूत्र० १ श्रु० २ अ०। विषाणविशेषे च। ओघ०।

सिंगमाल-शृङ्गमाल-पुं०। द्रुमजातिविशेषे, जं० २ वक्ष०।

सिंगरीडी-शृङ्गरीटी-स्त्री०। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ०।

सिंगवंदण-शृङ्गवन्दन-न०। शृङ्गेन उत्तमाङ्गैकदेशेन वन्दनम् इति शृङ्गवन्दनम्। शिरसा वन्दने, आव० ३ अ०। आ० म०। आ० चू०। “सिंग पुण कुंभगणिवातो” कुम्भकशब्देनेह ललाटमुच्यते तस्य वामपार्श्वयोर्निपातो हस्ताभ्यां स्पर्शन तदुक्तं वन्दन शृङ्गमुच्यते। एतदुक्तं भवति-अहो कायं इत्याद्यावर्त्तान् कुर्वन् कराभ्या ललाटस्य मध्यदेश स्पृशति। किं तु वामपार्श्वं दक्षिणपार्श्वं वा न स्पृशतीति। बृ० ३ उ०।

सिंगवेर-शृङ्गवेर-न०। आर्द्रके, उत्त० ३६ अ०। सूत्र०। जी०। प्रज्ञा०। आचा०।

सिंगार-शृङ्गार-पुं०। कृपादित्वादित्त्वम्। प्रा०१ पाद। शृङ्गं सर्वरसेभ्य: परमप्रकर्षकोटिलक्षणमियर्ति-गच्छतीति। कमनीयकामिनीदर्शनादिसंभवे रतिप्रकर्षात्मके सर्वरसप्रधाने रसविशेषे अनु०।

शृङ्गाररसं लक्षणतस्त्वाह-

सिंगारो नाम रसो, रतिसंजोगाभिलामसंजणणो।
मंडणविलासविब्बो—अहासलीलारमणलिंगो ॥ ४ ॥

सिंगारो रसो जहा—

महुरविलाससललिअं, हियउम्मादणकरं जुवाणाणं।
सामा सद्दुद्दामं, दाएती मेहलादामं ॥ ५ ॥

शृङ्गारो नाम रस. किं विशिष्ट इत्याह-‘रती’ त्यादि,रतिश-ब्देनेह रतिकारणानि सुरतव्यापाराङ्गानि ललनादीनि गृह्यन्ते,

तै सार्द्धं सयोगाभिलाषसंजनक., तस्य तत्कार्यत्वादेव, तथा मण्डनविलासविब्बोकहास्यलीलारमणानि लिङ्गं यस्य स तथा, तत्र मण्डनं कङ्कणादिभि ,विलास' कामगर्भो रम्यो नयनादिविभ्रम. विब्बोय'त्ति देशिपदम् ,अङ्गजविकारार्थं हास्यप्रनीत लीला सकामगमनभाषितादिरमणीयचेष्टा, रमण-क्रीडनमिति । उदाहरणमाह—'सिंगारो' इत्यादि—'महुरगाहा' श्यामा । स्त्री मेखलादाम रसनासूत्रं दर्शयति-प्रकटयति इत्यर्थं । कथभूतमित्याह-रणन्मणिकिङ्किणिस्वरमाधुर्येन्मधुर , तथा विलासै -सकामैश्चष्टाविशेषैर्ललित—मनोहारि, तथा शब्दोद्दामं किङ्किणीस्वनमुखरम् ,किमिति तत्प्रकटयति इत्याह-यतो-हृदयोन्मादनकरम्-प्रबलस्मरदीपनं यूनामिति, शृङ्गारप्रधानचेष्टाप्रतिपादनादयं शृङ्गारो रस इति । अनु० । ज्ञा० । विपा० । प्रश्न० । मण्डनभूषणाटोपे , जं० १ वक्ष० । अलङ्कारादिकृतायां शोभायाम् , तद्योगाच्छृङ्गारम् । शृङ्गारमिव शृङ्गारम् । अतिशयशोभावति , भ० २ श० १ उ० । अलङ्कृते , रा० । नि० चू० । देवानामेकान्तात्यन्तिकमनोज्ञत्वे प्रकृष्टरसास्पदत्वादिरूपे कामभेदे, पुनार्योरन्योन्यरक्तयो रतिप्रकृति शृङ्गार इति । स्था० ४ ठा ४ उ० ।

सिंगारकहाविरय–शृङ्गारकथाविरत–त्रि० । कामकथानिवृत्ते, पञ्चा० १० विव० ।

सिंगारमइ–शृङ्गारमति–स्त्री० । मूलपिण्डे उदाहृतस्य सिन्धुराजस्य भार्यायाम् , पिं० । (मूलकम्म ' शब्दे षष्ठभागे व्याख्यातैषा ।)

सिंगारमंजरी–शृङ्गारमञ्जरी–स्त्री० । श्रीनलराजस्य भगिन्यां विक्रमसिंहस्य भार्यायाम् , प्रव० २ द्वार ।

सिंगाररस--शृङ्गाररस--पुं० । मन्मथदीपके , दश० ३ अ० ।

सिंगाररसोवेय--शृङ्गाररसोपेत--त्रि० । कामोत्कोचके, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

सिंगारागार–शृङ्गारागार--न० । पुं० । शृङ्गारस्य रसविशेषस्यागारमिवागारम् । शृङ्गाररसोपेते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

शृङ्गाराकार--त्रि० । शृङ्गारो मण्डनभूषणादिस्तत्प्रधान आकार.-आकृतिर्यस्येति तथा । मण्डनप्रधानाकृतिसहिते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । जी० । औ०

सिंगारागारचारुवेसा--शृङ्गारागारचारुवेषा--त्रि० । शृङ्गारो मण्डनभूषणाटोपस्तत्प्रधान आकारो यासां तास्तथा चारुवेषा मनोहरवेषा मनोहरनेपथ्या पश्चात् कर्मध रय । अथ वा शृङ्गारस्य प्रथमरसस्यागारमिव-गृहमिव चारुवेषो यासां तास्तथा । जं० १ वक्ष० । कृतसुन्दरवेषायाम् , रा० । प्रश्न० । सू० प्र० । विशे० । चं० प्र० । औ० ।

सिंगारिय--शृङ्गारिक--पुं० । शृङ्गाररसवति , उपा० ८ अ० ।

सिंगि(ण्)--शृङ्गिन्--पुं० । शृङ्गमस्येति शृङ्गी । विषाणिनि पशौ , अनु । आ० म० ।

सिंघ सिंह--पुं० । "हो घोऽनुस्वारात्" ॥८ । १ । २६४॥ इति हस्य घो वा । मृगाधिपे , प्रा० १ पाद ।

सिंघली--पुं० । देशी० । म्लेच्छदेशविशेषे,त्रि० । तद्वासिनि जने च । भ० ९ श० ३३ उ० ।

सिंघाडग–शृङ्गाटक--न० । त्रिकोणे जलजफलविशेषे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । शृङ्गाटकाकृतिपथयुक्ते, त्रिकोणस्थाने, आ० म० १ अ० । अनु० । ज्ञा० । स्था० । प्रश्न० । कल्प० । रा० । चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णतो राहो कृष्णपुद्गले, चं० प्र० २० पाहु० । भ० । कल्प० । औ० । दशा० । रा० । जं० । सू० प्र० । आचा० । बृ० । आव० ।

सिंघाण–सिङ्घाण–न० । नासिकाश्लेष्मणि, स्था० ६ ठा० ३ उ० । स० । ध० । न० । उत्त० । नासिकोद्भवे श्लेष्मणि,स्था० ५ ठा० ३ उ० । कल्प० । ज्ञा० । न० ।

सिंच–सिच–धा० । क्षरणे, "सिचे सिञ्च-सिम्पौ" ॥ ८ । ४ । ९६ ॥ इति सेचते सिञ्चादेश । सिंचइ । सिञ्चति । प्रा० । आचा० ।

सिंदी--सिन्दी--स्त्री० । खर्जूर्याम् , आ० म० १ अ० ।

सिंदुवार–सिन्दुवार–पुं० । निर्गुण्डीवृक्षे,जं० २ वक्ष० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । आचा० ।

सिंदुवारकुसुम--सिन्दुवारकुसुम--न० । निर्गुण्डीपुष्पे, पञ्चा० ५ विव० ।

सिंदूर–सिन्दूर--न० । " इत एद् वा " ॥८।१।८५ ॥ पक्षे इकार एव सेन्दूर । सिन्दूर । वर्णकद्रव्यविशेषे प्रा० १ पाद ।

सिंधव–सैन्धव–न० । "इत् सैन्धव-शनैश्चरे" ॥ ८।१ । १४९ ॥ इति ऐत इद् वा । प्रा० । सिन्धुदेशोद्भवे लवणे, अश्वे, पुं० । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । स्था० । आचा० ।

सिंधु–सिन्धु–पुं० । वीतिभयनगरप्रतिबद्धे जनपदभेदे, प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । आ० म० । आ० क० । स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणेन पश्चिमलवणसमुद्रगामिन्यां महानद्याम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । पाइ० ना० । आ० चू० । स० । (अस्या सिन्धुमहानद्या वक्तव्यता गङ्गाया इव । गंगामहानदीवक्तव्यता ' गगा ' शब्दे तृतीयभागे ७८२ पृष्ठे गता ।)

एवं सिंधूए वि णेअव्वं ०जाव तस्स णं पउमद्दहस्स पच्चत्थिमिल्लेणं तोरणेणं सिंधूए आवत्तणकूडे दाहिणाभिमुही सिंधुप्पवायकुंडं सिंधुद्दीवो अट्ठो सो चेवं ०जाव अहे तिमिसगुहाए वेअड्ढपव्वयं दालइत्ता पच्चत्थिमाभिमुही आवत्ता समाणा चोद्दससलिला अहे जगइं पच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं ०जाव समप्पेइ सेसं तं चेव त्ति । (सू० ७४ ×)

अथ गङ्गानद्या आयामादीन्यत्रावतारयति 'एव सिन्धु'इत्यादि । एव सिन्ध्वा अपि स्वयं नेतव्यं यावत्तस्य पद्मद्रहस्य पाश्चात्येन तोरणेन सिन्धुमहानदी निर्गता सती पश्चिमाभिमुखी पञ्चयोजनशतानि पर्वतेन गत्वा सिन्ध्वावर्त्तनकूटे आवृत्ता सती पञ्चयोजनशतानि त्रयोविंशत्यधिकानि त्रींश्चैकोनविंशतिभागान् दक्षिणाभिमुखी पवनेन गत्वा महता

घटमुखप्रवृत्तिकेन यावत्प्रपातेन प्रपतति, सिन्धुमहानदी यत्र प्रपतति अत्र महती जिह्विका वाच्या, सिन्धुमहानदी यत्र प्रपतति तत्र सिन्धुप्रपातकुण्डं वाच्यम्, तन्मध्ये सिन्धुद्वीपो वाच्योऽर्थः स एव, यथा गङ्गाद्वीपप्रमाणि गङ्गाद्वीपवर्णाभानि पद्मानि तथा सिन्धुद्वीपप्रमाणि-सिन्धुद्वीपवर्णाभानि पद्मानि सिन्धुद्वीप इत्युच्यते। अत्र यावत्पर्यन्त सूत्रं वाच्य तथा ह-यावदधस्तमिस्रागुहाया इत्यादि, अत्र यावत्करणादिदम्-"तस्स ण सिन्धुप्पवायकुंडस्स दाहिणिल्लेणं तोरणेणं सिंधुमहाणई पवूढा समाणी उत्तरद्धभरहवासं एज्जेमाणी २ सलिलासहस्सेहिं आपूरेमाणी २" इति संग्रहः। अधस्तमिस्रागुहाया वैताढ्यपर्वतं दारयित्वा 'देशदर्शनादेशस्मरणमिति दाहिणड्ढभरहवासस्स बहुमज्झदेशभागं गन्ता' इति पदानि बोध्यानि, पश्चिमाभिमुखी आवृत्ता सती चतुर्दशभि सलिलासहस्रैः समग्रा-पूर्णा जगतीमधो दारयित्वा पश्चिमायां लवणसमुद्र समुपसर्पति, शेषम्-उक्तातिरिक्त प्रवाहमुखमानादि तदेव--गङ्गामानसमानमेव ज्ञेयम्। जं० ४ वक्ष०।

जंबूदीवे णं दीवे चउद्दस महानईओ पुव्वावरेणं लवणसमुद्दं समप्पयंति तं० गंगा सिंधू०। स० १४ सम०। स्था०।

जंबूदीवे णं दीवे मंदरस्स दाहिणेणं-सिंधु महाणदिं पंच महानदीओ समप्पेंति, तं जहा-सतद्दू विभासा वितत्था, एरावई चंदभागा। स्था० ५ ठा० ३ उ०। जं०।

सिन्धुनद्यधिष्ठात्र्या देव्याम्, जं० ३ वक्ष०।

सिंधुकुंड--सिन्धुकुण्ड--न०। यत सिन्धुमहानदी प्रवहति तन्नत्ये कुण्ड, जं० ४ वक्ष०।

सिंधुकूड--सिन्धुकूट--न०। हिमवद्वर्षधरपर्वतस्य सिन्धुदेव्यधिष्ठिते स्वनामख्याते कूटे, स्था० २ ठा० १ उ०।

सिंधुणिक्खुड--सिन्धुनिष्कुट--न०। सिन्धुकूले, आ०म०१ अ०।

सिंधुदत्त--सिन्धुदत्त--पु०। ब्रह्मदत्तचक्रिभार्याया धनराज्या पितरि, उत्त० १३ अ०।

सिंधुदेवी--सिन्धुदेवी--स्त्री०। सिन्धुनद्यधिष्ठात्र्यां देव्याम्, आ० म० १ अ०। जं०।

सिंधुदेवीकूड--सिन्धुदेवीकूट--न०। क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्य सिन्धुदेव्यावासीभूते अष्टम कूटे, जं० ४ वक्ष०। ('गंगा' शब्दे तृतीयभागे ७८२ पृष्ठे वक्तव्यता गता।)

सिंधुप्पवायदह--सिन्धुप्रपातहृद--पुं०। यत सिन्धु प्रपतति तस्मिन् ह्रदविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ०। (अस्य गंगाप्रपातहृदवद्वक्तव्यता।)

सिंधुर--सिन्धुर--पुं०। हस्तिनि, को०।

सिंधुराय--सिन्धुराज--पुं०। संयुगनामनगरस्य स्वनामख्याते राजनि, पिं०।

सिंधुवद्धण--सिन्धुवर्धन--न०। स्वनामख्याते नगरभेदे, आ० क० ४ अ०।

सिंधुसेवण--सिन्धुसेवन--पु०। वानीरनाम्न्या ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाः पितरि, उत्त० १३ अ०।

सिंधुसोवीर--सिन्धुसौवीर--पुं०। सिन्धुनद्या आसन्नाः सौवीरा जनपदविशेषाः सिन्धुसौवीराः। वीतिभयनगरप्रधानेषु जनपदविशेषेषु. भ० १३ श० ६ उ०। दर्श०। प्रति०। स्था०।

सिंभ--श्लेष्मन्--न०। श्लेष्मणि, वृ० १ उ० २ प्रक०। कफे, तं०।

सिंभिय--श्लेष्मिक--त्रि०। श्लेष्मभवे, तं०।

सिंबली--शाल्मली--स्त्री०। वल्ल्यादिफलौ, दश०५ अ०१ उ०। वज्रमयभीषणकण्टकाकुलायां नरकपालविकुर्वितायां शाल्मल्याम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। वृक्षविशेषे, भ० १५ श०।

सिंह--सिंह--पुं०। मृगराजे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। स्वनामख्याते वीरानगारे, यो हि गोशालकतेजोलेश्यया रुग्णस्य वीरजिनस्य दु खादित दु खित वन गत्वा प्रारोदीत्, प्रेषि च रेवत्यन्तिके कुक्कुटमासकाहरणाय। प्रश्न० ५ सव द्वार। ऋषभदेवस्य द्वानवतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

सिंहकण्णी--सिंहकर्णी--स्त्री०। औषधिविशेष, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। प्रज्ञा०।

सिंहकेसर--सिंहकेशर--पु०। सिंहस्य सटायाम्, सिंहसटासदृशेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सिंहगइ--सिंहगति--पु०। अमृतगतेरमृतवाहनस्य च पश्चिमोत्तरदिग्व्यवस्थितलोकपालयो, स्था० ४ ठा० १ उ०।

सिंहगिरि--सिंहगिरि--पु०। श्रीवज्रस्वामिनां गुरौ, स्था० ४ ठा० ३ उ०। आ० क०। ध० र०।

सिंहगुहा--सिंहगुहा--स्त्री०। वङ्कचूडपालिते चौरपल्लीविशेषे, विशे०।

सिंहगुहावासिमुणि--सिंहगुहावासिमुनि--पुं०। सुस्थितार्ये, ती० ३५ कल्प।

सिंहपुर--सिंहपुर--न०। सिंहरथराजपालिते स्वनामख्याते नगरे, स्था०१० ठा०३ उ०। काम्पिल्ये गङ्गामूले सिंहपुरे च विमलनाथ। ती०४३ कल्प। सिंहपुरं स्तम्भतीर्थे पातालगङ्गाभिध श्रीनेमिनाथ.। ती० ४३ कल्प।

सिंहल--सिंहल--पुं०। अनार्यदेशविशेषे, तद्वासिनि जने च। त्रि०। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०।

सिंहलदीव--सिंहलद्वीप--पु०। जम्बूद्वीपे स्वनामख्याते भारतवर्षीये दक्षिणसमुद्रमध्यवर्त्तिनि भूखण्डे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ०। ती०।

सिंहलय--सिंहलक--पुं०। सिंहलदेशोद्भवे मनुष्ये, जं० ३ वक्ष०। आ० चू०। मानुष्या सिंहली। रा०।

सिंहविक्कमगइ--सिंहविक्रमगति--पुं०। अमितगत्यमितवाहनेन्द्रस्य लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०।

सिंहसेण--सिंहसेन--पुं०। सहस्रोदाहपूर्वभवजीवेषु प्रतिष्ठनगरराजे, यो हि श्यामाख्याया स्वभार्याया अर्थाय५०० स्वराज्ञीर्दग्ध्वा नरकं गत.। स्था० १० ठा० ३ उ०। चम्पाया नगर्याः स्वनामख्याते राजनि, यन्मन्त्री रोहगुप्त धर्मवि-

चाराय 'सकुण्डलं वा वयणं न व त्ति' समस्यां ददौ। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। स्वनामख्याते आचार्ये, यो वादे पराजितेन त्रिप्रमात्येन दह्यमानोऽमशमं प्रतिपद्य स्वर्गतः। सथा०।

सिक्क-सेव्य-त्रि०। सेवनीये, आव० ६ अ०।

सिक्कग-शिक्कक-न०। आकाशे दध्यादिभाजनावलम्बनाय दवरकमयेऽवलम्बनके, उपा०२ अ०। नि० चू०। रा०। आव०।

जे भिक्खू सिक्कगं वा सिक्कगणंतगं वा सयमेव करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ नि० चू० २ उ०।

अन्ययूथिकैः कारयति—

जे भिक्खू सिक्कग वा सिक्कगणंतगं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा करेति करंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे भिक्खू सिक्कग इत्यादि, सिक्कगयंमि जारिसं वा परिव्वायगस्स सिक्कगणंतओ उपोग्गओ उच्छाडण भणति जारिस कावालिस्स भोयणगुलियाणं। नि० चू० १ उ०।

सिक्कयणंतय-शिक्ककानन्तक-न०। शिक्ककपिधाने, नि० चू० १ उ०।

सिक्ख-शैक्ष-पुं०। नवतरदीक्षिते शिक्षार्हे च। प्रव०६६द्वार।

सिक्खग-शैक्षक-पुं०। नूतनप्रव्रजिते, दश० १ अ०। सूत्र०।

गंथो पुव्वुद्दिट्ठो, दुविहो सिस्सो य होति णायव्वो।
पव्वावण सिक्खावण, पगय सिक्खावणाए उ ॥१२७॥

ग्रन्थो द्रव्यभावभेदभिन्न क्षुल्लकनैर्ग्रन्थ्य नाम उत्तराध्ययनेष्वध्ययनम् तत्र पूर्वभवे सप्रपञ्चोऽभिहितः, इह तु ग्रन्थ द्रव्यभावभेदभिन्नं य परित्यजति शिष्य आचारादिक वा ग्रन्थं योऽधीतेऽसौ अभिधीयते;स शिष्यो द्विविधो द्विप्रकारो ज्ञातव्यो भवति। तद्यथा-प्रव्रज्यया, शिक्षया च। यस्य प्रव्रज्या दीयते शिक्षा वा यो ग्राह्यते स द्विप्रकारोऽपि शिष्य.। इह पुन शिक्षा शिष्येण प्रकृतम्-अधिकारो य. शिक्षा गृह्णाति शैक्षकस्तच्छिक्षयेह प्रस्ताव इत्यर्थ-।

यथाप्रतिज्ञातमधिकृत्याह—

सो सिक्खगो य दुविहो,गहणे आसेवणा य णायव्वो।
गहणम्मि होति तिविहो,सुत्ते अत्थे तदुभए य ॥२०६॥

सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। ('सो सिक्खगो य दुविहो'इत्यादि, व्याख्या 'सिस्स' शब्दे वक्ष्यते।)

सिक्खमाण-शिक्षमाण-त्रि०। शिक्षां कुर्वाणे, [illegible]माने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

सिक्खा-शिक्षा-स्त्री०। अभ्यासे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आव०। स्था०। व्यापारणे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। आसेवने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। उद्यमेन ग्रहणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

अथ शिक्षापदद्वारमाह—

पव्वइयस्स य सिक्खा, गयणहते सिलिपती य दिट्ठंतो।
तइय च आउरम्मी, चउत्थग अंधलो थेरो ॥ ३४१ ॥

प्रव्रजितस्य च सतोऽस्य शिक्षा दातव्या, सा च द्विधा-ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च। तत्र ग्रहणशिक्षा सूत्राध्ययनरूपा, आसेवना शिक्षा प्रत्युपेक्षणादिका। तत्र कोऽपि प्रव्रजित सन्नासेवनाशिक्षा सम्यगभ्यस्यतीति, न पुनर्ग्रहणशिक्षाम् तत्राचार्येः। ज्ञातेन गजेन शिल्पिना च दृष्टान्त क्रियते, तृतीय च उदाहरणम् आतुरविषयम्, चतुर्थ. अन्धस्थविरविषय कर्त्तव्यमिति गाथासमासार्थ।

अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते। तत्रासौ गुरुभिरादिष्ट सौम्य! गृहाण त्वमेना ग्रहणशिक्षाम्, अधीष्व विधिवदाचारसमाचारादि श्रुतम्। स आह—

पव्वइओ इह समणो, निक्खित्तपरिग्गहो निरारंभो।
इति दिक्खियं सेगमणो, धम्मधुराए दढो होमि॥३४२॥
समितीसु भावणासु य, गुत्तीपडिलेहविणयमाईसु।
लोगविरुद्धेसु य बहु- विहेसु लोगुत्तरेसुं य ॥३४३॥
मज्जविरयस्स य सयं, संजमजोगेसु उज्जयमइस्स।
किं मज्झं पढिएणं, भणइ सुण ताव से नाए ॥३४४॥

भदन्त!प्रव्रजितोऽहं श्रमण-तपस्वी निक्षिप्तपरिग्रहो निरारम्भश्च सजात इत्यनेन दीक्षितो गाथया मकारोऽलाक्षणिक. एकाग्रमना धर्मधुराया-धर्मचिन्तायां दृढो-निष्कम्पो भवामि। किं च-समितिस्वीर्यादिषु भावनासु द्वादशसु पञ्चविंशतिसख्याकासु वा गुप्तिषु-मनोगुप्त्यादिषु प्रत्युपेक्षणाया विनये अभ्युत्थानादिरूपे आदिशब्दाद्वैयावृत्त्यादिषु व्यापारेषु युक्तस्य प्रयत्नवत । तथा लोकविरुद्धेषु जुगुप्सितकुलभिक्षाग्रहणादिषु बहुविधेषु-नानाप्रकारेषु लोकोत्तरविरुद्धेषु नवनीतचक्षिनावग्रहणादिषु चशब्दादुभयविरुद्धेषु च। मद्यादिषु विरतस्य-प्रतिनिवृत्तस्य सयमयोगेषु च-आवश्यकव्यापारेषु उद्यतमते एवविधस्य मम किं पठितेन-पाठेन कार्य, न किंचिदिति भाव'। एवमुक्ते गुरुभिरुच्यते-वत्स! यदर्थं भवान् प्रव्रजित स एवार्थो नश्यतीति। तथाचात्र शृणु तावदनुज्ञाते ते निदर्शनं।

ते एव यथाक्रममाह—

जह पहाउं तिन्नगओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे।
सुद्धं वि उज्जममाणो, तह अन्नाणी मलं चिणइ॥३४५॥
जं मिलयइ निदायति,तं लगयति चेलएहिं भूमीए।
एवमसंजमपंके, चरणमयं लाइ अमुणंतो ॥३४६॥

यथा गज सरसि नद्यादौ मलापनयनार्थं स्नात्वा तीर्ण. सन् बहुतरान् रेणून् करेण गृहीत्वा स्वकीये अङ्गे क्षिपति तथा स्वाभाव्यात्,तथा सुष्ठ्वपि अतिशयेनाप्युद्यच्छमान -उद्यम कुर्वाणोऽज्ञानी-जीवो मल-कर्मरजोमललक्षण चिनोति।एवं त्वमपि कर्ममलनिर्वापनार्थ प्रव्रजित पर श्रुताध्ययनमन्तरेण प्रवचनविरुद्धानि समाचरन् प्रत्युत भूयस्तरेण कर्मरजसाऽऽत्मन गुण्डयिष्यसि। तथा श्लीपदनाम्ना रोगेण यस्य पादौ शूनौ शिलावन्महाप्रमाणौ भवत स एवंविध. श्लीपदी यथा क्षेत्र निदायति,-निद्दिणोतीत्यर्थ, स च यदल्पमात्र सस्य निदायति तद्वयस्तर चलताभ्यां-पदाभ्यामाक्रम्य भूमौ लगयति-मर्दयति च, एव श्रुतपाठ विना 'अमुणतो' अजानन् 'चरणसय' ति-चरणसस्यमसयमपङ्के पृथिव्याद्युपमर्दकर्दमेन लगयित्वा च सकलमपि मर्दयति।

एवमाचार्यैरुक्ते शिष्य आतुरदृष्टान्तमाह—

भन्ते ! जह रोगत्तो, पुच्छति वेज्जं न संहियं पढइ ।
इय कम्मामयविज्जे, पुच्छिय तुब्भे करिस्सामि ॥३४७॥

भगवन् ! यथा रोगार्त्तः पुरुषो वैद्यमेव पृच्छति न पुनर्वैद्यकसंहिता पठति. एवमहमपि युष्मान् कर्मामयवैद्यान्-कर्मरोगचिकित्सान् पृष्ट्वा सर्वामपि क्रियां करिष्यामि न पुनः श्रुत पठिष्यामीति ।

गुरुराह—

भाण्णइ न सो सयं चिय,करेति किरियं अपुच्छिओ रोगी ।
नायव्वो अहिगारो, तुमं पि नाउं तहा कुणसु ॥३४८॥

भण्यते अत्रोत्तरम्—यद्यपि असौ रोगी वैद्यमपृष्ट्वा स्वयमेव क्रिया करोति, तथापि तस्य ज्ञातव्ये क्रियायाः परिज्ञानेऽधिकारोऽस्ति, यथा स वैद्यो भूयो भूयः प्रष्टव्यो न भवति एवं त्वमपि त्वमस्मान् पृष्ट्वा सर्वामपि क्रियां करिष्यसि तथापि सूत्रमधीत्य पदकाभरक्षणविधिं जानीहि । ज्ञात्वा च तथा कुरु यथा बहुशः प्रष्टव्यं न भवति।

शिष्य प्रतिभणति—

दूरे तस्स विगिच्छी, आउरपुच्छा उ जुज्जई तेसिं ।
सारेहिं ति सहीणा, गुरुमादि जतो न हिज्जामि ॥३४९॥

तस्यातुरस्य दूर-दूरवर्त्ती स चिकित्सी वैद्य अत आतुरस्य क्रियाया अपरिज्ञाने वैद्यान्तिके पृच्छा युज्यते । मम पुनर्गुरव आदिशब्दाद्-उपाध्यायादय स्वाधीना एव अतो ज्ञास्यन्ति ते भगवन्त , स्वयमेव मदीय स्खलित ज्ञात्वा सम्यग् मां सारयिष्यन्ति । यत एवमत एवाहं नाधीये-न पठामीति ।

सूरिराह—

आगाढकारणेहिं, गुरुमादी ते जया न होहिंति ।
तइया कहं तु काहिसि, जहा व सो अंधलो थेरो ।३५०।

आगाढै -कुलादिभि कार्यैर्यदा ते गुर्वादयस्तव स्वाधीना न भविष्यन्ति तदा कथं नाम त्व ' काहिसि ' करिष्यसि । यथा वा स अन्धः स्थविरः ।

तथाहि—

अट्ठसुय थेरअंधल-तणं अत्थि मे बहूणि अच्छीणि ।
अप्पट्ठणप्पलित्ते, डहणं अपसत्थगपसत्थे ॥ ३५१ ।

उज्जेणीनाम नगरी । तत्थ सोमिला नाम बंभणो परिवसन्ति । सा य अंधलीभूओ तस्स य अट्ठ पुत्ता, तेसिं अट्ठ भज्जाओ सो पुत्तेहिं भणति,अच्छीणं किरिया कीरउ। सो पाडि भणति तुब्भ अट्ठसह पुत्ताण सोलस अच्छीणि सुण्हाण वि सोलस, बंभणीए, दोन्नि एवं चउतीसं, अन्नस्स य परियणस्स जाणि अच्छीणि ताणि सव्वाणि मम एंत चेव पभूया । अन्नया घर पलित्त तत्थ तेहि अप्पट्ठत्तहिं सो न य तओ नीणिओ तत्थेव रडतो दड्ढो । एस अपसत्थो दिठंतो । मा एव डज्झिहिसि संसारे असुभकम्मेहि । इमो पसत्था तत्थेव अंधलथेरो नवर ति ए किरिया कारिया सो मणुस्साण भोगाण अभोगी जाओ । एव तुम पि कज्जाकज्ज वियाणिता संसारात न तरिहिसि।" अथ गाथाक्षरार्थ -सोमलस्थविरस्याष्टौ सुता पर तस्यान्धत्व बभूव । गाथायामन्धशब्दात्-"विद्युत्पत्रपीतान्धाल्ल '॥८।२।१७३॥ इति प्राकृत स्वार्थिको ल प्रत्यय । स च पुत्रैश्चक्षुश्चिकित्साकारणार्थमुक्त सन् वक्ति-सन्ति मे पुत्रादीनां बहून्यक्षीणि तैरेव मदीयं कार्य सेत्स्यति। अन्यदा च गृहे प्रदीपन लग्नं ततस्ते पुत्रादय. 'अप्पट्ठेण' त्ति-आत्मरक्षणपरास्त्वरितं प्रनष्टा. , स्थविरान्धस्य प्रदीप्त गृहे दहनम् । एषोऽप्रशस्तो दृष्टान्त । प्रशस्तस्तु विपरीत । स चोपदर्शित एव उपनययोजनाऽपि कृतैव ।

कृतमप्युक्तोऽसौ न प्रतिपद्यते श्रुताध्ययनम् । अतो भयोऽपि करुणापरीतचेतस सूरय प्राहु —

मा एवमसग्गाहं, गिण्हसु गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं ।
किं वा तुमऽनिलसुतो, न स्सुयपुव्वो जवो राया ।३५२।

सौम्य ! मैवमसद्ग्राह गृहाण,गृहाण सूत्रमर्थव्यवहितादिष्वतीन्द्रियार्थेषु तृतीयचक्षु कल्पं श्रुत किं वा त्वया न श्रुतपूर्वोऽनिलनरेन्द्रसुतो यवो राजा । बृ० १ उ० २ प्रक० । उत्त० । आ० चू० । आ० क० । आव० । ('जवराज' शब्दे चतुर्थभागे तत्कथा ।) (श्रुताऽध्ययने अमी गुणा आत्महितादय. 'सुय' शब्दे वक्ष्यन्ते ।) ग्रहणासेवनारूपायां शिक्षायाम् , आ० क०। (संपूर्णा कथा ' अग्गिसेसओवहाण ' शब्दे प्रथमभागे ३३८ पृष्ठे 'अवंतिसुकुमाल' शब्दे च ७८७ पृष्ठ गता ।)

पञ्चमशिक्षाद्वारमाह—

खिइवणउसभकुसग्गं, रायगिहं चंपपाडलीपुत्तं ।
नदमगडाले थूल-भद्दसिरिए वररुई अ ॥ १८३ ॥

आ० क०४ अ० । आव० । (कथा स्वस्वस्थानतोऽवसेया ।) ("अह पंचहिं ठाणेहिं,जेहिं सिक्खा न लब्भइ । थम्मा कोहप्पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥१॥" 'बहुस्सुय' शब्दे पञ्चमभागे व्याख्यातैषा ।)

पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं सिक्खेज्जा, तं जहा-णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए चरित्तट्ठयाए वुग्गहविमोयणट्ठयाए अहत्थे वा भावे जाणिस्सामि त्ति कट्टु । (सू०--४६०×)

ज्ञान-तत्त्वाना परिच्छेदो दर्शनम्-तेषामेव श्रद्धानं चारित्रम्-सदनुष्ठान व्युद्ग्रहो-मिथ्याभिनिवेशस्तस्य तस्माद्वा परेषां विमोचन व्युद्ग्रहविमोचन तदर्थाय तदर्थतया वा'अहत्थे'त्ति-यथास्थान्-यथावस्थितान् यथाथान् वा-यथाप्रयोजनान् भावान् जीवादीन्यथार्थान्वा-यथाद्रव्यान् भावान्-पर्यायान् ज्ञास्यामीति कृत्वा इति हेतोः शिक्षत इति। स्था०५ठा०३उ०। उद्यमेन ग्रहणम् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । (पण्डको वातिक. क्लीबश्च न शिक्षणीय इति ' पव्वज्जा ' शब्दे पञ्चमभागे ७५६ पृष्ठे गतम ।) (लघुबालकं प्रव्राज्य तस्मै ग्रहणशिक्षा सा दशवैकालिकादिसूत्र पाठनीयम् , आसेवनाशिक्षा यत्परिधापनादि शिक्षते इत्यादि ' पव्वज्जा ' शब्दे ७७५ पृष्ठ गतम् ।) शिष्य यथाचार्य शिक्षयेत्-गुणसम्पद्योग्यान् कथंचित्प्रमादिनोऽपि दृष्ट्वा धर्मानुगतै मधुरवचोभिराचार्यस्तान् शिक्षयेत् ,यथा तथा मन प्रसादमेव विशिष्टगुणप्रतिपत्त्यभिमुखमश्नुते न कोपं प्रतिपन्नगुणभ्रंशकारणमिति । उक्त च-"धम्ममइएहिं अइसु-दरेहिं कारणगुणोवणीएहिं पल्हायंतो य मणं, सीसं चोएइ आयरिओ ' ॥८॥ (अन्ययूथिक गृहस्थ वा शिक्षयेदिति 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७५ पृष्ठे उक्तम् ।) (अन्तरगृहे शिक्षा न कर्तव्येत्युक्तम् ' अतरगिह शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे ।) शिक्षयितु द्वे दिशौ ग्राह्ये प्राचीना, उदीचीना च । स्था० २ ठा० ५ उ० ।

तस्सेव अंतरायम्मि, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए।

संलेखनानुरूपां शिक्षां भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणादिकां वा शिक्षेत्। तत्र ग्रहणशिक्षया यथावन्मरणविधिं विज्ञायासेवनाशिक्षेतेति। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। ('अट्ठावय न सिक्खिज्जा।' इति 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यानम्।)
("सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं। एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो॥" (सूत्र० १ श्रु०८ अ०।) इति 'वीरिय' शब्दे षष्ठभागे उदाहृतम्।)

सिक्खण-शिक्षण-न०। आचारग्रन्थे, कल्प० १ अधि० १ क्षण।

सिक्खावण-शिक्षण-न०। अश्वादीनां चतुष्पदानां परिकर्मणि, नि० चू० १ उ०।

सिक्खावणा-शिक्षापणा-स्त्री०। ग्रहणासेवनारूपशिक्षाग्रहणे, पं०भा०१ कल्प। शिक्षापणा त्रिविधा-लोइया, लोउत्तरिया, कुप्पावयणिया। लोइया ताव व्याकरणनाटकादिषु शिक्षा-दि कुप्रावचनिका-रक्तपटादीनां या शिक्षा, त्रिपटिकादिषु द्रव्यशिक्षा लोकोत्तरा द्विविधा-ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च। गहणसिक्खा सुत्तत्थतदुभयाण आसेवणा-पडिलेहणा, पप्फोडणा य उवट्ठावणा लोइया लोउत्तरा कुप्पावयणिया। लोइया राया रायमच्चठवणा। कुप्पावयणिया भिक्खुमाइयाणं उवसंपदा लोउत्तरा असयनत्वात्, व्रतेषु स्थापना उपस्थापना। पं० चू० १ कल्प।

सिक्खावय-शिक्षापद-न०। शिक्षाया पदं शिक्षापदम्। शिक्षैव वा पद--स्थानं शिक्षापदम्। विधिना प्रव्रजितस्य सतः शिक्षाधिकारे, विशे०। ध० र०।
शिक्षाव्रत-न०। शिक्षा-अभ्यासस्तत्प्रधानानि व्रतानि पुनः पुनरासेवनार्हाणि। सामायिकादिषु श्रावकधर्मेषु, पञ्चा० २ विव०। "दुवालसविहं गिहिधम्म पडिवस्सा" अत्र त्रयाणां गुणव्रतानां शिक्षाव्रतेषु गणनात् सप्त शिक्षाव्रतानीत्युक्तम्। श्रा०। चत्वारि शिक्षाव्रतानि भवन्ति, तद्यथा--सामायिकम् देशावकाशिकं पौषधोपवासः अतिथिसंविभागः। आव० ६ अ०।

सिक्खावयव्वय-शिक्षापदव्रत-न०। शिक्षणं शिक्षा अभ्यासस्तस्यै तस्या वा पदानि स्थानानि तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानि। सामायिकादिषु श्रावकधर्मेषु, ध०१अधि०। 'सत्त य सिक्खावयाइं' सप्त च शिक्षाप्रधानानि व्रतानि, गुणव्रतानामपि नित्यमभ्यसनीयतया शिक्षाव्रतत्वेन विवक्षणात् सप्त शिक्षाव्रतान्युक्तानि। आतु०।

अथ यद्व्रतयोगाद्देशविरतो भवति तानि व्रतान्याह—
पंच य अणुव्वयाइं, सत्त उ सिक्खा उ देसजइधम्मो।
सव्वेण व देसेण व, तेण जुओ होइ देसजई॥ २॥
सप्त च शिक्षाप्रधानानि व्रतानि गुणव्रतानामपि नित्यमभ्यसनीयतया शिक्षाव्रतत्वेन विवक्षणात् सप्त शिक्षाव्रतान्युक्तानि। आतु०। शिक्षा-अभ्यासस्तस्या पदानि स्थानानि तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानि। "चत्तारि सिक्खापयव्वयाइं" प्रतिदिवसानुष्ठेये सामायिकदेशावकाशिके पुनः पुनरुच्चार्ये इति भावना पौषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिदिवसानुष्ठेयौ न प्रतिदिवसमाचरणीयाविति। आव०। सामायिकं देशावकाशिकं पौषधोपवास अतिथिसंविभागश्चेति, स्वल्पकालिकत्वाच्चैतेषां गुणव्रतेभ्यो भेदः। गुणव्रतानि तु प्रायो यावज्जीविकानि। एतेष्वपि सामायिकदेशावकाशिके प्रतिदिवसानुष्ठेये पुनः पुनरुच्चारणीये पौषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिनियतदिवसानुष्ठेयौ न प्रतिदिवसाचरणीयाविति विवेकः आवश्यकवृत्तिकृत। ध० २ अधि०। इयाणिं सिक्खावया, शिक्षा नाम यथा शिष्यक पुनः पुनर्विद्यामभ्यस्यति। एवमपि याणि चत्तारि सिक्खावयाणि पुणो २ अब्भसिज्जंति अणुव्वयगुणव्वयाणि। एक्कसिं गहियाणि चेव ताणि सिक्खावयाणि सामाइयं देसावगासियं पोसहोववासो अतिहिसंविभागो। आ० चू० ६अ०।
(प्रथमं शिक्षापदव्रतं सामायिकं तच्च 'सामाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो दर्शितम्।) (द्वितीयं देशावकाशिकव्रतम् 'देसावगासिय' शब्दे २६७३ पृष्ठे उक्तम्।) (तृतीयं पौषधोपवासः 'पोसह' शब्दे पञ्चमभागे गतम्।) (चतुर्थमतिथिसंविभागव्रतम् 'अहासंविभाग' शब्दे प्रथमभागे ३३ पृष्ठे प्रतिपादितम्।) चतुर्थशिक्षापदव्रते वृद्धोक्ता समाचारी—श्रावकेण पौषधं पारयता नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा भोक्तव्यम्, कथम्? यदा भोजनकालो भवति, तदाऽऽत्मनो विभूषां कृत्वा प्रतिश्रय च गत्वा साधून्निमन्त्रयते, 'भिक्षां गृह्णीतेति' साधूनां च तं प्रति का प्रतिपत्तिः? उच्यते—तदैक पटलमन्यो मुखानन्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेक्षते, माऽन्तरायदोषाः स्थापनादोषा वाऽभूवन्निति। स च यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते, अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याख्यानी ततस्तद् गृह्यते, अथ नास्त्यसौ तदा न गृह्यते, यतस्तद्वोढव्यं भवति, यदि पुनर्घनं लगेत् तदा गृह्यते संस्थाप्यते च। यो वा उद्घाटपौरुष्यां पारयति पारणकवानन्यो वा, तस्मै तद्दीयते। पश्चात्तेन श्रावकेण स सङ्घाटको व्रजति, एको न वर्त्तते प्रेषयितुं, साधू पुरतः श्रावकस्तु मार्गे (मार्गतो) गच्छति, ततोऽसौ गृहं नीत्वा तावासनेनोपनिमन्त्रयते, यदि निविशेते तदा भव्यम्, अथ न निविशेते तथापि विनयः प्रयुक्तो भवति। ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति, भाजनं वा धारयति, स्थित एव वाऽऽस्ते यावद्दीयते, साधू अपि पश्चात्कर्मपरिहारार्थं सावशेषं गृह्णीतः ततो वन्दित्वा विसर्जयति, अनुगच्छति च कतिचित्पदानि ततः स्वयं भुङ्क्ते। यदि पुनस्तत्र ग्रामादौ साधवो न भवन्ति तदा भोजनवेलायां द्वारावलोकनं करोति, विशुद्धभावेन च चिन्तयति—यदि साधवोऽभविष्यन् तदा निस्तारितोऽभविष्यमिति। एष पौषधपारणके विधिः। अन्यदा तु दत्त्वा भुङ्क्ते, भुक्त्वा वा ददातीति। उमास्वातिवाचकविरचितश्रावकप्रज्ञप्तौ तु अतिथिशब्देन साध्वादयश्चत्वारो गृहीताः, ततस्तेषां संविभागः कार्य इत्युक्तम्, तथा च तत्पाठः "अतिथिसंविभागो नाम अतिथयः—साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च, एतेषु गृहमुपागतेषु भक्त्याऽभ्युत्थानासनपादप्रमार्जननमस्कारादिभिरर्चयित्वा यथाविभवशक्ति अन्नपानवस्त्रौषधालयादिप्रदानेन संविभागः कार्यः।' इति। एतद्व्रताराधनायैव प्रत्य-

ह भावकेण " फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारेणं ओसहभेसज्जेणं भयवं ! अणुग्गहो कायव्वो" इत्यादिना गुरूणां निमन्त्रणं क्रियते । एतद्व्रतफलं च दिव्यभोगसमृद्धिसाम्राज्यतीर्थकृत्पदादि श्रीशालिभद्रमूलदेवाद्यन्ताईदादीनामिव सर्वं प्रसिद्धम् , पारम्पर्येण मोक्षोऽपि फलमस्ति , वैपरीत्ये तु दास्यदौर्गत्याद्यपीति । अभिहितं चतुर्थं शिक्षापदव्रतम् । ध० २ अधि० । गुणव्रतान्यभिधीयन्ते—तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति, तद्यथा-दिग्व्रतम् , उपभोगपरिभोगपरिमाणम् , अनर्थदण्डपरिवर्जनमिति । आव०६ अ० । (पञ्चमं शिक्षापदव्रतम् ' दिसिव्वय ' शब्दे चतुर्थभागे २५४० पृष्ठे गतम् ।) (षष्ठं शिक्षापदव्रतम् 'उवभोगपरिभोगपरिमाण' शब्दे द्वितीयभागे ८६६ पृष्ठे गतम् ।) (सप्तमं शिक्षापदव्रतम् ' अणट्ठादंडविरमण ' शब्दे प्रथमभागे २८४ पृष्ठे गतम् ।)

सिक्खाविअ(य)–शिक्षित–त्रि० । ग्रहणशिक्षादिग्राहिते । पञ्चा० ५ विव० । आप्तोपदेशदाने, भ० ८ श० २ उ० ।

सिक्खावित्तए–शिक्षयितुम्–अव्य० । प्रत्युपेक्षणादिसामाचारीं ग्राहयितुमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ग्रहणशिक्षापेक्षया सूत्रार्थौ ग्राहयितुमासेवनाशिक्षापेक्षया तु प्रत्युपेक्षणादि शिक्षयितुमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सिक्खावेउं–शिक्षयितुम्- अव्य० । ग्रहणशिक्षादि ग्राहयितुमित्यर्थे, पं० व० ३ द्वार ।

सिक्खासमावन्न–शिक्षासमापन्न–त्रि० । शिक्षया-व्रतासेवनया समापन्नो युक्तः । शिक्षिते, उत्त० ५ अ० ।

सिक्खिऊण–शिक्षित्वा–अव्य० । अधीत्येत्यर्थे, "सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं संजयाणं बुद्धाण सगासे " दश०५अ०२ उ० ।

सिक्खिय–शिक्षित–त्रि० । शिक्षा जाताऽस्येति शिक्षितः । उत्त० ४ अ० । शिक्षाग्राहिते, उत्त० ४ अ० । अभ्यस्ते, आ० । उत्त० । पठनक्रिययान्तं नीते, ग० २ अधि० । विशे० । गृहीते, चं० प्र० २० पाहु० । अनु० । सूत्र० । आ० म० ।

सिक्खिवंत–शिक्षावत्–त्रि० । शिक्षां ग्रहणरूपामाचार्ये सूत्र० । सिक्खावत्तो दुविहा गहणे आसेवणे चेव' शिक्षामपि द्विविधा ;एकां च शिक्षाशास्त्र ग्राहयति पाठयत्यपरस्तु तदर्थं दशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानतः सेवयति सम्यगनुष्ठानं कारयति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

सिगया–सिकता–स्त्री० । वालुकायाम् . सू० प्र० १८ पाहु० ।

सिगाल–शृगाल–पुं० । जम्बूके, आचा० ।

सिगाली–शृगाली–स्त्री० । शिवायाम् , अनु० ।

सिगु–सिगु–पुं० । वृक्षविशेषे, आ० क० १ अ० ।

सिग्ग–देशीयपदमेतत् । परिश्रमे, व्य० ४ उ० ।

सिग्घ–शीघ्र–न० । आशुशब्दार्थे , स्वल्पे काले , आव०४ अ० । आ० म० । दर्श० । रा० । वेगवतां मध्येऽतिशीघ्रे, औ० । श्लाघ्य–त्रि० । प्रशंसास्पदे, दर्श० ४ तत्त्व । ' सिग्घं निस्सेस वा अभिगच्छइ " श्लाघ्यं प्रशंसास्पदभूतं निःशेषं प्रशंसास्पदभूतम् । दश० १ चू० ।

सिग्घगइ–शीघ्रगति–त्रि० । शीघ्रा गतिरस्त्यस्य । द्रुतगमनयुक्ते, सू० प्र० ९ पाहु० । (सूर्यादीनां क्रमशः शीघ्रगतिरिति 'जोइसिय' शब्दे चतुर्थभागे १६०५ पृष्ठे गतम् ।) (अस्य दर्शनं वीरशब्दे षष्ठभागे गतम् ।)

सिग्घगमन–शीघ्रगमन–सूर्याभदेवस्य वैकुर्विके विमाने,रा० ।

सिचय–सिचय–पुं० । वस्त्रे, व्य० ५ उ० ।

सिज्जंभव–शय्यम्भव–पुं० । प्रभवस्वामिनां शिष्ये चतुर्दशपूर्वधरे दशवैकालिककर्तरि आचार्ये, दश० १ अ० । कल्प० । पा० । नं० । नि० । महा० । स्था० । नि० चू० । अस्य गृहिपर्यायः २८ दीक्षापर्यायः ११ आचार्यपदवी २३ सर्वायुः ६२ वर्षाणि,समेति- वीरमोक्षात् ९८ वर्षे । जै० इ० ।

सिज्जंस–श्रेयस्–त्रि० । परमप्रशस्य, जी० १ प्रति० ।

श्रेयांस–पुं० । भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते एकादशे जिने, स० ७१ सम० । अनु० । प्रव० । आ० चू० । कल्प० । इदानीं श्रेयान् समस्तभुवनस्य हितकारित्वात् प्रशस्यतरः , श्रेयान् प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात् सिज्जंस इत्युच्यते तत्र सर्वेऽपि भगवन्तस्त्रैलोक्यस्यापि श्रेयांस इति विशेषमाह—

महरिहसेज्जारुहणं–म्मि डोहलो तेण होइ सिज्जंसो ।

तस्य राज्ञः पितृपरंपरागता देवतापरिगृहीता शय्या अर्च्यते । यस्तामाश्रयति तस्योपसर्गं देवता करोति । गर्भगते भगवति दिव्यदौहृदमजायत, शय्यामारोहामि । तत्रोपविष्टा देवता समारसितुमपक्रान्ता । सा हि तीर्थकरनिमित्तं देवतया रक्षिता एवं गर्भप्रभावतो देव्याः श्रेयो जातमिति श्रेयांसमिति नामकृतम् । आ० म० २ अ० । ध० । आ० चू० ।

सिज्जंसे णं अरहा असीइं धणुइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था ।
(सू० ८० ×) स० ८० सम० ।
सिज्जंसस्स णं अरहओ छावट्ठिं गणा छावट्ठिं गणहरा होत्था ।
(सू० ६६ +) सम० ।

सिज्जंसे णं अरहा चउरासीइं वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । (सू० ८४ +)

श्रेयांसः-एकादशस्तीर्थकरः एकविंशतिर्वर्षलक्षाणि कुमारत्वे तावन्त्येव प्रव्रज्यायां द्विचत्वारिंशद्राज्ये इत्येवं चतुरशीतिमायुः पालयित्वा सिद्धः । स० । सर्वाऽस्य वक्तव्यता ' तित्थयर ' शब्दे चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठे गता ।) गजपुरनगरे भरतस्य राज्ञः पुत्रे, मतान्तरेण बाहुबलिनः सुतस्य सोमप्रभस्य । आ०चू०१अ० । आ०म० । येन प्रथममृषभस्वामिने भिक्षा दत्ता । आ० चू० १ अ० । स पश्चात् प्रव्रजितः भगवन् आत्मभवसम्बन्धानचीकथत् । आ०क० १ अ० । सिद्धार्थनरेन्द्रे महावीरस्वामिनः पितरि , ति० । कल्प० । अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्तद्वितीये , कल्प० १ अधि० ६ क्षण । द्वादशमासानां लोकोत्तररीत्या पौषमासे, च० प्र० १० पाहु० । जं० । सू० प्र० ।

सिज्जा–शय्या–स्त्री० । शेरतेऽस्यां साधव इति शय्या । सू० २

उ० । शीङ् स्वप्ने , अस्य क्यप्प्रत्ययान्तस्य कृत्यल्युटो बहुलमिति वचनात् शयन शय्या । आव० ४ अ० । "घ-य्य-र्यां ज."॥८।२।२४॥ इति संयुक्तस्य ज्जित्वम् । प्रा० "एच्छय्यादौ" ॥८।१।५७॥ इत्यादेरस्यैत्व वा । सिज्जा । सेज्जा । प्रा० । सर्वाङ्गीणवसतौ , ध० २ अधि० । बृहत्संस्तारके , भ० २ श० ५ उ० । शयने, ध० २ अधि० । अनु० । आव० । ओघ० । नि० । स० । दशा० । ज्ञा० । उत्त० । श्रमणोपाश्रये , व्य० ४ उ० । आचा० । उत्त० । शून्यगृहादिकायां वसतौ , आचा० १ श्रु० १ अ० । शयनीये , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । आचा० । आव० । सूत्र० १ श्रु० । " सव्वगिया सेज्जा " ग० १ अधि० । पं० भा० । आ० म० । यत्र वा प्रसारितपादैः सुप्यते सा शय्या संस्तारको वा । आसने, नि० चू० १३ उ० । प्रश्न० । आ० म० । आ० चू० । आव० । बृ० । व्य० ।

तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे शय्यैषणेति , तस्या निक्षेपविधानाय पिण्डैषणानिर्युक्तिर्येन संभवति तां तत्रातिदिश्य प्रथमगाथया अपरासां च निर्युक्तीनां यथायोग संभव द्वितीयगाथया आविर्भावय निक्षेप च तृतीयगाथया शय्याषट्कनिक्षेपे प्राप्ते नामस्थापने-अनादृत्य निर्युक्तिकृदाह—

दव्वे खित्ते काले, भावे सिज्जा य जा तहिं पगयं ।

केरिसिया सिज्जा खलु,संजयजोग त्ति नायव्वा ॥२६८॥

द्रव्यशय्या क्षेत्रशय्या कालशय्या भावशय्या , अत्र च या द्रव्यशय्या तस्या प्रकृत ,तामेव च दर्शयति—कीदृशी सा द्रव्यशय्या ? संयतानां योग्येत्येवं ज्ञातव्या भविष्यति ।

द्रव्यशय्याव्याचिख्यासयाऽऽह—

तिविहा य दव्वसिज्जा, सचित्ताऽचित्त मीसगा चेव ।

खित्तम्मि जम्मि खित्ते,काले जा जम्मि कालम्मि ॥२६९॥

त्रिविधा द्रव्यशय्या भवति, तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता , मिश्रा चेति । तत्र सचित्ता पृथिवीकायादौ , अचित्ता तत्रैव प्रासुके, मिश्राऽपि तत्रैवार्द्धपरिणते । अथवा-सचित्ता-मुत्तरगाथया स्वत एव निर्युक्तिकृद् भावयिष्यति । 'क्षेत्र'मिति तु क्षेत्रशय्या , सा च यत्र ग्रामादिके क्षेत्रे क्रियते, कालशय्या तु या यस्मिन्नृतुवर्षादिके काले क्रियते ।

तत्र सचित्तद्रव्यशय्योदाहरणार्थमाह—

उक्कलकलिंग गोअम, वग्गुमई चेव होइ नायव्वा ।

एयं तु उदाहरणं, नायव्वं दव्वसिज्जाए ॥ ३०० ॥

अस्या भावार्थ कथानकादवसेय , तच्चेदम्—एकस्यामटव्या द्वौ भ्रातरावुत्कलकलिङ्गाभिधानौ विषमप्रदेशे पल्लिं निवेश्य चौर्येण वर्त्तेते । तयोश्च भगिनी वल्गुमती नाम , तत्र कदाचिद् गौतमाभिधानो नैमित्तिक. समायात , ताभ्या च प्रतिपन्न । तया च वल्गुमत्योक्तं-यथा नायं भद्रक , अत्र वसन् यदा तदाऽयमस्माक पल्लिविनाशाय भविष्यत्यतो निर्द्धाट्यते , ततस्ताभ्या तद्वचनान्निर्द्धाटित. । स तस्या एवमपमानं प्रतिज्ञामग्रहीद् , यथा—नाह गौतमो भवामि यदि वल्गुमत्युदर विदार्य तत्र न स्वपिमीति । अन्ये तु भणन्ति—सैव वल्गुमत्यपत्याना लघुत्वात्पल्लिस्वामिनी , उत्कलकलिङ्गौ नैमित्तिकौ , सा तयार्मक्षया गौतम पूर्वनैमित्तिके निर्द्धाटितवती । अतस्तत्प्रद्वेषात्प्रतिज्ञामादाय सर्पयान् वपन्निर्गतः , सर्पैश्च वर्षाकालेन जाता. , तत-स्तदनुसारेणान्यं राजान प्रवेश्य सा पल्ली समस्ता लुण्टिता दग्धा च । गौतमेनापि वल्गुमत्या उदर पाटयित्वा,आपन्नसत्त्वजीवितव्यच्छाया उपरि सुप्तमित्येषा वा सचित्ता द्रव्यशय्येति ।

भावशय्याप्रतिपादनार्थमाह—

दुविहा य भावसिज्जा, कायगए छव्विहे य भावम्मि ।

भावे जो जत्थ जया, सुहदुहगब्भाइसिज्जासु ॥३०१॥

द्वे विधे-प्रकारावस्या सा द्विविधा, तद्यथा-कायविषया , षड्भावविषया च । तत्र यो जीव यत्र औदयिकादौ भाव यदा-यस्मिन् काले वर्त्तते सा तस्य एवंरूपा भावशय्या , शयनं-शय्या स्थितिरिति कृत्वा । तथा स्त्र्यादिका-यगतो गर्भत्वेन स्थितो यो जीवस्तस्य स्त्र्यादिकाय एव भावशय्या , यतः स्त्र्यादिकाये सुखिते दुःखिते सुप्ते उत्थिते वा तादृगवस्थ एव तदन्तर्वर्त्ती जीवो भवति, अत कायविषया भावशय्या द्वितीयेति । अध्ययनार्थाधिकार सर्वोऽपि शय्याविषय । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । शय्या-संस्तारक. । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । (अस्य महात्म्यम्-'संथार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।) एतत्प्रतिपादके आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीये अध्ययने, स० ।

सिज्जाकप्पविहिण्णु-शय्याकल्पविधिज्ञ-पुं० । आचाराङ्गे शय्या वा संस्तारग्रहणं, येन स सूत्रतोऽधीतोऽर्थतश्च शय्याकल्पविधिज्ञ । शय्याकल्पसूत्रार्थज्ञे नि० चू० २ उ० ।

सिज्जाकप्पिय-शय्याकल्पिक-पुं० । शय्याया ग्रहणावस्थापन-धारणप्रवणे, बृ० १ उ० ।

सिज्जाकर-शय्याकर-पुं० । शय्या प्रतिश्रय करोतीति शय्याकर । नि० चू० ८ उ० । वसतिस्वामिनि, बृ० २ उ० ।

सिज्जादाता-शय्यादातृ-त्रि० । शय्याया वसतेर्दानात् शय्यादाता । सागारिके , बृ० २ उ० ।

सिज्जाधर-शय्याधर-पुं० । शय्यां पतन्ती छादनलेपनाभ्याम् आदिशब्दात् स्थूणादानादिभिश्च धारयति अत शय्याधर । यद्वा-तथा शय्यया साधूना विस्तीर्णया नरकाद् स्मान धारयतीति शय्याधर. । सागारिके , बृ० २ उ० । नि० चू० (अत्र विस्तर ' सागरिय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत ।)

सिज्जापडिमा-शय्याप्रतिमा-स्त्री० । शय्यते यस्या सा शय्या संस्तारकस्तस्या प्रतिमा-अभिग्रहा.-शय्याप्रतिमा । वसतिविषयकाभिग्रहे, स्था० ।

चत्तारि सिज्जापडिमाओ पण्णत्ताओ । (सू० ३३१४)

' चत्तारि सेज्जा इत्यादि सुगम, नवरं शय्यते यस्या सा शय्या-संस्तारकस्तस्या प्रतिमा अभिग्रहा शय्याप्रतिमा तत्रोद्दिष्ट फलकादीनामन्यतमत् ग्रहीष्यामि नेतरदित्येक नान्यदिति द्वितीया । तदपि यदि तस्यैव शय्यातरस्य गृहे भवति ततो गृहीष्यामि नान्यत्र-आनीय तत्र शयिष्ये

इति तृतीया । सदपि फलकादिकं यदि यथासंस्तृतमेवा-स्ते ततो ग्रहीष्यामि नान्यथेति चतुर्थी । आसु च प्रतिमासु आद्ययोः प्रतिमयोर्गच्छनिर्गतानामग्रहः, उत्तरयोरन्यतरस्या अभिग्रहो, गच्छान्तर्गतानां तु चतस्रोऽपि कल्पन्ते इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सिज्जापरिसह-शय्यापरि(री)षह-पुं०। शय्या-वसतिस्तत्परि-षहणं च तज्जन्यदुःखादेरुपेक्षा । भ० ८ श० ८ उ० । समविषमभूमिकापांशूत्करप्रचुरमतिशिशिरं बहुघर्मकं वा उपाश्रयं मृदुकठिनादिभिर्भेदैरुच्चावचं वा संस्तारकं वा प्राप्योद्वेगाकरणे, प्रव० ८६ द्वार । " शुभाशुभायां शय्यायां, विषहेत सुखासुखे । रागद्वेषौ न कुर्वीत, प्रातस्त्याज्येति चिन्तयेत् ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० ।

नैषेधिकीतश्च स्वाध्यायादि कृत्वा शय्यां प्रति निवर्त्तेता-तस्तत्परीषहमाह—

उच्चावयाहिं सिज्जाहिं, तवस्सी भिक्खू थामवं ।
णाइवेलं विहण्णिज्जा, पावदिट्ठी विहण्णइ ॥२२॥ (सू०)

ऊर्ध्वं चिता उच्चा, उपलिप्ततलाद्युपलक्षणमेतत्, यद्वा शीतातपनिवारकत्वादिगुणैः शय्यान्तरोपरिस्थितत्वेनोच्चा. तद्विपरीतास्त्ववचाः, अनयोर्द्वन्द्वे उच्चावचा. नानाप्रकारा वोच्चावचास्ताभि., शय्याभिः—वसतिभि. तपस्वी—प्रशस्य-तपाऽन्वितो, भिक्षु. प्राग्वत्, स्थामवान्—शीतातपादिस-हनं प्रति सामर्थ्यवान् नातिवेलं—स्वाध्यायादिवेलातिक्र-मेण विहन्यात्—हनेर्गतावपि वृत्तेरत्राह शीतादिभिरभिभू-त इति स्थानान्तरं गच्छेत्। यद्वा-अतिवेलाम्-अन्यसमया-तिशायिनीं मर्यादा-समतारूपामुच्चां शय्यामवाप्याहो ! सभाग्योऽहं यस्येदृशी सकलर्तुसुखोत्पादिनी मम शय्येति, अवचावाप्तौ वा अहो ! मम मन्दभाग्यता येन शय्यामपि शीतादिनिवारिकां न लभे इति हर्षविषादादिना न विह-न्यात्-नोल्लङ्घयेत्, किमित्येवमुपदिश्यत इत्याह—' पावदि-ट्ठी विहन्नइ ' त्ति प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

किं पुन कुर्यादित्याह—

पइरिक्कमुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं ।
किमेगरायं करिस्सइ, एवं तत्थऽहियासए ॥२३॥ (सू०)

'पइरिक्कं' स्त्र्यादिविरहितत्वेन विविक्तमव्याबाधं वा उपा-श्रय-वसतिं लब्ध्वा-प्राप्य कल्याण-शोभनम् 'अदुव' त्ति अथवा पापं—पांशूत्कराकीर्णत्वादिभिरशोभनं, किं ?, न कि-ञ्चित्, सुखं दुःखं वेति गम्यते, एका रात्रिर्यत्र तदेकरात्रं करिष्यति—विधास्यति ? कल्याणं पापकं वोपाश्रय इति प्रक्रमः । कोऽभिप्रायः ?-केचित् पुरोपचितसुकृता वि-विधमणिकिरणोद्योतितासु महाधनसमृद्धासु महारजतर-जतोपचितभित्तिषु मणिनिर्मितोरुस्तम्भासु तदितरे तु जीर्ण-विशीर्णभग्नकण्टकस्थूणापटलसंवृतद्वारासु तृणकचवरतुषमू-षकोत्करपांशुबुसभस्मविण्मूत्रावसङ्कीर्णासु श्वनकुलमार्जार-मूत्रप्रसेकदुर्गन्धिष्वाजन्म वसतिषु वसन्ति । मम त्वद्यवे यमीदृशी श्वोऽन्या भविष्यतीति किमत्र हर्षेण विषादेन वा ?, मया हि धर्मनिर्वाहाय विविक्तत्वमेवाश्रयस्यान्वेष्यं, कि-मपरेण ?, 'एवमि ति-अमुना प्रकारेण 'तत्र' ति कल्याणे पा-पके वाऽऽश्रये अध्यासीत—सुखं दुःखं वाऽधिसहेत, प्रति-माकल्पिकापेक्षं चैकरात्रमिति, स्थविरकल्पिका—पेक्षया तु कतिपया रात्रयः, दिवसोपलक्षणं च रात्रि-ग्रहणमिति सूत्रार्थः ।

अत्र निर्वेदद्वारम्, इह च 'अदुव पावगं' ति सूत्रावयवमर्थतः स्पृशन् उदाहरणमाह निर्युक्तिकारः—

कोसंबी जण्णदत्तो, य सोमदत्तो य सोमदेवो य ।
आयरिय सोमभूई, दुण्हं पि य होइ णायव्वं ॥१०८॥
सन्नाइगमणं वियड-वेरग्गा दोवि ते नईतीरे ।
पाओवगया नइपू-रएण उदहिं तु उवणीया ॥१०९॥

व्याख्या—कोशाम्बी यज्ञदत्तः सोमदत्तश्च सोमदेवश्च आ-चार्यः सोमभूतिर्द्वयोरपि च भवति-ज्ञातव्य. । स्वज्ञातिग-मनं विकटवैराग्यात् द्वावपि तौ नदीतीरे पादपोपगतौ नदीपूरकेणोदधिं तूपनीतौ इति गाथाद्वयाक्षरार्थः ।

भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

कोसंबीए णयरीए जण्णदत्तो धिज्जाइओ, तस्स दो पु-त्ता-सोमदत्तो सोमदेवो य । ते दोऽवि निव्विण्णकामभो-गा पव्वतिया सोमभूईअणगारस्स अंतिए, बहुस्सुया ब-हुआगमा य जाया । ते अन्नया य सन्नायपल्लिमागया, तेसि मायापियरो उज्जेणिं गता भवा । तहिं च विसए धि-ज्जाइणो वियडं आवियंति । तेहिं तेसिं वियडं अन्नेण द-व्वेण मेलेऊण दिण्णं । केऽवि भणंति—वियडं चेव अया-णताण दिण्णं, तेहि वि य तं विसेस अयाणमाणेहिं पीअं । पच्छा वियडत्ता जाया, ते चिंतेंति—अम्हेहिं अजुत्तं क-यं, पमाओ एस, वरं भत्तं पच्चक्खायंति । ते एगाए णदी-ए तीरे तीसे कट्ठाण उवरिं पाओवगया । तत्थ अकाले वरिसं जायं, पूरो य आगतो, हरिया, वुज्झमाणा य उ-दएण समुद्दं णीया । तेहिं सम्मं अहियासियं, अहाउयं, पालियं, सेज्जापरीसहो अहियासितो समविसमाहिं से-ज्जाहिं । एवं एसो अहियासियव्वो त्ति । उत्त० २ अ० । " सेज्ज " त्ति शय्या संस्तारकः—चम्पकादिपट्टी मृदुक-ठिनादिभेदेनोच्चावचः प्रतिश्रयो वा पांशूत्करप्रचुरः शिशि-रो बहुधर्मको वा तत्र नोद्विजेत ११, आव० ४ अ० ।

सिज्जापरिसहविजय-शय्यापरी(रि)षहविजय-पुं०। खरविषमप्र-चुरशर्कराशकलसंकुलेषु शीतेषूष्णेषु वा देशेषु मृदुकठिनादि-भेदभिन्नचम्पकादिपट्टेषु वा निद्रामनुभवतः सम्यक्प्रवचना-नुसारेण तत्कृतबाधासहनं, अरागगमने च । प० स०४ द्वार ।

सिज्जाभंड-शय्याभाण्ड-न० । शय्योपकरणे, भ० ११ श० ६ उ० ।

सिज्जायर-शय्यातर-पु० । शय्या—वसतिस्तया तरति सं-सारमिति शय्यातरः । साधूनां वसतिदातरि, दश० ३ अ० । ('सागारिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे८०६पृष्ठेऽस्य व्याख्या गता ।) (शय्यातरेण कीदृशेन भवितव्यमिति ' णिग्गंथी ' शब्दे चतुर्थभागे २०४८ पृष्ठे गतम् ।)

सिज्जायरपिंड-शय्यातरपिण्ड-पु० । शय्यातरो-वसति-स्वामी तस्य पिण्डः । सागारिकेण दीयमाने अशनादिद्वादश-

विधे पिण्डे,दश०३अ०। ('सामारियपिण्ड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उदाहृतम् ।)

सिज्जायरभत्त-शय्यातरभक्त-न० । शय्यातरपिण्डे, नि० चू० ११ उ० ।

सिज्जावाली-शय्यापालिका-स्त्री० । 'शय्यारक्षिकायां शयनीयस्तरिकायाम् , आ० म० १ अ० ।

सिज्जासंथार-शय्यासंस्तार-पुं० ।शरतेऽस्यामिति शय्या-वसतिः सैव संस्तारकः, यद्वा-शय्या-वसतिरेव संस्तारको द्विधा-परिशाटी,अपरिशाटी चेति ।शय्योपलक्षितस्संस्तारकः शय्यासंस्तारकः । शय्या-शयनं तदर्थं-संस्तारकः-संस्तारकभूमयः ।अथवा-शय्यायां-वसतौ संस्तारका शय्यासंस्तारकाः । आ० १ श्रु० १ अ० । शय्यासंस्तारकोभये, बृ० १ उ० ३ प्रक० । आचा० । आव० । नि० चू० । पं० भा० । ग० । स० ।

सिज्झ-सिध्मन्-न० । क्षुद्रकुष्ठविशेषे, भ० ७ श० ६ उ० । जं० ।

सिज्झिया-साध्यस्पिका-स्त्री० । प्रातिवेश्मिकायाम् , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सिञ्च-सिच्-धा० । क्षरणे, "सिचेः सिञ्चसिम्पौ" ॥८।४।९६॥ इति सिचधातोः सिञ्चसिम्पावेशौ । सिञ्चइ । सिम्पइ । सेअइ । सेचति । प्रा० ४ पाद ।

सिट्ठ-शिष्ट-पुं० । शिष्यते स्म शिष्टः । वृत्तस्थज्ञानवृद्धसेवोपलब्धविशुद्धसेवामनुजविशेषे, ध० १अधि० । साधुजनसंमते, द्वा० २२ द्वा० । वेदस्मृत्याद्यनुसारिणि, पञ्चा० १२ विव० । विशिष्टजने, पञ्चा० १३ विव० । क्षीणदोषे सम्यग्दृष्टौ, द्वा० ।

तल्लक्षणम्—

अंशतः क्षीणदोषत्वात , शिष्टत्वमपि युक्तिमत् ।
अत्रैव हि परोक्तं तु, तल्लक्षणमसंगतम् ॥ १६ ॥

अंशत इति—अंशतो-देशत. क्षीणदोषत्वाद्दोषक्षयवत्त्वात् शिष्टत्वमपि अत्रैव-सम्यग्दृष्टावेव युक्तिमत् न्याय्योपेतम्।" क्षीणदोषः पुरुषः शिष्टः" इति लक्षणस्य निर्वाच्यत्वात् । सर्वदोषक्षयेण सर्वथा शिष्टत्वस्य सिद्धे केवलिनि वा विश्रान्तत्वेऽपि सम्यग्दृष्टेरारभ्य देशतो विचित्रस्य शिष्टत्वस्यान्यत्राभावात्वात् ।न चैवं शिष्टत्वस्यातीन्द्रियत्वेन दुर्ग्रहत्वाच्छिष्टाचारेण प्रवृत्त्यनापत्तिरिति शङ्कनीय प्रशमसंवेगादिलिङ्गैस्तस्य सुग्रहत्वात् । दोषा रागादय एव तेषां च दिव्यज्ञानादर्वाक् न क्षयमुपलभामहे, न वा तेषु निरवयवेष्वंशोऽस्ति येनांशतः तत्क्षयो वक्तुं शक्येतेति चेन्न, औचित्यचितप्रवृत्तिसंवेगादिलिङ्गकप्रबलतदुपक्षयस्यैवांशतो— दोषक्षयार्थत्वात् . आत्मानुग्रहोपघातकारित्वेन चयोपचयवत सावयवस्य कर्मरूपदोषस्य प्रसिद्धत्वाच्च इत्यन्यत्र विस्तर. । हि-निश्चितं परोक्तं तु द्विजन्मोद्भावितं तु तस्य शिष्टस्य लक्षणम् असंगतमयुक्तम् ।

तथाहि—

वेदप्रामाण्यमन्तृत्वं, बौद्धे ब्राह्मणताडिते ।
अतिव्याप्तं द्विजेऽव्याप्तं, स्वापे स्वारसिकं च तत् ॥१७॥

वेदेति—"वेदप्रामाण्यमन्तृत्वम् " एतावदेव शिष्टलक्षणम् ब्राह्मणताडिते बौद्धेऽतिव्याप्तं, तेनापि " वेदा प्रमाणम् " इत्यभ्युपगमात् । स्वारसिकं च तत् वेदप्रामाण्यमन्तृत्वं द्विजे ब्राह्मणेऽव्याप्तम् । अयं भाव —स्वारसिकत्वविशेषणेन बौद्धेऽतिव्याप्तिनिरासेऽपि स्वारसिकवेदप्रामाण्यमन्तृत्वम् ' यदा कदाचित्तस्य सर्वदा वा ? आद्ये बौद्धे प्रागतिव्याप्तितादवस्थ्यं, तस्यापि जन्मान्तरे वेदप्रामाण्याभ्युपगमसंभवात् । अन्त्ये च शयनादिदशायां वेदप्रामाण्याभ्युपगमाभाववति ब्राह्मणेऽव्याप्तिरिति ।

तदभ्युपगमाभाव-स्तद्वयत्ययमन्तृता ।
तावच्छिष्टत्वमिति चे-त्तदप्रामाण्यमन्तरि ॥ १८ ॥

तदिति—तस्य वेदप्रामाण्यस्याभ्युपगमात् यावत् तद्वयत्ययस्य वेदाप्रामाण्यस्य मन्तृताऽभ्युपगमः तावच्छिष्टत्वम् शयनादिदशाया च वेदप्रामाण्यानभ्युपगमाद् ब्राह्मणे नाव्याप्तिरिति भाव । अप्रामाण्यमन्यस्यापि स्वारसिकस्य ग्रहणाद्बौद्धताडिते ब्राह्मणे वेदाप्रामाण्याभ्युपगन्तरि नातिव्याप्तिः अप्रमाकरणत्वाभावस्योभय द्वयोरपि प्रमाण्यविरोधित्वेन सङ्ग्रहात्प्राक्प्रद्वेऽन्याभ्युपगन्तर्यातिव्याप्ति, । अत्राह— इति चेत्तदप्रामाण्यमन्तरि-वेदाप्रामाण्याभ्युपगन्तरि ।

अजानति च वेदत्व-मव्याप्तं चेद्विवक्ष्यते ।
वेदत्वेनाभ्युपगम-स्तथापि स्यादद: किल ॥ १९ ॥

अजानति चेति—वेदत्वं च वेदेऽजानति ब्राह्मणे अव्याप्त लक्षणमेतत् तेन वेदाप्रामाण्याभ्युपगमात् । अथ चेद् वेदत्वेनाभ्युपगमो विवक्ष्यते वेद एव वेदत्वमजानतश्च न वेदत्वेनाप्रामाण्याभ्युपगम. किं त्विदमप्रमाणमिति इदन्त्वादिनैवेति नाव्याप्ति., तथाप्यद एतल्लक्षणं किल ।

ब्राह्मणः पातकात्प्राप्तः, काकभावं तदापि हि ।
व्याप्नोतीशं च नोत्कृष्ट-ज्ञानावच्छेदिका तनुः ॥२०॥

ब्राह्मण इति—यदा ब्राह्मण पातकात् काकजन्मनिबन्धनाद् दुरितात् काकभावं प्राप्त, तदापि हि स्यात् ब्राह्मणदशाया वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वात् काकदशाया च वेदाप्रामाण्यानभ्युपगन्तृत्वात् । उत्कृष्टज्ञानावच्छेदिका च तनुरीशं-भवानीपतिं न व्याप्नोति । तथा च काकेऽतिव्याप्तिवारणार्थमुत्कृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरवत्त्वे सतीति विशेषणदाने ईश्वरेऽव्याप्तिरित्यर्थ: ।

अन्याङ्गरहितत्वं च, तस्य काकभवोत्तरम् ।
देहान्तराग्रहदशा-माश्रित्यातिप्रसक्तिमत् ॥२१॥

अन्येति—अन्याङ्गरहितत्वं च अपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीररहित्य च तस्य ब्राह्मणभवानन्तरप्राप्तकाकभवस्य, काकभवोत्तर देहान्तराग्रहदशा-शरीरान्तरानुपादानावस्थाम् आश्रित्य अतिप्रसक्तिमदतिव्याप्त तदानीमपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरराहित्यात् ।

अवच्छेदकदेहाप्ता-मपकृष्टधियामथ ।
सम्बन्धविरहो याजन्, प्रामाण्योपगमे सति-॥ २२ ॥

अवच्छेदकेति-अथ प्रामाण्योपगमे सति--वेदप्रामाण्या-

भ्युपगमकाले यावान् अपकृष्टधियाम्-अवच्छेदकदेहानाम् अपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीराणां संबन्धविरहः-संबन्धाभावः।

अप्रामाण्यानुपगम-स्तावत्कालीन एव हि।
शिष्टत्वं काकदेहस्य,प्रागभावस्तदा च न ॥२३॥

अप्रामाण्येति--तावत्कालीन एव हि--सकलतत्समानकालीन एव अप्रामाण्यानुपगमो--वेदप्रामाण्याभ्युपगमविरह, शिष्टत्वं काकदेहस्य प्रागभावो वेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनः, तदा च काकस्य मरणानन्तर शरीरान्तरग्रहदशायां नास्तीति नातिव्याप्तिः। इत्थं च यावन्तं काल वेदत्वेन वेदाप्रामाण्याभ्युपगमस्य विरहो वेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनयावदपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरसंबन्धाभावसमानकालीनस्तावन्त कालं स शिष्ट। ब्राह्मणोऽपि बौद्धो जातो वेदप्रामाण्यं यावन्नाभ्युपगतवान् तावच्छिष्ट एव। बौद्धोऽपि ब्राह्मणो जातो वेदप्रामाण्यं यावन्नाङ्गीकृतवांस्तावदशिष्ट एवेति फलितमाह पण्डनाभ.। अत्र च वेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनत्वपदस्तत्सामानाधिकरण्यमपि वाच्यम्। अन्यथोत्तरकाल तत्कालीनं यत्किंचिदन्यधिकरणापकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरसंबन्धप्रागभावनाशेनाव्याप्त्यापत्तेः।

नैवं तदुत्तरे विप्रे-ऽव्याप्तेः प्राक् प्रतिपत्तितः।
प्रामाण्योपगमात्तत्र,प्राक् तलेति न सेति चेत् ॥२४॥

नैवमिति--नैव यथा विवक्षितं प्राक् तदुत्तरे विप्रे काकभवोत्तरभवात्तब्राह्मणभवे प्राक्प्रतिपत्तित प्राग्भवीयवेदप्रामाण्यग्रहमाश्रित्याव्याप्ते। तदानीं तदीयवेदाप्रामाण्याभ्युपगमविरहस्य प्राक्तनब्राह्मणभवीयवेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनयावदपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरसंबन्धविरहासमानकालीनत्वादान्तरालिककाकभव एव काकशरीरसबन्धप्रागभावनाशात्। प्रामाण्योपगमाद्वेदप्रामाण्याभ्युपगमात् प्राक् तत्र काकभवोत्तरब्राह्मणे तच्छिष्टत्व न इति इतरलक्ष्यत्वादेव न साऽव्याप्ति। वेदप्रामाण्याभ्युपगमं तु लक्षणसपदैवेति भाव.। इति चेन्नैवं यत्किंचिद्वेदप्रामाण्याभ्युपगम एव ग्राह्य।

तथा च—

यत्किञ्चित्तद्ग्रहे पश्चात्, प्राक् च काकस्य जन्मनः।
विप्रजन्मान्तराले स्या-त्सा ध्वंसप्रागभावतः ॥२५॥

यत्किञ्चिदिति-यत्किञ्चित्तद्ग्रहे-यत्किञ्चिद्वेदाप्रामाण्याभ्युपगमस्य लक्षणमध्यनिवेशे काकस्य जन्मन. पश्चात् प्राक् च विप्रजन्मनोरन्तरालेऽप्रातिविश्लेषाभ्यां मध्यभावे ध्वंसप्रागभावत' काकशरीरसंबन्धध्वंसप्रागभावावाश्रित्य सा प्रसिद्धाऽतिव्याप्ति स्यात्। अय भावः—यो ब्राह्मण' काको जातस्तदनन्तर च ब्राह्मणो भविष्यति तस्य मरणानन्तरं प्राक्तनशरीरग्रहदशायामुत्तरब्राह्मणभवकालीनवेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनकाकशरीरध्वंसेनैव लक्षणमाव्याप्त्यातिव्याप्ति। प्राक्तनकाकशरीरसंबन्धप्रागभावस्तु न तत्समानकालीन एवेति तस्यैव ब्राह्मणभवत्यागानन्तरं काकशरीराग्रहदशाया प्राक्तनब्राह्मणभवकालीनवेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनकाकशरीरसंबन्धप्रागभावेनाव्याप्तिरिति। किं च-

यो ब्राह्मण. प्राग् बौद्धो जातस्तस्य स्वापादिदशायां वेदाप्रामाण्याभ्युपगमविरहस्याग्रिमब्राह्मणभवीयनिरुक्तयावच्छरीरसंबन्धाभावसमानकालीनत्वात्तत्रातिव्याप्तिरिति बोध्यम्।

जीववृत्तिविशिष्टाङ्गा-भावाभावग्रहोऽप्यसन्।
उत्कर्षश्चापकर्षश्चा-व्यवस्थो यदपेक्षया ॥ २६ ॥

जीवेति-जीववृत्तिविशिष्ट.-देवत्ववृत्तित्वविशिष्टो योऽङ्गाभाव उत्कृष्टज्ञानावच्छेदकशरीराभावस्तदभावग्रहोऽपि तन्निवेशोऽपि काकेश्वरयोरतिव्याप्तिवारणार्थमसन्नदुष्टलक्षणाधानासमर्थः। यदस्मादुत्कर्षश्चापकर्षश्च अपेक्षया व्यवस्थित.। कीटिकादिज्ञानापेक्षयोत्कृष्टत्वात् काकादिज्ञानस्य, ब्राह्मणादिज्ञानस्य च देवादिज्ञानापेक्षयाऽपकृष्टत्वात्। इत्थं च तदवस्थ एवातिव्याप्त्यव्याप्ती। न च काकादिज्ञानव्यावृत्तं मनुष्यादिज्ञानसाधारणमुत्कर्ष नाम जातिविशेषमाद्रियन्ते भवन्त . अन्यथा कार्यमात्रवृत्तिजाते कार्यतावच्छेदकत्वनियमेन तदवच्छिन्नेऽनुगतकारणकल्पनापत्तिः, ईश्वरज्ञानसाधारण्याच्च तस्य कार्यमात्रवृत्तित्वमिति चेत्तथापि देवदत्तादिज्ञन्यतावच्छेदिकयाऽपकर्षविशेषेण च सांकर्यान्न जातित्वं तत्तज्ज्ञानावच्छेदकशरीरसंबन्धाभावकूटस्तु दुर्ग्रह इति न किंचिदेतत्।

ननु एकजन्मावच्छेदेन स्वसमानाधिकरणस्वोत्तरवेदाप्रामाण्याभ्युपगमध्वंसानाधारवेदप्रामाण्याभ्युपगमोत्तरकालवृत्तित्वविशिष्टवेदाप्रमाण्याभ्युपगमविरह. शिष्टत्वमिति निर्वचने न कोऽपि दोषो भविष्यतीत्यत आह—

अपि चाव्याप्त्यतिव्याप्ती, कार्त्स्न्यदेशविकल्पतः।
आद्यग्रहे स्वतात्पर्या-च दोष इति चेन्मतिः ॥ २७ ॥

अपि चेति—अपि च कार्त्स्न्यदेशविकल्पत कृत्स्नवेदप्रामाण्याभ्युपगमो विवक्षितो देशतःभ्युपगमो वेति विवेचनेऽव्याप्त्यतिव्याप्ती। कृत्स्नवेदप्रामाण्याभ्युपगमस्य ब्राह्मणेष्वप्यभावात्। न हि वेदान्तिनो नैयायिकाद्यभिमतां श्रुतिं प्रमाणयन्ति,नैयायिकादयो वा वेदान्त्यभिमता यत्किंचिद्वेदप्रामाण्य च बौद्धादयोऽप्यभ्युपगच्छन्ति, "न हिंस्यात् सर्वभूतानि, अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादिवचनानां तेषामपि सम्मतत्वादिति। स्वतात्पर्यात्-स्वाभिप्रायमपेक्ष्य। आद्यग्रहे यावद्वेदप्रामाण्याभ्युपगमनिवेशे न दोष. स्वस्वतात्पर्ये प्रमाणं श्रुतिरिति हि सर्वेषां नैयायिकादीनामभ्युपगमः। इति चेन्मति. कल्पना भवदीया।

नैवं विशिष्य तात्पर्या-ग्रहे तन्मानताऽग्रहात्।
सामान्यतः स्वतात्पर्ये,प्रामाण्यं नोऽपि संमतम् ॥२८॥

नैवमिति-एवं मतिर्नियुक्ता कस्याश्चिद् दुरवबोधायाः श्रुतेर्विशिष्य स्वकल्पितार्थानुसारेण तात्पर्याग्रह तन्मानतायास्तत्प्रमाणताया अग्रहात्। स्वतात्पर्ये सर्ववेदप्रामाण्याभ्युपगमस्य तु शक्तत्वादनाकलिततात्पर्यायामपि श्रुतौ प्रमोपहितन्याग्रहेऽपि प्रमाकरणत्वस्य सुग्रहत्वान्न दोष इत्यत आह-सामान्यतो नयरूपत्वेन स्वतात्पर्ये स्वाभिप्रायप्रमाणे वेदप्रामाण्यं नोऽस्माकं जैनानामपि संमतम्। यावन्तो हि परसमयास्तावन्त एव नया इति श्रुतपरिकर्मितमते सर्व-

मेव शास्त्रं प्रमाणीकुर्वन् सकलवेदमादरयामपुण्यकामो- उपाय एवेति । श्रा० १५ द्वा० । शिष्टसमयपालना- लनार्थं ग्रन्थादौ सिद्धधाभिधानम्--कोऽपि शिष्योऽल्प- श्रुत कंचिद्वाचार्यं पूर्वगतसूत्रार्थधारकं ज्ञानस्य श्रुतसा- गरपारगतं शिरसा प्रणम्य प्रच्छयामि स्म । यथा- भगवन्निच्छामि युष्माकं श्रुतनिधीनामन्ते यथावस्थित का- लविभागं ज्ञातुमिति । तत एवमुक्ते सति आचार्य आह--शृ- णु वत्स ! नार्थरित्यादि, तथा-तद्वृत्तिप्रथमसूत्रस्यापि स- व्याख्यामविसंवदशास्थमाश्रित्योक्तम्, यथा-इह स्कन्दिलाचा- र्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगु- णनादिकं सर्वमप्यनशत् ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत् । तद्यथा--एको वलभ्याम्, एको मथुरायाम् । तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः । विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यव- श्यं वाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः । ग० १ अधि० ।

सृष्ट-न० । एकीभूते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । कृपादित्वादृत इः । प्रा० १ पाद ।

श्लिष्ट-न० । मिलिते, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

सिट्ठत्त-शिष्टत्व-न० । शिष्टभावे, वक्तुः शिष्टत्वसूचने, अ- भिमतसिद्धान्तोक्तार्थतया वक्तुः शिष्टतासूचकत्वे च । स० ३५ सम० । इशमे सत्यवचनातिशये, रा० ।

सिट्ठगिहत्थ-शिष्टगृहस्थ-पुं० । वेदस्मृत्याद्यनुसारिणि गृह- स्थे, पञ्चा० १३ विव० ।

सिट्ठजन-शिष्टजन-पुं० । विशिष्टभव्यलोके, षो० ८ विव० ।

सिट्ठाऽऽयार-शिष्टाऽऽचार-पुं० । शिष्टचरिते, ध० । तथा शिष्य- न्तेऽस्म शिष्टाः वृत्तस्थज्ञानवृद्धसेवोपलब्धविशुद्धशिक्षा मनु- जविशेषास्तेषामाचारश्चरितम् । यथा--

"लोकापवादभीरुत्वं, दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥
सर्वत्र निन्दासत्यागो, वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं, तद्वत्सम्पदि नम्रता ॥ २ ॥
प्रस्तावे मितभाषित्व--मविसंवादनं तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति, कुलधर्मानुपालनम् ॥ ३ ॥
असद्व्ययपरित्यागः, स्थाने चैव क्रिया सदा ।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विवर्जनम् ॥ ४ ॥
लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ५ ॥"

इत्यादि । तस्य प्रशंसा-प्रसंशनं पुरस्कार इत्यर्थः, यथा- "गुणेषु यत्नः क्रियतां, किमाटोपैः प्रयोजनम् । विक्रीयन्ते न घण्टाभि--र्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥ १ ॥" तथा-"शुद्धाः प्रसिद्धिमायान्ति, लघवोऽपीह नेतरे । तमस्यपि विलोक्यन्ते, दन्तिदन्ता न दन्तिनः ॥१॥" इति ॥ ध० १ अधि० ।

सिट्ठाऽऽयारपसंसा-शिष्टाचारप्रशंसा-स्त्री० । शिष्टाचारपुर- स्कारे, ध० १ अधि० ।

सिट्ठि-शिष्टि-स्त्री० । "ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे" ॥८।२।३४॥ इति । ष्टस्य ठ । प्रा० । "इत् कृपादौ" ॥ ८।१।१२८ ॥ इति ऋत इत्वम् । प्रा० । रचनायाम्, अष्ट० २२ अष्ट० ।

सेट्ठिन्--पुं० । नगरमुख्यव्यवहारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सिढिर-शिथिर-त्रि० । "मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढ" ॥८।१।२१५॥ इति थस्य ढ । शिथिले, प्रा० १ पाद ।

सिढिल-शिथि(र)ल-त्रि० । "मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथम थस्य ढः"॥८।१।२१५॥ इति थस्य ढः । हरिद्रादित्वाद्रस्य ल । प्रा० । मन्दवीर्ये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । श्लथ, भ० १ श० १ उ० ।

सिढिलत्तया-शिथिलता-स्त्री० । शैथिल्ये, भ० १६ श० ४ उ० ।

शिथिलत्वच्-स्त्री० । श्लथचर्मणि, भ० १६ श० ४ उ० ।

सिढिलीकय-श्लिष्टीकृत-त्रि० । सूत्रबद्धाग्नितप्तलोहशलाका कलापवन्निघत्ते, भ० ६ श० १ उ० ।

शिथिलीकृत-त्रि० । मन्दविपाकीकृते, भ० ६ श० ३ उ० । सं० सू० ।

सिणाण-स्नान-न० । सोत्तमाङ्गशौचे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । स्नानं । देशस्नानं सर्वस्नानञ्च देशस्नान-हस्त- पादमुखप्रक्षालनम् । सर्वस्नानं शिरसा स्नानरूपं सत्यागमप्र सिद्धया । षो० ६ विव० । स्नानं च देशसर्वभेदभिन्न इ-- शस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि । सर्व- स्नानं प्रतीतम् । 'राइभत्ते सिणाणे य गंधमल्ले य वीयणे । अनाचरितम्, दश०३ अ० । जीत० । स्नानं द्रव्यभावस्या- जितम्, स्नानं वा विलेपनं चन्दनकुङ्कुमादिभिः । षो०६विव० । अभ्यङ्गपूर्वकेऽङ्गप्रक्षालने, तच्चायतनयाऽत्र ससक्तभूम्या संपातिमसत्त्वाकुले वा काले वस्त्रापूतजलेन वा यत् कृतम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । स्नानं तैला- भ्यङ्गादिपूर्वकं देवपूजार्थं करणेन नियमभङ्गः लौकिक- कारणे च यतना रक्षा । ध० २ अधि० ।

साम्प्रतं स्नानप्रतिपादकं सप्तदशस्थानमाह--

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए ।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥ ६० ॥
संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलुगासु अ ।
जे अ भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पलावए ॥६१॥
तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥ ६२ ॥
सिणाणं अदुवा कक्कं, लुद्धं पउमगाणि अ ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि ॥ ६३ ॥

'वाहिओ व' त्ति सूत्रम्, व्याधिमान् वा-- व्याधिग्रस्तः अरोगी वा--रोगविप्रमुक्तो वा स्नानम्-- अङ्गप्रक्षालनं यस्तु प्रार्थयते--सेवत इत्यर्थः, तेनाच- भूतेन व्युत्क्रान्तो भवति, आचारो--बाह्यतपोरूप अस्नानपरीषहानतिसहनात्, 'जढ' परित्यक्तो भवति संयम--प्राणिसंरक्षणादिकः, अप्कायादिविराधनादात सूत्रार्थः ॥ ६० ॥ प्रासुकस्नानेन कथं संयमपरित्याग इ-- त्याह--'संतिमे' त्ति सूत्रम्, सन्ति एते--प्रत्यक्षो- पलभ्यमानस्वरूपाः सूक्ष्मा--श्लक्ष्णाः 'प्राणिनो--द्वी--

न्द्रियादयः प्रमाणास्तु—शुषिरभूमिषु भिलुगासु च—तथा-विधभूमिराजीषु च, खांस्तु भिक्षुः स्नानजलाद्युत्प्लाविताप्राणिक्षयेन-प्रासुकोदकेनोत्प्लावयति, तथा च तद्विराधनाकल्पस्थमपरित्यागा इति सूत्रार्थः ॥ ६१ ॥ निगमयन्नाह—'तम्हा' त्ति सूत्रम्, यस्मादेवमुक्तदोषप्रसङ्गस्तस्मात् ते—साधवो न स्नान्ति शीतेन चोष्णेनोदकेन; प्रासुकेनाप्रासुकेन वेत्यर्थः, किंविशिष्टास्त इत्याह—यावज्जीवम्—आजन्म व्रतं घोरम्—दुरनुचरमस्नानमाश्रित्य अधिष्ठातारः—अस्यैव कर्तार इति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥ किंच—'सिणाणं' ति सूत्रम्-स्नान—पूर्वोक्तम् । अथवा—कल्कं—चन्दनकल्कादि लोध्र—गन्धद्रव्यं पद्मानि च—कुङ्कुमकेसराणि, चशब्दादन्यच्चैवंविधं गात्रस्य उद्वर्त्तनार्थम्—उद्वर्त्तननिमित्तं नाचरन्ति कदाचिदपि यावज्जीवमेव भावसाधव इति सूत्रार्थः ॥६३॥ दश० ६ अ० २ उ० ।

" मलमइलपंकमइला, धूलीमइला न ते नरा मइला ।
जे पावपंकमइला, ते मइला जीवलोयम्मि ॥ १६६ ॥
खणमित्तं सलिलेहिं, सरीरदेहस्स सुद्धिजणग त्ति ।
कामंग ति खिसिद्धं, महेसिणा तं नत्थु सिणाणं " ॥ १७० ॥

उक्तं च-

" स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् ।
तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः" ॥१७१॥
ध० र० १ अधि० १० गुण ।

तथा-स्नाऽऽचि—

"नोदकक्लिन्नगात्रोऽपि, स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥१७४॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं, तीर्थस्नानैर्न शुध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौत-सुराभाण्डमिवाशुचि" ॥ १७५ ॥

ध० र० १ अधि० १० गुण । गृहस्थानां स्नानसंलोके न तिष्ठेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । स्नानं मनोमलत्यागो योगश्चेन्द्रियसाधनम् । अभेददर्शनं ज्ञानं, ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ १ ॥ न तु बाह्याविशुद्धिः " जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, ण तं सुदिट्ठं कुसला वयंति ।" जयघोषं प्रति विजयघोषः स्नाननिरूपणमाह—"द्रव्यतो भावतश्चैव, द्विधा स्नानमुदाहृतम् । बाह्यमाध्यात्मिकं चेति, तदन्यैः परिकीर्त्यते ॥१॥ " उत्त० १२ अ० । "पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासणेणं । ते मज्जमंसं लसणं च भोच्चा, अण्णत्थवासं परिकप्पयंति ॥१॥" सूत्र०१ श्रु०७ अ० । ('कुसील' शब्दे तृतीयभागे ६१० पृष्ठे व्याख्यातैषा ।) "उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता । उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झंसु पाणा बहवे दगंसि ।" सूत्र० १ श्रु०७अ० । ('उदग' शब्दे-द्वितीयभागे ७६६ पृष्ठे व्याख्यातैषा गाथा ।) "न शक्यं निर्मलीकर्तुं, गात्रं स्नानशतैरपि । अश्रान्तमेव स्रोतोभि-र्वहद्भिर्नवभिर्मलम् ॥१॥" उत्त०२अ० । अपत्यार्थं मन्त्रौषधीभिः संस्कृतजलैर्मूलादिस्नाने, रोगमुक्तस्नाने च । उत्त०१५ अ० । (ग्लानस्य स्नानं 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे ८८८ पृष्ठे गतम् ।)

सप्त स्नानानि लौकिकैः पुनरित्थमभ्युपगतानि ।—यदाह—
" सप्त स्नानानि प्रोक्तानि, स्वयमेव स्वयंभुवा ।
द्रव्यभावविशुद्ध्यर्थ-मृषीणां ब्रह्मचारिणाम् ॥ १ ॥
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं, वायव्यं दिव्यमेव च ।
पार्थिवं मानसं चैव, स्नानं सप्तविधं स्मृतम् ॥ २ ॥
आग्नेयं भस्मना स्नानं-मवगाह्य तु वारुणम् ।
आपोहिष्ठामयं ब्राह्मं, वायव्यं तु गवां रजः ॥ ३ ॥
सूर्यदृष्टं तु यद् दृष्टं, तद्दिव्यमृषयो विदुः ।
पार्थिवं तु मृदा स्नानं, मनःशुद्धिस्तु मानसम् ॥४॥"

स्था० ७ ठा० ३ उ० । आचा० । स्नात्यनेनेति स्नानम् । गन्धोदकादिके, उत्त० २१ अ० । सुगन्धिद्रव्यसमुदाये, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

सिणाय–स्नात (क)–पुं० । क्षालितसकलघातिकर्ममलत्वात्स्नात इव स्नातः स एव स्नानकः । ध०३ अधि० । घातिकर्ममलक्षालनायासशुद्धस्नानस्वरूपे निर्ग्रन्थभेदे, स्था० ३ ठा० २ उ० । भ० ।

सिणाते पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—अच्छवी १ असबले २ अकम्मंसे ३ संसुद्धणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली ४ अपरिस्सावी ५, ६ । (सू० ४४५×)

स्नात इव स्नातः स एव स्नानकः, सयोगोऽयोगी वा केवलीति । अधुनैत एव भेदत उच्यन्ते, तत्र पुलाक इत्यासेवापुलाकः पञ्चविधो, लब्धिपुलाकस्यैकविधत्वात्, तत्र स्खलितमिलितादिभिरतिचारैर्ज्ञानमाश्रित्यात्मानम् असारं कुर्वन् ज्ञानपुलाकः, एवं कुदृष्टिसंस्तवादिभिर्दर्शनपुलाकः, मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनातश्चरणपुलाकः, यथोक्तलिङ्गाधिकग्रहणात् निष्कारणेऽन्यलिङ्गकरणाद्वा लिङ्गपुलाकः, किञ्चित्प्रमादान्मनसाऽकल्प्यग्रहणाद्वा यथा सूक्ष्मपुलाको नाम पञ्चम इति । बकुशो द्विविधोऽपि पञ्चविधः, तत्र शरीरोपकरणभूषयोः संचिन्त्यकारी आभोगबकुशः, सहसाकारी अनाभोगबकुशः, प्रच्छन्नकारी संवृतबकुशः, प्रकटकारी असंवृतबकुशः, मूलोत्तरगुणाश्रितः वा संवृतासंवृतत्वं किञ्चित्प्रमादी अक्षिमलाद्यपनयन वा यथा सूक्ष्मबकुशो नाम पञ्चम इति । कुशीलो द्विविधोऽपि पञ्चविधस्तत्र ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्गान्युपजीवन् प्रतिसेवनतो ज्ञानादिकुशीलो लिङ्गस्थाने क्वचित् तपो दृश्यते तथाऽयं तपश्चरतीत्येवमनुमोद्यमानो हर्षं गच्छन् यथासूक्ष्मकुशीलः प्रतिसेवनयैवेति, कषायकुशीलोऽप्येवं नवरं क्रोधादिना विद्यादिज्ञानं प्रयुञ्जानो ज्ञानकुशीलो, दर्शनग्रन्थं प्रयुञ्जानो दर्शनतः, शापं ददच्चारित्रतः कषायैर्लिङ्गान्तरं कुर्वन् लिङ्गतो, मनसा कषायान् कुर्वन् यथासूक्ष्मः । चूर्णिकाकारव्याख्या त्वेवं सम्यगाराधनविपरीता प्रतिगता वा सेवना प्रतिसेवना । सा पञ्चसु ज्ञानादिषु येषां ते प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलास्तु पञ्चसु ज्ञानादिषु येषां कषायैर्विराधना क्रियत इति । अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणाया निर्ग्रन्थाद्धायाः प्रथमे समये वर्त्तमान एकः शेषेषु द्वितीयः अन्तिमे तृतीयः शेषेषु चतुर्थः सर्वेषु पञ्चम इति विवक्षया भेद एषामिति । छवि –शरीरं तदभावात्काययोगनिरोधे सति अच्छविर्भवति अव्यथको वा १, निरतिचारत्वादशबलः २, क्षपितकर्मत्वादकर्मांश इति ३ तृतीयः । ज्ञानान्तरेणासंपृक्तत्वात्संशुद्धज्ञानदर्शनधरः पूजार्हत्वादर्हन् नास्य रहा-रहस्यमस्तीत्यरहो वा, जितकषायत्वात् जिनः, केवलं परिपूर्ण

ज्ञानादित्रयमस्यास्तीति केवलीति चतुर्थः ४। निष्क्रियत्वात् सकलयोगनिरोधे अपरिश्रावीति पञ्चम ५। क्वचित्पुनः-अर्हन् जिन इति पञ्चमः। स्था०५ ठा० ३ उ०। भ०। प्रव०। पं० भा०। 'सिणाए ण' मित्यादौ ' नो उवसतवेयए होज्जा खीणवेयए होज्ज '' सि--क्षपकश्रेण्यामेव स्नानकस्वभावादिति । भ० १२ श० ५ उ० । " सुहभाणजलविसुद्ध , कम्ममलावेक्खया सिणाउ त्ति । दुविहो य सो सजोगी, तहा अजोगी विणिद्दिट्ठो ॥ १४ ॥ " ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष । तथाविधभार्यादेशवशवर्तित्वेन स्वनामख्याते पुरुषे, पिं०। (' आनन्दिड ' शब्दे षष्ठे भागे अस्य कथा कथिता।)

सिणायग-स्नातक-पुं०। स्नाते, स्वार्थिककप्रत्ययविधानात्। ज्ञा० २ अध्य०। जिनगृहे स्नपनं स्नात्रं तदपि प्रत्यब्दं पर्वसु वा, करणाशक्तेनापि प्रतिवर्षमेकैक साडम्बरसमग्रसामग्रीमेलनादिपूर्वं कार्यम्। स्था० ४ ठा० १ उ० । ध० । पर्वसु जिनगृहे स्नपनं कार्यम्। देवस्नातको देवश्रेष्ठ । सूत्र० २ श्रु० २ अ०। बोधिसत्त्वे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। घातिकर्ममलक्षालनावाप्तशुद्धज्ञानस्वरूपे निर्ग्रन्थभेदे , स्था० ५ ठा० ३ उ० । षट्कर्मभिरतेषु वेदाध्यापकेषु शौचाचारपरतया नित्य स्नायिषु ब्रह्मचारिषु, " सिणायगाण तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए माहणाण ॥२६॥ " सूत्र० २०७ अ० । (अत्र दूषणम् ' अद्दगकुमार ' शब्दे प्रथमभागे २५५ पृष्ठे उक्तम्।) पर्वसु त्रिपञ्चसप्तकुसुमाञ्जलिप्रक्षेपादिपूर्वे भगवत स्नपने, ध० २ अधि०। (सविस्तरपूजावसरे च नित्यं विशेषतश्च पर्वसु त्रिपञ्चसप्तकुसुमाञ्जलिप्रक्षेपादिपूर्वं भगवत स्नात्र विधेयमिति ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२८७ पृष्ठे गतम्।)

सिणिद्ध-स्निग्ध-त्रि०। आर्द्रे, आचा० २ श्रु० २ चू० १ अ० १ उ०। स्था०। घने, औ०। अरूक्षे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। शुभकान्तौ, रा०।

सिणेह-स्नेह-पुं०। स्वजनादिषु प्रेमणि, उत्त० १ अ०। सूत्र०। स्निग्धभावे, सूत्र०२ श्रु० ३ अ०। स्था०। " छेदणे भेदणं चेव, घसणं पीसणे तहा। अभिघाते सिणेहे य, कारं खारेत्ति यावरे ॥१॥" नि० चू० १ उ०। तैलघृतादौ, स्था० १० ठा० ३ उ०। मात्रादिसम्बन्धहेतौ, औ०। जले, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। रागस्नेहयोः क प्रतिविशेष-इत्युच्यते, रूपाद्याक्षेपजनितः प्रीतिविशेषो राग , सामान्यतस्त्वपत्यादिगोचर स्नेहः। आव० १ अ०।

माया पिया एहुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ३ ॥

पण्डित इति विचारयेदिति अध्याहारः कर्त्तव्य इतीति, किम् एते मम त्राणाय--मम रक्षायै न अल--न समर्था । कथंभूतस्य मम, स्वकर्मणा पीड्यमानस्य। एते के माता पिता स्नुसा-पुत्रवधू भ्राता-सहोदरः भार्या-पत्नी पुत्रा पुत्रत्वेन मानिनाः च-पुन औरसा स्वयमुत्पादिताः , एते सर्वेऽपि स्वकर्मसमुद्भूतदुःखाद् रक्षणाय न समर्था भवन्तीत्यर्थः।

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे।
छिंदे गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥ ४ ॥

शमितदर्शन शमितं-ध्वस्तं दर्शनं-मिथ्यादर्शनं येन स शमितदर्शन । अथवा--सम्यक्प्रकारेण इत-प्राप्तं दर्शनं सम्यक्त्वं येन स समितदर्शनः एतादृश संयमी एतदर्थं-पूर्वोक्तमर्थम् अशरणादिकं 'सपेहाए'-स्वप्रज्ञया-स्वबुद्ध्या ' पासे' इति-पश्येत् हृदि अवधारयेत् ,च-पुनः 'गेहिं' गृद्धिं रसलाम्पट्यं च-पुनः स्नेहं पुत्रकलत्रादिषु राग छिन्द्यात्। पुनः पूर्वसंस्तवः-पूर्वपरिचयः एकया ग्रामादिवासस्त न स्मरेत्। उत्त० ६ अ०।

नमिऊणऽरहंताणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काण ।
सयणसिणेहविमुक्का-ण सव्वसाहूण भावेणं॥नि०चू०१उ।

" रेवापयः किसलयानि च सल्लकीना, विन्ध्योपकण्ठविपिनं स्वकुलं च हित्वा । किं ताम्यसि द्विप! गतोऽसि वशं करिण्याः, स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्पराया." ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। आ० चू०।

सिणेहकाय-स्नेहकाय-पुं०। अप्कायविशेषे, भ० १ श० ६ उ०

सिणेहज्झवसाण-स्नेहाध्यवसान-न०। स्नेहहेत्वध्यवसानभेदे, आ० क० ४ अ०।

सिणेहद-स्नेहार्द्र-न०। अभिष्वङ्गेनार्द्रे जीवभेदे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

सिणेहपयवज्जिय-स्नेहपयोवर्जित-न०। स्नेहेन घृतादिना पयसा क्षीरेण वर्जितं भक्तम्। घृतपयोवर्जिते भक्ते, ओघ०।

सिणेहपरूवणा-स्नेहप्ररूपणा-स्त्री०। कर्मपुद्गलाना सबन्धजनकस्नेहप्ररूपणायाम् , पं० सं० ५ द्वार।

सिणेहपाण-स्नेहपान-न०। द्रव्यविशेषपक्वघृतादिपाने भैषज्यविषये, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०।

सिणेहराग-स्नेहराग-पुं०।सिणेहरागो नाम यो यस्मिन् विषये मूर्च्छितस्तस्य तद्विषयमूर्च्छायाम् , आ० चू० १ अ०। (अत्रोदाहरणं, राग' शब्दे षष्ठे भागे समुपदर्शितम्।)

सिणेहविगइ-स्नेहविकृति-स्त्री० । स्नेहरूपासु विकृतिषु , स्था० ४ ठा० १ उ०।

सिणेहसुहुम-स्नेहसूक्ष्म-न० अवश्यायहिममिहिकाकरकहरतनुरूपे सूक्ष्मभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

से किं तं सिणेहसुहुमे२ पंचविहे पण्णत्ते,तं जहा-उस्सा-हिमए मिहिया करए हरतणुए जे छउमत्थेणं ०जाव पडिलेहियव्वे भवइ से तं सिणेहसुहुमे । (सू० ४५ ×) कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। दश०।

सिणेहाययण-स्नेहायतन-न०। जलाऽऽवाहनस्थाने, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

सिण्ह-शिश्न-पुं०। "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णा ण्हः " ॥ ८। २।७५॥इति। सयुक्तस्य श्नस्य ण्हः। पुरुषचिह्ने, प्रा०।

सिण्हाय-स्नानीय-पुं० । स्नानकरणयोग्यजलाधारे , उत्त० १२ अ०। त्रि०। शुचिभूते, उत्त० १२ अ०।

सित–सित–त्रि० । बद्धे , नं० ।

सित्त–सिक्त–त्रि० । केवलोदकेनार्द्रीकृते, ग० १ अधि० । श्रा० । ध० । रा० । उदकच्छटच्छटने कृतसेचने , औ० । जी० ।

सिवि–सिसि–पुं० । ऊर्ध्वमधो वा गच्छतः सुखोत्तारावतारहेतौ काष्ठादिमये पथि, व्य० १० उ० । (' भत्तपच्चक्खाण 'शब्दे पञ्चमभागेऽस्यविस्तरो गतः ।)

सित्थ–सिक्थ–न० । 'क ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵक-ᳶपामूर्ध्वं लुक्' ॥८।२।७७॥ एषां संयुक्तवर्णसंबन्धिनामूर्ध्वं स्थितानां लुग्भवति । सिक्थं सित्थं । कर्म,श्रा० । ग० । श्रा० म० । अनु० । प्रश्न० । विपा० । मधूच्छिष्टे रज्जुनिर्मिते पदार्थे,नील्यां च । भक्तपुलाके, ग्रासे च । पुं० । वाच० ।

सिद्ध–सिद्ध–पुं० । ये येन गुणेन निष्पन्नाः परिनिष्ठिताः सिद्धौदनवद् , न पुनः साधनीया इत्यर्थः । ध० २ अधि० । कल्प० ।

एगे सिद्धे । (सू० ४६+)

सिध्यति स्म कृतकृत्यो भवेत् सेधयति स्म वा—अगच्छत् अपुनरावृत्त्या लोकाग्रमिति सिद्ध । सितं वा बद्धं कर्म ध्मातं दग्ध यस्य स इति निरुक्तात् सिद्धः । कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्त·, स च एको द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतस्त्वनन्तपर्याय इति,अथवा—सिद्धानामनन्तत्वेऽपि तत्सामान्यादेकत्वम् । अथवा—कर्मशिल्पविद्या-मन्त्रयोगागमार्थयात्राबुद्धितपःकर्मक्षयभेदेनानेकत्वेऽप्यस्यैकत्व सिद्धशब्दाभिधेयत्वसाम्यादिति । कर्मक्षयसिद्धस्य च परिनिर्वाणम् । स्था० १ ठा० । कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्ते , पा० । अपगतसकलकर्ममले , चं० प्र० १ पाहु० । दशा० । भ० । दश० । आव० । अशेषद्वन्द्वरहिते , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । शुक्लध्यानानलनिर्दग्धकर्मेन्धने मुक्तिपदभाजि जीवे , पा० । अपगतसकलकर्मांशेन परमसुखिनि एकान्तकृतकृत्ये आ० म० २ अ० । कर्मविनाशात् कृतकृत्ये , भ० । आव० २ अ० । निर्दग्धानेकभवकर्मेन्धने, ल० । जी० । सूत्र० । स्था० । पं० सू० । आ० चू० । सिद्धा खेत्तलोगस्स निरवसेसाणं च कम्मपगडीणं जो खाइ भावलोगो तस्स उत्तमा खीणसव्वकम्म त्ति भणित होति । आ० चू० ४ अ० । सिद्ध पञ्चदशविधः । विशे० ।

अथ सिद्धनमस्कारं व्याचिख्यासुराह—

सिद्धो जो निप्फन्नो, जेण गुणेण स य चोद्दसविगप्पो ।
नेओ नामाईओ, ओयणसिद्धाइओ दव्वे ॥३०२७॥

इह 'सिद्ध' इति कोऽर्थ ?। उच्यते—'षिध संराद्धौ' ' राध साध संसिद्धौ' 'षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च' सिध्यति स्म सिद्धो यो येन गुणेन निष्पन्न -परिनिष्ठित·,न पुन· साधनीय इत्यर्थ·। स च सिद्धः सामान्यतो नामसिद्धादिभेदाच्चतुर्दशविधो ज्ञेय· । तत्र नाम-स्थापनासिद्धौ सुगमौ । द्रव्यसिद्धस्तु सिनिष्पन्न ओदन , आदिशब्दात्-पाकोत्तीर्णघटादिर्द्रष्टव्यो , अस्यौदनादेर्निष्पन्नत्वगुणेन परिनिष्ठितत्वात् , अप्रधानत्वेन च द्रव्यत्वात् इति गाथार्थः ।

शेषानेकादश सिद्धभेदानाह—

कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मंते जोगे य आगमे ।
अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय ॥३०२८॥

कर्मसिद्ध—शिल्पसिद्धो , विद्यासिद्धः, मन्त्रसिद्धः, योगसिद्ध· , आगमसिद्धः, अर्थसिद्धः, यात्रासिद्धः, अभिप्रायो बुद्धिपर्यायस्ततो बुद्धिसिद्धः , तप·सिद्धः , कर्मक्षयसिद्धः । इति निर्युक्तिश्लोकसमासार्थः ।

एतेषां च कर्मादिसिद्धानां स्वरूपप्रतिपादनपराः 'कम्मं जमणाईओ ' इत्यादिकाः ' न किलम्मइ जो तवसा ' इतिगाथापर्यन्ता एकचत्वारिंशद् गाथाः सकथानकभावार्था मूलावश्यकटीकातोऽवसेया इति । अथ कर्मक्षयसिद्धमेव प्रपञ्चतो निरुक्तविधिना प्रतिपादयन्नाह—

दीहकालरयं जंतु- कम्मं से सियमट्ठहा ।
सियं धंतं ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायइ ॥३०२९॥

व्याख्या-दाघः संतानापेक्षयाऽनादित्वात् स्थितिबन्धकालो यस्य तद् दीर्घकालम् , निसर्गनिर्मलजीवस्याच्छन्नत्वाद् मालिन्यापादनाद् रजः, अथवा—स्नेहेन बन्धनयोग्यं भवतीति साम्याद् रजः, सूक्ष्मत्वसाम्याद् वा रज इति कर्मण एव विशेषणम् , दीर्घकाल च तद् रजश्चेति दीर्घकालरज·, 'ज तु कम्मं ति ' दीर्घकालरजोरूपं यत् कर्म दीर्घकालस्थितिक रजोरूप यत् कर्मेत्यर्थः, एतच्चैवविधं कर्म, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वादत्र भव्यस्य , संबन्धि गृह्यते, नाभव्यस्य , तस्य वक्ष्यमाणध्मातत्वायोगात् , अथवाभव्यसंबन्धित्वमिह कर्मणो ध्मातत्वसामर्थ्यादेव लभ्यते । यच्छब्दोऽपि साक्षादुपात्ते कर्मणि न तथाविधं साफल्यमनुभवति , अतः ' जंतुकम्मं ' इत्येतदन्यथा व्याख्यायते—जन्तुर्जीवस्तस्य कर्म जन्तुकर्म । अनेनाबद्धकर्मव्यवच्छेदमाह—बद्धं यत् कर्मेत्यर्थः । कथंभूतं यत्कर्म जन्तुकर्म वा ? इत्याह—' से सियमट्ठह ' त्ति ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारैः पूर्वं 'से' तस्य सितं बद्धमित्यर्थ· । अथवा ' से सियं ' ति अनाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तकरणेन सम्यग्ज्ञानाद्युपायतश्च क्रमेण शोषितं शेषं कृतं, स्थित्यनुभवादिभिरल्पीकृतमित्यर्थ· । तद् दीर्घकालस्थितिकं रजोरूपं भव्यस्य संबन्धि यत्कर्म जन्तुकर्म वा पूर्वमष्टधा बद्धं तत् कर्म शोषितं सत् , किम् ? इत्याह—' सिय धतं ति ' त्ति सितमित्थं बद्धं ध्मातं तीव्रध्यानानलेन दग्ध क्षपितं महाग्निना लोष्ठमलवदस्येति सिद्ध इति निरुक्तिः । एवं च कर्मदहनानन्तरं सिद्धस्यैव सतः सिद्धत्वमुपजायते नासिद्धस्य, ' नेरइएसु उववज्जइ ' इत्यादिनिश्चयनयमताश्रयणादिति । उपजायत इति तदात्मन· स्वाभाविकं सत्सिद्धत्वमनादिकर्माच्छादितं तदावरणविगमेनाविर्भवत्येव , न पुनरसदुपजायत इति प्रतिपत्तव्यम् , असतः खरविषाणस्येव जन्मायोगादिति । अथवा—सिद्धस्य सिद्धत्व सद्भावरूपमुपजायते न तु प्रदीपनिर्वाणकल्पमभावरूपमिति । एवं नयम-

तान्तरव्यवच्छेदार्थमेतत् । तथा आतुरेके—" दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥ जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चि-त्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ २ ॥" इत्यादि एवंविधमिद्धस्याभ्युपगमे दीक्षादिप्रयासवैयर्थ्यान्निरन्वयक्षणभङ्गस्य चाघटमानत्वादिति । अथवा-'दीहकालस्य' इति एतदन्यथा व्याख्यायते रयो वेगश्चेष्टाविशेष फलमनुभव इत्यनर्थान्तरम् , ततश्च सन्तानेनानुभूयमानत्वाद्दीर्घकालो रयोऽनुभवो यस्य तद्दीर्घकालस्य यद्बद्धकर्म जन्तुकर्म वा तथा 'सभिय'मिति एतदप्यन्यथा व्याख्यायते-लेश्याविशेषात्श्लेषितं वह्नयगोगोलकन्यायाज्जीवेन सह सश्लेषमुपगतम् । अथवा सितमित्यादि'तु तथैवेति निर्युक्तिश्लोकसंक्षेपार्थः ।

आह ननु यच्छेषितं भवोपग्राहि चतुर्विध कर्म तद्यदि पर्यन्ते समस्थितिकं भवति तदा समकालमेव क्षपयित्वा मोक्षं गच्छतीत्यर्थादवगम्यते, यदा तु विषमस्थितिकं तद् भवति तदा किं करोतीत्याह ?—

नाऊण वेयणिज्जं, अइबहुयं आउयं च थोवागं ।
गंतूण समुग्घायं, खवेइ कम्मं निरवसेसं ॥ ३०३० ॥

सम्यगपुनर्भावेन उत्प्राबल्येन कर्मणा हनन-घातः प्रलयो यस्मिन्प्रयत्नविशेषे असौ समुद्घातः ।

तत्स्वरूपमेवाह—

दण्डकवाडे मन्थ-न्तरे य साहणया सरीरत्थे ।
भासाजोगनिरोहे, सेलेसी सिज्झणा चेव ॥ ३०३१ ॥

नन्वेवंभूतः समुद्घातगतानां विशिष्ट कर्मक्षयो भवतीति कोऽत्र हेतुरिति ?। अत्रोच्यते प्रयत्नविशेषः ।

किं पुनरत्र निदर्शनमित्यत्राह—

जह उल्ला साडीया, आसु सुक्कइ विरल्लिया संती ।
तह कम्मलहुयसमए,वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥३०३२॥

एता अपि तिस्रो निर्युक्तिगाथाः ।

अथ 'दीहकालरय' मित्यादे भाष्यकारो व्याख्यामाह—

संताणओ अणाई, दीहो ठिइकाल एव बंधाओ ।
जीवाणुरंजणाओ,रउ त्ति जोगो त्ति सुहुमो वा॥३०३३॥
सो जस्स दीहकालो, कम्मं तं दीहकालरयमुत्तं ।
अइदीहकालरंजण-महवा चेट्ठाविसेसमत्थं ॥ ३०३४ ॥

'बंधानु'त्ति—बन्धमाश्रित्य सन्तानतः-सन्तानभावेन अनादित्वाद्दीर्घः स्थितेः कालो यस्य तद्दीर्घकालं जीवस्यानुरञ्जनात्—मालिन्यापादनाद्रजः , अथवा—' जोगो ' त्ति स्नेहेन बन्धनयोग्यो भवतीति साम्याद्रज । अथवा— सुहुमो ' त्ति सूक्ष्मत्वसाम्याद्रजः कर्म भण्यते सो जस्स ' इत्यादिना समासः , स च विहित एव । किमुक्तं भवतीत्याह-'अइदीह'त्यादि अतिदीर्घकालं जीवस्य रञ्जन-मालिन्यापादने रज इति । अथवा—रय इत्येतत्पदं चेष्टाविशेषार्थ, ततश्च दीर्घकालो रयो वेगश्चेष्टाविशेषो जीवेऽनुभवो यस्य तद्दीर्घकालस्थमित्यर्थः ।

किं पुनस्तदित्याशङ्क्य 'जन्तुकम्म' इत्यस्य व्याख्यानमाह—

जं कम्मं ति तुसद्दो, विसेसणे पूरणेऽहवा जीवो ।
जंतु त्ति तस्स जंतो, कम्मं से जं सियं बद्धं ॥३०३५॥

यद् दीर्घकालरजोरूपं दीर्घकालरयं वा कर्मेति । तुशब्दो विशेषणे । तेन विशेषतो भव्यस्य सम्बन्धि तद् गृह्यते । अर्थं प्रमानत्वप्रस्तावादेव भव्यसम्बन्धित्वं कर्मणो लभ्यते, नहिं पूरयतीति पूरणे', तुशब्दः पूरणार्थः । अथवा—जीवो जन्तुस्तस्य जन्तोः कर्म जन्तुकर्मेत्येवं व्याख्यायते । ' से—सियं ' इत्यस्य व्याख्यामाह—' स' तस्य जीवस्य यत् सितं बद्धं, 'षिञ्' बन्धने, इत्यस्य धातोर्निष्ठान्तस्य प्रयोगादिति ।

अथ 'सेसियं' इत्यस्यापराण्यपि व्याख्यानान्तराण्याह—

अहवा सेसियमसियं, गहियं वत्तमहमंसिलिट्ठं वा ।
जं वा विसेसियमट्ठ-ह त्ति खयमेसियं व त्ति ॥३०३६॥

अथवा—' से ' तस्य जीवस्य सर्वमपि कर्म ससारानुबन्धत्वादसितं, कृष्णमशुभमित्यर्थः । अथवा-' षो ' अन्तकर्मणि 'गाहियं वत्तं ' ति—जीवेन गृहीतं व्याप्तं व्याप्तिमानीतमिति सितम् । अथवा-'सेसिय' ति-लेश्याविशेषात् श्लेषितं जीवेन श्लेषविशेषमानीतमिति, सश्लिष्टं बाधकं कृतमिति संश्लेषितम् । जं वा विसेसियमट्ठह'त्ति अथवा—एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वाद् यदष्टधा विशेषितं व्यवच्छिन्नं तत् शेषितं विशेषितमिहोच्यते । अथवा-क्षयेण क्षपणया क्रमशः शेषितं स्थित्यनुभवादिनाऽल्पीकृतमित्यर्थः ।

अथ'सितं ध्मातमस्येति सिद्ध'इति निरुक्तविधिमुपदर्शयन्नाह—

नेरुत्तियं सियं धं-तमस्स तवसा मलो व लोहस्स ।
इय सिद्धस्सेयसओ, सिद्धत्तं सिज्झणा समए ॥३०३७॥
उवजायइ त्ति वहा-रदेसणमभावया निसेहो वा ।
पज्जायंतरविगमे, तप्पज्जायंतरं सिद्धो ॥ ३०३८ ॥

द्वे अपि गतार्थे । नवरम् 'अभावया निसेहो व' त्ति-निर्वाणप्रदीपकल्पतदभावरूपं सिद्धत्वमिति यत् कैश्चिदुच्यते, तदभिमताया अभावरूपताया ' सिद्धत्वमुपजायते ' इत्यनेन निषेधो वा क्रियते , सिद्धत्वं भावरूपमुपजायते , न पुनः पूर्वपर्यायस्य भाव एव भवतीत्यर्थः ।

अथ 'नाऊण वेयणिज्जं' (३०३०) इत्यादिगाथायाः प्रस्तावनार्थमाह—

कम्मचउक्कं कमसो, समं ति खयमेइ तस्स भणियम्मि ।
समयं ति कए भासइ, कत्तो तुल्लट्ठिई नियमो ? ।३०३९।

भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयं तस्य मुमुक्षोर्मोक्षगमनसमये क्रमशः क्षयमेति , समकं वा युगपदिति कथ्यताम् ? । एवं भणिते परेण पृष्टे सूरिराह-' समयं ति ' त्ति-समकं-युगपत् तस्य तत् कर्मचतुष्कं क्षयमेति न तु क्रमश इति । एवं च सूरिणोत्तरे कृते पुनरपि भाषते परः-कुतः कर्म-

चतुष्कस्य तुल्यस्थितिनियमः, विषमनिबन्धनत्वेन विषमस्थितिकत्वस्यैव युज्यमानत्वात् इति ।

अथ विषमस्थितिकमपि समकं क्षपयति । तद्युक्तम् । कुत ? इत्याह—

कह व अपुन्नट्ठिइयं, खवेउ कत्तो य तस्समीकरणं ।
कयनामाइभयाउ, तो तस्स कमक्खओ जुत्तो ।।२०४०।।

"कथं वा स मुमुक्षुरपूर्णस्थितिकमायुष्कापेक्षया दीर्घस्थितिकं वेदनीय—नाम-गोत्रकर्मत्रये ह्रस्वस्थितिकायुष्कानुरोधेन क्षपयतु-ह्रस्वीकरोतु, कृतनाशप्रसङ्गात् ?। कृतनाशश्चैवमेवाधिकस्य खण्डयित्वा नाशनात्। अथायुष्कं वृद्धिमुपनीय वेदनीयादिभिः सह समस्थितिकं कृत्वा समकमेव क्षपयतीत्याशङ्क्याह-' कत्तो वे 'त्यादि कुतो वायुष्कस्य वेदनीयादिभिः सह समीकरणं—समस्थितिकत्वापादनम्, अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ?। तत्प्रसङ्गश्च ह्रस्वस्यायुषो दीर्घत्वापादनात्। ततस्तस्य मुमुक्षोर्वेदनीयादिकर्मणां कर्मक्षय एव युक्तः प्रथममायुषस्ततः शेषाणामिति ।

अत्र गुरुरुत्तरमाह—

भण्णइ कम्मखयम्मी, जयाउमाईएँ तस्स निट्ठेज्जा ।
तो कहमत्थउ स भवे, सिज्झउ व कहं सकम्मंसो ?।।२०४१।।

भण्यतेऽत्रोत्तरम्—कर्मक्षये मुक्तिगमनसमयवर्तिनि कर्मक्षयकाले, पाठान्तरतः क्रमक्षये वा यद्यायुरादावेव तस्य निस्तिष्ठेत्—निष्ठां यायात्, क्षीयेतेत्यर्थः, शेषाणि तु क्रमशः पश्चात्, ततः कथमसौ क्षीणायुष्कः शेषकर्मक्षपणार्थं भवे तिष्ठतु, तदवस्थाननिबन्धनस्यायुष्कस्याभावात् ?। अथ तदभावात् सिध्यत्वसौ, किं निवार्यते ?। तदयुक्तम्, यत आयुषि क्षीणेऽपि सहवेदनीयादिकर्मांशैर्वर्तते इति सकर्मांशः कथं सिध्यतु, 'सकलकर्मक्षयादेव मोक्षः' इति वचनात् ? इति ।

तर्हि किमत्र युक्तम् ? इत्याह—

तम्हा तुल्लट्ठिइयं, कम्मचउक्कं सभावओ जस्स ।
सोऽकयसमुग्घाओ, सिज्झइ जुगवं खवेऊणं ।।२०४२।।
जस्स पुण थोवमाउं, हवेज्ज सेसं तयं च बहुतरयं ।
तं तेण समीकुरुए-गंतूण जिणो समुग्घायं ।। २०४३ ।।

"द्वे अपि सुगमे। नवरं ' तेण ' त्ति—तत् शेषकर्मत्रिकमपवर्तनात् खण्डयित्वा तेनायुष्केण समं कुरुत इति ।

नन्वेवं कृतनाशादिदोष उक्तः स कथं परिहर्तव्य ? इत्याह-

कयनामाइविघाओ, कओ पुरा जह य नाण किरियाहिं ।
कम्मस्स कीरइ खओ न चेदमोक्खादओ दोसा ।।२०४४।।

कृतनाशादिदोषाणां विघातः—परिहारः कृतोऽस्माभिः ? पुरा—पूर्वमुपक्रमकालविचारे, "न हि दीहकालियस्स वि. नासो तस्साणुभूइओ खिप्पं । बहुकालाहारस्स व, दुयमग्गियरोगिणो भोगो ॥ १ ॥" इत्यादिना ग्रन्थेन । यथा च ज्ञान—क्रियाभ्यां चिरकालस्थितिकस्यापि कर्मणः क्षिप्रमेव क्षयः क्रियते तथा प्रागपि 'सव्वमुवक्कामिज्जइ, एसो च्चिय सज्झरोगो व्व ।' इत्यादिनाऽनेकशः प्रोक्तम् । नेदुपक्रम इष्यते, तदमोक्षादयो दोषा इत्यपि ' जइ ता- णुभूइउ च्चिय खविज्जए कम्ममन्नहा न मय '-इत्यादिना प्रागुक्तमेव । तदेवमेतावता ' नाऊण वेयणिज्जं ' इत्यादिनिर्युक्तिगाथा व्याख्यातेति ।

अथ परप्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

असमट्ठिईण नियमो , को थोवं आउयं न सेसं ति ।
परिणामसभावाओ, अद्धुवबंधो व्व तस्सेव ।।२०४५।।

"असमस्थितिकानां कर्मणां स्तोकमायुरेव, न शेषं वेदनीयादिकम्' इति कोऽयं नियमः, येनोच्यते—' नाऊण वेयणिज्जं अइबहुय आउगं च थोवागं ' इति ?। इदमपि कस्माद् नोच्यते—' नाऊण आउयं खलु अइबहुयं थोवयं च वेयणियं ' इति ?। अत्रोच्यते—बन्धपरिणामस्वाभाव्यात्, एवंभूतो ह्यायुषः कोऽपि बन्धपरिणामो वर्तते, येन पर्यन्ते वेदनीयाद्यपेक्षया समं स्तोकं वा भवति, नत्वधिकमिति । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा बन्धपरिणामस्वाभाव्यादध्रुवबन्धस्तस्यैवायुषो भवति, अन्तर्मुहूर्तमात्रबन्धकालत्वात्, न तु वेदनीयादेः तस्य ध्रुवबन्धित्वात्, एवमत्रापि स्तोकत्वमायुष एव, न तु वेदनीयादेरिति ।

आह—ननु समुद्घातगतो जन्तुर्वेदनीयादिकर्मणः किं करोति ? इत्याह—

विसमं स करेइ समं, समोहओ बंधणेहिँ ठिइए य ।
कम्मदव्वाइं बं-धणाइँ कालो ठिई तेसिं ।।२०४६।।

स समवहतः केवलिसमुद्घातगतो जीव आयुष्काऽधिकत्वेन विषमं वेदनीयादिकर्मत्रयमपवर्तमानः खण्डयित्वा आयुष्केण, समं करोति । कैः कृत्वा समं करोति ? इत्याह—बध्यते जीवो यैस्तानि बन्धनानि तैर्बन्धनैः कर्मद्रव्यैः, स्थित्या च काललक्षणया । अत एवाह-कर्मद्रव्याणि बन्धनानि भण्यन्ते, कालस्तु स्थितिस्तेषां वेदनीयादीनामिति । समीकुर्वश्चैतद्विशिष्टदलिकनिषेकेणान्तर्मुहूर्तस्थितिकं सर्वं करोति ।

कथम् ? इत्याह—

आउयसमयसमाए, गुणसेढीएँ तदसंखगुणियाए ।
पुव्वरइयं खवेहिइ, जह सेलेसीएँ पइसमयं ।।२०४७।।

वेद्यमानस्यायुषो यावन्तः समयाः शेषा अवतिष्ठन्ते तत्समयसमानयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणयेत्यर्थः, दलिकमाश्रित्यासंख्येयगुणया प्रथमसमयनिक्षिप्तदलिकाद् द्वितीयसमयनिक्षिप्तमसंख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयनिक्षिप्तमसंख्येयगुणम् एवं यावच्चरमसमयनिक्षिप्तमसंख्येयगुणमिति । एवमसंख्येयगुणया स्थानान्तरप्रसिद्धया गुणश्रेण्या तद् वेदनीयादिकर्मत्रयं केवलज्ञानाभोगेनाकलय्य तथा रचयति यथाऽनन्तरोक्तेन प्रकारेण पूर्वरचितं तदेतत् शैलेश्यां प्रतिसमयं क्षपयन्चरमसमये सर्वमसौ क्षपयिष्यति । अत्र गुणश्रेणिस्थापना आयुषस्तु गुणश्रेणिर्न भवति, किन्तु यथाबद्धमेव तद् वेद्यते । अतस्तस्यैवं कथं, ना-'जह उल्ला साडीया ' इत्यादिगाथायाः पूर्वार्धं तु गमत्वाद् न व्याख्यानम् । उत्तरार्धं तु यदुक्तम्-' तह कम्मलहुयसमए ' त्ति तत्र कर्मलघुतायाः समयः क ? इत्याह-

कम्मलहुयाएँ समओ, भिन्नमुहुत्तावसेसओ कालो ।

एगो जहएणेयं, छम्मासमुक्कोसमिच्छंति ॥ २०४८ ॥

कर्मैव आयुषो लघुतायाः समयोऽत्र भिन्नमुहूर्तावशेषककालो जघन्येन, उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तावशेषं निजमायुर्विज्ञाय तदधिकवेदनीयादिकर्मस्थितिविघातार्थं केवली समुद्घातमारभेत इत्यर्थः। अन्ये तु सूत्र एवं भिन्नमुहूर्त्तलक्षणो जघन्यमेव काल मन्यन्ते, उत्कृष्ट तु षण्मासानिच्छन्ति--जघन्योऽन्तर्मुहूर्तशेषायुष्क उत्कृष्टतस्तु षण्मासावशेषायुः समुद्घात करोतीति केचिद् मन्यन्त इत्यर्थः ।

तदेतदन्यमतमयुक्तमिति दर्शयन्नाह—

तं नाणन्तरसेले-सिविवयणाओ जं च पाडिहेराणं ।

पच्चप्पणमेव सुए, इहरा गहणं पि होज्जाहि ॥२०४९॥

तदेतदन्यमत न युक्तम्, आगमविरोधात् । तद्विरोधश्च समुद्घातानन्तरं तत्र शैलेशीप्रतिपत्तिवचनात्, शैलेश्यनन्तरं च सिद्धिगमनात्, कुतः षण्मासावशेषायुष्कत्वम्? आनन्तर्यं षड्भिरपि मासैर्विवक्षया घटत एवेति चेत्? इत्याशङ्क्याह— 'जं चे' त्यादि, यस्मात् समुद्घातात् निवृत्त्य शरीरस्थस्य प्रातिहारिक—पीठफलकादीनां "कायजोग जुंजमाणे आगच्छेज्जा वा, चिट्ठेज्जा वा, निसीएज्जा वा, तुयट्टेज्जा वा, उल्लंघेज्जा वा, पाडिहारियं पीढफलगं, संथारगं, पच्चप्पिणिज्ज " इति प्रज्ञापनासूत्ररूपे श्रुते प्रत्यर्पणमेवोक्तम्, इतरथा षण्मासावशेषायुष्कत्वेन चिरजीवित्वे तेषां ग्रहणमपि स्यात्, न च तदुक्तम् । तस्मादन्तर्मुहूर्तावशेषायुरेव समुद्घातं करोतीति ।

अथ समुद्घातशब्दार्थं समुद्घातारम्भात् पूर्वव्यापारनिरूपणार्थं चाह—

तत्थाउयसेसाहिय-कम्मसमुग्घायणं समुग्घाओ ।

तं गंतुमणो पुव्वं, आवज्जीकरणमज्झेइ ॥२०५०॥

आवज्जणमुवओगो, वावारो वा तदत्थमाईए ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं, काउं कुरुए समुग्घायं ॥२०५१॥

तत्रायुःशेषेणाधिकस्थितिकानां वेदनीयादिकर्मणां समुद्घातनं समुद्घातः । तं च गन्तुमनाः --प्रारिप्सुः पूर्वमावर्जीकरणमभ्येति--विदधाति । कथंभूतं तत्? इति । उच्यते-- तदर्थं समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो 'मयाऽधुनेदं कर्त्तव्यम्' इत्येवरूपः उदयावलिकायां कर्मप्रक्षेपरूपो व्यापारो वाऽऽवर्जनमुच्यते । तथाभूतस्य करणमावर्जीकरणं तदन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं कृत्वा ततः समुद्घातं कुरुत इति ।

कथंभूत तदित्याशङ्क्य 'दंड कवाडे' इत्यादिगाथा व्याचिख्यासुराह--

उड्ढाहाययलोगं--तगामिणं सो सदेहविक्खंभं ।

पढमसमयम्मि दंडं, करेइ बिइयम्मि य कवाडं । २०५२॥

तइयसमयम्मि मंथं, चउत्थए लोगपूरणं कुणइ ।

पडिलोमं साहरणं, काउं तो होइ देहत्थो ॥२०५३॥

ऊर्ध्वमधश्चायतं दीर्घमुभयतोऽपि लोकान्तगामिनं स्वदेहप्रमाणविष्कम्भं केवली केवलज्ञानाभोगतः प्रथमसमये जीवप्रदेशसंघातात्मकं दण्डं करोति । द्वितीयसमये तु तमेव दण्डं पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणादुभयपार्श्वतो लोकान्तगामिनं कपाटमिव कपाटं करोति । तृतीयसमये तु तमेव कपाटं दक्षिणोत्तरदिग्द्वयप्रसारणेन मन्थसदृशत्वाल्लोकान्तप्रापमेव मन्थानं करोति । एवं च लोकस्य प्रायो बहुपूरितं भवति मन्थान्तराणि त्वपूरितानि तिष्ठन्ति, जीवपुद्गलयोरनुश्रेणिगमनात् । ततश्चतुर्थसमये तान्यपि मन्थान्तराणि सह निष्कुटैः पूरयति ततश्च सकललोकः पूरितो भवतीति । 'साहरणं' इत्येतद्व्याख्यानमाह-'पडिलोम'मित्यादि, इदमत्र हृदयम्-लोकपूरणानन्तरमेव पञ्चमे समये यथाक्रमात् प्रतिलोमं मन्थान्तराणि संहरति, जीवप्रदेशान् सकर्मकान् सङ्कोचयति, षष्ठे समये मन्थानमुपसंहरति-घनतरसङ्कोचात्; सप्तमसमये तु कपाटमुपसंहरति, दण्डात्मनि सङ्कोचात्; अष्टमे तु समये दण्डमप्युपसंहृत्य शरीरस्थ एव भवतीति ।

आह-ननु समुद्घातगतस्य मनो-वाक्-काययोगेषु मध्ये को योगः कस्मिन् समये व्याप्रियते? इत्याशङ्क्याह—

न किर समुग्घायगओ, मणवइजोगप्पओयणं कुणइ ।

ओरालियजोगं पुण, जुंजइ पढमट्ठमे समए ॥२०५४॥

उभयव्वावाराओ, तम्मीसंचीय छट्ठ सत्तमए ।

ति चउत्थ पंचमे क-म्मयं तु तम्मत्तचेट्ठाओ ॥२०५५॥

किलशब्द आप्तोक्तौ इह समुद्घातगतः केवली मनोवाग्योगयोः प्रयोजनं व्यापारणं तावद् न करोत्येव, प्रयोजनाभावात् । औदारिककाययोगं पुनः प्रथमाष्टमसमययोर्युनक्ति--व्यापारयति, दण्डकरणादिक्रियायां तत्प्रयत्नविधानात् । द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु तु तन्मिश्रम्--औदारिकं कार्मणेन मिश्रं व्यापारयति, उभयप्रयत्नसद्भावात् । तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु पुनः 'कम्मयं' ति--कार्मणकाययोगमेव व्यापारयति तन्मात्रचेष्टनादिति ।

समुद्घातान्निवृत्तः किमसौ करोति? इत्याह—

विणिवित्तसमुग्घाओ, तिन्नि वि जोए जिणो पउंजेज्ज ।

सच्चमसच्चामोसं, च सो मणं तह वईजोगं ॥ २०५६ ॥

ओरालियकाओगं, गमणाई पाडिहारियाणं वा ।

पच्चप्पणं करेज्जा, जोगनिरोहं तओ कुरुए ॥ २०५७ ॥

इह समुद्घातगतस्तावद् न कोऽपि सिध्यति, निवृत्तसमुद्घातोऽन्तर्मुहूर्तं भवस्थ एव केवली तिष्ठति । तत्र च तिष्ठन्नसौ मनो--वाक्--काय लक्षणांस्त्रीनपि योगान् प्रयुङ्क्ते । तत्र मनोयोगं, वाग्योगं च सत्यमसत्यामृषं च प्रयुङ्क्ते, असत्य--मिश्रयोस्तस्यासम्भवात् । काययोगं त्वौदारिकं प्रयुञ्जानो गमनागमनादिकं प्रत्याहरणीयगृहीतपीठफलकादिप्रत्यर्पणं वा कुर्यात्, ततः एतेषां योगानां निरोधं करोतीति"॥

अथ परप्रश्नमाशङ्क्योत्तरमाह—

किं न सजोगो सिज्झइ, सबंधहेउ त्ति जं सजोगो य ।

न समेइ परमसुक्कं, स निज्जराकारणं झाणं ॥ २०५८ ॥

ननु किमिति योगनिरोधं करोति, सयोग एवासौ किं न सिध्यति? इति परेण पृष्टे सत्याह-यस्मात् 'स त्ति'-

घोऽपि योगः कर्मणो बन्धहेतुः, कर्मसम्बन्धश्च संसारनिबन्धनमेव, इति कथं सयोगः सिध्यति ?। किञ्च-पर्यन्ते सकलकर्मनिर्जराया. परमशुक्लध्यानमेव कारणम्, तच्च सयोग सन् जन्तुर्न लभते न प्राप्नोति, सयोगस्य सक्रियत्वात्, परमशुक्लध्यानस्य च समुद्धाताशेषक्रियारूपत्वात् इति कुत सयोगः सिध्यतीति ? । तस्माद् योगनिरोध कर्तव्यः ।

कथं पुनस्तं करोति ? इत्याह—

पज्जत्तमित्तसन्नि-स्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स ।
होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥ २०५९ ॥
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोहं, करे असंखेज्जसमएहिं ॥ २०६० ॥
पज्जत्तमेत्तबिंदिय, जहन्नवइजोगपज्जया जे उ ।
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुंभंतो ॥ ६०६१ ॥
सव्ववइजोगरोहं,संखाईएहिँ कुणइ समएहिं ।
तत्तो य सुहुमपणय-स्स पढमसमओववन्नस्स ॥६०६२॥
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के ।
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥ २०६३ ॥
रुंभइ सकायजोगं, संखाईएहिँ चेव समएहिं ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावयामेइ ॥ २०६४ ॥

पाठसिद्धा एव । विशे० ।

शैलेशीकालप्रमाणमाह—

हस्सक्खराइँ मज्झे-ण जेण कालेण पंच भण्णंति ।
अत्थइ सेलेसिगओ, तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥२०६८॥

नातिशीघ्रैर्न चाप्यतिस्थिरैः, किन्तु-मध्यमभङ्ग्या यावता कालेन'अ इ उ ऋ लृ इत्येतानि पञ्च ह्रस्वाक्षराणि भण्यन्ते-एतावन्त काल शैलेशीगतस्तकोऽसौ तिष्ठतीति ।

किं पुनस्तत्र ध्यानं ध्यायति ? इत्याह-

तणुरोहारंभाओ, झायइ सुहुमकिरियानियट्टिं सो ।
वुच्छिन्नकिरियमप्पडि-वाइं सेलेसिकालम्मि ॥२०६९॥

तता कायर्योगस्य निरोधारम्भसमयात् प्रभृति सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिरूप शुक्लध्यानमसौ ध्यायति तत सर्वयोगनिरोधादूर्ध्वं शैलेशीकाले समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यान ध्यायतीति ।

अत्र प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

झाणं मणोविसेसो, तदभावे तस्स संभवो कत्तो ।
भण्णइ भणियं झाणं,समए तिविहे वि करणम्मि ।२०७०।

ननु 'ध्यै' चिन्तायाम्, इति वचनाद् मनोविशेषो मनसः काऽपि निश्चला चिन्तावस्थैव ध्यानमुच्यते । मनश्च-"अमनस्का केवलिन." इति वचनात् तस्य नास्ति । ततस्तदभावे मनसोऽसत्त्वे तस्य ध्यानस्य केवलिनः कुत सम्भवः ? । अत. 'तनुरोहारम्भाओ' इत्याद्यघटमानमेवेति । सूरिराह—भण्यतेऽत्रोत्तरम्—'भंगियसुय गुणन्तो वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि' इत्यादिवचनात् त्रिविधेऽपि मनोवाक्कायलक्षणे करणे समये सिद्धान्ते ध्यानं भणितमेव । ततो मनोविशेष एव ध्यानमित्यनैकान्तिकम्, वाक्कायव्यापारेऽपि ध्यानस्योक्तत्वादिति भाव. ।

यतः परिभाषा—

सुदढप्पयत्तवावा-रणं निरोहो व विज्जमाणाणं ।
झाणं करणाणमयं, न उ चित्तनिरोहमित्ताणं ॥२०७१॥

यतश्च मनोवाक्कायलक्षणानां करणानां सुदृढप्रयत्नेन व्यापारणम्, विद्यमानानां पूर्वोक्तक्रमेण निरोधो वा ध्यान भगवता मतम्, न पुनश्चित्तनिरोधमात्रकम्, ध्यैधातोरनेकार्थत्वात् करणनिरोधार्थेऽपि वर्तनादिति ।

ततश्च—

होज्ज न मणोमयं वा-इयं च झाणं जिणस्स तदभावे ।
कायनिरोहपयत्त-स्स भावमिह को निवारेइ ॥२०७२॥

तदभावे मनसोऽभावे केवलिनो मनोमयं मनोविशेषरूपम्, तथा मन.पूर्वकत्वाद् विशिष्टवचसो वाचिकं च ध्यानं न भवेत्, तद् मा भूत्, यत् पुनः कायनिरोधप्रयत्नस्वभाव ध्यानमिह, तत् तस्य को निवारयते—न कोऽपीति ।

अपि च—

जह छउमत्थस्स मणो, निरोहमेत्तप्पयत्तयं झाणं ।
कहकायजोगरोह-प्पयत्तयं होइ न जिणस्स ॥२०७३॥

प्रकटार्थो ।

पुनरपि पर' प्राह—

आहाभावे मणसो, छउमत्थसेव तं न झाणं से।
अह तदभावे वि मयं,झाणं तं किं न सुत्तस्स? ॥२०७४॥

आह पर.-मनसोऽभावे 'से' तस्य केवलिनश्छद्मस्थस्येवैकेन्द्रियादेरिव तत् सूक्ष्मक्रियानिवृत्त्यादिकं ध्यानं न घटते । अथ तदभावेऽपि मत ध्यानम, तत सुप्तस्य तत् किं नेष्यते, मनोऽसत्त्वस्य तुल्यत्वात् ? इति ।

पर एवाचार्यमतमाशङ्क्याह—

अहव मई सुत्तस्स हि,न कायरोहप्पयत्तसब्भावो ।
एवं चित्ताभावे, कत्तो य तओ जिणस्सावि ?॥२०७५॥
होज्ज व किंचिम्मेत्तं,चित्तं सुत्तस्स सव्वहा न जिणे ।
जइ सुत्तस्स न झाणं,जिणस्स तं दूरयरएणं ॥२०७६॥

अथवा, आचार्यस्य मतिः—सुप्तस्य स्फुटमेव ज्ञायते न कायनिरोधप्रयत्नसद्भावः, किन्तु तदभाव एव, तत् कुतस्तस्य ध्यानम् ?, जिने त्वस्त्यसाविति तस्य ध्यानं भवत्येव । अत्रोच्यते-नन्वेवं तर्ह्यमनस्कत्वाच्चित्ताभावे जिनस्यापि केवलिन. कुतस्तकोऽसौ कायनिरोधप्रयत्नसद्भाव. ? भवेद् वाऽस्यापि किञ्चिन्मात्र चित्तं सुप्तस्यापि, जिने तु केवलिन्यमनस्कत्वात् तत् सर्वथा नास्ति, ततश्च सुप्तस्य यदि न ध्यानमिष्यते, तर्हि जिनस्य तद् दूरतरकेण—दूरतरेण नेष्टव्यम्, सर्वथा चित्ताभावेन कायनिरोधप्रयत्नाभावादिति ।

सूरिः प्रतिविधानमाह—

जुत्तं जं छउमत्थ-स्स करणमेत्ताणुसारिनाणस्स ।
तदभावम्मि पयत्ता-भावो न जिणस्स सो जुत्तो ।२०७७।
छउमत्थस्स मणोमे-त्तविहियजत्तस्स जइ मयं झाणं ।
कह तं जिणस्स न मयं,केवलविहियप्पयत्तस्स ? ।२०७८।

युक्तं यच्छद्मस्थस्य करणमत्र मनः, तन्मात्रानुसारिज्ञानस्य तदभावे सुप्तावस्थाया मन करणाभावे कायनिरोधप्रयत्नाभावः । जिनस्य पुनरसौ न युक्तः, मनोज्ञानाभावेऽपि केवलज्ञानसद्भावादिति । किञ्च-यदि मनोमात्रविहितयत्नस्य छद्मस्थस्य साधोर्दमेतं ध्यानम्, तर्हि कथ जिनस्य केवलिनः सकललोकावलोकविलोकनस्वभावकेवलज्ञानविहितप्रयत्नस्य तद् ध्यानं नाभिमतम् ? इति ।

अपि च—

पुव्वप्पओगओ वि य, कम्मविणिज्जरणहेउओ यावि ।
सद्दत्थबहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ य ॥ २०७६ ॥
चिंताभावे वि सया, सुहुमोवरयकिरियाइँ भन्नंति ।
जीवोवओगसब्भा-वओ महत्थस्स झाणाइं ॥२०८०॥

भवस्थस्य केवलिनश्चिन्ताया अभावेऽपि सदा सूक्ष्मक्रियानिवृत्त्युपरतक्रियाप्रतिपातिलक्षणे द्वे ध्याने भण्येते इति सम्बन्धः, इयं च प्रतिज्ञा । हेतुमाह-जीवोपयोगसद्भावात्, तज्जीवोपयोगस्य तस्यामवस्थायामेवंविधस्वभावत्वादित्यर्थः, तथा, पूर्वप्रयोगात्-पूर्वविहितध्यानसंस्कारादित्यर्थः । तथा, कर्मनिर्जरणहेतुत्वात् ते ध्याने अभिधीयेते, छद्मस्थस्य धर्मध्यानवदिति । तथा, शब्दस्यार्थानां बहुत्वात्-ध्यैधातोरनेकार्थत्वादित्यर्थः । तथा, जिनागमे भणितत्वादिति ।

अथ प्रेर्यं परिहारं चाह—

जइ अमणस्स वि झाणं,
केवलिणो कीस तं न सिद्धस्स ।
भण्णइ जं न पयत्तो,
तस्स जओ न य निरुद्धव्वं ॥ २०८१ ॥

यद्यमनस्कस्यापि केवलिनो ध्यानमिष्यते, तर्हि सिद्धस्य किमिति नाभ्युपगम्यते ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्-यद् यस्मात् तस्य—सिद्धस्य कारणाभावेन प्रयत्नो नास्ति, न च योगलक्षणं निरोद्धव्यमस्ति अतः प्रयत्नाभावात् प्रयोजनाभावाच्च न सिद्धस्य ध्यानमिति ।

भवतु केवलिनो ध्यानम्, किन्तु शैलेश्या वर्तमानः किमसौ करोति ? इत्याह—

तदसंखेज्जगुणाए, गुणसेढीए रइयं पुराकम्मं ।
समए समए खवियं, कमसो सेलेसिकालेणं ॥ २०८२ ॥
सव्वं खवेइ तं पुण, निल्लेवं किंचि दुचरिमे समए ।
किंचिच्च होइ चरिमे, सेलेसीए य तं वोच्छं ॥ २०८३ ॥
मणुयगइजाइतसबा-यरं च पज्जत्तसुभयमाएज्जं ।
अन्नयरवेयणिज्जं, नराउमुच्च जसो नामं ॥ २०८४ ॥
संभवओ जिणनामं, नराणुपुव्वी य चरिमसमयम्मि ।

पाठसिद्धा एव । नवरं नविति-वेदनीयाविकर्मे । 'जिणनाम' ति-तीर्थकरनाम । इदं च तीर्थकरस्यैव सम्भवति, अत 'सम्भवत' इत्युक्तम् । सामान्यकेवली तु शेषा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यादिका द्वादशैव प्रकृतीश्चरमसमये क्षपयतीति ।

अन्यदपि तत्र किमसौ करोति ? इत्याह—

ओरालियाहि सव्वा-हिँ चयइ विप्पजहणाहिँ जं भणियं ।
निस्सेसतया न जहा, देसच्चाएण सो पुव्वं ॥ २०८६ ॥

औदारिकतैजसकार्मणशरीरत्रयं सर्वाभिरेव विशेषवर्तीभिः प्रकृष्टाभिस्त्यजनाभिस्त्यजत्यसौ । किमुक्तं भवति ? इत्याह-' जं भणियमि ' त्यादि, नि शेषतयैवौदारिकादिशरीरत्रयं तदा त्यजति, न तु यथा पूर्वं भवे भ्राम्यन् संघातपरिसाटाभ्यां देशत्यागेन त्यक्तवानिति यदुक्तं भवति-एतदिह तात्पर्यमित्यर्थः ।

अपरं च तदा तस्य किं निवर्तते किं
वा न ? इति दर्शयन्नाह—

तस्सोदइयाईया, भव्वत्तं च विणिवत्तए समयं ।
सम्मत्तनाणदंसण-सुहसिद्धत्ताइँ मोत्तूणं ॥ २०८७ ॥

तस्य सिद्धिं गच्छत औदयिकादयो भावा भव्यत्वं च समकं युगपत् विनिवर्तन्ते । भवा भाविनी सिद्धिर्यस्यासौ हि भव्य उच्यते, न च सा तस्य भाविनी, साक्षात्सञ्जातत्वात्, ततोऽसौ न भव्य इति भव्यत्वं निवर्तते, उक्तं च-' सिद्धे नो भव्वे नो अभव्वे " इति । सम्यक्त्वादीनि तु सिद्धावपि भवन्ति, अनन्तत्रिवृत्तिवर्जनम् । इति पञ्चपञ्चाशद्गाथार्थः । तन्वौदारिकादिशरीराणां कथं सर्वथा त्यागः, कर्मशरीरसन्तानस्यानादित्वात्, अनादेश्चानन्तत्वात् ? इत्याशङ्कयोत्तरम्, प्रासङ्गिकमन्यदपि चाह-' नणु सन्ताणोऽणाई' इत्यादिद्वाविंशतिगाथा । एताश्च पूर्वं षष्ठगणधरे प्रायो लिखिता, व्याख्याताश्चेति नेह लिख्यन्त इति ।

कियता कालेन पुनरसौ सिध्यति ? इत्याह—

रिउसेढीपडिवन्नो, समयपएसंतरं अफुसमाणो ।
एगसमएण सिज्झइ, अह सागारोवउत्तो सो ॥२०८८॥

सुबोधा । नवरं ' समये ' त्यादि, एकसमयादन्यत् । समयान्तरमस्पृशन्नवगाढप्रदेशेभ्योऽपराकाशप्रदेशान्तरमस्पृशञ्चिन्तया शक्त्या सिद्धिं गच्छतीति भावार्थः । विशे० । आ० म० । उत्त० । आ० । (कथं पुनरसौ साकारोपयोग इति ' उवओग ' शब्दे द्वितीयभागे ८६१ पृष्ठे उक्तम् ।) सिद्धो नाम साधनः यत्कृतः जिनमतः इति कृत्वा सर्वज्ञैर्धर्मस्य भाषितत्वात् सर्वलब्धिसम्पन्नैश्च गणधरैर्दृष्टत्वात् सिद्ध निर्वचनीयमविचाल्य, श्रुतज्ञानमेवेत्यर्थः । अस्मि पुण भणति-सिद्धं प्रतिष्ठितं प्ररूढं सर्वकालं सर्वकालिकः नित्यमित्यर्थः । 'जिणमत' तथाहि-एतं दुवालसंगं, गणिपिडगं न कयाइ ण नासी न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सति । अभूत् भवति भविस्सइ य एवमादि सिद्धं जिणमते भा इत्यालन्त्रणे ।

पयतो प्रयत्नपरः पुणो वि भत्तिबहुमाणतो णमो इच्चाह । अहवा-प्रयतो भूत्वा नमस्करोमि एताओ य णदीओ सदा संजमे भवतु । आ० चू० ५ अ० ।

अनन्तराऽऽदिसिद्धप्ररूपणा--

अनन्तरसिद्धा.--सत्पदप्ररूपणा १ द्रव्यप्रमाण २ क्षेत्र-३ स्पर्शना ४ काला ५ ऽन्तर ६ भावा ७ ल्पबहुत्व-८ रूपैरष्टभिरनुयोगद्वारैः परम्परासिद्धाः सत्पदप्ररूपणा द्रव्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनाकालान्तरभावाल्पबहुत्वसन्निकर्षरूपैर्नवभिरनुयोगद्वारैः क्षेत्रादिषु पञ्चदशसु द्वारेषु सिद्धप्राभृते चिन्तिताः ततस्तदनुसारेण वयमपि विनेयजनानुग्रहार्थं लेशतश्चिन्तयामः । क्षेत्रादीनि च पञ्चदश द्वाराण्यमूनि--" खेत्ते १ काले २ गइ ३ वे-य ४ तित्थ ५ लिंगे ६ चरित्त ७ बुद्धे ८ य । नाणा ९ गाहु १० क्कस्से ११, अनर १२ मणुसमय १३ गणण १४ अप्पबहु १५ ॥ १ ॥" तत्र प्रथमत एषु द्वारेषु सत्पदप्ररूपणया अनन्तरसिद्धाश्चिन्त्यन्ते, क्षेत्रद्वारे त्रिविधेऽपि लोके सिद्धाः प्राप्यन्ते, तद्यथा--ऊर्ध्वलोके अधोलोके तिर्यग्लोके च, तत्रोर्ध्वलोके पण्डकवनादौ अधोलोके--अधोलौकिकेषु ग्रामेषु तिर्यग्लोके मनुष्यक्षेत्रे, तत्रापि निर्व्याघातेन पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, व्याघातेन समुद्रनदीवर्षधरपर्वतादावपि । व्याघातो नाम संहरणम्, उक्तं च--"दीवसमुद्देहाइ-ज्जएसु वाघाय खेत्तओ सिद्धा । निव्वाघाएण पुणो, पन्नरससुं कम्मभूमीसु ॥ १ ॥" तीर्थकृत पुनरधोलोके तिर्यग्लोके वा । तत्राधोलोकेऽधोलौकिकेषु ग्रामेषु तिर्यग्लोके पञ्चदशसु कर्मभूमिषु न शेषेषु स्थानेषु शेषेषु हि स्थानेषु संहरणतः सम्भवन्ति, न च भगवता संहरणसम्भवः १ । तथा काले कालद्वारेऽवसर्पिण्या जन्म चरमशरीरिणां नियमतः तृतीयचतुर्थारकयोः, सिद्धिगमन तु केषाञ्चित् पञ्चमेऽप्यरके यथा जम्बूस्वामिनः, उत्सर्पिण्यां जन्म चरमशरीरिणां दुष्षमादिषु द्वितीयतृतीयचतुर्थारकेषु, सिद्धिगमनं तु तृतीयचतुर्थयोरेव, उक्तं च-' दोसु वि समासु जाया, सिज्झन्तोस्सप्पिणीए कालतिगे । तीसु य जाया ओस-प्पिणीए सिज्झति कालदुगे ॥ १ ॥ " महाविदेहेषु पुनः कालः सर्वदैव सुषमदुष्षमाप्रतिरूपः, ततस्तद्वक्तव्यताभणनेनैव तत्र वक्तव्यता भणिता द्रष्टव्या, संहरणमधिकृत्य पुनरुत्सर्पिण्यामवसर्पिण्या च षट्स्वप्यरकेषु सिध्यन्तो द्रष्टव्या, तीर्थकृता पुनरवसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यां च जन्म सिद्धिगमनं च सुषमदुष्षमादुष्षमसुषमारूपयोरेवाकारयोर्वेदितव्यं, न शेषेष्वरकेषु । तथाहि-भगवान् ऋषभस्वामी सुषमदुष्षमारकपर्यन्ते समुत्पादि, एकोननवतिपक्षेषु शेषेषु सिद्धिमगमत्, वर्द्धमानस्वामी तु भगवान् दुष्षमसुषमारकपर्यन्तेषु एकोननवतिपक्षेषु शेषेषु मुक्तिसौधमध्यमध्यास्त, तथा चोक्तम्--" समणे भगवं महावीरे तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता साइरेगाइं दुवालस संवच्छराइं छ उमत्थपरियागं पाउणित्ता बायालीसं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता बावत्तरिं वासाणि सव्वाउयं पालइत्ता खीणे वेयणिज्जआउयनामगोए दूसमसुसमाए बहुवीइक्कंताए तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसेहिं पावाए मज्झिमाए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे " । (उत्सर्पिण्यामपि च प्रथमतीर्थकरो दुष्षमसुषमायामेकोननवतिपक्षेषु व्यतिक्रान्तेषु जायते, यतो भगवद्वर्द्धमानस्वामिसिद्धिगमनस्य भविष्यन्महापद्मतीर्थकरोत्पादस्य चान्तरं चतुरशीतिवर्षसहस्राणि सप्त वर्षाणि पञ्च च मासाः पठ्यन्ते) तथा चोक्तम्--'चुलसीइवाससहस्सा. वासा सत्तेव पंच मासा य । वीरमहापउमाणं, अंतरमेयं जिणुद्दिट्ठं ॥ १ ॥" तत उत्सर्पिण्यामपि प्रथमतीर्थङ्करो यथोक्तकालमान एव जायते, तथा उत्सर्पिण्यां चतुर्विंशतितमः तीर्थकरः सुषमदुष्षमायामेकोननवतिपक्षेषु व्यतिक्रान्तेषु जन्मासादयति, एकोननवतिपक्षाधिकचतुरशीतिपूर्वलक्षातिक्रमे च सिध्यति, तत उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां वा दुष्षमसुषमासुषमदुष्षमयोरेव तीर्थकृता जन्म निर्वाण चेति २ । गतिद्वारे प्रत्युत्पन्ननयमधिकृत्य मनुष्यगतावेव सिध्यन्तः प्राप्यन्ते, न शेषासु गतिषु । पाश्चात्यमनन्तरं भवमधिकृत्य पुनः सामान्यतश्चतसृभ्योऽपि गतिभ्य आगता सिध्यन्ति, विशेषचिन्तायां पुनश्चतसृभ्यो नरकपृथिवीभ्यो, न शेषाभ्यः, तिर्यग्गतेः पृथिव्यम्बुवनस्पतिपञ्चेन्द्रियेभ्यो न शेषेभ्य, मनुष्यगतेः स्त्रीभ्यः पुरुषेभ्यो वा, देवगतेश्चतुर्भ्यो देवनिकायेभ्यः । तथा चाह भगवानार्यश्यामः--"नेरइया णं भंते ! अणंतरागया अंतकिरियं करेंति परंपरागया अंतकिरिअं करेंति ?, गोअमा ! अणंतरागया वि अंतकिरिअं करेंति परंपरागया वि अंतकिरियं करेंति, एवं रयणप्पभापुढविनेरइयावि० जाव पंकप्पभापुढविनेरइया, धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा, गोयमा ! नो अणंतरागया अंतकिरिअं करेंति, परंपरागया अंतकिरियं करेंति, एवं० जाव अहे सत्तमपुढविनेरइया । असुरकुमारा० जाव थणियकुमारा । पुढविआउवणस्सइकाइया अणंतरागया वि अंतकिरियं करेंति परंपरागया वि अंतकिरियं करेंति, तेउवाउबेइंदियतेइंदियचउरिंदिया नो अणंतरागया अंतकिरियं करेंति परंपरागया--अंतकिरियं करेंति सेसा अणंतरागया-वि अंतकिरियं करेंति परंपरागया वि " तीर्थकृतः पुनर्देवगतेर्नरकगतेर्वाऽनन्तरागताः सिध्यन्ति, न शेषगतेः, तत्रापि नरकगतेः तिसृभ्यो नरकपृथिवीभ्यो, न शेषेभ्य, देवगतेर्वैमानिकदेवनिकायेभ्यो, न शेषनिकायेभ्यः । तथा चाह भगवानार्यश्याम --" रयणप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा ?, गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए नो लभेज्जा, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए नो लभेज्जा ?, गोअमा ! जस्स रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थयरनामगोत्ताइं कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं कडाइं निवद्धाइं अभिनिव्वट्टाइं अभिसमन्नागयाइं उदिन्नाइं नो उवसंताइं भवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइए रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा, जस्स णं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थयरनामगोत्ताइं कम्माइं नो बद्धाइं० जाव नो उदिन्नाइं उवसंताइं भवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइए रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं नो लभेज्जा, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ--अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए नो लभेज्जा । एवं० जाव वालुय-

प्पभापुढविनेरइएहिंतो तित्थयरत्तं लभेज्जा। पङ्कप्पभापुढविनेरइया णं भंते! पंकप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा ?, गोअमा !, णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा। धूमप्पभापुढविनेरइए णं पुच्छा, गोअमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, विरइं पुण लभेज्जा, तमापुढविपुच्छा, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, विरयाविरइं लभेज्जा, अहे सत्तमाए पुच्छा, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, संमत्तं पुण लभेज्जा। असुरकुमाराणं पुच्छा, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुणो करेज्जा एवं निरंतरं० जाव आउक्काइया, तेउक्काइए णं भंते ! तेउक्काइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए, एवं वाउकाइएवि, वणस्सइकाइए णं पुच्छा, गोअमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा। बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं पुच्छा, गोअमा ! नो इणट्ठे समट्ठे मणपज्जवनाणं पुण उप्पाडेज्जा। पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिएसु पुच्छा, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा। सोहम्मगदेवे णं भंते ! अणंतरं चइत्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा?, गो०! अत्थेगइए लभेज्जा अ०नो ल० एवं जहा रयणप्पभापुढविनेरइयस्स एवं० जाव सव्वट्ठगदेव" ३, वेदद्वारे प्रत्युत्पन्ननयमधिकृत्यापगतवेद एव सिध्यति, तद्व्याऽनुभूतपूर्ववेदापेक्षया तु सर्वेष्वपि वेदेषु, उक्तं च-"अवगयवेओ सिज्झइ, पच्चुप्पन्नं नयं पडुच्चा उ। सव्वेहि वि वेएहिं, सिज्झइ, समईयनयवाया ॥१॥" तीर्थकृत पुनः स्त्रीवेदे वा पुरुषवेदे वा, न नपुंसकवेदे ४, तथा तीर्थद्वारे तीर्थकरतीर्थे तीर्थकरीतीर्थे च अतीर्थे च सिध्यन्ति ५, लिङ्गद्वारे अन्यलिङ्गे गृहिलिङ्गे स्वलिङ्गे वा, एतच्च सर्वं द्रव्यलिङ्गापेक्षया द्रष्टव्यं, संयमरूपभावलिङ्गापेक्षया तु स्वलिङ्ग एव, उक्तं च- 'लिंगेण अन्नलिंगे, गिहत्थलिङ्गे तहेव य सलिङ्गे। सव्वेहिं दव्वलिङ्गे, भावेण सलिंगसंजमओ ॥ १ ॥" ६, चारित्रद्वारे प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया यथाख्यातचारित्रे, तद्व्याऽनुभूतपूर्वचरणापेक्षया तु केचित्सामायिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रिणः केचित्सामायिकच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिणः, केचित् सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रिणः, केचित्सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिणः, उक्तं च—" चरणमि अहक्खाए पच्चुप्पन्नेण सिज्झइ नएण । पुव्वाणंतरचरणे, तिचउक्कगपंचगगमेण ॥ १ ॥" तीर्थकृतः पुनः सामायिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिण एव, बुद्धद्वारे प्रत्येकबुद्धाः स्वयम्बुद्धा बुद्धबोधिता बुद्धीबोधिता वा सिध्यन्ति ८, ज्ञानद्वारे प्रत्युत्पन्ननयमपेक्ष्य केवलज्ञाने, तद्व्याऽनुभूतपूर्वानन्तरज्ञानापेक्षया तु केचिन्मतिश्रुतज्ञानिनः केचिन्मतिश्रुतावधिज्ञानिनः केचिन्मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनः केचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनः, तीर्थकृतस्तु मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिन एव ९, अवगाहनाद्वारे जघन्यायामपि अवगाहनायां सिध्यन्ति उत्कृष्टायां मध्यमायां च, तत्र द्विहस्तप्रमाणा जघन्या, पञ्चविंशत्यधिकपञ्चधनुःशतप्रमाणा उत्कृष्टा, सा च मरुदेवीकालवर्त्तिनामवसेया, मरुदेव्यप्यादेशान्तरेण नाभिकुलकरतुल्या। तदुक्तं सिद्धप्राभृतटीकायाम्-' मरुदेवी वि आएसन्तरेण नाभितुल्ल ' त्ति, ततः आदेशान्तरापेक्षया मरुदेव्यामपि यथोक्तप्रमाणावगाहना द्रष्टव्या, उक्तं च—"ओगाहणा जहन्ना, रयणिदुगं अह पुणो उ उक्कोसा। पंचेव धणुसयाइं, धणुहपुहुत्तेण अहियाइं ॥ १ ॥" अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची बहुत्वं चेह पञ्चविंशतिरूपं द्रष्टव्यं, सिद्धप्राभृतटीकायां तथाव्याख्यानात्; तेन पञ्चविंशत्यधिकानीत्यवसेयं, शेषा त्वजघन्योत्कृष्टावगाहना, तीर्थकृतां तु जघन्यावगाहना सप्तहस्तप्रमाणा उत्कृष्टा पञ्चधनुःशतमाना शेषा त्वजघन्योत्कृष्टा १०, उत्कृष्टद्वारे सम्यक्त्वपरिभ्रष्टा उत्कर्षतः कियता कालेन सिध्यन्ति ?, उच्यते, देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तसंसारातिक्रमे, अनुत्कर्षतस्तु केचित्सङ्ख्येयकालातिक्रमे केचिदसङ्ख्येयकालातिक्रमे, केचिदनन्तेन कालेन ११, अन्तरद्वारे जघन्यत एकसमयोऽन्तरम् उत्कर्षतः षण्मासा १२, निरन्तरद्वारे जघन्यतो द्वौ समयौ निरन्तरं सिध्यन्तः प्राप्यन्ते उत्कर्षतोऽष्टौ समयान् १३, गणनाद्वारे जघन्यत एकस्मिन् समये एकः सिध्यति उत्कर्षतोऽष्टाधिकं शतं, तथा चास्मिन् भरतक्षेत्रेऽस्यामवसर्पिण्यां भगवतः श्रीनाभेयस्य निर्वाणसमये श्रूयतेऽष्टोत्तरं शतमेकसमयेन सिद्धं, तथा चोक्तं सङ्घदासगणिना वसुदेवचरिते—" भयवं च उसभसामी जयगुरू, पुव्वसयसहस्सं वाससहस्सूणयं विहरिऊणं केवली अट्ठावयपव्वए सह दसहिं समणसहस्सेहिं परिनिव्वाणमुवगते चोद्दसेणं भत्तेणं माघबहुले पक्खे तेरसीए अभीइणा नक्खत्तेणं एगूणपुत्तसएणं अट्ठहि य नत्तुएहिं सह एगसमएण निव्वुओ, सेसाण वि अणगाराणं दस सहस्साणि अट्ठसयऊणगाणि सिद्धाणि, तम्मि चेव रिक्खे समयंतरेसु बहूसु " इति। १४, अल्पबहुत्वद्वारे युगपद् द्व्यादिकाः सिद्धाः स्तोकाः, एकका: सिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः, उक्तं च— 'संखाए जहन्नेण, एक्को उक्कोसएण अट्ठसयं । सिद्धाणेगा थोवा, एगगसिद्धा उ संखगुणा ॥१॥" १५। तदेवं कृता पञ्चदशस्वपि द्वारेषु सत्पदप्ररूपणा ॥ सम्प्रति द्रव्यप्रमाणमभिधीयते-तत्र क्षेत्रद्वारे ऊर्ध्वलोके युगपदेकसमयेन चत्वारः सिध्यन्ति द्वौ समुद्रे चत्वारः सामान्यतो जलमध्ये तिर्यग्लोकेऽष्टशतं विंशतिपृथक्त्वमधोलोके, उक्तं च-"चत्तारि उड्ढलोए, जले चउक्कं दुवे समुद्दम्मि। अट्ठसयं तिरियलोए, वीसपुहुत्तं अहोलोए ॥१॥" तथा नन्दनवने चत्वारः, 'नंदणे चत्तारी' ति वचनात्, एकतमस्मिंस्तु विजये विंशतिः, उक्तं च-सिद्धप्राभृतटीकायाम्-"वीसा एगयरे विजये" तथा सर्वास्वप्यकर्मभूमिषु प्रत्येकं संहरणतो दश २, पण्डकवने द्वौ, पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु प्रत्येकमष्टशतम्, उक्तं च-" संकामणाए दसगं, दो चेव हवंति पंडगवणम्मि। समएण य अट्ठसयं, पण्णरससु कम्मभूमीसु ॥ ॥" कालद्वारे उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च प्रत्येकं तृतीये चतुर्थे चारकेऽष्टशतम्, अवसर्पिण्यां पञ्चमारके विंशतिः, शेषेष्वरकेषु प्रत्येकमुत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च संहरणतो दश २, तथा चोक्तं सिद्धप्राभृतटीकायाम्—" सेसेसु अरएसु दस सिज्झंति, दोसु वि उस्सप्पिणीओसप्पिणीसु संहरणतो।" सिद्धप्राभृतसूत्रेऽप्युक्तम् "उस्सप्पिणि ओसप्पिणि, तइयचउत्थयसमासु अ-

हुसयं । पंचमीमयाए वीसं, दसगं दसगं च सेसेसु ॥ १ ॥ "
गतिद्वारे-नरकगतेरागतानामष्टशतं; शेषगतिभ्य आगताः
प्रत्येकं दश दश, उक्तं च सिद्धप्राभृते—' सेसाउ गई दसद-
सगं ' भगवांस्त्वार्यश्यामः पुनरेवमाह—नरकगतेरागता द-
श, तत्रापि विशेषचिन्तायां रत्नप्रभापृथिव्याः शर्कराप्रभा-
या वालुकाप्रभायाश्च पृथिव्या आगताः प्रत्येकं दश दश, प-
ङ्कप्रभायाः पृथिव्या आगताश्चत्वारः, तथा तिर्यग्गतेरागताः
सामान्यतो दश, विशेषचिन्तायां पुनः पृथिवीकायेभ्योऽप्-
कायेभ्यश्चागताः प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारः, वनस्पतिकायेभ्य
आगताः षट्, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिपुरुषेभ्य आगता दश,
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिस्त्रीभ्योऽप्यागता दश, तथा सामान्य-
तो मनुष्यगतेरागता विंशतिः, विशेषचिन्तायां मनुष्यपुरु-
षेभ्य आगता दश, मनुष्यस्त्रीभ्य आगता विंशतिः, तथा
सामान्यतो देवगतेरागता अष्टशतं, विशेषचिन्तायामसुर-
कुमारेभ्यो नागकुमारेभ्यो यावत् स्तनितकुमारेभ्यः प्रत्ये-
कमागता दश दश, असुरकुमारीभ्यः प्रत्येकमागताः पञ्च
पञ्च, व्यन्तरदेवेभ्य आगता दश, व्यन्तरीभ्य आगता
पञ्च, ज्योतिष्कदेवेभ्य आगता दश ज्योतिष्कदेवीभ्य
आगता विंशतिः, वैमानिकदेवेभ्य आगता अष्टशतं,
वैमानिकदेवीभ्य आगता विंशतिः, तथा च प्रज्ञाप-
नाग्रन्थः—" अणंतरागया णं भंते ! नेरइया एगसमएणं
केवइया अंतकिरिअं पकरेंति ?, गोअमा !, जहन्नेणं एक्को
वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस, रयणप्पभापुढविनेरइ-
यावि एवं चेव, ०जाव वालुयप्पभापुढविनेरइया, अणंतरा-
गया णं भंते ! पंकप्पभापुढविनेरइया एगसमयेण केवइया
अंतकिरिअं पकरेंति ?, गोअमा !, जहन्नेणं एक्को वा दो
वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि, अणंतरागया णं भंते !
असुरकुमारा एगसमए णं केवइया अंतकिरिअं पकरेंति ?,
गोअमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वि तिन्नि वा, उक्कोसेणं दस,
अणंतरागया णं भंते! असुरकुमारीओ एगसमएणं केवइयाओ
अंतकिरियं पकरेंति ?, गोअमा! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि
वा उक्कोसेणं पञ्च, एवं जहा असुरकुमारा सदेवीया तहा ०जाव
थणियकुमारा, अणंतरागया णं भंते ! पुढविकाइया एगसम-
एणं केवइया अंतकिरिअं पकरेंति ?, गोअमा ! जहन्नेणं एक्को
वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि, एवं आउक्काइया वि,
वणस्सइकाइया पंचेंदियतिरिक्खजोणिया दस, पचेंदियतिरि-
क्खजोणिणीओ वि दस, मणुस्सा दस, मणुस्सीओ वीसं,
वाणमंतरा दस वाणमंतरीओ पञ्च, जोइसिया दस, जोइसि-
णीओ वीस, वेमाणिया अट्ठसयं, वेमाणिणीओ वीस " मि-
ति तत्त्व पुनः केवलिनो बहुश्रुता वा विदन्ति । वेदद्वारे-
पुरुषाणामष्टशतं, स्त्रीणां विंशतिः, दश नपुंसकाः, उक्तं च-
'अट्ठसय पुरिसाणं, वीस इत्थीण दस नपुंसाणं' तथा इह पु-
रुषेभ्य उद्धृता जीवाः केचित्पुरुषा एव जायन्ते केचित्
स्त्रियः केचिन्नपुंसकाः, एवं स्त्रीभ्योऽप्युद्धृतानां भङ्गत्रयम्,
एवं नपुंसकेभ्योऽपि, सर्वसङ्ख्यया भङ्गा नव । तत्र ये पुरु-
षेभ्य उद्धृताः पुरुषा एव जायन्ते तेषामष्टशतं, शेषेषु
चाष्टसु भङ्गेषु दश २, तथा चोक्तं सिद्धप्राभृते—' सेसा उ
अट्ठ भंगा, दसगं दसगं तु होइ एक्कक्क ' । तीर्थद्वारे-तीर्थकृतो
युगपदेकसमयेन उत्कर्षतश्चत्वारः सिध्यन्ति, दश प्रत्येक-
बुद्धाश्चत्वारः स्वयंबुद्धाः, अष्टशतमतीर्थकृतो विंशतिः
स्त्रीणां, द्वे तीर्थकर्यौ । लिङ्गद्वारे—गृहिलिङ्गे चत्वारः, अन्य-
लिङ्गे दश, स्वलिङ्गे अष्टशतम्, उक्तं च-'चउरो दस अट्ठसयं,
गिहअन्नलिङ्गे सलिङ्गे य '। चारित्रद्वारे—सामायिकसूक्ष्मसं-
परायपथाख्यातचारित्रिणां सामायिकच्छेदोपस्थापनसू-
क्ष्मसम्परायपथाख्यातचारित्रिणां च प्रत्येकमष्टशतं, सामायि-
कपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायपथाख्यातचारित्रिणां सा-
मायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायपथा-
ख्यातचारित्रिणां च दशकम् २, उक्तं च—" पच्छाकडं चरि-
त्तं, तिगं चउक्कं च तेसिमट्ठसयं । परिहारिएहिं सहिए, दसे-
गं दसगं च पंचगडे ॥ १ ॥ ' बुद्धद्वारे प्रत्येकबुद्धानां दशकं,
बुद्धबोधितानां पुरुषाणामष्टशतं, बुद्धबोधितानां स्त्रीणां
विंशतिः, नपुंसकानां दशकं, बुद्धीभिर्बोधितानां स्त्रीणां विं-
शतिः, बुद्धीभिर्बोधितानामेव सामान्यतः पुरुषादीनां विं-
शतिपृथक्त्वम्, उक्तं च सिद्धप्राभृतटीकायाम्-'बुद्धीहिं चेव
बोहियाणं पुरिसाईणं सामन्नेण वीसपुहुत्त सिज्झइ' त्ति,
बुद्धी च मल्लिस्वामिनीप्रभृतिका तीर्थकरी सामान्यसाध्वा-
दिका वा वेदितव्या, यतः सिद्धप्राभृतटीकायामेवोक्तं-"बु-
द्धीओ वि मल्लीपमुहाओ अन्नाओ य सामन्नसाहुणीपमुहा-
ओ वोहेति त्ति" ज्ञानद्वारे-पूर्वभावमपेक्ष्य मतिश्रुतज्ञानिनो
युगपदेकसमयेनोत्कर्षतश्चत्वारः सिध्यन्ति, मतिश्रुतमनः-
पर्यायज्ञानिनो दश, मतिश्रुतावधिज्ञानिनां मतिश्रुतावधि-
मनःपर्यायज्ञानिनां वा अष्टशतम् । अवगाहनाद्वारे-जघन्या-
यामवगाहनायां युगपदेकसमयेनोत्कर्षतश्चत्वारः सिध्य-
न्ति, उत्कृष्टायां द्वौ, अजघन्योत्कृष्टायामष्टशत, यवम-
ध्येऽष्टौ, उक्तं च—" उक्कोसगाहणाए, दो सिज्झं-
ती ति एक्कसमएणं । चत्तारि जहन्नाए, अट्ठसय मज्झि-
माए उ ॥ १ ॥ " अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता-गा-
थापर्यन्तवर्त्तिनस्तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनात् ' जव-
मज्झे अट्ठ ' इति उत्कृष्टद्वारे येषां सम्यक्त्वपरिभ्र-
ष्टानामनन्तः कालोऽगमत् तेषामष्टशतं, सङ्ख्यातका-
लपतितानामसंख्यातकालपतितानां च दशकं दशकम्,
अप्रतिपतितसम्यक्त्वानां चतुष्टयम्, उक्तं च—" जेसिं
अणंतकालो, पडिवाओ तेसि होइ अट्ठसयं । अप्प-
डिवडिए चउरो, दसगं दसगं च सेसाणं ॥ १ ॥ "
अन्तरद्वारे—एको वा सान्तरः सिध्यति बहवो वा,
तत्र बहवो यावदष्टशतम् । अनुसमयद्वारे—प्रतिसमयमेको
वा सिध्यति बहवो वा ?। तत्र बहूनां सिध्यतामिय प्ररूपणा-
एकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ता निरन्तरमुत्कर्षतोऽष्टौ समयान्
यावत् प्राप्यन्ते । इयमत्र भावना-प्रथमसमये जघन्यत एको
द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, सिध्यन्तः प्राप्यन्ते, द्वितीयसमये
जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशद् एव तृतीयसमयेऽपि,
एवं चतुर्थसमयेऽपि एव यावदष्टमेऽपि समये जघन्यत एको
द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्तत परमवश्यमन्तरम् । तथा त्रयस्त्रिं-
शदादयोऽष्टचत्वारिंशत्पर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्तः, सप्त सम-
यान् यावत्प्राप्यन्ते, भावना प्राग्वत्, परतो नियमादन्तरं, तथा
एकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्त उत्कर्षतः
षट् समयान् यावदवाप्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरं, तथा एक-

षष्ट्यादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरमुत्कर्षतः सिध्यन्तः उत्कर्षतः पञ्च समयान् यावत्प्राप्यन्ते, ततः परमन्तरं, तथा त्रिसप्तत्यादयश्चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्त उत्कर्षेण चतुरः समयान् यावत्प्राप्यन्ते, तत ऊर्ध्वमन्तरं, तथा पञ्चाशीत्यादयः षण्णवतिपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्तः उत्कर्षतस्त्रीन् समयान् यावदवाप्यन्ते,परतोऽवश्यमन्तरम् । तथा सप्तनवत्यादयो द्व्युत्तरशतपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्त उत्कर्षतो द्वौ समयौ यावदवाप्यन्ते, परतो नियमादन्तरं, तथा-त्र्युत्तरशतादयोऽष्टोत्तरशतपर्यन्ताः सिध्यन्तो नियमादेकमेव समयं यावदवाप्यन्ते, न द्वित्रादिसमयानिति । एतदर्थसंग्राहिका चेयं गाथा-"बत्तीसा अडयाला,सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा । चुलसीई छन्नउई, दुरहियमट्ठुत्तरसयं च ॥१॥" अत्राष्टसामायिकेभ्य आरभ्य द्विसामायिकपर्यन्ता निरन्तरं सिद्धाः एकैकस्मिंश्च विकल्पे उत्कर्षतः शतपृथक्त्वं सङ्ख्यापरिमाणं, गणनाद्वारमल्पबहुत्वद्वारं च प्रागिव द्रष्टव्यं, तथा च सिद्धप्राभृतेऽपि द्रव्यप्रमाणचिन्तायामेतयोर्द्वारयोः सत्पदप्ररूपणोक्तैव गाथा भूयोऽपि परावर्तिता—"संखाए जहन्नेणं, एक्को उक्कोसएण अट्ठसयं । सिद्धा सेसा थोवा,एक्कगसिद्धा उ संखगुणा ॥१॥" तदेवमुक्तं द्रव्यप्रमाणम् ॥ सम्प्रति क्षेत्रप्ररूपणा कर्त्तव्या—तत्र पूर्वभावमपेक्ष्य सत्पदप्ररूपणायामेव कृता । सम्प्रति प्रत्युत्पन्ननयमतेन क्रियते—तत्र पञ्चदशस्वप्यनुयोगद्वारेषु पृच्छा,इह सकलकर्मक्षयं कृत्वा कुत्र गतो भगवान् सिध्यति ?, उच्यते-ऋजुगत्या मनुष्यक्षेत्रप्रमाणे सिद्धिक्षेत्रे गतः सिध्यति, यदुक्तम्-"इह बोन्दि चइत्ताण, तत्थ गंतूण सिज्झइ"॥ गतं क्षेत्रद्वारम् ॥ सम्प्रति स्पर्शनाद्वारम्—स्पर्शना, च क्षेत्रावगाहादतिरिक्ता यथा परमाणोः, तथाहि—परमाणोरेकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढस्य सप्तप्रादेशिकी च स्पर्शना । उक्तं च—" एगपएसोगाढं , सत्तपएसा य से फुसणा " सिद्धानां तु स्पर्शना एवमवगन्तव्या-" फुसइ अणंते सिद्धे , सव्वपएसेहिं नियमसो सिद्धो । ते उ असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिं जे पुट्ठा ॥ १ ॥ " गतं स्पर्शनाद्वारम् ॥ सम्प्रति कालद्वारम्-तत्र चेयं परिभाषा सर्वेष्वपि द्वारेषु यत्र यत्र स्थानेऽष्टशतमेकसमयेन सिध्यदुक्तं तत्र तत्राष्टौ समया निरन्तरं कालो वक्तव्यः, यत्र यत्र पुनर्विंशतिर्दश वा तत्र तत्र चत्वारः समयाः, शेषेषु, स्थानेषु द्वौ समयौ, उक्तं च—"जहिँ अट्ठसयं सिज्झइ, अट्ठ उ समया निरंतरं कालो । वीसदसएसु चउरो, सेसा सिज्झंति दो समए ॥ १ ॥" सम्प्रति एतदेव मन्दविनेयजनानुग्रहाय विभाव्यते, तत्र क्षेत्रद्वारे-जम्बूद्वीपे धातकीखण्डे पुष्करवरद्वीपे च प्रत्येकं भरतैरावतमहाविदेहेषूत्कर्षतोऽष्टौ समयान् यावन्निरन्तरं सिध्यन्तः प्राप्यन्ते, हरिवर्षादिष्वधोलोके च चतुरश्चतुरः समयान् , नन्दनवने पण्डकवने लवणसमुद्रे च द्वौ द्वौ समयौ,कालद्वारे—उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च प्रत्येकं तृतीयचतुर्थारकयोरष्टावष्टौ समयान् , शेषेषु चारकेषु चतुरश्चतुरः समयान् , गतिद्वारे—देवगतेरागता उत्कर्षतोऽष्टौ समयान् , शेषगतिभ्य आगताश्चतुरः समयानिति, वेदद्वारे—पश्चात्कृतपुरुषवेदा अष्टौ समयान् , पश्चात्कृतस्त्रीवेदनपुंसकवेदाः प्रत्येकं चतुरश्चतुरः समयान् , पुरुषवेदेभ्य उद्वृत्य पुरुषा एव सन्तः सिध्यन्तोऽष्टौ समयान् , शेषेषु भङ्गेषु चतुरश्चतुरः समयानिति , तीर्थद्वारे—तीर्थकरतीर्थे तीर्थकरतीर्थे वाऽतीर्थकरसिद्धा उत्कर्षतोऽष्टौ समयान् , तीर्थकराः तीर्थकर्यश्च द्वौ द्वौ समयौ , लिङ्गद्वारे-स्वलिङ्गेऽष्टौ समयान् , अन्यलिङ्गे चतुरः समयान् , गृहिलिङ्गे-द्वौ समयौ, चारित्रद्वारे-अननुभूतपरिहारविशुद्धिकचारित्राश्चतुरः समयान् , शेषा अष्टावष्टौ समयान् , बुद्धद्वारे—स्वयम्बुद्धा द्वौ समयौ , बुद्धबोधिता अष्टौ समयान् , प्रत्येकबुद्धा बुद्धीबोधिता. स्त्रियो बुद्धिबोधिता एवं च सामान्यतः पुरुषादयः प्रत्येकं चतुरश्चतुरः समयान् , ज्ञानद्वारे—मतिश्रुतज्ञानिनो द्वौ समयौ , मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनश्चतुरः समयान् , मतिश्रुतावधिज्ञानिनो मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनो वाऽष्टावष्टौ समयान् , अवगाहनाद्वारे—उत्कृष्टायां जघन्यायां चावगाहनायां द्वौ द्वौ समयौ , यवमध्ये चतुरः समयान्, उक्तं च सिद्धप्राभृतटीकायाम्-'जवमज्झाए य चत्तारि समया' इति , अजघन्योत्कृष्टायां पुनरवगाहनायामष्टौ समयान्, उत्कृष्टद्वारे अप्रतिपतितसम्यक्त्वा द्वौ समयौ, संख्येयकालप्रतिपतिता असंख्येयकालप्रतिपतिताश्चतुरश्चतुरः समयान्, अनन्तकालप्रतिपतिता अष्टौ समयान्। अन्तरादीनि चत्वारि द्वाराणि नेहावतरन्ति । गतं मौलं पञ्चमं काल इति द्वारम् ॥ सम्प्रति षष्ठमन्तरद्वारम्- अन्तरं नाम सिद्धिगमनविरहकालः , स च सकलमनुष्यक्षेत्रापेक्षया सत्पदप्ररूपणायामेवोक्तः , यथा जघन्यत एकसमय उत्कर्षतः षण्मासा इति,ततः इह क्षेत्रविभागेन सामान्यतो विशेषतश्चोच्यते-तत्र जम्बूद्वीपे धातकीखण्डे च प्रत्येकं सामान्यतो वर्षपृथक्त्वमन्तरं, जघन्यत एकसमयः , विशेषचिन्तायां-जम्बूद्वीपविदेहे धातकीखण्डविदेहयोश्चोत्कर्षतः प्रत्येकं वर्षपृथक्त्वमन्तरं जघन्यत एकः समयः, तथा सामान्यतः पुष्करवरद्वीपे विशेषचिन्तायां च तत्रत्ययोर्द्वयोरपि विदेहयोः प्रत्येकमुत्कर्षतः साधिकं वर्षमन्तरं जघन्यत एकः समयः । उक्तं च—"जम्बूदीवे धायइ-श्रोहविभागे य तिसु विदेहेसुं । वासपुहुत्तं अतरं-पुक्खरमुभयं पि वासहियं ॥१॥" कालद्वारे-भरतैरावतेषु च जन्मतः उत्कृष्टमन्तरं किञ्चिदूना अष्टादश सागरोपमकोटीकोट्यः , संहरणतः संख्येयानि वर्षसहस्राणि, जघन्यतः पुनरुभयत्राप्येकः समयः , गतिद्वारे-निरयगतेरागत्योपदेशतः सिध्यतामुत्कृष्टमन्तरं वर्षसहस्रं हेतुमाश्रित्य प्रतिबोधसम्भवेन सिध्यतां संख्येयानि वर्षसहस्राणि , जघन्यतः पुनरुभयत्राप्येकः समयः, तिर्यग्योनिकेभ्य आगत्योपदेशतः सिध्यतां वर्षशतपृथक्त्वं हेतुमाश्रित्य प्रतिबोधतः सिध्यतां संख्येयानि वर्षसहस्राणि, जघन्यतः पुनरुभयत्राप्येकः समयः तिर्यग्योनिकस्त्रीभ्यो मनुष्येभ्यो मनुष्यस्त्रीभ्यः सौधर्मेशानवर्जदेवेभ्यो देवीभ्यश्च पृथक् पृथक् समागत्योपदेशतः सिध्यतां प्रत्येकमुत्कर्षतोऽन्तरं सातिरेकं वर्षं हेतुमाश्रित्य प्रतिबोधतः सिध्यतां संख्येयानि वर्षसहस्राणि , जघन्यतः पुनरुभयत्राप्येकः समयः , तथा पृथिव्यब्वनस्पतिभ्यो गर्भव्युत्क्रान्तेभ्यः प्रथमद्वितीयनरकपृथिवीभ्यामीशानदेवेभ्यः

सौधर्मदेवेभ्यश्च समागत्योपदेशेन हेतुना च सिध्यतां प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि जघन्यत एकः समयः, वेदद्वारे—पुरुषवेदानामुत्कर्षतोऽन्तरं साधिकं वर्षं, स्त्रीनपुंसकवेदानां प्रत्येकं सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि, पुरुषेभ्य उद्वृत्य पुरुषत्वेन सिध्यतां साधिकं वर्षं, शेषेषु चाष्टसु भङ्गकेषु प्रत्येकं सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि, जघन्यतः सर्वत्राप्येकः समयः, तीर्थद्वारे—तीर्थकृतां पूर्वसहस्रपृथक्त्वम् उत्कर्षतोऽन्तरं, तीर्थकरीणामनन्तः कालः, अतीर्थकराणां साधिकं वर्षं, नोतीर्थसिद्धानां संख्येयानि वर्षसहस्राणि नोतीर्थसिद्धाः प्रत्येकबुद्धाः, जघन्यतः सर्वत्रापि समयः। उक्तं च—" पुव्वसहस्सपुहुत्तं, तित्थकरानंतकाल तित्थगरी । नोतित्थकरा वासा-हिगं तु सेसेसु संखसमा ॥ १ ॥ पएसिं च जहन्नं समओ।" 'संखसम'त्ति-सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि, लिङ्गद्वारे—स्वलिङ्गादिषु सर्वेष्वपि जघन्यत एकः समयोऽन्तरम् उत्कर्षतोऽन्यलिङ्गे गृहिलिङ्गे च प्रत्येकं संख्येयानि वर्षसहस्राणि, स्वलिङ्गे साधिक वर्षम्, चारित्रद्वारे-पूर्वभावमपेक्ष्य सामायिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रिणामुत्कृष्टमन्तरं साधिकं वर्षं, सामायिकच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रिणां सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रिणां सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिणां च किञ्चिदूनाष्टादशसागरोपमकोटीकोट्य., जघन्यतः सर्वत्राप्येकः समय., बुद्धद्वारे—बुद्धबोधितानामुत्कर्षतोऽन्तरं सातिरेकं वर्षं, बुद्धबोधितानां स्त्रीणां प्रत्येकबुद्धानां च सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि, स्वयम्बुद्धानां पूर्वसहस्रपृथक्त्वं, जघन्यत. पुन. सर्वत्रापि समय.। उक्तं च—"बुद्धेहिं बोहिया णं. वासहिय सेसयाण संखसमा । पुव्वसहस्सपुहुत्तं,होइ सयंबुद्ध समइयरं ॥ १ ॥" 'समइयर' मिति-इतरज्जघन्यमन्तरं समय., ज्ञानद्वारे-मतिश्रुतज्ञानिनामुत्कृष्टमन्तरं पल्योपमासङ्ख्येयभागः, मतिश्रुतावधिज्ञानिना साधिकं वर्षं, मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिना च संख्येयानि वर्षसहस्राणि जघन्यत. सर्वत्रापि समय', अवगाहनाद्वारे—जघन्यायामुत्कृष्टायां चावगाहनायां यवमध्ये चोत्कृष्टमन्तरं श्रेण्यसंख्येयभागः, अजघन्योत्कृष्टाया साधिक वर्षं, जघन्यत पुन' सर्वत्रापि समय', उत्कृष्टद्वारे—अप्रतिपतितसम्यक्त्वसागरोपमासख्येयभागः, सख्येयकालप्रतिपतितानामसंख्येयकालप्रतिपतितानां च सख्येयानि वर्षसहस्राणि, अनन्तकालप्रतिपतितानां साधिकं वर्षं, जघन्यतः सर्वत्रापि समयः, उक्तं च—उयहिअसंखो भागो, अणाइवडियाण सेसं संखसमा। वासमहियमणंते, समओ य जहन्नओ होइ ॥ १ ॥" अन्तरद्वारे—सान्तरं सिध्यतामनुसमयद्वारे निरन्तरं सिध्यतां गणनाद्वारे एककानामनेकेषां च सिध्यतामुत्कृष्टमन्तरं संख्येयानि वर्षसहस्राणि, जघन्यतः पुनः सर्वत्रापि समयः। गतमन्तरद्वारम्॥ सम्प्रति भावद्वारम्-तत्र सर्वेष्वपि क्षेत्रादिषु द्वारेषु पृच्छा, कतरस्मिन् भावे वर्तमानाः सिध्यन्तीति ?, उत्तरं—क्षायिके भावे, उक्तं च-'खेत्ताइएसु पुच्छा, वागरण सव्वहिं खइए'। गतं भावद्वारम्॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्वद्वारम्-तत्र ये तीर्थकरा ये च जले ऊर्ध्वलोकादौ च चतुष्काः सिध्यन्ति ये च हरिवर्षादिषु सुषमसुषमादिषु च संहरणतो दश दश सिध्यन्ति ते परस्परं तुल्याः, तथैवोत्कर्षतो युगपदेकसमयेन प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्यो विंशतिसिद्धाः स्तोकाः, तेषां स्त्रीषु दुष्षमायामेकतमस्मिन् विजये वा प्राप्यमाणत्वात्, तथा चोक्तम् " वीसगसिद्धा इत्थी, ऽहलोगेगेविजयादिसु अओ चउरो। दसगेहिंतो थोवा " तैस्तुल्या विंशतिपृथक्त्वसिद्धाः, यतस्ते सर्वाधोलौकिकग्रामेषु बुद्धीबोधितस्त्र्यादिषु वा लभ्यन्ते, ततो विंशतिसिद्धैस्तुल्याः, यदुक्तम्—" वीसपुहुत्त सिद्धा सव्वाहोलोगबुद्धीबोहियाइ अओ वीसगेहिं तुल्ला " क्षेत्रकालयोः स्वल्पत्वात् कादाचित्कत्वेन च सम्भवादिति तेभ्योऽष्टशतसिद्धाः सख्येयगुणाः, उक्तं च—" चउ दसगा नह वीसा, वीसपुहुत्ता य जे य अट्ठसया। तुल्ला थोवा तुल्ला, संखेज्जगुणा भवे सेसा ॥ १ ॥ " गतमल्पबहुत्वद्वारम्। कृताऽनन्तरसिद्धप्ररूपणा।

सम्प्रति परम्परसिद्धप्ररूपणा क्रियते—

तत्र सत्पदप्ररूपणा पञ्चदशस्वपि क्षेत्रादिषु द्वारेष्वनन्तरसिद्धवदविशेषेण द्रष्टव्या, द्रव्यप्रमाणचिन्तायां सर्वेष्वपि द्वारेषु सर्वत्रैवानन्ता वक्तव्याः, क्षेत्रस्पर्शने प्रागिव, कालः पुनः सर्वत्रापि अनादिरूपोऽनन्तो वक्तव्य', अत एवान्तरमसम्भवान्न वक्तव्यम्, तदुक्तं द्रव्यप्रमाणम्, कालमन्तरं चाधिकृत्य सिद्धप्राभृते—" परिमाणेण अणंता, कालोऽणाई अणंतओ तेसिं। नत्थि य अंतरकालो " त्ति, भावद्वारमपि प्रागिव, सम्प्रत्यल्पबहुत्वं सिद्धप्राभृतक्रमेणोच्यते-समुद्रसिद्धाः स्तोकाः तेभ्यो द्वीपसिद्धाः सख्येयगुणाः, तथा जलसिद्धाः स्तोकाः तेभ्यः स्थलसिद्धाः संख्येयगुणाः, तथा ऊर्ध्वलोकसिद्धाः स्तोका' तेभ्योऽधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्योऽपि तिर्यग्लोकसिद्धाः संख्येयगुणा'। उक्तं च-"सामुद्दीव जलथल, दुण्हं दुण्हं तु थोवसंखगुणा। उड्ढअहतिरियलोए, थोवा संखागुणा संखा ॥ १ ॥ " तथा लवणसमुद्रसिद्धाः सर्वस्तोकाः तेभ्यः कालोदसमुद्रसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्योऽपि जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्यो धातकीखण्डसिद्धा. संख्येयगुणा. तेभ्योऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धसिद्धाः संख्येयगुणा', उक्तं च—"लवणे कालोए वा जंबूदीवे य धायईसंडे। पुक्खरवरे य दीवे, कमसो थोवा य संखगुणा ॥ १ ॥ " तथा जम्बूद्वीपे संहरणतो हिमवच्छिखरिसिद्धाः सर्वस्तोकाः १, तेभ्यो हैमवतैरण्यवतसिद्धाः संख्येयगुणाः २, तेभ्योऽपि महाहिमवद्रुक्मिसिद्धाः संख्येयगुणाः३,तेभ्योऽपि देवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः संख्येयगुणाः ४. तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकसिद्धाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यात् ५, तेभ्योऽपि निषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणाः ६, तेभ्योऽपि भरतैरावतसिद्धाः संख्येयगुणाः स्वस्थानत्वात् ७, तेभ्यो महाविदेहसिद्धाः संख्येयगुणाः सदाभावात् ८, सम्प्रति धातकीखण्डे क्षेत्रविभागेनोच्यते—धातकीखण्डे संहरणतो हिमवच्छिखरिसिद्धाः सर्वस्तोकाः-१. तेभ्यो महाहिमवद्रुक्मिसिद्धाः संख्येयगुणाः २, तेभ्योऽपि निषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणाः ३, तेभ्योऽपि हैमवतैरण्यवतसिद्धाः विशेषाधिकाः ४ तेभ्यो देवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः संख्येयगुणाः ५, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकसिद्धा विशे-

शाधिकाः ६, तेभ्योऽपि भरतैरावतसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः ७, तेभ्योऽपि महाविदेहसिद्धाः संख्येयगुणाः ८, तथा पुष्करवरद्वीपार्द्धे हिमवच्छिखरिसिद्धाः सर्वस्तोका १, तेभ्योऽपि महाहिमवद्रुक्मिसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः २, तेभ्योऽपि निषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणाः ३, तेभ्योऽपि हैमवतैरण्यवतसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः ४, तेभ्योऽपि देवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः ५, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकसिद्धा विशेषाधिकाः ६, तेभ्योऽपि भरतैरावतसिद्धा. सङ्ख्येयगुणा ७, स्वस्थानमिति कृत्वा, तेभ्योऽपि महाविदेहसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यात् स्वस्थानाच्च ८, सम्प्रति त्रयाणामपि समवायेनाल्पबहुत्वमुच्यते—सर्वस्तोका जम्बूद्वीपे हिमवच्छिखरिसिद्धा. १, तेभ्योऽपि हैमवतैरण्यवतसिद्धा. सङ्ख्येयगुणा. २, तेभ्योऽपि महाहिमवद्रुक्मिसिद्धा. सङ्ख्येयगुणा ३, तेभ्योऽपि देवकुरूत्तरकुरुसिद्धा. सङ्ख्येयगुणा. ४, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकसिद्धा. संख्येयगुणा. ५, तेभ्योऽपि निषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणा ६, तेभ्योऽपि धातकीखण्डहिमवच्छिखरिसिद्धा विशेषाधिका, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या. ७, ततो धातकीखण्डमहाहिमवद्रुक्मिपुष्करवरद्वीपार्द्धहिमवच्छिखरिसिद्धा. सङ्ख्येयगुणा, स्वस्थाने तु चत्वारोऽपि परस्पर तुल्या ८, ततो धातकीखण्डनिषधनीलवत्सिद्धा. पुष्करवरद्वीपार्द्धमहाहिमवद्रुक्मिसिद्धाश्च सङ्ख्येयगुणा. स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या. ९, ततो धातकीखण्डहैमवतैरण्यवतसिद्धा विशेषाधिका. १०, तेभ्योऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धनिषधनीलवत्सिद्धा संख्येयगुणा ११, ततो धातकीखण्डदेवकुरूत्तरकुरुसिद्धा सङ्ख्येयगुणा १२, तेभ्योऽपि धातकीखण्ड एव हरिवर्षरम्यकसिद्धा विशेषाधिका १३ ततः पुष्करवरद्वीपार्द्धहैमवतैरण्यवतसिद्धा. संख्येयगुणा. १४, तेभ्योऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धे एव देवकुरूत्तरकुरुसिद्धा संख्येयगुणा १५, तेभ्योऽपि तत्रैव हरिवर्षरम्यकसिद्धा विशेषाधिका १६, तेभ्योऽपि जम्बूद्वीपभरतैरावतसिद्धा. सङ्ख्येयगुणा १७, तेभ्योऽपि धातकीखण्डस्थकभरतैरावतसिद्धा' सङ्ख्येयगुणा. १८, तेभ्योऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्ध भरतैरावतसिद्धा. सङ्ख्येयगुणा. १९, तेभ्योऽपि जम्बूद्वीपे विदेहसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः २०, ततो धातकीखण्डविदेहसिद्धा. संख्येयगुणाः २१, ततोऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धे विदेहसिद्धा सङ्ख्येयगुणा २२, इदं च क्षेत्रविभागेनाल्पबहुत्वं सिद्धप्राभृतटीकातो लिखितम्। गतं क्षेत्रद्वारम्॥ अधुना कालद्वारम्—तत्रावसर्पिण्या संहरणत एकान्तदुष्षमासिद्धा. सर्वस्तोका, इतो दुष्षमासिद्धा सङ्ख्येयगुणा. तेभ्यः सुषमदुष्षमासिद्धा असङ्ख्येयगुणा कालस्यासंख्येयगुणत्वात्, तेभ्योऽपि सुषमासिद्धा विशेषाधिका, तेभ्योऽपि सुषमसुषमासिद्धा विशेषाधिका, तेभ्योऽपि दुष्षमसुषमासिद्धा. सङ्ख्येयगुणा, उक्तं च—"अइदूसमाइ थोवा सख अ-संखा दुवे विसेसहिया। दूसमसुसमा सखा-गुणा उ ओस-प्पिणीसिद्धा ॥ १ ॥" एवमुत्सर्पिण्यामपि द्रष्टव्यम्, तथा चोक्तम्—" अइदूसमाइ थोवा, सखअसखा उ दुन्नि सविसेसा। दूसमसुसमा संखा-गुणा उ उस्सप्पिणीसिद्धा ॥१॥" सम्प्रत्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो. समुदायेनाल्पबहुत्वमुच्यते-तत्र द्वयोरप्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरेकान्तदुष्षमासिद्धा. सर्वस्तोका., तत उत्सर्पिण्यां दुष्षमासिद्धा विशेषाधिका, ततोऽवसर्पिण्यां दुष्षमासिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वयोरपि दुष्षमसुषमासिद्धाः संख्येयगुणाः, ततोऽवसर्पिण्या सर्वसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्युत्सर्पिणीसर्वसिद्धा विशेषाधिकाः, गतं कालद्वारम्॥ सम्प्रति गतिद्वारं तत्र मानुषीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः सर्वस्तोका, ततो मानुषेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि नैरयिकेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिस्त्रीभ्योऽनन्तरागता सिद्धाः सङ्ख्येयगुणा, तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिकेभ्योऽनन्तरागता' सिद्धा सङ्ख्येयगुणा, तेभ्योऽपि देवीभ्योऽनन्तरागता सिद्धा' संख्येयगुणा., तेभ्योऽपि देवेभ्योऽनन्तरागता सिद्धा' सङ्ख्येयगुणा, उक्तं च—" मणुई मणुया नारय, तिरिक्खिणी तह तिरिक्ख देवीओ। देवा य जहाकमसो, संखेज्जगुणा मुणेयव्वा ॥ १ ॥" तथा एकेन्द्रियेभ्योऽनन्तरागता' सिद्धाः सर्वस्तोका, तत पञ्चेन्द्रियेभ्योऽनन्तरागता सिद्धा संख्येयगुणा, तथा वनस्पतिकायेभ्योऽनन्तरागता सिद्धा सर्वस्तोका', तत' पृथिवीकायेभ्योऽनन्तरागता सिद्धा सङ्ख्येयगुणा', ततोऽप्यप्कायेभ्योऽनन्तरागता सिद्धा' सङ्ख्येयगुणा, तेभ्योऽपि त्रसकायेभ्योऽनन्तरागता सिद्धा संख्येयगुणा, उक्तं च-"एगिंदिएहिँ थोवा, सिद्धा पंचेंदिएहिँ संखगुणा। तरुपुढविआउतसका-इएहिँ संखागुणा कमसो॥१।" तथा चतुर्थपृथिवीतोऽनन्तरागता' सिद्धा सर्वस्तोका. तेभ्यस्तृतीयपृथिवीतोऽनन्तरागता' सिद्धा संख्येयगुणा', तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिवीतोऽनन्तरागता सिद्धा सङ्ख्येयगुणा, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिभ्योऽनन्तरागता सिद्धा' संख्येयगुणा, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरपृथिवीकायेभ्योऽनन्तरागता सिद्धा' सङ्ख्येयगुणा', तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराप्कायेभ्योऽनन्तरागता' सिद्धाः सङ्ख्येयगुणा', तेभ्योऽपि भवनपतिदेवीभ्योऽनन्तरागता सिद्धाः सङ्ख्येयगुणा', तेभ्योऽपि भवनवासिदेवेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धा सङ्ख्येयगुणा, ततोऽपि व्यन्तरीभ्योऽनन्तरागता सिद्धा सङ्ख्येयगुणा, तेभ्योऽपि व्यन्तरदेवेभ्योऽनन्तरागता' सिद्धा सङ्ख्येयगुणा, तेभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवीभ्योऽनन्तरागता सिद्धा' सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धा संख्येयगुणा, तेभ्योऽपि मनुष्यस्त्रीभ्योऽप्यनन्तरागता' सिद्धा' संख्येयगुणा, तेभ्योऽपि मनुष्येभ्योऽनन्तरागता' सिद्धा' संख्येयगुणा, तेभ्योऽपि प्रथमनरकपृथिवीतोऽनन्तरागता' सिद्धा संख्येयगुणा तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिस्त्रीभ्योऽनन्तरागता सिद्धा सङ्ख्येयगुणा, तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिकेभ्योऽनन्तरागता' सिद्धाः सङ्ख्येयगुणा', तेभ्योऽपि अनुत्तरोपपातिकदेवेभ्योऽनन्तरागता' सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि ग्रैवेयकेभ्योऽनन्तरागता. सिद्धा. सङ्ख्येयगुणा, तेभ्योऽप्यच्युतदेवलोकादनन्तरागता. सिद्धा' सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि आरणदेवेभ्योऽनन्तरागता. सिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः एवमधोमुखं तावज्ज्ञेयं यावत् सनत्कुमारादनन्तरागता. सिद्धाः सङ्ख्येयगुणा, तत ईशानदेवीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धा सङ्ख्येयगुणा', ततोऽपि सौधर्मदेवीभ्योऽनन्तरागता सिद्धा' सङ्ख्येयगुणा', तेभ्योऽपि

ईशानदेवेभ्योऽप्यनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सौधर्मदेवेभ्योऽप्यनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—

"नरगच उत्थापुढवी, तच्चा दोच्चा तरु पुढवि आऊ।
भवणवइ देवि देवा, एव वणजोइसाणं पि ॥ १ ॥
मणुई मणुस्स नारय-पढमा तह तिरिक्खिणी य तिरिया य।
देवा अणुत्तराई, सव्वे वि सणंकुमारंता ॥ २ ॥
ईसाणदेवि सोह—म्मदेवि ईसाणदेव सोहम्मा।
सव्वे वि जहाकमसो,अणंतरायाउ संखगुणा ॥ ३ ॥"

गतं गतिद्वारम् ॥ सम्प्रति वेदद्वारम्—अत्र सर्वस्तोका नपुंसकसिद्धाः, तेभ्यः स्त्रीसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पुरुषसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"थोवा नपुंस इत्थी, संखा संखगुणा य तत्तो पुरिसा।" तीर्थद्वारे—सर्वस्तोकाः तीर्थकरीसिद्धाः, ततः तीर्थकरीतीर्थे प्रत्येकबुद्धसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरीतीर्थे अतीर्थकरीसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरीतीर्थे एवातीर्थकरसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः तीर्थकरसिद्धा अनन्तगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरतीर्थे प्रत्येकबुद्धसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरतीर्थ एव साध्वीसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरतीर्थे एवातीर्थकरसिद्धाः संख्येयगुणाः, लिङ्गद्वारे—गृहिलिङ्गसिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्योऽप्यन्यलिङ्गसिद्धा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि स्वलिङ्गसिद्धा असंख्येयगुणाः। उक्तं च—"गिहिअन्नसलिंगेहिं सिद्धा थोवा दुवे असंखगुणा" चारित्रद्वारे—सर्वस्तोकाः छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः, तेभ्यः सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धा असंख्येयगुणाः, सामायिकरहित च छेदोपस्थापन भङ्गचारित्रस्यावगन्तव्यं, तेभ्योऽपि सामायिकच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सामायिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"थोवा परिहारचऊ, पंचग संखा असंखछेयतिग। छेयचउक्क सखे, सामाइयतिग च संखगुणा ॥ १ ॥" बुद्धद्वारे-सर्वस्तोकाः स्वयम्बुद्धसिद्धाः, तेभ्यः प्रत्येकबुद्धसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि बुद्धीबोधितसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि बुद्धबोधितसिद्धाः संख्येयगुणाः, ज्ञानद्वारे—मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनः सिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो मतिश्रुतज्ञानिसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञानिसिद्धा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि मतिश्रुतावधिज्ञानिसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"मणपज्जवनाणतिगे, दुगे चउक्के मणस्स नाणस्स। थोवा संख असखा, ओहितिगे हुंति सखेज्जा ॥ १ ॥" अवगाहनाद्वारे—सर्वस्तोका द्विहस्तप्रमाणजघन्यावगाहनासिद्धाः, तेभ्यो धनुःपृथक्त्वाभ्यधिकपञ्चधनुःशतप्रमाणोत्कृष्टावगाहनासिद्धा असंख्येयगुणाः, ततो मध्यमावगाहनासिद्धा असंख्येयगुणाः, उक्तं च—"ओगाहणाजहन्ना, थोवा उक्कोसिया असंखगुणा। तत्तो वि असंखगुणा, नायव्वा भज्झिमाए वि ॥ १ ॥" अत्रैव सिद्धप्राभृतटीकाकारोपदर्शितो विशेष उपदर्श्यते-सर्वस्तोकाः सप्तहस्तप्रमाणावगाहनासिद्धाः तेभ्यः पञ्चधनुःशतप्रमाणावगाहनासिद्धाः संख्येयगुणाः, ततो न्यूनपञ्चधनुःशतप्रमाणावगाहनासिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सातिरेकसप्तहस्तप्रमाणावगाहनासिद्धा विशेषाधिकाः, उत्कृष्टद्वारे—सर्वस्तोकाः अप्रतिपतितसिद्धाः तेभ्यः संख्येयकालप्रतिपतितसिद्धा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यसंख्येयकालप्रतिपतितसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यनन्तकालप्रतिपतितसिद्धा असंख्येयगुणाः, उक्तं च—"अप्पडिवाइयसिद्धा,संखासंखा अणंतकाला य। थोव असखेज्जगुणा, संखेज्जगुणा असखेज्ज (ख) गुणा ॥ १ ॥" अन्तरद्वारे—सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः तत एकसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः, ततो द्विसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः ततोऽपि त्रिसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः, एवं तावद्वाच्य यावद्यवमध्यम्, ततः संख्येयगुणहीनास्तावद्वक्तव्या यावदेकसमयहीनषण्मासान्तरसिद्धेभ्यः षण्मासान्तरसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, अनुसमयद्वारे—सर्वस्तोकाः अष्टसमयसिद्धाः ततः सप्तसमयसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः षट्समयसिद्धाः संख्येयगुणाः एव समयसमयहान्या तावद्वाच्य यावद् द्विसमयसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"अट्ठसमयम्मि थोवा, सखेज्जगुणा उ सत्त समया उ। एवं पडिहायंते, जाव पुणो दोन्नि समया उ ॥ १ ॥" अत्र 'अट्ठसमयंमि' इत्यादौ द्विगुलमाहात्म्यादेकवचनं, गणनाद्वारे—सर्वस्तोका अष्टशतसिद्धाः, ततः सप्ताधिकशतसिद्धा अनन्तगुणाः, तेभ्योऽपि षडधिकशतसिद्धा अनन्तगुणाः, तेभ्यः पञ्चाधिकशतसिद्धा अनन्तगुणा एवमेकैकहान्या अनन्तगुणाः तावद्वाच्या यावदेकपञ्चाशत्सिद्धेभ्यः पञ्चाशत्सिद्धा अनन्तगुणाः, ततः तेभ्य एकोनपञ्चाशत्सिद्धा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यष्टचत्वारिंशत्सिद्धा असंख्येयगुणाः, एवमेकैकपरिहान्या तावद्वाच्य यावत्षड्विंशतिसिद्धेभ्यः पञ्चविंशतिसिद्धा असंख्येयगुणाः, ततः तेभ्यश्चतुर्विंशतिसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि त्रयोविंशतिसिद्धाः संख्येयगुणाः, एवमेकैकहान्या संख्येयगुणाः तावद्वाच्या यावद् द्विसिद्धेभ्य एकैकसिद्धाः संख्येयगुणाः। उक्तं च—"अट्ठसयासिद्ध थोवा, सत्तहियसया अणंतगुणिया य। एवं परिहायते, सयगाओ जाव पन्नास ॥ १ ॥ तत्तो पणासाओ,असंखगुणिया उ जाव पणवीस। पणवीसा आरभा,संखगुणा होंति एग जा ॥ २ ॥" सम्प्रति अस्मिन्नेवाल्पबहुत्वद्वारे यो विशेषः सिद्धप्राभृते दर्शितः स विनेयजनानुग्रहाय दर्श्यते—तत्र सर्वस्तोका अधोमुखसिद्धाः, ते च पूर्ववैरिभिः पादेनोत्पाट्य नीयमाना अधोमुखकायोत्सर्गव्यवस्थिता वा वेदितव्याः, तेभ्य ऊर्ध्वस्थितकायोत्सर्गस्थिताः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि उत्कुट्टकासनसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि वीरासनसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि न्युब्जासनसिद्धाः संख्येयगुणाः, न्युब्जोपविष्टा एवाधोमुखा द्रष्टव्या, तेभ्योऽपि पार्श्वस्थितसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्युत्तानस्थितसिद्धाः संख्येयगुणाः, तथा चैतदेव पश्चानुपूर्व्याऽभिहितम्—"उत्तानगपासिल्लग, निउज्ज वीरासणे य उक्कुडए। उद्धट्ठिय ओमंथिय, सखेज्जगुणेण हीणा उ ॥ १ ॥" तदेवमुक्तमल्पबहुत्वद्वारम् ॥ सम्प्रति सर्वद्वारगताल्पबहुत्वविशेषोपदर्शनाय सन्नि-

कर्षद्वारमुच्यते—सन्निकर्षो नाम संयोग , ह्रस्वदीर्घयोरिव विवक्षितं किञ्चित्प्रतीत्य विवक्षितस्याल्पतया बहुत्वेन वाऽवस्थानरूप सम्बन्ध , उक्तं च—"संजोग सन्निगासो पडुच्च सम्बन्ध एगट्ठा" तत्रेयं व्याप्ति —यत्र यत्राष्टशतमुपलभ्यते तत्र तत्रोपरितनमष्टकरूपमङ्कमपनीय शेषस्य शतस्य चतुर्भिर्भागो ह्रियते , हृते च भागे लब्धा पञ्चविंशति , तत्र पञ्चविंशतिसंख्येयप्रथमचतुर्थभागे क्रमेण संख्येयगुणहानिर्वक्तव्या । तद्यथा—सर्वबहव एकैकसमयसिद्धा , ततो द्विकद्विकसिद्धा संख्येयगुणहीना , तेभ्योऽपि त्रिकत्रिकसिद्धा संख्येयगुणहीना , एव तावद्वाच्य यावत्पञ्चविंशतिसिद्धा संख्येयगुणहीना ,उक्तं च—"पढमो चउत्थभागो,पणवीसा तत्थ संखेज्जगुणहाणी । दट्ठव्व' त्ति द्वितीये पुनश्चतुर्थभागे क्रमेणासंख्येयगुणहानिर्वक्तव्या. तद्यथा-पञ्चविंशतिसिद्धेभ्य षड्विंशतिसिद्धा संख्येयगुणहीना . एवमेकैकवृद्ध्या असंख्येयगुणहानि तावद्वक्तव्या यावत्पञ्चाशत् , तदुक्तम्—"बिइए चउत्थभागे , असंखगुणहानि जाव पन्नास " त्ति तृतीयस्माच्चतुर्थभागादारभ्य सर्वत्रापि अनन्तगुणहानिर्वक्तव्या , तद्यथा-पञ्चाशत्सिद्धेभ्य एकपञ्चाशत्सिद्धाः अनन्तगुणहीना' तेभ्योऽपि द्विपञ्चाशत्सिद्धा अनन्तगुणहीना एवमेकैकवृद्ध्या अनन्तगुणहानिस्तावद्वक्तव्या यावदष्टाधिकशतसिद्धा अनन्तगुणहीना , उक्तं च—" तइयए आइकाऊण चउत्थए य जाव अट्ठसय ताव अणंतगुणहाणी एगवन्नाओ आरंभ दट्ठव्वा । " सिद्धप्राभृतसूत्रेऽप्युक्तम्—" पढमे भागे संखा बिइए असंख अणंत तइयाए ।" तथा यत्र यत्र विंशतिसिद्धा तत्र तत्रापि व्याप्तिरियमनुसर्त्तव्या, प्रथमे चतुर्थभागे संख्येयगुणहानि , द्वितीये असंख्येयगुणहानि तृतीये चतुर्थे चानन्तगुणहानि. तद्यथा—एकैकसिद्धा' सर्वबहव तेभ्योऽपि द्विकद्विकसिद्धा संख्येयगुणहीना एव तावद्वाच्य यावत्पञ्च, तत षडादिसिद्धा असंख्येयगुणहीना यावद्दश , तत एकादशादय सर्वेऽप्यनन्तगुणहीना , एवमधोलोकादिष्वपि विंशतिपृथक्त्वसिद्धा प्रथमे चतुर्थभागे संख्येयगुणहानि , द्वितीयचतुर्थभागेऽसंख्येयगुणहानि , तृतीयस्माच्चतुर्थभागादारभ्य पुन सर्वत्राप्यनन्तगुणहानि , येषु तु हरिवर्षादिषु स्थानेषूत्कर्षतो दश दश सिध्यन्ति तत्रैव व्याप्ति -त्रिकं यावत्संख्येयगुणहानि., ततश्चतुष्क पञ्चकं चासंख्येयगुणहानि , तत षट्कादारभ्य सर्वत्रापि अनन्तगुणहानि , तद्यथा-"एककसिद्धा सर्वबहव', ततो द्विकद्विकसिद्धा संख्येयगुणहीना , तेभ्योऽपि त्रिकत्रिकसिद्धा संख्येयगुणहीना , तेभ्योऽपि चतुश्चतु सिद्धा असंख्येयगुणहीना , तेभ्योऽपि पञ्चपञ्चसिद्धा' असंख्येयगुणहीना. , तत षडादय. सर्वेऽप्यनन्तगुणहीना यत्र पुनरवगाहना यवमध्यादावुत्कर्षतोऽष्टौ सिध्यन्त प्राप्यन्ते तत्रैव व्याप्ति —चतुष्क यावत्संख्येयगुणहानि , तत परमनन्तगुणहानि , तद्यथा--एककसिद्धा सर्वबहव , तेभ्योऽपि द्विकद्विकसिद्धा संख्येयगुणहीना , तेभ्योऽपि त्रिकत्रिकसिद्धा संख्येयगुणहीना , तेभ्योऽपि चतुश्चतु सिद्धा संख्येयगुणहीना , पञ्चपञ्चादयोऽनन्तगुणहीना अत्रासंख्येयगुणहानिर्न विद्यते,यत्र पुनरूर्ध्वलोकादावुत्कर्षतश्चत्वार सिध्यन्त प्राप्यन्ते तत्र एवं व्याप्ति —एककसिद्धा. सर्वबहव , तेभ्यो द्विकद्विकसिद्धा असंख्येयगुणहीना ,तेभ्योऽपि त्रिकत्रिकसिद्धा अनन्तगुणहीना , तेभ्योऽपि चतुश्चतुस्सिद्धा अनन्तगुणहीना', अत्र संख्येयगुणहानिर्न विद्यत, तदुक्तम्—"जत्थ चत्तारि सिद्धा दिट्ठा तत्थ सखेज्जगुणहाणी नत्थि सखेज्जविवज्जिय चउक्के " इति वचनादिति । यत्र पुनर्लवणादौ द्वौ द्वावुत्कर्षत सिध्यन्तौ दृष्टौ तत्रैव व्याप्ति —एककसिद्धा सर्वबहव , ततो द्विकद्विकसिद्धा अनन्तगुणहीना , तदुक्तम्—" लवणादौ दो सिद्धा दिट्ठा तत्थ एक्कगसिद्धा बहुगा, दुगसिद्धा अणंतगुणहीणा । " तदेवमिह सन्निकर्षो द्रव्यप्रमाणे सप्रपञ्चं चिन्तित , शेषेषु द्वारेषु सिद्धप्राभृतटीकातो भावनीय , इह तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते- "सिद्धप्राभृतसूत्र,तद्वृत्तिं चोपजीव्य मलयगिरि । सिद्धस्वरूपमेत-न्निरवोचच्छिष्यबुद्धिहित ॥ १ ॥ " (न० ।)

तीर्थसिद्धादीना व्याख्यानम्—

तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थं यथावस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थसार्थप्ररूपक परमगुरुप्रणीत प्रवचन,तच्च निराधारं न भवतीति कृत्वा सङ्घ प्रथमगणधरो वा वेदितव्यम् , उक्तं च—" तित्थं भंते ! तित्थ तित्थकरे तित्थ ?, गोअमा ! अरहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसघो पढमगणहरो वा " तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धा ते तीर्थसिद्धा', तथा तीर्थस्याभावोऽतीर्थं तीर्थस्याभावश्चानुत्पादोऽपान्तराले व्यवच्छेदो वा तस्मिन् ये सिद्धा तेऽतीर्थसिद्धा तत्र तीर्थस्यानुत्पादे सिद्धा मरुदेवीप्रभृतय , न हि मरुदेव्यादिसिद्धिगमनकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत् , तथा तीर्थस्य व्यवच्छेदश्चन्द्रप्रभस्वामिसुविधिस्वाम्यपान्तराले तत्र ये जातिस्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धा ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धा , तथा तीर्थकरा सन्तो य सिद्धा ते तीर्थकरसिद्धा , अन्ये सामान्यकेवलिन , तथा स्वयम्बुद्धा सन्तो ये सिद्धा ते स्वयम्बुद्धसिद्धा , प्रत्येकबुद्धा सन्तो ये सिद्धा. ते प्रत्येकबुद्धसिद्धा , अथ स्वयम्बुद्धप्रत्येकबुद्धाना क प्रतिविशेष ?, उच्यते-बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेषः, तथाहि-स्वयम्बुद्धा बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव बुध्यन्ते , स्वयमेव बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव निजजातिस्मरणादिना बुद्धा. स्वयम्बुद्धा इति व्युत्पत्ते , ते च द्विधा—तीर्थकरा तीर्थकरव्यतिरिक्ताश्च , इह तीर्थकरव्यतिरिक्तैरधिकारा , आह च चूर्णिकृत्—" ते दुविहा तित्थयरा, तित्थयरवइरित्ता वा, इह वइरित्तेहिं अहिगारो" इति । प्रत्येकबुद्धास्तु बाह्यप्रत्ययमपेक्ष्य बुध्यन्ते, प्रत्येक-बाह्य वृषभादिकं कारणमभिसमीक्ष्य बुद्धा' प्रत्येकबुद्धा इति व्युत्पत्ते , तथा च श्रूयते-बाह्यवृषभादिप्रत्ययसापेक्षा करकण्ड्वादीनां बोधि , बोधिप्रत्ययमपेक्ष्य च बुद्धा सन्तो नियमत प्रत्येकमेव विहरन्ति, न गच्छवासिन इव सहता , आह च चूर्णिकृत्-" पत्तेय-बाह्य वृषभादिकरणमभिसमीक्ष्य बुद्धा प्रत्येकबुद्धा बहि प्रत्ययप्रतिबुद्धाना च "पत्तेय नियमा विहारो जम्हा तम्हा य ते पत्तेयबुद्धा " इति, तथा स्वयम्बुद्धानामुपधिर्द्वादशविध एव पात्रादिक , प्रत्येकबुद्धाना तु द्विधा-जघन्यत उत्कर्षतश्च, तत्र जघन्य-

तो द्विविध उत्कर्षतो नवविध प्रावरणवर्जं, आह च चूर्णिकृत्—" पत्तेयबुद्धाण जहन्नेण दुविहो उक्कोसेणं नवविहो नियमा पाउरणवज्जो भवइ । " तथा स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं भवति वा न वा यदि भवति ततो लिङ्गं देवता वा प्रयच्छति गुरुसन्निधौ वा गत्वा प्रतिपद्यते, यदि चैकाकी विहरणसमर्थ इच्छा च तस्य तथारूपा जायते तत एकाकी विहरत्यन्यथा गच्छवासेऽवतिष्ठते । अथ पूर्वाधीतं श्रुतं न भवति तर्हि नियमाद् गुरुसन्निधौ गत्वा लिङ्गं प्रतिपद्यते, गच्छं चावश्यं न मुञ्चति, उक्तं च चूर्णिकृता—" पुव्वाधीत से सुयं हवइ वा न वा, जइ से नत्थि तो लिङ्गं नियमा गुरुसन्निहे पडिवज्जइ, गच्छे य विहरइ त्ति, अहवा—पुव्वाधीतसुयसंभवो अत्थि तो से लिङ्गं देवया पयच्छइ गुरुसन्निधे वा पडिवज्जइ, जइ य एगागिविहरणजोग्गो इच्छा वा से तो एक्को चेव विहरइ, अन्नहा गच्छे विहरइ ' त्ति । प्रत्येकबुद्धानां तु पूर्वाधीतं श्रुत नियमतो भवति, तच्च जघन्यत एकादशाङ्गानि उत्कर्षतः किञ्चिन्न्यूनानि दश पूर्वाणि, तथा लिङ्गं तस्मै देवता प्रयच्छति, लिङ्गरहितो वा कदाचिद्भवति, तथा चाह चूर्णिकृत्—" पत्तेयबुद्धाण पुव्वाधीतं सुयं नियमा भवइ, जहन्नेणं एक्कारस अगा, उक्कोसेण भिन्नदसपुव्वी, लिङ्गं च से देवया पयच्छइ लिंगवज्जिओ वा भवति, जतो भणियं—"रूप पत्तेयबुद्धा" इति तथा बुद्धा—आचार्यास्तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धा ते बुद्धबोधितसिद्धा, एते च सर्वेऽपि केचित् स्त्रीलिङ्गसिद्धा . स्त्रिया लिङ्गे स्त्रीलिङ्गं, स्त्रीत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः, तच्च त्रिधा, तद्यथा—वेदः शरीरनिर्वृत्तिर्नेपथ्य च, तत्रेह शरीरनिर्वृत्त्या प्रयोजनं, न वेदनेपथ्याभ्या, वेदे सति सिद्धत्वाभावात्, नेपथ्यस्य चाप्रमाणत्वात्, आह च चूर्णिकृत्—"इत्थिए लिंग इत्थिलिंग, इत्थिए उवलक्खण ति वुत्तं भवति, त च तिविह—वेयो सरीरनिव्वत्ती नेवत्थ च, इह सरीरनिव्वत्तीए अहिगारो न वेयनेवत्थेहिं" ति । तस्मिन् स्त्रीलिङ्गे वर्त्तमानास्सन्तो ये सिद्धा. ते स्त्रीलिङ्गसिद्धा एतेन यदाहुराशाम्बरा –न स्त्रीणां निर्वाणमिति, तदपास्त द्रष्टव्यम्, स्त्रीनिर्वाणस्य साक्षादनेन सूत्रेणाभिधानात्, तत्प्रतिषेधस्य च युक्त्यनुपपन्नत्वात्, तथाहि—मुक्तिपथो ज्ञानदर्शनचारित्राणि, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वा० अ० १ सू० १) इति वचनात्, सम्यग्दर्शनादीनि च पुरुषाणामिव स्त्रीणामपि अविकलानि. तथाहि–दृश्यन्ते स्त्रियोऽपि सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमाना, जानते च षडावश्यककालिकोत्कालिकादिभेदभिन्न श्रुत, परिपालयन्ति च सप्तदशविधमकलङ्कं सयमं धारयन्ति च देवसुराणामपि दुर्धरं ब्रह्मचर्यं, तप्यन्ते च तपांसि मासक्षपणादीनि, ततः कथमिव तासां न मोक्षसम्भवः ?, स्यादेतद्-अस्त्त स्त्रीणां सम्यग्दर्शनं ज्ञान च न पुनश्चारित्र. सयमाभावात्. तथाहि—स्त्रीणामवश्य वस्त्रपरिभोगेन भवितव्यम्, अन्यथा विवृताङ्गयस्ताः तिर्यक्स्त्रिय इव पुरुषाणामभिभवनीया भवेयु, लोके च गर्होपजायते, ततोऽवश्य ताभिर्वस्त्रं परिभोक्तव्य, वस्त्रपरिभोगे च सपरिग्रहता, सपरिग्रहत्वे च संयमाभाव इति, तदसमीचीन, सम्यक्सिद्धान्ताऽपरिज्ञानात्, परिग्रहो हि परमार्थतो मूर्च्छाऽभिधीयते, 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ' इति वचनप्रामाण्यात्, तथाहि—मूर्च्छारहितो भरतचक्रवर्त्ती सान्त पुरोऽप्यादर्शकगृहेऽवतिष्ठमानो निष्परिग्रहो गीयते, अन्यथा केवलोत्पादासम्भवात्, अपि च—यदि मूर्च्छाया अभावेऽपि वस्त्रसंसर्गमात्र परिग्रहो भवेत् ततो जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य कस्यचित् साधोस्तुषारकणानुषक्ते प्रपतति शीते केनाप्यविपक्षोपनिपातमद्य शीतमिति विभाव्य धर्मार्थिना शिरसि वस्त्रे परिक्षिप्ते तस्य सपरिग्रहता भवेत्, न चैतदिष्टम्, तस्मान्न संसर्गमात्र परिग्रह, किन्तु-मूर्च्छा, सा च स्त्रीणां वस्त्रादिषु न विद्यते, धर्मोपकरणमात्रतया तस्योपादानात्, न खलु ता वस्त्रमन्तरेणात्मानं रक्षितुमीशते, नापि शीतकालादिष्वर्वाग्दशायां स्वाध्यायादिक कर्त्तु, ततो दीर्घतरसयमपरिपालनाय यतनया वस्त्रं परिभुञ्जाना न ताः परिग्रहवत्यः । अथोच्येत–सम्भवति नाम स्त्रीणामपि सम्यग्दर्शनादिकं रत्नत्रयम्, पर न तत् सम्भवमात्रेण मुक्तिपदप्रापकं भवति, किन्तु प्रकर्षप्राप्तम्. अन्यथा दीक्षानन्तरमेव सर्वेषामप्यविशेषेण मुक्तिपदप्राप्तिप्रसक्तेः, सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयप्रकर्षश्च स्त्रीणामसम्भवी, ततो न निर्वाणमिति । तदप्ययुक्तम्, स्त्रीषु रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात्, न खलु सकलदेशकालव्याप्त्या स्त्रीषु रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवग्राहकं प्रत्यक्षमनुमान वा प्रमाण विजृम्भते, देशकालविप्रकृष्टतया तत्र प्रत्यक्षस्याप्रवृत्ते, तदप्रवृत्तौ चानुमानस्याप्यसम्भवात्, नापि तासु रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवप्रतिपादकः कोऽप्यागमो विद्यते, प्रत्युत सम्भवप्रतिपादकः स्थाने स्थानेऽस्ति, यथा इदमेव प्रस्तुतं सूत्रं ततो न तासा रत्नत्रयप्रकर्षासम्भव. ; अथ मन्येथा.—स्वभावत एवातपेनेव छाया विरुध्यते स्त्रीत्वेन रत्नत्रयप्रकर्ष. ततस्तदसम्भवोऽनुमीयते, तदयुक्तम्, युक्तिविरोधात्, तथा हि-रत्नत्रयप्रकर्षः स उच्यते यतोऽनन्तर मुक्तिपदप्राप्ति, स चायोग्यवस्थाचरमसमये, अयोग्यावस्था चास्मादृशामप्रत्यक्षा, ततः कथ विरोधगति ?, न हि अदृष्टेन सह विरोध प्रतिपत्तु शक्यते, मा प्रापत् पुरुषेष्वपि प्रसङ्गः । ननु जगति सर्वोत्कृष्टपदप्राप्ति सर्वोत्कृष्टेनाध्यवसायेनावाप्यते, नान्यथा, एतच्चोभयोरप्यावयोरागमप्रामाण्यबलतः सिद्धं, सर्वोत्कृष्टे च द्वे पदे-सर्वोत्कृष्ट दुःखस्थानं सर्वोत्कृष्टं सुखस्थानं च । तत्र सर्वोत्कृष्टदुःखस्थानं सप्तमनरकपृथिवी, अत परं परमदुःखस्थानस्याभावात्, सर्वोत्कृष्टसुखस्थानं तु निःश्रेयस, ततः परमन्यस्य सुखस्थानस्यासम्भवात्, तत्र स्त्रीणा सप्तमनरकपृथिवीगमनमागमे निषिद्ध, निषेधस्य च कारणं तद्गमनयोग्यतथाविधसर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावः, ततः सप्तमपृथिवीगमननिषेधादवसीयते–नास्ति स्त्रीणा निर्वाणम्, निर्वाणहेतो तथारूपसर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणामस्यासम्भवात्, तथा चात्र प्रयोगः—असम्भवनिर्वाणा स्त्रिय, सप्तमपृथिवीगमनत्वाभावात्, सम्मूर्च्छिमादिवत्, तदेतदयुक्तम्, यतो यदि नाम स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनं प्रति सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभाव., तत एतावता कथमवसीयते ?, निःश्रेयसमपि प्रति तासा सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो न हि यो भूमिकर्षणादिकं कर्म कर्त्तु न शक्नोति स शास्त्राध्य-

व्यवगाढुं न शक्नोतीति प्रत्येतुं शक्यं, प्रत्यक्षविरोधात्। अथ सम्मूर्च्छिमादिषूभयमपि मति सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो दृष्ट ततोऽत्राप्यवसीयते, ननु यदि तत्र दृष्टस्तर्हि कथमत्रावसीयते ?, न खलु यद्वित्र्याप्तिमात्रेण हेतुर्गमको भवति, किन्तु-अन्तर्व्याप्त्या. अन्तर्व्याप्तिश्च प्रतिबन्धबलेन सिध्यति न चात्र प्रतिबन्धो विद्यते, न खलु सप्तमपृथिवीगमन निर्वाणगमनस्य कारणं, नाप्येवमेवाविनाभावप्रतिबन्धत. सप्तमपृथिवीगमनाविनाभावि निर्वाणगमन, चरमशरीरिणां सप्तमपृथिवीगमनमन्तरेणैव निर्वाणगमनभावात्, न च प्रतिबन्धमन्तरेण एकस्याभावेऽन्यस्याभावो, मा प्रापद्यस्य तस्य वा कस्यचिदेकस्याभावे सर्वस्याभावप्रसङ्ग, यद्येवं तर्हि कथ सम्मूर्च्छिमादिषु निर्वाणगमनाभाव इति ?, उच्यते-तथाभवस्वाभाव्यात्, तथाहि-ते सम्मूर्च्छिमादयो भवस्वभावत एव न सम्यग्दर्शनादिकं यथावत् प्रतिपत्तुं शक्नुवन्ति, ततो न तेषां निर्वाणसम्भव, स्त्रियस्तु प्रागुक्तप्रकारेण यथावत्सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसम्पद्योग्या, ततस्तासां न निर्वाणाभाव। अपि च-भुजपरिसर्पा द्वितीयामेव पृथिवीं यावद्गच्छन्ति, न परत., परपृथिवीगमनहेतुतथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात्, तृतीयां यावत् पक्षिण, चतुर्थी चतुष्पदाः, पञ्चमीमुरगा, अथ च सर्वेऽप्यूर्ध्वमुत्कर्षत सहस्रार यावद्गच्छन्ति, तस्मादधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनादूर्ध्वगतावपि तद्वैषम्य, तथा च सति सिद्ध स्त्रीपुंसामधोगतिवैषम्येऽपि निर्वाण सममिति कृतं प्रसङ्गेन। तथा पुंल्लिङ्गे शरीरनिर्वृत्तिरूपे व्यवस्थिता सन्तो ये सिद्धास्त पुंलिङ्गसिद्धा., एव नपुंसकलिङ्गसिद्धाः, यथा स्वलिङ्गे-रजोहरणादिरूपे व्यवस्थिता. सन्तो ये सिद्धास्ते स्वलिङ्गसिद्धा, तथाऽन्यलिङ्गे—परिव्राजकादिसम्बन्धिनि वल्कलकषायादिवस्त्रादिरूप द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिता. सन्तो ये सिद्धास्तेऽन्यलिङ्गसिद्धा., गृहिलिङ्गे सिद्धा गृहिलिङ्गसिद्धा मरुदेवीप्रभृतय, तथा 'एकसिद्धा' इति-एकस्मिन् २ समये एकका. सन्तो ये सिद्धास्ते एकसिद्धा, 'अणेगसिद्धा' इति एकस्मिन् समये अनेके सिद्धा' अनेकसिद्धा' अनेके चैकस्मिन् समये सिध्यन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्या.। आह—ननु तीर्थसिद्धातीर्थसिद्धरूपभेदद्वये एव शेषभेदा अन्तर्भवन्ति तत्किमर्थ शेषभेदोपादानम् ?, उच्यते-सत्यम्, अन्तर्भवन्ति पर न तीर्थसिद्धातीर्थसिद्धभेदद्वयोपादानमात्रात् शेषभेदपरिज्ञान भवति, विशेषपरिज्ञानार्थं चैष शास्त्रारम्भप्रयास इति शेषभेदोपादानम्। न०। प्रज्ञा०। औ०। दश०। उत्त०। विशे०। ध० र०। प्रव०। पं० सू०। न०। ('केवलणाण' शब्दे तृतीयभागे ६४७ पृष्ठे सिद्धकेवलज्ञानप्रस्तावे अनन्तरपरम्परभेदा सिद्धस्य दर्शिता.।)

साम्प्रतं यदुक्त 'शैलेशीं प्रतिपद्यते सिध्यति च' ति, तत्रासांवकम्मयेन लोकान्ते सिध्यतीत्यागम, इह च कर्ममुक्तस्य तद्देशानियमेन गतिर्नोपपद्यते इति मा भूद्व्युत्पन्नविभ्रम इत्यनन्तरोक्तरासनार्थं सिद्धगत्यर्थमिदमाह—

लाउअ एरंडफले, अग्गी धूमे उसू धणुविमुक्के।
गइपुव्वपओगेणं, एव सिद्धाण वि गईओ॥ ६५७॥

अलाबु, एरण्डफलम्, अग्निधूमौ, इषुर्धनुर्विमुक्त, अमीषां यथा तथा गमनकाले स्वभावतस्तत्प्रवर्तनाभावेऽपि देशादिनियतैव गति पूर्वप्रयोगेण प्रवर्तते, एवमेव व्यवहिततुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् सिद्धानामपि गतिरित्यक्षरार्थ।

अधुना भावार्थः प्रयोगैर्निदर्श्यते—तत्र कर्मविमुक्तो जीव. सकृदूर्ध्वमेवाऽलोकाद्गच्छति, असङ्गत्वेन तथाविधपरिणामत्वादष्टमृत्तिकालेपलिप्ताधोनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेपजलतलमर्यादोर्ध्वगामितथाविधालाबुवत्, तथा छिन्नबन्धनत्वेन तथाविधपरिणतेस्तादृग्विधैरण्डफलवत्, तथा स्वाभाविकपरिणामत्वादग्निधूमवत्, तथा पूर्वप्रयुक्ततत्क्रियातथाविधसामर्थ्याद् धनु प्रयत्नेरितेषुवद्, इषु-शर इति गाथार्थ॥६५७॥ आव० १ अ०।

स्फुट भावार्थ कथानकादवसेयस्तच्चेदम्—

"एगो धिज्जाइतो दुट्ठंतो अविणयं करेइ सो ताओ थाणाओ नीणितो हिंडतो चोरपल्लिमल्लिणो सेणावइणा पुत्तो गहिओ। तम्मि मयम्मि सो चेव सेणावती जाओ निक्किव पवण्णइ त्ति अप्पहारी से नाम कयं। सो अन्नया सेणाए सम एग गामं हतु गओ तत्थ य एगो दरिद्दो, तेण पुत्तभंडाण मग्गताण दुद्ध जाएत्ता पायसो सिद्धो, सा य एहाइउ गओ चोरा य तत्थ पडिया, एगेण सो तस्स पायसो दिट्ठो छुहिय त्ति त गहाय पहाविओ,ताणि खुड्डगरूवाणि रोवताणि पिउमूल गयाणि, हिओ पायसो त्ति सो रोसेण मारेमि त्ति पहाविओ महिला अवसित्ता अच्छइ नह वि जाइ, जहिं सो चोरसेणावई गाममज्झे अच्छइ, तेण गन्तूण महासंगामो कओ। सेणावइणा चिन्तियं—एएण मम चोरा परिभविज्जन्ति ततो असिं गहाय निद्दयं छिन्नो। महिला से भणइ-हा निक्किव! किमय कयं ति, पच्छा सा वि मारिया, गब्भो वि दो भाग कतो फुरफुरेइ, तस्स किवा जाया अधम्मो कतो त्ति, चेडरूवेहिंतो दरिद्द त्ति पउत्ती उवलद्धा ततो दढयरं निव्वेय गतो को उवाओ त्ति साहू दिट्ठा पुच्छिया य?,अणेण भयव! को एत्थ उवाओ त्ति तेहिं धम्मो कहियो,सो य से उवगतो पच्छा चारित्त पडिवज्जिय कम्माण समुग्घायणट्ठाए घोरं खतिअभिग्गह गेण्हिय तत्थेव विहरइ। ततो हीलिज्जइ हम्मइ य सो सम्म अहियासेइ, घोराकारं च कायकिलेस करेइ असणाइ वा अलभतो सम्म अहियासेइ जाव अणेण कम्मं निग्घाइयं केवलं से उप्पन्न, पच्छा सो सिद्ध" त्ति। उक्तस्तप सिद्ध। साम्प्रतं कर्मक्षयसिद्धप्रतिपादनाय गाथावरमदलमाह—'सो कम्म' इत्यादि स कर्मक्षयसिद्धो य किं विशिष्ट इत्यत आह-सर्वक्षीणकर्मांशः सर्वे निरवशेषा क्षीणाः कर्मांशा.-कर्मभेदा यस्य स तथाविध इति गाथार्थ।

अधुना कर्मक्षयसिद्धमेव प्रपञ्चतो निरुक्तविधिना प्रतिपादयति-

दीहकालरयं जं तु, कम्मं से सिय मट्ठहा।
सियं धंतं ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायई॥ ६५६॥

दीर्घ सन्तानापेक्षया अनादित्वात् स्थितिबन्धकालो यस्य तद्दीर्घकालं निसर्गनिर्मलजीवानुरञ्जनाद्रज कर्मैव भण्यत दीर्घकाल च तद्रजश्च दीर्घकालरज यच्छब्द सर्वमात्यादुद्देशवचन यत्कर्म इत्यप्रकार तुशब्दो भव्यकर्मवि-

शेषार्थ. न खल्वभव्यकर्म्म सर्वथा ध्मायते ततोऽयमर्थ., दीर्घकालरजो यत्कर्म्मकर्म्मेति शेषितं शेषीकृतं स्थित्यादिभिः प्रभूत सत् स्थित्यनुभावासंख्यापेक्षया अनाभोगसद्दर्शनज्ञानचरणाद्युपायत. शेषमल्पं कृतमिति भावः । प्राक्किभूत सत् शेषितमित्यत आह-अष्टधा ज्ञानावरणादिभेदेनाष्टप्रकारं सत् सितं-सितवर्णं 'सित' वर्णबन्धनयोरिति वचनात्, 'षिञ्' ब न्धने इति वचनात् वा, बद्धं कर्म ध्मातं 'ध्मा' शब्दाग्निसंयोगयोरिति वचनात् ध्यानानलेन दग्ध महाग्निना लोहमलवत् येन स सिद्धः । आ० म० १ अ० ।

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झई ॥ १ ॥

क प्रतिहता.—क प्रतिस्फालिता. सिद्धा—मुक्ताः, तथा क सिद्धास्तथा प्रतिष्ठिता—व्यवस्थिताः बोन्दिस्तनुशरीरमित्यनर्थान्तरं क बोंदिं त्यक्त्वा-परित्यज्य क गत्वा सिद्धयन्ति निष्ठितार्था भवन्ति । अत्रानुस्वारलोपो द्रष्टव्यः । अथवा-एकवचनतोऽप्येवमुपन्यासः सूत्रशैल्या अविरुद्ध एव ततोऽन्यत्राऽपि प्रयोगः, 'वत्थगन्धमलङ्कार, इत्थीओ सयणाणि य । अच्छंदा जे ण भुञ्जन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चई ॥ १ ॥" इति ।

इत्थं चोदकेनोक्ते सति प्रतिसमाधानमाह—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ता णं,तत्थ गंतूण सिज्झई ॥

अलोके केवलाकाशास्तिकाये प्रतिहता प्रतिस्फालिता सिद्धा इह प्रतिस्खलन तत्र धर्मास्तिकायाद्यभावात्सदानन्तर्यवृत्तिरेव द्रष्टव्य न तु सम्बन्धे सति भित्तौ लोष्टस्येव विघात. अमूर्त्तत्वात्, तथा लोकाग्र पञ्चास्तिकायात्मकलोकमूर्ध्नि च प्रतिष्ठिता., अपुनरागमवृत्त्या, व्यवस्थिता इत्यर्थ तथा इह अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रमध्ये बोन्दिं-तनु मुक्त्वा-परित्यज्य सर्वथा किं तत्र लोकाग्रे गत्वा समयप्रदेशान्तरमस्पृशन्तो गत्वा सिध्यन्ति-निष्ठितार्था भवन्ति सिद्धयन्ति चेति गाथार्थ । आ० म० । (ईषत्प्राग्भारास्वरूपम्, 'ईसिपब्भारा' शब्दे द्वितीयभागे ६७४ पृष्ठे उक्तम् ।)

अस्याश्चोपरि योजनचतुर्विंशतिभागे सिद्धास्तथा चाह—

ईसीपब्भाराए, उवरिं खलु जोअणस्स जो कोसो ।
कोसस्स य छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥

ईषत्प्राग्भारायाः पृथिव्या उपरि यत् खलु योजनं तस्य योजनस्य उपरितन क्रोशो-गव्यूत तस्य कोशस्योपरितने य ष्भागे सिद्धानामवगाहना तीर्थकरगणधरैर्भणिता, 'लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता' इति वचनात् ।

अमुमेवार्थं समर्थयमान आह—

तिन्नि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य कोसछब्भागो ।
जं परमोगाहोऽयं, तो ते कोसस्स छब्भाए ॥

यस्मात् परम उत्कृष्ट सिद्धानामवगाहो वर्तते त्रीणि धनुषां शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि धनुषस्त्रिभागश्च क्रोशस्य षड्भाग, ततस्तस्मात् क्रोशस्य षड्भाग सिद्धा इत्युक्तम् ।

अथ कथं पुनस्तत्र तेषामुपपातोऽवगाहना चेत्यत आह—

उत्ताणओ व पासि-ल्लओ व अहवा निसन्नओ चेव ।
जो जह करेइ कालं, सो तह उववज्जए सिद्धो ॥

उत्तानको वा पृष्ठतो वा अर्धावनतादिस्थानेन पार्श्वस्थितो वा,तिर्यक् स्थितो वा,अथवा-निषण्णश्चैवेति प्रकटार्थम्, किं बहुना यो यथा येन प्रकारेणावस्थितः सन् कालं करोति स तथा तेन प्रकारेणोपपद्यते सिद्ध इति ।

किमित्येतदेवमित्यत आह-

इह भवभिन्नागारो, कम्मवसाओ भवंतरे होई ।
नय तं सिद्धस्स जओ, तम्मी तो सो तयागारो ॥

इहभवादधिकृतभावाद् भिन्नाकार. इहभवभिन्नाकारो जीवः कर्म्मवशेन भवान्तरे स्वर्गादौ भवति तदाकारभेदस्य कर्मभेदनिबन्धनत्वात्, न च तत्कर्म आकारभेदनिबन्धनं यतो यस्मादस्ति ततस्तस्मिन्नपवर्गे ततोऽसौ सिद्धस्तदाकारः पूर्वभवाकारः । आ० म० १ अ० । औ० ।

साम्प्रतमुत्कृष्टादिभेदभिन्नामवगाहनामभिधित्सुराह—

तिन्नि सया तित्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ बोद्धव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥

त्रीणि धनुषा शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि धनुस्त्रिभागश्च बोद्धव्या,एषा एतावत्प्रमाणा खलु सिद्धानामुत्कृष्टावगाहना भणिता तीर्थकरगणधरै. । ननु भगवती मरुदेव्यपि सिद्धा सा च नाभिकुलकरपत्नी नाभेश्च शरीरप्रमाणं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि यावच्च शरीरप्रमाणं तावदेव तत्पत्नीनामपि ' संघयण संठाणं उच्चत्त चेव कुलगरेहिं सम ' मिति वचनात् ततो मरुदेव्या अपि शरीरप्रमाण पञ्चधनु शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि यावच्च शरीरप्रमाण तावदेव तत्पत्नीनामपि । तस्य त्रिभागे पातिते सिद्धावस्थायाः सार्द्धानि त्रीणि धनु.शतानि अवगाहना प्राप्नोति,कथमुक्तप्रमाणा सिद्धानामुत्कृष्टाऽवगाहनेति, नैष दोषः नाभिकुलकरमानाद् हि प्रमाणतोऽसौ किञ्चिन्न्यूना तथा संप्रदायात् सत. साऽपि पञ्चधनु शता प्रमाणैवेत्यदोषः यश्च 'कुलगरेहिं सम' मित्यतिदेश. सोऽपि कियता न्यूनाधिकत्वेऽपि अतिदेशानामागमे दर्शनादबाधक । अथवा-भगवती हस्तिस्कन्धाधिरूढा सती सिद्धा हस्तिस्कन्धाधिरूढा च सङ्कुचिताङ्गीति यथोक्तावगाहनाया अविरोधः । उक्तं च-किह मरुदेवा(वी)माणं, नाभीओ जेण किंचिदूणा सा । तो किर पंचसयं चिय, अहवा सकोयओ सिद्धा ॥१॥ "

अधुना मध्यमावगाहनामानमाह—

चत्तारि य रयणीओ, रयणितिभागूणिया य बोद्धव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥

मध्यमा ननु जघन्याजघन्यत्वनिषेधपरं सूत्रमिदम् । नन्वेतावदेव मध्यमावगाहनामान हस्तद्वयादूर्ध्व पञ्चधनु शतेभ्योऽर्वाक् सर्वत्रापि मध्यमावगाहनाभावात् ।

सम्प्रति जघन्यावगाहनाप्रतिपादनार्थमाह—

एगा इ होइ रयणी, अट्ठेव य अंगुलाइं साहीया ।
एसा खलु सिद्धाणं, जहन्न ओहणा भणिया ॥

एका रत्नि. अष्टावेव चाङ्गुलानि साधिका अष्टभिरङ्गु-

लैरधिक इत्यर्थः । एषा एतावत्प्रमाणा खलु सिद्धानां जघन्यतोऽवगाहना भणिता । एषा च द्विहस्तप्रमाणाना कूर्मीपुत्रादीनामवसातव्या । अन्ये त्वेव ब्रुवते सप्तहस्तानामेव यन्त्रपालनादिना सवर्तितगात्राणि सता सिद्धानामवगन्तव्या, नन्वागमे सिद्धिर्जघन्यपदे सप्तहस्तोच्छ्रितानामभिहिता तत कथमुच्यते द्विहस्तप्रमाणाना कूर्मीपुत्रादीनामिति ? उच्यते-सा जघन्यपदे सिद्धिस्तीर्थंकरानधिकृत्योक्ता शेषाणां तु केवलिना सिद्धिर्द्विहस्तप्रमाणानामप्यविरुद्धेत्यदोष । उक्तं च-"सत्तूसिएसु सिद्धी, जहन्नतो किहमिह विहत्थेसु । सा किर तित्थयरेसु, सेसाणमिय तुं सिदधाण ॥१॥ ते पुण होज्ज विहत्था, कुम्मीपुत्तादयो जहन्नेण । अन्ने सवट्टियसत्तहत्थसिद्धस्स हीण ॥ २ ॥ त्ति" ॥ अथवा-यदिद सूत्रे जघन्य मानमुक्त सप्तहस्तम्, उत्कृष्ट पञ्च धनु शतानि तत् बाहुल्य मधिकृत्योक्तमन्यथाऽङ्गुलपृथक्त्वैर्जघन्यपदे धनु पृथक्त्वे उत्कृष्टपदे यथाक्रम हीनमभ्यधिकं वावद्वेदितव्य तन कूर्मीपुत्रमरुदेव्यादिभिर्न कश्चिद्विरोध । न खल्वाश्चर्यादिकं किञ्चित् सामान्यश्रुत सर्वमुक्तमस्ति । अथवा-निबद्धमपि तदस्तीति श्रद्धायातपञ्चशतादेशवचनवत् तथेदमपि सिद्ध्य गच्छता द्विहस्तमान सपादपञ्चधनु शतमान श्रद्धीयतामिति । उक्त च-"बाहल्लतो य मुत्त-म्मि सुत्तपचय जहन्नमुक्कोस । इह राजीणम्महिय होज्जगुलधणुपुहत्तहिं ॥१॥ अत्थिरयादी किंची, सामन्नसुए न दसियं सव्व । होज्ज व अनिबद्ध वि य, पञ्च सया देसवयण च ॥ २ ॥" आ० म० १ अ० ।

भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एव वयासी-जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि संघयणे सिज्झंति ?, गोयमा ! वयरोसभणारायसंघयणे सिज्झंति, एवं जहेव उववाइए तहेव संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउयं च परिवसणा, एवं सिद्धिगंडिया निरवसेसा भणियव्वा ०जाव अव्वाबाहं मोक्खं, अणुहवं (हुंती) ति सासया सिद्धा । सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (सू० ४१६)

भंत त्ति—इत्यादि अथ लाघवार्थमतिदेशमाह-' एव जहेवे ' त्यादि एवम्—अनन्तरदर्शितेनाभिलापेन यथौपपातिके सिद्धानधिकृत्य सहननाद्युक्त तथैवेहापि वाच्य, तत्र च सहननादिद्वाराणा सग्रहाय गाथापूर्वार्द्धम्-' सघयण सठाण उच्चत्त आउय च परिवसण ' ति । तत्र सहननमुक्तमेव, सस्थानादि त्वेवम्-तत्र सस्थान पण्णा सस्थानानामन्यतरस्मिन् सिद्ध्यन्ति उच्चत्व तु जघन्यत सप्तरत्निप्रमाणं उत्कृष्टतस्तु, पञ्चधनु शतक, आयुषि पुनर्जघन्यत सातिरेकाष्टवर्षप्रमाणं उत्कृष्टतस्तु पूर्वकोटीमानं, परिवसना पुनरेवम्—रत्नप्रभादिपृथिवीना सौधर्मादीना चेषत्प्राग्भारान्ताना क्षेत्रविशेषाणामधो न परिवसन्ति सिद्धा किन्तु-सर्वार्थसिद्धमहाविमानस्योपरितनात्स्तूपिकाग्रादूर्ध्व द्वादश योजनानि व्यतिक्रम्यषत्प्राग्भारानामपृथिवी पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षप्रमाणाऽऽयामविष्कम्भाभ्याम वर्णत श्वेताऽत्यन्तरम्याऽस्ति तस्याश्चोपरियोजने लोकान्ता भवति, तस्य च योजनस्योपरितनगव्यूतोपरितनषड्भागे सिद्धाः परिवसन्तीति, ' एव सिद्धिगडिया निरवसेसा भाणियव्व' त्ति-एवमिति पूर्वोक्तसहननादिद्वारनिरूपणक्रमेण ' सिद्धिगण्डिका ' सिद्धिस्वरूपप्रतिपादनपरा वाक्यपद्धतिरौपपातिकप्रसिद्धाऽध्येया । भ० ११ श० ६ उ० ।

से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झहिइ० जाव अंतं करेहिइ ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से णं पुव्वामेव सण्णिस्स पंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोगं निरुंभइ, तयाणंतरं च णं बिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं बिइयं वइजोगं निरुंभइ, तयाणंतरं च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णजोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तईयं कायजोगं णिरुंभइ, से णं एएणं उवाएणं पढमं मणजोगं णिरुंभइ, मणजोगं णिरुंभित्ता वयजोगं णिरुंभइ, वयजोगं णिरुंभित्ता कायजोगं णिरुंभइ, कायजोगं निरुंभित्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोहं करेत्ता अजोगत्तं पाउणाति, अजोगत्तं पाउणित्ता इसिं हस्सपंचक्खरउच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं अणंते कम्मंसे खवेति वेयणिज्जाउयणामगुत्ते, इच्चेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ वेदणिज्जा २ ओरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पयहणाहिं विप्पजहइ । ओरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पयहणाहिं विप्पयहित्ता उज्जूसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेणं गंता सागारोवउत्ते सिज्झिहिइ । ते णं तत्थ सिद्धा हवंति सादीया अपज्जवसिया असरीरा जीवघणा दंसणनाणोवउत्ता निट्ठियट्ठा निरेयणा नीरया णिम्मला वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया अपज्जवसिया०जाव चिट्ठंति ?, गोयमा ! से जहाणामए बीयाणं अग्गिदड्ढाणं पुणरवि अंकुरुप्पत्ती ण भवइ, एवामेव सिद्धाणं कम्मबीए दड्ढे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया अपज्जवसिया ०जाव चिट्ठंति । जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि संघयणे सिज्झंति ?, गोयमा ! वइरोसभणारायसंघयणे सिज्झंति, जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि संठाणे सिज्झंति ?, गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अण्णतरे संठाणे सिज्झंति, जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि उच्चत्ते सिज्झंति ?, गोयमा ! जहण्णेणं

सत्तरयणीओ उक्कोसेणं पंचधणुसए सिज्झंति । जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि आउए सिज्झंति ?, गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगट्ठवासाउए उक्कोसेणं पुव्वकोडियाउए सिज्झंति । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?, णो इणट्ठे समट्ठे, एवं० जाव अहे सत्तमाए । अत्थि णं भंते ! सोहम्मस्स कप्पस्स अहे सिद्धा परिवसंति ?, णो इणट्ठे समट्ठे, एवं सव्वेसिं पुच्छा, ईसाणस्स सणंकुमारस्स ०जाव अच्चुयस्स गेविज्जविमाणाणं अणुत्तरविमाणाणं । अत्थि णं भंते ! ईसीपब्भाराए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से कहिं खाइ णं भंते ! सिद्धा परिवसंति ?, गोयमा ! (औ०) ईसीपब्भाराए णं पुढवीए सीयाए जोयणंमि लोगंते, तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए तस्स णं गाउअस्स जे से उवरिल्ले छब्भागिए तत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादीया अपज्जवसिया अणेगजाइजरामरणजोणिवेयणसंसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहीपवंचसमइक्कंता सासयमणागयमद्धं चिट्ठंति । (सू० ४३ ×)

'से णं पुव्वामेव सन्निस्से' त्यादि, अस्यायमर्थः–स–केवली णामित्यलङ्कारे, पूर्वमेव–आदावेव योगनिरोधावस्थाया. संज्ञिनो मनोलब्धिमत पञ्चेन्द्रियस्येति स्वरूपविशेषण, यत संज्ञी पञ्चेन्द्रिय एव भवति, 'पज्जत्तस्स' त्ति-मन पर्याप्त्या पर्याप्तस्य, तदन्यस्य मनोलब्धिमतोऽपि मनसोऽभाव एवेति पर्याप्तस्येत्युक्त स च मध्यमादिमनोयोगोऽपि स्यादित्याह–'जहण्णजोगिस्स' त्ति जघन्यमनोयोगवत 'हेट्ठ' त्ति अधो यो मनोयोग इति गम्यते, जघन्यमनोयोगसमानो यो न भवतीत्यर्थ., मनोयोगश्च–मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्चेति, जघन्यमनोयोगाधोभागवर्त्तित्वमेव दर्शयन्नाह–' असखेज्जगुणपरिहीणं ' ति असंख्यातगुणेन परिहीणो य स तथा त जघन्यमनोयोगस्यासंख्येयभागमात्र मनोयोगं निरुणद्धि तत क्रमेणानया मात्रया समये समये तं निरुन्धान सर्वमनोयोगं निरुणद्धि. अनुत्तरेणाचिन्त्येन अकरणवीर्येणेति, एतदेवाह–' पढमं मणजोगं निरुंभइ ' त्ति प्रथमं–शेषवागादियोगापेक्षया प्राथम्येन–आदितो मनोयोगं निरुणद्धीति। उक्त च–" पज्जत्तमेत्तसन्नि-स्स जत्तियाइ जहन्नजोगिस्स । होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥१॥ तदसखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोहं, करे असंखेज्जसमएहिं ॥ २ ॥ " ति, एवमन्यदपि सूत्रद्वयं नेयम्, ' अजोगयं पाउणइ ' त्ति अयोगता प्राप्नोतीति, 'ईसिंहस्सपञ्चक्खरुच्चारणद्धाए' त्ति 'ईसिं' ति–ईषत्स्पृष्टानि ह्रस्वानि यानि पञ्चाक्षराणि तेषां यदुच्चारणं तस्य याऽद्धा–काल सा तथा तस्याम्, इदं चोच्चारणं न विलम्बितं द्रुत वा, किन्तु मध्यममेव गृह्यते, यत आह–" हस्सक्खराइं मज्झेण, जेण कालेण पंच भण्णंति । अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तियमेत्त तओ कालं ॥१॥ " शैलेशी–मेरुस्तस्येव स्थिरतासाम्याद् या अवस्था सा शैलेशी–अथवा शीलेश:–सर्वसंवररूपचारित्रप्रभुस्तस्येयमवस्था योगनिरोधरूपेणेति शैलेशी ना प्रतिपद्यते, ततः 'पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं ' ति–पूर्व–शैलेश्यवस्थायाः प्राग् रचिता गुणश्रेणीक्षपणोपक्रमविशेषरूपा यस्य तत्तथा, गुणश्रेणी चैवम्–सामान्यतः किल कर्म बहुल्पमल्पतरमल्पतमं चेत्येवं निर्जरणाय रचयति, यदा तु परिणामविशेषात्तत्र तथैव रचिते कालान्तरवेद्यमल्पं बहु बहुतरं बहुतमं चेत्येवं शीघ्रतरक्षपणाय रचयति तदा सा गुणश्रेणीत्युच्यते, स्थापना चैवम्– ▽ ' कम्मं ' ति वेदनीयादिकं भवोपग्राहि ' तीसे सेलेसिमद्धाए ' त्ति–तस्या शैलेश्यद्धायां–शैलेशीकाले क्षपयन्निति योगः, एतदेव विशेषेणाह–' असखेज्जाहिं गुणसेढीहिं ' ति–असंख्याताभिर्गुणश्रेणिभि· शैलेश्यवस्थाया असंख्यातसमयत्वेन गुणश्रेणयोऽप्यसंख्यातसमया ततः तस्याः प्रतिसमयभेदकल्पनया असंख्याता गुणश्रेणयो भवन्ति, अतोऽसंख्याताभिः गुणश्रेणीभिरित्युक्तम्, असंख्यातसमयैरिति हृदयम्, ' अणंते कम्मंसे खवयंतो ' त्ति–अनन्तपुद्गलरूपत्वादनन्तांस्तान् कर्मांशान् भवोपग्राहिकर्मभेदान् क्षपयन्–निर्जरयन् ' वेयणिज्जाउयणामगोए ' त्ति–वेदनीय साक्षादि आयु–मनुष्यायुष्क नाम–मनुष्यगत्यादि गोत्रम्–उच्चैर्गोत्रम् 'इच्चेते' त्ति–इत्येतान् ' चत्तारि ' त्ति चतुर 'कम्मंसे' त्ति–कर्मांशान्–मूलप्रकृती. 'जुगवं खवेइ' त्ति–यौगपद्येन निर्जरयतीति । एतच्चैता भाष्यगाथा अनुश्रित्य व्याख्यातम्, यदुत–

'तदसंखेज्जगुणाए, सेढीए विरइयं पुरा कम्मं ।
समए समए खवयं, कम्मं सेलेसिकालेणं ॥ १ ॥
सव्वं खवेइ त पुण, निल्लेवं किंचिदुवरिमे समए ।
किंचिच्च होइ चरमे, सेलेसीए तयं वोच्छं ॥ २ ।
मणुयगइजाइतसबा-यरं च पज्जत्तसुभगमाएज्जं
अन्नयरवेयणिज्जं, नराउमुच्चं जसो नामं ॥ ३ ॥
संभवओ जिणनामं, नराणुपुव्वी य चरिमसमयम्मि ।
सेसा जिणसंताओ, दुचरिमसमयम्मि निट्ठंति ' ॥४॥"

इति । 'सव्वाहिं विप्पजहणाहिं' ति–सर्वाभि·–अशेषाभिः–विशेषण–विविधं प्रकर्षेतो हानय–त्यागा विप्रहाणयो व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं ताभि, किमुक्तं भवति ?–सर्वथा परिशाटनं नतु यथा पूर्वं सङ्घातपरिशाटाभ्या देशत्यागतः 'विप्पजहित्त' त्ति विशेषण प्रहाय–परित्यज्य 'उज्जूसेढिपडिवन्ने त्ति ऋजु·–अवक्रा श्रेणि–आकाशप्रदेशपङ्क्तिस्ताम् ऋजुश्रेणिं प्रतिपन्न–आश्रित 'अफुसमाणगइ' त्ति अस्पृशन्ती–सिद्ध्यन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गति·, अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धि, इष्यते च तत्रैक एव समय, य एव चायुष्कादिकर्मणा क्षयसमय· स एव निर्वाणसमय. अतोऽन्तराले समयान्तरस्याभावादन्तरालप्रदेशानामसंस्पर्शनमिति । सूक्ष्मश्चायमर्थ केवलिगम्यो भावत इति, 'एगेणं समएणं ' ति–कुत इत्याह–'अविग्गहेणं' ति–अविग्रहेण–वक्ररहितेन, वक्र एव हि समयान्तर लगति प्रदेशान्तरं च स्पृशतीति, 'उड्ढं गंता ' ऊर्ध्व गत्वा ' सागारोवउत्ते ' त्ति–ज्ञानोपयोगवान् सिध्यति कृतकृत्यतां लभते इति । गतमानुषङ्गिकम् । अथ प्रकृतमाह–किं च प्रकृतम् ?, से जे इमे गामागर०जाव सन्निवेसेसु मणुया हवंति सव्वकामवि-

रया ०जाव अट्ठ कम्मपयडीओ खवइत्ता उप्पिं लोगग्गपइट्ठाणा हवंति ' त्ति--लोकाग्रप्रतिष्ठानाश्च सन्तो यादृशास्ते भवन्ति तद्दर्शयितुमाह-'ते णं तत्थ सिद्धा हवंति'त्ति-ते पूर्वोक्त प्रावशेषणा मनुष्या , तत्र-लोकाग्रे निष्ठितार्थाः स्युरिति अनेन च यत्केचन मन्यन्ते , यदुत—'रागादिवासनामुक्तं, चित्तमेव निरामयम्। सदाऽनियतदेशस्थं , सिद्ध इत्यभिधीयते ॥१॥' यच्चापरे मन्यन्ते—"गुणसत्वान्तरज्ञानान्निवृत्तप्रकृतिक्रिया.। मुक्ता सर्वत्र तिष्ठन्ति , व्योमवत्तापवर्जिताः ॥२॥" तदनेन निरस्तम् ,यच्चैवोच्यते-सशरीरतायामपि सिद्धत्वप्रतिपादनार्थं, यदुत-"अणिमाद्यष्टविधं प्रा-प्यैश्वर्यं कृतिन सदा। मोदन्ते निर्वृतात्मान-स्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥१॥"इति तदपाकरणायाह--अशरीरा-अविद्यमानपञ्चप्रकारशरीरा , तथा'जीवघण'त्ति-योगनिरोधकाले रन्ध्रपूरणेन त्रिभागोनाऽवगाहना' सन्तो जीवघना इति, 'दंसणनाणोवउत्त'त्ति-ज्ञाने—साकारे दर्शनम्--अनाकार तयो क्रमेणोपयुक्ता ये ते तथा , 'निट्ठियट्ठ'त्ति-निष्ठितार्था -समाप्तसमस्तप्रयोजना 'निरेयण' त्ति निरजना.—निश्चला 'नीरय' त्ति-नीरजसो-वध्यमानकर्मरहिता नीरया वा-निर्गतौत्सुक्या 'निम्मल' त्ति-निर्मला पूर्ववद्धकर्मविनिर्मुक्ता' द्रव्यमलवर्जिता वा ' वितिमिर त्ति विगताज्ञाना 'विसुद्ध' त्ति-कर्मविशुद्धिप्रकर्षमुपगताः 'सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठति'शाश्वतीम्—अविनश्वरीं सिद्धत्वस्याविनाशाद ,अनागताद्धा-भविष्यत्काल तिष्ठन्तीति 'जम्मुप्पत्ती ति-जन्मना—कर्मकृतप्रसूत्या उत्पत्तिर्या सा तथा , जन्मग्रहणेन परिणामान्तररूपात्तदुत्पत्तिर्भवतीत्याह, प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात्सद्भावस्येति,'जहण्णेण सत्त रयणीए' त्ति-सप्तहस्त उच्चत्वे सिध्यन्ति महावीरवत् , ' उक्कोसेण पञ्चधणुस्सए त्ति-ऋषभस्वामिवद् , एतच्च द्वयमपि तीर्थङ्करापेक्षयोक्तम् , अतो द्विहस्तप्रमाणेन कूर्मापुत्रेण न व्यभिचारो न वा मरुदेव्या सातिरेकपञ्चधनु -शतप्रमाणयेति, 'साइरेगट्ठवासाउए'त्ति-सातिरेकाण्यष्टौ वर्षाणि यत्र तत्तथा तच्च तदायुश्चेति तत्र सातिरेकाष्टवर्षायुषि , तत्र किलाष्टवर्षस्याश्चरणं प्रतिपद्यते , ततो वर्षे अतिगते केवलज्ञानमुत्पाद्य सिध्यतीति , ' उक्कोसेणं पुव्वकोडाउए ' त्ति—पूर्वकोट्यायुर्नर पूर्वकोट्या अन्ते सिध्यतीति न परत । ' ते ण तत्थ सिद्धा भवंति ' त्ति-प्राक्तनवचनाद् यद्यपि लोकाग्र सिद्धाना स्थानमित्यवसीयते तथापि मुग्धविनेयस्य कल्पितविविधलोकाग्रनिरासतो निरुपचरितलोकाग्रस्वरूपविशेषावबोधाय प्रश्नोत्तरसूत्रमाह- अत्थि ण' मित्यादि व्यक्तम् , नवर यदिद रत्नप्रभाया अधस्तदेव लोकाग्रमिति तत्र सिद्धा परिवसन्तीति प्रश्न , तत्रोत्तरम्—नायमर्थ समर्थ इति, एवं सर्वत्र , ' से कहि खाइ ण भंते ! ' त्ति-इत्यत्र 'से त्ति-तत ' कहिं ' ति—क्व देशे खाइ ण ' ति—देशभाषया वाक्यालङ्कारे (ईषत्प्राग्भारापृथ्वीप्रश्नोत्तरम् ' ईसिप्पब्भारा ' शब्दे द्वितीयभागे ६५४ पृष्ठे गतम् ।) ' सेय ' त्ति—श्वेता , एतदेवाह— आयसतलविमलसोल्लियमुणालदगरयतुसारगोक्खीरहारवण्ण ' त्ति—व्यक्तमेव , नवरम् आदर्शतलम्--दर्पणतल क्वचि ... लमिति पाठ. , आदर्शतलमिव विमला ... सा तथा , ' सोल्लिय ' त्ति-कुसुमविशेष , ' सव्वज्जुणसुवण्णमई'त्ति-अर्जुनसुवर्णं-श्वेतकाञ्चनम् अच्छा आकाशस्फटिकमिव 'सण्ह' त्ति-श्लक्ष्णपरमाणुस्कन्धनिष्पन्ना श्लक्ष्णतन्तुनिष्पन्नपटवत्'लण्ह'त्ति-मसृणा घुण्टितपटवत् , 'घट्ठ ' त्ति-घृष्टेव घृष्टा खरशानया पाषाणप्रतिमावत् , ' मट्ठ ' त्ति-मृष्टेव मृष्टा सुकुमारशानया प्रतिमेव शोधिता वा प्रमार्जनिकयेव , अत एव ' णीरय ' त्ति-नीरजा —रजोरहिता ' णिम्मला ' कठिनमलरहिता 'णिप्पंक ' त्ति-निष्पङ्का—आर्द्रमलरहिता अकलङ्का वा ' णिक्कंकडच्छाय ' त्ति-निष्कङ्कटा—निष्कवचा; निरावरणेत्यर्थ , छाया—शोभा यस्या. सा तथा अकलङ्कशोभा वा , ' समरीचिय ' त्ति-समरीचिका—किरणयुक्ता , अत एव ' सुप्पभ ' त्ति-सुष्ठु प्रकर्षेण च भाति—शोभते या सा सुप्रभेति , ' पासादीया ' त्ति-प्रासादो-मन प्रमोद प्रयोजन यस्या. सा प्रासादीया ' दरसणिज्ज' त्ति-दर्शनाय-चक्षुर्व्यापाराय हिता दर्शनीया, ता पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यतीत्यर्थ , ' अभिरूव 'त्ति अभिमत रूप यस्या सा अभिरूपा , कमनीयेत्यर्थ , ' पडिरूव ' त्ति द्रष्टार द्रष्टारं प्रति रूप यस्या सा प्रतिरूपा , ' जोयणम्मि लोगंते ' त्ति इह योजनमुत्सेधाङ्गुलयोजनमवसेय , तदीयस्यैव हि क्रोशषड्भागस्य सत्रिभागत्रयस्त्रिंशदधिकधनु शतत्रयीप्रमाणत्वादिति , ' अणेगजाइजरामरणजोणिवेयणं ' अनेकजातिजरामरणप्रधानयोनिषु वेदना यत्र स तथा तम् , (औ०) (' संसारकलंकलीभाव ' पदव्याख्या ' संसारकलंकलीभाव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।) पाठान्तरमिदम्-' अणेगजाइजरामरणजोणिसंसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहिपवंचसमइक्कंत ' त्ति-अनेकजातिजरामरणप्रधाना योनयो यत्र स तथा स चासौ संसारश्चेति समास , तत्र कलङ्कलीभावेन य. पुनर्भवन पुन पुनरुत्पत्त्या गर्भवासवसतीना प्रपञ्चस्त समतिक्रान्ता ये ते तथा ॥ ४३ ॥

अथ प्रश्नोत्तरद्वारेण सिद्धानामेव वक्तव्यतामाह—

कहिं पडिहया सिद्धा ,कहिं सिद्धा पडिट्ठिया ? , ।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झइ ? ॥ १ ॥
अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पडिट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ २ ॥
जं संठाणं तु इहं,भवं चयतस्स चरिमसमयम्मि ।
आसी य पएसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥ ३ ॥
दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं ।
तत्तो तिभागहीणं, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ ४ ॥
तिण्णि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ बोद्धव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं , उक्कोसोगाहणा भणिया ॥ ५ ॥
चत्तारि य रयणीओ, रयणितिभागूणिया य बोद्धव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥६॥
एक्का य होइ रयणी, साहीया अंगुलाइँ अट्ठ भवे ।
एसा खलु सिद्धाणं, जहण्णओगाहणा भणिया ॥७॥
ओगाहणाएँ सिद्धा, भवत्तिभागेण होइ परिहीणा ।

संठाणमणित्थंथं, जरामरणविप्पमुक्काणं ॥ ८ ॥
जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का ।
अण्णोण्णसमवगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥ ९ ॥
फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिं णियमसो सिद्धा ।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिं जे पुट्ठा ॥ १० ॥
असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य णाणे य ।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥ ११ ॥
केवलणाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठी अणंताहिं ॥१२॥
ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं ण वि य सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥
जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं ।
ण य पावइ मुत्तिसुहं, णंताहिं वग्गवग्गूहिं ॥ १४ ॥
सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धापिंडिओ जइ हवेज्जा ।
सोऽणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ण माएज्जा ॥ १५ ॥
जह णाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो ।
न चएइ परिकहेउं, उवमाए तहिं असंतीए ॥ १६ ॥
इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं ।
किंचि विसेसेणेत्तो, ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं ॥१७॥
जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ ।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥
इय सव्वकालतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा ।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥ १९ ॥
सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति, य पारगय त्ति य परंपरगय त्ति ।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥ २० ॥
णिच्छिण्णसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का ।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंती सासयं सिद्धा ॥ २१ ॥
अतुलसुहसागरगया, अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता ।
सव्वमणागयमद्धं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥ २२ ॥

'कहिं [illegible] प्रतिहता -[illegible] स्खलिता. [illegible] [illegible], तथा क सिद्धाः प्रतिष्ठिता-व्यवस्थिता इत्यर्थः ?, तथा क बोन्दि-शरीरं त्यक्त्वा ?, तथा क गत्वा 'सि-[illegible]-[illegible] 'न हु [illegible] त्ति बुद्धे' त्यादिक[illegible] [illegible] ॥ १ ॥ [illegible]-[illegible] [illegible] — [illegible] सिद्धा—मुक्ता , प्रतिष्ठ-[illegible], तथा [illegible] —[illegible]-[illegible] [illegible] — [illegible] [illegible] [illegible] , तथा [illegible] — [illegible] — [illegible] [illegible] — [illegible] [illegible] [illegible] — [illegible]-[illegible] [illegible] [illegible] गाहा [illegible] [illegible] [illegible], 'तहिं [illegible]

वा ' गाहा, दीर्घे वा पञ्चधनुःशतमाने ह्रस्वे वा—हस्तद्वयमाने, वाशब्दान्मध्यमे वा यच्चरमभवे भवेत्संस्थानं ततः—तस्मात् संस्थानात् त्रिभागहीना त्रिभागेन शुषिरपूरणात् सिद्धानामवगाहना—अवगाहन्ते-अस्यामवस्थायामिति अवगाहना स्वावस्थैवेति भावः, भणिता—उक्ता जिनैरिति ॥ ४ ॥ अथावगाहनामेवोत्कृष्टादिभेदत आह—'तिण्णि सये' त्यादि, इय च पञ्चधनुःशतमानानां 'चत्तारि य' त्यादि तु सप्तहस्तानाम् 'एगा य' त्यादि द्विहस्तमानानामिति । इय च त्रिविधाऽप्युक्तमानमाश्रित्यान्यथा सप्तहस्तमानानां च उपविष्टानां सिद्ध्यतामन्यथाऽपि स्यादिति । आक्षेपपरिहारौ पुनरेवम्—ननु नाभिकुलकर० पञ्चविंशत्यधिकपञ्चधनुःशतमानः प्रतीत एव, तद्भार्याऽपि मरुदेवी तत्प्रमाणैव, ' उच्चत्त चेव कुलगरेहिं सम' मिति वचनात्, अतस्तदवगाहना उत्कृष्टावगाहनातोऽधिकतरा प्राप्नोतीति कथं न विरोधः ?, अत्रोच्यते—यद्यप्युच्चत्वं कुलकरतुल्यं तथापि तामित्युक्तं, तथापि प्रायिकत्वादस्य स्त्रीणां च प्रायेण पुम्भ्यो लघुतरत्वात् पञ्चैव धनुःशतान्यसावभवत् , वृद्धकाले वा सङ्कोचात् पञ्चधनुःशतमाना सा अभवत् , उपविष्टा वाऽसौ सिद्धेति न विरोधः । अथवा—बाहुल्यापेक्षमिदमुत्कृष्टावगाहनामानं, मरुदेवी त्वाश्चर्यकल्पेत्येवमपि न विरोधः , ननु जघन्यतः सप्तहस्तोच्छ्रितानामेव सिद्धिः प्रागुक्ता, तत्कथं जघन्यावगाहना अष्टाङ्गुलाधिकहस्तप्रमाणा भवतीति ?, अत्रोच्यते, सप्तहस्तोच्छ्रितेष सिद्धिरिति तीर्थङ्करापेक्षं, तदन्ये तु द्विहस्ता अपि कूर्मापुत्रादयः सिद्धा अतस्तेषां जघन्याऽवसेया, अन्ये त्वाहुः—सप्तहस्तमानस्य संवर्तितशरीरापाकस्य सिद्धयतो जघन्यावगाहना स्यादिति ॥७॥ 'ओगाहणाए' गाहा व्यक्ता,नवरम् 'अनित्थंथ' ति इमं प्रकारमापन्नमित्थमित्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थम् न इत्थंस्थम् अनित्थंस्थं—न केनचिल्लौकिकप्रकारेण स्थितमिति ॥ ८ ॥ अथैते किं देशभेदेन स्थिता उतान्यथेत्यस्यामाशङ्कायामाह—'जत्थ य' गाहा, यत्र च—यत्रैव देशे एकः सिद्धो-निर्वृतस्तत्र देशे अनन्ताः सिद्धाः?—' भवक्खयविमुक्का ' इति-भवक्षयेण विमुक्ताः भवक्षयविमुक्ताः, अनेन स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमतिसिद्धव्यवच्छेदमाह । अन्योऽन्यसमवगाढाः तथाविधाचिन्त्यपरिणामत्वाद्धर्मास्तिकायादिवदिति, स्पृष्टा —लग्नाः सर्वे च लोकान्ते, अलोकेन प्रतिस्खलितत्वाद् , अत एव ' लोयग्गे य पइट्ठिया' इत्युक्तमिति ॥९॥ तथा 'फुसइ' गाहा, स्पृशत्यनन्तान्सिद्धान् सर्वप्रदेशैरात्मसम्बन्धिभिः ' णियमसो ' त्ति-नियमेन सिद्धः, तथा तेऽप्यसंख्येयगुणा वर्तन्ते ये देशप्रदेशैश्च ये स्पृष्टाः , केभ्यः ?—सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्यः, कथम् ?—सर्वात्मप्रदेशैस्तावदनन्ताः स्पृष्टाः, एकात्मप्रदेशावगाहनायामनन्तानामवगाढत्वात् , तथैकैकदेशेनाप्यनन्ताः एवम्-[illegible]प्रदेशेनाप्यनन्ता एव नवरं देशाः—द्व्यादिप्रदेशसमुदायः, प्रदेशास्तु—निर्विभागोंऽश इति । सिद्धस्यात्मप्रदेशा[illegible] तत्र च [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यथाक्रमेण [illegible] ॥ १० ॥ अथ सिद्धानेव लक्षणत आह— ' असरीरा ' गाहा , [illegible] , [illegible] [illegible] ॥ ११ ॥ ' उवउत्ता दंसणे य णाणे य ' [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]-

ल ' गाहा, केवलज्ञानोपयुक्ता जानन्ति न त्वनन्तकरणोपयुक्ता भावतस्तदभावात्, जानन्ति 'सर्वभावगुणभावान्' समस्तवस्तुगुणपर्यायान्, तत्र गुणाः-सहवर्तिनः पर्यायास्तु-क्रमवर्तिन इति, तथा पश्यन्ति सर्वतः खलु-सर्वत एवेत्यर्थः केवलदृष्टिभिरनन्ताभिः-केवलदर्शनैरनन्तैरित्यर्थः, अनन्तत्वात् सिद्धानामनन्तविषयत्वाद्वा दर्शनस्य केवलदृष्टिभिरनन्ताभिरित्युक्तम्, इह चादौ ज्ञानग्रहणं प्रथमतया तदुपयोगस्था सिध्यन्तीति ज्ञापनार्थमिति ॥ १२ ॥ अथ सिद्धानां निरुपमसुखतां दर्शयितुमाह- 'ण वि अत्थि' गाहा व्यक्ता, नवरम् 'अव्वाबाह' ति-विविधा आबाधा व्याबाधा तन्निषेधादव्याबाधा तामुपगतानां-प्राप्तानामिति ॥ १३ ॥ कस्मादेवमित्याह-'जं देवाण' गाहा, यतो यस्माद्देवानाम्-अनुत्तरसुरान्तानां सौख्यम्-त्रिकालिकसुखं सर्वाद्धया-अतीतानागतवर्तमानकालेन पिण्डितम्-गुणितं सर्वाद्धापिण्डितं, तथाऽनन्तगुणमिति तदेवंप्रमाणं किलासद्भावकल्पनयैकैकाकाशप्रदेशे स्थाप्यत इत्येवं सकललोकालोकाकाशानन्तप्रदेशपूरणेनानन्तं भवति, न च प्राप्नोति मुक्तिसुखम्-नैव मुक्तिसुखसमानतां लभते, अनन्तानन्तत्वात्सिद्धसुखस्य, (किंविधं देवसुखमिति ' धम्मसद्ध ' शब्दे षष्ठे भागे गतम् ।) औ० । खण्डखण्डैः खण्डितं सिद्धसुखं तदीयानन्तानन्ततमखण्डसमतामपि न लभत इत्यर्थः, ततो नास्ति तन्मनुष्यादीनां सुखं यत्सिद्धानामिति प्रकृतम् ॥ १४ ॥ सिद्धसुखस्यैवोत्कर्षणाय प्रकारान्तरेणाह-'सिद्धस्स'गाहा, सिद्धस्य-मुक्तस्य सम्बन्धी सुखः-सुखानां सत्को राशिः-समूहः सुखसङ्घात इत्यर्थः, सर्वाद्धापिण्डितः सर्वकालसमयगुणितो यदि भवेद्, असत्त्वास्य कल्पनामात्रतामाह, सोऽनन्तवर्गभक्तः-अनन्तवर्गापवर्तितः सन्समीभूत एवेति भावार्थः, सर्वाकाशे' लोकालोकरूपे न मायात्, अयमत्र भावार्थः-इह किल विशिष्टाह्लादरूपं सुखं गृह्यते, ततश्च यत आरभ्य सिद्धानां सुखशब्दप्रवृत्तिस्तमाह्लादमवधीकृत्य एकैकगुणवृद्धितारतम्येन तावदसावाह्लादो विशिष्यते यावदनन्तगुणवृद्ध्या निरतिशयनिष्ठां गतः, ततश्चासावत्यन्तोपमातीतैकान्तिकौत्सुक्यविनिवृत्तिरूपः स्तिमिततममहोदधिकल्पश्चरमाह्लाद एव सदा सिद्धानां भवति, तस्माच्चारात्प्रथमाह्लादचरमाह्लादान्तरालवर्तिनो ये तारतम्येनाह्लादविशेषास्ते सर्वाकाशप्रदेशराशेरपि भूयांसो भवन्तीत्यतः किलोक्तम्-'सव्वागासे ण माएज्ज' त्ति-अन्यथा प्रतिनियतदेशावस्थितेः कथं तेषामिति सरयोऽभिदधतीति ॥ १५ ॥ अस्य च वृद्धोक्तस्याधिकृतगाथाविवरणस्यायं भावार्थः-य एते सुखभेदास्ते सिद्धसुखपर्यायतया व्यपदिष्टाः, तदपेक्षया तस्य क्रमेणोत्कृष्यमाणस्यानन्ततमस्यान्त्यनिष्ठेनोपचारात्, तद्राशिश्च किलासद्भावस्थापनया सहस्रसमयराशिस्तु शतं, सहस्रं च शतेन गुणितं जातं लक्षं, गुणनं च कृतं सर्वसमयसम्बन्धिनां सुखपर्यायाणां मीलनार्थम् । तथाऽनन्तराशिः किल कृतः, तद्वर्गश्च शतं तेनापवर्तिते लक्षे जातं सहस्रमेव, अतः पूज्यैरुक्तम्-'समीभूत एवे'ति भावार्थ इति । यच्चेह सुखराशेर्गुणनमपवर्तनं च तदेव सम्भावयामः-यत्र किलानन्तराशिना गुणितेऽपि सति अनन्तवर्गेणानन्तासन्तकल्पनातीव महास्वरूपेणापवर्तितेन किञ्चिदवशिष्यते, स राशिरतिमहान्, ततश्च सिद्धसुखराशिर्महानिति बुद्धिजननार्थं शिष्यस्य तस्यैव वा गणितमार्गे व्युत्पत्तिकरणार्थमिति । अन्ये पुनरिमां गाथामेवं व्याख्यान्ति-सिद्धसुखपर्यायराशिः नभःप्रदेशाग्रगुणितनभःप्रदेशाग्रप्रमाणः, तत्परिमाणत्वात् सिद्धसुखपर्यायाणां, सर्वाद्धापिण्डितः-सर्वसमयसम्बन्धी सङ्कलितः सन्, स चानन्तः, अनन्तश इत्यर्थः, वर्गैः वर्गमूलैर्भक्तः-अपवर्तितः, अत्यन्त लघूकृत इत्यर्थः, यथा किल सर्वसमयसम्बन्धी सिद्धसुखराशिः पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशच्चेति (६५५३६) स च वर्गेणापवर्तितः सन् जाते द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके (२५६)सोऽपि स्ववर्गापवर्तितो जाताः षोडश ततश्चत्वारः ततो द्वावित्येवमतिलघूकृतोऽपि सर्वाकाशे न मायाद् एतदेवाह-'सव्वागासे न माएज्ज' त्ति-अथ सिद्धसुखस्यानुपमतां दृष्टान्तेनाह-'जह' गाहा पूर्वार्धं व्यक्तं न चएइ' त्ति-न शक्नोति परिकथयितुं नगरगुणानरण्यमागतोऽरण्यवासिम्लेच्छेभ्यः कुत इत्याह-

उपमाया त्वत्र नगरगुणेष्वरण्ये वाऽसत्यामिति, कथानकं पुनरेवम्-

"म्लेच्छः कोऽपि महारण्ये, वसति स्म निराकुलः ।
अन्यदा तत्र भूपालो, दुष्टाश्वेन प्रवेशितः ॥ १ ॥
म्लेच्छेनासौ नृपो दृष्टः, सत्कृतश्च यथोचितम् ।
प्रापितश्च निजं देशं, सोऽपि राजा निजं पुरम् ॥ २ ॥
ममायमुपकारीति, कृतो राज्ञाऽतिगौरवात् ।
विशिष्टभोगभूतीनां, भाजनं जनपूजितः ॥ ३ ॥
ततः प्रासादशृङ्गेषु, रम्येषु काननेषु च ।
धृतो विलासिनीसार्थे-र्भुङ्क्ते भोगसुखान्यसौ ॥ ४ ॥
अन्यदा प्रावृषः प्राप्तौ, मेघाडम्बरमण्डितम् ।
व्योम दृष्ट्वा ध्वनिं श्रुत्वा, मेघानां स मनोहरम् ॥ ५ ॥
जातोत्कण्ठो दृढं जातो-ऽरण्यवासगमं प्रति ।
विसर्जितश्च राज्ञाऽपि, प्राप्तोऽरण्यमसौ ततः ॥ ६ ॥
पृच्छन्त्यरण्यवासास्तं, नगरं तत ! कीदृशम् ? ।
स स्वभावान् पुनः सर्वान्, जानात्येव हि केवलम् ॥ ७ ॥
न शशाक तका वेपा, मदितु स कृतोद्यम ।
वने वनेचराणां हि, नास्ति सिद्धोपमा यतः ॥ ८ ॥"

१६ । अथ दार्ष्टान्तिकमाह-' इय ' गाहा, इति-एवम्-अरण्ये नगरगुणा इवेत्यर्थः, सिद्धानां सौख्यमनुपमं वर्तते, किमित्याह-यतो नास्ति तस्यौपम्यं, तथापि बालजनप्रतिपत्तये किञ्चिद्विशेषेणाह-'एत्तो' त्ति-आर्षत्वादस्य-सिद्धिसुखस्य इतो वाऽनन्तरम् औपम्यम्-उपमानम् इदम्-वक्ष्यमाणं शृणुत वक्ष्ये इति ॥ १७ ॥ 'जह' गाहा, ' यथे' त्युदाहरणोपन्यासार्थः सर्वकामगुणितं-सञ्ज्ञानसमस्तकमनीयगुणं, शेषं व्यक्तम्, इह च रसनेन्द्रियमेवाधिकृत्येष्टविषयप्राप्त्या औत्सुक्यनिवृत्त्या सुखप्रदर्शनं सकलेन्द्रियार्थावाप्त्याऽशेषौत्सुक्यनिवृत्त्युपलक्षणार्थम्, अन्यथा बाधान्तरसम्भवात् सुखाभाव इति ॥ १८ ॥ इय' गाहा, ' इय ' एवं सर्वकालतृप्ताः शश्वद्भवत्वात् अतुलं निर्वाणमुपागताः सिद्धाः, सर्वदा सकलौत्सुक्यनिवृत्ते, यतश्चैवमतः शाश्वतम्-सर्वकालभावि अव्याबाधं 'व्याबाधवर्जितं सुखं प्राप्ताः सु-

खिन्नास्तिष्ठन्तीति योगः, सुखं प्राप्ता इत्युक्ते सुखिन इत्यनर्थक मिति चेत्, नैवं, दु:खाभावमात्रमुक्तिसुखनिरासेन वास्तवस्य सुखप्रतिपादनार्थत्वादस्य, तथाहि—अशेषदोषक्षयतः शाश्वतमव्याबाधसुखं प्राप्ताः सुखिनः सन्तः तिष्ठन्ति, न तु दुःखाभावमात्रान्विताः एवेति ॥ १९ ॥ साम्प्रतं वस्तुतः सिद्धपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—'सिद्ध य त्ति' गाहा, सिद्धा इति च तेषां नाम कृतकृत्यत्वात्, एवं बुद्धा इति केवलज्ञानेन विश्वावबोधात्, पारगता इति च भवार्णवपारगमनात् 'परंपरगय'त्ति पुण्यबीजसम्यक्त्वज्ञानचरणक्रमप्राप्त्युपायप्रयुक्तत्वात् परम्परया गताः परम्परगता उच्यन्ते, उन्मुक्तकर्मकवचाः सकलकर्मवियुक्तत्वात्, तथा अजराः वयसोऽभावाद् अमराः आयुषोऽभावात्, असङ्गाश्च सकलक्लेशाभावादिति ॥२०॥'निच्छिन्न' गाहा 'अतुल' गाहा व्यक्तार्थे एवेति ॥२१॥२२॥ औ०।

तथा किंच—

जं संठाणं तु इहं, भवं चयंतस्स चरमसमयम्मि।
आसी य पएसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥

यदेव तुशब्दस्य व्यवहितस्यैवकारार्थत्वात् संस्थानमिह मनुष्यभवे भवं-संसारं मनुष्यभवं वा त्यजतः सतश्च चरमसमये आसीत् देशघनं तदेव संस्थानं तत्र तस्य भवति। तच्च मनुष्यभवशरीरापेक्षया त्रिभागहीनं-त्रिभागोनं रन्ध्रापूरणात्।

तथा चाह—

दीहं वा हस्सं वा, जं चरमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणा, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥

दीर्घं वा पञ्चधनुःशतप्रमाणं ह्रस्वं वा हस्तद्वयप्रमाणं वा-शब्दाद् मध्यमं वा विचित्रं यच्चरमभवे संस्थानं ततस्तस्मात् संस्थानात् त्रिभागहीना सिद्धानाम् अवगाहन्ते अस्यामित्यवगाहना स्वावस्थैव भणिता तीर्थकरगणधरैः। कस्मात् त्रिभागहीनेति चेत्, उच्यते-इह देहत्रिभागः शुषिरः ततो योगनिरोधकाले तथाविधप्रयत्नभावतः शुषिरापूरणात् त्रिभागहीनो जातः, नन्वाश्चर्यम् संहरणं तावत् प्रदेशानां सम्भवति ततः प्रयत्नविशेषः प्रदेशमात्रोऽपि कस्मान्नावतिष्ठते इति तथाविधसामर्थ्याभावात् योगनिरोधकाले अपि सकर्मकात् तथा जीवस्वाभाव्याच्च। उक्तं च—"संहारसंभवातो, पएसमेत्तम्मि किंन सव्वाइ। सामत्थाईसामत्थाभावत्तओ भंव सिद्धे" तच्चस्थ एव भवति, आह च- देहतिभागो सुसिरं तप्पूरणतो तिभागहीणो उ। सो जोगनिरोहे च्चिय, जातो वि तओ य तदवत्थो" नच सिद्धस्य सतः प्रदेशसंहारसम्भवः प्रयत्नाभावादप्रयत्नस्य गतिरेव कथमिति चेत्। उच्यते समाहितमेतद् सङ्गत्वादिति हेतुभिरिति, उक्तं च-'सिद्धो वि देहरहितो, सपयत्ताभावतो न संहरइ। अपयत्तस्स किह गई, ननु भणियमसंगयादीहिं ॥" आ० म० १ अ०।

साम्प्रतमुक्तानुवादेनैव संस्थानलक्षणं सिद्धानामभिधातुकाम आह—

ओगाहणा य सिद्धा, भवत्तिभागेण हुंति परिहीणा।
संठाणमणित्थंथं, जरामरणविप्पमुक्काणं ॥

अवगाहनया सिद्धाः भवत्रिभागेन भगवन्तः शरीरत्रिभागेन परिहीना भवन्ति ततस्तेषां जरामरणविप्रमुक्तानां संस्थानमनित्थंस्थं वेदितव्यम। इत्थं प्रकारमात्रमित्थम् तिष्ठतीति इत्थंस्थं न इत्थंस्थमनित्थंस्थं न केनचिदपि लौकिकेन प्रकारेण स्थितमिति भाव। इयमत्र भावना-योगनिरोधकाले देहविभागस्य शुषिरस्य प्रदेशैरापूरणात् पूर्वसंस्थानान्यथाव्यवस्थानतोऽनियताकार संस्थानमनियताकारत्वादेव च तदनित्थंस्थमुच्यते, ननु सर्वथा तदभावतः सिद्धादिगुणेष्वपि यः सिद्धानां'से न दीहे न हस्से' इत्यादिवचनेन दीर्घत्वह्रस्वत्वादीनां प्रतिषेधः सोऽप्यनित्थंस्थ' संस्थानत्वादेवमेषो न पुनः सर्वथा तेषामभावतः। उक्तं च-

"सुसिरपडिपूरणातो, पुव्वागार तहा वत्थानो।
संठाणमणित्थंथं, जं भणियं अणियआगारं ॥१॥
एत्तो च्चिय पडिसेहो, सिद्धाइगुणेसु दीहयाईण।
जमणित्थ (थं) त्थं पुव्वा-गाराविक्खाएँ नाभावो ॥ २ ॥"

आह किमेते सिद्धा देशभेदेन स्थिता उत नेति, उच्यते-नेति ब्रूमः। कुत इति चेत् उच्यते—यस्मात्।

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥

यत्रैव चशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्देशे एकः सिद्धो-निर्वृत्तस्तत्रानन्ता भवक्षयविमुक्ता भवक्षयेण विमुक्ता, अनेन स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमत्सिद्धव्यवच्छेदमाह-- "अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगते" अन्योन्यसमवगाढास्तथाविधपरिणामत्वात् धर्मास्तिकायादिवत्, 'पुट्ठा सव्वे य लोगते' इति--स्पृष्टाः--लग्नाः सर्वे लोकान्ते वा, पाठान्तरम् 'पुट्ठा सव्वहिं लोगंतो' स्पृष्टः सर्वैः लोकान्तः 'लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता' इति वचनात्। तथा-

फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिँ सव्वतो सिद्धा।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिँ जे पुट्ठा ॥

ये असंख्येयगुणा वर्त्तन्ते ये देशप्रदेशैः स्पृष्टाः केभ्योऽसंख्येयगुणा इति चेत् उच्यते-सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्यः। कथमिति चेत्, उच्यते-इह एकस्य सिद्धस्य यदवगाहना क्षेत्रैकस्मिन् अपि परिपूर्णक्षेत्रे अवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ता एवं द्वित्रिचतुःपञ्चादिप्रदेशहान्या ये अवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ता। तथा तस्य मूलक्षेत्रस्य एकैकं प्रदेशं परित्यज्य येऽपि अवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ता, एवं द्वित्रिचतुःपञ्चादिप्रदेशहान्या ये अवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ता। एवं च सति प्रदेशपरिवृद्धिहानिभ्यां ये समवगाढास्ते परिपूर्णक्षेत्रावगाढेभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्ति। असंख्येयप्रदेशात्मकैकसिद्धावगाहक्षेत्रे प्रदेशपरिवृद्धिहानिभ्यां प्रतिप्रदेशमनन्तानां सिद्धानामवगाहनात्। उक्तं च—"एगक्खेत्ते संता, पएसपरिवड्ढिहाणि ततो। होंति असंखेज्जगुणा, सव्वपएसो जमवगाहो" ॥ १ ॥

साम्प्रतं सिद्धानेव लक्षणतः प्रतिपादयन्ति—

असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य नाणे य।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥

अविद्यमानशरीराः अशरीराः औदारिकादिपञ्चविधशरी-

रहिता इत्यर्थः । जीवाश्च ते घनाश्च शुषिरापूरणात् जीवघना उपयुक्ता दर्शने ज्ञाने च।

केवलज्ञानदर्शनयोर्विशेषविषयतामुपदर्शयति—

केवलनाणुवउत्ता, जाणंता सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वतो खलु, केवलदिट्ठीहिऽणंताहिं ॥

केवलज्ञानेनोपयुक्ता जानन्ति—अवगच्छन्ति सर्वभावगुणभावान् सर्वपदार्थगुणपर्यायान्। प्रथमो भावशब्दः पदार्थवचनो द्वितीयः पर्यायवचनः, गुणपर्यायभेदस्त्वयम्—सहवर्त्तिनो गुणाः, क्रमवर्त्तिनः पर्यायाः । तथा 'पश्यन्ति सर्वतः खलु' खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सर्वत एव केवलदृष्टिभिरनन्ताभिः केवलदर्शनैरनन्तत्वात् सिद्धाना-मिहादौ ज्ञानग्रहणं प्रथमतया तदुपयोगस्था सिद्ध्यन्तीति ज्ञापनार्थम् । आह—किमेते युगपज्जानन्ति पश्यन्ति च आहोस्वित् अयुगपदिति । उच्यते अयुगपत् ।

कथमेतदवसीयत इति चेत्, यत आह—

नाणम्मि दंसणम्मि य, एत्तो एं एगयरम्मि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्स हु, जुगवं दो नत्थि उवओगो ॥

ज्ञाने दर्शने च 'एत्तो' त्ति—अनयोरेकतरस्मिन्नुपयुक्ता, किमिति यत सर्वस्य केवलिनः सतो युगपद् एकस्मिन् काले द्वौ न स्त उपयोगौ,तत् क्षायोपशमिकसंवेदने तथा दर्शनात्। अत्र बहु वक्तव्यं तच्च नन्द्यध्ययनटीकातोऽवसेयमिति ।

साम्प्रतं निरुपमसुखभाजस्ते इत्युपदर्शयन्नाह—

न वि अत्थि माणुसाणं,तं सोक्खं न वि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥

नैवास्ति मानुषाणां-चक्रवर्त्यादीनामपि तत्सौख्यं, न चैव देवानामनुत्तरसुरपर्यन्तानामपि यत् सिद्धानां सौख्यम् अव्याबाधामुपगतानां, विविधा आबाधा व्याबाधा न व्याबाधा अव्याबाधा तामुप-सामीप्येन गतानां प्राप्तानाम् ।

यथा नास्ति तथा भङ्ग्योपदर्शयति—

सुरगणसुहं समत्तं, सव्वद्धा पिंडियं अणंतगुणं ।
न य पावइ मुत्तिसुहं, ऽणंताहि वि वग्गवग्गूहिं ॥

सुरगणसुखं समस्तं देवसंघातसुखं समस्तं सम्पूर्णमतीतानागतवर्त्तमानकालोद्भवमित्यर्थः । पुनः सर्वाद्धापिण्डितं समयैर्गुणितं ततः पुनरप्यनन्तगुणम् । किमुक्तं भवति—सर्वाद्धासमयगुणितं सत् यत् प्रमाणं भवति तावत्प्रमाणं किलासत्कल्पनया एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे स्थाप्यते इत्येवं सकललोकाकाशानन्तप्रदेशपूरणलक्षणे नानन्तगुणकारेण गुणितमिति । एवं प्रमाणस्य सतः पुनर्वर्गो विधीयते। तस्याऽपि वर्गितस्य भूयो वर्गः एवमनन्तैर्वर्गवर्गैर्वर्गितं तथापि तथा प्रकर्षगतमुक्तिसुखं न प्राप्नोति।

तथा चैतदभिहितार्थानुवादेनाह—

सिद्धस्स सुहोरासी, सव्वद्धापिंडितो जइ हवेज्जा ।
सो णंतवग्गभइतो, सव्वागासे न माइज्जा ॥

सिद्धस्यैकस्य सुखानां राशिः सुखराशिः—सुखसमूह इत्यर्थः सर्वाद्धापिण्डितः सर्वकालसमयगुणितः । आ० म० द्वि० । औ० । दर्श० । कर्म० । प्रति० । पं० सू० ।

साम्प्रतमेवरूपस्यापि सतोऽस्य निरुपमतां प्रतिपादयति—

जह नाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वि याणंतो ।
न चएइ परिकहेउं, ओवमाइ तहिं असंतीए ॥

यथानाम कश्चित् म्लेच्छो नगरगुणान् सदननिवासादीन् बहुविधान्—अनेकप्रकारान् अरण्यगतः सन् अन्यम्लेच्छेभ्यो न शक्नोति परिकथयितुम्,कुतो निमित्तादित्यत आह—उपमायां तत्रासत्यां तद्विषये उपमाया अभावादिति भावः; एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—" एगो महारण्णवासी मिच्छो रण्णे चिट्ठइ । इतो य एगो राया आसेणं अवहरितो तं अडविं पवेसितो, तेण दिट्ठो । सक्कारेऊण रायपयं नीतो । रण्णा वि सो नगरमाणीतो परुत्तो उवयारि त्ति गाढमुवचरितो जह राया तह चिट्ठइ । धवलघराइं वि भोगेण विभासा । कालेण रण्णं सरिउमाढत्तो आरण्णिगा पुच्छंति केरिसं नगरं ति, सो वि याणति चितत्थे उवमाभावा न सक्कइ नगरगुणा परिकहेउं" एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः—

इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं ।
किंचि विसेसेणेत्तो, सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं ॥

इति—एवमुक्तेन प्रकारेण सिद्धानां सौख्यमनुपमं वर्त्तते । किमित्यत आह—यतो नास्ति तस्य औपम्यम् उपमीयमानता उपमानासम्भवात् । तथाऽपि चात्मनः प्रतिपत्तये किंचिद्विशेषेण 'एत्तो' त्ति—आर्षत्वादस्य सादृश्यमिदं वक्ष्यमाणलक्षणं शृणुत तदहं वक्ष्ये इति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ ।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः सर्वकामगुणितं सकलसौन्दर्यसंस्कृतं भोजनं भुज्यते इति भोजनं कृदहुलमिति वचनात् कर्मण्यल्युट्, कश्चित् पुरुषो, भुक्त्वा तृट्क्षुद्विमुक्तः सन् यथा आसीत. अमृततृप्त आबाधारहितत्वात् इह च रसनेन्द्रियमधिकृत्येष्टविषये प्राप्ते औत्सुक्यविनिवृत्तेः सुखदर्शनं सकलेन्द्रियार्थावाप्तौ शेषौत्सुक्यनिवृत्त्युपलक्षणार्थं । अन्यथा बाधान्तरसम्भवतः सुखाभावः स्यात् सर्वबाधाविगमेन चात्र प्रयोजनम् । उक्तं च—

" वेणुवीणामृदङ्गादि-समायुक्तेन हारिणा ।
श्लाघ्यस्मरकथाबद्ध—गीतेन स्तिमितः सदा ॥१॥
कुट्टिमादौ विचित्राणि, दृष्ट्वा रूपाण्यनुत्सुकः ।
लोचनानन्ददायीनि, लीलावन्ति स्वकानि हि ॥२॥
अम्लानगुरुकर्पूर—गन्धमाघ्राय निस्पृहः
नानारससमायुक्तं, भुक्त्वाऽन्नमिह मात्रया ॥३॥
पीत्वोदकं च तृप्तात्मा, स्वादयन् स्वादिमं शुभम् ।
मृदुतूलसमाक्रान्त—दिव्यपर्यङ्कसंस्थितः ॥४॥
सहसाम्भोदशब्द-श्रुतेर्भयघनं भृशम् ।
इष्टभार्यापरिष्वक्त-स्तद्वान्तेऽथवा नरः ॥५॥

औत्पत्तिक्यपरनामानो वैनयिकीमिति न पुनरुक्तिः ।

सर्वेन्द्रियार्थसम्प्राप्त्या, सर्वाबाधानिवृत्तिजम् ।
यद्वेदयति सद् हृद्य, प्रशान्तेनान्तरात्मना ॥६॥
मुक्तात्मनस्ततोऽनन्तं, सुखमाहुर्मनीषिणः ॥" इति ।

इय सव्वकालतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा ।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥

इति—एवमुक्तेन प्रकारेण सर्वकालतृप्ता स्वस्वभावावस्थितत्वात् अतुल निर्वाणमुपगता सिद्धा सर्वदा सकलौत्सुक्यनिवृत्ते , यतश्चैवमतः शाश्वतम् सर्वकालभावि अव्याबाधं—व्याबाधापरिवरिवर्जितं सुख प्राप्ता सुखिनस्तिष्ठन्ति । अथ सुख प्राप्ता इत्युक्ते सुखिन इत्यनर्थकम् , नैष दोषोऽस्य दुःखभावमात्रमुक्तिसुखनिरासेन वास्तवसुखप्रतिपादनार्थत्वात् , तथा ह्यशेषदोषक्षयतः शाश्वतमव्याबाध सुख प्राप्ता सन्त सुखिनस्तिष्ठन्ति न तु दु खाभावमात्रान्विता एवेति । आ० म० १ अ० ।

सिद्धो भूत्वा क परिवसेत्—

से भयवं जरामरणाइं अणेगसंसारियदुक्खजालविमुक्के समाणे जन्नं कहिं परिवसेज्जा,गोयमा ! जत्थ णं न जरा ण मच्चू न वाहीओ णो अपमज्झक्खाणं संता वुव्वेगकलिकलहदारिद्दहपरिकिलेसणइट्ठविओगो किं बहुणा एगंतेण अक्खयधुवमासयनिरुवमं अणंतमोक्खं परिवसेज्ज चि बेमि । महा० २ चू० ।

साम्प्रतं सिद्धपर्यायशब्दान् प्रतिपादयति—

सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति ।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥

सिद्धा इति कृतकृत्यत्वात् बुद्धा इति केवलज्ञानदर्शनाभ्यां विश्वावगमात्,पारगता इति भवार्णवपारगमनात्,परम्परागता इति पुण्यबीजसम्यक्त्वज्ञानचरणक्रमप्रतिपन्नत्वात् , परंपरया गता. । उन्मुक्तकर्मकवचा सकलकर्मवियुक्तत्वात् , तथा अजरा वयसोऽभावात् , अमरा आयुषोऽभावात् असङ्गाश्च सकलक्लेशाभावात् ।

साम्प्रतमुपसंहरति—

नित्थिन्नसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का ।
अव्वाबाह सोक्खं, अणुहवयंती सया कालं ॥

निस्तीर्णम्-अतिक्रान्तं सर्वम्-अशेषं दु खं यैस्ते निस्तीर्णसर्वदु खा जातिर्जन्म, जरा—वयोहानिर्मरणं—प्राणत्याग बन्धन-संसारबन्धहेतुरष्टप्रकार कर्म्म तैर्मुक्ता अव्याबाध व्याबाधारहित सौख्य सदाकालमनुभवन्ति । आ० म० १ अ० । औ० । " सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई कालपुग्गला चेव । सव्वमलोगागासं, छप्पेए णतया णेया ॥१॥" नं०।(केवली समुद्धात कृत्वा सिद्धयन्तीति 'केवलिसमुग्घाय'शब्दे तृतीयभागे ६५६ पृष्ठे उक्तम्।) "कणाद।दिपरिकल्पितोऽनादि सिद्ध । उत्त० २ अ० । (ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पते । ऐश्वर्य चैव धर्म्मश्च, सह सिद्ध चतुष्टयम् ॥१॥ " इत्यादिको विशेष ' परिसह ' शब्दे पञ्चमभागे ६४० पृष्ठे गत ।)

(सिद्धानामाशातना ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४८२ पृष्ठे गता ।) पण्डितहर्षगणिकृतप्रश्नो यथा-- अन्यच्च सिद्धजीवानां करचरणपादाङ्गुलीनां सावयवयवाकारा संभाव्यन्ते नवेति ? । अन्यच्च सिद्धजीवानां करचरणाद्याकार संभाव्यते , यत---' अरूविणो जीवघणा ' इत्यत्र घनाश्च शुषिरपूरणतो निचितप्रदेशतयेति श्रीशान्तिसूरिवचनेन शरीरान्तर्वर्त्तिशुषिरपूरणमेव दृश्यते, नत्ववयवाना बाह्यान्तरपूरणमिति, तथा श्रीहरिभद्रसूरिश्रीमलयगिरिप्रमुखैरपि शुषिरपूरणमेवोक्तमस्तीति । ही० २ प्रका० । सिद्धानां वर्गणा ' वग्गणा ' शब्दे षष्ठभागे गता ।) " सिद्धा मे मंगलं " आव० ४ अ० । (" सिद्धा लोगुत्तमा " अस्य पदस्य व्याख्या ' पडिक्कमण ' शब्दे पञ्चमभागे २७० पृष्ठे गता ।) अर्हत्प्रतिमायाम् , स्था० ४ ठा २ उ० । शाश्वते , स्था० ४ ठा० २ उ० । साधितार्थे , कल्प० १ अधि० ६ क्षण । कृतार्थे , पा० । स्था० । ध० । (सिद्धानामर्हतां च नमस्कारे क्रमप्रदर्शनम् । 'नमुक्कार' शब्दे चतुर्थभागे १८४२ पृष्ठ दर्शितम् । तत्रैव सिद्धनमस्कारहेतुफले च दर्शिते ।) ' अट्ठसयं सिद्धा'अष्टशतसिद्धा निर्वृता इत्यनन्तकालजातमित्याश्चर्यम् । स्था० १० ठा० ३ उ० । साधनं त्रिचालयश्रुतज्ञाने प्रतिष्ठिते, आ० चू० ५ अ० । 'कम्मट्ठक्खयसिद्धा, साहासियनाणदंसणसमिद्धा ।' दश० । लोकोत्तररीत्या पक्षस्य द्वितीयदिवसे , चं० प्र० १० पाहु० । कल्प० । निष्पादिते , निष्पन्ने , नि० चू० २० उ० । बृ० । निर्णीते , द्वा० २६ अष्ट० । निश्चितप्रामाण्ये , " सिद्धं सिद्धट्ठाण (१ गा०) ।" सम्म० १ काण्ड । प्रख्याते, प्रथिते,नि० चू० १ उ० । प्रतीते , पञ्चा० ११ विव० । प्रतिष्ठिते, षो०४ विव० । दश० । ग० । फलाव्यभिचारेण प्रतिष्ठिते सकलनयव्यापकत्वे त्रिकुटीपरिशुद्धत्वेन च प्रत्याख्याते,ल०।ध०।'सिद्ध भो पयतो नमो जिणमये,नंदी सया संजमे' आव० ५ अ० । दिव्यपुरुषे, द्वा० २६ द्वा० । माल्यवद् वक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे , जं० ४ वक्ष० । अञ्जनपादलेपतिलकगुटिकाशकललूताकर्षणवैक्रियत्वप्रभृतय सिद्धयस्ताभि सिध्यन्ति स्म सिद्ध । लब्धिमति , अष्टसु प्रभावकेष्वन्यतमे, प्रव० १४८ द्वार । ध० । वसुश्रेष्ठिपुत्रे,ध०र० २ अधि० । (तत्कथा 'वसु' शब्दे षष्ठ भागे उक्ता ।)

सिध्म-पुं । कुष्ठभेदे , प्रश्न० ५ स्व० द्वार ।

सिद्धंत-सिद्धान्त-पुं० । सिद्ध प्रमाणप्रतिष्ठितमर्थमन्त संवेदन निष्ठारूप नयतीति सिद्धान्त । आगमे,अनु० । विशे० । आर्षवचने, द्वा० २१ द्वा० । समय, जी० १ प्रति० । बृ० ।

अधुना सिद्धान्तद्वारमाह—

जेण उ सिद्धं अत्थं,अतं णयतीति तेण सिद्धंतो ।
सो सव्वपडीतंतो, अहिगरणे अब्भुवगमे य ॥ १८२ ॥

येन कारणेन प्रमाणन सिद्धमर्थमन्त नयति—प्रमाणकोटिमारोहयतीति तेन कारणेन सिद्धान्त उच्यते । स एष द्रव्यत —आगमनोआगमतो व्यतिरिक्त पुस्तकपत्रन्यस्ताभावतश्चतुर्विध ,तद्यथा-सर्वतन्त्रसिद्धान्तः प्रतितन्त्रसिद्धान्ता, अधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्च । बृ० १ उ० १ प्रक० । विशे० । आगमोक्तानुष्ठाने, ग० २ अधि० ।

सिद्धतकहा-सिद्धान्तकथा-स्त्री०। स्वसमयकथायाम्, पं० १४ विव०।

सिद्धंतपडिणीय-सिद्धान्तप्रत्यनीक-पुं०। सिद्धान्तविनाशके, पं० व० ४ द्वार।

सिद्धंतपरम्मुह-सिद्धान्तपराङ्मुख-पुं०। आगमोक्तानुष्ठानशून्ये, ग० २ अधि०।

सिद्धंतरहस्स-सिद्धान्तरहस्य-न०। आगमगुप्तार्थे, 'आमे घडे निहत्तं, जहा जलं न घडं विणासेइ। इय सिद्धन्तरहस्सं, अप्पाधारं विणासेई" ॥ १ ॥ नं०।

सिद्धंतसार-सिद्धान्तसार-पुं०। आगमस्य सारभूते, ध० १ अधि०।

सिद्धंताणणुवाइ- सिद्धान्ताननुपातिन्-पुं०। स्वच्छन्दबुद्धिरचितत्वेन जैनागमाननुसारिणि, प्रव० २ द्वार।

सिद्धंतामयपडिपुण्णकण्णपुडअ-सिद्धान्तामृतप्रतिपूर्णकर्णपुटक-पुं०। आगमसुधासम्भृतश्रवणच्छदपत्रे, जीवा० २४ अधि०।

सिद्धंतिय-सैद्धान्तिक-सिद्धान्तवेत्तरि, प्रव० १० द्वार।

सिद्धंतियवयण-सैद्धान्तिकवचन-न०। आगमभणिते, जी० १ प्रति०।

सिद्धकंचणया-सिद्धकाञ्चनता-स्त्री०। सिद्धसुवर्णत्वे, पं० ८ विव०।

सिद्धकूड-सिद्धकूट-पुं०। न०। महाहिमवत् प्रथमकूटे स्था० ८ ठा० ३ उ०। शिखरिवर्षधरपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० २ ठा० ३ उ०। जम्बूद्वीपे सौमनसे वक्षस्कारपर्वतस्य गन्धमादनस्य पर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। रुक्मिवर्षधरपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। निषधवर्षधरपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। दक्षिणभरतदीर्घवैताढ्यस्य प्रथमकूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। (अस्य व्याख्या 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६१८ पृष्ठे गता।) कच्छादिविजयक्षेत्रदीर्घवैताढ्यानां प्रथमकूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। नीलवद्वक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। ऐरवतं दीर्घवैताढ्यस्य प्रथमकूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सिद्धकेवलनाण-सिद्धकेवलज्ञान-न०। सिद्धकेवलज्ञाने, स्था०।

सिद्धकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-सिद्धकेवलणाणे चेव, परंपरसिद्धकेवलणाणे चेव। स्था० २ ठा० १ उ०। (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

सिद्धखेत्त-सिद्धक्षेत्र-न०। शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प।

सिद्धगइ-सिद्धगति-स्त्री०। सिद्ध्यन्ति-निष्ठितार्था भवन्ति यस्यामिति सिद्धिः-लोकान्तक्षेत्रलक्षणा सैव गम्यमानत्वाद्गतिः। रा०। दश०। स०। सिद्धैर्गम्यमानायामीषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम्, भ० १ श० १ उ०। स्था०।

सिद्धगइनामधेज्ज-सिद्धगतिनामधेय-न०। सिद्धगतिरिति नामधेयं यस्य तत्सिद्धगतिनामधेयम्। सिद्धस्थाने, स० १ सम०। रा०।

सिद्धगंडिया-सिद्धगण्डिका-स्त्री०। सिद्धवक्तव्यताप्रतिबद्धा या ग्रन्थपद्धतौ भ० ११ श० ६ उ०। (सा च 'सिद्ध' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे दर्शिता।)

सिद्धगुण-सिद्धगुण-पुं०। सिद्धसहभाविगुणेषु, प्रव०।

इदानीं 'सिद्धेगतीसगुण त्ति' पदसप्तत्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

नव दरिसणंमि ६ चत्ता-रि आउए ४ पंच आइमे अंते ५।
सेसे दो दो भेया ६, खीणेऽभिलावेण इगतीसं ॥१६०७॥

दर्शने-दर्शनावरणीये कर्मणि, चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनावरणनिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणा भेदा, तथाऽऽयुषि नारकतिर्यङ्नरामरायुर्लक्षणाश्चत्वार, तथाऽऽदिमे ज्ञानावरणीये मतिश्रुतावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानावरणीयस्वरूपाः पञ्च, अन्त्येऽन्तगतायां कर्मणि दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायरूपाः पञ्चैव भेदाः, शेषे च कर्मचतुष्के प्रत्येकं द्वौ द्वौ भेदौ, तत्र वेदनीये साताऽसातारूपौ, मोहनीये दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयलक्षणौ, नामकर्मणि शुभनामाशुभनामकौ गोत्रे चोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राभिधौ भेदौ भवत इति, तदेवमेते सर्वेऽपि भेदाः क्षीणाभिलापेन क्षीणशब्दविशेषितत्वेन प्रोच्चार्यमाणा एकत्रिंशत्संख्याः सिद्धानां गुणा भवन्ति, क्षीणचक्षुर्दर्शनावरण इत्यादिकश्चाभिलापः कार्यः।

अथवा प्रकारान्तरेणैकत्रिंशत्सिद्धगुणानाह—

पडिसेहण संठाणे, य वन्नगंधरसफासवेए य ॥
पण ५ पण ५ दुग २ पण ५ ऽट्ठ ८ तिहा ३,
एगतीसमकाय १ संग २ रुहा ३ ॥ १६०८ ॥

प्रतिषेधेन-निषेधेन संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शवेदानां क्रमेण पञ्च पञ्च द्विपञ्चाष्टत्रिभेदानां, तथा अकायासङ्गारुहपदत्रितयेन, चैकत्रिंशत्सिद्धगुणा भवन्ति, तत्र संतिष्ठन्ते एभिरिति संस्थानानि-आकाराः, तानि च पञ्च परिमण्डलवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतभेदात्, तत्र परिमण्डलं संस्थानं बहिर्वृत्ततावस्थितप्रदेशजनितमन्तःशुषिरं यथा वलयस्य, तदेवान्तःपूर्णं वृत्तं यथा दर्पणस्य, त्र्यस्रं-त्रिकोणं यथा शृङ्गाटकस्य, चतुरस्रं-चतुःकोणं यथा स्तम्भाधःकुम्भिकायाः, आयतं दीर्घं यथा दण्डस्य, घनप्रतरादिप्रतिभेदव्याख्या च बृहदुत्तराध्ययनटीकादिभ्योऽवसेया, तथा वर्णाः पञ्च श्वेतपीतरक्तनीलकालभेदात्, गन्धो द्विधा-सुरभीतरभेदात्, रसाः पञ्च तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात्, स्पर्शा अष्टौ-गुरुलघुमृदुकर्कशशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदात्, वेदास्त्रयः-स्त्रीपुन्पुंसकभेदात्, तथा सिद्धा अकायादिकायपञ्चकविमुक्ताः, तेषां सिद्धत्वं प्रथमसमय एव सर्वात्मना त्यक्तत्वात्, तथा असङ्गा बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहितत्वात्, तथा अरुहा न रोहन्ति भूयः संसारे समुत्पद्यन्ते इत्यरुहा, संसारकारणानां कर्मणां निर्मूलकाषंकषितत्वात्, उक्तं च—दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त

नाङ्कुरयति नाङ्कुरम् । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥ तदेवमष्टाविंशतिसंख्यानां संस्थानादीनां निषेधात् अकायत्वासङ्गत्वारुहत्वविधानाच्च सिद्धानामेकत्रिंशद्गुणा भवन्ति, संस्थानाद्यभावोऽकायत्वादिसद्भावौ च सिद्धानां सूपनिषद्यपि, तथा चाचाराङ्गम्-"से न दीहे,"०(सू०१७०+) इत्यादि सूत्रं 'लोगसार' शब्दे पष्ठभागे गतम् ।) एतच्च सिद्धगुणप्रतिपादकं द्वारम् । प्रव० २७६ द्वार ।

सिद्धघोस-सिद्धघोष-पुं० । ऐरवते वर्षे भविष्यति द्वितीयतीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार ।

सिद्धजत्त-सिद्धयात्र-पुं० । सुरभिपुरपार्श्वे स्वनामख्याते नाविके आ० क० १ अ० । आ० म० । (तत्कथा 'कंबल' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे गता ।)

सिद्धजोगि(ण्)-सिद्धयोगिन्-पुं० । रागद्वेषाभावेनोपशमीकृतात्मे अष्ट० ६ अष्ट० ।

सिद्धजोगिसंसरणजोग-सिद्धयोगिसंस्मरणयोग-पुं० सिद्धाः प्रतिष्ठिता लब्धात्मलाभा ये योगिनस्तेषां संस्मरणयोगः-स्मरणव्यापारः । इष्टफलसिद्धये यो हि यत्र कर्म्मणि सिद्धस्तदनुसरणे, षो० १५ विव० ।

सिद्धट्ठाण-सिद्धस्थान-न० । स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानमित्यधिकरणसाधनोऽयं शब्दस्ततश्च सिद्धस्य स्थानं सिद्धस्थानम् । सिद्धपत्तने, विशे० । निश्चितप्रामाण्ये, स० २५ सम० ।

सिद्धत्थ-सिद्धार्थ-पुं० । सिद्धा अर्था अस्मिन्निति सिद्धार्थः । पा० १ विव० । सर्षपे, अनु० । श्वेतसर्षपे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । गा० । रा० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पितरि क्षत्रियकुण्डग्रामराजे, स० । आव० । आचा० । दर्श० । आ० म० । कल्प० । नि० । प्रव० । अस्थिग्रामे वीरं प्रत्युपसर्गं कुर्वतः शूलपाणियक्षस्य निग्राहके स्वनामख्याते यक्षे, स्था० १० ठा० ३ उ० । आ० क० । ('उउंबरदत्त' शब्दे द्वितीयभागे ८८३ पृष्ठे कथा गता ।) पाटलिखण्डनगरराजनि, विपा० १ श्रु० ८ अ० । मण्डिकग्रामे स्वनामख्याते वणिजि, आ० चू० १ अ० । वीराङ्गदस्य प्रव्राजके स्वनामख्याते आचार्ये, नि० । दशमकल्पविमानभेदे, स० १० सम० । जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वितीये तीर्थकरे, स० । रुद्रे, दे० ना० ८ वर्ग ३१ गाथा ।

सिद्धत्थग-सिद्धार्थक-पुं० । सर्षपे, पञ्चा० ४ विव० । भ० । रा० । अनु० । स्था० ।

सिद्धत्थगजाल-सिद्धार्थकजाल-न० । सिद्धार्थाः-सर्षपास्ते यत्र जालेन गृह्यन्ते तस्मिञ्जाले, नि० चू० ११ उ० ।

सिद्धत्थगाम-सिद्धार्थग्राम-पुं० । सिद्धार्थप्रधाने ग्रामे, यत्र वीरप्रभुर्गोशालेन सह विहृतवान् । भ० ६ श० १ उ० ।

सिद्धत्थराय-सिद्धार्थनृप-पुं० । श्रीमहावीरस्वामिपितरि, आव० ।

सिद्धत्थपुर-सिद्धार्थपुर-न० । सिद्धार्थग्रामे, 'ततो अण्णया कयाइ भगवं ... पढमसरए सिद्धत्थपुरं गया ' आ० म० १ अ० । कल्प० । संथा० । यत्र गोशालस्तिलस्तम्बं दृष्टवान् । आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

सिद्धत्थव-सिद्धस्तव-न० । सिद्धानां स्तवे, श्रुतस्तवसिद्धस्तवयोः कस्मिन्नावश्यकेऽन्तर्भाव इति ? प्रश्ने, अत्रोत्तरम्-श्रुतस्तवसिद्धस्तवयोः कायोत्सर्गावश्यकेऽन्तर्भाव इत्यावश्यकबृहद्वृत्त्यनुसारेण ज्ञायते ॥ २ ॥ सेन० १ उल्ला० ।

सिद्धत्थवण-सिद्धार्थवन-न० । ऋषभदेवस्य निष्क्रमणवने, आ० म० १ अ० । कल्प० । आ० चू० ।

सिद्धत्थसारहि-सिद्धार्थसारथि-पुं० । सिद्धार्थनरेन्द्रसारथौ, सिद्धार्थसारथिदेवेन गृहीतहरिशवो बलदेवः प्रतिबोधित इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सिद्धत्थसुअ-सिद्धार्थसुत-पुं० । सिद्धार्थनरेन्द्रस्य सुतोऽपत्यम् । वर्द्धमानस्वामिनि , क० प्र० १ प्रक० ।

सिद्धत्था-सिद्धार्था-स्त्री० । संवरराजभार्यायामभिनन्दनजिनमातरि, नि० । "तिन्नेव सयसहस्सा, अभिणंदणजिणवरस्स सीसाणं । सव्वचारियधयस्स, सिद्धत्था संवरसुयस्स" नि० । आव० । अभिनन्दनजिनस्य निष्क्रमणशिबिकायां सर्षपप्रमाणसुवर्णकणरचितसुवर्णमणिमयकण्ठिकायाम् , औ० ।

सिद्धपय-सिद्धपद-न० । सिद्धं-प्रतिष्ठितं चालयितुमशक्यमित्येकोऽर्थः, ततः सिद्धानि पदानि येषु ते सिद्धपदाः । कर्मप्रकृतिप्राभृतादिषु, न हि तेषां पदानि कैश्चिदपि चालयितुं शक्यन्ते, तेषां सर्वज्ञोक्तानुसारित्वात्स्वसमये जीवस्थानगुणस्थानरूपेषु पदेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

सिद्धपाहुड-सिद्धप्राभृत-न० । स्वनामख्याते सिद्धाधिकारप्रतिपादके ग्रन्थे , न० ।

सिद्धपुत्त-सिद्धपुत्र-पुं० । मुण्डे सशिखाके सभार्यके गृहस्थे , बृ० ३ उ० । ध । ग० । सभार्यकोऽभार्यको वा णियमा सुक्कंबरधरो खुरमुंडो ससिहो असिहो वा णियमा अडंडगो अपत्तगो य सिद्धपुत्तो भवति । नि० चू० १ उ० । जी० । न० । आ० म० ।

सिद्धपुर-सिद्धपुर-न० । गुर्जरधरित्र्यां स्वनामख्याते पुरे, अष्ट० । अथ श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायैः एवद् ज्ञानसाराभिधं शास्त्रं रचितं तत्क्षेत्रादिप्रतिपादकं वृत्तमुच्यते-

सिद्धिं सिद्धपुरे पुरन्दरपुरस्पर्द्धावहे लब्धवान् ,
चिद्दीपोऽयमुदारसारमहसा दीपोत्सवे पर्वणि ।
एतद्भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां ,
तैस्तैर्दीपशतैः सुनिश्चयमतैर्नित्योऽस्तु दीपोत्सवः ।१३।

सिद्धिं सिद्धपुर इति । अयं ग्रन्थः सिद्धपुरे नगरे सूत्ररचनया सिद्धिं लब्धवान् उदारसारमहसा-प्रधानसारतेजसा दीपोत्सवे पर्वणि-दीपालिकादिने संपूर्णतां गतः, कथंभूतोऽयं ग्रन्थः ? चिद्दीपः-ज्ञानप्रदीपः एतद्भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां जीवानाम् एतस्य ग्रन्थस्य भावना आत्मतन्मयता तस्या भावा अर्थप्राप्तसमाध्यवसायाः तैः पावनं-पवित्रं मनः-चित्तं तत्र चञ्चन् मनोहारी चमत्कारः येषां ते तेषां तैः तैः निर्मलोपयोगलक्षणैः दीपशतैः सुष्ठु निश्चयो वस्तुधर्मः तस्य यद् मानं तदेव मतम्-इष्टं तैः , तेषां ज्ञानचमत्कारिणां दीपोत्सवः नित्यः निरन्तरः

अस्तु-भवतु, इत्यनेन यथार्थज्ञानगृहीतात्मरसमज्ञाना नित्यं दीपोत्सव एवास्ति ॥ १२ ॥ अष्ट० ३२ अष्ट०।

सिद्धपुरिस- सिद्धपुरुष-पुं०। विद्यासिद्धे पुरुषे, 'तप्पहावेण सो महासिद्धिहिं अलंकियो सिद्धपुरिस त्ति विक्खाओ।' ती० ५४ कल्प।

सिद्धभाव-सिद्धभाव-पुं०। सिद्धत्वे, प० सू० ४ सूत्र।

सिद्धभूमि-सिद्धभूमि-पुं०। ईषत्प्राग्भाराया पृथिव्याम्, आ० म० १ अ०।

सिद्धमग्ग- सिद्धमार्ग-पुं०। हितप्राप्तिपथे, उपा० २अ०। सिद्धिशब्देन श्रमणधर्मस्य वशीकारस्तस्य मध्य लक्षणया प्रकर्ष। कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

सिद्धमणोरम-सिद्धमनोरम-पुं०। द्वितीयदिवसे, जं० ७ वक्ष०।

सिद्धराय-सिद्धराज-पुं०। चौलुक्यवंशे अणहिलपट्टनराजे जयसिंहदेवे, 'तस्यान्वये समजनि प्रबलप्रताप-तिग्मद्युति क्षितिपतिर्जयसिंहदेव। येन स्ववंशसवितर्यपयाचिते च, श्रीसिद्धराज इति नाम निज व्यलेखि ॥१॥" प्रा० ४ पाद।

सिद्धवरसासण- सिद्धवरशासन-न०। सिद्धानां-निष्ठितार्थानां वरशासन-प्रधानाज्ञा सिद्धवरशासनम्। सर्वज्ञाऽऽज्ञायाम्, प्रश्न० १ सव० द्वार।

सिद्धसक्खिय-सिद्धसाक्षिक-त्रि०। सिद्धा मुक्तिपदप्राप्ता साक्षिणो दिव्यज्ञानभावेन समक्षभाववर्तिनो यत्र तत् सिद्धसाक्षिकम्। सिद्ध साक्षिण कृत्वा कृते, पा०।

सिद्धसरण-सिद्धशरण-न०। सिद्धाश्रयणे, " कम्मट्ठक्खयसिद्धा, सहट्ठिया नाणदंसणसमिद्धा। सव्वट्ठलद्धसिद्धा, ते सिद्धा सतु मे सरणं ॥ १ ॥ " द० प०।

सिद्धसूरि-सिद्धसूरि-पुं०। स्वनामख्याते गर्गाचार्यशिष्ये, माघकविपितृव्यपुत्र सिद्धनामा निर्वेदाद् गर्गाचार्यसमीपे दीक्षा गृहीत्वा सिद्धसूरिनामा जात। अनेन धर्मदासगणिकृताया उपदेशमालायाष्टीका उपमितिभवप्रपञ्चकथा चेति ग्रन्था रचिता। विक्रम-५९२ सवत्सरेऽय स्वर्गत, अपरश्च सिद्धसूरि उकेशगच्छीयो देवगुप्तसूरिशिष्य तेन विक्रम-११९२ संवत्सरे बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तिनामा ग्रन्थो रचित। जै० इ०।

सिद्धसेणदिवागर-सिद्धसेनदिवाकर-पुं०। समयोद्भूतसमस्तजनताहार्दतमोविध्वसकत्वेनावाप्तयथार्थाभिधान सिद्धसेनदिवाकर। सम्म० १ काण्ड। सम्मत्याद्विविविधग्रन्थकारके स्वनामख्याते आचार्ये, प० व० ४ द्वार। न०। आ० म०। नि० चू०। आव०। ('कुडुंबेसर' शब्दे तृतीयभागे ५७६ पृष्ठे एतन्नमस्कारेण महाकाललिङ्गभञ्जन दर्शितम्।)

सिद्धसेणसूरि-सिद्धसेनसूरि-पुं०। चन्द्रगच्छे श्रीदेवगुप्तसूरिशिष्य, तेन विक्रम-११९२ सवत्सरे प्रवचनसारोद्धारटीका कृता। जै० इ०। इति श्रीसिद्धसेनसूरिविरचिता प्रवचनसारोद्धारवृत्ति समाप्ता। प्रव० ७९ द्वार।

१ मूलराजस्य।

सिद्धसेणिय-सिद्धसेनीय-पुं०। सिद्धसेनदिवाकरशिष्ये, आ० म० १ अ०।

सिद्धसेणियापरिकम्म-सिद्धश्रेणिकापरिकर्म्मन्-न०। दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मसूत्रभेदे, स०। स्था०। 'एगट्ठियपयसिद्धसेणियापरिकम्म' श्रुतविशेषे स०।

सिद्धसोक्ख-सिद्धसौख्य-न०। मुक्तस्य सुखे, औ०। (एतच्च 'सिद्ध' शब्दे दर्शितम्।)

सिद्धहेमचंद-सिद्धहेमचन्द्र-न०। हेमचन्द्रविरचिते व्याकरणभेदे, कल्प० १ अधि० १ क्षण। पुं०। स्वनामख्याते आचार्ये, हैं०। (अत्रत्यविस्तर 'हेमचंद' शब्दे वक्ष्यते।)

सिद्धाइगुण-सिद्धादिगुण-पुं०। आदौ गुणा आदिगुणा युगपद्भाविनो, न क्रमभाविन, सिद्धानामादिगुणा सिद्धादिगुणा। आभिनिबोधिकावरणादिक्षयस्वरूपेषु सिद्धत्वप्रथमसमयेषु सिद्धसहभाविगुणेषु, स० ३४ सम०। आ० चू०।

एक्कतीसं सिद्धाइगुणा पण्णत्ता, तं जहा-खीणे आभिणिबोहियणाणावरणे, खीणे सुयणाणावरणे, खीणे ओहिणाणावरणे, खीणे मणपज्जवणाणावरणे, खीणे केवलणाणावरणे, खीणे चक्खुदंसणावरणे, खीणे अचक्खुदंसणावरणे, खीणे ओहिदंसणावरणे, खीणे केवलदंसणावरणे, खीणे निद्दावरणे०, खीणे णिद्दाणिद्दा०, खीणे पयला, खीणे पयलापयला०, खीणे थीणद्धी०, खीणे सायावेयणिज्जे, खीणे असायावेयणिज्जे, खीणे दंसणमोहणिज्जे, खीणे चरित्तमोहणिज्जे, खीणे नेरइआउए, खीणे तिरिआउए, खीणे मणुस्साउए, खीणे देवाउए, खीणे उच्चागोए, खीणे नीचागोए, खीणे सुभणामे, खीणे असुभणामे, खीणे दाणंतराए, खीणे लाभंतराए, खीणे भोगंतराए, खीणे उवभोगंतराए, खीणे वीरिअंतराए ॥ ३१ ॥ स० ३१ सम०।

प्रकारान्तरेण—

एकत्रीसाए सिद्धादिगुणेहिं सिद्धाणं आदीए गुणा सिद्धादिगुणा सिद्धैहिं सह भाविन इत्यर्थ। ते य अपज्जवसिया ते य इमे, त जहा—से ण परिमंडले न वट्टे २ न तसे ३ ण चतुरसे ४ ण आयते ५ ण किण्हे ६ ण णीले ७ न लोहिए ८ न हालिद्दे ९ न सुक्किल्ले १० न सुब्भिगंधे ११ न दुब्भिगंधे १२ न तित्ते १३ न कडुए १४ न कसाए १५ न अंबिले १६ न महुरे १७ न कक्खडे १८ न मउए १९ न गुरुए २० न लहुए २१ न सीते २२ न उण्हे २३ न णिद्धे २४ न लुक्खे २५ न सगे २६ न रुहे २७ न काऊ २८ न इत्थी २९ न पुरिसे ३० न नपुंसके ३१। आ० चू० ४ अ०।

सिद्धाइया-सिद्धायिका-स्त्री०। वीरजिनशासनदेव्याम्, श्रीवीरजिनस्य सिद्धायिका देवी हरितवर्णा सिंहवाहना चतुर्भुजा पुस्तकाभययुक्तदक्षिणकरद्वया बीजपूरकवीणाभिरामवामक-

रुद्वया च । प्रव० २७ द्वार । स्वनामख्यातायां देवतायाम्, यदुद्देशेन तको विशेष क्रियते । पञ्चा० १९ विव० ।

सिद्धावद्ध-सिद्धावद्ध-न० । सिद्धश्रेणिकापरिकर्मभेदे, स० ।

सिद्धाययणकूड-सिद्धायतनकूट-न० । सिद्धानि-शाश्वतानि सिद्धाना वा शाश्वतानामार्हत्प्रतिमानामायतन-स्थान सिद्धायतनं तदाधारभूतं कूट सिद्धायतनकूटम् । भरतवैताढ्यप्रथमकूटे, ज०१ वक्ष० । क्षुल्लहिमवद्वर्षधरे पर्वतकूटे, जं०४ वक्ष० । महाविदेहे माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे.जं०४ वक्ष० । हिमवद्वर्षधरपर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि कूटे, स्था०२ठा० ३ उ० । चित्रकूटवक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे,ज०४वक्ष० । गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे ज०४वक्ष० । महाविदेहे ब्रह्मकूटस्य वक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, ज० ४ वक्ष० । (वर्णक 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६१८ पृष्ठे गत. ।)

सिद्धालय-सिद्धालय-पुं० । सिद्धावस्थिते क्षेत्रे, विशे० । सिद्धानामाश्रयत्वात्सिद्धालय. । ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सिद्धिमार्गे, स० १४५ सम० । प० सं० ।

सिद्धालयमग्गणिग्गय-सिद्धालयमार्गनिर्गत-त्रि० । सिद्धालयमार्गान्निर्गता । ज्ञानादेर्निर्गतेषु, स० १४५ सम० ।

सिद्धावास-सिद्धावास-पुं० । मोक्षवासनिबन्धनत्वादहिंसायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सिद्धि-सिद्धि-स्त्री० । सिद्ध्यन्ति-कृतार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धि । लोकाग्रे ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम्, स्था० १०ठा०३ उ० । दशा० । रा० । आ० म० । स० । भ० । पं० व० । संथा० ।

यथा परमाणोस्तथाविधैकत्वपरिणामविशेषादेकत्व भवति तथा तत एवानन्ताणुमयस्कन्धस्यापि स्यादिति दर्शयन् सकलबादरस्कन्धप्रधानभूतमीषत्प्राग्भाराभिधान पृथिवीस्कन्धं प्ररूपयन्नाह—

एगा सिद्धी (सू० ४६ +)

सिद्ध्यन्ति कृतार्थाभवन्ति यस्यां सा सिद्धि, सा च यद्यपि लोकाग्रे, यत आह—'इह बुन्दिं चइत्ता णं तत्थ गतूण सिज्झइ' त्ति—तथापि तत्प्रत्यासन्नेषत्प्राग्भाराऽपि तथा व्यपदिश्यते । आह च-'बारसहिं जोयणेहिं सिद्धी सव्वट्ठसिद्धाउ' त्ति । यदि च—लोकाग्रमेव सिद्धि. स्यात्तदा कथमेतदनन्तरमुक्तं 'निम्मलदगरयवन्ना, तुसारगोखीरहारसरिवन्ने' त्यादि, तत्स्वरूपवर्णन घटत लोकाग्रस्यामूर्तत्वादिति, तस्मादीषत्प्राग्भारा सिद्धिरिहोच्यते । सा चैका द्रव्यार्थतया पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षप्रमाणस्कन्धस्यैकपरिणामत्वात्, पर्यायार्थतया त्वनन्ता । अथवा—कृतकृत्यत्व लोकाग्रमणिमादिका वा सिद्धि, एकत्व च सामान्यत इति । स्था० १ ठा० । जी० । भ० । अशेषकर्मक्षये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । संथा० । निवृत्तौ.स्था० १ ठा० । पञ्चमगतौ, आ० म० १ अ० । अशेषद्वन्द्वोपरमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । मोक्षे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प० व० । जी० । कृतार्थीभवने, कल्प० ३ अधि० ३ क्षण । कृतकृत्यतायाम्, औ० । नि० । मोहनीयक्षयेणानिष्ठितार्थतायाम्, आ० चू० १ अ० । उत्कर्षविशेषे, द्वा० १५ द्वा० ।

सूत्र० । अशेषद्वन्द्वप्रच्युतौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । मेधन सिद्धि. । हितार्थप्राप्तौ, आव० ४ अ० । ज्ञा० । निष्पत्तौ, "सिद्धि. स्याद्वादात्" ॥ १ । १ । २ ॥ है० । (सिद्धिप्ररूपणा 'अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५२२ पृष्ठे गता ।) "घोरं पंडिऊण पायच्छित्तं संविग्गो भामिओ घोरवीरतव काउं असुभकम्मं खवेंतो य सुक्कज्झाणो समारुहिय केवलं पप्प सिज्झइ" महा० ।

केवली णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं ०जाव अंतं करेंसु ? हंता सिज्झिसु ०जाव अंतं करेंसु, एते तिन्नि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा नवरं सिज्झिसु सिज्झंति सिज्झिस्संति । से णूणं भंते ! तीतमणंतं सासयं समयं पडुप्पन्नं वा सासयं समयं अणागयमणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणदंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति ०जाव अंतं करेस्संति वा ? हंता गोयमा ! तीतमणंतं सासयं समयं ०जाव अन्तं करेस्संति वा (सू० ४२ +) । भ० १ श० ४ उ० । एएणं सिद्धी पज्जवसाणफला पन्नत्ता ? । भ० १७ श० ३ उ० ।

'अष्टगुणैश्वर्यसिद्धि'—अणिमा लघिमा गरिमा प्राकाम्यमीशित्व वशित्वं प्रतिघातित्व यत्रकामावसायित्वमिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । प० सू० । स्या० । प्रतिष्ठायाम्, विशे० ।

समाधिविघ्नाभ्युत्थान-सिद्धयः प्रातिभं ततः ।
श्रावणं वेदनादर्शा-स्वादवार्ताश्च वित्तयः ॥ ११ ॥

समाधीति-तत स्वार्थसंयमाद्वयात्—पुरुषसंयमादभ्यस्यमानात् प्रातिभं पूर्वोक्त ज्ञानं, यदनुभावात् सूक्ष्मार्थादिकमर्थं पश्यति । श्रावण-श्रोत्रेन्द्रियज ज्ञान, यस्मात्प्रकृष्टादिव्य शब्द जानाति । वेदना-स्पर्शनेन्द्रियजं ज्ञान, वेद्यतेऽनयेति कृत्वा, तान्त्रिक्या संज्ञया व्यवह्रियते, यत्प्रकर्षाद्दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानमुत्पद्यते । आदर्श -चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम्, आ समन्ताद् दृश्यते-अनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, यत्प्रकर्षाद्दिव्यरूपज्ञानमुत्पद्यते । आस्वादो-रसनेन्द्रियज ज्ञानम्, आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा, यत्प्रकर्षाद्दिव्यरससंविदुपजायते । वार्ता-गन्धसंवित्ति, वृत्तिशब्देन तान्त्रिक्या परिभाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते, वर्तमान गन्धविषये प्रवर्तत इति कृत्वा, वृत्तौ-घ्राणेन्द्रिये भवा वार्ता, यत्प्रकर्षाद्दिव्यो गन्धोऽनुभूयते । एताश्च वित्तयो-ज्ञानानि भवन्ति । तदुक्तम्—"तत. प्रातिभश्रावणवेदनादर्शा [शैना] स्वादवार्ता जायन्ते' [३-३३] । एताश्च समाधे. प्रकर्ष गच्छत सतो विघ्ना हर्षविस्मयादिकरणेन तच्छिथिलीकरणात् व्युत्थाने-व्यवहारदशायां च समाध्युत्साहजननाद्विशिष्टफलदायकत्वाच्च सिद्धय । यत उक्तम्-" ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय " (३-३७) द्वा० २६ द्वा० ।

" केइ तेणेव भवेन निव्वुया सव्वकम्मओ मुक्का केई तइयभवेण सिज्झिस्सन्ति । " भ० ७ श० ६ उ० ।

अट्ठपयारकम्मक्खएण सिद्ध सद्धमेते संति सिद्धा सिय सज्झायमेसमिति वा सिद्धा । सिद्धिनिट्ठिए पहीणे सयलपवयणवायकयं वमेतेसिमिति वा सिद्धा । महा० ३ अ० ।

शुद्धतत्त्वसाधने, "एव परमत्थसाहग रूव पुण होइ सिद्धिखिय" इत्युक्ताया (अष्ट० २७ अष्ट० ।) क्रियासिद्धौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । निष्पत्तौ, स्था० २१ स्था० । (सिद्धिलक्षणम् 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६७० पृष्ठे गतम् ।) सिद्धिशब्द सम्बन्धवाचक, तथा च लोकेऽपि सिद्धिर्भवतीत्युक्ते इष्टार्थसम्बन्ध एव प्रतीयते । दश० १ अ० ।

सिद्धिप्राप्त्युपायमाह-

अतीतानागतज्ञानं, परिणामेषु संयमात् ।
शब्दार्थधीविभागे च, सर्वभूतरुतस्य धीः ॥ ५ ॥

संयमो नाम धारणाध्यानसमाधित्रयमेकविषयम् । यदाह- " त्रयमेकत्र संयम ' इति (३-४) । एतदभ्यासात् खलु ज्ञेयज्ञेयादिप्रज्ञाप्रसर इति पूर्वभूमिषु जात्वोत्तरभूमिष्वस्य विनियोज्य । तदाह—"तज्जयात्प्रज्ञालोक (३-५) तस्य भूमिषु विनियोग इति " (३-६) । तत परिणामेषु धर्मलक्षणावस्थारूपेषु संयमाज्जितस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यप्रतिबन्धकविक्षेपपरिहारात् । अतीतानागतज्ञानमतिक्रान्तानुत्पन्नार्थपरिच्छेदन योगिनो भवति । तदुक्त—" परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानमिति" । (३-१६)। शब्द श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यनियतक्रमवर्णात्मा क्रमरहित स्फोटात्मा ध्वनिसंस्कृतबुद्धिग्राह्यो वा अर्थो जातिगुणक्रियादि , धीर्विषयाकारा बुद्धिवृत्ति , एता हि गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति च धीरित्यभेदेनैवाध्यवसीयन्ते । कोऽयं शब्द इत्यादिषु प्रश्नेषु गौरयमित्येकरूपस्यैवोत्तरस्य प्रदानात् । तस्य चैकरूपप्रतिपत्तिनिमित्तकत्वात् । तत एतासां विभागे चेदं शब्दस्य तत्त्वं सद्वाचकत्व नाम, इद चार्थस्य यद्वाच्यत्वं , इद च धियो यत्प्रकाशत्वमित्येवलक्षणे । संयमात् सर्वेषां भूताना मृगपशुपक्षिसरीसृपादीनां रुतस्य शब्दस्य धीर्भवति । अनेनैवाभिप्रायेण अनेन प्राणिनाऽय शब्द समुच्चारित इति । तदुक्त-' शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रति (प्रवि) भागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानमिति" (३१७) ॥ ५ ॥

(कायरूपस्य संयमात् ६ ×)

काय.-शरीर तस्य रूप—चक्षुर्ग्राह्यो गुण तस्य नास्त्यस्मिन् काये रूपमिति संयमाद्रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपाया शक्ते स्तम्भे भावनावशात्प्रतिबन्धे सति तिरोधान भवति । चक्षुर प्रकाशरूपस्य सात्त्विकस्य धर्मस्य तद्ग्रहणव्यापाराभावात् । तथा संयमवान् योगी न केनचिद् दृश्यत इत्यर्थ । एव शब्दादितिरोधानमपि ज्ञेयम् । तदुक्त-" कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष (क्षु ष) प्रकाशास (प्र) योगेऽन्तधानम् " (३-२१) । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तमिति ॥ ६ ॥ (परचित्ताभिधान 'परचित्तणाण' शब्दे पञ्चमभागे प्रतिपादितम्) (अन्तर्धानविषयता ' अंतद्धाण ' शब्दे प्रथमभागे ६३ पृष्ठ उक्ता ।)

संयमात् कर्मभेदाना-मरिष्टेभ्योऽपरान्तधीः ।
मैत्र्यादिषु बलान्येषां, हस्त्यादीनां बलेषु च ॥७॥

एवमन्येऽपि । तथा संयमादिद शीघ्रविपाकमिद च मन्दविपाकमित्याद्यवधारणाद्व्यंजनितादरिष्टेभ्य आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदाभिन्नेभ्य कर्णपिधानाकालीनकोष्ठ्यवायुघोषाश्रवणाकस्मिकाविकृतपुरुषाशक्यदर्शनस्वर्गादिपदार्थदर्शनलक्षणेभ्योऽपरान्तस्य करणशरीरवियोगस्य धीर्नियतदेशकालतया निश्चय सामान्यन, संशयाविलताद्वयोऽरिष्टेभ्यो योगिनामपि संभवादि ध्येयम् । तदुक्त—" सोपक्रम निरुपक्रम च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वेति " (३२२) । मैत्र्यादिषु मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्येषु संयमादेषां मैत्र्यादीनां बलानि भवन्ति, मैत्र्यादयस्तथा प्रकर्ष गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकं प्रतिपद्यते योगीत्यर्थ । तदुक्त-" मैत्र्यादिषु बलानि" (३-२३) बलेषु च हस्त्यादिसंबन्धिषु संयमाद्धस्त्यादीनां बलान्याविर्भवन्ति सर्वसामर्थ्ययुक्तत्वात् नियतबलसंयमेन नियतबलप्रादुर्भावात् । एव विषयवत्या ज्योतिष्मत्याश्च प्रवृत्ते सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्य विषयेषु संन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थज्ञानमपि द्रष्टव्य सान्त करणेन्द्रियाणा प्रशक्तितापत्ते । तदुक्त—' प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानमिति " (३-२५) ॥ ७ ॥

सूर्ये च भुवनज्ञानं, ताराव्यूहे गतिर्विधौ ।
ध्रुवे च तद्गतेर्नाभि-चक्रे व्यूहस्य वर्ष्मणः ॥ ८ ॥

सूर्ये चेति—सूर्ये च प्रकाशमये संयमाद्भुवनाना सप्तानां लोकाना ज्ञान भवति । तदुक्त—" भुवनज्ञान सूर्ये (र्ये) संयमात् " (३-२६) । ताराव्यूहे ज्योतिषा विशिष्टसंनिवेशे संयमाद्विधौ चन्द्रे गतिज्ञान भवति , सूर्याहततेजस्कतया ताराणा सूर्यसंयमात्तद्ज्ञानं न शक्नोति भवितुमिति पृथगयमुपायोऽभिहित । तदुक्त—" चन्द्रे ताराव्यूहज्ञान " (३-२७) । ध्रुवे च निश्चले ज्योतिषां प्रधाने संयमात्तासां ताराणा गतेर्नियतदेशकालगमनक्रियाया गतिर्भवति, इयं तारा इयता कालेन अमु राशिमिद वा क्षेत्र यास्यतीति । तदुक्त-' ध्रुवे तद्गतिज्ञानं " (३-२८ ।) नाभिचक्रे शरीरमध्यवर्तिनि समग्राङ्गसंनिवेशमूलभूते संयमाद्वर्ष्मण-कायस्य व्यूहस्य रसमलनाड्यादीना स्थानस्य गतिर्भवति । तदुक्त-" नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् " (३-२९) ॥ ८ ॥ (तच्च सरीर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।) (भुवनस्वरूपम् 'भावणा' शब्दे पञ्चमभागे गतम् ।)

क्षुत्तृड्व्ययः कण्ठकूपे, कूर्मनाड्यामचापलम् ।
मूर्धज्योतिषि सिद्धानां, दर्शनं च प्रकीर्तितम् ॥ ६ ॥

क्षुदिति—कण्ठे-गले कूप इव कूपो गर्ताकार प्रदेशस्तत्र संयमात् क्षुत्तृषोर्व्ययो भवति । घण्टिकाश्रोतप्लावनाक्षुत्तृसिद्धे । तदुक्तम्-" कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति " (३-३०) कूर्मनाड्या कण्ठकूपस्याधस्ताद्वर्तमानाया संयमादचापल भ

यति, मनःस्थैर्यसिद्धेः। तदुक्तम्—"कूर्मनाड्यां स्थैर्यमिति" (३—३१)। मूर्धज्योतिर्नाम-मूर्धाभ्यन्तरस्य मध्ये प्रसरन्ती प्रभेव कुम्भिकादौ प्रदेशे. हृदयस्थ एव सात्त्विकः प्रकाशो ब्रह्मरन्ध्रे सपिण्डितत्व-भजन् तत्र संयमाच्च सिद्धानां दर्शनं प्रकीर्तितम्। द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्त्तिनो ये दिव्यपुरुषास्तानेतद्वान् पश्यति, तैश्चाय संभाष्यत इति भावः। तदुक्तम्—"मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्" (३-३२)॥६॥

प्रातिभात् सर्वतः संवि-च्चेतसो हृदये तथा।
स्वार्थे संयमतः पुंसि, भिन्ने भोगात्परार्थकात् ॥१०॥

प्रातिभाद्विति—निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यम् अविसंवादकं झगित्युत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा। तत्र संयमे क्रियमाणे यदुत्पद्यते ज्ञानं विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकमुद्देश्यति, सवितुरुदये पूर्वप्रभा, ततः सर्वस. सर्विद्भवति। संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः। "प्रातिभाद्वा सर्वम्" (३-३३) इत्युक्तेः। तथा हृदये—शरीरप्रदेशविशेषेऽधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाकारे संयमात् चेतस्य संवित्-स्वपरचित्तगतवासनारागादिज्ञानं भवति। तदुक्तम्—"हृदये चित्तसंवित्" (३-३४)। परार्थकात् सत्त्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येण स्वभिन्नपुरुषार्थकाङ्क्षोगात् सत्त्वपुरुषाभेदाध्यवसायलक्षणात् सत्त्वस्यैव सुख दुःखकर्तृत्वाभिमानाद्भिन्ने स्वार्थे स्वरूपमात्रालम्बने परित्यक्ताहङ्कारे सत्त्व विच्छायासंक्रान्तौ पुंसि संविद्भवति। एवंभूत स्वालम्बनज्ञानं सत्त्वनिष्ठं पुरुषो जानाति, न पुनः पुरुषः ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्येत, ज्ञेयत्वापत्तेः। ज्ञातृज्ञेययोश्चात्यन्तविरोधादिति भाव। तदुक्तम् "सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोग परार्थ. (र्थात्) स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानमिति"(३-३५)१०। (द्वा०)

समानस्य जयाद्धामा-दानस्यावाद्यसंगता।
दिव्यं श्रोत्रं पुनः श्रोत्र-व्योम्नोः संबन्धसंयमात् ॥१२॥

समानस्येति—समानस्याग्निमावेष्ट्य व्यवस्थितस्य सामानाख्यस्य वायोर्जयात् संयमेन वशीकारान्निरावरणस्याग्नेरूर्ध्वगत्वात् धाम-तेज. तरणिप्रतापवदवभासमानमाविर्भवति,येन योगी ज्वलन्निव प्रतिभाति। यदुक्तम्—"समानजयाज्ज्वलनः (म्)" (३—४०)। उदानस्य कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेर्जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगतित्वसिद्धे। (द्वा०) श्रोत्र शब्दग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियं व्योम, शब्दतन्मात्रजमाकाश, तयोः पुन. सम्बन्धसंयमाद्देशदेशिभावसंबन्धसंयमाद्दिव्य युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं श्रोत्रं भवति। तदुक्तम्—"श्रोत्राकाशयोः संवन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्" (३—४१)॥१३॥

लघुतूलसमापत्त्या, कायव्योम्नोस्ततोऽम्बरे।
गतिर्महाविदेहातः, प्रकाशावरणक्षयः ॥१४॥

लघ्विति-काय.-पाञ्चभौतिक शरीर, व्योम च प्रागुक्तं, तयोः। ततोऽवकाशदानसंबन्धसंयमात्। लघुनि तूले समापत्त्या तन्मयीभावलक्षणया प्राप्ताभ्यन्तरलघुभावतयाऽम्बरआकाशे गति स्यात्। उक्तसंयमवान् प्रथमं यथारुचि जले सचरन् क्रमेणोर्णनाभतन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्यरश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशे गच्छतीत्यर्थ.। तदुक्तम्- "कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेरा (श्चा) काशगमनम्" (३—४२)। (द्वा०) (पूर्वार्द्धव्याख्या 'महाविदेहा' शब्दे पञ्चमभागे गता।)

स्थूलादिसंयमाद्भूत-जयोऽस्मादणिमादिकम्।
कायसंपच्च तद्धर्मा-नभिघातश्च जायते ॥१५॥

स्थूलादीति-स्थूलादीनि स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि पञ्चाना भूतानामवस्थाविशेषरूपाणि। तत्र भूतानां परिदृश्यमान विशिष्टाकारवत्त्व स्थूल रूप-स्वरूप च पृथिव्यादीना कार्कश्यस्नेहोष्णताप्रेरणावकाशदानलक्षणं सूक्ष्म च यथाक्रम भूताना कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्मात्राणि। अन्वया गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवोपलभ्यमाना। अर्थवत्त्व च तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसंपादनशक्तिरूपम्। तेषु क्रमेण प्रत्यवस्थ संयमाद्भूतजयो भवति। कृतैतत्संयमस्य संकल्पानुविधायिन्यो वत्सानुसारिण्य इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्तीत्यर्थ.। तदुक्तम्—"स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजय." इति (३—४४) अस्माद्भूतजयात् अणिमादिकं भवति। अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्यम् 'ईशत्व, वशित्वं, यत्रकामावसायित्व चेत्यणिमादिकम्। तत्राणिमा-परमाणुरूपतापत्ति', गरिमा-वज्रवद्गुरुत्वप्राप्ति' लघिमा-तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्ति, महिमा-महत्त्वप्राप्ति अङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनयोग्यता। प्राकाम्यम्-इच्छानभिघात. शरीरान्त करणयो।ईशत्वम्-सर्वत्र प्रभविष्णुता। वशित्वम्-यत सर्वाण्येव भूतानि वचनं नातिक्रामन्ति। यत्रकामावसायित्वम्-स्वाभिलषितस्य समाप्तिपर्यन्तनयनम्। कायसम्पच्च उत्तमरूपादिलक्षणा। 'रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसपत्" (३—४६) इत्युक्तेः। तद्धर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य धर्मा रूपादयस्तेषाम-भिघातो-नाशस्तदभावश्च जायते न ह्यस्य रूपमग्निर्दहति, न वा आप. क्लेदयन्ति, न वा वायु शोषयतीति। तदिदमुक्तम्—"ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव. कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्चेति" (३—४५)॥१५॥ (द्वा०।)

मनोजवो विकरण-भावश्च प्रकृतेर्जयः ॥१६+॥

तत इन्द्रियजयान्मनोजव'-शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभः। विकरणभावश्च कायनैरपेक्ष्येणेन्द्रियाणां वृत्तिलाभः प्रकृते.-प्रधानस्य जय सर्ववशित्वलक्षणो भवति। तदुक्तम्-"ततो मनोजवित्वं विकरणभाव प्रधानजयश्च"(३ ४८)।१६।

स्थितस्य सत्त्वपुरुषा-न्यताख्यातौ च केवलम्।
सार्वज्ञ्यं सर्वभावाना-मधिष्ठातृत्वमेव च ॥१७॥

स्थितस्येति-केवल सत्त्वपुरुषयोरन्यतारुयातौ गुणकर्तृत्वाभिमानशिथिलीभावलक्षणायां शुद्धसात्त्विकपरिणामरूपायां स्थितस्य सार्वज्ञ्य सर्वेषां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन स्थितानां यथावद्विवेकजं ज्ञानलक्षण सर्वेषां भावाना गुणपरिणामानामधिष्ठातृत्वमेव च स्वामिवदाक्रमणलक्षणं भवति। तदुक्तम्-"सत्त्वपुरुषान्यत ख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञातृत्वं च" (३-४६)॥१७॥ (द्वा०।)

स्मृता सिद्धिविशेषोऽयं, तद्वैराग्याच्च योगिनः।
दोषबीजक्षये नूनं, कैवल्यमुपदर्शितम् ॥१८॥

('केवल' शब्दे तृतीयभागे ९६८ पृष्ठे अस्य व्याख्या गता।)

असङ्गश्चास्मयश्चैव, स्थिसावुपनिमन्त्रणे ।
बीजं पुनरनिष्टस्य, प्रसङ्गः स्यात्किलान्यथा ॥ १९ ॥

असङ्गश्चेति-उपनिमन्त्रणे उक्तसमाधिस्थस्य देवैर्दिव्यस्त्री-रसायनादिपदैः कृतेन भोगनिमन्त्रणे ऽसङ्गश्चास्मयश्चैव स्थि-तौ बीजम् । सङ्गकरणे पुनर्विषयप्रवृत्तिप्रसङ्गात् स्मयकरणे-च कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानस्य समाधावुत्साहभङ्गात् । पत-ञ्जलिः-अन्यथाऽसङ्गास्मयाकरणे पुनः किलेति सत्येऽनिष्ट-स्य प्रसङ्ग इति । तदिदमुक्तम्-" स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्म-याकरणे पुनरनिष्टप्रसङ्गादिति" (३-५१) ॥ १९ ॥ (द्वा०)

तारकं सर्वविषयं, सर्वथा विषयाक्रमम् ।
शुद्धिसाम्येन कैवल्यं, ततः पुरुषसत्त्वयोः ॥ २१ ॥

तारकमिति-तच्च विवेकजं ज्ञानं तारयत्यगाधात्संसारप-योधेर्योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमुच्यते । तथा स-र्वविषयं सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषयो यस्य तत्त-था । तथा सर्वथा सर्वैः प्रकारैः सूक्ष्मादिभेदैर्विषयो यस्य तच्च तदक्रमं च निःशेषनानावस्थापरिणतत्वेन आ-र्थिकभावग्रहणे क्रमरहितं चेति कर्मधारयः । इत्थं चास्य लक्षाविषयस्वभावा व्याख्याता । तदुक्तम्-" तारकं सर्ववि-षयं सर्वथा (वीर्य) विषयमक्रमं चेति (विवेकजं ज्ञानम्)" (३ ५४) । ततस्तस्मात् ज्ञानात् पुरुषसत्त्वयोः शुद्धिसाम्येन कै-वल्यं भवति । तत्र पुरुषस्य शुद्धिरुपचरिता भोगाभावः । सत्त्वस्य तु सर्वथा कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्र-वेश इति । तदिदमुक्तम्-"सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्य-मिति " (३।५५) ॥ २१ ॥

इत्थमन्यैरुपदर्शिते योगमाहात्म्ये उपपत्त्यनुपपत्त्यो-र्दिशं प्रदर्शयन्नाह—

इह सिद्धिषु वैचित्र्ये, बीजं कर्मक्षयादिकम् ।
संयमश्चात्र सदस-त्प्रवृत्तिविनिवृत्तितः ॥ २२ ॥

इहेति-इह प्रागुक्तग्रन्थे सिद्धिषु वैचित्र्ये कर्मक्षयादिकं बी-जम् , तथा ज्ञाने तथा ज्ञानावरणक्षयोपशमादेर्वीर्यविशेषे च वीर्यान्तरायक्षयोपशमादेर्हेतुत्वात् । संयमश्चात्रोक्तसिद्धिषु स त्प्रवृत्त्यसन्निवृत्तिभ्यां तथाविधक्षयोपशमाद्याधानद्वारैव,बी-ज न तु तत्तद्विषयज्ञानप्रणिधानादिरूपः । अनन्तविषयक-ज्ञानस्य प्रतिविषयं संयमासाध्यत्वाद्विहितानुष्ठानप्रणिधा-नमात्रसंयमेनैव मोहक्षयात्तदुपपत्तेः । चित्तप्रणिधानार्थं त्वा-लम्बनमात्रं क्वापि न वार्यामः , केवलमात्मप्रणिधानप-र्यवसान एव सर्वः संयमः फलवानित्यात्मनो ज्ञेयत्वं विना सर्वं विलुतशीर्णं भवेदित्यधिकं स्वयमूहनीयम् ॥ २२ ॥ द्वा० २६ द्वा० ।

सिद्धिगइ-सिद्धिगति-स्त्री० । सिद्धौ गमनं निर्विशेषणत्वा-च्चानेन सामान्या सिद्धिगतिः । स्था० १० ठा० ३ उ० । गमनं गतिर्गम्यते इति वा गतिः क्षेत्रविशेषो गम्यतेऽन-या कर्मपुद्गलसहत्येति गतिर्नाम कर्मोत्तरप्रकृतिरूपा सिद्धौ गतिः सिद्धिश्चासौ गतिश्चेति सिद्धिगतिः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । मोक्षगमने, प्रश्न० ४ संव० द्वार । " वंसाण जिणवंसो, सव्वकुलाण च सावगकुलाइ । सिद्धिगई वि गईणं, मुत्तिसुहं सव्वसुक्खाणं ॥९॥ " स्था० । स्था० । पञ्चम्यां गतौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सिद्धिगइनामधेज्ज-सिद्धिगतिनामधेय-त्रि० । सिध्यन्ति-नि-ष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिन इति सिद्धिः-लोकाग्रक्षेत्रल-क्षणा सैव गम्यमानत्वाद्गतिः सिद्धिगतिरिति नामधेयं यस्य स तथा । सिद्धिगत्याख्ये, प्र० २ अधि० । जी० । ल० । कल्प० ।

सिद्धिगइपज्जवमाण-सिद्धिगतिपर्यवमान-त्रि० । मोक्षान्ते सि-द्धिगतिः पर्यवसानं संसारपर्यन्तो यस्य स सिद्धिगति-पर्यवमानः । जीव, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सिद्धिगंडिया-सिद्धिगण्डिका-स्त्री० । सिद्धिस्वरूपप्रतिपादन-परायां वाक्यपद्धतौ, औ० । भ० ।

सिद्धिजम-सिद्धियम-पु० । चतुर्थयमे, द्वा० । "परार्थसाधिका त्वेषा,सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः । अचिन्त्यशक्तियोगेन,चतुर्थो यम उच्यते ॥ २८ ॥ " द्वा० १६ द्वा० । (' जम ' शब्दे चतुर्थ-भागे १३६१ पृष्ठे व्याख्यानमिदम् ।)

सिद्धिजोग-सिद्धियोग-पु० । अष्टाङ्गयोगसाधनसिद्धे,अष्ट० १० अष्ट० ।

सिद्धिणगर-सिद्धिनगर-न० । मोक्षपुरे, जी० ११ अधि० ।

सिद्धिणाह-सिद्धिनाथ-पु० । निर्वाणस्वामिनि, द्वा० ३२अष्ट० ।

सिद्धिदूय-सिद्धिदूत-पु० । सिद्धिसमागमहेतौ, यो० वि० ।

सिद्धिपडागा-सिद्धिपताका-स्त्री० । सिद्धिसुखहेतुत्वादारा-धनाया पताकेव पताका , सिद्धिरेव पताका । मोक्षपता-कायाम् , स्था० ।

सिद्धिपत्त-सिद्धिप्राप्त-पुं० । मोक्षं गते, उत्त० १६ अ० ।

सिद्धिपत्तण-सिद्धिपत्तन-न० । निर्वाणपुरे, आव० ४ अ० ।

सिद्धिपव्वय-सिद्धिपर्वत-पुं० । शत्रुञ्जयपर्वते,ती० ११ कल्प ।

सिद्धिपह-सिद्धिपथ-पुं० । सिद्धानां सम्बन्धनीयमनन्तरं गतिरुक्ता सैवेह सिद्धिरभिप्रेता,तस्या य पन्था-ज्ञानदर्शन-चारित्रलक्षणः स सिद्धिपथः । विशे० । पञ्चमगतिरूपायाः सिद्धेर्मार्गे, आ० म० १ अ० ।

सिद्धिपहप्पएसय-सिद्धिपथप्रदेशक-पुं० । सिद्धिपदस्य प्रधा नादेशका । सिद्धिहेतुभूतसामायिकादिप्रतिपादकेषु तीर्थ-कृत्सु, आ० म० १ अ० ।

सिद्धिपुर-सिद्धिपुर-न० । मोक्षे, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

सिद्धिपुरवासि(ण्)-सिद्धिपुरवासिन्-पु० । सिद्धिपुरे-लोकान्ते वस्तु शीलं येषां ते तथा । मुक्तिवासिषु, पं० सू० १ सूत्र ।

सिद्धिवहूवरसंगलालस-सिद्धिवधूवरसङ्गलालस-पुं० । मुक्ति-कान्ताप्रधानताभिष्वङ्गलम्पटे, जीवा० २५ अधि० ।

सिद्धिमग्ग-सिद्धिमार्ग-पु० । साधनं सिद्धिः-हितार्थप्राप्ति-स्तस्या मार्गः सिद्धिमार्गः । आव० ४ अ० । सूत्र० । क्षपक-श्रेणिकेवलोत्पत्त्यादिरूपे मार्गे, बृ० १ उ० २ प्रक० । सम्यग्-दर्शनादिरूपे (दश० ३ अ० ।) हितार्थप्राप्त्युपाये, भ० ६ श० ३३ उ० । आ० चू० ।

सिद्धिया-सिद्धिका-स्त्री० । जितशत्रोर्मथुराराजस्य दु-हितरि, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

सिद्धिविग्गहगइ-सिद्ध्यविग्रहगति-स्त्री०। सिद्ध्यावविग्रहेण अवक्रेण गमन सिद्ध्यविग्रहगति.। विशिष्टसिद्धगतौ, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सिद्धिविणिच्छय-सिद्धिविनिश्चय-पु०। स्वनामख्याते सिद्धिप्रतिपादके ग्रन्थे, पो० १५ विव०।

सिद्धिसुगइगिहुत्तम-सिद्धिसुगतिगृहोत्तम-न०। सिद्धिलक्षणा सुगति. सिद्धिसुगति । अथवा—सिद्धिश्च सुगतिश्च सुदेवत्वसुमानुषत्वलक्षणा सिद्धिसुगती, तल्लक्षण यद् गृहाणामुत्तम गृहोत्तम वरप्रासाद.। सिद्धिस्वरूपसुगतिगृहे, स० ८३ सम०।

सिद्धिसेहर-सिद्धिशेखर-न०। शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प।

सिधु-सीधु-पु०। गुडधातकीसम्भवे मद्ये, विपा० ८ अ०।

सिनात-स्नात-त्रि०। 'थे-स्न-पृ रिय-सिन-सटाः क्वचित्'॥८।४।३१४॥ इति स्न इत्यस्य स्थाने सिनादेश.। स्नानम्। सिनात। शुचीभूते, प्रा० ४ पाद।

सिन्दी-देशी—खर्जूर्याम्, दे० ना० ८ वर्ग २९ गाथा।

सिन्दुवण-देशी—अग्नौ, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा।

सिन्दू-देशी—रज्ज्वाम् दे० ना ८ वर्ग २८ गाथा।

सिन्दूर-देशी—राज्ये, दे० ना० ८ वर्ग ३० गाथा।

सिन्दोला-देशी—खर्ज्जूर्याम्, दे० ना० ८ वर्ग २९ गाथा।

सिन्धुओ-देशी—राहौ, दे० ना० ८ वर्ग २ गाथा।

सिन्न-सैन्य-न०। "सैन्ये वा"॥ ८। १। १५०॥ इति सैन्यशब्दे पेत इत्व। सैन्यम्। सिन्नं। सैनिके, प्रा० १ पाद।

सिप्प-सिल्प-न०। अनाचार्यके कर्मणि, नित्यव्यापारे च। स्था० ४ ठा० ४ उ०। भ०। चित्रादिविज्ञाने, स्था० ५ ठा० ३ उ०। पिं०। क्रियासु कौशले, आ० म० १ अ०। अङ्गमर्द्दनादिके, औ०। कल्प०। दश०। शिल्पशनम्। शिल्पानि कुम्भकारक्रियादीनि नैपुणयानि वा लेख्यादिकलालक्षणानि। दश० ९ अ० २ उ०। शिल्पशतं च कालनिधौ वर्त्तते, तथा च—" घट १ लोह २ चित्र ३ वस्त्र ४ नापित-शिल्पाना प्रत्येक विशतिभेदात्। स्था० ९ ठा० ३ उ०। चित्रादिके, प्रश्न० ६ आश्र० द्वार। क्रियाकौशले, रा०। सातिशयं आचार्योपदेशज ग्रन्थनिबद्धं व्यापारे, आ० म० १ अ०। आ०चू०। अनाचार्यकं कर्म, साचार्यकं शिल्पम्। अथवा–कादाचित्क शिल्पम्, सार्वकालिक कर्म। नं०। आ० म०।

सिह्–धा०। प्रीतौ. "स्निह-सिचो सिप्प"॥ ८। ४। २५५॥ अनयो कर्मभावे सिप्प इत्यादेशो भवति क्यलुक् च। सिप्पइ। स्निह्यते। प्रा० ४ पाद।

सिच्–धा०। सेचने, पूर्ववत् सिप्पादेश। सिप्पइ। सिच्यते। प्रा०।

सिप्पसत्थ-शिल्पशास्त्र-न०। य. शिल्पनिमित्तादिशास्त्राणि ग्राहयति स इहोपचारत शिल्पशास्त्रम्। शिल्पशास्त्रग्राहके, विशे०।

सिप्पसय-शिल्पशत-न०। भगवत आचार्योपदेशज शिल्पमिति। तच्छते, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

सिप्पसिद्ध-शिल्पसिद्ध-पु०। शिल्पभेदे, आ० म०।

सम्प्रति शिल्पसिद्धं सोदाहरणमभिधातुकाम आह—

जो सव्वसिप्पकुसले, जो वा जत्थ सुपरिनिट्ठितो होइ।
कोकासवड्ढइ व्विव, सातिसतो सिप्पसिद्धो त्ति॥

य कश्चिद् निर्दिष्टस्वरूप सर्वशिल्पेषु कुशलः यो वा यत्रैकस्मिन्नपि शिल्पे सुपरिनिष्ठित. सातिशयश्च कोकासवर्द्धकिवत् स शिल्पसिद्ध इति एष गाथाक्षरार्थः। आ० म० १ अ०। आ० क०।

कथा चेयम्—

"पुरं सोपारकं तत्र, रथकारोऽभवत्सुधी।
तद्दास्याश्च द्विजाज्जात, कोकासो नाम दारक ॥ १॥
स चासीन्मूकभावेन, समीपेऽप्यश्रवा इति।
रथकार सुशिल्पानि, शिष्यत्यङ्गजान्निजान्॥ २॥
न तेऽगृह्णन्किमप्यज्ञा, दासेर सर्वमग्रहीत्।
रथकारे मृत राजा, दासेरे तच्छ्रिय न्यधात्॥ ३॥
इतश्चोज्जयिनीपुर्या-मार्हत श्रावको नृपः।
चत्वार श्रावकास्तस्य, सन्ति कर्मसु कर्मठाः॥ ४॥
करोत्येको रसवतीं, तादृक् पाकवती, यथा।
जीर्यत्यत्र भुक्तमात्र-मथवा याममात्रत ॥ ५॥
यथा द्वित्रिचतु पञ्च-यामैर्भ्या जीर्यते क्रमात्।
यथा वा कुरुते येन, सर्वथाऽपि न जीर्यति॥ ६॥
अभ्यनक्ति द्वितीयस्तु, स तैलकुडवं प्रधीः।
प्रवेशयाने देहान्त-स्तावन्निस्सारयत्यपि॥ ७॥
तार्तीयीको रचयति, शय्या तादृग्विधां यथा।
जागर्ति प्रथमे यामेऽथवा द्वित्रिचतुर्थके॥ ८॥
श्रीगृहाधिकृतस्तुर्य-स्तस्मै तन्मतिवैभवम्।
प्रविष्टो ह्यपरस्तत्र, न किञ्चिदपि पश्यति॥ ९॥
स च क्ष्माभृद्दपुत्रत्वा-द्राजकार्येषु शीतलः।
निर्विण्णकामभोगोऽस्ति, यावद्व्रतकृतोद्यमः॥ १०॥
इतश्च पाटलीपुत्रा-ज्जितशत्रु क्षितीश्वर।
लङ्कापुरीं राम इव, रुरोधागत्य तत्पुरीम॥ ११॥
तदाऽवन्तीपते. शूल-मुत्पन्नं दैवयोगत।
विधायानशन सोऽथ, जगाम त्रिदशालयम्॥ १२॥
नागरैरथ तस्यैव, पाटलीपुत्रभूभुज.।
अर्पिता नगरी तेन, श्रावकास्ते च शब्दिताः॥ १३॥
चत्वारोऽप्यागताः पृष्टा, पदाऽभूद्वोऽत्र कुत्र क.।
कोशं कोशाधिकृत्तत्रा-दर्शयन्निक्रमैक्षत॥ १४॥
शय्यापालस्तु शय्या च, सज्जयामास तादृशीम्।
मुहूर्त्ते च मुहूर्त्ते च, यस्या उत्थीयते जवात्॥ १५॥
सूदनाऽन्नं तथा राद्धं, येन भुङ्क्ते क्षणे क्षणे।
अभ्यक्त्राऽन्येन चैकस्मा-त्तैलमाकर्षि पादत.॥ १६॥
ऊर्ध्वे व्यस्तेऽस्थिमज्जुल्य, सोऽन्यत्तैलमाकृपत्।
प्राव्रजन्नथ सर्वेऽपि, निजस्वामिवियोगतः॥ १७॥
तेन तैलेन तस्याहि-र्दह्यमान. क्रमादभूत्।
काकश्यामस्तत. सोऽत्र, काकजङ्घ इति श्रुतः॥ १८॥
इतश्च सोपारपुरे, दुर्भिक्षमभवत्तदा।
आजगाम ततोऽवन्त्या, पुर्यां कोकासवर्द्धकि.॥ १९॥
राज्ञ स्वज्ञापनायाथ, शालीन्काष्ठकपोतकैः।

अपाहरत्समतिक्रिन, कोष्ठागारात्स्वदेशितु ॥ २० ॥
नियुक्ते कथिने राज्ञा—ऽऽनाय्य कोकासवर्द्धकिः ।
रथकारपदे चक्रे, पूज्या कुत्र गुणा न वा ॥ २१ ॥
चक्रे काष्ठमयस्तेन गरुडो नृपते कृते ।
य कीलिकाप्रयोगेण, व्योमगामी सजीववत् ॥ २२ ॥
अथ राजा सराज्ञीक , कोकासेन समं सदा ।
व्योम्ना गरुडमारूढ , सर्वां संचरते महीम् ॥ २३ ॥
मारयिष्याम्यहं युष्मान् , व्योम्नागत्य यदाज्ञिति ।
भापयित्वा परान्सर्वान् , भूपतीन् करदान् व्यधात् ॥ २४ ॥
तां देवीमपरा प्राहु—रेष कीलिकया कया ।
गरुत्मान् चलते ब्रूहि, साऽऽज्ञैवाख्यदेतया ॥ २५ ॥
ईर्ष्ययैकाऽऽददे राज्ञी, तन्निवर्त्तनकीलिकाम् ।
तथियागान्नृपत्नेन, वाहितस्तु न सोऽचलत् ॥ २६ ॥
अथोद्दाम प्रजंस्ताक्ष्यौ, महावाताभिघातत. ।
कलिङ्गेषु तडागान्ते, भग्नपदा पपात स' ॥ २७ ॥
तस्य सङ्घटनाहेतो—र्वास्याद्यानेतुमुत्सुकः ।
कोकासो नगरेऽयासी—त्तत्रान्यो रथकृत्तदा ॥ २८ ॥
काष्ठकर्मालये राज्ञो, रथं कुर्वन्समस्ति सः ।
तेनैकं निर्मितं चक्र—मन्यदस्त्यर्द्धनिर्मितम् ॥ २९ ॥
कोकासेनार्थितं तत्रैत्य, तत्तोपकरणानि स. ।
सोऽभ्यधादर्पयिष्यामि, गृहादानीय तान्यहम् ॥ ३० ॥
इतो नैतानि लप्स्यन्ते, नेतुमित्यगमद् गृहे ।
कोकासेनार्द्धनिष्पन्नं, तच्चक्रं घटितं क्षणात् ॥ ३१ ॥
प्रक्षिप्तं याति वेगेन, स्खलितेऽपि पतेन्न तत् ।
किं तु पश्चान्मुखं याति, स्खलिते त्वितरत्पतत् ॥ ३२ ॥
आगत. सोऽथ तच्चक्रं, दृष्ट्वा गत्वा सपद्यपि ।
राज्ञो विज्ञापयामास, यथा कोकास आययौ ॥ ३३ ॥
यद्बलात्काकजङ्घेन, नृपाः सर्वे वशीकृता. ।
धृतोऽसौ ताडनाख्य—द्धृतो राजाऽथ सप्रिय. ॥ ३४ ॥
दण्डिताः स्मो वयमिति, तयोर्भक्तं निवारितम् ।
नागरैर्यशोभीतै', काकपिण्डी प्रवर्तिता ॥ ३५ ॥
कोकासं च स राजोचे, प्रासादं शतभूमिकम् ।
मम पुत्रशतस्य त्वं, कुरु मध्ये च मत्कृते ॥ ३६ ॥
पश्चादाज्ञापयिष्यामि, राजकं सर्वमप्यहम् ।
कोकासो ज्ञापयामास, काकजङ्घतनूरुहम् ॥ ३७ ॥
सपुत्रं संहरिष्यामि, नृपमेतं दिनेऽमुके ।
आगन्तव्यं त्वयाऽवश्य—मत्र तद्दिवसोपरि ॥ ३८ ॥
कृत्वा प्रासाद कोकासो, नृपमारुह्य सात्मजम् ।
सजहे कीलिकापातात्, सपुटीकृत्य तं जवात् ॥ ३९ ॥
काकजङ्घतनूजेन, लब्ध तत्कालमीयुषा ।
नगरं अगृहऽमोचि, पिता माता च वर्द्धकिः ॥ ४० ॥
विधायाथ महोत्साहं, सर्वेऽपि स्वपुरं ययुः ।
शिल्पसिद्ध इति ख्याति, प्राप कोकासवर्द्धकिः ॥ ४१ ॥"
आ० क० १ अ० ।

सिप्पं—देशी—पलाले, दे० ना० ८ वर्ग २८ गाथा ।

सिप्पा—शिप्रा—स्त्री० । स्वनामख्यातायामुज्जयिन्या महानद्याम् , आ० म० १ अ० । आ० क० ।

सिप्पाजीव—शिल्पाजीव—पुं० । शिल्पं तूर्णनादि सााचार्यक वा कर्म्म तेन जीवति जीविकां कल्पयतीत्यर्थ । शिल्पोपजीविनि , स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रश्न० ।

सिप्पायरिय—शिल्पाचार्य—पुं० । तुन्नकादिषु शिल्पिषु , प्रज्ञा० १ पद । ('आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३०३ पृष्ठे गतमेतत् ।)

सिप्पि—शिल्पिन्—पुं० । चित्रकारसूत्रधारलोहकारस्वर्णकारस्थपतिप्रभृतिषु, उत्त० १५ अ० । औ० । रा० । ज्ञा० ।

शुक्ति—स्त्री० । द्वीन्द्रियजीवविशेषे,प्रज्ञा० १ पद । "सिप्पिपुडगसठाणसंठिय " उपा० २ अ० ।

सिप्पिय—शिल्पिज—न० । तृणविशेषे , प्रज्ञा० १ पद ।

सिप्पिसंपुड—शुक्तिसंपुट—त्रि० । संपुटरूपासु शुक्तिषु, प्रज्ञा० १ पद । औ० । नि० चू० । जी० ।

सिप्पोवगय—शिल्पोपगत—त्रि० । शिल्पं क्रियासु कौशलमुपगत' प्राप्त । रा० । शिल्पसमन्विते, 'निउणसिप्पोवगए' अनु० ।

सिप्पोवदेसमइ—शिल्पोपदेशमति—स्त्री० । आचार्यस्य शिल्पोपदेशदातुरुपदेशाज्जायमानाया बुद्धौ, औ० ।

सिफा—शिफा—स्त्री० "फो भ-हौ" ॥ ८ । १ ।२३६॥ इति फस्य भहौ । सिफा । सिभा । वृक्षाणां जटाकारे मूले, प्र० १ पाद ।

सिमिण—स्वप्न—पुं० । " स्वप्न—नीव्योर्वा " ॥८।१।२५९॥ इति वस्य मो वा । सिमिणो । सिविणो । स्वापावस्थायाम् , प्रा० ।

सिम्मिअं—देशी—भूतगृहीते, दे० ना० ८ वर्ग ४० गाथा ।

सिम्बाडी—देशी—नासिकानादे, दे० ना० ८ वर्ग २९ गाथा ।

सिम्बीरं—देशी—पलाले, दे० ना० ८ वर्ग २८ गाथा ।

सिम्भ—श्लेष्मन्—पुं० । " सर्वत्र लवरामवन्द्रे" ॥८।२।७९॥ इति ललुक् । ह्रस्व. संयोगे दीर्घस्य ॥८।१।८४॥ इत्येकारस्येकार । "शषो. स." ॥८ । १ । २६०॥ इति शस्य स । "पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मा म्ह "॥ ८ । २ । ७४ ॥ इति क्वाचित्कत्वादत्र म्भ । सिम्भो । कफ, प्रा० । अपभ्रंशे तु-पक्ष्म-श्मति म्हादेशे-"अम्भो वा" प्रा० ढु० १ पाद । इति म्हेत्यस्य स्थाने मकाराक्रान्तो भकार । प्रा० ।

सिय—शित—त्रि० । अतितेजिते, रा० । बद्धे परिग्रहेच्छारम्भेष्वासक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । विशे० । स्था० । पुत्रकलत्रादिभिर्बद्धे , आचा० । सूत्र० । भ० । ('कम्मसेसियमट्ठा ' इति ' सिद्ध ' शब्दे सितशब्दार्थो उक्त. ।) चामरे , दश० ४ अ० । आचा० । सूत्र० ।

सित—त्रि० । शुक्ले, चं० प्र० १८ पाहु० । सूत्र० । संथा० । आचा० । सितवर्णे , 'षिञ्' बन्धने इति वचनात् । सितपट्टे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० म० । आ० चू० । स० ।

श्रित—त्रि० । सम्बद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आश्रिते, स० ३३ सम० ।

स्यात्—अव्य० । प्रशंसास्तित्वविवादविचारणानेकान्तसंशयप्रश्नादिषु,प्रज्ञा०५ पद । अनेकान्तद्योतने, स्या० । भ० । रत्ना० ।

सियंबर—श्वेताम्बर—पुं० । जैने , आव० ६ अ० ।

सियंबुज—श्वेताम्बुज—न० । पुण्डरीके , आ० म० १ अ० ।

सियकमल—सितकमल—न० । पुण्डरीके , औ० ।

सियणाम-सितनामन्-न० । नामकर्मभेदे,यदुदयाज्जन्तुशरीरं सित—श्वेतं शङ्खादिवद्भवति । कर्म० १ कर्म०।

सियवत्थ-सितवस्त्र-न० । शुक्लवाससि , पञ्चा० २ विव०।

सियवाय-स्याद्वाद-पुं० । स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं ततः स्याद्वादः। अनेकान्तवादे,नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगमे, स्या० । उत्त० । "स्यादस्तीत्यादिको वादः, स्याद्वाद इति गीयते । नयौ न च विमुच्यायं,द्रव्यपर्यायवादिनौ ॥३॥ अनश्चैनत् द्वयोपेतं, स्वमत समुदाहृतम् ।सज्ञानतत्त्वसंविद्भिः स्याद्वादः परमेश्वरे ॥४॥" उत्त० १ अ० । जिनागमे, द्रव्या० ७ अध्या० । अनु० । (अत्र यद्वक्तव्यं तद् ' अणेगतवाय 'शब्दे प्रथमभागे ४२३ पृष्ठे उक्तम् ।)

यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेणाऽवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः, वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वान्नय इत्युच्यते, स च नियमान्मिथ्यादृष्टिरेव अयथावस्थितार्थवस्तुपरिग्राहकत्वात् ,अत एवोक्तमन्यत्र "सव्वे नया मिच्छावाइणो " इति , यत एव च नयवादो मिथ्यावादस्तत एव च जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्वपरिजिहीर्षया सर्वमपि स्यात्कारपुरस्सरं भाषन्ते, नतु जातुचिदपि स्यात्कारविरहितम् , यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न सर्वदा साक्षात्स्यात्पदं प्रयुञ्जते तथापि तत्राप्रयुक्तेऽपि सामर्थ्यात्स्याच्छब्दो द्रष्टव्यः प्रयोजकस्य कुशलत्वात् , उक्तं च—"अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते । विधौ निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥ १ ॥' अत्र अन्यत्रापि इति अनुवादातिदेशादिवाक्येषु । ननु यदि सर्वत्र स्यात्पदप्रयोगानुसरणं तर्हि मूलत एवापगमादवधारणविधिः परस्परमेतयोर्विरोधात् , तथा हि-अवधारणमन्यनिषेधपरं स्यात्पदप्रयोगस्तु अन्यसंग्रहणशील इति, तदयुक्तं सम्यक् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । स्यात्पदप्रयोगो हि विवक्षितवस्त्वनुयायां धर्मान्तरसंग्रहणशील ,अवधारणविधिस्तु तत्तदा शङ्कितान्ययोगव्यवच्छेदादिफल ,तथाहि-ज्ञानदर्शनवीर्यसुखोपेत किं जीवो भवति ?। किं वा नेत्याशङ्कायां प्रयुज्यते—स्याज्जीव एव । अत्र जीवशब्देन प्राणावधारणनिबन्धनं जीवशब्दवाच्यत्वमभिधीयते, एवकारेण यदा शङ्कित परेणाजीवशब्दवाच्यत्वं तस्य निषेध , स्यात्पदप्रयोगात्तु ये ज्ञानदर्शनसुखादिरूपा असाधारणा ये त्वमूर्त्तत्वासंख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्माधर्माकाशास्तिकायपुद्गलैः साधारणा येऽपि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वाऽऽदयः सर्वैः पदार्थैः साधारणास्ते सर्वेऽपि प्रतीयन्ते । यदा तु ज्ञानदर्शनादिलक्षणो जीवः किं वाऽन्यलक्षण इत्याशङ्का तदैवमवधारणविधिः स्यात् ज्ञानादिलक्षण एव जीव अत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यतामात्र प्रतीयते, ज्ञानादिलक्षण एवेत्यन्यलक्षणव्युदासः । स्यात्पदप्रयोगात्तु साधारणाऽसाधारणधर्मपरिग्रहः । यदा तु जगति जीवोऽस्ति, किं वा नेत्यस्याभाशङ्का तदैवमवधारणं स्यादस्त्येव जीव , अत्रापि जीवशब्दप्रयोगाज्जीवशब्दवाच्यताधिगतिः स्यात्पदप्रयोगाद् साधारणाऽसाधारणधर्मपरिग्रहः ।अस्त्येवेत्यवधारणादसम्भवाशङ्काव्यवच्छेदः , एवमन्यत्रापि साक्षाद्दृश्यमानतया स्यात्पदप्रयोगपुरस्सरं यथायोगमवधारणविधिः सम्यक् प्रवचनार्थज्ञातेन प्रयोक्तव्यः । अवधारणाभावे तु जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वव्यवस्थाविलोपप्रसङ्गः, तथाहि-यद्यन्ययोगव्यवच्छेदेन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एवेति नावधार्यते, तर्हि अजीवोऽपि तल्लक्षण स्यादिति जीवाजीवव्यवस्थालोपः । तथा यदि ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण एव जीव इत्यन्ययोगव्यवच्छेदो नाभ्युपगम्यते ततोऽन्यत् किमप्यजीवानुगतमजीवसाधारण वा तथा लक्षणमाशङ्कयेत तथापि जीवेतरविभागपरिज्ञानाभाव , ततो यथा सम्यग्वादित्वमिच्छता सर्वत्र स्यात्पदप्रयोगः साक्षात् गम्यो ऽनुमीयते, तथा यथायोगमवधारणविधिरपि,अन्यथा यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रतिपत्त्यनुपपत्ते नचावधारणविधिरपि सिद्धान्तेनानुमत इति वक्तव्यं तत्र तत्र प्रदेशेऽनेकशोऽवधारणविधिदर्शनात् । तथा हि-" किमयं भंते ! कालो त्ति पवुच्चइ गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव " स्थानाङ्गेऽप्युक्तम्-"जं त्थं च णं लोए तं सव्व दुप्पडोयारं, तं जहा—जीवा चेव, अजीवा चेव तहा जह चेव मोक्खफला आणा आराहिया जिणिंदाणमि"त्यादि या चावधारणी भाषा प्रवचने निषिध्यते सा क्वचित् तथारूपवस्तुतत्त्वनिर्णयाभावात् क्वचिदेकान्तप्रतिपादिका वा न तु सम्यक् यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिर्णये स्यात्पदप्रयोगावस्थायामिति । दैगम्बरी त्वियं प्रमाणनयभाषा सम्पूर्णवस्तुकथनं प्रमाणवाक्यं यथा-स्याज्जीव स्याद्धर्मास्तिकाय इत्यादि । वस्त्वेकदेशकथनं नयवादः, तत्र यो नाम नयो नयान्तरसापेक्ष स नय इति वा सुनय इति वा प्रोच्यते (आ० म०) नयचिन्तायामपि च ते दिगम्बरा स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति। तथा चाकलङ्क एव प्राह—नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषय स्यादिति । अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता-नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं, न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थ , तथैव-स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात् , यथा-स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति, तदेतदयुक्तम् , प्रमाणनयविभागाभावप्रसङ्ग ,तथाहि-स्याज्जीव एवेति किल प्रमाणवाक्यं , स्यादस्त्येव जीव इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयस्तयाऽलङ्कारे साक्षादकलङ्केनेदमुदाहृतम् अत्र चोभयत्रापि विशेष , तथाहि-स्यात् जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्दवाच्यता प्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनाद्भुताकारशब्दप्रयोगादजीवशब्दवाच्यताप्रतिषेध , स्याच्छब्दप्रयोगतः असाधारणसाधारणधर्माक्षेपः । स्यादस्त्येव जीव इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिरस्तीत्यनेनाद्भुतविवक्षास्तित्वावगति , एवकारप्रयोगात्तु यदाशङ्कितं सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्व तद्व्यवच्छेदः , स्यात्पदप्रयोगादसाधारणसाधारणधर्मप्रतिपत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव । तथा च-सिद्धव्याख्याता न्यायविचारविदुना-'स्यादस्त्येव जीव'इति प्रमाणवाक्यमुपन्यस्तवान् , तथा च तद्ग्रन्थ " यदा तु प्रमाणव्यापारमविकलं परामृश्य प्रतिपादयितुमभिप्रेतेन प्रयुज्यते तदा अङ्गीकृतगुणप्रधानभावाशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायं स्याच्छब्दविभूषितया साधारणया च वाचा स्यादस्त्येव जीव इत्यादिकया, अतोऽयं स्याच्छब्दसमूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतदसम्भवस्य वस्तुन सन्दर्शकत्वा-

ऽसकलादेश इत्युच्यते, प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावदित्यादि तस्मादसदुक्तैव प्रमाणनयत्वव्यवस्था समीचीना, यथा यो नाम नयो नयान्तरसापेक्ष परमार्थेन. स्यात्पदप्रयोगमभिलपन् सम्पूर्णं वस्तु गृह्णातीति प्रमाणान्तरभावनीयम्. नयान्तरनिरपेक्षस्तु यो नय स च नियमान्मिथ्यादृष्टिरेव सम्पूर्णवस्तुग्राहकत्वाभावादिति। आ० म०१ अ०। "स्याद्वादाय नमस्तस्मै, य विना सकला क्रिया । लोकद्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमासते ॥ १ ॥" स्था० ६ ठा० । सकलनयसमूहात्मकवचने, द्वा० ६ द्वा० । " नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातव । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्या प्रणता हितैषिण ॥१॥" आ० म० १ अ० । अनु० । सूत्र० ।

सियवायमंजरी–स्याद्वादमञ्जरी–स्त्री०। हेमचन्द्रसूरिविरचितायां वर्द्धमानजिनस्तुतिलक्षणायां अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां व्याख्यानरूपे मल्लिषेणसूरिविरचित ग्रन्थविशेष, स्या० ।

"येषामुज्ज्वलहेतुहेतिरुचिर प्रामाणिकाध्वस्पृशां,
हेमाचार्यसमुद्भवस्तवनभूरर्थे समर्थ. सखा ।
तेषा दुर्नयदस्युसम्भवभयाऽस्पृष्टात्मना संभव—
स्याद्वादेन विना जिनागमपुरप्राप्ति शिवश्रीप्रदा ॥ १ ॥
चातुर्विध्यमहोदधेर्भगवत. श्रीहेमसूरेर्गिरा,
गम्भीरार्थविलोकने यदभवद् दृष्टि. प्रकृष्टा मम ।
द्राघीय समयादराग्रहपराभूतप्रभूतावम,
तन्नून गुरुपादरेणुकणिकासिद्धाञ्जनस्योर्जितम् ॥ २ ॥
अन्यान्यशास्त्रतरुसङ्गतचित्तहारि,
पुष्पोपमेयकतिचिच्चिलप्रमेयै ।
दृब्धा मयाऽन्तिमजिनस्तुतिवृत्तिमेना,
मालामिवामलहृदो हृदये वहन्तु ॥ ३ ॥
प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र,
यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ता. ,
प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥ ४ ॥
उन्मेष सुधाभुजा गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारिणो,
यत्रैय प्रतिभाभरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भते ।
किं चामी विबुधा. सुधेति वचनोद्गार यदीयं मुदा,
शंसन्त प्रथयन्ति तामतितमा सवादमेदस्विनीम् ॥ ५ ॥
नागेन्द्रगच्छगोविन्द—वक्षोऽलङ्कारकौस्तुभा ।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासु—रुदयप्रभसूरय ॥ ६ ॥ युग्मम् ।
श्रीमल्लिषेणसूरिभि—रकारि तत्पदगगनदिनमणिभि ।
वृत्तिरिय मनुरविमित—शाकाब्दे दीपमहसि शनौ ॥७॥
श्रीजिनप्रभसूरीणा, साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।
श्रुतावुत्तसतु सता, वृत्ति स्याद्वादमञ्जरी ॥ ८ ॥
बिभ्राण किल निर्जराञ्जिनतुला श्रीहेमचन्द्रप्रभो .
तदृब्धस्तुतिवृत्तिनिर्मितिमिषाद्भक्तिर्मया विस्तृता ।
निर्णेतुं गुणदूषणे निजगिरा तत्प्रार्थये सज्जनान्,
तस्यास्तत्त्वमकृत्रिम बहुमति साऽस्त्यत्र सम्यग् यत ॥९॥'
स्या० ।

सियवायमुद्दानइभेइ–स्याद्वादमुद्रानतिभेदिन्–त्रि० । स्याद्वाद –अनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । तस्य मुद्रा—मर्यादा तां नाऽतिभिनत्ति नातिक्रामति स्याद्वादमुद्रानतिभेदी । अनेकान्तवादमर्यादाव्यवस्थिते, स्या० (' अणेगंतवाय ' शब्दे प्रथमभागे ४२३ पृष्ठे विस्तरो गत ।)

सियवायरयणागर–स्याद्वादरत्नाकर–पु० । देवसूरिभिर्विरचिते प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारटीकाग्रन्थे, रत्ना० ।

"सिद्धये वर्धमान स्तात, ताम्रा यन्नखमण्डली ।
प्रत्यूहशलभप्लोषे दीप्रदीपाङ्कुरायते ॥ १ ॥
यैरत्र स्वप्रभया. दिगम्बरस्यार्पिता पराभूति ।
प्रत्यक्ष विबुधाना. जयन्तु ते देवसूरयो नव्या ॥ २ ॥
स्याद्वादमुद्रामपि नातिभिन्दन्त्या,
क्षमाभृतां स्तौमि जिनेश्वराणाम् ।
सन्न्यायमार्गानुगतस्य यस्यां,
सा श्रीस्तदन्यस्य पुन स दण्ड ॥ ३ ॥"

इह हि लक्ष्यमाणाऽक्षोदीयोऽर्थोऽक्षूणाक्षरक्षीरनिरन्तरे, तत इतो दृश्यमानस्याद्वादमहामुद्रामुद्रितानिद्रप्रमेयसहस्रोत्तुङ्गत्तरङ्गभङ्गिसङ्गसौभाग्यभाजने, अतुलफलभरभ्राजिष्णुभूयिष्ठागमाऽभिरामातुच्छपरिच्छेदसन्दोहशाद्वलाम्लानकाननिकुञ्जे, निरुपममनीषामहायानपात्रव्यापारपरायणपुरुषप्राप्यमाणाप्राप्तपूर्वरत्नविशेषे, क्वचन वचनरचनाऽनवद्यगद्यपरम्पराप्रवालजालजटिले, क्वचन सुकुमारकान्तालोकनीयास्तोकश्लोकमौक्तिकप्रकरकरम्बिते, क्वचिदनेकान्तवादोपक्षिप्तानल्पविकल्पकल्लोलोल्लासितोद्दामदूषणाद्रिविद्राव्यमाणानेकतार्थिकनक्रचक्रचक्रवाले, क्वचिदपगताशेषदोषानुमानाभिधानोद्वर्तमानासमानपाठीनपुच्छच्छटाऽऽच्छोटनोच्छलदतुच्छशीकरश्लेषसञ्जायमानमार्तण्डमण्डलप्रचण्डचमत्कारे, क्वापि तीर्थिकग्रन्थग्रन्थिसार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमानस्वयमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे, सहृदयसैद्धान्तिकतार्किकवैयाकरणकविचक्रचक्रवर्तिसुविहितसुगृहीतनामधेयास्मद्गुरुश्रीदेवसूरिभिर्विरचिते स्याद्वादरत्नाकरे न खलु कतिपयतर्कभाषातीर्थमजानन्तोऽपाठीना अधीवराश्च प्रवेष्टु प्रभविष्णव, इत्यतस्तेषामवतारदर्शन कर्तुमनुरूपम् । तच्च सक्षेपत शास्त्रशरीरपरामर्शमन्तरेण नोपपद्यते । सोऽपि समासत सूत्राभिधेयावधारण विना न इति, प्रमाणनयतत्त्वालोकाख्य तत्सूत्रार्थमात्रप्रकाशनपरा रत्नाकरावतारिकानाम्नी लघीयसी टीका प्रकटीक्रियत । तत्र चेह यत्र क्वचिदपि प्रवर्तमानस्य पुरुषत्वाभिमानिनोऽनेकप्रकारतत्तद्गुणदोषदर्शनाऽऽहितसस्कारस्याऽहायहंय स्मृतिकोटिमुपढौकनीया भवन्त्युपकारिण, अपकारिणश्च, विशेषतो ये यत्र तदभिमततत्त्वावधारणेनाऽऽरिराधयिषिता., तदुपहितदोषापसारणेन पराचिकीर्षिताश्च द्वयेऽपि चामी द्वेधा—परापरभेदात्, बाह्यान्तरङ्गभेदाच्च इत्यस्मिन् प्रमाणनयतत्त्वपरीक्षाप्रवीणे प्रक्रमे कृतज्ञास्तत्र भवन्तस्तेषा प्रागेव स्मृतये श्लोकैकक्रमेणमचिकीर्तत् । रत्ना० १ परि० ।

सिया–स्यात्–अव्य० । आशङ्कायाम्, आशङ्का नाम विभाषा, स्यादिति काऽर्थ –कदाचिद्भवेत्, कदाचिन्न भवेत्। व्य०१उ०।

उत्त०। दश०। अवधारणे नि० चू० १ उ०। भवत्यर्थे, आशङ्कायां भजनायां वा। तत्र भवत्यर्थे सुप्रसिद्ध, आशङ्कायां यथा "दव्वत्थउ भावत्थउ, दव्वत्थउ बहुगुणु त्ति बुद्धि सिया" भजनायां यथा–"सिय तिभागे सिय तिभागतिभागे" इत्यादि। बृ० १ उ० २ प्रक०।

सिता–स्त्री०। मृद्धिकादीनां सग्रहे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

सियाणकरण–श्मशानकरण–न०। श्मशानस्थापनायोग्यप्रत्युपेक्षणे, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सियाल–शृगाल–पुं०। गोमायौ, प्रश्न० ११ पद। बृ०। जम्बुके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। बृ०। शृगालो वै एष जायते यस्सपुरीषो दह्यते। आ० म० १ अ०। नरकपालविकुर्वित जम्बुके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। प्रश्न०।

सियालखाइता–शृगालखादिता–स्त्री०। शृगालस्तु न्यग्रोधस्योपालस्थाव्यान्यस्थानमक्षणेन वा खादिता तत्स्वभावा चेति। प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

सियालता–शृगालता–स्त्री०। दीनवृत्तौ, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

सियाली–शृगाली–स्त्री०। शृगालभार्यायाम्, प्रश्न० ६ पद २ द्वार।

सिर–सृज–धा०। सृष्टौ, "सृजो रः।" ॥ ८। ४। २२९ ॥ इत्यन्तस्य र। सिरइ। सृजति। प्रा० ४ पाद।

शिरस्–न०। उत्तमाङ्गे, त०। सूत्र०। दश०। औ०। "अमदामशिरोनभः" ॥८।१।३२॥ इत्यत्र शिरः पर्युदासात् शिरसः पुस्त्वं न। प्रा०। उपचाराच्छिरोबन्धने, औ०। मस्तके, "सिरसामियकरयलेजलि" शिरसि–मस्तके नमितो निवेशित करतलयोर्हस्तयोरञ्जलिर्हस्तविन्यासविशेषो यत्र करणे तत्तथा कर्त्तव्यमित्येतान्क्रियाविशेषणमिदमिति। पञ्चा० ४ विव०। 'सीस सिरं उत्तमंग च" पाइ० ना० १११ गाथा।

सिरपरिरय–शिरःपरिरय–पु०। करभ्रमणाभिमन्त्रणे, प्र–व० ५ द्वार।

सिरपाल–शिरःपाल–पु०। विंगउलीदेशीयविंगल्लनगरराजे, ती० ५१ कल्प। ('अंतरिक्खपासणाह' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे कथा।)

सिरमुंड–शिरोमुण्ड–पु०। शिरसा मुण्डे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सिरय–शिरोज–पु०। मस्तककेशे, प्रश्न० १ पद।

सिररुह–शिरोरुह–पुं०। केशे, प्रश्न० १ पद।

सिरवेयणा–शिरोवेदना–स्त्री०। "अनोट्ठाऽन्योन्य-प्रकोष्ठातोद्यशिरोवेदना-मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः" ॥८।१।१५६॥ एषु ओत्वं वा भवति। तत्संनियोगे च यथासम्भव ककारतकारयोर्वाऽऽदेशः। सिरविअणा। सिरोवेअणा। शिरःपीडायाम, प्रा०।

सिरसंभूया–श्रीसम्भूता–स्त्री०। पक्षस्य षष्ठ्यां रात्रौ, ज्यो० ४ पाहु०।

सिरसावत्त–शिरसा(स्या)वर्त्त–पु०। शिरसा आवर्त्त आवृत्तिरावर्त्तनं परिभ्रमणं यस्यासौ। मस्तकेऽञ्जलिकरणेऽस्यावर्त्त। भ० २ श० १ उ०। शिरसि मस्तके आवर्त्तः प्रदक्षिणभ्रमणं यस्येति। कृतिकर्मणि क्रियमाणे आवृत्तेऽञ्जलौ। कर्म०। कर्म०। जी०। प्रा०। रा०।

सिरा–शिरा–स्त्री०। धमन्याम्, जी० ३ प्रति०। न०।

सिरि–श्री–स्त्री०। "ई-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यादिष्वित्" ॥८।२।१०४॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः। प्रा०। लक्ष्म्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उपा०। द्वा०। सम्पदि, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। शोभायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। नि०। जम्बूद्वीपे पद्महृदाधिष्ठातृदेव्याम्, स्था० ६ ठा० ३ उ०। अन्तरञ्जिकानगरीराजे, यत्र त्रैराशिकनवाचार्यस्य रोहगुप्तस्य परिव्राजकेन सह शास्त्रार्थोऽभवत्। विशे०। सौधर्मकल्पे स्वनामख्याते विमाने, नहद्व्याख्या। नि०।

एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए सेणिए राया सामी समोसढे परिसा निग्गया। तेणं कालेणं तेणं समएणं सिरिदेवी सोहम्मे कप्पे सिरिवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सिरंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं महत्तरियाहिं सपरिवाराहिं जहा बहुपुत्तिया० जाव नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगता, नवरं दारियाओ नत्थि पुव्वभवपुच्छा, एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए जियसत्तू राया। तत्थ णं रायगिहे नगरे सुदंसणे नामं गाहावई परिवसति, अड्ढे०। तस्स णं सुदंसणस्स गाहावइस्स पिया नामं भारिया होत्था सुमाला। तस्स णं सुदंसणस्स गाहावइस्स धूया पियाए गाहावतिणीए अत्तिया भूया नामंदारिया होत्था वुड्ढा वुड्ढकुमारी जुन्ना जुन्नकुमारी पडितपुतत्थणीवरपरिवज्जिया यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए० जाव नवरयणीए वण्णओ सो चेव समोसरणं परिसा निग्गया। तते णं सा भूया दारिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठतुट्ठा जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता एवं वदासी–एवं खलु अम्मताओ! पासे अरहा पुरिसादाणीए पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे० जाव देवगणपडिवुडे विहरति, तं इच्छामि णं अम्मयाओ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स पादवंदिया गमित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। तते णं सा भूया दारिया ण्हाया० जाव सरीरा चेडीचक्कवालपरिकिन्ना साओ गिहाओ पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा। तते णं सा भूया दारिया नियगपरिवारपरिवुडा रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति० त्ता जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता छत्तादीए तित्थकरातिसए पासति पासित्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुभिति० २ त्ता चेडीचक्कवालपरिकिन्ना जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए–

तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो वंदति वंदित्ता० जाव पज्जुवासति पज्जुवासित्ता तते णं पासे अरहा पुरिसादाणिए भूयाए दारियाए तीसे महति महलियाए धम्मकहाए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा वंदति वंदित्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं० जाव अब्भुट्ठेमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं । से जहेयं तुब्भे वदह जं नवरं देवाणुप्पिया! अम्मापियरो आपुच्छामि तते णं अहं० जाव व(प)व्वइत्तए अहासुहं देवाणुप्पिया ! तते णं सा भूया दारिया तमेव धम्मियं जाणप्पवरं०जाव दुरुहति दुरुहित्ता जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागता, रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागता , रहाओ पच्चोरुहित्ता जेणेव अम्मापितरो तेणेव उवागता , करयल० जहा जमाली आपुच्छति । अहासुहं देवाणुप्पिए ! तते णं से सुदंसणे गाहावई विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति , मित्तनाति आमंतेति ०जाव जिमियभुत्तुत्तरकाले सुईभूते निक्खमणमाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति कोडुंबियपुरिसे सद्दावित्ता एवं वदासि–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! भूयादारियाए पुरिससहस्सवाहिणीय सीयं उवट्ठवेह ०जाव पच्चप्पिणह । तते णं ते ०जाव पच्चप्पिणंति । तते णं से सुदंसणे गाहावई भूयं दारियं ण्हायं०जाव विभूसियसरीरं पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरुहति दुरुहित्ता मित्तनाति० जाव रवेणं रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव उवागते, छत्ताईए तित्थकरातिसए पासति सीयं ठावेति ठावित्ता भूयं दारियं सीयाओ पच्चोरुहेति पच्चोरुहित्ता, तते णं तं भूयं दारियं अम्मापियरो पुरतो काउं जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागते , तिक्खुत्तो वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! भूया दारिया अम्हं एगा धूया इट्ठा, एस णं देवाणुप्पिया ! संसारभउव्विग्गा भीया ०जाव देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडा ०जाव पव्वयति पव्वयित्ता तं एयं णं देवाणुप्पिया ! सिस्सिणी भिक्खं दलयति , पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया । सिस्सिणीभिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया ! तते णं सा भूता दारिया पासेणं अरहा० एवं वुत्ता समाणी हट्ठा उत्तरपुरच्छिमं सयमेव आभरणमल्लालंकारं उम्मुयइ , जहा देवाणंदा पुप्फचूलाणं अंतिए ०जाव गुत्तबंभयारिणी। तते णं सा भूता अज्जा अन्नदा कदाइ सरीरपाओसिया जाया यावि होत्था, अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवति, पादे धोवति, एवं सीसं धोवति, मुहं धोवति, थणगतराइं धोवति, कक्खंतराइं धोवति, गुज्झंतराइं जत्थ जत्थ वि य णं ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेतेति तत्थ तत्थ वि णं पुव्वामेव पाणएणं अब्भुक्खेति । ततो पच्छा ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेतेति । तते णं तातो पुप्फचूलातो अज्जातो भूयं अज्जं एवं वदासी–अम्हे णं देवाणुप्पिए ! समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ ०जाव गुत्तबंभचारिणीओ, नो खलु कप्पति अम्हं सरीरपाओसियाणं होत्तए, तुमं च णं देवाणुप्पिए ! सरीरपाओसिया अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवसि ०जाव निसीहियं चेतेहि, तं णं तुमं देवाणुप्पिए एयस्स ठाणस्स आलोएहि त्ति, सेसं जहा सुभद्दाए ०जाव पाडियक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तते णं सा भूता अज्जा अणोहट्टिया अणिवारिया सच्छंदमई अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवति ०जाव चेतेति । तते णं सा भूया अज्जा बहूहिं चउत्थछट्ठ० बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सिरिवडिंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि ०जाव ओगाहणाए सिरिदेवित्ताए उववण्णा पंचविहाए पज्जत्तीए भासामणपज्जत्तीए पज्जत्ता । एवं खलु गोयमा ! सिरीए देवीए एसा । दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता, ठिई एगं पलिओवमं सिरी णं भंते ! देवी ०जाव कहिं गच्छिहिति ? महाविदेहे वासे सिज्झिहिति एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ। नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० ।

कुन्थुनाथस्य मातरि, प्रव० ११ द्वार । स० । वणिग्ग्रामे मित्रनामकस्य राज्ञो भार्यायाम् ,विपा० १ श्रु० २ अ० । क्षुद्रहिमवद्देव्याम् ,आ० म० १ अ० । उत्तररुचकवास्तव्याया दिक्कुमार्याम् , आ० चू० १ अ० । वाराणस्यां भद्रश्रेष्ठिजीर्णश्रेष्ठिनो भार्याया. सुनन्दाया दुहितरि, आ० चू० ४ अ० । देवताप्रतिमाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । हिमवद्वर्षधरपर्वते स्वनामख्याते षष्ठे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सिरिअ–श्रीक–पुं० । सूर्यभद्रस्य भ्रातरि, ही० ३ प्रका० ।

सिरिअभिसेय–श्र्यभिषेक–पुं० । लक्ष्म्यभिषेके,जं० २ वक्ष० ।

सिरिउववेय–श्र्युपपेत–त्रि० । लक्ष्म्योपगते,दश० १ चू० ।

सिरिंग–देशी—विटे, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा ।

सिरिकंत–श्रीकान्त–पुं० । अयोध्यानगरीराजस्य मिथ्यादृष्टेः श्रीवीरस्य पुत्रे, अष्ट० २५ अष्ट० । ('राग' शब्दे षष्ठे भागे कथा ।) षष्ठे देवलोके विमाने , स० १४ सम० । श्रीकान्तानगरीवास्तव्ये व्यवहारिणि, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सिरिकंता–श्रीकान्ता–स्त्री० । भोगपुरवास्तव्यस्य वरुणश्रेष्ठि-

नो भार्यायां सुलभकुमारमातरि, ध० र० २ अधि०। मरुदेवस्य पञ्चकुलकरस्य भार्यायाम्, आ० म० १ अ०। स्था०। स०। स्वनामख्यातायां सार्थवाहाम्, आव० ४ अ०। आ० म०। आ० क०। ('अलोभया' शब्दे प्रथमभागे ७८५ पृष्ठे कथोक्ता।) स्वनामख्याताया नगर्याम्, यत्र विजयसेनो नाम राजा श्रीकान्ताख्यश्च व्यवहार्यासीत्। कल्प० १ अधि० १क्षण। जम्ब्वाः सुदर्शनाया अपरस्या दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। पुरिमतालनगरराजस्य उदितोदयस्य भार्यायाम्, न०। आ० म०। आ० चू०। चम्पायां नगर्यां दत्तराजस्य पुत्रमहाचन्द्रराजभार्यायाम्, विपा० २ श्रु० ६ अ०।

सिरिकंदल–श्रीकन्दल–पुं०। एकखुरजीवविशेषे, प्रज्ञा०१पद।

सिरिकूड–श्रीकूट–पुं०। न०। श्रीदेवतानिवासभूते हिमवद्वर्षधरस्य षष्ठे कूटे, स्था० २ ठा० ४ उ०। जं०।

सिरिखंड–श्रीखण्ड–न०। मलयजे, आ० म० १ अ०। स्था०।

सिरिगुत्त–श्रीगुप्त–पुं०। आर्यसुहस्तिनः शिष्ये अन्तरञ्जिकायां नगर्यां त्रैराशिकाचार्यस्य रोहगुप्तस्य गुरौ दशपूर्विण्याचार्ये, विशे०। उत्त०। आ० म०। आ० चू०। कल्प०। विन्ध्याद्रौ पार्श्वनाथे, ती० ४३ कल्प।

सिरिघर–श्रीगृह–न०। भाण्डागारे, ज्ञा०२श्रु०२ अ०। विशे०। ज्ञा०। भ०। आ० म०। पार्श्वनाथस्य षष्ठे गणधरे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

सिरिघरपडिरूवय–श्रीगृहप्रतिरूपक–त्रि०। रत्नमयत्वाद्भाण्डागारतुल्ये, भ० ११ श० ११ उ०।

सिरिघरिय–श्रीगृहिक–पुं०। श्रीगृहं भाण्डागारं तदस्यास्तीति 'नोऽनेकस्वरादीतीकप्रत्ययः'। आ० म० १ अ०। भाण्डागारिके, विशे०। भाण्डागारनियुक्ते, व्य० ३ उ०। आ० म०।

सिरिचंद–श्रीचन्द्र–पुं०। ऐरवते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति षष्ठे तीर्थकरे, स०। ति०। प्रव०। भारते वर्षे भविष्यति तृतीयचक्रवर्त्तिनि, ती० २० कल्प। मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिशिष्ये, विक्रम ११२१ वर्षे भृगुकच्छनगरश्रेष्ठिनो धवलशाहनाम्नः प्रार्थनया मुनिसुव्रतस्वामिचरित्रकारके आचार्ये च। जै० इ०।

सिरिचंदा–श्रीचन्द्रा–स्त्री०। जम्ब्वाः सुदर्शनाया अपरोत्तरस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सिरिजगसूरि–श्रीजगत्सूरि–पुं०। सत्यपुरनगरे नाहकारितश्रीवीरप्रतिमाप्रतिष्ठापके स्वनामख्याते सूरौ, ती० १५ कल्प।

सिरिड्ढ–श्र्याढ्य–पुं०। स्थविरस्यार्यमहागिरेरेलापत्यसगोत्रस्य स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

सिरिणाभिजजिण–श्रीनाभेयजिन–पुं०। नाभेरपत्यं नाभेयः। श्रीयुतो नाभेयः श्रीनाभेयः स चासौ जिनश्च श्रीनाभेयजिनः। ऋषभदेवे, द्वय्या० १० व्याख्या०।

सिरिणिलया–श्रीनिलया–स्त्री०। जम्ब्वाः सुदर्शनाया अपरोत्तरस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। स्था०।

सिरिदत्त–श्रीदत्त–पुं०। कुल्लाकसन्निवेशवासिनि स्वनामख्याते श्रेष्ठिपुत्रे, ध० र० २ अधि०। (श्रीदत्तवदिति तद्दृष्टान्तश्च 'ससार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तः।) ऐरवतेऽस्यामवसर्पिण्यां जातेऽष्टमे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार।

सिरिदाम–श्रीदामन्–न०। शोभावन्मालायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। अनेकरत्नखचिते दर्शनसुभगे आभरणविशेषे, आ० म० १ अ०। मथुरायां नन्दिवर्द्धनस्य नन्दिषेणस्य विपाकश्रुतोक्तस्य पितरि, स्था० १० ठा० ३ उ०। विपा०। एकादशदेवलोकविमाने, स० २१ सम०।

सिरिदामगंगड–श्रीदाम(गण्ड)काण्ड–पुं०। श्रीदाम्नां शोभावद्विचित्ररत्नमालानां गण्डं गोलवृत्ताकारत्वात्, काण्डं वा समूहः श्रीदामगण्डम्। श्रीदामकाण्डं वा। अथवा-गण्डो दण्डस्तद्द् यत्तद् गण्ड एवोच्यते श्रीदाम्ना गण्डः श्रीदामगण्डः। श्रीदामसमूहे, जं० ५ वक्ष०। स्था०। ज्ञा०।

सिरिदेवी–श्रीदेवी–स्त्री०। दीर्घदशानां चतुर्थाध्ययनोक्तायां सौधर्मकल्पदेव्याम्, स्था० १० ठा०३ उ०।(अस्याः कथा 'सिरि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्ता।)

सिरिद्दही–देशी–पक्षिपानपात्रे, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा।

सिरिधम्म–श्रीधर्म–पुं०। स्थविरस्यार्यसुहस्तिनः काश्यपगोत्रस्य शिष्ये दशपूर्विणि स्थविरे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। उज्जयिन्यां मुनिसुव्रतस्वामिशिष्यसुव्रताचार्यस्य बन्धनकर्त्तरि राजनि, ती० २० कल्प।

सिरिधर–श्रीधर–पुं०। स्वनामख्याते नैयायिके, स्या०।

सिरिपभ–श्रीप्रभ–पुं०। स्वनामख्याते राज्ञि, ध० र०।

श्रीप्रभमहाराजकथा चेयम्–

"सौधोज्ज्वलप्रभाभि-र्निरन्तरप्रद्युम्नधूपधूम्याभिः।
जिनसुरसरिदर्कसुता-सङ्गाऽस्ति पुरी विशालेति॥१॥
सुरलोकावधिविदल-च्छिन्नकलिकलिकामलं यशो यस्य।
प्रबलबलशत्रुसंहति-कुलक्षयावधि सदा शौर्यम्॥२॥
त्यागस्तर्ककजनता-च्छिन्नावधि सागरावधिर्वसुधा।
श्रीजिनपतिपदकमल-द्वयप्रमाणावधिर्भक्तिः॥३॥
शेषं पुनर्गुणगणो, निरवधिरवधीरितान्यदोषभरः।
स श्रीचन्द्रनरेन्द्र-स्तां नगरीं पालयामास॥४॥
क्षितिपतिहृदयकुशेशय-शया सदाचरणगुणपरिकलिता।
शुद्धोभयपक्षाऽजनि, हंसी हंसीव तस्य जनी॥५॥
तनयौ तयोरभूतां, परिभूताखिलविपक्षसन्दोहौ।
ज्येष्ठः श्रीप्रभसंज्ञ-स्तथा कनिष्ठः प्रभाचन्द्रः॥६॥
तत्र ज्येष्ठो नम्मी-र्यसागरो रूपविजितरतिकान्तः।
सौम्याकृतिः प्रकृत्या, लोकप्रियगुणमणिकरण्डः॥७॥
अक्रूरचित्तपरिणति-निर्जरजम्बालिनीहिमानीभृत्।
शिवसुखघातकपातक-भीरुश्चमरीजविनिनाथः॥८॥
शठनागतालविद्धं, आक्षिण्यहिरण्यमेरुगिरिसदृशः।
संगमनमकार्यलज्जा-स्फुरन्नलिनीकमालिनीतुल्यः॥९॥
जीवदयार्द्रितचित्तो-ऽशरणभृन्मार्गस्थधर्मास्तिविन्ध्याद्रिः।
गुणारागजनवत्सलः, साधुसुधाकरपयःपाथः॥१०॥
जिनधर्मकल्पतरु-संकल्पमनपयोधरप्रतिमः।
स्फुरदुर्द्दीप्रैर्न्निःस्वताग्नाशनकामार्तः॥११॥
जिनपरिपूजनगर्वितमान–निर्मर्मार्द्रधर्मकोलिधामसमः।

सद्बुद्धिवृद्धजनसे-वनैकरसिको वरमराल ॥१२॥
विनयनयवज्रचंना , कृतशताकूलिनीधुनीनाथ ।
परहितकरणप्रवण , खुलस्थलदयश्च कृत्यपु ॥१३॥
तत्रापरेद्युरागात् , केवलकलिना गुरुर्भुवनभानु ।
त नन्तुमगान्नृपति , सुनसामन्तादिपरिकलित ॥ १४ ॥
कृत्वा प्रदक्षिणात्रय-मानम्य गुरुं गरिष्ठया भक्त्या ।
उचितस्थाने न्यषद-त्तिपतिरथ देशनां चक्रे ॥ १५ ॥
इह भवगहनेऽनन्ते, भ्राम्यन् जीव सहस्रमानभरम् ।
जातिकुलप्रभृतियुत , कथमपि लभते मनुजजन्म ॥ १६ ॥
तदवाप्य भव्यलोका ! , जिनधर्म कुरुत सकलात् सारम् ।
स पुनर्द्वेधा प्रोक्तो , यतिगृहिधर्मप्रभेदेन ॥ १७ ॥
तत्राद्य पञ्च यमा , प्रत्येकं पञ्च भावना पाल्या ।
हिंसालीकस्तेया-ब्रह्मपरिग्रहविरतिरूपा ॥ १८ ॥
समितिभिरीर्यादाभि—रशाभिरनिश तथा मनोगुप्त्या ।
दृष्टान्नादिग्रहणे—न भावयेत्प्रथमयममलम् ॥ १९ ॥
विविधैर्नियमविधानै , प्रत्याख्यानैर्निरन्तर मतिमान ।
आलोच्य भाषणेना-पि भावयन् सूनृत च यमम् ॥ २० ॥
याचनमवग्रहस्या—लोच्यावग्रहाचमागण च भृशम् ।
सतत समनुज्ञापित—भक्तपानाभ्यवहृते करणम् ॥ २१ ॥
साधर्मिकतो याचन-मवग्रहस्योचकैस्तथाऽस्यव ॥
मर्यादाकरणमिमा , अस्तेये भावना पञ्च ॥ २२ ॥
नारीषण्डकपशुम—द्विवासकुड्यान्तरासनोज्झनत ।
स्त्रीरम्याङ्गनिरीक्षण—तजाङ्गसंस्कारपरिहारात् ॥ २३ ॥
स्निग्धाऽत्यशनत्यागात्—सरागयोषित्कथाविवर्जनत ।
पूर्वरतास्मरणेन—ब्रह्म सदा भावयेद्धीमान् ॥ २४ ॥
स्पर्शे रसे च गन्धे, शब्दे रूपे शुभाशुभे सततम् ।
रागद्वेषत्यागो, हि भावना पञ्चमयमे स्यु ॥ २५ ॥
एव व्रतानि पञ्चा-पि पञ्चभि पञ्चभि सुवास्य भृशम् ।
सद्भावनाभिरगम—न्नसुमन्त शिवपदमनन्ता ॥ २६ ॥
गृहमधिना तु धर्मे, निशम्य सम्यक् सुसाधुगुरुपार्श्वे ।
ज्ञात्वा तथा गृहीत्वा, व्रतानि परिपालनीयानि ॥ २७ ॥
आयतनसेवनाद्य, शील परिशीलनीयमनवरतम् ।
सद्भि , सोर्जनीय , स्वाध्यप्रभृतिविभवभर ॥ २८ ॥
व्यवहारशुद्धिरनिश, भव्यैरव्याजभावतै कार्या ।
गुरुवश्चरणविहंगम-तरव शुश्रूषणीयाश्च ॥ २९ ॥
भाव्य प्रवचनकौशल—सुपेशलैर्गलितसकलपापमलै ।
स्त्रीणा वश्योऽवश्य, नात्मा कार्य कदाचिदपि ॥ ३० ॥
सुज्ञानशृङ्खलाभि—र्हृषीककपय समन्ततो रोध्या ।
गृद्धिर्नचार्थसार्थे, क्लेशायासाकरे कार्या ॥ ३१ ॥
निर्वेद ससारे, तु सागारे सदा विधातव्य ।
विषया कुनृपाधिष्ठित-विषया इव दूरतस्त्याज्या ॥ ३२ ॥
तीव्रारम्भा दम्भा, इव निर्दम्भै कदापि नहि सेव्या ।
सकलक्लेशनिवास,न गृहवासे रति कार्या ॥ ३३ ॥
धार्य निरतीचार, सुदर्शन स्थगितदुर्गतिद्वारम् ।
मोहनृपविजयभेरी, न लोकहेरो मनो धेयम् ॥ ३४ ॥
शुद्धागमविशदविधि , समस्तकल्याणशवाध सेव्य ।
दानादिकश्चतुर्द्धा धर्म शिवशर्मकृत् कार्य ॥ ३५ ॥
न्याय्ये पथि प्रवृत्तै—र्विमुग्धहासिनेऽवधीरणा धेया ।
द्वेष्यौ रागद्वेषौ, सवभाविषु सकलभावेषु ॥ ३६ ॥
धर्माधर्मविचार-भिन्न्यो माध्यस्थ्यमुष्यचेतोभि ।
स्वजनधनादिषु निविड , प्रतिबन्धो नो विधातव्य ॥३७॥
भोगोपभोगतृष्णा, कृष्णाहिविषनिषेध प्रशमितव्यम ।
सततं यतिधर्मधुरो-धरणोद्धुरकन्धरैर्भाव्यम ॥ ३८ ॥
एव श्रमणोपासक-धर्म विधिना विधाय विमलमना ।
सुनरसुरमाप्य लभते, भव्याऽक्रमतोऽपवर्गम ॥ ३९ ॥
इत्याकर्ण्य श्रीच—न्द्रनरपतिर्भुवनभानुगुरुमूले ।
श्रीप्रभमुनाभिमहितो , जगृहे गृहमेधिना धर्मम ॥ ४० ॥
अथ नत्वा गुरुचरणौ, निजधाम जगाम वसुमतीनाथ ।
विजहार हारनिर्मल-गुणाश्रय सूरिरन्यत्र ॥ ४१ ॥
चतुर्भि कलापकम्—
अथ तस्य श्रीचन्द्र-क्षितीशितु सौभतयं तनूजाभ्याम् ।
स्वाराममानचरण-द्वयस्य सुकृमारकरकमलम् ॥ ४२ ॥
मौलिमणिकान्तिचयांची , रचितमद मदनभूरिहरिचारी ।
भक्त्या पर महत्वी-रचितथी सेव्यमानस्य ॥ ४३ ॥
राज्यभरभवनधरण—स्तम्भे सद्बुद्धिभिर्धिगतदम्भै ।
शतश मन्त्रिवरिष्ठै-रलङ्कृतास्थानमण्डपस्य ॥ ४४ ॥
बहुसमरसमरमप—क्षुण्णभटकोटिभि परिवृतस्य ।
करकलितकनकदण्डो, विज्ञपयामास वेत्रीति ॥ ४५ ॥
देव ! द्विरदद्वार-समभिनामा नटाग्रणी रुद्ध ।
सदेवनिवद्धसन-त्कुमारनाट्यप्रबन्धोऽस्ति ॥ ४६ ॥
लघु मुञ्चेत्युक्ते सति , महीभुजा वेत्रिणा स आनायि ।
कृत्वा विपार्श्वकिकर—मित्याशिषमथ नृपस्यादात् ॥४७॥
तद्यथा—
षट्खण्डामवनिं निधीश्च चतु षष्टिं सहस्राणि च,
स्त्रीणा क्षोणिभुजा तदर्धमपर द्वि सप्त रत्नानि च ।
यस्त्यक्त्वा तृणवच्चक्रवर्त्तिविधुरो जैनं व्रत शिश्रिये,
राजर्षि स सनत्कुमार इह त भूपाल ! भूयाच्छ्रिये ॥४८॥
अथ नाटकावलोकन-कौतुकरसविवशमानस सकलम् ।
निजननयप्रभृतिजनं, नृपतिर्विसृष्टमस्थित ॥ ४९ ॥
तस्यानुवृत्तिवशत , सविलासमुज्ज्वला ततो दृष्टिम् ।
तदभिनयकृते स कृती , नटनेतारं पातयाञ्चक्रे ॥ ५० ॥
बुद्धाऽथो नृपहृदय, हृदयगमया गिराऽगृणात् सोऽपि ।
भो भो पार्षदजना ! , श्रीचन्द्रनरेश्वरप्रमुखा ! ॥ ५१ ॥
क्षणमेकमेकतानी—भूय शृणुत तुर्यचक्रिणश्चरितम् ।
इति जल्पनट उच्चै—स्तदभिनयं कर्तुमारेभे ॥ ५२ ॥
तथाहि—
श्रीहस्तिनापुरपत्तने , सनत्कुमारस्य नृपतितिलकस्य ।
षट्खण्डभरतभर्तु , प्राज्य साम्राज्यमनुभवत ॥ ५३ ॥
अप्रतिमरूपलक्ष्मी—विलोकनोत्पन्नविस्मयोत्कर्ष ।
मध्ये सभ निलिम्पान् ,सुरपतिरिति निगदति स्म मुदा॥५४॥
भो भो अमरा ! पश्यत , सनत्कुमारस्य सार्वभौमस्य ।
पूर्वार्जितशुभनिर्मा—ण कर्मनिर्मितलसन्मूर्ते ॥ ५५ ॥
सा काऽपि रूपलेखा , वरेण्यलावण्यकान्तिपरिकलिता ।
सुरसद्मजन्मिनामपि, या प्रायो नैव सम्भवति ॥ ५६ ॥
अश्रद्दधानाविति सुर-पतेर्वचो विजयवैजयन्ताख्यौ ।
क्षिप्र वसुधरायां, द्वावमृतभुजाववातरताम् ॥ ५७ ॥
अत्रान्तरे च सर्वेऽपि विस्मयस्मेरलोचना लोका ।
किमितो भवितेत्यवहित—चित्ता आकर्णयामासु ॥ ५८ ॥

तौ तदनु विप्ररूपे–ण भूपरूपावलोकनसतृष्णौ ।
द्वारसमीपेऽस्थाता, प्रासादद्वारि भूमिभुजः ॥ ६६ ॥
आसीत् सनत्कुमारो, मुक्तालंकारसारनेपथ्यः ।
प्रारब्धमज्जनोऽभ्य–ङ्गसङ्गमङ्गे वहन्नुच्चैः ॥ ६० ॥
दौवारिकेण तौ वि–प्रपुङ्गवौ द्वारसंस्थितौ कथितौ ।
प्रावीविशत्तदाऽभ्य–र्ण चक्रवर्ती स नयवर्त्ती ॥ ६१ ॥
अप्रतिरूपं रूपं, तौ दृष्ट्वा तस्य राजराजस्य ।
मौलिं विधूनयन्तौ दध्यतुरिति विस्मितौ मनसि ॥ ६२ ॥
एतस्य भालपट्टो–ऽयमस्तशस्ताष्टमीरजानिजानि ।
नीलोत्पलजयपत्रे, नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते ॥ ६३ ॥
दन्तच्छदयुगमभिभू–तपक्वबिम्बीफलच्छविविकाशम् ।
जितशुक्तिश्रुतियुगली, कण्ठोऽयं पाञ्चजन्यजयी ॥ ६४ ॥
स्तम्बेरमराजकरा–कारतिरस्कारकारिणौ बाहू ।
वक्षःस्थलममराचल–पृथुलशिलाश्रीविलुण्टाकम् ॥ ६५ ॥
कटरे करचरणतलं, तर्जितकान्तिकिसलयप्रचयम् ।
किमपरमस्य सर्वा–ङ्गश्रीर्नहि गोचरो वाचाम् ॥ ६६ ॥
कोऽप्यस्याहो लाव–ण्यसरित्पूरो निरर्गलो येन ।
ज्ञानीयो नाभ्यङ्गं, भविभामिव चारुचन्द्रिकया ॥ ६७ ॥
वर्णयति स यथेन्द्र–स्तथेदमाभाति समधिकं चापि ।
न कदाचनापि मिथ्या, वदन्ति वाचं महात्मानः ॥ ६८ ॥
किमिहागतौ भवन्ता–विति पृष्टौ चक्रिणाऽथ तौ जगतुः ।
अप्रतिमं तव रूपं, त्रिजगत्या गीयते भूप ! ॥ ६६ ॥
दूरादपि तत् श्रुत्वा, तरङ्गितासुद्रकौतुकसमुद्रौ ।
अवलोकयितुमिहाऽऽवा–मायाव नरेन्द्रशार्दूल ! ॥ ७० ॥
व्यावर्ण्यमानमतुलं, तव रूपं शुश्रुवे यथा लोके ।
नरवर ! ततोऽपि सविशे–षमेतदालोक्यतेऽस्माभिः ॥ ७१ ॥
श्रुत्वेति विप्रवचनं, स्मितविच्छुरिताधरो नृपः प्रोचे ।
कान्तिरियं किल कियती, परितोऽभ्यक्ते कृताभ्यङ्गे ॥ ७२ ॥
क्षणमात्रमितो भूत्वा, भो भो द्विजसत्तमौ प्रतीक्षेथाम् ।
मज्जनकृत्यं यावा–ऽस्माभिर्निर्वर्त्यते यावत् ॥ ७३ ॥
रचितविचित्राकल्पं, विभूषितं भूरिभूषणगणेन ।
रूपं मम पश्येतं, सरत्नमिव काञ्चनं भूयः ॥ ७४ ॥
तदनु स्नानविलिप्तो–लंकृतिनेपथ्यभूषितो भूपः ।
अध्यासामास सदः–सदनं गगनं गगनमणिवत् ॥ ७५ ॥
समनुज्ञातौ भूयो–ऽपि भूपरूपं द्विजौ प्रपश्यन्तौ ।
दवदग्धकीचकाविव, विच्छायौ झगिति तौ जातौ ॥७६॥
किमिदमिति सर्वेऽपि,सभ्या साकूतं परस्परमुदीक्षामासुः ।
अनलङ्कृतेऽपि पूर्व–मपि दृष्टे हर्षितौ युवा विप्रौ ।
समलङ्कृतेऽपि संप्रति, दृश्येथे किमिति सविषादौ ? ॥७७॥
इति चक्रभृता पृष्टौ–भूदेवौ तौ जजल्पतुर्भूप ! ।
अधुना तावकदेहे, संक्रान्ता व्याधयः सप्त ॥ ७८ ॥
तद्वशाद्विनश्यदतुला–द्भुरूपलावण्यवर्णकान्तिगुणः ।
त्वं वर्त्तसे इत्यावां, प्रतिपन्नौ शोकसम्भारम् ॥ ७६ ॥
कथमेतद्विज्ञायत, इत्येवं प्रश्नितौ भरतपतिना ।
तौ शिष्टयथास्थितस–र्वपूर्वसुरराजवृत्तान्तौ ॥ ८० ॥
प्रकटितनानजस्वरूपौ, गीर्वाणौ प्रतिगतौ यथास्थानम् ।
वैराग्योपगतमति–श्चक्रधरोऽचिन्तयदथैवम् ॥ ८१ ॥
भवनजनयुवतिचतुर–ङ्गसत्रदो यस्य कारणात् क्रियते ।
तदहो दारुणघुणै–रिव रोगैर्लुप्यते गात्रम् ॥ ८२ ॥

येन विमोहितमनसो, हितमहितं चिन्तयन्ति नहि जीवाः ।
तद्यौवनमिह वनमिव, जरा दवानलशिखा दहति ॥ ८३ ॥
अवलिप्तो येन जनः, कृत्याकृत्यं न वेत्ति तद्रूपम् ।
मङ्क्षु विनश्यति धातु–क्षोभे हिमपात इव कमलम् ॥ ८४ ॥
अद्य श्वोऽथ विनाशिन, एतस्य शरीरकस्य तदिदानीम् ।
गृह्णाम्यविनश्वरफल–मिति नृपतिश्चेतसि विभाव्य ॥ ८५ ॥
प्राज्यं साम्राज्यमिदं, विहाय लोका अहो निरीक्षध्वम् ।
आदत्त जिनदीक्षां, तारतरीमिव भवाम्भोधौ ॥ ८६ ॥
सागरमिव दशमद्वा–ररोधिनं चिकुरनिकरमसितरुचिम् ।
पश्यत पश्यत पुरतः, समूलमुन्मूलयत्येषः ॥ ८७ ॥
पुरतोऽवलोकयध्वं, मणिरत्नोत्कटकिरीटहारादिः ।
आभरणसमूहोऽयं, निर्माल्यमिवामुनाऽत्याजि ॥ ८८ ॥
निध्यातं नाथमुक्तं, क्रन्दत्यन्तःपुरं स्फुरद्दुःखम् ।
खतरसमीरलहरी–प्रकम्पितं खगकुलमिवाग्रे ॥ ८६ ॥
हा नाथ! नाथ! किं वय–मेकपदेऽप्यशरणास्त्वया त्यक्ताः ।
एवं विलपन्ति जना, हृतसर्वस्वा इवेक्षध्वम् ॥ ६० ॥
इति तेन भरतभर्त्तु–र्निष्क्रमणव्यतिकरस्तथाऽदर्शि ।
श्रीचन्द्रनृपोऽपि यथा, तत्कालं जातवैराग्यः ॥ ६१ ॥
स्मृतपूर्वभवश्रुतशु–द्धसमयः पञ्चमुष्टिकृतलोचः ।
सुरदत्तसाधुवेषो–विनिर्ययौ राजमन्दिरतः ॥ ६२ ॥
नष्टाधलासेर्तामदमखिल, निर्नाथानाथ ! मा स्म नस्त्याक्षीः ।
एवं रुदत्यपि जने, विहृतः स ऋषिर्यथाभिमतम् ॥ ६३ ॥
अथ पितृवियोगविह्वल–चित्तमनिच्छन्तमश्रुपूर्णाक्षम् ।
श्रीप्रभमुच्चै राज्ये, कौमारे च प्रभाचन्द्रः ॥ ६४ ॥
विनिवेश्य विनयनम्रैः, सामन्तैः सचिवपुङ्गवैश्चोक्तम् ।
अस्तोकशोकशङ्कु–द्धरणप्रवणैरिदं वचनैः ॥ ६५ ॥
मा देव ! कृथाः स्वपितुः, शोकमशोच्यो ह्यसौ महाभागः ।
खलमहिलेव विमुक्ता, येन समग्राऽपि राज्यश्रीः ॥ ६६ ॥
को नाम प्रारभते, दुष्करमेवंविधं श्रमणधर्मम् ।
प्रायो वैराग्यमतिः, क्षणमेकं मतिमतामपि यत् ॥ ६७ ॥
शोच्यास्त एव ये का–लधर्मतामुपगता अकृतसुकृताः ।
यैरुद्यतमतिधर्मे, ते भुवने पञ्चषाः पुरुषाः ॥ ६८ ॥
निशमयति को न समयं ?, कः सर्वं वेत्ति न क्षणविनाशि ? ।
प्रतिसमयभाविमरणं, शरीरिणां को न भावयति ? ॥ ६६ ॥
को वा हृदि नहि धत्ते, गुरूपदेशं सदा सुखनिवेशम् ? ।
कस्य नवा प्रियमक्षय–मनन्तमसदृशममृतसौख्यम् ? ॥१००॥
किंतु चलचित्तभावा–दुदनुष्ठानं भृशं गतोत्साहाः ।
गिरिगुरुका अपि पुरुषा, अवसपन्तो विलोक्यन्ते ॥१०१॥
देवेन पुनस्तत्किम–पि साहसं व्यवसितं महामतिना ।
यदसमसाहसिकाना–मपि चेतः खलु चमत्कुरुते ॥ १०२ ॥
एषोऽपि देव ! परमो–पकारिभावेन नाटकविधाता ।
सद्धर्मसूरिरिव वो, विशेषतश्चार्चितुं युक्तः ॥ १०३ ॥
एवं निशम्य राजा, दत्त्वाचार्यं प्रपूज्य विससर्ज ।
किंचिदुपशान्तशोको, नीलिनलनाम्जलजलवाहः ॥१०४॥
नीहारहारधवलान्, नव्यविहारान् विधापयन् बहुशः ।
गुरुगौरवेण कुर्वन्, सार्वमिकलोकवात्सल्यम् ॥ १०५ ॥
भव्यजनं सद्धर्मे, स्थिरयन् जिनशासनोन्नतीस्तन्वन् ।
[illegible] – उपधर्मनिरतोऽजनि प्रायः ॥१०६॥
[illegible]

अरिदमनद्विनिपल्ल-देशमुपद्रोतुमारभत ॥ १०७ ॥
ज्ञात्वेदं चरमुखत , स भाणित श्रीप्रभेण दूतेन ।
किं ननु कतिपयसीम—ग्रामकुटीरकविलुण्टनत ॥ १०८ ॥
पूर्वजविहितप्रणय—प्राग्भारमसाम्प्रतमवगत्य भृशम् ।
आदत्य दुर्जनत्वं , विप्रियमेव मम विधत्से ? ॥ १०९ ॥

यतः—

ते धन्या सत्पुरुषा, येषां स्नेहो ह्यभिन्नमुखरागः ।
वृद्धिं गच्छत्यनुदिन—मृणमिव पुत्रेषु संक्रमति ॥ ११० ॥
तस्मादितोऽपराधा—दयाऽप्युपरम मयाऽऽग एतत्ते ।
क्षान्तं, नह्यस्मिगु—र्भवाम्यहं स्नेहतरुभेदे ॥ १११ ॥
श्रुत्वेत्यरिदमननृप—स्तं दूतं प्रतिहसन्नितं जजल्प ।
भो भो त्वया निजप्रभु—रेवं वाच्यो मदीयगिरा ॥ ११२ ॥

यथा—

तव पार्थिव ! धर्मार्थं, सविस्तरारब्धकुशलकृत्यस्य ।
पृथ्व्या परिरक्षणया, कृतमनयाऽनर्थकारिण्या ॥ ११३ ॥
अथ वाञ्छस्येनामपि तद् दूरं मुञ्च धर्मकर्मेदम् ।
एकत्र कथं सम्भव-ति खलति सीमन्तसंघटनम् ? ॥ ११४ ॥
अथ लोकरञ्जनामा—प्रमेव आरभ्यत त्वया धर्मः ।
तद् भव निश्चिन्तमना,न हन्मि तव देशमहमधुना ॥ ११५ ॥
पूर्वप्रणयप्रकटन—मवनीशाना परं जिगीषूणाम् ।
दूषणमेव गरिष्ठं, गाढमसामर्थ्यमथवाऽपि ॥ ११६ ॥
श्रुत्वेति दूतमुखत , श्रीप्रभराज प्रदीप्तकोपाग्नि ।
किंकरगणेन सहसा, रणभेरीं ताडयामास ॥ ११७ ॥
तच्छब्दाकर्णनभक्ति-ति मिलितचतुरङ्गसैन्यपरिकलित ।
शत्रुं प्रति प्रतस्थे, प्रदेशसीमान्यगात् क्रमश ॥ ११८ ॥
अरिदमननृपोऽप्यस्या—शु समुत्थ समजनिष्ट रणरसिक ।
अलसा न युधे शूरा , विप्रा इव भोजनायेह ॥ ११९ ॥
अथ सैन्ययोर्द्वयोरपि , सुभटानां तत्र चित्रशस्त्रभृताम् ।
संफोटोऽजनि गगने , सविद्युतामिव पयोदानाम् ॥ १२० ॥
अत्यद्भुतभटवादै-रथ मालवभूभुजः सुभटसंघै ।
परबलमभज्यताऽर्जुन-मुद्यानमिव द्विपैर्मत्तै ॥ १२१ ॥
अथ रथमध्यारूढो , भग्न सधीरयन्ननीकं स्वम् ।
उदतिष्ठतारिदमन , समरायास्फालयश्चापम् ॥ १२२ ॥
युगपच्छिमुक्तशितविशि-खलक्षयैः सोऽप्यधत्त रिपुसैन्यम् ।
तटपर्वतमिव जलधे , प्रसरद्वेलामलिलपूरै ॥ १२३ ॥
क्षणमात्रादरिदमन., परसैन्यमदैन्यभुजबलोऽभाङ्क्षीत् ।
कुटकोटिं लकुट इव , प्रभञ्जनो वृक्षलक्षमिव ॥ १२४ ॥
निजसैनिकभङ्गेन, क्रुद्ध श्रीप्रभनृपो विपक्षबलम् ।
उत्तस्थे सहर्तुं कीनाशस्यानुजन्मेव ॥ १२५ ॥
नैव मनागपि सेहे , मालवपतिरापतन् परानीकैः ।
भुजगैरिव विनतायाः , सूनुर्हरिणैरिव व्याघ्र ॥ १२६ ॥
विद्रुतसैन्य पुरतः , स्थितमरिदमन नृप रणायाथ ।
आह्वास्त मालवेशो , बलानुजन्मेव भूरिबल ॥ १२७ ॥
तदनु विचित्रैः शस्त्रै—रस्त्रैरपि तौ नृपावयुध्येताम् ।
वन्येभाविव दशनै—रन्योन्यवधाभिलाषमनौ ॥ १२८ ॥
युद्ध्वा चिरमरिदमन, गुरुशक्तिर्मालवाधिपश्चक्रे ।
गतवीर्यं गतशस्त्रं , भुजगं निर्विषमिव नरेन्द्र ॥ १२९ ॥

अरिदमननृपः श्रीप्रभ-नृपेण कलभो महागजेनेव ।
परिभूतः पश्चात्प्रमुख—मवलोमाणः पलायिष्ट ॥ १३० ॥
अथ तस्य श्रियमखिलां,रत्नकृष्टया श्रीयहास्तिकप्रमुखाम् ।
जगृहे श्रीप्रभराज—स्तस्य श्रीर्विक्रमो यस्य ॥ १३१ ॥
आपूर्णं इवाम्बुधरो, निवृत्य रणसागरादवन्तीश ।
कृतसकललोकतोषो, निजनगरीमाजगाम तत ॥ १३२ ॥
तत्र त्रिवर्गसारं, राज्यश्रियमनुभवन्नसौ नृपतिः ।
भूयांसमनेहासं, स्व सुरपतिवदतिचक्राम ॥ १३३ ॥
तत्र प्रभासगुरव , समवसृता अन्यदा सुमुनिमहिता ।
बन्धुपरिवारयुक्त—स्तान्नन्तु निर्ययौ राजा ॥ १३४ ॥
सम्यक् विनम्य मुनिपति-मिलातलाश्लिष्टमस्तको नृपतिः।
निषसाद यथास्थानक-मथ गुरुरिति देशना विदधे ॥१३५॥
इह हि भवसमुद्रे ससरन् भूरिकाल-
कथमपि मनुजत्वं प्राप्नुयात् कोऽपि जीव. ।
तदपि कथमपीह प्राप्य सद्धर्मकर्म-
क्षमतनुबलमायुर्दीर्घकालाप्तमेत ॥ १३६ ॥
इदमपि समवाप्य प्रौढमिथ्यात्वलुप्त-
स्फुटविशदविवेक पापतापानिरेकः ।
पुनरपि च भवेऽस्मिन्ऽनन्तशोऽनन्तदु ख-
व्यतिकरविधुरो य सम्भ्रमी बम्भ्रमीति ॥ १३७ ॥
इति भवजलराशौ मज्जनोन्मज्जनानि,
प्रविदधदिह दैवादाप्य भूयोऽपि नृत्वम् ।
दृढगुणगणलब्धा जैनदीक्षा तरीव-
च्छ्रयत भविकलोका !क्लेशविच्छेददक्षाम् ॥१३८॥

किंच—

अत्युत्कटभटकोटी—रथहरिकरिनिकरबलभरसमृद्धा ।
यैर्जीयन्ते रिपव , पर. शता जगति ते पुरुषा ॥ १३९ ॥
येन पुन स्वात्माऽसा-वनल्पकुविकल्पकल्पनाकलित ।
जीयेत तेन विजितं, त्रिजगदिदं परमशूरोऽसौ ॥ १४० ॥

तथा चार्षम्—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एग जिणिज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ १४१ ॥
एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामि तो ॥ १४२ ॥
इत्याकर्ण्य श्रीप्रभ, आनम्य गुरूनुवाच च पार्श्वे ।
प्रव्रज्यामादास्ये, राज्य न्यस्य प्रभाचन्द्रे ॥ १४३ ॥
देवानुप्रिय !, माऽस्थ, व्यधाः प्रमादमिति सूरिणा गदिते ।
राजा च सपरिवारो निजधाम जगाम मुदितमना ॥१४४॥
अथ सकलराजलोक-प्रत्यक्ष आनर प्रभाचन्द्रम् ।
सस्थाप्य राज्यभारं,प्रददाविति नरपति शिक्षाम्॥१४५॥
वत्सान्तरङ्गशत्रून्-सदा जयेरविजये यतस्तेषाम् ।
विजिता अप्यजिताः खलु, वलवन्त शत्रवो बाह्याः॥१४६॥
परिपालये प्रजास्त्व, मालिक इव सुमनस प्रयत्नेन ।
सर्वप्राप्यौचित्य हृदये दध्या जिनेन्द्रमिव ॥ १४७ ॥
इतरेतराविघाते-न वत्स ! धर्मार्थकामपुरुषार्थात् ।
प्रतिलेखनादिचेष्टाः , सुसाधुरिव साधय सततम् ॥ १४८॥
सिच्यमिवानलदूषित—मुज्झेर्निजमपि नयेन परिहीणम् ।
दुर्दममिन्द्रियवर्ग दमयेस्तुरगादिनिवहमिव ॥१४९॥
परिवर्जयं कुसङ्गं, छिद्रलात्ते बोलभाजनमिवोच्चै ॥

सेव्यो आर्यजन, घनं यथा चातकसमूहः ॥ १५० ॥
वन्धो बन्धुरभक्त्या, बन्धुमिव श्राद्धलोकमन्वेथा ।
रक्षेनैयन वसुधां, सुधा यथा भोगिना भर्त्ता ॥ १५१ ॥
आधारस्त्वमसि भुवो, नाधारस्तव समस्ति कश्चिदपि ।
आत्मानमात्मनैव हि, तत्सतत धारयेर्वत्स ! ॥ १५२ ॥
इत्युक्त्वा तूष्णीकी—भूते श्रीप्रभनृपे प्रभाचन्द्रः ।
एवमिति प्रतिपेदे , सर्वं भक्त्या नमद्ग्रीवः ॥ १५३ ॥
अथ सुस्नातविलिप्तो, रत्नालंकारभूषितशरीरः ।
सदशांशुकसिचयधरो, ददर्थिभ्यो महादानम् ॥ १५४ ॥
कृतसकलसंघपूजो, आरुविधापितसहस्रनरवाह्याम् ।
शिबिकामध्यासामा—स पुष्पकं यक्षराज इव ॥ १५५ ॥
चतुरङ्गचमूयुक्ते—न बन्धुभूपेन विनयनम्रेण ।
अनुगम्यमान उच्चै—र्मागधैः कृतजयजयारावः ॥ १५६ ॥
पुर्या मध्यं मध्ये—न निर्ययौ नरपतिर्महाभूत्या ।
गुरुपदपावितभुवा—वमाप्य शिबिकात उदतारीत् ॥१५७॥
अथ भूषणसंभारं विश्वंविश्वम्भरापतिर्झगिति ।
उदतारयदङ्गाद् भुज—दण्डादिव वसुमतीभारम् ॥ १५८ ॥
सिद्धान्तगदितविधिना, गुरुणाऽथ श्रीप्रभः परिव्राज्य ।
परमां मुदं दधत्सा , भारत्या समनुशिष्ट इति ॥ १५९ ॥
कमठेन्दुदर्शनमिव , प्राप्य दुरापा जिनाधिपतिदीक्षाम् ।
शयनासनादिचेष्टा, सकलाऽपि हि यतनया कार्या ॥१६०॥

यत —

यतना सुधर्मजननी , यतना धर्मस्य पालनी नित्यम् ।
तद्वृद्धिकरी यतना, सर्वत्र सुखावहा यतना ॥ १६१ ॥
एकामेव हि यतना, समेत्य विलीनकर्ममलपटला ।
प्रापुरनन्ता सत्त्वा , शिवमक्षयमव्ययं स्थानम् ॥ १६२ ॥
एव शिक्षा दत्त्वा, प्रभासगुरवो विजहुरन्यत्र ।
शारदिकवारिदा इव, तिष्ठन्त्येकत्र न हि मुनयः ॥ १६३ ॥
श्रीप्रभराजर्षिरपि, प्रतिसमयविशुध्यदमलपरिणामः ।
यूथपतेरिव कलभ , सतत विजहार सह गुरुणा ॥ १६४ ॥
जिनपरिवृढगदितागम—सूत्रार्थसुधा पिबन्नमर्त्य इव ।
पञ्चमहाव्रतभार, दधदवनीभारमिव शेष ॥ १६५ ॥
पञ्च निशाता समिती—र्हस्तशरानिव धनुर्धरो बिभ्रत् ।
तिस्रो गुप्ती शक्ती—र्नरपतिरिव धारयन् शुद्धाः ॥ १६६ ॥
मार्गानुसारिणीमिह, कुर्वन् सकला क्रिया सुपान्थ एव ।
श्रद्धां प्रवरां धर्मे, तन्वन् मकरन्द इव भृङ्ग ॥ १६७ ॥
प्रज्ञापनीयभावे—न सयुतो भद्रवारण इवोच्चै ।
साभृक इव विद्यासु , प्रमादमुक्त क्रियासु सदा ॥ १६८ ॥
शाश्वमाणः शङ्का—नुष्ठाने योग्यमन्द इव वैद्यः ।
त्यजन गुणादरसङ्गं, सरउन्सङ्ग मराल इव ॥ १६९ ॥
आराधयन् गुरुजन, परमात्मान यथा परमयोगी ।
सुचिर निरतीचारं , चरण परिपालयामास ॥ १७० ॥
अथ पर्यन्तसमाधि—प्रवहणस्य प्रभेन्दुराजर्षे ॥
ध्यानाङ्कुशावधूतो, दारिद्र्य गजवर्गः ॥ १७१ ॥
तो सकलकलापूर्णौ, पूर्णेन्दू इव समस्तजनसुखदौ ।
सहजाविव भुजदण्डौ—रेजाते तस्य भूपस्य ॥ १७२ ॥
अन्तरगुरुदानिकामे—र्जागृहारोचिकल्पसामौ ,
मकानिपातिता इव, प्रतिदिनमवर्धत ततोऽसौ ॥ १७३ ॥
आहूता वरवैद्याः, क्रिया विचित्राश्च ते समारब्धाः ।
न च जज्ञे कोऽपि गुणो, ऽयचिन्तयत्तत इति नरेन्द्र ॥१७४॥
द्रव्यौषधैः क्रिमेभि—र्ज्येष्ठ पुत्रं निवेश्य राज्यभरे ।
कौमारे च कनिष्ठ, श्रयामि धर्मौषधमिदानीम् ॥ १७५ ॥
अत्रान्तरे च सहसा संजातप्रबलशूलरोगेण ।
अपि वैद्यैः क्रियमाणो—पचार आपत्मृतिं पञ्च ॥ १७६ ॥
अथ तनयमरणमाक—र्ण्य नृपतिरस्तोकशोकसंतप्त ।
दम्भोलिनिहतगिरिरिव, मूर्च्छाविवशः पपात भुवि ॥१७७॥
पवनाद्युपचारवशा—दवाप्य चैतन्यमिति नृपो व्यलपत् ।
हा पुत्र ! क्वासि गत ?, प्रतिवचनं किं न मम दत्से ? ॥१७८॥
उदियाय पूर्णचन्द्रो, हा ग्रस्येत मङ्क्षु सैंहिकेयेन ।
अहह फलेग्रहिरभवत्, तरुरुन्मूल्यत महाकरिणा ॥१७९॥
पोत प्राप पयोनिधि—पारं तटशिखरिणा हहाऽभञ्जि ! ।
दृष्टो निधिर्विशालो, हा हा हाऽहियत हतविधिना ? ॥१८०॥
उद्गलमदम्भोवाहा, नभस्वताऽक्षिप्यत क्षणेनाहो ! ।
राज्योचितोऽजनि हहा, तनयः समहारि दैवेन ! ॥ १८१ ॥
एव प्रलपन् सचिवै—र्व्यबोधि कथमपि नृपोऽकरोत् सूनो ।
मृतकृत्यमल्पशोक , कालेनैवं मनसि दध्यौ ॥ १८२ ॥
ये दण्डसात् सुमेरु, पृथिवीं वा छत्रसात् क्षमा कर्तुम् ।
तेऽपि स्वमन्यमपि तु, नालं किं हन्त पुनरितरं ! ॥ १८३ ॥
पीयूषपोषपुष्टः, पविभीषणपाणिरमरकोटिवृतः ।
सुरपतिरपि सुरलोका—च्च्यवते पक्व फलमिव द्रोः ॥१८४॥
षष्टिं पुत्रसहस्रान् , सगरश्चक्र्यपि न रक्षितुमधीश ।
ज्वलनभमाद्यमादिव, ततोऽपि किं त्वं बलिष्ठतरः ? ॥१८५॥
कृत्वा पातकमपि यान् , पुष्येदुत्पश्यतामपि हि तेषाम् ।
रङ्क इव यमेन भटैः, गतशरणो नीयते कृष्ट्वा ॥ १८६ ॥
नीतस्ततश्च नरके, सहते खलु वेदना परमघोरा ।
जन्मान्तरानुधावी—नि देहिनामहह कर्माणि ! ॥ १८७॥
जननी मे जनको मे, भ्राता मे सुतकलत्रवर्गो मे ।
मिथ्यैव बुद्धिरेषा, न देहमपि वस्तुत स्वीयम् ॥१८८॥
पुत्रादीनामेषां, भिन्नस्थानात्समेयुषा स्थाने ।
एकत्र निवास खलु, विहगानामिव तरौ सायम् ॥१८९॥
गच्छन्ति ततोऽपि पुन , पृथक् पृथक् स्थानकेषु देहभृत ।
एकत्र निशि सुषुप्ता, निशावसाने यथा पान्था ॥१९०॥
अरघट्टघटीन्याया—द्यैर्हिरेयाहिरा (रीं) क्रियां सततम् ।
इह कुर्वता तनुभृता, को हन्त स्व परः को वा ? ॥१९१॥
एव यावत् संवे—गसंगतश्चिन्तयत्यवनिनाथ ।
तावत् तत्रोद्याने, कुमारनन्दी गुरुः प्राप ॥ १९२ ॥
गुर्वागमनं ज्ञात्वा, गत्वा तत्र प्रणम्य मुनिनाथम् ।
उचितस्थाने निषसा—द देशनामथ गुरुर्विदधे ॥ १९३ ॥
बिभ्य सर्वोभ्योऽपि, स्वतोऽन्यतश्चापतद्विपद्विवहा ।
यमदन्तयन्त्रसंस्था , कष्ट जीवन्ति तनुभाजः ॥१९४॥
जीवातुभिरगदगणै—रायुर्वेदेन सप्रबन्धेन ।
मृत्युंजयादिभिर्वर—मन्त्रैर्नहि रक्ष्यते मृत्यो ॥ १९५ ॥
अहह स्खलमायेमयतं, महाधन मन्दमेयसे प्राणम् ।
कवलयति सततमशरण—मविशेषेणैव समवर्त्ती ॥१९६॥
नापापदमजरामर—पदमन्यश्रमनघधर्ममनुत्तमम् ।
सुख या तदत्र भुवने, क्वचिदपि नान्यच्छरणमस्ति ॥१९७॥
इत्याकर्ण्य नरेशो, विरस्य र्यतिपतिपदौ जगादेति ।

यतिधर्मकल्पोरनिश, पालितगृहमेधिधर्मस्य ॥ १६८ ॥
पूर्वभवार्जितगुरुतर-रोगभरप्रसरविधुरदेहस्य ।
दीक्षां गृहीतुमनलं-भूष्णोरुचितं किमधुना मे ? ॥ १६६॥
अल्पायुष्कत्वमथो, जानन्नृपतेर्गुरुर्वभाणेदम् ।
स्वातीचारान् विकटय, यमांश्च पुनरुच्चर नरेश ! ॥२००॥
क्षमयस्व प्राणिगणं, व्युत्सृज सर्वाणि पापकपदानि ।
जिनसिद्धसाधुधर्म, सम्यक् शरणं प्रपद्यस्व ॥२०१॥
गर्हस्व दुष्कृतभरं, कुरुष्व सुकृतानुमोदनं भूप ! ।
शुभभावना च भावय, मुदितोऽनशनं प्रपद्यस्व ॥२०२॥
पञ्च नमस्कारं स्मर, विमुञ्च ममतां च राज्यराष्ट्रादौ ।
इति गुरुगिरां निशम्य, प्रमुदितचित्तो महीभर्त्ता ॥२०३॥
निजतनये हरिषेणे, हर्षेण निवेश्य वसुमतीभारम् ।
संघ च क्षमयित्वा, विधाप्य पूजां जिनगृहेषु ॥ २०४ ॥
सुगुरोः समक्षमनशन-मुररीचक्रे समाहितमनस्कः ।
स्वाध्यायध्यानपरो, वासरसप्तकमतीयाय ॥२०५॥
विदलद्घरणावारक-कर्मचयोऽत्रान्तरे प्रभाचन्द्रः ।
विहिताञ्जलिर्गुरुं प्रति, विज्ञपयामासिवानेवम् ॥२०६॥
दीक्षा जगृहे न मया, प्रभोऽल्पसत्त्वेन पूर्वमधुना किम् ।
सा समुचिता ग्रहीतुं, नवेति ? गुरुराह भो भूप ! ॥ २०७ ॥
एकाहमपि प्राणी, प्रव्रज्यां पालयेदनन्यमनाः ।
यदि नहि गच्छेन्मोक्षं, स भवेद्वैमानिकोऽवश्यम् ॥ २०८ ॥
तत्संस्तारकदीक्षा-मधुनाऽपि विधेहि धेहि समभावम् ।
श्रुत्वैव मुदितमनाः, संस्तारकयत्यभून्नृपतिः ॥ २०६ ॥
आनन्दश्रुतिपत्रपुटे-न पिबन् समयामृतं विगततृष्णः ।
अवगाढो हंस इव, स्फूर्जन्निरवधिसमाधिहृदे ॥२१०॥
पक्षं विहितानशनः, पञ्चनमस्कृतिमनुस्मरन् मनसि ।
मृत्वा स वैजयन्ते, महर्द्धिरमरः समुत्पेदे ॥२११॥
ग्रामपुरकर्बटादिषु, सार्द्धं विहरन् प्रभासमुनिपतिना ।
श्रीप्रभमुनिररिदमन-क्षितिपतिजनपदमथायासीत् ॥२१२॥
तत्र च निशम्य लोकात्, प्रभेन्दुराजस्य मरणवृत्तान्तम् ।
वैराग्योपगतमनाः, एवं स महामना दध्यौ ॥२१३॥
धन्यः कृतकृत्योऽयं, कृतार्थजन्मा नृपः प्रभाचन्द्रः ।
पण्डितमरणं लब्धं, भवकोटिसुदुर्लभं येन ॥ २१४ ॥
सुरगिरिधीरेणापि च, मर्त्तव्यं कापुरुषेणाऽपि तथा ।
उभयोर्नियते मरणे, धीरतया तद्वरं मरणम् ॥२१५ ॥
तद्वेधाकृतसंले-खनस्य चिरविहितविमलचरणस्य ।
अभ्युद्यतमरणं खलु, विधातुमुचितं ममाप्यधुना ॥२१६॥
एवं विभाव्य स मुनि-र्गुरूननुज्ञाप्य पापविप्रमुक्तः ।
प्रतिसमयशुभ्यदध्यव-सायो देहेऽपि च निरीहः ॥२१७॥
समशत्रुमित्रभावो, निर्जन्तुशिलातलं समनुसृत्य ।
विदधे विधिना सुमनाः, अनशनमथ पादपोपगमम् ॥२१८॥
अत्रान्तरे चरमुखा-दरिदमननृपो निशम्य तद्वृत्तम् ।
आगत्य तत्र हृष्ट-स्तस्य मुनेरिति स्तुतिं चक्रे ॥२१६॥
जय जय मुनीश ! विकसित-शतदलपटलविमलकीर्त्तिभर ! ।
निःशेषसत्त्वसंहति-रक्षादक्षाशय ! सुधीर ! ॥२२०॥
शुचिसत्यवचनरचना-प्रपञ्चपीयूषशमितभवदाह ! ।
दशनविशोधनमात्रेऽ-पि परधने निःस्पृहमनस्क ! ॥२२१॥
जितभुवनमदनमदकल !, कुम्भस्थलदलनकेसरिवरिष्ठ ! ।
पदलग्नधूलिलीला-परिमुक्त ! साम्यसाम्राज्य ! ॥ २२२ ॥
मैत्रीप्रमोदकरुणा-माध्यस्थ्यमहार्णवावगाढाय ।
अतिदुष्करतरतपसे, नमो नमस्ते महाभाग ! ॥ २२३ ॥
इति तेन नूयमानोऽ-पि सर्वथोत्कर्षवर्जितः स मुनिः ।
तत्काल त्रुटितायुः, परमं ध्यानं समधिरूढः ॥ २२४ ॥
मुक्त्वा तनूमवकर-कुटीपरित्यागहेलयाऽत्रैव ।
सर्वार्थवरविमाने, त्रिदशवरिष्ठः समजनिष्ट ॥ २२५ ॥
हर्षप्रकर्षकलिते-रथ तस्य कलेवरस्य संनिहितैः ।
विबुधैर्विदधे महिमा, गन्धोदककुसुमवर्षेण ॥ २२६ ॥
देवः स तत्र हस्तो-च्छ्रयो निशाकरकरप्रतिमरोचिः ।
त्रियुतत्रिंशज्जलधि-स्थितिरहमिन्द्रो विगतमानः ॥ २२७ ॥
सुखशय्यामधिशयितो निष्प्रतिकर्मा सदा विमललेश्यः ।
मुक्तस्थानान्तरगति-रकृतोत्तरवैक्रियविकारः ॥२२८॥
आयुःसागरसङ्ख्यैः पक्षैः कुर्वन् सुगन्धि निःश्वसितम् ।
वर्षसहस्त्रैस्तावद्भिरेव आहारयन् मनसा ॥२२६॥
भिन्नां च लोकनालीं, विलोकयन्नवधिसंपदा मुदितः ।
निर्वृतिसुखसदृशीयं, सुखमनुभूय प्रवरतेजाः ॥२३०॥
स्वस्थानाच्च्युत्वा, श्रीप्रभजीवः प्रभेन्दुजीवश्च ।
अपरविदेहे मुक्तिं, लप्स्येते शुक्लचरणेन ॥२३१॥
एवं सयुतः एकविंशतिगुणैः स श्रीप्रभः क्ष्मापतिः,
साधुश्रावकधर्मभारधरणे धौरेयकोऽजायत ।
तद् भो भव्यजनाः ! सनातनसुखस्थानाप्तिबद्धादराः !,
एतान् मूलगुणानुपार्जितुमहो यत्नं विधत्तान्वहम् ॥२३२॥
(इति श्रीप्रभमहाराजकथा ।) ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष० ।

सिरिमुह–देशी–मन्दमुखे, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा ।

सिरियक–श्रीयक–पुं० । स्थूलभद्रस्वामिभ्रातरि सकटालसुते, आ० क० ४ अ० ।

सिरिवओ–देशी–हंसे, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा ।

सिरिवच्छ–श्रीवत्स–न० । माहेन्द्रकल्पस्य स्वनामख्याते पारियानिके विमाने, स्था० ८ ठा० ३ उ० । जं० । प्रव० । आ० । एकादश देवलोकविमाने, स० २१ सम० । माङ्गलिकचिह्नभेदे, जं० १ वक्ष० । रा० । महापुरुषाणां वक्षोऽन्तर्वर्तिनि अभ्युन्नतावयवे लाञ्छनविशेषे जं० ३ वक्ष० ।

श्रीवत्स–पुं० । जिनादिवक्षश्चिह्नविशेषे, रा० । आ० म० । स० ।

सिरिवच्छा–श्रीवत्सा–स्त्री० । श्रीश्रेयांसस्य शासनदेव्याम् मानवीनाम–मानवी गौरवर्णा सिंहवाहना चतुर्भुजा वरदमुद्गरान्वितदक्षिणकरद्वया कलशाङ्कुशसंयुक्तवामकरद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

सिरिवच्छंकियवच्छ–श्रीवृक्षाङ्कितवक्षस्–पुं० । श्रीवृक्षेणाङ्कितेन लाञ्छनं वक्षो येषां ते श्रीवृक्षाङ्कितवक्षसः । श्रीवत्सचिह्नाङ्कितेषु, जी० ३ प्रति ४ अधि० । आ० । अन्त० ।

सिरिवडिंसय–श्र्यवतंसक–न० । सौधर्मकल्पविमानभेदे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग १० अ० ।

सिरिवण–श्रीवन–न० । पोलासपुरे नगरे स्वनामख्याते उद्याने, अन्त० ।

सिरिवण्ण–श्रीपर्ण–न० । भद्दिलपुरस्योत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे स्वनामख्याते विमाने, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

सिरिवणी-श्रीपर्णी-स्त्री० । लोकप्रतीतोषधिविशेषे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । प्रज्ञा० ।

सिरिवद्धमाण-श्रीवर्द्धमान-पुं० । वीरजिने, स्था० । श्रीवर्द्धमानमिति विशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते-श्रिया-चतुस्त्रिंशदतिशयसमृद्ध्या तुमहत्तमकमावाहन्त्यरूपया वर्द्धमानं-वर्द्धिष्णुं सत्वतिशयानां परिमिततयैव सिद्धान्ते प्रतिपन्नत्वात्कथं वर्द्धमानतोपपत्ति ?, इति चेत् न । यथा निशीथचूर्णौ भगवता श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रलक्षणसंख्याऽऽज्ञाप्तस्त्वयाया उपलक्षणत्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम्, एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम् । ततो नातिशयश्रिया वर्द्धमानत्वं दोषाश्रय इति । स्था० ।

सिरिवप्पहट्टसूरि-श्रीवप्पहट्टसूरि-पुं० । विक्रम ८२६ वत्सरेषु मथुरायां वीरबिम्बस्थापके सूरौ, ती० ८ कल्प ।

सिरिवर-श्रीवर-पुं० । अयोध्यानगरस्य स्वनामख्याते राजनि अष्ट० २५ अष्ट० । शोभाप्रधाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सिरिवसह-श्रीवृषभ-पुं० । स्वनामख्याते आदितीर्थकरे, प्रव० १४८ द्वार ।

सिरिवारिसेण-श्रीवारिषेण-पुं० । ऐरवते वर्षे जाते चतुर्विंशतितमजिननाथे, प्रव० ७ द्वार ।

सिरिविजय-श्रीविजय-पुं० । श्रीरामविजयपण्डितशिष्ये कल्पसुबोधिकावृत्तिकरणाद्यर्थके सूरौ, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

सिरिवीर-श्रीवीर-पुं० । वीरजिने, "सिरिवीरजिणं वंदिअ, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।" कर्म० १ कर्म० ।

सिरिवीरधवल-श्रीवीरधवल-पुं० । गुर्जरधरित्रीराजे पोरवाडकुलमण्डने, ती० ४ कल्प ।

सिरिस-शिरीष-पुं० । वृक्षविशेषे स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सिरिसंभूया-श्रीसम्भूता-स्त्री० । पञ्चम्यां रात्रितिथौ, चं० प्र० १ पाहु० । कल्प० । जं० ।

सिरिसमुदाय-श्रीसमुदाय-पुं० । शोभासमूहे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सिरिसही-श्रीसखी-स्त्री० । श्रीविजयसेनस्य चन्द्रकान्तानगरीराजस्य भार्यायाम्, श्रीकान्ताख्यव्यवहारिणो भार्यायां च । कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सिरिसिद्धंतमहोदधि-श्रीसिद्धान्तमहोदधि-पुं० । शोभनागमवृन्दसमुद्रे, जा० १ प्रति० ।

सिरिसिवय-श्रीसिवय-पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते ऐरवतदशमजिने, प्रव० ७ द्वार ।

सिरिसिहर-श्रीशेखर-पुं० । स्वनामख्याते कुम्भपुरनगरराजे, दर्श० १ तत्त्व ।

सिरिसोम-श्रीसोम-पुं० । अर्बुदपर्वते कषोपलमयबिम्बप्रतिष्ठापयतस्तेजःपालस्य तत्पूर्वजश्रेणीना मूर्तिनिवेशनिदेशकृति श्रावके, ती० ७ कल्प । भरत वर्षे भविष्यति स्वनामख्याते सप्तमे कुलकरे, ती० २० कल्प ।

सिरिहर-श्रीधर-त्रि० । शोभावति,ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । भारतातीते सप्तमे जिनेश्वरे,प्रव० ७ द्वार । पार्श्वनाथस्य षष्ठे गणधरे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० । स्था० ।

श्रीगृह-न० । रत्नादिस्थाने, नि० चू० १ उ० । आ० क० ।

सिरिहरय-श्रीगृहक-न० । भाण्डागारे, व्य० ६ उ० ।

सिरिहरिय-श्रीगृहिक-पुं० । श्रियो गृहं भाण्डागारं तद्विद्यते यस्य स श्रीगृहिक । भाण्डागारिके, कर्म० १ कर्म० ।

सिरिहरिसपुर-श्रीहर्षपुर-न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र हर्षपुरीयगच्छः समजनि " ज्ञानादिकुसुमनिचित—फलित श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दे । कल्पद्रुम इव गच्छः, श्रीहर्षपुरीयनामास्ति ॥ १ ॥ " अनु० ।

सिरिहल-श्रीफल-न० । बिल्वे, पाइ० ना० १४८ गाथा ।

सिरी-श्री-स्त्री० । अनन्यसाधारणतपस्तेजोविभूतौ, विपा० २ श्रु० १ अ० । लक्ष्म्याम् दशा० १० अ० । स्था० । " श्रीमङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्सम्प्रवर्द्धते । दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं, संयमात्प्रतितिष्ठति ॥१॥" ध० १ अधि० । "कमला सिरी य लच्छी" पाइ० ना० ६६ गाथा । स० । प्रज्ञा० । आव० । विभवे, सम्पत्तौ, पाइ० ना० । शोभायाम्, रा० । अष्ट० । ज० । देहकान्तौ, आ० म० १ अ० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे पद्महृदाधिष्ठातृदेवतायाम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अनु० । उत्तररुचकपर्वतवास्तव्याया दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० । आ० म० । आ० क० । ज० । पोलासपुरनगरराजस्य विजयस्य भार्यायामतिमुक्तककुमारमातरि, स्था० १० ठा० ३ उ० । अन्त० । कुन्थुजिनमातरि, ती० ८ कल्प ।

सिरीस-शिरीष-पुं० । वृक्षविशेषे रा० । जं० ।

सिरोरुह-शिरोरुह-न० । केशे, पाइ० ना० १०६ गाथा ।

सिरोवत्थी-शिरोवस्ति-स्त्री० । शिरसि बद्धस्य,चर्मकोशस्य संस्कृततैलापूरलक्षणे वैद्यकर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । विपा० ।

शिरोविशुद्ध-शिरोविशुद्ध-न० । यदा स्वर शिरःप्राप्तः सन् सानुनासिको भवति तत शिरोविशुद्धम् । करणविशुद्धे गेय, रा० ।

सिरोवेदणा-शिरोवेदना-स्त्री० । शिरःपीडायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सिरोवेह-शिरोवेध-पुं० । नाडीवेधेन रुधिरमोक्षणे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

सिरोहमज्जा-शिरोहमज्जा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, ती० ८८ कल्प ।

सिरोहरा-शिरोधरा-स्त्री० । ग्रीवायाम्, पाइ०ना०११० गाथा।

सिलओ-देशी-उञ्छे, दे० ना० ८ वर्ग ३० गाथा।

सिलग्घ-श्लाघ्य-त्रि० । कथनीय, आ० म० १ अ०।

सिलप्पवाल-शिलाप्रवाल-न० । शिलारूपं प्रवालं श्रिया युक्तं वा प्रवालं श्रीप्रवालम्। वर्णादिगुणोपेत विद्रुमे,सूत्र०२श्रु० १ अ०। जी०। शिलाप्रवालानि-विद्रुमाणि। अन्ये त्वाहु शिला राजपट्टादिरूपा प्रवालं-विद्रुमम्। दशा० ६ अ०। भ०। रा०। औ०। नं०।

सिला-शिला-स्त्री० । राजपट्टे, गन्धपेषशिलायाम्, आ० १ श्रु० १ अ०। घट्टनयोग्ये देवकुलपीठाद्युपयोगिनि महति पाषाणविशेषे, जी० १ प्रति०। प्रश्न०। दशा०। दश०। विपा०। स्फटिकादिके, स्था० ६ ठा० ३ उ०। सू०। कल्प०। तीर्थकृज्जन्माभिषेकसिंहासनाधारभूतायां शिलायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। राजपट्टके, गन्धपट्टे इत्यन्ये। अनु०। काश्यपगोत्रस्य वृषभस्य दुहितरि महापद्मचक्रवर्त्तिनो भार्यायाम्, उत्त० १३ अ०। पाषाणे, पाइ० ना० ११३ गाथा।

सिलाइच्च-शिलादित्य-पुं० । स्वनामख्याते वलभीपुरराजे, ती० १६ कल्प। (तत्कथा 'सत्तुंजय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७३ पृष्ठे गता।)

सिलागहत्थ-शलाकाहस्त-पुं० । अयःशलाकादिरूपे (दश० ४ अ०।) शलाकासङ्घातरूपे सरित्पर्णादिशलाकाहस्तके,रा०।

सिलागा-सलाका-स्त्री० । वेत्रादौ, नि० चू० १ उ०। अयःशलाकादौ, दश० ४ अ०।

सिलाघा-श्लाघा-स्त्री० । गुणोद्घट्टने, स्था० ४ ठा० ४ उ०। श्लोके, यशसि, आव० ४ अ०। सूत्र०।

सिलाणिहिय-शिलानिहित-त्रि० । शिलाप्राप्ते, जं० ३ वक्ष०।

सिलापट्टय-शिलापट्टक-पुं० । मसृणशिलायाम्, आ० म० १ अ०। ज्ञा०।

सिलावुट्ठ-शिलावृष्ट-न० । शिलाशब्देन करका गृह्यन्ते वृष्टं वर्षणम्। करकादिवृष्टौ, दश० ८ अ०।

सिलावुट्ठि-शिलावृष्टि-स्त्री० । पाषाणनिपतने, करकादिशिलावर्षणे च। प्रव० २६८ द्वार। व्य०।

सिलिंद-शिलिन्द-पुं० । मुकुन्दधान्यविशेषे, ग० २ अधि०। दश०। ध०।

सिलिंध-शिलीन्ध्र-पुं० । छत्रके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रज्ञा०। भूमिस्फोटे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। भूमिस्फोटकछत्रके, औ०।

सिलिंधपुप्फप्पगास-शिलीन्ध्रपुष्पप्रकाश-त्रि० । शिलीन्ध्रकुसुमप्रभे ईषत्सिते, औ०।

सिलिंव-देशी-शिशौ, दे० ना० ८ वर्ग ३० गाथा-

सिलिट्ठ-श्लिष्ट-त्रि० । रुचिरे, विशिष्टे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सुसंहतावयवे, आ० म० १ अ०। सङ्गते, औ०। सुदठु जुत्तं श्लिष्टमित्यनर्थान्तरम्। आ० चू० १ अ०।

सिलिपइ-श्लीपदिन्-त्रि० । श्लीपदनाम्ना रोगेण यस्य पादौ शूनौ-शिलावत्महाप्रमाणौ भवतः। तस्मिन्, सू० १ उ० २ प्रक०।

सिलिम्ह-श्लेष्मन्-पुं० । "लात्" ॥ ८। २। १०६॥ संयुक्तस्यान्त्यस्य अनाद्यात्पूर्वं इत्वं भवति। इत्वम्-सिलिम्हो। "श्लेष्माणि वा" ॥ ८। २। ५५॥ श्लेष्मशब्दे ष्मस्य फो भवति। फादेशाभावे। सिलिम्ह। प्रा० २पाद। आव०४ अ०।

सिलिय-सिलिक-पुं० । गतलवणादिगुणसम्पन्नतृणविशेषे, किरातनिक्षकादितृणे च। आ० १ श्रु० १३ अ०। विशे०।

सिलीमुह-शिलीमुख पुं० । बाणे, पाइ० ना० ३६ गाथा।

सिलीवय-श्लीपद-न० । पादादौ काठिन्यरूपे रोगे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

सिलेलियमच्छ-शिलेलिकामत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति०।

सिलेस-श्लिष-धा० । आलिङ्गने, "श्लिषेः सामग्गावयास-परिअन्ताः" ॥ ८। ४। १९०॥ श्लिष्यतेरेते त्रय आदेशा भवन्ति। पक्षे-सिलेसइ। श्लिष्यति। प्रा० ४ पाद।

श्लेष-पुं० । श्लेषयतीति श्लेषः। "लात्" ॥ ८। २। १०६॥ इति सूत्रेण लात्पूर्वमिकारः। प्रा०। सर्जरसादौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। भावे घञ्। समाश्लेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। वज्रलेपे, भ० ८ श० ६ उ०।

सिलोग-श्लोक-पुं० । आत्मश्लाघायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। पा०। विशे०। श्लाघायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। अनु०। ज्ञा०। कीर्त्तौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०। आचा०। अनुष्टुप्छन्दसि, स०। जं०। ज्ञा०। गुणप्रवचनैर्वर्णनायाम्, नि० चू० १ उ०। स०।

सिलोगगामी-श्लोककामिन्-त्रि० । आत्मश्लाघाभिलाषिणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

श्लोकगामिन्-त्रि० । श्लोकः-श्लाघा कीर्त्तिस्तद्गामी यः। यशोऽभिलाषुके, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

सिलोगाणुवाइ-श्लोकानुपातिन्-त्रि० । श्लोकं-ख्यातिमनुपतति इति श्लोकानुपाती। यशोऽर्थिनि, स्था०६ ठा०३उ०।

सिलोच्चय-शिलोच्चय-पुं० । शिलानां पाण्डुशिलादीनामूर्ध्वशिरस उपरि च यत्र सम्भवो स शिलोच्चय। जं० ४ वक्ष०। मेरुपर्वते, सू० प्र० ५ पाहु०। चं० प्र०। पर्वतमात्रे, पाइ० ना०।

सिल्हग-सिल्हक-न० । गन्धद्रव्यविशेषे, आ० म०१ अ०।

सिव-शिव-न० । व्यन्तरकृतोपद्रवाभावे, सू० १ उ० २ प्रक०। भ०। कल्प०। स्था०। व्य०। मन्त्रादिसामर्थ्यादुपशमितोपद्रव, अनु०। सकलद्वन्द्ववर्जितत्वात्। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। दर्श०। उपद्रवोपशमहेतुत्वात्। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सर्वोपद्रवरहितत्वात्। औ०। ध०। रा०। ल०। भ०। ज्ञा०। मोक्षपदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०। विशे०। आ० म०। स०। अबाधके, सर्वदुःखमोक्षे, निर्वाणे, स०। आ० म०।

सर्वोपद्रवभावनानाबाधे, उत्त० २३ अ० । स० । भ० । सुखे, विशे० । उपद्रवहरे, कल्प० १ अधि०२ क्षण । शिवहेतौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । शान्तौ , रा० । निरुपद्रवकारिणि, कल्प०१ अधि० ३ क्षण । सदा मङ्गलोपेते, जं०१ वक्ष० । जी० । सामायिके, आ० चू० १ अ० । आव० । तस्योपद्रवकारित्वाभावात् । आ० म० १ अ० । पञ्चमबलदेववासुदेवयोः पितरि, स० । आव० । ति० । स्था० । श्रावणादिगणनया पौषे मासे, ज० ७ वक्ष० । सूत्र० । आकारविशेषधरे देवताविशेषे, रा० । जी० । भ० । अनु० । व्यन्तरविशेषे , ग० २ अधि० । महादेवे, ज्ञा०१ श्रु० १ अ० । महादेवशब्देनार्हन्त एव, तेषामेव महादेवत्वात् । हा० १ अष्ट० । उत्त० । अकोपन तत्र वा हरनि, पञ्चत्रिंशत्तमे सूरिगुणविशिष्टे, प्रव० ६५ द्वार । कल्याणकरे, दर्श० १ तत्त्व । रा० । सौख्ये, सुखकारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । तगरायां नगर्यां कस्यचिदाचार्यस्याष्टानां शिष्याणां तृतीये सुशिष्ये, व्य० १० उ० । भ० । स्था० । आ० चू० । आ० म० । श्रीवीरेण सह प्रव्रजिते (स्था० ८ ठा० ३ उ० ।) ख्यनामख्याते हस्तिनापुरनगरराजे , भ० ।

शिवराजर्षिसंविधानकं नवमोद्देशके प्राह, तस्य चेदमादिसूत्रम्--

तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणापुरे नामं नगरे होत्था वन्नओ । तस्स णं हत्थिणापुरस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे एत्थ णं सहस्संबवणे णामं उज्जाणे होत्था, सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे रम्मे णंदणवणसंनिगासे सुहसीयलच्छाए मणोरमे साउफले अकंटए पासादीए ०जाव पडिरूवे । तत्थ णं हत्थिणापुरे नगरे सिवे नामं राया होत्था, महयाहिमवंत ० वन्नओ । तस्स णं सिवस्स रन्नो धारिणी नामं देवी होत्था सुकुमालपाणिपाया ०वन्नओ । तस्स णं सिवस्स रन्नो पुत्ते धारणीए अत्तए सिवभद्दए नामं कुमारे होत्था सुकुमाल० जहा सूरियकंते० जाव पच्चुवेक्खमाणे पच्चुवेक्खमाणे विहरइ । तए णं तस्स सिवस्स रन्नो अन्नया कयावि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि रज्जधुरं चिंतेमाणस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था--अत्थि ता मे पुरा पोराणाणं जहा तामलिस्स ०जाव पुत्तेहिं वड्ढामि पसूहिं वड्ढामि रज्जेणं वड्ढामि एवं रट्ठेणं बलेणं वाहणेणं कोसेणं कोट्ठागारेणं पुरेणं अंतेउरेणं वड्ढामि विपुलधणकणगरयण०जाव संतसारसावएज्जेणं अतीव अतीव अभिवड्ढामि तं किन्नं अहं पुरा पोराणाण०जाव एगंतसोक्खयं उव्वेहमाणे विहरामि ?, तं जाव ताव अहं हिरन्नेणं वड्ढामि तं चेव०जाव अभिवड्ढामि०जाव मे सामंतरायाणो वि वसे वट्टंति ताव ता मे सेयं कल्लं पाउप्पभयाए ०जाव जलंते सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुयं तंबियं तावसभंडगं घडावेत्ता सिवभद्दं कुमारं रज्जे ठावेत्ता तं सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुयं तंबियं ताव सभंडगं गहाय जे इमे गंगाकूले वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा--होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जन्नई सड्ढई थालई जं च उड्ढदंतुक्खलिया उम्मज्जया संमज्जगा निमज्जगा संपक्खाला उड्ढकंडूयगा अहोकंडूयगा दाहिणकूलगा उत्तरकूलगा संखधमया कूलधमगा मितलुद्धा हत्थितावसा जलाभिसेयकिढिणगाया अंबुवासिणो वाउवासिणो जलवासिणो चेलवासिणो अंबुभक्खिणो वायभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा फलाहारा बीयाहारा परिसडियकंदमूलपंडुपत्तपुप्फफल हारा उद्दंडा रुक्खमूलिया वालवासिणो वक्कवासिणो दिसापोक्खिया आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं पिव कंडुसोल्लियं पिव कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं ०जाव करेमाणा विहरंति जहा उववाइए० जाव कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा विहरंति । तत्थ णं जे ते दिसा पोक्खियतावसा तेसिं अंतियं मुंडे भवित्ता दिसापोक्खियतावसत्ताए पव्वइत्तए , पव्वइए वि य णं समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सामि--कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिसाचक्कवालेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय ०जाव विहरित्तए त्ति कट्टु,एवं संपेहेति संपेहेत्ता कल्लं ०जाव जलंते सुबहुं लोहीलोह०जाव घडावेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी--खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हत्थिणागपुरं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं आसिय ०जाव तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति,तए णं से सिवे राया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेंति सद्दावेत्ता एवं वयासी--खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सिवभद्दस्स कुमारस्स महत्थं ३ विउलं रायाभिसेयं उवट्ठवेह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव उवट्ठवेंति । तए णं से सिवे राया अणेगगणनायगदंडनायग०जाव संधिपालसद्धिं संपरिवुडे सिवभद्दं कुमारं सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहं निसीयावेन्ति २ त्ता अट्ठसएणं सोवन्नियाणं कलसाणं०जाव अट्ठसएणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्विड्ढीए०जाव रवेणं महया २ रायाभिसेएणं अभिसिंचइ २ त्ता पम्हलसुकुमालाए सुरभिए गंधकासाईए गायाइं लूहेइ पम्ह० २ त्ता सरसेणं गोसीसेणं एवं जहेव जमालिस्स अलंकारो तहेव०जाव कप्परुक्खगं पिव अलंकियविभूसियं करेंति २त्ता करयल०जाव कट्टु सिवभद्दं कुमारं जएणं विजएणं वद्धावेंति जएणं विजएणं वद्धावेत्ता ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं जहा उववाइए कोणियस्स०जाव परमाउं पालयाहि इट्ठजणसंपरिवुडे हत्थिणापुरस्स नगरस्स अन्नेसिं च ब-

हूणं गामागरनगर०जाव विहराहि त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति । तए णं से सिवभद्दे कुमारे राया जाए महया हिमवंत० वरुओ०जाव विहरइ । तए णं से सिवे राया अन्नया कयाइं सोभणंसि तिहिकरणदिवसमुहुत्तनक्खत्तंसि विपुल असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडावेंति उवक्खडावेत्ता मित्तणाइसियग०जाव परिजणं रायाणो य खत्तिया आमंतेति आमंतेत्ता तओ पच्छा ण्हाए ०जाव सरीरे भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगए तेणं मित्तणाति नियगसयण ०जाव परिजणेणं राएहि य खत्तिएहि य सद्धिं विपुलं असणपाणखाइमसाइमं एवं जहा तामली ०जाव सक्कारेति संमाणेति सक्कारेत्ता संमाणेत्ता तं मित्तणाति ०जाव परिजणं रायाणो य खत्तिए य सिवभद्दं च रायाणं आपुच्छइ आपुच्छित्ता सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुय० जाव भंडं गहाय जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति तं चेव ०जाव तेसिं अंतिए मुंडे भवित्ता दिसापोक्खियतावसत्ताए पव्वइए, पव्वइएऽवि य णं समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ--कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं तं चेव ०जाव अभिग्गहं अभिगिण्हइ अभिगिण्हित्ता पढमं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं से सिवे रायरिसी पढमछट्ठक्खमणपारणगंसि आयावणभूमीए पच्चोरुहइ आयावणभूमीए पच्चोरुहित्ता वागलवत्थनियत्थे जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता किढिणसंकाइयगं गिण्हइ गिण्हित्ता पुरच्छिमं दिसं पोक्खेइ पुरच्छिमाए दिसाए सोमे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सिवं रायरिसी अभि० २, जाणि य तत्थ कंदाणि य मूलाणि य तयाणि य पत्ताणि य पुप्फाणि य फलाणि य बीयाणि य हरियाणि य ताणि अणुजाणउ त्ति कट्टु पुरच्छिमं दिसं पसरति पुर०त्ता जाणि य तत्थ कंदाणि य ०जाव हरियाणि य ताइं गेण्हइ गेण्हित्ता किढिणसंकाइयं भरेइ किढि० त्ता दब्भे य कुसे य समिहाओ य पत्तामोडं च गेण्हइ गेण्हित्ता जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ २त्ता किढिणसंकाइयगं ठवेइ किढि०त्ता वेदिं वड्डेइ वेदिं वड्डित्ता उवलेवणसंमज्जणं करेइ उव०त्ता दब्भसगब्भकलसाहत्थगए जेणेव गंगा महानदी तेणेव उवागच्छइ गंगामहानदीं ओगाहेति २ त्ता जलमज्जणं करेइ २ त्ता जलकीडं करेइ करेत्ता जलाभिसेयं करेंति करेत्ता आयते चोक्खे परमसुइभूए देवयपितिकयकज्जे दब्भसगब्भकलसाहत्थगए गंगाओ महानईओ पच्चुत्तरइ पच्चुत्तरित्ता जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता दब्भेहि य कुसेहि य वालुयाएहि य वेतिं रएति वेतिं रएत्ता सरएणं अरणिं महेति सरएणं अरणिं महेत्ता अग्गिं पाडेति अ०त्ता अग्गिं संधुक्केइ अ०त्ता समिहाकट्ठाइं पक्खिवइ समिहाकट्ठाइं पक्खिवित्ता अग्गिं उज्जालेइ अ०त्ता, अग्गिस्स दाहिणे पासे, सत्तंगाइं समादहे । तं जहा--"सकहं वक्कल ठाणं, सिज्जा भंडं कमंडलुं ॥ दंडदारुं तहा ऽप्पाणं, अहे ताइं समादहे ॥ १ ॥" महुणा य घएण य तंदुलेहि य अग्गिं हुणइ, अग्गिं हुणित्ता चरुं साहेइ, चरुं साहेत्ता बलिवइस्सदेवं करेइ, बलिवइस्सदेवं करेत्ता अतिहिपूयं करेइ अतिहिपूयं करेत्ता तओ पच्छा अप्पणा आहारमाहारेति । तए णं से सिवे रायरिसी दोच्चं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तए णं से सिवे रायरिसी दोच्चे छट्ठक्खमणपारणगंसि आयावणभूमीओ पच्चोरुहइ आयावण० त्ता एवं जहा पढमपारणगं नवरं दाहिणगं दिसं पोक्खेति पो०त्ता दाहिणाए दिसाए जमे महाराय पत्थाणे पत्थियं सेसं तं चेव आहारमाहारेइ । तए णं से सिवरायरिसी तच्चं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तए णं से सिवे रायरिसी सेसं तं चेव नवरं पच्चच्छिमाए दिसाए वरुणे महाराया पत्थाणे पत्थियं सेसं तं चेव० जाव आहारमाहारेइ । तए णं से सिवे रायरिसी चउत्थं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तए णं से सिवे रायरिसी चउत्थं छट्ठक्खमणं एवं तं चेव नवरं उत्तरदिसं पोक्खेइ उत्तराए दिसाए वेसमणे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सिवं, सेसं तं चेव ०जाव तओ पच्छा अप्पणा आहारमाहारेइ । (सू० ४१७)

तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिसाचक्कवालेणं ०जाव आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए ०जाव विणीययाए अन्नया कयावि तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स विब्भंगे नामं नाणे समुप्पन्ने, से णं तेणं विब्भंगनाणेणं समुप्पन्नेणं पासइ अस्सिं लोए सत्त दीवे सत्त समुद्दे तेण परं न जाणति, न पासति । तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था--अत्थि णं ममं अइसेसे नाणदंसणे समुप्पन्ने एवं खलु अस्सिं लोए सत्त दीवा सत्त समुद्दा तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य, एवं संपेहेइ एवं संपेहेत्ता आयावणभूमीओ पच्चोरुहइ आया० हित्ता वागलवत्थनियत्थे जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ उवा०त्ता सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुयं ०जाव भंडगं किढिणसंकाइयं च गेण्हइ गेण्हित्ता जेणेव हत्थिणापुरे नगरे जेणेव तावसावसहे

सहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता भंडनिक्खेवं करइ भंड०त्ता हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडगतिग० जाव पहेसु बहु-जणस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ-अत्थि णं देवाणुप्पिया ! ममं अतिसेसे नाणदंसणे समुप्पन्ने, एवं खलु अस्सिं लोए० जाव दीवा य समुद्दा य । तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतियं एयमट्ठं सोचा निसम्म हत्थिणापुरे नगरे सिंगाडगतिग० जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ०जाव परूवेइ-एवं खलु देवाणुप्पिया ! सिवे रायरिसी एवं आइक्खइ ०जाव परूवेइ अत्थि णं देवाणुप्पिया ! ममं अतिसेसे नाणदंसणे ०जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य, समुद्दा य, से कहमेयं मन्ने एवं ? । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे परिसा ०जाव पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी जहा बितियसए नियंठुद्देसए ० जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ बहुजणो अन्नमन्नस्स एवं आइक्खइ एवं ० जाव परूवेइ-एवं खलु देवाणुप्पिया ! सिवे रायरिसी एवं आइक्खइ ० जाव परूवेइ-अत्थि णं देवाणुप्पिया ! तं चेव०जाव वोच्छिन्ना दीवा समुद्दा य, से कहमेय मन्ने एवं ? । तए णं भगवं गोयमे बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोचा निसम्म ०जाव सड्ढे जहा नियंठुद्देसए ०जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य , से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमादिसमणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-जन्नं गोयमा ! से बहुजणे अन्नमन्नस्स एवमातिक्खइ तं चेव सव्वं भाणियव्वं ०जाव भंडनिक्खेवं करेति हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग० तं चेव ०जाव वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य । तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतिए एयमट्ठं सोचा निसम्म तं चेव सव्वं भाणियव्वं ०जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य तणं मिच्छा , अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु जंबुद्दीवादीया दीवा लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविहिविहाणा वित्थारओ अणेगविहिविहाणा एवं जहा जीवाभिगमे ०जाव सयंभूरमणपज्जवसाणा अस्सिं तिरियलोए असंखेज्जे दीवसमुद्दे पन्नत्ते समणाउसो ! । अत्थि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दव्वाइं सवन्नाइं पि अवन्नाइं पि सगंधाइं पि अगंधाइं पि सरसाइं पि अरसाइं पि सफासाइं पि अफासाइं पि अन्नमन्नबद्धाइं अन्नमन्नपुट्ठाइं० जाव घडत्ताए चिट्ठंति ? , हंता अत्थि । अत्थि णं भंते ! लवणसमुद्दे दव्वाइं सवन्नाइं पि अवन्नाइं पि सगंधाइं पि अगंधाइं पि सरसाइं पि अरसाइं पि सफासाइं पि अफासाइं पि अन्नमन्नबद्धाइं अन्नमन्नपुट्ठाइं० जाव घडत्ताए चिट्ठंति ?, हंता अत्थि । अत्थि णं भंते ! धायइसंडे दीवे दव्वाइं सवन्नाइं पि० जाव एवं चेव एवं० जाव सयंभूरमणसमुद्दे ? , ०जाव हंता अत्थि । तए णं सा महतिमहालिया महच्चपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसिं, पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तए णं हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग० ०जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ-जन्नं देवाणुप्पिया ! सिवे रायरिसी एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ-अत्थि णं देवाणुप्पिया ! ममं अतिसेसे नाणे० जाव समुद्दा य तं नो इणट्ठे समट्ठे, समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ-एवं खलु एयस्स सिवस्स रायरिसिस्स छट्ठं छट्ठेणं तं चेव० जाव भंडनिक्खेवं करेइ भंडनिक्खेवं करेत्ता हत्थिणापुरे नगरे सिंधाडग० जाव समुद्दा य । तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतियं एयमट्ठं सोचा निसम्म० जाव समुद्दा य तणं मिच्छा, समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ-एवं खलु जंबुदीवादिया दीवा लवणादिया समुद्दा तं चेव० जाव असंखेज्जा दीवसमुद्दा पन्नत्ता समणाउसो ! । तए णं से सिवे रायरिसी बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोचा निसम्म संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावन्ने कलुससमावन्ने जाए यावि होत्था । तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स संकियस्स कंखियस्स० जाव कलुससमावन्नस्स से विभंगे नाणे खिप्पामेव परिवडिए । तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे० जाव सव्वन्नू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं० जाव सहस्संबवणे उज्जाणे अहापडिरूवं० जाव विहरइ , तं महाफलं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्स जहा उववाइए० जाव गहणयाए, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि० जाव पज्जुवासामि, एयं णे इहभवे य परभवे य० जाव भविस्सइ त्ति कट्टु एवं संपेहेति एवं संपेहित्ता जेणेव तावसावसहे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता तावसावसहं अणुप्पविसति अणु०सित्ता सुबहुं लोहीलोहकडाह० जाव किढिणसंकातिगं च गेण्हइ किढि० गेण्हित्ता तावसावसहाओ पडिनिक्खमति ताव० त्ता परिवडियविब्भंगे हत्थिणागपुरं नगरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे जेणेव समणे भ-

गवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे ०जाव पंजलिउडे पज्जुवासइ । तए णं से समणे भगवं महावीरे सिवस्स रायरिसिस्स तीसे य महतिमहालियाए ०जाव आणाए आराहए भवइ । तए णं से सिवे रायरिसी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म जहा खंदओ० जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अव०त्ता सुबहुं लोहीलोहकडाह ०जाव किढिणसंकातिगं एगंते एडेइ ए० त्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति सयमे० त्ता समणं भगवं महावीरं एवं जहेव उसभदत्ते तहेव पव्वइओ तहेव इक्कारस अंगाइं अहिज्जति तहेव सव्वं ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । (सू० ४१८)

'तेणं कालेणं'—मित्यादि, 'महया हिमवंत वण्णओ' त्ति-अनेन 'महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे' इत्यादि राजवर्णको वाच्य इति सूचितम्, तत्र महाहिमवानिव महान् शेषराजापेक्षया तथा मलयः—पर्वतविशेषो मन्दरो—मेरुः महेन्द्रः—शक्रादिर्देवराजस्तद्वत्सारः—प्रधानो यः स तथा, 'सुकुमाल० वण्णओ' त्ति अनेन च सुकुमालपाणिपाये—त्यादि राज्ञीवर्णको वाच्य इति सूचितम्, 'सुकुमालजहा सूरियकंते ०जाव पच्चुवेक्खमाणे २ विहरइ' त्ति अस्यायमर्थः—'सुकुमालपाणिपाए लक्खणवंजणगुणोववेए' इत्यादिना यथा राजप्रश्नकृताभिधाने ग्रन्थे सूर्यकान्तो राजकुमार 'पच्चुवेक्खमाणे २ विहरइ' इत्येतदन्तेन वर्णकेन वर्णितस्तथाऽयं वर्णयितव्य, 'पच्चुवेक्खमाणे २ विहरइ' इत्येतच्चैवमिह सम्बन्धनीयम्—'से णं सिवभद्दे कुमारे जुवराया यावि होत्था सिवस्स रन्नो रज्जं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्ठागारं च पुरं च अंतेउरं च जणवयं च सयमेव पच्चुवेक्खमाणे विहरइ' त्ति । 'वाणपत्थ' त्ति—वने भवा वानी प्रस्थानं प्रस्था—अवस्थितिः, वानी प्रस्था येषां ते वानप्रस्थाः । अथवा—"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा" इति चत्वारो लोकप्रतीता आश्रमाः, एतेषां च तृतीयाश्रमवर्त्तिनो वानप्रस्थाः, 'होत्तिय'-त्ति अग्निहोत्रिकाः 'पोत्तिय' त्ति-वस्त्रधारिणः 'सोत्तिय'-त्ति क्वचित्पाठस्तत्राप्ययमेवार्थः 'जहा उववाइए' इत्येतस्मादतिदेशादिदं दृश्यम्-'कोत्तिया जन्नई सड्ढई थालई हुंवउट्ठा दंतुक्खलिया उम्मज्जगा सम्मज्जगा निमज्जगा संपक्खला दक्खिणकूलगा उत्तरकूलगा संखधमगा कूलधमगा मिगलुद्धया हत्थितावसा उद्दंडगा दिसापोक्खिणो वक्कवासिणो चेलवासिणो जलवासिणो रुक्खमूलिया अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा फलाहारा बीयाहारा परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा जलाभिसेयकढिणगाया आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं कंदुसोल्लियं' ति-तत्र 'कोत्तिय' त्ति-'भूमिशायिनः' 'जन्नइ' त्ति-यज्ञयाजिनः 'सड्ढइ' त्ति-श्राद्धाः 'थालइ' त्ति-गृहीतभाण्डाः 'हुंवउट्ठ' त्ति-कुण्डिकाश्रमणाः 'दंतुक्खलिय' त्ति फलभोजिनः 'उम्मज्जग' त्ति—उन्मज्जनमात्रेण ये स्नान्ति 'सम्मज्जग' त्ति-उन्मज्जनस्यैवासकृत्करणेन ये स्नान्ति 'निमज्जग' त्ति-स्नानार्थं निमग्ना एव ये क्षणं तिष्ठन्ति 'संपक्खाल' त्ति—मृत्तिकादिघर्षणपूर्वकं येऽङ्गं क्षालयन्ति 'दक्खिणकूलग' त्ति—यैर्गङ्गाया दक्षिणकूल एव वास्तव्यम् 'उत्तरकूलग' त्ति—उक्तविपरीताः 'संखधमग' त्ति—शङ्खं ध्मात्वा ये जेमन्ति यद्यन्यः कोऽपि नागच्छतीति 'कूलधमग' त्ति—ये कूले स्थित्वा शब्दं कृत्वा भुञ्जते 'मियलुद्धय' त्ति-प्रतीता एव 'हत्थितावस' त्ति-ये हस्तिनं मारयित्वा तेनैव बहुकालं भोजनतो यापयन्ति 'उद्दंडग' त्ति—ऊर्ध्वकृतदण्डा ये सञ्चरन्ति 'दिसापोक्खिणो' त्ति—उदकेन दिशः प्रोक्ष्य ये फलपुष्पादि समुच्चिन्वन्ति 'वक्कलवासिणो' त्ति-वल्कलवाससः 'चेलवासिणो' त्ति—व्यक्तं पाठान्तरे 'वेलवासिणो' त्ति—समुद्रवेलासन्निधिवासिनः 'जलवासिणो' त्ति—ये जलनिमग्ना एवासते, शेषाः प्रतीताः, नवरं 'जलाभिसेयकिढिणगाय' त्ति-येऽस्नात्वा न भुञ्जते स्नानाद्वा पाण्डुरीभूतगात्रा इति वृद्धाः, क्वचित् 'जलाभिसेयकढिणगायभूय' त्ति-दृश्यते, तत्र जलाभिषेककठिनं गात्रं भूताः—प्राप्ता ये ते तथा, 'इंगालसोल्लिय' ति—अङ्गारैरिव पक्व 'कन्दुसोल्लियं' ति कन्दुपक्वमिवेति । 'दिसाचक्कवालएणं तवोकम्मेणं' ति—एकत्र पारणके पूर्वस्यां दिशि यानि फलादीनि तान्याहृत्य भुङ्क्ते द्वितीये तु दक्षिणस्यामित्येवं दिक्चक्रवालेन यत्र तपःकर्मणि पारणकरणं तत्तपःकर्म दिक्चक्रवालमुच्यते तेन तपःकर्मणेति साहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं' इत्यत्र 'एवं जहा उववाइए' इत्येतत्करणादिदं दृश्यम्-'मणुन्नाहिं मणामाहिं ०जाव वग्गूहिं अणवरयं अभिनंदंता य अभिथुणंता य एवं वयासी-जय२नंदा! जय२भद्दा जय२नंदा! भद्दं ते अजियं जिणाहि जियं पालियाहि जियमज्झे वसाहि अजियं च जिणाहि सत्तुपक्खं जियं च पालेहि मित्तपक्खं जिगविग्घोऽवि य वसाहि तं देव! सयणमज्झे इंदो इव देवाणं चंदो इव ताराणं धरणो इव नागाणं भरहो इव मणुयाणं बहूइं वासाइं बहूइं वाससयाइं बहूइं वाससहस्साइं अणहसमग्गो य हट्ठतुट्ठो' त्ति, एतच्च व्यक्तमेवेति । 'वागलवत्थनियत्थे' त्ति-वल्कलं—वल्कस्तस्येदं वाल्कलं तद्वस्त्रं निवसितं येन स वाल्कलवस्त्रनिवसितः 'उडए' त्ति—उटजः—तापसगृहं 'किढिणसंकाइयगं' ति, 'किढिण' त्ति—वंशमयस्तापसभाजनविशेषस्ततश्च तयोः साङ्कायिकं—भारोद्वहनयन्त्रं किढिणसाङ्कायिकम् 'महाराय' त्ति-लोकपालः 'पत्थाणे पत्थियं' ति-प्रस्थाने—परलोकसाधनमार्गे प्रस्थितं—प्रवृत्तं फलाद्याहरणार्थं गमने वा प्रवृत्तं शिवराजर्षिम् 'दब्भे य' त्ति—समूलान् 'कुसे य' त्ति दर्भानेव निर्मूलान् 'समिहाओ य' त्ति—समिधः—काष्ठिकाः 'पत्तामोडं च' तरुशाखामोटितपत्राणि 'वेदिं वड्ढेइ' त्ति—वेदिकां—देवार्चनस्थानं वर्द्धनी-बहुकरिका तां प्रयुङ्क्ते इति वर्द्धयति-प्रमार्जयतीत्यर्थः, 'उवलेवणसमज्जणं करेइ' त्ति-इहोपलेपनं गोमयादिना समार्जनं तु जलेन समार्जनं वा शोधनं 'दब्भकलसाहत्थगए' त्ति-दर्भाश्च कलशश्च हस्ते गता यस्य स तथा 'दब्भसगब्भकलसगहत्थगए' त्ति-क्वचित् तत्र द-

भेंग सगर्भो य फलशक स हस्ते गतो यस्य स त-था ' जलमज्जण ' त्ति-जलेन देहशुद्धिमात्रं ' जलकीड ' त्ति-देहशुद्धावपि जलेनाभिरत ' जलाभिसेयं ' त्ति-जलक्षरणम् ' आयंते ' त्ति-जलस्पर्शात् ' चोक्खे ' त्ति-अशुचिद्रव्यापग-मात् । किमुक्तं भवति ?—' परमसुइभूए ' त्ति—' देवयपिइ-कयकज्जे ' त्ति—देवतानां पितॄणां च कृतं कार्यं-जलाञ्जल-दानादिकं येन स तथा , ' सरएणं अरणिं महेइ ' त्ति—शर-केन—निर्मन्थनकाष्ठेन अरणिं—निर्मन्थनीयकाष्ठं मथ्नाति-घर्षयति , ' अग्गिस्स दाहिणे ' इत्यादि सार्द्धः श्लोकस्त-द्यथाशब्दवर्ज्ज , तत्र च ' सत्तंगाइं ' सप्ताङ्गानि समादधा-ति—संनिधापयति सकथां १ वल्कलं २ स्थानं ३ शय्याभा-ण्डं४ कमण्डलुम् ५ दण्डदारु ६ तथा ऽऽत्मानं ७ मिति, तत्र सकथा—तत्समयप्रसिद्ध उपकरणविशेष स्थानं-ज्योति-स्थानं पात्रस्थानं वा शय्याभाण्ड—शय्योपकरणं दण्ड-दारु-दण्डकः आत्मा प्रतीत इति , ' चरुं साहेति ' त्ति-च-रु -भाजनविशेषस्तत्र पच्यमानद्रव्यमपि चरुरेव तं चरुं ब-लिमित्यर्थं साधयति-रन्धयति ' बलिवइस्सदेवं करेइ ' त्ति-बलिना वैश्वानरं पूजयतीत्यर्थः , ' अतिहिपूयं करेइ ' त्ति-अतिथेः—आगन्तुकस्य पूजां करोतीति । ' से कहमेयं मन्ने एव ' त्ति—अत्र मन्येशब्दो वितर्कार्थः. ' वितियसए नियदु-द्देसए ' त्ति—द्वितीयशते पञ्चमोद्देशक इत्यर्थः. ' एगविहिवि-हाणा ' त्ति-एकेन विधिना-प्रकारेण विधानं-व्यवस्थानं ये-षां ते तथा , सर्वेषां वृत्तत्वात्, वित्थराओ अणेगविहि-विहाणा ' त्ति-द्विगुण २ विस्तारत्वात्तेषामिति ' एवं जहा जी-वाभिगमे ' इत्यनेन यदिह सूचितं तदिदम्—' दुगुणादुगुणं पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा ओभासमाणवीइया ' अवभा-समानवीचय -शोभमानतरङ्गाः, समुद्रापेक्षमिदं विशेषणम् , ' बहुउप्पलकुमुदनलिणसुभगसोगंधियपुंडरीयमहापुंडरीयस-यपत्तसहस्सपत्तसयसहस्सपत्तपफुल्लकेसरोवचेया ' बहूनामु-त्पलादीनां प्रफुल्लानां—विकसितानां यानि केसराणि तैरुप-चिताः -संयुक्ता य ते तथा,तत्रोत्पलानि-नीलोत्पलादीनि कुमु-दानि चन्द्रबोध्यानि पुण्डरीकाणि-सितानि शेषपदानि तु रू-ढिगम्यानि ' पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं२ व णसंडपरिक्खित्त ' त्ति । ' सवन्नाइं पि ' त्ति-पुद्गलद्रव्याणि ' अ-वन्नाइं पि ' त्ति—धर्मास्तिकायादीनि ' अन्नमन्नबद्धाइं ' ति प रस्परेण गाढाश्लेषाणि ' अन्नमन्नपुट्ठाइं ' ति-परस्परेण गाढा-श्लेषाणि, इह यावत्करणादिदमेव दृश्यम्—' अन्नमन्नबद्ध-पुट्ठाइं अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ' तत्र चान्योऽन्यबद्धप्रस्पृ-ष्टान्यनन्तरोक्तगुणद्वययोगात् . किमुक्तं भवति ?-अन्योऽन्य घटनया-परस्परसम्बद्धतया तिष्ठन्ति ' नावसावमेहं ' त्ति ता पसावसथ —तापसमठ इति ॥ अनन्तरं शिवराजर्षे सि-द्धिरुक्ता । भ० ११ श० ६ उ० । आ० चू० । आ० म० ।

सिवंकर-शिवंकर-न० । शिवं—मोक्षपदं तत्करणशीलम् । मलशयपभ्यागमने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सिवंधतरु-शिवाम्रतरु-पुं०।शिवो-मोक्ष आम्रतरु-श्चूतद्रुम इवाम्रतरुः । शिविरसालवृक्षविशेषे , दर्श० १ तत्त्व ।

सिवक(ग)र-शिवकर-पुं० । स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, सेन० । (' पडिलाभ ' शब्दे पञ्चमभागे २३८ पृष्ठे तत्कथा गता ।)

सिवकुमार-शिवकुमार-पुं० । अपरविदेहे पुष्कलावतीविजये वीतशोकानगरीराजस्य पद्मरथस्य पुत्रे , ध० र० २ अधि० । (शिवकुमारकथा ' गिहवास ' शब्दे तृतीयभागे ८६७ पृष्ठे गता ।)

सिवकोट्ठग-शिवकोष्ठक-पुं० । तगरायां नगर्यां सुव्यवहारि-त्वेन प्रसिद्धे स्वनामख्याते पुष्पमित्रादीनां सुव्यवहारिणाम-न्यतमे , व्य० ३ उ० ।

सिवग-शिवग-पुं० । महादेवे , नि० चू० १ उ० ।

सिवगइ-शिवगति-स्त्री० । सिद्धगतौ, पुं० । सिद्धगतिप्राप्ते , त्रिश० । भारतानीते चतुर्दशे जिने, प्रव० ७ द्वार ।

सिवगय-शिवगत-पुं० । परमपदं प्राप्ते , प्रव० ४४ द्वार ।

सिवतित्थ-शिवतीर्थ-न० । काश्याम् , प्रा० १ पाद ।

सिवदत्त-शिवदत्त-पुं० । इन्द्रपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्रह्म-दत्तपितरि, उत्त० १३ अ० । श्रावस्त्यां नगर्यां स्वनामख्याते नैमित्तिके, आ० म० २ अ० ।

सिवदेव-शिवदेव-पुं० । ' पामिच्च ' शब्दे पञ्चमभागे उदाहृते सम्मतसाधुभागन्यै तैलरूपऋणप्रदे वणिजि, पिं० ।

सिवपह-शिवपथ-न० । शिवो-मोक्ष पारमार्थिकनिरुपम-सुखस्थानं तस्य पन्था-मार्गः शिवपथः । मोक्षाध्वनि, दर्श० ३ तत्त्व ।

सिवपुर-शिवपुर-न० । शिवं एव पुरं शिवपुरम् । शिवनगरे, मोक्षे, दर्श० ३ तत्त्व ।

सिवभद्द-शिवभद्र-पुं० । एकादशशतनवमोद्देशकाभिहिते दे-वराजर्षिपुत्रे , भ० ७ श० ३ उ० । (' सिव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता ।) स्वनामख्याते मुनौ, ध० र० ।

तथाहि—

"इह कोसंबिपुरीए , पुव्वदिसुज्जाणभवणकयवासो ।
संनिहियपाडिहेरो, जक्खो निवसइ फग्गुपाणी ॥ १ ॥
अन्नदिणे तब्भवणे, सुत्तत्थविऊ सुदंसणो साहू ।
काउस्सग्गेण ठिओ, विम्हियपडिवन्नतवकम्मो ॥ २ ॥
तच्चित्तक्खोहणत्थ, जक्खो न डसइ भुयगरूवेण ।
करिरूवेणं पीडइ, तस्सइ अट्टट्टहासेहिं ॥ ३ ॥
तह वि हु अक्खुहियमणं तं समणं दट्ठु फग्गुपाणिसुरो ।
नमिउं विम्हइ इम, उच्छलियातुच्छहरिसभरो ॥ ४ ॥
उवसग्गवग्गभुग्गा , ज तुह मुणिपवर ! पावभरभग्गो ।
सज्जोगम्मालिणो वि हु , काहमह खमसु न भंते ! ॥ ५ ॥
इय चरणजुयलसंठविय मउलिकमलो खमाविउं साहु ।
सीमा व्व समयविगओ , जक्खो तं सेवए सम्मं ॥ ६ ॥
अह तत्थ दुन्नि पुरोहिय-पुत्ता सिवभद्दसिरियमभिहाणा ।
पत्ता तं अइदुल्लह, तवकिलिमियंग निरंति मुणिं ॥ ७ ॥
तो तेहिं सहासमिमं, पयंपियं ज मुणिंद ! धम्मत्थं ।
पीडज्जइ किर अप्पा, वादमजुत्तं तय पयं ॥ ८ ॥

जओ—

धम्माओ धणलाभो, तत्तो कामा तओ य ससग्गो ।
धम्मस्स अजण ता, मूलाउ छिन्नय दुम्मजुत्त ॥ ९ ॥
इय ते उवसमपरं, ददतु जक्खो फुरंतगुरुकायो ।
उप्पाडिय सिवकरसु, महासिवो तेण इत्तुणं ॥ १० ॥
तयत्तु भयत्तालनायण तरलियनयण पकंपिरसरीरो ।
लग्गो मुणिचलणेसु, भणिओ " त भयह सरण " ति ॥ ११ ॥
ते वददु साहुसरणं, जक्खो जाओ पसतमनुभावो ।
परियउसग्गेण, अह मुणिणा ते इय वुत्ता ॥ १२ ॥
(भद्दत्यादि ' धम्म ' शब्द चतुर्थभाग २९६० पृष्ठे उक्तम ।)
ज पितु धणभोगाई, भणिय भवफारणं तयपि इत्थ ।
तेय किलिट्ठवत्ता-ण न उण इयराण ज भणिय ॥ १७ ॥
सा काऽवि कला झाण—ति नियमेण ताणिऊण परमत्थं ।
च्दायंति भइसपण वि, छिप्पंति न पिंडुणा चय ॥ १८ ॥
सुव्वइ य भरहनरवरा-इणो इह सुचिरमुनवरभोगा ।
होउ अकिलिट्ठमणा, लोयग्गठिय पय पत्ता ॥ १९ ॥
इय ताउ पंडियुहा, पुणो पुणो नामिउ तमप्पगाह ।
तस्स मुणिस्स समीवे, ते दो वि वय पवज्जंति ॥ २० ॥
मुणिय जइजुग्गकिरिया गुरुमूले पढियबहुयसुयत्था ।
सुचिर उग्गविहारा, समयविहाणा तरंति तर ॥ २१ ॥
अह अतुहस्समवत्तो, सिरिओ सिवहोइ ववगयकरणभरो ।
धरइ मण जाइमय, न कुणइ विणय गुरूणं पि ॥ २२ ॥
तो सिवभद्दो सिरिय, भणेइ भो भद्द ! नरगयस्सावि ।
भवसयसहस्सदुलह,मणुयत्तं किह होसि सिढिलमणा॥२३॥
गुरुविणयपर निच्चं, मणं पि मा कुणसु जाइमयमव ।
ज जाइमयाईहिं, दुहिओ परिभमइ भवगहणं ॥ २४ ॥

उक्तं च—

जाइकुलरूपबलसुय-तवलाभिस्सरिय अट्ठमयमत्तो ।
एयाइं चिय बधइ, असुहाईं बहु च ससारे ॥ २५ ॥
तो भद्दनिय दोसं, एय गीयत्थसुगुरुसमीवम्मि ।
त आलोयसु सम्म, नाउ आलोयणाइविहिं ॥ २६ ॥

तथथा—

पडिसेवा पडिसेवग—दोसगुणा गुरुगुणा य इह नेया ।
सरसाविसाईइं गुणा, सरुसमणालोयओ सिक्खा ॥ २७ ॥
तह पडिसेवाइण—यमायणाभावसहस्सगार य ।
आउरआवइआकय—भयपओसा य वीमसा ॥ २८ ॥
वग्गणमाइ दप्पा, इह कप्पा उ अणइ पमाओ ।
चित्तस्स घमणाभावा, स०साकारो य बलं ति ॥ २९ ॥
छुहतहवाहिपरत्था, ज सवइ आउरा अत्र पत्ता ।
दव्वाइअलभे पुण, चउव्विहा आवइ हाइ ॥ ३० ॥
संकिय सा कप्पा सा-इ भणिय मोहमाइया त भय ।
कोहाइओ पओसा, वीमसा सहमाइणं ॥ ३१ ॥

(दारं)—

"आकंपइत्ता अणुमाणइत्ता', ज दिट्ठ बायर व सुहुमं वा ।
छन्न सद्दाउलय बहुजणअव्वत्त तस्सेवी ॥ ३२ ॥
इय पडिसवणदोसा, आकंपिय तस्स भत्तिमाईहिं ।
गुरुअववाह लहुया—णुमाणओ तस्स आलोए ॥ ३३ ॥
ज दिट्ठ ति परेण, आलोयइ बायर ति नउ सुहुमं ।
अह सुहुमं आलोयइ, विस्ससत्थ न उण थूल ॥ ३४ ॥
छन्न अव्वत्तस्स सद्दाउलयं निसुणाविति ।
न सेव य पडिसेवग आलोयइ बहुजणाण पुरो ॥ ३५ ॥
अव्वत्तस्स पुरओ—स्स तस्स आलोयए य तस्सेवी ।
इणो एस आलोयग—गुणा इम हुंति नायव्वा ॥ ३६ ॥
जाइकुलविणयनाण—दसणचरणेहिं संपन्ना ।
अणणुतावी अमाई, चरमगुणा दंसणा भणिया ॥ ३७ ॥
जाइजुओ पायमं, न कुणइ अकिच्च कय तु आलोए ।
कुलसंपन्नो सम्म, पडिवज्जइ गुरुवइट्ठं ॥ ३८ ॥
[illegible] ॥ ३९ ॥
[illegible] ॥ ४० ॥
[illegible] ॥ ४१ ॥
[illegible] ॥ ४२ ॥
[illegible] ॥ ४३ ॥
[illegible] ॥ ४४ ॥
[illegible] ॥ ४५ ॥
[illegible] ॥ ४६ ॥

अवि य—

सल्लुद्धरणनिमित्त, गीयत्थन्नेसणा उक्कोसा उ ।
जोयणसयाइ सत्त उ, बारस वासाइं कायव्वा ॥ ४७ ॥

जओ—

नासेइ अगीयत्थो, चउरगं सव्वलोयसारंग ।
नट्ठम्मि य चउरंगे, न हु सुलहं होइ चउरगं ॥ ४८ ॥

किंच—

अकयाइयचारित्तो, वयगहणाओ य जो य गीयत्थो ।
तस्स सगासे दसण, वयगहणं साहिगरणं च ॥ ४९ ॥
पयबिहगुरुपासे, च(ल)ज्जागारवभयाइ मोत्तूणं ।
सव्व पि भावसल्लं, उद्धरियव्व जओ भणियं ॥ ५० ॥
जह बालो जपन्तो, कज्जमकज्जं च उज्जुओ भणइ ।
त तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥ ५१ ॥

दारं—

लहुयाल्हाईजणणं अप्पपरनियत्ति अज्जव सोही ।
दुक्करकरणं अट्ठउ , निस्सल्लत्त च सोहिगुणा ॥ ५२ ॥
आलोयणापरिणओ , सम्म संपट्ठिओ गुरुसगासे ।
जइ अंतरावि कालं , करिज्ज आराहगो तह वि ॥ ५३ ॥
आगंतु गुरुमूले , जो पुण पयडेइ अत्तणो दोसं ।
सो जइ न जाइ मोक्ख , अवस्समसरत्तण लहइ ॥ ५४ ॥
जो पुण इय नाऊण वि, सम्म न कहेइ अत्तणो सल्ले ।
चोएयव्वो ता सो, निम्मोहभणिएहि नाणीहिं ॥ ५५ ॥
जइ रुम्मइ नरवइणो , एगो आसो समग्गगुणकलिओ ।
तस्स पभावेण निव-स्स वट्टए सव्वसुपत्ती ॥ ५६ ॥

अह मेसनिवा पभणंति नियनियठाणेसु सठिया एव।
भो अत्थि कोइ पुरिसो, जो तं आमं अवहरिज्जा ॥ ५७ ॥
भणिय चारनरेहिं, सो नरपडगओ सया काल।
हरिउं तेण न तीरइ, अह वुत्तं एगपुरिसेण ॥ ५८ ॥
जइ नवरं मारिज्जइ, रन्ना भणियं इम पि ता होउ।
तत्तो सो तत्थ गओ, न लहइ तुरयस्स अवगास ॥५९॥
तो येण खुद्दियाक-टएण सरमुहठिएण वरतुरओ।
कहमवि विद्धो सो ते-ण सल्लिओ खुड्डुमसल्लेण ॥६०॥
सो निच्च परिहाएइ, भुंजंतो वि हु पभूयजवसाइ।
तो रन्ना सो विज्ज-स्स दाइओ तेण भणियमिण ॥ ६१ ॥
न हि कोइ धाउखोहो, अत्थि हु अव्वत्तसल्लमेयस्स।
तो अमगसमगमेसो, उल्लितो खुड्डुमपंकेण ॥ ६२ ॥
सल्लपएसे आसो, उएहत्तणओ य पढमसुक्काओ।
नाऊण तओ सल्लं, नीणिय आसो कओ सज्जो ॥ ६३ ॥
अन्नो पुण जह आसो, अणुधियसल्लो न भुज्जपरिहत्थो।
तह साहू वि ससल्लो, कम्मजयं काउ असमत्थो ॥६४॥
देवाणुप्पिय ! सम्म, लज्जागारवमयाइ ता मुत्तु।
आलोयसु नियसल्लं, मा मरसु ससल्लमरणेण ॥ ६५ ॥

जओ—

न वि तं सत्थं व विस, व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पो व पमाइओ कुद्धो ॥ ६६ ॥
जं कुणइ भावसल्ल, अणुद्धिय उत्तमट्ठकालम्मि।
दुल्लभबोहीयत्त, अणंतससारियत्त च ॥ ६७ ॥
इय पभणिओ वि सिरिओ, तओ अणालोइओ अपडिकंतो।
चरणं विराहिऊणं, उववन्नो भवणवासीसु ॥ ६८ ॥
सिवभद्दो उण कटग—पहछलणानायओ कह वि जाय।
नाउं नियमइयार, आलोयइ भ त्ति गुरुमूले ॥ ६९ ॥
आलोइयपडिकंतो, सम्म आराहिऊण सामन्न।
उववन्नो पवरसुरो, सोहम्मे हेमवन्नाभो ॥ ७० ॥
तो चविउ इह भरहे, वेयड्ढे गयणवल्लहपुरम्मि।
सिरिकणयकेउरन्नो, देवइनामाइ देवीए ॥ ७१ ॥
जाओ पहाणपुत्तो, सिवचंदो नाम पत्ततारुन्नो।
परिणेइ वसंतसिरिं, निवधूय पढियबहुविज्जा ॥७२॥
सिरिओ वि तओ वट्टिय, जाओ तस्सेव बंधवो लहुओ।
कयसोमचंदनामो, कमेण तरुणत्तमणुपत्तो ॥७३॥
अह सोमचंदकुमर-स्स पढियनिरवज्जपवरविज्जस्स।
जाया कयावि बुद्धी, मायंगि साहिउं विज्जं ॥७४॥
तीस य इमो कप्पो, मायंगगिहट्ठिएण कइ वि दिणे।
साहणविही विहेया, परिणियमायंगधूयाए ॥ ७५ ॥
तयणु मकामं पिउणा, वारिज्जंतो वि सोयरेण पुणो।
सुबहुं खलिज्जंतो वि हु, गओ कुणालाइनयरीए ॥ ७६ ॥
तत्थ बहुदाणपुव्वं, मायंगसुयं विवाहए एग।
सिढिलियविज्जासाहण—वावारो गलियसुद्धमई ॥७७॥
अगणियसकुलकलंको, दूरं पब्भट्ठपुण्णपब्भारो।
तीए च्चिय अणुरत्तो, कमेण जायाणि डिंभाणि ॥७८॥
इय तस्स मलीमस चि—ट्ठियस्स अच्चतपावनिरयस्स।
पिउभायपमुहलोए-ण संकहा दूरओ चत्ता ॥७९॥
अन्नदिणे सिवचंदो, हरिकरिरहजोहजूहपरियरिओ।
पूरंतो गयणयल विमाणमालाहिं मव्वत्तो ॥८०॥
पवरविमाणारूढो, सिरउवरिंधरिज्जमाणसियछत्तो।
पासपइट्ठियखयरी, जणढालिज्जंतसियचमरो ॥ ८१ ॥
अग्गट्ठियमागहगण-पढुपयडियविविहसमरचरिउविजओ।
कलकंठकंठगायण—गिज्जंतमहंतगुणनिवहो ॥ ८२ ॥
सुचिरं सुरसरिसुरगिरि-वणेसु तह जंबुदीवजगईए।
पउमवरवेइगाए, पकीलिउं सगिहमणुचलिओ ॥ ८३ ॥
कह वि कुणालानयरी-इ उवरि वच्चतओ निए वि इमं।
नेहेण ओयरिऊ ण सायरं भायरं भणइ ॥ ८४ ॥
किं भो बंधव ! तुमए, इहेव अच्चतनिंदियकुलम्मि।
काएण व मयगकले—वरम्मि बद्धा रई दूरं ॥ ८५ ॥
किं मूढ ! विस्सगंध—प्पबंध दढगाढपिहियनासउड।
दुरंग व्वयमाणं, जण इओ न हु पलाएसि ? ॥ ८६ ॥
एगत्थ अत्थिउक्कर-ड भरियमन्नत्थ भम्मिरसाणगणं।
अवरत्थ गिद्धवायस-दुप्पिच्छ किं न नियसि इम ? ॥८७॥
त सोउं सोमचंदो, अयडनडिदंडताडिओ व्व दढ।
विच्छाओ लज्जावस-मिलंतनयणो भणइ एव ॥ ८८ ॥
भो भाय ! को न याणइ, दुहमसममिम पर कहसु इम।
पुव्वभवज्जियदुक्क-म्म भारदोसेण केण अहं ॥ ८९ ॥
विमलकुलवासविमुहो, विमुक्कतुहसरिसबंधुपडिबंधो।
परिसविजाइवावा-र सायरे पाडिओऽम्हि हहा ? ॥९०॥
तो विहिणा सिवचंदो, सविम्हओ सरिय रोहिणिं देवि।
पुच्छइ कहेसु भयवइ !, मह बंधवपुव्वभवचरियं ॥ ९१ ॥
उरुओहिनाणमुणिय-कहिउं सयलं पि तस्स पुव्वभवं।
देवीइ रोहिणीए फुडवयणमिम समुल्लविय ॥ ९२ ॥
जाइमयाई पुव्विं, न सम्ममालोइय जमेएण।
तेणेसो तुह भाया, विडबणं परिसं पत्तो ॥ ९३ ॥
ज सुहुमं वि हु खलिए, निस्सल्ला लोयणा कया तुमए।
त जाओ ऽसि इय सुही, इय भणिय तिरोहिया देवी ॥९४॥
सोउमिण सिवचंदो, पुव्वभव सरिय भणइ भो भाय !।
अज्ज वि तोडं वि लहु, कुकुडुयसिणेह सुत्तमिमं ॥९५॥
नियदुक्कयाई आलो-इऊण काऊण तिव्वतवचरणं।
एयस्स दुक्खनिवह-स्स देसु सलिलंजलिं भाया ! ॥९६॥
अह भणइ सोमचंदो, भाय ! इमा भारिया मह अणाहा।
आसन्नपसवसमया, इमाइं डिम्भाइं लहुयाइं ॥ ९७ ॥
ता कहसु मुएमि कहं इय त मूढ निएवि सिवचंदो।
दूरं न धम्मजुग्ग—त्ति चयइ पत्तो निय नयर ॥ ९८ ॥
मायाविऊण पिउणो, कहमवि चारणमुणिंदपयमूले।
पडिवन्नसजमभरो, सिद्धिं पत्तो धुयकिलेसो ॥ ९९ ॥
इयरो वि काउं विविह, पाव कालम्मि कालमासज्ज।
पत्तो नरए घोरे, दुहिओ भमिही भवकडिल्ले ॥ १०० ॥

श्रुत्वेति सद्विकटनाघटनानिरस्त-
कर्मव्रजस्य शिवभद्रमुनेश्चरित्रम्।
वाचंयमा नियमिनाखिलदोषजाला,
यत्न मुदा स्खलितशुद्धिविधौ व्यधत्त ॥ १०१ ॥

इति शिवभद्रमुनिकथा। ध० र०।

सिवभूइ-सिवभूति-पुं०। स्थविरस्यार्यधनगिरेः वासिष्ठगोत्रस्य स्वनामख्यातेऽन्तेवासिनि कौत्सगोत्रे आचार्ये, कल्प० १ अधि०४ क्षण। स्वनामख्याते रथवीरपुरवास्तव्ये साहसिकम-

ले, य. प्रव्रज्य बोटिकनिह्नवानस्थापयत् । आ० म०१ अ० ।

भाष्यम्—

उवहिविभागं मोउं, सिवभूई अज्जकण्हगुरुमूले ।
जिणकप्पियाइयाणं, भणइ गुरुं कीस नेयाणिं? ।२५५३।
जिणकप्पोऽणुचरिज्जइ,
नोच्छिन्नो त्ति भणिए पुणो भणइ ।
तदसत्तस्सोच्छिज्जउ,
वुच्छिज्जइ किं समत्थस्स ? ॥ २५५४ ॥
पुच्छस्स पुव्वमणापुच्छ,
छिण्णकंबलकसायकलुसिओ चेव ।
सो बेइ परिग्गहओ,
कसाय मुच्छा भयाईया ॥ २५५५ ॥
दोसा जओ सुबहुया, सुए य भणियमपरिग्गहत्तं ति ।
जमचेला य जिणिंदा, तदभिहिओ जं च जिणकप्पो २५५६
जं च जियाचेलपरि-सहो मुणी जं च तीहिँ ठाणेहिं ।
वत्थं धरिज्ज नग्गं-तओ तओऽचेलया सेया ॥२५५७॥

सर्वा अप्युक्तार्था एव, नवरं 'जं च जिणा चेल' त्यादि, यस्माच्च 'जिताचेलपरिषहो मुनि' इत्यागमेऽभिहितम् । जिताचेलपरिषहत्वं च किल त्यक्तवस्त्रस्यैव भवतीत्यभिप्राय । यस्माच्च त्रिभिरेव स्थानैर्वस्त्रधारणमनुज्ञातमागमे नैकान्तत, तथा चागमवचनम्-' तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरिज्जा-हीरिवत्तिय, दुगंछावत्तिय, परीसहवत्तिय " । तत्र ह्रीर्लज्जा संयमो वा प्रत्ययो निमित्तं यस्य धारणस्य तत् तथा, जुगुप्सा-लोकविहिता निन्दा सा प्रत्ययो यस्य तत्तथा, एवं परीषहा —शीतोष्णदंशमशकादय प्रत्ययो यत्र तत्तथा । उपसंहरन्नाह-ततस्तस्मादुक्तयुक्तिभ्योऽचेलतैव श्रेयस्करीति पूर्वपक्ष ।

अत्रोत्तरपक्षमभिधित्सुराह—

गुरुणाऽभिहिओ जइ जं, कसायहेऊ परिग्गहो सो ते ।
तो सो देहो च्चिय ते, कसायउप्पत्तिहेउ त्ति ॥२५५८॥

गुरुणा-आर्यकृष्णेनाभिहित शिवभूति'-यदि हन्त ! यद् यत् कषायहेतु, तत् तत् ते तव परिग्रह, स च मुमुक्षुणा परिहर्तव्य एवेत्येकान्त । 'तो सो' इत्यादि ततस्तर्हि स्वकीयो देह एव 'ते' तव स्वस्यात्मनोऽपि कषायोत्पत्तिहेतुरिति परिग्रह परिहरणीयश्च प्राप्नोति । अतोऽपरिग्रहत्वस्य परिग्रहाणा चोत्सन्ना कथेति ।

अथवा-किमेको देह एव, ननु व्याख्यापि ब्रूम', तद्यथा—

अत्थि व किं किंचि जए, जस्स व तस्स व कसायबीयं जं ।
वत्थुं न होज्ज एव, धम्मो वि तुमे न घेत्तव्वो ॥२५५९॥
जेण कसायनिमित्तं, जिणो वि गोसालसंगमाईणं ।
धम्मो धम्मपरा वि य, पडिणीयाणं जिणमयं च ।२५६०

किं हि नामैतावति जगति तद् वस्तु, यद् यस्य वा तस्य वा कषायाणां बीज-कारणं न भवेत्? एवं च सति श्रुत-चारित्रभेदभिन्नो धर्मोऽपि त्वया न ग्रहीतव्य., तस्यापि कस्यचित् कषायहेतुत्वात् । कुतः ? इत्याह 'जेणत्यादि' येन यस्मा दास्तां तत्प्रणीतो धर्म, किन्तु-स त्रिभुवनबन्धु -निष्कारणवत्सल. सर्वसत्त्वाना जिनोऽपि भगवान् तीर्थकरोऽपि क्लिष्टकर्मणा गोशालकसङ्गमकादीना कषायनिमित्तं सञ्जात । एवं धर्मस्तत्प्रणीत', तदुक्तधर्मपरा अपि तदेकनिष्ठा साधव, जिनमत च द्वादशाङ्गीरूपम्, सर्वमप्येतद् गुरुकर्मणा दु.खैकरूपदीर्घभवभ्रमणभाजा प्रत्यनीकाना जिनशासनप्रतिकूलवर्तिना कषायनिमित्तमेव, इत्येतदप्यग्राह्य प्राप्नोति, न चैतदस्ति । तस्मात् 'यत् कषायहेतुस्तत् परिहर्तव्यम्' इत्यनेकान्त एवेति ।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षो परस्याभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह ते न मोक्खसाहण-मईए गंथो कसायहेऊ वि
वत्थाइ मोक्खसाहण-मईए सुद्धं कहं गंथो ? ॥२५६१॥

अथ मन्यथा.-ते देहादयो जिनमतान्ता पदार्था कषायहेतवोऽपि सन्तो न ग्रन्थो-न परिग्रह', मोक्षसाधनमत्या गृह्यमाणत्वादिति । हन्त ! यद्येवम्, तर्हि वस्त्रपात्रादिकमप्युपकरणं शुद्धमेषणीय मोक्षसाधनबुद्ध्या गृह्यमाण कथं ग्रन्थ ?- न कथञ्चिदित्यर्थ, न्यायस्य समानत्वादिति ।

तदेवं कषायहेतुत्वादग्राह्य वस्त्रादिकमित्येतद् निराकृतम् । अथ मूर्च्छाहेतुत्वेन तत् परिहरणीयमित्येतदपाकर्तुमाह—

मुच्छाहेऊ गंथो, जइ तो देहाइओ कहमगंथो ।
मुच्छावओ कह वा, गंथो वत्थादमंगस्स ? ॥२५६२॥
अह देहाऽऽहाराइसु, न मोक्खसाहणमईए ते मुच्छा ।
का मोक्खसाहणेसुं, मुच्छा वत्थाइएसु तो ? ॥२५६३॥
अह कुणसि थुल्लवत्था-इएसु मुच्छं धुवं सरीरे वि ।
अकेज्ज दुल्लभयरे, काहिसि मुच्छं विसेसेणं ॥ २५६४ ॥
वत्थाइगंथरहिया, देहाऽऽहाराइमित्तमुच्छाए ।
तिरिय सबराइओ तणु, हवंति निरओवगा बहुसो ।२५६५।
अपरिग्गहा वि परम-तिएसु मुच्छाकसायदोसेहिं ।
अविणिग्गहियप्पाणो, कम्ममलमणंतमज्जंति । २५६६ ।
देहत्थवत्थमल्लाऽ-णुलेवणाऽऽभरणाधरिणो केइ ।
उवसग्गाइसु मुणओ, निस्संगा केवलमुविंति । २५६७ ।

एताः सुगमा एव, नवरं यदि यो मूर्च्छाहेतु स ग्रन्थ. परिग्रह, परिग्रहत्वादेव च त्याज्य, ततस्तर्हि मुच्छावउ' त्ति-मूर्च्छावतो वक्ष्यमाणयुक्त्या मूर्च्छायुक्तस्य देहाऽऽहारादिकस्तव हन्त ! कथमग्रन्थ ? अपि तु ग्रन्थ एव, तत सोऽपि परित्याज्यः प्राप्नोति । कथ वा ममत्वमूर्च्छारहितत्वेनासक्तस्य-सङ्गविप्रमुक्तस्य साधोर्वस्त्रादिक ग्रन्थो गीयते भवता ?-न भवत्येव तथाभूतस्य तद् ग्रन्थ इति । अथ देहाऽऽहारादिषु ते-तव मूर्च्छा नास्ति, मोक्षसाधनमत्या तेषा ग्रहणात्, तर्हि मोक्षसाधनत्वेन तुल्येष्वपि वस्त्रादिषु तव हन्त ! का मूर्च्छा ? इति । अथ स्थूलेषु बाह्यत्वात् क्षणमात्रेणैवाग्नितस्करादुपद्रवगम्यत्वात्, सुलभत्वात्, कतिपयदिनान्ते स्वयमेव विनाशधर्मकत्वात् शरीराद् नितरा [illegible]रेषु वस्त्रादिषु मूर्च्छां करोषि त्वम्, तर्हि ध्रुव-नि-

श्रितं शरीरेऽपि विशेषतो मूर्च्छां करिष्यसि । कुतो विशेषेण तत्र तत्करणमित्याह-'अक्केज्ज दुल्लभयरे' त्ति-विभक्तिव्यत्ययात् शरीरस्याक्रय्यत्वात्-क्रयेणालभ्यत्वात्। न हि वस्त्रादिवत् शरीर क्रयेण क्वापि लभ्यते । अत एव वस्त्राद्यपेक्षया दुर्लभतरत्वात्, तथा, तदपेक्षयैवान्तरङ्गत्वात्, बहुतरदिनावस्थायित्वात्, विशिष्टतरकार्यसाधकत्वाच्च विशेषेण शरीरे मूर्च्छां करिष्यसीति । अथ देहादिमात्रे या मूर्च्छा सा स्वल्पैव, वस्त्रादिग्रन्थमूर्च्छा तु बह्वी, ततो देहादिमात्रमूर्च्छासभवेऽपि नग्नश्रमणका सेत्स्यन्ति, न भवन्त., बहुपरिग्रहत्वादित्याह-'वत्थाइ' इत्यादि, गाथात्रयम्। अयमिह संक्षेपार्थ -तिर्यक्-शबरादयोऽल्पपरिग्रहा अपि, तथा शेषमनुष्या अपि महादारिद्र्योपहताः क्लिष्टमनसोऽविद्यमानतथाविधपरिग्रहा अप्यविनिगृहीतात्मानो लोभादिकषायवर्गवशीकृता. परसत्केष्वपि विभवेषु मूर्च्छाक्कषायादिदोषै. कर्ममलमनन्तमर्जयन्ति ,तद् बहुशो निरयोपगा भवन्ति, न मोक्षप्रापका'। अन्ये तु महामुनय केनचिदुपसर्गादिबुद्ध्या शरीरामञ्जिनमहामूल्यवस्त्राऽऽभरणमाल्यविलपनादिसंयुक्ता अपि सर्वसङ्गविनिर्मुक्ता निगृहीतात्मानो जितलोभादिकषायरिपव. समासादितविमलकेवलालोकाः सिद्धिमुपगच्छन्ति। तस्मादवश्यात्मनां क्लिष्टमनसां नाग्न्यमात्रमिदमकिञ्चित्करमेवेति ।

अथ यदुक्तम्-' भयहेतुत्वेन वस्त्रादयस्त्याज्याः ' इति । तत्र प्रतिविधानमाह—

जइ भयहेऊ गंथो, तो नाणाईण तदुवघाईहिं ।
भयमिह ताइं गंथो, देहस्स य सावयाईहिं ॥२५६८॥
अह मोक्खसाहणमई-एँ न भयहेऊ वि ताणि ते गंथो।
वत्थाइ मोक्खसाहण-मईएँ सुद्धं कहं गंथो ?॥२५६९॥

यदि यद् भयहेतुस्तद्ग्रन्थ.,तर्हि ज्ञान-दर्शन-चारित्राणामपि तदुपघातकेभ्यः , देहस्य च श्वापदादिभ्यो भयमस्ति, इति नान्यपि ग्रन्थ प्राप्नुवन्ति । शेष व्याख्यातप्रायम्।

अथ यदुक्तम्—' परिग्गहओ कसाय-मुच्छा-भयाइय' त्ति तत्रादिशब्दसंगृहीतं वस्त्रादीनां रौद्रध्यानहेतुत्वमभ्युपदर्श्य परिहरन्नाह—

सारक्खणाणुबंधो, रोद्दज्झाणं ति ते मई हुज्जा ।
तुल्लमियं देहाइसु, पसत्थमिह तं तहेहावि ॥२५७०॥
जे जत्तिया पगारा, लोए भयहेअवो अविरयाणं ।
ते चेव य विरयाणं,पसत्थभावाण मोक्खा य ॥२५७१॥

इहागमे रौद्रध्यान चतुर्विधमुक्तम्, तद्यथा—" से किं तं रोद्दज्झाण ? । रोद्दज्झाणे चउव्विहे पन्नत्ते, त जहा- हिंसाणुबंधी , मोसाणुबंधी , तेयाणुबंधी सारक्खणाणुबंधी " । तत्र हिंसाया सत्त्ववधादिरूपाया अनुबन्ध. सातत्येन चिन्तन यत्र तद् हिंसानुबन्धि । मृषा-असत्यं तस्यानुबन्धो यत्र तत् तथा । स्तेयं—चौर्य तस्यानुबन्धो यत्र तत् तथा । संरक्षण—सर्वैर्मारणाद्युपायैस्तस्करादिभ्यो निजवित्तस्य सगोपनं तस्यानुबन्ध सातत्येन चिन्तन यत्र रौद्रध्यानं तत् तथा। एव च सति संरक्षणानुबन्धो रौद्रध्यानस्य चतुर्थो भेद । स च वस्त्रादौ गृहीते किलावश्यंभावी, रौद्रध्यानभेदत्वाच्च रौद्रध्यानमिति। एवं रौद्रध्यानहेतुत्वाद् वस्त्रादिकं दुर्गतिहेतु शस्त्रादिवत्, ततो न ग्राह्यमिति तव बुद्धिर्भवेत्, तर्हि यदुक्तयुक्त्या रौद्रध्यानं तदिद देवानाप्रिय! देहादिष्वपि तुल्यम्, तेष्वपि जल-ज्वलन-मलिम्लुच-श्वापदा-ऽहि-विष-कण्टकादिभ्य. संरक्षणानुबन्धस्य तुल्यत्वात् । अतस्तेऽपि परित्याज्याः प्राप्नुवन्ति । अथेह देहादेर्मोक्षसाधनाङ्गत्वाद् यतनया तत्संरक्षणानुबन्धविधान प्रशस्तं न दोषाय । यद्येवम्, तर्हि तथा तेनागमप्रसिद्धेन यतनाप्रकारेणेहापि वस्त्रादौ संरक्षणानुबन्धविधानं कथं न प्रशस्तम् ? । तत. कथं वस्त्रादयोऽपि परित्याज्या. ? इति । अथैवं ब्रूषे-वस्त्रादिपरिग्रह एव मूर्च्छादिदोषहेतुत्वाल्लोकस्य ' भवभ्रमणकारणम् ' इत्येतदपि प्रतीत वस्त्रादिपरिग्रहवन. साधोरपि कथ न स्यात् ? इत्याह—' जे जत्तियेत्यादि '। इह ये यावन्त शयन-पान-भोजन-गमना-ऽवस्थान-मनो-वाक्-कायचेष्टादय. प्रकारा अविरतानामसंयतानामप्रशस्ताध्यवसायवता लोके भयहेतवो जायन्ते, त एव तावन्त प्रकारा विरतानां संयतानां प्रशस्ताध्यवसायिनां मोक्षायैव सपद्यन्ते। तस्माद् वस्त्रादिस्वीकारेऽपि नेतरजनवत् साधूनां मूलोच्छेदिनलोभादिकषाय-भय-मोहनीयादिदोषाणा तदुक्तावितदोष कोऽप्यनुषज्यत इति ।

अपि च, यदि वस्त्रादिक ग्रन्थ , मूर्च्छादिहेतुत्वात्, कनकादिवदिति हेतु-दृष्टान्तोपन्यासमात्रेणैव वस्त्रादेर्ग्रन्थत्वं साधयति भवान्, तर्हि वयमपि तदुपन्यासमात्रेण कनकादेरप्यग्रन्थत्व साधयाम । कथम् ? इत्याह—

आहारो व्व न गंथो, देहत्थं (व) विसघायणट्ठाए ।
कणगं पि तहा जुवई, धम्मंतेवासिणी मे त्ति ॥२५७२॥

कनकं तथा युवतिश्च धर्मान्तेवासिनी मे ममेति बुद्ध्या परिगृह्यता न ग्रन्थ इति सम्बन्ध , एषा किल प्रतिज्ञा । कुत ? इत्याह—देहार्थमिति कृत्वा, अयं च हेतु , देहार्थत्वात्—देहप्रयोजनत्वात्—देहोपकारित्वादित्यर्थ. । ननु युवतेर्देहोपकारित्वं किल प्रतीतम्, कनकस्य तु तत् कथम् ? इत्याह—' विसघायणट्ठाए त्ति ' विषघातकत्वादित्यर्थ , उक्त च—' विसघाय-रसायण-मंगल-त्थविणीया-पयाहिणावत्ते । गुरुए अ डज्झकुट्टे, अट्ठ सुवण्णे गुणा होंति ॥ १ ॥ " आहारवदिति दृष्टान्त । कनक-युवत्यादयोऽपि न ग्रन्थ , देहार्थत्वात्, आहारवदिति तात्पर्यम् । अत्राह—ननु यद्येवम्, तर्हि समुच्छिन्ना ग्रन्था-ऽग्रन्थविभागकथा, ग्रन्थत्वेन प्रसिद्धस्य कनकादेस्त्वयाऽग्रन्थत्वसाधनात्, अग्रन्थत्वेन च ममाभिमतस्य देहस्य ' ग्रन्थो देह , कषायादिहेतुत्वात्, कनकादिवत् ' इत्येव ग्रन्थत्वस्य साधनात् । ततो भवन्त एव कथयन्तु-को ग्रन्थ कश्चाग्रन्थ इति ? । तदित्थमुपन्यस्य परस्य वचनमाशङ्क्योपसंहारपूर्वकं ग्रन्था-ऽग्रन्थविभागमुपदिदर्शयिषुराह—

तम्हा किमत्थि वत्थुं, गंथाऽगंथो व सव्वहा लोए ? ।
गंथोऽगंथो व मओ,मुच्छममुच्छाहि निच्छयओ॥२५७३॥
वत्थाई तेण जं जं, संजमसाहणमरागदोसस्स ।
तं तमपरिग्गहो च्चिय, परिग्गहो ज तदुवघाइं॥२५७४॥

तस्मात् किं नाम तद् वस्त्वस्ति लोके यद् गात्रस्पर्शेन सर्वथा ग्रन्थोऽग्रन्थो वा ?-नास्त्येवैतदित्यर्थः । ततश्च " मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा । " इत्यादिवचनाद् यत्र वस्तु-देहा-ऽऽहार-कनकादौ मूर्च्छा समुपजायते तद् निश्चयतः परमार्थतो ग्रन्थः । यत्र तु सा नोपजायते तदग्रन्थ इति । एतदेव व्यक्तीकरोति-'वत्थाइ तेण-ज्जाहि,' तेन तस्मात् । शेषं सुगममिति । (विशे०) (वस्त्रादिग्रहणाग्रहणविचारणा ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २३१ पृष्ठेऽप्युक्ता ।)

" कप्पा आयपमाणा, अड्ढाइज्जा उ वित्थडा हत्था ।
दो चेव सोत्तिया उ-न्निओ य तइओ मुणेयव्वो ॥ १ ॥
तणगहणाणलसेवा-निवारणाधम्मसुक्कझाणट्ठा ।
दिट्ठं कप्पग्गहणं, गिलाणमरणट्ठया चेव ॥ ॥
संपाइमरयरेणु-पमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्तिं ।
नासं मुहं च बंधइ, तीए वसहिं पमज्जंता ॥ ३ ॥
आयाणे निक्खेवे, ठाणे निसीयणे तुयट्टसंकोए ।
पुव्वं पमज्जणट्ठा, लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ ४ ॥
वेउव्विऽवाउडे वा-इए हि खद्धे पजणणे चेव ।
तेसिं अणुग्गहट्ठा, लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥ ५ ॥ "

तत्र प्रजनने-मेहने ' वउव्वि ' त्ति-वैक्रिये विकृते , तथा, अप्रावृत-अनावृते, वातिके वा-सूनत्वभाजने, ह्रिया-लज्जया सत्या खद्धे बृहत्प्रमाणे 'लिंगुदयट्ठ त्ति-स्त्रीदर्शने लिङ्गोदय रक्षणार्थं च पट्टश्चोलपट्टो मत इति । अथ पात्रस्य मात्रकस्य च संयमोपकारित्वं दर्शयन्नाह-'संसत्त' इत्यादि । संसक्त-सक्तुगोरस-द्राक्षादिपानक-पानीयगतसत्त्वप्राणरक्षणार्थं पात्रमिति सम्बन्धः । पात्राभावे हि संसक्तगोरसादयो हस्त एव-अनाभोगादिकारणाद् गृहीताः क क्रियेरन् ?, तद्गतसत्त्वानां प्राणविपत्तिरेव स्यात् पात्रे तु सति समयोक्तविधिना त परिस्थाप्यन्ते । तथा च सति तद्गतसत्त्वप्राणरक्षा पात्रेण सिध्यतीति । तथा पात्राभावे पाणिपुट एव गृहीतानां घृतगोरसादिरसानां परिगलने सति यत् कुन्थु-कीटकादिप्राणघातनम् , ये च भाजन-धावनादिभिः पश्चात्कर्मादयो दोषास्तेषां परिहारार्थं च पात्रमिष्यते जगद्गुरुभिः । तथा, ग्लान-बाल-दुर्बल-वृद्धाद्युपग्रहार्थं च तदिष्यते । पात्रे हि सति गृहस्थेभ्यः पथ्यादिकं समानीय ग्लान-बालादीनामुपग्रह उपष्टम्भः क्रियते, तदभावे पुनरसौ न स्यादेवेति । अपरञ्च-पात्रे सति भक्तपानादिकं समानीयान्यस्य प्रयच्छता साधूना दानमयधर्मस्य साधन-सिद्धिर्भवति, पात्राभावे चैतद् न स्यात्, तदसत्त्वे कस्यापि केनचिद् भक्तपानादिदानाभावात् । 'समया चेव परूवणाउ' त्ति-एवं च पात्रे परिग्रहे सति लब्धिमतामलब्धिमतां च शक्तानामशक्तानां च वास्तव्यानां प्राघूर्णकानां च सर्वेषामपि साधूनां परस्परं समता-स्वास्थ्यं तुल्यता भवति । पात्रे हि सति लब्धिमान् भक्तपानादिकं समानीयालब्धिमते प्रदाति । एवं शक्ताऽशक्ताय , वास्तव्यः प्राघूर्णकाय तत् प्रयच्छति । इति सर्वेषां सौस्थ्यम् , पात्राभावे तु नैतत् स्यादिति । इह च पात्रग्रहणस्य गुणकथनेन मात्रकस्यापि तत्कथनं कृतमेव द्रष्टव्यम् , प्रायः समानगुणत्वात् ।

उक्तं च-

" छक्कायरक्खणट्ठा, पायग्गहणं जिणेहिँ पन्नत्तं ।
जे य गुणा संभोए, हवंति ते पायगहणे वि ॥ १ ॥
अतरंतबालवुड्ढा-सेहाएसा गुरू असहुवग्गो ।
साहारणुग्गहाऽल-द्धिकारणा पायगहणं तु ॥ २ ॥
आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लहे सहसदाणे ।
संसत्तभत्तपाणे, मत्तगपरिभोगणुन्नाओ ॥ ३ ॥ " इति ।

यदुक्तम् 'सुए भणिअमपरिग्गह त्ति' इति, तत्राह-

अपरिग्गहया सुत्ते,त्ति जा य मुच्छा परिग्गहोऽभिमओ।
सव्वदव्वेसु न सा,कायव्वा सुत्तसब्भावो ॥२५८०॥

या च 'सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं'-इत्यादिनाऽपरिग्रहता सूत्रे प्रोक्तेति त्वया गीयते तत्रापि मूर्च्छैव परिग्रहत्वेनोक्तत्वादभिमता ज्ञातव्या , सा च मूर्च्छा यथा वस्त्रे तथा सर्वेष्वपि शरीराऽऽहारादिषु द्रव्येषु न कर्तव्येति सूत्रसद्भावः-सूत्रपरमार्थः, न पुनस्त्वदभिमतः सर्वथा वस्त्रपरित्यागोऽपरिग्रहतेति सूत्राभिप्रायः । तस्मादपरिज्ञातसूत्रभावार्थो मिथ्यैव खिद्यते त्वमिति हृदयम् । विशे० । (तीर्थकरा रत्नत्रयरहिता अपि सवस्त्रा-इत्यादिदोषान्न प्राप्नुवन्तीति ' तित्थयर ' शब्दे चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठे गतम् ।)

जिनकल्पिकास्त्वचेलका इति दर्शयन्नाह-

जिणकप्पियाइओ पुण, सोवहओ सव्वकालमेगंतो ।
उवगरणमाणमेसिं,पुरिसाविक्खाए बहुभेयं ॥२५८४॥

प्रथमसंहननाद्यतिशयसम्पन्नेन, जिनकल्पिकोऽऽहरणादुपग्रहेन च त्वमचेलकत्व प्रतिपद्यसे । एतच्च सर्वं भवतो दुर्बोधविलसितमेव, यतस्तीर्थकरा अपि पूर्वोक्तन्यायेन न तावदेकान्ततोऽचेलकाः । जिनकल्पिक-स्वयंबुद्धादय पुनः सर्वकालमेकान्तेन सोपधय एवेति । अत एव 'दुग तिग चउक्क पणग' इत्यादिना पूर्वमेतेषामुपकरणमानं पुरुषापेक्षया बहुभेदमुक्तम् , न पुनः सर्वथा निरुपकरणता । तदयं यस्त्वया सर्वथोपकरणत्यागः कृतः स दृष्टान्तीकृतानां तीर्थकर-जिनकल्पिकादीनामपि न दृश्यते, केवलं नूतनः कोऽपि त्वदीय एवायं मार्ग इति ।

अथ प्रकारान्तरेण परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अरहंता जमचेला, तेणाचेलत्तणं जइ मयं ते ।
तो तव्वयणाउ च्चिय,निरतिसओ होहि माऽचेलो २५८५

यद् यस्मादर्हन्तोऽचेला -चेलरहिता नाम्न्यधारिणस्तेन तस्मात् कारणादचेलत्वं-नग्नत्वं यदि तव मत-संमतम् , "जारिसयं गुरुलिंगं, सीसेण वि तारिसेण होयव्वं । न हि होइ बुद्धसीसो, सेयवडो नग्गखवणो वा ॥ १ ॥ " इति वचनादिति । ततस्तर्हि तद्वचनादेव-तीर्थकरोपदेशादेव निरुपमधृतिसंहननाद्यतिशयरहितोऽचेलो-नग्नो मा भूस्त्वम् । इदमुक्तं भवति-यदि तीर्थकरशिष्यत्वात् तद्वेषस्तव प्रमाणम् तर्हि तत एव हेतोस्तदुपदेशोऽपि भवतः प्रमाणमेव । न हि गुरूपदेशमतिक्रम्य प्रवर्तमानः शिष्योऽभीष्टार्थसाधको भवति परमगुरूपदेशश्चेत्थं वर्तते-निरुपमधृतिसहननाद्यतिशयरहितेनाचेलकेन नैव भवितव्यम् । तत् किं त्वमित्थं गुरूपदेशबाह्येन नाग्न्येनात्मानं विगोपयसीति ।

अथ यथा गुरोरुपदेशः कर्तव्यस्तथा तद्वेष-चरिते अप्यवश्यमाचरणीये । तदयुक्तम् , तदुपदेशानुष्ठानस्यैव कार्य-

साधकत्वादिति दर्शयति—

रोगी जहोवएसं, करेइ वेज्जस्स हो अरोगो य ।
न उ वेसं चरियं वा,करेइ न य पउणइ कुणंतो ॥२५८६॥
तह जिणवेज्जाएसं, कुणमाणोऽवेइ कम्मरोगाओ ।
न उ तन्नेवत्थधरो, तेसिमाएसमकरंतो ॥ २५८७ ॥

इह यथा रोगी वैद्यस्योपदेशं करोति, तत्करणमात्रेणैव च रोगाद् विमुच्यते, न पुनरसौ तद्वेषं करोति, नापि तच्चरितमाचरति, न च तत् कुर्वाणोऽप्यसौ प्रगुणीभवति, प्रत्युत क्षपणकादौ वैद्ये नाग्न्यादिकं तद्वेषं कुर्वन् सर्वंग्रासांश्च स्वेच्छया तद्वद् भुञ्जानस्तच्चरितानुष्ठायी संनिपातस्यैव भ्रियते । तस्माद् वैद्योपदेशानुष्ठानमेव रोगिणो रोगापगमहेतुः । प्रस्तुतयोजनामाह-'तह' इत्यादि तथा तेनैव प्रकारेण जिनवैद्यस्यादेशं कुर्वाणस्तद्वेषचरिते अनाचरन्नपि कर्मरोगादपैति—वियुज्यते, न पुनस्तेषामादेशमकुर्वाणस्तन्नेपथ्य-चरिते बिभ्राणोऽपि तस्माद् वियुज्यते, केवलं तद्योग्यतारहितत्वात्तन्नेपथ्य-चरिताभ्यां प्रवर्तमान उन्मादादिभाजनमेव भवतीति ।

किञ्च—यदि तीर्थकरवेष-चरितानुष्ठानवर्ती भवान् , तर्हि किं सर्वथा तैः सह वेष-चरिताभ्यां साधर्म्यं भवतः, उत देशतः ? । यद्याद्यः पक्षः, तर्हि यत् ते कुर्वन्ति, तत् सर्वमपि भवता कर्तव्यं प्राप्नोति, किं पुनस्तत् ? इत्याह—

न परोवएसवसया, न य छउमत्था परोवएसं पि ।
दिंति न य सीसवग्गं,दिक्खंति जिणा जहा सव्वे॥२५८८॥
तह सेसेहिं वि सव्वं, कज्जं जइ तेहिं सव्वसाहम्मं ।
एवं च कओ तित्थं,न चेदचेलो त्ति को गाहो ॥२५८९॥

यदि तैर्जिनैस्तीर्थकरैः सह लिङ्गचरिताभ्यां सर्वसाधर्म्यम् , तर्हि यथा ते स्वयंबुद्धत्वाद् न परोपदेशवशगाः- न परोपदेशेन वर्तन्ते, न च छद्मस्थावस्थायां प्रतिबोधार्थं परस्याप्युपदेशं ददति, न च शिष्यवर्गं दीक्षन्ते, तथा शेषैरपि तच्छिष्य-प्रशिष्यैः सर्वमेतत् त्वदभिप्रायेण कार्यं करणीयं प्राप्नोति । भवत्वेवं तर्हि , को दोषः ? इति चेत् इत्याह-एवं च सति कुतस्तीर्थम् , कस्यापि प्रतिबोधाभावाद् दीक्षाद्यभावाच्च ? । ' न चेदिति ' अथ न तैः सह सर्वसाधर्म्यमित्युच्यते, तर्हि ' अचेलो भवाम्यहम् ' इति कस्तव ग्रहः ?, अचिन्त्यत्वात् तच्चरितस्येति ।

अथ तीर्थकरैः सह सर्वसाधर्म्याभावेऽचेलताग्रहः किमिति न कर्तव्यः ? इत्याह—

जह न जिणिंदेहिं समं, सेसाइसएहिं सव्वसाहम्मं ।
तह लिंगेणाभिमयं, चरिएण वि किंचि साहम्मं ॥२५९०॥

यथा जिनेन्द्रैः सह ' निरुवमधिइसंघयणा, चउनाणाइसयसत्तसंपन्ना । ' इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपादितैर्लिङ्गाच्चरिताच्च शेषैरतिशयैः सर्वसाधर्म्यं नाभिमतं भवतः , किं तर्हि ? किञ्चित् साधर्म्यमेव, तथा तेनैव प्रकारेण लिङ्गेन चरितेन च किञ्चित् साधर्म्यमेव तैः सहाभिमतमस्माकम् , न तु सर्वसाधर्म्यम् , तच्च किञ्चित् साधर्म्यं लिङ्गतो लोचकरणमात्रेण न पुनरस्थेलत्वेन चरित्रेण त्वेषणीयाहारपरिभोगा-ऽनियतवासादिना, न तु पाणिभोजित्वेन निरतिशयत्वेन तदयोग्यत्वादस्मदादीनाम् । तस्मात् किञ्चित् साधर्म्यं स्योक्तन्यायेनान्यथापि सिद्धे कोऽचेलताग्रहो भवतः ? इति (जिनकल्पविषयः (विशे०) 'जिणकप्प' शब्दे चतुर्थभागे १४८९ पृष्ठे उक्तः ।)

यच्चोक्तम् 'जं च जियाचेलपरिसहो मुणी' इत्यादि, तत्राह—

जइ चेलभोगमेत्ता-दजिआचेलयपरीसहो तेण ।
अजियदिगिंछाइपरी-सहो वि भत्ताइभोगाओ॥२५९४॥
एवं तुह न जियपरी-सहा जिणिंदा वि सव्वहा तन्नं ।
अहवा जो भत्ताइसु,स विही चेले वि किं नेट्ठो?॥२५९५॥
जह भत्ताइविसुद्धं,राग-दोसरहिओ निसेवंतो ।
विजियदिगिंछाइपरी-सहो मुणी सपडियारो वि॥२५९६॥
तह चेलं परिसुद्धं, राग-दोसरहिओ सुयविहीए ।
होइ जियाचेलपरी-सहो मुणी सेवमाणो वि ॥२५९७॥

जिताचेलपरीषहो मुनिर्भवतीति वयमपि मन्यामहे । केवलमिदं प्रष्टव्योऽसि , किं चेलभोगमात्रेणाप्यजिताचेलपरीषहत्वं भवति येन भवता सर्वथा वस्त्रपरित्यागः क्रियते , आहोस्विदनेषणीयादिदोषदुष्टवस्त्रपरिभोगेण ? । तत्राद्यपक्षे दूषणमाह—'जइ ' इत्यादि , यदि चेलभोगमात्रादपि तेन साधुनाऽचेलकपरीषहो न जित इति त्वया प्रोच्यते , तर्हि भक्तादिपरिभोगमात्रादजितदिगिंछादिपरीषहोऽपि त्वदभिप्रायेणैव साधुः स्यात् । एतदुक्तं भवति— इह देशीवचनत्वाद् दिगिंछाशब्देन क्षुत् प्रोच्यते , आदिशब्दात्—पिपासादिपरिग्रहः । ततश्च यथैषणीयादिगुणोपेतवस्त्रपात्रपरिभोगाज्जिताचेलपरीषहो नेष्यते , तथैषणादिगुणसंपन्नभक्तपानादिपरिभोगाज्जितक्षुत्पिपासादिपरीषहोऽपि न कश्चिज्जगति स्यात् । भवत्वेवम् , न किञ्चिद् नः क्षूयत इति चेत् । अत्राह-' एवमित्यादि ' एवं सति त्वदभिप्रायेण जिनेन्द्रा अपि भगवन्तो निरुपमधृतिसहननाः सर्वैकनिधयो न जितपरीषहा इति सर्वप्रकारैरापन्नम् । अथोद्गमादिदोषविप्रमुक्तं विशुद्धमेषणीयं राग-द्वेषरहितो भक्त-पानादिकं सेवमानोऽपि जितक्षुत्पिपासादिपरीषहो मुनिर्भवति, तर्हि योऽयं भक्तादिषु विधिरुच्यते स चेलेऽपि वस्त्रेऽपि भण्यमानः किं नष्टः क्वापि ?-ननु तदप्येषणीयं रागादिदोषरहितः परिभुञ्जानो जिताचेलपरीषहो मुनिः स्यादेवेति भावः । एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-'जह'इत्यादि गाथाद्वयं स्पष्टम् । नवरं 'सपडियारो वि'त्ति-विभुक्षा-पिपासा-शीतोष्णादीनां भक्त-पान-वस्त्रादिभिः सूत्रोक्तयतनया कृतः प्रतीकारः प्रतिविधानं येन स तथा । इह च डमरुकमणिन्यायेन गाथाद्वयेऽपि सबध्यते । तस्मादनेषणीयादिदोषदुष्टवस्त्रपरिभोगेनैवाजिताचेलपरीषहत्वं भवति, न तु सर्वाचीधना तदुपभुञ्जत इति ।

आह-ननु यदि वस्त्रं परिभुङ्क्ते साधुः , तर्हि तस्य कथमचेलपरीषहसहिष्णुत्वम् , चेलाभाव एव तदुपपत्तेः ? । तदयुक्तम् , सति , असति च चेलेऽचेलकत्वस्यागमे लोके च रूढत्वात् , एतदेवाह-

सदसंतचेलगोऽचे-लगो य जं लोगसमयसिद्धो ।

तेणाचेला मुणओ, संतेहिँ जिणा असंतेहिं ॥२५९८॥

सच्चासच्च सदसती चेले यस्यासौ सदसच्चेलो यद् य स्माल्लोके समये चाचेलक संसिद्ध प्रसिद्ध । चशब्दः प्रस्तावनायाम् । सा च कृतैव । तेन तस्मादिह मुनय सामान्यसाधव सद्भिरेव चेलैरुपचारतोऽचेला भण्यन्ते, जिनास्तु तीर्थकरा असद्भिश्चेलैर्मुख्यवृत्त्याऽचेला व्यपदिश्यन्ते । इदमुक्तं भवति-इहाचेलत्व द्विविधम्-मुख्यम् , उपचरित च । तत्रेदानीं मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवति, अत औपचारिक गृह्यते, मुख्य तु जिनानामेवासीदिति ।

इदमेवौपचारिकमचेलत्वं भावयति-

परिसुद्ध जुण्ण कुच्छिय, थोवाऽनिययऽन्नभोगभोगेहिं ।

मुणओ मुच्छारहिया, संतेहिँ अचेलया होंति ॥२५९९॥

मुनयः-साधवः मूर्च्छारहिताः सद्भिरपि चेलैरुपचारतोऽचेलका भवन्ति । कथभूतैश्चेलैः ? इत्याह-'परिसुद्ध' त्ति-शुद्धायभक्तिदर्शनात् परिशुद्धैरेषणीयैः , तथा जीर्णैर्बहुदिवसैः, कुत्सितैरसारैः , स्तोकैर्गणनाप्रमाणतो हीनैस्तुच्छैर्वा, 'अनियऽन्नभोगभोगेहिं त्ति-अनियतभोगेन कादाचित्कासेवनेन भोगः परिभोगः परिभोगो येषां तानि तथा तैः । एवभूतैश्चेलैः सद्भिरप्युपचारतोऽचेलका मुनयो भण्यन्ते । तथा , 'अन्नभोगभोगेहिं' ति-एवमपि याज्यते । ततश्च लोकरूढप्रकारान्यप्रकारेण भोगः-आसेवनम् , प्रकारलक्षणस्य मध्यपदस्य लोपात्, अन्यभोगस्तेनान्यभोगेन भोगः-परिभोगो येषा तानि तथा तैरप्येवंभूतैश्चेलैरचेलकत्वं लोके प्रसिद्धमेव , यथा कटीवस्त्रेण वेष्टितशिरसो जलावगाढपुरुषस्य । साधोरपि कच्छाबन्धाभावात्, कूर्पराभ्यामग्रभाग एव चोलपट्टकस्य धरणात्, मस्तकस्योपरि प्रावरणाद्यभावाच्च लोकरूढप्रकारादन्यप्रकारेण चेलभोगो द्रष्टव्यः । तदेव 'परिसुद्ध-जुण्ण-कुच्छिय'-इत्यादिविशेषणविशिष्टैः सद्भिरपि चेलैस्तथाविधवस्त्रकार्याकरणात् तेषु मूर्च्छाऽभावाच्च मुनयोऽचेलका व्यपदिश्यन्ते इतीह तात्पर्यम् ।

आह--ननु चेलस्यान्यथा परिभोगेण किमचेलकत्वव्यपदेश क्वापि दृष्टः ? इत्याशङ्क्य तदुपदर्शनार्थमाह--

जह जलमवगाहंतो, बहुचेलो वि सिरवेढियकडिल्लो ।

भण्णइ नरो अचेलो, तह मुणओ संतचेला वि ॥२६००॥

गतार्था ।

जीर्णादिभिरपि वस्त्रैरचेलकत्वं लोकरूढमेवेति भावयति-

तह थोवजुन्नकुच्छिय-चेलेहि वि भन्नए अचेलो त्ति ।

जह तर सालिय ! लहुं,दो पोत्तिं नग्गियामो त्ति ।२६०१।

इयमपि सुगमा , नवर ' जहत्तरेत्यादि ' दृष्टान्तः , यथेह काऽपि योषित् कटीवेष्टितजीर्णबहुच्छिद्रैकशाटिका कश्चित् कौलिक वदति-' त्वरस्व भोः शालिक ! शीघ्रो भूत्वा मदीयपोतीं शाटिका निर्वाप्य ददस्व समर्पय, नग्निका वर्तेऽहम् ' । तदिह सवस्त्रायामपि योषिति नाग्न्यवाचकशब्दप्रवृत्तेः "जस्सट्ठा कीरइ नग्गभावो मुडभावो अण्हाय अदत्तवणय" इत्याद्यपि न विरुध्यत इति ।

अथ यदुक्तम्-'ज च तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्ज ' इत्यादि मत्र प्रतिविधानमाह--

तिहियं सुए च्चिय जओ,धरेज्ज तिहिँ कारणेहिँ वत्थं ति।

तेणं चिय तदवस्सं, निरतिसएणं धरेयव्वं ॥ २६०२ ॥

जिणकप्पाजोग्गाणं, हीकुच्छपरीसहा जओऽवस्सं ।

ही लज्ज त्ति व सो मं-जमो तदत्थं विसेसेणं॥२६०३॥

ननु त्रिभि कारणैर्वस्त्र धरणीयम्-इत्यागमोक्तं दर्शयता भवताऽस्मत्पक्ष एव समर्थितो भवति , पर शून्यहृदयत्वाद् भवान् न लक्षयति , तथाहि-इदानीं वयमपि वक्तु शक्नुम -' त्रिभि कारणैर्वस्त्र धरेत् ' इति सूत्रेऽपि विहितप्रतिपादित यतो यस्मात् , तेनैव प्रकारेण तद् वस्त्र निरतिशयेन तथाविधधृतिसहननादिरहितेन साधुनाऽवश्य धरणीयमेव । कुत ? इत्याह-यतो-यस्मात् निरतिशयत्वेन जिनकल्पायोग्यानां साधूना ह्रीकुत्सापरीषहलक्षणं वस्त्रधरणकारण पूर्वाभिहितस्वरूपमवश्यमेव संभवति । ततो धरणीयमेव वस्त्रम् । यदि वा-कुत्सापरीषहार्थे तद् न ध्रियते तथापि ह्री-लज्जा , स संयमस्तदर्थं तावद् विशेषेणैव वस्त्र धरणीयम् , अन्यथाऽग्निज्वलनादिना बृहदसंयमापत्तेरिति ।

अर्थापसंहारपूर्वकं संक्षिप्योपदेशमाह-

जइ जिणमयं पमाणं, तुह तो मा मुयसु वत्थ-पत्ताइं ।

पुव्वुत्तदोसजालं,लब्भिमि मा समिइघायं च ॥२६०४॥

अणुपालेउमसत्तो, ऽपत्तो न समत्तमेसणासमियं ।

वत्थरहिओ न समिओ,निक्खेवादाणवोसग्गा ।२६०५।

यदि जिनमतं तव प्रमाणम् , ततो वस्त्र-पात्रादि मा मुञ्च मा त्याक्षीः । कुतः ? इत्याह-' तेणगहणानलसेवा-' इत्यादिना पूर्वमुक्त दोषजालं मा लब्धा । तथा, समितिघातं च तत्परित्यागे माऽऽप्नुहि त्वमिति । कस्याः पुनः समितेः पात्राद्यभावे विघातः ? इत्याह-' अणुपालेउमित्यादि ' अशक्तोऽसमर्थो भवेत् । किं कर्तुम् ?। समस्तां परिपूर्णामेषणासमितिमनुपालयितुम् । कथभूतः ? अपात्रः पात्रविरहित । पुनर्निक्षेपादानसमित्या व्युत्सर्गसमित्या च समितो न भवेत् , उपलक्षणत्वाद् भाषासमित्याऽपि समितो न भवेत् , वस्त्राद्यभावे रजोहरणमुखवस्त्रिकाद्यभावात् , तदभावे च यथोक्तसमितित्रयासिद्धेरिति ।

एवं प्रज्ञापितोऽसौ किं कृतवान् ? इत्याह-

इय पण्णविओ वि बहुं, सो मिच्छत्तोदयाकुलियभावो ।

जिणमयमसद्दहंतो, छड्डियवत्थो समुज्जाओ ॥२६०६॥

तस्स भगिणी समुज्झिय-वत्था तह चेव तदणुरागेणं ।

संपत्थिया नियत्था,तो गणियाए पुणो मुयइ ॥२६०७॥

तीए पुणो वि बद्धो-ऽणेगवत्था पुणो विछड्डेति ।

अच्छउ ते तेणं चिय,समणुसाया धरेमी य ॥२६०८॥

कोंडिन्नकोट्टवीरे, पव्वावेसी य दोण्णि सो सीसे ।

तत्तो परंपराफा-सओऽवसेसा समुप्पन्ना ॥ २६०९ ॥

एताश्चतस्रोऽपि गतार्था नवरं ' समुज्जाउ त्ति ' त्यक्तवस्त्र उपाश्रयात समुद्यानाः निर्गत । ' नियत्थ त्ति ' तती गणिकया निवासिता वस्त्र परिधापितेत्यर्थः । तीए

त्ति' तया गणिकया 'बद्धारसेगवत्थ त्ति' बद्धमुरस्येक वस्त्रं यस्याः सा तथेति। 'तत्तो परंपरेत्यादि' तत पर-म्परया योऽसौ स्पर्शो गुरुशिष्यसंबन्धस्तस्माद् बोटिक-सतानवर्तिनोऽशेषा बोटिकाः समुत्पन्ना इति। एतासां च बोटिकव्यतिकरसंबद्धानां सर्वासामपि गाथानामर्थं सं-क्षिप्य 'इह यो यदर्थी न स तन्निमित्तोपादान प्रत्यना-भूत, यथा घटार्थी मृत्पिण्डोपादानं प्रति, चारित्रार्थिन-श्च यतय, तन्निमित्तं च चीवरमिति, न चास्यासिद्धत्व-म्, इत्यादिना सूत्र-वस्त्र-पात्रपरिग्रहविषय वादस्थानक वृ-द्धैर्विरचितमास्ते, तच्चोत्तराध्ययनेषु द्वितीये परीषहाध्यय-ने आचेलक्यपरीषहे बृहट्टीकाया तदर्थिनाऽन्वेषणीयम्। त-था, 'इह खलु यस्य यत्रासम्भवो न तस्य तत्र कारणवैक-ल्यम्, यथा शुष्कशिलायां शाल्यङ्कुरस्य, अस्ति च तथा-विधस्त्रीषु मुक्तेः कारणवैकल्यम्, न चायमसिद्धो हेतु', इत्यादिना विरचित स्त्रीनिर्वाणविषयमपि वादस्थानक त-त्रैव षट्त्रिंशत्तमाध्ययने द्रष्टव्यम् ॥ इति वृद्गिाथार्थः। विशे०। आ० क०। आर्यदिन्नस्थविरे, ध० र०। आ० चू०।श्रा-वस्तीनगरीवास्तव्यश्रीभद्रात्मजे, आ० चू० १ अ०। स्था०।

सिवमग्ग-शिवमार्ग-पुं०। दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणे मोक्षमार्गे, विशे०।

सिवय-शिवक-पुं०। उदकाभासनामकस्य वेलन्धरनागराज-स्य आवासपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ०। ('लवणसमुद्द' श-ब्दे वक्ष्यते।)

सिवद-पुं०। शिवं ददातीति शिवद.। मोक्षप्रदे,पं० व० ३ विव०।

सिवलिया-शिवलिका-स्त्री०। कलायाभिधानधान्यफलिका-याम्, भ० ७ श० १ उ०।

सिववत्त-शिववर्त्मन्-न०। शैवानां परिभाषया मोक्षे, द्वा० २४ द्वा०।

सिवसम्मसूरि-शिवशर्मसूरि-पुं०। शतकाख्यकर्मग्रन्थकर्त्तर्या-चार्ये, कर्म० ५ कर्म०। द्वा०।

सिवसोक्खद-शिवसौख्यद-पुं०। शिवे—मोक्षस्तस्य सौख्यं निराबाधलक्षण ददातीति शिवसौख्यद.। मोक्षफलके, ध० ३ अधि०।

सिवहत्थ-शिवहस्थ-पुं०।आरोग्यकरहस्ते,विपा०१श्रु०७अ०।

सिवा-शिवा-स्त्री०। सौर्यपुरे नगरे दशदशाराणां मध्ये ज्येष्ठ-स्यसमुद्रविजयस्य राज्ञो भार्यायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०। उत्त०। कल्प०। प्रव०। आ० म०। स०। उज्जयिनीराजस्य प्रद्योतस्य भार्यायाम्, चेटकराजदुहितरि,आ० चू० ४ अ०। "लोहजंघो लोहहारी अग्निभीरुस्तथा रथः। स्त्रीरत्न च शिवा देवी ग-जोऽनलगिरि. पुन' ॥१॥" आ० क० ४ अ०। ति०। आव०। पञ्चदशतीर्थकरस्य प्रथमप्रवर्त्तिन्याम्, स०। प्रव०। शक्रस्य देवेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। स्था०। (अस्या 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७३ पृष्ठे पूर्वोत्तरजन्मकथा।) शृगाल्याम्, शृगाली अशिवाप्य-माङ्गलिकशब्दपरिहारार्थं शिवा भण्यते। अनु०।

सिवाणंदा-शिवानन्दा-स्त्री०। आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य भार्यायाम्, उपा० १ अ०। आ० चू०।

सिविण-स्वप्न-पुं०। "इ स्वप्नादौ" ॥ ८। १। ४६॥ इत्या-देरस्य इत्वम्। प्रा०। "स्वप्ने नात्" ॥ ८। २। १०८॥ स्वप्नश-ब्दे नात् पूर्वं इद् भवति। प्रा०। स्वापावस्थायां गजादिदर्शने, आ० क० १ अ०।

सिविया-शिविका-स्त्री०। उपरिच्छादिते कोष्ठाकारे जम्पान-विशेषे,जी० ३ प्रति० ४ अधि०। प्रा०। सूत्र०। अनु०। औ०। आ० म०। ज०। दशा०। भ०। रा०। आचा०।अन्त०।

सिवोवएस-शिवोपदेश-पुं०। मोक्षसाधनप्ररूपणे, पञ्चा० १५ विव०।

सिव्वण-सीवन-न०। परिकर्मणि, नि० चू० १६ उ०।

सिव्विणी-देशी-सूच्याम्, दे० ना० ८ वर्ग २६ गाथा।

सिव्वी-देशी-सूच्याम्, दे० ना० ८ वर्ग २६ गाथा।

सिसिर-शिशिर-पुं०। लोकोत्तरसंज्ञया माघे मासे, ज्यो० ४ पाहु०। चं० प्र०। जं०। सू० प्र०। शीतकाले,नि० चू० १ उ०। दधिनि, दे० ना० ८ वर्ग ३१ गाथा।

सिसिरकाल-शिशिरकाल-पुं०।शीतकाले,प्रश्न०४संव० द्वार।

सिसिररत्त-शिशिररात्र-पुं०। पौषमाघमासद्वयात्मके ऋतु-भेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सिसिरली-शिशिरली-स्त्री०। अनन्तकायकन्दभेदे, भ० ५ श० ८ उ०। साधारणवनस्पतिकायविशेषे, जी० १ प्रति०।

सिसु-शिशु-पुं०। बालके, विशे०। नि० चू०।

सिसुनाग-शिशुनाग-पुं०। अलसे, सर्पाकृतौ क्षुद्रकीटके वर्षा-जन्तौ, शिशुनागो गण्डूपदः। उत्त० ५ अ०। 'समा-हि' शब्दे उदाहृते सुदर्शनपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहप-तौ, आ० क० ४ अ०। आव०।

सिसुपाल-शिशुपाल-पुं०। वसुदेवस्वसुनाय्यो माद्र्यां दमघो-षेण जाते पुत्रे, सूत्र०।

तद्वेदम्—

"वसुदेवसुसाए सुओ, दमघोसणराहिवेण महीये।
जाओ चतुब्भुजो भुज—बलकलिओ कलहपसत्तो ॥१॥
दट्ठूण तओ जणणी, चतुब्भुयं पुत्तमब्भुयमणग्घ।
भयहरिसविम्हयमुही, पुच्छइ णेमित्तिय सहसा ॥२॥
णेमित्तिएण भणिऊ-ण साहियतीइ हट्ठहिययाए।
जह एस तुज्झ पुत्तो, महाबलो दुज्जओ समरे ॥३॥
पयस्स य ज दट्ठू-ण होइ साभाविय भुआजुअलं।
होहि तत्तो च्चिय भय, सुतस्स ते णत्थि सदेहो ॥४॥
सा वि भयवेवियगी, पुत्त दसेइ जाव कण्हस्स।
तावच्चिय तस्स ठिय, पयहत्थ वरभुयाजुगलं ॥ ५ ॥
तो कण्हस्स पिउच्छा, पुत्त पाडेइ पायपीढम्मि।
अवराहखामणत्थं, सो वि सय से खमिस्सामि ॥६॥
सिसुपालो वि हु जुव्वण—मएण नारायण असब्भेहिं।
वयणेहिं भणइ सो वि हु, खमइ खमाए समत्थो वि ॥७॥
अवराहसए पुण्णे, वारिज्जंतो ण चिट्ठइ जाहे।
कण्हेण तओ छिन्नं, चक्केण उत्तमंगं से ॥ ८॥" सू० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

सिसुमारिया-शिशुमारिका-स्त्री० वाद्यविशेषे, रा०।

सिस्स-शिष्य-पु०। प्रव्रज्यां शिक्षां च ग्राहिते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। आचा०। जं०। आव०। आ० चू०। शिक्षणीयोपाध्यायस्योपासके, जं० २ वक्ष०।

गथो पुव्वुद्दिट्ठो, दुविहो सिस्सो य होति णायव्वो।
पव्वावण सिक्खावण,एगयं सिक्खावणाए उ ॥ १२७॥
सो सिक्खगो य दुविहो,गहणे आसेवणाएँ णायव्वो।
गहणम्मि होति तिविहो, सुत्ते अत्थे तदुभए य॥१२८॥
आसेवणाएँ दुविहो, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
मूलगुणे पंचविहो, उत्तरगुणे बारसविहो उ॥१२९॥
आयरिओऽवि य दुविहो, पव्वावंतो य सिक्खवंतो य।
सिक्खावंतो दुविहो, गहणे आसेवणे चेव॥१३०॥
गाहावेंतो तिविहो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव।
मूलगुण उत्तरगुणे, दुविहो आसेवणाए उ ॥ १३१ ॥

(गथो० इत्येतद् १२७ गाथाव्याख्या 'सिक्ख' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

अहर्निशमनुतिष्ठति स एवंविधो ग्रहणासेवनाभेदभिन्न शिष्यो ज्ञातव्यो भवति, तत्रापि ग्रहणपूर्वकमासेवनमिति कृत्वाऽऽदावेव ग्रहणशिक्षामाह-शिक्षाया ग्रहणे-उपादानेऽधिकृते त्रिविधो भवति शिक्षक, तद्यथा-सूत्रे, अर्थे, तदुभये च। सूत्रादीन्यादावेव गृह्णन् सूत्रादिशिक्षको भवतीति भाव.। साम्प्रत ग्रहणोत्तरकालभाविनीमासेवनामधिकृत्याह—यथावस्थितसूत्रानुष्ठानमासेवना तया करणभूतया द्विविधो भवति शिक्षक., तद्यथा—मूलगुणे—मूलगुणविषय आसेवमान -सम्यग्मूलगुणानामनुष्ठानं कुर्वन् तथा उत्तरगुणे च—उत्तरगुणविषय सम्यगनुष्ठान कुर्वाणो द्विरूपोऽप्यासेवनाशिक्षको भवति , तत्रापि मूलगुणे पञ्चप्रकार -प्राणातिपातादिविरतिमासेवमान पञ्चमहाव्रतधारणात्पञ्चविधो भवति मूलगुणेष्वासेवनाशिक्षक, तथोत्तरगुणविषये सम्यक्पिण्डविशुद्ध्यादिकान् गुणानासेवमान उत्तरगुणासेवनाशिक्षको भवति , ते चामी उत्तरगुणा — 'पिंडस्स जा विसोही, समिईओ भावणा तवो दुविहो। पडिमा अभिग्गहावि य , उत्तरगुणमो वियाणाहि ॥ १ ॥' यदि वा-सत्स्वप्यन्येषूत्तरगुणेषु प्रधाननिर्जराहेतुतया तप एव द्वादशविधमुत्तरगुणत्वेनाधिकृत्याह-उत्तरगुणे—उत्तरगुणविषये तपो द्वादशभेदभिन्न य सम्यग् विधत्ते स आसेवनाशिक्षको भवतीति। शिष्यो ह्याचार्यमन्तरेण न भवत्यत आचार्यनिरूपणमा (गाथा) ह—शिष्यापेक्षया हि आचार्यो द्विविधो—द्विभेद , एको य प्रव्रज्यां ग्राहयत्यपरस्तु य. शिक्षामिति, शिक्षयन्नपि द्विविध.-एको य शिक्षाशास्त्र ग्राहयति-पाठयत्यपरस्तु तदर्थ दशविधचक्रवालसमाचार्यनुष्ठानत सेवयति-सम्यगनुष्ठान कारयति। तत्र सूत्रार्थतदुभयभेदाद् ग्राहयन्नप्याचार्यस्त्रिधा भवति। आसेवनाचार्योऽपि मूलोत्तरगुणभेदाद् द्विविधो भवति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेप ,तदनन्तर किं तत् सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेत सूत्रमुच्चारयितव्यम्।

तच्चेदम्—

गथ विहाय इह सिक्खमाणो,
उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे,
जे छेय विप्पमायं न कुज्जा ॥ १ ॥

'इह' प्रवचने मानवमात्स्वभाव. सन् सम्यगुत्थानेनोत्थितो ग्रथ्यते आत्मा येन स ग्रन्थो-धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदादि—विहाय—त्यक्त्वा प्रव्रजित सन् सदुत्थानेनोत्थाय च ग्रहणरूपामासेवनारूपां च शिक्षां [च] कुर्वाण -सम्यगासेवमान सुष्ठु शोभनं नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्गुप्तमाश्रित्य ब्रह्मचर्यं चरेत-तिष्ठेत , यदि वा-सुब्रह्मचर्यमिति-संयमस्तद आवसेत् न सम्यक् कुर्यात् आचार्यान्तिके यावज्जीवं वसमानो यावदभ्युद्यतविहार न प्रतिपद्यते तावदाचार्यवचनस्यावपातो—निर्देशस्तत्कार्यवपातकारी वचननिर्देशकारी सदाऽऽज्ञाविधायी, विनीयते-अपनीयते कर्म येन स विनयस्त सुष्ठु शिक्षेद्—विदध्यात् ग्रहणासेवनाभ्यां विनय सम्यक् परिपालयेदिति। तथा य छेको-निपुण स संयमानुष्ठाने सदाचार्योपदेशे वा विविधं प्रमाद न कुर्यात् , यथा हि आतुर सम्यग्वैद्योपदेश कुर्वन् श्लाघा लभते रोगोपशम च एव साधुरपि सावद्यग्रन्थपरिहारी पापकर्मभेषजभ्यानभूतान्याचार्यवचनानि विदधत्परसाधुभ्य साधुकारमशेषकर्मक्षय चावाप्नोतीति ॥ १ ॥ सूत्र० १४ अ०।

शीर्षन्- न०। उत्तमाङ्गे, न०।

सिस्सिणी-शिष्या-स्त्री०। स्वहस्तदीक्षितायाम्, व्य० २ उ०। आव०।

सिह-काङ्क्ष-धा०। काङ्क्षायाम् "काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्घवच्चवम्फमहसिहविलुम्पा" ॥८।४।१९२॥ इति काङ्क्षते सिह इत्यादेश। सिहइ। काङ्क्षति। प्रा० ४ पाद।

स्पृहि-धा०। स्पृह णिच्। इच्छायाम्, "स्पृहे सिह" ॥८।४।३४॥ इति ण्यन्तस्य स्पृहे सिह इत्यादेश। सिहइ। स्पृहयति। इच्छति। प्रा० ४ पाद।

सिहंडइल्लो-देशी-बालदधिसरमयूरेषु,दे०ना०८ वर्ग ५४गाथा।

सिहंडि-शिखण्डिन्-त्रि०। शिखाधारिणि,भ० ६ श० ३३ उ०। दशा०।

सिहर-शिखर-न०। पर्वतोपरिवर्त्तिकूटेषु,ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्था०। नि०चू०। "चूल ति वा विभूसणं ति वा सिहरं ति वा एते एगट्ठा" नि०चू० १ उ०। जं०। सू० प्र०। उपरितने भागे, आ०म०१ अ०। शिखराणि ऋतुपक्षे वृक्षसम्बन्धीनि पर्वतपक्षे कूटानि। ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। प्रश्न०।

सिहरभूअ-शिखरभूत-त्रि०। शिखरकल्पे, प्रश्न०५संव०द्वार।

सिहरि-शिखरिन्-पु०। जम्बूद्वीपस्य षष्ठवर्षधरपर्वते, जं०

दो सिहरिकूडा। स्था० २ ठा० ३ उ०।

अथ षष्ठवर्षधरावसरः—

कहि णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे सिहरी णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते ?, गोयमा ! हरण्णवयस्स उत्तरेणं एरावयस्स

दाहिणेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं, एवं जह चेव चुल्लहिमवन्तो तह चेव सिहरी वि णवरं जीवा दाहिणेणं धणुं उत्तरेणं अवसिट्ठं तं चेव पुण्डरीए दहे सुवण्णकूला महाणई दाहिणेणं णेअव्वा जहा रोहिअंसा पुरत्थिमेणं गच्छइ।

'कहि णं' मित्यादि क भदन्त! जम्बूद्वीपे द्वीपे शिखरी नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः?, गौतम! हैरण्यवतस्योत्तरस्याम् ऐरावतस्य-वक्ष्यमाणस्वरूपक्षेत्रस्य दक्षिणस्यां 'पुरत्थिमे' त्यादि प्राग्वत्, एवमुक्ताभिलापेन यथा क्षुद्रहिमवान् तथैव शिखर्यपि, नवरं जीवा दक्षिणेन धनुरुत्तरेण अवशिष्टं तदेवेति क्षुद्रहिमवत्प्रकरणोक्तमेव, तत्र पुण्डरीको ह्रदः। जं० ४ वक्ष०। स्था०। स०। शिखरेण समन्विते पर्वतमात्रे च। नं०।

सिहरिकूड-शिखरिकूट-न०। जम्बूमन्दरस्योत्तरे स्वनामख्याते कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। जं०।

सिहरिणी-शिखरिणी-स्त्री०। करमथितखण्डयुक्तदधिनिष्पन्ने अन्नोपस्करे, ध० २ अधि०।

जा दहिमरम्मि गालिय-गुलेण चउजायसुगयसंभारा।
कूरम्मि छुप्पमाणे, वंधति सिहरं सिहरिणी उ ॥१८५॥

दध्ना शरे मालितेन गुडेन या निष्पन्ना अपरं च चतुर्जातकसुकृतसंभारा एलात्वक्तमालपत्रनागकेशराख्यैश्चतुर्भिर्गन्धद्रव्यैराधिक्येनोपजनितवासा कूरमध्ये प्रक्षिप्यमाणे शिखरं बध्नाति सा शिखरिणीत्युच्यते। बृ० २ उ०। नि० चू०। आचा०। प्रश्न०। मार्जितायाम्, दे० ना० ८ वर्ग ३३ गाथा।

सिहरिल्ला-देशी-मार्जितायाम्, दे० ना० ८ वर्ग ३३ गाथा।

सिहलि-शिखा-स्त्री०। चूडायाम्, आव० ४ अ०। सिहलि त्ति वा धाग्नी केइ 'सिहलि' त्ति शिखा। पञ्चा० १० विव०।

सिहा-शिखा-स्त्री०। शिरसि, व्य० २ उ०। शिरसि सर्वत्र-जाना केशानां समूहः व्य० ३ उ०। अनु०। स्था०। सूत्र०।

सिहाचारण-शिखाचारण-पुं०। अग्निशिखामुपादाय तेजःकायिकानविराधयति स्वयमदह्यमाने पादविहारनिपुणे चारणभेदे, ग० ३ अधि०।

सिहि-शिखिन्-पुं०। शिखाऽस्यास्तीति शिखी। अनु०। मयूरे, भ० ७ श० ६ उ०। कल्प०। सथा०। को०। जं०। विशे०। निर्धूमेऽग्नौ, कल्प० १ अधि० १ क्षण। व्य०। अग्निमात्रे, आव० ५ अ०।

सिहंडिणी-शिखण्डिनी-स्त्री०। शिखाधारिण्याम्, औ०।

सिहिणा-देशी-स्तनयोः दे० ना० ८ वर्ग ३० गाथा।

सिही-देशी-कुक्कुटे, दे० ना० ८ वर्ग २८ गाथा।

सीअ-देशी-सिक्थे, दे० ना० ८ वर्ग ३३ गाथा। स्था०।

सीआणं-देशी-दुग्धपारि-श्मशानयो, दे० ना० ८ वर्ग ५५ गाथा।

सीअप्पवायदह-शीताप्रपातह्रद-पुं०। ह्रदविशेषे, स्था०। यत्र नीलवत शीता निपतति यश्च चत्वार्यशीत्यधिकानि योजनशतानि आयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चदशाष्टादशोत्तराणि विशेषन्यूनानि परिक्षेपेण यस्य च मध्ये शीताद्वीपः चतुष्षष्टियोजनायामविष्कम्भो द्व्युत्तरयोजनशतद्वयपरिक्षेप जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रितः शीतादेवीभवनेन विभूषितोपरितनभाग' स शीताप्रपातह्रद। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सीअल्ली-देशी-हिमकालदुर्दिने, झञ्झावाते च। दे० ना० ८ वर्ग ५५ गाथा।

सीअवेयमहण-शीतवेगमथन-न०। आतपन शीतवेगनिवारणात्, सूर्ये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सीइआ-देशी-अविच्छिन्नवृष्टौ, दे० ना० ८ वर्ग २५ गाथा।

सीईभूय-शीतीभूत-त्रि०। सुखे, आचा०१ श्रु० ३ अ०१ उ०।

सीउग्गयं-देशी-सुजाते, दे० ना० ८ वर्ग ३४ गाथा।

सीउण्ह-शीतोष्ण-न०। शीत च उष्णं च शीतोष्णम्। अनुकूलप्रतिकूलपरीषहे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

सीओअगकूड-शीतोदककूट-पुं०न०। विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वते स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्ष०।

सीओअप्पवाय-शीतोदाप्रपात-पुं०। शीतोदामहानदीप्रवाहे ह्रदनिर्गमे, यत्र निषधात् शीतोदा निपतति स शीतोदानिपातः। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सीओदग-शीतोदक-न०। शीते शीतलं स्वरूपस्थ-तस्योपलक्षणमेतत्। स्वकायादिशस्त्रानुपहतमप्राशुकमित्यर्थ, तद्य तदुदकं शीतोदकम्। उत्त० २ अ०। अप्रासुकजल, उत्त० २ अ०। सूत्र०। "नदीतडागावटवापीपुष्करिण्यादिषु शीतपरिणामे, जी० १ प्रति०। नि० चू०। सचित्तपानीये, दश० १० अ०। नि० चू०। प्रश्ना०।

सीओदगदुगंछि-शीतोदकजुगुप्सिन्-पुं०। अप्रासुकोदकपरिहारिणि, जं० २ वक्ष०।

सीओदगवियड-शीतोदकविकृत-न०। शीतोदकं च तद्विकृत च शीतोदकविकृतं तदेव विकटं-विगतजीवम्। शीतोष्णादिशस्त्रेण विकारं प्रापिते प्राशुकीकृते, बृ० २ उ०। नि० चू०। आचा०। दशा०। (यत्रोपाश्रयस्यान्तर्वगडायां शीतोदकविकृतिः स्यात्तत्र न वासः कर्त्तव्य इति 'वसहि' शब्दे षष्ठ भागे उक्तम्।)

सीओदा-शीतोदा-स्त्री०। जम्बूद्वीपे पूर्वापरेण लवणसमुद्रं समुत्सर्पन्त्यां महानद्याम्, स० १४ सम०।

सीतोयामहानदीओ चोवत्तरिं जोयणसयाइं साहियाइं उत्तराहिमुही पवहित्ता वइरामयाए जिब्भियाए चउजोयणायामाए पन्नासजोयणविक्खंभाए वइरतले कुंडे महया घडमुहपवत्तिएणं मुत्तावलिहारसंठाणसंठिएणं पवाएणं महया सद्देणं पवडइ, एवं सीता वि दक्खिणाहिमुही भाणियव्वा। (सू० ७४+)

सीतोदाया महानद्या पर्वतस्योपरि चतुःसप्ततिशतान्येकविंशत्यधिकानि कला चैकेत्येवं प्रवाहो भवति, 'वइरामयाए जिब्भियाए' त्ति-वज्रमय्या जिह्विकया प्रणालस्थमकरमुखजिह्विकया चतुर्योजनदीर्घया पञ्चाशद्योजनविष्क-

म्भया 'वइरतले कुण्डे' त्ति-निषधपर्वतस्याधोवर्त्तिनि वज्रभूमिके अशीत्यधिकचतुर्योजनशतायामविष्कम्भे दशयोजनावगाढे सीतोदादेवीभवनाध्यासितमस्तकेन तद्द्वीपेनालङ्कृतमध्यभागे सीतोदाप्रपातह्रदे 'महया' त्ति महाप्रमाणेन यत्पुनः 'दुहओ' त्ति-क्वचित् दृश्यते तदपपाठ इति मन्यते 'घडमुहपवत्तिएणं' ति—घटमुखेनेव-कलशवदनेनेव प्रवर्त्तितः-प्रेरितो घटमुखप्रवर्त्तितस्तेन मुक्तावलीना-मुक्ताफलशरीराणां सम्बन्धी हारस्तस्य यत्संस्थानं तेन संस्थितो यस्तेन प्रपात-पर्वतात्प्रपतज्जलसमूहस्तेन महाशब्देन-महाध्वनिना प्रपतति, एवं सीताऽपि । स० ७४ सम० ।

अथास्याः उत्तरेण नदी प्रवहति तामाह—

तस्स णं तिगिंछिद्दहस्स उत्तरिल्लेणं तोरणेणं सीओआ महाणई पव्वूढा समाणी सत्त जोअणसहस्साइं चत्तारि अ एगवीसे जोअणसए एगं च एगूणवीसइभागं जोअणस्स उत्तराभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवित्तिएणं ०जाव साइरेगचउजोअणसइएणं पवाएणं पवडइ । सीओआ णं महाणई जओ पवडइ एत्थ णं महं एगा जिब्भिआ पण्णत्ता चत्तारि जोअणाइं आयामेणं पण्णासं जोअणाइं विक्खम्भेणं जोअणं बाहल्लेणं मगरमुहविउट्टसंठाणसंठिआ सव्ववइरामई अच्छा । (सू० ८४)

'तस्स णं तिगिंछिद्दह' इत्यादि, व्यक्तं, गिरिगन्तव्यं तु हरिवद्यावसेयम्, अथास्या जिह्विकास्वरूपमाह—'सीओआ' इत्यादि, उत्तानार्थं, नवरमायामेन चत्वारि योजनानि, हरिनदीजिह्विकाद्विगुणत्वात्, पञ्चाशद् योजनानि विष्कम्भेन-हरिन्नदीप्रवहतो द्विगुणस्य सीतोदाप्रवहस्य मातव्यत्वात्, एवं बाहल्यमपि पूर्वजिह्विकातो द्विगुणमवसेयम् । जं० ४ वक्ष० ।

सीओभास-शीतावभास-त्रि० । ईषच्छीतलाभे, रा० । "सए सीओभास" त्ति-शीतस्पर्शापेक्षया कुल्याद्याक्रान्तत्वादिति वृद्धाः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सीओयप्पवायदह-शीतोदाप्रपातह्रद-पुं० । शीतोदानद्याः प्रपातस्थाने, यत्र निषधाच्छीतोदा निपतति स शीतोदाप्रपातह्रदः । शीतोदाप्रपातह्रदसमानः सीतादेवीद्वीपभवनसमानः शीतोदादेवीद्वीपभवनश्चेति । स्था० १ ठा० ।

सीओयाकूड-शीतोदाकूट-न० । शीतोदानदीदेवनिवासभूते निषधवर्षधरपर्वतस्य कूटे, स्था० १ ठा० ३ उ० ।

सीओसणिज्ज-शीतोष्णीय-न० । शीतं चोष्णं च शीतोष्णे ते अधिकृत्य कृतमध्ययनं शीतोष्णीयम् । शीतोष्णस्पर्शजनितवेदनाप्रतिपादके आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य तृतीये अध्ययने, स० । स्था० । आचा० ।

शीतोष्णयोरनुकूलप्रतिकूलपरिषहयोरतिसहनं कर्त्तव्य, तदधुना प्रतिपाद्यते, अस्यायमभिसम्बन्धस्तु शस्त्रपरिज्ञाध्ययनसम्बन्धस्य लोकविजयाध्ययनप्रसिद्धसंयमव्यवस्थितस्य विजितकषायादिलोकस्य मुमुक्षोः कदाचिदनुलोमप्रतिलोमाः परीषहाः प्रादुष्ष्यन्ति, तेऽविकृतान्तःकरणेन सम्यक् सोढव्या इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राध्ययनार्थाधिकारोऽभिहितः । उद्देशार्थाधिकारप्रतिपादनार्थं तु निर्युक्तिकार आह—

पढमे सुत्ता असंजयत्ति १ बिइए दुह अणुहवंति २ ।
तइए न हु दुक्खेणं, अकरणयाए व समणुत्ति ३।१९८।
उद्देसम्मि चउत्थे, अहिगारो उ वमणं कसायाणं ।
पावविरओ विउणो, उ संजमो इत्थ मुक्खु त्ति ४।१९९।

प्रथमोद्देशकेऽयमर्थाधिकारो, यथा—भावनिद्रया सुप्ताः—सम्यग्विवेकरहिताः, के ?-असंयताः-गृहस्थास्तेषां च भावसुप्तानां दोषा अभिधीयन्ते, जाग्रतां च गुणाः, तद्यथा—'जरामच्चुवसोवणीए नरे' इत्यादि १, द्वितीये तु न एवासंयता यथा भावनिद्रापन्ना दुःखमनुभवन्ति तथोच्यते । तद्यथा—'कामेसु गिद्धा निचयं करंति' २, तृतीये तु 'न हु' नैव दुःखसहनादेव केवलाच्छ्रमणः अकरणतयैव-अक्रिययैव संयमानुष्ठानमन्तरेणेत्यर्थः वक्ष्यति च—'साहिए दुक्खमायाए तेणव य पुट्ठो नो झंझाए' ३, चतुर्थोद्देशके त्वयमधिकारो, यथा-कषायाणां वमनं कार्यं पापस्य च कर्मणो विरतिः, विदुषो-विदितवेद्यस्य संयमोऽत्रैव प्रतिपाद्यते क्षपकश्रेणिप्रक्रमात् केवलं भवोपग्राहिक्षयान्मोक्षश्चेति गाथाद्वयार्थः ।

नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे शीतोष्णीयमध्ययनमतः शीतोष्णयोर्निक्षेपं निर्दिदिक्षुराह—

नाम ठवणा सीयं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
एमेव य उण्हस्स वि, चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥२००॥

सुगमा ।

तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यशीतोष्णे दर्शयितुमाह—

दव्वे सीयलदव्वं, दव्वुण्हं चेव उण्हदव्वं तु ।
भावे उ पुग्गलगुणो, जीवस्स गुणो अणेगविहो ॥२०१॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यशीतं शीतगुणोपेतं गुणगुणिनोरभेदात् शीतकारणं वा यद्द्रव्यं द्रव्यप्राधान्याच्छीतलद्रव्यमेव द्रव्यशीत—हिमतुषारकरकादि, एवं द्रव्योष्णमपीति । भावतस्तु द्वेधा—पुद्गलाश्रितं, जीवाश्रितं च, गाथाशकलेनाचष्टे—तत्र पुद्गलाश्रितं भावशीतं पुद्गलस्य शीतो गुणो गुणस्य प्राधान्यविवक्षयेति, एवं भावोष्णमपि । जीवस्य तु शीतोष्णरूपोऽनेकविधो गुणः, तद्यथा—औदयिकादयः षड् भावाः, तत्रौदयिकः कर्मोदयाविर्भूतनारकादिभवकषायोत्पत्तिलक्षण उष्णः, औपशमिकः कर्मोपशमावाप्तसम्यक्त्वविरतिरूपः शीतः, क्षायिकोऽपि शीत एव क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रादिरूपत्वाद्, अथवाऽशेषकर्मदाहान्यथानुपपत्तेरुष्णः, शेषा अपि विवक्षातो द्विरूपा अपीति ।

अस्य च जीवभावगुणस्य शीतोष्णविवेकं स्वत एव निर्युक्तिकारः प्रचिकटयिषुराह-

सीयं परीसहपमा-यवसमविरई सुहं च उण्हं तु ।

परीसहतवुज्जमकसा-य सोगाहिवेयारई दुक्खं ॥२०२॥

'शीत' मिति भावशीतम् ; तच्चेह जीवपरिणामस्वरूप गृह्यते, स चायं परिणामो-मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः, प्रमादः-कार्यशैथिल्यं शीतलविहारता, उपशमो मोहनीयोपशमः, स च सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतिलाभः, उपशमश्रेण्याश्रितो वा, तत्क्षयो वेति, 'विरति' रिति प्राणातिपातादिविरत्युपलक्षितः सप्तदशविधः संयमः, सुखं च-सातावेदनीयविपाकाविर्भूतमिति । एतत् सर्वं परीषहादि शीतमुष्णं च गाथाशकलेनाह-परीषहाः-पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाः तपस्युद्यमो-यथाशक्ति द्वादशप्रकारतपोऽनुष्ठानं कषायाः-क्रोधादयः-शोकः-इष्टाप्राप्तिविनाशोद्भवः आधिः वेदः-स्त्रीपुंनपुंसकवेदोदयः अरतिः-मोहनीयविपाकाच्चित्तदौस्थ्यं दुःखं च-असातावेदनीयोदयादीनि, एतानि परीषहादीनि पीडाकारित्वादुष्णमिति गाथासमासार्थः ।

व्यासार्थं तु निर्युक्तिकारः स्वत एवाचष्टे-तत्र परीषहाः शीतोष्णयोर्द्वयोरप्यभिहिताः, तत्रैव मन्दबुद्धेरनध्यवसायः संशयो विपर्ययो वा स्यादतस्तदपनोदार्थमाह-

इत्थी-सक्कारपरी-सहो य दो भावसीयला एए ।

सेसा वीसं उण्हा, परीसहा हुंति नायव्वा ॥ २०३ ॥

स्त्रीपरीषहः सत्कारपरीषहश्च द्वावप्येतौ शीतौ, भावमनोऽनुकूलत्वात्, शेषास्तु पुनर्विंशतिरुष्णा ज्ञातव्या भवन्ति, मनसः प्रतिकूलत्वादिति गाथार्थः ।

यदिवा परीषहाणां शीतोष्णत्वमन्यथा आचष्टे-

जे तिव्वप्परिणामा, परीसहा ते भवंति उण्हा उ ।

जे मंदप्परिणामा, परीसहा ते भवे सीया ॥२०४॥

तीव्रो-दुःसहः परिणामः-परिणतिर्येषां ते तथा, य एवम्भूताः परीषहास्ते उष्णाः, ये तु मन्दपरिणामास्ते शीता इति । इदमुक्तं भवति-ये शरीरदुःखोत्पादकत्वेनोदीर्णाः सम्यक्सहनाभावाच्चाधिविधायिनस्ते तीव्रपरिणामत्वादुष्णाः, ये पुनरुदीर्णाः शरीरमेव केवलं दुःखमुत्पादयन्ति महासत्त्वस्य न मानसं ते भावतो मन्दपरिणामाः, यदिवा-ये तीव्रपरिणामाः-प्रबलाविर्भूतस्वरूपास्ते उष्णाः, ये तु मन्दपरिणामाः-ईषल्लक्ष्यमाणस्वरूपास्ते शीता इति ।

यत्परीषहानन्तरं प्रमादपदमुपन्यस्तं शीतत्वेन यच्च तपस्युद्यम इत्युष्णत्वेन तदुभयं गाथयाऽऽचष्टे-

धम्मम्मि जो पमायइ, अत्थे वा सीअलु त्ति तं बिंति ।

उज्जुत्तं पुण अन्नं, तत्तो उण्हं ति णं बिंति ॥२०५॥

धर्मे-श्रमणधर्मे यः प्रमाद्यति-नोद्यमं विधत्ते 'अर्थे वा' अर्थ्यत इत्यर्थो-धनधान्यहिरण्यादिस्तत्र तदुपाये वा शीतल इत्येवं तं ब्रुवते-आचक्षते, उद्युक्तं पुनरन्यं तत-संयमोद्यमात् कारणादुष्णमित्येवं ब्रुवते, णमिति वाक्यालङ्कार इति गाथार्थः ।

उपशमपदव्याचिख्यासयाऽऽह-

सीईभूओ परिनि-व्वुओ य संतो तहेव पल्हाओ ।

होउवसंतकसाओ, तेणुवसन्तो भवे जीवो ॥२०६॥

उपशमो हि क्रोधाद्युदयाभावे भवति, ततश्च कषायान्युपशमात् शीतीभूतो भवति, क्रोधादिज्वालानिर्वाणात् परिनिर्वृतो भवति । चः समुच्चये । रागद्वेषपावकोपशमादुपशान्तः, तथा क्रोधादिपरितापोपशमात् 'प्रह्लादितः' आपन्नसुखः, यतो ह्युपशान्तकषाय एव एवम्भूतो भवति तेनोपशान्तकषायः शीतो भवतीति । एकार्थिकानि वैतानीति गाथार्थः ।

अधुना विरतिपदव्याख्यामाह-

अभयकरो जीवाणं, सीयघरो संजमो भवइ सीओ ।

अस्संजमो य उण्हो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥२०७॥

अभयकरणशीलः, केषाम् ?-जीवानां, शीत-सुखं तद्गृहं तदावासः, कोऽसौ ?-संयमः-सप्तदशभेदः, अतोऽसौ शीतो भवति, समस्तदुःखहेतुद्वन्द्वोपरमात्, एतद्विपर्ययस्त्वसंयम उष्णः, एष शीतोष्णलक्षणः संयमासंयमयोः पर्यायोऽन्यो वा सुखदुःखरूपो विवक्षावशाद्भवतीति गाथार्थः ।

साम्प्रतं सुखपदविवरणायाह-

निव्वाणसुहं सायं, सीईभूयं पयं अणावाहं ।

इहमवि जं किंचि सुहं, तं सीयं दुक्खमवि उण्हं ॥२०८॥

सुखं शीतमित्युक्तं, तच्च समस्तद्वन्द्वोपरमादात्यन्तिकैकान्तिकानाबाधलक्षणं निरुपाधिकं परमार्थचिन्तायां मुक्तिसुखमेव सुखं नापरम्, एतच्चैवं समस्तकर्मोपतापाभावाच्छीतमिति दर्शयति-'निर्वाणसुख' मिति, निर्वाणम्-अशेषकर्मक्षयस्तद्वासो वा विशिष्टाकाशप्रदेशः तेन तत्र वा सुखं निर्वाणसुखम् । अस्य चैकार्थिकानि-सातं शीतीभूतं पदमनाबाधमिति । इहापि संसारे यत्किञ्चित् सातावेदनीयविपाकोद्भूतं सातं-सुखं तदपि शीतं मनआह्लादात्, एतद्विपर्ययस्तु दुःखं, तच्चोष्णमिति गाथार्थः ।

कषायादिपदव्याचिख्यासयाऽऽह-

डज्झइ तिव्वकसाओ, सोगाभिभूओ उइन्नवेओ य ।

उण्हयरो होइ तवो, कसायमाईवि जं डहइ ॥२०९॥

दह्यते-परिपच्यते, कोऽसौ ?-तीव्रा-उत्कटा उदीर्णा विपाकानुभवेन कषाया यस्य स तथा, न केवलं कषायाग्निना दह्यते, 'शोकाऽभिभूतश्च' इष्टवियोगादिजनितः शोकस्तेनाभिभूतः तिरोहितशुभव्यापारोऽसावपि दह्यते, तथा उदीर्णो विपाकापन्नो वेदो यस्य स तथा उदीर्णवेदो हि पुमान् स्त्रियं कामयते, साऽपीतरं, नपुंसकस्तूभयमिति, तत्प्राप्त्यभावे काङ्क्षोद्भूतारतिदाहेन दह्यते । चशब्दादिच्छाकामाप्राप्तिजनितारतिपावकेन दह्यते, तदेवं कषायाः शोको वेदोदयश्च दाहकत्वादुष्णः, सर्वं वा मोहनीयमष्टप्रकारं वा कर्मोष्णम्, ततोऽपि तद्दाहकत्वादुष्णतरं तप इति गाथाशकलेन दर्शयति-उष्णतरं तपो भवति, किमिति ?-यतः कषायादिकमपि दहति, आदिशब्दाच्छोकादिपरिग्रह इति गाथार्थः ।

येनाभिप्रायेण द्रव्यभावभेदभिन्ने परीषहप्रमादोद्यमादिरूपे शीतोष्णे जगादाचार्यस्तमभिप्रायमाविष्करोति-

सीउण्हफासमुहदुह-परीसहकसायवेयसोयसहो ।

हुज्ज समणो सया उ-ज्जुओ य तवसंजमोवसमे ॥२१०॥

शीतं चोष्णं च शीतोष्णे तयोः स्पर्शः तं सहत इति सम्व-

न्ध शीतस्पर्शोष्णस्पर्शजनितवेदनामनुभवन्नार्त्तध्यानापगतो भवतीति यावत्। शरीरमनसोरनुकूलं सुखमिति, तद्विपरीतं दुःखं, तथा परीषहकषायवेदशोकान् शीतोष्णभूतान् सहत इति। तदेव शीतोष्णादिसहः सन् भवेत् श्रमणः-यतिः संयमोद्युक्तश्च, क ?—तप संयमोपशमे इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन साधुना शीतोष्णातिसहनं कर्त्तव्यमिति दर्शयति—

सीयाणि य उण्हाणि य,भिक्खूणं हुंति वि सहियव्वाइं ।
कामा न सेवियव्वा,सीओसणिज्जस्स निज्जुत्ती ॥२११॥

शीतानि-परीषहप्रमादोपशमविरतिसुखरूपाणि यान्यभिहितानि, उष्णानि च—परीषहतपउद्यमकषायशोकवेदारत्यात्मकानि प्रागभिहितानि तानि भिक्षुणा-मुमुक्षुणा विषोढव्यानि, न सुखदुःखयो उत्सेकविषादौ विधेयौ, तानि चैवं सम्यग्दृष्टिना सह्यन्ते यदि कामपरित्यागो भवतीति गाथाशकलेनाह—'कामा ' इत्यादि गाथार्द्धं सुगमम्।

गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रत सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतमशेषदोषव्रातविकल सूत्रमुच्चारयितव्यम् , तच्चेदम्—

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति। (सू० १०५)

अस्य चानन्तरसूत्रेण सम्बन्धो वाच्य , स चायम्—इह दुःखी दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तत इत्युक्तं, तदिहापि भावसुप्ता अज्ञानिनो दुःखिनो दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तन्ते इति। उक्तं च—" नान. परमह मन्ये, जगतो दुःखकारणम्। यथाऽज्ञानमहारोगो, दुरन्त. सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥ " इत्यादि, इह सुप्ता द्विधा—द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र निद्राप्रमादवन्तो द्रव्यसुप्ता., भावसुप्तास्तु मिथ्यात्वाज्ञानमयमहानिद्राव्यामोहिता., ततो य अमुनय --मिथ्यादृष्टय. सततं भावसुप्ता. सद्विज्ञानानुष्ठानरहितत्वात्, निद्रया तु भजनीया., मुनयस्तु सद्बोधोपेता मोक्षमार्गादचलन्तस्ते सततम्—अनवरतं जाग्रति—हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वते, अतो द्रव्यनिद्रोपगता अपि कचिद् द्वितीयपौरुष्यादौ सतत जागरूका एवेति ।

एतमेव भावस्वाप जागरणं च विषयीकृत्य निर्युक्तिकारो गाथा जगाद—

सुत्ता अमुणिओ सया,मुणिओ सुत्ता वि जागरा हुंति ।
धम्मं पडुच्च एवं, निद्दासुत्तेण भइयव्वं ॥२१२॥

सुप्ता द्विधा—द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र निद्रया द्रव्यसुप्तान् गाथान्ते वक्ष्यति. भावसुप्तास्त्वमुनयो—गृहस्था मिथ्यात्वाज्ञानवृता हिंसाद्यास्रवद्वारेषु सदा प्रवृत्ताः , मुनयस्त्वपगतमिथ्यात्वादिनिद्रतयाऽवाप्तसम्यक्त्वादिबोधा भावतो जागरूका एव। यद्यपि कचिदाचार्यानुज्ञाता द्वितीयपौरुष्यादौ दीर्घसंयमाधारशरीरस्थित्यर्थं निद्राक्षोपगता भवन्ति तथापि सदा जागरा एव, एव च धर्मं प्रतीत्यामुकाः सुप्ता जाग्रदवस्थाश्च। द्रव्यनिद्रासुप्तेन तु भाज्यमेतत्—धर्मः स्याद्वा न वा, यद्यसौ भावतो जागर्त्ति ततो निद्रासुप्तस्यापि धर्मः स्यादेव, यदिवा-भावतो जाग्रतो निद्राप्रमादावष्टब्धान्तःकरणस्य न स्यादपि। यस्तु द्रव्यभावसुप्तस्य न स्यादेवेति भजनार्थः । अथ किमिति द्रव्यसुप्तस्य धर्मो न भवतीति ?, उच्यते—द्रव्यसुप्तो हि निद्रया भवति, सा च दुरन्ता। किमिति ?, यत स्त्यानर्द्धित्रिकोदये सम्यक्त्वावाप्तिर्धर्मशिक्षिकस्यापि न भवति, तद्बन्धश्च मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोरनन्तानुबन्धिबन्धसहचरित., छद्मस्थनिवृत्तिबादरगुणस्थानकालसङ्ख्येयभागेषु कियत्स्वपि गतेषु सत्सु भवति, निद्राप्रचलयोरपि उदये प्राग्वदेव । बन्धोपरमस्त्वपूर्वकरणकालसंख्येयभागान्त भवति, क्षय पुन क्षीणकषायद्विचरमसमये , उदयस्तूपशमकोपशान्तमोहयोरपि भवतीत्यतो दुरन्तो निद्राप्रमाद ।

यथा च द्रव्यसुप्तो दुःखमवाप्नोत्येव भावसुप्तोऽपीति दर्शयितुमाह—

जह सुत्त मत्त मुच्छिय, असहीणो पावए बहुं दुक्खं ।
तिव्वं अप्पडियारं, पि वट्टमाणो तहा लोगो ॥ २१३ ॥

सुप्तो निद्रया, मत्तो मदिरादिना, मूर्छितो गाढमर्मप्रहारादिना, अस्वाधीन —परायत्तो वातादिदोषोद्भवग्रहादिना यथा बहु दुःखमप्रतीकारमवाप्नोति, यथा भावस्वापे—मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायादिकेऽपि वर्त्तमान —अवतिष्ठमानो लोक.—प्राणिगणो नरकभवादिक दुःखमवाप्नोतीति गाथार्थः ।

पुनरपि व्यतिरेकदृष्टान्तद्वारेणोपदेशदानायाऽऽह—

एमेव य उवएसो, पलित्तपयला य पंथमाईसुं ।
अणुहवइ जह सचेओ,सुहाइँ समणोऽवि तह चेव॥२१४॥

एष एव-पूर्वोक्त उपदेशो यो विवेकाविवेकजनित , तथाहि-सचेतनो विवेकी प्रदीप्ते सति प्रपलायमान सुखमनुभवति, पथिविषये च सापायनिरपायविवेकज्ञ , आदिग्रहणादन्यस्मिन्वा दस्युभयादौ समुपस्थिते सति, यथा विवेकी सुखेनैव तमपाय परिहरन् सुखभाग भवति, एव श्रमणोऽपि भावत सदा विवेकित्वाज्जाग्रदवस्थामनुभवन् समस्तकल्याणास्पदीभवति । अत्र च सुप्तासुप्ताधिकारगाथा —

" जागरह णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी ।
जो सुअइ न सो धन्नो, जो जग्गइ सो सया धन्नो ॥ १ ॥
सुअइ सुअंतस्स सुअं, संकियखलियं भवे पमत्तस्स ।
जागरमाणस्स सुअं, थिरपरिचिअमप्पमत्तस्स ॥ २ ॥
नालस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया ।
न वेरग्गं पमाएणं, नारंभेण दयालुया ॥ ३ ॥
जागरिआ धम्मीणं, अहम्मीणं तु सुत्तया सेआ ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥ ४ ॥
सुयइ य अयगरभूओ,सुअं पि से नासई अमयभूअं ।
होहिइ गोणब्भूओ, नट्ठम्मि सुए अमयभूए ॥ ५ ॥ "

तदेवं दर्शनावरणीयकर्म्मविपाकोदयेन कचित्स्वपन्नपि यः संविग्नो यतनावांश्च स दर्शनमोहनीयमहानिद्रापगमाज्जाग्रदवस्थ एवेति ।

ये तु सुप्तास्तेऽज्ञानोदयाद्भवन्ति, अज्ञानं च महादुःखं दुःखं च जन्तूनामहितायेति दर्शयति—

लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जास्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य

गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति । (सू० १०६)

लोके—षड्जीवनिकाये जानीहि—परिच्छिन्द्या दुःखहेतुत्वाद् दुःखम्—अज्ञानं मोहनीयं वा तदहिताय—नरकादिभवव्यसनोपनिपाताय । इह वा बन्धवधशारीरमानसपीडायै जायत इत्येतज्जानीहि । परिज्ञानाच्चैतत्फलं, यदुत—द्रव्यभावस्वापाद्ज्ञानरूपाद् दुःखहेतोरपसर्पणमिति । किं चान्यत्—' समय ' मित्यादि, समयः—आचारोऽनुष्ठानं तं लोकस्यासुमद्व्रातस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतो भवेदित्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धः । लोको हि भोगाभिलाषितया प्राण्युपमर्दादिकषायहेतुकं कर्मोपादाय नरकादियातनास्थानेषूत्पद्यते, ततः कथञ्चिद्दुरुत्तरयावाप्य चाशेषक्लेशनाशनप्रधर्मकारणमार्यक्षेत्रादौ मनुष्यजन्म पुनरपि महामोहमोहितमतिस्तत्तदारभते येन येनाधोऽधो व्रजति, संसारान्नोन्मज्जतीति । अयं लोकाचारस्तं ज्ञात्वा, अथवा-समभाव-समता तां ज्ञात्वा, ' लोकस्य ' सप्तम्यर्थे षष्ठी , ततश्चायमर्थो—लोके—जन्तुसमूहे समतां—समशत्रुमित्रतां समात्मपरतां वा ज्ञात्वा , यदिवा—सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयो जन्तवः सदा स्वोत्पत्तिस्थानरिरंसवो मरणभीरवः सुखेप्सवो दुःखद्विष इत्येवम्भूतां समतां ज्ञात्वा, किं कुर्यादित्याह—' एत्थ सत्थोवरए ' अत्र-अस्मिन् षट्कायलोके शस्त्राद् द्रव्यभावभेदादुपरतो धर्मजागरणेन जागृहि, यदिवा-यद्यत्संयमशस्त्रं प्राणातिपाताद्यास्रवद्वारं शब्दादिपञ्चप्रकारकामगुणाभिष्वङ्गो वा तस्माद्य उपरतः स मुनिरिति । आह च-' जस्सिमे ' इत्यादि, यस्य मुनेरिमे-प्रत्यात्मवेद्याः समस्तप्राणिगणेन्द्रियप्रवृत्तिविषयभूताः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शा मनोज्ञेतरभेदभिन्ना ' अभिसमन्वागता ' इति , अभि-आभिमुख्येन सम्यग्-इष्टानिष्टावधारणतयाऽन्विति-शब्दादिस्वरूपावगमात् पश्चादागताः-ज्ञाताः परिच्छिन्ना यस्य मुनेर्भवन्ति स लोकं जानातीति सम्बन्धः । इदमुक्तं भवति-इष्टेषु न रागमुपयाति, नापीतरेषु द्वेषम् , एतदेवाभिसमन्वागमनं तेषां नान्यदिति । यदिवेहैव शब्दादयो दुःखाय भवन्त्यास्तां तावत्परलोक इति , उक्तं च—" रक्तः शब्दे हरिणः स्पर्शे नागो रसे च वारिचरः । कृपणपतङ्गो रूपे, भुजगो गन्धे ननु विनष्टः ॥१॥ पञ्चसु रक्ताः पञ्च वि-नष्टा यत्रागृहीतपरमार्थाः । एकः पञ्चसु रक्तः, प्रयाति भस्मान्ततामबुधः ॥ २ ॥ " अथवा-शब्दे-पुष्पशालाद्भद्रा ननाश, रूपे-अर्जुनकतस्करः, गन्धे-गन्धप्रियकुमारः , रसे-सौदासः , स्पर्शे—सत्यकिः , सुकुमारिकापतिर्वा ललिताङ्गकः , परत्र च नारकादियातनास्थानभयमिति ।

एवं शब्दादीनुभयदुःखस्वभावानवगम्य यः परित्यजेदसौ कं गुणमवाप्नुयादित्याह—

से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वुच्चे, धम्मविऊ उज्जू आवट्टसोए संगमभिजाणइ । (सू० १०७)

यो हि महामोहानन्द्राक्रान्तं लोके दुःखमहिताय जानानो लोकसमयदर्शी शस्त्रोपरतः सन् शब्दादीन् कामगुणान् दुःखैकहेतूनभिसमन्वागच्छति ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याचष्टे स मुमुक्षुरात्मवान्—आत्मा ज्ञानादिकोऽस्यास्तीत्यात्मवान् , शब्दादिपरित्यागेन ह्यात्माऽनेन रक्षितो भवति, अन्यथा नारकैकेन्द्रियादिपातं सत्यात्मकार्याकरणात्कृतोऽस्यात्मेति , पाठान्तरं वा-'से आयवी नाणवी' आत्मानं श्वभ्रादिपतनरक्षणद्वारेण वेत्तीत्यात्मवित् ,तथा-ज्ञानं यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदकं वेत्तीति ज्ञानवित् ,तथा वेद्यते जीवादिस्वरूपम् अनेनेति वेदः—आचारााद्यागमः तं वेत्तीति वेदवित् , तथा-दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावं स्वर्गापवर्गमार्गं धर्मं वेत्तीति धर्मवित् , एवं ब्रह्म--अशेषमलकलङ्कविकलं योगिशर्म वेत्तीति ब्रह्मवित् , यदिवा-अष्टादशधा ब्रह्मेति, एवम्भूतश्चासौ प्रकर्षेण ज्ञायते ज्ञेयं यैस्तानि प्रज्ञानानि-मत्यादीनि त्रैलोक्यं यथावस्थितं जन्तुलोकं तदाधारं वा क्षेत्रं जानाति--परिच्छिनत्तीत्युक्तं भवति , य एव शब्दादिविषयसङ्गस्य परिहर्त्ता स एव यथावस्थितलोकस्वरूपपरिच्छेदीति । यश्चानन्तरगुणोपेतः स किं वाच्य ? इत्यत आह—'मुणी ' त्यादि , यो ह्यात्मवान् ज्ञानवान् वेदवान् धर्मवान् ब्रह्मवान् प्रज्ञानैर्यैस्तैः समस्तैर्वा लोकं जानाति स मुनिर्वाच्यो,मनुते,मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थां मुनिरिति कृत्वा, किं च-'धम्म' इत्यादि, धर्मं-चेतनाचेतनद्रव्यस्वभावं श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित् , 'ऋजु' रिति ऋजो --ज्ञानदर्शनचारित्राख्यस्य मोक्षमार्गस्यानुष्ठानादकुटिलो यथावस्थितपदार्थस्वरूपपरिच्छेदाद्वा ऋजुः सर्वोपाधिशुद्धोऽवक्र इति यावत् । तदेवं धर्मविदृजुर्मुनिः किम्भूतो भवतीत्याह-'आवट्ट' इत्यादि , भावावर्त्तो-जन्मजरामरणरोगशोकव्यसनोपनिपातात्मकः संसार इति , उक्तं हि-"रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम् । जन्मावर्त्ते जगत्क्षिप्तं , प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम् ॥ १ ॥ " भावस्रोतोऽपि शब्दादिकामगुणविषयाभिलाषः, आवर्त्तश्च स्रोतश्चावर्त्त-स्रोतसी तयो रागद्वेषाभ्यां सम्बन्धः-सङ्गस्तमभिजानाति-आभिमुख्येन परिच्छिनत्ति-यथाऽयं सङ्गः आवर्त्तस्रोतसो कारणं जानानश्च परमार्थतः कोऽभिधीयते ? ,योऽनर्थं ज्ञात्वा परिहरति, ततश्चायमर्थः—संसारस्रोतःसङ्गं रागद्वेषात्मकं ज्ञात्वा यः परिहरति स एव आवर्त्तस्रोतसोः सङ्गस्याभिज्ञाता ।

सुप्तजाग्रता दोषगुणपरिच्छेदी कं गुणमवाप्नुयादित्याह--

सीउसिणच्चाई से निग्गंथे अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ, जागरवेरोवरए , वीरे एवं दुक्खा पमुक्खसि , जरामच्चुवसोवणिए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ । (सू० १०८)

सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितः सन् शीतोष्णत्यागी सुखदुःखानभिलाषुकः शीतोष्णरूपौ वा परीषहावतिसहमानः संयमासंयमरत्यरतिसहः सन् परुषतां—कर्कशतां पीडाकारितां परीषहाणामुपसर्गाणां वा कर्मक्षपणायोद्यतः साहाय्यं मन्यमानो 'नो वेत्ति'न तान् पीडाकारित्वेन गृह्णातीत्युक्तं भवति । यदिवा-संयमस्य तपसो वा परुषतां शरीरपीडोत्पादकत्वात् कर्मलेपापनयनाद्वा संसारोद्विग्नमना मुमुक्षुर्निराबाधसुखोन्मुखः'न वेत्ति न संयमतपसी पीडाकारित्वेन गृह्णातीति यावत् , किं च—'जागर' इत्यादि, असंयमनिद्रापगमाज्जागर्त्तीति जागरः , अभिमानसमुत्थोऽमर्षावेशः परापकाराध्यवसायो वैरं तस्मादुपरतो, वैरोपरतः जागरश्चासौ वैरोपरतश्चेति

विगृह्य कर्मधारय , क एवम्भूत ?—वीर -कर्मापनयनशक्त्युपेत ,एवम्भूतश्च त्वं वीर ! आत्मान पर वा दु खाद् दु खकारणाद्वा कर्मण प्रमोक्ष्यसीति । यश्च यथोक्ताद्विपरीतः आवर्त्तश्रोतसो सङ्गमुपगतोऽजागर' स किमाप्नुयादित्याह—जरा च मृत्युश्च ताभ्यामात्मवशमुपनीतो नर -प्राणी-सततम्-अनवरत मूढो—महामोहमोहितमतिर्धर्म्म-स्वर्गापवर्गमार्गं नाभिजानीते—नावगच्छति तत् ससारे स्थानमेव नास्ति यत्र जरामृत्यू न स्त , देवानां जराऽभाव इति चेत् , न , तत्राप्युपान्त्यकाले लश्याबलसुखप्रभुत्ववर्णहान्युपपत्त अस्त्येव च तेषामपि जरासद्भाव , उक्त च—"देवा ण भते ! सव्वे समवन्ना ?, नो इणट्ठे समट्ठे, से केणऽट्ठेण भंत! एव वुच्चइ ?, गोयमा ! देवा दुविहा-पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ ण जे ते पुव्वोववन्नगा ते ण अविसुद्धवन्नयरा,जे ण पच्छोववन्नगा ते णं विसुद्धवन्नयरा" एव लेश्याद्यपीति, च्यवनकाले तु सर्वस्यैवैतद्भवति, तद्यथा—" माल्यम्लानि कल्पवृक्षप्रकम्प , श्रीह्रीनाशो वाससां चोपराग । दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गौ, दृष्टिभ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च ॥ १ ॥ "

यतश्चैवमत सर्वं जरामृत्युवशोपनीतमभिसमीक्ष्य किं कुर्यादित्याह—

पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता य मइमं, पास आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सहरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणा पमुच्चई, अप्पमत्तो कामेहिं , उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने , जे पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने, अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ, कम्मं च पडिलेहाए । (सू० १०६)

स हि भावजागरस्तैस्तैर्भावस्वापजनितै शारीरमानसैर्दु खैरातुरान्-किंकर्त्तव्यतामूढान् दु खसागरावगाढान् प्राणान्-अभेदोपचारात् प्राणिनो दृष्ट्वा-ज्ञात्वा अप्रमत्त परिव्रजेद्-उद्युक्त सन् सयमानुष्ठान विदध्यात् । अपि च-'मंता' इत्यादि, हे मतिमन् !-सच्छुतिक ! भावसुप्तातुरान् पश्य, मत्वा चैतज्जाग्रत्सुप्तगुणदोषापादन मा स्वापमतिं कुरु । किं च—' आरभज ' मित्यादि, आरम्भ—सावद्यक्रियानुष्ठान तस्माज्जातमारम्भज, किं तद् ?-दु ख तत्कारण वा कर्म । 'इद' मिति—प्रत्यक्षगाचरापन्नमशेपारम्भप्रवृत्तप्राणिगणानुभूयमानमित्येतत् ज्ञात्वा—परिच्छिद्य निरारम्भो भूत्वाऽऽत्महितं जागृहि । यस्तु विषयकषायाच्छादितचेता भावशायी स किमाप्नुयादित्याह—' माई ' इत्यादि, मध्यग्रहणाच्चाद्यन्तयोर्ग्रहण, तत क्रोधादिकषायवान्—मद्यादिप्रमादवान्नारकदु खमनुभूय पुनस्तिर्यक्षु गर्भमुपैति । यस्त्वकषायी प्रमादरहित स किम्भूतो भवतीत्याह—' उवेह ' इत्यादि, बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो गम्यत , शब्दरूपादिषु यौ रागद्वेषौ तावुपेक्षमाण —अकुर्वन् ऋजुर्भवति—यतिर्भवति, यतिरेव परमार्थत ऋजु , अपरस्त्वन्यथाभूत स्थानादिपदार्थान्यथाग्रहणाद्वक्र । किं च—स ऋजु शब्दादीनुपेक्षमाणो मरण मारस्तदभिशङ्की—मरणादुद्विजस्तत्करोति येन मरणात् प्रमुच्यते । किं तत्करोतीत्याह—'अप्पमत्त' इत्यादि, कामेषु प्रमादस्तत्राप्रमत्तो भवेत् । कश्चाप्रमत्त स्याद् ?, य कामारम्भकेभ्य पापेभ्य उपरतो भवतीति दर्शयति— उवरओ ' इत्यादि, उपरतो मनोवाक्कायै , कुत ?—पापोपादानकर्मभ्य , कोऽसौ?—वीर , किम्भूतो?-गुप्तात्मा, कश्च गुप्तो भवति ?, य खेदज्ञो, यश्च खेदज्ञ स कं गुणमवाप्नुयादित्याह—' जे पज्जव ' इत्यादि 'शब्दादीना विषयाणा पर्यवा —विशेषास्तेषु—तन्निमित्त जात शस्त्र पर्यवजातशस्त्र—शब्दादिविशेषोपादानाय यत्प्राण्युपघातकार्यनुष्ठान तत्पर्यवजातशस्त्र तस्य पर्यवजातशस्त्रस्य यः खेदज्ञ—निपुण सोऽशस्त्रस्य—निरवद्यानुष्ठानरूपस्य संयमस्य खेदज्ञ , यश्चाशस्त्रस्य सयमस्य खेदज्ञ स पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञ । इदमुक्तं भवति—य' शब्दादिपर्यायानिष्टानिष्टात्मकान् तत्प्राप्तिपरिहारानुष्ठान च शस्त्रभूत वेत्ति सोऽनुपघातकत्वात्संयममप्यशस्त्रभूतमात्मपरोपकारिण वेत्ति शस्त्राशस्त्रे च जानानस्तत्प्राप्तिपरिहारौ विधत्ते, एतत्फलत्वात् ज्ञानस्येति । यदिवा-शब्दादिपर्यायेभ्यस्तज्जनितरागद्वेषपर्यायेभ्यो वा जात यज्ज्ञानावरणीयादि कर्म तस्य यच्छस्त्र दाहकत्वात् तपस्तस्य य खेदज्ञ' तज्ज्ञानानुष्ठानत सोऽशस्त्रस्य सयमस्यापि खेदज्ञ , पूर्वोक्तादेव हेतो , हेतुहेतुमद्भावाच्च यो ऽशस्त्रस्य खेदज्ञ स पर्यवजातशस्त्रस्यापि खेदज्ञ इति, तस्य च सयमतप खेदज्ञस्यास्रवनिरोधाद्नादिभवोपात्तकर्मक्षय । कर्मक्षयाच्च यद्भवति तद्दर्शयति—(आचा०) ' कम्मुणा ' इत्यादि , उपाधीयते—व्यपदिश्यते येनेत्युपाधि —विशेषण स उपाधि कर्मणा—ज्ञानावरणीयादिना जायते, तद्यथा—मतिश्रुतावधिमन पर्यायवान् मन्दमतिस्तीक्ष्णा वेत्यादि, चक्षुर्दर्शनी अचक्षुर्दर्शनी निद्रालुरित्यादि, सुखी दु खी वेति, मिथ्यादृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि स्त्री पुमान्नपुंसक कषायीत्यादि, सोपक्रमायुष्को निरुपक्रमायुष्कोऽल्पायुरित्यादि , नारक तिर्यग्योनिक-एकेन्द्रियो द्वीन्द्रिय पर्याप्तकोऽपर्याप्तक सुभगो दुर्भग इत्यादि, उच्चैर्गोत्रो नीचैर्गोत्रो वेति, कृपणस्त्यागी निरुपभोगो निर्वीर्य , इत्येवं कर्मणा संसारी व्यपदिश्यते । यदि नाम्नैव तत किं कर्त्तव्यमित्याह—'कम्म च' इत्यादि, कर्म—ज्ञानावरणीयादि तत्प्रत्युपेक्ष्य बन्ध वा प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मक पर्यालोच्य, तत्सत्ताविपाकाश्चांश्च प्राणिनो यथा भावनिद्रया शेरत तथाऽवगम्य कर्मक्षतोपाय भावजागरणे यतितव्यमिति । तदभावश्चानेन प्रक्रमेण भवति, तद्यथा—अष्टविधसत्कर्मापूर्वादिकरणक्षपकश्रेणिप्रक्रमेण मोहनीयक्षय विधायान्तर्मुहूर्त्तमजघन्योत्कृष्ट काल सप्तविधसत्कर्म्मा , तत शेषघातित्रये क्षीणे चतुर्विधभवोपग्राहिसत्कर्म्मा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशोना पूर्वकोटिं यावत् , पुनरूर्द्ध पञ्चह्रस्वाक्षरोद्गिरणकालीया शैलेश्यवस्थामनुभूयाऽकर्म्मा भवति । साम्प्रमुत्तरप्रकृतीना सदसत्कर्मताविधानमुच्यते-तत्र ज्ञानावरणीयान्तराययो प्रत्येकमुपात्तपञ्चभेदयोश्चतुर्दशस्वपि जीवस्थानकेषु गुणस्थानकेषु च मिथ्यादृष्ट्यारभ्य केवलिगुणस्थानादारतोऽपरविकल्पाभावात् पञ्चविधसत्कर्मता दर्शनावरणस्य त्रीणि सत्कर्म-

स्थानानि, तद्यथा-नवविधं निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयसमन्वयात् एतत् सर्वजीवस्थानानुयायि,, गुणस्थानेष्वप्यानिवृत्तिबादरकालसङ्ख्येयभागान् यावत् १, ततः कतिपयसंख्येयभागावसाने स्त्यानर्द्धित्रयक्षयात् षट्सत्कर्मतास्थान २, ततः क्षीणकषायद्विचरमसमये निद्राप्रचलाद्वयक्षयाच्चतु सत्कर्मतास्थान, तस्यापि क्षयः क्षीणकषायकालान्त इति ३। वेदनीयस्य द्वे सत्कर्मतास्थाने, तद्यथा-द्वे अपि सातासाते इत्येकम्,अन्यतरोदयारूढशैलेश्यवस्थेनरद्विचरमक्षणक्षये सति सातमसातं वा कर्मेति द्वितीयम् २। मोहनीयस्य पञ्चदश सत्कर्मतास्थानानि, तद्यथा-षोडश कषाया नव नोकषाया दर्शनत्रये सति सम्यग्दृष्टेरष्टाविंशति.१, सम्यक्त्वोद्वलने सम्यग्मिथ्यादृष्टेः सप्तविंशति. २,, दर्शनद्वयोद्वलनेऽनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशति ३,सम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्ध्युद्वलने क्षपणे वा चतुर्विंशति, ४, मिथ्यात्वक्षये त्रयोविंशति. ५, सम्यग्मिथ्यात्वक्षये द्वाविंशतिः ५, क्षायिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशति. ७, अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्षये त्रयोदश ८, अन्यतरवेदक्षये द्वादश ९, द्वितीयवेदक्षये सत्येकादश १०, हास्यादिषट्कक्षये पञ्च ११, पुंवेदाभावे चत्वारि १२, संज्वलनक्रोधक्षये त्रय. १३, मानक्षये द्वौ १४, मायाक्षये सत्येको लोभः १५, तत्क्षये च मोहनीयासत्तेति। आयुषो द्वे सत्कर्मतास्थाने सामान्येन, तद्यथा-परभवायुष्कबन्धोत्तरकालमायुष्कद्वयमेकम्१,द्वितीयं तु तद्बन्धाभाव इति। नाम्नो द्वादश सत्कर्मतास्थानानि,तद्यथा-त्रिनवतिः १ द्विनवति. २ एकोननवति. ३ अष्टाशीति.४ षडशीति. ५ अशीति. ६ एकोनाशीतिः ७ अष्टसप्तति. ८ षट्सप्तति. ९ पञ्चसप्तति. १० नव ११ अष्टौ १२ चेति, तत्र त्रिनवति —गतयश्चतस्र. ४ पञ्च जातय. ५ पञ्च शरीराणि ५ पञ्च सङ्घाता. ५ बन्धनानि पञ्च ५ संस्थानानि षट् ६ अङ्गोपाङ्गत्रय ३ संहननानि षट् ६ वर्णपञ्चकं ५ गन्धद्वयं २ रसा. पञ्च ५ अष्टौ स्पर्शा. ८ आनुपूर्वीचतुष्टयम् ४ अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासातपोद्योता. षट् ६ प्रशस्तेतरविहायोगतिद्वय २ प्रत्येकशरीरत्रसशुभसुभगसुस्वरसूक्ष्मपर्याप्तकस्थिरादेययशांसि सेतराणीति विंशतिः २० निर्माणं तीर्थकरत्वमित्येवं सर्वसमुदाये त्रिनवतिर्भवति ९३, तीर्थकरनामाभावे द्विनवति. ९२, त्रिनवतेराहारकशरीरसङ्घातबन्धनाङ्गोपाङ्गचतुष्टयाभावे सत्येकोननवति. ८९, ततोऽपि तीर्थकरनामाभावेऽष्टाशीतिः ८८, देवगतितदानुपूर्वीद्वयोद्वलने षडशीति. ८६, यदिवा-अशीति सत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतः तद्गत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रियचतुष्कबन्धकस्य षडशीतिः, देवगतिप्रायोग्यबन्धकस्य वेति ततो नरकगत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रियचतुष्टयोद्वलनेऽशीति.८०, पुनर्मनुष्यगत्यानुपूर्वीद्वयोद्वलनेऽष्टसप्ततिः ७८, एतान्यक्षपकाणां सत्कर्मतास्थानानि। क्षपकश्रेण्यन्तर्गतानां तु प्रोच्यन्ते, तद्यथा-त्रिनवतेर्नरकतिर्यग्गतितदानुपूर्वीद्वयैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणरूपैर्नरकतिर्यग्गतिप्रायोग्यैस्त्रयोदशभि. १३ कर्मभि. क्षपितैरशीतिर्भवति, द्विनवतेस्त्वेभिस्त्रयोदशभि. क्षपितैरेकोनाशीतिः, याऽसावाहारकचतुष्टयापगमेनैकोननवति. सञ्जाता ततस्त्रयोदशनाम्नि क्षपिते षट्सप्ततिर्भवति, तीर्थकरनामाभावापादिताऽष्टाशीति, अष्टाशीतेस्त्रयोदशनामाभावे पञ्चसप्ततिः, तस्याशीतेः षट्सप्ततेर्वा तीर्थकरकेवलिशैलेश्यापन्नद्विचरमसमये तीर्थकरनाम्नः प्रक्षेपात् वेद्यमाननवकर्मप्रकृतिव्युदासेन क्षयमुपगते शेषनाम्नि अन्त्यसमये नवसत्कर्मतास्थानं, ताश्च वेद्यमाना नवेमाः, तद्यथा—मनुजगति १ पञ्चेन्द्रियजाति २ त्रस ३ बादर ४ पर्याप्तक ५ शुभगादेय ६-७ यशःकीर्त्ति ८ तीर्थकररूपाः ९, एता एव शैलेश्यन्त्यसमये सत्तां बिभ्रति, शेषास्तु एकसप्ततिः सप्तषष्टिर्वा द्विचरमसमये क्षयमुपयान्ति, एता एव नव अतीर्थकरकेवलिनस्तीर्थकरनामरहिता अष्टौ भवन्ति, अतोऽन्त्यसमयेऽष्टसत्कर्मतास्थानमिति। सामान्येन गोत्रस्य द्वे सत्कर्मतास्थाने, तद्यथा—उच्चनीचगोत्रसद्भावे सत्येकं सत्कर्मतास्थानं, तेजोवायूच्चैर्गोत्रोद्वलने कालंकलीभावावस्थायां नीचैर्गोत्रसत्कर्मतेति द्वितीयं, यदिवा—अयोगिद्विचरसमये नीचैर्गोत्रक्षये सत्युच्चैर्गोत्रसत्कर्मता, एवं द्विरूपगोत्राऽवस्थाने सत्येकं सत्कर्मतास्थानमन्यतरगोत्रसद्भावे सति द्वितीयमित्येव- कर्म प्रत्युपेक्ष्य तत्क्षपणाय यतिना यतितव्यमिति।

किं च—

कम्ममूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मेहावी परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि। (सू०११०)

कर्मणो मूलं-कारणं मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः, चः समुच्चये, कर्ममूल च प्रत्युपेक्ष्य यत्क्षण—मिति 'क्षणु' हिंसायां, क्षणन—हिंसनं यत्किमपि प्राण्युपघातकारि तत् कर्ममूलतया प्रत्युपेक्ष्य परित्यजत्। पाठान्तरं वा 'कम्ममाहूय जं छण' य उपादानक्षणोऽस्य कर्मणः तत्क्षणं कर्माहूय-कर्मोपादाय तत्क्षणमेव निवृत्तिं कुर्याद्। इदमुक्तं भवति-अज्ञानप्रमादादिना यस्मिन्नेव क्षणे कर्महेतुकमनुष्ठानं कुर्यात्तस्मिन्नेव क्षणे लब्धचेता तदुपादानहेतोर्निवृत्तिं विदध्यादिति। पुनरप्युपदेशदानायाह –'पडिलेहिअ' इत्यादि,प्रत्युपेक्ष्य, पूर्वोक्तं कर्म तद्विपक्षमुपदेशं च सर्वं समादाय-गृहीत्वा अन्तहेतुत्वादन्तौ—रागद्वेषौ ताभ्यां सहादृश्यमान ताभ्यामनपदिश्यमानो वा तत्कर्म तदुपादानं वा रागादिकं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति रागादिमोहितं लोकं विषयकषायलोकं वा ज्ञात्वा वान्त्वा च लोकसंज्ञां-विषयपिपासालक्षितां धनाग्रहरूपां वा स—मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः सन् पराक्रमेत—संयमानुष्ठाने उद्युक्तो भवेत् विषयपिपासामरिषड्वर्गं वाऽष्टप्रकारं वा कर्माविष्टभ्याद्। इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्। इति शीतोष्णीयाध्ययनप्रथमोद्देशकटीका समाप्ता।

उक्त. प्रथमोद्देशकः। साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, पूर्वोद्देशके भावसुप्ताः प्रदर्शिताः, इह तु तेषां स्वापविपाकफलमसातमुच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्—

**जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज ! पासे, भूएहिं जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जे परमं ति णच्चा, संमत्तदंसी न करेइ पावं।१॥**

श्चापूर्वकरणचरमसमये बन्धोपरमात्पञ्चविध ६, ततोऽनिवृत्तिकरणसङ्ख्येयभागावसाने पुवेदबन्धोपरमाच्चतुर्विध ७, ततोऽपि तस्मिन्नेव सङ्ख्येयभागे क्षयमुपगच्छति सति क्रोधमानमायालोभसञ्ज्वलनाना क्रमेण बन्धोपरमात् त्रिविध ८ द्विविध ९ मेकविधं १० चेति, तस्याप्यनिवृत्तिकरणचरमसमये बन्धोपरमान्मोहनीयस्याबन्धक. । आयुष. सामान्येनैकविधं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यतरत्, द्वयादर्यौगपद्येन बन्धाभावो विरोधादिति । नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि,तद्यथा—त्रयोविंशतिस्तिर्यग्गतिप्रायोग्य बध्नतस्तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शास्तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी अगुरुलघूपघात स्थावर बादरसूक्ष्मयोरन्यतरदपर्याप्तक प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरत् अस्थिर अशुभम दुर्भगम् अनादेयम् अयश कीर्त्तिर्निर्माणमिति,इयमेकेन्द्रियापर्याप्तकप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टेर्भवति १, इयमेव पराघातोच्छ्वाससहिता पञ्चविंशति, नवरमपर्याप्तकस्थाने पर्याप्तकमेव वाच्यम् २.इयमेव चातपोद्योतान्यतरसमन्विता षड्विंशति, नवरं बादरप्रत्येक एव वाच्य ३, तथा देवगतिप्रायोग्य बध्नतोऽष्टाविंशति, तथाहि—देवगति १ पञ्चेन्द्रियजाति २ वैक्रिय ३ तैजस ४ कार्म्मणानि ५ शरीराणि समचतुरस्रम्६अङ्गोपाङ्गम्७वर्णादिचतुष्टयम्११आनुपूर्वी १२ अगुरुलघू १३ पघात १४ पराघात १५ च्छ्वासा. १६ प्रशस्तविहायागति १७त्रसम्१८बादरम्१९पर्याप्तकम् २०प्रत्येकम् २१ स्थिरास्थिरयोरन्यतरत् २२ शुभाशुभयोरन्यतरत् २३ सुभगम् २४ सुस्वरम् २५ आदेयम् २६ यश.कीर्त्त्ययश कीर्त्त्योरन्यतरत् २७ निर्माणमिति २८, एषैव तीर्थंकरनामसहिता एकोनत्रिंशत्, साम्प्रत त्रिंशत्–देवगति. १ पञ्चेन्द्रियजाति २ वैक्रिया ३ हारका ४ङ्गोपाङ्ग ५-६ चतुष्टयम् तैजस ७ कार्म्मण ८ संस्थानमाद्यम् ९ वर्णादिचतुष्कम्१३आनुपूर्वी १४ अगुरुलघू ५ पघातम् १६पराघातम १७ उच्छ्वासम् १८ प्रशस्तविहायागति १९ त्रसम्२०बादरम्२१पर्याप्तकम्२२प्रत्येकम् २३ स्थिरम्२४शुभम् २५सुभगम् २६ सुस्वरम्२७आदेयम्२८ यश कीर्त्ति २९ निर्माण ३० मिति च बध्नत एकं बन्धस्थानम ६, एषैव त्रिंशत्तीर्थंकरनामसहिता एकत्रिंशत् ७, एतेषा च बन्धस्थानानामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियनरकगत्यादिभेदेन बहुविधता कर्मग्रन्थादवसेया अपूर्वकरणादिगुणस्थानकत्रये देवगतिप्रायोग्यबन्धोपरमाद्यश कीर्त्तिमेव बध्नत. एकविध बन्धस्थानमिति ८,तत ऊर्ध्वं नाम्नो बन्धाभाव इति । गोत्रस्य सामान्येनैक बन्धस्थानं—उच्चनीचयोरन्यतरत् । यौगपद्येनोभयोर्बन्धाभावो विरोधादिति । तदेव बन्धस्थानं जगतो बहुत्वमाविष्टित कर्मणा, तच्च बहु [illegible] प्रकट वा. तत्स्वार्थप्रदर्शनात्, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा वदेव तत्कर्म ।

[illegible] कर्त्तव्यमित्याह—

सव्वंसि चिरं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्म झोसइ । (सू० ११२)

[illegible] भूति पुरुष, सत्या वा [illegible] अत्र भग [illegible] पुरुषार्थमिति [illegible]

वरए' इत्यादि, अत्र-अस्मिन् सयमे भगवद्वचसि वा उप-आभीप्येन रतो-व्यवस्थितो मेधावी-तत्त्वदर्शी सर्वम्—अशेषं पापं कर्म्म संसारार्णवपरिभ्रमणहेतुं झोषयति—शोषयति क्षयं नयतीति यावत् । उक्तोऽप्रमाद । तत्प्रत्यनीकस्तु प्रमाद । तेन च कषायादिप्रमादेन प्रमत्तः किंगुणो भवतीत्याह—

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पुरित्तए, से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरियावाए जणवयपरिग्गहाए । (सू० ११३)

अनेकानि चित्तानि कृषिवाणिज्यावलगनादीनि यस्यासावनेकचित्त, खलुरवधारणे, संसारसुखाभिलाष्यनेकचित्त एव भवति, ' अय पुरुष' इति प्रत्यक्षगोचरीभूत. संसार्यपदिश्यते, अत्र च प्रागुपन्यस्तदधिघटिकया कपिलदरिद्रेण च दृष्टान्तो वाच्य इति । यश्चानेकचित्तो भवति स किं कुर्यादित्याह—'से केयण' मित्यादि, द्रव्यकेतनं चालिनी परिपूर्णकः समुद्रो वेति, भावकेतनं लोभेच्छा तदसावनेकचित्त. केतनाप्यक्षूनपूर्णं पूरयितुमर्हति, अर्थितया शक्याशक्यविचारात्तमोऽशक्यानुष्ठानेऽपि प्रवर्त्तेत इत्युक्त भवति । स च लोभेच्छापूरणव्याकुलितमति किं कुर्यादित्याह— से अण्णवहाए' इत्यादि, स लोभपूरणप्रवृत्तोऽन्येषां प्राणिना वधाय भवति, तथाऽन्येषां शारीरमानसपरितापनाय, तथाऽन्येषां द्विपदचतुष्पदादीना परिग्रहाय, जनपदे भवा जानपदा. कालपृष्ठादयो राजादयो वा तद्वधाय, मगधादिजनपदा वा तद्वधाय, तथा जनपदाना लोकानां परिवादाय—दस्युरय पिशुनो वेत्येवं मर्मोद्घट्टनाय, तथा जनपदाना—मगधादीना परिग्रहाय, प्रभवतीति सर्वत्राध्याहार ।

किं य एते लोभप्रवृत्ता वधादिका क्रिया कुर्वन्ति ते तथाभूता एवासते उतान्यथाऽपीति दर्शयति—

आसेवित्ता एतं (वं) अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवे, निस्सारं पासिय नाणी, उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से न छणे न छणावए छणंतं नाणुजाणइ, निव्विद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं । (सू० ११४)

एवम्-अनन्तरोक्तम र्थमन्यव धपरिग्रहपरितापनादिकमासेव्य इत्येवेति लोभेच्छाप्रतिपूरणायैव एके भरतराजादय. समुत्थिता -सम्यग्योगत्रिकेणोत्थिता सयमानुष्ठानेनोत्थितास्तेनैव भवेन सिद्धिमासादयन्ति । सयमसमुत्थानेन च समस्तान् कामभोगान् हिंसादीनि चास्रवद्वाराणि हित्वा किं विधेयमित्याह— तम्हा' यस्माद्वान्तभोगतया कृतप्रतिज्ञस्तस्माद्भोगाभिलाषुकतया न द्वितीय मृषावादमसयम वा नासेवेत । विषयाऽसयम सेवेत न च विषया नि सारा इति दर्शयति— 'निस्सार' इत्यादि सारं [illegible] विषयगणस्य तत्प्राप्ता तृप्तिरलब्धावाप्ति सारस्त दृष्ट्वा ज्ञानी-तत्त्ववेदी न विषयाभिलाषं विदध्यात् न केवलं मनुष्याणां देवानामपि विषयनुषाक्तदर्शनान्न जीवितमिति च दर्शयति—'उववाय चवणं णच्चा' उपपातं-जन्म च्यवनं—पातसत्त्व ज्ञात्वा न विषयसङ्गोऽमुत्र भवेदिति, यतो नि सारा विषयग्राम समस्त ससारा

थेति, अथ तावन्निश्चयनयाभिप्रायो व्यवहाराभिप्रायेण सूच्यते-यो हि सम्यग्दृष्टिरन्निमपञ्चग्रहप्रवचनभारस्तद्वहने प्रमाद्यन्नप्यपरसमानसाधुलज्जया गुर्वाद्यासत्यभयेन गौरवेण वा केनचिदाधाकर्मादि परिहरन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रिया करोति। यदि च—तीर्थोद्भासनाय मासक्षपणातापनादिका जनविज्ञाताः क्रिया करोति, तत्र तस्य मुनिभाव एव कारणं तद्व्यापारापादितपारम्पर्यशुभाध्यवसायोपपत्तेः। तदेव शुभान्तःकरणव्यापारविकलस्य मुनित्वे सदसद्भावः प्रदर्शितः।

कथं तर्हि नैश्चयिका मुनिभाव इत्यत आह—

समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए (आचा०)-विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा महया खुड्डएहि य। (सू० १६+)

समभावः समता ता तत्रोत्प्रेक्ष्य—पर्यालोच्य समताव्यवस्थितो यद्यत्करोति येन केनचित्प्रकारेणानेषणीयपरिहरणं लज्जादिना जनविदितं चोपवासादि तत्सर्वं मुनिभावकारणमिति, यदिवा समयम्—आगमं तत्रोत्प्रेक्ष्य यदामोक्षविधिनाऽनुष्ठानं तत्सर्वं मुनिभावकारणमिति भावार्थः। तेन चागमोत्प्रेक्षणेन समतोत्प्रेक्षया वाऽऽत्मानं विप्रसादयेद्—विविधं प्रसादयेदागमपर्यालोचनेन समतादृष्टया वा आत्मानं विविधैरुपायैरिन्द्रियप्रणिधानाप्रमादादिभि प्रसन्नं विदध्याद्। आत्मप्रसन्नता च संयमस्थस्य भवति।(आचा०)
"आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्य-स्यादाहारः प्राणसन्धारणार्थम्। प्राणा धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनाय,तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात्॥ १॥" सैवात्मगुप्तता कथं स्यादिति चेदाह—'विराग मित्यादि, विरञ्जन विरागस्तं विराग रूपेषु मनोज्ञेषु चक्षुर्गोचरीभूतेषु गच्छेद्—यायात्, रूपमतीवाऽऽक्षेपकारी अतो रूपग्रहणम्, अन्यथा शेषविषयेष्वपि विराग गच्छेदित्युक्तं स्यात्। महता—दिव्यभावेन यद्व्यवस्थितं रूपं क्षुल्लकेषु वा मनुष्यरूपेषु सर्वत्र विराग कुर्यादिति। अथवा-दिव्यादि प्रत्येक महत् क्षुल्लं चेति क्रिया पूर्ववत्। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-"विसयम्मि पंचगम्मि वि,दुविहम्मि तियं तियं। भावओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसु वि॥ १॥" शब्दादिविषयपञ्चकेऽपि इष्टानिष्टरूपतया द्विविधे हीनमध्यमोत्कृष्टभेदमित्येतत् भावतः परमार्थतः सुष्ठु ज्ञात्वा स मुनिः पापेन कर्मणा द्वाभ्यामपि रागद्वेषाभ्यां न लिप्यते, तदकरणादिति भावः। (आचा०।)

स्यात्-किमालम्ब्यैतत्कर्त्तव्यमित्याह—

"सव्वं हासं परिच्चज्ज, आलीणगुत्तो परिव्वए। पुरिसा!-तुममेव तुमं, किं बहिया मित्तमिच्छसि? ॥ १ ॥" (सू० ११७×)

पुनरप्युपदेशदानायाह—'सव्व' मित्यादि, सर्वं हास्यं तदास्पदं वा परित्यज्य आङ् मर्यादयेन्द्रियनिरोधादिकया लीनः आलीनो गुप्तो मनोवाक्कायकर्मभिः कूर्मवद् वा-संवृतगात्र आलीनश्चासौ गुप्तश्चालीनगुप्तः स एवम्भूतः परि—समन्ताद् व्रजेत् परिव्रजेत्—संयमानुष्ठानविधायी भवेदिति। तस्य च मुमुक्षोरात्मसामर्थ्यात् संयमानुष्ठानं फलवद्भवति न परोपरोधेनेति दर्शयति—'पुरिसा' इत्यादि, यदिवा-त्यक्तगृहपुत्रकलत्रधनधान्यहिरण्यादितया अकिञ्चनस्य समतृणमणिमुक्तालेष्टुकाञ्चनस्य मुमुक्षोरुपसर्गव्याकुलितमतेः कदाचिन्मित्राद्याशंसा भवेत्तदपनोदार्थमाह—'पुरिसा' इत्यादि, पूर्णः सुखदुःखयो पुरि शयनाद्वा पुरुषो—जन्तुः, पुरुषस्यामन्त्रणं तु पुरुषस्यैवोपदेशार्हत्वात्तदनुष्ठानसमर्थत्वाच्चेति कश्चित्ससारोद्विग्नो विषमस्थितो वाऽऽत्मानमनुशास्ति, परेण वा साध्वादिनाऽनुशास्यते—यथा हे पुरुष!-हे जीव! त्वं सदनुष्ठानविधायित्वात्त्वमेव मित्र, विपर्ययात्त्वामित्र', किमिति बहिर्मित्रमिच्छसि?—मृगयसे, यतो ह्युपकारि मित्रं, स चोपकारः पारमार्थिकात्यन्तिकैकान्तिकगुणोपेतं सन्मार्गपतितमात्मानं विहाय नान्येन शक्यो विधातुं, योऽपि संसारसाहाय्योपकारितया मित्राभासाभिमानस्तन्मोहविजृम्भितम्, यतो महाव्यसनोपनिपाताऽर्णवपतनहेतुत्वादमित्र एवासौ। इदमुक्तं भवति-आत्मैवात्मनोऽप्रमत्तो मित्रम्, आत्यन्तिकैकान्तिकपरमार्थसुखोत्पादनात्, विपर्ययात्त्व विपर्ययो, न बहिर्मित्रमन्वेषणीयमिति, यस्त्वयं बाह्यो मित्रामित्रविकल्पः सोऽदृष्टोदयनिमित्तत्वादौपचारिक इति, उक्तं हि " दुप्पत्थिओ, अमित्तं, अप्पा सुपत्थिओ अ ते मित्तं। सुहदुक्खकारणाओ, अप्पा मित्तं अमित्तं च ॥ १ ॥" तथा-" अप्येकं मरणं कुर्यात्, संक्रुद्धो बलवानरिः। मरणानि त्वनन्तानि, जन्मानि च करोत्ययम्॥ १॥ "

यो हि निर्वाणनिर्वर्त्तकं व्रतमाचरति स आत्मनो मित्रम्। च चैवम्भूतः कुतोऽवगन्तव्यः? किंफलश्चेत्याह—

जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं, पुरिसा! अत्ताणमेवं अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा! (आचा०) सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ। (सू० ११८×)

यं-पुरुषं जानीयात्—परिच्छिन्द्यात्कर्मणां विषयसङ्गानां चोच्चालयितारम्-अपनेतारं तं जानीयाद् दूरालयिकमिति-दूरं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यालयो दूरालयः—मोक्षस्तन्मार्गो वा स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन् दूरालयिकस्तमिति। हेतुहेतुमद्भाव दर्शयितु गतप्रत्यागतसूत्रमाह-'ज जाणिज्जे' त्यादि, यं जानीयाद् दूरालयिकं तं जानीयादुच्चालयितारमिति। एतदुक्तं भवति-यो हि कर्मणां तदास्रवद्वाराणां चोच्चालयिता-अपनेता स मोक्षमार्गव्यवस्थितो मुक्तो वेति, यो वा सन्मार्गानुष्ठायी स कर्मणामुच्चालयितेति, स च आत्मनो मित्रमतोऽपदिश्यते-'पुरिसा' इत्यादि, हेजीव! आत्मानमेवाऽभिनिगृह्य धर्मध्यानाद्बहिर्विषयाभिष्वङ्गाय निःसरन्तमवरुध्य तत एवम्-अनेन प्रकारेण दुःखात्सकाशादात्मानं प्रमोक्ष्यसि। एवमात्मा कर्मणाम् उच्चालयिताऽऽत्मनो मित्रं भवति। अपि च-'पुरिसा' इत्यादि, ('सव्व' मित्यादि 'सव्व' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्।) किं च-'सही' त्यादि, सहितो-ज्ञानादयुक्तः सह हितेन वा युक्तः सहितः धर्मं-श्रुतचारित्राख्यम् आदाय-गृहीत्वा, किं करोतीत्याह-श्रेयः-पुण्यमात्महितं वा सम्यग्-अविपरीततयाऽनुपश्यति समनुपश्यति।

उक्तोऽप्रमत्तः तद्गुणाश्च, तद्विपर्ययमाह-

दुहओ जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जंसि एगे पमायंति। (११६)

द्विधा-रागद्वेषप्रकारद्वयेनात्मपरनिमित्तमैहिकामुष्मिकार्थं वा, यद्वा-द्वाभ्यां-रागद्वेषाभ्यां हतो द्विहतो दुष्टं हतो वा दुर्हतः, स किं कुर्याद् ?-जीवितस्य कदलीगर्भनिःसारस्य तडिल्लतासमुल्लसितचञ्चलस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्त्तते, परिवन्दनं-परिसंस्तवस्तदर्थमाचेष्टते, लावकादिमांसोपभोगपुष्टं सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दरमालोक्य मां जना सुखमेव परिवन्दिष्यन्त, श्रीमान् जीयास्त्वं बहूनि वर्षशतसहस्राणीत्येवमादि परिवन्दनं, तथा माननार्थं कर्म्मोपचिनोति, दृष्टौ रसबलपराक्रम मामन्येऽभ्युत्थानविनयासनदानाञ्जलिप्रग्रहैर्मानयिष्यन्तीत्यादि मानन, तथा पूजनार्थमपि प्रवर्त्तमाना कर्मास्रवैरात्मानं भावयन्ति, मम हि कृतविभवस्योपचितद्रव्यप्राग्भारस्य परो दानमानसत्कारप्रणामसेवाविशेषै पूजां करिष्यतीत्यादि पूजनं, तदेवमर्थं कर्मोपचिनोति । किं च- 'जंसि एगे' इत्यादि, यस्मिन् परिवन्दनादिनिमित्ते एके रागद्वेषोपहता प्रमाद्यन्ति, न ते आत्मने हिता. ।

एतद्विपरीत त्वाह-

महिश्रो दुक्खमत्ताए, पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओ मुच्चइ त्ति बेमि ।(१२०)

सहितो-ज्ञानादिसमन्वितो हितयुक्तो वा दुःखमात्रया उपसर्गजनितया व्याध्युद्भवया वा स्पृष्ट सन् 'नो झंझाए' त्ति-नो व्याकुलितमतिर्भवेत्, तदपनयनाय नोद्यच्छेद्, इष्टविषयावाप्तौ रागझञ्झा, अनिष्टावाप्तौ च द्वेषझञ्झेति.तामुभयप्रकारामपि व्याकुलतां परित्यजेदिति भाव । किं च- 'पासिम' मित्यादि, यदुक्तमुद्देशकादेरारभ्यानन्तरसूत्रं यावत् तमिममर्थं पश्य-परिच्छिन्धि कर्तव्याकर्तव्यतया विवेकेनावधारय, कोऽसौ ?-द्रव्यभूतो-मुक्तिगमनयोग्य, साधुरित्यर्थ । एवंभूतश्च क गुणमवाप्नोति ?-आलोक्यत इत्यालोक, कर्म्मणि घञ्, लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके आलोको लोकालोकस्तस्य प्रपञ्च -पर्याप्तकापर्याप्तकसुभगादिद्वन्द्वविकल्प, तद्यथा-नारको नारकत्वेनावलोक्यते, एकेन्द्रियादिरेकेन्द्रिय(यादि)त्वेन एव पर्याप्तकापर्याप्तकाद्यपि वाच्य, तदेवम्भूतात्प्रपञ्चान्मुच्यते चतुर्दशजीवस्थानान्यतरव्यपदेशार्हो न भवतीति यावद् । इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति शीतोष्णीयाध्ययने तृतीयोद्देशकटीका समाप्ता ।

उक्तस्तृतीयोद्देशक, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्ध.-इहानन्तरोद्देशके पापकर्माकरणतया दुःखसहनादेव केवलाच्छ्रमणो न भवतीति अपि तु निष्प्रत्यूहसंयमानुष्ठानादित्येतत्प्रतिपादितं, निष्प्रत्यूहता च कषायवमनाद्भवति, तदधुना प्रागुद्देशार्थाधिकारनिर्दिष्टं प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्-

से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं; उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्भि । (सू० १२१)

स-ज्ञानादिमहितो दुःखमात्रास्पृष्टोऽव्याकुलितमतिर्द्रव्यभूतो लोकालोकप्रपञ्चात् मुक्तदेश्य स्वपरापकारिण क्रोधं वमिता' टुवम् उद्गिरणे' इत्यस्मात्ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे च षष्ठया' प्रतिषेधे क्रोधशब्दाद् द्वितीया,लुडन्तं वैतत्, यो हि यथोक्तसंयमानुष्ठायी सोऽचिरात् क्रोधं वमिष्यति, 'एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवमायोज्यम् ।तत्राऽऽत्माऽऽत्मीयोपघातकारिणि क्रोधकर्म्मविपाकोदयात्क्रोध, जातिकुलरूपबलादिसमुत्थो गर्वो मान, परवञ्चनाध्यवसायो माया, तृष्णापरिग्रहपरिणामो लोभ, क्षपणोपशमक्रममाश्रित्य च क्रोधादिक्रमोपन्यास., अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनस्वगतभेदाविर्भावनाय व्यस्तनिर्देश, 'च' शब्दस्तु पर्वतपृथ्वीरेणुजलराजिलक्षणलक्षक. क्रोधस्य, शैलस्तम्भास्थिकाष्ठतिनिशलतालक्षणलक्षको मानस्य, वंशकुडङ्गमेषशृङ्गगोमूत्रिकाऽवलेखकलक्षणलक्षको मायाया, कृमिरागकर्दमखञ्जनहरिद्रालक्षणसूचको लोभस्य,तथा यावज्जीवसंवत्सरचातुर्मासपक्षस्थित्याविर्भावकश्चेति ।तदेवं क्रोधमानमायालोभवमनादेव पारमार्थिकं श्रमणभावो,न तत्सम्भवे सति,यत उक्तम्-'सामन्नमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा हुंति ।मन्नामि उच्छुपुप्फं,व निप्फलं तस्स सामन्नं ॥१॥ जं अज्जिअं चरित्तं,देसूणाए वि पुव्वकोडीए । तं पि कसाइयमेत्तो,हारइ नरो मुहुत्तेण ॥ २ ॥" । स्वमनीषिकापरिहारार्थं गौतमस्वाम्याह—'एय' मित्यादि, एतद्—यत्कषायवमनमनन्तरमुपादेशि तत् पश्यकस्य दर्शनं—सर्वं निरावरणत्वात्पश्यति-उपलभत इति पश्य स एव पश्यक —तीर्थकृत् श्रीवर्द्धमानस्वामी तस्य दर्शनम्—अभिप्राय:, यद्वा-दृश्यते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्-उपदेशो, न स्वमनीषिका । किम्भूतस्य पश्यकस्य दर्शनमित्याह—'उवरय' इत्यादि, उपरत द्रव्यभावशस्त्रं यस्यासावुपरतशस्त्र शस्त्राद्वोपरत शस्त्रोपरत, भावशस्त्रं त्वसंयम कषाया वा, तस्मादुपरत । इदमुक्तं भवति-तीर्थकृतोऽपि कषायवमनमृते न निरावरणसकलपदार्थग्राहिपरमज्ञानावाप्ति, तदभावे च सिद्धिवधूसमागमसुखाभाव, एवमन्येनापि मुमुक्षुणा तदुपदेशवर्त्तिना-तन्मार्गानुयायिना कषायवमन विधेयमिति । शस्त्रोपरमकार्यं दर्शयन् पुनरपि तीर्थकरविशेषणमाह—'पलियंतकरस्स' पर्यन्त कर्म्मणा संसारस्य वा करोति तच्छीलश्चेति पर्यन्तकरस्तस्यैतद् दर्शनमिति सण्टङ्क' । यथा च तीर्थकृत् संयमापकारिकषायशस्त्रोपरमात्कर्म्मपर्यन्तकृदेवमन्योऽपि तदुक्तानुसारीति (आचा०) तीर्थकरोपदेशनापि परकृतकर्म्मक्षपणोपायाभावात् स्वकृतग्रहण, तीर्थकरेणापि परकृतकर्म्मक्षपणोपायो न व्यज्ञायीति चेत्, तन्न, तज्ज्ञानस्य सकलपदार्थसत्ताव्यापित्वेनावस्थानात् ।

ननु च हेयोपादेयपदार्थहानोपादानोपदेशज्ञोऽसौ न सर्वज्ञ, इति सङ्गिरामहे,एतावतैव परोपकारकर्तृत्वेन तीर्थकरत्वोपपत्ते, तदेतन्न सतां मनांस्यानन्दयति, युक्तिविकलत्वात्, यतः सम्यग्ज्ञानमन्तरेण हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेशासम्भवो यथावस्थितैकपदार्थपरिच्छेदश्च न सर्वज्ञतामन्तरेणेति. दर्शयितुमाह—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ । (सू० १२२)

य.-कश्चिदविशेषित एकं—परमाण्वादि द्रव्यं पश्चात्-
पुरस्कृतपर्यायं स्वपरपर्यायं वा जानाति—परिच्छिनत्ति
स सर्वं स्वपरपर्यायं जानाति, अतीतानागतपर्यायिद्रव्य-
परिज्ञानस्य समस्तवस्तुपरिच्छेदाविनाभावित्वाद् । इदमेव
हेतुहेतुमद्भावेन लगयितुमाह—' जे सव्व ' मित्यादि , य
सर्वं संसारोदरविवरवर्त्ति वस्तु जानाति स एकं घटादि
वस्तु जानाति, तस्यैवातीतानागतपर्यायभेदैस्तत्तत्स्वभा-
वापत्त्याऽनाद्यनन्तकालतया समस्तवस्तुस्वभावगमनादिति ।
तदुक्तम्-" एगदवियस्स जे अ-त्थपज्जवा वयणपज्जवा वा-
वि । तीयाणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ १ ॥ "

तदेव सर्वज्ञस्तीर्थकृत् , सर्वज्ञश्च सम्भविनमेव सर्वसत्त्वो-
पकारिणमुपदेशं दद्यातोनि दर्शयति—

**सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं
जे एगं नामे से बहुं नामे , जे बहुं नामे से एगं नामे ।
दुक्खं लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा
महाजाणं , परेण परं जंति , नावकंखंति जीवियं ।
(सू० २२३)**

सर्वत.—सर्वप्रकारेण द्रव्यादिना यद्भयकारि कर्मोपादीय-
ते तत. प्रमत्तस्य-मद्यादिप्रमादवतो भय-भीतिः , त-
द्यथा-प्रमत्तो हि कर्मोपचिनोति द्रव्यत. सर्वैरात्मप्रदेशै ,
क्षेत्रत. षड्दिग्व्यवस्थितं, कालतोऽनुसमयं, भावतो हिंसा-
दिभि., यद्वा-सर्वत्र-सर्वतो भयमिहामुत्र च , एतद्विप-
रीतस्य च नास्ति भयमिति । आह च-' सव्वओ ' इत्या-
दि, सर्वत.-ऐहिकामुष्मिकापायाद् अप्रमत्तस्य-आत्महिते-
षु जाग्रतो नास्ति भयं संसारापसदात्सकाशात्कर्मणा वा ।
अप्रमत्तता च कषायाभावाद्भवति, तदभावाच्चाशेषमोहनी-
याभाव , ततोऽप्यशेषकर्मक्षय , तदेवमेकाभावे सति बहु-
नामभावसम्भव. । (आचा० ।) ' दुक्ख ' मित्यादि, ' दु.-
खम् ' असातोदयस्तत्कारणं वा कर्म तत् ' लोकस्य ' भूत-
ग्रामस्य ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च यथा तद-
भावो भवति तथा विदध्यात् । कथं तदभाव. ? का वा तद-
भावे गुणावाप्तिरित्युभयमपि दर्शयितुमाह-' वंता ' इत्यादि-
वान्त्वा-त्यक्त्वा लोकस्य-आत्मव्यतिरिक्तस्य धनपुत्रशरी-
रादे संयोग-ममत्वपूर्वक सम्बन्ध शारीरदु खादिहेतु तद्धे-
तुकर्मोपादानकारण वा यान्ति-गच्छन्ति धीरा -कर्म-
विदारणसहिष्णव । यान्त्यनेन मोक्षमिति यान-चारित्रं त-
च्चानेकभवकोटिदुर्लभं लब्धमपि प्रमाद्यतस्तथाविधकर्मो-
दयात् स्वप्नावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्य-
ते,महच्च तद्यान च महायानम् यद्वा-महद्यान-सम्यग्द-
र्शनादित्रयं यस्य स महायानो-मोक्षस्त यान्तीति सम्बन्ध. ।
स्यात्-किमेकेनैव भवेनावाप्तमहायानस्येश्यचारित्रस्य मोक्षा-
वाप्तिरुत पारम्पर्येण ?, उभयथाऽपि ब्रूम., तद्यथा—अवा-
प्तनयोग्यक्षेत्रकालस्य लघुकर्मणस्तेनैव भवेन मुक्त्यवाप्ति-
रपरस्य त्वन्यथेति दर्शयति—'परेण पर ' मित्यादि, सम्य-
क्त्वप्रतिषिद्धनरकगातितिर्यग्गतयो ज्ञानावाप्तियथाशक्तिप्रति
पालितसंयमा आयुष क्षयात् सौधर्मादिकं देवलोकमवाप्नु-
वन्ति, ततोऽपि पुण्यशेषतया कर्मभूम्यार्यक्षेत्रसुकुलोत्प-
त्त्यारोग्यश्रद्धाश्रवणसंयमादिकमवाप्य विशिष्टतर स्वर्गमनु-

त्तरोपपातिकपर्यन्तमधितिष्ठन्ति, पुनरपि ततश्च्युतस्यावा-
प्तमनुष्यादिसयमभावस्याशेषकर्मक्षयान्मोक्ष', तदेवं परेण-
संयमेनोद्दिष्टविधिना परं—स्वर्ग पारम्पर्येणापवर्गमपि या
न्ति,यदि वा-परेण—सम्यग्दृष्टिगुणस्थानेन परं-देशविरत्या-
द्ययोगिकेवलिपर्यन्त गुणस्थानक्रमधितिष्ठन्ति , परेण वाऽन-
न्तानुबन्धिक्षयेणोल्लसत्कण्डकस्थानाः परं—दर्शनमोहनाय-
चारित्रमोहनीयक्षयं घातिभवोपग्राहिकर्मणां वा क्षयमवा-
प्नुवन्ति , एवंविधाश्च कर्मक्षपणोद्यता जीवितं क्रियद्गतं
किं वा शेषमित्येवं नावकाङ्क्षन्ति , दीर्घजीवित्वं नाभिलष-
न्तीत्यर्थ ,असंयमजीवित वा नावकाङ्क्षन्तीति । यद्वा-परे-
ण परं यान्तीत्युत्तरोत्तरां तेजोलेश्यामवाप्नुवन्तीति । उक्तं
च—"जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं
कस्स तेयलेस्स वीईवयंति ? , गोयमा !, मासपरियाए स-
मणे निग्गंथे वाणमन्तराणं देवाणं तेयलेस्स वीइवयइ , एवं
दुमासपरियाए असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीण देवाणं ,
तिमासपरियाए असुरकुमाराण देवाण , चउमासपरियाए
गहगणनक्खत्ततारारूवाण जोइसियाणं देवाणं , पञ्चमास-
परियाए चंदिमसूरियाणं जोइसिंदाणं जोइसराईण तेउ-
लेस्सं , छम्मासपरियाए सोहम्मीसाणाणं देवाण , सत्तमा-
सपरिआए सणंकुमारमाहिंदाण देवाणं , अट्ठमासपरियाए
बंभलोगलंतगाणं देवाणं , नवमासपरिआए महासुक्कसह-
स्साराण देवाणं , दसमासपरियाए आणयपाणयआरण-
च्चुआणं देवाणं, एगारसमासपरियाए गेवेज्जाण, बारसमासे
समणे निग्गंथे अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेयलेसं वीइवयइ,
तेण पर सुक्के सुक्काभिज्जाई भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ । "

यश्चानन्तानुबन्ध्यादिक्षपणोद्यतः स किमेकक्षयादेव प्रवर्त्तते
उत नेत्याह—

**एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो वि,सड्ढी आणाए
मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि
सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं। (सू०×१२४)**

एकम्-अनन्तानुबन्धिन क्रोधं क्षपकश्रेण्यारूढ क्षपयन्
पृथग्—अन्यदपि दर्शनादिक क्षपयति, बद्धायुष्कोऽपि दर्श-
नसप्तकं यावत्क्षपयति, पृथगन्यदपि क्षपयन्नवश्यमनन्तानुब-
न्धिनामक क्षपयति पृथग्-अन्यद् क्षयान्यथानुपपत्ते. , किं-
गुण. क्षपकश्रेणियोग्यो भवतीत्याह-' सड्ढी ' इत्यादि , श्र
द्धा-मोक्षमार्गोद्यमेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् आज्ञ-
या—तीर्थंकरप्रणीतागमानुसारेण यथोक्तानुष्ठानविधायी मे-
धावी-अप्रमत्तयति मर्यादाव्यवस्थित. श्रेण्यर्हो नापर इति ।
किं च-'लोग च' इत्यादि, चः समुच्चये, लोकं-षड्जीवनि-
कायात्मकं कषायलोक वा आज्ञया- मौनीन्द्रागमोपदेशेन अ
भिसमेत्य-ज्ञात्वा षड्जीवनिकायलोकस्य यथा न कुतश्चिज्जि-
मित्ताद्भयं भवति तथा विधेयम् , कषायलोकप्रत्याख्यानपरि-
ज्ञानाच्च तस्यैव परिहर्तुर्न कुतश्चिद्भयमुपजायत इति, लोकं
वा चराचरमाज्ञया-आगमाभिप्रायेणाभिसमेत्य न कुतश्चिदै-
हिकामुष्मिकापायसंदर्शनतो भय भवति । (आचा० ।)

एतदेव प्रतिसूत्रं लगयितव्यमित्याह—

जे कोहदंसी से माणदंसी , जे माणदंसी से मायादंसी,

जे मायादंसी से लोभदंसी , जे लोभदंसी से पिज्जदंसी , जे पिज्जदंसी से दोमदंसी , जे दोमदंसी से मोहदंसी , जे मोहदंसी से गब्भदंसी,जे गब्भदंसी से जम्मदंसी,जे जम्मदंसी से मारदंसी , जे मारदंसी से नरयदंसी , जे नरयदंसी से तिरियदंसी , जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी । से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च । एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं निसिद्धा सगडब्भि , किमत्थि ओवाही पासगस्स ? न विज्जइ ?, नऽत्थि त्ति बेमि । (सू० १२५)

यो हि क्रोधं स्वरूपतो वेत्ति अनर्थपरित्यागरूपत्वाज्ज्ञानस्य परिहरति च स मानमपि पश्यति परिहरति चेति । यद्विा—यः क्रोधं पश्यत्याचरति स मानमपि पश्यति , मानाध्मातो भवतीत्यर्थः , एवमुत्तरत्रापि आयोज्यं , यावत् स दुःखदर्शीति , सुगमत्वान्न विव्रियते । साम्प्रतं क्रोधादेः साक्षान्निवर्त्तनमाह—'से' इत्यादि , स मेधावी अभिनिवर्त्तयेद्-व्यावर्त्तयेत् , किं तत् ?-'क्रोधमि'त्यादि यावद् दुःख-सुगमत्वाद्व्याख्यानाभावः , स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह 'एयं' मित्यादि , एतद्—अनन्तरोक्तमुद्देशकादेरारभ्य पश्यकस्य-तीर्थकृतो दर्शनम्-अभिप्रायः , किम्भूतस्य ?-उपरतशस्त्रस्य पर्यन्तकृतः , पुनरपि किम्भूतोऽसौ ?—' आयाणं,' मित्यादि , आदानं—कर्मोपादानं निषिध्य पूर्वस्वकृतकर्मभिदसाविति । किं चास्य भवतीत्याह-' किमत्थी ' त्यादि , पश्यकस्य-केवलिनः उपाधिः—विशेषणं उपाधीयत इति वोपाधिः , द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्टप्रकारं कर्म्म , स द्विविधोऽप्युपाधिः किमस्त्याहोस्विन्न विद्यते ? , नास्तीति , एतदहं ब्रवीमि , सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनं कथयति , यथा सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवत्पादारविन्दमुपास(य)ता सर्वमेतदश्रावि तद्भवतेः तदुपदिष्टार्थानुसारितया कथयामि, न पुनः स्वमतिविकल्पशिल्परचनयेति । गतः सूत्रानुगमः , तद्गतौ च समाप्तश्चतुर्थोद्देशकः । तत्समाप्तौ चातीतानागतनयविचारनिर्देशात् समाप्तं शीतोष्णीयाध्ययनमिति । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सीओसिणपच्चाइन् शीतोष्णात्यागिन्-त्रि० । सुखदुःखानभिलाषुके, शीतोष्णरूपं वा परीसहमसहमाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सीओसिणफासमह- शीतोष्णस्पर्शसह—त्रि० । शीतं चोष्णं च शीतोष्णे तयोः स्पर्शस्तं सहते इति शीतोष्णस्पर्शसहः । शीतस्पर्शोष्णस्पर्शजनितवेदनामनुभवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सीओसिणा शीतोष्णा- स्त्री० । शीतोष्णरूपोभयस्पर्शपरिणामायां वेदनायाम , प्रज्ञा० ३५ पद । प्रज्ञा० ।

सीतन- सीदत् त्रि० । सयमावसन्न, "सीतता णाम जो थिरसंघयणो वि संतो असमत्थो उज्जमति समणादि । नि०चू० १ उ० ।

सीधु-सीधु-न० । मद्यभेदे, उपा० ८ अ० । ज्ञा० ।

सीअर-सीअर-त्रि० । मुखेन सी इति शब्दं कुर्वति, व्य०३ उ०।

सीमंकर- सीमङ्कर--त्रि० । सीमा—मर्यादा करोति यथा एवं वर्त्तितव्यमेवं नेति सीमङ्करः । रा० । मर्यादाकारिणि, स्था० ९ ठा० ३ उ०। सूत्र० । ज्ञा०। जम्बूद्वीपे आगामिन्यामवसर्पिण्यामैरवते वर्षे भविष्यति द्वितीयकुलकरे, स० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते पञ्चदशानां कुलकराणां चतुर्थे कुलकरे,ज०२ वक्ष०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति प्रथम तीर्थकरे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सीमंत-सीमन्त-पु० । प्रथमपृथिव्यां प्रथमप्रस्तटे मध्यभागवर्त्तिनि वृत्ते नरकेन्द्रे, स० ।

सीमन्तए णं णरए पणयालीसं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ते । (स० ४५ सम० । स्था० ।

सीमंतगो णरगो रयणप्पभाए पुढवीए पढमो । नि० चू० १ उ० ।

सीमंतगप्पभ-सीमन्तकप्रभ-पुं । रत्नप्रभायां पृथिव्यां सीमन्तकस्य नरकेन्द्रकस्य पूर्वस्यां दिशि नरकेन्द्रके, "सीमन्तगप्पभो खलु निरओ सीमन्तगस्स पुव्वेणं " स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सीमंतगमज्झिमअ-सीमन्तकमध्यमक-पुं०। सीमन्तस्य नरकेन्द्रस्योत्तरनरकेन्द्रके, स्था० ।

सीमन्तगमज्झिमओ उत्तरपासे मुणेयव्वो । स्था०६ ठा० ३ उ० ।

सीमंतगावसिट्ठ-सीमन्तकावशिष्ट--पुं० । रत्नप्रभाया प्रथमनरकेन्द्रकस्य दक्षिणपार्श्ववर्तिनि नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ।

सीमंतावत्त--सीमन्तावर्त्त-पुं० । सीमन्तस्य नरकेन्द्रकस्य पश्चिमदिशि नरकेन्द्रके , स्था० ।

सीमन्तावत्तो पुण निरओ सीमन्तगस्स अवरेणं । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सीमंतिऊण-सीमान्तयित्वा-अव्य० । विक्रीयेत्यर्थे, इति बृहत्कल्पचूर्णिकारः । बृ० ३ उ० ।

सीमंतिणी-सीमन्तिनी-स्त्री० । सीमन्तः पासोऽस्या अस्तीति सीमन्तिनी । प्रवरयोषिति, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०

सीमंधर-सीमन्धर-त्रि० (सीमां-मर्यादा पूर्वपुरुषकृता धारयति नात्मना विलोपयति यः स तथा । कृतमर्यादापालके,) स्था० ६ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । रा० । औ० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वितीयकुलकरे,स्था० १० ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे ऐरवते भविष्यति तृतीयकुलकरे, स० । महाविदेहस्य पूर्वविदेहे वर्त्तमाने तीर्थकरे, आ० क० ४ अ० । सीमन्धरस्वामिमातृनामादि, तथा महाविदेहे श्रीसीमन्धरस्वामिस्थाने यस्तीर्थकर उत्पत्स्यते तस्य किं नाम ?, तथा तत्र वस्त्रवर्णादिविधिः कथं ?, तथा विहरमाणविंशतितीर्थकृतां मातापितृग्रामादिनामानि कुत्र शास्त्रे सन्तीति ?, ॥ १ ॥ अत्र महाविदेहे श्रीसीमन्धरस्वामिस्थाने उत्पत्स्यमानतीर्थंकरनाम शास्त्रे दृष्टं नास्ति, तथा तत्र वस्त्र-

भरतादिदिघिरिहत्याजिनादिद्वाविंशतितीर्थकृतामनुसारेणेति तथा-विहरमाणविंशतितीर्थकृतां मातापितृग्रामादिनामानि त्रुटितपत्रादौ कथितानि सन्तीति। ह्री० ३ प्रका०। आव०। आ० क०। जम्बूद्वीपे भारते वर्षे जातानां पञ्चदशानां कुलकराणां चतुर्थे कुलकरे, जं० २ वक्ष०।

सीमच्छेय-सीमाच्छेद-पुं०। मर्यादाकरणे, बृ०। सीमाच्छेदो नाम-साहिकाग्रामार्द्धवाटकादिविभजनं यथा अस्यां साहिकायां भवद्भिः पर्यटनीयम् अस्यां पुनरस्माभिरित्यादि। यद्वा-ये तत्र क्षेत्रे समकं प्राप्तास्ते समच्छेदेन वक्तव्य यथा युष्माकं सचित्तम्-अस्माकम् अचित्तम्, अथवा-युष्माकमन्तः अस्माकं बहिः, युष्माकं स्त्रियः अस्माकं पुरुषाः, युष्माकं श्राद्धा अस्माकम् अश्राद्धाः। अथवा-यो यत्लप्स्यते तत्तस्यैव, न दातव्यम्। बृ० ३ उ०। व्य०।

सीमा-सीमन्-स्त्री०। पूर्वपुरुषकृतायां मर्यादायाम्, स्था० ६ ठा० ३ उ०। सीमा मेरा मर्यादा इत्यनर्थान्तरम्। आ० चू० १ अ०। रा०।

सीमागार-सीमाकार-पुं०। ग्राहभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

सीमाधर-सीमाधर-सीमां-मर्यादां धरतीति सीमाधरः। ध० २ अधि०। ज्ञानादीनामविराधनाधारके श्रुतधर्मे, आव० ४ अ०। आ० चू०।

सीमाविक्खंभ-सीमाविष्कम्भ-पुं०। पूर्वापरतश्चन्द्रस्य नक्षत्रमुक्तिक्षेत्रविस्तारे, स० ६७ सम०। ('णक्खत्त' शब्दे चतुर्थभागे १७७८ पृष्ठे दर्शितोऽयम्।)

सीय-शीत-त्रि०। श्यायते-धातूनामनेकार्थत्वात्कठिनीभवत्यस्मिन् जलादि इति शीतम्। उत्त० १ अ०। 'श्यैङ्' गतौ इत्यस्य गत्यर्थत्वात् कर्तरि क्तस्तन "द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः" इति सम्प्रसारणे स्पर्शवाचित्वात् "श्योऽस्पर्शे" इति नत्वाभावे शीतम्। शिशिरस्पर्श, प्रव० ८९ द्वार। सू० प्र०। शृणातीति शीतम्। उत्त० ५ अ०। प्रालेयाद्याश्रिते, कर्म० १ कर्म०। वैशद्यकृत्स्तम्भनस्वभावे, स्पर्शभेदे, स्था० १ ठा०। आत्यन्तिकहिमे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्र०। शीतकाले, आ० १ श्रु० ४ अ०। औ०। सूत्र०। उत्त०। रा०। अनुकूले, स्था० ६ ठा० ३ उ०। ('सीओसणिज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे शीतनिक्षेप उक्तः।)

सीयघर-शीतगृह-न०। चक्रवर्त्तिनस्तथाविधे गृहे, शीतगृहं नाम वर्द्धकिरत्ननिर्मितं चक्रवर्त्तिगृहम्, तत्र च वर्षास्वनिर्वातप्रवातं शीतकाले सोष्मं ग्रीष्मकाले शीतलं यथा च तच्चक्रवर्तिनः सर्वर्तुक्षमं तथा द्रमकादेरपि प्राकृतपुरुषस्य तत्सर्वर्तुक्षममेव भवति। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

> सीमो पडिच्छतो वा, कुलगणसंघो वएति इह लोए।
> जे सचकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति॥ २३८॥

सुगमा।

शीतगृहसमः सङ्घ इत्युक्तं तत्र शीतगृहसमतां व्याख्यानयति-

> सीमे कुलच्चिए य, गणच्चिय संघच्चिए य समदरिसी।
> ववहारसंथवेसु य, सो सीयघरोवमो संघो॥ २३६॥

शिष्ये स्वदीक्षिते 'कुलच्चिए' त्ति स्वकुलसत्कस्तथा गणसङ्घसंनिधाने व्यवहारे समदर्शी, किमुक्तं भवति-शिष्याणां कुलगणसङ्घसम्बन्धिनां च परस्परं व्यवहारे जाते समदर्शी तथा संस्तवेषु पूर्वसंस्तुतेषु पश्चात्संस्तुतेषु चान्यैः समं व्यवहारे जाते 'समदर्शी' अतः स संघः सीतगृहोपमः यथा शीतगृहमाश्रितानां स्वपरविशेषाकरणतः परितापहारि तथा व्यवहारार्थमागतानां सङ्घोऽपि स्वपरविशेषाकरणतः परितापहारीति भावः। व्य० ३ उ०। पं० चू०।

सीयच्छाय-शीतच्छाय-त्रि०। सर्वविलंघादितया शीतत्वे, छायाशब्द आतपप्रतिपक्षवस्तुवाची द्रष्टव्यः। रा०।

सीयजोणिय-शीतयोनिक-त्रि०। शीतां वेदनां वेदयन्ति किंतु-उष्णां वेदना न वेदयन्ति ते हि शीतयोनिकाः। शीतयोनिस्थानेषु नारकेषु, केवलं हिमानीप्रख्यशीतप्रदेशात्मत्वात्तदुत्पत्तिस्थानानाम्। जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

सीयपरि(री)सह-शीतपरि(री)षह-पुं०। शीतं शिशिरस्पर्शस्तदेव परीषहः शीतपरीषहः। शीताधिसहने, प्रव०। शीते महत्यपि पतति जीर्णवसनः परित्राणवर्जितो नाकल्प्यानि वासांसि गृह्णाति शीतत्राणाय, आगमोक्तेन विधिना एषणीयमेव कल्प्यादि गवेषयेत् परिभुञ्जीत वा। नापि शीतार्तो ज्वलनं ज्वालयेत् अन्यज्वालितं वा नासेवेत एवमनुतिष्ठता शीतपरीषहजयः कृतो भवति। प्रव० ८६ द्वार। उत्त०। स०। शीतादिसहनेऽपि यतिस्त्राणवर्जितो वासोऽकल्प्य न गृह्णीयादग्निं नो ज्वालयेदपि। आ० म० १ अ०। ध०।

तस्य च संयमानुष्ठाने परिव्रजतो यत्स्यात्तदाह—

तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता गाहावई बूया-आउसंतो समणा! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति?, आउसंतो गाहावई! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा, अन्नेसिं वा वयणाओ सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि। (सू०२१०)

तम्-अन्तप्रान्ताहारतया निस्तेजसं निष्किञ्चनं भिक्षणशीलं भिक्षुमतिक्रान्तसोष्मयौवनावस्थं सम्यक्त्वकृताणाभावतया शीतस्पर्शपरिवेपमानगात्रम् उपसङ्क्रम्य-आसन्नतामेत्य गृहपतिः-ऐश्वर्योष्मानुगतो मृगनाभ्यनुविद्धकश्मीरजवद्दलरसानुलिप्तदेहो मीनमदागुरुघनसारधूपितरल्लिकाच्छादितवपुः प्रौढसीमन्तिनीसन्दोहपरिवृतो वार्तीभूतशीतस्पर्शानुभवः सन् किमयं मुनिरुपहसितसुरसुन्दरीरूपसम्पदो मत्सीमन्तिनीरवलोकयः सात्त्विकभावोपेतः कम्पते उत शीतेनेत्येवं संशयानो ब्रूयात् भो आयुष्मन्! श्रमण! कुलीनतामात्मन आविर्भावयन् प्रतिषेधद्वारेण प्रश्नयति-नो भवन्तं ग्रामधर्माः-विषयाः उत्-प्राबल्येन बाधन्ते?, एवं गृहपतिनोक्ते विदिताभिप्रायः साधुराह-अस्य हि गृहपतेरान्मसविषयाऽङ्गनावलोकनाऽविष्कृतभावस्यास्याश-

ऽभूद् अतोऽहमस्यापनयामीत्येवमभिसन्धाय साधुर्वभाषे आयुष्मन् ! गृहपते ! ' नो खलु ' नैव ग्रामधर्मा मामुद्बाधन्ते, यत्पुनर्वेपमानगात्रयष्टिं मामीक्षांचकृषे तच्छीतस्पर्शविजृम्भितं, न मनसिजविकार, शीतस्पर्शमहं न खलु शक्नोम्यधिसोढुम्, एवमुक्त सन् भक्तिकरुणारसाक्षिप्तहृदयो ब्रूयात्-सुप्रज्वलितमाशुशुक्षणिं किमिति न सेवसे ?, महामुनिराह-भो गृहपते ! न खलु मे कल्पतेऽग्निकाय मनाग् ज्वालयितुम् उज्ज्वालयितु प्रकर्षेण ज्वालयितु प्रज्वालयितु स्वतो ज्वलितादौ कार्य--शरीरमीषत् तापयितुमातापयितु वा प्रकर्षेण तापयितु प्रतापयितु वा, अन्येषां वा वचनात् ममैतत्कर्त्तु न कल्पते, यद्वाऽग्निसमारम्भायान्या वा वक्तु न कल्पते ममेति । तं चैवं वदन्तं साधुमवगम्य गृहपतिः कदाचिदेतत्कुर्यादित्याह--स्यात्-कदाचित्स-परो गृहस्थ एवमुक्तनीत्या वदन साधोरग्निकायमुज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य वा कायमातापयेत् प्रतापयेद्वा, तच्चोज्ज्वालनातापनादिकं भिक्षु प्रत्युपेक्ष्य--विचार्य स्वसन्मत्या परव्याकरणेनान्येषा वाऽन्तिके श्रुत्वा अवगम्य ज्ञात्वा त गृहपतिमाज्ञापयेत्-प्रतिबोधयेत् कथा?, अनासेवनया, यथैतत् ममायुक्तमासेवितु, भवता तु पुन साधुभक्त्यनुकम्पाभ्या पुण्यप्राग्भारोपार्जनमकारीति, ब्रवीमीतिशब्दावुक्तार्थौ । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । शीते महत्यपि पतति जीर्णवसन परित्राणवर्जितो नाकल्प्यानि वासांसि गृह्णीयात् परिभुञ्जीत वा नापि शीतार्त्तोऽग्नि ज्वालयेदन्यज्वालित वा नासेवेत । आव० ४ अ० ।

एतदेव सूत्रकृदाह--

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चा णं जिणसासणं ॥ ६ ॥

तत्परीषहमाह--

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहन्नइ ॥ ६ ॥ (सू०)

व्याख्या--' चरन्तम् ' इति ग्रामानुग्राम मुक्तिपथे वा व्रजन्त, धर्ममासेवमान वा, विरतम्--अग्निसमारम्भादेर्निवृत्तं विगतरतं वा ' लूहं ' ति स्नानस्निग्धभोजनादिपरिहारेण रूक्ष, किमित्याह--शृणाति इति शीतं, स्पृशति--अभिद्रवति, वस्त्रादिविशेषणविशिष्टो हि सुतरा शीतेन बाध्यते, ' एकदे ' ति शीतकालादौ प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ वा, तत किम् ? ' न ' नैव वेला सीमा मर्यादा सेतुरित्यनर्थान्तर ततश्चातीति शेषसमयेभ्य स्थविरकल्पिकापेक्षया जिनकल्पिकापेक्षया च स्थविरकल्पाच्चातिशायिनी वेला शक्त्यपेक्षतया च सर्वथानपेक्षतया च शीतसहनलक्षणा मर्यादा ता विहन्यात् । कोऽर्थ ?-अपध्यानस्थानान्तरसर्पणादिभिरतिक्रामत्, किमेवमुपदिश्यत इत्याह--पासयति पातयति वा भवावर्त इति पापा, तादृशी दृष्टि -बुद्धिरस्येति पापदृष्टि ' विहन्नइ ' इति सूत्रत्वाद्विहन्ति-अतिकामत्यतिवेलामिति प्रक्रम । अयमत्र भावार्थ -पापदृष्टिरेवोक्तरूपमर्यादातिक्रमकारी, तत पापबुद्धिकृतत्वादस्य सद्बुद्धिभि परिहारो विधेय, पठ्यते च " नाइवेल मुणी गच्छे सुच्चा ण जिणसासण ' तत्र वेला स्वाध्यायादिसमयात्मिका तामतिक्रम्य शीतेनाभिहतोऽहमिति मुनि --तपस्वी न गच्छेत्--स्थानान्तरमभिसर्पेत्, ' सोच्चे ' ति श्रुत्वा णमिति वाक्यालङ्कारे जिनशासनं--जिनागमम् अन्यो जीवोऽन्यश्च देहस्तीव्रतगश्च नरकादिषु शीतवदना प्राणिभिरनुभूतपूर्वा इत्यादिकमिति सूत्रार्थ ॥ ६ ॥

अन्यच्च--

ण मे णिवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जइ ।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥

न ' मे ' मम निवारा वार्यते--निषिध्यतेऽनेन शीतवातादीनि निवारण--सौधादि अस्ति--विद्यत, तथा छवि -त्वक् त्रायते--शीतादिभ्यो रक्ष्यतेऽनेनेति छवित्राणं--वल्कलकम्बलादि न विद्यते, वृत्रस्तु निवारण--वस्त्रादि तथा छवि --त्वक् त्राणं न विद्यते--न भवति, असौ हि शीतोष्णादीना ग्राहिकेति व्याचक्षते, अत ' अह ' मित्यात्मनिर्देश, तु पुनरर्थे, तद्भावना च यथा निवारण छवित्राण वा ममास्ति ते किमिति अग्निं सेवयु ?, अह तु तदभावादत्राण तत्किमन्यत्करोमीत्यग्निं सेवे ' इती ' त्येव भिक्षु --यति न चिन्तयेत्--न ध्यायेत्, चिन्तानिषेधे च सेवन दूरापास्तमिति सूत्रार्थ ॥ ७ ॥

इदानीं लयनद्वार, तत्र च ' नातिवेल मुनिर्गच्छेदि ' त्यादिसूत्रावयवसूचित दृष्टान्तमाह--

रायगिहम्मि वयंसा, सीमा चउरो उ भद्दबाहुस्स ।
वेभारगिरिगुहाए, सीयपरिगया समाहिगया ॥९१॥

राजगृहे नगरे वयस्या शिष्याश्चत्वारस्तु भद्रबाहोर्वैभारगिरिगुहाया शीतपरिगता -समाधिगता इत्यक्षरार्थ ॥९१॥ भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेय तच्चेदम्--

' रायगिहे णयरे चत्तारि वयंसा वाणियगा सहवड्ढियया, ते भद्दबाहुस्स अंतिए धम्म सोच्चा पव्वइया, त सुय बहु अहिज्जित्ता अन्नया कयाइ एगल्लविहारपडिम पडिवन्ना, ते समावत्तीए विहरता पुणोवि रायगिह नयर सपत्ता। हेमंतो य वट्टति, ते य भिक्ख काउ तइयाए पोरिसीए पडिनियत्ता तेसि च वेभारगिरितेण गमण्व। तत्थ पढमस्स गिरिगुहादारे चरिमा पोरिसी ओगाढा सो तत्थेव ठिओ । बिइयस्स उज्जाणे, तइयस्स उज्जाणसमीवे, चउत्थस्स नगरब्भासे चेव । तत्थ जो गिरिगुहब्भासे तस्स निराग सीय सो सम्म सहतो समणो अ पढमजामे चेव कालगतो । एव जो नगरसमीवे सो चउत्थे जामे कालगतो, तेसि जो नगरब्भासे तस्स नगरुण्हाए न तहा सीअ तेण पच्छा कालगतो ते सम्म कालगया । एव सम्म अहियासियव्व जहा तहि चउहिं अहियासिय " । उत्त० २ अ० । अत्र भद्रबाहुशिष्याणं कथा --राजगृहे नगर चत्वारो वयस्या वणिज श्रीभद्रबाहुगुर्वन्तिके प्रव्रज्य श्रुत चाधीत्य एकाकित्व प्रतिमया विहरन्तस्तत्रव ईयु, तदा हेमन्त आसीत् । ते च भिक्षाभोजनमादाय तृतीयपौरुष्या निवर्त्तन्ते पुरात् पृथक् । तेषामेकस्य चरमपौरुषी वैभारगिरिगुहाद्वार अवगाढा तत्रैव सोऽस्थात् द्वितीय पुरोद्याने तृतीयस्तु उद्यानसमीपे, चतुर्थस्तु पुराऽभ्यर्णे । तत्र यो वैभाराद्रिगुहासन्न स समहार्मात्यशीतेना रजन्या आद्ययाम मृत उद्यानस्थो द्विती-

श्मशाने मृत , उद्यानासन्नस्थानीये यामे मृत., पुरासन्नस्तु पुरोष्मणाऽल्पशीतत्वेन चतुर्थे प्रहरे मृत' । सर्वेऽप्येते साधवो विपद्य दिव जग्मुः शीतपरिषहः सोढव्यः । उत्त० २ अ० ।

सीयपरिसहविजय-शीतपरिषहविजय-पुं० । महत्यपि शीते पतति परित्यक्ताकल्पनीयवासस प्रवचनोक्तेन विधिना कल्पनीयवासांसि परिभुञ्जानस्य वृक्षवदनवधारितालयविशेषस्य वृक्षमूले पथि शून्यागारेऽन्यत्र वा क्वापि निवसतो हिमानीकणसम्मिश्रशीतानिलसमिश्रेऽपि तत्प्रतीकारहेतूपादान प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतीकारहेतूनस्मरत सम्यग्भावनागर्भशीतसहने, पं०सं० ४ द्वार ।

सीयपिंड-शीतपिण्ड-पुं०शीत शीतल पिण्ड आहार., शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिण्ड' । शाल्यादिपिण्डे, " पंताणि चेव सेविज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं । " आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० ।

सीयप्पवायदह-शीताप्रपातह्रद-पुं० । यत्र नीलवत शीता निपतति यत्र चत्वार्यशीत्यधिकानि योजनशतानि आयामविष्कम्भ पञ्चदशाष्टादशोत्तराणि विशेषन्यूनानि परिक्षेपेण यस्य च मध्ये शीताद्वीप चतुष्षष्टियोजनायामविष्कम्भो द्व्युत्तरयोजनशतद्वयपरिक्षेप जलान्तात् द्विकाशोच्छ्रित शीतादेवीभवनेन विभूषितोपरितनभाग स शीताप्रपात ह्रद इति । शीतादेव्या निवासभूते शीतानद्या जलप्रपातस्थाने, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सीयफास-शीतस्पर्श-पुं० । शीतातापादितु स्वविशेषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । शीतले, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

सीयफासणाम-शीतस्पर्शनामन्-न० । नामकर्मभेदे यदुदयाज्जन्तुशरीर शीत शीतल मृणालादिवद् भवति तत् शीतस्पर्शनाम । कर्म० १ कर्म० ।

सीयल-शीतल-त्रि० । शीतवेदनोत्पादके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ० म० । औ० । चन्द्र सूर्य वा गृह्णतो राहो कृष्णपुद्गल एक. शीतल । च० प्र० २० पाहु० । दशमे तीर्थकरे, सम्प्रति शीतल सकलसर्वसंतापकरणविरहादाह्लादजननाच्च शीतल ,तत्र सर्वेऽपि भगवन्त. शत्रूणा मित्राणा चोपरि समानास्तत. शेषमाह—

पिउणो दाहोवसमो, गब्भगए सीयलो तेणं ।

भगवत पितु पूर्वोत्पन्नोऽसदृश पित्तदाहोऽभवत्,स चौषधैर्नानाप्रकारैर्नोपशाम्यति, भगवति तु गर्भगते देव्या परामर्शे स दाह उपशान्तस्तेन शीतल इति नाम । आ० म० २ अ० । ध० । प्रव । आ० चू० । स० । कल्प० । (अस्य वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२६० पृष्ठे गता ।) शीतलस्य अशोका देवी । प्रव० ७ द्वार ।

सीयल(ग) शीतल(क)-पुं० । स्वनामख्याते नृपतौ,शीतलको नृपति परित्यक्तराज्यसमृद्धि गृहीतसर्वज्ञदीक्षोऽनुपेन तदीयगुणेन प्रमोदमानमानसैर्निजगुरुभिर्विश्राणितश्रमणानन्दादिसूरिपदो द्रव्यभावभेदभिन्ने वन्दनके उदाहरणम् ।

तत्कथा चैवम्—

"अवनीवनिताभाल—तिलके श्रीपुरे पुरे ।
प्रतापाक्रान्तदिक्चक्र', क्ष्मापाल शीतलोऽजनि ॥ १ ॥
सर्वज्ञशासनक्षीर—नीरधौ सद्गुणिस्तुत ।
शुद्धपक्षद्वयो राज—हंस. क्रीडति य सदा ॥ २ ॥
तस्याभूद्भगिनी भाग्य-सौभाग्यैकनिकेतनम् ।
सद्धर्मैकर्मनिर्माण—परा शृङ्गारमञ्जरी ॥ ३ ॥
सा च विक्रमसिंहस्य, राज्ञी जाता जगत्पते' ।
सल्लक्षणे क्रमात्पुत्र—चतुष्टयमजीजनत् ॥ ४ ॥
शीतलश्च महीपाल—श्चारुवैराग्यरञ्जितः ।
श्रीधर्मघोषसूरीणा—मन्तिके व्रतमग्रहीत् ॥ ५ ॥
त च विज्ञातसिद्धान्त—तत्त्वं गीतार्थशेखरम् ।
गुरवस्तद्गुणैस्तुष्टा , स्वपदेऽथ न्यवीविशन् ॥ ६ ॥
अन्येद्युर्निजपुत्राणां, कलाकौशलशालिनाम् ।
शृङ्गारमञ्जरी राज्ञी, रहस्येवमवोचत् ॥ ७ ॥
वत्सास्त्वदीय एवैक , श्लाघ्यो जगति मातुल' ।
येन साम्राज्यमुत्सृज्य, जगृहे व्रतमुत्तमम् ॥ ८ ॥
यश्च नि शेषशास्त्राब्धि—पारदृश्वा मुनीश्वर ।
निस्सङ्ग विहरन्नुर्व्यां, प्रबोधयति देहिन ॥ ६ ॥
पक्वेलिमं यथाग्राही, ससारस्यामुना फलम् ।
तथा वत्सास्तदादातुं, भवतामपि युज्यते ॥ १० ॥
यत -
कोटिशो विषया प्राप्ता , सपदश्च सहस्रश ।
राज्य च शतशो जीवै-र्न च धर्म कदाचन ॥ ११ ॥
इत्थ मातुर्वच श्रुत्वा, सविज्ञा जनकं निजम् ।
तेऽनुज्ञाप्याऽर्हती दीक्षा, जगृहु स्थविरान्तिके ॥ १२ ॥
संजातास्ते च गीतार्थाः, वन्दितु निजमातुलम् ।
अवन्त्या च गता सायं, तद्बाह्यायामवस्थिता- ॥ १३ ॥
अथ गत्वा पुरीमध्ये, श्रावक कोऽपि तद्गिरा ।
श्रीशीतलमुनीन्द्राय, तत्स्वरूप न्यवेदयत् ॥ १४ ॥
इतश्च-
शुभेनाध्यवसायेन, तेन तत महात्मनाम् ।
तेषां निशि समुत्पन्न, चतुर्णामपि केवलम् ॥ १५ ॥
ततश्च कृतकृत्यत्वा—द्यावत्तत्रैव ते स्थिता ।
प्रभात तावदागमस्ताव-दुत्क श्रीशीतलोऽजनि ॥ १६ ॥
अहो दुष्टा अमी शैक्षा, निर्लज्जा इत्यचिन्तयत्स ।
क्रोधाध्मातो ददौ तेषा, चतुर्णामपि वन्दनम् ॥ १७ ॥
यामादूर्ध्वं स्वय तेषा—मन्तिकेऽसौ गतस्ततः ।
अनादरपरास्तांश्च, वीक्ष्य सस्थाप्य दण्डकम् ॥ १८ ॥
ऐर्यापथीं प्रतिक्रम्य, समालोच्यैवमभ्यधात् ।
वन्देऽहं भवतो ह्यत्र, समागत्यापि साम्प्रतम् ॥ १९ ॥
कषायकण्टकारूढ, तमूचुस्ते त्वया पुरा ।
द्रव्यतो वन्दन दत्त—मिदानीं देहि भावत ॥ २० ॥
किमेतदिति जानन्ति, भवन्त इति सोऽब्रवीत् ।
तेऽपि न प्रत्यवोचन्त, जानीमो नितरामिदम् ॥ २१ ॥
आचार्य कथमित्याह, तेऽप्याहुर्ज्ञानत स च ।
अतीतं कीदृशात्ते च, ब्रुवन्त्यप्रतिपातित ॥ २२ ॥
पापेनाशातिता एते, मया केवलिनो ह्यहा ।
इत्थं निन्दन्निवृत्तोऽसौ, कण्टकस्थानतस्तत. ॥ २३ ॥
क्रमात्तेषु चतुर्थाय, ददतस्तस्य वन्दनम् ।
केवलज्ञानमुत्पन्न—मपूर्वकरणादिना ॥ २४ ॥

द्रव्यतो वन्दन पूर्वे, कषायोपेतचेतस । जज्ञे पश्चात्तनस्तस्य, शान्तस्वान्तस्य भावत ॥ २५॥" प्रव० २ द्वार।

सीयलगत्तया-शीतलगात्रता-स्त्री०। अङ्गोपाङ्गानां शीतलस्पर्शे, बृ० ३ उ०।

सीयलविहारि-शीतलविहारिन्-पुं० । नित्यवासित्वादिना शिथिलाचारे, आव० १ अ०।

सीयलिया-शीतलिका-स्त्री०। शीतस्पर्शाया लूतायाम्, आ० म० १ अ०। नहि लूतादिकं शीतलिकाभिधानान्तरमात्रेणान्यथात्वं भजते। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

सीयलेस्सालद्धि-शीतलेश्यालब्धि-स्त्री०। अगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्य प्रति तेजोलेश्याप्रशमनप्रत्यलशीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्ये, प्रव०। यथा भगवतो महावीरस्य पुरा किल गोशालक कूर्मग्रामे करुणारसिकान्त करणतया स्नानाभावाविर्भूतप्रभूतयूकासततितायिन वैशिकायन बालतपस्विनमकारणकलहकलनतया अरे यूकाशय्यातरेत्याद्ययुक्तोक्तिभि कोपाटोपाध्मायमानमानसमकरोत्, तदनु वैशिकायनस्तस्य दुरात्मनो दाहाय वज्रदहनदेश्या तेजोलेश्या विससर्ज। तत्कालमेव च भगवान्वर्द्धमानस्वामी प्रगुणितकरुणस्तत्प्राणत्राणाय प्रचुरपरितापच्छेदच्छेका शीतलेश्याममुचदिति। प्रव० २७० द्वार। पा०। स्था०।

सीयवेगमहण-शीतवेगमथन-न०। आतपेन शीतवेगनिवारणे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सीया-सीता-स्त्री०। जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरे नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य केशरहृदान्निर्गताया महानद्याम्, स्था०। शीता महानदी केशरहृदस्य दक्षिणतोरणेन विनिर्गत्य कुण्डे पतित्वा मेरो पूर्वत पूर्वविदेहमध्येन विजयद्वारस्याध पूर्वसमुद्र शीतोदानामान प्रविशतीति। स्था० २ ठा० ३ उ०। पश्चिमरुचकवास्तव्याया दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्ष०। आ० क०। आ० म०। रा०। औ०। प्रश्न०। भ०। 'ईषत्प्राग्भाराया पृथिव्याम्, आ० म० १ अ०। लाङ्गलपद्धतौ, आ० म० २ अ०। पुरुषोत्तमस्य चतुर्थवासुदेवस्य मातरि, आव० १ अ०। शिबिकापुरुषसहस्रवहनीयकूटाकारशिखराच्छादिते जम्पानविशेषे, प्रव० ६ द्वार। भ०। तीर्थकृता २४ शिविका 'तित्थयर' शब्द चतुर्थभाग २२७८ पृष्ठ गता।)

सीयाकूड-शीताकूट-पुं०न०।नीलवर्षधरपर्वतस्य चतुर्थे कूटे, स्था०,२ ठा० ३ उ०। जम्बूमन्दरस्य उत्तरे नीलवन्तवर्षधरपर्वतस्य स्वनामख्याते चतुर्थे कूटे, स्था०२ ठा० १ उ०। महाविदेहे माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य सीतासरित्सुरीकूटे, जं० ४ वक्ष०।

सीयाण-श्मशान-न०। शवदाहस्थाने, व्य० ७ उ०।

सीयायवतत्त-शीतातपतप्त-त्रि०। रात्रौ शीतेन दिवाऽऽतपेन रसशोख प्रापिते, जं० २ वक्ष०।

सीयामुहवण-शीतामुखवन-न०। महाविदेहे वर्षे शीताया महानद्या उत्तरस्या नीलवतो वक्षस्कारपर्वतस्य दक्षिणे पूर्वेलवणसमुद्रस्य पश्चिमे,पुष्कलावतीविजयक्षेत्रस्य पूर्वे स्वनामख्याते वने, जं०।

कहिं णं भन्ते! जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सीआए महाणईए दाहिणिल्ले सीयामुहवणे णामं वणे पण्णत्ते ?, एवं जह चेव उत्तरिल्लं सीआमुहवणं तह चेव दाहिणं पि भाणिअव्वं, णवरं णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं सीआए महाणईए दाहिणेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं वच्छस्स विजयस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सीआए महाणईए दाहिणिल्ले सीआमुहवणे णामं वणे पण्णत्ते,उत्तरदाहिणायए तहेव सव्वं णवरं णिसहवासहरपव्वयत्तेणं एगमेगूणवीसइभागं जोअणस्स विक्खम्भेणं किण्हे किण्होभासे ०जाव महया गन्धद्धणिं मुअन्ते ०जाव आसयन्ति उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं वणवण्णओ इति।

"कहि णं' मित्यादि, क भदन्त! जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे शीतामहानद्या दाक्षिणात्य शीतामुखवन शीतानिषधमध्यवर्त्तीत्यर्थ, अतिदेशसूत्रत्वेनोत्तरसूत्र स्वय भाव्य, पर वत्सस्य विजयस्य-विदेहद्वितीयभागाद्यविजयस्य पूर्वेन इति। जं० ४ वक्ष०।

सीयावण-शीतापन-न०। शीतकरणे, नि० चू० १ उ०।

सीरकंता-सीरकान्ता-स्त्री०। मूर्च्छनाविशेषे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सीरि-सीरिन्-पुं०। बलदेवे, को०।

सील-शील-न०। शील-समाधौ धातोर्घञ्। नपुंसकत्वे शीलत्वे शीलम्। आ० चू० १ अ०। समाधाने, विशे०। स्था०। त०। व्रतादिसमाधाने, आव० ४ अ०। प्रश्न०। यमनियमरूपे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। क्रोधाद्युपशमरूप, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। अनुष्ठाने,सूत्र० २ श्रु० १ अ०। व्रतविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। शीलमुत्तरगुणा। ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। प्रव०। आ० म०। आ० चू०। शीलान्यणुव्रतानि। उपा० २ अ०। परद्रोहविरतौ,दश०६अ०१उ०। उद्युक्तविहारित्वे, सूत्र०१श्रु०१३अ०। चारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। सूत्र०। दश०।

निक्षेप.—

सीले चउक्क दव्वे, पाउरणाभरणभोयणादीसु।
भावे उ ओहसीलं, अभिक्खमासेवणा चेव ॥ ८६ ॥

शीले-शीलविषये निक्षेपे क्रियमाणे 'चतुष्क' मिति नामादिश्चतुर्धा निक्षेप, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य 'द्रव्यम्' इति द्रव्यशील प्रावरणाभरणभोजनादिषु द्रष्टव्यम्। अस्यायमर्थ —यो हि फलनिरपेक्षस्तत्स्वभावादेव क्रियासु प्रवर्तते स तच्छील। तत्रेह प्रावरणशील इति प्रावरणप्रयोजनाभावेऽपि तच्छीलत्वान्नित्य प्रावरणस्वभाव, प्रावरणे वा दत्तावधान, एवमाभरणभोजनादिष्वपि द्रष्टव्यमिति। यो वा यस्य द्रव्यस्य चेतनाचेतनादे स्वभावस्तद् द्रव्यशीलमित्युच्यते, भावशील तु द्विधा—ओघशीलम्,—आभीक्ष्ण्यसेवनाशील चेति।

तत्रौघशीलं व्याचिख्यासुराह—

ओहे सीलं विरती, विरयाविरई य अविरतीऽसीलं।

धम्मे णाणतवादी,अपसत्थ अहम्मकोवादी ॥८७॥

सामान्यं सामान्येन सावद्ययोगविरतो विरताविरतो वा शीलवान् भण्यते, तद्विपर्यस्तोऽशीलवानिति । आभीक्ष्ण्य-सेवायां तु—अनवरतसेवनाया तु शीलमिदम्, तद्यथा-धर्मे-धर्मविषये प्रशस्तं शीलं यदुनानवरतापूर्वज्ञानार्जनं विशिष्टतप करणं वा, आदिग्रहणादनवरताभिग्रहणादिकं परिगृह्यते। अप्रशस्तभावशील स्वधर्मप्रवृत्तिर्बाह्या, आन्तरा तु क्रोधादिषु प्रवृत्ति, आदिग्रहणात्—शेषकषायाश्चौर्याभ्याख्यानकलहादय परिगृह्यन्त इति।

"सीलं नियकुलनहयल-ससि व्व कित्ती पयासए भुवणे।
सुरनरसिवसुहकरणं-पालेयव्वं स्या सील ॥१०८॥
जाइकुलरूवबलसुय-विज्जाविन्नाण बुद्धिरहिया वि।
सव्वत्थ पूयणिज्जा-निम्मलसीला नरा हुंति ॥१०९॥
तं पुण सील दुविहं, देसे सव्वे य होइ नायव्व।
देसं गिहीण दसण-मूलाणि दुवालस वयाणि ॥११०॥
साहूणं सव्वसीलं, ज सीलंगाण अट्ठदससहस्सा।
धुज्झंति निरइयारा, जावज्जीव अविस्साम ॥१११॥
लघुकम्मा गुरुसत्ता—सत्ता विसमावईसु पत्ता वि।
मणवयणतणुविसुद्धं, सील पालंति सीय व्व ॥११२॥"

ध० र० २ अधि० ६ लक्ष०। (कुशीलसुशीले ' कुसील ' शब्दे तृतीयभागे ६११ पृष्ठे उक्ते ।) सर्वसंवरे, आ० म० २ अ०। अष्टादशसहस्रभेदसङ्ख्ये संयमे, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। उत्त०। सथा०। मद्यमांसनिशाभोजनादिपरिहाररूपे आचारे, उत्त० १४ अ०। व्यवहारे, ध० १ अधि०। सथा०। ज०। शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रसंख्यं, यदि वा-महाव्रतसमाधान पञ्चेन्द्रियजय कषायनिग्रह त्रिगुप्तिगुप्तता चैतत् शीलम्। आचा०१ श्रु० ६ अ० ४ उ०। शील सदाचारो विरतसम्यग्दृशाविरतिमतानुदेशसर्वविरत्यात्मक चारित्रम्। उत्त० ७ अ०। नं०। शीलसमाधान तद्रूपत्वात् शीलम्। अहिंसायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार। ब्रह्मचर्ये, स०। बृ०। नं०। " वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, नचापि भग्नं चिरसंचितव्रतम्। वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो,नचापि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। दानेन महाभोगो, देहिनां सुरगतिश्च शीलेन। भावनया च विमुक्तिः—स्तपसा सर्वाणि सिद्धयन्ति ॥ २॥" सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

श्रावकस्य शीलानि—

संप्रति शीलवत्स्वरूपं द्वितीयं लक्षणं व्याख्यानयन्नाह—

आययणं खु निसेवइ, वज्जइ परगेहपविसणमकज्जे।
निच्चमणुब्भडवेसो, न भणइ सवियारवयणाइं ॥३७॥
परिहरइ बालकीलं, साहइ कज्जाइं महुरनीईए।
इय छव्विहसीलजुओ,विन्नेओ सीलवंतो त्थ ॥३८॥

आयतनं धार्मिकजनमीलनस्थानम्-उक्तं च "जत्थ साहम्मिया बहवे,सीलवंता बहुस्सुया। चरित्तायारसंपन्ना, आययणं तं वियाणाहि" ।१। खुरवधारणे प्रतिपक्षप्रतिषेधार्थ.-ततश्चायतनमेव निषेवते भावश्रावको, नानायतनमिति योगः। 'न भिल्लपल्लीषु न चोरसंश्रये,न पार्वतीयेषु जनेषु संवसेत्। न हिंस्रदुष्टाशयलोकसंनिधौ,कुसंगतिः साधुजनस्य निन्दिता ।१।"

तथा-'दंसणनिब्भेयणगा,चरित्तनिब्भेयणी य अणवरयं।जत्थ पयट्टइ विगहा तमणाययणं महापावं।१।" इति प्रथमं शीलम्। तथा 'वर्जयति परगृहप्रवेशनमन्येषां मन्दिरेषु गमनमकार्ये गुरुतरकार्याभावे नष्टविनष्टादावाशङ्कासम्भवादिति द्वितीयं शीलम्। तथा नित्यं सदाऽनुद्भटवेषोऽनुल्बणनेपथ्यो भवति भाववश्राद्ध इति तृतीयं शीलम्। न भणति न ब्रूते सविकाराणि-रागद्वेषविकारोत्पत्तिहेतुभूतानि वचनानि वाच इति चतुर्थं शीलम्। तथा परिहरति न सेवते बालक्रीडां बालिशजनविनोदव्यापारं द्यूतादिकमिति पञ्चमं शीलम्। तथा साधयति-निष्पादयति कार्याणि—प्रयोजनानि मधुरनीत्या सामपूर्वकं "सौम्य ! सुन्दरैव कुरुष्वे" त्यादिनेति षष्ठ शीलम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण षड्विधशीलयुतो विज्ञेयः शीलवानत्र श्रावकविचार इति।

सम्प्रत्येनदेव शीलषट्कं व्याख्यानयन् प्रथमं शीलं आयतनलक्षणं गाथापूर्वार्द्धेन गुणोपदर्शनपूर्वकं भावयति-

आययणसेवणाओ, दोसा निज्जंति वड्ढइ गुणोहो।

आयतनमुक्तस्वरूपं तस्य सेवनादुपासनाद्दोषा मिथ्यात्वादय क्षीयन्ते क्षीयन्ते क्षयं यान्तीति भाव -वर्द्धते वृद्धिमुपैति गुणौघो ज्ञानादिगुणकलाप, सुदर्शनस्येव। ध० र०। इत्युक्तः शीलवतोऽनुद्भटवेष इति तृतीयो भेद । (सविकारवचनवर्जनरूपश्चतुर्थभेद 'सवियारवयणवज्जण' शब्दे तत्कथानकं च 'मित्तसेण' शब्दे उक्तम्।)

संप्रति बालक्रीडापरिहाररूप पञ्चम भेदमभिधित्सुर्गाथापूर्वार्द्धमाह—

बालिमजणकीला वि हु, मूलं मोहस्स ऽणत्थदंडाओ।

बालिशजनक्रीडाऽपि-बालजनाचरितक्रीडाऽपि द्यूतादिरूपा।

उक्तं च—

चउरंगसारिपट्टिय—वट्टाईलावयाइजुद्धाइ।
पणहनरज(म) म्म गाई-पहेलियाईहिं नो रमइ ॥१॥ (इति)

आमता सविकारजल्पितानीत्यपिशब्दार्थः, हुरलंकारे—लिङ्ग चिह्नं मोहस्यानर्थदण्डत्वात् निष्फलप्रायारम्भप्रवृत्तेरिहाप्यनर्थजनकत्वेन च, जिनदासस्येव। ध० र०। इत्युक्त शीलवतो बालक्रीडापरिहार इति पञ्चमो भेदः।

सम्प्रति पुरुषवचनाभियोगपरित्यागलक्षण षष्ठ शीलभेदमभिधित्सुर्गाथोत्तरार्द्धमाह—

फरुसवयणाभियोगो, न संमओ सुद्धधम्माणं ॥ ४१ ॥

परुषवचनेन 'रे दरिद्र ! दासीपुत्रे' त्यादिनाऽभियोग आह्वानं न समतो-नोचितः शुद्धधर्माणां प्रतिपन्नजिनमतानां धर्महानिधर्मलाघवहेतुत्वात्।

तत्र धर्महानिः-

"फरुसवयणेण दिणतव-महिक्खिवंतो य हणइ मासतवं।
वरिसतव सवमाणो,हणइ हणतो य सामन्नं।१।' इति वचनात्।

धर्मलाघवं पुन "अहो धार्मिका ! परपीडापरिहारिणः ! सविवेकाश्च श्रावका यदेव ज्वलदङ्गारोत्कराकारा गिरो गिरन्ती"त्यादि लोकोपहासात्।

तथा—

"अप्रियमुक्ताः पुरुषाः, प्रवदन्ति द्विगुणमप्रियं यस्मात्।
तस्मान्न वाच्यमप्रिय-मप्रियमश्रोतुकामेन ॥ १ ॥

विरज्यते परीवारो-नित्य कर्कशभाषिणः ।
परिग्रहे विरक्ते च प्रभुत्वं हीयते नृणाम् ॥ २ ॥

किंच—

अशिक्षितात्मवर्गेण, ग्लानि यानि यतः प्रभुः ।
अत शिक्षा प्रदातव्या, प्रत्यह मृदुभाषया ॥ ३ ॥
स्वाधीने माधुर्ये, मधुराक्षरसंभवेषु वाक्येषु ।
किंनाम सत्त्ववन्त, पुरुषा परुषाणि भाषन्ते ॥४॥" इत्यादि।
अत एव श्रीवर्द्धमानस्वामिना महाशतकमहाश्रावक स-त्येऽपि परुषे जल्पिते प्रायश्चित्त चाहितम् इति । मतान्तरे पुनरदुराराध्यताभिधानं षष्ठं शील तदप्यपरुषभाषित्वेन संगृहीतमेव ।

महाशतकसंविधानकं त्विदम्—

रायगिहपुरसरोवर-विभूसहा गिहवई जलरुह व्व ।
सिरिनिलओ भमरहिओ, नालस्स पय महासयगो ॥ १ ॥
अट्ठट्ठकणयकोडी-निहिवुड्ढिपवित्थरप्पउत्ताओ ।
दसगोसहस्सपरिग-या तस्स (चेव) अट्ठ वया ॥ २ ॥
रेवइपमुहा तेरस-भज्जाओ तत्थ रेवईए उ ।
पिउगेहसंतियाओ, कोडीओ अट्ठ कणगस्स ॥ ३ ॥
दसगोसहस्समाणा, अट्ठवया सेसयाण पिउहरिया ।
इक्किक्कणयकोडी-दसगोसहस्सो पुढो य वओ ॥ ४ ॥
अह तत्थ समोसरिओ, गुणसिलए चेइए जिणो वीरो ।
वंदणवडियाइगओ, पउरेहि सम महासयगो ॥ ५ ॥
नमिऊण तिहुयणगुरु, उचियट्ठाणे निविट्ठओ एसो ।
भवय पि अभयनिस्स-दसुवर कहइ इह धम्मं ॥ ६ ॥
इह दुलह गिहिधम्म, लहिउं सावयजणेण पइदिवसं ।
तस्स विसुद्धिनिमित्त दिणचरिया इह विहेयव्वा ॥ ७ ॥

तथाहि—

सुत्तविउद्धो सड्ढो, सम्म सुमरिज्ज पचनवकारं ।
जाइकुलदेवगुरुध-म्मसगयं अह विचिंतिज्जा ॥ ८ ॥
तो छव्विहमावस्सय-मणुट्ठिउ न्हाइउं च दिवसमुहे ।
नियवत्थे मुहकोसं, काउ पूइज्ज गिहबिंबं ॥ ९ ॥
पच्चक्खाण काऊ-ण इड्ढिपत्तो महाविभूईए ।
गच्छिज्ज जिणिंदगिहे, पविसिज्ज तेहि समयविहिणा ॥१०॥
पूएवि जिणे वदि-ज्ज तयणु वन्दिज्ज सुगुरुपासम्मि ।
काऊण तेसिं विणय, पच्चक्खाणं च पयडेउ ॥ ११ ॥
धम्म सुणिज्ज सम्म, सुद्ध विति गिहागओ कुज्जा ।
मज्झण्हे पुण पूय, विहिज्ज जिणनाहपडिमाए ॥ १२ ॥
पडिलाभिज्ज मुणिंदे, फासुयएसणिय असणदाणेण ।
साहम्मियवच्छल्ल, करिज्ज दीणाइअणुकंपं ॥ १३ ॥
बहुवीयणंतकाया—इवज्जिय भोयण तओ कुज्जा ।
वंदे वि जिणवरिंदे, गुरुणो य विहिज्ज सवरण ॥ १४ ॥
तो सत्थरहस्साइं, कुसलमईहिं समं वियारिज्जा ।
इगभत्तामत्तो पुण, भुंजिज्ज दिणट्ठमे भागे ॥ १५ ॥
सझासमए गिहचे—इयाइँ पूएवि पुणवि वंदिज्जा ।
आवस्सयं वि हेउ, करिज्ज सज्झायमेगग्गो ॥ १६ ॥
नियमाणुसारओ तत्तो, कहिज्ज धम्मं गिहागओ उचिय ।
पाय विसयविरत्तो, सील पालिज्ज पव्वेसु ॥ १७ ॥
कयन्नउसरगमाई, सावज्ज चइय गढिमहिएण ।
पचनमुक्कारपरो, थेव सेविज्ज तो निद्द ॥ १८ ॥
निद्दाविगमे चिंति-ज्ज विसमविससमनिभ विसयसुक्खं ।
सुरसिवपुरगमणगेहं, एवं च मणोरहे कुज्जा ॥ १९ ॥
सिरिअरिहंतो देवो, सुनाणचरणा सुसाहुणो गुरुणो ।
तत्त जिणपन्नत्तं, भवे भवे इय मह हविज्जा ॥ २० ॥
जिणधम्मवासियमई, चेडो वि वरं हविज्ज मह्कुलं ।
जिणधम्मेण विमुक्को, कयावि मा चक्कवट्टी वि ॥ २१ ॥
मलमलिणतणू जगमलि-णचीयरो सव्वसंगपरिमुक्को ।
महुयरवित्तिपहाणो, कया करिस्सामि मुणिचरियं ॥ २२ ॥
चइउ कुसीलसंग, गुरुपयपंकयरयं परिफुसंतो ।
जोग अब्भसंतो, भवबुच्छेयं कया काहं ॥ २३ ॥
अंकट्ठियहरिणसिसुं, वणम्मि पउमासणेण आसीणं ।
वुड्ढा मिगजूहपड्ढ, अग्घाइस्सन्ति मं कइया ॥ २४ ॥
मित्ते सत्तुम्मि मणि-म्मि लेट्ठुए कंचणम्मि पाहाणे ।
मुक्खे भवे भमिस्सं, कया अह निव्विसेससमई ॥ २५ ॥
एव पइदिणकिरियं, कुणमाणो माणवो निहियमाणो ।
गिहिवासे वि वसंतो, आसन्न कुणइ सिद्धिसुहं ॥ २६ ॥
इय सुणिय महासयगो, आणंदो विव गहित्तु गिहिधम्मं ।
तुट्ठो सगिहम्मि गओ, विहरइ अन्नत्थ सामी वि ॥ २७ ॥
तस्ससरगवसेण वि, पाविट्ठा रेवई न पडिबुद्धा ।
मज्जरसपिसियगिद्धा, खुद्दा भणियं धरे लुद्धा ॥ २८ ॥
अइविसयगिद्धिगहिला, सा अन्नदिणम्मि नियसवत्तीओ ।
छ स्सत्थपओगेणं, छ च्चं हणइ विसपओगेणं ॥ २९ ॥
दुपयचउप्पयधणकंच-णमाइ तासिं संतियं लेइ ।
बहुपाणघयाणी कू—रमाणसा चिट्ठइ सयावि ॥ ३० ॥
वुट्ठे य अमाघाए, पलमलहंती कयावि तो एसा ।
माराविय सवयाओ, आणावइ गोणपायदुगं ॥ ३१ ॥
चउदसवरिसवसाणे, कुडुंबभारे ठवित्तु जिट्ठसुयं ।
पोसहसाल पविसइ, विरत्तचित्तो महासयगो ॥ ३२ ॥
सा मज्जपाणमत्ता, हावविलासाइविविहभावेहिं ।
तं उवसग्गइ बहुसो, अहियासइ सुट्ठु स महप्पा ॥ ३३ ॥
सम्म समणोवासग—पडिमा इक्कारसा वि फासेइ ।
नाऊण चरिमसमयं, विहिणा पडिवज्जए ऽणसणं ॥ ३४ ॥
सो सुहभाववसुप्प-न्न ओहिनाणेण लवणजलहिम्मि ।
उत्तरवज्जाहिसासु, नियइ पुट्ठो जोयणसहस्सं ॥ ३५ ॥
उत्तरओ हिमवंत, हिट्ठा रयणाइलोलुयं नरयं ।
चुलसीवाससहस्स-ट्ठिइय जाणेइ पासेइ ॥ ३६ ॥
इत्तो य मज्जमत्ता, सा पावा रेवई तहिं पत्ता ।
उवसग्गिउं पवत्ता, दुस्सहरागग्गिसंतत्ता ॥ ३७ ॥
तो किमियमेरिसी इय, वियक्कमाणेण ओहिनाणेण ।
नाय तीसे सयल, चरियं तह नरयगामित्तं ॥ ३८ ॥
ईसि कुविएण भणिया, हा पाविट्ठे ! निकिट्ठदुच्चिट्ठे ! ।
निल्लज्जे ! अज्जवि पा-व पुंजमज्जेसि केवइय ॥ ३९ ॥
जं सत्तरत्तअन्तो, आलस्सयवाहिणा समभिभूया ।
मरिऊण न गमिस्ससि, निरयावासम्मि लोलुयए ॥ ४० ॥
इय सुणिय अवगयमया, अहकुविओ अज्ज मे महासयगो ।
मरणभयवेवियंगी दुहियमणा सा गया गेहे ॥ ४१ ॥
इत्तो य तत्थ पत्ते-णं वीरनाहेण गोयमो भणिओ ।
तं वच्छ गच्छ पभणसु, मह वयणेणं महासयगं ॥ ४२ ॥
भद्द ! न कप्पइ उत्तम-गुणाणं सड्ढाण भासिउं फरुसं ।

परपीडाए जणग, विसेसओ उत्तमट्ठम्मि ॥ ४३ ॥
ता तस्स तुम दुब्भा-सियस्स गिण्हाहि भद्द ! पच्छित्त ।
तत्तो तह त्ति भणिउ, गोयमसामी तहिं पत्तो ॥ ४४ ॥
कहिओ पहुआएसो, सवेगगओ तओ महासयगो ।
वदित्तु गोयमपहु, आलोयइ तं अईयार ॥ ४५ ॥
पडिवज्जइ पच्छित्त, तो पत्तो गोयमो पहुसमीवे ।
इयरो वि समाहिजुओ, सुमरतो वीरपयकमल ॥ ४६ ॥
कयसट्ठिभत्तछेओ, विहिणा मरिउं सुहम्मकप्पम्मि ।
अरुणाभम्मि विमाणे, चउपलियठिई सुरो जाओ ॥ ४७ ॥
तत्तो चविय विदेहे विसिट्ठदेहो लहित्तु चारित्तं ।
स महासयगस्स जिओ, अफरुसभासी सिवं गमिही ॥४८॥
महाशतक आलपन् पुरुपवाक्यमालोचनां,
गणाधिपतिगौतमाद् भुवनभानुना ग्राहित ।
इति स्फुटमवेत्य भो विमलशीलभाजो जना !,
सुधामधुरमुत्तमं वदत सगत तद् वच' ॥ ४९ ॥ "

समर्थित शीलवत परुपवचनाभियोगत्याग इति षष्ठो भेद् । ध०र०२ अधि० २ लक्ष० । स्था० । " कुरडरडत्तणदुब्भगाई,वज्झत्तणि दुव्विसकन्नगाई । जम्मतरे खंडियसीलभावा, नाऊण कुज्जा दढसीलभाव ॥ १ ॥ " कल्प० १ अधि० ४ क्षण । शील च सदाचाररूपमष्टादशशीलाङ्गलक्षणम् ब्रह्मवत् रूपं चेति त्रिविध यदुच्यते । ग० २ अ० । स्वभावे, उत्त० १३ अ० । प्रकृतौ, पं० चू० २ कल्प । स० । फलानपेक्षप्रवृत्तौ, स० ।

सीलंग-शीलाङ्ग-न० । शीलं-समाधानं तस्याङ्गानि करणानि । दर्श० ४ तत्त्व । चरणांशेपु, पञ्चा० १४ विव० । पृथिवीकायसमारम्भपरित्यागादिपु, आव० ४ अ० । (शीलाङ्गानां परिमाणम् ' अट्ठारससीलंगसहस्स ' शब्दे प्रथमभागे २५१ पृष्ठे उक्तम् ।) " जोए करणासन्ना, इदियभोगाइसमणधम्मे य । सीलङ्गसहस्साण , अट्ठारसगस्स निप्फत्ती ॥ १ ॥ " ध०र० ३ अधि० ७ लक्ष० । सथा० । दर्श० । (अत्रत्या स्थापना ' गुरुकुलवास ' शब्दे तृतीयभागे ९४० पृष्ठे उक्ता ।)

सीलंगजुय-शीलाङ्गयुत-त्रि० । चरणांशयुते, पञ्चा० ४ विव० ।

सीलंगायरिय-शीलाङ्काचार्य -पुं० । तत्त्वादित्यापरनाम्नि आचार्ये, येन स० ७९८ वर्षे आचाराङ्गटीका वाहरिगणिसाहाय्येन कृता । आचा० २ श्रु० ४ चू० । सूत्रकृताङ्गटीकाऽपि तेनैव वाहरिसाधुसहाय्येन चक्रे । आचा० । अयं श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणस्य शिष्य आसीत्, अस्य कोट्याचार्येत्यपर नाम । जै० इ० ।

सीलकरण-शीलकरण-न० । अनुष्ठानसेवने, प्रश्न० ४ सव० द्वार ।

सीलकलिय-शीलकलित-त्रि० । सुशीलतया परिहारविरते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

सीलखलियपण्णवणा-शीलस्खलितप्रज्ञापना-स्त्री० । शीलस्खलिताना व्यामोहिताना यथावस्थितार्थप्ररूपणायाम् , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सीलगुण-शीलगुण-पुं० । शीलं समाधानं तदेव गुण शीलगुण । समाधानरूपे गुणे, प्रश्न० १ संव० द्वार । आचा० ।

सीलगुणोववेय-शीलगुणोपपेत-त्रि० । शील चारित्र तदेव गुणो, यद्वा-गुणः पृथगेव ज्ञान, तत शीलगुणेन शीलगुणाभ्यां वा चारित्रज्ञानाभ्यामुपपेता' शीलगुणोपपेता. । ज्ञानिपु सयतेपु, उत्त० १ अ० ।

सीलऽऽड्ढ-शीलाढ्य-त्रि० । अष्टादशसहस्रब्रह्मचर्यभेदै शीलैः पूर्णे, उत्त० १९ अ० ।

सीलपरिघर-शीलपरिगृह-न० । चारित्रस्थाने, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

सीलभंग शीलभङ्ग-पुं० । ब्रह्मव्रतनाशे, व्य०७ उ० । (सयतीनां ब्रह्मव्रतभङ्ग. खयायारशब्दे' तृतीयभागे७१५पृष्ठे उपापादि ।)

सीलभद्द-शीलभद्र-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये , यच्छिष्येण चन्द्रसूरिणा सवत् ११७४ वर्षे निशीथचूर्णेर्विंशतितमोद्देशकस्य व्याख्या निर्ममे । नि० चू० २ उ० ।

सीलभूय-शीलभूत-त्रि० । शील चारित्र भूतः प्राप्तो य. स शीलभूत. । शीलयुक्ते, उत्त० २७ अ० ।

सीलमंत-शीलवत्-त्रि० । शीलमस्यास्तीति शीलवान् । आव० ३ अ० । आयतनसेवादिषड्विधशीलयुक्ते श्रावके, ध० २ अधि० ।ध० र० । (शीलवत्स्वरूपं द्वितीयलक्षणं 'सावग' शब्दे अस्मिन्नेव भागे प्रतिपादितम् ।) सदाचारे, उत्त० ७ अ० । शीलयुक्ते, पं० व० १ द्वार । अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । सामान्येन लाघवयोगविरतो वा शीलवान्भण्यते । सूत्र० ७ अ० । य. प्राशुकमुद्गमादिदोषरहितमाहार भुङ्क्ते त शीलवन्त वदन्ति तज्ज्ञा. । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

सीलरयणसूरि-शीलरत्नसूरि-पुं०।पाञ्चालगच्छीयजयकीर्तिसूरिशिष्ये, तेन च सवत्-१४९१ वर्षे श्रीमेरुतुङ्गसूरिकृतमेघदूतस्य टीका कृता । जै० इ० ।

सीलवाइ-शीलवादिन्-पु० । शीलवन्तमात्मानं वादयितुं शील यस्य स शीलवादी । कुशले शीलवत्त्वख्यापके , सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

सीलवित्ति-शीलवृत्ति-स्त्री० । हिंसानृतादत्ताब्रह्मपरिग्रहविरमणकुशलानुष्ठानवर्तने, हा० २५ अष्ट० ।

सीलव्वय-शीलव्रत-न० ।अणुव्रते,आ० क० १ अ० । स० । दशा० । भ० । औ० ।

सीलसागर-शीलसागर-पुं० । शीलेन सागर इव शीलसागर । शीलवता प्रधाने, आ० म० १ अ० ।

सीलायार-शीलाचार-पुं० । शील समाधिस्तत्प्रधानस्तस्य वाऽऽचारोऽनुष्ठानम् ।शीलेन वा स्वभावेन वा आचरणे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सीलायारसमण्णिय-शीलाचारसमन्वित-त्रि० । शीलदोषरहिते, व्य० १ उ० ।

सीलेस-शीलेश-पु० । शीलं समाधनं तत्र निश्चयत प्रकर्षप्राप्त समाधानरूपत्वात् सर्वसंवरस्तस्तस्य सर्वसवररूपस्य शीलस्येश शीलेश । शैलेशीमवस्था प्रतिपन्ने, विशे० ।

सीवण-सीवन-न०। सूच्या वस्त्रखण्डसन्धाने, नि०चू०१२उ०। आचा०।(अचेलस्य स्फुटितवस्त्रस्य वस्त्रसीवनार्थं सूच्यादियाचनम् 'अचेलपरिसह' शब्दे प्रथमभागे १८१ पृष्ठे उक्तम्।)

सीस-शिष-धा०। विशेषणे, "रुषादीनां दीर्घः" ॥८।४।२३६॥ इति स्वरस्य दीर्घः। सीसइ। शिष्यते। प्रा० ४ पाद।

शीर्षन्-न०। "सर्वत्र लरामचन्द्रे" ॥८।२।७९॥ इति रलोपः। "लुप्तयरवशषसां शषसां दीर्घः" ॥८।१।४३॥ इति स्वरस्य दीर्घः। प्रा०। शिरसि, आ० चू० १ अ०। मस्तके, दर्श० ४ तत्त्व। प्रज्ञा०। आचा०। उत्त०।

शिष्य-त्रि०। शासितुं शक्यः शिष्यः। उत्त०। शिक्षाधारके, उत्त० २० अ०। स्वदीक्षिते, व्य०। उपाध्यायस्योपासके, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। शिष्ययोग्यतायां गोणयादयो दृष्टान्ताः। विशे०।

अथ भाषक-विभाषक-वार्तिकविद एवान्यथा प्रतिपिपादयिषुराह—

ऊणं सममहियं वा, भणियं भासंति भासगाईया।
अहवा तिण्णवि साहे-ज कट्ठकम्माइणाएहिं ॥१४२४॥

अनुयोगाचार्येण यद् भणितं—व्याख्यातं तस्मादून योऽन्यस्य भाषते—व्याचष्टे स भाषक उच्यते। तद्व्याख्यातस्य सम तु भाषमाणो विभाषकः। प्रज्ञातिशयवांस्तदधिकं भाषमाणो वार्तिककृदिति। अथवा-किमेतेन बहुना?, त्रीनप्येतान् भाषकादीननन्तरवक्ष्यमाणकाष्ठकर्मादिभिर्ज्ञातैरुदाहरणैः साधयेत्-कथयेदिति। अनन्तरनिर्युक्तिगाथाप्रस्तावनेयम्।

तान्येव काष्ठकर्माद्युदाहरणान्याह—

कट्ठे पोत्थे चित्ते, सिरिघरिए पोंड-देसिए चेव।
भासग-विभासए वा, वत्तीकरणे य आहरणा ॥१४२५॥

'काष्ठ' इति काष्ठविषयो दृष्टान्तः। यथा काष्ठे कश्चिद् रूपकार आकारमात्रमेवोन्मीलयति, कश्चिद् तु तत्रैव स्थूलावयवं रूपं किञ्चिद् निष्पादयति, अपरस्तु सुविभक्तविचित्रोत्कृष्टनि शेषाङ्गोपाङ्गावयवयुक्तं निर्वर्तयति। एवं काष्ठकल्पं सामायिकादिसूत्रम्। तत्र भाषकः किञ्चिदर्थमात्रमेव व्याचष्टे। विभाषकस्तु तस्यैवानेकप्रकारैरर्थमाख्याति। वार्तिककारस्तु निरवशेषैरपि व्याख्याप्रकारैस्तदर्थं प्रतिपादयति। पुस्तं लेप्यम्, तद्दृष्टान्तेऽपि काष्ठवदेव सर्वं वाच्यम्। चित्रदृष्टान्ते तु-यथा कोऽपि चित्रकारो वर्तिकाभिः कुड्यादिषु रूपस्याकारमात्रं लिखति। कश्चित्तु तत्रैव हरितालादिवर्णकैर्गौरवर्णादिभावान् दर्शयति। कश्चित्तु निरवशेषानपि तद्गतभावान् सत्यापयति। दार्ष्टान्तिकयोजना तु तथैवेति। श्रीगृहं भाण्डागारम्, तदस्यास्तीति श्रीगृहिको भाण्डागारिकः। तत्र कोऽप्यसौ 'अत्र भाजने रत्नानि सन्ति' इत्येतावन्मात्रमेव जानाति, अपरस्तु तज्जाति-मानेऽपि वेत्ति, अन्यस्तु सर्वांस्तद्गुण-दोषानप्यवबुध्यत एव। एवं प्रथम-द्वितीय-तृतीयश्रीगृहिकतुल्या यथासंख्यं भाषक-विभाषक-वार्तिककराः विज्ञेयाः। पाण्डमविकासितापद्म कमलम्। तच्च यथेषद्विकसिता-ऽर्धविकसित-सर्वविकसितभेदात् त्रिधा भवति, एवं भाषकादिव्याख्यानमपीति। देशनं देशः कथनं सोऽस्यास्तीति देशिकः, तत्र यथा कश्चिद् देशिकः पन्थानं पृष्टो दिङ्मात्रोपदेशेनैव तं कथयति, कश्चित्तु तद्व्यवस्थितग्राम-नगरादिभेदेन,अपरस्तु समस्तानद्गुस्थगुण-दोषाख्यानद्वारेणापि तमुपदिशति। दार्ष्टान्तिकयोजना तथैव। एवमेतानि भाषक-विभाषक-व्यक्तीकरविषयाण्युदाहरणानि प्रतिपादितानि। इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः।

विस्तारार्थं भाष्यकार आह—

पढमो रूवागारं, थूलावयवोवदंसणं बीओ।
तइओ सव्वावयवे, निद्देसे सव्वहा कुणइ ॥१४२६॥
कट्ठसमाणं सुत्तं, तदत्थरूवेगभासणं भासा।
थूलत्थाण विभासा, सव्वेसिं वत्तियं नेयं ॥१४२७॥

प्रथमगाथाया प्रथम-द्वितीय तृतीयशब्दवाच्यो रूपकारः, द्वितीयगाथाया तु दार्ष्टान्तिकयोजना। तत्र काष्ठस्थानीय सूत्रम्। 'तदत्थरूवेगभासण' ति तस्य च सूत्रस्यार्थस्तदर्थस्तस्य चानन्तरूपत्वाद् यदेकरूपभाषण सा भाषा—स भाषकव्यापार इत्यर्थः, स्थूलार्थाना तु कियतामपि भाषण विभाषा, सर्वेषां तु निरवशेषाणामर्थानां भाषणं वार्तिकं ज्ञेयमिति।

पुस्तदृष्टान्तं व्याख्यातुमाह—

पोत्थ दिट्ठागारं, दिट्ठावयवं समत्तपज्जायं।
जह तह सुत्तं भासा, विभासणं वत्तियं चेव ॥१४२८॥

यथा पुस्त लेप्य प्रथममिन्द्रादिसंबन्धिरूपस्य दृष्टाकारमात्रं भवति। तत क्रमेण दृष्टावयवम्, ततोऽपि क्रमाद् निर्वर्तितनि शेषतत्पर्याय संपद्यते, तथा सूत्रमाश्रित्य भाषा, विभाषा, वार्तिकं च जघन्य-मध्यमो-त्तमव्याख्यानरूपं यथासख्य ज्ञेयमिति।

चित्रदृष्टान्तं विवरीषुराह—

कुड्डे वत्तीलिहियं, वण्णुब्भिन्नं समत्तपज्जायं।
जह तह सुत्तं भासा,विभासणं वत्तियं चरिमं ॥१४२९॥

यथा किञ्चिदिह मसृणं धवलं कुड्यम्। तच्च प्रथमं वर्तिकाभिस्तदालेख्यरूपकाणां लिखिताकारमात्रं भवति। ततश्च वर्णकोद्भिन्नं संपद्यते, हरितालादिवर्णकैरुन्मीलितं गौरवर्णादिस्वरूपं भवतीत्यर्थः। ततः समस्ता समाप्ता वा पर्याया आलेख्यधर्मा निष्पन्ना यत्र तत् समस्तपर्यायम्, समाप्तपर्यायं वा भवति—सर्वात्मना निष्पन्नं भवतीत्यर्थः। तथा च कुड्यस्थानीयं सूत्रम्। तत्र भाषा, विभाषा, वार्तिकं च चरमं तृतीयं भवतीति।

श्रीगृहिकोदाहरणार्थमाह—

भाणे जाई-माणं, गुणे य रयणाण मुणइ सिरिघरिओ।
जह तह सुयभाणे भा-सगादओ अत्थरयणाण ॥१४३०॥

श्रीगृहिको भाण्डागारिकः, स च यथा कश्चिद् 'रत्नान्यत्र ताम्रकरण्डिकादिभाजने सन्ति' इत्येवं मुणतीति सोपस्कारं व्याख्येयम्। अपरस्तु तेषामेव रत्नानां जातिं मानं च जानाति। अन्यस्तु ज्वरादिरोगापहर्तृत्व-क्षुत्-पिपासा-श्रमापनेतृत्वादींस्तद्गुणानपि वेत्ति। अथवा-अन्यथा योज्यते-यथा श्रीगृहिकः कश्चिद् रत्नभाजने मरकतादिकां तज्जातिं जानाति, अपरस्तु माष-वल्ल-गदियाणादिकादिकं तन्मानमपि बुध्यते, अन्यस्तु पूर्वोक्तांस्तद्गुणानपि समस्तान् वेत्ति,

तथा रत्नभाजनस्थानीये श्रुते स्तोक-बहु-बहुतरार्थवेत्तारो भाषकादयो विज्ञेया इति।

पोण्डदृष्टान्तव्याख्यामाह—

पोंडं विभिन्नमीसं, दरफुल्लं वियसियं विसेसेण।
जह कमलं चउरूवं, सुत्ताइचउक्कमप्पेवं ॥ १४३१ ॥

पोण्डमविकसितावस्थं कमलम्। तस्य च पश्चात् तिस्रो ऽवस्था जायन्ते, तद्यथा—'विभिन्नमीसं' ति ईषद्विभिन्नमित्यर्थः। तथा 'दरफुल्ल' त्ति अर्धविकासितमित्यर्थः। तथा 'वियसिय विसेसेण' त्ति सर्वात्मना विकासितमित्यर्थः। एवं च सति यथा कमलं चतूरूपमुक्तम्, तथा सूत्रादिचतुष्कमपि विज्ञेयम्—अविवृतं मुकुलितं सूत्रम्, तथा, अल्प-बहु-बहुतरव्याख्यानरूपास्तस्य तिस्रोऽवस्थाः, इत्येवं चतूरूपतेति।

अथ दैशिकदृष्टान्तव्याख्यामाह—

पंथो दिसाविभागो, गाम-पुराइगुण-दोसपेयालं।
जह पहदेसगमेवं, सुत्तं भासाइतियं च ॥ १४३२ ॥

इह पन्थाः कश्चिद् ग्राम-नगरादीनां भवति। तं च पृष्टः कोऽपि दिग्विभागमात्रमेव कथयति, अन्यस्तु तद्व्यवस्थितग्रामनगरादीन् कथयति, अपरस्तु मार्गगतनिःशेषगुण-दोषविचारमपि कथयति। इत्थं यथा पथो मार्गस्य देशनं त्रिविधं प्रवर्त्तते, एवं भाषा-विभाषा-वार्तिकलक्षणमपि त्रितयमवगन्तव्यम्। तदिह सर्वेष्वपि काष्ठादिदृष्टान्तेष्वयं परमार्थः—जघन्य-मध्यमो-त्कृष्टव्याख्यातारो भाषक-विभाषक-व्यक्तीकरा उच्यन्त इति। तदेवं जिनप्रवचनोत्पत्तिः प्रवचनैकार्थिकानि, तद्विभागश्चोक्तः।

अथ क्रमप्राप्तमपि द्वारविधिं 'दारविही वि महत्था तत्थ वि वक्खाणविहिविवज्जासो, मा होज्ज' इत्यादिपूर्वोक्तकारणादुल्लङ्घ्य, व्याख्यानविधिमेवेह तावदभिधित्सुः प्रस्तावनामाह—

एयस्स को णु जोग्गो, वत्तुं सोउं च केण विहिणा वा।
पुव्वोइयसंबंधो, वक्खाणविही विभागाओ ॥ १४३३ ॥

एतस्य च वक्ष्यमाणस्य 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिद्वारविधेः, सर्वस्य वाऽनुयोगस्य को वक्तुं योग्यो गुरुः?, कश्च श्रोतुं योग्यः श्रोता?, केन वा विधिनाऽसौ वक्तव्यः?, इत्येतदभिधानीयम्। अत एव तस्मात् प्रवचनैकार्थिकविभागादनन्तरं 'दारविही वि महत्था' इत्यादिना पूर्वप्रतिपादितसंबन्धो व्याख्यानविधिरुच्यते। पाठान्तरं वा 'विभासाउ त्ति' सामान्येन पूर्वमुद्दिष्टस्येदानीं व्याख्यानविधिविशेषेण भाषणं भाषा भणनं 'क्रियते' इति शेषः। इति गाथाष्टकार्थः। (१४३४ गाथा 'वक्खाण' शब्दे षष्ठे भागे उक्ता।)

विस्तरतस्तु गोदृष्टान्तं भाष्यकारः प्राह—

भग्गनिविट्ठं गोणिं, केउं दंतो व्व न सुयमायरिओ।
एवं मए वि गहियं, गिण्हह तुमं पि त्ति जंपंतो ॥१४३५॥
अविगलगोविक्केया, व जो वि मंदक्खमो सुगंभीरो।
अक्खेवनिण्णयपसं-गपारओ सो गुरु जोग्गो ॥१४३६॥
सीसो वि पहाणयरो, गेगंताणविधारियग्गाही।
सुपरिच्छियकेया इव, थाणवियारक्खमो इट्ठो ॥१४३७॥

कस्यापि धूर्तस्योपचितसर्वाङ्गसुन्दरस्वरूपाऽपि गौः कथमपि संस्थानीयप्रदेशे स्थिता भग्ना। ततश्चोत्थातुं न शक्नोति, इत्युपविष्टैव तिष्ठति। ततस्तेन धूर्तेन कस्यापि मुग्धस्य क्रेतुस्तथैवोपविष्टा मूल्येन प्रदत्ताऽसौ। स्वयं पुनरपसृतः। क्रेताऽपि यावत् तामुत्थापयति, तावद् न शक्नोत्युत्थातुमसौ। ततस्तथैव स्थिताऽन्यस्य मूल्येन दातुमारब्धा तेनेयम्। स च दक्षत्वादध-प्रभृत्यवयवानां निरीक्षणार्थं तामुत्थापयति मूलक्रेता च तत्कर्तुं न ददाति। वदति च मयोपविष्टैवेयं गृहीता, त्वमप्युपविष्टामेवामुं गृहाण। एवं च न कोऽपि गृह्णाति, उपहसति च तमिति। अथ प्रकृते योज्यते-भग्ना सती निविष्टा भग्ननिविष्टा तां भग्ननिविष्टां 'गोणिं' गां यथा मुग्धः कश्चिदुपविष्टामेव क्रीत्वोपविष्टामेवाऽन्यस्य ददत्-प्रयच्छन् क्रेतोपहासविषयत्वादयोग्यः। 'न सुयमायरिउ' त्ति एवमाचार्योऽपि 'न' नैव योग्यो भवति, किं कुर्वन्?, श्रुतं ददत्-प्रयच्छन्। कथंभूतः सन्?, इत्याह—'एवमविचारितमेव मयाऽप्येतत् श्रुतं गृहीतम्, त्वमप्यविचारितमेव गृहाण' इति शिष्यं प्रति जल्पन्निति। इत्थंभूतस्य सूरेः पार्श्वे न श्रोतव्यम्, सर्वाणि पदेषु निश्चयाभावेन मिथ्यात्वगमनप्रसङ्गात्। अतो व्याख्यानस्यायमयोग्योऽभिधीयत इति। कथंभूतः पुनर्योग्य?, इत्याह—'अविगलेत्यादि' सुगमा। तदेवं गुरोरयोग्यस्य योग्यस्य च स्वरूपमुपदर्श्य शिष्यस्यापि तदाह-'सीसो वी' त्यादि, शिष्योऽपि 'न' नैव प्रधानतरः, किन्त्वयोग्यः। कथंभूतः?, इत्याह-मुग्धगोक्रेतेवैकान्तेनाऽविचारितग्राही। यस्तु स्थानविचारक्षम आग्रहरहितो विचारयोग्ये वस्तुनि विचारकः स सुपरीक्षितगवादिक्रायिक इव सिद्धान्तश्रवणे इष्टो योग्यः शिष्य इति।

अथ चन्दनकन्थादृष्टान्तविवरणमाह—

जो सीसो सुत्तत्थं,
चंदणकंथं व परमयाईहिं।
मीसेइ गलियमहवा,
सिक्खियमाणेण स न जोग्गो ॥१४३८॥
कंथीकयसुत्तत्थो
गुरू वि जोग्गो न भासियव्वस्स।
अविणासियसुत्तत्था,
सीसाऽऽयरिया विणिद्दिट्ठा ॥१४३९॥

इह भावार्थस्तावत् कथानकेनोच्यते-द्वारवत्यां नगर्यां वासुदेवस्य राज्यं पालयतो गोशीर्ष-श्रीखण्डमय्यो देवतापरिगृहीतास्तिस्रो भेर्य आसन्, तद्यथा-साङ्ग्रामिकी, औद्भूतिकी, कौमुदिका। तत्र प्रथमा सङ्ग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाद्यते, द्वितीया पुनरुद्भूते- आगन्तुके कस्मिंश्चित् प्रयोजने सामन्ता-ऽमात्यादिलोकस्यैव ज्ञापनार्थं वाद्यते। तृतीया तु कौमुदीमहोत्सवाद्युत्सवज्ञापनार्थं वाद्यते। चतुर्थ्यपि गोशीर्ष-श्रीखण्डमयी भेरी तन्याऽऽसीत्। इयं तु षट्सु षट्सु मासेषु पर्यन्ते वाद्यते, यश्च तच्छब्दं शृणोति, तस्यातीतम्, अनागतं च प्रत्येकं षाण्मासिक-

मशिवमुपशमयति । इय च अकृतोपयोगिनी चतुर्थी भेरी । इति तदुत्पत्तिर्लिख्यते-

कदाचित् सौधर्मदेवलोके समस्ताऽमरसभापुरस्सरमभिहित शक्रेण-

"पेच्छ अहो ! हरिपमुहा, सप्पुरिसा दोसलक्खमज्झे वि ।
गिण्हंति गुण चिय तह, न नीयजुज्झेण जुज्झंति ॥ १ ॥
एयं असद्दहंतो, कोइ सुरो चिंतए किह णु एवं ।
सभवइ ज अगहिउ, परदोस चिट्ठए कोइ ॥ २ ॥
इय चिंतिऊण इहइ, समागओ तो विउव्वए एसो ।
बीभत्थकसिणवन्न , अइदुग्गंध मयगसुणय ॥ ३ ॥
तस्स य मुहे विउव्वइ, कुदुज्जलपवरदसणरिंछाली ।
नेमिजिणवन्दणत्थ, चलियस्स पहम्मि हरिणो य ॥ ४ ॥
त उवदसइ सुणय , मग्गं गधेण तस्स हरिसेन्न ।
सयल पि उप्पहेणं, वच्चइ कण्हो उण सरूवं ॥ ५ ॥
विविहं भावंतो पो-ग्गलाण वच्चइ पहेण तेणेव ।
दट्ठूण य सुणयसव , पभणइ गुरुयत्तणेणेव ॥ ६ ॥
अइमसिणकसिणवत्थं-चले व्व वयणे इमस्स पेच्छ अहो ।
मुत्तावलि व्व रेहइ, निम्मलजोण्हा दसणपंती ॥ ७ ॥
अह चिंतियं सुरेण , सच्च ज अमरसामिणा भणिय ।
नूण गुणं चिय गुरुया, पिच्छंति परस्स न हु दोस ॥ ८ ॥
अह अन्नदिणे देवा, तुरयं अवहरइ वज्झ हरिणो ।
मिल च तस्स सयलं, विणिज्जिय तेण कुटलग्गं ॥ ९ ॥
तो अप्पणा वि विण्हू, तुरगस्स कुढावयम्मि पडिलग्गो ।
अह देवेण भणियं, जिणिउं घेप्पंति रयणाइ ॥ १० ॥
तो जुज्झामो त्ति भणे-इ केसवा किं रहवरे अहयं ।
तो गेण्ह तुम पि रह, जेण समाण हवइ जुज्झ ॥ ११ ॥
नेच्छइ एयं देवो, तुरएहिं गयाइएहिं वि स जुज्झं ।
जा नेच्छइ ता भणिओ, हरिणा तो भणसु तुममेव ॥१२॥
देवेण तओ भणिय, परमुहा दो वि होइऊण पुणो ।
जुज्झामो पूयघाए-हिं भणइ तो केसवो देव ॥ १३ ॥
जइ एव तो विजिओ, अहयं तुमए तुरगम नेहि ।
जुज्झामि पुणो कहमवि,न हु परिसनीयजुज्झेण ॥ १४ ॥
सजायपच्चओ सो, पच्चक्खो होइऊण तो देवो ।
भणइ अमोह देवा-ण दंसण भणसु किं पि वर ॥ १५ ॥
अह भणइ केसवो असि-वपसमणिं तो पयच्छ मह भेरिं ।
दिन्ना य सुरेणागम-णवइयर साहिउ थ गओ ॥ १६ ॥
छएहं छएहं मासा-ण सा इ वाइजए तहिं भेरी ।
जो सुणइ तीए सद्द, पुव्वुप्पन्नाउ वाहीओ ॥ १७ ॥
नस्सति तस्स अवरा,ताउ(नइ)य न हु होंति जाव छम्मासा ।
अह अन्नया कयाई, वणिओ आगतुओ कोइ ॥ १८ ॥
दाहज्जरेण धणिय, अभिभूओ भेरिरक्खय भणइ ।
दीणारसयसहस्सं, गेण्हसु मह देसु पलमेग ॥ १९ ॥
भेरीए छिंदिऊण, दिन्न तेणावि लोभवसगेण ।
अन्नेण चदणेण य, भेरीए थिग्गल दिन्नं ॥ २० ॥
इय अन्नाण विदिंत-ण तेण कथीकया इमा भरी ।
अह अन्नया य असिवे हरिणा ताडाविया एसा ॥ २१ ॥
कंथत्तणेण तीसे, सद्दो सुव्वइ हरिसभाए वि ।
कथीकरणवइयरो, विन्नाओ केसवेण तओ ॥ २२ ॥
माराविओ य सो भे-रिरक्खओ तेण अट्ठम काउ ।
आराहिओ स देवो, अन्न भेरिं च सो देइ ॥ २३ ॥
अन्नो य केसवेणं, कओ तहि भेरिपालओ सो य ।
रक्खइ त जत्तेणं, लंहइ लाभ च तो हरिणो ॥ २४ ॥"

अथ गाथाक्षरार्थः कथ्यते—स शिष्योऽनुयोगश्रवणस्य न योग्य', किम् ?, इत्याह—य सूत्रम् , अर्थं वा चन्दनकन्थावत् परमतादिभिर्मिश्रयति । गलित वा विस्मृतं शिक्षितमानेन—शिक्षितत्वाहङ्कारेण परमतादिभिर्मिश्रयित्वा सपूर्णं करोति । इदमुक्तं भवति—यथा भेरीपालकेन गोशीर्षश्रीखण्डभेरी इतरचन्दनखण्डैर्मिश्रयित्वा कन्था कृता , एव य. शिष्य सूत्रमर्थं वा परमतेन , आदिशब्देन स्वकीयेनैव ग्रन्थान्तरेण मिश्रयित्वा कन्थीकरोति, अथवा—विस्मृत सूत्रमर्थ वा 'सुशिक्षित. स्वयमेवाहम् , नान्य कश्चित् कदाचित् किमपि पृच्छामि' इत्यहङ्कारेण परमतादिभिरपि मिश्रयित्वा सपूरण विदधाति , सोऽनुयोगश्रवणस्य न योग्य इति । एव कन्थीकृतसूत्रार्थो गुरुरप्यनुयोगभाषणस्य न योग्य , किन्त्वविनाशितसूत्रार्थाः शिष्याचार्या अनुयोगस्य योग्या विनिर्दिष्टा इति ।

अथ चेटिदृष्टान्तो विभिद्यते—

अत्थाणत्थनिउत्ता-भरणाणं जिणसेट्ठिधूय व्व ।
नं गुरू विहिभणिए वा,विवरीयनिओयओ सीसो।१४४०।
सत्थाणत्थनिउत्ता, ईसरधूया सभूसणाणं व ।
होइ गुरू सीसोऽवि य,विणिओएंतो जहाभणियं।१४४१।

भावार्थ कथानकेनोच्यते—वसन्तपुरे नगरेऽभिनव. श्रेष्ठी राज्ञा पदात् स्फेटितोऽन्यो नवश्रेष्ठी विहित । तथापि जीर्णश्रेष्ठिदुहितुर्नवश्रेष्ठिदुहित्रा सह कथमपि महती प्रीति संजाता। परं तथापि जीर्णश्रेष्ठिपुत्रिका हृदये कालुष्य न मुञ्चति—'वयमेतै. पदात् परिभ्रंशिता.' इति । अन्यदा च ते द्वे अपि जलाशये क्वचिद् गते। ततश्चाभरणानि तटे मुक्त्वा नवश्रेष्ठिदुहित्रा जीर्णश्रेष्ठिपुत्रिकया सहैव मज्जनार्थं प्रविष्टा। ततश्च जीर्णश्रेष्ठिदुहिता झगित्येव जलाद् निर्गत्य नवश्रेष्ठिदुहितृसत्कान्याभरणानि गृहीत्वा चलिता । इतरया तु जलमध्यगततयाऽप्युच्चै स्वरेण निषिद्धा । ततश्च 'का त्वम् ?' कानि च तानि त्वदीयाभरणानि ? मया घ्रातान्यात्मीयान्येव गृहीतानि, इत्यादि जल्पन्ती गाढमाक्रोशन्ती च सा गृह गता । कथितं च निजमातापित्रो अनुमत च तत् ताभ्याम्। भणिताऽसौ तूर्ष्णीं विधाय तिष्ठ त्वम् । तत् इतरयाऽपि निजपित्रोस्तत् कथितम् । याचितानि च ताभ्या तान्याभरणानि । न समर्पयन्ति चेतराणि । ततो राजकुलव्यवहारो जात । कारणिकैश्च साक्षी पृष्ट । न च कोऽप्यसौ सजात । ततस्ते द्वे अपि दाक्षिकैं आकार्य-जीर्णश्रेष्ठिदुहिता प्रोक्ता यदि त्वदीयान्याभरणानि, तर्हि झगित्येवामून्यस्माकमेव पश्यतां परिधार्य दर्शय । यावच्चैषा तानि परिधातुमारब्धा, तावदनभ्यासादर्नर्थस्थानोचितमाभरणमन्यत्र नियोजयति । यदपि किञ्चित् स्थाने नियुङ्क्ते तदप्यश्लिष्टमेवाभाति, क्षुभितत्वेन च न किञ्चिदसौ जानाति ततो नवश्रेष्ठिदुहिता तैरुक्ता । तया च सम्यस्ततया स्थानौचित्येन सर्वाण्यप्याभरणानि झगित्येव परिहितानि , श्लिष्टा चातीव शोभन्ते । ततस्तै पुनरपि सा प्रोक्ता—

ऽङ्गित्येव मुञ्च तानि, तया च क्रमेणावतार्य तथैव मुक्तानि। ततो ज्ञात कारणिकैः सद्भावः। दण्डितश्च शरीरनिग्रहेण राज्ञा जीर्णश्रेष्ठी। तद्दुहिता चाऽनर्थभाजनं संजाता। एवं जीर्णश्रेष्ठिदुहितेवाभरणानामस्थानेऽर्थाना नियोक्ता न गुरु --गुरुपदयोग्योऽसौ न भवतीत्यर्थः। ऐहिकामुष्मिकाणां नि संख्यानर्थानां भाजनमसौ सपद्यते। विधिभणिते च-गुरुणा यथावत् प्ररूपिते चाज्ञानादिना विपरीतयोजक शिष्योऽपि 'न' नैव श्रवणयोग्य, नापि कल्याणभागित्यर्थः। स्वस्थाने त्वर्थाना नियोक्ता, ईश्वरदुहितेव स्वभूषणाना, गुरुर्योग्यो भवति। शिष्योऽपि गुरुभिर्यथोपदिष्टं तथैव नियोजयन् श्रवणयोग्यः कल्याणभाक् च भवतीति।

श्रावकोदाहरणभाष्यम्--

चिरपरिचियं पि न सरइ, सुत्तत्थं सावओ सभज्जं व।
जो न स जोग्गो सीसो,गुरुत्तणं तस्स दूरेणं ॥१४४२॥

इह कथानकं 'सावगभज्जा' इत्यादौ कथितमेव। ततश्च यथा चिरपरिचितामपि स्वभार्यां परकलत्रबुद्ध्या भुञ्जानो न स्मरति,एव चिरपरिचितमपि सूत्रार्थं यः शून्यहृदयतया न स्मरति,स शिष्यो न योग्यः शिष्यत्वस्यापि, गुरुत्व तु तस्य दूरेणैवेत्यर्थः।

अथ बधिरगोदोहोदाहरणम्--

अन्नं पुट्ठो अन्नं, जो साहइ सो गुरू न बहिरु व्व।
न य सीसो जो अन्नं,सुणेइ परिभासए अन्नं ॥१४४३॥

बधिरकथानकं प्रागुक्तमेव। गाथाक्षरार्थस्तु सुगम। अथवा-बधिरश्चासौ गोदोहश्चेति कर्मधारयो न क्रियते, किन्तु-बधिरश्च गोदोहश्चेति द्वन्द्वः। ततो गोदोहो-ग्रामेयकः, तत्कथानक तु भिन्नमेवेह प्रागुक्त द्रष्टव्यम्। उपनयस्तु स्वयमभ्यूह्य। यो ग्रामेयकवद् यावन्मात्रमुक्तस्तावन्मात्रमेव स्वयं द्रव्यक्षेत्रकालाद्यौचित्यविरहितो वक्ति, स शिष्यत्वेऽप्ययोग्यः, गुरुत्व तु दूरेणैव तस्येति।

अथ टङ्कणकव्यवहारदृष्टान्तभाष्यम्--

अक्खेवनिएणयपसं-गदाणगहणाणुवत्तिणो दो वि।
जोग्गा सीसायरिया,टंकणवणिओवमा समए ॥१४४४॥
अहवा गुरुविणयसुय-प्पयाणभण्डविणिओगओ दो वि।
निज्जरलाभयसहिया,टंकणवणिओवमा जोग्गा॥१४४५॥

इहोत्तरापथे म्लेच्छदेशे कश्चिद् टङ्कणाभिधाना म्लेच्छा। ते च सुवर्णसङ्घेन दक्षिणापथायातानि क्रयाणकानि गृह्णन्ति, पर वाणिज्यकास्तद्भाषा न जानन्ति, तेऽपीतरभाषा नावगच्छन्ति। ततश्च कनकस्य क्रयाणकानां च तावत् पुञ्ज क्रियते, यावदुभयपक्षस्याऽपीच्छापरिपूर्त्तिः, यावच्चैकस्यापि पक्षस्येच्छा न पूर्यते, तावत् कनकपुञ्जात् क्रयाणकपुञ्जाच्च हस्त नापसारयन्ति, इच्छापरिपूर्त्तौ तु तमपसारयन्ति। एवं तेषा परस्परमीप्सितप्रतीप्सितो व्यवहार। अथोपनयगाथाद्वयं व्याख्यायते, तद्यथा-टङ्कणाश्च वणिजश्च तेषामुपमैव समये वर्णिता, यथैते टङ्कण-वणिज परस्परमीप्सितप्रतीप्सितव्यवहारेण व्यवहरन्ति, एवमाक्षेपनिर्णयप्रसङ्गदानग्रहणानुवर्त्तिनो द्वयेऽपि शिष्या आचार्याश्चानुयोगयोग्या भवन्ति। इदमुक्तं भवति--यथा टङ्कणा वणिजश्च परस्परेच्छापरिपूर्तिं यावत् सुवर्णस्य क्रयाणकस्य च पुञ्जान् करोति, एव शिष्योऽपि तावदाक्षेपं पूर्वपक्ष करोति यावत् सूत्रार्थमवबुध्यते, न पुनर्भयलज्जाऽहङ्कारादिभिरेवमेवानवगतेनाग्रतो याति, गुरुरपि तावद् निर्णयं प्रयच्छति यावच्छिष्य सूत्रार्थमवगच्छति। प्रासङ्गिक च तावद् गुरु कथयति यावन्मात्रं शिष्योऽवधारयति। शिष्योऽपि यथाशक्ति तत् सर्वं गृह्णातीति। एवं दानग्रहणानुवर्त्तिनो द्वयेऽपि शिष्याऽऽचार्या योग्या। तत्र दानं च ग्रहण च दानग्रहणे, प्रसङ्गस्य प्रसङ्गात्तस्य दानग्रहणे प्रसङ्गदानग्रहणे, आक्षेपश्च निर्णयश्च प्रसङ्गदानग्रहणे च तानि तथेति समासः, तदनुवर्त्तनशीला द्वयेऽपि शिष्याऽऽचार्या योग्या भवन्ति। प्रकारान्तरेणापि टङ्कणवणिगुपमान भावयति--'अहवे' त्यादि गाथा। अथवा-शिष्यैरौचित्यानतिक्रमात् कर्त्तव्यः सर्वोऽपि गुरुविनय, गुरुणाऽपि शिष्यौचित्येन कर्त्तव्य सर्वमपि श्रुतप्रदानम्। गुरुविनयश्च श्रुतप्रदानं च, ते एव भाण्डे ग्राह्यदेयक्रयाणके तयोर्विनियोगो विनिमयस्तस्माद् गुरुविनयश्रुतप्रदान--भाण्डविनियोगाद् द्वयेऽपि शिष्याऽऽचार्याः कर्मनिर्जरालाभसहिताष्टङ्कणवणिगुपमा अनुयोगस्य योग्या भवन्ति। विपर्यये तु विपर्यय इति। तदेवं 'गोणी चंदण' इत्यादिना योग्या अयोग्योश्चोक्ता शिष्याऽऽचार्याः।

इदानीं शिष्यस्य विशेषत एव योग्यायोग्यत्वमभिधित्सुः प्रस्तावनामाह--

अत्थी स एव य गुरू, होइ जओ तो विसेसओ सीसो।
जोग्गोऽजोग्गो भन्नइ,तत्थाजोग्गो इमो होइ ॥१४४६॥

य इदानीं श्रुतस्यार्थं शृणोति स एव शिष्यः कालान्तरेणार्थी अर्थयुक्तोऽवगतसूत्रार्थः सन् यस्माद् गुरुर्भवति नान्यः तस्माद् योग्योऽयोग्यश्च विशेषतः शिष्यो भण्यते। तत्रायोग्यस्तावदय वक्ष्यमाणो भवति। इति द्वादशगाथार्थः॥

कस्स न होही देसो, अणब्भुवगओ य निरुवगारी य।
अप्पच्छंदमईओ, पत्थियओ गंतुकामो य ॥ १४४७ ॥

कस्य गुरोर्न भविष्यति द्वेष्योऽप्रीतिकर शिष्य, अपि तु भविष्यत्येव। किं सर्व एव ?, न इत्याह--अनभ्युपगता श्रुतसम्पदाऽनुपसंपन्नो निवेदितात्मेत्यर्थः। अनुपसम्पन्नत्वेऽपि तथा निरुपकारी गुरूणामनुपकारकः सर्वथा गुरुकृत्येष्वप्रवर्त्तक इत्यर्थ, तत्राप्यात्मच्छन्दमतिः स्वाभिप्रायं कार्यकारीत्यर्थः। तथा, प्रस्थितो यो योऽन्य कोऽपि शिष्यो जिगमिषुः, तस्य तस्य द्वितीय। तथा गन्तुकामश्च सदैव गन्तुमना य आस्ते, वक्ति च 'कोऽस्य गुरो संनिधानेऽवतिष्ठते?, समर्प्यतामेतत् श्रुतस्कन्धादि, ततो यास्यामि, इत्येव चित्त एव सदैवास्ते। तदेवभूत शिष्योऽयोग्य एव श्रवणस्येति भाव। इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अनभ्युपगतादिस्वरूप भाष्यकारोऽप्याह-

भन्नइ अणब्भुवगओ-ऽणुवसंपन्नो सुओवसंपदया।
गुरुणो करणिज्जाइं,अकुव्वमाणो निरुवगारी। १४४८।

अप्पच्छंदमईओ, सच्छंदं कुणइ सव्वकज्जाइं ।
पत्थियओ संपत्थिय-विइज्जओ निच्चगमिउ व्व॥१४४९॥
गंतुमणो जो जंपइ, नवरि समप्पउ इमो सुयक्खंधो ।
पढिउं सोउं च तओ, गच्छं को अत्थए एत्थ ? ॥१४५०॥
सिद्धोऽपि गतार्थो । नवरं 'निच्चगमिउ व्व' त्ति यो य प्रस्थितस्तत्तद् द्वितीयः प्रस्थित उच्यते । क इव ?, नित्यगामीव पथिक इवेत्यर्थ ।

अथ योग्यशिष्यगुणान् दर्शयन्नाह—

विणओणएहिँ पंजलि-यडेहि छंदमणुयत्तमाणेहिं ।
आराहिओ गुरुजणो, सुयं बहुविहं लहुं देइ ॥१४५१॥
विनयो-वन्दनादिलक्षणस्तेनावनता विनयावनतास्तैरित्थंभूतैः सद्भिः, तथा पृच्छादिषु कृता प्राञ्जलयो यैस्ते कृतप्राञ्जलयस्तै, तथा छन्दो-गुर्वभिप्रायस्तमिङ्गिताकारादिना विज्ञाय तदध्यवसितश्रद्धानसमर्थनकरणकारणद्वारेणानुवर्त्तमानैराराधितो गुरुजनः श्रुतं सूत्रा-ऽर्थोभयरूप बहुविधमनेकप्रकारं लघु-शीघ्रं ददाति-प्रयच्छति । इति निर्युक्तिगाथार्थ ।

भाष्यम्—

विणओ णओऽभिवंदइ, पढए पुच्छए पडिच्छइ वा णं ।
पंजलियडो अभिमुहो, कयंजली पुच्छणाईसु॥१४५२॥
सद्दहइ समत्थेइ य, कुणइ करावेइ गुरुजणाभिमयं ।
छंदमणुयत्तमाणो, स गुरुजणाराहणं कुणइ ॥१४५३॥
उक्तार्थं ।

अथ प्रकारान्तरेणापि योग्याऽयोग्यशिष्यानुपदर्शयन्नाह—

सेलघणकुडगचालणि-परिपूणगहंसमहिसमेसे य ।
मसगजलूगबिराली-जाहगगोभेरि आहेरी ॥१४५४॥
'सेल' त्ति—मुद्गशैल -पाषाणविशेष, घनो-मेघ मुद्गशैलश्च घनश्च तदुदाहरण प्रथमम्, कुटो-घट, चालनी प्रतीता, परिपूणक-सुघरीचिटिकागृहम्, हंसमहिषमेषमशकजलूकाबिडालय प्रतीताः, जाहक -सेहुलक, गोभेरी, आभेरी चेति योग्यायोग्यशिष्यविषयाणि चतुर्दशैतान्युदाहरणानि इतिनिर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ।

उदाहरणं च द्विविध भवति चरितं, कल्पितं च । तत्रेह प्रथम कल्पितमुदाहरणम् । एतच्च भाष्यकारो विवृण्वन्नाह—

उल्लेऊण न सक्को, गज्जइ इय मुग्गसेलओऽरन्ने ।
तं संवट्टयमेहो, गंतुं तस्सोवरिं पडइ ॥ १४५५ ॥
दविउ त्ति ठिओ मेहो, उल्लोऽम्हि नव त्ति गज्जई सेलो ।
सेलसमं गाहिस्सं, निव्विज्जइ गाहगो एवं ॥ १४५६ ॥
इह क्वचिदरण्ये पर्वतासन्नप्रदेशे समन्ताद् निविडो मुद्गवद् वृत्तत्वश्लक्ष्णत्वादिधर्मयुक्तः किञ्चिद् भूतले निमग्न किञ्चित्तु प्रकाशश्चिकचिकायमानो वदरादिप्रमाणलघूपलरूपो मुद्गशैलः किलासीत् । स च गर्जति—साटोप जल्पति । कथम् ?, इत्याह—अहमार्द्रीकर्त्तुं जलेन भेत्तुं केनापि न शक्य इति । तच्च मुद्गशैलस्य सम्बन्धि गर्ववचः कुतश्चिद् नारदकल्पात् श्रुत्वा संवर्त्तको नाम महामेघः 'तद्गर्वमद्याहमपनयामि' इति सम्प्रधार्य त मुद्गशैल गत्वा सम्प्राप्य तस्यैवोपरि पतति—निरन्तर मुशलप्रमाणधाराभिर्वर्षतीत्यर्थ, संवर्त्तकमेघश्चोत्सर्पिण्या शुभीभवति, काले पूर्वदग्धभूम्याश्वासनार्थं वर्षति, इत्यागमे प्रतिपादनं । तस्य च सम्बन्धि जलमतीव भूम्यार्द्रीकर्तृ वासकं च भवति, इति विशेषणस्तस्येह ग्रहणम् । एव—सप्ताहोरात्राणि महावृष्टिं कृत्वा 'ठिओ मेहो' त्ति स्थितो वृष्टेरुपरतोऽसौ मेघः । कया बुद्ध्या ?, इत्याह—' दविउ ' ति—द्रावित खण्डशो नीता मयाऽसौ मुद्गशैल इत्यभिप्रायेणेत्यर्थ । पानीये चापसृते सुतरामुज्ज्वलीभूतोऽसौ चिकचिकायमानो मुद्गशैल पुनरपि गर्जति । कथम् ?, इत्याह—' उल्लोऽम्हि नव' त्ति—आर्द्रोऽस्म्यहं न वा ? इति सम्यग् निरीक्षस्व । भो पुष्करावर्त्तक ! किमित्येवमेव स्थितोऽसि तिलतुषत्रिभागमात्रमपि ममाद्यापि न भिन्न इति भाव । ततो लज्जितो विलक्षीभूत स्वस्थानमुपाश्रितो मेघ । तदेव मुद्गशैलोदाहरणमभिधायोपनयमाह—' सेलसमम ' त्यादि, यस्य वचनकोटिभिरपि चित्त न भिद्यते ; एकमप्यक्षरं तन्मध्यात् न परिणमतीत्यर्थ स एवंभूत शैलसमो, मुद्गशैलतुल्य इत्यर्थ, त तथाभूतं शिष्य ज्ञात्वाऽपि कश्चिद् ग्राहयतीति ग्राहको गुरु, "आचार्यस्यैव तज्जाड्यं, यच्छिष्यो नावबुध्यते । गावो गोपालकेनैव, कुतीर्थेनावतारिताः ॥१॥" इत्यादि श्लोकार्थविभ्रमितमतिर्गर्वाद् 'अहमर्मुं ग्राहयिष्ये इति प्रतिज्ञाय समागतो महता च संरम्भेणाऽध्यापयितुमारब्ध, तथापि स मुद्गशैलोपम शिष्योऽक्षरमपि न गृह्णाति । न च मनागपि स्वाग्रहग्रस्तत्वेन बुध्यते । ततश्चैव यथा पुस्करावर्त्तो तथैव सुचिरं क्लेशमनुभूय निर्विद्यते—पराजयते, ततो विलक्षीभूतो लज्जितश्च निवर्त्तते तद्ग्रहणादयमाचार्य इति । एवंभूतस्य च शिष्यस्य सूत्राऽर्थदाने आगमे प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

कुत ?, इत्याह—

आयरिये सुत्तम्मि य, परिवाओ सुत्तअत्थपलिमंथो ।
अन्नेसिं पि य हाणी, पुट्ठावि न दुद्धया वंझा ॥१४५७॥
एवं शैलसमस्यापि शिष्यस्य सूत्राऽर्थदाने प्रवृत्त आचार्ये, सूत्रेऽपि चागमे परिवादोऽवर्णवादो लोकसमुत्थो भवति, तद्यथा—अहो ! नास्य सूरे प्रतिपादिका शक्तिः, नापि तथाविधं किमपि परिज्ञान,यतोऽमुमप्येकं शिष्यमवबोधयितु न क्षम, आगमोऽप्यमीषा सबन्धी निरतिशयो युक्तिविकलश्च, इतरथा कथमयमेकोऽप्यस्माद् नावबुध्यते इत्यादि । तथा—सूत्राऽर्थयोरन्तरायसम्भवात् परिमन्थन-मर्दन विनाशनं सूत्राऽर्थपरिमन्थ, तच्छिक्षणप्रवृत्तस्य सूरेरात्मन. सूत्रपठनपरावर्त्तनव्याख्यानभङ्गो भवतीत्यर्थ । अपरं च—तद्ग्रहणप्रसक्ते सूरावन्येषा शिष्याणा सूत्राऽर्थहानि ; तद्ग्रहणभङ्ग इत्यर्थः । न च बहुनाऽपि कालेन तथाविधः शिष्यः किञ्चिदपि ग्राहयितु शक्य । कुत ? इत्याशङ्कयात्रार्थे दृष्टान्तमाह—' पुट्ठावी' त्यादि, नियमनेन नियन्त्र्य स्तनेषु करैर्बहुधा स्पृष्टाऽपि वन्ध्या गौर्न खलु दुग्धदा भवति एवं मुद्गशैलसम शिष्योऽपि ग्राहणकुशलेनापि गुरुणा ग्राह्यमाणोऽपि नाक्षरमपि गृह्णाति, ततस्तादृशस्य

सूत्रार्थौ न ग्राहयौ, ऐहिकाऽऽमुष्मिकक्लेशादिबहुदोषसंभवात्, इदानीं चेत्, तर्हि स्मरयोक्तप्रायश्चित्तभागिति। अत्राह—ननु प्रोक्तोऽसौ मुद्गशैलदृष्टान्तः, केवल पाषाणमेघादीनां जल्प, अभिप्रायपूर्विके च प्रवृत्तिनिवृत्ती इत्यलौकिकमेवेदम्। सत्यम्, किन्तु पूर्वमुनिभिरेवाऽऽोक्त प्रतिविधानम्। तद्यथा—" चरियं च कप्पियं चिय, आहरणं दुविहमेव पन्नत्तं। अत्थस्स साहणट्ठा, इंधणमिव ओयणट्ठाए ॥१॥ न वि अत्थि न वि य होही, उल्लावो मुग्गसेलमेहाणं। उवमा खलु एस कया, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥२॥" इत्यलं प्रसङ्गेनेति।

अथ मुद्गशैलप्रतिपक्षभूतं घनदृष्टान्तमाह—

वुट्ठे वि दोणमेहे, न कण्हभोमा पलोठए उदयं।
गहणधरणासमत्थे, इय देयमछि त्ति कारिम्मि॥१४५८॥

यावता वृष्टेनाकाशबिन्दुभिर्महती गर्गरी भ्रियते, तावत्प्रमाणजलवर्षी मेघो द्रोणमेघ उच्यते। तस्मिन् वृष्टेऽपि सति कृष्णा भूमिर्यत्र प्रदेशेऽसौ कृष्णभूमः प्रदेशस्तस्माद् न प्रलोठति बह्वपि तन्मेघजलं पतितं न लुठित्वाऽन्यत्र गच्छति, किन्तु तत्रैवान्तः प्रविशतीति भाव। एवं शिष्योऽपि स कश्चिद् भवति यो गुरुभिरुक्तं बह्वप्यवधारयति, न पुनरक्षरमपि पार्श्वतो गच्छतीति। एवंभूते च सूत्रार्थग्रहणावधारणासमर्थे शिष्ये सूत्रार्थयो. शिष्यप्रशिष्यपरम्पराप्रदानेनाव्यवच्छेदकारिणि देयं सूत्रार्थजातम्, नान्यस्मिन्ननन्तराभिहितमुद्गशैलकल्पे। इत्यन्वयव्यतिरेकात्मकत्वादेकमेवेदमुदाहरणम्।

अथ द्वितीय कुटोदाहरण विवृण्वन्नाह—

भाविय इयरे य कुडा, अपसत्थपसत्थभाविया दुविहा।
पुप्फाईहिँ पसत्था, सुरतेल्लाईहिँ अपसत्था ॥१४५९॥
वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थवम्मा उ होंति अग्गेज्झा।
अपसत्थअवम्मा वि य, तप्पडिवक्खा भवे गेज्झा॥१४६०॥
कुप्पवयणआसन्ने-हिँ भाविया एवमेव भावकुडा।
संविग्गेहिँ पसत्था, वम्माऽवम्मा य तह चेव ॥१४६१॥

कुटा-घटा, ते च तावद् द्विविधा-एके आपाकोत्तीर्णा नूतना अव्याप्रियमाणत्वादद्यापि पुष्पजलतैलादिनाऽभाविता, अन्ये तु व्याप्रियमाणत्वाद् भाविता। विशे०। (भावितविषय 'भाविय' शब्दे पञ्चमभागे उक्त।) तत्र ये प्रशस्तवाम्या. प्रशस्तभावं वमयितु शक्यास्तेऽग्राह्या भवन्ति, अनादेया', असुन्दरा इति यावत्। तथा येऽप्रशस्तभावं वमयितुमशक्या अप्रशस्तावाम्यास्तेऽप्यग्राह्या भवन्ति। 'तप्पडियक्खा भवे गेज्झ' त्ति—तेषां प्रशस्तवाम्यानाम्, अप्रशस्तावाम्यानां च ये प्रतिपक्षा प्रशस्ता वाम्या, अप्रशस्तवाम्याश्च ते ग्राह्या आदेया सुन्दरा भवन्ति। तदेवं द्रव्यकुटास्तावत् प्ररूपिता। भावकुटा अपि प्रशस्ताऽप्रशस्तगुणगणाधारत्वाच्छिष्यजीवा एवमेव भाविताऽभाविताद्भेदाद् द्रष्टव्या. तत्रैव पक्षे कुप्रवचनाऽऽसन्नादिभिर्भाविता 'अप्रशस्तभाविता उच्यन्ते' इत्यध्याहार.। ये तु संविग्नै साधुभिर्भावितास्ते प्रशस्ता. प्रशस्तभाविता इत्यर्थ.। 'वम्मा अवम्मा य तह चेव' त्ति—वाम्याऽवाम्यभावना—यथा द्रव्यकुटपक्षे तथैव भावकुटपक्षेऽपि द्रष्टव्येत्यर्थ। सा चैवम्—प्रशस्तभाविता वाम्याः, अप्रशस्तभाविताश्चावाम्या, एते उभयेऽप्यग्राह्याः। उक्तविपरीतास्तु ग्राह्या इति। तदेवमुक्तो भावितकुटपक्षः।

अथाभावितकुटपक्षमधिकृत्याह—

जे उण अभाविया ते, चउव्विहा अह वि सो गमो अन्नो।
छिड्डकुडभिन्नखंडे, सगले य परूवणा तेसिं ॥१४६२॥

ये पुनरभाविताः कुटास्ते छिन्नभिन्नखण्डसकलभेदाच्चतुर्विधा.। अथवा—भाविताऽभावितपक्षनिरपेक्ष एवायमन्यच्छिन्नभिन्नादिको गम-प्रकारो वर्तत इत्यर्थः। तमेवाह—'छिड्डकुडे' त्यादि, इह कुटो-घट कोऽपि तावच्छिद्रो भवति, बुध्ने सच्छिद्रो भवतीत्यर्थ.। अन्यस्तु भिन्नो राजिमान् भवति। तृतीयस्तु खण्डो भग्नकर्ण.। चतुर्थस्तु सकल परिपूर्ण एव भवति। एतेषां च चतुर्णामपि कुटभेदानां दार्ष्टान्तिकमधिकृत्य प्ररूपणा स्वयमेव कार्या, यथा कोऽपि शिष्य श्रुतग्रहणमाश्रित्य छिद्रघटकल्पो भवति, कश्चित्तु भिन्नघटकल्प इत्यादि वाच्यमिति।

अथ क्रमप्राप्तं चालन्युदाहरणमभिधित्सु मुद्गशैलच्छिद्रकुटचालन्युदाहरणाना परस्पराभेदोद्भावकशिष्यमतं च निराचिकीर्षुराह—

सेले य छिड्डचालणि, मिहोकहा सोउमुट्ठियाणं तु।
छिड्डाह तत्थ विट्ठो, सुमरिंसु सरामि नेदाणिं ॥१५६३॥
एगेण विसइ वीए-ण नीइ कन्नेण चालणी आह।
धन्नत्थ आह मेलो, जं पविसइ नीइ वा तुज्झं ॥१४६४॥

शैलच्छिद्रकुटचालन्युदाहरणैः प्रतिपादिता शिष्या अप्युपचारात् तथोच्यन्ते, तत्सादृश्यात्। ततश्च शैलच्छिद्रकुटचालन्यभिधानाना शिष्याणा गुर्वन्तिके व्याख्यान श्रुत्वा, उत्थायान्यत्र गताना मिथ परस्परं कथा समभवत्। कीदृशी ?, इत्याह—'छिड्डे' त्यादि, छिद्रघटकल्पच्छिद्र. शिष्यः प्राह। किम् ?, इत्याह-तत्र गुरुसमीपे उपविष्टस्तदुक्तमस्मार्षमहम्, इदानीं तु न किमपि स्मरामि। छिद्रघटा ह्येवंविध एव भवति। सोऽपि स्थानस्थितो मुद्गादिक प्रक्षिप्त धरति, अन्यत्र तूत्क्षिप्य नीतस्य तत्र प्राप्येन, अधश्छिद्रेण गलित्वा नि सृतत्वात्, अतस्तत्कल्पः शिष्यो, ऽपीत्थमाहेति भाव। छिद्रकुटकल्पेन शिष्येणैवमुक्ते चालनीकल्प. प्राह- 'एक्केणे' त्यादि, चालनीकल्प. शिष्यश्चलनी, स प्राह—भोश्छिद्रकुट! शोभनस्त्वम्, येन गुरुसमीपस्थेन त्वया तावदवधारित तद्वचः पश्चादेव विस्मृतम्, मम तु गुर्वन्तिकेऽपि स्थितस्यैकेन कर्णेन विशति, द्वितीयेन तु निर्गच्छति, न पुन किमपि हृदये स्थितम्। कणिक्कादिचालन्या अपि हि जलादिकमुपरिभागे निक्षिप्यते, अधोभागेन तु निर्गच्छति, न तु किमपि। संतिष्ठते, अतस्तद्रूपत. शिष्योऽपीत्थमेवाहेति भाव.। तदेवं छिद्रकुट—चालनीभ्यामेवमुक्ते मुद्गशैलः प्राह—'धन्नत्थे' त्यादि मुद्गशैलो वदति—धन्यावत्र युवाम्, यद्—यस्मात् कारणाद् युवयोस्तावत्कर्णयोर्गुरूक्त किमपि प्रविशति निर्गच्छति च। मम त्वेतदपि नास्ति, तदुक्तस्य सर्वथाऽपि सर्वे प्रवे-

शाभावात्, उपलस्यैवंविधत्वादेवेति । तदेवं चालन्यु-दाहरणस्य स्वरूपमुक्तम्, शैलच्छिद्रघटचालन्युदाहरणाना परस्पर विशेषश्चाभिहितः ।

अथ चालनीप्रतिपक्षमाह—

तावसखउर कठिणयं,
चालणिपडिवक्खो न सवइ दव्वं पि ।
परिपूणगम्मि, उ गुणा,
गलंति दोसा य चिट्ठंति ॥ १४६५ ॥

चालनीप्रतिपक्ष 'भवति' इति शेष । कीदृशः ? इत्याह-तापसाना भोजनादिनिमित्तमुपकरणविशेष 'खउरकठिणक' उच्यते । तच्च किल वश शुम्बादिकं च द्रव्यमतिश्लक्ष्णं कुट्टयित्वा कमठकाकार क्रियते । इदं चातिनिविडत्वात् द्रव्य, जलमपि प्रक्षिप्त न स्रवति, किन्तु सम्यग् धरति एव शिष्योऽपि यो गुरुभिराख्यात सर्वमेव धरति, न विस्मरति, स ग्राह्य, चालनीसमस्त्वग्राह्य इति भाव । अथ परिपूणकोदाहरणमाह—'परिपूणग'-इत्याद्युत्तरार्धम् । परिपूणको नाम सुघरीचिटिकाविरचितो नीडविशेष, तेन च किल घृत गाल्यते, ततस्तत्र कचवरमवतिष्ठते, घृत गलित्वाऽध पतति, एवं परिपूणकसदृश शिष्योऽप्युपचारात् परिपूणक । तत्र हि श्रुतसम्बन्धिनो गुणा सर्वेऽपि घृतवद् गलन्ति, दोषास्तु घृतगतकचवरवदवतिष्ठन्ते, श्रुतस्य दोषानेव गृह्णाति, गुणास्तु सर्वथा परिहरत्यसौ, अतोऽयोग्य इति भाव इति ।

अत्र प्रेर्यमुत्थाप्य परिहरन्नाह—

सव्वण्णुप्पामण्णा, दोसा हु न संति जिणमए केइ ।
जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्ज ॥१४६६॥

ननु सर्वज्ञप्रामाण्यात् सर्वज्ञोऽस्य प्रवर्तक इति हेतोर्जिनमते दोषा केचिदपि न सन्तीत्यर्थ, तत् कथमस्य कोऽपि दोषान् ग्रहीष्यति, असत्त्वादेव ? इति भाव । सत्यम्, किन्तु यद्यपि जिनमते दोषा न सन्ति, तथाऽप्यनुपयुक्तस्य गुरोर्यत् कथन व्याख्याविधान तदाश्रित्य दोषा भवयुरिति सम्बन्ध । अथवा-अपात्रम्-अयोग्य शिष्यमङ्गीकृत्य जिनमतेऽपि तदुत्प्रेक्षिता दोषा भवेयु, निर्दोषेऽपि जिनमतेऽपात्रभूता शिष्या असतोऽपि दोषानुद्भावयन्त्येवेत्यर्थ । तथा च ते चक्षारो भवन्ति । तद्यथा-

" पागयभासनिबद्ध, को वा जाणइ पणीय केणेय ।
किं वा चरणेण गु, दाणेण विणा उ हवइ त्ति ॥ १ ॥
कायावया य ताऽच्चिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।
मोक्खाहिगारियाण, जोइसजोणीहिं किं कज्ज ? ॥ २ ॥
को आउरस्स कालो, मइलवरधोयणे य को कालो ? ।
जइ मोक्खहेउ नाणं, को कालो तस्सऽकालो वा ? ॥ ३ ॥"

इत्यादि । असन्तश्च सर्वेऽप्यमी दोषा, " बालस्त्रीमूढमूर्खाणा, नृणा चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञै, सिद्धान्त प्राकृत कृत ॥ १ ॥ " " पुव्वभणियं पि ज वत्थु, भण्णए तत्थ कारण अत्थि । पडिसेहो य अणुन्ना, वत्थुविसेसोवलभो वा ॥ १ ॥ " इत्यादिना शास्त्रान्तरे विस्तरेण निराकृतत्वादिति ।

अथ हंसोदाहरणव्याख्यामाह-

अंबत्तणेण जीहाए, कूचिया होइ खीरमुदगम्मि ।
हंसो मुत्तूण जलं, आवियइ पयं तह सुसीसो ॥१४६७॥

दुग्ध च जल च मिश्रयित्वा भाजने व्यवस्थाप्य कोऽपि हंसस्य पानार्थमुपनयति, स च तन्मध्ये चञ्चु प्रक्षिपति । तस्य च जिह्वा स्वभावत एवाम्ला भवति । तेन च जिह्वाया आम्लत्वेन हेतुभूतेनोदकमध्यगत दुग्ध विलित्वा कूचिका बिन्दुरूपा बुद्बुदा भवन्तीत्यर्थ । ततश्च जलं मुक्त्वा तद् बुद्बुदीभूत दुग्धमापिबति हंस । तथा सुशिष्योऽपि गुरोर्जलस्थानीयान् दोषान् परित्यज्य दुग्धस्थानीयान् गुणान् गृह्णातीत्यर्थं इति ।

अथ महिषोदाहरणं विवृण्वन्नाह—

सयमवि न पियइ महिसो, न य जूहं पियइ लोडियं उदगं ।
विग्गहविगहाहि तहा, अत्थक्कपुच्छाहि य कुसीसो ॥१४६८

स्वयूथेन सम वनमहिषो जलाशये क्वचिद् गत्वा तन्मध्ये च प्रविश्योद्वर्त्तनपरावर्त्तनादिभिस्तथा तज्जलमालोडयति यथा कलुषित सद् न स्वयं पिबति, नापि तद्यूथम् । एव कुशिष्योऽपि व्याख्यामण्डलिकायामुपविष्टो गुरुणा, अन्येन वा शिष्येण सह विग्रह कलहमुदीरयति, विकथाप्रबन्ध वा किञ्चिच्चालयति, सबद्धासबद्धरूपाभिरनवरतमुपर्युपरिपृच्छाभिश्च तथा कथञ्चिद् व्याख्यानमालोडयति, यथा नात्मन किञ्चिद् पर्यवस्यति, नापि शेषविनेयानामिति ।

मेषोदाहरणमाह—

अविगोपयम्मि वि पिवे, सुढिओ तणुयत्तणेण तुंडस्स ।
न करइ कलुसं तोयं, मेसो एवं सुसीसो वि ॥ १४६९ ॥

जलभृते क्वचिद् गोष्पदेऽपि 'सुढिओ' त्ति-सङ्कुचिताङ्गो मेष ऊरणक पिबज्जलम्, न च तत् कलुष करोति । केन हेतुना ? इत्याह-तनुकत्वेनाग्रभागे श्लक्ष्णत्वेन तुण्डस्य-मुखस्येति । अग्रपादाभ्यामवनम्य तीक्ष्णेन मुखेन तथासौ जल पिबति यथा सर्वथैव कलुष न भवति । एव सुशिष्योऽपि तथा गुरो सकाशाद् निभृत श्रुत गृह्णाति यथा तस्य परिषदो वा न कस्यचिद् मनोबाधादिकं कालुष्य भवतीति ।

मशकजलूकोदाहरणद्वयविवृतिमाह—

मसउ व्व तुद जच्चा-इ एहिं निच्छुब्भए कुसीसो वि ।
जलुगा व अदूमंतो, पिबइ सुसीसो वि सुयनाणं ॥१४७०॥

यथा मशको जन्तूंस्तुदने-व्यथयति । ततश्च वस्त्राञ्चलादिभिस्तिरस्कृत्य दूरीक्रियते, तथा कुशिष्योऽपि जात्यादिदोषोद्घाटनैर्गुरु तुदन्-व्यथयमानो निष्कास्यते परिहियत इति । जलूका पुनर्यथाऽसृग् पिबति, नचासृग्मन्त व्यथयति, तथा सुशिष्योऽपि गुरुभ्य श्रुतज्ञान पिबति-गृह्णाति-न तु जात्युद्घाटनादिना दुनोतीति ।

बिडाल्युदाहरणमाह—

छड्डेउं भूमीए, खीरं जह पियइ दुट्ठमज्जारी ।

परिसदुट्ठियॉण पासे, सिक्खइ एवं विणयभंसी ।१४७१।

यथा दुष्टमार्जारी तथाविधस्वभावतया स्थाल्याः क्षीरं भूमौ छर्दयित्वा पिबति, न पुनस्तत्स्थम्। तथा च सति न तत्तस्यास्तथाविध किञ्चित् पर्यवस्यति । एवं विनयाद् भ्रश्यतीति विनयभ्रंशी-विनयकरणभीरु कुशिष्यो गोष्ठामाहिलवत् परिषदुत्थितानां विन्ध्यादीनामिव पार्श्वे शिक्षित-श्रुतं गृह्णाति, न तु गुरोः समीपे, तद्विनयकरणभयात् । इह च दुष्टमार्जारीस्थानीय कुशिष्य, भूमिकल्पस्तु परिषदुत्थिता शिष्या., छर्दनदुग्धपानसदृश तु तद्गतश्रुतश्रवणमिति ।

जाहकोदाहरणमाह—

पाउं थोउं थोउं, खीरं पासाइँ जाहगो (जह) लिहइ ।
एमेव जियं काउं, पुच्छइ मइमं न खेएइ ॥ १४७२ ॥

यथा भाजनगतं क्षीर स्तोक स्तोक पीत्वा ततो जाहकः सेह(हु)लको भाजनस्य पार्श्वानि लेढि, पुनरपि च स्तोकं तत् पीत्वा भाजनपार्श्वानि लेढि, एवं पुन पुनस्तावत् करोति यावत् सर्वमपि क्षीरं पीतमिति । एव मतिमान् सुशिष्योऽप्येतेन गृहीत श्रुतं जितं—परिचितं कृत्वा पुनरन्यद् गृह्णाति, एव पुन पुनस्तावद् विदधाति यावत् सर्वमपि श्रुतं गुरोः सकाशाद् गृह्णाति, न च गुरुं खेदयतीति । अथ गोदृष्टान्त उच्यते—तत्र च केनापि यजमानेन वेदान्तर्गतग्रन्थविशेषाध्ययननिमित्तचरणशब्दवाच्येभ्यश्चतुर्भ्यो ब्राह्मणविशेषेभ्यो गौः प्रदत्ता । प्रोक्ताश्च तेन ते ब्राह्मणाः ' वारकेणासौ भवद्भिर्दोग्धव्या इति । अन्येभ्योऽपि च चतुर्भ्यश्चरणद्विजेभ्यो गौरेका तेन प्रदत्ता । तेऽपि च तेन तथैवोक्ता । तत्र च प्रथमद्विजानां मध्ये ज्येष्ठब्राह्मणेन केनचिद् गौः स्वगृहे नीत्वा दुग्धा । ततश्चारिप्रदानवेलायां चिन्तित तेन ।

किम् ? इत्याह—

अन्नो दोज्झइ कल्ले, निरत्थियं किं वहामि से चारिं ।
चउचरणगवीउ मया,अवन्नहाणी य बडुयाणं ।१४७३।

तेनेतश्चिन्तितम्—हन्त ! वारकप्राप्तोऽन्यो ब्राह्मण कल्ये तावदेतां धेनु धोक्ष्यति, तत किमद्य निरर्थिकामस्याश्चारीं ददामि । कल्येऽन्योऽपि हि तां दास्यामि, इति विनिश्चित्य न तस्याश्चारी प्रदत्ता । ततो द्वितीयं दिने द्वितीयेनापि द्विजातिना तथैव कृतम् । एव तृतीय दिने तृतीयेनापि, चतुर्थे दिने चतुर्थेनापि तथैव चेष्टितम् । इत्थ च चारिविरहिता दुह्यमाना कतिपयदिनमध्य चतुर्णां चरणानां सम्बन्धिनी सा गौर्मृता । ततश्च तेषां बहुना गोहत्या समभवत् । जने चावर्णवादो जात , हानिश्च, तेषां ततो यजमानात्, अन्यस्माद् वा पुनर्गवादिलाभाभावादिति । अन्यैश्च यैश्चतुर्भिश्चरणैर्गौर्लब्धा, तन्मध्ये प्रथमद्विजेनासौ दुग्ध्वा चारिप्रदानवेलायामचिन्तयत्, किम् ? इत्याह—

मा मे होज्ज अवण्णो,गोवज्झा मा पुणो वि न दविज्जा ।
वयमवि दोज्झामो पुण,अणुग्गहो अन्नदुद्धे वि॥१४७४॥

मा भूज्जनमध्ये ममावर्णवाद , गोहत्या वा मा भूत्, इत्यस्याश्चारिं प्रयच्छामि । यदि तु न दास्यामि तदा मेऽज्ञातकलङ्केभ्योऽस्मभ्य पुनर्गवादिकं किमपि कोऽपि न दास्यति । अपरञ्च, एतस्याश्चारीप्रदाने को दोषः ? प्रत्युत गुण एव, यतश्चारीप्रदानपुष्टामेनां पुनरपि वारकेणागता वयमेव धोक्ष्यामः । यद्वा-अन्येनापि ब्राह्मणेन दुग्धायामेतस्याम-स्माकमेवानुग्रह इति ।

अथोपनयमाह—

सीसा पडिच्छगाणं,भरो त्ति ते वि य हु सीसगभरो त्ति ।
न करेंति सुत्तहाणिं,अन्नत्थ वि दुल्लहं तेसिं ॥१४७५॥

गुरोर्विनयकर्मणि कर्त्तव्ये स्वगच्छदीक्षिता शिष्यास्तावच्चिन्तयन्ति । किम् इत्याह-प्रतीच्छकानामुपसंपन्नानामागन्तुकशिष्याणामय गुरोर्विनयकरणलक्षणो भर-आचार. किमस्माकं, तेषामेव साम्प्रतं वल्लभत्वात् ? इति । तेऽपि च प्रतीच्छका एवं सम्प्रधारयन्ति--निजशिष्याणामेवाऽयं भर , किमस्माकमागन्तुकानामद्य समागतानामन्येद्युर्जिगमिषूणाम् ? इति । एव सम्प्रधार्योभयेऽपि गुरोर्न किञ्चिद् विनयवैयावृत्त्यादिकं कुर्वन्ति । ततश्च गुरुषु सीदत्सु तेषां सूत्राऽर्थहानिः, अन्यत्रापि च गतानां तेषां दुर्विनीतानां दुर्लभं सूत्रम् । अर्थश्च । उपलक्षणत्वादन्ये अप्यवर्णवादादयो दोषा. स्वयमेवाभ्यूह्या । अयं च दुर्विनीतशिष्येोपनय कृत । सुविनीतविनयोपनयस्तूक्तविपर्ययेण स्वयमेव कर्त्तव्य इति ।

भेरीदृष्टान्तमाह—

कोमुइया तह संगा-मिया य उब्भूइया य भेरीओ ।
कण्हस्सागिण्हुतया,असिवोवसमी चउत्थी उ ।१४७६॥
सक्कपसंसागुणगा-हिकेसवो नेमि वंद सुणदंता ।
आसरयणस्स हरणं,कुमारभंगे य पुयजुद्धं॥१४७७॥
नेहि जिओ म्हि त्ति अहं,असिवोवसमीएँ संपयाणं च ।
छम्मासियघोसणया,पच्छइ न य जायए अन्नो।१४७८।
आगंतुवाहिखोभो, महिड्ढिमुल्लेण कंथ दंडणया ।
अट्ठमआराहणअ-न्न भेरिअन्नस्स ठवणं च ॥१४७९॥

अासां भावार्थ कथानकादवसेय । तच्च ' गोशीर्षचन्दन-कथा' इत्यत्र सविस्तर कथितमेव । इह चेत्थमुपनयोऽपि द्रष्टव्य । य: शिष्योऽशिवोपशमिकां भेरीं प्रथमरक्षक इव जिनगणधरप्रदत्तां श्रुतरूपां भेरीं परमतादिग्रिमलकैः कन्थीकरोति स न योग्य. यस्तु नैवं करोति स द्वितीय-भेरीरक्षक इव योग्य इति ।

अथाऽऽभीरीदृष्टान्त विवृण्वन्नाह--

सुकं तया अगहिए, दुप्परिग्गहियं कयं तया कलहो ।
पिट्टणअइचिरविकय-गएसु चोरा य ऊणग्घे ।।१४८०॥

इह च कथानकेन भावार्थ उच्यते,तद्यथा-कुतश्चिद् ग्रामाद् गोकुलाद् वाऽऽभीरमिथुनं आभीरो घृतवारकाणां गन्त्रीं भृत्वा विक्रयार्थं पत्तने समागत । विक्रयस्थाने च गन्त्र्या अधस्ताद् भूमावाभीरी स्थिता । आभीरस्तु गन्त्रीस्थितस्तस्या घृतवारक समर्पयति । ततश्चानुपयोगेन समर्पितः, अदत्तो वा घृतवारकेऽग्रे आभीरी प्राह—भद्रक ।

नगरतरुणीनां मुखान्यवलोकयमानेन त्वया घृतचारकोऽयं मयाऽगृहीत एव मुक्तः, ततो भग्नः । आभीरस्त्वाह-रण्डे ! नगरयूना वदनानि वीक्षमाणया त्वयैव दुष्परिगृहितोऽयं कृत, ततो भग्न, इत्युभयोरपि कलह समभवत्, पिट्टिता च तेनाभीरी। कलहयतोश्च तयोरन्यदपि घृतं बहु छर्दितम्। उद्धरितशेषेण च घृतेनोत्सूरेऽर्थोऽप्यूनो लब्ध। इतरेषु सार्थिकेषु घृतं विक्रीय गतेषु तयोरेकाकिनोर्गच्छतोर्धूर्तद्रस्मा गन्त्री बलीवर्दाश्च सर्वं तस्करैरपहृतमिति।

एव दृष्टान्तमभिधायोपनयमाह—

मा णिएहवइ य दाउं,
उवजुंजिय देहि किं वि चिंतेसि ? ।
वच्चामेलियदाणे,
किलिस्ससि य तं च हं चेव ॥ १४८१ ॥

चिन्तनिकाद्यवस्थाया वितथं प्ररूपयन्, अधीयानो वा गुरुणा शिक्षित शिष्यो जगाद-त्वयैव ममेत्थं व्याख्यात, पाठितो वा त्वयैवैवंविधम्, अतस्तवैव दोषोऽयम्, किं मा शिक्षयसि ?। आचार्य. प्राह—न मयैवमुपदिष्टम्। कुशिष्यो ब्रवीति-हन्त ! साक्षादेव मम पुरस्सरमित्थं सूत्रमर्थं वा दत्त्वा सूरे ! मा निह्नोष्ठास्त्वम्। इत्थमुक्त आचार्य किमन्यत्पर्यायन् पुनरप्युक्त शिष्याभासेन—किं बलीवर्दात् पातित इव विचिन्तयसि, भव्यगत्योपयुज्योपयुक्तो भूत्वा देहि सूत्राऽर्थौ, व्यत्याम्रेडितदाने वितथसूत्रार्थप्रदाने केवलं त्वम्, अहं च क्लेशमेवानुभवाव.। तदित्थं स्वदोषाप्रतिपत्तौ गुरुदोषोद्भावनेनाभीरमिथुनस्येव गुरु-शिष्ययो. कलह एव प्रवर्त्तते। तथा च सति व्याख्याव्यवच्छित्ति-सूत्रार्थहान्यादयो दोषा। अत्र प्रतिपक्ष स्वयमेव द्रष्टव्य, तथाहि—अन्योऽप्याभीर किल सकलवस्त्वथैव क्वापि नगरे घृतविक्रयार्थं गत.। कलत्रस्य च चारके समर्पिते भग्ने 'अहो ! मयाऽनुपयुक्तेन समर्पितोऽयम्' इति ब्रुवाणो भगिनि गन्त्र्या समुत्तीर्य कर्परकैर्घृत संवृणोति। भार्याऽपि 'धिग् मयाऽनुपयुक्तया दुष्परिगृहीत कृतोऽसौ, तेन भग्न' इति वदन्ती तथैव तत् संवृणोति। ततश्चान्योन्य कलहे अजात उभयसंवृत्या घृत शीघ्रमेव विक्रीतम्। सार्थिकैश्च सह क्षेमेण स्वस्थान जग्मतुः। एव गुरु-शिष्या अपि स्वदोष प्रतिपद्यमाना परदोष तु निह्नुवाना येऽन्योन्य न विवदन्ते, त एव सूत्राऽर्थग्रहणप्रदानयोर्योग्या भवन्ति, निर्जरादिलाभभागिनश्चेति।

तदेव योग्याऽयोगान् गुरून् शिष्यांश्चोपदर्श्योपसंहारपूर्वकं तत्फलमाह—

भणिया जोग्गाऽजोग्गा, सीसा गुरवो य तत्थ दोएहं पि।
पेयालियगुणदोसो,जोग्गो जोग्गस्स भासेज्जा ॥१४८२॥

भणिता योग्याऽयोग्या गुरुशिष्या। तत्र द्वयोरपि गुरुशिष्ययोर्विचारितगुणदोषो योग्यो गुरुर्योग्याय शिष्याय सूत्रार्थौ-भाषेतेति। विशे०। आ० म०। शिष्यास्त्रिविधास्तद्यथा-अपरिणामा, अतिपरिणामा, परिणामपरिणामाश्चेति। तत्राविपुलमतयो गीतार्था अपरिणतजिनवचनरहस्या अपरिणामा, अतिव्याप्तगपवादहृष्ट्योऽतिपरिणामा, सम्यक्परिणतजिनवचनास्तु परिणामपरिणामा.। विशे०। आ० म०। (विनीतस्यैव सामायिक दीयते इति 'सामाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम्।) कोइ खुसीसो आयरियकुलवासिजातिकुलरूवसुयायारसत्तविणयसपन्नो ण दुगुंछओ अभीरुसत्तिओ विणेओ गंभीरो अदीणो न रुसणो न कुसीलो ण चवलो ण बहुभासी ण गारावितो ण तुरितो असपसारो ण पेसुणो ण परोवनाई ण अत्तट्ठगुरुओ ण मच्छरी न अकयन्नू ण अहाच्छंदो न मदो ण सदिट्ठवादी ण सढो ण दिन्नकयपसंसी ण दिन्नकयपच्छाणुतावी णातिणिद्दो ण पडिकूलो नालसो ण तरहालू ण छुहालू ण असतुट्ठो नादेसकालन्नू ण वट्टो णाकालचारी ण मूढो ण णिल्लज्जो णाएस्स कारणे विप्पवसति पगाणी। ण कंदप्पिओ ण कोकुइतो ण मोहरितो ण आगारभावसुत्तवयतेणो उज्जुभावो विसुद्धसमत्तो दढचरित्तो दढाभिग्गहो सुगुत्तो समितो समयन्नू दढोग्गहो दढीहो दढावाओ दढधारणो णायरियपारिभासी, भत्तिगतो अणुरत्तो पडिरूवेहि ति उ अणुलोमो गणसोभी सघसोभी छदन्नू, अवायन्नू सुहदुक्खन्नू अणुइअ-ऽणुत्तन्नू विसेसन्नू उज्जुत्तो अपरितंतो बहुस्सुतो ण अतरकहापुच्छी ण समइच्छिन्नपुच्छी ण उट्ठितपुच्छी सुहासणविणयपुच्छी मेहावी धितिमं विसुद्धवाका पियधम्मो दढधम्मो संविग्गो मद्दविओ अमाई चिरपव्वइओ सुपडिचोइओ अविसाई अपरिस्साई पव्वयभूओ पव्वयभूतो अणुन्नमाणो सुत्तत्थभावपरिणामो एवमादिएहिं गुणेहिं उववेतो बहुसुपरिसपरंपरागय चिरपरूढजिणिंदवरसासणं कालआवस्सग सोउकामो। आ० चू० १ अ०।

साम्प्रतमेतेषां मुद्गशैलसदृशादीनामाभीरीसदृशपर्यवसानादाने प्रायश्चित्तमाह—

सेलकुडछिड्डचालणि, सुद्धो चउगुरुग घडिदुवे होंति ।
परिपूणमहिसमसए, विरालिआभीरि एमेव ॥ ३६५ ॥

एमेव गोणिभेरी, हंसे मेसे य जाहगजलूगा ।
चउलहुगमदाणम्मि, पावति एतेसु आयरिनो ॥३६६॥

मुद्गशैलच्छिद्रकुटचालनीसमानानां गुणनालक्षणेन कार्यं समापतित्ते सूत्रमर्थं वा प्रयच्छन् शुद्धो न खलु तत्र तस्यान्यथा वा शिष्याणां सूत्रार्थहानि, अकार्येषु तेषु सूत्रार्थौ प्रयच्छतश्चतुर्गुरु। तथा घटिद्विके प्रशस्तवाम्य अप्रशस्तवाम्ये। अथवा—चांडकुटे भिन्ने कुटे व्याख्यानद्वयेन सग्रहतश्चतुर्थ तेषु प्रायश्चित्त प्रत्येक चतुर्गुरु। परिपूणकसदृशे मशकतुल्ये विडालीसमाने आभीरीसदृशे अप्रशस्तगोसमुपलक्षितधिग्जातीयतुल्ये कन्थाकारिभेरीपालकसदृश एतेषु सप्तसु सूत्रार्थौ प्रयच्छन् प्रत्येक प्रायश्चित्तमेवमेव चतुर्गुरुकमित्यर्थ, एतेषां ये प्रतिपक्षा हंसादयो ये च प्रशस्तगो भेरीदृष्टान्तसूचितास्तेषां सूत्रार्थौ प्रयच्छन् शुद्ध, यदि पुनर्न ददाति तदा प्रायश्चित्त प्राप्नोति चतुर्लघु। बृ० १ उ० १प्रक०। 'समणाउसो' त्ति संबोधनेनापृच्छतोऽपि शिष्यस्य हितायं तत्त्वमाख्येयम्। स्था०३ ठा०२ उ०। आयुष्मानित्यनेन ग्रहणधारणादिगुणवते शिष्याय शास्त्रार्थो देय इति। स्था० १

ठा० । " महुरेहिं निउणेहिं, वयणेहिं चोययंति आयरिया । सीसे कहिंहिति चलिए, जह मेहमुणिं महावीरे ॥ १ ॥ " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आचार्यसेविनः शिष्या धन्याः—

धन्ना आयरियाणं, निच्चं आइच्चचंदभूआणं ।
संसारमहन्नवता-रयाण पाए य णिवयंति ॥ ३१ ॥

इहलोइयं च किर्त्ति, लहंति आयरियभत्तिराएणं ।
देवगईसु विसुद्धं, धम्मेण अणुत्तरं बोधिं ॥ ३२ ॥

देवा वि देवलोए, निच्चं देवोहिणा वि आणीता ।
आयरियाणुसरंता, आसणसयणाणि मुंचंति ॥ ३३ ॥

देवा वि देवलोए, निग्गंथं पवयणं अणुसरंतो ।
अच्छरगणमज्झगया, आयरिए वंदिया हुंति ॥ ३४ ॥

द० प० ।

य. शिष्योऽपि गुरोर्वैरी नमाह—

सीसो वि वेरिओ सो उ, जो गुरुं न विबोहए ।
पमायमइराघत्थं, सामायारीविराहयं ॥ १८ ॥

शिष्योऽपि-विनेयोऽपि स वैर्येव-शत्रुरेव । तु -एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च,स च योजित एव । यो गुरुं-धर्मोपदेशक न विबोधयति-हितोपदेशदानेन धर्मे न स्थापयति । किंभूतं गुरुमित्याह-प्रमादमदिराग्रस्तम् , प्रमादो-निद्राविकथादिरूप स एव मदिरा-वारुणी प्रमादमदिरा तया ग्रस्त , तथाविधतत्त्वज्ञानरहित इत्यर्थ. तम् . पुन. किंभूत गुरु सामाचारीविराधक शैलकाचार्यवत् । किञ्च—महोपकार्यपि शिष्यादि. केवलिप्रज्ञप्ते धर्मे स्थापन विना गुर्वादे. प्रत्युपकारकारी न स्यात् । यदुक्त स्थानाङ्गे-'तिण्ह दुप्पडिआर समणाउसो, तं जहा-अम्मापिउणो १, भट्टिस्स २, धम्मायरियस्स ३ । सपातो वि य ण केइ पुरिसे अम्मापियर सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेत्ता सुरभिणा गधवट्टएण उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता सव्वालंकारविभूसिय करेत्ता मणुन्न थालीपागसुद्धं अट्ठारसवजणाउल भोयणं भोयावेत्ता जावज्जीवं पिट्ठिवडिंसियाए पडिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं हवइ ' । दु खेन-कृच्छ्रेण प्रतिक्रियते-प्रत्युपक्रियते इति दुष्प्रतिकारं प्रत्युपकर्त्तुमशक्यमिति यावत् । ' अहे ण से त अम्मापियरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पण्णवइत्ता परूवइत्ता ठावइत्ता भवति , तेणामेव अम्मापिउस्स सुप्पडियारं भवति समणाउसो ! ' सुखेन प्रतिक्रियते-प्रत्युपक्रियते इति सुप्रतिकार तद्भवति, प्रत्युपकार. कृतो भवतीत्यर्थ. । धर्मस्थापनस्य महोपकारत्वात् १ । ' केति महच्चे दरिद्दं समुक्कसेज्जा , तए ण से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुर च ण विपुलभोगसमितिसमण्णागए यावि विहरेज्जा । तए णं से महच्चे अण्णया कयाइ दरिद्दीहूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतिय हव्वमागच्छेज्जा, तए ण से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्समवि दलयमाणे तेणावि तस्स भट्टिस्स दुप्पडियार भवति , अहे णं से त भट्टिं केवलिपण्णत्ते धम्मे आघवइत्ता पण्णवइत्ता परूवइत्ता ठावतित्ता भवति , तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुपडियार भवति ॥२॥ केइ तहारूवस्स समणस्स वा महणस्स वा अंतियं एगमवि आयरिय धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने । तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खाओ देसाओ सुभिक्खं देसं साहरज्जा , कताराओ वा निक्कंतारं करेज्जा , दीहकालिएण वा रोगायकेणं अभिभूय विमोएज्जा, तेण वि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं भवति । अहेणं से त धम्मायरिय केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भट्ठ समाण भुज्जो केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता ०जाव ठावइत्ता भवति, तेणामेव तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं भवति ॥ ३ ॥ , तथा सर्वेष्वपि गुरु सुदुष्करतरप्रतीकार । यदुक्तं श्रीउमास्वातिवाचकपादै प्रशमरतिग्रन्थे-' दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकार ॥ १ " इति , अनुष्टुप्छन्द. ॥ १ ॥ ग० १ अधि० ।

(अथ शिष्यस्वरूपप्रतिपादनद्वारेण गच्छस्वरूपप्रतिपादनं ' गच्छ ' शब्दे तृतीयभागे ८०२ पृष्ठे प्रतिपादितम् ।) (राजपुत्रस्य शैक्षीकृतस्य कारणे संयत्युपाश्रये स्थापनमिति ' वसहि ' शब्दे षष्ठभागे गतम् ।) (शिष्यस्य हस्ताभ्यां ताडनम् 'अणवट्ठप्प' शब्दे प्रथमभागे २६७ पृष्ठे गतम् ।) (शैक्षविषयोऽवग्रह 'उग्गह' शब्दे द्वितीयभागे ७१६ पृष्ठे उक्त ।) (शिष्याऽऽभवनव्यवहार 'ववहार' शब्दे षष्ठभागे गत ।) (परिहारतप.प्रतिपद्यमानेन प्रव्राजिता शिष्या. कस्येति ' आयरिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३२४ पृष्ठे उक्तम् ।) (हेमन्तग्रीष्मयोर्विहारप्रस्तावे प्रव्राजिपुर्गच्छेत्कस्य स. इति ' खेत्त ' शब्दे तृतीयभागे ७६५ पृष्ठे गतम् ।) ('णायविहि'शब्दे चतुर्थभागे २००८पृष्ठे तत्र शिष्यलाभे कस्येत्युक्तम् ।) (चारिकाप्रविष्टस्योपसंपद्यमानस्याध्ययनावसरे शैक्ष आगच्छेत् स कस्येत्युक्तम् ' चारियापविट्ठ ' शब्दे तृतीयभागे ११६२ पृष्ठे ।) ('उवसपया ' शब्दे द्वितीयभागे १००३ पृष्ठे द्वयोरेकेन लाभे कस्येति गतम् ।) (' सजोग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे संयोगनिक्षेपस्यानेके शिष्यगुणा उक्ताः ।)

सीस—न० । धातुभेदे , प्रज्ञा० ११ पद ।

सीसउच्चंपिय—शीर्षोच्चम्पित—न० । शीर्षम् उत् प्राबल्येन चम्पित यत्र तच्छीर्षोच्चम्पितम् । तस्मिन् , यद्वा-शीर्षे उत्-प्राबल्येन चम्पितमाक्रामित यत्तत्तथा , तस्मिन् , शीर्षोच्चम्पिते कमलकोष्ठाकारे , सं० ।

सीसकवाल—शीर्षकपाल—न० । दुर्गन्धिमस्तककर्परे, तं० ।

सीहखाइय—सिंहखादित—न० । सिंहभक्षणे, पं० व० २ द्वार ।

सीसग—सीसक—न० । पारदजे धातुभेदे, प्रज्ञा०१ पद । आचा० । पारदे , जी० १ प्रति० । सूत्र० । स० । प्रज्ञा० ।

सीसगपाय—सीसकपात्र—न० । सीसकधातुमये पात्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ०

सीसगभम—शिष्यकभ्रम—पुं० । शिष्या एव शिष्यका. तथा

भमा भ्रान्तिर्येषु ते शिष्यकभमा। विनीततया शिष्यतुल्येषु विपा० १ श्रु० ३ अ०।

शीर्षकभ्रम-पुं०। शीर्षकं शिर एव शिर कवचं वा तस्य भ्रमो व्यभिचारतया शरीररक्षकत्वेन वा येषु ते शीर्षकभ्रमा। राज्ञामभ्यन्तरपुरुषेषु, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

सीसगुण-शिष्यगुण-पुं०। शुश्रूषादिके शिष्ययोग्यतागुणे, "सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणइ गहइ य ईहएयावि। तत्तो अपोहए या, धारेइ करेइ वा सम्मं, एमाई होंति सीसगुणा ॥१॥" उत्त० १ अ०।

सीसघडी-शीर्षघटी-स्त्री०। शीर्षमेव घटी तदाकारत्वात् शीर्षघटी। मस्तककटाहे, उपा० २ अ०। तं०।

'सीसघडीकंजिय-शीर्षघटीकाञ्जिक-न०। कपालकर्परखट्टरसे, तं०।

सीसघडीविणिग्गय-शीर्षघटीविनिर्गत-त्रि०। शीर्षमेव घटी तदाकारत्वात् शीर्षघटी, तस्या विनिर्गत इव विनिर्गतम्। शिरोघटीमतिक्रम्य वर्त्तमाने, उपा० २ अ०।

सीसता-शिष्यता-स्त्री०। शिक्षणीयतायाम्, भ० १२ श० ७ उ०।

सीसदुवारिया-शीर्षद्वारिका-स्त्री०। शीर्षस्यावरणे, नि० चू० ३ उ०। (अन्ययूथिकेन शीर्षद्वारं न कर्त्तव्यमिति 'असमण-किरिया' शब्दे प्रथमभागे ८८० पृष्ठे गतम्।)

'सीसपहेलिअंग-शीर्षप्रहेलिकाङ्ग-न०। चतुरशीतिलक्षगुणिते चूलिकाकाले, भ० ६ श० ७ उ०। चतुरशीतिलक्षगुणिते महौघे, ज्यो० २ पाहु०। स्था०। अनु०।

'सीसपहेलिया-शीर्षप्रहेलिका-स्त्री०। वाचनान्तरेण चतुरशीतिमहौघशतसहस्राण्येकशीर्षप्रहेलिकाङ्गम्। ज्यो० २ पाहु०। भ०। चतुरशीतिलक्षगुणिते शीर्षप्रहेलिकाङ्गे अनु०। शीर्षप्रहेलिकाङ्गं चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं शीर्षप्रहेलिका भवति। अस्याः स्वरूपमङ्कतोऽपि दर्श्यते—७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६६८४८०८०१८३२९६, अग्रे चत्वारिंशं शून्यशतम् १४० तदेवं शीर्षप्रहेलिकायां सर्वाण्यमूनि चतुर्णवत्यधिकशतसंख्यान्यङ्कस्थानानि भवन्ति। अनु०। कर्म०। स्था०।

सीसपूरग-शीर्षपूरक-पुं०। मस्तकाभरणे, तं०।

'सीसवग्ग-शिष्यवर्ग-पुं०। अन्तेवासिवृन्दे, ग० ४ अधि०।

सीसवेयणा-शीर्षवेदना-स्त्री०। सर्वमस्तकवेदनायाम्, तं०।

सीसहिया-शिष्यहिता-स्त्री०। हरिभद्राचार्यनिर्मितायामावश्यकवृत्तौ, आव० ६ अ०।

सीसागर-सीसाकर-पुं०। सीसकधातूत्पत्तिस्थाने, स्था० ८ ठा० ३ उ०। नि० चू०।

सीसाणुगुण्ण-शिष्यानुगुण्य-त्रि०। विनेयाभिप्रायानुरोधे द्वा० १४ द्वार।

सीसावेढ-शीर्षावेष्ट-पुं०। आर्द्रचर्मादिमये शिरोबन्धने, आ० म० १ अ०। स०। प्रश्न०। आव०। दशा०।

सीसुक्कंपिय-शीर्षोत्कम्पित-न०। शीर्षं कम्पयतः कायोत्सर्गकरणरूपे कायोत्सर्गदोषे, प्रव० ५ द्वार। "सीसं पकंपमाणो, जक्खाइट्ठु व्व कुणइ उस्सग्गं।" आव० ५ अ०।

सीसुला-शीर्ष-न०। प्राकृतभाषया 'सीसुला' इति व्यपदेशः। शिरसि, ती० ३२ कल्प।

सीसोवहार-शीर्षोपहार-पुं०। पार्श्वादिशिरोबलौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

सीह-शीघ्र-त्रि०। वेगवति, शीघ्रगतिहेतुत्वाच्छीघ्र गतिविषयो गतिगोचरस्तद्धेतुत्वात्काल इत्यर्थः। सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। शीघ्र-शीघ्रगतिविषय शीघ्रत्वेन तद्विषयोऽप्युपचाराच्छीघ्र उक्त। प्रति०। भ०।

सिंह-पुं०। हिनस्तीति सिंहः। विंशत्यादित्वादनुस्वारस्य लुक्। प्रा० १ पाद। केशरिणि, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सूत्र०। प्रज्ञा०। ज०। प्रश्न०। बले सिंह पर्यायम्। प्रा० २ पाद। नपुं०। सप्तमदेवलोकविमानभेदे, स० १७ सम०। पुं०। स्वनामख्याते भगवतो महावीरस्य अनगारे, यो गोशालकतेजोलेश्यया वीरजिने रोगाक्रान्ते रेवतीगृहे कपोतकशरीरानयनार्थमगमत्। भ० १५ श०। (तत्कथा 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०३२ पृष्ठे गता।) "सीहं कासवगुत्तं धम्मं पि अ कासवं वंदे।" थेरस्स णं अज्जधम्मस्स सुव्वयगोत्तस्स अज्जसीहे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते" कल्प० २ अधि० ८ क्षण। कोलाशसन्निवेशे ग्रामणीपुत्रे, यो हि विद्युन्मत्या दास्या सह क्रीडन् हसितो गोशालकेन, कुट्टितवांश्च तम्। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। आ० म०। श्रेणिकस्य धारिण्या जाते स्वनामख्याते पुत्रे, अन्त० १ श्रु० २ वर्ग १० अ०। अणु०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकस्य द्वितीये वर्गे सूचितम्।)

सीहकंत-सिंहकान्त-न०। सप्तमदेवलोकस्थे विमाने, स० १७ सम०।

सीहकण्ण-सिंहकर्ण-पुं०। स्वनामख्याते अन्तरद्वीपे, प्रज्ञा० १ पद।

सीहकण्णी-सिंहकर्णी-स्त्री०। कन्दविशेषे भ० ७ श० ३ उ०।

सीहकेसरय-सिंहकेशरक-पुं०। तथाविधे मोदकभेदे, धर्मलाभस्थाने सिंहकेशरा इति भणनात्, तथानाम्ना प्रसिद्धेऽनगारे, पिं०। पं० व०। दर्श०। आतु०। ग०। ('लाभ' शब्दे षष्ठभागे तत्कथानकम्।)

सीहखाइया-सिंहखादिता-स्त्री०। सिंह पुनः शौर्यातिरेकाद्वयसयोपात्तस्य यथाऽग्रमक्षणेन वा खादिता तथाविधप्रव्रजितः सिंहः। प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

सीहगइ-सिंहगति-पुं०। दिक्कुमारेन्द्रस्य अमितगतेः पश्चिमलोकपाले, भ० ३ श० ८ उ०।

१-ज्योतिष्करण्डे स्थापना नैवम्-७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५९९७५६९६९६४०६२१८९६६८४८०८०१८३२९६।

शीघ्रगति-त्रि० । शीघ्रगमनशक्तिसम्पन्ने, भ० ३ श०२ उ० ।

सीहगिरि-सिंहगिरि-पुं० । स्थविरस्यार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । अस्य द्वौ शिष्यौ धनगिरिरार्यवज्रश्च । आ० म० १ अ० । आ० चू० । ग० । कल्प० । उत्त० । आव० ।

सीहगुहा-सिंहगुहा-स्त्री० । राजगृहनगरस्यादूरे दक्षिणपौरस्त्ये दिग्भागे व्यवस्थितायां चोरपल्ल्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

सीहज्झय-सिंहध्वज-पुं० । स्त्री० । सिंहालेखरूपचिह्नोपेते ध्वज , रा० ।

सीहणाय-सिंहनाद-पुं० । सिंहस्येव नादकरणे , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ती० । औ० । आ० म० । आव० । सीहस्सेव सरिसं णाय करेति । नि० चू० १७ उ० ।

तिहिं ठाणेहिं देवा सीहणायं करेज्जा-अरिहंतेहिं जायमाणेहिं, अरिहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरिहंताणं णाणुप्पायमहिमासु । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सीहणिक्कीलिय-सिंहनिष्क्रीडित-न०। सिंहनिष्क्रीडितं सिंहगमन तादृश यत्तपस्तत्सिंहनिष्क्रीडितमित्युच्यते तद्गमव चातिक्रान्तदेशावलोकनतः, एवमतिक्रान्तत समासेवनेनापूर्वतपसोऽनुष्ठानं यत्र तत् सिंहनिष्क्रीडितम् । तपोभेदे, तच्च क्षुद्रकं महच्चेति द्विविधम् । औ० । ज्ञा० । अन्त० ।

तते णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा खुड्डागं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, तं जहा-चउत्थं करेंति चउ०२त्ता सव्वकामगुणियं पारेंति २त्ता छट्ठं करेंति२त्ता चउत्थं करेंति२त्ता अट्ठमं करेंति२त्ता छट्ठं करेति २त्ता दसमं करेंति २ त्ता अट्ठमं करेंति २ त्ता दुवालसमं करेंति २ त्ता दसमं करेंति २ त्ता चाउद्दसमं करेंति २ त्ता दुवालसमं करेंति २ त्ता सोलसमं करेंति २ त्ता चोद्दसमं करेति २त्ता अट्ठारसमं करेंति २त्ता सोलसमं करेंति २त्ता वीसइमं करेंति २त्ता अट्ठारसमं करेंति२ त्ता वीसइमं करेंति२त्ता सोलसमं करेंति२त्ता अट्ठार० करेंति२त्ता चोद्दसमं करेंति२त्ता सोलसमं करेंति२त्ता दुवाल० करेंति२त्ता चाउद्द० करेंति२त्ता दसमं करेंति२त्ता दुवाल० करेंति२त्ता अट्ठमं करेंति२त्ता दसमं करेंति२ त्ता छट्ठं करेंति२त्ता अट्ठमं करेंति२त्ता चउत्थं करेंति२त्ता छट्ठं करेंति-त्ता चउत्थं करें० सव्वत्थ सव्वकामगुणिएणं पारेंति, एवं खलु एसा खुड्डागसीहनिक्कीलियस्स तवोकम्मस्स पढमा परिवाडी छहिं मासेहिं सत्तहि य अहोरत्तेहि य अहासुत्ता ०जाव आराहिया भवइ, तयाणंतरं दोच्चाए परिवाडीए चउत्थं करेंति नवरं विगइवज्जं पारेंति , एवं तच्चावि परिवाडी नवरं पारणए अलेवाडं पारेंति, एवं चउत्थावि परिवाडी नवरं पारणए आयंबिलेणं पारेंति ॥

'सीहनिक्कीलियं' ति सिंहनिष्क्रीडितमिव सिंहनिष्क्रीडितं, सिंहो हि विहरन् पश्चाद्भागमवलोकयति एवं यत्र प्राक्तनं तप आवर्त्योत्तरोत्तर तद् विधीयते तत्तप सिंहनिष्क्रीडितम् । तच्च द्विविध-महत् क्षुद्रक चेति , तत्र क्षुल्लकमनुलोमगतौ चतुर्थभक्तादि विंशतितमपर्यन्तं, प्रतिलोमगतौ तु विंशतितमादिकं चतुर्थान्तम् , उभय मध्येऽष्टादशकोपेत, चतुर्थषष्ठादीनि तु एकैकवृद्ध्येकोपवासादीनि । स्थापना चेयम्—

१	२	१	३	२	४	३	५	४	६	५	७	६	८	७	९	८
१	२	१	३	२	४	३	५	४	६	५	७	६	८	७	९	

भवति इह चत्वारि २ चतुर्थादीनि त्रीण्यष्टादशानि द्वे विंशतितमे तदेवं चतुष्पञ्चाशदधिकं शतं तपोदिनानां त्रयस्त्रिंशच्च पारणकदिनानामेवमेकस्यां परिपाट्यां षण्मासाः सप्तरात्रिन्दिवाधिका भवन्ति , प्रथमपरिपाट्यां च पारणकं सर्वकामगुणिकं, सर्वे कामगुणाः-कमनीयपर्याया विकृत्यादयो विद्यन्ते यत्र तत्तथा, द्वितीयायां निर्विकृतं तृतीयायामलेपकारि चतुर्थ्यामाचामाम्लमिति । प्रथमपरिपाटीप्रमाणं चतुर्गुणं सर्वप्रमाण भवतीति । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अन्त० ।

'खुड्डागसीहनिक्कीलियं ' ति-वक्ष्यमाणमहासिंहनिष्क्रीडितापेक्षया क्षुद्रक सिंहनिष्क्रीडित सिंहगमन तदिव यत्तपस्तत्सिंहनिष्क्रीडितमित्युच्यते , तद्गमनं चातिक्रान्तदेशावलोकनत., एवमतिक्रान्तत समारोवनेनापूर्वतपसोऽनुष्ठान यत्र तत् सिंहनिष्क्रीडितमिति । तच्चैव चतुर्थं ततः षष्ठचतुर्थे अष्टमषष्ठे दशमाष्टमे द्वादशदशमे चतुर्दशद्वादशे षोडशचतुर्दशे अष्टादशषोडशे विंशतितमाष्टादशे विंशतितमं चेति क्रमेण विधीयते । तत' षोडशाष्टादशे चतुर्दशषोडशे द्वादशचतुर्दशे दशमद्वादशे अष्टमदशमे षष्ठाष्टमे चतुर्थषष्ठ चतुर्थं चेति । स्थापना चैवम्—

२३४५६७८९ ४५ ७६५४३२१ अथ च
१ ९। । १। एकस्यां
१२३४५६७८ ४५ ८७६५४३२

परिपाट्या दिनमानं नवकसंकलने द्वे । ४५ । ४५ । अष्टकसकलना चैका ३६ सप्तकसकलनाऽप्येकैव २८ पारणकदिनानि ३३ सर्वाग्रम् । १८७ । षट् च मासा ६ दिनानि च । ७ । चतसृषु परिपाटिष्वेतदेव चतुर्गुणं स्यात्तत्र वर्षे वर्षे दिनानि । २८ । तत्र प्रथमपरिपाट्यां पारणक सर्वकामगुणित द्वितीयस्यां निर्विकृतिक तृतीयायामलेपकारी चतुर्थ्यामाचामाम्लमिति । औ० । (एव महासिंहनिष्क्रीडितमपि तच्च 'महासीहणिक्कीलिय' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् ।)

सीहणिसिज्जाययण-सिंहनिषद्यायतन-न० । सिंहनिषद्यायुक्तगृहे, " अट्ठावय णगवरो जत्थ भगव आइगरो सिद्धो जत्थ य भरहेसरसीहनिसिज्जाययण ति । " ती० ११ कल्प ।

सीहणिसाइ-सिंहनिषादिन्-पुं० । सिंहवत् निषीदतीत्येवशील. सिंहनिषादी । यथा सिंहोऽग्रेतन पादयुगलमुत्तभ्य-पश्चात्तनं तु पादयुग्मं सकोच्य पुनाभ्या मनाक् लग्नो निषीदति । सिंहोपवेशनेनोपविष्टे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सीहतिलगसूरि-सिंहतिलकसूरि-पुं० । अञ्चलगच्छीय धर्मप्र-

भसूरिशिष्ये महेन्द्रप्रभसूरिगुरौ, अस्य जन्म विक्रमसंवत् १३४५ स्वर्गति विक्रमसंवत् १३६५। जै० इ०।

सीहपुच्छ-सिंहपुच्छ-पुं०। पृष्ठिवर्धे,सूत्र० १श्रु०५ अ० १उ०।

सीहपुच्छण-सिंहपुच्छन-न०। सेपस्फोटने,प्रश्न०५संव०द्वार।

सीहपुरी-सिंहपुरी-स्त्री०। सुपद्मविजयक्षेत्रराजधान्याम् ,जं० ४ वक्ष०। आव०।

दो सीहपुरीओ। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सीहमुहदीव-सिंहमुखद्वीप-पुं०। लवणसमुद्रस्यान्तर्द्वीपविशेषे,स्था० ४ ठा० २ उ०। प्रज्ञा०। न०। ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता।)

सीहया-सिंहता-स्त्री०। ऊर्जवृत्तौ,स्था० ४ ठा० ३ उ०।

सीह (भ) (अ)र-शीकर-पुं०। "शीकरे भहौ वा" ॥८।१।१८४॥ इति भकारहकारौ। पक्षे-सीअरो। अम्बुकणे,प्रा०। अक्षरादिभि समे,"सत्तस्स (स)रसीहरा" स्था०७ठा०३उ०। म्लेच्छजातिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

सीहरह-सिंहरथ-पुं०। स्वनामख्याते पुण्ड्रवर्धननगरराजे, उत्त० ७ अ०। ('नग्गइ' शब्दे चतुर्थभागे १७६५ पृष्ठे कथाऽस्योक्ता।)

सीहलिपासग-शिखापाशक-पुं०। वेणीसंयमनार्थे ऊर्णामये कङ्कणे, "सीहलिपासगं च आणाहि" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

सीहवाहणा-सिंहवाहना-स्त्री०। सिंहारूढायामम्बिकायाम्, ती० ८ कल्प।

सीहविअ-सिंहविदु-न०। सप्तमदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० १७ सम०।

सीहविक्कमगइ-सिंहविक्रमगति-पुं०। दिक्कुमाराणाममितगत्यमितामितवाहनयोर्लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ०। स्था०।

सीहसर-सिंहस्वर-त्रि०। सिंहस्येव प्रभूतदेशव्यापी स्वरो यस्येति। सिंहनिर्ह्रादवति, तं०।

सीहसेण-सिंहसेन-पुं०। भरतक्षेत्रजविमलजिनसमकालिके ऐरवतजिने, ति०। प्रव०। "विमलो य भरहवासे एरवए सीहसेणजिणचंदो" ति०। अजितजिनस्य प्रथमगणधरे, ति०। अनन्तजिनस्य पितरि, प्रव० १० द्वार। स०। महासेनस्य राज्ञः पुत्रे, विपा० १ श्रु० ६ अ०। (अयं च परभवे देवदत्ता नाम दारिकाऽभवदिति 'देवदत्ता' शब्दे २६१८ पृष्ठे कथा।) श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्या जाते स्वनामख्याते पुत्रे,अणु० २वर्ग १३ अ०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति 'महासीहसेण' शब्दे षष्ठे भागे सूचितम्।)

सीहसोया-सिंहश्रोतस्-स्त्री०। जम्बूमन्दरस्य पश्चिमे भागे सीतोदाया महानद्या सगतायां स्वनामख्यातायामन्तर्नद्याम्, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

दो सीहसोयाओ। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सीहा-सिंहा-स्त्री०। सिंहगतिसमानायां श्रमाभावे दार्ढ्ये स्थिरतायाम्, भ० ३ श० १ उ०। प्रश्न०।

सीहाणुग-सिंहानुग-पुं०। सन्निपद्यास्थिते आचार्ये,नि०चू० २० उ०।

सीहासण-सिंहासन-न०। सिंहप्रधानमासनं सिंहासनम्। आ० म० १ अ०। सिंहाङ्किते नृपासने, ज० ३ वक्ष०। सिंहाकृतियुक्ते विष्टरे, पञ्चा० २ विव०। जी०। सूत्र०। औ०। स्था०। रजतमये, सिंहैरुपशमिते नृपासने, आ० म० १ अ०। जी०। सिंहस्य मृगाधिपतेरासनं सिंहासनम्। मर्दस्थानविशेषरूपे कूर्जिते अनाकुले उपवेशने,पं० १४ विव०। पादपीठे, दशा० १० अ०।

सीहासणवरगय-सिंहासनवरगत-त्रि०। सिंहासनानां मध्ये यद्वरं तत्सिंहासनवरं, तत्र गतो व्यवस्थितो य स तथा। श्रेष्ठसिंहासनासीने, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सीहासणसंठिय-सिंहासनसंस्थित-त्रि०। सिंहासनस्येव संस्थितं संस्थानं यस्य स तथा। सिंहासनाकृतौ, रा०।

सीही-सिंही-स्त्री०। परिव्राजकप्रयुक्ताया वराहीविद्याया प्रतिनिमथिन्या सिंहविकुर्वणात्मिकाया विद्यायाम्, आ० म०१ अ०। आ० क०।

सीहु-सीधु-न०। तालवृक्षदुग्धोद्भवे, (उत्त १६ अ०) मद्यविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

सु-सु-अव्य०। सुष्ठु शोभने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। पं० प्र०।अतिशये,सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। सुरित्ययं निपात प्रशंसाया शुद्धविषये वर्तते। सूत्र०१ श्रु० ७ अ०। उत्त०। विशे०। औ०। रा०। आ० म०। स०। अनु०।

सुअ-शुक-पुं०। कीरे, ज० १ वक्ष०। भ०।

स्वप-धा० शयने, "स्वपे कमवस-लिस-लोट्टाः" ॥ ८। ४। १४६॥-पक्षे-सुअइ। स्वपिति। प्रा० ४ पाद।

सुअंग-श्रुताङ्ग-न०। श्रुतस्य प्रवचनस्य पुरुषरूपस्याङ्गमवयव इति कृत्वा, समवायाङ्गे, स०।

सुअक्खायधम्म-स्वाख्यातधर्मन्-त्रि०। सुष्ठु आख्यातो धर्मोऽस्येति स्वाख्यातधर्मा। संसारभीरुत्वाद्यथारोपितभारवाहिनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

सुअण-सुजन-पुं०। उत्तमलोके, "सरिहिं न सरेहिं,न सरवरेहिं न वि उज्जाणवणेहिँ।देसरवण्णा होंति वढ,निवसंतेहिँ सुअणेहिँ।प्रा०४ पाद। "वच्छहे गृण्हइ फलइ जणु,कडुपल्लव वज्जेइ। तोवि महद्दुमु सुअणु जिवँ,ते उच्छंगि धरेइ" प्रा०४ पाद।

सुअणलस-स्वनलस-त्रि०। कृतोद्यमे प्रशस्तपुरुषे, ग० ३ अधि०।

सुअप्परोग-स्वल्परोग-पुं०। मन्दव्याधौ, द्वा० २१ द्वार।

सुअमुह-शुकमुख-न०। शुकचञ्चुपुटे,कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सुअलंकिय-स्वलङ्कृत-त्रि० । अतिशयेन रमणीयतयाऽलङ्कृत, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । जं० ।

सुअहर-श्रुतधर-पुं० । पूर्वधरे, आ० क० १ अ० ।

सुअहिज्जिय- स्वधीत-त्रि० । सुष्ठु कालविनयाद्याराधनेनाधीते , स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

सुआइक्ख-स्वाख्येय-त्रि० । अकृच्छ्राख्येये,स्था०५ ठा०१उ० ।

सुआहिय-स्वाख्यात-त्रि० । स्वरूपविविधिद्भिः प्रतिपादिते , सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

सुइ-शुचि-त्रि० । पवित्रे, औ० । स्था० । कल्प० । आ० म० । ज्ञा० । शुचिना भवितव्यं सत्यमवलेत्यर्थः । आव० ४ अधि० । स० ।

शुचिद्वारे कथामाह—

" सारी य सरवेर चि य , सिद्धी अ धणजए सुभद्दा य ।
वीरं अ धम्मघोसे, धम्मजसे सोगपुच्छा य ॥ २ ॥
पुरं सौर्यपुरं नाम , यक्षस्तत्र सुराम्बर ।
आसीद्धनजयश्रेष्ठी, सुभद्रा तस्य वल्लभा ॥ २ ॥
नत्वा यक्षं कृतं ताभ्यां, पुत्रार्थमुपयाचितम् ।
करिष्ये सेरभशत—यक्ष तेऽग्रे सुते सति ॥ ३ ॥
तयोर्दैवादभूत् पुत्र—स्तत्र बोधं तयोर्विदन् ।
श्रीवीर समवासार्षीत् , श्रेष्ठी नन्तुं प्रभु ययौ ॥ ४ ॥
प्रबुद्धो धर्ममाकर्ण्या—णुव्रतान्यग्रहीत्सत. ।
लभ्य लक्ष ययाचे त, न ददौ स दयापर. ॥ ५ ॥
यक्षस्त खण्डश कर्तु—मारेभे श्रेष्ठिपुङ्गवम् ।
कियत्स्वपि सुखण्डेषु. कृतेषु श्रेष्ठ्यचिन्तयत् ॥ ६ ॥
धन्योऽहं यन्मया सत्त्वं, नार्या सयोजितोऽनया ।
एवं परादय तत्सत्त्व, स्वयबुद्ध सुरोऽवर. ॥ ७ ॥ ”

एतद्देशशुचिश्रावकत्वम् ।

अथ सर्वशुचि.—

" द्वौ श्रीवीरप्रभो शिष्या-वशोकस्य तरोरधः ।
धर्मघोषो धर्मयशा, गुणयन्तौ श्रुत स्थितौ ॥ १ ॥
पूर्वाह्णे ऽथापराह्णे च, न च्छाया पर्यवर्त्तत ।
उवाचैकोऽथ लब्धिस्त, द्वितीयस्तेऽभिधात्तत ॥ २ ॥
एकोऽगात्कायिकीं भूमिं, द्वितीयोऽप्यगमत्तथा ।
स्थिता तथैव तच्छाया, ज्ञातं लब्धिर्न कस्यचित् ॥ ३ ॥
अथ पृष्ट प्रभु. किं न , छायाऽस्य परिवर्त्तने ।
प्रभोर्मुखेन वृत्तान्त , तस्य ब्रूते स्म शास्त्रकृत् ॥ ४ ॥
सोरिअसमुद्दविजए, जण्णजसे चेव जण्णदत्त अ ।
सोमित्ता सोमजसा, उच्छविहिना उ उप्पत्ती ॥ ५ ॥
अणुकंपा वेअड्ढे, मणिकंचणवासुदेवपुच्छा य ।
सीमंधरजुगबाहू , जुगधरे चेव महबाहू ॥ ६ ॥
(एतद्वक्तव्यता ' णारय ' शब्दे ४ भागे २०१२ पृष्ठे उक्ता ।)
पृष्ट कृष्णेन किं शौच-मिति प्रश्नोत्तरागमः ।
कथान्तरेण व्याक्षेपं कृत्वा , नारद उत्थितः ॥ ७ ॥
ययौ पूर्वविदेहेऽथ, तत्र श्रीमन्धरः प्रभुः ।
कि शौचमिति पृष्ट सन् , हरिणा युगबाहुना ॥ ८ ॥
सत्य शौचमिति प्रोचे, तद् ज्ञात्वा नारदस्तत. ।
गतोऽपरविदेहेऽथ, जिनस्तत्र युगन्धर. ॥ ९ ॥
तदा तदेव तत्रापि, पृष्टस्तत्रत्यविष्णुना ।
सोऽपि स्वामी तदेवाख्य-त्तदप्याकर्ण्य नारद. ।
द्वारवत्यां ययौ शौच, सत्य विष्णोन्यवीकथत् ॥ १० ॥
किं सत्यमिति भूयोऽपि, विष्णुना ऽपृच्छि नारद. ।
ऊचे मया प्रभो ! सत्य , न पृष्टश्चिन्तयस्तया ॥ ११ ॥
जातिस्मृत्या ज्ञातशौच , सोऽगात्प्रत्येकबुद्धताम् ।
एव शौचेन सर्वेषां शुचि. स्याद्योगसङ्ग्रह. ॥ १२ ॥ ”

आ० क० ४ अ० । ध० र० ।

" इह अज्ज अन ! ताओ !, वीरजिणो आगमो तयं नमिउं ।
तद्देसणं च सोउं, अह गमिस्सामि तत्थ लहु ॥ २१ ॥
ज पुव्वावरअविरु-द्धसुद्धसिद्धंततत्तसवणमिणं ।
आलस्समाइबहुविह-हेऊहिं सुदुल्लह भणियं ॥ २२ ॥

तथाचागम.—

आलस्से मोहवन्ना, थभा कोहापमाय किवणत्ता ।
भयसोगा अन्नाणा, १० वक्खेवकुऊहला १२ रमणा १३॥२३॥
एएहिं कारणेहिं, लद्धूण सुदुल्लह पि मणुयत्त ।
न लहइ सुइ हियकरिं, ससारुत्तारणिं जीवो ॥ २४ ॥
किं पुण जिणवयणविहि-ण्णयरस पणतीससुगुणसहियस्स ।
संसयरयहरणसमी-रणस्स वयणस्स किर सवण ॥ २५ ॥
तो वुत्तो पियरेहिं, हे पुत्ता ! अज्जुणो भिस रुट्ठो ।
पइदिवस सत्त जणे, हणमाणो विहरए इत्थ ॥ २६ ॥
ता पुत्त ! जिणं नमिउ, धम्म सोउ च मा हु गच्छाहि ।
मा णं तुह देहस्स वि, वावत्ती होहिई खिप्पं ॥ २७ ॥ ”

ध० र० २ अधि० १ लक्ष । अकृपमती , दश० ८ अ० । शक्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० २ उ० । ज्ञा० ।

श्रुति-स्त्री० । श्रूयन्ते इति श्रुतयः । रेन्द्रेषु संथा० । चोदनावाक्ये, प्रति० । शब्दे भ० १५ श० । द्व्या० । योगे , ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । निशे० । वार्तामात्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अवण-श्रुति', अन्यार्थप्रकरणाद. सामान्यशब्दा अपि विशेषेऽवतिष्ठन्ते इति न्यायात् धर्माकर्णने, उत्त० ३ अ० । विशे० । सुखलक्षणफलबहुलतायाम् , ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । षोडशतीर्थकरस्य प्रवर्तिन्याम् , स० ।

सुइकरण-शुचिकरण-त्रि० । शुचीनि पवित्राणि निरुपलेपानीति भाव करणानि—चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि येषां ते शुचिकरणा । पवित्रेन्द्रियेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुइत्ता-सुप्त्वा-अव्य० । शयित्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सुइभूय-शुचिभूत-त्रि० । शौचप्राप्ते, स च द्रव्यतो,भावतश्च । तत्र द्रव्यत. स्नात श्रीचन्दनानुलिप्तगात्र सितवसननिवसनशुचिविधाः स्नातगात्रश्च भावतस्तु विशुद्धयमानमानस. । पञ्चा० २ विव० । शुचितामाप्ते , भूतशब्दस्य प्रकृतिमात्रार्थत्वाद् भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद्भूतशब्दस्य प्राप्त्यर्थत्वाच्च । अथवा-शुचिश्चासौ भूतश्च सद्भूत प्राणी वा शुचिभूतः । विशुद्धमते , पञ्चा० ४ विव० । सूत्र० । स्था० ।

सुइय-शुचिक-त्रि० । पवित्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । शुचीकृत, दृ० १ उ० २ प्रक० ।

सुइर-शुचिरम्-अव्य० । प्रभूते , आव० ४ अ० ।

सुइसेह-शुचिशैक्ष-पुं० । चोक्षशिष्ये, व्य० ६ उ० ।

सुउज्जुआर-सुऋजुकार-पुं० । सुष्ठ्वतिशयेन ऋजुस्तत्करणशीलः । संयते , सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सुउरिस-सुपुरुष-पुं० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥८।१।१७७॥ इति यस्य लुकि । "स्वरस्योद्वृत्ते" ॥ ८ । १ । ८ ॥ इति सन्धिविरहः । उत्तममनुष्ये । प्रा० १ पाद ।

सुए-श्वस्-अव्य० । प्रभाते आगामिदिने , उत्त० २ अ० ।

सुओयारा-सुखावतारा-स्त्री० । सुखेनावतारो जलमध्ये प्रवेशन यासु ताः सुखावतारा । अक्लिष्टतीर्थायां वाप्याम् ,रा० । सुखोत्तारा-स्त्री० । सुखेनोत्तारो जलमध्याद्बहिर्विनिर्गमनं यासु ताः सुखोत्ताराः । अक्लिष्टतीर्थाया वाप्याम् , रा० ।

सुंक-शुल्क-न० । विक्रेयतया भाण्डे , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सुंकलितण-शुङ्कलितृण-न० । तृणभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

सुंग-शुङ्ग-पुं० । स्वनामख्याते ऋषौ, जं० ७ वक्ष० ।

सुंठ-शुण्ठ-पुं० । पर्वकवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सुंठय-शुण्ठक-न० । मांसपेशीपचनके , स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

सुंठी-शुण्ठी-स्त्री० । शुष्कशृङ्गबेरे, आ० क० १ अ० । प्रव० ।

सुंड-शौण्ड-पुं० । "उत्सौन्दर्यादौ" ॥ ८ ।१।१६०॥ इति औतः उत्त्वम् । धूर्त्ते , प्रा० १ पाद ।

सुंडा-शुण्डा-स्त्री० । हस्तिनासायाम् , आ० म० १ अ० ।

सुंडिया-शुण्डिका-स्त्री० । पिटिकाकारे सुरापिष्टस्वेदनभाजने , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुंदर-सुन्दर-त्रि० । शोभने, आ०म० १ अ० । मनोहरे, स० । व्य० । औ० । नपु० । युक्ते, पिं० । जं० । पुं० त्रयोदशजिनस्य पूर्वभवे जीवे, स० ।

सुंदरंग-सुन्दराङ्ग-न० । रुचिरशरीरे, अविनष्टदेहे , ध० ३ अधि० ।

सुंदरगुरुजोग-सुन्दरगुरुयोग-पुं० । ज्ञानादियुतगुरुसम्बन्धे , पञ्चा० २ विव० ।

सुंदरजत्त-सुन्दरयत्न-पुं० । सुन्दरनरप्रधाने उद्यममात्रधर्मे , पञ्चा० ६ विव० ।

सुंदरतर-सुन्दरतर-त्रि० । शोभनतरे , पं० व० १ द्वार ।

सुंदरपास-सुन्दरपार्श्व-त्रि० । पार्श्वगुणोपेते पार्श्वे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुंदरबाहु-सुन्दरबाहु-पुं० । सप्तमतीर्थंकरस्य पूर्वभवजीवे , स० । भारते वर्षे भविष्यति तृतीये वासुदेवे , ती० २० कल्प । ति० ।

सुंदरभाव-सुन्दरभाव-पुं० । शुभभावे, पञ्चा० ४ विव० ।

सुंदरमंगुलभाव-सुन्दरमङ्गुलभाव-पुं० । शुभेतरपदार्थे, आ० म० १ अ० ।

सुंदरिय-सौन्दर्य-न० । " स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात् " ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति यात्पूर्व इत् । प्रा० । अविकलशरीरत्वे, आ० म० १ अ० ।

सुंदरी-सुन्दरी-स्त्री० । ऋषभदेवस्य सुनन्दायां भार्यायाम् , बाहुबलिना सह जनितायां भरतचक्रिस्त्रियाम् , कल्प० १ अधि० ७ क्षण । आ० म० । आ० चू० । पश्चात्सा श्रमणी जाता । आ० म० १ अ० ।

सुंदरी अज्जा पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता । स्था० ५ ठा० २ उ० । सुन्दरी अज्जा पुव्वसयसहस्साइं सव्वाउयं पालयित्ता सिद्धा । स० ८४ सम० ।

नासिक्यपुरे नन्दभार्यायाम् , नं० । आ० म० । आ० चू० ।

सुंदरीणंद-सुन्दरीनन्द-पुं० । नासिक्यपुरे सुन्दरीनाम्न्याः स्त्रिया भर्तरि, नासिक्कं नगर नंदो वणियजो सुंदरी से भज्जा । सा तस्स अतीव वल्लहा खणमवि तस्स पासं न मुचइ त्ति लोगेण सुंदरीनंदो त्ति तस्स नाम पाडयं । आ० म० १ अ० ।

सुंदेर-सौन्दर्य-न० । "एच्छय्यादौ"॥८।१।५७॥ इत्यादेरस्य विकल्पेनेत्वम् ।प्रा०।"उत्सौन्दर्यादौ"॥८।१।१६०॥इति ओत उत्वम् । प्रा० । 'ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये र्यो र "॥८।२।६३॥ इति र्यस्य र ।प्रा० । सुन्दरस्य भाव ष्यञ् । चारुतायाम्,"अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः, सन्निवेशो यथोचितम् । सुश्लिष्ट. सन्धिबन्ध स्यात् , तत् सौन्दर्यमुदाहृतम् ॥१॥" इत्युक्ते अङ्गादीना मनोहरत्वे, वाच० । प्रा० ।

सुंभ-शुम्भ-पुं० । नमिनाथस्य प्रथमगणधरे, प्रव० ८ द्वार । वैरोचनेन्द्रबलिभार्याया. शुम्भाया. पूर्वभवपितरि, ज्ञा० । शुम्भायाः सिंहासने, नपुं० । ज्ञा० २ श्रु० २ वर्ग १ अ० ।

सुंभय-शुंभक-त्रि० । शुभ्रवर्णकारिणि, अनु० ।

सुंभवडिंसग-शुम्भावतंसक-न० । बलिचञ्चाया राजधान्या बल्यग्रमहिष्या. शुम्भाया आवासविमाने, ज्ञा० २ श्रु० २ वर्गे १ अ० ।

सुंभसिरी-शुम्भश्री-स्त्री० । बल्यग्रमहिष्या' शुम्भायाः पूर्वभवमातरि, ज्ञा० २ श्रु० २ वर्ग १ अ० ।

सुंभा-शुम्भा-स्त्री० । बलेर्वैरोचनेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ५ ठा० १ उ० । (अस्या. पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे १६६ पृष्ठे उक्ता ।)

सुंब-सुंब-न० । वल्कलरज्ज्वाम् , भ० १५ श० । वीरणतृणे, तज्जनितायां दवरिकायाम् , स्त्री० । विशे० ।

सुंबकट-सुंबकट-पुं० । वीरणकटे, भ० १३ श० ६ उ० ।

सुंसुमा--सुंसुमा--स्त्री० । राजगृहवास्तव्यस्य धनश्रेष्ठिन' कन्यायाम् . आ० क० १ अ० । ज्ञा० । ति० । आ० चू० । संथा० । ('चिलाइपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११८८ पृष्ठे कथा ।)

सुंसुमार--शिशुमार--पुं० । मत्स्यविशेषे, उत्त०३६ अ० । जी० । प्रज्ञा० । सूत्र० । आ०चू०। स्वनामख्याते नगरे,यत्रैकरात्रिकीप्रतिमाप्रतिपन्नं वीरजिनं शक्रतिरस्कारार्थी चमरः प्रणनाम । स्था० १० ठा० ३ उ० । आ० म० ।

सुक-शुक-पुं० । कीरे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

सुकंत--सुकान्त--पुं० । ऋषभदेवस्य पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । सुकान्तः कान्तियोगात् । स० ।

सुकच्छ--सुकच्छ--पुं० । द्वितीयविजयक्षेत्रयुगले, जं०४वक्ष० । (अस्य वर्णनं ' गाहावई ' शब्दे तृतीयभागे ८७३ पृष्ठे उक्तम् ।)

सुकच्छकूड--सुकच्छकूट--पुं०। नपुं०। जम्बूद्वीपे सुकच्छदीर्घवैताढ्यस्य स्वनामख्याते कूटे, स्था० २ ठा० १ उ० । जं० ।

सुकड--सुकृत--त्रि० । सुष्ठु निर्वर्त्तिते , उत्त० १ अ० । सुष्ठु कृते , उत्त० १ अ० । आचा० । दश० ।

सुकडक्खनिरिक्खिय--सुकटाक्षनिरीक्षित--न० । सुष्ठु नेत्रविकारनिरीक्षणे , तं० ।

सुकडाइभाव सुकृतादिभाव--पुं० । सुकृतदुष्कृतकर्मपुरुषाकारादयस्यादिभाव , पा० ४ विव० ।

सुकडासेवण--सुकृतासेवन--न० । सुकृत्यस्य सति विवेके नियतभाविनो खण्डभावासिद्धेः परकृतामोदनरूपस्य सेवने, पं० सू० १ सूत्र ।

सुकढिय--सुक्वथित--त्रि० । यथोक्ताग्निपरितापिने, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुकण्ह--सुकृष्ण--पुं० । कूणिकस्य महाराजस्य सुकृष्णाया अग्रमहिष्या पुत्रे, नि० । (स च संग्रामे हतो नरके उत्पद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति निरयावलिकाना प्रथमवर्गस्य पञ्चमे अध्ययने सूचितम् ।)

सुकण्हा--सुकृष्णा--स्त्री० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकाग्रमहिष्याम् , अन्त० ।

एवं सुकण्हा वि नवरं सत्तमसत्तमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ पढमे सत्तए एकेकं भोयणस्स दत्ति पडिगाहेति एकेक पाणगस्स । दोच्चे सत्तए दो दो भोयणस्स दो दो पाणयस्स पडिगाहेति । तच्चे सत्तते तिन्नि भोयणस्स तिन्नि पाणयस्स, चउत्थे सत्तए ४, पंचमे सत्तए ५, छट्ठे सत्तए ६, सत्तमे सत्तते सत्त दत्तीतो भोयणस्स पडिगाहेति सत्त पाणयस्स, एवं खलु एयं सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं एगूणपन्नाए रातिंदिएहिं एगेण य छन्नउएण य भिक्खासतेणं अहासुत्ता ०जाव आराहेत्ता जेणेव अज्जचन्दणा अज्जा तेणेव उवागया,अज्जचंदणं अज्जं वन्दति नमंसति २ त्ता एवं वयासी--इच्छामि णं अज्जातो तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी अट्ठट्ठमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेत्तते, अहासुहं । तते णं सा सुकण्हा अज्जा अज्जचंदणाए अब्भणुण्णाता समाणी अट्ठट्ठमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । पढमे अट्ठए एकेकं भोयणस्स दत्ति पडि० एकेकं पाणयस्स०जाव अट्ठमे अट्ठए अट्ठट्ठभोयणस्स पडिगाहेति अट्ठ पाणगस्स । एवं खलु एयं अट्ठट्ठमियं भिक्खुपडिमं चउसट्ठिए रातिंदिएहिं दोहि य अट्ठासीतेहिं भिक्खासतेहिं अहा ०जाव नवनवमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । पढमे नवके एकेकं भोयणस्स दत्ति पडिगाहेति एकेकं पाणयस्स०जाव नवमे नवए नव२भोयणदत्ति पडिगाहेति नव२पाणयस्स पडिगाहेति । एवं खलु एतं नवनमियं भिक्खुपडिमं एकासीयरातिंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासतेहिं अहासुत्तं दस दसमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । पढमे दसते एकेकभोयणदत्ति पडिगाहेति एकेकं पाणगदत्तिं० जाव दसमे दसए दस दस भोयणदत्तिं पडिगाहेति दस दस पाणस्स दत्तिं पडिगाहेति । एवं खलु एयं दसदसमियं भिक्खुपडिमं एकेणं राइंदियसएणं अद्धछट्ठेहि य भिक्खासतेहिं अहासुत्तं ० जाव आराहेति २त्ता बहूहिं चउत्थ० जाव मासद्धमासविविहतवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणी विहरति । तए णं सा सुकण्हा अज्जा तेणं उरालेणं०जाव सिद्धा । (सू०२१×) अन्त० १ श्रु ८ वर्ग ४ अ० ।

सुकप्प-सुकल्प-पुं० । ज्ञानदर्शनादिषूपयोगे, पं० भा० ।

दंसणनाणचरित्ते,तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तो ।
णिच्चं पसंमिओ य, वयणम्मि तं जाणसु सुकप्पं ।
सुकप्पविहारीणं, एगंताऽऽराहणा य मोक्खा य ।
आराहणा य मोक्खेणं,चेव च्छिण्णो य संसारो ।
पं० भा० ३ कल्प ।

इयाणि सुकप्पो तत्थ गाहा । दंसणनाणाइसु निच्चं पसंसिओ पवयणं सो भणति । गाहा सुकप्पविहाराइ । गाहासिद्धं एवं एतत्था सुकप्पकप्पे अणुगंतव्वा, अणुकप्पविहारीणं आराहणा य मोक्खेण चेव छिन्नो उ संसारो । पं० चू० ३ कल्प ।

सुकम्माण-सुकर्मन्-त्रि० । सुकृतकर्मकारिणि, प्रा० ३ पाद ।

सुकय-सुकृत--त्रि० । सुष्ठु रचिते,उपा० अ० । शोभिते,आ० म० १ अ० । कल्प० । प्रज्ञा० । षो० । औ० । रा० । प्रश्न० ।

सुकर--सुकर--त्रि० । कर्तुमलं समर्थे,आचा०१ श्रु०१अ०१उ० ।

सुकरण--सुकरण--न० । यथादिकानामेकादशानामन्यतमस्मिन् शोभने करणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार

सुकहिय-सुकथिक-त्रि० । शोभनो मध्यस्थ कथक प्रतिपादको यस्य तत् सुकथिकम् । यथार्थशास्त्राभिः प्रतिपादिते, प्रश्न० २ सव० द्वार ।

सुकथित-त्रि० । न्यायाबाधितत्वेन कथिते, प्रश्न० १ सव० द्वार ।

सुकाल-सुकाल-पु० । सुकाल्या राज्ञ पुत्र सुकाल । कृणिक-महाराजाग्रमहिष्याः सुकाल्या आत्मजे, अन्त० । (स च संग्रामप्रेतोऽनरकं गत्वा तत उद्वृत्य महाविदेहे सेत्स्यति ।)

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था । पुन्नभद्दे चेइए कोणिए राया । पउमावई देवी । तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कोणियस्स रन्नो चुल्लमाउया सुकाली नामं देवी होत्था, सुकुमाला । तीसे णं सुकालीए देवीए पुत्ते सुकाले नामं कुमारे होत्था, सुकुमाले । तते णं से सुकाले कुमारे अन्नया कयाति तिहिं दंतिसहस्सेहिं जहा कालो कुमारो निरवसेसं तं चेव ०जाव महाविदेहे वासे अंतं काहिति ॥ २ ॥ नि० १ श्रु० १ वर्ग २ अ० ।

सुकाली-सुकाली-स्त्री० । स्वनामख्यातायां कूणिकस्याग्रमहिष्याम् , अन्त० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेतिए कोणिते राया । तत्थ णं सेणियस्स रण्णो भज्जा कोणियस्स रण्णो चुल्लमाउया सुकाली नामं देवी होत्था, जहा काली तहा सुकाली विनिक्खंता ०जाव बहूहिं चउत्थं ०जाव भावेमाणे विहरति । तते णं सा सुकाली अज्जा अण्णया कयाती जेणेव अज्जा चंदणा अज्जा ०जाव इच्छामि णं अज्जो तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी कणगावलितवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तो एव जहा रयणावली तहा कणगावली वि नवरं तिसु थाणेसु अट्ठमातिकरे जहा रयणावलीए छट्ठाति एक्काए परिवाडीए एगे संवच्छरे पंच मासा बारस य अहोरत्ता चउण्हं पचवरिसा नव मासा अट्ठारस दिवसा सेसं तहेव नव वासा परियातो पावणिता ०जाव सिद्धा ॥ ५ ॥ अन्त० १ श्रु० ८ वर्ग १ अ० ।

सुकिदु-सुकृत-न० । " स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे " ॥ ८।४।३२९ ॥ इत्यपभ्रंशे स्वराणां स्थाने प्रायः स्वराः । सुकिदु । सुकिओ । सुकिउ । पुण्ये, प्रा० ४ पाद ।

सुकुमारकोमल-सुकुमारकोमल-त्रि० । अत्यन्तकोमले. औ० ।

सुकुमारया-सुकुमारता-स्त्री० । कोमलस्पर्शतायाम् , सू० १ उ० २ प्रक० ।

सुकुमाल सुकुमार-त्रि० । अतिकोमले. ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कोमले, सू० १ उ० ३ प्रक० । उत्त० । स्था० । जी० । मृदुत्वगते, न । भ० । अकर्कशस्पर्शे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० । औ० । रा० । अन्त० । न० । ' सुकुमालभद्द' सुकुमारश्चासौ भद्रश्च भद्रमूर्त्तिरिति समासो लकारककारौ स्वार्थिकौ । भ० १६ श० १ उ० । सुकुमालपाणिपाया " सुकुमारौ कोमलौ पाणी च पादौ च यस्य स सुकुमारपाणिपाद । स्था० ६ ठा० ३ उ० । रा० । " सुकुमालविकिण्णकेसहत्था " सुकुमार स्वरूपेण विकीर्णौ व्याकुलचित्ततया केशहस्तो धम्मिल्लो यस्या सा सुकुमाला वा विकीर्णा केशा हस्तौ च यस्या सा तथा । भ० ९ श० ३३ उ० ।

सुकुमालिया-सुकुमारिका-स्त्री० । भारते वर्षे चम्पायां नगर्यां सागरदत्तस्य सार्थवाहपुत्र्याम्, पञ्चम परभवे द्रौपदी नाम दारिका जाता । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । (तत्कथा 'दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५८२ पृष्ठे उक्ता ।)स्पर्शेन्द्रिये उदाहृतायां वसन्तपुरराजस्य जितशत्रोर्भार्यायाम् , आ० म० १ अ० । आ० चू० । ग० । बृ० । आचा० ।

सुकुल-सुकुल-न० । इक्ष्वाकादिवंशे , स्था० । तथा-सुकुले इक्ष्वाकादिके प्रत्यायातिर्जन्मेतो सुलभमिति । अत्राभिहितम्-"आर्यक्षेत्रोत्पत्तौ , सत्यामपि सत्कुलं न सुलभं स्यात् । सच्चरणगुणमणीना, पात्र प्राणी भवति यत्र ॥१॥" इति । स्था० ८ ठा० ३ उ० । सुकुले इक्ष्वाकादौ देवलोकात् प्रतिनिवृत्तस्याजातिर्जन्म आयातिर्वा आगति सुकुलप्रत्याजाति सुकुलप्रत्यायातिर्वा तामिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । आचा० । ज० ।

सुकृत-सुकृत-न० । "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥८।४।३२९॥ इति ऋत ऋत्त्वम् । सुकृतम् । पुण्ये, प्रा० ४ पाद ।

सुक्क-शुक्र-न० । सप्तमे धातौ , ज्ञा० १ श्रु १ अ० । रेतसि , स्था० २ ठा० ३ उ० । वीर्ये, त० । (अङ्गादानाच्छुक्रनिष्काशनम् 'अगादाण' शब्दे प्रथमभागे ४० पृष्ठे गतम् ।) महाशुक्रस्य सप्तमदेवलोकस्य देवे, विशे० । प्रव० । सप्तमदेवलोकविमानभेदे । स० १७ सम० । सप्तमदेवलोकस्येन्द्र , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

तच्चरित्रम्—

जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था , पुन्नभद्दे चेइए, कूणिए राया, पउमावई देवी । तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कोणियस्स रन्नो चुल्लमाउया सुकाली नामं देवी होत्था । तीसे णं सुकालीए पुत्ते सुकाले नामं कुमारे । तस्स णं सुकालस्स कुमारस्स महापउमा नाम देवी होत्था,सुकुमाला । तते णं सा महापउमा देवी अन्नदा कयाइं तंसि तारिसगंसि एवं तहेव महापउमे नामं दारते ०जाव सिज्झिहिति नवरं ईसाणे कप्पे उववाओ उक्कोसट्ठिइओ; तं एव खलु जंबू ! समणेणं भगवया०जाव संपत्तेणं एवं सेसा वि अट्ठ नयव्वा । मातातो सरिसनामाओ । कालादीणं दसण्हं पुत्ता आणुपुव्वीए-"दोण्हं च पंच चत्तारि, तिण्ह तिण्हं च होंति ति-

खेव। दोएहं च दोषि वासा,सेणियनत्तूण परियातो ॥१॥" उववातो आणुपुव्वीते-पढमो सोहम्मे , बितितो ईमाणे, ततितो सणंकुमारे , चउत्थो माहिंदे , पंचमओ बंभलोए, छट्ठो लंतए , सत्तमओ महासुके , अट्ठमओ सहस्सारे , नवमओ पाणते , दसमओ अच्चुए । सव्वत्थ उक्कोमट्ठिई भाणियव्वा , महाविदेहे सिद्धे ॥ १० ॥ कप्पवडिंसियाओ समत्ताओ । वितितो वग्गो दम अज्झयणा ॥ २ ॥ (नि०)

जइ णं भंते ! समणेणं भगवता०जाव संपत्तेणं उक्खेवतो भाणियव्वो, रायगिहे नगरे , गुणसिलए चेइए० , सेणिए राया , सामी समोसढे, परिसा निग्गया । तेणं कालेणं तेणं समएणं सुक्के महग्गहे सुक्कवडिंसए विमाणे सुक्कंमि सीहासणंमि चउहिं सामाणियमाहस्सीहिं जहेव चंदो तहेव आगओ, नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगतो, भंते त्ति कूडागारसाला । पुव्वभवपुच्छा । एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं०वाणारसी नामं नगरी होत्था । तत्थ । णं वाणारसीए नयरीए सोमिले नामं माहणे परिवसति , अड्ढे० जाव अपरिभूते रिउव्वेय० जाव सुपरिनिट्ठिते । पासे अरहा पुरिसादाणीए समोसढे परिसा पज्जुवासति । तए णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स इमे एतारूवे अज्झत्थिए-एवं पासे अरहा पुरिसादाणीए पुव्वाणुपुव्विं० जाव अंबसालवणे विरहति । तं गच्छामि णं पासस्स अरहतो अंतिए पाउब्भवामि । इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं जहा पराणत्तीए । सोमिलो निग्गतो खंडियविहुणो० जाव एवं वयासी-जत्ता ते भंते ! जवणिज्जं च ते ! पुच्छा सरिसवया मासा कुलत्था एगे भवं० जाव संबुद्धे सावगधम्मं पडिवज्जित्ता पडिगते । तते णं पासे णं अरहा अएणया कदायि वाणारसीओ नगरीओ अंबसालवणातो चेइयाओ पडिनिक्खमति अंबसालवणातो चेइयातो पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरति । तते णं से सोमिले माहणे अएणदा कदायि असाहुदंसणेण य अपज्जुवासणताए य मिच्छत्तपज्जवेहिं परिवड्ढमाणेहिं २ सम्मत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं मिच्छत्तं च पडिवन्ने । तते णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स अएणदा कदायि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं वाणारसीए नयरीए सोमिले नामं माहणे अच्चंतमाहणकुलप्पसूए । तते णं मए वयाइं चिणाइं, वेदा य अहीया, दारा अ हूया, पुत्ता जणिता, इड्ढीओ समाणीओ, पसुवधा कया, जन्ना जेट्ठा, दक्खिणा दिन्ना, अतिही पूजिता,अग्गी हूया,जूवा निक्खित्ता। तं सेयं खलु ममं इदाणिं कल्लं० जाव जलंते वाणारसीए नयरीए बहिया बहवे अंबारामा रोवावित्तए, एवं माउलिंगा बिल्ला कविट्ठा चिंचा पुप्फारामा रोवावित्तए , एवं संपेहेति संपेहित्ता कल्लं० जाव जलंते वाणारसीए नयरीए बहिया अंबारामे य ०जाव पुप्फारामे य रोवावेति । तते णं बहवे अंबारामा य ०जाव पुप्फारामा य अणुपुव्वेणं सारक्खिज्जमाणा संगोविज्जमाणा संवड्ढिज्जमाणा आरामा जाता किएहा किएहाभासा ०जाव रम्मा महामेहनिकुरंबभूता पत्तिया पुप्फिया फलिया हरियगरेरिज्जमाणसिरिया अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति । तते णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स अएणदा कदाथि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था- एवं खलु अहं वाणारसीए णयरीए सोमिले नामं माहणे अच्चंतमाहणकुलप्पसूते । तते णं मए वयाइं चिणाइं०जाव जूवा णिक्खित्ता। तते णं मए वाणारसीए नयरीए बहिया बहवे अंबारामा ०जाव पुप्फारामा य रोवाविया, तं सेयं खलु ममं इदाणिं कल्लं ०जाव जलंते सुबहुं लोहकडाहकडुच्छुयं तंबियं तावसभंडं घडावित्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं मित्तनाइ ०आमंतित्ता तं मित्तनाइ णियग० विउलेणं असण ०जाव सम्माणित्ता तस्सेव मित्त ०जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेत्ता तं मित्तनाइ० जाव आपुच्छित्ता सुबहुं लोहकडाहकडुच्छुयं तंबियतावसभंडगं गहाय जे इमे गंगाकूला वाणपत्था तावसा भवंति,तं जहा-होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जंनती सड्ढती घालती हुंवउट्ठा दंतुक्खलिया उम्मज्जगा संमज्जगा निमज्जगा संपक्खालगा दक्खिणकूला उत्तरकूला संखधमा कूलधमा मियलुद्धया हत्थितावसा उद्दंडा दिसापोक्खिणो वक्कवासिणो बिलवासिणो जलवासिणो रुक्खमूलिया अंबुभक्खिणो वायुभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाऽऽहारा कंदाऽऽहारा तयाऽऽहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा फलाऽऽहार। बीयाऽऽहारा पडिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाऽऽहारा जलाऽभिसेयकढिणगायभूता आयावणाहिं पंचग्गीतावेहिं इंगालसोल्लियं कंदसोल्लियं पि व अप्पाणं करेमाणा विहरंति । तत्थ णं जे ते दिसापोक्खिया तावसा तेसिं अंतिए दिसापोक्खियत्ताए पव्वइत्तए पव्वयिते वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिरिहस्सामि कप्पति मे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं दिसाचक्कवालेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहातो पगि-

ज्झिय २ सूराभिमुहस्स आतावणभूमीए आतावेमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ २ त्ता कल्लं ०जाव जलंते सुबहु लोह ०जाव दिसापोक्खियतावसत्ताए पव्वइए २ त्ता वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं ०जाव अभिगिण्हित्ता पढमं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तते णं सोमिले माहणे रिसी पढमछट्ठक्खमणपारणंसि आयावणभूमीए पच्चोरुहति २ त्ता वागलवत्थनियत्थे जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता किढिणसंकाइयं गेण्हति किढि० त्ता पुरच्छिमं दिसिं पुक्खेति पुरच्छिमाए दिसाए सोमे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सोमिलमाहणरिसिं अभि० २ जाणि य तत्थ कंदाणि य मूलाणि य तयाणि य पत्ताणि य पुप्फाणि य फलाणि य बीयाणि य हरियाणि ताणि अणुजाणउ त्ति कट्टु पुरच्छिमं दिसं पसरति पुरच्छि० त्ता जाणि य तत्थ कंदाणि य ०जाव हरियाणि य ताइं गेण्हति, किढिणसंकाइयं भरेति किढिणसंकाइयं भरित्ता दब्भे य कुसे य पत्तामोडं च समिहाकट्ठाणि य गेण्हति समिहा० त्ता जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता किढिणसंकाइयगं ठवेति किढि० त्ता वेदिं वड्डेति वेदिं वड्डेत्ता उवलेवणसमज्जणं करेति उवलेव० रेत्ता दब्भकलसहत्थगते जेणेव गंगा महानदी तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता गंगं महानदिं ओगाहति गंगं महान० त्ता जलमज्जणं करेति जल० त्ता जलकिड्डं करेति जल० त्ता जलाभिसेयं करेति २ त्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए देवपिउकयकज्जे दब्भकलसहत्थगते गंगातो महानदीओ पच्चुत्तरति जेणेव सते उडए तेणेव उवागच्छइ दब्भे य कुसे य वालुयाए य वेदिं रएति, वेदिं रएत्ता सरयं करेति, सरयं करेत्ता अरणिं करेति, अर० त्ता सरएणं अरणिं महेति, सर० त्ता अग्गिं पाडेति, अग्गिं पाडेत्ता अग्गिं संधुक्खेति, अग्गिं सं० त्ता समिहाकट्ठाणि पक्खिवति, समि० त्ता अग्गिं उज्जालेति अग्गिं उ० त्ता " अग्गिस्स दाहिणे पासे सत्तंगाइं समादहे । " तं जहा-" सकत्थं वक्कलं ठाणं, सिज्जं भंडं कमंडलुं । दंडदारुं तहप्पाणं, अह ताइं समादहे ॥ १ ॥ " मधुणा य घएण य तंदुलेहि य अग्गिं हुणइ, चरुं साधेति चरुं साधेत्ता बलिवइस्सदेवं करेति बलि० त्ता अतिहिपूयं करेति अति० त्ता तओ पच्छा अप्पणा आहारं आहारेति । तते णं सोमिले माहणरिसी दोच्चं छट्ठं व खमणपारणंसि तं चेव सव्वं भाणियव्वं ०जाव आहारं आहारेति, नवरं इमं नाणत्तं दाहिणाए दिसाए जमे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सोमिलं माहणरिसिं जाणि य तत्थ कंदाणि य ०जाव अणुजाणउ त्ति कट्टु दाहिणं दिसिं पसरति । एवं पच्चत्थिमे णं वरुणे महाराया० जाव पच्चत्थिमं दिसिं पसरति । उत्तरेणं वेसमणे महाराया० जाव उत्तरं दिसिं पसरति । पुव्वदिसागमेणं चत्तारि विदिसाओ भाणियव्वाओ० जाव आहारं आहारेति । तते णं तस्स सोमिलमाहणरिसिस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु अहं वाणारसीए नगरीए सोमिले नामं माहणरिसी अच्चंतमाहणकुलप्पसूए, तते णं मए वयाइं चिण्णाइं० जाव जूवा निक्खित्ता । तते णं मम वाणारसीए० जाव पुप्फारामा य० जाव रोविता । तते णं मए सुबहुलोह० जाव घडाविता० जाव जेट्ठपुत्तं ठावित्ता० जाव जेट्ठपुत्तं आपुच्छित्ता सुबहुलोह ०जाव गहाय मुंडे ०जाव पव्वइए वि य णं समाणे छट्ठं छट्ठेणं० जाव विहरति । तं सेयं खलु ममं इयाणिं कल्लं पादु० जाव जलंते बहवे तावसे दिट्ठा भट्ठे य पुव्वसंगतिए य परियायसंगतिए अ आपुच्छित्ता आसमसंसियाणि य बहूहिं सत्तसयाइं अणुमाणइत्ता वागलवत्थनियत्थस्स कढिणसंकाइयगहितसभंडोवकरणस्स कट्ठमुद्दाए मुहं बंधित्ता उत्तरदिसाए उत्तराभिमुहस्स महपत्थाणं पत्थावेइत्तए एवं संपेहेइ एवं संपेहित्ता कल्लं० जाव जलंते बहवे तावसे य दिट्ठा भट्ठे य पुव्वसंगतिते य तं चेव ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, बंधित्ता अयमेतारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति जत्थेव णं अम्हं जलंसि वा एवं थलंसि वा दुग्गंसि वा निन्नंसि वा पव्वतंसि वा विसमंसि वा गड्डाए वा दरीए वा पक्खलिज्ज वा पव्वडिज्ज वा नो खलु मे कप्पति पच्चुट्ठित्तए त्ति कट्टु अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति, उत्तराए दिसाए उत्तराभिमुहपत्थाणं (महपत्थाणं) पत्थिए से सोमिले माहणरिसी पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागते, असोगवरपायवस्स अहे कढिणसंकाइयं ठवेति, कढि० ठवेत्ता वेदिं वड्डेइ वे० त्ता उवलेवणसंमज्जणं करेति उव० करेत्ता दब्भकलसहत्थगते जेणेव गंगा महानई जहा सिवो ०जाव गंगातो महानईओ पच्चुत्तरइ, जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता दब्भेहि य कुसेहि य वालुयाए वेदिं रतेति, वालु० त्ता, सरगं करेति ०जाव बलिवइस्सदेवं करेति बलि० त्ता कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिल-

माहणरिसिस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूते । तते णं से देवे सोमिलं माहणं एवं वयासी-हं भो सोमिलमाहणा ! पव्वइया दुप्पव्वइतं ते ।' तते णं से सोमिले तस्स देवस्स दोच्चं पि तच्चं पि एयमट्ठं नो आढाति नो परिजाणइ ०जाव तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं देवे सोमिलेणं माहणरिसिणा अणाढाइज्जमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव ०जाव पडिगते । तते णं से सोमिले कल्लं ०जाव जलंते वागलवत्थनियत्थे कढिणसंकाइयं गहियग्गिहोत्तभंडोवकरणे कट्ठमुद्दाए मुहं बंधेति, कट्ठ० बंधेत्ता उत्तराभिमुहे संपत्थिते । तते णं से सोमिले बितियदिवसम्मि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव सत्तिवन्ने अहे कढिणसंकाइयं ठवेति कढि० ठवेत्ता वेतिं वड्ढेति वेतिं वड्ढेत्ता जहा असोगवरपायवे ० जाव अग्गिं हुणति, कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति , तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिलस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूए । तते णं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने जहा असोगवरपायवे ०जाव पडिगते । तते णं से सोमिले कल्लं ०जाव जलंते वागलवत्थनियत्थे कढिणसंकाइयं गेण्हति कढि०त्ता कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति कट्ठ०त्ता उत्तरादिसाए उत्तराभिमुहे संपत्थिते । तते णं से सोमिले ततियदिवसम्मि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवा०त्ता असोगवरपायवस्स अहे कढिणसंकाइयं ठवति, वेतिं वड्ढेति ०जाव गंगं महानइं पच्चुत्तरति गंगं० २ त्ता जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता वेतिं रएति वेतिं रएत्ता कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति कट्ठ०त्ता तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिलस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भूया तं चेव भणति ०जाव पडिगते । तते णं से सोमिले ०जाव जलंते वागलवत्थनियत्थे कढिणं संकाइयं ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति कट्ठ० बंधित्ता उत्तराए दिसाए उत्तराभिमुहे संपत्थिए । तते णं से सोमिले चउत्थदिवसपुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव वडपायवे तेणेव उवागते वडपायवस्स अहे किढिणं संठवेति किढ०त्ता वेइं वड्ढेति उवलेवणसंमज्जणं करेति ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिलस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अतियं पाउब्भूया तं चेव भणति ०जाव पडिगंते । तते णं से सोमिले ०जाव जलंते वागलवत्थनियत्थे किढिणसंकाियं ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, उत्तराए उत्तराभिमुहे संपत्थिते । तते णं से सोमिले पंचमदिवसम्मि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव उंबरपायवे उंबरपायवस्स अहे किढिणसंकाइयं ठवेति, वेइं वड्ढेति ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति ०जाव तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिलमाहणस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे ०जाव एवं वयासी—हं भो सोमिला ! पव्वइया दुप्पव्वइयं ते पढमं भणति, तहेव तुसिणीए संचिट्ठति । देवो दोच्चं पि तच्चं पि वदति सोमिला ! पव्वइया दुप्पव्वइयं ते । तए णं से सोमिले तेणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे तं देवं एवं वयासी—कहण्णं देवाणुप्पिया ! मम दुप्पव्वइतं ? । तते णं से देवे सोमिलं माहणं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुमं पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स अंतियं पंचाणुव्वए सत्त सिक्खावए दुवालसविहे सावगधम्मे पडिवन्ने, तए णं तव अन्नदा-कदाइ पुव्वरत्त० कुडुंब० जाव पुव्वचिंतितं देवो उच्चारेति ०जाव जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता किढिणसंकाइयं०जाव तुसिणीए संचिट्ठसि । तते णं पुव्वरत्तावरत्तकाले तव अंतियं पाउब्भवामि हं भो सोमिला ! पव्वइया दुप्पव्वतियं ते तह चेव देवो नियवयणं भणति ०जाव पंचमदिवसम्मि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव उंबरवरपायवे तेणेव उवागते किढिणसंकाइयं ठवेति वेदिं वड्ढेति उवलेवणं संमज्जणं करेति सम०त्ता कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, कट्ठमुद्दाए मुहं बंधित्ता तुसिणीए संचिट्ठसि, तं एवं खलु देवाणुप्पिया ! तव दुप्पव्वयितं । तते णं से सोमिलं तं देवं वयासी--(कहं णं देवाणुप्पिया ! मम सुप्पव्वइतं ?, तते णं से देवे सोमिलं एवं वयासी) जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणिं पुव्वपडिवन्नाइं पंच अणुव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ता णं विहरसि, तो णं तुज्झ इदाणिं सुपव्वइयं भविज्जा । तते णं देवे सोमिलं वंदति वंदित्ता नमंसति नमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूते० जाव पडिगते । तते णं सोमिले माहणरिसी तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे पुव्वपडिवन्नाइं पंच अणुव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तते णं से सोमिले बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम० जाव मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोवहाणेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणति बहू० णित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं पाउणति बहू० णित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेति अद्धमा०त्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेति अण०त्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते विराहियसम्मत्ते कालमासे कालं किच्चा सुक्कवडिंसए विमाणे उववातसभाए देवसय-

णिज्जंसि ०जाव ओगाहणाए सुक्कमहग्गहत्ताए उववन्ने । त-ते णं से सुक्के महग्गहे अहुणोववन्ने समाणे ०जाव भासा-मणपज्जत्तीए एवं खलु गोयमा ! सुक्केणं महग्गहेणं सा दिव्वा ०जाव अभिसमन्नागए एगं पलिओवमट्ठिती सुक्के णं भंते ! महग्गहे ततो देवलोगाओ आउक्खए कहिं ग-च्छिहिति कहिं सिज्झिहिति ?, गोयमा ! महाविदेहवासे सिज्झिहिति । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० ।

द्वाचत्वारिंशत्तमे महाग्रहे. कल्प० १ अधि० ६ क्षण । चं० प्र० । स्था० । सूर्यादिग्रहेष्वन्यतमे ग्रहे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । सू० प्र० । औ० ।

दो सुक्का । स्था २ ठा० ३ उ० ।

शुक्ल–न० । शोधयत्यष्टप्रकार कर्ममल शुच वा शोक क्लम-यत्यपनयतीति निरुक्तविधिना शुक्लम । प्रव० ६ द्वार । आतु० । आव० । आ० चू० । ध्यानभेदे, उत्त० ३० अ० । प्रव० । एतदपि पृथग्गतश्रुतानुसारिनानानयमतैकद्रव्योत्पत्ति-स्थितिभङ्गादिपर्यायानुस्मरणादिस्वरूपमबाधसमोहादिलि-ङ्गगम्य मोक्षादिफलसाधक विज्ञेयम् । अत्र च धर्मशुक्ले एव तपसी निर्जरार्थत्वात् ,नार्त्तरौद्रे बन्धहेतुत्वादिति । प्रव० ६ द्वार । संवत्सरादूर्ध्वं क्रियामलत्यागेन संवत्सरे कालात्ययेन शुक्ल ध्यान भवति । पो०१२ विव० । अभिन्नवृत्ते अमत्सरि-णि कृतज्ञे सदारम्भिणि हितानुबन्धे, पं०सू० ४ सूत्र । " सुक्के सुक्काभिजाइए " । भ० ८ श० ५ उ० । अष्ट० । त्रि० । शुभ्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

शुल्क–न० । मूल्ये. ज्ञा०१ श्रु०८ अ० । कल्प० । दाने, भ० ५५ श० । राजदेये द्रव्ये इत्यन्ये । बृ० १ उ० ३ प्रक० । नि० ।

शुष्क–त्रि० । नीरसे, भ० २ श० १ उ० । स्तोकव्यञ्जने, दश० ५ अ० १ उ० । वल्यचणकादौ , आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

सुक्कच्छगणिया--शुष्कच्छगणिका--स्त्री० । शुष्कगोमयपिण्डे , अणु० ।

सुक्कच्छेवाडिया--शुष्कच्छेवाडी--स्त्री०।आतपशुष्कायां वल्या-दिफलिकायाम् ,छेवाडी नाम वल्यादिफलिका सा च क्वचि-द्देशविशेषे शुष्का सती अतीव शुष्कवरतूपमानत्वेन वर्ण्य-ते । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

सुक्कजलोया--शुष्कजलौका--स्त्री० । जलौकाख्यजलजन्तुवि-शेषस्यास्थिन्, अणु० ।

सुक्कज्झाण--शुक्लध्यान--न० । शुच क्लमयतीति शुक्ल शोक ग्लपयतीत्यर्थं ध्यै' चिन्तायां ध्यायते-चिन्त्यते तत्त्वमने-नेति ध्यानम्-एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः । शुक्लं च तद् ध्या नं च शुक्लध्यानम् । तस्मिन् , आव० ४ अ० । दोषमला-पगमाच्छुचित्व तदनुषङ्गाच्छुक्लध्यानम् । सम्म० ३ काण्ड । शुक्लं शुभस्वाभाविक सर्वोपाधिवर्जितरहित चित्तमन्त करण यस्मिन् ध्याने तत् ध्यानमप्युपचाराच्छुक्लम् । दर्श० ४ तत्त्व । अथ शुक्लमाह--'पुहुत्तवितक्के त्ति-पृथक्त्वेन--एकद्रव्या श्रितानामुत्पादादिपर्यायाणा भेदेन पृथुत्वेन वा विस्तीर्ण-भावेनेत्यन्ये, वितर्को-विकल्प पूर्वगतश्रुतालम्बनो नानान-यानुसरणलक्षणो यस्मिंस्तत्तथा, पूर्वविदस्तु वितर्क श्रुतालम्ब-नतया श्रुतमित्युपचारादधीत इति, तथा विचरणम्-अर्था-द् व्यञ्जने व्यञ्जनादर्थे तथा मन प्रभृतीना योगानामन्यतर-स्मादन्यतरस्मिन्निति विचारो ' विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगस-ङ्क्रान्ति'रिति (तत्त्वा० ९ अ ४६ सू०) वचनात् , सह वि-चारेण सविचारि, सर्वधनादित्वादिन्समासान्त , उक्त च—

"उप्पायट्ठितिभंगाइ. पज्जयाण जमेगदव्वम्मि । नाणानया—णुसरण पुव्वगयसुयाणुसारेण ॥१॥ सवियारमत्थवंजण-जोगतरओ तयं पढमसुक्क । होति पुहुत्तवियक्क सवियारमराग-भावस्स ॥ २ ॥" इत्येको भेद , तथा 'एगत्तवियक्के त्ति एक त्वेन—अभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्यायालम्बनत-येत्यर्थो वितर्क —पूर्वगतश्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तदेकत्ववितर्कम् , तथा न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जन-योरितरस्मादितरत्र , तथा मन प्रभृतीनामन्यतरस्मादन्यत्र सङ्क्रमणलक्षणो निर्वातगृहगतप्रदीपस्येव यस्य तदविचारीति पूर्ववदिति, उक्त च—" ज पुण सुनिप्पकप, निवायसरणप्प-ईवमिव चित्त । उप्पायट्ठिइभगा-इयाणमेगम्मि पज्जाए ॥ १ ॥ अवियारमत्थवंजण-जोगतरओ तय बिइयसुक्क । पुव्वगयसु यालवण-मेगत्तवियक्कमवियार ॥ २ ॥" इति द्वितीय , तथा 'सुहुमकिरिए त्ति निर्वाणगमनकाले केवलिनो निरुद्धमनो-वाग्योगस्यार्द्धनिरुद्धकाययोगस्यैतद् , अत सूक्ष्मा क्रिया-कायिकी उच्छ्वासादिका यस्मिंस्तत्तथा, न निवर्त्तते-न व्या-वर्त्तेत इत्येवशीलमनिवर्त्ति प्रवर्द्धमानतरपरिणामाविति । भ-णितं च—' निव्वाणगमणकाले. केवलिणो दरनिरुद्धजोग-स्स । सुहुमकिरियाऽनियट्टिं. तइय तणुकायकिरियस्स॥१॥" इति तृतीय , तथा, ' समुच्छिन्नकिरिए ' त्ति समुच्छिन्ना—क्षीणा क्रिया-कायिक्यादिका शैलेशीकरणे निरुद्धयोगत्वेन यस्मिंस्तत्तथा, 'अप्पडिवाए' त्ति अनुपरतिस्वभावमिति चतुर्थ , आह—" तस्सेव य सेलेसी-गयस्स सेलो व्व नि-प्पकपस्स । वोच्छिन्नकिरियमप्पडि—वाई झाण परमसुक्क ॥ १ ॥" इति, इह चाद्ये शुक्लभेदद्वये अय क्रम —केवली-किलान्तर्मुहूर्त्तभाविनी परमपदे भवोपग्राहिकर्मसु च वेद-नीयादिषु समुद्घाततो निसर्गेण वा समस्थितिषु सत्सु या-गनिरोध करोति , तत्र च—

'पज्जत्तमेत्तसन्नि—स्स जत्तियाइ जहन्न जोगस्स ।
होंति मणोदव्वाइ, तव्वावारो य जम्मेत्तो ॥ १ ॥
तदसखगुणविहीणं, समए समए निरुभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोह, कुणइ असखेज्जसमएहिं ॥ २ ॥
पज्जत्तमेत्तबिंदिय, जहन्नवइजोगपज्जया जे उ ।
तदसखगुणविहीणे , समए समए निरुभतो ॥ ३ ॥
सव्ववइजोगरोह, संखातीएहिं कुणइ समएहिं ।
तत्तो अ सुहुमपणग—स्स पढमसमओववन्नस्स ॥ ४ ॥
जो किर जहन्नजोगो, तदसखेज्जगुणहीणमेक्केके ।
समए निरुभमाणो, देहतिभाग च मुचतो ॥ ५ ॥
रुमइ स काथजोग, संखाईतेहिं चेव समएहि ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावणामेइ ॥ ६ ॥ "

शैलेशस्येव—मेरोरिव या स्थिरता सा शैलेशीति, " ह-स्सक्खराइ मज्झे—ण जेण कालेण पच भण्णति । अच्छइ

सेलेसिगओ, तत्तियमेत्तं तओ काल ॥ १ ॥ तणुरोहारंभाओ, झायइ सुहुमकिरियाणियट्टिं सो । वोच्छिन्नकिरियमप्पडि-वाइ सेलसिकालम्मि ॥२॥" इति । स्था०४ठा०१उ० । ध्यानभेदे, स० ३ सम० । आव० । प्रव० । कल्प० । आ० म० ।

अणुत्तरं धम्ममुदीरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियायइ । सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदु एगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (व्याख्या ' वीर ' शब्दे षष्ठे भागे १३६० पृष्ठे गता ।) " यस्येन्द्रियाणि विषयेषु पराङ्मुखानि, सङ्कल्पकल्पनविकल्पविकारदोषैः । योगैः स च त्रिभिरहो नि-भृतान्तरात्मा ध्यानोत्तम प्रवरशुक्लमिदं वदन्ति ॥१॥ ' दश०१ अ० । शुक्ले तु जन्मक्षय । दर्श० ४ तत्त्व । ग० । सथा० । आव० । औ० । आ० चू० ।

सुक्कड--सुकृत--न० । शुभकर्मणि, ' सुक्कडदुक्कडकम्माणं फलविवागे आघविज्जति' स०१४५ सम० । कल्याणविपाके कर्म्मणि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कृते, त्रि० । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

सुक्कणाम--शुक्लनामन्--न० । वर्णनामकर्मभेदे ; यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु शुक्लो वर्णो भवति तत् शुक्लनाम । कम० ६ कर्म० ।

सुक्कणिरोह--शुक्रनिरोध--पुं० । मैथुनाकरणाद्वीर्यनिरोधे पं० चू० । शुक्रनिरोधे चापुरुषत्व स्यादिति । आह-यद्येव शुक्रनिरोधे अपुरुषत्व भवति, तदेयमव्यवस्था यस्मादमी भगवन्त साधव पूर्वकोट्यायुष्का अपि ब्रह्मचर्य धारयन्ति न च तेषामपुरुषत्वं भवत्यत. समयविरुद्धमुदाहृतम् । आचार्य आह-न, सिद्धान्तापारज्ञानात् इह सामान्येन सूत्रमभिहितम्-तत्र ये शकुनिनस्तत्कर्मसेवन पत्तिका मक्षिका इव शाल(लू)काद्या उत्कटवेदास्तान्प्रतीत्य सूत्रनिपात -यस्मात्तेषा वेदप्रादुर्भावनिरोधेन नपुंसकत्वमापद्यते ततो न विरोधः । पं० चू० २ कल्प ।

सुक्कपक्ख--शुक्लपक्ष--पुं० । ज्योत्स्नावति मासार्द्धे, ज्यो०४ पाहु० । यत्र ध्रुवराहु चन्द्रविमानमावृत्तं मुञ्चति तेन ज्योत्स्नाधवलितया शुक्ल पक्ष स शुक्लपक्ष । जं० ७ वक्ष० ।

सुक्कपक्खिय-शुक्लपाक्षिक-पुं० । शुक्लपक्षसंभव, स्था० ।

दुविहा णेरइया पण्णत्ता, तं जहा-किण्हपक्खिया चेव, सुक्कपक्खिया चेव ०जाव वेमाणिया । (सू० ७६ +)

शुक्लो विशुद्धत्वात्पक्षोऽभ्युपगम शुक्लपक्षस्तेन चरति शुक्लपाक्षिक शुक्लत्वं च क्रियावादित्वेनेति, आह च--" किरियावाई भव्वे, नो अभव्वे सुक्कपक्खिए किण्हपक्खिए " त्ति--शुक्लाना आस्तिकत्वेन शुक्लानां पक्षो--वर्ग शुक्लपक्षस्तत्र भव शुक्लपाक्षिकः । स्था० २ ठा० २ उ० । प० सू० । आ० । अपार्द्धपुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरीभूते संसारे, पञ्चा० १ विव० । ध० । स्था० । पं० स० । ग० । प्रज्ञा० । यो० विं० । भ० ।

सुक्कपाल--शुल्कपाल--पुं० । राजकरग्रहणस्थाने, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुक्कपोग्गल--शुक्रपुद्गल- पुं० । रेतसि, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

(ननु देवाना शुक्र-पुद्गला सन्ति उत नेत्युक्तं 'गब्भ' शब्दे तृतीयभागे ८३२ पृष्ठे ।)

सुक्कमास-शुक्लमास-पुं० । लघुमासे, बृ० ३ उ० ।

सुक्कलेस्सा-शुक्ललेश्या-स्त्री० । शुचं क्लमयतीति शुक्ला सा चासौ लेश्या च शुक्ललेश्या । लेश्याभेदे, आतु० । स० । पा० । उत्त० । उपा० ।

सुक्कवडिंसग-शुक्रावतंसक-न० । शुक्रदेवेनाधिष्ठिते विमाने, नि० १ श्रु० १ वर्ग ६ अ० ।

सुक्कवाद-शुष्कवाद-पुं० । परानर्थो लघुत्व च,त्रिजये च परा जय । यत्रोक्तो सह दुष्टेन.शुष्कवादः प्रकीर्त्तित. ॥१॥ "इत्युक्तलक्षणे वादभेदे, द्वा० ७ द्वा० । अष्ट० ।

सुक्कसोणियसंभव-शुक्रशोणितसम्भव--त्रि० । शुक्रं-रेत शोणितम्-आर्त्तवं ताभ्यां संभवो येषा ते तथा । वीर्यरजोभ्यामुत्पन्नेषु, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दो सुक्कसोणियसंभवा पण्णत्ता, तं जहा-मणुस्सा चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया चेव । (सू० ८५ ×) स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

सुक्काभिजाइय-शुक्लाभिजात्य-पुं० । शुक्लप्रधाने तथाविधे श्रावके, भ० ४ श० ५ उ० । भिन्नमत्सरता-कृतज्ञता-सदारम्भ-हितारम्भप्रधाने, पं० सू० । भ० ।

सुक्काभोग--शुक्लाभोग--पुं० । शुद्धज्ञानोपयोगे,षो० १३ विव० ।

सुक्किय-सुक्रीत--त्रि० । सुष्ठु क्रीते . सुक्किय वा सुविक्किय ' सुक्रीतं चेति केनचित्क्रीत सत् दर्शित सत्सुक्रीतमिति न व्यागृणीयात् । दश० ७ अ० ।

सुक्किल्ल--शुक्ल--त्रि० । "ल्लात् " ॥ ८ । २ । १०६ ॥ इति पूर्व इत् । सुक्किल्ल । सुइलं । प्रा० । शुक्लवर्णवति, स्था० १ ठा० । आ० म० । जी० । प्रज्ञा० । सू० प्र० । आचा० । स० । लघुमासप्रायश्चित्ते,'सुक्किल्लतेयलहुया सुक्किल्ला नाम लहुगा ।' नि० चू० १ उ० । स्था० ।

सुकीड-सुक्रीड- पुं०।सुक्रीडो देवराजानां सुष्ठु--अतिशयेन परमरमणीयतया क्रीड्यते इति सुक्रीड. । परमक्रीडास्थाने, ज्यो० १० पाहु० ।

सुक्ख-शुष्क--त्रि० । " शुष्कस्कन्दे वा " ॥ ८ । २ । ५ ॥अनेन कस्य वा खकार । सुक्ख । सुक्क । शोषमुपगते, प्रा० । स्था० । नि० चू० ।

सौख्य--न० । भोगसम्पाद्यानन्दविशेषे, स्था०४ ठा० ४ उ० ।

दसविहे सुक्खे पण्णत्ते,तं जहा-"आरोग्गदीहमाउं,अड्डेज्जं काम भोगसंतोसे ।अत्थि सुहभोगनिक्ख-म्ममेव तत्तो अणावाहे ॥१॥ " (सू० ७३७×) स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुक्खदिय-शुष्कदृति-पुं० । शोषमुपगते चर्ममयजलाधारभाजनविशेषे, अणु० ।

सुक्खवाय-शुष्कवाद-पुं०। शुष्क एव शुष्को--नीरस ; गलतालुशोषमात्रफल इत्यर्थ . स चासौ वादश्च कमपि वि-

प्रतिपत्तिविषयमाश्रित्य विमतिवादिना सह वदनं शुष्कवादः। ' अत्यन्तमानिना सार्द्धं, क्रूरचित्तेन च दृढम्। धर्मद्विष्टेन मूढेन शुष्कवादस्तपस्विनः ॥१॥ " इत्युक्तलक्षणे वादभेदे, द्वा० १२ अष्ट०।

सुक्खोदण-शुष्कौदन-पुं०। शुष्ककूरे, सू० ५ उ० ३ प्रक०।

सुखगइ-सुखगति-स्त्री०। प्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५ कर्म०।

सुखविवाग-सुखविपाक-पुं०। पुण्यकर्मफले, सुखानां वा सुखविपाकहेतुत्वात्पापकर्मणां विपाकोऽस्ते यत्राभिधेयतया सन्त्यसौ " वरुणानगर " मिति न्यायात्सुखविपाका। विपाकश्रुतस्य द्वितीये स्कन्धे विपा० १ श्रु० १ अ०।

सुखित्त-सुक्षेत्र-न०। शोभने क्षेत्रे, द्विगृद्धिदशानां चतुर्थेऽध्ययने स्था० १० ठा० ३ उ०।

सुग-शुक-पुं०। कीरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। स्था०। प्रज्ञा०। ज०। ज्ञा०। अनु०।

सुग(ग्ग)इ-सुगति-स्त्री०। सुष्ठु-शोभना गति-गमनं सुगतिः। सुदेवत्वसुमनुजत्वादिकायां गतौ, दर्श० ५ तत्त्व। स्वर्गापवर्गादिकायां गतौ, दर्श० ५ तत्त्व। पञ्चा०। स्था०। शोभनगतौ, उत्त० २७ अ०। स्था०।

तओ सुगइओ पन्नत्ताओ, तं जहा-सिद्धिसोग्गई देवसोग्गई मणुस्ससोग्गई। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

शोभना गतिस्स्याज्ज्ञानचारित्राश्रितेति सुगतिः, "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष" इति न्यायात्। ज्ञानक्रिययोः, सूत्र०१ श्रु०११ अ०।

चत्तारि सु(ग) ग्गईओ पन्नत्ताओ, तं जहा-सिद्धिसोग्गई देवसोग्गई मणुयसोग्गई सुकुलपच्चायाई। स्था० ४ ठा० १ उ०।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सोग्गइं गच्छंति, तं जहा-पाणाइवायवेरमणेणं ०जाव परिग्गहवेरमणेणं। स्था० ५ ठा० १ उ०।

सुगइगइ-सुगतिगति-स्त्री०। सुगतय-सिद्धास्तेषां गतिः सुगतिगतिः। पञ्चम्यां मोक्षगतौ आ० म० १ अ०।

सुगइगमण-सुगतिगमन-न०। सिद्ध्यादिप्राप्तौ स्था० ५ ठा० १ उ०। स्वर्गावाप्तौ, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

सुगइगामि-सुगतिगामिन्-पुं०। सुगतिं गमयतीति सुगतिगामी। भवान्तरे इश्वरत्वेनोत्पत्स्यमाने, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

सुगइगुरुलाभ-सुगतिगुरुलाभ-पुं०। सुगतिश्च सुमानुषत्वादिलक्षणा गुरुश्च धर्माचार्यस्तीर्थकरादिस्तयोर्यो लाभो जन्मान्तरापेक्षया प्राप्तिः स तथा। सुगतेः सुगुरोश्च लाभे, पञ्चा० १२ विव०।

सुगंध-सुगन्ध-पुं०। शोभनगन्धे, सू० प्र० २० पाहु०। सुरभौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। 'सुगन्धवरकुसुमचुण्णसमोवयारकलिय' सुगन्धीनि यानि वरकुसुमानि चूर्णाः पतद्व्यतिरिक्ता तथाविधधूपनोपचाराश्च तैः कलितं यत्तत्तथा। भ० ११ श० ११ उ०

'सुगन्धवरगन्धि' सुगन्धाः सुरभयो ये वरगन्धाः प्रधानचूर्णानि तेषां गन्धो यत्र स तथा। कल्प० १ अधि० २ क्षण। 'सुगन्धवरगन्धिअं' शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धास्ते च ते वरगन्धाश्च वासाः सुगन्धवरगन्धास्तेषां गन्धः स यत्रास्तीति सुगन्धवरगन्धिकं। जी० ३ प्रति० ३ अधि०।' सुगन्धवरस्गन्धा वरगन्धाः प्रवरवासाः सन्ति यत्र तत्तथा। भ० ११ श० ११ उ०। रा०। जी०।

सुगंधि-सुगन्धि-त्रि०। शोभनो गन्धो यस्येति सुगन्धि। जी० ३ प्रति० ३ अधि०। परमगन्धोपेते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आ० म०। परमगन्धिकलिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। त०। प्रज्ञा०। विशिष्टगन्धादिवासिते, कल्प० १ अधि० २ क्षण। औ०। ज्ञा०। भ०।

सुगंधिपुप्फ-सुगन्धिपुष्प-न०। जात्यादिकुसुमे, पो० ८ विव०।

सुगंधिय-सुगन्धिक-त्रि०। परमगन्धोपेते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जलरुहविशेषे, नपुं०। प्रज्ञा० १ पद।

सुगय-सुगत-त्रि०। सुस्थे, स्था०। अनु०।

तओ सुगया पण्णत्ता, तं जहा-सिद्धसुग्गया देवसुग्गया मणुस्ससुग्गया। (सू०) स्था० ३ ठा० ३ उ०।

सुगतो द्रव्यतो धनी भावतो ज्ञानादिगुणवानिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०। शोभनं गतं-ज्ञानमस्येति। बुद्धे शाक्यमुनौ, स्था० २ ठा० १ उ०। आव०। शुद्धोदनापत्ये शाक्यसिंहे, विशे०।

सुगारहित्थ-सुगार्हस्थ्य-न०। शोभनगृहस्थभावे, ध० १ अधि०।

सुगिम्ह-सुग्रीष्म-पुं०। चैत्रपौर्णमास्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। आव०।

सुगुत्त-सुगुप्त-पुं०। कौशाम्बीनगरीराजस्य शतानीकस्यामात्ये, आ० म० १ अ०। कल्प०। आ० क०।

सुगुरु-सुगुरु-पुं०। शोभनश्चासौ गुरुश्चेति सुगुरुः। सदाचारगुरौ, दर्श०।

तं सुगुरुसुद्धदेसण-मंतक्खरकन्नजावमाहप्पं।
जं मिच्छत्तपसुत्ता, वि केइ पावेंति सुहबोहं॥ ४३॥

तादृतिं भण्यमानं तं सुगुरुशुद्धदेशनामन्त्राक्षरकर्णजापमाहात्म्यं, तत्र शोभनश्चासौ गुरुश्च सुगुरुः, सदाचारगुरुरित्यर्थः, तस्येत्थंभूतस्य शुद्धा-आगसादिदोषरहिता सर्वथाऽऽगमानुसारिणी देशना शुद्धदेशना तद्रूपत्वं प्राकृतप्रभवं सैव मन्त्राक्षरः समस्तकर्मानैपापहारत्वात् तेन कर्णजापस्तस्य कर्णजापस्य माहात्म्य-प्रभावं सामर्थ्यं यत् कियत्प्राप्नुवन्ति-लभन्ते के जीवा इति शेषो दृश्य किं सुलभबोधं समस्तान्यदर्शनशिरोरत्नसदृशार्हत्प्रणीतागमाव बोधं मिथ्यात्वविषप्रसुप्ता अपि मिथ्यात्वमोहनीयकर्मवशवर्तिनोऽपीति गाथार्थः। दर्श० ४ तत्त्व।

सुग्गीव-सुग्रीव-पुं०। सुन्दरया ग्रीवया कलिते स्वनामख्याते नगरभेदे, उत्त० १६ अ०। यत्र बलभद्रराजभार्याया मृगावत्या मृगापुत्र आसीत्। उत्त० १६ अ०। भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य अश्वानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ०। भविष्यतो नवमवासुदेवस्य प्रतिशत्रौ, स०। ती०। नवमतीर्थकरस्य श्रीशीतलनाथस्य पितरि, स०। आव०। ति०। प्रव०।

सुङ्ग-शुक्ल-त्रि०। "शुक्ले ङ्गो वा" ॥ ८। २। ११ ॥ इति शुक्लशब्दे संयुक्तस्य वा ङ्ग इत्यादेशः। सुङ्गं। सुक्कं। सिते, प्रा० २ पाद।

सुघ-सुख-न०। " अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध-ब-भाः " ॥ ८। ४। ३९६ ॥ इति खस्य घः। साते, " सुघे चिंतिज्जइ माणु। " प्रा० ४ पाद।

सुघड-सुघट-पुं०। शोभनो घटः सुघटः। पूर्णकलशे, कर्म०। १ कर्म०।

सुघरा-सुगृहा-स्त्री०। वयापक्षिण्याम्, पातालघृतादिषु, बृ० १ उ० ३ प्रक०। (तृणमयं सुन्दरं नीडं करोति तदृष्टान्त इहलोके निन्दायां सुघरी दृष्टान्तः 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २२२ पृष्ठे गतः।) सुघरा नाम सउणिया भण्णति। आ० चू० १ अ०। चटकिकाविशेषे, विशे०। आ० म०। न०।

सुघोस-सुघोष-पुं०। स्वनामख्यातायां शक्रघण्टायाम्, आ० म० १ अ०। देवप्रसिद्धे घण्टाविशेषे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०। शक्रेन्द्रस्य हरिनामदेव सुघोषघण्टापालकः। भ० १६ श० २ उ०। रा०। जम्बूद्वीपे भरतखण्डे अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते स्वनामख्याते षष्ठ कुलकरे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। न०। तृतीयदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स०६ सम०। ऋषभदेवस्य पञ्चसप्ततितमे पुत्रे, कल्प०१ अधि० ७ क्षण। सुन्दरघोषवति, त्रि०। जी० ३ प्रति० १ अधि०२ उ०।

सुघोसा-सुघोषा-स्त्री०। गीतरतिगीतयशसोर्गन्धर्वेन्द्रयोरग्रमहिष्योः, भ०१० श०५ उ०। स्था०। (तत्पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७० पृष्ठे गता।)

सुचंद-सुचन्द्र-पुं०। जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे अस्यामवसर्पिण्यां जाते द्वितीयतीर्थकरे, स०। ति०।

सुचरिय-सुचरित-न०। सदाचरणे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। स०। प्रश्न०। सुष्ठ्वाचरिते, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सुचिण्ण-सुचीर्ण-त्रि०। सुष्ठु चीर्णम् सुचीर्णम्। सूत्र०१ श्रु० १३ अ०। तीर्थकरदानादिके कर्मणि, स्था०४ ठा० ३ उ०। सम्यक्प्रकारेण कृते संयमतपःप्रमुखे कर्मणि, उत्त० १३ अ०। जी०।

सुचिण्णकम्म-सुचीर्णकर्मन्-न०। सुचरितायां दानादिक्रियायाम्, उपा० २ अ०।

सुचिण्णफल-सुचीर्णफल-त्रि०। सुचरितं सुचरितहेतुकत्वात्पुण्यकर्मबन्धादि तदेव फलं येषां तानि। तथा। शुभफलेषु, औ०। "सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति" सुचरिता क्रिया दानादिका सुचीर्णफलाः-पुण्यफला भवन्ति। उपा० २ अ०।

सुचिरकोहण-सुचिरक्रोधन-त्रि०। चिरं क्रोधकरणशीले, उत्त० २७ अ०।

सुचोइय-सुचोदित-त्रि०। आचार्यादिप्रेरिते, "चित्तो अचोइए निच्चं खिप्पं हवइ सुचोइए। जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥१॥" उत्त० १ अ०।

सुचोयय-सुचोदक-त्रि०। शोभनप्रेरयितरि गुर्वादौ, उत्त० १ अ०।

सुच्छय-सुच्छद-त्रि०। शोभनप्रच्छनपटे, औ०।

सुच्छिण्ण-सुच्छिन्न-त्रि०। सुष्ठ्वाच्छिन्ने शाकपत्रादौ, उत्त० १ अ०। दश०।

सुच्छेत्ता-सुक्षेत्रा-स्त्री०। स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र छद्मस्थविहारेण गतो भगवान् प्रिय पृष्ट। आ० म० १ अ०। सुक्षेत्रायां ग्रामे वीरसहविहृतो गोशालो विटरूपं विकुर्वितवान्। आ० म० १ अ०।

सुजइ-सुयति-पुं०। साधुसमाचारचरणप्रवणे साधौ, दर्श० ३ तत्त्व।

सुजंपिय-सुजल्पित-न०। आशीर्वचने, भ० ११ श० २१ उ०।

सुजया-सुजया-स्त्री०। राजगृहे नगरे श्रेणिकस्य राज्ञः स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, अन्त०। (सा च वीरान्तिके धर्मं श्रुत्वा प्रव्रज्य विंशतिवर्षपर्याया सिद्धेति अन्तकृद्दशानां सप्तमवर्गस्य एकादशेऽध्ययने सूचितम्।)

सुजस-सुयशस्-पुं०। ऋषभपूर्वभवजीवस्य वज्रनाभस्य सारथौ, श्रेयांसपूर्वभवजीवे, आ० चू० १ अ०। ऋषभदेवस्य सप्तत्रिंशतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

सुजसा-सुयशस्-स्त्री०। सुदर्शनपुरवास्तव्यस्य शिशुनागस्य भार्यायाम्, आव० ४ अ०। आ० क०। आ० चू०। ('स माहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता।) जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जातस्य धर्मस्य तीर्थकरस्य मातरि, स०। आव०। अनन्तजिनस्य मातरि, प्रव० १० द्वार।

सुजाइ-सुजाति-पुं०। ऋषभदेवस्य त्रिनवतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

सुजाय-सुजात-त्रि०। सुनिष्पन्ने ज्ञा०१ श्रु०१अ०। औ०। स्था०। प्रश्न०। ज०। सू०प्र०। परिपाकागते, जं०२वक्ष०। शोभनं जातं यस्य स सुजातः। विशुद्धमणिकनकरत्नमूल्यद्रव्यजनिते जन्मदोषरहिते, जं० ४ वक्ष०। रा०। बीजाधानादारभ्य जन्मदोषरहिते, जं० २ वक्ष०। सुजन्मनि, औ०। तथा सुजातानि यथोक्तप्रमाणोपपन्नत्वेन शोभनजन्मानि यानि सर्वाणि उरःशिरःप्रभृतीनि अङ्गानि तैः सुन्दरमङ्गं समग्रं वपुर्येषां ते सुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्गाः। जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ०। सुजातमिव सुजातम्। पूर्णदिनजाते, उपा० २ अ०। स्था०। तद्गुणयोग्यतया उत्पन्ने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। "सुजायसुविभत्तसुरूवगा" सुजातम्-सुनिष्पन्नं जन्मदोषरहितत्वात् सुविभक्तमङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गानां यथोक्तवैविक्त्यभावात् स्वरूपं शोभनं रूपं समुदायगतं येषान्ते सुजा-

तत्सुविभक्तस्वरूपका । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० । जं० । ज्ञा० । औ । (मूलद्रव्यशुद्धे उदाहरणम्) " सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला" सुजात मूलद्रव्यशुद्ध वर पधान यत् जातरूप तदात्मकाः प्रथमका मूलभूता विशाला शाला शाखा यस्या सा सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशाला । जी० ३ प्रति०४ अधि० १ उ० । शोभने जन्मनि,नपु । आ० क० ४ अ० । स्वनामख्याते श्रावके,पुं० ।

सुजातकथा चेयम्—

" रिउवक्कअकंपाए , चपाइपयावविजय। त्तपहो ।
मित्तपहो नाम निवो , सधम्मिणी धारणी तस्स ॥ १ ॥
सिट्ठी य धम्मरत्तो , धणमित्तो सुयणकमलवणमित्तो ।
भज्जा तस्स धणसिरी , सिरी व वररूवलावन्ना ॥ २ ॥
ताण जाओ पुत्तो , बहुओवाइयसएहिं सुपवित्तो ।
संजणिअजणचमक्को , तणुप्पहापडलच्छिन्निक्को ॥ ३ ॥
ज जाओ इह रिद्धे , कुलम्मि हे जाय ! त तुह सुजायं ।
भणइ जणेण तेण , नाम कय से सुजाओ त्ति ॥ ४ ॥
पडिपुन्नगोवंगो , निरुवमलवणि सुरूवरूवधरो ।
सो सव्वकलाकुसलो , कमेण तरुणत्तमणुपत्तो ॥ ५ ॥
कइया वि पवित्ततो , जिणथुइपूयाहि वाणिपाणितल ।
गुरुपयकमल विमल कयावि भमर व्व सेवतो ॥ ६ ॥
काहे वि य जिणपवयण—पभावण पावणं पुण कुणतो ।
सवणपुडेहिं पियतो कयाइ जिणसमयअमयरस ॥ ७ ॥
ललिएहिं य मणहरेहिं ,सहियसहियसगमेहिं भणिएहिं ।
नयरे नयरे हिंडे , कस्स न सो कासि तोसभर ॥ ८ ॥
इत्तो तत्थेव पिय-गु नामिया धम्मघोसमतिपिया ।
पेसणपहियाउ चिरा , गयाउ तज्जेइ दासीओ ॥ ९ ॥
ताओ भणति सामिणि!,मा कुप्पसु अम्ह जय अपडिरूव ॥
दट्ठु सुजायरूव , कस्स न मोहिज्जए हियय ॥ १० ॥
सा पडिभणइ हलाओ !, जया स गच्छिज्जऽणेण मग्गेण ।
ताहे मम साइज्जह, त सुहय जेण पिच्छामि ॥ ११ ॥
गुणिजणअयसवय-सपरिगयं तं कयाइ तम्मि पहे ।
जत दासीकहिय , नियइ पियगू सवत्तिजुया ॥ १२ ॥
सम्मरूवमदुप्फर , भजणपवण निए वि त एसा ।
पभणइ धन्ना स च्चिय, नारी जीसे वरो एसो ॥ १३ ।
काउ सुजायवेस , अइस्साइ कयावि सा अभिरमइ ।
अन्नाण सवत्तीण , मज्झे नव्वयणचिट्ठाहिं ॥ १४ ॥
इत्तो पत्तो मती , गिहदारं निट्ठुरं ति कलिऊण ।
अवसप्पिऊण सणिय , कवाडछिद्देण पिच्छेइ ॥ १५ ॥
अनेउरचिट्ठ द—ट्ठु चितए हा विणट्ठय एय ।
होही रहस्सभेय , सुहर ता होउ पच्छन्न ॥ १६ ॥
अह लिहइ कूडलेह, सुजाय ! तुमए मह इम कहिय ।
जह वायय अणिस्स , मित्तपह इसदिएसत्ते ॥ १७ ॥
किं तु विलवसि अज्ज वि, इच्चाइ निदसए निवस्सग्गे ।
चितइ निवो वि हद्धवि , एयम्मि इम कह घडइ ॥ १८ ॥
अहवा लोहधाए नराए किं अकरणिज्जमिह भुवणे ।
ता हतव्वो एसो, रक्खयव्वो जणऽववाओ ॥ १९ ॥
तो नवकज्जमिसेण सलेहमप्पिय स पेसिओ रन्ना ।
तंपरी अररकुराए, चदज्झयनिवइपासम्मि ॥ २० ॥
सो दट्ठुनिवाएस, तस्स य रूव विचिंतए चित्ते ।
न घडइ परिसरूवे, इमम्मि नरवइविरुद्धमिण ॥ २१ ॥

यत उक्तम्—

विषमसमैर्विषमसमा, विषमैर्विषमाः समैः समाचाराः ।
करचरणदन्तनासिक—वक्त्रोष्ठानरीक्षणैः पुरुषाः ॥ २२ ॥
अह ओसारिय सव्व, साहइ दंसेइ लेवइलेह च ।
भणइ सुजाओ नरवर !, कुणसु तुमं सामिआएस ॥ २३ ॥
चंदज्झओ वि जपइ, न तुमं मारेमि किंतु पसिऊण ।
अच्छिसुपुन्नअच्छि—स किंचिपच्छन्नमत्थाहि ॥ २४ ॥
इय भणिऊण तेण, चदजसानामिया निया भइणी ।
तयदोसदूमियतणू , दिन्ना से गरुयहरिसेण ॥ २५ ॥
तस्सम्मसगसंवेगा सा सावयधम्मनिच्चला जाया ।
निक्किट्ठकुट्ठविहुरा, सुतिव्वसवेगरगिल्ला ॥ २६ ॥
गहियाणसणा सम्म, तेण निज्जामिया इमा भणिउं ।
भासुरवरबुंदिधरा, जाओ सोहम्ममग्गसुरो ॥ २७ ॥
पत्तो स पउत्तोही, नमिउ जाणाविउ च अप्पाण ।
भणइ सुजाय सामिय !, कहेसु किं ते करेमि पिय ॥ २८ ॥
सो चिंतइ जइ पियरे, पिच्छं ता हं गहमि पव्वज्ज ।
तब्भावमिण नाउं, अमरो चपापुरिं उवरिं ॥ २९ ॥
विउलं सिलं विउव्वइ, तो नियपमुहा जणा भिसं भीया ।
धुवकडुच्छुयहत्था, भणति सिरमिलियकरकमला ॥ ३० ॥
भो भो खमह सो ज-स्स किंचि अम्हहिं चिट्ठिय दुट्ठ ।
अह त्तिसाइ तियसो, कहिं गमिस्सह हहा दासा ! ॥३१॥
पावेण अमच्चेण सुसावओ दूसिओ अकज्जेण ।
चूरेमि तेण तुम्हे, अज्ज अणज्जे तुमे सव्वे ॥ ३२ ॥
छुट्टह जइ न खामह, त्तसिररयण तओ जणो भणइ ।
सो सपइ कत्थ सुरो, भणइ इत्थेव उज्जाणे ॥ ३३ ॥
नायरजणसहियएणं निवेण सो खामिओ नहिं गतु ।
आरोविओ य सिंधुर-मइउक्करकधरं झत्ति ॥ ३४ ॥
सो सोहतो सिरउव—रि धरियहिमधामधवलछत्तेणं ।
वीइज्जंतो सुरसरि-लहरीसरिसेयचमरेहिं ॥ ३५ ॥
थुव्वतो जलभरभरि—य जलयगुरुसद्दबदिविंदेण ।
दिंतो दाण मणत—कियाहिय नच्चियजणाण ॥ ३६ ॥
धम्मुदया तुह रूव, तुह उदओ धम्महेउ इय पदे ।
अन्नुन्न होउ चिरा, इय जणवयणाइं निसुणतो ॥ ३७ ॥
धन्नो अहो इमो खलु, जस्स सुरा अवि कुणति आएस ।
धम्मो वि एस पवरो, कुणति ज एरिसा पुरिसा ॥ ३८ ॥
इच्चाइ जइणसासण—पभावणं सो कुणतओ सगिहे ।
पत्तो पणमइ अम्मा-पिऊण पयकमलममलमणो ॥ ३९ ॥
इत्तो य धम्मघोसो, मती वज्झो निवेण आणत्तो ।
मोयाविओ सुजाए—ण कारिओ तह वि निव्विसओ॥४०॥
अह दाउ नियदव्व, धम्मे पुच्छिय निय तह सुजाओ ।
पियरेहिं सम दिक्ख, गिण्हइ दुविहं तहा सिक्ख ॥ ४१ ॥
कयदुक्करतवचरणा, निम्मलकेवलकलाहिकलिया ।
तिन्नि वि तिन्नपइन्ना, सिवमयलमणुत्तर पत्ता ॥ ४२ ॥
मती वि धम्मघोसो, रायगिहगओ फुरतवेरग्गो ।
गुरुमूलगहियदिक्खो, पवन्नपडिमाविहारो य ॥ ४३ ॥
वारत्तपुरे भयसे-ण रायवारत्तमतिगेहम्मि ।

निवडियविंदु खीरं,सघयमहु अगहियो चलियो ॥४४॥
किं न हु गहिया भिक्खा, मुणिणा इय जाव चिंतए मती ।
निज्जूहठिओ ता त-त्थ मच्छिगाओ निलीणाओ ॥ ४५ ॥
पिच्छइ घरकोइलिया, त सरडो त पि दुट्ठमज्जारो ।
तं पच्चत्तियसुणओ, तं पि य चत्थव्वओ सुणओ ॥४६॥
ते कलहंते दट्ठुं उवट्ठिया तप्पहू पहूयबला ।
जायं च महाजुज्झं, तो मंती चिंतए चित्ते ॥ ४७ ॥
इय कारणा न गहिया, भिक्खा तेण त्ति सुद्धभावबसा ।
जाइसरो गहियवओ, पत्तो सो सुसुमारपुरे ॥४८॥
तत्थ निवधुधुमारो, अंगारवई सुया य से तं च ।
परिणयणकए मग्गइ, पज्जोओ देइ न य इयरो ॥४६॥
अह रुट्ठो पज्जोओ, पवलवलो रुभए तय नयर ।
अप्पवलो मज्झनिवो, पुच्छइ नेमित्तियं भीओ ॥५०॥
सो वि निमित्तनिमित्तं, भेसइ डिंभाणि ताणि भीयाणि ।
णागहरे वारत्तय—चरणे सरण पवन्नाणि ॥५१॥
तो सहसाकारेण, मा बीहह त्ति पभणिय मुणिणा ।
नेमित्तिएण कहिय, निवस्स ज तुह जओ नूण ॥५२॥
वीसत्थो मज्झएहे, पज्जोओ धित्तु धुधुमारेण ।
नीओ नियनयरीए अगारवई य से दिन्ना ॥५३॥
पुरिं भमिरो पज्जोओ, अप्पवल दट्ठु धुधुमारनिवं ।
कह गहिओ ह पुट्ठा, दइया सा कहइ मुणिवयणं ॥५४॥
कहइ निवो तुज्झ नमो, नेमित्तियखवग ! सो वि उवउत्तो ।
आपव्वज्ज सुमरइ, चेइयसवइयर नवर ॥५५॥
आलोइयपडिकंतो, वारत्तरिसी परंपय पत्तो ।
भणियमिण तु पसगा, सुजायचरिएण इह पगय ॥५६॥
एव च धर्मोन्नतिहेतुरुच्चै-र्जात सुजात शुचिरूपरूप ।
तद्युक्तमुक्तं यदमीदृरूपो, जीवो भवेद्धर्मसुरत्नयोग्य. ॥५७॥

इति सुजातकथा । ध० र० १ अधि० । अधस्तनोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटे, नपुं० । स्था० ६ ठा० ३ उ० । चम्पाया धनमित्रस्य सार्थवाहपुत्रे, पुं० आव० ४ अ०। आ० चू० । ('संवेग' शब्देऽस्यैव भागेऽस्य कथा गता ।)

सुजायदंत--सुजातदन्त--त्रि० । सुजाता जन्मदोषरहिता दन्ता येषा ते सुजातदन्ता । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । सम्यग्निष्पन्नदशनेषु, औ० ।

सुजायपास--सुजातपार्श्व--त्रि० । सुनिष्पन्नपार्श्वे, जी०३ प्रति० ४ अधि० । पार्श्वगुणोपेतपार्श्वे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुजायपीवरंगुलिय--सुजातपीवराङ्गुलिक--त्रि० । सुजाता सुनिष्पन्ना पीवरा अङ्गुलिका पदावयवा येषा ते तथा । सुनिष्पन्नचरणाग्रेषु, न० ।

सुजाया--सुजाता--स्त्री० । भूतानन्दस्य नागकुमारस्याग्रमहिष्याम् , भ० १० श० ५ उ० ।

सुजेट्ठा--सुज्येष्ठा--स्त्री० । चेटकराजदुहितरि, आव० ४ अ० । आ० क० । (सा च कुमारिका एव प्रव्रजितेति 'णियठिपुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २०८८ पृष्ठे उक्तम् ।) चेटकमहाराजदुहिता सुज्यष्ठाभिधाना वैराग्येण प्रव्रजिता । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुजोग--सुयोग--पुं० । शुभव्यापारे, पञ्चा० २ विव० ।

सुजोसिय--सुझोषित--त्रि० । सुष्ठु क्षिप्ते,"तेसिं सुविवेगमाहिए पणमा जेहिं सुजोसिअं धू(धु)य" सूत्र०१ श्रु०२ अ० २ उ० ।

सुज्ज--सूर्य--पुं० । रवौ, स० ६ सम० । (सूर्यादेव दिग्विभाग इति 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे दर्शितम ।) सुप्रभजिनस्य प्रथमगणधरे, ति० । रूप्यविशेषे, जी० ३ प्रति ४ अधि० ।

सुज्जकंत--सूर्यकान्त--न० । स्वनामख्याते ब्रह्मलोकविमाने , स० ६ सम० ।

सुज्जसिरी--सूर्यश्री--स्त्री० । सूर्यशिवस्य दुहितरि, महा० ।

तत्कथा चैवम्—

अत्थि इहं चेव भारहे वासे अवंतीनाम जणवओ । तत्थ य संबुक्के नामं खेडगे, तस्सिं य जम्मदरिद्दे निम्मेरे णिक्किने किविणे णिरणुकंपे अइकूरे निकलुणे निर्त्तिसे रोद्दे चंड रोद्दपयंडदंडे पावे अभिग्गहियमिच्छद्दिट्ठी अणुच्चरियनामधेज्जे सुज्जसिवे नाम धिज्जाई अहेसि । तस्स य धूया सुज्जसिरी । सा य परितुलियमयलतिहुयण—नरनारीगणलावन्नकंतिदित्तिरूवमोहग्गाइमएणं अणोवमा । अन्नदा तीए अन्नभवंतरम्मि इणमो हियएण दुच्चितियं अहेसि । जहा णं सोहणं हविज्जा—जइ णं इमस्स वालगस्स माया वावज्जे तओ मज्झ असवत्तं भवे एमो य वालगो दुज्जीविओ भवइ ताहे मज्झ सुयस्स रायलच्छी परिणमेज्जति । तक्कम्मदोसेणं तु जायमेत्ताए चेव पंचत्तमुवगया जणणी । तओ गोयमा ! तेणं सुसड्ढेण महया किलेसेणं छंदमाराहमाणाणं बहूणं अहिणवपसूयजीवंतीणं घराधरिं घत्तं पाऊणं जीवाविया सा वालिया । अहन्नया जाव णं बालभावमुत्तिन्ना सा सुज्जसिरी ताव णं आगयं अ मायापुत्तं महारोरवं दुवालससंवच्छरियं दुब्भिक्खं ति जाव णं फेट्टाफेट्टीए जाउमारद्धे सयले वि णं जणसमूहे । अहन्नया बहुदिवसखुहंतणं विसायमुवगएणं जहा किमेय वावाइऊण समुद्दिसामि किं वा णं इमीए पोग्गलं विक्किणिऊणं चेव अन्नं किंचि विपणिमग्गाओ पडिग्गाहित्ता णं पाणवित्तिं करेमि । णूणमन्ने केइ जीवधारणोवाए संपयं मह विज्जति । अहवा हा धी हा हा ण जुत्तमिणं कि तु जीवमाणिं चेव विक्किणामि त्ति चिंतिऊणं विक्किया सुज्जसिरी महारिद्धिजुयस्स चोद्दसविज्जाठाणपारगयस्स णं माहणगोविंदस्स गेहे । सो उ बहुजणेहिं धिद्धीसद्दोवहओ तं देसं परिचिच्चा णं गओ अन्नदेसंतरं । सुज्जसिवो तत्थ वि णं पयट्टो । सो गोयमा ! इत्थेव विजमाणो जाव णं अन्नेसिं कन्नगाओ अवहरित्ता णं२ अन्नत्थ विक्किणिऊण मेलियं सुज्जसिवेणं बहुं दविणजायं । एयावसरम्मि उ समइक्कंते साइरेगे अट्ठ संवच्छरे दुब्भिक्खस्स ०जाव णं वियलियमाणविहवं तस्स वि णं गोविंदमाह-

णस्स तं च विण्णाणिऊणं विसायमुवगएण चिंतियं गोय-मा ! तेणं गोविंदमाहणेणं । जहा णं होही संधारकालं मज्झ कुडुंबस्स, नाहं विसीयमाणे बंधवे खणद्धमवि दट्ठूणं सक्कुणोमि ता कि कायव्वं संपयमम्हेहिं ति चिंतिगमाणस्सेव आ गया गोउलाहिवइणो भज्जा खडयगविक्किणणत्थ तस्स गेहे जाव णं गोविंदस्स भज्जाए तंदुलगेणं पडिग्गहियाओ चउरो घयविगईओ मीसं खइयगं गोकुलियाउत्तं च पडिग्गहियम्मि तमेव पडिबुत्तं डिंभेहिं, भणियं च महयरीए-जहा णं भट्टिदारिगे! पयच्छाहि णं तमम्हाणं तंदुलमुल्लगं चिरं चिट्ठे जेणमम्हे गोउलं वयामो । तओ नहाणीता गोयमा ! तीए माहणीए सा सुज्जसिरी, जहा णं हला तं जम्हा णरवइणा णिमावयं एहि पयच्छ जं तंदुलमुल्लग तमोगहि लहुं जेणाहमिमीए पयच्छामि णं जाव दढं वसिऊण नीहरिया मंदिरं सा सुज्जसिरी, नोवलद्धं तंदुलस्स मुल्लगं,माहियं च माहणीए,पुणो वि भणियं माहणीए जहा हला ! अमुगं अमुगया मम णो धूया अन्नेसिं ऊणमाणेह पुणो वि पइट्ठा आलिंदगे जाव णं ण पिच्छे ताहे समुट्ठिया सयमेव सा माहणी जाव लावसं तीए विणिद्दिट्ठं तं पुण सुविम्हियमाणमा निउणमन्नेसिउं पयत्ता, जोव्वणं पिच्छे गणिगासहायं पढमसुय पयरिके पओयणं समुद्दिसमाणं तेणावि पडिदट्ठुं जणणीए गच्छमाणीए चिंतियं अहन्नेणं जहावरिया अम्हाणं पओयणं अवहरिउकामा ण य मे मा। ता जइ इहासन्नमागच्छिहीइ तओऽहमेयं वावाएमामि त्ति चिंतयंतेणं भणिया , दूरासन्ना चेव महया सद्देणं सा माहणी । जहा णं भट्टिदारिए जइ तुमं इहइं समागच्छिहिसि तओ मा एवं तं वोच्छिया । जहा णं णो पज्किहियं निच्छयं , अह एयं वावाएमामि एयं च अणिट्ठवयण सोचा णं वज्जासणिहया इव धसति मुच्छऊणं निवडिया धरणिपिट्ठे, गोयमा ! माहणि त्ति । तओ णं तीए महयरीए परिवालिऊण किंचिक्कालक्खणं वुत्ता मा सुज्जमिरी, जहा णं हला कन्नग अम्हाणं चिरं वट्ट ता भणसु सिग्घं नियजणणिं जहा णं एह लहुं पयच्छ तुमम्हाणं तंदुलमुल्लगं अम्हाणं तंदुलमुल्लगं विप्पणट्ठं तओ णं मुग्गमुल्लगमेव पयच्छसु ताहे पविट्ठा सा सुज्जमिरी अलिंदगे ०जाव णं दट्ठूणं तमवत्थंतरगयं माहणी महया हाहारवेणं धाहावियं पयत्ता सा सुज्जसिरी । तं चाइक्खिऊणं मह परिवग्गेणं चाइओ सो माहणो महयरीए । तओ पवणजलेण आमासिऊण पुट्ठा सा तेहिं जहा भट्टिदारगे !किमेयं ति ? तीए भणियं जहा णं मा मा अत्ताणमदरसएणं दीहेणं खेवेह मा मा विगयजलाए सरीराए वुज्झेह मा मा अग्गजुगेहिं पामेहि नियंतिएह,मज्झमाहे णाणप्पेह जहा णं किल एस पुत्तो एसा धूया एम णं णत्तुगे एसा णं सुन्हा एस णं जामाउगे एमा बंधवा एमा णं माया एस णं जणगे एसो भत्ता एम णं इट्ठे मिट्ठे पिए कंते सुहियमयणमित्तबंधुवग्गे इहयं पच्चक्खमेवेयं णिद्दिट्ठे अलियमलिया चेव सकज्जत्थी चेव संभवए लोओ , परमत्थओ न कोइ सुही ०जाव णं सकज्जं ताव ण माया ताव णं जणगे ताव णं धूया ताव णं जामाउगे ताव ण णत्तुगे ताव णं पुत्ते ताव णं सुन्हा ताव णं कंता ताव णं इट्ठे मिट्ठे पिए कंत सुही सयणयणमित्ते बधुपरिवग्गे सकज्जसिद्धिविरहेणं-तु ण कस्सइ क इ माया ण कस्सइ केइ जणगे ण कस्सइ काइ धूया ण कस्सइ केइ जामाउगे ण कस्सइ केइ पुत्ते ण कस्सइ काइ सुण्हा न कस्सइ केइ भत्ता ण कस्सइ केइ कंता ०० कस्सइ केइ इट्ठे मिट्ठे पिए कंते सुही सयणमित्तबंधुपरिवग्गो जेणं तु पेच्छ पेच्छ मए अणेगोवायमओवलद्धे माइरेगणवमासकुच्छीए वि धारिऊणं च अणेगणिद्धमहुरउत्तिणतिक्खसुललियसणिद्धआहारपयाणमिणाणुव्वट्टणधूपकरणसंवाहणधन्नपयाणाइणिहिं णं एतमहं तमणुस्सीकए जहा किल अहं पुत्त रज्जम्मि पुत्तपुत्तमणोरहसुहं सुहेण पाए ण इमाणं पूरियासा कालं गमिहाभि,ता एग्गिमं सपयं इयरंमि एयं च णाऊणं मा धयाईसुं करेह खणद्धमवि अणुं पि मा पडिबंधे जहा णं इमे य मज्झ सुए संवुते तहा णं गेहे जे केई भूए जे केई वट्टंति जे केई भविसुए तहा णं परिसेवि बंधुवग्गे केवलं तु मकज्जलुद्धे चेव घडिया मुहुत्तपमाणमेव कंचि कालं नएज्जा वा ता भो भो जणा ण किंचि कज्जं एसेणं कारिमं बंधुसंताणेणं अणंतसंसारघोरे दुक्खपदा य नेणहंति एगे चेव धाहं निसाणुसमयं सुविसुद्धामए भयह (महा०) लद्धेल्लियं च बोहिं जो णाणुचिट्ठे अणागयं पिच्छ भो भो अप्पं बोहिं लहिहिसि कयरेण मुल्लेणं । जाव णं पुव्वजाईमरणपच्चएणं सा माहणीए सीय वागरेइ , ताव ण गोयमा ! पडिबुद्धमसेसं पि बंधुजणं बहू णागरजणो य । एयावसरम्मि उ गोयमा ! भणियं सुविदियसोग्गडपहेणं तेण गोविंदमाहणेणं जहा णं धिद्धिद्धि वंचिया । एयावतं कालं जातो वयमूढे अहो ण कडगण्णाणे दुव्विन्नेयमहाभागधेज्जोहं सुदसत्तेहिं अदिट्ठघोरुग्गपरलोयपच्चवाएहिं अतत्ताभिणिविट्ठदिट्ठीहिं पक्खवायमोहसुधुकियमाणसेहिं रागदोसोवहयबुद्धीहिं परतत्तधम्मं अहो सज्जीवेणेव एगिमसुए एव०यं काल-

समयं । अहो ! किमेस णं परमप्पा भारियाछलेणासी मज्झ गेहे उदाहु णं जो सो णिच्छिओ मीमंसएहिं सव्वण्णुसोज्झिए सस्रिए इव समयतिमिरावहारित्तेणं लोगावभासे मोक्खमग्गसंदरिसणत्थं सयमेव पयडीहूए अहो महाइसयत्थपमाहगाओ मज्झं दइयाए वायाए । भो भो जन्नयत्तविण्हुयत्तजन्नदेवदत्ताभिहसुमच्चादओ ! मज्झं अंगया अब्भुट्ठाणारिहा ससुराऽसुरस्सावि णं जगस्स एसा तुम्ह जणणि त्ति । भो भो पुरंदरपभितिओ ! खंडिया वियारह णं सावज्जा य भारियाओ जगत्तयाणं दाउं कसिणकिञ्चसणिज्जुहणसीलाओ वायाओ पसण्हो अज्ज तुम्ह गुरू आराहणेक्कसीलाणं परमप्पं बलं जजणजाजणज्झयणाइणा छक्कम्माभिसंगेणं तुरियं विणिज्जाणह, पंचिंदियाणि परिच्चयह णं कोहाइए पावे वियाणेहि णं । अमेज्झाइ च बालयकपडिसा सुची कलेवरो पविस्सामो व णं तं इच्चेवं अणेगाहिं वेरग्गजणणेहिं सुहासिएहिं वागरंत चोद्दसविज्जाठाणपारंगमं गोयमा ! गोविंदमाहणं सोऊण अच्चंतजम्मजरामरणभीरुणो बहवे सप्पुरिसे सव्वुत्तमं धम्मं विमरिसिउं समारद्धे । तत्थ केइ वयंति जहा एस धम्मो वरो, अन्ने भणंति–जहा एस धम्मो पवरो जाव णं सव्वेहिं पमाणीकया गोयमा ! सा जातीसरा माहिणि त्ति । तीए य सपच्चक्खायमहिंमोवलक्खियमसंदिद्धं खंताइदमविहसमणधम्मं दिट्ठंतहेऊहिं व परमपच्चयं विप्पायं । तेसिं तु तओय ते तं माहणं सव्वन्नुमिति काऊणं सुरइयकरकमलंऽजलिणो सम्मं पणमिऊणं गोयमा ! तीए माहणीए सद्धिं अदीणमणसे बहवे नरनारीगणे च्चिचा णं सु(य)जणमित्तबंधुपरिवग्गगिहविहवसोक्खमप्पकालियं निक्खंते सासयसोक्खसुहाहिलासिणो सुनिच्छियमाणसे समणयत्ते णं सयलगुणोहधारिणो चोद्दसपुव्वधरस्स चरिमसरीरस्स णं गुणंधरथविरस्स सयासे त्ति । एवं च ते गोयमा ! अच्चंतघोरवीरतवसंजमाणुट्ठाणसज्झायज्झाणाइसु णं असेसकम्मक्खयं काऊणं तीए माहणीए सम्मं विहूयरयमले सिद्धे गोविंदमाहणादओ णरणारीगणे सव्वे वि महायसे त्ति । (महा०) जेणं भवंतरेसु वि ण होसि सयलजणसुहप्पियागारिया सव्वं परिभूय गंधमल्लतंबोलसमालहणाइं जहिच्छियभोगोवभोगवज्जिया हयासाहु जम्मजाया दढनामिया रंडा । ताहे गोयमा ! सा तह त्ति पडिवज्जिऊण पगलंतलोयणंसुजलणिज्झायकवोलदेसा ऊसरसुभसमणघरसारा भणिउमाढत्ता । जहा ऽणुसपाणिमोहं पभूयमालविता णंतिगे थावेह लहुं कट्ठेरएहिं हविं चिय णिद्दहेमि अन्नाणगं ण किंचि मए जीवमाणीए पावाए । मा हं कम्मपरिणइवसेणं महापावत्थीचवलमहावत्ताए एतस्स तुज्झं सरिसणामस्स णिम्मलजसकित्तीभमियभुवणोयरस्स णं कुलस्स खयणं काहं; जेण मलिणीभवेज्जा सव्वमवि कुलं अम्हाणं ति । तओ गोयमा ! चिंतियं तेण नरवइणा, जहा णं अहो धण्णोऽहं जस्स अपुत्तस्सऽवि य एरिसा धूया, अहो विवेगं बालियाए, अहो बुद्धी अहो पण्णा अहो वेरग्गं अहो कुलकलंकभीरुयत्तेणं अहो खणे खणे वंदणीया एसा जीए ए महत्ते गुणेता जाव णं मज्झ गेहे परिवसे एसा ताव णं महामहते मम सेए । अहो दिट्ठाए संभरियाए संलाविया चेव सुज्झायए इमाइ ता अपुत्तस्स णं मज्झं एसा चेव पुत्ततुल्ल त्ति चिंतिऊणं भणियं गोयमा ! सा तेण नरवइणा । जहा णं न एसो कुलक्कमो अम्हाणं वच्छे ! जं कट्ठारोहणं कीरइ त्ति ता तुमं सीलचारित्तं परिवालेमाणी दाणं देसु जहिच्छाए, कुणसु य पोसहोववासाइं विसेसेणं तु जीवदयं, एयं रज्जं तुज्झ त्ति ता णं गोयमा ! जणगेणेवं भणिया ठिया सा समप्पिया य कंचुइणं अंतेउररक्खपालाणं । एवं वच्चंतेणं कालसमए तओ णं कालगए से णरिंदे अन्नया संजुज्झिऊणं महामइहिं णं मंतीहिं कओ तीए बालाए रायाभिसेओ । एव च गोयमा ! दियहे २ देइ अत्थीणं । अन्नया तत्थ णं बहुवंदवट्टभट्टनडिगकप्पाडिगचउरविचक्खणमतिमहंतगाइपुरिसमयसंकुलं अत्थीण मडंवमज्झम्मि सीहासणोवविट्ठाए कम्मपरिणइवसेणं सरागाहिलासाए चक्खूए नीमए तीए सव्वुत्तमरूपजोव्वणलावण्णसिरीसंपओववेए भावियजीवाइपयत्थे एगे कुमारवरे । मुणियं च तेण गोयमा ! कुमारेणं जहा णं हा हा ममं पेच्छिय गया एसा वराई घोरंधयारमणंतदुक्खदायगं पायालं, ता सुहं नो अहं जस्स णं एरिसे पोग्गलसमुदायतणू रागजणगे, किं मए जीविएणं हंदि गिग्घं करेमि अहं इमस्स णं पावसरीरस्स संथारं, अब्भुट्ठेमि णं सुदुक्करं पच्छित्तं जाव णं काऊण सयलसंगपरिच्चाय समणुचिट्ठेमि णं सयलपावणिद्दलए अणगारधम्मे सिढिलीकरेमि णं अणेगभवंतरचिडसेसु दुविमोक्खे पावबंधणसंघाए । धिद्धी अच्चणत्थियस्स णं जीवलोगस्स । जस्स णं एरिसे अणप्पवसे इंदियग्गामे अहो अदिट्ठपरलोगपच्चवायया लोगस्स, अहो एक्कंजम्माभिणिविट्ठचित्तया अहो अविणायकज्जया अहो निम्मेरया अहो निप्परिहासया अहो अपरिचत्तलज्जया हा हा न जुत्तमम्हाणं खणमवि विलंबिउं एत्थ । एरिसे सुदुन्निवारए असज्जए पावागमे देसे । हा हा धिक्कारिए अहसेणं कम्मट्ठ-

रासी जं सुहरियं सुईए रायकुलबालियाए इमे मंकुइपावे सरीररूवपरिदंसणेण सयणेसु रागाहिलासे पडिच्चच्चा णं इमे विसए,तओ गेएहामि पव्वजं ति चिंतिऊणं भणियं गोयमा ! तेणं कुमारवरेणं । जहा णं खंतमरिसीयं खीसल्लं तिविहं तिविहेणं तिगरणसुद्धीए सव्वस्स अ थाणमडंब-रायउलपुरजणस्सेति भणिऊणं विणिग्गओ रायउलाओ, पत्तो य नियया ऽऽवासं। तत्थ णं गहिय पत्थिय णं दो खंडिं काऊणं वसियफलावलीतरंगमउयं सुकुमालवत्थं परिहिए-णं अद्धफलगे गहिऊणं दाहिणहत्थेणं सुयणजणहियए इव सरलचित्तलखंडे तओ काऊण तिहुयणेक्कगुरूणं अरहंताणं भगवंताणं जगप्पवराणं धम्मतित्थंकराणं ज-हुत्तविहिणा ऽभिसंथवणं वंदणं से णं से णं चलचवल-गइप्पत्तेणं गोयमा ! दूरं देसंतरे से कुमारे जाव णं हिर-एणुकरडी णाम रायहाणी । तीए रायहाणीए धम्मायरि-याण गुणविसिट्ठाणं पउत्तिं अन्नेसमाणे चिंतिउं पयत्ते मे कुमोर, जहा णं जाव णं करेइ गुणविसिट्ठे धम्मायरिए म-ए समुवलद्धे ता विहइं चेव मएवि चिट्ठियव्वं तो गयाणि कइवयाणि दियहाणि । भवामि णं एस बहुदेसचिरकाय-कित्ती नरवरिंदे एयं च मंतिऊणं जाव णं दिट्ठो राया, कयं च कायव्वं, सम्माणिओ य णरणाहेण पडिच्छियावा-से अन्नया लद्धावसरेणं पुट्ठो सो कुमारो गोयमा ! तेणं नरवइणा । जहा भो भो महासत्ता ! कस्स नामाऽ-लंकिए एस तुज्झ हत्थम्मि विरायए मुद्दा, रण्णा को वा ते-सि ठिओ एवइयं कालं । के वा अवमाणए कए तुह सा-मिणि त्ति । कुमारेण भणियं-जस्स णामालंकिए णं इमे तु दारयणे से णं मए सेविए एवइयं कालं, तओ नरवइणा भणियं जहा णं किं तस्स सद्दकरणं ति । कुमा-रेण भणियं-नाम अजिमिएणं तस्स चक्खुकुसीलाहमस्स णं सद्दकरणं समुच्चारेमि । तओ रण्णा भणियं-जहा णं भो महासत्त ! केरिसो उण सो चक्खुकुसीलो भणे किं वा णं अजिमिएहिं तस्स सद्दकरणं णो समुच्चारिए । कुमारेण भणियं-जहा णं चक्खुकुसीलो त्ति । सद्धीए ठाणंतरेहिं-जइ विरत्तो इह तं दिट्ठपच्चयं होही तो पुण वीसत्थो साहीहामि, जं पुण तस्स अजिमिएहिं सद्दकरणं । एतेणं ण समुच्चारीए जहा ण जइ कहा अजिमिएहिं चेव तस्स चक्खुकुसीलाहमस्स णामग्गहणं कीरए ताणं णत्थि तम्मि दियहे संपत्ती पाणभोयणस्स त्ति, ताहे गोयमा ! पर-मविम्हइएणं रण्णा कोउहल्लेण लहु हक्काराविया रसवई उव-विट्ठो य भोयणमंडवे राया सह कुमारेणं असेसपरियणेणं च

अट्ठारसखंडखज्जियनिरुप्पं णाणाविहमाहारं एयावसरम्मि भणियं नरवइणा जहा णं भो भो महासत्त ! भण मुणी-स ! को तुमं संपयं तस्स णं चक्खुकुसीलस्स णं सद्दकरणं । कुमारेण भणियं-जहा णं नरनाह ! भणिहामि णं भुत्तुत्त-रकालेणं । णरवइणा भणियं जहा णं भो महासत्त ! दाहि-णकरधरएणं कवलेणं संपयं चेव भणसु जेणं खु ज-इ एयाइ कोडीए संठियाणं केइ विग्घे हवेज्जा,ताणहयहवि सुदिट्ठपच्चएसु चेव पुग्पुरस्सरे उवज्झायत्तीए अनहीयं समणुचिट्ठामो । तओ णं गोयमा ! भणिअं तेणं कुमारेणं 'जही णं' एयं पयं अमुगं सद्दकरणं तस्स चक्खुकुसीला-हमस्स णं दुरंतपंतलक्खणअदट्ठव्वदुज्जायजम्मसत्ति ता गो-यमा ! जाव णं चेवइयं समुल्लवे से णं कुमारवरे ताव णं अद्धेण हि पविचित्तिएणेव समब्भासियं तक्खणा परचक्केणं, तं रायहाणि समुद्दाइए य सण्णद्धबद्धकवए णिसियकरवालकुं-तविप्फुरंतचाइपहरणाडोववग्गपाणी हण २ रावभीरुणा बहुसमरसंघट्टादिं णं पिट्ठीजीयंतकरे अतुलबलपरक्कमे णं माहाबले जोहे । एयावसरम्मि य कुमारस्स चलणेसु खिव-डिऊणं दिट्ठपच्चए मरणभयाउलत्ताए अगणियकु-लक्कमपुरिसगारविप्पणासे दिसिमेक्कमासइत्ता णं सपरिगरे पणट्ठे से णं नरवरिंदे । एत्थंतरम्मि चिंतियं गोयमा ! तेणं कुमारेणं जहा णं नाम पुरिसकुलक्कमं अम्हाणं जं प-डिदाविज्जइ णो णं त पहरियव्वं मए कस्साविं णं अहिं-सालक्खणं धम्मं वियाणमाणेणं कयमाणाइवायपच्चक्खा-णेणं च ता किं करेमि णं सागारे भत्तपाणाईण पच्चक्खाणे । अहवा ण करेमि जओ दिट्ठेणं ताव मए दिट्ठीमित्तकुसीलस्स णामग्गहणे णाविए महंते संविहाणगे ता संपयं सीलस्साविं णं एत्थं परिक्खं करेमि त्ति चिंतिऊणं भणिउमाढत्ते णं गोयमा! से कुमारे । जहा णं जइ अहयं वायामित्तेणावि कुसी-लो ता णं मा णीहरेज्जा हु अक्खयक्खतणुखेमेणं एयाए राय-हाणीए । अहा णं मणोवइकायतिएणं सव्वप्पयारेहिं णं सी-लकलिओ ता मा वहिज्जा ममोवरिं इमेसु निसिए दारु-णो जीयंतकरे पहरणाणि हए, 'णमो अरिहंताणं' ति भणिऊणं जाव णं पवरतोरणदुवारेण चल-चवलगई जाउमारद्धो जाव णं पडिकमे थोवं भूमि-भागं ताव णं हल्लाविंयं कप्पडिगवेसेणं गच्छइ एस न-रवइ त्ति काऊणं सरहस्सं हर हर मर मर त्ति भणमाणो तिक्खकरवालादिपहरणेहिं पवरबलजोहेहिं जाव णं समु-ग्घाइए अचंतभीरुणा जीयंतकरे पवरबलजोहे,ता विरत्तं अ-विसक्कमणुदयाभीयए अवंतअदीणमाणसे णं गोयमा !

भणियं कुमारेणं । जहा रे णं भो ! भो ! दुट्ठपुरिसा ममो-
वरि चेह एरिसेणं घोरतामसभावेणं अत्तिए असयं
पि सुहज्झवसायसंचिए पुणप्पब्भारे एस अहं से तुम्ह
पडिसत्तू असुगो णरवती मा पुणो भणिज्जासु । जहा
णं विणिमुक्को अम्हा णं भएणं ता पहरेज्जसु जइ अत्थि
वीरियं ति जावत्तियं भाणियं ताव णं तक्खणं चेव
थंभे एते सव्वे गोयमा ! परबलजोहसीला हिट्ठाति-
यमाणं तियमाणं पि अलंघणिज्जा एतस्स भार-
तीए जायए निव्वलं देह । तओ य णं धस त्ति मुच्छि-
ऊणं णिचिट्ठे णिवडिए धरणिपिट्ठे से कुमारे । एया-
वसरम्मि गोयमा ! तेण नरिंदाहमेणं गूहियमाया-
विणो वुत्ते धीरे सव्वत्थी वीमसत्थे सव्वलोयमामंतधीरे
भीरू वियक्खणमुक्के सूरे कायरे चयरे चाणक्के बहुप-
वंचभए संधिविग्गहिए निउत्ते (त्थ) छइल्ले पुरिसे
जहा णं भो ! भो तुरियं रायाहाणीए वज्जिज्ज नीलस-
सिसूरकंतादीए पवररमणियरणरासीए हेमतवणीय-
जंबूणयसुवन्नभारलक्खणं । किं बहुणा विसुद्धबहुजच्चमो-
त्तिगविद्दुमक्खरिलक्खपडिपुन्नस्स णं कोमस्स चाउरं-
गस्स बलस्स विसेसओ णं तस्स सुगहियनामगहणस्स पु-
रिससीहस्स णं सीलसुद्धस्स कुमारवरस्सेति पउत्तिमाणेह
जेणाहं णिव्वुओ भवेज्जा । ताहे नरवइणो पणामं क.ऊ-
णं गोयमा ! गए ते निउत्तपुरिसे जाव णं तुरियं
चलचवलजइणकमणपवणवेगेहि णं आरुहिऊण ज-
च्चतुरंगमेहिं विपिनगिरिकंदरुद्देमपइरिकाओ खणेणं पत्ते
तं रायहाणिं , दिट्ठो य तेहिं वामदाहिणभुया-
पल्लवेहिं वयणसिरोरुहे विलुंपमाणो कुमारो । तस्स
य पुरओ सुकन्नाभरणणेवत्था दसदिसामुज्जोयमाणी
जयजयसद्दमंगलमुहला रयहरणबद्धाभयकरकमलरइयं-
जली देवया तं च दट्ठूण विम्हियणयणे लिप्पकम्मणि-
म्माविए एयावसरम्मि उ गोयमा ! महरिसरोमंचकंचुइय-
पुलइयसरीराए–"णमो अरिहंताणं"ति समुच्चारेऊण भाणरे
गयणट्ठियाए पवयणदेवयाए से कुमारे। तं जहा-"जो दलइ
मुट्ठिपहरेहिं,मंदर धरइ करयले वसुहं। सव्वोदहीण वि जलं,
आइरिमइ इक्कघोट्टेणं ॥ १ ॥ भूयले सग्ग ओहरि , कुणइ
मिवं तिहुयणस्स वि खणेणं । अक्खंडियसीलाणं,कुद्धो वि
ण सो पहुप्पेज्जा॥२॥अहवा सो च्चिय जाओ, गणिज्जए
तिहुयणस्स वि स वंदो । पुरिसो वि महिलिया वा, कुल-
ग्गओ जो न खंडए सीले ॥३॥ परमपवित्तं सप्पुरिससे-
वियं सयलपावनिम्महणं । सव्वुत्तमसुक्खनिहिं , सत्तरस
विहं जइ य मीलं। ४॥" ति भणिऊण गोयमा ! झत्ति मुक्का
कुमारस्सोवरि कुसुमवुट्ठी पवयणदेवयाए पुणो वि भणिउ-
माढत्ता देवया । तं जहा–" देवस्स देंति दोसे, एवं चिअ
अत्तणो सकम्मेहिं । ण गुणेसुं ठविऊणं, सुहाइ मुद्धा य
जोएंति ॥१॥ से जत्थ भाववत्ती, समदरिसी सव्वलायवी-
सासो । निक्खेवयपरियत्तं.दिव्वो न करेइ तं दोयं ॥२॥ ता
वुज्झिऊण सव्वु–त्तमं जणा सीलगुणमहिड्डायं । नाम म-
भावं चिज्जा, कुमारपयपकंपणमेह ॥३॥" त्ति भणिऊण अ-
दंसणं गया देवया इति । ते छइल्लपुरिसे लहुं च गंतूण
साहियं भावसभावयं तेहिं नरवइणो । तओ आगओ बहु-
विकप्पकल्लोलमालाहियओ उ रज्जमाणाहिययसागरो हरि-
साविमायवसेहिं सीओदयो तत्थ किर ठिइउ मणियं
गुज्झसुरंगखडकियादारेणं कंपंतसव्वगत्तो महया–
कोउहल्लेणं कुमारदंसणुक्कंठिओ य समुद्देस्मेव दिट्ठो य
तेणं सो सुगहियणामधेज्जो महाजसो महासत्तो महा-
णुभावो कुमारमहरिसी अप्पडिवाई महोही पव्वज्जएणं मा
हेमाणो संखाईयभवाणुभूयं दुक्खसुहं सम्मत्ताइलंभं संसा-
रसहावं कम्मबंधट्ठितीविमोक्खमहिमालक्खणमणगारेव–
(य)रवंधणं एवमादिएणं सुहणिमण्णो सोहम्माहिवई धणि-
उवविरिप्पउ पवत्तो । ताहे य तमदिट्ठपुव्वमच्छेरगं दट्ठूण प-
डिबुद्धो सपरिग्गहो पव्वइओ य,गोयमा!सो रायरक्खाहिवई
वि ।एत्थंतरम्मि पहयसुमरगहिरगंभीरदुंदुभिनिग्घोसपुव्वेणं
समुग्घुट्ठं चउव्विहं देवनिकायेण । तं जहा –"कम्मट्ठगंथिमु-
समूरण ! जय परमेट्ठिमहायस ! जय जय जयाहि चारित्त-
दंसणनाणसमग्गिय ! सच्चिय जणणी जंग एका वंदणीया
खणे खणे जीसे मंदरगिरिगुरुकम्मपउरे वुच्छेंतु समाम-
णि " त्ति भाणिऊणं विमुंचमाणासुराभिकुसुमवुट्ठी भ-
त्तिभरणिब्भरे विरइयकरकमलंजलिउ (डो) त्ति निवडिए
ससुरासुरे देवसंघे । गोयमा ! कुमारस्स णं चरणारविंदे
पणच्चियाओ य देवसुंदरीओ पुणो २ संथुणिय णमंसिय
चिरं पज्जुवासिऊणं सट्ठाणेसु गए देवनिवहे । से भयवं
कहं पुण एरिसे सुलभबोही जाए महाजसे सुगहियणा-
मधेज्जे से णं कुमारमहरिसी । गोयमा ! तेणं समण-
भावट्ठिएणं अन्नजम्मम्मि वायादंडे पउत्तेणं अहेसित
निमित्तेणं जावज्जीवमूलव्वए गुरूवएसेणं साधए
अन्नं च तिन्नि महापावट्ठाणे संजयाणं । तं जहा–आउतेउ-
मेहुणे एते सव्वोवाएहिं परिवज्जिए, तेणं तु से सुलभ-
बोही जाए ।अहन्नया णं गोयमा ! बहुसीसगणपरियरिए से
णं कुमारमहरिसी पत्थिए संमेयसेलसिहरे देहच्चायनिमित्ते-

णं कालक्कमेण तीए चेव वत्तणीए, जत्थ णं से य कुलदारिया णरिंदे चक्खुकुसीले जाणाविर्य च रायउले, आगओ य वंदणवत्तियाए सो इत्थीनरिंदो उज्जाणवरम्मि कुमारमहरिसिणो पणामपुव्वं च उवविट्ठो सपरिसो जहोइए भूमिभागे। मुणिणा वि पवधंग कया दमणा त च सोऊण धम्मकहावसाणे उवट्ठिओ सपरिवग्गो णीसंगत्ताए पव्वइओ गोयमा ! सो इत्थीनरिंदो। एवं च अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठदुक्करतवसंजमाणुट्ठाणकिरियाभिरयाणं सव्वेसिं पि अपडिकम्मसरीराणं अपडिबद्धविहारत्ताए अच्चंतणिप्पिहाणं ससारिएसुं चक्कहरसुरिंदाइपभिइड्ढिसमुदयसरीरसुक्खेसुं गोयमा ! वच्चइ कोइ कालो जाव णं पत्ते संमेयसेलसिहरे' भासंतओ भाणिया गोयमा ! तेण महरिसिणा रायकुलबालिया णरिंदसमणी । जहा णं दुक्करकारिगे सिग्घं अणुधूयमाणसा सव्वभावंतरेहिं णं सुविसुद्धं पयच्छाहि णं णीसल्लमालोयणं, आढवेयव्वा पसंसयं सव्वेहिं अम्हेहिं देहच्चायकरणेव बुद्धलक्खेहिं णीसल्ला इय निंदियगरहियजहुत्तसुद्धासयजहोवइट्ठकयपच्छित्तनिद्धियसल्लेहिं च णं कुसलणिदिट्ठा संलेहण त्ति। तओ णं जहुत्तविहीए सव्वमालोयंतीए रायकुलबालियाए णरिंदसमणीए जाव णं संभारियं तेणं पहाणमुणिणा। जहा णं जमहं तया रायत्थाणमुवविट्ठाए तए गारत्थभावम्मि मरागाहिलासाए संविक्खिओ अहेसि । तमालोएय हे दुक्करकारिए ! जेणं तुम्हं सव्वुत्तमविसोही हवइ । तओ णं तीए मणसा परितप्पिऊणं अइचवणासयनियडिनिकेयपावित्थीसभावत्ताए या णं चक्खुकुसील त्ति अमुगस्स धूया समणीणमंते वसमाणी परिभविहामि त्ति चिंतिऊणं गोयमा ! भणियं तीए अभागधिज्जाए। जहा णं भगवं णाम तुमं एरिसेणं अट्ठेणं सरागाए दिट्ठीए परिणिज्जोइओ जओ ण अहयं ते अहिलसेज्जा किं तु जारिसेणं तुब्भे सव्वुत्तमरूवतारुणजोव्वणलावण्णकंतिसोहग्गकलाकलावविण्णाणणाणाइसयाइगुणोहविसुद्धमंडिए होत्था विसएसु निरहिलासेसु चिर ता किमेयं तह त्ति किं वा णो णं तह त्ति चि तुज्झ पमाणं परितोलणत्थं सरागाहिलासं चक्खू पउत्ता णो णं वा भिलसिउकामाए। अहवा-इणमत्थे चेवाऽऽलोइउं भवउ किमित्थ दोसंति मज्झमवि गुणावहेयं भवेज्जा। किं तित्थं गंतूण मायाकवडेणं सुवण्णसयं कोइ पयच्छे,ताहे ण किंपि त्ति अच्चंतगरुयसंवेगमावण्णेणं वि दिट्ठसंसारचलित्थीसभावस्स णं ति चिंतिऊणं भणियं मुणिवरेणं जहा णं धिद्धिरत्थु पावित्थीचलसभावस्स जेणं तु पेच्छ पेच्छ यदहमेत्ताणुकालसमएणं क्केरिसा नियडी पउत्त त्ति,अहो खलित्थीणं चलचवलचडुलचंचलसिट्ठिएगट्ठमाणसाणं खणमेगमवि दुज्जम्मजायाणं अहो सयलकज्जभंडेहलियाणं अहो सयलायमकित्तिवुड्ढिकराणं अहो पावकम्माभिणिविट्ठज्झवसायाणं अहो अभीरुयाणं परलोगगमणन्धयारघोरदारुणदुक्खकंडूकडाहसामलीकुंभीपायदुरहियासाणं एवं च बहुं मणसा परितप्पिऊण अणुयत्तणाविरहियधम्मियकरमियसुपसत्थवयणेहिं पसंतमहुरक्खरेहिं णं धम्मदेसणापुव्वगेणं भणिया कुमारेणं रायकुलबालिया नरिंदसमणी गोयमा ! तेणं मुणिवरेण। जहा णं दुक्करकारिगे!मा एरिसेणं मायापवंचणेणं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करतवसंजमसज्झाणाईहिं समज्जिए निरणुबंधे पुण्णपब्भारे णिप्फले कुणसु ण किंचि एरिसेणं मायाडंभेण अणंतसंसारदायगेणं पओयणं, नीसल्लकम्मालोयणं णीसल्लमत्ताणं कुरु। अहवा अंधयारे णं ठियाणं णव्वि यमुवणं भव(एकाए फुयाए)जहा तहा णिरत्थयं होही तुब्भेहिं वालुप्पाडण-भिक्खा-भूमिसेज्जा-बावीसपरिसहोवसग्गाहियासणाइए कायकिलसे त्ति। तओ भणियं तीए भग्गलक्खणाए-जहा भगवं ! किं तुम्हेहिं सद्धिं धम्मेणं उल्लविज्जइ विसेसेण आलोयणं दाउमाणेहिं णीसंकपत्तियाणा ण मए तुमे तक्कालं अभिलसिउकामाए मरागाहिलासाए चक्खूए निज्झाइउं किं तु तुज्झ परिमाणतोलणत्थं णिज्झाइओ त्ति भणमाणी चेव निहणं गया कम्मपरिणईए ण च समज्जित्ता णं बद्धपुट्ठनिकाइयं उक्कोसट्ठिइयं इत्थीवेय कम्मं,गोयमा! रायकुलबालिया नरिंदसमणि त्ति।तओ य ससीसगणो गोयमा ! से णं महच्छेरयभूए सयंबुद्धकुमारमहरिसी विहीए संलेहिऊणं अत्ताणगं मासं पाओवगमणेणं संमेयसेलसिहरम्मि अंतं गओ केवलित्ताए सीसगणसमणिए परिणिव्वुडे त्ति। महा० २ चू०।

से भयवं जे णं केइ सामण्णमब्भुट्ठेज्जा से णं एकाइ०जाव णं सत्तट्ठभवंतरेसु नियमेणं सिज्झिज्जा,ता किमेयं अणुणाहियं लक्खभवंतरपडियट्ठणं ति। गोयमा ! जे णं केइ निरइयारे सामण्णे निव्वाहेज्जा से णं नियमेणं एकाइ ०जाव णं अट्ठभवंतरेसु सिज्झिज्जा। जे पुण सुहुमे वा बायरे वा केई माणसल्ले वा आउकायपरिभोगे वा तेउकायपरिभोगे वा मेहुणकज्जे वा अन्नयरे वा केई आणाभंगे काऊणं सामन्नमइयरेज्जा से णं जं लक्खभवग्गहणेणं सिज्झे तं महालाभे जओ णं सामण्णमइयरित्ता बोहिं पि लभेज्जा। दुक्खं णं एसा गोयमा ! तेणं माहणीजीवेण माया कया जीए य एद्दहमेत्ताए वि एरिसे पावे दारुणविवागे त्ति से

भयवं ! किं तीए महयरीए तेहिं से तंदुलमुल्लगे पयच्छीए । किं वा णं सा वि य महयरी तत्थेव तेसिं समं असेसकम्मक्खयं काऊणं परिनिव्वुडा हवेज्ज त्ति ? । गोयमा ! तीए महयरीए तस्स णं तंदुलमुल्लस्सऽट्ठाए तीए माहणीए धूय त्ति काऊणं गच्छमाणी अंतंतराले चेव अवहरिया सा सुज्जसिरी। जहा णं मज्झं गोरसं परिभोत्तूणं कहिं गच्छसि संपयं ति ? आह–वच्चामो गोउलं अण्णं च जइ तुमं मज्झं निर्णा,आ हवेज्जा ता अहियं तुब्भे जहिच्छाए ते कालियं बहूगुणधरेणं अणुदियहं पयच्छिहहामि जाव णं एयं भणिया ताव णं गया सा सुज्जसिरी तीए महयरीए सद्धिं तेहिं पउलीगाणुट्ठाणंकसुहज्झवसायखिचमाणसेहिं न संभरिया सा गोविंदमाहणाईहिं । एवं तु जहा भणियं महयरीए तहा चेव तस्स घयगुलपायसपयत्थे, अहऽन्नया कालक्कमेण गोयमा ! वुच्छिन्नं णं दुवालसमवच्छरिए महाघोरवे दारुणे दुब्भिक्खे जाए य णं रिद्धीए य समिद्धे सव्वे वि जणवए। अहऽन्नया पुण वीसं अणग्घेयाणं पवरससिसूरकंताईणं मणिरयणाणं घेत्तूणं सदेसगमणनिमित्तेणं दीहद्धाए परिक्खित्तअंगयट्ठी पहपडिमणेणं तत्थेव गोउले भवियव्वयानियोगेणं आगए अणुच्चरियनामधेज्जे पावमती सुज्जसिवे । दिट्ठा य तेणं सा कन्नगा जाव ण परितुलियं सयलतिहुयणणरणारीरूवकंतिलावन्नं तं सुज्जसिरिं पासिय चेव लाभाए इंदियाणं रम्मयाए किंपागफलोवमाणंतदुक्खदायगाणं विसयाणं विजियासेसतिहुयणस्स णं गोयरमणएणं मयरकेउणा, भणिया णं गोयमा ! सा सुज्जसिरी तेणं महापावकम्मेणं सुज्जसिवेणं । जहा णं हे हे कन्नगे जइ णं इमे तुब्भ संतिए जणणी जणगे समणुमन्नंति ता णं तु अहयं ते परिणेमि, अन्नं च करेमि सव्वं पि ते बंधुवग्गाणं दरिद्दंति तुब्भमवि घडावेमि पलसयमणूणगं सुवण्णस्स, ता गच्छ अइरेणावसाहेसु मायावित्ताणं । तओ गोयमा ! जाव णं पहट्ठतुट्ठा सा सुज्जसिरी तीए महयरीए एयं वइयरं परिकहेइ ताव णं तक्खणमागंतूण भणिओ सो महयरीए, जहा भो एयं से हीणं जं ते मज्झ धूयाए सुवन्नपलसएसुं किए। ताहे गोयमा ! एयं सए तेणं पवरमणी । तओ भणियं महयरीए जहा तं सुवण्णस्स सयं दाएहिं , किमेएहिं डिंभरमणगेहिं पवियट्ठगेहिं । ताहे भणियं सुज्जसिवेणं–जहा णं एहि वच्चामो णगरं, दंसेमि णे अहं तुज्झमिमाणं मंवियट्ठगाणं माहप्पं। तओ पभाए गंतूण नगरं एयंसि य पियं ससिसूरकंतपवरमणिजुयलगं तेणं नरवइणो दाविया, नरवइणा वि सद्दाविऊणं भणियं परिक्खह जहा इमाणं परममणीणं करेह मुल्लं तेहिं तु ण सक्किरियं तेसिं मुल्लं काऊणं, ताहे भणिया नरवइणा–जहा णं भो भो मणिक्कखंडिया ! णत्थि केइ इत्थ जे णं एएसिं मुल्लं करिज्जा ता गिण्हसु णं मुल्लं दसकोडी दविणजायस्स । सुज्जसिवेणं भणियं–जं महाराओ पसायं करेति, णवरं इणमो आसन्नपव्वयसन्निहिए अम्हा णं गोउले तत्थ एगं च जोयणं जाव गोणीणं गोयरभूमी तं अकरं विमुच्च भुत्तिं । तओ नरवइणा भणियं–जहा एवं भवउ त्ति । एवं च गोयमा ! जम्मदरिद्दस्स करभेरे गोउले काऊणं तेणं अणुच्चरियनामधेज्जेण परिणीया सा निययधूया सुज्जसिरी सुज्जसिवेणं । जाया परोप्परं तेसिं पीई जाव णं नेहाणुरागरंजियमाणसे गमेंति कालं, किंचि ताव णं दट्ठूणं गिहागए साहुणो पडिनियत्ते,हा हा कदं करेमाणी पुट्ठा सुज्जसिवेणं सुज्जसिरी । जहा पिए ! एयं अदिट्ठपुव्वं भिक्खायरजुयलं दट्ठूणं किमेयावत्थं गयासि ?, तओ तीए भणियं–जहा णणु मज्झं सामिणीए एएसिं महया भत्तपाणेणं पत्तभरणं किरियं । तओ पहट्ठतुट्ठमाणसा उत्तमंगेणं चलणगे पणमयंती नामए अज्ज एएसिं पदिदंसणेणं सा संभारिय त्ति । ताहे पुणो वि पुट्ठा सा पावा तेणं जहट्ठिए काउं तुज्झं सामिणी अहेमी । तओ गोयमा ! णं दढं उसुरुसुं भंतीए समनुगयथेरविसंथुलगिराए साहियं सव्वं पि णिययवुत्तंतं तस्सेति । ताहे विण्णायं तेण महापावकम्मेण जहा णं निच्छयं एमा सा ममंऽगया सुज्जसिरी । अम्हाए महिला एरिसी रूवकंति–दित्ति–लावन्नं सोहग्गसमुदयसिरी भवेज्ज त्ति चिंतिऊणं भणिउमाढत्तो । तं जहा–"एरिसकम्मरया जं न पडेइ घडहडितयं अवज्जं तं णूण इमं चिंतिय, सो वि जहिच्छिट्ठिओ मे कत्थ सुज्झिस्संति" भणिऊणं चिंतिउं पयत्तो सो महापावयारी । जहा णं किं छिंदामि अहयं संहत्थेहिं तिलं तिलं सगत्तं । किं वा णं तुंगगिरितडाउ पक्खिविउ दढं संचुन्नो, मा इणमो अणंतपावसंघायसमुदयं दट्ठुं । किं वा णं गंतूणं लोहयारसालाए सुतत्तलोहखंडमिव घणखंडाहिं कुट्टावेमि । सुइरमत्ताणगं केवलाणं फालाविऊण मज्झो मज्झाए तिक्खकरवतेहिं अत्ताणगं पुणो संभारावेमि अंतो सुकढिय तत्तत्तंकसलोहलोणसज्जियाखारस्स । किं वा णं सहत्थेणं छिंदामि उत्तमंगं, किं वा णं पविसामि मयरघर, किं वा णं उभयरुक्खेसु अहोमुहं विणिबंधाविऊणमत्ताणगं हे-

ङ्का पज्जालावेमि जलणं । किं बहुणा णिच्छुहेमि कट्ठेहिं अत्ताणगं ति चिंतिऊणं जाव सुमसाणभूमीए गोयमा ! विरइया महती चिई, ताहे सयलजणसमक्खं सुइरं निंदिऊणं अत्ताणगं साहियं च सव्वलोगस्स । जहा णं मए एरिसं कम्मं समायरियं ति भाणिऊणं आरूढो चियाए जाव जं भवियव्वयानिओगेणं तारिसदव्वजुत्तजोगाणुसंसट्ठो ते सव्वे वि दारु त्ति काऊणं फूइज्जमाणे वि अणेगपयारेहिं तहा वि णं ण पज्जलिए सिही तओ य णं धिद्धिक्कारेणोवहओ सयललोगवयणेहिं जहा भो भो पिच्छ पिच्छह हुयासणं पि ण पज्जले पावकम्मकारिस्स त्ति भाणिऊणं निद्धाडिए ते वि गोउलाओ एयावसरम्मि उ अणासण्णणिवेसाओ आगएणं भत्तपाणं गहाय तेणेव मग्गेणं उज्जाणाऽभिमुहे मुणीण संघाडगे तं च दट्ठूणं अणुमग्गेणं गए एते वि पाविट्ठे एते य उज्जाणे जाव णं पेच्छंति सयलगुणोहधारिं चउन्नाणसमन्नियं बहुसीसगणपरिकिन्नं देविंदनरिंदवंदिज्जमाणपायारविंदं सुगहियनामधिज्जं जगाणंदं नामं अणगारं । तं च दट्ठूणं चिंतियं तेहिं जहा (गा) णंदे मग्गेसि विसोहिपयं एस महापुरुसे त्ति चिंतिऊणं तओ पणामपुव्वगेणं उवविट्ठित्ता जहोइयभूमिभागे पुरओ गणहरस्स भणिओ य सुज्जसिवो तेण गणहारिणा । जहा णं भो भो देवाणुप्पिया ! णीसल्लमालोएत्ता णं लहुं करेसु सिग्घं असेसपाविट्ठकम्मनिट्ठवणं पायच्छित्तं । एसा उण आवन्नसत्ता, एयाए पायच्छित्तं णत्थि जाव णं णो पसूया । ताहे गोयमा ! सुमहच्चंतपरममहासंवेगगओ एस णं सुज्जसिवे आजम्माओ नीसल्लालोयणं पयच्छिऊणं जहोवइट्ठं घोरं सुदुक्करमहंतं पायच्छित्तं अणुचरित्ता तओ अच्चतविसुद्धपरिणामो सामण्णमब्भुट्ठिऊणं छव्वीसं संवच्छरे तेरस राइदिए अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठदुक्करतवसंजमं समणुचरिऊणं जाव णं एगदुतिचउपंचछम्मासिएहिं खमणेहिं खवेऊणं निप्पडिक्कमसरीरत्ताए अप्पमायत्ताए सव्वत्थामेसु अणवरयमहनिस्साणसमयं सययं सज्झायज्झाणाइसु णं णिद्दहिऊणं सेसकम्ममलमउच्चकरणेणं खवगसेढीए अंतगडकेवली जाए सिद्धे य । से भयवं ! तं तारिस महापावकम्मं समायरिऊणं तहवि कहं एरिसे णं से सुज्जसिवे लहुं थोवेणं कालेणं परिनिव्वुडे त्ति ?, गोयमा ! तेणं जारिसभावट्ठिएणं आलोयणं विइन्नं जारिससंवेगगएणं त तारिसं घोरदुक्करं महंतं पायच्छित्तं समणुट्ठियं जारिसं सुविसुद्धसुहज्झवसाएणं तं तारिसं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करतवसंजमकिरियाए वट्टमाणेणं असंडियअविराहिए मूलुत्तरगुणे परिपालयंतेणं निरइयारं सामन्नं णिव्वाहियं जारिसेणं रोद्दट्टज्झाणविप्पमुक्केणं णिट्ठियरागदोसमोहमिच्छत्तमयभयगारवेणं मज्झत्थभावेणं अदीणमाणसेणं दुवालसवासे संलेहणं काऊणं पाओवगमणमणसणं पडिवन्नं तारिसेणं एगंत सुभज्झाणज्झवसाएणं, ण केवलं से एगे सिज्झेज्जा जइ णं कहाइ परकयकम्मसंकमं भवेज्जा तो णं सव्वेसिं भव्वसत्ताणं असेसकम्मक्खयं काऊणं सिज्झेज्जा णवरं परकम्मकयादी ण कस्सइ संकमेज्जा, जं जेण समज्जियं तं तेणं समणुभवियव्वं त्ति । गोयमा ! जया ण निरुद्धे जोगे हवेज्जा तया णं असेसं पि कम्मट्ठरासिं अणुकालविभागेणेव णिट्ठावेज्जा सुसंवुडा सेसासवदारे जोगनिरोहेणं तु कम्मक्खए दिट्ठे ण उण कालसंखाए । जओ णं कालेणं तु खवे कम्मं कालेणं तु पबंधए एगगं बंधे एगगं खवगे । गोयमा ! कालमणंतगं णिरुद्धेहिं तु जोगेहिं वेकम्मं ण बंधए, पोराणं तु पहीएज्जा णवगस्साभावमेव उ । एवं कम्मक्खयविदारणेणेत्थं कालमसुद्देसे अणाइकाले जीवे य तहावि कम्मं ण णिट्ठए खओवसमेण कम्माणं जया विरियं समुच्छले कालं खेत्तं भव भावं सपप्प जीवे तया अप्पमादी खवे कम्मं ज जीवे तं कोडि वडे । जो पमादी पुणो णं तं कालं कम्माणि बंधयाणि वसेज्जा चउग्गईए उ सव्वत्थच्चंतदुक्खिए तम्हा कालं खेत्तं भवं भावं संपप्प गोयमा ! मइमं अइरा कम्मक्खयकरे से भयव ! सा सुज्जसिरी कहिं समुववन्ना ?, गोयमा ! छट्ठीए णरयपुढवीए से भवयं ! केणं अट्ठेणं गोयमा ! तीए पडिपुन्नाणं माइरेगाणं णवण्हं मासाणं इणमो वेरित्तियं जहा णं पच्चूसे गब्भं पाडवेमि त्ति एवमज्झवसमाणी चेव बालयं पसूया पसूयमेत्ता य तक्खणा निहणं गया तएणं अट्ठेणं गोयमा ! सा सुज्जसिरी छट्ठयं गय त्ति । से भयवं ! जं तं बालगं पसविऊणं मया सा सुज्जसिरी तं जीवियं किं वा ण व त्ति ?, गोयमा ! जीवियं । से भयवं ! कहं ?, गोयमा ! पसूयमेत्तं तं बालगं तारिसेहिं जरजेरजलुसजंबालपइरुहिरखारदुग्गंधासुईहिं विलिच्चमणाहं विलवमाणं दट्ठूणं कुलालचक्कस्सोवरि काऊणं साणेणं समुद्दिसिउमारद्धं ताव णं दिट्ठं कुलालेणं । ताहे धाइओ सघरणिओ कुलालो । अविणासियबालतणू पणट्ठो साणो । तओ कारुण्णहियएणं अपुत्तस्स णं पुत्तो एस मज्झ होहिइ त्ति वियाप्पऊणं कुलालेणं समप्पिऊणं से बाले । गोयमा ! सदइयाए तीए सब्भावणेहेणं परिवालि-

ऊण माणुसीकए से बालगे । कयं च नामं कुलालेयं लोगाणुवित्तीए सजणगाहिहाणेयं०जहा गं सुसढो । अन्नया कालकमेयं गोयमा ! सुसाहुसंजोगदेसणापुव्वेयं पडिबुद्धेयं सुसढे पव्वइए जाव गं परमसद्धासंवेगवेरग्गगए अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करं महाकायकिलेसं करेइ संजमजयणं ण जाणइ, अजयणादोसेणं तु सव्वत्थ असंजमपएसु गं अवरज्झे । तओ तस्स गुरूहिं भणियं जहा भो भो महासत्त ! तए अन्नाणदोसओ संजमजयणं अयाणमाणएणं महंते कायकिलेसे समाढत्ते नवरं जइ निच्चालोयणं दाऊणं पायच्छित्तं ण काहिसि तो सव्वमेयं निप्फलं होही । ता जाव णं गुरूहिं चोइए ताव णं से अणवरयालोयणं दाउणं पयत्ते । से वि य गुरू तस्स तहा पायच्छित्ते पयच्छइ जहा णं संजमजयणं भूयं एगंतेणेव अहान्नसाणुसमयं रोद्दट्टज्झाणाइविप्पमुक्के सुहज्झवसायनिरंतरे य विहरेज्जा । अहन्नया णं गोयमा ! से पावमती जे केइ छट्ठट्ठमदसमदुवालसद्धमाससमास०जाव णं छम्मासखवणाइए अन्नयरे वा सुमहं कायकिलेसाणुगए पच्छित्ते से णं तह त्ति समणुट्ठे जे य उण एगंतसंजमकिरियाणं जयणाणुगमणो वइकायजोगमयलासवनिरोहे सज्झायज्झाणावस्सगाइए अवमन्ने णं असद्दहे सिढिले०जाव णं किल किमित्थ दुक्करं ति काऊणं न तहा समणुट्ठे । अन्नया णं गोयमा ! अहाउयं परिवालेऊणं से सुसड्ढे मरिऊणं सोहम्मे कप्पे इंदसामाणिए महड्ढी देवे समुप्पन्ने । तओ वि चविऊण इहयं वासुदेवो होऊणं सत्तमपुढवीए समुप्पन्ने । तओ उव्वट्टे समाणे महाकाए हत्थी होऊणं मेहुणाऽऽसत्तमाणसे मरिऊणं अणंतवणस्सतीए गय त्ति । एस णं गोयमा ! से सुसड्ढे जे णं आलोइयनिंदियगरहिएणं कयपायच्छित्ते भवित्ता णं जइ णं अयाणमाणे भमिहिइ सुइरं अणंतसंसारे से भयवं ! कयरा उण तेणं जयणा तं विन्नाया जओ णं तं तारिसं दुक्करं कायकिलेसं काऊणं पि तहा वि णं भमिहिइ णं सुइरं तु संसारे । गोयमा ! जयणा णाम अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं संपुण्णाणं अखंडियविराहियाणं जावज्जीवमहत्तिसाणुसमयं धारणं कसिणं संजमकिरियं अणुमन्नंति तं च तेण न विन्नायं ति तेणं तु से अहन्ने भमिहिइ सुइरं तु संसारे । से भयवं केणं अट्ठेणं तं च तेणं ण विन्नायं ति गोयमा ! तेणं जावइए कायकिलेसे कए तावइयस्स अट्ठभागेणेव जइ से बाहिरपाणगं विवज्जंते ता सिद्धीए समणुवयंते । णवरं तु तेणं बाहिरपाणगे परिभुत्ते बाहिरपाणगपरिभोइस्स णं गोयमा ! बहुए वि कायकिलेसे खिरत्थगे हवेज्जा । जओ णं गोयमा ! आऊ तेऊ मेहुणे एए तओऽवि महापावट्ठाणे अबोहिदायगे एगंतेणं विवज्जियव्वे, एगंतेणं ण समायरियव्वे सुसंजएहिं ति । एतेणं अट्ठेणं तं च तेणं ण विन्नाय त्ति(महा०)से भयवं ! किं संजमजयणं समुप्पेहमाणे समणुपालेमाणे समणुट्ठे समाणा अइरेणं जम्मजरामरणादीणं विमुच्चेज्ज ?, गोयमा ! अत्थेगे जेणं ण अइरेणं विमुच्चेज्जा, से भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं अत्थेगे जे णं णो अइरेणं विमुच्चेज्जा, अत्थेगे जे णं अइरेणं विमुच्चेज्जा ?, गोयमा ! अत्थगे जे णं किंचि उ ईसिणगं अत्ताणगं अणोवलक्खेमाणे सरागससल्ले संजमजयणं समणुट्ठे । जे णं एवंविहे से णं चिरेणं जम्मणजरामरणाइअणेगसंसारियदुक्खाणं विमुच्चेज्जा । अत्थेगे जे णं णिम्मूले ठियसव्वसल्ले निरारंभपरिग्गहे निम्ममे निरहंकारे ववगयरागदोसमोहमिच्छत्तकसायमलकलंके सव्वभावभावंतरेहिं णं सुविसुद्धासए अदीणमाणसे एगंतेणं निज्जरापेही परमसद्धासंवेगवेरग्गगए विमुक्के सेसभयगारवविचित्ताणेगपमायालंबणे ०जाव णं विजियघोरपरीसहोवसग्गे ववगयरोद्दऽट्टज्झाणे असेसकम्मक्खयट्ठाए जहुत्तसंजमजयणं समणुपेहिज्जा अणुपालेज्जा समणुपालेज्जा०जाव णं समणुट्ठेज्जा जे य णं एवंविहे से णं अइरेण संजमजरामरणाइ अणेगसंसारियसुदुव्विमोक्खदुक्खजालस्स णं विमुच्चेज्जा । एतेणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं गोयमा ! अत्थेगे जे णं णो अइरेणं विमुच्चेज्जा अत्थेगे जे णं अइरेणं च विमुच्चेज्जा । महा० २ चू० ।

सुज्जसिव-सूर्यशिव-पुं० । स्वनामख्याते अवन्तीवास्तव्ये धिग्जातौ, महा० २ चू० ।

सुज्जावत्त-सूर्यावर्त्त-न० । ब्रह्मलोकस्य स्वनामख्याते विमाने, स० ६ सम० ।

सुज्झ-शोध्य-त्रि० । शोधनीये, आव० ४ अ० ।

सुज्झाइय-सुध्यात-न० । सुष्ठु सुविधिना गुरुसकाशाद् व्याख्यानेनार्थतः श्रुत्वा ध्यातमनुपेक्षितं श्रुतमिति गम्य सुध्यातम् । सुष्ठु अनुपेक्षिते, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

सुट्ठिच्चा-सुस्थाय-अव्य० । सुष्ठु स्थित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

सुट्ठिय-सुस्थित-त्रि० । शोभनं स्थितः सुस्थितः । सुव्यवस्थिते, प० चू० २ कल्प । लवणसमुद्राधिपतिदेवे, आव० ४ अ० । टी० । मुहूर्तभेदे, द० प० । स्था० । ज्ञा० । जी० । आर्यसुहस्तिशिष्ये कोटिकगच्छीयाचार्ये, "तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकन्दिकावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ, कौटिकगच्छस्ततः समभूत् ॥१॥" ग० ३ अधि० । पाटलिपुत्रे नगरे चन्द्रगुप्तो राजा चाणक्यो मन्त्री सुस्थित आचार्यः । नि० चू० १३ उ० । ती० । कल्प० । सुष्ठु अतीव चावृते, ग्र० १ उ० ३ प्रक० ।

श्रान्ते, बृ० १ उ० ३ प्रक०। सुविहितक्रियानिष्ठे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

सुठियप्प-सुस्थितात्मन्-पुं०। शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषा ते सुस्थितात्मानः। सुविहितेषु, दश० ३ अ०।

सुट्ठिया-सुस्थिता-स्त्री०। सुस्थितस्य लवणसमुद्राधिपते राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सुट्ठु-सुष्ठु-अव्य०। अतिशये, प्रति०। प्रश्न०। अतीवार्थे, आव० ४ अ०। त०। वाढे, ध० २ अधि०। प्रश्न०। शोभने, बृ० १ उ० ३ प्रति०। प्राकृतभाषयाऽधिकारे, ध० ३ अधि०। प्रश्न०।

सुट्ठुतरमायामा-सुष्ठुतरायामा-स्त्री०। गन्धारग्रामस्य षष्ठ्या मूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सुट्ठुयर-सुष्ठुतर-त्रि०। अतिशोभन, आव०३ अ०। आ० म०।

सुढिय-देशी-श्रान्ते, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

सुण-श्रु-धा०। श्रवणे,"चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धू-गा णो-ह्रस्वश्च" ॥ ८। ४॥ २४१॥ इत्यन्तो णकारागम। सुणइ। शृणोति। प्रा०। स्था०।'आया सद्दाइं सुणेइ' इत्यादि "सुण संखेवाणि सदा दिट्ठियायस्स" आचा०।

सुणअ-शुनक-पुं० स्त्री०। कुक्कुरे, आव० ४ अधि०।

सुणइ-सुनति-त्रि०। शोभना नतिरवनतावसाने यस्मिन्नसौ सुनति। शोभननतिके, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सुणंद-सुनन्द-पुं०। ऋषभदेवस्य द्वाविंशतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। आ० म०। चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, ती० ६४ कल्प। उत्त०। ('चपा' शब्दे तृतीयभागे १०९८ पृष्ठे ऽस्य कथोक्ता।) पार्श्वनाथस्य स्वनामख्याते श्रावके, उत्त० २३ अ०। भविष्यत सप्तमतीर्थकृत पूर्वभवजीवे, स०। सप्तमदेवलोकस्य विमानभेदे, नपुं०। स० १५ सम०। द्वादशतीर्थकरस्य भिक्षादायके, (स०।)-स्वनामख्याते राजर्षौ, पुं०। ध० र०।

सुनन्दराजर्षिकथा पुनरेवम्—

"इह कंपिल्लपुरे सो, अइपवलपयावनिज्जियदिणेसो।
उप्पाडियरिउकंदो, आसि नरिंदो सुनंदु त्ति ॥ १॥
सुद्धगिहिधम्मपरिणा-लणुज्जुओ सत्तनत्तकुसलमई।
पासेहिं पिहु दइओ, मित्तो वज्जाउहो तस्स ॥ २॥
अइसरयऽऽगमसुप्प-भपवलउस्सासरुद्धकंठेण।
कइयावि सुनंदनिवो, इय भणिओ संधिपालेणं ॥ ३॥
देव! महच्छरियमिणं, जं किर केसरभरो वि केसरिणो।
तोडिज्जइ हरिणेणं, रवीवि जिप्पइ तमभरेण ॥ ४॥
उत्तरदिसि पहुणा भी-मराइणा दुद्दमेण गुणनिवहो।
इंदियगामेण पिव, देसो तुह हम्मए सयलो ॥ ५॥
त सोउ निवो कुविओ, जा ताडावेइ झत्ति रणभेरिं।
ता सुहबुद्धिजुत्ते-ण मंतिवग्गेण इय वुत्तं ॥ ६॥
देव! अरी सुरकय-संनिज्झो समरे गई विसमा।
संदेहो पुण विजए, पहाणपुरिसक्खओ य धुवं ॥ ७॥
ता सामभेयदाणा-इं मुत्तु समरं न अम्हमवि नीइं।
रिउविजए पिच्छामो, ता देव! इह कुणसु जुत्तं ॥ ८॥

जओ—

सामेण कोइ मित्तो, भए वि भेयएण भिज्जइ सुही वि।
दाणेण सेलघडिया, देवा वि वसं पवज्जंति ॥ ९॥
जइ जोगमिमं नणु जु-जिऊण दंडे वि जइ समुज्जमसि।
मसिकुच्चं अरिवयण-सु तयणु न देव! देसि धुवं ॥ १०॥
इय कयजत्ता पत्ता, तुरुक्का वि निश्चा अतुच्छवलच्छिभरं।
गरुया वि गया निहणं, इत्तो विवरीयनीइग्या ॥ ११॥
ता देव! सत्तुमाम—तमंनिमित्ताण जाणिउं हिययं।
तदुचियमामाइ पउं—जिऊण पच्चइयपुरिसेहिं ॥ १२॥
कुणसु पहु विजयजत्तं, जयलच्छि लहसु फुरियजसपसरो।
भंजसु भडवाय रिउ-भडाण कयनीइसंनाहो ॥ १३॥
इय सोउ मंतिवयणं, हसि हसिऊण जंपिय राया।
वणियाण माहणाण य, होइ मई एरिसा चेव ॥ १४॥
फडमणिइ दुज्जयरिउ-करडिघडा विघडणिक्ककेसरिणो।
मज्झ वि पुरओ एव, ग्गकम्ममइस्समुयइसह? ॥ १५॥
इच्चिय अविमंसिय, जहा तहा इह जणा पयपंता।
हुति तणाउ वि लहुया, वच्चंति पराभवट्ठाणं ॥ १६॥
इय पभणिय भालत्थल-कयउब्भडभिउडिभासुरो राया।
उक्कपियरिउचक्की, लहु ताडावेइ जयढक्कं ॥ १७॥
ता तीइ सद्दपसरे-ण मिलियचउरंगपवलवलकलिओ।
वज्जाउह मित्तविदि-न्न अग्गमिक्कायारी ॥ १८॥
अविलंवियप्पयाणे-हिं स तु निवमंडल अणुपविट्ठो।
नाउ तदागमण झ-त्ति आगओ संमुहो भीमो ॥ १९॥
अह जोहमुक्कहक्का, भयभग्गसत्तकायरनरोहं।
हयहरिकरिभडनिवडण—दुग्गपहाउलभमतजणं ॥ २०॥
जणयजणआसंकिय—अचिंतकिंयपलयकालमागमणं।
दुण्ह वि अग्गाणीया-ण नाण जायं महाजुज्झं ॥ २१॥
अह खणमित्तम्म गए, लद्धोगासेहिं परवलभडेहिं।
भग्गं सुनंदसिन्नं, सीयं पिव भाणुकिरणेहिं ॥ २२॥
वज्जाउहजयकुंजर—सत्तुजयमाइणो महीवइणो।
पडिया समरमहीए, सुनंदराएण नायमिणं ॥ २३॥
अह सचिवेहिं भणिय अज्ज वि विरमसु देव! समराओ।
मा पूरसु रिऊणं, मणोरहे, नियसु नियसत्तिं ॥ २४॥
अजहावलमारंभो खयस्स मूलं वयंति इह विवुहा।
तो सव्वपयारेहिं, अप्पच्चिय रक्खियव्वु त्ति ॥ २५॥

जओ—

विक्कमयलेण पुणरवि, अज्जिज्जइ चिरगया वि रायसिरी।
देवगय पुण जीयं, न लब्भए तम्मि जम्मम्मि ॥ २६॥
भावय राहुमुहाओ, नीहरिउमखंडमंडलो सूरो।
अवहरिउ रायसिरिं परतेयभरं पुणो हरइ ॥ २७॥
मुच्चइय पुरावि इम, अपत्तवेलं मुणे वि अप्पाणं।
बंभो चक्की नट्ठो, सगरियणो जादवपहू वि ॥ २८॥
इय सचिवेहिं भणिओ, नियकुंभइधरिहिओ सुनंदनिवो।
ओसरिओ समराओ, जं अवसरवेइणो विवुहा ॥ २९॥
पडिभग्ग पडिवक्खं, पलायमाणं निए वि भीमनिवो।
वलिओ अणुकंपाए, तप्पुट्ठिपहारमकरित्ता ॥ ३०॥

तथा चागम —

अइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारनिच्छए मुयह।
ववहारनउच्छेए, तित्थुच्छेओ जओ भणिओ॥ ७९॥
ववहारो वि हु बलवं, जं वंदइ केवली वि छउमत्थं।
आहाकम्मं भुंजइ, सुयववहारं पमाणं तो॥ ८०॥

किंच—

निद्दिसंपसमग्गो, पत्थिनो जह जणो निरुत्तप्पो।
इह नासइ तह पत्ते—यबुद्धलच्छि पडिच्छंतो॥ ८१॥
तह अन्नत्ताउ च्चय, सिवलाभो दुक्करइ किरियाए।
करणं अणुचियमेयं, पि सुंदरं नो जओ भणियं॥ ८२॥
तित्थयरो चउनाणी, सुरमहिओ सिज्झियव्वयधुयम्मि।
अणिगूहियबलविरिओ, सव्वत्थामेण उज्जमइ॥ ८३॥
इय जइ तं पि हु नित्थि—ण्णाइसंसारसायरा वि जिणा।
अब्भुज्जमंति तो से—सयाण को इत्थ वामोहो॥ ८४॥
इय हियउब्भवकुग्गह—निग्गहमतोयम गिरं गुरुणो।
सोउं सुनंदसाहू, पज्जवणिज्जो महाभागो॥ ८५॥
मुत्तुं नियमसग्गह—मालोइय नइ गुरूण पयमूले।
सविसेसनिच्चलमणो, अकलंक कुणइ चारित्तं॥ ८६॥
सुचिरं चरित्तु चरणं, दहिउं झाणानलेण कम्मवणं।
अन्नाणतिमिरतरणी—सिद्धिं पत्तो सुनंदमुणी॥ ८७॥

सुनन्दराजर्षिचरित्रमेव—
श्रुत्वा मनःस्थैर्यकरं सुधर्मे।
मुमुक्षवोऽसद्ग्रहनिग्रहाय —
प्रज्ञापनीयत्वमिदं श्रयन्तु॥ ८८॥"

ध० र० ३ अधि० २ लक्ष०।

सुणंदा—सुनन्दा—स्त्री०। पार्श्वनाथस्वामिनः प्रवर्तिन्याम्, आ० म० १ अ०। कल्प०। बाहुबलिसुन्दर्योर्मातरि ऋषभदेवभार्यायाम्, आ० चू० १ अ०। ("उसभ" शब्दे द्वितीयभागे ११२१ पृष्ठे कथा।) दक्षिणाञ्जनाद्रेर्दक्षिणदिक्स्थायां नन्दापुष्करिण्याम्, ती० २६ कल्प। भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०। वज्रस्वामिना मातरि धनगिरेर्भार्यायां धनपालदुहितरि, आ० क० १ अ०। आ० म०। आ० चू०। कल्प०। तृतीयचक्रिणो मघवतो भार्यायाम्, स०।

सुणंदि—सुनन्दि—स्त्री०। सत्समृद्धिके बोधे, आ० १ श्रु० १ अ०।

सुणक्खत्त—सुनक्षत्र—न०। पुष्यादौ शोभने नक्षत्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। काकन्दीनगरीवास्तव्यभद्रायाः सार्थवाह्याः पुत्रे, पुं०। अनु०।

"जति णं भंते! उक्खेवओ एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं कागंदीए णगरीए भद्दाणामं सत्थवाही परिवसति अड्डा०, तीसे णं भद्दाए सत्थवाहीए पुत्ते सुणक्खत्ते णामं दारए होत्था, अहीण ०जाव सुरूवे पंचधातिपरिक्खित्ते जहा धण्णो तहा बत्तीसदाओ ०जाव उप्पिं पासायवडेंसए विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं समोसरणं जहा धन्नो तहा सुणक्खत्तेऽवि णिग्गते, जहा थावच्चापुत्तस्स तहा णिक्खमणं ०जाव अणगारे जाते इरियासमिते ०जाव बंभयारी। तते णं से सुणक्खत्ते अणगारे जं चेव दिवसं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए मुंडे ०जाव पव्वतिते तं चेव दिवसं अभिग्गहं तहेव ०जाव बिलमिव आहारेति संजमेणं ०जाव विहरति, वहिया जणवयविहारं विहरति, एकारस अंगाइं अहिज्जति, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। तते णं से सुणक्खत्ते० ओरालेणं जहा खंदतो तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णगरे गुणसिलए चेतिए सेणिए राया सामी समोसढे परिसा णिग्गता राया णिग्गतो धम्मकहा राया पडिगओ परिसा पडिगता। तते णं तस्स सुणक्खत्तस्स अन्नया कयाति पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जाग० जहा खंदयस्स बहु वासा परियातो गोतमपुच्छा तहेव कहेति ०जाव सव्वट्ठसिद्धे विमाणे देवे उववन्ने तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पणत्ता, से णं भंते! महाविदेहे सिज्झिहिति। अणु० १ श्रु० ३ वर्ग। स्था०।

स्वनामख्याते कोशलजनपदजे वीरजिनानगारे, भ०।

एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतेवासी कोसलजणवए सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए। भ० १५ श०। (गोशालकतपसा तत्तिरस्येति 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०३० पृष्ठे उक्तम्।)

सुणक्खत्ता—सुनक्षत्रा—स्त्री०। पक्षस्य द्वितीयाया तिथौ, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। जं०। च० प्र०।

सुणग—सुनक—पुं०। कौलेयके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। जं०। न०। आचा०। स्था० उत्त०। अनु०। मृगदंशे, प्रज्ञा० ११ पद।

सुणण—श्रवण—न०। श्रोत्रेन्द्रियविषयीकरणे स्था० ८ ठा० ३ उ०।

सुणय—सुनय—पुं०। स्वांशग्राहिणि इतरांशप्रतिक्षेपिणि नये, द्रव्या० ५ अध्या०। नयलक्षणलक्षिते अपेक्षावचन दिगम्बरव्यवस्थायाम्, नं०।

सुणयण—सुनयन—पुं०। त्रि०। शोभने नयने यस्य सः सुनयन। सुलोचने, आ० म० १ अ०।

सुणह—शुनक—पुं०। कुक्कुरे, पिं०।

सुणहमड—शुनकमृत—पुं०। मृते श्वदेहे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

सुणासीर—सुनासीर—पुं०। इन्द्रे, पाइ० ना० २५ गाथा।

सुणाह—सुनाथ—पुं०। ऋषभदेवस्य पञ्चनवतितमे पुत्रे कल्प० १ अधि० ७ क्षण। अपरकङ्कानगरीराजस्य पद्मनाभस्य पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

सुणिउण—सुनिपुण—त्रि०। सुसूक्ष्मे, सुष्ठु निश्चितगुणे च। स० १५० सम०।

सुणिऊण--श्रुत्वा-अव्य० । " त्रि-ज्रि-शु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो ह्रस्वश्च " ॥ ८ । ४ । २४१ ॥ इति णकारः बहुलाधिकाराद्विकल्पेन ह्रस्वः । सोऊण । सुणिऊण । आकर्ण्येत्यर्थे , 'सुणित्ता' अप्यत्र । प्रा० ४ पाद । सूत्र० ।

सुणिट्ठिय-सुनिष्ठित-त्रि० । सुष्ठु-निष्ठितम् अतिशयेन रस प्रकर्षपर्यन्तात्मिका निष्ठा गत, उत्त० १ अ० । दश०

सुणिप्पकंप-सुनिष्प्रकम्प-त्रि० । अतीव निश्चले, दर्श० ४ तत्त्व ।

सुणिम्मिय-सुनिर्मित-त्रि० । सुष्ठु-अतिशयेन निर्मितं सुनिर्मितम् । सुविरचिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । कल्प० । "सुनिम्मियसुगूढजाणुमंडलसुबद्धा ' सुष्ठु अतिशयेन निर्मित. सुनिर्मित., एवं सुगूढ-मांसलतया अनुपलक्ष्यमाण जानुमण्डल सुबद्धं स्नायुभिरतीव बद्धं याभ्यां वा सुनिर्मितसुगूढजानुमण्डलसुबद्धा. । सुबद्धशब्दस्य निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात , प्राकृतत्वाद्वा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । उत्त० ।

सुणिय-श्रुत्वा-अव्य० । आकर्ण्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । प्रश्न० । आ० म० ।

सुणिरुद्धदंसण--सुनिरुद्धदर्शन -त्रि० । सुष्ठु-अतिशयेन निरुद्धम्-आवृतं दर्शन सम्यगवबोधरूप यस्य स तथा । दर्शनमोहनीयकर्मणो ज्ञानदर्शनावरणकर्मणोर्वोदये वर्त्तमाने 'हंसि हु सुनिरुद्धदंसणे मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा' । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

सुणिविट्ठ-सुनिविष्ट-त्रि० । सुष्ठोपविष्टे ग० २ अधि० ।

सुणिसंत-सुनिशान्त-त्रि० । परिचिते . आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । श्रुते, गते च । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

सुणिसिय- सुनिशित--त्रि० । अतितेजिते , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अतिनिशिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । उज्ज्वालिते, दशा० १० अ० ।

सुणी-शुनी-स्त्री० । कुक्कुर्याम , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । उत्त० ।

सुणेयव्व-सुनेपथ्य-त्रि० । सुप्रावृते, सू० ३ उ० ।

सुण्ण-शून्य-न० । श्वयो हितमिति यत्प्रत्यये उगवादिभ्यो यदितियत् (पा० ५ । १ । २) शुन सम्प्रसारणं दीर्घत्वमिति यप्रत्ययो यति प्रत्यये सम्प्रसारणं दीर्घत्वे च शून्यम । उत्त० , ब० अ० ३ श० । [illegible]

सुण्णघर- शून्यगृह -न० । शून्यागारे, नि० चू० ८ उ० । सूत्र० । आव० ।

सुण्णदंसणा- शून्यदर्शना-स्त्री० । [illegible] प्रज्ञापनामाया [illegible] , प्र० सं० ४ द्वार ।

सुण्णवाय- शून्यवाद-पुं० । सर्वमेव शून्य [illegible] स्याद्वादमं० ।

अथ [illegible]

माणस्याङ्गीकारानङ्गीकारलक्षणे पक्षद्वयेऽपि तदभिमतार्थाऽसिद्धिप्रदर्शनपूर्वकमुपहसन्नाह-

> विना प्रमाणं परवन्न शून्यः
> स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
> कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाण-
> महो ! सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥ १७ ॥

शून्य -शून्यवादी प्रमाणं प्रत्यक्षादिकं विना अन्तरेण स्वपक्षसिद्धेः -स्वाभ्युपगतशून्यवादनिष्पत्तेः पदं प्रतिष्ठां नाश्नुवीत-न प्राप्नुयात् । किंवत् ? , परवत्-इतरप्रामाणिकवत् , वैधर्म्येणायं दृष्टान्त । यथा इतरे प्रामाणिकाः प्रमाणेन साधनतमेन स्वपक्षसिद्धिमश्नुवते, न च तथायम् , अस्य मते प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारस्यापारमार्थिकत्वात् " सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः "सदसत्त्वमपेक्षते " इत्यादिवचनात । अप्रामाणिकस्य च शून्यवादाभ्युपगम कथमिव प्रेक्षावतामुपादेयो भविष्यति प्रेक्षावत्त्वव्याहतिप्रसङ्गात् ? । अथ चेत् स्वपक्षसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते, तत्रायमुपालम्भः 'कुप्येदित्यादि'-प्रमाणं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत् स्पृशते आश्रयमाणाय अस्मा-दस्मै—शून्यवादिने, कृतान्तः सिद्धान्त कुप्येत्-कोपं कुर्यात सिद्धान्तबाध स्यादित्यर्थः । यथा किल सेवकस्य विरुद्धवृत्त्या कुपितो नृपति सर्वस्वमपहरति, एवं तत्सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्ध प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सत्त्वभूत सम्यग्वादित्वमपहरति । किञ्च—आगमापरपर्यायेणैव तेन वादिना शून्यवादः प्ररूप्यते, इति स्वीकृतमागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्षसिद्धि , प्रमाणाङ्गीकरणात् ? । किञ्च—प्रमाणं प्रमेय विना न भवतीति प्रमाणाङ्गीकरणे प्रमेयमपि विशीर्णम् । ततश्चास्य मूकतैव युक्ता , न पुन शून्यवादोपन्यासाय तुण्डताण्डवाडम्बर शून्यवादस्याऽपि प्रमेयत्वात् । अत्र च स्पृशधातुं [illegible] च प्रयुञ्जानस्य सूरेरयमभिप्राय -यदयं शून्यवादी [illegible] प्रमाणस्य सर्वथाङ्गीकारं यावत् प्रमाणस्पर्शमात्रमपि विधत्ते, तदा तस्य कृतान्तो-यमराज [illegible] , तद्वेषो [illegible] । ततश्च स्वसिद्धान्तविरुद्धमर्थं प्रमाणयन् निग्रहस्थानापन्नत्वात् मृत एवेति । एवं सति 'अहो' इत्युपालम्भगर्भमाश्चर्यं सूचयन्नपि [illegible] [illegible] निरीक्षितमहो ! सुदृष्टं—साधु दृष्टम् । [illegible] [illegible] । [illegible]

मो चेत्यादौ शरीराश्रयतयाऽप्युपपत्तेः। किञ्च-यद्ययमहङ्कारप्रत्यय आत्मगोचरः स्यात्, तदा न कादाचित्कः स्यात्।आत्मनः सदा सन्निहितत्वात्, कादाचित्कं हि ज्ञानं, कादाचित्ककारणपूर्वकं दृष्टम्, यथा सौदामिनीज्ञानमिति। नाप्यनुमानेन अव्यभिचारिलिङ्गाऽग्रहणात्। आगमानां च परस्परविरुद्धार्थवादिनां नास्त्येव प्रामाण्यम्। तथाहि-एकेन कथमपि कश्चिदर्थो व्यवस्थापितः अभियुक्ततरेणाऽपरेण स एवाऽन्यथा व्यवस्थाप्यते,स्वयमव्यवस्थितप्रमाण्यानां च तेषां कथमन्यव्यवस्थापने सामर्थ्यम्? इति नास्ति प्रमाता प्रमेयं च बाह्योऽर्थः स चानन्तरमेव बाह्यार्थप्रतिक्षेपपक्षे निर्लोठितः। प्रमाणं च स्वपरावभासि ज्ञानम्, तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु?,निर्विषयत्वात्। किं च-एतत् अर्थसमकालम् तद्भिन्नकालं वा तद् ग्राहकं कल्प्येत?। आद्यपक्षे त्रिभुवनवर्तिनोऽपि पदार्थास्तत्राऽवभासेरन्,समकालत्वाविशेषात्। द्वितीये तु,निराकारम्, साकारं वा तत् स्यात्?। प्रथमे,प्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदानुपपत्तिः। द्वितीये तु किमयमाकारो व्यतिरिक्तः, अव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात्?। अव्यतिरेके, ज्ञानमेवायम्, तथा च निराकारपक्षदोषः। व्यतिरेके यद्ययं चिद्रूपः, तदानीमाकारोऽपि वेदकः स्यात्, तथा च—अयमपि निराकारः साकारो वा तद्वेदको भवेत्?, इत्यावर्त्तनेनाऽनवस्था। अथ—अचिद्रूपः किमज्ञातः, ज्ञातो वा तज्ज्ञापकः स्यात्?। प्राचीने विकल्पे, चैत्रस्येव मैत्रस्यापि न तज्ज्ञापकोऽसौ स्यात्। तदुत्तरे तु,निराकारेण,साकारेण वा ज्ञानेन, तस्यापि ज्ञानं स्यात् इत्याद्यावृत्तावनवस्थैवेति। इत्थं प्रमाणाभावे तत्फलरूपा प्रमितिः कुतस्तनी? इति सर्वशून्यतैव परं तत्त्वमिति तथा च पठन्ति "यथा यथा विचार्यन्ते,विशीर्यन्ते तथा तथा। यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो,रोचते तत्र के वयम्? ॥१॥" इति पूर्वपक्षः। विस्तरतस्तु प्रमाणखण्डनं तत्त्वोपप्लवसिंहादवलोकनीयम्॥ अत्र प्रतिविधीयते—ननु यदिदं शून्यवादव्यवस्थापनाय देवानांप्रियेण वचनमुपन्यस्तम्, तत् शून्यम्, अशून्यं वा?। शून्यं चेत्, सर्वोपाख्याविरहितत्वात् खपुष्पेणेव नाऽनेन किञ्चित्साध्यते, निषिध्यते वा। ततश्च निष्प्रतिपक्षा प्रमाणादितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था। अशून्यं चेत् प्रलीनस्तपस्वी शून्यवादः? भवद्वचनेनैव सर्वशून्यताया व्यभिचारात् तत्रापि निष्कण्टकैव सा भगवती। तथापि प्रामाणिकसमयपरिपालनार्थं किञ्चित् तत्साधनं दूष्यते। तत्र यत्तावदुक्तम्—प्रमातुः प्रत्यक्षेण न सिद्धिः इन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वादिति, तत्सिद्धसाधनम्। यत्पुनः, अहंप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वमनैकान्तिकमित्युक्तम् तदसिद्धम्। अहं सुखी, अहं दुःखी इति अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपपत्तेः। तथा चाहुः 'सुखादि चेत्यमानं हि, स्वतन्त्रं नानुभूयते। मतुवर्थानुवेधात्तु, सिद्धं ग्रहणमात्मनः ॥१॥ इदं सुखमिति ज्ञानं, दृश्यते न घटादिवत्। अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥२॥" यत्पुनः अहं गौरः, अहं श्यामः' इत्यादिर्बहिर्मुखः प्रत्ययः स खल्वात्मोपकारकत्वेन लक्षणया शरीरे प्रयुज्यते, यथा प्रियभृत्येऽहमिति व्यपदेशः। यच्च, अहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम्, तत्रेयं वासना—आत्मा तावदुपयोगलक्षणः,स च साकारानाकारोपयोगयोरन्यतरस्मिन्नियमेनोपयुक्त एव भवति। अहंप्रत्ययोऽपि चोपयोगविशेष एव, तस्य च कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात् इन्द्रियानिन्द्रियालोकविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्त्तमानस्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव। यथा—बीजे, सत्यामप्यङ्कुरोपजननशक्तौ पृथिव्युदकादिसहकारिकारणकलापसमवहितमेवाऽङ्कुरं जनयति, नान्यथा। न चैतावता तस्याङ्कुरोत्पादने कादाचित्केऽपि तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की, तस्याः कथञ्चिन्नित्यत्वात्। एवमात्मनः सदा सन्निहितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम्। यदप्युक्तम्—तस्याऽव्यभिचारि लिङ्गं किमपि नोपलभ्यत इति। तदप्यसारं, साध्याऽविनाभाविनोऽनेकस्य लिङ्गस्य तत्रोपलब्धेः, तथाहि—रूपाद्युपलब्धिः सकर्तृका, क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्, यश्चास्याः कर्त्ता स आत्मा। न चात्र चक्षुरादीनां कर्तृत्वम्, तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनास्वतन्त्रत्वात्। करणत्वं चैषां पौद्गलिकत्वेनाऽचेतनत्वात्, परप्रेर्यत्वात्, प्रयोक्तृव्यापारानपेक्षप्रवृत्त्यभावात्। यदि हि इन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं स्यात् तदा तेषु विनष्टेषु पूर्वाऽनुभूतार्थस्मृतेः 'मया दृष्टम्, स्पृष्टम्, घ्रातम्, आस्वादितम्, श्रुतम्' इतिप्रत्ययानामेककर्तृकत्वप्रतिपत्तेश्च कुतः संभवः?। किञ्च-इन्द्रियाणि स्वस्वविषयनियतत्वेन रूपरसयोः साहचर्यप्रतीतौ न सामर्थ्यम्। अस्ति च, तथाविधफलादेः रूपग्रहणानन्तरं तत्सहचरितरसानुस्मरणम्, दन्तोदकस्रवान्यथानुपपत्तेः। तस्मादुभयोर्गवाक्षयोरन्तर्गतः प्रेक्षक इव; द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपरसयोर्दर्शी कश्चिदेकोऽनुमीयते। तस्मात्करणान्येतानि। यश्चैषां व्यापारयिता स आत्मा। तथा, साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका, विशिष्टक्रियात्वात्, रथक्रियावत् शरीरं च प्रयत्नवदधिष्ठितम् विशिष्टक्रियाश्रयत्वात्, रथवत्। यश्चाऽस्याऽधिष्ठाता,स आत्मा-सारथिवत्। तथाऽत्रैव पक्षे, इच्छापूर्वकविकृतवाय्वाश्रयत्वाद् भस्त्रावत्, वायुश्च—प्राणापानादिः, यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा, भस्त्राध्मापयितृवत्। तथाऽत्रैव पक्षे, इच्छाधीननिमेषोन्मेषवदवयवयोगित्वाद्, दारुयन्त्रवत्। तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणं च प्रयत्नवत्कृतम्, वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणत्वात् गृहवृद्धिक्षतभग्नसंरोहणवत्। वृक्षादिगतेन वृद्ध्यादिना व्यभिचार इति चेत्। न, तेषामपि एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मकत्वात्। यश्चैषां कर्त्ता, स आत्मा गृहपतिवत्। वृक्षादीनां च सात्मकत्वमाचाराङ्गादेरवसेयम् किं चिदुच्यते च। तथा प्रेर्यं मनः; अभिमतविषयसम्बन्धनिमित्तक्रियाश्रयत्वाद्, दारकहस्तगतगोलकवत्। यश्चास्य प्रेरकः, स आत्मा, इति। तथा, आत्म-चेतन-क्षेत्रज्ञ-जीव-पुरुषादयः पर्याया न निर्विषयाः पर्यायत्वाद्, घट-कुट-कलशादिपर्यायवत्, व्यतिरेके षष्ठभूतादि। यश्चैषां विषयः, स आत्मा। तथा, अस्त्यात्मा, असमस्तपर्यायवाच्यत्वात्, यो योऽसाङ्केतिकशुद्धपर्यायवाच्यः,स सोऽस्ति घटादयः। तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि गुणत्वाद्, रूपवत्, योऽसौ गुणी, स आत्मा इत्यादिलिङ्गानि। तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः। स्या०।

आभाष्य भगवता किमुक्तोऽयमित्याह—

किं मन्ने अत्थि भूया, उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ।

वेयपयाण य अत्थं,ण जाणसी तेसिमो अत्थो॥१६८६॥

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशलक्षणानि पञ्च भूतानि , तानि च किं सन्ति नवा? इति त्वं मन्यसे । संशयश्च तवायं विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनो वर्तते। तानि चामूनि वेदपदानि-'स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय' इत्यादि, तथा-'द्यावापृथ्वी'इत्यादि, तथा-'पृथिवी देवता आपो देवता' इत्यादि एतेषां चायमर्थस्तव प्रतिभासते-'स्वप्नोपमं-स्वप्नसदृशम्, वै निपातोऽवधारणे सकलम्-अशेषं जगदित्येष ब्रह्मविधि'-परमार्थप्रकार अञ्जसा-प्रगुणेन न्यायेन विज्ञेयो-ज्ञातव्य ,इति। तदेवमादीनि वेदपदानि किल भूतनिह्नवपराणि, द्यावापृथिवीत्यादीनि तु सत्ताप्रतिपादकानि, अतस्तव संशयः। तदेतेषां वेदपदानां त्वमर्थं न जानासि चशब्दाद्युक्तिहृदयं च न वेत्सि। तेन संशयं कुरुषे। तेषां चायमर्थो वक्ष्यमाणलक्षण इति । विशे०। सम्म०। रत्ना०। (सर्वशून्यताशङ्की त्वं निरवशेषमपि लोक मायोपमं स्वप्नेन्द्रजालतुल्य मन्यसे ? किम्, नेति 'भाव' शब्दे पञ्चमभागे साधितम्।) (शून्यवादिनो नये आदित्योद्गमनक्रियानिरोधो भवतीति 'आइच्च' शब्दे द्वितीयभागे ३ पृष्ठे उक्तम्।) चन्द्रमाश्च प्रत्यह क्षीयमाणः समस्तस्तय यावत्पुन कलाभिवृद्ध्या प्रवर्धमानः सपूर्णावस्था (स्थां) या यावदध्यक्षेणैवोपलक्ष्यते। तथा-सरितश्च प्रावृषि जलकल्लोलाविलास्यन्दमाना दृश्यन्ते। वायवश्च वान्तो वृक्षभङ्गकम्पादिभिरनुमीयन्ते। यच्चोक्तं भवता—सर्वमिदं मायास्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति, तदन्त्, यतः सर्वाभावे कस्यचिदमायारूपस्य सत्यस्याभावान्मायाया एवाभाव स्यात्, यश्च माया प्रतिपादयेत् यस्य च प्रतिपाद्यते सर्वशून्यत्वे तयोरेवाभावात्कुतस्तद्व्यवस्थितिरिति ?, तथा स्वप्नेऽपि जाग्रदवस्थाया सत्यां व्यवस्थाप्यते तस्या अभावे तस्याप्यभाव स्यात् तत स्वप्नमभ्युपगच्छता भवता तन्नान्तरीयकतया जाग्रदवस्थाऽवश्यमभ्युपगता भवति, तदभ्युपगमे च सर्वशून्यत्वहानि', न च स्वप्नोऽप्यभावरूप एव, स्वप्नेऽप्यनुभूतादेसद्भावात्, तथा चोक्तम्—"अणुहयदिट्ठचिंतिय, सुयपयइवियारदेवयाऽसूया। सुमिणस्स निमित्ताइं, पुराण पावं च ण भावो ॥ १ ॥" इन्द्रजालव्यवस्थाऽप्यपरसत्यत्वे सति भवति, तदभावे तु केन कस्य चेन्द्रजाल व्यवस्थाप्येत ?, द्विचन्द्रप्रतिभासोऽपि रात्रौ सत्यामेकस्मिंश्च चन्द्रमस्युपलम्भकसद्भावे च घटते,न सर्वशून्यत्वेन चाभावः कस्याचिदप्यत्यन्ततुच्छरूपोऽस्ति। शशविषाणकूर्मरोमगगनारविन्दादीनामत्यन्ताभावप्रसिद्धानां समासप्रतिपाद्यस्यैवार्थस्याभावो न प्रत्येकपदवाच्यार्थस्येति, तथाहि—शशोऽप्यस्ति विषाणमप्यस्ति; किं त्वत्र शशमस्तकसमवायि विषाणं नास्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते, तदेव संबन्धमात्रमत्र निषिध्यते नात्यन्तिको वस्त्वभाव इति। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति। तदेव विद्यमानायामप्यस्तीत्यादिकायां क्रियाया निरुद्धप्रज्ञास्तीर्थिका अक्रियावादमाश्रिता इति ॥८॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

सुण्णागार- शून्यागार- न०। शून्यमुद्वस तच्च तदागारं शून्यागारम्। उत्त०२ अ०। शून्यगृहे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण। प्रश्न०। उत्त०। स्था०। सूत्र०।

सुण्णागारगय- शून्यागारगत-त्रि०। शून्यगृहव्यस्थिते, सूत्र० १ श्रु० अ० २ उ०।

सुण्हा-सास्ना-स्त्री०।"ङ. सास्ना-स्नावके" ॥८।१।७५॥ इति आदेरत उत्त्वम्। गवादिगलमांसे, प्रा० १ पाद।

स्नुषा-स्त्री०। 'स्नुषाया एहो न वा ॥ ८ । १ । २६१ ॥ इति णकाराक्रान्तो हकारः। सुण्हा। सुसा। प्रा० । पुत्रभार्यायाम् ,स्था० ४ ठा० ३ उ०। विशे०। विपा०। आचा०।

सुतवसिय-सुतपसित-न०। सुष्ठु इह लोकस्य प्रशंसारहितत्वेन तपसितम् तपस्यनुष्ठानं सुतपसितम् । स्वनुष्ठिते, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

सुतवस्सि-सुतपस्विन्-पुं०। सुष्ठु—शोभनं बाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सुविकृष्टतपोनिस्तप्तदेहे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। स०।

सुतारा- सुतारा-स्त्री०। अयोध्याराजस्य श्रीहरिश्चन्द्रस्य भार्यायाम्, ती० ३७ कल्प। शान्तिजिनस्य मातरि , उत्त० १८ अ०।

सुतितिक्ख-सुतितिक्ष-त्रि०।सुखेन तितिक्ष्यते-सह्यते इति सुतितिक्षम्। तितिक्षयितु सुशक्ये परीषहादिके, स्था० ५ ठा० १ उ०।

सुतिर-स्वप्तृ-त्रि०। "शीलाद्यर्थस्येरः ॥८।२।१४५॥" इति प्राकृतलक्षणबलादुभयत्रापि तृन्प्रत्ययस्येरादेशः। प्रा०। स्वप्नशीले, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सुतिहि-सुतिथि-स्त्री०। पञ्चानां नन्दादीनामन्यतरस्यां तिथौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

सुत्त-सुप्त-त्रि०। निद्रायुक्ते,उत्त० ४ अ०। रात्रिमध्ययामद्वये निद्रा गते, पा०। "सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति" ('सीओसणिज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे इदं व्याख्यातम्।) बाल्यादव्यक्तचेतने, आचा० १ श्रु० १ अ०। औ० (द्रव्यभावसुप्ता 'सामाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो दर्शिता।) (सुप्तः किं स्वप्न पश्यति इति 'महासुमिण' शब्दे षष्ठे भागे दर्शितम्।) स्वपनं सुप्तम्। निद्रायाम्, नपुं०। बृ० १ उ० १ प्रक०। मदिराखोले देशविशेषप्रसिद्धे द्रव्यविशेषे च। बृ० ५ उ०।

सूत्र-न०। अर्थानां सूचनात् सूत्रम्। अनु०। विशे०। तत्तदर्थसूचनात् सूत्रम्। औणादिकशब्दव्युत्पत्तिः। व्य० १ उ०। आ० म०। जीत०। सर्वद्रव्यपर्यायनयाद्यर्थसूत्रनात्सूत्रम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। आगमे, स्था० ४ ठा०। बृ०। प्रवचने, सूत्र० १ श्रु०१४ अ०। विशे०।

निरुक्तम्—

सुत्तं च सुत्तमेव उ, अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो।
अत्थस्स-सूयणा वा,सुवुत्तमिति वा भवे सुत्तं ॥३१२॥

अर्थेनावोधितं सुप्तमिव सुप्तं प्राकृतशैल्या सुत्तम्।'अथवा—सूत्रं नाम हस्तद्वयति लेशः तन्तुरूपमित्यर्थः'। यथा तन्तुना द्वे त्रीणि बहूनि वा वस्तूनि एकत्र संहन्यन्ते एवमेकेनापि सूत्रेण बहवोऽर्था संघात्यन्ते इति सूत्रमिव सूत्रम्। अर्थे-

सूचनाद्वा सूत्रं, सुष्ठु उक्तमिति वा सूत्रम्। प्राकृतशैल्या तु सुत्तमिति।

सम्प्रति सूत्रशब्दस्यैव निरुक्तान्याह—

नेरुत्तियाइँ तस्स उ, सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइ त्ति।
अणुसरति त्ति य भेया, तस्स य नामा इमा हुंति॥ ३१३॥

तस्य सूत्रस्य निरुक्तान्यमूनि—सूचयतीति सूत्रम्। अथवा—सीव्यतीति सूत्रम्। यद्वा—स्वपतीति सूत्रम् 'अथवा-अनुसरतीति सूत्रमिति निरुक्तस्य भेदा, नामानि पुनस्तस्येमानि सुत्तादीनि भवन्ति।

तान्येवार्थतो व्याख्यानयति—

पासुत्तसमं सुत्तं, अत्थेणाबोहियं ण तं जाणे।
लेससरिसेण तेणं, अत्था संघाइया बहवे॥ ३१४॥

यथा कश्चित्तकलापण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन् न किञ्चित्तासां कलानां जानाति एवमर्थेनाबोधितं न किंचिदर्थविशेषं जानाति, यदा त्वर्थेन प्रबोधितं भवति तदा सर्वेषां तदन्तर्गतानां भावानां ज्ञायकमुपजायते। यथा स एव पुरुषः प्रबोधितस्तासां कलानामतः प्रसुप्तसमं सूत्रम्। अथवा-श्लेषसदृशं तत् सूत्रम्, तथाहि-तेन श्लेषसदृशेन-तन्तुसदृशेण बहवोऽर्थाः संघातितास्ततः श्लेषसदृशम्।

सम्प्रति अर्थस्य सूचनादिनि व्याख्यानयति—

सूइज्जइ सुत्तेणं, सुई णट्ठा वि तह सुएणऽत्थो।
सिव्वइ अत्थपयाणि य, जह सुत्तं कंचुगाईणि॥ ३१५॥

यथा सूची नष्टा सूत्रेण सूच्यते सूत्रेणोपलभ्यते, तथा श्रुतेनार्थः सूच्यते इति अर्थस्य सूचनात् सूत्रम्, एतेन सूचयतीति निरुक्तं व्याख्यानम्। अधुना सीव्यतीति व्याख्यानयति-यथा सूत्रं कञ्चुकादीनि सीव्यति एवमर्थं पदान्यनेकानि सीव्यतीत्यर्थः, सीवनात् सूत्रम्।

स्व (सूच्य)तीति अस्य व्याख्यानमाह—

सूरमणि जलकंतो, व अत्थमेव तु पसवई सुत्तं।
वणियसुयअधकयवर-तदणुसरंतो सुयं एवं॥ ३१६॥

यथा सूर्यकान्तोऽग्नौ, जलकान्तो जले, दीप्तिं स्रवति एवं सूत्रम्-अर्थं प्रस्रवतीति सूत्रम्। अनुसरणं द्विधा-द्रव्यतो,भावतश्च। तत्र द्रव्यतो-वणिक्सुतोऽन्धः कचवरे दृष्टान्तः। एकस्य वणिजः पुत्रोऽन्धः ताताजा चिन्तितम्-एष वराको निर्दिष्टं भुक्तं भुक्त्वा परिभवस्थानं गाढतरं भविष्यतीति द्वौ स्तम्भौ निहत्य तत्र रज्जुर्बद्धा। ततः सोऽन्धः पुत्रो रज्ज्वनुसारेण कचवरं बहिस्त्यजति, एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनय - वणिक्स्थानीय आचार्यः अन्धस्थानीया साधवः, रज्जुस्थानीयं सूत्रं, कचवरस्थानीयमष्टप्रकारं कर्म। तथा चाह-एवं वणिक्सुतान्धदृष्टान्तप्रकारेण तत्सूत्रमनुसरन् अष्टप्रकारं कर्म कचवरस्थानीयमपनयति। ततः सरणात् सूत्रं, सुष्ठु उक्तं सूक्तमिति नाम तु प्रतीतमिति न व्याख्यानम्। बृ० १ उ० १ प्र०। स्था०। सूत्र०। प्रव०। गणधरादिकृते पञ्चसाक्षिकधर्मप्रतिपादनप्रायोगिकसूत्रादौ, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता०। सुत्त ति वा पवयण ति वा एगट्ठा। आ० चू० १ अ०। जिनागमे, दर्श० ३ तत्त्व।

सूत्रपदनिक्षेपमाह—

दव्वं तु पोंडयादी, भावे सुत्तमिह सूयगं नाणं।
सण्णासंगहवित्ते, जातिणिबद्धे य कत्थादी॥ ३॥

नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यसूत्रं दर्शयति-'पोंडयाइ' त्ति-पोण्डजं च वनीफलाद्युत्पन्नं कार्पासिकम् आदिग्रहणाद् अण्डजवालजातेर्ग्रहणं, भावसूत्रं तु इह-अस्मिन्नधिकारे सूचकं ज्ञानं-श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तस्यैव स्वपरार्थसूचकत्वादिति। तच्च श्रुतज्ञानसूत्रं चतुर्द्धा भवति, तद्यथा-संज्ञासूत्रम् संग्रहसूत्रम्, वृत्तनिबद्धम्, जातिनिबद्धं च। तत्र संज्ञासूत्रं यत् स्वसंकेतपूर्वकं निबद्धम्, तद्यथा—"जे छेए सागारियं न सेवे, सव्वामगंधं परिन्नाय णिरामगंधो परिव्वए" इत्यादि. तथा लोकेऽपि पुद्गला नस्कारः चेत्रज्ञा इत्यादि, संग्रहसूत्रं तु यद्बहूनामर्थानां संग्राहकम्, तद्यथा-द्रव्यमित्युक्ते धर्माधर्मादिद्रव्यसंग्रह इति। यदिवा-'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति, वृत्तनिबद्धमपि पुनरर्थेनकप्रकारया वृत्तजात्या निबद्धम्, तद्यथा-'बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जे' त्यादि, जातिनिबद्धं तु चतुर्द्धा, तद्यथा—कथनीय-कथ्यमुत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादि पूर्वर्षिचरितकथानकप्रायत्वात्तस्य, तथा गद्यम्-ब्रह्मचर्याध्ययनादि, तथा-पद्यम्-छन्दोनिबद्धम्, तथा-गेयम्-यत् स्वरसंचारेण गीतिकाप्रायनिबद्धम्, तद्यथा-कापिलीयमध्ययनम्, 'अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए' इत्यादि। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। "अत्थं भासइ अरिहा सुत्तं गुंफंति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥" दश० ४ अ०। तत्र गणधरा विशेष्यन्ते निपुणाः सूक्ष्मार्थदर्शित्वात् नियतगुणा निपुणा वा सन्निहितसमस्तगुणत्वात्. आह—तत्पुनः सूत्रं किमादिकं किंपर्यवसानं कियत्परिमाणं को वास्य सार इत्यत आह—

सामाइयमाईयं, सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ।
तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं॥

तत् श्रुतज्ञानं सामायिकमादिर्यस्य तत्सामायिकादि यावत् बिन्दुसारात् बिन्दुसारं यावत् बिन्दुसारान्तचतुर्दशपूर्वमित्यर्थः। तच्च मूलभेदापेक्षया द्विभेदम्, तद्यथा—अङ्गप्रविष्टम्, अनङ्गप्रविष्टं च। अङ्गप्रविष्टं द्वादशभेदमाचारादिभेदाद्। अनङ्गप्रविष्टमनेकभेदमावश्यकं तद्व्यतिरिक्तं कालिकोत्कालिकादिभेदात्। उक्तं च—द्व्यनेकद्वादशभेदं श्रुतमिति। आ० म० १ अ०। अनु०।

से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुअं ?, जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं पत्तयपोत्थयलिहिअं, अहवा-जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुअं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंडयं, बोंडयं, कीडयं, वालयं, वागयं। अंडयं हंसगब्भादि, बोंडयं-कप्पासमाइ, कीडयं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा-पट्टे, मलए, अंसुए, चीणंसुए, किमिरागे, (अनु०) वागयं सणमाइ, से तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुअं। से तं नोआगमतो दव्वसुअं, से तं दव्वसुअं। (सू० ३७।)

अत्र निर्वचनम्—'जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअ' मित्यादि. यत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरयोः सम्बन्धि अनन्तरोक्तस्वरूप न घटते तत् ताभ्यां व्यतिरिक्तं-भिन्नं द्रव्यश्रुतम्, किं पुनस्तदित्याह-'पत्तयपोत्थयलिहियं' ति पत्रकाणि-तालताल्यादिसंबन्धीनि तत्संघातनिष्पन्नास्तु पुस्तका., ततश्च पत्रकाणि च पुस्तकाश्च तेषु लिखितं पत्रकपुस्तकलिखितम्. अथवा—'पोत्थय' त्ति-पोतं-वस्त्र पत्रकाणि च पोत च तेषु लिखितं पत्रकपोतलिखितं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यश्रुतम्, अत्र च पत्रकादिलिखितस्य श्रुतस्य भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यत्वमवसेयम्, नोआगमत्व तु आगमतो द्रव्यश्रुत इव आगमकारणस्यात्मदेहशब्दत्रयरूपस्याभावाद् भावनीयम्। तदेवमेकेन प्रकारेण ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतमुक्तम्। साम्प्रत तदेव प्रकारान्तरेण निरूपयितुमाह—'अहवे' त्यादि. अथ वा-श्रुत पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-'अडयमि' त्यादि, अत्राऽऽह-ननु श्रुत प्रक्रान्ते सूत्रस्य प्ररूपणमप्रस्तुतम्, सत्यम्, किन्तु-प्राकृतशैलीमङ्गीकृत्य श्रुतस्याऽण्डजादिसूत्रस्य च सूत्रलक्षणेनैकेन शब्देनाभिधीयमानत्वसाम्यादिदमपि प्ररूपयतीत्यदोष । प्रसङ्गतोऽण्डजादिसूत्रस्वरूपज्ञापनेन शिष्यव्युत्पत्तिश्चैवं कृता भवति, अत एव भावश्रुते प्रक्रान्ते नामश्रुतादिप्ररूपणमप्रस्तुतमित्याद्यपि प्रेर्यमपास्तं, तस्यापि शिष्यव्युत्पादनादिफलत्वात्। न च भावश्रुतप्रतिपक्षस्य नामश्रुताद प्ररूपणमन्तरेण भावश्रुतस्य निर्दोषत्वादिस्वरूपनिश्चय कर्तुं पार्यते, 'जे सव्व जाणइ से एग जाणइ' त्ति वचनाद् इत्यल विस्तरेण। अत्राद्यभेदज्ञापनार्थमाह—'से कि त' मित्यादि, अत्रोत्तरम्-'अंडय हसगब्भाइ' त्ति-अण्डाज्जातमण्डजम्, हस -पतङ्गश्चतुरिन्द्रियो जीवविशेष गर्भस्तु तन्निवर्तित कोसिकाकार, हंसस्य गर्भो हसगभ.. तदुत्पन्नं सूत्रमण्डजमुच्यते, आदिशब्द स्वभेदप्रख्यापनपर'। ननु यदि हसगर्भोत्पन्नसूत्रमण्डजमुच्यते तर्हि सूत्रे 'अडय हसगब्भाइ' त्ति सामानाधिकरण्य विरुध्यते, हसगर्भस्य प्रस्तुतसूत्रकारणत्वादेव, सत्यम्। कारणे कार्योपचारात् तदविरोध'. कोशकारभवं सूत्र चटकसूत्रमिति लोके प्रतीतमण्डजमुच्यत इति हृदयम्. पञ्चेन्द्रियहसगर्भसम्भवमित्यन्ये। 'से तमि'-त्यादि निगमनम्। अथ द्वितीयभेद उच्यते—'से किं त' मित्यादि अत्र निर्वचनम्- वोंडय फलिहमाइ' त्ति-वोण्ड वमनीफल तस्माज्जातं वोण्डज. फलिही-वमनी तस्या फलमपि फलिह कर्पासाश्रय कोशकरूप तदिहापि कारणे कार्योपचाराद्वोण्डज सूत्रमुच्यते इति भावः। 'से तमि'त्यादि निगमनम्। अथ तृतीयभेद उच्यते—'से किं तमि' त्यादि, अत्रोत्तरम्—'कीडय पंचविहमि' त्यादि, कीटाज्जात कीटजं सूत्र तत् पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—'पट्टे' त्ति पट्टसूत्र मलयम् अंशुकम्, चीनांशुकं कृमिरागम्। अत्र वृद्धव्याख्या किल यत्र विषये पट्टसूत्रमुत्पद्यते, तत्रारण्ये वननिकुञ्जस्थाने मासचीडादिरूपस्याऽऽमिषस्य पुञ्जा क्रियन्ते, तेषां च पुञ्जाना पार्श्वतो निम्ना उन्नताश्च सान्तरा बहव कीलका भूमौ निखाण्यन्ते, तत्र वनान्तरेषु संचरन्त' पतङ्गकीटा समागत्य मांसाद्यभिलाषोपभोगलुब्धाः कीलकान्तरेष्वितस्तत' परिभ्रमन्तो लाला-प्रमुञ्चन्ति, ताश्च कीलकेषु लग्ना परिगृह्यन्ते, इत्येतत् पट्टसूत्रमभिधीयते। अनेनैव क्रमेण मलयविषयोत्पन्नं तदेव मलयम्, इत्थमेव चीनविषये वहिस्तादुत्पन्न तदेवांशुकम् इत्थमेव चीनविषयोत्पन्न तदेव चीनांशुकमभिधीयते, क्षेत्रविशेषाद्धि कीटविशेषस्तद्विशेषात् तु पट्टसूत्रादिव्यपदेश इति भाव.। एवं कचिद्विषये मनुष्यादिशोणित गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजनसम्पुटे स्थाप्यते, तत्र च प्रभूताः कृमयः समुत्पद्यन्ते, ते च वाताभिलाषिणो भाजनच्छिद्रैर्निर्गत्य आसन्नं पर्यटन्तो यल्लालाजालमभिमुञ्चन्ति तत् कृमिरागं पट्टसूत्रमुच्यते, तच्च रक्तवर्णकृमिसमुत्थत्वात् स्वपरिणामत एव रक्त भवति। अन्ये त्वभिदधति—यदा तत्र शोणिते कृमय समुत्पन्ना भवन्ति तदा सकृमिकमेव तन्मलित्वा किट्टिसं परित्यज्य रसो गृह्य., तत्र च कश्चिद् योग प्रक्षिप्यत, ततस्तेन यद् रज्यते पट्टसूत्र तत् कृमिरागमुच्यते। तच्च धौताद्यवस्थासु मनागपि कथञ्चिद्रागं न मुञ्चति, 'से तमि'त्यादि निगमनम्। अथ चतुर्थो भेद उच्यते-'से किं तमि' त्यादि, अत्रोत्तरम्—(अनु०।) (वालयपदव्याख्या 'वालय' शब्द पञ्चमभागे गता।)

अथ पञ्चमो भेदोऽभिधीयत—'से किं तमि' त्यादि, वल्काज्जात वल्कज, तच्च सणप्रभृति, क्वचित् पुनरतस्यादीति पाठ, तत्रातसीसूत्रं मालवादिदेशप्रसिद्धम्, 'से तमि' त्यादि निगमनम्। उक्तं पञ्चविधमण्डजादिसूत्र, तद्भणन चोक्तं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यश्रुतम्, अतस्तदपि निगमयति—'से तं जाणगे' त्यादि, एतद्भणनेन च समर्थितं नोआगमतो द्रव्यश्रुतमतस्तदपि निगमयति—'से त नोआगमओ' इत्यादि, एतत्समर्थने च समर्थितं द्विविधमपि द्रव्यश्रुतमतस्तदपि निगमयति—'से त दव्वसुअमि' त्यादि। अनु०।

विध्युद्यमादिसूत्राणि—

विहि १ उज्जम २ वन्नय- ३ भय ४
उस्सग्ग ५ ऽववाय ६ तदुभयगयाइं ७।
सुत्ताइँ बहुविहाइं—
समए गंभीरभावाइं ॥ १०६ ॥

ध० र० ३ अधि० ३ लक्ष०। (अस्या. व्याख्या 'सद्धा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

अस्खलितादिगुणोपेत सूत्रमुच्चारणीयम्। किं तत् इत्याह-

अप्पग्गन्थमहत्थं, बत्तीसदोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठहि य गुणेहि उववेयं ॥९९९॥

अल्पग्रन्थ महार्थं च सूत्र विज्ञेयम्, "उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्" इत्यादिवत् सूत्रमल्पग्रन्थं महार्थं च भवतीत्यर्थः, यच्च द्वात्रिंशद्दोषविरहितम्, तल्लक्षणयुक्तं सूत्रमुच्यते। ते चैतेऽन्यत्रोक्ता द्वात्रिंशद् दोषा —

"अलियमुवघायजणय, निरत्थयमवत्थयं छलं दुहिलं।
निस्सारमहियमूणं पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं ॥ १ ॥
कमभिन्नवयणभिन्न, विभत्तिभिन्नं च लिंगभिन्न च।
अणभिहियमपयमेव य सहावहीण ववहियं च ॥ २ ॥
कालजइच्छविदोसो, समयविरुद्ध च वयणमत्तं च।

अन्थावत्तीदोसो, नेओ असमासदोसो य ॥३॥
उवमा रूवगदोसो, निद्देसपयत्थसंधिदोसो य ।
एए उ सुत्तदोसा, वत्तीस होंति नायव्वा ॥ ४ ॥
विशे० । दशा० ।

अस्खलितादिपदानां व्याख्या--

खलिए पत्थरसीया, मिलिए मिस्साणि धन्ने वावणता ।
मत्ताइबिंदुवन्ने, घोसाइ उदत्तमाईया ॥ २६६ ॥

स्खलित द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्ये प्रस्तरसीता प्रस्तराकुल क्षेत्रे तस्मिन् हि वाह्ययानानि हलकुलिकादीनि उत्सृज्य अन्यत्र निपतन्ति, एवं भावस्खलित यदन्तरान्तरा आलापकान् मुञ्चति यथा अहिंसा 'देवा वि तं नमंसन्ति' "पुप्फेसु भमरा जहा पत्थित्ते चेय दोभा य" मिलितमपि द्विधा-द्रव्यतो,भावतश्च । तत्र द्रव्यतो मिलितं वहुना व्रीहि यवादीना धान्यानामेकत्र मिश्रीकृताना वापनता-वपन भावतो मिलित यदन्यस्यान्यस्योद्देशकस्याध्ययनस्य आलापकानेकत्र मीलयति सर्वजिनवचनमिति कृत्वा यथा" सव्वे-पाणा पियाउगा सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउ न मरिजिउ इत्थ न नज्जइ किं कालिय उक्कालियं छेयसुय वा" अत्र प्रायश्चित्त दोषाश्च प्राग्वत् । परिपूर्णं द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यत परिपूर्णो घट , भावे परिपूर्णं मात्रादिभि , आदिग्रहणात्—पदैर्बिन्दुभिर्वर्णैरक्षरैश्चापरिपूर्णे तदेव प्रायश्चित्त दोषाश्च । मात्राभिरपरिपूर्णं यथा "धम्म मंगलमुक्किट्ठं"। पदैरपरिपूर्णं यथा--"धम्मं उक्किट्ठं" विन्दुभिरपरिपूर्णं यथा-"धम्मो मगलमुक्किट्ठ" इति वर्णैरपरिपूर्णं यथा 'धम्मं लउक्किट्ठमि" त्यादि , घोषा उदात्तादय । तत्र उच्चैरुदात्त नीचैरनुदात्त समाहार स्वरित । उच्चै शब्देन यथा-"उप्पन्नेइ वा" इत्यादि नीचै शब्देन यथा-" जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ " इत्यादि घोषैरयुक्त कुर्वतस्तदेव प्रायश्चित्तं त एव च दोषाः ।

सम्प्रति व्यत्याम्रेडितादीनां पञ्चानां प्रकारान्तरेणार्थमभिधातुकाम आह--

मुत्तूण पढमबिइए, अक्खरपयपायबिंदुमत्ताणं ।
सव्वेसिं समोयारो, सट्ठाणे चेव चरमस्स ॥३००॥

प्रथम हीनाक्षर द्वितीयमधिकाक्षरमेते द्वे पद मुक्त्वा शेषाणा पञ्चाना घोषयुतवर्ज्यानाम् अक्षरपदपादबिन्दुमात्राणां समवतार. कर्तव्य , यथा व्यत्याम्रेडित नामान्यशास्त्राणामक्षरैः पदै- पादैर्बिन्दुभिर्मात्राभिर्घोषवाक्यादिविरुद्ध तस्यैव शास्त्रस्य अधस्तनान्युपरितनान्यधोऽक्षरपदानि यत्करोति स्खलितं पञ्चभिरेव पदादिभिः मिलितम ,यथा-सामायिकपदे दशवैकालिकोत्तराध्ययनप्रभृतीनामनेकानि पदानि मीलयति, अपरिपूर्णं पञ्चभिरेवाक्षरादिभि स्वगतै. " सट्ठाणे चेव चरिमस्स " घोषयुतं घोषैरेवापरिपूर्णं नाक्षरादिभि । बृ० १ उ० १ प्रक० । आचा० । आ० म० ।

अष्ट गुणा. सूत्रस्य तत्र प्रथमं लक्षणद्वारमाह—

लक्खणओ खलु सिद्धी, तदभावे तं ण साहए अत्थं ।
सिद्धिमिदं सव्वत्थ वि, लक्खणजुत्तं सुतं तेण ॥२७८॥

इह लक्षणहीनं सूत्रं न भवति , ततो लक्षणयुक्तसूत्रस्यार्थो भवति, लक्षणहीनस्य स्वर्थाभावतस्ततो यन्निमित्तमुपनिबद्ध सत्र तस्याप्रसिद्धिरेव । तथा चाह-लक्षणत. खलु विवक्षितस्यार्थस्य सिद्धिस्तदभावे लक्षणाभावे-तत्सूत्र न साधयति विवक्षितमर्थम् । इद सर्वत्रापि लोके सिद्ध यत्किञ्चिन्मण्यादिद्रव्य लाभार्थं क्रीतं तल्लक्षणहीन लाभ न साधयति तेन-कारणेन लक्षणयुक्त सूत्रमिष्यते ।

ईदृशं लक्षणयुक्त सूत्रमत आह—

अप्पग्गंथमहत्थं , वत्तीसदोसविरहियं जं च ।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठहिं य गुणेहिं उववेयं ।।२७६॥

अल्पग्र थम-अल्पाक्षर महार्थमत्र चत्वारो भङ्गा -अल्पाक्षरमल्पार्थम , यथा कार्पासादिकम् । अल्पाक्षर महार्थं यथा सामायिककल्पव्यवहारादि । महाक्षरमल्पार्थम , यथा-' जीमूवेइ वा अजणेइ वा " इत्यादिभिर्बहुभिरक्षरैर्वर्णव्यावर्णनम् महाक्षर महार्थं यथा दृष्टिवादः तत्र यदल्पाक्षर महार्थं तादृश सूत्रमिति गमिष्यते तथा यद्द्वात्रिंशद्दोषविरहितं तदिष्यते । ते च द्वात्रिंशद्दोषा वक्ष्यमाणास्तथाष्टभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणैर्युपेतं तदिष्यते एवभूत लक्षणयुक्तम् ।

अधुना द्वात्रिंशद्दोषानाह—

अलियमुवघायजणय, णिरत्थगमवत्थयं वलं दुहिलं ।
निस्सारमहियमूणं, पुनरुतं वाहयमजुत्तं ॥ २८० ॥
कमभिन्नवयणभिन्ने, विभत्तिभिन्न च लिङ्गभिन्नं च ।
अणभिहियमपयमेव य,सभावहीणं ववहियं च॥२८१॥
क लजुतिच्छविदोसो, पमयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।
अत्थावत्तीदोसो, हवइ य असमासदोसो य ॥ २८२ ॥
उवमा रूवगदोसो, परप्पवत्ती य संधिदोसो य ।
एए उ सुत्तदोसा, बत्तीसं हुंति नायव्वा ॥२८३॥ (बृ०)

अष्टभिर्गुणरुपेतमित्युक्तमत स्थाने चाष्टौ गुणानाह—

निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं ।
उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ २८४ ॥

निर्दोष १ सारवत् २ हेतुयुक्तम् ३ अलङ्कृतम् ४ उपनीतं सोपचार ५ मितं ६ मधुर ७ मान ।

तत्र निर्दोषादिपदव्याख्यानार्थमाह—

दोसा खलु अलियाई , बहुपज्जाय च सारवं सुत्तं ।
सोहम्मेयरहेऊ, सकारण वावि हेउजतं ॥ २८५ ॥
उवमाइअलंकारो, सोवणयं खलु वयंति उवणीयं ।
काहलमणोवगारं, दंडगमगियं तदा महुरं ॥२८६॥

दोषाः खल्वलीकादय प्रागभिहितास्तैर्वर्जित निर्दोष सारवन्नाम बहुपर्यायमेकैकस्मिन्नभिधेये यत्रानेकान्यभिधानानीत्यर्थ. । हेतुयुक्त साधर्म्येण वा हेतुना युक्तम । अथवा-हेतुः कारण निमित्तमित्यनर्थान्तर ततो यत्सत्कारण तद्धेतुयुक्तमिति , यथा-'सुत्तस्स सेय जागरियत्त वा सेयं ' इत्यादि , अलङ्कृतं यत्रोपमादिरलङ्कार । तत्रोपमायुक्तम् , यथा-" सूरे व सेणाइसमत्तमाउहे" आदिग्रहणेन-"नियमा अक्खरलभो [illegible]

सुत्ते अलकारा" इति परिग्रहः। उपनीत खलु वदन्ति सोपनय सोपसंहारम्, अनुपचारं नाम—यत्काहल फल्गुप्रायं तद्विपरीतं सोपचारम्, मितं पदैः श्लोकादिभिर्वा अमित दण्डकैः मधुरं त्रिधा सूत्रमधुरम्, अर्थमधुरम्, उभयमधुरम्, एतैरष्टभिर्गुणैरुपेतम्। ७०। (अल्पाक्षरादिशब्देषु तत्तत्पदानामर्थः।)

साम्प्रतमेतेषु हीनाक्षरादिषु प्रायश्चित्तमाह—

खलियमिलियवाइद्धं, हीणं अच्चक्खरं वयंतस्स।
विद्धामेलियअप्पडि-पुन्नघोसे य मासलहुं॥ ३०१॥

स्खलितं मिलित व्याविद्ध हीनाक्षरमत्यक्षर व्यत्याम्रेडितम् अपरिपूर्णघोषं च वदतः प्रत्येक प्रायश्चित मासलघु। स्वामिनः आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरु। स तथाऽन्येऽपि करिष्यन्तीति गुरु। यथोक्तकारी न भवतीति मिथ्यात्वे चतुर्लघु। विराधना द्विविधा-आत्मविराधना च, संयमविराधना च। आत्मविराधना देवतया छलनम्, संयमविराधना कोऽपि साधुर्वारयेत् मा स्खलितादीनि कुरुत तत. कलहतोऽस्थिभङ्गादि. आत्मविराधनायां परितापः महाग्लानाद्यारोपणा संयमविराधना सूत्रस्यान्यथोच्चारणादर्थे विसंवादः, अर्थविसंवादे चरणाभावश्चरणाभावे मोक्षाभाव इति दीक्षा निरर्थिका। लघुग्रहणात् गुरुकमपि—सूचितम्, इस्त्रोक्त्या यथा दीर्घस्य सूचनम्। तत्र गुरुकमिति वा अनुद्धातीति वा कालकमिति वा गुरुकस्य नामानि। लघुकमिति वा उद्धातमिति वा शुक्लमिति वा लघुकस्य नामानि। अत्र गुरुलघुविशेषविस्तरपरिज्ञानार्थमाचार्यस्त्रिविधं प्रायश्चित्त दर्शयति-तथा दानप्रायश्चित्तं तपःप्रायश्चित्त कालप्रायश्चित्त वा। तत्र दानप्रायश्चित्त गुरुकं लघुकं च। एवं तप.कालप्रायश्चित्ते अपि गुरुलघुके प्रत्येक वक्तव्ये।

तत्र दानप्रायश्चित्तं गुरुकमाह—

जं तु निरंतरदाणं, जस्स व तस्स व तवस्स तं गुरुकं।
जं पुण संतरदाणं, गुरू वि सो खलु भवे लहुओ।३०२।

यस्य वा तस्य वा तपसो गुरुकस्याष्टमादेरगुरुकस्य निर्विकृतिकादेर्यन्निरन्तरं दानं तद्भवति दानप्रायश्चित्तं गुरु। यत्पुनः सान्तरमष्टमादेर्गुरुकस्य तपसो दान तत् गुर्वपि खलु भवति लघु, यथा आपत्तिश्चतुर्लघुकस्य षड्लघुकस्य वा, तत्राष्टमदशमानि सान्तराणि दीयन्ते। एष दानप्रायश्चित्ते गुरुलघुकयोर्विशेषः।

सम्प्रति तप.कालयोराह—

कालतवे आसज्ज, गुरु वि होई लहूउ लहुगुरुगो।
कालो गिम्हो उ गुरू, अट्ठाइतवो लहू सेसो॥ ३०४॥

काल तपश्चासाद्य गुर्वपि लघु भवति, लघ्वपि च गुरु। तत्र कालो ग्रीष्मो गुरु', तपोऽष्टमादि शेष' कालस्तपश्च लघु। इयमत्र भावना, लघ्वपि यदष्टमादिना तपसा उह्यते तत्तपो गुरु। यन्निर्विकृतिकादिना षष्ठपर्यन्तेनोह्यते तत्तपो लघु। तथा यद् ग्रीष्मे काले उह्यते तत्कालगुरु, वर्षारात्रे हेमन्ते वोह्यमान काललघु। तदेवं यतः स्खलितायुच्चारणे प्रायश्चित्तमज्ञानमिथ्यात्वविराधनाश्च दोषास्तस्मात् सूत्रमस्खलितादिदोषरहितमुच्चारणीयम्-पठनीयं च। एव पठितस्य सूत्रव्याख्या कर्त्तव्या। वृ० १ उ० १ प्रक०। अनु०। आ० म०।

अथ चेद सर्वज्ञभाषितसूत्रलक्षणम्—

अप्पक्खरमसंदिद्धं, सारवं विस्सतोमुहं।
अत्थोभमणवज्जं च, सुत्तं सव्वण्णुभासियं॥ २८६॥

अल्पाक्षर नाम-मिताक्षरं यथा सामायिकसूत्रम्, असंदिग्ध यत्सैन्धवशब्दवत् लवणपटघोटकाद्यनेकार्थसशयकारि न भवति, सारवत्-बहुपर्याय प्रतिमुखमनेकार्थाभिधायकं वा, विश्वतो मुखम्-अनेकमुखं प्रतिसूत्रमनुयोगचतुष्टयाभिधानात्, अस्तोभं च वावैहिहकारादिपदच्छिद्रपूरणस्तोभकशून्यम् स्तोभका निपाता इति पूर्ववैयाकरणेषु प्रसिद्धेः, अनवद्यम् अगर्ह्यम्-न हिंसाप्रतिपादकं "षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनात्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥ १॥" इत्यादिवचनमिव न हिंसाविधायकम्। एवभूतं सूत्रं सर्वज्ञभाषितमिति। आ० म० १ अ०।

एकस्मात् सूत्राद् बहवोऽर्था. प्रतीयन्ते उत्सर्गापवादादय सूत्रभेदा'—

एयारिसम्मि वासो, ण कप्पती जति वि सुत्तणुण्णातो।
अव्वागडो व भणितो, आयरिओ उवेहती अत्थं॥२५॥

एतादृशे उपाश्रये वासो यद्यपि सूत्रे अनुज्ञातः तथापि न कल्पते यत. अव्याकृतोऽविशेषित एवार्थ. सूत्रे भणित परम् आचार्यस्तमर्थमुत्प्रेक्षितविषयविभागप्रकटनेनोन्मीलयति, यथा किलैकस्मात् मृत्पिण्डात् कुलालोऽनेकानि घटशरावादिरूपाणि निष्पादयति एवमाचार्योऽप्येकस्मात् सूत्रपदादभ्यूह्यानेकेपामर्थविकल्पानामुपदर्शनं करोति। यथा वा सान्धकारगृहादौ विद्यमाना अपि घटादय पदार्था' प्रदीप विना न विलोक्यन्ते तथा सूत्रेऽप्यर्थविशेषाः आचार्येणाप्रकाशिताः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते।

किं च—

जं जह सुत्ते भणियं, तहेव तं जइ वियालणा नत्थि।
किं कालियाणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं॥ २६॥

यद्-वस्तु यदाऽस्येन विधिरूपेण वा प्रकारेण सूत्रे भणित तत्तथैव यदि प्रतिपत्तव्यं विचारणा-विषयविभागव्यवस्थापनायुक्त विमर्शो वा नास्ति-न क्रियते, ततः किं केन हेतुना कालकश्रुतस्यानुयोगो दृष्टो—विधयतयोपलब्धो दृष्टिप्रधानैः, केवलज्ञानश्रुतज्ञानरूपालोचनप्रवरैस्तीर्थकरगणधरैः। अथवा—प्रधानैर्नैगमादिनयमतिविशारदैः श्रीभद्रबाहुस्वामिभिः, किमिति निर्युक्तिकरणद्वारेण कालिकश्रुतानुयोगो एष-प्रतिपादितः।

अपि च—

उस्सग्गसुतं किंचि य, किंचि य अववातियं भवे सुत्तं।
तदुभयसुत्तं किंचि य, सुत्तस्स गमा मुणेयव्वा॥ २७॥

किंचिदुत्सर्गसूत्र, किञ्चित्पुनरपवादिकं सूत्र, किञ्चित्तदुभयसूत्रम्। तच्च द्विधा-औत्सर्गापवादिकम् अपवादौत्सर्गिकम्। एते सूत्रस्य गमा' प्रकाराश्चत्वारो ज्ञातव्याः। अथवा-गमा नाम-द्विरुच्चारणीयानि पदानि, तद्यथा-उत्सर्गौत्सर्गिकम् अपवादापवादिकम्। एवमेते द्वौ भेदौ चत्वारश्च प्रागुक्ता इत्येवं सूत्रस्य षड् भेदाः संजाताः, एते च पुरस्तादुदाहरिष्यन्ते।

अन्येऽपि सूत्रस्य भेदा भवन्तीत्याह—

गेगेसु एगगहणं, सलोमणिल्लोमअकसिणे अइणे ।

विहितभिन्नस्स गहणं, अववाउस्सग्गियं सुत्तं ॥ २८ ॥

अनेकेषु कषायेन्द्रियाश्रवादिष्वर्थेषु ग्रहीतव्येषु क्वापि सूत्रे एकस्यान्यतरस्य ग्रहणं भवेत्, यथा यत्र सूत्रे क्रोधनिग्रहः साक्षादुपदिष्टस्तत्र माननिग्रहादयोऽप्यर्थत उक्ता द्रष्टव्याः। एवमिन्द्रियाश्रवादिष्वपि भावनीयम्। कानिचित् तु सूत्राणि साधूनां साध्वीनां च प्रत्येकविषयाणि यथेहैव कल्पाध्ययने सलोमसूत्रं वा।

तद्यथा—

नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा। से वि याइं परिहारिए नो चेव णं अपरिहारिए। से वि याइं परिभुत्ते नो चेव णं अपरिभुत्ते। से वि याइं एगराइए नो चेव णं अणेगराइए ॥४॥ नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गन्थीण वा कसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥५॥

कानिचित्तु सामान्यसूत्राणि भवन्ति, यथा अकृत्स्नाजिनविषय सूत्रम्।

तच्चेदम्—

कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ६ ॥

अथानानुपूर्व्योऽपि व्याख्यानमिति तत्पदयोर्दर्शनार्थं प्रागुक्तसूत्रषट्कमध्याच्चतुर्थभेदमुदाहरति 'विहिभिन्नस्स य' इत्यादि, इहैव ग्रन्थे यद् विधिभिन्नस्य ग्रहणमुक्तं तदपवादौत्सर्गिक सूत्रम्। तच्चेदम्—

कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए से वि य विहिभिन्ने नो चेव णं अविहिभिन्ने ॥५॥ (बृ० १ उ०)

आह-यद्यपवादेनानुज्ञातं तर्हि भूयः कथं प्रतिषिध्यते इत्याह—

उस्सग्गठिइसुद्धं, जम्हा दव्वं विवज्जयं लभति ।

ण य तं होइ विरुद्धं, एमेव इमं पि पासामो ॥ २९ ॥

उत्सर्गस्थितावुत्सर्गपदेषु शुद्धमुद्गमादिदोषरहितं यद्भक्तपानादि द्रव्यं ग्रहीतुं कल्पते तदेवापवादपदे यस्माद्विपर्ययं वैपरीत्यं लभते इत्यर्थः, न च—नैव तथा गृह्यमाणं विरुद्धं भवति। ज्ञानादिगुणोपकारकत्वादविरुद्धमेवेति भावः। एवमेवानुमतमपि प्रकृतमर्थं कल्पते—निर्ग्रन्थीनाम् पक्वं तालप्रलम्बं भिन्नं प्रतिग्रहीतुमित्यपवादेनानुज्ञातस्याप्यविधिभिन्नप्रतिषेधरूपमविरुद्धमेव पश्यामः।

अथोत्सर्गसूत्रोदाहरणान्याह—

उस्सग्गगोयरम्मि य, निसेज्जकप्पाववादए तिण्हं ।

मा संदल मा अट्ठी, अववादुस्सग्गियं सुत्तं ॥ ३० ॥

औत्सर्गिकं सूत्रं गोचरं पर्यटनः साधोर्गृहद्वयापान्तराले या निषद्या—निषदनं तद्विषयम्। तच्चेदम्—

नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा अन्तरा गिहंसि वा आसइत्तए वा० जाव काउस्सग्गं वा ठाणं ठाइत्तए त्ति ॥

यत्तु त्रयाणां जराभिभूतादीनां निषद्या कल्पते इत्येवं लक्षणं सूत्र तदपवादिकं सूत्रम्।

तच्चेदम्—

अह पुण एवं जाणिज्जा जराजुण्णे वाहिए वाहिओ तवस्सी मुच्छिज्ज वा एवं एहं कप्पइ अंतरागिहंसि आसइत्तए ।

इदं पुनरपवादौत्सर्गिकम्-'मस दल मा अट्ठि' त्ति-पुद्गलं प्रयच्छ मा अस्थीति।

नो कप्पति व अभिन्नं, अववाएणं तु कप्पती भिन्नं ।

कप्पति पक्कं भिन्नं, विधी य अववायउस्सग्गं ॥३१॥

नो कल्पते अभिन्न तालप्रलम्बं प्रतिग्रहीतुम्। एतद् वा उत्सर्गसूत्रम्, यत्पुनरपवादपदेनाध्वादावमौदर्यादिषु भिन्नं प्रतिग्रहीतुं कल्पते इत्येवरूपं तदपवादिकम्। यत्पुनर्निर्ग्रन्थीना कल्पते पक्वं तालप्रलम्बं विधिभिन्नं विधिभिन्नमिति सूत्रं तदपवादौत्सर्गिकम्। एतत्प्रागुक्तमपि स्पष्टीकरणार्थमिहाभिहितम्।

इदं त्वौत्सर्गापवादिकम्—

नो कप्पइ राओ वा वियाले वा सेज्जासंथारयं पडिगाहित्तए नन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं सिज्जासंथारएणं ।

इद पुनरौत्सर्गिकम्—

नो कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिगाहित्तए एत्थम्मि पोरिसिं उवाइणावेत्तए से य आहच्च उवाइणावित्तए सिया जो तं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ से आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

तथा येषु सूत्रेष्वपवादो भणितस्तेष्वेवार्थत पुनरनुज्ञा प्रवर्तते तान्यपवादापवादिकानि।

किं चान्यत्—

कत्थइ देसग्गहणं, कत्थति भण्णंति णिरवसेसाइं ।

उक्कमकमजुत्ताइं, कारणविसओ निउत्ताइं ॥ ३२ ॥

क्वचित् सूत्रे अभिधेयपदानां देशतो ग्रहणं क्रियते, कुत्रापि च निरवशेषाण्यभिधेयपदानि भण्यन्ते, तथा कानिचित्सूत्राण्युत्क्रमयुक्तानि, कानिचित्तु क्रमयुक्तानि कारणविशेषत – कारणविशेषमाश्रित्य नियुक्तानि गणधरादिभिः श्रुतधरैर्विरचितानि।

एतदेव विवृणोति—

देसग्गहणे बीएहिं, सूयिया मूलमादिणो हुंति ।

कोहादिअणिग्गहिया, सिंचंति भवं निरवसेसं ॥३३॥

देशग्रहणे कृते सति तज्जातीयानां सर्वेषामपि ग्रहणं भवति यथा 'सालीणि वा वीहीणि वा' इत्यादावसिसेय च सूत्रे बीजैर्गृहीतैर्मूलादयोऽपि भेदाः सूचिता भवन्ति, कुत्रापि च सूत्रे निरवशेषाण्यभिधेयपदानि गृह्यन्ते, यथा दशवैकालिके क्रोधादयोऽनिगृहीता, सन्तो भव—संसारं निरवशेषं चतुर्गतिकमपि सिञ्चन्तीत्युक्तम्, तथा च तत्सूत्रम् "कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा। चत्ता-

रि एए कसिणा कसाया. सिंचनि मूलाई पुणब्भवस्स ॥१॥"

अर्थात्क्रमक्रमयुक्तानि सूत्राणि दर्शयति--

सत्थपरिण्णादुक्कम्मे, गोयरपिंडेसणा कमेणं तु ।
जं पि य उक्कमकरणं, तमभिणवधम्ममादिट्ठा ॥३४॥

शस्त्रपरिज्ञाध्ययने तेज कायोद्देशकानन्तरं वायुकायोद्देशकः क्रमप्राप्तोऽपि नोक्त; किंतु वनस्पतित्रसकायोद्देशकौ प्ररूप्य पर्यन्ते स भणित,एवमादिकमुत्क्रमयुक्तं सूत्रमुच्यते । क्वचित्तु सूत्रे क्रमेणैवार्थपदानि भवन्ति । यथाष्टौ गोचरभूमय, तद्यथा-"पडाओ अद्धपडा-गोमुत्तिया पत्तगविहिया। अतोसंबुक्का वा, बाहिं संबुक्का उज्जगीय तु पच्चाग ।" तथा सप्तपिण्डेषणासूत्रमपि क्रमनिबद्धं मन्तव्यम् ,तद्यथा-"संसट्ठा असंसट्ठा उच्चडा अप्पलेवाडग्गहिता उज्झितधम्मिया ।" अथवा-पिण्डेषणेति प्रथम पिण्डपदं तत एषणापदं यत्रौघनिर्युक्त्यादौ सूत्रे यथाक्रम प्ररूप्यते तत् क्रमनिबद्धम् ।यदपि चोत्क्रमकरणं शस्त्रपरिज्ञादावध्ययने तदभिनवधर्मार्थम् । किमुक्तं भवति अभिनवधर्मा शैक्षः सचाद्याप्यपरिणतजिनवचनतया वा युक्तोऽप्य परिस्फुटमनुपलभ्यमानतया प्रथमत प्ररूप्यमाणं न सम्यक् प्रतिपद्यते,अतो वनस्पतित्रसान् प्ररूप्य यदा तेषु सम्यग् जीवत्वं प्रतिपन्नस्तदा वायुकाय जीवत्वेन प्ररूप्यमाण सुखेनैव श्रद्धत्ते, एवमादिभि कारणैरुत्क्रमकरण मन्तव्यम् ।

अथ 'बीएहिं सूइया मूलमाहणो ' त्ति पद व्याचष्टे--

बीएहिँ कंदमादी, विसूइया तेहिँ सव्ववणकाओ ।
भोम्मादिगा वणाओ, सभेदसारोवणा भणिता ॥३५॥

इहैव सूत्रे बीजैर्गृहीता कन्दमूलादयोऽपि भेदा सूचिताः तेष्वपि निष्ठन प्रायश्चित्त भवन्तीति भाव । तैश्च कन्दादिभिः सर्वोऽपि वनस्पतिकायः परीत्तानन्तभेदभिन्न सूचितः, अनेन तु वनस्पतिना भौमादय काया सूचिता एवं सभेदा--भेदसहिता षडपि काया सारोपणा सप्रायश्चित्ता भणिता अवसातव्या ।

जत्थ उ देसग्गहणं, तत्थ ऽवसेसाइं सूइयवसेणं ।
मोत्तूणं अहिगारं, अणुयोगधरा पभासंति ॥३६॥

एवमत्रापि यत्र देशग्रहण तत्रावशेषाण्यर्थपदानि, सूचितस्वभावत्वप्रत्ययः तादृशेनावगन्तव्यानि, तथा कुत्रापि सूत्रे अनुयोगधरा अधिकार-प्रस्तुतार्थं मुक्त्वा सूत्रानुपातिप्रसङ्गागतमर्थं प्रथमत प्रभाषन्ते । यथा पिण्डाधिकारप्रस्तुते " पुढवीआउक्काए, तेऊवाऊवणस्सई चेव । बिइय तिइय चउरो, पंचि--दिया य लेवो दसमओ अ ॥ १ ॥" इत्यादिनौघनिर्युक्तौ सविस्तर कायप्ररूपणा कृता । एवं विचित्राणि सूत्राणि भवन्ति ; अत एव यावत्समीपामर्थः सूरिणा न व्यक्तीकृतस्तावन्न सम्यगवगममुपगच्छति ।

अथोत्सर्गिकापवादिकसूत्रयोर्विषयविभागमाह—

उस्सग्गेणं भणिया-णि जाणि अववादतो य जाणि भवे ।
कारणजातेन मुणी, सव्वाणि वि जाणितव्वाणि ॥३७॥

उत्सर्गेण यानि सूत्राणि भणितानि यानि चापवादत सूत्राणि तानि हे मुने ! कारणजातेन सर्वाण्यपि ज्ञातव्यानि , । किमुक्तं भवति--प्रतिषिद्धस्याचरणहेतुः-कारण, तच्च ज्ञानादि । तत्र चोत्सर्गसूत्रेषु साक्षादुत्सर्गविषयो निबन्धः , अर्थतस्तु कारणजाते तत्राप्यनुज्ञा मन्तव्या । अपवादसूत्रेषु पुन कारणजातमुद्दिश्य साक्षादपवादविषयो निबन्धः , अर्थतस्तु तत्राप्युत्सर्गो द्रष्टव्य । एवं सर्वसूत्रेषु तत्त्वत उत्सर्गापवादावुभावपि निबद्धाववगन्तव्यौ ।

अत्र किं पुनरनयोः स्वस्थानमित्याह

उस्सग्गेण निसिद्धा-ईं जाइ दव्वाइँ संथरे मुणिणो ।
कारणजाते जाते , सव्वाणि वि ताणि कप्पंति ॥ ३८ ॥

उत्सर्गेण समस्तरणमाश्रित्य यानि द्रव्याणि प्रलम्बादीनि मुने-संयतस्य प्रतिषिद्धानि तान्येव कारणजाते-विशुद्धालम्बनप्रकारे जाते-समुत्पन्ने सति सर्वाण्यपि कल्पन्ते ।

अत्र परः प्रश्नयति—

जं चिय पयं णिसिद्धं,तं चिय जति भूयो कप्पती तस्स ।
एवं हो अणवत्था, ण य तित्थं णेव सव्वं तु ॥ ३९ ॥

यदेव प्रलम्बादिक प्रासपूर्वं निषिद्ध तदेव यदि भूय — पुनरपि तस्य—साधो कल्पते तत एवं सूत्रार्थस्य यदृच्छाप्रवृत्तो चरणकरणस्यानवस्था भवति , ततश्च न तीर्थमनुसजति, नैव च प्रतिषिद्धं समाचरतस्तस्य असंयमो भवति, तदभावे दीक्षा निरर्थिका, तन्निरर्थकतायां मोक्षस्याप्यभावः प्राप्नोति ।

अपि च—

उम्मत्तवायसरिसं , खु दंसणं ण वि य कप्पऽकप्पं तु ।
अह ते एवं सिद्धी,ण होज्ज सिद्धी उ कस्सेव ॥ ४० ॥

आचार्य पूर्वमेकत्र सूत्रे प्रतिषिध्य पुनस्तदेवानुज्ञायते इदं भवतो दर्शनमुन्मत्तवाक्यसदृश प्राप्नोति , तथा नापि चेदं कल्पमिदमकल्पमिति व्यवस्था भवति । यदि चैवमपि युवत सूत्राभिप्रेतार्थसिद्धिर्भवति तर्हि कस्य न सा भवति चरकपरिव्राजकादीनामप्यसमञ्जसप्रलापिता सा भविष्यतीति भावः ।

सूरिराह—

ण वि किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं ।
एसा तेसिं आणा , कज्जे सच्चेण होतव्वं ॥ ४१ ॥

हे नोदक ! यदेतदुक्तवता प्रलपित तत्प्रवचनरहस्यानभिज्ञतासूचकम् . यतो जिनवरेन्द्रैस्तथाविधकारणाभावे नापि किञ्चिदकल्पनीयमनुज्ञातम् . कारणे च समुत्पन्ने नापि किञ्चित्प्रतिषिद्ध , किंतु एषा तेषां तीर्थकृताम् निश्चयव्यवहारनयद्वयाश्रिता सम्यगाज्ञा मन्तव्या । यदुत कार्ये ज्ञानादावालम्बने सत्येन-सद्भावानुसारेण साधुना भवितव्य न मातृस्थानतो यत्किञ्चिदालम्बनीयमित्यर्थ । अथवा—सत्य नाम संयम तेन कार्ये समुत्पन्ने भवितव्य यथा यथा संयम उत्सर्पति तथा तथा कर्त्तव्यमिति भाव ।

आह च बृहद्भाष्यकार—

कज्जं णाणादीयं , सच्चं पुण होइ संजमो नियमा ।
जह जह सो होइ थिरो, तह तह कायव्वयं होइ ॥४२॥

इदमेव भावयति—

दोसा जेण निरुंभं-ति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं ।
सो सो मोक्खोपाओ, रोगावत्थासु समणं वा ॥ ४३ ॥

येनानुष्ठानवशादशेषा दोषा रागादयो निरुध्यन्ते पूर्वोपार्जितानि कर्माणि येन क्षीयन्ते सोऽनुष्ठानविशेषो मोक्षोपायो ज्ञातव्यः । रोगावस्थासु—ज्वरादिरोगप्रकारेषूपशमनमिवोचितौषधप्रदानाय-व्याधिपरिहारायानुष्ठानमिव, यथा तेन विधीयमानेन ज्वरादिरोग क्षयमुपगच्छति , एवमुत्सर्गे उत्सर्गम् , अपवादे अपवादं समाचरतो रागादयो दोषा निरुध्यन्ते पूर्वकर्माणि च क्षीयन्ते । अथवा-यथा कस्यापि रोगिणः पथ्यौषधादिक प्रतिषिध्यते कस्यापि पुन तदेवानुज्ञायते, एवमत्रापि य समर्थस्तस्याकल्प प्रतिषिध्यते असमर्थस्य तु तदेवानुज्ञायते । उक्त च भिषग्वरशास्त्रे-"उत्पाद्येत हि सावस्था,देशकालामयान् प्रति । अतश्चैवमकार्य च, कार्यं चापि विवर्जयेत् ॥१॥" एवंविध चोत्सर्गापवादविभागमगीतार्थो न जानाति । बृ० २ उ० । नि०चू० । उत्सर्गेऽपवादमपवादे वा-उत्सर्ग कुर्यात् इति 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २२३ पृष्ठे गतम् ।) (पञ्चप्रकारै सूत्र वाचयेदिति 'वायणा' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् ।) पञ्चभि स्थानै सूत्र शिक्षेदिति 'सिक्खा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।) (दृष्टिवादस्य अष्टाविंशतिसूत्राणि 'दिट्ठिवाय' शब्दे चतुर्थभागे २५१४ पृष्ठे उक्तानि ।) (पूर्व सूत्रमर्थो वा इति 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४४ पृष्ठे गतम् ।) इदाणिं सुत्त भणति , तथा च-"नंदिमणुओगदारं, विहिवादुवघानि य च णातूण । कातूण पंचमंगल-मारंभो होति सुत्तस्स ॥ १ ॥ कतपंचनमोक्कारो,करेति सामाइयं ति सोऽभिहितो । सामाइयंगमेव य, जं सो सेस तु तवत्थ ॥२॥" प्रागुपदिष्ट च-एत्थ य सुत्ताणुगमे सुत्तालावगमि निप्फण्णो निक्खेवो सुत्तभासियनिज्जुत्ती समक गमिस्सति । आ० चू० २ अ० । उत्त०। "सुत्त सुत्ताणुगमो, सुत्तालावगकओ य निक्खेवो । सुत्तप्फासियणिज्जु-त्तिनया समग तु वच्चंति ॥१॥" कदाचिदपि सूत्र विषम न भवति । व्य० १ उ० । नि० चू० ।

सूत्रस्यान्यथा व्याख्याने प्रायश्चित्तम्—

से भयवं ! जे णं केइ आयरिएइ वा गणहरेइ वा अमइ कहि वि कयाइ तहा संविहाणगमासज्ज इणमो निग्गन्थं पवयणमन्नहा पन्नवेज्ज से णं किं पावेज्जा ? गोयमा! जं सावज्जायरिएणं पावियं । महा० ४ अ० ।

यथासूत्रमर्थः करणीय -

आयरियपरंपरए-ण आगयं जो उ छेयबुद्धीए ।
को वेइ छेयवाई , जमालिनासं स णासिहिति ॥१२५॥

आचार्या — सुधर्मस्वामिजम्बूनामप्रभवार्यरक्षिताद्यास्तेषां प्रणालिका-पारम्पर्य तेनागत यद् व्याख्यान—सूत्राभिप्रायः , तद्यथा—व्यवहारनयाभिप्रायेण क्रियमाणमपि कृत भवति । यस्तु कुतर्कदर्पाध्मातमानसो मिथ्यात्वोपहतहृदयतया छेकबुद्ध्या-निपुणबुद्ध्या कुशाग्रीयशेमुषीकोऽहमिति कृत्वा कोपयति—दूषयति—अन्यथा तमर्थ सर्वज्ञप्रणीतमपि व्याचष्टे कृत कृत्यमित्येवं ब्रूयाद् , यस्मि न हि मृत्पिण्डक्रियाकाल एव घटो निष्पद्यते , कर्मगुणव्यपदेशानामनुपलब्धे , स एव छेकवादी—निपुणोऽहमित्येववादी—पण्डिताभिमानी जमालिनाश—जमालिनिह्नववत् सर्वज्ञमतविकोपको विनङ्क्ष्यति-अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन ससारचक्रवाले बम्भ्रमिष्यतीति । न चासौ जानाति वराक', यथा अय लोको घटार्था क्रिया मृत्खननाद्या घट एवोपचरति, (तत्र न) तासां च क्रियाणां क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेककालत्वात् क्रियमाणमेव कृतं भवति । दृश्यते चाय व्यवहारो लोके, तद्यथा—अद्यैव देवदत्ते निर्गते कान्यकुब्ज देवदत्तो गत इति व्यपदेश , (लोकोक्त्या) तथा दारुणि छिद्यमाने प्रस्थकोऽयम् (इति) व्यपदेश इत्यादि ।

साम्प्रतमन्यथावादिनोऽपायदर्शनद्वारेणोपदेशं दातुकाम आह—

ण करेति दुक्खमोक्खं, उज्जममाणोऽवि संजमतवेसुं ।
तम्हा अत्तुक्करिसो, वज्जेअव्वो जतिजणेण ॥ १२६ ॥

यो हि दुर्गृहीतविद्यालवदर्पाध्मात सर्वज्ञवचनैकदेशमन्यथा व्याचष्टे स एवभूत सन् सयमतपस्सूद्यम कुर्वाणोऽपि शारीरमानसाना दु खानामसातोदयजनितानां मोक्ष-विनाश न करोति आत्मगर्वाध्मातमानस , यत एव तस्मादात्मोत्कर्ष अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी, नाऽपर कश्चित् मत्तुल्योऽस्तीत्येवरूपोऽभिमानो वर्जनीय -त्याज्यो यतिजनेन—साधुलोकेन । अपरोऽपि ज्ञानिना जात्यादिको मदो न विधेय किं पुनर्ज्ञानमद ?, तथा चोक्तम्-' ज्ञानं मददर्पहर, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्य ? । अगदो यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कथ क्रियते ?॥१॥" सूत्र०१ श्रु०१३अ०। (सूत्र देवतयाऽधिष्ठितमिति 'सज्झाय' शब्दे) (सूत्रार्थयो को महान् इति ' अइसेस ' शब्दे प्रथमभागे २४ पृष्ठे गतम् ।) (सूत्रमर्थो वा बलवान् इति ' खेत्त ' शब्दे तृतीयभागे ७६६ पृष्ठे उक्तम् ।) यस्य सूत्रस्य कर्त्ता नोपलभ्यते तस्य गणधर । प्रति० । सूत्रं पञ्चविधं सञ्ज्ञासूत्रादि । बृ० ।

प्रथमत सञ्ज्ञासूत्रमाह—

उवयारअनिट्ठुरया, कज्जित्थीदाण मा हु निच्छक्का ।
जे छेएँ आमगंधा-दिआरँ सन्नासुयं तेणं ॥ ३१६ ॥

यत्सामायिकसञ्ज्ञया सूत्र भण्यते तत् सञ्ज्ञासूत्रम् , यथा 'जे छेए से सागारिय परिहारे' तथा 'आमगधा' इति 'सव्वामगंध परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए ' तथा 'आर' ति-आर दुगुणेण पार एगगुणेणमिति'य छेक स सागारिक मिथुन 'परियाहरे' परिवर्जयति, तथा आममविशोधिकोटि गन्धविशोधिकोटि , परिज्ञा द्विविधा-ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । तत्र ज्ञपरिज्ञया सर्वमामगन्ध परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याय निरामगन्ध सन् परि-समन्तात् परिव्रजेत् अप्रतिबद्धो विहरेदित्यर्थ । आर -ससारस्तद् द्विगुणेन रागेण दोषेण च परिवर्जयति । पार-मोक्षस्तमेकेन गुणेन रागद्वेषपरिहारलक्षणेन साधयति । अथ क. सञ्ज्ञासूत्रेण गुण इत्यत आह—'उवयार' त्यादि पूर्वार्द्धे सञ्ज्ञावचन हि क्वचिज्जुगुप्सितेऽर्थे प्रयुज्यमान तद्विषयमुपचारवचन भवति ।उपचारवचनेन च भण्यमाने तस्मिन् जुगुप्सितेऽर्थे न निष्ठुरतेति अनिष्ठुरता, तथा कार्ये समापतिते स्त्रियाः सा सूत्रदानमाहुः पूर्वसूत्र., ततस्तस्याः साधुसमीपे पठन्त्याः सुखेनालापको दीयते । अन्यथा व्यक्तमभिधीयमाने कथा भि-

आ भवति । तत्र सा निश्छेका-निर्लज्जा जायते । यादृशं च कार्ये साध्वीसमीपे पठति तदुपरिष्टादुच्यते तेन संज्ञा-सूत्रमिष्यते । कारकसूत्रं नाम, यथा आह-" कम्मं न भुज्जमाणे से समणे णिग्गंथे कइ कम्मपगडीओ बंधति, गोयमा ! आउवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधति । से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चई" त्यादि, प्रश्नोत्तरालापकः । ननु सर्वज्ञप्रमाण्यादेवैतत् अधीयते यथाऽऽधाकर्मभुञ्जान आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां बन्धकस्ततः कस्मादुच्यते केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते इत्यादि ।

तत्र आह—

सव्वण्णुप्पामण्णा, जइ वि य उस्सग्गतो सुयपसिद्धी ।
वित्थरओऽपायाण य, दरिसणमिइ कारगं तम्हा ।३२०।

यद्यपि सर्वज्ञप्रामाण्यादुत्सर्गतः एकान्तेन श्रुतस्य सर्वस्यापि प्रसिद्धिः तथापि विस्तरतोऽपायानां दर्शनं स्यादिति, तस्मादधिकृतार्थप्रसिद्धिकारकम् ' से केणमि' त्यादिसूत्रमुपन्यस्यते ।

इदानीं प्रकरणसूत्रमाह—

पगरणओ पुण सुत्तं, जत्थ उ अक्खेवनिण्णयपसिद्धी ।
नमि गोयमकेसिज्जा, अद्दगनालंदइज्जाय ॥ ३२१ ॥

प्रकरणतः सूत्रं नाम यत्र—स्वसमय एवाक्षेपनिर्णयप्रसिद्धिरुपवर्ण्यते, यथा नमिप्रव्रज्या गौतमकेशीयम्, आर्द्रकीयनालन्दीयमिति । तदेवमुक्तं संज्ञादिभेदतश्चिप्रकारं सूत्रम् । वृ० १ उ० १ प्रक० । (उत्सर्गापवादभेदतो द्विविधसूत्राणि ' उस्सग्ग ' शब्दे द्वितीयभागे ११६७ पृष्ठे गतानि ।)

सन्नाई सुत्तसमय, परसमओसग्गमेव अववाए ।
हीणाहियजिणथेरे, अज्जाकाले य वयणाई ॥४२१॥

इह मौनीन्द्रे प्रवचने अनेकधा सूत्राणि भवन्ति तत्र किंचित् संज्ञासूत्रं यथा " यो छेए से सागारियं न सेवे " यश्छेक.-पण्डितः स सागारिकं मैथुनं न सेवेत । अथवा-' सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए ' आमम्-अविशोधिकोटिः गन्धं-विशोधिकोटिः, तथा " आरं दुगुणेणं पारं एगगुणेणं " आरं संसारस्तं द्विगुणेन रागद्वेषयुगलेन पारं निर्वाणं तदेकगुणेन रागद्वेषपरिहारलक्षणेन जीव. प्राप्नोतीति गम्यते, आदिग्रहणाद्देशीभाषानियतं सूत्रं गृह्यते, यथा "दिगिंछा परीसहे" दिगिंछेति-बुभुक्षा स्वसमयसूत्रं यथा "करेमि भंते! सामाइयमि" त्यादि परसमयसूत्रं यथा ' पंचखंधे वयंतेगे, बालाउ खणजोइणो।" उत्सर्गसूत्रं यथा "अभिक्खणं निव्विगइ गया य' इत्यादि अपवादसूत्रं यथा-'तिण्ह सन्नवरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पई । जराए अभिभूयस्स, वाहियस्स तवस्सिणो" हीनमिति-हीनाक्षरं यैरक्षरैर्विना सूत्रस्यार्थो न पूर्यते। अधिकमित्यधिकाक्षरम्, एवंविधं यत्पूर्वमज्ञानतः सूत्रमधीतं तस्यार्थं सम्यगवगम्य हीनं प्रतिपूरयति अधिकं परित्यजति । जिनकल्पिकसूत्रं यथा-" तेगिच्छं न भिंद दिज्जा, सचिक्खत्तगवेसए । एवं खु तस्स सामन्नं, जं न कुज्जा न कारवे।" स्थविरकल्पसूत्रं यथा-'भिक्खू इच्छिज्जा अन्नयर तेगिच्छं आउ दित्तए' अथवा-जिनकल्पस्थविरकल्पयो' सामान्यसूत्रमिदम्-' सम्मट्टुकप्पेण चरिज्ज भिक्खू' आर्यासूत्रं यथा-'कप्पइ निग्गंथीणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए" काले' त्ति--कालविषयं किमपि सूत्रं यथा--अनागतं कालमङ्गीकृत्य । "नयालभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।" इत्यादि । 'वयणाइं'ति-वचनमेकद्वित्रिबहुवचनादिकं षोडशधा यथा--पीठिकायां तथा तत्प्रतिपादकं सूत्रं-यथा आचाराङ्गे भाषाध्ययने 'एगवयणं वयमाणे एगवयणं वएज्जा दुवयणं वयमाणे दुवयणं वएज्जा बहुवयणं वयमाणे बहुवयणं वइज्जा इत्थीवयणं वयमाणे इत्थीवयणं' "इत्थी" इत्यादि आदिशब्दाद्भूयः सूत्रादिपरिग्रहः । इत्थमनेकधा सूत्राणां संभवे तदर्थश्रवणमन्तरेण न शक्यते कीदृशमिति विवेकः कर्तुमिति कर्तव्यमर्थग्रहणम् । अथ ते शिष्या ब्रूयुः । यः कण्ठतः सूत्रे निबद्धोऽर्थस्तेनैव वयं तुष्टाः किमस्माकं दुरधिगमत्वाद्बहुपरिक्लेशे 'मज्जणनिसण्णअक्खा ' इत्यादि प्रक्रियापुरस्सरमर्थग्रहणप्रयासेनेति ते इत्थं ब्रुवाणाः प्रज्ञापयितव्याः ।

कथमित्याह—

जे सुत्तगुणा खलु ल-क्खणम्मि कहिया उ सुत्तमाई य ।
अत्थग्गहणमराला, तेहिं चिय पन्नविज्जंति ॥५२२॥

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः " निद्दोसं--सारवंतं च " इत्यादिना कथिताः । यद्वा--' सुत्तमाई य ' त्ति--" सुत्तं तु सुत्तमेव उ" इत्यादिना प्रतिपादिताः तैरेव हेतुभिरर्थग्रहणे मरालाः अलसाः शिष्याः प्रज्ञाप्यन्ते । यथा भो भद्रा ! निर्दोषसारवद्धिश्वतोमुखादयः सूत्रस्य गुणा भवन्ति । ते च यथाविधि गुरुमुखादर्थे श्रूयमाण एव प्रकटीभवन्ति। किंच यथा-द्वासप्ततिकलापण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन् किंचित् तासां कलानां जानीते एवं सूत्रमप्यर्थेनाबोधितं सुप्तमिव द्रष्टव्यं विचित्रार्थनिबद्धानि सोपस्कराणि च सूत्राणि भवन्ति, अतो गुरुसम्प्रदायादेव यथावदवसीयन्ते यतः, तत इत्थं युक्तियुक्तैर्वचोभिः प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते गुरूणामुपदेशं गृह्णन्ति द्वादश वर्षाणि विधिवदर्थमिति । गतमर्थग्रहणद्वारम् । वृ० १ उ० २ प्रक० । लक्षणे, स० २६ सम० । धर्मार्थकामार्जनोपायप्रतिपादनपरे ग्रन्थे, आ० म० १ अ० । सूक्त-न० । सुभाषिते, अष्ट० ६ अष्ट० ।

सुत्तक-सूत्रक-न० । कटीसूत्रके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुत्तकड-सूत्रकृत-न०।सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियते अस्मिन्निति । स्वनामख्याते द्वितीयेऽङ्गे, सूत्र०१श्रु०१ अ० १ उ० ।

सुत्तकप्प-सूत्रकल्प-पुं०। सूत्राध्ययनसामाचार्याम्, पं० भा० ।

... ... अधुणा, सुत्तकप्पं तु वोच्छामि ।
जे तस्स होंति विधयो, अहिज्जए जेण वा विधिणा ॥
दुविहम्मि आगमम्मि, सुत्ते अत्थे य जे जहिं भावा ।
सुत्तमसुत्तकडाणं, पवित्थरं ताण अत्थेणं ॥
वित्थरो णाम सुत्तम्मि, गहिए अत्थो तु दिज्जती ।
सुत्ते अहिज्जियन्ते य, मज्जादा तु इमा भवे ॥
पडिलेहणँ काऊणं, सज्झायं पट्ठवे तुवट्ठादि ।
आयरियादि णिसेज्जं, करेति पच्छा य सज्झायं ॥
पोरुसि सातुं सातुं, चरमाए पुढियपत्तपडिलेहे ।
ताहे तु अत्थपोरुसि, इमिणा विहिणा करेंती तु ॥

काउस्सग्गोवक्खे-वणा य विकहा विसोत्तिया पयतो।
अब्भुट्ठाणे वा-को-लणा य अक्खेवमाहरणा॥
अण्णो वि य सुतकप्पो, सो इब्भगमंडलीयराइणिए।
अणुओगधम्मताए, किंतिकम्मं होति कायव्वं॥
पं० भा० ४ कल्प।

इयाणिं सुत्तकप्पगाहा—दुविहम्मि एव सुत्ते, अत्थे य। दुविहे यागमे जहिं भावयत्तिया सुत्तं सुत्तकडस्स विज्जइ। पवित्थरओ नाम-सुत्ते गाहिए ताहे अत्थो दिज्जइ जं जेण अहिज्जिय। गाहा—काउस्सग्ग सुत्त पढियव्व। सज्झाया भज्जइ—पडिलेहेऊण गुरुपरिवाईणं उवट्ठिओ सज्झाय पट्ठवेउं निसेज्ज आयरियाण काऊण पच्छा सज्झायपट्ठवणियाए काउस्सग्गे कए समाणे वक्खेवो न कायव्वो। विकहाओ य इत्थीकहाइयाओ। विसोत्तिया नाम—जं सोताहीरंति, अब्भुट्ठाणे वाउलणा जइ अब्भुट्टेइ सुत्तपोरुसीए मासलहु,अत्थपोरुसीए मासगुरु। आयरिओ उवउत्तो आलावय देइ भंगा वा उवदिसइ, पच्छा वाउलणादोसेण भगवराहणातो फिट्टइ। अणुओगमण्डलीए वि पट्ठवियाए जस्स सकास सुयं त मोत्तूण से पव्वावणायरियस्स वि न उट्टेइ, दिट्ठंतो तित्थकरो। आयरिओ तित्थकरट्ठाणे इयरे गणहरट्ठाणे निसामेंतया किंचि अब्भुट्ठाणे वाउलणाए दोसा। आयरिओ अक्खेवा आहरणा वा उस्सग्गेण वा अववाएण वा आरोवणाओ वा दरिसेउ काउं तओ वा गेण्हिउकामा वाउलणादोसेण न गिण्हंति दिट्ठंतो अत्थारियाए। जहा एगस्स कुडुंवियस्स धन्नं जाए अत्थारियाओ पारियातेण य सयं चेव सेयहत्थी दिट्ठो। भणिय च तेण—अहो सेयहत्थी दरिसणिज्जो ते लावया तओ हुत्ता य, जोइया दिवसो हत्थिकहाए चेव गओ। त पि छेत्त न लुणं। एवमत्थमण्डलीए वि विसोत्तियादोसेण आहारेंतो वि न आहारेइ भणंतस्स वा पगहुस्सइ। विइयपए जहा पलवसुत्ते समत्ते ववहारस्स वा पढमसुत्ते समत्ते आरोवणासु वा समत्तासु कालवेलासु वा जस्स वा पासे अणुओगो सुओ एवमाइकज्जेसु अब्भुट्ठाणं। अण्णो वि य सुयकप्पो गाहा-अण्णो वि य सुयकप्पो सो य रायणियाए जो य उट्ठियाण अणुओगमडलीओ अणुभासइ तस्स किइकम्म कायव्व। एस सुयकप्पो। पं० चू० ४ कल्प।

सुत्तकप्पिय-सूत्रकल्पिक-पुं०। सूत्रसामाचारीज्ञातरि, वृ०।

सूत्रकल्पिकमाह—

सुत्तस्स कप्पितो खलु, आवस्सगमादि जाव आयारो।
तेण परं चरिमादी, एकप्पमादीएँ भविणं॥ ४०८॥

आवश्यकमादि कृत्वा यावदाचारस्तावत्सर्वोऽपि सूत्रस्य कल्पिको भवति न खल्वेतावत् सूत्र यावत्कोऽपि पठन् विनिवार्यते, तत पर त्रिवर्षप्रव्रजितमादि कृत्वा यत् यत् व्यवहारे दशमोद्देशकपर्यन्त यथा भणित तत्तथा उपदिश्यते यावद्विंशतिवर्षपर्याय सर्वश्रुतानुपाती भवति। न चरमाचारप्रकल्पमादि कृत्वा यान्यपवादबहुलान्यध्ययनानि यानि चातिशायीन्यरुणोपपातप्रभृतीनि, यदा भावे परिणतो भवति तदा दिश्यन्ते।

त्रिषु वर्षेष्वपरिपूर्णेष्वाचारे पठिते किं कुर्यादत आह—

सुत्तं कुणति परिणतं, तदत्थगहणं पइन्नगाइं वा।
इति अंगज्झयणेसुं, होति कमो जाहगो नायं॥ ४०६॥

यत्पठित सूत्र तत्परिजित कुर्यात्। यद्वा—तस्य सूत्रस्यार्थग्रहण विदध्यात्प्रकीर्णकादि वा सूत्रतोऽर्थतश्चाधीते एवमङ्गानामध्ययनानां चातिशायिनां यावत् कल्पिको भवति तावदेष क्रमो ज्ञातव्य.। जाहकज्ञात चात्र—पूर्वोपन्यस्तमुपन्यसनीयम्। जाहक इव परिजितौ सूत्रार्थौ कुर्यादिति भावार्थ.। वृ० १ उ० १ प्रक०।

सुत्तणिवकहाणग-सुप्तनृपकथानक-न०। शय्यान्यस्थित-नृपनिश्रव्याऽऽख्यायिकायाम्, पो० ६ विव०। ('सुस्सूसा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथनकं वक्ष्यामि।)

सुत्तणिवद्ध-सूत्रनिवद्ध-न०। शासनोक्ते, पञ्चा० १८ विव०।

सुत्तणिवाय-सूत्रनिपात-पुं०। सूत्रावतारे, वृ० १ उ० २ प्रक०।

सुत्तणीइ-सूत्रनीति-स्त्री०। आगमन्याये, पञ्चा० १ विव०।

सुत्तत्थ-सूत्रार्थ-पु०। सूत्रं च अर्थश्च निर्युक्तिभाष्यसंग्रहवृत्तिचूर्णिपञ्जिकादिरूप इति सूत्रार्थौ। शब्दवाच्ययो., स० ६ सम०। व्य०।

सुत्तत्थकप्पिय-सूत्रार्थकल्पिक-पुं०। सूत्रार्थतदुभयसामाचारीज्ञातरि, वृ०।

अधुना तदुभयकल्पिकमाह—

तदुभयकप्पियजुत्तो, तिगम्मि एगाहिएसु ठाणेसुं।
पियधम्मवज्जभीरू, ओवम्मं अज्जवइरेहिं॥ ४११॥

तदुभयं सूत्रमर्थ च तस्मिन् कल्पिको युक्त.। किमुक्त भवति-यो द्वावपि सूत्रार्थौ युगपद् ग्रहीतुं समर्थ स तदुभयकल्पिक। अथवा-तदुभयकल्पिक -त्रिके एकाधिकयो. स्थानयोर्युक्त। त्रिक नाम-सूत्रमर्थस्तदुभयं च। तत्र सूत्रादर्थोऽधिकः, अर्थादधिकमुभयम्। एवमकस्मादर्थाधिके ये उभे स्थाने सूत्रार्थरूपे तत्र युक्तो योग्य. तदुभयकल्पिकः। अथवा—प्रियधर्मा इति चत्वारो भङ्गा सूचिता.। प्रियधर्मा नाम एको न दृढधर्मा। दृढधर्मा नामैको न प्रियधर्मा। एकः प्रियधर्माऽपि दृढधर्माऽपि। एको न प्रियधर्मा नापि दृढधर्मा। अत्र चतुर्भङ्गा यस्तु शेषभङ्गत्रिके यत एकस्मादेकैकगुणयुक्तात् स्थानात् प्रथमभङ्गरूपात् द्वितीयभङ्गरूपाद्वा ये अधिके स्थाने प्रियधर्मत्वदृढधर्मत्वलक्षणे तयोर्युक्त स च निमयादवद्यभीरुर्भवति। अवद्य-कर्म तस्माद्भीरुस्तत आह 'वज्जभीरू" स तदुभयकल्पिक.। अत्रौपम्यमार्यवज्रैर्यालभावे कर्णाभ्याहतं सूत्र कृतवान्, पश्चात्तस्य उद्दिष्टसमुद्दिष्टमनुज्ञातमर्थश्च तदैव द्वितीयायां पौरुष्यां कथित एवमन्यस्यापि द्रष्टव्यम्।

तथा चाह—

पुव्वभवेऽपि अहीयं, कण्णाहडगं च बालभावम्मि।
उत्तममेहाविस्स वि, दिज्जति सुत्तं पि अत्थो वि॥४१२॥

यस्य पूर्वभवेऽधीतमागच्छति, बालभावे वा कर्णाहृत कृत तस्य उत्तममेधाविनो वा युगपत्सूत्रमपि अर्थोऽपि च दी-

मते एव उभयकालिकः । बृ० १ उ० १ प्रक० । नं० ।

सुत्तत्थकहणा-सूत्रार्थकथना-स्त्री० । व्याख्याने , ध० ३ अधि० ।

सुत्तत्थकोसल-सूत्रार्थकौशल-न० । सूत्रार्थतदुभयपरीक्षणे , दर्श०।सूत्रम्-जिनागमः तत्र कौशलं कुशलतां जानाति यथेदं पूर्वापराव्याहतत्वेन जिनशासनमेव । यत्पुनरन्यादृशं स्मृतिवेदवाक्यादिवत् पूर्वापरव्याहतियुक्तं न तदागम इति । कुशल-धियविभागवेदिनि उत्सर्गापवादज्ञातरि, दर्श० ३ तत्त्व ।

सुत्तत्थगहियपेयाल-सूत्रार्थगृहीतपेयाल-त्रि० । सूत्रार्थयोर्गृहीतं पेयालं-परिमाणं येन स सूत्रार्थगृहीतपेयालः । सम्यग्विनिश्चितसूत्रार्थे , व्य० ३ उ० ।

सुत्तत्थतदुभयविउ-सूत्रार्थतदुभयविद्-पुं० । सूत्रं च अर्थश्च तदुभयं चेति तच्च तत्सूत्रार्थलक्षणम् , उभयं च सूत्रार्थतदुभयानि विदन्तीति सूत्रार्थतदुभयविदः । सूत्रे चिन्तायां सूत्रस्यार्थचिन्तायाम् अर्थस्य तदुभयचिन्तायां तदुभयस्य ज्ञातरि , व्य १ उ० ।

सुत्तत्थपडिबद्ध-सूत्रार्थप्रतिबद्ध-त्रि० । सूत्रार्थयोः प्रतिबद्धः सूत्रार्थप्रतिबद्धः । गृहीतसूत्रार्थे , नि० चू० १० उ० ।

सुत्तत्थपरूवणा-सूत्रार्थप्ररूपणा-स्त्री० । सूत्रार्थतदुभयानां कथने , सुत्तं वा अत्थं वा तदुभयं वा परूवेज्जा कुलगणसंघवज्जो' । महा० १ चू० ।

सुत्तत्थविय-सूत्रार्थविद्-पुं० । उचितसूत्रार्थज्ञातरि , ध० ३ अधि० ।

सुत्तत्थभासय-सूत्रार्थभापक-पुं० । सूत्रार्थं प्रवचनार्थं भापते वक्ति इति सूत्रार्थभापकः । यथावस्थितागमार्थप्रज्ञापके सूत्रस्यार्थस्य तदुभयस्य च ज्ञापके, ध० ३ अधि० । पं० चू० ।

सुत्तत्थविसारय-सूत्रार्थविशारद-पुं० । सूत्रार्थयोर्विशारदः सूत्रार्थविशारदः । व्य० ३ उ० । सम्यक्सूत्रार्थतदुभयकुशले , व्य० २ उ० । पं० भा० । पं० चू० । सूत्रस्यार्थस्य तदुभयस्य च ज्ञापके , नि० चू० १ उ० ।

सुत्तत्थाणुसरण-सूत्रार्थानुस्मरण-न० । सूत्रार्थयोरनुचिन्तने, पञ्चा० १८ विव० ।

सुत्तदोस-सूत्रदोष-पुं० । द्वात्रिंशत्सूत्रदोषे, विशे० । अनु० ।

सुत्तधर-सूत्रधर-पुं० । सूत्रमात्रपाठके , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सुत्तपरिकुट्ठ-सूत्रपरिकुष्ट-त्रि० । आगमनिषिद्धे , प्रश्न० ३ सं० द्वार ।

सुत्तपेढिया-सूत्रपीठिका-स्त्री० । निशीथकल्पव्यवहारप्रथमपीठिकागाथारूपायां पीठिकायाम् , व्य० १ उ० । नि० चू० ।

सुत्तपोरिसी-सूत्रपौरुषी-स्त्री० । सिद्धान्तोक्तविधिना व्याख्यायमानानां , इयं च मण्डली सूत्रमण्डलीत्युच्यते सा चापौरुषीप्रमाणेति । तथा पौरुष्यां सूत्रपाठानुरूपते । ध० २ अधि० । प्रव० ।

सुत्तफासियणिज्जुत्ति-सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति-स्त्री० । सूत्रं स्पृशतीति सूत्रस्पर्शिका, सा चासौ निर्युक्तिश्चेति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः । सूत्रव्याख्याने, "अहुणा सुत्तफासियणिज्जुत्ती सुत्तवक्खाणं" विशे० । आ० म० । (' णिज्जुत्ति ' शब्दे चतुर्थभागे २०६१ पृष्ठे दर्शितैषा ।)

सुत्तफा(प्फा)सियणिज्जुत्तिअणुगम-सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम-पुं० । सूत्रावयवानां नयैः साक्षेपपरिहारमर्थकथने , आ० चू० १ अ० । अनु० ।

से किं तं सुत्तप्फासिअनिज्जुत्तिअणुगमे ?, सुत्तप्फासियणिज्जुत्तिअणुगमे सुत्तं उच्चारेअव्वं अक्खलिअं अमिलिअं अव्वच्चामेलिअं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं , तओ तत्थ णज्जिहिति ससमयपयं वा परसमयपयं वा बंधपयं वा मोक्खपयं वा सामाइअपयं वा णोसामाइअपयं वा । तओ तम्मि उच्चारिए समाणे केसिं च णं भगवंताणं केइ अत्थाहिगारा अहिगया भवन्ति,केइ अत्थाहिगारा अणहिगया भवन्ति , ततो तेसिं अणहिगयाणं अहिगमणट्ठाए पयं पएणं वन्नइस्सामि-"संहिया य पदं चेव , पयत्थो पयविग्गहो । चालणा य पसिद्धी अ, छव्विहं विद्धि लक्खणं ॥ १ ॥" से तं सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिअणुगमे । (सू० १५५ +)

आह--ननु यदि यथोक्तनीत्या सूत्रानुगमे सत्येव सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या प्रयोजनं , तर्हि किमित्यसावुपोद्घातनिर्युक्त्यनन्तरमुपन्यस्ता ? , यावता सूत्रानुगमं निर्दिश्य पश्चात्किमिति नोच्यते ? , सत्यं किन्तु-निर्युक्तिसाम्यात्तत्प्रस्ताव एव निर्दिष्टेत्यदोषः । प्रकृतमुच्यते--तत्रास्खलितादिपदानां व्याख्या यथैहैव प्राग्द्रव्यावश्यकविचारे कृता तथैव द्रष्टव्या , अयं च सूत्रदोषपरिहारः शेषसूत्रलक्षणस्योपलक्षणम् , तच्चेदम्--

"अप्पग्गंथमहत्थं, बत्तीसदोसविरहियं जं च ।
लक्खणजुत्तं सुत्तं , अट्ठहि य गुणेहिं उववेयं ॥ १ ॥"

अस्या व्याख्या--अल्पग्रन्थं च तत् महार्थं चेति समाहारद्वन्द्वः 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदि'त्यादिवत्सूत्रमल्पग्रन्थं महार्थं च भवतीत्यर्थः, यच्च द्वात्रिंशद्दोषविरहितं तत्सूत्रं भवति ; के पुनस्ते द्वात्रिंशद्दोषा ये सूत्रे वर्जनीयाः ?, उच्यते--

"अलियमुवघायजणयं, निरत्थयमवत्थयं छलं दुहिलं ।
निस्सारमहियमूणं , पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं ॥ १ ॥
कमभिन्नवयणभिन्नं , विभत्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च ।
अणभिहियमपयमेव य, सहावहीणं ववहियं च ॥ २ ॥
कालजतिच्छविदोसो , समयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।
अत्थावत्तीदोसो , नेओ असमासदोसो य ॥ ३ ॥
उवमारूवगदोसो , निद्देसपयत्थसंधिदोसो य ।
एए उ सुत्तदोसा , बत्तीसा हुंति नायव्वा ॥ ४ ॥"

तत्रानृतमभूतोद्भावनं भूतनिह्नवश्च , यथा ' ईश्वरकर्तृकं

जगद्' इत्याद्यभूतोद्भावनं, नास्त्यात्मेत्यादिकस्तु भूतनिह्नव १, उपघातः-सत्त्वघातादिः, तज्जनकं यथा वेदविहिता हिंसा धर्मायेत्यादि २, निरर्थकं यत्र वर्णानां क्रमनिर्देशमात्रमुपलभ्यते न त्वर्थो,यथा अ आ इ ई इत्यादि डित्थादिवद्वा ३, असम्बद्धार्थकमपार्थकं यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डस्त्वरकीटिके दिग्गमुदीचीमित्यादि ४, यत्राभिधेयस्यार्थान्तरस्य सम्भवतो विवक्षितार्थोपघातः कर्तुं शक्यते तच्छलं यथा—नवकम्बलो देवदत्त इत्यादि ५, जन्तूनामहितोपदेशकत्वेन पापव्यापारपोषकं द्रुहिलं यथा " एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ १ ॥ पिब खाद च चारुलोचने ! , यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । न हि भीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ २ ॥" इत्यादि ६, वेदवचनादिवत् तथाविधयुक्तिरहितं परिफल्गु निःसारम् ७, अक्षरपदादिभिरतिमात्रमधिकम् ८,तैरेव हीनम्-ऊनम् ,अथवा हेतो,दृष्टान्तस्य वाऽऽधिक्ये सत्यधिकं, यथा—अनित्यः शब्दः कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्यां घटपटवदित्यादि , एकस्मिन् साध्ये एक एव हेतुर्दृष्टान्तश्च वक्तव्यः , अत्र च प्रत्येक द्वयाभिधानादाधिक्यमिति भावः । हेतुदृष्टान्ताभ्यामेव हीनम्—ऊनं, यथा अनित्यः शब्दो घटवदिति,यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादि ९ , पुनरुक्तं द्विधा—शब्दतोऽर्थतश्च , तथाऽर्थापन्नस्य पुनर्वचनं पुनरुक्तं, तत्र शब्दतः पुनरुक्तं यथा घटो घट इत्यादि , अर्थतः पुनरुक्तं यथा घटः कुटः कुम्भ इत्यादि , अर्थादापन्नस्य पुनर्वचनं यथा-पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्युक्ते अर्थादापन्नं रात्रौ भुङ्क्ते इति, तत्रार्थापन्नमपि य एतत्साक्षाद् ब्रूयात्तस्य पुनरुक्तता १०, व्याहतं यत्र पूर्वेण परं विहन्यते यथा-'कर्म चास्ति फलं चास्ति, कर्ता न त्वस्ति कर्मणा ' मित्यादि ११,अयुक्तमनुपपत्तिक्षमं यथा—' तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभि'रित्यादि १२,क्रमभिन्नं यत्र क्रमो नाराध्यते यथा--स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणामर्थाः स्पर्शरसगन्धरूपशब्दा इति वक्तव्ये स्पर्शरूपशब्दगन्धरसा इति ब्रूयात् इत्यादि १३, वचनभिन्नं यत्र वचनव्यत्ययो यथा वृक्षा एतौ पुष्पिता इत्यादि १४, विभक्तिभिन्नं यत्र विभक्तिव्यत्ययो यथा वृक्षं पश्य इति वक्तव्ये वृक्षः पश्य इति ब्रूयादित्यादि १५,लिङ्गभिन्नं यत्र लिङ्गव्यत्ययो यथा अयं स्त्रीत्यादि १६.अनभिहितः स्वसिद्धान्तानुपदिष्टं यथा सप्तमः पदार्थो वैशेषिकस्य, प्रकृतिपुरुषाभ्यधिकं साङ्ख्यस्य, दुःखसमुदायमार्गनिरोधलक्षणचतुरार्यसत्यातिरिक्तं वा बौद्धस्येत्यादि १७, यत्रान्यच्छन्दोऽधिकारेऽन्यच्छन्दोऽभिधानं तदपदम् , यथाऽऽर्यापदेऽभिधातव्ये वैतालीयपदमभिदध्यादित्यादि १८, यत्र वस्तुस्वभावोऽन्यथा स्थितोऽन्यथाऽभिधीयते तत्स्वभावहीनं , यथा शीतो वह्निः मूर्तिमदाकाशमित्यादि १९ , यत्र प्रकृतं मुक्त्वाऽप्रकृतं व्यासतोऽभिधाय पुनः प्रकृतमुच्यते तद्व्यवहितम् २० , कालदोषो यत्रातीतादिकालव्यत्ययो यथा रामो वनं प्रविवेशेति वक्तव्ये रामो वनं प्रविशतीत्याह २१, यतिदोषोऽस्थानविरतिः सर्वथाऽविरतिर्वा २२,छविः-अलङ्कारविशेषस्तेन शून्यं छविदोषः २३. समयविरुद्धं स्वसिद्धान्तविरुद्धं यथा साङ्ख्यस्यासत्कारणे कार्यम् , वैशेषिकस्य वा सदिति २४, वचनमात्रं निर्हेतुकं, यथा कश्चिद्यथेच्छया कञ्चित्प्रदेशं लोकमध्यतया जनेभ्यः प्ररूपयति २५, यत्रार्थापत्त्याऽनिष्टमापतति तदार्थापत्तिदोषो यथा गृहकुक्कुटो न हन्तव्य इत्युक्तेऽर्थापत्त्या शेषघातोऽदुष्ट इत्यापतति २६, यत्र समासविधिप्राप्तौ समासं न करोति व्यत्ययेन वा करोति तदासमासदोषः २७, उपमादोषो यत्र हीनोपमा क्रियते, यथा मेरुः सर्षपोपमः अधिकोपमा वा क्रियते, यथा सर्षपो मेरुसन्निभः, अनुपमा वा यथा मेरुः समुद्रोपम इत्यादि २८, रूपकदोषः स्वरूपभूतानामवयवानां व्यत्ययो यथा पर्वते निरूपयितव्ये शिखरादींस्तदवयवाननिरूपयति, अन्यस्य वा समुद्रादेः सम्बन्धिनोऽवयवाँस्तत्र निरूपयतीति २९, निर्देशदोषस्तत्र यत्र निर्दिष्टपदानामेकवाक्यता न क्रियते, यथेह देवदत्तः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यभिधातव्ये पचतिशब्दं नाभिधत्ते ३०, पदार्थदोषो यत्र वस्तुनि पर्यायोऽपि सन् पदार्थान्तरत्वेन कल्प्यते यथा सतो भावः सत्तेति कृत्वा वस्तुपर्याय एव सत्ता, सा च वैशेषिकैः षट्सु पदार्थेषु मध्ये पदार्थान्तरत्वेन कल्प्यते, तद्युक्तम् , वस्तूनामनन्तपर्यायत्वेन पदार्थानन्त्यप्रसक्तादिति ३१ यत्र सन्धिप्राप्तौ तं न करोति दुष्टं वा करोति तत्र सन्धिदोषः ३२, एते द्वात्रिंशत्सूत्रदोषाः, एतैर्विरहितं यत्तल्लक्षणयुक्तं सूत्रम् । अष्टाभिश्च गुणैरुपेतं यत्तल्लक्षणयुक्तमिति वर्तते । ते चेमे गुणाः—"निद्दोस सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं । उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ १ ॥ " तत्र निर्दोषं सर्वदोषविप्रमुक्तं १, सारवद्गोशब्दवद्बहुपर्यायम् २, हेतव -अन्वयव्यतिरेकलक्षणास्तैर्युक्तम् ३ . उपमोत्प्रेक्षाद्यलङ्कारैरलङ्कृतम् ४ , उपनयोपसंहृतमुपनीतम् ५ , ग्राम्यभणितिरहितं सोपचारम् ६, वर्णादिनियतपरिमाणं मितम् ७, श्रवणमनोहरं मधुरम् ८। अन्यैश्च केचित्षड्गुणाः सूत्रस्य पठ्यन्ते ।

तद्यथा—" अप्पक्खरमसंदिद्धं , सारवं विस्सओमुहं ।
अत्थोभमणवज्जं च , सुत्तं सव्वण्णुभासियं ॥ १ ॥

यत्राल्पाक्षरम्--मिताक्षरं यथा सामायिकसूत्रम् , असन्दिग्ध—सैन्धवशब्दवल्लवणवसनतुरगाद्यनेकार्थसंशयकारि न भवति , सारवत्त्वं च पूर्ववत् , विश्वतोमुखं प्रतिसूत्रं चरणानुयोगाद्यनुयोगचतुष्टयव्याख्याक्षमम् , यथा--धम्मो ' मंगलमुक्किट्ठ ' मित्यादिश्लोके चत्वारोऽप्यनुयोगा व्याख्यायन्ते । अथवा-अनन्तार्थत्वाद् यतो विश्वतोमुखं ततः सारवदित्येव सारवत्त्वस्यैव हेतुभावेनेदं योज्यते , अस्मिंश्च व्याख्याने पञ्चैवेते गुणा भवन्ति , स्तोभका --चकारवाशब्दादयो निपातास्तैर्वियुक्तमस्तोभकम् । अनवद्य कामादिपापव्यापाराप्ररूपकम् , एवभूतं सूत्रं सर्वज्ञभाषितमिति । यैस्तु पूर्वे अष्ट सूत्रगुणाः प्रोक्तास्तेऽनन्तरश्लोकोक्तगुणास्तेष्वेवाष्टसु गुणेष्वन्तर्भावयन्ति , ये त्वनन्तरश्लोकोक्तानेव सूत्रगुणानिच्छन्ति ते अमीभिरेव पूर्वोक्तानामष्टानामपि सङ्ग्रहं प्रतिपादयन्ति । एवं सूत्रानुगमे समस्तदोषविप्रमुक्ते लक्षणयुक्ते सूत्रे उच्चारिते ततो ज्ञास्यते यदुतैतत्स्वसमयगतजीवाद्यर्थप्रतिपादकं पदं स्वसमयपदं , परसमयगतप्रधानेश्वराद्यर्थप्रतिपादकं पदं परसमयपदम् ,अनयोरेव मध्ये परसमयपदं देहिनां कुवासनाहेतुत्वाद्बन्धपदम् , इतरत्तु सद्बोधकारणत्वान्मोक्षपदमिति तावदेके , अन्ये तु

सुत्राभणितम् । सम्यगनुक्ताते सर्वथाऽऽगमनिषिद्धे कौक्कुरस्य-शोधिके, गा० २ अधि० ।

सुत्तयर–सूत्रकर–त्रि० । गणधरे गणधरग्रथितत्वात् सूत्राणाम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नि०

सुत्तरज्जुग–सूत्ररज्जुक–पुं०।कार्पासिकमये रज्जौ, उपा०७अ०।

सुत्तरुइ–सूत्ररुचि–स्त्री० । सूत्रे–आगमे रुचिः । सूत्ररुचिः । आगमतत्त्वश्रद्धाने, उत्त० २८ अ० । भ० । तथाविधरुचिसम्पन्ने, प्रव० ।

सूत्ररुचिमाह–

जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएणमोगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण य, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥९६८॥

यः सूत्रमागममधीयानः-पठन् श्रुतेनेति-सूत्रेण तेनैवाधीयमानेन अङ्गेनाङ्गप्रविष्टेनाचारादिना बाह्येनाङ्गबाह्येनावश्यकादिना सम्यक्त्वमवगाहते-प्राप्नोति तुशब्दस्याधिकार्थत्वात् प्रशस्तप्रशस्ततराध्यवसायश्च भवति, स गोविन्दवाचकवत् सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः । प्रव० १४९ द्वार । प्रज्ञा० । 'सुत्तरुई' सुत्तं पढंतो संवेगमागच्छति । आ० चू० ४ अ० । सूत्रम्-आगमस्तत्र तस्माद्वा रुचिः । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सुत्तविउद्ध–सुप्तविबुद्ध–त्रि० । निद्रापगमेन जागृते, पञ्चा० १ विव० ।

सुत्तविणय–सूत्रविनय–पुं० । सूत्रवाचनादिके, दशा० ।

से किं तं सुत्तविणए ? सुत्तविणए णं चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-सुत्तं वाएति, अत्थं वाएति, हियं वाएति, निस्सेसं वाएति, सेत्तं सुत्तविणए । दशा० ४ अ० ।

सुत्तविरोह–सूत्रविरोध–पुं० । आगमोक्तार्थविरुद्धे, पञ्चा० १७ विव० ।

सुत्तवुड्ढिभाव–सूत्रवृद्धिभाव–पुं०।सूत्रार्थवृद्धौ पञ्चा०१८ विव०।

सुत्तहरसद्दसंतुट्ठ–सूत्रधरशब्दसंतुष्ट–त्रि० । सूत्रधरा वयमिति शब्दमात्रतुष्ट, सम्म० ३ काण्ड ।

सुत्तहार–सूत्रधार–पुं० । वर्द्धकौ, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुत्ताणुगम–सूत्रानुगम–पुं० । सूत्रव्याख्याने,अनु० । सूत्रानुगमरूपे पदच्छेदरूपे चानुगमे , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्त० । आ० चू० । "होइ कयत्थो वोत्तुं , सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो" त्ति । स्था० १ ठा० । आ० म० ।

सांप्रतं सूत्रानुगमो भणनीयः, इति तमेव संबन्धयन्नाह–

तेणेदाणिं सुत्तं , सुत्ताणुगमेऽभिधेयमणवज्जं ।
अक्खलियाइविसुद्धं, सलक्खणं लक्खणं चेमं ॥९९८॥

येन सूत्र सत्येव सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः प्रवर्त्तते , तेनेदानीं सूत्रानुगम क्रमप्राप्त सूत्रमभिधेयम् । कथंभूतम् ?, अनवद्यम्-ऊनाधिक्यादिदोषावद्यरहितम् पुनः कथंभूतम् ?, अस्खलितादिविशुद्धम्-स्खलितमिलितादिवक्ष्यमाणदूषणविशुद्धम् । सह वक्ष्यमाणेन लक्षणेन प्रवर्त्तते इति सलक्षणम् । तच्च लक्षणमिदम् ।

किं तत् इत्याह–

अप्पग्गन्थमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च ।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठहि य गुणेहिँ उववेयं ॥९९९॥
विशे० ।

(एतद्व्याख्या ते च द्वात्रिंशद् दोषाश्च 'सुत्तफासियणिज्जुत्ति' शब्दे दर्शयिष्यन्ते ।)

सुत्ताणुमइ–सूत्रानुमति–स्त्री० । आगमानुज्ञातत्वे , पञ्चा० १ विव० ।

सुत्तालावग–सूत्रालापक–पुं० । श्रुतं मे आयुष्मन्नित्यादिषु सूत्रपदेषु , स्था० १ ठा० ।

सुत्तालावगणिक्खेव–सूत्रालापकनिक्षेप–पुं० । श्रुतं मे आयुष्मन्नित्यादीनां सूत्रपदानां नामादिन्यासे , स्था० १ ठा० । ('णिक्खेव' शब्दे चतुर्थभागे २०२७ पृष्ठे भेदसूत्रम् ।)

सुत्ति–शुक्ति–स्त्री० । मुक्तायोनौ जलचरदेहे, प्रा० २ पाद ।

सुत्तिमई–शुक्तिमती–स्त्री० । चेदिजनपदराजधान्याम् , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सुत्तिय–सौत्रिक–त्रि० । सूत्रक्रयविक्रयकारिणि, व्य० ६ उ० ।

सुत्तित–त्रि० । सूत्रवत् सम्बद्धयोगात्, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ० ।

सुत्तिवत्तिया–शुक्तिप्रत्यया–स्त्री० । स्थविरादुत्तरबलिस्सहान्निर्गतस्योत्तरबलिस्सहगणस्य द्वितीयशाखायाम् , कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सुदंसण–सुदर्शन–पुं० । " शे षे-तस-यत्ने वा " ॥८।२।१०५॥ इति संयुक्तान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः । सुदरिसणो । पक्षे सुदंसणो । प्रा० । शोभन जम्बूनदमयतया रत्नबहुलतया च मनोनिर्वृतिकरं दर्शनं यस्यासौ सुदर्शनः । मेरुपर्वते, चं० प्र० ४ पाहु० । सूत्र० । जं० । सू० प्र० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके , आ० चू० ४ अ० । आव० । नं० । 'सेट्ठिभज्जा य' त्ति–चंपाए सुदंसणो सेट्ठिपुत्तो, सो सावगो अट्ठमिचाउद्दसीसु चच्चरे उवासगपडिमं पडिवज्जइ, सो महादेवीए पत्थिज्जमाणो णिच्छइ । अन्नया कोमुइयाओ देवपडिम त्ति वत्थे वेढीए वेढिउं अंतेउरं पवेसिओ । देवीए निब्बंधे वि कए नेच्छइ , पउट्ठाए , कोलाहलो कओ । रण्णा वज्झो आणत्तो, निज्जमाणे भज्जाए से मित्तवतीए सावयाए सुतं,सच्चजाणजक्खस्सामन्नणाए काउस्सग्गे ठिता , सुदंसणस्स वि अट्ठ खंडाणि कीरतु त्ति खंधे सूली पाडितो, सच्चजाणजक्खेण पुप्फदामं कतो । मुक्को रन्ना पूइओ, ताहे मित्तवतीए पारियं । आव० ४ अ० । राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, भ० १० ।

तत्कथा चेयम्–

" कामिणिवयणम्मि व जत्थ दीसए महविमलरयणसोहिल्लं ।
अलियसिरिरयणिमेत्तं, नयरं पुरमत्थि रायगिहं ॥ १ ॥
बहुदव्वगुणपहाणो , समवायपरो सुकम्मकयरक्खो ।
वइसेसिउ व्व तत्थ, निव नरवरो सेणिओ नाम ॥ २ ॥

तत्थेव भूरिसारो, मालागारो वसइ अज्जुणओ ।
सुकुमालपाणिपाया, बंधुमई पणइणी तस्स ॥ ३ ॥
मुग्गरपाणि जक्खं, नियकुलदेवं पुरस्स बाहिट्ठियं ।
वरएहिं कुसुमेहिं, अज्जुणओ निच्चमच्चेइ ॥ ४ ॥
तत्थ य ललिया गोट्ठी, ज कयसुकया समत्थि अट्ठरिल्ला ।
तम्मि पुरे अमरिहिए, मह्सवो काऽवि संपत्तो ॥ ५ ॥
कल्लं मुल्लं लाहइ त्ति इत्थ कुसुमाइँ इय चिंतेउ ।
अज्जुणओ सकलत्तो, गामे उज्जाणमणुपत्तो ॥ ६ ॥
गाहउं कुसुमाइँ तओ, जा जक्खगिहं समेइ तुट्ठमणो ।
ता बहिं जक्खगिहट्ठिय-गुट्ठियपुरिसेहिँ सो दिट्ठो ॥ ७ ॥
भणंति अवरुप्परं, भो भो भद्दा समेइ एस इह ।
अज्जुण-मालागारो, बंधुमईए पियाइ समं ॥ ८ ॥
तं सयं णे एयं, बंधित्तु इमस्स भारियाइ समं ।
भोए भुंजु मे चिट्ठ, अन्नुन्नं पडिसुणंति इमं ॥ ९ ॥
तो ते कवाडपच्छा, भाग चिट्ठंति निहुयनयणवयणे ।
इत्तो इयरो पत्तो, जक्खं पूएइ पंगणम्मि ॥ १० ॥
अह दवदवस्स निस्सरि-य ते य ततो तयं निबंधंति ।
बंधुमईए सद्धिं, किलिकिलिमाणा पकीलंति ॥ ११ ॥
तं वह दट्ठु असरिस, अमरिस विवसो विचिंतए एसो ।
जक्खमिमं निच्चमहं, पूयमि वरेहिँ कुसुमेहिं ॥ १२ ॥
जइ इत्थ कोइ हुंती, जक्खो तो हं सहंतओ नेवं ।
परगारिभवममहंता, नूणमिमो पत्थरो चेव ॥ १३ ॥
तक्खणु अणुकंपियमणो, जक्खो अज्जुणतणुमणुपविट्ठो ।
सो तडतड त्ति तोडइ, बंधण आमतंतु व्व ॥ १४ ॥
गहिउं लोहमय पल—सहस्समाणं स मुग्गरं सकरे ।
ते छ वि पुरिसे सह इ-त्थियसत्तमे हणइ हेलाए ॥ १५ ॥
इय पइदिणमज्जुणओ, छप्पुरिसे इत्थिसत्तमे हणइ ।
कमसो पत्तो जाओ, कुणंतो पायडो नयरे ॥ १६ ॥
अह सेणिएण नयरे, घोसावियमिय अहो नयरलोया ।
निग्गतव्वं न तुमेहिँ, जाव हणिया न सत्त जणा ॥ १७ ॥
तम्मि य समये सामी, समोसढो चरमजिणवरो तत्थ ।
पहुपायवंदणत्थं, निग्गच्छइ को वि न भएण ॥ १८ ॥
तत्थ त्थि विमलदिट्ठी, अइधम्मट्ठी सुदंसणो सिट्ठी ।
जिणवयणसवणरई, नवतत्तवियारभावमई ॥ १९ ॥
सो सिरिवीरजिणेसर, वयणामयपाणउस्सुओ अहियं ।
सम्मनभिगम्म अम्मा, पिऊण नमिऊण भणइ इमं ॥ २० ॥
(ध० र० ।)
ता वंदसु भगवंतं, समणं वीरं इहट्ठिओ चेव ।
सुमरेसु सुणियपुव्वं, सुदंसणं भयवओ वक्कं ! ॥ २८ ॥
जंपइ सुदंसणो विह, तिलोयनाहे मयं इहं पत्ते ।
अनमिय असुणिय धम्म, च किह णु किर जुज्जए भुत्तुं ॥ २९ ॥

किंच—

सिरिवीरवयणसवणा—मयपाणसुसित्तसव्वगत्तस्स ।
विसमविस पिव किं ए-स मज्झ काहिइ चुव मच्चू ॥ ३० ॥
तम्हा जं किंचिवि इ-त्थ होइ त होउ इय भणिय बाढं ।
पियरो य अणुन्नविउं, निग्गच्छइ सामिनमणत्थं ॥ ३१ ॥
त पासिवि अज्जुणओ, मुग्गरमुग्गाविउं महाविरहा ।
विट्ठो सुदंसणेणं, सो इंतो कुवियकालु व्व ॥ ३२ ॥
तत्तो अभीयचित्तो, भुवं पमज्जित्तु उत्तरंतेण ।
भणिय जिणिंदनमंसे, सागारं अणसणं कुणइ ॥ ३३ ॥
भुवणजियस्स सरणं, जिणा य सिद्धा य मुणिवरा य ।
तह केवलिपन्नत्तो, धम्मो सरणं मह होउ ॥ ३४ ॥
नीसेसजंतुसंता-स नाण पच्चक्खाण सहुल्लसिओ ।
तिहुयणअसरणसरणो, वीरजिणो चेव मज्झ गई ॥ ३५ ॥
सागारं अणसणं, करेइ खामेइ जंतुणो सव्वे ।
निंदेइ दुक्कडाइं, अणुमोयइ नियसुकयाइं ॥ ३६ ॥
जइ मुच्चिस्समियाओ, उवसग्गाओ तओ य पारिस्सं ।
इय चिंतिय नवकारं, झायंतो ठाइ उस्सग्गे ॥ ३७ ॥
मुग्गरमुल्लालंतो, जक्खो तं अक्कमउमचयंतो ।
पुरओ चिट्ठइ संतो, अणिमिसनयणेहिं पिच्छंतो ॥ ३८ ॥
खणमित्तेणं सट्ठाणं, गओ नियमुग्गरं गहिय जक्खो ।
छिन्नतरु व्व अज्जुणओ, पडिओ सहस त्ति धरणीए ॥ ३९ ॥
नाऊण निरुवसग्गं, सिट्ठी पारेइ तयणु उस्सग्गं ।
जंपइ सुदंसणं पइ, इयरो वद्धु लद्धियचेयन्नो ॥ ४० ॥
कोऽसि तुमं कत्थ य प-ट्ठिओ सि सो भणइ सावओ अहयं ।
संपट्ठिओ म्हि वीरं, नमिउं सोउं च धम्मकहं ॥ ४१ ॥
अह भणइ अज्जुणो वि हु, सिट्ठि ! तए सह अहं जिणं नमिउं ।
सोउं च धम्ममिच्छा-मि आह सिट्ठी वरो एवं ॥ ४२ ॥
भद्द ! इह मणुयजम्म-स्स सारफलमित्तियं चिय जयम्मि ।
जं कीरइ जिणवंदण, धम्मसुहासवणमाईयं ॥ ४३ ॥
इय भणिय तेण सहिओ, सुदंसणो पत्तओ समोसरणे ।
पणमिय अभिगमपुव्वं, परओ पणमेइ जिणनाहं ॥ ४४ ॥
हरिसंसुपुन्नणयणो, वियसियवयणो कयंजली सुमणो ।
भत्तिपहुमाणपवणो, इय निसुणइ देसणं पहुणो ॥ ४५ ॥

तथाहि—

भो भविया ! कहमवि लहि-य मणुयजम्मं इवेह पवणमया ।
जिणवरपवयणसवणे, दुहहरणे सयलसुहकरणे ॥ ४६ ॥

उक्तो—

सुच्चा जाणइ कल्लाणं, सुच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सुच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥ ४७ ॥
अंह सहनिभूधरे कुलिशति क्रोधानले नीरति,
स्फूर्जज्ज्ञाड्यतमोभरे मिहिरति श्रेयोद्रुमे मेघति ।
मायामोहमहोदधिशोषणविधौ कुम्भोद्भवत्यन्वहं,
तस्य धर्मविचारसारवचनव्याकर्णनं देहिनाम् ॥ ४८ ॥
धम्मो य तत्थ दुविहो, सव्वे देसे य तत्थ सव्वंमि ।
पंच य महव्वयाइं, देसे पुण बारस वयाइं ॥ ४९ ॥
इह सुणिय हट्ठतुट्ठा, सिट्ठी नमिउं जिणिंदपयकमलं ।
कयकिच्चं मन्नंतो, अप्पाणं नियगिहं पत्तो ॥ ५० ॥
अज्जुणओ पुण वेर-ग्गपरिगओ जिणवरिंदपयमूले ।
छट्ठक्खमणअभिग्गह, सुत्तं दिक्खं पवज्जेइ ॥ ५१ ॥
अक्कोसतालणाइं, सहिउ काउं वयं च कुम्मालं ।
पालवि संलिहिउं, सिवं गओ खविय कम्माइं ॥ ५२ ॥
सिट्ठी-सुदंसणो वि हु, चिरकालं दंसणं पभावित्ता ।
पालेऊण वयाइं, सुकप्पे भासुरं जाओ ॥ ५३ ॥
इत्यागमाकर्णनधन्नचित्तः, सुदर्शनः प्राप फलं विशिष्टम् ।
ततः सुधर्मेकमवाटिकायां, धर्मश्रुतौ भव्यजना ! यतध्वम् ॥ ५४ ॥

ध० र० २अधि० १ लक्ष० ।('अज्जगग' शब्दे प्रथमभागे २०५ पृष्ठे अन्तकृद्दशाङ्गानां ऽष्टमवर्गे कथा।)सौगन्धिकाया नगर्या नग रश्रेष्ठिनि,ज्ञा०१,श्रु०५अ०। [येन शुकपरिव्राजकेन सह विवादः कृत इति 'थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २४०१ पृष्ठे।]धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य कुञ्जरानीकाधिपतौ हस्तिराजे,स्था०५ठा०१उ० । पुरुसीनाम्न्या ब्रह्मदत्तचक्रि-भार्यायाः पितरि , उत्त० १३ अ० । अरस्वामिनः पितरि, प्रव० १३ द्वार । आव० । स० । ति० । भारतवर्षेऽस्यामवसर्पिण्या जाते पञ्चमे बलदेवे , प्रव० २०१ द्वार । भरतबलदेवे, ती० २० कल्प । आव० । आ० चू० । आ० म० । धातकीखण्डस्य पूर्वाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० । स्वयम्भूनाम्नतृतीयवासुदेवस्य पूर्वभवजीवे, स० । कुन्थुनाथस्य पूर्वभवजीवे, स० । भरतचक्रिणोऽश्वे, आ० चू० १ अ० । त्रिपृष्ठवासुदेवस्य चक्रे, ति० । आ० चू० । अन्तकृद्दशाङ्गप्रथमवर्गपञ्चमाध्ययनोक्तवक्तव्यताके अन्तकृत्साधौ, स्था० १० ठा० ३ उ० । सौधर्मेन्द्रस्याग्रमहिष्याः श्रीदेव्याः पितरि, नि० १ श्रु० ३ वर्ग १० अ० । वाणिजग्रामवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, भ० ।

तत्कथा चैवम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नामं नगरे होत्था, वण्णओ, दूतिपलासे चेइए, वण्णओ ०जाव पुढविसिलापट्टओ । तत्थ णं वाणियगामे नगरे सुदंसणे नामं सेट्ठी परिवसइ अड्ढे ० जाव अपरिभूए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे ०जाव विहरइ, सामी-समोसढे०जाव परिसा पज्जुवासइ । तए णं से सुदंसणे सेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे ण्हाए कय ०जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ साओ गिहाओ पडिनिक्खमित्ता सकोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं पायविहारचारेणं महया पुरिसवग्गुरापरिक्खित्ते वाणियगामं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव दूतिपलासे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति । तं०-सचित्ताणं दव्वाणं जहा उसभदत्तो ०जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे सुदंसणस्स सेट्ठिस्स तीसे य महतिमहालयाए ०जाव आराहए भवइ । तए णं से सुदंसणे सेट्ठी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो ०जाव नमंसित्ता एवं वयासी-कइविहे णं भंते ! काले पण्णत्ते ?, सुदंसणा ! चउव्विहे काले पण्णत्ते, तं जहा-पमाणकाले १ अहाउनिव्वत्तिकाले २ मरणकाले ३ अद्धाकाले ४ । से किं तं पमाणकाले ?, पमाणकाले दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—दिवसप्पमाणकाले १, राइप्पमाणकाले य २ चउपोरिसिए दिवसे, चउपोरिसिया राई भवइ । (सू० ४२४)

'तेणं'मित्यादि, 'पमाणकाले'त्ति-प्रमीयते-परिच्छिद्यते येन वर्षशतादि तत् प्रमाणं स चासौ कालश्चेति प्रमाणकालः प्रमाणं वा-परिच्छेदनं वर्षादेस्तत्प्रधानस्तदर्थो वा, कालः प्रमाणकालः—अद्धाकालस्य विशेषो दिवसादिलक्षणः , आह च—"दुविहो पमाणकालो, दिवसपमाणं च होइ राई य । चउपोरिसिओ दिवसो, राई चउपोरिसी चेव ॥ १ ॥ "

'अहाउनिव्वत्तिकाले' त्ति-यथा-येन प्रकारेणायुषो निर्वृत्तिः—बन्धनं तथा यः कालः—अवस्थानमसौ यथायुर्निर्वृत्तिकालो—नारकाद्यायुष्कलक्षणः, अयं चाद्धाकाल एवायुःकर्मानुभवविशिष्टः सर्वेषामेव संसारिजीवानां स्यात्, आह च—" नेरइयतिरियमणुया, देवाण अहाउयं तु जं जेण । निव्वत्तियमन्नभवे, पालेंति अहाउकालो सो ॥ १ ॥ "

'मरणकाले'त्ति-मरणेन विशिष्टः कालः मरणकालः-अद्धाकाल एव, मरणमेव वा कालो मरणस्य कालपर्यायत्वान्मरणकालः, ' अद्धाकाले ' त्ति—समयादयो विशेषास्तद्रूपः कालोऽद्धाकालः—चन्द्रसूर्यादिक्रियाविशिष्टोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्ती समयादिः, आह च—"समयावलियमुहुत्ता, दिवसअहोरत्तपक्खमासा य । संवच्छरजुगपलिया, सागरओसप्पिपरियट्टा ॥ १ ॥ " भ० ११ श० ११ उ० ।

एएहि णं भंते ! पलिओवमसागरोवमेहि किं पयोयणं ? सुदंसणा ! एएहिं पलिओवमसागरोवमेहिं नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवाणं आउयाइं मविज्जंति । (सू०४२६×)

(एतत्कथा "महब्बल" शब्दे षष्ठे भागे उक्ता ।)

सुदंसणकूड–सुदर्शनकूट–न० । पाश्चात्यरुचकवरपर्वतस्याष्टमे कूटे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुदंसणपुर–सुदर्शनपुर–न० । मालवदेशीये स्वनामख्याते नगरे, उत्त० ६ अ० । सुदर्शनपुरे शिशुनागो नाम गृहपतिः । आव०४ अ० । ('समाहाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता ।)

सुदंसणा–सुदर्शना–स्त्री० । शोभनं दर्शनं दृश्यमानतया यस्याः सा, अत्युत्तममनोहारित्वात् सा सुदर्शना । जम्ब्वां सुदर्शनायाम् , कल्प० १ अधि० ७ क्षण । जी० । स्था० । जं० । प्र० । पृथ्वीपरिणामे उत्तरकुरुषु जम्बूवृक्षे, स० ।

जंबू णं सुदंसणा अट्ठजोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता । स० ८ सम० ।

('जंबू'शब्दे वक्तव्यतोक्ता पाश्चात्याञ्जनपर्वतस्य उत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम् , स्था० ४ ठा० २ उ० । जी० । ती० । ऋषभजिनस्य निष्क्रमणशिबिकायाम् , आ० चू० १ अ० । स० । आ० म० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्याम , स्था० ४ ठा० १ उ० । कालमहाकालयोः पिशाचेन्द्रयोरग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । शकटकुमारस्य गणिकायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । ('सगड' शब्दे कथा) चतुर्थबलदेवमातरि, स० । आव० । जमालीभार्याया वीरदुहितरि, श्रीमहावीरस्वामिनो दुहितृ ज्येष्ठेति वा

सुदर्शनेति वा अनवद्याङ्गीति वा नामेति । विशे० । "जेट्ठा सुदसणा जमालिणो व्व त्ति" ज्येष्ठा सुदर्शना अनवद्याङ्गीति जमालिगृहिणीनामानि । अन्ये तु व्याचक्षते-ज्येष्ठा महती सुदर्शना नाम भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भगिनी तस्याः पुत्रो जमाली अनवद्याङ्गी नाम भगवतो दुहिता जमालिगृहिणीति । विशे० । स्था० । उत्त० । कल्प० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । आचा० । सामिस्स जेट्ठा भगिणी सुदसणा तीसे पुत्तो जमाली । आ० चू० १ अ० । सिंहलद्वीपराजस्य चन्द्रगुप्तस्य दुहितरि , ती० ६ कल्प । साकेतनगरराजस्य , चन्द्रावतंसकस्य भार्यायां सागरचन्द्रमुनिचन्द्रयोर्मातरि, आ० म० १ अ० । धनगिरिदुहितरि , आ० चू० १ अ० ।

सुदक्खिण-सुदाक्षिण-पुं० । प्रार्थनाभङ्गभीरौ श्रावके,ध० र० । १ अधि० १ गुण ।

सुदक्खिण्ण-सुदाक्षिण्य न० । गम्भीरधीरचेतसः प्रकृत्यैव प्रकृत्याभियोगपरदयालुत्वनिरुपधिपरदु खप्रहाणेच्छायाम् , द्वा० १२ द्वा० ।

सुदाक्षिण्य इत्यष्टम गुण वृणवन्नाह—

उपयरइ सुदक्खिण्णो, परेसिमुज्झियसकज्जवावारो ।
तो होइ गज्झवक्को, ऽणुवत्तणीओ य सव्वस्स ॥१५॥

उपकरोत्युपकारतया प्रवर्त्ततेऽभ्यर्थितसारतया सुदाक्षिण्य -शोभनदाक्षिण्यवान् । कोऽर्थः-यदिह परलोकोपकारि प्रयोजनं तस्मिन्नेव दाक्षिण्यवान् पुन. पापहेतावपीति सुशब्देन दाक्षिण्य विशेषितम् । परेषामन्येषा कथमित्याह-उज्झितस्वकार्यव्यापार —परित्यक्तात्मप्रयोजनप्रवृत्तिः तत. कारणाद्भवति ग्राह्यवाक्योऽनुल्लङ्घनीयादेश , तथाऽनुवर्त्तनीयश्चाभिष्टचेष्टितश्च सर्वस्य धार्मिकलोकस्य । स हि किल सुदाक्षिण्यगुणेनाकामोऽपि धर्ममासेवते क्षुल्लककुमारवत् । ध० र० १ अधि० ८ गुण ।

सुदाढ-सुदंष्ट्र-पुं० । स्वनामख्याते नागकुमारे, यः पूर्वभवे सिंहत्वे मारितः वीरजिनेन्द्र गङ्गां नावा तरन्तमुपसृष्टवान् कम्बलशम्बलाभ्या निवारित । आ० चू० १ अ० । नागो-नागकुमार. सुदंष्ट्रनामा सिंहजीवो भगवत उपसर्ग कर्तुमारब्धवानिति । आ० म० १ अ० । आ० क० । नि० चू० ।

सुदाम-सुदाम-पुं० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे अतीतायामुत्सर्पिण्या जाते कुलकरभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । स० । ति० ।

सुदिट्ठ-सुदृष्ट-त्रि० । सम्यगदृष्टे,उत्त० १२ अ० । स्था० । द्वा० । अतीन्द्रियार्थदर्शिभिः दृढमपवर्गादिहेतुतयोपब्धे , प्रश्न० २ सव० द्वार ।

सुदिट्ठि-सुदृष्टि-स्त्री० । सुशब्दः प्रशसायाम् । शोभना दृष्टिः सुदृष्टि । आ० म० १ अ० । सम्यगदृष्टौ, द्वा० १७ द्वा० । सम्यक्त्वे , विशे० ।

सुदीहनीहारी-सुदीर्घनिर्ह्रादिन्-त्रि० । अहस्वप्रतिरवे , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

सुदीहदंसी-सुदीर्घदर्शिन्-पुं० । सुपर्यालोचितपरिणामसुन्दरकार्यकारिणि , ध० र० १ अधि० १ गुण । स फिल पारिणामिक्या बुद्धया सुन्दरपरिणामत्वैहिकमपि कार्यमारभते (प्रव० २३६ द्वार) इति पञ्चदशः श्रावकगुणे,ध० र० १ अधि० १ गुण । दर्श० ।

सम्प्रति पञ्चदशं दीर्घदर्शित्वगुणमाह—

आढवइ दीहदंसी , सयलं परिणामसुंदरं कज्जं ।
बहुलाभमप्पकेसं , सिलाहिणिज्जं बहुजणाणं ॥ २२ ॥

आरभते—प्रतिजानीते दीर्घं परिणामसुन्दर कार्यमिति गम्यते,क्रियाविशेषण वा । द्रष्टुमवलोकयितुं शीलमस्येति दीर्घदर्शी सकल—समस्त परिणामसुन्दरम् आयतिसुखावहं कार्यम्—कृत्य तथा बहुलाभ-प्रचुराभीष्टसिद्धिकमल्पक्लेश-स्तोकायासं श्लाघनीय-प्रशंसनीय बहुजनानां-स्वजनपरजनानां शिष्टानामिति भावः स हि किल पारिणामिक्या बुद्ध्या सुन्दरपरिणाममैहिकमपि कार्यं करोति धनश्रेष्ठिवत् । ततो धर्मस्यापि स एवाधिकारीति । ध० र० १ अधि १५ गुण ।

सुदुक्कर-सुदुष्कर-त्रि० । सुतरां दुष्करे, उत्त० १६ अ० ।

सुदुत्तर-सुदुस्तर-त्रि० । दु खोत्तार्ये , स० १४५ सम० ।

सुदुल्लह-सुदुर्लभ-त्रि० । अतिशयदुरापे, उत्त०१अ० । विपा० ।

सुदेसिय-सुदेशित-त्रि० । पर्षदि नानाविधप्रमाणैरभिहिते , प्रश्न० १ सव० द्वार ।

सुद्दार-सुद्वार-पुं० । उज्जयन्तशैले जिनायतनद्वारवानरे,ती०३ कल्प । (यो हि द्वारमुद्घाटयन्नपि न लक्ष्यते विचित्रकार्यकृत्येति ' उज्जयन्त ' शब्दे द्वितीयभागे ७३६ पृष्ठे उक्तम् ।)

सुद्देउं-सूदयितुम्-अव्य० । विनाशयितुमित्यर्थे,नि०चू०१०उ० ।

सुधी-सुधी-पुं० । सुष्ठु धीर्यस्य । पण्डिते , सुन्दरबुद्धौ , स्त्री० । सुष्ठु ध्यायति सु-ध्यै क्विप् । सुधुज्झियुक्ते त्रि० । वाच० । प्रशस्तबुद्धौ. ध० १ अधि० " क्लिश्यन्ते केवलं स्थूला , सुधीस्तु फलमश्नुते । दन्ता दलन्ति कष्टेन जिह्वा गिलति लीलया ॥ १ ॥ " कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सुधोययर-सुधौततर-त्रि० । सुविशोधिते, भ० ६ श० १ उ० ।

सुद्ध-शुद्ध-त्रि० । " शषोः सः " ॥ ८।१।२६० ॥ इत्यनेन शकारस्य सकारः । प्रा० । अवदाते, सूत्र०१ श्रु० १४ अ० । निष्कलङ्के, आव० ६ अ० । सूत्र० । शुद्धादिना उज्ज्वले, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । निर्दोषे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । द्वा० । पञ्चा० । कषायकालुष्यरहिते, उत्त० ३ अ० । केवले, विशे० । उद्गमादिदोषशुद्धे निरुपाधौ, सूत्र० १६ अ० । अलेपकृते , स्था० ३ ठा० ३ उ० । अवदाते,सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । जात्यादिना निर्मलज्ञानादिगुणतया कालापेक्षया वा शुद्धे, स्था० ४ ठा० १ उ० । पापानुबन्धरहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । विमले,जी०३ प्रति० १ अधि०२ उ० । भक्तदोषवर्जित, सू० प्र० २० पाहु० । पूर्वोक्तवचनदोषरहिते, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सुद्धगंधारा-शुद्धगन्धारा-स्त्री० । गान्धारग्रामस्य चतुर्थ्यां मूर्छनायाम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सुद्धचरणजोग-शुद्धचरणयोग-पुं० । मोक्षे सयतव्यापारेषु मुखवस्त्रिकादिप्रत्युपेक्षणादिषु , पं० व० १ द्वार ।

सुद्धजाइकुलाण्णिय-शुद्धजातिकुलान्वित-त्रि० । शुद्धा विशुद्धवैवाह्यचतुर्वर्णान्तर्गना जातिः मातृपक्षः, कुल पितृपक्षस्ताभ्यामन्वितस्सम्पन्न । मातापितृसम्पन्ने, ध० ३ अधि० ।

सुद्धणय-शुद्धनय-पुं० । निश्चयनये प० चू० ४ कल्प ।

सुद्धप्पादि-शुद्धात्मादि-न० । चरणकरणानुयोगाख्ये शुद्धात्मग्रहणे, द्रव्या० १ अध्या० ।

सुद्धता-शुद्धता-स्त्री० । शुद्धस्वभावे , द्रव्या० १२ अध्या० ।

सुद्धदंत-शुद्धदन्त-पुं० । स्वनामख्याते अन्तर्द्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च । स्था०४ ठा०२ उ० । ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ६७ पृष्ठे तद्वक्तव्यता उक्ता ।) राजगृहे श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्याख्यायां भार्यायां जाते पुत्रे, अणु०-वर्ग२अ० । (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षाणि प्रव्रज्यापर्याय परिपाल्य जयन्ते कल्पे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्य पञ्चमे अध्ययने सूचितम् ।)

सुद्धदंतीपासणाह-शुद्धदन्तीपार्श्वनाथ-पुं० । शुद्धदन्तीनगरीस्थिते पार्श्वनाथे, ती० ३१ कल्प ।

सुद्धधम्मरयणत्थि-शुद्धधर्मरत्नार्थिन्-त्रि० । रत्नानि वैडूर्यादीनि तानि अर्थयन्तीत्येवं शीला ये ते, यद्वा—तैरर्थ प्रयोजनं विद्यते येषान्ते रत्नार्थिनः । शुद्धधर्म एव रत्नं महामूल्यमाणिक्यं शुद्धधर्मरत्नं तस्यार्थिनो-वाञ्छावन्तः । शुद्धधर्मरूपमहामूल्यमाणिक्यस्य वाञ्छावत्सु, दर्श० २ तत्त्व ।

सुद्धधम्मसंपत्ति-शुद्धधर्मसम्प्राप्ति-स्त्री० । शुद्धधर्मभावप्राप्तौ, पं० सू० ।

शुद्धधर्मसम्प्राप्तिः कुत इत्याह—

सुद्धधम्मसम्पत्ती पावकम्मविगमाओ ।

शुद्धधर्मो-यथोदितः तस्य सम्यक्प्राप्तिः सम्प्राप्तिः-भावप्राप्तिरित्यर्थः पापकर्म-मिथ्यात्वमोहनीयादि तस्य विगम -विशिष्टो गमः अपुनर्बन्धकत्वेन पृथग्भाव इति यावत्तस्मात्पापकर्मविगमात् । पं० सू० १ सू० ।

सुद्धधी-शुद्धधी-स्त्री० । निर्मलबुद्धौ, द्रव्या० ७ अध्या० ।

सुद्धपउम-शुद्धपद्म-न० । कुसुमान्तरवियुक्ते पुण्डरीके, उपा० १ अ० ।

सुद्धपज्जवट्ठियणयमत-शुद्धपर्यायार्थिकनयमत-न । शुद्धपर्यायार्थिकनयसिद्धान्ते, नयो० ।

सुद्धपरिणाम-शुद्धपरिणाम-त्रि० । सम्यग्मार्गोपदेशके, प० व० ४ द्वार ।

सुद्धपरिहार-शुद्धपरिहार-पुं० । यत् विशुद्धस्सन् पञ्चयाममनुत्तरं धर्मं परिहरति परिहारशब्दस्य परिभोगेऽपि वर्त्तमानत्वात्स शुद्धपरिहारः । शुद्धस्य सतः परिहारः पञ्चयामानुत्तरधर्मकरणं शुद्धपरिहार इति व्युत्पत्तेः । यदि वा-यो विशुद्धकल्पव्यवहारः क्रियते स शुद्धपरिहारः शुद्धश्चासौ परिहारश्च शुद्धपरिहारः । परिहारभेदे , व्य० १ उ० । ('परिहारट्ठ' शब्दे पञ्चमभागे ६६० पृष्ठे एतद्वक्तव्यतोक्ता ।)

सुद्धपरूवग-शुद्धप्ररूपक-त्रि० । सम्यग्मार्गोपदेशके , दर्श० ३ तत्त्व ।

सुद्धप्प-शुद्धात्मन्-त्रि० । शुद्ध आत्मा—अन्तरात्मा यस्य सः । निर्मलान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

सुद्धप्पदव्व-शुद्धात्मद्रव्य-न० । निर्मले सकलपुद्गलान्तेऽमरहिते ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याव्याबाधामूर्त्ताद्यनन्तगुणपर्यायनित्यानित्याद्यनन्तस्वभावमये असंख्यप्रदेशीस्वभावपरिणामिनि स्वरूपकर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मोपेते, अष्ट० ४ अष्ट० ।

सुद्धप्पवित्ति-शुद्धात्मप्रवृत्ति-स्त्री० । निरवद्यक्रियायाम् ,पञ्चा० ७ विव० ।

सुद्धप्पवेस-शुद्धप्रवेश्य-त्रि० । शुद्धानि च तानि प्रवेश्यानि च शुद्धप्रवेश्यानि । राजसभाप्रवेशोचितेषु, औ० ।

सुद्धबुद्धसहाव-शुद्धबुद्धस्वभाव-त्रि० । शुद्धः-सर्वपुद्गलान्तेऽमराहितः बुद्धः-ज्ञानमयः स्वभावो यस्य सः शुद्धबुद्धस्वभावः । त्रिशुद्धज्ञानमयस्वभावोपेते, अष्ट० ११ अष्ट० ।

सुद्धबोहप्पसर-शुद्धबोधप्रसर-पुं० । प्रधानमत्यवकाशे,जीवा० ११ अधि० ।

सुद्धभाव-शुद्धभाव-पुं० । सदनुष्ठाने, पञ्चा० १४ विव० । सुस्वभावे, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

सुद्धमइ-शुद्धमति-पुं० । एकविंशतितमे भारतातीते जिने, प्रव० ७ द्वार ।

सुद्धवत्थ-शुद्धवस्त्र-न० । शुचिवसने; उत्तरीयवाससि, सितवाससि च । पञ्चा० ४ विव० ।

सुद्धवाय-शुद्धवात-पुं० । वायुजीवभेदे, शुद्धा वायवः स्तोक स्तोक प्रवान्ति । उत्त० ३६ अ० । मन्दस्तिमितवायौ, भ० १५ श० । वस्तीत्यादिगत इत्यन्ये । जी० १ प्रति० । शीतकालादिषु शुभ वात । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

सुद्धवाय(गा)णुयोग-शुद्धवागनुयोग-पुं० । शुद्धा अनपेक्षितवाक्यार्थतया वाक्—वचनं सूत्रमित्यर्थस्तस्या अनुयोगो—विचारः शुद्धवागनुयोगः । सूत्रविचारे , अनु० । ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४३ पृष्ठेऽस्य स्वरूपमुक्तम् ।)

सुद्धवियड-शुद्धविकट-न० । उष्णोदके, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । स्था० । वर्णान्तरादिप्राप्ते शुद्धजले, ग० २ अधि० ।

सुद्धवुड्ढिजोग-शुद्धबुद्धियोग-पुं० । निर्मलबोधसम्बन्धे, तद्वति, त्रि० । पञ्चा० ८ विव० ।

सुद्धचेय-शुद्धचेतस्-त्रि० । विदलन्महामोहलम्पटमानसे द्वा० ३१ अष्ट० ।

सुद्धसज्जा-शुद्धषड्ज्या-स्त्री० । षड्जग्रामस्य सप्तम्यां मूर्छनायाम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सुद्धसभाव-शुद्धस्वभाव-त्रि० । उपाधिभावरहितान्तर्भावपरिणते, द्रव्या० १२ अध्या० ।

सुद्धसुत्त-शुद्धसूत्र-त्रि० । शुद्धमवदातं यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतोऽध्ययनतश्च सूत्रं-प्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्रः । यथावस्थितसूत्रप्ररूपके, सूत्र० २ श्रु० १४ अ० ।

सुद्धागणि-शुद्धाग्नि-पुं० । अयःपिण्डानुगतेऽग्नौ, विद्युतादिरूपे वा । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सुद्धादाण-शुद्धादान-त्रि० । शुद्धमवदातमादानं चारित्रं यस्य सः । निर्मलचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुद्धापाणय-शुद्धापानक-न० । हस्तस्पर्शरूपे अपानकभेदे, भ० १५ श० ।

सुद्धासय-शुद्धाशय-पुं० । निर्मलाध्यवसाये,पञ्चा० १० विव० ।

सुद्धासयजोग-शुद्धाशययोग-पुं० । शुभाध्यवसायसम्बन्धे, शुभाध्यवसायाद्धि बोधिबीज स्यात् । पञ्चा० १६ विव० ।

सुद्धि-शुद्धि-स्त्री०। " शषोः सः " ॥८।१।२६०॥ इत्यनेन शकारस्य सकारः । प्रा० । पापक्षयेण निर्मलतायाम्, पाप ज्ञानावरणीयादि सम्यग्ज्ञानादिगुणविघातहेतुघातिकर्मोच्यते । तत्क्षयेण यावती काचिद्देशतोऽपि निर्मलता संभवति सा शुद्धिरुच्यते । षो० ३ विव० ।

अधुना शुद्धिमाह—

णामं ठवणा सुद्धी, दव्वसुद्धी अ भावसुद्धी अ ।
एएसिं पत्तेअं, परूवणा होइ कायव्वा ॥२८३॥

नामशुद्धिः स्थापनाशुद्धिर्द्रव्यशुद्धिश्च भावशुद्धिश्च । एतेषां नामशुद्ध्यादीनां प्रत्येकं प्ररूपणा भवति—कर्त्तव्येति गाथार्थः ।

तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनङ्गीकृत्य द्रव्यशुद्धिमाह—

तिविहा उ दव्वसुद्धी, तद्दव्वादेसओ पाहाणे अ ।
तद्दव्वगमाएसो, अणण्णमीसा हवइ सुद्धी ॥२८४॥

त्रिविधा तु द्रव्यशुद्धिर्भवति तद्द्रव्यत इति तद्द्रव्यशुद्धिः, आदेशत इति आदेशद्रव्यशुद्धिः, प्राधान्यतश्चेति-प्राधान्यद्रव्यशुद्धिश्च। तत्र तद्द्रव्यशुद्धिः अनन्येति अनन्यद्रव्यशुद्धिः, यद् द्रव्यमनेन द्रव्येण सहासंयुक्तं सच्छुद्धं भवति क्षीरं दधि वा असौ तद्द्रव्यशुद्धिः, आदेशे मिश्रा भवति शुद्धिरन्यानन्यविषया । एतदुक्तं भवति—आदेशतो द्रव्यशुद्धिर्द्विविधा-अन्यत्वेनानन्यत्वेन च । अन्यत्वे यथा शुद्धवासा देवदत्तः, अनन्यत्वे शुद्धदन्त इति गाथार्थः ।

प्राधान्यद्रव्यशुद्धिमाह—

वण्णरसगंधफासे, समणुण्णा सा पहाणओ सुद्धी ।
तत्थ उ सुक्किलमहुरा, उ संमया चेव उक्कोसा ॥२८५॥

वर्णरसगन्धस्पर्शेषु या मनोज्ञता — सामान्येन कमनीयता, अथवा—मनोज्ञता यथाभिप्रायमनुकूलता सा प्राधान्यतः शुद्धिरुच्यते । तत्र चैवंभूतचिन्ताव्यतिकरे शुक्लमधुरौ वर्णरसौ । तुशब्दात्—सुरभिमृदू गन्धस्पर्शौ च संमतौ, यथाभिप्रायमपि प्रायो मनोज्ञौ, बहूनामित्थं प्रवृत्तिसिद्धेः, उत्कृष्टौ च कमनीयौ च । चशब्दस्य व्यवहित उपन्यास इति गाथार्थः । उक्ता द्रव्यशुद्धिः ।

अधुना भावशुद्धिमाह—

एमेव भावसुद्धी, तब्भावाएसओ पहाणे अ ।
तब्भावगमाएसो, अणण्णमीसा हवइ सुद्धी ॥ २८६ ॥

'एमेव' त्ति—यथा द्रव्यशुद्धिस्तथा भावशुद्धिरपि, त्रिविधेत्यर्थः; तद्भाव इति—तद्भावशुद्धिः आदेशत इति—आदेशभावशुद्धिः 'प्राधान्यतश्चे' ति—प्राधान्यभावशुद्धिश्च । तत्र तद्भावशुद्धिः अनन्येति—अनन्यभावशुद्धिस्तद्भावशुद्धिः, यो भावोऽन्येन भावेन सहासंपृक्तः सन् शुद्धो भवति बुभुक्षितादेराहाराभिलाषवदसौ तद्भावशुद्धिः । आदेशे मिश्रा भवति शुद्धिस्तदन्यानन्यविषयेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति-आदेशभावशुद्धिर्द्विविधा—अन्यत्वे, अनन्यत्वे च । अन्यत्वे यथा शुद्धभावस्य साधोर्गुरुः, अनन्यत्वे शुद्धभाव इति गाथार्थः ।

प्रधानभावशुद्धिमाह—

दंसणनाणचरित्ते, तवोविसुद्धी पहाणमाएसो ।
जम्हा उ विसुद्धमलो, तेण विसुद्धो हवइ सुद्धो ॥२८७॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु दर्शनज्ञानचारित्रविषया तथा तपोविशुद्धिः प्राधान्यादेश इति—यद्दर्शनादीनां प्राधान्यमानानां प्रधाना सा प्रधानभावशुद्धिः, यथा दर्शनादिषु क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तपःप्रधानभावशुद्धिः—आन्तरतपोऽनुष्ठानमाराधनमिति । कथं पुनरियं प्रधानभावशुद्धिरिति ?, उच्यते—एभिर्दर्शनादिभिः शुद्धैर्यस्मात्—शुद्धमलो भवति साधुः कर्ममलरहित इत्यर्थः । तेन च मलेन विशुद्धो—मुक्तो भवति सिद्ध इत्यतः प्रधानभावशुद्धिर्यथोक्तान्येव दर्शनादीनीति गाथार्थः । दश० ७ अ० । तथा० । (वाक्यशुद्धिस्वरूपम् 'वक्कसुद्धि' शब्दे षष्ठभागे गतम् ।) शोधने शुद्धिः तत्र द्रव्यशुद्धिः, भावशुद्धिश्च । द्रव्यशुद्धिर्जलाग्न्यादिका, उक्तं च—" अंबरलोहमहीणं, कमसो जह मलकलंकपंकाणं । सुज्झावणयणसेसो, होहिंति जलानलाइच्चा ॥ १ ॥ " भावशुद्धिस्तु सत्यमस्य कृचारित्राणि इति, जलाग्न्यादिशुद्धीनां मध्ये यथादर्शने यथाख्यातसम्यक्त्वस्य पुनर्मिथ्यात्वाऽगमनात्, तन्महती शुद्धिस्तथेयमपीति भावः । तथा० ।

शुद्धौ पञ्चागताभ्यां दृष्टान्तः—

"पुरं राजगृहं नाम, श्रेणिकस्तत्र भूपतिः ।
रजकस्यार्पयत्क्षौम—युगलं क्षालनाय सः ॥ १ ॥
तेन तद्भार्ययोर्दत्तं, वर्सित्वा कौमुदीमहे ।
अभयश्रेणिकौ तत्र, पश्यन्तौ छन्नमुत्सवम् ॥ २ ॥
तत्ताम्बूलाद्रैर्मैक्षिष्ट, रजकस्ते गृहागते ।
दृष्ट्वा क्षौमे सततं , स द्राक् क्षारैरशोधयत् ॥ ३ ॥
प्रातरानीतवान् पृष्टः, सद्भावं रजकोऽब्रवीत् ।
द्रव्यशुद्धिर्भावशुद्धि-स्तत्कालालोचने यतेः ॥ ४ ॥ " आ० क० ४ अ० ।

सुद्धिपत्त-शुद्धिप्राप्त-त्रि० । अवाप्तक्लिष्टकर्मक्षयोपशमे, पञ्चा० ४ विव० ।

सुद्धेसण-शुद्धैषण-त्रि० । दशैषणादोषरहिते आहारादौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

सुद्धेसणिय-शुद्धैषणिक-त्रि०। सुद्धेषणा-शङ्कादिदोषपरिहारतः पिण्डग्रहणं तद्वान् शुद्धैषणिकः । भ० २५ श० ७ उ० । शुद्धस्य वा निर्व्यञ्जनस्य क्रूरादेरेषणा येषामस्ति ते तथा । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तथाविधाभिग्रहात् एषणाशुद्धग्राहके, औ० । स्था० ।

सुद्धोदण-शुद्धोदन-न० । सूपशाकादिविवर्जिते ओदने, भ० ५ श० १ उ० । शाक्यसिंहस्य बुद्धस्य पितरि, पुं०। सम्म० ३ काण्ड।

सुद्धोदय-शुद्धोदक-न० । अन्तरिक्षसमुद्भवे नद्यादिगते च

जले, प्रश्ना० १ पद। स्वभावनिर्मलोदके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। स्वाभाविके जले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। तडागस-मुद्रनदीह्रदावटादिगते जले, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

सुद्धोयणि-शौद्धोदनि-पुं०। "उत्सौन्दर्यादौ" ॥८।१।१६०॥ इत्यनेन औकारस्य उकारः। प्रा०। शाक्यसिंहनामके गौ-तमगोत्रोत्पन्ने बौद्धे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। सूत्र०।

सुधीरधम्म-सुधीरधर्मन्-त्रि०। धीः-बुद्धिस्तया राजते इति धीरः, धीरः सुप्रतिष्ठितो धर्मः श्रुतचारित्राख्यो येषां ते सुधी-रधर्माणः। श्रुतचारित्राख्यधर्मवत्सु। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

सुपइट्ठ-सुप्रतिष्ठ-न०। लोकोत्तरे भाद्रपदे मासे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। सू० प्र०। स्वनामख्याते नगरे, यत्र सिंह-सेनकुमारपिता महासेननामा राजा अभूत्। विपा० १ श्रु० ६ अ०। (तत्कथा 'देवदत्ता' शब्दे चतुर्थभागे २८१८ पृष्ठे गता।) श्रावस्त्यां नगर्यां जाते गृहपतौ, अन्त० ६ वर्ग १० अ०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य सप्तविंशतिव-र्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य विपुले पर्वते सिद्ध इत्यन्त-कृद्दशानां षष्ठवर्गस्य पञ्चमेऽध्ययने सूचितम्।) पुष्पपात्र-विशेषे, ज० २ वक्ष०।

सुपइट्ठग-सुप्रतिष्ठक-न०। आधारविशेषे, रा०।

तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सुपतिट्ठगा पण्णत्ता, तेणं सुपतिट्ठगा णाणाविहपसाहणभंडविरइया इव चिट्ठं-ति सव्वोसहिपडिपुण्णा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा।

'तेसि णमि' त्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ सुप्रति-ष्ठकौ-आधारविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च सुप्रतिष्ठकाः सुसर्वौष-धिप्रतिपूर्णा नानाविधैः पञ्चवर्णैः प्रसाधनभाण्डैश्च बहुप-रिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, उपमाभावना प्राग्वत्। 'सव्वरयणा-मया' इत्यादि, तथैव। रा०। स्थापनके, जं० २ वक्ष०। "सुपइट्ठा वा संठिइए लोए" तच्चेहारोपितजवारकादि गृह्यते। भ० ११ श० १० उ०। शरावसम्पुटके, तच्चेह उपरि स्थापितकलशादिकं ग्राह्यम्। भ० ७ श० १ उ०।

सुपइट्ठाभ-सुप्रतिष्ठाभ-न०। उत्तरयोः कृष्णराज्योर्मध्ये लो-कान्तिकविमाने, यत्र आग्नेया देवता निवसन्ति। स्था० ८ ठा० ३ उ०। भ०। स०।

सुपइट्ठिय-सुप्रतिष्ठित-त्रि०। सुष्ठु मनोज्ञतया प्रतिष्ठिताः सुप्रतिष्ठिताः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। सत्प्रतिष्ठान-वस्तु, त०। रा०।

सुपइट्ठियजस-सुप्रतिष्ठितयशस्-त्रि०। अव्याहतख्यातिके, प्रश्न० २ संव० द्वार।

सुपइय-सुपतित-पुं०। सूर्यस्य ज्योतिष्केन्द्रस्य पूर्वभवजीवे श्रावस्तीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, नि० १ श्रु० ३ व-र्ग १ अ०। ('सूर' शब्दे कथा वक्ष्यते।)

सुप्रतीत-पुं०। अहोरात्रस्य पञ्चमे मुहूर्त्ते, कल्प० १ अ-धि० ६ क्षण।

सुपक्क-सुपक्व-त्रि०। सुष्ठु पक्वं सुपक्वम्। सुन्दरपरिणते, दश० ७ अ०।

सुपक्कखोयरस-सुपक्वक्षोदरस-पुं०। सुपक्वः सुपरिपाका-गतो यः क्षोदरस इक्षुरसः तन्निष्पन्न आसवोऽपि सुपक्वे-क्षुरसः। मद्यभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सुपक्कखोदरसवरसुरा-सुपक्वक्षोदरसवरसुरा-स्त्री०। सुपरि-पाकागतो यः क्षोदरसः-इक्षुरसस्तन्निष्पन्ना वरसुरा सुप-क्वक्षोदरसवरसुरा। सुपरिपाकागतेक्षुरसनिष्पन्नायां श्रेष्ठ-सुरायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सुपकल-सुपक्व-त्रि०। शोभनपरिपाके, आचा० ४ अ०।

सुपक्केक्खुरस-सुपक्वेक्षुरस-पुं०। सुपक्वेक्षुमूलदलनिष्पन्ने र-से, प्रश्ना० १७ पद ४ उ०।

सुपक्खजुत्त-सुपक्षयुक्त-पुं०। सुशीलानुकूलपरिवारोपेते, ध० र०।

स च चतुर्दशो गुणः—

अणुकूलधम्मसीलो, सुसमायारो य परियणो जस्स।
एस सुपक्खो धम्मं, निरंतरायं तरइ काउं॥ २१॥

इह पक्षः परिवारः परिकर इत्येकोऽर्थः, शोभनः पक्षो य-स्य स सुपक्षः। तमेव विशेषेणाह—अनुकूलो धर्माविघ्नका-री धर्मशीलो धार्मिकः सुसमाचारः सदाचारचारी प-रिजन-परिवारो यस्य एष सुपक्षोऽभिधीयते। स च धर्म निरन्तरायं निष्प्रत्यूहं तरइ' त्ति शक्नोति कर्तुमनुष्ठातुं भ-द्रनन्दिकुमारवदिति। ध० र० १ अधि० १४ गुण।

सुपडिबद्ध-सुप्रतिबुद्ध-त्रि०। सुष्ठु प्रतिबुद्धः सुप्रतिबुद्धः। आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। सुहस्तिनस्तत्ये काकन्दिकापरना-मक आर्यस्वहस्तिशिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

सुपणिहि-सुप्रणिधि-पुं०। प्रणिधानं प्रणिधिः शोभनः प्र-णिधिः सुप्रणिधिः। शोभनप्रणिधाने, दशा० ४ अ०।

सुपणिहिइंदिय-सुप्रणिहितेन्द्रिय-त्रि०। श्रोत्रादिभिः स्व-विषये गाढमुपयुक्ते, दश० ८ अ० २ उ०।

सुपण्ण-सुप्रज्ञ-त्रि०। सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः। स्वसमयपरसमयवेदिनि गीतार्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। शो-भनप्रज्ञे भाषाद्ययोपेते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

सुपण्णत्त-सुप्रज्ञप्त-त्रि०। सुष्ठु प्रकारेण कथिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथाचारे व्याता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनां द्विपरासेवनार्थः। दश० ४ अ०।

सुपरथा-सुप्रस्था-स्त्री०। अधोवास्तव्यायां दिक्कुमारिका-याम्, ति०।

सुपभकंत-सुप्रभकान्त-पुं०। हरिकान्तेन्द्रलोकपाले, हरिसहे न्द्रस्यापि लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०।

सुपम्ह--सुपक्ष्म--पुं० । अश्वपुरराजधानीयुक्ते विजयक्षेत्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे मेरोः पश्चिमभागस्थे सीतोदाया महानद्या दक्षिणभागस्थे चक्रवर्त्तिविजयक्षेत्रे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते ब्रह्मलोकविमाने, नपुं० । स० ६ समः ।

दो सुपम्हा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुपरकंत--सुपराक्रान्त--त्रि० । सुष्ठु पराक्रान्तं पराक्रमः तपःप्रभृतिकं येषु तानि । शोभनपराक्रमवस्तु, भ० ३ श० १ उ० ।

सुपरिउड--सुपरिवृत--त्रि० । निरुपद्रवस्थाननिवेशिते, गृह--स्थावस्थास्थशालिभद्रवपुर्वत् । तं० ।

सुपरिचाइ--सुपरित्यागिन्--त्रि० । सुष्ठु शोभनेन प्रकारेण राज्यादि परित्यजतीत्येवंशीलः सुपरित्यागी । शोभनप्रकारेण परित्यागवति , उत्त० १८ अ० ।

सुपरिच्छियकारग--सुपरीक्षितकारक--त्रि० । सुष्ठु देशकालपुरुषौचित्येन श्रुतबलेन च परीक्षितं तस्य कारकः सद्य न यथाकथचनकारी । तस्मिन् , व्य० ३ उ० । (तत्स्वरूपम् 'ववहार' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् ।)

सुपरिट्ठिय--सुपरिस्थित--त्रि० । शोभनतया परिस्थिते , नि० चू० १ उ० ।

सुपरिणिट्ठिय--सुपरिनिष्ठित--त्रि० । अतिनिपुणे , कल्प० १ अधि० ९ क्षण ।

सुपरिसुद्धि--सुपरिशुद्धि--स्त्री०।सुष्ठु विशुद्धौ,पञ्चा०११विव० ।

सुपसत्थ--सुप्रशस्त--त्रि० । अतिशयशुभे, पञ्चा० १९ विव० । आव० ।

सुपावय--सुपापक--त्रि० । पापयुते,उत्त०१२ अ०।"कोहो य माणो य वहो य जेसिं.मोसं अदत्तं च परिग्गहं च । ते माहणा जाइविज्जाविहूणा,ताइ तु खेत्ताइं सुपावयाइ॥१॥" उत्त०१२अ०।

सुपास--सुपार्श्व--पुं० । स्वनामख्याते तीर्थकरे, आ० म० ।

सम्प्रति सुपार्श्वः तस्यायमोघनो नामान्वर्थ --शोभनानि पार्श्वाणि यस्यासौ सुपार्श्वः । नत्र सर्वं एव भगवन्त एवंभूतास्ततो विशिष्ट नामान्वर्थमभिधित्सुराह--

गब्भगए जं जणणी, जायसुपासा ततो सुपासजिणो ।

यतो गर्भगते भगवति तत्प्रभावतो जननी जाता सुपार्श्वा शोभनपार्श्वा ततो जिनः सुपार्श्व इति नाम विषयीकृत एवं सामान्याभिधानं विशेषाभिधानं वाऽधिकृत्यान्वर्थाभिधानविस्तरो भावनीयः।आ०म०१अ०।आ० चू० । ध० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे अस्यामवसर्पिण्या जाते सप्तमे तीर्थकरे,अनु० प्रव० ।जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां जाते भविष्यत्तृतीयतीर्थंकरे, स० । प्रव० । ति० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे तृतीयायामुत्सर्पिण्या जाते तृतीये कुलकरे, स० । स्था० । महावीरस्य पितृव्ये,आचा०२श्रु० ३ चू०।कल्प०। (सुपार्श्वस्य सर्वा वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२४७पृष्ठे उक्ता।) "तइओ उदाइजीवो सुपासो" तृतीय उदायिजीवः सुपार्श्वः भविष्यति । ती० २० कल्प । स्था० । सुपार्श्वस्य पञ्चनवतिर्गणाः, पञ्चनवतिर्गणधराश्च । ति० ।

सुपासस्स णं अरहओ पंचाणउइ गणा पंचाणउइ गणहरा होत्था । स० ९४ सम० ।

सुपासे णं अरहा दो धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेण होत्था । स० १५० सम० ।

सुपासस्स णं अरहओ छलसीइं वाइसया होत्था । स० ८६ सम० ।

सुपासा--सुपार्श्वा--स्त्री० । पार्श्वापत्यीयायां पार्श्वनाथशिष्यशिष्यायाम् , स्था० ।

अज्जा वि णं सुपासा पासावच्चिज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता सिज्झिहिंति ०जाव अंतं काहिंति । (सू० ६९२ ×)

आर्याऽपि-आर्यिकापि सुपार्श्वा सुपार्श्वाभिधाना-पार्श्वापत्यीया पार्श्वनाथशिष्यशिष्याः चत्वारो यामा महाव्रतानि यत्र स चातुर्यामस्तं प्रज्ञाप्य सेत्स्यन्ति । एतेषु च मध्यमतीर्थङ्करत्वेनोत्पस्यन्ते केचित्केचित्तु केवलित्वेन "भवसिद्धिओ उ भयव सिज्झिस्सइ कण्हतित्थम्मि" इति वचनादिति भावः । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुपिवासिय--सुपिपासित--त्रि० । सुतरामतिशयेन पिपासित । अत्यन्त तृषिते, उत्त० २ अ० ।

सुपीढ--सुपीठ--पुं० । पञ्चमेऽहोरात्रमुहूर्त्ते , जं० ७ वक्ष० ।

सुपुत्त--सुपुत्र--पुं० । सुशिक्षितत्वात् शोभनसूनौ , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुपुरिस--सुपुरुष--पुं० । दाक्षिणात्याना किंपुरुषाणामिन्द्रे , स्था० ४ ठा० १ उ० । उत्तमतरे, पञ्चा० १२ विव० ।

सुपुरिसपुर--सुपुरुषपुर--न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र नन्नजिद्राजा निवसति । आ० चू० ४ अ० ।

सुपेसल--सुपेशल--त्रि० । सुतरामतिशयेन पेशलानि मनोहराणि । अत्यन्तमनोहरे, उत्त० १२ अ० ।

सुप्प--सूर्प--न० । धान्यशोधकभाजनविशेषे , सू० १ श्रु० ८ अ० । सूत्र० । नि० चू० । प्रश्न० । आचा० ।

सुप्पअ--सूर्पक--त्रि० । सूर्पे कृत्वा त्यज्यमाने बालके , यः शूर्पे कृत्वा त्यज्यते तस्य सूर्पक एव नाम स्थाप्यते । अनु० ।

सुप्पइट्ठ--सुप्रतिष्ठ--पुं० । सूर्यदेवस्य पूर्वभवे जीवे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुप्पइट्ठग--सुप्रतिष्ठक--न० । आधारविशेषे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुप्पइट्ठिय--सुप्रतिष्ठित--त्रि० । शोभनतया श्रेष्ठे, ' सुपइट्ठियकुम्म व्व चारुचरणा " सुष्ठु शोभन यथा भवति एवं प्रतिष्ठिता कूर्मवत् उन्नतत्वेन चारवश्चरणाः पादा येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुप्पइण्णा--सुप्रतिज्ञा--स्त्री० । दक्षिणरुचकसंबन्धिकाञ्चनकूटवास्तव्यायां महर्द्धिकदिक्कुमारिकायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । जं० ।

सुप्पउत्त--सुप्रयुक्त--त्रि० । सुष्ठु प्रयुक्त प्रयोगो व्यापारो यस्य स तथा । शोभनव्यापारवति , सू० १ श्रु० १ अ० ।

सुप्पगय--सूर्पगत--न० । सूर्पाकारे व्यजने , " सुप्पगयकण्णाकारं भणति । सव्वजणवयप्पसिद्धं तेण वायं करेति " । नि० चू० १ उ० ।

सुप्पडिबुद्ध-सुप्रतिबुद्ध-पु० । आर्यसुहस्तिन शिष्ये , कल्प० ७ अधि० ८ क्षण। "तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकन्दिकावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ, कौटिकगच्छस्तन समभूत् ॥१॥" ग० ३ अधि० ।

सुप्पडियाणंद-सुप्रत्यानन्द-त्रि० । उपकृतेन कृतोपकारस्य मन्तरि , स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सुप्पडियार-सुप्रतिकार-न०। सुखेन प्रतिक्रियते-प्रत्युपक्रियते इति सुप्रतीकारम्, भावसाधनोऽय तद्भवति । प्रत्युपकारकरणे , स्था० ।

अहे णं से तं अम्मापियरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवित्ता परूवित्ता ठावइत्ता भवति। तेणामेव तस्स अम्मापिउस्स सुप्पडियारं भवति समणाउसो !।, (सू १३५×)

'अहे णं से' त्ति-अथ चेत् णमित्यलङ्कारे स पुरुषस्तम्-अम्यापितर धर्मे स्थापयिता-स्थापनशीलो भवति , अनुष्ठानत स्थापयतीत्यर्थ. । किं कृत्वेत्याह-'आघवइत्ता ' धर्ममाख्याय-प्रज्ञाप्य बोधयित्वा-प्ररूप्य प्रभेदत इति। अथ वा-आख्याय सामान्यतो यथा कार्यो धर्म , प्रज्ञाप्य विशेषतो यथाऽसार्वहिंसादिलक्षण प्ररूप्य प्रभेदतो यथा अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूप इति, शीलार्थत्वन्नमानि वैतानीति । 'तेणामेव' त्ति-ततस्तेनैव धर्मस्थापनेनैव न परिवहनेन। अथवा-तेनैव धर्मस्थापकपुरुषेण न परिवाहिना तस्य-प्रत्युपकरणीयस्याम्बापितु 'सुप्पडियार' ति-सुखेन प्रतिक्रियत प्रत्युपक्रियत इति सुप्रतिकार , भावसाधनोऽय, तद्भवति प्रत्युपकार. कृतो भवतीत्यर्थ , धर्मस्थापनस्य महोपकारत्वात् । आह च-" समत्तदायगाण, दुप्पडियार भवेसु बहुएसुं । सव्वगुणमेलिया वि वि, उवगारसहस्सकोडीहिं॥१॥" इति १। स्था० ।

अहे णं से तं भट्टिं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवइत्ता ठावइत्ता भवति। तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुप्पडियारं भवति, २ (स्था०) अहे णं से तं धम्मायरियं केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भट्ठ समाण भुज्जो वि केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवतित्ता ०जाव ठावतित्ता भवति तेणामेव तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं भवति ३ । (सू० १३५ +)

धर्मस्थापनेन तु भवति कृतोपकार. । यदाह-"जो जेण जम्मि ठाण--म्मि ठाविओ दसणे व चरणे वा । सो त तओ चुय त-म्मि चेव काउ भवे निरिणो ॥ १ ॥ " त्ति, शेष सुगमत्वान्न स्पृष्टमिति धर्मस्थापनेन चास्य भवच्छेदलक्षण प्रत्युपकारः कृत' स्यादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सुप्पडिलेहिय-सुप्रत्युपेक्षित-त्रि०। सुष्ठु प्रत्युपेक्षणे हेयोपादेयतया तीर्थिकवादे सर्वज्ञवादे आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०। सुष्ठु शङ्कादिव्युदासेन प्रत्युपेक्षितम । सुष्ठु सामीप्येन ज्ञाते शुद्धप्रत्युपेक्षणया प्रत्युपेक्षिते , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

सुप्पडिवेसिय-सुप्रतिवेशित-त्रि० । शोभना-शीलादिसम्पन्ना प्रातिवेश्मिका यत्र । शोभनप्रातिवेश्मिके , ध० १ अधि० ।

सुप्पणहा-सूर्पणखा-स्त्री० । सूर्पमिव धान्यशोधकभाजनविशेषवन्नखा यस्याः सा सूर्पणखा । स्वनामख्यातायां रावणभगिन्याम् , ती० २७ कल्प ।

सुप्पणिहाण-सुप्रणिधान-न० । सुष्ठु-शोभन प्रणिधानं सुप्रणिधानम् । पं० सू० १ सू० । प्रणिधानविशेषे, स्था० ।

तिविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा-मणसुप्पणिहाणे, वयसुप्पडिहाणे कायसुप्पणिहाणे । संजयमणुस्साणं तिविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते , तं जहा मणसुप्पणिहाणे ; वयसुप्पणिहाणे , कायसुप्पणिहाणे (१३६ ×) स्था० ३ ठा० १ उ० ।

चउव्विहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा-मणसुप्पणिहाणे०जाव उवगरणसुप्पणिहाणे । एवं संजयमणुस्साण वि । सू० २५४ × ।

शोभन संयमार्थत्वात्प्रणिधान मन प्रभृतीनां प्रयोजन सुप्रणिधानमिति । इदञ्च सुप्रणिधानं चतुर्विंशतिदण्डकनिरूपणाय मनुष्याणां तत्रापि संयतानामेव भवति चारित्रपरिणतिरूपत्वात् सुप्रणिधानस्येत्याह-एव सजयेत्यादि । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

कइविहे णं भंते ! सुप्पणिहाणे पन्नत्ते? , गोयमा ! तिविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा-मणसुप्पणिहाणे, वयसुप्पणिहाणे, कायसुप्पणिहाणे । मणुस्साणं भंते ! कइविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते ? , एवं चेव ० जाव वेमाणियाणं । (सू० ६३३ ×) भ० ८ श० ७ उ० ।

सुप्रणिधान शोभनेन प्रणिधानेन नात्र कालो नियम्यते किंतु सुप्रणिधानमिति यदा यदा क्रियते तदा तदा सुप्रणिधान कर्तव्यमित्यर्थ । सुप्रणिधानस्य फलसिद्धौ प्रधानाङ्गत्वात् । उक्त च-" प्रणिधानकृत कर्म, मतं तीव्रविपाकवत् । साऽनुबन्धननियमा-च्छुभाशाय्चैनदेव तत् ॥१॥" । इत्थ चैतदङ्गीकर्तव्यम् ? इत्याह-कर्त्तव्यमिदं भूयो भूय ,—पुन. पुन सङ्क्लेशे सति तीव्ररागादिसंवेदनरूपे अरतावुत्पन्नायामिति यावत् । तथा त्रिकाल—त्रिसन्ध्य कर्त्तव्यमिदम् । प० सू० १ सू० ।

सुप्पणिहियजोगि-सुप्रणिहितयोगिन्-त्रि० । सुप्रणिहितप्रव्रजिते, दश० ६ अ० १ उ० ।

सुप्पतिट्ठ-सुप्रतिष्ठ-त्रि० । शोभनावस्थाने , पञ्चा० ८ विव० ।

सुप्पदंत -सूर्पदन्त-पुं०। क्षीरवरद्वीपस्य देवे, सू०प्र० १६ पाहु०।

सुप्पदत्ता-सुप्रदत्ता-स्त्री० । दक्षिणरुचकवास्तव्याया दिक्कुमार्याम् , आ० क० १ अ० । आ० म० । द्वी० । आ० चू० ।

सुप्पबुद्ध-सुप्रबुद्ध-न० । उपरितममध्यमग्रैवेयकविमाने स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुप्पबुद्धा-सुप्रबुद्धा-स्त्री० । दक्षिणरुचकपर्वतस्य सिद्धायतनकूटवास्तव्याया दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , ज० ५ वक्ष० । आ० म० । द्वी० । आ० क० । सुष्ठु अतिशयेन प्रबुद्धा उत्फुल्लनयनेत्यर्थमप्युत्फुल्ला । जम्ब्वा सुदर्शनायाम्, ज० ।

सुप्पभ-सुप्रभ-पुं० । भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति तृतीये कुलकरे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । विद्युत्कुमारेन्द्रयोः हरिकान्तहरिशिखयोर्दक्षिणादिग्लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० । उत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थबलदेवे, ति० ।

सुप्पभे णं बलदेवे एकावन्नवाससयसहस्साइं परमाउं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे जाए । (सू० ५१×)

'सुप्पहे' त्ति-चतुर्थो बलदेवः अनन्तजिननाथकालभावी तस्येहैकपञ्चाशद्वर्षलक्षाण्यायुरुक्तम्, आवश्यके तु पञ्चपञ्चाशदुच्यते तदिदं मतान्तरमिति । स० । उत्सर्पिण्यां भाविष्यचतुर्थबलदेवे, स० । ती० । ति० । इक्षुवरद्वीपस्य देवे, सू० प्र० १६ पाहु० । द्वी० । शिखरितलपर्वतकूटदेवे, द्वी० । आ० चू० ।

सुप्पभकंत-सुप्रभकान्त-पुं० । विद्युत्कुमाराणां देवे, भ० ३ श० ८ उ० । हरिस्सहहरिकान्तयोरिन्द्रस्य लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सुप्पभा-सुप्रभा-स्त्री० । धरणेन्द्रस्य नागकुमारेन्द्रस्य कालमहाकालशङ्खपालशैलपालाना लोकपालानामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । तृतीयबलदेवस्य मातरि, स० । आव० । अजितस्वामिन शिबिकायाम्, स० ।

सुप्पमज्जिय-सुप्रमार्जित-त्रि० । सुष्ठु प्रमार्जिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

सुप्पबुद्ध-सुप्रबुद्ध-पुं० । उपरितनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । सुष्ठु-अतिशयेन प्रबुद्ध इव प्रबुद्धा मणिकनकरत्नानां निरन्तरं सर्वतश्चाकचिक्येन सर्वकालसुप्रिद्धे, त्रि० । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

सुप्पबुद्धा-सुप्रबुद्धा-स्त्री० । दक्षिणरुचकसम्बन्धिकाञ्चनकूटवास्तव्यायां महर्द्धिकदिक्कुमारिकायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुप्पसारय-सुप्रसारक-त्रि० । सुखेन प्रसार्यते पिण्डादिग्रहणार्थं प्रवर्त्यते इति सुप्रसार, । सुप्रसार एव सुप्रसारकः । उत्त० २ अ० । सुखेन प्रसार्ये, उत्त० २ अ० ।

सुप्रसार्य—त्रि० । सुखेन प्रसारितु योग्ये, उत्त० २ अ० ।

सुप्पसिद्धा-सुप्रसिद्धा-स्त्री० । अभिनन्दनस्वामिनः शिबिकायाम्, स० ।

सुप्पाव-सुप्राप-त्रि० । सुलभे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । कृच्छ्रलभ्ये, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुप्पिय-सुप्रिय-पुं० । अहोरात्रस्य पञ्चमे मुहूर्त्ते, स० ३० सम० ।

सुफणि-सुफणिन्-न० । सुष्ठु सुखेन वा फण्यते-क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणि । स्थालीपिठरादिके भाजने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सुबन्धु-सुबन्धु-पुं० । द्वितीयबलदेवस्य पूर्वभवधर्माचार्ये, ति० । बिन्दुसारराजस्यामात्ये, दश० ३ अ० ।

सुबद्ध-सुबद्ध-त्रि० । सुतरां शुद्धे सुबद्धसन्धिः सुबद्धौ क्षायुभिः सन्धी यस्य स सुबद्धसन्धिः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुबलि-सुबलिन्-पुं० । सुष्ठु बलवति, सूत्र०१श्रु०४अ०१ उ० ।

सुबहुत्तरगुणब्भंसी-सुबहूत्तरगुणभ्रंशिन्-त्रि० । सुबहूत्तरगुणान् पिण्डविशुद्ध्यादीन् भ्रंशयति—विनाशयतीत्येवंशीलः सुबहूत्तरगुणभ्रंशी । पिण्डविशुद्ध्यादिनाशके, जीत० ।

सुबहुस्सुय-बहुसुश्रुत-त्रि० । अतिशयागमज्ञे, जीवा० २० अधि० ।

सुबाहु-सुबाहु-पुं० । ऋषभपूर्वभवजीवस्य वज्रनाभस्य भ्रातरि, आ० चू० १ अ० । बाहुबलिपूर्वभवजीवे, पञ्चा० १६ विव० । ('उसह' शब्दे द्वितीयभागे १११५ पृष्ठेऽस्य कथा गता ।) "नाद्बोर्बलं सुबाहुश्च, साधुविश्रामणां व्यधात् ।" आ० क० १ अ० । भरतपूर्वभवजीवे, आ० चू० १ अ० । महापीठेन सह जातायामृषभदेवस्य कन्यायाम्, आ० चू० १ अ० । रुक्मिकुणालराजस्य दुहितरि च । स्त्री० । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

सुबाहुकुमार सुबाहुकुमार-पुं० । धारिण्यां देव्यां जाते अदीनशत्रोः सुते, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

सुबुद्ध-सुबुद्ध-त्रि० । सम्यक्ज्ञाते, प० व० ४ द्वार ।

सुबुद्धि-सुबुद्धि-पुं० । इक्ष्वाकुवंशोत्पन्नस्य प्रतिबुद्धिनामराजस्यामात्ये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । सागरचक्रवर्त्तिनो महामात्ये, न० । ऋषभप्रपौत्रश्रेयांसपालितहस्तिनापुरवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । ध० र० ।

सुबोहिया-सुबोधिका-स्त्री० । विनयविजयनिर्मितायां कल्पसूत्रटीकायाम्, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । "प्रणम्य परमश्रेयस्कर श्रीजगदीश्वरम् । कल्पे सुबोधिका कुर्वे, वृत्तिं बालोपकारिणीम् ॥१॥ " कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सुब्भि-सुरभि-त्रि० । सुरभिगन्धपरिणते, यथा श्रीखण्डादय । प्रज्ञा० १ पद । आचा० ।

सुब्भिगंध-सुरभिगन्ध-पुं० । सौमुख्यकारके गन्धभेदे, स्था० १ ठा० । आचा० ।

सुरभिगन्धि-त्रि० । सुरभिगन्धपरिणते, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

सुब्भिसद्द-सुरभिशब्द-पुं० । मनोज्ञशब्दे, शुभशब्दे, स्था० १ ठा० । प्रज्ञा० ।

सुभ-सुख-न० । पुण्यप्रकृतिरूपे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । कथं सुखदुःखे कारणस्य स्वपर्याय ?, उच्यते-जीवपुण्यसंयोगः सुखस्य कारणं तस्य च सुखपर्याय एव । विशे० ।

शुभ-त्रि० । मङ्गलभूते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । शोभमाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । पार्श्वस्वामिन प्रथमगणधरे, पुं० । कर्म० ५ कर्म० । नमिनाथस्य प्रथमगणधरे, स० ।

सुभंकर-शुभंकर-न० । दक्षिणयो कृष्णराज्योर्मध्ये वरुणलोकान्तिकदेवानामावासीभूते विमाने, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुभकम्म-शुभकर्मन्-न० । शुभवेद्यकर्मणि, सू० प्र० १६ पाहु० ।

सुभक्खण-सुभक्षण-पुं० । षष्ठे ऋषभदेवसूनौ, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सुभखेत्त-शुभक्षेत्र-न० । शुभस्थाने, सू० प्र० १६ पाहु० ।

सुभग-सुभग-न० । पद्मविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । प्रज्ञा० । रा० । ज० । वरधनु पितृमित्रे परिव्राजके, पुं० । उत्त० १३ अ० । सौभाग्ययुक्ते, त्रि० । चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । अजघन्ने, स० ।

सुभगचउक्क सुभगचतुष्क–न० । सुभगसुस्वरादेययश कीर्ति रूपे चतुष्के, कर्म० ५ कर्म० ।

सुभगजालुज्जाल–सुभगजालोज्ज्वाल–पुं० । सुभगानि–दृष्टि कराणि यानि जालानि मुक्तागुच्छास्तैरुज्ज्वाल । नेत्रसुख– कारिमुक्तागुच्छोज्ज्वाले, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

सुभगजोग–सुभगयोग–पु० । सद्व्यापारे, प्रश्न० ५ सव० द्वार।

सुभगणाम–सुभगनामन्–न० । सुभगात् सुभगनामोदयेन स- र्वजनेष्टो भवति, यदुदयादनुपकार्यपि सर्वस्य मन प्रियो भवति तत्सुभगनामेत्यर्थ । तदभ्यधायि "अणुवकए वि बहूणं, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ" त्ति " सुभगुदए वि हु कोइ, कंची आसज्ज दूभगो जइ वि। जायइ तद्दोसाओ, जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥ १ ॥" " सुभगाओ सव्वजणइट्ठो " कर्म० १ कर्म० । नाभेरुपरितनभागादिषु । आ०। प्रव० ।

सुभगतिग–सुभगत्रिक–न० । सुभगसुस्वरादेयस्वरूपे त्रिके, कर्म० ५ कर्म० ।

सुभगा–सुभगा–स्त्री० । लताभेदे प्रज्ञा० १ पद । सुरूपना म्नो भूतेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सुभगाकारा–सुभगाकारा–स्त्री० । सुभगमाकरोतीति सुभगा कारा । दुर्भगवस्तुन. सुभगकारिकाया विद्यायाम् . सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सुभगुरुजोग–शुभगुरुयोग–पुं० । सुन्दरधर्माचार्यसम्बन्धे, प- ञ्चा० ४ विव० । विशिष्टचारित्रयुक्ताचार्यसबन्धे, ल० ।

सुभघोस–शुभघोष–पुं० । पार्श्वनाथस्य द्वितीये गणधरे, स० ८ सम० ।

सुभजोग–शुभयोग–पुं० । कुशलव्यापारे, प० व० २ द्वार ।

सुभड–सुभट–पु० । शोभनयोद्धरि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सुभडपाल -सुभटपाल–पु० । त्रिशताजिनभवनचतु शतलौकि- कप्रासादाष्टादशशतविप्रगृहषट्त्रिंशच्छतवणिग्गेहनवशताराम सप्तशतवापीद्विशतकूपसप्तशतसत्रागारविराजमानस्य अ- जमेरुनिकटवर्त्तिनो हर्षपुरस्याधिपतौ, यत्र पुरे श्रीप्रिय- ग्रन्थसूरयोऽभ्युपेयु । कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सुभणाम–शुभनामन्–न० । तीर्थङ्करादौ पूज्ये च । स्था० । नाम- कर्मभेदे, यदुदयान्नाभेरुपर्यवयवा शुभा भवन्ति तच्छुभनाम । यच्छिर प्रभृतिभि स्पृष्ट परो हृष्यतीति तेषा शुभत्वम् । कर्म० ५ कर्म० । नाभेरुपरितनभागादिषु स्था० २ ठा० ४ उ० । आ० ।

सुभत्ति–सुभक्ति–स्त्री० । आन्तरप्रीतौ , जीवा० ६ अधि० ।

सुभदीहआउत्ता–शुभदार्घायुष्कता–स्त्री० । दीर्घायुष्कतायाम्, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे १२ पृष्ठे गता ।)

सुभद्द–सुभद्र–पुं० । अधस्तनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटे , स्था० ६ ठा० ३ उ० । षष्ठयक्षनिकाये, प्रज्ञा० १ पद । शाखाञ्जनी– नगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे शकटपितरि, स्था० १० ठा० ३ उ० । विपा० । शिखरितलकूटविशेषदेवे, द्वी० । भद्रबाहु- स्वामिनि, प० चू० १ कल्प । कूणिकपुत्रस्य कृष्णकुमारस्य पुत्रे, (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य वर्षचतुष्टयं व्रतपर्याय परिपाल्य उत्कृ- ष्टमायुरनुपाल्य ततश्च्युतो महाविदेहे सेत्स्यति इति कल्पाव तंसिकानां चतुर्थेऽध्ययने सूचितम्)। नि० १ श्रु० २ वर्ग ४ अ० । स्वनामख्याते विमाने, नपु० । स० १७ सम० ।

सुभद्दा–सुभद्रा–स्त्री० । कोणिकस्य राज्याम् , औ० । अहो- रात्रद्वयेन मणाप्यमाने प्रतिमाविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ० । सौ- र्यपुरे धनञ्जयश्रेष्ठिनो भार्याम् , आव० ४ अ० । वसन्तपुरवास्त- व्यस्य जिनदत्तश्रेष्ठिनस्सुतायाम् आव० ४ अ० । पूर्वादिदिक्- चतुष्टये प्रत्येक प्रहरचतुष्टये कायोत्सर्गकरणरूपायामहोरा- त्रद्वयमानाया प्रतिमायाम् , स्था० २ ठा० ३ उ० । चम्पान- गरीवास्तव्यजिनदत्तस्य दुहितरि आ० चू० ५ अ० । (तदुदा- हरण च 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ४२७ पृष्ठे गतम् ।) ऋषभदेवस्य प्रथमश्राविकायाम् , आ० म० १ अ० । कल्प० । आ० चू० । वाराणसीनगरीवास्तव्यस्य भद्राभिधानसार्थ— वाहस्य भार्यायाम् , सा च वन्ध्या पुत्रार्थिनी भिक्षार्थमाय तमार्यासंघाटक पुत्रलाभं पप्रच्छ । स च धर्ममचीकथत् प्रा व्राजीच्च सा । स्था० १० ठा० ३ उ० । गोशालकमातरि , स्था० १० ठा० ३ उ० । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य चित्रा ख्यलोकपालकस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम् भ० १० श० ५ उ० । भम्भसारपुत्रस्य कोणिकस्य भार्यायाम् . औ० । चम्पाया स्वनामख्याताया देव्याम् ती० ३४ कल्प । सुदर्श- नाया जम्ब्वाम सुभद्रा शोभनकल्याणभागिनी . नह्यस्या कदाचिदुपद्रवसंभवो महर्द्धिकेनाश्रितत्वात् । जं० ४ वक्ष० । नन्दाया पुष्करिण्याम , द्वी० । अवन्तिवास्तव्यायामवन्ति- सुकुमालमातरि, आ० क० ४ अ० । सौर्यपुरे वास्तव्यस्य, धनञ्जयश्रेष्ठिन पत्न्याम् , आ० क० ४ अ० । दाक्षिणाञ्जनाद्रे- र्दक्षिणभागस्थायां स्वनामख्यातायां पुष्करिण्याम् द्वी० । वैरोचनेन्द्रस्य वले राक्षसोमस्य महाराजस्य स्वनामख्याता- यामग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० । द्वितीयबलदेवमातरि, आव० १ अ० । बहुपुत्रिकाया पूर्वभवजीवे सार्थवाहस्य भार्याम् , नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । (तत्कथा च ' बहुपु- त्तिया ' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता ।) भरतचक्रवर्तिनो भार्या- याम् , स० । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य कालवालमहाराजस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सुभमइ–शुभमति–पु० । ऋषभदेवस्य नवाशीतितमे पुत्रे , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सुभमग्ग–शुभमार्ग–पुं० । ज्ञानस्य प्राधान्य व्यवहारस्य च गौणता यत्र भवति स शुभमार्ग. । उत्तममार्गे, द्रव्या० १ अध्या० ।

सुभय–सुभग–त्रि० । सौभाग्ययुक्ते , भ० १२ श० ६ उ० ।

सुभल–सुभल–पु० । शेखरके मस्तकाभरणविशेषे , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

सुभवेयणतर–सुखवेदनतर–त्रि० । अतिशयितः सुखेन मो- हजन्योन्मादापेक्षया अक्लेशेन वेदनमनुभवन यस्यासौ सुख- वेदनतर । मोहजनितप्रज्ञापेक्षया अकृच्छ्रानुभवनीयतरे, भ० १ श० ७ उ० ।

सुभसीलगणि–शुभशीलगणिन्–पुं० । तपागच्छीयमुनिसु- न्दरसूरिशिष्ये, येन स्नात्रपञ्चाशिका पञ्चास्तिकायप्रबोधो भ- रहेश्वरस्तोत्रवृत्तिश्चेत्यादयो ग्रन्था रचिता । विक्रम १५२१ सम्वत्सरे अयं वर्त्तमान आसीत् । जै० इ० ।

सुभा-शुभा--स्त्री० । रमणीयविजयराजधान्याम् ,जं०१ वक्ष०।

दो सुभाओ । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुभाविय-सुभावित--त्रि० । तत्त्वभणनात्सुष्ठु भाविते , औ०।

सुभावियचित्त-सुभावितचित्त--त्रि० । सुभावितान्तःकरणे , दर्श० ४ तत्त्व ।

सुभासिय- सुभाषित--न० । सुष्ठु-अतिशयेन भाषितम्--प्रतिपादितं सुभाषितम् । आतु० । शोभनव्यक्तवाग्रूपे , प्रश्न० २ संव० द्वार । " तेसिं सो वयणं सोच्चा , संजयाण सुभासियं ।" उत्त० २८ अ० ।

सुभाश्रित--त्रि० । कल्याणयुक्ते, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

सुखाश्रित--त्रि० । सुखसयुते, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

सुधाश्रित--त्रि० । अमृतमाश्रिते , प्रश्न० २ संव० द्वार ।

सुभासुभ--शुभाशुभ--त्रि० । शुभवर्णगन्धादिषु अशुभवर्णगन्धादिषु च । भ० ६ श० ३२ उ० ।

सुभिक्ख-सुभिक्ष--त्रि० । शोभना शुभा भिक्षा दार्शनिकानां यत्र तत् । रा० । ज्ञा० । अन्नादीना सम्भवे, व्य० ३ उ० । सुकाले , स्था० १ ठा० । सुभिक्षसंयुते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । औ० । सुलभे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । धायति वा सुभिक्खं ति वा एगट्ठा । नि० चू० ५ उ० ।

सुभूम--सुभूम--पुं० । भरते वर्षे अस्यामवसर्पिण्यां जाते कौरव्यगोत्रोत्पन्ने अष्टमचक्रवर्तिनि तारायां जनिते कार्तवीर्यपुत्रे, प्रव०२०८ द्वार। दश० । ('माण' शब्दे षष्ठभागे कथोक्ता ।)

सन्ती कुन्थू य अरो , हवइ सुभूमो य कोरव्वो । स० ।

सिज्जंसे सत्तरी, पढमो सिस्सो य गोत्थुभो होइ ।

छावट्ठी य सुभूमो , बोधव्वा वासुपुज्जस्स ॥ ति० ।

सुभूमो मृत्वा नरक गत । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

सुभूमिभाग-सुभूमिभाग--न० । पृष्ठचम्पाया वहिरुद्याने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । ज्ञा० ।

सुभेरव--सुभैरव--त्रि० । अत्यन्तभयानके, उत्त० १६ अ० ।

सुभोग--सुभोग--न० । शतद्वारस्य नगरस्य वहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे स्वनामख्याते उद्याने , भ० १५ श० ।

सुभोगा--सुभोगा--स्त्री० । अधोलोकवासिन्या दिक्कुमार्याम् , आ० म० १ अ० । आ० क० । आ० चू० । नि० । महाविदेहवर्षे माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य सागरकूटवासिन्या दिक्कुमारीदेव्याम् , जं० ४ वक्ष० ।

सुभोदय--शुभोदक--न० । तीर्थजले, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुभोम--सुभौम--पुं० । जम्बूद्वीपे भरते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्या भविष्यति स्वनामख्याते द्वितीयकुलकरे,स्था० ७ ठा० ३ उ० । यत्र ग्रामे छद्मस्थत्वेन विहरन् महावीरस्वामी स्वामग्रतोऽञ्जलिकरणरूपेण गोशालकदोषेण ताडितः । आ० म० १ अ० ।

सुब्भि-सुरभि--पुं० । शुभे, प्रश्न० ५ सव० द्वार ।

सुब्भिगंध--सुरभिगन्ध--पुं० । मनोज्ञगन्धे, स्था० १ ठा० ।

सुब्भिसद्द--सुरभिशब्द--पुं० । सौख्यकृच्छब्दे, स्था० ३ठा० १उ० ।

सुमइ--सुमति--पुं० । शोभना मतिरस्येति सुमतिः । तथा गर्भस्थे जनन्या सुनिश्चिता मतिरभूदिति सुमतिः। ध० २अधि० । आ० म० ।

शोभना मतिरस्येति सुमति । सर्व एव च भगवन्तः सुमतय इति विशेषाभिधानप्रतिपादनार्थमाह--

जणणी सव्वत्थ विणि-च्छएसु सुमइ त्ति तेण सुमइजिणो ।

येन कारणेन गर्भगते भगवति सर्वेषु विनिश्चयेषु कर्त्तव्येषु सुमतिरतीव मतिसम्पन्ना जाता तेन कारणेन भगवान् सुमतिजिन ,जननीसुमतिहेतुत्वात् सुमतिरिति भावः। शोभना मतिरस्मादभूदिति व्युत्पत्तेः । तथा च वृद्धसम्प्रदाय--"जणणी गब्भगए सव्वत्थ विणिच्छएसु अतीव मतिसंपन्ना जाया,दोण्हं सवत्तीण मयपइयाणं ववहारो छिन्नो । जहा मम पुत्तो भविस्सइ सो जोव्वणत्थो एयस्स असोगवरपायवस्स अहे ववहारं तुब्भं छिंदिहिति ताव एगाइया उ भणइ एवं भवतु, पुत्तमाया नेच्छइ, भणइ-ववहारो छिज्जउ । ततो भावं नाऊण छिन्नो ववहारो दिन्नो तीसे पुत्तो, एवमादी गब्भगुणेण जणणी सुमती जाय त्ति सुमतिनामं कय ।" आ०म०२अ०।अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते पञ्चमतीर्थकरे,पञ्चा०१९विव० ।स०। नं०। आ०चू०। कल्प०। अनु०।प्रव०। स्था०। स्वनामख्याते राज्ञि,गोशालको देवलोकाच्च्युतः सन् विन्ध्यगिरिपादमूले पुण्ड्रकेषु शतद्वारे नगरे सुमते राज्ञो भद्राया भार्याया कुक्षौ पुत्रतयोत्पत्स्यति । भ० १५ श० । स्वनामख्यातेऽनगारे, महा० ।

से भयवं! जे णं से सुमती से भव्वे उयाहु अभव्वे?, गोयमा ! भव्वे । से भयवं ! जइ ते णं भव्वे ता णं मए समाणे कहिं समुप्पन्ने?, गोयमा!परमाहम्मियासुरेसु । से भयवं ! किं भव्वे परमाहम्मियासुरेसु समुप्पज्जइ ?, गोयमा ! जे केइ घणरागदोसमोहमिच्छत्तोदएणं सुखासियं पि परमहिओवएसं अवमन्ने ता णं दुवालसंगं च सुयअन्नाणी मइअन्नाणी किरियं अयाणित्ता य समयसब्भावं अणायारं पसंमियाणं तमेव उत्थपेज्जा , जहा सुमइणा उत्थप्पियं भवति । एए कुसीले साहुणो । अहा णं एए वि कुसीले तो एत्थ जगे न कोइ सुसीलो अत्थि, निच्छियं मए एतेहिं समं पव्वज्जा न कायव्वा,तहा जारिसो यं निव्बुद्धिओ तारिसो सो वि तित्थयरो त्ति एवमुच्चारेमाणे णं गोयमा ! सहंतं पि तवमणुट्ठेमाणे परमाहम्मियासुरेसु उववज्जेज्जा । कहं उववज्जे ? । से भयवं ! परमाहम्मियासुरदेवाणं उव्वट्टे समाणे से सुमती कहं उववज्जेज्जा?, गोयमा ! तेणं मंदभागेणं अणायारपसंसुत्थपणं करेमाणेणं सम्मग्गपणासणं अभिणंदिय तकम्मदोसेणं अनं अणंतसंसारियत्तणमहिज्जियं, तो कित्तिए उववाए तस्स साहेज्जा, जस्स णं अणेगपोग्गलपरियट्टेसु वि णत्थि चउगइसंसाराओ अवसाणं ति ।

तहा वि संखेवओ सुणसु गोयमा ! इणमेव जंबुद्दीवं दीवं परिक्खिविऊण ठिए जे एस लवणजलही एयस्स णं ज-धा स सिंधू महानदी पविट्ठा तप्पएसाओ दाहिणेणं दि-साभागेणं पणपन्नाए जोयणेसु वेइयाए गब्भंतरं अत्थि प-रिसं ताव दायगं नाम अद्धतेरसजोयणपमाणं हत्थिकुंभायारं छलं-तस्स य लवणजलोवरि णं अद्धद्धजोयणाणि उस्सेहो। तहिं च णं अच्चंतघोरतिमिरंधयाराओ घडियालगसंठाणा-ओ सीयालीसं गुहाओ । तासु च णं जुगलं निरंतरं जल-चारिणो मणुया परिवसंति। ते च वज्जरिसभनारायसंघय-णे महाबलपरक्कमे अद्धतेरसरयणीपमाणेणं सखेज्जवासाओ महुमज्जमंसप्पिए महावहो इत्थिलोले परमदुव्वन्नसुउमाल-अणिट्ठखररूसियतणू मायंगवइकयमुहे सीहघोरदिट्ठी क-यंतभीसणे अनामियपिट्ठी असणि व्व निट्ठुरपहारा दप्पुद्धुरे य भवंति। तेसिं ति जाओ अंतरंडगगोलियाओ ताओ ग-हाय चमरीणं संतिएहिं सेयपुच्छवालेहिं गुंथिऊणं जे के-इ उभयकन्नेसु निबंधिऊण महग्घुत्तमजच्चरयणत्थी सा-गरमणुपविसेज्जा से णं जलहत्थिमहिसगोहिगमयरमहा-मच्छतंतुसुंसुमारपभितिहिं दुट्ठसावतेहिं अभीए चेव सव्वं पि सागरजलं आहिंडिऊण जहिच्छाए जच्चरयणसंगह-करी य अहयसरीरे आगच्छइ। ताणं च अंतरंडगगो-लियाणं संबंधेणं ते चरए गोयमा ! अणोवम सुघोर-दारुणं दुक्खं पुव्वज्जियरोद्दकम्मवसगा अणुभवंति। से भ-यवं ! केणं अट्ठेणं?, गोयमा ! तेसिं जीवमाणाणं को सम-त्थो ताओ गोलियाओ गहेउं । जे जया उण ते घेप्पंति तया बहुविहाहिं नियंतणाहिं महया साहसेणं सन्नद्धबद्ध-करवालकुंतचक्काइपहरखड्डोवेहिं बहुसूरधीरपुरिसेहि बुद्धिपु-व्वगेण सजीवियडोलाए घेप्पंति। तेसिं च घिप्पमाणाणं जाइं सारीरमाणसाइं दुक्खाइं भवंति ताइं सव्वेसु ना-रयदुक्खेसु जइ परं उवमेज्जा। से भयवं ! को उण ताओ अतरंडगगोलियाओ गेण्हेज्जा, गोयमा ! तत्थेव लवण-समुद्दे अत्थि रयणदीवं नाम अंतरदीवं तस्सेव प-डिसं ताव दावगाओ थलाओ एगतीसाए जोयणसए-हिं तन्निवासिणो मणुया य भवंति। से भयवं ! कयरे-ण पओगेणं खेत्तसभावसिद्धपुव्वपुरिसेणं च विद्वेणं च विहाणेणं। से भयवं ! कयरे उण से पुव्वपुरिससिद्धे वि-ही तेसिं ति ?, गोयमा ! तहियं ति रयणदीवे अत्थि वी-सं एगूणवीसं अट्ठारससतधणूपमाणाइं घरट्टसठाणाइं व-रवइरसिलासंवुडाइं ताइं च विघाडेऊणं ते रयण-दीवनिवासिणो मणुया पुव्वसिद्धखेत्तसहावसिद्धेणं चेव जोगेणं पभूयमच्छियामहूए अब्भंतरे उ अच्चंतलं-वाडाइ काऊण तओ तेसिं पक्कमंसखंडाणि बहूणि ज-च्चमहुमज्जमंडगाणि पक्खिवंति। तओ एयाइं करिय सु-रुंददीहमहद्दुमकट्ठेहिं आरुभित्ता णं सुमाओ पोराणमज्ज-अत्थिगामहूओ य पडिपुन्ने बहूए लाउगे गहाय पडिसं ताव दायगत्थलमागच्छंति जाव णं तत्थागए समाणे ते गुहावासिणो मणुया पेच्छंति ताव णं तेसिं रयण-दीवगणिवासिमणुयाणं वहाय पडिधावंति। तओ ते ते-सिं महुपडिपुन्नं लाउगं पयच्छिऊणं अब्भतथपओगेणं तं कट्ठजाणं जइणयरवेगं दुयं खेविउं रयणदीवा-भिमुहे वच्चंति। इयरे य तं महुमंसादी य पुणो सुट्ठुयरं तेसिं पिट्ठिए धावंति, ताहे गोयमा ! जाव णं अच्चासन्ने भवति ताव णं सुमाओ महुगंधदव्वसक्कारियपोराणम-ज्जं लाउगमेगं पमोत्तूणं पुणो वि जइणयरवेगेणं रयण-दीवाभिमुहा वच्चंति। इयरे य तं सुमाओ बहुगंधदव्वसं-सकारियपोराणमज्जमंसाइ य पुणो सुदुक्खयरे तेसिं पिट्ठिए धावंति। पुणो वि तेसिं बहुपडिपुन्नं लाउगमेगं मुंच-ति । एवं ते गोयमा ! महुमज्जलोलीए संपलग्गेत्ता वा णयंति जाव णं ते घरट्टसंठाणे वइरसिलासंपुडे , तो जाव णं तावइयं भूभागं संपरायंति ताव णं जमेचासन्नं वइरसिलासंपुडं जभायमाणपुरिसमुहागारं (विडाडियं) विहाडियं चिट्ठइ तत्थेव जाइं महुमज्जपडिपुन्नाइ समुद्द-गियाइं सेसलाउगाइं ताइं तेसिं पेच्छमाणाण तत्थ मोत्तूणं नियनिलएसु वच्चंति । इयरे य महुमज्जलोलीए जाव ण तत्थ पविसंति ताव णं गोयमा ! जे ते पु-व्वमुक्के पक्कमंसखंडे जे य ते महुमज्जपडिपुन्ने भंडगे जं च महुए चेवालित्तं सव्वं तं सिलासंपुड पेक्खंति ताव णं तेसिं महंतं परिओसं महंतं तुट्ठी महंतं पमोदं भवइ । एवं तेसिं महुमज्जपक्कमंसं परिभुंजेमाणाणं जाव णं गच्छंति सत्तट्ठ दस पंचेव वा दिणाणि ताव ण ते रयणदीवनिवासिणो मणुया एगे सन्नद्धबद्धसाउहकरगतं वइरसिलं वेढिऊणं सन्नद्धपंतीहिं णेच्छति। अन्ने तं घरट्टसिलासंपुडं माया-लिताणं एगट्ठं मेलंति। तम्मि य मेलेज्जमाणे गोयमा ! जइ णं कहं वि तुडिविभागओ तेहिं एक्कस्स दोण्हं पि वा णिप्फेडं भवेज्जा तओ तेसिं रयणदीवनिवासिमणुयाणं संविडविपासायमंदिरसव्वयाणं तक्खणा चेव तेसिं हत्था संथारकालं भवेज्जा। एवं तु गोयमा ! तेसिं तेणं वज्जसि-लाघरट्टसंपुडेणं गिलियाणं पि तहियं चेव जाव णं स-व्वट्ठिए दलिऊणं ण संपीसिए सुकुमप्पलिया य ताव णं तेसिं णो पाणाइक्कमं भवेज्जा। ते य अट्ठी वइरमिव दुद्दले।

तेसिं तु तत्थ य वइरसिलासंपुडं करणहंगगोणगेहिं आउत्तमादरेणं अरहट्टघरट्टघरसरिहगचक्कमिव परिमंडलं भमालिय ताव णं खेडंति जाव णं संवच्छरं । ताहे तं तारिसं अच्चंतघोरदारुणं सारीरमाणसं महदुक्खसन्निवायं समणुभवमाणाणं पावाइकम्मं भवइ,तहा वि णो तेसिं अट्ठिगणो फुडति,णो दो फले भवंति, णो संदलिज्जंति णो विदलिज्जंति णो पहरिसंति णवरं जाइं कायविसंधिसंधाणबंधणाइं ताइं सव्वाइं निच्छुडे ता णं वि जज्जरी भवंति । तओ पुण इयरुवलघरट्टस्सेव परसवियं चुण्णमिव किंचि अंगुलाइयं अट्ठिखंडं दट्ठूणं ते रयणदीवगे परिओ समुव्वहंते सिलासंवुडाइं उव्विघाडिऊणं ताओ अंतरंडगोलिगाओ गहाय जे तत्थ हूणे ते अणेगरित्थसंघाएण विक्किणंति । एतेणं विहाणेणं गोयमा ! ते रयणदीवनिवासिणो मणुया ताओ अंतरंडगोलियाओ गेण्हंति । से भयवं ! कहं ते तं संतारिमं अच्चंतघोरदारुणसुदुस्सहं दुक्खनिरयं विसहमाणे निराहारपाणगे संवच्छरं जाव पाणे वि धारयंति । गोयमा ! सकयकम्माणुभावाओ ।

(शेष तु प्रश्नव्याकरणवृत्त्द्वविवरणादवसेयम् ।)

से भयवं ! तओ वि से मए समाणे से सुमतिजीवे कहं उववायं लभेज्जा ?, गोयमा ! तत्थेव परिसं ताव दायगत्थलोभेणेव कमेणं सत्तभवंतरे । तओ वि दुट्ठमाणे तओ वि कण्हे तओ वि वाणमंरे तओ वि लिंबत्ताए वणस्सइए तओ वि मणुएसु इत्थित्ताए तओ वि छट्ठीए तओ वि मणुयत्ताए कुट्ठी तओ वि महकाए जुहाहिवती गए । तओ वि मरिऊण मेहुणासत्ते अणंतवणप्फतीए तओ वि अणंतकालाओ मणुएसु संजए तओ वि मणुए महानेमित्तिए तओ वि सत्तमाए तओ वि महामच्छे चरिमोयहिम्मि तओ सत्तमाए तओ वि गोणे तओ वि मणुए तओ वि विडवकोइलियं तओ वि जलोयं तओ वि महामच्छे तओ वि तंदुलमच्छं तओ वि सत्तमाए तओ वि रासहे तओ वि साणे तओ वि किमी तओ वि ददुरो तओ वि तेउकाए तओ वि कुंथू तओ वि महुयरे तओ वि चडए तओ वि उद्देहिगं तओ वि वणप्फईए तओ वि अणंतकालाओ मणुएसु इत्थीरयणं तओ वि छट्ठीए तओ वि कणेरू तणो वि सामंतियं नामपट्टणं, तत्थेवज्झायगेहासन्ने लिंबपत्तेणं वणस्सई । तओ वि मणुएसुं खुज्जित्थी तओ वि मणुयत्ताए पंडगत्ते तओ वि मणुयत्तेणं दुग्गए तओ वि दुमए तओ वि पुढवादीसु भवकायट्ठिए पत्तेयं । तओ वि मणुए तओ वि बालतवस्सी तओ वि वाणमंतरे तओ वि पुरोहिए तओ वि मच्छे तओ वि सत्तमाए तओ वि गोणे तओ वि मणुए महासम्मदिट्ठीअविरए चक्कहरे तओ वि पढमाए तओ वि इब्भे तओ समणे अणगारे तओ वि अणुत्तरसुरे तओ वि चक्कहरे महासंघयणी भवित्ता णं निव्विन्नकामभोगे णं जहोवइट्ठं संपुन्नं संजमं काऊण गोयमा ! से णं सुमइजीवे परिनिव्वुडेज्जा । तहा य जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा पासंडीणं पसंसं करेज्जा जे यावि णं निण्हगाणं पसंसं करेज्जा जे णं निण्हयाणं अणुकूलं भासेज्जा जे णं निण्हयाणं आययणं पविसेज्जा जे णं निण्हगाणं गंथं सत्थपयक्खरं वा परूवेज्जा जे णं निण्हगाणं संतिए कायकिलेसाइए तवेइ वा संजमेइ वा जाणेइ वा विन्नाणेइ वा सुएइ वा पंडिच्चेइ वा अभिमुहमुद्धपरिसामज्झगए सिलाहेज्जा से वि णं परमाहम्मिएसु उववज्जेज्जा । जहा सुमती । से भयवं ! तेणं सुमइजीवे णं तक्कालं समणत्तं अणुपालियं तहा वि एवंविहेहिं नारयतिरियनरामरविवुत्तोवाएहिं एवइयं संसाराहिंडणं । गोयमा ! णं जमागमबाहाए लिंगग्गहणं कीरइ तं डंभमेव केवलं सुदीहसंसारहेउभूयं । णो णं तं परियायं लिक्खइ,तेणेव य संजमं दुक्करं मन्ने अन्नं च समणत्ताए से य पढमे संजमे संजमपए जं कुसीलसंसग्गणिरिहरणं । अहा णं णो णिरिहरेत्ता संजममेव ण ठाएज्जा ता तेणं सुमइणा तमेवायरियं तमेव पसंसियं तमेव उस्सप्पियमलाहियं तमेव अणुट्ठियं ति । एयं च सुत्तमइक्कमित्ता णं पच्छा एए जहा सुमती तहा अन्नेसिमवि सुंदरविउरसुदंसणसेहरणीलभद्दसुभोमेयखग्गधारिअणेगसमणदुदंतदेवरक्खियमुणिणादीणं को संखाणं करेज्जा,ता एयमट्ठं वियत्ताणं कुसीलसंजोगे सव्वहा वज्जणीए। से भयवं ! किं ते साहुणो तस्स णं णाइलसड्ढगस्स छंदेणं कुसीले उयाहु आगमजुत्तीए?, गोयमा ! कहं सड्ढगस्स पवरयस्सेरिसो मामत्थो जेणं सच्छंदत्ताए महाणुभावाणं सुसाहूणं अवन्नवायं भासे । तेणं सड्ढयेणं हरिवंसतिलयमरगयछविणो बावीसयधम्मतित्थयरअरिट्ठनेमिनाहस्स सयासे वंदणवत्तियाए गएणं आयारंगं अणंतगमपज्जवेहिं पन्नविज्जमाणं समवधारियं । तत्थ य छत्तीसआयारे पन्नविज्जति । तेसिं च णं जे केइ साहू वा साहुणी वा अन्नयरमायारमइक्कमेज्जा से णं गारत्थिहिं उवम्मेयं अहन्नहा समणुट्ठे वायरेज्जा, पन्नविज्जा वा तओ णं अणंतसंसारी भवेज्जा ?,गोयमा । जेणं तु मुहणंतगं अहिगं परिग्गहियं तस्स ताव पंचमहव्वयस्स भंगो। जेणं तु इत्थीए अंगोवंगाइं णिज्झाइऊणं णालोइयं तेणं तु बंभचेरगुत्ती विराहिया । तव्विराहणेणं जहा एगदेसंदड्ढो पडो दड्ढो भन्नइ तहा चउत्थमहव्वयं भग्गं । जेण य सहत्थे उ-

१–कुशीलसंसर्गेत भवभ्रमण यावत् वर्णनमुक्तम् ।

प्पाडिऊण दिन्ना भूयं पडिलाहिया तेण तु तइयमहव्वयं भग्गं, जेणं अणुग्गओ वि सूरिओ उग्गओ भणिओ तस्स य विइयवयं भग्गं, जेणं उण अफासुओदगेण अच्छीणि प-धोयाणि तहा अविहिए य थंडिलाणं सकमणं कयं वीयं कायं वा अक्कंतं वामाकप्पस्स अंचलग्गेणं हरियं संघट्टियं विज्जूए फुसिओ मुहणंतगेणं अजयणाए फडफडस्स वा-उक्कायमुदीरियं तेणं तु पढमं महव्वय भग्गं। तब्भंगे पंचण्हं पि महव्वयाणं भंगो कओ। तो गोयमा! आगमजुत्ती-ए एते कुसीले साहुणो। जओ णं उत्तरगुणाणं पि भंगं ण इट्ठं किं पुण जं मूलगुणाणं। से भयवं! ताए जयणा-ए णं वियारिऊणं महव्वए घेत्तव्वे?। गोयमा! इमे अट्ठे मम-ट्ठे। से भयवं! केणं अट्ठेणं? गोयमा! सुसमणेइ वा सुसा-वएइ वा ण तइयं भेयंतरं। अहवा जहोवइट्ठं सुसमणुत्तम-णुपालिया अहाणं जहोवइट्ठं सुसावगत्तमणुपालिया णो समणो समणत्तमणुमइयरेज्जा। णो सावगो सावयत्तमइ-यरेज्जा निरइयारं वयं पसंमते वय समणुट्ठे, णवरं जे समणधम्मे से णं अचंतघोरदुच्चरे तेणं असेसकम्मक्खयं जहन्नेणं पि अट्ठभवतरे मोक्खो। इयरेण तु सुद्धेणं देव-त्ताइं सुमाणुसत्तं वा सो य परंपरेण मोक्खो। नवरं पुणो वि ते सजमाउत्ता जे से समणधम्मे से अवियारे सुवियारे पवियारे तह त्ति समणुपालिया, उवासगाण पुण सहस्साणि विधाणे जो ज परिवाले तस्साइयारं च ण भवे तमेव गिण्हे। से भयवं! मो पुण णाइलसड्ढगो कहिं समु-प्पन्नो?, गोयमा! सिद्धीए। से भयवं! कहं?, गोयमा! तेणं महाणुभागेणं तेसिं कुसीलाणं णितुट्टेऊण तीए चेव बहु-सावयतरुसंडसंकुलाए घोरकंताराडईए सव्वपावकलिम-लकलंकविप्पमुक्कं तित्थयरवयणं परमहियं सुदुल्लह भ-वसएसु पि त्ति कलिऊणं अचंतविसुद्धासएणं फासुदेसं-भि निप्पडिकम्मनिरायार पडिवन्नं पायवोवगमणमणस-णं ति। अह अन्नया तेणेव पएसेणं विहरमाणो समा-गओ तित्थयरो अरिट्ठनेमी तस्स य अणुग्गहट्ठेण य अणुग्गहट्ठाए तेण य अचलियसत्तो भव(सत्तो) त्ति काऊणं उत्तिमट्ठाए साहणीकया साइसया देसणा। तमायन्नमा-णो सजलजलहरनिनायं देवदुंदुहीनिग्घोसं तित्थयरभा-रइं सुहज्झवसायपरो आरूढो खवगसेढीए अपुव्वक-रणेणं अंतगडकेवली जाओ। एतेणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ। जहा ण गोयमा! सिद्धीए। ता गोयमा! कुसीलसंसग्गीए विप्पजहियाए एवइयं अंतरं भव-इ त्ति बेमि। महा० ४ अ०।

ऋषभस्य नवतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। शो-भना मति सुमतिः। रागद्वेषरहितमतौ, त्रि०। कल्प०३ अ-धि० ६ क्षण। पाण्डुसेनराजस्य सुतायां मतभगिन्याम्, स्त्री०। आ० क० ४ अ०। आव०।

सुमइसूरि-सुमतिसूरि-पुं०। स्वनामख्याते लक्ष्मीसागरसूरि-शिष्ये, ग० ३ अधि०।

सुमउय-सुमृदुक-त्रि०। सुतरां मृदुक सुमृदुकम्। अत्यन्त-कोमल, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सुमंगल-सुमङ्गल-न०। प्रत्यन्तनगरविशेषे, ऐरवते वर्षे भवि-ष्यति षष्ठतीर्थंकरे, पुं०। प्रव० ७ द्वार। आव०। आ० म०। स्वनामख्याते ग्रामे, कृतपरमासान्तपारणको वीरस्वामी य-त्रागत सनत्कुमारेण वन्दित, प्रिय च पृष्ट। आ० चू०१ अ०। श्रेणिकमहाराजस्य पूर्वभवजीवे, आ० क०४ अ०। जम्बूद्वीपे भरते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति प्र-थमे तीर्थंकरे, स०। शत्रुञ्जयस्योद्धारकारके स्वनामख्याते गृहस्थे ती० १ कल्प।

सुमंगला-सुमङ्गला-स्त्री०। गजपुरनगरवास्तव्यस्य रत्नस-ञ्चयश्रेष्ठिनो भार्यायां गुणसागरमातरि, ध० र० २ अधि०। विमलयशोभूपते पत्न्यां पुष्पचूलस्य मातरि, ती० ४१ कल्प। भरतब्राह्मीरूपयुगलस्य एकोनपञ्चाशत्पुत्रयुगलस्य च मातरि,ऋषभपत्न्याम्, कल्प०१ अधि०७क्षण। आ०चू०। स०। आ० म०। " सुमगला जसवई भद्दा सहदेवी अइर-सिरिदेवी " आव० १ अ०।

सुमग्गिय-सुमार्गित-त्रि०। शोभनमार्गिते, प० चू०१ कल्प।

सुमड-सुमृत-त्रि०। सुष्ठु मृते, दश० ७ अ०।

सुमण-सुमनस्-त्रि०। शोभन धर्मध्यानादिप्रवृत्ततया मन-श्चित्त यस्य स सुमना। सद्गुणान्वितमनस्कत्वे,पञ्चा० १० विव०। आ० म०। सुखिनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। स्वनाम-ख्याते सुमित्रनामपरिव्राजकशिष्ये, पु०। दर्श० २ तत्त्व। रुचकसमुद्रस्य पूर्वार्धाधिपतौ देवे, जी०३ प्रति० ४ अधि०। द्वी०। गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद। पुष्पे, नपु०। बृ० १ उ० ६ प्रक०। अन्त०। दश०। सूत्र०। ज्ञा०।

सुमणदाम-सुमनोदामन्-न०। पुष्पमालायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सुमणभद्द-सुमनोभद्र-पु०। कस्यचिद् द्वीपस्य समुद्रस्य वाधिपतौ देवे, द्वी०। स्वनामख्याते श्रावस्तीनगरीवास्त-व्ये गृहपतौ, अन्त०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य बहुवर्षपर्या-य श्रामण्य परिपाल्य विपुले पर्वते सिद्ध इत्यन्तकृद्दशाना षष्ठे वर्गे द्वादशेऽध्ययने सूचितम्।) यक्षनिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

सुमणस-सुमनस्-पु०। नन्दीश्वरसमुद्रस्य पूर्वार्धाधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु०।

सुमणा-सुमनस्-स्त्री०। शक्राग्रमहिष्या पद्मायां दक्षिणपौ-रस्त्यरतिकरपर्वते राजधान्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। स०। भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहि-ष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। स्था०। चन्द्रप्रभस्य अग्रमनी-

र्थकरस्य प्रथमशिष्यायाम्, ति० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजभार्यायाम्, अन्त० । (सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य विंशतिवर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य सिद्धेत्यन्तकृद्दशानां सप्तवर्गस्य द्वादशेऽध्ययने सूचितम् ।) शोभनं मनो यस्याः सकाशाद्भवति सा सुमनाः। जम्ब्वा सुदर्शनायाम्, भवति हि ता पश्यतां महर्द्धिकानामपि मन. शोभनमतिरमणीयत्वात्। जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुमर-स्मृ-धा० । स्मरणे, "स्मरेर्भर-भूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहा." ॥ ८ । ४ । ७४ ॥ इति स्मरतेः सुमर इत्यादेश. । सुमरइ । स्मरति । प्रा० ४ पाद ।

सुमरित्तए-स्मर्तुम्-अव्य० । आध्यातुमित्यर्थे,"पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए" आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

सुमरुता-सुमरुत्-स्त्री०।स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजभार्यायाम्, अन्त० १ श्रु ६ वर्ग ७ अ०।(सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य विंशतिवर्षाणि प्रव्रज्या परिपाल्य सिद्धेत्यन्तकृद्दशानां सप्तवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने सूचितम् ।)

सुमहन्त-सुमहत्-त्रि० । अपारे, द्वा० २२ द्वा० ।

सुमहग्घ-सुमहार्घ-त्रि० । बहुमूल्ये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । औ० ।

सुमागह-सुमागध-पुं० । स्वनामख्याते वीरस्वामिनः पितृवयस्यराष्ट्रिके, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सुमालि-सुमालिन्-पुं० । लङ्कापुरीश्वरस्य दशग्रीवस्य तिजके, ती० ५१ कल्प ।

सुमिइंत-सुमृडत्-न० । वाद्यविशेषे, आ० चू० १ अ० ।

सुमिण-स्वप्न-पुं० । सामान्यफले स्वप्ने, भ० ११ श० ११ उ० । (एतेषा सम्यक् स्वरूपं, वीरस्य १० स्वप्नाश्च 'सुविण' शब्दे वक्ष्यन्ते ।) (गजादि १० स्वप्नरूपं 'वीर'शब्दे षष्ठभागे ।) "दुसुमिण वा कुसुमिण वा उग्गहएज्जा सपए ऊसासाण काउस्सग्ग" महा० १ चू० ।

पापस्वप्नं दृष्ट्वा आलोचयेत् ।

णवरं सुहासुहं सम्मं, सुविणगं समवधारए ।
जं तत्थ सुविणगं पासे, तारिसगं तं तहा भवे ॥ ५१ ॥
जइणं सुंदरमं पासे, सुमिणगं तो इमं महा ।
परमत्थतत्तसारत्थं, सल्लुद्धरणं सुणेतु णं ॥ ५२ ॥
देजा आलोयणं सुद्धं, अट्ठमट्ठाणविरहिओ ।
रजंतो धम्मतित्थयरे, सिद्धे लोगग्गसंठिए ॥ ५३ ॥

महा० १ अ० ।

तथा सुस्वप्नदुःस्वप्नाभ्यां यत्कथ्यते शुभाशुभं तत् स्वप्नाख्यं निमित्तम् । यथा—"देवेभ्यात्मजबान्धवोत्सवगुरुच्छत्राम्बुजप्रेक्षण, प्राकारद्विरदाम्बुदद्रुमगिरिप्रासादसरोहणम् । अम्भोधेस्तरणं सुरामृतपयोदध्ना च पान तथा, चन्द्रार्कग्रसनं स्थितं शिवपदे स्वापे प्रशस्तं नृणाम्" ॥ १ ॥ इत्यादि । प्रव० २५७ द्वार । (मानुषत्वदौर्लभ्ये स्वप्नदृष्टान्त. 'माणुस्स शब्दे षष्ठभागे गत' ।)

सुमिणजागरिया-स्वप्नजागरिका-स्त्री० । स्वप्नसंरक्षणाय जागरिका-निद्रानिरोध. स्वप्नजागरिका । स्वप्नसंरक्षणार्थे निद्रानिरोधे, भ० ११ श० ११ उ० ।

सुमिणभद्द-स्वप्नभद्र-पुं० । माढरसगोत्रस्य संभूतविजयस्य षष्ठे शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सुमिणुग्गह-स्वप्नावग्रह-पुं० । स्वप्नानां स्मरणे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुमित्त-सुमित्र-पुं० । मल्लितीर्थकृता सह प्रव्रजिते तद्गणधरे ज्ञातकुमारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । श्रीपुरनगरवास्तव्यस्य समुद्रदत्तस्य पुत्रे,ध० र० २ अधि० ३ लक्ष० । (मित्रीभावोपरिकथा उज्जुववहार ' शब्दे द्वितीयभागे ७४१ पृष्ठे गता ।) स्वनामख्याते परिव्राजके, दर्श० २ तत्त्व ।

सुमित्तविजय-सुमित्रविजय-पुं० । एकविंशतीर्थकरस्य नमेः पितरि, आव० १ अ० । ति० । प्रव० । स० । जम्बूद्वीपे भरते वर्षे अस्यामुत्सर्पिण्या जातस्य सगरचक्रवर्तिनः पितरि शान्तितीर्थकरस्य प्रथमभिक्षादायके, स० ६ सम० ।

सुमित्ता-सुमित्रा स्त्री० । मुनिसुव्रतमातरि, ती० १० कल्प ।

सुमुइय-सुमुदित-त्रि० । अतिहृष्टे, औ० ।

सुमुणिय-सुज्ञात-त्रि० । सुष्ठुज्ञाते, ध० २ अधि० ।

सुमुणियपरमत्थ-सुज्ञातपरमार्थ-त्रि० । परिज्ञातपरमार्थे,ध० २ अधि० ।

सुमुह-सुमुख-पुं० । स्वनामख्याते काम्पिल्यराजे, आ० चू० । "कंपिल्ल नगरं तत्थ सुमुहो राया, सो इंदकेतु पासति लोकेण महिज्जतं अणेगकुडभीसहस्सपरिमंडिताभिरामं पुणो य विलुत्तं पडितं च मुत्तपुरीसाण मज्झे सो वि सबुद्धो,जो इंदकेतु सुयलकिय पासति सो विहरति ।" विमलवाहनस्य राज्ञो मन्त्रिणि. आ० चू० ४ अ० । ती० । कल्प० । जम्बूद्वीपे भरते वर्षे उत्सर्पिण्या भविष्यति सुद्मापरनामके कुलकरे, ती० २० कल्प । ति० । सकर्षणबलदेवस्य धारिणीकुक्षिसंभूते पुत्रे, अन्त० ३ वर्ग६अ० । (स च अरिष्टनेमेः समीपे प्रव्रज्य गजसुकुमार इव दीक्षा परिपाल्य सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां तृतीये वर्गे नवमेऽध्ययने सूचितम् ।)

सुमुहुत्त-सुमुहूर्त-पुं० । सुन्दरमुहूर्ते,प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

सुमेरुप्पम-सुमेरुप्रभ-पु० । मेघकुमारस्य तृतीयपूर्वभवजीवे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । (' मेघकुमार ' शब्दे षष्ठे भागे कथा गता ।)

सुमेहा-सुमेघा-स्त्री० । ऊर्ध्वलोकवास्तिन्यां स्वनामख्याताया दिक्कुमारिकायाम्,आ० म० १ अ० । स्था० । ति० । आ० चू० ।

सुमोक्ख-सुमोक्ष-पुं० । भावरूपादिव्युदासेन निरुपमसुखे, पं० व० ३ द्वार ।

सुय-शुक-पुं० । व्यासपुत्रे,ज्ञा० १श्रु० ५ अ० । (' थावच्चापुत्त ' शब्दे चतुर्थभागे २४०६ पृष्ठे कथा गता ।) पक्षिविशेषे, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० । औ० । प्रश्न०

श्रुत-त्रि० । आकर्णिते, उत्त० ५ अ० । सूत्र० । अवधारिते, उत्त० २ अ०।स० । श्रोत्रेन्द्रियविषयीकृते,स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

अवगते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । श्रवणपथमुपागते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । श्रोत्रेन्द्रियेण विशेषतोऽभिमते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । उपलब्धे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अधीते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । श्रूयते इति श्रुतम् । भावे क्तप्रत्यये कृते नपुंसकता । शब्दे, पा० । " सुयं मे आउसंतेणं " श्रूयते तदिति श्रुतं प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टम् आत्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते । श्रुतम्—आकर्णितम्–अवधारितमिति यावत् । दश० ४ अ० । ('ञसणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽस्य विस्तरो गतः ।)

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं । (सू० १)

अस्य च व्याख्या संहितादिक्रमेणेति, आह च भाष्यकार –
" सुत्तं१ पयं २ पयत्थो ३, संभवतो विग्गहो ४ वियारो य ५ ।
दूसियसिद्धी ६ नयमय-विसेसओ नेयमणुसुत्तं ॥ १ ॥ "

तत्र सूत्रमिति संहिता , सा चानुगतैव , सूत्रानुगमस्य तद्रूपत्वादिति । आह च—" होइ कयत्थो वोत्तुं सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो " त्ति सूत्रे चास्खलितादिगुणोपेते उच्चारिते केचिदर्थाः अवगताः प्राज्ञानां भवन्त्यतः संहिता व्याख्याभेदो भवति, अनधिगतार्थाधिगमाय च पदादयो व्याख्याभेदाः प्रवर्त्तन्ते इति , तत्र पदानि—' श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातमिति । एवं पदेषु व्यवस्थापितेषु सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः । तत्र चेयं व्यवस्था—" जत्थ उ जं जाणेज्जा , निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि य न जाणेज्जा , चउक्कयं निक्खिवे तत्थ " ॥ १ ॥ त्ति तत्र नामश्रुतं स्थापनाश्रुतं च प्रतीतम् । द्रव्यश्रुतमधीयानस्यानुपयुक्तस्य पत्रकपुस्तकन्यस्तं वा, भावश्रुतं तु श्रुतोपयुक्तस्येति । इह च भावश्रुतेन श्रोत्रेन्द्रियोपयोगलक्षणेनाधिकार । (स्था०) इह च संयमायुषा यश कीर्त्यायुषा चाधिकार इति, एवं शेषपदानां यथासम्भवं निक्षेपो वाच्य इति, उक्तः सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेप । पदार्थः पुनरेवम्—इह किल सुधर्मस्वामी पञ्चमो गणधरदेवो जम्बूनामानं स्वशिष्यं प्रति प्रतिपादयाञ्चकार । श्रुतम्—आकर्णितम् ' मे ' मया 'आउस' त्ति–आयुः जीवितं तत्संयमप्रधानतया प्रशस्तं प्रभूतं वा विद्यते यस्यासावायुष्मांस्तस्यामन्त्रणं हे आयुष्मन् !–शिष्य ! ' तेणं ' ति—यः सन्निहितव्यवहितसूक्ष्मबादरबाह्याध्यात्मिकसकलपदार्थैरव्याहतवचनतयाऽऽप्तत्वेन जगति प्रतीतः, अथवा—पूर्वभवोपात्ततीर्थकरनामकर्मादिलक्षणपरमपुण्यप्राग्भारो विलीनानादिकालीनमिथ्यादर्शनादिवासना परिहृतमहाराज्यो दिव्याद्युपसर्गवर्गसंसर्गाविचलितशुभध्यानमार्गो भास्कर इव घनघातिकर्ममेघनाघनपटलविघटनोल्लसितविमलकेवलभानुमण्डली विबुधपतिपद्मपटलजुष्टपादपद्मो मध्यमाभिधानपुरीप्रथमप्रवर्त्तितप्रवचनो जिनो महावीरस्तेन—भगवता अष्टमहाप्रातिहार्यरूपसमग्रैश्वर्यादियुक्तेन एव–मित्यमुना वक्ष्यमाणेनैकत्वादिना प्रकारेण ' आख्यात ' मिति आ—मर्यादया जीवाजीवलक्षणासङ्कीर्णतारूपया अभिविधिना वा—समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलक्षणेन ख्यातं–कथितं आख्यातमात्मादि वस्तुजातमिति गम्यते । अत्र च श्रुतमित्यनेनावधारणाभिधायिना स्वयमवधारितमेवान्यस्मै प्रतिपादनीयमित्याह–अन्यथाऽभिधाने प्रत्युतापायसम्भवात् , उक्तञ्च—" किं एत्तो पावयरं ? सम्मं अणहिगयधम्मसब्भावो । अन्नं कुदेसणाए, कट्ठयरागम्मि पाडेइ " ॥ १ ॥ त्ति " मये " त्यनेनोपक्रमद्वाराभिहितभावप्रमाणद्वारगतात्मानन्तरपरम्परभेदभिन्नागमेऽयं वक्ष्यमाणो ग्रन्थोऽर्थतोऽनन्तरागमः सूत्रतस्त्वात्मागम इत्याह—" आयुष्मन्नि ' त्यनेन तु कोमलवचोभिः शिष्यमनः प्रह्लादयताऽऽचार्येणोपदेशो देय इत्याह । उक्तञ्च—" धम्ममइएहिँ अइसु-न्दरेहिँ कारणगुणोवणीएहिं । पल्हायंतो य मणं, सीसं चोएइ आयरिओ ॥ १ ॥ " त्ति । आयुष्मत्त्वाभिधानं चात्यन्तमाह्लादकम् , प्राणिनामायुषोऽत्यन्ताभीष्टत्वात् , यत उच्यते—
" सव्वे पाणा पियाउया अप्पियवहा सुहासया दुक्खपडिकूला सव्वे जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं " ति । तथा " तृणायापि न मन्यन्ते , पुत्रदारार्थसंपदः । जीवितार्थे नरास्तेन , तेषामायुर्गतिप्रियम् ॥ १ ॥ " इति । अथवा—आयुष्मन्नित्यनेन ग्रहणधारणादिगुणवते शिष्याय शास्त्रार्थो देय इति ज्ञापनार्थं सकलगुणाधारभूतत्वेनाशेषगुणोपलक्षणेन चिरायुर्लक्षणगुणेन शिष्यामन्त्रणमकारि । यत उक्तम्—" बुड्ढे वि दोणमेहे, न कण्हभूमाउ लोट्टए उदयं । गहणधरणासमत्थे, इय देयमच्छित्ति कारिम्मि ॥ १ ॥ " विपर्यये तु दोष इति । आह च—" आयरिए सुत्तम्मि य, परिवाओ सुत्तअत्थपलिमंथो । अन्नेसिं । पि य हाणी , पुट्ठावि न दुद्धदा वंझा ॥ १ ॥ " इति । तथा ' तेने ' त्यनेन त्वाप्तत्वादिगुणप्रसिद्धनाऽभिधायकेन प्रस्तुताध्ययनप्रामाण्यमाह–वक्तृगुणापेक्षत्वाद्वचनप्रामाण्यस्येति, 'भगवते' त्यनेन तु प्रस्तुताध्ययनस्योपादेयतामाह, अतिशयवान् किलोपादेयः, तद्वचनमपि तथेति, अथवा—' तेणं ' ति–अनेनोपोद्घातनिर्युक्त्यन्तर्गतं निर्गमद्वारमाह, यो हि मिथ्यात्वतमःप्रभृतिभ्यो दोषेभ्यो निर्गतस्ततो निर्गतमिदमध्ययनं क्षेत्रतोऽपापायाः कालतो वैशाखशुद्धैकादश्यां पूर्वाह्ने भावे क्षायिके वर्त्तमानादिति, एवं च गुरुपर्वक्रमलक्षणः सम्बन्धोऽस्य प्रदर्शितो भवति, तथा तथाविधेन भगवता यदुक्तं तत् सप्रयोजनमेव भवतीति सामान्यतः सप्रयोजनता चास्योक्ता, न हि पुरुषार्थानुपयोगि भगवन्तो भाषन्ते, भगवत्त्वहानेः, अत एव चास्योपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्धोऽपि दर्शितः , इदं हि भगवदाख्यातं ग्रन्थरूपापन्नमुपायः, पुरुषार्थस्तूपेय इति, अत एव चात्र श्रोतारः श्रवणे प्रवर्त्तिताः, यतः—" सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं , श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते । शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः , सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥ १ ॥ " इति । ' एव ' मित्यनेन तु भगवद्वचनादात्मवचनस्यानुत्तीर्णतामाह, अत एव स्ववचनस्य प्रामाण्यम् सर्वज्ञवचनानुवादमात्रत्वादस्येति , अथवा–' एव ' मित्येकत्वादिः प्रकारोऽभिधेयतया निर्दिष्टः , निरभिधेयताऽऽशङ्कया श्रोतॄणां काकदन्तपरीक्षायामिवाप्रवृत्तिरत्र माभूदिति, आख्यातमित्यनेन तु नापौरुषेयवचनरूपमिदम्, तस्यासम्भवादित्याह , यत उक्तम्—" वेयवयणं न माणं, अपोरुसेयं ति निम्मियं (तम्मयं) जेण । इदमथंत—

विरुद्धं , वयणं च अपोरुसेयं च ॥ १ ॥ जं वुच्चइ त्ति
वयणं , पुरिसाभावे उ नेयमेवं ति ।.ता तस्सेवाभावो, निय-
मेण अपोरुसेयत्ते ॥२॥" इति । अथवा—आख्यातं भगवते-
द , न कुडयादिनि सृतम् , यथा कैश्चिदभ्युपगम्यते--"त-
स्मिन् ध्यानसमापन्ने , चिन्तारत्नवदास्थिते । निःसरन्ति य-
थाकामं, कुडयादिभ्योऽपि देशनाः ॥ १ ॥ " इत्यस्यानेनान-
भ्युपगममाह, यतः—" कुडयादिनि:सृतानां तु , न स्यादा-
प्तोपदिष्टता । विश्वासश्च न तासु स्या—त्केनेमा: कीर्तिता
इति ? ॥ १ ॥ " समस्तपदसमुदायेन त्वात्मौद्धत्यपरिहारे-
ण गुरुगुणप्रभावनापरैरेव विनेयेभ्यो देशना विधेयेत्या-
ह, एवं हि तेषु भक्तिपरता स्यात् , तया च विद्यादेरपि
सफलता स्यादिति , यदुक्तम्—" भत्तीए जिनवराण , खि-
ज्जंति य पुव्वसंचिया कम्मा । आयरियनमोक्कारेण , वि-
ज्जा मंता य सिज्झंति ॥ १ ॥ " त्ति । नमस्कारश्च भक्तिरेवे-
ति । अथवा—' आउसंतेणं ' ति--भगवद्विशेषणम् , आयुष्म
ता भगवता , चिरजीविनेत्यर्थ , अनेन भगवद्बहुमानगर्भेण
मङ्गलमभिहितम् । भगवद्बहुमानस्य मङ्गलत्वादिति चोक्तमेव
यद्वा--' आयुष्मते ' ति परार्थप्रवृत्त्यादिना प्रशस्तमायुर्धार-
यता न तु मुक्तिमवाप्यापि तीर्थनिकारादिदर्शनात् पुनरि-
हायातेनाभिमानादिभावतोऽप्रशस्तम् । यथोच्यते कैश्चित्-
"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य , कर्त्तार परमं पदम् । गत्वाऽऽ-
गच्छन्ति भूयोऽपि , भवं तीर्थनिकारत ॥ १ ॥ " " यदा
यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ! । अभ्युत्थानमधर्म-
स्य , तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ २ ॥" एव ह्यनुन्मूलितरा-
गादिदोषत्वात् तद्वचसोऽप्रामाण्यमेव स्यात् , नि शेषोन्मूल
ने हि रागादीना कुत पुनरिहागमनसम्भव इति ? । अथ-
वा—आयुष्मता—प्राणधारणधर्मवता न तु सदा सशु-
द्धेन , तस्याकरणत्वेनाख्यातृत्वासम्भवादिति । यद्वा—
' आउसंतेणं ' ति-मयेत्यस्य विशेषणम् , तत आङिति-गु
रुदर्शितमर्यादया वसता , अनेन तत्त्वतो गुरुमर्यादावर्त्ति-
स्वरूपत्नात् गुरुकुलवासस्य तद्विधानमर्थत उक्तम् , ज्ञाना-
दिहेतुत्वात्तस्य । उक्तञ्च—" णाणस्स होइ भागी , थिरय-
रओ दसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए , गुरुकुलवासं न
मुंचति ॥ १ ॥ गीयावासो रती धम्मे , अणाययणवज्जणं ।
निग्गहो य कसायाणं , एय धीराण सासणं ॥ २ ॥ " ति ।
अथवा—' आमुसतेण ' नि—आमृशता भगवत्पादारविन्द
भक्तिन. करतलयुगलादिना स्पृशता , अनेनैतदाह—अधि-
गतसकलशास्त्रेणापि गुरुविश्रामणादिविनयकृत्यं न मोक्तव्यम्,
उक्तं हि—" जहा हि अग्गी जलणं णमसे णाणा हुती मंतप-
याभिसित्तं । एवायरीय उवचिट्ठएज्जा. अणतणाणोऽवगओऽवि
सतो ॥१॥" त्ति । यद्वा-'आउसंतेणं' ति-आजुषमाणेन-श्रव-
णविधिमर्यादया गुरुमासेवमानेन, अनेनाप्येतदाह--विधि-
नैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशाच्छ्रोतव्यम् , नतु यथा कथ-
ञ्चित् । यत आह—" निद्दाविगहापरिव-ज्जिएहिं गुत्तेहि प-
जलिउडेहिं । भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥ १ ॥"
इत्यादि , एयमुक्त. पदार्थः । पदविग्रहस्तु सामासिकपदवि-
षय. स चाख्यातमित्यादिषु दर्शित इति । इदानीं चाल
नाप्रत्यवस्थाने , ते च शब्दतोऽर्थतश्च । तत्र शब्दत -
ननु ' मे' इत्यस्य मम मयं चेति व्याख्यानमुचितं षष्ठीच-
तुर्थ्योरेवैकवचनान्तस्यास्मत्पदस्य, ' मे ' इत्यादेशादिति, अ-
त्रोच्यते—' मे ' इत्यय विभक्तिप्रतिरूपकोऽव्ययशब्दस्तृती-
यैकवचनान्तोऽस्मच्छब्दार्थे वर्त्तत इति न दोषः । अर्थ-
तस्तु चालना—ननु वस्तु नित्यं वा स्यादनित्य वा ? ,
नित्य चेत्तर्हि नित्यस्याप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वरूपत्वाद्यो
भगवत. सकाशे श्रोतृत्वस्वभावः स एव च कथं शिष्योप-
देशकत्वस्वभाव इति ?, किंच—शिष्योपदेशकत्व त्वस्य पू-
र्वस्वभावत्यागे स्यादत्यागे वा ?,यदि त्यागे हन्त हत वस्तुनो
नित्यत्वं,वस्तुन. स्वभावाव्यतिरिक्तत्वेन तत्क्षये तत्क्षतेरिति,
अपरित्याग इति चेत् , न, विरुद्धयोः स्वभावयोर्युगपद-
सम्भवादिति । अथ चानित्यमिति पक्षस्तदपि, न, निरन्व-
यनाशे हि श्रोतु. श्रवणकाल एव विनष्टत्वात् कथनावसरे-
ऽन्यस्यैवोत्पन्नत्वादकथनप्रसङ्गः , यज्ञदत्तश्रुतस्य देवदत्ता-
कथनवदिति । अत्र समाधिर्नयमतेनेति नयद्वारमवतरति,
तत्र नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नया ,
तत्र चाद्यास्त्रयो द्रव्यमेवार्थोऽस्तीति वादितया द्रव्यार्थिंके
ऽवतरन्ति, इतरे तु पर्याय एवार्थोऽस्तीति वादितया पर्या-
यार्थिकनये,तदेवमुभयमताश्रयणे द्रव्यार्थितया नित्यं वस्तु
पर्यायार्थितया त्वनित्यमिति नित्यानित्य वस्त्विति प्रत्ये--
कपक्षोक्तदोषाभावो गुडनागरादिवदिति । एवमेव च सक-
लव्यवहारप्रवृत्तिरिति । उक्तं च—" सव्व च्चिय पइमसयं,
उप्पज्जइ नासए य निच्च च । एवं चेव य सुहदु-क्खव-
धमोक्खादिसब्भावो ॥ १ ॥" त्ति । उक्त सूत्रस्पर्शिकनिर्यु-
क्त्यनुगमः । स्था० १ ठा० । श्रूयते तदिति श्रुतम् .प्रतिविशि-
ष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्र भगवता निसृष्टम् । आत्मी-
यश्रवणकोटरप्रविष्ट क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भावका-
रणं श्रुतमित्युच्यते,श्रुतमवधृतमवगृहीतमिति पर्याया ।दश०
४ अ० । आचा० । श्रवणं श्रुतम् । अभिलापप्लावितार्थग्रहण-
स्वरूपे उपलब्धिविशेषे, अनु० । वाच्यवाचकभावपुरस्स-
रीकारेण शब्दसंसृष्टग्रहणहेतावुपलब्धिविशेषे एवमाकार
वस्तु कालधारणाद्यर्थक्रियासमर्थघटशब्दवाच्यमित्यादि—
रूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामे शब्दा-
र्थपर्यालोचनानुसारिणि इन्द्रियमनोनिमित्ते अवगमविशेषे,
आ० म० १ अ० । प्रव० । अर्थश्रवणे, नं० । द्वा० । शृणोती-
ति श्रुतम् । आत्मनि तदनन्यत्वात् । श्रुतज्ञाने च । आ० म० १
अ० । "तं तेण तओ तंमिव सुणेइ सो या सुयं तेणं" । अनु० ।

अथ श्रुतव्युत्पत्तिमाह—' तं तेण' इत्यादि श्रूयते आत्म-
ना तदिति श्रुतं शब्द. । अथवा-श्रूयतेऽनेन श्रुतज्ञाना-
वरणक्षयोपशमेन श्रूयते तस्मात् क्षयोपशमाच्छ्रूयते तस्मि-
न् क्षयोपशमे सतीति श्रुत क्षयोपशमः 'सुणेइ सो व ' त्ति-
शृणोतीति श्रुतमसौ आत्मा इति वा व्युत्पत्तिरित्यर्थः, 'सुय
तेण ति—येनैव व्युत्पत्तिस्तेन कारणेन श्रुतमुच्यत इत्यर्थ. ।
विशे० । स्था० । गुरुसमीपे श्रूयते इति श्रुतम् । अनु० । क-
र्म० । वृ० । द्वादशाङ्गे, स्था० २ ठा० १ उ० । आगमे, स्था०
३ ठा० २ उ० । अङ्गोपाङ्गप्रकीर्णादिभिन्ने आगमे , उत्त० १
अ० । स्था० । पा० । ध० । दर्श० । स० । नं० । जीवादिपदार्थ-
सूचके.सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।सूत्रे, श्रुतग्रन्थसिद्धान्तप्रवचना-
ज्ञोपदेशागमादीनि श्रुतैकार्थिकनामानि ।

सूत्रस्य पर्यायानाह—

**सुयसुत्तगंथसिद्धं–तसासणे आणवयणउवएसो ।
पएणवणागमे इय, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १७७ ॥**

श्रुतम् , सूत्रम् , ग्रन्थः, सिद्धान्तः, शासनम् , आज्ञा, वचनम् , उपदेशः, प्रज्ञापना, आगम इति , एते दश पर्याया एकार्थाः । सू० १ उ० १ प्रक० । विशे० । उत्त० । आव० । श्रुत सामायिकादिबिन्दुसारान्तम् । आव० ४ अ० । स० । ध० । स्वाध्याये, स० ३० सम० । स्वदर्शनपरदर्शनानुगतसकलशास्त्रे, नं० । आचा० । (मतिश्रुतभेदः ' णाण ' शब्दे चतुर्थभागे १८४१ पृष्ठे गतः ।)

श्रुतनिक्षेपः—

से किं तं सुतं , सुतं चउव्विहं पएणत्तं । तं जहा नामसुअं, ठवणासुअं, दव्वसुअं, भावसुअं । (सू० २९)

अथ किं तत् श्रुतमिति प्रश्न , अत्र निर्वचनं ' सुअं चउव्विहमि ' त्यादि श्रुतम्—प्राग्निरूपितशब्दार्थं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् , तद्यथा—नामश्रुतम् , स्थापनाश्रुतम् , द्रव्यश्रुतम् , भावश्रुत च ।

तत्राऽऽद्यभेदनिर्णयार्थमाह—

से किं तं नामसुअं ? , णामसुअं जस्स णं जीवस्स वा ०जाव सुए त्ति नामं कज्जइ से त नामसुअं । (सू० ३०)

अत्र निर्वचनं नामश्रुतम् , ' जस्स णमि ' इत्यादि , यस्य जीवस्स वा अजीवस्य वा जीवाना वा अजीवाना वा तदुभयस्य वा तदुभयाना वा श्रुतमिति यन्नाम क्रियते तन्नामश्रुतमित्यादिपदेन सम्बन्ध , नाम च तत् श्रुतं चेति व्युत्पत्ते । अथवा—यस्य जीवादे. श्रुतमिति नाम क्रियते तज्जीवादि वस्तु नामश्रुतम् , नाम्ना नाममात्रेण श्रुत नामश्रुतमिति व्युत्पत्ते । तत्र जीवस्य कथं श्रुतमिति नाम सम्भवतीत्यादिभावना यथा नामावश्यके तथा तदनुसारेण यथासम्भवमभ्यूह्य वाच्या, ' से तमि ' त्यादि निगमनम् । उक्तं नामश्रुतम् ।

अथ स्थापनाश्रुतनिरूपणार्थमाह—

से किं तं ठवणासुअं ?, जं णं कट्ठकम्मे वा ०जाव ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणासुअं । नामठवणाणं को पइविसेसो ?, नाम आवकहियं ठवणा इत्तरिआ वा होज्जा आवकहिआ वा । (सू० ३१)

अत्र निर्वचनम्—' ठवणासुअ ज णमि ' त्यादि, अत्र व्याख्यानं यथा स्थापनावश्यके तथा सप्रपञ्च द्रष्टव्यम् , नवरमावश्यकस्थाने श्रुतमुच्चारणीयम् , काष्ठकर्मादिषु श्रुतपठनादिक्रियावन्त एकादिसाध्वादयः स्थाप्यमाना. स्थापनाश्रुतमिति तात्पर्यम् । ' से तमि ' त्यादि निगमनम् । "नामठवणाणं को पइविसेसो ? " इत्यादि पूर्वं भावितमेव , वाचनान्तरे तु ' नामठवणाओ भणियाओ ' इत्येतदेव दृश्यते, आवश्यकनामस्थापनासमानेन प्रायोऽभिन्नार्थत्वात् श्रुतनामस्थापनेऽप्युक्ते एव भवत., इत्यतो नात्र ते पुनरुच्येते इति भाव. ।

द्रव्यश्रुतनिरूपणार्थमाह—

से किं तं दव्वसुयं ?, दव्वसुयं दुविहं पएणत्तं, तं जहा– आगमतो अ, नो आगमतो अ । (सू० ३२)

अत्र निर्वचनम्—' दव्वसुअं दुविहमि ' त्यादि , द्रव्यश्रुत द्विविधं प्रज्ञप्तम् , तद्यथा—आगमतो, नोआगमतश्च ।

अत्राऽऽद्यभेदनिर्णयार्थमाह—

से किं तं आगमतो दव्वसुअं ?, आगमतो दव्वसुय जस्स णं सुए त्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं० जाव णो अणुप्पेहाए कम्हा ?, अणुवओगो दव्वमिति कट्टु,नेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वसुयं ० जाव कम्हा ?, जइ जाणए अणुवउत्ते न भवइ । से तं आगमतो दव्वसुअं । (सू० ३३)

अत्र निर्वचनम्–'आगमओ दव्वसुअमि ' त्यादि, यस्य कस्यचित् श्रुतमिति पद श्रुतपदाभिधेयमाचारादिशास्त्र शिक्षितं स्थितं यावद्वाचनोपगत भवति स जन्तुस्तत्र वाचनाप्रच्छनादिभिर्वर्तमानोऽपि श्रुतोपयोगेऽवर्तमानत्वादागमत आगममाश्रित्य द्रव्यश्रुतमिति समुदायार्थ । शेषोऽत्राऽऽक्षेपपरिहारादिप्रपञ्चो नयविचारणा च द्रव्यावश्यकवत् द्रष्टव्या, अत एव सूत्रेऽप्यतिदेश कुर्वता ' जाव कम्हा ?, जइ जाणए ' इत्यादिना पर्यन्तनिर्दिष्टानां शब्दनयाना सम्बन्धि सूत्रालापको गृहीत. । एतच्च काञ्चिदेव वाचनामाश्रित्य व्याख्यायत, वाचनान्तराणि तु हीनाधिकान्यपि दृश्यन्ते. ' से तमि ' त्यादि निगमनम् । उक्तमागमतो द्रव्यश्रुतम् ।

इदानी नोआगमतस्तदेवोच्यते—

से किं तं नोआगमतो दव्वसुअं ?, नोआगमतो दव्वसुअ तिविहं पएणत्तं, तं जहा–जाणयसरीरदव्वसुअं भविअसरीरदव्वसुअ जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअं। (सू० ३४)

अत्र निर्वचनम्–' नोआगमतो दव्वसुअ तिविहमि' त्यादि, 'जाणयसरीरदव्वसुअ भविअसरीरदव्वसुअ जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअ ' ।

अत्राऽऽद्यभेदज्ञापनार्थमाह—

से किं तं जाणयसरीरदव्वसुअं ?, जाणयसरीरदव्वसुयं सुअ त्ति पयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं तं चेव पुव्वभणिअं भाणिअव्वं ० जाव से तं जाणयसरीरदव्वसुअं । (सू० ३५)

अत्रोत्तरम्–' जाणयसरीरदव्वसुय सुअत्ती ' त्यादि, ज्ञातवानिति ज्ञस्तस्य शरीरं तदेवानुभूतभावत्वाद् द्रव्यश्रुतं ज्ञशरीरद्रव्यश्रुत, श्रुतमिति यत्पद तदर्थाधिकारज्ञायकस्य यच्छरीरक व्यपगतादिविशेषणविशिष्टं तज्ज्ञशरीरद्रव्यश्रुतमित्यर्थः । ननु यदि जीवविप्रमुक्तमिदं कथ तर्हीस्य द्रव्यश्रुतत्वम् ?, लेष्ट्वादीनामपि तत्प्रसङ्गात् , तत्पुद्गलानामपि कदाचित् श्रुतकर्तृभि गृहीत्वा मुक्तत्वसम्भवादित्याशङ्क्याह–' सज्जागयमि ' त्यादि, शेषोऽत्रावयवव्याख्या

द्विप्रपञ्चो ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकवत्, श्रुताभिलापतो वाच्यः, यावत् 'से तमि ' त्यादि निगमनम्।

द्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह—

से किं तं भविअसरीरदव्वसुअं ?, भविअसरीरदव्वसुयं जे जीवे जोणीजम्मणणिक्खंते जहा दव्वावस्सए तहा भाणिअव्वं ०जाव से तं भविअसरीरदव्वसुअं। (सू०३६)

अत्र प्रतिवचः--' भविअसरीरदव्वसुअं जे जीवे ' इत्यादि, विवक्षितपर्यायेण ' भविष्यतीति भव्यो--विवक्षितपर्यायार्ह तद्योग्य इत्यर्थः, तस्य शरीर तदेव भाविभावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुत भव्यशरीरद्रव्यश्रुतम्, किं पुनस्तदिति अत्रोच्यते—यो जीवो योनिजन्मत्वनिष्क्रान्तोऽनेनैव शरीरसमुच्छ्रयेणादत्तेन जिनोपदिष्टेन भावेन श्रुतमित्येतत् पदमागामिकाले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते तज्जीवाधिष्ठितं शरीर भव्यशरीरं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । शेषं द्रव्यावश्यकवत् श्रुताभिलापेन सर्वं वाच्यम्, यावत् ' स त ' मित्यादि निगमनम्। अनु०।

अथ भावश्रुतनिरूपणार्थमाह--

से किं तं भावसुयं ?, भावसुयं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-आगमतो अ, नोआगवतो अ।(सू० ३८)

अत्रोत्तरम्—' भावसुअं दुविहमि ' त्यादि , विवक्षितपरिणामस्य भवन भाव स चासौ श्रुतं चेति भावश्रुतं भावप्रधान वा श्रुतं भावश्रुत, तद् द्विविधं प्रज्ञप्तम्-आगमतो, नोआगमतश्च।

तत्राऽऽद्यभेदनिरूपणार्थमाह—

से किं तं आगमतो भावसुअं ? , आगमतो भावसुयं जाणए उवउत्ते, से तं आगमतो भावसुअं। (सू० ३६)

अत्रोत्तरम्-श्रुतपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्त आगमत —आगममाश्रित्य भावश्रुतम् श्रुतोपयोगपरिणामस्य सद्भावात् तस्य चाऽऽगमत्वादिति भाव ' से तमि ' त्यादि निगमनम्।

अथ द्वितीयभेद उच्यते--

से किं तं नोआगमतो भावसुअं ? , नोआगमतो भावसुयं दुविहं पण्णत्तं , तं जहा--लोइअं, लोगुत्तरिअं च । (सू०-४०)

अत्रोत्तरम्--' नोआगमओ भावसुअं दुविहं पण्णत्तं , लोइअं लाउत्तरिअमि ' त्यादि ।

अत्राऽऽद्यभेदनिरूपणार्थमाह—

से किं तं लोइअं नोआगमतो भावसुअं ?, लोइअं नो-आगमतो भावसुयं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठीहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं, तं जहा--भारहं रामायणं भीमासुरुक्कं कोडिल्लयं घोडयमुहं सगडभद्दिआउ कप्पासियं णागसुहुमं कणगसत्तरीवेसियं वइसेसियं बुद्धसासणं काविलं लोगायतं सट्ठियंतं माढरपुराणवागरणनाडगाइ । अहवा--बावत्तरिकलाओ, चत्तारि वेआ संगोवंगा, से तं लोइयं नो आगमतो भावसुं। (सू० ४१)

अत्र निर्वचनम्—' लोइय भावसुअं जं इममि ' त्यादि, लौकैः प्रणीतं लौकिकं, किं पुनस्तदित्याह-यदिदमज्ञानिकैमिथ्यादृष्टिभिः स्वच्छन्दबुद्धिमतिविकल्पितं तल्लौकिकं भावश्रुतमिति सम्बन्ध. तत्राज्ञानभावतोऽधनवदशीलवद् वा सम्यग्दृष्टयोऽप्यज्ञानिकाः प्रोच्यन्तेऽत आह-मिथ्यादृष्टिभि. स्वच्छन्दमतिबुद्धिविकल्पितम्। ईहावग्रहे बुद्धिः, अपायधारणे तु मति. स्वच्छन्देन—स्वाभिप्रायेण तत्त्वतः सर्वज्ञप्रणीतार्थानुसारमन्तरेण बुद्धिमतिभ्यां विकल्पितं स्वच्छन्दबुद्धिमतिविकल्पितम्--स्वबुद्धिविकल्पनाशिल्पिनिर्मितमित्यर्थः। तत्प्रकटनार्थमेवेदमाह--तद्यथा—'भारतमि' त्यादि, एतच्च भारतादिकं नाटकादिपर्यन्तं श्रुत लोकप्रसिद्धिगम्यम् । अथ प्रकारान्तरेण लौकिकश्रुतनिरूपणार्थमाह--' अहवा बावत्तरिकलाओ' इत्यादि, तत्र कलनानि--वस्तुपरिज्ञानानि कलास्ताश्च द्विसप्ततिः समवायाङ्गादिग्रन्थप्रसिद्धाः, चत्वारश्च वेदाः सामवेदऋग्वेदयजुर्वेदाथर्वणवेदलक्षणाः साङ्गोपाङ्गा , तत्राङ्गानि--शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण ३ छन्दो ४ निरुक्त ५ ज्योतिष्कायन ६ लक्षणानि, षट् उपाङ्गानि तद्व्याख्यानरूपाणि तैः सह वर्तन्ते इति साङ्गोपाङ्गा. । ' से तमि ' त्यादि निगमनम्। उक्तं नोआगमतो लौकिकं भावश्रुतम्।

अथ लोकोत्तरिक तदेवाऽऽह--

से किं तं लोउत्तरिअं नोआगमतो भावसुयं ?, लोउत्तरिअं नो आगमतो भावसुय जं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाणदंसणधरेहिं तीयपच्चुप्पण्णमणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं तिलुक्कवहितमहितपूइएहिं अप्पडिहयवरणाणदंसणधरेहिं पणीअं। (अनु०) से तं नोआगमतो भावसुअं। से तं भावसुअं। (सू०-४२ ×)

लोकोत्तरै —लोकप्रधानैरर्हद्भि. प्रणीतं लोकोत्तरिकम्, किं पुनस्तदित्याह-' लोउत्तरियं भावसुअं जं इममि ' त्यादि, यदिदमर्हद्भि -द्वादशाङ्ग गणिपिटकं प्रणीतं तल्लोकोत्तरिकं भावश्रुतमिति सम्बन्धः, तद्यथा-' आयारो सूयगडमि ' त्यादि, तत्र सदेवमनुजासुरलोकविरचितां पूजामर्हन्तीति अर्हन्तस्तै , एवभूताश्चातीर्थकरा अपि केवल्यादयो भवन्त्यतस्तीर्थकरप्रतिपत्तये आह-' भगवद्भिरि ' ति, समस्तैश्वर्यनिरुपमरूपयश.श्रीधर्मप्रयत्नवद्भिरित्यर्थः , इत्थंभूताश्च अनाद्यप्रनिघज्ञानादिमन्त केचित् कैश्चिदभ्युपगम्यन्ते, उक्तं चैतद्वादिभि.—"ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥ १॥" इत्यादि। अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह—ज्ञानावरणक्षपणादिप्रकारेणोत्पन्नेन तु सहजे ज्ञानदर्शने धरन्तीत्युत्पन्नज्ञानदर्शनधरास्तैः, न च प्रस्तुतविशेषणव्यवच्छेद्या अप्येवंभूता एव--' सह सिद्धं चतुष्टयमि' त्यादिवचनविरोधप्रसङ्गात् , तर्हि सुगता इत्थभूतो अपि भविष्यन्तीत्याशङ्कयाऽऽह-' तीयपच्चुप्पन्ने' त्यादि, अतीतवर्त्तमानभविष्यदर्थज्ञायकैरित्यर्थ. , न च सुगतानामतीतभविष्यदर्थज्ञातृत्वसम्भवः, एकान्तक्षणभङ्गत्वादित्वेन तदसत्त्वाभ्युपगमाद् , असता च ग्रहणेऽनिप्रसङ्गात्। अथ सन्तानद्वारेण कालत्रयेऽप्यर्थाना सङ्का-

वादितीतार्यथार्थज्ञातृत्वं तेषामपि न विहन्यत इत्याशङ्कयाह- 'सर्वदर्शिभि' रिति, सर्वम्--एकेन्द्रियद्वीन्द्रियजीवादिवस्तु केवलज्ञानेन जानन्तीति सर्वज्ञाः, तदेव सर्वे केवलदर्शनेन पश्यन्तीति सर्वदर्शिनस्तैः, शाक्यानां त्वनीनार्थज्ञातृत्वेऽपि सर्वज्ञादित्वं नोपपद्यते, कतिपयधर्माधर्मीष्टपदार्थज्ञातृत्वस्यैव तैरभ्युपगमाद्, यत उक्तं तच्छिष्यैः- "सर्वं पश्यतु मा वाऽसौ--विष्टमर्थं तु पश्यतु । कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं, तत्र नः क्वोपयुज्यते ? ॥ १ ॥" इत्यादि, यथोक्तगुणविशिष्टत्वात् 'तिल्लुक्कवहियमहिये' त्यादि, 'वहिय' त्ति--विगलद्बहलानन्दोश्रुदर्शिभिः सहर्षं निरीक्षिता यथावस्थितानन्यसाधारणगुणोत्कीर्तनलक्षणेन भावस्तवेन महिना-अभिष्टुता सुगन्धिपुष्पप्रकरक्षेपादिना तु द्रव्यस्तवेन पूजिता, तत एषां द्वन्द्वे त्रैलोक्येन--भवनपतिव्यन्तरनरविद्याधरवैमानिकादिसमुदायलक्षणेन वहितमहितपूजितास्तैः, अत्राऽऽह-ननु समज्ञानदर्शनधरैरित्युक्तम्, उत्पत्तिमत् सप्रतिघं दृष्टं यथा मूर्तेष्ववेध्यादिज्ञानम्, उत्पन्ने च तज्ज्ञानदर्शने अभ्युपगते, अतस्ताभ्यां न सप्रतिघज्ञानित्वं प्राप्नुवन्ति, तथा च पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादिहानिरित्याशङ्क्याऽऽह-'अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरैरिति, समस्तावरणक्षयसम्भूतत्वादप्रतिहते--मूर्तामूर्तेषु समस्तवस्तुष्वस्खलिते अत एव वरे-प्रधाने केवलज्ञानदर्शनलक्षणे ज्ञानदर्शने धरन्ति ये ते तथा तैः । यस्त्वत्राभ्यधायि सप्रतिघत्वं तत्रोत्पत्तिमत्त्वेन, किं तर्हि ?, आवरणसद्भावात्, अतोऽप्रतिघकेवलज्ञानदर्शने समस्तावरणक्षयसम्भूतत्वात्, तत्त्वेऽपि सप्रतिघत्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गाद् । इदं च विशेषणं कस्याञ्चिदेव वाचनायां दृश्यते, न सर्वत्र । तदेवं यथोक्तप्रकारेण तावद् व्याख्यातान्यमूनि विशेषणानि अन्यथा वाऽविरोधेन सुधिया व्याख्येयानि । तैरर्थकथनद्वारेण प्रणीतम्-प्ररूपितम्, द्वादशाङ्गं श्रुतम्, अनु० । (एतद्वक्तव्यता 'दुवालसंग' शब्दे चतुर्थभागे उक्ता ।) एतद्ग्रहणे च समर्थितं द्विविधमपि नोआगमतो भावश्रुतम् अतस्तदपि निगमयति- 'से तं नोआगमतो भावसुअ' इत्यादि । एतद्ग्रहणे चोक्तं सर्वमपि भावश्रुतमतो निगमयति-'से तं भावसुअमिति' ।

तदेवं स्वरूपत उक्तं भावश्रुतमनेनैव चात्राधिकार इत्यतोऽस्यैव पर्यायनिरूपणार्थमाह--

तस्स णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावंजणा नामधेज्जा भवन्ति, तं जहा--"सुअसुतगंथसिद्धंतसासणे आणावयणउवएसे । पन्नवण आगमेऽवि अ, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १ ॥" (४) से तं सुअं । (सू० ४२)

तस्य--श्रुतस्य अमूनि--अनन्तरमेव वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षाणि एकार्थिकानि-तत्त्वत एकार्थविषयाणि--नानाघोषाणि पृथग्भिन्नोदात्तादिस्वराणि नानाव्यञ्जनानि-पृथग्भिन्नाक्षराणि नामधेयानि पर्यायध्वनिरूपाणि भवन्ति । तद्यथा-'सुअ'गाहा व्याख्या-गुरुसमीपे श्रूयत इति श्रुतम् । अर्थानां सूचनात् सूत्रं, विप्रकीर्णार्थग्रन्थनाद् ग्रन्थः, सिद्धप्रमाणप्रतिष्ठितमर्थमन्तम् संवेदननिष्ठारूपं नयतीति सिद्धान्तः, मिथ्यात्वाविरतिकषायादिप्रवृत्तजीवानां शासनात्-शिक्षणाच्छासनं, प्रवचनमिति पाठान्तरम्, तत्रापि प्रशस्त-प्रधानं प्रथमं वा वचनं प्रवचनं, मोक्षार्थमाज्ञाप्यन्ते प्राणिनोऽनयेत्याज्ञा उक्तिः-वचनं वाग्योग इत्यर्थः हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशनादुपदेशः, यथावस्थितजीवादिपदार्थज्ञापनात् प्रज्ञापना, आचार्यपारम्पर्येणागच्छतीत्यागमः, आप्तवचनं वाऽऽगम इति, 'सूत्रे' सूत्रविषये एकार्थाः पर्याया इति गाथार्थः ॥ १ ॥ 'से तं सुअ' इत्यादि । तदेतन्नामादिभेदैरुक्तं श्रुतमित्यर्थः । अनु० ।

अथ श्रुतपदस्य तं चिकीर्षुरिदमाह--

आगमओ दव्वसुयं, वत्तासुत्तोवओगनिरवेक्खो ।
नोआगमओ जाणय-भव्वसरीरा-ऽइरित्तमिदं ॥ ८७७ ॥

इह नामस्थापने सुगमत्वाद् नोक्ते । द्रव्यश्रुतं त्वागमतो, नोआगमतश्च । तत्रागमतो द्रव्यश्रुतं वक्ता तदुपयोगनिरपेक्षः; अनुपयुक्त इत्यर्थः नोआगमतस्तु त्रिविधम् ज्ञशरीरद्रव्यश्रुतम्, भव्यशरीरद्रव्यश्रुतम्, तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतं चेति । तत्राद्यभेदद्वयमावश्यकवदेव वाच्यम् ।

तद्व्यतिरिक्तं त्विदं किम् ?, इत्याह-

पत्ताइगयं सुत्तं, सुत्तं च जमंडजाइपंचविहं ।
आगमओ भावसुयं,सुओवउत्तो तओ ऽणण्णो ॥ ८७८ ॥

इह श्रुतं सूत्रं च द्वे अपि किलैकार्थे । तत्र तलतालयादिप्रभवाणि पत्राणि प्रतीतानि, तेषु गतं लिखितं सूत्रं पत्रादिगतम्, आदिशब्दात्--पत्रसंघातनिष्पन्ना पुस्तकाः वस्त्रादयश्च गृह्यन्ते, तेष्वपि लिखितं सूत्रं ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतमुच्यते । अथवा--अण्डजादपि यदागमे पञ्चविधं सूत्रमुक्तम् । तद्यथा-" अंडए, बोंडए, कीडए, वालए, वागए" एतदपि सूत्राभिधानसाम्याद् व्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतमुच्यते । तत्राण्डाच्चतुरिन्द्रियकीटविशेषनिर्वर्तितकोशकाररूपाज्जातमण्डजं लोकप्रतीतं चटकसूत्रमित्यर्थः । बोण्ड-वमनीफलं तस्माज्जातं बोण्डजं कर्पाससूत्रमित्यर्थः । कीटजं तु पञ्चविधम्, तद्यथा--" पट्टे, मलए, अंसुए, चीणंसुए, किमिराए" एते पञ्चापि पट्टसूत्रविशेषाः । वालजमपि पञ्चविधम्, तद्यथा--'उण्णिए, उट्टिए मिगलोमिए, कोतवे, किट्टिसे' । तत्र मूषिकलोमनिष्पन्नम्-कौतवम्, ऊर्णाद्युद्धरितकिट्टिसनिष्पन्नं सूत्रं किट्टिसम्, अथवा, ऊर्णादीनां द्विकादिसंयोगनिष्पन्नं किट्टिसम्, यदि वा, उक्तशेषाऽश्वादिजीवलोमनिष्पन्नं किट्टिसम् । शेषं प्रतीतम् । सण-ऽतस्यादिप्रभवं वल्कजम् । तदेतत् सर्वमपि व्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतम् । भावश्रुतमपि द्विधा--आगमतः, नोआगमतश्च । तत्र श्रुतोपयुक्तस्तदध्येताऽऽगमतो भावश्रुतम् । ननूपयोग एव भावश्रुतमुच्यते, तत्कथमिह तद्वान् गृह्यते ?, इत्याह-'तओऽणण्णो' त्ति-ततः श्रुतोपयोगादनन्य इति कृत्वोपचारत, स एव भावश्रुतमुच्यत इति ।

नोआगमतो भावश्रुतमाह--

नोआगमओ भावे, लोइयलोउत्तरं पुराभिहियं ।
सम्मत्तपरिग्गहियं, सम्मसुयं मिच्छमियरं ति ॥ ८७९ ॥

नोआगमतो भावश्रुतं द्विविधम्--लौकिकं, लोकोत्तरं च । तत्र लौकिकं भारत--रामायणादि । इदं चेहैव पूर्वं श्रुतज्ञानविचारे प्रोक्तम् । लोकोत्तरं त्वङ्गप्रविष्टादि, इदमपि

पूर्वं तत्रैवोक्तम्। एतच्च सर्वं सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुतं, मिथ्यात्वपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमिति ।

अत्र प्रेरकः प्राह—

आगमओ भावसुयं, जुत्तं नोआगमे कहं होइ ।
जइ नागमो न सुयं,अह सुत्तमणागमो किह णु ?।८८०।

यदागमतो भावश्रुतमुक्तम् तद् युक्तम्—घटत एव । नोआगमतस्तु भावश्रुतं कथं भवति ?—न घटत एवैतदित्यर्थः । तथाहि-नोशब्दस्तावद् निषेधवचनः, ननश्च यदि 'न'-नैवाऽऽगमः, तर्हि न श्रुतम्, तस्याऽऽगमरूपत्वात् । अथ श्रुतम् , तर्ह्यनागमः कथम् ? । तस्माद् नोआगमतो भावश्रुतमिति 'माता वन्ध्या' इत्यादिवद् विरुद्धमेवेति ।

प्रेरक एवाऽऽशङ्क्याह—

उवओगो जम्मत्ते, तं तं जइ वागमोऽवसेसं तु ।
नोआगमो त्ति एवं, किमणुवउत्तम्मि दव्वसुयं?॥८८१॥

यद्वा—एवं सिद्धान्तवादी ब्रूयात्-यावन्मात्रे यत्र यत्र श्रुताध्येतुरुपयोगस्तत्तदागमतो भावश्रुतम् , यत् त्ववशेषमनुपयुक्तस्याध्येतुः श्रुतं तद् नोआगमतो भावश्रुतमिति सर्वं सुस्थमिति । हन्त ! तर्हि 'आगमओ दव्वसुय वत्ता सुत्तोवओगनिरवेक्खो' इत्यनेनाऽनुपयुक्ते वक्तरि यत् पूर्वं द्रव्यश्रुतमुक्तं तत् किं स्यात् , तद्विषयस्येदानीं नोआगमतो भावश्रुतत्वेन त्वया प्रतिपाद्यमानत्वात् ?—निर्विषयमेव तत् स्यादिति भावः ।

परः एवाचार्यमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अविसुद्धनयमएण व, जइ लद्धिसुयमणुवउत्ते वि ।
भावसुयं चिय पढओ, किमणुवउत्तस्स दव्वसुयं ?।८८२।

यदि च सूरिरेतद् ब्रूयात्—अविशुद्धनयमतेन श्रुतलब्धिरपि भावश्रुतमुच्यते । ततश्चानुपयुक्तेऽपि लब्धिसपन्ने जीवे तल्लब्धिरूपं श्रुतं लब्धिश्रुतं भावश्रुतमेवाऽङ्गीक्रियते , अन्यस्तु लब्ध्यादिशून्यस्य यत् श्रुतं तद् द्रव्यश्रुतम् , इति न तस्य निर्विषयतेति भावः । हन्त ! तर्ह्यनुपयुक्तस्य पठतो वक्तुः किं द्रव्यश्रुतम् ? , तस्यापि श्रुतलब्धिसद्भावतो भावश्रुतप्राप्त्या तदवस्थैव द्रव्यश्रुतस्य निर्विषयतेति भावः । न हि श्रुतलब्धिरहितः कोऽपि पठति । तस्मादेतदपि वाङ्मात्रत्वाद् न किञ्चिदिति ।

अथाचार्यः प्रतिविधानमाह—

आगम सुओवओगो, सुद्धो चिय न चरणाइसंमिस्सो ।
मीसेऽवि वा विवक्खा, सुयस्स चरणाइभिन्नस्स॥८८३॥

इह तावत् सर्वस्याप्यस्य प्रक्रमस्य भावार्थ उच्यते-परेण निषेधवचनं नोशब्दमवगम्य पूर्वपक्षः कृतः । आचार्यस्तु मिश्रवचनं नोशब्दं चेतसि निधाय प्रतिविधत्ते । मिश्रवचनेनापि नोशब्देन द्रव्यश्रुतम् , आगमतो भावश्रुतम् , नोआगमतो भावश्रुतं चेत्येतत्त्रितयं कथं पृथगुपपद्यते ? इति चेत् । उच्यते—अनुपयुक्तस्य श्रुताध्येतुस्तावद् द्रव्यश्रुतं 'आगम ' त्ति एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादागमतो भावश्रुतमुच्यते । किम् ?, इत्याह—शुद्ध एव श्रुतोपयोगः , न चरणादिमिश्रः । यदि वा-चरणादिमिश्रेऽपि श्रुतोपयोगे तद्भिन्नस्य श्रुतोपयोगस्य विवक्षा क्रियते । इदमुक्तं भवति—चरणादिमिश्रमपि श्रुतोपयोगं भिन्नं विवक्षितत्वादागमतो भावश्रुतमुच्यत इति ।

तर्हि नोआगमतो भावश्रुतं किम्?, इत्याह—

चरणाइसमेयम्मि उ,उवओगो जो सुए न तओ समए ।
नोआगमो त्ति भण्णइ, नोसद्दो मीसभावम्मि ॥८८४॥

चरणादिसमेते तु श्रुते यश्चरणादिमिश्र उपयोगस्तकोऽसौ समयप्रसिद्ध्या नोआगमतो भावश्रुतमुच्यते । नोशब्दश्चेह मिश्रवचन इति । निषेधवचनस्तु नोशब्दोऽत्र नेष्यते, यतोऽसौ सर्वनिषेधवचनो वा स्यात् , देशनिषेधवचनो वा ? ।

तत्र सर्वनिषेधवचनत्वे नोशब्दस्य दोषमाह—

सव्वनिसेहे दोसो, सव्वसुयमणागमो पसज्जेज्जा ।
होज्जा वाऽणागमओ, सुयवज्जमणागमसुयं तु ॥८८५॥

सर्वनिषेधवचने नोशब्देऽत्र गृह्यमाणे दोषः प्रसज्यते । कः ?, इत्याह—' सव्वसुयमित्यादि ' नोआगमतो भावश्रुतमिति । कोऽर्थः ?-अनागमं सर्वमपि यद् भावश्रुतमिति सर्वनिषेधवाचकत्वे नोशब्दस्य सर्वस्यापि भावश्रुतस्याऽऽगमत्वनिषेधः स्यादिति भावः । अयुक्तं चैतत् , श्रुतस्यागमत्वेन सुप्रतीतत्वात् । अथवा—सर्वनिषेधवाचके नोशब्दे नोआगमतो भावश्रुतमित्ययमर्थः स्यात् । कः ?, इत्यत्रोच्यते-अनागमतोऽनागमत्वात् श्रुतवर्जं मत्यादिचतुष्टयात्मकं यदनागमरूपं ज्ञानं तत् श्रुतं भावश्रुतं भवेदिति । अश्रुतरूपस्यापि मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्य श्रुतप्रसङ्गः स्यादिति भावः ।

देशनिषेधवचनेऽप्यत्र नो शब्दे दूषणमाह--

देसनिसेहे सयलं, नोआगमओ सुयं न पावेज्जा ।
भिन्नं पि व तं देसो,चरणाईणं पसज्जेज्जा ॥८८६॥

देशनिषेधवचने नोशब्दे सकलमप्याचारादि श्रुतं नोआगमतो भावश्रुतं न प्राप्नुयात्—न स्यात् , किन्तु तदेकदेश एव नोआगमतो भावश्रुतं स्यादित्यर्थः । सर्वश्रुतस्य चैतदिष्यते, समस्तस्यापि द्वादशाङ्गगणिपिटकस्य ज्ञान-दर्शन-चारित्रपर्यायपिण्डाऽऽत्मकत्वाद् नोआगमत्वेन सिद्धान्ते रूढत्वात् , एतच्च मिश्रवचन एव नोशब्दे घटते,नान्यथेति भावः । अत्रैकदेशनिषेधपक्षे दूषणान्तरमाह- ' भिन्नं पि वेत्यादि' ' वा ' इति-अथवा, भिन्नमपि पृथग्भूतमपि सत् तद्-भावश्रुतं चरणादीनामेकदेशः प्रसज्येत , अभिन्नदेशश्चेष्यते तच्चरणादिभिः सह, धात्वञ्जनकपिशवर्णकवत् , अन्यथा सकरैकत्वादिदोषप्रसङ्गादिति ।

किञ्च,देशनिषेधको नोशब्द एकदेशवाचकः, तत्र--चापरोऽपि दोषः । कः ?, इत्याह--

होज्ज व नोआगमओ,सुओवउत्तो वि जं स देसम्मि ।
उवजुज्जइ न उ सव्वे, तेणायं मीसभावम्मि ॥८८७॥

यः श्रुतोपयुक्तः पूर्वमागमतो भावश्रुतमुक्तः, सोऽपि नोशब्दस्य देशवचनत्वे नोआगमतो भावश्रुतं भवेत् । कुतः ?, इत्याह--यद् यस्मात् स श्रुतैकदेश एवोपयुज्यते, न तु सर्वस्मिन्नपि श्रुते, सर्वस्यापि श्रुतस्याऽनन्ताभिलाप्यार्थ-

विषयत्वात् . एतदुपयोगस्य चैकदाऽसंभवात् । ततश्चैकदेशवचनत्वे नोशब्दस्याऽयं नो आगम । तस्माद् येनैव सति आगम--नोआगमभावश्रुतयोरविशेषः प्राप्नोति, तेनाऽयं नोशब्दो मिश्रभावे ग्राह्य इति ।

अथ परकाभिप्रायमाशङ्कमान आह--

आह नणु मीसभावे, नाभिहिओ अभिहिओ य नोसद्दो ।
देसे तदन्नभावे , दव्वे किरियाएँ भावे य ॥ ८८८ ॥

आह-प्रतिषेधवाचकत्वाद् नोशब्दो मिश्रभावे न क्वचिदभिहित । किं तर्हि? देशादिषु पञ्चस्वर्थेष्वभिहित । तत्र देशे नोघटो घटैकदेश उच्यते , यतो घटैकदेशस्तावदघटो न वक्तव्य , नापि घट , किं तर्हि ? , नोघट. । तथाहि--घटैकदेशस्य ग्रीवादेरघटत्वे तदन्यदेशानामपि तद्वदेवाऽघटत्वात् सर्वघटाभावप्रसङ्ग , एवं , पट--शकटादावप्यभावप्रसङ्गेन सर्वशून्यतापत्ति । नापि घटैकदेशो घट , एवं हि प्रत्ययमेव घटप्राप्त्यैकस्मिन्नपि घटे घटबाहुल्यापत्तिः, तथा च सत्येकघटविषयप्रवृत्ति-निवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग । तस्मात् पारिशेष्याद् घटैकदेशो नोघट एवोच्यते, पर्यायशब्दत्वादनयोः । तदन्यभावेऽपि नोशब्दो दृश्यते , यथा 'नो घट ' इत्युक्ते तदन्य पटादि प्रतीयते, यथा ' नो ब्राह्मण ' इत्यभिहिते क्षत्रियादिर्गम्यते । द्रव्ये तु नोशब्दो घटैकदेशवचनादि --नो घट , नो पट , नो स्तम्भ इत्यादिघटाद्येकदेशवाचक इत्यर्थ । ननु देशवाचकादस्य को भेद ? , इति चेत् । उच्यते--तत्र घटादिसंबद्ध एव तदेकदेशो नोघटादिरुक्त , अत्र तु स एव घटाद्येकदेशो ग्रीवादि पृथग्भूतो रथ्यादिपतित स्वतन्त्र एव गृह्यते । स च घटादे पार्थक्येन वर्तमानत्वात् पृथगेव स्वतन्त्रं द्रव्यम् इति द्रव्ये नोशब्द । क्रियानिषेधवचनो नोशब्द --'नो पचति , नो पक्तव्यमित्यादि । भावनिषेधे तु नोशब्दो ' नो शय्यते , नो स्थीयते ' इत्यादि । भाव--क्रिययोश्च विशेष सिद्ध--साध्यतादिरूप कोऽपि शब्दशास्त्रादिगतो बोद्धव्य । इत्येवं विवक्षावशाद् देशादिष्वर्थेषु दृष्टो नोशब्द , न तु मिश्रभाव इति ।

अत्रोत्तरमाह--

सच्चमयं देसाइसु, तह वत्थवसेण सद्दविणिओगो ।
अमियत्था य निवाया, जुज्जइ तो मीसभावे वि ।८८६।

सत्यम् , देशप्रतिषेधादिवचनोऽय नोशब्द , तथाप्यर्थवशाच्छब्दाना विनियोग.--यो यत्राऽर्थो घटते , तस्मिन्नर्थे तत्र ते प्रयुज्यन्त इत्यर्थः । आह-नन्वेकस्यापि शब्दस्य किमनेकार्था विद्यन्ते , येनैवमुच्यते ?, इत्याशङ्क्याह-द्योतकत्वेनापरिमितार्थाश्च निपाता इति मिश्रवचनोऽपि प्रयुज्यते नोशब्दः , न किञ्चित् क्षूयत इति ।

अथवा--देशवचनोऽपि भवत्वत्र नोशब्द. , न कश्चिद् दोष. , इति दर्शयन्नाह-

अविसेसियसंमिस्सो-वओगदेसु त्ति वा सुयं काउं ।
नोआगमभावसुए, नोसद्दो होज्ज देसे वि ॥ ८६० ॥

अविशेषितश्चासौ ज्ञान-दर्शन-चारित्राणा परिपूर्णघटादिरिवाऽखण्ड समिश्रोपयोगश्चाविशेषितसमिश्रोपयोगस्तस्य घटादेर्ग्रीवादिरिव श्रुतं देश एकदेश इति कृत्वा नोआगमतो भावश्रुते विचार्ये नोशब्दो देशेऽपि युज्यते । इदमुक्त भवति--यथा सामान्येन परिपूर्णघटादेरिहाऽखण्डस्यैकदेशो ग्रीवादिर्नोघट उच्यते , एवमविशेषितभेदस्य ज्ञान-क्रियापरिणामरूपस्याऽखण्डस्य वस्तुन श्रुतमेकदेश इति कृत्वा ज्ञान-क्रियापरिणामो नोआगमतो भावश्रुतमिति स्थितम् ।

अथ मतान्तरमुपदर्श्य परिहरन्नाह--

नोआगमओ केई, सद्दसहायमुवओगमिच्छंति ।
नणु सुतरमागमत्तं, हि दव्व-भावागमे जुत्तं ॥ ८६१ ॥

केचिदाचार्या शब्दसहाय श्रुतोपयोगं नोआगमतो भावश्रुतमिच्छन्ति । अयमभिप्राय -श्रुतोपयोगपूर्वक ब्रुवाणस्य य श्रुतोपयोगसहित शब्द. स नोआगमतो भावश्रुतम् । तत्र किलोपयोग--शब्दसमुदायं उपयोगलक्षणस्याऽऽगमस्यैकदेशत्वात् , शब्दनिरपेक्ष तूपयोगमात्रमागमतो भावश्रुतमिति । एतच्चायुक्तमिति दर्शयति-'नणित्यादि ' नन्वत्र हि स्फुट श्रुतोपयोगो भावागम. , शब्दस्तु द्रव्यागम' , इति सुतरामागमत्वमेव युक्तम् आगमत एव श्रुत युज्यते , न तु नोआगमत इत्यर्थ । यदि हि केवलोऽपि श्रुतोपयोग आगम उच्यते, तर्हि द्वितीये शब्दलक्षणे द्रव्यागमे मिलिते सुतरामयमागम एव युज्यते, न तु नोआगम , आगमाऽनागमसमुदाय एव तस्य युज्यमानत्वादिति भाव ।

पराभिप्रायमेवाशङ्क्य निराचिकीर्षुराह--

अह नागमो त्ति सद्दो, नोआगमया य तदहियत्तणओ ।
आगमओ दव्वसुयं, किह सद्दो नागमो जइ सो॥८६२॥

अथ परो मन्येत-शब्द आगमो न भवति, तत उपयोगस्य तदधिकत्वादनागमरूपशब्दाधिकत्वात् नोआगमता, आगमाऽनागमसमुदाये आगमस्यैकदेशत्वाद् नोआगमत्वमित्यभिप्राय । अत्र सूरिराह-हन्त ! यद्यसौ शब्द आगमो न भवति तर्ह्यागमतो द्रव्यश्रुतं स्यात् ?। सुप्रतीतमप्यस्येत्यमागतो द्रव्यश्रुतत्वं न स्यात्, अनागमत्वात् । तस्माद् द्रव्यत आगम एवाऽसम्, अतो द्रव्यागमसहायो भावागम आगमत एव भावश्रुतम्, न तु नोआगमत इति स्थितम् ।

अथान्यदपि मतान्तरमुपन्यस्य दूषयति--

अन्ने नोआगमओ, सामित्ताणासियं सुयं बेंति ।
जइ न सुयमणुवओगे,नणु सुयरमणासियं नत्थि॥८६३॥

अन्ये तु केचनाऽप्याचार्या स्वामिनमाश्रित श्रुतोपयोग भावश्रुतं ब्रुवते, स्वाम्यनाश्रित तु तमेव नोआगमतो भावश्रुतं ब्रुवते, एतच्चातिफल्गुवेवेति दर्शयति--' जईत्यादि ' यद्यनुपयुक्तेऽपि वक्तरि श्रुतं नोक्तम् , किन्तु विशिष्टेऽपि तस्मिन् स्वामिनि द्रव्यश्रुतमेव पूर्वमभिहितम् ; मूढ ! तर्हि सुतरामेवाऽनाश्रित भावश्रुतं नास्ति, स्वामिनमन्तरेण पुस्तकादिलिखिते श्रुते उपयोगस्य दूरोत्सारितत्वात्, उपयोगमन्तरेण च भावश्रुतस्य सर्वथाऽसत्त्वात् ; ' स्वाम्यनाश्रित च श्रुतं क्वाप्यस्ति ' इति प्रतिपादयितुमहासाहसिकत्वमिति यत् किञ्चिदेतदिति । तदेवमुक्त नोआगमतोऽपि भावश्रुतम् ।

अथ श्रुतस्यैकार्थिकनामान्याह--

सुय-सुत्त-गंथ-सिद्धंत-सासणे-आण वयण-उवएसो ।

पसवण आगमो वि य, एगट्ठा पज्जया सुत्ते ॥८६४॥

एतेषां च नाम्नामर्थः प्रागतिदेशेनोक्त एवेति । तदेवं विहित-श्रुतस्यापि नामादिन्यासः । विशे० । उत्त० । आ० म० । स्था० । दश० । सू० । सूत्र० । (श्रुतैकार्थिकानां व्याख्या स्वस्वस्थाने ।)

श्रुतज्ञानस्य अनन्ता भेदाः--

कत्तो मे वण्णेउं,सत्ती सुयनाणसव्वपयडीओ ? ।

चोद्दसविहनिक्खेवं,सुयनाणे आवि वोच्छामि ॥४४६॥

कुतो मे शक्तिः सामर्थ्यम् ?, नास्त्येवेत्यर्थः । किं कर्तुम् ? । वर्णयितुम् । काः?, श्रुतज्ञानसर्वप्रकृतीः-सर्वास्तद्भेदान् । तत-श्चतुर्दशविधश्चासौ निक्षेपश्च चतुर्दशविधनिक्षेपो-न्यासस्तं वक्ष्यामि-भणिष्यामि, श्रुतज्ञाने श्रुतविषयं, चशब्दात्--श्रु-ताज्ञानविषयं च, अपिशब्दाद्-उभयविषयं च । तत्र श्रुतज्ञाने सम्यक्श्रुते,श्रुताज्ञाने असंज्ञि मिथ्याश्रुते,उभयश्रुते दर्शनपरि-ग्रहविशेषादक्षरा-ऽनक्षरादिश्रुते । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथैतद्भाष्यम्--

पयडि त्ति जो तदंसो, हेऊ वा तस्स तस्स भावो वा ।

ते याणंता सव्वे, तओ न तीरंति वोत्तुं जे ॥४५०॥

इह प्रकृतिरिति किमुच्यते ?, इत्याह--यस्तदंशः-श्रुतज्ञा-नांशस्तद्भेदोऽङ्गप्रविष्टादिरित्यर्थः । हेतुर्वा बाह्याऽऽभ्यन्तर-भेदभिन्नो यः श्रुतज्ञानस्य स प्रकृतिः । तत्र बाह्यो हेतुः श्रुतज्ञानस्य पत्रलिखिताक्षरादिः, आन्तरस्तु तद्धेतुः क्षयो-पशमवैचित्र्यम् , तस्य श्रुतस्य स्वभावो वैकेन्द्रियादीना च-तुर्दशपूर्वधरान्तानां जीवानां तारतम्येन भिन्नरूपः प्रकृतिः प्रोच्यते । एते चांशाः, हेतव ,स्वभावाश्चाऽनन्ताः सर्वेऽपि , अत आयुषः परिमितत्वाद् वाचश्च क्रमवर्तित्वात् न शक्यन्ते वक्तुम् । 'जे' इति निपातोऽलङ्कारार्थ इति ।

एतदेव भावयति--

जावंतो वयणपहा, सुयाणुसारेण केइ लब्भंति ।

ते सव्वे सुयनाणं, ते याणंता मइविसेसा ॥४५१॥

इह यावन्तः केचन श्रुतानुसारेण संकेता श्रुतग्रन्था-नुसारेण लभ्यन्ते--प्राप्यन्ते वचनस्य पन्थानो-मार्गा मति-ज्ञानविशेषा इति तात्पर्यम् , ते सर्वेऽपि श्रुतज्ञानमिति । एवं 'ते वि य मइविसेसा सुयनाणब्भंतरे जाण' इत्यादि मति-श्रुतभेदविचारे पूर्वं प्रतिपादिताः , ते च श्रुतानुसारिणो मतिविशेषा अनन्ता इति । ननु यदि मतिविशेषाः कथं श्रुतज्ञानम् ?, इति तु न प्रेर्यम् , श्रुतानुसारिणो विशिष्टस्य मतिविशेषस्यैव श्रुतत्वात् । एतच्च पूर्वं विस्तरेण सम-र्थितमेवेति ।

यदि नामाऽनन्ताः श्रुतभेदास्तथापि ते वक्तुं शक्यन्त एव, इत्याशङ्कयाह--

उक्कोससुयनाणी, वि जाणमाणो वि तेऽभिलप्पे वि ।

न तरइ सव्वे वोत्तुं, न पहुप्पइ जेण कालो से ॥४५२॥

उत्कृष्टश्रुतज्ञानलब्धिसंपन्नोऽपि चतुर्दशपूर्वधरो जानन्नपि , अभिलप्यानपि तान् श्रुतज्ञानविशेषाननन्तान् सर्वानपि व-क्तुं न शक्नोति । कुतः ?, इत्याह-येन कारणेन 'से' तस्यो-त्कृष्टश्रुतज्ञानिनो वदतः कालो न प्रभवति-न पूर्यते, आ-युषः परिमितत्वात् , वाचश्च क्रमवर्तित्वात् । यदा चो-त्कृष्टः श्रुतधरोऽपि सर्वान् श्रुतभेदान् वक्तुं न शक्नोति, तदाऽन्यस्याऽस्मदादेः का वार्ता ? इति भावः । विशे० ।

श्रुतज्ञानस्य अनन्ता भेदाः--

श्रुतज्ञानं पुनर्भवति मतिपूर्वं मतिकारकं श्रुतज्ञानं हि वाच्यवाचकभावेन शब्दप्लावितस्यार्थस्य ग्रहणं वाच्यवाचकभावेन चशब्दः प्रवर्त्तते मत्यवधारितेऽर्थे इति, तत्पुनः श्रुतज्ञानं सर्वमपि मूलभेदापेक्षया द्विवि-धम् , तद्यथा--स्वमतिसमुत्थं, परोपदेशाद्वा, परोपदेशस-मुत्थं चेत्यर्थः , तत्र स्वमतिसमुत्थं प्रत्येकबुद्धानां पदानुसा-रिप्रज्ञानां वा । परोपदेशसमुत्थमस्मदादीनाम् । तत्कतिवि-धमिति तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह । सू० १ उ० १ प्रक० ।

'चोद्दसविहनिक्खेवं'इत्याद्युत्तरार्धं व्याचिख्यासुराह--

नाणम्मि सुए चोद्दस-विहं चसद्देण तह य अन्नाणे ।

अविसद्देणुभयम्मि वि, किंचि जहासंभवं वोच्छं ॥४५३॥

सम्यक्श्रुतादौ श्रुतज्ञाने चतुर्दशविधं निक्षेप चशब्देन श्रुताज्ञाने च मिथ्याश्रुतादौ, अपिशब्दादुभयरूपे च दर्शन-परिग्रहविशेषादक्षराऽनक्षरादिश्रुते किंचिद् यथासंभवं नि-क्षेप वक्ष्ये । इति गाथार्थः ।

तमेव चतुर्दशविधं निक्षेपमाह--

अक्खर सण्णी सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च ।

गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥४५४॥

अक्षरादीनि सप्त द्वाराण्यनक्षरादिप्रतिपक्षसहितानि चतु-र्दश भवन्ति । विशे० ।

सकलचरणकरणक्रियाधारश्रुतज्ञानस्वरूपजिज्ञासया शि-ष्य प्रश्नयति--

से किं तं सुयनाणपरोक्खं ?, सुयनाणपरोक्खं चोद्द-सविहं पन्नत्तं, तं जहा--अक्खरसुयं १ अणक्खरसुयं २ सण्णिसुअं ३ असण्णिसुअं ४ सम्मसुअं ५ मिच्छसुअं ६ साइअं ७ अणाइअं ८ सपज्जवसिअं ९ अपज्जवसिअं १० गमिअं ११ अगमिअं १२ अंगपविट्ठं १३ अणंगपविट्ठं १४ । (सू० ३७)

अथ किं तच्छ्रुतज्ञानम् ?, आचार्य आह-श्रुतज्ञानं चतुर्द-शविधं प्रज्ञप्तम् ,तद्यथा-अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतं संज्ञिश्रुतमसं-ज्ञिश्रुतं सम्यक्श्रुतं मिथ्याश्रुतं सादि अनादि सपर्यवसित-मपर्यवसितं गमिकमगमिकमङ्गप्रविष्टमनङ्गप्रविष्टं च । ननु अक्षरश्रुतानक्षरश्रुतरूप एव भेदद्वये शेषभेदा अन्तर्भवन्ति तत्किमर्थं तेषां भेदोपन्यासः ?, उच्यते--इहाव्युत्पन्नमतीनां विशेषावगमसम्पादनाय महात्मनां शास्त्रारम्भप्रयासो, न चाक्षरश्रुतानक्षरश्रुतरूपभेदद्वयोपन्यासमात्रादव्युत्पन्नमतयः शेषभेदानवगन्तुमीशते, ततोऽव्युत्पन्नमतिविनेयजनानुग्रहाय शेषभेदोपन्यास इति । नं० । (अक्षरश्रुतादिपदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने ।)

अथ संज्ञिश्रुतमभिधित्सुराह—

सण्णिस्स सुयं जं तं, सण्णिसुयं सो य जस्स सा सण्णा।
होइ तिहा कालियहे-उदिट्ठिवाओवएसेणं ॥ ५०४ ॥

संज्ञिश्रुत तावत् तदेवाऽभिधीयते यत् संज्ञिन संबन्धि। सोऽपि संज्ञी स एव यस्याऽसौ संज्ञा समस्ति। सा च संज्ञा त्रिविधा भवति-दीर्घशब्दलोपाद् दीर्घकालिकोपदेशेन, हेतुवादोपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन चेति।

अत्र पर प्राह—

जइ सण्णासंबंधे-ण सण्णिणो, तेण सण्णिणो सव्वे।
एगिंदियाइयाण वि, जं सण्णा दसविहा भणिया॥५०५॥

संज्ञा विद्यते येषा ते संज्ञिन, इत्येव संज्ञासंबन्धाद् यदि संज्ञिन इष्यन्ते तदा तेन संज्ञासंबन्धेन सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयो जीवा संज्ञिन प्राप्नुवन्ति, न पुन कोऽप्यसंज्ञिन इत्येवमतिव्याप्तिप्रसङ्ग, यतः सर्वजीवानामेकेन्द्रियादीनामपि प्रज्ञापनादिषु संज्ञा दशविधा भणिता, तद्यथा-"एगिंदियाण भंते! कइविहा सण्णा पन्नत्ता?। गोयमा! दसविहा, त जहा-आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णा, परिग्गहसण्णा, कोहसण्णा माणसण्णा, मायासण्णा लोहसण्णा, ओहसण्णा, लोगसण्णा" एव द्वीन्द्रियादीनामपि वाच्यम्। तत् के नामेत्थमसंज्ञिन?, प्रोक्ताश्चैतेऽनेकशस्तेषु तेषु प्रदेशेष्वागमे, तत कथमेतत्? इति।

अत्र परिहारमाह—

थोवा न सोहणा वि य, जं सा तो नाहि कीरए इहइं।
करिसावणेण धणवं, न रूववं मुत्तिमेत्तेण ॥ ५०६ ॥
जह बहुदव्वो धणवं, पसत्थरूवो अ रूववं होइ।
महइएँ सोहणाए य, तह सण्णी नाणसण्णाए ॥ ५०७ ॥

यद्-यस्मात् कारणात् सा दशविधा संज्ञा काचित् तावदोघसंज्ञात्मिका स्तोका इति स्वल्पा, ततोऽत्र नाधिक्रियते-न तया संज्ञी वक्तु युज्यत इति भाव.। न हि कार्षापणमात्रास्तित्वेन लोकेऽपि धनवानुच्यते। आहार-भय-परिग्रह-मैथुनादिसंज्ञात्मिकाऽपि च भूयस्यपीह नाधिक्रियते, तामप्याश्रित्य न 'संज्ञी' इति निर्दिश्यत इत्यर्थ, यतो नाऽसौ शोभना—मोहादिजन्यत्वेन नासौ विशिष्टेत्यर्थ। न चाविशिष्टया संज्ञया 'संज्ञी' इत्यभिधातुं युज्यते। न हि लोकेऽप्यविशिष्टेन मूर्तिमात्रेण 'रूपवान्' इत्यभिधीयते। तर्हि कीदृश्या संज्ञयाऽत्र संज्ञी प्रोच्यते?, इत्याह—यथा लोके बहुद्रव्य एव धनवानभिधीयते, प्रशस्तरूपश्च रूपवान् भवति, तथाऽत्रापि महत्या शोभनया च ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यमनोज्ञानसंज्ञयैव संज्ञा व्यपदिश्यते—संज्ञान संज्ञा, मनोविज्ञानमित्यर्थ, तद्रूपा महती, शोभना च संज्ञेहाऽधिक्रियते, नान्येति भाव। ततश्चैषा मनोज्ञानरूपा संज्ञा येषामस्ति ते संज्ञिन, नान्य इति। विशे०।

एषा च संज्ञा यस्याऽस्त्यसौ कालिकसंज्ञी, स च यो भवति, एतद् दर्शयति—

कालियसण्णि त्ति तओ, जस्स तई सो य जो मणोजोग्गे।
खंधे णंते घेत्तुं, मन्नइ तल्लद्धिसंपण्णो ॥ ५०८ ॥

'तउ' त्ति तकोऽसौ 'कालिकसंज्ञी' इत्यभिधीयते। यस्य किम्?, इत्याह—'जस्स तई' त्ति यस्याऽसौ कालिकसंज्ञा प्राप्यते। स च को विज्ञेय?, इत्याह—'सो य जो मणोजोग्गेत्यादि' स च-कालिकसंज्ञी विज्ञेयो 'यो' य. कश्चिद् मनोज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाद् मनोलब्धिसंपन्नो मनोयोग्याननन्तान् स्कन्धान् मनोवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्य मन्यते चिन्तनीय वस्त्विति। स च गर्भजस्तिर्यङ् मनुष्यो वा, देव, नारकश्चेति।

अस्य चैवंभूतस्य संज्ञिन किं भवति?, इत्याह—

रूवे जहोवलद्धी, चक्खुमओ दंसिए पयासेणं।
तह छव्विहोवओगो, मणदव्वपयासिए अत्थे ॥५१०॥

यथा रूपे घट—पटादिसंबन्धिनि चक्षुष्मतो लोचनयुक्तस्य जन्तोरुपलब्धिश्चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यते। कथंभूते रूपे?, दर्शिते प्रदीपादिप्रकाशेन तथा तेनैव प्रकारेण मनोविज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमवतो जीवस्य चिन्ताप्रवर्तकमनस्त्वपरिणतमनोद्रव्यप्रकाशिते शब्दरूपादिकेऽर्थे मन षष्ठेन्द्रियपञ्चकभेदात् षड्विधोपयोगस्त्रिकालविषयोऽपि समुपजायत इति।

अत्र विनेय पृच्छति। नन्वसंज्ञिन किं सर्वथैवेन्द्रियोपलब्धिर्न भवति?, इत्याह—

अविसुद्धचक्खुणो जह, नाइपयासम्मि रूवविण्णाणं।
असण्णिणो तहत्थे, थोवमणोदव्वलद्धिमओ ॥५११॥

यथाऽविशुद्धचक्षुषो नातिप्रकाशे मन्दमन्दप्रकाशान्वितप्रदेशेऽस्पष्टा रूपोपलब्धिर्भवति, एवमसंज्ञिन सम्मूर्छनजपञ्चेन्द्रियस्य स्वल्पमनोविज्ञानक्षयोपशमवशादतिस्तोकमनोद्रव्यग्रहणशक्त शब्दाद्यर्थेऽस्पष्टैवोपलब्धिर्भवतीति।

यदि सम्मूर्छनजपञ्चेन्द्रियस्यैवंभूतमस्पष्ट ज्ञान भवति, तर्ह्येकेन्द्रियादीना तत् कथंभूत भवति?, इत्याह—

जह मुच्छियाइयाण, अव्वत्तं सव्वविसयविण्णाणं।
एगेंदियाण एव, सुद्धयरं बेंदियाईणं ॥५१२॥

यथा मूर्च्छितादीनां सर्वेष्वप्यर्थेष्वव्यक्तमेव ज्ञान भवति, एवमतिप्रकृष्टावरणोदयादेकेन्द्रियाणामपि, तत शुद्धतरं शुद्धतमं द्वीन्द्रियादीनामापञ्चेन्द्रियसम्मूर्छजेभ्य, तत सर्वस्पष्टतमं संज्ञिनामिति। आह--कुत पुनश्चैतन्ये समानेऽपि जन्तूनामिदमुपलब्धिनानात्वम्?। उच्यते--सामर्थ्यभेदात्, स च क्षयोपशमवैचित्र्यात्।

एतदेवाह—

तुल्ले छेयगभावे, जं सामत्थं तु चक्करयणस्स।
नं तु जहक्कमहीणं, न होइ सरपत्तमाईणं ॥५१३
ईय मणोविसईणं, जा पडुया होइ उग्गहाईसु।
तुल्ले चेयणभावे, अस्स(म)ण्णीणं न सा होइ ॥५१४॥

इह यथा तुल्येऽपि छेदकभावे चक्रवर्तिसंबन्धिनश्चक्ररत्नस्य यच्छेदनसामर्थ्यं तदन्येषा खड्ग-दात्र-शरपत्रादीना छेदकवस्तूना न भवत्येव। कुत?, इत्याह--यतो यथाक्रमहीन क्रमशो हीयमानमेव तत् तेष्विति। प्रकृते योजयन्नाह-- 'ईय' त्ति दीर्घत्व प्राकृतत्वात्, इत्येव चेतन्ये

तुल्येऽपि मनोविषयिणां संज्ञिनामवग्रहेहादिषु यावत्स्ववबोधापटुता भवति सा तथाविधक्षयोपशमविकलानां यथाक्रदीर्घकालिकसंज्ञारहितानां सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रिय-विकलेन्द्रियै-केन्द्रियाणामसंज्ञिना न भवत्येव, क्रमशो हीनत्वादिति ।

तदेवं कालिकसंज्ञाविषय उपदेशो भणनं प्ररूपणं कालिकोपदेशस्तेन मोक्ष सञ्ज्ञी । सांप्रतं हेतु', निमित्तं , कारणम् , इत्यनर्थान्तरं , तस्य वदनं वादस्तद्विषय उपदेश. प्ररूपणं हेतुवादोपदेशस्तेन संज्ञिनमसंज्ञिनं चाभिधित्सुराह--

जे पुण संचिंतेउं, इट्ठा-णिट्ठेसु विसयवत्थूसुं ।
वट्टंति नियट्टंति य, सदेहपरिपालणाहेउं ॥५१५॥
पाएण संपए च्चिय, कालम्मि न याइदीहकालण्णा ।
ते हेउवायसण्णी, निच्चेट्ठा होंति अस्सण्णी ॥५१६॥

ये पुन. सचिन्त्य सचिन्त्य इष्टानिष्टेपु छाया-तपा-हारादिविषयवस्तुषु मध्ये स्वदेहपरिपालनाहेतोरिष्टेषु वर्तन्ते , अनिष्टेभ्यस्तु तेभ्य एव निवर्तन्ते , प्रायेण च सांप्रतकाल एव , न त्वतीता-नागतकालावलम्बिन' , प्रायोग्रहणात् , केचिदतीता-ऽनागतावलम्बिनोऽपि नातिदीर्घकालानुसारिण', ते द्वीन्द्रियादयो हेतुवादोपदेशेन सञ्ज्ञिनो विज्ञेया. । तथाहि--सञ्ज्ञिनो द्वीन्द्रियादय', सचिन्त्य संचिन्त्य हेयोपादेयेषु निवृत्ति-प्रवृत्ते., देवदत्तादिवदिति । तदेव हेतुवादिनोऽभिप्रायेण निश्चेष्टा पृथिव्यादय एवाऽसञ्ज्ञिन इति ।

अथ दृष्टिर्दर्शन सम्यक्त्वादि तस्य वदन वादस्तद्विषय उपदेशः प्ररूपणं तेन सञ्ज्ञिनम-सञ्ज्ञिनं च प्ररूपयन्नाह--

सम्मद्दिट्ठी सण्णी, संते नाणे खओवसमियम्मि ।
असण्णी मिच्छत्त-म्मि दिट्ठिवाओवएसेण ॥५१७॥

दृष्टिवादोपदेशेन क्षायोपशमिकज्ञाने वर्तमानः सम्यग्दृष्टिरेव सञ्ज्ञी,विशिष्टसञ्ज्ञायुक्तत्वात् , मिथ्यादृष्टिस्त्वसञ्ज्ञी,विपर्यस्तत्वेन वस्तुतः संज्ञारहितत्वादिति '

आह-यदि विशिष्टसंज्ञायुक्तत्वात् सम्यग्दृष्टिः संज्ञीष्यते , तर्हि किमिति क्षायोपशमिकज्ञाने वर्तमानोऽसौ गृह्यते ? । क्षायिकज्ञाने हि तस्य विशिष्टतराऽसौ प्राप्यते । ततस्तद्वृत्तिरप्यसौ किं नाङ्गीक्रियते, येनोच्यते--' सते नाणे खओवसमियम्मि ' इति ? । एतदाशङ्क्य पूर्वमुत्तरमाह-

खयनाणी किं सण्णी, न होइ होइ व खओवसमनाणी ।
सण्णा सरणमणागय-चिंता य न सा जिणे जम्हा॥५१८

आवरणस्य सर्वथैव क्षयेण ज्ञानी क्षयज्ञानी , केवलीत्यर्थ' , असौ संज्ञी किमिति न भवति ? , किमर्थ च क्षायोपशमिकज्ञानी सञ्ज्ञी भवतीति व्याख्यायते भवता ? । एवं परेणोक्ते सत्याह--' सण्णेत्यादि ' केवली सञ्ज्ञी न भवति , यतोऽतीतार्थस्य स्मरणम् , अनागतस्य च चिन्ता सज्ञोच्यते, सा च जिने केवलिनि नास्तीति , सर्वदा सर्वार्थावभासकत्वेन केवलिनां स्मरण--चिन्तायतीतत्वात् । इति क्षायोपशमिकज्ञान्येव सम्यग्दृष्टि' सञ्ज्ञीति ।

पुनरपि प्रकारान्तरेणाऽऽह पर.--

मिच्छो हियाहियविभा-गनाणसण्णासमण्णिओ कोइ।
दीसइ सो किमसण्णी,सण्णा जमसोहणा तस्स ५१९॥

ननु मिथ्यादृष्टिरपि कश्चिदैहिकार्थविषयहिता-ऽहितविभागज्ञानात्मकस्पष्टसंज्ञासमन्वित एव दृश्यते. तत. किमित्यसौ संज्ञी न भवति, येन दृष्टिवादोपदेशेनाऽयमसञ्ज्ञी प्रोच्यते ? इति । गुरुराह---यद्-यस्मादशोभना कुत्सिता तस्य मिथ्यादृष्टे. संज्ञा, तेन सत्याऽपि तयाऽयमसंज्ञीति ।

आह-ननु यद्यप्यशोभनाऽस्य संज्ञा, तथापि कथं तस्या अभाव. ?, इत्याह---

जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलमसईए ।
भण्णइ तह नाणं पि हु, मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं ॥५२०॥

यथा दुर्वचन कुत्सित वचनं सदप्यवचनं लोके भण्यते , असत्याश्च सबन्धि कुत्सितं शीलं विद्यमानमप्यशील यथाऽभिधीयते, तथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमपि मिथ्यादर्शनोदयपरिग्रहादज्ञानं यस्मभण्यते, सञ्ज्ञाऽप्यसंज्ञोच्यत इत्यर्थः ।

कस्मात् पुनस्तस्य ज्ञानमप्यज्ञानं भवति ?, इत्याह-

सदसदविसेसणाओ, भवहेउजहिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं ॥५२१॥

प्राग् व्याख्यातार्थैव ।

आह-ननु देव-नारक-गर्भजतिर्यङ्-मनुष्यलक्षणो मिथ्यादृष्टिर्दीर्घकालिकीं संज्ञामाश्रित्य दृष्टिवादोपदेशसंज्ञाविचारेऽपि सञ्ज्ञी कस्माद् नोच्यते ? , इत्याह--

ऊहो न हेउए हे-उई न कालम्मि भण्णई सण्णा ।
जह कुच्छियत्तणाओ, तह कालो दिट्ठिवायम्मि॥५२२॥

यथा ऊहः पृथिव्यादीनां संबन्धिनी, ओघमात्रसंज्ञेत्यर्थः' , न ' हेउए' त्ति हेतुवादसंज्ञायां विचार्यमाणायां कुत्सितत्वात् संज्ञा भण्यते,यथा वा 'कालम्मि ' त्ति दीर्घकालिकसंज्ञाया विचार्यमाणायां कुत्सितत्वेन हैतुकी संज्ञा न भण्यते , तथा 'कालो' त्ति दीर्घकालिक्यपि सज्ञा दृष्टिवादोपदेशसंज्ञायां विचार्यमाणायां कुत्सितत्वादेव सञ्ज्ञा न भण्यते । अतो नेह देवादिरपि मिथ्यादृष्टिः संज्ञीति भावः ।

तदेव दीर्घकालिक-हेतुवाद-दृष्टिवादोपदेशेन त्रिविधां संज्ञां निरूप्य , अथैतासा मध्ये कस्य जन्तो. का भवति ? , इति निरूपयितुमाह---

पंचण्हमूहसण्णा, हेउसण्णा बेइंदियाईणं ।
सुर-नारय-गब्भुब्भव-जीवाणं कालिगी सण्णा ॥५२३॥
छउमत्थाणं सण्णा, सम्मद्दिट्ठीण होइ सुयनाणे ।
मइयावारविमुक्का, सण्णाईआ उ केवलिणो ॥५२४॥

पञ्चानां पृथिव्य-प्तेजोवायु-वनस्पतीनामूहसंज्ञा वृत्त्यारोहणाद्यभिप्रायरूपौघसंज्ञा भवति। आह--ननु त्रिविधसंज्ञामध्येऽत्रेयमूहसंज्ञा नोक्तैव, अत एवैकेन्द्रिया इह सर्वथैवाऽसंज्ञिन एव. तुच्छत्वात् कुत्सितत्वाच्च तत्संज्ञायाः, इति भवतैवोक्तमेव प्राक् , तत्कथमत्र स्वामित्वप्ररूपणायामियमेतेषा संज्ञा प्रोक्ता ?। सत्यम् , किन्त्वेकेन्द्रियाणामेवैषोहसंज्ञा भवति, न तु हेतुवादादिसंज्ञा, इत्येवमेतत्संज्ञान्यनिषेधप्रधानोऽय निर्देशो द्रष्टव्यो न तु विधिप्रधान' । एतस्याश्चोहसंज्ञाया यथा सज्ञात्व तथा प्रागेवोक्तमिति । भवत्वेवम् , तथाऽप्येकेन्द्रियाणामाहार--क्रोधादिका सञ्ज्ञा

दशविधा समये प्रोक्ता, तत्कथमेकैवोहसंज्ञाऽत्रैषामुक्ता ? सत्यम्, वल्ल्यादिष्विव व्यक्तैवोपलभ्यते किञ्चिदिति शेषोपलक्षणार्थमेवैव निर्दिष्टा, इत्यलं प्रसङ्गेनेति। द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-सम्मूर्च्छनजपञ्चेन्द्रियाणां तु हेतुवादसंज्ञा प्राप्यते। देवनारकाणां गर्भज-तिर्यङ्-मनुष्याणां च कालिकी संज्ञेति। दृष्टिवादोपदेशेन छद्मस्थजन्तूनां सम्यग्दृष्टीनामेव संज्ञा प्राप्यते। ततश्च 'तेषां यच्छ्रुतज्ञानं तत् संज्ञिश्रुतं भवति' इत्यध्याहार। एवं च सति स्मरण—चिन्तादिमति—श्रुतव्यापाररहिता भवस्था, सिद्धिं गताश्च केवलिन एव संज्ञातीता संज्ञारहिता, शेषजन्तूनां केषाञ्चित् कस्याश्चित् संज्ञाया उक्तत्वादिति भाव इति।

अत्राह परः—

मोत्तूण हेउ-कालिय, सम्मत्तकमं जहुत्तरविसुद्धं ।
किं कालिओवएसो, कीरइ आईएँ सुत्तम्मि ॥ ५२५ ॥

नन्वविशुद्धत्वात् प्रथमं हेतुवादसंज्ञा, ततो विशुद्धत्वात् कालिकसंज्ञा, ततोऽपि विशुद्धतरत्वाद् दृष्टिवादसंज्ञा, इत्येव यथोत्तरविशुद्धममुं क्रम मुक्त्वा किं कालिकसंज्ञोपदेश आदौ प्रथमं सूत्रे नन्दिलक्षणे क्रियते ?, तथा च भवताऽपि तदनुरोधेन पूर्वमुक्तम्—' सा सण्णा होइ तिहा कालिय-हेउ-दिट्ठिवाओवएसेणं ' इति।

अत्रोत्तरमाह—

सण्णि त्ति असण्णि त्ति य, सव्वसुए कालिओवएसेणं ।
पायं संववहारो, कीरइ तेणाइए स कओ ॥ ५२५ ॥

इह सर्वस्मिन्नपि श्रुते-आगमे योऽयं 'संज्ञा' इति व्यवहारः स सर्वोऽपि प्रायो बाहुल्येन कालिकोपदेशेनैव क्रियते। तेनाऽऽदौ स एव कालिकोपदेशः कृतः। इदमुक्तं भवति—यत् स्मरण-चिन्तादिदीर्घकालिकज्ञानसहितः समनस्कपञ्चेन्द्रियः संज्ञीत्यागमे व्यवह्रियते, असंज्ञी तु प्रसज्यप्रतिषेधमाश्रित्य यद्यप्येकेन्द्रियादिरपि लभ्यते, तथापि समनस्कसंज्ञी तावत् पञ्चेन्द्रिय एव भवति। ततः पर्युदासाश्रयणादसंज्ञ्यप्यमनस्कसम्मूर्च्छनजपञ्चेन्द्रिय एवाऽऽगमे प्रायो व्यवह्रियते। तदेवंभूतः संज्ञा-संज्ञिव्यवहारो दीर्घकालिकोपदेशेनैवोपपद्यते। अतः प्रथमं स एव सूत्रे, तदनुरोधेनाऽत्र च निर्दिष्ट। इति त्रयोविंशतिगाथार्थः। विशे०।

अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयक्षयानन्तरं मिथ्यात्व-मिश्रसम्यक्त्वपुञ्जलक्षणे त्रिविधेऽपि दर्शनमोहनीये सर्वथा क्षीणे क्षायिकं सम्यक्त्वं भवतीति। तदेवमेतत्सम्यक्त्वपञ्चकपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम्, मिथ्यात्वपरिग्रहात्तु मिथ्याश्रुतं भवतीति प्रतिपत्तव्यमिति। विशे०।

अत्राह-ननु कियत् सम्यक्श्रुतमेव भवति ?, कियच्च मिथ्याश्रुतम् ?, शेषस्य च मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्य मध्ये मिथ्यात्वोदयात् कस्य विपर्यासो भवति ?, कस्य च न ?, इत्याशङ्क्याह—

चोद्दस दस य अभिन्ने, नियमा सम्मत्तसेसए भयणा ।
मइओहिविवज्जासे, वि होइ मिच्छे न उण सेसे ॥५२४॥

चतुर्दशपूर्वेभ्यः प्रारभ्य यावत् संपूर्णदशपूर्वाणि तावद् नियमात् सम्यक्श्रुतमेव भवति, न मिथ्याश्रुतम्—एतावच्छ्रुतसद्भावे सम्यग्दृष्टिरेव भवति न मिथ्यादृष्टिरिति भावः। 'सेसए भयणा' त्ति-शेषे भिन्नदशपूर्वादिके सामायिकपर्यन्ते श्रुते भजना—विकल्पना एतच्छ्रुतसद्भावे कोऽपि सम्यग्दृष्टिः, कश्चित्तु मिथ्यात्वोदयाद् विपर्यस्तो मिथ्यादृष्टिरपि भवति। ततश्चैतत् श्रुतं सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतं, मिथ्यात्वोदयाद् मिथ्याश्रुतमपि स्यादिति भावः। मत्य-वधिविपर्यासेऽपि मिथ्यात्वं मिथ्यात्वोदयो भवति, न पुनः शेषे—मनःपर्याय-केवलज्ञानद्वये। इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वोदयाद् मतिज्ञानं विपर्यस्तं सद् मत्यज्ञानं भवति, अवधिरपि तदुदयाद् विपर्यासमापन्नो विभङ्गपदव्यपदेशं लभते, मनःपर्याय—केवलज्ञाने तु कदापि मिथ्यात्वोदयाद् विपर्यासं न गच्छतः, तत्सद्भावे तदुदयस्यैवाऽसंभवात्। मनःपर्यायज्ञानं हि चारित्रिण एव भवति, केवलज्ञानं तु क्षीणघातिचतुष्टयस्य, इति कुतस्तद्भावे मिथ्यात्वोदय ? इति। एतच्च मिथ्यात्वोदयसंभवाऽसंभवप्रस्तावादनुपक्रान्तं प्रोक्तम्, प्रस्तुतं पुनरत्र सम्यग्मिथ्याश्रुतमेवेति।

अत्र किल परः किंचित् प्रेरयति—

तत्तावगमसहावे, सइ सम्मसुयाण को पइविसेसो ? ।
जह नाणदंसणाणं, भेओ तुल्लेऽववोहम्मि ॥ ५३५ ॥
नाणमवाय धिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ ।
तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥ ५२६ ॥

उभयत्रापि तत्त्वावगमस्वभावत्वे तुल्ये सति कः सम्यक्त्व—श्रुतयोः प्रतिविशेषः, येनोच्यते—' सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम् ' इति ?। इदमुक्तं भवति—'रागादिदोषरहित एव देवता, तदाज्ञापारतन्त्र्यवृत्तय एव गुरवः, जीवादिकमेव तत्त्वम्, जीवोऽपि नित्याऽनित्याद्यनेकस्वभावः, कर्ता, भोक्ता, मिथ्यात्वादिहेतुभिः कर्मणा बध्यते, तपः-'संयमाऽऽदिभिस्तु यतो मुच्यते' इत्यादिबोधात्मकमेव सम्यक्त्वमुच्यते, श्रुतमप्येवमाद्यभिलापात्मकमेव, तदनयोः को विशेषः, येनोच्यते—'सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुतम्' इति ?। अत्रोत्तरमाह-' जह ' त्यादि यथा च—म् ' इति ?। अत्रोत्तरमाह—तत्त्वबोधरूपत्वे तुल्येऽपि कथंचिज्ज्ञान—दर्शनयोर्भेदः, तथा तत्त्वावगमस्वभावे तुल्येऽपि सम्यक्त्व—श्रुतयोरिहाऽपि कथञ्चिद्भेदः। कथं पुनर्ज्ञान—दर्शनयोरन्यत्र तावद् भेद उक्तः ?, इति चेत्। इत्याह—' नाणे ' त्यादि यथाऽपायश्च धृतिश्चाऽपायधृती, एते वचनपर्यायग्राहकत्वेन विशेषावबोधस्वभावत्वाज्ज्ञानमिष्टम्, अवग्रहश्चेहा चाऽर्थपर्यायविषयत्वेन सामान्यावबोधाद् दर्शनम्, तथाऽत्रापि जीवादितत्त्वविषया रुचिः श्रद्धानं सम्यक्त्वं भण्यते, येन पुनस्तज्जीवादितत्त्वं रोच्यते—श्रद्धीयते तज्ज्ञानम्। अयमत्राभिप्रायः—दर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिना या तत्त्वश्रद्धानात्मिका तत्त्वरुचिरुपजायते, तथा तत्त्वश्रद्धानात्मकं जीवादितत्त्वरोचकं विशिष्टं श्रुतं जन्यते, ततस्तत् श्रुतज्ञानव्यपदेशं परिहृत्य श्रुतज्ञानसंज्ञां समासादयति। एवं च सति परो मन्यते-विशिष्टतत्त्वावगमस्वरूपं श्रुतमेव सम्यक्त्वं, न पुनस्ततोऽतिरिक्तं किञ्चिदुपलभ्यते, इति कथ-

मुच्यते-' सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम् ' इति ? । सिद्धान्तवादी तु मन्यते-यथा ज्ञानदर्शनयोर्वस्त्ववबोधरूपतयैकत्वेऽपि विशेषसामान्यवस्तुग्राहकत्वेन भेदः, तथाऽत्रापि शुद्धतत्त्वावगमरूपे श्रुते तत्त्वश्रद्धानांशः सम्यक्त्व, तद्विशिष्टं तु तत्त्वरोचकं श्रुतज्ञानमित्यनयोर्भेदः । एतयोश्च सम्यक्त्व-श्रुतयोर्युगपल्लाभेऽपि कार्यकारणभावाद् भेदः ।

उक्तं च—

" कारण कज्जविभागो, दीवपगासाण जुगवजम्मे वि ।
जुगवुप्पन्न पि तहा, हेऊ नाणस्स सम्मत्त ॥ १ ॥
जुगवं पि समुप्पन्नं, सम्मत्त अहिगमं विसोहेइ ।
जह कयगमंजणाई- जलवुट्ठीओ विसोहिंति ॥ २ ॥ "

अतो युक्तमुक्तम् ' सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुत, विपर्ययात्तु मिथ्याश्रुतम् ' । इति गाथाद्शकार्थः । विशे० ।

सोच्चा व अभिसमेच्च व, तत्तरुई चेव होति सम्मत्तं ।
तत्थेव य जा विरुई, इतरत्थ रुई य मिच्छत्तं ॥

श्रुत्वा केवलीप्रभृतीनामुपदेशमिति समेत्य वा जातिस्मरणादिना या तत्त्वेषु रुचिर्भवति सा 'सम्यक्त्व, वा तत्रैव तत्त्वेषु विरुचिरितरेष्वतत्त्वेषु रुचि सा मिथ्यात्वमिति । उक्तं सम्यक्त्वश्रुत, मिथ्यात्वश्रुतं च । सू० १ उ० १ प्रक० ।

से किं तं साइअं सपज्जवसिअं, अणाइअं अपज्जवसिअं च ?, इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइअं सपज्जवसिअं, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाइअं अपज्जवसिअं । (सू०-४२×)

अथ किं तत्सादि सपर्यवसितमनादि, अपर्यवसितं च ? । तत्र सहादिना वर्त्तते इति सादि, तथा पर्यवसानं पर्यवसितं, भावे क्तप्रत्यय, सह पर्यवसितेन वर्त्तते इति सपर्यवसितम्, आदिरहितमनादि, न पर्यवसितमपर्यवसितम् आचार्य आह-इत्येतद्द्वादशाङ्ग गणिपिटकं ' वोच्छित्तिनयट्ठयाए ' इत्यादि, व्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयो व्यवच्छित्तिनय, पर्यायास्तिकनय इत्यर्थ तस्यार्थो व्यवच्छित्तिनयार्थ, पर्याय इत्यर्थ, तस्य भावो व्यवच्छित्तिनयार्थता, तया पर्यायापेक्षयेत्यर्थ, किमित्याह-सादिसपर्यवसितं नारकादिभवपरिणत्यपेक्षया जीव इव, ' अवुच्छित्तिनयट्ठयाए ' त्ति-अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयोऽव्यवच्छित्तिनयस्तस्यार्थ अव्यवच्छित्तिनयार्थ, द्रव्यमित्यर्थ ' तद्भावस्तत्ता तया, द्रव्यापेक्षया इत्यर्थ । किमित्याह-अनादि अपर्यवसित त्रिकालावस्थायित्वाज्जीववद् । न० ।

इदानीं सादि सपर्यवसित च श्रुतं सप्रतिपक्षमुच्यते—

अत्थि त्ति नयस्सेयं, अणाइपज्जंतमत्थिकाय व्व ।
इयरस्स साइ संत, गइपज्जाएहिँ जीवो व्व ॥ ५३७ ॥

अस्तीति नयो नित्यवादी द्रव्यास्तिकस्तस्याभिप्रायेणेदं द्वादशाङ्गश्रुतमनादि, अपर्यन्तं च, नित्यत्वात्, पञ्चास्तिकायवत्, तथाहि—यैर्जीवद्रव्यै श्रुतमिदमधीतं, यान्यधीयन्ते यानि चाध्येष्यन्ते, तानि तावद् न कदापि व्यवच्छिद्यन्ते, इति तेषामनादिना, अपर्यन्तता च । तत श्रुतस्यापि तत्पर्यायभूतस्य तदव्यतिरेकात् तद्रूपतैव । न हि सर्वथाऽसत् कार्युत्पद्यते, सिकतास्वपि तैलाद्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । नापि सतोऽत्यन्तोच्छेदः, सर्वशून्यतापत्तेः । यदि हि यद् यदेव—नारकादिक घट—पटादिकं च विनश्यति तत् तद्यदि सर्वथा निरन्वयमपैति, तदा कालस्याऽपर्यवसितत्वात् क्रमेण सर्वस्याऽपि जीवपुद्गलराशेर्व्यवच्छेदात् सर्वमेव विश्वं शून्यं स्यात् । तस्माच्छ्रुताधारद्रव्याणां सर्वदैव सत्त्वात् तदव्यतिरेकिणस्तस्यापि तद्रूपतैवेति स्थितम् । इतरस्य व्यवच्छित्तिनयस्याऽनित्यवादिनः पर्यायास्तिकस्य मतेन सादि, सपर्यन्तं च श्रुतम्, अनित्यत्वाजीवस्य, नारकादिगतिपर्यायवत्; तथाहि—श्रुतज्ञानिनां निरन्तरमपरापरे द्रव्याद्युपयोगा प्रसूयन्ते, प्रलीयन्ते च । न च तेभ्योऽन्यत् किमपि श्रुतमस्ति, तत्कार्यभूतस्य जीवादितत्त्वाववोधस्याऽन्यत्राऽदर्शनात्, तदनुपलम्भेऽपि तत्कल्पनायामतिप्रसङ्गात् । द्रव्यादिषु च श्रुतोपयोगः सादि सपर्यवसित एवेति ।

अथवा नयविचारमुत्सृज्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानाश्रित्येदं साद्यादिस्वरूपं चिन्त्यत इति । एतदाह—

दव्वाइणा व साइय-मणाइयं संतमंतरहियं वा ।
दव्वम्मि एगपुरिसं, पडुच्च साइं सनिहणं च ॥५३८॥

द्रव्यादिना वा द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्वा श्रुत सादिकमनादिक, सान्तमनन्तं च भवति । इह च द्रव्यतः श्रुतमेकं बहूनि च पुरुषद्रव्याण्याश्रित्य चिन्तनीयम् । तत्रैकपुरुष द्रव्यमङ्गीकृत्य तावदाह—' दव्वम्मी ' त्यादि द्रव्यत एकपुरुष प्रतीत्य सादि सनिधनं च श्रुत भवति । विशे० ।

आह परः केन पुनः कारणेन अक्षरानक्षरश्रुते प्रथममुपात्ते तत आह—

सुणेतीति सुयं तेणं,सवणं पुण अक्खरेयरं चेव ।
तेणक्खरे तरं वा, सुयनाणे होति पुव्वं तु ॥१५०॥

इह हि यस्मात्प्रतिपत्तेर्यदुच्यमान शृणोति तेन-कारणेन तत् श्रुतमित्युच्यते, श्रूयते इति श्रुतमिति व्युत्पत्तेः । श्रवणं पुनरक्षरस्य वाऽनक्षरस्य तेन श्रुतज्ञाने प्ररूप्यमाणे पूर्वमक्षरमनन्तर वोपात्तमिति । सू० १ उ० १ प्रक० ।

से किं तं गमिअं ?, दिट्ठिवाओ, अगमिअं कालिअं सुअं, सेत्तं गमिअं, सेत्तं अगमिअं । अहवा-तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंगपविट्ठं, अंगबाहिरं च । से किं तं अंगबाहिरं ?, अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-आवस्सयं च, आवस्सयवइरित्तं च । से किं तं आवस्सयं ? आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं । तं जहा-सामाइअं चउवीसत्थओ वंदणयं पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाणं, सेत्तं आवस्सयं । से किं तं आवस्सयवइरित्तं ?, आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-कालिअं च, उक्कालिअं च । (सू० ४३ ×)

अथ किं तद्गमिकम ?, इहादिमध्यावसानेषु किञ्चिद्विशेषतो भूयो भूयस्तस्यैव सूत्रस्योच्चारणं गम, " तत्रादौ " सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु " इत्यादि, एवं म-

ध्यावसानयोरपि यथासम्भवं द्रष्टव्य , गमा अस्य विद्यन्ते- इति गमिकम् , 'अतोऽनेकस्वरात् ।७।२।६। इति मत्वर्थीय इक-प्रत्ययः। उक्तं च चूर्णौ—आइए मज्झेऽवसाणे वा किंचि वि-सेसजुत्तं दुगाइसयग्गसो तमेव पढिज्जमाणं गमियं भण्ण-इ"त्ति, तच्च गमिकं प्रायो दृष्टिवादः, तथा चाह—'गमियं दिट्ठीवाओ' तद्विपरीतमगमिकं, तच्च प्रायः आचारादि का-लिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात् । तथा चाह—'अग-मियं कालियसुयं' 'सेत्तं' मित्यादि, तदेतद्गमिकमगमिकं च।'तं समासओ' इत्यादि, तद्गमिकमगमिकं च, अथ-वा तत्—सामान्यतः श्रुतमर्हदुपदेशानुसारि समासतः—संक्षेपेण द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यं च । अत्राह—ननु पूर्वमेव चतुर्दशभेदोद्देशाधिकारेऽङ्गप्रविष्ट-मङ्गबाह्यं चेत्युपन्यस्तं तत्किमर्थं भूयस्तत्समासतः इत्या-द्युपन्यासेन तदेव न्यस्यते इति ? उच्यते—इह सर्वं एव श्रुतभेदा अङ्गानङ्गप्रविष्टरूपे भेदद्वय एवान्तर्भवन्ति , तत एतदर्थख्यापनार्थं भूयोऽप्युद्देशेनाभिधानम्। अथवाऽङ्गान-ङ्गप्रविष्टमर्हदुपदेशानुसारि ततः प्राधान्यख्यापनार्थं भूयोऽपि तस्योद्देशेनाभिधानमित्यदोषः , तत्राङ्गप्रविष्टमिति । (नं०) तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथममङ्गबाह्यमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह-'से किं तं' मित्यादि. अथ किं तदङ्गबाह्यं ?, सूरिराह—अङ्ग-बाह्यं श्रुतं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-आवश्यकं चावश्यकव्य-तिरिक्तं च। तत्रावश्यं कर्त्तव्यमावश्यकम्, अवश्यकर्त्तव्यक्रि-यानुष्ठानमित्यर्थः, अथवा गुणानामभिविधिना आवश्यमा-त्मानं करोतीत्यावश्यकम्—अवश्यकर्त्तव्यसामायिकादिक्रि-यानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं श्रुतमपि आवश्यकं चशब्दः स्वग-तानेकभेदसूचकः । 'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तदा-वश्यकम् ?, सूरिराह—आवश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तं , तद्यथा—'सामायिकं' मित्यादि निगदसिद्धं, 'सेत्तं' मित्यादि तदे-तदावश्यकं 'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तदावश्यक-व्यतिरिक्तम् ?,आचार्य आह—आवश्यकव्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा—कालिकम् उत्कालिकं च। तत्र यद्दिवसनि-शाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते तत्कालिकं, कालेन निर्वृत्तं कालिकमिति व्युत्पत्तेः, यत्पुनः कालवेलावर्ज्जं पठ्यते तदुत्कालिकम्,आह च चूर्णिकृत्-'तत्थ कालियं जं दिण-राईए (ए) ण पढमचरमपोरिसीसु पढिज्जइ। जं पुण काल-वेलावज्जं पढिज्जइ तं उक्कालियं" ति, तत्राल्पवक्तव्यत्वा-त्प्रथममुत्कालिकमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—'से किं तं' मि-त्यादि, अथ किं तदुत्कालिकं श्रुतं ?, सूरिराह—उत्कालिकं श्रुतमनेकविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा—दशवैकालिकं तच्च सुप्रतीत-तं, तथा कल्पाकल्पप्रतिपादकमध्ययनं कल्पाकल्पं, तथा कल्पनं कल्पः—स्थविरादिकल्पः तत्प्रतिपादकं श्रुतं कल्प-श्रुतं,तत्पुनर्द्विभेदं. तद्यथा—'चुल्लकप्पसुयं, महाकप्पसुयं' एकमल्पग्रन्थमल्पार्थं च, द्वितीयं महाग्रन्थं महार्थं च शेषा ग्रन्थविशेषाः प्रायः सुप्रतीताः, तथापि लेशतोऽप्रसिद्धान् व्याख्यास्यामः । तत्र 'पण्णवण'त्ति जीवादीनां पदार्थानां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना,सैव बृहत्तरा महाप्रज्ञापना, तथा प्रमादा-प्रमादस्वरूपभेदफलविपाकप्रतिपादकमध्ययनं प्रमादाप्रमाद-म्।तत्र प्रमादस्वरूपमेव-प्रचुरकर्मेन्धनप्रभवनिरन्तरविध्या-तशारीरमानसानेकदुःखहुतवहज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यंस्तन्मध्यवर्त्यपि सति च तन्निर्गमनो-पाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणौ यतो विचित्रकर्मोदय-साचिव्यजनितात् परिणामविशेषादपश्यन्निव तद्भयमवि-गणय्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एवास्ते जीवः स खलु प्रमादः, तस्य च प्रमादस्य, ये हेतवो मद्यादयस्तेऽपि प्रमा-दास्तत्कारणत्वात्, उक्तं च—"मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया। एए पंच पमाया जीवं पाडंति संसारे ॥ १ ॥" तस्य च पञ्चप्रकारस्यापि प्रमादस्य फलं दारुणो विपाकः, उक्तं च—

"श्रेयो विषमुपभोक्तुं, क्षमं भवेत् क्रीडितुं हुताशेन।
संसारबन्धनगतैर्न तु प्रमादः क्षमः कर्तुम् ॥ १ ॥
अस्यामेव हि जातौ, नरमुपहन्याद्विषं हुताशो वा।
आसेवितः प्रमादो, हन्याज्जन्मान्तरशतानि ॥ २ ॥
यत्र प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गं यच्च प्रयान्ति विनिपातम्।
तत्र निमित्तमनार्यः, प्रमाद इति विनिश्चितमिदं मे ॥ ३ ॥
संसारबन्धनगतो, जातिजराव्याधिमरणदुःखार्त्तः।
यन्नोद्विजते सत्त्वः सोऽप्यपराधः प्रमादस्य ॥ ४ ॥
आज्ञाप्यते यदयशः-स्तुल्योऽदर्पाणिपादवदनेन।
कर्म च करोति बहुविधमेतदपि फलं प्रमादस्य ॥ ५ ॥
इह हि प्रमत्तमनसः, सोन्मादमदनिभृतेन्द्रियाश्चपलाः।
यत्कृत्य तदकृत्वा, सततमकार्येऽप्यभिपतन्ति ॥ ६ ॥
तेषामभिपतितानामुद्भ्रान्तानां प्रमत्तहृदयानाम्।
वर्द्धन्त एव दोषा वनतरव इवाम्बुसेकेन ॥ ७ ॥
दृष्टाऽप्यालोकं नैव विश्वसितव्यं,
तीरं नीतापि भ्राम्यति वायुना नौः ।
लब्ध्वा वैराग्यं भ्रष्टयोगः प्रमादा-
द्भूयो भूयः संसृतौ बम्भ्रमीति ॥ ८ ॥"

एवं प्रतिपक्षद्वारेणाप्रमादस्यापि स्वरूपादयो वाच्याः, 'नन्दी' त्यादि सुगमं, सूरियपन्नत्ती' त्ति सूर्यचर्या-प्रज्ञपनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः तथा 'पौरुषी-मण्डलं' मिति पुरुषः-शङ्कुः पुरुषशरीरं वा तस्माज्जिष्पन्ना पौरुषी 'तत आगते' ॥६।३।१४९॥ इत्यण्, आह च चूर्णि-कृत्—'पुरिसो त्ति सङ्कू पुरिससरीरं वा, तत्र पुरि-साओ निष्फन्ना पोरिसी' इति, इयमत्र भावना-सर्वस्यापि वस्तुनो यदा स्वप्रमाणच्छाया जायते तदा पौरुषी भवति एतच्च पौरुषीप्रमाणमुत्तरायणस्यान्ते दक्षिणायनस्यादौ चै-कं दिनं भवति ततः परमङ्गुलस्याष्टावेकषष्टिभागा दक्षि-णायने वर्द्धन्ते उत्तरायणे च हसन्ति, एवं मण्डले मण्डले अ-न्या अन्या पौरुषी यत्राध्ययने व्यावर्ण्यते तदध्ययनं पौरुषी-मण्डलं, तथा यत्राध्ययने चन्द्रस्य सूर्यस्य च दक्षिणेषु उ-त्तरेषु च मण्डलेषु सञ्चरतो यथा मण्डलात् मण्डले प्रवे-शो भवति तथा व्यावर्ण्यते तदध्ययनं मण्डलप्रवेशः , त-था 'विद्याचरणविनिश्चय' इति, विद्येति-ज्ञानं, तच्च सम्य-ग्दर्शनसहितमवगन्तव्यम्, अन्यथा ज्ञानत्वायोगात्, चरणं चारित्रमेतेषां फलविनिश्चयप्रतिपादको ग्रन्थो विद्याचर-णविनिश्चयः , (नं०) तथाऽऽत्मनो-जीवस्यालोचनप्रायश्चि-त्तप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्रकारेण विशुद्धिः—कर्मविगमलक्षणा प्र-तिपाद्यते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ साऽऽत्मविशुद्धिः, तथा 'वी-तरागश्रुत' मिति सरागत्वव्यपोहेन वीतरागस्वरूपं प्रतिपा-

यते यत्राध्ययने तद्वीतरागश्रुतं, तथा ' सलेखनाश्रुत ' मिति द्रव्यभावसंलेखना यत्र श्रुते प्रतिपाद्यते तत्संलेखनाश्रुतं, तत्रौत्सर्गिक इयं द्रव्यसंलेखना-

" चत्तारि विचित्ताइं , विगईनिज्जूहियाइ चत्तारि ।
संवच्छरे उ दोन्नि उ, एगतरियं च आयामं ॥ १ ॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमियं च आयामं ।
अन्नेवि य छम्मासे , होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ २ ॥
वासं च कोडिसहियं, आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदरम्मि गतु, पायवगमणं अह करेइ ॥ ३ ॥ "

भावसलेखना तु क्रोधादिकषायप्रतिपक्षाभ्यासः, तथा ' विहारकल्प ' इति विहरणं विहार तस्य कल्पो-व्यवस्था स्थविरकल्पादिरूपा यत्र वर्ण्यते ग्रन्थे स विहारकल्प', तथा ' चरणविधि ' रिति चरणं-चारित्रं तस्य विधिर्यत्र वर्ण्यते स चरणविधिः, (न०) ' महाप्रत्याख्यान ' मिति महत्प्रत्याख्यान यत्र वर्ण्यते तन्महाप्रत्याख्यानम्, इह चूर्णिकारेण कृता भावना दर्श्यते-" थेरकप्पेण जिणकप्पेण वा विहरित्ता अंते थेरकप्पिया बारस वासे संलेहणं करेत्ता जिणकप्पिया पुण विहारेणेव सलीढा तहावि जहाजुत्तं सलेहणं करेत्ता निव्वाघाय सचेट्ठा चेव भवचरिमं पच्चक्खति, एवं सवित्थरं जत्थज्झयणे वणिज्जइ तमज्झयणं महापच्चक्खाणं ' [बृहट्टीकासत्कमेतत्]—' एवं तावदमून्यध्ययनानि-एतान्यध्ययनानि जहाभिहाणत्थाणि भणियाणि ' ' सेत्त ' मित्यादि, निगमन, तदेतदुत्कालिकमुपलक्षणं चैतदिति उक्तमुत्कालिक, ' से किं त ' मित्यादि, अथ किं तत्कालिक ?, कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथेत्यादि, ' उत्तराध्ययनानि' सर्वाण्यपि चाध्ययनानि प्रधानान्येव तथाऽप्यमून्येव रूढ्योत्तराध्ययनशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धानि ' दसाओ ' इत्यादि प्रायो निगदसिद्धं, निशीथ ' मिति निशीथवन्निशीथम्, इदं प्रतीतमेव, तस्मात्परं यद्ग्रन्थार्थाभ्यां महत्तर तन्महानिशीथ, तथा आवलिकाप्रविष्टानामितरेषां वा विमानानां वा प्रविभक्ति -प्रविभजनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा विमानप्रविभक्ति, सा चैका स्तोकग्रन्थार्था द्वितीया महाग्रन्थार्था, तत्राऽऽद्या क्षुल्लिका विमानप्रविभक्ति, द्वितीया महाविमानप्रविभक्ति:, तथा ' अङ्गचूलिके ' ति अङ्गस्य-आचारादेश्चूलिकाऽङ्गचूलिका, चूलिका नाम उक्तानुक्तार्थसंग्रहात्मिका ग्रन्थपद्धति', तथा ' वर्गचूलिके ' ति वर्ग -अध्ययनानां समूहो यथाऽन्तकृद्दशास्वष्टौ वर्गा इत्यादि तेषां चूलिका, तथा व्याख्याभगवती तस्याश्चूलिका व्याख्याचूलिका, (न०) ।

तथा ' उत्थानश्रुत ' मिति, उत्थानम्—उद्वसनं तद्धेतु श्रुतमुत्थानश्रुत, तच्च श्रृङ्गनादिते कार्ये उपयुज्यते, अत्र चूर्णिकारकृता भावना—" सज्जिगस्स कुलस्स वा गामस्स वा नगरस्स वा रायहाणीए वा समणे कयसंकप्पे आसुरुत्ते चंडिक्किए अप्पसन्ने अप्पसन्नलेसे विसमासुहासणत्थे उवउत्ते समाणे उट्ठाणसुयज्झयण परियट्टेइ तं च एक्कं दो वा तिण्णि वा वारे ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणीए या ओहयमणसंकप्पे विलवंते दुय दुयं पहावेंते उट्टेइ-उव्वसति त्ति भणियं होइ " त्ति, तथा ' समुत्थानश्रुत ' मिति समुपस्थान—भूयस्तत्रैव वासनं तद्धेतु श्रुत समुपस्थानश्रुत, वकारलोपाच्च सूत्रे "समुट्ठाणसुयं" ति पाठ', तस्य चेयं भावना—" तओ समत्ते कज्जे तस्सेव कुलस्स वा जाव रायहाणीए वा से चेव समणे कयसंकप्पे तुट्ठे पसन्ने पसन्नलेसे समसुहासणत्थे उवउत्ते समाणे समुट्ठाणसुयज्झयणं परियट्टेइ,तं च एक्कं दो तिन्नि वा वारे ताहे से कुले वा गामे वा०जाव रायहाणीए वा पहट्ठचित्ते पसत्थं मंगलं कलयलं कुणमाणे मंदाए गईए सललियं आगच्छइ समुवट्ठिए-आवासइत्तिवुत्त भवइ, तम्म उ (मु) वट्ठाणसुय ति वत्तव्वं वकारलोवाओ समुट्ठाणसुयं ति भणिय, तहा जइ अप्पणावि पुव्वुट्ठिय गामाइ भवइ तहावि जइ से समणे एवं कयसंकप्पे अज्झयणं परियट्टेइ तओ पुणरवि आवासेइ " तथा 'नागपरियावणिय' त्ति-नागाः-नागकुमारास्तेषां परिज्ञा यस्या ग्रन्थपद्धतौ भवति सा नागपरिज्ञा,तस्याश्चेय चूर्णिकृतोपदर्शिता भावना-" जाहे तं अज्झयणं समणे निग्गंथ परियट्टेइ ताहे अकयसंकप्पस्स वि ते नागकुमारा तत्थत्था चेव तं समणं परियाणति-वंदंति नमसंति बहुमाण च करेंति,सिगनादिकज्जेसु य वरदा भवंति"तथा'निरयावलियाओ' त्ति-यत्रावलिकाप्रविष्टा इतरे च नरकावासाः प्रसङ्गतस्तद्गामिनश्च नरास्तिर्यञ्चो वा वर्ण्यन्ते ता निरयावलिकाः एकस्मिन्नपि ग्रन्थे वाच्ये बहुवचनशब्दः शक्तिस्वाभाव्यात्, यथा पाञ्चाला इत्यादौ,तथा 'कल्पिका' इति या. सौधर्मादिकल्पगतवक्तव्यतागोचरा ग्रन्थपद्धतयस्ताः कल्पिका., एवं कल्पावतंसिका द्रष्टव्या., नवरं तासामियं चूर्णिकृतोपदर्शिता भावना-'सोहम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पविमाणाणि ताणि कप्पवडिंसताणि जासु वणिज्जति तेसु कप्पवडिंसएसु विमाणेसु देवी जा जेण तवोविसेसेण उववण्णा एयं पि वणिज्जइ ताओ कप्पवडिंसियाओ वुच्चति' तथा 'पुष्पिता' इति यासु ग्रन्थपद्धतिषु गृहवाससुत्कलनपरित्यागेन प्राणिन संयमभावपुष्पिताः सुखिता उषिता भूयः सयमभावपरित्यागतो दु.खावाप्तिमुकुलनेन मुकुलिताः पुनस्तत्परित्यागेन पुष्पिता प्रतिपाद्यन्ते ता. पुष्पिता उच्यन्ते, अधिकृतार्थविशेषप्रतिपादिका पुष्पचूडा. । (नं०) ' एवमाइया ' इत्यादि. कियन्ति नामग्राहमाख्यातु शक्यन्ते प्रकीर्णकानि ?, तत एवमादीनि चतुरशीति. प्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हत' श्रीऋषभस्वामिनस्तीर्थकृत' तथा संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमानामजितादीनां जिनवरेन्द्राणां तीर्थकराणाम्, एतानि च यस्य यावन्ति भवन्ति तस्य तावन्ति प्रथमानुयोगतो वेदितव्यानि, तथा चतुर्दश प्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हतो वर्द्धमानस्वामिन । इयमत्र भावना—इह भगवत ऋषभस्वामिनश्चतुरशीतिसहस्रसंख्या श्रमणा आसीरन्, तत प्रकीर्णकरूपाणि चाध्ययनानि कालिकोत्कालिकभेदभिन्नानि सर्वसंख्यानि चतुरशीतिसहस्रसख्यान्यभवन्, कथमिति चेत् ? ?, उच्यते—इह यद्भगवदर्हदुपदिष्टं श्रुतमनुसृत्य भगवन्त श्रमणा विरचयन्ति तत्सर्वं प्रकीर्णकमुच्यते, अथवा-श्रुतमनुसरन्तो यदात्मनो वचनकौशलेन धर्मदेशनादिषु ग्रन्थपद्धतिरूपतया भाषन्ते तदपि सर्वं प्रकीर्णकम्, भगवत ऋषभस्वामिन उत्कृष्टा श्रमणसम्पदा

आसीत् चतुरशीतिसहस्रप्रमाणा, ततो घटन्ते प्रकीर्णकान्यपि भगवतश्चतुरशीतिसहस्रसंख्यानि , एवं मध्यम तीर्थकृतामपि संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि भावनीयानि भगवतस्तु वर्द्धमानस्वामिनश्चतुर्दश श्रमणसहस्राणि , तेन प्रकीर्णकान्यपि भगवतश्चतुर्दश सहस्राणि, अत्र द्वे मते- एके सूरय प्रज्ञापयन्ति--इद किल चतुरशीतिसहस्रादिकं ऋषभादीनां तीर्थकृतां श्रमणपरिमाण प्रधानसूत्रविरचनसमर्थान् श्रमणानधिकृत्य वेदितव्यम् , इतरथा पुन सामान्यश्रमणा. प्रभूततरा अपि तस्मिन् तस्मिन् ऋषभादिकाले आसीरन्, अपरे पुनरेवं प्रज्ञापयन्ति-ऋषभादितीर्थकृता जीवनामिदं चतुरशीतिसहस्रादिक श्रमणपरिमाणं प्रवाहत. पुनरेकैकस्मिन् तीर्थे भूयास श्रमणा वेदितव्या । तत्र ये प्रधानसूत्रविरचनशक्तिसमन्विता. सुप्रसिद्धतद्ग्रन्था अतस्कालिका अपि तीर्थे वर्त्तमानास्तत्राधिकृता द्रष्टव्याः, एतदेव मतान्तरमुपदर्शयन्नाह--' अथवे ' त्यादि, अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने यस्य ऋषभादेस्तीर्थकृतो यावन्त. शिष्यास्तीर्थे औत्पत्तिक्या वैनयिक्या कर्मजया पारिणामिकया चतुर्विधया बुद्धया उपेता--समन्विता आसीरन् तस्य--ऋषभादेस्तावन्ति प्रकीर्णकसहस्राण्यभवन् , प्रत्येकबुद्धा अपि तावन्त एव, अत्रैके व्याचक्षते--इह एकैकस्य तीर्थकृतस्तीर्थेऽपरिमाणानि प्रकीर्णकानि भवन्ति, प्रकीर्णककारिणामपरिमाणत्वात् , केवलमिह प्रत्येकबुद्धरचितान्येव प्रकीर्णकानि द्रष्टव्यानि , प्रकीर्णकपरिमाणेन प्रत्येकबुद्धपरिमाणप्रतिपादनात्, स्यादेतत्--प्रत्येकबुद्धाना शिष्यभावो विरुध्यते--तदेतदसमीचीन , यत प्रव्राजकाचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावो निषिध्यते न तु तीर्थकरोपदिष्टशासनप्रतिपन्नत्वेनापि , ततो न कश्चिद्दोष । तथा च तेषां ग्रन्थ --" इह तित्थे अपरिमाणा पइन्नगा, पइन्नगसामिअपरिमाणत्तणओ, किं तु इह सुत्ते पत्तेयबुद्धपणीय पइन्नग भाणियव्वं , कम्हा ?, जम्हा पइण्णगपरिमाणेण चेव पत्तेयबुद्धपरिमाणं कीरई , (इति) भणियं ' पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव ' त्ति चोयग आह--' ननु पत्तेयबुद्धा सिस्सभावो य विरुज्झए , आयरिओ आह तित्थयरपणीयसासणपडिवन्नत्तणओ तस्सीसा हवंति' ति, अन्ये पुनरेवमाहु --सामान्येन प्रकीर्णकैस्तुल्यत्वात् प्रत्येकबुद्धानामत्राभिधानं , न तु नियोगत प्रत्येकबुद्धरचितान्येव प्रकीर्णकानीति,'सेत्त तदेतत्कालिकम्। नं० । (बद्धमबद्धं चेति द्विविध श्रुतम् ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे गतम् ।)

तदेव निरूपित चतुर्दशविधमपि श्रुतमर्थत । अथ कियास्तद्विषय ?, इति निरूपयितुमाह--

उवउत्तो सुअनाणी,सव्वं दव्वाइं जाणइ जहत्थं ।
पासइ य केइ सो पुण,तमचक्खुदंसणेणं ति ॥५५३॥

उपयुक्तो-दत्तोपयोग श्रुतज्ञानी सर्व द्रव्यादि यथार्थ-यथावद् यथा सर्वज्ञेनोक्त तथा जानाति--द्रव्यत पञ्चास्तिकायद्रव्याणि, क्षेत्र लोका--ऽलोकाकार, कालमतीतादिरूप, भावानौदयिकादीन् जानाति-स्पष्टावभासिना श्रुतज्ञानेनाऽवबुध्यते, न तु सामान्यग्राहिणा दर्शनेन पश्यति , तस्य तद्संभवात् यथा हि मनःपर्यायज्ञान स्वभावेनैव स्पष्टार्थग्राहकम् , इति न तत्र दर्शनम् , एव श्रुतज्ञानेऽपि तदपि शब्दार्थविकल्पनाबस्थायामन्तर्जल्पाकारत्वाद् विशेषमेव गृह्णाति न सामान्यमिति भाव । तथा च नन्दिसूत्रम्--" तं समासओ चउव्विह पण्णत्त, तं जहा--दव्वओ, खत्तओ , कालओ , भावओ । दव्वओ ण सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ न पासइ , एव सव्वखेत्त, सव्वकाल, सव्वभावे जाणइ न पासइ " इति । अन्ये तु नञः पाठं न मन्यन्ते । ततश्च " जाणइ पासइ " इति पठन्ति । अतः ' श्रुतज्ञान्यपि दर्शनेन पश्यति " इति ते मन्यन्ते, यच्चासौ दर्शनेन पश्यति तदचक्षुर्दर्शनेनेति मन्यन्ते । इदमत्र हृदयम्--यस्य श्रुतज्ञानं तस्य मतिज्ञानमवश्यमेव भवति । मति--श्रुतज्ञानस्य च चक्षुरचक्षुर्दर्शनभेदाद् द्विभेद दर्शनमुक्तम् । तत्र किल चक्षुर्दर्शनेन मतिज्ञान पश्यति , अचक्षुर्दर्शनेन पुन श्रुतज्ञानमिति ।

एतत् तेषा मतमसमीक्षिताभिधानत्वाद् यदृच्छावादमात्रमिति दर्शयन्नाह--

तेसिमचक्खुदंसण--सामण्णाओ कहं न मइनाणी ।
पासइ पासइ व कहं, सुयनाणी किंकओ भेओ ॥५५४॥

तेषां नञ पाठमनभ्युपगच्छतां मतिज्ञान--श्रुतज्ञानयोरिन्द्रिय--मनोनिमित्ततासाम्यादचक्षुर्दर्शन समानेऽपि कथं हन्त ! तेनाऽचक्षुर्दर्शनेन मतिज्ञानी न पश्यति ?, कथं वा तेन श्रुतज्ञानी पश्यति ? । यदि हि श्रुतज्ञानी तेन पश्यति तर्हि मतिज्ञान्यपि पश्यतु । अथासौ न पश्यति तर्हीतरोऽपि माऽपश्यत् । ननु किंकृतोऽयं भेदो, यदचक्षुर्दर्शने समानेऽपि तेनैकं ज्ञान पश्यति, अपरं तु न पश्यति ? । स्वेच्छाभाषितत्वमात्र विहाय नापरमत्र कारणं पश्याम इति भाव । तस्मात् " जाणइ न पासइ " इति स्थितमिति ।

अथवा प्रज्ञापनोक्तां पश्यत्तामाश्रित्य श्रुतज्ञानेऽपि पश्यत्ता युक्ता । ततश्च ' जाणइ पासइ " इत्यपि पाठो युक्त इति दर्शयन्नाह--

मइभेयमचक्खुदं--सणं च वज्जित्तु पासणा भणिया ।
पन्नवणाए उ फुडा, तेण सुए पासणा जुत्ता ॥५५५॥

मतेर्भेदो मतिभेदो मतिज्ञान--मत्यज्ञानलक्षणस्तं, तथाऽचक्षुर्दर्शनं च वर्जयित्वा येन कारणेन प्रज्ञापनायां त्रिंशत्तमपदे पश्यत्ता स्फुटा व्यक्ता भणिता, तेन श्रुते श्रुतज्ञानेऽपि पश्यत्ता युक्ता"जाणइ पासइ"इति पाठो युक्त इत्यर्थः।(विशे०) केषुचित्तु पुस्तकेषु ' तेण सुए पासणाऽजुत्ता "इत्यकारप्रश्लेषो दृश्यते तत्रायमर्थ --पूर्वगाथायां ' पासइ य केइ सो पुण तमचक्खुदंसणेण ' इति वचनादचक्षुर्दर्शनमाश्रित्य श्रुतज्ञाने या पश्यत्ता प्रोक्ता सा, इतोऽप्ययुक्ता । कुतः ?, इत्याह--येन प्रज्ञापनायां मतिभेदौ, अचक्षुर्दर्शनं च वर्जयित्वैव पश्यत्ता प्रोक्ता । अतोऽचक्षुर्दर्शनमाश्रित्याऽयुक्तैव श्रुतज्ञाने पश्यत्ता । ततो "जाणई न पासई " इति पाठ इति स्थितम् । इयं च गाथा पूर्वटीकाकारैर्गृहीता, ' कण्ठ्या ' इति च निर्दिष्टा, न तु व्याख्याता, अस्माभिस्तु यथावबोधं किञ्चिद् विवृता, सुधिया त्वन्यथाऽप्यविरोधतो व्याख्येयेति । तदेवं भेदतो विषयतश्च निरूपित श्रुतज्ञानम्।

सांप्रतं सत्पदप्ररूपणतादिभिर्नवभिरनुयोगद्वारैर्गत्यादिमार्गणास्थानेषु तद् गमनीयम् । एतच्चाभिन्नस्वामित्वात् पूर्वोक्तमतिज्ञानेन समानम् , इत्यतिदिशन्नाह—

जह नवहा मइनाणं, संतपयपरूवणाइणा गमियं ।
तह नेयं सुयनाणं, जं तेण समाणसामिचं ॥५५६॥

गतार्थैव ।

अथोत्तरनिर्युक्तिगाथासंबन्धनायाह—

सव्वाइमयनिहाणं, तं पाएणं जओ पराहीणं ।
तेण विणेयहियत्थं, गहणावाओ इमो तस्स ॥५५७॥

तच्च श्रुतज्ञानं यतो यस्मादनेकातिशयनिधानं प्रायः पराधीनं च गुर्वायत्तम् , तेन कारणेन तस्य श्रुतज्ञानस्याऽयं वक्ष्यमाणो ग्रहणोपायो-ग्रहणविधिः 'तीर्थकर-गणधरैरुक्त' इति शेषः । इति गाथापञ्चकार्थः ।

कः पुनर्ग्रहणोपायः ?, इत्याह—

आगमसत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहिँ अट्ठहिँ दिट्ठं ।
बेंति सुयनाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥५५८॥

पूर्वेषु विशारदा विपश्चितो धीरा—व्रतानुपालनस्थिराः श्रुतज्ञानस्य लाभं ब्रुवते-प्रतिपादयन्ति । किं तत् ?, इत्याह- 'त' ति तदेवागमशास्त्रग्रहणम् । यत् किम् ?, इत्याह-यद् बुद्धिगुणैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैरष्टभिर्दिष्टं शास्त्रे, इत्यक्षरयोजना । अयमर्थः—शिष्यते शिक्ष्यते बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रं तच्चाविशेषितं सामान्येन सर्वमपि मत्यादिज्ञानमुच्यते, सर्वेणापि ज्ञानेन जन्तूना बोधनात् । अतो विशेषे स्थापयितुमाह—आगमरूप शास्त्रमागमशास्त्रं श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तस्य ग्रहणं गुरुसकाशादादानं तदेवं श्रुतलाभं ब्रुवते, यद् बुद्धिगुणैरष्टभिः शास्त्रे दिष्टं, नान्यदिति—वक्ष्यमाणशुश्रूषादिगुणाष्टकक्रमेणैव श्रुतज्ञानं ग्राह्यं, नान्यथेति तात्पर्यम् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अत्र भाष्यम्—

सासिज्जइ जेण तयं, सत्थं तं चाऽविसेसियं नाणं ।
आगम एव य सत्थं, आगमसत्थं तु सुयनाणं ॥५५९॥
तस्सायाणं गहणं, दिट्ठं जं मइगुणेहिँ सत्थम्मि ।
बेंति तयं सुयलाभं, गुणा य सुस्सूसणाईया ॥५६०॥

गतार्थ एव । विशे० ।

साम्प्रतमाधनो द्वादशाङ्गाभिधेयमुपदर्शयति—

इच्चेइयंमि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा अणंता अभावा अणंता हेऊ अणंता अहेऊ अणंता कारणा अणंता अकारणा अणंता जीवा अणंता अजीवा अणंता भवसिद्धिया अणंता अभवसिद्धिया अणंता सिद्धा अणंता असिद्धा पण्णत्ता, तं जहा—"भावमभावा हेऊ-महेउ कारणमकारणे चेव । जीवाजीवा भविअम-भविआ सिद्धा असिद्धा य ॥१॥" इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टिंसु, इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्ण-

काले परित्ता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टंति, इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टिस्संति । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु, इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवयंति , इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए काले आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइस्संति । इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइ भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे से जहानामए पंचत्थिकाए न कयाइ नासी न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सइ भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे । एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे न कयाइ नासी न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सइ भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे । से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ । (सू० ५७ ×)

'इत्येतस्मिन् द्वादशाङ्गे गणिपिटके' एतत्पूर्ववदेव व्याख्येयं, अनन्ता भावा—जीवादयः पदार्थाः प्रज्ञप्ता इति योगः, तथा अनन्ता अभावाः—सर्वभावानां पररूपेणासत्त्वात् त एवानन्ता अभावा द्रष्टव्या , तथाहि—स्वपरसत्ताभावाभावात्मकं वस्तुतत्त्वं, यथा जीवो जीवात्मना भावरूपो अजीवात्मना चाभावरूपः , अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गात्, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थगौरवभयादिति, तथाऽनन्ता 'हेतवो' हिनोति—गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टमर्थमिति हेतुः, ते चानन्ताः , तथाहि—वस्तुनोऽनन्ता धर्मास्ते च तत्प्रतिबद्धधर्मविशिष्टवस्तुगमकास्ततोऽनन्ता हेतवो भवन्ति , यथोक्तहेतुप्रतिपक्षभूता अहेतव , तेऽपि अनन्ता , तथा अनन्तानि कारणानि घटपटादीनां निर्वर्त्तकानि मृत्पिण्डतन्त्वादीनि, अनन्तान्यकारणानि, सर्वेषामपि कारणानां कार्यान्तराण्यधिकृत्याकारणत्वात् , तथा जीवाः—प्राणिनः , अजीवाः परमाणुद्व्यणुकादयः, भव्या—अनादिपारिणामिकसिद्धिगमनयोग्यतायुक्ताः, तद्विपरीता अभव्याः , सिद्धा अपगतकर्ममलकलङ्काः, असिद्धा संसारिणः , एते सर्वेऽप्यनन्ताः प्रज्ञप्ता , इह भव्याभव्यानामानन्त्येऽभिहितेऽपि यत्पुनरसिद्धा अनन्ता इत्यभिहितं तत्सिद्धेभ्यः संसारिणामनन्तगुणताख्यापनार्थम् । सम्प्रति द्वादशाङ्गविराधनाफलं त्रैकालिकमुपदर्शयति—'इच्चेइय' मित्यादि, इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकमतीते कालेऽनन्ता जीवा आज्ञया—यथोक्ताऽऽ-

ज्ञापरिपालनाऽभावतो विराध्य चतुरन्त संसारकान्तार विविधशारीरमानसानेकदु खविटपिशतगहनदुस्तरं भवगहनम् ' अणुपरियट्टिंसु ' अनुपरावृत्तवन्त आसन् । इह द्वादशाङ्ग सूत्रार्थोभयभेदेन त्रिविध, द्वादशाङ्गमेव चाऽऽज्ञा आज्ञाप्यते जन्तुगुणो हितप्रवृत्तौ यया साऽऽज्ञेति व्युत्पत्ते , ततश्चाज्ञा त्रिविधा, तद्यथा-सूत्राज्ञा, अर्थाज्ञा, उभयाज्ञा च । सम्प्रति अमूषामाज्ञाना विराधनाश्चिन्त्यन्ते—तत्र यदाऽभिनिवेशवशतोऽन्यथा सूत्र पठति तदा सूत्राज्ञाविराधना, सा च यथा जमालिप्रभृतीना, यदा त्वभिनिवेशवशतोऽन्यथा द्वादशाङ्गार्थं प्ररूपयति तदाऽर्थाज्ञाविराधना, सा च गोष्ठामाहिलादीनामवसेया, यदा पुनरभिनिवेशवशत श्रद्धाविहीनतया हास्यादिना वा द्वादशाङ्गस्य सूत्रमर्थं च विकुट्टयति तदा उभयाज्ञाविराधना, सा च दीर्घससारिणामभव्याना चानेकेषा विज्ञेया । अथवा पञ्चविधाचारपरिपालनशीलस्य परोपकारकरणकृततत्परस्य गुरोर्हितोपदेशवचनम् आज्ञा, तामन्यथा समाचरन् परमार्थतो द्वादशाङ्गं विराधयति, तथा चाह चूर्णिकृत्—' अहवा आणत्ति पञ्चविहायारायरणसीलस्स गुरुणो हियोवएसवयण आणा, तमन्नहा आयरंतेण गणिपिडगं विराहिय भवइ ' त्ति । तदेवमतीते काले विराधनाफलमुपदर्श्य सम्प्रति वर्त्तमानकाले दर्शयति—' इच्चेइय '—मित्यादि , सुगम नवर ' परित्ता ' इति परिमिता नत्वनन्ता असङ्ख्येया वा, वर्त्तमानकालचिन्ताया विराधकमनुष्याणा सङ्ख्येयत्वात् , ' अणुपरियट्टति ' त्ति अनुपरावर्त्तन्ते—भ्रमन्तीत्यर्थ , भविष्यति काले विराधनामुपदर्शयति—' इच्चेइय , मित्यादि , इदमपि पाठसिद्ध, नवर ' परियट्टिस्संति ' त्ति अनुपरावर्त्तिष्यन्ते—पर्यटिष्यन्तीत्यर्थ , तदेव विराधनाफल त्रैकालिकमुपदर्श्य सम्प्रत्याराधनाफल त्रैकालिक दर्शयति—' इच्चेइय ' मित्यादि सुगमं नवर ' वीइवइसु ' त्ति व्यतिक्रान्तवन्त संसारकान्तारमुल्लङ्घ्य, मुक्तिमवाप्ता इत्यर्थ । ' वीइवइस्संति ' त्ति व्यतिक्रमिष्यन्ति, एतच्च त्रैकालिक विराधनाफलमाराधनाफल च द्वादशाङ्गस्य सदाऽवस्थायित्वे सति युज्यते , नान्यथा, तत सदावस्थायित्वं तस्याह—' इच्चेइय , मित्यादि, इत्येतद्द्वादशाङ्ग गणिपिटकं न कदाचिन्नासीत् , सदैवासीदिति भाव , अनादित्वात् , तथा न कदाचिन्न भवति , सर्वदैव वर्त्तमानकालचिन्ताया भवतीति, भाव , सदैव भावात् तथा न कदाचिन्न भविष्यति, किन्तु भविष्यच्चिन्ताया सदैव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्यम् , अपर्यवसितत्वात् . तदेव कालत्रयचिन्ताया नास्तित्वप्रतिषेध विधाय सम्प्रत्यस्तित्व प्रतिपादयति— ' भुविं च ' इत्यादि अभूत् भवति भविष्यति चेति । एव त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुव मेर्वादिवत् , ध्रुवत्वादेव सदैव जीवादिषु पदार्थेषु प्रतिपादकत्वेन नियत पञ्चास्तिकायेषु लोकवचनवत् नियतत्वादेव च शाश्वत—शश्वद्भवनस्वभाव शाश्वतत्वादेव च सततगङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि(पद्म) पुण्डरीकह्रद इव वाचनादिप्रदानेऽपि अक्षय-नास्य क्षयोऽस्तीत्यक्षयमक्षयत्वादेव च अव्यय मानुषोत्तराद्बहि समुद्रवत् , अव्ययत्वादेव सदैव प्रमाणेऽवस्थित जम्बूद्वीपादिवत् , एवं च सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमान नित्यमाकाशवत् , साम्प्र-

तमत्रैव दृष्टान्तमाह—'से जहानामे' त्यादि , तद्यथानाम पञ्चास्तिकाया -धर्मास्तिकायादय न कदाचिन्नासन्नित्यादि पूर्ववत् , 'एवमेवे' त्यादि निगमनं निगदसिद्ध , 'से समासओ' इत्यादि , तद् द्वादशाङ्ग समासतश्चतुर्विध प्रज्ञप्त, तद्यथा—द्रव्यत क्षेत्रत कालतो भावतश्च ।

तत्थ दव्वओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ, कालओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ । (सू० ५७ ×)

तत्र द्रव्यतो 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे श्रुतज्ञानी उपयुक्तः सर्वद्रव्याणि जानाति पश्यति , तत्राह-ननु पश्यतीति कथ ?, न हि श्रुतज्ञानि श्रुतज्ञानज्ञेयानि सकलानि वस्तूनि पश्यति, नैष दोष , उपमाया अत्र विवक्षितत्वात् , पश्यतीव पश्यति, तथाहि-मेर्वादीन् पदार्थानदृष्टानप्याचार्य शिष्येभ्य आलिख्य दर्शयति ततस्तेषा श्रोतृणामेवं बुद्धिरुपजायते भगवानेष गणी साक्षात्पश्यन्निव व्याचष्टे इति , एव क्षेत्रादिष्वपि भावनीयम् , ततो न कश्चिद्दोष । अन्ये तु न पश्यतीति पठन्ति , तत्र चोद्यस्यानवकाश एव , श्रुतज्ञानी चेहाभिन्नदशपूर्वधरादिश्रुतकेवली परिगृह्यते , तस्यैव नियमत श्रुतज्ञानबलेन सर्वद्रव्यादिपरिज्ञानसम्भवात् , तदितरे तु ये श्रुतज्ञानिनस्ते सर्वद्रव्यादिपरिज्ञाने भजनीया , केचित्सर्वद्रव्याणि जानन्ति केचिन्नेति भाव । इत्थम्भूता च भजना मतिवैचित्र्याद्वेदितव्या, आह च चूर्णिकृत्-"आरओ पुण जे सुयनाणी ते सव्वदव्वनाणपासणासु भइया, सा य भयणा मइविसेसओ जाणियव्व त्ति"।

सम्प्रति संग्रहगाथामाह—

"अक्खर सन्नी सम्मं, साइअं खलु सपज्जवसिअं च ।
गमिअं अंगपविट्ठं , सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥१८२॥
सुस्सूसइ१पडिपुच्छइ२,सुणेइ३गिण्हइ अ४ईहए यावि५।
तत्तो अपोहए वा६,धारेइ७करेइ वा सम्मं ८॥१८३॥
मूअं हुंकारं वा, बाढक्कार पडिपुच्छ वीमंसा ।
तत्तो पसंगपारा-यणं च परिणिट्ठ सत्तमए ॥१८४॥
सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरविसेसो,एस विही होइ अणुओगे॥१८५॥"
से तं अंगपविट्ठं । से त सुअनाणं ।

'अक्खरसन्नी' त्यादि, गतार्था । नवर सप्ताप्येते पक्षा' सप्रतिपक्षा , ते चैवम्—अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतमित्यादि (न०) किमुक्त भवति ?—यदेव जिनप्रणीतप्रवचनार्थपरिज्ञान तदेव परमार्थत श्रुतज्ञानं, न शेषमिति । बुद्धिगुणैरष्टभिरित्युक्तम् , ततस्तानेव बुद्धिगुणानाह—'सुस्सूसई'त्यादि, पूर्वं तावत् शुश्रूषते-विनययुक्तो गुरुवदनारविन्दाद्विनिर्गच्छद्वचन श्रोतुमिच्छति , यत्र शङ्कितं भवति तत्र भूयोऽपि विनयनम्रतया वचसा गुरुमन प्रह्लादयन् पृच्छति , पृष्टे च सति यद् गुरु कथयति तत्सम्यक् व्याक्षेपपरिहारेण साव-

भानः शृणोति, श्रुत्वा चार्थरूपतया गृह्णाति गृहीत्वा च ईहते पूर्वापराविरोधेन पर्यालोचयति, चशब्दः समुच्चयार्थः, अपिशब्दात्प(ब्द.प)र्यालोचयन् किञ्चित् स्वबुद्ध्याऽप्युत्प्रेक्षते इति सूचनार्थः, तत पर्यालोचनाऽनन्तरमपोहते एवमेतत् यदादिष्टमाचार्येण नान्यथेत्यवधारयति, ततस्तमर्थं निश्चितं स्वचेतसि विस्मृत्यभावार्थं सम्यग्धारयति करोति च स-म्यग्-यथोक्तमनुष्ठान, यथोक्तमनुष्ठानमपि श्रुतज्ञानप्राप्तिहेतु तदावरणक्षयोपशमनिमित्तत्वात् । तदेव गुणा व्याख्याता । सम्प्रति यच्छुश्रूषते इत्युक्त तत्र श्रवणविधिमाह-'मूय' मि-त्यादि,मूकमिति प्रथमतो मूक शृणुयात् किमुक्त भवति ?—प्रथमश्रवणे संयतगात्रस्तूष्णीमासीत्, ततो द्वितीये श्रवणे हुङ्कार दद्यात्, वन्दन कुर्यादित्यर्थः, ततस्तृतीये बाढकारं कुर्यात्, बाढमेवमेतन्नान्यथेति, ततश्चतुर्थे श्रव-णे तु गृहीतपूर्वापरसूत्राभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्या-त्, कथमेतदिति ?, पञ्चमे मीमांसा-प्रमाणजिज्ञासां कु-र्यादिति भाव., षष्ठे श्रवणे तदुत्तरोत्तरगुणप्रसङ्ग पारगमन चास्य भवति, तत सप्तमे श्रवणे परिनिष्ठा गुरुवदनुभा-षते । एवं तावच्छ्रवणविधिरुक्त । सम्प्रति व्याख्यानविधि-मभिधित्सुराह--'सुत्तत्थो' इत्यादि, प्रथमानुयोग सूत्रार्थः सूत्रार्थप्रतिपादनपर, खलुशब्द एवकारार्थ, स चावधा-रणे । ततोऽयमर्थ —गुणा प्रथमोऽनुयोग' सूत्रार्थाभिधा-नलक्षण एव कर्त्तव्य', मा भूत् प्राथमिकविनेयानां मति-मोह, द्वितीयोऽनुयोग सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितो भ-णितस्तीर्थकरगणधरै , सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रित द्विती यमनुयोगं गुरुर्विदध्यादित्याख्यान तीर्थकरगणधरैरिति भा व., तृतीयश्चानुयोगो निरवशेष -प्रसक्तानुप्रसक्तप्रतिपाद-नलक्षण इत्येव'-उक्तलक्षणो विधिर्भवत्यनुयोगे व्याख्या-याम् । आह—परिनिष्ठा सप्तमे इत्युक्त, त्रयश्चानुयोगप्रका-रास्तदेतत्कथम् ? , उच्यते—त्रयाणामनुयोगानामन्यतमेन केनचित्प्रकारेण भूयो भूयो भाव्यमानेन सप्त वारा श्रवण का र्यते ततो न कश्चिद्दोष . अथवा-कञ्चिन्मन्दमतिविनेयमधि-कृत्य तदुक्तं द्रष्टव्य, न पुनरेष एव सर्वत्र श्रवणविधिनियम , उद्घटितज्ञविनेयाना सकृच्छ्रवणत एवाशेषग्रहणदर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन । ' से त्त मित्यादि, तदेतच्छ्रुतज्ञानम् । नं० ।

सांप्रत श्रुतज्ञानं व्याचिख्यासुराह—" चउदसहा वीसहा य सुयंति " । श्रुत-श्रुतज्ञानं चतुर्दशधा चतुर्दशभेद विंशति-धा विंशतिप्रकार वा भवतीति । तत्र प्रथमं श्रुतस्य चतुर्द-शभेदान् व्याख्यानयन्नाह-

अक्खर सन्नी संमं, साइअं खलु सपज्जवसिय च ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥६॥

इह श्रुतशब्द पूर्वगाथात. संबध्यते । ततोऽक्षरश्रुतं, सं-ज्ञिश्रुत, सम्यक्छ्रुत, सादिश्रुतं, सपर्यवसितश्रुतं, गमिक-श्रुतम्, अङ्गप्रविष्टश्रुतमित्येते सप्त भेदा सप्रतिपक्षा श्रुत-स्य चतुर्दश भेदा भवन्ति । तथाहि—अक्षरश्रुतप्रतिपक्षमन-क्षरश्रुतम्, एवमसंज्ञिश्रुतं मिथ्याश्रुतमनादिश्रुतमपर्यवसित श्रुतमगमिकश्रुतमङ्गबाह्यश्रुतमिति । तत्राक्षर त्रिधा संज्ञाव्य-ञ्जनलब्धिभेदात् । उक्त च-' त सन्नावंजणल-द्धिसन्निय ति-विहमक्खरं भणियं । सुयबुद्धितिविभेयनियय, सन्नक्खरमक्ख-रागारो॥१॥" सुवद्धश्चो या एता अष्टादश लिपयः श्रूयन्ते,तथा हि-" हंसलिवी भूयलिवी, जक्खी तह रक्खसी य बोधव्वा । उड्डी जवणि तुरुक्की.कीरी दविडी य सिंधविया॥१॥मालविणी नडिनागरि,लाडलिवी पारसी य बोधव्वा । तह अनिमित्ती य लिवी, चाणक्की मूलदेवी य ॥ २ ॥ " व्यञ्जनाक्षरमकारादिह-कारपर्यन्तमुच्यते । तदेतद्द्वितयमज्ञानात्मकमपि श्रुतकारण-त्वादुपचारेण श्रुतम् । लब्ध्यक्षर तु शब्दश्रवणरूपदर्शनादे-रर्थप्रत्यायनगर्भाक्षरोपलब्धि । यदाह—" जो अक्खरोवलं-भो,सा लद्धी तं च होइ विन्नाणं । इंदियमणोनिमित्तं,जो आ-वरणक्खओवसमो ॥१॥ " ततोऽक्षरैरभिलाप्यभावानां प्रति-पादनप्रधानं श्रुतमक्षरश्रुतम् । नन्वनभिलाप्या अपि किं के-चिद्भावा सन्ति, येनैवमुच्यतेऽभिलाप्यभावाना प्रतिपाद-नप्रधानं श्रुतमिति, उच्यते—सन्त्येव । यदाहु. श्रीपूज्या.—

" पन्नवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।
पन्नवणिज्जाण पुण. अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥ १ ॥
ज चउद्दस पुव्वधरा, छट्ठाणगया परुप्परं हुंति ।
तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण ज वुत्तं ॥ २ ॥
अक्खरलंभेण समा, ऊणहिया हुंति मइविसेसेणं (हिं) ।
ते वि हु मईविसेसा, सुयनाणब्भतरे जाण ॥ ३ ॥ "

अनक्षरश्रुत क्ष्वेडितशिर.कम्पनादिनिमित्तं मामाह्वयति वा-रयति वेत्यादिरूपमभिप्रायपरिज्ञानम् । तथा संज्ञिश्रुतं तत्र संज्ञान संज्ञा "उपसर्गादात " ॥५ । ३ । ११०॥ इत्यङ्प्रत्ययः । सा च त्रिविधा दीर्घकालिकी हेतुवादोपदेशिकी दृष्टिवादो-पदेशिकी । यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधि.—

" इह दीहकालिगि त्ति, सन्ना नेया जया सुदीह पि ।
संभरइ भूयमेस्सं, चिंतइ य किह णु कायव्वं ॥ १ ॥
जे पुण संचिंतेउ, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसु ।
वट्टंति नियतंति य, स देहपरिवालणाहेउ ॥ २ ॥
पाएण संपय च्चिय, कालंमि न यावि दीहकालं-ञा ।
ते हेउवायसन्नी, निद्दिट्ठा हुंति अस्सण्णी ॥ ३ ॥
सम्मदिट्ठी सन्नी, संते नाणे खओवसमियंमि ।
अस्सण्णी मिच्छत्तं-मि दिट्ठिवाओवएसेण ॥ ४ ॥ "

ततश्च संज्ञा विद्यते येषा ते संज्ञिन एव सर्वत्राप्यागमे ये दीर्घकालिक्या संज्ञया संज्ञिनस्ते संज्ञिन उच्यन्ते , तत संज्ञिनां श्रुत संज्ञिश्रुत समनस्काना मन सहितैरिन्द्रियैर्ज-नितं श्रुतं संज्ञिश्रुतमिति भाव । मनोरहितेन्द्रियजं श्रुत-मसंज्ञिश्रुतम् । तथा सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रणीतं मिथ्यादृष्टिप्रणीत वा यथास्वरूपमवगमात् सम्यक्श्रुतं , मिथ्यादृष्टे पुन. अ-र्हत्प्रणीतमितरद्वा मिथ्याश्रुत, यथास्वरूपमनवगमात् । आ-ह—मिथ्यादृष्टेरपि मतिश्रुते सम्यग्दृष्टेरिव तदावरणकर्म-क्षयोपशमसमुद्भवे सम्यग्दृष्टेरिव पृथुबुध्नोदराद्याकार घटा-दिकं च संविदाते, तत् कथं मिथ्यादृष्टेरज्ञाने ?। उच्यते—स-दसद्विवेकपरिज्ञानाभावात् । तथाहि—मिथ्यादृष्टि सर्वमप्ये-कान्तपुर सरं प्रतिपद्यते, न भगवदुक्तस्याद्वादनीत्या , ततो घट एवायमिति' यदा ब्रूते तदा तस्मिन् घटे घटपर्या-यव्यतिरेकेण शेषान् सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादीन् सतोऽपि ध-र्मानपलपति, अन्यथा घट एवायमित्येकान्तेनावधारणानुप-पत्ते । घट सन्नेवेति ब्रुवाण' पररूपेण नास्तित्वस्यानभ्युपग मात् पररूपतामसतीमपि तत्र प्रतिपद्यते । तत सन्तमसन्तं

प्रतिपद्यतेऽसन्तं च सन्तमिति सदसद्विशेषपरिज्ञानाभावा-द्दर्शीनि मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुते । इतश्च ते मिथ्यादृष्टेरज्ञाने, भव-हेतुत्वात् । तथाहि-मिथ्यादृष्टीनां मतिश्रुते पशुवधमैथुनादी-नां धर्मसाधकत्वेन परिच्छेदके ततो दीर्घतरसंसारपथप्र-वर्तिनी । तथा यदृच्छोपलम्भादुन्मत्तकविकल्पवत् । तथाहि उन्मत्तकविकल्पा वस्त्वनपेक्ष्यैव यथाकथंचित् प्रवर्तन्ते । यद्यपि च ते क्वचिद्यथावस्थितवस्तुसंवादिनस्तथापि सम्य-ग्यथावस्थितवस्तुतत्त्वपर्यालोचनाविरहेण प्रवर्तमानत्वात परमार्थतोऽपरमार्थिका । तथा मिथ्यादृष्टीना मतिश्रुते यथावद्वस्त्वविचार्यैव प्रवर्तेते, ततो यद्यपि ते क्वचिद्रसो-ऽयं स्पर्शोऽयमित्यादाववधारणाध्यवसायाभावे संवादिनी, तथापि न ते स्याद्वादमुद्रापरिभावनातस्तथा प्रवृत्ते, किं तु यथाकथञ्चित्, अतस्ते अज्ञाने । तथा ज्ञानफलाभावात्, ज्ञानस्य हि फल हेयस्य हानिरुपादेयस्य चोपादान, न च संसारात्परं किंचन हेयमस्ति, न च मोक्षात्पर किंचिदुपा-देयं, ततो भवमोक्षावेकान्तेन हेयोपादेयौ, भवमोक्षयोश्च हान्युपादाने सर्वसङ्गविरतेर्भवत:, तत साऽवश्यं तत्त्ववे-दिना कर्तव्या, सैव च तत्त्वतो ज्ञानस्य फलम् । तथाचाह भगवानुमास्वातिवाचक —" ज्ञानस्य फल विरतिरिति "। सा च मिथ्यादृष्टेर्नास्तीति ज्ञानफलाभावादज्ञाने मिथ्यादृ-ष्टेर्मतिश्रुते । यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधि —" सदसदविसे-सणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ । नाणफलाभावओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ १ ॥ " इति । तथा—" साइयं, सपज्जवसियं, अणाइय, अपज्जवसियं, इच्चेयं दुवाल-संग वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइयं सपज्जवसियं, अवुच्छि-त्तिनयट्ठयाए अणाइय अपज्जवसिय, तं सामासओ चउ-व्विहं पन्नत्त, तं जहा-दव्वओ खित्तओ, कालओ, भावओ, दव्वओ णं संमसुयं एगं पुरिस पडुच्च साइय सपज्जवसियं, बहवे पुरिसे पडुच्च अणाइय अपज्जवसिय, खित्तओ णं पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइय अपज्जवसिय, कालओ ण उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च साइयं सपज्जवसियं नोउस्सप्पिणिं नोओसप्पिणिं च पडुच्च अणाइयं अपज्जव-सियं" । नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी चेति कालो महाविदेहे षु ज्ञेयस्तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणकालाभावात् । "भावओ णं जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति, ते तया पडुच्च साइय सपज्जवसिय, खाओवसमिय पुण भाव पडुच्च अणाइय अप-ज्जवसिय । अहवा भवसिद्धियस्स सुय साइय सपज्जवसिय" केवलज्ञानोत्पत्तौ तदभावात्, " नट्ठमि उ छाउमत्थिए ना-णे " इति वचनात् । " अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइय अपज्जवसियं " । इह च सामान्यत श्रुतशब्देन श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान चोच्यते । यदाह—" अविसेसियं सुय सुयनाण सुयअन्नाण च " । तथा गमा सदृशपाठास्ते विद्यन्ते यत्र तद्गमिकम्, "अतोऽनेकस्वराद्" ७-२-६ इति (सूत्रेण) इक-प्रत्यय तत् प्रायो दृष्टिवादगतम् । आगमिकमसदृशाक्षरा-लापक तत् प्राय कालिकश्रुतगतम् । कर्म० ।

परिकम्म सुत्तपुव्वा-णुओगपुव्वगयचूलिया पंच ।
पण दिट्ठिवायभेया, चउदस पुव्वाइँ पुव्वगय ॥ ३ ॥
उप्पाय पयकोडी, अग्गाणीयमि छन्नवइलक्खा ।
वि (वी) रियपवाए अत्थि-प्पवाइ लक्खा सयरिसट्ठी ॥४॥
एगपऊणा कोडी, पयाण नाणप्पवायपुव्वमि ।
सच्चप्पवायपुव्वे, एगा पयकोडि छच्च पया ॥ ५ ॥
छव्वीस पयकोडी, पुव्वे आयप्पवायनामम्मि ।
कम्मप्पवायपुव्वे, पयकोडी असिइलक्खजुया ॥ ६ ॥
पच्चक्खाणभिहाणे, पुव्वे चुलसीइ पयसयसहस्सा ।
दसपयसहस्सजुया, पयकोडिविज्जाणवायम्मि ॥ ७ ॥
कल्लाणनामधिज्जे, पुव्वम्मि पयाण कोडिछव्वीसा ।
छप्पनलक्खपयकोडी, पयाण पाणाउपुव्वंमि ॥ ८ ॥
किरियाविसालपुव्वे, नव पयकोडी उ बिंति समयविऊ ।
सिरिलोकबिन्दुसारे, सड्ढदुवालस य पयलक्खा ॥ ९ ॥"

अङ्गबाह्य श्रुतमावश्यकदशवैकालिकादि । इति व्याख्यातं चतुर्दशधा श्रुतम् ।

सप्रति विंशतिधा श्रुतं व्याख्यानयन्नाह—

पज्जयअक्खर पयसं-घाया पडिवत्ति तह य अणुओगो ।
पाहुडपाहुडपाहुड-वत्थूपुव्वा य ससमासा ॥७॥

पर्यायश्चाक्षर च पद च संघातश्च पर्यायाक्षरपदसंघाता' 'पडिवत्ति' त्ति प्रतिपत्ति । प्राकृतत्वाल्लुप्तविभक्तिको निर्देश । तथा चानुयोगोऽनुयोगद्वारलक्षण, प्राभृतप्राभृतं च प्राभृत च वस्तु च पूर्व च प्राभृतप्राभृतप्राभृतव-स्तुपूर्वाणि । प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्यय । यदाह पाणिनि स्वप्राकृतलक्षणे "लिङ्गं व्यभिचार्यपि" । 'च' समुच्चये । एते पर्यायादय श्रुतस्य दश भेदा । कथभूता इत्याह— 'ससमास' त्ति समास संक्षेपा, मीलक इत्यर्थः, सह समासेन वर्तन्ते ससमासास्ततश्च प्रत्येक संबन्ध । तथाहि, पर्याय पर्यायसमास, अक्षरमक्षरसमास, पदं पदसमास, सघात संघातसमास, प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगोऽनुयोगसमास, प्राभृतप्राभृतं प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत प्राभृतसमास, वस्तु वस्तु-समास पूर्व पूर्वसमास, इति विंशतिधा श्रुत भवतीति गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्-पर्यायो ज्ञानस्यांशो विभा-ग परिच्छेद इति पर्याया । तत्रैको ज्ञानाश पर्यायोऽने-के तु ज्ञानाशा पर्यायसमास । एतदुक्तं भवति--लब्ध्यप-र्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य यत् सर्वजघन्य श्रुतमात्रं त-स्मादन्यत्र जीवान्तरे य एकश्रुतज्ञानांशो विभागपरिच्छे-दरूपो वर्धते स पर्याय ॥ १ ॥ ये तु द्व्यादय' श्रुतज्ञा-नविभागपरिच्छेदा नानाजीवेषु वृद्धा लभ्यन्ते ते समु-दिता' पर्यायसमास ॥ २ ॥ आकारादिलब्ध्यक्षराणामन्य-तरदक्षरम् ॥ ३ ॥ तेषामेव द्व्यादिसमुदायोऽक्षरसमासः ॥ ४ ॥ पद तु अर्थपरिसमाप्ति पदमित्याद्युक्तिसद्भावे-ऽपि येन केनचित्पदेनाष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारा-दिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरि-माणेऽधिकृतत्वात्, श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात्, तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात्प्रमाण न ज्ञायते, तत्रैक पदं पदमुच्यते ॥ ५ ॥ द्व्यादिपदसमुदायस्तु पदसमास ॥ ६ ॥ 'गइइंदिए य काए' इत्यादिगाथाप्रतिपादितद्वा-रकलापस्यैकदेशो यो गत्यादिकस्तस्याप्येकदेशो यो नर-

कगत्यादिकस्तत्र जीवादिमार्गणा यका क्रियते स सघातः ॥ ७ ॥ द्व्यादिगत्याद्यवयवमार्गणा सघातसमासः ॥ ८ ॥ गत्यादिद्वाराणामन्यतरैकपरिपूर्णगत्यादिद्वारेण जीवादिमार्गणा प्रतिपत्तिः ॥ ९ ॥ द्वारद्वयादिमार्गणा तु प्रतिपत्तिसमासः ॥ १० ॥ "संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" इत्यादि, अनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोगद्वारमुच्यते ॥ ११ ॥ तद्द्वयादिसमुदायः पुनरनुयोगद्वारसमासः ॥ १२ ॥ प्राभृतान्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतप्राभृतं ॥ १३ ॥ तद्द्वयादिसमुदायस्तु प्राभृतप्राभृतसमासः ॥ १४ ॥ वस्त्वन्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतम् ॥ १५ ॥ तद्द्वयादिसंयोगस्तु प्राभृतसमासः ॥ १६ ॥ पूर्वान्तर्वर्ती अधिकारविशेषो वस्तु ॥ १७ ॥ तद्द्वयादिसंयोगस्तु वस्तुसमासः ॥ १८ ॥ पूर्वमुत्पादपूर्वादि पूर्वोक्तस्वरूपम् ॥ १९ ॥ तद्द्वयादिसंयोगस्तु पूर्वसमासः ॥ २० ॥ एवमेते संक्षेपेण श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दर्शिता, विस्तरार्थिना तु बृहत्कर्मप्रकृतिरन्वेषणीया। एते च पर्यायादयः श्रुतभेदा यथोत्तरं तीव्रतीव्रतरादिक्षयोपशमलभ्यत्वादित्थं निर्दिष्टा इति परिभावनीयमिति। अथवा चतुर्विधं श्रुतज्ञानम्, तथाहि—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतः श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्याण्यादेशेन जानाति, क्षेत्रतः सर्वक्षेत्रमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, कालतः सर्वं कालमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, भावतः सर्वान् भावानादेशेन श्रुतज्ञानी जानातीति व्याख्यातं सविस्तरं श्रुतज्ञानम्।

उपधानवताऽध्येतव्यम्—

से भयवं! किं जहा पंचमंगलं तहा सामाइयाइयमसेसं पि सुयनाणमहिज्जियव्वं ?, गोयमा! तहा चेव विणओ विहाणेणमहिएयव्वं, णवरं अहिज्जणिउकामेहिं अट्ठविहं चेव नाणायारं सव्वपयत्तेणं कालादी रक्खेज्जा अन्नहा महया आसायणं ति। अन्नं च दुवालसंगस्स सुयनाणस्स पढमचरिमजाम अहन्निसमज्झयणज्झावणं च पंचमंगलस्स सोलसद्धजामियं। अन्नं च पंचमंगलं कयसामइए वा अकयसामइए वा, अहीए सामाइयं तु सयं च सारंभपरिग्गहे जावज्जीवं कयसामाइए अहिज्जिणइ ण उण सारंभपरिग्गहे। अकयसामाइए तहा पंचमंगलस्स आलावगे य आयंबिलं तहा सक्कत्थवाईसु वि दुवालसंगस्स पुण सुयनाणस्स उद्देसगज्झयणेसु। महा० ३ अ०।

श्रुतज्ञानस्य विराधकः—

एएसिं पयाणं अन्नयरपए खलेज्जा। जो सहसा देसूणपुव्वकोडी तत्त णं गोयमा! मुज्झेज्ज वा ण वावि। "एवं गच्छविवड्डी, तह त्ति पालेतु जं जहा भणियं। रयमलकिलेसमुक्के, गोयम! मुक्खं गएणं तं ॥१॥ गच्छंति गमिस्संति य, ससुरासुरजगणमंसिए वीरे। भुवणेक्कपायडजसे, जह भणियं गुणट्ठिए गणिणो ॥ २ ॥" से भयवं जे णं केइ अणागयसमयसब्भावे होत्था विहीए वा अविहीए वा कस्स य गच्छायारस्स य मंडलिधम्मस्स य वा छत्तीसइविहस्स णं सपच्चेयनाणदंसणचारित्ततववीरियायारस्स वा मणसा वा वाया वा कहिंचि अन्नयरे ठाणे केइ गच्छाहिवई आयरिएइ वा अणंतो विसुद्धपरिणामो वि होत्था णं। असुइं वक्केज्ज वा (खज्जेज्ज वा) परूवमाणे वा अणुट्ठमाणे वा से णं आराहगे उयाहु अणाराहगे ?, गोयमा! अणाराहगे। से णं भयवं! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ एवं जहा णं गोयमा! अणाराहगे णं इमे दुवालसंगे सुयनाणे अणपज्जवसिए अणाइनिहणे सब्भूयत्थपसाहगे। अणाइसंसिद्धे से णं देविंदविंदवंदाणं अतुलबलवीरिएसरियसत्तपरक्कममहापुरिसायारकंतिदित्तिलावन्नरूवसोहग्गसकलकलाकलावविच्छड्डपडियाणं अणंतणाणीणं सयंसंबुद्धाणं जिणवराणं अणाइसिद्धाणं अणंताणं वट्टमाणसमयसिज्झगाणं। अन्नेसिं च आसन्नपुरक्खडाणं अणंताणं सुगहियनामधिज्जाणं महायसाणं महासत्ताणं महाणुभागाणं तिहुयणेक्कनिलगाणं तेलोक्कनाहाणं जुगपवराणं जगेक्कबंधूणं जगगुरूणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं पवरवरधम्मतित्थकराणं अरहंताणं भगवंताणं भूए सव्वभविसाइयाणं गयवट्टमाणनिखिलासेसकसिणसगुणसपज्जयसव्ववत्थुविदियसब्भावाणं असहाए पवरे एक्कमेक्कमग्गे से णं सुरूवत्ताए अच्छत्ताए गंधत्ताए। तेसिं पि णं जहट्ठिए चेव पन्नवणिज्जे जहट्ठिए अणुट्ठणिज्जे जहट्ठिए चेव भासणिज्जे जहट्ठिए चेव परूवणिज्जे जहट्ठिए चेव वायणिज्जे जहट्ठिए चेव वायणिज्जे जहट्ठिए चेव कहणिज्जे। से णं इमे दुवालसंगे गणिपिडगे। तेसिं पि णं देविंदाणं णिखिलजगविदियदव्वसपज्जवगइआगइहासवुड्डी जीया य तत्थ जाव णं वत्थुसहावाण अलंघणिज्जे अणाइक्कमणिज्जे अणसायणिज्जे। तहा चेव इमे दुवालसंगे सुयनाणे सव्वजगज्जीयाणं भूयसत्ताणं एगंतेणं हिए सुए खमे नीस्सेसिए आणुगामिए पारगामिए पसत्थे महत्थे महागुणे महाणुभागे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए दुक्खक्खयाए मोक्खयाए संसारुत्तारणयाए त्ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरिंसु किं सुतमन्नेसिं ति। ता गोयमा! जे णं केइ अणुगियसमयसब्भावेइ वा विइयसमयसारेइ वा विहीए वा अविहीए वा गच्छाहिवई वा आयरिएइ वा अंतोविसुद्धपरिणामे वि होत्था गच्छायारमंडलिधम्मा छत्तीसइविहायारादि जाव णं अन्नयरस्स वा आवस्सगाइ करणिज्जस्स णं पवयणसारस्स असत्ती चुक्केज्ज वा खलेज्ज वा तेसिं इमे दुवालसंगे सुयनाणे अन्नहा पयरेज्जा जेणं इमे दुवालसंगं सुयनाण–

निबद्धतरोवगयं एक्कपयक्खरमवि अन्नहा पयरे से ण उम्मग्गे पयसेज्जा,जे णं उमग्गं पयंसेज्जा से णं अणाराहगे भवेज्जा। ता एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ-जहा णं गोयमा! एगंते णं अणाराहगे। महा० ५ अ०। "जत्थक्खलियममलिय चाइपयं पयक्खरविसुद्धं। विणओवहाण पुव्वं, दुवालसंग पि सुयनाणं ॥१॥" महा० ४ अ०।

परोपदेश श्रुतग्रन्थश्च श्रुतमिहोच्यते।विशे०।अविनीता विकृतिप्रतिबद्धो व्यपशमितप्राभृतश्चैते न वाचनीया।वृ०४उ०। (विनीतस्य सर्वोऽपि विनय 'विणय' शब्दे षष्ठभागे गत ।) श्रुत द्विविध बद्धम्, अबद्ध च । बद्ध द्वादशाङ्गीरूपम्, अबद्ध तु भारतादि लौकिकम्। आ० म० १ अ०।

आयारदसाकप्पो, ववहारो नवमपुव्वणीसदो।
चारित्तरक्खणट्ठा, सूयगडस्सुवरिठवियाइं। पं० भा० १ कल्प।

('आयारपकप्प' शब्दे द्वितीयभागे ३५० पृष्ठे व्याकृतैषा ।)
('सिक्खा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे सूत्राध्ययनरूपा शिक्षा उक्ता।)

आत्महितादिज्ञानं सूत्राध्ययनस्य फलं--श्रुताध्ययनेऽमी अभ्यधिका गुणाः--

आतहियपरिण्णा भा-वसंवरो नवनवो अ संवेगो।
निक्कंपया तवो नि-ज्जरा य परदेसियत्तं च ॥३६०॥

आत्महितं १ परिज्ञा २ भावसवरो ३ नवनवश्च सवेग. ४ निष्कम्पता ५ तपो ६ निर्जरा च ७ परदेशिकत्वं च ८ इति द्वारगाथासमासार्थः। वृ०। "जयइ सुयाण पभवो, वीरजिणो।" न०। (व्याख्या 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ५३ पृष्ठे उक्ता।)

एकमप्यक्षर श्रुतस्य जानानो नाचारी भवति-

भयवं! जो रत्तिदियहं सिद्धंतं पढइ सुणेइ वक्खाणेइ चिंतेइ सतत सो किं अणायारमायरे? सिद्धंतगयमेगं पि अक्खरं जो वियाणइ सो गोयमा! मरणंते वि अणायारं नो समायरे। महा० ६ अ०।

('अवण्णवाय' शब्दे प्रथमभागे ७६३ पृष्ठे श्रुतावर्णवाद ।)

सुय पडुच्च तओ पडिणीया पन्नत्ता, तं जहा-सुत्तपडिणीए, अत्थपडिणीए, तदुभयपडिणीए। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

(प्रव्रजितस्य श्रुतदान 'पव्वज्जा' शब्दे ७४५ पृष्ठेऽस्ति) आचार्योपाध्यायादत्ता गिरं गृह्णत प्रायश्चित्तम्। नि० चू० १६। (स्वगणे संविग्नाद्यभावे श्रुतग्रहणम् 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ८१६ पृष्ठ गतम्।) अपूर्वज्ञानग्रहणे,महा०१चू०। ('सुयकप्प' शब्दोऽप्यत्र वीक्ष्य ।) (स्थानादिप्रवृत्तियोगरहितस्य सूत्रदान महादोष इति आचार्या हरिभद्रादय. ।) (श्रावकेभ्य श्रुतप्रदान 'पाढयण' शब्दे ५ भागे निरस्तम्।) पार्श्वस्थादिभ्य श्रुतग्रहणम।

अधुना पार्श्वस्थादिसमीप सूत्रनिषेधो विधीयते-

उस्सग्गविहंडियसु--द्धगाहपसरा भणंति एवं ते।
पासत्थाइसमीवे, सुत्ताईयं न घेत्तव्वं ॥ ६७ ॥

उत्सर्गेण सामान्योक्ते विधिना, 'विहंडियं' त्ति--देशीशब्दो विनाशार्थं, ततो विनाशित शुद्धयोद्ग्रसर प्रधानमत्यवकाशलक्षणो येषा ते भणन्ति--जल्पन्ति एव वक्ष्यमाणन्यायेन अन्ये ये। तदेवाह--पार्श्वस्थादिसमीपे, तत्र पार्श्वस्था उक्तलक्षणा, आदिशब्दात्--अवसन्नादिग्रहः, तेषां निकटे सूत्रादिकम्, आदिशब्दात्--अर्थादिग्रहः न ग्रहीतव्य-न स्वीकर्तव्यमिति गाथार्थः।

अत्रोत्तरम्--

तमवि न छेयग्गन्था-णुसारि वयणं जओ जइंदस्स।
भणियं निसीहगंथे, उस्सग्गववायजलहिम्मि ॥ ६८ ॥

तदपि सूत्रादिनिषेधकरण न केवलं पूर्वोक्तमित्यपिशब्दार्थः, 'न' नैव छेदग्रन्थानुसारि वचनम् उत्साहकशास्त्रसर्वादिभणन, यस्माद्यति--साधुमुद्दिश्याश्रित्य भणितम्-उक्त निशीथग्रन्थे--प्रकल्पशास्त्रे। किंविशिष्टे उत्सर्गापवादजलधौ-सामान्यविशेषनीरनिधाविति गाथार्थः।

तदेवाह--

संविग्गासंविग्गं, पच्छाकडसिद्धपुत्तसारूवी।
पडिकंते अविसेसं,नीरनिधावावि तत्थेव ॥६६॥

सुगमा। भावार्थस्तु कथ्यते प्रथम संविग्नस्याशुक्तस्य सूत्रार्थनिपुणस्य समीपे साधुभि श्रोतव्य,तदभावेऽसंविग्नस्यापि गीतार्थस्य, तस्याप्यभाव पश्चात्कृतस्यामुक्तलिङ्गस्य। स च द्विरूपो भवति-एक सिद्धपुत्रोऽन्यश्च सारूपी। अनयोश्च स्वरूपमाभ्यामु--क्ताभ्यामवगन्तव्यम्।

"सभज्जओ वावि अभज्जओ वा,नियमेण दोसुक्किलवत्थधारी।
खुरेण मुंडो असिहो सिही वा, अदडपत्तो वि य सिद्धपुत्तो॥
मुंडसिरो दोसुक्किलवत्थधरो न चिय वधए कच्छं।
हिंडइ नवा अभज्जो, सारूवी एरिसो होइ ॥२॥"

एतयोश्च देशना कृत्वाऽभ्युद्यमं कार्यौ, यदि कुरुतस्ततो लष्ट, न चेत्, ततोऽन्यत्र नीयते, यदि न गच्छत ततस्तत्रैव सिद्धान्तोक्तविधिना तत्समीपे पठितव्यम्, पठद्भिश्च यदि निर्वाहो न भवति तयोस्तत स्वय सर्वं करणीय, श्रावकैश्च कारयितव्यम्। तथा च तत्रैव निशीथे भणितम्-"चोयइ से परिवार, अकरिंति य वा भणाइ तो सड्ढे। अव्वोच्छित्तिकरस्स उ, सुयभत्तीए कुणह पूय ॥१॥" तथा उपदेशमालायाम्-"सुग्गइमग्गपईव" इत्यादि प्रकरणे च प्रायश्चित्ते भणितमिति गाथार्थः।

एवं स्थिते जीवोपदेशमाह--

ता सिद्धिनगरमग्ग-प्पयडणे नाणमणिपईवम्मि।
कुणसु पयत्तं जीव!, मच्छरं चइय सव्वत्थ ॥७०॥

तस्मात्सिद्धिनगरसन्मार्गप्रकटने मोक्षपुरपदवीप्रकाशके ज्ञाने--श्रुतज्ञाने तदेव वाताद्यक्षोभ्यत्वेन प्रकाशकत्वेन च मणिप्रदीपस्तस्मिन् कुरु--विधेहि प्रयत्नम्--आदर जीव! भो आत्मन्! मत्सरम्--रोष त्यक्त्वा-प्रोज्झ्य सर्वत्र पार्श्वस्थादिसमीपे, किञ्च--श्रावकान् पार्श्वस्थादिसमीपे शृण्वतो वारयत, स्वयं च पूर्वोक्तयुक्त्या निष्कारण नित्यश्रावकधर्मकथनेन पार्श्वस्था भवन्तोऽपीत्थं जल्पन्त्यहो मोहविलसितमित्यवस्थितमतोऽयमसदुक्तो जीवोपदेश इति गाथार्थः। जीवा० ११ अधि०। (सयत किं श्रुतमध्येतु शक्नोतीति 'संजय' शब्दे गतम्।) श्रुते-श्रुतविषयं उद्देशसमुद्देशानुज्ञा-

प्रस्थापनाप्रतिक्रमणश्रुतस्कन्धाङ्गपरिगुणनादिषु अविधिना विधाने कायोत्सर्गे प्रायश्चित्तम् ।' जगगुरूर्हि गदिउं जं अद्धगयस्स सुत्तत्थं न दायव्वं " अत्र सावद्याचार्यसंबन्धः । प्रतिश्रुतज्ञाने, उत्त० १ अ० ।

श्रुतज्ञानप्रशंसा—

जाणंति बंधमुक्खं, जीवाजीवे अ पुन्नपावे अ ।
आसवसंवरनिज्जर-त्तो किर नाणं चरणहेउं ॥ ७० ॥
नायाणं दोसाणं, विवज्जणा सेवणा गुणाणं च ।
धम्मस्स साहणाइं, दुन्नि वि किर नाणसिद्धाइं ॥ ७१ ॥
नाणा वि अ वट्टंतो, गुणेसु दोसेसु सुते अवज्जित्तो ।
दोसाणं च न मुंचइ, तेसिं न वि ते गुणो लहई ॥७२॥
नाणेण विणा ण करणं, करणं न विणा न तारयं नाणं ।
भवसंसारसमुद्दं, नाणी करणट्ठिओ तरइ ॥ ७३ ॥
अस्संजमेण बद्धं, अन्नाणेण य भवेहिँ बहुएहिं ।
कम्ममलं सुह असुहं, करणे य दढो धुणइ नाणी । ७४॥
सत्थेण विणा जोहो, जोहेण विणा य तारिसं सव्वं ।
नाणेण विणा करणं, करणेण विणा तहा नाणं ॥७५॥
नादंसणस्स नाणं, न वि अन्नाणस्स हुंति करणगुणा ।
अगुणस्स नत्थि मुक्खो,नत्थि असुत्तस्स निव्वाणं॥७६॥
जं नाणं तं करणं, ज करण पवयणस्स सो सारो ।
जो पवयणस्स सारो, सो परमत्थो त्ति नायव्वो ॥७७॥
परमत्थगहिअसारा, बंधं मुक्किं (त्तिं) च ते वियाणंता ।
नाऊण बंधमुक्खं, खवंति पोराणयं कम्मं ॥ ७८ ॥
नाणेण होइ करणं, करणं नाणेण फासियं होइं ।
दुन्हं पि समाओगे, होइ विसोही चरित्तस्स ॥ ७६ ॥
नाणं पगासयं सो-हओ तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिविधं पि समाओगे,मुक्खो जिणसासणे भणिओ॥८०॥
किं अन्नं लट्ठयरं, अच्छेरतरं च सुंदरतरं वा ।
चंदमिव सव्वलोगा, बहुस्सुयमुहं पलोयंति ॥ ८१ ॥
चंदाओ निअजुन्हा, बहुसुयमुहाउ निअइ जिणवयणं ।
जं सोऊण मणूसा, तरंति संसारकंतारं ॥ ८२ ॥
सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो तहिं ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ॥८३॥
सूई जहा असुत्ता, नासइ सुत्ते अदिस्समाणम्मि ।
जीवो जहा असुत्तो, नासइ मिच्छत्तसंजुत्तो ॥ ८४ ॥
परमत्थम्मि सुदिट्ठे, अविणट्ठेसु तवसंजमगुणेसु ।
लब्भइ गई विसिट्ठा, सरीरसारे विणट्ठे वि ॥ ८५ ॥
जह आगमेण विज्जो, जाणइ वाहिं तिगिच्छगो निउणो ।
तह आगमेण नाणी, जाणइ सोहिं चरित्तस्स ॥ ८६ ॥
जह आगमेण हीणो, विज्जो वाहिस्स न मुणइ तेगिच्छं ।
तह आगमपरिहीणो, चरित्तसोहिं न याणाइ ॥ ८७ ॥
तम्हा तित्थयरपरू-विअम्मि नाणम्मि अत्थजुत्तम्मि ।
उज्जोओ कायव्वो,नरेण मुक्खाभिकामेणं॥८८॥द०प०।
इक्कम्मि वि जम्मि पए, संवेगं वीअरायमग्गम्मि ।
वच्चइ नरो अभिक्खं, तं मरणं तेण (न) मुत्तव्वं ॥६३॥
इक्कम्मि वि जंमि पए, संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
सो तेण मोहजालं, खवेइ अज्झप्पजोगेणं ॥ ६४ ॥
इक्कम्मि वि जम्मि पए, संवेगं वीयरायमग्गम्मि ।
वच्चइ नरो अभिक्खं, तं मरणं तेन मुत्तव्वं ॥ ६५ ॥
इक्कम्मि वि जंमि पए, संवेगं कुणइ वीअरायमए ।
सो तेण मोहजालं, खवेइ अज्झप्पजोगेणं ॥ ६६ ॥
इक्कम्मि वि जम्मि पए, संवेगं वच्चए नरोभिक्खं ।
तं तस्स होइ नाणं, जे एए वीयरागम्मि ॥ ६७ ॥
महुमरणंमि उवग्गो, सक्को बारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं, धणियं पि समत्थचित्तेणं ॥ ६८ ॥
तम्हा इक्कम्मि पयं, चिंततो तं निदंमकालम्मि ।
आराहणावउत्तो, जिणेहि आराहगो भणिओ ॥६६॥
आराहणोवउत्तो, सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिन्नि भवे, गंतूण लभिज्ज निव्वाणं ॥ १००॥
नाणस्स गुणविसेसा, केईमे वन्निया समासेणं ।
चरणस्स गुणविसेसे, ओहिअहिअया निसामेह ॥१०१॥
भावेण अणन्नमणा, जे जिणवयणं सया अणुचरंति ।
ते मरणम्मि उवेया, न विसीयंत्ति य गुणसमिद्धा ।१०३।
द० प० । (१०२ गाथा धम्मशब्दे)
सीयंते ते मणूसा, सामन्नं दुल्लहं पि लद्धूणं ।
जे अद्धाणनिअत्ता, दुक्खविमुक्खंमि मग्गम्मि॥१०४॥
दुक्खाण ते मणूसा, पारं गच्छंति जे दढधिईआ ।
भावेण अणन्नमणा, पारं तेहिं गवेसंति ॥ १०५ ॥
मग्गंति अपरमसुहं, ते पुरिमा, जोगेहि न हायंति ।
ते लद्धपोयसंजति-वग्गा पच्छा न हायंति ।१०६।द०प०।

(सूत्रवाचनाप्रकार ' गीयत्थ '-शब्दे तृतीयभागे ६०२ पृष्ठे गत ।) (श्रुतस्याशातना ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४८४ पृष्ठे गता ।) (एकेन्द्रियाणामपि श्रुतज्ञानमस्तीति 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १६४२ पृष्ठ गतम् ।) दृष्टिवादे श्रुतज्ञाने चैतदाख्यायने श्रूयते अनेन अस्मादस्मिन्निति वेति श्रुतम् । श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षये परोक्षतया त्रैकालिकार्थोपधानसमर्थे,"कुहडुलम् ।" इति वचनात् कर्मादावपि क्तप्रत्ययः। आ० म० १ अ० । स० । श्रुतज्ञानावरणक्षये, उत्त० ३४ अ० । श्रूयते इति श्रुतम् । व्यवहारभेदे, प्रव० १०७ द्वार ।

सुयअण्णाण-श्रुताज्ञान-न०।मिथ्यादृष्टेर्ज्ञाने,आ० चू०१ अ०।
अविसेसियं सुय सुयणाण च सुयअन्नाणं च । विसेसियं

सुयं सम्मदिट्ठिस्स सुयं सुयणाणं । मिच्छादिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं । नं० ।

सुयआराहणा-श्रुताराधना-स्त्री०। सिद्धान्तस्याराधनायाम्, उत्त०।

सुयस्स आराहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ? सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेइ न य संकिलिस्सइ ॥२४॥

हे भदन्त ! श्रुतस्य आराधनया जीवः किं जनयति । गुरुराह-हे शिष्य ! श्रुतस्य आराधनया-सम्यक् आसेवनया अज्ञानं क्षपयति विशिष्टतत्त्वावबोधस्य अवाप्तेश्च पुनर्न संक्लिश्यते रागद्वेषजनितं क्लेशं न भजतीति भावः । उत्त० २९ अ० ।

सुयकप्प-श्रुतकल्प-पुं० । प्रवचनभणने, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

सुयकरण-श्रुतकरण-न०। बद्धाबद्धादिश्रुतकरणे, आ० चू० १ अ० । सूत्र० ।

सुयकेवली-श्रुतकेवलिन्-पुं० । चतुर्दशपूर्वधरे, जीवा० १४ अधि० । संघा० ।

" जो सुएणाभिगच्छइ, अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलमिसिणो, भणंति लोगप्पईवकरा ॥ १ ॥
जो सुअनाणं सव्वं, जाणइ सुअकेवली तमाहु जिणा ।
नाणं आय सव्वं, जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥ २ ॥"

अष्ट० १३ अष्ट० टी०। " केवली चरमो जम्बू-स्वाम्यथ प्रभवः प्रभुः । सय्यम्भवो यशोभद्रः, संभूतविजयस्तथा॥१०॥ भद्रबाहुः स्थूलभद्रः, श्रुतकेवलिनो हि षट् ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सुयक्खंध-श्रुतस्कन्ध-पुं० । द्वादशाङ्गरूपे श्रुतपिण्डे, आतु० । दृष्टिवादे श्रुतसमुदायत्वात्तस्य । स० ।

सुयक्खाय-स्वाख्यात-त्रि०। सुष्ठु आख्यातं स्वाख्यातम् । पूर्वोत्तराविरोधितया युक्तिभिरुपपन्नतयाऽभिहिते, सूत्र० १श्रु० १५ अ० । सुप्रज्ञप्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । लोकश्रुतिपरम्परया चिरन्तनाख्यासु वा परिज्ञाते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुयक्खायधम्म-स्वाख्यातधर्मन्-त्रि० । सुष्ठु आख्यातः श्रुतचारित्राख्यो धर्मो येन साधुनाऽसौ स्वाख्यातधर्मः । ज्ञानसमाधियुक्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

सुयगब्भ-श्रुतगर्भ-पुं० । आगमगर्भे, पो० १ विव० ।

सुयगाहि-श्रुतग्राहिन्-पुं० । परमपुरुषप्रणीतागमग्रहणाभिलाषिणि, दश० ६ अ० २ उ० ।

सुयण-स्वपन-न० । शयने, दर्श० १ तत्त्व ।

सुयणजण-सुजनजन-पुं० । सर्वपापविरतानां समूहे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार ।

सुयणसुंद-सुजनसुन्द-पुं०। भरतक्षेत्रजाजितजिनसमकालिके ऐरवतजिने, ति० ।

सुयणाण-श्रुतज्ञान-न०। ज्ञानविशेषे, आ० म० १अ०। आव०। श्रवणं श्रुतं वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः एवमाकारं वस्तु जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थं घटशब्दवाच्यमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रैकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः । श्रुतं च तत् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् । अथवा-श्रूयते अनेन अस्मात् अस्मिन्वेति श्रुतं तदावरणकर्मक्षयोपशमः ' कृद्बहुलम्" इति वचनात्करणादावपि क्तप्रत्ययः, तज्जनितं श्रुतं कार्येण कारणोपचारात्, शृणोतीति वा श्रुतमात्मा तदनन्यत्वात् ज्ञानमपि श्रुतं, श्रुतं च तत् ज्ञानं चेति समासः। ('सुय' शब्दे श्रुतज्ञानमुक्तम् ।) आ० म० १ अ० । श्रुतज्ञानं सच्छ्रुतस्वादुपथ्यसलिलास्वादतुल्यम् । पो० १० विव० । इन्द्रियमनोनिमित्ते श्रुतग्रन्थानुसारिणि बोधे, भ० ८ श० २ उ० । द्वा० । प्रव० । ध० र० । स्था० ।

सुयनाणे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा-अंगपविट्ठे चेव, अंगबाहिरे चेव । (सू० ७१ ×) स्था० २ ठा० ।

अथोत्तरगाथासम्बन्धनार्थमाह—

कत्तो पसूयमागय-मायरियपरंपराइ सुयनाणं ।
सामाइयाइयमिदं, सव्वं चिय सुत्तमत्थो वा ? ॥१०६२॥

ननु पूर्वं भवतेदमुक्तम्—' आचार्यपरम्परया समागतां सामायिकनिर्युक्तिमहं वक्ष्ये ' । तत्रेदं पृच्छ्यते—' कत्तो पसूयमित्यादि ' आदौ कुतः पुरुषविशेषात् प्रसूतामुत्पन्नां सतीं ततः आचार्यपरम्परयाऽऽगतामायातां तां सामायिकनिर्युक्तिं त्वं वक्ष्यसि ? इत्युपस्कारः । तथा, इदमपि पृच्छ्यते । किम् ?, इत्याह—' सुयनाणमित्यादि ' सर्वमपि च सामायिकादिकं बिन्दुसारपर्यन्तं सूत्रार्थरूपं श्रुतज्ञानमिदं प्रथमं कुतः प्रसूतं सत् पश्चादाचार्यपरम्परयाऽत्राऽऽगतम् ? इति ।

एवमुत्तरगाथाप्रस्तावनां कुर्वन्नाचार्य आत्मनः प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

एवं नणु भणियं चिय, अत्थपुहत्तस्स तेहिँ कहियस्स ।
इह तेसिं चिय सीला-इकहणगहणं फलविसेसो ।।१०६३।

ननु ' सामायिकनिर्युक्तिः श्रुतज्ञानं वा सर्वं कुतः पुरुषात् प्रथमं प्रसूतम् ?, इत्यत्र यदुत्तरं तदेतद् भणितमेव-प्रोक्तमेव निर्णीतार्थमेवेत्यर्थः । क ?, इत्याह—' अत्थपुहत्तस्सेत्यादि ' ' तैस्तीर्थंकर-गणधरैः कथितस्याऽर्थपृथक्त्वरूपस्य श्रुतज्ञानस्य भगवतो निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये ' इत्युक्ते तीर्थंकर-गणधरेभ्यः सर्वमपि श्रुतज्ञानमादौ प्रसूतम्, इत्युक्तमेव, तत् किमिति पुनरपि प्रश्नः ? । अत्र प्रतिविधानमाह-' इहेत्यादि ' सत्यम्, ज्ञातमेवेदं यत्—तीर्थंकर-गणधरेभ्य एव सर्वमिदमादौ प्रसूतम्, किन्त्विह तेषामेव तीर्थंकर-गणधराणां शीलादिस्वरूपकथनम्, ग्रन्थनम्, फलविशेषश्च विशेषतोऽभिधास्यते, इत्यत्र पुनरपि प्रश्नोत्तरोपन्यासः । तत्र तीर्थकृता तपो-नियमज्ञानानि शीलमभिधास्यते, आदिशब्दः स्वगतभेदप्रख्यापकः, तान्येव वृक्षः, तदारूढस्य पुष्पप्रक्षेपकल्पा तु देशना-कथनम्, तत्फलविशेषस्तु भव्यजनविबोधनमेतेति । गणधराणां तु बुद्धिमयपटेन तीर्थकरोक्तं गृहीत्वा सूत्रग्रन्थनं प्रतिपादयिष्यते, फलविशेषस्तु

भाषत एव, इत्यतस्तत्स्वाभाव्यात् कथयतीति तात्पर्यमिति न च भव्यानेव प्रतिबोधयतस्तस्य राग—द्वेषौ, इति दृष्टान्तेन दर्शयति—' किं व कमलेसु ' इत्यादि । ' स त्ति । ' से ' तस्य रवेः प्रतिबोधयतोऽपि यत् तानि कुमुदानि न विबुध्यन्त इति । तस्मात् कोऽत्राभिप्रायः ?, इत्याह—' जं बोहेत्यादि' समानादपि सूरकरपरामर्शाद् यतो बोध-मुकुलनानि यथासङ्ख्यमेव कमल-कुमुदानां आत्मभानि दृष्टानि ' तो ' त्ति ततो ज्ञायते-तस्य रवे, तेषां च कमल—कुमुदानां स्वभावोऽयं यद्—रविः कमलान्येव बोधयति न तु कुमुदानि, कमलान्यपि रवेः सकाशाद् बुध्यन्ते न कुमुदानि, न पुनरिह कस्यापि राग-द्वेषौ । एवं भगवतोऽपि भव्याभव्येषु योज्यमिति। दृष्टान्तान्तरमाह-' जहवेत्यादि ' उलूकादीनां रात्रिञ्चराणां घूकादीनां ' सो ' त्ति रविः । अपरमप्यत्र दृष्टान्तमाह-' सज्झमित्यादि' । अत्रैवोदाहरणान्तरमाह-'मोत्तुमित्यादि' दलिके काष्ठादौ ' रूयारो ' रूपकारः । इति व्याख्याता प्रथमनिर्युक्तिगाथा ।

अथ द्वितीयनिर्युक्तिगाथाव्याख्यानमाह-

तं नाणकुसुमवुट्ठिं, घेत्तुं बीयाइबुद्धओ सव्वं ।
गंथंति पवयणट्ठा, माला इव चित्तकुसुमाणं ॥१११३॥

'प्रवचनार्थं ग्रथ्नन्ति' इत्युक्तम् । अथवा प्रयोजनान्तरमाह-

घेत्तुं व सुहं सुहगुणण-धारणादाउं पुच्छिउं चेव ।

मुत्कलं भगवता तीर्थकरेणोक्तं वचनवृन्दं मुत्कलकुसुमनिकुरम्बमिव ग्रथित-सूत्रितं सद् ग्रहीतुं वाऽऽदातुं सुखं भवति । इदमुक्तं भवति-पद-वाक्य-प्रकरणा-ध्याय-प्राभृतादिनियतक्रमस्थापितं जिनवचनमयत्नत एव ग्रहीतुं शक्यम्-' एतावदस्य ग्रहीतम्, ' एतावच्चाद्यापि पुरस्ताद् ग्रहीतव्यम् ' इत्यादिविवक्षया ग्रथितं सत् सुखेनैव ग्रहीतुं शक्यमित्यर्थः । तथा, गुणनं च धारणा च गुणन-धारणे, ते अपि ग्रथिते सूत्रे सुखं भवतः । तत्र गुणनं परावर्तनमभ्यासः, धारणा त्वविच्युतिरविस्मृतिः । तथा, दातुं प्रष्टुं च सुखमेव भवति । तत्र दानं शिष्येभ्योऽतिसर्जनम्, प्रश्नस्तु संशयापन्नस्य निःसंशयार्थं गुरुप्रच्छनम् । एतैः कारणैः कृतं रचितं गणधरैः । अतः समस्तगणधरैरतस्मादपि हेतोः कृतं श्रुतम् ' इदम् ' इति शेषः । इति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे० ।

अत्र भाष्यम्-

मुक्ककुसुमाणँ गहणा–डयाइँ जह दुक्करं करेउं जे ।
गुच्छाणं तु सुहयरं, तहेव जिणवयणकुसुमाणं ॥१११४॥
पय-वक्क-पगरण-ज्झा-य-पाहुडाइनियतक्कमपमाणं ।
तदणुसरता सुहं चिय,घेप्पइ गहियं इदं गेज्झं॥१११५॥
एवं गुणण धरणं, दाणं पुच्छा य तदणुसारेणं ।

यथा मुत्कानां मुत्कलानां कुसुमानां ग्रहणादीनि कर्तुं दुष्कराणि, ग्रथितानां तु सुकराणि,तथा जिनवचनकुसुमानामपि द्रष्टव्यम् । अतो गणधरास्तानि ग्रथ्नन्ति । 'अज्झाय' त्ति अध्ययनम्, प्राभृतं पूर्वान्तर्गतं । श्रुतविशेषः गहियं इदं गेज्झ ति एतावदस्य ग्रहीतम् एतावच्चाद्यापि पुरस्ताद् ग्रहीतव्यम् इ-त्यादि विवक्षया पद-वाक्यादिक्रमेण विरचितं सत् तत्पदानुसारता सुखेनैव श्रुतं गृह्यते, एवं गुणनाद्यपि सुखं भवति । विशे० ।

उत्तरनिर्युक्तिगाथासंबन्धनार्थमाह—

जिणभणिइ च्चिय,सुत्तं गणहरकरणम्मि को विसेसो त्थ ?।
सो तदविक्खं भासइ, न उ वित्थरओ सुयं किंतु ॥१११८॥

ननु ' तित्थयर भासियाइं गंथंति ' इत्यादिवचनाज्जिनभणितिरेव—तीर्थकरोक्तिरेव तर्हि श्रुतम्, गणधरसूत्रीकरणे तु तत्र को विशेषः ? । अत्रोच्यते—स तीर्थकरस्तदपेक्षं गणधरप्रज्ञापेक्षमेव किञ्चिदल्पं भाषते, न तु सर्वजनसाधारणं विस्तरतः समस्तमपि द्वादशाङ्गं श्रुतम्, किन्तु यद् भाषते तद् दर्श्यते । इति गाथार्थः ।

किं पुनस्तत् ?, इत्याह—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥ १११९ ॥

अर्थमेवाऽर्हन् भाषते, न सूत्रं द्वादशाङ्गरूपम् । गणधरास्तु ततः सूत्रं सर्वमपि निपुणं सूक्ष्मार्थप्ररूपकं बह्वर्थं चेत्यर्थः, अथवा—नियताः प्रमाणाविच्छिन्ना गुणा यत्र तद् नियतगुणं निगुणं ग्रथ्नन्ति । ततः शासनस्य हितार्थं सूत्रं प्रवर्तते । इति निर्युक्तिगाथाक्षरार्थः ।

भावार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारः प्रेर्यं परिहारं च प्राह—

णणु अत्थोऽणभिलप्पो, स कहं भासइ न सद्दरूवो सो ?।
सद्दम्मि तदुवयारो, अत्थप्पच्चायणफलम्मि ॥११२०॥

आह—ननु भाष्यमाणः सर्वत्र शब्द एव दृश्यते, यस्त्वर्थः सोऽनभिलाप्यः —अशब्दात्मकत्वाद् वक्तुमशक्य एव, इति कथं तीर्थंकरस्तमशब्दरूपमर्थं भाषते ? । उच्यते—अर्थप्रत्यायनफले शब्द एव तदुपचारोऽर्थोपचारः क्रियते । एतदुक्तं भवति—अर्थप्रतिपादनस्य कारणभूते शब्देऽर्थोपचारं कृत्वाऽर्थं भाषत इत्युच्यत इत्यदोष इति ।

प्रेरकः प्राह—

तो सुत्तमेव भासइ, अत्थप्पच्चायगं न नामत्थं ।
गणहारिणो वि तं चिय,करेंति को पडिविसेसो त्थ?॥११२१

ततस्तर्हि त्वदुक्तयुक्त्या शब्दभाषकस्तीर्थंकरः सूत्रमेवाऽर्थप्रत्यायकं भाषते, न त्वर्थम् । गणधारिणोऽपि तदेव कुर्वन्ति, ततः को नामोभयत्र विशेषः ?—न कश्चिदिति ।

आचार्यः प्राह—

सो पुरिसाविक्खाए, थोवं भणइ न उ बारसंगाइं ।
अत्थो तदविक्खाए, सुत्तं चिय गणहराणं तं ॥११२२॥

ननु प्रागेवोक्तं यत्—गणधरलक्षणपुरुषापेक्षया स तीर्थकरः " उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा " इति मातृकापदत्रयमात्ररूपं स्तोकमेव भाषते, न तु द्वादशाङ्गानि । ततश्च तद् मातृकापदत्रयमात्रं शब्दरूपमपि सत् तदपेक्षया द्वादशाङ्गापेक्षया तदर्थसङ्क्षेपरूपत्वादर्थो भण्यते । गणधराणां तु गणधरापेक्षया त्वित्यर्थः, तदेव मातृकापदत्रयं शब्दरूपत्वात् सूत्रम्, इति नोभयत्र समानतादोष इति ।

आह-ननु मातृकापदत्रयस्य शब्दरूपत्वात् सूत्ररूपता बुध्यते, अर्थरूपतां तु तस्य नावगच्छाम इत्याशङ्क्य पुनरपि तस्य तां समर्थयन्नाह—

अंगाइसुत्तरयणा-निरवेक्खो जेण तेण सो अत्थो ।
अहवा न सेसपवयण-हियउ त्ति जह बारसंगमिणं ॥११२३॥
पवयणहियं पुण तयं, जं सुहगहणाइ गणहरेहिंतो ।
बारसविहं पवत्तइ, निउणं सुहुमं महत्थं च ॥११२४॥

अङ्गा-ऽनङ्गादिविभागेन विरचितमेव सूत्रं प्रसिद्धम्, अयं तु मातृकापदत्रयरूपः शब्दो येन कारणेनाऽङ्गादिविभागेन या सूत्ररचना तन्निरपेक्षस्तत्समुदायार्थरूपत्वेन तद्बहिर्भूत इत्यतः सोऽर्थ इति व्यपदिश्यते । अथवा-शेषस्य गणधरापेक्षयाऽन्यस्य संघरूपस्य प्रवचनस्य य सुखग्रहण-धारणादिभ्यो हित शब्दराशिः स एव सूत्रतया प्रोक्तः । अयं तु मातृकापदत्रयरूपः शब्दो न शेषप्रवचनस्येत्थं हितः, यथेदं द्वादशाङ्गम्, अतो नासौ सूत्रम्, किन्त्वर्थ इति । तत्पुनः शब्दजालं शेषप्रवचनस्य हितमेव । यत् किम् ?, इत्याह—यत् सुखग्रहणादिकारणेभ्यो द्वादशधा-आचारादिद्वादशभेदं गणधरेभ्यः प्रवर्तते । अतस्तदेव सूत्रम्, मातृकापदत्रयं त्वर्थ इति स्थितम् । अथ ' निउणं ' इति निर्युक्तिगाथावयवस्यार्थमाह-तदाचारादिकं द्वादशविधं सूत्रं कथम्भूतम् ?, निपुणं सूक्ष्मं सूक्ष्मार्थप्रतिपादकत्वात्, महानपरिमितोऽर्थो यस्मिंस्तद् महार्थं च निपुणमिति ।

अर्थान्तरमाह—

नियगुणं वा निउणं निद्दोसं गणहराऽहवा निउणा ।
तं पुण किमाइपज्ज-तमाणमह को व से सारो ॥११२५॥

अथवा-नियतगुणं निश्चितगुणं निगुणं संनिहितसमस्तसूत्रगुणत्वाद् निर्दोषमित्यर्थः । ' निउणा ' इति पाठान्तरे गणधरा विशेष्यन्ते-निपुणाः, सूक्ष्मार्थदर्शित्वात्, निगुणा वा गणधराः, सन्निहितसमस्तगुणत्वादित्यर्थः । वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथायाः प्रस्तावनामाह—तत् पुनः श्रुतं किमादि ?, किंपर्यन्तमानं-कियत्परिमाणम् ?, को वाऽस्य सारः ? इति गाथाषट्कार्थः ।

अनन्तरपृष्टस्यैवोत्तरमाह-

सामाइयमाईयं, सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ ।
तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं ।११२६।

तच्च श्रुतज्ञानं सामायिकादि वर्तते, चरणप्रतिपत्तिकाले सामायिकस्यैवादौ प्रदानात् । यावद् बिन्दुसारादिति बिन्दुसाराभिधानचतुर्दशपूर्वपर्यन्तमित्यर्थः, यावच्छब्दादेव च ह्यनेक—द्वादशपरिमाणं तद् वेदितव्यम् । तस्यापि श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणम् । सारशब्दोऽत्र प्रधानवचनः फलवचनश्च मन्तव्यः, तस्मादपि श्रुतज्ञानाच्चारित्रं प्रधानम्, तस्य फलं तदित्यर्थः । अपिशब्दात्—सम्यक्त्वस्यापि सारश्चरणमेव । अथवा—अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, तस्य श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणमपि । विशे० । "सो होइ अहिगयसुई, सुयनाणं, जेण अत्थओ दिट्ठं । सेक्कारसमंगाइ.पइन्नग दिट्ठिवाओ य ॥" उत्त० २८ अ० । श्रुतज्ञानस्य पुस्तकादे कर्पूरादिना पूजामात्रं सर्वदाऽपि सुकरं तदशक्तेनापि प्रतिवर्षमेकैकशः कार्या । ध०२अधि०।आ० चू०। आव०। श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजनितं श्रुतज्ञानम् । न० ।

सुयणाणकरण—श्रुतज्ञानकरण—न० । गुरूपदेशादिना श्रुतज्ञानकरणे, विशे० ।

सुयणाणपमाण—श्रुतज्ञानप्रमाण—त्रि० । आगमप्रामाण्ये,पिं० ।

सुयणाणारिय—श्रुतज्ञानार्य—पुं०।श्रुतज्ञानित्वेनार्ये, प्रज्ञा०१पद।

सुयणाणावरण—श्रुतज्ञानावरण—न० । श्रुतं च तत् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम्, तस्यावरणं श्रुतज्ञानावरणम् । ज्ञानावरणीयकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म० ।

सुयणाणी—श्रुतज्ञानिन्—पुं० । श्रुतज्ञानसम्पन्ने, " जह केवली वि याणइ, दव्वं खेत्तं च कालभावं च । तह चउलक्खणमेवं, सुयनाणीमेव जानाति ।" व्य० १० उ० । (ववहारशब्दे व्याख्यातैषा ।)

सुयणिघस—श्रुतनिघर्ष—पुं० । श्रुतं निघर्षयन्तीति श्रुतनिघर्षाः । स्वर्णवच्छ्रुतपरीक्षकेषु, यथा सुवर्णकारस्तापनिकषच्छेदैः सुवर्णं परीक्षते । व्य० ३ उ० ।

सुयणिबद्ध—श्रुतनिबद्ध—त्रि० । सूत्रैरुपात्ते, " पन्नवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयणिबद्धो " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सुयणिस्संद—श्रुतनिस्यन्द—पुं० । सिद्धान्तोपनिषद्भूते, ग० ३ अधि० ।

सुयणिस्सिय—श्रुतनिश्रित—न० । श्रुतं कर्मतापन्नं निश्रितम्-आश्रितम् अनेनेति श्रुतनिश्रितम् । आभिनिबोधिकज्ञानभेदे, यत्पूर्वमेव श्रुतकृतोपकारस्येदानीं पुनस्तदनुपेक्षमेवानुप्रवर्तन्ते तदवग्रहादिलक्षणं श्रुतनिश्रितमिति । स्था० २ ठा० १ उ० । यत्तु पूर्वश्रुतपरिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले पुनः पुनः श्रुतानुसारितया समुत्पद्यते तच्छ्रुतनिश्रितम् । स्था० ।

सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थोग्गहे चेव, वंजणोग्गहे चेव । असुयनिस्सिए वि एवमेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

मतिज्ञानभेदे, ' से किंतं सुयनिस्सियं मइनाणं ?, सुयनिस्सियं मइनाणं चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा-उग्गहो ईहा अवाए धारणा । " कर्म० १ कर्म० । नं० ।

सुयतुंडपईवनिभ—शुकतुण्डप्रदीपनिभ—त्रि० । शुकचञ्चुप्रदीपार्चिः सदृशे, उत्त० ३४ अ० ।

सुयत्थ—श्रुतार्थ—पुं० । श्रुतागमे, द्वा० १८ द्वा० ।

सुयत्थधम्म—श्रुतधर्मार्थ—पुं० । प्राकृतत्वात्तथारूपम् । गीतार्थे, दश० ६ अ० २ उ० ।

सुयत्थय—श्रुतस्तव—पुं० । पुष्करवरेत्यादिलक्षणे श्रुतस्तुतौ, प० व० २ द्वार ।

सुयत्थेर—श्रुतस्थविर—पुं० । श्रुतेनागमेन स्थविरो वृद्धः श्रुतस्थविरः । तृतीयचतुर्थाङ्गधरे साधौ, 'ठाणसमवायधरेण निग्गंथे सुयथेरे ।' स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सुयदाण—श्रुतदान—न० । अङ्गप्रविष्टादिश्रुतोद्देशने, जं० १ वक्ष० ।

सुयदेवया—श्रुतदेवता—स्त्री० । जिनवाण्याम्, पं० स० ५ द्वार ।

('सुयदेवीपसा० १२१ 'गाथा' पवसगह' शब्दे ५ भागे उक्ता ।)
श्रुतदेवतां प्रज्ञापयितुमाह—

सुयदेवया भगवई, नाणावरणीयकम्मसंघायं ।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुयसायरे भत्ती ॥ १ ॥

श्रुतमर्हत्प्रवचन श्रुताधिष्ठात्री देवता श्रुतदेवता । संभवति च श्रुताधिष्ठातृदेवता, यदुक्तं कल्पभाष्ये-"सव्वं च लक्खणोवेयं, समहिट्ठति देवता। सुत्तं च-लक्खणोवेयं,जेणं सव्वण्णुभासियं॥१॥"इति भगवती पूज्यतमा ज्ञानावरणीयकर्मसंघातं ज्ञानघ्नं कर्मनिचयं तेषां प्राणिनां क्षपयतु क्षयं नयतु सततमनवरतं येषां किमित्याह-श्रुतमेवातिगम्भीरतयाऽतिशयरत्नप्रचुरतया च सागर. समुद्रः श्रुतसागरः तस्मिन्भक्तिर्बहुमानो विनयश्च समस्तीति गम्यते। ननु श्रुतरूपदेवताया उक्तरूपविज्ञापना युक्ता श्रुतभक्तेः कर्मक्षयकारणत्वेन सुप्रतीतत्वात्, श्रुताधिष्ठातृदेवतायास्तु व्यन्तरादिप्रकाराया न युक्ता तस्याः परकर्मक्षपणेऽसमर्थत्वादिति। तत्र श्रुताधिष्ठात्री देवता गोचरशुभप्रणिधानस्यापि स्वतः कर्मक्षयहेतुत्वेनाभिहितत्वात् यदुक्तम्-" सुयदेवयाए जीए सेभरण कम्मखयकरं भणिय नत्थि त्ति अकज्जकरी व पवमासायणा तीए" त्ति किंचेदेदंमेव व्याख्यानं कर्तुमुचितं येषां सततं श्रुतसागरे भक्तिस्तेषां श्रुताधिष्ठातृदेवता ज्ञानावरणीयकर्मसंघातं क्षपयत्विति वाक्यार्थोपपत्ते । व्याख्यानान्तरे तु श्रुतरूपदेवता श्रुते भक्तिमतां कर्म क्षपयत्विति सम्यक्त्वोपपद्यते। श्रुतस्तुते प्राग्बहुशोऽभिहितत्वाच्चेति। तत. स्थितमिदमर्हत्पाक्षिकी श्रुतदेवतेह गृह्यते इति। पं०। "सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ" त्यादि च पठित्वा श्रुताधिष्ठातृदेवतायाः स्वतः कर्मक्षयहेतुत्वेन तत्कायोत्सर्गं कुर्यात्, तत्र च नमस्कारं चिन्तयति, देवताया आराधनस्य स्वल्पयत्नसाध्यत्वेनाष्टोच्छ्वासमानमेवायं कायोत्सर्ग इत्यादि हेतुं संभाव्य ,पारयित्वा च तस्याः स्तुतिं पठति-" सुअदेवया भगवई " इत्यादि अन्येन दीयमानां वा शृणोति । ध० २ अधि०। ' यस्या प्रभावमतुलं, समाप्य भवन्ति भव्यजननिवहाः । अनुयोगवेदिनस्तां, प्रयतः श्रुतदेवता वन्दे ॥१॥ ' अनु०। श्रुतदेवता तिमिरं पणासेतु। भ०।

कुम्मसुसंठियचलणा, अमलियकोरंटबेंटसंकासा ।
सुयदेवया भगवती,मम मतितिमिरं पणासेतु ॥१॥ भ०॥
वियसियअरविंदकरा, नासियतिमिरा सुयाहिया देवी ।
मज्झं पि देउ मेहं, बुहविबुहणमंसिया णिच्चं ॥ १ ॥
सुयदेवयाए पणमिमो, जीऍ पसाएण सिक्खियं णाणं ।
अन्नं पवयणदेवी, संतिकरी तं नमंसामि ॥ २ ॥
सुयदेवयाए जक्खो, कुंभधरो बंभसंतिवेरोट्टा ।
विज्जा य अंतिहुंडी, देउ अविग्घं लिहंतस्स ॥ ३ ॥
भ० १४१ श० ।

सुयदेवयाए आसायणाए ।

श्रुतदेवताया-आशातना—श्रुतदेवता न विद्यते अकिंचित्करी वा न ह्यनधिष्ठितो मौनीन्द्रः खल्वागमः अतोऽसावस्ति नवा अकिंचित्करी तामालम्ब्य प्रशस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात्। आव० ४ अ० । सुतदेवताए जीए सुत्तमहिट्ठिय तीए आसायणा णत्थि सा अकिंचिकरी वा एवमादि। आ०चू० ४ अ०।

श्रुतदेवताविषयां लब्धश्च जपेत्—

वंदित्तु चेइए सम्मं, छट्ठभत्तेण परिजवे ।
इमं सुयदेवयं विज्जं, लक्खहा चेइयालए ॥ ४७ ॥
उवसंता सव्वभावेणं, एगचित्तो सुनिच्छओ ।
आउत्तो अव्वक्खित्तो, रागरइअरइवज्जिओ ॥ ४८ ॥

अउम् ण अम् उक् उद् अद् उठ् ईण् अम् अउम् ण् अम् उम् अय् आण् उम आर ईण् अम् । अओ मण् अम् ओस् अम् भइणम् उ ईण् अम् अउम् ण अम । उखईरे आसवलद्धईण् अम् अउम् णम् । उ सव्वउ । उसहिलद्धईण् अम् अउम् ण् आम् उ । अक्खईण् अम् । अह आण सलद्धईण् अम् । अउम् ण । अम् उ भगवउ अरहउ महइमहावीरवद्धमाणं धम्मतित्थंकरस्स अउम् णम् उ सव्वधम्मतित्थंकराणं । अउम् णम् उ सव्वसिद्धाणं अउम् णम् उ सव्वसाहूणं । अ ओम् । णम् उ भगवतो मइण् आणस्स । अउम् णमउ भगवओ सुयणाणस्स । अउम् णमउ भगवओ ओहिइण् आणस्स । अउम् णमउ भगवओ मणपज्जवणाणस्स । अउम् णमउ अम् णमउ व अम् अउ अम् ण अउ अम् णमउ । आउं अभिवत्तीलक्खणम् । सम्मदंसणम् । अमो अम् णम् उअट्ठआरसअम् ईल् अमूग-सहस्साहिट्ठियस्स णाई म । अमगेसु इणइ आणण् ईमलणइ । सयमज्झे तु भगवओ कए व लए आणस्स । अउम् ण् उम् ओ भगवतीए सुयदाएवय आए मिज्झउ मम् अ आहिवाविज्जा । अउम् णम्, उ भगवओ णमर । अक्षे सव्वदुक्खणिम्मदणपरमनिव्वुइकरिस्स णं पवयणस्स परमविन्नुत्तमस्सेति एमा विज्जा सिद्धंति—एहिं अक्खरेहिं लिहिया । महा० २ अ० ।

सुयदेवयातव-श्रुतदेवतातपस्-न० । एकादशसु एकादशीषूपवासो मौनमत्र श्रुतदेवतापूजा चेति क्रियात्रयात्मके तपोभेदे, पञ्चा० १६ विव०।

सुयधम्म-श्रुतधर्म-पुं०। श्रुतं द्वादशाङ्गं तस्य धर्मः श्रुतधर्मः । स्वाध्यायवाचनादिरूपे धर्मभेदे, तत्त्वचिन्तायां धर्महेतुत्वस्य धर्मत्वम्। दश० १ अ० । आ० म० । श्रुतस्य धर्मः-स्वभावः श्रुतधर्मः श्रुतस्य बोधस्वभावत्वात् श्रुतस्य धर्मो बोधो बोद्धव्यः । अथवा--श्रुतं च तत् धर्मश्च सुगतिधारणात् श्रुतधर्मः । यदि वा--जीवपर्यायत्वात् श्रुतस्य श्रुतं च धर्मश्च श्रुतधर्मः । उक्तं च--"बोहो सुयस्स धम्मो, सुयं च धम्मो सजीवपज्जोना। सुगईए सजमंमि य, धरणातो वा सुयं धम्मो ॥१॥" आ० म० १ अ०। स्वाध्याये, स्था० ३ ठा० ३ उ०। न०। चारित्रधर्मव्यवस्थाकारिणि धर्मभेदे, पं० व० ४ द्वार। स्था०। (श्रुतधर्मस्तुति काउसग्ग ' शब्दे तृतीयभागे ४१६ पृष्ठे उक्ता ।) श्रुतधर्मस्योच्यते

" तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स सुयगण० " इत्यादि तमः-- अज्ञानं तदेव तिमिरम् । अथवा--तमो बद्धस्पृष्टनिधत्तं ज्ञानावरणीयं निकाचितं तिमिरं तस्य पटलं वृन्द तमस्तिमिरपटलं तद्विध्वंसयति नाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वसन- तस्य । आव० ५ अ० ।

सुयधम्मे दुविहे पन्नत्ते, तं० सुत्तसुयधम्मे चेव अत्थसुयधम्मे चेव । (सू० ७२×) स्था० २ ठा० १ उ० ।

"सुयधम्मो त्ति वा तित्थ त्ति वा मग्गो त्ति वा पवयणं ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ।

श्रुतधर्मन्-त्रि० । श्रुतो धर्मो येनेति आकर्णिताणुव्रतादिप्रतिपादनभाप्तवचने , ध० २ अधि० ।

सुयधम्मकहण-श्रुतधर्मकथन-न० । श्रुतधर्मस्य वाचनाप्रच्छनापरावर्त्तनानुप्रेक्षाधर्मकथनलक्षणस्य सकलकुशलकलापकल्पद्रुमविपुलालवालकल्पस्य कथने , ध० । यथा "चक्षुष्मन्तस्त एवेह ये श्रुतज्ञानचक्षुषा। सम्यक् सदैव पश्यन्ति, भावान् हेयेतरान्नरा ॥ १ ॥" अयं च श्रुतधर्म प्रतिदर्शनमन्यथान्यथाप्रवृत्त इति नासावद्यापि तत् सम्यग्भावं विवेचयितुमलमित्याह बहुत्वात्परीक्षावतार इति। यस्य हि बहुत्वाच्छ्रुतधर्माणां श्रुतधर्मे इति शब्दसमानतया विप्रलब्धबुद्धे. परीक्षायां त्रिकोटिपरिशुद्धिलक्षणायां श्रुतधर्मसम्बन्धिन्यामवतार कार्य. । ध० १ अधि० ।

सुयधारय-श्रुतधारक-त्रि०। श्रुतज्ञातरि, प्रश्न० ५ संव०द्वार ।

सुयपज्जवजाय-श्रुतपर्यवजात-न० । उद्देशकाध्ययनादिषु श्रुताध्ययनप्रकारेषु,स्था० ४ ठा० २ उ० । सूत्रार्थप्रकारे, ग० १ अधि० ।

सुयपारायण-शुकपारायण-न०। अर्थपरिसमाप्त्या पदच्छेदेन सूत्रोच्चारणे संहितायाम् , व्य० ३ उ० ।

सुयपिच्छ-शुकपिच्छ-पुं० । शुकपक्षिश्लक्ष्णपक्षे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० । रा० ।

सुयबुद्धोवेय-श्रुतबुद्धयुपेत-त्रि० । श्रुतेन बुद्धिभावेन च समन्विते, दश० ६ अ० २ उ० ।

सुयभत्ति-श्रुतभक्ति-स्त्री०। श्रुतविषये बहुमाने, प्रव०१० द्वार।

सुयमद--श्रुतमद-पुं० । विशिष्टश्रुतनिमित्ते मदभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । उत्त० । (अत्र कथानकं 'पएणापरीसह ' शब्दे पञ्चमभागे ३६० पृष्ठे उक्तम् ।) श्रुतेन मद. श्रुतमदः । मदस्थानभेदे , स० ।

सुयमयणाण-श्रुतमदज्ञान-न० । शाब्दज्ञाने, "वाक्यार्थमात्रविषयं.कोष्ठकगतबीजसन्निभं ज्ञानम् । श्रुतमदमिह विज्ञेयं,मिथ्याभिनिवेशरहितमलम् ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे ज्ञानभेदे,षो० ११ विव० । (वक्तव्यता ' णाण' शब्दे ४ भागे १६८१ पृष्ठे उक्ता ।)

सुयमयमेत्तापोह-श्रुतमयमात्रापोह-पु० । श्रुतवादेन निर्वृत्तं श्रुतमय तदेव तन्मात्रमवधृतस्वरूपम् अन्यज्ञानव्यानिरपेक्षं सदपोहस्तन्निराश' । श्रुतवादमात्रनिराश. षो० १० विव० ।

सुयमाण-शयान-त्रि० । शयनं कुर्वति, तं० ।

सुयरयण-श्रुतरत्न-न० । द्वादशाङ्गीरूपे रत्ने , प्रज्ञा० १ पद ।

सुयरयणभरिय-श्रुतरत्नभृत-त्रि०। श्रुतान्येवाचारादीनि निरुपमसुखहेतुत्वाद्रत्नानि श्रुतरत्नानि तैर्भृतं पूरितम् । परिपूर्णागमे , न० ।

सुयरहस्स-श्रुतरहस्य-न०। श्रुतनिष्कर्षे , संथा० ।

सुयरागि (ण्)-श्रुतरागिन्-त्रि० । श्रुते प्रवचने रागो भक्तिर्यस्य स श्रुतरागी । प्रावचनिके , ध० ३ अधि० ।

सुयलंभ-श्रुतलाभ-पु० । द्रव्यश्रुतलाभे, बृ० ।

दट्ठूण जिणवराणं, पूअं अन्नेण वावि कज्जेण ।
सुयलंभो उ अभव्वे, भविज्ज गंभेण उवणीए ।
बृ०१ उ०१ प्रक० ।

सुयवग-श्रुतवक-पुं० । वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सुयवतार-श्रुतवक्तृ-त्रि० । द्वादशाङ्गस्य प्रवचनस्य सूत्रतः प्रवाचके, विशे० ।

सुयववहार-श्रुतव्यवहार-पुं०। श्रुतं श्रुतज्ञान शेषमङ्गानङ्गभेदः तदेव व्यवहारः । द्वितीये व्यवहारभेदे, पञ्चा० १६ विव० । अष्टाद्येकाद्धीवसानपूर्वधरैकादशाङ्गिनिशीथाद्यशेषश्रुतज्ञे,ध० २ अधि० ।

अथ श्रुतव्यवहारं शृण्वतामेव कथयति--

नि(ज्जू)ज्जूढं चोद्दसपु-व्विएण जं भद्दबाहुणा सुत्तं ।
पंचविहो ववहारो, दुवालसंगस्स नवनीतं ॥ ५७८ ॥

यत् भद्रबाहुस्वामिना चतुर्दशपूर्वधरेण पञ्चविधो व्यवहारः पञ्चविधव्यवहारात्मकं निर्व्यूढ द्वादशाङ्गस्य नवनीत मथितस्य नवनीतमिव द्वादशाङ्गस्य; सारमित्यर्थः । एतेन द्वादशाङ्गानि निर्व्यूढमावेदितव्य तत्सूत्रं श्रुतमुच्यते । तेन व्यवहारः श्रुतव्यवहार. ।

जो सुयमहिज्जइ बहुं, सुत्तत्थं च निउणं न याणेइ ।
कप्पे ववहारम्मि य, सो न पमाणं सुयहराणं ॥५७९॥
जो सुयमहिज्जइ बहुं, सुत्तत्थं च निउणं वियाणेइ ।
कप्पे ववहारंमि य, सो उ पमाणं सुयहराणं ॥५८०॥

य. कल्पव्यवहारे च सूत्र बह्वधीते न सूत्रार्थं निपुणं जानाति,स व्यवहारविषये न प्रमाणं श्रुतधराणाम् । यस्तु कल्पे व्यवहारे च सूत्र बह्वधीते सूत्रार्थं च निपुण विजानाति स प्रमाणं व्यवहारे श्रुतधराणाम् ।

कप्पस्स य निज्जुत्तिं,ववहारस्स व परमनिउणस्स ।
जो अत्थतो न जाणइ, ववहारी सो नणुण्णातो ॥५८१॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स ।
जो अत्थतो वियाणे, ववहारी सो अणुण्णातो ॥५८२॥

कल्पस्य-कल्पाध्ययनस्य व्यवहारस्य च परमनिपुणस्य यो निर्युक्तिमर्थतो न जानाति स व्यवहारी नानुज्ञात । यस्तु कल्पस्य व्यवहारस्य च परमनिपुणस्य निर्युक्तिमर्थतो जानाति स व्यवहारी अनुज्ञातः ।

तं चेवऽणुमज्जंत, ववहारविहिं पउंजति जहुत्तं ।
एसो सुअववहारी, पन्नत्तो धीरपुरिसेहिं ॥४८२॥

कुलादिकार्येषु व्यवहारे उपस्थिते यद्भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पव्यवहारात्मक सूत्र निर्व्यूढ तथैव भजन निपुणतरार्थपरिभावनेन तन्मध्ये प्रविशन् व्यवहारविधिं यथोक्त सूत्रमुच्चार्य तस्यार्थं निर्दिशन् यः प्रयुङ्क्ते स श्रुतव्यवहारी धीरपुरुषैः प्रज्ञप्तः । व्य० १० उ० । श्रुतव्यवहारिणश्च अशेषपूर्वधरा एकादशाङ्गधारिणः कल्पव्यवहारादिसूत्रार्थतदुभयविदश्च । व्य० १ उ० । श्रुतव्यवहारिणश्च—अष्टनवषट्पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकार्द्धपूर्विण एकादशाङ्गधारिणो निशीथकल्पव्यवहारदशाश्रुतस्कन्धपञ्चकल्पाद्यशेषश्रुते सूत्रार्थाभिज्ञाश्च श्रुतव्यवहारिणश्चाचाराङ्गादीनामष्टपूर्वाणामेव, यदुक्तम्—" आयारपकप्पाई सेस सव्वं सुयं विणिद्दिट्ठं " इति । अत्राह कश्चित्—किमष्टमपूर्वान्तमेव श्रुत नवमपूर्वादीनां न श्रुतत्वम् ?, उच्यते—आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्तेऽतीन्द्रिया पदार्था येन स आगम इति व्युत्पत्ते, नवमपूर्वादीनां श्रुतत्वाविशेषे केवलज्ञानादिवदतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वादागमत्वेनैव व्यपदेश शेषश्रुतस्य तु नातीन्द्रियार्थेषु तथाविधोऽवबोध , ततोऽस्मिन् श्रुतव्यवहार । जीत० ।

सुयववहारि-श्रुतव्यवहारिन्-पुं० । श्रुतव्यवहारेण व्यवहर्त्तरि, जी० १ प्रति० ।

श्रुतसपच्चतुर्द्धा । यथा—

जुगपरिचियउस्सग्गो, उदात्तघोमावविन्नेओ त्ति ५४७×

तत्र सूचनात् सूत्रमिति युगो-युगप्रधानागम परिचितसूत्र क्रमोत्क्रमवाचनादिभि. स्थिरसूत्र उत्सर्गं उत्सर्गापवाद स्वसमयपरसमयादिवेदी । उदात्तघोषादि उदात्तानुदात्तादिस्वरविशुद्धिविधायी अन्यत्र बहुश्रुतता १ परिचितसूत्रता २ विचित्रसूत्रता ३ घोषविशुद्धिकरता चेति पठ्यते, अर्थस्तु स एव । प्रव० ६४ द्वार ।

श्रुतव्यवहारिण प्राह—

कप्पपकप्पी उ सुए, आलोया वेंति ते उ तिक्खुत्तो ।
सरिसत्थमपलिउंचि त्ति,असरिमपरिणामतो कुंची ॥१२७॥

कल्पग्रहणेन दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहारा गृहीता ,प्रकल्पग्रहणेन निशीथ । कल्पश्च प्रकल्पश्च कल्पप्रकल्पं तदेषामस्तीति कल्पप्रकल्पिन दशाकल्पव्यवहारादिसूत्रार्थधरास्तुशब्दत्वात् महाकल्पश्रुतमहाकल्पनिशीथनिर्युक्तिपीठिकाधराश्च श्रुतव्यवहारिण प्रोच्यन्ते । व्य० १ उ० ।

सुयविणय-श्रुतविनय-पुं० । विनयभेद, व्य० ।

सम्प्रति श्रुतविनयमाह—

सुत्तं अत्थं च तहा. हियणिस्सेमन्तहा पवाएइ ।
एमो चउव्विहो खलु, सुयविणओ होइ नायव्वो ॥३००॥

सूत्र प्रवाचयति तथा अर्थमपि हित यद्यस्योचित तत्तत्र प्रवाचयति नेतरत् , तथा नि शेष परिपूर्णमेव चतुर्विध. खलु श्रुतविनयो भवति ज्ञातव्य. ।

एतमेव व्याचष्ट—

सुत्तं गाहेइ उज्जुत्तो, अत्थ च सुणावइ पयत्तेण ।
जं तस्स होइ जोग्गं, परिणामगमाइय तु हिय ॥३०१॥
निस्सेसमपरिसेसं, जाव समत्तं तु ताव वाएइ ।
एसो सुयविणतो खलु, वोच्छं 'विक्खेवणाविणयं' ।३०२।

उद्युक्त सन् शिष्यान् सूत्र ग्राहयति एष सूत्रग्राहणविनय., तथा प्रयत्नेन शिष्यमर्थ श्रावयति एषोऽर्थश्रावणविनयः । परिणामकादीनां यत् यत् यस्य भवति योग्य तत्तस्य हित सत्रतोऽर्थतश्च ददाति एष हितप्रदानविनय , तथा नि शेषं किमुक्त भवति—यावत्समाप्ति तावद्वाचयति एष नि शेषवाचनाविनय . उपसंहारमाह—एष चतुर्विध खलु श्रुतविनय । व्य० १० उ० । प्रव० ।

सुयवंट-शुकवृन्त-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभद, जी० ३ प्रति० १ अधि० । प्रज्ञा० ।

सुयसंपया-श्रुतसंपद्-स्त्री० । श्रुतम्—आगमस्तस्मिंस्तेन वा संपत्समृद्धिः श्रुतसपत् । गणिसपद्भेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । (' गणिसपया ' शब्द तृतीयभागे ८२६ पृष्ठे व्याख्यातैषा ।) (द्विविधा श्रुतसंपत् ' ववहार ' शब्दे षष्ठभागे ९०५ पृष्ठे गता ।)

सुयसंवाय-शुकसंवाद-पुं० । शुकाख्यपरिव्राजकेन सह वादे, ग० २ अधि० ।

सुयसद्दहणया-श्रुतश्रद्दधानता-स्त्री० धर्मशास्त्रश्रवणे, स्था० "आहच्च सवणलद्धुं , सद्धा परमदुल्लहा । सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ ॥ १ ॥ " स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुयसमाहि-श्रुतसमाधि-पुं० । श्रुते श्रुताद्वा समाधि श्रुतसमाधि । समाधिभेदे दश० ।

श्रुतसमाधिमाह—

चउव्विहा खलु सुअसमाही भवइ, तं जहा-सुअं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइअव्वं भवइ १, एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइअव्वयं भवइ २, अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वयं भवइ ३, ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वयं भवइ ४, चउत्थं. पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—" नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावई परं । सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ॥ ३ ॥ "

चतुर्विध. खलु श्रुतसमाधिर्भवति, 'तद्यथे' त्युदाहरणोपन्यासार्थ । श्रुत मे आचारादि-द्वादशाङ्ग भविष्यतीत्यनया बुद्ध्याऽध्येतव्य भवति, न गौरवाद्यालम्बनेन १, तथाऽध्ययनं कुर्वन्नेकाग्रचित्तो भविष्यामि न विप्लुतचित्त इत्यध्येतव्य भवत्यनेन चालम्बनेन २, तथाऽध्ययन कुर्वन्विदितधर्मतत्त्व आत्मानं स्थापयिष्यामि शुद्धधर्मे इत्यनेन चालम्बनेनाध्येतव्य भवति ३ तथाऽध्ययनफलात् स्थित स्वयं धर्मे 'पर' विनेय स्थापयिष्यामि तत्रैवेत्यध्येतव्य भवत्यनेनालम्बनेन

४, चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत्। स चायम—'ज्ञान' मित्यध्ययनपरस्य ज्ञानं भवति एकाग्रचित्तश्च तत्परतया एकाग्रालम्बनश्च भवति 'स्थित' इति विवेकाद्धर्मस्थितो भवति 'स्थापयति पर' मिति स्वयं धर्मे स्थितत्वादन्यमपि स्थापयति, श्रुतानि च नानाप्रकाराण्यधीत्यऽधीत्य च रत'—सक्तो भवति श्रुतसमाधाविति सूत्रार्थः॥ ३॥ दश० ६ अ० ४ उ०।

सुयसागर-श्रुतसागर-पुं०। ऐरवतवर्षे भविष्यति चतुर्थे तीर्थकरे, ति०। श्रुत कल्पव्यवहारादिरूप तदेव गम्भीरत्वादि गुणैः सागरः श्रुतसागरः। श्रुतसमुद्रे ग० १ अधि०। दर्श०।

सुयसहायया-श्रुतसहायता-स्त्री०। श्रुतमेव सहायो यस्याऽसौ श्रुतसहायस्तद्भावस्तत्ता। श्रुतमात्रावलम्बने, भ० १७ श० ३ उ०।

सुयसामाइय-श्रुतसामायिक-न०। श्रुतमुक्तस्वरूपमेव सामायिकमिति श्रुतसामायिकम्। सामायिकभेदे, विशे०। ('णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९५४ पृष्ठे सर्वा वक्तव्यता।)

सुयहर-श्रुतधर-पुं०। दशपूर्वधरे, आ० म० १ अ०। श्रुतमहार्णवपारगामिनि, पं० स० ५ द्वार।

सुया-सुता-स्त्री०। आत्मजायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। शान्तिजिनस्य प्रवर्तिन्याम्, ति०।

सुयाग-सुयाग-पुं०। शोभनयज्ञे, औ०।

सुयाणुसार-श्रुतानुसार-पुं०। आगमोद्देशे, पञ्चा० ४ विव०। शब्दार्थालोचनानुसारे, कर्म० ४ कर्म०।

सुय्य-सूर्य-पुं०। "न वा र्यो य्यः"॥ ८। ४। २६६॥ इति शौरसेन्यां र्यस्य स्थाने य्य। रवौ, प्रा०। (अस्य वक्तव्यतां 'सूर' शब्दे वक्ष्यामि।)

सुर-सुर-पुं०। सुष्ठु राजन्त इति सुराः। यद्वा—सुष्ठु राति ददाति प्रणतानामीप्सितमर्थं लवणाधिप इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुरः। यद्वा—'सुर' ऐश्वर्यदीप्त्योः। सुरन्ति विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणसभारसमृद्ध्या सहजनिजशरीरकान्त्या वा दीप्यन्ते इति सुराः। कर्म० ४ कर्म०। शक्रादिकेषु देवेषु, नं०। अनिमिषेषु, आ० म० १ अ०। व्य०। आ० म०। कर्म०। औ०। आचा०।

सुरइय-सुरचित-त्रि०। शोभनं रचितं सुरचितम्। शोभनप्रकारेण निर्मिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। औ०।

सुरंगा-सुरङ्गा-स्त्री०। उपर्यविदिते भूमिखातमार्गे, न०। आ० क०। आव०।

सुरंबर-सुरम्बर-पुं०। शौर्यपुरपूज्यमाने स्वनामख्याते यक्षे, आव० ४ अ०। आ० क०। ('सुर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता।)

सुरकुमार-सुरकुमार-पुं०। श्रीवासुपूज्यजिनस्य शासनयक्षे, प्रव०। श्रीवासुपूज्यस्य सुरकुमारो यक्षः श्वेतवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकबाणान्वितदक्षिणकरद्वयो नकुलकधनुर्युक्तवामपाणिद्वयश्च। प्रव० २६ द्वार।

सुरक्खिय-सुरक्षित-त्रि०। सुष्ठु-अत्यन्तं रक्षितं रक्षणं पालनं यस्य स तथा। अत्यन्तं पालिते, प्रश्न० ४ संव० द्वार।

सुरगअ-सुरगज-पुं०। ऐरावणे, को०।

सुरगइ-सुरगति-स्त्री०। सुरेषु विषये गतिः सुरगतिः। देवगतौ कर्म० ४ कर्म०।

सुरगण-सुरगण-पुं०। चतुर्विधामरनिकाये, ध० २ अधि०। प्रश्न०। स०।

सुरगणणरिंदमहिय-सुरगणनरेन्द्रमहित-त्रि०। सुरगणैश्चतुर्विधामरनिकायैर्नरेन्द्रैश्चक्रवर्त्यादिभिर्महितः-पूजितः। देवैः। राजभिश्च पूजिते ल०।

सुरगणसुह-सुरगणसुख-न०। देवसन्धानसुखे, "सुरगणसुहं समत्त सव्वद्धा पिंडिअं अणंतगुणं" प्रज्ञा० २ पद।

सुरगिरि-सुरगिरि-पुं०। मेरुपर्वते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

सुरगीय-सुरगीत-त्रि०। सुरैर्देवैर्गीतस्तद्गुणगानेन। अमरसंकीर्तिते, संथा०।

सुरगुरुविणेय-सुरगुरुविनेय-पुं०। बार्हस्पत्ये चार्वाके, ल०।

सुरगोव-सुरगोप-पुं०। इन्द्रगोपकाभिधाने रक्तवर्णे कीटे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

सुरजाल-सुरजाल-न०। इन्द्रजाले, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सुरट्ठ-सुराष्ट्र-पुं०। द्वारवतीनगरीप्रतिबद्धे जनपदभेदे, "बारवई य सुरट्ठा" प्रव० २७५ द्वार। आव०। सूत्र०। प्रज्ञा०।

सुरट्ठवद्धण-सुराष्ट्रवर्धन-पुं०। अवन्तिराजस्य प्रद्योतस्य पौत्रे, आ० क० ४ अ०।

सुरणय-सुरनत-त्रि०। देवपूजिते, दश० १ अ०।

सुरणर-सुरनर-पुं०। देवमनुष्ये, "तम्हा उ सुरनराणं पुज्जत्ता मंगलं सया धम्मो।" दश० १ अ०।

सुरणुचर-स्वनुचर-त्रि०। रेफ प्राकृतत्वात्। सुखप्रवर्त्तनीयत्वात् अकृच्छ्रेणानुष्ठातव्ये, स्था० ५ ठा० १ उ०।

सुरत्तकणवीर-सुरक्तकरवीर-न०। अतिरक्तकरवीरपुष्पे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

सुरत्ताण-सुरत्राण-पुं०। पारसीकभाषाप्रसिद्धे नृपे, ती० २५ कल्प।

सुरत्ताणसमसुद्दीन-पुं०। पारसीक शब्द। महाराज, श्रीहम्मीरसुरत्ताणसमसुद्दीन। ती० ३५ कल्प।

सुरतिग सुरत्रिक-न०। सुरगतिसुरानुपूर्वीसुरायुर्लक्षणे देवत्रिके, कर्म० ५ कर्म०।

सुरदत्त-सुरदत्त-पुं०। जयन्तीनामनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, पिं०। हेमपुरनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, दर्श० १ तत्त्व।

सुरदग-सुरद्विक-न०। सुरगतिसुरानुपूर्वीलक्षणे देवद्विके, कर्म० ५ कर्म०।

सुरदुवार सुरद्वार-न०। देवगृहद्वारे, ती० २५ कल्प।

सुरपूइय-सुरपूजित-त्रि० । सुरा देवास्तैः पूजितः । इन्द्रादिदेवैः पूजिते, दश० १ अ० ।

सुरप्पिय-सुरप्रिय-पुं० । रैवतकपर्वतस्यादूरे नन्दनवने उद्याने स्वनामख्याते यक्षे, ज्ञा०१ श्रु०५ अ० संथा० आ० म० । अन्त० । तत्र (साकेतपत्तने) चैशानकोणेऽस्ति, मेदिनीमुकुटोपमम् । सुरप्रियस्य यक्षस्या-यतनं शिखराद्भुतम् ॥ १ ॥ " आ० क० १ अ० । आ० चू० । नि० । आ० म० ।

सुरभि-सुरभि-पुं० । सौमुख्यकृति गन्धभेदे, अनु० । प्रज्ञा० । औ० । रा० । स० । आचा० । नं० । गवि, सकलगोमातरि, बृ० । प्रलम्बभेदे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सुरभिकुसुममल्लिया-सुरभिकुसुममल्लिका-स्त्री० । सुगन्धपुष्पमाल्ये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुरभिगंध-सुरभिगन्ध-पुं० । सुगन्धे, रा० ।

सुरभिगन्धणाम-सुरभिगन्धनामन्-न० । यदुदयवशाज्जन्तुशरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते यथा शतपत्रमालतीकुसुमादीनां तत्सुरभिगन्धनाम । नामकर्मभेदे,कर्म०६कर्म०।पं०सं० ।

सुरभितर-सुरभितर-त्रि० । अत्यन्तसुगन्धिनि,कल्प०१ अधि० ३ क्षण । प्रश्न० ।

सुरभिपुर-सुरभिपुर-न० । गङ्गानदीये नगरभेदे , कल्प० १ अधि० ८ क्षण । गङ्गाया उत्तरभागस्थे स्वनामख्याते नगरे , आ० चू० १ अ० । आ० क० । दर्श० । आ० म० ।

सुरम्म-सुरम्य-त्रि० । अतिशयरमणीये, जी० ३ प्रति०४ अधि० । औ० । स० । सुष्ठु-अतिशयेन रम्यं सुरम्यम् । मनोरमणीये, च० प्र० २० पाहु० ।

सुरम्मा-सुरम्या-स्त्री० । वैताढ्यपर्वते उत्तरश्रेण्यां स्वनामख्यातायां नगर्याम् , ती० ६ कल्प । रा० ।

सुरय-सुरत-न० । स्त्रीसेवायाम् , दर्श० मतत्त्व ।

सुररिउ-सुररिपु-पुं० । दैत्ये , असुरे , को० ।

सुरलोगभूय-सुरलोगभूत-त्रि० । सुरलोकोपमे , रा० ।

सुरल्लिया-सुरल्लिका-स्त्री० । वनस्पतिविशेषे , रा० ।

सुरवइ-सुरपति-पुं० । इन्द्रे , को० । आ० म० ।

सुरवइसंपूइय-सुरपतिसंपूजित-त्रि० । इन्द्रमहिते, " सुरवइसपूइयाण " सुरपतिसपूजितानां प्रच्छकनिर्णायकपूजनात् । स० ।

सुरवर-सुरवर-पुं० । ऋषभदेवस्याष्टनवतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । देवप्रवरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुरवराभिराम-सुरवराभिराम-त्रि० सुरवरैः शोभिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुरसिद्ध-सुरसिद्ध-पुं० । अपरविदेहे पुष्पकलावतीविजयक्षेत्रे चम्पाया नगर्या राजनि, ती० ६ कल्प ।

सुरहि-सुरभि-पुं० । सुगन्धे , ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । जी० । सेहकतृणे, नि० चू० १ उ० । तृणभेदे, आचा०१श्रु०१अ०५उ० ।

सुरहिगन्ध-सुरभिगन्ध-पुं० । अनुकूलगन्धे, तेजःपद्मशुक्लले-श्याः सुरभिगन्धाः ' पिष्यमाणगन्धवासा ' सुरभिकुसुमादिभ्योऽप्यनन्तगुणपरमसुरभिगन्धोपेतत्वात् । प्रज्ञा०१७पद ।

सुरभिजणियगंध-सुरभिजनितगन्ध-पुं० मनोज्ञकृतगन्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सुरहिविलेवण-सुरभिविलेपन-न० । सुरभिश्रीखण्डाद्यनुलेपने, पञ्चा० ४ विव० ।

सुरा-सुरा-स्त्री० । चन्द्रहासाभिधे मद्ये,उत्त०१६अ० । सूत्र० । काष्ठपिष्टनिष्पन्ने मद्यभेदे, " पिट्ठेण सुरा होति । " ब्रीह्यादिना सम्बन्धिना पिष्टेन यद् द्रिकटं भवति सा सुरा । बृ० २ उ० । स्था० । पञ्चा० । दश० । कपालगृहेषु किलाम्लशब्दसमुद्घाण्ते सुरा विनश्यति । अनु० । पश्चिमरुचकपर्वतवासिन्यां दिक्कुमार्याम् , ति० । द्वी० । आ० चू० ।

सुराउ-सुरायुष्-न० । देवायुषि, कर्म० १ कर्म० ।

सुराउह-सुरायुध-न० । वज्रे, को० ।

सुरादेव-सुरादेव-पुं० । वाणारसीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते वणिजि,स्था०।सुरादेवो गृहपतिर्वाणारसीनिवासी परीक्षकदेवस्य षोडशरोगानङ्कान् भवन्तं शरीरे क्षमकमुपनयामि । यदि धर्मं न त्यजसीति वचनमुपश्रुत्य चलितप्रतिज्ञः पुनरालोचितप्रतिक्रान्तस्तत्रैव दिवंगत इति वक्तव्यताभिधायकं सुरादेव इति ॥ ४ ॥ स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । (सुरादेवकथा ' चुल्लसयय ' शब्दे तृतीयभागे ११६६ पृष्ठे गता ।)

सुरादेवी-सुरादेवी-स्त्री० । पश्चिमरुचकवरपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था०८ठा०१ उ० । जं० । आ०क० । स्वनामख्यातायां सौधर्मकल्पदेव्याम् , नि० १ श्रु० ४ वर्ग ८ अ० । आ० म० । (सा च पार्श्वान्तिके प्रव्रज्य सौधर्मे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति निरयावलिकानां चतुर्थवर्गस्य अष्टमे ऽध्ययने सूचितम् ।)

सुरादेवीकूड-सुरादेवीकूट-न० । शिखरिवर्षधरपर्वतस्य पञ्चमे कूटे,जं०४वक्ष० । (स्थानाङ्गवृत्ताविदं चतुर्थम् ।) सुरादेव्यावासभूते पर्वते, जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

सुराथालय-सुरास्थालक-न० सुराया स्थालकं सुरास्थालकम् । कोशलादिके , सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सुराभ-सुराभ-न० । अपरयोः कृष्णराज्योर्मध्ये लोकान्तिकविमाने , तत्र तुषिता देवाः । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुराभिओग-सुराभियोग-पुं० । कुलदेवतादेः सुरस्याभियोगे, ध० २ अधि० ।

सुरारस-सुरारस-पुं०।समुद्रविशेषे,"एगा जोयणकोडी, छव्वीसा दसजोयणसहस्सा । गोतित्थेण विरहिय, सुरारसे सागरे खित्ते ॥ " द्वी० ।

सुरालय-सुरालय-पुं० । स्वर्गे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सुरावियडकुम्भ-सुराविकटकुम्भ-पुं० । सुरारूपं यद् विकटं जलं तस्य कुम्भो यः स तथा । मद्यभृतघटे, भ० १६ श०६उ० ।

सुरासुरमणुयपूइय-सुरासुरमनुजपूजित-त्रि० । ज्योतिष्कवैमानिकैर्व्यन्तरभवनपतिभिः पुरुर्षिविद्याधरैश्च पूजिते,पं० सू० १ सूत्र ।

सुरिंद-सुरेन्द्र-पुं०। सुष्ठु राजन्ते इति सुरास्तेषामिन्द्रः— प्रभु सुरेन्द्रः,सुराणां देवानां वा इन्द्रः सुरेन्द्रः। शक्रे,उपा० २ अ०। ति०। स०। द्वात्रिंशत् सुरेन्द्राः। प्रश्न० ५ सव० द्वार।

सुरिन्ददत्त-सुरेन्द्रदत्त-पुं०। इन्द्रपुरनगरराजस्येन्द्रदत्तस्य स्वामात्यसुताकुक्षिसंभूते पुत्रे, आ० म० १ अ०। मथुराजाताया निर्वृत्ते स्वयंवरवरके, ती० ८ कल्प।

दयायां सुरेन्द्रदत्तचरितनिदर्शनमाह—

"पयडियदइक्कधम्मं, दसियजीववहदारुणविवागं।
किं पि जसोहरचरियं, भणामि संवेगरसभरियं ॥ १ ॥
अत्थि पुरी उज्जेणी, जत्थ जणो विमलसीलदुल्ललिओ।
कलिओ विहवभरेणं, न कयावि निएइ परदारं ॥ २ ॥
अमरु व्व अमरचंदो,सुहासओ तत्थ आसि नरनाहो।
वरलावन्नमणहरा, जसोहरा तस्स पाणपिया ॥ ३ ॥
ताण कयविवुहतोसो, सुरिंददत्तो सुओ सुरिंदु व्व।
परमेस गुत्तभेई, न वय कइयावि वहरकरो ॥ ४ ॥
नियसगमउज्जीविय, मयणासारयससंकसमवयणा।
तस्स य नीलुप्पलदल-नयणा नयणावली भज्जा ॥ ५ ॥
अन्नदिणे रज्जभरं, पुत्ते सकमिय अमरचंदनिवो।
पडिवन्नो कयउन्नो, समणत्तं असम सुमणत्तं ॥ ६ ॥
महिहरछुज्झनकरो, पयडियकमलो य हणियरिउतिमिरो।
रविरिव सुरिंददत्तो, वि कुणइ सव्वक महसुहिय ॥ ७ ॥
अह अन्नदिणे रन्नो, सारसियानामियाएँ दासीए।
पलियच्छलेण कहिओ, समागओ धम्मदूओ त्ति ॥ ८ ॥
सत्तो चिंतेइ निवो, अथिरत्तं अहह सव्वभावाणं।
ही तुच्छया भवस्स य, ह हा चलत्तं तरुणयाए ॥ ९ ॥
दिवसनिसा घडिमालं, आउयसलिलं जणस्स वित्तूणं।
चंदाइच्चवइल्ला, कालरहट्टं भमाडंति ॥ १० ॥
जीवियजलंमि खीणे, सरीरसरसंमि परिसुसंतंमि।
को वि हु नत्थि उवाओ, तहवि जणो पावमायरइ ॥ ११ ॥
सो किं इमीइ मज्झं, रंगततरंगभंगुरतराए।
निवलच्छीइ सुतुच्छा-इ नरयपुरसरलसरणीए ॥ १२ ॥
गुणहरकुमरं गुणरय-ण कुलहरं ठाविऊण नियरज्जे।
पुव्वपुरिसाणुचिन्नं, सामन्नं अणुचरामि त्ति ॥ १३ ॥
तो सिट्ठो दइयाए, नियमिप्पाओ निवेण सा आह।
जं मे रोयइ त कुल-सु नाह न करेमि विग्घमहं ॥ १४ ॥
किंतु अहं पि गहिस्स, सहेव पव्वज्जमज्ज उत्तेण।
चिट्ठइ गच्छा जुएहा, फुडमुडवइणो विणा कह णु ॥ १५ ॥
तो चिंतइ नरनाहो, अहो अहो मज्झ उवरि दईए।
अइनिविडो पडिबंधो, अहो अहो विरहभीरुत्त ॥ १६ ॥
इत्थंतरंमि मिउगहि-र सद्दओनमिय दाहिणकरेण।
कालनिवेयए निउण, पढियमिणं तन्निउत्तेण ॥ १७ ॥
लद्धु पसिद्धमुदयं, पयावपसर कमेण वड्ढित्ता।
रज्जोचिन्ता भुवण, संपइ अत्थमइ दिणनाहो ॥ १८ ॥
तं सोउ चिंतइ निवो, हहा इहं नत्थि कोइ निच्चसुही।
इत्तिय दसाउ विवसो, पइदिवसं सहइ सूरो वि ॥ १९ ॥
संझाकिच्चं तो का-उ ठाउ मत्थाण मंडवमि खण।
नयणावलीइ समल-कियसि पत्तो रइगिहंमि ॥ २० ॥
संसारसरूवनिरू-वणिकपवणस्स निद्दुयम्मि,प्पस्स।
विसयविमुहस्स रन्नो, दूर ओसरियनिद्दस्स ॥ २१ ॥
सुत्तो निवु त्ति उक्कड, मयणा नयणावली समुट्ठेइ।
उग्घाडिउ कवाडे, विणिग्गया वासगेहाओ ॥ २२ ॥
चिंतइ निवो अवेल किं, एसा निग्गय त्ति हुं नायं।
मइभाविविरहभीरू, नूणं मरिहि त्ति वारेमि ॥ २३ ॥
तयणु अणुपुट्ठिमेई, इ जाइ जा नरवई गहियआसी।
पासायपालओ ता-व खुज्जओ तीइ उट्ठविओ ॥ २४ ॥
अह ते दोवि पमत्ते, करालकरवालघायपायाले।
जा खिविही कोवबसा, निवई इय चिंतए ताव ॥ २५ ॥
उब्भडरिउभडसंघडिय-करडिघडकरडदलणदुल्ललिओ।
वियलियसीलेसु इमे-सु एस कह वहउ मह खग्गो ॥ २६ ॥
अहव किमिमीइ चिंता-इ पत्थुयत्थस्स अणणुरूवाए।
इय वलिय विलियचित्तो, सिज्जाठाणं निवो पत्तो ॥ २७ ॥
चिंतइ सयणिज्जगओ, अहो महेला अनामिया वाही।
विसकदली अभूमा, विसूइया भोयणेण विणा ॥ २८ ॥
वग्घी अकपगा तह, अणग्गि चुडली अचेयणा मुच्छा।
निवड निवडमलोह, अकारणो तह य मच्चु त्ति ॥ २९ ॥
इय जा चिंतेइ इमो, ता देवी तत्थ आगया सणियं।
गंभीरयाइ नहु किं-पि जंपियं नरवरेण तया ॥ ३० ॥
इत्तो समाहयाइ, पभायतूराइ किंकरगणेण।
कालमिवेयगपुरिसे-ण गहियसद्देण इय पढियं ॥ ३१ ॥
एसा वच्चइ रयणी, वि मुक्कगुरुतिमिरचिहुरपब्भारा।
दाउं जलंजलिं पिव, परलोगगयस्स सूरस्स ॥ ३२ ॥
तो काउ गोसकिच्चं, अत्थाणसहाइ आगओ राया।
पणओ य मंतिसामं-तसिट्ठिसत्थाहपमुहेहिं ॥ ३३ ॥
कहिओ नियमिप्पाओ, निवेण विमलमइमाइमतीण।
भालयलमिलियकरको-रगेहिं तेहिं पि विन्नवियं ॥ ३४ ॥
देव ! न अज्ज वि जायइ, कवयहरो जाव गुणहरो कुमरो।
ताव सय चिय सामी, पयाउ पयाउ पालेउ ॥ ३५ ॥
भणइ निवो मनिवए, किं अम्ह कुले समागए पलिए।
कोवि ठिओ गिहवासे, भणंति ते देव ! नहु एव ॥ ३६ ॥
इय सह मतीहिँ निवो, विविहालावेहि तं दिणं गमिउं।
सुहसुत्तो रयणीए, विरामसमए नियइ सुमिणं ॥ ३७ ॥
जह सत्तभूमिमंदिर-उवरिं सीहासणंमि उवविट्ठो।
पडिकूलभासिणीए, अंबाए पाडिओ हिट्ठा ॥ ३८ ॥
निवडतो पत्तो ह, भूमीओ सत्त तह य अंबावि।
उट्ठिय कहं पि मंदिर-गिरिसिहर पुणवि आरूढो ॥ ३९ ॥
अह गयनिद्दो राया, चिंतइ आवायदारुणविवागो।
परिणामसुहो सुमिणो, एसो किं भावि नहु जाणे ॥ ४० ॥

अत्रान्तरे पठित प्राभानिककालनिवेदकेन—
पतितोऽपि दैवयोगात्, पुनरुत्पातं क्षणेन किल लभते।
कन्दुक इव सद्वृत्तो, न भवति चिरकालविनिपातः ॥४१॥
अह कयपयभायकिच्चो, चा अत्थाणमि उवविसइ राया।
बहुपरियणपरियरिया, जसोहरा ता तहिं पत्ता ॥ ४२ ॥
अब्भुट्ठिया निवेण, निवेसिया आसणे अइमहंते।
पुच्छइ वच्छ ! कुसल, स भणइ अंबापसाएण ॥ ४३ ॥
चिंतइ य निवो मज्झे, वयगहण कहणु मन्निही अंबा।
अहवंधुर पडिबंधा, हुं अत्थि इमो इहोवाओ ॥ ४४ ॥

तं चेव सुमिणयं तह, कहेमि पडिघायहेउं जह तस्स ।
भणइ मह सुमिणेसं, पव्वइश्रो च्चिय तश्रो श्रहय ॥ ४५ ॥
इय सामत्थिय कहिश्रो, सुमिणो जणणीइ! श्रवाजह अज्ज ।
गुणहरकुमरस्स श्रह , रज्ज दाऊण पव्वइश्रो ॥ ४६ ॥
धवलहराउ निवडिश्रो , इचइ सुमिणं तीइ भीयाए ।
थुत्थुक्किय च धाम-क्कमेण श्रक्कमियमहिवलय ॥ ४७ ॥
यशोधरा प्राह—
एयस्स विघायकए , दाउ कुमरस्स रज्जमित्तरिय ।
गिएहेह समणलिंगं , (राजा) एव ज आणवइ श्रंबा ॥४८॥
यशोधरा—
निवडणनिमित्तय पुण , जलथलखयरजिए बहु हणिउ ।
कुलदेवयच्चणेण , करेहि तं संतिकम्म ति ॥ ४६ ॥
राजा—
जियघाया य ण संती, हहा कहं श्रंब ! ते समाइट्ठा ।
ज धम्मेण सन्ती , सो पुण धम्मो दयामूलो ॥५०॥ (ध०र०)
(अभयदानकथनम्—'अभयदाण' शब्दे प्रथमभागे ७०६ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।)
तं श्रंब ! संतिकम्मं, त चिय सव्वत्थ साहणसमत्थ ।
ज अइथेवं पि पर-स्स नेव चिंतिज्जए पाव ॥ ५७ ॥
यशोधरा—
पुत्तय ! परिणामवसा, पुन्न पाव च होइ श्रहयावि ।
देहारुग्गनिमित्तं, पाव पि हु कीरए इत्थ ॥ ५८ ॥
यत उक्तम्—
पावं पि हु कायव्व,बुद्धिमया कारणं गणतेण ।
तह होइ किं पि कज्जं, विस पि जह श्रोसहं होइ ॥५६॥
राजा—
जइ वि परिणामवसश्रो, पुन्न पाव हवेइ जीवाणं ।
तह वि य ज्ञयंति सन्तो, परिणामविसोहिमिच्छन्ता ॥६०॥
जो पुण हिंसायरणे-सु वट्टई तस्स नणु परीणामो ।
दुट्ठो न य तं लिंग, होइ विसुद्धस्स जोगस्स ॥ ६१ ॥
किंच—
पुन्नमिणं पाव चिय, सेवंतो त फल न पावेइ,
हालाहलविसभोई, न जीवई अमयबुद्धी वि ॥ ६२ ॥
नय तिहुयणे वि पावं, अन्नं पाणाइवायश्रो गरुयं ।
जं सव्वे वि य जीवा, सुहेसिणो दुक्खभीरू य ॥ ६३ ॥
देहारुग्गकए वि हु जीवदया चेव श्रंब ! कायव्वा ।
आरुग्गमाइ सव्व, ज जीवदयाफलं नूणं ॥ ६४ ॥
तथाहि—
जं आरुग्गमुदग्गमप्पडिहय श्राणेसरत्तं फुड ,
रूव अप्पडिरूवमुज्जलतरा कित्ती धणं जुव्वणं ।
दीह आउ अवचणो परियणो पुत्ता सुभत्ता सया,
त सव्वं सचराचरम्मि वि जए नूणं दयाए फल ॥ ६५ ॥
वयणकलहेण इमिणा, अलं मम चिय करेसु नं वयणं ।
इय जंपिरो नरवइ जसोहरा धरइ चाहाए ॥ ६६ ॥
तत्तो निवो वि चिंतइ, एगत्तो अयायावयणलोवो ।
अन्नत्तो जीववहो, इत्थ मए किं तु कायव्व ॥ ६७ ॥
अहवा वि श्रइदुरंतो, गुरुवयणविलोवश्रो वि वयभंगो ।
ता असमां पि हणिय, रक्खियवो पाणिणो इंदिह ॥ ६८ ॥
इय चिंतिउ निवइणा, पकड्ढिय मंडलग्गमइउग्गं ।
तो हाहारव मुहला-इ तीइ धारेश्रो भुयादंडो ॥६६॥
भणिश्रो य पइविश्वेवे, वच्छ ! अह किं नु जीविहि पच्छा ।
माइवहो चेव इमो, ता तुमए वज्जिश्रो इत्थ ॥७०॥
इत्तो य कुक्कुडेण, कुइय सुणिश्रो य तीइ तस्सद्दो ।
भणिय य वच्छ ! निहणसु, एयं ज अत्थि इह कण्णो ॥७१॥
परिसक्कज्जे पगए, जस्स सरो सुव्वए तय हणिउं ।
तण्णडिथिव श्रहवा, कणिज्ज ससमीहियं पुरिसो ॥७२॥
राजा—
हे माय ! कायमणवइ, जोगेहि हणे न जीवमन्नमहं ।
यशोधरा—
जइ एवं पिट्ठमयं, पि कुक्कुड हणसु ता वच्छ ! ॥७३॥
तो माइनेहमोहिय—मणेण सच्छन्ननाणनयणेण ।
जणणीवयण रुन्ना, पडिवन्नं गयविवेएण ॥७४॥
यद्वा—
बहुयं पि हु विन्नाण , नाइसयं होइ नियवकज्जंमि ।
सुदट्ठु वि दूरालोय, न पिच्छए श्रप्पय लच्छी ॥७५॥
नरनाहवयणपरिपे-रिएहि सिप्पीहिं झत्ति निम्मविश्रो ।
पिट्ठमयतंम्बचूडो, जसोहराए समुवणीओ ॥७६॥
सा वि तश्रो निवसहिया, गंतु कुलदेवया पुरो भणइ ।
इय कुक्कुडेण तूसिय, मह सुयकुसुमिणहरा होसु ॥ ७७ ॥
अह नीइ नरिंदेण, निसेण श्रसिणा स कुक्कुडो वहिश्रो ।
भक्खसु एय मंसं, ति जंपिए तेण पडिभणियं ॥ ७८ ॥
वरमंब ! विस भुत्तं, नउ मंसं नरयदुमहदुहहेउं ।
तसजीवबहुप्पन्न, दुग्गंध असुइबीभत्थ ॥ ७६ ॥
तत्तो जसोधराए, जसोहराए य परिश्रो वाढं-।
पिट्ठमयतम्बचूड-स्स नरवरो भुंजए मंस ॥ ८० ॥
श्रह बीयदिणे कुमरं, रज्जे मठविय जान पव्वइही ।
ता देवीए भणिश्रो, पडिवालसु देव ! अज्ज दिणं ॥ ८१ ॥
पव्वइहमह पि सए अणुहविउ अज्ज ! पुत्तरज्जसुह ।
चिंतइ निवो इमीए किमिणं पुव्वावरविरुद्धं ॥ ८२ ॥
अहवा चयइ जियन्त, मय पि अणुमरइ कावि भत्तारं ।
विसहरगइ व वक को जाणइ चरियमित्थीए ॥ ८३ ॥
ता पिच्छामि किमेसा, करेइ तो भणइ देवि ! इय होउ ।
सा चिंतेइ जइ न इमं, जणुपव्वइइ तश्रो मज्झ ॥ ८४ ॥
होही महं कलंको, कइमचि वावाइए पुण निवम्मि ।
बालसुयपालणकए, अणणुमरन्ती इ वि न दोसो ॥ ८५ ॥
इय चिंतिय सा रन्नो, नहसुत्तीमठिय विसं देइ ।
भुजंतस्स तश्रो सो, जाश्रो विहलं घलो झत्ति ॥ ८६ ॥
नाश्रो विसप्पश्रोगो, श्राहूया विसविघायगा विज्जा ।
विज्जाहमण नहु सुं-दर ति चिंतिउ श्रह देवी ॥ ८७ ॥
सोयभरकंन्ना इव, घस त्ति निवडेइ नरवरस्सुवरिं ।
गलश्रगुट्ठपश्रोगे-ण हणइ निययं पइं पावा ॥ ८८ ॥
श्रह अट्टज्झाणपरो, काया मरिउ सिवंधसेलम्मि ।
जाश्रो मऊरपोश्रो, गहिश्रो वणनामवाहेण ॥ ८६ ॥
नक्खाकडयगामे, वइतलारस्स दिन्नश्रो तेण ।
ससुयगयपत्थपणं, सो तं सिक्खवइ नट्टकल ॥ ६० ॥
बहुविहरयणा मेलय, सच्छह बहुपिच्छभाररमणीश्रो ।
सो पाहुडं ति तेण, पट्ठविश्रो गुणहरनिवस्स ॥ ६१ ॥
इत्तो असोहरा वि हु, सुयमरणप्पन्नअट्टझाणपरा ।

तद्दिवसं चेव मया, धन्नउरे कुक्कुरे जाओ ॥ ६२ ॥
सोवि जयपवणवेगो, तप्पुरपहुणा य गुणहरस्सेव ।
कोसल्लियं ति पहिओ, पत्ता ते समगमुवनिवई ॥ ६३ ॥
वरहिणसुणपालाण, समप्पिया निवइणा पहिट्ठेण ।
रन्नो अईव इट्ठ-त्ति तेवि पालंति जत्तेण ॥ ६४ ॥
कालक्कमेण मरिउं. ते दो वि हु तुप्पसेसनामवणे ।
जाया पसयभुयंगा, अन्नुन्नं भक्खिऊण मया ॥ ६५ ॥
ते मीणसुसुमारा, जाया सिप्पा नईइ मज्झंमि ।
पविसिय नईए केणवि, कयावि मसासिणा निहया ॥ ६६ ॥
सो उज्जेणिपुरिए, मेसो छगले य ते समुप्पन्ना ।
पारद्धिपसत्तेण, गुणहररन्ना कयावि हया ॥ ६७ ॥
तत्थेव पुणो जाया, मेसो महिसो य गुणहरनिवेण ।
अइमंसलोलुपणं, किच्छेण हणाविया कइया ॥ ६८ ॥
भवियव्वयावसेणं, पुणरवि तत्थेव ते विसालाए ।
मायंगपाडयंमी, उववन्ना कुक्कुडीगब्भे ॥ ६६ ॥
तीए कुक्कुडियाए, दुट्ठबिरालेण खज्जमाणीए ।
भीयाइ अंडगदुग, परिगलियं कयवरस्सुवरिं ॥ १०० ॥
इत्तो य तेसिमुवरिं, इंचीए कज्जओ परिट्ठविओ ।
तस्सुन्हाए कमसो, कुक्कुडपोया दुवे जाया ॥ १०१ ॥
तेसि पिच्छाइ चद-चंदिमा धवलयाइं जायाइं ।
चूला य समुब्भूया, सुयमुहगुंजद्धरागसमा ॥१०२॥
कइयावि कालनाम—णतलवरेण इमे निएऊण ।
उवणीया खिल्लणयं, ति काउ गुणहरनरिंदस्स ॥१०३॥
भणियं निवेण तलवर, जत्थ अहं जामि तत्थ तुमए वि ।
एए सह आणेया, इमा वि पच्चाह एव त्ति ॥१०४॥
महुसमयंमि पयट्टे, अनेउरसंजुओ निवो पत्तो ।
कुसुमायरआरामे, कुक्कुडए गहियकालो वि ॥१०५॥
तत्थ य कयलीहरम—ज्झ माहवीमंड ' ठिओ राया ।
कालो असोयविही-इ तत्थ पिच्छेइ मुणिपवरं ॥१०६॥
सो तेण भावसहियं, ति वंदिओ तस्स मुणिवरेणावि ।
दिन्नो य धम्मलाभो, संपाडियसयलसुहलाभो ॥१०७॥
तं दट्ठु पगइउवसं-तकतरूवं पसन्नसहवयणं ।
हिट्ठो भणइ तलारो, भयवं ! को तुज्झ धम्मु त्ति ॥१०८॥
साहइ मुणी महायस, असेससत्ताण रक्खणं सययं ।
इक्कु च्चिय इह धम्मो, ओहेण विभागओ उ इमो ॥१०६॥

तथाहि—

जीवदय सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सया बंभं ।
सयलपरिग्गहचाओ, विवज्जणं रयणिभत्तस्स ॥११०॥
बायालीसेसणदो-ससुद्धपिंडस्स भोयणं विहिणा ।
अप्पडिवद्धविहारो, सारो धम्मो इय जईणं ॥१११॥
जंपेइ तलवरो पुण, गिहत्थधम्मो कहेसु मे भयवं ! ।
परउवयारिक्कमणो, मुणीवि जंपइ तओ एवं ॥११२॥
अरिहं देवो गुरुणो, सुसाहुणो जिणमयं मह पमाणं ।
इय सम्मत्तपुरस्सर—मिमाइँ बारस वयाइँ इह. ॥११३॥
संकप्पनिरवराहा, दुहा तिहा तस जिया न हंतव्वा ।
कन्नालिआइ पमुहं, थूलमलीयं न वत्तव्वं. ॥११४॥
खत्तखणणाइचोरं, कारकरमदिन्नय न घेत्तव्वं ।
परदारपरीहारो, अहवावि सदारसंतोसो. ॥११५॥
धणधन्नाइपरिग्गह—परिमाणं माणवेहिं कायव्वं ।
किच्चो सयलदिसासु, अवही अवहीरिउं लोहं. ॥११६॥
महुमसाईचाया. कायव्वा विगइपमुहपरिसंखा ।
जहसत्तिऽणत्थदंडो, वज्जेयव्वो अइपयंडो, ॥११७॥
समभावो सामइयं, खणिएण तं सयावि कायव्वं ।
देसावगासियं पुण, सयलवयाणं पि संखिवणं. ॥११८॥
देसे सव्वे य दुहा, ससत्ति पोसहवयं विहेयव्वं ।
साहूण सुद्धदाणं, भत्तीए संविभागवयं . ॥११६॥
एयं दुवालसविहं , गिहिधम्मं पाणिणो विहियविहिणा ।
कमसो विसोहियं क-म्मकयवर जंति परमपयं, ॥१२०॥
तं सोउ भणइ कालो, भयवं ! एयं करेमि गिहिधम्मं ।
किंतु कमागयमेयं, हिंसं सक्केमि नो चइउं ॥१२१॥
वागरइ तओ साहू, जइ एयं नो चयसि भो भद्द ! ।
इय कुकुड मिहुण पिव, तो लहिसि भवे अणत्थभरं ॥१२२॥
सो आह कहमिमेहिं, जीववह अचइउ दुह पत्तं ।
तो मूलाओ कहिया, मुणिणा तेसिं भवा एव ॥१२३॥
सुयजणणी सिहिसाणा, पसयअही मीणसुसुमारा य ।
मेसछगली य मेसय-महिसा कुक्कुडजुग जाव ॥१२४॥
तेसिं निसुणिय अणणिय, दुहदंदोलि विसुद्धसंवेगो ।
पभणइ भत्तीए द-ढयासिओ वासिओ हियए ॥१२५॥
भयवं ! म नित्थारसु, इमाउ भवभीमकूवकुहराओ ।
गिहिधम्मवरत्ताए, निप्पन्नाए गुणगणेहिं ॥ १२६ ॥
तो साहुणा तलवरो, सावयधम्मस्स भायणं विहिओ ।
पञ्चपरमिट्ठिमंतं, निब्भंतं तहय सिक्खविओ ॥ १२७ ॥
अह तेहिं कुक्कुडेहि वि, तं मुणिवयणं फुडं सुणेहिं ।
पत्तं जाईसरणं, तहेव गिहिधम्मवररयणं ॥ १२८ ॥
अइनिव्वेयपरेहिं, संविग्गमणेहि हरिसविवसेहिं ।
महया महया सद्दे-ण कूइयं तं सुयं रन्ना ॥ १२६ ॥
उअ मह सरवेहित्तं, जयावलिं निययदेविमियं भणिउं ।
नरवइणा इगइ सुणा, ते दोवि हया गया निहणं ॥ १३० ॥
गब्भे जयावलीए, पुत्तत्ताए सुरिंददत्तजिओ ।
तेसु ववन्नो एगो, बीओ पुण पुत्तिभाविए ॥ १३१ ॥
गब्भणुभावा देवी, हिंसापरिणामविरहिया सुहिया ।
जिणपवयणसवणमई, सजाया अभयदाणरुई ॥ १३२ ॥
नीसेसजीवअभय—प्पणपउणो य डोहलो तीसे ।
नयरे पयडेउ अमा-रि घोसणं पूरिओ रन्ना ॥ १३३ ॥
कालक्कमेण देवी, पसवेइ जुगलिणि व्व भरजुगलं ।
तो कारविय नयरे निवेण वद्धावणं गरुयं ॥ १३४ ॥
अह बारसंमि दिवसे ठवियं कुमरस्स अभयरुइ नामं ।
कुमरीए अभयमई, त्ति दोवि वड्ढंति सुहसुहओ ॥१३५॥
निम्मलकलाकलावा, कमेण जुव्वणमणुत्तरं पत्ता ।
ता हट्ठतुट्ठचित्ते-ण राइणा चिंतियं एवं ॥१३६॥
सामंताइसमक्खं, जुवरज्जपए ठवेमि कुमरमहं ।
कुमरीइ रूवविजिया-ऽमरीइ कारेमि वीवाहं ॥१३७॥
इय चिंतिऊण पत्तो, पारद्धिकए भिराममारामे ।
छिक्को य सुरहिपवणे-ण पिच्छए सयलदिसिचक्कं ॥१३८॥
ता तत्थ तिलयतरुवर-तलंमि कणगगिरि व्व निक्कंपो ।
नासग्गनिहियनयणो, सुदत्तनामा मुणी दिट्ठो ॥१३६॥
हा अवसउणु त्ति एयं चिंतंतो कुविएण भूमिनाहेण ।
मुणिवरकयत्थणत्थं, छुच्छुक्कियमंडला मुक्का ॥ १४० ॥

अइतिक्खदंतदाढा, उग्गाढा हरिणपवणजइणगई ।
लक्षकमाणजीहा, ते पत्ता मुणिसमीवंमि ॥१४१॥
जलियजलण व तवसा, दित्तं तं दट्ठु निप्पहा जाया ।
साणा ओसहिभरभ-ग्गउग्गरला विसहरु व्व ॥१४२॥
काउं पयाहिणतियं, अणुप्पमाहप्पओ मुणिवरस्स ।
चरणे पडिय महियलं-मिलंतमउलि सुणयवंदं ॥१४३॥
तं दट्ठु विलयचित्तो, चिंतइ राया वर इमे सुणया ।
न उण अह जो अकुसल-कारी एयस्स वि मुणिस्स ॥१४४॥
अह निवइबालमित्तो, सिट्ठिसुओ नामओ अरिहमित्तो ।
जिणमुणिपवयणभत्तो, मुणिनमणत्थं तहिं पत्तो ॥१४५॥
नाओ य तेण मुणिवर, उवसग्गपरो निवस्सऽभिप्पाओ ।
भणिय च देव ! किमिणं, सविसायं आह राया वि ॥१४६॥
भो मित्त ! अलाहि मम, चरिएण पुरिससारमेयस्स ।
इयरो वि भणइ मा दे-व ! एरिसं वयणमुल्लवसु ॥१४७॥
सहु ओयरसु तुरंगा, भयवंत वंदिमो सुदत्तमुणिं ।
सुवणच्छरियं चरिय, इमस्स किं देव ! न सुयं ते ॥१४८॥
अह संभंतेण निवे-ण पभणिय कहसु कहसु भो मित्त ! ।
सुपुरिस कहावि जा पा-व तिमिरहणणिक्कसूरपहा ॥१४९॥
जंपेइ अरिहमित्तो, कलिंगपहुअमरदत्तनरवइणो ।
पुत्तो आसि सुदत्तो,राया नायावदायमई ॥१५०॥
तस्स य कयावि चोरो, उवणीओ तलवरेण भणिय च ।
देव ! इमो वहनर , वावाइय मुसिय अमुगगिह ॥ १५१ ॥
मणिकणगरयणधणजा-य माइ बहु गिण्हिउं च गच्छंतो ।
अम्हेहि अज्ज पत्तो, संपइ देवो पमाण ति ॥ १५२ ॥
तो धम्मसत्थपाठी, अवराह कहियं पुच्छिया रन्ना ।
एयस्स को णु दंडो, तेहि वि एव समुल्लविय ॥ १५३ ॥
करचरणनयणप्पण , पुव्वमिमो अरिहए वहं च्चय ।
तं सोउ चिंतइ निवो, धिरत्थु एयस्स रज्जस्स ॥ १५४ ।
जीववह-अलियभासण-अदिन्नगिण्हण-अबंभचेराइ ।
आसवद्दारा दारा, व कुगइणो जत्थ वट्टंति ॥ १५५ ॥
रज्जे तओ सुदत्तो, ठविउ आणंद नामजामेय ।
पासे सुहम्मगुरुणो, दिक्ख गिण्हइ इमो साहू ॥ १५६ ॥
अह उत्तरियं तुरिय , तुरयाओ हरिसिओ महीनाहो ।
नमइ मुणिंदं तेणवि , दिन्नो से धम्मलाभु त्ति ॥ १५७ ॥
तं दट्ठु साहुरूव तव्वयण सवणसुहयरं सुणिउ ।
लज्जाभरोणयमुहो, अणुतावा चिंतइ नरिंदो ॥ १५८ ॥
कहकहमि नत्थि सुद्धी,रिसिघायणघवासियस्स इह मज्झ ।
इमिणा असिणा ता लहु,लुणामि कमल व नियमउलिं ॥१५९॥
इय झायंतो वुत्तो , मुणिणा मणनाणिणा महाराया ।
चिंताइ अलभिणीए, ज आयवहो वि पाउसिद्धो ॥ १६० ॥

आह च—

भाविय जिणवयणाण , ममत्तरहियाण नत्थि उ विसेसो ।
अप्पाणमि परमि य, तो वज्जे पीडमुभओ वि ॥ १६१ ॥
नय अन्नं पावकलं-क पंकपक्खालणक्खमं राय !
जिणवरपणीयपवयण-वयणाणुट्ठाणचारि विणा ॥ १६२ ॥
अह हिययगयरभिप्पा-यं कहणओ रंजिओ भिस राया ।
हरिसंसुपुन्ननयणो, नमिउं विन्नवइ मुणिपवरं ॥ १६३ ॥
भयव ! किं पच्छित्तं इमस्स पावस्स घायणसमत्थ ।
मुणि आह नियामविर-ज्जणेण पडिक्कमणआसेवा ॥ १६४ ॥
इत्थ नियाणं मिच्छ-त्तसंगयं पावहेउ अन्नाणं ।
तं चयह ठियाण, भावाण, अन्नहा गहणं ॥ १६५ ॥
तुमए वि चिंतिय निव ! अवमउणं समणओ इमो दिट्ठो ।
अवसउणत्ते य इमं, निमित्तमज्झवसिय भद्द ! ॥ १६६ ॥
जह किर एसो विकए, मलमइलतणू सिणाणपरिवज्जी ।
सोयायारविमुक्को , परघरभिक्खोवजीवि त्ति ॥ १६७ ॥
ता मज्झत्थो होउ, खणमेगं मालवेस ! निसुणेसु ।
मलमलिणत्तं मइल-त्त कारणं नो जओ भणिय ॥ १६८ ॥
ध० र० ।

किंच—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा,
सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !,
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥ * ॥

अक्खडियवयनियमा , गुत्ता गुत्तिंदिया जियकसाया ।
अइ सुद्ध बंभचेरा सुइणो इसिणो सया नेया ।१७२।ध०र०
सत्यं शौचं तपः शौचं , शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम् ॥ १७६ ॥
आरंभनियतस्स य, अप्पडिवद्धस्स उभयलोए वि ।
भिक्खोवज्जीविगत्तं , पसंसियं सव्वसत्थेसु ॥ १७७ ॥

उक्तं च—

अवधूतां च पूतां च , मूर्खाद्यैः परिनिन्दिताम् ।
चरेन्माधुकरीं वृत्तिं , सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ १७८ ॥
चरेन्माधुकरीं वृत्ति-मपि म्लेच्छकुलादपि ।
एकान्त नैव भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि ॥ १७९ ॥
एवं च गुणग्घविय, तियसाण वि मगलं समणरूवं ।
गुणहर नरनाह ! कह, अवसउणत्तेण ते गहिय ॥ १८० ॥
एमाइ सुणिय राया, अइहिट्ठो नट्ठदुट्ठमिच्छत्तो ।
मुणिनाहं पयलग्गो, खमावए नियअमवराह ॥ १८१ ॥
भणइ मुणी वि नरेसर, इहहमित्तेण सभमेण कयं ।
नणु खमिय चेव मए, खंति च्चिय ज समणधम्मो ॥ १८२ ॥
नत्थिहु मुणिवरनाण-स्स अविसओ इय विचिंतिउ रन्ना ।
तायस्स अज्जियाए, गइविसेस मुणी पुट्ठो ॥ १८३ ॥
मुणिणा वि पिट्ठकुक्कुड, वहमूला तेसि सयलवुत्तंतो ।
कहिओ जयावलीग-न्भ संभवावच्चपेरन्तो ॥ १८४ ॥
तो चिंतिय निवइणा, अहह अहो महिलियाण कूरत्तं ।
ही मोहस्स गुरुत्तं, भवस्स धि कुच्छणीयत्त ॥ १८५ ॥
जइ संति निमित्तं पि हु विहिओ पिट्ठमयकुक्कुडवहो वि ।
तायज्जियाण जाओ, एवविहदारुणविवागो ॥ १८६ ॥
ता अहयं किह होइ, निरत्थय जेण जियन्निया वहिया ।
अइकोहलोहमोहा, ऽभिभूयचित्तेण निच्च पि ॥ १८७ ॥
ता नूणं गतव्वं, सरसरलेण पहेण नरयमि ।
नत्थि हु इत्थ उवाओ, अहवा पुच्छामि भयवंतं ॥ १८८ ॥
अह मुणिउ निवहिययं, आह मुणी सुणसु नरवर ! उवाय ।
मणवयणतणुविसुद्धा, जिणिंदसद्धम्मपडिवत्ती ॥ १८९ ॥
मित्ती पमोय करुणा, मज्झत्थ सव्वयावि कायव्वं ।
नीसेसजियगुणाहिय, किलिस्समाणा विणीएसु ॥ १९० ॥
एव काउ सम्म, परिपालियनिरइयारवयनियमा ।

निट्ठवियअट्ठकम्मा, परमपयं जंति अचिरेण ॥ १६१ ॥
अह तुट्ठो भणइ निवो,भयवं ! अहमवि वयस्स किं उचिओ ?।
वागरइ गुरू नरवर !, अन्नो को नाम उचिउ त्ति ॥ १६२ ॥
तो रन्ना नियपुरिसा. वुत्ता भो भो कहेह मंतीण।
जह देवाणुपिएहिं, कुमरो रज्जे भिसित्तव्वो ॥ १६३ ॥
नय कायव्वो खेओ, गहेमि दिक्खं सुदत्तगुरुपासे।
तेहिं वि तहेव कहियं. गंतूण मंतिपमुहाण ॥ १६४ ॥
ते संभता सव्वे, अंतेउरिआउ कुमरकुमरीओ।
सेसो परियणलोओ, तत्थ. ऽऽरामे लहु पत्तो ॥ १६५ ॥
मेइणितलासणत्थ, विच्छड्डियछत्तचामराडोवं।
कहकहवि निवं नाउ, सगग्गय ते भणंति इम ॥ १६६ ॥
गयडाढु व्व भुयगो, वारीछूढ व्व मत्तमायंगो।
सीहो व्व पजरगओ, किं झायसि रज्जभट्ठु व्व ॥ १६७ ॥
तो रन्ना सव्वेसिं, मुणिवयण साहिय निरवसेसं।
तं सुणिय जाइसरण. संजायं कुमरकुमरीणं ॥ १६८ ॥
संवेगभाविएहिं, भवउव्विग्गेहि तेहि उन्नवियं।
ताय ! अलं अम्हाणं, भोगेहिं भोगिभीमेहिं ॥ १६६ ॥
गिण्हिस्सामो अम्हे, वि तायपाएहि सह समणभाव।
पडिभणिय नरवइणा, मा पडिबंध कुणह वच्छ ! ॥ २०० ॥
तो विजयवम्मनियभा-इणिज्ज कुमरं ठवित्तु रज्जभरं।
जिणनाहचेइएसुं, काउ अट्ठाहियामहिम ॥ २०१ ॥
कइवयअंतेउरपु-त्तपुत्तिसामंतमंतिमाइजुओ।
गिण्हइ सुदत्तगुरुणो, पासे गुणहरनिवो दिक्खं ॥ २०२ ॥
कारुण्णपुण्णसुपुलेयं, विन्नत्तो कुमर साहुणा सूरी।
नयणावलिं पि भयवं !, नित्थारसु भवसमुद्दाओ ॥ २०३ ॥
भणइ गुरू करुणायर !, सा संपइ कुट्ठवाहिविहुरतणू।
अच्छिन्नमच्छिया जा-ल परिगया लोयपरिभूया ॥२०४॥
पइखणफुरतदह-उज्झाणवसा बद्धतइयनरगाऊ।
अइदीहरसंसारा, धम्मस्सुचिया न थेवं पि ॥ २०५ ॥
तो गुरुवेरग्गगओ, चरणं पालितु अभयरुइसाहू।
सह अभयमई समणी, जाया देवा सहस्सारे ॥ २०६ ॥
इत्थेव भरहखित्ते, खित्ते इव करिसएहि कयसोहे।
संकेयनिकेय वर, सिरीइ पुरमत्थि साएयं ॥२०७॥
विणयधरो धरो इव, सुपइट्ठो सफलओ निवो तत्थ।
लच्छिमई तस्स पिया, पियामहस्सेव सावित्ती ॥२०८॥
अह सो भयरुइजीवो, तत्तो चविऊण नीइ उयरंमि।
मुत्तामणि व्व सुत्ती, पुंडसु चित्तो समुप्पन्नो ॥ २०६ ॥
पडिपुन्नेसु दिणेसु, ससुमिण पिसुणियसुपुन्नपब्भारं।
सा पसवइ मलयमहि, व्व चदणं नंदण परम ॥२१०॥
नाऊण इमं राया, पियवयादासचेडिवयणाओ।
कारेइ हट्ठतुट्ठो, नयरे वद्धावण एवं ॥ २११ ॥

तथाहि—

मुच्चंति झत्ति पुरगुत्तियाइं, दाणाइं महति पवत्तियाइं।
निरुवम किज्जइ हट्टसोहं,नच्चति पउर पाउल अखोहं ।२१२।
आवंतिबहुयजण अक्खवत्त,गायंति कुलवहु कमलनेत्त।
तहि पडहिं नगारिय भट्ट चट्ट दीणंनि ठाणठाणमि नट्ट २१३
बज्झति हु घरि घरि तोरणाइं.
सोहिज्जइ वररत्थामुहाइं।
उज्झिज्जइ जूवहमुसलसहस्स,
ठाविज्जहि कचणपुन्न कलस ॥ २१४ ॥
एवं भूमिप्पहु जम्म महामहु,
कारिय दस दिवसइ नयरि।
तउ कुमर मणोहरु नामु,
जसोहरू संठावइ अइहरिसभरि ॥ २१५ ॥
सो वट्टंतो नवनव, कलाहि नवससहरु व्व पइदिवसं।
जाओ य जुव्वणत्थो,जसधवलियसयलदिसिवलओ॥२१६॥
अह अत्थि कुसुमनयरे,ईसाणो इव 'तिसत्तिपरिकलिओ।
ईसाणसेण राया, विजया नामेण से देवी ॥२१७॥
सो अभयमई जीवो, सग्गाओ चविय तीइ उयरंमि।
वरधूया संजाया, विणयवई नाम विक्खाया ॥ २१८ ॥
पत्ता य तरुणभावं, सयवरा पेसिया नरिंदेण।
बहुभडचडगरसहिया, कुमरस्स जसोहरस्स इमं ॥२१६॥
विणयंधरस्स रन्नो, य बहुमए नयरबाहिरुज्जाणे।
आवासिया य एसा, विवाहदिवसे य अह पत्ते ॥२२० ॥
लच्छिवई पमुहेहिं, कुमरो मणिरयणकणयकलसेहिं।
मज्जाविओ विलेवण, वत्थाहरणेहि लंकरिओ ॥२२१॥
आरोविओ गइंद, वीरज्जंतो य चारुचमरेहिं।
सिरधरियधवलछत्त. थुव्वंतो मागहजणेण ॥ २२२ ॥
सिंधुरखंधगएणं, अणुगम्मंतो निवाइलो एण।
पइदिसि वि सद्दगह तुरि-य घट्टकलिओ य जा जाइ ।२२३
ता फुरियरुइरदाहिण-नयणेण जसोहरेण कुमरेण।
कल्लाणसिज्जिभवणे,कल्लाणगिरिं मुणी दिट्ठो ॥ २२४ ॥
मन्ने परिसरूव, कत्थ वि मे दिट्ठपुव्वय ति इमो।
ईहापोहगयमणो, स मुच्छिओ हत्थिखंधमि ॥२२५॥
धरिओ य निवडमाणो, पासट्ठियरामभद्दसिंहेण।
किं किं ति जंपमाणा, निवाइणो वि य तहिं पत्ता ॥२२६॥
चंदनजलपवणपव-णयाए पउणीकओ कुमारवरो।
कुमरियजाइ पुट्ठो, रन्ना ! किं वच्छ ! एय ति ॥२२७॥

कुमारः—

ताय अइगहिर संसा-र विलसियं दारुण इमं एवं।

राजा—

को इत्थ अवसरो भव-विलासियचिंताइ ते वच्छ ! ॥२२८॥

कुमार.—

एसा कहा महंती, ता ताय ! कहिं पि एगदेसंमि।
उवविसह जेण एवं, कहेमि सयलं नियंयचरियं ॥२२६॥
रन्नावि तहेव कए, कुमरो साहइ सुरिंददत्तभवा।
आरब्भ पिट्ठकुक्कुड-वहजणियकिलेसभरविरस ॥२३०॥
नियवुत्ततं जाइ, सुमरणपज्जतय तय सुणिउ।
भणइ निवाइजणो कह, विरसो जियवहविगप्पो वि ॥२३१॥
तो कयअंजलिवधो, कुमरो जपइ पसीय मह ताय !।
अणुमन्नसु चारित्तं, तरेमि जेण भवसमुद्दं ॥२३२॥
पुत्त ! अइनेहमोहिय-मई नरिंदो कहिं पि जा कुमर।
न विसज्जइ ता इमिणा, महुरसरं विन्नवियमेयं ॥२३३॥
संसारो दुहहेउ, दुक्खफलो दुसह दुक्खरूवो य।
नेहनियलेहि बद्धा, न चयति तहावि त जीवा, ॥२३४॥
जह न तरइ आरुहिउं, पके खुत्तो करी थल कह वि
तह नेहपंकखुत्तो, जीवो नारुहइ धम्मथलं ॥२३५॥
छिज्ज मोस मलणं, बंध निप्पीलणं च लोयंमि।

जीवा तिला य पिच्छइ, पावंति सिणेहपडिबद्धा ॥२३६॥
दूरुज्झियमज्जाया, धम्मविरुद्धं च कुलविरुद्धं च।
किमकज्जं ज जीवा, न कुणंति सिणेहपडिबद्धा ॥२३७॥
थेवोवि जाव नेहो, जीवाणं ताव निव्वुई कत्तो।
नेहक्खयंमि पावइ, पिच्छ पईवोवि निव्वाणं ॥२३८॥
इय सोउं निवो जंपइ, एवमिणं किंतु वच्छ ! अइसच्छ।
ईसाणदायधूया, एसा कह होहिहि वराई ॥२३९॥
कुमरो भणइ इमा वि हु, साविज्जइ एस वइयरो ताय।
मोऊण इम सम्मं, कयावि बुज्झिज्ज जिणधम्मं ॥२४०॥
जुत्तं इम ति रन्ना, पुरोहिओ संखवद्धणो नाम।
पट्ठविओ तत्थ यं, सवंध कहसु कुमरीए ॥२४१॥
सो वि हु गंतूण खणे-ण आगओ भणइ निवकुमारस्स।
सिद्धा मणोरहा किह निवेण पुट्ठो इमो आह ॥२४२॥
देव ! इओ हं पत्तो, तत्थेवं पभणिया मए कुमारी।
एगमणा होउ खणं, देवाएसं सुणसु भद्दे ? ॥२४३॥
नीरंगीपिहियमुही, कयजली वत्तआसणा सावि।
आइससु त्ति भणंति, पयंपिया मे निवइपुत्ती ॥२४४॥
इह इंतस्स कुमार-स्स, साहुदंसणवसेण अज्जेव।
जायं जाईसरणं, संभरिय पुव्वभवनवग ॥२४५॥

तथाहि—

आसि विसालाइ निवो, सुरिंददत्तो जसोहरापुत्तो॥
सुत्ते इत्तियमित्ते, वि झत्ति मुच्छंगया कुमरी ॥२४६॥
खणमित्तेणं संप-त्तचेयणा जंपिया मया एसा।
किमिय ति तीइ वुत्त, जसोहरा भद्द ! इ चेव ॥२४७॥
ता कुमरेण व सव्व, कहिऊणं जंपिय इम तीए।
बीयाहेण अल म, ज रुच्चइ कुणउ तं कुमरो ॥२४८॥
इं सुणिय आगओ हं, एव कहिए पुरोहिएण निवो।
संठवइ लहु पुत्त, मणोरह नाम निवरज्जे ॥२४९॥
कुमर जसोहर साम-त मंतिअंतेउरेण परियरिओ।
सिरिइंदभूइगणहर-पासे दिक्खं पवज्जेइ ॥ २५० ॥
अह सो जसोहरमुणी, छज्जीवनिकायपालणुज्जुत्तो।
दुद्धरतवचरणजल—न जलणनिद्दड्ढियदुरियदुमो ॥ २५१ ॥
गुरुपायपसाय विसु-द्ध सुद्धसिद्धंतसारसव्वस्सो।
सव्वस्सोयविमुक्को, उक्कोसचरित्तसुपवित्तो ॥ २५२ ॥
संपत्तायरियपओ, पओोसगहिओ हिओवएसेहिं।
नित्थारियभवियजण, उप्पाडियकेवल नाणं ॥ २५३ ॥
दुट्ठट्ठमूलपगई, उत्तरपगईण अट्ठवन्नसयं।
खविउ निट्ठवियदुट्ठो, पत्तो अयरामरं ठाणं ॥ २५४ ॥
विणयवई वि हु सव्वं, जणणाईणं कहेवि नियचरियं।
संबुद्धा पव्वइया, सुगईए भायणं जाया ॥ २५५ ॥
एव तु खपरंपरामसुमत संकल्पितस्यापि मोः,
आरम्भेण यशोधरस्स सततं श्रुत्वा पुराजन्मसु।
दु खध्वंसकरीं भवार्णवतरीं सद्धर्मधासस्तुरीं,
नित्यं जीवदयां दृनाखिलभयां भव्या विधत्ताऽऽदयाम् २५६ "
ध० र०।

सुरिंध—सुगंध—पुं०। देशविशेषे, प्रा० २ पाद।

सुरूया—सुरूपा—स्त्री०। मध्यमरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, आ० म० १ अ०।

सुरूव—सुरूप—त्रि०। सुविभक्तावयवत्वात्सुरुदेहे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। चं० प्र०। उत्त०। शोभनं रूपं येषान्ते सुरूपाः। अत्यन्तकमनीयरूपेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। शोभनं—रूपमाकारो यस्य सः। रा०। शोभनमतिशायि रूपमङ्गप्रत्यङ्गावयवसंनिवेशविशेषो यस्य स सुरूपः। सू० प्र० २० पाहु०। शोभनाकारे, विपा० २ श्रु० १ अ०। "एगे सुरूवे" मनोज्ञरूपे, स्था० १ ठा०। दाक्षिणात्यानां भूतानामिन्द्रे, प्रज्ञा० १ पद०। विशिष्टाङ्गावयवसंनिवेशसौन्दर्ये, नपुं०। षो० ७ विव०।

सुरूवा—सुरूपा—स्त्री०। शोभनरूपायां स्त्रियाम्, स०। स्था०। यशोधतस्तृतीयस्य कुलकरस्य पत्न्याम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०। ति०। सुरूपप्रतिरूपयोर्भूतेन्द्रयोरग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। भूतानन्दस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। (पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे।) मध्यमरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्ष०। द्वी०। स्था०। आ० म०।

सुलट्ठ—सुलष्ट—त्रि०। सर्वैः प्रकारैः शोभने, उत्त० १ अ० पा०। सुन्दरे, दश० ७ अ०।

सुलद्ध—सुलब्ध—त्रि०। सुखेन प्राप्ते, "तुज्झं सुलब्धं खु मणुस्सजम्मं।" उत्त० ११ अ०।

सुलद्धिय—सुलब्धिक—त्रि०। अनेकलब्धिसम्पन्ने, व्य० १ उ०।

सुलभ—सुलभ—त्रि०। सुप्रापे, स्था०।

छट्ठाणाइं सव्वजीवाणं णो सुलभाइं भवंति। तं जहा—माणुस्सए भवे आयरिए खित्ते जम्मं सुकुले पच्चायाति केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स सवणया सुयस्स वा सद्दहणया सद्दहियस्स वा पत्तियस्स वा रोइयस्स वा सम्मं काएण फासणया। (सू० ४८५ ×)

'छट्ठाणाइं' त्यादि, षट् स्थानानि—षट् वस्तूनि सर्वजीवानां 'नो' नैव सुलभानि—सुप्रापाणि भवन्ति, कृच्छ्रलभ्यानीत्यर्थो, न पुनरलभ्यानि, केषाञ्चिज्जीवानां तल्लाभोपलम्भादिति, तद्यथा—मानुष्यको—मनुष्यसम्बन्धी भवो—जन्म स नो सुलभ इति प्रक्रमः, आह च—" ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम्। मानुष्यं खद्योतकतडिल्लता-विलसितप्रतिमम् ॥ १ ॥" इति, एवमार्यक्षेत्रे अर्द्धषड्विंशतिजनपदरूपे जन्म—उत्पत्तिः, इहाप्युक्तम्—' सत्यपि च मानुषत्वे, दुर्लभतरमार्यभूमिसम्भवनम्। यस्मिन् धर्माचरणप्रवणत्वं प्राप्नुयात् प्राणी ॥१॥" इति, तथा सुकुले-इक्ष्वाका-(क्वा)दिके प्रत्यायाति—जन्मनो सुलभमिति, अत्राभिहितम्—"आर्यक्षेत्रोत्पत्तौ, सत्यमपि सत्कुलं न सुलभं स्यात्। सच्चरणगुणमणीनां, पात्रं प्राणी भवति यत्र ॥१॥" स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सुलभबोहिय—सुलभबोधिक—त्रि०। सुलभा बोधिर्भवान्तरे जिनधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिकः। रा०। सुखेन जिनधर्मे प्राप्ते, स्था०। ग०। प्रति०। रा०।

दुविहा णेरइया पन्नत्ता, तं जहा—सुलभबोहिया चेव,

दुल्लभबोहिया चेव ० जाव वेमाणिया । (सू० ७६ ×) स्था० २ ठा० २ उ० ।

सुलभभिक्ख–सुलभभिक्ष–त्रि० । सुलभा भिक्षा यत्र तत् । सुखेन भिक्षालाभस्थाने , व्य० ४ उ० ।

सुललिय–सुललित–न० । स्वरघोलनाप्रकारेण शुद्धातिशयेन ललतीव यत्सुकुमाले तत् सुललितम् । गेयगुणभेदे , रा० ।

सुलस–सुलस–पुं० । कालसौकरिकसुते, आ० क० ४ अ० । आ० चू० । आव० । भोगपुरराजस्य वरुणस्य पुत्रे , ध० २ अधि० । (अस्य 'वरुण' शब्दे षष्ठभागे कथा गता ।) कौसुम्भवस्त्रे, दे० ना० ८ वर्ग ३७ गाथा ।

सुलसद्दह–सुलसद्रह–पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे देवकुरुषु स्वनामख्याते ह्रदे , स्था० ५ ठा० २ उ० ।

सुलसा–सुलसा–स्त्री० श्रेणिकरथिकस्य नागस्य भार्यायाम्, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । आ० म० । कल्प० । ('गजसुकुमाल' शब्दे तृतीयभागे ८४३ पृष्ठे कथा ।) सुलसाया जीव वन्दे—पञ्चदशं निर्ममम् । प्रव० ४ द्वार । सुलसा षोडशस्तीर्थकरो भविष्यति । स० । भद्दिलपुरवास्तव्यस्य नागस्य गृहपतेर्भार्यायामनीकशकुमारमातरि , अन्त० । सुलसा श्राविका—सुलसा राजगृहे प्रसेनजितो राज्ञः संबन्धिनो नागाभिधानस्य रथिकस्य भार्या बभूव । यस्या-श्चरितमेवमनुश्रूयते किल तया पुत्रार्थं स्वपतिरिन्द्रादीनमस्यन्नभिहितोऽन्यां परिणयेति,स च यस्तव पुत्रस्तेनेह प्रिये! प्रयोजनमिति भणित्वा न तत्प्रतिपन्नवान् , इतश्च तस्याः शक्रालये सम्यक्त्वप्रशंसा श्रुत्वा तत्परीक्षार्थं कोऽपि देवः साधुरूपेणागतस्तं च वन्दित्वा बभाण-किमागमनप्रयोजनम् , देवोऽवादीत्-' तव गृहे लक्षपाक तैलमस्ति तच्च मे वैद्येनोपदिष्टमिति, ददीयतां ददामीत्यभिगता गृहमध्ये, अवतारयन्त्याश्च भिन्नं देवेन तद्भाजनमेवं द्वितीयं तृतीयं चैवमखेदा दृष्ट्वा तुष्टो देवो द्वात्रिंशत च गुटिका ददावेकैका खादेद्वात्रिंशत् ते सुता भविष्यन्ति, प्रयोजनान्तरं चाह स्मर्त्तव्य इत्यभिधाय गतोऽसौ, चिन्तितं चानया सर्वाभिरपि एक एव मे पुत्रो भूयादिति, सर्वाः पीता आहूता द्वात्रिंशत् पुत्राः वर्द्धन्ते स्म जठरमगतिश्च ततः कायोत्सर्गमकरोदागतो देवो निवेदितो व्यतिकरो विहितो महोपकारो जातो लक्षणवत्पुत्रगण इत्यादि । स्था०९ठा०३ उ० । आव० । (अग्रे च कथाखण्ड 'सेणिय' शब्दे वक्ष्यते ।) (सा ह्यम्बडपरिव्राजकसमृद्धौ उपलभ्यापि न सम्मोह गता इति 'अंबड' शब्दे प्रथमभागे ११२ पृष्ठेऽभ्युक्तम् ।)

सुलसुलायंतमं(सपुड)सोड–सुलसुलायमानमांसपुट–त्रि० । सुलसुलभूत मांसपुटं क्षरति, तं० ।

सुलिट्ठ–सुश्लिष्ट–त्रि० । संबद्धे, जं०१ वक्ष० । सुघटने, औ० ।

सुली–देशी–उल्कायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ३६ गाथा ।

सुलूहजीवि(ण्)–सुरूक्षजीविन्–पुं० । सुष्ठु रूक्षमन्तप्रान्तं ब्रह्मचर्यकादि तेन जीवितुं प्राणधारणं कर्तुं शीलमस्यासौ सुरूक्षजीवी । अन्तप्रान्ताहारभक्षिणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सुलोयणा–सुलोचना–स्त्री० । सुनयनायाम् , मानपिण्डे उदाहृतस्य गुणचन्द्राभिधानस्य कौटुम्बिकस्य गृहिण्याम् ,पि० । वासवनृपतेर्दुहितरि , ध० र० १ अधि० ।

सुवइर–सुवज्र–न० । षष्ठदेवलोकविमानभेदे, स० १३ सम० ।

सुवंत–स्वपत्–त्रि० । शयाने, सू० २ उ० ।

सुवग्गु–सुवल्गु–पुं० । मन्दरस्य पश्चिमायां शीतोदाया महानद्या उत्तरचक्रवर्त्तिविजयक्षेत्रयुगले, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सुवल्गुर्विजयः खड्गपुरीराजधानीगम्भीरमालिनी अन्तर्नदी । जं० ४ वक्ष० ।

दो सुवग्गू । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुवच्छ–सुवत्स–पुं० । कुण्डलाख्यनगरीयुक्तविजयक्षेत्रयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ० । जम्बूमन्दरपूर्वे शीताया महानद्या दक्षिणचक्रवर्त्तियुगले, स्था० ८ ठा० ३ उ० । " सुवच्छे विजए कुंडला रायहाणी तत्तजला अंतर्णई । " जं० ४ वक्ष० ।

सुवच्छा–सुवत्सा–स्त्री० । अधोलोकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । मन्दरपर्वते नन्दनवनस्य रजतकूटवर्त्तिन्या देव्याम् , स्था० ६ ठा० ३ उ० । ऊर्ध्वलोकवासिन्यां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् ,जं०५ वक्ष० । आव० । आ० म० । आ० चू० ।

सुवट्टिय–सुवर्त्तित–त्रि० । सु–अतिशयेन वर्त्तितं सुवर्त्तितम् । वर्त्तुलीकृते , तं० ।

सुवण्ण–सुवर्ण–न० । पीतकान्तिहेमनि , रा० । कनके, ध० २ अधि० । उपा० । ज्यो० । घटित हिरण्यम् , अघटितं सुवर्णं , आ० म० १ अ० । कल्प० । आव० । सूत्र० । पं० व० । प्रश्न० । मानं च काकणिरयणे, जं० । 'पडिसेवणा' शब्दे एकेन्द्रियप्रतिसेवनायां सुवर्णप्रतिसेवा, नि० चू० १ उ० । अशीतिगुञ्जाप्रमाणे कनके, भ० २ श० ५ उ० । तं० ।

अथ सुवर्णगुणानाह—

विसघाइ रसायणमं–गलत्थविणए पयाहिणावत्ते ।
गरुए अडज्झकुच्छे, अट्ठ सुवण्णे गुणा होंति ॥३२॥

विषघाति–गरलदोषहननशीलं सुवर्णं भवति रसायनमङ्गलार्थविनीत कर्मधारयपदं तत्र रसायनं वयस्तम्भनं मङ्गलार्थं मङ्गलप्रयोजन विनीतमिव विनीतं,कटककेयूरादिष्वविशेषैः परिणमनात् , तथा प्रदक्षिणावर्तमग्निनापनेन प्रदक्षिणावृत्ति । तथा गुरुकमलघुसारत्वात् अदाह्याकुत्स्यमिति कर्मधारयपदं तत्रादाह्यम्–अग्नेरदहनीय सारत्वादेव अकुत्स्यम्–अकुत्सनीयमकुथितगन्धत्वात् एवमष्टौ–सुवर्णे–हेमनि गुणा गुणाः–असाधारणधर्मा भवन्ति–स्युरिति गाथार्थः।

एतत्समानतयाऽथ साधुगुणानाह—

इय मोहविसं घायइ, सिवोवएसा रसायणं होति ।
गुणओ य मंगलत्थं,कुणति विणीओ य जोगो त्ति॥३३॥
मग्गणुसारिपयाहिण, गंभीरो गरूयओ तहा होइ ।

कोहग्गिणा अडज्झो, अकुच्छो सइ सीलभावेणं ॥२४॥
इति-एवं, सुवर्णवदित्यर्थं, मोहविष विवेकचैतन्यापहारि घातयति-नाशयति केषांचित् साधुरिति प्रक्रम, कुत ?, इत्याह-शिवोपदेशाद्-मोक्षसाधनप्ररूपणात् तथा स एव च रसायनमिव रसायन भवति-जायते शिवोपदेशादेवाजरामरत्वहेतुत्वात्, तथा गुणतश्च स्वगुणमाहात्म्येन च मङ्गलार्थ—मङ्गलप्रयोजन दुरितोपशममित्यर्थ., करोति-विधत्ते विनीतश्च प्रकृत्यैव भवत्यसौ योग्य इति कृत्वा 'मग्गणुसारि पयाहिण' त्ति-"सूचनात्सूत्रमि" ति न्यायात् मार्गानुसारित्वं सर्वत्र यत्साधोस्तत्प्रदक्षिणावर्त्तित्वमुच्यते गम्भीरोऽतुच्छचेता गुरुकको-गुरुक इत्यर्थ, तथेति समुच्चये भवति स्यात्तथा क्रोधाग्निना अदाह्यो भवत्यग्निना सुवर्णवत्, तथा अकुत्स्य सकृत्-सदा-शीलभावेन शीललक्षणसौगन्ध्यसद्भावेनेति गाथाद्वयार्थ.। पञ्चा० १४ विव०। अर्धतृतीयानि धरणानि एक सुवर्ण. सख्याविशेषे, पु०। ज्यो० २ पाहु०। षोडशकर्षमाषका एक.। सुवर्ण । स्था० ८ ठा० ३ उ०। शोभनो वर्ण. सुवर्ण । प्रतप्तचामीकरचारुदेहे, सूत्र० २ श्रु०१ अ०। सद्वर्णे,त्रि०। ज्योतिष्के भवनपतिविशेषे,पुं०।औ०। "पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" सुवर्णकुमारा.। प्रव०१६४ द्वार। उत्त०। "बावत्तरिं सुवन्नाण" स०। स्था०। आचा०।

सुपर्ण-पु०। गरुडे, उत्त० १४ अ०।

सुवण्णकार-सुवर्णकार-पुं०।सुवर्णकरणशिल्पनि,ज० ३ वक्ष०।

सुवण्णकुमार-सुवर्णकुमार-पुं०। सुपर्णा सुवर्णाः वा कुमारा इव कुमाराः सुवर्णकुमाराः। भवनवासिदेवभेदेषु,प्रज्ञा०१ पद। स्था०। (कुत्र सुवर्णकुमाराः परिवसन्तीति, 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७०५ पृष्ठे उक्तम्।)

सुवण्णकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा एवं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति। (सू० ६१२)

भ० १७ श० १४ उ०। स०। अनु०। स्था०।

सुवण्णकुमारावास-सुवर्णकुमारावास-पुं०। सुवर्णकुमाराणामावासे, स०।

बावत्तरिं सुवन्नकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता। (सू०७२×)

स० ७२ सम०। सुवर्णकुमाराणा द्विसप्ततिर्लक्षाणि भवनानि। कथम् ?, दाक्षिणनिकाये अष्टत्रिंशत् उत्तरनिकाये तु चतुस्त्रिंशदिति।

सुवण्णकूलप्पवायदह-सुवर्णकूलप्रपातह्रद-पुं०। हैरण्यवतवर्षे शिखरवर्षधरपर्वते सुवर्णकूलानदीप्रपतनह्रदे, स्था०।

एवं हेरन्नवते वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, तं जहा-बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं नातिवट्टंति आयामविक्खंभे उव्वेहसंठाणपरिणाहेणं सुवण्णकूलप्पवायद्दहे चेव रुप्पकूलप्पवायद्दहे चेव। (सू० ८८ ×)

'एवमि' त्यादि. सुवर्णकूलारूप्यकूलाप्रपातह्रदौ रोहिताशारोहित्प्रपातह्रदसमानवक्तव्यौ विशेषस्तूह्य इति। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

सुवण्णकूला सुवर्णकूला-स्त्री०।हैरण्यवतवर्षे शिखरिवर्षधरपर्वतस्य पुण्डरीके महाह्रदाद्विनिर्गच्छन्त्यां महानद्याम्, 'सुवण्णकूला महानई दाहिणेणं णेयव्वा जहा रोहियम्मा" तस्मात् (पुण्डरीकह्रदाद्)सुवर्णकूला महानदी दक्षिणेन निर्गता नेतव्या परिवारादिना च यथा रोहिनाशा सा च पश्चिमायः समुद्रं प्रविशति इयं च पूर्वस्यामित्यत आह-' पुरत्थिमे णं गच्छई" एवमुक्ताभिलापेन सुवर्णकूलाया रोहिताशानिदेशन्यायेन। जं० ४ वक्ष०। औ०। स्था०। रा०। स०। दक्षिणोत्तरवाचालयोर्मध्ये वहन्त्या नद्याम्, आ० चू० १ अ०।

सुवण्णकूलाकूड-सुवर्णकूलाकूट-न०। शिखरिवर्षधरकूटस्य चतुर्थे कूटे. जं० ३ वक्ष०। (अस्य वक्तव्यता 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२७ पृष्ठे गता।) सुवर्णकूलानदीसुरासुरके, स्था० २ ठा० ३ उ०।

सुवण्णखलय-सुवर्णखलक-पुं०।स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वीरजिनै सह विहरतस्य गोशालकस्य भग्नस्थालीदृष्टवादनियतिवादे आग्रहोऽदायि। आ० म० १ अ०।

सुवण्णगुलिया-सुवर्णगुलिका-स्त्री०। स्वनामख्यातायां रमण्याम्, नि० चू० १० उ०। प्रति०। स०। (सुवर्णगुलिकाया. कृते संग्रामोऽभूदिति 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२३८ पृष्ठे गतम्।)

सुवण्णजुत्ति-सुवर्णयुक्ति-स्त्री०। सुवर्णस्य यथोचितस्थाने विनियोजन, ज० २ वक्ष०।

सुवण्णजूहिया-सुवर्णयूथिका-स्त्री०। सुवर्णवर्णपुष्पायां यूथिकायाम्, ज० १ वक्ष०। रा०। प्रज्ञा०।

सुवण्णणंदण-सुवर्णनन्दन-पु०। भारते वर्षे चौलविषये काञ्चनस्थलनगरस्य राजनि, दर्श० ३ तत्त्व।

सुवण्णतित्थ-सुवर्णतीर्थ-न०। उज्जयन्तपर्वते स्वर्णाया नद्यास्तीरे स्वनामख्याते जलावतारे, ती० ३ कल्प।

सुवण्णतेय-सुवर्णतेजस्-पुं०। दृढशक्तिविद्याधरपुत्रे कनकमालाया भ्रातरि, उत्त० ६ अ०। ('णग्गइ'शब्दे चतुर्थभागे १७६८ पृष्ठे कथोक्ता।)

सुवण्णदार-सुवर्णद्वार-न०। सिद्धायतनानामुत्तरदिशि सुवर्णकुमाराधसभूत द्वारे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

सुवण्णपयरग-सुवर्णप्रतरक-न०। सुवर्णपत्रके, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "सुवण्णपयरमंडियाणि" सुवर्णप्रतरमण्डितानि सुवर्णप्रतरकेण सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरमण्डितानि। जी० ३ प्रति ४ अधि०। रा०।

सुवण्णपाग-सुवर्णपाक-पुं०। कनकसिद्धौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ज०।

सुवण्णयार-सुवर्णकार-त्रि०। सुवर्णसंग्रथनोपजीविनि, कुमारनन्दी सुवर्णकार। आ० म० १ अ०।

सुवण्णरेहा-सुवर्णरेखा-स्त्री०।जीर्णदुर्गसमीपे वहन्त्यां नद्याम्, ती० ४ कल्प।

सुवरणवालुया–सुवर्णवालुका–स्त्री० । दक्षिणोत्तरयोश्चावाल-जनपदयोर्मध्ये वहन्त्या नद्याम् , आ० म० १ अ० । ती० ।

सुवरणसिला–सुवर्णशिला–स्त्री० । महौषधिभेदे, ती० ६ कल्प ।

सुवरणसुत्त–सुवर्णसूत्र–न० । सुवर्णवर्णे कृमिसूत्रे, बृ० २ उ० । आचा० ।

सुवरणसुब्भरययवालुया–सुवर्णशुभ्ररजतवालुका–स्त्री० । सुवर्णं पीतकान्ति हेम, शुभ्र रूप्यविशेषः रजतं प्रतीतं तन्मय्यो वालुका यासु ताः सुवर्णशुभ्ररजतवालुकाः । नदीविशेषे, रा० ।

सुवरणागर–सुवर्णाकर–पुं० । सुवर्णखनौ, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० । यत्र सुवर्णं समाप्यते । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुवरिणअ–सौवर्णिक–पुं० । सौन्दर्यादित्वादौत उत्त्वम् । सुवर्णक्रयविक्रयकारिणि , प्रा० १ पाद ।

सुवत्त–सुव्यक्त–त्रि० । स्फुटे, अन्त० १ श्रु० ६ अ० ३ वर्ग ।

सुवत्थ–सुवस्त्र–पुं० । दाक्षिणात्यशक्रेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुवप्प–सुवप्र–पु० । शीतोदाया महानद्या उत्तरविजयक्षेत्रयुगले, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

दो सुवप्पा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुवम्म–सुवर्मन्–पुं० । ऋषभदेवस्य त्रयस्त्रिंशत्तमे पुत्रे , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सुवय–सुवचस्–त्रि० । शोभनवचने, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

सुवयण–सुवचन–न० । श्रोतव्ये वचने , स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सुवया–सुव्रता–स्त्री० । तेतलिपुत्रस्य पोट्टिलाया द्वारिकायाः प्रव्राजिकाभार्यायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

सुवाय–सुवात–न० । तृतीयदेवलोकविमानभेदे, स० ५ सम० ।

सुवासव–सुवासव–पुं० । वासवदत्तकुमारे , उपा० ।

विजयपुरं णयरं णंदणवणं उज्जाणं असोगो जक्खो वासवदत्ते राया कण्हा देवी सुवासवे कुमारे भद्दापामोक्खाणं पंचसया देवी ०जाव पुव्वभवे कोसंबी णयरी धणपालो राया वेसमणभद्दे अणगारे पडिलाभिए इह ०जाव सिद्धे । विपा० २ श्रु० ४ अ० ।

सुविअज्जिय–सुव्यर्जित–त्रि० । जिनाज्ञापूर्वकदृढभावेन विशेषेण निरन्तरकरणेनार्जिते , तं० ।

सुविक्कम–सुविक्रम–पु० । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य कुञ्जरानीकाधिपतौ हस्तिराजे , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सुविण–स्वप्न–पुं० । स्वपनक्रियायाम् , भ० ११ श० ११ उ० । निद्राविकलविज्ञानप्रतिभासार्थविशेषे , स्था० १० ठा० ३ उ० । ('महासुमिण' शब्दे षष्ठभागे वर्णनम् ।) (सुत्तदण्डकः 'सीओसणिज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तः ।) स्वप्नं गजवृषभसिंहादिकम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स्वप्नगते शुभाऽशुभलक्षणे, न० । उत्त० १५ अ० । स्वप्नगते शुभाशुभकथने, यथा–"गायने रोदनं ब्रूया–न्नर्त्तने वधबन्धनम् । हसने शोचनं ब्रूया–त्पठने कलहं तथा ॥१॥" इति । उत्त० १९ अ० । स्वप्न उदाहरणम्–"सुमिणएत्ति एगेण कप्पडिएण सुविणे चंदो गिलितो कप्पडि-

याण य कहियं । ते भणंति––संपुण्ण चंदमंडलसरिस पोलियं लहेसि । लद्धा घरच्छाइणियाए अंसुणावि दिट्ठो से एहाऊण पुप्फफलाणि गहाय सुविणयपाढगस्स कहेति , तेण भणिय––'राया भविस्ससि' इत्तो य सत्तमे दिवसे तत्थ राया मतो अपुत्तो सो य निव्विणो अच्छति–जाव आसो हियासओ आगतो, तेण त दट्ठूण हिंसियं पयक्खणीकओ य ततो विलइतो पट्ठे एवं सो राया जातो । ताहे सो कप्पडिओ सुणेति जहा–तेण वि दिट्ठो एरिसो सुविणतो । सो य आएसफलेण किर राया जातो । सो चिंतेति वच्चामि जत्थ गोरसं पिवित्ता सुयामि ०जाव पुणो वि त सुविणं पेच्छामि । अवि पुणो सो पेच्छेज्जा ण माणुसातो ।" उत्त० ३ अ० । सूत्र० । ('भाव' शब्दे पञ्चमभागे स्वप्नस्य भावविषयो गतः ।) स्वप्नशास्त्रे,–"गजारोहादङ्कवेद्राज्य, श्रीप्राप्तिं श्रीफलागमात् । पुत्राप्तिं फलिताम्रस्य, सौभाग्यं माल्यदर्शनात् ॥१॥" उत्त० ८ अ० । पा० । पञ्चा० ।

सुविणंत–स्वप्नान्त–पुं । स्वप्नस्य विभागे , अवसाने च । भ० १ श० ८ उ० ।

सुविणंतिय–स्वप्नान्तिक–त्रि० । स्वप्नप्रत्यये शाक्यसमये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । (चतुर्विध कर्म नोपचीयते तत्रान्यतरत्स्वप्नान्तिकं , तच्च 'सूयगड' शब्दे वक्ष्यते ।) " अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अप्पसओ पावे कम्मे कज्जइ । " सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

सुविणदंसण–स्वप्नदर्शन–न० । स्वापक्रियानुगतार्थविकल्पस्यानुभवने, भ० १६ श० ६ उ० । स्वप्नालोकने दर्शनभेदे , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुविणय–स्वप्नक–पुं० । स्वप्नफलप्रतिपादके निमित्तशास्त्रे , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुविणलक्खणपाढग–स्वप्नलक्षणपाठक–पुं० । स्वप्नलक्षणप्रतिपादके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुविणा–स्वप्ना–स्त्री० । स्वप्नात् पुष्पचूलाया इव या स्वप्नं प्रतिपद्यते सा स्वप्ना । प्रव्रज्याभेदे , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुविणिच्छिय–सुविनिश्चित–त्रि० । ज्ञाततत्त्व, प० व० ४ द्वार ।

सुविणियप्प–सुविनीतात्मन्–त्रि० । विनयवति, जन्मान्तरकृतविनये निरतिचारधर्माराधके, दश० ६ अ० २ उ० ।

सुविणीय–सुविनीत–त्रि० । शिष्येषु सुष्ठु विनियोजिते, औ० । शोभनविनययुक्ते , ग० २ अधि० । ('विणय' शब्दे षष्ठभागे गत सुविनीत. ।)

सुविणीयसंसय–सुविनीतसंशय–त्रि० । सुतराम्–अतिशयेन विनीतो दूरीकृत. संशयो यस्य स सुविनीतसंशयः । लब्धरहस्येन सुष्ठु–अतिशयेन विनीतः सुविनीतः । प्रसादितगुरुणैव शास्त्रपरमार्थसमर्पणेन संशयो दोलायमानमानसात्मकोऽस्येति सुविनीतसंशयः । अवगतसंशये, उत्त० १ अ० ।

सुविनीतसंसक्त–त्रि० । सुविनीता संसत्–परिषदस्येति सुविनीतसंसत्कः । विनीतस्य हि स्वयमतिशयविनीतैव परिषद्भवति इति व्युत्पत्ते । विनययुक्तपरिषदुपेते, उत्त० १ अ० ।

सुविधि-सुविधि-पु०। प्रसन्नचन्द्रमित्रस्य वज्रसघजीवानन्दस्य पितरि. आ० क० १ अ०।

सुविभज-सुविभज-त्रि०। अकृच्छ्रेण विभजनीये, स्था० ५ ठा० १ उ०।

सुविभत्त-सुविभक्त-त्रि०। यथास्थानस्थितसर्वावयवे, कल्प० १ अधि० २ क्षण। सुविविक्ते, औ०। रा०। सुप्रकटे, जं० २ वक्ष०। सू० प्र०। सुविच्छित्तिके, जं० १ वक्ष०।

सुविभत्तरायमग्गा-सुविभक्तराजमार्गा-स्त्री०। सुविभक्तो विविक्तो राजमार्गो यस्या सा तथा। स्फुटराजमार्गसहिताया नगर्याम्, रा०।

सुविभत्तसिंग-सुविभक्तशृङ्ग-त्रि०। विभागस्थसमशृङ्गे,"से य सुजाय सुविभत्तसिंगं, जो पासिया वसभ गोट्ठमज्झे।" आव० ४ अ०।

सुविभत्तिय-सुविभक्तिक-त्रि०। सुविच्छित्तिके,जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सुविभावियप्प-सुविभावितात्मन्-त्रि०। सुष्ठु-विविधं भावितो धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ सुविभावितात्मा। धार्मिकमनस्के, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

सुविमुक्क-सुविमुक्त-त्रि०। सुष्ठु-रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसम्पर्केण मुक्ते, सूत्र०१ श्रु० ४ अ० २ उ०।

सुविम्हिय-सुविस्मित-त्रि०। संजाताश्चर्ये, उत्त० २० अ०।

सुविर-स्वप्न-त्रि०। शीलाद्यर्थस्येर ॥८।२।१४५॥ इति प्राकृतसूत्रेण र इत्यस्येरादेश। प्रा०। स्वप्नशीले, सू० १ उ०२ प्रक०।

सुविरइय-सुविरचित-त्रि०। सुनिर्मिते, जं० २ वक्ष०। त०। आ० म०। जी०। सुघटिते,उपा०७ अ०। "सुविरइयरयत्ताण" सुष्ठु-विरचितं रजस्त्राणमाच्छादनविशेषो परिभोगावस्थायां यस्मिँस्तसथा। भ० ११ श० ११ उ०। रा०।

सुविवेग-सुविवेक-पु०। सुष्ठु विवेक सुविवेक। परिज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

सुविसद-सुविशद-त्रि०। सुविविक्ते, कल्प०१ अधि० १ क्षण।

सुविसुद्धलेस्स-सुविशुद्धलेश्य-त्रि०। सुष्ठु विशेषेण शुद्धा स्त्रीसम्पर्कपरिसहाररूपतया विगनकलङ्का लेश्याऽन्तःकरणवृत्तिर्यस्येति। शुभपरिणतिशालिनि. सूत्र० १ श्रु०४ अ०३ उ०।

सुविसोज्झ-सुविशोध्य-त्रि०।सुविशोधनीये, पञ्चा०१७ विव०।

सुविहि-सुविधि-पुं०। शोभनो विधि' सुविधिः। सदनुष्ठाने, प्रश्न० ५ सव० द्वार। आ० क०। स०। ('धन्वंतरि' शब्दे चतुर्थभागे २६६०-पृष्ठे कथा उक्ता।) शोभनो विधि' कौशलमस्येति सुविधि.। ध० २ अ०। भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते पुष्पदन्तापरनामके नवमे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार। आ० म०। कल्प०। अनु०। (सुविधि. पुष्पकलिका मनोहर दन्तत्वात्पुष्पदन्त इति द्वितीय नाम सर्वोऽस्य वक्तव्यता 'तित्थयर शब्दे, चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठे गता)

सुविहिपुप्फदंतेणं अरहा एगं धणुसयं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। स० १०० सम०।

सुविहिस्स णं पुप्फदंतस्स अरहओ पन्नत्तरिजिणसया होत्था। स० ७४ सम०। आ० चू०।

सुविहिस्स णं पुप्फदंतस्स अरहओ छलसीय गणा छलसीय गणहरा होत्था। स० ८८ सम०। प्रव०। आव०।

सव्वविहीसु अ कुसला,गब्भगए तेण होइ सुविहिजिणो।

गाहद्धं-भगवते गब्भगए सव्वविहीसु चेव विसेसओ कुसला जणणि त्ति जेण तेण सुविहि त्ति णामं कय। आव० २ अ०।

सुविहिय-सुविहित-त्रि०।शोभन विहित सुविहित'। सुव्यवस्थिते, प० चू० २ कल्प। सदनुष्ठानोद्यते, ग० २ अधि०। ओघ०। साधौ, सू० १ उ० ३ प्रक०। प्रश्न०। दर्श०। आव०। ज्ञानिनि, जी० १ प्रति०। तपस्विनि, दश० १ अ०। शोभन विहितमाचरित येषां साधुसाध्वीश्रावकश्राविकाणां ते सुविहिता। सथा०। नि० चू०।

सुवुट्ठि-सुवृष्टि-स्त्री०। धान्यादिवर्षणहेतौ वृष्टौ, भ० ३ श० ७ उ०। आ० म०।

सुवेकय-श्वःकृत-त्रि०। "एकस्वरे श्व स्वे" ॥८।२।११४॥ एकस्वरे पदे यौ श्व स्व इत्येतौ तयोरन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उकारो भवति। श्वःकृतं। सुवे-कयं। प्रात कृते, प्रा० २ पाद।

सुव्व-सु-धा०। प्रसवे, कर्मप्रत्ययान्त.। "न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक्" ॥८।४।२४२॥ कर्मणि भावे वा वर्तमानानां चव्यादीनामन्ते द्विरुक्तवकारो भवति। सुव्वइ। सूयते। प्रा०४ पाद।

शुल्व-न०। "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८।२।७६॥ इति वलुक्। अत्र द्व इत्यादिसंयुक्तानामुभयप्राप्तौ यथादर्शन लोप' क्वचिदूर्ध्वम्। शुल्वम्। सुव्वं च। ताम्रे, जलसमीपे, प्रा० २ पाद।

सुव्वय-सुव्रत-पुं०। शोभनानि सम्यग्ज्ञानाधिष्ठितत्वेन व्रतानि हिंसाविरमणादीनि यस्य स। उत्त० ८ अ०। निरतिचारनियमयुक्ते,(स्था० ४ ठा० ३ उ०।) साधौ, उत्त० ८ अ०। आचा०। सूत्र०। आव०। शोभनचित्तवृत्तिकरणे, औ०। प्रश्न०। शोभनाणुव्रतधारके सुश्रावके, सू० ३ उ०। आव०। षष्ठतीर्थकरस्य पद्मप्रभस्य प्रथमशिष्ये, स०। शिशुनागस्य सुयशसि भार्यायां जाते पुत्रे, आ० चू० ४ अ०। आचा०। आव०। अष्टाशीतिग्रहेषु एकाशीतितमे ग्रहे, चं० प्र० २० पाहु०। कल्प०। स्था०। पार्श्वनाथस्य प्रथमश्रावके, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। लोकोत्तरपरिभाषया दिवसभेदे,यस्मिन् दिवसे वीरस्वामिन निष्क्रमण केवलज्ञान च जातम्,कल्प०१ अधि० ५ क्षण। ऐरवते वर्षे भविष्यति सप्तदशे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार। शोभन व्रतमस्य, सुव्रतौ वा मातापितरावस्येति सुव्रत.। सामण्ण सव्वेसिं सुव्वतो विसेसो गब्भगता माता पिता य सुव्वता जाता। सामण्णं सव्वेसिं परीसहानामिता।भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते विंशे तीर्थकरे,आ० चू० २ अ०। "जगन्मित्रं यत्र मित्र, सुमित्रान्वयपङ्कजे। अश्वावबोधनिर्व्यूढ-वृत्तोऽभूत् सुव्रतो जिन ॥१॥" ती०१० कल्प। प्रव०। कल्प०। मुनिसुव्रतेति विशिष्ट नामास्य।

मुणिसुव्वए णं अरहा वीसधणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। स० २० सम०।

मुणिसुव्वत्रो पि चउपन्नवासलक्खेहिं सुव्वयनामातो णमी लक्खेहिं छहिं उप्पन्नो । आ० चू० १ अ० ।

मुणिसुव्वयस्स णं अरहओ पंचासं अज्जियासाहस्सिओ होत्था । स० ४९ सम० ।

लोभशब्दे उदाहृते स्वनामख्याते साधौ, पिं० । " वंदामि अज्जधम्मं, सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं । जस्स निक्खमणे देवो, छत्तं वरमुत्तमं वहई ॥१॥ " गोत्रविशेषप्रवर्त्तके ऋषौ, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । शोभननियमे, नपुं० प्रश्न०२ संव० द्वार । एकाशीतितमे महाग्रहे, स्था० ।

दो सुव्वया । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुव्वया-सुव्रता-स्त्री० । धर्मनाथस्य पञ्चदशतीर्थकरस्य मातरि, प्रव० ११ द्वार । तत्र चेक्ष्वाकुकुलप्रदीप. पञ्चदशतीर्थपतिर्विजयविमानदेवनीर्थश्रीभानुनरेन्द्रवेश्मनि सुव्रतादेवीकुक्षौ तनयतयाऽवततार । ती० १८ कल्प । स० । अरिष्टनेमेस्तीर्थकरस्य प्रथमश्राविकायाम् , कल्प० १ अधि० ७ क्षण । बहुपुत्रिकापूर्वभवजीवभद्रासार्थवाहीप्रव्राजिकायाम् , नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० ।

सुव्वयायरिय-सुव्रताचार्य-पुं० । मुनिसुव्रतस्वामिनः स्वनामख्याते शिष्ये, "अज्जसुहत्थसूरिणो पव्वज्जिं जहापुव्वं उज्जेणीए पुरीए उज्जाणे सिरिमुणिसुव्वयसामिसीसो सुव्वयायरिओ समोसढो ।" ती०२० कल्प ।

सुव्ववहारकुसल-सुव्यवहारकुशल-त्रि० । सुष्ठुतिशयेन व्यवहारः सुव्यवहारः । स पञ्चविधस्तत्र कुशलो निपुणः । व्यवहारनिपुणे, ग० १ अधि० ।

सुसंगुत्थ-सुसङ्गोत्थ-त्रि० । देवगुरुप्रसङ्गसम्भवे,अष्ट०८अष्ट० ।

सुसंगोविय-सुसङ्गोप्य-त्रि० । सुगोपनीये, तं० ।

सुसंजमियमण-सुसंयमितमनस्-त्रि० । संवृते चेमनाद्धेतौ, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

सुसंजय-सुसंयत-त्रि० । सुष्ठु संयतः सुसंयतः । कूर्मवत् संयतगात्रे, निरर्थककायक्रियारहिते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुसंधि-सुसंधि-पुं० । सुष्ठु सन्धाने,जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुसंधिय-सुसंधित-त्रि० । सुबद्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

सुसंपग्गहिय-सुसंप्रगृहीत-त्रि० । सुष्ठुतिशयेन सम्यक्प्रगागप्यचलनेन परिगृहीते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

सुसंपिणद्ध-सुसंपिनद्ध-त्रि० । अतिशयेन बद्धे,"सुसंपिणद्धारगमंडलधुरागस्स" सुष्ठुतिशयेन सम्यक् पिनद्धं बद्धमरकमण्डलं धूर्ष्व यस्य स सुसंपिनद्धारकमण्डलधूस्तस्य । रा० ।

सुसंभंत-सुसंभ्रान्त-त्रि० । अत्यन्तं व्याकुलतां प्राप्त , उत्त० २० अ० ।

सुसंभिय-सुसंभृत-त्रि० । सुष्ठु अतिशयेन संभृतः--संस्कृतः सुसंभृतः । सम्यक् संस्कृते सज्जीकृते, उत्त० १४ अ० ।

सुसंलिट्ठ-सुसंश्लिष्ट-त्रि० । सङ्गते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुसंविद्ध-सुसंविद्ध-त्रि० । कृतसद्वेधे , औ० । "सुसंविद्धचक्कमंतधुराणं " सुष्ठु संविद्धे चक्रे यत्र मण्डलावृत्ता च धूर्येत्र तेषा,-सुसंविद्धचक्रमण्डलधुराणाम् . भ० ७ श० ६ उ० ।

सुसंवुड-सुसंवृत-त्रि० । सुसंवृतः परिगत तथा सुष्ठु संवृतं परिहितं येन सः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । परिहितवृष्यस्त्रे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । सूत्र० । सुष्ठु संवृतः इन्द्रियसंवरणेन य. सः सुसवृतः । जितेन्द्रिये, उत्त० २ अ० । सूत्र० । सन्निरुद्धात्मनि, उत्त० २ अ० ।

सुसंवुय-सुसंवृत--त्रि० । सुष्ठु संवृतं परिहितं येन सः सुसंवृतः । सुपरिधाने , औ० ।

सुसंहय-सुसंहत-त्रि० । सुष्ठु अविरले, औ० ।

सुसज्ज-सुसज्ज--त्रि० । सुष्ठु अतिशयेन सज्जः । स्वसामग्रीयुक्ततया प्रगुणीभूतेषु, आ० म० १ अ० । " सुसज्जवम्मियसएणद्धबद्धकवइय " सुसज्जा वर्मणि नियुक्ताः वार्मिकास्तैः सन्नद्ध. कृतसन्नाहः सुसज्जवार्मिकसन्नद्धः बद्धः कवचिकः सन्नाहविशेषो यस्य स. तथोक्तः । भ०७ श० १० उ० । औ० ।

सुसढ-सुसढ--स्वनामख्याते अनगारे, महा० ।

जहा भयवं ! को उण सुसढो कयरा वा सा जयणा जमजाणमाणस्स णं तस्स आलोइयनिंदियगरहिओ वि कयपायच्छित्तस्स वि संसारं णय विणिट्ठियं ति । गोयमा! जयणा णाम अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं सत्तरसविहस्स णं संजमस्स चोद्दसण्हं भूयगामाणं तेरसण्हं किरियाठाणाणं सवज्झब्भंतरस्स णं दुवालसविहस्स णं तवोणुट्ठाणस्स दुवालसस्स णं भिक्खुपडिमाणं दसविहस्स णं समणधम्मस्स णवण्हं चेव बंभगुत्तीणं अट्ठण्हं तु पवयणमाईणं सत्तण्हं चेव पाणपिंडेसणाणं छण्हं तु जीवनिकायाणं पंचण्हं तु महव्वयाणं तिण्हं तु चेव गुत्तीणं ०जाव णं तिण्हं चेव सम्मद्दंसणनाणचरित्ताणं भिक्खू कंतारदुब्भिक्खायंकाईसु णं महं समुप्पन्नेसु अंतोमुहुत्तावसेसकं--ठगयपाणेसु वि णं मणसा वि उ खडणं विराहणं ण करेज्जा ण कारवेज्जा ण समणुजाणिज्जा ०जाव णं नारभिज्जा ण समारभिज्जा जावज्जीवाए ति,से णं जयणाए धुवे से णं जयणाए पवक्खे से णं जयणाए वियाणेति । गोयमा ! सुसढस्स उण महती संका परमनिम्मियजयणाी य चूलिया पढमा एगंतनिज्जरा । से भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ ? , तेणं कालेणं तेणं समएणं सुसढनामधेज्जा अणगारे इह भगवंतेणं व एगग्गसणं पक्खस्स तो पभूयट्ठाणीओ आलोयणाओ वि दिन्नाओ सुमहिंताइं च अचंतघोरसुदुकराइं पायच्छित्ताइं समणुचिन्नाइं तहावि तेणं चरएणं विसोहिपयं न समणुवलद्धं ति एतेणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ । महा० १ चू० ।

सुसएणप्प-सुसंज्ञाप्य-त्रि० । सुखेन सञ्ज्ञाप्यन्ते प्रज्ञाप्यन्ते बोध्यन्त इति सुसञ्ज्ञाप्या' । सुखेन प्रज्ञापनीयेषु, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सू० ।

तओ सुसएणप्पा पएणत्ता, तं जहा--अदुट्ठे, अमूढे, अवुग्गाहिए । (सू० ८)

अयः सुसंज्ञाप्या ,सुखप्रज्ञापनीया' प्रशस्तास्तयथा—अदुष्ट' अमूढ' अव्युद्ग्राहितश्चेति । आह-पूर्वसूत्रेणैवार्थापत्त्या इदमवसीयते यदेतद्विपरीता अदुष्टादय. सुसंज्ञाप्यास्तत् किमर्थमिदमारब्धम् ।

उच्यते--

कामं विपक्खसिद्धी, अत्थावत्तीइ होहि वुत्ता वि ।
तहवि विवक्खो वुच्चति,कालियसुयधम्मता एसा ।३५०।

कामम्-अनुमतमिदं विपक्षस्य प्रतिपक्षार्थस्य सिद्धिरनुक्ताऽप्यर्थापत्त्या भवति , तथापि विपक्षो मोक्षादुच्यते । कुत ?, इत्याह-कालिकश्रुतस्य धर्मता स्वभाव शैली एषा, यदर्थापत्तिलब्धोऽप्यर्थः साक्षादभिधीयते ।

तथा च तल्लक्षणान्येव दर्शयति--

ववहारत्थावत्ती, अणप्पिए ण य चउत्थभासाए ।
मूढणय अगमियतेण य-कालेण य कालियं नेयं।३५१।

'ववहारे' त्ति नैगमसंग्रहव्यवहाराख्यास्त्रयो व्यवहारनया उच्यन्ते-ऋजुसूत्राद्यास्तु चत्वारो निश्चयनया',तत्र व्यवहारेण-व्यवहारनयमतेन कालिकश्रुतं प्राय. सूत्रार्थनिबन्धो भवति, 'अहिगारो तीहि उस्सन्नं'ति वचनात् ' अत्थावत्ति ' त्ति अर्थापत्ति. कालिकश्रुतेन व्यवह्रियते, किं तु-तया लब्धोऽप्यर्थः प्रपञ्चितज्ञविनेयजनानुग्रहाय साक्षादेवाभिधीयते । अथोत्तराध्ययनेषु प्रथमाध्ययने ' आणानिद्देसकरे' इत्यादिना विनीतस्वरूपमभिधायार्थापत्तिलब्धमप्यविनीतस्वरूपम् 'आणा अनिद्देसकरे' इत्यादिना भूय साक्षादभिहितमिति । 'अणप्पिए' त्ति-अनर्पित विषयविभागस्यानर्पणं तेन कालिकश्रुतं चरित विशेषाभिधानरहितमित्यर्थ. , यथा—' जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ से आवज्जइ मासियं अणुग्घाइयं ' तत्र च यस्मिन् अवसरे यथा हस्तकर्माऽऽसेवमानस्य मासगुरुकं भवति स विशेषसूत्रे साक्षान्नोक्त परमर्थादवगन्तव्य , एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ' चउत्थभासाए ' त्ति इह सत्यामृषामिश्रासत्यामृषाभेदाच्चतस्रो भाषा. । तत्र कारणेन सह विप्रतिपत्तौ सत्या वस्तुन' साधकत्वेन बाधकत्वेन वा प्रमाणान्तरैरबाधिता या भाषा भाष्यते सा सत्या, सैव प्रमाणैर्बाधिता मृषा, सैव बाध्यमानाबाध्यमानरूपा मिश्रा तु वस्तुसाधकत्वाद्यविवक्षया व्यवहारपतिता स्वरूपमात्राभिधित्सया प्रोच्या, सा पूर्वोक्तभाषात्रयविलक्षणा असत्यमृषा नाम चतुर्थी भाषा भण्यते । सा चामन्त्रणाज्ञापनीप्रभृतिस्वरूपतया कालिकश्रुतनिबद्धा यथा " गोयमा ! " इत्यामन्त्रणा"सव्वे जीवा न हन्तव्वा" इत्याज्ञापनी इत्यादि । दृष्टिवादस्तु नैगमादिनयमतप्रतिबद्धेनि पुनर्युक्तिभिर्वस्तुतत्त्वव्यवस्थापकतया सत्यभाषानिबद्ध इति भाव । तथा मूढाविभागेनाव्यवस्थापिता नया यस्मिन् तत् मूढनयं , भावप्रधानश्चाय निर्देशस्ततो मूढनयत्वेन कालिक विज्ञेयम्, तथा गमा भङ्गा गणितादय' सदृशपाठा वा तैर्युक्त गमिक तद्विपरीतमगमिकं तेनागमिकत्वेन कालिकश्रुतज्ञायी 'गमिय दिट्ठिवाओ अगमिय कालिय' इति वचनात् कालेन हेतुभूतेन निर्वृत्त कालिक काल-प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे पठ्यते इति व्युत्पत्तेः । एतैर्लक्षणैः कालिकश्रुतं ज्ञेयम् । बृ० ४ उ० । स्था० ।

सुसद्द-सुशब्द-पुं० । शोभने माङ्गलिके वा शब्दे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

सुसमत्थ-सुसमर्थ-त्रि० । सुष्ठु समर्थे, 'सुसमत्था व समत्था कीरति अप्पसत्तिया पुरिसा ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सुसमण-सुसमन-पुं० । युगलिकमनुष्यजातिभेदे , जं० २ वक्ष० ।

सुसमदूसमा-सुषमदुःषमा-स्त्री० । दुष्टा समा अस्यामिति दुःषमा.सुषमा चासौ दुःषमा च सुषमदुःषमा । सुषमानुभावबहुलमल्पदुःषमानुभावे अवसर्पिण्यास्तृतीये उत्सर्पिण्याश्च चतुर्थेऽरके, जं० २ वक्ष० । (' दो सागरोवमकोडाकोडीओ सुसमदूसमा' सा 'ओसप्पिणी'शब्दे तृतीयभागे १०१ पृष्ठे व्याख्याता ।)

सुसमपलिभाग-सुषमप्रतिभाग-पुं० । सुषमायाः—सुषमसुषमाया प्रतिभाग' सादृश्य यत्र काले स तथा । देवकुरूत्तरकुरुषु सुषमसुषमासदृशे काले, भ० २४ श० ३ उ० ।

सुसमसुसम(मा)य-सुषमसुषम(मा)ज-पुं० । सुषमसुषमायां जात इति "सप्तमीपञ्चम्यन्ते जनेर्ड." (का० रू० ६६१) इति डप्रत्यये सुषमसुषमज । प्रथमारकजे मनुष्ये , अनु० ।

सुसमसुसमा-सुषमसुषमा-स्त्री० । सुष्ठु शोभना समा वर्षाणि यस्या सा सुषमा 'निर्दुःसुवेः समसूते ' (श्रीसि० २-३-५६). इति षत्वम् । सुषमा चासौ सुषमा च सुषमसुषमा । द्वयो समानार्थयो प्रकृष्टार्थवाचकत्वादत्यन्तसुखस्वरूपे, जं० २ वक्ष० ।

अवसर्पिण्या प्रथमारके, उत्सर्पिण्याश्च षष्ठे अरके, ज्यो० २ पाहु० । स्था० । जं० । ति० । आ० चू० ।

एगा सुसमसुसमा (सू० ५०×) स्था०१ ठा० ।
चत्तारि कोडाकोडीओ कालो सुसमसुसमा । (सू०)
भ० ६ श० ७ उ० ।

परमाणू दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुहुमे अ वावहारिए अ । अणंताणं सुहुमपरमाणुपुग्गलाणं समुदयसमिइसमागमेणं वावहारिए परमाणू णिप्फज्जइ,तत्थ णो सत्थं कमइ । 'सत्थेणं सुतिक्खेण वि,छेत्तुं भित्तुं च जं किर ण सक्का । तं परमाणुं सिद्धा,वयंति आइं पमाणाणं ॥ १ ॥' वावहारिअपरमाणूणं समुदयसमिइसमागमेणं सा एगा उस्सण्हसण्हिआइ वा सण्हिसण्हिआ इ वा उद्धरेणू इ वा तसरेणू इ वा रहरेणू इ वा वालग्गे इ वा लिक्खा इ वा जूआ इ वा जवमज्झे इ वा उस्सेहंगुले इ वा,अट्ठ उस्सण्हसण्हियाओ सा एगा सण्हसण्हिया , अट्ठ सण्हसण्हियाओ सा ० ॥ उद्धरेणू,अट्ठ उद्धरेणूओ सा एगा तसरेणू, अट्ठ

तसरेणूओ सा एगा रहरेणू अट्ठ रहरेणूओ से एगे देवकुरूत्तरकुराणं मणुस्साणं वालग्गे, अट्ठ देवकुरूत्तरकुराणं मणुस्साण वालग्गा से एगे हरिवासरम्मयवासाण मणुस्साणं वालग्गे एवं हेमवयहेरण्णवयाणं मणुस्साणं पुव्वविदेहअवरविदेहाणं मणुस्साणं वालग्गा सा एगा लिक्खा, अट्ठ लिक्खाओ सा एगा जूआ अट्ठ जूआओ से एगे जवमज्झे अट्ठ जवमज्झा से एगे अंगुले एतेणं अंगुलप्पमाणेणं छ अंगुलाइं पाओ वारस अंगुलाइ विहत्थी चउवीसं अंगुलाइं रयणी अडयालीसं अंगुलाइं कुच्छी छण्णउइअंगुलाइं से एगे अक्खे इ वा दंडे इ वा धणू इ वा जुगे इ वा मुसले इ वा णालिआ इ वा। एतेणं धणुप्पमाणेणं दो धणुसहस्साइं गाउअं चत्तारि गाउआइं जोअणं, एएणं जोअणप्पमाणेणं जे पल्ले जोअणं आयामविक्खंभेण जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खवेणं, से णं पल्ले एगाहिअबेहियतेहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं संमट्ठे सण्णिचिए भरिए वालग्गकोडीणं। ते णं वालग्गा णो कुत्थेज्जा णो परिविद्धंसेज्जा, णो अग्गी डहेज्जा, णो वाए हरेज्जा, णो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा। तओ णं वाससए वासए एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे णीरए णिल्लेवे णिट्ठिए भवइ से तं पलिओवमे। "एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिआ। तं सागरोवमस्स उ, एगस्स भवे परीमाणं ॥१॥" एएणं सागरोवमप्पमाणेणं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमसुसमा १ ॥ (सू० १६ +)

परमाणुर्द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—सूक्ष्मश्च व्यावहारिकश्च। शस्त्राद्यविषयत्वादिको धर्म उभयोरपीति समानकक्षताद्योतनार्थं प्रत्येकं चकारः, तत्र सूक्ष्मस्य "कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" इत्यादिलक्षणलक्षितस्यात्यन्तपरमनिकृष्टनालक्षणं स्वरूपमनिरिच्यापरं वैशेषिकं रूपं न प्रतिपादनीयमस्तीति तं सम्थाप्यापरं स्वरूपतो निरूपयति—अनन्तानां सूक्ष्मपरमाणुरूपपुद्गलानां सम्बन्धिनो ये समुदयाः—त्रिचतुरादिमेलकास्तेषां याः समितयः—बहूनि मीलनानि तासां समागमेन—संयोगेनैकीभावेनेति यावत् व्यावहारिकः परमाणुरेको निष्पद्यते। इदमुक्तं भवति—निश्चयनयो हि निर्विभागं सूक्ष्मं पुद्गलं परमाणुमिच्छति, यस्त्वेतैरनेकैर्ज्ञायते तं साशत्वात् स्कन्धमेव व्यपदिशति। व्यवहारनयस्तु तदनेकसङ्घातनिष्पन्नोऽपि यः शस्त्रच्छेदाग्निदाहादिविषयो न भवति तमद्यापि तथाविधस्थूलभावाप्रतिपत्तेः परमाणुत्वेन व्यवहरति, ततोऽसौ निश्चयतः स्कन्धोऽपि व्यवहारनयमतेन व्यावहारिकः परमाणुरुक्तः। अयं च स्कन्धत्वात् काष्ठवत् छेदादिविषयो भवतीति वादिनं प्रत्याह—तं शस्त्रं न क्रामति—न सञ्चरति, असिक्षुरादिधारामाप्तोऽपि स न छिद्यते—न च भिद्यतेत्यर्थः, यद्यनन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नाः काष्ठादयः शस्त्रच्छेदादिविषया दृष्टास्तथाप्यनन्तस्यानन्तभेदत्वात्तावत्प्रमाणेन निष्पन्नोऽद्यापि सूक्ष्मत्वान्न शस्त्रच्छेदादिविषयतामासादयतीति भावः, एतेनाग्निदाहेन जलार्द्रता गङ्गाप्रतिश्रोतोविहन्यमानता जलकोथादिकं सर्वमपि निरस्तं मन्तव्यं, सर्वेषामपि तेषां शस्त्रत्वाविशेषात्। अत्रार्थे प्रमाणमाह—शस्त्रेण सुतीक्ष्णेनापि छेत्तुं—खड्गादिना द्विधा कर्तुं भेत्तुम्—अनेकधा विदारयितुं सूच्यादिना वस्त्रादिवद्वा सच्छिद्रं कर्त्तुं, वा—विकल्पे, यं—पुद्गलादिविशेषं किलेति निश्चये न शक्ताः, केऽपि पुरुषा इति शेषः, तं व्यावहारिकपरमाणुं सिद्धा इव सिद्धा भगवन्तोऽर्हन्त उत्पन्नकेवलज्ञाना न तु सिद्धाः सिद्धिगताः, तेषां वचनयोगासम्भवादिति, आदिं—प्रथमं प्रमाणानां—वक्ष्यमाणोच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकादीनामिति, एतेन श्रद्धालून् प्रति आगमप्रमाणमभिहितं, तर्कानुसारिणः प्रति प्रयोगः—अणुपरिमाणं क्वचिद्विश्रान्तं तरतमशब्दवाच्यत्वात् महत्परिमाणवत्, यत्र च विश्रान्तं स परमाणुः, विपक्षे वस्तुनः स्थूलताऽपि नोपपद्यते, न च द्व्यणुकादि नार्थान्तरमिति वाच्यं, स च सिध्यन् परमनिकृष्टो निरंश एव सिध्येत्, अन्यथाऽनवस्थासर्षपसुमेर्वोस्तुल्यपरिमाणापत्तिश्च, ततः सिद्धः परमाणुः। ननु सिध्यतु स सूक्ष्मत्वाच्च न चक्षुरादिगम्यः, परं यदनन्तैः सूक्ष्मैः परमाणुभिरेको व्यावहारिकः परमाणुरारभ्यते स चक्षुराद्यगोचरः शस्त्रच्छेदाद्यगोचरश्चेति तन्मन्दम्, उच्यते—द्विविधो हि पुद्गलपरिणामः—सूक्ष्मो बादरश्च, तत्र सूक्ष्मपरिणामपरिणतानां पुद्गलानामतीन्द्रियकत्वमगुरुलघुपर्यायवत्त्वं शस्त्रच्छेदाद्यविषयत्वमित्यादयो धर्मा भवन्ति, तेन न काप्यनुपपत्तिः, श्रूयते चागमे पुद्गलानामेव सूक्ष्मत्वासूक्ष्मत्वपरिणामो यथा द्विप्रदेशिकः स्कन्धः एकस्मिन्नभःप्रदेशे माति स एव च द्वयोरपि मातीति संकोचविकाशकृतो भेदः, दृश्यते च लोकेऽपि पिञ्जिततूलपुञ्जलोहपिण्डयोः परिमाणभेदः, इत्यलं विस्तरेणेति। अथ प्रमाणान्तरलक्षणार्थमाह—अनन्तानां व्यावहारिकपरमाणूनां समुदयसमितिसमागमेन या परिमाणमात्रेति गम्यते सैका अतिशयेन श्लक्ष्णा श्लक्ष्णश्लक्ष्णा सैव श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका उत्तरप्रमाणापेक्षया उत्—प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, इतिरुपदर्शने, वा उत्तरापेक्षया समुच्चये, एवं श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकेति वा इत्यादिष्वपि वाच्यम्। एते च श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाद्योऽङ्गुलान्ताः प्रमाणभेदा यथोत्तरमष्टगुणाः सन्तोऽपि प्रत्येकमनन्तपरमाणुकत्वं न व्यभिचरन्त्यतः निर्विशेषितमप्युक्तम्—'सण्हसण्हिआइ वे' त्यादि, प्राक्तनप्रमाणापेक्षयाऽष्टगुणत्वेन स्थौल्यादूर्ध्वरेण्वपेक्षया त्वष्टभागप्रमाणत्वात् श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकेत्युच्यते, स्वतः परतो वा ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्चलनधर्मा जालप्रविष्टसूर्यप्रभाभिव्यङ्ग्यो रेणुरूर्ध्वरेणुः त्रस्यति—पौरस्त्यादिवायुप्रेरितो गच्छति यो रेणुः स त्रसरेणुः रथगमनात् रेणुः रथरेणुः वालाग्रलिक्षादयः प्रतीताः, देवकुरूत्तरकुरुहरिवर्षरम्यकादिनिवासिमानवानां केशस्थूलताक्रमेण क्षेत्रशुभानुभावहानिर्भावनीया, आपूर्वविदेहापरविदेहाश्रयमनुष्याणामष्टौ वालाग्राणि एका लि-

क्षा, ता अष्ट यूका, अष्टौ यूका एकं यवमध्यम्, अष्टौ यवमध्यानि एकमङ्गुलम्, एतेनाङ्गुलप्रमाणेनेति न तु न्यूनाधिकतया, षडङ्गुलानि पाद -पादस्य मध्यतलप्रदेश, पादैकदेशत्वात् पाद, अथवा—पादो हस्तचतुर्थांश, द्वादशाङ्गुलानि वितस्तिः सुखावबोधार्थमेवमुपन्यस्त, लाघवार्थं तु द्वौ पादौ वितस्तिरिति पर्यवसितोऽर्थ, अन्यथा पादसमाया नेरर्थक्यापत्ति, एवमग्रेऽपि चतुर्विंशतिरङ्गुलानि रत्निरिति सामयिकी परिभाषा, नामकोशादौ तु 'बद्धमुष्टिर्हस्तो रत्नि' रिति, अष्टचत्वारिंशदङ्गुलानि कुक्षि, षण्णवतिरङ्गुलानि एकोऽक्ष इति वा-शकटावयवविशेष दण्ड इति वा धनुरिति वा-युगमिति वा-वोढृस्कन्धकाष्ठं मुसलमिति वा नालिका इति वा-यष्टिविशेष, अत्र च धनुषोपयोग, संज्ञान्तराणि तु प्रसङ्गतोऽत्र लिखितानि अन्यत्रोपयोगीनीति, एतेन धनु - प्रमाणेन द्वे धनु सहस्रे गव्यूत चत्वारि गव्यूतानि योजनम्। एतेन योजनप्रमाणेन य पल्यो—धान्याश्रयविशेष स इव सर्वत्र समत्वात् लुप्तोपमाक शब्द इति, योजनमायामविष्कम्भाभ्यां समवृत्तत्वात् प्रत्येकमुत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नयोजन योजनमूर्ध्वोच्चत्वेन, तद्योजन त्रिगुणं सविशेष परिरयेण, वृत्तपरिधे किञ्चिन्न्यूनषड्भागाधिकत्रिगुणत्वात्, स पल्य 'एगाहिअबेहिअ' त्ति षष्ठीबहुवचनलोपादेकाहिकद्व्याहिकत्र्याहिकाणामुत्कर्षत सप्तरात्रप्ररूढानां—सप्तदिवसोद्गतपर्यन्तानां भृतो वालाग्रकोटीनामिति सम्बन्ध, तत्र मुण्डिते शिरस्येकेनाह्ना यावत्प्रमाणा वालाग्रकोटय उत्तिष्ठन्ति ता एकाहिक्य, द्वाभ्या तु यास्ता द्व्याहिक्य, त्रिभिस्तु त्र्याहिक्य, कथंभूता इत्याह—सम्मृष्ट—आकर्णपूरित सन्निचित -प्रचयविशेषान्निबिडीकृत वालानामग्रकोटय -प्रकृष्टा विभागा इत्यर्थ, यद्वा—वालाग्रकोटीनामिति वालेषु—विदेहनरवालाद्यपेक्षया सूक्ष्मत्वादिलक्षणोपेततयाऽग्राणि—श्रेष्ठानि वालाग्राणि, कुरुनररोमाणि तेषा कोटय अनेका—कोटाकोटिप्रमुखा सङ्ख्या 'स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्[1]" इत्यादिवत्, तथा वालाग्रकोटीनामिति तृतीयार्थे षष्ठी यथा माषाणां भृत कोष्ठ इति, तेन वालाग्रकोटीभिर्भृत इति सुखावबोधाऽक्षरयोजना कार्या इति, वालाग्रसंख्यानयनोपायस्त्वय-देवकुरूत्तरकुरुनरवालाग्रतोऽष्टगुणं हरिवर्षरम्यकनरवालाग्रमिति, यत्रैकं हरिवर्षरम्यकवालाग्र तत्र कुरुनरवालाग्राण्यष्ट तिष्ठन्ति, यत्र चैक हैमवतहैरण्यवतनरवालाग्र तत्र कुरुनरवालाग्राणि चतुष्षष्टि, एव विदेहनरवालाग्रे ५१२ लिक्षाया ४०९६ यूकाया ३२७६८ यवमध्ये २६२१४४ अङ्गुलेऽङ्कत २०९७१५२, अत्राङ्गुलमुत्सेधाङ्गुल ग्राह्यम्, आत्माङ्गुलस्यानियतत्वात् प्रमाणाङ्गुलस्यातिमात्रत्वात् अत्र सर्वत्र पूर्वप्रमाणापेक्षयोत्तरोत्तरप्रमाणान्याष्टाष्टगुणकारेणेय सङ्ख्या समुत्तिष्ठति, अथायं राशिश्चतुर्विंशतिगुणो हस्तश्चतुर्विंशत्यङ्गुलमानत्वादस्य, स चैवम्-५०३३१६४८ नामत पञ्च कोटयस्त्रीणि लक्षाण्येकत्रिंशत्सहस्राणि षट् शतान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि, एष राशिश्चतुर्गुणो धनुषि, चतुर्हस्तमानत्वादस्य, अङ्कत २०१३२६५९२ नामतो विंशति कोटयस्त्रयोदश लक्षाणि षड्विंश सहस्राणि पञ्च शतानि द्विनवत्यधिकानि, अथ द्विसहस्रगुण क्रोशे, द्विसहस्रमानत्वादस्य, अङ्कतो यथा-४०२६५३१८४००० नामत चत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते पञ्चषष्ट्यधिके कोटीना एकत्रिंशल्लक्षाणि चतुरशीति सहस्राणि, पुनरय राशिश्चतुर्गुणो योजने, चतु क्रोशप्रमाणत्वादस्य, अङ्कत १६१०६१२७३६००० नामत एकं लक्षमेकषष्टि सहस्राण्येकषष्ट्यधिकानि कोटीना तथा सप्तविंशतिर्लक्षाणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि, शून्यत्रिगणनयैवेदं गणितं बोध्यम्, अथ शूच्यीराशिरनेनैव गुणितः प्रतरसमचतुरस्रयोजने, शूच्या शूच्यीगुणिताया एव प्रतरत्वात्, अङ्कत २५९४०७३३८५३६५४०५६९६००००० नामतो यथा पञ्चविंशतिः शतानि चतुर्नवत्यधिकानि कोटाकोटिकोटीना तथा सप्त लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राण्यष्ट शतानि त्रिपञ्चाशदधिकानि कोटाकोटीना तथा पञ्चषष्टिर्लक्षाणि चत्वारिंशत्सहस्राणि पञ्च शतान्येकोनसप्तत्यधिकानि कोटीना तथा षष्टिर्लक्षाणि, अयं राशिर्भूय पूर्वराशिना गुणितो घनरूपो रोमराशि स्यात्, तथाहि-अङ्कत ४१७८०-४७६३२५८८१५८४२७७८५४४२५६०००००००००० नामत एकचत्वारिंशत्कोटयोऽष्टसप्ततिर्लक्षाणि चत्वारि सहस्राणि सप्त शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि कोटाकोटिकोटाकोटीनां तथा पञ्चविंशतिर्लक्षाण्यष्टाशीति सहस्राण्येक शतमष्टपञ्चाशदधिक कोटाकोटिकोटीना तथा द्विचत्वारिंशल्लक्षाणि सप्तसप्तति सहस्राण्यष्ट शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि कोटाकोटीनां तथा चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाणि पञ्चविंशति सहस्राणि षट् शतानि कोटीनामिति। अय च राशि समचतुरस्रघनयोजनप्रमितपल्यगत समवृत्तघनयोजनप्रमितपल्यगतराश्यपेक्षया कियद्भागाभ्यधिकस्तेनाधिकभागपातनार्थं सौकुमार्याय स्थूलोपायमाह-अनन्तरोक्तराशेश्चतुर्विंशत्या २४ भागे हृते लब्धम् १७४०८५३१८०—२४५०६६०११५७६८९३४४०००००००००० अयं चैकोनविंशत्या १९ गुणित समवृत्तघनयोजनपल्यगतो राशिर्भवतीति, स चाङ्कतो यथा ३३०७५२१०४२४५५५,२५४२१९९५०—९१५३५०००००००००० अयमर्थः-यादृशैश्चतुर्विंशत्या भागै समचतुरस्रघनयोजनप्रमितपल्यगतो रोमराशिर्भवति तादृशैरेकोनविंशत्या भागैः समवृत्तघनयोजनप्रमितपल्यगतो राशिर्भवति, ननु चतुर्विंशत्या भागहरणमेकोनविंशत्या गुणन च किमर्थम्?, उच्यते-एकयोजनप्रमाणवृत्तक्षेत्रस्य करणरीत्यागत योजनत्रयमेकश्च योजनषड्भाग $3\frac{1}{6}$ सवर्णने च जात $\frac{19}{6}$ एतच्च वृत्तपल्यपरिधिक्षेत्रम्, अनेन सह समचतुरस्रपल्यपरिधिक्षेत्र चतुर्योजनरूप गुण्यते-स्थापना यथा- $\frac{19}{6} \times \frac{4}{1}$ अनयो $\frac{19}{6}$ समच्छेदे $\frac{24}{6}$ लाघवार्थं द्वयोरपि छेदापनयने जातं १९--२४ किमुक्त भवति-समचतुरस्रपरिधिक्षेत्रात् वृत्तपरिधिक्षेत्र स्थूलवृत्त्या पञ्चभागन्यूनमिति तत्करणार्थोऽयमुपक्रम इति, स्थूलवृत्तिश्च योजनषड्भागस्य किञ्चिदधिकतया अविवक्षणात्, अथ प्रकृत प्रस्तुम—'ते ण' मिति प्राग्वत्, तानि वालाग्राणि न कुथ्येयु —प्रचयविशेषाच्छुषिराभावाद्वायोरसम्भवाच्च नाऽसारतां गच्छेयुरित्यर्थ, अतो न परिविध्वसेरन् कतिपयपरिशाटनमप्यङ्गीकृत्य न विध्वंस गच्छेयुः अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति, तानि नाग्निर्दहेत् न वायुरपहरेदतीव निचितत्वादग्निपवनावपि तत्र न क्रमेते प्र-

१—भक्तामरस्तोत्रे।

स्यर्थः । तानि च न पूतितया—पूतिभावं कदाचिदागच्छेयुः, न कदाचिद्दुर्गन्धितां प्राप्नुयुरित्यर्थः । अथ केतिकर्त्तव्यता ?, तामेवाह-ततस्तेभ्यो वालाग्रेभ्य , अथवा-'तत' इति तथाविधपल्यभरणानन्तरं वर्षशते २ एकैक वालाग्रमपहृत्य कालो मीयेत इति शेषः , ततश्च यावता कालेन स पल्यः क्षीणो—वालाग्रकर्षणात् क्षयमुपागतः आकृष्टधान्यकोष्ठागारवत् , तथा (नीरजाः)—निर्गतरज कणसूक्ष्मवालाग्रोऽपकृष्टधान्यरज कोष्ठागारवत् , निर्लेपोऽत्यन्तसंश्लेषात्तन्मयतागतवालाग्रलेपापहारादपनीतधान्यलेप-कोष्ठागारवत् , निष्ठितोऽपनेतव्यद्रव्यापनयनमाश्रित्य निष्ठां गतः विशिष्टप्रयत्नप्रमार्जितकोष्ठागारवत् , एकार्थिका वा एते शब्दा अत्यन्तविशुद्धिप्रतिपादनपराः । वाचनान्तरे दृश्यमानं चान्यदपि पदमुक्तानुसारतो व्याख्येयम् , तदेतत्पल्योपममिति , इह च पल्यगतवालाग्राणां सङ्ख्येयैरेव वर्षैस्तदपहारसम्भवात् संख्येयवर्षकोटाकोटीमानं बादरपल्योपमं ज्ञेयम् , न चानेनात्र वक्ष्यमाणसुषमसुषमादिकालमानाद्यधिकारः परं सूक्ष्मपल्योपमस्वरूपसुखप्रतिपत्तये प्ररूपितमिति ज्ञायते तेन पूर्वोक्तमेकैकवालाग्रमसंख्येयखण्डीकृत्य भृतस्योत्सेधाङ्गुलयोजनप्रमाणायामविष्कम्भावगाहस्य पल्यस्य वर्षशते वर्षशते एकैकवालाग्रापहारेण सकलवालाग्रखण्डनिर्लेपनाकालरूपमसंख्येयवर्षकोटाकोटीप्रमाणं सूक्ष्मपल्योपमं विचित्राकृतिराचार्यस्येति सूत्रकारेणानुक्तमपि स्वयं ज्ञेयं , तेनैव च प्रस्तुतोपयोगः । अन्यथाऽनुयोगद्वारादिभिः सह विरोधप्रसङ्गादिति सर्वं सुस्थम् । एवमग्रे सागरोपमेऽपि ज्ञेयम् , अथ सागरोपमस्वरूपं गाथापद्येनाह—' एएसिं पल्लाण ', मित्यादि , एतेषामनन्तरोदितानां पल्यानामिति पदैकदेशे , पदसमुदायोपचारात् पल्योपमाना या दशगुणिता कोटाकोटिर्भवेत् तत्सागरोपमस्यैकस्य भवेत् परिमाणमिति , प्रायः सर्वं कण्ठ्यं , नवरमेतेन सागरोपमप्रमाणेन न न्यूनाधिकेनेत्यर्थः चतस्रः सागरोपमकोटाकोट्यः कालः सुषमसुषमा । जं० २ वक्ष० ।

सुसमा—सुषमा—स्त्री० । सुष्ठु समा यस्यां सा सुषमा । अवसर्पिण्या द्वितीये उत्सर्पिण्याश्च पञ्चमारके, स्था० १ ठा० ।

तिण्णि सागरोवमकोडीओ कालो सुसमा । भ० ६ श० ७ उ० ।

सुषमा संसारिणं सुखाय चेति प्ररूपणायाह—

सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा, तं जहा—अकाले ण वरिसइ १, काले वरिसइ २ असाधू ण पुज्जंति ३ , साधू पुज्जंति ४, गुरूहिं जणो सम्मं पडिवन्नो ५ , मणो सु (दु) हया ६, वइसु (दु)हया ७। (सू० ५५६+)

'ओगाढं' त्ति अवतीर्णाम् अवगाढा वा प्रकर्षप्राप्तामिति अकाल -अवर्षा, असाधव -असंयता गुरुषु-मातापितृधर्माचार्येषु 'मिच्छं' मिथ्याभावं विनयभ्रंशमित्यर्थ 'प्रतिपन्न ' आश्रित', ' मणोदुहय ' त्ति मनसो मनसा वा दु खिना-दुखितत्वं दु खकारित्वं वा द्रोहकत्व वा , एवं ' वयदुहये '-स्यपि व्याख्येयमिति । ' सम्मं ' ति सम्यग्भावं विनयमित्यर्थः । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

दसहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणिज्जा, तं जहा—अकाले न वरिसइ, तं चेव विपरीतं, ०जाव मणुण्णा फासा । (सू० ७६५ +) स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुसमाउत्त—सुषमायुक्त—त्रि० । सुष्ठैकीभावेन युक्ते, दश०५अ० ।

सुसमाहरण—सुषमाहरण—न० । सुष्ठूद्योगेन ग्रहणे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सुसमाहि—सुसमाधि—स्त्री० । स्वस्थचित्तवृत्तौ , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सुसमाहिइंदिय—सुसमाहितेन्द्रिय—त्रि० । सुप्रणिहितेन्द्रिये , दश० ७ अ० ।

सुसमाहिय—सुसमाहित—त्रि० । दर्शनादिषु सम्यगाहिते,आव० ३ अ० । ज्ञानदर्शनचारित्ररूपसमाधिवति, दश० ५ अ० । ज्ञानादिषु यत्नपरे, दश० ३ अ० । उद्युक्ते, दश० ६ अ० । निवृत्तविषयव्यापारे,दश० २ चू० । सुतराम्-अतिशयेन समाधियुक्ते, उत्त० २० अ० ।

से किं तं जोगपडिसंलीणया ?, जोगपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—अकुसलमणनिरोहो वा कुसलमणउदीरणं वा मणस्स वा एगत्तीभावकरणं, अकुसलवइनिरोहो वा कुसलवइउदीरणं वा वइए वा एगत्तीभावकरणं । से किं तं कायपडिसंलीणया ?, कायपडिसंलीणया जं णं सुसमाहियपमंतसाहरियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिंदिए अल्लीणे पल्लीणे चिट्ठति । सेत्तं कायपडिसंलीणया । (सू० ८०२ ×)

' मणस्स वा एगत्तीभावकरणं ' मनसो वा ' एगत्त ' त्ति विशिष्टैकाग्रत्वेनैकता तद्रूपस्य भावस्य करणमेकताभावकरणम् , आत्मना वा सहात्यैकता-निरालम्बनत्वं तद्रूपो भावस्तस्य करणं यत्तत्तथा 'वईए वा एगत्तीभावकरणं ' ति वाचो वा विशिष्टैकाग्रत्वेनैकतारूपभावकरणमिति ' सुसमाहियपसंतसाहरियपाणिपाए ' त्ति सुष्ठु-समाहितः—समाधिप्राप्तो बहिर्वृत्त्या स चासौ प्रशान्तश्चान्तर्वृत्त्या यः स तथा संहृतम्-अविक्षिप्ततया धृतं पाणिपादं येन स तथा ततः कर्मधारयः 'कुम्मो इव गुत्तिंदिए' त्ति गुप्तेन्द्रियो गुप्त इत्यर्थः । क इव ?-कूर्म इव, कस्यामवस्थायामित्यत्र एवाह— 'अल्लीणे पल्लीणे ' त्ति आलीन -ईषल्लीनः पूर्वं प्रलीनः पश्चात् प्रकर्षेण लीनस्तत कर्मधारयः । भ० २५ श० ७ उ० ।

सुसमाहियप्पण—सुसमाहितात्मन्—त्रि० । मनोवाक्कायैः सुविशुद्धे, दश० ६ अ० ४ उ० ।

सुसमाहियलेस्स—सुसमाहितलेश्य—त्रि० । सुष्ठु असावद्यानुष्ठानात् शोभना समाहिता गृहीता लेश्याः अन्त -करणवृत्तयस्तैजसीप्रभृतयो वा येन स सुसमाहितलेश्यः । अकलुषवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

सुसमिय—सुसमित—त्रि० । सुष्ठु पञ्चभिः समितिभिः सम्यग् इतः प्राप्तो ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमसौ सुसमितः । समितिसहिते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । तं० ।

सुसवण—सुश्रवण—त्रि० । सुष्ठु श्रवणं शब्दोपलम्भो येषां ते

तथा । शोभनश्रवणेषु जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० ।

सुसागय-सुस्वागत-न०।अतिशयेन स्वागते,भ०२ श० १ उ० ।

सुसाण-श्मशान-न० । पितृवने, शवस्थान, उत्त० ३४ अ० । आचा० । कल्प० । प्रश्न० । आ० म० ।

सुसाणकम्मंत-श्मशानकर्मान्त-न० । श्मशानगृहे, यत्र शवदाहः क्रियते । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

सुसाणगिह- श्मशानगृह-न०। पितृवनगृहे, भ० ३ श०७ उ०।

सुसाम-सुसामन्-न०।सप्तमदेवलोकविमानभेदे,स०१७सम० ।

सुसामण्णया-सुश्रामण्यता-स्त्री०। शोभनः पार्श्वस्थादिदोषवर्जिततया मूलोत्तरगुणसंपन्नतया च स चासौ श्रमणश्च तद्भावस्तत्ता । निरतिचारचारित्रे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुसामण्णरय-सुश्रामण्यरत-त्रि० । शोभने श्रामण्ये रते, भ० २ श० १ उ० । अतिशयेन श्रमणकर्माशक्ते, औ० ।

सुसामाइय--सुसामायिक--त्रि०। सुष्ठु समभावतया सामायिकं समशत्रुमित्रभावो यस्य स सुसामायिकः । सामायिकस्य शोभनेऽनुष्ठानके, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुसावग--सुश्रावक-पुं० । सम्यक्त्वाणुव्रतादिसकलक्रियाकलापोपेते, दर्श० ३ तत्त्व । श्रमणोपासकविशेषे, पञ्चा० १२ विव० ।

सुसाहिय--सुसाधित--त्रि० । सुष्ठु प्रतिपादिते,प्रश्न० ४ संव० द्वार । साधौ, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

सुसाहु-सुसाधु-पुं० । निर्वाणसाधकयोगसाधनपरे साधौ, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

सुसाहुजुत्त-सुसाधुयुक्त-त्रि०।सुसाधोरुद्यतविहारिणो ये समाचारास्तैः समायुक्त मध्यमपदलोपी समासः । स्थानशयनासनादावुपयुक्ते."परक्कमेयावि सुसाहुजुत्ते"सूत्र०१ श्रु०१४अ०

सुसाहुवाइ--सुसाधुवादिन्--पुं० ।सुष्ठु शोभन हित मित प्रिय वदितु शीलमस्येत्यसौ सुसाधुवादी । सम्यग्भाषासमिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

सुसिक्खा--सुशिक्षा--स्त्री० । ग्रहणासेवनाभ्या सम्यक्पालने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । व्य० ।

सुसिणिद्धदंत--सुस्निग्धदन्त--त्रि० । अरूक्षदन्ते, तं० ।

सुसिर--सुषिर--न० । आनतादिषु विमानेषु अन्यतमे विमाने, स० १६ सम० । औ० । काहलादिवत् कोष्ठवाद्ये, स्था० २ ठा० ३ उ० । रा० ।

सुसिलिट्ठ--सुश्लिष्ट--त्रि० । सुसन्धिके , आ० १ श्रु० १ अ० । तं० । अत्यन्तसम्बद्ध,पञ्चा० १८ विव० । औ० । कल्प० । सुघटित,प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । रा० । सम्बद्ध. रा० । अविशर्वरे, भ० ११ श० ११ उ० ।

सुसिलिट्ठपरिघट्ठ- सुश्लिष्टपरिघृष्ट--त्रि० । यथा भवत्येवं परिघृष्टे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुसीमा--सुसीमा--स्त्री०। मन्दरस्य पूर्वे शीताया महानद्या दक्षिणे वत्सस्य विजयक्षेत्रस्य राजधान्याम् , "सुसीमा कुंडला चेव जाव " त्ति करणात् । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

दो सुसीमाओ । स्था० २ ठा० ।

जम्बूद्वीप महाविदेहे वर्षे वत्सो विजयः, सुसीमा राजधानी, विजयविभाजकस्त्रिकूटनामा वक्षस्कारपर्वतः सुवत्सो विजय । जं० ८ वक्ष० । ('वच्छ' शब्द षष्ठे भागे इयं दर्शिता ।) धराभिधानस्य कौशाम्बीमहाराजस्य भार्यायां पद्मप्रभस्वामिमातरि, स्था० ५ ठा० ३ उ० । स० । प्रव० । आव० । स्वनामख्यातायां कृष्णवासुदेवाग्रमहिष्याम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुसील-सुशील-न० । शोभने समाधाने, चारित्रे च । उत्त० १२ अ० । उद्युक्तविहारिणि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सुष्ठु शील-स्वभावो यस्येति । उत्त० २ अ०। शोभनाचारवति, औ० । अष्टादशसहस्रशीलाङ्गोपेते. ध० ३ अधि० ।

सुसीलभय-सुशीलभूत-त्रि० । सुष्ठु शोभन शील समाधानं चारित्र वा प्राप्ते , उत्त० १२ अ० ।

सुसीलसंसग्ग-सुशीलसंसर्ग-पुं०। शीलवद्भिः सम्बन्धे, दश० १० अ० ।

सुसुक्कसुक्क-सुशुल्कशुल्क-न० । सुष्ठु शुल्कवच्छुल्के धान्ये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सुसुज्ज-सुसूर्य-न० । विमानभेदे, स० ।

सुसुज्जं सुज्जवित्तं सुज्जप्पभं (स०) विमाणं जे देवत्ताए उववण्णा तेसि णं देवाणं णवसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । (सू० ६) स० ६ सम० ।

सुसुत्त-सुसूत्र--न० । सुष्ठु सत्ये सूत्रे, आव० ५ अ० । कणादमतानुगामिभि -"सुसूत्रमासूत्रितम" सम्यगागमः प्रपञ्चितः । अथवा-सुसूत्रमिति क्रियाविशेषणं शोभन सूत्रं-वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञान यत्रैवमासूत्रित तत्तच्छास्त्रार्थोपनिबन्ध कृत इति हृदयम् , सूत्र तु सूत्रनाकारिग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोरिति अनेकार्थवचनात । स्या० ।

सुसुमार-सुसुमार-पुं० । जलचरविशेषे, प्रज्ञा० ।

से किं तं सुसुमारा सुसुमारा एगागारा पण्णत्ता , से त्तं सुसुमारा । (सू० ३३ +) प्रज्ञा० १ पद ।

सुसुविण-सुस्वप्न-पुं० । शोभना स्वप्नाः 'सुस्वप्नाः' । श्वेतसुरभिपुष्पच्छत्रातपत्रचामरादिस्वप्नेषु, षो० १४ विव० ।

सुसूर-सुसूर-न० । चतुर्थदेवलोकविमानभेदे, स० ।

सुसूरं सुरावत्तं (स०) विमाणं देवत्ताए उववण्णा तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं पंचसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । (सू०५×) स० ५ सम० ।

सुसेण-सुषेण-पुं० । अष्टसप्ततितमे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । भरतचक्रिणः सेनापतौ , जं० ३ वक्ष० । आ० म० । ('भरह'शब्दे चतुर्थभागे १४४३ पृष्ठे कथा गता । शाखाञ्जनीराजस्य महाचन्द्रस्यामात्ये , विपा० १ श्रु० ४ अ० । ('सगड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता ।) शाखाञ्जन्यां नगर्यां सुभद्राख्यसार्थवाहभद्राभिधानतद्भार्ययोः पुत्र शकटः स च सुषेणाभि

धानामात्येन सुदर्शनाभिधानगोणकाव्यतिकरे सगणिको विनाशितः। स्था० १० ठा० ३ उ०।

सुसेणा--सुषणा--स्त्री० । रक्तामहानदीसङ्गतायां महानद्याम्, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

सुस्समण--सुश्रमण--पुं०। मुनौ, आचा० २ श्रु० ४ चू०।

सुस्सर--सुस्वर--त्रि०। शोभनषड्जादिस्वरविशेषे, प्रश्न० ४ संव० द्वार। आ० म०। रा०। सुस्वरघोषे, जं० ३ प्रति० ४ अधि०। "सुस्सराओ सुस्सरघोसाओ" जी० ३ प्रति० ४ अधि०। नि० चू०। ज०।

सुस्सरणाम- सुस्वरनामन्--न०। स्वरनामकर्मभेदे, यदुदयवशाज्जीवस्य स्वरः श्रोतृणां प्रीतिहेतुरुपजायते तत्सुस्वरनाम। प० सं० ३ द्वार। कर्म०। आ०। प्रव०। रा०। ज०।

सुस्सरपरिवायिणी--सुस्वरपरिवादिनी--स्त्री०। वीणाविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

सुस्सरा--सुस्वरा--स्त्री०। गीतरतेर्गन्धर्वेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० ३ उ०। ज्ञा०। आ० चू०।

सुस्सुयबहुस्सुय--सुश्रुतबहुश्रुत--पुं०। सुश्रुतम् शोभनमाकर्णितं बहु च श्रुतं येन स सुश्रुतबहुश्रुतः। तथाविधे बहुश्रुते, यस्य बह्वपि श्रुतं न विस्मृतिपथमुपयाति स सुश्रुतबहुश्रुत। अथवा बहुश्रुतोऽपि सन् यस्तस्योपदेशेन वर्त्तते सन्मार्गानुसारित्वात् स सुश्रुतबहुश्रुतः। व्य० १० उ०।

सुस्सू--श्वश्रू--स्त्री०। श्वशुरस्त्रियाम्, बृ० २ उ०।

सुस्सूगुज्झ--श्वश्रूगुह्य--न०। श्वश्रवा सम्बन्धिनि गुह्ये, बृ० २ उ०। (कौतूहले श्वश्रूगुह्यदृष्टान्तः ' वसहि ' शब्दे षष्ठभागे गत.।)

सुस्सूसण--सुश्रूषण--न०। विधिवदनतिदूरासन्नतया सेवने, दश० ६ अ० १ उ०। व्य०। आचा०।

सुस्सूसणाविणय--सुश्रूषणाविनय--पुं०। दर्शनविनयभेदे, भ० २५ श० ७ उ०। (' विणय ' शब्दे षष्ठभागे स्वरूपम्।)

सुस्सूसमाण--सुश्रूषमाण--त्रि०। श्रोतुमिच्छति विनययुक्ते, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। आव०। आ० म०। औ०। सू० प्र०। रा०। ज्ञा०। दश०। भ०। आचा०। श्रोतु प्रवृत्त, सूत्र० १ श्रु० १ अ०। परिचर्यति, द्वा० २५ अष्ट०। सुश्रूषां कुर्वाणे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। धर्मं श्रोतुमिच्छति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०।

सुस्सूसा- शुश्रूषा--स्त्री०। गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा सुश्रूषा। गुर्वादिवैयावृत्ये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। विधिवददूरासन्नतया सेवने, द्वा० २८ द्वा०। पञ्चा०। आ० म०। सद्बोधायन्ध्यनिबन्धनधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छायाम्, पञ्चा० ६ विव०। ध०। यो० बिं०। श्रवणेच्छायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। पञ्चा०।

सुस्सूसाभावकरण--सुश्रुश्रूषाभावकरण--न०। धर्मशास्त्रं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा तल्लक्षणो भावः -परिणामस्तस्य करणं निर्वर्त्तनं श्रोतुस्तैर्वचनैरिति। श्रोतु श्रवणेच्छोत्पादनं, शुश्रूषामनुत्पाद्य धर्मकथने प्रत्युतानर्थसम्भव., यदुक्तं च- 'स खलु पिशाचकी वातकी वा ये परेऽनर्थिनि याचमुदारयति।' ध० १ अधि०।

सुस्सूसावयणकर--शुश्रूषावचनकर- त्रि०। पूजाप्रधानवचनकरणशीले, दश० ६ अ० २ उ०।

सुस्सूसु--शुश्रूषु--त्रि०। श्रोतुमुपस्थिते, ध० १ अधि०।

सुस्टु--सुष्ठु--अव्य०। " ष्ट-ष्ठयोः स्टः " ॥ ८ । ४ । २९० ॥ द्विरुक्तस्य टकारस्य षकाराक्रान्तस्य ठकारस्य च मागध्यां सकाराक्रान्तः टकारो भवति। इति ष्ठस्य स्टः। शोभने, प्रा०।

सुह--शुभ--न०। पुण्ये. आव० ४ अ०। उत्त०। सूत्र०। आ० म०। संक्लेशविरहिते, उत्त० १ अ०। सुकर्मणि, स्था० ६ ठा० ३ उ०। औ०। शुभगन्धस्पर्शात्मके कर्मणि. जी० १ प्रति०। शोभने, त्रि०। आव० ४ अ०। स्था०। उत्त०। कल्याणहेतौ, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। रा०। कोमले, रा०। प्रधाने, रा०। जं०। मङ्गलभूते, रा०। शुभाध्यवसाये तदात्मकत्वात् सामायिके, नं०। आ० म० १ अ०। औ०।

सुह--न०। सुखयतीति सुखम्, शर्मणि, आ० १ श्रु० १ अ०। जं०। दशा०। भ०। निर्वृत्तौ, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। सातोदये, सूत्र० १ श्रु० २ अ०। यथेप्सितविषये, उत्त० ७ अ०। तृषितस्य जलपान इवानन्दे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। पा०। आत्मनो विशेषगुणे, सुखयुक्त. त्रि०। विशे०।

गुरोः सुखत्वमिति व्युत्पत्तिः सुखस्तर्हि कथमाचार्य इत्याह—

सुपसंसत्थो खाणिं-दियाणि सुद्धिंदिओ सुहो ऽभिमओ।
वसिंदिओ जमुत्तं,असुहो अजिइंदिओ ऽभिमओ॥३४४३
सुहमहवा निव्वाणं, तव्वं सेसमुवयारओ ऽभिमयं।
तस्साहणं गुरु त्ति य, सुहमत्रे पाणमन्नं व ॥ ३४४४ ॥

सुशब्द.—प्रशंसार्थो निपातः खानि-इन्द्रियाणि, शोभनानि खानि यस्यासौ सुखः शुद्धेन्द्रियोऽभिमतः। किमुक्तं भवति-वश्येन्द्रियो-निर्विकारेन्द्रिय इति यदुक्तं भवति; अजितेन्द्रियस्तु सुखोऽभिमत इति। अथवा-सुखयतीति सुखं तथ्यं निरुपचरितं निर्वाणमुच्यते,शेषं तु सांसारिकमुपचारतः सुखमभिमतम्। ततोऽस्य द्विविधस्यापि सुखस्य साधनं कारणं गुरुरित्यसौ सुखम्, कारणे कार्योपचाराद् अन्ने भक्ते प्राणसज्ञावदिति, अन्नं—प्राणा तृप्तिस्तन्दुला इत्यादिवद्यथोक्तोभयरूपसुखहेतुत्वात् सुखो, गुरुरित्यर्थः।

अथवा अन्यथा सुखशब्दार्थमाह—

जं च सियं खेहिं तो, ऽणुग्गहरूवं तओ सुहं तं च।
अभयाई तप्पयाया, सुहमिहतब्भत्तिभावाओ ॥३४४६॥

यद्वा-सुष्ठु हितं-प्राप्तं सितं खेभ्यः-इन्द्रियेभ्य. यैरिन्द्रियैः करणभूतैरित्यर्थः. निपातनात् सुखमुच्यते। तत्कुतः प्राप्तम्? इत्याह-ततो गुरोः सकाशात् सर्वे जीवा न हन्तव्या इत्यादि गुरुकृतानुग्रहरूपमभयप्रदानादि द्रष्टव्यम्, आदिशब्दात्-ज्ञानादिपरिग्रहः गुरुप्रदत्तेनाभयप्रदानादिना जीवाः पञ्चभिरपीन्द्रियैः सुखमनुभवन्ति। अतस्तत्प्रदाता अभयादिप्रदाता गुरुरपीह सुखम्, तद्भक्तिभावात्सुखोपचारात्कारणे कार्योपचारादित्यर्थः। विशे०। शरीरात्मैदाभावे, औ०। रा०। प्रश्न०। दर्श०। उत्त०। " गामाणुगामं सुहं सुहेणं वि-

हयमाणे " सुख सुखेन-शरीरखेदाभावेन ,उपसर्गाद्यभावेन च विहारेण वा ग्रामादिषु विहरन् । रा० ।

सुखं सामान्यत आह—

दसविहे सुहे पएणत्ते,तं जहा-"आरोग्ग १ दीहमाऊ२, अड्डेज्जं ३ काम ४ भोग ५ संतोसो ६ । अत्थि ७ सुहभोग ८ निक्ख-म्ममेव ६ तत्तो अणाबाहे १०॥१॥"(सूत्र०७३७)

'दसविहे' इत्यादि , 'आरोग्ग' गाहा. आरोग्य—नीरोगता१, दीर्घमायु —चिर जीवितं, शुभमितीह विशेषणं द्रष्टव्यमिति २ , 'अड्डेज्ज' त्ति आढ्यत्व—धनपतित्वं सुखकारणत्वात्सुखम् , अथवा-आदेयं क्रियमाणा इज्या पूजा आद्येज्या, प्राकृतत्वादड्डेज्जत्ति ३ , 'काम ' त्ति कामौ—शब्दरूपे सुखकारणत्वात् सुखम् ४, एवं ' भोगे ' त्ति भोगा —गन्धरसस्पर्शा ५ , तथा सन्तोष —अल्पेच्छता—तत्सुखमेव आनन्दरूपत्वात्सन्तोषस्य , उक्तं च-" आरोग्गसारियं मा-णुसत्तणं सच्चसारिओ धम्मो । विज्जा निच्छयसारा , सुहाई सन्तोससाराइं ॥१॥" इति ६ 'अत्थि' त्ति येन येन यदा यदा प्रयोजन तत्तत्तदा तदाऽस्ति—भवति जायते इति सुखमानन्दहेतुत्वादिति ७, 'सुहभोग ' त्ति शुभ—अनिन्दितो भोगो—विषयेषु भोगक्रियेति स सुखमेव सातोदयसम्पाद्यत्वात् तस्येति ८, तथा ' निक्खम्ममेव ' त्ति निष्क्रमणं निष्क्रम —अविरतिजम्बालादिति गम्यते , प्रव्रज्येत्यर्थ , इह च द्विर्भावो नपुंसकता च प्राकृतत्वात् , एवकारोऽवधारणे , अयमर्थ —निष्क्रमणमेव भवस्थाना सुख , निराबाधस्वायत्तानन्दरूपत्वात् , अत एवोक्तं—" दुवालसमासपरियाए समणे निग्गथे अणुत्तराणं देवाणं तेउलेस्सं वीइवयइ " त्ति । तथा " नैवास्ति राजराजस्य, तत्सुखं नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधो-र्लोकव्यापाररहितस्य ॥१॥ " इति , शेषसुखानि हि दु खप्रतीकारमात्रत्वात् सुखाभिमानजनकत्वाच्च तत्त्वतो न सुखं भवन्तीति ६ , ' तत्तो अणबाहे ' त्ति ततो-निष्क्रमणसुखानन्तरम् अनाबाधं-न विद्यते आबाधा-जन्मजरामरणक्षुत्पिपासादिका यत्र तदनाबाधं, मोक्षसुखमित्यर्थ , एतदेव च सर्वोत्तम , यत उक्तम्—"नवि अ-त्थि माणुसाणं तं सोक्खं न वि य सव्वदेवाणं । जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १ ॥ " इति १०, निष्क्रमणसुखं चारित्रसुखमुक्तम् । स्था० १० ठा० ३ उ० । "दव्वाविपहिं निच्चा एगतेणेव जेसि अप्पाओ । होइ अभावो तेसिं, सुह दुहसंसारमोक्खाणं ॥ " दश०७ अ० । (सिद्धसुखं ' सिद्ध ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम् ।) (सुखदु खकारणयोः सिद्धि ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २५३ पृष्ठे उक्ता ।) सुखहेतुत्वात् सुखम् । उपशमश्रेण्यां शमक प्रत्यपूर्वकरणा-निवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायरूपाया गुणस्थानावस्थायाम्, सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । विपा० । राज्यैश्वर्यादौ, अष्ट० २१ अष्ट० । अनायोसि , न० । शरीरमनसोऽनुकूले , आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आव० १ अष्ट० ।

सुहग्ग(आ)- शुभग(गा)-पु० । स्त्री० । " ऊत्सुभगमुसले वा " ॥८।१।११३॥ इत्यनयाऽऽदेरुत् विकल्पेन । स्त्रीभि काम्ये पुरुषे, पुरुषेण च काम्यायां स्त्रियाम् , प्रा० १ पाद ।

सुहकम्माणुबंध-शुभकर्मानुबन्ध-पु० । कुशलकर्मानुबन्धे,पं० सू० १ सूत्र ।

सुहकामय-सुखकामक-त्रि० । सुखमानन्दरूपं तं कामयन्त इति । सुखेच्छौ , भ० १४ श० । प्रति० ।

सुहग-सुभग-त्रि० । सुरूपे , औ० ।

सुहगइ-सुखगति-स्त्री० । प्रशस्तविहायोगतौ,कर्म० २ कर्म० ।

सुहगुरुजोग-शुभगुरुयोग-पु० । विशिष्टचारित्रयुक्ताचार्यसम्बन्धे , ध० २ अधि० ।

सुहजीवि-सुखजीविन् -पु०।सुखेन जीवनशीले,"मज्झिमम्मरमणाओ, हवंति सुहजीविणो । आयई सिप्पई देई, मज्झिमम्मगमिस्सओ ॥१॥ " अनु० ।

सुहजोग-शुभयोग-पु० । साधकचन्द्रनक्षत्रादिसम्बन्धे , पञ्चा० ८ विव० । शुभे संयमव्यापारे , प्रश्न १ संव० द्वार । प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापारेषु , ध० ३ अधि० ।

सुहज्झाण-शुभध्यान-न० । धर्म्मशुक्ललक्षणे ध्यानभेदे , आव० ४ अ० ।

सुहड-सुहृत-त्रि०।सुष्ठु हृतं सुहृतस्य वित्तमिति सुहृतम् ।दश० ७अ०। सम्यक्हृते , उत्त० १ अ० । ' सुहडे त्ति नो वए ' तत्र सुहृतमुपकरणमतिशयोपशान्तये । उत्त० १ अ० ।

सुहणाणज्झाणमग्ग-शुभज्ञानध्यानमग्न-त्रि० । शुद्धे यथार्थे परिच्छेदनभेदज्ञानविभक्तस्वपरत्वे च स्वस्वरूपैकत्वानुभवतन्मयत्वध्यानमग्ने , अष्ट० २ अष्ट० ।

सुहणाम-शुभनामन्-न० । नामकर्मभेदे , यदुदयवशान्नाभेरुपर्यवयवा शुभा भवन्ति । कर्म० ६ कर्म० । आ० । पं० सं० ।

सुहणामा-शुभनामा-स्त्री० । लोकोत्तररीत्या पक्षस्य पञ्चम्यां तिथौ, ज० ७ वक्ष० । सू० प्र० । च० प्र० ।

सुहणिसण्ण-सुखनिषण्ण-त्रि० । अनाबाधवृत्त्योपविष्टे, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सुहणुपाल-सुखानुपाल-त्रि० । सुखेनानुपाल्यते इति सुखानुपाल । सुखे , पञ्चा० १७ विव० ।

सुहत्थ-सुखार्थ-त्रि० । सुखनिमित्ते, रा० ।

सुहत्थि-सुहस्तिन्-पु० । गन्धहस्तिनि, भ० १५ श० । स्थूलभद्रस्वामिना दशपूर्वधरे शिष्ये , कल्प० २ अधि० ८ क्षण । स्था० । ज्ञा० । आ० म० । आव० । आ० क० । न० । आ० चू० । राजगृहवास्तव्येषु कालोदाय्यादिष्वन्ययूथिकेषु अन्यतमे भ० ७ श० १० उ० । मन्दरस्य दक्षिणपूर्वे शीतायाः दक्षिणदिग्गजहस्तिकूटे ज० ४ वक्ष० ।

सुहद-सुहृत्-पु० । "स्वरादसंयुक्तस्यानादे " ॥८।१।१७६॥ इत्यधिकारात् । क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥ ८।१।१७७ ॥ समासे तु वाक्यविभक्त्यपेक्षया भिन्नपदत्वमपि विवक्ष्यते तेन तत्र यथादर्शनमुभयमपि भवति । सुहदो । सुहओ इत्यादि । मित्रे , प्रा० १ पाद ।

सुहदव्वाइसमुदय- शुभद्रव्यादिसमुदय-पुं० । प्रशस्तद्रव्यप्रभृतीनां समवाये, पञ्चा० १५ विव० ।

सुहधाउजोगभाव शुभधातुयोगभाव–पुं० । शुभानां सुन्दराणां धातूनां वातपित्तकफानां योगानां कायादिव्यापाराणां भावः सत्ता शुभधातुयोगभावः । शुभानां धातूनां संबन्धे, पञ्चा० ५ विव० ।

सुहदुक्खसंपओग–सुखदुःखसम्प्रयोग–पुं० । सुखदुःखयोरकत्रिपते योगे, दश० १ अ० ।

सुहदुक्खसमसिय–सुखदुःखसमन्वित–त्रि० । सुखमानन्दरूप दुःखमसातोदयरूपमिति ताभ्यां समन्वितो युक्तः । साता-सातयुक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सुहदुक्खिय–सुखदुःखित–त्रि० । सुखदुःखोपसर्पणके, व्य० ४ उ० ।

सुहदुहनिव्विसेस–सुखदुःखनिर्विशेष–त्रि० । हर्षशोकादिरहित, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सुहपगइ–शुभप्रकृति–स्त्री० । पुण्यप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।

सुहपडिबोहा–सुखप्रतिबोधा–स्त्री० । सुखेनाकृच्छ्रेण नखच्छोटिकामात्रेणापि प्रतिबोधो–जागरणं स्वप्तुर्यस्यां स्वापवास्थायां सा सुखप्रतिबोधा । निद्राविशेषे, कर्म० १ कर्म० ।

सुहपय–सुखपद–न० । जइ वि अवराहं ण पत्तो तहा वि पच्छित्तं भवतीति लक्षणे प्रायश्चित्तदाने, नि० चू० १ उ० ।

सुहपरिकम्मणा–सुखपरिकर्मणा–स्त्री० । सुखा–सुखकारिणी परिकर्मणा कृतविश्रामणं यस्यां सा सुखपरिकर्मणा । अक्लमबाधनाभेदे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुहपसुत्त–सुखप्रसुप्त–त्रि० । सुखेनैव शयाने, आ० म० १ अ० । आव० ।

सुहप्पदाया–सुखप्रदातृ–त्रि० । सुखदे, " सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दु खाच्च समुद्विजन्ति । तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सुहफल–शुभफल–त्रि० । अभिमतफले, पञ्चा० ४ विव० ।

सुहफास–सुखस्पर्श–त्रि० । सुखः–कोमलः स्पर्शो यस्य स सुखस्पर्शः । शुभस्पर्शे. रा० । चं० प्र० । सू० प्र० । स० । ज० । सुखहेतुस्पर्शे, रा० । आ० म० । च० प्र० ।

सुहभाव–शुभभाव–त्रि० । गुणानुरागरूपेषु शोभनपरिणामेषु, पञ्चा० ७ विव० । प्रायश्चित्ततया विवक्षितसत्परिणामे, पञ्चा० १६ विव० । उदात्ततया प्रवर्धमानप्रशस्ताध्यवसायेषु, पञ्चा० ८ विव० ।

सुहभावजुय–शुभभावयुत–त्रि० । विशिष्टक्रियावत् प्रशस्ताध्यवसायविशेषोपेते, पञ्चा० १८ विव० ।

सुहभाववुड्ढि–शुभभाववृद्धि–स्त्री० । कुशलाशयवृद्धौ, पं० व० ५ द्वार । पञ्चा० ।

सुहभोग–शुभभोग–पुं० । शुभो–निन्दितो भोगो विषयेषु भोगक्रिया यस्येति । अनिन्दितक्रियायुक्ते, स्था० १० ठा० ३ उ० । –सुखभोग–पुं० । सुखमेव सातोदयसुखत्वात्तस्य भोग सुखभोगः । सुखभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुहभोगि–सुखभोगिन्–त्रि० । सुखम्–आत्मीयरूपं भुनक्तीति सुखभोगी । सुखाऽऽस्वादके, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

सुहमण–सुभमनस्–त्रि० । असंक्लिष्टचेतसि, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सुहमेत्त–सुखमात्र–न० । सामान्येनैव वैषयिके सुखे पदपथ्याहारतृप्तिजनितपरिणामासुन्दरसुखकल्पं स्वपरजीवप्रतिष्ठितं तत्सुखमात्रम् । स्वपरनिष्ठिते यत्किञ्चित्सुखे षो० १३ विव० ।

सुहमोय–सुखमोच–त्रि० । सुखेन मोच्यन्ते इति सुखमोचाः । सुखपरित्याज्येषु, बृ० २ उ० ।

सुहम्म–सुधर्मन्–पुं० । वीरजिनेन्द्रस्य पञ्चमे गणधरे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । (श्रीवीरपट्टे श्रीसुधर्मस्वामी पञ्चमो गणधरः तद्वर्णनम् 'अज्जसुहम्म ' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे गतम् ।)

अथ पञ्चमगणधरवक्तव्यतामभिधित्सुराह—

ते पव्वइए सोउं, सुहम्म आगच्छई जिणसगासे ।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १७७० ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरं–सुधर्मनामा द्विजोपाध्यायोऽत्र वक्तव्यः ।

आगतस्य तस्य भगवता किं कृतमित्याह—

आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरा–मरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ॥ १७७१ ॥

व्याख्या पूर्ववदिति । विशे० । कल्प० । आ० म० । (सुधर्मस्वामिन आयुरादि 'गणहर' शब्दे तृतीयभागे ८१६ उक्तम् ।)

सुहम्मा–सुधर्मा–स्त्री० । चमरादीनामिन्द्राणां सूर्यादीनां च महर्द्धिकदेवानां सभा सुधर्मासभा, । देवसभायाम्, रा० । प्रति० । ज० । आ० म० । प्रश्न० । सभानां मध्ये सुधर्मा श्रेष्ठा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो सभा सुहम्मा छत्तीसं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था । (सू० ३६ ×) स० ३६ सम० ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो सभा सुहम्मा, एकावन्न खम्भसयसन्निविट्ठा पण्णत्ता । (सू० ५१ ×) स० ५ सम० । (' सूरियाभ ' शब्दे वक्ष्यते एषा ।)

सुधर्मावर्णक—

कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए० एवं जहा रायप्पसेणइज्जे ०जाव पंचवडिंसगा पण्णत्ता, तं जहा—असोयवडिंसए ०जाव मज्झे सोहम्मवडिंसए से णं सोहम्मवडेंसए महाविमाणे अद्धतेरस य जोअणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं । एवं जहा सूरियाभे, तहेव माणं तहेव उववाओ । सक्कस्स य अभिसेओ तहेव जहा सूरियाभस्स अलंकारअच्चणिया तहेव ०जाव आयरक्ख त्ति, दो सागरोवमाइं ठिई० । सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया के महिड्ढीए ०जाव के महासोक्खे ? । गोयमा ! महिड्ढीए ०जाव महासोक्खे से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयस-

हस्साणं०जाव विहरइ, एवं महिड्डीए०जाव महासोक्खे सक्के देविंदे देवराया सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति (सू० ४०७+)

कहि णं' मित्यादि "एवं जहा रायप्पसेणइज्जे" इत्यादिकरणादेवं दृश्यम्-"पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं एवं सहस्साइं एवं सयसहस्साइं बहुओ जोयणकोडीओ बहुओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं वीइवइत्ता एत्थ णं सोहम्मे नामं कप्पे पण्णत्ते" इत्यादि 'असोयवडिंसए' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"सत्तवण्णवडेंसए चंपगवडेंसए चूयवडेंसए" त्ति विमानाभिधयसूचिका चेयमतिदेशगाथा-" एवं जह सूरियाभे, तहेव माणं तहेव उववाओ । सक्कस्स य अभिसेओ , तहेव जह सूरियाभस्स ॥१॥ " इति एवम्—अनेन क्रमेण यथा सूरिकाभे विमाने राजप्रश्नकृताख्यग्रन्थोक्तं प्रमाणमुक्तं तथैवास्मिन् वाच्यं तथा यथा सूरिकाभाभिधानदेवस्य देवत्वेन तत्रोपपात उक्तस्तथैवोपपातः शक्रस्येह वाच्योऽभिषेकश्चेति,तत्र प्रमाणमायामविष्कम्भसम्बन्धि दर्शितम् शेषं पुनरिदम्-"अयालीसं च सयसहस्साइं बावन्नं सहस्साइं अट्ठ य अडयाले जोयणसए परिक्खेवेणं ति ॥" उपपातश्चैवम्-' तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया अहुणोववन्नमेत्ते चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ,तं जहा—आहारपज्जत्तीए' इत्यादि, अभिषेकः पुनरेवम्-'तए णं सक्के देविंदे देवराया जेणेव अभिसेयसभा तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता अभिसेयसभं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे निसण्णे,तए णं सक्कस्स * देविंदस्स देवरायस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति सद्दावित्ता, एवं वयासी-खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! सक्कस्स *२ महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह' इत्यादि, 'अलंकारअच्चणिया य तहेव' त्ति, यथा सूरिकाभस्य तथैवालङ्कारोऽर्चनिका चेन्द्रस्य वाच्या , तत्र अलङ्कारः, ' तए णं से सक्के देवे तप्पढमयाए पम्हलसूमालाए सुरभीए गंधकासाइयाए गायाइं लूहेइ लूहेत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ अणुलिंपित्ता नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवातिरेगं धवलकणगखचियंतकम्मं आगासफालियसमप्पभं दिव्वं देवदूसजुयलं नियंसेति नियंसित्ता हारं पिणद्धेति' इत्यादीनि अर्चनिकालेशस्त्वेवम्-तए णं से सक्के * २ सिद्धायणं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, आलो० करेत्ता लोमहत्थगं गेण्हइ,लोम० गिण्हत्ता जिणपडिमाओ लोमहत्थेणं पमज्जइ जिण० जित्ता जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएण ण्हाणेइ त्ति०जाव आयरक्ख त्ति अर्चनिकाया परो ग्रन्थस्तावद्वाच्यो यावदात्मरक्षा ,स चैवं लेशतः- तए णं से सक्के देविंदे देवराया सभं सुहम्मं अणुपविसइ अणुपविसित्ता सीहासणे पुरत्थाभिमुहे निसीयइ,तए णं सक्कस्स*२ अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं चउरासीइसामाणियसाहस्सीओ निसीयंति. पुरत्थिमेणं अट्ठ अग्गमहिसीओ, दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भिंतरिया परिसा बारसदेवसाहस्सीओ निसीयंति,दाहिणेणं मज्झिमियाए परिसाए चोद्दसदेवसाहस्सीओ दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए परिसाए सोलस देवसाहस्सीओ पच्चत्थिमेणं सत्त अणीयाहिवइणो । तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो चउद्दिसिं चत्तारि आयरक्खदेवचउरासीइसाहस्सीओ निसीयंति ' इत्यादीति , ' के महिड्डीए ' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्—' के महज्जुइए महाणुभागे के महाजसे के महाबले' त्ति । 'बत्तीसाए विमाणावाससयसाहस्साणं' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्--" चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं ०जाव अन्नेसिं च बहूणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं० जाव कारेमाणे पालेमाणे" त्ति । भ०१० श० ६ उ० ।

सुहय-सुभग-त्रि० । मनोरमे, 'लट्ठं वतं सुहयं मणोरमं चारु रमणिज्ज, ' पाइ० ना० ८ वर्ग ।

सुहर-सुभर-त्रि० । न्यूनोदरतया आहारपरित्यागिनि, दश०८ अ० ।

सुहरा-देशी-चटिकाभेदे, यस्या अधोमुखं नीडं भवति । दे० ना० ८ वर्ग ३६ गाथा ।

सुहरासि-सुखराशि -पुं० । सुखसंघाते,आ० म० १ अ० ।

सुहरिसिगा-सुहरिसिका-स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुहरूव- सुखरूप-त्रि० । सातागौरवस्वभावे , सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सुहलेस्सा-सुखलेश्या-स्त्री० । सुखदतेजसि, जं० ७ वक्ष० । सुखलेश्याश्चन्द्रमसो न शीतकाले मनुष्यलोक इवात्यन्तशीतरश्मय इत्यर्थः , सू० प्र १९ पाहु० ।

सुहवाससुरभिगंध -शुभवाससुरभिगन्ध-पुं० । शुभवासैः सुगन्धचूर्णैः सुष्ठु गन्धे, तं० ।

सुहविण्णप्प-सुखविज्ञाप्य-त्रि० । सुखेनैव प्रबोध्ये, सुहविण्णप्पा सुहण्णो त्ति । नि० चू०२ उ० ।

सुहविण्णवणा-सुखविज्ञापना-स्त्री० । सुखेन विज्ञापना-प्रार्थना यस्यां सा । अनायाससाध्यायां सुप्रतिसेव्यायां क्रियायाम् , बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सुहविवाग-शुभविपाक-पुं० । शुभकर्मपरिणामे विपाकश्रुते , प्रथमविपाके दर्शितोऽयम् । स० १४६ सूत्र ।

सुहविवागोत्तम-शुभविपाकोत्तम-त्रि० । शुभविपाक उत्तमो येषां ते शुभविपाकोत्तमाः । सुखैषिषु, स० १४६ सूत्र ।

सुहविहार-सुखविहार-पुं० । सुखेनैव वासकल्पविधिना विहर्तुं शक्ये , बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सुहवुड्डि-शुभवृद्धि-स्त्री० । कल्याणोपचये सुखवर्द्धने, पञ्चा० ७ विव० ।

सुहवेयणतर–सुखवेदनतर–त्रि०। सुखेन अक्लेशेन वेदनम्–अनुभवनं यस्यासौ सुखवेदनतरः। अक्लेशेनैव वेद्ये, भ० १४ श० २ उ०।

सुहवेयतर–सुखवेद्यतर–त्रि०। अकृच्छ्रानुभवनीये, स्था० २ ठा० १ उ०।

सुहसंकमण–सुखसंक्रमण–न०। सुखस्य-मुक्तिरूपस्य-वा विशिष्टगुणप्रकृतिरूपस्य सङ्क्रमणं-संक्रान्तिः सुखसंक्रमणम्। संसाराद्वा स्वादशुभाद्वा निःसरणेन सुखप्राप्तौ, "सुसमणणरिंदचंदा, सुहसंकमणं ममं दितु।" संथा०।

सुहसंगय–सुखसंगत–त्रि०। आनन्दयुक्ते, द्वा० ३२ अष्ट०।

सुहसंथरण–सुखसंस्तरण–न०। सुखेन निस्तारहेतौ, व्य०४ उ०।

सुहसण्णा–सुखसंज्ञा–स्त्री०। वेदनीयोदयजे सातानुभवे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सुहसयण–शुभस्वजन–पुं०। असंक्लिष्टबान्धवे, पञ्चा० ७ विव०।

सुहसाय–सुखशात–पुं०। सुखस्य वैषयिकस्य शातः सुखशातः। वैषयिकस्य सुखस्य स्पृहानिवारणेनापयने, उत्त०। संयमादिषु सत्स्वपि सुखशातेन एव प्रवर्त्तनीयम् अतस्तत्फलमाह–

सुहसाएणं भंते! जीवे किं जणयइ? सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ अणुस्सुएणं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ २९ ॥

हे भदन्त ! हे स्वामिन् ! सुखस्य वैषयिकस्य शातः स्पृहानिवारणेन अपनयनं सुखशातस्तेन जीवः किं जनयति, गुरुराह–हे शिष्य! सुखशातेन अनुत्सुकत्वं जनयति,विषयसुखेऽनुत्तालत्वं जनयति अनुत्सुकश्च जीवोऽनुकम्पते अन्येतन जीवं दृष्ट्वा अनुकम्पको, दयावान् भवतीत्यर्थः। पुनरनुद्भटोऽभिमानरहित शृङ्गारादिशोभारहित स्यात्। पुनस्तादृशः सन् विगतशोक इह लौकिककार्यभ्रंशादावपि शोचनं न कुरुते पुनस्तादृशो मोक्षार्थी शुभाध्यवसायवर्त्ती कषायनोकषायरूपचारित्रमोहनीयरूपं कर्म्म क्षपयति। उत्त० २९ अ०।

सुहसाय–सुखास्वाद–त्रि०। सुखम् आनन्दरूपमास्वादयन्तीति सुखास्वादाः। सुखभोगिषु, सुखैषिषु, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

सुहसायग–सुखास्वादक–त्रि०। अभिष्वङ्गादिना प्राप्तसुखभोक्तरि, दश० ४ अ०।

सुहसील–सुख(शुभ)सील–त्रि०। सुखं शुभं वा सुखकरत्वाच्छीलं स्वभावो यस्य स सुखशीलः शुभशीलो वा। स०। सुखेन जीवनशीले, नि० चू० १ उ०। ('मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठभागे ऽत्रत्यविस्तरो गतः।)

सुहसीलगुण–सुखशीलगुण–पुं०। सुखशीलस्य-शाताभिलाषिणो गुणाः-पार्श्वस्थादिस्थानानि सुखशीलगुणाः। पार्श्वस्थादिषु शीलगुणेषु, ग० १ अधि०।

सुहसीलवियत्त–सुखशीलव्यक्त–त्रि०। सुखे शीलं व्यक्तं येषां ते सुखशीलव्यक्ताः। पार्श्वस्थादिमन्दधर्मसु, नि० चू० १६ उ०।

सुहसुरभिमणहर–सुखसुरभिमनोहर–पुं०। गन्धान्तरेभ्यः सकाशान्मनोहरेषु, रा०।

सुहसेउकेउबहुल–शुभसेतुकेतुबहुल–त्रि०। शुभाः-प्रधानाः सेतवो-मार्गा आलवालपाल्यो वा केतवो-ध्वजा बहुला अनेकरूपा येषां ते तथा। अनेकैः शुभैः सेतुभिः केतुभिश्च कलिते, जी० ३ प्रति ४ अधि०।

सुहसेज्जा–सुखशय्या–स्त्री०। सुखदाः शय्याः सुखशय्याः। सुखदशय्यायाम्, पा०। ध०।

"चत्तारि य सुहसिज्जाओ पन्नत्ताओ। तत्थ खलु इमा पढमा सुहसेज्जा–से णं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे ना भेयसमावन्ने नो कलुससमावन्ने निग्गंथं पावयणं सद्दहइ पत्तियइ रोएइ निग्गंथं पावयणं सद्दहमाणे पत्तियमाणे रोएमाणे नो मण उच्चावयं नियच्छइ नो विणिघायमावज्जइ। पढमा सुहसेज्जा ॥ १ ॥ अहावरा दोच्चा सुहसेज्जा–से णं मुण्डे भवित्ता ०जाव पव्वइए सएणं लाभेणं तुस्सइ परस्स लभं नो आसाएइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अभिलसइ परस्स लाभं अणासाएमाणे ०जाव अणभिलसमाणे नो मणं उच्चावयं नियच्छइ नो विणिग्घायमावज्जइ दोच्चा सुहसेज्जा ॥ २ ॥ अहावरा तच्चा सुहसेज्जा, से णं मुण्डे भवित्ता ०जाव पव्वइए दिव्वमाणुस्सए कामभोगे नो आसाएइ ०जाव नो अभिलसइ दिव्वमाणुस्सए कामभोए अणासाएमाणे ० जाव अणभिलसमाणे नो मण उच्चावयं नियच्छइ नो विणिग्घायमावज्जइ। तच्चा सुहसेज्जा ॥ ३ ॥ "अहावरा चउत्था सुहसेज्जा, से ण मुण्डे ० जाव, पव्वइए, तस्स णं एवं भवइ जइ ताव अरहन्ता भगवन्ता हट्ठा अरोगा बलिया कल्लसरीरा अन्नयराइं उरालाइं कल्लाणाइं विपुलाइं पयत्ताइं पग्गहियाइं महाणुभागाइं कम्मक्खयकारणाइं तवोकम्माइं पडिवज्जन्ति, किमङ्ग! पुण अहं अब्भोवगमिउवक्कमियं वेयणं तो सम्मं सहामि खमामि तितिक्खेमि अहियासेमि, मम च णं अब्भोवगमिउवक्कमियं वेयणं सम्मं असहमाणस्स अणहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जइ? एगंतसो मे पावे कम्मे कज्जइ, ममं च णं अब्भोवगमिउ ०जाव सम्मं सहमाणस्स ०जाव अहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जइ? एगन्तसो मे निज्जरा कज्जइ। चउत्था सुहसेज्जा ॥ ४ ॥"

अस्य चतुर्थसूत्रस्य व्याख्यानम्–'हट्ठ'त्ति–शोकाभावेन हृष्टा इव हृष्टा, अरोगा 'ज्वरादिवर्ज्जिता, बलिकाः-प्राणवन्तः, कल्पशरीरा-पटुशरीरा, अन्यतराणि अनशनादीनां मध्ये एकतराणि, उदाराणि आशंसादोषरहिततयोदारत्वेनयुक्तानि, कल्याणानि मङ्गलस्वरूपत्वात् विपुलानि बहुदिनत्वात्, प्रयतानि प्रकृष्टयत्नयुक्तत्वात्, प्रगृहीतानि आदरप्रतिपन्नत्वात्, महानुभागानि अचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात्, ऋद्धिविशेषकारणत्वाद्वा कर्मक्षयकारणानि मोक्षसाधनत्वात्,

तथ कर्माणि तप क्रिया , प्रतिपद्यन्ते आश्रयन्ति, 'किमङ्ग ! पुण' त्ति—किं प्रश्ने. अङ्गेत्यामन्त्रणेऽलङ्कारे. सा पुनरिति पूर्वोक्तार्थवैलक्षण्यदर्शने , शिरोलोचब्रह्मचर्यादीनामभ्युपगमे भवाभ्युपगमिकी उपक्रम्यतेऽनेनायुरित्युपक्रमो ज्वरातीसारादिस्तत्र भवा या सौपक्रमिकी तां वेदनां , सहामि तदुत्पत्त्यविमुखतया. क्षमे विकोपतया. तितिक्षामि अदीनतया. अध्यासयामि सौष्ठवातिरेकेण तत्रैव वेदनागामधस्तानं करोमीत्यर्थः । मन्ये निपातो वितर्कार्थ , क्रियते भवतीत्यर्थः । पा० ।

सुहहत्थ–शुभहस्त–पुं० । प्रशस्तकरे, विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

सुखहस्त–पुं० । सुखहेतुहस्ते, विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

सुहहेउ–सुखहेतु–पुं० । भाविसुखकारणे, पञ्चा० १५ विव० ।

सुहा–सुधा–स्त्री० । अमृते , अष्ट० ११ अष्ट० । स्था० । पकपाषाणशर्करासु शुभ्रायाम् , पञ्चा० २ विव० ।

शुभा–स्त्री०।शुभविपाकायां कर्मप्रकृतौ,पं०सं०३द्वार। यास्तु जीवप्रमोदहेतुस्त्वोपेनास्ता शुभा । पं० सं० ३ द्वार । प्रति० । षष्ठदशस्य तीर्थकरस्य प्रथमप्रवर्तिन्याम् , प्रव० ६ द्वार ।

सुखा–स्त्री० । विशिष्टाह्लादरूपायाम , पञ्चा० ३ विव० ।

सुहाकम्म–सुधाकर्मन्–न० । यत्र सुधापरिकर्म क्रियते तादृशे, स्थाने, दशा० १० अ० । आचा० ।

सुहाकुंड–सुधाकुण्ड–न० । श्रीजीवदवीरस्वामिप्रतिमाविभूषिते स्वनामख्याते तीर्थे, ती० ४३ कल्प ।

सुहागदेवी–सुहागदेवी–स्त्री० । जिनदासाभिधश्रावकभार्यायाम् , सेन० ३ उल्ला० । ('सिवंकर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता ।)

सुहाणुबंध–शुभानुबन्ध–पुं० । अविच्छिन्नकल्याणसन्ताने , पञ्चा० ७ विव० । कुशलानुबन्धे, पञ्चा० ७ विव० ।

सुहाणुबंधि शुभानुबन्धिन्–त्रि०।कुशलं प्रत्यायाति पुनर्बोधिलाभभोगप्रव्रज्याकेवलशैलेश्यपवर्गानुबन्धिषु आव० ४ अ० ।

सुहाभिगम–सुखाभिगम–त्रि० । सर्वजननयनाना कान्ते, स० ।

सुहायपरिणामरूव–सुधातमपरिणामरूप–त्रि० । प्रशस्तजीवाध्यवसायस्वभावे, पञ्चा० १० विव ।

सुहारूढसुहोत्तार–सुखारोहसुखोत्तार–त्रि० । सुखेनारोहणमूर्ध्वगमन सुखेनोत्तारोऽधस्तादवतरणं यस्य सोपानपङ्क्त्यादिभि. स सुखारोहसुखोत्तार.। सुखेनोर्ध्वमधस्ताच्च गन्तरि, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुहावबोध–सुखावबोध–पुं० । सुखपरिज्ञाने, षो० ४ विव० ।

सुहावह–सुखा(शुभा)वह–त्रि० । सुख शुभ वा आवहतीति सुखावहः । स्था० १० ठा० ३ उ० । दश० । उभयलोकसुखकरे, जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते,स्था० ४ ठा० १ उ० । देवकुरुषु विजयक्षेत्रपुष्कलस्यनामख्यानाया नगर्याम् , स्था० ।

दो सुहावहा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुहावासा–सुखावासा–स्त्री० । विश्वस्तानां निर्भयानामवस्थानं वा "सुख. सुखस्वरूप" आवासो यस्या सा सुखावासा । स्था० १ श्रु० १ अ० । सुखदवसती, ग० । औ० ।

सुहासणत्थ–शुभासनस्थ–त्रि० । शुभे आसने निषण्णे, व्य० २ उ० ।

सुहासय शुभाशय–पुं० । शुभपरिणामे, षो० १ विव० १ शुभचित्ते, प्रति० ।

सुहासव–शुभाश्रव–पुं० । पुण्याश्रवे, आव० ४ अ० ।

सुहासा–सुखाशा–स्त्री० । सुखेच्छायाम् , अष्ट० १६ अष्ट० ।

सुहि- सुखिन्–त्रि० । सुखमस्यास्तीति सुखी । दश० २ अ० । सुख प्राप्ते, औ० । प्रश्न०।उत्त०। "आ आमन्त्र्ये सौ वेनो न" ॥८।४।२६३॥ शौरसेन्यामिनो नकारस्यामन्त्र्ये सौ परे आकारो भवति । सुहिया ! । प्रा०४ पाद ।

सुहृत्–पुं० । मित्रे, ध० २ अधि० । सूत्र० ।

सुहिभाव- सुखिभाव–पुं० । सुखित्वे,अने० १ अधि० ।

सुहिय–सुहित–त्रि० । सुष्ठु हितं ज्ञानादित्रय येषां ते सुहिता । रत्नाधिकेषु. ध० २ अधि० । जी० । आचा० ।

सुहृद्–पुं० । मित्रे, सू० १ उ० २ प्रक० । नि० ।

सुहियजण–सुहृज्जन–पु० । हितैषिणि, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सुहिरण्णिया–सुहिरण्यिका–स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, आ० म० १ अ० । ग० । प्रज्ञा० । न० ।

सुहिरीमण–सुह्रीमनस्–त्रि० । सुष्ठु ह्रीर्लज्जा तस्यां मनोऽन्तःकरणं येषा ते सुह्रीमनसः । लज्जालुषु, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुहुत्तमवरिट्ठ–उत्तमसुखवरिष्ठ–त्रि० । उत्तमं च तत्सुखं च तेन वरिष्ठा वरतमा. । सुखोत्तमेन श्रेष्ठेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सुहुत्तर–सुखोत्तर–त्रि० । सुखेन तीर्यते इति सुखोत्तरः । सुखालङ्घनीये, उत्त० २ अ० ।

सुहुम–सूक्ष्म–त्रि० । "तन्वीतुल्येषु" ॥८।२।११३॥ उकारान्ता ङीप्रत्ययान्तास्तन्वीतुल्यास्तेषु संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उकारो भवति, क्वचिदन्यत्रापि आर्षे । सुहुम । सूक्ष्मम् । प्रा० । अल्पे, पा० । मन्दे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । अत्यन्तगहने, आव०४ अ० । सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माश्चेते ये सर्वलोकापन्ना । स्था० ५ ठा० १ उ०। येषां परिणामस्सूक्ष्मस्ते सूक्ष्माः स्था० ५ ठा० ३ उ० । उत्त० । सारे. ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । लोभाणुत्—वेदयन् सूक्ष्मो भण्यते सूक्ष्मसम्पराय इत्यर्थः । आव० ४ अ० । सूत्र० । सूक्ष्मोऽसख्यातकीर्टिकादिकादेवतन , स्था० २ ठा० १ उ० । प्रव० । मृदु तस्पर्शे अर्थे. जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सूक्ष्मनामकर्मोदये दर्श० ४ तत्त्व । प्रश्न० । पं० स० । सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तित्वात् ,पृथिव्यादिषु एकेन्द्रियेषु , स० । नं० । स्था० ।

अष्ट सूक्ष्माणि—

अट्ठ सुहुमा पण्णत्ता , तं जहा—पाणसुहुमे पणगसुहुमे बीयसुहुमे हरियसुहुमे पुप्फसुहुमे अंडसुहुमे लेणसुहुमे सिणेहसुहुमे । (सू० ६१५)

'अट्ठ सुहुम' त्यादि, सूक्ष्माणि श्लक्ष्णत्वादल्पाधारत्वाच्च,

तत्र प्राणसूक्ष्मम् अनुद्धरिः कुन्थुः स हि चलन्नेव विभाव्यते न स्थितः सूक्ष्मत्वादिति १, पनकसूक्ष्मं पनकः--उल्ली, स च प्रायः प्रावृट्काले भूमिकाष्ठादिषु पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यलीनो भवति, स एव सूक्ष्ममिति एवं सर्वत्र २, तथा बीजसूक्ष्मं-शाल्यादिबीजस्य मुखमूले कणिका लोके या तुषमुखमित्युच्यते ३, हरितसूक्ष्मम्-अत्यन्ताभिनवोद्भिन्नपृथिवीसमानवर्णं हरितमेवेति ४, पुष्पसूक्ष्मं-वटोदुम्बराणां पुष्पाणि तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणीति न लक्ष्यन्ते ५, अण्डसूक्ष्मं-मक्षिकाकीटिकागृहकोकिलाब्राह्मणीकृकलास्याद्यण्डकमिति ६, लयनसूक्ष्मं लयनम्--आश्रयः सत्त्वानां तच्च कीटिकानगरकादि, तत्र कीटिकाश्चान्ये च सूक्ष्माः सत्त्वा भवन्तीति ७, स्नेहसूक्ष्ममवश्यायहिममहिकाकरकहरितनुरूपमिति ८। स्था० ८ ठा० ३ उ०। (प्राणसूक्ष्मादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने।) (दश सूक्ष्मा इति 'मद्धाणई' शब्दे पष्ठे भागे उक्तम्।) प्रकृष्टतस्तट्टीका इह प्रदर्श्यते-प्राणसूक्ष्मम्, अनुद्धरिः कुन्थुः, पनकसूक्ष्मम् उल्ली, यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्--बीजसूक्ष्मं व्रीह्यादीनां कणिका हरितसूक्ष्मं भूमिसमवर्णं तृणं पुष्पसूक्ष्मं वटादिपुष्पाणि, अण्डसूक्ष्मं कीटिकाद्यण्डकानि, लयनसूक्ष्मं कीटिकानगरादि, स्नेहसूक्ष्मम् अवश्यायादीत्यष्टमस्थानकभणितमेव, इदमपरं गणितसूक्ष्मं गणितं सङ्कलनादि तद्धि सूक्ष्मं सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वात् श्रूयते च वज्रान्तं गणितमिति। भङ्गसूक्ष्मं-भङ्गा भङ्गका वस्तुविकल्पास्ते च द्विधा स्थानभङ्गकाः, क्रमभङ्गकाश्च। तत्राद्या यथा द्रव्यतो नामैका हिंसा न भावतः, अन्या भावतो न द्रव्यतः, अन्या भावतो द्रव्यतश्च, अन्या न भावतो नापि द्रव्यत इति, इतरे तु द्रव्यतो हिंसा भावतश्च, द्रव्यतोऽन्या न भावतः, न द्रव्यतोऽन्या भावतः, अन्या न द्रव्यतो न भावत इति, तल्लक्षणं सूक्ष्मं भङ्गसूक्ष्मं, सूक्ष्मता चास्य भजनीयपदबहुत्वे गहनभावेन सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वादिति पूर्वं गणितसूक्ष्ममुक्तमिति। स्था० १० ठा० ३ उ०। दश०।

सूक्ष्मविधिमाह--

अट्ठ सुहुमाइ पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएज्ज वा ॥ १३ ॥

अष्टौ सूक्ष्माणि वक्ष्यमाणानि प्रेक्ष्योपयोगतः आसीत तिष्ठेच्छयीत चेति योगः। किंविशिष्टानीत्याह-यानि ज्ञात्वा संयतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च दयाधिकारी भूतेषु भवत्यन्यथा दयाधिकार्येव नेति, तानि प्रेक्ष्य तद्रहित एवासनादीनि कुर्यात्, अन्यथा तेषां सातिचारतेति सूत्रार्थः।

आह--

कयराणि अट्ठ सुहुमाणि, जाइ पुच्छिज्ज संजए।
इमाणि ताणि मेहावि, आइक्खिज्ज वियक्खणो ॥१४॥

कतराण्यष्टौ सूक्ष्माणि यानि दयाधिकारित्वाभावभयात् पृच्छेत् संयत 'अनेन दयाधिकारिण एव एवंविधेषु यत्नमाह--स ह्यवश्य तदुपकारकाण्यकारकाणि च पृच्छति मत्रैव भावप्रतिबन्धादिति। अमूनि तान्यनन्तरं वक्ष्यमाणानि मेधावी आचक्षीत विचक्षण इत्यनेनाप्रतिवचनं मयं दार्शनिना तज्ज्ञेन तत्प्ररूपणा कार्या, एव हि श्रोतुस्तत्रापादेयबुद्धिर्भवत्यन्यथा विपर्यय इति सूत्रार्थः।

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंगं तहेव य।
पणगं बीय हरियं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥ १५ ॥

'सिणेहं' ति सूत्रे, 'स्नेह' मिति स्नेहसूक्ष्मम्-अवश्यायहिममहिकाकरकहरतनुरूपं, पुष्पसूक्ष्मं चेति वटोदुम्बराणां पुष्पाणि, तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणीति न लक्ष्यन्ते 'पाणी' ति प्राणिसूक्ष्ममनुद्धरिः-कुन्थुः, स हि चलन् विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वात्। 'उत्तिंग तहेव य' त्युत्तिङ्गसूक्ष्मं--कीटिकानगरं, तत्र कीटिका अन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति। तथा 'पनक' मिति पनकसूक्ष्मं प्रायः प्रावृट्काले भूमिकाष्ठादिषु पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यलीनः पनक इति तथा बीजसूक्ष्मं-शाल्यादिबीजस्य मुखमूले कणिका, या लोके तुषमुखमित्युच्यते। 'हरितं च' ति हरितसूक्ष्मं, तच्चात्यन्ताभिनवोद्भिन्नं पृथिवीसमानवर्णमेवेति, 'अण्डसूक्ष्मं चाष्टम' मिति। एतच्च मक्षिकाकीटिकागृहकोकिलाब्राह्मणीकृकलासाद्यण्डमिति--सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ दश० ८ अ० २ उ०। नि० चू०। समयपरिभाषया सूक्ष्मकायिके पुष्पे। "पुष्फाणि य कुसुमाणि य, फुल्लाणि य तहेव होंति पसवाणि। सुमणाणि य सुहुमाणि य, पुप्फाणि य होंति एगट्ठा।" दश० १ अ०। चू०। "सुहुमो य बायरो वा, दुविहो लोउत्तरो समासेणं। सुहुमो लोउत्तरिओ, णायव्वो इमेहिं ठाणेहिं।" सुहुमवायरस्वरूपं वक्ष्यमाणम्। नि० चू० १ उ०। ईसिममत्तभावे सुहुमो परिग्गहो भवतीति। नि० चू० १ उ०। आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति सप्तमे कुलकरे, पुं०। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सुहुमअपज्जत्त--सूक्ष्मापर्याप्त--पुं०। सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिषु एकेन्द्रियापर्याप्तकेषु, स० १४ सम०।

सुहुमअइयार--सूक्ष्मातिचार--पुं०। लघुचारित्रखण्डेषु, पं० व० ३ द्वार।

सुहुमकम्म--सूक्ष्मकर्मन्--न०। सूक्ष्मेषु केवलज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्राद्यावारकेषु कर्मसु, ठा० १४ ठा०।

सुहुमकाय--सूक्ष्मकाय--पुं०। हस्तादिके वस्तुनि, इति वृ०। अन्ये त्वाहु --घस्ते, भ० १६ श० ३ उ०। सूक्ष्मकाय हस्तादिकं वस्तु सूत्र। अन्ये त्वाहुः सूक्ष्मकाय वस्त्रम्, इति। प्रति०।

पृथिव्यादिषु कतरः कायः सूक्ष्म इति कायमाश्रित्य तेषामेवेतरेतरापेक्षया सूक्ष्मत्वनिरूपणायाह--

एयस्स णं भंते! पुढविकाइयस्स आउकाइ० तेउकाइ० वाउकाइ० वणस्सइकाइयस्स कयरे काये सव्वसुहुमे कयरे काए सव्वसुहुमतराए?, गोयमा! वणस्सइकाइए सव्वसुहुमे! वणस्सइकाइए सव्वसुहुमतराए १, एयस्स णं भंते! पुढविकाइयस्स आउकाइ० तेउकाइ० वाउकाइयस्स कयरे काये सव्वसुहुमे कयरे काये सव्वसुहुमतराए?, गोयमा! वाउकाए सव्वसुहुमे वाउकाए सव्वसुहुमतराए २, एयस्स णं भंते! पुढविकाइयस्स आउकाइयस्स तेउकाइयस्स कयरे काये सव्वसुहुमे कयरे काए सव्वसुहुमतराए?, गोयमा!

तेउकाए सव्वसुहुमे तेउकाए सव्वसुहुमतराए ३, एयस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउकाइयस्स कयरे काए सव्वसुहुमे कयरे काये सव्वसुहुमतराए ?, गोयमा ! आउक्काए सव्वसुहुमे, आउक्काए सव्वसुहुमतराए ४ ।

'एयस्से' त्यादि, 'कयरे काए' त्ति—कतरो जीवनिकाय 'सव्वसुहुमे' त्ति—सर्वथा सूक्ष्मः सर्वसूक्ष्मः, अथ च चक्षुरग्राह्यतामात्रेण पदार्थान्तरमनपेक्ष्यापि स्याद् यथा सूक्ष्मो वायुः सूक्ष्मं मन इत्यत्र आह-'सव्वसुहुमतराए' त्ति सर्वेषा मध्येऽतिशयेन सूक्ष्मतर, स एव सर्वसूक्ष्मतरक इति । भ० १९ श० ३ उ० ।

सुहुमकाल-सूक्ष्मकाल-पुं० । यावता वालाग्रसङ्ख्यानखण्डै स्पृष्टाश्चास्पृष्टाश्चोद्ध्रियन्ते स काल. सूक्ष्मः । सूक्ष्मे काले, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

सुहुमकिरिय-सूक्ष्मक्रिय-न० । सूक्ष्मा क्रिया यत्र निरुद्धवाङ्मनोयोगत्वे सत्यर्धनिरुद्धयोगत्वात्तत्सूक्ष्मक्रियम् । शुक्लध्यानस्य तृतीयभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । स्था० । दर्श० । ग० । आव० ।

सुहुमगणिपवेसग-सूक्ष्माग्निप्रवेशक-पुं० । सूक्ष्माग्नौ—सूक्ष्माग्निकाये प्रवेशनमुत्पादो येषां ते सूक्ष्माग्निप्रवेशका. । सूक्ष्माग्नेरुत्पन्नेषु जीवेषु, क० प्र० १ प्रक० ।

सुहुमणाम-सूक्ष्मनामन्-न० । नामकर्मभेदे, प्रव० २१६ द्वार । यदुदयात्सूक्ष्मो भवति, अत्यन्तसूक्ष्म अतीन्द्रिय इत्यर्थ । आ० । सूक्ष्मा नाम यदुदयाद्बहूनामपि समुदितानां जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति । पं० सं० ३ द्वार । यदुदयात्सूक्ष्मा पृथिवीकायिकादयः पञ्च भवन्ति, तदपि जीवविपाकिसूक्ष्मनामकर्मेति । कर्म० १ कर्म० । बादरत्व परिणामविशेष., यदुदयात् पृथिव्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बहूना समवाये चक्षुर्ग्रहणं भवति । तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम । कर्म० ६ कर्म० ।

सुहुमतस-सूक्ष्मत्रस-पुं० । तेजोवायुषु, द्वीन्द्रियादीनां बादरत्रसत्वात् । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुहुमतिग-सूक्ष्मत्रिक-त्रि० । सूक्ष्मपर्याप्तसाधारणरूपे सूक्ष्मोपलक्षिते त्रिके, कर्म० ५ कर्म० । क० प्र० ।

सुहुमत्थवियार-सूक्ष्मार्थविचार-पुं० । सूक्ष्मो मन्दमतिना गम्यो योऽर्थ.—शब्दाभिधेय तस्य विचारो विचारणं सूक्ष्मार्थविचार. । सरलस्यार्थस्य विचारणे कर्म० ४ कर्म० ।

सुहुमत्थालोयणा-सूक्ष्मार्थालोचना-स्त्री० । सूक्ष्माश्च तेऽर्थाश्च बन्धमोक्षादयस्तेषाम् आलोचना सूक्ष्मार्थालोचना । बन्धादिपदार्थे, षो० १२ विव० ।

सुहुमदव्वपुग्गल-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गल-पुं० । द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तभेदे, अथ द्रव्ये द्रव्यविषय सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्तो भवति, यदौदारिकादिशरीराणामेकेनान्यतमेन शरीरेणैको जीवः संसारे परिभ्रमन् सर्वानपि पुद्गलान् स्पृष्ट्वा परिभुज्य मुञ्चति । प्रव० १६२ द्वार ।

सुहुमपयत्थ-सूक्ष्मपदार्थ-पुं० । अस्थूलवस्तुषु कर्मात्मपरिणामादिषु, पञ्चा० १ विव० ।

सुहुमपुढविकाय-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पुं० । सूक्ष्मनामकर्मोदये वर्त्तमाने पृथिवीकायिके, प्रज्ञा० १ पद ।

सुहुमबोंदिकलेवर-सूक्ष्मबोन्दिकलेवर-पुं० । सूक्ष्मबोन्दीनि-सूक्ष्माकाराणि कलेवराणयसङ्ख्यातखण्डीकृतवालुकाकणरूपाणि यत्रोद्धारे स तथा गोशालकपरिभाषया उद्धारकालभेदे, भ० १५ श० ।

सुहुमभावकुसलमइ-सूक्ष्मभावकुशलमति-पुं० । लोकशास्त्रगतास्थूलार्थनिपुणबुद्धिके, पञ्चा० १५ विव० ।

सुहुममहापाण-सूक्ष्ममहाप्राण-न० । सूक्ष्मे महाप्राणध्याने, "पुव्वाण अणुओगो, संघयणं पढमं च सट्ठाणं । सुहुममहापाणाणि य, वोच्छिन्ना थूलभद्दम्मि ।" ति० ।

सुहुमरययदीहवाल-सूक्ष्मरजतदीर्घवाल-त्रि० । सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषां तानि तथा । सूक्ष्मरजतमयवालवत्सु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुहुमवाउसरीर-सूक्ष्मवायुशरीर-पुं० । वायुरेव शरीरं येषां ते तथा, सूक्ष्माश्च ते वायुशरीराश्च वायुकायिकाः सूक्ष्मवायुशरीरा । सूक्ष्मवायुकायिकेषु, भ० १६ श० ३ उ० ।

सुहुमवियार-सूक्ष्मविचार-पुं० । यतिसमाचारप्रकाशनस्वभावे दर्श० ३ तत्त्व ।

सुहुमसंपराय-सूक्ष्मसम्पराय-न० । सम्पर्यैति संसारमनेनेति सम्परायः कषायोदय. सूक्ष्मो लोभांशावशेष. सम्परायो यत्र तत्सूक्ष्मसम्परायम् । चारित्रभेदेषु चतुर्थे चारित्रे, आ० म० १ अ० । विशे० । इदमपि द्विविध विशुद्ध्यमानकम्, संक्लिश्यमानकं च । तत्र विशुद्ध्यमानकं क्षपकोपशमश्रेणिद्वयमारोहतो भवति संक्लिश्यमानकं तूपशमश्रेणेः प्रच्यवमानस्य प्राप्यते । विशे० । "सेढिं विलग्गओ तं, विसुज्झमाण तओ चयतस्स । तह संकिलिस्समाणं, परिणामवसेण विन्नेयं ॥ १ ॥" आ० म० १ अ० । उत्त० । पा० । स्था० । विशे० । भ० । इह सङ्ख्येयानि लोभखण्डानि उपशमयन् बादरसम्पराय उच्यते, चरमस्य तु सङ्ख्येयखण्डस्यासंख्येयानि खण्डानि प्रतिसमयमेकैकखण्डमुपशमयन् सूक्ष्मसम्पराय. । आ० म० १ अ० ।

तथा चाह—

लोभाणु वेयंतो, जो खलु उवसामगो य खवगो वा ।
सो सुहुमसंपरायो, अहक्खयाऊणओ किंचि ॥

लोभस्य सञ्ज्वलनलोभस्य अणूनसंख्येयतमस्य खण्डस्यासंख्येयानि खण्डानि वेदयमानोऽनुभवन् उपशमक' क्षपको वा भवति । सोऽन्तर्मुहूर्त्तं काल यावत्सूक्ष्मसंपरायो भण्यते । आ० म० १ अ० । पं० भा० । सुहुमसंपराइयं जो बज्झति सो सुहुमसपरागो । सुहुमं नाम थोवं, कहं थोवं ?, आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपयडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ अप्पकालट्ठितिकाओ मंदाणुभावाओ अप्पपदेसग्गाओ सुहुमसंपरागस्स बज्झति, एवं थोवं संपराइयं कम्मं तं स बज्झति । सुहुमो संपरागो वा जस्स सो सुहुमसंपरागो, सो य असं-

खीजसमइओ अतोमुहुत्तिओ विसुज्झमाणपरिणामो वा पडियत्तमाणपरिणामो वा भवनि त्ति। आ० चू० ४ अ०। सूक्ष्मसपराया दशमगुणस्थानवर्तिन.। पञ्चा० ६ विव०।

सुहुमसंपरायगुणट्ठाण-सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान-न०। सूक्ष्म-सम्परायो द्विधा—क्षपक', उपशमको वा। क्षपयति उपशमयति वा लोभमेकमिति कृत्वा तस्य गुणस्थानं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम्। (एतच्च केवलिन्येव भवतीति विशेषणद्वारेणाह—) तथा छाद्यते केवलज्ञान केवलदर्शन चात्मनोऽनेनेति छद्म ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदय सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात् तदपगमानन्तर चोत्पादात् .छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थ.। स च सरागोऽपि भवतीत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहण वीतो विगतो रागो मायालोभकषायोदयरूपो यस्य स वीतराग, स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागछद्मस्थ., स च क्षीणकषायोऽपि भवति तस्यापि यथोक्तरागापगमात् ,अतस्तद् व्यवच्छेदार्थमुपशान्तकषायग्रहण 'कषशिष' त्यादि दण्डकधातुर्हिंसार्थः, कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कष. ससार., कषमयन्ते-गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषाया. क्रोधादय उपशान्ता. उपशमिता विद्यमाना एव संक्रमणोद्वर्त्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिता' कषाया येन स उपशान्तकषाय। कर्म०२कर्म०।गुणस्थानभेदे,दर्श०५तत्त्व।

सुहुमसंपरायचरित्तलद्धि-सूक्ष्मसम्परायचारित्रलब्धि-स्त्री०। सपर्येति—पर्यटति ससारमेभिरिति सम्परायाः—कषाया.। सूक्ष्मा लोभांशावशेषरूपा' सम्पराया यत्र तत् तस्य चारित्रस्य लब्धिस्तथा। चारित्रभेदे, भ० ८ श० २ उ०।

सुहुमसल्ल-सूक्ष्मशल्य-न०। सूक्ष्मे गर्वात्मके शल्ये, सूत्र०।

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमंता पयहिज्ज संथवं ॥ ११ ॥

किमिति? यतो गर्वात्मकमेतत्सूक्ष्म शल्य वर्त्तते सूक्ष्मत्वाच्च दुरुद्धरं दु खेनोद्धर्तुं शक्यते, अतो विद्वान् सदसद्विवेकज्ञस्तत्तावत् संस्तव परिचयमभिवन्द्य परिजह्यात्-परित्यजेदिति। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—

"पलिमन्थमहं वियाणिया, जा वि य वंदण पूयणा इह।
सुहुम सल्लं दुरुद्धरं, तं पि जिणे एएण पंडिए॥ १॥"

अस्य चायमर्थः—साधोः स्वाध्यायध्यानपरस्यैकान्तनि.स्पृहस्य योऽपि चाय परैर्वन्दनापूजनादिकः सत्कार क्रियते, असावपि सदनुष्ठानस्य सद्गतेर्वा महान् पलिमन्थो विघ्न', आस्तां तावच्छब्दादिष्वभिष्वङ्गस्तमित्येवं परिज्ञाय तथा सूक्ष्मशल्य दुरुद्धरं ज्ञात्वा तमपि जयेद्-अपनयेत्, पण्डितः एतेन वक्ष्यमाणेनेति। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

सुहुमुस्सास-सूक्ष्मोच्छ्वास-पुं०।अल्पे अल्पपरिमाणे उच्छ्वासे, "सुहुमुस्सास तु जयणाए त्ति" सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुञ्चन्ति नोल्वणं मा भूत्सत्त्वघात। आव० ५ अ०।

सुहुय-सुहुत-त्रि०। घृतादितर्पिते,ज्ञा० १ श्रु०५ अ०। औ०।

सुहुयहुयासण- सुहुतहुताशन-पुं०। घृतादितर्पितवैश्वानरे, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलते" घृतादितर्पितवैश्वानरवत्प्रभया दीप्यमाने, जी० ३ प्रति० १ अधि०।

सुहेल्ली-देशी-सुखे, दे० ना० ८ वर्ग ३७ गाथा।

सुहेसग-सुखैषक-त्रि०। सुखस्य एषक. सुखैषकः याजकादित्वात्समासः। सुखार्थिनि, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

सुहेसि-सुखैषिन्-त्रि०। सुखलालसे, दर्श० ३ तत्त्व। आचा०। सूत्र०।

सुहोदय-शुभोदक-न०। पवित्रस्नानाहृते गन्धोदके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। तीर्थोदके, ज० ३ वक्ष०।

शुभोदय-न०। शुभ उदयो यस्य तच्छुभोदयम्। योगिनां शुभोदर्के चित्ते, षो० १४ विव०।

सुखोदक-न०। नात्युष्णशीते जले, औ०।

सुहोवओग-शुभोपयोग-पुं०। प्रशस्ताध्यवसाये, पञ्चा० १५ विव०।

सूअरवल्ल-शूकरवल्ल-पुं०। शूकरसञ्ज्ञके कन्दविशेषे, प्रव० ४ द्वार।

सूअरलंछण-शूकरलाञ्छन-न०। स्वनामख्याते क्षेत्रे, "जत्थ तस्सेव भगवओ सूअरलछणाणन्तयण पव्वह देवेहिं महिमा कया, तत्थ य सूअरखेत्त पसिद्धिमुवगयं" ती० २४ कल्प।

सूआ-सूआ-न०। धान्यविशेषे, ध० २ अधि०।

सूइअ-सूचित-त्रि०। तिरस्कृते, वृ० ३ उ०। व्यञ्जनादियुक्ते, दश० ५ अ० १ उ०। श्लाघिते. वृ० १ उ०।

सूई-सूची-स्त्री०। वस्त्रसीवनोपकरणे, वृ० ३ उ०। जीत०। सूत्र०। यया वस्त्र सीव्यते, ध० ३ अधि०।

जे भिक्खू अविहीए सूइं जायति जायंत वा साइज्जइ॥२३॥

जे भिक्खू अविहीए सुतिं जायति। का अवधी? इमा—

वत्थं सिव्विस्सामि-त्ति जाइउं पादसिव्वणं कुणति।
अहवा वि पादसिव्वणं, करेंतो सिव्वती वत्थं ॥१७५॥

कंठा।

तं दट्ठूण सयं वा, अहवा अणेमि अंतियं सोच्चा।
उभयेणं मग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥ १७६ ॥

सूतिमामिणा अविहीए सिव्वतो सयमेव दिट्ठो, अण्णस्स वा समीवे सुतं अभावणाओ अण्णस्स पुरओ खिंसति, अग्गहणं साहूण अगारार करेंति. दुविधो वोच्छेओ तद्दव्वेण दव्वाण वा तस्स वा अण्णस्स वा साहुस्स।

जे भिक्खू अप्पणो एगस्स अट्ठाए सूइं जाइत्ता अण्णमन्नस्स अणुपदेइ अणुपदंतं वा साइज्जइ॥ २४ ॥

अहगं सिव्विस्समामि, त्ति जाइउं सो य देति अण्णेसिं।
अण्णो वा सिव्विहिती, सो सिव्वणमप्पणा कुणति।१७७।

अप्पणो अट्ठाए जाएउ अण्णस्स अलद्धियसाहुस्स देति ताणि वा कुलाणि जस्स साहुस्स उवस्सति तस्स णामेण मग्गइ अप्पणो सिव्वेति। को दोसा?।

इमां—

तं दट्ठूण सयं वा, अहवा असेसि अंतियं सोच्चा ।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥१७८॥
सूई वा अविभ्भीए, जे भिक्खू पाडिहारियं अप्पे ।
तक्कज्जसंधणं वा, कुज्जा छक्कायघातं वा ॥ १७९ ॥

ज नीए सूईए कज्ज त कज्जं गहणापरणेण वा छक्कायघात वा करेज्ज ।

इदाणिं चउण्ह वि सुत्ताण विधी भण्णति-

तम्हट्ठा जाएज्जा,जं सिव्वे कस्स कारणा वावि ।
एगतरमुभयतो वा, अक्खेवेत्तुं तहा भिक्खू ॥ १८० ॥

अप्पट्ठाए जाएज्जा जं वा वत्थादि सिव्वे तदट्ठाए जाएज्जा अस्स साहुस्स कज्जं नप्पामेण जाएज्ज, अप्पणो परस्स उभयट्ठा वा जाएज्जा जहा काउकामो तहा अक्खिउ जानियव्व , एस परमत्थो ।

अप्पणगे विधी भण्णति-

गहणम्मि गिण्हिऊणं, हत्थे उत्ताणगम्मि वा काउं ।
भूमीए च ठवेतुं, एस विही होति अप्पणगे ॥१८१॥

गहणपासओ तम्मि सय गेण्हिऊणं आणिऊणं गिहत्थस्स अप्पेति, एव संजयपओगेण भवति , अप्पाणगमि वा हत्थे वि तिरिच्छं आणिएण वा ठवेति एव भूमीएण वि ठवेति ।

एतेसिं चउण्ह वि सुत्ताण इमे वितियपदा—

लाभपरिच्छा दुल्लभ, अचियत्ते महम अप्पणगे ।
चउसु वि पदेसु एते,अवरपदा होंति णायव्वा ॥१८२॥

साहू खेत्तपडिलेहगा गता, किं सूती मग्गिता लब्भति ण व त्ति अप्पट्ठाए मग्गेज्जा, पत्तसिव्वणट्ठाए दुल्लभाओ सूतीओ वत्थसिव्वणट्ठमवि गीयाए पत्त सिव्विज्जति, त पुण ज पणाए सिव्वति जहा ण दीसति खाइयभावेण अचियत्तो-साहुणो ण लब्भति तस्स वा णामेण ण लब्भति ताहे अप्पणो अट्ठाए जाइउ तस्स देज्जा सहसाऽणाभाएण वा अविहीए अप्पणेज्जा । नि० चू० १ उ० । फलकमयग्रन्थिग्रना-भावहेतुपादुकास्थानीयेऽर्थे,जी०३ प्रति०४ अधि० । ज०नि० चू० । विपा० । प० भा० । सद्भावनस्त्वसङ्ख्येयैरग्निजीवैरेकैकाकाशप्रदेशव्यवस्थापितैर्घनो मन्तव्य , द्वितीयोऽपि घन-इत्थमेव भवति एव प्रतरस्तया सूचिरपि । विशे० । (अत्रत्या व्याख्या ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४८ पृष्ठे गता ।) मञ्जर्याम् , दे० ना० ८ वर्ग १ गाथा ।

सूईतल-सूचीतल-न० । ऊर्ध्वमुखसूचीके भूतले , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सूईफलय-सूचीफलक-न० । सूचीभिरसंबन्धितेषु फलकप्रदेशेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूईमुह-सूचीमुख-न० । यत्र प्रदेशे सूची फलक भित्वा मध्ये प्रविशति तत्प्रत्यासन्ने देशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । द्वीन्द्रियजीवभेदे,प्रज्ञा०१ पद । पक्षिभेद,प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

सूक(यं) र शूकर-पुं० वराहे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

सूड-भञ्ज-धा० । आमर्दने, " भञ्जेर्वेमय—मुसुमूर- मूर—सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जा ॥ ८ । ४ । १०६ ॥ भञ्जेरेते नवादेशा वा भवन्ति । सूडइ । भनक्ति । प्रा० ४ पाद ।

सूणत्त-सूनत्व-न० । वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्ताभिघातजे शोथे, वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्ताभिघातजोऽथ षोढा, उक्तं च—" शोफ स्यात् षड्विधो घोरो, दोषैरुत्सेधलक्षण । व्यस्तैः समस्तैश्चापीह, तथा रक्ताभिघातज ॥१॥" आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

सूणया-सूनृता-स्त्री० । वाङ्मनसोर्यथार्थत्वे, द्वा० २१ द्वा० ।

सूणा-सूना-स्त्री० । वधस्थाने, त० । ग० ।

अथ गाथाचतुष्केनोत्सर्जनीयगच्छं दर्शयति—

जत्थ गोयम ! पंचण्हं,कह वि सूणाण इक्कमवि हुज्जा ।
तं गच्छं तिविहेण, वोसिरिय वइज्ज अन्नत्थी ॥ १०१ ॥

यत्र गच्छे गौतम ! कथमपि पञ्चाना सूनाना-वधस्थानाना मध्ये एकाऽपि भवेत् , त गच्छं त्रिविधेन मनोवाक्कायलक्षणेन व्युत्सृज्य-त्यक्त्वा अन्यत्र सद्गच्छे व्रजेत् । तत्र घरट्टिका १ उदूखल २ चुल्ली ३ पानीयगृहं ४ प्रमार्जनी चेति ५, पञ्च सूना , उक्तं च शुकसंवादेऽपि-"खण्डनी, १ पेषणी २ चुल्ली ३, जलकुम्भ ४ प्रमार्जनी ५ । पञ्च सूना गृहस्थस्य, तेन स्वर्गं न गच्छति ॥१॥ ' इति गाथाछन्द ।

सूणारम्भपवत्तं, गच्छं वेसुज्जलं न सेविज्ज ।
जं चारित्तगुणेहि तु, उज्जलं तं तु सेविज्ज ॥ १०२ ॥

सूनारम्भप्रवृत्तं खण्डन्याद्यारम्भकर्त्तार, तथा वेषेणोज्ज्वल वेषोज्ज्वलम् , एवविध गच्छं न सेवेत ससारवर्द्धकत्वात् । ननु उज्ज्वलवषस्य को दोष ? उच्यते-उज्ज्वलवेषेण विभूषा भवति विभूषातश्च चिक्कण कर्मबन्ध ततश्च ससारपर्यटनमिति । ग० २ अधि० ।

सूणारंभपवत्तग-शूनारम्भप्रवर्त्तक-त्रि० । खण्डन्याद्यारम्भकर्त्तरि , ग० २ अधि० ।

सू(सु)त्तम-सूत्तम-त्रि० । अतिप्रधाने , ग० १ अधि० ।

सूदग-सूद्रक-पुं० । प्रतिष्ठानपुरे सातवाहननृपतिमित्रे स्वनामख्याते द्विजे, ती० २६ कल्प । ('सातवाहन' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा ।)

सूमालिया-सुकुमारिका-स्त्री० । तैलविशेषे,वृ०१उ०३ प्रक० । ५०व० । चम्पानगर्या सागरदत्तसार्थवाहस्य सुतायाम् , ज्ञा० १ श्रु०१६ अ० । ('दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५८४ पृष्ठे कथा ।)

सूय-सूत्र-न०। 'सूच'पैशून्ये,सूचनात्सूत्र निपातनात् रूपनिष्पत्तिः भावप्रधानश्चाय सूत्रतायाम् , न०।

सूय्-धा० । चुरा० । ज्ञापने, सूयइ । सूचयति । वृ० २ प्रक० ।

सूयग-सूतक-न० । आशौचे व्य० १ उ० । " आयमजायसूयगेसु निज्जूढा"व्य० १ उ० । सूतके विचार पुत्रजन्मनि तद्गेहे दशदिनपर्यन्त भोजन न कर्त्तव्यम् । ही० ४ प्रका० । ह्र० । ही० । "तस्स परे तिन्नि पक्खा सूयतो मयणसलागा कुक्कुड-

गो," आ० म० १ अ० । सूयगर्भद इति प्रसिद्धे तृणविशेषे, प्रव० ६० द्वार । जायमयसूयगाई निज्जूढा " इत्यादि-सूतकशब्द' प्रत्येकं सम्बद्ध्यते, जातकसूतक नाम जन्मानन्तरं दशाहानि यावत् , मृतसूतक मृतान्तरं दश दिवसान् यावत्तत्र यद्वर्ज्यं तद् द्विधा—'लोग'त्ति लौकिकम् ' उत्तर' त्ति लोकोत्तरम् , लौकिकं द्विधा—इत्वरम् ,यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरम्—यत्सूतकं मृतकादि तथाहि—लोके सूतकादि दश दिवसान् यावद्वर्ज्यते इति,यावत्कथिकं च —वरुडछिम्पकचर्मकारडोम्बादि, एतान्यक्षराणि व्यवहारसूत्रवृत्तौ सन्तीत्युक्त्वा सूतकगृह दश दिवसान् यावत्खरतरास्त्यजन्त. सन्ति,प्रश्नोत्तरग्रन्थे तु दशदिननिर्बन्धो ज्ञातो नास्ति इत्युक्तमस्ति, तत्कथमिति ? प्रश्न', अत्रोत्तरम्—व्यवहारसूत्रवृत्तौ सूतकविषये यद्दशदिनवर्जनं तद्देशविशेषपरत्वेन , ततो यत्र देशे सूतकविषये यावानवधिस्तावन्ति दिनानि वर्जनीयानि, तत प्रश्नोत्तरग्रन्थेन सह न कोऽपि विरोध इति ॥ २६० ॥ सूतकगृहं साधव आहारार्थं यान्ति नवेति? प्रश्न.-अत्रोत्तरम्, यत्र देशे सूतकगृहे यावद्दिवसान्तरैर्ब्राह्मणादयो भिक्षार्थं व्रजन्ति तत्रास्माभिरपि तथा विधेयमिति वृद्धव्यवहार.।२०१। सेन० ३ उल्ला० । ' जायमयसूयगाइसु निज्जूढा ' सूतकशब्द. प्रत्येकमभिसम्बध्यते जातसूतकं नाम जन्मान्तरं दशाहानि यावत् मृतकसूतक नाम मृतानन्तर दश दिवसान् यावत् तत्र जातकसूतके वा आदिशब्दात्तदन्येषु तथाविधेषु शूद्रगृहादिषु ये कृतभोजना सन्तो धिग्जातीयैर्निर्यूढा असभाष्याः कृता इति । व्य० १ उ० । उत्त० । पा० ।

सूचक-पुं० । पिशुने , पिशुनं सूचकं विदुरिति वचनात् , आव० ४ अ० । प्रश्न० । राज्ञां सूचनाकारके. ये सामन्तराज्येषु गत्वा अन्त पुरपालकै सह मैत्रीं कृत्वा यत्तत्र रहस्यं तत्सर्वं जानन्ति पश्चादनुसूचकेभ्य' कथयन्ति । व्य० १ उ० ।

सूयगड-सूत्रकृत-न० । प्रवचनपुरुषस्य द्वितीयेऽङ्गे , नं० । ' सूच ' पैशून्ये, सूचनात्सूत्रम् , निपातनाद्रूपनिष्पत्तिरिति भावप्रधानश्चाय सूत्रशब्द', ततोऽयमर्थः—सूत्रेण कृत सूत्ररूपतया कृतमित्यर्थः , यद्यपि च सर्वमङ्ग सूत्ररूपतया कृत तथापि रूढिवशादेतदेव सूत्रकृतमुच्यते, न शेषमङ्गम् । न०। (सूत्रस्य करणस्य च निक्षेपौ स्वस्वस्थाने उक्तौ ।) लौकिकग्रन्थस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् कर्त्तुरशुभध्यायित्वमवसेयम् , इह तु सूत्रकृतस्य तावत् स्वसमयेन शुभाध्यवसायेन च प्रकृतं यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदमङ्ग कृतमिति ।

सूत्रकृतपर्यायाः—

सूयगडं अंगाणं, बितियं तस्स य इमाणि नामाणि ।
सूयगडं सुत्तकडं, सू(या)यगडं चेव गोणाई ॥२॥

सूत्रकृतमिति-एतदङ्गानां द्वितीयं तस्य चामून्येकार्थिकानि, तद्यथा—सूत्रमुत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्भ्य' ततः कृत ग्रन्थरचनया गणधरैरिति , तथा सूत्रकृतमिति सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोध' क्रियतेऽस्मिन्निति तथा सूचाकृतमिति स्वपरसमयार्थसूचन सूचा साऽस्मिन् कृतेति , एतानि चास्य गुणनिष्पन्नानि नामानीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (सूत्रकृतनिरुक्तव्याख्या ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६ पृष्ठे गता ।)

इहानन्तरसूत्रकृतस्य निरुक्तमुक्तमधुना सूत्रपदस्य निरुक्ताभिधित्सयाऽऽह—

सुत्तेण सुत्तिया चिय, अत्था तह सूइया य जुत्ता य ।
तो बहुविहप्पउत्ता, एयपसिद्धा अणादीया ॥ २१ ॥

' सुत्तेण ' त्यादि, अर्थस्य सूचनात्सूत्रम्-तेन सूत्रेण केचिदर्थाः साक्षात्सूत्रिता मुख्यतयोपात्तास्तथा परे सूचिता अर्थापत्त्याक्षिप्ताः साक्षादनुपादानेऽपि दध्यानयनचोदनया तदाधारानयनचोदनावदिति । एवं च कृत्वा चतुर्दशपूर्वविदः परस्पर षट्स्थानपतिता भवन्ति, तथा चोक्तम्-"अक्खरलंभेण समा , ऊणऽहिया हुंति मतिविसेसेहिं । ते वि य मई विसेसा , सुयणाणब्भंतरे जाण ॥ १ ॥ " तत्र ये साक्षादुपात्तास्तान् प्रति सर्वेऽपि तुल्याः, ये पुनः सूचितास्तदपेक्षया कश्चिदनन्तभागाधिकमर्थं वेत्ति अपरोऽसंख्येयभागाधिकम् , अन्यः संख्येयभागाधिकम् , तथाऽन्यः,सङ्ख्येयासंख्येयानन्तगुणमिति,ते च सर्वेऽपि युक्ता युक्त्युपपन्नाः सूत्रोपात्ता एव वेदितव्याः, तथा चाभिहितम् ' ते वि य मईविसेसे ' इत्यादि , ननु किं सूत्रोपात्तेभ्योऽन्येऽपि केचनार्थाः सन्ति येन तदपेक्षया चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वमुद्घुष्यते बाढ विद्यन्ते यतोऽभिहित-" पराणवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं । पराणवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥ १ ॥ " यतश्चैव ततस्ते अर्था आगमे बहुविधं प्रयुक्ताः, सूत्रैरुपात्ताः केचन साक्षात् केचिदर्थापत्त्या समुपलभ्यन्ते । यदि वा-क्वचिदेकग्रहण क्वचित्सर्वार्थोपादानमित्यादि, यैश्च पदैस्तेऽर्थाः प्रतिपाद्यन्ते तानि पदानि प्रकर्षेण सिद्धानि प्रसिद्धानि न साधनीयानि, तथा अनादीनि च तानि नेदानीमुत्पाद्यानि, तथा चेयं द्वादशाङ्गी शब्दार्थरचनाद्वारेण विदेहेषु नित्या भरतैरावतेष्वपि शब्दरचनाद्वारेणैव प्रतितीर्थकर क्रियते अन्यथा तु नित्यैव, एतेन चोच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णा इत्येतन्निराकृत वेदितव्यमिति ।

साम्प्रत सूत्रकृतस्य श्रुतस्कन्धाध्ययनादिनिरूपणार्थमाह-

दो चेव सुयक्खंधा, अज्झयणाइं च हुंति तेवीसं ।
तेत्तिसुद्देसणकाला, आयाराओ दुगुणमंगं ॥ २२ ॥

' दो चेवे ' त्यादि, द्वावत्र श्रुतस्कन्धौ त्रयोविंशतिरध्ययनानि त्रयस्त्रिंशदुद्देशनकालास्ते चैवं भवन्ति-प्रथमाध्ययने चत्वारो द्वितीये त्रयस्तृतीये चत्वार एवं चतुर्थपञ्चमयोर्द्वौ द्वौ तथैकादशस्वेकसरकेष्वेकादशैवेति प्रथमश्रुतस्कन्धे । तथा-द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्ताध्ययनानि तेषां सप्तैवोद्देशनकाला एवमेते सर्वेऽपि त्रयस्त्रिंशदिति । एतच्चाचाराङ्गात् द्विगुणमङ्ग षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणमित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

सूत्रकृतः—

तेवीसं सूयगडज्झयणा पण्णत्ता , तं जहा-समए वेयालिए उवसग्गपरिण्णा इत्थीपरिण्णा नरयविभत्ती महावीरथुई कुसीलपरिभासए वीरिए धम्मे समाहिमग्गे समोसरणे आहत्तहिए गंथे जमईए गाथा पुंडरीए किरियाठाणा आहारपरिण्णा अपच्चक्खाणकिरिया अणगारसुयं अद्दइज्जं णालंदइज्जं । (सू० २३ ×)

सूत्रकृतस्य सप्तपञ्चाशदध्ययनानि, स० । तत्राचारे प्रथमश्रुतस्कन्धे नवाध्ययनानि, द्वितीये षोडश निशीथाध्ययनस्य प्रस्थानान्तरत्वेनेहानाश्रयणात्, षोडशानां मध्ये एकस्याचारचूलिकेति परिहृतत्वात् शेषाणि पञ्चदश, सूत्रकृते द्वितीयाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे षोडश द्वितीये सप्त स्थानाङ्गदशेत्येवं सप्तपञ्चाशदिति । स० । अध्ययनानां प्रत्येकमर्थाधिकारः । स० ।

साम्प्रत सूत्रकृताङ्गनिक्षेपानन्तरं प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नामनिष्पन्ननिक्षेपाभिधित्सयाऽऽह—

निक्खेवो गाहाए, चउव्विहो छव्विहो य सोलस्सु ।
निक्खेवो य सुयंमि य, खंधे य चउव्विहो होइ ॥२३॥

इहाद्यश्रुतस्कन्धस्य गाथाषोडशक इति नाम, गाथाख्य षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथेति, तत्र गाथाया नामस्थापनाद्रव्यभावरूपश्चतुर्विधो निक्षेप', नामस्थापने प्रसिद्धे. द्रव्यगाथा द्विधा—आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्त 'अनुपयोगो द्रव्य' मिति कृत्वा, नोआगमतस्तु त्रिधा—ज्ञशरीरद्रव्यगाथा, भव्यशरीरद्रव्यगाथा ताभ्यां विनिर्मुक्ता च—" सत्तट्ठतरू विसमे, ण से इया ताण छट्ठ णह जलया । गाहाए पच्छद्धे, भेओ छट्ठो त्ति इक्कलो ॥ १ ॥ " इत्यादिलक्षणलक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति, भावगाथाऽपि द्विविधा-आगम-नोआगमभेदात्, तत्राऽऽगमतो गाथापदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्त., नोआगमतस्त्विदमेव गाथाख्यमध्ययनम्, आगमैकदेशत्वादस्य षोडशकस्यापि नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेप । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषोडशक ज्ञशरीरभव्यशरीरविनिर्मुक्तं सचित्तादीनि षोडश द्रव्याणि, क्षेत्रषोडशक षोडशाकाशप्रदेशा', कालषोडशक षोडश समया एतत्कालावस्थायि वा द्रव्यमिति, भावषोडशकमिदमेवाध्ययनषोडशकं, क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वादिति । श्रुतस्कन्धयो प्रत्येक चतुर्विधो निक्षेप' स चान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपादित इति नेह प्रतन्यते ।

साम्प्रतमध्ययनानां प्रत्येकमर्थाधिकार दिदर्शयिषयाऽऽह—

ससमयपरसमयपरू-वणा य णाऊण बुज्झणा चेव ।
संबुद्धस्सुवसग्गा, त्थीदोसविवज्जणा चेव ॥ २४ ॥
उवसग्गभीरुणो त्थी-वसस्स णरएसु होज्ज उववाओ ।
एवमहप्पा वीरो, जयमाह तहा जएज्जाह ॥ २५ ॥
परिचत्तनिसीलकुसी-ल सुसीलसंविग्गसीलवं चेव ।
णाऊण वीरियदुयं, पंडियवीरिय पयट्टेई (वयइ)॥२६॥
धम्मो समाहिमग्गो, समोसढा चउसु सव्ववादीसु ।
सीसगुणदोसकहणा, गंथमि सदा गुरुनिवासो ॥२७॥
आदाणिय संकलिया, आदाणीयंमि आदयचारित्तं ।
अप्पग्गंथे पिंडिय, पयणेणं होइ अहिगारो ॥ २८ ॥

तत्र प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणा द्वितीये स्वसमयगुणान् परसमयदोषांश्च ज्ञात्वा स्वसमय एव बोधो विधेय इति, तृतीयाध्ययने तु सबुद्धः सन् यथोपसर्गसहिष्णुर्भवति तदभिधीयते, चतुर्थे स्त्रीदोषविवर्जना पञ्चमे त्वयमर्थाधिकार', तद्यथा—उपसर्गास्सहिष्णो स्त्रीवशवर्तिनोऽवश्यं नरकेषूपपात इति, षष्ठे पुनरेवमित्यनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहनेन स्त्रीदोषवर्जनेन च भगवान् महावीरो जेतव्यस्य कर्मण' संसारस्य वा पराभवेन जयमाह—ततस्तथैव यत्न विधत्त यूयमिति शिष्याणामुपदेशो दीयते, सप्तमे त्विदमभिहितम्, तद्यथा—नि शीला गृहस्था कुशीलास्त्वन्यतीर्थिका. पार्श्वस्थादयो वा ते परित्यक्ता येन साधुना स परित्यक्तनि शीलकुशील इति, तथा सुशीला उद्युक्तविहारिण सविग्ना संवेगमग्नास्तत्सेवाशील. शीलवान् भवतीति, अष्टमे त्वेतत्प्रतिपाद्यते, तद्यथा—ज्ञात्वा वीर्यद्वय पण्डितवीर्ये प्रयत्नो विधीयत इति, नवमे त्वार्थाधिकारस्त्वयम्. तद्यथा—यथावस्थितो धर्म. कथ्यते, दशमे तु समाधि प्रतिपाद्यते. एकादशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्ग कथ्यते, द्वादशे त्वयमर्थाधिकार, तद्यथा—समवसृता अवतीर्णा व्यवस्थिताश्चतुर्षु मतेषु क्रियाक्रियाज्ञानवैनयिकाख्येष्वभिप्रायेषु त्रिषष्ठ्युत्तरशतत्रयसख्या. पाषण्डिन स्वीयं स्वीयमर्थं प्रसाधयन्त समुत्थितास्तदुपन्यस्तसाधनदोषोद्भावनतो निराक्रियन्ते, त्रयोदशे त्विदमभिहित, तद्यथा—सर्ववादिषु कपिलकणादाक्षपादशौद्धोदनिजैमिनिप्रभृतिमतानुसारिषु कुमार्गप्रणेतृत्वं साध्यते, चतुर्दशे तु ग्रन्थाख्येऽध्ययनेऽयमर्थाधिकार, तद्यथा—शिष्याणा गुणदोषकथना, तथा शिष्यगुणसम्पदुपेतेन च विनेयेन नित्य गुणानुरूपगुरुकुलवासो विधेय इति, पञ्चदशे त्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयम्, तद्यथा—आदीयन्ते गृह्यन्ते उपादीयन्ते इत्यादानीयानि पदान्यर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैर्येऽश्च प्रायशोऽत्र संकलिता, तथा आयतं चरित्र सम्यक्चरित्र मोक्षमार्गप्रसाधक तदत्र व्यावर्ण्यत इति, षोडशे तु गाथाख्येऽल्पग्रन्थेऽध्ययनेऽयमर्थो व्यावर्ण्यते, तद्यथा—पञ्चदशभिरध्ययनैर्योऽर्थोऽभिहित सोऽत्र पण्डितवचनेन संक्षिप्ताभिधानेन प्रतिपाद्यत इति । " गाहासोलसगाणं, पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं । एत्तो इक्किक पुण, अज्झयण कित्तइस्सामि ॥ १ ॥ " सूत्र० । (समयाध्ययनस्याधिकारगाथा ६६ 'समय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्ता ।)

साम्प्रत प्रागुपन्यस्तोद्देशार्थाधिकाराभिधित्सयाऽऽह—

महपंचभूय एक-प्पए य तज्जीवतस्सरीरे य ।
तह य अगारगवाई, अत्तच्छट्ठो अफलवादी ॥ ३० ॥
वीए नियईवाओ, अण्णाणिय तहय नाणवाईओ ।
कम्मं चयं न गच्छइ, चउव्विह भिक्खुसमयंमि ॥ ३१ ॥
तइए आहाकम्मं, कडवाई जह य ते पवाईओ ।
किच्चुवमा य चउत्थे, परप्पवाई अ विरएसु ॥ ३२ ॥

' महपंचभूये ' त्यादि गाथात्रयम्, अस्याध्ययनस्य चत्वार उद्देशकास्तत्राद्यस्य षडर्थाधिकारा आद्यगाथाऽभिहिताः, तद्यथा—पञ्च भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि महान्ति च तानि सर्वलोकव्यापित्वात् भूतानि च महाभूतानि इत्ययमेकोऽर्थाधिकार, तथा चेतनाचेतन सर्वमप्यात्मविवर्त्त इत्यात्माऽद्वैतवाद प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारो द्वितीय, स चासौ जीवश्च तज्जीव कायाकारो भूत-

परिणामस्तदेव च शरीरं जीवशरीरयोरैक्यमिति यावदिति, तृतीयोऽर्थाधिकारः. तथा कारको जीवः सर्वस्याः पुण्यपापक्रियाया इत्येवंवादीनि चतुर्थोऽर्थाधिकारः, तथात्मषष्ठ इति पञ्चानां भूतानामात्मा षष्ठः प्रतिपाद्यत इत्ययं पञ्चमोऽर्थाधिकारः, तथा फलवादीति न विद्यते कस्याश्चित् क्रियायाः फलमित्येवं वादी च प्रतिपाद्यत इति षष्ठोऽर्थाधिकार इति। द्वितीयोद्देशके चत्वारोऽर्थाधिकाराः, तद्यथा— नियतवादस्तथा अज्ञानिकमतं ज्ञानवादी च प्रतिपाद्यते, कर्म चयमुपचयं चतुर्विधमपि न गच्छति भिक्षुसमये शाक्यागमे इति चतुर्थोऽर्थाधिकारः. चातुर्विध्यं तु कर्मणोऽविज्ञोपचितम् अविज्ञानमविज्ञातयोपचितमनाभोगकृतमित्यर्थः, यथा मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनाभोगान्न कर्मोपचीयते। तथा परिज्ञानं परिज्ञा केवलेन मनसा पर्यालोचनम्, तेनापि कस्यचित् प्राणिनो व्यापादनाभावात् कर्मोपचयाभाव इति, तथा ईरणमीर्या—गमनं तेन जनितमीर्याप्रत्ययं तदपि कर्मोपचयं न गच्छति, प्राणिव्यापादनाभिसन्धेरभावादिति, तथा स्वप्नान्तिकं स्वप्नप्रत्ययं कर्म नोपचीयते, यथा स्वप्नभोजने तृप्त्यभाव इति। तृतीयोद्देशके त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा-आधाकर्मगतविचारस्तद्भोजिनां च दोषोपदर्शनमिति, तथा कृतवादी च भण्यते, तद्यथा—ईश्वरेण कृतोऽयं लोकः प्रधानादिकृतो वा यथा च ते प्रवादिनः आत्मीयमात्मीयं कृतवादं गृहीत्वोत्थितास्तथा भण्यन्ते इति द्वितीयोऽर्थाधिकारः। चतुर्थोद्देशकाधिकारस्त्वयम्, तद्यथा-अविरतेषु गृहस्थेषु यानि कृत्यानि अनुष्ठानानि स्थितानि तैरसंयमप्रधानैः कर्तव्यैः परप्रवादी परतीर्थिक उपमीयत इति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स०।

सूत्रकृतस्य विषयाः—

से किं तं सूयगडे ?, सूयगडे णं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोयालोए सूइज्जइ। जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति जीवाजीवा सूइज्जंति, ससमए सूइज्जइ परसमए सूइज्जइ ससमयपरसमए सूइज्जइ, सूयगडेणं असीयस्स किरियावाइसयस्स चउरासीईए अकिरियावाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईणं बत्तीसाए वेणइयवाईणं तिण्हं तिसट्ठीणं पासंडियसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ। सूयगडेणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए विइए अंगे दो सुयक्खंधा तेवीसं अज्झयणा तेत्तीसं उद्देसणकाला तेत्तीसं समुद्देसणकाला छत्तीसं पयसहस्साणि पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा, परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया से एवं नाया से एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। सेत्तं सूयगडे। (सू० ४६)

अथ किं तत्सूत्रकृतम्-'सूत्र' पैशून्ये सूचनात् सूत्रं निपातनात् रूपनिष्पत्तिर्भावप्रधानश्चायं सूत्रशब्दः, ततोऽयमर्थः— सूत्रेण कृतं सूत्ररूपतया कृतमित्यर्थः। यद्यपि च सर्वमङ्गं सूत्ररूपतया कृतं, तथापि रूढिवशादेतदेव सूत्रकृतमुच्यते, न शेषमङ्गम्। आचार्य आह—सूत्रकृतेन अथवा—सूत्रकृते णमिति वाक्यालङ्कारे लोकः सूच्यते, इत्यादि नियदसिद्धं यावत् 'असीयस्स किरियावाइसयस्स' इत्यादि। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। (लोकस्य सूचनम् 'लोक' शब्दे षष्ठभागे। 'भावणा' शब्दे पञ्चमभागे च-गतम्।) (अलोकस्वरूपम् 'अलोग' शब्दे प्रथमभागे ७८४ पृष्ठे गतम्। 'लोक' शब्दे च षष्ठभागे सविस्तरमुक्तम्।) (जीवसूचनम् 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५११ पृष्ठे गतम्।) (अजीवसूचनम् 'अजीव' शब्दे प्रथमभागे २०३ पृष्ठे गतम्।) (जीवाजीवसूचनम् 'जीवाजीव' शब्दे चतुर्थभागे १५५६ पृष्ठे उक्तम्।) (स्वसमयस्वरूपम् 'ससमय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम्।) (परसमयस्वरूपम् 'परसमय' शब्दे पञ्चमभागे ५४८ पृष्ठे प्रतिपादितम्।) (क्रियावादिनः 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे ५५४ पृष्ठे उक्ताः।) (अक्रियावादिनः 'अकिरियावाइ' शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे गताः।) (अज्ञानिकवादिनः 'अण्णाणिय' शब्दे प्रथमभागे ४८६ पृष्ठे गताः।) (वैनयिकवादिनः 'वेणइय' शब्दे षष्ठे भागे दर्शिताः।) "भारद्दाजसगोत्ते सूयगडंग महासमणनामं। अगुणत्तीससतेहिं, जो हि वरिसाण वोच्छिन्नो ॥" ति०।

सूयगो-सूतगवी-स्त्री०। अभिनवप्रसूतायां गवि, 'विट्ठुत्ता परिसप्पति, सूयगो व अदूरए'। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

सूयपाय-शूनपाद-त्रि०। संजातपादशोथे, विपा० १ श्रु० ७ अ०।

सूय (अ) र-शूकर-पुं०। पशुविशेषे,विड्वराहे, पं० व० १ द्वार। सूत्र। विपा०। आ० म०। "सूणियाभाव साणस्स, सुयरस्स नरस्स य। विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो॥" उत्त० १ अ०।

सूयरिय-शौकरिक-त्रि०। शूकरवधार्थं चरन्तीति शौकरिकाः। शूकरमांसोपजीविनि, अनु०।

सूया-सूचा-स्त्री०। व्याजे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। अप्पणो दोसं भासति न परस्स एसा असूया, ण अप्पणो परस्स फुडमेव दोसं भासति एसा सूया। नि० चू० १० उ०। स्वपरसमयसूचने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स्वव्यपदेशेन परस्वरूपकथने, सूत्र० १ उ० १ प्रक०।

सूर-भञ्ज-धा०। "भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर सूर-सूर-सूड-विरपविरञ्ज—करञ्ज—नीरञ्जाः" ॥ ८।४।१०६॥ इति भञ्जेः सूरादेशः। सूरइ। भनक्ति। प्रा० ४ पाद।

सूर-पुं०। अर्द्धे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०

ग्रनु० । उत्त० । कुन्थुजिनस्य पितरि, स० । आव० ।। सुभद्रे, संथा० । ति० । प्रव० । विक्रान्तभटे, दश० ८ अ० । प्रा० । आव० । स्था० । तथाविधे दातरि, अभ्युपेतनिर्वाहे. भ० ११ श० १ उ० । अङ्गीकृतनिर्वाहे, प्रा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । "सूरा मो मन्नंता, कैतवियाहि (उ) यहि पहाराहिं । गहिया हु अभयपज्जो, कुलवाला-दिणो बहवे ॥" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । (एतद्-व्याख्या 'इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ५६६ पृष्ठे गता ।) समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कल्प० । भ० । (अत्रत्या व्याख्या 'उवसग्ग' शब्दे द्वितीयभागे १०२२ पृष्ठे गता ।) पराक्रमवति योधे च. स्था० ।

चत्तारि सूरा पन्नत्ता, तं जहा-खंतिसूरे तवसूरे दाण-सूरे जुद्धसूरे, खंतिसूरा अरहंता तवसूरा अणगारा दाण-सूरे वेसमणे जुद्धसूरे वासुदेवे । (सू० ३१७)

'चत्तारि सूरे' त्यादि, सूत्रद्वयं कण्ठयम् किन्तु शूरा धीरा क्षान्तिशूरा अर्हन्तो महावीरवत् ,तप शूरा अनगारा दृढ-प्रहारिवत् , दानशूरो वैश्रमण उत्तरा:ऽशालोकपालस्तीर्थ-करादिजन्मपारणकादिने इति,उक्तं च-"वेसमणवयणसंचो-इयाउ ते तिरियजंभगा देवा । कोडिग्गसो हिरण्णं , रयणाणि य तत्थ उवर्णेति ॥१॥" त्ति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । अप-भदेवस्य एकोनविंशतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सूर-पुं० । आदित्ये, स० १३८ सूत्र । विशे० । अस्मादेव पूर्वादिदिशा व्यवस्था । नं० । रा० । प्रव० । संथा० ।

सूर्य-पुं० । ज्योतिष्काणामिन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० । सथा० । सूत्र०।(अस्य व्याख्या 'सामाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।)

सूर्यस्य पूर्वोत्तरजन्मकथा—

केवियस्स भंते ! अजस्स सुसमणेणं भगवया ०जाव संपत्तेणं के अट्ठे पन्नत्ते,एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं राय-गिहे नामं नगरे गुणसिलए चेइए सेणिए राया सामी सरणं जहा चंदो तहा सूरो वि आगतो,०जाव नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगते पुव्वभवपुच्छा सावत्थीए नगरीए सुपविते नामं गाहावई होत्था, अड्ढे अहेव अंगती ०जाव विहरति पासे समोसढे, जहा अंगती तहेव पव्वइए तहेव विहारियमामत्ते ०जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०जाव अंतं काहिति एवं खलु जंबू ! समणेणं निक्खेवतो । नि०३ वर्ग २ अ० । स्था० ।

(सूर्योऽभ्युज्झित इति सूर्यस्य पुष्पकथा 'महादेव' शब्दे षष्ठे भागे उक्ता ।) ('अग्गमहिसी' शब्दे तदग्रमहिष्यः ।)

द्वौ सूर्यौ, इति सूर्यवर्णकमाह—

तओ पुणो तमपडलपरिप्फुडं चेव तेअसा पज्जलंत-रूवं,रत्तासोगपगासकिंसुअसुअमुहगुंजद्धरागसरिसं कमल-वणालंकरणं अंकणं जोइसस्स अंबरतलपईवं हिमपड-लगलग्गहं गहगणोरुनायगं रत्तिविणासं उदयत्थमणेसु मुहुत्तं सुहदंसणं दुन्निरिक्खरूवं रत्तिमुद्धंतदुप्पयारपम-द्दणं सीअवेगमहणं पिच्छइ मेरुगिरिसययपरिअट्टयं वि-सालं सूरं रस्सीसहस्सपयलियदित्तसोहं ७ ॥ (सू०३६)

(तओ पुणो) ततः पुनः चन्द्रदर्शनानन्तरं सप्तमे स्वप्ने सूर्यं पश्यति, अथ किंविशिष्टं सूर्यम्-(तमपडलपरिप्फुडं) तमःपटलम् अन्धकारसमूहस्तस्य परिस्फोटक-नाशकमि-त्यर्थः (चेव) निश्चयेन, पुनः किंवि० (तेअसा पज्जलंत-रूवं) तेजसैव प्रज्वलत् आज्वल्यमानं रूपं यस्य स त-था तं , स्वभावतस्तु सूर्यबिम्बवर्तिनो बादरपृथ्वीकायिका शीतला एव , किन्त्वातपनामकर्मोदयात्तेजसैव एते जनं व्याकुलीकुर्वन्तीति ज्ञेयम् , पुनः किंवि० (रत्तासोग) रक्ता-शोकोऽशोकवृक्षविशेषः (पगासकिंसुअ) प्रकाशकिंशुक पु-ष्पितपलाश (सुअमुहगुंजद्ध) शुकमुखं गुञ्जार्धं च प्रसिद्धं (रागसरिसं) एतेषां वस्तूनां यो रागो रक्तत्वं तेन सदृशं , पूर्वोक्तवस्तुवत् ... अर्थः , पुनः किंवि० (कमलवणा-लंकरणं) कमलवनानाम् अलङ्करणं शोभाकारकं, विकाशक-मिति यावत् , विकसितानि तानि अलङ्कृतानीव बिभा-न्ति, पुनः किंवि० (अंकणं जोइस) ज्योतिषस्य ज्यो-तिश्चक्रस्य अङ्कनं , मेषादिराशिसङ्क्रमणादिना लक्षणज्ञा-पकं , पुनः किंवि० (अंबरतलपईवं) अम्बरतले प्रदीपं आ-काशतलप्रकाशकं, पुनः किंवि० (हिमपडलगलग्गहं) हि-मपटलस्य-हिमसमूहस्य गलग्रहं गलहस्तदायकं, हिमस्फो-टकमित्यर्थः ,पुनः किंवि० (गहगणोरुनायगं) ग्रहगणस्य ग्रहसमूहस्य उरुर्महान् नायको यः स तथा तम् , पुनः किंवि० (रत्तिविणासं) रात्रिविनाशं , रात्रिविनाशकारण-मित्यर्थः , पुनः किंवि० (उदयत्थमणेसु मुहुत्तं सुहदंसणं) उदयास्तसमययोः उदयवेलाया अस्तवेलायाश्च मुहूर्तं या-वत् सुखदर्शनं सुखेन अवलोकनीयमित्यर्थः (दुन्निरिक्ख-रूवं) अन्यस्मिन् काले दुर्निरीक्ष्यरूपं सम्मुखं विलोकयितुं न शक्यते इत्यर्थः । पुनः किंवि० (रत्तिमुद्धत) रात्रौ उ-द्धता स्वेच्छाचारिणः , मकारोऽत्र प्राकृतत्वात् , एवंवि-धा ये [दुप्पयारप्पमद्दणं] दुष्प्रचाराश्चौरादयोऽन्यायका-रिणस्तान् प्रमर्दयति यस्तम् , अन्यायकारिप्रचारनिवारक-मित्यर्थः पुनः किंवि० (सीअवेगमहणं) शीतवेगमथनम् , आतपेन शीतवेगनिवारणात् (पिच्छइ) पश्यति इति क्रिया-पदं प्राग्योजितं पुनः किंवि० (मेरुगिरिसययपरिअट्टयं) मेरुगिरेः सततं परिवर्तकं, मेरुमाश्रित्य प्रदक्षिणया भ्रम-णशीलमिति यावत् , पुनः किंवि० (विसालं) विशाल वि-स्तीर्णमण्डलं (सूरं) सूर्यम् इत्यपि विशेष्यं योजितं , पुनः किंवि० (रस्सीसहस्सपयलिअ) रश्मिसहस्रेण कि-रणदशशत्या कृत्वा प्रदलिता स्फोटिता (दित्तसोहं) दीप्तानां चन्द्रतारादीनां शोभा येन स तथा तं , येन स्व-किरणैः सर्वेषामपि प्रभा विलुप्ताऽस्तीति भावः , अत्र सहस्रकिरणाभिधानं तु लोकप्रसिद्धत्वात् , अन्यथा कला विशेषे अधिका अपि तस्य किरणा भवन्ति, तथा चोक्तं लौकिकशास्त्रेषु—

"ऋतुभेदात्पुनस्तस्य-अतिरिच्यन्तेऽपि रश्मयः ।
शतानि द्वादश १२०० मधौ, त्रयोदश १३०० तु माधवे ॥१॥
चतुर्दश १४०० पुनर्ज्येष्ठे, नभोनभस्ययोस्तथा १४०० ।
पञ्चदशैव १५०० त्वाषाढे, षोडशैव १६०० तथाश्विने ॥२॥
कार्तिके त्वेकादश च-११०० शिवतान्येवं तपस्यपि ।

मार्गे च दश सार्धानि १०५०, शतान्येवं १०५० च फाल्गुने ॥ ३॥
पौष एव परं मासि, सहस्र१००० किरणा रवेः ॥ ७ ॥ ३६॥"
कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

ता के ति चिन्नं पडिचरंति आहितेत्ति वदेज्जा?, तत्थ खलु इमे दुवे सूरिया पएणत्ता, तं जहा-भारहे चेव सूरिए, एरवए चेव सूरिए। ता एतेणं दुवे सूरिए पत्तेयं पत्तेयं तीसाए तीसाए मुहुत्तेहिं एगमेगं अद्धमंडलं चरंति सट्ठिए सट्ठिए मुहुत्तेहिं एगमेगं मंडलं संघातंति, ता णिक्खममाणे णिक्खममाणे खलु एते दुवे सूरिया णो अएणमएणस्स चिन्नं पडिचरंति पविसमाणा खलु एते दुवे सूरिया अएणमएणस्स चिएणं परिचरंति तं सतमेगं चोयालं तत्थ को हेऊ वदेज्जा ?, ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे ०जाव परिक्खेवेणं तत्थ णं अयं भारहे णं चेव सूरिए जंबुद्दीवे दीवे पाईणपडीणायत उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउवीसएणं सतेणं छेत्ता दाहिणपुरत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंसि बाणवति य सूरियमयाइं जाइं अप्पणा चिएणाइं परिचरति, उत्तरपच्चत्थिमेल्लंसि चउभागमंडलंसि एकाणउतिं सूरियमताइं जाइं सूरिए अप्पणो चेव चिन्नं पडिचरति, तत्थ अयं भारहे सूरिए एरावयस्स सूरिअस्स जंबूदीवस्स दीवस्स पाईणपडीणाय ताए उदीणदाहिणाय ताए जीवाए मंडलं चउवीसएणं सएणं छेत्ता उत्तरपुरत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंसि बाणउतिं सूरियमताइं(सूरियमताइं)जाइं सूरिए परस्स चिन्नं पडिचरति, दाहिणपच्चत्थिमेल्लंमि चउभागमंडलंसि एकाणणउतिं सूरियमताइं जाइं सूरिए परस्स चेव चिएणं पडिचरति, तत्थ अयं एरावए सूरिए जंबूदीवस्स दीवस्स पाईणपडीणायताए उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउवीसएणं सएणं छेत्ता उत्तरपुरत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंसि बाणउतिं सूरियमताइं ०जाव सूरिए अप्पणो चेव चिन्नं पडिचरति, दाहिणपुरत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंमि एकाणउतिं सूरियगताइं जाइं सूरिए अप्पणो चेव चिन्नं पडिचरति, तत्थ णं एयं एरावए सूरिए भारहस्स सूरियस्स जंबूदी० दीवस्स पाईण पडीणायताए उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउवीसएणं सतेणं छित्ता दाहिणपच्चत्थिमेल्लंमि चउभागमंडलंसि बाणउतिं सूरियमताइं सूरिए परस्स चिन्नं पडिचरति, उत्तरपुरत्थिमेल्लंसि चउभागमंडलंसि एकाणउतिं सूरियमताइं जाइं सूरिए परस्स चेव चिएणं पडिचरति। (सू० १४ ×)

'ता के ते' इत्यादि, 'ता' इति प्राग्वत्, कस्त्वया भगवन्! सूर्यः स्वयं परेण वा सूर्येण चीर्णं क्षेत्रं प्रतिचरति प्रतिचरन् आख्यात इति वदेत् ?, एवं भगवता गौतमेनोक्ते भगवान् वर्द्धमानस्वाम्याह--'तत्थ' इत्यादि, तत्र तस्मिन् जम्बूद्वीपे परस्परं चीर्णक्षेत्रप्रतिचरणचिन्तायां खलु--निश्चितं यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमधिकृत्येमौ द्वौ सूर्यौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा--भारतश्चैव सूर्यः, ऐरावतश्चैव सूर्यः। 'ता एएणं' मित्यादि, तत् एतौ 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे, द्वौ सूर्यौ प्रत्येकं त्रिंशता मुहूर्त्तैरेकैकमर्द्धमण्डलं चरतः षष्ट्या षष्ट्या मुहूर्त्तैः पुनः प्रत्येकमेकैकं परिपूर्णं मण्डलं संघातयतः--पूरयतः 'ता निक्खममाणा' इत्यादि, 'ता' इति तत्र सूर्यसत्कैकसंवत्सरमध्ये इमौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामन्तौ नोऽन्योऽन्यस्य परस्परेण चीर्णं क्षेत्रं प्रतिचरतः नैकोऽपरेण चीर्णं क्षेत्रं प्रतिचरति, नाप्यपरोऽपरेण चीर्णमिति भावः, इदं तु स्थापनावशादवसेयम्, सा च स्थापना इयम्-सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरौ प्रविशन्तौ द्वावपि खलु सूर्यावन्योऽन्यस्य परस्परेण चीर्णं प्रतिचरतः, तद्यथा-शतमेकं चतुश्चत्वारिंशं, किमुक्तं भवति-यैश्चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यैर्भागैर्मण्डलं पूर्यते, तेषां चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतम्। उभयसूर्यसमुदायचिन्तायां परस्परेण चीर्णप्रतिचीर्णं प्रतिमण्डलमवाप्यते इति एतदवगमार्थं प्रश्नसूत्रमाह-'तत्थ को हेऊ?' इति तत्र एवंविधाया वस्तुतत्त्वव्यवस्थाया अवगमे को हेतु का उपपत्तिरिति? अत्रार्थे भगवान् वदेत्, अत्र भगवानाह--'ता अयएणं' मित्यादि इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वाक्यं पूर्ववत् स्वयं परिपूर्णं परिभावनीयम्, 'तत्थ णं' मित्यादि, तत्र जम्बूद्वीपे णमिति प्राग्वत् 'अयं भारहे चेव सूरिए' इति-सर्वबाह्यस्य मण्डलस्य दक्षिणस्मिन्नर्द्धमण्डले यश्चारं चरितुमारभते स भरतक्षेत्रप्रकाशकत्वाद्भारत इत्युच्यते, यस्त्वितरस्तस्यैव सर्वबाह्यस्य मण्डलस्योत्तरस्मिन् अर्द्धमण्डले चारं चरति, स ऐरवतक्षेत्रप्रकाशकत्वादैरावतस्तत्राय प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो जम्बूद्वीपस्य सम्बन्धी भारतः सूर्यो यस्मिन् मण्डले परिभ्रमति तत्तन्मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा-विभज्य चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यान् भागान् न्यस्य, तस्य मण्डलस्य परिकल्प्येत्यर्थः, सूर्यश्च-प्राचीनाऽपाचीनायतया उदग्दक्षिणायतया च जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकया इत्यर्थः, तन्मण्डलं चतुर्भिर्भागैर्विभज्य दक्षिणपौरस्त्ये दक्षिणपूर्वे, आग्नेये कोणे इत्यर्थः, 'चउभागमण्डलंसि' त्ति-प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययो मण्डलचतुर्भागे तस्य तस्य मण्डलस्य चतुर्थे भागे सूर्यसंवत्सरसत्कद्वितीयषण्मासमध्ये द्विनवतिं सूर्यगतानि द्विनवतिसंख्यानि मण्डलानि स्वयं सूर्येण गतानि चीर्णानि, किमुक्तं भवति?--पूर्वं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामता स्वचीर्णानि प्रतिचरतीति गम्यते, एतदेव व्याचष्टे-'जाइं सूरिए अप्पणा चिएणं पडिचरइ' इति--यानि सूर्य आत्मना स्वयं पूर्वं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रमणकाले इति शेषः चीर्णानि प्रतिचरति तानि च द्विनवतिसंख्यानि मण्डलानि चतुर्भागरूपाणि चीर्णानि प्रतिचरति न परिपूर्णचतुर्भागमात्राणि किन्तु--स्वस्वमण्डलगतचतुर्विंशत्यधिकशतसत्काष्टादशाष्टादशभागप्रमितानि, ते चाष्टादशाष्टादश भागा न सर्वेष्वपि मण्डलेषु प्रतिनियते एव देशे किन्तु क्वापि मण्डले क्वापि केवलं दक्षिणपौरस्त्य-

रूपचतुर्भागमध्ये तत. 'दाहिणपुरत्थिमंसि चउभागमंडलंसि' इत्युक्तम् एवमुत्तरेष्वपि मण्डलचतुर्भागेष्वष्टादशभागप्रमितत्वं भावनीयम्. स एव भारत सूर्यस्तेषामेव द्वितीयाना षण्मासानां मध्ये उत्तरपश्चिमे चतुर्भागमण्डले मण्डलचतुर्भागे एकनवतिसंख्यानि मण्डलानि स्वस्वमण्डलगतचतुर्विंशत्यधिकशतसत्काष्टाऽष्टादशभागप्रमितानि स्वय मतानि स्वय सूर्येण पूर्व सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान निष्क्रमणकाले चीर्णानि प्रतिचरतीति गम्यते. एतदेव व्याचष्टे-'जाइं सूरिए अप्पणा चेव चिण्णाइं पडिचरइ' एतद् पूर्ववत् व्याख्येयम्, इह सर्वबाह्यान्मण्डलात शेषाणि मण्डलानि त्र्यशीत्यधिकशतसंख्यानि तानि च द्वाभ्यामपि सूर्याभ्या द्वितीयषण्मासमध्ये प्रत्येक परिभ्रम्यन्ते, सर्वेऽपि च दिग्विभागेषु प्रत्येकमेक मण्डलमेकेन सूर्येण परिभ्रम्यते द्वितीयमपरेण एव यावत् सर्वान्तिम मण्डलं, तत्र दक्षिणपूर्वदिग्भागे द्वितीयषण्मासमध्ये भारत सूर्यो द्विनवतिमण्डलानि परिभ्रमति, एकनवतिमण्डलानि ऐरावत उत्तरपश्चिमे दिग्विभागे द्विनवतिमण्डलान्यैरावत परिभ्रमति, एकनवतिमण्डलानि भारत, एतच्च पट्टिकादौ मण्डलस्थापना कृत्वा भावनीयम्, तत उक्तम्-दक्षिणपूर्वे द्विनवतिसंख्यानि मण्डलानि उत्तरपश्चिमे त्वेकनवतिसंख्यानि भारत स्वय चीर्णानि प्रतिचरतीति। तदेवं भारतसूर्यस्य स्वय चीर्णप्रतिचरणपरिमाणमुक्तम्, इदानीं तस्यैव भारतसूर्यस्य परचीर्णप्रतिचरणपरिमाणमाह—'तत्थ य अयं भारहे' इत्यादि, तत्र जम्बूद्वीपे अयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो जम्बूद्वीपसम्बन्धी भारत सूर्यो यस्मिन् मण्डले परिभ्रमति तत्तन्मण्डल चतुर्विंशत्यधिकेन भागशतेन छित्त्वा भूयश्च प्राचीनापाचीनायतया उदीच्यदक्षिणायतया च जीवया च तत्तन्मण्डल चतुर्भिर्विभज्य उत्तरपूर्वे-ईशाने कोणे इत्यर्थः, चतुर्भागमण्डले तस्य तस्य मण्डलस्य चतुर्थे भागे तेषामेव द्वितीयाना षण्मासाना मध्ये ऐरावतस्य सूर्यस्य द्विनवतिसूर्यमतानि द्विनवतिसंख्यान्यैरावतेन सूर्येण पूर्व निष्क्रमणकाले मतीकृतानि प्रतिचरति, एतदेव व्यक्तीकरोति 'जाइं सूरिए परस्स चिण्णाइं पडियरइ' यानि सूर्यो भारत 'परस्स चिण्णाइं' इत्यत्र षष्ठी तृतीयार्थे, परेण ऐरावतेन सूर्येण निष्क्रमणकाले चीर्णानि प्रतिचरति, दक्षिणपश्चिमे च मण्डलचतुर्भागे एकनवतिम्-एकनवतिसंख्यानि ऐरवतस्य सूर्यस्येत्यपि सम्बद्ध्यते, ततोऽयमर्थ —ऐरावतस्य सूर्यस्य सम्बन्धीति सूर्यमतानि,किमुक्त भवति?—ऐरावतेन सूर्येण पूर्वं निष्क्रमणकाले मतीकृतानि प्रतिचरति, एतदेवाह— 'जाइं सूरिए परस्स चिण्णाइं पडियरइ' एतत्पूर्ववद् व्याख्येयम्, अत्राप्येकस्मिन् विभागे द्विनवतिरेकस्मिन् भागे एकनवतिरित्यत्र भावना प्रागिव भावनीया। तदेव भारत सूर्यो दक्षिणपूर्वे द्विनवतिसंख्यानि उत्तरपश्चिमे एकनवतिसंख्यानि स्वय चीर्णानि उत्तरपूर्वे द्विनवतिसंख्यानि दक्षिणपश्चिमे एकनवतिसंख्यान्यैरावितसूर्यचीर्णानि प्रतिचरतीत्युपपादितम्। सम्प्रति ऐरावत सूर्य उत्तरपश्चिमे दिग्विभागे द्विनवतिसंख्यानि मण्डलानि दक्षिणपूर्वे एकनवतिसंख्यानि स्वय चीर्णानि दक्षिणपश्चिमे द्विनवतिसंख्यान्युत्तरपूर्वे एकनवतिसंख्यानि भारतसूर्यचीर्णानि प्रतिचरतीत्येतत्प्रतिपादयति—'तत्थ अयं एरवए सूरिए' इत्यादि, एतच्च सकलमपि प्रागुक्तसूत्रव्याख्यानानुसारेण स्वय व्याख्येयम। सू० प्र० १ पाहु०। द्वात्रिंशत्याधिक सया मनुष्यलोके जम्बूद्वीपगतमेरौ रवि पदक्षया परिभ्रमन्ति। चं० प्र० १ पाहु०। (द्वयो. सूर्ययोरन्तरं सान्तरव्याख्या 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६८ पृष्ठतो द्रष्टव्या।)

कियन्त द्वीप समुद्र वा सूर्योऽवगाहते?, इति तन्निर्णयाय प्रश्नसूत्रमाह—

ता केवतियं दीवं समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, आहिता ति वदेज्जा ?, तत्थ खलु इमाओ पंच पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ-एगे एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं जोयणसतं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं एगं चउत्तीसं जोयणसयं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु—ता एगं जोयणसहस्सं एगं च पणतीसं जोयणसतं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु ता अवड्ढं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं एगं तेत्तीसं जोयणसतं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति ५। तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं एगं तेत्तीसं जोयणसतं दीवं वा समुद्दं वा उग्गाहित्ता सूरिए चारं चरति, ते एवमाहंसु, जता णं सूरिए सव्वब्भतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं जंबुद्दीवं एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं जोयणसतं ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवई, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं लवणसमुद्दं एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं जोयणसयं ओगाहित्ता चार चरइ, तया णं लवणसमुद्दं एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं जोयणसयं ओगाहित्ता चारं चरइ, तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णिए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ। एवं चोत्तीसं जोयणसतं। एवं पणतीसं जोयणसतं। (पणतीसेऽवि एवं चेव भाणियव्वं,) तत्थ जे ते एवमाहंसु ता अवड्ढं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरइ, ते एवमाहंसु-जता णं सूरिए सव्वब्भतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं अवड्ढं जंबुद्दीवं दीवं ओगाहित्ता चारं चरति, तता णं उत्तमकपट्ठे

उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति , जहसिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति , एवं सव्ववाहिरए वि, णवरं अवड्ढं लवणसमुद्दं , तता णं राइंदियं तहेव , तत्थ जे ते एवमाहंसु–ता णो किंचि दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति , ते एवमाहंसु–ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं णो किंचि दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, तहेव पुव्वं सव्ववाहिरए मंडले,णवरं णो किंचि लवणसमुद्दं ओगाहित्ता चारं चरति, राइंदियं तहेव , एगे एवमाहंसु । (सू० १६)

' ता कवइयं दीवं समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरइ ' इत्यादि,' ता ' इति पूर्ववत् , कियन्तं-कियत्प्रमाणं द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति ? चरन्नाख्यात इति वदेत् , एवं प्रश्नकरणादनन्तरं भगवान्निर्वचनमभिधातुकाम एतद्विषये परतीर्थिकप्रतिपत्तिमिथ्याभावोपदर्शनार्थं प्रथमतस्ता एव परतीर्थिकप्रतिपत्तीः सामान्यत उपन्यस्यति–' तत्थ खलु ' इत्यादि, तत्र सूर्यस्य चारं चरतो द्वीपसमुद्रावगाहनविषये खल्विमाः-वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च प्रतिपत्तयः—परमतरूपाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-एके तीर्थान्तरीयाः एवमाहुः—ता इति तावच्छब्दस्तेषां तीर्थान्तरीयाणां प्रभूतवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थः एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति , किमुक्तं भवति ?—यदा सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं जम्बूद्वीपमवगाह्य चारं चरति तदा च परमप्रकर्षप्राप्तोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सर्वजघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः। यदा तु सर्वबाह्यं मण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरितुमारभते तदा लवणसमुद्रमेकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतमवगाह्य सूर्यश्चारं चरति तदा चोत्तमकाष्ठाप्राप्ता अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिर्भवति सर्वजघन्यो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः, अत्रैवोपसंहारमाह–' एगे एवमाहंसु ' एके पुनर्द्वितीया एवमाहुः-' ता ' इति पूर्ववत् , एकं योजनसहस्रमेकं च चतुस्त्रिंशदधिकं योजनशतं द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति , भावना प्राग्वत् , अत्रैवोपसंहारमाह—' एगे एवमाहंसु ' एके पुनस्तृतीया एवमाहुः-एकं योजनसहस्रमेकं च पञ्चत्रिंशदधिकं योजनशतमवगाह्य सूर्यश्चारं चरति , अत्रापि भावना प्रागिव, अत्रैवोपसंहारमाह-एगे ' एवमाहंसु ' एके पुनश्चतुर्थास्तीर्थान्तरीया एवमाहुः—' अवड्ढं ' ति-अपगतं सदप्यवगाहाभावतो न विवक्षितमर्द्धं यस्य तमपार्द्धमर्द्धहीनम् ; अर्द्धमात्रमित्यर्थः , द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति, इयमत्र भावना-यदा सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसङ्क्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदा अर्द्धं जम्बूद्वीपमवगाहते, तदा च दिवसः परमप्रकर्षप्राप्तोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो भवति, सर्वजघन्या च द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिः यदा पुनः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसङ्क्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदा अर्द्धम् अपरिपूर्णं लवणसमुद्रमवगाहते तदा च सर्वोत्कर्षकाष्ठाप्राप्ता अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिः सर्वजघन्यो द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः। अत्रैवोपसंहारमाह–' एगे एवमाहंसु ' एके पुनः पञ्चमास्तीर्थान्तरीया एवमाहुः न किंचिद् द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति, अत्रायं भावार्थः—यदापि सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदापि न किमपि जम्बूद्वीपमवगाहते, किं पुनः शेषमण्डलपरिभ्रमणकाले , यदापि सर्वबाह्यमण्डलमुपसङ्क्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदापि न लवणसमुद्रं किमप्यवगाहते , किं पुनः शेषमण्डलपरिभ्रमणकाले किन्तु द्वीपसमुद्रयोरपान्तराल एव सकलेष्वपि मण्डलेषु चारं चरति. अत्रोपसंहारमाह-' एगे एवमाहंसु ' तदेवमुक्ता उद्देशतः पञ्चापि प्रतिपत्तयः। सम्प्रत्येता एव स्पष्टं भावयति–-' तत्थ जे ते एवमाहंसु ' इत्यादि, प्रायः समस्तमपीदं व्याख्यानार्थं सुगमं च , नवरं ' चोत्तीसे वि ' त्ति-एवं त्रयस्त्रिंशदधिकयोजनशतविषयप्रतिपत्तिवत् चतुस्त्रिंशे शते या प्रतिपत्तिस्तस्यामालापको वक्तव्यः , स चैवम्-' तत्थ जे ते एवमाहंसु एगं जोयणसहस्सं एगं च चउत्तीसं जोयणसयं दीवं समुद्दं वा ओगाहित्ता चारं चरइ ते एवमाहंसु-जया णं सूरिए सव्वब्भतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं जंबुद्दीवं दीवं एगं जोयणसहस्सं एगं च चोत्तीसं जोयणसयं ओगाहित्ता चारं चरइ , तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ। ता जया णं सूरिए सव्ववाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं लवणसमुद्दं एगं जोयणसहस्सं एगं च चोत्तीसं जोयणसयं ओगाहित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ पणतीसे वि एवं चेव भाणियव्वं ' एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चत्रिंशदधिकयोजनशतविषयायामपि प्रतिपत्तौ सूत्रं भणितव्यं, तच्च सुगमत्वात्स्वयं भावनीयम्। एवं 'सव्ववाहिरे वि ' त्ति-एवं सर्वाभ्यन्तरमण्डल इव सर्वबाह्येऽपि मण्डले आलापको वक्तव्यः , नवरं जम्बूद्वीपस्थाने ' अवड्ढलवणसमुद्दं ओगाहित्ता ' इति वक्तव्यम् , तच्चैवम्–' जया णं सूरिए सव्ववाहिरं मंडलमुवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं अवड्ढं लवणसमुद्दं ओगाहित्ता चारं चरति तया णं राइंदियप्पमाणऽब्भासगं त्ति तया णं' मिति, वचनपूर्वकं रात्रिंदिवपरिमाणं जम्बूद्वीपापेक्षया विपरीतं वक्तव्यम् , यज्जम्बूद्वीपावगाहे दिवसप्रमाणमुक्तं तद्रात्रेर्द्रष्टव्यं , यद्रात्रेस्तद्दिवसस्य, तच्चैवम्-' तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ जहन्ने दुवालसमुहुत्ते दिवसे हवइ ' एवमुत्तरसूत्रेऽप्यक्षरयोजना भावनीया।

तदेवं परतीर्थिकप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रत्येतासां
मिथ्याभावोपदर्शनार्थं स्वमतमुपदर्शयति--

वयं पुण एवं वदामो–ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं जंबुद्दीवं दीवं असियं जोयणसतं ओगाहित्ता चारं चरति तदा णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहन्निया

दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, एवं सव्वबाहिरेऽवि , णवरं लवणसमुद्दं तिण्णि तीसे जोयणसते ओगाहित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, गाथाओ भाणितव्वाओ । (सू० १७)

'वय पुण' इत्यादि, वय पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानदर्शना एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्षामस्तमेव प्रकारमाह--यदा सूर्य सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा जम्बूद्वीपमशीत्यधिक योजनशतमवगाह्य चारं चरति तदा चोत्तमकाष्ठाप्राप्त उत्कर्षकोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सर्वजघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रि, एव 'सव्वबाहिरे वि' त्ति--एवं सर्वाभ्यन्तरमण्डल इव सर्वबाह्येऽपि मण्डले आलापको वक्तव्य । स चैवम्-'जया ण सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ' इति-नवरमिति सर्वबाह्यमण्डलगतादालापकादस्यालापकस्य विशेषोपदर्शनार्थं ,तमेव विशेष माह--'तया ण लवणसमुद्दं तिण्णि तीसे जोयणसए ओगाहित्ता चारं चरइ तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ' इति, इदं च सुगमं, क्वचित्तु 'सव्वबाहिरे वि' इत्यतिदेशमन्तरेण सकलमपि सूत्रं साक्षाल्लिखितं दृश्यते ' गाहाओ भाणियव्वाओ' अत्रापि काश्चन प्रसिद्धा विवक्षितार्थसंग्राहिका गाथा सन्ति ता भणितव्याश्च,ताश्च सम्प्रति व्यवच्छिन्ना इति न कथयितुं व्याख्यातुं वा शक्यन्ते यथासम्प्रदाय वाच्या इति । सू० प्र०१ पाहु०। ('सूरमंडल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे पञ्चदशभिर्द्वारैः सूर्यप्ररूपणा वक्ष्यते ।) ('उउ' शब्दे द्वितीयभागे ६७६ पृष्ठे सूर्यर्तव ।) चतुर्थे देवलोकस्थे विमानभेदे,नपुं०।स० ५ सम० । औ० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । सू० प्र० २० पाहु० । (सूर्यस्यावृत्तय युगे कति भवन्तीति 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे गतम् ।)

सूरग-देशी-प्रदीपे, दे० ना० ८ वर्ग ४२ गाथा ।

सूरकंत-सूर्यकान्त-पुं० । सूर्यखरकिरणसम्पर्कादग्निकारमोचके मणिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । उत्त० । सूत्र० । भ० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, नपुं० । स० ५ सम० ।

सूरकूड-सूर्यकूट-न० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० ५ सम० ।

सूरखेत्त-सूर्यक्षेत्र-न० । उदयास्तरूपे नभःखण्डे, ध० ३ अधि० ।

सूरचरिय- सूर्यचरित-न० । रविचरिते , सूर्यचरितं त्विह सूर्यमण्डलपरिमाणराशिपरिभोगोद्योतावकाशराहूपरागादिकम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स० ।

सूरण-शूरण-पुं० । अर्शोघ्नकन्दे, प्रव० ४ द्वार । दे० ना० । औ० । आचा० । उत्त० । जी० । प्रज्ञा० । भ० । स० । स्वनामख्याते एकचत्वारिंशत्तितमे ऋषभदेवस्य पुत्रे, कल्प० १ अ० ७ क्षण । पा० ।

सूरदह-सूर्यह्रद-पुं० । जम्बूद्वीपे देवकुले स्वनामख्याते महाह्रदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सूरदीव-सूर्यद्वीप-पुं० । जम्बूद्वीपगतसूर्यदेवके लवणसमुद्रगते द्वीपे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । (अन्नत्या व्याख्या ' चंददीव ' शब्दे तृतीयभागे १०७२ पृष्ठे गता ।)

सूरदेव- सूरदेव-पुं० । जम्बूद्वीपे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वितीये तीर्थकरे , प्रव० ७ द्वार । ती० । स० ।

सूरद्धअ-देशी-दिने , दे० ना० ८ वर्ग ४२ गाथा ।

सूरपण्णत्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति-स्त्री० । सूर्यचर्याप्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः । नं० । षष्ठस्यागमस्योपाङ्गे , स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अन्नत्या प्राभृतार्थाधिकारा —

सूर्यप्रज्ञप्तिमहं, गुरूपदेशानुसारत किञ्चित् ।
विवृणोमि यथाशक्ति, स्पष्टं स्वपरोपकाराय ॥ ४ ॥
अस्या निर्युक्तिरभूत्, पूर्वं श्रीभद्रबाहुसूरिकृता ।
कलिदोषात् साऽनशद्, व्याचक्षे केवलं सूत्रम् ॥ ५ ॥

तत्र यस्या नगर्यां यस्मिन्नुद्याने यथा भगवान् गौतमस्वामी भगवतस्त्रिलोकीपतेः श्रीमन्महावीरस्याग्रे सूर्यवक्तव्यता पृष्टवान् यथा च तस्मै भगवान् व्याकृतानि सम तथोपदिदर्शयिषु प्रथमतो नगर्युद्यानाभिधानपुरस्सर सकलवक्तव्यतोपक्षेपं वक्तुकाम इदमाह—

ते णं काले णं ते णं समए णं मिथिला नाम नयरी होत्था रिद्धत्थिमियसमिद्धा पमुइतजणजाणवया ०जाव पासादीया० एक(ह)(४,)तीसे णं मिहिलाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं माणिभद्दे णामं चेइए होत्था वण्णओ । तीसे णं मिहिलाए जितसत्तू राया, धारिणी देवी, वण्णओ, ते णं काले णं ते णं समए णं तंमि माणिभद्दे चेइए सामी समोसढे, परिसा निग्गता, धम्मो कहितो, परिसा पडिगया ०जाव राजा जामेव दिसिं पादुब्भूए तामेव दिसिं पडिगते । (सू० १)

'ते ण काले ण' मित्यादि, ' ते ' इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति द्रष्टव्यम् , अस्यायमर्थ —यदा भगवान् विहरति स्म तस्मिन् णमिति वाक्यालङ्कारे दृष्टश्चान्यत्रापि णशब्दो वाक्यालङ्कारार्थे यथा 'इमा ण पुढवी' इत्यादाविति, काले अधिकृतावसर्पिणीचतुर्थभागरूपे , अत्रापि णशब्दो वाक्यालङ्कारार्थे , ' ते ण समए णं ' ति—समयोऽवसरवाची, तथा च लोके वक्तारो—नाद्याप्येतस्य वक्तव्यस्य समयो वर्तते,किमुक्तं भवति ?—नाद्याप्येतस्य वक्तव्यस्यावसरो वर्त्तत इति, तस्मिन् समये भगवान् प्रस्तुतां सूर्यवक्तव्यतामचकथत् , तस्मिन् समये मिथिला नाम नगरी अभवत् , नन्विदानीमपि सा नगरी वर्त्तते तत कथमुक्तमभवदिति ?, उच्यते—वक्ष्यमाणवर्णकग्रन्थोक्तविभूतिसमन्विता तदैवाभवत् न तु ग्रन्थविधानकाले, एतदपि कथमवसेयमिति चेत् ?, उच्यते—अयं कालोऽवसर्पिणी, अवसर्पिण्यां च प्रतिक्षणं शुभा भावा हानिमुपगच्छन्तीति, एतच्च सुप्रतीत जिनप्रवचनवेदिनाम् , अतोऽभवदित्युच्यमान न विरोधभाक् । सम्प्रति अस्या नगर्या वर्णकमाह--'रिद्धत्थिमियस-

१-अत्र ' मह ' शब्द, समाम्यते । निशीथचूर्णिग्रन्थे चतुर्थी पूर्वोक्तानां सकेन हाति बहुषु स्थलेषु लभ्यते ।

मिद्धा पमुइयजणजाणवया ०जाव पासाईया० 'एक' (व्ह)(४) इति, ऋद्धा-भवनैः पौरजनैश्चातीव वृद्धिमुपगता 'ऋधु' वृद्धा-विति वचनात् स्तिमिता-स्वचक्रपरचक्रतस्करडमरादिसमुत्थभयकल्लोलमालाविवर्जिता समृद्धा-धनधान्यादिविभूतियुक्ता, ततः पदत्रयस्यापि कर्मधारयः, तथा 'पमुइयजणजाणवय' त्ति—प्रमुदिताः-प्रमोदवन्तः प्रमोदहेतुवस्तूनां तत्र सद्भावाज्जना—नगरीवास्तव्या लोका जानपदा—जनपदभवास्तत्र प्रयोजनवशादायाताः सन्तो यत्र सा प्रमुदितजनजापदा, यावच्छब्देनौपपातिकग्रन्थप्रतिपादितः समस्तोऽपि वर्णकः 'आइन्नजणसमूहा मणुस्सा ' इत्यादिको द्रष्टव्यः। (सू० १) स च ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, केवलं तत एवौपपातिकादवसेयः, कियान् द्रष्टव्य इत्याह— 'पासाईया 'व्ह' इति अत्र 'व्ह' शब्दोपादानात् प्रासादीया इत्यनेन पदेन सह पदचतुष्टस्य सूचा कृता, तानि च पदान्यमूनि-प्रासादीया दर्शनीया अभिरूपा प्रतिरूपा, तत्र प्रासादेषु भवा प्रासादीया, प्रासादबहुला इत्यर्थः, अत एव दर्शनीया-द्रष्टुं योग्या, प्रासादानामतिरमणीयत्वात्, तथा अभिमुखमतीवोत्कृष्टं रूपम्-आकारो यस्याः सा अभिरूपा प्रतिविशिष्टम्-असाधारणं रूपम्-आकारो यस्याः सा प्रतिरूपा, 'तीसे णं मिहिलाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं माणिभद्दे नामं चेइए होत्था वण्णओ ' इति तस्या मिथिलानगर्या बहिर्य औत्तरपौरस्त्यः—उत्तरपूर्वरूपो दिग्विभाग ईशानकोण इत्यर्थः, एकारो मागधभाषानुरोधतः प्रथमैकवचनप्रभवः, यथा ' कयरे आगच्छइ दित्तरूवे' (उत्त० १२-६) इत्यादौ, ' अत्र 'अस्मिन् औत्तरपौरस्त्ये दिग्विभागे माणिभद्रमिति नाम चैत्यमभवत्. चितेर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यं, तच्च संज्ञाशब्दत्वाद्देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धं. ततस्तदाश्रयभूतं यद्देवताया गृहं तदप्युपचाराच्चैत्यं, तच्चेह व्यन्तरायतनं द्रष्टव्यं, नतु भगवतामर्हतामायतनमिति। ' वण्णओ ' त्ति तस्यापि चैत्यस्य वर्णको वक्तव्यः, स चौपपातिकग्रन्थादवसेय (सू० २)। ' तीसे णं मिहिलाए ' इत्यादि, तस्या च मिथिलायां नगर्यां जितशत्रुर्नाम राजा, तस्य देवी—समस्तान्तःपुरप्रधाना भार्या सकलगुणधारणाद् धारिणीनाम्नी देवी, ' वण्णओ' त्ति तस्य राज्ञः तस्याश्च देव्या औपपातिकग्रन्थोक्तो वर्णकोऽभिधातव्यः (सू० ७) ' ते णं काले णं ते णं समए णं तंमि माणिभद्दे चेइए सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया' तस्मिन् काले तस्मिन् समये तस्मिन् माणिभद्रे चैत्ये 'सामी समोसढे ' त्ति स्वामी जगद्गुरुर्भगवान् श्रीमहावीरोऽर्हन् सर्वज्ञः सर्वदर्शी सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्रयः समचतुरस्रसंस्थानो वज्रर्षभनाराचसंहननः कज्जलप्रतिमकालिमोपेतस्निग्धकुञ्चितप्रदक्षिणावर्तमूर्धजः उत्तप्ततपनीयाभिरामकेशान्तकेशभूमिरातपत्राकारोत्तमाङ्गसन्निवेशः परिपूर्णशशाङ्कमण्डलादप्यधिकतरवदनशोभः पद्मोत्पलसुरभिगन्धनिःश्वासो वदनत्रिभागप्रमाणकम्बूपमचारुकन्धरः सिंहशार्दूलवत्परिपूर्णविपुलस्कन्धप्रदेशो महापुरकपाटपृथुलवक्षःस्थलाभोगो यथास्थितलक्षणोपेतः श्रीवृक्षपरिघोपमप्रलम्बबाहुयुगलो रविशशिचक्रसौवस्तिकादिप्रशस्तलक्षणोपेतपाणितलः सुजातपार्श्वो झषोदरः सूर्यकरस्पर्शसञ्जातविकोशपद्मोपमनाभिमण्डलः सिंहवत्संवर्त्तितकटीप्रदेशो निगूढजानु कुरुविन्दवृत्तजङ्घायुगलः सुप्रतिष्ठितकूर्म्मचारुचरणतलप्रदेशः अनाश्रवो निर्म्ममः छिन्नश्रोता निरुपलेपोऽपगतप्रेमरागद्वेषश्चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतो देवोपनीतेषु नवसु कनककमलेषु पादन्यासं कुर्वन्नाकाशगतेन धर्म्मचक्रेण आकाशगतेन छत्रेण आकाशगताभ्यां चामराभ्यामाकाशगतेनातिस्वच्छस्फटिकविशेषमयेन सपादपीठेन सिंहासनेन पुरतो देवैः प्रकृष्यमाणेन प्रकृष्यमाणेन धर्म्मध्वजेन चतुर्दशभिः श्रमणसहस्रैः षट्त्रिंशत्संख्यैरार्यिकासहस्रैः परिवृतो यथास्वकल्पं सुखेन विहरन् यथारूपमवग्रहं गृहीत्वा संयमेन तपसा चाऽऽत्मानं भावयन् समवसृतः, समवसरणवर्णनं च भगवत औपपातिकग्रन्थादवसेयम्। (सू० १० यावत् ३३) ' परिसा निग्गय' त्ति मिथिलाया नगर्या वास्तव्यो लोकः समस्तोऽपि भगवन्तमागतं श्रुत्वा भगवद्वन्दनार्थं स्वस्मादाश्रयाद्विनिर्गत इत्यर्थः, तन्निर्गमश्चैवम्—' तए णं मिहिलाए नयरीए सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं पन्नवेइ, एवं परूवेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे आइगरे ०जाव सव्वन्नू सव्वदरिसी आगासगएण छत्तेण० जाव सुहं सुहेणं विहरमाणे इह आगए इह समागए इह समोसढे इहेव मिहिलाए नयरीए बहिआ माणिभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता अरिहा जिणे केवली समणगणपरिवुडे संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, त महाफलं खलु देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्स वि सवणयाए किमंग ! पुण अभिगमणवंदणनमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए ?, त सेयं खलु एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग ! पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए ?, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो, एयं णो इहभवे परभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ. तए णं मिहिलाए नयरीए बहवे उग्गा भोगा' इत्याद्यौपपातिकग्रन्थोक्तं (सू० २७) सर्वमवसेयं यावत्समस्ताऽपि राजप्रभृतिका पर्षत् पर्युपासीना तिष्ठति। 'धम्मो कहिओ' त्ति तस्याः पर्षदः पुरतो निःशेषजनभाषानुयायिन्या अर्द्धमागधभाषया धर्म्मं उपदिष्टः, स चैवम्—'अत्थि लोए अत्थि जीवा अत्थि अजीवा ' इत्यादि, तथा—"जह जीवा बज्झंति, मुच्चंति जह य संकिलिस्संति। जह दुक्खाणं अंतं, करिंति केई अपडिबद्धा ॥ १ ॥ अट्टनियट्टियऽचित्ता, जह जीवा सागरं भवमुविंति। जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुविंति ॥ २ ॥ ' तहा आइक्खइ ' त्ति 'जाव राजा जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए' इति, अत्र यावच्छब्दादिदमौपपातिकग्रन्थोक्तं द्रष्टव्यम्—'तएणं सा महइमहालिया परिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं म-

हावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ तिक्खु० करित्ता वदइ नमसइ वंदित्ता नमंसित्ता एव वयासी--सुयक्खाए ण भंते ! निग्गंथे पावयणे , नत्थि य केइ अन्ने समणे वा माहणे वा एरिसं धम्ममाइक्खित्तए , एव वंदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया , तए णं से जियसत्तू राया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्म सुच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे ०जाव हयहियए समणं भगवं महावीरं वदइ नमसइ वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छइ पसि० पुच्छित्ता अट्ठाइं परियादइ परियाइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वदइ नमसइ, स० वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे ०जाव एरिसं धम्ममाइक्खित्तए, एवं वइत्ता हत्थिं दुरूहइ दुरूहित्ता समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियाओ माणिभद्दाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।' (सू० ३५-३६-३७) इति , इदं च सकलमपि सुगम, नवरं यामेव दिशमवलम्ब्य, किमुक्तं भवति ?--यतो दिश' सकाशात् प्रादुर्भूत --समवसरणे समागतस्तामेव दिसं प्रतिगत ।

ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामे (मं) अणगारे गोतमे गोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे ० जाव एवं वयासी-। (सू० २)

' ते णं कालेणं ते णं समए णं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई नामे अणगारे गोयमे गोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे ० जाव एव वयासी ' इति--तस्मिन् काले तस्मिन् समये , णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः , श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठ इति--प्रथम , अन्तेवासी-शिष्य , अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसङ्घाधिपतित्वमावेदयति, इन्द्रभूतिरिति मातापितृकृतनामधेय , ' नामं ' ति प्राकृतत्वात् विभक्तिपरिणामेन नाम्नेति द्रष्टव्यम् अन्तेवासी च किल विवक्षया श्रावकोऽपि स्यात् अतस्तदाशङ्काव्यवच्छेदार्थमाह-अनगार' न विद्यते अगारं-गृहमस्येत्यनगार , अयं च विगीनगोत्रोऽपि स्यादत आह-गौतमो गोत्रेण गौतमाह्वयगोत्रसमन्वित इत्यर्थ , अय च तत्कालोचितदेहपरिमाणापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादत आह--सप्तोत्सेध -सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्राय , अय चेत्थभूतो लक्षणहीनोऽपि सम्भाव्येत अतस्तदाशङ्कापनोदार्थमाह-' समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितः ' समाः--शरीरलक्षणशास्त्रोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम् अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा द्रष्टव्या. , अन्ये त्वाहुः--समा--अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यस्रयो यत्र तत्समचतुरस्रम् , अस्रयश्च पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम् १, आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरम् २ , दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुनश्चान्तरम् ३ , वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरं४ मिति.अपरे त्वाहु -विस्तारोत्सेधयोः समत्वात्समचतुरस्रम् तच्च तत्संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानम्--आकारस्तेन संस्थितो-व्यवस्थितो य. स तथा, अयं च हीनसंहननोऽपि केनचित्सम्भाव्येत तत आह--'वज्जरिसहनारायसंघयणे' नाराचम्-उभयतो मर्कटबन्ध. ऋषभ.-तदुपरिवेष्टनपट्ट कीलिका अस्थित्रयस्यापि भेदकमस्थि एवंरूप संहननं यस्य स तथा, ०जाव एव वयासी' इति , यावच्छब्दोपादानादिदमनुक्रम्यत्वसेयम्-' कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेस्से चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं से भयवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, आयाहिणपयाहिणं करित्ता वदइ णमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता णच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासेमाणे एव वयासी'-अस्यायमर्थ -कनकस्य--सुवर्णस्य य पुलको--लवस्तस्य यो निकष -(कष) पट्टके रेखारूप , तथा पद्मग्रहणेन पद्मकेसराण्युच्यन्ते , अवयवे समुदायोपचारात् , यथा पद्मकेसराण्युच्यन्ते , अवयवो देवदत्त. , तथा च देवदत्तस्य हस्ताग्रे स्पृष्टे लोको वदति--देवदत्तो मया स्पृष्ट इति, तत कनकेषु (कस्य) पुलकनिकषवत्पद्मकेसरवच्च यो गौर स कनकपुलकनिकषपद्मगौर । अथवा--कनकस्य य. पुलको--द्रुतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो--वर्ण तत्सदृश' कनकपुलकनिकष , तथा पद्मवत्--पद्मकेसर इव यो गौर स पद्मगौर , तत पदद्वयस्य कर्मधारय समास । अयं च विशिष्टचरणरहितोऽपि शङ्क्येत अत आह--' उग्गतवे ' उग्रम्--अप्रधृष्य तप -अनशनादि यस्य स तथा, यदन्येन प्राकृतेन पुसा न शक्यते चिन्तयितुमपि मनसा तद्विधेन तपसा युक्त इत्यर्थ , तथा दीप्त--जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलित तपो--धर्मध्यानादि यस्य स तथा, ' तत्ततवे ' त्ति-तप्त तपो येन स तप्ततपा. , एव हि तेन तपस्तप्त येन सर्वाण्यप्यशुभानि कर्माणि भस्मसात्कृतानीति, महत्--प्रशस्तमाशंसादोषरहितत्वात्तपो यस्य स महातपा , तथा ' उराले ' त्ति-उदार.--प्रधान , अथवा--ओरालो--भीष्म., उग्रादिविशेषणत पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वाना भयानक इत्यर्थ , तथा घोरो--निर्घृण परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशनमधिकृत्य निर्दय इत्यर्थ , तथा घोरा--अन्यैर्दुरनुचरा गुणा--ज्ञानादयो यस्य स तथा , तथा घोरैस्तपोभिस्तपस्वी, ' घोरबंभचेरवासि ' त्ति घोरं--दारुणं अल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वात् ब्रह्मचर्य यत्तत्र वस्तु शीलं यस्य स तथा , उच्छूढम्-उज्झितमिव उज्झित संस्कारपरित्यागात् शरीरं येन-स उच्छूढशरीर , ' संखित्तविउलतेउलेसे ' त्ति-संक्षिप्ता--शरीरान्त-

गतत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला—विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या-विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा, 'चउद्दसपुव्वि' त्ति-चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव रचितत्वात्, असौ चतुर्दशपूर्वी, अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह, स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह-'चउनाणोवगए' मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानरूपज्ञानचतुष्टयसमन्वित इत्यर्थः, उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति, चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतितत्वेन श्रवणादत आह—'सर्वाक्षरसन्निपाती' अक्षराणां सन्निपाताः—संयोगाः सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेयानि स तथा, किमुक्तं भवति ?—या काचित् जगति पदानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी वा सम्भवति ताः सर्वा अपि जानातीति, एवं गुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्स अदूरसामन्ते विहरतीति योगः। तत्र दूरं विप्रकृष्टं सामन्तं—सन्निकृष्टं तत्प्रतिषेधाददूरसामन्तम्, तत्र नातिदूरे नातिनिकटे इत्यर्थः, किंविशिष्टः सन् तत्र विहरतीत्यत आह-'उड्ढजाणु' त्ति-ऊर्ध्वे जानुनी यस्यासौ ऊर्ध्वजानुः, शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्यायास्तदानीमभावाच्च उत्कुटुकासन इत्यर्थः अधःशिरा नोर्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भावः, 'झाणकोट्ठोवगए' त्ति-ध्यानं—धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः—कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतो ध्यानकोष्ठोपगतः, यथाहि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तमविप्रसृतं भवति, एवं भगवानपि ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिरित्यर्थः, संयमेन पञ्चाश्रवनिरोधादिलक्षणेन तपसा—अनशनादिना, चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो लुप्तो द्रष्टव्यः, संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थम्, प्राधान्यं च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जराहेतुत्वेन, तथाहि—अभिनवकर्मानुपादानात्, पुराणकर्मक्षपणाच्च जायते सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः, ततो भवति संयमतपसोर्मोक्षं प्रति प्राधान्यमिति, 'अप्पाणं भावेमाणे विहरइ' इति आत्मानं भावयन्—वासयन् तिष्ठतीत्यर्थः। 'तए णं से' इति—ततो-ध्यानकोष्ठोपगतविहरणादनन्तरं, णमिति वाक्यालङ्कारार्थः, सः—भगवान् गौतमः 'जायसड्ढे' इत्यादि, जातश्रद्धादिविशेषणः सन् उत्तिष्ठतीति योगः, तत्र जाता-प्रवृत्ता श्रद्धा—इच्छा वक्ष्यमाणार्थतत्त्वज्ञानं प्रति यस्यासौ जातश्रद्धः, तथा जातः संशयो यस्य स जातसंशयः, संशयो नामानवधारितार्थं ज्ञानम्, स चैवं भगवतः-इह सूर्यादिवक्तव्यता अन्यथा, अन्यथा च तीर्थान्तरीयैः परिकल्प्यते, तत किं तत्त्वमिति संशयः। तथा 'जायकोउहल्ले' त्ति—जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलः, जातौत्सुक्य इत्यर्थः तथा कथमेनां सूर्यादिवक्तव्यतां भगवान् प्ररूपयिष्यतीति, तथा 'उप्पन्नसड्ढे' त्ति-उत्पन्ना प्राग्भूता सती भूता श्रद्धा यस्यासावुत्पन्नश्रद्धः, ननु जातश्रद्धः इत्येतावतैव गतत्वात् किमर्थमुत्पन्नश्रद्ध इत्युपादानं ? प्रवृत्तश्रद्धत्वेनोत्पन्नश्रद्धत्वस्य

लब्धत्वात्, न ह्यनुत्पन्ना श्रद्धा प्रवर्तत इति, अत्रोच्यतेहेतुत्वप्रदर्शनार्थम्, तथाहि-कथं प्रवृत्तश्रद्धः ?, उच्यते-यत उत्पन्नश्रद्ध इति, हेतुत्वप्रदर्शनं चोपपन्नम् तस्य काव्यालङ्कारत्वात्, तथा 'प्रवृत्तदीपाम(प्र)वृत्तभास्करां, प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरी' मित्यत्र यद्यपि प्रवृत्तदीपत्वादेवाप्रवृत्तभास्करत्वमवगतं तथाप्यप्रवृत्तभास्करत्वं प्रवृत्तदीपत्वादेर्हेतुतयोपन्यस्तमिति समीचीनम्, 'उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नससए उप्पन्नकोउहल्ले' इति प्राग्वत्, तथा 'संजायसड्ढे' इत्यादि पदषट्कं प्राग्वत्, नवरमिह सम्शब्दः प्रकर्षादिवचनो वेदितव्यः, ततः 'उट्ठाए उट्ठेइ' इति उत्थानमुत्था-ऊर्ध्वं वर्त्तनं तया उत्तिष्ठति, इह 'उट्ठेइ' इत्युक्ते क्रियारम्भमात्रमपि प्रतीयते यथा वक्तुमुत्तिष्ठते ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमुत्थायेत्युक्तम्, 'जेणेव' त्यादि, प्राकृतशैलीवशाद् व्यत्ययत्वाच्च येनेति यस्मिन्नित्यर्थे द्रष्टव्यम्, यस्मिन् दिग्भागे श्रमणो भगवान् महावीरो वर्त्तते 'तेणेव' त्ति-तस्मिन् दिग्भागे उपागच्छति, इह वर्त्तमानकालनिर्देशस्तत्कालापेक्षया उपागमनक्रियाया वर्त्तमानत्वात्, परमार्थतस्तूपागतवानिति द्रष्टव्यम्, उपागम्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं कर्मतापन्नं त्रिकृत्वः-त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणं करोति, आदक्षिणात्-दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः—परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणः तं करोति, कृत्वा वन्दते-स्तौति नमस्यति कायेन प्रणमति, वन्दित्वा नमस्यित्वा च 'न'-नैव अत्यासन्नः-अतिनिकटः अवग्रहपरिहारात्, अथवा-नात्यासन्नस्थाने वर्त्तमान इति गम्यम्, तथा 'न'-नैवातिदूरोऽतिविप्रकृष्टोऽनौचित्यपरिहारात्, अथवा-नातिदूरे स्थाने 'सुस्सूसमाणे' त्ति-भगवद्वचनानि श्रोतुमिच्छन्, 'अभिमुहे' त्ति—अभि-भगवन्तं प्रति मुखमस्येत्यभिमुखः 'विणएणं' त्ति विनयेन हेतुना 'पंजलिउडे' त्ति प्रकृष्टः—प्रधानो ललाटतटघटितत्वेन अञ्जलिः-हस्तन्यासविशेषः कृतो विहितो येन स प्राञ्जलिकृतः, भार्यादिदर्शनाकृतिगणतया कृतशब्दस्य परनिपातः 'पज्जुवासेमाणे' इति-पर्युपासीनः-सेवमानः अनेन विशेषणकदम्बकेन श्रवणविधिरुपदर्शितः, उक्तं च-"निद्दाविगहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं। भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥ १ ॥" इति। 'एवं वयासि' त्ति एवं-वक्ष्यमाणेन प्रकारेण सूर्यादिवक्तव्यताविषयं प्रश्नमवादीत्-उक्तवान्।

कथमुक्तवानिति शिष्यस्य प्रश्नावकाशमाशङ्क्य प्रथमतो विंशतौ प्राभृतेषु यद् वक्तव्यं तदुपदर्शयन् गाथापञ्चकमाह-

कइ मंडलाइ वच्चइ १, तिरिच्छा किं च गच्छइ २।
ओभासइ केवइयं ३, सेयाइ किं ते संठिई ४ ॥ १ ॥
कहिं पडिहया लेसा ५, कहिं ते ओयसंठिई ६।
के सूरियं वरयते ७, कहं ते उदयसंठिई ८ ॥ २ ॥
कह कट्ठा पोरिसीछाया ९, जोगे किं ते व आहिए १०।
किं ते संवच्छराणादी ११, कया संवच्छराइ य १२॥३॥
कहं चंदमसो वुड्ढी १३, कया ते दोसिणा बहू १४।
के य सिग्घगई वुत्ते १५, कहं दोसिणलक्खणं १६ ॥४॥
चयणोववाय १७ उच्चत्ते १८, सूरिया कइ आहिया १९।

अणुभावे के व संवुत्ते २०,एवमेयाइँ वीसइ ॥५॥ (सू०३)

प्रथमे प्राभृते सूर्यो वर्षमध्ये कति मण्डलान्येकवारं कति वा मण्डलानि द्विकृत्वो व्रजतीत्येतन्निरूपणीयम्, किमुक्तं भवति-एवं गौतमेन प्रश्ने कृते तदनन्तरं सर्वं तद् विषयं निर्वचनं प्रथमे प्राभृते वक्तव्यमिति १। एवं सर्वत्रापि भावनीयम्। द्वितीये प्राभृते 'किं' कथं वाशब्द' सर्वप्राभृतवक्तव्यतापेक्षया समुच्चये तिर्यग्व्रजतीति २। तृतीये चन्द्रसूर्यौ वा कियत्क्षेत्रमवभासयति-प्रकाशयतीति ३, चतुर्थे श्वेतताया'—प्रकाशस्य किं कथं 'ते'-तव मते संस्थिति —व्यवस्थेति ४, पञ्चमे कस्मिन् सूर्यस्य प्रतिहता लेश्येति ५, षष्ठे कथ—केन प्रकारेण किं सर्वकालमेकरूपावस्थायितया उतान्यथा ओजस.-प्रकाशस्य संस्थिति.-अवस्थानमिति ६, सप्तमे के पुद्गला सूर्यं वरयन्ति-सूर्यलेश्यासंस्पृष्टा भवन्तीति ७, अष्टमे कथ—केन प्रकारेण भगवन्! ते—तव मतेन सूर्यस्योदयसंस्थिति. ८, नवमे कतिकाष्ठा-किंप्रमाणा पौरुषीच्छाया ९, दशमे योग इति वस्तु किं ते—त्वया भगवताऽख्यातमिति १०, एकादशे कस्ते-तव मतेन संवत्सराणामादेरिति ११, द्वादशे कति सवत्सरा इति १२, त्रयोदशे कथ—केन प्रकारेण चन्द्रमसो वृद्धिः—वृद्धिप्रतिभास. उपलक्षणमेतत्तेन वृद्ध्यपवृद्धिप्रतिभास इत्यर्थ १३, चतुर्दशे कदा--कस्मिन् काले 'ते'-तव मतेन चन्द्रमसो ज्योत्स्ना बहु -प्रभूतेति १४, पञ्चदशे कश्चन्द्रादीना मध्ये शीघ्रगतिरुक्त इति १५, षोडशे किं ज्योत्स्नालक्षणमिति वक्तव्यम् १६, सप्तदशे चन्द्रादीना च्यवनमुपपातश्च स्वमतपरमतापेक्षया वक्तव्य. १७, अष्टादशे चन्द्रादीना समतलाद्भूभागादूर्ध्वमुच्चत्व-यावति प्रदेशे व्यवस्थितत्वं तत्स्वमतपरमतापेक्षया प्रतिपाद्यम् १८, एकोनविंशतितमे कति सूर्या जम्बूद्वीपादावाख्याता इत्यभिधेयम् १९, विंशतितमे कोऽनुभावश्चन्द्रादीनामिति २०। एवम्-अनन्तरोक्तेन प्रकारेण एतानि अनन्तरोदितार्थाधिकारोपेतानि विंशति प्राभृतान्यस्या सूर्यप्रज्ञप्तौ वक्तव्यानि। सू० प्र० १ पाहु०। (प्राभृतशब्दार्थ. 'पाहुड' शब्दे पञ्चमभागे ८१४ पृष्ठे गतः।)

सम्प्रति प्रथमे प्राभृते यान्यपान्तरालवर्तीन्यष्टौ प्राभृतप्राभृतानि तेषामर्थाधिकारान् उपदिदिक्षुराह—

वड्ढोवड्ढी मुहुत्ताण १, मद्धमंडलसंठिई २।
के ते चिन्नं परियरइ ३, अंतरं किं चरंति य ४॥ ६ ॥
उग्गाहइ केवइयं ५, केवतियं च विकंपइ ६।
(सू०-४)
मंडलाण य संठ.ने ७, विक्खंभो ८ अट्ठ पाहुडा ॥ ७॥
छप्पं च य सत्तेव य, अट्ठ तिन्नि य हवंति पडिवत्ति।
पढमस्स पाहुडस्स, हवंति एयाउ पडिवत्ती ॥८॥
(सू०-५)
पडिवत्तीओ उदए, तहा अत्थमणेसु य।
भियवाए कण्णकला, मुहुत्ताण गतीति य॥ ९॥
णिक्खममाणे सिग्घगई, पविसंते मंदगई इ य।
चुलसीइसयं पुरिसाणं, तेसिं च पडिवत्तिओ ॥१०॥
उदयम्मि अट्ठ भणिया, भेदग्घाए दुवे य पडिवत्ती।
चत्तारि मुहुत्तगइए, हुंति तइयम्मि पडिवत्ती ॥ ११॥
(सू०-६)

आवलिय १ मुहुत्तग्गे २,
एवं भागा य ३ जोग्गस्स ४।
कुलाइं ५ पुन्नमासी ६ य,
सन्निवाए ७ य संठिई ८ ॥ १२॥
तारं (य) ग्गं च ९ नेता य १०,
चंदमग्ग त्ति ११ यावरे।
देवताण य अज्झयणे १२,
मुहुत्ताणं नामया इ य १३॥ १३॥
दिवसा राइ वुत्ता य १४,
तिहि १५ गोत्ता १६ भोयणाणि १७ य।
आइच्चचार १८ मासा १९ य,
पंच संवच्छराइ य २० ॥ १४॥
जोइसस्स य दाराइं २१,
नक्खत्तविजए वि य २२।
दसमे पाहुडे एए,
बावीसं पाँहु (ड) पाहुडा ॥ १५॥ (सू०-७)

प्रथमस्य प्राभृतस्य सत्के प्रथमे प्राभृतप्राभृते मुहूर्त्तानां दिवसरात्रिगतानां वृद्ध्यपवृद्धी वक्तव्ये १, द्वितीयेऽर्द्धमण्डलस्य द्वयोरपि सूर्ययो प्रत्यहोरात्रमर्द्धमण्डलविषया संस्थिति.-व्यवस्था वक्तव्या २, तृतीये तव मतेन क सूर्य किंयत्परेण सूर्येण चीर्णं क्षेत्र प्रतिचरतीति निरूप्यम् ३, चतुर्थे द्वावपि सूर्यौ परस्पर कियत्परिमाणमन्तरं कृत्वा चारं चरत इति प्रतिपाद्यम् ४, पञ्चमे कियत्प्रमाण द्वीपं समुद्रं वाऽवगाह्य सूर्यश्चारं चरतीति ५, षष्ठे एकैकेन रात्रिन्दिवेन एकैकः सूर्यः कियत्प्रमाण क्षेत्र विकम्प्य-विमुच्य चारं चरतीति ६, सप्तमे मण्डलाना संस्थानमभिधानीयम् ७, अष्टमे मण्डलानामेव विष्कम्भो—बाहल्यमिति ८, एवमर्थाधिकारसमन्वितानि प्रथमे प्राभृतेऽष्टौ प्राभृतप्राभृतानि। सम्प्रति प्रथम एव प्राभृते चतुरादिषु प्राभृतप्राभृतेषु यत्र यावत्य' प्रतिपत्तय परमतरूपास्तत्र तावतीरभिधित्सुराह—'छप्पंचे' त्यादि, प्रथमस्य प्राभृतस्य चतुरादिषु प्राभृतप्राभृतेषु यथाक्रममेताः प्रतिपत्तय'-परमतरूपा भवन्ति, तद्यथा-चतुर्थे प्राभृतप्राभृते षट् प्रतिपत्तयः ६. पञ्चमे पञ्च ५, षष्ठे सप्त ७, सप्तमे अष्टौ ८ अष्टमे तिस्र ३ इति। सम्प्रति द्वितीये प्राभृते यदर्थाधिकारोपेतानि त्रीणि प्राभृतप्राभृतानि तान् प्रतिपादयति-'पडिवत्ती' त्यादि, द्वितीयस्य प्राभृतस्य प्रथमे प्राभृतप्राभृते सूर्यस्योदये अस्तमयनेषु च प्रतिपत्तयः--परमतरूपाः प्र-

तिपाद्या. स्वमतप्रतिपत्तिश्च । द्वितीये भेदघात कर्णकला च वक्तव्या , किमुक्तं भवति ?-भेदो मण्डलस्यापान्तराल तत्र घातो—गमनम् ' हन् ' हिंसागत्योरिति वचनात् , स एकेषां मतेन प्रतिपाद्यः , यथा विवक्षिते मण्डले सूर्येणापूरिते सति तदनन्तरं सूर्योऽपरमनन्तरं मण्डलं संक्रामतीति , तथा कर्णः—कोटिभाग तमधिकृत्यापरेषां मतेन कला वक्तव्या , यथा विवक्षिते मण्डले द्वावपि सूर्यौ प्रथमक्षणे प्रविष्टौ सन्तौ पूर्वापरकोटिद्वयं लक्षीकृत्य बुद्ध्या परिपूर्णं यथावस्थित मण्डल विवक्षित्वा ततः परमण्डलस्य कर्ण—कोटिभागरूमभिसमीक्ष्य ततः कलया १ मात्रया २ इत्यर्थ., अपरमण्डलाभिमुखमभिसर्पन्तौ चारं चरत इति । तृतीये प्राभृतप्राभृते प्रतिमण्डल मुहूर्तेषु गतिः-गतिपरिमाणमभिधातव्यम् तत्र निष्क्रामति प्रविशति वा सूर्ये यादृशी गतिर्भवति तादृशीमभिधित्सुराह--'निक्खमे' त्यादि निष्क्रामन्—सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निर्गच्छन् सूर्यो यथोत्तर मण्डलं सङ्क्रामन् शीघ्रगतिः शीघ्रतरगतिर्भवति, प्रविशन्—सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरमागच्छन् प्रतिमण्डल मन्दगति. मन्दमन्दगतिः, तेषां च मण्डलाना चतुरशीतं चतुरशीत्यधिक शतं सूर्यस्य भवति.तेषा मण्डलानां च विषये प्रतिमुहूर्त्तं सूर्यस्य गतिपरिमाणचिन्तया पुरुषाणां प्रतिपत्तयो नाम मतान्तररूपा भवन्ति । सम्प्रति कस्मिन् प्राभृतप्राभृते कति प्रतिपत्तय इत्येतत्प्ररूपयति—द्वितीये प्राभृते त्रिष्वपि प्राभृतप्राभृतेषु यथाक्रममेव संख्या प्रतिपत्तयो भवन्ति.तद्यथा—प्रथमे प्राभृतप्राभृते उदये—सूर्योदयवक्तव्यतोपलक्षिते अष्टौ भणितास्तीर्थंकरगणधरै प्रतिपत्तय., द्वितीये प्राभृतप्राभृते भेदघाते--भेदघातरूपे परमतवक्तव्यतोपलक्षिते द्वे एव प्रतिपत्ती भवत , तृतीये प्राभृतप्राभृते मुहूर्तगतौ—मुहूर्तगतिवक्तव्यतोपलक्षिते चतस्र प्रतिपत्तयो भवन्ति, 'चत्तारी ति च सूत्रे नपुंसकत्वनिर्देश प्राकृतत्वात् ,प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि,यदाह पाणिनि स्वप्राकृतलक्षणे-' लिङ्गं व्यभिचार्यपी' ति । सम्प्रति दशमप्राभृते यान्यपान्तरालवर्तीनि द्वाविंशतिसंख्यानि प्राभृतप्राभृतानि तेषामर्थाधिकारमाह—दशमे प्राभृते एतानि—सूत्रे पुस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् एतदर्थाधिकारोपेतानि द्वाविंशति प्राभृतप्राभृतानि भवन्ति,तद्यथा—प्रथमे प्राभृतप्राभृते नक्षत्राणामावलिकाक्रमो वक्तव्य. यथा अभिजितादीनि नक्षत्राणि भवन्तीति १, द्वितीये नक्षत्रविषयं मुहूर्ताग्र मुहूर्त्तपरिमाण वक्तव्यम् २, तृतीये ' एव भागा ' इति ' पूर्वभागा ' इति पूर्वपश्चिमादिप्रकारेण भागा वक्तव्याः ३, चतुर्थे ' योगस्स ' त्ति-योगस्यादिर्वक्तव्यः, तथा च वक्ष्यति—' ता कहं ते जोगस्स आई आहियत्ति वइज्जा ' इति ४, पञ्चमे कुलानि चशब्दादुपकुलानि कुलोपकुलानि च वक्तव्यानि ५. षष्ठे पौर्णमासीति-पौर्णमासी वक्तव्यता अभिधेया ६, सप्तमे 'सन्निपात'इति अमावस्यापौर्णमासीसन्निपातो वक्तव्य. ७, अष्टमे नक्षत्राणा संस्थिति'-संस्थानं वक्तव्यम् , नवमे नक्षत्रताराग्र तारापरिमाणमभिधेयम्९,दशमे नेता वक्तव्यो, यथा कति नक्षत्राणि स्वयमस्तङ्गमनेनाहोरात्रपरिसमाप्त्या क मासं नयन्तीति १०, अपरस्मिन्नेकादशे प्राभृतप्राभृते चन्द्रमार्गाः चन्द्रमण्डलानि नक्षत्रार्ण्यधिकृत्य वक्तव्यानि ११, द्वादशे नक्षत्राधिपतीना देवतानामध्ययनानि--अधीयते ज्ञायन्ते एभिरित्यध्ययनानि--नामानि वक्तव्यानि १ , त्रयोदशे मुहूर्त्तानां नामकानि वक्तव्यानि १३, चतुर्दशे दिवसा रात्रयश्चोक्ता. १४,पञ्चदशे तिथयः १५, षोडशे गोत्राणि नक्षत्राणां १६ सप्तदशे नक्षत्राणां भोजनानि वाच्यानि, यथेदं नक्षत्रमवरूपे भोजने कृते शुभाय भवतीति १७ , अष्टादशे आदित्यानामुपलक्षणमेतच्चन्द्रमसां च चारा वक्तव्या १८, एकोनविंशतितमे मासा. १९, विंशतितमे सवत्सरा २०, एकविंशतितमे ज्योतिषां--नक्षत्रचक्रस्य द्वाराणि वक्तव्यानि, यथाऽमूनि नक्षत्राणि पूर्वद्वाराणि अमूनि च पश्चिमद्वाराणीत्यादि २१, द्वाविंशतितमे नक्षत्राणां विचय'-चन्द्रसूर्ययोगादिविषयो निर्णयो वक्तव्य इति । तदेवमुक्ता प्राभृतप्राभृतसंख्या तेषामर्थाधिकाराश्च २२। सू० प्र० १ पाहु० ।

उपसंहारमाह—

इय एस पाहुडत्था, अभव्वजणहिययदुल्लहा इणमो ।
उक्कित्तिता भगवता, जोतिसरायस्स पण्णत्ती ॥ १ ॥
एस गहिता वि सता, थद्धे गारवियमाणि पडिणीए ।
अबहुस्सुए ण देया, तव्विवरीते भवे देया ॥ २ ॥
सद्धाधितिउट्ठाणु-च्छाहकम्मबलविरियपुरिसकारेहिं ।
जो सिक्खिओ वि संतो, अभायणे परिकहेज्जाहि ॥३॥
सो पवयणकुलगणसं-घबाहिरो णाणविणयपरिहीणो ।
अरहंतथेरगणहर-मेरं किर होति वोलीणो ॥ ४ ॥
तम्हा धितिउट्ठाणु-च्छाहकम्मबलविरियसिक्खिअं णाणं।
धारेयव्वं णियमा, ण य अविणीएसु दायव्वं ॥ ५ ॥

इति—एवम्-उक्तेन प्रकारेण अनन्तरमुद्दिष्टस्वरूपा प्रकटार्था—जिनवचनतत्त्ववेदिनामुत्तानार्था,इय चेत्थं प्रकटार्थाऽपि सती अभव्यानां हृदयेन—पारमार्थिकाभिप्रायेण दुर्लभा, भावार्थमधिकृत्याभव्यजनानां दुर्लभेत्यर्थ' , अभव्यत्वादेव तेषा सम्यग्जिनवचनपरिभावात् , उत्कीर्तिता—कथिता भगवती—ज्ञानैश्वर्या देवता ज्योतिषराजस्य—सूर्यस्य प्रज्ञप्ति. । एषा च स्वयं गृहीता सती यस्मै न दातव्या तत्प्रतिपादनार्थमाह—' एसा गहिया वि ' इत्यादि , गाथाद्वयम् , एषा—सूर्यप्रज्ञप्ति' स्वयं सम्यक्करणेन गृहीताऽपि सती " व्यत्ययोऽप्यासाम् " इति वचनात्—चतुर्थ्यर्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थ -' थद्धे ' इति स्तब्धाय स्वभावत एव मानप्रकृत्या विनयभ्रंशकारिणे, ' गारवि य ' त्ति, ऋद्ध्यादिगौरव सञ्जातमस्येति गौरावतस्तस्मै ऋद्धिरससातानामन्यतमेन गौरवेण गुरुतरायेति भाव. , ऋद्ध्यादिमदोपेतो ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पमपीदं सूर्यप्रज्ञप्तिप्रकीर्णकमाचार्यादिकं च तद्वक्तारमवज्ञया पश्यति, सा चावज्ञा दुरन्तनरकादिप्रपातहेतुरतस्तदुपकारायैव तस्मै दानप्रतिषेध , इयं च भावना स्तब्धमान्यादिष्वपि भावनीया, तथा मानिने—जात्यादिमदोपेताय प्रत्यनीकाय-दूरभव्यतया अभव्यतया वा सिद्धान्तवचननिकुट्टनपराय , तथा अल्पश्रुताय—अवगाढस्तोकशास्त्राय , स हि जिनवचनेषु (अ) सम्यग्भावितत्वात् , ग्रन्थार्थपर्यालोचनायामकुशलत्वाच्च यथावत्कथ्य-

मानमपि न सम्यगभिरोचयते इति न देया, किन्तु तद्विपरीताय दातव्या भवेत्। भवेद्धिति क्रियापदस्य सामर्थ्यलब्धावप्युपादान दातव्यत्वावधारणार्थं तद्विपरीताय दानव्यैव नाऽदत्तव्या। अदाने शास्त्रव्यवच्छेदप्रसक्त्या तीर्थव्यवच्छेदप्रसक्ते, एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-'सद्धे' त्यादि, श्रद्धा—श्रवणं प्रति वाञ्छा धृति—विवक्षित जिनवचन सत्यमेव नान्यथेति मनसोऽवष्टम्भ. उत्थानं—श्रवणाय गुरु प्रत्यभिमुखगमनमुत्साह —श्रवणविषये मनस उत्कलिकाविशेष यद्वशादिदानीमेव यदि मे पुण्यवशात् सामग्री सम्पद्यते शृणोमि च तत शोभन भवतीति परिणाम उपजायते कर्म—वन्दनादिलक्षणं बलं—शारीरो वाचनादिविषयः प्राण वीर्यम्—अनुलोम्य सूक्ष्मसूक्ष्मार्थोहनशक्ति पुरुषकार -तदेव वीर्य साधिताभिमतप्रयोजनम। एतै कारणै य स्वय शिक्षितोऽपि गृहीतसूर्यप्रज्ञप्तिसूत्रार्थोभयोऽपि सन् यो दाक्षिण्यादिना अन्तेवासिनि अभाजने-अयोग्ये प्रतिक्षिपेत्—सूत्रतोऽर्थेन उभयतो वा न्यसेत् 'सो पवयणे' त्यादि स प्रवचनकुलगणसङ्घबाह्यो ज्ञानविनयपरिहीणो—ज्ञानाचारपरिहीणो भगवदर्हत्स्थविरगणधरमर्यादा-भगवदर्हदादिकृता व्यवस्था भवति किल व्यतिक्रान्त। किलेत्याप्तवादसूचकम्. इत्थमाप्तवचन व्यवस्थित यथा स नून भगवदर्हदादिव्यवस्थामतिक्रान्त इति. तदतिक्रमे च दीर्घससारिता। 'तम्हे' त्यादि. तस्माद् धृत्युत्थानोत्साहकर्मबलवीर्यैर्यत् ज्ञान-सूर्यप्रज्ञप्त्यादि स्वयं मुमुक्षुणा च ता शिक्षित तन्नियमादात्मन्येव धर्तव्यम्. न तु जात्वचिदप्यविनीतेषु दातव्यम्. उक्तप्रकारेण तद्दाने आत्मपरदीर्घसंसारित्वप्रसक्ते नदेवमुक्त प्रदानविधि। इयं च सूर्यप्रज्ञप्तिरर्थतो मिथिलाया नगर्यां भगवता वीरवर्द्धमान—स्वामिना साक्षादुक्ता।

सूर्यप्रज्ञप्तिमिमा-मतिगम्भीरा विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा, साधुजनस्तेन भवतु कृती ॥ ३ ॥"

सू० प्र० २० पाहु०। यो० विं०। 'कालियसुय च इसिभासियाइँ तइओ अ सूरपन्नत्ती। सव्वो उ दिट्ठिवाओ, चउत्थगो होइ अणुओगो।" आ० क० १ अ०।

सूरपरिवेस-सूर्यपरिवेष-पु०। सूर्यस्य परितो वलयाकारपरिणतौ अनु०। जी०।

सूरपव्वय-सूर्यपर्वत-पुं०। मेरुपर्वतस्य पश्चिमवनखण्डवेदिकान्तविजयस्य दक्षिणस्या दिशि पर्वतभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

दो सूरपव्वया। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सीतोदाया उत्तरे पार्श्वे महावप्रविजयक्षेत्रे वक्षस्कारपर्वते, ज० ४ वक्ष०। स्था०।

सूरपाणिलेह-सूर्यपाणिलेख-पुं०। सूर्य इव सूर्याकाराः पाणौ लेखा येषां ते सूर्यपाणिलेखाः। सूर्याकृतिरेखायुतहस्तेषु, जी० ३ प्रति ४ अधि०। प्रश्न०।

सूरपुंगम-शूरपुंगम-पु०। शूराणामग्रगामिनि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०

सूरप्पभ-सूर्यप्रभ-न०। चतुर्थे देवलोकस्तके विमानभेदे, स० ५ सम०।

सूरप्पभा-सूर्यप्रभा-स्त्री०। एकादशस्य तीर्थकृतो निष्क्रमणशिबिकायाम्, स०। जी०। सूर्यस्य ज्योतिष्केन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०।

सूरप्पमाणभोइ-सूर्यप्रमाणभोजिन्-पु०। सूर्योदयादस्तमयं यावदशनपानाद्यभ्यवहारिणि. स० २० सम०। आ० चू०। दशा०। "सूर एव पमाणं तस्स उदयमंते आरद्धो जाव ण अत्थमेइ ताव भुजइ सज्झायमादी न करेइ पडिलेहणाओ हस्सइ अजीरगादी असमाधी उप्पज्जति। आव० ४ अ०।

सूरभद्द-सूर्यभद्र-पु०। सूर्यद्वीपदेवे, जी०३ प्रति० ४ अधि०।

सूरमंडल-सूर्यमण्डल-न०। आदित्यविमानवृत्ते, स० १० सम०। सूर्यवक्तव्यताया पञ्चदश द्वाराणि तत्रेमानि—पञ्चदशानुयोगद्वाराणिमण्डलसंख्या १मण्डलक्षेत्रम् २ मण्डलान्तरम् ३ बिम्बायामविष्कम्भादि ४ मेरुमण्डलक्षेत्रयोरबाधा, ५ मण्डलायामादिवृद्धिहानी ६ मुहूर्त्तगति ७ दिनरात्रिवृद्धिहानी ८ तापक्षेत्रसंस्थानादि ९ दूरासन्नादिदर्शने लोकप्रतीत्युपपत्ति १० चारक्षेत्रेऽतीतादिप्रश्न ११ तत्रैव क्रियाप्रश्न १२ ऊर्ध्वादिदिक्षु प्रकाशयोजनसंख्या १३ मनुष्यक्षेत्रवर्तिज्योतिष्कस्वरूपम् १४ इन्द्राद्यभावे स्थितिप्रकल्प १५।

तत्र मण्डलसंख्यायामादिसूत्रम्—

कइ णं भंते! सूरमंडला पन्नत्ता?, गोअमा! एगे चउरासीए मंडलसए पन्नत्ते इति। जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे केवइअं ओगाहित्ता केवइआ सूरमण्डला पन्नत्ता?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे असीअं जोअणसयं ओगाहित्ता एत्थ णं पन्नसट्ठी सूरमण्डला पण्णत्ता, लवणे णं भंते! समुद्दे केवइअं ओगाहित्ता केवइआ सूरमंडला पण्णत्ता?, गोअमा! लवणे समुद्दे तिण्णि तीसे जोअणसए ओगाहित्ता एत्थ णं एगूणवीसे सूरमंडलसए पन्नत्ते, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे लवणे अ समुद्दे एगे चुलसीए सूरमंडलसए भवंतीतिमक्खायं ति ॥१॥ (सू० १२७)

'कइ ण' मित्यादि, कति भदन्त! सूर्ययोर्दक्षिणोत्तरायणे कुर्वतोर्निजबिम्बप्रमाणचक्रवालविष्कम्भानि प्रतिदिनभ्रमिक्षेत्रलक्षणानि मण्डलानि प्रज्ञप्तानि? मण्डलत्व चैषां मण्डलसदृशत्वात् न तु तात्त्विक, मण्डलप्रथमक्षणे यद् व्याप्त क्षेत्र तत्समश्रेण्येव यदि पुर क्षेत्र व्याप्नुयात् तदा तात्त्विकी मण्डलता स्यात्, तथा च सति पूर्वमण्डलादुत्तरमण्डलस्य योजनद्वयमन्तर न स्यादिति, भगवानाह—गौतम! एकं चतुरशीतं—चतुरशीत्यधिकं मण्डलशतं प्रज्ञप्तम्, यथा चैभिश्चारक्षेत्रपूरणं तथा अनन्तरद्वारे प्ररूपयिष्यते। अथैतान्येव क्षेत्रविभागेन द्विधा विभज्योक्तसंख्यां पुन. प्रज्ञपयति— जम्बुद्दीव त्ति-जम्बूद्वीपे द्वीपे भदन्त! कियत्क्षेत्रमवगाह्य कियन्ति सूर्यमण्डलानि प्रज्ञप्तानि

गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अशीतम्--अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्यात्रान्तरे पञ्चषष्टिः सूर्यमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, तथा लवणे भदन्त ! समुद्रे कियदवगाह्य कियन्ति सूर्यमण्डलानि प्रज्ञप्तानि गौतम ! लवणे समुद्रे त्रिंशदधिकानि त्रीणि योजनशतानि सूत्रेऽल्पत्वादविवक्षितानष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् अवगाह्यात्रान्तरे एकोनविंशत्यधिकं सूर्यमण्डलशतं प्रज्ञप्तम्, अत्र पञ्चषष्ट्या मण्डलैरेकोनाशीत्यधिकं योजनशतं नव चैकषष्टिभागा योजनस्य पूर्यन्ते, जम्बूद्वीपेऽवगाहक्षेत्रं चाशीत्यधिकं योजनशतं तेन शेषा द्वापञ्चाशद्भागाः षट्षष्टितमस्य मण्डलस्य बोध्याः अल्पत्वाच्चात्र न विवक्षिता । अत्र च पञ्चषष्टिमण्डलानां विषयविभागव्यवस्थायां सङ्ग्रहणीवृत्त्याद्युक्तोऽयं वृद्धसम्प्रदायः--मेरोरेकतो निषधमूर्द्धनि त्रिषष्टिर्मण्डलानि हरिवर्षजीवाकोट्या च द्वे द्वितीयपार्श्वे नीलवन्मूर्ध्नि त्रिषष्टिः, रम्यकजीवाकोट्या च द्वे इति, एवमेव सपूर्वापरेण पञ्चषष्ट्येकोनविंशत्यधिकशतमण्डलमीलनेन जम्बूद्वीपे लवणे च समुद्रे एकं चतुरशीतं सूर्यमण्डलशतं भवतीत्याख्यातं मया चान्यैस्तीर्थकृद्भिः । गतं मण्डलसंख्याद्वारम् ।

अथ मण्डलक्षेत्रद्वारम्, तत्र सूत्रम्--

सव्वब्भंतराओ णं भंते ! सूरमंडलाओ केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोयमा ! पंचदसुत्तरे जोअणसए अबाहाए सव्वबाहिरए सूरमंडले पण्णत्ते ॥ २ ॥ (सू० १२८)

सव्वब्भंतराओ ण' मित्यादि, सर्वाभ्यन्तरात्--प्रथमात् सूर्यमण्डलात् भदन्त ! कियत्या अबाधया--कियता अन्तरेण सर्वबाह्यं-सर्वेभ्यः परं यतोऽनन्तरं नैकमपीत्यर्थः सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! दशोत्तराणि पञ्चयोजनशतानि अबाधया-अन्तरालत्वाप्रतिघातरूपया सर्वबाह्यं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्, अत्रानुक्ता अपि अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः 'ससिरविणो लवणम्मि अ जोअणसयतिण्णि तीसअहिआई' इति वचनादधिका ग्राह्याः, अन्यथोक्तसंख्याङ्कानां मण्डलानामनवकाशात्, कथमेतदवसीयते ?, उच्यते--सर्वसंख्यया चतुरशीत्यधिकं मण्डलशतम्, एकैकस्य च मण्डलस्य विष्कम्भोऽष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, ततश्चतुरशीत्यधिकं शतमष्टाचत्वारिंशता गुण्यते, जातान्यष्टाशीतिः शतानि द्वात्रिंशदधिकानि, एतेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, हृते च लब्धं चतुश्चत्वारिंशदधिकं योजनशतम् १४४, शेषमवतिष्ठतेऽष्टचत्वारिंशत्, चतुरशीत्यधिकशतसंख्यानां च मण्डलानामपान्तरालानि त्र्यशीत्यधिकशतसंख्यानि सर्वत्रापि ह्यपान्तरालानि रूपोनानि भवन्ति तथा च प्रतीतमेतत् चतसृणामङ्गुलीनामपान्तरालानि त्रीणीति, एकैकं मण्डलान्तरालं च द्वियोजनप्रमाणं,ततस्त्र्यशीत्यधिकं शतं द्विकेन गुण्यते,जातानि त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि ३६६, पूर्वोक्तं च चतुश्चत्वारिंशं शतमत्र प्रक्षिप्यते, ततो जातानि पञ्च शतानि दशोत्तराणि योजनानि अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, अनेन च मण्डलक्षेत्रस्य प्रमाणमभिहितम् । मण्डलक्षेत्रं नाम सूर्यमण्डलैः सर्वाभ्यन्तरादिभिः सर्वबाह्यपर्यवसानैर्व्याप्तमाकाशं,तच्चक्रवालविष्कम्भतोऽवसेयम् । उक्तं मण्डलक्षेत्रद्वारम् ।

अथ मण्डलान्तरद्वारमाह--

सूरमंडलस्स णं भंते ! सूरमंडलस्स य केवइयं आबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?, गोअमा ! दो जोअणाइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥३॥ (सू० १२९)

'सूरमंडल' इत्यादि, भगवन् ! सूर्यमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य च कियदबाधया--अव्यवधानेनान्तरं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! द्वे योजने अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम्, अन्तरशब्देन च विशेषोऽप्युच्यते इति तन्निवृत्त्यर्थमबाधयेत्युक्तं, कोऽर्थः ?-पूर्वस्मादपरं मण्डलं कियद् दूरे इत्यर्थः, अत्र यथा योजनद्वयमुपपद्यते तथाऽनन्तरमेव मण्डलसंख्याद्वारे दर्शितम् । गतं मण्डलान्तरद्वारम् ।

अथ बिम्बायामविष्कम्भादिद्वारम्--

सूरमंडले णं भंते ! केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं केवइअं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?, गोअमा ! अडयालीसं एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं चउवीसं एगसट्ठिभाए जोअणस्स बाहल्लेणं पण्णत्ते इति ॥४॥ (सू० १३०)

'सूरमण्डले ण' मित्यादि, सूर्यमण्डलं णमिति प्राग्वत् भगवन् ! कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण कियद्बाहल्येन-उच्चत्वेन प्रज्ञप्तम् ?,गौतम ! अष्टचत्वारिंशद्भागान् योजनस्यायामविष्कम्भाभ्यां प्रज्ञप्तम्, अयमर्थः-एकयोजनस्यैकषष्टिभागाः कल्प्यन्ते तद्रूपा येऽष्टचत्वारिंशद्भागास्तावत्प्रमाणावस्यायामविष्कम्भावित्यर्थः, तत् त्रिगुणं सविशेषं-साधिकं परिक्षेपेण,अष्टचत्वारिंशत् त्रिगुणिता द्वे योजने द्वाविंशतिरेकषष्टिभागा अधिका योजनस्येत्यर्थः ,चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागान् योजनस्य बाहल्येन,विमानविष्कम्भस्यार्द्धभागेनोच्चत्वात् । गतं बिम्बायामविष्कम्भादिद्वारम् । जं० ७ वक्ष० ।

जंबुद्दीवे दीवे बासीयं मंडलसयं जं सूरिए दुक्खुत्तो संकमित्ता णं चारं चरइ,तं जहा-निक्खममाणे य, पविसमाणे य । (सू० ८२४)

तत्र जम्बूद्वीपे द्व्यशीत्यधिकं मण्डलशतं सूर्यस्य मार्गशतं तद्वर्त्तीति वाक्यशेषः, किंभूतं ?, यत्सूर्यो द्विकृत्वो द्वौ वारौ संक्रम्य प्रविश्य चारं चरति, तद्यथा--निष्क्रामंश्च जम्बूद्वीपात्, प्रविशंश्च जम्बूद्वीपं प्रति । अयमत्र भावार्थः--किल चतुरशीत्यधिकं सूर्यमण्डलशतं भवति, तत्र सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये सकृदेव संक्रामति शेषाणि तु द्वौ वाराविति । इह च द्व्यशीतिर्द्विकृत्वैवेह द्व्यशीत्यधिकेऽधीनमिति भावनीयम् । यद्यपि जम्बूद्वीपे पञ्चषष्टिरेव मण्डलानां भवन्ति तथापि जम्बूद्वीपाधिकसूर्यचारविषयत्वात्तद्वाराण्यपि जम्बूद्वीपेन विवक्षितानीति । स्था० ८ ठा० ।

बाहिराओ उत्तराओ णं कट्ठाओ सूरिए पढमं छम्मासं अयमाणे चोयालीसइमे मंडलगते अट्ठासीति एगसट्ठिभागे मुहुत्तस्स दिवसखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता रयणिखेत्तस्स अभिनिवुड्ढेत्ता सूरिए चारं चरइ

दक्खिणकट्ठाओ णं सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे चोयालीसइमे मंडलगते अट्ठासीइ इगसट्ठिभागे मुहुत्तस्स रयणिखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता दिवसखेत्तस्स अभिनिवुड्ढित्ताणं सूरिए चारं चरइ । (सू० ८८ +)

'बाहिराओ ण' मित्यादि, बाह्याया सर्वाभ्यन्तरमण्डलरूपाया उत्तरस्या काष्ठाया क्वचिद् 'बाहिराओ' त्ति-न दृश्यते सूर्य', प्रथम षण्मासं दक्षिणायनलक्षण दक्षिणायनादित्वात्संवत्सरस्य 'अयमाणे' त्ति-आयन्, आगच्छन् चतुश्चत्वारिंशत्तममण्डलगतोऽष्टाशीतिमेकषष्टिभागान्-'दिवसखेत्तस्स' त्ति-दिवसस्यैव 'निवुड्ढेत्त' त्ति-निवर्द्ध-ह्रापयित्वा 'रयणिखेत्तस्स' त्ति-रजन्यास्तु अभिवर्द्ध्य सूरिए चारं चरइ' त्ति-भ्राम्यतीति, इह च भावनैवम्-प्रतिमण्डलं दिनस्य मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयहानेर्दक्षिणायनापेक्षया चतुश्चत्वारिंशत्तमे अष्टाशीतिर्भागा हीयन्ते रात्रेस्तु त एव वर्द्धन्त इति, हि सूर्यग्रहण चेह दिनरात्रिविभागकल्पनया ततो न पुनरुक्तमवसेयमिति । इदं च सूत्रमेतत्प्रतिस्थानकसूत्रवद्भावनीयमिति, 'दक्खिणकट्ठाओ' इत्यादिसूत्रं पूर्वसूत्रवद्व्याख्यातव्यम्, नवरमिह दिनवृद्धिः रात्रिहानिश्च भावनीयेति । स० ८८ सम० । ('आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३१ पृष्ठे मण्डलाऽऽवृत्तय उक्ताः ।)

अथ सूर्यस्य सर्वमण्डलेषु प्रतिमुहूर्त्तं गतिप्रमाणमाह—

मज्झे दुवन्निगवन्ना, सया य चउवन्न संजुआ बाहिं ।
सूरस्स य अट्ठारस, सट्ठीभागाणमिह वुड्ढी ॥ २१ ॥

सर्वमध्यमण्डले वर्त्तमानस्य जम्बूद्वीपसत्कसूर्यस्य तु द्विपञ्चाशच्छतानि एकपञ्चाशदधिकानि योजनानामिति योग, एकैकस्मिन्मुहूर्त्ते गतिरेतावती भवति-५२५१ $\frac{29}{60}$ ये चोपरितनाशा सूत्रे स्तोकत्वान्नोक्तास्ते चन्द्रसूर्ययोर्मुहूर्त्तवर्त्तमानाऽवसरे चिन्तयिष्यन्ते । या च सर्वमध्यमण्डले मुहूर्त्तगतिः सूर्यस्य सैव चतुःपञ्चाशद्योजनसंयुता कृता सती सर्वबाह्यमण्डले प्रतिमुहूर्त्त गतिर्जायते यथा—५३०५ $\frac{15}{60}$ अत्र प्रतिमण्डलं किञ्चिदूनानामष्टादशषष्टिभागानाम् $\frac{18}{60}$ वृद्धि यतोऽष्टादशाना त्र्यशीत्यधिकशतगुणने ३२९४ जायते, तेषा षष्ट्या भागहारे लब्धानि चतुःपञ्चाशद्योजनानीति ।

अथ अधिकारान्नक्षत्राणा प्रतिमुहूर्त्त गतिप्रमाणमाह—

पणसहस्सदुसयसाहिअ, पणसट्ठी जोअणाण मज्झिमगई ।
चउपन्नहिआसा बहि-मंडलए होइ रिक्खाण ॥ २२ ॥

'पणसहस्स' त्ति-सर्वाभ्यन्तरमण्डले वर्त्तमानाना नक्षत्राणामेकैकस्मिन्मुहूर्त्ते गति पञ्चसहस्राणि द्वे शते पञ्चषष्टिश्च साधिका योजनानाम् ५२६५ $\frac{18263}{21960}$ सा च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतिश्चतुःपञ्चाशद्योजनाधिका क्रियते तदा सर्वबाह्यमण्डले वर्तमानाना नक्षत्राणा प्रतिमुहूर्त्त गतिर्यथा ५३१९ $\frac{16365}{21960}$ अत्र प्रतिमण्डलवृद्धि सम्यग् न ज्ञायते यतो मण्डलानामन्तर सर्वत्र तुल्य नास्ति । मण्ड० । जं० ।

अथ मेरुमण्डलयोरबाधाद्वारम्, तत्रादिसूत्रम्—

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वब्भंतरे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोअमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य वीसे जोअणसए अबाहाए सव्वब्भंतरे सूरमंडले पण्णत्ते । (सू० १३१ +)

'जंबुद्दीवे ण' मित्यादि, जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तर सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट च विंशत्यधिकानि योजनशतानि अबाधया सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्, अत्रोपपत्तिः—मन्दरात् जम्बूद्वीपविष्कम्भः पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, इह हि मण्डल जगतीतो द्वीपदिशि अशीत्यधिकयोजनशतोपसङ्क्रमे भवति, तेन ४५००० योजनरूप द्वीपविष्कम्भादियति १८० योजनरूपे शोधिते जातं यथोक्तं मानम्, एतच्च चक्रवालविष्कम्भेन भवति तेनापरसूर्यसर्वाभ्यन्तरमण्डलस्याप्यनेनैव करणेनैतावत्येवाबाधा वोद्धव्या, एतेन यदन्यत्र क्षेत्रसमासटीकादौ मेरुमवधीकृत्य सामान्यतो मण्डलक्षेत्राबाधापरिमाणद्वारं पृथक् प्ररूपितं तदनेनैव गतार्थम्, अस्यैवाभ्यन्तरतो मण्डलक्षेत्रस्य सीमाकारित्वात् ।

अथ प्रतिमण्डलं सूर्यस्य दूरदूरगमनादबाधापरिमाणमनियतमित्याह—

जंबुद्दीवे णं ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइअबाहाए सव्वब्भंतराणंतरे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य बावीसे जोअणसए अडयालीसं च एगसट्ठिभागे जोयणस्स अबाहाए अब्भंतराणंतरे सूरमंडले पण्णत्ते । (सू० १३१ ×)

'जंबुद्दीवे ण' मित्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरादनन्तर-निरन्तरतया जायमानत्वात् द्वितीय सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट च योजनशतानि द्वाविंशत्याधिकानि अष्टचत्वारिंशत चैकषष्टिभागान् योजनस्याबाधया सर्वाभ्यन्तरानन्तर सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तं पूर्वस्मादुपपत्त्याधिक तद्बिम्बविष्कम्भादन्तरमानाच्च समाधेयम् ।

अथ तृतीयमण्डल पृच्छमाह—

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए अब्भंतरतच्चे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य पणवीसे जोअणसए पणतीसं च एगसट्ठिभागे जोअणस्स अबाहाए अब्भंतरतच्चे सूरमंडले पण्णत्ते इति । (सू० १३१ ×)

'जंबुद्दीवे ण' मित्यादि व्यक्तं नवरम् अब्भंतर तच्च' मिति अभ्यन्तरतृतीयम् अनेन बाह्यतृतीयमण्डलस्य व्यवच्छेद उत्तरसूत्रे चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चत्रिंशत चैकषष्टिभागान् योजनस्याबाधया अभ्यन्तरतृतीयं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्, उपपत्तिस्तु द्वितीयमण्डलाबाधापरिमाणे ४४८२२ योजन $\frac{48}{61}$ इत्येवरूपे प्रस्तुतमण्डलसत्के सान्तरबिम्बविष्कम्भे प्रक्षिप्ते जातं यथोक्तं मानम् ।

एव प्रतिमण्डलमबाधावृद्धौ वर्ण्यमानायां मा भूद् ग्रन्थगौरव तेन तज्जिज्ञासूना बोधकमतिदेशमाह—

एवं खलु एतेणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तयणंतराओ मंडलाओ तयणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे दो

दो जोअणाइं अडयालीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगे मंडले अबाहावुड्ढिं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ त्ति (सू० १३१×)

'एव खलु' इत्यादि एवमुक्तरीत्या, मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः, एतेनोपायेन-प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण निष्क्रामन्-लवणाभिमुखं मण्डलानि कुर्वन् सूर्यस्तदनन्तरात् विवक्षितात् पूर्वस्मात् मण्डलात् तदनन्तरं-विवक्षितमुत्तरमण्डलं संक्रामन् सक्रामन् द्वे द्वे योजने अष्टचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकैकस्मिन् मण्डले अबाधया वृद्धिम भिवर्द्धयन् २ सर्वबाह्यमण्डलमुपक्रम्य चारं चरति, यद्यत्रापि वेशरुचिरपि सूत्रकृन्मण्डलत्रयाभिव्यक्तिमदर्शयत् तत्प्रथम ध्रुवाङ्कदर्शनार्थं द्वितीय मण्डलाभिवृद्धिदर्शनार्थं तृतीयं पुनस्तदभ्यासार्थमिति।

अथ पश्चानुपूर्व्यापि व्याख्यानाङ्गमित्यन्त्यमण्डलादारभ्य मेरुमण्डलयोरबाधा पृच्छन्नाह—

जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वबाहिर सूरमंमलं पण्णत्ते!, गोयमा! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तीसे जोअणसए अबाहाए सव्वबाहिरे सूरमण्डले पण्णत्ते। (सू० १३१×)

जंबुद्दीवे' त्ति जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्?, गौतम! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च योजनशतानि त्रिंशदधिकानि अबाधया सर्वबाह्यं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्, तत्र मन्दरात् पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि जगती ततो लवणे त्रीणि शतानि त्रिंशदधिकानि।

तथा द्वितीयमण्डलपृच्छा—

जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइयाए अबाहाए सव्वबाहिराणंतरे सूरमंडले पण्णत्ते?, गोअमा! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ सत्तावीसे जोअणसए तेरस य एगसट्ठिभाए जोअणस्स अबाहाए बाहिराणंतरे सूरमंडले पण्णत्ते। (सू० १३१+)

'जम्बुद्दीवे' त्ति प्रश्नसूत्रे बाह्यानन्तरम्-पश्चानुपूर्व्या द्वितीयमित्यर्थः, उत्तरसूत्रे पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि तथैव जगती ततस्त्रिंशदधिकत्रिशतयोजनातिक्रमे यत्सूर्यमण्डलमुक्तं तस्मादनन्तरमाने बिम्बविष्कम्भमानं च शोधिते जातं यथोक्तं मानमिति।

अथ तृतीयम्—

जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइयाए अबाहाए बाहिरतच्चे सूरमंडले पण्णत्ते?, गोयमा! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ चउवीसे जोअणसए छव्वीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स अबाहाए बाहिरतच्चे सूरमंडले पण्णत्ते। (सू० १३१×)

'जम्बुद्दीवे' त्ति व्यक्तं नवरं उत्तरसूत्रे पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि षड्विंशतिं च एकषष्टिभागान् योजनस्येति, अत्र पूर्वमण्डलाङ्कात् सान्तरमण्डलविष्कम्भयोजने २ ४८/६१ शोधिते जातं यथोक्तं मानं, पूर्वमण्डलाङ्को ध्रुवाङ्कस्तत्र सबिम्बविष्कम्भोऽन्तरविष्कम्भः शोध्यस्ततः उपपद्यते यथोक्तं मानम्।

उक्तावशिष्टेषु मण्डलेष्वतिदेशमाह—

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे दो दो जोअणाइं अडयालीसं च एगसट्ठिभाए जोयणस्स एगमेगे मंडले अबाहावुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे णिवुड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ।५। (सू० १३१)

'एव खलु' इत्यादि, एवमुक्तरीत्या मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः, एतेनोपायेन प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण प्रविशन् जम्बूद्वीपमिति गम्यम्, सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् २ द्वे द्वे योजने अष्टचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकैकस्मिन् मण्डले अबाधावृद्धिं निवर्द्धयन् २ इदं समवायाङ्गवृत्त्यनुसारेणोक्तं यथा वृद्धेरभावो निर्वृद्धिः निशब्दस्याभावार्थत्वात् निर्गता कन्येत्यादिवत्, ता कुर्वन् निवृद्धयन् २ इदं स्थानाङ्गवृत्त्यनुसारि, सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्त्यादौ तु निवेष्टयन् निवेष्टयन् इत्युक्तमस्ति अत्र सर्वत्रापि हापयन् हापयन् इत्यर्थः, सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतीति, गतमबाधाद्वारम्।

अथ मण्डलायामादिवृद्धिहानिद्वारम्—

जंबुद्दीवे दीवे सव्वब्भंतरे णं भंते! सूरमण्डले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! णवणउइं जोअणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि य जोयअणयसहस्साइं पण्णरस य जोअणसहस्साइं एगूणणउइं च जोअणाइं किंचि विसेसाहिआइं परिक्खेवेणं। (सू० १३२+)

'जंबुद्दीवे' इत्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियच्च परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्? गौतम! नवनवतिं योजनसहस्राणि षट् च योजनशतानि चत्वारिंशदधिकानि आयामविष्कम्भाभ्याम्, त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चदश च योजनसहस्राण्येकोननवतिं च योजनानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, तत्रायामविष्कम्भयोरुत्पत्तिरेवम्-जम्बूद्वीपविष्कम्भादुभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमशीत्यधिकयोजनशतशोधने यथोक्तं मानम्, तद्यथा-जम्बूद्वीपमानम् १००००० अस्मादशीत्यधिकयोजनशते १८० द्विगुणिते ३६० शोधिते सति जातम् ९९६४० इति, परिक्षेपस्त्वस्यैव राशेः 'विक्खम्भवग्गदहगुणे'त्यादिकरणवशादानेतव्यः ग्रन्थविस्तरभयान्नात्रोपन्यस्यते, यद्वा-यदेकतो जम्बूद्वीपविष्कम्भादशीत्यधिकं योजनशतं यच्चापरतोऽपि तथा त्रयाणां शतानां षष्ट्यधिकानाम् ३६० परिरयः एकादश शतान्यष्टत्रिंशदधिकानि ११३८, एतानि जम्बूद्वीपपरिरयात् शोध्यन्ते, ततो यथोक्तं परिक्षेपमानं भवति।

अथ द्वितीयमण्डलं तत्पृच्छा—

अब्भंतराणंतरे णं भंते! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! णवणउइं

जोअणसहस्साइं छच्च पणयाले जोअणमए पणतीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोअणसयसहस्साइं पण्णरस्स य जोयणसहस्साइं एगं सत्तुत्तरं जोअणसयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते। (सू० १३२×)

'अब्भंतराण' मित्यादि, अन्वययोजना सुगमा, तात्पर्यार्थस्त्वयम्--सर्वाभ्यन्तरानन्तरं च--द्वितीयं सूर्यमण्डलमायामविष्कम्भाभ्यां नवनवतिं योजनसहस्राणि षट् च योजनशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य ९९६४५ ३५/६१ तथाहि-एकतोऽपि सर्वाभ्यन्तरानन्तरं मण्डलं सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतानष्टचत्वारिंशत्सङ्ख्यानेकषष्टिभागान् द्वे च योजने अपान्तराले विमुच्य स्थितमपरतोऽपि, ततः पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य पूर्वमण्डलविष्कम्भादस्य मण्डलस्य विष्कम्भे वर्द्धन्ते, अस्य च सर्वाभ्यन्तरानन्तरमण्डलस्य परिक्षेपस्त्रीणि शतसहस्राणि पञ्चदश सहस्राण्येकं च शतं सप्तोत्तरं योजनानाम् ३१५१०७, तथाहि--पूर्वमण्डलादस्य विष्कम्भे पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य वर्द्धन्ते, पञ्चानां च योजनानां पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यैकभागाधिकानां परिरयः सप्तदश योजनानि अष्टत्रिंशच्चैकषष्टिभागाः समधिका योजनस्य परं व्यवहारतो विवक्ष्यन्ते परिपूर्णानि अष्टादश योजनानि, तानि पूर्वमण्डलपरिक्षेपे यदाऽधिकानि प्रक्षिप्यन्ते तदा यथोक्तं द्वितीयमण्डलपरिमाणं स्यात्।

अथ तृतीयमण्डले तत्पृच्छा--

अब्भंतरच्चे णं भंते! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! णवणउइं जोअणसहस्साइं छच्च एकावण्णे जोअणसए णव य एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि य जोअणसयसहस्साइं पण्णरस जोअणसहस्साइं एगं च पणवीसं जोअणसयं परिक्खेवेणं। (सू० १३२+)

'अब्भंतरतच्चे णं' मित्यादि व्यक्तं, नवरमुत्तरसूत्रे नवनवतिं योजनसहस्राणि षट् च एकपञ्चाशानि योजनशतानि नव चैकषष्टिभागान् योजनस्याभ्यन्तरतृतीयाख्यं मण्डलमायामविष्कम्भेण, अत्रोपपत्तिः पूर्वमण्डलायामविष्कम्भे ९९६४५ योजन ३५/६१ इत्येवंरूपे एतन्मण्डलवृद्धौ ५ योजन ३५/६१ प्रक्षिप्तायां यथोक्तं मानं भवति, परिक्षेपेण च त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदश योजनसहस्राणि एकं च पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतम्। तत्रोपपत्तिः--पूर्वमण्डलपरिक्षेपे ३१५१०७ योजनरूपे प्राग्युक्तयुक्त्याऽऽनीते अष्टादश १८ योजनरूपायां वृद्धौ प्रक्षिप्तायां यथोक्तं मानं भवति।

अत्रोक्तातिरिक्तमण्डलायामादिपरिज्ञानाय लाघवार्थमतिदेशमाह--

एवं खलु एतेणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं उवसंकममाणे उवसंकममाणे पंच पंच जोअणाइं पणतीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगे मंडले विक्खंभवुद्धिं अभिवद्धेमाणे अभिवद्धेमाणे अट्ठारस अट्ठारस जोअणाइं परिरयवुद्धिं अभिवद्धेमाणे अभिवद्धेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ। (सू० १३२×)

'एवं खलु एतेण' मित्यादि, एवम्--उक्तरीत्या मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः, एतेन--उक्तप्रकारेण निष्क्रामयन् निष्क्रामयन् सूर्यस्तदनन्तरात्तदनन्तरं मण्डलं सङ्क्रामन् सङ्क्रामन् पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्यैकैकस्मिन् मण्डले विष्कम्भवृद्धिमभिवर्द्धयन् २ तथा उक्तरीत्यैव अष्टादश योजनानि परिरयवृद्धिमभिवर्द्धयन् परिरयवृद्धिमभिवर्द्धयन् सर्वबाह्यमण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति।

अथ प्रकारान्तरेण प्रस्तुतविचारपरिज्ञानाय पश्चानुपूर्व्या पृच्छन्नाह--

सव्वबाहिरए णं भंते! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! एगं जोयणसयसहस्सं छच्च सट्ठे जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारस य सहस्साइं तिण्णि अ पण्णरसुत्तरे जोअणसए परिक्खेवेणं। (सू० १३२×)

'सव्वबाहिरए' इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्, उत्तरसूत्रे एकं योजनलक्षं षट्षष्ट्यधिकानि योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्याम्, उपपत्तिस्तु जम्बूद्वीपो लक्षम् उभयोः पार्श्वयोश्च प्रत्येकं त्रिंशदधिकानि त्रीणि योजनशतानि लवणान्तरमतिक्रम्य परतो वर्त्तमानत्वादस्य इदमेव मानं, त्रीणि योजनलक्षाण्यष्टादश च सहस्राणि त्रीणि च पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति' रिति किञ्चिदूनानि परिक्षेपेण भवन्ति, किञ्चिदूनत्वं चात्र परिक्षेपकरणेन स्वयं बोध्यं, संवादश्चात्र विष्कम्भायाममाने लक्षोपरि यानि षष्ट्यधिकानि षट् योजनशतान्युक्तानि तस्य परिरयमानीय तस्य च जम्बूद्वीपपरिरये प्रक्षेपणाद् भवति।

अथ द्वितीयमण्डले तत्पृच्छा--

बाहिराणंतरे णं भंते! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! एगं जोअणसयसहस्सं छच्च चउपण्णे जोअणसए छव्वीसं च एगसट्ठिभागे जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइ अट्ठारस य सहस्साइं दोण्णि य सत्ताणउए जोअणसए परिक्खेवेणं ति। (सू० १३२+)

'बाहिराणतरे णं भंते! सूरमंडले' इत्यादि प्रश्नः प्राग्वत्, उत्तरसूत्रे गौतम! एकं योजनलक्षं षट् चतुःपञ्चाशानि योजनशतानि षड्विंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भाभ्यां, सवदति चेत् सर्वबाह्यमण्डलविष्कम्भात् पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाधिकपञ्चयोजनेषु शोधितेष्विति, त्रीणि योजनलक्षाण्यष्टादश च सहस्राणि द्वे च सप्तनवतियोजनशते परिक्षेपेण। कथमुपपद्यते चेदिति वदामः, पूर्वमण्डलपरिरयादष्टादशयोजनशोधने सुस्थमिति।

अथ तृतीयमण्डले तत्पृच्छा--

बाहिरतच्चे णं भंते! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खं-

भेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! एगं जोअणसयसहस्सं छच्च अडयाले जोअणसए बावण्णं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोअणसयसहस्साइं अट्ठारस य सहस्साइं दोण्णि अ अउणासीए जोअणसए परिक्खेवेणं। (सू० १३२ +)

'बाहिरतच्चे ण' मित्यादि, प्रश्न पूर्ववत्, उत्तरसूत्रे बाह्यतृतीय षट् एक योजनलक्षं चाष्टाचत्वारिंशानि योजनशतानि द्वापञ्चाशत चैकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भाभ्याम्, युक्तिश्चात्र—अनन्तरपूर्वमण्डलात् पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाधिकपञ्चयोजनवियोजने साधु भवति, त्रीणि योजनलक्षाण्यष्टादश च सहस्राणि द्वे चैकोनाशीते योजनशते परिक्षेपेण, पूर्वमण्डलपरिधेरष्टादशयोजनशोधने यथोक्त प्रस्तुतमण्डलस्य परिधिमानम्।

अत्रातिदेशमाह—

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तयणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे पंच पंच जोअणाइं पणतीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं णिव्वुड्ढेमाणे णिव्वुड्ढेमाणे अट्ठारस अट्ठारस जोअणाइं परिरयवुड्ढिं णिव्वुड्ढेमाणे णिव्वुड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ। ६। (सू० १३२+)

'एव खलु एएण' मित्यादि, प्राग्वद्व्याख्यम्, व्याख्यातार्थत्वात्। गतमायामविष्कम्भादिवृद्धिहानिद्वारम्, अनेनैव क्रमेण द्वयोः सूर्ययोः परस्परमबाधाद्वारमप्यभ्यन्तरबाह्यमण्डलादिष्ववसेयम्।

सम्प्रति मुहूर्तगतिद्वारम्—

जया णं भंते ! सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोयमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं दोण्णि अ एगावण्णे जोअणसए एगूणतीसं च सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणूसस्स सीआलीसाए जोअणसहस्सेहिं दोहि अ तेवट्ठेहिं जोअणसएहिं एगवीसाए अ जोअणस्स सट्ठिभाएहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ त्ति, से णिक्खममाणे सूरिए नवं संवच्छरं अयमाणे पढमंमि अहोरत्तंसि सव्वब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ त्ति। (सू० १३३×)

'जया णं भंते ! सूरिए सव्वब्भंतरं' इत्यादि, यदा भगवन् ! सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति इति तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे चैकपञ्चाशे योजनशते एकोनत्रिंशत च षष्टिभागान् योजनस्यैकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, कथमिदमुपपद्यते इति चेत्, उच्यते-इह सर्वमपि मण्डलमेकेनाहोरात्रेण द्वाभ्यां सूर्याभ्या परिसमाप्यते प्रतिसूर्य चाहोरात्रगणने परमार्थतो द्वावहोरात्रौ भवत। द्वयोश्चाहोरात्रयोः षष्टिर्मुहूर्त्तास्ततो मण्डलपरिरयस्य षष्ट्या भागे हृते यल्लभ्यते तन्मुहूर्त्तगतिप्रमाणम्, तथाहि—सर्वाभ्यन्तरमण्डलपरिरयस्त्रीणि लक्षाणि पञ्चदश सहस्राण्येकोननवत्यधिकानि योजनानाम् ३१५०८९, एतेषां षष्ट्या भागे हृते लब्ध यथोक्त मुहूर्त्तगतिप्रमाणम् ५२५१ $\frac{२९}{६०}$ अथ विनयावर्जितमनस्केन प्रज्ञापकेनापृच्छतोऽपि विनेयस्य किञ्चिदधिकं प्रज्ञापनीयमित्याह-यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धादनुक्तमपि यच्छब्दगर्भितवाक्यमत्रावतारणीय तेन यदा सूर्य एकेन मुहूर्तेन इयत् ५२५१ $\frac{२९}{६०}$ प्रमाण गच्छति तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलसङ्क्रमणकाले इहगतस्य मनुष्यस्य अत्र जातावेकवचन ततोऽयमर्थ.--इहगतानां-भरतक्षेत्रगतानां मनुष्याणा सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैर्द्वाभ्यां च त्रिषष्टाभ्या त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या च योजनस्य षष्टिभागैरुदयमान. सूर्यश्चक्षु स्पर्श—चक्षुर्विषयं हव्वं—शीघ्रमागच्छति, अत्र च स्पर्शशब्दो नेन्द्रियार्थसन्निकर्षपरश्चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेन तदसम्भवादिति, काऽत्रोपपत्तिरिति चेत्, उच्यत—इह दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति व्यवस्थित' सूर्य उपलभ्यते,स एव लोके उदयमान इति व्यवह्रियते,सर्वाभ्यन्तरमण्डले दिवसप्रमाणमष्टादशमुहूर्त्तास्तेषामर्द्धे नव मुहूर्त्ता एकैकस्मिश्च मुहूर्ते सर्वाभ्यन्तर मण्डले चार चरन् पञ्च योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते एकपञ्चाशदधिके एकोनत्रिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य गच्छति, एतावन्मुहूर्त्तगतिपरिमाण नवभिमुहूर्त्तैर्गुण्यते ततो भवति यथोक्त दृष्टिपथप्राप्तताविषयपरिमाणमिति, एवं सर्वेष्वपि मण्डलेषु स्वस्वमुहूर्त्तगतौ स्वस्वदिवसार्द्धगतमुहूर्त्तराशिना गुणितायां दृष्टिपथप्राप्तता भवति. दृष्टिपथप्राप्तता चक्षु स्पर्श पुरुषच्छाया इत्येकार्था। सा च पूर्वतोऽपरतश्च समप्रमाणैव भवतीति द्विगुणिता तापक्षेत्रमुदयाऽस्तान्तरमित्यादिपर्याया, इदं च सर्वबाह्यानन्तरमण्डलात् पश्चानुपूर्व्या गण्यमान त्र्यशीत्यधिकशततमं, प्रतिमण्डलं चाहोरात्र गणनादहोरात्रोऽपि त्र्यशीत्यधिकशततमस्तेनायमुत्तरायणस्य चरमो दिवस', अयमेव च सूर्यसंवत्सरस्य पर्यन्तदिवस उत्तरायणपर्यवसानकत्वात् संवत्सरस्येति। अथ नवसंवत्सरप्रारम्भप्रकारप्रज्ञापनाय सूत्रं प्रारभ्यते-'से णिक्खममाणे' इत्यादि, अथाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामन् जम्बूद्वीपान्त. प्रवेशऽशीत्यधिकयोजनशतप्रमाणे क्षेत्रे चरमाकाशप्रदेशस्पर्शनानन्तरं द्वितीयसमये द्वितीयमण्डलाभिमुख प्रसर्पन्नित्यर्थ, सूर्यो नवम्—आगामिकालभाविनं सवत्सरमयमान' २—आददान प्रथमेऽहोरात्र सर्वाभ्यन्तरानन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति, एष चाहोरात्रो दक्षिणायनस्याद्य संवत्सरस्यापि च दक्षिणायनादिकत्वात् सवत्सरस्य अत्र चाधिकारे समवायाङ्गसूर्यप्रज्ञप्तिचन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्रादर्शे प्रस्तुतसूत्रादर्शेषु च 'अयमाणे अयमाणे' इत्यस्य स्थाने ' अयमीणे ' इति पाठो दृश्यते तेन यदि स समूलस्तदा-आर्षत्वादिहेतुना साधुरेव. 'अयमाणे' इति तु लक्षणसिद्धः, अर्थ. तूभयत्रापि स एवति। जं० ७ वक्ष०।

'मण्डलानां विष्कम्भो वक्तव्य' इति तत्तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह—

ता सव्वा वि णं मंडलवया केवतियं बाहल्लेणं केवतियं आयामविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं आहितातिवदेज्जा ?, तत्थ खलु इमाओ तिण्णि पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु—ता सव्वा वि णं मंडलवता जोयणं बाहल्लेणं एगं जोयणसहस्सं एगं तेत्तीसं जोयणसतं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसहस्साइं तिण्णि य नवणउए जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ते, एगे एवमाहंसु १, एगे पुण एवमाहंसु—ता सव्वा वि णं मंडलवता जोयणं बाहल्लेणं एगं जोयणसहस्सं एगं च चउत्तीसं जोयणसयं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसहस्साइं जोयणसयं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसहस्साइं चत्तारि विउत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ते एगे एवमाहंसु २, एगे पुण एवमाहंसु—ता जोयणं बाहल्लेणं एगं जोयणसहस्सं एगं च पणतीसं जोयणसतं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसहस्साइं चत्तारि पंचुत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ३। वयं पुण एवं वयामो ता सव्वा वि मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं अणियता आयामविक्खंभेणं परिक्खेवेणं आहिता ति वदेज्जा, तत्थ णं को हेउ त्ति वदेज्जा ?, ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव परिक्खेवेणं, ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं सा मण्डलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं णवणउइजोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसते आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसतसहस्साइं पण्णरसजोयणसहस्साइं एगूणणउतिं जोयणाइं किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, से णिक्खममाणे सूरिए णवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भितराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अब्भितराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं सा मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं णवणवइजोयणसहस्साइं छच्च पणताले जोयणसते पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसतसहस्साइं पन्नरसं च सहस्साइं एगं चउत्तरं जोयणसतं किंचि विसेसूणं परिक्खेवेणं तदा णं दिवसराइप्पमाणं तहेव। से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भितरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अब्भितरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं सा मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं णवणवइजोयणसहस्साइं छच्च एकावण्णे जोयणसते णव य एगट्ठिभागा जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं पन्नरस य सहस्साइं एगं च पणवीसं जोयणसयं परिक्खेवेणं पण्णत्ता, तता णं दिवसराई तहेव।

एवं खलु एएणं णएणं णिक्खममाणे सूरिए ततोऽणंतरातो तदाणंतरं मंडलतो मंडलं उवसंकममाणे उवसंकममाणे जोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे अट्ठारस अट्ठारस जोयणाइं परिरयवुड्ढिं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चार चरति तता णं सा मंडलवता अडतालीसं एगट्ठिभागा जोयणसयसहस्सं छच्च सट्ठे जोयणसते आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं अट्ठारस सहस्साइं तिण्णि य पण्णरसुत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं तदा णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, एस णं पढमे छम्मासे एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे। से पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं सा मंडलवता अडतालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं एगं जोयणसयसहस्सं छच्च चउपण्णे जोयणसते छव्वीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसतसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं दोण्णि य सत्ताणउते जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ता, तता णं राइंदियं तहेव, से पविसमाणे सूरिए दोच्चे अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मडलं उवसंकमित्ता चार चरति, ता जया णं सूरिए बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं सा मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं एगं जोयणसतसहस्सं छच्च अडयाले जोयणसए बावण्णं च एगट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसतसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं दोण्णि अउणातीसं जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ते, दिवसराई तहेव। एवं खलु एतेणुवाएणं पविसमाणे सूरिए ततोऽणंतरातो तदाणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणे संकममाणे पंच पंच जोयणाइं

पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे णिवुड्ढेमाणे अट्ठारसजोयणाइं परिरयवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे णिवुड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं सा मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं णवणउतिं जोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं पण्णरस य सहस्साइं अउणाउतिं च जोयणाइं किंचि विसेसाहियाइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे एस णं आदिच्चे संवच्छरे एस णं आदिच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे, ता सव्वावि णं मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं, सव्वावि णं मंडलंतरिया दो जोयणाइं विक्खंभेणं, एस णं अद्धा तेसीयसतपडुप्पण्णो पंचदसुत्तरे जोयणसते आहिता ति वदेज्जा, ता अब्भिंतराता मंडलवताओ बाहिरं मंडलवतं बाहिराओ वा अब्भिंतरं मंडलवतं एस णं अद्धा केवतियं आहिता ति वदेज्जा ? ता पंचदसुत्तरजोयणसते आहिता ति वदेज्जा, अब्भिंतराते मंडलवताते बाहिरा मंडलवया बाहिराओ मंडलताओ अब्भिंतरा मंडलवता एस णं अद्धा केवतियं आहिता ति वदेज्जा ?, ता पंचदसुत्तरे जोयणसते अडतालीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स आहिता वदेज्जा, ता अब्भंतराता मंडलवताता बाहिरमंडलवता बाहिराओ मं० तो अब्भंतरमंडलवता एस णं अद्धा केवतिय आहिता ति वदेज्जा ?, ता पंचणउत्तरे जोयणसते तेरस य एगट्ठिभागे जोयणस्स आहिता ति वदेज्जा, अब्भिंतरा ते मंडलवताए बाहिरा मंडलवया बाहिराते मंडलवताते अब्भंतरमंडलवया, एस णं अद्धा केवतियं आहिता ति वदेज्जा ?, ता पंचदसुत्तरे जोयणसए आहिय त्ति वदेज्जा । (सू० २०)

'ता सव्वा वि णं मंडलवया' इत्यादि. 'ता' इति पूर्ववत् सर्वाण्यपि मण्डलपदानि मण्डलरूपाणि पदानि मण्डलपदानि सूर्यमण्डलस्थानानीत्यर्थः. कियन्मात्रं बाहल्येन कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण—परिधिना आख्यातानि इति वदेत्' सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि यदाह पाणिनिः—स्वप्राकृतलक्षणे 'लिङ्गं व्यभिचार्यपि' इति. एवं भगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानेतद्विषयपरतीर्थिकप्रतिपत्तीनां मिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एवोपन्यस्यति— 'तत्थ खलु' इत्यादि, तत्र मण्डलबाहल्यादिविचारविषये खल्विमास्तिस्रः प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः. तद्यथा—तत्र तेषां त्रयाणां परतीर्थिकानां मध्ये एके तीर्थान्तरीया एवमाहुः—'ता' इति प्राग्वत्, सर्वाण्यपि मण्डलपदानि—सूर्यमण्डलानि 'जोयणं बाहल्लेणं' ति-प्रत्येकं योजनमेकं बाहल्येन—पिण्डेन एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशं—त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतम्. 'आयामविक्खंभेणं' ति आयामश्च विष्कम्भश्च आयामविष्कम्भं समाहारो द्वन्द्वस्तेन प्रत्येकमायामेन विष्कम्भेन चेत्यर्थः, त्रीणि योजनसहस्राणि त्रीणि च नवनवतानि योजनशतानि परिक्षेपतः प्रज्ञप्तानि । इह च येषां तीर्थान्तरीयाणां मतेन मण्डलस्यायामविष्कम्भमेकं योजनसहस्रमेकं योजनशतं च त्रयस्त्रिंशदधिकमायामविष्कम्भाभ्यां ते परिरयपरिमाणं वृत्तपरिमाणात् त्रिगुणमेव परिपूर्णमिच्छन्ति. न विशेषाधिकमतस्त्रीणि योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि नवनवतानीत्युक्तम् । तथाहि—सहस्रस्य त्रीणि सहस्राणि शतस्य त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशतश्च नवनवतिरिति, इदं परिरयपरिमाणं 'विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ' इति । परिरयगणितेन व्यभिचारि, तेन हि परिरयपरिमाणानयने त्रीणि योजनसहस्राणि पञ्चशतानि द्व्यशीत्यधिकानि किञ्चित्समधिकान्यागच्छन्ति, तथाहि-एकं योजनसहस्रमेकं च योजनशतं त्रयस्त्रिंशदधिकमित्येकादशयोजनशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि ११३३, एतेषां वर्गो विधीयते, जात एकको द्विकोऽष्टकस्त्रिक षट्कोऽष्टको नवक १२८३६८९, ततो दशभिर्गुणितेन जातमेकमधिकं शून्यम् १२८३६८९०, एतेषां वर्गमूलानयने आगच्छति यथोक्तं परिरयपरिमाणमतस्तन्मतेन परिरयपरिमाणं व्यभिचारि, एवमुत्तरमपि मतद्वयं परिभावनीयम्, अत्रैव प्रथममते उपसंहारः 'एगे एवमाहंसु' १, एके पुनरेवमाहुः—सर्वाण्यपि सूर्यमण्डलपदानि प्रत्येकमेकं योजनं बाहल्येन एकं योजनसहस्रमेकं च योजनशतं चतुस्त्रिंशं चतुस्त्रिंशदधिकमायामविष्कम्भाभ्यां ११३४ त्रीणि योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि द्व्युत्तराणि ३४०२ परिक्षेपतः । तथाहि—एतेषामपि मतेन विष्कम्भपरिमाणात् परिरयपरिमाणं परिपूर्णत्रिगुणरूपं, तत सहस्रस्य त्रीणि सहस्राणि शतस्य त्रीणि शतानि चतुस्त्रिंशतो द्व्युत्तरं शतमिति । अत्रैवोपसंहारमाह—'एगे एवमाहंसु' एके पुनरेवमाहुः—सर्वाण्यपि मण्डलपदानि—सूर्यमण्डलानि प्रत्येकमेकं योजनं बाहल्येन एकं योजनसहस्रमेकं च योजनशतं पञ्चत्रिंशं-पञ्चत्रिंशदधिकमायामविष्कम्भाभ्याम् ११३५ त्रीणि योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि पञ्चोत्तराणि ३४०५ परिक्षेपतः, तथाहि—एकस्य योजनसहस्रस्य त्रीणि योजनसहस्राणि शतस्य त्रीणि शतानि पञ्चत्रिंशतः पञ्चोत्तरं शतमिति, एतानि त्रीण्यपि मतानि मिथ्यारूपाणि परिरयपरिमाणमात्रेऽपि व्यभिचारात्, अतो भगवान् तेभ्यः पृथक् स्वमतमुपदर्शयति- 'वयं पुण' इत्यादि, वयं पुनरेव-वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः, तमेव प्रकारमाह—'ता सव्वावी' त्यादि. 'ता' इति पूर्ववत् सर्वाण्यपि मण्डलपदानि-सूर्यमण्डलानि प्रत्येकं बाहल्येनाष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य आयामविष्कम्भपरिक्षेपेण-आयामविष्कम्भपरिक्षेपैः पुनरनियतानि आख्यातानि, कस्यापि मण्डलस्य कियान् आयामो विष्कम्भः परिक्षे-

पश्चेति भाव इति स्वशिष्येभ्यो वदेत्, एवमुक्ते भगवान् गौतम पृच्छति-' तत्थ णं को हेऊ इति वइज्जा ' तत्र—मण्डलपदानामायामविष्कम्भपरिक्षेपाऽनियतत्वे को हेतु.—का उपपत्तिरिति वदेत्, अत्र भगवानाह-'ता अयन्न'मित्यादि, इदं जम्बूद्वीपवाक्य पूर्ववत् परिपूर्ण स्वय परिभावनीय व्याख्यानीयं च, 'ता जया ण ' मित्यादि, तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे सूर्य. सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तन्मण्डलपद, सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वाद्, बाहल्येनाष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य ज्ञातव्यम्, आयामविष्कम्भाभ्यां नवनवतिर्योजनसहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि ९९६४०, तथाहि-एकतोऽपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलमशीत्यधिकं योजनशत जम्बूद्वीपमवगाह्य स्थितमपरतोऽपि, ततोऽशीत्यधिक योजनशत द्वाभ्या गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ठ्यधिकानि ३६०, एतानि जम्बूद्वीपविष्कम्भपरिमाणाल्लक्षरूपात् शोध्यन्ते, ततो यथोक्तमायामविष्कम्भपरिमाण भवति, त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चदशसहस्राणि एकोननवत्यधिकानि३१५०८९ परिक्षेपत, तथाहि-तस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य विष्कम्भो नवनवतिर्योजनसहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि९९६४०, एतेषा वर्गो विधीयते,जातो नवको नवको द्विकोऽष्टक एकको द्विको नवक षट्को द्वे च शून्ये ९९२८१२९६००, ततो दशभिर्गुणने जातमेकमधिकं शून्यम्९९२८१२९६०००,अस्य वर्गमूलानयने न लब्ध यथोक्त परिरयप्रमाणं,शेषं तिष्ठति द्विक एककाऽष्टक शून्य सप्तको नवक २१८०७९ एतत् त्यक्तम्, 'तया ण ' मित्यादिना रात्रिन्दिवपरिमाण सुगमम् ।' से निक्खममाणे' इत्यादि, स सूर्य सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्प्रागुक्तप्रकारेण निष्क्रामन् नवं संवत्सरमाददानो नवस्य संवत्सरस्य प्रथमेऽहोरात्रे सर्वाभ्यन्तरानन्तर द्वितीय मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तत्र यदा सर्वाभ्यन्तरानन्तर द्वितीय मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तन्मण्डलपदमष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन , नवनवतिर्योजनसहस्राणि षट् शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्यायामविष्कम्भाथा, तथाहि-एकोऽपि सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने बहिरवष्टभ्य द्वितीये मण्डले चार चरति,द्वितीयोऽपि, ततो द्वयोर्योजनयोरष्टाचत्वारिंशतश्चैकषष्टिभागाना योजनस्य द्वाभ्यां गुणने पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति, एतत्प्रथममण्डलविष्कम्भपरिमाणेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यते ततो भवति यथोक्त द्वितीयमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणमिति । तत्र त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चदश सहस्राणि एकं च सप्तोत्तरं योजनशत किञ्चिद्विशेषाधिक परिरयेण प्रज्ञप्तम् ,तथाहि-पूर्वमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणादस्य मण्डलस्य विष्कम्भायामपरिमाणे पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्याधिकत्वेन प्राप्यन्ते, ततोऽस्य राशेः पृथक् परिरयपरिमाणमानेतव्यम् , तत्र पञ्च योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ३०५, एतेषा मध्ये उपरितना पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागा. प्रक्षिप्यन्ते , जातानि त्रीणि शतानि चत्वारिंशदधिकानि ३४० , एतेषा वर्गो विधीयते , वर्गयित्वा च दशभिर्गुणनात ततो जात एकक एकक पञ्चक षट्क त्रीणि शून्यानि ११५६००० , तत एषा वर्गमूलानयने लब्धानि दश शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि १०७५ , एतेषा योजनाऽऽनयनार्थमेकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि सप्तदश योजनानि अष्टत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य १७$\frac{३५}{६१}$ ' एतत्पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यते , ततो यथोक्तमधिकृतमण्डलपरिरयपरिमाण भवति . किञ्चिद्विशेषानता च किञ्चिदूनत्रयस्त्रिंशता एकषष्टिभागैरूनता द्रष्टव्या , ' तया ण दिवसराइप्पमाणं तह चेव ' तदा-द्वितीयमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्रिप्रमाण तथैव-प्राग्वत् ज्ञातव्यम् , तच्चैवम्—' तया ण अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ दोहि एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवति दोहि एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया , से णिक्खममाणे ' इत्यादि , तत सूर्यो द्वितीयस्मान्मण्डलादुक्तप्रकारेण निष्क्रामन् नवसंवत्सरसत्के द्वितीयेऽहोरात्रे ' अब्भितर तच्च' ति-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीय मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति , ' ता जया ण ' मित्यादि , ततो यदा सूर्य. सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीय मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तदा तत्तृतीयं मण्डलपदम् अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन नवनवतिर्योजनसहस्राणि षट् योजनशतान्येकपञ्चाशदधिकानि नव चैकषष्टिभागा योजनस्य ९९६५१$\frac{९}{६१}$आयामविष्कम्भेन-आयामविष्कम्भाभ्या, तथाहि-प्रागिवात्रापि पूर्वमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणात् पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्याधिकत्वेन प्राप्यन्ते, ततो यथोक्तमायामविष्कम्भपरिमाणं भवति त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चदश सहस्राणि एक च पञ्चविंशत्यधिक योजनशत परिक्षेपेण प्रज्ञप्त , तथाहि-पूर्वमण्डलादस्य विष्कम्भे पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्याधिकत्वेन प्राप्यन्ते , ततो यथोक्तमत्रायामविष्कम्भपरिमाणं भवति , तस्य च पृथक् परिरयपरिमाण सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्य , एतन्निश्चयनयमतेन, पर सूत्रकृता व्यवहारनयमतमवलम्ब्य परिपूर्णान्यष्टादश योजनानि विवक्षितानि , व्यवहारनयमतेन हि लोके किञ्चिदूनमपि परिपूर्णं विवक्ष्यते , तथा यदपि पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणे किञ्चिदूनत्वमुक्त तदपि व्यवहारनयमतेन परिपूर्णमिव विवक्ष्यते , तत पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणे अष्टादश योजनान्यधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते इति भवति यथोक्तमधिकृतमण्डलपरिरयपरिमाणम् 'तया ण दिवसराई तहेव ' इति-तदा तृतीयमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्री तथैव प्रागिव वक्तव्ये , तच्चैवम्-' तया ण अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवति चउहि एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया ' 'एव खलु' इत्यादि, एवम्—उक्तप्रकारेण खलु निश्चितमेतेनोपायेन प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण निष्क्रामन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तर मण्डल संक्रामन्२ एकैकस्मिन् मण्डले पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येत्येव परिमाणा विष्कम्भवृद्धिमभिवर्द्धयन्नभिवर्द्धयन् एकैकस्मिन्नेतन्मण्डले अष्टादश अष्टादश योजनानि प-

रिग्यवृद्धिमभिवर्द्धयन्नभिवर्द्धयन् इहाष्टादश अष्टादशेति व्यवहारत उक्तम, निश्चयनयमतेन तु सप्तदश सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशते चैकषष्टिभागा योजनस्येति द्रष्टव्यम्, एतच्च प्रागेव भावितं, न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत उक्तं तद्विचारप्रक्रमे एव करणविभावनायाम्—' सत्तरस जोयणाइ अट्ठतीसं च एगट्ठिभागा १७ ३८/६१ एयं निच्छएण ववहारेण पुण अट्ठारस जोयणाइ ' इति, प्रथमषण्मासपर्यवसानभूते त्र्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे सर्वबाह्य मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति, ' ता जया ण ' मित्यादि, तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तदा तत्सर्वबाह्यं मण्डलपदम् अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन एकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि षष्ट्यधिकानि १००६६० आयामविष्कम्भेन—आयामविष्कम्भाभ्याम्, तथाहि-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परत सर्वबाह्यं मण्डल पर्यवसानीकृत्य त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतं भवति, मण्डले मण्डले च विष्कम्भे विष्कम्भे परिवर्द्धन्ते पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, तत पञ्च योजनानि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते, जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, येऽपि च पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य तेऽपि त्र्यशीत्यधिकानि शतेन गुण्यन्ते जातानि चतुःषष्टि शतानि पञ्चोत्तराणि ६४०५, तेषामेकषष्ट्या भागे हृते लब्धं पञ्चोत्तर योजनशतम् १०५, एतत्पूर्वस्मिन् राशौ प्रक्षिप्यते, जातानि दश शतानि विंशत्यधिकानि १०२०, एतानि सर्वाभ्यन्तरमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणे अधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते, ततो यथोक्तं सर्वबाह्यमण्डलगतविष्कम्भायामपरिमाणं भवति, तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ३१८३१५ परिक्षेपत., नवरं पञ्चदशोत्तराणि किञ्चिन्न्यूनानि द्रष्टव्यानि, तथाहि—अस्य मण्डलस्य विष्कम्भो योजनलक्ष षट् योजनशतानि षष्ट्यधिकानि १००६६०, अस्य वर्गो विधीयते, जात एकक शून्यमेककस्त्रिको द्विकश्चतुष्कस्त्रिक पञ्चक षट्को द्वे शून्ये १०१३२४३५६००, ततो दशभिर्गुणने जातमेकमधिकं शून्यम् १०१३२४३५६०००, अस्य वर्गमूलानयने लब्धानि त्रीणि योजनशतसहस्राणि अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्दशोत्तराणि ३१८३१४, शेषमुद्धरति, पञ्चक पञ्चकस्त्रिकश्चतुष्क शून्य चतुष्क ५५३४०४, छेदराशि षट्कस्त्रिक षट्क षट्को द्विकोऽष्टक ६३६६२८, तत एतेन पञ्चदश योजनं किञ्चिदून किल लभ्यते इति व्यवहारत सूत्रकृता परिपूर्ण विवक्षित्वा पञ्चदशोत्तराणीत्युक्तम् । अथवा-मण्डले मण्डले पूर्वपूर्वमण्डलात्परिरयवृद्धौ सप्तदश सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य लभ्यन्ते, तत सप्तदश योजनानि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशच्छतान्येकादशोत्तराणि ३१११, येऽपि चाष्टात्रिंशदेकषष्टिभागास्तेऽपि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते, जातान्येकोनसप्ततिशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि ६९५४, तेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धं चतुर्दशोत्तर योजनशतम् ११४, तच्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते जातानि द्वात्रिंशच्छतानि पञ्चविंशत्यधिकानि ३२२५, एतानि सर्वाभ्यन्तरमण्डलपरिरयपरिमाणे त्रीणि लक्षाणि पञ्चदश सहस्राणि नवाशीत्यधिकानि ३१५०८९ इत्येवरूपेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्दशोत्तराणि ३१८३१४, तथा सप्तदशानां योजनानाम् अष्टात्रिंशतश्चैकषष्टिभागानामुपरि यानि त्रीणि शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि ३७५ शेषाण्युद्धरन्ति तानि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते जातान्यष्टषष्टिसहस्राणि षट् शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि ६८६२५, तेषां छेदराशिना पञ्चाशदधिकैकविंशतिशतरूपेण २१५०, भागो ह्रियते, लब्धा एकत्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, शेष स्तोकत्वात् त्यक्त, परं व्यवहारत. परिपूर्णं योजनं विवक्षितमिति पञ्चदशोत्तराणीत्युक्तम्, ' तया ण' मित्यादिना रात्रिन्दिवपरिमाणं षण्मासोपसंहरणं च सुगमम्, ' से पविसमाणे ' इत्यादि. तत्र स सूर्य. सर्वबाह्यान्मण्डलात् प्रागुक्तप्रकारेणाभ्यन्तरं मण्डलं प्रविशन् द्वितीय षण्मासमाददानो द्वितीयस्य षण्मासस्य प्रथमे अहोरात्रे सर्वबाह्यानन्तरमर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति. 'ता जया ण'मित्यादि तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे सर्वबाह्यानन्तरमर्वाक्तन द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तदा तन्मण्डलपदम् अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन, एकं योजनशतसहस्रं षट् च योजनशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि षड्विंशतिश्चैकषष्टिभागा योजनस्य १००६५४ २६/६१ आयामविष्कम्भेन-आयामविष्कम्भाभ्याम्, तथाहि-एकतोऽपि, तन्मण्डलं सर्वबाह्यमण्डलमतानष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे द्वे योजने विमुच्याभ्यन्तरमवस्थितमपरतोऽपि ततो योजनद्वयस्याष्टाचत्वारिंशतश्चैकषष्टिभागानां द्वाभ्यां गुणने पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति, एतत्सर्वबाह्यमण्डलगतविष्कम्भायामपरिमाणात् शोध्यते, ततो यथोक्तमधिकृतमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणं भवति, तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि अष्टादशसहस्राणि द्वे योजनशते सप्तनवत्यधिके ३१८२९७, परिक्षेपत. प्रज्ञप्तं, तथाहि-पूर्वमण्डलादस्य मण्डलस्य विष्कम्भायामपरिमाणे पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति त्रुटयन्ति, पञ्चानां योजनानां पञ्चत्रिंशतश्चैकषष्टिभागानां परिरये सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य भवन्ति, परं सूत्रकृता व्यवहारनयमतेन परिपूर्णान्यष्टादश योजनानि विवक्षितानि, प्रागुक्तात्सर्वबाह्यमण्डलपरिरयपरिमाणात् त्रीणि लक्षाणि अष्टादशसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि इत्येवंरूपादष्टादश योजनानि शोध्यन्ते, ततो यथोक्तमधिकृतमण्डलपरिरयपरिमाण भवति, ' तया ण राइंदियाण तह चेव' त्ति-तदा रात्रिन्दिव रात्रिदिवसौ तथैव वक्तव्यौ. तौ चैवम्—'तया णं अट्ठारस मुहुत्ता राई भवति दोहि एगट्ठिभागमुहुत्तेहि ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे हवइ दोहि एगट्ठिभागामुहुत्तेहि अहिए ' इति, ' से पविसमाणे' इत्यादि, तत स सूर्यस्तस्मादपि द्वितीयस्मान्मण्डलात्प्रागुक्तप्रकारेणाभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तत्र यदा सूर्यः सर्वबाह्यान्म-

ण्डलादर्वाक्तनं तृतीय मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तन्मण्डलपदम् अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन एकं योजनशतसहस्रं षट् च योजनशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि द्विपञ्चाशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य १००६५८$\frac{४२}{६१}$ आयामविष्कम्भेन—आयामविष्कम्भाभ्या, तथाहि—पूर्वस्मान्मण्डलादिदं मण्डलमायामविष्कम्भेन पञ्चभिर्योजनैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य हीन, ततः पूर्वमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणादेकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि षड्विंशतिश्चैकषष्टिभागा योजनस्येत्येवंरूपात्पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य शोध्यन्ते, ततो यथोक्तमधिकृतमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणं भवति, तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिक—३१८२७९ परिक्षेपेन प्रज्ञप्त, तथाहि—प्राक्तनमण्डलादिदं मण्डलं पञ्चभिर्योजनैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य विष्कम्भतो हीनं, पञ्चानां योजनानां पञ्चत्रिंशतश्चैकषष्टिभागानां परिरयपरिमाणं व्यवहारतोऽष्टादश योजनानि, ततस्तानि पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणात् शोध्यन्ते, ततो यथोक्तमधिकृतपरिरयपरिमाणं भवति 'दिवसराई तहेव' त्ति-दिवसरात्री तथैव प्रागिव वक्तव्ये, ते चैवम्- तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा, दुवालसमुहुत्त दिवसे भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए' इति, 'एव खलु इत्यादि एतत्सूत्र प्रागुक्तव्याख्यानुसारेण स्वयं परिभावनीयं, नवरं 'निव्वेढेमाणे' इति निर्वेष्टयन् निर्वेष्टयन् हापयन् हापयन्नित्यर्थः, 'ता जया णं' मित्यादि सुगमम्, अधुना प्रस्तुतवक्तव्यताप्रसङ्गमाह—'ता सव्वा वि णं' मित्यादि, तत्र सर्वाण्यपि मण्डलपदानि प्रत्येकं बाहल्येनाष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, उपलक्षणमेतत्, अनियतानि त्वायामविष्कम्भपरिधिभिः तथा सर्वाण्यपि च मण्डलान्तरकाणि—मण्डलान्तराणि, सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, द्वे द्वे योजने विष्कम्भेन, तत एव द्वे योजने अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्येत्येवंरूपो, णमिति वाक्यालङ्कारे अध्वा-पन्थास्त्र्यशीत्यधिकशतप्रत्युत्पन्न -त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुणितः सन् पञ्चदशोत्तराणि योजनशतान्याख्याता इति, वदेत्, तथाहि—द्वे योजने त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यते जातानि त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि ३६६, येऽपि च अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागास्तेऽपि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते जातानि सप्ताशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४, तेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धं चतुश्चत्वारिंशं योजनशतम् १४४, तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, जातानि पञ्च शतानि दशोत्तराणि ५१०, अस्यैवार्थस्य व्यक्तीकरणार्थं भूयः प्रश्नसूत्रमाह-'ता अब्भिंतराओ' इत्यादि, 'ता' इति तत्र अभ्यन्तरात्-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलपदात् परतो यावद्बाह्यं-सर्वबाह्यं मण्डलपदं बाह्याद्वा-सर्वबाह्याद्वा मण्डलपदादर्वाक् यावत्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलपदमेष एतावान् अध्वा कियान्-कियत्प्रमाण आख्यात इति वदेत्?, एवमुक्ते गौतमेन भगवानाह-'ता' इत्यादि, तावानध्वा पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि आख्यात इति वदेत् ? स्वशिष्यस्य पञ्चदशोत्तरयोजनशतभावना प्रागुक्तानुसारेण स्वयं परिभावनीया, 'अब्भिंतराए' इत्यादि.अभ्यन्तरेण मण्डलपदेन सह अभ्यन्तरान्मण्डलपदादारभ्य यावद् बाह्य-सर्वबाह्यं मण्डलपदं, यदिवा-बाह्येन सर्वबाह्येन मण्डलपदेन सर्वबाह्यान्मण्डलपदादारभ्य यावत्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमेष एतावान् अध्वा कियानाख्यात इति वदेत्?, भगवानाह—'ता पंचे' त्यादि एतावान् अध्वा पञ्चदशोत्तराणि योजनशतान्यष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येत्याख्यात इति वदेत् पूर्वस्मादध्वपरिमाणात् एतस्याध्वपरिमाणस्य सर्वबाह्यमण्डलगतेन बाहल्यपरिमाणेनाधिकत्वात्, 'ता अब्भिंतर' त्यादि ता इति अभ्यन्तरान्मण्डलपदात्परतो बाह्यमण्डलपदात्-सर्वबाह्यमण्डलादर्वाक्, यद्वा- बाह्यमण्डलपदादर्वाक् अभ्यन्तरमण्डलात्परत एष अध्वा कियानाख्यात इति वदेत्?, भगवानाह-'ता पंचे'त्यादि.पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रयोदश चैकषष्टिभागा योजनस्य आख्यात इति वदेत्, पूर्वस्मादध्वपरिमाणादस्याध्वपरिमाणस्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतसर्वबाह्यमण्डलगतबाहल्यपरिमाणेन पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाधिकैकयोजनरूपेण हीनत्वात्, तदेवमभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो यावत्सर्वबाह्यं मण्डलं सर्वबाह्याद्वा मण्डलादर्वाक् यावत्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलं तथा सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलाभ्यां सह तथा सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलाभ्यां विना यावदध्वपरिमाणं भवति तावन्निरूपितम्, सम्प्रति सर्वाभ्यन्तरेण मण्डलेन सह सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो बाह्यमण्डलादर्वाक्, यदिवा-सर्वबाह्यमण्डलेन सह सर्वबाह्यमण्डलादर्वाक् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो यावदध्वपरिमाणं भवति तावन्निरूपयति--'अब्भिंतराए' इत्यादि. अभ्यन्तरेण मण्डलपदेन सह अभ्यन्तरान्मण्डलात्परतः, सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वागिति गम्यते यदिवा—सर्वबाह्येन मण्डलपदेन सह सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परत इति गम्यते,याऽध्वा एष णमिति वाक्यालङ्कारे अध्वा कियानाख्यात इति वदेत्?, भगवानाह-'ता' इत्यादि, तावानध्वा पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि आख्यात इति वदेत्, भावना सुगमत्वान्न क्रियते । सू० प्र० ८ पाहु० ।

यथा 'मण्डले मण्डले प्रतिमुहूर्त्तं गतिर्वक्तव्ये' ति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता केवतियं ते खेत्तं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति आहिता ति वदेज्जा ?, तत्थ खलु इमातो चत्तारि पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थ एगे एवमाहंसु-ता छ छ जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति,एगे एवमाहंसु १, एगे पुण एवमाहंसु-ता पंच पंच जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति एगे एवमाहंसु २, एगे पुण एवमाहंसु-ता चत्तारि चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, एगे एवमाहंसु ३, एगे पुण एवमाहंसु-ता छ वि पंच वि चत्तारि वि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, एगे एवमाहंसु ४, तत्थ जे ते एवमाहंसु ता छ छ जोयणसहस्साइं सूरिए

एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति ते एवमाहंसु-जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, तंसि च णं दिवसंसि एगं जोयणसतसहस्सं अट्ठ य जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, तंसि च णं दिवसंसि बावत्तरिं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, तया णं छ छ जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तत्थ जे ते एवमाहंसु ता पंच पंच जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, ते एवमाहंसु-ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तहेव दिवसराइप्पमाणं तंसि च णं तावक्खेत्तं नउइजोयणसहस्साइं, ता जया णं सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं तं चेव राइंदियप्पमाणं तंसि च णं दिवसंसि सट्ठि जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति । तत्थ जे ते एवमाहंसु, ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं दिवसराई तहेव, तंसि च णं दिवसंसि बावत्तरिं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं राइंदियं तहेव तंसि च णं दिवसंसि अडयालीसं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते तता णं चत्तारि चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तत्थ जे ते एवमाहंसु छ वि पंच वि चत्तारि वि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति ते एवमाहंसु-ता सूरिए णं उग्गमणमुहुत्तेणं सिय अत्थमणमुहुत्तं सिग्घगती भवति, तता णं छ छ जोयणसहस्साइं एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, मज्झिमतावक्खेत्तं समासादेमाणे समासादेमाणे सूरिए मज्झिमगता भवति, तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, मज्झिमं तावक्खेत्तं संपत्ते सूरिए मंदगती भवति, तता णं चत्तारि जोयणसहस्साइं एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तत्थ को हेउ त्ति वदेज्जा ?, ता अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे जाव परिक्खेवेणं, ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं दिवसराई तहेव, तंसि च णं दिवसंसि एक्काणउतिं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं राइंदियं तहेव, तंसि च णं दिवसंसि एगट्ठिजोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, तता णं छ वि पंच वि चत्तारि वि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, एगे एवमाहंसु ॥ वयं पुण एवं वदामो-ता सातिरेगाइं पंच पंच जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तत्थ को हेतु त्ति वदेज्जा, ता अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे परिक्खेवेणं ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि य एकावण्णे जोयणसए एगूणतीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तता णं इहगतस्स मणुस्सस्स सीतालीसाए जोयणसहस्सेहिं दोहि य तेवट्ठेहिं जोयणसतेहिं एकवीसाए य सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तया णं दिवसे राई तहेव, से णिक्खममाणे सूरिए णवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भितराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अब्भितराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चार चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि य एकावण्णे जोयणसते सीतालीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तता णं इहगतस्स मणूसस्स सीतालीसाए जोयणसहस्सेहिं अउणासीते य जोयणसते सत्तावण्णाए सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सट्ठिभागं च एगट्ठिहा छेत्ता अउणावीसाए चुण्णियाभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तता णं दिवसराई तहेव । से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भितरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अब्भितरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि य बावण्णे जोयणसते पंच य सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तता णं इहगतस्स मणूसस्स सीतालीसाए जोयणसहस्सेहिं जोयणस्स सट्ठिं भागं च एगट्ठिधा छेत्ता दोहि भागेहिं जोयणस्स सट्ठिं भागं च एगट्ठिधा छेत्ता दोहिं चुण्णियाभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तता णं दिवसराई तहेव, एवं खलु एतेणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तताणंतराओ तदाणंतरं मंडलाओ मंडलं संकममाणे संकममाणे अट्ठारस अट्ठारस सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले मुहुत्तगतिं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे चुलसीतिं सीताइं जोयणाइं पुरिसच्छायं णिवुड्ढेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं तिण्णि

य पंचुत्तरे जोयणसते पण्णरस य सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति तता णं इहगतस्स मणूसस्स एकतीसाए जोयणेहिं अट्ठहिं एकतीसेहिं जोयणसतेहिं तीसाए य सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस णं पढमे छम्मासे, एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे । स पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता जता णं सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पच पंच जोयणसहस्साइं तिण्णि य चउरुत्तरे जोयणसत्ते सत्तावण्णं च सट्ठिभाए जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तता णं इहगतस्स मणूसस्स एकतीसाए जोयणसहस्सेहिं नवहिं य सोलसेहिं जोयणसएहिं एगूणतालीसाए सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सट्ठिभागं च एगट्ठिहा छेत्ता सट्ठिए चुण्णियाभागे सूरिए चक्खुफासं हव्वमागच्छति, तता णं राइंदियं तहेव, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं तिन्नि य चउरुत्तरे जोयणसते ऊतालीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति तता णं इहगतस्स मणूसस्स एगाधिगेहिं बत्तीसाए जोयणसहस्सेहिं एकावण्णाए य सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सट्ठिभागं च एगट्ठिधा छेत्ता तेवीसाए चुण्णियाभागेहिं सूरिए चक्खुफासं हव्वमागच्छति, राइंदियं तहेव, एवं खलु एतेणुवाएणं पविसमाणे सूरिए ततार्णतरातो तताणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणे संकममाणे अट्ठारस अट्ठारस सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले मुहुत्तगइं णिवुड्ढेमाणे णिवुड्ढेमाणे सातिरेगाइं पंचासीति पंचासीति जोयणाइं पुरिसच्छायं अभिवुड्ढेमाणे अभिवुड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि य एकावण्णे जोयणसए अट्ठतीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति तता णं इहगयस्स मणूसस्स सीतालीसाए जोयणसहस्सेहिं दोहि य दोवट्ठेहिं जोयणसतेहिं एक्वीसाए य सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, एस णं दोचे छम्मासे एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे एस णं आदिच्चे संवच्छरे एस णं आदिच्चसंवच्छरस्स पज्जवसाणे । (सू०-२३)

'ता केवतियं ते खित्त सूरिए' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, कियन्मात्र क्षेत्रं भगवन् ! 'ते' त्वया सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, गच्छन्नाख्यात इति वदेत् ?, एवमुक्ते सति भगवान् एतद्विषयपरतीर्थिकप्रतिपत्तिमिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एव प्रतिपत्तीरुपदर्शयति-' तत्थ ' इत्यादि तत्र प्रतिमुहूर्तगतिपरिमाणचिन्तायां खल्विमाश्चतस्रः प्रतिपत्तय प्रज्ञप्ता, तद्यथा-तत्र तेषां चतुर्णां वादिना मध्ये एके एवमाहु -षट् षट् योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, अत्रैवोपसंहार. ' एगे एवमाहंसु ?, एवमग्रेतनान्युपसंहारवाक्यानि भावनीयानि, एके पुनर्द्वितीया एवमाहु - पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति २ । एके पुनस्तृतीया एवमाहु -चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, ३ । अपरे पुनश्चतुर्था एवमाहु -षडपि पञ्चापि चत्वार्यपि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, तदेवं चतस्रोऽपि प्रतिपत्ती संक्षेपत उपदर्श्य सम्प्रत्येतासा यथाक्रमं भावनिकामाह-' तत्थे ' त्यादि, तत्र ये ते वादिन एवमाहु -षट् षट् योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति त एवमाहु -यदा सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्त परमप्रकर्षप्राप्तोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सर्वजघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रि, तस्मिश्च दिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्तम् एकं योजनशतसहस्रमष्टौ च योजनसहस्राणि, तथाहि-तस्मिन्नपि मण्डले उदयमान. सूर्यो दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्नोति तावति व्यवस्थितश्चक्षुर्गोचरमायाति तत एतावत्किल पुरतस्तापक्षेत्रम्, यावच्च पुरतस्तापक्षेत्र तावत्पश्चादपि, यत उदयमान इवास्तमयमानोऽपि सूर्यो दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्नोति तावति व्यवस्थितश्चक्षुर्गोपलभ्यत, एतच्च प्रतिप्राणि सुप्रसिद्धं, सर्वाभ्यन्तरे च मण्डले दिवसस्यार्द्धे नव मुहूर्त्तास्ततोऽष्टादशभिर्मुहूर्तैर्यावन्मात्र क्षेत्रं गम्य तावत्प्रमाण तापक्षेत्रम्, एकैकेन मुहूर्त्तेन षट् षट् योजनसहस्राणि गम्यन्ते, तत षण्णां योजनसहस्राणामष्टादशभिर्गुणने भवत्येक योजनशतसहस्रमष्टौ योजनसहस्राणीति, एवमुत्तरत्रापि तत्तन्मण्डलगतदिवसपरिमाण प्रतिमुहूर्तगतिपरिमाण च परिभाव्य तापक्षेत्रपरिमाणभावना भावनीया । यदा च सर्वबाह्य मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्ता अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति सर्वजघन्यश्च द्वादशमुहूर्त्तो दिवस, तस्मिंश्च दिवसे तापक्षेत्रपरिमाण द्विसप्ततिर्योजनसहस्राणि ७२०००, तदा हि—तापक्षेत्रपरिमाणं द्वादशमुहूर्त्तगम्यप्रमाणम्, अत्रार्थे च भावना प्रागुक्तानुसारेण स्वय भावनीया, मुहूर्तेन च षट् षट् योजनसहस्राणि गच्छति, तत षण्णां योजनसहस्राणा द्वादशभिर्गुणने भवन्ति द्वासप्ततिरेव योजनसहस्राणीति इमामेवोपपत्ति लेशत आह-'तंसि ण ' मित्यादि, तेषां हि तीर्थान्तरीयाणा मतेन सूर्य

षट् षट् योजनसहस्राण्येकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति त-त' सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये च मण्डले यथोक्तमेव तापक्षेत्रपरिमाणं भवतीति, तथा 'तत्थे त्यादि. तत्र--तेषां वादिनां मध्ये ये ते एवमाहु -पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति त एवमाहु -यदा सूर्यं सर्वाभ्यन्तर मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति ' तदेव दिवसराइप्पमाण'मिति-अत्र प्रस्तावे दिवसरात्रिप्रमाणं तथैव--प्रागिव द्रष्टव्यम् 'तया ण उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ, जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई इति, 'तंसि च ण'-मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतेऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्र--तापक्षेत्रपरिमाण प्रज्ञप्त, नवतियोजनसहस्राणि, तदा हि प्रागुक्तयुक्तिवशादष्टादशमुहूर्त्तप्रमाण तापक्षेत्रम् , एकैकेन च मुहूर्त्तेन गच्छति सूर्य पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि, तत पञ्चाना योजनसहस्राणामष्टादशभिर्गुणनेन नवतिरेव योजनसहस्राणि भवन्ति, 'ता जया ण' मित्यादि, यदा सूर्यः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तदा 'त चेव राइंदियप्पमाण' मिति, तदेव प्रागुक्तं रात्रिन्दिवप्रमाण--रात्रिदिवसप्रमाणं वक्तव्यम् , तद्यथा "उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई हवइ जहन्निए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवतीति" 'तंसि च ण' मित्यादि,तस्मिन् सर्वबाह्यमण्डलगते सर्वजघन्ये द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्र प्रज्ञप्त षष्टियोजनसहस्राणि ६०००० , तदा ह्यनन्तरोक्तयुक्तिवशाद् द्वादशमुहूर्त्तगम्यप्रमाण तापक्षेत्रमेकैकेन च मुहूर्त्तेन पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि गच्छति, तत. पञ्चाना योजनसहस्राणा द्वादशभिर्गुणने भवति षष्टियोजनसहस्राणि, अत्रैवोपपत्तिलेशमाह-'तया णं पच पचे' त्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारचरणकाले सर्वबाह्यमण्डलचारचरणकाले च पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, तत सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये च मण्डले यथोक्तमातपक्षेत्रपरिमाणं भवति २ ॥ ' तत्थे ' त्यादि, तत्र ये ते वादिन एवमाहु --चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति त एवं सूर्यतापक्षेत्रप्ररूपणां कुर्वन्ति--यदा सूर्य. सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा दिवसरात्री तथैव--प्रागिव वक्तव्ये , ते चैवम्- तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ ' इति, 'तंसि च ण ' मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतेऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्त द्विसप्ततियोजनसहस्राणि ७२०००, तथाहि-एतेषां मतेन सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि गच्छति , सर्वाभ्यन्तरे च मण्डले तापक्षेत्रपरिमाण प्रागुक्तयुक्तिवशादष्टादशमुहूर्त्तगम्यं , ततश्चतुर्णा योजनसहस्राणामष्टादशभिर्गुणने भवन्ति द्विसप्ततियोजनसहस्राणि , 'ता जया ण ' मित्यादि, तत्र यदा सूर्य सर्वबाह्य मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा 'राइंदिय तहेव' त्ति-रात्रिन्दिव--रात्रिदिवसप्रमाण तथैव-प्रागिव वक्तव्य, तच्चैवम्-' तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति' ' तंसि च ण ' मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वबाह्यमण्डलगते द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्र प्रज्ञप्तम्-अष्टाचत्वारिंशद्योजनसाहस्राणि ४८०००, तदा हि तापक्षेत्रं द्वादशमुहूर्त्तगम्यम् एकैकेन च मुहूर्त्तेन चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि गच्छति; ततश्चतुर्णा योजनसहस्राणा द्वादशभिर्गुणनेऽष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्ति , इमामेवोपपत्ति लेशतो भावयति--' तया ण ' इत्यादि , तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले सर्वबाह्यमण्डलचारकाले च यतश्चत्वारि योजनसहस्राणि एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति तत सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये च मण्डले यथोक्तं तापक्षेत्रपरिमाणं भवति ३ ॥ 'तत्थे त्यादि, तत्र ये ते वादिन एवमाहु --षडपि पञ्चापि चत्वार्यपि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति ते एवमाहु --एवं सूर्यचार प्ररूपयन्ति, सूर्य उद्गमनमुहूर्त्ते अस्तमयनमुहूर्त्ते च शीघ्रगतिर्भवति ततस्तदा--उद्गमनकालेऽस्तमयनकाले च सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन षट् षड् योजनसहस्राणि गच्छति , तदनन्तर सर्वाभ्यन्तरगतं मुहूर्त्तमात्रगम्य तापक्षेत्रं मुक्त्वा शेषं मध्यमं तापक्षेत्र परिभ्रमण समासादयन् मध्यमगतिर्भवति, ततस्तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति , सर्वाभ्यन्तर तु मुहूर्त्तमात्रगम्य तापक्षेत्र सम्प्राप्त सन् सूर्यो मन्दगतिर्भवति , ततस्तदा यत्र तत्र वा मण्डले चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति । अत्रैव भावार्थं पिपृच्छिषुराह-- ' तत्थे ' त्यादि , तत्र एवविधवस्तुतत्त्वव्यवस्थाया को हेतु ?--का उपपत्तिरिति वदेत् , एव स्वशिष्येण प्रश्ने कृते सति ते एवमाहु ' ता अयष' मित्यादि , अत्र जम्बूद्वीपवाक्य पूर्ववत् स्वय परिपूर्ण पठनीय व्याख्यानीय च । ' जया ण ' मित्यादि, तत्र यदा सूर्य सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसङ्क्रम्य चार चरति तदा दिवसरात्री तथैव प्रागिव वक्तव्ये , ते चैवम्--'तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ' ' तंसि च ण ' मित्यादि , तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतेऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणदिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्तम् । एकनवतियोजनसहस्राणि ९१००० तानि चैवमुपपद्यन्ते उद्गमनमुहूर्त्तेऽस्तमयनमुहूर्त्ते च प्रत्येक षड्योजनसहस्राणि गच्छतीत्युभयमीलने द्वादशयोजनसहस्राणि १२०००, सर्वाभ्यन्तरं मुहूर्त्तमात्रगम्य तापक्षेत्र मुक्त्वा शेषे मध्यमे तापक्षेत्रे पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणे पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि गच्छतीति पञ्चाना योजनसहस्राणा पञ्चदशभिर्गुणने पञ्चसप्ततियोजनसहस्राणि ७५००० सर्वाभ्यन्तरे तु मुहूर्त्तमात्रगम्ये तापक्षेत्रे चत्वारि योजनसहस्राणि ४००० गच्छतीति सर्वमीलने एकनवतियोजनसहस्राणि ९१००० भवन्ति , न चैतान्यन्यथा घटन्ते, तथा--'ता जया ण' मित्यादि , तत्र यदा सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चार चरति तदा रात्रिदिव--रात्रिदिवपरिमाण तथैव प्रागिव वेदितव्य , तच्चैवम्--'तया ण उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे' 'तंसि च ण' मित्यादि,तस्मिंश्च सर्वबाह्यमण्डलगते द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्र प्रज्ञप्तम् एकषष्टियोजनसहस्राणि ६१००० तानि चैवं घटा प्राञ्चन्ति-उद्गमनमुहूर्त्ते अस्तमयमुहूर्त्ते च प्रत्येक षट् षट्

योजनसहस्राणि गच्छन्ति, तत उभयमीलने द्वादश योजनसहस्राणि भवन्ति १२०००, सर्वाभ्यन्तरं मुहूर्त्तमात्रगम्यतापक्षेत्रं मुक्त्वा शेषे मध्यमे तापक्षेत्रे नवमुहूर्त्तगम्यप्रमाणे पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, तत पञ्चानां योजनसहस्राणां नवभिर्गुणने पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि भवन्ति ४५०००, सर्वाभ्यन्तरे तु मुहूर्त्तमात्रगम्ये तापक्षेत्रे चत्वारि योजनसहस्राणि ४०००, गच्छति, सर्वमीलने एकषष्टिर्योजनसहस्राणि, न चैतान्यथोपपद्यन्ते, ततः ' तया ण' मित्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले सर्वबाह्यमण्डलचारकाले चोक्तप्रकारेण षडपि पञ्चापि चत्वार्यपि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, अत्रैवोपसंहार —' एगे एवमाहंसु ' एके चतुर्था यावदेव एवम्-अनन्तरोक्तेन प्रकारेणाऽऽहु ॥ तदेव परतीर्थिकप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रति स्वमतमुपदर्शयति—' वयं पुण ' इत्यादि, वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञाना केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तूपलभ्य एवं—वक्ष्यमाणप्रकारेण वदाम. । तमेव प्रकारमाह—' ता साइरेगाइ ' इत्यादि, ' ता ' इति पूर्ववत् सातिरेकाणि—समधिकानि पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, इह क्वापि मण्डले कियताऽधिकेन पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि गच्छति, तत सर्वमण्डलप्राप्तिमपेक्ष्य सामान्यत उक्तं सातिरेकाणीति, एवमुक्ते भगवान् गौतमस्वामी स्वशिष्याणां स्पष्टावबोधनाय भूय पृच्छति—' तत्थे ' त्यादि, तत्र ' सर्वविधायामनन्तरोदितायां वस्तुव्यवस्थायां को हेतु'—का उपपत्तिरिति वदेत्, भगवान् वर्द्धमानस्वामी आह—' ता अयण्ण ' मित्यादि, इद च जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत्स्वयं परिपूर्णं परिभावनीयम् , ' ता जया ण ' मित्यादि, तत्र यदा सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे द्वे योजनशते एकपञ्चाशदधिके एकोनत्रिंशत च षष्टिभागान् योजनस्य ५२५१ $\frac{29}{60}$ एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, कथमेतदवसीयते इति चेत् , उच्यते—इह द्वाभ्या सूर्याभ्यामेकं मण्डलमेकेनाहोरात्रेण परिसमाप्यते, अहोरात्रश्च त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाण. । प्रतिसूर्यं चाहोरात्रगणने परमार्थतो द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां मण्डल परिभ्रमणत. परिसमाप्यते, द्वयोश्चाहोरात्रप्रमाणयोर्मुहूर्त्ता. षष्टिर्भवन्ति, ततो मण्डलपरिरयस्य षष्ट्या भाग हारयेत् , भागलब्धं भवति तन्मुहूर्त्तगतिप्रमाण, तत्र सर्वाभ्यन्तरे मण्डले परिरयप्रमाण त्रीणि लक्षाणि पञ्चदशसहस्राणि नवाशीत्यधिकानि ३१५०८९ अस्य षष्ट्या भागे हृते लब्धं यथोक्त मुहूर्त्तगतिपरिमाणमिति । अथास्मिन् सर्वाभ्यन्तरे मण्डले कियति क्षेत्रे व्यवस्थित उदयमानः सूर्य इहगतानां मनुष्याणां चक्षुर्गोचरमायातीति प्रश्नावकाशमाशङ्क्याह—'तया ण' मित्यादि, तदा-सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारचरणकाले उदयमान सूर्य इहगतस्य मनुष्यस्य, अत्र जातावेकवचन, ततोऽयमर्थ -इहगतानाम्-भरतक्षेत्रगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्राभ्यां त्रिषष्ट्याभ्यां त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या च षष्टिभागैर्योजनस्य चक्षु.स्पर्शं 'हव्व' ति-शीघ्रमागच्छति, का अत्रोपपत्तिरिति चेत्, उच्यते-इह दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति व्यवस्थित उदयमान सूर्य उपलभ्यते, सर्वाभ्यन्तरे च मण्डले दिवसोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणस्तस्यार्द्धे नव मुहूर्त्ता , एकैकस्मिश्च मुहूर्त्ते सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चार चरन् पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते एकपञ्चाशदधिके एकोनत्रिंशत च षष्टिभागान् योजनस्य गच्छति , तत एतावन्मुहूर्त्तगतिपरिमाण नवभिर्मुहूर्त्तैर्गुण्यते , ततो भवति यथोक्त दृष्टिपथप्राप्ततावियं परिमाणमिति , ' तया ण ' मित्यादि , तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्री तथैव-प्रागिव वक्तव्ये , ते चैवम्- ' तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ ' इति, ' से निक्खममाणे ' इत्यादि , ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्प्रागुक्तप्रकारेण निष्क्रामन् सूर्यो नव संवत्सरमाददानो नवस्य संवत्सरस्य प्रथमे ऽहोरात्रे ' अभिंतरानंतरं ' ति-सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्यानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति 'ता जया ण' मित्यादि तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे , सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीय मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा पञ्च योजनसहस्राणि द्वे योजनशते एकपञ्चाशदधिके सप्तचत्वारिंशत च षष्टिभागान् योजनस्य ५२५१ $\frac{47}{60}$ एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति , तथाहि—अस्मिन् सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीये मण्डले परिरयपरिमाण त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदश सहस्राणि शतमेकं व्यवहारत. परिपूर्ण सप्तोत्तर निश्चयमतेन तु किञ्चिन्न्यूनम् ३१५१०७, ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागो ह्रियते लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम् , अथवा-पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणादस्य मण्डलस्य परिरयपरिमाणे व्यवहारत परिपूर्णान्यष्टादश योजनानि वर्द्धन्ते, निश्चयत किञ्चिदूनानि , अष्टादशानां च योजनानां षष्ट्या भागे हृते लब्धा अष्टादश षष्टिभागा योजनस्य, ते प्राक्तनमण्डलगतमुहूर्त्तगतिपरिमाणेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते , ततो भवति यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणमिति , अत्रापि दृष्टिपथप्राप्ततावियत् परिमाणमाह—' तया ण ' मित्यादि तदा-सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलचारकाले इहगतस्य मनुष्यस्य जातावेकवचनम् इहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैरेकोनाशीत्यधिकेन योजनशतेन सप्तपञ्चाशता षष्टिभागैरेकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कैरेकोनविंशत्या चूर्णिकाभागैः सूर्यश्चक्षु स्पर्शमागच्छति, तथाहि-अस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाण पञ्च योजनसहस्राणि द्वे शते एकपञ्चाशदधिके सप्तचत्वारिंशच्च षष्टिभागा योजनस्य ५२५१ $\frac{47}{60}$ दिवसोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूनस्तस्यार्द्धे नव मुहूर्त्ता एकेन एकषष्टिभागेन हीना , तत सकलैकषष्टिभागकरणार्थं नव मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते , गुणयित्वा च तत एक रूपमपनीयते , जातानि पञ्चशतान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि ५४८, ततोऽस्य द्वितीयस्य मण्डलस्य यत्परिरयपरिमाण त्रीणि लक्षाणि पञ्चदश सहस्राणि शतमेकं सप्तोत्तरमिति ३१५१०७,तत्पञ्चभिः शतैरष्टाचत्वारिंशदधिकैर्गुण्यते, ततो जात एकक सप्तको द्विक. षट्क सप्तकोऽष्टक षट्कस्त्रिक. षट्क १७२६७८६३६ , ततो योजनानयनार्थमेकषष्ट षष्ट्या गुणितया यावान्

राशिर्भवति तेन भागो ह्रियते. एकषष्ट्या च षष्ट्या गुणितायां षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि भवन्ति ३६६०, तैर्भागे हृते लब्धं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकोनाशीत्यधिकं योजनानां, शेषमुद्वरति चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३४६६, ततोऽस्माद् योजनानि नायान्तीति षष्टिभागानयनार्थं छेदराशेरेकषष्ट्या भ्रियते, तेन भागे हृते लब्धाः सप्तपञ्चाशत्षष्टिभागाः एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का एकोनविंशतिरेकषष्टिभागा इति । 'तया णं' मित्यादि. तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्री तथैव-प्रागिव वक्तव्ये, ते चैवम्-'तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया ' इति
से निक्खममाणे' इत्यादि, द्वितीयस्मादपि मण्डलात् स सूर्यः प्रागुक्तप्रकारेण निष्कामन् नवस्य संवत्सरस्य सत्के द्वितीयेऽहोरात्रे ' अभिंतरतच ' ति-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, 'ता जया ण' मित्यादि तत्र यदा सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे योजनशते द्विपञ्चाशे द्विपञ्चाशदधिके पञ्च च षष्टिभागान् योजनस्य ५२५२ $\frac{५}{६१}$ एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति,तथाहि-अस्मिन्मण्डले परिरयपरिमाणं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदशसहस्राणि शतमेकं पञ्चविंशत्यधिकम् ३१५१२५ , ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागो ह्रियते,लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम् , अथवा-पूर्वमण्डलमुहूर्त्तगतिपरिमाणादस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणचिन्तायां प्रागुक्तयुक्तिवशादष्टादश एकषष्टिभागा योजनस्याधिका प्राप्यन्ते , ततस्तत्प्रक्षेपे भवति यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम् । अत्रापि-दृष्टिपथप्राप्ततावि षयपरिमाणमाह-'तया णं' मित्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरतृतीयमण्डलचारकाले इहगतस्य मनुष्यस्य—जात्यैकवचनस्य भावादिहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैः षण्णवत्या च योजनैस्त्रयस्त्रिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य एकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काभ्यां द्वाभ्यां चूर्णिकाभागाभ्याम् ४७०९६ $\frac{३३}{६०}$ $\frac{२}{६१}$ सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति , तथाहि—अस्मिन् मण्डले दिवसोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणश्चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूनस्तस्यार्द्धं नवमुहूर्त्ता द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यां हीना. तत. सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं नवापि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च द्वावेकषष्टिभागौ तेभ्योऽपनीयेते ततो जाता एकषष्टिभागाः. पञ्चशतानि सप्तचत्वारिंशताऽधिकानि ५४७ , ततोऽस्य तृतीयमण्डलस्य यत्परिरयपरिमाणं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदशसहस्राणि शतमेकं पञ्चविंशत्यधिकमिति ३१५१२५ , तत्पञ्चभिः शतैः सप्तचत्वारिंशदधिकैर्गुण्यते, जाताः सप्तदश कोटयस्त्रयोविंशतिः शतसहस्राणि त्रिसप्ततिः सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्च सप्तत्यधिकानि १७२३७३३७५, एतेषामेकषष्ट्या षष्ट्या गुणितया ३६६० भागो ह्रियते, लब्धानि सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि ४७०९६, शेषमुद्वरति विंशतिशतानि पञ्चदशोत्तराणि २०१५ , ततोऽस्माद्योजनानि नायान्तीति षष्टिभागानयनार्थं छेदराशेरेकषष्ट्या भ्रियते, तेन भागे हृते लब्धास्त्रयस्त्रिंशत्षष्टिभागा $\frac{३३}{६०}$ एकस्य च षष्टिभागस्य सत्कौ द्वावेकषष्टिभागौ $\frac{२}{६१}$ ' तया णं ' मित्यादि , तदा सर्वाभ्यन्तरतृतीयमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्री तथैव-प्रागिव वेदितव्ये ते चैवम्-'तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया इति, सम्प्रति चतुर्थादिषु मण्डलेष्वतिदेशमाह-'एवं खलु' इत्यादि , एवम्-उक्तेन प्रकारेण खलु—निश्चितमेतेन-अनन्तरोदितेनोपायेन शनैः शनैस्तद्बहिर्मण्डलाभिमुखगमनरूपेण निष्कामन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं प्रागुक्तप्रकारेण संक्रामन् संक्रामन् एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिमित्यत्र सूत्रे द्वितीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वाद् भवति प्राकृतलक्षणवशात् सप्तम्यर्थे द्वितीया , यथा—'कत्तो रत्तिं मुद्दे ! पाणियसद्दासउणयाण ' मित्यत्र ततोऽयमर्थः मुहूर्त्तगतौ अष्टादश अष्टादश षष्टिभागान् योजनस्य व्यवहारतः परिपूर्णान् निश्चयतः किञ्चिदूनानभिवर्द्धयमानः २ ' पुरिसच्छाय ' मिति पुरुषस्य छाया यतो भवति सा पुरुषच्छाया सा चेह प्रस्तावात् प्रथमतः सूर्यस्योदयमानस्य दृष्टिपथप्राप्तता, अत्रापि द्वितीया सप्तम्यर्थे, ततोऽयमर्थः—तस्यामेकैकस्मिन् मण्डले चतुरशीतिः २ ' सीयाइं ' ति-शीतानि किञ्चिन्न्यूनानीत्यर्थः, योजनानि निर्वेष्टयन् निर्वेष्टयन्—हापयन्नित्यर्थ , इदं च स्थूलतः उक्तं. परमार्थतः पुनरिदं द्रष्टव्यम्—त्र्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य एकषष्टिधा छिन्नस्य सत्का द्विचत्वारिंशद्भागाश्चेति दृष्टिपथप्राप्ततावि षये विषयहानौ ध्रुवं , ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीयं यन्मण्डलं तत आरभ्य यस्मिन् यस्मिन् मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता ज्ञातुमिष्यते तत्तन्मण्डलसंख्यया षट्त्रिंशद् गुण्यते,तद्यथा-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले एकेन चतुर्थे द्वाभ्यां पञ्चमे त्रिभिर्यावत् सर्वबाह्ये मण्डले द्व्यशीत्यधिकेन शतेन, गुणयित्वा च ध्रुवराशिमध्ये प्रक्षिप्यते , प्रक्षिप्ते सति यद्भवति तेन हीना पूर्वमण्डलगता दृष्टिपथप्राप्तता—यस्मिन् विवक्षिते मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता द्रष्टव्या, अथ त्र्यशीतियोजनानीत्यादिकस्य ध्रुवराशेः कथमुत्पत्तिः ?, उच्यते—इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य ४७२६३ $\frac{२१}{६०}$, एतच्च नवमुहूर्त्तगम्यम् , तत एकस्मिन् मुहूर्त्तैकषष्टिभागे किमागच्छतीति चिन्तायां नव मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि ५४९, तैर्भागो ह्रियते, लब्धा षडशीतिर्योजनानि पञ्च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य एकषष्टिधा छिन्नस्य सत्काश्चतुर्विंशतिर्भागा ८६ $\frac{५}{६०}$ । $\frac{३४}{६१}$ । पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् च मण्डलादनन्तरानन्तरे मण्डले परिरयपरिमाणचिन्तायामष्टादश अष्टादश योजनानि व्यवहारतः परिपूर्णानि वर्द्धन्ते , तत पूर्वपूर्वमण्डलगतमुहूर्त्तगतिपरिमाणादनन्तरानन्तरे मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणचिन्तायां प्रतिमुहूर्त्तमष्टादशाष्टादश षष्टिभागा योजनस्य प्रवर्द्धमाना द्रष्टव्या ,प्रतिमुहूर्त्तैकषष्टिभागं चाष्टादश एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाः. स

वाभ्यन्तरानन्तरे च द्वितीये मण्डले सूर्यो दृष्टिपथप्राप्तो भवति नवभिर्मुहूर्तैकषष्टिभागेनोनैर्यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति स्थितस्ततो नव मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च तेभ्य एक रूपमपनीयते, जातानि पञ्च शतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ५४८, तैरष्टादश गुण्यन्ते, जातान्यष्टनवतिः शतानि चतुःषष्टिसहितानि ९८६४, तत्र षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धमेकं षष्ट्यधिकं शतं षष्टिभागानां त्रिचत्वारिंशदेकषष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा $\frac{४३}{६१}$ । तत्र विंशत्यधिकेन षष्टिभागशतेन द्वे योजने लब्धे पश्चादेकचत्वारिंशत्षष्टिभागा अवतिष्ठन्ते, एतच्च द्वे योजने एकचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्कास्त्रिचत्वारिंशदेकषष्टिभागा इत्येवरूपं प्रागुक्तात् षडशीतियोजनानि पञ्च षष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिभागस्य सत्काश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागा इत्येतस्माच्छोध्यते, शोधिते च तस्मिन् स्थितानि पश्चात् त्र्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशतिः षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागा ८३$\frac{२३}{६०}$ । $\frac{४२}{६१}$ । एतावद् द्वितीये मण्डले दृष्टिपथप्राप्तताविषये सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् हानौ प्राप्यते, किमुक्तं भवति ?-सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततायां हानौ ध्रुवम्, अत एव ध्रुवराशिपरिमाणात् द्वितीये मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमेतावता हीनं भवतीति, एतच्चोत्तरोत्तरमण्डलविषयदृष्टिपथप्राप्तताचिन्तायां हानौ ध्रुवम्, अत एव ध्रुवराशिरिति ध्रुवराशेरुत्पत्तिः, ततो द्वितीयस्मान् मण्डलादनन्तरे तृतीये मण्डले एष एव ध्रुवराशिः एकस्य षष्टिभागस्य सत्कैः षट्त्रिंशतैकषष्टिभागैः सहितः सन् यावान् भवति, तद्यथा—त्र्यशीतिर्योजनानि चतुर्विंशतिः षष्टिभागा योजनस्य सप्तदश एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा इति, एतावान् द्वितीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् शोध्यते, ततो भवति यथोक्तं तस्मिन् तृतीये मण्डले दृष्टिपथप्राप्तताविषयपरिमाणं, चतुर्थे मण्डले स एव ध्रुवराशिर्द्वासप्तत्या सहितः क्रियते, चतुर्थं हि मण्डलं तृतीयापेक्षया द्वितीयं, ततः षट्त्रिंशद् द्वाभ्याम् गुण्यते, गुणिता च सती द्विसप्ततिर्भवति, तया च सहितः सन् एवरूपो जातस्त्र्यशीतिर्योजनानि चतुर्विंशतिः षष्टिभागा योजनस्य त्रिपञ्चाशदेकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा ८३ $\frac{२४}{६०}$ । $\frac{५३}{६१}$ । एतावान् तृतीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् शोध्यते, ततो यथावस्थितं चतुर्थे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तच्चेदम्—' सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रयोदशोत्तराणि अष्टौ च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का दश एकषष्टिभागा. ४७०१३$\frac{८}{६०}$ । $\frac{१०}{६१}$ । सर्वान्तिमे तु मण्डले तृतीयमण्डलापेक्षया द्व्यशीत्यधिकशततमे यदा दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तदा सा षट्त्रिंशत् द्व्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यते, जातानि पञ्चषष्टिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ६५५२, ततः षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धं सप्तोत्तरं शतं षष्टिभागानाम् १०७, शेषा पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा उद्वरन्ति २५, एतत् ध्रुवराशौ प्रक्षिप्यते, ततो जातमिदं—पञ्चाशीतिर्योजनानि एकादश षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का षट् एकषष्टिभागा ८५$\frac{११}{६०}$ । $\frac{६}{६१}$ । इह षट्त्रिंशत् एवमुत्पत्तिः-पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् मण्डलादनन्तरेऽनन्तरे मण्डले दिवसो द्वाभ्यां २ मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यां हीनो भवति, प्रतिमुहूर्तैकषष्टिभागं चाष्टादश एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा हीयन्ते, तत उभयमीलने षट्त्रिंशद्भवति, ते चाष्टादश एकषष्टिभागाः कलया न्यूना लभ्यन्ते न परिपूर्णाः, परं व्यवहारतः पूर्वं परिपूर्णा विवक्षिताः, तच्च कलया न्यूनत्वं प्रतिमण्डलं भवेत् यदा द्व्यशीत्यधिकशततमं मण्डलं एकत्र पिण्डितं सत् चिन्त्यते तदा एकषष्टिरेकषष्टिभागास्त्रुट्यन्ति, एतदपि व्यवहारत उच्यते—परमार्थतः पुनः किञ्चिदधिकमपि त्रुट्यदवसेयं, ततोऽमी अष्टषष्टिरेकषष्टिभागा अपसार्यन्ते, तदपसारणे पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागा ८५$\frac{९}{६०}$ । $\frac{६०}{६१}$ । इति जातं, ततः सर्वबाह्यमण्डलानन्तरार्वाक्तनद्वितीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणादेकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि योजनानामेकोनचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का षष्टिरेकषष्टिभागा ३१९१६$\frac{३९}{६०}$ । $\frac{६०}{६१}$ । इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते, ततो यथोक्तं सर्वबाह्ये मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तच्चाग्रे स्वयमेव सूत्रकृद् वक्ष्यति, तत एव पुरुषच्छायाया दृष्टिपथप्राप्ततारूपाया द्वितीयादिषु केषुचिन्मण्डलेषु चतुरशीतिं चतुरशीतिं किञ्चिन्न्यूनानि योजनानि उपरितनेषु तु मण्डलेष्वधिकानि अधिकतराणि उत्क्रमकारेण निवेष्टयन् निवेष्टयन् तावद् वसेयं यावत्सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, ' ता जया णं ' मित्यादि, तत्र यदा णमिति पूर्ववत् सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहूर्तेन पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि त्रीणि शतानि पञ्चदश च षष्टिभागान् योजनस्य ५३०५$\frac{१५}{६०}$ गच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं त्रीणि योजनसहस्राणि अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि—३१८३१५,तत एतस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागो ह्रियते, ततो लब्धं यथोक्तमत्र मुहूर्तगतिपरिमाणमिति. अत्रैव दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह—' तया णं ' मित्यादि, तदा—सर्वबाह्यमण्डलचारकाले इहगतस्य मनुष्यस्य—जातावेकवचनमिहगतानां मनुष्याणां एकत्रिंशता योजनसहस्रैरष्टभिरेकत्रिंशदधिकैर्योजनशतैस्त्रिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य ३१८३१$\frac{३०}{६०}$ सूर्यः शीघ्रं चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तदा ह्यस्मिन् मण्डले चारं चरति सूर्ये द्वादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसो भवति, दिवसस्य चार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति व्यवस्थित उदयमानः सूर्य उपलभ्यते, द्वादशानां च मुहूर्त्तानामर्द्धं षट् मुहूर्त्तास्ततो यदत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणं पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि पञ्चदश च षष्टिभागा योजनस्य ५३०५$\frac{१५}{६०}$ तत् षड्भिर्गुण्यते, ततो यथोक्तमत्र दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, अत्रापि दिवसरात्रिप्रमाणमाह— तया णं ' मित्यादि, सुगमम् । ' से पविसमाणे ' इत्यादि, स सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलादुत्क्रमप्रकारेणाभ्यन्तरं मण्डलं प्रविशन् द्वितीयं प—

णमासमाददानो द्वितीयस्य षण्मासस्य प्रथमेऽहोरात्रे 'बाहिरानतरं' ति—सर्वबाह्यान्मण्डलादनन्तरमर्वाक्तनं द्वितीय मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति 'ता जया ण' मित्यादि, तत्र यदा सर्ववाह्यानन्तरमर्वाक्तन द्वितीय मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तदा एकेन मुहूर्त्तेन पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चतुरुत्तराणि योजनशतानि सप्तपञ्चाशत च षष्टिभागान् योजनस्य ५३०४ ५७/६१ गच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाण तिस्रो लक्षा अष्टादश सहस्राणि द्वे शते सप्तनवत्यधिके योजनानाम् ३१८२९७, ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्ध यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम्, अत्रापि दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह—'तया ण' मित्यादि, तदा इहगतस्य मनुष्यस्य—जातावेकवचनम् इहगतानां मनुष्याणामेकत्रिंशता योजनसहस्रैर्नवभिः षोडशैः षोडशोत्तरैर्योजनशतैरेकोनचत्वारिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य एकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कैः षष्ट्या चूर्णिकाभागैः सूर्यश्चक्षु स्पर्शमागच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले सूर्ये चार चरति दिवसो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकः, तेषा चार्द्ध षट् मुहूर्त्ता एकेन मुहूर्त्तैकषष्टिभागेनाभ्यधिका, ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थ षडपि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते गुणयित्वा च एकषष्टिभागस्तत्राधिकः प्रक्षिप्यते ततो जातानि त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि एकषष्टिभागानां ३६७, ततः सर्वबाह्यादर्वाक्तने तस्मिन् द्वितीये मण्डले यत्परिरयपरिमाणं त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते सप्तनवत्यधिके ३१८२९७, तदेभिस्त्रिभिः शतै सप्तषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, जाता एकादश कोटयोऽष्टषष्टिर्लक्षाश्चतुर्दश सहस्राणि नव शतानि नवनवत्यधिकानि ११६८१४९९९, एतस्य एकषष्ट्या गुणितया षष्ट्या ३६६० भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धान्येकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि ३१९१६, शेषमुद्धरति चतुर्विंशति शतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि २४३९, नचातो योजनान्यायान्ति ततः षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते,लब्धा एकोनचत्वारिंशत्षष्टिभागाः ३९ एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का षष्टिरेकषष्टिभागाः ६०/६१ 'तया णं राइदिय तहेव' तदा-सर्वबाह्यानन्तरार्वाक्तनद्वितीयमण्डलयोश्चारकाले रात्रिन्दिवम् रात्रिदिवसप्रमाण तथैव-प्रागिव वक्तव्यम्, तच्चैवम्-'तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति दोहि एगट्ठिभागमुहुत्तेहि ऊणा, दुवालसमुहुत्ते दिवसे हवइ दोहि एगट्ठिभागमुहुत्तेहि अहिए' इति, 'से पविसमाणे' इत्यादि,ततः सर्ववाह्यानन्तरार्वाक्तनद्वितीयस्मादपि मण्डलादुक्तप्रकारेण प्रविशन् सूर्यो द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे 'बाहिरतच्चं' ति-सर्ववाह्यान्मण्डलादर्वाक्तन तृतीय मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति 'ता जया ण' मित्यादि, तत्र यदा णमिति पूर्ववत् सर्ववाह्यान्मण्डलादर्वाक्तन तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चतुरुत्तराणि योजनशतानि एकोनचत्वारिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य ५३०४ ३९/६१ एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, तस्मिन् हि मण्डले परिरयपरिमाण तिस्रो लक्षा अष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके इति ३१८२७९, अस्य षष्ट्या भागो ह्रियते हृते च भागे लब्ध यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम्, अत्रापि हि दृष्टिपथप्राप्ततावि‍षयपरिमाणमाह—'तया ण' मित्यादि, तदा इहगतस्य मनुष्यस्य—जातावेकवचनस्य भावादिहगताना मनुष्याणामेकाधिकैर्द्वात्रिंशता सहस्रैरेकोनपञ्चाशता षष्टिभागैरेकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कैस्त्रयोविंशत्या चूर्णिकाभागैः सूर्यः चक्षु स्पर्शमागच्छति, तथाहि-अस्मिन् मण्डले दिवसो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणश्चतुर्भिरेकषष्टिभागैरधिकस्तस्यार्द्ध षट् मुहूर्त्ता द्वाभ्या मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकाः, ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थ षडपि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च द्वावेकषष्टिभागौ प्रक्षिप्येते, ततो जातानि त्रीणि शतान्यष्टषष्ट्यधिकान्येकषष्टिभागानाम् ३६८, ततोऽस्मिन् मण्डले यत्परिरयपरिमाण त्रीणि लक्षाण्यष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके ३१८२७९ इति, तदेभिस्त्रिभिः शतैरष्टषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, जाता एकादश कोट्यः एकसप्ततिः शतसहस्राणि षड्विंशतिः सहस्राणि षट् शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ११७१२६६७२, एतस्य षष्ट्या एकषष्ट्या गुणितया ३६६०, भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धानि द्वात्रिंशत्सहस्राणि एकोत्तराणि ३२००१, शेषमुद्धरति त्रीणि सहस्राणि द्वादशोत्तराणि ३०१२,तेषां षष्टिभागानयनार्थमेकषष्टिधा भागो ह्रियते,लब्धा एकोनपञ्चाशत्षष्टिभागा ४९/६० त्रयोविंशतिश्च एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा २३/६१ इति, 'रत्तिदियं तहेव' त्ति-रात्रिन्दिवं—रात्रिदिवसपरिमाणमत्र तथैव—प्रागिव वक्तव्यम्, तच्चेवम्- 'तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा, दुवालसमुहुत्ते दिवसे हवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए' इति। सम्प्रति सर्ववाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनेषु चतुरादिषु मण्डलेषु अतिदेशमाह-' एव खलु ' त्यादि एवम्-उक्तेन प्रकारेण ' खलु ' निश्चितमेतेनोपायेन शनैः शनैस्तत्तदभ्यन्तरानन्तरमण्डलाभिमुखगमनरूपेणाभ्यन्तर प्रविशन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डल संक्रामन् संक्रामन् एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिमित्यत्र द्वितीया सप्तम्यर्थे मुहूर्त्तगतौ—मुहूर्त्तगतिपरिमाणे अष्टादश अष्टादश षष्टिभागान् योजनस्य व्यवहारतः परिपूर्णान् निश्चयतः किञ्चिदूनान्निर्वेष्टयन् २—ह्रापयन् २ इत्यर्थ, पूर्वपूर्वमण्डलापेक्षया अभ्यन्तराभ्यन्तरमण्डलस्य परिरयमधिकृत्याष्टादशभिर्योजनैर्हीनत्वात्, पुरुषच्छायामित्यत्रापि द्वितीया सप्तम्यर्थे,ततोऽयमर्थ -पुरुषच्छायायां दृष्टिपथप्राप्ततारूपाया सातिरेकाणि पञ्चाशीतिः पञ्चाशीति योजनानि अभिवर्द्धयन् अभिवर्द्धयन्, इद च सर्ववाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनानि कतिपयानि प्रथमद्वितीयादिमण्डलान्यपेक्ष्य स्थूलत उक्तम्, परमार्थतः पुनरेव द्रष्टव्यम्—इह येनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो दृष्टिपथप्राप्तता ह्रापयन् विनिर्गतस्तेनैव क्रमेण सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनेषु मण्डलेषु दृष्टिपथप्राप्ततामभिवर्द्धयन् प्रविशति, तत्र सर्ववाह्यमण्डलार्वाक्तनद्वितीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् सर्ववाह्यमण्डले पञ्चाशीतिर्योजनानि नवषष्टिभागान् योजनस्य एकं

च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कान् षष्टिभागान् हापयति , एतच्च प्रागेव भावितं , ततस्तस्मात्सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने द्वितीये मण्डले प्रविशन् तावद्भूयोऽपि दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणेऽभिवर्द्धयति भूय , ततोऽर्वाक्तनेषु मण्डलेषु यस्मिन् यस्मिन् मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तत्र तत्र तृतीयमण्डलादारभ्य तत्तन्मण्डलसङ्ख्यया षट्त्रिंशद् गुण्यते , तद्यथा—तृतीयमण्डलचिन्तायामेकेन चतुर्थमण्डलचिन्ताया द्वाभ्याम् ,एवं यावत्सर्वाभ्यन्तरमण्डलचिन्तायां त्र्यशीत्यधिकेन शतेन , इत्थं च गुणयित्वा यल्लभ्यते, तद् ध्रुवराशेरपनीय शेषेण ध्रुवराशिना सहित पूर्वपूर्वमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाण तत्र तत्र मण्डले द्रष्टव्यं , तद्यथा—तृतीये मण्डले षट्त्रिंशद् एकेन गुण्यते एकेन च गुणितं तदेव भवतीति जाता षट्त्रिंशदेव , सा ध्रुवराशेरपनीयते , जातं शेषमिदं पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाश्चतुर्विंशति ८५ । ९/६० । २४/६१ । एतेन सहित पूर्वमण्डलगत दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणम् , एकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि योजनानामेकोनचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागा ३१९१६ । ३९/६० । ६०/६१ । इत्येवरूपं क्रियते , ततोऽधिकृते तृतीये मण्डले यथोक्त दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति , तच्च प्रागेवोपदर्शितं , चतुर्थे मण्डले षट्त्रिंशद् द्वाभ्यां गुण्यते , गुणयित्वा ध्रुवराशेरपनीय शेषेण ध्रुवराशिना तृतीयमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सहितं क्रियते , तत इदं तत्र मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति—द्वात्रिंशत्सहस्राणि षडशीत्यधिकानि योजनानामष्टापञ्चाशच्च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का एकादशैकषष्टिभागा ३२०८६ । ५८/६० । ११/६१ । एवं शेषेष्वपि मण्डलेषु भावनीयं, यदा तु सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं ज्ञातुमिष्यते, तदा षट्त्रिंशद् त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यते, तृतीयमण्डलादारभ्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य त्र्यशीत्यधिकशततमत्वात् ,ततो जातानि पञ्चषष्टिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ६५५२,तेषामेकषष्ट्या भागे हृते लब्धं सप्तोत्तर शत षष्टिभागाना, शेष पञ्चविंशति. १०७/६० । २५/६१ । एतत्पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागा ८५ ९/६० । ६०/६१ इत्येवंरूपात् ध्रुवराशे शोध्यते, जातानि पश्चात् ऽयशीतिर्योजनानि द्वाविंशति षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागा , इह षट्त्रिंशतं २ एकषष्टिभागाः कलया न्यूना परमार्थतो लभ्यन्ते एतच्च प्रागेवोक्त, तच्च कलान्यूनत्व प्रतिमण्डलं भवत् यदा त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले एकत्र पिण्डित सत् चिन्त्यते तदा अष्टषष्टिरेकषष्टिभागा लभ्यन्ते, ततस्ते भूय प्रक्षिप्यन्ते ततो जातमिदम् ऽयशीतिर्योजनानि त्रयोविंशति षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागा. ८३ २३/६० ४२/६१ एतेषु सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकमेकोनाशीत्यधिक योजनानां सप्तपञ्चाशत् षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकोनविंशतिरेकषष्टिभागा' ४७१७९ । ५७/६० । १९/६१ । इत्येवंरूप सहितं क्रियते ततो यथोक्त सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति , तच्च सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य ४७२६३ । २१/६० एवं दृष्टिपथप्राप्ततायां कतिपयेषु मण्डलेषु सातिरेकाणि पञ्चाशीति योजनानि अपरेतनेषु चतुरशीति पर्यन्ते यथोक्ताऽधिकसहितानि ऽयशीति योजनानि अभिवर्द्धयन् अभिवर्द्धयन् तावद् वक्तव्य. यावत्सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ' ता जया णं ' मित्यादि तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे एकपञ्चाशदधिके योजनशते एकोनत्रिंशत च षष्टिभागान् योजनस्य ५२५१ २९/६० एकेन मुहूर्तेन गच्छति , तदा च इहगतस्य मनुष्यस्य—जातावेकवचनम् इहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैर्द्वाभ्यां त्रिषष्टाभ्यां त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या षष्टिभागैर्योजनस्य ४७२६३ २१/६० सूर्यश्चक्षु स्पर्शमागच्छति , एतच्च मुहूर्तगतिपरिमाणं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाण च प्रागेव भावितम् , सूत्रकृताऽपि प्रस्तावाद्भूय उक्तम् , ततो न पुनरुक्तता-दोष ' तया णं उत्तमकट्ठपत्ते ' इत्यादि सुगम , यावत्प्राभृतप्राभृतपरिसमाप्ति । सू० प्र० २ पाहु० । जं० ।

अथाऽत्र गतिप्रश्नाय सूत्रम्—

जया णं भंते ! सूरिए अब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोयमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं दोण्णि अ एगावण्णे जोयणसए सीआलीसं च सट्ठिभागे जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणूसस्स सीआलीसाए जोअणसहस्सेहिं एगूणासीए जोअणसए सत्तावण्णाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स सट्ठिभागं च एगसट्ठिधा छेत्ता एगूणवीसाए चुण्णिआभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ, से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भंतरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । (सू० १३३+) ।

' जया ण ' मित्यादि, यदा भगवन् ! सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं दक्षिणायनापेक्षया आद्य मण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहुर्त्तेन कियत्क्षेत्र गच्छति ?, गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे चैकपञ्चाशे योजनशते सप्तचत्वारिंशत च षष्टिभागान् योजनस्यैकैकेन मुहुर्त्तेन गच्छति , कथमिति चेत् ,उच्यते–अस्मिंश्च मण्डले परिरयपरिमाणं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदश सहस्राणि शतमेकं सप्तोत्तर व्यवहारत. परिपूर्णं निश्चयमतेन तु किञ्चिदून ३१५१०७,ततोऽस्य प्राग्युक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागे लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिप्रमाणम् ५२५१ ४७/६० अथवा–पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणादस्य परिरयपरिमाणे व्यवहारत. पूर्णान्यष्टादश योजनानि वर्द्धन्ते निश्चयमतेन तु किञ्चिदूनानि, अष्टादशाना योजनानां षष्ट्या भागे लब्धा अष्टादश षष्टिभागा योजनस्य ते प्राक्तनमण्डलगतमुहूर्त्तगतिपरिमाणेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते ततो

भवति यथोक्तं तत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिप्रमाणमिति, अत्रापि दृष्टिपथप्राप्ततावियं परिमाणमाह—यदा अभ्यन्तराद्द्वितीये मण्डले सूर्यश्चरति तदा इहगतस्य मनुष्यस्य—जातावेकवचनमित्यत्र गतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैरेकोनाशीत्यधिकेन योजनशतेन सूत्रे तृतीयार्थे सप्तमी प्राकृतत्वात्, सप्तपञ्चाशता च षष्टिभागैर्योजनस्य षष्टिभागं च एकषष्टिधा छित्त्वा—एकषष्टिखण्डान् कृत्वा एकषष्टिधा गुणयित्वेत्यर्थः, तस्य सत्कैरेकोनविंशत्या चूर्णिकाभागैः—भागभागैः सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि-सर्वाभ्यन्तरानन्तरे द्वितीये मण्डले दिवसप्रमाणं द्वाभ्यामेकषष्टिभागाभ्यां हीना अष्टादश मुहूर्त्तास्तेषामर्द्धे नव मुहूर्त्ता एकेनैकषष्टिभागेन हीनास्ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं नवापि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते, तेभ्य एकषष्टिभागोऽपनीयते, ततः शेषा जाता एकषष्टिभागाः पञ्च शतान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि ५४८, प्रस्तुतमण्डले मुहूर्त्तगतिः ५२५१ योजनानि $\frac{४७}{६०}$ अयं च राशिः षष्टिच्छेद इति योजनराशिं षष्ट्या गुणयित्वा सवर्ण्यते जातम् ३१५१०७, अयमेव राशिः करणविभावनायां मलयगिरीयक्षेत्रसमासवृत्तौ च परिधिराशिरिति कृत्वा दर्शितो लाघवात् भाज्यराशिलब्धस्य भाजकराशिना गुणने मूलराशेरेव लाभात्, एष राशिः पञ्चभिः शतैरष्टाचत्वारिंशदधिकैर्गुण्यते जाताः सप्तदशकोट्यः षड्विंशतिर्लक्षाः अष्टसप्ततिः सहस्राणि षट् शतानि षट्त्रिंशदधिकानि १७२६७८६३६, अयं च राशिर्भागभागात्मकत्वान्न योजनानि प्रयच्छतीति एकषष्ट्या षष्ट्या गुणितायां यावान् राशिर्भवति तेन भागो ह्रियते इयं च गणितप्रक्रियालाघवार्थिका अन्यथाऽस्य राशेरेकषष्ट्या भागे हृते षष्टिभागा लभ्यन्ते तेषां च षष्ट्या भागे हृते योजनानि भवन्तीति गौरवं स्यात्, एकषष्ट्यां च षष्ट्या गुणितायां षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६०, तैर्भागैर्हृते आगतं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकमेकोनाशीत्यधिकं योजनानाम् ४७१७९, शेषं ३४१६, छेदराशेः षष्ट्याऽपवर्त्तना क्रियते जाता एकषष्टिः ६१ तया शेषराशेर्भागो ह्रियते लब्धाः सप्तपञ्चाशत् षष्टिभागाः $\frac{५७}{६०}$ एकोनविंशतिश्चैकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाः $\frac{१९}{६१}$ ।

अथाभ्यन्तरतृतीयमण्डलस्य चारं विपृच्छिषुरादसूत्रं सूत्रयति—

जया णं भंते ! सूरिए अब्भंतरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोअमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं दोण्णि अ बावण्णे जोअणसए पंच य सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणूसस्स सीआलीसाए जोअणसहस्सेहिं छण्णउइए जोअणेहिं तेत्तीसाए सट्ठिभागेहिं जोअणस्स सट्ठिभागं च एगसट्ठिधा छेत्ता दोहिं चुण्णिआभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, एवं खलु एतेणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे अट्ठारस अट्ठारस सट्ठिभागे जोअणस्स एगमेगे मंडले मुहुत्तगइं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे चुलसीइं चुलसीइं सआइं जोअणाइं पुरिसच्छायं णिव्वुड्ढेमाणे णिव्वुड्ढेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । (सू०-१३३×)

'से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि' इत्यादि, अथ निष्क्रामन् सूर्यो द्वितीयेऽहोरात्रे प्रस्तुताऽयनापेक्षया द्वितीयमण्डल इत्यर्थः अभ्यन्तरं तृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, भगवानाह-गौतम! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे च द्विपञ्चाशद्योजनशते पञ्चदश षष्टिभागान् योजनस्यैकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, इदं च प्रस्तुतमण्डलपरिरयस्य षष्ट्या भजने संपाद्यमानत्ते, तदा च इहगतस्य मनुष्यस्य सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैः षण्णवत्या च योजनैस्त्रिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य षष्टिभागं चैकम् एकषष्टिधा छित्त्वा द्वाभ्यां चूर्णिकाभागाभ्यां सूर्यश्चक्षुःस्पर्शं 'हव्वं' शीघ्रमागच्छति, तथाहि-अत्र मण्डले दिनप्रमाणमष्टादश मुहूर्त्ताश्चतुर्भिरेकषष्टिभागैर्हीनास्तेषामर्द्धे च नव द्वाभ्यामेकषष्टिभागाभ्यां हीनास्ततः साम्रस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं नवापि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते तेभ्यश्च द्वावेकषष्टिभागावपनीयेते शेषा पञ्च शतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि ५४७, प्रस्तुतमण्डले मुहूर्त्तगतिः ५२५२ $\frac{५}{६०}$ इत्येवंरूपां योजनराशिं षष्ट्या गुणयित्वा सवर्ण्यते जातम् ३१५१२५, अयमेव राशिरन्यैः परिधिराशित्वेन निरूपितः, अस्य च सप्तचत्वारिंशदधिकपञ्चशतैर्गुणने जाताः सप्तदशकोट्यस्त्रयोविंशतिः शतसहस्राणि त्रिसप्ततिः सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि १७२३७३३७५, एतेषां षष्टिगुणितया एकषष्ट्या ३६६० भागे हृते आगतानि सप्तचत्वारिंशत् सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि ४७०९६, शेषं विंशतिशतानि पञ्चदशोत्तराणि २०१५, छेदराशेः षष्ट्याऽपवर्त्तनायां जाता एकषष्टिः तया शेषराशेर्भजने लब्धास्त्रयस्त्रिंशत् षष्टिभागाः $\frac{३३}{६०}$ शेषौ च द्वावेकस्य षष्टिभागस्य सत्कावेकषष्टिभागौ $\frac{२}{६१}$ इति । सम्प्रति चतुर्थमण्डलादिष्वतिदेशमाह—'एवं खलु एतेणं उवाएण' मित्यादि, एवम्—मण्डलत्रयदर्शितरीत्या खलु—निश्चितमेतेनानन्तरोदितेनोपायेन शनैः शनैस्तत्तद्बहिर्मण्डलाभिमुखगमनरूपेण निष्क्रामन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं प्रागुक्तप्रकारेण संक्रामन् २ एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिमित्यत्र प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया तेन मुहूर्त्तगतौ अष्टादश अष्टादश षष्टिभागान् योजनस्य व्यवहारतः परिपूर्णान् निश्चयतः किञ्चिदूनान् अभिवर्द्धयमानः चतुरशीतिं चतुरशीतिं योजनानि हीनानि—किञ्चिन्न्यूनानि 'पुरिसच्छाय' मिति-पुरुषस्य छाया यतो भवति सा पुरुषच्छाया सा चेह प्रस्तावात् प्रथमतः सूर्यस्योदयमानस्य दृष्टिपथप्राप्तता, अत्रापि सप्तम्यर्थे द्वितीया, ततोऽयमर्थः—तस्यां निवर्द्धयन् २—हापयन् हापयन्, कोऽर्थः ?—पूर्वं पूर्वं मण्डलसत्कपुरुषच्छायातो बाह्यबाह्यमण्डलपुरुषच्छाया किञ्चिन्न्यूनैश्चतुरशीत्या योजनैर्हीना इत्यर्थः, सर्वबाह्यमण्डलमुप-

सङ्क्रम्य चारं चरति, यच्चात्रोक्तम् ८४ योजनानि किञ्चिन्न्यूनानि उत्तरोत्तरमण्डलमास्कपुरुषच्छायायां हीयन्ते इति तत्स्थूलन उक्तम्, परमार्थतः पुनरिदं द्रष्टव्यम्—त्र्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशतिश्च षष्टिभागाः योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य एकषष्टिधाच्छिन्नस्य सत्का द्विचत्वारिंशद्भागाश्चेति दृष्टिपथप्राप्तताविषये हानौ ध्रुवं, ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् तृतीयं यन्मण्डलं तत आरभ्य यस्मिन् मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता ज्ञातुमिष्यते तत्तन्मण्डलसङ्ख्यया षट्त्रिंशद् गुण्यते, तद्यथा-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले एकेन चतुर्थे द्वाभ्यां पञ्चमे त्रिभिर्यावत् सर्वबाह्यमण्डले द्व्यशीत्यधिकशतेन गुणयित्वा ध्रुवराशिमध्ये प्रक्षिप्यते, प्रक्षिप्ते सति यद्भवति तेन हीना पूर्वमण्डलसत्कदृष्टिपथप्राप्तता तस्मिन् विवक्षिते मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता ज्ञातव्या, अथ त्र्यशीतियोजनादिकस्य ध्रुवराशेः कथमुपपत्तिः ?, उच्यते—सर्वाभ्यन्तरमण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणे सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य ४७२६३ $\frac{२१}{६०}$, एतच्च नवमुहूर्त्तगम्यं तत एकस्मिन् मुहूर्त्तैकषष्टिभागे किमागच्छतीति चिन्तायां नव मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते जातानि पञ्चशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि ५४९ तैर्भागे हृते लब्धानि षडशीतिर्योजनानि पञ्च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्यैकषष्टिधाच्छिन्नस्य चतुर्विंशतिर्भागा ८६ $\frac{५}{६०}$ । $\frac{२४}{६१}$ इद च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले एकस्य मुहूर्त्तैकषष्टिभागस्य गम्यम्, अथ द्वितीयमण्डलपरिरयवृद्धयङ्कभजनाद्यल्लभ्यते मुहूर्त्तैकषष्टिभागेन तच्छोधनार्थमुपक्रम्यते, पूर्वपूर्वमण्डलादनन्तरानन्तरे मण्डले परिरयपरिमाणचिन्तायामष्टादशाष्टादश योजनानि व्यवहारतः परिपूर्णानि वर्धन्ते, ततः पूर्वपूर्वमण्डलगतमुहूर्त्तगतिपरिमाणादनन्तरानन्तरे मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणचिन्तायां प्रतिमुहूर्त्तमष्टादशप्रतिमुहूर्त्तमष्टादश षष्टिभागा योजनस्य वर्द्धन्ते, प्रतिमुहूर्त्तैकषष्टिभागं चाष्टादशैकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा, सर्वाभ्यन्तरानन्तरे च द्वितीयमण्डले नवमुहूर्त्तैरेकेन मुहूर्त्तैकषष्टिभागेनोनैर्यावत् क्षेत्रं व्याप्यते तावति स्थितः सूर्यो दृष्टिपथप्राप्तो भवति ततो नव मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते जातान्यष्टानवतिशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि ९८६४, तेषां षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धमेकषष्ट्यधिकं शतं षष्टिभागानां त्रिचत्वारिंशत् षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाः १६१ $\frac{४३}{६१}$ तत्र विंशत्यधिकेन षष्टिभागशतेन लब्धे द्वे योजने अथ शेषा एकचत्वारिंशत् षष्टिभागा एकस्य च षष्टिभागस्य सत्कास्त्रिचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एतच्च द्वे योजने एकचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्कास्त्रिचत्वारिंशदेकषष्टिभागा इत्येवरूपं प्रागुक्तात् षडशीतिर्योजनानि पञ्च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागा इत्येतस्माच्छोध्यन्ते, शोधिते च तस्मिन् स्थितानि त्र्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशति षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः ८३ $\frac{२३}{६०}$ । $\frac{४२}{६१}$ एतावच्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतदृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणाद् द्वितीयमण्डलगतदृक्पथप्राप्ततापरिमाणं हीनं स्यात्, एतच्चोत्तरोत्तरमण्डलदृष्टिपथप्राप्तताचिन्तायां हानौ ध्रुवम् अत एव ध्रुवराशिरित्युच्यते, ततो द्वितीयस्मान् मण्डलादनन्तरे तृतीये मण्डले एष एव ध्रुवराशिरेकस्य षष्टिभागस्य सत्कैः षट्त्रिंशता भागभागैः सहितो यावान् राशिः स्यात्, तथाहि—त्र्यशीतिर्योजनानि चतुर्विंशति षष्टिभागा योजनस्य सप्तदश च षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा इति तावान् द्वितीयमण्डलगताद् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणाच्छोध्यते, ततो भवति यथोक्तमत्र मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणम्, चतुर्थमण्डले स एव ध्रुवराशिर्द्वासप्तत्या सहितः क्रियते, चतुर्थं हि मण्डलं तृतीयमण्डलापेक्षया द्वितीयम्, ततः षट्त्रिंशद् द्वाभ्यां गुणिता द्विसप्ततिः स्यात् तया सहितस्त्र्यशीत्यादिको राशिः ८३ $\frac{२४}{६०}$ । $\frac{११}{६१}$ इत्येवं स्वरूपो जातः, अयं च तृतीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणाच्छोध्यते ततो यथावस्थितं तुर्ये(४)-मण्डले दृक्पथप्राप्तिमानम्, तच्चेदम् सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रयोदशोत्तराणि अष्टौ च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का दशैकषष्टिभागाः, सर्वान्तिमे तु मण्डले तृतीयमण्डलापेक्षया द्व्यशीत्यधिकशततमे यदा दृष्टिपथप्राप्तिजिज्ञासा तदा षट्त्रिंशद् द्व्यशीत्यधिकशतेन गुण्यते जातानि पञ्चषष्टिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ६५५२ ततः षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागे लब्धं सप्तोत्तरं शतं षष्टिभागानां पञ्चविंशतिरवशिष्टा एतद् ध्रुवराशौ प्रक्षिप्यते जातं पञ्चाशीतिर्योजनानि एकादश षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षोडशैकषष्टिभागा ८५ $\frac{११}{६०}$ $\frac{१६}{६१}$, इह षट्त्रिंशत एवमुत्पत्तिः—पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् मण्डलादनन्तरेऽनन्तरे मण्डले दिवसो द्वाभ्यां द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यां हीनः स्यात्, प्रतिमुहूर्त्तैकषष्टिभागं चाष्टादश एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा हीयन्ते, ततः उभयमीलने षट्त्रिंशत् स्युः, ते चाष्टादश भागाः कलया न्यूना लभ्यन्ते न परिपूर्णाः परं व्यवहारतः पूर्वं परिपूर्णा विवक्षिता, तच्च कलया न्यूनत्वं प्रतिमण्डलं भवेत् यदा द्व्यशीत्यधिकशततममण्डले एकत्र पिण्डितं सत् चिन्त्यते तदा अष्टषष्टिरेकषष्टिभागास्त्रुट्यन्ति, एतदपि व्यवहारत उक्तं परमार्थतः पुनः किञ्चिदधिकमपि त्रुट्यदवसेयम्, ततोऽमी अष्टषष्टिरेकषष्टिभागा अपसार्यन्ते, तदपसारणे पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का षष्टिरेकषष्टिभागा ८५ $\frac{९}{६०}$ । $\frac{६०}{६१}$ इति जातं सर्वबाह्यमण्डलानन्तरार्वाक्तनद्वितीयमण्डलगतदृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणादेकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि योजनानाम् एकोनचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का षष्टिरेकषष्टिभागा ३१९१६ $\frac{३९}{६०}$ । $\frac{६०}{६१}$ इत्येवं रूपाच्छोध्यते ततो यथोक्तं सर्वबाह्यमण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति, ततः एवं पुरुषच्छायायां दृष्टिपथप्राप्ततारूपायां द्वितीयादिषु केषुचिन्मण्डलेषु चतुरशीतिं किञ्चिन्न्यूनानि उपरितनेषु मण्डलेष्वधिकान्यधिकतराणि उक्तप्रकारेणाभिवर्द्धयन्२ तावद्वसेयं यावत्सर्वबाह्यमण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति, तत्र तु पञ्चाशीतिं योजनानि साधिकानि हापयतीत्यर्थः, साधि-

त्र्यशीतिचतुरशीतिपञ्चाशीतियोजनानां सम्भवेऽपि सूत्रे यच्चतुरशीतिग्रहणं तद् देहलीप्रदीपन्यायेनोभयपार्श्ववर्त्तिन्योस्त्र्यशीतिपञ्चाशीत्योर्ग्रहणार्थमिति ।

अथोक्त एव मण्डलक्षेत्रे पश्चानुपूर्व्या सूर्यस्य मुहूर्त्तगत्याद्याह—

जया णं भंते ! सूरिए सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोयमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं तिण्णि अ पंचुत्तरे जोयणसए पण्णरस य सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणुस्सस्स एगतीसाए जोअणसहस्सेहिं अट्ठहि अ एगतीसेहिं जोअणसएहिं तीसाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ त्ति, एस णं पढमे छम्मासे, एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे, से सूरिए दोच्चे छम्मासे अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । (सू० १३३×)

'जया ण' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि पञ्चोत्तराणि योजनशतानि पञ्चदश षष्टिभागान् योजनस्य ५३०५ १५/६० एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, कथमिति चेत् ?, उच्यते—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं तिस्रो लक्षा अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ३१८३१५ ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भक्ते लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणमिति, अत्र दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह—तदा—सर्वबाह्यमण्डलचारचरणकाले इहगतस्य मनुष्यस्येति प्राग्वत् एकत्रिंशता योजनसहस्रैरष्टभिश्चैकत्रिंशदधिकैर्योजनशतैस्त्रिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य ३१८३१ ३०/६० सूर्यः शीघ्रं चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले सूर्ये चारं चरति दिवसो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो, दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति स्थित उदयमानः सूर्यः उपलभ्यन्ते द्वादशानां च मुहूर्त्तानामर्द्धं षट् मुहूर्त्तास्ततो यदत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणं पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि पञ्चदश च षष्टिभागा योजनस्य ५३०५ १५/६० तत् षड्भिर्गुण्यते, दिवसार्द्धगुणिताया एव मुहूर्त्तगतेर्दृष्टिपथप्राप्तताकरणत्वात्, ततो यथोक्तमत्र मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, यद्यप्युपान्त्यमण्डलदृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का षष्टिरेकषष्टिभागाः इत्येवं राशौ शोधिते इदमुपपद्यते एतच्च प्राग् भावितं तथापि प्रस्तुतमण्डलस्योत्तरायणगतमण्डलानामवधिभूतत्वेनान्यमण्डलकरणनिरपेक्षतया करणान्तरमकारि, इह च सर्वाभ्यन्तरात्तन्तरमण्डलात् पूर्वानुपूर्व्या गण्यमानं त्र्यशीत्यधिकशततमम्, प्रतिमण्डलं चाहोरात्रगणनादहोरात्रोऽपि त्र्यशीत्यधिकशततमस्तेनायं दक्षिणायनस्य चरमो दिवस इत्याद्यभिधातुमाह—'एस णं पढमे छम्मासे', 'एस ण' मित्यादि, एष च दक्षिणायनस्त्र्यशीत्यधिकशतदिनरूपो राशिः प्रथमः षण्मासः—अयनरूपः कालविशेषः, षट्संख्याकाः मासाः पिण्डीभूता यत्रेति व्युत्पत्तेरिदं समाधेयम्, अन्यथा प्रथमः षण्मास इत्येकवचनानुपपत्तिरिति । अथवा—पात्र्यादिगणान्त पाठात् स्त्रीत्वाभावे अदन्तद्विगुत्वेऽपि न ङीप्रत्ययस्तेनैव तत्प्रथमं षण्मासम्, आर्षत्वात् पुंस्त्वम् एतच्च प्रथमस्य षण्मासस्य दक्षिणायनरूपस्य पर्यवसानम्, अथ सर्वबाह्यमण्डलचारानन्तरं सूर्यो द्वितीयं षण्मासं प्राप्नुवन् गृह्णन् इत्यर्थः, प्रथमे अहोरात्रे उत्तरायणस्येति गम्यम् बाह्यानन्तरं पश्चानुपूर्व्या द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ।

अथात्र गत्यादिप्रश्नार्थं सूत्रमाह—

जया णं भंते ! सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोअमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं तिण्णि अ चउरुत्तरे जोअणसए सत्तावण्णं च सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणुस्सस्स एगत्तीसाए जोअणसहस्सेहिं णवहि अ सोलसुत्तरेहिं जोअणसएहिं इगुणालीसाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स सट्ठिभागं च एगसट्ठिधा छेत्ता सट्ठीए चुण्णिआभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ त्ति, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । (सू०-१३३×)

'जया ण' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यो बाह्यानन्तरमर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा भगवन् ! एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, भगवानाह—गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि च चतुरुत्तराणि योजनशतानि सप्तपञ्चाशतं च षष्टिभागान् योजनस्यैकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति ५३०४ ५७/६०, तथाहि—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते सप्तनवत्यधिके योजनानाम् ३१८२९७, ततोऽस्य षष्ट्या भागे हृते लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिप्रमाणम्, अत्रापि दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह—तदा इहगतस्य मनुष्यस्येति प्राग्वत् एकत्रिंशता योजनसहस्रैः षोडशाधिकैः नवभिश्च योजनशतैरेकोनचत्वारिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य एकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कैः षष्ट्या चूर्णिकाभागैः ३१९१६ ३९/६० ६०/६१ । सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति । तथाहि—अस्मिन् मण्डले सूर्ये चारं चरति दिवसो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकः तेषां चार्द्धे षट् मुहूर्त्ता एकेन मुहूर्त्तैकषष्टिभागेनाभ्यधिकास्ततः सवर्णनार्थं षडपि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते तत एकः षष्टिभागस्तत्राधिकः प्रक्षिप्यते, ततो जातानि त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि एकषष्टिभागानां ३६७, ततः प्रस्तुतमण्डलं यत्परिमाणं त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते सप्तनवत्यधिके

३१८२९७, इदं च योजनराशिं षष्ट्या गुणयित्वा सवर्णिता मुहूर्त्तगतिरिति यथा व्यवह्रियते तथा प्रागुक्तम्, एतदेभिस्त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुण्यते जाता एकादश कोट्योऽष्टषष्टिर्लक्षाश्चतुर्दश सहस्राणि नव शतानि नवनवत्यधिकानि ११६८१४९९९, एतस्य एकषष्ट्या गुणितया षष्ट्या ३६६०, भागो ह्रियते लब्धान्येकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि ३१९१६, शेषमुद्धरति चतुर्विंशतिशतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि २४३९, न चातो योजनान्यायान्ति तत षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धा एकोनचत्वारिंशत् षष्टिभागा ३९ एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का षष्टिरेकषष्टिभागा ६०/६१ अथ तृतीयं मण्डलम्-'से पविसमाणे' इत्यादि। अथ प्रविशन्—जम्बूद्वीपाभिमुखं चरन् सूर्यः द्वितीयेऽहोरात्रे, उत्तरायणसत्के इत्यर्थ बाह्यतृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति।

तदा किमित्याह—

जया णं भंते! सूरिए बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ?, गोअमा! पञ्च पञ्च जोअणसहस्साइं तिणि अ चउरुत्तरे जोअणसए इगुणालीसं च सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणुअस्स एगाहिएहिं बत्तीसाए जोअणसहस्सेहिं एगूणपण्णाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स सट्ठिभागं च एगसट्ठिधा छेत्ता तेवीसाए चुण्णिआभाएहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ त्ति, एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे, सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे अट्ठारस अट्ठारस सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगे मंडले मुहुत्तगइं निवड्ढेमाणे निवड्ढेमाणे सातिरेगाइं पंचासीतिं पंचासीतिं जोअणाइं पुरिसच्छायं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, एस णं दोच्चे छम्मासे, एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे, एस णं आइच्चे, संवच्छरे एस णं आइच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे पण्णत्ते। (सू०-१३३+)

'जया ण' मित्यादि, यदा भगवन्! सूर्य बाह्यतृतीय मण्डलमुपसङ्क्रम्य चार चरति तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्र गच्छति?, भगवानाह—गौतम! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चतुरुत्तराणि योजनशतानि एकोनचत्वारिंशत च षष्टिभागान् योजनस्य ५३०४ ३९/६० एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं तिस्रो लक्षा अष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके ३१८२७९ अस्य च षष्ट्या भागे हते लब्ध यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिप्रमाणम्, अथात्र दृष्टिपथप्राप्तता-तदा इहगतस्य मनुष्यस्य एकाधिकैर्द्वात्रिंशता सहस्रैरेकोनपञ्चाशता च षष्टिभागैरेकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्वा तस्य सत्कैस्त्रयोविंशत्या चूर्णिकाभागै. ३२००१। ४९/६० । २३/६१ । सूर्य चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि—अस्मिन मण्डले दिवसो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणश्चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरधिकस्तस्यार्द्ध षट् मुहूर्त्ता द्वाभ्यामेकषष्टिभागाभ्यामधिकास्तत सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं षडपि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते गुणयित्वा च तत्र द्वावेकषष्टिभागौ प्रक्षिप्येते ततो जातानि त्रीणि शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि एकषष्टिभागानाम् ३६८, ततोऽस्मिन् मण्डले यत्परिरयप्रमाण त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके ३१८२७९ एतत् त्रिभिः शतै अष्टषष्ट्यधिकैर्गुण्यते जाता एकादश कोट्य. एकसप्तति शतसहस्राणि षड्विंशति सहस्राणि षट् शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ११७१२६६७२, अस्य एकषष्ट्या गुणितया षष्ट्या ३६६० भागे लब्धानि द्वात्रिंशत्सहस्राणि एकोत्तराणि ३२००१ शेषं त्रीणि सहस्राणि द्वादशोत्तराणि ३०१२ तेषां षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागे हृते लब्धा एकोनपञ्चाशत् षष्टिभागा ४९/६० एकस्य षष्टिभागस्य सत्कास्त्रयोविंशतिश्चूर्णिकाभागा २३/६१ इति, समवायाङ्गे तु त्रयस्त्रिंशत्समवाये-'जया णं सूरिए बाहिराणंतरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं इहगयस्स पुरिसस्स तेत्तीसाए जोअणसहस्सेहिं किंचि विसेसूणेहिं चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ' त्ति, एतद्वृत्तौ च इह तु यदुक्तं त्रयस्त्रिंशत् किञ्चिन्न्यूनास्तत्र सातिरेकयोजनस्यापि न्यूनसहस्रता विवक्षितेति सम्भाव्यते इति, अथात्रापि चतुर्थमण्डलादिष्वतिदेशमाह—'एवं खलु' इत्यादि, एवमुक्तेन प्रकारेण खलु-निश्चितमेतेनोपायेन-शनै शनै तत्तदनन्तराभ्यन्तरमण्डलाभिमुखगमनरूपेणाभ्यन्तर प्रविशन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात् तदनन्तर मण्डल संक्रामन् २ एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिमित्यत्र द्वितीया पूर्ववत् २ मुहूर्त्तगतिपरिमाणं अष्टादश अष्टादश षष्टिभागान् योजनस्य व्यवहारत परिपूर्णान् निश्चयत किञ्चिदूनान् निवर्द्धयन्२ हापयन्नित्यर्थ, पूर्वमण्डलात् अभ्यन्तराभ्यन्तरमण्डलस्य परिरयमधिकृत्याष्टादशयोजनैर्हीनत्वात्, पुरुषच्छायामित्यत्रापि द्वितीया पूर्ववत्, ततोऽयमर्थ.-पुरुषच्छायाया दृष्टिपथप्राप्ततारूपाया नवमि षष्टिभागै षष्ट्या च चूर्णिकाभागै सातिरेकाणि-समधिकानि पञ्चाशीतिं पञ्चाशीतिं योजनान्यभिवर्द्धयन्नभिवर्द्धयन् प्रथमद्वितीयादिषु कतिपयेषु मण्डलेषु इयं वृद्धिर्ज्ञेया, सर्वमण्डलापेक्षया तु येनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो दृष्टिपथप्राप्तता हापयन्निर्गतस्तेनैव क्रमेण सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनेषु दृष्टिपथप्राप्ततामभिवर्द्धयन् प्रविशति, तत्र सर्वबाह्यमण्डलादर्वाक्तनद्वितीयमण्डलगमनात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् सर्वबाह्ये मण्डले पञ्चाशीतिं योजनानि नव षष्टिभागान् योजनस्य एक च षष्टिभागमेकषष्टिधाभित्त्वा तस्य सत्कान् षष्टिभागान् हापयति, एतच्च प्रागेव भावित तस्मात् सर्वबाह्यादर्वाक्तने द्वितीये मण्डले प्रविशन् तावद्भूयोऽपि दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणेऽभिवर्द्धयति तच्च भूय. ततोऽर्वाक्तनेषु मण्डलेषु यस्मिन् मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता ज्ञातुमिष्यते, तृतीयमण्डलादारभ्य तत्तन्मण्डलसंख्यया षट्त्रिंशद् गुण्यते, तद्यथा—तृतीयमण्डलचिन्तायामेकेन चतुर्थमण्डलचिन्तायां द्वाभ्याम् एव-यावत् सर्वाभ्यन्तरमण्डलचिन्तायां

द्व्यशीत्यधिकेन शतेन, इत्थं च गुणयित्वा यल्लभ्यते तद् ध्रुवराशेरपनीय शेषेण ध्रुवराशिना सहितं पूर्वपूर्वमण्डलगत दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं तत्र मण्डले द्रष्टव्यम् , यथा तृतीये मण्डले षट्त्रिंशदेकेन गुण्यते , 'एकेन च गुणितं तदेव भवतीति' जाता षट्त्रिंशदेव सा ध्रुवराशेरपनीयते, जातं शेषमिदं—पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्काश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागा. ८५ ९/६० । २४/६१ एतेन पूर्वमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणम् एकत्रिंशत् सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि योजनानामेकोनचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का षष्टिरेकषष्टिभागा ३१९१६ इत्येवंरूपसहितं क्रियते, कृते च तृतीये मण्डले यथोक्तं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति तच्च प्रागेव प्रदर्शितं, चतुर्थे मण्डले षट्त्रिंशद् द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा ध्रुवराशेरपनीय शेषेण ध्रुवराशिना तृतीयमण्डलगत दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सहितं क्रियते, तत इदं तत्र मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति—द्वात्रिंशत्सहस्राणि षडशीत्यधिकानि योजनानामष्टपञ्चाशत् षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का. एकादशैकषष्टिभागा ३२०८६ ५८/६० । ११/६१ । एवं शेषेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम् , यदा तु सर्वाभ्यन्तरं मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तदा षट्त्रिंशद् द्व्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यते, तृतीयमण्डलादारभ्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य द्व्यशीत्यधिकशततमत्वात् , ततो जातानि पञ्चषष्टि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ६५५२, तेषामेकषष्ट्या भागे हृते लब्धं सप्तोत्तरं शतं षष्टिभागानां शेषा. पञ्चविंशति. १०७/६० । २५/६१ । एतत्पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का. षष्टिरेकषष्टिभागा ८५ ९/६० । ६०/६१ । इत्येवंरूपाद् ध्रुवराशेः शोध्यते, जातानि पश्चाद् द्व्यशीतिर्योजनानि द्वात्रिंशतिः षष्टिभागा. योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागा., इह षट्त्रिंशदेकषष्टिभागा कलया न्यूना परमार्थतो लभ्यन्ते, एतच्च प्रागेवोपदर्शितम् , तच्च कलया न्यूनत्वं प्रतिमण्डलं भवत् यदा द्व्यशीत्यधिकशततममण्डले एकत्र पिण्डितं सञ्चिन्त्यते तदा अष्टषष्टिरेकषष्टिभागा लभ्यन्ते ततस्ते भूय प्रक्षिप्यन्ते ततो जातमिदं द्व्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशतिः षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः ८२ २३/६० । ४२/६१ । एतेन सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलगत दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकोनाशीत्यधिकं योजनानां सप्तपञ्चाशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः ४७१७९ ५७/६० । १९/६१ । इत्येवंरूपसहितं क्रियते. ततो यथोक्तं सर्वाभ्यन्तरं मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति तच्च सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य ४७२६३ २१/६० एवं दृष्टिपथप्राप्ततायां कतिपयेषु मण्डलेषु सातिरेकाणि पञ्चाशीतिं २ योजनानि अग्रेतनेषु चतुरशीतिं २ पर्यन्ते यथोक्ताधिकसहितानि द्व्यशीतिं योजनानि अभिवर्द्धयन् अभिवर्द्धयन् तावद् वक्तव्यो यावत् सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, इदं च सर्वाभ्यन्तरमण्डलं सर्वबाह्यानन्तरात् मण्डलात् पश्चानुपूर्व्या गण्यमानं द्व्यशीत्यधिकशततमं , प्रतिमण्डलं चाहोरात्रगणनादहोरात्रोऽपि द्व्यशीत्यधिकशततमस्तेनायमुत्तरायणस्य चरमो दिवस इत्याद्यभिधातुमाह—' एस णं दोच्चे छम्मासे ' इत्यादि एष द्वितीयः षण्मासः—प्रागुक्तमुक्त्वा अयनविशेषो ज्ञातव्यः , एतद् द्वितीयस्य षण्मासस्य पर्यवसानं द्व्यशीत्यधिकशततमाहोरात्रत्वात् , एष आदित्यः संवत्सरः—आदित्यचारोपलक्षित संवत्सर इति, इत्यनेन नक्षत्रादिसंवत्सरव्युदासः , एतच्चादित्यस्य संवत्सरस्य पर्यवसानं चरमायनचरमदिवसत्वात् इति समाप्तं मुहूर्तगतिद्वारम् , तत्सम्बन्धाच्च दृष्टिपथवक्तव्यताऽपि । जं० ७ वक्ष० । स० ।

जंबुद्दीवे णं दीवे असीउत्तरं जोयणसयं ओगाहेत्ता सूरिए उत्तरकट्ठोवगए पढमं उदयं करेइ । (सू० ८०+)

'जंबुद्दीवे णं' मित्यादि , 'ओगाहित्त' त्ति—प्रविश्य 'उत्तरकट्ठोवगए' त्ति—उत्तरां काष्ठां दिशमुपगतः उत्तरकाष्ठोपगतः प्रथममुदयं करोति , सर्वाभ्यन्तरमण्डले उदेतीत्यर्थः । स० ८० सम० ।

अथाष्टमं दिनरात्रिवृद्धिहानिद्वारं निरूप्यते—

जया णं भंते ! सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे केमहालिया राई भवइ ?, गोअमा ! तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, से णिक्खममाणे सूरिए णवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । (सू०-१३४ ×) ।

'जया णं' मित्यादि. यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा को महान् आलयो—व्याप्यक्षेत्ररूप आश्रयो यस्यासौ किंमहालयः कियानित्यर्थः दिवसो भवति. किंमहालया—कियती रात्रिर्भवति ?, भगवानाह—गौतम ! तदा उत्तमकाष्ठां प्राप्त -उत्तमावस्थां प्राप्तः आदित्यसंवत्सरसत्कषट्षष्ट्यधिकत्रिशतदिवसमध्ये, यतो नापरः कश्चिदधिक इत्यर्थः. अत एवोत्कर्षकः , उत्कृष्ट इत्यर्थः अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति, यत्र मण्डले यावत्प्रमाणो दिवसस्तत्र तदपेक्षया (शेषा) अहोरात्रप्रमाणा रात्रिरिति जघन्यिका द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः , सर्वस्मिन् क्षेत्रे काले वा अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्त्तसङ्ख्याकत्वस्य नैयत्याद् , ननु यदा भरतेऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसस्तदा विदेहेषु जघन्या द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिस्तर्हि द्वादशमुहूर्त्तेभ्यः परं रात्रेरतिक्रान्तत्वेन षट् मुहूर्त्तान् यावत्केन कालेन भाव्यम् ?. एवं भरतेऽपि वाच्यम् , उच्यते-अत्र षण्मुहूर्त्तगम्यक्षेत्रेऽवशिष्टे सति तत्र सूर्यस्योदयमानत्वेन दिवसेनेति. तच्च सूर्योदयास्तान्तरविचारेण तन्मण्डलगतदृष्टिपथप्राप्ततविचारणेन च सूपपन्नम् , आह—एवं सति सूर्योदयास्तमयने अनियते आपन्ने भवतु नाम , न चैतदनार्षम् , यदुक्तम्—

" जह जह समए समए, पुरओ संचरइ भक्खरो गयणे ।
तह तह इओ वि नियमा, जायइ रयणीइ भावत्थेर ॥ १ ॥
एवं च सइ नराणं, उदयत्थमणाइँ होतऽनिययाइ ।
सइ देसकालभेए कस्सइ किंची य दिस्सए नियमा ॥ २ ॥
सइ चेव य निद्दिट्ठो, रुद्दमुहुत्तो कमेण सव्वेसिं ।
केसिंचीदाणिं पि अ, विसयपमाणो रवी जेसिं ॥३॥ " ति ।
यत्तु सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्तौ सूर्यमण्डलसंस्थित्यधिकारे समचतुरस्रसंस्थितिवर्णनायां युगादौ एकः सूर्यो दक्षिणपूर्वस्याम् एकश्चन्द्रो दक्षिणापरस्यां द्वितीयः सूर्यः पश्चिमोत्तरस्यां द्वितीयश्चन्द्र उत्तरपूर्वस्यामित्युक्तं तत्तु दक्षिणादिभागेषु मूलोदयापेक्षया इति बोध्यम् । अयं च सर्वोत्कृष्टो दिवसः पूर्वसंवत्सरस्य चरमो दिवस इति वक्तुमाह--' से णिक्खममाणे ' इत्यादि, अथ निष्क्रामन् सूर्यो नवं संवत्सरमयमानः--आप्नुवन्नाददान इत्यर्थः, प्रथमे अहोरात्रेऽभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति इति ।

अथ दिनरात्रिवृद्ध्यपवृद्ध्यर्थमाह--

जया णं भंते ! सूरिए अब्भतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे केमहालिया राई भवइ ?, गोयमा ! तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ दोहि अ एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिअ त्ति, से णिक्खममाणे सूरिए दोचंसि अहोरत्तंसि ०जाव चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे केमहालिया राई भवइ ?, गोयमा ! तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे, दुवालसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिअ त्ति, एवं खलु एएणं उवाएणं निक्खममाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे दो दो एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं मंडले दिवसखित्तस्स निव्वुड्ढेमाणे २ रयणिखित्तस्स अभिवड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ त्ति । (सू० १३४×)

' जया णं ' इत्यादि, यदा भगवन् ! सूर्य अभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा भगवन् ! किंमहालयः--किंप्रमाणो दिवसः, किंमहालया--किंप्रमाणा रात्रिः ? । भगवानाह--गौतम ! तदा अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूनो दिवसो भवति, अत्र सूत्रे प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययः, द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणा द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका रात्रिर्भवति अत्रोपपत्तिर्यथा अष्टादशमुहूर्त्ते दिवसे द्वादश ध्रुवमुहूर्त्ताः षट् चरमुहूर्त्ताः, ते च मण्डलानां त्र्यशीत्यधिकशतेन वर्द्धन्ते चापवर्द्धन्ते, ततोऽत्र त्रैराशिकावतारः--यदि मण्डलानां त्र्यशीत्यधिकशतेन षट् मुहूर्त्ता वर्द्धन्ते चापवर्द्धन्ते तदा एकेन मण्डलेन किं वर्द्धते चापवर्द्धते ?, स्थापना यथा-१८३।६।१। अत्रान्त्यराशिना एककलक्षणेन मध्यराशि षट्कलक्षणो गुण्यते, गुणिते च ' एकेन गुणितं तदेव भवति ' इति षडेव स्थितास्ते चादिराशिना भज्यन्ते अल्पत्वाद् भागं न प्रयच्छन्तीति भाज्यभाजकराश्योस्त्रिकेणापवर्त्तना कार्या, जात उपरितनो राशिर्द्विकरूप अधस्तन एकषष्टिरूप इदं आगतं द्वावेकषष्टिभागौ मुहूर्त्तस्य अतो दिवसेऽपवर्द्धेते--रात्रौ च वर्द्धेते इति, एवमग्रेऽपि करणभावना कार्या । अथाग्रेतनमण्डलगते दिनरात्रिवृद्धिहानी पृच्छन्नाह--' से णिक्खममाणे ' इत्यादि, अथ निष्क्रामन् सूर्यो द्वितीयानन्तरं तृतीये अहोरात्रे अत्र यावच्छब्दात् ' अब्भतरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता ' इति ज्ञेयम्, सर्वाभ्यन्तरमण्डलापेक्षया तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंप्रमाणो दिवसः किंप्रमाणा रात्रिर्भवति ? गौतम ! तदा अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो द्वाभ्यां पूर्वमण्डलसत्काभ्याम् द्वाभ्यां च प्रस्तुतमण्डलसत्काभ्यामित्येवं चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूनो दिवसो भवति, द्वादशमुहूर्त्ता उक्तप्रकारेणैव चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरधिका रात्रिर्भवति, उक्तातिरिक्तमण्डलेष्वतिदेशमाह--' एवं खलु एएणं ' मित्यादि एवं मण्डलद्वयदर्शितरीत्या खलु--निश्चितमेतेन--अनन्तरोक्तेनोपायेन प्रतिमण्डलं दिवसरात्रिसत्कमुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयवृद्धिहानिरूपेण निष्क्रामन्--दक्षिणाभिमुखं गच्छन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् द्वौ द्वौ मुहूर्त्तैकषष्टिभागावेकैकस्मिन् मण्डले दिवसक्षेत्रस्य निवर्द्धयन् निवर्द्धयन्--हापयन् २ रजनिक्षेत्रस्य तावेवाभिवर्द्धयन् २, कोऽर्थः ?--मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयगम्यं क्षेत्रं दिवसक्षेत्रे हापयन् तावदेव रजनिक्षेत्रे अभिवर्द्धयन्निति सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, प्रतिमण्डलं भागद्वयहानिवृद्धी उक्ते । जं० ७ वक्ष० ।

उत्तरायणनियट्टे णं सूरिए पढमाओ मंडलाओ एगूणचत्तालीसइमे मंडले अट्ठहत्तरिं एगसट्ठिभाए दिवसखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता रयणिखेत्तस्स अभिनिवुड्ढेत्ता णं चारं चरइ । एवं दक्खिणायणनियट्टे वि । (सू० ७८×)

" उत्तरायणनियट्टे णं' ति--उत्तरायणाद्--उत्तरदिग्गमनान्निवृत्त उत्तरायणनिवृत्तः, प्रारब्धदक्षिणायन इत्यर्थः ' सूरिए ' त्ति-आदित्यः ' पढमाओ मंडलाओ ' त्ति-दक्षिणां दिशं गच्छतो रवेर्यत्प्रथमं तस्मात् न तु सर्वाभ्यन्तरसूर्यमार्गात् ' एगूणचत्तालीसइमे ' त्ति--एकोनचत्वारिंशत्तमे मण्डले दक्षिणायनप्रथममण्डलापेक्षया सर्वाभ्यन्तरमण्डलापेक्षया तु चत्वारिंशे, ' अट्ठहत्तरिं ' ति अष्टसप्तति ' एगसट्ठिभाए ' त्ति-मुहूर्त्तस्यैकषष्टिभागान् ' दिवसखेत्तस्स ' त्ति-दिवसलक्षणस्य क्षेत्रस्य दिवसस्यैवेत्यर्थः, ' निवुड्ढेत्त ' त्ति निवर्ध्य हापयित्वेत्यर्थः, तथा ' रयणिखेत्तस्स ' त्ति-रजन्या एव ' अभिनिवुड्ढेत्त ' त्ति-अभिनिवर्द्ध्य च, वर्द्धयित्वेत्यर्थः, ' चारं चरइ ' त्ति भ्रमतीत्यर्थः, भावार्थोऽस्यैवं चन्द्रप्रज्ञप्तिवाक्यैरुपदर्श्यते--जम्बूद्वीपे यदा सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा नवनवतियोजनसहस्राणि षट् चत्वारिंशदधिकानि योजनशतान्यन्योऽन्यमन्तरं कृत्वा चरतः, एतच्च जम्बूद्वीपेऽशीत्युत्तरं योजनशतं प्रविश्याभ्यन्तरं मण्डलं भवति एतस्मिंश्च द्विगुणे जम्बूद्वीपप्रमाणादपकर्षिते यथोक्तमन्तरं भवतीति, तथा तत्र तयोश्चरतोरुत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, जघन्यका च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति, ततोऽभ्यन्तरमण्डलान्निष्क्रम्य प्रथमेऽहोरात्रे

ऽभ्यन्तरानन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य यदा चारं चरतस्तदा नवनवतिर्योजनसहस्राणि षट्चत्वारिंशदधिकानि योजनशतानि पञ्चत्रिंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्यान्तरं कृत्वा चारं चरतः, तदा चाष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति द्वाभ्या मुहूर्त्तस्यैकषष्टिभागाभ्या न्यून, द्वादशमुहूर्त्ता च रात्रिर्भवति द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकेनि, एवं दक्षिणायनस्य द्वितीयादिषु मण्डलेष्वहोरात्रेषु चान्योऽन्यान्तरप्रमाणस्य पञ्चभि. पञ्चभिर्योजनै. पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य वृद्धिर्वाच्या,द्वाभ्यां२ च मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्या दिनहानी रात्रिवृद्धिश्चेति, एवं च एकोनचत्वारिंशत्तमे मण्डले सूर्ययोरन्तरं नवनवति. सहस्राण्यष्ट शतानि सप्तपञ्चाशच्च योजनानां त्रयोविंशतिश्चैकषभागाः, दिनप्रमाण चाष्टादशानां मुहूर्त्तानां मध्यादेकषष्टिभागानामष्टसप्तत्या पातिताया षोडश मुहूर्त्तांश्चतुश्चत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, रात्रेस्त्वष्टसप्तत्यां क्षिप्ताया त्रयोदश मुहूर्त्ता. सप्तदशैकषष्टिभागाश्चेति, एव 'दक्खिणायणनियट्टे' त्ति-यथोक्तायणनिवृत्त एकोनचत्वारिंशत्तमे मण्डले अष्टसप्ततिमेकषष्टिभागान् हापयति, वर्द्धयति च। एवं दक्षिणायननिवृत्तोऽपि सूर्यस्तान् हापयति, वर्द्धयति च। केवल दक्षिणायने दिनभागान् हापयति. रात्रिभागांश्च वर्द्धयति। इह तु दिनभागान् वर्द्धयति, रात्रिभागांश्च हापयति। स० ७८ सम०। जं०।

जया णं सूरिए सव्वब्भंतराओ मंडलाओ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं सव्वब्भंतरमंडलं पणिहाय एगेणं तेसीएणं राइंदिअसएणं तिण्णि छावट्ठे एगसट्ठिभागमुहुत्तसए दिवसखेत्तस्स निव्वुड्ढेत्ता रयणिखेत्तस्स अभिवुड्ढेत्ता चारं चरइ। (सू०-१३४+)

'जया ण' मित्यादि, यदा सूर्य. सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादित्यत्र "यल्लोपे पञ्चमी वक्तव्या" तेन सर्वाभ्यन्तर मण्डलमारभ्य सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा सर्वाभ्यन्तर मण्डलं प्रणिधाय—मर्यादीकृत्य तत. परस्माद् द्वितीयान्मण्डलादारभ्येत्यर्थ. एकेन त्र्यशीतेन त्र्यशीत्यधिकेन रात्रिन्दिवानाम् अहोरात्राणां शतेन त्रीणि षट्षष्ठानि—षट्षष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तैकषष्टिभागशतानि दिवसक्षेत्रस्याभिवर्द्धर्य, कोऽर्थः?—षट्षष्ट्यधिकत्रिशतमुहूर्त्तैकषष्टिभागैर्यावन्मात्र क्षेत्र गम्यते तावन्मात्रं क्षेत्र हापयित्वा इत्यर्थ, तावदेव क्षेत्रं रजनिक्षेत्रस्याभिवर्द्धर्य चारं चरति, अयमर्थ. दक्षिणायनसत्कत्र्यशीत्यधिकमण्डलेषु प्रत्येकं हीयमानभागद्वयस्य त्र्यशीत्यधिकशतगुणनेन षट्षष्ट्यधिकत्रिशतराशिरुपपद्यत इति तावदेव रजनिक्षेत्रे वर्द्धते इत्यर्थः। जं० ७ वक्ष०।

लवणे णं भंते! समुद्दे सूरिया उदीचिपाईणमुग्गच्छ जच्चेव जंबुद्दीवस्स वत्तव्वया भणिया सच्चेव सव्वा अपरिसेसिया लवणसमुद्दस्स वि भाणियव्वा, नवरं अभिलावो इमो णेयव्वो-जया णं भंते! लवणे समुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तं चेव०जाव तदा णं लवणे समुद्दे पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं राई भवति, एएणं अभिलावेणं नेयव्वं। जदा णं भंते!- लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ, तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ। जदा णं उत्तरड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ तदा णं लवणसमुद्दे पुरिच्छिमपच्चत्थिमे णं नेवत्थि ओसप्पिणी २ समणाउसो!?, हंता गोयमा! ०जाव समणाउसो!। धायईसंडे णं भंते! दीवे सूरिया उदीचिपादीणमुग्गच्छ जहेव जंबुद्दीवस्स वत्तव्वया भणिया सच्चेव धायइसंडस्स वि भाणियव्वा, नवरं इमेणं अभिलावेणं सव्वे आलावगा भाणियव्वा। जया णं भंते! धायइसंडे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि जया णं उत्तरड्ढे वि तदा णं धायइसंडे दीवे मंदराण पव्वयाणं पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं राती भवति?, हंता गोयमा! एवं चेव० जाव राती भवति। जदा णं भंते! धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरच्छिमेणं दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण वि, जदा णं पच्चत्थिमेण वि तदा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं भवति उत्तरेणं दाहिणेण राती भवतीति?, हंता गोयमा! ०जाव भवति, एवं एएणं अभिलावेणं नेयव्वं० जाव जया णं भंते! दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी तया णं उत्तरड्ढे जया णं उत्तरड्ढे तया णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं नत्थि ओसप्पिणी०जाव? समणाउसो! हंता गोयमा! ०जाव समणाउसो!, जहा लवणसमुद्दस्स वत्तव्वया तहा कालोदस्स वि भाणियव्वा,नवरं कालोदस्स नामं भाणियव्वं। अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते! सूरिया उदीचिपाईणमुग्गच्छ जहेव धायइसंडस्स वत्तव्वया तहेव अब्भिंतरपुक्खरद्धस्स वि भाणियव्वा नवरं अभिलावो०जाव जाणेयव्वो० जाव तया णं अब्भिंतरपुक्खरद्धे मंदराणं पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं नेवत्थि ओसप्पिणी नेवत्थि उस्सप्पिणी अवट्ठिए णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो! सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति। (सू०-१७९) भ० ५ श० २ उ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था, वण्णओ,तीसे णं चंपाए नगरीए पुण्णभद्दे नामे चेइए होत्था वण्णओ, सामी समोसढे ०जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं०जाव एवं वदासी-जबूद्दीवे णं भंते! दीवे सूरिया उदीणपादीणमुग्गच्छ पादीणदाहिणमागच्छंति, पादीणदाहिणमुग्गच्छ दाहिणपडीणमागच्छंति दाहिणपदी-

णमुग्गच्छ पडीणउदीणमागच्छंति पदीणउदीणं उग्गच्छ उदीचिपादीणमागच्छंति ?, हंता ! गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उदीचिपाईणमुग्गच्छ ०जाव उदीचिपाईण- मागच्छंति । (सू०१७६×)

सूरिय' त्ति-द्वौ सूर्यौ, जम्बूद्वीपे द्वयोरेव भावात् 'उदीणपाईणं' ति उदगेव उदीचीन प्रागेव प्राचीन उदीचीन च तदुदीच्या आसन्नत्वात् प्राचीनम् च तत्प्राच्या प्रत्यासन्नत्वाद् उदाचीनप्राचीन--दिगन्तर क्षेत्रदिग्पेक्षया पूर्वोत्तरदिगित्यर्थ 'उग्गच्छ' त्ति-उद्गत्य क्रमेण नत्रोद्गमन कृत्वेत्यर्थः 'पाईणदाहिणं' ति प्राचीनदक्षिण दिगन्तर पूर्वदक्षिणमित्यर्थ 'आगच्छति' त्ति-आगच्छन क्रमेणैवास्त यात इत्यर्थः, इह चोद्गमनमस्तमय च द्रष्टृलोकविवक्षयाऽवसेयं, तथाहि--येषामदृश्यौ सन्तौ दृश्यौ तौ स्याता ते तयोरुद्गमनं व्यवहरन्ति येषां तु दृश्यौ सन्तावदृश्यौ स्तस्ते तयोरस्तमयं व्यवहरन्तीत्यनियतावुद्गमास्तमयौ । आह च--

"जह जह समए समए, पुरओ सचरइ भक्खरो गयणे ।
तह तह इओ वि नियमा, जायइ रयणी य भावत्थो ॥१॥
एवं च सइ नराण, उदयत्थमणाइं होंतऽनिययाइं ।
सइ देसमेएं कस्सइ, किंची ववदिस्सए नियमा ॥२॥
सइ चेव य निद्दिट्ठो, भ(रु)इमुहुत्तो कमेण सव्वेसिं ।
केसिंचीदाणिं पि य, विसयपमाणे रवी जेसिं ॥ ३ ॥"

इत्यादि, अनेन च सूत्रेण सूर्यस्य चतसृपु दिक्षु गतिरुक्ता, ततश्च ये मन्यन्ते सूर्य पश्चिमसमुद्र प्रविश्य पातालेन गत्वा पुन पूर्वसमुद्रमुदेतीत्यादि तन्मत निषिद्धमिति ।

इह च सूर्यस्य सर्वतोगमने ऽपि प्रतिनियतत्वात्तत्प्रकाशस्य रात्रिंदिवसविभागोऽस्तीति तं क्षेत्रभेदेन दर्शयन्नाह--

जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति जदा णं उत्तरड्ढे वि दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं राती भवति ?, हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वि दिवसे० जाव राती भवति । जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमे णं पि दिवसे भवति,जया णं पच्चत्थिमे णं दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणे णं राती भवति ?, हंता गोयमा ! जदा णं जंबुद्दीवे मंदरपुरच्छिमे णं दिवसे ०जाव राती भवति, जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, तदा णं उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जदा णं उत्तरद्धे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?, हंता गोयमा ! जदा णं जंबू० जाव दुवालसमुहुत्ता राती भवति । जदा णं जंबुद्दीवे२ मंदरस्स पुरच्छिमे णं उक्कोसए अट्ठारस० जाव तदा णं जंबुद्दीवे दीवे पच्चत्थिमे ण वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जया णं पच्चत्थिमे णं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तर० दुवालसमुहुत्ता० जाव राती भवति ?, हंता गोयमा ! ० जाव भवति । जया णं भंते ! जंबू० दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणतर दिवसे भवति जदा णं उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?, हंता गोयमा ! जदा णं जंबू० जाव राती भवति । जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे पुरच्छिमे णं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमे णं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति, जदा णं पच्चत्थिमे ण अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णं साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?, हंता गोयमा ! ०जाव भवति । एवं एतेणं कमेणं ओसारेयव्वं सत्तरसमुहुत्ते दिवसे तेरसमुहुत्ता राती भवति, सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा तेरसमुहुत्ता राती, सोलसमुहुत्ते दिवसे चोद्दसमुहुत्ता राई, सोलसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगचोद्दसमुहुत्ता राती, पन्नरसमुहुत्ते दिवसे पन्नरसमुहुत्ता राती भवति । पन्नरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा पन्नरसमुहुत्ता राती, चोद्दसमुहुत्ते दिवसे सोलसमुहुत्ता राती, चोद्दसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा सोलसमुहुत्ता राती तेरसमुहुत्ते दिवसे सत्तरसमुहुत्ता राती तेरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा सत्तरसमुहुत्ता राती । जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तया णं उत्तरड्ढे वि, जया णं उत्तरड्ढे तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति ?, हंता गोयमा ! एवं चेव उच्चारेयव्वं० जाव राई भवति । जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तया णं पच्चत्थिमे ण वि० तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स उत्तरदाहिणे णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती

भवति ?, हंता गोयमा ! ० जाव राती भवति । (सू० १७७)

'जया ण' मित्यादि, इह सूर्यद्वयभावादेकदैव विभागद्वये दिवस उक्तः, इह च यद्यपि दक्षिणार्द्धे तथोत्तरार्द्धे इत्युक्तं तथाऽपि दक्षिणभागे उत्तरभागे चेति बोद्धव्यम्,—अर्द्धशब्दस्य भागमात्रार्थत्वात्, यतो यदि दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च समग्र एव दिवसः स्यात्तदा कथं पूर्वेण अपरेण च रात्रिः स्यादिति वक्तुं युज्येत, अर्द्धद्वयग्रहणेन सर्वक्षेत्रस्य गृहीतत्वात्, इतश्च दक्षिणार्द्धादिशब्देन दक्षिणादिदिग्भागमात्रमेवावसेयं न त्वर्द्धम् अतो यदाऽपि दक्षिणोत्तरयोः सर्वोत्कृष्टो दिवसो भवति तदाऽपि जम्बूद्वीपस्य दशभागत्रयप्रमाणमेव तापक्षेत्रं तयोः प्रत्येकं स्यात्, दशभागद्वयमानं च पूर्वपश्चिमयोः प्रत्येकं रात्रिक्षेत्रं स्यात्, तथाहि—षष्ट्या मुहूर्त्तैः किल सूर्यो मण्डलं पूरयति उत्कृष्टदिनं चाष्टादशभिर्मुहूर्त्तैरुक्तम् अष्टादश च षष्टेर्दश भागत्रितयरूपा भवन्ति, तथा यदाऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा रात्रिर्द्वादशमुहूर्ता भवति, द्वादश च षष्टेर्दशभागद्वयरूपा भवन्तीति, तत्र च मेरुं प्रति नव योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि नव च दशभागा योजनस्येत्येतत्सर्वोत्कृष्टदिवसे दशभागत्रयरूपं तापक्षेत्रप्रमाणं भवति ९४८६ ९/१०, कथम् ?, मन्दरपरिक्षेपस्य किञ्चिन्न्यूनत्रयोविंशत्युत्तरषट्शताधिकैकत्रिंशद्योजनसहस्रमानस्य ३१६२३ दशभिर्भागे हृते यल्लब्धं ३१६२ ३/१० तस्य त्रिगुणितत्वे एतस्य भावादिति । तथा लवणसमुद्रं प्रति चतुर्नवतिर्योजनानां सहस्राणि अष्टौ शतान्यष्टषष्ट्यधिकानि चत्वारश्च दश भागा योजनस्येत्येतदुत्कृष्टदिने तापक्षेत्रप्रमाणं भवति ९४८६८ ४/१०, कथम् ? जम्बूद्वीपपरिधेः किञ्चिन्न्यूनाष्टाविंशत्युत्तरशतद्वयाधिकषोडशसहस्रोपेतयोजनलक्षत्रयमानस्य ३१६२२८ दशभिर्भागे हृते यल्लब्धं तस्य त्रिगुणितत्वे एतस्य भावादिति । जघन्यरात्रिक्षेत्रप्रमाणं चाप्येवमेव, नवरं परिधेर्दशभागो द्विगुणः कार्यः, तत्राद्यं षड्योजनानां सहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि षट् च दश भागा योजनस्य ६३२४ ६/१० द्वितीयं तु त्रिषष्टिः सहस्राणि द्वे च पञ्चचत्वारिंशदधिके योजनानां शते षट् च दशभागा योजनस्य ६३२४५ ६/१० सर्वलघौ च दिवसे तापक्षेत्रमनन्तरोक्तरात्रिक्षेत्रतुल्यं रात्रिक्षेत्रं त्वनन्तरोक्ततापक्षेत्रतुल्यमिति । आयामतस्तु तापक्षेत्रं जम्बूद्वीपमध्ये पञ्चचत्वारिंशद्योजनानां सहस्राणीति, लवणे च त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि त्रिभागश्च योजनस्य ३३३३३ १/३ उभयमीलने त्वष्टसप्ततिः सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागश्चेति ७८३३३ १/३ । "उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ" त्ति । इह किल सूर्यस्य चतुरशीत्यधिकं मण्डलशतं भवति तत्र किल जम्बूद्वीपमध्ये पञ्चषष्टिर्मण्डलानि भवन्ति एकोनविंशत्यधिकं च शतं तेषां लवणसमुद्रस्य मध्ये भवति, तत्र च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले यदा वर्त्तते सूर्यस्तदाऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, कथम् ?, यदा सर्वबाह्ये मण्डले वर्त्ततेऽसौ तदा सर्वजघन्यो द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, ततश्च द्वितीयमण्डलादारभ्य प्रतिमण्डलं द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यां दिनस्य वृद्धौ त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले षड् मुहूर्त्ता वर्द्धन्त इत्येवमष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, अत एव द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति, त्रिंशन्मुहूर्त्तत्वादहोरात्रस्य । 'अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे' त्ति यदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलानन्तरे मण्डले वर्त्तते सूर्यस्तदा मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयहीनाष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, स चाष्टादशमुहूर्त्तादिवसादनन्तरोऽष्टादशमुहूर्त्तानन्तरमिति व्यपदिष्टः, 'सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राइ' त्ति-द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका द्वादशमुहूर्त्ता 'राई भवइ' त्ति-रात्रिप्रमाणं भवतीत्यर्थः, यावता भागेन दिनं हीयते तावता रात्रिर्वर्द्धते, त्रिंशन्मुहूर्त्तत्वादहोरात्रस्येति । 'एवं एएणं कमेणं' एवमित्युपसंहारे, एतेन-अनन्तरोक्तेन 'जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे' इत्यनेनेत्यर्थः, 'ओसारेयव्वं' त्ति—दिनमानं ह्रस्वीकार्यं, तदेव दर्शयति—'सत्तरसे' त्यादि, तत्र सर्वाभ्यन्तरमण्डलानन्तरमण्डलादारभ्यैकत्रिंशत्तममण्डलार्द्धे यदा सूर्यस्तदा सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, पूर्वोक्तहानिक्रमेण त्रयोदशमुहूर्त्ता च रात्रिरिति । 'सत्तरसमुहुत्ताणंतरे' त्ति-मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयहीनसप्तदशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः, अयं च द्वितीयादारभ्य द्वात्रिंशत्तममण्डलार्द्धे भवति, एवमनन्तरत्वमन्यत्राप्यूह्यम्-'साइरेगतेरसमुहुत्ता राई' त्ति—मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयेन सातिरेकत्वम्, एवं सर्वत्र 'सोलसमुहुत्ते दिवसे' त्ति-द्वितीयादारभ्यैकषष्टितममण्डले षोडशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, 'पन्नरसमुहुत्ते दिवसे' त्ति—द्विनवतितममण्डलार्द्धे वर्तमाने सूर्ये, 'चोद्दसमुहुत्ते दिवसे' त्ति-द्वाविंशत्युत्तरशततमे मण्डले, 'तेरसमुहुत्ते दिवसे' त्ति-सार्द्धद्विपञ्चाशदुत्तरशततमे मण्डले, 'बारसमुहुत्ते दिवसे' त्ति—त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले, सर्वबाह्य इत्यर्थः ।

कालाधिकारादिदमाह—

जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ । जया णं उत्तरड्ढे वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ?, हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तह चेव० जाव पडिवज्जइ । जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं पच्चत्थिमेण वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ, जया णं पच्चत्थिमेण वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं ०जाव मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकडसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवन्ने भवति ?, हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं, एवं चेव उच्चारेयव्वं० जाव पडिवन्ने भवति ? । एवं जहा समएणं अभिलावो भणिओ वासाणं तहा आवलियाए वि २, भाणियव्वो, आणापाणुए वि ३, थो-

वेण वि ४, लवेण वि ५, मुहुत्तेण वि ६, अहोरत्तेण वि ७, पक्खेण वि ८, मासेण वि ६, उउणा वि १०, एए-सिं सव्वेसिं जहा समयस्स अभिलावो तहा भाणियव्वो। जया भंते! जंबूदीवे२ दाहिणड्ढे हेमंताणं पढमे समए पडिवज्जति जहेव वासाणं अभिलावो तहेव हेमंताण वि२०गिम्हाणं वि३० भाणियव्वो०जाव उऊ,एवं एए तिणि वि एएसिं तीसं आलावगा भाणियव्वा। जया णं भंते! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जइ तया ण उत्तरड्ढे वि पढमे अयणे पडिवज्जइ, जहा समएणं अभिलावो तहेव अयणेण वि भाणियव्वो ०जाव अणंतरपच्छाकडसमयंमि पढमे अयणे पडिवन्ने भवति, जहा अयणेणं अभिलावो तहा संवच्छरेण वि भाणियव्वो, जुएण वि वासमएण वि वाससहस्सेण वि वाससयसहस्सेण वि पुव्वंगेण वि पुव्वेण वि तुडियंगेण वि तुडिएण वि, एवं पुव्वे २ तुडिये २ अडडे २ अववे २ हुहुए २ उप्पले २ पउमे २ नलिणे २ अच्छणिउरे २ अउए २ णउए २ पउए २ चूलिया २ सीसपहेलिया २ पलिओवमेण वि सागरोवमेण वि भाणियव्वो। जया णं भंते! जंबूदीवे दीवे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी जया ण उत्तरड्ढे वि पडिवज्जइ तदा णं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमेण वि, णेवत्थि ओसप्पिणी नेवत्थि उस्सप्पिणी अवट्ठिए णं तत्थ काले पन्नत्ते? समणाउसो! हंता गोयमा! तं चेव उच्चारियव्वं ०जाव समणाउसो!, जहा ओसप्पिणीए आलावओ भणिओ, एव उस्सप्पिणीए वि भाणियव्वो। (सू० १७८)

'जया ण भंते! जंबूदीवे दीवे दाहिणड्ढ वासाण पढमे समए पडिवज्जइ' इत्यादि, 'वासाण' त्ति--चतुर्मासप्रमाण-वर्षाकालस्य सम्बन्धी प्रथम -आद्य- समय--क्षण प्रतिपद्यते-संपद्यते भवतीत्यर्थ- 'अणंतरपुरक्खडे समयंसि' त्ति--अनन्तरो-निर्व्यवधानो दक्षिणार्द्धे वर्षाप्रथमतापेक्षया स चातीतोऽपि स्यादत आह-पुरस्कृत -पुरोवर्त्ती; भविष्यन्नित्यर्थ', समय--प्रतीत , तत पदत्रयस्य कर्मधारयोऽतस्तत्र, 'अणंतरपच्छाकडसमयंसि' त्ति-पूर्वापरविदेहवर्षाप्रथमसमयापेक्षया योऽनन्तरपश्चात्कृतोऽतीत समयस्तत्र दक्षिणोत्तरयोर्वर्षाकालप्रथमसमयो भवतीति। 'एवं जहा-समएण' मित्यादि, आवलिकाऽभिलापश्चैवम्-'जया ण भंते! जंबूदीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जति तया णं उत्तरड्ढे वि, जया ण उत्तरड्ढे वासाणं पढमावलिया पडिवज्जति तया ण जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमेण अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ?, हंता गोयमा!' इत्यादि। एवमानप्राणादिपदेष्वपि, आवलिकाद्यर्थ पुनरयम्-आवलिका असङ्ख्यातसमयात्मिका आनप्राण --उच्छ्वासनि श्वासकाल' स्तोक --सप्तप्राणप्रमाण लवस्तु-सप्तस्तोकरूप मुहूर्त्त -पुनर्लवसप्तसप्ततिप्रमाणः, ऋतुस्तु-मासद्वयमान. 'हेमंताण' त्ति--शीतकालस्य ' गिम्हाण व ' त्ति--उष्णकालस्य 'पढमे अयणे' त्ति--दक्षिणायन श्रावणादित्वात्संवत्सरस्य'जुएण वि ' त्ति--युगं--पञ्चसंवत्सरमान 'पुव्वंगेण वि ' त्ति--पूर्वाङ्गं चतुरशीतिर्वर्षलक्षाणाम् 'पुव्वेण वि ' त्ति--पूर्वं पूर्वाङ्गमेव चतुरशीतिवर्षलक्षेण गुणितम्. एवं चतुरशीतिवर्षलक्षगुणितमुत्तरोत्तर स्थानं भवति, चतुर्नवत्यधिकं चाङ्कशतमन्तिमं स्थाने भवतीति। 'पढमा ओसप्पिणि' त्ति--अवसर्प्पयति भावानित्येवंशीलाऽवसर्प्पिणी तस्या प्रथमो विभाग प्रथमावसर्प्पिणी, 'उस्सप्पिणि ' त्ति--उत्सर्पयति भावानित्येवंशीला उत्सर्प्पिणीति। भ० ५ श० १ उ०।

एतदेव पश्चानुपूर्व्या पृच्छति--

जया ण भंते! सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे केमहालिया राई भवइ? गोयमा! तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ त्ति, एस णं पढमे छम्मासे एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे। से पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, जया णं भंते! सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चार चरइ तया णं केमहालए दिवसे भवइ केमहालिया राई भवई?, गोयमा! अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ दोहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ दोहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, जया णं भंते! सूरिए बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे भवइ केमहालिया राई भवइ?, गोयमा! तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए, इति। एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे दो दो एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं एगमेगे मंडले रयणिखेत्तस्स निवुड्ढेमाणे २ दिवसखेत्तस्स अभिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ त्ति, जया णं भंते! सूरिए सव्वबाहिराओ मंडलाओ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं सव्वबाहिरं मंडलं पणिहाय एगेणं तेसीएणं

राइंदिअसएणं तिधि छावट्ठे एगसट्ठिभागमुहुत्तसए रयणिखेत्तस्स णिव्वुड्ढेत्ता दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढेत्ता चारं चरइ, एस णं दोच्चे छम्मासे एस णं दुच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे एस णं आइच्चे संवच्छरे एस णं आइच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे पण्णत्ते। ८। (सू० १३४+)

जया ण मित्यादि,प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, उत्तरसूत्रे गौतम! तदा उत्तमकाष्ठां प्राप्ता—प्रकृष्टावस्था प्राप्ता अत एवोत्कर्षिका-उत्कृष्टा, यतो नान्या प्रकर्षवती रात्रिरित्यर्थः, अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिर्भवति तदा त्रिंशन्मुहूर्त्तसङ्ख्यापूर्णाय जघन्यको द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति त्रिंशन्मुहूर्त्तत्वादहोरात्रस्य, एष चाहोरात्रो दक्षिणायनस्य चरम इत्यादि प्रज्ञापनार्थमाह—'एस ण' मित्यादि, एतच्च प्राग्नुक्तार्थम्, अथात्र द्वितीयं मण्डलं पृच्छन्नाह—'जया ण' मित्यादि, यदा भगवन्! सूर्यः सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा किंप्रमाणो दिवसो भवति, किंप्रमाणा रात्रिर्भवति?, गौतम! अष्टादशमुहूर्त्ता द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूना रात्रिर्भवति, द्वादशमुहूर्त्तो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिको दिवसो भवति भागयोर्न्यूनाधिकत्वकरणयुक्तिः प्राग्वत्, अथ तृतीयमण्डलप्रश्नायाह—'से पविसमाणे' त्ति-प्राग्वत् प्रश्नसूत्रमपि तथैव, उत्तरसूत्रे गौतम! तदा अष्टादशमुहूर्त्ता द्वाभ्याम् पूर्वमण्डलसत्काभ्यां द्वाभ्यां च प्रस्तुतमण्डलसत्काभ्याम् इत्येवं चतुर्भिः-चतुःसङ्ख्याकैर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूना रात्रिर्भवति, द्वादशमुहूर्त्तश्च तथैव चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरधिको दिवसो भवति, उक्तातिरिक्तेषु मण्डलेष्वतिदेशमाह—'एवं खलु' इत्यादि, एवं मण्डलत्रयदर्शितरीत्या एतेनानन्तरोक्तेनोपायेन प्रतिमण्डलं दिवसरात्रिमत्कमुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयवृद्धिहानिरूपेण प्रविशन् जम्बूद्वीपे मण्डलानि कुर्वन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात् तदनन्तरं मण्डलं सङ्क्रामन् २ द्वौ द्वौ मुहूर्त्तैकषष्टिभागौ एकैकस्मिन् मण्डले रजनिक्षेत्रस्य निवर्द्धयन् २ दिवसक्षेत्रस्य तावेवाभिवर्द्धयन् २ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति, अत्रापि सर्वमण्डलेषु भागानां हानिवृद्धिसर्वाग्रं निर्दिशन्नाह—'जया ण' मित्यादि यदा भगवन्! सूर्यः सर्वबाह्यात् सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा सर्वबाह्यं मण्डलं प्रणिधाय—मर्यादीकृत्य तदर्वाक्तनाद् द्वितीयान्मण्डलादारभ्येत्यर्थः एकेन त्र्यशीत्यधिकेन रात्रिन्दिवशतेन त्रीणि षट्षष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तैकषष्टिभागशतानि रजनिक्षेत्रस्य निवर्द्ध्य २ दिवसक्षेत्रस्य तान्येवाभिवर्द्ध्य २ चारं चरति एष चाहोरात्र उत्तरायणस्य चरम इत्यादि निगमयन्नाह—'एस ण' मित्यादि प्राग्वत्।

अथ नवमं तापक्षेत्रद्वारम्—

जया णं भंते! सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं किंसंठिया तावखित्तसंठिई पण्णत्ता?, गोयमा! उद्धीमुहकलंबुआपुप्फसंठाणसंठिआ तावखेत्तसंठिई पण्णत्ता अंतो संकुआ बाहिं वित्थडा अंतो वट्टा बाहिं विउला अंतो अंकमुहसंठिआ बाहिं सगडुद्धीमुहसंठिआ उत्तरपासे णं तीसे दो बाहाओ अवट्ठिआओ हवंति पणयालीसं २ जोअणसहस्साइं आयामेणं, दुवे अ णं तीसे बाहाओ अणवट्ठिआओ हवंति,तं जहा—सव्वब्भंतरिआ चेव बाहा सव्वबाहिरिआ चेव बाहा,तीसे णं सव्वब्भंतरिआ बाहा मंदरपव्वयंतेणं णवजोअणसहस्साइं चत्तारि छलसीए जोअणसए णव य दसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं, एस णं भंते! परिक्खेवविसेसे कओ आहिएति वएज्जा?, गोयमा! जे णं मंदरस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं तिहिं गुणेत्ता दसहि छेत्ता दसहिं भागे हीरमाणे एस परिक्खेवविसेसे आहिएति वदेज्जा। तीसे णं सव्वबाहिरिआ बाहा लवणसमुद्दंतेणं चउणवई जोअणसहस्साइं अट्ठसट्ठे जोअणसए चत्तारि अ दसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं, से णं भंते! परिक्खेवविसेसे कओ आहिएति वएज्जा? गोयमा! जे णं जंबुद्दीवस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं तिहिं गुणेत्ता दसहिं छेत्ता दसभागे हीरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहिएति वएज्जा इति। तया णं भंते! तावक्खित्ते केवइयं आयामेणं पण्णत्ता?, गोयमा! अट्ठहत्तरिं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तेत्तीसे जोअणसए जोअणस्स तिभागं च आयामेणं पण्णत्ते, 'मेरुस्स मज्झयारे, ०जाव य लवणस्स रुंदछब्भागो। तावायामो एसो, सगडुद्धीसंठिओ नियमा ॥ १ ॥" तया णं भंते! किंसंठिआ अंधकारसंठिई पण्णत्ता?, गोयमा! उद्धीमुहकलंबुआ पुप्फसंठाणसंठिआ अंधकारसंठिई पण्णत्ता, अंतो संकुआ बाहिं वित्थडा तं चेव०जाव तीसे णं सव्वब्भंतरिआ बाहा मंदरपव्वयंतेणं छज्जोअणसहस्साइं तिण्णि अ चउवीसे जोअणसए छच्च दसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं ति, से णं भंते! परिक्खेवविसेसे कओ आहिएति वएज्जा?, गोयमा! जे णं मंदरस्स पव्वयस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं दोहिं गुणेत्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागे हीरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहिएति वएज्जा, तीसे णं सव्वबाहिरिआ बाहा लवणसमुद्दंतेणं तेसट्ठिं जोअणसहस्साइं दोण्णि य पणयाले जोअणसए छच्च दसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं, से णं भंते! परिक्खेवविसेसे कओ आहिएति वएज्जा?, गोयमा! जे णं जंबुद्दीवस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं दोहिं गुणेत्ता०जाव तं चेव, तया णं भंते! अंधयारे केवइए आयामेणं पण्णत्ते?, गोयमा! अट्ठहत्तरिं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तेत्तीसे जोअणसए तिभागं च आयामेणं पण्णत्ता। जया णं भंते! सूरिए सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं किंसंठिआ तावक्खित्तसंठिई पण्णत्ता?, गोयमा! उद्धीमुहकलंबुआ-

पुप्फसंठाणसंठिया पण्णत्ता, तं चेव सव्वं णेअव्वं णवरं णाणत्तं जं अंधयारसंठिइए पुव्ववण्णिअं पमाणं तं ताव-खित्तसंठिईए णेअव्वं, जं ताव खित्तसंठिई पुव्ववण्णिअं पमाणं तं अंधयारसंठिईए णेअव्वं ति । (सू० १३५)

'जया ण' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा किंसंस्थिता-किंसंस्थाना तापक्षेत्रस्य-सूर्यातपव्याप्ताकाशखण्डस्य संस्थितिः—व्यवस्था प्रज्ञप्ता ?, सूर्यातपस्य किंसंस्थानमिति यावत्, भगवानाह-गौतम ! ऊर्ध्वमुखम् अधोमुखत्वे तस्य वक्ष्यमाणाकारासम्भवात् यत् कलम्बुकापुष्पं-नालिकापुष्पं तत्संस्थानसंस्थिता प्रज्ञप्ता मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, इदमेव संस्थानं विशिनष्टि अन्तः—मेरुदिशि सङ्कुचिता बहिः-लवणदिशि विस्तृता, तथा अन्तः-मेरुदिशि वृत्ता—अर्द्धवलयाकारा सर्वतो वृत्तमेरुगतान् त्रीन् द्वौ वा दश भागान् अभिव्याप्याऽस्या व्यवस्थितत्वात्, बहिः—लवणदिशि पृथुला—मुत्कलभावेन विस्तारमुपगता, एतदेव संस्थानकथनेन स्पष्टयति—अन्तर्मेरुदिशि अङ्कः-पद्मासनोपविष्टस्योत्सङ्गरूप आसनबन्धस्तस्य मुखम्-अग्रभागोऽर्द्धवलयाकारस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, बहिः-लवणदिशि शकटस्योर्द्धिप्रतीता तस्या मुखं यतः प्रभृति निःश्रेणिकाया फलकानि बध्यन्ते तच्चातिविस्तृतं भवति तत्संस्थाना, अन्तर्बहिर्भागौ प्रतीत्य यथाक्रमं सङ्कुचिता विस्तृता इति भावः । आदर्शान्तरे तु 'बाहिं सोत्थिअमुहसंठिआ' पाठस्तत्र स्वस्तिकः प्रतीतस्तस्य मुखम्-अग्रभागस्तस्येवातिविस्तीर्णतया-संस्थितं-संस्थानं यस्याः सा तथा, अथास्या आयाममाह-'उभओ पासेणं' मित्यादि, उभयपार्श्वेन-मन्दरस्योभयोः पार्श्वयोः तस्याः-तापक्षेत्रसंस्थितेः सूर्यभेदेन द्विधा व्यवस्थितायाः प्रत्येकमेकैकभावेन द्वे बाहे—द्वे द्वे पार्श्वे अवस्थिते—अवृद्धिहानिस्वभावे सर्वमण्डलेष्वपि नियतपरिमाणे भवतः; अयमर्थः —एका भरतस्थसूर्यकृता दक्षिणपार्श्वे, द्वितीया ऐरवतस्थसूर्यकृता उत्तरपार्श्वे इति द्विप्रकारा, सा च पञ्चचत्वारिंशत २ योजनसहस्राणि आयामेन, मध्यवर्त्तिनो मेरोरारभ्य द्वयोर्दक्षिणोत्तरभागयोः पञ्चचत्वारिंशता योजनसहस्रैर्व्यवहितं जम्बूद्वीपपर्यन्ते व्यवस्थितत्वात्, एवं पूर्वापरभागयोरपि, यदा तत्र सूर्यौ तदाऽयमायामो बोध्यः, एतच्च सूत्रं जम्बूद्वीपगतायाममपेक्ष्य बोध्यं, लवणसमुद्रे तु त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि एकश्च त्रिभागो योजनस्येति, एतच्च एकत्र पिण्डितमष्टासप्तति सहस्राणि योजनानां त्रीणि शतानि इत्यादिकं सूत्रकृदग्रे वक्ष्यति तत्र सोपपत्तिकं निगदिष्यते तेनात्र पुनरुक्तभिया नोक्तम् । सम्प्रत्यनवस्थितबाहास्वरूपमाह-- 'दुवे अ ण' मित्यादि, तस्याः -एकैकस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेः द्वे च बाहे अनवस्थिते —अनियतपरिमाणे भवतः, प्रतिमण्डलं यथायोगं हीयमानवर्द्धमानपरिमाणत्वात्, तद्यथा--सर्वाभ्यन्तरा सर्वबाह्या चैवशब्दौ प्रत्येकमनवस्थितस्वभावद्योतनार्थौ, तत्र या मेरुपार्श्वे विष्कम्भमधिकृत्य बाहा सा सर्वाभ्यन्तरा या तु लवणदिशि जम्बूद्वीपपर्यन्तमधिकृत्य बाहा सा सर्वबाह्या, आयामश्च दक्षिणोत्तरायततया प्रतिपत्तव्यो विष्कम्भः पूर्वापरायततयेति । साम्प्रतं सर्वाभ्यन्तरां परिमाणं निर्दिशति-'तीसे ण' मित्यादि, तस्याः एकैकस्याः तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरा बाहा मेरुगिरिसमीपे नवयोजनसहस्राणि चत्वारि षडशीत्यधिकानि योजनशतानि नव च दश भागान् योजनस्य परिक्षेपेण, अत्रोपपत्त्यर्थं प्रश्नमाह--'एस णं' मित्यादि, एष --अनन्तरोक्तप्रमाणः परिक्षेपविशेषो--मन्दरपरिरयपरिक्षेपविशेषः कुतः--कस्मात् एवप्रमाण आख्यातो, न ऊनोऽधिको वा इति वदेत् ?, भगवानाह-गौतम ! यो मन्दरस्य परिक्षेपस्तं त्रिभिर्गुणयित्वा दशभिश्छित्त्वा-दशभिर्विभज्य एतद्देव सर्वाग्रेण व्याचष्टे दशभिर्भागे ह्रियमाणे सति एष परिक्षेपविशेष आख्यात इति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । अयमर्थः --मेरुणा प्रतिहन्यमानः सूर्यातपो मेरुपरिधिं परिक्षिप्य स्थित इति मेरुसमीपेऽभ्यन्तरतापक्षेत्रविष्कम्भचिन्ता, अथैवं सति स त्रयोविंशतिषट्शताधिकैकत्रिंशत्सहस्रयोजनमानः सर्वोऽपि मेरुपरिधिरस्य तापक्षेत्रस्य विष्कम्भतामापद्येत इति चेत्, न, सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानः सूर्यो दीप्तलेश्याकत्वाज्जम्बूद्वीपचक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेशे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण त्रीन् दशभागान् प्रकाशयति दशभागानां त्रयाणां मीलने यावत् प्रमाणं क्षेत्रं तावत्तापयतीत्यर्थः । ननु तर्हि मेरुपरिधेस्त्रिगुणीकरणं किमर्थम्? दशभागानां त्रिधा गुणनेनैव चरितार्थत्वात्, सत्यं, विनेयानां सुखावबोधाय । भगवतीवृत्तौ तु श्रीअभयदेवसूरिपादा दशभागलब्धं त्रिगुणं चक्रुरिति, अथ दशभिर्भागे को हेतुरिति चेत्, उच्यते-जम्बूद्वीपचक्रवालक्षेत्रस्य त्रयो भागा मेरुदक्षिणपार्श्वे त्रयस्तस्यैवोत्तरपार्श्वे द्वौ भागौ पूर्वतो द्वौ चापरतः सर्वमीलने दश, तत्र भरतगतः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चरन् त्रीन् भागान् दाक्षिणात्यान् प्रकाशयति, तदानीं च त्रीनौत्तराहान् ऐरवतगतः तदा द्वौ भागौ पूर्वतो रजनी द्वौ चापरतोऽपि यथा यथा क्रमेण दाक्षिणात्य औत्तराहो वा सूर्यः सञ्चरति तथा तथा तयोः प्रत्येकं तापक्षेत्रमग्रतो वर्द्धते पृष्ठतश्च हीयते, एवं क्रमेण सञ्चरणशीले तापक्षेत्रे यदैकः सूर्यः पूर्वस्यां परोऽपरस्यां वर्त्तते तदा पूर्वपश्चिमदिशोः प्रत्येकं त्रीन् भागांस्तापक्षेत्रं द्वौ भागौ दक्षिणोत्तरयोः प्रत्येकं रजनीति । अथ गणितकर्मविधानं, तत्र मेरुव्यासः १०००० एषां वर्गो दश कोट्यः १०००००००० ततो दशभिर्गुणने जातं कोटिशतम् १००००००००० अस्य वर्गमूलानयने लब्धान्येकत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि ३१६२३, एष राशिस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि चतुर्नवतिः सहस्राणि अष्टौ शतान्येकोनसप्तत्यधिकानि ९४८६९ एषां दशभिर्भागे लब्धानि नवयोजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि नव च दशभागा योजनस्य ।

अथ सर्वबाह्यबाहापरिमाणमाह—'तीसे ण' मित्यादि, तस्याः--तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वबाह्या लवणसमुद्रस्यान्ते-समीपे चतुर्नवतिः योजनसहस्राणि अष्टौ च षष्ट्यधिकानि योजनशतानि चतुरश्च दशभागान् योजनस्य परिक्षेपेण । अत्रोपपादकसूत्रमाह--'से णं भंते ! परिक्खेवे' इत्यादि, स भदन्त ! परिक्षेपविशेषोऽनन्तरोक्तो य इति गम्यं कुत

आख्यात इति गौतमो वदेद्—वदति । भगवानाह—गौतम! यो जम्बूद्वीपपरिक्षेपस्तं परिक्षेपं त्रिभिर्गुणयित्वा दशभिश्छित्त्वा—दशभिर्विभज्य इदमेव पर्यायेणाह—दशभिर्भागे ह्रियमाणे एष परिक्षेपविशेष आख्यातो मयाऽन्यैश्चार्हद्भिरिति वदेत् स्वशिष्येभ्य इदमुक्तं भवति—तापक्षेत्रस्य परमविष्कम्भः प्रतिपिपादयिषितव्यः,स च जम्बूद्वीपपर्यन्त इति तत्परिधि स्थाप्यः,योजन ३१६२२७क्रोश ३धनूंषि१२८ अङ्गुलानि १३अर्द्धाङ्गुलम्१एतावता च योजनमेकं किञ्चिदूनमिति व्यवहारतः पूर्णं विवक्ष्यते--सांशराशितो निरंशराशेर्गुणितस्य सुकरत्वात् ततो जातम् ३१६२२८, एतत् त्रिगुणं क्रियते जातानि नव लक्षाणि अष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९४८६८४, एषां दशभिर्भजने लब्धानि चतुर्नवतिर्योजनसहस्राणि अष्टौ शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि चत्वारश्च दश भागा योजनस्य, अत्रापि त्रिगुणकरणादौ युक्तिः प्राग्वत्, नन्वन्यत्र 'रविणो उदयत्थन्तर-चउणवइसहस्स पणसयछव्वीसा । बायाल सट्ठिभागा, कक्कडसंकंतिदिअहम्मि ' ॥१॥ इत्युक्तम् , अत्रोदयास्तान्तरं प्रकाशक्षेत्रं तापक्षेत्रमित्येकार्थाः, तत्र भेदे किंनिबन्धनमिति चेत् , उच्यते-सर्वाभ्यन्तरमण्डलवर्त्ती सूर्यो मन्दरगिरिं जम्बूद्वीपस्य पूर्वतोऽपरतश्चाशीत्यधिक शत योजनानामवगाह्य चारं चरति तेनाशीत्यधिकशतयोजनानि द्विगुणानि ३६० अस्य वर्गदशगुणवर्गमूलानयने जातानि ११३८ एतच्च द्वीपपरिधित. ३१६२२७ रूपात् शोध्यते तत. स्थितम् ३१५०८९, अस्य दशभिर्भागे आगतम् ३१५०८ अवशिष्टभागा ९/१० अनयोरंशच्छेदयोः षड्भिर्गुणने जातम् ५४/६० अथास्य राशेस्त्रिगुणने सम्पद्यते यथोक्तराशि , तथाहि—९४५२६ ४२/६० इद च सूक्ष्मेक्षिकया दर्शितं , न चैतत् स्वमत्युत्प्रेक्षितमिति भाव्यम् ,श्रीमुनिचन्द्रसूरिकृतसूर्यमण्डलविचारेऽस्य सुविचारितत्वात् ,प्रस्तुते च स्थूलनयाश्रयणेन द्वीपपर्यन्तमात्रविवक्षणेन सूत्रोक्तं प्रमाणं सम्पद्यते; द्वीपोदधिपरिधेरेव सर्वत्राप्यागमे दशांशकल्पनादिश्रवणात् , अनेन परिधित. परतो लवणोदषड्भाग यस्तत् प्राप्यमाणे तापक्षेत्र सच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण तत्र विष्कम्भसम्भवात् परमविष्कम्भस्तत्र कथनीय इति-निरस्तम् , अयमेव चतुर्नवतिसहस्रपञ्चशतादियोजनादिको राशिर्बहुश्रुतै. प्रमाणीकृत. करणसंवादित्वात् , तथाहि—स्वस्वमण्डलपरिधिः षष्ट्या भक्तो मुहूर्त्तगतिं प्रयच्छति, सा च दिवसार्द्धगतमुहूर्त्तराशिना गुणिता चक्षुःस्पर्शो सा चोदयत सूर्यस्याग्रतो यावानस्तमयतश्च पृष्ठतोऽपि तावानिति द्विगुणित सन् तापक्षेत्र भवति, एतच्च चक्षुःस्पर्शद्वारे सुव्यक्त निरूपितमस्ति । इद च तापक्षेत्रकरणं सर्वबाह्यमण्डलस्थार्कतापक्षेत्रवृद्धिहानिनिरूपणे विभावयिष्यत इति नात्रोक्तं ह्रियते, यदुक्त—चेत् दशभागान् प्रकाशयति इति. नत्र भाग' एषमुहूर्त्ताक्रमणीयक्षेत्रप्रमाण',कथ ?, सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चरति सूर्ये दिवसोऽष्टादशमुहूर्त्तमान नवमुहूर्त्ताक्रमणीये च क्षेत्रे स्थित सूर्यो दृश्यो भवति , तत एतावत्प्रमाणं सूर्यात् प्राक् तापक्षेत्र तावच्च अपरतोऽपि, इत्थं चाष्टादशमुहूर्त्ताक्रमणीयक्षेत्रप्रमाणमेकस्य सूर्यस्य तापक्षेत्र, तच्च किल दशभागत्रयात्मकं ततो भवत्येकस्मिन् दशभागे षण्मुहूर्त्ताक्रमणीयक्षेत्रप्रमाणतेति । सम्प्रति सामस्त्यनायामतस्तापक्षेत्रपरिमाणं शिष्यविज्ञिपुराह—' तया णं ' मित्यादि यदा भगवन् ! एतावांस्तापक्षेत्रपरमविष्कम्भ इति गम्यं तदा भगवंस्तापक्षेत्रं सामस्त्येन दक्षिणोत्तरायततया कियदायामेन प्रज्ञप्तम् ? , भगवानाह--गौतम ! अष्टसप्तति योजनसहस्राणि त्रीणि च त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि योजनस्यैकस्य त्रिभागं च यावदायामेन प्रज्ञप्त, पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वीपगतानि, त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च योजनशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि , उपरि च योजनत्रिभागयुक्तानि लवणगतानि, द्वयोः सङ्कलने यथोक्तं मानम् । इदं च दक्षिणोत्तरत आयामपरिमाणमवस्थित न क्वापि मण्डलचारे विपर्यस्यतीति , एतमेवार्थं सामस्त्येन द्रढयति-- ' मेरुस्स मज्झयारे ' इत्यादि , इह मेरुणा सूर्यप्रकाशः प्रतिहन्यते इत्येकेषां मतम् ,नेत्यपरेषाम् । तत्राद्यानां मते इय सम्मतिरूपा गाथा,तस्मिन् पक्षे एव व्याख्येया--करणं कारो मध्ये कारो मध्यकार.--मध्ये करणं मेरोस्तस्मिन् सति , कोऽर्थः ?—चक्रवालक्षेत्रत्वात्तापक्षेत्रस्य मेरु मध्ये कृत्वा यावल्लवणस्य रुन्दस्य--विस्तारस्य भावप्रधानत्वाद्रुन्दताया —विस्तारस्य षड्भाग --षष्ठो भाग. एतावत्प्रमाणः तापस्य--तापक्षेत्रस्याऽऽयाम , तत्र मेरोरारभ्य जम्बूद्वीपपर्यन्तं यावत्पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि तथा लवणविस्तारो द्वे योजनलक्षे तयो षष्ठो भागस्त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशद्योजनानि एको योजनत्रिभाग इति रूपः तत उभयमीलने यथोक्तप्रमाण. , एष च नियमात् शकटोर्द्धि(र्द्धि)संस्थित -शकटो(ट्टि)र्द्धिसंस्थानः अन्त. सङ्कुचितो बहिर्विस्तृत इति । अथ येषां मेरुणा न सूर्यप्रकाश' प्रतिहन्यते इति मतं तेषामर्थान्तरसूचनायेय गाथा तत्पक्षे चैवं व्याख्येया—मेरोर्मध्यभागो--मन्दरार्धं यावच्च लवणरुन्दताषड्भाग एतेन मन्दरार्द्धसत्कपञ्चयोजनसहस्राणि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते आयते च ऽशीतिसहस्रयोजनानि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि एकश्च योजनत्रिभाग ८०३३३ १/३ , अनेन च मन्दरगतकन्दरादीनामप्यन्त प्रकाश' स्यादिति लभ्यते , यत्तस्मिन् व्याख्याने श्रीमलयगिरिपादै' सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्तौ "युक्तं चैतत् सम्भावनया तापक्षेत्रायामपरिमाणमन्यथा जम्बूद्वीपमध्ये तापक्षेत्रस्य पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रपरिमाणाभ्युपगमे यथा सूर्यो बहिर्निष्कामति तथा तत्प्रतिबद्ध तापक्षेत्रमपि , ततो यदा सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसङ्क्रम्य चार चरति तदा सर्वथा मन्दरसमीपे प्रकाशो न प्राप्नोति , अथ च तदपि तत्र मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेष परिमाणमग्रे वक्ष्यते , तस्मात्पादलिप्तसूरिव्याख्यानमभ्युपगन्तव्यमि " त्युक्तं, तत्र तत्र भवत्पादाना गम्भीरमाशयं न विद्म , बाह्यमण्डलेऽपि सूर्ये इयत्प्रमाणस्य तापक्षेत्रायामस्यावस्थितत्वेन प्रतिपादनात्, उक्ता सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थिति ।सम्प्रति प्रकाशपृष्ठलग्नत्वेन तद्विपर्ययभूतत्वेन च सर्वाभ्यन्तरमण्डलेऽन्धकारसंस्थितिं पृच्छति—' तया णं भन्ते ! ' इत्यादि , यदा--सर्वाभ्यन्तरमण्डलचरणकाले—कर्कसङ्क्रान्तिदिने किंसंस्थाना अन्धकारसंस्थिति प्रज्ञप्ता ? यद्यपि प्रकाशत-

मसो. सहावस्थायित्वविरोधात् समानकालीनत्वासंभवः तथापि अवशिष्टेषु चतुर्षु जम्बूद्वीपचक्रवालदशभागेषु सम्भावनया पृच्छत आशयान्नोक्तविरोध., ननु आलोकाभावरूपस्य तमस. संस्थानासंभवेन कुनस्तत्पृच्छौचितीमञ्चति ?, उच्यते-नील शीत बहल तम इत्यादिपुद्गलधर्माणामभ्रान्तसार्वजनीनव्यवहारसिद्धत्वेनास्य पौद्गलिकत्वे सिद्धे संस्थानस्यापि सिद्धे., यथा चास्य पौद्गलिकत्वं तथाऽन्यत्र पूर्वाचार्यै. सुचर्चितत्वान्नात्र विस्तरभिया चर्च्यते इति, ऊर्ध्वमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थिता अन्धकारसंस्थिति. प्रज्ञप्ता, अन्त' सङ्कुचिता बहिर्विस्तृतेत्यादि तदेव—तापक्षेत्रसंस्थित्यधिकारोक्तमेव ग्राह्यं, कियत्पर्यन्तमित्याह—यावत्तस्याः—अन्धकारसंस्थिते सर्वाभ्यन्तरिका बाहा मन्दरपर्वतान्ते षड् योजनसहस्राणि त्रीणि चतुर्विंशत्यधिकानि योजनशतानि षट् च दशभागान् योजनस्य परिक्षेपेण, अत्रोपपत्तिं सूत्रकृदेवाह—' से णं' मिति, प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, उत्तरसूत्रे यो मेरुपरिक्षेप. स त्रयोविंशतिषट्शताधिकैकत्रिंशद्योजनसहस्रमानस्तं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा, सर्वाभ्यन्तरमण्डलस्थे सूर्ये तापक्षेत्रसत्कानां त्रयाणां भागानामपान्तराले रजनिक्षेत्रस्य दशभागद्वय २ मानत्वात् दशभिर्विभज्य—दशभिर्भागे ह्रियमाणे एष परिक्षेपविशेष आख्यात इति वदेदेतद्भगवन् ! गौतम. स्वशिष्येभ्य तथाहि—३१६२३ एतद् द्वाभ्यां गुण्यते जातानि त्रिषष्टिसहस्राणि द्वे शते षट्चत्वारिंशदधिके ६३२४६ एषां दशभिर्भागे लब्ध यथोक्तं मानम् । अथ बाहमिति—'तीसे णं' मित्यादि, तस्या'—अन्धकारसंस्थिते. सर्वबाह्यबाहा पूर्वतोऽपरतश्च परमविष्कम्भो लवणसमुद्रान्ते त्रिषष्टिं योजनसहस्राणि द्वे च पञ्चचत्वारिंशदधिके योजनशते षट् च दशभागान् योजनस्य परिक्षेपेणेति,अत्रोपपत्तिं सूत्रकृदेवाह—' से णं ' मित्यादि, व्यक्तं, नवरं जम्बूद्वीपपरिक्षेप ३१६२२८ त परिक्षेपं प्रागुक्तहेतुना द्वाभ्यां गुणयित्वा दशभिर्भागे ह्रियमाणे एष परिक्षेपविशेष आख्यात इति वदेत् .अथास्या अवस्थितबाहामाह—' तया णं ' मित्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले अन्धकार कियदायामेन प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! अष्टसप्ततिं योजनसहस्राणि त्रीणि च त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि योजनत्रिभागं चैकम् अवस्थिततापक्षेत्रसंस्थित्यायाम इवायमपि बोध्य तेन मन्दरार्द्धसत्कपञ्चसहस्रयोजनान्यधिकानि मन्तव्यानि सूर्यप्रकाशाभाववति क्षेत्रे सत एवान्धकारप्रसरणात्, कन्दरादौ तथा प्रत्यक्षदर्शनात् .सूत्रेऽविवक्षितान्यपि व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति दर्शितानि । अथ पश्चानुपूर्व्या तापक्षेत्रसंस्थितिं पृच्छति-'जया णं' मित्यादि यदा भगवन् ! सूर्यं सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंसंस्थानसंस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता ?, गौतम !ऊर्ध्वमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थिता प्रज्ञप्ता. तदेव— अभ्यन्तरमण्डलगततापक्षेत्रसंस्थितिसत्कमेव सर्वमवस्थितानवस्थितबाहादिक नेतव्यं,नवरमिदं नानात्वविशेष यदन्धकारसंस्थिते. पूर्व-सर्वाभ्यन्तरमण्डलगततापक्षेत्रसंस्थितिप्रकरणे वर्णितम् ६३२४५ $\frac{६}{१०}$ इत्येवरूप प्रमाणं तत्तापक्षेत्रसंस्थिते प्रमाणं नेतव्य, द्वीपपरिधिदशभागसत्कभागद्वयप्रमाणत्वात्, यत्तापक्षेत्रसंस्थिते. पूर्ववर्णितम् ९४८६८ $\frac{४}{१०}$ इत्येवंरूपं प्रमाणं तदन्धकारसंस्थितेर्नेतव्यं द्वीपपरिधिदशभागसत्कभागत्रयप्रमाणत्वात्, यदत्र तापक्षेत्रस्याऽल्पत्वं तमसश्चानल्पत्वं तत्र मन्दलेश्याकत्वं हेतुरिति, एवं सर्वाभ्यन्तरमण्डलेऽभ्यन्तरबाहाविष्कम्भे यत्तापक्षेत्रपरिमाणम्—९४८६८ $\frac{४}{१०}$ इत्येवंरूपं तदत्रान्धकारसंस्थितेर्ज्ञेय,यच्च तत्रैव विष्कम्भेऽन्धकारसंस्थिते ६३२४५ $\frac{६}{१०}$ इत्येव तापक्षेत्रस्यात्र मन्तव्यम् ,ननु इदं सर्वबाह्यमण्डलसत्कतापक्षेत्रप्ररूपणा,यदि तन्मण्डलपरिधौ ३१८३१५ रूपे षष्टिभक्ते लब्धा ५३०५ रूपा मुहूर्त्तगति तदा च सर्वजघन्यो दिवसो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणोऽतो द्वादशभि स्ता गुण्यते तथा च कृते ६३६६३ इत्येवरूपो राशि स्यात्, यदि चोक्तपरिधिर्द्विगुणितो दशभिर्भज्यते तदाऽप्ययमेव राशिर्द्विधाकरणरीतिलब्धस्तत्किमतस्मात् सूत्रोक्तराशिर्विभिद्यते ?, उच्यते-सूत्रकारेण द्वीपपरिध्यपेक्षयैव करणरीतेर्दर्शमानत्वान्नात्र दोष , अभ्यन्तरमण्डले परिधिर्यथा न न्यूनीक्रियते तथा बाह्यमण्डले नाधिकीक्रियते तत्र विवक्षैव हेतुरिति ।

सम्प्रति सूर्याधिकारादेतत्सम्बन्धिनं दूरासन्नादिदर्शनरूप विचारं वक्तु दशमं द्वारमाह—

जंबुद्दीवे णं भन्ते ! दीवे सूरिआ उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति मज्झंतिअमुहुत्तंसि मूले अ दूरे अ दीसंति अत्थमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति ?,हंता गोयमा ! तं चेव०जाव दीसंति, जम्बुद्दीवे णं भन्ते ! सूरिआ उग्गमणमुहुत्तंसि अ मज्झंतिअमुहुत्तंसि अत्थमणमुहुत्तंसि अ सव्वत्थ समा उच्चत्तेणं, हंता तं चेव० जाव उच्चत्तेणं , जइ णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे सूरिआ उग्गमणमुहुत्तंसि अ मज्झ० अत्थम० सव्वत्थ समा उच्चत्तेणं, कम्हा णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे सूरिया उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति हन्ता !, गोयमा ! लेसापडिघाएणं उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति इति लेसाहितावेणं मज्झंतिअमुहुत्तंसि मूले अ दूरे अ दीसंति लेसापडिघाएणं अत्थमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति, एवं खलु गोअमा ! तं चेव० जाव दीसंति १० । (सू० १३६) जम्बुद्दीवे णं भन्ते ! दीवे सूरिआ किं तीअं खेत्तं गच्छन्ति पडुप्पण्णं खेत्तं गच्छन्ति अणागय खेत्तं गच्छन्ति ?, गोयमा ! णो तीअं खेत्तं गच्छन्ति पडुप्पण्णं खेत्तं गच्छन्ति णो अणागयं खेत्तं गच्छन्ति त्ति, तं भन्ते ! किं पुट्ठं गच्छन्ति० जाव नियमा छद्दिसिं ति, एवं ओभासेंति, तं भन्ते ! किं पुट्ठं ओभासेंति ? एवं आहारपयाइं णेअव्वाइं पुट्ठोगाढमणंतरअणुमहआदिविसयाणुपुव्वी अ ०जाव णिअमा छद्दिसिं, एवं उज्जोवेंति तवेंति पभासेंति ११ (सू० १३७) जम्बुद्दीवे णं भन्ते ! दीवे सूरिआ णं किं तीते खित्ते किरिआकज्जइ पडुप्पण्णे०अणागए०? गोयमा ! णो तीए

खित्ते किरिआ कज्जइ, पडुप्पण्णे कज्जइ , णो अणागए, सा भन्ते ! किं पुट्ठा कज्जइ ?, गोअमा ! पुट्ठा कज्जइ णो अणापुट्ठा कज्जइ ०जाव णिअमा छद्दिसिं । (सू० १३८)

जम्बूद्वीपे भदन्त ! सूर्यौ उद्गमनमुहूर्त्ते--उदयोपलक्षिते मुहूर्त्ते एवमस्तमनमुहूर्त्ते, सूत्रे यकारलोप आर्षत्वात् , दूरे च--द्रष्टृस्थानापेक्षया विप्रकृष्टे मूले च द्रष्टृप्रतीत्यपेक्षया आसन्ने दृश्यते, द्रष्टारो हि स्वरूपतः सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैः समधिकैर्व्यवहितमुद्गमनास्तमनयोः सूर्यं पश्यन्ति, आसन्नं पुनर्मन्यन्ते, विप्रकृष्टं सन्तमपि न प्रतिपद्यन्ते , मध्यान्तिकमुहूर्त्ते इति-मध्यो--मध्यमोऽन्तो-विभागो गमनस्य दिवसस्य वा मध्याह्न स यस्य मुहूर्त्तस्यास्ति स मध्यान्तिकः , स चासौ मुहूर्त्तश्चेति मध्यान्तिको-मध्याह्नमुहूर्त्त इत्यर्थः , तत्र मूले चासन्ने देशे द्रष्टृस्थानापेक्षया दूरे च-विप्रकृष्टे देशे द्रष्टृप्रतीत्यपेक्षया सूर्यौ दृश्येते द्रष्टा हि मध्याह्ने उदयास्तमयनदर्शनापेक्षया आसन्नं रविं पश्यति , योजनशताष्टकेनैव तदाऽस्य व्यवहितत्वात् मन्यते पुनरुद्गमास्तमयनप्रतीत्यपेक्षया व्यवहितमिति , अत्र सर्वत्र काका प्रश्नोऽवसेयः । अत्र भगवानाह—तदेव यद्भवताऽनन्तरमेव प्रश्नविषयीकृतं तत्तथैवेत्यर्थः. यावद् दृश्यते इति, अत्र चर्मदृशां जायमाना प्रतीतिर्मा ज्ञानदृशा प्रतीत्या सह विसंवदत्विति संवादाय पुनर्गौतमः पृच्छति-'जम्बूद्दीवे णं'मित्यादि,जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे उद्गमनमुहूर्त्ते च मध्यान्तिकमुहूर्त्ते च अस्तमयनमुहूर्त्ते च अत्र चशब्दा वाशब्दार्थाः सूर्यौ सर्वेषु-उक्तकालेषु समौ उच्चत्वेन, अत्रापि काकुपाठात् प्रश्नावगतिः , भगवानाह-तदेव यद्भवता मां प्रति पृष्टं यावदुच्चत्वेनेति, सर्वत्र-उद्गमनमुहूर्त्तादिषु समौ समस्यवधानाद्युच्चत्वेन समभूतलापेक्षयाऽष्टौ योजनशतानीतिकृत्वा, न हि सतीं जनप्रतीतिं वयमपलपाम इति भगवदुक्तमेवानुवदन्नत्र विप्रतिपत्तिबीजं प्रष्टुमाह- ' जइ णं ' मित्यादि. प्रश्नसूत्रं स्पष्टम् . उत्तरसूत्रे गौतम ! लेश्यायाः-सूर्यमण्डलगततेजसः प्रतिघातेन दूरतरत्वादुद्गमनदेशस्य तदप्रसरणेनेत्यर्थः. उद्गमनमुहूर्त्ते दूरे च मूले च दृश्यते. लेश्याप्रतिघाते हि सुखदृश्यत्वेन स्वभावेन दूरस्थोऽपि सूर्य आसन्नप्रतीतिं जनयति , एवमस्तमयनमुहूर्त्तेऽपि व्याख्येयम् , द्वयोः समगमकत्वात् , मध्यान्तिकमुहूर्त्ते तु लेश्याया अभितापेन-प्रतापेन सर्वतस्तेज प्रतापेनेत्यर्थः , मूले च दूरे च दृश्येते. मध्याह्ने ह्यासन्नोऽपि सूर्यस्तीव्रतेजसा दुर्दर्शत्वेन दूरप्रतीतिं जनयति एवमेवासन्नत्वेन दीप्तलेश्याकत्वं दिनवृद्धिपक्षयोर्द्वयो नादो दूरतरत्वेन मन्दलेश्याकत्वं दिनहानिहीनाद्यद्य वाच्या.. उद्गमनास्तमयनादीनि च ज्योतिष्काणां गतिप्रवृत्ततया जायन्ते इति । तेषां गमनप्रश्नविषयं सूत्रमाह—'जम्बुद्दीवे णं' मित्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे सूर्यौ किमतीत—गतिविषयीकृतं क्षेत्रं गच्छतः-अतिक्रामतः उत प्रत्युत्पन्न-वर्तमान गतिविषयीक्रियमाणं उत अनागतं गतिविषयीकरिष्यमाणम् , एतेन इह च यन्मण्डलस्थ सूर्यः अतीतस्य स्थानस्य तदोद्गमनमुदयने तेनाश्वारोहिस्याहिदृश्यव्यवहारविषयत्व नोपपद्यते अनादिनिधनत्वादिति शङ्का ?. ... । भगवानाह—गौतम ! नोऽतीतस्य निषेधार्थत्वादाह्नानीतं क्षेत्रं गच्छतः , अतीतक्रियाविषयीकृते वर्त्तमानक्रियाया एवासम्भवात् , प्रत्युत्पन्नं गच्छतः वर्त्तमानक्रियाविषये वर्त्तमानक्रियायाः सम्भवात् , नो अनागतम् अनागतक्रियाविषयेऽपि तदसम्भवात् ,अत्र प्रस्तावाद् गतिविषय क्षेत्रं कीदृक् स्यादिति प्रष्टुमाह—

' तं भन्ते ! किं पुट्ठं ' इत्यादि, अत्र यावत्पदसंग्रहोऽयम्—'पुट्ठं गच्छति.गोअमा ! पुट्ठं गच्छति णो, अपुट्ठं गच्छन्ति, तं भन्ते ! किं ओगाढं गच्छन्ति अणोगाढं गच्छन्ति ?,गोअमा ! ओगाढं गच्छन्ति, णो अणोगाढं गच्छन्ति, तं भन्ते . किं अणंतरोगाढं गच्छन्ति,परंपरोगाढं गच्छन्ति ?, गोअमा !अणंतरोगाढं गच्छन्ति णो परंपरोगाढं गच्छन्ति, तं भन्ते ! किं अणुं गच्छति बायरं गच्छति ? , गोयमा ! अणुं पि गच्छंति बायरं पि गच्छति, तं भन्ते ! किं उड्ढं गच्छति अहे गच्छति तिरियं गच्छन्ति ?, गोअमा ! उड्ढं पि गच्छन्ति तिरिअं पि गच्छन्ति अहे वि गच्छन्ति, तं भन्ते ! किं आइं गच्छंति मज्झे गच्छंति पज्जवसाणे गच्छति ?, गोअमा ! आइं पि गच्छति मज्झे वि गच्छंति पज्जवसाणे वि गच्छंति, तं भन्ते ! किं सविसयं गच्छति , अविसयं गच्छंति? , गोअमा ! सविसयं गच्छंति, णो अविसयं गच्छंति, तं भन्ते ! किं आणुपुव्विं गच्छंति अणाणुपुव्विं गच्छंति ?, गोयमा ! आणुपुव्विं गच्छति णो अणाणुपुव्विं गच्छंति, तं भन्ते ! किं एगदिसिं गच्छंति छद्दिसिं गच्छंति ?, गोयमा ! णियमा छद्दिसिं गच्छति ' त्ति, अत्र व्याख्या—तद् भदन्त ! क्षेत्रं किं स्पृष्टं—सूर्यबिम्बेन सह स्पर्शमागतं गच्छतः—अतिक्रामतः उताऽस्पृष्टम् , अत्र पृच्छकस्यायमाशयः-गम्यमानं हि क्षेत्रं किञ्चित् स्पृष्टमतिक्रम्यते यथाऽपवरकक्षेत्रं किञ्चिच्चाऽस्पृष्टं यथा देहलीक्षेत्रमतोऽत्र कः प्रकार इति, भगवानाह—स्पृष्टं गच्छतः नास्पृष्टम् .अत्र सूर्यबिम्बेन सह स्पर्शनं सूर्यबिम्बावगाहक्षेत्राद्बहिरपि सम्भवति स्पर्शनाया अवगाहनातोऽधिकविषयत्वात् .ततः प्रश्नयति—तद्भदन्त ! स्पृष्टं क्षेत्रम् अवगाढं--सूर्यबिम्बेनाश्रयीकृतम्-अधिष्ठितमित्यर्थः उतानवगाढं तेनानाश्रयीकृतं, नाधिष्ठितमित्यर्थः , भगवानाह—गौतम ! अवगाढं क्षेत्रं गच्छतः नानवगाढम् , आश्रितस्यैव त्यजनयोगात् . अथ यद्भदन्त ! अवगाढं तदनन्तरावगाढम्-अव्यवधानेनाश्रयीकृतम् . उत परम्परावगाढं—व्यवधानेनाश्रयीकृतं ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्तरावगाढं न पुनः परम्परावगाढम् . किमुक्तं भवति ?—यस्मिन्नाकाशखण्डे यो मण्डलावयवोऽव्यवधानेनावगाढः स मण्डलावयवस्तमेवाकाशखण्डं गच्छति न पुनरपरमण्डलावयवावगाढं तस्य व्यवहितत्वेन परम्परावगाढत्वात् तच्चाऽऽगमनलक्षणमपि स्यादित्याह-तद्भदन्त ! अणुं गच्छतः बादरं वा ? गौतम ! अणवपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलक्षेत्रापेक्षया बादरमपि सर्वबाह्यमण्डलक्षेत्रापेक्षया. तथाऽन्तरालक्षेत्रानुसारेण गमनसम्भवात् , गमनं च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विषयेऽपि सम्भवेदिति प्रश्नयति-तद्भदन्त ! क्षेत्रमूर्ध्वमधस्तिर्यग्वा गच्छतः ?, गौतम ! ऊर्ध्वमपि तिर्यगप्यधोऽपि. ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं च योजनैकषष्टिभागरूपचतुर्विंशतिभागप्रमाणोत्सेधापेक्षया द्रष्टव्यम् ,अन्यथा ' जाव णियमा छद्दिसिं ' इति चरमसूत्रेण सह विरोधः स्यात् , इदं च

व्याख्यानं प्रज्ञापनोपाङ्गगतैकादशभाषापदाष्टाविंशतितमाहारपदगतोर्ध्वाधस्तिर्यग्विषयकनिर्वचनसूत्रव्याख्यानुसारेण कर्त्तमिति बोध्य,गमनं च क्रिया सा च बहुसामयिकत्वात् त्रिकालनिर्वर्त्तनीया स्यादित्यादिमध्यादिप्रश्न', तद्भदन्त ! किमादौ गच्छन्त किं मध्ये उत पर्यवसाने वा ?, भगवानाह-गौतम ! षाष्ठमुहूर्त्तप्रमाणस्य मण्डलसंक्रमकालस्यादावपि मध्येऽपि पर्यवसानेऽपि वा गच्छत ,उक्तप्रकारत्रयेण मण्डलकालसमापनात् , अथ तद्भदन्त ! स्वविषये—स्वोचितं क्षेत्र गच्छन्त उत अविषय वा, स्वानुचितमित्यर्थ गौतम ! स्वविषय स्पृष्टावगाढनिरन्तरावगाढस्वरूप गच्छत' न अविषयम्-अस्पृष्टानवगाढपरम्परावगाढक्षेत्राणां गमनायोग्यत्वात्, तद्भदन्त ! आनुपूर्व्या—क्रमेण यथासन्नं गच्छत, उत अनानुपूर्व्य—क्रमेणानासन्नमित्यर्थ सूत्रे द्वितीया तृतीयार्थे, गौतम ! आनुपूर्व्या गच्छन्त न अनानुपूर्व्या व्यवस्थाहाने , प्रागुक्तमेव दिक्प्रश्नं व्यक्त्या आह—तद्भदन्त ! किमेकदिग्विषयक क्षेत्र गच्छन्त यावत् षड्दिग्विषयकम् ?, गौतम ! नियमात् षड्दिशि , तत्र पूर्वादिषु तिर्यग्दिशु उदित सन् स्फुटमेव गच्छन् दृश्यते ऊर्ध्वाधोदिग्गमनं च यथोपपद्यते तथा प्राग्दर्शितम् । सम्प्रत्येतदतिदेशेनावभासनादिसूत्राण्याह— एवं ओभासेंति ' इत्यादि , 'एव ' मिति-गमनसूत्रप्रकारेण अवभासयत —ईषदुद्योतयत , यथा स्थूरतरमेव दृश्यते , तमेव प्रकारमीषद्दर्शयति—तद्भदन्त ! क्षेत्र स्पृष्टसूर्यतेजसा व्याप्तम् अवभासयत उतास्पृष्टम् ?, भगवानाह-स्पृष्टम् ,नास्पृष्टम् ,दीपादिभास्वरद्रव्याणां प्रभाया गृहादिस्पर्शपूर्वकमेवावभासकत्वदर्शनात् , एव—स्पृष्टपदरीत्या आहारपदानि-चतुर्थोपाङ्गगताष्टाविंशतितमपदे आहारग्रहणविषयकाणि पदानि-द्वाराणि नेतव्यानि, तद्यथा-' पुट्ठो ' इत्यादि , प्रथमतः स्पृष्टविषयं सूत्रम् , ततोऽवगाढसूत्र ततोऽणुबादरसूत्रं तत ऊर्ध्वाध:प्रभृतिसूत्रम् ,तत 'आइ' इति उपलक्षणमेतत् आदिमध्यावसानसूत्र ततो विषयसूत्रं तदनन्तरमानुपूर्वीसूत्रम् ,ततो यावत् नियमात् षड्दिशीति सूत्रम् ,अत्र यथासम्भवं विपक्षसूत्राण्युपलक्षणाद् ज्ञेयानि, अत्र चोर्ध्वादिदिग्भावना सूत्रकृत् स्वयमेव वक्ष्यति , एवमुद्द्योतयतो—भृशं प्रकाशयत यथा स्थूलमेव दृश्यते , तापयत -अपनीतशीत कुरुत , यथा सूक्ष्म पिपीलिकादि दृश्यते तथा कुरुत , प्रभासयतः-अतितापयोगादविशेषतोऽपनीतशीत कुरुत ,यथा सूक्ष्मतरं दृश्यते.उक्तमेवार्थं शिष्यहिताय प्रकारान्तरेण प्रश्नयितु द्वादशद्वारमाह—'जम्बुद्दीवेण' मित्यादि , जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे द्वयो सूर्ययो किमतीते क्षेत्रे-पूर्वोक्तस्वरूपे क्रिया-अवभासनादिका क्रियते , कर्मकर्त्तरि प्रयोगोऽय तेन भवतीत्यर्थ , प्रत्युत्पन्ने अनागते वा ?, भगवानाह- गौतम ! नो अतीते क्षेत्रे क्रिया क्रियते , प्रत्युत्पन्ने क्रियते, नो अनागते, व्याख्यान प्राग्वत् ,सा क्रिया भगवन् ! किं स्पृष्टा क्रियते?,उतास्पृष्टा क्रियते ? गौतम ! स्पृष्टा तेजसा स्पर्शनं स्पृष्ट भावे क्तप्रत्ययविधानात् तद्योगाद् या सा स्पृष्टा उच्यते,कोऽर्थ'?—सूर्यतेजसा क्षेत्रस्पर्शनेऽवभासनमुद्द्योतनं तापनं प्रभासनमित्यादिका क्रिया स्यादिति । अथवा—स्पृष्टात्—स्पर्शनातिति पञ्चमीपरतया व्याख्येयम न अस्पृष्टात् क्रियते , अत्र यावत्पदात् आहारपदानि ग्राह्याणि । तत्र च सूत्रपद्धति —

" से णं भन्ते ! किं ओगाढा अणोगाढा ?, ओगाढा,णो अणोगाढा ।"अत्रापि भावे क्तप्रत्ययविधानादवगाढम्—अवगाहनं क्षेत्रे तेज पुद्गलानामवस्थानं तद्योगाद्या साऽवगाढा क्रिया,एवमनन्तरावगाढपरम्परावगाढसूत्रम् . 'सा ण भन्ते! अणू किज्जइ? बायरा किज्जइ?, गोअमा ! अणू वि बायरा वि' त्ति-सा क्रिया अवभासनादिका किमणुर्वा बादरा वा क्रियते गौतम ! अणुरपि —सर्वाभ्यन्तरमण्डलक्षेत्रावभासनापेक्षया, बादराऽपि—सर्वबाह्यमण्डलक्षेत्रावभासनापेक्षया, ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्सूत्रविभावना सूत्रकृदनन्तरमेव करिष्यति ' सा ण भन्ते ! किं आइ किज्जइ मज्झे किज्जइ पज्जवसाणे किज्जइ ?, गोयमा ! आइं पि किज्जइ मज्झे वि किज्जइ पज्जवसाणे वि किज्जइ ' त्ति गमनसूत्र इवात्रापि भावना । एव विषयसूत्रमानुपूर्वीसूत्र च ज्ञेयमिति ।

अथ त्रयोदशद्वारमाह—

जम्बूदीवे णं भन्ते ! दीवे सूरिआ केवइअं खेत्तं उड्ढं तवयन्ति अहे तिरिअं च ?, गोयमा ! एगं जोअणसयं उड्ढं तवयन्ति अट्ठारससयजोअणाइं अहे तवयन्ति सीआलीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेवट्ठे जोअणसए एगवीसं च सट्ठिभाए जोअणस्स तिरिअं तवयन्ति त्ति १३ । (सू० १३६) । अंतो णं भंते ! माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स जे चंदिमसूरिअगहगणणक्खत्ततारारूवा णं भन्ते ! देवा किं उड्ढोववण्णगा कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा चारट्ठिइआ गइरइआ गइसमावण्णगा ?,गोयमा ! अंतो णं माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स जे चन्दिमसूरिअ ०जाव तारारूवे ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा णो कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा णो चारट्ठिइआ गइरइआ गइसमावण्णगा उड्ढीमुहकलंबुआपुप्फसंठाणसंठिएहिं जोअणसाहस्सिएहिं तावखेत्तेहिं साहस्सिआहिं वेउव्विआहिं बाहिराहिं परिसाहिं महया हयणट्टगीअवाइअतंतीतलतालतुडिअघणमुइंगपडुप्पवाइअरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा महया उक्किट्ठिसीहणायबोलकलकलरवेणं अच्छं पव्वयरायं पयाहिणावत्तमण्डलचारं मेरु अणुपरिअट्टंति १४ । (सू०१४०)

' जम्बूदीवे ण मित्यादि प्रश्नसूत्र व्यक्तम् ,उत्तरसूत्रे गौतम! ऊर्ध्वमेक योजनशत तापयत , स्वविमानस्योपरि योजनशतप्रमाणस्यैव तापक्षेत्रस्य भावात् , अष्टादशशतयोजनान्यधस्तापयत' कथं ? सूर्याभ्यामष्टासु योजनशतेष्वधोगतेषु भूतलम् , तस्माच्च योजनसहस्रे अधोग्रामा स्युस्तांश्च यावत्तापनात् सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि इत्यादि प्रमाण क्षेत्र तिर्यक् तापयतः, एतच्च सर्वोत्कृष्टदिवसस्य चक्षु स्पर्शापेक्षया बोध्यम् , तिर्यग्दिक्कथनेन पूर्वपश्चिमयोरेवेद ग्राह्यम् , उत्तरस्तु १८० न्यून ४५ योजनसहस्राणि याम्यत पुनर्द्वीपे १८० योजनानि,लवणे तु योजनानि ३३सहस्राणि ३ शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागयुतानीति । अथ मनुष्यक्षेत्रवर्त्तिज्योतिष्कस्वरूपं प्रष्टुं चतुर्दशद्वारमाह— ' अंतो ण भन्ते !' इत्यादि,अन्त-मध्ये भदन्त ! मानुषोत्तरस्य मनुष्ये-

भ्यः उत्तर --अग्रवर्ती एतमवधीकृत्य मनुष्याणामुत्पत्ति-विपत्तिसिद्धिसम्पत्तिप्रभृतिभावात्। अथवा-मनुष्याणामुत्तरे--विद्यादिशक्त्यभावेऽनुल्लङ्घनीयो मानुषोत्तरस्तस्य पर्वतस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपज्योतिष्का' ते भदन्त! अत्रैकस्मिन्नेव प्रश्ने यद्भदन्तेति भगवत्सम्बोधनं पुनश्चक्रे तत्पृच्छकस्य भगवन्नामोच्चारेऽतिप्रीतिमत्त्वात् देवा' किमूर्ध्वोपपन्ना --सौधर्मादिभ्यो द्वादशभ्य' कल्पेभ्य ऊर्ध्वं ग्रैवेयकानुत्तरविमानेषूपपन्ना -उत्पन्ना कल्पातीता इत्यर्थ, कल्पोपपन्ना-सौधर्मादिदेवलोकोत्पन्ना विमानेषु-ज्योतिःसम्बन्धिषु उपपन्ना चारो--मण्डलगत्या परिभ्रमणं तमुपपन्ना-आश्रितवन्त. उत चारस्य-यथोक्तस्वरूपस्य स्थिति -अभावो येषां ते चारस्थितिका, अपगतचारा इत्यर्थ, गतौ रति --आसक्ति प्रीतिर्येषा ते गतिरतिका, अनेन गतौ रतिमात्रमुक्तं, सम्प्रति साक्षाद् गतिं प्रश्नयति-गतिसमापन्ना -गतियुक्ता'?, भगवानाह-गौतम! अन्तरमानुषोत्तरस्य पर्वतस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपज्योतिष्कास्ते देवा नोर्ध्वोपपन्नाः नो कल्पोपपन्ना. विमानोपपन्नाः चारोपपन्ना. नो चारस्थितिकाः अत एव गतिरतिका. गतिसमायुक्ता, ऊर्ध्वमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थितैरिति प्राग्वत्, योजनसाहस्रिकै अनेकयोजनसहस्रप्रमाणैस्तापक्षेत्रै. अत्रेत्थंभावे तृतीया, तेनेत्थंभूतैस्तैस्तैर्मेरुं परिवर्त्तन्त इति क्रियायोग. कोऽर्थ?--उक्तस्वरूपाणि तापक्षेत्राणि कुर्वन्तो जम्बूद्वीपगत मेरु परितो भ्रमन्ति, तापक्षेत्रविशेषण चन्द्रसूर्याणामेव, नतु नक्षत्रादीना, यथासम्भव विशेषणाना नियोज्यत्वात्, अथैतान् साधारण्येन विशेषयन्नाह--साहस्रिकाभि'--अनेकसहस्रसङ्ख्याकाभि. वैकुर्विकाभिः--विकुर्वितनानारूपधारिणीभिर्बाह्याभिः--आभियोगिककर्मकारिणीभि', नाट्यगानवादनादिकर्मप्रवणत्वात् न तु तृतीयपर्षद्रूपाभि', पर्षद्भिः-देवसमूहरूपाभि कर्तृभूताभि, बहुवचनं चात्र नाटयादिगणापेक्षया. महता प्रकारेणाऽऽहतानि-भृशं ताडितानि नाट्ये गीते वादित्रे च-वादनरूपे त्रिविधेऽपि सङ्गीते इत्यर्थ, तन्त्रीतलतालरूपतूर्याहतानि शेषं प्राग्वत्, तथा स्वभावतो गतिरतिकैः-बाह्यपर्षदन्तर्गतैर्देवैर्वेगेन गच्छत्सु विमानेषूत्कृष्टो यः सिंहनादो मुच्यते यौ च बोलकलकलौ क्रियेते, तत्र बोलो नाम मुखे हस्तं दत्वा महता शब्देन पूत्करणं, कलकलश्च-व्याकुलशब्दसमूहस्तद्रवेण महता महता समुद्ररवभूतमिव कुर्वाणा मेरुमिति योगः, किंविशिष्टमित्याह-अच्छम्--अतीव निर्मल जाम्बूनदमयत्वात् रत्नबहुलत्वाच्च पर्वतराजं--पर्वतेन्द्र' प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलचार' मिति प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमतां चन्द्रादीनां दक्षिण एव मेरुर्भवति यस्मिन्नावर्त्तने--मण्डलपरिभ्रमणरूपे स प्रदक्षिण., प्रदक्षिणः आवर्त्तो येषां मण्डलानां तानि तथा तेषु यथा चारो भवति तथा क्रियाविशेषणं तेन प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलं चारं यथा स्यात्तथा मेरुं परिवर्त्तन्ते इति योज्यम्, अयमर्थ --चन्द्रादय सर्वेऽपि समयक्षेत्रवर्त्तिनो मेरु परितः प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलचारेण भ्रमन्तीति।

अथ पञ्चदशं द्वारमाह--

तेसि णं भन्ते! देवाणं जाहे इंदे चुए भवइ से कहमियाणिं पकरेंति?, गोयमा! ताहे चत्तारि पंच वा सामाणिआ देवा तं ठाणं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति ०जाव तत्थ अन्ने इंदे उववन्ने भवइ। इंदट्ठाणे णं भंते! केवइअं कालं उववाएणं विरहिए?, गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं छम्मासे उववाएणं विरहिए। बाहिआ णं भन्ते! माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स जे चंदिम ०जाव तारारूवा तं चेव णेअव्वं णाणत्तं विमाणोववण्णगा णो चारोववण्णगा चारट्ठिइआ णो गइरइआ णो गइसमावण्णगा पक्किट्टगसंठाणसंठिएहिं जोअणसयसाहस्सिएहिं तावखित्तेहिं सयसाहस्सिआहिं वेउव्विआहिं बाहिराहिं परिसाहिं महया हयणट्ट ०जाव भुंजमाणा सुहलेसा मन्दलेसा मन्दातवलेसा चित्तंतरलेसा अण्णोण्णसमोगाढाहिं लेसाहिं कूडाविव ठाणट्ठिआ सव्वओ समन्ता ते पएसे ओभासंति उज्जोवेंति पभासेन्ति त्ति। तेसि णं भन्ते! देवाणं जाहे इंदे चुए से कहमियाणिं पकरेन्ति ०जाव जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा इति १५। (सू० १४१)

'तेसि ण' मित्यादि, तेषां भदन्त! ज्योतिष्कदेवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा इदानीम्-इन्द्रविरहकाले कथ प्रकुर्वन्ति?, भगवानाह--गौतम! तदा चत्वार. पञ्च वा सामानिका देवा' संभूय एकबुद्धितया भूत्वेत्यर्थ तत्स्थानम् इन्द्रस्थानमुपसम्पद्य विहरन्ति--तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्ति, कियन्त कालमिति चेदत आह--यावदन्यस्तत्र इन्द्र उपपन्नः--उत्पन्नो भवति। इदानीमिन्द्रविरहकाल प्रश्नयन्नाह--'इंदट्ठाणे ण' मित्यादि, इन्द्रस्थानं भदन्त! कियन्त कालमुपपातेन--इन्द्रोत्पादेन विरहितं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह--गौतम? जघन्येनैकं समय यावत् उत्कर्षेण षण्मासान् यावत्ततः परमवश्यमन्यस्येन्द्रस्योत्पादसम्भवात् इति। सम्प्रति समयक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तिज्योतिष्काणां स्वरूपं पृच्छति--'बहिआ ण' मित्यादि, बहिस्ताद् भगवन्! मानुषोत्तरस्य पर्वतस्य ये चन्द्रादयो देवास्ते किमूर्ध्वोपपन्ना, इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, निर्वचनसूत्रे तु नोर्ध्वोपपन्ना, नापि कल्पोपपन्नाः, किन्तु विमानोपपन्ना. तथा नो चारोपपन्ना नो चारयुक्ता., किन्तु चारस्थितिका, अत एव नो गतिरतयो नापि गतिसमापन्नका, पक्वेष्टकासंस्थानसंस्थितैर्योजनशतसाहस्रिकैस्तापक्षेत्रैस्तान् प्रदेशान् अवभासयन्तीत्यादिक्रियायोग. पक्वेष्टकासंस्थानं चात्र यथा पक्वेष्टका आयामतो दीर्घा भवति विस्तरस्तु स्तोका चतुरस्रा च तेषामपि मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तिना चन्द्रसूर्याणामातपक्षेत्राणि आयामतोऽनेकयोजनलक्षप्रमाणानि। इयमत्र भावना--मानुषोत्तरपर्वतात् योजनलक्षार्द्धातिक्रमे करणविभावनोक्तकरणानुसारेण प्रथमा चन्द्रसूर्यपङ्क्तिस्ततो योजनलक्षातिक्रमे द्वितीया पङ्क्तिस्तत्र प्रथमपङ्क्तिगतचन्द्रसूर्याणामेतावत्तापक्षेत्रस्यायामः विस्तारश्च, एकसूर्यादपरः सूर्यो लक्षे जनातिक्रमे तेन लक्षयोजनप्रमाणं, इयं च भावना प्रथमपङ्क्त्यपेक्षया बोद्धव्या. एवमग्रेऽपि भाव्यम् 'सयसाहस्सियाहिं

इत्यादि प्राग्वत्, कथंभूता इत्याह-सुहलेश्याः, एतच्च विशेषणं चन्द्रान् प्रति, तेन तेनातिशीततेजसः मनुष्यलोके इव शीतकालादौ, न एकान्ततः शीतरश्मय इत्यर्थः, मन्दलेश्या एतच्च सूर्यान् प्रति, तेन ते नात्युष्णतेजसः मनुष्यलोके इव निदाघसमये, न एकान्ततः उष्णरश्मय इत्यर्थः, एतदेव व्याचष्टे-मन्दातपलेश्याः-मन्दा-नात्युष्णस्वभावा आतपरूपा लेश्या-रश्मिसंघातो येषां ते तथा, तथा च चित्रान्तरलेश्या -चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा, भावार्थश्चास्य चित्रमन्तरं सूर्याणां चन्द्रान्तरितत्वात्, चित्रलेश्या चन्द्रमसा शीतरश्मित्वात् सूर्याणामुष्णरश्मित्वात्, काभिरवभासयन्तीत्याह-अन्योऽन्यसमवगाढाभि -परस्परसंश्लिष्टाभिर्लेश्याभि . तथाहि-चन्द्रमसा सूर्याणा च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाणविस्ताराश्चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं पञ्चाशद्योजनसहस्राणि ततश्चन्द्रप्रभामिश्रा सूर्यप्रभा सूर्यप्रभामिश्राश्चन्द्रप्रभा, इत्थं चन्द्रसूर्यप्रभाणां मिश्रीभाव । एवा स्थिरत्वं दृष्टान्तेन द्योतयन्ति-कूटानीव-पर्वतोपरिव्यवस्थितशिखराणीव स्थानस्थिताः-सदैवैकस्मिन् स्थाने स्थिता सर्वत -समन्तात्, तान् प्रदेशान्-स्वस्वप्रत्यासन्नान् अवभासयन्ति उद्योतयन्ति तापयन्ति प्रभासयन्तीत्यादि प्राग्वत्। एतासामपीन्द्राभावे व्यवस्था प्रश्नयन्नाह--'तेसि णं भन्ते ! देवाणं' मित्यादि प्राग्वत्। इति कृता पञ्चदशानुयोगद्वारैः सूर्यप्ररूपणा । जं० ७ वक्ष० ।

जावइयाओ य णं भंते ! उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति अत्थमंते वि य णं सूरिए तावतियाओ चेव उवासंतराओ चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति ?, हंता ! गोयमा ! जावइयाओ णं उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति अत्थमंते वि सूरिए ०जाव हव्वमागच्छति । जावइया णं भंते ! खित्तं उदयंते सूरिए आतावेणं सव्वओ समंता ओभासेइ उज्जोएइ तवेइ पभासेइ, अत्थमंते वि य णं सूरिए तावइयं चेव खित्तं आयामेणं सव्वओ समंता ओभासेइ उज्जोएइ तवेइ पभासेइ ?, हंता गोयमा ! जावतियण्णं खेत्तं ०जाव पभासेइ । तं भंते ! किं पुट्ठं ओभासेइ अपुट्ठं ओभासेइ ?, ०जाव छद्दिसिं ओभासेति, एवं उज्जोवेइ तवेइ पभासेइ ०जाव नियमा छद्दिसिं । (सू० ५० ×)

'जावइयाओ' इत्यादि, यत्परिमाणात् 'उवासंतराओ' त्ति 'अवकाशान्तरात्' आकाशविशेषादवकाशरूपान्तरालाद्वा यावत्यवकाशान्तरे स्थित इत्यर्थः 'उदयते' त्ति उदयन्-उद्गच्छन् 'चक्खुप्फास' ति-चक्षुषो-दृष्टेः स्पर्श इव स्पर्शो न तु स्पर्श एव चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वादिति चक्षुःस्पर्शस्तं 'हव्वं' ति शीघ्रं, स च किल सर्वाभ्यन्तरमण्डले सप्तचत्वारिंशतियोजनानां सहस्रेषु द्वयोः शतयोस्त्रिषष्टौ (४७२६३) च साधिकायां वर्तमान उदये दृश्यते ;अस्तसमयेऽप्येवम्, एवं प्रतिमण्डलं दर्शने विशेषोऽस्ति, स च स्थानान्तरदवसेयः, 'सव्वओ समंत' त्ति सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्तात्-विदिक्षु एकार्थौ वैतौ, 'ओभासेई' त्यादि 'अवभासयति' ईषत्प्रकाशयति यथा स्थूलतरमेव वस्तु दृश्यते उद्योतयति-भृशं प्रकाशयति यथा स्थूलमेव दृश्यते तपति-अपनीतशीतं करोति, यथा वा सूक्ष्मं पिपीलिकादि दृश्यते तथा करोति प्रभासयति-अतितापयोगाद्विशेषतोऽपनीतशीतं विधत्ते यथा वा सूक्ष्मतरं वस्तु दृश्यते तथा करोतीति । एतत्क्षेत्रमेवाश्रित्याह-'तं भंते' त्यादि तं भंते' त्ति--यत् क्षेत्रमवभासयति यदुद्योतयति तपति प्रभासयति च तत्-क्षेत्रं किं भदन्त ! स्पृष्टमवभासयति अस्पृष्टमवभासयति ?, इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-'गोयमा ! पुट्ठं ओभासेई नो अपुट्ठं, तं भंते ! ओगाढं ओभासेइ अणोगाढं ओभासेइ ?, गोयमा ! ओगाढं, ओभासेइ नो अणोगाढं, एवं अणंतरोगाढं ओभासेइ नो परंपरोगाढं, तं भंते !, किं अणुं ओभासइ बायरं ओभासइ ?, गोयमा ! अणुं पि ओभासइ बायरं पि ओभासइ, तं भंते ! उड्ढं ओभासइ ? तिरियं ओभासइ २, अहे ओभासइ ३ ?, गोयमा ! उड्ढं पि० ३ तं भंते ! आइं ओभासइ १, मज्झे ओभासइ २, अंते ओभासइ ३ ?, गोयमा ! आइं ओ० ३. तं भंते ! सविसए ओभासइ अविसए ओभासइ ?. गोयमा ! सविसए, ओभासइ नो अविसए, तं भंते ! आणुपुव्विं ओभासइ अणाणुपुव्विं ओभासइ ?, गोयमा ! आणुपुव्विं ओभासइ नो अणाणुपुव्विं तं भंते ! कइ दिसिं ओभासइ? गोयमा ! नियमा छद्दिसिं' ति। एतेषां च पदानां प्रथमोद्देशकलाहारसूत्रवद् व्याख्या द्रष्टव्या । य एव 'ओभासइ' इत्यनेन सह सूत्रप्रपञ्च उक्त स एव 'उज्जोयई' त्यादिना पदत्रयेण वाच्य इति दर्शयन्नाह-एवं 'उज्जोवेइ' त्यादिना स्पृष्टं क्षेत्रं प्रभासयतीत्युक्तम् । भ० १ श० ६ उ० । दिने दिने रविर्मण्डलपरावर्त्तं करोति, तत्राधिकमासि कथं करोति ?, मण्डलानि तु अयने अयने नियतान्येव सन्ति, क्षेत्रमानमपि नियतमेवास्ति, तत्र केचन वदन्ति-हीयमानदिनपूर्त्यर्थे मासवृद्धिरस्ति, हीयमानदिनपूर्तिकृते तु वृद्धिमद्दिनास्सन्ति, तथा 'आसाढ मासे दुपया' अनेन मानेन श्रावणान्त्यदिने चतुरङ्गुलवृद्धिर्विलोक्यते, द्वितीयश्रावणान्त्यदिनेऽपि चत्वार्येवाङ्गुलान्युताष्टौ ? यदि चत्वारि तदा किं पष्टिदिनेषु पुनः पुनः तत्रैव भ्राम्यति, येनाङ्गुलमानं तादृगवस्थ, तत्र मण्डलसाकृत्य यथा भवति तथा प्रसाद्यमिति प्रश्नः,अत्रोत्तरम्-सूर्यसम्बन्धित्रिंशन्मासेषु गतेषु चन्द्रसम्बन्धिनः एकत्रिंशन्मासा भवन्ति, तत्रैकत्रिंशत्तमो मासोऽभिवर्द्धित उच्यते, तेन सूर्यमण्डलानां नियतत्वेऽपि अधिकमासि पौरुष्यादिप्रमाणे न किञ्चिदनुपपन्नत्व, विशेषजिज्ञासायां मण्डलप्रकरणं विलोकनीयमिति ॥ १८४ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

सूरमग्ग-सूर्यमार्ग-पु०। सूर्यमण्डलचारमार्गे,सू०प्र०१०पाहु०। सूर्यस्य मण्डलगत्या परिभ्रमणे, चं० प्र० १० पाहु० ।

सूरमहाभद्द-सूरमहाभद्र-पु०। सूर्यद्वीपस्य पश्चार्द्धदेवे, जी०३ प्रति० ४ अधि०।

सूरमहावर-सूरमहावर-पु०। सूर्यसमुद्रस्य सूर्यवरसमुद्रस्य च पश्चार्द्धाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सूरमालिया-सूर्यमालिका-स्त्री०। दीनाराद्याकृतिमालायाम्, औ० ।

सूरमरीइ-सू(र)र्यमरीचि-पुं०। आदित्यकिरणेषु, 'सूरमरीइकवयं विणिम्मुयमाणेहिं' । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । 'सूरमरीइकवय' सूर्य-आदित्यकिरणास्त एव मरीचय. सूर्यमरीचयस्तेषां कवचमिव कवचं परिकर. परितोभावात् तं विनिर्मुञ्चद्भिर्विकिरद्भिः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सूरलेस्स सूरलेश्य--न०।चतुर्थदेवलोकविमानभेदे,स०५सम० ।

सूरल्लि-सूरल्लि-पुं० ।वनस्पतिविशेषे, जी०३ प्रति० ४ अधि० ।

सूरल्लिमंडवग सूरल्लिमण्डपक-पुं० । सूरल्लिर्वनस्पतिविशेषस्तन्मया मण्डपका सूरल्लिमण्डपका. । सूरल्लिवनस्पतिमयेषु मण्डपकेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूरवस-सूर्यवर्ण-न०।चतुर्थदेवलोकविमानभेदे, स० ५ सम० ।

सूरवर-सूर्यवर-पुं०।स्वनामख्याते द्वीपे,समुद्रे च । तत्र सूर्यवरे द्वीपे सूर्यवरभद्रसूर्यवरमहाभद्रौ, सूर्यवरे समुद्रे सूर्यवरसूर्यमहावरौ देवौ । सू० प्र० २० पाहु० । जी० । च० प्र० ।

सूरवरभद्द-सूरवरभद्र-पुं० । सूर्यवरद्वीपस्य पूर्वार्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूरवरमहाभद्द-सूरवरमहाभद्र-पुं० । सूर्यवरद्वीपस्य परार्धाधिपतौ देवे,जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूरवरोभास-सूरवरावभास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च ।तत्र सूर्यवरावभासे द्वीपे सूर्यवरावभासभद्रसूर्यवरावभासमहाभद्रौ देवौ । सूर्यवरावभाससमुद्रे सूर्यवरावभासवरसूर्यवरावभासमहावरौ देवौ । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सूर्यवरावभाससमुद्रवेष्टिते द्वीपे, सू० प्र० २० पाहु० ।

सूरवरोभासभद्द-सूरवरावभासभद्र-पुं० । सूर्यवरावभासद्वीपस्य पूर्वार्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूरवरोभासमहाभद्द-सूरवरावभासमहाभद्र-पुं० । सूर्यवरावभासद्वीपस्य परार्द्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूरवरोभासमहावर-सूरवरावभासमहावर-पुं० । सूर्यवरावभाससमुद्रस्य पश्चाद्धाधिपतौ देवे जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूरवरोभासवर-सूरवरावभासवर-पुं० । सूर्यवरावभाससमुद्रस्य पूर्वार्द्धाधिपतौ देवे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

सूरवाइ-शूरवादिन्-पुं । शूरमात्मानं वदितु शीलमस्येति शूरवादी । शूरंमन्ये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सूरविमाण-सूरविमान-न० । सूर्यसत्के विमाने,प्रज्ञा० ४ पद । ('विमाण' शब्दे षष्ठभागे वर्णक. ।) ('अंतर' शब्दे प्रथमभागे ७४ पृष्ठे चान्तरमुक्तम् ।)

सूरसंवच्छर-सूरसंवत्सर-पुं० । आदित्यसंवत्सरे , सू० प्र० १० पाहु० ।

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थस्स आइच्चसंवच्छरस्स आइच्चे मासे तीसतिमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं गणिज्जमाणे केवइए राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता तीस राइंदियाइं अवद्धभागं च राइंदियस्स राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता णव पण्णरस मुहुत्तसए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता एस णं अद्धा दुवालसखुत्तकडा आदिच्चे संवच्छरे, ता से णं केवतिए राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता तिन्नि छावट्ठे राइंदियसए राइंदियग्गेणं आहिय त्ति वइज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहिय त्ति वइज्जा ?, ता दस मुहुत्तस्स सहस्साइं णव असीते मुहुत्तसते मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा । (सू० ७२ +)

'ता एएसि ण' मित्यादि चतुर्थसूर्यसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं, तच्च सुगमम्, भगवानाह—'ता तीस' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, त्रिंशत् रात्रिन्दिवानि एकस्य रात्रिन्दिवस्य एकमपार्द्धभागम्, एकमर्द्धमित्यर्थः, एतावत्प्रमाण सूर्यमासो रात्रिन्दिवाग्रेण आख्यात इति वदेत्, तथाहि—सूर्यमासा युगे षष्टिस्ततो युगसत्कानामहोरात्राणां त्रिंशदधिकाष्टादश शतसंख्यानां षष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः सार्द्धास्त्रिंशदहोरात्रा, 'ता से ण' मित्यादि, मुहूर्त्तविषय प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह--'नवपण्णर' इत्यादि नव मुहूर्त्तशतानि पञ्चदशाधिकानि मुहूर्त्तपरिमाणेनाख्यात इति वदेत्, तथाहि--सूर्यमासपरिमाणं त्रिंशत् रात्रिन्दिवानि एकस्य च रात्रिन्दिवस्यार्द्ध तच्च त्रिंशता गुण्यते जातानि नव शतानि, रात्रिन्दिवार्द्धे च पञ्चदश मुहूर्त्ता इति, 'ता एएसि ण'मित्यादि, प्राग्वद् भावनीयम् ।सू०प्र०१२पाहु० ।

सूरसिंग-सूरशृङ्ग--न० । चतुर्थदेवलोकस्य स्वनामख्याते विमाने, स०५ सम० ।

सूरसिद्ध-सूरसिद्ध--न० । चतुर्थदेवलोकस्य स्वनामख्याते विमाने, स० ५ सम० ।

सूरसिरी-सूर्यश्री--स्त्री० । जम्बूद्वीपे सप्तमस्य चक्रवर्त्तिनो भार्यायाम्, स० ।

सूरसेण--शूरसेन-पुं० । मथुराप्रतिबद्धेषु जनपदभेदेषु, स्था० १० ३ उ० । प्रज्ञा० । सूत्र० । प्रव० । उदयसेनस्य राज्ञः स्वनामख्याते पुत्रे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । ऐरवतवर्षे चतुर्विंशतितीर्थकरेषु चतुर्दशे तीर्थकरे, स० । स्वनामख्याते शत्रुञ्जयस्योद्धारके राजनि, ती० १ कल्प ।

सूरादिय-सूरादिक-त्रि० सूर.-सूर्य आदिर्यस्य स सूरादिक । सूरकारणे, 'सूरादिया अहोरत्ता' सूरादिकाः-सूरकारणा', तथाहि-सूर्योदयमवधिं कृत्वा अहोरात्रारम्भक समयो गण्यते नान्यथा एवमावलिकादयोऽपि सूरादिका भावनीयाः । चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

सूराभ-सूर्याभ--न० । पञ्चमदेवलोके विमानविशेषे, स० ८ सम० ।

सूरावत्त-सूर्यावर्त्त--न० । स्वनामख्याते चतुर्थदेवलोकस्थ विमाने, स० ५ सम० ।

१-अत्र मूलसूत्रपाठोऽपि बोध्यः ।

सूरासूरीया–शूराशूरीया–स्त्री० । भोजनेऽथ शूरोऽयञ्च शूरो भुङ्क्तां यथेष्टमित्येवंभूतायां परिवेषणक्रियायाम् , ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

सूरि–सूरिन्–पुं० सदाचार्ये,ग० १ अधि०। "अनुयोगभृता पादान्, वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम् । निष्कारणबन्धूना,विशेषतो धर्मदातृणाम्॥१॥"। अनु०।"तीआणागयकाले,केई होहिंति गोअमा सूरी । जेसिं नामग्गहणे,नियमेण होइ पच्छित्त ॥१॥" सेन० ३ उल्ला० ।

गुरुगुणानाह—

सम्मत्तनाणचरणा, पत्तेयं अट्ठ अट्ठ भेइल्ला ।
बारसभेओ य तवो, सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥५५२ ॥

सम्यक्त्वस्य दर्शनाचारस्य नि शङ्कितादय , ज्ञानस्य ज्ञानाचारस्य कालविनयादय , चरणस्य चारित्राचारस्य ईर्यासमित्यादयः प्रत्येकमप्यष्टौ भेदा मिलिताश्चतुर्विंशति , तपसश्च बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नस्य प्रत्येक षड्विधत्वेन अनशनादयो द्वादश भेदाः , सर्वमीलने च षट्त्रिंशद्भवन्ति ।

अथ भङ्ग्यन्तरेणापि गुरो षट्त्रिंशद्गुणानाह—

आयाराई अट्ठ उ, तहेव य दसविहो य ठियकप्पो ।
बारस तव छावस्सग, सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥५५३॥

आचारा श्रुतादय प्राग्व्यावर्णितस्वरूपा अविवक्षितस्वस्वभेदा अष्टौ गणिसंपद , तथा "आचेलुक्कु १ देसिय २—सिज्जायर ३ रायपिंड ४ किइकम्मे ५ । वय ६ जेट्ठ ७ पडिक्कमणे ८, मासं ९ पज्जोसवणकप्पो १० ॥ १ ॥" इत्येवं वक्ष्यमाणस्वरूपो दशविध स्थितकल्प , तथा द्वादशविधं तप प्रागुक्तस्वरूप तथा षडावश्यकानि सामायिकचतुर्विंशतिस्तववन्दनकप्रतिक्रमणकायोत्सर्गप्रत्याख्यानलक्षणानि, एतानि सर्वाण्यपि मिलितानि षट्त्रिंशत्सूरिगुणा भवन्ति, इह चैवमन्या अपि षट्त्रिंशिका सम्भवन्ति, तास्तु विस्तरभयान्नाभिधीयन्ते,केवलं किंचित्सोपयोगत्वात् सुप्रतीतत्वाच्च—

"देसकुलजाइरूवे, संघयणं धिइजुओ अणासंसि ।
अविकत्थणो अमायी, थिरपरिवाडी गहियवक्को ॥१॥
जियपरिसो जियनिद्दो, मज्झत्थो देसकालभावन्नू ।
आसन्नलद्धपइभो, नाणाविहदेसभावन्नू ॥ २ ॥
पचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू ।
आहरण हेउ कारण-नयनिउणोगाहणाकुसलो ॥ ३ ॥
ससमयपरसमयविऊ , गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।
गुणसयकलिओ एसो. पवयणसारं परिकहेइ ॥४॥"

इति गाथाचतुष्टयभणिता सूरिगुणा षट्त्रिंशद् दृश्यन्ते–तत्र युतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते. देशयुतकुलयुत इत्यादि–तत्र यो मध्यदेशे जातो यश्चार्धषड्विंशतिषु जनपदेषु सदेशयुत , स ह्यार्यदेशभणित जानाति, तत सुखेन तस्य समीपे शिष्या सर्वेऽप्यधीयन्ते इति तदुपादानम् १ कुल पैतृकं , तथा च लोकव्यवहारः—इक्ष्वाकुकुलजोऽयमित्यादि , तेन युत प्रतिपन्नार्थनिर्वाहको भवति २ , जातिर्मातृकी, तया युतो विनयादिगुणवान् भवति३,रूपयुतो लोकानां गुणविषयबहुमानभाग् जायते,'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ती' ति प्रवादात् , कुरूपस्य अनादेयत्वादिप्रसङ्गाच्च ४, संहननेन विशिष्टशारीरसामर्थ्यरूपेण युतो व्याख्यायां न श्राम्यति ५, धृतिर्विशिष्टमानसावष्टम्भलक्षणा, तया युतो नातिगहनेष्वप्यर्थेषु भ्रममुपयाति ६, अनाशंसी—श्रोतृभ्यो वस्त्राद्यनाकाङ्क्षी ७, अविकत्थनो–नातिबहुभाषी, यथा स्वल्पेऽपि केनचिदपराद्धे पुनस्तदुत्कीर्तन विकत्थन तद्रहित ८, अमायी शाठ्यरहित ९, स्थिरा अतिशयेन निरन्तराभ्यासत स्थैर्यमापन्ना, अनुयोगपरिपाट्यो यस्य स स्थिरपरिपाटि , तस्य हि सूत्रमर्थो वा न मनागपि गलति १०, गृहीतवाक्य–उपादेयवचन , तस्य हि स्वल्पमपि वचनं महार्थमिव प्रतिभाति ११, जितपर्षत्, न महत्यामपि पर्षदि क्षोभमुपयाति १२, जितनिद्रोऽल्पनिद्र स हि रात्रौ सूत्रमर्थं वा परिभावयन् न निद्रया बाध्यते १३, मध्यस्थ –सर्वेषु शिष्येषु समचित्त १४ देश काल च भावं च जानातीति देशकालभावज्ञ , स हि देश काल भावं च लोकाना ज्ञात्वा सुखेन विहरति, शिष्याणा वा अभिप्रायान् ज्ञात्वा तान् सुखेनानुवर्तयति १५, १६, १७, आसन्ना तत्क्षणादेव लब्धा कर्मक्षयोपशमेनाविर्भूता प्रतिभा परतीर्थिकादीनामुत्तरप्रदानशक्तिर्यस्य स आसन्नलब्धप्रतिभ १८, नानाविधाना देशाना भाषा जानातीति नानाविधदेशभाषाज्ञ , स हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणि ग्राहयति, तत्र देशजांश्च जनान् तत्तद्भाषया धर्ममार्गेऽवतारयति १९, पञ्चविध आचारो ज्ञानाचारादिरूपस्तस्मिन् युक्त उद्युक्त , स्वयमाचारेष्वस्थितस्यान्यानाचारेषु प्रवर्तयितुमशक्यत्वात् २४, सूत्रार्थग्रहणेन चतुर्भङ्गी सूचिता, एकस्य सूत्र नार्थ., द्वितीयस्यार्थो न सूत्र तृतीयस्य सूत्रमप्यर्थोऽपि चतुर्थस्य न सूत्र नाप्यर्थ , तत्र तृतीयभङ्गग्रहणार्थ तदुभयग्रहणं, तत सूत्रार्थतदुभयविधीन् जानातीति सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञ २५, आहरण दृष्टान्त हेतुर्द्विविध कारको, ज्ञापकश्च । तत्र कारको–यथा घटस्य कर्ता कुम्भकार , ज्ञापको–यथा तमसि घटादीनामभिव्यञ्जक प्रदीप , उपनय —उपसंहारो दृष्टान्तदृष्टस्यार्थस्य प्रकृते योजनमिति भाव –'कारण' त्ति पाठे तु कारण–निमित्त, नया नैगमादय , एतेषु निपुणः आहरणहेतूपनयनयनिपुण स हि श्रोतारमपेक्ष्य तत्प्रतिपत्त्यनुरोधत क्वचिद् दृष्टान्तोपन्यासम् २६, क्वचिद्धेतूपन्यास करोति, २७, उपसंहारनिपुणतया सम्यगधिकृतमर्थमुपसंहरति २८, नयनिपुणतया स सम्यगधिकृतनयवक्तव्यतावसरे सम्यक् सप्रपञ्चवैविक्त्येन नयानभिधत्ते २९, ग्राहणाकुशल –प्रतिपादनशक्तियुक्त ३०, स्वसमयम् ३१ परसमयम् ३२ वेत्तीति स्वसमयपरसमयवित् , स हि परेणाक्षिप्त सुखेन स्वपक्षं परपक्ष च निर्वाहयति । गम्भीर अतुच्छस्वभाव ३३, दीप्तिमान् परवादिनामनुद्धर्षणीय ३४ शिव –अकोपनो, यद्वा–यत्र तत्र वा विहरन् कल्याणकर ३५, सोम –शान्तदृष्टि ३६ इति षट्त्रिंशद्गुणोपेतो गुरुर्विज्ञेय , उपलक्षणत्वाच्चामीषा गुणानामपरैरपि गुणैरौदार्यस्थैर्यादिभि शशधरकरनिकरकमनीयैरलङ्कृत प्रवचनोपदेशको गुरुर्भवति, तथा चाह–"गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसार परिकहेइ' त्ति ॥ यद्वा–गुणा मूलगुणा, उत्तरगुणाश्च, तेषां शतानि तै कलितो युक्त समीचीनप्रवचनस्य–द्वादशाङ्गस्य सारमर्थं कथयितुम् , यदुक्तम्–"गुणसुट्ठियस्स वयण, घयपरिसित्तो

य पावत्रो भाइ । गुणहीणस्स न सोहइ , नेहविहूणो ज-ह पईवो ॥ १॥" इति गाथाचतुष्टयार्थं ॥६४॥ प्रव० ६४ द्वार।

सूरिअ (य)-सूर्य-पुं० । " स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात्"॥८।२।१०७॥ इति यात्पूर्वं इकारः । सूरिश्रो । सूर्य । प्रा० । आदित्ये,अनु० । उत्त० । स्था० । (' सूर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यतेऽस्का ।)

तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं गोयमे अचिरुग्गयं बाल-सूरियं जासुमणाकुसुमपुंजप्पकासं लोहितगं पासइ पासित्ता जायसड्ढे० जाव समुप्पन्नकोउहल्ले जेणेव समणे भगवं महा-वीरे तेणेव उवागच्छइ०जाव नमंसित्ता०जाव एवं वयासी–

' तेण ' मित्यादि, ' अचिरोद्गतम् ' उद्गतमात्रमत एव बालसूर्यं ' जासुमणाकुसुमप्पगासे ' ति-जासुमणा नाम वृक्षस्तत्कुसुमप्रकाशमत एव लोहितकमिति ।

किमिदं भंते ! सूरिए, किमिदं भंते ! सूरियस्स अट्ठे । गोयमा ! सुभे सूरिए, सुभे सूरियस्स अट्ठे । किमिदं भंते ! सूरिए किमिदं भंते ! सूरियस्स पभा एवं चेव एवं छाया एवं लेस्सा । (सू० ५३६)

' किमिदं ' ति—किंस्वरूपमिदं सूर्यवस्तु तथा किमिदं भद न्त ! सूर्यस्य सूर्यशब्दस्याऽर्थोऽन्वर्थवस्तु ' सुभे सूरिए, त्ति—शुभस्वरूपं सूर्यवस्तु सूर्यविमानपृथिवीकायिकानामा तपाभिधानपुण्यप्रकृत्युदयवर्त्तित्वात् लोकेऽपि , प्रशस्ततया प्रतीतत्वाज्ज्योतिष्केन्द्रत्वाच्च । तथा शुभ सूर्यशब्दार्थः । तथाहि-सूरेभ्य क्षमातपोदानसंग्रामादिवीरेभ्यो हित. सूरेषु वा साधु सूर्य 'पभ' त्ति-दीप्ति -छाया शोभा प्रतिबिम्ब वा लेश्या—वर्ण । भ० १४ श०६ उ० । सूत्र० । चं० प्र० । ज्ञा० । सूत्र० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । चं० प्र० २० पाहु० ।

शूर्य-पुं० । शूरेभ्य क्षमातपोदानसग्रामादिवीरेभ्यो हितः शूरेषु वा साधु शूर्य । क्षमातपोदानसंग्रामादिशूरेषु कुशले, भ० १४ श० ६ उ० ।

सूरियकंत-सूर्यकान्त-पु० । श्वेताम्बिकानगरीराजस्य प्रदेशिन पुत्रे रा० ।

सूरियकंता-सूर्यकान्ता-स्त्री० । श्वेताम्बिकानगरीराजस्य प्रदेशिनोऽग्रमहिष्याम् ,रा० । स्वनामख्याताया सूर्यदेवाग्रमहिष्याम् , भ० ११ श० ६ उ० ।

सूरियपीठ-सूर्यपीठ-न० । सूर्यदेवतापूजनस्थाने,तत्र पूर्वमृषभदेवेन भगवता यत्र यत्र भिक्षा लब्धा तत्र तत्र श्रेयासेन पीठानि कृतानि तानि क्रमाल्लोकैरायत्तीकृतानि सौरपीठत्वेन पूज्यन्ते स्म । आ० क० ।

सूरियमंडलब्भंतर-सूर्यमण्डलाभ्यन्तर-न० । सूर्यचारकथने, जं० ७ वक्ष० ।

सूरियलेस्सा-सूर्यलेश्या-स्त्री० । सूर्यप्रभायाम् . चं० प्र० ।

'कस्मिन् लेश्या प्रतिहतेति' ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता कस्सि णं सूरियस्स लेस्सा पडिहतेति वदेज्जा ? , तत्थ खलु इमाओ वीसं पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु ता मंदरंसि णं पव्वतंसि सूरियस्स लेस्सा पडि-हता आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु १ । एगे पुण एव-माहंसु-ता मेरुंसि णं पव्वतंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहता आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु २ । एवं एतेणं अभि-लावेणं भाणियव्वं,ता मणोरमंसि णं पव्वयंसि,ता सुदंस-णंसि णं पव्वयंसि,ता सयंपभंसि णं पव्वतंसि ता गिरिरा-यंसि णं पव्वतंसि ता रतणुच्चयंसि णं पव्वतंसि ता सिलु-च्चयंसि णं पव्वयंसि ता लोअमज्झंसि णं पव्वतंसि ता लोय-णाभिंसि णं पव्वतंमि ता अच्छंसि णं प-व्वतंसि ता सूरियावत्तंसि णं पव्वतंमि ता सूरियावर-णंसि णं पव्वतसि ता उत्तमंसि णं पव्वयंसि ता दिसादिस्सि णं पव्वतंसि ता अवतंसंसि णं पव्वतंसि ता धरणिखीलंसि णं पव्वयंसि ता धरणिसिंगंमि णं पव्वयंसि ता पव्वतिंदंसि णं पव्वतंसि ता पव्वयरायंसि णं पव्वयंमि सूरियस्स लेसा पडिहता आहिता ति वदेज्जा. एगे एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो-ता मंदरे वि पवुच्चति ०जाव पव्वयराया, वुच्चति,ता जे णं पुग्गला सूरियस्स लेसं फुसंति ते णं पुग्गला सूरियस्स लेसं पडिहणंति , अदिट्ठा वि णं पोग्गला सूरियस्स लेसं पडिहणति, चरिमले-संतरगता वि णं पोग्गला सूरियस्स लेस्सं पडिहणंति । (सू० २६)

' ता कस्सि ण ' मित्यादि , ता इति पूर्ववत् , अभ्यन्तरम-ण्डले सूर्यस्य लेश्या प्रसरतीति कस्मिन् स्थाने लेश्या प्रति-हता आख्याता इति वदेत् ?, अयमिह भावार्थ —इहावश्य-मभ्यन्तर प्रविशन्ती सूर्यस्य लेश्या कस्मिन् स्थाने प्रतिहते-त्यभ्युपगन्तव्य, यत. सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये च मण्डले ज-म्बूद्वीपगतं तापक्षेत्रमायामतः पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रप्र माणमेवाख्यातमेतच्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगते सूर्ये लेश्याप्र-तिहतिमन्तरेण नोपपद्यते अन्यथा निष्क्रामति सूर्ये तत्प्रागिव द्धस्य तापक्षेत्रस्यापि निष्क्रमणभावात् सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरति सूर्ये हीनमायामतो भवेत् , न च हीनमुक्तमतोऽवसी-यते क्वापि लेश्या प्रतिघातमुपयाति । ततस्तदवगमाय प्रश्न इति , एवं प्रश्ने कृते सति भगवानेतद्विषये यावत्य प्रतिप-त्तयस्तावतीरुपदर्शयति—'तत्थे' त्यादि, तत्र—सूर्यलेश्या-प्रतिहतिविषये खल्विमा विंशति. प्रतिपत्तय प्रज्ञप्ता , त-द्यथा—तत्र तेषां विंशते परतीर्थिकानां मध्य एके एवमाहु-मन्दरे पर्वते सूर्यस्य लेश्या प्रतिहता आख्याता इति वदेत् , वदेदिति तेषा मूलभूत स्वशिष्यं प्रत्युपदेश अत्रैवोपसहार ' एगे एवमाहंसु ' १ । एके पुनरेवमाहु -मेरौ पर्वते सूर्यलेश्या प्रतिहता आख्याता इति वदेत् , एके एवमाहु २ । ' एव ' मित्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण एतेन वक्ष्यमाणेन प्रतिपत्ति-विशेषभूतेनालापकेन शेषप्रतिपत्तिजातं नेतव्यं, तानेव प्रति-पत्तिविशेषभूतानालापकान् दर्शयति—' ता मणोरमंसि णं पव्वतंसि' इत्यादि प्रत्यालापक च पूर्वोक्तानि पदानि योजनी-यानि, तत एवं सूत्रपाठ -'एगे पुण एवमाहंसु—ता मणो-

१-अस्य दन्त्यादित्व चिन्त्यम् ।

यमंसि णं पव्वयंसि सूरियलेस्सा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु ३, एगे पुण एवमाहंसु ता सुदंसणंसि णं पव्वयंसि सूरियलेसा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा. एगे एवमाहंसु ४. एगे पुण एवमाहंसु ता सयपहंसि णं पव्वयंसि सूरियलेसा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु ५. एगे पुण एवमाहंसु ता गिरिरायंसि णं पव्वयंसि सूरियलेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु६ एगे पुण एवमाहंसु ता रयणुच्चयंसि णं पव्वयंसि सूरियलेसा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा.एगे एवमाहंसु ७, एगे पुण एवमाहंसु ता सिलुच्चयंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ८ एगे पुण एवमाहंसु ता लोयमज्झंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ९, एगे पुण एवमाहंसु ता लोगनाभिंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु १०, एगे पुण एवमाहंसु ता अच्छंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु ११, एगे पुण एवमाहंसु ता सूरियावत्तंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १२, एगे पुण एवमाहंसु ता सूरियावरणंसि पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १३, एगे पुण एवमाहंसु ता उत्तमंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १४, एगे पुण एवमाहंसु ता दिसादिसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १५, एगे पुण एवमाहंसु ता अवतंसंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु १६, एगे पुण एवमाहंसु ता धरणिखीलंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १७, एगे पुण एवमाहंसु ता धरणिसिंगंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १८, एगे पुण एवमाहंसु ता पव्वइंदंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १९, एगे पुण एवमाहंसु ता पव्वयरायंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २० ' तदेवं परतीर्थिकप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रति स्वमतमुपदर्शयति—' वयं पुण ' इत्यादि, वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञाना एवं वदाम, यदुत ता' इति पूर्ववत् यस्मिन् पर्वतेऽभ्यन्तरं प्रसरन्ती सूर्यस्य लेश्या प्रतिघातमुपगच्छति स मन्दरोऽप्युच्यते यावत्पर्वतराजोऽप्युच्यते, सर्वेषामप्येतेषां शब्दानामेकार्थिकत्वात्, तथा मन्दरो नाम देवस्तत्र पल्योपमस्थितिको महर्द्धिक परिवसति तेन तद्योगान्मन्दर इत्यभिधीयते १, सकलतिर्यग्लोकमध्यभागस्य मर्यादाकारित्वान्मेरु २, मनांसि देवानामपि अतिसुरूपतया रमयतीति मनोरम ३, शोभनं जाम्बूनदमयतया वज्ररत्नबहुलतया च मनोनिर्वृतिकरं दर्शनं यस्यासौ सुदर्शनः, ४. स्वयमादित्यादिनिरपेक्षा रत्नबहुलतया प्रभा—प्रकाशो यस्य स स्वयंप्रभ ५ तथा सर्वेषामपि गिरीणामुच्चैस्त्वेन तीर्थकरजन्माभिषेकाश्रयतया च राजा गिरिराज ६.तथा रत्नानाना नाना विधानामुत्-प्राबल्येन चयः—उपचयो यत्र स रत्नोच्चय. ७, तथा शिलाना-पाण्डुकम्बलशिलाप्रभृतीनाम्, उत्-ऊर्ध्वं शिरस उपरि चय -सम्भवो यत्र स शिलोच्चय ८.तथा लोकस्य तिर्यग्लोकस्य समस्तस्यापि मध्ये वर्त्तत इति लोकमध्य.९,तथा लोकस्य तिर्यग्लोकस्य स्थालप्रख्यस्य नाभिरिव-स्थालमध्यगतसमुन्नतवृत्तचन्द्रक इव लोकनाभि. १०,तथा अच्छ.-स्वच्छसुनिर्मलजाम्बूनदरत्नबहुलत्वात् ११, तथा सूर्य उपलक्षणमेतत् चन्द्रग्रहनक्षत्रतारकाश्च प्रदक्षिणामावर्त्तन्ते यस्य स सूर्यावर्त्त १२. तथा सूर्यैरुपलक्षणमेतत् चन्द्रग्रहनक्षत्रतारकाभिश्च समन्ततः परिभ्रमणशीलैरावियते स्म वेष्ट्यते स्मेति सूर्यावरण ' कृद्बहुल ' मिति वचनात्कर्मण्यनट्प्रत्यय १३ तथा गिरीणामुत्तम इति उत्तम १४, दिशामादि.—प्रभवो दिगादि, तथाहि—रुचकात् दिशा विदिशां च प्रभवो रुचकश्चाष्टप्रदेशात्मको मेरुमध्यवर्त्ती,ततो मेरुरपि दिगादिरित्युच्यते १५, तथा गिरीणामवतंसक इवेत्यवतंसक १६ अमीषां च षोडशानां नाम्नां सग्राहिके इमे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिप्रसिद्धे गाथे-"मंदर मेरु मणोरम सुदंसण सयपभे य गिरिराया। रयणोच्चय सिलोच्चय-मज्झे लोगस्स णाभी य ॥१॥ अच्छे य सूरियावत्ते, सूरियावरणे इ य। उत्तमे य दिसाई य, वडिंसे इ य सोलसे ॥२॥"तथा धरण्या —पृथिव्या कीलक इव धरणिकीलक, तथा धरण्या शृङ्गमिव धरणिशृङ्ग पर्वतानामिन्द्र पर्वतेन्द्र, पर्वतानां राजा पर्वतराज तदेव सर्वेऽपि मन्दरादय शब्दा परमार्थत एकार्थिकास्ततो भिन्नाभिप्रायतया प्रवृत्ता प्राक्तना प्रतिपत्तय सर्वा अपि मिथ्यारूपा अवगन्तव्या । याऽपि च लेश्याप्रतिहति सा मन्दरेऽप्यस्ति अन्यत्रापि च, तथा चाह—' ता जे णं ' इत्यादि, ता इति पूर्ववत् ये णमिति वाक्यालङ्कारे पुद्गला मेरुतटभित्तिसंस्थिता सूर्यस्य लेश्या स्पृशन्ति ते पुद्गला सूर्यस्य लेश्या प्रतिघ्नन्ति, अभ्यन्तरं प्रविशन्त्या सूर्यलेश्यायास्तैः प्रतिस्खलितत्वात्, येऽपि पुद्गला मेरुतटभित्तिसंस्थिता अपि दृश्यमानपुद्गलान्तर्गता सूक्ष्मत्वान्न चक्षु स्पर्शमुपयान्ति तेऽप्यदृष्टा अपि सूर्यलेश्यां प्रतिघ्नन्ति,तैरप्यभ्यन्तरे प्रविशन्त्या. सूर्यलेश्याया स्वशक्त्यनुरूपं प्रतिस्खल्यमानत्वात्, येऽपि मेरोरन्यत्रापि चरमलेश्यान्तरगता —चरमलेश्याविशेषसंस्पर्शिन पुद्गलास्तेऽपि सूर्यलेश्यां प्रतिघ्नन्ति, तैरपि चरमलेश्यासंस्पर्शितया चरमलेश्याया प्रतिहन्यमानत्वात् । सू० प्र० ५ पाहु०।

सूरियसुद्धलेस्स--सूर्यशुद्धलेश्य--त्रि० । सूर्यसदृशे तेजसि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

सूरियाभ-सूर्याभ-न०। स्वनामख्याते विमाने, रा०। स्वनामख्याते देवे च। पुं०। रा०।

'नयरीए बहवे उग्गा भोगा ' इत्याद्यौपपातिकग्रन्थोक्तं सर्वमवसातव्यं यावत् समग्रापि राजप्रभृतिका परिषत्पर्युपासीना अवतिष्ठते ।

ते णं काले णं ते णं समए णं सूरियाभे देवे सोहम्मे कप्पे सूरियाभे विमाणे सभाए सुहम्माए सूरियाभंसि सिंहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं अग्गमहि-

सीहिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणियाहिं सत्ताहिं अणियाहिवईहिं सोलसहि आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महयाऽऽहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवादियरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति, इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे २ पासति।

'ते णं काले णं' मित्यादि, ते इति प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन्निति द्रष्टव्यं,यस्मिन्काले भगवान् वर्द्धमानस्वामी साक्षाद्विहरति तस्मिन्काले 'ते णं समए णं' ति तस्मिन् समये यस्मिन्नवसरे भगवानाम्रशालवने चैत्ये देशनां कृत्वोपरतस्तस्मिन्नवसरे इति भावः;सूर्याभो नाम्ना देवो,नामशब्दो ह्यव्ययरूपोऽप्यस्ति,ततो विभक्तिलोप, ततो सौधर्माख्ये कल्पे यत्सूर्याभनामकं विमानं तस्मिन् या सभा सुधर्माभिधा तस्यां यत्सूर्याभाभिधानं सिंहासनं तत्रोपविष्टः सन्निति गम्यते 'चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं' इति समाने द्युतिविभवादौ भवाः सामानिकाः,अध्यात्मादित्वादिकण्, विमानाधिपतिसूर्याभदेवसदृशद्युतिविभवादिका देवा इत्यर्थः, ते च मातृपितृगुरूपाध्यायमहत्तरवत्सूर्याभदेवस्य पूजनीयाः,केवलविमानाधिपतित्वहीनाः इति सूर्याभं देवं स्वामिनं प्रतिपन्ना तेषां सहस्राणि-सामानिकसहस्राणि तैश्चतुर्भिः, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे सकारस्य दीर्घत्वं, स्त्रीत्वं च। 'चतसृभिरग्रमहिषीभिः' इह कृताभिषेका देवी महिषीत्युच्यते,सा च स्वपरिवारभूतानां सर्वासामपि देवीनामग्रे इत्यग्रा, अग्राश्च ता महिष्यश्च अग्रमहिष्यस्ताभिश्चतसृभिः', कथम्भूताभिरित्याह-'सपरिवाराभिः' परिवारः सह यासां ताः सपरिवारास्ताभिः, परिवारश्चैकैकस्या देव्याः सहस्र २ देवीनां तथा तिसृभिः पर्षद्भिः, तिस्रो हि विमानाधिपतेः सर्वस्यापि पर्षदः, तद्यथा-अभ्यन्तरा मध्या बाह्या च,तत्र या यस्य मण्डलीकस्थानीया परममित्रसहतिसदृशी सा अभ्यन्तरपर्षत्, तया सहापर्यालोचितं स्वल्पमपि प्रयोजनं न विदधाति, अभ्यन्तरपर्षदा सह पर्यालोचितं यस्यै निवेद्यते यथेदमस्माकं पर्यालोचितं सम्मतमागतं युष्माकमपीदं सम्मतं किंवा, नेति सा मध्यमा, यस्या पुनरभ्यन्तरपर्षदा सह पर्यालोचितं मध्यमया च सह दृढीकृतं यस्यै करणायैव निरूप्यते यथेदं क्रियतामिति सा बाह्या, तथा 'सत्तहिं अणिएहिं' इति अनीकानि-सैन्यानि, तानि च सप्त, तद्यथा-हयानीकं गजानीकं रथानीकं पदात्यनीकं वृषभानीकं गन्धर्वानीकं, नाट्यानीकं तत्राद्यानि, पञ्चानीकानि संग्रामाय कल्प्यन्ते गन्धर्वनाट्यानीके पुनरुपभोगाय, तैः सप्तभिरनीकैः,अनीकानि स्वस्वाधिपतिव्यतिरेकेण न सम्यक् प्रयोजने समागते सत्युपकल्पन्ते तत एतानीकाधिपतयोऽपि तस्य वर्तितव्या, तथा चाह-'सत्तहिं अणियाहिवईहिं' तथा 'षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैः-इति विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्यात्मानं रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः, 'कर्मण्यण्' इत्यत्र प्रत्ययः, ते च शिरस्त्राणकल्पाः, यथा हि शिरस्त्राणं शिरस्याविद्धं प्राणरक्षकं भवति तथा तेऽप्यात्मरक्षकाः गृहीतधनुर्दण्डादिप्रहरणाः समन्ततः पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतश्चावस्थायिनो विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्य प्राणरक्षकाः, देवानामपायाभावात् तेषां शस्त्रग्रहणपुरस्सरमवस्थानं निरर्थकमिति चेन् न, स्थितिमात्रपरिपालनहेतुत्वात् प्रकर्षहेतुत्वाच्च, तथाहि ते समन्ततः सर्वासु दिक्षु गृहीतप्रहरणा ऊर्ध्वं स्थिता अवतिष्ठमानाः स्वनायकशरीररक्षणपरायणाः स्वनायकैकनिपतद्दृष्टयः परेषामसहमानानां क्षोभमापादयन्तो जनयन्ति स्वनायकस्य परां प्रीतिमिति, एते च नियतसङ्ख्याकाः सूर्याभस्य देवस्य परिवारभूता देवा उक्ताः, ये तु तस्मिन् सूर्याभे विमाने पौरजनपदस्थानीया ये स्वाभियोग्याः-दासकल्पास्ते ऽतिभूयांसः आस्थानमण्डल्यामपि चानियतसङ्ख्याका इति तेषां सामान्यत उपादानमाह-'अन्नेहिं बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे' एतैः सामानिकप्रभृतिभिः सार्द्धं संपरिवृतः-सम्यग्नायकैकचित्ताराधनपरतया परिवृत, 'महयाऽऽहये' त्यादि, महता रवेणेति योगः 'आहय' इति-आख्यानकप्रतिबद्धानीति वृद्धाः, अथवा-अहतानि-अव्याहतानि अक्षतानीति भावः, नाट्यगीतवादितानि च तन्त्री-वीणा तला-हस्ततालाः कंसिकाः तुडितानि-शेषतूर्याणि, तथा घनो-घनसदृशो ध्वनिसाधर्म्यत्वात् यो मृदङ्गो-मर्दलः पटुना-दक्षपुरुषेण प्रवादितः, तत एतेषां पदानां द्वन्द्वः, तेषां यो रवस्तेन, दिव्यान्-दिवि भवान् अतिप्रधानानित्यर्थः, 'भोगभोगाइं' इति-भोगार्हा ये भोगाः-शब्दादयस्तान्, सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गव्यभिचारः, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-'लिङ्गं व्यभिचार्यपि' ति, भुञ्जानो विहरति-आस्ते, न केवलमास्ते किंत्विमं-प्रत्यक्षतया उपलभ्यमानं केवलकल्पम्-ईषदपरिसमाप्तं केवलं-केवलज्ञानं केवलकल्पं, परिपूर्णतया केवलसदृशमिति भावः, जम्बूरत्नमय्या उत्तरकुरुवासिन्या उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्तं जम्बूद्वीपाभिधानं द्वीपं विपुलेन-विस्तीर्णेनावधिना तस्य हि सूर्याभस्य देवस्यावधिरधः प्रथमां पृथिवीं यावत्तिर्यक् असङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रानिति भवति विस्तीर्णस्तेनाभोगयन्-परिभावयन् पश्यति, अनेन सत्यप्यवधौ यदि तद्विषयमाभोगं न करोति तदा न किञ्चिदपि तेन जानाति पश्यति वेत्यावेदितम्।

तत्थ समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए णयरीए बहिया अंबसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणं पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए विकसियवरकमलणयणे पयलियवरकडगतुडियकेऊरमउडकुंडलहारविरायंतरइयवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरियचवलं सुरवरे (०जाव)-[सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ २ त्ता पायपीढाओ पच्चोरुहति, २ हित्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेति, २ रित्ता सत्तट्ठपयाइं तित्थयराभिमुहे अणुगच्छति, म०२ च्छित्ता, वामं जाणुं अंचेति,र चेत्ता

दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि णिवेसेइ, णिवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, ईसिं पच्चुन्नमित्ता करतलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसोत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहिआणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं जीवदयाणं सरणदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं वियट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं,नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ०जाव संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवन्तं तत्थगयं इह गते] पासइ मे भगवं तत्थ गते इहगतं ति कट्टु वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरगए पुव्वाभिमुहं सण्णिसण्णे । (सू० ४)

तए णं तस्स सुरियाभस्स इमे एतारूवे अब्भत्थिते चिंतिते मणोगते संकप्पे समुप्पज्जित्था-

तत्र--तस्मिन्विपुलेनावधिना जम्बूद्वीपविषये दर्शने प्रवर्तमाने सति श्रमण--श्राम्यति--तपस्यति नानाविधमिति श्रमण , भग --समग्रैश्वर्यादिलक्षण , उक्त च--" ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशस श्रिय । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥ १ ॥ " भगोऽस्यास्तीति भगवान् भगवन्त 'सूर वीर' विक्रान्तौ. वीरयति-कषायान् प्रति विक्रामति स्मेति वीर. महाश्चासौ वीरश्च महावीरस्त, जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आमलकल्पायां नगर्या बहिराम्रशालवने चैत्ये अशोकवरपादपस्याधः पृथिवीशिलापट्टके सपर्यङ्कनिषण्ण श्रमणगणसमृद्धिसपरिवृत्तं प्रतिरूपमवग्रह गृहीत्वा सयमेन तपसा आत्मान भावयन्त पश्यति, दृष्ट्वा च--'हट्ठतुट्ठमाणंदिए' इति--हृष्टतुष्टोऽतीव तुष्ट इति भाव , अथवा--हृष्टो नाम विस्मयमापन्न , यथा--अहो भगवानास्ते इति, तुष्ट--सन्तोषं कृतवान् , यथा--भव्यमभूत् यन्मया भगवानालोकित , तोषवशादेव चित्तमानन्दितं--स्फीतीभूत 'टुनदि' समृद्धाविति वचनात् , यस्य स चित्तानन्दित , सुखादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपात , मकार प्राकृतत्वाद्-साद्यागिकस्तत पदत्रयस्य पदद्वयपदद्वयमीलने कर्मधारय 'पीइमणे' इति प्रीतिर्मनसि यस्यासौ प्रीतिमना , भगवति बहुमानपरायण इति भाव , तत क्रमेण बहुमानोत्कर्षवशात् 'परमसोमणस्सिए' इति--शोभनं मनो यस्य स सुमनास्तस्य भाव सौमनस्य परम च तत्सौमनस्यं च परमसौमनस्यं तत्सञ्जातमस्येति परमसौमनस्यित , एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह--'हरिसवसविसप्पमाणहियए' हर्षवशेन विसर्पत्--विस्तारयायि हृदय यस्य स हर्षवशविसर्पद्धृदय , हर्षवशादेव 'वियसियवरकमलनयणे' विकसिते वरकमलवत् नयने यस्य स तथा , हर्षवशादेव शरीरोद्धर्षेण 'पयलियवरकडगतुडियकेऊरमउडकुडले' त्ति प्रचलितानि वराणि कटकानि--कलाचिकाभरणानि त्रुटितानि--बाहुरक्षका केयूराणि--बाह्वाभरणविशेषरूपाणि मुकुटो--मौलिभूषण कुण्डले--कर्णाभरणे यस्य स प्रचलितवरकटकत्रुटितकेयूरमुकुटकुण्डल , तथा हारेण विराजमानेन रचित--शोभितं वक्षो यस्य स हारविराजमानरचितवक्षः, तत पूर्वपदेन कर्मधारय समास , तथा प्रलम्बते इति प्रलम्ब--पदकस्त प्रलम्बमानम्--आभरणविशेष घोलन्ति च भूषणानि धरन्तीति प्रलम्बप्रलम्बमानघोलद्भूषणधर , सूत्रे च प्रलम्बमानपदस्य विशेष्यात्परतो निपात प्राकृतत्वात् , हर्षवशादेव 'ससभमं' ससम्भ्रम इह विवक्षितक्रियाया बहुमानपूर्विका प्रवृत्ति सह सम्भ्रमो यस्य वन्दनस्य नमनस्य वा तत्ससम्भ्रम , क्रियाविशेषणमेतत् , त्वरित--शीघ्र चपल--सम्भ्रमवशादेव व्याकुलं यथा भवत्येव सुरवरो--देववरो यावत्करणात्--'सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता पाउयाओ ओमुयइ ओमुयित्ता तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइ अणुगच्छइ अणुगच्छित्ता वाम जाणुं अचेइ [उत्पाटयति] दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि नमेइ नमित्ता (निवेसेइ २ त्ता) ईसिं पच्चुण्णमइ पच्चुण्णमित्ता कडियतुडियथंभियभुयाओ साहरइ साहरित्ता करयलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी--नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं ०जाव ठाणं संपत्ताणं , नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थयरस्स ०जाव संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए ' इति परिग्रह , पश्यति मा स भगवान् तत्र गत इह गतमिति कृत्वा वन्दते-स्तौति नमस्यति--कायेन मनसा च वन्दित्वा नमस्यित्वा च भूय सिंहासनवर गतो गत्वा च पूर्वाभिमुख सन्निषण्ण ॥४॥ ' तए णं तस्से ' त्यादि, ' ततो ' निषदनानन्तर तस्य-सूर्याभदेवस्य अयमेतद्रूप सङ्कल्प समुदपद्यत , कथम्भूत इत्याह--मनोगत --मनसि गतो-व्यवस्थितो , नाद्यापि वचसा प्रकाशितस्वरूपस्य इति भाव , पुन कथम्भूत इत्याह--आध्यात्मिक आत्मन्यध्यात्म त त्र भव आध्यात्मिक . आत्मविषय इति भावः, सङ्कल्पश्च द्विधा भवति-कश्चिद् ध्यानात्मक अपरश्चिन्तात्मक ,तत्रायं चिन्तात्मक इति प्रतिपादनार्थमाह-चिन्तित चिन्ता सञ्जाताऽस्येति चिन्तित चिन्तात्मक इति भाव सोऽपि कश्चिदभिलाषात्मको भवति, कश्चिदन्यथा तत्रायमभिलाषात्मकः तथा चाह-प्रार्थित प्रार्थन प्रार्थो णिजन्तत्वात् अल्प्रत्यय. , प्रार्थ. सञ्जातोऽस्येति प्रार्थित , अभिलाषात्मक इति भाव ।

किंस्वरूप इत्याह—

एवं (सेयं) (मे) खलु समणे भगवं महावीरे जंबूदीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाणयरीए बहिया अंबसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति , तं महाफलं खलु तहारूवाणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए किमंग!पुण अहिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए ?, एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए ?, किमंग! पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए ? , तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं चेतियं देवयं पज्जुवासामि, एयं मे पेच्चा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सति त्ति कट्टु एवं संपेहेइ , एवं संपेहित्ता आभिओगे देवे सद्दावेइ आभि० सद्दावेत्ता एवं वयासी-(सू० ६)

एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे जंबूदीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए नयरीए बहिया अंबसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

'सेय खलु ' इत्यादि . श्रेय. ' खलु ' निश्चित ' मे ' मम श्रमण भगवन्तं महावीरं-वन्दितु कायेन मनसा च प्रणन्तुं सत्कारयितु-कुसुमाञ्जलिमोचनेन पूजयितुं सम्मानयितुम्-उचितप्रतिपत्तिभिराराधयितु कल्याणं कल्याणकारित्वात् मङ्गल दुरितोपशमकारित्वात् दैवत-देवं त्रैलोक्याधिपतित्वात् चैत्य सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात् पर्युपासितुं-सवितुम् इति कृत्वा-इति हेतो. ' एवं ' यथा वक्ष्यमाणं तथा सम्प्रेक्षते--बुद्धया परिभावयति , सम्प्रेक्ष्य च आभियोगिकान्-आभिमुख्येन योजनं अभियोग -प्रेष्यकर्मसु व्यापार्यमाणत्वम् अभियोगेन जीवन्तीत्याभियोगिका ' वेतनादेर्जीवन्ती ' ति इकण्प्रत्यय , आभियोगिका -स्वकर्मकरास्तान् शब्दापयति आकारयति शब्दापयित्वा च तेषां सम्मुखमेवमवादीत्-एवं खलु देवानां प्रिया ! इत्यादि सुगमं , नवरं देवानां प्रिया ऋजव प्राज्ञा ।

तं गच्छह णं तुमे देवाणुप्पिया ! जंबुदीवं दीवं भारहं वासं अमालकप्पं णयरिं अंबसालवणं चेइयं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेह करेत्ता वंदह णमंसह वंदित्ता णमंसित्ता साइं साइं नामगोयाइं साहेह साहित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स (सव्वओ समंता) जोयणपरिमंडलं जं किंचि तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा असुइं अचोक्खं वा पूइअं दुब्भिगंधं सव्वं आहुणिय २ एगंते एडेह एडेत्ता णच्चोयगं णाइमट्टियं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदयवासं वासह वासित्ता णिहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेह करित्ता जलथलयभासुरप्पभूयस्स विंटट्ठाइस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमित्तं ओहिं वासं वासह वासित्ता कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्वं सुरवराभिगमणजोग्गं करेह कारवेह करित्ता य कारवेत्ता य खिप्पामेव (मम) एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । (सू० ७)

' तं गच्छह णमि ' त्यादि, यस्मादेवं भगवान् विहरन् वर्त्तते तत्-तस्माद्देवानां प्रिया ! यूयं गच्छत जम्बूद्वीप द्वीपं तत्रापि भारतं वर्षं तत्राप्यामलकल्पां नगरीं तत्राप्याम्रशालवनं चैत्य श्रमण भगवन्त महावीरं त्रिकृत्व —त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणं कुरुत . आदक्षिणाद्—दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः-परितो भ्राम्यतो दक्षिण आदक्षिणप्रदक्षिणस्तं कुरुत, कृत्वा च वन्दध्व नमस्यत, वन्दित्वा नमस्यित्वा च ' साइ साइ' नि—स्वानि २-आत्मीयानि २ नामगोत्राणि, गोत्रम्-अन्वर्थस्तेन युक्तानि नामानि नामगोत्राणि, राजदन्तादिदर्शनान्नामशब्दस्य पूर्वनिपात'. साधयत-कथयत, कथयित्वा च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सर्वत.--सर्वासु दिक्षु समन्ततः--सर्वासु विदिक्षु योजनपरिमण्डलं परिमाण्डल्येन योजनप्रमाणं यत् क्षेत्र तत्र यत् तृणं—किलिञ्चादि काष्ठ वा काष्ठशकल वा पत्र वा निम्बाऽश्वत्थादिपत्रजात कचवर वा—श्लक्ष्णतृणधूल्यादिपुञ्जरूप. कथम्भूतमित्याह—अशुचि—अशुचिसमन्वितमचोक्षम्—अपवित्र पूतिक-कुथितम् अत एव दुरभिगन्ध तत्संवर्त्तकवातविकुर्वणेनाहत्याहत्य एकान्ते—योजनपरिमण्डलात्क्षेत्राद् दवीयसि देशे एडयत--अपनयत एडयित्वा च नात्युदकं नात्यतिमृत्तिक यथा भवति एवं सुरभिगन्धोदकवर्षं वर्षत कथम्भूतमित्याह-दिव्य-प्रधानं सुरभिगन्धोपेतत्वात् , पुनः कथम्भूतमित्याह 'पविरलपप्फुसिय' मिति—प्रकर्षेण यावद्रेणव स्थगिता भवन्ति तावन्मात्रेणोत्कर्षेणेति भाव', स्पर्शनानि प्रस्पृष्टानि प्रविरलानि घनभावे कर्दमसम्भवात् प्रस्पृष्टानि—प्रकर्षवन्ति स्पर्शनानि मन्दस्पर्शनसम्भवे रेणुस्थगनासम्भवात् यस्मिन्वर्षे तत्प्रविरलप्रस्पृष्टम् , अत एव 'रयरेणुविणासणं ' श्लक्ष्णतरा रेणुपुद्गला—रज. त एव स्थूला रेणव ,रजांसि च रेणवश्च रजोरेणवस्तेषा विनाशनम्, एवम्भूतं च सुरभिगन्धोदक वर्षं वर्षित्वा योजनपरिमण्डल क्षेत्रं निहतरज. कुरुतेति योग , निहतं रजो भूय उत्थानासम्भवात् यत्र तन्निहतरज , तत्र निहतत्वं रजसः क्षणमात्रमुत्थानाभावेनापि सम्भवति, तत आह-नष्टरजः-नष्टं सर्वथाऽदृश्यीभूत रजो यत्र तन्नष्टरज , तथा भ्रष्टवातोद्धततया योजनमात्रात् क्षेत्रात् दूरत. पलायित रजो यस्मात्तद् भ्रष्टरज , एतदेव एकार्थिकद्वयेन प्रकटयति--उपशान्तरज प्रशान्तरज. कुरुत, कृत्वा च कुसुमस्य जातावेकवचन कुसुमजातस्य जानूत्सेधप्रमाणमात्रमोघेन--सामान्येन सर्वत्र योजनपरिमण्डले क्षेत्रे वर्षं वर्षत, किंविशिष्टस्य कुसुमस्येत्याह--' जलथलयभासुरप्पभूयस्स ' जलज च स्थलज च जलजस्थलज जलजं पद्मादि स्थलजं विचकिलादि भास्वरं-दीप्यमानं प्रभूतम्--अतिप्रचुर. ततः कर्मधारय., भास्वरं च तत्प्रभूत च भास्वरप्रभूत जलज-

स्थलजं च तत् भास्वरप्रभूतं च जलजस्थलजभास्वरप्रभूतं तस्य, पुनः कथम्भूतस्येत्याह--' विंटट्ठाइस्स ' वृन्तेन-अधोवर्त्तिना तिष्ठतीत्येवंशीलं वृन्तस्थायि तस्य वृन्तस्थायिनः, वृन्तमधोभागे उपरि पत्राणीत्येवं स्थानप्रफलस्येत्यर्थः ' दसद्धवन्नस्स ' दशानामर्द्धं पञ्च, दशार्द्धं वर्णा यस्य तद् दशार्द्धवर्णं तस्य पञ्चवर्णस्येति भावः, इत्थम्भूतस्य च कुसुमजातस्य वर्षं वर्षित्वा ततः योजनपरिमण्डलं क्षेत्रं दिव्यं--प्रधानं सुरवराभिगमनयोग्यं कुरुत । कथम्भूतं सत् कृत्वा सुरवराभिगमनयोग्यं कुरुतेत्यत आह--' कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं ' कालागुरुः प्रसिद्धः प्रवरः--प्रधानः कुन्दुरुक्कः--चीडा तुरुक्कं--सिह्लकं कालागुरुश्च प्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कौ च कालागुरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्काः तेषां धूपस्य यो मघमघायमानो गन्धः उद्धूत--इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिरामं--रमणीयं कालागुरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूपमघमघायमानगन्धोद्धूताभिरामं तथा शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धास्ते च ते वरगन्धाश्च--वासाः सुगन्धवरगन्धास्तेषां गन्धः सोऽस्यास्तीति सुगन्धवरगन्धिकम् 'अतोऽनेकस्वरादिति ' इकप्रत्ययः, अत एव गन्धिवर्त्तिभूतं, सौगन्ध्यातिशयात् गन्धगुटिकाकारमिति भावः, न केवलं स्वयं कुरुत किन्त्वन्यैरपि कारयत कृत्वा च कारयित्वा च एतां ममाज्ञप्तिकां क्षिप्रमेव शीघ्रमेव प्रत्यर्पयत, यथाज्ञप्तकार्यसम्पादनेन सफलां कृत्वा निवेदयत ।

तए णं ते आभियोगिया देवा सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ ॰ जाव हियया करयलपरिग्गहियं (दसनहं) सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवो तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, एवं देवो तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमंति, उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निस्सरन्ति, तंजहा--रयणाणं वयराणं वेरुलियाणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुग्गलाणं सोगंधियाणं जोइरसाणं अंजणपुलगाणं अंजणाणं रययाणं जायरूवाणं अंकाणं फलिहाणं रिट्ठाणं अहाबायरे पुग्गले परिसाडंति अहा ॰त्ता अहासुहुमे पुग्गले परियायंति २ त्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति २ त्ता ताए उक्किट्ठाए (पसत्थाए) तुरियाए चवलाए, चंडाए जयणाए सिग्घाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगइए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणे २ जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव आमलकप्पा णयरी जेणेव अंबसालवणे चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति २ त्ता वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी--अम्हे णं भंते ! सूरियाभस्स देवस्स आभियोगा देवा देवाणुप्पियाणं वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो । (सू० ८)

' तए णमि ' त्यादि. ततो णमिति पूर्ववत् ते आभियोगिका देवा सूर्याभेन देवेन एवमुक्ताः सन्तो ' हट्ठतुट्ठ ॰जाव हियया ' इति अत्र यावच्छब्दकरणात् ' हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया इति द्रष्टव्य. 'करयलपरिग्गहियं' मित्यादि द्वयोर्हस्तयोरन्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकयोः सम्पुटरूपतया यदेकत्र मीलनं सा अञ्जलिस्तां करतलाभ्यां परिगृहीता निष्पादिता करतलपरिगृहीता तां दश नखा यस्याम् एकैकस्मिन् हस्ते नखपञ्चकसम्भवात् दशनखा तां तथा आवर्त्तनमावर्त्तः शिरस्यावर्त्तो यस्याः सा शिरस्यावर्त्ता ' कण्ठेकाल उरसिलोमे ' त्यादिवत् अलुक्समासः, ताम्, अत एवाह--मस्तके कृत्वा विनयेन वचनं सूर्याभस्य देवस्य प्रतिशृण्वन्ति--अभ्युपगच्छन्ति, कथम्भूतेन विनयेनेत्याह--' एवं देवो तह त्ति आणाए ' इति हे देव ! एवं--यथैव यूयमादिशत तथैवाज्ञया--भवदादेशेन कुर्म इत्येवंरूपेण, ' देवो ' इत्यत्रौकार आमन्त्रणे प्राकृतलक्षणवशात्, यथा ' अज्जो ' इत्यत्र, प्रतिश्रुत्य वचनम् ' उत्तरपुरच्छिमं ' उत्तरपूर्वदिग्भागम्, ईशानकोणमित्यर्थः, तस्यात्यन्तप्रशस्तत्वात्, अपक्रामन्ति गच्छन्ति, अपक्रम्य च वैक्रियसमुद्घातेन-वैक्रियकरणाय प्रयत्नविशेषेण समोहनन्ति-समवहन्यन्ते, समवहता भवन्तीत्यर्थः, समवहताश्चात्मप्रदेशान् दूरतो विक्षिपन्ति, तथा चाह--' संखेज्जाणि जोयणाणि दंडं निसिरन्ति ' दण्ड इव दण्डः-ऊर्ध्वाध आयतः शरीरबाहल्यो जीवप्रदेशसमूहस्तं शरीराद्बहिः सङ्ख्येयानि योजनानि यावन्निसृजन्ति-निष्काशयन्ति, निसृज्य तथाविधान् पुद्गलानाददते, एतदेव दर्शयति, तद्यथा-रत्नानां "कर्केतनादीनां १ वज्राणां २ वैडूर्याणां ३ लोहिताक्षाणां ४ मसारगल्लानां ५ हंसगर्भाणां ६ पुद्गलानां ७ सुगन्धिकानां ८ ज्योतीरसानाम् ९ अञ्जनपुलकानाम् १० अञ्जनानां ११ रजतानां १२ जातरूपाणाम् १३ अङ्कानां १४ स्फटिकानां १५ रिष्टानां १६ योग्यान् यथाबादरान्-असारान् पुद्गलान् परिशातयन्ति यथासूक्ष्मान् सारान् पुद्गलान् पर्याददते पर्यादाय चिकीर्षितरूपनिर्माणार्थं द्वितीयमपि वारं वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यन्ते, समवहत्य च यथोक्तानां रत्नादीनामयोग्यान् यथाबादरान् पुद्गलान् परिशातयन्ति यथासूक्ष्मानाददते आदाय च ईप्सितानि उत्तरवैक्रियाणि विकुर्वन्ति । ननु रत्नादीनां प्रायोग्याः पुद्गला औदारिका उत्तरवैक्रियरूपयोग्याश्च पुद्गला ग्राह्या वैक्रियास्तत् कथमेव युक्तमिति ?, उच्यते--इह रत्नादिग्रहणं सारतामात्रप्रतिपादनार्थं, ततो रत्नादीनामिवेति द्रष्टव्यमिति न कश्चिद्दोषः; अथवा-औदारिका अपि ते गृहीताः सन्तो वैक्रियतया परिणमन्ते, पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीवशात् (तथा) तथापरिणमनस्वभावत्वादतोऽपि न कश्चिद्दोषः, तत एवमुत्तरवैक्रियाणि रूपाणि कृत्वा तया देवजनप्रसिद्धया उत्कृष्टया प्रशस्तविहायोगमिनामोदयात् प्रशस्तया शीघ्रसञ्चर-

णात् त्वरितया-त्वरा सञ्जाता अस्या इति त्वरिता तया प्रदेशान्तरक्रमणे उत्सुकत्वात् चपला तया क्रोधाविष्टस्येव श्रमासंवेदनात् चण्डेव चण्डा तया निरन्तरं शीघ्रत्वगुणयोगात् शीघ्रा तया शीघ्रया परमोत्कृष्टवेगपरिणामोपेता जवनी तया वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गतिः सा उद्धूता तया दिव्यया-दिवि देवलोके भवा दिव्या तया देवगत्या तिर्यगसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्यंमध्येन, मध्येनेत्यर्थः, गृहगृहेण मध्यमध्येन पदंपदेन सुखंसुखेनेत्यादय शब्दाश्चिरन्तनव्याकरणेषु सुसाधवः प्रतिपादिता इति नायमपप्रयोगः, अवपतन्तोऽवपतन्तः, समागच्छन्त इति भावः, पूर्वान् पूर्वान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रामन्तो व्यतिक्रामन्तः, उल्लङ्घयन्त इत्यर्थः, शेषं सुगमं यावत्।

देवाइ समणे भगवं महावीरे देवा एवं वदासी-पोराणमेयं देवा! जीयमेयं देवा! किच्चमेयं देवा! करणिज्जमेयं देवा! आइन्नमेयं देवा! अब्भणुण्णायमेयं देवा! जण्णं भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिया देवा! अरहंते भगवं वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता तओ साइं साइं णामगोयाइं साधिंति तं पोराणमेयं देवा! ०जाव अब्भणुण्णायमेयं देवा!। (सू० ६)

'देवाइ समणे' त्यादि, देवादियोगात् देवादिः श्रमणो भगवान् महावीरस्तान् देवानेवमवादीत्—पुराणेषु भव पौराणमेतत्कर्म भो देवा! , चिरन्तनैरपि देवैः कृतमिदं चिरन्तनान् तीर्थङ्करान् प्रतीति तात्पर्यार्थः, जीतमेतद्—चन्दनादिकं तीर्थकृद्भ्यो भो देवा!, यतोऽभ्यनुज्ञानमेतत् सर्वैरपि तीर्थकृद्भिर्भो देवास्ततः कर्त्तव्यमेतद् युष्मादृशां भो देवा!, एतदेव व्याचष्टे—करणीयमेतद् भो देवा!, आचीर्णमेतत्-कल्पभूतमेतद् भो देवा!, किं तदित्याह-'जन्न' मित्यादि, यत् 'णमि' ति पूर्ववत् भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवा अर्हतो भगवतो वन्दन्ते नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वा च पश्चात्स्वानि २—आत्मीयानि २ नामगोत्राणि कथयन्ति ततो युष्माकमपि भो देवा! पौराणमेतत्-यावदाचीर्णमेतदिति।

तए णं ते आभिओगिया देवा समणेणं भगवया महावीरेण एवं वुत्ता समाणा हट्ठ ०जाव हियया समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमंति अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ णित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरंति, तं जहा-रयणाणं ०जाव रिट्ठाणं अहाबायरे पोग्गले परिसाडंति अहाबायरे० २ डित्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता संवट्टवाए विउव्वंति, से जहानामए भइयदारए सिया तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके [थिरग्गहत्थे] थिरग्गहत्थे पडिपुण्णपाणिपायपिट्ठंतरोरु [संघाय] परिणए घननिचियवट्टवलिय-

(वलियवट्ट) खंधे चम्मेट्ठगदुघणमुट्ठियसमाहयगत्ते उरस्सबलसमन्नागए तलजमलजुयल [फलिहनिभ] बाहू लंघणपवणजइणपमद्दणसमत्थे छेए दक्खे पट्ठे कुसले मेहावी णिउणसिप्पोवगए एगं महं दंडसंपुच्छणिं वा सलागाहत्थगं वा वेणुसलाइयं वा गहाय रायंगणं वा रायंतेपुरं वा देवकुलं वा सभं वा पवं वा आरामं वा उज्जाणं वा अतुरियमचवलमसंभंते निरंतरं सुनिउणं सव्वतो समंता संपमज्जेज्जा, एवामेव तेऽवि सूरियाभस्स देवस्स आभिओगिया देवा संवट्टवाए विउव्वंति, संवट्टवाए विउवित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स सव्वतो समंता जोयणपरिमण्डलं जं किंचि तणं वा पत्तं वा तहेव सव्वं आहुणिय २ एगंते एडेंति एगंते एडित्ता खिप्पामेव उवसमंति, खिप्पा० २ त्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, दोच्चं पि० २ त्ता अब्भवद्दलए विउव्वंति अब्भ० २ त्ता से जहाणामए भइगदारए सिया तरुणे ०जाव सिप्पोवगए एगं महं दगवारगं वा दगथालगं वा दगकलसगं वा दगकुंभगं वा आरामं वा ०जाव पवं वा अतुरिय ०जाव सव्वतो समंता आवरिसेज्जा, एवामेव तेऽवि सूरियाभस्स देवस्स आभियोगिया देवा अब्भवद्दलए विउव्वंति अब्भ० २ वित्ता खिप्पामेव पयणुतणायन्ति० २ त्ता खिप्पामेव विज्जुयायंति २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स सव्वओ समंता जोयणपरिमंडलं णच्चोदगं णातिमट्टियं तं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदगं (वासं) वासंति वासेत्ता णिहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेंति, २ त्ता खिप्पामेव उवसामंति २ त्ता तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता पुप्फवद्दलए विउव्वंति, से जहाणामए मालागारदारए सिया तरुणे ०जाव सिप्पोवगए एगं महं पुप्फपडलगं वा पुप्फचंगेरियं वा पुप्फछज्जियं वा गहाय रायंगणं वा ०जाव सव्वतो समंता कयग्गाहगहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेज्जा, एवामेव ते सूरियाभस्स देवस्स आभिओगिया देवा पुप्फवद्दलए विउव्वंति २ त्ता खिप्पामेव पयणुतणायन्ति खिप्पा० २ त्ता ०जाव जोयणपरिमण्डलं जलथलयभासुरप्पभूयस्स विंटट्ठाइस्स दसद्धवन्नकुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमेत्तिं ओहिं वासं वासंति वासित्ता कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्वं सुरवराभिगमणजोग्गं करेंति कारयंति करेत्ता य कारवेत्ता य, खिप्पामेव उवसामंति २ त्ता जेणेव समणे भगवं

महावीरे तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो ०जाव वंदित्ता नमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ अंबसालवणाओ चेइयाओ पडिनिक्खमंति पडिनिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए ०जाव वीइवयमाणे २ जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति २ त्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति । (सू० १०)

'तए णमि' त्यादि सुगमं, यावत् 'से जहानामए भइयदारए सिया' इत्यादि, स वक्ष्यमाणगुणो यथानामकोऽनिर्दिष्टनामकः कश्चिद्भृतिकदारकः—भृतिं करोति भृतिकः-कर्मकरः तस्य दारको भृतिकदारकः स्यात्, किंविशिष्ट इत्याह—तरुणः प्रवर्द्धमानवयाः (ननु दारकः वर्धमानवया) एव भवति ततः किमनेन विशेषणेन ?, न आसन्नमृत्योः प्रवर्द्धमानवयस्त्वाभावात्, न ह्यासन्नमृत्युः प्रवर्धमानवया भवति, न च तस्य विशिष्टसामर्थ्यसम्भवः, आसन्नमृत्युत्वादेव, विशिष्टसामर्थ्यप्रतिपादनार्थं चेदम् आरम्भस्ततोऽर्थवद्विशेषणम्, अन्ये तु व्याचक्षते-इह यद्द्रव्यं विशिष्टवर्णादिगुणोपेतमभिनवं च तत्तरुणमिति लोके प्रसिद्धं, तथा तरुणमिदमश्वत्थपत्रमिति, ततः स भृतिकदारकस्तरुण इति, किमुक्तं भवति ?-अभिनवो विशिष्टवर्णादिगुणोपेतश्चेति, बलं—सामर्थ्यं तद् यस्यास्तीति बलवान्, तथा युगं—सुषमदुष्षमादिकालः स स्वेन रूपेण यस्यास्ति न दोषदुष्टः स युगवान्, किमुक्तं भवति ?-कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतुः स चास्य नास्तीति प्रतिपत्त्यर्थमेतद्विशेषणं, युवा—यौवनस्थः, युवावस्थायां हि बलातिशय इत्येतदुपादानम्, 'अप्पायंके' इति अल्पशब्दोऽभाववाची, अल्पः—सर्वथा अविद्यमान आतङ्कः—ज्वरादिर्यस्य सोऽल्पातङ्कः स्थिरोऽग्रहस्तो यस्य स स्थिराग्रहस्तः, 'दढपाणिपायपिट्ठंतरोरुपरिणए' इति दृढानि अतिनिबिडचयापन्नानि पाणिपादपृष्ठान्तरोरूणि परिणतानि यस्य स दृढपाणिपादपृष्ठान्तरोरुपरिणतः, सुखादिदर्शनात् पाक्षिकः क्तान्तस्य परनिपातः, तथा घनम्-अतिशयेन निचितौ-निबिडतरचयमापन्नौ वलिताविव वलितौ वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स घननिचितवलितवृत्तस्कन्धः, 'चम्मेट्ठगदुघणमुट्ठियसमाहयगत्ते' इति चर्मेष्टकेन द्रुघणेन मुष्टिकया च-मुष्ट्या समाहत्य २ ये निचितीकृतगात्रास्ते चर्मेष्टकद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रास्तेषामिव गात्रं यस्य स चर्मेष्टकद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रः, 'उरस्सबलसमण्णागए' इति उरसि भवम् उरस्यं तच्च तद्बलं च उरस्यबलं तत्समन्वागतः—समनुप्राप्त उरस्यबलसमन्वागतः आन्तरोत्साहवीर्ययुक्त इति भावः, 'तलजमलयुगलबाहु' तलौ-तालवृक्षौ तयोर्यमलयुगलं—समश्रेणीकं युगलं तलयमलयुगलं तद्वदतिसरलौ पीवरौ च बाहू यस्य स तलयमलयुगलबाहुः, 'लंघणपवणजइणपमद्दणसमत्थे' इति लङ्घने—अतिक्रमणे प्लवने-मनाक् पृथुतरविक्रमवति गमने जवने—अतिशीघ्रगतौ प्रमर्द्दने-कठिनस्यापि वस्तुनश्चूर्णनकरणे समर्थः लङ्घनप्लवनजवनप्रमर्द्दनसमर्थः, क्वचित् 'लंघणपवणजइणवायामणसमत्थे' इति पाठः, तत्र व्यायामने-व्यायामकरणे इति व्याख्येयम्, छेकः—द्वासप्ततिकलापण्डितो, दक्षः—कार्याणामविलम्बितकारी प्रष्ठः—वाग्मी कुशलः—सम्यक्क्रियापरिज्ञानवान् मेधावी परस्पराव्याहतं—पूर्वापरानुसन्धानदक्षः, अत एव 'निउणसिप्पोवगए' इति निपुणं यथा भवति एवं शिल्पे-क्रियासु कौशलम् उपगतः, प्राप्तो निपुणशिल्पोपगतः एकं महान्तं शलाकाहस्तकं—सरित्पर्णादिशलाकासमुदायं खरिपर्णादिशलाकामयीं सम्मार्जनीमित्यर्थः, वाशब्दो विकल्पार्थो, 'दंडसंपुच्छणिं वा' इति-दण्डयुक्ता सम्पुञ्छनी-सम्मार्जनी दण्डसम्पुञ्छनी तां वा 'वेणुसिलागिगं वा' इति—वेणुः वंशस्तस्य शलाका वेणुशलाकास्ताभिर्निर्वृत्ता वेणुशलाकिकी-वेणुशलाकामयी सम्मार्जनी तां वा गृहीत्वा राजाङ्गणं राजान्तःपुरं वा देवकुलं वा 'सभां वा' सन्तो भान्त्यस्यामिति सभा ग्रामप्रधानानां नगरप्रधानानां यथासुखमवस्थानहेतुर्मण्डपिका तां वा प्रपां वा—पानीयशालाम् आरामं वा—आगत्यागत्य भोगपुरुषा वरतरुणीभिः सह यत्र रमन्ते क्रीडन्ति स आरामो नगरासन्नातिदूरवर्त्ती क्रीडाश्रयः तरुखण्डः तम्, 'उज्जाणं वे' त्ति-ऊर्ध्वं विलम्बितानि प्रयोजनाभावात् यानानि यत्र तदुद्यानं-नगरात्प्रत्यासन्नवर्त्ती यानवाहनक्रीडागृहाद्याश्रयस्तरुखण्डः, तथा अत्वरितमचपलमसम्भ्रान्तं, त्वरायां चापल्ये सम्भ्रमे वा सम्यक्कचवराद्यपगमासम्भवात्, निरन्तरं नु त्वपान्तरालमोचनेन, सुनिपुणं श्लक्ष्णस्याप्यवकरस्यापसारणेन, सर्वतः-सर्वासु दिक्षु विदिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन सम्प्रमार्जयेत्, 'एवमेवे' त्यादि, सुगमं यावत् 'खिप्पामेव पच्चुवसमंती' त्यादि, एकान्ते तृणकाष्ठाद्यपनीय क्षिप्रमेव-शीघ्रमेव प्रत्युपशाम्यन्ति प्रत्येकं ते आभियोगिका देवाः उपशाम्यन्ति—संवर्त्तकवायुविकुर्वणान्निवर्त्तन्ते, संवर्त्तकवातविकुर्वणमुपसंहरन्तीति भावः, ततो 'दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति' संवर्त्तकवातविकुर्वणार्थं हि यद्वेलाहननमपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहननं तत्किलैकम् इदं त्वभ्रवार्दलकविकुर्वणार्थं द्वितीयमत उक्तम्-द्वितीयमपि वारं वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यन्ते (घ्नन्ति), समवहत्य चाभ्रवार्दलकानि विकुर्वन्ति, वाः-पानीयं तस्य दलानि वार्दलानि तान्येव वार्दलकानि, मेघा इत्यर्थः, अपो बिभ्रतीति अभ्राणि-मेघाः, अभ्राणि सन्त्यस्मिन्निति 'अभ्रादिभ्यः' ॥७।२।४६॥ इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । आकाशमित्यर्थः, अभ्रे वार्दलकानि अभ्रवार्दलकानि तानि विकुर्वन्ति, आकाशे मेघान् विकुर्वन्तीत्यर्थः, 'से जहानामए भइगदारगे सिया' इत्यादि पूर्ववत् 'निउणसिप्पोवगए एगं महंतं' इत्यादि, स यथानामको भृतिकदारक एकं महान्तं दकवारकं वा—मृत्तिकामयभाजनविशेषं 'दगकुंभगं वे' त्ति—दकघटं, दकस्थालकं वा-कंसादिमयमुदकभृतं भाजनं दककलशं वा—उदकभृतं भृङ्गारम् 'आवरिसिज्जा' इति—आवर्षेत् आ-समन्तात्सिञ्चेत्, 'खिप्पामेव पतणतणाय' ति—अनुकरणवचनमेतत् प्रकर्षेण स्तनितं कुर्वन्तीत्यर्थः, 'पविज्जुयाइंति' त्ति—प्रकर्षेण

विद्युतं विदधति, ' पुप्फवद्दलए विउव्वति ' पुष्पवृष्टियोग्यानि वार्दलिकानि पुष्पवार्दलिकानि-पुष्पवर्षुकान् मेघान् विकुर्वन्तीति भाव. , ' एग महं पुप्फछज्जियं वा ' एकां महतीं छाद्यते—उपरि स्थग्यते इति छाद्या छाद्यैव छाद्यिका पुष्पैर्भृता छाद्यिका पुष्पछाद्यिका ता वा पटलकानि—प्रतीतानि , ' कयग्गाहगहियकरयलपब्भट्ठवि (प्प) मुक्केणं ' ति-इह मैथुनसरम्भे यत् युवते. केशेषु ग्रहण स कचग्रहस्तेन गृहीत तथा करतलाद्वि (प्र) मुक्त, प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययस्ततो विशेषणसमास , तेन शेष सुगम यावत् ' जएणं विजएणं वद्धावेंति ' जयेन विजयेन वर्द्धापयन्ति जयतु देवेत्येव वर्द्धापयन्तीत्यर्थ., तत्र जयः—परैरनभिभूयमानता प्रतापवृद्धिश्च विजयस्तु—परेषामसहमानानामभिभवोत्पाद , वर्द्धापयित्वा च ता पूर्वोक्तामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयन्ति , आदिष्टकार्यसम्पादनेन निवेदयन्तीत्यर्थ॰ ।

तए णं से सूरियाभे देवे तेसिं आभियोगियाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए,पायत्ताणियाहिवइं देवं सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सूरियाभे विमाणे सभाए सुहम्माए मेघोघरसियगंभीरमहुरसद्दं जोयणपरिमंडलं सुसरघंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे २ महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणे २ एवं वयासी-आणवेति णं भो सूरियाभे देवे गच्छति णं भो सूरियाभे देवे जंबूदीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए णयरीए अंबसालवणे चेतिते समणं भगवं महावीरं अभिवंदए, तुब्भेऽवि णं भो देवाणुप्पिया ! सव्विड्ढीए ०जाव णातियरवेणं णियगपरिवालसद्धिं संपरिवुडा साति साति जाणविमाणाइं दुरूढा समाणा अकालपरिहीणं चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउब्भवह । (सू०११)

' तए णमि ' त्यादि, ततो ' णमि ' ति पूर्ववत् स सूर्याभो देवस्तेषाम् 'आभियोगाण ति-आ-समन्तादाभिमुख्येन युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मसु व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्या आभियोगिका , इत्यर्थ , तेषामाभियोग्यानां देवानामन्तिके—समीपे एतम्-अनन्तरोक्तमर्थं श्रुत्वा—श्रवणविषय कृत्वा श्रवणानन्तरं च निशम्य-परिभाव्य हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए इति यावच्छब्दकरणात्-' हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए ' इति द्रष्टव्य, पदात्यनीकाधिपतिं देवं शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवाना प्रिय ! सभाया सुधर्मायां-सुधर्माभिधानाया ' मेघोघरसियगंभीरमहुरसद्द' मिति मेघानामोघ.-सङ्घातो मेघौघस्तस्य रसित गर्जित तद्वद्गम्भीरो मधुरश्च शब्दो यस्या. सा मेघौघरसितगम्भीरमधुरशब्दा ता ' जोयणपरिमंडलं ' ति योजन-योजनप्रमाण परिमण्डलं-गुणप्रधानोऽयं निर्देश. पारिमण्डल्यं यस्या सा योजनपरिमण्डला ता सुस्वरा-सुस्वराभिधाना घण्टामुल्लालयन् २-ताडयन् ताडयन्नित्यर्थ , महता २ शब्देन उद्घोषयन्—उद्घोषणा कुर्वन् एवं वदति-आज्ञापयति भो सूर्याभो देवो गच्छति भा. सूर्याभो देवो जम्बूद्वीपं भारतं वर्षम् आमलकल्पा नगरीमाम्रशालवनं चैत्य यथा (तंत्र) श्रमणं भगवन्तं महावीर, वन्दितु तत्-तस्मात् 'तुब्भेऽवि णमि' ति यूयमपि, ' णमि' ति पूर्ववद् , देवानां प्रिया.! पूर्ववद् सर्वद्धर्या-परिवारादिकया सर्वद्युतया-यथाशक्तिविस्फारितेन समस्तेन शरीरतेजसा सर्वबलेन-समस्तेन हस्त्यादिसैन्येन सर्वसमुदायेन-स्वस्वाभियोग्यादिसमस्तपरिवारेण, सर्वादरेण-समस्तयावच्छक्तितुलनेन सर्वविभूत्या सर्वया अभ्यन्तरवैक्रियकरणादिबाह्यरत्नादिसम्पदा सर्वविभूषया-यावच्छक्तिस्फारोदारशृङ्गारकरणेन ' सव्व सभमेण' ति सर्वोत्कृष्टेन सम्भ्रमेण , सर्वोत्कृष्टसम्भ्रमो नामेह स्वनायकविषयबहुमानख्यापनपरा स्वनायकोपदिष्टकार्यसम्पादनाय यावच्छक्तित्वरितत्वरिता प्रवृत्तिः, ' सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालकारेणं' अत्र गन्धा-वासा माल्यानि-पुष्पदामानि अलङ्कारा—आभरणविशेषा॰, ततः समाहारो द्वन्द्वस्तत॰ सर्वशब्देन सह विशेषणसमास॰ , ' सव्वदिव्वतुडियसद्दसंनिनाएण' मिति—सर्वाणि च तानि दिव्यत्रुटितानि च सर्वदिव्यत्रुटितानि तेषां शब्दाः सर्वदिव्यत्रुटितशब्दाः तेषामेकत्र मीलनेन य. सङ्गतेन नितरां नादो-महान् घोषः सर्वत्रुटितदिव्यशब्दसन्निनादस्तेन, इह अल्पेष्वपि सर्वशब्दो दृष्ट॰, यथा 'अनेन सर्व पीत घृतमि' ति, तत आह-'महता इड्ढीए' इत्यादि महत्या यावच्छक्तितुलितया ऋद्ध्या-परिवारादिकया , एवं ' महता जुईए' इत्याद्यपि भावनीयम् , तथा महतां—स्फूर्त्तिमतां वराणा—प्रधानानां त्रुटितानाम् आतोद्यानां यमकसमकम्—एककालं पटुभिः पुरुषै प्रवादितानां यो रवस्तेन , एतदेव विशेषेणाचष्टे—'सखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुभिनिग्घोसणाइतरवेण ' शंख॰--प्रतीत. , पणवो—भाण्डानां , पटह.--प्रतीतः भेरी ढक्का झल्लरी-चर्मावनद्धा विस्तीर्णा वलयाकारा खरमुखी-काहला हुडुक्का प्रतीता महाप्रमाणो मर्द्दलो मुरज॰ स एव लघुर्मृदङ्गो दुन्दुभि भेर्याकारा सङ्कटमुखी एतेषा द्वन्द्वस्तासा निर्घोषा-महान् ध्वानो नादितं च-घण्टायामिव वादनोत्तरकालभावी सततध्वनिस्तल्लक्षणो यो रवस्तेन, नियगपरिवारसद्धिं संपरिवुडा इति निजक -आत्मीय आत्मीयो य॰ परिवारस्तेन सार्द्धं,तत्र सहभाव परिवाररीतिमन्तरेणापि सम्भवति तत आह-'संपरिवुडा ' सम्यक्-परिवाररीत्या परिवृता सम्परिवृता , 'अकालपरिहीणं चेवे ' ति परिहानि -परिहीनं कालस्य परिहीनं कालविलम्ब इति भाव. न विद्यते कालपरिहीन यत्र प्रादुर्भवने तदकालपरिहीन, क्रियाविशेषणमेतत् ,'अंतिए पाउब्भवह' अन्तिके-समीपे प्रादुर्भवत , समागच्छतेति भाव ।

तए णं से पायत्ताणियाहिवती देवे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए एवं देवा!तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेति, पडिसुणित्ता जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दा जोयणपरिमंडला सुस्सरा घंटा तेणेव उवागच्छति २ त्ता तं मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दं जोयणपरिमंडलं सुस्सर घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेति।तए णं तीसे मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दाते जोयणपरिमंडलाते सुस्सराते घंटाए तिक्खुत्तो उल्ला-

लियाए समाणीए से सूरियाभे विमाणे पासायविमाणणि-क्खुडावडियसद्दघंटापडिसुयसयसहस्ससंकुले जाए यावि होत्था । तए णं ते सूरियाभविमाणवासिणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य एगंतरइपसत्तनिच्चप्पमत्तविसयसुहमुच्छियाणं सुस्सरघंटारवविउलबोल (तुरियचवल) पडिबोहणे कए समाणे घोसणकोउहलादिन्नकन्नएगग्गचित्तउवउत्तमाणसाणं से पायत्ताणीयाहिवई देवे तंमि घंटारवंसि णिसंतपसंतंमि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वदासी--हंत सुणंतु भवंतो सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य सूरियाभविमाणवइणो वयणं हियसुहत्थं आणवणियं भो !,सूरियाभे देवे गच्छइ णं भो ! सूरियाभे देवे जम्बूदीवं दीवं भारहं वासं आमलकप्पं नयरिं अंबसालवणं चेइयं समणं भगवं महावीरं अभिवंदए, तं तुब्भेऽवि देवाणुप्पिया ! सव्विड्ढीए अकालपरिहीणा चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउब्भवह । (सू० १२)

' तए णं से ' इत्यादि ' ०जाव पडिसुणित्ता ' इति, अत्र यावच्छब्दकरणात्-'करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवा ! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ त्ति द्रष्टव्यं, ' तिक्खुत्तो उल्लालेइ ' त्ति त्रिकृत्वः-त्रीन् वारान् उल्लालयति-ताडयति, ततो 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे तस्यां मेघौघरसितगम्भीरमधुरशब्दायां योजनपरिमण्डलायां सुस्वराभिधानायां घण्टायां त्रिकृत्वस्ताडितायां सत्यां यत् सूर्याभविमानं (तत्र) तत्प्रासादनिष्कुटेषु च आपतिताः शब्दाः --शब्दवर्गणापुद्गलास्तेभ्यः समुच्छलितानि यानि घण्टाप्रतिश्रुतशतसहस्राणि--घण्टाप्रतिशब्दलक्षाणि तैः सङ्कुलमपि जातमभूत्, किमुक्तं भवति? घण्टायां महता प्रयत्नेन ताडितायां ये विनिर्गताः शब्दपुद्गलास्तत्प्रतिघातवशतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दिव्यानुभावतः समुच्छलितैः प्रतिशब्दैः सकलमपि विमानमेकयोजनलक्षमानमपि बधिरितमजायत इति , एतेन द्वादशभ्यो योजनेभ्यः समागतः शब्दः श्रोत्रग्राह्यो भवति न परतः ततः कथमेकत्र ताडितायां घण्टायां सर्वत्र तच्छब्दश्रुतिरुपजायते ? इति यच्चोद्यते तदपाकृतमवसेयं, सर्वत्र दिव्यानुभावतः तथारूपप्रतिशब्दोच्छलने यथोक्तदोषासम्भवात् । ' तए णमि ' त्यादि ततो ' णमि ' ति पूर्ववत् तेषां सूर्याभदेवविमानवासिनां बहूनां वैमानिकदेवानां देवीनां च एकान्तेन सर्वात्मना रतौ--रमणे प्रसक्ता एकान्तरतिप्रसक्ता अत एव नित्य--सर्वकालं प्रमत्ता नित्यप्रमत्ता , कस्मादिति चेदत आह--' विसयसुहमुच्छिय त्ति ' विषयसुखेषु मूर्च्छिता--अध्युपपन्ना विषयसुखमूर्च्छिता यतोऽध्युपपन्नास्ततो नित्यप्रमत्ता ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन विशेषणसमासः तेषां सुस्सरघंटारवविउलबोलतुरियचवलपडिबोहणे ' इति सुस्वराभिधानायां घण्टाया रवस्य य सर्वासु दिक्षु, विदिक्षु च प्रतिशब्दोच्छलनेन, विपुल --सकलविमानव्यापितया विस्तीर्णस्तं बोल --को

लाहलस्तेन त्वरित-शीघ्रं चपलम्--आकुलं प्रतिबोधने कृते सति ' घोसणकोउहलादिन्नकन्नएगग्गचित्तउवउत्तमाणसाणमिति कीदृग् नाम घोषणं भविष्यतीत्येवं घोषणे कुतूहलेन दत्तौ कर्णौ यैस्ते घोषणकुतूहलदत्तकर्णाः , तथा एकाग्र--घोषणाश्रवणैकविषयं चित्तं येषां ते एकाग्रचित्ताः, एकाग्रचित्तत्वेऽपि कदाचिदनुपयोगः स्यादत आह-उपयुक्तमानसाः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासस्तेषां पदात्यनीकाधिपतिर्देवस्तस्मिन् घण्टारवे 'निसन्तपसन्तंमि' ति नितरां शान्ती निशान्त -अत्यन्तमन्दीभूतस्ततः प्रकर्षेण सर्वात्मना शान्तः प्रशान्तः ,ततश्छिन्नप्ररूढ इत्यादाविव विशेषणसमासस्तस्मिन् महता २ शब्देन उद्घोषयन्नेवमवादीत्-' हन्त सुणंतु ' इत्यादि हर्षे, उक्तं च--' हन्त हर्षेऽनुकम्पायामि ' त्यादि, हर्षश्च स्वामिनाऽऽदिष्टत्वात् श्रीमन्महावीरपादवन्दनार्थं च प्रस्थानसमारम्भात्, शृण्वन्तु भवन्तो बहवः सूर्याभविमानवासिनो वैमानिकदेवा देव्यश्च, सूर्याभविमानपतेर्वचनं हितसुखार्थं हितार्थं सुखार्थं चेत्यर्थः, तत्र हितं जन्मान्तरेऽपि कल्याणावहं तथाविधकुशलं, सुखं तस्मिन् भवे निरुपद्रवता, आज्ञापयति भो देवानां प्रिया ! सूर्याभो देवो यथा गच्छति भो ! सूर्याभो देवो ' जम्बूदीपं द्वीपमि ' त्यादि तदेव यावदन्तिकं प्रादुर्भवत ।

तए णं ते सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य पायत्ताणियाहिवइस्स देवस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ०जाव हियया अप्पेगइया वंदणवत्तियाए अप्पेगइया पूयणवत्तियाए अप्पेगइया सक्कारवत्तियाए एवं समाणवत्तियाए कोउहलवत्तियाए अप्पे० असुयाइं सुणिस्सामो सुयाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो, अप्पेगइया सूरियाभस्स देवस्स वयणमणुयत्तमाणा अप्पेगतिया अन्नमन्नमणुयत्तमाणा अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं अप्पेगइया धम्मो त्ति अप्पेगइया जीयमेयं ति कट्टु सव्विड्ढीए ०जाव अकालपरिहीणा चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउब्भवंति । (सू० १३) तए णं से सूरियाभे देवे ते सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य अकालपरिहीणा चेव अंतियं पाउब्भवमाणे पासति पासित्ता हट्ठतुट्ठ०जाव हियए आभिओगियं देवं सद्दावेति आभिओ० सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अणेगखंभसयसंनिविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं खंभुग्गयवरवइरवेइयापरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालिणीयं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूवं घंटावलिचलियमहुरमणहरसरं सुहं कंतं दरिसणि-

त्तं णिउणोचियमिसिमिसिंतमणिरयणघंटियाजालपरिक्खित्तं जोयणसयसहस्सविच्छिण्णं दिव्वं गमणसज्जं सिग्घगमणं णाम दिव्वं जाणं (जाणविमाणं) विउव्वाहि, विउव्वित्ता खिप्पामेव एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि। (सू० १४)

'तए णं ते' इत्यादि, ततस्ते सूर्याभविमानवासिनो बहवो वैमानिका देवा देव्यश्च पदात्यनीकाधिपतेर्देवस्य समीपे एनम्—अनन्तरोक्तमर्थं श्रुत्वा 'णिसम्म हट्ठ तुट्ठ ०जाव हियया' इति यावत्करणात्-'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया' इति परिग्रह, 'अप्पेगइया वंदणवत्तियाए' इति अपि सम्भावनायामेकका.—केचन वन्दनप्रत्ययं वन्दनम्—अभिवादन प्रशस्तकायवाग्मन प्रवृत्तिरूप तत्प्रत्यय तन्मया भगवनः श्रीमन्महावीरस्य कर्त्तव्यमित्येवनिमित्तम्, अप्येकका. पूजनप्रत्यय पूजन—गन्धमाल्यादिभि समभ्यर्चनं अप्येकका. सत्कारप्रत्ययं सत्कार.—स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणम् अप्येकका सम्मानो—मानस. प्रीतिविशेष, अप्येकका कुतूहलजिनभक्तिरागेण—कुतूहलेन—कौतुकेन कीदृशो भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रीमन्महावीर इत्येवंरूपेण यो जिने—भगवति वर्द्धमानस्वामिनि भक्तिरागोभक्तिपूर्वकोऽनुरागस्तेन अप्येके सूर्याभस्य वचनम्—आज्ञामनुवर्त्तमानाः अप्येकका: अश्रुतानि—पूर्वमनाकर्णितानि स्वर्गमोक्षप्रसाधकानि वचांसि श्रोष्याम इति बुद्ध्या अप्येकका. श्रुतानि—पूर्वमाकर्णितानि यानि शङ्कितानि जातानि तानि इदानीं नि शङ्कितानि करिष्याम इति बुद्ध्या अप्येकका जीतमेतत्—कल्प एप इति कृत्वा, 'सव्विड्ढीए' इत्यादि प्राग्वत्।

तए णं से आभिओगिए देवे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठे ०जाव हियए करयलपरिग्गहियं ०जाव पडिसुणेइ ०जाव पडिसुणित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमंति अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ २ णित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं ०जाव अहाबायरे पोग्गलेसमो० २ त्ता अहासुहुमे पोग्गले परियादइ २ त्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणेइ २त्ता अणेगखंभसयसन्निविट्ठं ०जाव दिव्वं जाणविमाणं विउव्विउ पवत्ते याऽवि होत्था। तए णं से आभिओगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स तिदिसिं तओ तिसोवाणपडिरूवए विउव्वति, तं जहा-पुरच्छिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं, तेसिं तिसोवाणपडिरूवगाणं इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा लोहितक्खमइयाओ सूइओ वइरामया संधी णाणामणिमया अवलंबणा अवलंबणबाहाओ य पासादीया ०जाव पडिरूवा। तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ तोरणे विउव्वति, तोरणा णाणामणिमएसु थंभेसु उवनिविट्ठसनिविट्ठविविहमुत्तंतरोवचिया विविहतारारूवोवचिया [ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गय [वर] वइरवेइयापरिगताभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ता विव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाइया] ०जाव पडिरूवा।

'तए णमि' त्यादि 'अणेगखंभसयसन्निविट्ठ' मिति अनेकेषु स्तम्भशतेषु सन्निविष्ट. 'लीलट्ठियसालिभंजियाग' मिति लीलया स्थिता लीलास्थिता, अनेन नासा पुत्तलिकानां सौभाग्यमावेदयति, लीलास्थिता. शालभञ्जिकाः पुत्तलिका यत्र तत्तथा 'ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकंजररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तमि' ति ईहामृगा—वृका व्याला.-स्वापदभुजङ्गा ईहामृगऋषभतुरगनरमगरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मल.-ताना भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्-आलेखो यत्र तत्तथा, तथा स्तम्भोद्गतया-स्तम्भोपरिवर्तिन्या वज्ररत्नमय्या वेदिकया परिगतं सत् यदभिरामं तत्स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामं, 'विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्तं पिव' इति विद्याधरयोर्यद् यमलयुगलं-समश्रेणीक द्वन्द्वं विद्याधरयमलयुगल तच्च तद् यन्त्र च सञ्चरिष्णुपुरुषप्रतिमाद्वयरूप तेन युक्त तदेव तथा, अर्चिपा-किरणानां सहस्रैर्मालिनीयं-परिवारणीयम् अर्चिःसहस्रमालिनीय, तथा रूपकसहस्रकलित, 'भिसमाण ति' दीप्यमान 'भिब्भिसमाण' अतिशयेन देदीप्यमान, 'चक्खुल्लोयणलेस' ति चक्षुकर्त्तलोकने लिसतीव—दर्शनीयत्वातिशयात् श्लिष्यतीव यत्र तत्तथा, 'सुहफास ति' शुभ:-कोमल' स्पर्शो यस्य तत्तथा, सश्रीकानि-सशोभाकानि रूपाणि-रूपकाणि यत्र तत् सश्रीकरूप, 'घण्टावलिचलियमहुरमणहरसर' मिति घण्टावले —घण्टापङ्क्तेर्वातवशेन चलितायाः -कम्पितायाः मधुर.—श्रोत्रप्रियो मनोहरो—मनोनिर्वृतिकरः स्वरो यत्र तत्तथा, चलितशब्दस्य विशेष्यात्परनिपात. प्राकृतत्वात्, 'शुभं' यथोदितवस्तुलक्षणोपेतत्वात्, कान्त—कमनीयम् अत एव दर्शनीय, तथा 'निउणोचियमिसिमिसिंतमणिरयणघंटियाजालपरिक्खित्त' मिति निपुणक्रियमुचितानि खचितानि 'मिसिमिसिंत' त्ति देदीप्यमानानि मणिरत्नानि यत्र तत्तथा तेन, कथभूतेन? घण्टिकाजालेन—क्षुद्रघण्टिकासमूहेन परि —सामस्त्येन क्षिप्त—व्याप्तं यत्तत्तथा, योजनशतसहस्रविस्तीर्णं—योजनलक्षविस्तार दिव्यं—प्रधान गमनसज्जं—गमनप्रवण शीघ्रगमननामधेयं 'जाणविमाणं' यानरूपं—वाहनरूपं विमानं यानविमानं, शेषं प्राग्वत्। 'तस्स ण' मित्यादि, तस्स णमिति पूर्ववत् दिव्यस्य यानविमानस्य 'तिदिसिं' इति तिसृषु दिशु समाहृतासु त्रिदिक् तस्मिन् त्रिदिशि, तत्र 'तिसोवाणपडिरूवए' इति त्रीणि एकैकस्या दिशि एकैकस्य भावात् त्रि—

सोपानप्रतिरूपकाणि प्रति-विशिष्टं रूपं येषां तानि प्रतिरूपकाणि त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानं त्रिसोपानानि च तानि प्रतिरूपकाणि चेति विशेषणसमासः, विशेषणस्यात्र परनिपातः प्राकृतत्वात् 'तेसि णमि' त्यादि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणामयमेतद्रूपो—वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णावासो—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-वज्रमया—वज्ररत्नमया 'नेमा' नेमिभूमिका नत ऊर्ध्वं निर्गच्छन्तः प्रदेशा रिष्टरत्नमयानि प्रतिष्ठानानि त्रिसोपानमूलप्रदेशा वैडूर्यमयाः स्तम्भाः सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि-त्रिसोपानाङ्गभूतानि, लोहिताक्षमय्यः सूचयः-फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीया वज्रमया—वज्ररत्नपूरिताः सन्धयः—फलकद्वयापान्तरालप्रदेशा नानामणिमयानि अवलम्ब्यन्ते इति अवलम्बनानि-अवतरतामुत्तरतां चालम्बनहेतुभूता अवलम्बनवाहातो विनिर्गताः केचिदवयवाः, 'अवलम्बणबाहाओ य' त्ति अवलम्बनबाहाश्च नानामणिमय्यः, अवलम्बनबाहानाम उभयोः पार्श्वयोरवलम्बनाश्रयभूता भित्तयः, 'पासाइयाओ' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् । 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां 'णमि' ति वाक्यालङ्कारे त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं तोरणं प्रज्ञप्तं, तेषां च तोरणानामयमेतद्रूपो वर्णावासो—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-तोरणा नानामणिमया इत्यादि, क्वचिदेवं पाठः—'तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो तोरणे विउव्वइ तोरणा नाणामणिमया' इत्यादि, मणयः—चन्द्रकान्ताद्याः, विविधमणिमयानि तोरणानि नानामणिमयेषु स्तम्भेषु उपनिविष्टानि—सामीप्येन स्थितानि, तानि च कदाचिच्चलानि, अथवा-अपदपतितानि वाऽऽशङ्क्येरन् तत आह-सम्यक्-निश्चलतया अपदपरिहारेण च निविष्टानि, ततो विशेषणसमासः, उपनिविष्टसन्निविष्टानि, 'विविहमुत्तंतरा (रारूवो) वचियाइ' इति विविधा—विविधविच्छित्तिकलिता मुक्ता-मुक्ताफलानि 'अन्तरे' ति अन्तराशब्दोऽगृहीतवीप्सोऽपि सामर्थ्याद्वीप्सां गमयति, अन्तरा २ रूपोपचितानि यावता यत्र तानि तथा 'विविहतारोवचियाइ' विविधैस्तारारूपैः-तारिकारूपैरुपचितानि, तोरणेषु हि शोभार्थं तारिका निबध्यन्ते इति प्रतीतं लोकेऽपीति विविधतारारूपोपचितानि 'जाव पडिरूवा' इति यावत्करणात्-'ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ताविव' एतनामस्तम्भद्वयसन्निविष्टानि तोरणानि व्यवस्थितानि यथा विद्याधरयमलयुगलयन्त्रयुक्तानीव प्रतिभासंते इति, 'अच्चीसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसिमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा' इति परिग्रहः, क्वचिदन्तरसालभञ्जिकालिखनमपि दृश्यते ।

तेसि णं तोरणाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता, तं जहा-सोत्थियसिरिवच्छणंदियावत्तवद्धमाणगभद्दासणकलसमच्छदप्पणा (०जाव पडिरूवा) । तेसिं च णं तोरणाणं उप्पिं बहवे किण्हचामरज्झए ०जाव सुक्किल्लचामरज्झए अच्छे सण्हे रुप्पपट्टे वइरामयदंडे जलयामलगंधिए सुरम्मे पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे विउव्वति । तेसिं णं तोरणाणं उप्पिं बहवे छत्तातिच्छत्ते घंटाजुगले पडागाऽपडागे उप्पलहत्थए कुमुदणलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयमहापोंडरीयसतपत्तसहस्सपत्तहत्थए सव्वरयणामए अच्छे ०जाव पडिरूवे विउव्वति । तए णं से आभिओगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वति ।

'तेसि णं तोरणाणं उप्पिमि' त्यादि सुगमं, नवरं 'जाव पडिरूवा' इति यावच्छब्दकरणात्-'घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरि(स्सिरी) या सउज्जोया पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा' इति द्रष्टव्यम् । 'तेसि णमि' त्यादि, तेषां तोरणानामुपरि बहवः कृष्णचामरयुक्ता ध्वजाः कृष्णचामरध्वजाः, एवं बहवो नीलचामरध्वजाः, लोहितचामरध्वजाः, हरितचामरध्वजाः, शुक्लचामरध्वजाः, कथम्भूता एते सर्वेऽपीत्यत आह-अच्छा-आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलाः श्लक्ष्णा-श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापिताः 'रुप्पपट्टा' इति रूप्यो-रूप्यमयो वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पट्टो येषां ते रूप्यपट्टाः 'वइरदंडा' इति वज्रो-वज्ररत्नमयो दण्डो रूप्यपट्टमध्यवर्ती येषां ते वज्रदण्डाः, तथा जलजानामिव-जलजकुसुमानां पद्मादीनामिवामलो न तु कुद्रव्यगन्धसम्मिश्रो यो गन्धः स जलजामलगन्धः स विद्यते येषां ते जलजामलगन्धिकाः, अत एव सुरम्याः 'प्रासादीया' इत्यादिविशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् । 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानामुपरि बहूनि छत्रातिच्छत्राणि-छत्रात्-लोकप्रसिद्धात् एकसङ्ख्याकात् अतिशायीनि छत्राणि उपर्यधोभावेन द्विसङ्ख्याकानि त्रिसङ्ख्याकानि वा छत्रातिच्छत्राणि, बाह्यपताकाभ्यो लोकप्रसिद्धाभ्योऽतिशायिन्यो दीर्घत्वेन विस्तारेण च पताकाः पताकातिपताकाः, बहूनि घण्टायुगलानि, बहूनि चामरयुगलानि, बहवः उत्पलहस्ता—उत्पलाख्यजलजकुसुमसमूहविशेषाः, एवं बहवः पद्महस्तका नलिनहस्तकाः सुभगहस्तकाः सौगन्धिकहस्तकाः शतपत्रहस्तकाः सहस्रपत्रहस्तकाः, पद्मादिविभागव्याख्यानं प्राग्वत्, एते च छत्रातिच्छत्रादयः सर्वेऽपि रत्नमया अच्छा—आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलाः यावत्करणात्-'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरिया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा' इति परिग्रहः । 'तस्स णमि' त्यादि, 'तस्स णं' मिति पूर्ववत् दिव्यस्य यानविमानस्य अन्तः—मध्ये बहुसमः सन् रमणीयो बहुरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः ।

किंविशिष्ट ? इत्याह—

से जहाणामए आलिंगपुक्खरे ति वा मुइंगपुक्खरे इ वा सरतले इ वा करतले इ वा चंदमंडले इ वा सूरमंडले इ वा आयसमंडले इ वा उरब्भचम्मे इ वा (वसहचम्मे इ वा) वराहचम्मे इ वा सीहचम्मे इ वा

वग्घचम्म इ वा मिगचम्मे इ वा (छगलचम्मे इ वा) दीवियचम्मे इ वा अणेगमंकुकीलगसहस्सवितए णाणाविहपंचवन्नेहिं मणीहिं उवसोभिते आवडपचावडसेढिपसेढिसोत्थिय—सोवत्थिय—पूसमाणग—वद्धमाणग—मच्छंडगमगरंडगजारामाराफुल्लावलिवपउमपत्तमागरतरंगवमंतलयपउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं सप्पभेहिं समरीएहिं सउज्जोएहिं णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिएहिं तं जहा—किण्हेहिं णीलेहिं लोहिएहिं हालिदेहिं सुकिल्लेहिं, तत्थ णं जे ते किण्हा मणी तेसि णं मणीणं इमे एतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए जीमूतए इ वा अंजणे इ वा खजणे इ वा कज्जले इ वा गवले इ वा गवलगुलिया इ वा भमरे इ वा भमरावलिया इ वा भमरपतंगसारे ति वा जंबूफले ति वा अद्दारिट्ठे इ वा परहुते इ वा गए इ वा गयकलभे इ वा किण्हसप्पे इ वा किण्हकेसरे इ वा आगासथिग्गले इ वा किण्हासोए इ वा किण्हकणवीरे इ वा किण्हबंधुजीवे इ वा, भवे एयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, (ओवम्मं समणाउसो !) ते णं किण्हा मणी इत्तो इट्ठतराए चेव कंततराए चेव मणामतराए चेव मणुण्णतराए चेव वण्णेणं पण्णत्ता। तत्थ णं जे ते नीला मणी तेसि णं मणीणं इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए भिंगे इ वा भिंगपत्ते इ वा सुए इ वा सुयपिच्छे इ वा चासे इ वा चासपिच्छे इ वा णीली इ वा णीलीभेदे इ वा णीलीगुलिया इ वा सामा इ वा उच्चन्ते इ वा वणराती इ वा हलधरवसणे इ वा मोरग्गीवा इ वा अयसिकुसुमे इ वा वाणकुसुमे इ वा अंजणकेसिकुसुमे इ वा नीलुप्पले इ वा णीलासोगे इ वा णीलबंधुजीवे इ वा णीलकणवीरे इ वा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं णीला मणी एत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता। तत्थ णं जे ते लोहियगा मणी तेसि णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहाणामए उरब्भरुहिरे इ वा ससरुहिरे इ वा नररुहिरे इ वा वराहरुहिरे इ वा (महिसरुहिरे इ वा) बालिंदगोवे इ वा बलदिवाकरे इ वा संझब्भरागे इ वा गुंजद्धरागे इ वा जासुअणकुसुमे इ वा किंसुयकुसुमे इ वा पालियायकुसुमे इ वा जाइहिंगुलए ति वा सिलप्पवाले ति वा पवालअंकुरे इ वा लोहियक्खमणी इ वा लक्खारसगे ति वा किमिरागकंबले ति वा चीणपिट्ठरासी ति वा रत्तुप्पले इ वा रत्तासोगे ति वा रत्तकणवीरे ति वा रत्तबंधुजीवे ति वा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं लोहिया मणी इत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता। तत्थ णं जे ते हालिद्दा मणी तेसि णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—से जहाणामए चंपे ति वा चंपछल्ली ति वा (चंपगभेए इ वा) हलिद्दा इ वा हलिद्दागुलिया ति वा हरियालियाइ वा हरियालभेदे ति वा हरियालगुलिया ति वा चिउरे इ वा चिउरंगारते ति वा वरकणगे इ वा वरकणगनिघसे इ वा (सुवण्णसिप्पाए ति वा) वरपुरिसवसणे ति वा अल्लकीकुसुमे ति वा चंपाकुसुमे इ वा कुहंडियाकुसुमे इ वा तडवडाकुसुमे इ वा घोसेडियाकुसुमे इ वा सुवण्णकुसुमे इ वा सुहिरण्णकुसुमे ति वा कोरंटवरमल्लदामे ति वा बीयो (यकुसुमे) इ वा पीयासोगे ति वा पीयकणवीरे ति वा पीयबंधुजीवे ति वा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं हालिद्दा मणी एत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता। तत्थ णं जे ते सुकिल्ला मणी तेसि णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते। से जहा नामए अंके ति वा संखे ति वा चंदे ति वा कुंदे इ वा दंते इ वा(कुमुदोदकदयरयदहिघणगोक्खीरपुर) हंसावली इ वा कोंचावली ति वा हारावली ति वा चंदावलीति वा सारतियबलाहए ति वा धंतधोयरुप्पपट्टे इ वा सालिपिट्ठरासी ति वा कुंदपुप्फरासी ति वा कुमुदरासी ति वा सुक्कच्छिवाडी ति वा पिहुणमिंजिया ति वा भिसे ति मुणालिया ति वा गयदंते ति वा लवंगदलए ति वा पोंडरियदलए ति वा सेयासोगे ति वा सेयकणवीरे ति वा सेयबन्धुजीवे ति वा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं सुकिल्ला मणी एत्तो इट्ठतराए चेव०जाव वन्नेणं पण्णत्ता।

'से जहा नाम ए' तत्—सकललोकप्रसिद्धं 'यथे'ति दृष्टान्तोपदर्शने 'नामे' ति शिष्यामन्त्रणे, 'ए' इति वाक्यालङ्कारे, 'आलिंगपुक्खरे इ वे' ति आलिङ्गो—मुरजनामा वाद्यविशेषः तस्य पुष्कर—चर्मपुटं तत्किलात्यन्तसममिति तेनोपमा क्रियते, इति—शब्दाः सर्वेऽपि स्वस्वोपमाभूतवस्तुपरिसमाप्तिद्योतकाः, वाशब्दाः समुच्चये मृदङ्गो लोकप्रतीतो मर्दलस्तस्य पुष्करं मृदङ्गपुष्करं परिपूर्ण—पानीयेन भृत तडाकं सरस्तस्य तलम्—उपरितनो भागः सरस्तलं, करतलं प्रतीतं, चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलं च यद्यपि तस्वबृत्त्या उत्तानीकृतार्द्धकपित्थाकारं पीठप्रासादापेक्षया वृत्तालेखमिति तद्गतो दृश्यमानो भागो न समतलस्तथापि प्रतिभासते समतल इति तदुपादानम्, आदर्शमण्डलं सुप्रसिद्धम्, 'उरब्भचम्मे इ वे' त्यादि, अत्र सर्वत्रापि 'अणेगसकुकीलगसहस्सवितते' इति विशेषणयोगः, उरभ्र—ऊरण, वृषभव-

राहसिंहव्याघ्रच्छगला प्रतीताः द्वीपी—चित्रकः, एतेषां प्रत्येक चर्म्म अनेकैः शङ्कुप्रमाणैः कीलकसहस्रैः, महद्भिर्हि कीलकैस्ताडितं प्रायो मध्ये क्षामं भवति, तथारूपताडासम्भवात् अत्र शङ्कुग्रहणं । वितत—वितर्तीकृत ताडितमिति भावः, यथाऽत्यन्तं बहुसमं भवति तथा तस्यापि यानविमानस्यान्तर्बहुसमो भूमिभागः पुनः कथम्भूत इत्याह—'णाणाविहपंचवन्नेहिं मणीहिं उवसोभिते' नानाविधा—जातिभेदान्नानाप्रकारा ये पञ्चवर्णा मणयस्तैरुपशोभितः कथम्भूतैरित्याह—'आवडे' इत्यादि, आवर्त्तादीनि मणीनां लक्षणानि, तत्रावर्त्तः प्रतीतः एकस्यावर्त्तस्य प्रत्यभिमुख आवर्त्तः प्रत्यावर्त्तः श्रेणि—तथाविधबिन्दुजा पङ्क्तिस्तस्याश्च श्रेण्यां च निर्गता अन्या श्रेणिः सा प्रश्रेणिः स्वस्तिकः प्रतीतः सौवस्तिकपुष्पमाणवौ लक्षणविशेषौ लोकात्प्रत्येतव्यौ वर्द्धमानकं—शरावसम्पुटं मत्स्याण्डकमकराण्डके प्रतीते 'जारमारेति' लक्षणविशेषौ सम्यग्मणिलक्षणवेदिनो लोकाद्वेदितव्यौ पुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताः सुप्रतीताः नासां भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्-आलेख्यो येषु ते आवर्त्तप्रत्यावर्त्तश्रेणिप्रश्रेणिस्वस्तिकसौवस्तिकपुष्पमाणववर्द्धमानकमत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताभक्तिचित्रास्तैः, किमुक्तं भवति?-आवर्त्तादिलक्षणोपेतैः, तथा सच्छायैः सती शोभना छाया-निर्मलस्वरूपा येषां ते सच्छायाः तथा सती-शोभना प्रभा-कान्तिर्येषां ते सत्प्रभास्तैः, 'समरीइएहिं' इति समरीचिकैः -बहिर्विनिर्गतकिरणजालसहितैः सोद्योतैः -बहिर्व्यवस्थितप्रत्यासन्नवस्तुस्तोमप्रकाशकरोद्योतसहितैः एवम्भूतैर्नानाजातीयैः पञ्चवर्णैर्मणिभिरुपशोभितः तानेव पञ्चवर्णानाह—'तं जहा-किण्हेहिं' इत्यादि सुगमं, 'तत्थ णमि'त्यादि,'तत्र' तेषां पञ्चवर्णानां मणीनां मध्ये 'णमि'ति वाक्यालङ्कृतौ,ये ते कृष्णा मणयः ते कृष्णमणय इत्येव सिद्धे ये इति वचनं भाषाक्रमार्थं, तेषां 'णमि' ति पूर्ववत्, अयम्—अनन्तरमुद्दिश्यमान एतद्रूप -अनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णावासो-वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'से जहानामए ' इत्यादि, स यथानाम 'जीमूत' इति जीमूतो—बलाहकः, स चेह प्रावृट्प्रारम्भसमये जलभृतो वेदितव्यः, तस्यैव प्रायोऽतिकालिमसम्भवात् इतिशब्द उपमाभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्द उपमानान्तरापेक्षया समुच्चये, एवं सर्वत्र, अञ्जनं—सौवीराञ्जनं रत्नविशेषो वा, खञ्जनं—दीपमल्लिकामलः, कज्जलं—दीपशिखापतितं, मषी—तदेव कज्जलं ताम्रभाजनादिषु सामग्रीविशेषेण घोलितं मषीगुलिका—घोलितकज्जलगुटिका, क्वचित् मसी इति वा मसीगुलिया' इति न दृश्यते, 'गवलं' माहिषं शृङ्गं तदपि चोपरितनत्वग्भागापसारेण द्रष्टव्यं, तत्रैव विशिष्टस्य कालिम्नः सम्भवात्, तथा तस्यैव माहिषशृङ्गनिविडतरसारनिर्वर्तिता गुटिका गवलगुटिका भ्रमरः—प्रतीतः भ्रमरावली— भ्रमरपङ्क्तिः भ्रमरपतङ्गसारः—भ्रमरपक्षान्तर्गतो विशिष्टकालिमोपचितप्रदेशः जम्बूफलं प्रतीतं, आर्द्रारिष्टकः—कोमलः काकः, परपुष्टः—कोकिलः, गजो गजकलभश्च प्रतीतः, कृष्णसर्पः—कृष्णवर्णः सर्पजातिविशेषः, कृष्णकेसरः — कृष्णबकुलं, 'आकाशथिग्गलं' शरदि मेघविनिर्मुक्तमाकाशखण्डं, तद्धि कृष्णमतीव प्रतिभातीति तदुपादानं, कृष्णाशोककृष्णकणवीरकृष्णबन्धुजीवाः अशोककणवीरबन्धुजीववृक्षभेदाः, अशोकादयो हि पञ्चवर्णा भवन्ति ततः शेषवर्णव्युदासार्थं कृष्णग्रहणं, एतावत्युक्ते स्वरावानिव शिष्यः पृच्छति—'भवे एयारूवे' इति भवेत् मणीनां कृष्णो वर्णः 'एतद्रूपो' जीमूतादिरूपः ?, सूरिराह—'नायमर्थः समर्थः' नायमर्थ उपपन्नो, यदुत-एवम्भूतः कृष्णो वर्णो मणीनामिति, यद्येवं तर्हि किमर्थं जीमूतादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानमत आह—औपम्यम् -उपमामात्रमेतत् उदितं हे श्रमण ! आयुष्मन् !, वाचना पुनस्ते कृष्णा मणयः 'इतो' जीमूतादेरिष्टतरका एव—कृष्णेन वर्णेन अभीप्सिततरका एव, तत्र किञ्चित्कान्तमपि केषाञ्चिदिष्टतमं भवति ततोऽकान्तताव्यवच्छेदार्थमाह—कान्ततरका एव—अतिस्निग्धमनोहारिकालिमोपचिततया जीमूतादेः कमनीयतरकाः, अत एव मनोज्ञतरका एव—मनसा ज्ञायते—अनुकूलतया स्वप्रवृत्तिविषयीक्रियते इति मनोज्ञं मनोऽनुकूलं ततः प्रकर्षविवक्षायां तरप्प्रत्ययः, तत्र मनोज्ञतरमपि किञ्चिन्मध्यमं भवेत् ,ततः सर्वोत्कर्षप्रतिपादनार्थमाह-'मनआपतरका एव' द्रष्टॄणां मनांसि आप्नुवन्ति—आत्मवशतां नयन्तीति मनआपास्ततः प्रकर्षविवक्षायां तरप्प्रत्ययः, प्राकृतत्वाच्च पकारस्य मकारे मणामतरा इति भवति । तथा 'तत्थ णमि'त्यादि, तत्र—तेषां मणीनां मध्ये ये ते नीला मणयस्तेषामयमेतद्रूपो वर्णावासो वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'से जहानामए ' इत्यादि स यथानाम भृङ्गः— कीटविशेषः पक्ष्मलः 'भृङ्गपत्रं' तस्यैव भृङ्गाभिधानस्य कीटविशेषस्य पक्ष्म, शुकः—कीरः, शुकपिच्छं—शुकस्य पत्रं, चाषः—पक्षिविशेषः, चाषपिच्छं—चाषपक्षः, नीली प्रतीता, नीलीभेदः—नीलीच्छेदः, नीलीगुलिका—गुलिकाद्रव्यगुटिका श्यामाकः—धान्यविशेषः, 'उच्चतगो' दन्तरागः, वनराजी प्रतीता, हलधरो—बलदेवस्तस्य वसनं हलधरवसनं तच्च किल नीलं भवति सदैव तथास्वभावतया, हलधरस्य नीलवस्त्रपरिधानात्, मयूरग्रीवा पारापतग्रीवा अतसीकुसुमबाणवृक्षकुसुमानि प्रतीतानि इत ऊर्ध्वं क्वचित् 'इंदनीले इ वा महानीले इ वा मरगते इ वा' इति दृश्यते तत्रेन्द्रनीलमहानीलमरकता रत्नविशेषाः प्रतीताः, अञ्जनकेशिका—वनस्पतिविशेषस्तस्य कुसुममञ्जनकेशिकाकुसुमं, नीलोत्पलं—कुवलयं, नीलाशोककणवीरनीलबन्धुजीवाः अशोकादिवृक्षविशेषाः, 'भवेयारूवे' इत्यादि प्राग्वत् व्याख्येयम् । तथा 'तत्थ णमि' त्यादि, तत्र—तेषां मणीनां मध्ये ये ते लोहिता मणयस्तेषामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-'से जहानामए' इत्यादि, तद्यथानाम शशकरुधिरं उरभ्र -ऊरणस्तस्य रुधिरं, वराहः शूकरस्तस्य रुधिरं, मनुष्यरुधिरं महिषरुधिरं च प्रतीतम्, एतानि हि किल शेषरुधिरेभ्यो लोहितवर्णोत्कटानि भवन्ति तत एतेषामुपादानं, बालेन्द्रगोपकः—सद्योजातेन्द्रगोपकः, स हि प्रवृद्धः सन् ईषत्पाण्डुरो रक्तो भ-

१-पुस्तकान्तरे ।

षति ततो बालग्रहणम् , इन्द्रगोपकः-प्रथमप्रावृट्कालभावी कीटविशेष , बालदिवाकर.—प्रथममुद्गच्छन् सूर्यः, सन्ध्याभ्ररागो—वर्षासु सन्ध्यासमयभावी अभ्रराग. , गुञ्जा-लोकप्रतीता तस्यार्द्धं रागो गुञ्जार्द्धराग. , गुञ्जाया हि अर्द्धमतिरक्तं भवति अर्द्धं चातिकृष्णमिति गुञ्जार्द्धग्रहणं , जपाकुसुमकिंसुककुसुमपारिजातकुसुमजात्यहिङ्गुला लोकप्रसिद्धा. , शिलाप्रवाल--प्रवालनामा रत्नविशेष प्रवालाङ्कुर —तस्यैव रत्नविशेषस्य प्रवालस्याङ्कुर , स हि तत्प्रथमोद्गतत्वेनात्यन्तरक्तो भवति ततस्तदुपादान, लोहिताक्षमणिर्नाम रत्नविशेष , लाक्षारसकृमिरागरक्तकम्बलचानपिष्टराशिरक्तोत्पलरक्ताशोककणवीररक्तबन्धुजीवा प्रतीता ' भवेयारूवे ' इत्यादि प्राग्वत् । 'तत्थ णमि' त्यादि, ' तत्र ' तेषा मणीनां मध्ये ये हारिद्रा मणयस्तेषामेतद्रूपो वर्णावास प्रज्ञप्त , तद्यथा--' से जहानामए ' इत्यादि , स यथानाम चम्पकः सामान्यत सुवर्णचम्पको वृक्षः . चम्पकच्छल्ली—सुवर्णचम्पकत्वक् , चम्पकभेद -सुवर्णचम्पकच्छेद. , हारिद्रा प्रतीता , हरिद्राभेदो-हरिद्राच्छेद , हरिद्रागुटिका—हरिद्रासारनिर्वर्तिता गुटिका, हरितालिका—पृथिवीविकाररूपा प्रतीता हरितालिकाभेदा-हरितालिकाच्छेद , हरितालिकागुटिका-हरितालिकासारनिर्वर्तिता गुलिका , चिकुरो-रागद्रव्यविशेष. , चिकुराङ्गराग -चिकुरसंयोगनिर्मितो वस्त्रादौ राग , वरकनकस्य जात्यसुवर्णस्य य कषपट्टके निघर्ष. स वरकनकनिघर्ष. वरपुरुषो-वासुदेवस्तस्य वसनं वरपुरुषवसनं , तच्च किल पीतमेव भवतीति तदुपादानम् , अल्लकीकुसुम लोकतोऽवसेय , चम्पककु. सुवर्णचम्पकपुष्प कूष्माण्डीकुसुमं पुष्पफलीकुसुमं , कोरण्ट -पुष्पजातिविशेष तस्य दाम कोरण्टकदाम तडवडा आउली तस्या कुसुम तडवडाकुसुमं , घोशातकीकुसुमं सुवर्णयूथिकाकुसुमं च प्रतीत , सुहिरण्यका-वनस्पतिविशेषस्तस्या कुसुमं सुहिरण्यकाकुसुम , बीयको वृक्ष प्रतीत तस्य कुसुमं बीयककुसुमं पीताशोकपीतकणवीरपीतबन्धुजीवा. प्रतीता , 'भवेयारूवे' त्यादि प्राग्वत् । 'तत्थ णमि' त्यादि , तत्र--तेषा मणीना मध्ये ये शुक्ला मणयस्तेषामयमेतद्रूपो वर्णावास प्रज्ञप्त , तद्यथा—' से जहानामए ' इत्यादि , स यथानाम अङ्को--रत्नविशेष , शङ्खचन्द्र (दन्तकुन्द) कुमुदोदकोदकरजोदधिघनगोक्षीरपूरक्रौञ्चावलिहारावलिहंसावलिबलाकावलय प्रतीताः , चन्द्रावली-तडागादिषु जलमध्यप्रतिबिम्बितचन्द्रपङ्क्ति , ' सारइयबलाहगे इति वा ' शारदिक.-शरत्कालभावी बलाहको-मेघ , ' धन्तधोयरुप्पपट्टे इ वेति ' ध्मात -अग्निसम्पर्केण निर्मलीकृतो धौत.-भूतिखरण्टितहस्तसंतर्जनेन अतिनिशितीकृतो यो रूप्यपट्टो-रजतपत्रक स ध्मातधौतरूप्यपट्ट , अन्ये तु व्याचक्षते-ध्मातेन-अग्निसंयोगेन यो धौत.-शोधितो रूप्यपट्ट स ध्मातधौतरूप्यपट्ट. , शालिपिष्टराशि -शालिक्षोदपुञ्ज , कुन्दपुष्पराशि कुमुदराशिश्च प्रतीत. , ' सुक्कछेवाडिया इ वे ' ति छेवाडि नाम वल्लादिफलिका सा च क्वचद्देशविशेषे शुष्का सती अतीव शुक्ला भवति ततस्तदुपादान , पेहुणमिञ्जिया इ वेति ' पेहुणं मयूरपिच्छ तन्मध्यवर्तिनी पेहुणमिञ्जिका सा चातिशुक्लेति तदुपन्यास., बिसं-पद्मिनीकन्दः, मृणाल--पद्मतन्तु गजदन्तलवङ्गदलपुण्डरीकदलश्वेताशोकश्वेतकणवीरश्वेतबन्धुजीवाः प्रतीता. , ' भवेयारूवे सिया ' इत्यादि प्राग्वत् । तदेवमुक्तं वर्णस्वरूपम् ।

सम्प्रति गन्धस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह--

तेसि णं मणीणं इमेयारूवे गंधे पण्णत्ते, से जहा नाम ए कोट्ठपुडाण वा तगरपुडाण वा एलापुडाण वा चोयपुडाण वा चंपापुडाण वा दमणापुडाण वा कुंकुमपुडाण वा चंदणपुडाण वा उसीरपुडाण वा मरुआपुडाण या जातिपुडाण वा जूहियापुडाण वा मल्लियापुडाण वा ण्हाणमल्लियापुडाण वा केतगिपुडाण वा पाडलिपुडाण वा णोमालियपुडाण वा अगुरुपुडाण वा लवंगपुडाण वा कप्पूरपुडाण वा वासपुडाण वा अणुवायंसि वा ओभिज्जमाणाण वा कोट्टिज्जमाणाण वा भंजिज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा परिभाइज्जमाणाण वा भंडाओ वा भंडं साहरिज्जमाणाण वा ओराला मणुण्णा मणहरा घाणमणनिव्वुतिकरा सव्वतो समंता गंधा अभिनिस्सवं(रं)ति . भवेयारूवे, सिया णो इणट्ठे समट्ठे , ते णं मणी एत्तो इट्ठतराए चेव गंधेणं पन्नत्ता ।

'तेसि णमि' त्यादि, तेषां मणीनामयमेतद्रूपो गन्धः प्रज्ञप्त', तद्यथा-'से जहा नाम ए' इत्यादि, प्राकृतत्वात् 'से इति बहुवचनार्थं प्रतिपत्तव्य., ते यथा नाम गन्धा अभिनिर्गच्छन्तीति सम्बन्ध , कोष्ठं—गन्धद्रव्य तस्य पुटा कोष्ठपुटास्तेषां , वाशब्दा सर्वत्रापि समुच्चये , इह एकस्य पुटस्य प्रायो न तादृशो गन्ध आयाति, द्रव्यस्याल्पत्वात् , ततो बहुवचनं , तगरमपि गन्धद्रव्यम् , एला. प्रतीता चाय-गन्धद्रव्यं चम्पकदमनककुङ्कुमचन्दनोशीरमरुकजातीयूथिकामल्लिकास्नानमल्लिकाकेतकीपाटलीनवमालिकाऽगुरुलवङ्गकुसुमवासकर्पूराणि प्रतीतानि,नवरमुशीरं-वीरणीमूल स्नानमल्लिका स्नानयोग्यो मल्लिकाविशेष , एतेषां पुटानामनुवाते-आघ्रायकविवक्षितपुरुषाणामनुकूले वाते वाति सति उद्भिद्यमानानामुद्घाट्यमानाना वाशब्द. सर्वत्रापि समुच्चये ' कुट्टिज्जमाणाण वा ' इति इह पुटै परिमितानि यानि कोष्ठादीनि गन्धद्रव्याणि तान्यपि परिमेये परिमाणोपचारात् कोष्ठपुटादीनीत्युच्यन्ते तेषा कुट्यमानानाम्—उदूखले क्षुद्यमानाना 'भंजिज्जमाणाण वा' इति श्लक्ष्णखण्डीक्रियमाणानाम् एतच्च विशेषणद्वयं कोष्ठादिद्रव्याणामवसेय, तेषामेव प्राय. कुट्टनश्लक्ष्णखण्डीकरणसम्भवात् , न तु यूथिकादीनाम् , ' उक्किरिज्जमाणाण वा ' इति छुरिकादिभि कोष्ठादिपुटानां कोष्ठादिद्रव्याणां वा उत्कीर्यमाणाना ' विकिरिज्जमाणाण वा ' इति विकीर्यमाणानामितस्ततो विप्रकीर्यमाणाना ' परिभुज्जमाणाण वा ' परिभोगाय उपयुज्यमानाना , क्वचित् ' परिभाइज्जमाणाण वा , इति पाठस्तत्र परिभाइज्जमाणाना-=पार्श्ववर्तिभ्यो मनाग् दीयमानाना , ' भंडाओ भंडं

माहरिज्जमाणाण वा ' इति भाण्डात्-स्थानात्स्थानान्तरं
भाण्ड-भाजनान्तर संह्रियमाणानाम् उदारा'-स्फारास्ते च
मनोज्ञा अपि स्युरत आह—मनोज्ञा—मनोऽनुकूला त-
च्च मनोज्ञत्व कुत इत्याह-मनोहरा —मनो हरन्ति-आ-
त्मवशं नयन्तीति मनोहरा. इतस्ततो विप्रकीर्यमाणेन मनो-
हरत्व, कुत ? इत्याह—घ्राणमनोनिर्वृतिकरा , एवभूता.
सर्वत -सर्वासु दिक्षु समन्तत -सामस्त्येन गन्धा अभि-
निस्सरन्ति, जिघ्रतामभिमुख निस्सरन्ति , क्वचित् ' अ-
'भिनिस्सवन्तीति ' पाठ , तत्रापि स एवार्थो नवरमभिनः
स्रवन्तीति शब्दसस्कार . एवमुक्ते शिष्य पृच्छति-' भवे-
यारूवे सिया ' स्यादेतत् यथा भवेद् एतद्रूपस्तेषां मणीना
गन्ध ?, सूरिराह-' नो इणट्ठे समट्ठे ' इत्यादि प्राग्वत् ।

तेसि णं मणीणं इमेयारूवे फासे पण्णत्ते, से जहा नाम ए
आइणेति वा रूए ति वा बूरे इ वा णवणीए
इ वा हंसगब्भतूलिया इ वा सिरीसकुसुमनिचये इ
वा बालकुसुमपत्तरासी ति वा, भवे एयारूवे सिया ?, णो
इणट्ठे समट्ठे, ते णं मणी एत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव फा-
सेणं पन्नत्ता ।

' तेसि णमि ' त्यादि. तेषां ' णमि ' ति प्राग्वन्मणीनाम-
यमेतद्रूप. स्पर्श' प्रज्ञप्त , तद्यथा—' से जहा नाम ए' इत्यादि,
तद्यथा—अजिनक-चर्ममय वस्त्र रुतं-प्रतीत बूरो-वनस्प-
तिविशेष. नवनीत-म्रक्षण हंसगर्भतूलीशिरीषकुसुमनिच-
याश्च प्रतीता , ' बालकुमुदपत्तरासी इ वा ' इति बालानि-
अचिरकालजातानि यानि कुमुदपत्राणि तेषां राशिर्बालि-
कुमुदपत्रराशि , क्वचिद् ' बालकुसुमपत्रराशि ' इति पाठ ,
' भवे एयारूवे ' इत्यादि प्राग्वत् ।

तए णं से आभियोगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणवि-
माणस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महं पिच्छाघरमंडवं
विउव्वइ अणेगखंभसयसंनिविट्ठं अब्भुग्गयसुकयवरवेइया-
तोरणवररइयसालभंजियागं सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियप-
सत्थवेरुलियविमलखंभं णाणामणि (कणगरयण)
खचियउज्जलबहुसमसुविभत्तदेसभाइए ईहामियउसभ-
तुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलय-
पउमलयभत्तिचित्तं कंचणमणिरयणथूभियागं णाणावि-
हपंचवण्णघंटापडागपरिमंडियग्गसिहरं चवलं मरीतिक-
वयं विणिम्मुयंतं लाउल्लोइयमहियं गोसीस (सरस)
रत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितलं उवचियचंदणकलसं चं-
दणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं आसत्तोसत्तविउल-
वट्टवग्घारियमल्लदामकलावं पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुं-
जोवयारकलियं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघत-
गंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्वं तुडि-
यसद्दसंपणाइयं अच्छरगणसंघविकिण्णं पासाइयं दरिस-
णिज्जं ०जाव पडिरूवं । तस्स णं पिच्छाघरमंडवस्स
बहुसमरमणिज्जभूमिभागं विउव्वति ०जाव मणीणं फासो
तस्स णं पेच्छाघरमंडवस्स उल्लोयं विउव्वति पउमलय-
भत्तिचित्तं ०जाव पडिरूवं । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स
भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगं वइरा-
मयं अक्खाडगं विउव्वति । तस्स णं अक्खाडयस्स
बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महेगं मणिपेढियं विउव्वति
अट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाह-
ल्लेणं सव्वं मणिमयं अच्छं सण्हं ०जाव पडिरूवं । तीसे
णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं महेगं सिंहासणं विउ-
व्वइ, तस्स णं सीहासणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते-
तवणिज्जमया चक्कला रययामया सीहा सोवण्णिया पाया
णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं जंबूणयमयाइं गत्ताइं
वइरामया संधी णाणामणिमये वेच्चे, से णं सीहासणे
ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमर-
कुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं (सं) सारसारोवचि-
यमणिरयणपायपीढे अत्थरगमिउमसूरगणवत्तयकुसंतलि-
म्बकेसरपच्चत्थुयाभिरामे सुविरइयरयत्ताणे उवचियखो-
मदुगुल्लपट्टपडिच्छायणे रत्तंसुअसंवुए सुरम्मे आईणग-
रुयबूरणवणीयतूलफासे मउए पासाइए० ४ ।

' तए णमि ' त्यादि, तत स आभियोगिको देवस्तस्य दि-
व्यस्य यानविमानस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महत्प्रेक्षागृह-
मण्डप विकुर्वति,कथम्भूतमित्याह-अनेकस्तम्भशतसन्निवि-
ष्टं तथा अभ्युद्गता-अत्युत्कटा सुकृता-सुष्ठु निष्पादिता वर-
वेदिकानि तोरणानि वररचिता शालभञ्जिकाश्च यत्र तद-
भ्युद्गतसुकृतवरवेदिकातोरणवररचितशालभञ्जिकाक , तथा
सुश्लिष्टा विशिष्टा लष्टसंस्थिता —मनोज्ञसंस्थाना प्रशस्ता
प्रशस्तवास्तुलक्षणोपेता वैडूर्यविमलस्तम्भा—वैडूर्यरत्नमया
विमला स्तम्भा यत्र तत् सुश्लिष्टविशिष्टलष्टसंस्थितप्रशस्त-
वैडूर्यविमलस्तम्भ, तथा नाना मणय खचिता यत्र भूमि-
भागे स नानामणिखचित सुखादिदर्शनात् क्तान्तस्य पा-
क्षिक परनिपात नानामणिखचित उज्ज्वलो बहुसम —
अत्यन्तसम सुविभक्तो भूमिभागो यत्र तत् नानामणिख-
चितोज्ज्वलबहुसमसुविभक्तभूमिभागं, तथा ईहामृगा-वृका
ऋषभतुरगनरमकरविहगा प्रतीता व्याला -स्वापदभुजगाः
किंनरा—व्यन्तरविशेषा रुरवो-मृगा सरभा -आटव्या म
हाकाया पशव चमरा-आटव्या गाव कुञ्जरा-दन्तिन व-
नलता—अशोकादिलता पद्मलता—पद्मिन्य एतासां भ-
क्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्—आलेखो यत्र तदीहामृगऋषभ
तुरगनरमकरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलता-
पद्मलताभक्तिचित्र , तथा स्तम्भोद्गतया—स्तम्भोपरिवर्त्ति-
न्या वज्ररत्नमय्या वेदिकया परिगत सद् यदभिराम तत्,
स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिराम, ' विज्जाहरजमलजुग-
लजन्तजुत्त पिव अच्चीसहस्समालिणीय' मिति विद्या ध-
रन्तीति विद्याधरा—विशिष्टविद्याशक्तिमन्त तेषा यमलयु-

गलानि—समानशीलानि द्वन्द्वानि तेषां यन्त्राणि—प्रपञ्चविशेषास्तैर्युक्तमिव अर्चिषा-मणिरत्नप्रभाज्वालानां सहस्रैर्मालनीय-परिवारणीयं, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम अत्यद्भुतैर्मणिरत्नप्रभाजालैराकलितमिव भाति यथा नूनमिदं न स्वाभाविकं, किन्तु विशिष्टविद्याशक्तिमत्पुरुषप्रपञ्चप्रभावितमिति. 'रूवगसहस्सकलियं भिसिमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूवं' मिति प्राग्वत् क्वचिदेतन्न दृश्यते, 'कञ्चणमणिरयणथूभियागं' मिति काञ्चनं च मणयश्च रत्नानि च काञ्चनमणिरत्नानि तेषां-तन्मयी स्तूपिका-शिखरं यस्य तत्तथा नानाविधाभिः-नानाप्रकाराभिः पञ्चवर्णाभिर्घण्टाभिः पताकाभिश्च परि—सर्वतस्त्येन मण्डितमग्र-शिखरं यस्य तन्नानाविधपञ्चवर्णघण्टापताकापरिमण्डिताग्रशिखरं, चपलं चञ्चलं चिक्काचिकायमानत्वात् मरीचिकवचं किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चत् 'लाउल्लोइयमहियं' मिति लाइयं नाम—यद्भूमेर्गोमयादिनोपलेपनम् उल्लोइयं—कुड्यानां मालस्य च सेटिकादिभिः सम्मृष्टीकरणं लाउल्लोइयाभ्यामिव महितं—पूजितं लाउल्लोइयमहितं तथा गोशीर्षेण—गोशीर्षनामकचन्दनेन दर्दरेण-बहलेन चपेटाकारेण वा दत्ता पञ्चाङ्गुलयस्तला-हस्तका यत्र तद्गोशीर्षरक्तचन्दनदर्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितलं, तथा उपचिताः-निवेशिताः चन्दनकलशा—मङ्गलकलशा यत्र तदुपचितचन्दनकलशं, 'चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागमिति' चन्दनघटैः-चन्दनकलशैः सुकृतानि-सुष्ठु कृतानि शोभितानीति तात्पर्यार्थः. यानि तोरणानि तानि चन्दनघटसुकृतानि तानि तोरणानि प्रतिद्वारदेशभागं-द्वारदेशभागे यत्र तत् चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागं. तथा 'आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं' मिति आ अवाङ् अधोभूमौ लग्न इत्यर्थः उत्सक्तम्-ऊर्ध्वसक्तं उल्लोचतले, उपरि सम्बद्ध इत्यर्थः. विपुलो—विस्तीर्णो वृत्तो—वर्तुलः 'वग्घारिय' इति-प्रलम्बितो माल्यदामकलापः पुष्पमालासमूहो यत्र तदासक्तोत्सक्तविपुलवृत्तप्रलम्बितमाल्यदामकलापं तथा पञ्चवर्णेन सरसेन-सच्छायेन सुरभिणा मुक्तेन क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण-पूजया कलितं पञ्चवर्णसरससुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलितं. 'कालागुरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगन्धुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं' मिति प्राग्वत् तथा अप्सरोगणानां सङ्घः-समुदायस्तेन सम्यग् रमणीयतया विकीर्णं—व्याप्तमप्सरोगणसङ्घविकीर्णं, तथा दिव्यानां त्रुटितानाम् आतोद्यानां—वेणुवीणामृदङ्गादीनां ये शब्दास्तैः सम्प्रणादितं—सम्यक्—श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण नादितं—शब्दवद् दिव्यत्रुटितशब्दसम्प्रणादितम्, 'अच्छं ०जाव पडिरूवं' मिति यावच्छब्दकरणात्—'अच्छं सण्हं घट्ठं मट्ठं नीरयं निम्मलं निप्पंकं निक्कंकडच्छायं सप्पभं समिरियं सउज्जोयं पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं' मिति द्रष्टव्यम्. एतच्च प्राग्वद्व्याख्येयम्। 'तस्स णमि' त्यादि तस्य 'णमि' ति प्राग्वत् प्रेक्षागृहमण्डपस्यान्तः—मध्ये बहुसमरमणीयं भूमिभागं विकुर्वन्ति, तद्यथा—'आलिङ्गपुष्करमिति वे' त्यादि, तदेवं तावद्वक्तव्यं यावन्मणिस्पर्शसूत्रपर्यन्तं, तथा चाह—'जाव मणीणं फासो' इति। 'तस्स णमि' त्यादि, तस्य णमिति पूर्ववत्, प्रेक्षागृहमण्डपस्य उल्लोकम् उपरिभागं विकुर्वन्ति पद्मलताभक्तिचित्रं 'जाव पडिरूवमि' ति, यावच्छब्दकरणात् 'अच्छं सण्हं' मित्यादिविशेषणकदम्बकपरिग्रहः। 'तस्स णमि' त्यादि, तस्य—बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र 'णं' मिति पूर्ववत् एकं महान्तं वज्रमयमक्षपाटं विकुर्वन्ति तस्य चाक्षपाटकस्य बहुमध्यदेशभागे तत्रैकां महतीं मणिपीठिकां विकुर्वन्ति, अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन उच्चैस्त्वेनेति भावः कथम्भूतां तां विकुर्वन्तीत्यत आह 'सव्वमणिमयी'—सर्वात्मना मणिमयी यावत्करणाद् अच्छामित्यादिविशेषणसमूहपरिग्रहः. तस्याश्च मणिपीठिकाया उपर्यत्र महदेकं सिंहासनं विकुर्वन्ति. तस्य च सिंहासनस्यायमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः. तद्यथा-तपनीयमया चक्कला रजतमयाः सिंहास्तैरुपशोभितं सिंहासनमुच्यते. सौवर्णिकाः-सुवर्णमयाः पादाः नानामणिमयानि पादशीर्षकाणि-पादानामुपरितना अवयवविशेषाः. जम्बूनदमयानि गात्राणि वज्रमयाः—वज्ररत्नापूरिताः सन्धयो-गात्राणां सन्धिमेलाः नानामणिमयं वेच्च-तज्जातं 'से णं सीहासणे' इत्यादि तत् सिंहासनमीहामृगऋषभतुरगनरमकरव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तिचित्रं '(स) सारसारोवचियमणिरयणपायपीढं' मिति (स) सारसारैः-प्रधानैः मणिरत्नैरुपचितेन पादपीठेन सह यत्तत्तथा प्राकृतत्वाच्च पदोपन्यासव्यत्ययः 'अत्थरयमउमसूरगनवत्तयकुसन्तलिम्बकेसरपच्चत्थुयाभिरामे' इति अस्तरकम्-आच्छादकं मृदु यस्य मसूरकस्य तदस्तरकमृदु, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, नवा त्वक्येषां ते नवत्वचः कुशान्ताः-दर्भपर्यन्ताः नवत्वचश्च ते कुशान्ताश्च नवत्वक्कुशान्ताः—प्रत्यग्रत्वग्दर्भपर्यन्तरूपाणि लिम्बानि-कोमलानि नमनशीलानि च केसराणि मध्ये यस्य मसूरकस्य तत् नवत्वक्कुशान्तलिम्बकेसरम् आस्तरकमृदुना मसूरकेण नवत्वक्कुशान्तलिम्बकेसरेण प्रत्यवस्तृतम्—आच्छादितं सत् यदभिरामं तत्तथा, विशेषणपूर्वापरनिपातो यादृच्छिकः प्राकृतत्वात्. 'आईणगरूअबूरनवणीयतूलफासे' इति पूर्ववत्, तथा 'सुविरइयरयत्ताणे' तथा सुष्ठु विरचितं सुविरचितं रजस्त्राणमुपरि यस्य तत्सुविरचितरजस्त्राणं, 'उवचियखोमियदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे' मिति. उपचितं-परिकर्मितं यत्क्षौमं दुकूलं—कार्पासिकं वस्त्रं परिच्छादनं रजस्त्राणस्योपरि द्वितीयमाच्छादनं यस्य तत्तथा तत उपरि 'रत्तंसुयसंवुडे' इति रक्तांशुकेन-अतिरमणीयेन रक्तेन वस्त्रेण संवृतम्-आच्छादितमत एव सुरम्यं, 'पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे' इति प्राग्वत्।

तस्स णं सिंहासणस्स उवरि एत्थ णं महंगं विजयदूसं विउव्वंति, संखंक (संख) कुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिगासं सव्वरयणामयं अच्छं सण्हं पासादीयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं। तस्स णं सीहासणस्स उवरि विजयदूसस्स य बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं (महं एगं) वयरामयं अंकुसं विउव्वंति, तस्सिं च णं वयरामयंसि अंकुसंसि कुंभिक्के मुत्तादामं विउव्वंति। से णं कुंभिक्के

मुत्तादामे अन्नेहिं चउहिं अद्धकुंभिकेहिं मुत्तादामेहिं तदद्धुच्चत्तपमाणेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडियग्गा णाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदाया ईसिं अण्णमण्णमसंपत्ता वाएहिं पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं मंदाय मंदाय एइज्जमाणाणि २ पलंबमाणाणि २ पेज्झंज [पज्झंझ] माणाणि २ उरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कण्णमणणिव्वुतिकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणे सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति। तए णं से आभिओगिए देवे तस्स सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं सूरिआभस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ, तस्स णं सीहासणस्स पुरच्छिमे णं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपुरच्छिमे णं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स अब्भितरपरिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठ भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ, एवं दाहिणेणं मज्झिमपरिसाए दसण्हं देवसाहस्सीणं दस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वंति दाहिणपच्चत्थिमे णं बाहिरपरिसाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वंति, पच्चत्थिमे णं सत्तण्हं अणियाहिवतीणं सत्त भद्दासणे विउव्वंति, तस्स णं सीहासणस्स चउद्दिसिं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वंति, तं जहा—पुरच्छिमे णं चत्तारि साहस्सीओ दाहिणे णं चत्तारि साहस्सीओ पच्चत्थिमे णं चत्तारि साहस्सीओ उत्तरे णं चत्तारि साहस्सीओ। तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहा नाम ए अइरुग्गयस्स वा हेमंतियबालियसूरियस्स वा खयरिंगालाण वा रत्तिं पज्जलियाण वा जवाकुसुमवणस्स वा किंसुयवणस्स वा पारियायवणस्स वा सव्वतो समंता संकुसुमियस्स, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स एत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ते, गंधो य फासो य जहा मणीणं। तए णं से आभिओगिए देवे दिव्वं जाणविमाणं विउव्वइ २ त्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं ०जाव पच्चप्पिणंति। (सू० १५)

'तस्स णमि' त्यादि, तस्य सिंहासनस्योपर्युल्लोके 'अत्र' अस्मिन् स्थाने महदेकं विजयदूष्यं—वस्त्रविशेषं, आह च जीवाभिगममूलटीकाकृत्—विजयदूष्यं वस्त्रविशेष इति, तं विकुर्वन्ति—स्वशक्त्या निष्पादयन्ति, कथम्भूतमित्याह—शङ्खकुन्ददकरजोऽमृतमथितफेनपुञ्जसन्निकाशम्, शङ्खः प्रतीतः, कुन्देति—कुन्दकुसुमं दकरजः—उदककणाः अमृतस्य—क्षीरोदधिजलस्य मथितस्य यः फेनपुञ्जो—डिण्डीरोत्करः तत्सन्निकाशः—तत्समप्रभः, पुनः कथम्भूतमित्याह—'सव्वरयणामयं' सर्वात्मना रत्नमयम् 'अच्छं सण्हं पासाइयमि' त्यादिविशेषणजालं प्राग्वत्। 'तस्स णमि' त्यादि, तस्य सिंहासनस्योपरि तस्य विजयदूष्यस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महान्तमेकं वज्रमयं—वज्ररत्नमयमङ्कुशम्—अङ्कुशाकारं मुक्तादामावलम्बनाश्रयं विकुर्वन्ति, तस्मिंश्च वज्रमयेऽङ्कुशे महदेकं कुम्भाग्रं—मगधदेशप्रसिद्धकुम्भपरिमाणं मुक्तादाम विकुर्वन्ति। 'से णमि' त्यादि, तत्कुम्भाग्रं मुक्तादाम अन्यैश्चतुर्भिः कुम्भाग्रैः—कुम्भपरिमाणैर्मुक्तादामभिस्तदर्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सामस्त्येन सम्परिक्षिप्तं—व्याप्तम्। 'ते णं दामा' इत्यादि, तानि पञ्चापि दामानि 'तवणिज्जलंबूसगा (गं? गा ?), तपनीयमया लम्बूसगा आभरणविशेषरूपा (पा. सुवर्णप्रतरका सुवर्णपत्राणि तैः मण्डितं—शोभितं अग्रम्—अग्रभागो येषां तानि तथा अ) अग्रभागे येषां प्रलम्बमानानां तानि तथा, नानामणिरत्नैः—नानामणिरत्नमयैर्विविधैः—विचित्रैर्हारैरर्द्धहारैश्चोपशोभितः सामस्त्येनोपशोभितः समुदायो येषां तानि तथा ईषत्—मनाक् अन्योऽन्यं—परस्परम् असंप्राप्तानि—असंलग्नानि पूर्वापरदक्षिणोत्तरागतैः (वातैः) मन्दाय मन्दाय इति—मन्दं 'एज्जमानानि' कम्पमानानि 'भृशाभीक्ष्ण्याऽविच्छेदे द्विः प्राक्तनमवादे' रित्यविच्छेदे द्विर्वचनं तथा पचन्ति पचन्तीत्यत्र, एवमुत्तरत्रापि, ईषत्कम्पनवशादेव प्रकर्षत इतस्ततो मनाक् चलनेन लम्बमानानि २ ततः परस्परं सम्पर्कवशतः 'पेज्झंजमाणा पेज्झंजमाणा' इति शब्दायमानानि २ उदारेण स्फारेण शब्देनेति योगः, स च स्फारशब्दो मनःप्रतिकूलोऽपि भवति तत आह—'मनोज्ञेन' मनोऽनुकूलेन, तच्च मनोऽनुकूलत्वं लेशतोऽपि स्यादत आह—'मनोहरेण' मनांसि श्रोतॄणां हरति—एकान्तेनात्मवशं नयतीति मनोहरः 'लिहादेराकृतिगणत्वादच् प्रत्ययः, तेन, तदपि मनोहरत्वं कुत इत्याह—कर्णमनोनिर्वृतिकरेण' 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन' मिति वचनात् हेतौ तृतीया, ततोऽयमर्थः—प्रतिश्रोतॄ कर्णयोर्मनसश्च निर्वृतिकरः—सुखोत्पादकस्ततो मनोहरस्तेनेत्थम्भूतेन शब्देन तान् प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् सर्वतो—दिक्षु समन्ततो विदिक्षु आपूरयन्ति २ शत्रन्तस्य स्यादाविदं रूपम्, अत एव श्रिया—शोभया अतीवोपशोभमानानि २ तिष्ठन्ति। 'तए णमि' त्यादि, ततः स आभियोगिको देवस्तस्य सिंहासनस्यापरोत्तरेण वायव्ये कोणे इत्यर्थः, उत्तरेण—उत्तरस्याम् 'उत्तरपुरच्छिमे णं' ईशान्याम् 'अत्र'—एतासु तिसृषु दिक्षु सूर्याभस्य देवस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि विकुर्वन्ति, पूर्वस्यां च

चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां चत्वारि भद्रासनसहस्राणि दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यानि अष्टौ भद्रासनसहस्राणि दक्षिणस्या मध्यमपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश भद्रासनसहस्राणि, दक्षिणापरस्या, नैर्ऋतकोण इत्यर्थ , बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश भद्रासनसहस्राणि पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां सप्त भद्रासनानि विकुर्वंति । तदनन्तरं तस्य सिंहासनस्य चतसृषु दिक्षु अत्र सामानिकाऽऽदिदेवभद्रासनाना पृष्ठतः सूर्याभस्य देवस्य सम्बन्धिना षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश भद्रासनसहस्राणि विकुर्वंति, तद्यथा--चत्वारि भद्रासनसहस्राणि पूर्वस्यां चत्वारि दक्षिणतश्चत्वारि पश्चिमायां चत्वारि उत्तरत , सर्वसङ्ख्यया सप्ताधिकानि चतु·पञ्चाशत्सहस्राणि ५४००७ भद्रासनानां विकुर्वंति । 'तस्स णं दिव्वस्से' त्यादि, 'तस्स णमि' त्ति पूर्ववत् दिव्यस्य यानविमानस्यायम् अनन्तर वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णावासो—वर्णकनिवेश, प्रज्ञप्त·, तद्यथा--' से जहानामए ' इत्यादि, स यथानाम अचिरोद्गतस्य--क्षणमात्रमुद्गतस्य हैमन्तिकस्य--शिशिरकालभाविनो बालसूर्यस्य स ह्यत्यन्तमारक्तो भवति दीप्यमानश्चेत्युपादानं, वाशब्दा सर्वेऽपि समुच्चये , खादिराङ्गाराणि वा 'रत्ति' मिति सप्तम्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात् यथा—' उय निणयभत्तिंल्ल पूरमसिमिरे दहे गए सूरे कत्तो रत्तिं सुद्धं पाणियसुद्धा सउणयाणमि ' त्यत्र, ततोऽयमर्थः-रात्रौ प्रज्वलितानां जपाकुसुमवनस्य वा किंशुकवनस्य वा पारिजातवनस्य वा सर्वत --सर्वासु दिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन सङ्कुसुमितस्य—सम्यक् कुसुमितस्य , अत्रान्तरे शिष्य पृच्छति--यादृग्रूप एतेषां वर्ण· 'भवेयारूवे सिया ' इति स्यात्-कथञ्चिद् भवेदेतद्रूपस्तस्य दिव्यस्य यानविमानस्य वर्ण' ? । सूरिराह--' नो इणट्ठे समट्ठे तस्स ण दिव्वस्स जाणविमाणस्स एत्तो इट्ठतराए चेव कंततराए चेव मणुन्नतराए चेव मणामतराए चेव वण्णे पण्णत्ते ' इति प्राग्वत् व्याख्येयम् , ' गंधो फासो जहा मणीण ' मिति गन्ध स्पर्शं यथा प्राग् मणीनामुक्तस्तथा वक्तव्य , स चैवं-' तस्स ण दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमे एयारूवे गंधे पण्णत्ते, तं जहा-से जहानामए कोट्ठपुडाण वा तगरपुडाण वा' इत्यादि । ' तए णं से आभिओगिए देवे ' इत्यादि, यावत्करणात्-' करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ वद्धावित्ता पच्चप्पिणामि ' ति द्रष्टव्यम् ।

तए णं से सूरिआभे देवे आभिओगस्स देवस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठ ०जाव हियए दिव्वं जिणिंदाभिगमणजोग्गं उत्तरवेउव्वियरूवं विउव्वति २ विंत्ता चउहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं दोहिं अणीएहिं, तं जहा-गंधव्वाणीएण य णट्टाणीएण य सद्धिं संपरिवुडे तं दिव्वं जाणविमाणं अणुपयाहिणीकरेमाणे २ पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहंति दुरूहित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे संणिसण्णे । तए णं तस्स सूरिआभस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ तं दिव्वं जाणविमाणं अणुपयाहिणीकरेमाणा उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहंति-दुरूहित्ता पत्तेयं २ पुव्वणत्थेहिं भद्दासणेहिं णिसीयंति, अवसेसा देवा य देवीओ य तं दिव्वं जाणविमाणं ०जाव दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहंति २ हित्ता पत्तेयं २पुव्वणत्थेहिं भद्दासणेहिं निसीयंति । तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स तं दिव्वं जाणविमाणं दुरूढस्स समाणस्स अट्ठट्ठमंगलगा पुरतो अहाणुव्वीए संपत्थिता, तं जहा-सोत्थियसिरिवच्छ ०जाव दप्पणा । तयणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारदिव्वा य छत्तपडागा सचामरा दंसणरतिया आलोयदरिसणिज्जा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा ऊसिया गगणतलमणुलिहंती पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिया । तयणंतरं च णं वेरुलियभिसंतविमलदंडं पलंबकोरंटमल्लदामोवसोभितं चंदमंडलनिभं समुस्सियं विमलमायवत्तं पवरसीहासणं च मणिरयणभत्तिचित्तं सपायपीढं सपाउयाजोयसमाउत्तं बहुकिंकरामरपरिग्गहियं पुरतो आहाणुपुव्वीए संपत्थियं । तयाणंतरं च णं वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपतिट्ठिए विसिट्ठे अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सुस्सिए [परिमंडियाभिरामे] वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागच्छत्तातिच्छत्तकलिते तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे जोअणसहस्समूसिए महतिमहालए महिंदज्झए पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिए । तयाणंतरं च णं सुरूवणेवत्थपरिकच्छिया सुसज्जा सव्वालंकारभूसिया महया भडचडगरपहगरेणं पंचअणियाहिवइणो पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिया । [तयाणंतरं च णं बहवे आभिओगिया देवा देवीओ य सएहिं २ रूवेहिं सएहिं २ विसेसेहिं सएहिं २ विंदेहिं सएहिं २ णेज्जाएहिं सएहिं २ णेवत्थेहिं पुरतो आहाणुपुव्वीए संपत्थिया] तयाणंतरं च णं सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य सव्विड्ढीए ०जाव रूवेणं सूरियाभं देवं पुरतो पासतो य मग्गतो य समणुगच्छंति । (सू० १६)

'तए णं से सूरियाभे देवे ' इत्यादि, दिव्यं-प्रधानं जिनेन्द्रस्य-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनोऽभिगमनाय-अभिमुखं गमनाय योग्यम्-उचितं जिनेन्द्राभिगमनयोग्यमुत्तरवैक्रियं रूपं विकुर्वंति, विकुर्वित्वा चतसृभिरग्रमहिषीभि सपरिवाराभिर्द्वाभ्यामनीकाभ्या, तद्यथा-गन्धर्वानीकेन नाट्यानीकेन च, सार्द्धं, तत्र सहभाव· स्वस्वामिभावमन्तरेणापि दृष्टो, यथा समानगुणविभवयोर्द्वयोर्मित्रयो·, अत· स्वस्वामिभावप्रकटनार्थमाह—' संपरिवुडे ' सम्यगाराधकभावं विभ्राणै परिवृत-सम्परिवृत तत् दिव्यं यानविमानमनुप्रदक्षिणीकुर्वन्-पूर्वतोरणानुकूल्येन प्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वेण तोरणेनानुप्रविश्य-

ति-स्वंसिंहासनानुकूल प्रविशति प्रविशन् पूर्वेण 'त्रिसोपानप्रतिरूपकेण' प्रतिविशिष्टरूपेण त्रिसोपानेन तद् यानविमान 'दुरूहइ' त्ति आरोहति, आरुह्य च 'जेणेव' त्ति यस्मिन्नेव देशे तस्य मणिपीठिकाया उपरि सिंहासन तत्रोपागच्छति, उपागत्य च सिंहासनवरगत सन् पूर्वाभिमुख सन्निषण्ण —सम्यक् -सकलमेवकजनचमत्कारकारिण्या उपवेशनस्थित्योपविष्ट । 'तए णमि' त्यादि, ततस्तस्य सूर्याभस्य देवस्य चत्वारि सामानिकदेवसहस्राणि तद् दिव्य यानविमानमनुप्रदक्षिणीकुर्वन्ति, उत्तरेण त्रिसोपानप्रतिरूपकेणारोहन्ति, 'पुव्वणत्थेहिं' इत्यादि,अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया पूर्वन्यस्तेषु भद्रासनेषु निषीदन्ति,अवशेषाः - अभ्यन्तरपर्षदादयो देवा देव्यश्च दक्षिणेन त्रिसोपानप्रतिरूपकेणारोहन्ति, आरुह्य च स्वेषु-भद्रासनेषु निषीदन्ति। 'तए णमि' त्यादि. ततस्तस्य सूर्याभस्य देवस्य तद् दिव्य यानविमानमारूढस्य पुरतोऽष्टाष्टमङ्गलकानि यथानुपूर्व्या— वक्ष्यमाणपाठक्रमेणेत्यर्थ , सम्प्रस्थितानि, तद्यथा— सोत्थियसिरिवच्छे' त्यादि, पूर्व स्वस्तिक. तदनन्तर श्रीवत्सस्तदनन्तर पूर्णकलशभृङ्गारदिव्यातपत्रपताका सचामरा कथम्भूता ? इत्याह-'दर्शनरतिका' दर्शने-अवलोकने रतिर्यासुता दर्शनरतिका , इह दर्शनरतिकमपि किञ्चिदालोकदर्शनीयं न भवत्यमङ्गलत्वात् यथा गर्भवती युवति , अत आह- आलोके—वहि प्रस्थानसमयभाविनि दर्शनीया द्रष्टुं योग्या मङ्गल्यत्वात् , अन्ये त्वाहु —आलोके दर्शनीया न पुनरत्युच्चा आलोकदर्शनीया, तथा वातोद्धूता विजयसूचिका वैजयन्तीति विजयवैजयन्ती च उत्सृता ऊर्ध्वीकृता गगनतलम् अम्बरतलमनुलिखन्ती अभिलङ्घयन्ती पुरतो— यथानुपूर्व्या सम्प्रस्थिता । 'तयणतर च णमि' त्यादि तदनन्तरं 'वेरुलियभिसंतविमलदड मिति 'वैडूर्यो' वैडूर्यरत्नमयो भिसनो दीप्यमानो विमलो निर्मलो दण्डो यस्य तत्तथा 'पलबकोरंटमल्लदामोवसोहिय' मिति, प्रलम्बते इति प्रलम्बि तेन प्रलम्बमानेन कोरण्टमाल्यदाम्ना कोरण्टपुष्पमालयोपशोभित प्रलम्बकोरण्टमाल्यदामोपशोभितं चन्द्रमण्डलनिभ दीप्त्या-शोभया वर्तुलतया चन्द्रमण्डलाकार समुत्सृतं सम्यगूर्ध्वीकृत विमलमातपत्रं तथा प्रवर सिंहासन मणिरत्नै भक्त्या विच्छित्त्या चित्र यत् तन्मणिरत्नभक्तिचित्रं, सह पादपीठं यस्य तत्सपादपीठं, तथा 'सपाउयाजोगसमाजुत्त' मिति, पादुकायोग पादुकाद्वितय तस्य समायोजन समायुक्त सह पादुकायोगसमायुक्त यस्य तत्तथा 'वहुकिंकरामरपरिग्गहियमि ति वहुभि किङ्करै -किङ्करकल्पैरमरै परिग्रहीतुं पुरतो यथानुपूर्व्या सम्प्रस्थित तदनन्तर 'वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिए' त्ति,वज्रमयो वज्ररत्नमय तथा वृत्तं वर्तुल लष्ट मनोज्ञ संस्थित संस्थानमाकारो यस्य स वृत्तलष्टसंस्थित, तथा सुश्लिष्ट सुश्लेषापन्नावयवो, मसृण इत्यर्थ , परिघृष्ट इव परिघृष्ट खरशाणया पाषाणप्रतिमावत् मृष्ट इव मृष्ट सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव सुप्रतिष्ठितो न तु तिर्यक्पातिततया वक्र तत एतेषां पदानां पदद्वयमीलनेन कर्मधारय , अत एव शेषध्वजेभ्यो विशिष्ट -अतिशायी , तथा अनेकानि-अनेकसङ्ख्याकानि वराणि-प्रधानानि पञ्चवर्णानि कुडभीसहस्राणि उत्सृतानि यत्र सोऽनेकवरपञ्चवर्णकुडभीसहस्रोत्सृत क्रान्तस्य परिपातो सुखादिदर्शनात्,वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाच्छत्रातिच्छत्रकलित तुङ्ग -अत्युच्चो योजनसहस्रप्रमाणोच्छ्रयत्वात् ,तथा गगनतलम् अम्बरतलमनुलिखत् शिखरम्-अग्रभागो यस्य स तथा योजनसहस्रमुत्सृत अत एव'महइमहालए'इति,अतिशयेन महान् महेन्द्रध्वज पुरतो-यथानुपूर्व्या संप्रस्थित । तदनन्तरं 'सुरूवनेवत्थपरिकच्छिया' इति सुरूप नेपथ्य परिकच्छित-परिगृहीत यैस्ते तथा, तथा सुष्ठु-अतिशयेन सज्जा -परिपूर्णा स्वसामग्रीसमायुक्ततया प्रगुणीभूता -सर्वालङ्कारविभूषिता महता भडचडगरपहकरेण' ति महता-अतिशयेन भटचटकरपहकरेण-चटकरप्रधानभटसमूहेन पञ्चानीकानि पञ्चानीकाधिपतय पुरतो—यथाऽनुपूर्व्या सम्प्रस्थिता । तदनन्तर च सूर्याभविमानवासिनो वहवो वैमानिका देवा देव्यश्च सर्वद्धर्या यावत्करणात्—'सव्वजुईए सव्वबलेण' मित्यादि-परिग्रह , सूर्याभ देव पुरत पार्श्वतो मार्गत -पृष्ठत समनुगच्छन्ति ।

तए णं से सूरियाभे देवे तेणं पंचाणीयपरिक्खित्तेणं वइरामयवट्टलट्ठसंठिएण० जाव जोयणसहस्समूसिएणं महतिमहालतेणं महिंदज्झएणं पुरतो कड्ढिज्जमाणेणं चउहिं सामाणियसहस्सेहिं ०जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहुहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढिए ०जाव रवेण सोहम्मस्स कप्पस्स मज्झंमज्झेणं तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं उवदंसेमाणे २ पडिजागरेमाणे २ जेणेव सोहम्मकप्पस्स उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे तेणेव उवागच्छति २ छित्ता जोयणसयसाहस्सितेहिं विग्गहेहि ओवयमाणे वीतीवयमाणे ताए उक्किट्ठाए ०जाव तिरियमसंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीइवयमाणे २ जेणेव नंदीसरवरदीवे जेणेव दाहिणपुरच्छिमिल्ले रतिकरपव्वते तेणेव उवागच्छति २ छित्ता तं दिव्वं देविड्ढिं ०जाव दिव्वं देवाणुभाव पडिसाहरेमाणे २ पडिसंखेवेमाणे २ जेणेव जंबूदीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव आमलकप्पा नयरी जेणेव अंबसालवणे चेइए जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ छित्ता समणं भगवं महावीरं तेणं दिव्वेणं जाणविमाणेणं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २ रेत्ता समणस्स भगवतो महावीरस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभागे तं दिव्वं जाणविमाणं ईसिं चउरंगुलमसंपत्तं धरणितलंसि ठवेइ ठवित्ता चउहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं दोहिं अणीयाहिं, तं जहा-गंधव्वाणीएण य णट्टाणीएण य सद्धिं संपरिवुडे ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति । तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ ता-

ओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति, अवसेसा देवा य देवीओ य ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति । तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं अग्गमहिसीहिं ०जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहि य बहुहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव णाडयरवेणं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति २ छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति करित्ता वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-अहं णं भंते ! सूरियाभे देवे देवाणुप्पियाणं वंदामि णमंसामि ०जाव पज्जुवासामि (सू० १७) सूरियाभाति समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वयासी-पोराणमेयं सूरियाभा ! जीयमेयं सूरियाभा ! किच्चमेयं सूरियाभा ! करणिज्जमेयं सूरियाभा ! आइण्णमेयं सूरियाभा ! अब्भणुण्णायमेयं सूरियाभा ! जे णं भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिया देवा अरहंते भगवंते वंदंति नमंसंति वन्दित्ता नमंसित्ता तओ पच्छा साइं साइं नामगोत्ताइं साहिंति, तं पोराणमेयं सूरियाभा ! ०जाव अब्भणुण्णायमेयं सूरियाभा ! (सू० १८) तए णं से सूरियाभे देवे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठ० जाव समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता णच्चासण्णे णातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासति । (सू० १९)

'तए णं'मित्यादि तत स सूर्याभो देवः तेन पञ्चानीकपरिक्षिप्तेन यथोक्तविशेषणविशिष्टेन महेन्द्रध्वजेन पुरतः प्रकृष्यमाणेन चतुर्भि सामानिकसहस्रैश्चतसृभि सपरिवाराभिरग्रमहिषीभिस्तिसृभि पर्षद्भि सप्तभिरनीकाधिपतिभि षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभि सूर्याभविमानवासिभिर्वैमानिकैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं सम्परिवृत सर्वर्द्ध्या सर्वद्युत्या यावत्करणात-'सव्वबलेण सव्वसमुदएण सव्वादरेण सव्वविभूसाए सव्वविभूइए सव्वसंभमेण सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेण सव्वदिव्वतुडियसद्दसण्णिनाएणं महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं महया समुदएण महया वरतुडियजमगसमगपडुप्पवाइयरवेणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरयमुइंगदुंदुभिनिग्घोसनाइयरवेण' मिति परिगृह्यते, सौधर्मस्य कल्पस्य मध्येन ता दिव्यां देवर्द्धि दिव्यां देवद्युतिं दिव्यां देवानुभूतिं 'लालेमाणे २' इति उपलालयन् २ लीलया उपभुञ्जान इति भाव', येनैव सौधर्मस्य कल्पस्योत्तराहो निर्याणमार्गो-निर्गमनमार्गस्तेनैव पार्श्वेनोपागच्छति, 'ताए उक्किट्ठाए' इत्यादि पूर्ववद्यावत् दिव्यया देवगत्या योजनशतसहस्रकै -योजनलक्षप्रमाणैर्विग्रहै —क्रमैरवपतन्-अधस्तादवतरन् व्यतिव्रजंश्च गच्छंश्च तिर्यग् असङ्ख्येयानां द्वीपसमुद्राणा मध्यंमध्येन 'जेणेव' त्ति नन्दीश्वरो द्वीप यस्मिन् प्रदेशे यस्मिन्नेव च प्रदेशे तस्मिन्नन्दीश्वरे द्वीपे दक्षिणपूर्व -आग्नेयकोणवर्त्ती रतिकरनामा पर्वतस्तस्मिन्नुपागच्छति. उपागत्य च ता दिव्यां देवर्द्धि यावद् दिव्य देवानुभावं शनै २ प्रतिसंहरन् २ एतदेव पर्यायेण व्याचष्टे प्रतिसंक्षिपन् २ यस्मिन् प्रदेशे जम्बूद्वीपो नाम द्वीप तत्र च जम्बूद्वीपे यस्मिन् प्रदेशे भारतवर्षं तस्मिंश्च भारतवर्षे यस्मिन् प्रदेशे आमलकल्पा नगरी तस्याश्चाऽऽमलकल्पाया नगर्या बहिर्यस्मिन्प्रदेशे आम्रशालवन चैत्यं तस्मिंश्च चैत्ये यस्मिन् प्रदेशे श्रमणो भगवान् महावीर 'तेणेवे' ति तत्रोपागच्छति. सर्वत्र तृतीया सप्तम्यर्थे द्रष्टव्या प्राकृतत्वात् उपागत्य च श्रमण भगवन्त महावीर तेन प्रागुक्तस्वरूपेण दिव्येन यानविमानेन सह त्रिकृत्व' त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणीकरोति, आदक्षिणप्रदक्षिणीकृत्य च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यापेक्षया य उत्तरपूर्वो दिग्भागस्तमपक्रामति—गच्छति अपक्रम्य च तद् दिव्य यानविमानमीषद् एतदेव प्रकटयति—चतुरङ्गुलं, चतुर्भिरङ्गुलैरित्यर्थ, असम्प्राप्त सत् धरणीतले स्थापयति स्थापयित्वा चतसृभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभि द्वाभ्यामनीकाभ्यां तद्यथा—गन्धर्वानीकेन नाट्यानीकेन च सार्द्ध सम्परिवृतस्तस्माद् दिव्यात् यानविमानात् पूर्वेण त्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवतरति, चत्वारि सामानिकदेवसहस्राण्युत्तरेण शेषा दक्षिणेन । 'तए णमि' त्यादि 'वदामि नमंसामि ०जाव पज्जुवासामी ' त्यत्र यावच्छब्दकरणात्-' सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेमि'इति परिग्रह तत 'सूरियाभाइ'इत्यादि, सूरियाभात् आदि —मुख्य पर्युपासकतया यस्य स सूर्याभादि श्रमणो भगवान् महावीरस्तं सूर्याभं देवमेवमवादीत्-'पोराणमेयमि'त्यादि प्राग्वत् 'णच्चासन्ने इत्यादि, नात्यासन्न नातिनिकटोऽवग्रहपरिहारात् नात्यासन्ने वा स्थाने वर्त्तमान इति गम्यम् नाइदूरे इति न नैवातिदूरे अतिविप्रकृष्टोऽनौचित्यपरिहारात् नातिदूरे वा 'सुस्सूसमाणे' इति भगवद्वचनानि श्रोतुमिच्छन् ' अभिमुहे ' इति अभि भगवन्त लक्षीकृत्य मुखमस्येति अभिमुखो, भगवत सम्मुख इत्यर्थ, विनयेन हेतुना ' पंजलिउडे ' इति प्रकृष्ट प्रधानो ललाटतटघटितत्वेन अञ्जलि हस्तन्यासविशेष कृतो येन स प्राञ्जलिकृत, सुखादिदर्शनात् क्तान्तस्य परनिपात पर्युपास्ते—सेवते।

तए णं समणे भगवं महावीरे सूरियाभस्स देवस्स तीसे य महतिमहालियाए परिसाए ०जाव परिसा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया (सू० २०) तए णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेति उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-अहन्नं भंते ! सूरियाभे देवे किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिते ? सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी ?

परित्तसंसारिते अणंतसंसारिए ? सुलभबोहिए दुल्लभबोहिए? आराहते विराहते ? चरिमे अचरिमे ? सूरियाभाइ समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वदासी-सूरियाभा ! तुमं णं-भवसिद्धिए णो अभवसिद्धिते ०जाव चरिमे, णो अचरिमे । (सू० ३१) तए णं से सूरियाभे देवे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए परमसोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति२त्ता एवं वदासी- तुब्भे णं भंते ! सव्वं जाणह सव्वं पासह (सव्वओ जाणह सव्वओ पासह) सव्वं कालं जाणह सव्वं कालं पासह सव्वे भावे जाणह सव्वे भावे पासह जाणंति णं देवाणुप्पिया मम पुव्विं वा पच्छा वा ममेयरूवं दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं लद्धं पत्तं अभिसमण्णागयं ति, तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वगं गोयमातियाणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसतिबद्धं नट्टविहिं उवदंसित्तए । (सू० २२) तए णं समणे भगवं महावीरे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं णो आढाति णो परियाणाति तुसिणीए संचिट्ठति । (सू० २३ ×)(रा०)तए णं से सूरियाभे देवे तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पडिसाहरइ पडिसाहरित्ता खणेणं जाते एगे एगभूए तए णं से सूरियाभे देवे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता नियगपरिवालसद्धिं संपरिवुडे तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरुहति दुरुहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । (सू० २५)

तत श्रमणो भगवान् महावीरः सूर्याभस्य देवस्य श्वेतस्य राज्ञो धारणीप्रमुखाना च देवीना तस्याश्च ' महइमहालिताए ' इति अतिशयेन महत्या ' इसिपरिसाए ' इति ऋषय —त्रिकालदर्शिनस्तेषा पर्षत् तस्या , अवध्यादिजिनपर्षद इत्यर्थ , मुनिपर्षदो यथोक्तानुष्ठानानुष्ठायिसाधुपर्षद ' जतिपरिसाए ' इति यतस्ते उत्तरगुणेषु विशेषत इति यतयो—विचित्रद्रव्याद्यभिग्रहाद्युपेता साधवस्तेषां पर्षदो यतिपर्षद , ' विदुपरिसाए ' इति विद्वत्परिषदः—अनेकविज्ञानपर्षदो देवपर्षद इक्ष्वाकुपर्षदः क्षत्रियपर्षद' कौरव्यपर्षदः कथम्भूताया इत्याह—' अणेगसयाए ' इति अनेकानि पुरुषाणा शतानि सङ्ख्यया यस्या सा अनेकशता तस्या ' अणेगवंदाए ' इति अनेकानि वृन्दानि यस्या सा तथा तस्या', ' अणेगसयवंदपरिवाराए' इति अनेकशतानि-अनेकशतसङ्ख्यानि वृन्दानि परिवारो यस्या सा तथा तस्या:, ' महतिमहालियाए परिसाए ' अतिशयेन महत्या पर्षद ' ओहबले ' इति ओघेन—प्रवाहेण बलं यस्य , न तु कदाचन बलहानिरुपजायते इ

ति भाव . ' एवं जहा उववाइए तहा भाणियव्वमि' ति, एवं यथा औपपातिके ग्रन्थे तथा वक्तव्य, तच्चैवम्—' अइबले महाबले अपरिमियबलवीरियतेयमाहप्पकंतिजुत्ते सारदनवथणियमहुरगंभीरकुंचनिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरे वित्थडाए कंठे वट्टियाए सिरे समाइण्णाए अगरलाए अमम्मणाए फुडविसयमहुरगंभीरगाहिगाए सव्वक्खरसन्निवाइयाए गिराए सव्वभासाणुगामिणीए सव्वसंसयविमोयणीए अपुणरुत्ताए सरस्सईए जोयणनीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासइ, अरिहा धम्मं परिकहेइ तं-जहा—अत्थि लोए अत्थि अलोए अत्थि जीवे अत्थि अजीवे ' त्यादि, तावत् ' तए णं सा महइमहालिया मणुस्सपरिसा समणस्स भगवनो महावीरस्स अतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ करित्ता वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी—सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे, नत्थि णं केई समणे माहणे वा परिसं धम्ममाइक्खित्तए, एवं वइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूता तामेव दिसिं पडिगया । तए णं सेए राया समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए ०जाव हरिसवसविसप्पमाणहियए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइ पुच्छइ पुच्छित्ता अट्ठाइं परियाएइ परियाइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी—सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे ०जाव परिसे धम्ममाइक्खित्तए, एवं वइत्ता हत्थिं दुरूहइ २ हित्ता समणस्स भगवातो महावीरस्स अंतियाओ अंबसालवणाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगते', इति , इदं च प्राय सकलमपि सुगम नवरं यामेव दिशमलङ्कृत्य , किमुक्तं भवति ?—यतो दिश सकाशात् प्रादुर्भूतः—समवसरणे समागतस्तामेव दिशं प्रतिगत । सम्प्रति सूर्याभो देवो धर्मदेशनाश्रवणतो जातप्रभूततरसंसारविराग स्वविषय भव्यत्वादिक पिपृच्छिषुर्यत्करोति तदाह–'तए णमि' त्यादि ' भवसिद्धिए' इति भवे सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिकः भव्य इत्यर्थ , तद्विपरीतोऽभवसिद्धिक , अभव्य इत्यर्थ, भव्योऽपि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्भवति कश्चित्सम्यग्दृष्टिस्तत आत्मन सम्यग्दृष्टित्वनिश्चयाय पृच्छति-सम्यग्दृष्टिको मिथ्यादृष्टिक , सम्यग्दृष्टिरपि कश्चित्परिमितससारो भवति कश्चिदपरिमितसंसार , उपशमश्रेणिशिर प्राप्तानामपि केषांचिदनन्तसंसारभावाद् , अत पृच्छति—परीत्तसंसारिकोऽनन्तससारिक ? ,परीत्त —परिमित स चासौ ससारश्च परित्तसंसार सोऽस्यास्तीति परित्तसंसारिक , ' अतोऽनेकस्वरादिती' कप्रत्यय, एवमनन्तश्चासौ ससारश्चानन्तससार सोऽस्तीति अनन्तससारिक , परीत्तसंसारिकोऽपि कश्चित् सुलभबोधिको भवति यथा शालिभद्रादिक , कश्चिद् दुर्लभबोधिको यथा पुरोहितपुत्रजीव , तत पृच्छति सुलभा बोधिः—भवान्तरे जिनधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिक: , एवं दुर्लभबोधिकः, सुलभबोधिकोऽपि कश्चिद्बोधिं लब्ध्वा विराधयति तत: पृच्छति—आराधयति

सम्यक् पालयति बोधिमित्याराधकः. तद्विपरीतो विराधक, आराधकोऽपि कश्चित्तद्भवमोक्षगामी न भवति तत पृच्छति—चरमोऽचरमो वा? चरमोऽनन्तरभावी भवो यस्यासौ चरमः 'अभ्रादिभ्य' इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययस्तद्विपरीतोऽचरम, एवमुक्ते सूर्याभादि श्रमणो भगवान् महावीरस्तं सूर्याभं देवमेवमवादीत्—भो सूर्याभ! त्व भवसिद्धिको, नाभवसिद्धिक। यावत्करणात्-'सम्मद्दिट्ठी नो मिच्छादिट्ठी परित्तससारिए नो अणंतसंसारिए सुलभबोहिए नो दुल्लभबोहिए आराहए नो विराहए' इति परिग्रह., 'तुब्भे ण भंते!,' 'तुब्भे' इति यूय 'णमिति' वाक्यालङ्कारे भदन्त! सर्व केवलवेदसा जानीथ सर्व केवलदर्शनेन पश्यथ, अनेन द्रव्यपरिग्रह, तत्र सर्वशब्दो देशकार्त्स्न्येऽपि वर्त्तते यथा अस्य सर्वस्यापि ग्रामस्यायमधिपतिरिति सचराचरविषयज्ञानदर्शनप्रतिपादनार्थमाह-'सव्वतो जाणइ सव्वओ पासइ' सर्वतः-सर्वत्र दिक्षु ऊर्ध्वमधो लोकेऽलोके चेति भाव., जानीथ पश्यथ च, अनेन क्षेत्रपरिग्रह, तत्र सर्वद्रव्यसर्वक्षेत्रविषयं वार्त्तमानिकमात्रमपि ज्ञानं दर्शनं वा सम्भाव्येत तत सकलकालविषयज्ञानदर्शनप्रतिपादनार्थमाह-सर्वकालम्-अतीतमनागत वर्त्तमान च जानीथ पश्यथ, एतेन कालपरिग्रह', तत्र कश्चित् सर्वद्रव्यसर्वक्षेत्रसर्वकालविषयमपि ज्ञानं सर्वपर्यायविषयं न सम्भावयेत् यथा मीमांसकादि., अत आह-सर्वान् भावान्-पर्यायान् प्रतिद्रव्यमात्मीयान् परकीयांश्च केवलवेदसा जानीथ, केवलदर्शनेन पश्यथ। अथ भावा दर्शनविषया न भवन्ति ततः कथमुक्त-' सव्वे भावे पासह ' इति?, नैष दोष., उत्कलितरूपया हि ते भावा दर्शनविषया न भवन्ति अनुत्कलितरूपतया तु ते भवन्त्येव, तथा चोक्तम्-"निर्विशेष विशेषाणां, ग्रहो दर्शनमुच्यते" इति, ततो ' जाणंति ' 'ण' मिति पूर्ववत् देवानाप्रिया पूर्वमपि अनन्तरमुपदर्श्यमाननाट्यविधे. पश्चादपि च उपदर्श्यमाननाट्यविधेः, उत्तरकाल मम एतद्रूपां दिव्यां देवर्द्धि दिव्यां देवद्युतिं दिव्य देवानुभावं लब्ध (लब्ध) देशान्तरगतमपि किञ्चिद्भवति तत आह-प्राप्त, प्राप्तमपि किञ्चिदन्तरायवशादनात्मवशं भवति तत आह-अभिसमन्वागत, तत'इच्छामि णमि' त्यादि, इच्छामि णमिति-पूर्ववत्, देवानां प्रियाणां पुरतो भक्तिपूर्वकं-बहुमानपुरस्सर गौतमादीना श्रमणानां निर्ग्रन्थाना दिव्या देवर्द्धि दिव्या देवद्युतिं दिव्य देवानुभावमुपदर्शयितु द्वात्रिंशद्विध-द्वात्रिंशत्प्रकारं नाट्यविधिं-नाट्यविधानमुपदर्शयितुमिति। 'तए णमि'त्यादि. तत श्रमणो भगवान् महावीर सूर्याभेण देवेन एवमुक्त सन् सूर्याभस्य देवस्यैनम्-अनन्तरोदितमर्थं नाद्रियते-न तदर्थकरणायादरपरो भवति, नापि परिजानाति—अनुमन्यते, स्वतो वीतरागत्वात् गौतमादीनां च नाट्यविधे. स्वाध्यायादिविधानकारित्वात्, केवलं तूष्णीकोऽवतिष्ठते, एवं द्वितीयमपि वार. तृतीयमपि वारमुक्त. सन् भगवानेवमवतिष्ठति। ' तए णमि ' त्यादि. तत. पारिणामिक्या बुद्ध्या तत्त्वमवगम्य मौनमत्र भगवत उचितं न पुन' किमपि वक्तु केवल मया भक्तिरात्मीयोपदर्शनीयेति प्रमोदातिशयतो जातपुलक सन् सूर्याभो देव' श्रमण भगवन्तं महावीरं वन्दते—स्तौति नमस्यति—कायेन वन्दित्वा नमस्यित्वा च ' उत्तरपुरच्छिम दिसीभागमि ' त्यादि सुगमं, नवरं बहुसमभूमिवर्णनप्रेक्षागृहमण्डपवर्णनमणिपीठिकासिंहासनतदुपर्युल्लोचाङ्कुशमुक्तादामवर्णनानि च प्राग्वद् भावनीयानि। ' तए णमि ' त्यादि. तत सूर्याभो देवस्तीर्थङ्करस्य भगवत. आलोके प्रणामं करोति, कृत्वा चानुजानातु भगवान् मामित्यनुज्ञापनां कृत्वा सिंहासनवरगत सन् तीर्थकराभिमुख. सन्निषण्ण। (रा०)। नाट्यविधि 'णट्ट' शब्दे चतुर्थभागे उक्ता।)

भंते त्ति भयवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २त्ता एवं वयासी सूरियाभस्स णं भंते! देवस्स एसा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती दिव्वे देवाणुभावे कहिं गते कहिं अणुपविट्ठे?, गोयमा! सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ?-सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे, गोयमा!, से जहा नाम ए कूडागारसाला सिया दुहतो लित्ता दुहतो गुत्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा, तीसे णं कूडागारसालाते अदूरसामंते एत्थ णं महेगे जणसमूहे चिट्ठति, तए णं से जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलगं वा वासवद्दलगं वा महावायं वा इज्जमाणं पासति २ सित्ता तं कूडागारसालं अतो अणुपविसइ २ सित्ता णं चिट्ठइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति-सरीरं अणुपविट्ठे।(सू०२६)

भदन्तेत्यामन्त्रणपुरस्सरं भगवान् गौतम श्रमण भगवन्त महावीरं वदन्ते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा 'एवं' वक्ष्यमाणप्रकारेणावादीत् पुस्तकान्तर क्वचिद् वाचनान्तर दृश्यते, ' तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जिट्ठे अंतेवासी ' इत्यादि, अस्य व्याख्या-तस्मिन् काले तस्मिन् समये णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थ'. श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ' ज्येष्ठ ' इति प्रथमोऽन्तेवासी-शिष्य, अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसङ्घाधिपतित्वमावेदयति, इन्द्रभूतिरिति मातापितृकृत नामधेय नामेति प्राकृतत्वात् विभक्तिपरिणामेन नाम्नेति द्रष्टव्यम्, एवमन्यत्रापि यथायोगं भावनीयम्, अन्तेवासी च किल विवक्षायां श्रावकोऽपि स्यादतस्तदाशङ्काव्यवच्छेदार्थमाह—' अनगार., न विद्यते अगारं—गृहमस्येत्यनगार., अयं च विगीतगोत्रोऽपि सम्भाव्येत अत आह-गौतमो गोत्रेण, गौतमाह्वयगोत्रसमन्वित इत्यर्थ', अयं च तत्कालोचितदेहपरिमाणापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादत आह—सप्तोत्सेध'—सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्राय., अयं चेत्थभूतो लक्षणहीनोऽपि शङ्क्येतातस्तदाशङ्कापनोदार्थमाह—' समचउरससंठाणसंठिए ' इति, समाः—शरीरलक्षणशास्त्रोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत् समचतुरस्रं अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्विभागोपलक्षिता शरीरावयवा द्रष्टव्या., अन्ये त्वाहु'—समा—अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यस्रयो यत्र तत् समचतुरस्र तच्च तत् संस्थानं च, संस्थानम्—आकार तच्च वामदक्षिणजान्वोरन्तर आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरं वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति. अपरे त्वाहु—विस्तारो-

स्मेधयो समत्वात् समचतुरस्त्रं तच्च तत्संस्थानं च २, संस्थानम्—आकारस्तेन संस्थितो—व्यवस्थितो य. स तथा 'जाव उट्ठाए उट्ठेइ' इति यावत्करणात्—वज्जरिसहसंघयणे कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविपुलतेयलेसे चउद्दसपुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामन्ते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोउहल्ले समुप्पण्णसड्ढे समुप्पण्णसंसए समुप्पण्णकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ' इति द्रष्टव्य, तत्र नाराचमुभयतो मर्कटबन्ध ऋषभस्तदुपरि वेष्टनपट्ट कीलिका अस्थित्रयस्यापि भेदकमस्थि एवरूप संहननं यस्य स तथा, तथा कनकस्य—सुवर्णस्य य पुलको—लवस्तस्य यो निकष —कषपट्टके रेखारूपस्तथा पद्मग्रहणेन पद्मकेसराण्युच्यन्ते अवयवे समुदायोपचारात् यथा देवदत्तस्य हस्ताग्ररूपोऽवयवोऽपि देवदत्त, तथा च देवदत्तस्य हस्ताग्रं स्पृष्ट्वा लोको वदति—स्पृष्टो मया देवदत्त इति, कनकपुलकनिकषवत् पद्मवच्च यो गौर स कनकपुलकनिकषपद्मगौर, अथवा—कनकस्य य पुलको—द्रवत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णत सदृश. कनकपुलकनिकष, तथा पद्मवत्—पद्मकेसरवत् यो गौर स पद्मगौर, तत पदद्वयस्य कर्मधारयसमास, अय च विशिष्टचरणरहितोऽपि शङ्क्येत तत आह—'उग्गतवे' इति, उग्रम्—अधृष्य तप —अनशनादि यस्य स तथा, यदन्येन प्राकृतेन पुसा न शक्यते चिन्तयितुमपि मनसा तद्विधेन, तपसा युक्त इत्यर्थ, तथा दीप्तं—जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलितं तपो—धर्मध्यानादि यस्य स तथा, 'तत्ततवे' इति तप्तं तपो येन स तप्ततपा., एव हि तेन तपस्तप्त येन सर्वाण्यपि अशुभानि कर्माणि भस्मसात् कृतानीति 'महत्वे' इति महान्—प्रशस्तमाशंसादोषरहितत्वात् तपो यस्य स महातपाः, तथा 'उराले' इति, उदार—प्रधान, अथवा-उरालो—भीष्म उग्रादिविशिष्टतप करणत पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानामतिभयानक इति भाव, तथा घोरो—निर्घृण परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशनमधिकृत्य निर्दय इति यावत्, तथा घोरा—अन्यैर्दुरनुचरा गुणा मूलगुणादयो यस्य स घोरगुण, तथा घोरैस्तपोभिस्तपस्वी घोरतपस्वी, 'घोरबंभचेरवासी' इति घोर—दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वात् ब्रह्मचर्यं यत् तत्र वस्तु शीलं यस्य स तथा, 'उच्छूढसरीरे' इति उच्छूढम्—उज्झितमिवोज्झित संस्कारपरित्यागात् शरीर येन स उच्छूढशरीर, 'संखित्तविउलतेउलेसे' इति संक्षिप्ता—शरीरान्तर्गतत्वेन ह्रस्वता गता विपुला—विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात् तेजोलेश्या—विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा, 'चउद्दसपुव्वी' इति चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते। यस्य तेनैव तेषां रचितत्वात् असौ चतुर्दशपूर्वी, अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह, स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह—'चउनाणोवगए' मतिश्रुतावधिमन पर्यवज्ञानचतुष्टयसमन्वित., उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतितत्वेन श्रवणादत आह—'सर्वाक्षरसन्निपाती' अक्षराणां सन्निपाता —संयोगा. अक्षरसन्निपाता. सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेया स तथा, किमुक्त भवति ?—या काचित् जगति पदानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी वा सभवति ता सर्वा अपि जानातीति, एवगुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यादूरसामन्ते विहरतीति योग, तत्र दूर—विप्रकृष्ट सामन्त—सन्निकृष्ट तत्प्रतिषेधाददूरसामन्त, ततो नातिदूरे नातिनिकटे इत्यर्थ, किंविशिष्ट सन् तत्र विहरतीत्यत आह—'उड्ढंजाणू अहोसिरे' ऊर्ध्वे जानुनी यस्यासावूर्ध्वजानु, अध शिरा नोर्ध्व तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टि, किन्तु-नियतभूभागनियमितदृष्टिरित्यर्थ. 'झाणकोट्ठोवगए' इति ध्यानं—धर्मध्यान शुक्लध्यान च तदेव कोष्ठ -कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतो ध्यानकोष्ठोपगत, यथा हि कोष्ठके धान्य प्रक्षिप्तमविप्रसृत भवति एव भगवानपि ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्त करणवृत्तिरित्यर्थ, 'संयमेन' पञ्चाश्रवनिरोधादिलक्षणेन तपसा अनशनादिना चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो लुप्तो द्रष्टव्य, संयमतपोग्रहणमनयो प्रधानमोक्षाङ्गताख्यापनार्थ, प्राधान्यं संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जराहेतुत्वेन, तथाहि—अभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणाच्च जायते सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षस्ततो भवति संयमतपसोर्मोक्ष प्रति प्राधान्यमिति 'अप्पाणं भावेमाणे विहरति' इति, आत्मानं वासयन् तिष्ठति। 'तए णं' मित्यादि, ततो ध्यानकोष्ठोपगतविहरणादनन्तर 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे स भगवान् गौतमो 'जातसड्ढे' इत्यादि, जातश्रद्धादिविशेषणविशिष्ट सन् उत्तिष्ठतीति योग, तत्र जाता—प्रवृत्ता श्रद्धा—इच्छा वक्ष्यमाणार्थतत्त्वावगम प्रति यस्यासौ जातश्रद्ध तथा जात संशयो यस्य स जातसंशय, संशयो नाम अनवधारितार्थ ज्ञानं, स चैवम्—इत्थं नामास्य दिव्या देवर्द्धिर्विस्तृता अभवत्, इदानीं सा क्व गतेति, तथा 'जायकुतूहल' इति जातं कुतूहल यस्य स जातकुतूहल, जातौत्सुक्य इत्यर्थ, तथा कथममुमर्थं भगवान् प्ररूपयिष्यति इति, तथा 'उप्पन्नसड्ढे' उत्पन्ना प्रागभूता सती भूता श्रद्धा यस्यासौ उत्पन्नश्रद्ध, अथ जातश्रद्ध इत्येतदेवास्तु किमर्थमुत्पन्नश्रद्ध इति, प्रवृत्तश्रद्धत्वेनैवोत्पन्नश्रद्धत्वस्य लब्धत्वात्, न हि अनुत्पन्ना श्रद्धा प्रवर्त्तते इति, अत्रोच्यते—हेतुत्वप्रदर्शनार्थ, तथाहि—कथ प्रवृत्तश्रद्ध. ?, उच्यते—यत उत्पन्नश्रद्ध, इति हेतुत्वदर्शन चोपपन्न, तस्य काव्यालङ्कारत्वात् यथा 'प्रवृत्तदीपामप्रवृत्तभास्करां, प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरी' मित्यत्र, अत्र हि यद्यपि प्रवृत्तदीपादित्वादेवाप्रवृत्तभास्करत्वमुपगत तथाप्यप्रवृत्तभास्करत्व प्रवृत्तदीपत्वादेर्हेतुतयोपन्यस्तमिति सम्यक् 'उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए' इति प्राग्वत्, तथा 'संजायसड्ढे' इत्यादि पदषट्कं प्राग्वत्, नवरमिह संशब्द प्रकर्षादिवचनो वेदितव्य, 'उट्ठाए उट्ठेइ'

त्ति उत्थानमुत्था—ऊर्ध्वं वर्त्तनं तया उत्तिष्ठति, इह 'उट्ठेइ' इत्युक्ते क्रियारम्भमात्रमपि प्रतीयेत यथा वक्तुमुत्तिष्ठते तत स्तद्व्यवच्छेदार्थमुत्थायेत्युक्तम् ,उत्थया उत्थाय 'जेणेव'त्यादि यस्मिन् दिग्भागे श्रमणो भगवान् महावीरो वर्त्तते 'तेणेव' त्ति तस्मिन्नेव दिग्भागे उपागच्छति,उपागत्य च श्रमणं त्रिकृत्व --त्रिवारान् आदक्षिणप्रदक्षिणीकरोति आदक्षिणप्रदक्षिणीकृत्य च वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—' सूरियाभस्स णं भंते ! ' इत्यादि, 'कहिंगए' इति क्व गत ? तत्र गमनमन्तरप्रवेशाभावेऽपि दृष्टं यथा भित्तौ गतो धूलिरिति रूपोऽपि दिव्यानुभावो यदैव क्वचित्प्रत्यासन्ने प्रदेशे गत स्यात्ततो दृश्येत न चासौ दृश्यते,ततो भूय पृच्छति-' कहिं अणुपविट्ठे ' इति क्वानुप्रविष्ट क्वान्तर्लीन इति भाव । भगवानाह—गौतम ! शरीर गत शरीरमनुप्रविष्ट . पुन पृच्छति—' से केणट्ठेणं ' मित्यादि अथ केनार्थेन—केन हेतुना भदन्त ! एवमुच्यते—शरीर गत शरीरमनुप्रविष्ट ?, भगवानाह—गौतम ! ' से जहानामए ' इत्यादि, कूटस्येव-पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्या सा कूटाकारा, यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारेति भाव', कूटाकारा चासौ शाला च कूटाकारशाला, यद्वा-कूटाकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला कूटाकारशाला स्यात् ,'दुहओ लित्ता ' इति बहिरन्तश्च गोमयादिना लिप्ता गुत्ता बहि प्राकारावृता गुप्तद्वारा द्वारस्थगनात् , यद्वा—गुप्ता गुप्तद्वारा केषाञ्चित् द्वाराणा स्थगितत्वात् केषाञ्चिच्चास्थगितत्वादिति निवाता-वायोरप्रवेशात् किल महद् गृहं निवातं प्रायो न भवति तत आह निवातगम्भीरा निवाता सती गम्भीरा निवातगम्भीरा, निवाता सती विशाला इत्यर्थ , ततस्तस्या कूटाकारशालाया अदूरसामन्ते नातिदूरे निकटे वा प्रदेशे महान् एकोऽन्यतरो जनसमूहस्तिष्ठति, स च एकं महत् अभ्ररूपं वार्दलम् अभ्रवार्दलं, धारानिपातरहितं सम्भाव्यवर्षं वार्दलमित्यर्थ , वर्षप्रधानं वार्दलकं वर्षवार्दलकं वर्षं कुर्वन्तं वार्दलकं महावातं वा ' एज्जमाण ' मिति आयान्तम्-आगच्छन्तं पश्यति, दृष्ट्वा च तं ' कूडागारसालं ' द्वितीया पञ्चम्यर्थे तस्या कूटाकारशालाया अन्तर ततोऽनुप्रविश्य तिष्ठति एव सूर्याभस्यापि देवस्य सा तथा विशाला दिव्या देवर्धिर्दिव्या देवद्युतिर्दिव्यो देवानुभाव शरीरमनुप्रविष्ट ' से-एणट्ठेणं ' मित्यादि, अनेन प्रकारेण गौतम ! एवमुच्यते-' सूरियाभस्से ' त्यादि ।

भूयो गौतम पृच्छति—

कहिं णं भंते ! सूरियाभस्स देवस्स सूरियाभे णामं विमाणे पन्नत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो उड्ढं चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहूईओ जोयणकोडीओ बहूईओ जोयणसयसहस्सकोडीओ उड्ढं दूरं वीतीवइत्ता एत्थ णं सोहम्मे कप्पे नामं कप्पे पन्नत्ते, पाईणपडीणआयते उदीणदाहिणविच्छिण्णे अद्धचंदसंठाणसंठिते अच्चिमालिभासरासिवण्णाभे असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं इत्थ णं सोहम्माणं देवाणं बत्तीसं विमाणावाससयसहस्साइं भवंतीति मक्खायं, ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसिं णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडिंसया पन्नत्ता, तं जहा-१ असोगवडिंसते २ सत्तवन्नवडिंसते ३ चंपकवडिंसते ४ चूयगवडिंसते ५ मज्झे सोहम्मवडिंसए, ते णं वडिंसगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तस्स णं सोहम्मवडिंसगस्स महाविमाणस्स पुरच्छिमेणं तिरियमसंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं वीईवइत्ता एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सूरियाभे नामं विमाणे पन्नत्ते, अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं गुणयालीसं च सयसहस्साइं बावन्नं च सहस्साइं अद्ध य अडयाले जोयणसते परिक्खेवेणं, से णं एगेणं पागारेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, से णं पागारे तिन्नि जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले एगं जोयणसयं विक्खंभेणं मज्झे पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं उप्पिं पणवीसं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले वित्थिन्ने मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे ०जाव पडिरूवे, से णं पागारे णाणा (मणि) विहपंचवन्नेहिं कविसीसएहिं उवसोभिते, तं जहा-किण्हेहिं नीलेहिं लोहितेहिं हालिद्देहिं सुक्किल्लेहिं कविसीसएहिं, ते णं कविसीसगा एगं जोयणं आयामेणं अद्धजोयणं विक्खंभेणं देसूणं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वमणि (रयणा) मया अच्छा ०जाव पडिरूवा, सूरियाभस्स णं विमाणस्स एगमेगाए बाहाए दारसहस्सं २ भवतीति मक्खायं, ते णं दारा पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवयरवेइया परिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा वन्नो दाराणं तेसिं होइ, तं जहा--वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियमया सूइखंभा जायरूवोवचियपवरपंचवन्नमणिरयणकोट्टिमतला हंसगब्भमया एलुया गोमेज्जमया इंदकीला लोहियक्खमतीतो दारचेडीओ जोईरसमया उत्तरंगा लोहियक्खमईओ सूईओ वयरामया संधी नाणामणिमया समुग्गया वयरामया अग्गला अ-

ग्गलपासाया रययामयाओ आवत्तणपेढियाओ अंकुत्तरपासगा निरंतरियघणकवाडा भित्तीसु चेव भित्तिगुलिता छप्पन्ना तिण्णि होंति गोमाणसिया तइया णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठिअसालभंजियागा वयरामया कुड्डा रययामया उस्सेहा सव्वतवणिज्जमया उल्लोया णाणामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोमा अंकामया पक्खा पक्खबाहाओ जोइरसामया वंसा वंसकवेल्लुयाओ रयणामयाओ पट्टियाओ जायरूवमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुच्छणाओ सव्वसेयरययामयाच्छायणे अंकामया कणगकूडतवणिज्जथूभियागा सेया संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासा तिलगरयणद्धचंदचित्ता नाणामणिदामालंकिया अंतो बहिं च सण्हा तवणिज्जवालुयापत्थडा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ।

क्व सूर्याभस्य देवस्य सूर्याभ विमान प्रज्ञप्तं ?, भगवानाह-गौतम ! अस्मिन् जम्बूद्वीपे यो मन्दर पर्वतस्तस्य दक्षिणतोऽस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या बहुसमरमणीयात् भूमिभागादूर्ध्वं चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपाणामपि पुरतो बहूनि योजनानि बहूनि योजनशतानि ततो बुद्ध्या बहुबहुतरोऽत्पतनेन बहूनि योजनसहस्राण्येवमेव बहूनि योजनशतसहस्राणि एवमेव च बह्वीर्योजनकोटीरेवमेव च बह्वीर्योजनकोटीकोटीरूर्ध्वं दूरमुत्प्लुत्य अत्र सार्द्धरज्जुप्रमाणे प्रदेशे सौधर्मो नाम कल्प प्रज्ञप्त , स च प्राचीनापाचीनायत , पूर्वापरायत इत्यर्थ , उत्तरदक्षिणविस्तीर्ण , अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थित , द्वौ हि सौधर्मेशानदेवलोकौ समुदितौ परिपूर्णचन्द्रमण्डलसंस्थानसंस्थितौ, तयोश्च मेरोर्दक्षिणवर्त्ती सौधर्मकल्प उत्तरवर्त्ती ईशानकल्प. ततो भवति सौधर्मकल्प चन्द्रसंस्थानसंस्थित , ' अच्चिमाली ' इति अर्चींषि-किरणानि तेषां माला अर्चिर्माला सा अस्यास्तीति अर्चिर्माली; किरणमालासङ्कुल इत्यर्थ., असङ्ख्येययोजनकोटीकोटी ' आयामविक्खभेण ' ति आयामश्च विष्कम्भश्च आयामविष्कम्भ समाहारो द्वन्द्वस्तेन; आयामेन च विष्कम्भेन चेत्यर्थ , असङ्ख्येया योजनकोटीकोटय 'परिक्खेवेण' परिधिना ' सव्वरयणामए ' इति सर्वात्मना रत्नमय ' जाव पडिरूवे ' इति यावत्करणात्—' अच्छे सण्हे घट्ठे मट्ठे ' इत्यादिविशेषणकदम्बकपरिग्रह , ' तत्थ णं ' मित्यादि तत्र सौधर्म्मे कल्पे द्वात्रिंशत् विमानशतसहस्राणि भवन्ति इत्याख्यात मया शेषैश्च तीर्थकृद्भि । ' ते णं विमाणे ' त्यादि , तानि विमानानि सूत्रे पुंस्त्व प्राकृतत्वात् सर्वरत्नमयानि-सामस्त्येन रत्नमयानि 'अच्छानि' आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलानि, अत्रापि यावत्करणात्-'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया' इत्यादि, विशेषणजात द्रष्टव्य, तच्च प्रागवानेकश व्याख्यातं ' तेसि णं ' मित्यादि,तेषा विमानाना बहुमध्यदेशभागे त्रयोदशप्रस्तटे सर्वेषामपि विमानावतंसकाना सकलचरमप्रस्तटवर्तित्वात् पञ्चावतंसका पञ्चविमानावतंसका प्रज्ञप्ता , तद्यथा-अशोकावतंसक -अशोकावतंसकनामा,स च पूर्वस्यां दिशि ततो दक्षिणस्यां सप्तपर्णावतंसक पश्चिमायां चम्पकावतंसक उत्तरस्या चूतावतंसक. मध्ये सौधर्मावतंसक , ते च पञ्चापि विमानावतंसका सर्वरत्नमया. ' अच्छा ०जाव पडिरूवा ' इति यावत्करणादत्रापि सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा ' इत्यादि विशेषणजातमवगन्तव्यम् , अस्य च सौधर्मावतंसकस्य पूर्वस्यां दिशि तिर्यक् असंख्येयानि योजनशतसहस्राणि व्यतिव्रज्य-अतिक्रम्यात्र सूर्याभस्य देवस्य सूर्याभ नाम विमान प्रज्ञप्तम् , अर्द्ध त्रयोदश एषा तानि अर्द्धत्रयोदशानि, सार्द्धानि द्वादशेत्यर्थ , योजनशतसहस्राण्यायामविष्कम्भेन , एकोनचत्वारिंशत् योजनशतसहस्राणि द्विपञ्चाशत्सहस्राणि अष्टौ च योजनशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ३९५२८४८ किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण—परिधिना इद च परिक्षेपपरिमाणं ' विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ ' इति करणवशात् स्वयमानेतव्यं, सुगमत्वात् । ' से णं एगेणं ' मित्यादि, तद्विमानमेकेन प्राकारेण सर्वत —सर्वासु दिक्षु समन्तत —सामस्त्येन परिक्षिप्तम् । 'से णं पागारे' इत्यादि-स प्राकार. त्रीणि योजनशतानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन मूले एकं योजनशतं विष्कम्भेण मध्यभागे पञ्चाशत् , मूलादारभ्य मध्यभाग यावत् योजने योजने योजनत्रिभागस्य विष्कम्भतस्त्रुटितत्वात् . उपरि-मस्तके पञ्चविंशतियोजनानि विष्कम्भेण, मध्यभागादारभ्योपरितनमस्तकं यावत् योजने योजने योजनषड्भागस्य विष्कम्भतो हीयमानतया लभ्यमानत्वात्. अत एव मूले विस्तीर्णो मध्ये संक्षिप्त पञ्चाशतो योजनाना त्रुटितत्वात् , उपरि तनुक पञ्चविंशतियोजनमात्रविस्तारात्मकत्वात् ,अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थित . ' सव्वरयणामए अच्छे' इत्यादि विशेषणजात प्राग्वत् , ' से णं पागारे ' इत्यादि,' स प्राकारो ' णाणाविहपंचवण्णेहिं ' इति नानाविधानि च तानि पञ्चवर्णानि च नानाविधपञ्चवर्णानि तै , नानाविधत्वं च पञ्चवर्णापेक्षया द्रष्टव्यं कृष्णादिवर्णतारतम्यापेक्षया वा पञ्चवर्णत्वमेव प्रकटयति—' कण्हेहिं ' इत्यादि , ते णं कविसीसगा ' इत्यादि, तानि कपिशीर्षकाणि प्रत्येकं योजनमेकमायामतो दैर्घ्येणार्द्ध योजन विष्कम्भेण देशोनयोजनमुच्चैस्त्वेन 'सव्वरयणामया' इत्यादि विशेषणजात प्राग्वत् । सूरियाभस्स णं' मित्यादि, एकैकस्या बाहाया द्वारसहस्रमिति सर्वसङ्ख्यया चत्वारि द्वारसहस्राणि, तानि च द्वाराणि प्रत्येकं पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वम् उच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भत 'तावइय चेवे' ति अर्द्धतृतीयान्येव योजनशतानि प्रवेशत. 'सेया' इत्यादि, तानि च द्वाराणि सर्वाण्युपरि श्वेतानि-श्वेतवर्णोपेतानि बाहुल्येनाङ्करत्नमयत्वात् 'वरकणगथूभियागा' इति वरकनका—वरकनकमयी स्तूपिका—शिखर येषा तानि तथा, 'ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवयरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ता विव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लो-

यण्लेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा' इति विशेषणजातं यानविमानवद्भावनीयं 'वन्नो दाराण तेसिं होइ' इति तेषां द्वाराणां वर्णः—स्वरूपव्यावर्णनमयं भवति, तमेव कथयति-'तंजहे' त्यादि, तद्यथा—'वइरामया णिम्मा' इति नेमा नाम द्वाराणां भूमिभागादूर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशास्ते सर्वे वज्रमया—वज्ररत्नमयाः, वज्रशब्दस्य दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यं, 'रिट्ठामया पइट्ठाणा' रिष्टमया—रिष्टरत्नमयानि प्रतिष्ठानानि मूलपादाः 'वेरुलियमया खंभा' इति वैडूर्यरत्नमयाः स्तम्भाः। 'जायरूवोवचियपवरपंचवन्न [वर] मणिरयणकुट्टिमतला ' जातरूपेण-सुवर्णेन उपचितैः-युक्तैः प्रवरैः—प्रधानैः पञ्चवर्णैर्मणिभिः-चन्द्रकान्तादिभिः रत्नैः—कर्केतनादिभिः कुट्टिमतलं—बद्धभूमितलं येषां ते तथा 'हंसगब्भमया एलुया' हंसगर्भमया—हंसगर्भाख्यरत्नमया एलुका—देहल्यः 'गोमेज्जमया इंदकीला' इति गोमेज्जकरत्नमया इन्द्रकीलाः, ' लोहियक्खमईओ ' लोहिताक्षरत्नमय्यः ' चेडाओ ' इति द्वारशाखा ' जोइरसमया उत्तरंगा ' इति द्वारस्योपरि तिर्यग्व्यवस्थितमुत्तरङ्गं तानि ज्योतीरसमयानि—ज्योतीरसाख्यरत्नात्मकानि ' लोहियक्खमईओ ' लोहिताक्षमय्यो लोहिताक्षरत्नात्मिकाः सूचयः —फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतु पादुकास्थानीयाः 'वइरामया संधी ' वज्रमयाः सन्धयः सन्धिमेलाः फलकानां, किमुक्तं भवति ?-वज्ररत्नपूरिताः फलकानां सन्धयः,'णाणामणिमया समुग्गया'इति समुद्गका इव समुद्गकाः-शूचिकागृहाणि तानि नानामणिमयानि वयरामया अग्गला अग्गलपासाया ' अर्गला -प्रतीता अर्गलाप्रासादा यत्रार्गला नियम्यन्ते , आह च जीवाभिगममूलटीकाकारः–' अर्गलाप्रासादो यत्रार्गला नियम्यन्ते इति" एते द्वये अपि वज्ररत्नमय्यौ ' रययामयाओ आवत्तणपेढियाओ ' इति आवर्त्तनपीठिका नाम यत्रेन्द्रकीलको भवति , उक्तश्च विजयद्वारचिन्तायां जीवाभिगममूलटीकाकारेण-' आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको भवतीति " ' अकुत्तरपासगा ' इति अङ्का-अङ्करत्नमया उत्तरपार्श्वौ येषां द्वाराणां तानि अङ्कोत्तरपार्श्वकानि ' निरंतरियघणकवाडा ' इति निर्गता अन्तरिका—लघ्वन्तररूपा येषां ते निरन्तरिका अत एव घना निरन्तरिका घनाः कपाटा येषां द्वाराणां तानि निरन्तरिकघनकपाटानि ' भित्तिसु चेव भित्तिगुलिया छप्पन्ना तिन्नि होंति ' इति तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोः भित्तिषु-भित्तिगताः भित्तिगुलिकाः -पीठकस्थानीयाः तिस्रः षट्पञ्चाशत्प्रमाणाः भवन्ति ' गोमाणसिया (सज्जा) तइया ' इति गोमानस्यः शय्याः 'तइया' इति तावन्मात्राः , षट्पञ्चाशत्त्रिकसङ्ख्याका इत्यर्थः 'णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसालभंजियागा ' इति इदं द्वारविशेषणमेव . नानामणिरत्नानि—नानामणिरत्नमयानि व्यालरूपकाणि लीलास्थितशालभञ्जिकाश्च-लीलास्थितपुत्तलिका येषु तानि तथा ' वयरामया कूडा रययामया उस्सेहा ' इति कूडो—माडभाग उच्छ्रय — शिखरम्,आह च जीवाभिगममूलटीकाकृत्-'कूडो माडभाग उच्छ्रय शिखर'मिति,नवरमत्र शिखराणि तेषामेव माडभागानां सम्बन्धीनि वेदितव्यानि , द्वारशिखराणामुक्तत्वात् वक्ष्यमाणत्वाच्च, 'तवणिज्जमया उल्लोया' उल्लोका—

उपरिभागाः सर्वतपनीयमयाः —सर्वात्मना तपनीयरूपसुवर्णविशेषमयाः ' णाणामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोमा ' इति मणयो—मणिमया वंशा येषु तानि मणिमयवंशकानि लोहिताख्यानि-लोहिताख्यमयाः प्रतिवंशा येषु तानि लोहिताख्यप्रतिवंशकानि रजता-रजतमयी भूमिर्येषां तानि रजतभूमानि प्राकृतत्वात्समासान्तः मणिवंशकानि लोहिताख्यप्रतिवंशकानि रजतभूमानि नानामणिरत्नानि नानामणिरत्नमयानि जालपञ्जराणि-गवाक्षापरपर्यायाणि येषु तानि तथा, पदानामन्यथोपनिपातः प्राकृतत्वात् , ' अंकामया पक्खा पक्खवाहाओ ' इति अङ्को—रत्नविशेषस्तन्मयाः पक्षास्तदेकदेशभूता पक्षवाहवोऽपि तदेकदेशभूता एवाङ्कमय्यः, आह च जीवाभिगममूलटीकाकृत्-" अङ्कमयाः पक्षास्तदेकदेशभूता एव पक्षवाहवोऽपि द्रष्टव्याः ' इति, ' जोइरसामया वंसा वंसकवेल्लुया य ' इति ज्योतीरसं नाम रत्नं तन्मया वंशाः -महान्तः पृष्ठवंशाः ' वंसकवेल्लुया य' इति महतां पृष्ठवंशानामुभयतस्तिर्यक् स्थाप्यमाना वंशाः कवेल्लुकानि प्रतीतानि ' रययामईओ पट्टियाओ ' इति रजतमय्यः पट्टिकाः—वंशानामुपरि कम्बास्थानीयाः 'जायरूवमईओ ओहाडणीओ' जातरूपं-सुवर्णविशेषस्तन्मय्यः ' ओहाडणीओ' अवघाटिन्यः आच्छादनहेतुकम्बोपरिस्थाप्यमानमहाप्रमाणकिलिञ्चस्थानीयाः, ' वयरामईओ उवरिं पुञ्छणीओ' इति वज्रमय्यो-वज्ररत्नात्मिका अवघाटिनीनामुपरि पुञ्छन्यो-निविडतराच्छादनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषस्थानीयाः , उक्तं च जीवाभिगममूलटीकाकारेण-"ओहाडणाग्रहणं महत् क्षुल्लकं च पुञ्छना " इति ' सव्वसेयरययामयाच्छायणे ' इति सर्वश्वेतं रजतमयं पुञ्छनीनामुपरि कवेल्लुकानामधः आच्छादनम् 'अंकमयकणगकूडतवणिज्जथूभियागा ' अङ्कमयानि बाहुल्येनाङ्करत्नमयानि पक्ष २ बाह्वादीनामङ्करत्नात्मकत्वात् कनकानि—कनकमयानि कूटानि—महान्ति शिखराणि येषां तानि कनककूटानि तपनीयानि—तपनीयस्तूपिकानि, ततः पदत्रयस्यापि कर्मधारयः ,एतेन यत् प्राक् सामान्येन उत्क्षिप्तं ' सेयावरकणगथूभियागा ' इति तदेव प्रपञ्चतो भावितमिति । सम्प्रति तदेव श्वेतत्वमुपसंहारव्याजेन भूयः उपदर्शयति—'सेया' श्वेतानि, श्वेतत्वमेवोपमया द्रढयति-' संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासा ' इति विगतं मलं विमलं यत् शङ्खतलं—शंखस्योपरितनो भागो यश्च निर्मलो दधिघनः—घनीभूतं दधि गोक्षीरफेनो रजतनिकरश्च तद्वत् प्रकाशः -प्रतिभासो येषां तानि तथा ' तिलगरयणद्धचंदचित्ता ' इति तिलकरत्नानि-पुण्ड्रविशेषास्तैरर्द्धचन्द्रैश्च चित्राणि—नानारूपाणि तिलकरत्नार्द्धचन्द्रचित्राणि, क्वचित्—'संखतलविमलनिम्मलदहिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासद्धचंदचित्ताइं ' इति पाठः तत्र पूर्ववत् पृथक् पृथक् व्युत्पत्तिं कृत्वा पश्चात् पदद्वयस्य २ कर्मधारयः , णाणामणिदामालंकिया ' इति नानामणयो-नानामणिमयानि दामानि-मालास्तैरलंकृतानि नानामणिदामालकृतानि अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णानि—श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापितानि 'तवणिज्जवालुयापत्थडा ' इति तपनीया —तपनीयमय्यो या वालुकाः सिकतास्तासां प्रस्तटः प्रस्तरो येषु तानि तथा

'सुहफासा' इति सुख-सुखहेतु स्पर्शो येषु तानि सुखस्पर्शानि सश्रीकरूपाणि प्रासादीयानीत्यादि प्राग्वत्।

नैषेधिकीप्ररूपणायाह—

तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस चंदणकलसपरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा सुरभिवरवारिपडिपुण्णा चंदनकयचच्चागा आविद्धकंठेगुणा पउमुप्पलपिहाणा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा महया महया इंदकुंभसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !, तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस २ णागदंतपरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ते णं णागदंता मुत्ताजालंतरुसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणी (घंटा) जालपरिखित्ता अब्भुग्गया अभिणिसिट्ठा तिरियसुसंपग्गहिया अहेपन्नगद्धरूवा पन्नगद्धसंठाणसंठिया सव्ववयरामया अच्छा ०जाव पडिरूवा महया महया गयदंतसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !, तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तवद्धवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा णीलसुत्त० लोहितसु० हालिद्दसु० सुक्किल्लसुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवन्नमयरमंडियगा ०जाव कन्नमणणिव्वुत्तिकरेणं सद्देणं ते पदेसे सव्वओ समंता आपूरेमाणा २ सिरीए अईव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति । तेसि णं णागदंताणं उवरिं अन्नाओ सोलस नागदंतपरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ते ण णागदंता तं चेव ०जाव महता २ गयदंतसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !, तेसु णं णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पन्नत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधियातो गंधवट्टिभूयाओ ओरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं ते पदेसे सव्वओ समंता ०जाव चिट्ठंति । तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस सालभंजियापरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठियाओ सुपइट्ठियाओ सुअलंकियाओ णाणाविहरागवसणाओ णाणामल्लपिणद्धाओ मुट्ठिगिज्झसुमज्झाओ आमेलगजमलजुयलवट्टियअब्भुन्नयपीणरइयसंठियपीवरपओहराओ रत्तावंगाओ असियकेसीओ मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ वामहत्थग्गहियग्गसालाओ ईसिं अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएणं लूसमाणीओ विव चक्खुल्लोयणलेसेहिं अन्नमन्नं खिज्जमाणीओ (विव) पुढविपरिणामाओ सासयभावमुवगयाओ चन्दाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमणिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का (विव उज्जोवेमाणाओ) विज्जुघणमिरियसूरदिप्पंततेयअहिययरसन्निकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ पासादियाओ दरिसणिज्जाओ (पडिरूवाओ अभिरूवाओ) चिट्ठंति । (सू० २७)

तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयो पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'दुहतो' इति द्विधातो द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां, नैषेधिकीनिषीदनस्थानम्, आह च जीवाभिगममूलटीकाकृत्— "नैषेधिकी निषीदनस्थान" मिति, प्रत्येक षोडश २ (कलश) परिपाट्य प्रज्ञप्ता, ते च चन्दनकलशा 'वरकमलपइट्ठाणा' इति वरं-प्रधान यत्कमल तत् प्रतिष्ठानम्—आधारो येषां ते वरकमलप्रतिष्ठाना, यथा सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णाश्चन्दनकृतचर्चाका -चन्दनकृतोपरागा 'आविद्धकण्ठेगुणा' इति आविद्ध-आरोपित कण्ठे गुणो—रक्तसूत्ररूपो येषा ते आविद्धकण्ठेगुणा, कण्ठेकालवत् सप्तम्या अलुक्, 'पउमुप्पलपिहाणा' इति पद्ममुत्पल च यथायोगं पिधान येषां ते पद्मोत्पलपिधाना 'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा' इत्यादि यावत् 'पडिरूवगा' इति विशेषणकदम्बक प्राग्वत् 'महया' इति अतिशयेन महान्त कुम्भानामिन्द्र इन्द्रकुम्भो राजदन्तादिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपात. महाँश्चासौ इन्द्रकुम्भश्च तस्य समाना महेन्द्रकुम्भसमाना.—महाकलशप्रमाणा प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् । 'तेसि ण दाराण' मिति तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयो' पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन या द्विधा नैषेधिकी तस्यां प्रत्येक षोडश षोडश नागदन्तपरिपाट्यः प्रज्ञप्ता, नागदन्ता—अङ्कुटका, ते च नागदन्ता 'मुत्ताजालतरुसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणि (घंटा) जालपरिक्खित्ता' इति—मुक्ताजालानामन्तरेषु यानि उच्छ्रितानि-लम्बमानानि हेमजालानि—सुवर्णमयदामसमूहा यानि च गवाक्षजालानि गवाक्षाकृतिरत्नविशेषमालासमूहा यानि च किङ्किणी घण्टाजालानि—क्षुद्रघण्टासमूहास्तैः परिक्षिप्ता—सर्वतो व्याप्ता 'अब्भुग्गया' इति अभिमुखमुद्गता. अग्रिमभागे मनाक् उन्नता इति भाव 'अभिनिसिट्ठा' इति अभिमुखबहिर्भागाभिमुख निसृष्टा निर्गता अभिनिसृष्टा 'तिरियसुसपग्गहिया' इति तिर्यक् भित्तिप्रदेशे सुष्ठु—अतिशयेन सम्यक्-मनागप्यचलनेन परिगृहीता सुसम्परिगृहीता, 'अहेपन्नगद्धरूवा' इति अध —अधस्तन यत् पन्नगस्य सर्पस्यार्द्धं तस्येव रूपम्-आकारो येषा ते अधःपन्नगार्द्धरूपा. अध पन्नगार्द्धवदतिसरला दीर्घाश्चेति भाव । एतदेव व्याचष्टे—'पन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिता' अध पन्नगार्द्धसंस्थाना 'सव्ववयरामया' सर्वात्मना वज्रमया 'अच्छा सण्हा' इत्यारभ्य 'जाव पडिरूवा' इति विशेषणजात प्राग्वत्. 'महया' इति अतिशयेन महान्तो गजदन्तसमाना—गजदन्ताकारा प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! 'तेसु ण णागदतएसु बहवे किण्हसुत्तवद्धा' तेषु

नागदन्तकेषु बहव कृष्णसूत्रबद्धा 'वग्घारिय' इति अव लम्बिता माल्यदामकलापा--पुष्पमालासमूहा बहवो नीलसूत्रावलम्बितमाल्यदामकलापा एव लोहितहारिद्रशुक्लसूत्रबद्धा अपि वाच्या। 'ते णं दामा' इत्यादि. तानि दामानि 'तवणिज्जलंबूसगा' इति तपनीय--तपनीयमयो लम्बूसगो-दाम्नामग्रिमभागे मण्डनविशेषो येषां तानि तथा तपनीयलम्बूसकानि, 'सुवन्नपयरगमंडिया' इति पार्श्वतः सामस्त्येन सुवर्णप्रतरेण--सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरमण्डितानि 'नाणाविहमणिरयणविविहहारउवसोहियसमुदया' इति नानारूपाणां मणीनां रत्नानां च विविधा विचित्रवर्णा हारा अष्टादशसरिका अर्द्धहारा नवसरिकास्तैरुपशोभित. समुदायो येषां तानि तथा 'जाव सिरीए अईव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति' इति अत्र यावत्करणादिदं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्य' 'ईसिमएणोएणमसपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदाय मंदाय एइज्जमाणा एइज्ज०पलंब०झंझमाणा ओरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कएणमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणी २ सिरीए अईव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति' एतच्च प्रागेव यानविमानवर्णने व्याख्यातमिति न भूयो व्याख्यायते। 'तेसि णं णागदंताणं' मित्यादि, तेषां नागदन्तानामुपरि प्रत्येकमन्या. षोडश षोडश नागदन्तपरिपाट्य. प्रज्ञप्ताः ते च नागदन्ता यावत्करणात्-'मुत्ताजालन्तरुसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणिघंटाजालपरिक्खित्ता' इत्यादि प्रागुक्तं सर्व द्रष्टव्य यावत् गजदन्तसमानाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! 'तेसु णं णागदंतएसु' इत्यादि, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु सिक्ककेषु बहवो बह्यो वैडूर्यमय्यो वैडूर्यरत्नात्मिका धूपघटिकाः 'कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंत' त्यादि प्राग्वत् नवरं 'घाणमणनिव्वुइकरेणं' मिति घ्राणेन्द्रियमनोनिर्वृत्तिकरेण। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन द्विधातो द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां षोडश षोडश शालभञ्जिकापरिपाट्यः प्रज्ञप्ताः, ताश्च शालभञ्जिका लीलया ललिताङ्गनिवेशरूपया स्थिता लीलास्थिताः, 'सुपइट्ठियाओ' इति सुमनोज्ञतया प्रतिष्ठिता' सुप्रतिष्ठिताः 'सुअलंकियाओ' सुष्ठु-अतिशयेन रमणीयतया अलङ्कृताः स्वलंकृताः 'णाणाविहरागवसणाओ' इति नानाविधो नानाप्रकारो रागो येषां तानि नानाविधरागाणि तानि वसनानि--वस्त्राणि यासां तास्तथा 'नानामल्लपिनद्धाओ' इति नानारूपाणि माल्यानि--पुष्पाणि पिनद्धानि आविद्धानि यासां ता नानामाल्यपिनद्धा' क्तान्तस्य परनिपात सुखादिदर्शनात्. 'मुट्ठिगिज्झसुमज्झाओ' इति मुष्टिग्राह्य सुष्ठु--शोभन मध्य--मध्यभागो यासां तास्तथा, 'आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुन्नयपीणरइयसंठियपीवरपओहराओ' पीनं पीवरं रचित संस्थित--संस्थान ययाभ्यां तौ पीनरचितसंस्थानौ आमेलकः--आपीड, शेखरक इत्यर्थः, तस्य यमलयुगलं समश्रेणिक यद्युगल तद्वत् वर्त्तितौ बद्धस्वभावावुपचितकठिनभावाविति भावः अभ्युन्नतौ पीनरचितसंस्थानौ च पयोधरौ यासां तास्तथा, 'रत्तावगाओ' इति रक्तोऽपाङ्गो--नयनोपान्तरूपो यासां तास्तथा, 'असियकेसिओ' इति असिता --कृष्णा केशा यासां ता असितकेश्यः, एतदेव सविशेषमाचष्टे--' मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ' मृदव'--कोमला विशदा-निर्मला. प्रशस्तानि-शोभनानि अस्फुटिताग्रत्वप्रभृतीनि लक्षणानि येषां ते प्रशस्तलक्षणा. 'संवेल्लितं' सवृतमग्रं येषां ते संवेल्लिताग्रा शिरोजा --केशा यासां ता मृदुविशदप्रशस्तलक्षणसंवेल्लिताग्रशिरोजाः, 'ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ' ईषत्--मनाक् अशोकवरपादपे समुपस्थिता.--आश्रिता ईषदशोकवरपादपसमुपस्थितास्तथा 'वामहत्थग्गहियग्गसालाओ' वामहस्तेन गृहीतमग्र शालाया.--शाखाया' अर्थादशोकपादपस्य यकाभिस्ता वामहस्तगृहीताग्रशाला. 'ईसिं अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएणं लूसमाणीओ विवे' ति ईषत्-मनाक् अर्द्ध--तिर्यक् वलितमक्षि येषु कटाक्षरूपेषु चेष्टितेषु तैर्मुष्णन्त्य इव सुरजनानां मनांसि 'चक्खुल्लोयणलेसेहि य अन्नमन्न खिज्जमाणीओ विव' अन्योऽन्य-परस्पर चक्षुषा लोकनेन--आलोकनेन य लेशाः--संश्लेषास्तै' खिद्यमाना इव, किमुक्तं भवति ?--पवनामानस्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परमवलोकमाना अवतिष्ठन्ति, यथा नूनं परस्परसौभाग्यासहनतस्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परं खिद्यन्त इवेति, 'पुढविपरिणामाओ' इति पृथिवीपरिणामरूपा. शाश्वतभावमुपगता विमानवत् 'चंदाणणाओ' इति चन्द्र इवाननं मुखं यासां तास्तथा 'चंदविलासिणीओ' इति चन्द्रवत् मनोहर विलसन्तीत्येवंशीलाश्चन्द्रविलासिन्यः 'चंदद्धसमनिडालाओ' इति चन्द्रार्द्धसमम्-अष्टमीचन्द्रसमानं ललाट यासां तास्तथा 'चंदाहियसोमदंसणाओ' इति चन्द्रादपि अधिक सोम--सुभगकान्तिमत् दर्शनम्--आकारो यासां तास्तथा उल्का इव उद्योतमानाः 'विज्जुघणमरीचिसूरदिप्पन्ततेयअहिययरसन्निकासाओ' इति विद्युतो य घना-बहलतरा मरीचयस्तेभ्यो यच्च सूर्यस्य दीप्यमानं दीप्त-तेजस्तस्मादपि अधिकतरः सन्निकाशः-प्रकाशो यासां तास्तथा, 'सिंगारागारचारुवेसाओ पासाइयाओ दरिसणिज्जाओ पडिरूवाओ अभिरूवाओ चिट्ठंति' इति प्राग्वत्।

तेसि णं दाराणं उभयो पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस जालकडगपरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ते णं जालकडगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा। तेसि णं दाराणं उभयो पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस घंटापरिवाडीओ पन्नत्ताओ, तासि णं घंटाणं इमेयारूवे वन्नावासे पन्नत्ते, तं जहा-जंबूणयामईओ घंटाओ वयरामयाओ लालाओ णाणामणिमया घंटापासा तवणिज्जामइयाओ संखलाओ रययामयाओ रज्जूतो, ताओ णं घंटाओ ओहस्सराओ मेहस्सराओ सीहस्सराओ दुंदुहिस्सराओ कुंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदिघोसाओ मंजुस्सराओ मंजुघोसाओ सुस्सराओ सुस्सरणिग्घोसाओ उरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कन्नमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पदेसे सव्वओ समंता आपूरेमाणीओ २ ०जाव चिट्ठंति।

तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस वणमालापरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ताओ णं वणमालाओ णाणामणिमयदुमलयकिसलयपल्लवसमाउलाओ छप्पयपरिभुज्जमाणा सोहंतसस्सिरीयाओ पासाईयाओ० ४। तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस २ पगंठगा पन्नत्ता, ते णं पगंठगा अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं पणवीसं जोयणसयं बाहल्लेणं सव्ववयरामया अच्छा ०जाव पडिरूवा। तेसि णं पगंठगाणं उवरिं पत्तेयं २ पासायवडेंसगा पन्नत्ता, ते णं पासायवडेंसगा अड्ढाइज्जाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियपहसिया इव विविहमणिरयणभत्तिचित्ता वाउद्धयविजयवेजयंतपडागछत्ताइछत्तकलिया तुंगा गगणतलमणुलिहंतसिहरा जालंतररयणपंजरुम्मिलिय व्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयवत्तपोंडरीया तिलगरयणद्धचंदचित्ता णाणामणिदामालंकिया अंतो बहिं च सण्हा तवणिज्जवालुयापत्थडा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासादीया दरिसणिज्जा ०जाव दामा उवरिं पगंठगाणं झया छत्ताइछत्ता। तेसि णं दाराणं उभओ पासे सोलस सोलस तोरणा पन्नत्ता, णाणामणिमया णाणामणिमएसु खंभेसु उवणिविट्ठसन्निविट्ठा ०जाव पउमहत्थगा, तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सालभंजियाओ पन्नत्ताओ, जहा हेट्ठा तहेव तेसि णं तोरणाणं पुरओ नागदंता पन्नत्ता, जहा हेट्ठा ०जाव दामा, तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो हयसंघाडा गयसंघाडा नरसंघाडा किन्नरसंघाडा किंपुरिससंघाडा महोरगसंघाडा गंधव्वसंघाडा उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, एवं वीही पंतीओ मिहुणाइं। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो पउमलयाओ ०जाव सामलयाओ णिच्चं कुसुमियाओ सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवाओ। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो अक्खय (दिसा) सोवत्थिया पन्नत्ता, सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चंदणकलसा पन्नत्ता, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा तहेव। तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो भिंगारा पन्नत्ता, ते णं भिंगारा वरकमलपइट्ठाणा ०जाव महया मत्तगयमुहाऽऽकितिसमाणा पन्नत्ता समणाउसो!। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो आयसा पन्नत्ता, तेसि णं आयंसाणं इमयारूवे वन्नावासे पन्नत्ते, तं जहा.—तवणिज्जमया पगंठगा वेरुलियमया छरुया वइरामया दोवारंगा णाणामणिमया मंडला अणुग्घसितनिम्मलाते छायाते समणुबद्धा चंदमंडलपडिणिकासा महया अद्धकायसमाणा पन्नत्ता समणाउसो!। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो वइरनाभथाला पन्नत्ता अच्छतिच्छडियसालितंदुलणहसंदिट्ठपडिपुन्ना इव चिट्ठंति सव्वजंबूणयमया ०जाव पडिरूवा महया महया रहचक्कवालसमाणा पन्नत्ता समणाउसो!। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो पातीओ, ताओ णं पाईओ अच्छोदगपरिहत्थाओ णाणामणिपंचवन्नस्स फलहरियगस्स बहुपडिपुन्नाओ विव चिट्ठंति सव्वरयणामईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ महया महया गोकलिंजरचक्कसमाणीओ पन्नत्ताओ समणाउसो!। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सुपइट्ठा पन्नत्ता णाणाविहभंडविरइया इव चिट्ठंति सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो मणगुलियाओ पन्नत्ताओ, तासि णं मणगुलियासु बहवे सुवन्नरुप्पमया फलगा पन्नत्ता, तेसु णं सुवन्नरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वयरामया नागदंतया पन्नत्ता, तेसु णं वयरामएसु णागदंतएसु बहवे वयरामया सिक्कगा पन्नत्ता, तेसु णं वयरामएसु सिक्कगेसु किण्हसुत्तसिक्कगवच्छिता णीलसुत्तसिक्कगवच्छिया लोहियसुत्तसिक्कगवच्छिया हालिद्दसुत्तसिक्कगवच्छिया सुक्किल्लसुत्तसिक्कगवच्छिया बहवे वायकरगा पन्नत्ता सव्वे वेरुलियमया अच्छा ०जाव पडिरूवा। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चित्ता रयणकरंडगा पन्नत्ता, से जहाणामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चित्ते रयणकरंडए वेरुलियमणिफलिहपडलपच्चोयडे साते पहाते ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासति उज्जोवेति तवति भासति एवमेव ते वि चित्ता रयणकरंडगा साते पभाते ते पएसे सव्वओ समंता ओभासति उज्जोवेंति तवंति पगासंति, तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो हयकंठा गयकंठा नरकंठा किन्नरकंठा किंपुरिसकंठा महोरगकंठा गंधव्वकंठगा उसभकंठा सव्ववयरामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसु णं हयकंठएसु ०जाव उसभकंठएसु दो दो पुप्फचंगेरीओ (मल्लचंगेरीओ) चुन्नचंगेरीओ (गंधचंगेरीओ) वत्थचंगेरीओ आभरणचंगेरीओ सिद्धत्थचंगेरीओ लोमहत्थचंगेरीओ पन्नत्ताओ सव्वरयणामयाओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ, तासु णं पुप्फचंगेरिआसु ०जाव लोमहत्थचंगेरीसु दो दो पुप्फपडलाइं ०जाव लोमहत्थएड-

लगाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं ०जाव पडिरूवाइं । तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सीहासणा पन्नत्ता, तेसि णं सीहासणाणं वन्नओ ०जाव दामा, तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो रुप्पमया छत्ता पन्नत्ता, ते णं छत्ता वेरुलियविमलदंडा जंबूणयकन्निया वइरसंधी मुत्ताजालपरिगया अट्ठसहस्सवरकंचणसलागा दद्दरमलयसुगंधी सव्वोउयसुरभी सीयलच्छाया मंगलभत्तिचित्ता चंदागारोवमा । तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चामराओ पन्नत्ताओ, ताओ णं चामराओ (चंदप्पभवेरुलियवरनानामणिरयणखचियचित्तदंडाओ) णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निगासातो सुहुमरययदीहवालातो सव्वरयणामयाओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ । तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो तेल्लसमुग्गा कोट्ठसमुग्गा पत्तसमुग्गा चोयगसमुग्गा तगरसमुग्गा एलासमुग्गा हरियालस० हिंगुलयस० मणोसिलासमुग्गा अंजणसमुग्गा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा । (सू० २८)

'तेसि ण' मित्यादि तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन या द्विधा नैषेधिकी तस्यां षोडश षोडश जालकटकाः प्रज्ञप्ताः, जालकटको—जालकाकीर्णो रम्यसंस्थानः प्रदेशविशेषः, ते च जालकटकाः 'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा ०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् । 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां षोडश घण्टापरिपाट्यः प्रज्ञप्ताः, तासां च घण्टानामयमेतद्रूपो वर्णावासो—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-जम्बूनदमय्यो घण्टा वज्रमय्यो लाला नानामणिमया घण्टापार्श्वाः तपनीयमय्यः शृङ्खला यासु ता अवलम्ब्यतास्तिष्ठन्ति रजतमय्यो रज्जवः 'ताओ ण घण्टाओ' इत्यादि, ताश्च घण्टा ओघेन-प्रवाहेण स्वरो यासां ता ओघस्वरा मेघस्येवातिदीर्घः स्वरो यासां ता मेघस्वरा हंसस्येव मधुरः स्वरो यासां ता हंसस्वराः, एवं क्रौञ्चस्वराः सिंहस्येव च प्रभूतदेशव्यापी स्वरो यासां ता सिंहस्वराः एवं दुन्दुभिस्वरा द्वादशविधतूर्यसङ्घातो नन्दिः नन्दिस्वरा नन्दिवत् घोषो ह्रादो यासां ता नन्दिघोषाः मञ्जुः—प्रियः स्वरो यासां ता मञ्जुस्वरा, एवं मञ्जुघोषा, किं बहुना ?, सुस्वराः सुस्वरघोषा, 'उरालेण' मित्यादि प्राग्वत् । 'तेसि ण' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोः द्विधातो नैषेधिक्यां षोडश षोडश वनमालापरिपाट्यः प्रज्ञप्ताः, ताश्च वनमाला नानाद्रुमाणां नानालतानां च यानि किशलयानि ये च पल्लवास्तैः समाकुलाः—संमिश्राः 'छप्पयपरिभुज्जमाणा सोभन्तसस्सिरीया' इति षट्पदैः परिभुज्यमानाः सत्यः शोभमानाः षट्पदपरिभुज्यमानशोभमाना अत एव सश्रीकाः पासाईया इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् । 'तेसि णं दाराणं' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन या द्विधा नैषेधिकी तस्यां षोडश षोडश प्रकण्ठकाः प्रज्ञप्ताः, प्रकण्ठको नाम पीठविशेषः, आह च जीवाभिगममूलटीकाकारः—'प्रकण्ठौ पीठविशेषा' विति, ते च प्रकण्ठकाः प्रत्येकमर्द्धतृतीयानि योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां पञ्चविंशं—पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतं बाहल्येन—पिण्डभावेन 'सव्ववयरामया' इति सर्वात्मना ते प्रकण्ठकाः वज्रमया—वज्ररत्नमयाः, 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्, 'तेसि ण पगठगाण' मित्यादि, तेषां प्रकण्ठकानाम् उपरि प्रत्येकं प्रत्येकम्—इह एकं प्रति प्रत्येकमित्याभिमुख्ये वर्त्तमानः प्रतिशब्दः समस्यते, ततो वीप्साविवक्षायां द्विर्वचनं, प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, प्रासादावतंसका नाम प्रासादविशेषाः, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायां—"प्रासादावतंसकौ-प्रासादविशेषा' विति, ते च प्रासादावतंसका अर्धतृतीयानि योजनशतानि ऊर्ध्वम् उच्चैस्त्वेन पञ्चविंशं योजनशतं विष्कम्भेन, 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' अभ्युद्गता—आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृताः-प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा तया सिता इव—बद्धा इव तिष्ठन्तीति गम्यते, अन्यथा कथमिव ते अभ्युद्गता निरालम्बा तिष्ठन्तीति भावः, 'विविहमणिरयणभत्तिचित्ता' विविधा-अनेकप्रकारा ये मणयः-चन्द्रकान्तादयो यानि च रत्नानि-कर्केतनादीनि तेषां भक्तिभिः विच्छित्तिविशेषैश्चित्रा-नानारूपाः आश्चर्यवन्तो वा नानाविधमणिरत्नभक्तिचित्राः, 'वाउद्धूयविजयवेजयंतीपडागछत्ताइच्छत्तकलिया' वातोद्धूता-वायुकम्पिता विजयः अभ्युदयस्तत्सूचिका वैजयन्त्यभिधाना याः पताका, अथवा—विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः, पताकास्ता एव विजयवर्जिता छत्रातिछत्राणि-उपर्युपरिस्थितान्यातपत्राणि तैः कलिता वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाछत्रातिच्छत्रकलिताः, तुङ्गा-उच्चा उच्चैस्त्वेनार्द्धतृतीययोजनशतप्रमाणत्वात् अत एव 'गगनतलमणुलिहंतसिहरा' इति गगनतलम्-अम्बरतलम् अनुलिखन्ति-अभिलङ्घयन्ति शिखराणि येषां ते तथा, जालानि-जालकानि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि, तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि येषु ते जालान्तररत्नाः, सूत्रे चात्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्, तथा पञ्जरात् उन्मीलिता इव बहिष्कृता इव पञ्जरोन्मीलिता इव यथा किल किमपि वस्तु पञ्जरात् वंशादिमयाच्छादनविशेषात् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते एवं तेऽपि प्रासादावतंसका इति भावः, तथा मणिकनकानि-मणिकनकमय्यः स्तूपिका —शिखराणि येषां ते मणिकनकस्तूपिकाः, तथा विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादौ प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकरत्नानि-भित्त्यादिषु पुण्ड्रविशेषा अर्द्धचन्द्राश्च द्वारादिषु तैश्चित्रा —तथा नानारूपा वा विकसितशतपत्रपुण्डरीकतिलकरत्नार्द्धचन्द्रचित्राः, तथा नाना—अनेकरूपाणि यानि मणिदामानि—मणिमयपुष्पमालास्तैरलङ्कृतानि—शोभितानि नानामणिदामालङ्कृतानि तथा अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णा—मसृणाः, तथा तप-

नीयं-सुवर्णविशेषस्तन्मय्या वालुकाया प्रस्तट-प्रस्तारा येषु ते तपनीयवालुकाप्रस्तटाः 'सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया' इत्यादि प्राग्वत्तेषां च प्रासादावतंसकानामन्तर्भूमिवर्णनमुपयुल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनमुपरिविजयदूष्यवर्णनं वज्राङ्कुशवर्णनं मुक्तादामवर्णनं च यथा प्राक् यानविमाने भावितं तथा भावनीयम्। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन या द्विधा नैषेधिकी तस्यां षोडश षोडश तोरणानि प्रज्ञप्तानि, तानि च तोरणानि नानामणिमयानीत्यादि तोरणवर्णनं यानविमानमिव निरवशेषं भावनीयम्. 'तेसि णं तोरणाणं पुरओ' इत्यादि, तेषां तोरणानां पुरतः प्रत्येकं द्वे द्वे शालभञ्जिके, शालभञ्जिकावर्णनं प्राग्वत्, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ नागदन्तकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां च नागदन्तकानां वर्णनं यथाऽधस्तादनन्तरमुक्तं तथा वक्तव्यं, नवरमत्रोपरि नागदन्तका न वक्तव्या अभावात्. 'तेसि णं' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ हयसङ्घाटौ, सङ्घाटशब्दो युग्मवाची यथा साधुसंघाट इत्यत्र, ततो द्वे द्वे हययुग्मे इत्यर्थः, एवं गजनरकिन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभसंघाटा अपि वाच्या, एते च कथम्भूता? इत्याह—'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत्. यथा चामीषां हयादीनामष्टानां संघाटा उक्तास्तथा पङ्क्तयोऽपि वीथयोऽपि मिथुनकानि च वाच्यानि, तत्र संघाटा—समानलिङ्गयुग्मरूपाः पुष्पावकीर्णकाश्च एकदिग्व्यवस्थिता श्रेणिः—पङ्क्तिरुभयोः पार्श्वयोरेकैकश्रेणिभावेन यत् श्रेणिद्वयं सा वीथिः स्त्रीपुरुषयुग्मं मिथुनकं 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे पद्मलते यावत्करणात्—द्वे द्वे नागलते द्वे द्वे अशोकलते द्वे द्वे चम्पकलते द्वे द्वे चूतलते द्वे द्वे वासन्तीलते द्वे द्वे कुन्दलते द्वे द्वे अतिमुक्तलते इति परिगृह्यते, द्वे द्वे श्यामलते, ताश्च कथम्भूता इत्याह 'णिच्चं कुसुमियाओ' इत्यादि यावत्करणात्-'णिच्चं मउलियाओ णिच्चं लवइयाओ णिच्चं थवइयाओ णिच्चं गुलिइयाओ णिच्चं जमलियाओ णिच्चं जुयलियाओ णिच्चं विनमियाओ णिच्चं पणमियाओ णिच्चं सुविभत्तपिंडमंजरिवडिंसगधरीओ णिच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरिवडिंसगधरीओ' इति परिगृह्यते, अस्य व्याख्यानं प्राग्वत्. पुनः कथम्भूता इत्याह-'सव्वरयणामया ०जाव पडिरूवा' इति, अत्रापि यावत्करणात्-'अच्छा सण्हा' इत्यादिविशेषणसमूहपरिग्रह, स च प्राग्वद्भावनीय, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतः प्रत्येकं द्वौ द्वौ दिक्सौवस्तिकौ-दिक्प्रोक्षकौ ते च सर्वे जाम्बूनदमयाः, क्वचित्पाठः-'सव्वरयणामया अच्छा' इत्यादि, प्राग्वत् 'तेसि णं' मित्यादि द्वौ द्वौ चन्दनकलशौ प्रज्ञप्तौ, वर्णकश्चन्दनकलशानां 'वरकमलपइट्ठाणा' इत्यादिरूपः सर्वः प्राक्तनो वक्तव्यः, 'तेसि णं' मित्यादि द्वौ द्वौ भृङ्गारौ, तेषामपि कलशानामिव वर्णको वक्तव्यः, नवरं पर्यन्ते 'महयामत्तगयमहामुहागिइसमाणा पण्णत्ता समणाउसो!' इति वक्तव्यम् 'मत्तगयमहामुहागिइसमाणा' इति मत्तो यो गजस्तस्य महत्-अतिविशालं यत् मुखं तस्याकृति-आकारस्तत्समाना:-नत्सदृशाः प्रज्ञप्ताः, 'तेसि णं' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ आदर्शकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां चादर्शकानामयमेतद्रूपो वर्णावासो-वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-तपनीयमयाः प्रकण्ठकाः-पीठविशेषाः, अङ्कमयानि--अङ्करत्नमयानि मण्डलानि यत्र प्रतिबिम्बसम्भूतिः 'अणोग्घसियनिम्मलाए' इति अवघर्षणमवघर्षितं भावे क्तप्रत्ययः तस्य निर्मलता-अवघर्षितनिर्मलता, भूत्यादिना निर्माजनमित्यर्थः अवघर्षितस्याभावोऽनवघर्षितं तेन निर्मला तया अनवघर्षितनिर्मलया छायया समनुबद्धा-युक्ताः 'चन्दमण्डलपडिनिकासा' इति चन्द्रमण्डलसदृशाः 'महया महया' अतिशयेन महान्तोऽर्द्धकायसमाना-कायार्द्धप्रमाणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! 'तेसि णं' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे वज्रनाभे--वज्रमयो नाभिर्ययोस्ते वज्रनाभे स्थाले प्रज्ञप्ते तानि च स्थालानि तिष्ठन्ति, 'अच्छतिच्छडियतंदुलनहसंदट्ठपडिपुन्ना इव चिट्ठंति' अच्छा--निर्मला शुद्धाः स्फटिकवत् त्रिच्छटिताः-त्रीन् वारान् छटिता अत एव 'नखसन्दष्टा नखा'—नखिका सन्दष्टा मुशलादिभिः छटिता येषां ते तथा सुखादिदर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः अच्छैस्त्रिच्छटितैः शालितन्दुलैर्नखसन्दष्टैः परिपूर्णाः, पृथ्वीपरिणामरूपाणि तानि तथा केवलमेवमाकाराणीत्युपमा, तथा चाह-'सव्वजम्बूणयमया' सर्वात्मना जम्बूनदमयानि 'अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत् 'महया महया' इति अतिशयेन महान्ति रथचक्रसमानानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण! हे आयुष्मन्! 'तेसि णं' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे 'पाईओ' इति पात्र्यौ प्रज्ञप्ते, ताश्च पात्र्य 'सच्छोदगपडिहत्थाओ' इति स्वच्छपानीयपरिपूर्णाः 'णाणाविहस्स फलहरियस्स बहुपडिपुन्नाविवे' ति अत्र षष्ठी तृतीयार्थे 'बहु पडिपुन्न' ति चैकवचनं प्राकृतत्वात्, नानाविधैः फलहरितैर्हरितफलैर्बहुप्रभूतं प्रतिपूर्णा इव तिष्ठन्ति न खलु तानि फलानि किन्तु तथारूपाः शाश्वतभावमुपागताः पृथ्वीपरिणामास्तत उपमानमिति, 'सव्वरयणामईओ' इत्यादि प्राग्वत्, 'महये' ति अतिशयेन महत्यो गोकलिञ्जचक्रसमानाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, 'तेसि णं' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ सुप्रतिष्ठकौ—आधारविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च सुप्रतिष्ठका सुसर्वौषधिप्रतिपूर्णा नानाविधैः पञ्चवर्णैः प्रसाधनभाण्डैश्च बहुपरिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, उपमाभावना प्राग्वत्, 'सव्वरयणामईओ' इत्यादि तथैव, 'तेसि णं' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे मनोगुलिका नाम पीठिका उक्तं च जीवाभिगमसूत्रटीकायाम्--"मनोगुलिका नाम पीठिके' ति, ताश्च मनोगुलिकाः सर्वात्मना वैडूर्यमय्यः 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत्। 'तासु णं मणोगुलियासु बहवे' इत्यादि तासु मनोगुलिकासु सुवर्णमयानि रूप्यमयानि च फलकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु सुवर्णरूप्यमयेषु फलकेषु बहवो वज्रमया नागदन्तका-अङ्कुटका (सिक्केषु), तेषु च नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु च रजतमयेषु बहवो वातकरका जलशून्याः करका प्रज्ञप्ता-तद्यथा 'किण्हसुत्ते' त्यादि गवच्छम्—आच्छादनं गवच्छा सञ्जाता एष्विति गवच्छिका (ता.) कृष्णसूत्रमयैर्गवच्छिकै (तै)रिति गम्यते, सिक्ककेषु गवच्छिता: कृष्णसूत्र-

सिक्कगगवच्छिना एवं-नीलसूत्रसिक्कगगवच्छिना इत्याद्यपि भावनीय, ते च वातकरका सर्वात्मना वैडूर्यमया 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् । 'तेसि ण ' तेषा तोरणाना पुरतो द्वौ द्वौ चित्रौ—आश्चर्यभूतौ रत्नकरण्डकौ प्रज्ञप्तौ ' से जहा नाम ए इत्यादि. स यथा नाम राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिन.-चतुर्षु पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेषु अन्तेषु-पृथिवीपर्यन्तेषु चक्रेण वर्तितुं शीलं यस्य तस्यैव चित्र —आश्चर्यभूतो नानामणिमयत्वेन नानावर्णो वा ' वेरुलियनाणामणिफालियपडलपच्चोयडे ' इति बाहुल्येन वैडूर्यमणिमय ' फलिहपडलपच्चोयडे ' इति स्फटिकपटलावच्छादित. ' साए पभाए ' इत्यादि स यथा राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिन. प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् सर्वत. सर्वासु दिक्षु समन्तत —सामस्त्येन अवभासयति एतदेव पर्यायत्रयेण व्याचष्टे-उद्योतयति तापयति प्रभासयति 'एवमेवे'त्यादि सुगम ' तेसि णं तोरणाण ' मित्यादि, तेषा तोरणाना पुरतो द्वौ द्वौ हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ एव गजनरकिन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभकण्ठा अपि वाच्या . उक्त च जीवाभिगममूलटीकाकारेण-"हयकण्ठौ-हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ एव सर्वेऽपि कण्ठा वाच्या " इति, तथा चाह—' सव्वरयणामया ' इति, सर्वे रत्नमया-रत्नविशेषरूपा ' अच्छा ' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि ण ' मित्यादि तेषां तोरणाना पुरतो द्वौ द्वौ पुष्पचङ्गेर्यौ प्रज्ञप्ते एवं माल्यचूर्णगन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकचङ्गेर्योऽपि वक्तव्या , एताश्च सर्वा अपि सर्वात्मना रत्नमया ' अच्छा ' इत्यादि प्राग्वत् एवं पुष्पादीनामष्टानां पटलकान्यपि द्विद्विभङ्ख्याकानि वाच्यानि, ' तेसि ण तोरणाण ' मित्यादि, तेषा तोरणानां पुरतो द्वे द्वे सिंहासने प्रज्ञप्ते, तेषा च सिंहासनाना वर्णक. प्रागुक्तो निरवशेषो वक्तव्य., 'तेसि ण मित्यादि, तेषा तोरणाना पुरता द्वे द्वे छत्रे रूप्यमये प्रज्ञप्ते, तानि च छत्राणि वैडूर्यरत्नमयविमलदण्डानि जाम्बूनदकर्णिकानि वज्रसन्धीनि—वज्ररत्नापूरितदण्डशलाकासन्धीनि मुक्ताजालपरिगतानि अष्टौ सहस्राणि—अष्टसहस्रसंख्या वरकाञ्चनशलाका वरकाञ्चनमय्य शलाका येषु तानि, तथा, तथा ' ददरमलयसुगन्धिसव्वोउयसुरभिसीयलच्छाया' इति दर्दर —चीवरावनद्धं कुण्डिकादिभाजनमुख तेन गालितास्तत्र पक्का वा ये मलय इति—मलयोद्भवं श्रीखण्डं तत्सम्बन्धिन. सुगन्धा ये गन्धवासास्तद्वत् सर्वेषु ऋतुषु सुरभि. शीतला च छाया येषां तानि तथा, ' मगलभत्तिचित्ता ' अष्टाना स्वस्तिकादीनां मङ्गलाना भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्—आलेखो येषा तानि तथा ' चंदागारोवमा ' चन्द्राकार.—चन्द्राकृति सा उपमा येषा तानि तथा, चन्द्रमण्डलवत् वृत्तानीति भाव., 'तेसि ण मित्यादि, तेषा तोरणाना पुरतो द्वे द्वे चामरे प्रज्ञप्ते तानि च चामराणि 'चंदप्पभवेरुलियवयरनाणामणिरयणखचितचित्तदंडाओ' इति चन्द्रप्रभ -चन्द्रकान्तो वज्र वैडूर्य च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु ते तथा एवरूपाश्चित्रा—नानाकारा दण्डा येषा चामराणा तानि तथा, ' सुहुमरययदीहवालाओ ' इति सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषा तानि तथा ' संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निकासाओ ' इति ' शङ्ख.' प्रतीतः अङ्को—रत्नविशेष. 'कुंदे'ति कुन्दपुष्पं दकरज-उदककणाः अमृतमथितफेणपुञ्ज -क्षीरोदजलमथनसमुत्थ फेनपुञ्जस्तेषामिव सन्निकाश —प्रभा येषां तानि तथा, 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् । 'तेसि णं तोरणाण' मित्यादि. तेषा तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ तैलसमुद्गकौ—सुगन्धितैलाधारविशेषौ. उक्तं च जीवाभिगममूलटीकाकारेण—"तैलसमुद्गकौ—सुगन्धितैलाधारौ" एव कोष्ठादिसमुद्गका अपि वाच्या , अत्र संग्रहणिगाथा—'तिल्ले कोट्ठसमुग्गे, पत्ते चोए य तगर एला य । हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अजणसमुग्गा ॥ १ ॥ ' 'सव्वरयणामया' इति एते सर्वेऽपि सर्वात्मना रत्नमया ' अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ।

सूरियाभे णं विमाणे एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाणं अट्ठसयं मिगज्झयाणं गरुडज्झयाणं छत्तज्झयाणं पिच्छज्झयाणं सउणिज्झयाणं सीहज्झयाणं उसभज्झयाणं अट्ठसयं सेयाणं चउविसाणाणं नागवरकेऊणं एवमेव सपुव्वावरेणं सूरियाभे विमाणे एगमेगे दारे असीयं केउसहस्सं भवतीति मक्खायं, सूरियाभे विमाणे पण्णट्ठिं पण्णट्ठिं भोमा पन्नत्ता, तेसि णं भोमाणं भूमिभागा उल्लोया य भाणियव्वा, तेसि णं भोमाणं च बहुमज्झदेसभागे पत्तेय पत्तेयं सीहासणे, सीहासणवन्नतो सपरिवारो, अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पन्नत्ता । तेसि णं दाराणं उत्तमागारा सोलसविहेहिं रयणेहि उवसोभिया, तं जहा-रयणेहिं ०जाव रिट्ठेहिं, तेसि णं दाराणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा सज्झया ०जाव छत्तातिछत्ता, एवमेव सपुव्वावरेणं सूरियाभे विमाणे चत्तारि दारसहस्सा भवंतीति मक्खायं, असोगवणे सत्तिवणे चंपगवणे चूयगवणे, सूरियाभस्स विमाणस्स चउद्दिसिं पंच जोयणसयाइं अबाहाए चत्तारि वणसंडा पन्नत्ता, तं जहा--पुरच्छिमेणं असोगवणे दाहिणेणं सत्तवन्नवणे पच्चत्थिमेणं चंपगवणे उत्तरेणं चूयगवणे, ते णं वणखंडा साइरेगाइं अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइ आयामेणं पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिक्खित्ता किण्हा किण्होभासा वणखंडवन्नओ । (सू० २६)

' सूरियाभे ण विमाणे एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाण ' मित्यादि, तस्मिन् सूर्याभे विमाने एकैकस्मिन् द्वारे अष्टाधिकं शतं चक्रध्वजानां चक्रलेखरूपचिह्नोपेतानां ध्वजानामेवं मृगगरुडरुरुछत्रपिच्छशकुनिसिंहवृषभचतुर्दन्तहस्तिध्वजानामपि प्रत्येकमष्टशतमष्टशत वक्तव्यम् ' एवमेव सपुव्वावरेण ' एवमेव-अनेनैव प्रकारेण सपूर्वापरेण-सह पूर्वं अपरैश्च वर्त्तत इति सपूर्वापरं-सङ्ख्यान तेन सूर्याभे विमाने एकैकस्मिन् द्वारे अशीतमशीतम्-अशीत्यधिक २केतुसहस्रं भवतीत्याख्यान मया अन्यैश्च तीर्थकृद्भि ' तेसि ण मि-त्यादि तेषा द्वाराणा संबन्धीनि प्रत्येक पञ्चषष्टि.२ सं.-मानि-विशिष्टानि स्थानानि प्रज्ञप्तानि तेषा

भूमिभागा उल्लोकाश्च यानविमानवद्वक्तव्या , तेषां च भौमाना बहुमध्यदेशभागे यानि त्रयस्त्रिंशत्तमानि भौमानि तेषां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सूर्याभदेवयोग्यं सिंहासनं तेषां च सिंहासनानां वर्णकोऽपरोत्तरोत्तरपूर्वादिषु सामानिकादिदेवयोग्यानि भद्रासनानि च क्रमेण यानविमानवद्वक्तव्यानि शेषेषु च भौमेषु प्रत्येकमेकैकं सिंहासनं परिवाररहितम् ।' तेसि णं' मित्यादि, तेषां द्वाराणाम् उत्तमा आकारा—उपरितना आकारा उत्तरङ्गादिरूपा. क्वचित् ' उवरिमागारा ' इत्येव पाठ , षोडशविधै रत्नैरुपशोभितास्तद्यथा-' रयणेहिं०जाव रिट्ठेहिं ' इति रत्नैः-सामान्यत कर्केतनादिभि १. यावत्करणात्-वज्रैः २ वैडूर्यैः ३ लोहिताक्षैः ४ मसारगल्लैः ५ हंसगर्भैः ६ पुलकैः ७ सौगन्धिकैः ८ ज्योतीरसैः ९ अङ्कैः १० अञ्जनैः ११ रजतैः १२ अञ्जनपुलकैः १३ जातरूपैः १४ स्फटिकैरिति परिग्रह. १५-षोडशै रिष्टैः १६ ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुपरि अष्टौ अष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि इत्यादि यानविमानतोरणवत्तावद्वाच्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति अत ऊर्ध्वं कपुचित् पुस्तकान्तरेष्वेवं पाठ -' एवमेव सपुव्वावरेणं सूरियाभे विमाणे चत्तारि दारसहस्सा भवंतीति मक्खायं ' मिति सुगमं सूरियाभस्स णं ' मित्यादि सूर्याभस्य विमानस्य चतुर्दिशि—चतस्रो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक् तस्मिन् चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु पञ्च पञ्च योजनशतानि 'अबाहाए' इति बाधनं बाधा, आक्रमणमित्यर्थ , न बाधा अबाधा—अनाक्रमणं तस्यामबाधाया कृत्वेति गम्यते, अपान्तरालं मुक्त्वेति भाव , चत्वारो वनखण्डा प्रज्ञप्ता अनेकजातीयानामुत्तमानां महीरुहाणां समूहो वनखण्ड , उक्तञ्च जीवाभिगमचूर्णौ-' अणेगजाईहिं उत्तमेहिं रुक्खेहिं वणखंडे ' इति , ' तद्यथे ' त्यादिना तानेव वनखण्डान् नामतो दिग्भेदतश्च दर्शयति—अशोकवृक्षप्रधानं वनमशोकवनमेवं सप्तपर्णवचनं चम्पकवनं चूतवनमपि भावनीय, ' पुरत्थिमेण' मित्यादि पाठसिद्धम् , अत्र सङ्ग्रहणिगाथा-' पुव्वेण असोगवणं, दाहिणतो होइ सत्तिवण्णवणं । अवरेण चंपकवणं, चूयवणं उत्तरे पासे ॥ १ ॥ " तेणं 'मित्यादि, ते च वनखण्डाः सातिरेकाणि अर्द्धत्रयोदशानि-सार्द्धानि द्वादश योजनशतसहस्राणि (आयामत) पञ्च योजनशतानि विष्कम्भत प्रत्येकं २ प्राकारपरिक्षिप्ता पुनः कथंभूतास्ते वनखण्डा ? इत्याह—' किण्हा किण्होभासा ०जाव पडिमोयणा सुरम्मा ' इति यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठ सूचित -"नीला नीलोभासा हरिया हरियोभासा सीया सीयोभासा निद्धा निद्धोभासा तिव्वा तिव्वोभासा किण्हा किण्हच्छाया नीला नीलच्छाया हरिया हरियच्छाया सीया सीयच्छाया निद्धा निद्धच्छाया घणकडियकडियच्छाया रम्मा महामेहनिकुरुंबभूया , ते णं पायवा मूलमंतो कंदमंतो खंधमंतो तयमंतो पवालमंतो पत्तमंतो पुप्फमंतो बीयमंतो फलमंतो आणुपुव्वसुजायरुइलवट्टपरिणया एगखंधा अणेगसाहप्पसाहविडिमा अणेगनरवामप्पसारियअगेज्झघणविपुलवट्टखंधा अच्छिद्दपत्ता अविरलपत्ता अवाईणपत्ता अणाईयपत्ता निद्धूयजरढपंडुपत्ता नवहरियभिसंतपत्तभारंधयारगंभीरदरिसणिज्जा उवणिग्गयवरतरुणपत्तपल्लवकोमलउज्जलचलतकिसलयकुसुमपवालपल्लवयकुरग्गसिहरा निच्चं कुसुमिया निच्चं मउलिया निच्चं लवइया निच्चं थवइया निच्चं गुलइया निच्चं गोच्छिया निच्चं जमलिया निच्चं जुयलिया निच्चं विणमिया निच्चं पणमिया, निच्चं-कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियजमलियजुयलियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरियवडेंसयधरा सुयबरहिणमयणसलागाकोइलकोरकभिंगारककोंडलजीवंजीवकनंदीमुहकविंजलपिंगलक्खगकारंडचक्कवागकलहंससारसअणेगसउणिमिहुणवियरियसद्दुण्णइयमहुरसरनाइयसपिंडियदरियभमरमहुयरिपहकरपरिलेंतछप्पयकुसुमासवलोलमहुरगुमगुमंतगुंजंतदेसभागा अब्भिंतरपुप्फफलबाहिरपत्तच्छन्ना पत्तेहि य पुप्फेहि य उच्छन्नपलिच्छन्ना नीरोगका मउफासा अकंटगा णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगोवसाहिया विचित्तसुहकेउभूया वाविपुक्खरणिदीहियासु य सुनिवेसियरम्मजालघरगा पिंडिमनीहारिमसुगंधिसुसुरभिमणहरं च गंधद्धणिं मुयंता सुहकेऊ केउबहुला अणेगसगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणीपडिमोयणा सुरम्मा ' इति अस्य व्याख्या—इह प्रायो वृक्षाणां मध्यमे वयसि वर्त्तमानानि पत्राणि कृष्णानि भवन्ति-ततस्तद्योगात् वनखण्डा अपि कृष्णा , न चोपचारमात्रात्ते कृष्णा इति व्यपदिश्यन्ते किन्तु तथा प्रतिभासनात् , तथा चाह—'कृष्णावभासा' यावति भागे कृष्णाभासपत्राणि सन्ति तावति भागे ते वनखण्डा कृष्णा अवभासन्ते , ततः कृष्णोऽवभासो येषां ते कृष्णावभासा इति , तथा हरितत्वमतिक्रान्तानि कृष्णत्वमसम्प्राप्तानि पत्राणि नीलानि तद्योगाद्वनखण्डा अपि नीला , न चैतदुपचारमात्रेणोच्यते किन्तु तथावभासात् , तथा चाह-नीलावभासा , समास प्राग्वत् , यौवने तान्येव पत्राणि किसलयत्वं रक्तत्वं चातिक्रान्तानि ईषत् हरितालाभानि पाण्डूनि सन्ति हरितानीति व्यपदिश्यन्ते , ततस्तद्योगात् वनखण्डा अपि हरिता , न चैतदुपचारमात्रादुच्यते, किन्तु तथाप्रतिभासात् , तथा चाह- हरितावभासाः, तथा बाल्यादतिक्रान्तानि वृक्षाणां पत्राणि शीतानि भवन्ति ततस्तद्योगाद्वनखण्डा अपि शीता इत्युक्ता , न च ते गुणतस्तथा किन्तु तथैव,तथा चाह-शीतावभासाः अधोभागवर्तिनां वैमानिकदेवानां देवीनां तद्योगशीतवातसंस्पर्शत. ते शीता वनखण्डा अवभासन्ते इति, तथा एते कृष्णनीलहरितवर्णा यथा स्वस्मिन् स्वरूपे अत्यक्ते स्निग्धा भण्यन्ते तीव्राश्च तत तद्योगात् वनखण्डा अपि स्निग्धा तीव्राश्च इत्युक्ता , न चैतदुपचारमात्रं किन्तु तथावभासोऽप्यस्ति तत उक्त —स्निग्धावभासास्तीव्रावभासा इति, इहावभासो भ्रान्तोऽपि भवति यथा मरुमरीचिकासु जलावभासस्ततो नावभासमात्रोपदर्शनेन यथावस्थितं वस्तुस्वरूपं वर्णितं भवति किन्तु तथास्वरूपप्रतिपादनेन, तत कृष्णत्वादीनां तथास्वरूपप्रतिपादनार्थमनुवादपुरःसरं विशेषणान्तरमाह— 'किण्हा किण्हच्छाया' इत्यादि. कृष्णा वनखण्डा , कुत इत्याह—कृष्णच्छाया 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनं' मिति वचनात् हेतौ प्रथमा, ततोऽय-

अर्थः—यस्मात् कृष्णा छाया-आकारः सर्वाविसंवादितया तेषां तस्मात् कृष्णा', एतदुक्तं भवति—सर्वाविसंवादिन्या तत्र कृष्ण आकार उपलभ्यते, न च भ्रान्ताबभाससपादितसत्ताकः सर्वाविसंवादीभवति, ततस्तत्त्ववृत्त्या ते कृष्णा न भ्रान्तावभासमात्रव्यवस्थापिता इति, एवं नीला नीलच्छाया इत्याद्यपि भावनीयं, नवरं शीता' शीतच्छाया इत्यत्र छायाशब्द आतपप्रतिपक्षवस्तुवाची द्रष्टव्यः, 'घनकडितडियच्छाया' इति इह शरीरस्य मध्यभागे कटिस्ततोऽन्यस्यापि मध्यभाग. कटिरिव कटिरित्युच्यते-कटिस्तटमिव कटितटं घना—अन्योऽन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशतो निविडा कटितटे—मध्यभागे छाया येषां ते तथा, मध्यभागे निविडतरच्छाया इत्यर्थः, अत एव रम्यो—रमणीयः तथा महान् जलभारावनतप्रावृट्कालभावी यो मेघनिकुरुम्बो—मेघसमूहस्तं भूता—गुणैः प्राप्ता महामेघनिकुरुम्बभूता, महामेघवृन्दोपमा इत्यर्थः। 'ते णं पायवा' इत्यादि, अशोकवरपादपपरिवारभूतप्रागुक्ततिलकादिवृक्षवर्णनवत् परिभावनीयं, नवर 'सुयवरहिणमयणसलागा, इत्यादि विशेषणमत्रोपमया भावनीयम्, 'अणेगसगडरहजाणे' त्यादि तदाकारभावत.।

तेसिं णं वणसंडाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता, से जहानामए आलिंगपुक्खरेति वा ०जाव णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहि य तणेहि य उवसोभिया, तेसिं णं गंधो फासो णेयव्वो जहक्कमं, तेसिं णं भंते! तणाण य मणीण य पुव्वावरदाहिणुत्तरातेहिं वातेहिं मंदाणं एइयाणं वेइयाणं कंपियाणं चालियाणं फंदियाणं घट्टियाणं खोभियाणं उदीरियाणं केरिसए सद्दे भवति ?, गोयमा! से जहानामए सीयाए वा संदमाणीए वा रहस्स वा सच्छत्तस्स सज्झयस्स सघंटस्स सपडागस्स सतोरणवरस्स सनंदिघोसस्स सखिंखिणिहेमजालपरिक्खित्तस्स हेमवयचित्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारुयायस्स संपिनद्धचक्कमंडलधुरागस्स कालायससुकयणेमिजंतकम्मस्स आइण्णवरतुरगसुसंपउत्तस्स कुसलणरच्छेयसारहिसुसंपग्गहियस्स सरसयबत्तीसतोणपरिमंडियस्स सकंकडावयंसगस्स सचावसरपहरणावरणभरियजुज्झसज्जस्स रायंगणंसि वा रायंतेउरंसि वा रम्मंसि वा मणिकुट्टिमतलंसि अभिक्खणं अभिघट्टिज्जमाणस्स वा णियट्टिज्जमाणस्स वा ओरालमणुण्णा कणमणनिव्वुइकरा सद्दा सव्वओ समंता अभिणिस्सवंति, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से जहाणामए वेयालीयवीणाए उत्तरमंदामुच्छियाए अंके सुपइट्ठियाए कुसलनरनारिसुसंपरिग्गहियाते चंदणकोणपरियट्टियाए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि मंदायं२वेइयाए पवेइयाए चालियाए घट्टियाए खोभियाए उदीरियाए ओराला मणुण्णा मणहरा कण्णमणनिव्वुइकरा सद्दा सव्वओ समंता अभिनिस्सवंति, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से जहानाम'ए किन्नराण वा किंपुरिसाण वा महोरगाण वा गंधव्वाण वा भद्दसाल।गयाण वा नंदणवणगयाण वा सोमणसवणगयाण व पंडगवणगयाण वा हिमवंतमलयमंदरगिरिगुहासमण्णागयाण वा एगओ सन्निहियाणं समागयाणं सन्निसन्नाणं समुवविट्ठाणं पमुइयपक्कीलियाणं गीयरइगंधव्वहसियमणाणं गज्जं पज्जं कत्थं गेयं पयबद्धं पायबद्धं उक्खित्तायपयत्तायं मंदायं रोइयावसाणं सत्तसरसमन्नागयं छद्दोसविप्पमुक्कं एक्कारसालंकारं अट्ठगुणोववेयं गुंजंतवंसकुहरोवगूढं रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्धं सकुहरगुंजंतवंसतंतीतलतालतलयगहसुसंपउत्तं महुरं समं सुललियमणोहरं मउयरिभियपयसंचारं सुणति वरचारुरूवं दिव्वं णट्टं सज्जं गेयं पगीयाणं, भवेयारूवे सिया ?, हंता सिया। (सू० ३१)।

तेसिं णं वणसंडाणं तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे बहूओ खुड्डाखुड्डियातो वावियाओ पुक्खरिणीओ दीहियाओ गुंजालियाओ सरपंतिआओ बिलपंतिआओ अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ समतीरातो वयरामयपासाणातो तवणिज्जतलाओ सुवण्णसुब्भरययवालुयाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ सुओयारसुउत्ताराओ णाणामणिसुबद्धाओ चउक्कोणाओ आणुपुव्वसुजातगंभीरसीयलजलाओ संछन्नपत्तभिसमुणालाओ बहुउप्पलकुमुयनलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयसयवत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवचियाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपुण्णाओ अप्पेगइयाओ आसवोयगाओ अप्पेगइयाओ खोरोयगाओ अप्पेगतियातो घओयगा० अप्पे० खीरोय०अप्पे०खारोय०अप्पेगइयाओ उयगरसेण पण्णत्ताओ पासादीयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ, तासि णं वावीणं ०जाव बिलपंतीणं पत्तेयं२ चउद्दिसिं चत्तारि तिसोपाणपडिरूवगा पण्णत्ता, तेसिं णं तिसोपाणपडिरूवगाणं वन्नओ, तोरणाणं झया छत्ताइछत्ता य णेयव्वा, तासु णं खुड्डाखुड्डियासु वावीसु ०जाव बिलपंतियासु तत्थ तत्थ देसे२ बहवे उप्पायपव्वयगा नियइपव्वयगा जगइपव्वयगा दारुइज्जपव्वयगा दगमंडवा दगणालगा दगमंचगा उसड्डा खुड्डखुड्डगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसु णं उप्पायपव्वएसु ०जाव पक्खंदोलएसु बहूइं हंमासणाइं कोंचासणाइं गरुलासणाइं उण्णयामणाइं पणयामणाइं दीहासणाइं पक्खासणाइं

भद्दासणाइ उसभासणाइं सीहासणाइं पउमासणाइं दिसासोवत्थियाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं ०जाव पडिरूवाइं, तेसु णं वणसंडेसु तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे बहवे आलियघरगा मालियघरगा कयलिघरगा लयाघरगा अच्छणघरगा पिच्छणघरगा मंडणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहनघरगा सालघरगा जालघरगा चित्तघरगा कुसुमघरगा गंधघरगा आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसु णं आलियघरगेसु ०जाव गंधव्व०तहिं २ घरएसु बहूइं हंसासण० जाव दिसासोवत्थिआसणाइं सव्वरयणामयाइं ०जाव पडिरूवाइं । तेसु णं वणसंडेसु तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं २ बहवे जातिमंडवगा जूहियमंडवगा णवमालियमंडवगा वासंतिमंडवगा सूरमल्लियमंडवगा दहिवासुयमंडवगा तंबोलिमंडवगा मुद्दियमंडवगा णागलयामंडवगा अतिमुत्तयलयामंडवगा आप्फोवगा मालुयामंडवगा अच्छा सव्वरयणामया ०जाव पडिरूवाओ, तेसु णं जालिमंडवएसु ०जाव मालुयामंडवएसु बहवे पुढविसिलापट्टगा हंसासणसंठिया ०जाव दिसासोवत्थियासणसंठिया अन्ने य बहवे मंसलघुट्ठविसिट्ठसंठाणसंठिया पुढविसिलापट्टगा पण्णत्ता समणाउसो ! आईणगरुयबूरणवणीयतूलफासा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तत्थ णं बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीयंति तुयट्टंति हसंति रमंति ललंति कीलंति किट्टंति मोहेंति पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपडिकंताणं सुभाणं कडाणं कम्माण कल्लाणाणं कल्लाणं फलविवा(य)गं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । (सू० ३२)

' तेसि णं वणसंडाण ' मित्यादि , तेषां वनखण्डानामन्त --मध्ये बहुसमरणीया भूमिभागा प्रज्ञप्ता. तेषां च भूमिभागानां ' से जहानामए ' आलिंगपुक्खरे इ वा ' इत्यादि वर्णनं प्रागुक्तं तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शो, नवरमत्र तृणान्यपि वक्तव्यानि, तानि चैवम्—' णाणाविहपंचवण्णाहिं मणीहि य तणेहि य उवसोभिया , त जहा—किण्हेहि य नीलेहि य ०जाव सुक्किल्ले, तत्थ ण जे ते कण्हा तणा य मणी य तेसि ण अयमेयारूवे वन्नावासे पन्नत्ते, से जहानामए जीमूतेइ वा ' इत्यादि । सम्प्रति तेषां मणीनां तृणाना च वातेरिताना शब्दस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—' तेसि ण भंते ! तणाण य मणीण ' इत्यादि, तेषा ' णमिति' पूर्ववत् भदन्त !—परमकल्याणयोगिन् तृणाना पूर्वापरदक्षिणोत्तरगतैर्वातैर्मन्दायन्ति-मन्द मन्दम् एजितानां—कम्पितानां व्येजितानां-विशेषत कम्पितानां एतदेव पर्यायशब्देन व्याचष्टे—कम्पिताना चालितानाम्-इतस्ततो मनाक् चिक्षिप्तानाम्, एतदेव पर्यायेण व्याचष्टे-स्पन्दितानां तथा घट्टिताना—परस्पर संघर्षयुक्ताना, कथं घट्टिता इत्याह—क्षोभिताना, स्वस्थानाच्चालनमपि कुत इत्याह—उदीरितानामुत्—प्राबल्येन प्रेरिताना , कीदृश शब्द प्रज्ञप्त ? भगवानाह—' गोयमे ' त्यादि , गौतम ! स यथानामक' शिबिकाया वा स्यन्दमानिकाया वा रथस्य वा , तत्र ' सिविया' जम्पानविशेषरूपा उपरिच्छादिता कोष्ठाऽऽकारा, तथा दीर्घो जम्पानविशेष पुरुषस्वप्रमाणावकाशदा या स्यन्दमानिका , अनयोश्च शब्द पुरुषोत्पाटितयो क्षुद्रहेमघण्टिकादिचलनवशतो वेदितव्य , रथश्चेह सङ्ग्रामरथ प्रत्येयोऽग्रेतनविशेषणानामन्यथाऽसम्भवात . तस्य च फलकवेदिका यस्मिन् काले ये पुरुषास्तदपेक्षया ततिप्रमाणाऽवसेया. तस्य च रथस्य विशेषणान्यभिधत्ते- ' सच्छत्तस्स ' इत्यादि, सच्छत्रस्य सध्वजस्य सघण्टाकस्य उभयपार्श्वावलम्बिमहाप्रमाणघण्टोपेतस्य सपताकस्य सह तोरणवर—प्रधानतोरण यस्य स सतोरणवरस्तस्य , सह नन्दीघोषो—द्वादशतूर्यनिनादो यस्य स सनन्दिघोषस्तस्य तथा सह किङ्किण्य -क्षुद्रघण्टा येषामिति सकिङ्किणीकानि, हेमजालानि—यानि हेममयदामसमूहास्तै सर्वासु दिक्षु पर्यन्तेषु—बहि प्रदेशेषु परिक्षिप्तो--व्याप्तस्तस्य तथा हैमवत-हिमवत्पर्वतभाविचित्र विचित्रमनोहारिविशेषोपेततिनिशतरुसम्बन्धि कनकविच्छुरित दारु—काष्ठ यस्य स हैमवतचित्रतैनिशकनकनिर्युक्तदारुकस्तस्य , सूत्रे च द्वितीय ककार स्वार्थिक पूर्वस्य च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, तथा सुष्ठु—अतिशयेन सम्यक् पिनद्ध—बद्धमरकमण्डलं धूश्च यस्य स सुसंपिनद्धारकमण्डलधूकस्तस्य, तथा कालायसेन—लोहेन सुष्ठु—अतिशयेन कृत नेमे —बाह्यपरिधेर्यन्त्रस्य च--अरकोपरिफलकचक्रवालस्य कर्म, यस्मिन् स कालायसकृतनेमियन्त्रकर्मा तस्य , तथा आकीर्णा—गुणैर्व्याप्ता ये वरा —प्रधानास्तुरगास्ते सुष्ठु--अतिशयेन सम्यक् प्रयुक्ता--योजिता यस्मिन् स आकीर्णवरतुरगसुसम्प्रयुक्त तस्य, प्राकृतत्वात् बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपात , तथा सारथिकर्मणि ये कुशला नरास्तेषां मध्ये अतिशयेन छेको—दक्ष सारथिस्तेन सुष्ठु--सम्यक् परिगृहीतस्य, तथा ' सरसयबत्तीसतोणपरिमंडियस्स ' इति शराणा शत प्रत्येक येषु तानि शरशतानि तानि च तानि द्वात्रिंशत् तूणानि तैर्मण्डित' शरशतद्वात्रिंशत्तूणमण्डित , किमुक्त भवति ?—एव नाम तानि द्वात्रिंशत् शरभृतभृतानि तूणानि रथस्य सर्वत पर्यन्तेष्ववलम्बितानि यथा तानि सङ्ग्रामायोपकल्पितस्यातीव मण्डनाय भवन्तीति , तथा कङ्कट --कवचं सह कङ्कटो यस्य स सकङ्कट सकङ्कट अवतंस —शेखरो यस्य स सकङ्कटावतंसस्तस्य , तथा सह चापं येषा ते सचापा ये शरा यानि च कुन्तभल्लिमुसुण्ढिप्रभृतीनि नानाप्रकाराणि प्रहरणानि यानि च कवच (कङ्कट) प्रमुखानि आवरणानि तैर्भृत --परिपूर्ण , तथा योधानां युद्ध तन्निमित्त सज्ज.—प्रगुणीभूतो यः स योधयुद्धसज्जस्तत पूर्वपदेन सह विशेषणसमास तस्य इत्थभूतस्य राजाङ्गणे वा अन्त पुरे वा रम्ये वा मणिकुट्टिमतले--मणिबद्धभूमितले अभीक्ष्णमभीक्ष्ण कुट्टिमतलप्रदेशे वा 'अभिघट्टिज्जमाणस्से' ति अभिखच्यमानस्य वेगेन गच्छतो ये उदारा मनोज्ञा कर्णमनोनिर्वृतिकरा. सर्वत. समन्तात् जीवाभिग-

मसूलटीकायामपि 'उप्पित्थं' श्वासयुक्तमिति, तथा उत्—प्राबल्येन अतितालमस्थानताल वा उत्तालं, श्लक्ष्णस्वरेण काकस्वर, सानुनासिकम् अनुनासिकाविनिर्गतस्वरानुगतमिति भावः. तथा 'अट्ठगुणोववेयं' मिति अष्टाभिर्गुणैरुपेतमष्टगुणोपेतं, ते चाष्टावमी गुणाः-पूर्णं रक्तमलङ्कृत व्यक्तमविघुष्टं मधुरं समं सललितं च. तथा चोक्तम्—"पुण्णं रत्त च अल—कियं च वत्तं तहेव अविघुट्ठं। महुरं समं सललियं, अट्ठ गुणा होंति गेयस्स ॥ १ ॥" तत्र यत् स्वरकलाभि परिपूर्णं गीयते तत्पूर्णं, गेयरागानुरक्तेन यत् गीयते तत् रक्तम्, अन्योऽन्यस्वरविशेषकरणेन यदलङ्कृतमिव गीयते तदलङ्कृतम्, अक्षरस्वरस्फुटकरणतो व्यक्त. विस्वर क्रोशतीव विघुष्टं न तथा अविघुष्टं, मधुरस्वरेण गीयमानं मधुरं कोकिलारुतवत्, तालवशस्वरादिसमनुगत समं, तथा यत् स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव तत् सह ललितेन—ललनेन वर्त्तत इति सललितं, यदिवा-यत् श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दस्य स्पर्शनमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत् सललितम्। इदानीमेतेषामेवाष्टानां मध्ये कियतो गुणान् अन्यच्च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—'रत्तं तिट्ठाणकरण सुद्ध' तत् 'कुहरगुंजंतवंसतंतीतलतालयगहसुसंपउत्तं महुरं समं सललियं मणोहरं मउयरिभियपयसंचार सुरइ सुनतिं वरचारुरूव दिव्वं नट्ट सज्ज गेयं पगीयाण' मिति यथा प्राक् नाट्यविधौ व्याख्यातं तथा भावनीयं 'जारिसए सद्दे हवइ' प्रगीतानां—गातुमारब्धवतां यादृश. शब्दोऽतिमनोहरो भवति—स्यात्—कथंचित्तद्रूपस्तेषां तृणानां मणीनां च शब्द ?, एवमुक्ते भगवानाह—गौतम! स्यादेवंभूतः शब्दः। (सू० ३१) 'तेसि णं वणसंडाणं' मित्यादि, तेषां 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे वनखण्डानां मध्ये तत्र तत्र देशे 'तत्र तत्रे' ति तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे 'बहुई' इति बह्व्यः,'खुड्डाखुड्डियाओ' इति क्षुल्लिक्षुल्लिका; लघवो लघव इत्यर्थः, वाप्यश्चतुरस्रा पुष्करिण्यो वृत्ताकारा:, अथवा पुष्कराणि विद्यन्ते यासु ताः पुष्करिण्यो दीर्घिका—ऋजवो नद्यः वक्रा नद्यो गुञ्जालिकाः, बहूनि केवलकेवलानि पुष्पावकीर्णकानि सरांसि एकपङ्क्त्या व्यवस्थितानि सर.पङ्क्ति. सललितास्ता बह्वय. सर पङ्क्तय. तथा येषु सर सु पङ्क्त्या व्यवस्थितेषु कूपोदकं प्रणालिकया सञ्चरति सा सर.पङ्क्तिः ता बह्वय' सर सर.-पङ्क्तय., तथा बिलानीव बिलानि—कूपास्तेषां पङ्क्तयो बिलपङ्क्तय, एताश्च सर्वा अपि कथंभूता इत्याह-अच्छा. स्फटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशा. श्लक्ष्णाः—श्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहिः प्रदेशा श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत्, तथा रजतमयं रूप्यमय कूलं यासां ता रजतमयकूला, तथा सम न गर्ताभावात् विषम तीरं-तीरवर्त्तिजलापूरित स्थानं यासां ता समतीरा., तथा वज्रमया पाषाणा यासां ता वज्रमयपाषाणा., तथा तपनीय—हेमविशेष तपनीयमयं तलं यासां तास्तपनीयतला', तथा "सुवण्णसुब्भरययवालुयाओ" इति सुवर्णं पीतकान्ति हेम शुभ्र-रूप्यविशेषः रजत प्रतीतं तन्मया वालुका यासु ता. सुवर्णशुभ्ररजतवालुका, 'वेरुलियमणिफलिहपडलपच्चोयडाओ' इति वैडूर्यमणिमयानि स्फटिकपटलमयानि च प्रत्यवतटानि-तटसमीपवर्त्तिन अत्युन्नतप्रदेशा. यासां ता वैडूर्यमणिस्फटिकपटलप्रत्यवतटा', 'सुओयारसुउत्ताराउ' इति सुखेनावतारो-जलमध्ये प्रवेशन यासु ता सुखावतारा: तथा सुखेन उत्तारो-जलमध्याद्बहिर्निर्गमन यासु ताः सुखोत्तारास्ततः पूर्वपदेन विशेषणसमास'. 'नानामणितित्थसुबद्धाउ' इति नानामणिभिः नानाप्रकारैर्मणिभिस्तीर्थानि सुबद्धानि यासां ता नानामणितीर्थसुबद्धाः. अत्र बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनाद् प्राकृतशैलीवशाद्वा 'चउक्कोणाउ' इति चत्वार. कोणा यासां ताश्चतु.कोणाः, एतच्च विशेषण वापीः कूपांश्च प्रति द्रष्टव्य, तेषामेव चतुष्कोणत्वसंभवात् न शेषाणां, तथा आनुपूर्व्येण-क्रमेण नीचैस्तराभावरूपेण सुष्ठु—अतिशयेन यो जातवप्रः—केदारो जलस्थानं तत्र गम्भीरम्-अलब्धस्ताघ शीतलं जलं यासु ता आनुपूर्व्यसुजातवप्रगम्भीरशीतलजला:, 'संछन्नपत्तभिसमुणालाउ' इति सछन्नानि—जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि यासु ता सछन्नपत्रबिसमृणालाः, इह बिसमृणालसाहचर्यात् पत्राणि पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि, बिसानि—कन्दा' मृणालानि—पद्मनालाः, तथा बहुभिरुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रै. केसरै.—केसरप्रधानै. फुल्लै.—विकासितैरुपचिता बहूत्पलकुमुदनलिनसुभग—सौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रकेसरफुल्लोपचिता., तथा षट्पदैः भ्रमरै परिभुज्यमानकमला., तथा अच्छेन-स्वरूपत' स्फटिकवत् शुद्धेन विमलेन—आगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णा अच्छविमलसलिलपूर्णा., तथा 'पडिहत्था' अतिरेकिता, अतिप्रभूता इत्यर्थ. 'पडिहत्थमुद्धुमाय अतिरियय जाणमाउएण' मिति वचनात्, उदाहरणं चात्र—'घणपडिहत्थ गयणं, सराइ नवसलिलउद्धुमायाइं। अयरेइयं मह उण,चिंताए मणतुह विरहे ॥१॥" इति, भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यत्र ता. परिहत्थभ्रमन्मत्स्यकच्छपाः, तथा अनेकै. शकुनिमिथुनकै. प्रविचरता—इतस्ततो गमनेन सर्वतो व्याप्ता. अनेकशकुनिमिथुनकप्रविचरितास्तत' पूर्वपदेन विशेषणसमास., एता वाप्यादय. सरस्सर.पङ्क्तिपर्यन्ता. 'प्रत्यकं प्रत्येकं' प्रति प्रत्येकमत्राभिमुख्ये प्रतिशब्दस्ततो वीप्साविवक्षायां पश्चात्प्रत्येकशब्दस्य द्विर्वचनमिति, पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ता, प्रत्येक प्रत्येक वनखण्डपरिक्षिप्ता., 'अप्पगइयाउ' इत्यादि अपिर्बाढार्थे वाढमेकका.—काश्चन वाप्यादय आसवमिव—चन्द्रहासादिपरमासवमिव उदक यासां ता आसवादका:, अप्येकका वारुणस्य-वारुणसमुद्रस्येव उदकं यासां ता वारुणोदका:, अप्येकका: क्षीरमिव उदकं यासां ता' क्षीरोदका:, अप्येकका घृतमिव उदकं यासां ता घृतोदका', अप्येकका: क्षोद इव-इक्षुरस इव उदकं यासां ताः क्षोदोदका:, अप्येकका: स्वाभाविकेन उदकरसेन प्रज्ञप्ता', 'पासाइया' इत्यादि विशेपणचतुष्टयं प्राग्वत्। 'तेसि णं' मित्यादि, तासां क्षुल्लिकानां वापीनां यावद्बिलपङ्क्तीनामिति यावत् शब्दात् पुष्करिण्यादिपरिग्रहः, प्रत्येकं चतुर्दिशि चत्वारि एकैकस्या दिशि एकैकस्य भावात् त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपाणि त्रिसोपानानि, त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानं, तानि प्रश्न-

स्तानि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणामयं-वक्ष्यमाण' ए-तद्रूप'-अनन्तरं वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णकनिवेश' प्रज्ञप्तस्त-द्यथा वज्ररत्नमया 'वगा' इत्यादि प्राग्वत् । 'तेसि ण ' तेषां त्रिसोपानप्रतिरूपकाणा प्रत्येक तोरणानि प्रज्ञप्तानि, तोरणवर्णकस्तु निरवशेषो यानविमानवद्भावनीयो यावत् बहव सहस्रपत्रहस्तका इति, ' तासि ण ' मित्यादि, ताम्रा चुल्लिकाचुल्लिकानां यावद् बिलपङ्क्तीनाम् , अत्रापि यावच्छ-ब्दात्-पुष्करिण्यादिपरिग्रह , तत्र तत्र देशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे बहव उत्पातपर्वता यत्रागत्य बहव. सू-र्याभविमानवासिनो वैमानिका देवा देव्यश्च विचित्रक्रीडा-निमित्त वैक्रियशरीरमारचयन्ति , ' नियइपव्वया ' इति नि यत्या--नैयत्येन व्यवस्थिता पर्वता निर्यानपर्वता क्वचित् ' निययपव्वया ' इति पाठ., तत्र नियता --सदा भोग्यत्वे-नावस्थिता , पर्वता नियतपर्वता , यत्र सूर्याभविमानवा-सिनो वैमानिका देवा देव्यश्च भवधारणीयेनैव वैक्रियशरी-रेण सदा रममाणा अवतिष्ठन्ते इति भाव , ' जगईपव्व-या इति जागतीपर्वतका पर्वतविशेषा , दारुपर्वतका दारु निर्मापिता इव पर्वतका , ' दगमंडवा ' इति दकमण्डपा -स्फाटिका मण्डपा उक्तं च जीवाभिगममूलटीकाया--" दगमण्डपा --स्फाटिका मण्डपा " इति , एवं दकम-ञ्चका दकमालका दकप्रासादा , एते च दकमण्डपादय क-चित् ' उसड्डा ' इति उत्सृता , उच्चा इत्यर्थ , केचित् ' खु-ड्डाखुड्ड ' त्ति क्षुल्लका क्षुल्लका इति , तथा अन्दोलका पक्ष्यन्दोलकाश्च , इह यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमन्दोलय न्ति तेऽन्दोलका इति लोके प्रसिद्धा , यत्र तु पक्षिण आ-गत्यात्मानमन्दोलयन्ति ते पक्ष्यन्दोलका , तत्र अन्दोलका पक्ष्यन्दोलकाश्च तेषु वनखण्डेषु तत्र २ प्रदेशे देवक्रीडा-योग्या बहव. सन्ति, एते च उत्पातपर्वतादय कथं-भूता ? इत्याह--' सर्वरत्नमया. ' सर्वात्मना रत्नमयाः , ' अच्छा सण्हा ' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् । ' तेसु ण ' मित्यादि, तेषु उत्पातपर्वतेषु यावत्पक्ष्यन्दोलकेषु, या-वत्करणान्नियतिपर्वतकादिपरिग्रह , बहूनि हंसासनादीनि आसनानि , तत्र येषामासनानामधोभागे हंसा व्यव-स्थिता यथा सिंहासने सिंहा. तानि हंसासनानि , एव क्रौञ्चासनानि गरुडासनानि च भावनीयानि , उन्नतास-नानि--उच्चासनानि प्रणतासनानि--निम्नासनानि दीर्घा-सनानि--शय्यारूपाणि भद्रासनानि येषामधोभागे पी-ठिकाबन्ध पक्ष्यासनानि येषामधोभागे नानास्वरूपा. पक्षिण , एव मकरासनानि सिंहासनानि च भावनी-यानि, पद्मासनानि--पद्माकाराणि आसनानि, ' दिसासो-वत्थियासणाणि ' येषामधोभागे दिक्सौवस्तिका आलि-खिता सन्ति, अत्र यथाक्रममासनाना सग्रहणिगाथा-- ' हंसे कोंचे गरुडे, उराणय पणए य दीह भद्दे य । प-क्ख मयरे पउमे, सीह दिसासोत्थि बारसमे ॥ १ ॥ ' इति, तानि सर्वाण्यपि कथभूतानीत्यत आह--' सव्वरय-णामया ' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि ण ' मित्यादि, तेषु व-नखण्डेषु मध्ये तत्र २ प्रदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र ए-कदेशे बहूनि ' आलिगृहकाणि ' आलि --वनस्पतिविशेष तन्मयानि गृहकाणि आलिगृहकाणि , मालिरपि वनस्प-तिविशेष तन्मयानि गृहकाणि मालिगृहकाणि , कदली-गृहकाणि लतागृहकाणि च प्रतीतानि, ' अच्छणघरकाणि ' इति अवस्थानगृहकाणि येषु यदा तदा वा आगत्य सु-खासिकया अवतिष्ठन्ति, प्रेक्षणकगृहकाणि यत्रागत्य प्रेक्ष-णकानि विदधति निरीक्षन्ते च , मज्जनकगृहकाणि यत्रा-गत्य स्वेच्छया मज्जनक कुर्वन्ति , ' प्रसाधनगृहकाणि ' यत्रागत्य स्व परं च मण्डयन्ति ' गर्भगृहकाणि ' गर्भ-गृहाकाराणि ' मोहणघराइ ' इति मोहन--मैथुनसेवा ' रमिय मोहणरयाइ ' इति नाममालावचनात् त-त्प्रधानानि गृहकाणि । मोहनगृहकाणि वासभवनानीति भाव' , शालागृहकाणि--पट्टशालाप्रधानानि जालगृ-हकाणि--गवाक्षयुक्तानि गृहकाणि कुसुमगृहकाणि--कु-सुमप्रकरोपचितानि गृहकाणि , चित्रगृहकाणि--चित्रप्र-धानानि गृहकाणि गन्धर्वगृहकाणि गीतनृत्ययोग्यानि गृहकाणि आदर्शगृहकाणि--आदर्शमयानीव गृहकाणि , एतानि च कथंभूतानीत्यत आह-'सव्वरयणामया ' इत्या-दि विशेषणकदम्बक प्राग्वत् । ' तेसि ण ' मित्यादि , तेषु आलिगृहकेषु यावदादर्शगृहकेषु , अत्र यावच्छब्दात् मा लिगृहकादिपरिग्रह , 'बहूनि हंसासनानि' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि ण ' मित्यादि. तेषु वनखण्डेषु तत्र तत्र देशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे बहवो जातिमण्डपका यूथिका-मण्डपका मल्लिकामण्डपका नवमालिकामण्डपका वासन्ती-मण्डपका दधिवासुकामण्डपका . दधिवासुका--वनस्प-तिविशेषस्तन्मया मण्डपका दधिवासुकामण्डपका , सूर-ल्लिरपि वनस्पतिविशेष तन्मया मण्डपका २, ताम्बूली-नागवल्ली तन्मया मण्डपकास्ताम्बूलीमण्डपका , नागा-द्रुमविशेष , स एव लता नागलता , इह यस्य तिर्यक् तथा-विधा शाखा प्रशाखा वा न प्रसृता सा लतेत्यभिधीयते नागलतामया मण्डपका नागलतामण्डपका , अतिमुक्त-मण्डपका , 'अप्फोया ' इति वनस्पतिविशेषस्तन्मया मण्ड-पका अप्फोयामण्डपका , मालुका-एकास्थिकफला वृक्ष-विशेषास्तद्युक्ता मण्डपका मालुकामण्डपका , एते च कथ-भूता इत्याह--'सव्वरयणामया ' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि ण ' मित्यादि, तेषु जातिमण्डपकेषु यावन्मालुकामण्डपकेषु 'जाव' शब्दात्-यूथिकामण्डपकादिपरिग्रह , बहव शिलाप-ट्टका. प्रज्ञप्तास्तद्यथा--अप्येकका हंसासनवत् संस्थिता हंसासनसंस्थिता यावदप्येकका दिक्सौवस्तिकासनसं-स्थिता , यावत्करणात्-' अप्पेगइया हंसासणसंठिया अप्पे-गइया गरुडासणसंठिया अप्पेगइया उण्णयासणसंठिया अप्पेगइया पणयासणसंठिया अप्पेगइया दीहासणसंठिया अप्पेगइया भद्दासणसंठिया अप्पेगइया पक्ख० अप्पे० आ-यसासणसंठिया अप्पेगइया उसभासणसंठिया अप्पेगइया सीहासणसंठिया अप्पेगइया पउमासणसंठिया ' इति परिग्रह अन्ये च बहव शिलापट्टका यानि विशिष्टचि-ह्नानि विशिष्टनामानि च वराणि--प्रधानानि शयनानि आसनानि च तद्वत् संस्थिता वरशयनासनविशिष्टसं-स्थानसंस्थिता , क्वचित्--'मांसलसुघट्ठविसिट्ठसंठाणसंठिया' इति पाठ , तत्रान्ये च बहव शिलापट्टका मांसला , अक-ठिना इत्यर्थ , सुघृष्टा अतिशयेन मसृणा इति भाव विशि-

च्छसंस्थानसंस्थिताश्चेति , ' आईणगरूयबूरनवणीयतूलफासमउया सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा ' इति प्राग्वत्, तत्र तेषु उत्पादपर्वतेनादिगतहंसासनादिषु यावन्नानारूपसंस्थानसंस्थितपृथ्वीशिलापट्टकेषु ' ण ' मिति पूर्ववत् बहवः सूर्याभविमानवासिनो देवा देव्यश्च यथासुखमासते शेरते-दीर्घकायप्रसारणेन वर्त्तन्ते न तु निद्रां कुर्वन्ति तेषां देवयोनिकत्वेन निद्राया अभावात्, तिष्ठन्ति—ऊर्ध्वस्थानेन वर्त्तन्ते निषीदन्ति-उपविशन्ति तुयट्टन्ति-त्वग्वर्त्तनं कुर्वन्ति , वामपार्श्वतः परावृत्य दक्षिणपार्श्वेनावतिष्ठन्ति दक्षिणपार्श्वतो वा परावृत्य वामपार्श्वेनेति भाव , रमन्ते—रतिमाबध्नन्ति ललन्ति-मनईप्सितं यथा भवति तथा वर्त्तन्त इति भाव , क्रीडन्ति-यथासुखमितस्ततो गमनविनोदेन गीतनृत्यादिविनोदेन वा तिष्ठन्ति मोहन्ति-मैथुनसेवां कुर्वन्ति इत्येवं ' पुरापोराणाण ' मित्यादि पुरापूर्वं प्राग्भवे इति भावः कृतानां कर्मणामिति योगः, अत एव पौराणानां सुचीर्णानां—सुचरितानाम् , इह सुचरितजनितं कर्मापि कार्ये कारणोपचारात् सुचरितं ततोऽयं भावार्थः-विशिष्टतथाविधधर्मानुष्ठानविषयाप्रमादकरणक्षान्त्यादिसुचरितजनितानामिति , तथा सुपराक्रान्तानाम् , अत्रापि कार्ये कारणोपचारात् सुपराक्रान्तिजनितानि सुपराक्रान्तानि इत्युक्तं किमुक्तं भवति ?—सकलसत्त्वमैत्रीसत्यभाषणपरद्रव्यानपहारसुशीलादिरूपसुपराक्रमजनितानामिति, अत एव शुभानां शुभफलानाम् इह किञ्चिदशुभफलमपि इन्द्रियमतिविपर्यासात् शुभफलं प्रतिभासते ततस्तात्त्विकशुभत्वप्रतिपत्त्यर्थमस्यैव पर्यायशब्दमाह-कल्याणानां तत्त्ववृत्त्या तथाविधविशिष्टफलदायिनाम् , अथवा-कल्याणानाम् अनर्थोपशमकारिणां कल्याणरूपं फलविपाकं ' पच्चणुब्भवमाणा ' प्रत्येकमनुभवन्तो विहरन्ति-आसते ।

तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडेंसगा पंचजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियपहसिया इव तहेव बहुसमरमणिज्जभूमिभागो उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया ०जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति,तं जहा-असोए सत्तपण्णे चंपए चूए । सूरियाभस्स णं देवविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते , तं जहा-वणसंडविहूणे ०जाव बहवे वेमाणिया देवा देवीओ य आसयंति ०जाव विहरंति, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसे एत्थ णं महेगे उवगारियालयणे पण्णत्ते, एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचिविसेसूणं परिक्खेवेणं , जोयणबाहल्लेणं, सव्वजंबूणयामए अच्छे ०जाव पडिरूवे । (सू० २३)

' तेसि ण ' मित्यादि, तेषां वनखण्डानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसका इति , अवतंसक इव-शेखरक इवावतंसकः प्रासादानामवतंसक इव प्रासादावतंसकः प्रासादविशेष इति भावः , ते च प्रासादावतंसकाः पञ्च योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भतः , तेषां च ' अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव ' इत्यादिविशेषणजातं प्राग्वत्, भूमिवर्णनम् उल्लोकवर्णनं सपरिवारं च प्राग्वत् , 'तत्थ ण'मित्यादि तत्र-तेषु वनखण्डेषु प्रत्येकमेकैकदिग्भावेन चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत्करणात्-'महज्जुइया महाबला महासुक्खा महाणुभावा ' इति परिग्रहः, पल्योपमस्थितिका परिवसन्ति , तद्यथा-'असोए' इत्यादि, अशोकवने अशोकः सप्तपर्णवने सप्तपर्णः चम्पकवने चम्पकश्चूतवने चूतः' ' ते ण ' मित्यादि , ते अशोकादयो देवाः स्वकीयस्य वनखण्डस्य स्वकीयस्य प्रासादावतंसकस्य , सूत्रे बहुवचनं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽपि भवतीति , स्वस्वकीयानां सामानिकदेवानां स्वासां स्वासामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां स्वासां स्वासां परिषदां स्वेषां स्वेषामनीकानां स्वेषां स्वेषामनीकाधिपतीनां स्वेषां स्वेषामात्मरक्षकाणां ' आहेवच्चं पोरेवच्चं ' इत्यादि प्राग्वत् , 'सूरियाभस्स ण' मित्यादि सूर्याभस्य विमानस्यान्तः - मध्यभागे बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः , तस्य ' से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि यानविमान इव वर्णनं तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः , तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र सुमहत् एकम् उपकारिकालयनं प्रज्ञप्तं , विमानाधिपतिसत्कप्रासादावतंसकादीन् उपकरोति—उपष्टम्नातीत्युपकारिका, विमानाधिपतिसत्कप्रासादावतंसकादीनां पीठिका, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा, उक्तं च—"गृहस्थानां स्मृतं राज्ञामुपकार्योपकारिके" ति, उपकारिकालयनमिव उपकारिकालयनं , तत् एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशत्यधिके अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलान्यर्द्धाङ्गुलं परिक्षेपतः , इदं च परिक्षेपप्रमाणं जम्बूद्वीपपरिक्षेपप्रमाणवत् [illegible] टीकातः परिभावनीयम् ।

से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेण य सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते , सा णं पउमवरवेइया अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं उवकारियलेणसमा परिक्खेवेणं , तीसे णं पउमवरवेइयाए इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते , तं जहा—वयरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा लोहियक्खमईओ सूईओ णाणामणिमया कडेवरा णाणामणिमया कडेवरसंघाडगा णाणामणिमया रूवा णाणामणिमया रूवसंघाडगा अंकामया पक्खवाहाओ जोइरसामया वंसा वंसकवेल्लुगा रइआमईओ पट्टियाओ जातरूवमई ओहाडणी वइरामया उवरिपुच्छणी सव्वर-

यणामई अच्छायणे, सा णं पउमवरवेइया एगमेगेणं हेमजालेणं गवक्खजालेणं खिंखिणीजालेणं घंटाजालेणं मुत्ताजालेणं मणिजालेणं कणगजालेणं रयणजालेणं पउमजालेणं सव्वतो समता संपरिक्खित्ता, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा ०जाव चिट्ठंति। तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे हयसंघाडा ०जाव उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा पासादीया ४ ०जाव वीहीतो पंतीतो मिहुणाणि लयाओ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति-पउमवरवेइया?, गोयमा! पउमवरवेइया णं तत्थ तत्थ देसे २ तहिं २ वेइयासु वेइयावाहासु य वेइयफलतेसु य वेइयपुडंतरेसु य खंभेसु खंभवाहासु खंभसीलेसु खंभपुडंतरेसु सूयीसु सूयीमुखेसु सूईफलएसु सूईपुडंतरेसु पक्खेसु पक्खवाहासु पक्खपेरंतेसु पक्खपुडंतरेसु बहुयाइं उप्पलाइं पउमाइं कुमुयाइं णलिणाणि सुभगाइं सोगंधियाइं पुंडरीयाइं महापुंडरीयाइं सयवत्ताइं सहस्सवत्ताइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं पडिरूवाइं महया वासिक्कयछत्तसमाणाइं पण्णत्ताइं समणाउसो!, से एएणं अट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ-पउमवरवेइया। पउमवरवेइया णं भंते! किं सासया किं अ०?, गोयमा! सिय,सासया सिय असासया। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-सिय सासया सिय असासया?, गोयमा! दव्वट्ठयाए सासया, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति-सिय सासया सिय असासया। पउमवरवेइया णं भंते! कालओ केव चिरं होइ?, गोयमा! ण कयावि णासि ण कयावि णत्थि न कयावि न भविस्सइ, भुविं च हवइ य भविस्सइ य, धुवा णिइया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवरवेइया। से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं उवयारियालेणसमे परिक्खेवेणं, वणसंडवण्णओ भाणितव्वो ०जाव विहरंते। तस्स णं उवयारियालेणस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता वण्णओ, तोरणा झया छत्ताइच्छत्ता, तस्स णं उवयारियालयणस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव मणीणं फासो। (सू०-३४)

तच्च एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन सर्वत-सर्वासु दिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन सम्यग् परिक्षिप्तं 'सा णं पउमवरवेइया' इत्यादि. सा पद्मवरवेदिका अर्द्धं योजनमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्च धनु शतानि विष्कम्भेन परिक्षेपेण उपकारिकालयनसमाना-उपकारिकालयनपरिक्षेपपरिमाणा प्रज्ञप्ता, 'तीसे णं' मित्यादि, तस्या-पद्मवरवेदिकाया अयमेतद्रूपो वर्णावासो--वर्णः-श्लाघा यथावस्थितस्वरूपकीर्त्तनं तस्यावासो-निवासो ग्रन्थपद्धतिरूपो वर्णावासो, वर्णकनिवेश इत्यर्थः, प्रज्ञप्तो मया शेषतीर्थकरैश्च, तदेवेत्यादिना तमेव दर्शयति--इह सूत्रपुस्तकेष्वन्यथाऽतिदेशबहुलः पाठो दृश्यते ततो मा भून्मतिसम्मोह इति विनेयजनानुग्रहाय पाठ उपदर्श्यते--'वयरामया णिम्मा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलया लोहियक्खमईओ सूईओ वइरामया संधी नानामणिमया कडेवरा णाणामणिमया कडेवरसंघाडा नानामणिमया रूवा नानामणिमया रूवसंघाडा अंकामया पक्खा अंकामया पक्खवाहाओ जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुया रययामईओ पट्टियाओ जायरूवमई ओहाडणी वइरामई उवरिं पुंछणी सव्वरयणामए आच्छायणे' एतत् सर्वं प्रागवत् भावनीयं, नवरं कलेवराणि--मनुष्यशरीराणि कलेवरसंघाटा-मनुष्यशरीरयुग्मानि रूपाणि-रूपकाणि रूपसंघाटा--रूपकयुग्मानि, 'सा णं पउमवरवेइया तत्थ २ देसे २ एगमेगेणं हेमजालेणं एगमेगेणं गवक्खजालेणं एगमेगेणं घंटाजालेणं एगमेगेणं खिंखिणीजालेणं एगमेगेणं मुत्ताजालेणं एगमेगेणं कणगजालेणं एगमेगेणं मणिजालेणं एगमेगेणं रयणजालेणं एगमेगेणं सव्वरयणजालेणं एगमेगेणं पउमजालेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ते णं जाला तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरमंडिया नानामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदयरूवा ईसिमण्णमण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायमेइज्जमाणा एइज्जमाणा पलंबमाणा २ पझुंझमाणा पझुंझमाणा ओरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कण्णमणणिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पदेसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा सिरीए उवसोभेमाणा चिट्ठंति, तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ २ देसे तहिं २ हयसंघाडा नरसंघाडा किंनरसंघाडा किंपुरिससंघाडा महोरगसंघाडा गंधव्वसंघाडा उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, एवं पंतिओ वि वीहिओ वि मिहुणाइं, तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ २ देसे तहिं २ बहुयाओ पउमलयाओ णागलयाओ असोगलयाओ चंपगलयाओ वणलयाओ वासंतियलयाओ अइमुत्तगलयाओ कुंदलयाओ सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ निच्चं मउलियाओ निच्चं लवइयाओ निच्चं थवइयाओ णिच्चं गुलइयाओ निच्चं गोच्छियाओ णिच्चं जमलियाओ निच्चं जुयलियाओ निच्चं विणमियाओ निच्चं पणमियाओ निच्चं सुविभत्तपडिमंजरीवडिंसगधरीओ निच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियजमलियजुयलियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरिवडिंसगधरीओ सव्वरयणमईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ' इति. अस्य व्याख्या--'सा' एवंस्वरूपा 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे पद्मवरवेदिका तत्र २ प्रदेशे एकैकेन हेमजालेन--सर्वात्मना हेममयेन लम्बमानेन दामसमूहेन एकैकेन गवाक्षजालेन--गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहेन एकैकेन किङ्किणीजालेन, किङ्किणयः--क्षुद्रघण्टिका एकैकेन घण्टाजालेन-किङ्किण्यपेक्षया किञ्चिन्महत्यो घण्टा-घण्टा, तथा एकैकेन मुक्ताजालेन-मुक्ताफलमयेन दामसमूहेन एकैकेन मणिजालेन-मणिमयेन दामसमूहेन एकैकेन कनकजालेन-कनक -पीतरूपं सुवर्णविशेष तन्मयेन दामसमूहेन एवमेकैकेन रत्नजालेन एकैकेन पद्म-

जालेन सर्वरत्नमयपद्मात्मकेन दामसमूहेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सर्वासु विदिक्षु परिक्षिप्ता-व्याप्ता, एतानि च दामसमूहरूपाणि हेमजालादीनि जालानि लम्बमानानि वेदितव्यानि, तथा चाह—'ते णं जाला' इत्यादि, तानि सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गमनियतं, णमिति वाक्यालङ्कारे, हेमजालादीनि जालानि, क्वचित् दामा इति पाठः, तत्र तावत् हेमजालादिरूपा दामान इति, 'तवणिज्जलंबूसगा' इत्यादि हयसंघाटादिसूत्रं लतासूत्रं च प्राग्वत्। सम्प्रति पद्मवरवेदिकाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं जिज्ञासुः पृच्छति—'से केणट्ठेणं भंते !' इत्यादि, सेशब्दोऽथशब्दार्थे, केनार्थेन—केन कारणेन भदन्त ! एवमुच्यते—पद्मवरवेदिका पद्मवरवेदिकेति, किमुक्तं भवति ?—पद्मवरवेदिकेत्येवरूपस्य शब्दस्य तत्र प्रवृत्तौ किं निमित्तमिति, एवमुक्ते भगवानाह—गौतम ! पद्मवरवेदिकायां तत्र तत्र एकदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे वेदिकासु—उपवेशनयोग्यमत्तवारणरूपासु वेदिकाबाहासु—वेदिकापार्श्वेषु 'वेइयपुडंतरेसु' इति द्वे वेदिके वेदिकापुटं तेषामन्तराणि-अपान्तरालानि तानि वेदिकापुटान्तराणि तेषु, तथा स्तम्भेषु सामान्यतः स्तम्भबाहासु—स्तम्भपार्श्वेषु 'खंभसीसेसु' इति स्तम्भशीर्षेषु 'खम्भपुडंतरेसु' इति द्वौ स्तम्भौ स्तम्भपुटं तेषामन्तराणि स्तम्भपुटान्तराणि तेषु, सूचीषु—फलकसंबन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयासु तासामुपरीति तात्पर्यार्थः, 'सूईमुहेसु' इति यत्र प्रदेशे सूची फलकं भित्त्वा मध्ये प्रविशति तत्प्रत्यासन्नो देशः सूचीमुखं तेषु, तथा सूचीफलकेषु सूचीभिः संबन्धिनो ये फलकप्रदेशास्तेऽप्युपचारात् सूचीफलकानि तेषु सूचीनामध उपरि वर्त्तमानेषु, तद्यथा 'सूईपुडंतरेसु' इति द्वे सूच्यौ सूचीपुटं तदन्तरेषु, पक्षाः पक्षबाहा वेदिकैकदेशविशेषास्तेषु, बहूनि उत्पलानि गर्दभकानि पद्मानि—सूर्यविकासीनि कुमुदानि-चन्द्रविकासीनि नलिनानि—ईषद् रक्तानि पद्मानि सुभगानि—पद्मविशेषरूपाणि सौगन्धिकानि—कह्लाराणि पुण्डरीकाणि—सिताम्बुजानि तान्येव महान्ति महापुण्डरीकाणि शतपत्राणि—पत्रशतकलितानि सहस्रपत्राणि—पत्रसहस्रोपेतानि, शतपत्रसहस्रपत्रे च पद्मविशेषौ पत्रसंख्याविशेषाच्च पृथगुपात्ते, एतानि सर्वरत्नमयानि 'अच्छा' इत्यादि. विशेषणजातं प्राग्वत्, 'महया वासिक्कछत्तसमाणाइं' इति महान्ति—महाप्रमाणानि वार्षिकाणि—वर्षाकाले पानीयरक्षार्थं यानि कृतानि वार्षिकाणि तानि च तानि छत्राणि च तत्समानानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण ! हे आयुष्मन् !, 'से एएणट्ठेणं' मित्यादि, तदेतेन अर्थेन -अन्वर्थेन गौतम ! एवमुच्यते—पद्मवरवेदिकेति तेषु तेषु यथोक्तरूपेषु प्रदेशेषु यथोक्तरूपाणि पद्मानि पद्मवरवेदिकाशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमिति भावः, व्युत्पत्तिश्चैवं—पद्मवरा—पद्मप्रधाना वेदिका पद्मवरवेदिकेति। 'पउमवरवेइया णं भंते ! किं सासया' इत्यादि, पद्मवरवेदिका 'णं' मिति पूर्ववत् किं शाश्वती उताऽशाश्वती, स्त्रीत्वं ततया सूत्रे निर्देशः प्राकृतत्वात्, किं नित्या उताऽनित्येति भावः, भगवानाह—गौतम ! स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वती, कथञ्चिन्नित्या कथञ्चिदनित्या इत्यर्थः, स्याच्छब्दो निपातः कथंचिदित्येतदर्थवाची, 'से केणट्ठेणं' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! द्रव्यार्थतया—द्रव्यास्तिकनयमतेन शाश्वती, द्रव्यास्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभिमन्यते न पर्यायान्, द्रव्यं चान्वयि परिणामित्वात् अन्वयित्वाच्च सकलकालभावीति भवति द्रव्यार्थतया शाश्वती, वर्णपर्यायैस्तत्तदन्यसमुत्पद्यमानवर्णविशेषरूपैः, एवं गन्धपर्यायैः रसपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः उपलक्षणमेतत् तत्तदन्यपुद्गलविचटनोच्चटनैश्च अशाश्वती, किमुक्तं भवति ?—पर्यायास्तिकनयमतेन पर्यायप्राधान्यविवक्षायामशाश्वती, पर्यायाणां प्रतिक्षणभावितया कियत्कालभावितया विनाशित्वात्, 'से एएणट्ठेणं' मित्याद्युपसंहारवाक्यं सुगमम् इह द्रव्यास्तिकनयवादी स्वमतप्रतिष्ठापनार्थमेवमाह—नात्यन्तासत उत्पादो नापि सतो नाशः 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः' इति वचनात्, यौ तु दृश्येते प्रतिवस्तु उत्पादविनाशौ तदाविर्भावतिरोभावमात्रं, यथा सर्पस्य उत्फणत्वविफणत्वे, तस्मात्सर्वं वस्तु नित्यमिति, एवं च तन्मतचिन्तायां संशयः—किं घटादिवत् द्रव्यार्थतया शाश्वती उत सकलकालमेकरूपेति, ततः संशयापनोदार्थं भगवन्तं भूयः पृच्छति- 'पउमवरवेइया णं' मित्यादि, पद्मवरवेदिका प्राग्वत् भदन्त ! कालतः कियच्चिरं—कियन्तं कालं यावद्भवति ?, एवंरूपा हि कियन्तं कालमवतिष्ठत इति ?, भगवानाह—गौतम ! न कदाचिन्नासीत् सर्वदैवासीदिति भावः अनादित्वात्, तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्त्तमानकालचिन्तायां भवतीति भावः सदैव भावात्, तथा न कदाचिन्न भविष्यति, किंतु भविष्यच्चिन्तायां सर्वदैव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्यम्, अपर्यवसितत्वात्, तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय सम्प्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति—'भुविं च' इत्यादि, अभूच्च भवति च भविष्यति चेति, एवं त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुवा मेर्वादिवत् ध्रुवत्वादेव सदैव स्वस्वरूपनियता नियतत्वादेव च शाश्वती—शश्वद्भवनस्वभावा शाश्वतत्वादेव च सततं गङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकह्रद इवानेकपुद्गलविचटनेऽपि तावन्मात्रान्यपुद्गलोच्चटनसंभवादक्षया, न विद्यते क्षयो—यथोक्तस्वरूपाकारपरिभ्रंशो यस्याः सा अक्षया, अक्षयत्वादेव अव्यया—अव्ययशब्दवाच्या मनागपि स्वरूपचलनस्य जातुचिदप्यभावात्, अव्ययत्वादेव सदैव स्वस्वप्रमाणेऽवस्थिता, मानुषोत्तरात् बहिः समुद्रवत्, एवं स्वप्रमाणे सदावस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या धर्मास्तिकायादिवत्, 'से णं' मित्यादि, सा 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे पद्मवरवेदिका एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् परिक्षिप्ता, स च वनखण्डो देशोने द्वे योजने चक्रवालविष्कम्भतः उपकारिकालयनपरिक्षेपपरिमाणः, वनखण्डवर्णकः 'किण्हे किण्होभासे' इत्यादिरूपः समस्तोऽपि प्राग्वत् यावद्विहरन्ति, 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य—उपकारिकालयनस्य 'चउद्दिसिं' ति चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपकाणि त्रिसो-

पानानि प्रज्ञप्तानि, त्रिसोपानवर्णको यानविमानवत् वक्त-व्यः, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणा पुरतः प्रत्येकमेकै-कं तोरण, तोरणवर्णकोऽपि तथैव, 'तस्स ण' मित्यादि, तस्य उपकारिकालयनस्य 'बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे' इत्यादिना भूमिभागवर्णनक यानविमानवर्णकवत्तावद्वाच्य यावन्मणीना स्पर्शः।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झ-देसभाए एत्थ णं महेगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, से णं पासायवडिंसते पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढा-इज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिय वण्णतो भूमिभागो उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं, अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइच्छत्ता, से णं मूलपासाय-वडेंसगे अण्णेहिं चउहिं पासायवडेंसएहिं तयद्धुच्चत्त-प्पमाणमेत्तेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ते णं पासा-यवडेंसगा अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण-वीसं जोयणसयं विक्खंभेणं ०जाव वण्णओ, ते णं पासा-यवडिंसया अण्णेहिं चउहिं पासायवडिंसएहिं तयद्धु-च्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, ते णं पासायवडेंसया पणवीसं जोयणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं बा-वट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमू-सिय वण्णओ भूमिभागे उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं, अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता, ते णं पासायवडेंसगा अण्णेहिं चउहिं पासायवडेंसएहिं तदद्धु-च्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ते णं पा-सायवडेंसगा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उ-च्चत्तेणं एकतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं वण्णओ, उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं पासायउवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता। (सू० ३५)

तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभा-गे अत्र महानेको मूलप्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च प-ञ्च योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशता-नि विष्कम्भतः 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे' त्यादि त-स्य वर्णन मध्ये भूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं द्वारवद्विस्थि-तप्रासादवद्भावनीयं, तस्य च मूलप्रासादावतंसकस्य ब-हुमध्ये देशभागेऽत्र महती एव मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, अ-ष्टौ योजनान्यायामविष्काम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाह-ल्यत सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकद-म्बक प्राग्वत्। 'तीसे ण' मित्यादि, तस्याश्च मणिपी-ठिकाया उपरि महदेक सिंहासनं प्रज्ञप्त, तस्य सिंहास-नस्य वर्णन, परिवारभूतानि शेषाणि भद्रासनानि प्राग्व-द्वक्तव्यानि, 'से ण' मित्यादि, स मूलप्रासादावतंसकोऽ-न्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणैः सर्वतः स-मन्तत परिक्षिप्त, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—अर्द्ध-तृतीयानि योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन,पञ्चविंश योजनशतं वि-ष्कम्भेन, तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे' त्या-दि स्वरूपवर्णनं मध्यभूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं च प्राग्व-त्, तेषा च प्रासादावतंसकाना बहुमध्यदेशभागे प्रत्येक प्रत्येक सिंहासन प्रज्ञप्त, तेषां च सिंहासनानां वर्णन प्राग्वत्, नवरमत्र शेषाणि परिवारभूतानि भद्रासनानि वक्तव्यानि 'ते णं पासायवडेंसया' इत्यादि, ते प्रासादावतसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतसकैः 'तयद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं' तेषा मूलप्रासादावतंसकपरिवारभूताना प्रासादावतंसकानां यदर्द्ध तदुच्चत्वप्रमाणमात्रैः-मूलप्रासादावतंसकापेक्षया च-तुर्भागमात्रप्रमाणैः सर्वत समन्तात्सपरिक्षिप्ता, तदर्धोच्च-त्वप्रमाणमेव दर्शयति-'ते ण' मित्यादि, ते प्रासादावत-सका पञ्चविंश योजनशतमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन द्वाषष्टियोजना-नि अर्द्धयोजन च विष्कम्भत, तेषामपि 'अब्भुग्गयमू-सियपहसियाविवे' त्यादि स्वरूपवर्णन मध्यभागे भूमिव-र्णनमुल्लोकवर्णन सिंहासनवर्णन च सर्व प्राग्वत्, केवल-मत्रापि सिंहासन सपरिवार वक्तव्य, 'ते ण' मित्यादि, ते च प्रासादावतसका अन्यैश्चतुर्भि प्रासादावतसकैस्त-दर्द्धोच्चत्वप्रमाणैः-अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्र-माणैर्मूलप्रासादावतसकापेक्षया (अष्ट) भागप्रमाणैः स-र्वत समन्तात् संपरिक्षिप्ता, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्श-यति-'ते ण' मित्यादि, ते च प्रासादावतसका द्वाषष्टि-योजनानि अर्धयोजनं च ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशतं यो-जनानि क्रोशं च विष्कम्भत, एषामपि 'अब्भुग्गयमू-सिए' त्यादि स्वरूपवर्णनं मध्यभागे भूमिवर्णनम् उल्लोक-वर्णन सिंहासनवर्णन च परिवाररहित प्राग्वत्, 'ते ण' मित्यादि, तेऽपि प्रासादावतसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादा-वतसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणै-अनन्तरोक्तप्रासादावतसका-र्द्धोच्चत्वप्रमाणैर्मूलप्रासादावतसकापेक्षया षोडशभागप्रमा-णै सर्वत समन्तात् सपरिक्षिप्ता, तदर्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति-एकत्रिंशद्योजनानि क्रोश च ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्च-दश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् विष्कम्भतः, ए-तेषामपि स्वरूपादिवर्णनमनन्तरोक्तं, 'ते ण' मित्यादि, ते-ऽपि च प्रासादावतसका अन्यैश्चतुर्भि प्रासादावतसकै-स्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणै-अनन्तरोक्तप्रासादा[illegible]र्द्धोच्चत्व-प्रमाणै सर्वत समन्तात् सपरिक्षिप्ता [illegible]र्द्धोच्चत्वप्र-माणमेव दर्शयति--पञ्चदश योजनानि [illegible]तीयां[illegible] क्रो-शान् ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन देशोनान्यष्टौ योजनानि विष्कम्भेन एषामेव स्वरूपव्यावर्णन भूमिभागवर्णनम् उल्लोकवर्णन सिं-हासनवर्णनं च परिवारवर्जित प्राग्वत्।

तस्स णं मूलपासायवडेंसयस्स उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं सभा सुहम्मा पण्णत्ता, एगं जोयणसयं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्च-त्तेणं अणेगखंभसयसंनिविट्ठा अब्भुग्गयसुकयवयरवेइया-तोरणवररइयसालिभंजिया ०जाव अच्छरगणसंघविप्पकि-ण्णा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा सभाए णं सुहम्माए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, तं जहा-पुर-त्थिमेण दाहिणेणं उत्तरेणं, ते णं दारा सोलस जोयणाइं

उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा ०जाव वणमालाओ, तेसि णं दाराणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइछत्ता, तेसि णं दाराणं पुरओ पत्तेयं २ मुहमंडवा पएणत्ता, ते णं मुहमंडवा एगं जोयणसयं आयामेणं पएणासं जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं वएणओ सभाए सरिसो, तेसि णं मुहमंडवाणं तिदिसिं तओ दारा पएणत्ता, तं जहा–पुरत्थिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं, ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा ०जाव वणमालाओ । तेसि णं मुहमंडवाणं भूमिभागा उल्लोया तेसि णं मुहमंडवाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइछत्ता । तेसि णं मुहमंडवाणं पुरतो पत्तेयं २ पेच्छाघरमंडवे पएणत्ते, मुहमंडववत्तव्वया ०जाव दारा भूमिभागा उल्लोया । तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामए अक्खाडए पएणत्ते, तेसि णं वयरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभागे पत्तेयं २ मणिपेढिया पएणत्ता, ताओ णं मणिपेढियातो अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं २ सीहासणे पएणत्ते, सीहासणवएणओ सपरिवारो, तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ पत्तेयं २ मणिपेढियाओ पएणत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियातो सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ पडिरूवाओ, तेसि णं उवरिं पत्तेयं २ थूभे पएणत्ते, ते णं थूभा सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, सेया संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिगासा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसि णं थूभाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, तेसि णं थूभाणं चउद्दिसिं पत्तेयं २ मणिपेढियातो पएणत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियातो अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवातो, तेसि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि जिणपडिमातो जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ संपलियंकनिसन्नाओ थूभाभिमुहीओ सन्निखित्ताओ चिट्ठंति, तं जहा–उसभा १ वद्धमाणा २ चंदाणणा ३ वारिसेणा ४, तेसि णं थूभाणं पुरतो पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियातो पएणत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियातो सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ ०जाव पडिरूवातो, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयरुक्खे पएणत्ते, ते णं चेइयरुक्खा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधा अद्धजोयणं विक्खंभेणं छ जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पएणत्ता, तेसि णं चेइयरुक्खाणं इमेयारूवे वएणावासे पएणत्ते, तं जहा–वयरामया मूला रययसुपइट्ठिया सुविडिमा रिट्ठामयविउला कंदा वेरुलिया रुइला खंधा सुजायवरजायरूवपढमगा विसालसाला नाणामणिमयरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तबिंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालसोभिया वरंकुरग्गसिहरा विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरेण नमियसाला अहियं मणनयणणिव्वुइकरा अमयरससमरसफला सच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासाईया० ४, तेसि णं चेइयरुक्खाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइछत्ता, तेसि णं चेइयरुक्खाणं पुरतो पत्तेयं २ मणिपेढियाओ पएणत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं २ महिंदज्झया पएणत्ता, ते णं महिंदज्झया सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोयणं उव्वेहेणं जोयणं विक्खंभेणं वइरामया वट्टलट्ठसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपतिट्ठिया विसिट्ठा अणेगवरपंचवएणकुडभिसहस्सपरिमंडियाभिरामा वाउद्धूयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिया तुंगा गयणतलमभिलंघमाणसिहरा पासादीया० ४, अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरतो पत्तेयं २ नंदा पुक्खरिणीओ पएणत्ताओ, ताओ णं पुक्खरिणीओ एगं जोयणसयं आयामेणं पएणासं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ ०जाव वएणओ एगइयाओ उदगरसेणं पएणत्ताओ, पत्तेयं २ पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ताओ, तासि णं णंदाणं पुक्खरिणीणं तिदिसिं तिसोवाणपडिरूवगा पएणत्ता, तिसोवाणपडिरूवगाणं वएणओ, तोरणा झया छत्तातिछत्ता । सभाए णं सुहम्माए अडयालीसं मणोगुलियासाहस्सीओ पएणत्ताओ, तं जहा–पुरच्छिमेणं सोलस साहस्सीओ पच्चच्छिमेणं सोलस साहस्सीओ दाहिणेणं अट्ठ साहस्सीओ, उत्तरेणं अट्ठ साहस्सीओ, तासु णं मणोगुलियासु बहवे

सुवन्नरुप्पमया फलगा पण्णत्ता , तेसु णं सुवन्नरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु णागदंतएसु किण्हसुत्तवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा चिट्ठंति , सभाए णं सुहम्माए अडयालीसं गोमाणसियासाहस्सीओ पन्नत्ताओ, जहा मणोगुलिया ०जाव णागदंतगा , तेसु णं णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पण्णत्ता , तेसु णं रययामएसु सिक्कगेसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडियाओ पण्णत्ताओ , ताओ णं धूवघडियाओ कालागुरुपवर ०जाव चिट्ठंति, सभाए णं सुहम्माए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव मणीहिं उवसोभिए मणिफासो य उल्लोयओ य, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी ०जाव पडिरूवा, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं माणवए चेइयखंभे पण्णत्ते, सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोयणं उव्वेहेणं जोयणं विक्खंभेणं अडयालीसं असिए अडयालीसं सडकोडीए अडयालीसं मइविग्गहिए सेसं जहा महिंदज्झयस्स, माणवगस्स णं चेइयखंभस्स उवरिं बारस जोयणाइं ओगाहित्ता हेट्ठावि बारस जोयणाइं वज्जेत्ता मज्झे बत्तीसाए जोयणेसु, एत्थ णं बहवे सुवन्नरुप्पमया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवन्नरुप्पमएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतेसु बहवे रययामया सिक्कगा पण्णत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गया पण्णत्ता, तेसु णं वयरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहाओ संनिखित्ताओ चिट्ठंति । ताओ णं सूरियाभस्स देवस्स अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ ०जाव पज्जुवासणिज्जाओ माणवगस्स चेइयखंभस्स उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता । (सू० ३६)

'तस्स णं' मित्यादि,तस्य मूलप्रासादावतंसकस्य 'उत्तरपुरच्छिमेणं' ति उत्तरपूर्वस्यामीशानकोणे इत्यर्थ ,अत्र सभा सुधर्मा प्रज्ञप्ता, सुधर्मा नाम विशिष्टच्छन्दकोपेता,सा एक योजनशतमायामत. पञ्चाशत्योजनानि विष्कम्भत. द्वासप्ततियोजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, कथम्भूता सा ? इत्याह— अणेगे'त्यादि अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टा 'अब्भुग्गयसुकयवयरवेइयातोरणवररइयसालिभंजियासुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा ' इति, अभ्युद्गता-अतिरमणीयतया द्रष्टृणां प्रत्यभिमुखं उत्-प्राबल्येन स्थिता सुकृतेव सुकृता निपुणशिल्पिरचितेति भाव , अभ्युद्गता चासौ सुकृता च अभ्युद्गतसुकृता वज्रवेदिका—द्वारमुण्डिकोपरि वज्ररत्नमया वेदिका तोरणं च अभ्युद्गतसुकृत यत्र सा तथा, वराभि —प्रधानाभि' रचिताभि रतिदाभिर्वा शालिभञ्जिकाभि. सुश्लिष्टा'—संबद्धा विशिष्ट—प्रधानं लष्ट—मनोज्ञं संस्थित-संस्थानं येषां ते विशिष्टलष्टसंस्थिता प्रशस्ता'—प्रशंसास्पदीभूता वैडूर्यस्तम्भा- वैडूर्यरत्नमया स्तम्भा यस्या सा तथा , वररचितशालभञ्जिका सुश्लिष्टविशिष्टलष्टसंस्थितप्रशस्तवैडूर्यस्तम्भास्तत' पूर्वपदेन कर्मधारयः समास ,तथा नानामणिकनकरत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिकनकरत्नखचित , क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् , नानामणिकनकरत्नखचित उज्ज्वलो—निर्मलो बहुसम'—अत्यन्तसम सुविभक्तो निचितो—निविडो रमणीयश्च भूमिभागो यस्या सा नानामणिकनकरत्नखचितरत्नोज्ज्वलबहुसमसुविभक्त (निचित) भूमिभागा , ' ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेइयाभिरामा विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ताविव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसिमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा कंचणमणिरयणथूभियागा नानाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडियग्गसिहरा धवला मरीइकवचं विणिम्मुयंती लाउल्लोइयमहिया गोसीससरससुरभिरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उपचियचंदणकलसवंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा ' इति प्राग्वत् । 'सभाए णं ' मित्यादि , सभायाः सुधर्मायास्त्रिदिशि—तिसृषु दिक्षु एकैकस्या दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एकं पूर्वस्यामेकं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्या, तानि च द्वाराणि प्रत्येकं षोडश २ योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अष्टौ योजनानि विष्कम्भत ' तावइयं चेवे ' ति तावन्त्येवाष्टौ योजनानीति भाव प्रवेशेन, 'सेया वरकणगथूभिया ' इत्यादि प्रागुक्तद्वारवर्णन तदेव तावद्वक्तव्य यावद्वनमाला इति , तेषां च द्वाराणां पुरत प्रत्येकं २ मुखमण्डप प्रज्ञप्त , ते च मुखमण्डपा एक योजनशतमायामत पञ्चाशत् योजनानि, विष्कम्भत सातिरेकाणि षोडश योजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एतेषामपि ' अणेगखंभसयसंनिविट्ठा ' इत्यादि वर्णन सुधर्मसभाया इव निरवशेषं द्रष्टव्य, तेषां च मुखमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं २ प्रेक्षागृहमण्डप प्रज्ञप्त', ते च प्रेक्षागृहमण्डपा आयामविष्कम्भोच्चैस्त्वै प्राग्वत् तावद्वाच्य यावन्मणीनां स्पर्श' , तेषां च बहुरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ वज्रमयोऽक्षपाटक प्रज्ञप्त , तेषां च वज्रमयानामक्षपाटकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ मणिपीठिका अष्ट योजनान्यायामविष्कम्भाभ्या चत्वारि योजनानि बाहल्येन-पिण्डभावेन सर्वात्मना मणिमया ' अच्छाओ' इत्यादि विशेषणजातं प्रागिव । तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ सिंहासनं प्रज्ञप्तं , तेषां च सिंहासनानां वर्णन परिवारश्च प्राग्वद्वक्तव्य' , तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहव कृष्णचामरध्वजा इत्यादि प्राग्व

त, तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं २ मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, ताश्च मणिपीठिका प्रत्येकं षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामष्टौ योजनानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमया 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्, तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ चैत्यस्तूपः प्रज्ञप्तः, ते च चैत्यस्तूपाः षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां सातिरेकाणि षोडश योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन 'संखके' त्यादि तद्वर्णनं सुगम, तेषां च चैत्यस्तूपानामुपर्यष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि 'जाव सहस्सपत्तहत्थया' इति यावत्करणात् 'तेसिं चेइयथूभाणं उप्पिं बहवे किण्हचामरज्झया ०जाव सुक्किलचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टवइरदंडा जमलजामलगंधी सुरूवा पासाईया ०जाव पडिरूवा. तेसिं चेइयथूभाणं उप्पिं बहवे छत्ताइच्छत्ता पडागा घंटाजुगला उप्पलहत्थगा ०जाव सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया ०जाव पडिरूवा इति. एतच्च समस्तं प्राग्वत्। 'तेसि णं मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां प्रत्येकं २ चउद्दिसिं' ति चतुर्दिसि—चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिसि एकैकमणिपीठिकाभावेन चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ता अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमया 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत्, तासां च मणिपीठिकानामुपरि एकैकप्रतिमाभावेन चतस्रो जिनप्रतिमा जिनोत्सेधप्रमाणमात्रा, जिनोत्सेध उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि जघन्यतः सप्त हस्ताः, इह तु पञ्च धनुःशतानि संभाव्यन्ते, 'पलियंकसंनिसन्नाउ' इति पर्यङ्कासनसन्निपण्णा, स्तूपाभिमुख्यः संनिक्षिप्ता, तथा जगत्स्थितिस्वाभाव्येन सम्यग्निवेशितास्तिष्ठन्ति, तद्यथा—ऋषभा वर्द्धमाना चन्द्रानना वारिषेणा इति, 'तेसि णं' मित्यादि. तेषां चैत्यस्तूपानां पुरतः प्रत्येकं २ मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ता ताश्च मणिपीठिका षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामष्टौ योजनानि बाहल्यतः 'सव्वमणिमईओ' इत्यादि प्राग्वत्, तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ चैत्यवृक्षा अष्टौ योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेनार्द्धयोजनमुद्वेधेन—उण्डत्वेन द्वे योजने उच्चैस्त्वेन स्कन्धः स एवार्द्धं योजनं विष्कम्भनया बहुमध्यदेशभागे विडिमा—ऊर्ध्वं विनिर्गता शाखा सा ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन षड् योजनानि अष्टौ योजनानि विष्कम्भेन सर्वाग्रेण सातिरेकाण्यष्टौ योजनानि प्रज्ञप्तास्तेषां चैत्यवृक्षाणामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तस्तथा—' वइरामयमूला रययसुपइट्ठियविडिमा' वज्राणि—वज्रमयानि मूलानि येषां—ते वज्रमयमूला रजतं सुप्रतिष्ठिता विडिमा—बहुमध्यदेशभागे ऊर्ध्वं विनिर्गता शाखा येषां ते रजतसुप्रतिष्ठितविडिमास्ततः पूर्वपदेन कर्मधारय समासः, 'रिट्ठामयकंदे वेरुलियरुइलखंधे' रिष्टमयो रिष्टरत्नमयः कन्दो येषां ते रिष्टमयकन्दाः, तथा वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः, 'सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला सुजातं-मूलद्रव्यशुद्धं वरं-प्रधानं यत् जातरूपं तदात्मकाः प्रथमका-मूलभूता विशालाः शाखा येषां ते सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशालाः. 'नानामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तविंटा' इति नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखाः प्रशाखा येषां ते तथा वैडूर्याणि-वैडूर्यमयानि पत्राणि येषां ते तथा तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा, ततः पूर्ववत् पदद्वय २ मीलनेन कर्मधारयः, 'जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लववरंकुरधरा' जाम्बूनदा—जाम्बूनदसुवर्णविशेषमया रक्ता-रक्तवर्णा मृदवः-मनोज्ञाः सुकुमाराः—सुकुमारस्पर्शाः प्रवालाः-ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवाः—संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः-प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः 'विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरेण नमियसाला' इति विचित्रमणिरत्नमयानि यानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिताः शालाः-शाखा येषां ते तथा, तथा सती-शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, सती—शोभना प्रभा-कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः, अत एव सश्रीकाः, तथा सह उद्योतेन वर्त्तन्ते मणिरत्नानामुद्योतभावात् सोद्योताः, अधिकं नयनमनोनिर्वृतिकरा अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते तथा, 'पासाईया' इत्यादिविशेषणचतुष्टयं प्राग्वत्। एते च चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवङ्गछत्रौपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलुध्रकधवलचन्दननीपकुटजपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः—समन्तात् सपरिक्षिप्ता, ते च तिलका यावन्नन्दिवृक्षा मूलमन्तः कन्दमन्त इत्यादि सर्वमशोकपादपवर्णनायामिव तावद्वक्तव्यं यावत् परिपूर्णं लतावर्णन, 'तेसि णं' मित्यादि. तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि चैत्यस्तूपवत् तावद्वक्तव्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया यावत् प्रतिरूपका इति, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां च चैत्यवृक्षाणां पुरतः प्रत्येकं मणिपीठिका प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि, बाहल्यतः 'सव्वरयणामईओ' इत्यादि प्राग्वत्, तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं महेन्द्रध्वजाः प्रज्ञप्ताः, ते च महेन्द्रध्वजाः षष्टियोजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धक्रोशम्—अर्द्धगव्यूतमुद्वेधेन—उण्डत्वेन अर्द्धक्रोशं विष्कम्भतः 'वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिया' इति वज्रमया—वज्ररत्नमया तथा वृत्तं—वर्तुलं लष्टं मनोज्ञं संस्थितं—संस्थानं येषां ते वृत्तलष्टसंस्थितास्तथा सुश्लिष्टा यथा भवन्ति एवं परिघृष्टा इव खरशाणया पाषाणप्रतिमेव सुश्लिष्टपरिघृष्टाः मृष्टाः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमावत् सुप्रतिष्ठिता मनागपि चलनासंभवात्, ततो विशेषणसमासः, 'अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिया तुंगा गगनतलमभिलंघमाणसिहरा पासाईया ०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि तोरणवत् सर्वं वक्तव्यं, तेषां च महेन्द्रध्वजानां पुरतः प्रत्येकं नन्दाभिधाना पुष्करिणी प्रज्ञप्ता, एकं योजनशतमायामतः पञ्चाशत् योजनानि विष्कम्भतः द्वासप्ततिर्योजनान्युद्वेधेन—उण्डत्वेन, तासां च नन्दापुष्करिणीनाम् 'अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ' इत्यादि वर्णनं प्राग्वत्, ताश्च नन्दापुष्करिण्यः प्रत्येकं २ पद्मवरवेदिकया प्रत्येकं २ वनखण्डेन परिक्षिप्ताः, तासां च नन्दा

पुष्करिणीना प्रत्येक त्रिदिशि त्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणव-
र्णन प्रागिव । ' सभाए णं सुहम्माए ' इत्यादि , सभाया
सुधर्म्मायामष्टचत्वारिंशन्मनोगुलिकासहस्राणि-पीठिकास-
हस्राणि प्रज्ञप्तानि , तद्यथा—पूर्वस्या दिशि षोडश मनोगु-
लिकासहस्राणि , षोडश सहस्राणि पूर्वत , षोडश सह-
स्राणि पश्चिमायामष्टौ सहस्राणि दक्षिणतोऽष्टौ सहस्राणि
उत्तरत , तेष्वपि फलकनागदन्तकमाल्यदामवर्णन प्राग्वत्
सिक्कगवर्णन धूपघटिकावर्णनं द्वारवत् । ' सभाए णं सुह-
म्माए ' इत्यादि , सभाया सुधर्मायाम् अष्टाचत्वारिंशत् गो-
मानसिका.-शय्यारूपस्थानविशेषास्तेषा सहस्राणि प्रज्ञप्तानि
तद्यथा-षोडश सहस्राणि पूर्वत. षोडश सहस्राणि पश्चिमा-
यामष्टौ सहस्राणि दक्षिणतोऽष्टौ सहस्राणि उत्तरत , ता-
स्वपि फलकवर्णन नागदन्तवर्णनं सिक्कगवर्णनं धूपघटि-
कावर्णनं च द्वारवत् , ' सभाए ण सुहम्माए ' इत्यादिना
भूमिभागवर्णन ' सभाए ण सुहम्माए ' इत्यादिना उल्लोक-
वर्णन च प्राग्वत् , ' तस्स ण ' मित्यादि , तस्य बहुसम-
रमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महती एका
मणिपीठिका प्रज्ञप्ता , षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां
अष्टौ योजनानि बाहल्यत सर्वरत्नमयी इत्यादि प्राग्वत् ,
तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि महानेको माणवकनामा चै-
त्यस्तम्भ प्रज्ञप्त , षष्टियोजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन योजनमुद्वे-
धेन योजन विष्कम्भेण अष्टाचत्वारिंशदस्रिकः ' अडयाली-
सइ कोडीए अडयालीसइ विग्गहिए ' इत्यादि सम्प्रदायग-
म्य . ' वइरामयवट्टलट्ठसठिए ' इत्यादि महेन्द्रध्वजवत् व-
र्णन निरवशेष तावद्वक्तव्य यावत् ' सहस्सपत्तहत्थगा स-
व्वरयणामया ०जाव पडिरूवा ' इति , तस्य च माणवकस्य
चैत्यस्तम्भस्य उपरि द्वादश योजनानि अवगाह्य , उपरि
तनभागात् द्वादश योजनानि वर्जयित्वेति भाव , अधस्ता-
दपि द्वादश योजनानि वर्जयित्वा मध्ये षट्त्रिंशति योज-
नेषु ' बहव सुवण्णरुप्पमया फलका ' इत्यादि फलकवर्णन
नागदन्तवर्णन सिक्ककवर्णन च प्राग्वत् , तेषु च रजतम-
येषु सिक्ककेषु बहवो वज्रमया गोलवृत्ता' समुद्गका प्रज्ञ
प्ता , तेषु च वज्रमयेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि
सन्निक्षिप्तानि तिष्ठन्ति , यानि सूर्याभस्य देवस्य अन्येषां
च बहूना वैमानिकाना देवाना देवीना च अर्चनीयानि च-
न्दनै वन्दनीयानि स्तुत्यादिना पूजनीयानि पुष्पादिना मा-
ननीयानि बहुमानत' सत्करणीयानि वस्त्रादिना कल्याण
मङ्गलं दैवत चैत्यमिति बुद्धया पर्युपासनीयानि , ' तस्स ण
चेइयखंभस्स उवरि बहव अट्ठट्ठ मगलगा ' इत्यादि
प्राग्वत् ।

तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं
महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता , अट्ठ जोयणाइं आयामवि-
क्खंभेणं चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेण सव्वमणिमई अ-
च्छा ०जाव पडिरूवा , तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं ए-
त्थ णं महेगे सीहासणे० वण्णतो सपरिवारो , तस्स णं
माणवगस्स चेइयखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं महेगा
मणिपेढिया पण्णत्ता अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं
चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा ०जाव
पडिरूवा , तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे
देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स इमेयारूवे
वण्णावासे पण्णत्ते , तं जहा-णाणामणिमया पडिपाया
सोवण्णिया पाया णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं जंबूण-
यमयाइं गत्ताइं णाणामणिमए विच्चे रययामया तूली
तवणिज्जमया गंडोवहाणया लोहियक्खमया बिब्बोयणा,
से णं सयणिज्जे उभओ बिब्बोयणं दुहतो उण्णते मज्झे
णतगंभीरे सालिंगणवट्टिए गंगापुलिनवालुयाउद्दालसा-
लिसए सुविरइयरयत्ताणे उवचियखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छा-
यणे रत्तंसुयसंवुए सुरम्मे आईणगरूयबूरणवणी-
यतूलफासे मउले । (सू० ३७)

तस्स ण ' मित्यादि , तस्य माणवकस्य चैत्यस्तम्भ-
स्य पूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता ,
सा च अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योज-
नानि बाहल्येन 'सव्वमणिमया ' इत्यादि प्राग्वत् । तस्या-
श्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेक देवशयनीय प्रज्ञप्तं
तस्य च देवशयनीयस्य अयमेतद्रूपो वर्णावासो-वर्णक-
निवेश प्रज्ञप्त , तद्यथा-नानामणिमया प्रतिपादा-मूल-
पादानां प्रतिविशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादा प्रतिपादा , सौव-
र्णिका —सुवर्णमया पादा -मूलपादा , नानामणिमयानि
पादशीर्षकाणि जाम्बूनदमयानि गात्राणि—ईषादीनि वज्रम-
या--वज्ररत्नापूरिता सन्धय. ' नानामणिमये विच्चे ' इति
नानामणिमय व्यूत-विशिष्टवान रजतमयी तूली लोहि-
ताक्षमयानि ' बिब्बोयणा ' इति उपधानकानि , आह च
जीवाभिगममूलटीकाकार —' बिब्बोयणा-उपधानकान्युच्य-
न्ते ' इति, तपनीयमय्यो गण्डोपधानिका', 'से ण देवस-
यणिज्जे' इत्यादि . तद्देवशयनीय सालिङ्गनवर्तिक-सह
आलिङ्गनवर्त्या--शरीरप्रमाणेनोपधानेन यत् तत्तथा , ' उ-
भओ बिब्बोयणे ' इति उभयत -उभौ--शिरोऽन्तपादान्ता-
वाश्रित्य बिब्बोयणे-उपधाने यत्र तत् ' उभयतो बिब्बोय-
ण ' दुहतो उन्नते ' इति उभयत उन्नत ' मज्झे णतग-
भीरे ' मध्ये नत च नत् निम्नत्वात् गम्भीर च-महत्त्वा-
न्नतगम्भीरं गङ्गापुलिनवालुकाया अवदालो-विदलन पादा-
दिन्यासे अधोगमनमिति भाव तेन ' सालिसए ' इति
सदृशकं गङ्गापुलिनवालुकावदानसदृशक , दृश्यते चाय
प्रकारो हंसतूल्यादिष्विति, तथा ' उयचिय ' इति विशिष्ट
परिकर्मित क्षामं-कार्पासिक दुकूल-वस्त्र तदेव पट्ट उव-
चियक्षौमदुकूलपट्ट स प्रतिच्छदनम्-आच्छादन यस्य तत्त-
था ' आईणगरूयबूरनवणीयतूलफासे ' इति प्राग्वत् , ' र-
त्तसुयसंवुए ' इति रक्तांशुकेन संवृत रक्तांशुकसवृतम् अत
एव सुरम्य ' पासाईय ' इत्यादि पदचतुष्टय प्राग्वत्

तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरच्छिमेणं महेगा
मणिपेढिया पण्णत्ता , अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खं-
भेणं चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा

०जाव पडिरूवा, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते , सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोयणं विक्खंभेणं वइरामया वट्ट-लट्ठसंठियसुसिलिट्ठ ०जाव पडिरूवा, उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता , तस्स णं खुड्डागमहिंदज्झयस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स चोप्पाले नाम पहरणकोसे पन्नत्ते सव्ववइरामए अच्छे ०जाव पडिरूवे, तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स फलिहरयणख-ग्गगयाधणुप्पमुहा बहवे पहरणरयणा संनिखित्ता चिट्ठंति, उज्जला निसिया सुतिक्खधारा पासादीया दरिसणिज्जा अ-भिरूवा पडिरूवा । सभाए णं सुहम्माए उवरिं अट्ठट्ठ मं-गलगा झया छत्तातिच्छत्ता । (सू० ३८)

' तस्स ण मित्यादि, तस्य देवशयनीयस्य उत्तरपूर्व-स्या दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा चाष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्यत. ' सव्वमणिमयी' इत्यादि प्राग्वत् , तस्याश्च मणिपीठिका-या उपरि क्षुल्लको महेन्द्रध्वज प्रज्ञप्त , तस्य प्रमाण वर्ण-कश्च महेन्द्रध्वजवद्वक्तव्यं , ' तस्स ण ' मित्यादि तस्य क्षुल्लकमहेन्द्रध्वजस्य पश्चिमायामत्र सूर्याभस्य देवस्य महा-नेक. चोप्पालो नाम प्रहरणकोश -प्रहरणस्थान प्रज्ञप्तं किं विशिष्ट ? इत्याह-' सव्ववइरामए अच्छे ०जाव पडिरूवे ' इति प्राग्वत् , ' तत्थ ण ' मित्यादि, तत्र चोप्पालकाभि-धाने प्रहरणकोशे बहूनि परिघरत्नखड्गगदाधनु प्रमु-खादीनि प्रहरणरत्नानि सन्निक्षिप्तानि तिष्ठन्ति , कथ भूतानीत्यत आह—उज्ज्वलानि—निर्मलानि निशितानि—अतितेजितानि अत एव तीक्ष्णधाराणि प्रासादीयानीत्यादि प्राग्वत् , तस्याश्च सभाया. सुधर्माया उपरि बहून्यष्टावष्टौ मङ्गलकानीत्यादि सर्व प्राग्वद्वक्तव्यम् ।

सभाए णं सुहम्माए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं महेगे सिद्धायतणे पण्णत्ते, एगं जोयणसयं आयामेणं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सभागमेणं ०जाव गोमाणसियाओ भूमिभागा उल्लोया तहेव, तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ ण महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता,सोलस जोयणाइं आया-मविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं, तीसे णं मणिपे-ढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे देवच्छदए पण्णत्ते, सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए०जाव पडिरूवे,एत्थ णं अट्ठसय जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिखित्तं संचि-ट्ठति,तासि णं जिणपडिमाणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा–तवणिज्जमया हत्थतलपायतला अंकामयाइं नक्खा-इं अंतोलोहियक्खपडिसेगाइं कणगामईओ जंघाओ कण-गामया जाणू कणगामया ऊरू कणगामईओ गायल-ट्ठीओ तवणिज्जमयाओ नाभीओ रिट्ठामईओ रोमराईओ तवणिज्जमया चूचुया तवणिज्जमया सिरिवच्छा सिल-प्पवालमया ओट्ठा फालियामया दंता तवणिज्जमईओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुया कणगामईओ ना-सिगाओ अंतोलोहियक्खपडिसेगाओ अंकामयाणि अ-च्छीणि अंतोलोहियक्खपडिसेगाणि रिट्ठामईओ ताराओ रिट्ठामयाणि अच्छिपत्ताणि रिट्ठामईओ भमुहाओ कणगा-मया कवोला कणगामया सवणा कणगामईओ णिडाल-पट्टियाओ वइरामईओ सीसघडीओ तवणिज्जमईओ केसं-तकेसभूमीओ रिट्ठामया उवरि मुद्धया, तासि णं जिण-पडिमाणं पिट्ठतो पत्तेयं २ छत्तधारगपडिमाओ पण्णत्ता-ओ, ताओ णं छत्तधारगपडिमाओ हिमरययकुंदेंदुप्पगा-साइं सकोरेंटमल्लदामाइं धवलाइं आयवत्ताइं सलीलं धारे-माणीओ २ चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासे पत्तेयं २ चामरधारपडिमाओ पण्णत्ताओ , ताओ णं चामरधारपडिमाओ नानामणिकणगरयणविमलमह-रिह ०जाव सलीलं धारेमाणीओ २ चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो दो दो नागपडिमाओ भूयपडिमाओ जक्खपडिमाओ कुंडधारपडिमाओ सव्वरयणामईओ अ-च्छाओ ०जाव चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो अ-ट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं कलसाणं अट्ठसयं भिंगाराणं एवं आयंसाणं थालाणं पाईणं सुपइट्ठाणं मणोगुलियाणं वा-यकरगाणं चित्तगराणं रयणकरंडगाणं हयकंडाणं ०जाव उसभकंडाणं पुप्फचंगेरीणं ०जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फ-पडलगाणं तेल्लसमुग्गाणं ०जाव अंजणसमुग्गाणं अट्ठसयं धूवकडुच्छुयाणं संनिखित्तं चिट्ठंति, सिद्धायतणस्स णं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता । (सू० ३९)

सभाए ण' मित्यादि, सभाया सुधर्मायाः 'उत्तरपुरच्छि-मेण ' मिति उत्तरपूर्वस्यां दिशि महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम् , एकं योजनशतमायामत पञ्चाशत् विष्कम्भ-तो द्वासप्ततिर्योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेनेत्यादि सर्वं सुधर्माव-त् वक्तव्य यावत् गोमानसीवक्तव्यता, तथा चाह—' स-भागमएण ०जाव गोमाणसियाओ इति, किमुक्त भवति ?—यथा सुधर्माया. सभाया पूर्वदक्षिणोत्तरवर्त्तीनि त्रीणि द्वाराणि तेषा च द्वाराणा पुरतो मुखमण्डपा. तेषां च मुखमण्डपाना पुरत प्रेक्षागृहमण्डपा तेषा च प्रेक्षागृह-मण्डपाना पुरतश्चैत्यस्तूपा' सप्रतिमा तेषां च चैत्य-स्तूपाना पुरत चैत्यवृक्षा तेषां च चैत्यवृक्षाणां पुर-तो महेन्द्रध्वजा तेषामपि पुरतो नन्दापुष्करिण्यस्तदन-न्तर गुलिका गोमानस्यश्चोक्ता तथाऽत्रापि सर्वमनेनैव क्रमेण निरवशेषं वक्तव्यम , उल्लोकवर्णनं भूमिभागवर्णन च प्राग्वत् , ' तस्स ण ' मित्यादि , तस्य सिद्धायतनस्या-न्तर्बहुमध्यदेशभागेऽत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता सा-

षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामष्टौ योजनानि बाहल्यत 'सव्वमणिमयी'त्यादि प्राग्वत्। 'तीसे णं' मित्यादि, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेको देवच्छन्दक प्रज्ञप्त, स च षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्या सातिरेकाणि षोडश योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन 'सव्वरयणामए' इत्यादि प्राग्वत्, तत्र च देवच्छन्दके अष्टशतम्—अष्टाधिक शत जिनप्रतिमाना जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां पञ्चधनु शतप्रमाणानामिति भाव, सन्निक्षिप्त तिष्ठति। 'तासि णं जिणपडिमाणं' मित्यादि, तासा जिनप्रतिमानामयमेतद्रूपो वण्णावासो—वर्णकनिवेश प्रज्ञप्त, तपनीयमयानि हस्ततलपादतलानि अङ्करत्नमया अन्त—मध्ये लोहिताक्षरत्नप्रतिसेका नखा कनकमया जङ्घा कनकमयानि जानूनि कनकमया ऊरव कनकमय्या गात्रयष्टय, तपनीयमया नाभयो रिष्टमय्यो रोमराजय तपनीयमया चूचुका—स्तनाग्रभागा तपनीयमया श्रीवत्सः शिलाप्रवालमया विद्रुममया ओष्ठा स्फटिकमया दन्ता तपनीयमया जिह्वा तपनीयमयानि तालुकानि कनकमय्यो नासिका अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेका, अङ्कमयान्यक्षीणि अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेकानि रिष्टरत्नमयानि अक्षिपत्राणि रिष्टरत्नमय्यो भ्रुव कनकमया कपोला कनकमया श्रवणा, कनकमय्यो ललाटपट्टिका वज्रमय्य, शीर्षघटिका तपनीयमय्य केशान्तकेशभूमय, केशान्तभूमय केशभूमयश्चेति भाव, रिष्टमया उपरि मूर्द्धजा—केशा, तासा जिनप्रतिमाना पृष्ठत एकैका छत्रधारप्रतिमा हिमरजतकुन्देन्दुप्रकाश सकोरेण्टमाल्यदामधवलमातपत्र गृहीत्वा सलील धरन्ती तिष्ठति, तथा तासा जिनप्रतिमाना प्रत्येकमुभयो पार्श्वयोर्द्वे द्वे चामरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते, ते च 'चंदप्पभवयरवेरुलियनानामणिरयणखचियचित्तदंडाओ' इति चन्द्रप्रभ—चन्द्रकान्तो वज्र वैडूर्यं च प्रतीत चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवरूपाश्चित्रा—नानाप्रकारा दण्डा येषा तानि तथा, सूत्रे स्त्रीत्व प्राकृतत्वात् 'सुहुमरययदीहवालाउ' इति सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषा तानि तथा 'सखककुदगरयअमयमहियफेणपुजसन्निकासाओ धवलाओ' इति प्रतीत, चामराणि गृहीत्वा सलील वीजयन्त्यस्तिष्ठन्ति, तासां 'सव्वरयणामईओ अच्छाओ' इत्यादि प्राग्वत्, 'तासि णं' मित्यादि, तासा जिनप्रतिमाना पुरतो द्वे द्वे नागप्रतिमे द्वे द्वे यक्षप्रतिमे द्वे द्वे भूतप्रतिमे द्वे द्वे कुण्डधारप्रतिमे सन्निक्षिप्ते तिष्ठत, तस्मिंश्च देवच्छन्दके तासा जिनप्रतिमाना पुरत अष्टशत घण्टानामष्टशत चन्दनकलशानामष्टशत मङ्गलकलशानामष्टशत भृङ्गाराणामष्टशतमादर्शानामष्टशत स्थालानामष्टशत पात्रीणामष्टशत सुप्रतिष्ठानामष्टशत मनोगुलिकाना—पीठिकाविशेषाणामष्टशत वातकरकाणामष्टशत चित्राणा रत्नकरण्डकानामष्टशत हयकण्ठानामष्टशत गजकण्ठानाम् अष्टशत नरकण्ठानामष्टशतं किन्नरकण्ठानामष्टशत किंपुरुषकण्ठानामष्टशतं महोरगकण्ठानामष्टशत वृषभकण्ठानामष्टशत पुष्पचङ्गेरीणामष्टशत माल्यचङ्गेरीणा, मुकुलानि पुष्पाणि ग्रथितानि माल्यानि, अष्टशत चूर्णचङ्गेरीणामष्टशत गन्धचङ्गेरीणामष्टशतं वस्त्रचङ्गेरीणामष्टशतमाभरणचङ्गेरीणामष्टशत सिद्धार्थचङ्गेरीणामष्टशतं लोमहस्तचङ्गेरीणाम्, अष्टशतं लोमहस्तकानां लोमहस्तक च मयूरपुच्छपुञ्जनिका, अष्टशत पुष्पपटलकानामेव माल्यचूर्णगन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकपटलकानामपि प्रत्येकम२ अष्टशत वक्तव्यम् अष्टशतं सिंहासनानामष्टशत छत्राणामष्टशतं चामराणामष्टशतं तैलसमुद्गकानामष्टशत कोष्ठसमुद्गकानामष्टशतं पत्रसमुद्गकानामष्टशतं चोयकसमुद्गकानामष्टशतं तगरसमुद्गकानामष्टशतमेलासमुद्गकानामष्टशत हरितालसमुद्गकानामष्टशत हिङ्गुलकसमुद्गकानामष्टशतं मन शिलासमुद्गकानामष्टशतमञ्जनसमुद्गकाना सर्वाण्यपि अमूनि तैलादीनि परमसुरभिगन्धोपेतानि, अष्टशत ध्वजानाम्, अत्र सङ्ग्रहणिगाथा–"चदणकलसा भिंगा-रगा य आयसया य थाला य। पाईई सुपइट्ठा,मणगुलिका वायकरगा य ॥१॥ चित्ता रयणकरंडा हयगयनरकंठगा य चंगेरी। पडलगसीहासणछत्त, चामरा समुग्गक झया य॥२॥" अष्टशतं धूपकडुच्छुकानां संनिक्षिप्तं तिष्ठति तस्य च सिद्धायतनस्य उपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि ध्वजच्छत्रातिच्छत्रादीनि तु प्राग्वत्।

तस्स णं सिद्धायतणस्स उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं महेगा उववायसभा पण्णत्ता, जहा सभाए सुहम्माए तहेव ०जाव मणिपेढिया अट्ठ जोयणाइं देवसयणिज्जं तहेव सयणिज्जवण्णओ अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता। तीसे णं उववाएसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं महेगे हरए पण्णत्ते एग जोयणसयं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइ उव्वेहेणं तहेव, तस्स णं हरयस्स उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं महेगा अभिसेयसभा पण्णत्ता सुहम्मागमएणं ०जाव गोमाणसियाओ मणिपेढिया सीहासणं सपरिवारं ०जाव दामा चिट्ठंति,तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स बहुअभिसेयभंडे संनिखित्ते चिट्ठइ,अट्ठट्ठ मंगलगा तहेव,तीसे णं अभिसेगसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं अलंकारियसभा पण्णत्ता, जहा सभा सुधम्मा मणिपेढिया अट्ठ जोयणाइ सीहासणं सपरिवारं,तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सुहुबहुअलंकारियभंडे संनिक्खित्ते चिट्ठंति,सेसं तहेव, तीसे णं अलंकारियसभाए उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं महेगा ववसायसभा पण्णत्ता, जहा उववायसभा ०जाव सीहासणं सपरिवार मणिपेढिया अट्ठट्ठ मंगलगा तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स, एत्थ णं महेगे पोत्थयरयणे संनिखित्ते चिट्ठइ, तस्स णं पोत्थयरयणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा–रयणामयाइं पत्तगाइ रिट्ठामईओ कंबिआओ तवणिज्जमए दोरे नाणामणिमए गंठी वेरुलियमए लिप्पासणे रिट्ठामए छंदणे तवणिज्जमई संकला रिट्ठामई मसी वइरामई लेहणी रिट्ठामयाइं अक्खराइं धम्मिए सत्थे, ववसायसभाए णं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा, तीसे णं ववसायसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं नंदापुक्खरिणी पण्णत्ता

हरयसरिमा, तीसे णं णंदाए पुक्खरिणीए उत्तरपुरच्छिमेणं महेगे बलिपीढे पण्णत्ते सव्वरयणामए अच्छे ०जाव पडिरूवे । (सू० ४०)

तस्य च सिद्धायतनस्य उत्तरपूर्वस्यामत्र महत्येका उपपातसभा प्रज्ञप्ता, तस्याश्च सुधर्मागमेन स्वरूपवर्णनपूर्वोदिद्वारत्रयवर्णनमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपादिवर्णनादिप्रकारूपेण तावद्वक्तव्य यावदुल्लोकवर्णन, तस्याश्च बहुसमरमणीयभूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा चाष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्या चत्वारि योजनानि बाहल्येन ' सव्वमणिमयी ' इत्यादि प्राग्वत् , तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्त , तस्य स्वरूप यथा सुधर्मायां सभायां देवशयनीयस्य, तस्या अप्युपपातसभाया उपरि अष्टाष्ट मङ्गलकादीनि प्राग्वत् । ' तेसि णं ' मित्यादि , तस्या उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्या दिशि महानेको ह्रद प्रज्ञप्त , स चैक योजनशतमायामत पञ्चाशत् योजनानि विष्कम्भतो दश योजनान्युद्वेधेन ' अच्छे रययामयकूले ' इत्यादि नन्दापुष्करिण्या इव वर्णन निरवशेष वक्तव्य, ' से णं ' मित्यादि स ह्रद एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वत समन्तात् सपरिक्षिप्त , पद्मवरवेदिकावर्णन वनखण्डवर्णन च प्राग्वत् , तस्य ह्रदस्य त्रिदिशि—तिसृषु दिक्षु त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि , तेषा च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणा तोरणाना च वर्णन प्राग्वत् , तस्य च ह्रदस्य उत्तरपूर्वस्या दिशि अत्र महत्येका अभिषेकसभा प्रज्ञप्ता , सा च सुधर्मसभावत् प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपादिप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावद् गोमानसीवक्तव्यता तदनन्तर तथैव उल्लोकवर्णन भूमिभागवर्णनं च तावत् यावन्मणीना स्पर्श , तस्या अभिषेकसभाया बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता , साऽप्यष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्यत ' सव्वरयणामयी ' इत्यादि प्राग्वत् , तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेक सिंहासनं सिंहासनवर्णक प्राग्वत् , नवरमत्र परिवारभूतानि भद्रासनानि न वक्तव्यानि , तस्मिंश्च सिंहासने सूर्याभस्य देवस्य सुबहु अभिषेकभाण्डम्—अभिषेकयोग्य उपस्कार सन्निक्षिप्त तिष्ठति, ' तीसे णं अभिसेयसभाए अट्ठट्ठ मंगलगा ' इत्यादि प्राग्वत् , तस्याश्च अभिषेकसभाया उत्तरपूर्वस्या दिशि अत्र महत्येका अलङ्कारसभा प्रज्ञप्ता, सा चाभिषेकसभावत् प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपादिवर्णनप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावद् परिवाररहितसिंहासन तत्र सूर्याभस्य देवस्य अलङ्कारिकम्—अलङ्कारयोग्य भाण्ड संनिक्षिप्तमस्ति शेष प्राग्वत् । तस्याश्च अलङ्कारसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका व्यवसायसभा प्रज्ञप्ता, सा च अभिषेकसभावत् प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपादिवर्णनप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावत् सिंहासनं सपरिवार , तत्र महदेक पुस्तकरत्न सन्निक्षिप्तमस्ति, तस्य च पुस्तकरत्नस्य अयमेतद्रूपो ' वण्णावासो ' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्त , रिष्टमय्यौ—रिष्टरत्नमय्यौ कम्बिके पृष्ठके इति भाव , रत्नमयो दवरको यत्र पत्राणि प्रोतानि सन्ति नानामणिमयो ग्रन्थि दवरकस्यादौ येन पत्राणि न निर्गच्छन्ति, अङ्कारत्नमयानि पत्राणि, नानामणिमयं लिप्यासनं, मषीभाजनमित्यर्थ , तपनीयमयी शृङ्खला मषीभाजनसत्का , रिष्टरत्नमयम उपरितनं तस्य छादनं, रिष्टमयी—रिष्टरत्नमयी मषी वज्रमयी लेखनी , रिष्टमयान्यक्षराणि, धार्मिक लेख्य, क्वचित्—' धम्मिए सत्थे ' इति पाठ तत्र धार्मिकं शास्त्रमिति व्याख्येय, तस्याश्च उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्या दिशि महदेकं बलिपीठ प्रज्ञप्त, तच्चाष्टौ योजनानि आयामविष्कम्भत चत्वारि योजनानि बाहल्यत सर्वरत्नमयम ' अच्छ ' मित्यादि प्राग्वत् । तस्य च बलिपीठस्य उत्तरपूर्वस्या दिशि अत्र महत्येका नन्दापुष्करिणी प्रज्ञप्ता, सा च ह्रदप्रमाणा, ह्रदस्येव च तस्या अपि त्रिसोपानवर्णन तोरणवर्णन च प्राग्वत् ।

तदेव यत्र यादृग्रूपं च सूर्याभस्य देवस्य विमानं तत्र तादृग्रूपं चोपवर्णित, सम्प्रति सूर्याभो देव उत्पन्न सन् यदकरोत् यथा च तस्याऽभिषेकोऽभवत् तदुपदर्शयति—

तेणं कालेणं तेणं समएणं सूरियाभे देवे अहुणोववण्णमित्तए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छइ , तं जहा—आहारपज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए, इंदियपज्जत्तीए, आणपाणपज्जत्तीए, भासामणपज्जत्तीए । तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गयस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं मे पुव्विं करणिज्जं ? किं मे पच्छा करणिज्जं? किं मे पुव्विं सेयं ? किं मे पच्छा सेयं ? किं मे पुव्विंपि पच्छावि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ ?, तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा सूरियाभस्स देवस्स इमेयारूवमज्झत्थियं ०जाव समुप्पन्नं समभिजाणित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिकट्टु जएणं विजएणं वद्धाविन्ति वद्धावित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया णं सूरियाभे विमाणे सिद्धायतणंसि जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमित्ताणं अट्ठसयं संनिक्खित्तं चिट्ठति, सभाए णं सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहूओ जिणसकहाओ संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति, ताओ णं देवाणुप्पियाणं अण्णेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ ०जाव पज्जुवासणिज्जाओ, त एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं करणिज्जं, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा करणिज्जं तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं सेयं तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा सेयं तं एयं

णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पि पच्छा वि हियाए सुहाए ख-माए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सति । (सू०४१)

तए णं से सूरियाभे देवे तेसिं सामाणियपरिसोववन्नगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हय-हियए सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ २ हित्ता उववायसभाओ पुर-च्छिमिल्लेणं दारेणं निग्गच्छइ,जेणेव हरए तेणेव उवागच्छ-ति उवागच्छित्ता हरयं अणुपयाहिणीकरेमाणे अणु० करे-माणे पुरच्छिमिल्लेणं तोरणेणं अणुपविसइ अणुपविसित्ता पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता जलावगाहं जलमज्जणं करेइ२रित्ता जलकिड्डं करेइ२रित्ता ज-लाभिसेयं करेइ२रित्ता आयंते चोक्खे परमसुईभूए हरयाओ पच्चुत्तरइ २ रित्ता,जेणेव अभिसेयसभा तेणेव उवागच्छति जे०तेणेव उवागच्छित्ता अभिसेयसभं अणुपयाहिणीकरेमा-णे अणु०करेमाणे पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ २ त्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने। तए णं सूरियाभस्स देवस्स सामा-णियपरिसोववन्नगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति सद्दावित्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! सूरियाभस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभि-सेयं उवट्ठवेह,तए णं ते आभिओगिआ देवा सामाणि-यपरिसोववन्नेहिं देवेहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठा ०जाव हियया करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवो ! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडि-सुणंति, पडिसुणित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्क-मंति, उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमित्ता वेउव्विय-समुग्घाएणं समोहणंति समोहणित्ता संखेज्जाइं जो-यणाइं ०जाव दोचं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समो-हणइ समोहणित्ता अट्ठसहस्सं सोवन्नियाणं कलसाणं १ अट्ठसहस्सं रुप्पमयाणं कलसाणं २ अट्ठसहस्सं म-णिमयाणं कलसाणं ३ अट्ठसहस्सं सुवण्णरुप्पमयाणं कलसाणं ४ अट्ठसहस्सं सुवन्नमणिमयाणं कलसा-ण ५ अट्ठसहस्सं रुप्पमणिमयाणं कलसाणं ६ अ-ट्ठसहस्सं सुवण्णरुप्पमणिमयाणं कलसाणं ७ अट्ठसह-स्सं भोमिज्जाणं कलसाणं ८, एवं भिंगाराणं आ-यंसाणं थालीणं पाईणं सुपतिट्ठाणं रयणकरंडगाणं पुप्फचंगेरीणं ०जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं ०जाव लोमहत्थपडलगाणं छत्ताण चामराणं तेल्लस-मुग्गाणं ०जाव अंजणसमुग्गाणं अट्ठसहस्सं धूवकडु-च्छुयाणं विउव्वंति, विउव्वित्ता ते साभाविए य वि-उव्विए य कलसे य ०जाव कडुच्छुए य गिण्हति गिण्हित्ता सूरियाभाओ विमाणाओ पडिनिक्खमंति पडिनिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए चवलाए ०जाव ति-रियमसंखेज्जाणं ०जाव वीतिवयमाणे वीतिवयमाणे जे-णेव खीरोदयसमुद्दे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता खीरोयगं गिण्हंति जाइं तत्थुप्पलाइं ताइं गेण्हंति ०जा-व सयसहस्सपत्ताइं गिण्हंति २ ण्हित्ता जेणेव पुक्खरोदए समुद्दे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता पुक्खरोदयं गेण्हंति गिण्हित्ता जाइं तत्थुप्पलाइं सयसहस्सपत्ताइं ताइं ०जाव गिण्हंति गिण्हित्ता जेणेव समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयाइं वासाइं जेणेव मागहवरदामपभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति २ त्ता तित्थोदगं गेण्हति २ ण्हित्ता ति-त्थमट्टियं गेण्हंति २ त्ता जेणेव गंगासिंधुरत्तारत्तवईओ महानईओ तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सलिलोदगं गेण्हंति सलिलोदगं गेण्हित्ता उभओ कूलमट्टियं गेण्हंति कूल-मट्टियं गेण्हित्ता जेणेव चुल्लहिमवंतसिहरिवासहरपव्व-या तेणेव उवगच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता दगं गे-ण्हंति सव्वतुयरे सव्वपुप्फे सव्वगंधे सव्वमल्ले स-व्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हंति गिण्हित्ता जेणेव पउम-पुंडरीयदहे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता दहोदगं गेण्हंति गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सय-सहस्सपत्ताइं ताइं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव हेमवय-एरवयाइं वासाइं जेणेव रोहियरोहियंसासुवण्णकूलरु-प्पकूलाओ महाणईओ तेणेव उवागच्छति , सलिलो-दगं गेण्हंति २ त्ता उभओ कूलमट्टिय गिण्हंति २ त्ता जे-णेव सद्दावतिवियडावतिपरियागा वट्टवेयड्डपव्वया ते-णेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता सव्वतुयरे तहेव जे-णेव महाहिमवंतरुप्पिवासहरपव्वया तेणेव उवागच्छं-ति , तहेव जेणेव महापउममहापुंडरीयद्दहा तेणेव उ-वागच्छंति उवागच्छित्ता दहोदगं गिण्हंति तहेव जे-णेव हरिवासरम्मगवासाइं जेणेव हरिकंतनारिकंताओ महाणईओ तेणेव उवागच्छंति , तहेव जेणेव गंधावइ-मालवतपरियाया वट्टवेयड्डपव्वया तेणेव तहेव जेणे-व णिसढणीलवंतवासधरपव्वया तहेव जेणेव तिगि-च्छिकेसरिद्दहाओ तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता त-हेव जेणेव महाविदेहे वासे जेणेव सीतासीतोदाओ महाणदीओ तेणेव तहेव जेणेव सव्वचक्कवट्टिविजया जेणेव सव्वमागहवरदामपभासाइं तित्थाइं तेणेव उ-वागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गेण्हंति गेण्हित्ता सव्वंतरणईओ जेणेव सव्ववक्खारपव्वया ते-णेव उवागच्छंति सव्वतुयरे तहेव जेणेव मंदरे प-

व्वते जेणेव भद्दसालवणे तेणेव उवागच्छंति स-व्वतुयरे सव्वपुप्फे सव्वमल्ले सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव णंदणवणे तेणेव उ-वागच्छंति उवागच्छित्ता सव्वतुयरे ०जाव सव्वोस-हिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं गिण्हंति गिण्हित्ता जेणेव सोमणस्सवणे तेणेव उवागच्छंति सव्वतुयरे ०जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं च दिव्वं च सुमणदामं ददरमलयसुगंधिए य गंधे गिण्हंति गिण्हित्ता एगतो मिलायंति २ यित्ता ताए उक्किट्ठाए ०जाव जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव अभिसे-यसभा जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति उवा-गच्छित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति वद्धावित्ता तं महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेंति। तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ अग्गमहिसीओ सपरिवारातो तिन्नि परिसाओ सत्त अ-णियाहिवइणो ०जाव अन्नेवि बहवे सूरियाभविमाणवा-सिणो देवा य देवीओ य तेहिं साभाविएहि य वेउव्वि-एहि य वरकमलपइट्ठाणेहि य सुरभिवरवारिपडिपुन्नेहिं चंदणकयचच्चिएहिं आविद्धकंठेगुणेहिं पउमुप्पलपिहाणेहिं सुकुमालकोमलकरयलपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्सेणं सोव-न्नियाणं कलसाणं ०जाव अट्ठसहस्सेणं भोमिज्जाणं कल-साणं सव्वोदएहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुयरेहिं ०जाव सव्वो-सहिसिद्धत्थएहि य सव्विड्ढीए ०जाव वाइएणं महया २ इं-दाभिसेएणं अभिसिंचति,तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स महया २ इंदाभिसेए वट्टमाणे अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं णच्चोयगं नातिमट्टियं पविरलफुसियरयरेणुवि-णासणं दिव्वं सुरभिगंधोदगं वासं वासंति, अप्पेगतिया देवा हयरयं नट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं आसियसंमज्जिओ वलित्तं सुइसंमट्ठरत्थंतरावणवीहियं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं मंचाइमंचकलियं करेंति, अप्पेग-इया देवा सूरियाभं विमाणं णाणाविहरागोसियं झय-पडागाइपडागमंडियं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं लाउल्लोइयमहियं गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदि-ण्णपंचंगुलितलं करेंति अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेस-भागं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं आस-त्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं करेंति अप्पेग-तिया देवा सूरियाभं विमाणं पंचवण्णसुरभिमुक्कपुप्फपुंजो-वयारकलियं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं काला-गुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामं करेंति, अप्पेगइया देवा सूरियाभं विमाणं सुगंधगंधियं गंधवट्टि-भूतं करेंति अप्पेगतिया देवा हिरण्णवासं वासंति सुवण्णवासं वासंति रययवासं वासंति वइरवासं वासंति पुप्फवासं० फलवासं० मल्लवासं० गंधवासं० चुण्णवासं० आभरण-वासं वासंति अप्पेगतिया देवा हिरण्णविहिं भाएंति, एवं सुवण्णविहिं भाएंति रयणविहिं पुप्फविहिं फलविहिं मल्लविहिं चुण्णविहिं वत्थविहिं गंधविहिं भाएंति, तत्थ अ-प्पेगतिया देवा आभरणविहिं भाएंति, अप्पेगति-या चउव्विहं वाइतं वाइंति ततं विततं घणं झु-सिरं, अप्पेगइया देवा चउव्विहं गीयं गायंति, तं जहा-उक्खित्तायं पायत्तायं मंदायं रोइतावसाणं, अप्पेगतिया देवा दुयं नट्टविहिं उवदंसिंति अप्पेगतिया विलंबियनट्ट-विहिं उवदंसेति अप्पेगतिया देवा दुतविलंबियं णट्टविहिं उवदंसेति, एवं अप्पेगतिया अंचियं नट्टविहिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा आरभडं भसोलं आरभडभसोलं उप्पय-निवयपमत्तं संकुचियपसारियं रियारियं भतसंभंतणामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा चउव्विहं अ-भिणयं अभिणयंति, तं जहा-दिट्ठंतियं पाडंतियं सामंतोव-णिवाइयं लोगअंतोमज्झावसाणियं, अप्पेगतिया देवा बु-क्कारेंति अप्पेगतिया देवा पीणेंति अप्पेगतिया वासेंति अ-प्पेगतिया हक्कारेंति अप्पेगतिया विणेंति तडवेंति अप्पेग-इया वग्गंति अप्फोडेंति अप्पेगतिया अप्फोडेंति वग्गंति अप्पे० तिवइं छिंदंति अप्पेगतिया हयहेसियं करेंति, अप्पे-गतिया हत्थिगुलगुलाइयं करेंति, अप्पेगतिया रहघणघ-णाइयं करेंति, अप्पेगतिया हयहेसियहत्थिगुलगुलाइयर-हघणघणाइयं करेंति, अप्पेगतिया उच्छोलेंति अप्पेगतिया पच्छोलेंति अप्पेगतिया उक्किट्ठियं करेंति अप्पे० उच्छोलेंति पच्छोलेंति उक्कि० अप्पेगतिया तिन्नि वि,अप्पेगतिया उव-यंति अप्पेगतिया उप्पयंति अप्पेगतिया परिवयंति अप्पे-गइया तिन्नि वि,अप्पेगइया सीहनायंति अप्पेगतिया ददरयं करेंति अप्पेगतिया भूमिचवेडं दलयंति अप्पे० तिन्नि वि, अप्पेगतिया गज्जंति अप्पेगतिया विज्जुयायंति अप्पेगतिया वासं वासंति अप्पेगतिया तिन्नि वि करेंति,अप्पेगतिया ज-लंति अप्पेगतिया तवंति अप्पेगतिया पतवेंति अप्पेगतिया तिन्नि वि,अप्पेगतिया हक्कारेंति अप्पेगतिया थुक्कारेंति अ-प्पेगतिया धक्कारेंति, अप्पेगतिया साइं साइं नामाइं साहेंति अप्पेगतिया चत्तारि वि, अप्पेगइया देवा देवसन्निवायं करेंति, अप्पेगतिया देवुज्जोयं करेंति,अप्पेगइया देवुक्क-

लियं करेंति, अप्पेगइया देवा कहकहग करेंति, अप्पेगतिया देवा दुहदुहगं करेंति, कप्पेगतिया चेलुक्खेव करेंति, अप्पेगइया देवमन्निवायं देवुज्जोयं देवुक्कलियं देवकहकहगं देवदुहदुहगं चेलुक्खेव करेंति, अप्पेगतिया उप्पलहत्थगया ०जाव सयसहस्सपत्तहत्थगया अप्पेगतिया कलमहत्थगया ०जाव धूवकडुच्छुयहत्थगया हट्ठ तुट्ठ०जाव हियया सव्वतो समंता आहावंति परिधावंति। तए णं तं सूरियाभं देव चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ ०जाव सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अण्णे य बहवे सूरियाभरायहाणिवत्थव्वा देवा य देवीओ य महया इंदाभिसेगेणं अभिसिंचंति अभिसिंचित्ता पत्तेयं २ करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अजलिं कट्टु एवं वयासी-जय जय नंदा जय जय भद्दा ते अजियं जिणाहि जियं च पालेहि जियमज्झे वसाहि इंदो इव देवाणं चंदो इव ताराणं चमरो इव असुराणं धरणो इव नागाणं भरहो इव मणुयाणं बहूइं पलिओवमाइं बहूइ सागरोवमाइं बहूइं पलिओवमसागरोवमाइं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं ०जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं सूरियाभस्स विमाणस्स अन्नेसिं च बहूणं सूरियाभविमाणवासीण देवाण य देवीण य आहेवच्चं ०जाव महया २ कारेमाणे पालेमाणे विहराहि त्ति कट्टु जय २ सद्दं पउंजंति। तए णं से सूरियाभे देवे महया महया इंदाभिसेगेण अभिसित्ते समाणे अभिसेयसभाओ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं निग्गच्छति निग्गच्छित्ता जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता अलंकारियसभं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे २ अलंकारियसभ पुरच्छिमिल्लेण दारेणं अणुपविसति २ सित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने। तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा अलंकारियभंडं उवट्ठवेंति, तए णं से सूरियाभे देवे तप्पढमयाए पम्हलसूमालाए सुरभीए गंधकासाइए गायाइं लूहेति लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपति अणुलिंपित्ता नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहर वन्नफरिसजुत्तं हयलालापेलवातिरेग धवल कणगखचियन्तकम्म आगासफालियसमप्पभं दिव्व देवदूसजुयलं नियंसेति नियंसेत्ता हारं पिणद्धेति २ द्धेत्ता अद्धहारं पिणद्धेइ २ द्धेत्ता एगावलिं पिणद्धेति २ त्ता मुत्तावलिं पिणद्धेति २ द्धेत्ता रयणावलिं पिणद्धेइ २ द्धेत्ता एवं अंगयाइं केयूराइं कडगाइं तुडियाइं कडिसुत्तगं दसमुद्दाणंतगं विकच्छसुत्तगं सुरविं पालंब कुडलाइं चूडामणिं मउडं पिणद्धेइ २ द्धेत्ता गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पिव अप्पाणं अलंकियविभूसियं करेइ २ रित्ता दद्दरमलयसुगंधगंधिएहिं गायाइं भुसंडेइ दिव्व च सुमणदामं पिणद्धेइ। (सू० ४२)

'तेण कालेणं तेणं समएण' मित्यादि, तस्मिन् काले तस्मिन समये सूर्याभो देव सूर्याभे विमाने उपपातसभायां देवशयनीये देवदूष्यान्तरे प्रथमतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रयाऽवगाहनया समुत्पन्न 'तए ण' मित्यादि सुगम नवरम् इह भाषामन पर्याप्त्यो समाप्तिकालान्तरस्य प्राय शेषपर्याप्तिसमाप्तिकालान्तरापेक्षया स्तोकत्वादेकत्वेन विवक्षणमिति 'पञ्चविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभाव गच्छइ' इत्युक्त 'तए ण' मित्यादि, ततस्तस्य सूर्याभस्य देवस्य पञ्चविधया पर्याप्त्या पर्याप्तभावमुपगतस्य सतोऽयमेतद्रूप सकल्प समुदपद्यत। 'अब्भत्थिए' इत्यादि पदव्याख्यान पूर्ववत्, किं 'मे' मम पूर्वं करणीय किं मे पश्चात्करणीय ? किं मे पूर्व कर्त्तु श्रेय ? किं मे पश्चात कर्त्तु श्रेय ?, तथा किं मे पूर्वमपि च पश्चादपि च हिताय भावप्रधानोऽयं निर्देशो हितत्वाय—परिणामसुन्दरतायै सुखाय-शर्मणे क्षमाय अयमपि भावप्रधानो निर्देश सगतत्वाय नि श्रेयसाय निश्चितकल्याणाय अनुगामिकतायै-परम्परशुभानुबन्धसुखाय भविष्यतीति, इह प्राक्तनो ग्रन्थ प्रायोऽपूर्वो भूयानपि च पुस्तकेषु वाचनाभेदस्ततो माभूत् शिष्याणा सम्मोह इति क्वापि सुगमोऽपि यथावस्थितवाचनाक्रमप्रदर्शनार्थं लिखित, इत ऊर्ध्वं तु प्राय सुगम प्राग्व्याख्यातस्वरूपश्च। न च वाचनाभेदोऽप्यतिबाहुर इति स्वय परिभावनीयो, विषमपदव्याख्या तु विधास्यते इति। 'तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा इममेयारूव' मित्यादि 'आयंते' इति नवानामपि श्रोतसां शुद्धोदकप्रक्षालनेन आचान्तो-गृहीताचमनश्चोक्ष स्वल्पस्यापि शङ्कितमलस्यापनयनात् अत एव परमशुचिभूतो, 'महत्थं महग्घ महरिह विउल इंदाभिसेय' मिति, महान् अर्थो-मणिकनकरत्नादिक उपयुज्यमानो यस्मिन् स महार्थ त, तथा महान् अर्घ—पूजा यत्र स महार्घ त, महम्—उत्सवमर्हतीति महार्हस्त, विस्तीर्णं शक्राभिषेकवत् इन्द्राभिषेकमुपस्थापयत 'अट्ठसहस्स सोवण्णियाण कलसाण विउव्वति' इत्यादि, अत्र भूयान् वाचनाभेद इति यथावस्थितवाचनाप्रदर्शनाय लिख्यते—अष्टसहस्रम्—अष्टाधिक सहस्र सौवर्णिकाना कलशानाम्—अष्टसहस्र रूप्यमयानाम् २ अष्टसहस्र मणिमयानाम् ३ अष्टसहस्र सुवर्णमणिमयानाम् ४ अष्टसहस्र सुवर्णरूप्यमयानाम् ५ अष्टसहस्र रूप्यमणिमयानाम् ६ अष्टसहस्र सुवर्णमणिमयानाम् ७ अष्टसहस्र भौमेयाना कलशानाम् ८ अष्टसहस्र भृङ्गाराणामेवमादर्शस्थालपात्रीसुप्रतिष्ठितवातकरकचित्ररत्नकरण्डकपुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तकपटलकसिंहासनच्छत्र—चामरसमुद्गकध्वजधूपकडुच्छुकाना प्रत्येक प्रत्येकमष्टसहस्रं २ विकुर्वन्ति विकुर्वित्वा 'ताए उक्किट्ठाए' इत्यादि व्याख्यानार्थं, 'सव्व(तू)तुवरा' इत्यादि, सर्वान् तु (तू) वरान्—कषायान् सर्वाणि पुष्पाणि सर्वान् गन्धान्—गन्धवासादीन् सर्वा-

णि माल्यानि ग्रथितादिभेदभिन्नानि सर्वौषधीन् सिद्धार्थकान्--सर्षपकान् गृह्णन्ति, इहैव क्रमः--पूर्वं क्षीरसमुद्रे उपागच्छन्ति तत्रोदकमुत्पलादीनि च गृह्णन्ति, ततः पुष्करोदे समुद्रे तत्रापि तथैव, ततो मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतवर्षेषु मागधादिषु तीर्थेषु तीर्थोदकं तीर्थमृत्तिकां च गृह्णन्ति, ततो गङ्गासिन्धुरक्तारक्तवतीषु नदीषु सलिलोदकमुभयतटमृत्तिकां च गृह्णन्ति, ततः क्षुल्लहिमवच्छिखरिषु सर्वत् (तु) वरसर्वपुष्पसर्वमाल्यसर्वौषधिसिद्धार्थकान्, ततस्तत्रैव पद्महदपौण्डरीकहृदेषु हृदोदकमुत्पलादीनि च तद्वतानि, ततो हैमवतैरण्यवतवर्षेषु रोहितारोहितांशासुवर्णकूलारूप्यकूलासु महानदीषु सलिलोदकमुभयतटमृत्तिकां, तदनन्तरं शब्दापातिविकटापातिवृत्तवैताढ्येषु सर्वतूवरादीन्, ततो महाहिमवद्रुक्मिवर्षधरपर्वतेषु सर्वतूवरादीन्, ततो महापद्मपुण्डरीकहृदेषु हृदोदकादीनि, तदनन्तरं हरिवर्षरम्यकवर्षेषु हरिसलिलाहरिकान्तानारीकान्तासु महानदीषु सलीलोदकमुभयतटमृत्तिकां च, ततो गन्धापातिमाल्यवत्पर्यायवृत्तवैताढ्येषु तूवरादीन्, ततो निषिधनीलवद्वर्षधरपर्वतेषु सर्वतूवरादीन्, तदनन्तरं तद्गतेषु तिगिञ्छिकेसरिमहाह्रदेषु हृदोदकादीनि, ततः पूर्वविदेहापरविदेहेषु सीतासीतोदानदीषु सलिलोदकमुभयतटमृत्तिकां च ततः सर्वेषु चक्रवर्त्तिविजेतव्येषु मागधादिषु तीर्थेषु तीर्थोदकं तीर्थमृत्तिकां च, तदनन्तरं वक्षस्कारपर्वतेषु सर्वतूवरादीन्, ततः सर्वासु अन्तरनदीषु सलिलोदकमुभयतटमृत्तिकां च, तदनन्तरं मन्दरपर्वते भद्रशालवने तूवरादीन्, ततो नन्दनवने तूवरादीन् सरसं च गोशीर्षचन्दनं तदनन्तरं सौमनसवने सर्वतूवरादीन् सरसं च गोशीर्षचन्दनं दिव्यं च सुमनोदाम गृह्णन्ति, ततः पण्डकवने तूवरपुष्पगन्धमाल्यसरसगोशीर्षचन्दनदिव्यसुमनोदामानि, 'दद्दरमलए सुगंधिए य गंधे गिण्हंति' इति दर्दरः--चीवरावनद्धं कुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितं तत्र पक्वं वा यत् मलयोद्भवतया प्रसिद्धत्वात् मलयज--श्रीखण्डे येषु तान् सुगन्धिकान्-परमगन्धोपेतान् गन्धान् गृह्णन्ति. 'आसियसमज्जिओवलित्त सुइसम्मट्ठरत्थतरावणवीहियं करेइ' इति आसिक्तम्--उदकच्छटकेन सन्मार्जितं--संभाव्यमानकचवरशोधनेन उपलिप्तमिव गोमयादिना उपलिप्तं तथा सिक्तानि जलेनात एव शुचीनि--पवित्राणि सम्मृष्टानि--कचवरापनयनेन रथ्यान्तराणि आपणवीथय इव--हट्टमार्गा इवापणवीथयो--रथ्याविशेषा यस्मिन् तत्तथा कुर्वन्ति, 'अप्पेगइया देवा हिरण्णविहिं भाएंति' अप्येकका--केचन देवा हिरण्यविधिं-हिरण्यरूपं मङ्गलभूतं प्रकारं भाजयन्ति-विश्राणयन्ति,शेषदेवेभ्यो ददतीति भावः, एवं सुवर्णरत्नपुष्पफलमाल्यगन्धचूर्णाभरणविधिभाजनमपि भावनीयम्। 'उप्पायनिवयं'त्यादि,उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पातनिपातस्तम्, एवं निपातोत्पातं संकुचितप्रसारितं 'रियारियं' मिति गमनागमनं भ्रान्तसम्भ्रान्तनामम् आरभटभसोलं दिव्यं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति,अप्येकका देवा 'बुक्कारेंति'बुक्कारशब्दं कुर्वन्ति,'पीणंति पीनयन्ति-पीनमात्मानं कुर्वन्ति स्थूलं भवन्तीत्यर्थः, 'लासंति लासयन्ति लास्यरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, 'तंडवेंति त्ति ताण्डवयन्ति-ताण्डवरूपं नृत्यं कुर्वन्ति. 'बुक्कारेंति' बुक्कारं कुर्वन्ति 'अप्फोडंति' आस्फोटयन्ति, भूम्यादिकमिति गम्यते, 'उच्छलंति'त्ति उच्छलयन्ति 'पोच्छलंति' प्रोच्छलयन्ति 'उवयंति' त्ति अवपतन्ति 'उप्पयंति'त्ति उत्पतन्ति'परिवयंति'त्ति परिपतन्ति, तिर्यक् निपतन्तीत्यर्थः। 'जलंति' त्ति ज्वालामालाकुला भवन्ति 'तवंति' त्ति तप्ता भवन्ति प्रतप्ता भवन्ति 'थुक्कारेंति' त्ति महता शब्देन थूत्कुर्वन्ति 'देवोक्कलियं करेंति' त्ति देवानां वातस्येवोत्कलिका देवोत्कलिका तां कुर्वन्ति, 'देवकहकहं करेंति' त्ति प्राकृतानां देवानां प्रमोदभरवशतः स्वेच्छावचनैर्बोलकोलाहलो देवकहकहकस्तं कुर्वन्ति 'दुहदुहकं करेंति दुहदुहकमित्यनुकरणमेतत्।'तप्पढमयाए पम्हलाए सुकुमालाए सुरभीए गंधकासाइयाए गायाइं लूहइ' इति तत्प्रथमतया--तस्यामलङ्कारसभायां प्रथमतया पद्मला च सा सुकुमारा च पद्मलसुकुमारा तया सुरभ्या गन्धकाषायिकया--सुरभिगन्धकषायद्रव्यपरिकर्मितया लघुशाटिकया गात्राणि रूक्षयन्ति'नासानीसासवायवोज्झं' मिति नासिकानिःश्वासवातवाह्यमनेन तच्छ्लक्ष्णतामाह,'चक्खुहरं'मिति चक्षुर्हरति आत्मवशं नयति विशिष्टरूपातिशयकलितत्वात् इति चक्षुर्हरं 'वण्णफरिसजुत्तं' मिति वर्णेन स्पर्शेन चातिशयेनेति गम्यते युक्तं वर्णस्पर्शयुक्तं, 'हयलालापेलवाइरेगं' मिति हयलाला-अश्वलाला तस्या अपि पेलवमतिरेकेण हयलालापेलवातिरेकं 'नाम नाम्नैकार्थे समासो बहुलं' मिति समासः, अतिविशिष्टमृदुत्वलघुत्वगुणोपेतमिति भावः, धवलं--श्वेतं, तथा कनकेन खचितानि--विच्छुरितानि अन्तकर्माणि-अञ्चलयोर्वानलक्षणानि यस्य तत् कनकखचितान्तकर्म आकाशस्फटिक नामातिस्वच्छ स्फटिकविशेषस्तत्समप्रभं दिव्यं देवदूष्ययुगलं 'नियंसेइ' परिधत्ते परिधाय हारादीन्याभरणानि पिनह्यति, तत्र हारः--अष्टादशसरिकः अर्द्धहारो-नवसरिकः एकावली--विचित्रमणिका मुक्तावली--मुक्ताफलमयी रत्नावली--रत्नमयमणिकात्मिका प्रालम्बः--तपनीयमयो विचित्रमणिरत्नभक्तिचित्र आत्मनः प्रमाणेन सुप्रमाणः आभरणविशेषः, कटकानि-कलाचिकाभरणानि त्रुटितानि-बाहुरक्षिका अङ्गदानि-बाह्वाभरणविशेषा दशमुद्रिकानन्तकं हस्ताङ्गुलिसंबन्धि मुद्रिकादशकं कुण्डले--कर्णाभरणे 'चूडामणिं' मिति चूडामणिर्नाम सकलपार्थिवरत्नसर्वसारो देवेन्द्रमनुष्येन्द्रमूर्द्धकृतनिवासो निःशेषामङ्गलाशान्तिरोगप्रमुखदोषापहारकारी प्रवरलक्षणोपेतः परममङ्गलभूत आभरणविशेषः 'चित्तरयणसंकडं मउडमिति' चित्राणि--नानाप्रकाराणि यानि रत्नानि तैः संकटश्चित्ररत्नसङ्कटः प्रभूतरत्ननिचयोपेत इति भावः, तं 'दिव्वं सुमणदामं' ति पुष्पमालां 'गंथिमे' त्यादि, ग्रन्थिमं-ग्रन्थनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमं 'भावादिमः' ॥६।४।२१॥ प्रत्ययः, यत्सूत्रादिना ग्रथ्यते तद्ग्रन्थिममिति भावः, पूरिमं यत् ग्रथितं सत् वेष्ट्यते,तथा पुष्पलम्बूसको; गण्डक इत्यर्थः, पूरिमं येन वंशशलाकामयं पञ्जरादि पूर्यते, संघातिमं यत् परस्परतो नालसंघातेन संघात्यते।

तए णं से सूरियाभे देवे केसालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं वत्थालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेणं

अलंकियविभूसिए समाणे पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेति२ट्ठित्ता अलंकारियसभाओ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं पडिणिक्खमइ २ मित्ता जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छति ववसायसभं अणुपयाहिणीकरेमाणे२ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति, जेणेव सीहासणवरगए०जाव सन्निसन्ने । तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा पोत्थयरयणं उवणेंति, तते णं से सूरियाभे देवे पोत्थयरयणं गिण्हति पोत्थ० गिण्हित्ता पोत्थयरयणं मुयइ पोत्थ० मुइत्ता पोत्थयरयणं विहाडेइ विहाडित्ता पोत्थयरयणं वाएति पोत्थयरयणं वाएत्ता धम्मियं ववसायं गिण्हति गिण्हित्ता पोत्थयरयणं पडिनिक्खमइ सीहासणातो अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठेत्ता ववसायसभातो पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं पडिनिक्खमइ २ मित्ता जेणेव नंदा पुक्खरणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता णंदापुक्खरिणीपुरच्छिमिल्लेणं तोरणेणं पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता हत्थपादं पक्खालेति पक्खालित्ता आयति चोक्खे परमसुइभूए एगं महं सेयं रययामयं विमलं सलिलपुण्णं मत्तगयमुहागितिकुंभसमाणं भिंगारं पगेण्हति २ ण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं ०जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गेण्ह ति २ ण्हित्ता णंदातो पुक्खरिणीतो पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता जेणेव सिद्धायतणे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।(सू०४३)

तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ ०जाव सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अन्ने य बहवे सूरियाभं ०जाव देवीओ य अप्पेगतिया देवा उप्पलहत्थगया ०जाव सयसहस्सपत्तहत्थगया सूरियाभं देवं पिट्ठतो २ समणुगच्छंति । तए णं तं सूरिभं देवं बहवे आभिओगिया देवा य देवीओ य अप्पेगतिया कलसहत्थगया ०जाव अप्पेगतिया धूवकडुच्छुयहत्थगता हट्ठतुट्ठ ०जाव सूरियाभं देवं पिट्ठतो समणुगच्छंति । तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं ०जाव अन्नेहि य बहूहि य सूरियाभ ०जाव देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव णातियरवेणं जेणेव सिद्धायतणे तेणेव उवागच्छति२ त्ता सिद्धायतणं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव जिणपडिमाओ तेणेव उवागच्छति२त्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेति २त्ता लोमहत्थगं गिण्हति२त्ता जिणपडिमाणं लोमहत्थएणं पमज्जइ पमज्जित्ता जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेइ ण्हाणित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ अणुलिंपित्ता सुरभिगंधकासाइएणं गायाइं लूहेति लूहित्ता जिणपडिमाणं अहयाइं देवदूसजुयलाइं नियंसेइ नियंसित्ता पुप्फारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं चुण्णारुहणं वन्नारुहणं वत्थारुहणं आभरणारुहणं करेइ करित्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं करेइ आसत्तोसत्त० करेत्ता कयग्गाहगहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेति करित्ता जिणपडिमाणं पुरतो अच्छेहिं सण्हेहिं रययामएहिं अच्छरसातंदुलेहिं अट्ठट्ठ मंगले आलिहइ,तं जहा-सोत्थिय ०जाव दप्पणं, तयाणंतरं च णं चंदप्पभरयणवइरवेरुलियविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुत्तमाणुविद्धं च धूववट्टिं विणिम्मुयंतं वेरुलियमयं कडुच्छुयं पग्गहियं पयत्तेणं धूवं दाऊण जिणवराणं अट्ठसयविसुद्धगन्थजुत्तेहिं अत्थजुत्तेहि अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं संथुणइ २ णित्ता सत्तट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ २ त्ता वामं जाणुं अंचेइ२त्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवाडेइ २ त्ता ईसिं पच्चुण्णमइ २ त्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अञ्जलिं कट्टु एवं वयासी-नमोत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं, वंदइ वंदित्ता नमंसइ २ सित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ सित्ता सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभागं लोमहत्थेणं पमज्जति, दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ, सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलं मंडलगं आलिहइ २ त्ता कयग्गाहगहियं ०जाव पुंजोवयारकलियं करेइ करेत्ता धूवं दलयइ, जेणेव सिद्धायतणस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छति२त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता दारचेडीओ य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं चचए दलयइ दलइत्ता पुप्फारुहणं मल्ला० जाव आभरणारुहणं करेइ करेत्ता आसत्तोसत्त ०जाव धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्ले दारे मुहमंडवे जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता बहुमज्झदेसभागं लोमहत्थेणं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलं मंडलगं आलिहइ २ त्ता कयग्गाहगहिय ०जाव धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छ २ च्छित्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता दारचेडीओ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थेणं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए दगधाराए० सरसेणं

गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ २ त्ता पुप्फारुहणं ०जाव आभरणारुहणं करेइ २ त्ता आसत्तोसत्त० कयग्गाहग्गहियं० धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्लमुहमंडवस्स उत्तरिल्ला खंभपंती तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता लोमहत्थं परामुसइ २ त्ता थंभे य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पम० जहा चेव पच्चत्थिमिल्लस्स दारस्स ०जाव धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसति दारचेडीओ तं चेव सव्वं जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता दारचेडीओ तं चेव सव्वं जेणेव दाहिणिल्ले पेच्छाघरमंडवे जेणेव दाहिणिल्लस्स पेच्छाघरमंडवस्स बहुमज्झदेसभागे जेणेव वइरामए अक्खाडए जेणेव मणिपेढिया जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता अक्खाडगं च मणिपेढियं च सीहासणं च लोमहत्थएणं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ, पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त ०जाव धूवं दलेइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्लस्स पेच्छाघरमंडवस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणे० उत्तरिल्ले दारे तं चेव जं चेव पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव, दाहिणे दारे तं चेव, जेणेव दाहिणिल्ले चेइयथूभे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता थूभं च मणिपेढियं च दिव्वाए दगधाराए अब्भु० सरसेणं गोसीस० चच्चए दलेइ २ त्ता पुप्फारु० आसत्तो० जाव धूवं दलेइ, जेणेव पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव जिणपडिमा तं चेव, जेणेव उत्तरिल्ला जिणपडिमा तं चेव सव्वं, जेणेव पुरत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव पुरत्थिमिल्ला जिणपडिमा तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तं चेव, दाहिणिल्ला मणिपेढिया दाहिणिल्ला जिणपडिमा तं चेव, जेणेव दाहिणिल्ले चेइयरुक्खे तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता तं चेव, जेणेव महिंदज्झए जेणेव दाहिणिल्ला तेणेव उवागच्छति २ त्ता लोमहत्थगं परामुसति तोरणे य तिसोवाणपडिरूवए सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जइ दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं० पुप्फारुहणं० आसत्तोसत्त० धूवं दलयति, सिद्धाययणं अणुपयाहिणीकरेमाणे जेणेव उत्तरिल्ला णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति २ त्ता तं चेव, जेणेव उत्तरिल्ले चेइयरुक्खे तेणेव उवागच्छति, जेणेव उत्तरिल्ले चेइयथूभे तहेव, जेणेव पच्चत्थिमिल्ला पेढिया जेणेव पच्चत्थिमिल्ला जिणपडिमा तं चेव, उत्तरिल्ले पेच्छाघरमंडवे तेणेव उवागच्छति २ च्छित्ता जा चेव दाहिणिल्लवत्तव्वया सा चेव सव्वा पुरत्थिमिल्ले दारे, दाहिणिल्ला खंभपंती तं चेव सव्वं, जेणेव उत्तरिल्ले मुहमंडवे जेणेव उत्तरिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तं चेव सव्वं, पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवाग० त्ता उत्तरिल्ले दारे दाहिणिल्ला खंभपंती सेसं तं चेव सव्वं जेणेव सिद्धायतणस्स उत्तरिल्ले दारे तं चेव , जेणेव सिद्धायतणस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तं चेव, जेणेव पुरत्थिमिल्ले मुहमंडवे जेणेव पुरत्थिमिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तं चेव, पुरत्थिमिल्लस्स मुहमंडवस्स दाहिणिल्ले दारे पच्चत्थिमिल्ला खंभपंती उत्तरिल्ले दारे तं चेव, जेणेव, पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव , जेणेव पुरत्थिमिल्ले पेच्छाघरमंडवे , एवं थूभे जिणपडिमाओ चेइयरुक्खा महिंदज्झया णंदापुक्खरिणी तं चेव ०जाव धूवं दलइ २ त्ता जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छति २ त्ता सभं सुहम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ २ त्ता जेणेव माणवए चेइयखंभे जेणेव वइरामए गोलवट्टसमुग्गे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता लोमहत्थयं परामुसइ २ त्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए लोमहत्थेणं पमज्जइ २ त्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए विहाडेइ २ त्ता जिणसगहाओ लोमहत्थेणं पमज्जइ २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेइ पक्खालित्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं य मल्लेहि य अच्चेइ धूवं दलयइ २ त्ता जिणसकहाओ वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु पडिनिक्खमइ माणवगं चेइयखंभं लोमहत्थएणं पमज्जइ दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ , पुप्फारुहणं ०जाव धूवं दलयइ, जेणेव सीहासणे तं चेव , जेणेव देवसयणिज्जे तं चेव, जेणेव खुड्डागमहिंदज्झए तं चेव, जेणेव पहरणकोसे चोप्पालए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ सित्ता पहरणकोसं चोप्पालं लोमहत्थएणं पमज्जइ २ ज्जित्ता दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चा दलेइ पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त ०जाव धूवं दलयइ जेणेव सभाए सुहम्माए बहुमज्झदेसभाए जेणेव मणिपेढिया जेणेव देवसयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता लोमहत्थगं परामुसइ देवसयणिज्जं च मणिपेढियं च लोमहत्थएणं पमज्जइ ०जाव धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव उववायसभाए दाहिणिल्ले दारे तहेव अभिसेयसभासरिसं ०जाव पुरत्थिमिल्ला णंदापुक्खरिणी जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तोरणे य तिसोवाणे य सालिभंजियाओ य वालरूवए य तहेव , जेणेव अभिसेयसभा तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तहेव सीहा-

सणं च मणिपेढियं च सेसं तहेव आययणसरिसं ०जाव पुरत्थिमिल्ला णंदा पुक्खरिणी जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता जहा अभिसेयसभा तहेव सव्वं जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तहेव लोमहत्थयं परामुसति पोत्थयरयणं लोमहत्थएणं पमज्जइ पमज्जित्ता दिव्वाए दगधाराए अग्गेहिं वरेहि य गंधेहिं मल्लेहि य अच्चेति २ च्चित्ता मणिपेढियं सीहासणं च सेसं तं चेव, पुरत्थिमिल्ला नंदा पुक्खरिणी जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तोरणे य तिसोवाणे य सालिभंजियाओ य वालरूवए य तहेव। जेणेव बलिपीढं तेणेव उवागच्छइ २ त्ता बलिविसज्जणं करेइ करित्ता आभिओगिए देवे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सूरियाभे विमाणे सिंघाडएसु तिएसु चउक्केसु चच्चरेसु चउम्मुहेसु महापहेसु पागारेसु अट्टालएसु चरियासु दारेसु गोपुरेसु तोरणेसु आरामेसु उज्जाणेसु वणेसु वणराईसु काणणेसु वणसंडेसु अच्चणियं करेह अच्चणियं करेत्ता एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह, तए णं ते आभिओगिया देवा सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा ०जाव पडिसुणित्ता सूरियाभे विमाणे सिंघाडएसु तिएसु चउक्कएसु चच्चरेसु चउम्मुहेसु महापहेसु पागारेसु अट्टालएसु चरियासु दारेसु गोपुरेसु तोरणेसु आरामेसु उज्जाणेसु वणेसु वणरातीसु काणणेसु वणसंडेसु अच्चणियं करेइ २ त्ता जेणेव सूरियाभे देवे ० जाव पच्चप्पिणंति, ततं णं से सूरियाभे देवे जेणेव नंदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ २ त्ता नंदापुक्खरिणी पुरत्थिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति २ हित्ता हत्थपाए पक्खालेइ २ लेत्ता णंदाओ पुक्खरिणीओ पच्चुत्तरइ जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारित्थगमणाए। तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं ०जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव नाइयरवेणं जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ सभं सुधम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे। (सू० ४४)

'जेणेव ववसायसभा' इति व्यवसायसभा नाम व्यवसायनिबन्धनभूता सभा, क्षेत्रादेरपि कर्मोदयादिनिमित्तत्वात्, उक्तं च–" उदयक्खयक्खओवस-मोवसमा जं च कम्मुणो भणिया। दव्वं खेत्तं कालं, भावं च भवं च संपप्प ॥ १ ॥" इति, 'पोत्थयरयणं मुयइ' इति उत्सङ्गे स्थानविशेषे वा उत्तमे इति द्रष्टव्यं, 'विहाडेइ' इति उद्घाटयति, 'धम्मियं ववसायं ववस्सइ' इति धार्मिक–धर्मानुगतं व्यवसायं व्यवस्यति, कर्तुमभिलषतीति भावः। 'अच्छेहिं सण्हेहिं रययामएहिं अच्छरसातंदुलेहिं' अच्छो रसो येषु ते अच्छरसाः, प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूता इवातिनिर्मला इत्यर्थः, अच्छरसाश्च ते तन्दुलाश्च तैः, दिव्यतन्दुलैरिति भावः, 'पुप्फपुंजोवयारकलियं करित्ता, चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं' मिति चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्यमयो विमलो दण्डो यस्य स तथा तं, काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रं कालागुरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कसत्केन धूपेन उत्तमगन्धिनाऽनुविद्धा कालागुरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूपगन्धोत्तमानुविद्धा प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययः धूपवर्ति विनिर्मुञ्चन्तं वैडूर्यमयं धूपकडुच्छुयं प्रगृह्य प्रयत्नेन धूपं दत्त्वा जिनवरेभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात्, सप्ताष्टानि पदानि पश्चादपसृत्य दशाङ्गुलिमञ्जलिं मस्तके स्थापयित्वा प्रयत्नतः 'अट्ठसयविसुद्धगन्थजुत्तेहिं' ति विशुद्धो–निर्मलो लक्षणदोषरहित इति भावः यो ग्रन्थः–शब्दसन्दर्भस्तेन युक्तानि, अष्टशतं च तानि विशुद्धग्रन्थयुक्तानि च तैः अर्थयुक्तैः–अर्थसारैरपुनरुक्तैर्महावृत्तैः, तथाविधदेवलब्धिप्रभावप्रभवैः, संस्तौति संस्तुत्य वामं जानुम् अञ्चति इत्यादिना विधिना प्रणामं कुर्वन् प्रतिपातदण्डकं पठति, तद्यथा–'नमोऽत्थु णं अरिहंताणं' मित्यादि, नमोऽस्तु 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे देवादिभ्योऽतिशयपूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेभ्यः, सूत्रे षष्ठी 'छट्ठीविभत्तीए भन्नइ चउत्थी' इति प्राकृतलक्षणवशात्, ते चार्हन्तो नामादिरूपा अपि सन्ति ततो भावार्हत्प्रतिपत्त्यर्थमाह–'भगवद्भ्यः' भगः–समग्रैश्वर्यादिलक्षणः स एषामस्तीति भगवन्तस्तेभ्यः, आदिः,–धर्मस्य प्रथमा प्रवृत्तिस्तत्करणशीला आदिकरास्तेभ्यः, तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं–प्रवचनं तत्करणशीलास्तीर्थकरास्तेभ्यः स्वयम्–अपरोपदेशेन सम्यग् वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा–मिथ्यात्वनिद्रापगमसंबोधेन स्वयंसंबुद्धास्तेभ्यः, तथा पुरुषाणामुत्तमाः पुरुषोत्तमाः भगवन्तो हि संसारमध्यावसन्तः सदा परार्थव्यसनिन उपसर्जनीकृतस्वार्था उचितक्रियावन्तोऽदीनभावाः कृतज्ञतापनयोऽनुपहतचित्ता देवगुरुबहुमानिन इति भवन्ति पुरुषोत्तमास्तेभ्यः, तथा पुरुषाः सिंहा इव कर्मगजान् प्रति पुरुषसिंहास्तेभ्यः, तथा पुरुषवरपुण्डरीकाणीव संसारजलासङ्गादिना कर्ममलाभावतो वा पुरुषेषु वरपुण्डरीकाणि तेभ्यः, तथा पुरुषवरगन्धहस्तिन इव परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतिक्षुद्रगजनिराकरणेनेति पुरुषवरगन्धहस्तिनस्तेभ्यः, तथा लोको–भव्यसत्त्वलोकः तस्य सकलकल्याणैकनिबन्धनतया भव्यत्वभावेनोत्तमा लोकोत्तमास्तेभ्यः, तथा लोकस्य नाथा–योगक्षेमकृतो लोकनाथास्तेभ्यः, तत्र योगो बीजाधानोद्भेदपोषणकरणं क्षेमं च तत्तदुपद्रवाद्यभावापादनं, तथा लोकस्य–प्राणिलोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्य वा हिता–हितोपदेशेन सम्यक्प्ररूपणया वा लोकहितास्तेभ्यः, तथा लोकस्य देशनायोग्यस्य प्रदीपा देशनांशुभिर्यथावस्थितवस्तुप्रकाशका लोकप्रदीपास्तेभ्यः, तथा लोकस्य उत्कृष्टमतेर्भव्यसत्त्वलोकस्य प्रद्योतकत्वविशिष्टज्ञानशक्तिस्तत्करणशीला लोकप्रद्योतकराः, तथा च भवन्ति भगवत्प्रसादात्तत्क्षणमेव भगवन्तो गणभृतो विशिष्टज्ञानसम्पन्न–

मन्विता यद्वशाद् द्वादशाङ्गमारचयन्तीति, तेभ्यः, तथा अभय विशिष्टमात्मन स्वास्थ्य , नि श्रेयसधर्मभूमिकानिबन्धनभूता परमा धृतिरिति भाव', तत. अभयं ददतीत्यभयदास्तेभ्य . सूत्रे च क प्रत्यय' स्वार्थिकः प्राकृतलक्षणवशात् , एवमन्यत्रापि, तथा चक्षुरिव चक्षु —विशिष्ट आत्मधर्म' तत्त्वावबोधनिबन्धनः श्रद्धास्वभावः, श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव रूप तत्त्वदर्शनायोगात् , तद् ददतीति चक्षुर्दास्तेभ्य , तथा मार्गो —विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुण· स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषस्त ददतीति मार्गदा' , तथा शरणं—संसारकान्तारगतानामतिप्रबलरागादिपीडितानां समाश्वासनस्थानकल्प तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानं तद्ददतीति शरणदास्तेभ्य', तथा बोधिः—जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिस्तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनरूपा तां ददतीति बोधिदास्तेभ्य'. तथा धर्मं—चारित्ररूप ददतीति धर्मदास्तेभ्य , कथं धर्मदा ? इत्याह—धर्मं दिशन्तीति धर्मदेशकास्तेभ्य , तथा धर्मस्य नायका'—स्वामिनस्तद्वशीकरणभावात् तत्फलपरिभोगाच्च धर्मनायका' तेभ्य. , धर्मस्य सारथय इव सम्यक् प्रवर्त्तनयोगेन धर्मसारथयस्तेभ्य. , तथा धर्म एव वरं—प्रधानं चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं चक्रमिव चतुरन्तचक्र तेन वर्तितु शीलं येषां ते तथा तेभ्यः, तथा अप्रतिहते—अप्रतिस्खलिते क्षायिकत्वात् वरे—प्रधाने ज्ञानदर्शने धरन्तीति अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरास्तेभ्यः, तथा छादयन्तीति छद्म घातिकर्मचतुष्टयं व्यावृत्तम्—अपगतं छद्म येभ्यस्ते व्यावृत्तच्छद्मानस्तेभ्य., तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्मशत्रून् स्वयं जितवन्तोऽन्यांश्च जापयन्तीति जिनाः जापकास्तेभ्यो जिनेभ्यो जापकेभ्यः , तथा भवार्णव स्वयं तीर्णवन्तोऽन्यांश्च तारयन्तीति तीर्णास्तारकास्तेभ्यः तथा केवलवेदसा अवगततत्त्वा बुद्धा अन्यांश्च बोधयन्तीति बोधकास्तेभ्य', मुक्ताः कृतकृत्या निष्ठितार्था इति भावस्तेभ्योऽन्यांश्च मोचयन्तीति मोचकास्तेभ्य' , सर्वज्ञेभ्य. सर्वदर्शिभ्य , शिवं सर्वोपद्रवरहितत्वात् अचल स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाऽपोहात् अरुजं शरीरमनसोरभावेनाधिव्याध्यसम्भवात् अनन्त केवलात्मनाऽनन्तत्वात् अक्षयं विनाशकारणाभावात् अव्याबाधं केनापि बाधयितुमशक्यममूर्त्तत्वात् न पुनरावृत्तिर्यस्मात् तदपुनरावृत्ति सिध्यन्ति—निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धि'—लोकान्तक्षेत्रलक्षणा सैव गम्यमानत्वात् गतिः सिद्धिगतिरेव नामधेयं यस्य तत् सिद्धिगतिनामधेयं तिष्ठत्यस्मिन् इति स्थान—व्यवहारत' सिद्धिक्षेत्रं निश्चयतो यथावस्थितं स्वस्वरूप स्थानस्थानिनोरभेदोपचारात् तत् सिद्धिगतिनामधेय स्थान तत्सम्प्राप्तेभ्य . एव प्रणिपातदण्डक पठित्वा ततो ' वंदइ नमसइ ' इति वन्दते ता प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेत्येके, अन्ये त्वभिदधति-विरतिमतामेव प्रसिद्धश्चैत्यवन्दनविधिरन्येषां तथाऽभ्युपगमपुरस्सरकायव्युत्सर्गासिद्धेरिति वन्दते सामान्येन नमस्करोति आशयवृद्धेरभ्युत्थाननमस्कारेणेति , तत्त्वमत्र भगवन्तः परमर्षय· केवलिनो विदन्ति , अत ऊर्ध्वं सूत्रं सुगमं केवल भूयान् विधिविषयो वाचनाभेद इति यथावस्थितवाचनाप्रदर्शनार्थं विधिमात्रमुपदर्श्यते—तदनन्तरं लोमहस्तकेन देवच्छन्दक प्रमार्जयति पानीयधारया अभ्युक्षति, अभिमुखं सिञ्चतीत्यर्थं , तदनन्तरं गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितल ददाति, ततः पुष्पारोहणादि धूपदहनं च करोति, तदनन्तरं सिद्धायतनबहुमध्यदेशभागे उदकधाराभ्युक्षणचन्दनपञ्चाङ्गुलितलप्रदानपुष्पपुञ्जोपचारधूपदानादि करोति,तत. सिद्धायतनदक्षिणद्वारे समागत्य लोमहस्तकं गृहीत्वा तेन द्वारशाखे शालिभञ्जिकाव्यालरूपाणि च प्रमार्जयति, तत उदकधारयाऽभ्युक्षणं गोशीर्षचन्दनचर्चापुष्पाद्यारोहणं धूपदानं करोति। ततो दक्षिणद्वारेण निर्गत्य दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य बहुमध्यदेशभागे लोमहस्तकेन प्रमार्ज्योदकधाराभ्युक्षणं चन्दनपञ्चाङ्गुलितलप्रदानपुष्पपुञ्जोपचारधूपदानादि करोति, कृत्वा पश्चिमद्वारे समागत्य पूर्ववत् द्वारार्चनिकां करोति कृत्वा च तस्यैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्योत्तरस्यां स्तम्भपङ्क्तौ समागत्य पूर्ववत्तदर्चनिकां विधत्ते, इह यस्यां दिशि सिद्धायतनादिद्वार तत्रतरस्य मुखमण्डपस्य स्तम्भपङ्क्ति', ततस्तस्यैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य पूर्वद्वारे समागत्य तत्पूजां करोति, कृत्वा तस्य दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य दक्षिणद्वारे समागत्य पूर्ववत्पूजा विधाय तेन द्वारेण विनिर्गत्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य बहुमध्यदेशभागे समागत्याक्षपाटकं मणिपीठिका सिंहासन च लोमहस्तकेन प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनचर्चापुष्पपूजाधूपदानानि कृत्वा तस्यैव प्रेक्षामण्डपस्य क्रमेण पश्चिमोत्तरपूर्वदक्षिणद्वाराणामर्चनिकां कृत्वा दक्षिणद्वारेण विनिर्गत्य चैत्यस्तूपं मणिपीठिकां च लोमहस्तकेन प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य सरसेन गोशीर्षचन्दनकेन पञ्चाङ्गुलितलं दत्त्वा पुष्पाद्यारोहणं च विधाय धूपं ददाति, ततो यत्र पाश्चात्या मणिपीठिका तत्रागच्छति, तत्रागत्याऽऽलोके प्रणाम करोति, कृत्वा लोमहस्तकेन प्रमार्जन सुरभिगन्धोदकेन स्नान सरसेन गोशीर्षचन्दनेन गात्रानुलेपनं देवदूष्ययुगलपरिधान पुष्पाद्यारोहणं पुरतः पुष्पपुञ्जोपचार धूपदानं पुरतो दिव्यतन्दुलैरष्टमङ्गलकालेखनमष्टोत्तरशतवृत्तै स्तुतिं प्रणिपातदण्डकपाठं च कृत्वा वन्दते नमस्यति,तत एवमेव क्रमेण उत्तरपूर्वदक्षिणप्रतिमानामप्यर्चनिका कृत्वा दक्षिणद्वारेण निर्विगत्य 'दक्षिणस्य दिशि यत्र चैत्यवृक्ष तत्र समागत्य चैत्यवृक्षस्य द्वारवदर्चनिकां करोति , ततो महेन्द्रध्वजस्य ततो यत्र दाक्षिणात्या नन्दा पुष्करिणी तत्र समागच्छति, समागत्य तोरणत्रिसोपानप्रतिरूपकगतशालभञ्जिकाव्यालकरूपाणा लोमहस्तकेन प्रमार्जनं जलधारयाऽभ्युक्षणं चन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोहणं धूपदानं च कृत्वा सिद्धायतनमनुप्रदक्षिणीकृत्योत्तरस्या नन्दापुष्करिण्यां समागत्य पूर्ववत्तस्या अर्चनिकां करोति, तत उत्तराहे महेन्द्रध्वजे तदनन्तरमुत्तराहे चैत्यवृक्षे तत उत्तराहे चैत्यस्तूपे तत. पश्चिमोत्तरपूर्वदक्षिण· जिनप्रतिमाना पूर्ववत् पूजा विधायोत्तराहे प्रेक्षागृहमण्डपे समागच्छति, तत्र दाक्षिणात्यप्रेक्षागृहमण्डपवत् सर्वा वक्तव्यता वक्तव्या,ततो दक्षिणस्तम्भपङ्क्त्या विनिर्गत्योत्तराहे मुखमण्डपे समागच्छति , तत्रापि दाक्षिणात्यमुखमण्डपवत् सर्व पश्चिमोत्तरपूर्वद्वारक्रमेण कृत्वा दक्षिणस्तम्भपङ्क्त्या विनिर्गत्य सिद्धायतनस्योत्तरद्वारे समागत्य पूर्वव·

दर्चनिकां कृत्वा पूर्वद्वारेण समागच्छति, तत्रार्चनिकां पूर्ववत् कृत्वा पूर्वस्य मुखमण्डपस्य दक्षिणद्वारे पश्चिमस्तम्भपङ्क्त्युत्तरपूर्वद्वारेषु क्रमेणोक्तरूपां पूजा विधाय पूर्वद्वारेण विनिर्गत्य पूर्वप्रेक्षागृहमण्डपे समागत्य पूर्ववत् द्वारमध्यभागदक्षिणद्वारपश्चिमस्तम्भपङ्क्त्युत्तरपूर्वद्वारेषु पूर्ववदर्चनिकां करोति, ततः पूर्वप्रकारेणैव क्रमेण चैत्यस्तूपजिनप्रतिमाचैत्यवृक्षमहेन्द्रध्वजनन्दापुष्करिणीनां, ततः सभाया सुधर्माया पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य यत्रैव माणवकः तत्राऽऽगच्छति, आलोके च जिनप्रतिमानां प्रणाम करोति, कृत्वा यत्र माणवकचैत्यस्तम्भो यत्र वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकाः तत्रागत्य समुद्गकान गृह्णाति, गृहीत्वा विघाटयति विघाट्य च लोमहस्तकं परामृश्य तेन प्रमार्ज्योदकधारया अभ्युक्ष्य गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, ततः प्रधानैर्गन्धमाल्यैरर्चयति धूपं ददाति, तदनन्तरं भूयोऽपि वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु प्रतिनिक्षिपति, प्रतिनिक्षिप्य तान् वज्रमयान् गोलवृत्तसमुद्गकान स्वस्थाने प्रतिनिक्षिपति, तेषु पुष्पगन्धमाल्यवस्त्राभरणानि चारोपयति, ततो लोमहस्तकेन माणवकचैत्यस्तम्भं प्रमार्ज्य उदकधारयाऽभ्युक्षणचन्दनचर्चापुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, कृत्वा च सिंहासनप्रदेशे समागत्य मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य च लोमहस्तकेन प्रमार्जनादिरूपां पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा यत्र मणिपीठिका यत्र च देवशयनीयं तत्रोपागत्य मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य च द्वारवदर्चनिका करोति, तत उक्तप्रकारेणैव क्षुल्लकेन्द्रध्वजे पूजा करोति, ततो यत्र चोप्पालको नाम प्रहरणकोशस्तत्र समागत्य लोमहस्तकेन परिघरत्नप्रमुखाणि प्रहरणरत्नानि प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षणं चन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, ततः सभाया सुधर्माया बहुमध्यदेशभागेऽर्चनिका पूर्ववत् करोति, कृत्वा सुधर्माया सभाया दक्षिणद्वारे समागत्य तस्य अर्चनिका पूर्ववत् कुरुते, ततो दक्षिणद्वारेण विनिर्गच्छति, इत ऊर्ध्वं यथैव सिद्धायतनान्निष्क्रामतो दक्षिणद्वारादिका दक्षिणनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना पुनरपि प्रविशत उत्तरनन्दापुष्करिण्यादिका उत्तरद्वारान्ता ततो द्वितीयद्वारान्निष्क्रामतः पूर्वद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना अर्चनिका वक्तव्यता सैव सुधर्मायां सभायामप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिण्या अर्चनिकां कृत्वा उपपातसभां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य च मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य तदनन्तरं बहुमध्यदेशभागे प्राग्वदर्चनिकां विदधाति, ततो दक्षिणद्वारे समागत्य तस्यार्चनिकां कुरुते, अत ऊर्ध्वमत्रापि सिद्धायतनवत् दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतोऽपक्रम्य ह्रदं समागत्य पूर्ववत् तोरणार्चनिकां करोति, कृत्वा पूर्वद्वारेणाभिषेकसभां प्रविशति, प्रविश्य मणिपीठिकाया सिंहासनस्याभिषेकभाण्डस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेण पूर्ववदर्चनिकां करोति ततोऽन्यत्रापि सिद्धायतनवत् दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्यता, ततः पूर्वनन्दापुष्करिण्याः पूर्वद्वारेणालङ्कारिकसभां प्रविशति, प्रविश्य मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेण पूर्ववदर्चनिकां करोति, तथापि क्रमेण सिद्धायतनवत् दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिण्याः पूर्वद्वारेण व्यवसायसभां प्रविशति, प्रविश्य पुस्तकरत्नं लोमहस्तकेन प्रमृज्योदकधारया अभ्युक्ष्य चन्दनेन चर्चयित्वा वरगन्धमाल्यैरर्चयित्वा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति । तदनन्तरं मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेण पूर्ववदर्चनिका करोति, तदनन्तरमत्रापि सिद्धायतनवत् दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना अर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतो बलिपीठे समागत्य तस्य बहुमध्यदेशभागवत् अर्चनिकां करोति कृत्वा चाभियोगिकदेवान् शब्दापयति, शब्दापयित्वा एवमवादीत्-'खिप्पामेव' इत्यादि सुगमं यावत् 'तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति' तत्र शृङ्गाटकं शृङ्गाटकाऽऽकृतिपथयुक्तं त्रिकोणं स्थानं त्रिकं-यत्र रथ्यात्रयं मिलति, चतुष्कं-चतुष्पथयुक्तं, चत्वरं-बहुरथ्यापातस्थानं, चतुर्मुखं-यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति, महापथो-राजपथः शेषः सामान्यः पन्थाः प्राकारः प्रतीतः, अट्टालिका-प्राकारस्योपरि भृत्याश्रयविशेषाः, चरिका-अष्टहस्तप्रमाणो नगरप्राकारान्तरालमार्गः द्वाराणि-प्रासादादीनां गोपुराणि-प्राकारद्वाराणि तोरणानि-द्वारादिसम्बन्धीनि आरमन्ते यत्र माधवीलतागृहादिषु दम्पत्यादिस्यमारामः, पुष्पादिमद्वृक्षसङ्कुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यमुद्यानं, सामान्यवृक्षवृन्दनगरासन्नं काननं, नगरविप्रकृष्टं वनम्, एकाऽनेकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनषण्डः, एकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनराजी, 'तए णं' मित्यादि, ततः सूर्याभदेवो बलिपीठे बलिविसर्जनं करोति, कृत्वा चोत्तरपूर्वां नन्दापुष्करिणीमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वतोरणेनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य च हस्तौ पादौ प्रक्षालयति प्रक्षाल्य नन्दापुष्करिण्याः प्रत्यवतीर्य सामानिकादिपरिवारसहितः सर्वर्द्ध्या यावद् दुन्दुभिनिर्घोषनादितरवेण सूर्याभविमानं मध्यं मध्येन समागच्छन् यत्र सुधर्मा सभा तत्रागत्य तां पूर्वद्वारेण प्रविशति प्रविश्य मणिपीठिकाया उपरि सिंहासने पूर्वाभिमुखो निषीदति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं दिसि भाए णं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ चउसु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति, तए णं तस्स पुरत्थिमिल्लेणं चत्तारि अग्गमहिसीओ चउसु भद्दासणेसु निसीयंति तए णं दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भितरियपरिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ अट्ठसु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति, तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स दाहिणेणं मज्झिमाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ दससु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति, तए णं दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीतो बारससु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति, तए णं देवस्स पच्चत्थिमेणं सत्त अणियाहिवइणो सत्तहिं भद्दासणेहिं णिसीयंति, तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स चउद्दि-

सिं सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ सोलसहिं भद्दासण-साहस्सीहिं णिसीयंति, तं जहा-पुरत्थिमिल्लेणं चत्तारि साहस्सीओ दाहिणेणं चत्तारि साहस्सीओ पच्चत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ उत्तरेणं चत्तारि साहस्सीओ, ते णं आयरक्खा सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगेविज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाणि तिसंधियाइं वयरामयाइं कोडीणि धणूइं पगिज्झ पडियाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीतपाणिणो रत्तपाणिणो चावपाणिणो चारुपाणिणो चम्मपाणिणो दंडपाणिणो खग्गपाणिणो पासपाणिणो नीलपीयरत्तचावचारुचम्मदंडखग्गपासधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया चिट्ठंति। (सू० ४५)

ततः प्रागुपदर्शितसिंहासनक्रमेण सामानिकादय उपविशन्ति. 'ते णं आयरक्खा' इत्यादि. ते आत्मरक्षाः सन्नद्धबद्धवर्मितकवचाः उत्पीडितशरासनपट्टिका पिनद्धग्रैवेया— ग्रैवेयकाभरणा आविद्धविमलवरचिह्नपट्टा गृहीताऽऽयुधप्रहरणास्त्रिनतानि आदिमध्यावसानेषु नमनभावात् त्रिसन्धीनि आदिमध्यावसानेषु सन्धिभावात् वज्रमयकोटीनि धनूंषि अभिगृह्य 'परियाइयकंडकलावा' इति पर्यात्तकाण्डकलापा विचित्रकाण्डकलापयोगात्, केऽपि 'नीलपाणिणो' इति नील. काण्डकलाप इति गम्यते पाणौ येषां ते नीलपाणय. एवं पीतपाणयो रक्तपाणय चाप पाणौ येषां ते चापपाणय चारु—प्रहरणविशेष पाणौ येषा ते चारुपाणय चर्म अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपं पाणौ येषा ते चर्मपाणय, एवं दण्डपाणय खड्गपाणय पाशपाणय, एतदेव व्याचष्टे—यथायोग नीलपीतरक्तचापचारुचर्मदण्डखड्गपाशधरा आत्मरक्षा. रक्षामुपगच्छन्ति तदेकचित्ततया तत्परायणा वर्त्तन्ते इति रक्षोपगा गुप्ता न स्वामिभेदकारिण, तथा गुप्ता-परप्रवेश्या पालि-सेतुर्येषा ते गुप्तपालिका, तथा युक्ता-सेवकगुणोपेततया उचितास्तथा युक्ता-परस्परसम्बद्धा न तु बृहदन्तरा पालिर्येषां ते युक्तपालिका, समयत - आचारत, आचारेणेत्यर्थ, विनयतश्च किंकरभूता इव तिष्ठन्ति, न खलु ते किंकरा, किन्तु तेऽपि मान्या, तेषामपि पृथगासननिपातनात्, केवल ते तदानीं निजाचारपरिपालनतो विनीतत्वेन च तथाभूता इव तिष्ठन्ति. तत उक्त किंकरभूता इवेति. 'सेहिं चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं' इत्यादि सुगमं, यावत् 'दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति' इति।

सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, महिड्ढीए महज्जुतीए महब्बले महाजसे महासोक्खे महाणुभागे सूरियाभे देवे, अहो णं भंते ! सूरियाभे देवे महिड्ढीए ०जाव महाणुभागे। (सू० ४६)

(सूर्याभदेवस्य दिव्या देवर्द्धि कथं प्राप्तेति 'पएसि' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता।)

से णं भंते ! सूरियाभे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिति कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं दित्ताइं विच्छिण्णविउलाइं भवणसयणासणजाणवाहणाइं बहुजातरूवरययाइं आयपयोगसंपउत्ताइं विच्छड्डियपउरभत्तपाणाइं बहुदासीदासगोमहिसगवलेगप्पभूयाइं बहुजणस्स अपरिभूयाइं तत्थ अन्नयरे सुकुमाले पुत्तत्ताए पच्चाइस्सइ तए णं तंसि दारगंसि गब्भगयंसि चेव समाणंसि अम्मापिऊणं धम्मे दढपइण्णा भविस्सइ। तए णं तस्स दारगस्स माया नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेयं माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमाकारं कंतं पियं दंसणं सुरूवं दारयं पयाहिसि, तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठियवडियं करिस्संति, ततिए दिवसे चंदसूरदंसणियं करिस्संति छट्ठे दिवसे जागरियं जागरिस्संति एक्कारसमे दिवसे विइक्कंते संपत्ते बारसमे दिवसे निव्वत्ते असुइजाइकम्मकरणे चोक्खे संमज्जितोवलित्ते विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेस्संति २ त्ता मित्तणायनियगसयणसंबंधिपरिजणं आमंतिस्संति आमंतेत्ता तओ पच्छा ०जाव अलंकितसरीरा भोयणवेलाए भोयणमडवंसि सुहासणवरगया ते णं मित्तणाइनियगसयणसंबंधि सद्धिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा वीसाएमाणा परिभुंजेमाणा परिभाएमाणा एवं च णं विहरिस्संति। जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा परिस्सुतिभूया ते मित्तणाइ ०जाव परिजणं विउलेणं वत्थगंधमल्लालङ्कारेण सक्कारिस्संति तस्सेव मित्त ०जाव परिजणस्स पुरतो एवं वदिस्संति जम्हा णं देवाणुप्पिया अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भगयंसि चेव समाणंसि धम्मे दढा पतिण्णा जाया णं होउणं अम्ह एस दारगे दढपइण्णे णामेणं। तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जं करिस्संति दढपइण्णो य। तते णं तस्स दढपइण्णस्स अम्मापियरो अणुपुव्वेणं ठिइवडियं चंदसूरदरिसणं च जागरियं नामधेज्जं करणं पजेमणं च पचमणं च पजंपावणं च कण्णवेहणणं च संवच्छरपडिलेहणगं च चूलोव-

गायणं उवणायणं च अन्नाणि य बहूणि य गब्भादाणजम्मणमाइयाणं कोउयाइं महया इड्डिसक्कारसमुदएणं करिस्संति, तते णं से दढपतिम्न दारए पंचधाइपरिक्खित्ते, तं जहा-खीरधातीए मज्जणधातीए मंडणधाईए अंकधातीए कीलावणधाईए अन्नाहि य बहूहि खुज्जाहिं चिलाइयाहिं वामणियाहिं वमेभियाहिं वत्थारियाहिं पउमियाइं जोयणयाहिं पल्हवियाहिं ईसिणियाहिं वारुणियाहिं लासियाहिं लउसियाहिं देमल्लीहिं सिहलीहिं आरवीहिं पुलिंदीहिं पक्कणाहिं मरुडीहिं सवराहिं पारसीहिं नाणादेसीहिं विदेसपरिमंडियाहिं मंदसंनवत्थमहियवेसाइ इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं निउणकुसलीहिं विणीयाहिं चेडियाचक्कवालवरतरुणीविंदपरियालं संपरिवुडे वरिसधरकंचुइज्जमहत्तरगविंदपरिक्खित्ते हत्थाओ हत्थं साहरिज्जमाणे २ अंकाओ अंकं परिभुंजमाणे २ उवनच्चिज्जमाणे २ उवागाइज्जमाणे २ उवलालिज्जमाणे २ उवगूहिज्जमाणे २ अवयासिज्जमाणे २ परिवंदिज्जमाणे २ परिचुंविज्जमाणे २ रम्मेसु मणिकुट्टिमतलेसु परंगमाणा २ गिरिकंदरमल्लीणे विव चंपगवरपायवे निव्वाघायं सुहंसुहेणं परिवड्डिस्सइ तए णं दढपइसं दारगं अम्मापियरो साइरेगअट्ठवासं जायगं जाणित्ता सोभणंसि तिहिकरणदिवसनक्खत्तमुहुत्तंमि ण्हायं कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलं पायच्छित्तं सव्वालंकारभूसियं करेत्ता महया इड्डिसक्कारसमुदएणं कलायरियस्स उवणेस्संति । तते णं से कलायरिए त दढपइण्णदारगेहिं तियाओ गणितप्पहाणाओ सउणरुतपज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ सुत्तता य अत्थओ य करणओ सिक्खावेहिइ सेहावेहिइ, तं जहा-लेहं गणियं रूवं नट्टं गीयं वाइयं सरगयं पुक्खरगयं समतालं जूयं जणवायं पासगं अट्ठावयं पोरेवच्चं दगमट्टियं अन्नविहिं पाणविहिं वत्थविहिं विलेवणविहिं सयणविहिं सयणविहिं अज्जं पहेलियं मागहियं गाहागाइयं सिलोगं हिरन्नजुत्तिं सुवण्णजुत्तिं आभरणविहिं तरुणीपडिकम्मं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं कुक्कुडलक्खणं छत्तलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं कागिणिलक्खणं वत्थुविज्जं नगरमाणं खंधारमाणं चारपडिचारवूहपडिवूहं चक्कवूहं गरुडवूहं सगडवूहं जुद्धं निजुद्धं असिजुद्धं मुट्ठिजुद्धं बाहुजुद्धं लयाजुद्धं जुइजुद्धं छरुप्पवायं धणुव्वेदं हिरण्णपागं सुवण्णपागं मणिपागं धाउपागं सुत्तखेडं वट्टखेडं नालियाखेडं पत्तच्छेज्जं कडगच्छेज्जं सज्जीवनिज्जीवसउणरुयमिति । तए णं से कलायरिते दढपइण्ण दारगं लेहाइयाओ गणिप्पहाणाओ सउणरुतपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सिक्खावेत्ता सेहावेत्ता अम्मापिऊणं उवणेहिइ, तते णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउलेणं असणेणं० जाव वत्थगंधमल्लालंकारेण सक्कारिस्संति सम्माणिस्संति वत्थगंधमल्ल लंकारेणं सक्कारित्ता समाणित्ता विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइस्संति विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइत्ता पडिविसज्जेहिंति तते णं से दढपतिण्णे दारगे उम्मुक्कबालभावे विण्णयपरिणयमत्ते जोव्वणगमणुपत्ते बावत्तरिकलापंडिते अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारते नवंगसोतोपडिबोहिए गीयरती गंधव्वनट्ट कुसलेहिं सिंगारचारुरूवे संगयगयहसियभणियचेट्ठियविलासंसलावनिउणजुत्तोवयारकुसले हयजोहि बाहुजोहि गयजोही बाहुप्पमद्दी अलं भोगसामत्थसाहसिए वियालचारी यावि भविस्सति । तए णं तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियारो उम्मुक्कबालभावं ०जाव वियालचारगं वियाणित्ता विउलेहिं अन्नभोगेहिं पाणभोगेहिं लेणभोगेहिं वत्थभोगेहिं सयणभोगेहिं उवनिंतेहिं तते णं से दढपइण्णे दारए तेहिं विपुलेहिं अन्नभोगेहिं ०जाव सयणभोगेहिं नो सज्जिहिति नो रज्जिहिति नो गिज्झिहिति नो मुज्झिहिति नो अज्झोववज्जिहिति से जहानामए उप्पलेइ वा पउमेति वा ०जाव सहस्सपत्तेइ वा पंके जाए जले संवुड्ढे नो विलिप्पइ पंकरएणं नो विलिप्पइ जलरएणं, एवामेव दढपइण्णे वि दारगे कामेहिं जाए भोगेहिं वड्डिते नो विलिप्पहिइ कामरएणं नो विलिप्पहिइ भोगरएणं नो विलिप्पहिइ मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरिजणेण से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिति केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वतिस्सति से णं अणगारे भविस्सति इरियासमिए ०जाव सुहुयहुयासणे इव तेयसा जलंते तस्स णं भगवओ अणुत्तरेणं नाणेणं एवं दंसणेणं चरित्तेणं आलएणं विहारेणं अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं खंतीए गुत्तीए मुत्तीए अणुत्तरेणं सव्वं संजमतवसुचरियफलनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिहिति तए णं से भगवं अरहा केवली जिणे भविस्सइ सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स परियागं जाणिहिति पासिहिति, तं जहा-आगतिगतिठितिचवणं उववायतक्कं पच्छाकम्मं पुरेकडं मणोमाणसियं खइयं भुत्तं कडं परिसेवि आविकम्मं रहोकम्मं अरहा अरहस्स भागी तं त का-

लं मणोवयकायजोगं वट्टमाणाणं सव्वलोए सव्व-जीवाणं सव्वे भावे जाणमाणे पासमाणे विहरिस्सइ। तए णं से दढपइण्णे केवली एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूहिं वासाइं केवलपरिआयं पाउणिहिति पाउणित्ता अप्पणो आउसेसं आभोएइ अप्पणो आउसेसं आभोएत्ता बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइस्सइ पच्चक्खाइत्ता बहूहिं भत्ताइं अणसणाए छेइस्सइ बहूहिं छेइत्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे मुंडभावे अण्हाणए अदंतधावणत्ते केसलोचे बंभचेरवासे अत्थत्तणं अणुवाहणगं भूमिसिज्जातो फलहसेज्जायरघरपवेसो लद्धावलद्धाइं माणावमाणाइं परेहिं हीलणाओ निंदणातो खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ परितावणाओ पव्वहणाओ उच्चावयविरूवरूवा बावीसपरीसहोवसग्गा गामकंटका अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेइ २ हित्ता चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिइ परिनिव्वाहिइ सव्वदुक्खाणं अंतं करेहिइ।

सुख सुखेन परिवर्धिष्यते अर्थेन इति व्याख्यानमलङ्करणतः प्रयोगतः 'सेहावेहेइ सेधयिष्यति निष्पादयिष्यति शिक्षापयिष्यत्यभ्यास करिष्यति 'नवङ्गसोत्तपडिबोहिए' इति द्वे श्रोत्रे द्वे नयने द्वे नासिके एका जिह्वा एका त्वक् एक मन इति सुप्तानीव बाल्याद्व्यक्तचेतनानि प्रतिबोधितानि यौवनेन व्यक्तचेतनावति कृतानि यस्य स तथा उक्तञ्च व्यवहारभाष्ये—'सोत्ताइं नव सुत्ताइं' इत्यादि अट्ठारसविहदेसीप्पगारभासाविसारए' अष्टादशविधाया-अष्टादशभेदाया देशीप्रकाराया विशारदो-विचक्षणः तथा गीतरतिरस्तथा गन्धर्वे गीते नाट्ये च कुशलः हयेन युध्यते इति हययोधी एवं गजयोधी रथयोधी बाहुयोधी तथा बाहुभ्यां प्रमृद्नातीति बाहुप्रमर्दी साहसिकत्वात्। विकाले चरतीति विकालचारी 'सव्वसंजमतवसुचरियफलनियाणमग्गेणं' ति सर्वसंयमः सर्वात्मना मनोवाक्कायसंयमन तस्य सुचरितस्य वाऽऽशंसादिदोषरहितस्य तपसो यत्फलं निर्वाणं तन्मार्गेण, किमुक्तं भवति—सर्वसंयमेन सुचरितेन च तपसा निर्वाणप्रदगमनयोः निर्वाणफलत्वव्यवस्थानाः 'मणोमाणसियं' ति मनसि भवं मानसिकं तच्च कदाचिद्वचसाऽपि प्रकटितं भवति तत उच्यते मनसि व्यवस्थितं मनोमानसिकं 'खइयं' ति क्षयितं—खयं नीतमिति भावः। 'पडिसेवियं' ति प्रतिसेवितं स्त्र्यादि अथ कर्मभूमौ निवसन् रह कर्म गुप्तस्थानकृतं 'परेहिं हीलणाओ' इति हीलनानि सद्भूतासद्भूतदीलनजात्याद्युद्घाटनानि। परोक्षे जुगुप्सानि भाषणानि खिंसनानि धिङ्मुण्डेत्यादिवाक्यानि तर्जनानि अङ्गुल्या निर्देशपुरस्सरं भर्त्सनानि ताडनानि कशादिघाताः। रा०। श्रीराजप्रश्नीये सूर्याभस्य शीघ्रगमननाम्नो वैक्रियविमानस्यान्तर्भूमिकावर्णनाधिकारे पञ्चवर्णरत्नवर्णने पञ्चवर्णा अशोककणवीरबन्धुजीवाः समानीताः सन्ति, वृत्तौ च प्रतीता इति व्याख्यात ते वृक्षाः के?, किं च पुष्पादिकं तेषां पञ्चवर्णं भवतीति प्रश्न अत्रोत्तरम्-अशोकादयो वृक्षा जीवाभिगमवृत्त्यादिषु पञ्चवर्णा व्याख्याता सन्ति न तु तत्पुष्पादीनि, तेन तान्यपि तदनुसारेण ज्ञेयानीति ॥ ३४७ ॥ सेन० ३ उल्ला०।

सूरियावत्त--सूर्यावर्त्त--पुं०। सूर्य उपलक्षणमेतच्चन्द्रनक्षत्रतारकाश्च प्रतिक्षणमावर्त्तन्ते यस्य स सूर्यावर्तः। मेरुपर्वते, सू० प्र० ५ पाहु०। स०। जं०। चं० प्र०। चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० ५ सम०।

सूरियावरण--सूर्यावरण--पुं०। सूर्यैरुपलक्षणमेतच्चन्द्रनक्षत्रताराभिश्च समन्ततः परिभ्रमणशीलैराव्रियते आवेष्ट्यते इति सूर्यावरणः। मेरुपर्वते, चं० प्र० ५ पाहु०। सू० प्र०।

सूरिल्लि--सूरिल्लि--पुं०। वनस्पतिविशेषे, ज० १ वक्ष०।

सूरीकंता--शूरीकान्ता--स्त्री०। स्वनामख्यातायां पुरुषवधकारिकायाम्, तं०।

सूरुग्गमणमुहुत्त--सूर्योद्गमनमुहूर्त्त--पुं०। उदयोपेते मुहूर्ते, जं० ७ वक्ष०।

सूरोगमणपविभत्ति--सूर्योद्गमनप्रविभक्ति--न०। नाट्यविधानभेदे, रा०।

सूरोदय--सूर्योदय--पुं०। प्रथमायां पौरुष्याम्, आ० म० १ अ०। प्रव०।

सूरोदयादि--सूर्योदयादि--त्रि०। सूर्योदय आदौ यस्याः सा सूर्योदयादिः। सूर्योदयादारभ्येत्यर्थे, आ० म० १ अ०।

सूरोपराग--सूर्योपराग--पुं०। सूर्यस्य—सूर्यविमानस्योपरागो राहुविमानतेजसोपरञ्जन सूर्योपराग। ग्रहणे, स्था० १० ठा० ३ उ०। उत्पत्तिविशेषे, भ० ३ श० ५ उ०। अनु०।

सूल-शूल--न०। त्रि०। त्रिशूले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। उत्त०। एकशूले, औ०। आयुधभेदे, जं० ३ वक्ष०। सूत्र०। आ० म०। प्रश्न०। रोगभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। पा०। नि० चू०।

सूलग्ग-शूलाग्र--न०। शूलकान्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

सूलपाणि-शूलपाणि--पुं०। ईशानदेवे तस्य हस्तधृतशूलत्वात्, प्रज्ञा० २ पद। अस्तिग्रामाभिधानसन्निवेशाद्बहिः शूलपाणिनामकयक्षायतनम्। स्था०।

तद्वर्णनमाह—

'छद्मस्थकाले यदा किल भगवान् त्रिकचतुष्कचत्वरचतुर्मुखमहापथादिषु पट्टपटहप्रतिरवोद्घोषणापूर्वं यथाकाममुपहतसकलजनदारिद्र्यमनवच्छिन्नमब्दं यावन्महादानं दत्त्वा सदेवमनुजासुरपरिषदा परिवृतः कुण्डपुरान्निर्गत्य ज्ञातखण्डवने मार्गशीर्षकृष्णदशम्यामेकक प्रव्रज्य मन पर्यायज्ञानमुत्पाद्याष्टौ मासान् विहृत्य मयूरकाभिधानसन्निवेशबहिःस्थानां दूयमानाभिधानानां पाखण्डिकानां सम्बन्धिन्येकस्मिन्नुटजे तदनुज्ञया वर्षावासमारभ्य अविधीयमानरक्षतया पशुभिरुपद्रूयमाणे उटजेऽप्रीतिकं कुर्वाणमाकलय्य कुटीरकनायकमुनिकुमारकं ततो वर्षाणामर्द्धमाने गतेऽ-

काल एव निर्गत्यास्थिकग्रामाभिधानसन्निवेशाद् बहिः शूलपाणिनामकयक्षायतने शेषं वर्षावासमारेभे, तत्र च यदा गेऽसौ शूलपाणिर्भगवतः क्षोभणाय झटिति टालिताट्टालकमट्टाट्टहास मुञ्चन् लोकमुत्त्रासयामास तदा विनाश्यते स भगवान् देवेनेति भगवदालम्बनां जनस्याधृतिं जनितवान् पुनर्हस्तिपिशाचनागरूपैर्भगवतः क्षोभं कर्तुमशक्नुवन् शिरः कर्णनासादन्तनखाक्षिपृष्ठिवेदनाः प्राकृतपुरुषस्य प्रत्येकं प्राणापहारप्रवणाः सपदि सम्पादितवान्, तथापि प्रचण्डपवनप्रहतसुरगिरिशिखरमिवाविचलमनावं वर्द्धमानस्वामिनमवलोक्य श्रान्तः सन्नसौ जिनपतिपादपद्मवन्दनपुरस्सरमाचचक्षे-क्षमस्व क्षमाश्रमण ! इति, तथा सिद्धार्थाभिधानो व्यन्तरदेवस्तन्निग्रहार्थमुद्दधाव, बभाण च-अरे रे शूलपाणे ! अप्रार्थितप्रार्थकहीनपुण्यचतुर्दशीक ! श्रीह्रीधृतिकीर्त्तिवर्जित ! दुरन्तप्रान्तलक्षण ! न जानासि सिद्धार्थराजपुत्रं पुर्धावितनिखिलजगज्जीवं जीवितसममशेषसुरासुरनरनिकायनायकानामेनं यं भवदपराधं यदि जानाति त्रिदशपतिस्ततस्त्वां निर्विषयं करोतीति, श्रुत्वा चासौ भीतो द्विगुणतरं क्षमयति स्म, तथा सिद्धार्थश्च तस्य धर्ममचकथत्, स चोपशान्तो भगवन्तं भक्तिभरनिर्भरमानसो गीतनृत्तोपदर्शनपूर्वकमपूपुजत्, लोकश्च चिन्तयाञ्चकार-देवार्यकं विनाश्येदानीं देवः क्रीडतीति, स्वामी देशोनाश्चतुरो यामानतीव तेन परितापितः प्रभातसमये मुहूर्त्तमात्रं निद्राप्रमादमुपगतवान् तत्रावसरे इति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सूला-शूला-स्त्री० । त्रिशूलिकायाम् ,सूत्र०१श्रु० ५ अ० १उ० ।

सूलाइय-शूलाचित-न०।शूलप्रोते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।औ० । सूत्र० । शूलारोपिते,यस्य गुदे प्रोता शूली वदने निर्गच्छति । दशा० ९ अ० ।

शूलायित-त्रि० । शूलसदृशे, आचन्तिशूलारूपभ्रुकुटितपरिकरत्वात । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

सूलाभिण्ण शूलाभिन्न-न० । मध्यविद्धते, स्था० ६ अ० ।

सूलारोवण-शूलारोपण-न०।शूलिकाप्रोतने,सूत्र०१श्रु०८अ० ।

सूलि-शूलिन्-पु० । शिवे, पाइ० ना० ।

सूलिया-शूलिका-स्त्री० । कीलकविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सूव सूप-पु० । (दालि) सूपे,उपा० १अ०।सू० प्र० । आचा० । पत्रशाके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सूवच्छेज-सूपच्छेद्य-न० । पत्रशाकच्छेदने , सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सूवणीय-सूपनीत-त्रि० । सुष्ठुपनीते , आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

सूवविहिपरिमाण-सूपविधिपरिमाण-न० । दालिप्रकारपरिमाणे,उपा० १ अ० ' (' आणंद ' शब्दे २ भागे विधिरुक्तः ।)

सूस-शुष-धा० । शोषणे, "श्वादीनां दीर्घः" ॥ ८ । ४ । २३६ ॥ इति धातोः स्वरस्य दीर्घः । सूसइ । शुष्यति । प्रा० ४ पाद ।

सूसरघंटा-सुस्वरघण्टा-स्त्री० । सुस्वराभिधानायां घण्टायाम् , रा० ।

सूसव-सुश्रव-पु० । कर्णसुखशब्दे , " सूसओ वायरो मा वा, निग्धं वा परिअस्सओ " आ० क० ४ अ० ।

सूसास-सोच्छ्वास-त्रि० । "ऊत्सोच्छ्वासे "॥ ८ । १ ॥१५७॥ इति सोच्छ्वासशब्दे ओत ऊत् । सूसासो । उच्छ्वासहिते, प्रा० ।

सूहव-सुभग-त्रि० । ' ऊत्सुभगमुशले वा " ॥ ८।१। ११३ ॥ इति ह्रस्वस्य दीर्घः । " ऊत्वे दुर्भग-सुभगे वः ' ॥ ८ । १ । १९२ ॥ अनयोरुत्वे गस्य वो भवति । सूहवो । सुभग । स्त्रीभिः काम्यमाने , प्रा० १ पाद ।

से-मे-दर्शी- । अव्य० । प्रस्तुतपरामर्शे, ज०१ वक्ष० । मागधीदेशीप्रसिद्धो निपातः अथ शब्दार्थे, स च वाक्योपपन्यासार्थे । प्रा० ।ज्ञा० । उपन्यासे, उत्त० २ अ० । निश्चय, से नूनमिति । तन्नूनम् । उत्त० २ अ० । से इति मागधदेशीवचन प्रथमान्तो निर्देशः । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । से शब्दस्तच्छब्दार्थे स च वाक्योपन्यासार्थे । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । उत्त० । आव० । जी० । दश० । नि० चू० । सेशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तत्रशब्दार्थे अथशब्दार्थे वा द्रष्टव्य ,स च वाक्योपन्यासार्थ । दशा० ४ अ० । निर्देशे, दशा० ५ अ० । सेशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धःऽथशब्दार्थे । अथशब्दस्तु वाक्योपन्यासार्थे परिप्रश्नार्थो वा , यदा, ह अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु , भ० १ श० १ उ० । क्वचिदस्मादित्यर्थे, क्वचित्तस्येत्यर्थे,स्था० १० ठा० ३ उ० । न० । नि०चू० । औ० । रा० । जं० । प्राकृतत्वात्ते इति बहुवचनार्थे । यथा से इति । जं० १ वक्ष० । से इत्यात्मनिर्देशे, सोऽहमेवमुपलब्ध्वाऽनेकाप्कायनस्वबृ त्तान्तो ब्रवीमि । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । " वेदन्तेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ ' ॥ ८ । ३ । ८१ ॥ इदन्तदेतदित्येतेषां स्थाने ङस् आमित्येताभ्यां सह यथासंख्यं से-सिमादेशो भवत । तस्येत्यर्थे,अस्येत्यर्थे च । से सीलं । से गुणा । प्रा० ।

सेअ-सिच्-धा० । क्षरणे, "सिचेः सिञ्च-सिम्पौ' ॥८।४।९६॥ सिञ्चतेरेतावादेशौ भवतः । सिंचइ । पक्षे । सेअइ । प्रा० ।

सेइया-सेतिका-स्त्री०। द्वाभ्यां प्रसृतिभ्यां निष्पन्ने धान्यमान विशेषे, त० । ज्ञा० । औ० । स्था० । आचा० ।

सेउ-सेतु-पु० । जलोपरिनिबद्धे मार्गविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार० । जं० । आ० चू० । रा० । स्था० । ज्ञा० । जी० । औ० । आलिबन्धे , औ० । आलवालपाल्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सेउगर-सेतुकर-त्रि० । सेतु मार्गमापन्नतानां निस्तारणोपायं करोति यः स सेतुकरः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । मार्गप्रदर्शके , रा० । सूत्र० । ज्ञा० । औ० ।

सेउक्खेत्त-सेतुक्षेत्र-न० । अरघट्टादिसेक्ये क्षेत्रे आव० ६ अ० । यदरघट्टादिजलेन सिच्यते । ध० २ अधि० ।

सेंटिय-सेंटित-न० । सेण्टने नासिकाशब्दविशेषकरणे , विशे० । प्रज्ञा० ।

सेंधव-सैन्धव-न० । सिन्धुदेशजे लवणे , अश्वे च । पुं० । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

सेखरय-शेखरक-पुं० । शिरोवेष्टने, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सेज्जा-शय्या-स्त्री० । संस्तारके, संथा० । (एतद्वक्तव्यता 'संथारग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्ता ।) (एवंप्रकाराः शब्दाः 'सिज्जादि' शब्दप्रकरणे उक्ताः ।)

सेडमासव-श्वेतसर्षप-पुं० । श्वेतवर्णे सर्षपभेदे, चत्वारि मधुरतृणफलानि मधुरतृणतन्दुलाः समयविषये सकलजगत्प्रसिद्ध एकः श्वेतसर्षपो भवति । ज्यो० १ पाहु० ।

सेडियग-सेटितक-न० । तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सेडिया-श्वेतिका-स्त्री० । खटिकायाम् , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । शुक्लमृत्तिकायाम् , दश० ५ अ० १ उ० ।

सेडी-सेडी-स्त्री० । लोमपक्षिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सेडीवह-सेडीवह-पुं० । लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति० ।

सेडुय-सेटुक-पुं० । कर्पासे,सेडुओ कप्पासो रूयं उट्टियं रूयपडलं पिंजयं तमेव वलितं पेलू भवति । नि० चू० ५ उ० ।वृ० । कौशाम्बीनगरीवास्तव्यस्वनामख्याते विप्रे, आ० क० ४ अ० । (तत्कथानकं 'कूणिक' शब्दे तृतीयभागे उक्तम् ।)

सेढी-श्रेणि-स्त्री । पङ्क्तौ, अनु० । भ० । अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे य. श्रेणिः-राशिस्तत्र किलासङ्ख्येयानि वर्गमूलानि तिष्ठन्तीति । अनु० ।

खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखिज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलं बिइअवग्गमूलपडुप्पण्णं अहव णं अंगुलबिइअवग्गमूलघणपमाणमेत्ताओ सेढीओ ।

क्षेत्रतस्तु प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणीनां ये प्रदेशास्तत्सङ्ख्यानि भवन्ति । ननु प्रतरासङ्ख्येयभागे असंख्येया योजनकोट्योऽपि भवन्ति, तत्किमेतावत्यपि क्षेत्रे या नभःश्रेण्यो भवन्ति ता इह गृह्यन्ते ? , नेत्याह—' तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई ' त्यादि, तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिः-विस्तरश्रेणिर्ज्ञेयेति शेष । कियतीत्याह—' अंगुली ' त्यादि, अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे य. श्रेणिः—राशिस्तत्र किलासंख्येयानि वर्गमूलानि तिष्ठन्त्यतः प्रथमवर्गमूलं द्वितीयवर्गमूलेन प्रत्युत्पन्नं—गुणितं तथा च सति यावत्योऽत्र श्रेण्यो लब्धा एतावत्प्रमाणा श्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्भवति; एतावत्य श्रेण्योऽत्र गृह्यन्त इत्यर्थ', इदमुक्तं भवति-अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे किलासत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिके द्वे शते २५६, श्रेणीना भवतस्तद्यथा-अत्र प्रथमवर्गमूल षोडश १६ द्वितीयं चत्वारः ४ चतुर्भि. षोडश गुणिता जाताश्चतु.षष्टि. , एषा चतुःषष्टिरपि सद्भावतोऽसंख्येयाः श्रेण्यो मन्तव्या., एतावत्संख्या श्रेणीनां विष्कम्भसूचिरिह ग्राह्या । ' अहवा ण ' मित्यादि, णमिति वाक्यालङ्कारे, अथवा—अन्येन प्रकारेण प्रस्तुतोऽर्थ उच्यते इत्यर्थः, ' अहव ण ' त्ति क्वचित्पाठः, स चैवं व्याख्यायते-अथवा-नैव पूर्वोक्त' प्रकारोऽपि तु प्रकारान्तरेण प्रस्तुतोऽर्थोऽभिधीयते इति भाव', समुदितो वाऽयंशब्दोऽथवाशब्दस्यार्थे वर्तते, तदेव प्रकारान्तरमाह—'अंगुलबीयवग्गमूलघणे ' त्यादि, अङ्गुलप्रमाणप्रतरक्षेत्रवर्तिश्रेणिराशेर्यद् द्वितीयवर्गमूलमनन्तरं चतुष्टयरूपं दर्शितं तस्य यो घनः—चतु षष्टिलक्षणस्तत्प्रमाणाः—तत्संख्याः श्रेण्योऽत्र गृह्यन्त इति, प्ररूपणैव भिद्यते अर्थस्तु स एवेति , तदेवं कल्पनया चतु षष्टिरूपाणां सद्भावतोऽसंख्येयानां श्रेणीनां य. प्रदेशराशिरेतावत्संख्यानि नारकाणां , बद्धवैक्रियाणि प्राप्यन्त इति । अनु० ।

श्रेणिप्ररूपणायाह—

सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उज्जुआयया सेढी एगोयओ वंका दुहतो वंका एगओ खुहा दुहओ खुहा चक्कवाला अद्धचक्कवाला । (सू० ५८१)

' सत्त सेढी ' त्यादि, श्रेणय. प्रदेशपङ्क्तयः ऋज्वी-सरला सा चासावायता च दीर्घा ऋज्वायता स्थापना(-)'एगओ वंका ' एकस्यां दिशि वक्रा । स्थापना(⌐)'दुहओ वका' उभयतो वक्रा स्थापना(⌐¬) 'एगओ खुहा' एकस्यां दिश्यङ्कुशाकारा(⌐) 'दुहओ खुहा'उभयतोऽङ्कुशाकारा(⌐¬)चक्कवाला वलयाकृति. (०) अर्द्धचक्कवाला अर्द्धवलयाकारेति (।) एताश्चैकनो वक्राद्यालोकपर्यन्तप्रदेशापेक्षया संभाव्यन्ते । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

उज्जुआयताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा , एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०जाव उववज्जेज्जा ।

तत्र ' उज्जुआययाए ' त्ति यदा मरणस्थानापेक्षयोत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां भवति तदा ऋज्वायता श्रेणिर्भवति, तया च गच्छत एकसामयिकी गति. स्यादित्यत उच्यते— ' एगसमइएण ' मित्यादि, यदा पुनर्मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानमेकप्रतरे विश्रेण्यां वर्त्तते तदैकतो वक्रा श्रेणि स्यात् , समयद्वयेन चोत्पत्तिस्थानप्राप्ति. स्यादित्यत उच्यते-' एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेण ' मित्यादि , यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानमधस्तने उपरितने वा प्रतरे विश्रेण्यां स्यात्तदा द्विवक्रा श्रेणि स्यात् समयत्रयेण चोत्पत्तिस्थानावाप्ति स्यादित्यत उच्यते-'दुहओ वंकाए ' इत्यादि । भ० ३४ श० १ उ० ।

सेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जाओ असंखेज्जाओ अणंताओ ?, गोयमा ! नो संखेज्जाओ नो असंखेज्जाओ,अणंताओ। पाईणपडीणायताओ णं भंते ! सेढी-

१ भगवतीसूत्रे ' खहा ' शब्दः ।

ओ दव्वट्टयाए किं संखेज्जाओ एवं चेव ३ , एवं दाहिणुत्तरायताओ वि एवं उड्ढमहायताओ वि । लोगागाससेढीओ णं भंते ! दव्वट्टयाए किं संखेज्जाओ असंखेज्जाओ अणंताओ ?, गोयमा ! नो संखेज्जाओ असंखेज्जाओ नो अणंताओ, पाईणपडीणायताओ णं भंते ! लोगागाससेढीओ दव्वट्टयाए किं संखेज्जाओ एव चेव, एवं दाहिणुत्तरायताओ वि, एवं उड्ढमहायताओ वि । अलोयागाससेढीओ णं भंते ! दव्वट्टयाए किं संखेज्जाओ, असंखेज्जाओ अणंताओ ?, गोयमा ! नो संखेज्जाओ, नो असंखेज्जाओ, अणंताओ । एवं पाईणपडीणाययाओ वि एवं दाहिणुत्तराययाओ वि एवं उड्ढमहायताओ वि । सेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए किं संखेज्जाओ जहा दव्वट्टयाए तहा पएसट्ठयाए वि०जाव उड्ढमहाययाओ वि सव्वाओ अणंताओ । लोयागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठ० किं संखेज्जाओ पुच्छा गोयमा ! सिय संखे० सिय असं० नो, अणंताओ,एवं पाईणपडीणायताओ दाहिणुत्तरायताओ वि एवं चेव उड्ढमहायताओ वि नो संखेज्जाओ असंखे० नो अणंताओ ॥ अलोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए पुच्छा, गोयमा ! सिय संखेज्जाओ सिय असंखे० सिय अणंताओ पाईणपडीणाययाओ णं भंते ! अलोया पुच्छा, गोयमा ! नो संखेज्जाओ नो असंखेज्जाओ अणंताओ , एवं दाहिणुत्तरायताओ वि, उड्ढमहायताओ पुच्छा , गोयमा ! सिय संखेज्जाओ सिय असंखेज्जाओ सिय अणंताओ । (सू० ७२८) ।

'सेढी' त्यादि , श्रेणीशब्देन च यद्यपि पङ्क्तिमात्रमुच्यते तथाऽपीहाकाशप्रदेशपङ्क्तय श्रेणयो ग्राह्या , तत्र श्रेणयोऽविवक्षितलोकालोकभेदत्वेन सामान्या १ तथा ता एव पूर्वापरायता २ दक्षिणोत्तरायता ३ ऊर्ध्वाधआयता ४ एवं लोकसम्बन्धिन्योऽलोकसम्बन्धिन्यश्चेति , तत्र सामान्ये श्रेणीप्रश्ने 'अणंताओ' त्ति सामान्याकाशास्तिकायस्य श्रेणीना विवक्षितत्वादनन्तास्ता , लोकाकाशश्रेणीप्रश्ने त्वसङ्ख्याता एव ता असङ्ख्यातप्रदेशात्मकत्वाल्लोकाकाशस्य, अलोकाकाशश्रेणीप्रश्ने पुनरनन्तास्ता , अनन्तप्रदेशात्मकत्वादलोकाकाशस्य । तथा 'लोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए' इत्यादौ 'सिय संखेज्जाओ सिय असंखेज्जाओ' त्ति अस्यैव चूर्णिकारव्याख्या—लोकवृत्ताभिक्रान्तस्यालोके प्रविष्टस्य दन्तकस्य या श्रेणयस्ता द्वित्रादिप्रदेशा अपि सम्भवन्ति तेन ता सङ्ख्यातप्रदेशा लभ्यन्ते शेषा असङ्ख्यातप्रदेशा लभ्यन्त इति, टीकाकारस्तु साक्षेपपरिहारं चेह प्राह—"परिमंडल जहन्न, भणिय कडजुम्मवट्टिय लोए । तिरियाययसेढीण, संखेज्जपएसिया किह णु ? ॥ १ ॥ दो दो दिसासु एक्के-क्को य विदिसासु एस कडजुम्मे । पढमपरिमंडलाओ, वुड्ढी किर जाव लोगंतो ॥ २ ॥" इत्यादिप , परिहारस्तु—"अह सया पसज्जइ, एव लोगस्स न परिमंडलया । वट्टालेहेण तओ, वुड्ढी कडजुम्मिया जुत्ता ॥ ३ ॥"

एव च लोकवृत्तपर्यन्तश्रेणय सङ्ख्यातप्रदेशात्मिका भवन्तीति 'नो अणंताओ' त्ति लोकप्रदेशानामनन्तत्वाभावात्, 'उड्ढमहाययाओ' 'नो संखेज्जाओ असंखेज्जाओ' त्ति यत उस्तासामुच्छिन्नानामूर्ध्वलोकान्तादधोलोकान्तेऽधोकान्तादूर्ध्वलोकान्ते प्रतिघातोऽतस्ता असङ्ख्यातप्रदेशा एवेति, या अप्यधोलोककोणतो ब्रह्मलोकतिर्यग्मध्यप्रान्ताद्वोत्तिष्ठन्ते ता अपि न सङ्ख्यातप्रदेशा लभ्यन्ते , अत एव सूत्रवचनादिति । 'अलोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए ' इत्यादि , ' सिय संखेज्जाओ सिय असंखेज्जाओ ' त्ति यदुक्तं तत्सर्वं क्षुल्लकप्रतरप्रत्यासन्ना ऊर्ध्वाधआयता अधोलोकश्रेणीराश्रित्येत्यवसेय , ता हि आदिमा सङ्ख्यातप्रदेशास्ततोऽसंख्यातप्रदेशास्तत परं त्वनन्तप्रदेशा , तिर्यगायतास्त्वलोकश्रेणय प्रदेशतोऽनन्तता एवेति ।

```
              पू०
        -------------
        |   00000   |
        |  0000000  |
        |00000000000|
     उ० |00000000000| द०
        |00000000000|
        |00000000000|
        |  0000000  |
        |   00000   |
        -------------
              प०
```

सेढीओ णं भंते ! किं साइयाओ सपज्जवसियाओ-१, साईयाओ अपज्जवसि० २ अणादीयाओ सपज्जवसियाओ ३ अणादीयाओ अप० ४, ? गोयमा ! नो सादीयाओ सप० नो सादीयाओ अप० णो अणादीयाओ सप० अणादीयाओ अप० एवं ०जाव उड्ढमहायताओ, लोयागाससेढीयाओ णं भंते ! किं सादीयाओ सप० पुच्छा, गोयमा ! सादीयाओ सपज्जवसियाओ नो सादीयाओ अपज्जवसियाओ नो अणादीयाओ सपज्जव०नो अणादीयाओ अपज्ज० एवं ०जाव उड्ढमहायताओ । अलोयागाससेढीओ णं भंते ! किं सादीयाओ सप० पुच्छा, गोयमा ! सिय साईयाओ सपज्जवसियाओ १ सिय साईयाओ अपज्जवसियाओ २ सिय अणादीयाओ सपज्जवसियाओ ३ सिय अणाईयाओ अपज्जवसियाओ ४, पाईणपडीणाययाओ दाहिणुत्तरायताओ य, एवं चेव, नवरं नो सादीयाओ सपज्जवसियाओ सिय साईयाओ अपज्जवसियाओ सेसं तं चेव, उड्ढमहायताओ ०जाव ओहियाओ तहेव चउभंगो । सेढीओ णं भंते ! दव्वट्टयाए किं कडजुम्माओ तेओयाओ ? पुच्छा, गोयमा ! कडजुम्माओ नो तेओयाओ नो दावरजुम्माओ नो कलियोगाओ एवं ०जाव उड्ढमहायताओ , लोगागाससेढीओ एवं चेव, एवं अलोगागाससेढीओ वि । सेढीओ णं भंते ! पएसट्ठाए किं कडजुम्माओ पुच्छा , एवं चेव एवं ०जाव उड्ढमहायताओ । लोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए पुच्छा, गोयमा ! सिय कडजुम्माओ नो तेओयाओ सिय दावरजुम्माओ नो कलियोगाओ

१ अत्र दीर्घत्वं चिन्त्यम् ।

एवं पाईणपडीणायताओ वि दाहिणुत्तरायताओ वि । उड्ढमहाययाओ णं पुच्छा, गोयमा ! कडजुम्माओ, नो तेओगाओ नो दावरजुम्माओ नो कलियोगाओ । अलोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए पुच्छा, गोयमा ! सिय कडजुम्माओ ०जाव सिय कलिओगाओ, एवं पाईणपडीणायताओ वि एवं दाहिणुत्तरायताओ वि, उड्ढमहायताओ वि एवं चेव, नवरं नो कलिओगाओ सेसं तं चेव । (सू० ७२६) कति णं भंते ! सेढीओ पण्ण० ?, गोयमा ! सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-उज्जुआयता एगओ वंका दुहओ वंका एगओ खहा दुहओ खहा चक्कवाला अद्धचक्कवाला । परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं अणुसेढिं गती पवत्तति विसेढिं गती पवत्तति ?, गोयमा ! अणुसेढिं गती पवत्तति नो विसेढिं गती पवत्तति । दुपएसियाणं भंते ! खंधाणं अणुसेढिं गती पवत्तति विसेढिं गती पवत्तति एवं चेव , एवं ०जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं । नेरइयाणं भंते ! किं अणुसेढिं गती पवत्तति विसेढिं गती पवत्तति एवं चेव, एवं ०जाव वेमाणियाणं । (सू० ७३०)

'सेढीओ णं भंते ! किं साइयाओ' इत्यादिप्रश्नः, इह च श्रेणयोऽविशेषितत्वाद्या लोके चालोके च तासां सर्वासां ग्रहणं, सर्वग्रहणाच्च ता अनादिका अपर्यवसिताश्चेत्येक एव भङ्गकोऽनुमन्यते शेषभङ्गकत्रयस्य तु प्रतिषेधः । 'लोगागासेढीओ णं' मित्यादौ तु 'साइयाओ सपज्जवसियाओ' इत्येको भङ्गकः सर्वश्रेणीभेदेष्वनुमन्यते, शेषाणां तु निषेधः, लोकाकाशस्य परिमितत्वादिति । 'अलोगागाससेढी' त्यादौ 'सिय साइयाओ सपज्जवसियाओ' त्ति प्रथमो भङ्गकः क्षुल्लकप्रतरप्रत्यासत्तौ ऊर्ध्वायतश्रेणीराश्रित्याऽवसेयः, 'सिय साइयाओ अपज्जवसियाओ' त्ति द्वितीयः, स च लोकान्तादवधेरारभ्य, सर्वतोऽवसेयः 'सिय अणाइयाओ सपज्जवसियाओ' त्ति तृतीयः, स च लोकान्तसन्निधौ श्रेणीनामन्तस्य विवक्षणात्, 'सिय अणाइयाओ अपज्जवसियाओ' त्ति चतुर्थः, स च लोकं परिहृत्य याः श्रेणयस्तदपेक्षयेति । 'पाईणपडीणाययाओ' इत्यादौ 'नो साइयाओ सपज्जवसियाओ' त्ति अलोके तिर्यक्श्रेणीनां सादित्वेऽपि सपर्यवसितत्वस्याभावान्न प्रथमो भङ्गः, शेषास्तु त्रयः संभवन्त्यत एवाह-'सिय साइयाओ' इत्यादि । 'सेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्माओ ?' इत्यादिः प्रश्नः, उत्तरं तु-'कडजुम्माओ' त्ति, कथं ?, वस्तुस्वभावात्, एवं सर्वा अपि यः पुनर्लोकालोकश्रेणीषु प्रदेशार्थतया विशेषोऽसावुच्यते-तत्र 'लोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए' इत्यादौ स्यात् कृतयुग्मा अपि स्यात् द्वापरयुग्मा इत्येतदेवं भावनीयम्-रुचकार्द्धादारभ्य यत्पूर्वं दक्षिणं वा लोकार्द्धं तदितरेण तुल्यमतः पूर्वापरश्रेणयो दक्षिणोत्तरश्रेणयश्च समसंख्यप्रदेशाः, ताश्च काश्चित् कृतयुग्माः काश्चिद् द्वापरयुग्माश्च भवन्ति न पुनस्त्र्योजप्रदेशाः कल्योजप्रदेशा वा, तथाहि-असद्भावस्थापनया दक्षिणपूर्वाद् रुचकप्रदेशात्पूर्वतो यल्लोकश्रेण्यर्द्धं तत्प्रदेशशतमानं भवति यच्चापरदक्षिणाद् रुचकप्रदेशादपरतो लोकश्रेण्यर्द्धं तदपि प्रदेशशतमानं, ततश्च शतद्वयस्य चतुष्कापहारे पूर्वापरायतलोकश्रेण्याः कृतयुग्मता भवति, तथा दक्षिणपूर्वाद् रुचकप्रदेशाद्दक्षिणो योऽन्त्यः प्रदेशस्तत आरभ्य पूर्वतो यल्लोकश्रेण्यर्द्धं तन्नवनवतिप्रदेशमानं, यच्चापरदक्षिणायताद् रुचकप्रदेशाद्दक्षिणो योऽन्त्यः प्रदेशस्तत आरभ्यापरतो लोकश्रेण्यर्द्धं तदपि च नवनवतिप्रदेशमानं, ततश्च द्वयोर्नवनवत्योर्मीलने चतुष्कापहारे च पूर्वापरायतलोकश्रेण्या द्वापरयुग्मता भवति, एवमन्यास्वपि लोकश्रेणीषु भावना कार्या, इह चेयं संग्रहगाथा-"तिरियाययाउ कडबा-यराउ लोगस्स संखऽसंखा वा । सेढीओ कडजुम्मा, उड्ढमहआययमसंखा ॥ १ ॥" इति (तिर्यगायताः कृतयुग्माः लोकस्य संख्याता असंख्याता वा । श्रेणयः कृतयुग्माः ऊर्ध्वाधआयताः असंख्याताः ॥ १ ॥) तथा 'अलोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसे' त्यादौ 'सिय कडजुम्माओ' त्ति याः क्षुल्लकप्रतरद्वयनामीप्यात्तिरश्चीनतयोत्थिता याश्च लोकमस्पृशन्त्यः स्थितास्ता वस्तुस्वभावात्कृतयुग्माः, यावत्करणात्-'सिय तेओयाओ सिय दावरजुम्माओ' त्ति दृश्यं, तत्र च याः क्षुल्लकप्रतरद्वयस्याधस्तनादुपरितनाद्वा प्रतरादुत्थितास्तास्त्र्योजाः, यतः क्षुल्लकप्रतरद्वयस्याध उपरि च प्रदेशतो लोकस्य वृद्धिभावेनालोकस्य प्रदेशत एव हानिभावादेकैकस्य प्रदेशस्यालोकश्रेणीभ्योऽपगमो भवतीति, एवं तदनन्तराभ्यामुत्थिता द्वापरयुग्माः, 'सिय कलिओगाओ' त्ति तदनन्तराभ्यामेवोत्थिताः कल्योजाः, एवं पुनः पुनस्ता एव यथासम्भवं वाच्या इति । 'उड्ढाययाणं' मित्यादि, इह क्षुल्लकप्रतरद्वयमानेन या उत्थिता ऊर्ध्वायतास्ता द्वापरयुग्माः ततः ऊर्ध्वमधश्चैकैकप्रदेशवृद्ध्या कृतयुग्माः क्वचिच्चैकप्रदेशवृद्ध्याऽन्यत्र वृद्ध्यभावेन त्र्योजाः, कल्योजास्त्विह न संभवन्ति वस्तुस्वभावात्, एतच्च भूमौ लोकमालिख्य केदाराकारप्रदेशवृद्धिमन्तं ततः सर्वं भावनीयमिति । अथ प्रकारान्तरेण श्रेणीप्ररूपणायाह-'कइ णं' मित्यादि, श्रेणयः-प्रदेशपङ्क्तयो जीवपुद्गलसञ्चरणविशेषिताः तत्र 'उज्जुयायत' त्ति ऋजुश्चासावायता चेति ऋज्वायता यया जीवादय ऊर्ध्वलोकादेरधोलोकादौ ऋजुतया यान्तीति, 'एगओ वंक' त्ति 'एकतः' एकस्यां दिशि 'वङ्का' वक्रा यया जीवपुद्गला ऋजु गत्वा वक्रं कुर्वन्ति श्रेण्यन्तरेण यान्तीति, स्थापना चैवम्-(⌐) 'दुहओ वंक' त्ति यस्यां वारद्वयं वक्रं कुर्वन्ति सा द्विधावक्रा, इयं चोर्ध्वक्षेत्रादाग्नेयदिशोऽधःक्षेत्रे वायव्यदिशि गत्वा य उत्पद्यते तस्य भवति, तथाहि-प्रथमसमये आग्नेय्यास्तिर्यग् नैर्ऋत्यां याति ततस्तिर्यगेव वायव्यां ततोऽधो वायव्यामेवेति, त्रिसमयेयं त्रसनाड्या मध्ये बहिर्वा भवतीति, 'एगओ खह' त्ति यया जीवः पुद्गलो वा नाड्या वामपार्श्वादेस्तां प्रविष्टस्तयैव गत्वा पुनस्तद्वामपार्श्वादावुत्पद्यते सा एकतः खा, एकस्यां दिशि वामादिपार्श्वलक्षणाया खस्य-आकाशस्य लोकनाडीव्यतिरिक्तलक्षणस्य

भावादिति, इयं च द्वित्रिचतुर्थक्रोपेनाऽपि क्षेत्रविशेषाश्रि तेति भेदेनोक्ता, स्थापना चेयम्—[ ] दुहओ खह ' त्ति नाडया वामपार्श्वादेर्नाडीं प्रविश्य तयैव गत्वाऽस्या एव दक्षिणपार्श्वादौ ययोत्पद्यते सा द्विधा खा , नाडिवहिर्भूनयोर्वामदक्षिणपार्श्वलक्षणयोर्द्वयोराकाशयोस्तथा स्पृष्टत्वादिति । स्थापना चेयम्—[ ]' चक्कवाल'त्ति चक्रवाल-मण्डलं , ततश्च यया मण्डलेन परिभ्रम्य परमाण्वादिरुत्पद्यते सा चक्रवाला, सा चैवम्— ० ' अद्धचक्कवाल त्ति चक्रवालार्द्धरूपा , सा चैवम्-[ ] । अनन्तरं श्रेण्य उक्ता , अथ ता एवाधिकृत्य परमाण्वादिगतिप्रज्ञापनायाह—' परमाणुपोग्गलाणं भंते !' इत्यादि, अणुसेढिं' ति अनुकूला-पूर्वादिदिगभिमुखा श्रेणिर्यत्र तदनुश्रेणि, तद्यथा भवत्येव गति प्रवर्त्तते, ' विसेढिं' ति विरुद्धा विदिगाश्रिता श्रेणी यत्र तद्विश्रेणि, इदमपि क्रियाविशेषणम् । भ० २५ श० ३ उ० । आ० म० । जं० । रा० । श्रेण्यो भवनपतीनां परिमाणावधारणाय द्रष्टव्या । पं० सं० २ द्वार । जं० । नं० । आ० म० । सम्प्रति श्रेणिनिरूपणायाह—' तद्दीहेगपएसा सेढि ' त्ति-स एव घनीकृतलोक सप्तरज्जुप्रमाणो दीर्घ दैर्ध्य यस्या सा तद्दीर्घा एकप्रदेशेति वीप्साप्रधानत्वान्निर्देशस्य एकैकाकाशप्रदेशा श्रचि श्रेणिरित्युच्यते । एतेन च यत्र कुत्राप्यविशेषितायाः श्रेणेः सामान्येन ग्रहणं तत्र सर्वत्रास्य घनीकृतलोकस्य संबन्धिनीयमेव सप्तरज्जुप्रमाणा एकप्रदेशिकी श्रेणिर्ग्राह्या । कर्म० ५ कर्म० । क० प्र० । प० स० । अनन्तरे निर्णीतप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनेनासख्येययोजनकोटीकोट्य संवर्त्तितसमचतुरस्त्रीकृतलोकस्यैका श्रेणि । अनु० । (' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे ५१० पृष्ठे सप्तश्रेण्य ।)

अथ श्रेणिप्ररूपणामाह-

अविभागपलिच्छेया, ठाणंतरकंडए य छट्ठाणा ।
हिट्ठा पज्जवसाणे, वड्ढी अप्पाबहुं जीवा ॥ ८३३ ॥

अविभागपरिच्छेदप्ररूपणा स्थानान्तरप्ररूपणा कण्डकप्ररूपणा षट्स्थानप्ररूपणा अध प्ररूपणा पर्यवसानप्ररूपणा वृद्धिप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा जीवप्ररूपणा चामूनि प्रतिद्वाराणि ।

तद्यथा—

आलावगगणणविरहिय-मविरहियं फासणा परूवणया ।
गणणपयसेढिअक्खर-भागेअप्पाबहुं समया ॥ ८३४ ॥

आलापकप्ररूपणा गणनाप्ररूपणा विरहितप्ररूपणा अविरहितप्ररूपणा श्रेण्यपहारप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा समयप्ररूपणा चेति द्वारगाथाद्वयम् । बृ० ३ उ० ।

सेढिआयय-श्रेण्यायत-न० । प्रदेशिकश्रेणिरूपे आयते , भ० २५ श० ३ उ० ।

सेढिचारण-श्रेणिचारण-पुं० । चतुर्योजनशतोच्छ्रितस्य निषधस्य नीलस्य वा अद्रेष्टङ्कच्छिन्ना श्रेणिमुपर्यधो वा पादनिक्षेपोत्क्षेपपूर्वकमुत्तरणावतरणनिपुणे चारणभेदे , प्रव० ६८ द्वार । ग० ।

सेढितव-श्रेणितपस्-न० । श्रेणि —पङ्क्तिस्तदुपलक्षित तप श्रेणितप । चतुर्थादिक्रमेण क्रियमाणे षण्मासान्ते तपोभेदे, उत्त० ३० अ० । (' अणसण ' शब्दे प्रथमभागे ३०३ पृष्ठे दर्शितमेतत् ।)

सेढिसय-श्रेणिशत-न० । ऋज्व्वायतादिश्रेणिप्रधाने शते , भ० ३४ श० १ उ० ।

सेण-श्येन-पुं० । पक्षिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । प्रव० । नगरानगरीवास्तव्यस्य वस्तुश्रेष्ठिन स्वनामख्याते पुत्रे, ध० २ अधि० । काञ्चीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध० र० ।

श्येनश्रेष्ठिकथा चेयम्—

इह अत्थि पुरी कन्ची—कन्चणचिंचइयचेइहरकलिया ।
तत्थ य सेणो सिट्ठी, कुवलयमाला पिया तस्स ॥ १ ॥
ताणं च तिन्नि पुत्ता, सिट्ठिगिहे मासखमणपारणए ।
भिक्खत्थमणुपविट्ठो, कयावि साहू चउन्नाणी ॥ २ ॥
गहिउ सत्तुगथाल, सिट्ठी उट्ठेइ झत्ति से दाउ ।
ससत्ता सुहुमजिएहिं, मम न कप्पति भणइ मुणी ॥ ३ ॥
को पच्चओ त्ति वुत्त—मि सिट्ठिणा दसए मुणी तस्स ।
तव्वन्नजिए उवरं-त फुमदावणउवाएण ॥ ४ ॥
तो तइयदिवसदहियं-मि ढोइए दसए तहेव जिए ।
अह सिट्ठी से ढोएइ. मोयगाणं भरियथाल ॥ ५ ॥
विसमोयगा इमे, मुणि-काहिए स भणइ कह, मुणी आह ।
जा इह लग्गइ सा मर-इ मच्छिया, पिच्छ नणु सिट्ठी ॥ ६ ॥
तो सो विम्हियहियओ, जंपइ विसदायग कहसु मज्झ ।
पच्चाह साहुपवरो, जा कम्मयरी मया कल्ले ॥ ७ ॥
किं तीइ कयमिम, इय पुट्ठे साहू भणेइ जह तुमए ।
सकुडुंबेण वि असुगे , अवराहे तज्जिया सा उ ॥ ८ ॥
तो तीए तुम्ह कए, विसजुत्ता मोयगा इमे विहिया ।
तह अत्तणो निमित्त, विसरहिया मोयगा दुन्नि ॥ ९ ॥
तो अइछुहाइयाए, संभतमणाइ मोयगा तीए ।
विससंजुत्ताभुत्ता, पवत्त तक्खणा पत्ता ॥ १० ॥
विसमविसवज्जिय इह, थाले पुण मोयगाण दुगमेव ।
सेसा सव्वे सविसा, तो मज्झ इमे न कप्पंति ॥ ११ ॥
जइ कहवि इमे तुमए, सकुडुंबेणावि भक्खिया हुता ।
ता पावंतो मरण, तमसरणा धम्मपरिमुक्को ॥ १२ ॥
तत्तो सेणो पुच्छइ, धम्म पत्तो मुणी उ सट्ठाणं ।
भिक्खगएहिं धम्मो, न कहिज्जइ इय भणेऊण ॥ १३ ॥
अह मज्झण्हे सिट्ठी, सकुडुंबो गतु साहुमूलम्मि ।
पणमिय पुच्छइ धम्मं, एव से कहइ साहू वि ॥ १४ ॥
जह सुरकरी करीसुं , अमरेसु हरी गिरिसु कणयगिरी ।
तह धम्मेसु पहाणो, दाणाई चउह जिणधम्मो ॥ १५ ॥
तत्थ वि सुनिकाइयक—म्मघम्मजलहरसमो तवो पवरो ।
तत्थ वि य विसेसिजइ , सज्झाओ जेणिम भणिय ॥ १६ ॥
कम्ममसंखिज्जभव, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नयरंमि वि जोगे, सज्झायम्मि य विसेसेण ॥ १७ ॥
वारसविहंमि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
नवि अत्थि नवि य होही, सज्झायसम तवोकम्म ॥ १८ ॥

जओ—

सज्झाएण पसत्थं, झाणं जाणइ य सव्वपरमत्थं ।
सज्झाए वट्टंतो खणे खणे जाइ वेरग्गं ॥ १६ ॥
उड्ढमह तिरियनरए, जोइसवेमाणिया य सिद्धी य ।
सव्वो लोगालोगो, सज्झायविउस्स पच्चक्खो ॥ २० ॥
इय सोउं तुट्ठमणो, सेणो सम्मं गहित्तु गिहिधम्मं ।
सज्झायभिग्गहजुयं, नमिउं च मुणिं गओ सगिहं ॥ २१ ॥
तो धम्मकम्मनिरए, सज्झायपरे सया वि सिट्ठिम्मि ।
वड्ढियविहवे पसरिय-पुत्तपुत्ताइसंताणे ॥२२॥
बहुयाओ बहुयाओ, जहा तहा करगरंति अन्नुन्नं ।
गलियसिणेहा तव्वय-णाओ ण लहंति पुत्ता वि ॥ २३ ॥
तं कलहंते दट्ठुं, सिट्ठी भिन्ने करेइ तो ते उ ।
मग्गंति मूलगेहं, तयंम सिट्ठी पयच्छेइ ॥ २४ ॥
अह सो पियाइ वुत्तो, दविणजुयं नियघरं पि पुत्ताण ।
दाउं सपइ कह तं, होहिसि तो भणइ इय सिट्ठी ॥२५॥
जस्स मणआलवाले, वट्टइ जिणनाहधम्मकप्पतरू ।
भवणेण धणेण परेणं, वा वि का तस्स किर गणणा ॥ २६ ॥
सा पुण तं पइ जपइ, संपइ भिक्खं भमसु गहियचयं ।
तह निवसेसु सुसाणे, देवउले सुन्नगेहे वा ॥ २७ ॥
स भणइ इवेसु धीरा, इमं पि काहं कमेण नणु सुयणु ।
दंसेमि ताव इहलो-इयं पि धम्मप्पभावं ते ॥ २८ ॥
इय वुत्तु झत्ति नियमि—च मतिगेहंमि गंतु साहइ ।
सव्वं कुडुववत्तं, तप्पुरओ मग्गइ गिहं पि ॥ २९ ॥
मती वि भणइ मह गिह-मेग अत्थि त्ति मुग्गडपविट्ठं ।
किंतु सदोसं न कया, वि कोइ निवसेइ तं गिरह ॥ ३० ॥
जइ पुण धम्मपभावे-ण पभविही वतरो न तुह किंचि ।
सो तयणु सउणगंठिं, बंधिय पत्तो गिहे तम्मि ॥३१॥
निस्सीहियं करेउं, अणुजाणाविय गओ गिहस्संतो ।
पडिकमिऊण य इरियं, एवं च करेइ सज्झायं ॥३२॥

तथाहि—

गयमेअज्ज महामुणि-खंदगसीसाइ साहुचरियाइं ।
सुमरंतो कह कुप्पसि, इत्तियमित्ते वरे जीव ! ॥ ३३ ॥
पिच्छसु पाणविणासे, वि नेव कुप्पंति जे महासत्ता ।
तुज्झ पुण हीणसत्त-स्स वयणमित्ते वि एस खमा ॥ ३४ ॥
रे जीव ! सुह दुहेसुं, निमित्तमित्तं परो जियाण ति ।
सकयफलं भुजंतो, कीस मुहा कुप्पसि परस्स ॥३५॥
हा हा मोहविमूढा, विहवे य घरे य मुच्छिया जीवा ।
निहणंति पुत्तमित्ते भमंति तो चउगइभवम्मि ॥३६॥
एव सो सज्झायं, करेइ जा जामिणीइ जामदुगं ।
ता वंतरेण सुणिउं, पहिट्ठचित्तेण इय भणियं ॥ ३७ ॥
मह भवजलहिम्मि निम-ज्जियस्स पोयाइयं तए साहु ।
सो हं अमरो एयं, गह उव्वरसियं जेण ॥ ३८ ॥
तो कहइ सेणपुट्ठो, स वंतरो भद्द ! एयगेहस्स ।
अहमासि पुरा सामी, अहेसि पुत्ता दुवे मज्झ ॥ ३९ ॥
तेसु लहू अइइट्ठो, दिन्नं सव्वं पि तस्स गिहसारं ।
दाऊणं किंपि मए, भिन्नगिहे ठाविओ जिट्ठो ॥ ४० ॥
तो काहेउं रायउले, तेणं मारावित्रो अहं सहसा ।
लहुभायर धराविय, गेहमिणं अप्पणा गहियं ॥ ४१ ॥
लहुबंधू गुत्तीए, मओ अहं इत्थ वंतरो जाओ ।
जिट्ठसुयविलसियमिणं, नायं मे नियमनाणेण ॥ ४२ ॥
तत्तो कुविएण मए, जिट्ठसुओ विहणिओ सपरिवारो ।
अन्नो वि वसइ जो इह, रयणीइ तयं हणेमि धुवं ॥ ४३ ॥
संपइ तुह सज्झायं, सोउं बुद्धो विमुक्कवइरो य ।
तं मज्झ गुरू तो तुह, सनिहाणमिणं गिहं दिन्नं ॥ ४४ ॥
निहिठाणं च कहेउं, खणेण अमरो अदंसणी हूओ ।
सिट्ठी वि इमं गोसे, साहइ निवमतिमाईण ॥ ४५ ॥
तो विम्हिओ नरिंदो, तुट्ठा वरसचिवसयणपमुहजणा ।
पुत्ता उवसंतप्पा, जाया जाया वि धम्मपरा ॥ ४६ ॥
जियअंतं रिऊसेणो, सेणो वि चिरं करंति गिहिधम्मं ।
गहिऊण य पव्वज्जं, पत्ता सासयपयं कमसो ॥ ४७ ॥

श्येन सदैवं स्फुटशुद्धभावः,
स्वाध्यायनिष्ठोऽजनि निष्ठितार्थः ।
विवेकपीयूषमयूखवार्द्धौ,
नदत्र सन्तः सततं यतन्ताम् ॥ ४८ ॥

इति श्येनश्रेष्ठिकथा। ध० र० २ अधि० ३ लक्ष०।

सेणंग–सेनाङ्ग–न०। हस्त्यश्वरथपदातिलक्षणे सेनाङ्गे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

सेणग–श्येनक–पुं०। पक्षिविशेषे, चं० प्र० ४ पाहु०। सू० प्र०।

सेनक–पुं०। प्रत्यन्तनगरराजस्य जितशत्रोरमात्यपुत्रे, आ० क० ४ अ०। आ० म०। कूणिकमहाराजस्य पूर्वभवजीवे, आ० क० ४ अ०। (एतत्कथा 'कूणिक' शब्दे तृतीयभागे ६२६ पृष्ठे उक्ता।)

सेणा–सेना–स्त्री०। चतुरङ्गकटकसमूहे, उत्त० ३० अ०। हस्त्यश्वरथपदातिसन्नाहखड्गकुन्तादिसमुदाये, अनु०। विशे०। बृ०। आव०। आ० म०। सम्भवनाथजिनस्य जनन्याम्, "दो चेव सयसहस्सा, सीसाए आसि सम्भवजिनस्स। अमितवीरियजुयस्स, सेणाए जियारितणयस्स ॥ १ ॥" ति०। प्रव०। आव०। स्थूलभद्रस्वामिनो भगिन्याम्, आर्यसम्भूतविजयस्यान्तेवासिन्याम्, ति०। आ० क०। आ० चू०।

सेणाकम्म–सेनाकर्मन्–न०। सेनायाः सैन्यस्य कर्म-व्यापारः शत्रुसाधनलक्षणः, सेनाविषयं वा कर्म-इतिकर्त्तव्यतालक्षणं सेनाकर्म। सैन्यकर्मणि, स्था० ९ ठा० ३ उ०।

सेणावइ–सेनापति–पुं०। सेनाया पतिः सेनापतिः। आ० म० १ अ०। नृपतिनिरूपितचतुरङ्गसैन्यनायके, प्रज्ञा० १६ पद। स्था०। भ०। कल्प०। जी०। ओघ०। औ०। सकलानीकनायके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। जं०। रा०। स०। आव०। औ०। आ० म०। सूत्र०। अनु०। ज्ञा०। आ० क०। स्था०। प्रव०।

सेणावइरयण–सेनापतिरत्न–न०। सेनापतिः–सैन्यनायकः स एव रत्नम्। उत्कृष्टसेनापतौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सेणावच्च–सेनापत्य–न०। सेनापतिः-सैन्यनायकस्तस्य भावः कर्म वा सेनापत्यम्। सैन्यनायकत्वे, औ०। विपा०। जं०।

सेणि–श्रेणि–स्त्री०। पङ्क्तौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। रा०। जं०। कुम्भकाराद्यष्टादश प्रकृतयः श्रेणिशब्देनोच्यन्ते। जं० ३ वक्ष०। आ० म०।

सेणिय-श्रेणिक -पुं० । स्वनामख्याते राजगृहनगरराजे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । कूणिकस्य पिता श्रेणिकराजः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । आव० । उत्त० । राजगृहनगरराजस्य प्रसेनजितः पुत्रे, आ० क० १ अ० । अन्त० । (श्रेणिकस्य महाराजस्य सुनन्दाप्रभृतयोऽस्य पत्न्य स्वस्वस्थाने दर्शिताः ।) अयमुत्तरभवे महापद्मो नाम तीर्थकरो भविष्यति । आ० चू० ४ अ० । अन्त० । ध० र० । विशे० । आव० । स० । आ० म० । प्रव० । आ० क० । दशा० । नि० चू० । भ० । (श्रेणिकजीवो महापद्मस्तत्कथा-'महापउम' शब्दे षष्ठे भागे उक्ता ।) स्थविरस्य आर्यशान्तिश्रेणिकस्य शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । नं० ।

सेणी-श्येनी-स्त्री० । परिव्राजकप्रयुक्ताया मयूरविकुर्वणात्मिकाया प्रतिमन्थिन्या श्येनविकुर्वणात्मिकायां विद्यायाम्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

सेण्ण-सैन्य-न० । 'एत एत्' ॥८।१।१४८॥ इत्यादौ वर्त्तमानस्यैत एत्वम् । सेण्णं । प्रा० । हस्त्यश्वरथपदातिवृषभनर्तकगाथकजनरूपेऽनीके, औ० ।

सेणहग-श्येनक-पुं० । पक्षिविशेषे, उपा० ७ अ० । जी० ।

सेत-श्वेत-त्रि० । शुक्ले, प्रज्ञा० १७ पद ।

सेतई-श्वेतवी-स्त्री० । स्वनामख्याताया नगर्याम्, आ० म० १ अ० ।

सेधा-सेधा-स्त्री० । भुजसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

सेफ-श्लेष्मन्-न० । 'श्लेष्मणि वा' ॥८।२।५५॥ इति ष्मस्य फ । सेफो । कफजे मुखमले, प्रा०२ पाद ।

सेभण्ड-तद्भाण्ड-न० । तस्य विवक्षितस्य भाण्डे, भ० ५ श० ६ उ० ।

सेमुसी-शेमुषी-स्त्री० । बुद्धौ, आ० म० १ अ० । आचा० ।

सेय-श्रेयस्-न० । कल्याणे, भ० २ श० १ उ० । स्था० । पञ्चा० । शोभनतरे, दश० २ अ० । षो० । सूत्र० । अष्ट० । धा० । वृ० । अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्त्तेषु द्वितीयो मुहूर्त्त श्रेयान् । जं० ७ वक्ष० । पुण्ये आत्महिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । श्रेयस्करे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । औ० । पथ्ये, हिते सेयमित्यत्र " स्नमदामशिरोनभः " ॥८।१।३२॥ इति सूत्रात्पुस्त्वं न बहुलाधिकारात् । प्रा० ।

श्वेत-त्रि० । शुभ्रे, धवले, औ० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य नाट्यानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० । दाक्षिणात्यानां कुम्भण्डानामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नाट्यानीकाधिपतौ, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सेक-पुं० । सीयन्ते वा बध्यन्ते यस्मिन्नसौ सेक । कर्दमे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सजले पङ्के, आव० ४ अ० । वृ० ।

स्वेद-पुं० । श्रमजे शरीरजले, प्रव० ४० द्वार । नि० चू० । स्था० । तं० । दशा० ।

सेजस्-त्रि० । सकम्पे, भ० ५ श० ७ उ० । वृ० । रा० । (सेजसूनिरेजसो दण्डक 'एजणा' शब्दे तृतीयभागे गत ।)

सेयआसंठिइ-श्वेततासंस्थिति-स्त्री० । श्वेततायाः संस्थाने, चं० प्र० ३ पाहु० ।

सेयई-श्वेतवी-स्त्री० । सूर्याभपूर्वभवजीवस्य प्रदेशिनो राज्ञो नगर्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सेयंकर-श्रेयस्कर-पुं० । अष्टाशीतिग्रहेषु सप्तषष्टितमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० ।

दो सेयंकरा । (सू०) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सेयंकरअणुओग-श्रेयस्करानुयोग-पुं० । द्रव्यानुयोगभेदे, स्था० । 'सेयकरे' त्ति । इहाप्यकारोऽलाक्षणिकस्तेन सेकार इति तदनुयोगो यथा । 'से भिक्खू वा' इत्यत्र सेशब्दोऽयार्थ, अथशब्दश्च प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्वित्यानन्तर्यार्थ, सेशब्द इति क्वचिदसावित्यर्थ, क्वचित् तस्येत्यर्थ, अथवा—'सेयकार इति श्रेय इत्येतस्य करणं श्रेयस्कार, श्रेयस उच्चारणमित्यर्थ, तदनुयोगो यथा-'सेय मे अहिज्जिओ अज्झयणं' त्यत्र सूत्रे श्रेय -अतिशयेन प्रशस्यं कल्याणमित्यर्थः, अथवा—' सेयकाले अकम्मं वावि भवइ' इत्यत्र सेयशब्दो भविष्यदर्थे । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सेयंकाल-श्रेयस्काल-पुं० । छान्दसत्वात्सेयकाल त्ति । आगामिनि काले, भ० ५ श० ५ उ० । अनु० ।

सेयंगुली-श्वेताङ्गुली-पुं० । भार्याप्रेम्णा चुल्ल्या भस्मसमाकर्षणेन श्वेतकराग्रे, पिं० ।

सेयंबर-श्वेताम्बर-न० । श्वेतवस्त्रे, श्वेतमम्बरं यस्येति गच्छवासिनि श्वेतवस्त्रपरिधानकर्त्तरि निर्ग्रन्थसाधौ, पुं० । "सेयंबरो य आसं-बरो य बुद्धो य अन्नो य । समभावभावियप्पा, लहइ य मुक्ख न संदेहो ॥ " नि० चू० ।

निर्ग्रन्थसाधूनां श्वेतवस्त्रमेव, अन्यथा करणे प्रायश्चित्तमुक्तं निशीथसूत्रे चतुर्दशे उद्देशके तथा च तत्सूत्रम्—

जे भिक्खू नवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु तेल्लेण वा घएण णवणीएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मंखं-(मक्खं) तं वा भिलिंगतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ एवं लोद्धेण वा कक्केण वा वन्नेण वा चुन्नेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वोलंतं वा साइज्जइ । १३ । एवं सीतोदगवियडेण वा उसिणो० साइज्जइ ॥ १४ ॥

नि० चू० १४ उ० ।

आचाराङ्गेऽपि—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा नो धोएज्जा नो रएज्जा नो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा ।

टीकाकारेणापि—

स भिक्षुर्यथैषणीयान्यपरिकर्माणि वस्त्राणि याचेत । यथापरिगृहीतानि च धारयेन्न तत्र किञ्चित्कुर्यादिति दर्शयति । तद्यथा—न तद्वस्त्र गृहीतं सत्प्रक्षालयेत्, नापि रञ्जयेत् । तथा नापि वा कुत्सितकतया धौतरक्तानि धारयेत्, तथाभूतानि न गृह्णीयादित्यर्थ । तथाभूतोऽधौतारक्तवस्त्रधारी च ग्रामान्तरे गच्छन् 'अपलियचमाणे' त्ति अगोपयन् सुखेनैव

गच्छेत् । यतोऽसाववमचेलिको दु सारवस्त्रधारीत्येनस्य भिक्षोर्वस्त्रधारिण सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभावो यदेवंभूतव-स्त्रधारणमिति । एतच्च सूत्रं जिनकल्पिकोद्देशेन द्रष्टव्य वस्त्रधारित्वविशेषणात् । एव गच्छान्तर्गतेऽपि चाऽविरुद्धम्। आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

(इतीह मूलटीकाकाराभ्यां सुस्पष्टमेव वसनरञ्जनधावनयो-र्निषेधो विहित । अत्र वस्त्रधारित्वविशेषणादिद सूत्र जिन-कल्पिकस्थविरकल्पिकोद्देशविषयकमिति द्रष्टव्यम् ।)

अन्यदपि आचाराङ्गे—

जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिउसिते पादचउत्थेहिं तस्स णं णो एवं भवति । चउत्थं वत्थं जाइस्सामि त्ति अहे-सणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा णो धोएज्जा णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा । अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए । एतं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ।

टीकायामपि—

'णो धोवेज्जा' नो धावेत्-प्रासुकोदकेनापि न प्रक्षाल-येत् । गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षादौ ग्लानावस्थायां वा प्रासु-कोदकेन यतनया धावनमनुज्ञातं न तु जिनकल्पिकस्येति । तथाहि—न च धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत् पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानि । तथा ग्रामान्तरेषु गच्छन् वस्त्राण्यगोपयन् व्रजेत् । एतदुक्तं भवति-तथाभूतान्यसावन्तप्रान्तानि बि-भर्ति यानि गोपनीयानि न भवन्ति । तदेवमसाववमचेलिक । अवम च तत् चेलं च अवमचेलम्, प्रमाणतः परिमाणतो मूल्यतश्च । तद्यथाऽस्याऽस्त्यसाववमचेलिक इति । एतत्पू-र्वोक्तस्तुरवधारणे । एतदेव वस्त्रधारिण सामग्र्यं भवति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

(इति मूलमनुसरता टीकाकारेण वस्त्ररञ्जन प्रतिषिध्यते । किं बहुना अतथाभूतवस्त्राणामगोपनमिति वदता सूत्रकारे-ण तदेव व्याचक्षाणेन शीलङ्काचार्येण च रञ्जितवस्त्राणा गो-पनीयत्वप्रतिपादनाद्धारणस्यातिहेयत्वमिति स्फुटमेव व्य-ज्यते । इति प्रतिषिद्धरञ्जितवसनधारणस्पृहया प्रधानतम-सूत्रमप्युत्थापयतो रञ्जितवसनधारिणो निह्नवेभ्यः किमति-रेकः स्यादिति सूक्ष्मदृशा सुधियो विभावयन्तु ।)

सूत्रकृताङ्गे नवमाध्ययनेऽपि—

धोअणं रयणं चेव, वत्थीकम्मविरेयणं ।
वमणंजणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १२ ॥

टीकायामपि—

'धोयण' मित्यादि । धावनं-प्रक्षालनं हस्तपादवस्त्रादेः रञ्जनमपि तस्यैव । चकारः समुच्चयार्थः । एवकारोऽवधा-रणे । तथा वस्तिकर्म-अनुवासनारूपम्, तथा विरेचनम्-निरूहात्मकमधोविरेको वा, वमनमूर्ध्वविरेक, तथा अ-ञ्जनं नयनयोरित्येवमादिकमन्यदपि शरीरसंस्कारादिकं यत्स-यमपलिमन्थकारि-संयमोपघातरूपं तदेव तद्विद्वान् स्वरूपत-स्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

(एवं च वस्त्राञ्जनस्य संयमोपघातरूपतया वर्णनात्तत्करणे संयमोपघात एव संपद्यते ।)

अन्यदपि सूत्रकृताङ्गे सप्तमाध्ययने—

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे,
वियडेण साहट्टु य जे सिणाइं ।
जे धोवई लूसयई य वत्थ,
अहाहु से णागणियस्स दूरे ।२१।

(इत्यत्र प्रासुकोदकेनापि धारा (साबुन) दिना वस्त्रधा-वन साधूनां कुशीलित्व टीकाकारेण भणितमिति स्वच्छ-न्द तदाचरन्तः कुशीलिनः शुद्धजैनधर्मप्रतिकूला एवेत्य-लं बहुना ।)

गच्छाचारप्रकीर्णकेऽपि—

जत्थ य वारडियाणं, तत्तडिआणं च तह य परिभोगो ।
मुत्तुं सुक्किलवत्थं, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ॥८६॥

तत्रैव टीकायामपि—

यत्र गच्छे 'वारडियाणं ति' रक्तवस्त्राणाम् 'तत्तडियाण' ति नीलपीतादिरञ्जितवस्त्राणां च परिभोग क्रियते । किं कृत्वेत्याह । मुक्त्वा-परित्यज्य, किम्? शुक्लवस्त्र—यति-योग्याम्बरमित्यर्थः । तत्र 'का मेर त्ति' का मर्यादा, न का चिदपीत्यर्थः ।

अन्यदपि तत्रैव—

गणि ! गोतम ! जा अज्जा उचिअं सेयवत्थं विवज्जिउं ।
सेवए चित्तरूवाणि, न सा अज्जा विआहिआ ॥११२॥

टीका—

हे गणिन् ! गौतम ! या आर्या उचितं श्वेतवस्त्र विवर्ज्य चित्ररूपाणि—विविधवर्णानि विविधचित्राणि वा वस्त्रा-णि सेवते, उपलक्षणत्वात्पात्रदण्डाद्यपि चित्ररूप सेवते सा आर्या न व्याहृता-न कथितेति विषमाक्षरेति गाथा-च्छन्द । ग० ।

स्थानाङ्गवृत्तावपि—

सरीरे उवगरणे वा, वस्त्रेसियत्तं दुहा समक्खायं ।
सुक्किलवत्थाणि धरे, देस सव्वे सरीरम्मि ॥ ४ ॥

इति श्वेतवस्त्राणामेव धारणं सर्वथाऽनुज्ञायते । इति पुनः सूत्रपाठमप्रमाणीकृत्य पीतपट परिदधत श्वेताम्बरविरो-धिनो जैनमार्गानुयायिनो विचारयन्तु सूत्रार्थतात्पर्यम्, त्य-जन्तु स्वकीयाज्ञानताम्, स्वीकुर्वन्तु श्वेताम्बरत्वम् ।)

साधूनां सदचेलकत्व तथा चोक्तं बृहत्कल्पे—

दुविहो होति अचेला, संता चेलो असंतचेलो य ।
तित्थगरऽसंतचेला, संता चेला भवे सेसा ॥ २८६ ॥

अन्यदपि-सति चेले अचेलकत्वम् आगमे लोके च रूढत्वात्।

सदसंतचेलगोऽचे-लगो य जं लोगसमयसंसिद्धो ।
तेणाचेल मुणिओ, संतेहि जिणा असंतेहिं ॥२६०॥

किंच—

परिसुद्धजुण्णकुत्थी, जं थोवा नियमभोगभोगेहिं ।
मुणिणो मुच्छारहिया, संतेहि अचेलया होंति ॥२६॥

निरुवहयलिंगभेदे, गुरुगा कप्पंति कारणज्जाए ।
गेलन्नलोयरोगे, सरीरवेतावडियमादी ॥ २६२ ॥

टीका—निरुपहतो नाम नीरोगस्तस्य लिङ्गभेदं कुर्वन्-श्चतुर्गुरुका । अथवा-निरुपहतं नाम यथाजातलिङ्गं तस्य भेदे चतुर्गुरु । बृ०(व्याख्या 'अचेलग'शब्दे १भागे १८८ पृष्ठे उक्ता ।)

पुनरपि तदेवाह—

जे भिक्खू वणमंतं विवणं करेइ करंतं वा साइज्जइ ।१०। जे भिक्खू विवणं वणमंतं करेइ करंतं वा साइज्जइ । ११ । जे भिक्खू णवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ।१२। जे भिक्खू णवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा चुणेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वलंतं वा साइज्जइ । १३ । जे भिक्खू णवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू णवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु बहुदिवसिएण तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मंखतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ १५,१६,१७ जे भिक्खू णवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु बहुदिवसिएण लोद्धेण वा कक्केण वा पउमेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ नि० चू० १४ उ० ।

(पुनरपि निशीथचूर्णौ अष्टादशे उद्देशे चतुर्दशोद्देशकवत् वस्त्राद्विग्रहणविधिरित्युक्तम् ।)

" जो वत्थं किणति किणावेति कीयमाहु दिज्जमाणं पडिगाहेति "[1]

इत्यादि सुत्ताणि पणुवीसं उच्चारेयव्वाणि ०जाव समत्तो उद्देसगो । एतेसिं अत्थो चोद्दसमे जहा , चोद्दसमे पादं भणितं तहा अट्ठारसमे वत्थं भाणियव्वं । नि० चू० १८ उ० । (इति तत्र 'पात्र ' पदस्थाने वस्त्रपदोच्चारणपुरस्सरं सकलं सूत्रं पठितव्यम् , ततश्च पात्ररञ्जननिषेधाद् वस्त्ररञ्जननिषेधः प्रतिफलति ।)

पुनरपि तदेवाह—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महायसा ॥ २९ ॥
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ।
लिंगे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते ॥ ३० ॥

लक्ष्मीवल्लभ्यामपि—

वर्धमानेन-चतुर्विंशतितमतीर्थकरेण यो धर्मोऽचेलकः , प्रमाणोपेतजीर्णप्रायधवलवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारो निर्दिष्टः । च-पुनः पार्श्वजिनेन महायशसा त्रयोविंशतितमतीर्थकरेण योऽयं धर्मः सान्तरुत्तरः-पञ्चवर्णः बहुमूल्यप्रमाणरहितवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारः प्रदर्शितः, हे मेधाविन् ! एककार्यप्रतिपन्नयोः श्रीवीरपार्श्वयोर्विशेषे भेदे-किं कारणं-को हेतुः ? । हे गौतम ! द्विविधे लिङ्गे-द्विप्रकारके साधुवेषे 'ते'-तव कथं किं विप्रत्ययो न उत्पद्यते-कथं संदेहो न जायते । उभौ अपि तीर्थकरौ मोक्षसाधकौ कथं ताभ्यां वेषभेदः प्रकाशितः , इति कथं तवायं संशयो न भवति । उत्त० २३ अ० । (इत्युपक्रम्य महावीरसमयादनन्तरं साधूनां श्वेतवस्त्रधारणमेवोचितमिति अचेलकपदेन सूचयता ग्रन्थकारेण तदेव व्याख्यातृणा टीकाकारेण च स्थिरीकृतम् ।

आवश्यकवृत्तावपि—

अचेलकश्चोक्तन्यायेन अविद्यमानचेलकः कुत्सितचेलको वा यो धर्मो वर्द्धमानेन देशित इत्यपेक्षते । तथा ' जो इमो त्ति ' पूर्ववत् । यश्चायं सान्तराणि वर्धमानस्वामिसत्कयतिवस्त्रापेक्षया कस्यचित्कदाचिन्मानवर्णविशेषतः सविशेषाणि, उत्तराणि च महाधनमूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद्वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरुत्तरो धर्मः प्ररूपितः । (इत्यादिना स्फुटीकृतमेतन्महावीरदेशनाप्रवृत्ताना साधूनां श्वेतमानोपेतवस्त्रधारणमेवोचितमिति दिक् ।) आव० ।

भगवतीसूत्रेऽपि—

लिंगंतरेहिं । भ० ।

तद्वृत्तावपि-

लिङ्गं साधुवेषस्तत्र च यदि मध्यमजिनैर्यथालब्धवस्त्ररूपं लिङ्गं-साधूनामुपदिष्टं तदा किमिति प्रथमचरमजिनाभ्यां सप्रमाणधवलवसनरूपं तदेवोक्तं सर्वज्ञानामविरोधिवचनत्वादिति ? प्रश्ने ऋजुजडवक्रजडऋजुप्रज्ञशिष्यानाश्रित्य भगवता तस्योपदेशस्तथैव तेषामुपकारसंभवादिति । भ० ।

कल्पसूत्रेऽपि किरणावलीवृत्तौ-

अचेलककल्पाधिकारे वीरजिनसाधूनां श्वेतमानाद्युपेतवस्त्रधारित्वेनाचेलकत्वमित्याद्युक्तम् । पुनस्तत्रैव श्रीऋषभवीरतीर्थयतीनां च सर्वेषामपि श्वेतमानोपेतजीर्णप्रायवस्त्रधारित्वेनाचेलकत्वमेव ।

कल्पकिरणावलीवृत्ते प्रशस्तौ—

तपा पट्टे सम्प्रति, विजयन्तो हीरविजयसूरीशाः ।
ये श्वेताम्बरयतीनां, सर्वेषामाधिपत्यभृत ॥ ६ ॥
इति जैनसाधूनां श्वेतवस्त्रमेवोपयुज्यते ।

विनयविजयकृतकल्पसुबोधिकायामपि—

प्रथमकल्पे श्वेतमानोपेतवस्त्रधारित्वेन साधूनामचेलकत्वमपीति । तथा हेमविमलसूरिकृतटव्वा-ऽपरपण्डितोपाध्यायकृतकल्पसूत्रटव्वा-बालावबोधप्रमुखेषु बहुषु ग्रन्थेषु सर्वत्र अचेलकत्वं श्वेतमानोपेतवस्त्रधारित्वमिति स्थिरीकृतम् ।

विवेकविलासेऽपि अष्टमोल्लासे—

सरजोहरणा भैक्ष्य—भुजो लुञ्चितमूर्धजाः ।
श्वेताम्बराः क्षमाशीलाः, निःसङ्गा जैनसाधवः ॥ १ ॥

संबोधसत्तरीग्रन्थेऽपि—

" सेयंबरो य आसं-बरो य बुद्धो य अहव अन्नो वा",इत्यादि

१—पुस्तकान्तरे 'पडिग्गहे ' इति ।

अनुयोगद्वारसूत्रेऽपि-

पांडुपाउरणा । अनु० ।

आवश्यकनिर्युक्तौ च-

सुक्कंबरा य समणा, निरंबरा मज्झ धाउरत्ताइं ।
हुंतु अ मे वत्थाइं, अरिहोऽम्हि कसायकलुसमई ॥४७॥

वृत्तावपि—

शुक्लान्यम्बरानि येषां ते शुक्लाम्बराः शुक्लाम्बराश्च श्रमणाः । तथा निर्गतमम्बरं येभ्यस्ते निरम्बरा-जिनकल्पिकादयः । 'मज्झ' त्ति मम न एते श्रमणाः । एतेन तत्कालोत्पन्नता-पसश्रमणव्युदास , धातुरक्तानि भवन्तु मम वस्त्राणि किमि त्यर्होऽस्मि—योग्योऽस्मि तेषामेव, कषायैः कलुषा मतिर्यस्य सोऽहं कषायकलुषमतिरिति गाथाक्षरार्थः । आव० ।

कल्पकिरणावल्यामपि मरीचिभवप्रकरणे—

तथा शुक्लाम्बरा श्रमणाः निरम्बराश्च जिनकल्पिकादयः कषायाकलुषितमतयो यतयः. नाहमेवभूतो मे कषायकलुषि-तस्य धातुरक्तानि वस्त्राणि भवन्तु । कल्प० ।

सेयंबिया–श्वेताम्बिका–स्त्री० । केकयजनपदार्धराजधान्याम् , प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । उत्त० । कल्प० । आ० चू० । आ० म०, रा० । आ० क० । प्रव० ।

सेयंस- श्रेयस्–त्रि० । अतिशयेन प्रशस्ये, स्था० ४ ठा० ४ उ० । श्रेयांस–पुं० । बाहुबलिसुतसोमप्रभसुते,कल्प०१अधि०७क्षण । भगवत्प्रतिमादर्शनेन अस्य सामायिकलाभ । आव०४ अ० ।

सेयंसा–श्रेयांसा–स्त्री० । विदिशि रुचकनिवासिन्या तृतीया-या विद्युत्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सेयकंठ–श्वेतकण्ठ–पुं० । भूतानन्दनागकुमारेन्द्रस्य महिषानी-काधिपतौ , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सेयकणवीर–श्वेतकणवीर–पुं० । श्वेतवर्णपुष्पे कणवीरे, रा० ।

सेयचंदण–श्वेतचन्दन–न० । श्रीखण्डे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सेयण–स्वेदन–न० । सप्तधान्यादिभिः स्वेदोत्पादने , ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

सेयणग–सेचनक–पुं० । चम्पायां कूणिकस्य महाराजस्य स्व-नामख्याते गन्धहस्तिनि, भ० ७ श० ६ उ० । नि० । आव० । "सेयणगस्स का उप्पत्ती ?, एगत्थ वणे हत्थिजूहं परिवसइ, तम्मि जूहे एगो हत्थी जाए जाए हत्थिचेल्लए मारेइ , एगा गुव्विणी हत्थिणिगा, सा य ओसरित्ता एक्कालया चरइ, अ-एणया कयाइ तणपिंडियं सीसे काऊण तावसासमं गया , तेसिं तावसाण पाएसु पडिया,तेहिं णायं सरणागया वराई । अएणया तत्थ चरंती वियाया पुत्तं, हत्थिजूहेण समं चरंती छिंदेण आगतूण थणं देइ, एवं संवड्ढइ तत्थ तावसपुत्ता पु-प्फजाईओ सिंचंति, सो वि सोंडाए पाणियं नेऊण सिंचइ ताहे नामं कयं सेयणओ त्ति, संवड्ढिओ मयगलो जाओ,ताहे णेण जूहवई मारिओ, अप्पणा जूहं पडिवरणं, अण्णया तेहिं तावसेहिं राया गाम दाहिति त्ति मोयगेहिं लोभित्ता रायगिहं नीओ, णयरं पवेसेत्ता बद्धो सालाए, अएणया कुलवती तेण चेव पुव्वब्भासेण ढुक्को किं पुत्ता ! सेयणग ! ओच्छुग च से पणामेइ , तेण सो मारिओ , अएणे भणंति— जूहवइत्तणे ठिएणं मा अएणावि वियाति त्ति ते तावसउडया भग्गा तेहिं तावसेहिं रुट्ठेहिं सेणियस्स रएणो कहियं, ताहे सेणिएण गहिओ, एसा सेयणगस्स उप्पत्ती । पुव्वभवो त-स्स—एगो धिज्जाइओ जन्नं जयइ, तस्स दासो तेण जन्नवाडे ठविओ,सो भणइ— जइ सेसं मम देहि तो ठामि इयरहा ण, एव होउ त्ति सो वि ठिओ, सेसं साहूण देइ, देवाउयं निबद्धं देवलोगाओ चुओ सेणियस्स पुत्तो नंदिसेणो जाओ.धिज्जा-इओऽवि संसारं हिंडित्ता सेयणगो जाओ। जाहे किर नंदिसे-णो विलग्गइ ताहे ओहयमणसंकप्पो भवइ, विमणो होइ, ओहिणा जाणइ, सामी पुच्छिओ, एयं सव्वं कहेइ, एस से-यणगस्स पुव्वभवो । " आव० ४ अ० ।

सेयणवह–सेचनपथ–पुं० । सिक्तमार्गे,आचा० २ श्रु० २ चू० ।

सेयपड–श्वेतपट–पुं० । श्वेताम्बरे जैने, नि० चू० ३ उ० ।

सेयप्पभ–श्वेतप्रभ–त्रि० । श्वेता—उज्ज्वला श्रेया वा आश्रय-णयोग्या प्रभा कान्तिर्यस्य स तथा । उज्ज्वलकान्तौ,कल्प० १ अधि० ३ क्षण । रत्ना० ।

सेयबन्धुजीव–श्वेतबन्धुजीव–पुं० । श्वेतवर्णपुष्पे वनस्पति-भेदे, रा० ।

सेयभद्द–श्वेतभद्र–पुं० । यक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सेयमलपुच्चड–श्वेतमलपुच्चट–न० । दुर्गन्धिस्वेदमलचिग-चिगायमाने शरीरे, तं० ।

सेयमाल–श्वेतमाल–पुं० । सुषमसुषमाभाविनि कल्पवृक्षभे-दे, जं० २ वक्ष० ।

सेयविया–श्वेतविका–स्त्री०।केकयजनपदस्य स्वनामख्यातायां प्रधाननगर्याम् , विशे० ।

सेयसच्चपरक्कम–श्रेयःसत्यपराक्रम–पुं० । श्रेयसि अतिप्रशस्ये सत्ये संयमे पराक्रमः सामर्थ्यं,यस्यासौ श्रेयःसत्यपराक्रमः । संयते, उत्त० १८ अ० ।

सेयसरिसव–श्वेतसर्षप–पुं० । श्वेतवर्णे सर्षपभेदे, चत्वारि स-मधुरतृणफलान्येक श्वेत सर्षपः । सुवर्णमानभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सेयापीय–श्वेतापीत–त्रि० । रजतसुवर्णमये श्वेतपीतवर्णे, भ० ६ श० ३४ उ० । विपा० ।

सेयावंग–श्वेतापाङ्ग–त्रि० । सितनेत्रप्रान्ते,ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

सेयावण्ण–स्वेदापन्न–त्रि० । जातस्वेदे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

सेयाल–एष्यत्काल–पुं० । अग्रहणोत्तरकाले, भ० १ श० १ उ० ।

सेयासेय–श्वेताश्वेत–न० ।कनकपुरनगरे स्वनामख्याते उद्याने, विपा० २ श्रु० ६ अ० । (अस्य वक्तव्यता 'धएणइ' शब्दे चतुर्थभागे गता ।)

सेयाऽसोग–श्वेताशोक–पुं० । श्वेतवर्णपुष्पे वृक्षविशेषे, रा० ।

सेर–स्मेर–त्रि० । "अधो म-न-याम् ॥८।२।७८॥ मनयां संयुक्तस्य अधोवर्तमानस्य लुग् भवति । इति मस्य लुक् । स[illegible] ', प्रा० २ पाद ।

सेरडी–सैरटी–स्त्री० । भुजसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

सेरपयारि–स्वैरप्रचारिन्–पुं० । स्वच्छन्दविहारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

सेरिणी-स्वैरिणी-स्त्री०। स्वेच्छाचारिरयां नर्तक्याम्, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

सेरियय-सेरितक-पुं०। गुल्मभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

सेरी-सेरी-स्त्री०। देशीवचनमेतत्, यन्त्रमय्या नर्तक्याम्, व्य० २ उ०।

सेरीस-सेरीश-पुं०। स्वनामख्याते नगरे, यत्र देवेन्द्रसूरिः कायोत्सर्गमकार्षीत्। व्य० २ उ०।

सेल-शैल-पुं०। शिलाया विकारः शैलः। स्था० ३ ठा० ३ उ०। श्लक्ष्णरूपे पाषाणे, स्था० ४ ठा० ३ उ०। विशे०। शिखरहीनपर्वते, प्रज्ञा० २ पद। मुण्डपर्वते, भ० ५ श० १ उ०। आ० क०। प्रश्न०। हिमवदाद्रिपर्वतेषु, स०। विशे०। नं०। कृष्णवासुदेवसमकालिके नन्दिपुरराजे, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ०। पर्वतगृहे, कल्प० १ अधि० ४ क्षण।

सेलग-शैलक-पुं०। अश्वरूपधारके स्वनामख्याते यक्षे, रत्नद्वीपदेवताभिभितमाकन्दीदारकरक्षको हि सः। ज्ञा० १ श्रु०६ अ०। ध०र०। स्वनामख्याते शैलकपुरराजे, ज्ञा०१श्रु०५ अ०। (थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे२३१८ पृष्ठे कथा।) तद्वक्तव्यताप्रतिपादके पञ्चमे ज्ञाताध्ययने च। आव० १ अ०। स्था०। ज्ञा०।

सेलगराय-शैलकराज-पुं०। नेमिनाथशिष्यस्यान्तिके श्रमणोपासकधर्मप्रतिपन्ने शैलकपुरराजे, ग०१ अधि०। पञ्चा०।

सेलगिह-शैलगृह-न०। पर्वतमुत्कीर्यकृते गृहे, भ० २ श० ८ उ०।

सेलगुहा-शैलगुहा-स्त्री०। गिरिकन्दरायाम्, शैलगुहायां तपस्यन्त महातपस्विन पश्यतु। हा० २३ अष्ट०।

सेलगोलय-शैलगोलक-पुं०। वृत्ते पाषाणगोलके, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सेलघर-शैलगृह-न०। पर्वतमुत्कीर्यकृते गृहे, स्था०५ ठा० १ उ०। कल्प०।

सेलपाय-शैलपात्र-न०। पाषाणपात्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ०।

सेलपुर-शैलपुर-न०। स्वनामख्याते, नगरभेदे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

सेलयपुर-शैलकपुर-न०। शैलकराजपर्यावासभूते नगरे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०।

सेलयय-शैलकज-पुं०। वत्सगोत्रान्तर्गतगोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सेलवाल-शैलपाल-पुं०। धरणभूतानन्दयोर्नागकुमारेन्द्रयोर्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०। कालोदाद्यादिष्वन्यतमे यूथिके, भ० ७ श० १० उ०।

सेलवियारि-शैलविचारिन्-पुं०। ऋषभदेवपुत्राणामेकाशीतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

सेलसंकड-शैलसंकट-पुं०। पर्वते. संकीर्णे, स० १४६ सम०।

सेलसुआ-शैलसुता-स्त्री०। पार्वत्याम्, को०।

सेला-शैला-स्त्री०। सप्तमानां नरकपृथिवीनां मध्ये तृतीयस्यां नरकपृथिव्याम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०। भुजसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति०।

सेलियघर-शैलिकगृह-न०। पाषाणेष्टकादिभिः कृते गृहे, व्य० ४ उ०।

सेलु-शैलु-पुं०। श्लेष्मान्तके कफे, प्रज्ञा० १ पद।

सेलूस-शैलूष-पुं०। स्वनामख्याते अन्यथावादिनि नटे, शैलूषा इवान्यथावादिनोऽन्यथाकारिणः। आचा० १ श्रु० २ अ०२उ०।

सेलेस-शैलेश-पुं०। मेरौ, विशे०। स्था०। आ० चू०।

सेलेसिपडिवण्णग-शैलेशीप्रतिपन्नक-पुं०। अयोग्यावस्थां प्राप्ते, प्रज्ञा० २२ पद।

सेलेसिसत्ताग-शैलेशीसत्ताका-स्त्री०। शैलेशी-अयोग्यावस्था तस्याः सत्ता यासां प्रकृतीनां ता 'शैलेशीसत्ताका'। तथाविधासु कर्मप्रकृतिषु, क० प्र० १० प्रक०। ताश्च द्विधा तद्यथा-उदयवत्यः, अनुदयवत्यश्च। तत्रोदयवत्यो मनुष्यगतिमनुष्यायु पञ्चेन्द्रियजातित्रससुभगादेयपर्याप्तबादरयश कीर्तितीर्थंकरोच्चैर्गोत्रसातासातान्यतरवेदनीयरूपा द्वादश तासां प्रकृतीनां तेनायोगिकालेन तुल्यानि स्पर्द्धकानि एकैकेनाधिकानि भवन्ति। क० प्र० १० प्रक०।

सेलेसी-शैलेशी-स्त्री०। शैलेश इव मेरोरिव स्थिरता शैलेशी। दर्श० ४ तत्त्व। चतुर्दशगुणस्थानस्थायित्वे, उत्त० २६ अ०। विशे०। आचा०। कर्म०। औ०। आ० म०। आ० चू०। ('अकम्मया' शब्दे प्रथमभागे एतत्फलमुक्तम्।)

शैलेशीशब्दव्युत्पत्तिमाह—

सेलेसो किल मेरू, सेलेसी होइ जा य तदचलया।
होउं व असेलेसो, सेलेसी होइ थिरयाए ॥ ३०६५ ॥

अहवा सेलु व्व इसी, सेलेसी होइ सोऽतिथिरयाए।
से व असेलेसी होइ, सेलेसी हो अलोवाओ ॥३०६६॥

सीलं व समाहाणं, निच्छयओ सव्वसंवरो सो य।
तस्सेसो सीलेसो, सेलेसी होइ तदवत्था ॥ ३०६७ ॥

शैलेशो—मेरुस्तस्येवाऽचलता-स्थिरताऽस्यामवस्थायां सा शैलेशी। अथवा—अशैलेशः शैलेश इव स्थिरतया भवति शैलेशीभवति, 'भवति' इत्यध्याहारः। अथवा-प्राकृतलक्षणमाश्रित्य स्थिरतया 'सेलु व्व इसी महरिसी' तस्यसम्बन्धिनी स्थिरतायस्थाऽप्युपचारतः शैलेशी। अथवा-प्राकृतत्वादेव "से भिक्खू वा भिक्खुणी वा" इत्यादिन्यायतः 'से त्ति सो महरिसी' अलेश्यो-लेश्यारहितो भवति यस्यामवस्थायां सा शैलेशी, अकारलोपादिति। अथवा—शीलं समाधान, तच्च निश्चयतः प्रकर्षप्राप्तसमाधानरूपत्वात् सर्वसंवर, ततस्तस्य सर्वसंवररूपस्य शीलस्येश शीलेशस्तस्येयमवस्था शैलेशीति। विशे०।

सेलेसीकरण-शैलेशीकरण-न० । शैलेशो मेरुस्तस्येव स्थिरता साम्यावस्था शैलेशी । यद्वा—सर्व्वसंवर. शीलं तस्य य ईश शीलेश. तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी तस्यां करणम् । पूर्वविरचितशैलेशीसमयसमानगुणश्रेणीकस्य वेदनीयनामगोत्राख्याघातिकर्मत्रितयस्यासंख्येयगुणया श्रेण्या आयु:शेषस्य तु यथास्वरूपस्थितया श्रेण्या निर्जरणे, कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

सेलेसीमद्धा-शैलेश्यद्धा-स्त्री० । शैलेशीकाले, औ० ।

सेलोदाइ-शैलोदायिन्-पुं० । राजगृहनगरस्य शिलापट्टकस्यादूरे सामन्तपरिवासयन्ययूथिकभेदे. भ० ७ श० १० उ० ।

सेलोवट्ठाण-शैलोपस्थान-न० । पाषाणमण्डपे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

सेलोवट्ठाणकम्मंत-शैलोपस्थानकर्मान्त-न० । स्थानविशेषे, यत्र पाषाणपरिकर्म क्रियते । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० ।

सेलोवट्ठाणघर-शैलोपस्थानगृह-न० । पाषाणमण्डपे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सेल्ल-शल्य-न० । बालमये कुसिरे, सेल्लं बालमयं कुसिरं तं खारे बुज्जति किं खारो संजाओ न वि तत्थ असकिलिट्ठं कम्म भणियं । नि० चू० १ उ० ।

सेल्लग-शल्यक-पुं० । भुजपरिसर्पजन्तुभेदे, यच्चर्मकर्त्तलकैरक्षैरत्तका विधीयन्ते. प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सेव-शैव-त्रि० । शिवो भक्तिरस्येति । पाशुपते, 'शैवो द्वादशवर्षाणि, व्रत कृत्वा ततः परम् । यद्यसक्तस्त्यजेद्वापि, यागं कृत्वा व्रतेश्वरे ॥ १ ॥' विशे० । आचा० । आ० म० । शैवीदीक्षात एव मोक्ष इत्येव व्यवस्थिताः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । (एतद्वक्तव्यता 'कडवाइ' शब्दे तृतीयभागे २०५ पृष्ठे उक्ता ।) शिवनिर्मिते व्याकरणभेदे, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सेवग-सेवक-त्रि० । भजके , प्रश्न० २ आश्र० ४ द्वार । अनुष्ठानरते , पञ्चा० १२ विव० । कार्के, नि० चू० १ उ० । चोरभट्टके , बृ० ३ उ० । सेवकोऽशवकर्ममोचनाय पारगो भवति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सेवण-सेवन-न० । पर्युपासने, उत्त० ३५ अ० । भजने, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रव० । आव० ।

सेवणा-सेवना-स्त्री० । भजनायाम्, विशे० । सूत्र० । आश्रयणे, पञ्चा० १६ विव० । उपभोगे , आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । विशोधौ, नि० चू० १ उ० ।

सेवणाहिगार-सेवनाधिकार-पुं० । सेवनायां चौर्यादिसेवनायामधिकारो नियोगः सेवनाधिकारः । गौणमैथुने, अब्रह्मप्रवृत्तो हि चौर्याद्यनर्थसेवास्वधिकृतो भवति . आह च—'सर्वेऽनर्था विधीयन्ते, नरैर्थैकलालसैः । अर्थस्तु प्रार्थ्यते प्रायः, प्रेयसीप्रेमकामिभिः ॥ १ ॥' प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सेवमाण-सेवमान-त्रि० । कुर्वाणे, उत्त० १२ अ० । सूत्र० ।

सेवा-सेवा-स्त्री० । पर्युपासनायाम्, अभ्युत्थानदण्डग्रहणामन्दानादौ , नि० चू० १ उ० । शक्रस्य देवेन्द्रस्याष्टास्वग्रमहिषीषु द्वितीयायामग्रमहिष्याम् , भ० १० श० ५ उ० ।

सेवाल-शैवाल-न० । तन्त्वाकारे जलरुहभेदे, प्रसिद्धं चैतत् जले भवति । प्रज्ञा० १ पद । शैवालं जलोपरि मलरूपम् । आचा० १ श्रु०२ अ० । आ० म० । अष्टापदपर्वतस्य द्वितीयमेखलायां पञ्चशतीतापसयूथाधिपतौ गौतमप्रव्राजिते तापसे,उत्त० १० अ० । पङ्के,दे० ना० ८ वर्ग ४३ गाथा ।

सेवालोदाइ-शैवालोदायिन्-पुं० । कालोदाय्यादिषु अन्ययूथिकेष्वन्यतमे यूथिके , भ० ७ श० १० उ० ।

सेविय-सेवित-त्रि० । जुष्टे, क्षिप्ते च । स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रश्न० ।

सेवियव्व-सेवितव्य-त्रि० । सेवनीये, उत्त० ३२ अ० ।

सेस-शेष-त्रि० । उक्तादन्यस्मिन् , पञ्चा० १६ विव० । प्रज्ञा० । उत्त० । स्था० । आव० । आचा० ।उद्वलनासंक्रमाभिधानेऽवसरे,यत्प्रागभिहित चरमखण्ड तत्र शेषमित्युच्यते । क० प्र० । अल्पे कृते , आ० म० १ अ० । नागराजे, ती० ३२ कल्प ।

सेसदव्विया-शेषद्रव्या-स्त्री० । गृहोपयुक्तशेषद्रव्येण कृता शेषद्रव्या । लेपोपासकस्य गृहपतेः सम्बन्धिन्या नालन्दायाः पूर्वोत्तरस्यां दिशि उदकशालायाम् , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । (अत्रत्यो विशेष. 'पेढालपुत्त' शब्दे पञ्चमभागे उक्तः)

सेसमइ-शेषमति-स्त्री० । पूर्वरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , द्वी० ।

सेसव-शैशव-न० । शिशोरवस्थायाम् , आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सूत्र० ।

शेषवत्-न० । अनुमानभेदे, अनु० ('अणुमाण' शब्दे प्रथमभागे ४०३ पृष्ठे व्याख्यानमेतत् ।)

सेसवई-शेषवती-स्त्री० । दक्षिणरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । आ० म० । प्रति० । आव० । आ० क० । आ० चू० । जं० । सप्तमवासुदेवमातरि, आव० १ अ० । स० । भगवतो महावीरस्य दौहित्र्यां जमालिपुत्र्याम् , आचा० २ श्रु० ३ चू० । आ० चू० । कल्प० ।

सेसिंद-शेषेन्द्र-पुं० । दर्वीकरसर्पभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

सेसिय-शेषित-त्रि० । अल्पीकृते,'कम्मं सेसियमट्ठहा' 'सेसियमट्ठह'त्ति—ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारैः पूर्वं 'से' तस्य सितमित्यर्थः । अथवा—'सेसियं' ति अनाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तकरणेन सम्यग्ज्ञानादुपायतश्च क्रमेण शेषितं-शेषं कृतं-स्थित्यनुभवादिभिरल्पीकृतम् । विशे० ।

सेसीकय-शेषीकृत-त्रि० । स्थित्यादिभिरल्पीकृते, आ० म० १ अ० ।

सेह-सेध-पुं०।'सिध' संराद्धाविति वचनात् ,सेध्यते-निष्पाद्यते यः स सेधः । शिष्ये, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

शैक्ष-पुं० शिक्षां वाऽधीते इति शैक्षः । स्था० ३ ठा० २ उ० । अभिनवप्रव्रजिते, स्था० ५ ठा० १ उ० । सूत्र० । प्रति० । 'तिहि उत्तराहिं रोहिणीहिं,कुज्जा उ सेहनिक्खमणं । सेहोवट्ठा-

वणं कुज्जा, अणुन्ना गणिवायए ' ॥ २६ ॥ ८७२ ॥ द० प० । आचा० । लघुसाधौ , कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । नि० चू० । अल्पपर्याये, दशा० ३ अ० । प्रथमकल्पिके साधौ , ध० ३ अधि० । शिक्षार्हे साधौ. ध० ३ अधि० । ग० । बृ० ।

णश्–धा०। अदर्शने , " णशेर्णिरिणास-णिवहावसेह-पडिसा-लहावहरा ॥८।४। १७८॥ इति णश्धातोः सेह इत्यादेश । सेहइ । नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

सेहट्ठवणाकप्प-शैक्षस्थापनाकल्प–पुं० । अभिनवशिष्यप्रव्राजनायाम् , सेहट्ठवणाकप्पो नाम अट्ठारसपुरिसेसुं वीसुं इत्थीसु पुव्वभणियजीवदवियकप्पे एए जो पव्वावेइ सो सेहट्ठवणाकप्पो। पं० चू० २ कल्प ।

सेहण--शिक्षण–न० । ग्रहणासेवनाभ्यासे , सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

सेहणिक्खमण- शैक्षनिष्क्रमण--न०। शिष्यस्य प्रव्रजने,द०प०।

पढमी पञ्चमि दसमी, पन्नरसिकारसीवि य तहेव ।
एएसु य दिवसेसुं सेहे निक्खमणं करे।८।८५४।द०प०।
नंदे जए य पुन्ने, सेहनिक्खमणं करे।।१०।८५५ द०प०।
तिहिं उत्तराहिं, रोहिणीहिं, कुज्जा उ सेहनिक्खमणं ।
सेहोवट्ठावणं कुज्जा,अणुन्ना गणिवायए।२६।८७२।द०प०

सेहणिप्फेडण-शैक्षनिष्फेटन--न०। शिष्यापहारे, द० प० ।

पढमी पचमि दसमीए, पन्नरसिकारसी वि य ।
तह एएसु दिवसेसुं, सेहणिप्फेडणं करे। द० प० ।

सेहणिप्फेडिया–शैक्षनिष्फेटिका--स्त्री० । शैक्षकस्य दीक्षितुमिष्टस्य निष्फेटिका-अपहरणम् । तद्योगाद्यो मातापित्रादिभिरननुज्ञातोऽपहृत्य दीक्षितुमिष्यते सोऽपि शैक्षनिष्फेटिक । ग० १ अधि० । दीक्षितुमिष्टस्यापहरणे, ध० ३ अधि० । नि० चू० । तदपहरणकर्तरि , त्रि० । ग० १ अधि० ।

इयाणि सेहणिप्फेडिता—

ततियव्वयाइयारे, निप्फेडगतेणियं वियाणाहि ।
अतिसेसियम्मि भयणा,अमूढलक्खे य पुरिसम्मि ।४३४।

सेहणिप्फेडिय जो करेति से ततिय वय अदिण्णादाणवेरमण अतिचरति, तं केरिस कह वा णिप्फेडतो ततियव्वत अतिचरति ? ।

गाहा—

अपडुप्पन्नो वालो, वरिट्ठवरिसूणो अहव अणिविट्ठो।
अम्मापितुअविदिन्नो,ण कप्पती तत्थ वाऽन्नत्थ।।४३५।।

अपडुप्पन्नो अट्ठवरिसो किं वाऽधिको वा अट्ठवरिसूणं वा सोलसवरिसूण वा अवंजणं जातं, अहवा—अणिविट्ठ अविवाहित तहप्पगार अम्मापितिअविदिन्नं तत्थ वा गामे अन्नत्थ वा ण कप्पति पव्वावेतु। अह निप्फेडितो तं निप्फेडगतेण वियाणाहि । इमो एत्थ तेणगविगप्पो ।

गाहा—

तेणे य तेणतेणे, अपडिच्छग पडिच्छगे य णायव्वं ।
एते तु सेहणिप्फे-डियाएँ चत्तारि उ विगप्पा ।।४३६।।

इमं वक्खाणं । गाहा—

जो तं उप्पामयए, से तेणे होति लोगउत्तरिते ।
भिक्खातिए गतंमि उ, हरमाणो तेणतेणो उ ।।४३७।।

अपडुप्पन्न वालं हरतो तेणो , से तेणो तं सेह वाहिं गामादियाण ठवेत्ता अप्पणा भिक्खस्स पविट्ठो, एत्थतरे जो त सेहं अण्णो उप्पासेत्ता हरति सो तेणतेणो (नि० चू०) (प्रतिच्छकविषय. 'पांडच्छग' शब्दे पञ्चमभागे गतः ।)

सेहनिप्फेडिय करेंतस्स चउगुरुं आणादिया य दोसा,इमे य।

गाहा—

अम्मापियरो कस्स वि,विपुलं घेत्तूण अत्थसारं तु ।
रायादीणं कहिए,कढणम्मि य गिण्हणादीया ।।४३८।।

कठा ।

गाहा—

विपरिणमेज्जा सन्नी, केई संबंधिणो भवे तस्स ।
विपहिणताए धम्मं, सुएज्ज कुज्जा व गहणादी ।।४४०।।
णिप्फेडणॉ सेहस्स उ,सुयधम्मो खलु विराहितो होति ।
सुयधम्मस्स व लोवा, चरित्तलोवं वियाणाहि ।।४४१।।

सेयमवहड नाउ सन्नी विपरिणमेज्जा सेहस्स वा सबंधी ते य विपरिणता धम्म सुएज्जा , रायमादिएहिं वा गहणादि कारवेज्जा ।

गाहा—

आयरिय उवज्झाया, कुलगणसंघो य धम्मो य ।
सव्वेऽवि परिच्चत्ता, सेहं णिप्फेडयंतेण ।। ४४२ ।।

रायादि रुट्ठो स तेसिं कडगमद्द करेज्ज तम्हा मातापियरेण अदत्ता सेहणिप्फेडिया ण कायव्वा। वितियपदेण वा करेज्जा। अतिसेसगमि भयणेति अस्य व्याख्या ।

गाहा—

होहिति जुगप्पहाणो, दोसा वि न केवि तत्थ होहिंति ।
तेणऽतिसेसा दिक्खे, अमोहहत्थे य तत्थेव ।।४४३।।

जो ओहिमादीअतिसयण जाणति एस नित्थारगो जुगप्पहाणो होहिति,दोसा य ण केऽवि भविस्संति तेण अतिसयी दिक्खति। अह जाणति होहिंति दोसा तो ण पव्वावेति। एस भयणा 'अमूढलक्खो व आयरिओ'अमोहहत्थो ज ज पव्वावेति सो अवस्स णित्थरति न य केऽवि दोसा उप्पज्जंति त च नान्यत्र नयतीत्यर्थ' । सेहणिप्फेडिता अट्ठारसपुरिसु त्ति गत । नि० चू० ११ उ० । पं० भा०। पं० चू० । तोसलिपुत्राऽऽचार्येणार्यरक्षिताचार्यश्चारित इति प्रथमशैक्षनिष्फेटितेति । आ० क० १ अ० । ('अणचट्ठप्प ' शब्दे प्रथमभागे शैक्षचौर्यमुक्तम् ।)

सेहभूमि-शैक्षभूमि–स्त्री०। शिष्यस्य महाव्रतारोपणकाले,व्य०।

तओ सेहभूमिओ पन्नत्ताओ,तं जहा-सत्तराइंदिया, चाउम्मासिया,छम्मासिया य। छम्मासिया उक्कोसिया,चाउम्मासिया मज्झिमिया, सत्तराइंदिया जहन्निया ॥ (सू० १५)

अस्य सबन्धमाह—

तुल्लाउ भूमिसखा,ठिया व ठावेंति ते इमे हुंति ।
पडिवक्खतो व सुत्तं,परियाए दीहहस्से य ।।५०।।

तुल्या भूमिसख्या शैक्षकाणामिति कृत्वा , अथवा—पूर्व-

सूत्रे स्थविरा उक्तास्ते च स्वयं स्थित्वा अन्यान् स्थापयन्ति ते चाप्येवं स्थाप्यमाना इमे वक्ष्यमाणा भवन्तीति तत्प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम्। अथवा-प्रतिपक्षत इदं सूत्रमापतितम्। तद्यथा-पूर्वसूत्रे स्थविरा', तेषां च प्रतिपक्षाः शैक्षा, यदि वा-स्थविराणां दीर्घ पर्याय, शैक्षकाणां शैक्षकत्वेन ह्रस्व इति स्थविरसूत्रानन्तरं शैक्षकसूत्रम्। अस्यापरगमनिका प्राग्वत्।

सम्प्रति शैक्षकाणां यद् वक्तव्यं तत्संसूचनाय द्वारगाथामाह—

सेहस्स तिन्नि भूमिउ, दुविहा परिणामगा दुवे जड्डा।
पत्तजहंते संभुं-जणा य भूमित्तियविवेगो ॥५१॥

शैक्षकस्य तिस्रो भूमयो वक्तव्या, सूत्रोपात्तत्वात्तथा शैक्षका द्विविधाः-परिणामका, अपरिणामकाः वक्तव्या। द्वौ च जड्डौ। तथा पात्राणि पात्रभूतान् त्यजति दोषा वक्तव्याः, संभोजना च तथा भूमित्रिकस्य जलमूकैलमूककरणजड (ड्ड) लक्षणस्य विवेकः परित्यागो वक्तव्यः, एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। व्यासार्थस्तु प्रतिद्वारमभिधातव्यः।

तत्र प्रथमतो भूमिद्वारमाह—

सेहस्स तिण्णि भूमि, जहण्णा तह मज्झिमा य उक्कोसा।
राइंदिसत्त चउमा-सिया य छम्मासिया चेव ॥५२॥

शैक्षकस्य तिस्रो भूमयस्तद्यथा—जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च। तत्र जघन्या सप्तरात्रिन्दिवा, मध्यमा चातुर्मासिकी, उत्कृष्टा षाण्मासिकी।

पुव्वोवट्ठपुराणे, करणजयट्ठा जहण्णिया भूमी।
उक्कोसा दुम्मेहं, पडुच अस्सद्दहाणं च ॥५३॥

पूर्वमुपस्थ'—उपस्थित पूर्वोपस्थ स चासौ पुराणश्च पूर्वोपस्थपुराणस्तस्मिन् करणजयाय जघन्या भूमिर्भवति। इयमत्र भावना—यः पूर्वं प्रव्रज्योत्प्रव्रजित पश्चात्पुनरपि प्रव्रज्यां प्रतिपन्नवान् स सप्तमे दिवसे उपस्थापयितव्यः, तस्य हि यावद्भिर्दिवसैः पूर्वविस्मृतसामाचारीकरणमस्यन्त तु प्रभवति एषा जघन्या भूमि. दुर्मेधसमश्रद्दधानं च प्रतीत्य उत्कृष्टा षाण्मासिकी भूमि।

एमेव य मज्झिमिया, अणहिज्जंते असद्दहंते य।
भावियमेहाविस्स वि, करणजयट्ठा य मज्झिमिया ॥५४॥

एवमुक्ते उत्कृष्टे अनधीयाने अश्रद्दधाने च माध्यमिकी भूमिः प्रतिपत्तव्या। अथवा-भावितस्यापि-श्रद्दधानस्यापि मेधाविनश्चापि च करणजयार्थं माध्यमिकी भूमिः। गतं भूमिद्वारम्।

अधुना द्विविधपरिणामकद्वारमाह—

आणादिट्ठंतेण य, दुविहो परिणामगो समासेणं।
आणापरिणामो खलु, तत्थ इमो होइ नायव्वो ॥५५॥

स द्विविधः परिणामको भवति, तद्यथा-आज्ञया, दृष्टान्तेन च। तत्र समासेन—संक्षेपेण आज्ञापरिणामः खल्वयं वक्ष्यमाणो भवति। तमेवाह—

तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेदियं।
आणाए एस अक्खाओ, जिणेहिं परिणामगो ॥५६॥

तदेव सत्य यज्जिनै प्रवेदितमित्येवं यो नि शङ्कं श्रद्दधाति न च कारणं जनयते एष आज्ञया परिणामको जिनैराख्यात।

दृष्टान्तपरिणामकमाह—

परोक्खं हेउगं अत्थं, पच्चक्खेण य साहियं।
जिणेहिं एस अक्खातो, दिट्ठंतपरिणामगो ॥५७॥

परोक्ष हेतुक हेतुना लिङ्गेन गम्यं हेतुकमर्थ प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षप्रसिद्धेन दृष्टान्तेन साधयन् आत्मबुद्धावारोपयन् यो वर्त्तते दृष्टान्तपरिणामको जिनैराख्यात। दृष्टान्तेन विवक्षितमर्थ परिणमयत्यात्मबुद्धावारोपयतीति दृष्टान्तपरिणामक इति व्युत्पत्ते। तत्राज्ञापरिणामक', आज्ञयैव कायान् श्रद्दधाति, दृष्टान्तपरिणामकस्तु दृष्टान्तेन श्रद्दधापयितव्य इति।

तस्य कायश्रद्धानोत्पादनार्थमिदमाह—

तस्सिंदियाणि पुव्वं, सीसंते जइ उ ताणि सद्दहइ।
तो से नाणावरणं, सीसइ ताहे दसविहं तु ॥५८॥

तस्य दृष्टान्तपरिणामस्य पूर्वमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि शिष्यन्ति तत्र यदि तानीन्द्रियाणि श्रद्दधाति ततः तमेतस्य ज्ञानावरण दशविधं शिष्यते।

कथमित्याह—

इन्दियावरणं चेव, नाणावरणे इ य।
तो नाणावरणं चेव, माहियं तु दुपंचहा ॥ ५९ ॥

इन्द्रियावरणं, ज्ञानावरणं च। तत्रेन्द्रियावरणं नाम इन्द्रियविषयशब्दादिसामान्योपयोगावरणं, ज्ञानावरणमिन्द्रियविषयेष्वेव शब्दादिषु विशेषोपयोगावरणम्। इन्द्रियावरणं ज्ञानावरणं च श्रोत्रेन्द्रियादिभेदतः प्रत्येक पञ्चप्रकारमेव ज्ञानावरणम्। द्विपञ्चधा-एव दशप्रकारमाख्यातम्।

तानेव दश भेदान् विवेक्तुमाह—

सोयावरणं चेव, णाणावरणं होइ तस्सेव।
एवं दुयभेएणं, णायव्वं जाव फासो त्ति ॥ ६० ॥

श्रोत्रावरणं तथा तस्यैव श्रोत्रस्य ज्ञानावरणमेव द्विकभेदेन तावत् ज्ञातव्यं यावत्स्पर्श', तद्यथा-चक्षुरिन्द्रियावरणम्, चक्षुरिन्द्रियज्ञानावरणम्। घ्राणेन्द्रियावरणम्, घ्राणेन्द्रियज्ञानावरणम्। रसनेन्द्रियावरणम्, रसनेन्द्रियज्ञानावरणम्। स्पर्शेन्द्रियावरणम् स्पर्शेन्द्रियज्ञानावरणमिति।

साम्प्रतमिन्द्रियावरणस्य विज्ञानावरणस्य च विषयविभागार्थमिदमाह—

बहिरस्स उ विन्नाणं, आवरियं न उण सोयमावरियं।
अपडुप्पण्णो बालो, अतिवुड्ढो तह असन्नी वा ॥ ६१ ॥
विन्नाणावरियं तेसिं, कम्हा जम्हा उ ते सुणंता वि।
न वि जाणंते किमयं, सद्दो संखस्स पडहस्स ॥ ६२ ॥

वधिरस्य विज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियविज्ञानमावृतम्, सामान्यतः शब्दमात्रश्रवणेऽपि तद्गतविशेषापरिज्ञानात्, नतु श्रोत्रमावृतं सामान्यतः शब्दमात्रश्रवणात्, तथा योऽपट्ठप्रज्ञो-बालो यश्चातिवृद्धो यो वा असंज्ञी अमनस्कः पञ्चेन्द्रियः, एतेषां विज्ञानमावृतम्। कस्मात्? यस्मात्ते शृण्वन्तोऽपि-न विजानते किमयं शब्दः शङ्खस्य, उत—पटहस्येति।

किं ते जीवमजीवं, जीवा एवेति तेण उदियम्मि।
भण्णइ एवं विजाणसु, जीवा चउरिंदिया विंवि ॥



किं ते बधिरादयो जीवा अजीवा वा ? । तत्र जीवा एवेति वेनोदिते भण्यते-एवं बधिरादिवत् चतुरिन्द्रिया अपि जीवा इति विजानीहि श्रोत्रावरणमात्रेण जीवत्वाप्रच्युतेः ।

एवं चक्खिदियघा-णिंदियजिब्भिदिओवघाएहिं ।
एक्केक्कयहाणीए, जाव उ एगिंदिया नेया ॥६४॥

एवमेकैकहान्या एकैकेन्द्रियपरिहानित चक्षुरिन्द्रियघ्राणेन्द्रियजिह्वेन्द्रियोपघाते क्रमेण त्रीन्द्रियादय यावत् ज्ञेया यावदेकेन्द्रिया, तद्यथा—चक्षुरिन्द्रियोपघातेऽपि त्रीन्द्रिया घ्राणेन्द्रियोपघातेऽपि द्वीन्द्रिया, जिह्वेन्द्रियोपघातेऽप्येकेन्द्रिया । इह पूर्वं विज्ञानावरणेऽपीन्द्रियमनावृतमुक्तम् ।

इदानीमिन्द्रियावरणेऽपि विज्ञानमनावृतमुपदर्शयति—

मन्निसिंसिंदियघाए वि, तन्नाणं न विरिज्जइ ।
विन्नाणं नतु सन्नीणं, विज्जमाणे वि इंदिए ॥ ६५ ॥

संज्ञिन इन्द्रियघातेऽपि न ज्ञानमुपहतेन्द्रियज्ञान नाऽऽव्रियते । एतच्चाग्रे भावयिष्यते । असंज्ञिनां पुनर्विद्यमानेऽपीन्द्रिये विज्ञान नास्ति । यथोक्तं प्राक् तथा चाग्रे वक्ष्यते ।

एतदेव भावयति—

जो जाणइ य जच्चंधो, वन्ने रूवे विकप्पसो ।
नेत्ते वाऽऽवरिते तस्स, विन्नाणं तं तु चिट्ठइ ॥६६॥
पासन्ता वि न याणंति, विसेसं वन्नमादीणं ।
बाला असन्निणो चेव, विन्नाणावरियम्मि उ ॥६७॥

यो नाम जात्यन्ध अस्पृष्टचक्षुर्वर्णान् रूपाणि च विकल्पशोऽनेकप्रकारं जानाति तस्य नेत्रे अप्यावृते तत् विजानाति अन्धीभूतोऽपि वर्णविशेषान् रूपविशेषांश्च, तथैव स्पर्शतो जानातीत्यर्थ ,तथा बाला असंज्ञिनश्च पश्यन्तोऽपि विज्ञाने आवृते वर्णादीनां विशेष न जानन्ति । तदेवमिन्द्रियोपघातेऽपि न विज्ञानोपघात , ज्ञानोपघातेऽपि नेन्द्रियोपघात इति विज्ञानेन्द्रिययोर्भेद ,तेनेह तयोर्भेदात्तदावरणयोरपि भेद इति । ज्ञानावरण दशधा ।

सांप्रतमेकैकेन्द्रियहान्या यत् एकेन्द्रियत्व पूर्वमुक्त तद्भावयति—

इंदियउवघाएणं, कममो एगिंदिओ व संवुत्तो ।
अणुवहए उवकरणे, विसुज्झए ओसहादीहिं ॥६८॥
अवचिज्जए य उवचि-ज्जए उ जह इंदिएहिं सो पुरिसो ।
एस उवमा पसत्था, संसारीणिंदियविभागे ॥६९॥

कोऽपि पुरुष क्रमशः-क्रमेणेन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामुपघातेन एकेन्द्रिय एव संवृत्त . तत्र चानुपहते उपकरणे—उपकरणेन्द्रिये पुनरौषधादिभिर्विशुध्यति—सर्वस्पष्टेन्द्रिया भवति । तत्र यथा स पुरुष इन्द्रियैरपचीयते उपचीयते च एषा उपमा संसारिणामिन्द्रियविभागे प्रशस्ता । तथैव संसारिणोऽपि पञ्चेन्द्रिया भूत्वा चतुरिन्द्रियास्त्रीन्द्रिया द्वीन्द्रिया एकेन्द्रिया भूत्वा पुनर्द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च भवन्तीत्यर्थः । (व्य० ।)

(परिणामकविषय 'परिणामग' शब्दे पञ्चमभागे गत ।)

एतदर्थं सुखेन जीवत्वप्रतिपत्त्यर्थमुपसंहरन्नाह—

एम परिणामगो भणितो, अहुणा उ जड्डं वोच्छामि ।
सो दुविहो नायव्वो, भासाएँ सरीरजड्डो उ ॥ ७७ ॥

एष द्विविधो विपरिणामक उक्त । अधुना ज(डु)ड वक्ष्ये, स जडो द्विविधो ज्ञातव्य , तद्यथा—' भासाए ' त्ति भाषाजड , शरीरजडश्च ।

जलमूगएलमूगो, मम्मणमूको य भासजड्डो य ।
दुविहो सरीरजड्डो, थुल्लाकरणे अनिपुणो य ॥ ७८ ॥

भाषाजडस्त्रिविध , तद्यथा-जलमूक ,एलमूको,मम्मनमूकश्च । शरीरजडो द्विविधस्तद्यथा-शरीरेण,क्रियायामनिपुणश्च ।

पढमस्स नत्थि सद्दो, जलमज्झे व भासतो ।
बीयो उ एलगो चेव, अव्वत्तं बुब्बुयायइ ॥ ७९ ॥

प्रथमस्य जलमूकस्य जलमध्ये इव भाषमाणस्य नास्ति शब्द., द्वितीय एडमूकः एडकमिव बुद्बुदायते ।

मम्मणो पुण भासंतो, खलए अंतरंतरा ।
चिरेणं नीति से वायं, अविसुद्धा व भासतो ॥ ८० ॥

मम्मनः पुनर्भाषमाणोऽन्तरा अन्तरा स्खलति, यद्वा-'से' तस्य भाषमाणस्य वाक् चिरेण 'नीति' निर्गच्छति अविशुद्धा वा ।

सम्प्रति ' दुवे जड्ड ' त्ति द्वारमाह—

दुविहेहिं जड्डदोसेहिं, विसुद्धं जो उ उज्झति ।
कायाचत्ता भवे तेणं,मासा चत्तारि भारिया (गुरुकंतं) ८१

द्विविधेन जाड्यदोषेण विशुद्ध य उज्झति तेन काया -षट् कायास्त्यक्ता भवेयु , न संरक्षिता , तथास्य प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका मासा । एतेन सभोजनद्वारं व्याख्यानम् ।

कहिए सद्दहिए चेव, उवट्ठेति परिग्गहे ।
मडलीए उ वट्टंतो, इमे दोसा उ अंतरा ॥ ८२ ॥

अन्तराऽन्तरा षड्जीवनिकाये कथिते श्रद्धिते च 'उवट्ठेति' पतद्ग्रहे, तत्र समुद्देशाप्यते इत्यर्थ , एतदनुपस्थापितो भवति, तदा न मण्डल्या समुद्दिशेत् अन्तरा पुनर्भेद्यमानं इमे वक्ष्यमाणा दोषा ।

तान् (दोषान्) एवाह—

पायस्स वा विराहण, अतिही दट्ठूण उड्ड गमणं वा ।
मेहस्स वा दुगुंछा, सव्वे दुद्दिट्ठधम्म त्ति ॥ ८३ ॥

उत्पाटयतो-नयत आनयतो वा पात्रस्य विराधना स्यात् । यद्वा-अतिथीन् दृष्ट्वा तस्य 'उड्ढ' ति वमन प्रवर्त्तेत,गमन वा तत एव प्रदेशात् कुर्यात् , शैक्षकस्य वा जुगुप्सा जनन क्रियते, यथा केनापि दोषेण दुष्ट एष । तत पृथग् भुङ्क्ते सर्वान् वा कश्चित् जुगुप्सन, यथा-पात्रमध्येवभूत भोजनात् बहिः कुर्वन्ति अहो दुर्दृष्टधर्माण इति ।

सम्प्रति 'भूमितिर्यविवेगो' इति व्याख्यानार्थमाह—

जलमूग एलमूगो, मरीरजड्डो य जो य अतिथुल्लो ।

जं वुत्तं तु विवेगो, भूमितियं ते न दिक्खिज्जा ॥८४॥
यदुक्तं भूमित्रिकस्य विवेक इति तस्यायमर्थः जलमूक एड मूक. शरीरजडश्च योऽतिस्थूलस्तानेतान् त्रीन् न दीक्षयेत्।

दुम्मेहमणतिसेसी, न जाणती जो तु करणतो जड्डो ।
ते दुन्नि वि तेण उ सो,दिक्खइ सिया तो अतिसेसी॥८५॥
दुर्मेधस यश्च करणतो जडस्तमनतिशेषी अनतिशयी न जानाति तेन कारणेन तौ द्वावपि स दीक्षयेत्।

अथ स्यात्सोऽतिशेषी ततो न दीक्षयति—

अहव न भासाजड्डं, जहाति परंपरागयं छउमा ।
इयरं पि देसहिंडग-असतीए वा विविंचि(ठवि)ज्जा ॥८६॥
अथवा 'भासाजड्ड' त्ति दुर्मेधस परम्परागतं मातृपक्षपरम्परागतं गुरुपक्षपरंपरागतं च छद्मस्था न त्यजन्ति,इतरमपि करणजड देशहिण्डकस्य देशदर्शनाय असति वा अन्यस्मिन् साधौ दीक्षयेदन्यथा विविचयेत्-न दीक्षयेत्, दीक्षयन् वा परिष्ठापयेत्।

अत्रैव मतान्तरं दूषयति—

मानुसनाएणं वा, दुम्मेहं तमं पि केइ इच्छंति ।
तं न भवति पलिमंथो,णाया वि चरणं विणा णाणं ॥८७॥
केचित् मनुष्यज्ञातेन दुर्मेधास्तमपि दीक्षितुमिच्छन्ति, तन्न भवति, यतो दुर्मेधसः पाठने स्वयं सूत्रार्थयोः पलिमन्थः, नचापि तस्य ज्ञानं विना चरणं ततः आत्मनः परस्य च केवलक्लेशात्तु तद्दीक्षणमिति।

नातिथुल्लं न उज्झंति, मेहावी जो अ वोच्चडो ।
जलमूगेलमूगं च, परिट्ठावेज्ज दोण्णि वि ॥ ८८ ॥
नातिस्थूल नोज्झन्तीत्यर्थः यश्च मेधावी वोच्चडो भाषाजडस्तमपि नोज्झन्ति , जलमूकैडमूकं द्वावप्येतौ परिष्ठापयेत्।

मुत्तूण करणजड्डं, परियट्टंति जाव सेसछम्मासा ।
एक्केक्कं छम्मासा, जस्स व दट्ठुं विविंचणया ॥८९॥
मुक्त्वा करणजड शेष दुर्मेधस भाषाजडं यावत् षण्मासास्तावत् परिवर्त्तयन्ति-अनुवर्त्तयन्ति,ततः परमन्यस्याचार्यस्य समर्प्यते सोऽपि षण्मासान् परिवर्त्तयति तदनन्तरमन्यस्य सोऽपि षण्मासान् परमेकैक तस्य षण्मासाः। तत्र त्रयाणां मध्ये यस्य समीपे सखयां गृहीतवान् यावन्तं दृष्ट्वा याचते ममैनं शिक्षां देहि इति तस्य विवेचन—तस्य दानमित्यर्थः।

अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह—

तिण्हं आयरियाणं, जो तं गाहेइ सीमो तस्सेव ।
जइ एत्तिएण गाहितो, तो न परिट्ठावए ताहे ॥९०॥
त्रयाणामाचार्याणां मध्ये यो ग्राहयति तस्यैव शिष्य. स दीयते, यदि एतावता आचार्यत्रिकेण परिपाट्या मिलितया ग्राहितो भवति ततस्तदा न परिष्ठाप्यते।

देंति अजंगमथेरा-ण वावि अहवा वि दट्ठुणं जो उ ।
भणति मज्झं कज्जं, दिज्जति तस्सेव सो ताहे ॥९१॥
अथवा अजङ्गमस्थविराणां स वैयावृत्तिकरणाय दीयते । यद्वा—यस्तं दृष्ट्वा भणति मम कार्यमेतेन , तस्माद्दीयतामिति ततस्तस्यैव दीयते।

जो पुण करणे जड्डो, उक्कोसं तस्स होइ छम्मासा ।
कुलगणसंघनिवेयण, एयं तु विहिं तहिं कुज्जा ॥९२॥
य' पुन' करणजड. तस्योत्कृष्ट परिपालन भवति , यावत्षण्मासा. , तत. पर कुलस्य गणस्य संघस्य वा निवेदन क्रियते स यत्करोति तत्प्रमाणमेत विधिं तत्र कुर्यादिति । व्य० १० उ०।

सेहम्बदालियंब-सिद्धाम्लदालिकाम्ल-न०। सिद्धे आऽलसस्कृते मुद्गादिमये दालिपदार्थे, 'सेहे' सिद्धे सति यानि अम्लेन तीमनादिना संस्क्रियन्ते तानि सिद्धाम्लानि , यानि दाल्या मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति सभाव्यन्ते। उपा० १ अ०।

सेहय-शैक्षक-पुं०। अभिनवप्रव्रजिते, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

सेहर-शेखर-पुं०। शिरोभूषणे, लोमपक्षिभेदे च । जी० १ प्रति०।

सेहाविय-शिक्षा(सेधा) पित-त्रि०। उपाध्यायादिप्रयोजनतः प्रतिस्वेन सेवितं, पा०। प्रतिसमाचारसेवायाम् , तस्य भगवतो हेतुभूतत्वात्। भ० १५ श०। शिक्षिते, स्वयमेव गुरुभिः शिक्षां ग्राहित, उपाध्यायादिपार्श्वात्संगृहीते आचारविशेषविनयविशेषेषु कुशलीकृते, ध० ३ अधि०।

सेहिय-सेधित-त्रि० । निष्पादिते , आचारविशेषविनय—विशेषेषु कुशलीकृते, पा०। ज्ञा०। प्रत्युपेक्षणादिक्रियाकलापतो निष्पादिते, भ० २ श० १ उ०।

शिक्षित-त्रि०। गुरुभिः स्वयमेव शिक्षां ग्राहिते , पा० । ध०। भ०।

सैद्धिक-त्रि०। सिद्धापवर्गलक्षणायां भवे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

सेही-शैक्षी-स्त्री०। नवशिक्षितायाम् , ग० ३ अधि०।

सेहोवट्ठावण-शैक्षोपस्थापन-न०। शिष्यस्य उपस्थापना—करणे," तिहिं उत्तराहिं रोहिणीहिं, कुज्जा उ सेहनिक्खमणं। सेहोवट्ठावण कुज्जा, अणुन्ना गणिवायए।" द० प०।

सोअ-शौच-न०। परद्रव्यापहारमालिन्याभावे , स० १४३ सम०।

सोअणवत्तिया-स्वप्नप्रत्यया-स्त्री० । स्वप्ननिमित्तविराधनाया अतिचारभेदे, आव० १ अ०।

सोअण-शोचन-न०। अश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्ये , आव० ४ अ०।

सोअमल्ल-सौकुमार्य-न०। "उतो मुकुलादिष्वत्" ॥८।१।१०७॥ इत्यादेरुतोऽत्त्वम्। सोअमल्लं। प्रा०। "पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये ल्ल" ॥८।२।६८॥ इति र्यस्य ल्ल । सोअमल्लं। शरीरसौष्ठवे, प्रा० २ पाद।

सोआमिणी-सौदामिनी-स्त्री०। विद्युति, जं० ३ वक्ष०।

सोइंदिय-श्रोत्रेन्द्रिय-न०। श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रं तच्च तदिन्द्रियं

च श्रोत्रेन्द्रियम्। शब्दग्राहके इन्द्रिये, आ० म० १ अ०। ज्ञा०। प्रज्ञा०। आ० क०।

श्रोत्रेन्द्रिय उदाहरणम्—

गाथकः पुष्पशालोऽभू—द्वसन्तपुरपत्तने।
कर्णानन्दी स्वरस्तस्य, वैरूप्यं चाहिदु खदम् ॥ १ ॥
गायना तेन सर्वोऽपि, लोको हृतमना. कृत ।
सार्थवाहो धनस्तस्मात्, पुरो देशान्तरं गत. ॥ २ ॥
पश्चाद्भद्राऽस्ति तद्भार्या, तत्र प्रोषितभर्तृका।
दास्यस्तस्या गता आसन्, बहिः कार्येण केनचित् ॥ ३ ॥
तास्तं गायन्त शृण्वाना, काल नाज्ञासिपुर्गतम्।
चिरागताश्च तास्तीक्ष्णै-र्वचोभि सततक्त सा ॥ ४ ॥
ऊचुस्ता देवि ! मा कुप्य, श्रुतमस्माभिरद्य यत्।
गीत तत्कस्य नानन्दि, पशूनामपि वल्लभम् ॥ ५ ॥
दध्यौ सा तत्कथं श्राव्य, कथ प्रेष्यः स गीतकृत्।
इत पूर्ववनागारे, यात्रारम्भस्तदाऽभवत् ॥ ६ ॥
पौरा. सर्वे ययुस्तत्र, साऽपि तत्र तदाऽगमत्।
गाथाक स च नि.शेषा, रात्रिं गीत्वा परिश्रमात् ॥ ७ ॥
तत्रैवायतने पश्चाद्, भागे निद्रामुपागत ।
सार्थवाही च तां देवीं, प्रणम्याभ्यर्च्य भक्तित ॥ ८ ॥
प्रदक्षिणीकृतस्तस्या, श्रेष्ठिभिर्दर्शितोऽथ स ।
दृष्ट्वोचे रूपमानेन, भावी गीतस्वरोऽपि हि ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वा तत्र निष्ठीव्य, साऽगमन्मन्दिर निजम्।
गाथकस्य प्रबुद्धस्या-ख्यातं तच्चेष्टितं नटैः ॥ १० ॥
गाथक. सोऽथ सामर्ष. प्रातस्तस्या गृहान्तिके।
जगौ विरहसंबद्ध—गीत स्फीत रसोर्मिभि ॥ ११ ॥
आसवेन प्रपीतेन, तेन गीतेन पूरिता।
मत्तेवास्ववशा साऽभू—त्सनिपातभृतेव वा ॥ १२ ॥
तत्क्षणादुत्थितोत्कण्ठा, कण्ठाश्लेषे प्रियस्य सा।
तदैवाप्रेषयल्लेख, प्रेयसे जविन करे ॥ १३ ॥
अथारुरोह सौधाग्रे, तन्मार्गान्वेषणाय सा।
ऊचे च सखि ! लेखस्य, गतस्यासन् दिना घना ॥ १४ ॥
स लेखदर्शनादेव, चलित कलितं मया।
अत्रैष्यति दिनैर्द्वित्रै—र्वहन्नस्त्यधुना पथि ॥ १५ ॥
अथोत्थाय सखीना सा, प्रेक्ष्यालक्ष दिशोऽखिला ।
अदर्शयत्कराग्रेण, हला ! पश्यत पश्यत ॥ १६ ॥
अयमयमपि प्रेयान् श्रेयान् स एव मनोहरो,
नयननलिनोल्लासन्यासक्रियासु निशापति. ।
वपुषि पुलकोद्भेदस्वेदोद्गमक्षममङ्गम,
किमपि रमयन्नन्त. कान्त सुख सखि ! मेऽधुना ॥ १७ ॥
मंस्यते दुर्विनीता मा, वेद्यास्यामि न सम्मुखी।
अभ्रंलिहाग्रसौधाग्रा—द्दिस्यात्मानं मुमोच सा ॥ १८ ॥
मृता च तत्क्षणादेव, श्रोत्रेन्द्रियदुरन्तता।
ध्यायितु तत्र दुष्टाङ्गौ, मुच्येते कर्णतर्णकौ ॥ १९ ॥

आ० क० १ अ०। ग०। आ० चू०। (' पुट्ठं सुणेइ सद्द ' इति श्रोत्रेन्द्रियस्य स्पृष्टविषयग्राहकत्वम् ' इंदिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५४७ पृष्ठे गतम्।)

सोइंदियणिग्गह—श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह—पुं०। श्रवणेन्द्रियस्यावरोधे, उत्त०।

सोइंदियणिग्गहेणं मणुणामणुणेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पचइयं च कम्मं ण बंधइ, पुव्वबंधं निज्जरेइ। उत्त० २९ अ०।

सोइंदियत्थ—श्रोत्रेन्द्रियार्थ—पुं०। श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्र तच्च तद् इन्द्रियं च श्रोत्रेन्द्रिय तस्यार्थो-ग्राह्य श्रोत्रेन्द्रियार्थ। शब्द, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

सोइंदियबल—श्रोत्रेन्द्रियबल—न०। श्रोत्रबलसामर्थ्यग्राहके, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सोइंदियमुंड—श्रोत्रेन्द्रियमुण्ड—पुं०। श्रोत्रेन्द्रियनिबन्धने मुण्डभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सोइंदियवसट्ट—श्रोत्रेन्द्रियवशार्त्त—त्रि०। श्रोत्रेन्द्रियवशेन तत्पारतन्त्र्येण ऋत —पीडित। श्रवणेन्द्रियपरतन्त्रतया दुःखिते, भ० १२ श० २ उ०।

सोइंदियविसयप्पयार—श्रोत्रेन्द्रियविषयप्रचार—पुं०। श्रोत्रेन्द्रियस्य यो विषयेष्विष्टानिष्टशब्देषु प्रचार. स श्रोत्रेन्द्रियविषयप्रचार। श्रवणलक्षणप्रवृत्तौ, भ० २५ श० ७ उ०।

सोइय—शोकित—न०। मानसे विकारे, अनु०।

सोइयव्व—शोकितव्य—त्रि०। शोकविषये, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

सोउआण—श्रुत्वा— " क्त्वस्तुमत्तूण-तुआणा " ॥८।२।१४६॥ इति क्त्वाप्रत्ययस्य तुआणादेश। सोउआण। आकर्ण्येत्यर्थे प्रा० २ पाद।

सोऊण—श्रुत्वा—अव्य०। "युवर्णस्य गुण" ॥८।४।२३७॥ धातोरिवर्णस्योवर्णस्य च ङ्कित्यपि गुणो भवति। सोऊण। प्रा०। " चि—जि—श्रु—हु—स्तु—लू—पू—धूगा णो ह्रस्वश्च।" ॥ ८।४।२४१॥ च्यादीनां धातूनामन्ते णकारागम., एषां स्वरस्य च ह्रस्वो भवति। बहुलाधिकारात्क्वचिद्विकल्प। सोऊण। प्रा०। निशम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आकर्णयितुमित्यर्थे, पञ्चा० २ विव०।

सोएव—शोचितव्य—त्रि०। " तव्यस्य इएव्वउं एव्वउ एवा. " ॥८।४।४३८॥ इति अपभ्रंशे तव्यप्रत्ययस्य एवादेश.। शोचनीये, प्रा० ४ पाद।

सोंड—शौण्ड—न०। गर्वे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सोंडामगर—शौण्डमकर—पुं०। मकरभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

सोंडीर—शौण्डीर्य—न०। "ब्रह्मचर्य—तूर्य—सौन्दर्य—शौण्डीर्ये र्यो र "॥८।२।६३॥ इति र्यस्य र। सोंडीर। प्रा०। त्यागसम्पन्नतायाम्, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। कर्मशत्रून्प्रति शूरे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। स्था०। शौर्यवता शूर इव रणकरणेन वशीकृत.। पुत्रतया प्रतिपाद्यमाने पुत्रभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०। चारभटे. प्रश्न० ५ सच० द्वार।

सोक्ख—सौख्य—न०। आनन्दे, स्था० २ ठा० ३ उ०। सुखे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। गन्धरसस्पर्शलक्षणविषयसंपाद्ये, स्था० ६ ठा० ३ उ०। प्रज्ञा०। उत्त०। गन्धोपादाने, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सोग-शोक-पुं० । इष्टवियोगोत्थदुःखे, औ० । प्रश्न० । उत्त० । नि० चू० । चित्तखेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । दैन्ये, आव० ४ अ० । चित्तवैधुर्ये, प्रव० ५१ द्वार । आ० म० । मानसे दुःखविशेषे. ल० । आव० । स च सचित्ताचित्तमिश्राणामिष्टानां वियोगेन, अनिष्टानां संयोगेन च भवति । जीत० । स्था० । प्रश्न० । ध० । वृ० । औ० । इष्टाप्राप्तिविनाशोद्भवे (आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आतु० । स० ।) इष्टवियोगनाशादिजनिते चित्तोद्वेगे, दर्श० १ तत्त्व । नोकषायवेदनीयकर्मभेदे, यदुदयेन शोकरहितस्यापि जीवस्याक्रन्दनादिः शोको जायते । स्था० ६ ठा० ३ उ० । शोचनं शोको दैन्यमुपलक्षणत्वादेवास्य सकलमानसदुःखपरिग्रह । भ० १६ श० २ उ० । 'सोगभरपवेवियंगमंगी' शोकभरेण प्रवेपित-कम्पितमङ्गं यस्यास्सा तथा । भ० ६ श० ३३ उ० । प्रियविप्रयोगादिविकलचेतोवृत्तितयाऽऽक्रन्दनादि येन करोति स शोकः । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

सोगंधिय-सौगन्धिक-न० । कह्लारे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । प्रज्ञा० । रा० । जं० । रत्नविशेषे, रा० । प्रज्ञा० । आ० म० । ज्ञा० । सूत्र० । यः सुभगं मन्वान स्वलिङ्गं जिघ्रति स सौगन्धिकः । पु० । नपुंसकभेदे, ग० १ अधि० । सौगन्धिको नाम सागारिकस्य गन्धं शुभं मन्यते स च सागारिकं जिघ्रति मलयित्वा वा हस्तं जिघ्रति । वृ० ४ उ० । नि० चू० । प्रव० । पं० चू० । पं० भा० ।

सोगंधियकंड-सौगन्धिककाण्ड-न० । रत्नप्रभाया पृथिव्याः सौगन्धिकरत्ननिभे काण्डे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सोगंधिया-सौगन्धिकी-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

सोगमल्ल-सौकुमार्य-न० । अतिसुकुमारतायाम्, 'आयावयाही चय सोगमल्लं' दश० २ अ० ।

सोगमोहणिज्ज-शोकमोहनीय-न० । मोहनीयकर्मभेदे, यद्वशात्प्रियविप्रयोगे सोरस्ताडमाक्रन्दति परिदेवते दीर्घं च निःश्वसिति भूपीठे च लुठति तच्छोकमोहनीयम् । कर्म० ६ कर्म० ।

सोगविहाण-शोकविधान-न० । प्राजमनके चारितादिके, व्य० १ उ० ।

सोग्गइ-सुगति-स्त्री० । मोक्षमार्गे, सुदेवत्वादिके, 'एत्थ सुग्गती णाणदंसणचरणा भवंति' । अथवा सुग्गई सुदेवत्तादिका । आ० चू० १ अ० ।

सोच्चा-श्रुत्वा-अव्य० । "त्व-थ्व-द्व-ध्वां-च-छ-ज-झाः क्वचित्" ॥ ८ । २ । १५ ॥ इति त्वास्थाने च्चा इत्यादेशः । सोच्चा । प्रा० । निशम्येत्यर्थे, अवगम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आचा० । गुरुमुखात्कर्णे धृत्वेत्यर्थे, उत्त० २ अ० । श्रोत्रेण निशम्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० । तं० । दश० । कल्प० । भ० । आगमापेक्षे, भ० ६ श० ३२ उ० । अवधार्येत्यर्थे, विपा० १ श्रु० २ अ० । भ० । आचा० ।

सोच्चिय-शोचित-त्रि० । "सेवादौ वा" ॥ ८।२।९९॥ इति द्वित्वम् । शोकविषये, प्रा० २ पाद ।

सोज्जोय-सोद्द्योत-त्रि० । उद्द्योतभावसहिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । बहिर्व्यवस्थितवस्तुस्तोमप्रकाशकरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सोड-शोड-न० । सीधुनि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

सोडसय-षोडशक-पुं० । षोडशावयवे समुदाये, "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । " आ० म० १ अ० ।

सोडसिगा-षोडशिका-स्त्री० । मगधदेशप्रसिद्धे रसमानविशेषे, रा० ।

सोढ-सोढ-त्रि० । अनुभूते, उत्त० १९ अ० ।

सोण-शोण-न० । दन्तकाष्ठिकामध्ये रक्तवर्णे, तं० ।

सोणिचक्क-श्रोणिचक्र-न० । कटितटे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

सोणिय-शोणित-न० । पललरुधिरे, उत्त० २ अ० । आचा० । ज्ञा० । त० । स्था० । आर्त्तवे रुधिरे, सामान्येन वा रुधिरे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । शोणितं—रुधिरं, द्वितीयो धातुः । तं० । आचा० । आ० म० ।

सोणियलव-शोणितलव-पुं० । शोणितबिन्दौ, तं० ।

सोणियानुसारि-शोणितानुसारिन्-पुं० । शोणितान्तव्यापके धातौ, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सोणिसुत्त-श्रोणिसूत्र-न० । कटीसूत्रे, भ० ६ श० ३३ उ० । बालकानां चर्मादिदवरकरूपे कटीसूत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

सोणी-श्रोणी-स्त्री० । कटेरग्रभागे, जं० २ वक्ष० । कट्यौ, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सोण्हग-सोण्हक-पुं० । पक्षिविशेषे, उत्त० ५ अ० ।

सोण्हियालिंग-शोणिकालिङ्ग-न० । अग्नेराश्रयविशेषे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सोत्त-श्रोत्र-न० । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम् । शब्दग्राहकेन्द्रिये, स्था० ८ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । अचित्तं जीवरहितं सोत्तं छिद्दं पुणसद्दो भेदप्पदरिसणे तं अचित्तसोत्तं तिविहं-देहजुयं, पडिमजुयं, वेरय च । नि० चू० १ उ० ।

श्रोतस्-न० । "तैलादौ" ॥ ८ । २ । ९८॥ इति अन्त्यव्यञ्जनस्य द्वित्वम् । जलप्रवाहे, प्रा० २ पाद ।

सोत्तबंधण-श्रोतोबन्धन-न० । जलप्रवाहबन्धने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सोत्तामणि-सौत्रामणि-स्त्री० । रुचकद्वीपभवायां दिक्कुमारिकायाम्, आ० क० १ अ० ।

सोत्तिंदिय-श्रोत्रेन्द्रिय-न० । श्रवणेन्द्रिये, आ० म० १ अ० ।

सोत्तिय-सौत्रिक-त्रि० । सूत्र पण्यमस्येति सौत्रिक । सूत्रक्रयविक्रयकारिणि , अनु० । जीवा० ।

शौक्तिक--पुं० । त्रीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सोत्तियमई--शौक्तिकवति--स्त्री० । केकयार्द्धजनपदार्द्धराजधान्याम् , प्रज्ञा० १ पद ।

सोत्थिय--स्वस्तिक--पुं० । लोकप्रसिद्धे माङ्गलिके चिह्नभेदे,रा०। प्रश्न०। जं० । प्रज्ञा० । आ० म० । अष्टाशीतिमहाग्रहेषु षष्टितमे ग्रहे,स्था०२ठा०३उ०। आ०म०। सू०प्र०। आ०चू०। चं० प्र०।

दो सोत्थिया । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सोत्थियकूड--स्वस्तिककूट--न० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे रुचकवरपर्वतस्य प्रथमे कूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । द्वी० ।

सोदयबंधिणी--स्वोदयबन्धिनी--स्त्री० । स्वस्योदय एव बन्धो यासां तास्तथा । तथाविधासु कर्मप्रकृतिषु , प० सं० ३ द्वार ।

सोदर--सोदर--पुं० । एकमातृके , उत्त० २२ अ० ।

सोदामिन्--सौदामिन्-पुं० । चमरस्यासुरेन्द्रस्याश्वानीकाधिपतौ , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सोदामिणी--सौदामिनी--स्त्री० । विद्युति, औ० । विदिग्रुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , जं० ५ वक्ष० ।

सोदास-सौदास-पुं० । स्वनामख्याते मांसप्रिये राजनि, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । आ० म० । जिह्वेन्द्रिये उदाहरणम् । आ० चू० १ अ० । आचा० । आ० क० ।

सोद्द-शौद्र-पुं० । शुष्ककाष्ठे, बृ० २ उ० ।

सोपारग-सोपारक-पुं० । स्वनामख्याते समुद्रतटीयनगरे , आ० म० १ अ०। आ० क० । उज्जेणी नगरी, जितसत्तू राया , तस्स अट्टणो मल्लो,सव्वरज्जेसु अजेयो । इतो य समुद्दतडे सोपारग नगर तत्थ सीहगिरी राया । आ० चू० ४ अ० ।

सोप्पास-सोत्प्रास-न० । उत्प्रासयुक्ते गाने,स्था० ७ ठा०३उ०।

सोभग्ग-सौभाग्य-न० । सुभगत्वे, प्रज्ञा० ३४ पद ।

सोभग्गकर-शौभाग्यकर-न० । एकचत्वारिंशे कलाभेदे, स० ७२ सम० ।

सोभग्गसुंदरी-सौभाग्यसुंदरी-स्त्री० । इभ्यश्रेष्ठिन पुत्रस्नुषायाम् , आ० क० १ अ० ।

सोभग्गसेवहि-सौभाग्यसेवधि-पुं० । सौभाग्यनिधौ, कल्प०१ अधि० ७ क्षण ।

सोभण-शोभन-न० । सुन्दरे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जी० । कल्प० ।

सोभद्द-सौभद्र-पुं० । सुभद्रात्मजे चम्पानगरीवास्तव्यस्य कौशिकाचार्यस्य शिष्ये, आ० चू० ४ अ० । ('अज्जव ' शब्दे प्रथमभागेऽस्य कथा ।)

सोभावज्जण-शोभवर्जन-न०। विभूषापरित्यागे,दश०६ अ० ।

सोभित्ता-शोभयित्वा--अव्य० । विधिवत्करणेन शोभां कृत्वेत्यर्थे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

सोभिय-शोभित-त्रि० । तत्समाप्तौ गुर्वादिप्रदानशेषभोजनासेवनेन शोभां प्रापिते अतिचारवर्जनेन कृतशोधे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । रा० । आ० चू० ।

सोम-सोम-पुं० । चतुर्थबलदेववासुदेवयो पितरि, आव० १ अ० । स्था० । ति० । यज्ञेषु देवपेये लताविशेषे, 'अपाम सोममसृता अभूयम्' । आ० म० १ अ० । तद्रसे, विशे० । चन्द्रे, जं०७ वक्ष० । ज्यो० । च०प्र० । मृगशिरोनक्षत्रस्याधिप सोमः । ज्यो० ६ पाहु० । सू० प्र० । अनु० । स्था० । अष्टाशीतिग्रहेषु द्वादशे महाग्रहे, जं० ७ वक्ष० । सू० प्र० । कल्प० । च० प्र० । शक्रस्य देवेन्द्रस्येशानस्य च स्वनामख्याते उत्तरदिग्लोकपाले चमरस्यासुरेन्द्रस्येन्द्रे, भ० ३ श० ७ उ०। आ० म० । ग० । स्था० । (वक्तव्यताऽस्य 'लोगपाल' शब्दे षष्ठे भागे गता ।) (अस्याग्रमहिष्य. 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१पृष्ठे उक्ता ।) पार्श्वस्वामिन पञ्चमे गणधरे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । स्था० । शान्तदृष्टौ,प्रव० ६५ द्वार । शान्ताकृतौ, व्य० ६ उ० । सुभगे, जं० १ वक्ष० । रा० । अरौद्राकारे, रा० । सू० प्र० । विपा० । जं० । नीरोगे च । भ० १२ श० ६ उ० । उत्तमया कीर्त्या सहिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । गुर्जरधरित्रीमण्डलीमहानगर्यां श्रीमद्वीसलदेवराजस्य पुरोहिते , ती० ४१ कल्प । चम्पावास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे , ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । ('दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५७७ पृष्ठे कथा गता । कोडीनगरवासिनि स्वनामख्याते ब्राह्मणे, ती० ५५ कल्प । ('कोहंडिदेव' शब्दे तृतीयभागे ६८४ पृष्ठे कथा ।)

सोमंगलग-सौमङ्गलक-पुं० । द्वीन्द्रियजीवभेदे,जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

सोमकाइय-सोमकायिक-पुं० । सोमस्य कायो निकायो येषामस्ति ते सोमकायिका । सोमपरिवारभूतेषु देवेषु,भ० ३ श० ७ उ०

सोमचंद-सोमचन्द्र-पुं० । भरतक्षेत्रजसुपार्श्वजिनकालिकैरवतजे तीर्थकरे, ति०। प्रव०। स० । स्वनामख्याते शिवचन्द्रनृपपुत्रे, ध०र० । (अस्य वृत्तम् 'सिवभद्द' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।) स्वनामख्याते पोतनपुरराजे, आ०चू० १ अ० ।

सोमचंदसूरि-सोमचन्द्रसूरि-पुं० । तपागच्छीये श्रीरत्नशेखरसूरिशिष्ये, येन विक्रम-१५०४ वर्षे कथामहोदधिनामग्रन्थो रचित । जै० इ० ।

सोमजसा-सोमयशस्-स्त्री० । सौर्यपुरे यक्षयशस्नामकस्य पुत्रस्नुषायाम् आव० ४ अ० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । द्वी० ।

सोमणंतिय-स्वप्नान्तिक-न० । स्वप्नस्य स्वप्नक्रियाया अन्ते अवसाने भव स्वप्नान्तिकम् । स्वप्नविशेषे क्रियमाणे प्रतिक्रमणभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सोमणस-सौमनस्य-न० । शोभनं मनो यस्यासौ सुमनास्तस्य

भाव सौमनस्यम। शोभने मनसि,दश०। भ०। जी०।आ०म०। सौमनस--पुं०।जम्बूद्वीप मन्दरस्य दक्षिणत देवकुरुषु अश्व-स्कन्धसदृशे वक्षस्कारपर्वते,तदधिपतौ च। स्था०२ठा०३उ०।

दो सोमणसा। स्था० २ ठा० ३ उ०।

निषधस्य पर्वतस्योत्तरस्यां मन्दरस्य दक्षिणपूर्वस्यामाग्ने-यदिशि मङ्गलावतीविजयस्य पश्चिमाया देवकुरूणां पूर्वस्यां सौमनसो वक्षस्कारपर्वत'। जं० ४ वक्ष०।

कहि णं भन्ते! जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सोम-णसे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते?, गोयमा! णिसहस्स वा-सहरपव्वयस्स उत्तरेणं मन्दरस्स पव्वयस्स दाहिणपुर-त्थिमेणं मंगलावईविजयस्स पच्चत्थिमेणं देवकुराए पुर-त्थिमेणं एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सोमणसे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते, उत्तरदाहिणायए पाईणप-डीणविच्छिण्णे जहा मालवन्ते वक्खारपव्वए तहा णवरं सव्वरययामए अच्छे ०जाव पडिरूवे। णिसहवासहरपव्व-यंतेणं चत्तारि जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि गाऊ(उ)असयाइं उव्वेहेणं सेसं तहेव सव्वं णवरं अट्ठो से गोअमा! ०जाव सोमणसे वक्खारपव्वए बहवे देवा य देवीओ अ सोमा सुमणा सोमणसे अ इत्थ देवे महिड्ढीए ०जाव परिवसइ, से एएणट्ठेणं गोअमा! ०जाव णिच्चे। (सू०+६७)

'कहि णं' मित्यादि, क भदन्तेत्यादिप्रश्न' सुलभ', उत्त-रसूत्रे निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य उत्तरस्या मन्दरस्य पर्वत-स्य पूर्वदक्षिणस्याम्-आग्नेयकोणे मङ्गलावतीविजयस्य पश्चि-मायां देवकुरूणां पूर्वस्यां यावत् सौमनसो वक्षस्कारपर्वत प्रज्ञप्त इत्यादि सर्वं माल्यवद्गजदन्तानुसारेण भाव्यम्, यत्तु सप्रपञ्च प्रथमं व्याख्याते गन्धमादनेऽनिदर्शयितव्ये माल्य-वतोऽतिदेशन तदस्यासन्नवर्त्तित्वेन सूत्रकारशैलीवैचित्र्य-ज्ञापनार्थं, नवर सर्वात्मना रजतमयोऽय माल्यवास्तु नील-लमणिमय., अय च निषधवर्षधरपर्वतान्त चत्वारि योज नशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन चत्वारि गव्यूतिशतान्युद्वेधेन माल्य-वास्तु नीलवत्समीपे इति विशेष., अर्थे च विशेषमाह— 'से केणट्ठेण' मित्यादि, प्राग्वत्, भगवानाह—गौतम! सौमनसवक्षस्कारपर्वते बहवो देवा देव्यश्च सौम्या - काय-कुचेष्टाया अभावात्, सुमनसो--मन कालुष्याभावात् परि वसन्ति, तत सुमनसामयमावास इति सौमनस, सौम-नसनामा चात्र देवो महर्द्धिक. परिवसति तेन तद्योगात् सौमनस इति। 'से एएणट्ठेण' मित्यादि, प्राग्वत्, 'सौम-णसे इति प्राय सूत्रं व्यक्तम्। जं० ४ वक्ष०।

कूटपृच्छा—

जंबुद्दीवे दीवे सोमणसे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता, तं जहा-"सिद्धे १ सोमणसे२ तह,बोधव्वे मंगलावईकूडे३। देवकुरु ४ विमल ५ कंचण ६, विसिट्ठकूडे ७ य बोधव्वे" ॥१॥ (सू०+५६०) स्था० ७ ठा० ३ उ०।

मेरो परित स्थिते वने, नपुं०। जं० ४ वक्ष०। मेरोर्द्वितीय-मेखलायां स्वनामख्याते वने, जं० १ वक्ष०। सूत्र०।

कहि णं भंते! मन्दरए पव्वए सोमणसवणे णामं वणे पण्णत्ते?, गोयमा! णन्दणवणस्स बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ अद्धतेवट्ठिं जोअणसहस्साइं उड्ढं उप्पइत्ता एत्थ णं मन्दरे पव्वए सोमणसवणे णामं वणे पण्णत्ते। पञ्चजोयणसयाइं चक्कवालविक्खम्भेणं वट्टे वलयाकार-संठाणसंठिए जे णं मन्दरं पव्वयं सव्वओ समंता संपरि-क्खित्ता णं चिट्ठइ, चत्तारि जोअणसहस्साइं दुण्णि य बावत्तरे जोअणसए अट्ठ य इक्कारसभाए जोअणस्स बाहिं गिरिविक्खम्भेणं तेरस जोअणसहस्साइं पंच य एक्कारे जोअणसए छच्च इक्कारसभाए जोअणस्स बाहिं गिरिपरि-रएणं तिण्णि जोअणसहस्साइं दुण्णि अ बावत्तरे जोअणसए अट्ठ य इक्कारसभाए जोअणस्स अंतो गिरिविक्खम्भेणं दस जोअणसहस्साइं तिण्णि अ अउणापण्णे जोअणसए तिण्णि अ इक्कारसभाए जोअणस्स अंतो गिरिपरिरएणं ति। से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समन्ता संपरिक्खित्ते। वण्णओ किण्हे किण्होभासे ०जाव आसयन्ति एवं कूडवज्जा सच्चेव णन्दणवणवत्तव्वया भाणियव्वा, तं चेव ओगाहिऊण ०जाव पासायवडेंसगा सक्कीसाणाणं ति। (सू० १०५)

'कहि ण' मित्यादि, क्व भदन्त! मेरौ सौमनसवनं नाम वन प्रज्ञप्तम्?, गौतम! नन्दनवनस्य बहुसमरमणीयाद् भूमि-भागादर्द्धत्रिषष्टिं, सार्द्धद्वाषष्टिरित्यर्थ, योजनसहस्राण्यूर्ध्वमु, त्पत्याऽत्रान्तरे मन्दरपर्वते सौमनसवनं नाम वन प्रज्ञप्त,पञ्च-योजनशतानि चक्रवालविष्कम्भेनेत्यादिपदानि प्राग्वत्, यन्मन्दर पर्वतं सर्वत समन्तात् सम्परिक्षिप्य तिष्ठति-एतच्च कियता विष्कम्भेन कियता च परिक्षेपेणेत्याह— 'चत्तारि' त्यादि, प्रथममेखलायामिव द्वितीयमेखलायाम-पि विष्कम्भद्वय वाच्य, तत्र बहिर्गिरिविष्कम्भेन चत्वारि योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते द्विसप्तत्यधिके अष्टौ चै-कादशभागा योजनस्य, एतदुपपत्तिरेवम्-धरणीतलात् सौ-मनसं यावद् गमने मेरूच्छ्रयस्य त्रिषष्टिसहस्रयोजनान्यति-क्रान्तानि एषा चैकादशभिर्भागे लब्धम् ५७२७ $\frac{3}{11}$ अस्मिश्च रा-शौ धरणीतलगतमेरुव्यासाद्दशसहस्रयोजनप्रमाणाच्छोधि-ते जातं यथोक्त मानमिति। बहिर्गिरिपरिरयेण त्रयोदश यो-जनसहस्राणि पञ्चयोजनशतानि एकादशानि-एकादशाधि-कानि षट् च एकादशभागा योजनस्य, तथाऽन्तर्गिरिविष्क-म्भेन त्रीणि योजनसहस्राणि द्वे द्वासप्तत्यधिके योजनशते अष्टौ चैकादशभागा योजनस्य, उपपत्तिस्तु बहिर्गिरिवि-ष्कम्भात् उभयतो मेखलाद्वयव्यासे पञ्चशत २ योजनरूपेऽ-पनीते यथोक्त मानम्. अन्तर्गिरिपरिरयेण तु दश सहस्रयो-जनानि त्रीणि च योजनशतानि एकोनपञ्चाशदधिकानि त्रय-श्चैकादशभागा योजनस्येति। अथास्य वर्णकसूत्रम्-'से णं

पगा' इत्यादि, व्यक्तं, नवरम् पत्रमुक्ताभिलापेन कूटवर्ज्जा नैव नन्दनवनवक्तव्यता भणितव्या, कियत्पर्यन्तमित्याह-तदेव मेरुत. पञ्चाशद्योजनरूप क्षेत्रमवगाह्य यावत्प्रासादावतंसकाः शक्रेशानयोरिति, वापीनामानि त्विमानि तेनैव क्रमेण, सुमना १ सौमनसा २ सौमनांसा सौमनस्या वा ३ मनोरमा ४, तथा उत्तरकुरु १ देवगुरु २ वारिषेणा ३ सरस्वती ४, तथा विशाला १ माघभद्रा २ अभयसेना ३ रोहिणी ४, तथा भद्रोत्तरा१भद्रा२सुभद्रा३ भद्रावती भद्रवती वा ४। जं०४वक्ष०। पक्षस्य नवमे दिवसे, ज्यो०३ पाहु०। जं०। ग्रैवेयकविमानाना चतुर्थे प्रस्तटे, स्था०६ ठा०३ उ०। प्रव०। सनत्कुमारस्य देवेन्द्रस्य पारियानिके विमाने, औ०। जं०। रुचकपर्वतस्य स्वनामख्याते देवे,सू० प्र० १६ पाहु०। चं० प्र०। जं०। शोभनं मनो यस्याः सकाशाद्भवति सा सुमनास्ततः स्वार्थेऽण्। जम्ब्वां सुदर्शनायाम्, स्त्री०। जं०४ वक्ष०। दक्षिणपूर्वस्य रतिकरपर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि स्वनामख्यातायां राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। द्वी०। ती०। पक्षस्य पञ्चम्यां रात्रौ, जं० ७ वक्ष०। सन्तुष्टचित्तत्वे, नपुं०। कल्प० १ अधि० १ क्षण। ज्यो०।

सोमणसकूड-सौमनसकूट-पुं०। न०। सौमनसनामकस्वाधिष्ठातृदेवभवनोपलक्षिते कूटे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। (अस्य वक्तव्यता 'सोमणस' शब्देऽनुपदमेव गता।)

सोमणसवण-सौमनसवन-न०। मेरोर्द्वितीयमेखलायां स्वनामख्याते वने, स्था० ४ ठा० २ उ०। (अत्रत्या वक्तव्यता 'सोमणस' शब्दे गता।)

दो सोमणसवणा। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सोमणसा-सौमनसा-स्त्री०। पञ्चमीतिथिरात्रौ, सू० प्र० १० पाहु०।

सोमणसी-सौमनसी-स्त्री०। पक्षस्य पञ्चदश्यां तिथौ, ज्यो० ४ पाहु०।

सोमणाह-सोमनाथ-पुं०। सौराष्ट्रप्रसिद्धे महादेवे, ती० १६ कल्प। (एतद्भञ्जनकथा 'सच्चउर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

सोमतिलग-सोमतिलक-पुं०। तपागच्छे देवेन्द्रसूरिशिष्यविद्यानन्दगणिशिष्यधर्मघोषसूरिशिष्यसोमप्रभसूरिशिष्ये,तस्य जन्म विक्रम १३५५, संवत्सरे दीक्षा १३६६, वर्षे सूरिपद १३७३,वर्षे स्वर्गति १४२४ वर्षे। अनेन यमकस्तुतिटीकाशीलतरङ्गिणी नव्यक्षेत्रसमाससूत्रे जीतकल्पवृत्तिश्चेति ग्रन्था रचिता। यशस्तिलकचम्पूनामग्रन्थकारके दिगम्बराचार्ये, एकाशीत्यधिकाष्टशते शकेऽयमासीत्। जै० इ०।

सोमदत्त-सोमदत्त-पुं०। चन्द्रप्रभस्वामिन प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ०। स०। कौशाम्बीनगरीस्वामिशतानीकस्य पुरोहिते, विपा० १ श्रु० ५ अ०। भद्रबाहुस्वामिन. चतुर्थे शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

सोमदिट्ठि-सौम्यदृष्टि-पुं०।कस्याप्यनुद्वेजके साधौ, प्रव० २३६ द्वार। सोमलोचने, स हि सर्वस्याप्याश्रयणीयो भवति। दर्श० २ तत्त्व।

सोमदेव-सोमदेव-पुं०। दशपुरनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, यत्पुत्र आर्यरक्षित. सूरिरासीत्। विशे०। आ० म०। आ० क०। आ० चू०। ती०। उत्त०। पद्मप्रभस्य प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ०। स०।

सोमदेवयाकाइय-सोमदेवताकायिक-पुं०। सोमदेवतास्तत्सामानिकादयस्तासां कायो येषामस्ति ते सोमकायिकाः। सोमसामानिकादिदेवपरिवारभूतेषु देवेषु, भ० ३ श० ५ उ०।

सोमधम्मगणि-सोमधर्मगणिन्-पुं०। उपदेशसप्ततिकाग्रन्थकारके तपागच्छीयचारित्रगणिशिष्ये, जै० इ०।

सोमप्पभ-सोमप्रभ-पुं०। बाहुबलिपुत्रे, श्रेयासभ्रातरीति केषाञ्चिन्मतम्। आ० चू० १ अ०। आ० क०। आवश्यकवृत्त्यनुसारेण बाहुबलिसुतसोमप्रभसुत. श्रेयांसो राजा। कल्प० १ अधि० ७ क्षण। चमरस्योत्पातपर्वते, आ० म० १ अ०। "सोमस्स महारण्णो सोमप्पभे उप्पायपव्वए" स्था० १० ठा० ३ उ०। (अत्रत्यो विस्तर. 'उप्पायपव्वय' शब्दे द्वितीयभागे ८३७ पृष्ठे गत.।)

सोमप्पभसूरि-सोमप्रभसूरि-पुं०। तपागच्छीये धर्मघोषसूरिसमनन्तरे आचार्ये, ग० १ अधि०। "श्रीसोमप्रभसूरे, पट्टे श्रीसोमतिलकसूरीन्द्रा।अथ सोमप्रभसूरि-स्तस्य विनेयास्तु चत्वार.॥१॥ श्रीविमलप्रभसूरि, श्रीपरमानन्दसूरिगुरुराज.। श्रीपद्मतिलकसूरि-र्गणितिलक. सोमतिलकगुरु.॥२॥"ग० ३ अधि०। एतज्जन्म विक्रम१३१०संवत्सरे दीक्षा१३२१सूरिपदम् १३३२ स्वर्गति. १३७३ वर्षे अनेन चित्रबन्धस्तवो नाम ग्रन्थो रचित.। द्वितीयोऽपि सोमप्रभाचार्यो विजयसिंहसूरिशिष्य, तेन हेमकुमारचरित्रं सूक्तिमुक्तावलिशृङ्गारवैराग्यतरङ्गिणीत्यादयो ग्रन्था रचिताः। जै० इ०।

सोमप्पभा-सोमप्रभा-स्त्री०। सोमप्रभस्य चमरोत्पातपर्वतस्य दक्षिणदिग्वर्त्तिराजधान्याम्, द्वी०।

सोमभूइ-सोमभूति-पुं०। चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ०।

से किं तं कुलाइं?, कुलाइं एवमाहिज्जंति,तं जहा, "पढमं च नागभूयं, बीयं पुण सोमभूइअं होइ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

सोममित्ता-सोममित्रा-स्त्री०। सौर्यपुरवास्तव्यस्य यज्ञयशसो भार्यायाम्, आव० ४ अ०। आ० क०। आ० चू०।

सोमय-सोमक-पुं०। कौत्सगोत्रान्तर्गते गोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सोमल-सोमल-पुं०। द्वारवतीवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ०।। ('गजसुकुमार' शब्दे तृतीयभागेऽस्य कथा।)

सोमलच्छी-सौम्यलक्ष्मी-स्त्री०। सौम्या-प्रशस्ता या लक्ष्मी। प्रशस्तायां लक्ष्म्याम्, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सोमलेस्स-सोमलेश्य-त्रि० । अनुपतापकारिपरिणामे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सोमवदण-सोमवदन-त्रि० । सोमं-सश्रीकं वदनं येषां ते सोमवदनाः । सश्रीकास्ये, जं० २ वक्ष० ।

सोमवसु-सोमवसु-पुं० । कौशाम्बीनगरीवास्तव्ये जन्मदरिद्रे विप्रे, ध० र० ।

तत्कथा चैवम्—

"कोसंबी अत्थि पुरी, पभूयपव्वा सुउच्चुलट्ठि व्व ।
आजम्म अइदरिद्दो, सोमवसू तत्थ वरविप्पो ॥१॥
ज ज करेइ कम्म, तं त सयलं पि होइ से विहलं ।
ता उव्विग्गो धणिय, जाओ धम्मुम्मुहो किंचि ॥२॥
सो धम्मसत्थपाढेण धम्मसालाइ अन्नदियहम्मि ।
सिस्साण कहिज्जंतं, धम्मफलं इय निसामेइ ॥३॥

गिरिसिहरतुरगा दंतिणो भूरिदाणा,
जियजलहितरंगा वाउवेगा तुरगा ।
रहवरभडकोडीलच्छिविच्छड्डसारा,
नगरनिगममाई हुंति धम्मा जियाणं ॥ ४ ॥
अमरनियरपुज्जं वासवत्तं पवित्तं,
सयलभरहरज्जं भूरिभोगेहि सज्जं ।
हलहरनिवहत्तं ज इह केसवत्तं,
कयभुवणचमक्कं धम्मलीलाइयं त ॥ ५ ॥
रहसवसनमंतुद्दाम देविंदविंद—
पणयमसमसुक्खं जं च तित्थाहिवत्तं ।
अवरमवि पसत्थं पाणिणो जं लहंते,
तमिह फलयसेसं धम्मकप्पद्दुमस्स ॥ ६ ॥
तं सोउं जंपइ दिओ, सव्वमिणं किंतु कहसु पसिऊण ।
कस्स सयासे एसो, धम्मो मे गिण्हियव्वु त्ति ॥ ७ ॥
सो पडिभणेइ मिट्ठं, भुंजेयव्वं सुहं च सोयव्वं ।
लोयप्पिओ य अप्पा, कायव्वो इय पए तिन्नि ॥८॥
जो सम्म अवबुज्झइ, अणुचिट्ठइ तस्स पायमूलम्मि ।
गिण्हिज्ज तुम धम्म, भद्दपयं भद्द ! लहु लहिसि ॥९॥
को पुण एसि अत्थु, त्ति पुच्छिओ कहइ धम्मपाढी वि ।
भो भद्द ! विमलमइणो, परमत्थं एस बुज्झंति ॥१०॥
अह सुद्धधम्महेउं, दंसणिणो बहुविहे वि पुच्छंतो ।
एगम्मि सन्निवेसे, समागओ भिक्खवेलाए ॥११॥
ओयरिओ मढियाए, एगस्स व्वत्तलिंगधारिस्स ।
होसु अतिहि त्ति त ठवि-य अप्पणा सो गओ भिक्खं॥१२॥
गहिउं खणेण भिक्खं, सो पत्तो तो दुवे वि ते भुत्त।।
समयंमि धम्मतत्त, दिएण पुट्ठो कहइ लिंगी ॥१३॥
भद्द ! इह सोमगुरुणो, अम्हे जससुजसनामया सीसा ।
उवइट्ठं णे तत्तं, मिट्ठं भुत्तव्वमिच्चाइ ॥ १४ ॥
नय अत्थो परिकहिओ, अचिरेण गओ गुरू य परलोयं ।
तो हं नियबुद्धीए, इय आराहेमि गुरुवयणं ॥१५॥
मंतोसहमाईहिं, विहिओ मे लोगवल्लहो अप्पा ।
पावेमि मिट्ठमन्नं, इह मढियाए सुवेमि सुहं ॥१६॥
अह चिंतइ सोवमसू, अहो इमो गुरुवइट्ठतत्तस्स ।
समइवयइ जं गुरुणो, भिप्पाओ समवइ नेवं ॥१७॥

तथाहि—

मंतोसहिपमुहेहिं, जायइ जीवाण घायणं नूणं ।
तो लोगपिओ अप्पा, कह परमत्थेण इह होइ ॥ १८ ॥
पाएण मिट्ठमन्नं, जणेइ जीवाण गाढरसगिद्धिं ।
तत्तो भवपरिवुड्ढी, ता परमत्थेण कडुयमिणं ॥ १९ ॥
हिमधामधामनिम्मल-सीलाण रिसीणँ विजियकरणाणं ।
एगंतवासवद्धा, नणु सुहसिज्जा वि पडिसिद्धा ॥ २० ॥

तथा चोक्तम्—

सुखशय्यासनं वस्त्रं, ताम्बूलं स्नानमण्डनम् ।
दन्तकाष्ठं सुगन्धं च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणम् ॥ २१ ॥
इय चिंतिऊण तेण, पुट्ठो लिंगी कहेसु भद्द ! तुहं ।
गुरुभाया कत्थ स आह, अमुगगामम्मि निवसेइ ॥ २२ ॥
बीयदिणे सोमवसू, तत्थेव गओ ठिओ य सुजसमढे ।
भुत्ता दुवे वि गेहे, इक्कस्स महिड्ढिसिट्ठस्स ॥ २३ ॥
पुट्ठो य तेण तत्त, सुजसो कहिऊण पुव्ववुत्तंतं ।
भणइ इगंतर मह यं, जिमेमि मह होइ तो मिट्ठं ॥ २४ ॥
झाणज्झयणपसत्तो, जत्थ व तत्थ व सुहं सुवामि त्ति ।
लोयप्पिओ निरीहु, त्ति एव पकरेमि गुरुवयणं ॥ २५ ॥
तं सुणिय दिओ चिंतेइ, चारुतरो एस किंतु गुरुवयणं ।
अइगंभीरं को नणु, जाणइ गुरुयाणऽभिप्पायं ॥ २६ ॥
कहवि वज्जइ इमीए, सुद्धं अत्थं अहं मुणिस्सामि ।
इय चिंतासत्तत्तो, सपत्तो पाडलिपुरम्मि ॥ २७ ॥
सत्थपरमत्थवित्था—र वेइणो जइण समयकुसलस्स ।
विबुहस्स तिलोयण ना-मगस्स गिहमेस संपत्तो ॥ २८ ॥
पविसंतो य निरुद्धो, जा अणवसरु त्ति दारवालेणं ।
पतवणकुसुमहत्थो, ता एगो किंकरो पत्तो ॥ २९ ॥
मग्गिज्जंतो वि अदा-उ दलवणमाइ सो गओ मज्झे ।
निस्सरिय खणेण अम-ग्गिओ वि त दाउमारद्धो ॥ ३० ॥
एस न दिंतो पुव्विं, किंमिण्हि देइ त्ति सोमवसुपुट्ठो ।
पभणइ वित्ती पढमं, पहुणो दिन्ने हवइ भत्ती ॥ ३१ ॥
इहराऽवण्णा तस्स उ, उद्धरियं सेसयाण संसे व ।
इत्तो व दोहि पुरिसेहिं, मग्गिय तत्थ आयमणं ॥ ३२ ॥
एगाए तरुणीए, दिन्नं तं वालुगाइ एगस्स ।
बीयस्स दीहदंडग, उन्नकेणं दिएण तओ ॥ ३३ ॥
पुट्ठो भणइ दुवारी, भो भद्द ! इमीएँ पढमओ भत्ता ।
बीओ उण परपुरिसो, ता एवं चेव उचियं ति ॥ ३४ ॥
इत्थंतरम्मि बहुभ—ट्ट चट्टपयडिज्जमाणमहविहवा ।
वरसिवियं आरूढा, तत्थेगा आगया तरुणी ॥ ३५ ॥
का एसा किं एवं, समेइ इय पुच्छिए पुणो तेणं ।
दोवारिएण भणियं, पंडियधूया इमा भद्द ! ॥ ३६ ॥
रायउलम्मि समस्सा-पयपूरणपत्तगरुयसम्माणा ।
सगिहं समेइ एवं, सरस्सई नाम विक्खाया ॥ ३७ ॥
कह पूरियं इमीए, पयं ति दियपुच्छिओ भणइ वित्ती ।
"तेन शुद्धेन शुध्यति"
अवलंबियं पयमिमं, रन्ना इय पूरियमिमीए ॥ ३८ ॥

तद्यथा—

यत्सर्वव्यापकं चित्तं, मलिनं दोषरेणुभिः
सद्विवेकाम्बुसंपर्कात्, तेन शुद्धेन शुद्धयति ॥ ३९ ॥

अह सा गिह पविट्ठा, जणगेण ऽभिनंदिया तओ विप्पो ।
चिंतइ इमस्स सयलो, परिवारो वि हु अहो विबुहो ॥४०॥
लद्धावसरो य गओ, पणओ य तिलोयणस्स पयकमलं ।
विन्नवइ विबुहपुंगव !, वयगहणं काउमिच्छामि ॥ ४१ ॥
ता पसिय साहसु गुरु, कस्स सयासम्मि इह गहेमि वयं ।
सो आह जो पयतिथं, मिट्ठं भुत्तव्वमिच्छाइ ॥ ४२ ॥
वक्खाणइ तह पालइ, तस्स सयासे गहेसु तुं दिक्खं ।
तो जपइ सोमवसू, को पुण एयासि परमत्थो ॥ ४३ ॥
भणइ बुहो वि महायस !, अकयमकारियमकप्पियं सुद्धं ।
महुयरवित्तीलद्धं, रागद्दोसेहि परिमुक्कं ॥ ४४ ॥
मणिमंतमूलओसह-पओगपरिवज्जिय च आहारं ।
जो भुंजइ सो इहयं, परमत्थेण जिमइ मिट्ठं ॥ ४५ ॥
ज सुद्ध आहारं, भुजंतो न खलु वधए कम्म ।
कडुयविवाग तेण, परिणमिह बुच्चए मिट्ठं ॥ ४६ ॥
एयव्विवरीयं पुण, भुजंतो हिंसगु त्ति वधइ ।
असुहविवागं कम्म, तेण अमिट्ठं जओ भणियं ॥ ४७ ॥
अजय भुंजमाणो उ, पाणभूयाइ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं होइ कडुयं फल ॥ ४८ ॥
जो सयलआहिमुक्को, सज्झायज्झाणसंजमुज्जुत्तो ।
गुरुणुन्नाए विहिणा, निसि सुवइ सुहेण सो सुवइ ॥ ४९ ॥
धणधन्नसुवन्नसुहिर-न्न रयण चउचरणपमुहदविणम्मि ।
जो निच्चनिप्पिवासो, लोयपिओ होइ सो चेव ॥ ५० ॥

यत.—

विश्वस्याऽपि स वल्लभो गुणगणस्तं संश्रयत्यन्वह ,
तेनेयं समलङ्कृता वसुमती तस्मै नम सततम् ।
तस्माद् धन्यम. समस्ति न परस्तस्यानुगा कामधुक् ,
तस्मिन्नाश्रयता यशांसि दधते सतोषभाक् य सदा ॥ ५१ ॥
एय निसामिऊण, तिलोयणं पइभणेइ सोमवसू ।
परमत्थवत्थुपयडण-निउणस्स नमो इवउ तुज्झ ॥ ५२ ॥
बभणइ बुहो वि भो भद्द ! , तं सिद्धं नो सुलक्खणो त सि ।
अवितहधम्मवियारं, जो एवं नियसि मज्झत्थो ॥ ५३ ॥
अह पुच्छिऊण विबुहं, तग्गेहाओ विणिग्गओ एस ।
अइसुद्धधम्मगुरुला-भलालसो नालसो जाव ॥ ५४ ॥
पुव्वुत्तजुत्तिजुत्त, आहारं फासुय गवेसंते ।
जुगमित्तनिहियनयणे, जिणमयसमणे नियइ ताव ॥ ५५ ॥
तो चिंतइ सो हिट्ठो, मज्झ पुण्णा मणोरहा सव्वे ।
कप्पतरु व्व सुगुरुपाय- संगया ज इमे दिट्ठा ॥ ५६ ॥
तेसिं पिट्ठीइ गओ, आरामे वदिउं सुघोसगुरु ।
पुट्ठो पयतिगअत्थो, कहिओ सूरीहि वि तहेव ॥ ५७ ॥
माओ पमहपयत्थो, मुणिजणआहारगहणओ चेव ।
सेसपयजाणणत्थ, तत्थेव ठिओ य सो रत्तिं ॥ ५८ ॥
आवस्सयाइ काउ, भणिउं पोरिसिमणुन्नविय सूरिं ।
आगमविहिणा सुत्ता मुणिणो गुरुणो पुणुट्ठिता ॥ ५९ ॥
उवउत्ता वेसमण-ज्झयण परियट्टिउ लहु पयट्टा ।
चलियासणो कुवेरो, समागओ तत्थ तव्वेल ॥ ६० ॥
त निसुणइ एगग्गा, झाणसमितीइ नमियगुरुचरणे ।
जंपइ वरंसु वर, भणइ गुरू धम्मलाहो ते ॥ ६१ ॥
सो अइहरिसियहियओ, भासुरविप्पतकनरूवधरो ।
नमिऊण गुरुपाए, पत्तो धणओ सय ठाण ॥६२॥
तं दट्ठु पहिट्ठमणो, सोमवसू लद्धसुद्धधम्मवसू ।
चिंतइ अहो भयवओ, तिजयपमिद्धं निरीहत्त ॥६३॥
साहियनियवुत्तंतो, दिक्खं गिण्हइ सुघोसगुरुपासे ।
मज्झत्थसोमदिट्ठी, कमेण जाओ सुगइभागी ॥६४॥

> इत्येवमुच्चैस्तरबोधिलाभो,
> मुख्य फल सोमवसोर्विशिष्टम् ।
> माध्यस्थ्यभाज परिभाव्य भव्या',
> भव्येन भावेन तदेव धत्त ॥६५ ॥

(इति सोमवसुकथा समाप्ता) ध० र० १ अधि० १२ गुण ।

सोमविजय–सोमविजय–पु० । हीरविजयसूरीणा प्रथमशिष्ये, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

सोमसिरि–सोमश्री–स्त्री० । द्वारवतीनगरीवास्तव्यस्य सोमलस्य भार्यायाम् , अन्त० १ श्रु०३ वर्ग८अ०।आ० चू० । दर्श० ।

सोमसुन्दर–सोमसुन्दर–पु० । तपागच्छे स्वनामख्याते देवसुन्दरसूरीणा शिष्ये , ग० ३ अधि० । अयमाचार्य विक्रम १४३० सवत्सरे जात १४९९ स्वर्गत । प्रथमप्रकीर्णक प्रत्याख्यानभाष्ये चानेन टीका रचिता, योगशास्त्रोपदेशमालापडावश्यकनवतत्त्वादिष्वनेन टीका रचिता । जै० इ० ।

सोमहिंद–देशी–उदरे , दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा ।

सोमा–सोमा–(सौम्या–स्त्री० । सोमदेवतादिक् सोमा सौम्या वा।भ०१०श० १ उ० । उत्तरदिशि , स्था० ३ ठा० २ उ० । आ० म० । सोमस्य लोकपालस्याग्रमहिष्याम् ,भ० १० श० ५ उ० । सोमलोकपालस्य राजधान्याम् , भ० ।

संझप्पभस्स णं महाविमाणस्स अहे सपक्खिं सपडिदिसिं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नामं रायहाणी पण्णत्ता । एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं जंबुद्दीवप्पमाणा वेमाणियाणं पमाणस्स अद्धं नेयव्वं जाव उवरियलेणं सोलसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पण्णासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते । पासायाणं चत्तारि परिवाडीओ नेयव्वाओ सेसा नत्थि । भ० ३ श० ७ उ० । दो सोमा । स्था०२ ठा० ३ उ० ।

द्वारवतीवास्तव्यस्य सोमिलस्य ब्राह्मणस्य सुतायाम् , अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० । आ० चू० । बहुपुत्रिकाजीवरूपायां वेभेलसन्निवेशवासिन्या स्वनामख्यातायां ब्राह्मण्याम् , नि० । ग० । (' बहुपुत्तिया ' शब्दे कथा ।) सोमप्रभशैलस्य पौरस्त्यदिक्कस्थायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , द्वी० । सप्तमतीर्थकरस्य प्रथमप्रवर्त्तिन्याम् , स० । प्रव० । वीरजिनसमकालिकायां पार्श्वनाथस्वामितीर्थ्यसाध्व्याम् , आ० म० १ अ० ।

सोमागार--सौम्याकार--त्रि० । सुन्दराकृतौ, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । अरौद्रदर्शने, औ० । रा० । ज्ञा० ।

सोमाण--देशी-श्मशाने, दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा ।

सोमाल--सुकुमार--त्रि० । "हरिद्रादौ लः" ८।१।२५४। इत्यसंयुक्तस्य रस्य ल । सोमाल । प्रा० । "न वा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ--चतुर्दश-चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलोलूखले" ॥ ८।१।१७१ ॥ इत्यादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह वैकल्पिक ओत् । सोमालं । कोमले, प्रा० १ पाद ।

सोमिल--सोमिल--पुं० । द्वारवत्या नगर्यां गजसुकुमारकुमारमारके स्वनामख्याते ब्राह्मणे, आ० चू० १ अ० । अन्त०। दर्श० । आ० क० । आ० म० । ('गजसुकुमार' शब्दे तृतीयभागेऽस्य कथा ।) कुण्डग्रामे नगरे कोडालगोत्रब्राह्मणः सोमिलाभिधानोऽस्ति, तस्य भार्यायामुत्पन्न इति प्रियमित्रप्राग्भवकथा । आ० म० १ अ० । वाराणसी वास्तव्ये पार्श्वनाथस्वामिशिष्ये, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । (यो मृत्वा शुक्रविमाने शुक्रो नाम महाग्रहो जातः ' सुक्क ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे तत्कथा ।) अपापावास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे,यस्य यज्ञे समायाता इन्द्रभूत्यादयो वीरजिनान्तिके प्रव्रजिताः । आ० म० १ अ० । कल्प० । उज्जयिनीवास्तव्येऽन्धब्राह्मणे, "उज्जेणी नाम नगरी तत्थ सोमिलो नाम बंभणो परिवसइ, सो य अन्धलीभूओ । तस्स य अट्ठ पुत्ता तेसिं अट्ठ भज्जाओ सा पुत्तेहिं भण्णति अच्छीए किरिया कीरउ,सो पडिभणति तुब्भ अट्ठण्ह पुत्ताण सोलस अच्छीणि सुण्हाण वि सोलस बंभणीए दोन्नि । एते चउतीसं अन्नस्स य परियणस्स जाणि अच्छीणि ताणि सव्वाणि मम । एते चेव पभूया । अन्नया घर पलित्तं तत्थ तेहिं अप्पदत्तेहिं सो न य नीणिओ तत्थेव रडंतो दड्ढो ।" बृ० १ उ० २ प्रक० । वाणियग्रामवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नामं नगरे होत्था, वन्नओ, दूतिपलासए चेतिए वन्नओ, तत्थ णं वाणियगामे नगरे सोमिले नामं माहणे परिवसति अड्ढे० जाव अपरिभूए रिउव्वेद०जाव सुपरिनिट्ठिए । पंचण्हं खंडियसयाणं सयस्स कुडुंबस्स आहेवच्चं० जाव विहरति, तए णं समणे भगवं महावीरे०जाव समोसढे०जाव परिसा पज्जुवासति । तए णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स अयमेयारूवे ०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु समणे णायपुत्ते पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं० जाव इहमागए० जाव दूतिपलासए चेइए अहापडिरूवं० जाव विहरइ । तं गच्छामि णं समणस्स नायपुत्तस्स अंतियं पाउब्भवामि इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं ०जाव वागरणाइं पुच्छिस्सामि, तं जइ इमे से इमाइं एयारूवाइं अट्ठाइं०जाव वागरणाइं वागरेहिति । ततो णं वंदीहामि नमंसीहामि०जाव पज्जुवासीहामि, अहमेयं से इमाइं अट्ठाइं० जाव वागरणाइं नो वागरेहिति तो णं एएहि चेव अट्ठेहिं य ०जाव वागरणेहि य निप्पट्ठपसिणवागरणं करेस्सामीति कट्टु एवं संपेहेइ २ हित्ता ण्हाए ०जाव सरीर साओ गिहाओ पडिनिक्खमति २ मित्ता पायविहारचारेणं एगेणं खंडियसएणं सद्धिं संपरिवुडे वाणियगामं नगरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ २ च्छित्ता जेणेव दूतिपलासए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भग०३ अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-जत्ता ते भंते ! जवणिज्जं० अव्वाबाह० फासुयविहारं०?, सोमिला ! जत्तावि मे जवणिज्जं पि मे अव्वाबाहं पि मे फासुयविहारं पि मे,(भ०)किं ते भंते ! जवणिज्जं?, सोमिला ! जवणिज्जे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा-इंदियजवणिज्जे य, नोइंदियजवणिज्जे य । से किं तं-इंदियजवणिज्जे ?, २ जं मे सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति, सेत्तं इंदियजवणिज्जे । से किं तं नोइंदियजवणिज्जे ?, २ जं मे कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना नो उदीरेंति । सेत्तं नोइंदियजवणिज्जे । सेत्तं जवणिज्जे । (भ०)किं ते भंते ! फासुयविहारं ?, सोमिला ! जन्नं आरामेसु उज्जाणेसु देवकुलेसु सभासु पवासु इत्थीपसुपंडगविवज्जियासु वसहीसु फासुएसणिज्जं पीढफलगसेज्जासंथारगं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । सेत्तं फासुयविहारं। सरिसवा ते भंते! किं भक्खेया अभक्खेया?,सोमिला ! सरिसवा भक्खेया वि, अभक्खेया वि । से केणट्ठे० सरिसवा मे भक्खेया वि, अभक्खेया वि?,से नूणं ते सोमिला ! बंभन्नएसु नएसु दुविहा सरिसवा पन्नत्ता,तं जहा-मित्तसरिसवा य, धन्नसरिसवा य।तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवा ते तिविहा पं०,तं०-सहजायया सहवड्ढियया सहपंसुकीलियया । ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया , तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवा ते दुविहा प०, तं०-सत्थपरिणया य, असत्थपरिणया य । तत्थ णं जे ते असत्थपरिणया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे से सत्थपरिणया ते दुविहा पं०, तं०, एसणिज्जा य, अणेसणिज्जा य । तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा प० तं०-जाइया य, अजाइया य । तत्थ णं जे ते अजाइया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया, तत्थ णं जे ते जातिया ते दुविहा प० तं०-लद्धा य, अलद्धा य । तत्थ णं जे ते अलद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया, तत्थ णं जे ते लद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं भक्खेया । से तेणट्ठेणं सोमिला ! एवं वुच्चइ०जाव अभक्खेयावि । (भ०)कुलत्था ते भंते ! किं

भक्खेया अभक्खेया ?, सोमिला ! कुलत्था भक्खेया वि अभक्खेया वि, से केणट्ठेणं० जाव अभक्खेया वि ?, से नूणं सोमिला ! ते बंभन्नएसु नएसु दुविहा कुलत्था पं० तं० इत्थिकुलत्था य, धन्नकुलत्था य, तत्थ णं जे ते इत्थिकुलत्था ते तिविहा पं०, तंजहा-कुलकन्नयाइ वा कुलवहूयाति वा कुलमाउयाइ वा, ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते धन्नकुलत्था एवं जहा धन्नसरिसवा से तेणट्ठेणं०जाव अभक्खेया वि । (सू०६४६+)

'ते ण' मित्यादि, 'इमाइं च णं' ति इमानि च वक्ष्यमाणानि यात्रायापनीयादीनि 'जत्त' त्ति यात्रा यात्रा—संयमयोगेषु प्रवृत्ति 'जवणिज्ज' ति यापनीयं—मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्मः 'अव्वाबाहं' ति शरीरबाधानामभावः 'फासुयविहारं ति' प्रासुकविहारो—निर्जीव आश्रय इति, 'तवनियमसंजमसज्झायझाणावस्सयमाइएसु' त्ति इह तपः—अनशनादि नियमाः—तद्विषया अभिग्रहविशेषाः यथा एतावत्तपः स्वाध्यायवैयावृत्त्यादि मया ऽवश्यं रात्रिन्दिवादौ विधेयमित्यादिरूपाः संयमः—प्रत्युपेक्षणादिः स्वाध्यायो-धर्मकथादि ध्यान-धर्म्मादि आवश्यक-षड्विधम्, एतेषु च यद्यपि भगवतः किञ्चिन्न तदानीं विशेषतः सम्भवति तथाऽपि तत्फलसद्भावात्तदस्तीत्यवगन्तव्यम्, 'जयणा' त्ति प्रवृत्ति 'इंदियजवणिज्ज' ति इन्द्रियविषयं यापनीयं—वश्यत्वमिन्द्रिययापनीयम्, एवं नोइन्द्रिययापनीयं, नवरं नोशब्दस्य मिश्रवचनत्वादिन्द्रियैर्मिश्राः सहार्थत्वाद्वा इन्द्रियाणां सहचरिता नोइन्द्रियाः—कषायाः, एषां च यात्रादिपदानां सामयिकगम्भीरार्थत्वेन भगवतस्तदर्थपरिज्ञानमसम्भावयता तेनापभ्राजनार्थं प्रश्नः कृत इति । 'सरिसव' त्ति एकत्र प्राकृतशैल्या सदृशवयसः—समानवयसः अन्यत्र सर्षपाः -सिद्धार्थकाः, (द्रव्यमाषवक्तव्यता कालमासवक्तव्यता च 'मास' शब्दे पञ्चमभागे गता ।)' कुलत्थ ' त्ति एकत्र कुले तिष्ठन्तीति कुलस्थाः- कुलाङ्गनाः, अन्यत्र कुलत्थाः धान्यविशेषाः सरिसवादिपदप्रश्नश्च छलग्रहणेनोपहासार्थं कृत इति ।

अथ च-सूरिं विमुच्य भगवतो वस्तुतत्त्वज्ञानजिज्ञासयाऽऽह—

एगे भवं दुवे भवं अक्खए भवं अव्वए भवं अवट्ठिए भवं अणेगभूयभावभविए भवं ?, सोमिला ! एगे वि अहं० जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव भविए वि अहं ?, सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं से तेणट्ठेणं ०जाव भविए वि अहं । एत्थ णं से सोमिले माहणे संबुद्धे समणं भगवं महावीरं जहा खंदओ० जाव से जहेयं तुब्भे वदह जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर० एवं जहा रायप्पसेणइज्जे चित्तो० जाव दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जति पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदति० जाव पडिगए । तए णं से सोमिले माहणे समणोवासए जाए अभिगयजीवा०जाव विहरइ भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति वंदित्ता नमंसति २ त्ता एवं व० पभू णं भंते ! सोमिले माहणे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता जहेव संखे तहेव निरवसेसं० जाव अंतं काहिति । सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति ०जाव विहरति । (सू० ६४७)

'एगे भवं' मित्यादि, एको भवानित्येकत्वाभ्युपगमे भगवताऽऽत्मनः कृते श्रोत्रादिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकतोपलब्धित एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगः सोमिलभट्टेन कृतः, द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः, 'अक्खए भवं' मित्यादिना च पदत्रयेण नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः, 'अणेगभूयभावभविए भवं' ति अनेके भूताः—अतीता भावाः—सत्तापरिणामा भव्याश्च—भाविनो यस्य स तथा, अनेन चातीतभविष्यत्सत्ताप्रश्नेनानित्यतापक्षः पर्यनुयुक्तः, एकतरपरिग्रहे तस्यैव दूषणायेति, तत्र च भगवता स्याद्वादस्य निखिलदोषगोचरातिक्रान्तत्वात्समवलम्ब्योत्तरमदायि—'एगेवि अहं' मित्यादि, कथमित्येतत्? इत्यत आह—'दव्वट्ठयाए एगोऽहं' ति जीवद्रव्यस्यैकत्वेनैकोऽहं न तु प्रदेशार्थतया । तथा हि अनेकत्वान्ममेत्यवयवादीनामनेकत्वोपलम्भो न बाधकः, तथा कञ्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्वसङ्ख्याविशिष्टस्यापि पदार्थस्य स्वभावान्तरद्वयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्तम्—' नाणदंसणट्ठयाए दुवे वि अहं' ति, न चैकस्य स्वभावभेदो न दृश्यते, एको हि देवदत्तादिः पुरुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृत्वभ्रातृव्यत्वादीननेकान् स्वभावाँल्लभत इति, तथा प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयप्रदेशतामाश्रित्याक्षतोऽप्यहं सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात्, तथाऽव्ययोऽप्यहं कतिपयानामपि च व्ययाभावात्, किमुक्तं भवति ?—अवस्थितोऽप्यहं—नित्योऽप्यहम्, असंख्येयप्रदेशिता हि न कदाचनापि व्यपैति अतो नित्यताऽभ्युपगमेऽपि न दोषः, तथा 'उवओगट्ठयाए' त्ति विविधविषयानुपयोगानाश्रित्यानेकभूतभावभविकोऽप्यहम्, अतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधानामात्मनः कथञ्चिदभिन्नानां भूतत्वाद् भावित्वाच्चेत्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायेति । 'एवं जहा रायप्पसेणइज्जे' इत्यादि, अनेन च यत्सूचितं तस्यार्थलेशो दर्श्यते—यथा देवानाप्रियाणामन्तिके बहवो राजेश्वरतलवरादयस्त्यक्त्वा हिरण्यसुवर्णादि मुण्डा भूत्वाऽगारादनगारितां प्रव्रजन्ति, न खलु तथा शक्नोमि प्रव्रजितुमितीच्छाम्यहमणुव्रतादिकं गृहिधर्मं भगवदन्तिके प्रतिपत्तुम् । ततो भगवानाह—यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धोऽस्तु, ततस्तमसौ प्रत्यपद्यत इति । भ० १८ श० १० उ० ।

सोमिलुद्देश-सोमिलोद्देश-पुं० । सोमिलब्राह्मणवक्तव्यताप्र-

तिपादके भगवत्या अष्टादशशतस्य दशमोद्देशके , भ० २५ श० ७ उ० ।

सोम्म-सौम्य--त्रि० । सर्वजननयनमनोरमणीयगुणशतकलिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नीरोगे, औ० । शान्तदृष्टितया प्रीत्युत्पादके,ग० १ अधि० । दर्शनमात्रादेवाह्लादके , दर्श० ४ तत्त्व । उपशान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सुखदर्शने , ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । अरौद्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शीतले , विशे० । औ० । ओघ० ।

सोम्मया--सौम्यता--स्त्री० । अक्रूराकारे, क्रूरो हि लोकस्योद्वेगकारणं सौम्यश्च सर्वजनसुखाराध्यो भवति । ध० १ अधि० ।

सोम्मवयण--सौम्यवदन--त्रि० । सौम्य--सुन्दरं वदन--मुखं यस्य स तथा । सुन्दरास्ये , प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सोय--शौच--न० । शुचेर्भावः शौचम् । शुद्धौ , स्था० ।

पंचविहे सोए पण्णत्ते, तं जहा-पुढविसोए आउसोए तेउसोए मंतसोए बंभसोए । (सू० ४४६)

'पञ्चविहे' त्यादि व्यक्तं, नवरं शुचेर्भावः शौचः शुद्धिरित्यर्थः, तच्च द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्राद्यं चतुष्टयं द्रव्यशौचं , पञ्चमं तु भावशौचम् , तत्र पृथिव्या-मृत्तिकया शौचं-जुगुप्सितमलगन्धयोरपनयनं शरीरादिभ्यो घर्षणोपलेपनादिनेति पृथिवीशौचम् , इह च पृथिवी शौचाभिधानेऽपि यत्परैस्तल्लक्षणमभिधीयते, यदुत-"एका लिङ्गे गुदे तिस्र-स्तथैकत्र करे दश । उभयो सप्त विज्ञेया,मृदः शुद्धौ मनीषिभिः ॥१॥ एतच्छौचं गृहस्थानां,द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं वानप्रस्थानां यतीनां च चतुर्गुणम्॥२॥" इति,तदिह नाभिमतं,गन्धाद्युपघातमात्रस्य शौचत्वेन विवक्षितत्वात् , तस्यैव च युक्तियुक्तत्वात् इति १,तथा अद्भिः शौचमप्शौचं, प्रक्षालनमित्यर्थः-२,तेजसाऽग्निना तद्विकारेण वा भस्मना शौचं तेज शौचम् ३, एव मन्त्रशौचं शुचिविद्यया ४ ब्रह्म-ब्रह्मचर्यादिकुशलानुष्ठानं तदेव शौचं ब्रह्मशौचम् ५ , अनेन च सत्यादिशौचं चतुर्विधमपि संगृहीतं, तच्चेदम्-"सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रह । सर्वभूतदया शौचं, जलशौचञ्च पञ्चमम् ॥१॥" स्था० ५ ठा० ३ उ० । ('सुइ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे उदाहरणानि ।) "सोयमूले धम्मे पण्णत्ते" परिव्राजकाना शौचमूलो धर्मः । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । (अयं 'थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यातः ।) तृतीये महाव्रते , स्था० ६ ठा० ३ उ० । (शौचफलं 'तारा ' शब्दे चतुर्थभागे गतम् ।) (शौचं कृत्वैव जिनपूजा कर्त्तव्येति 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२७७ पृष्ठे गतम् ।) शरीरसंस्कारे । तं० । संयमनिरुपलेपताया निरतिचारतायाम् , ध० ३ अधि० । आव० । शौचं भावतो निरुपलेपता अचौर्यमिति सद्भावसारतायाम् , षृ०१ उ०२ प्रक०। पञ्चा० । मर्यादाधिशुचित्वं समताव्रतधारणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

श्रोत्र--न० । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम् । कर्णे, विशे० । उत्त० । न० । शृणोति भाषापरिणतान्पुद्गलानिति श्रोत्रम् । कदम्बपुष्पाकारे शब्दग्राहके इन्द्रिये, स्था० २६ द्वा० । आचा० । शृणोति भाषापरिणतान्पुद्गलानिति श्रोत्रम् । आचा० । तच्च कदम्बपुष्पाकारं द्रव्यतो भावतो भाषाद्रव्यग्रहणलब्ध्युपयोगस्वभावमिति, तेन श्रोत्रेण परि.--समन्ताद्घटपटशब्दादिविषयाणि ज्ञानानि परिज्ञानानि तैः श्रोत्रपरिज्ञानैर्जराप्रभावात्परिहीयमानैः संक्लिष्टस्तनोऽसौ प्राणी एकदा वृद्धावस्थायां रोगोदयावसरे वा मूढभावं--मूढतां कर्त्तव्याकर्त्तव्याज्ञतामिन्द्रियपाटवाभावादात्मनो जनयति; हिताहितप्राप्तिपरिहारविवेकशून्यतामापद्यत इत्यर्थः, 'जनयन्तीति' चैकवचनावसरे "तिङा तिङो भवन्ती" ति बहुवचनमकारि । अथवा--तानि वा श्रोत्रविज्ञानानि परिहीयमाणान्यात्मनः सदसद्विवेकविकलतामापादयन्तीति श्रोतादिविज्ञानानां च, तृतीया प्रथमार्थे सुब्व्यत्ययेन द्रष्टव्येति, एवं चक्षुरादिविज्ञानेष्वपि योज्यम् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

स्रोतस्--न० । प्रवाहे,स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० । जलावतरणद्वारे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायात्मके कर्माश्रवद्वारे,सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । पापोपादान, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । भावश्रोतः शब्दादिकामगुणविषयाभिलाष । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

उड्ढं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया ।
एते सोया वियक्खाता, जेहिं संगंति पासहा ॥१॥

आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । (व्याख्या ' लोगसार ' शब्दे षष्ठे भागे उक्ता ।) द्विविधानि श्रोतांसि द्रव्यश्रोतांसि स्वविषये इन्द्रियप्रवृत्तयः, भावश्रोतांसि तु शब्दादिष्वेव अनुकूलप्रतिकूलेषु रागद्वेषोद्भवः मानसविकारः । सूत्र० १श्रु० १६ अ०।भावश्रोत संसारपर्यटनस्वभावम् । सूत्र० १श्रु० ११ अ० । वेगे, ज्ञा०१श्रु०८अ० । आचा० । इन्द्रिये, आ० म०१ अ० । छिद्रे,औ० । स्था० । नासामुखादिरन्ध्रे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

शोक-पुं० । इष्टानिष्टवियोगसंप्रयोगकृते मानसं दुःखे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । ईप्सितस्यार्थस्याप्राप्तौ तद्वियोगे च स्मृत्यनुबन्धे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

सोयकारि(ण्)-श्रोत्रकारिन्-पुं० । यथोपदेशकारिणि, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

सोयगय-स्रोतोगत--त्रि० । नद्यादिप्रवाहपतिते, दश० ६ अ० २ उ० ।

सोयणया-शोचनता-स्त्री० । दीनतायाम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । आ० चू० ।

सोयणवत्तिया-स्वप्नप्रत्यया-स्त्री० । स्वप्ननिमित्तविराधनायाम् , आव० ४ अ० ।

सोयतत्त-शोकतप्त--त्रि० । शोकचिंतते,सूत्र०१श्रु०५ अ०२उ० ।

सोयमय-शौचमद-पुं० । स्नानचन्दनादिना पवित्रत्वविधेये पवित्रत्वाङ्गीकारे,शौचेन वस्त्रचन्दनाभरणादिना मदो यत्र स तथा । शौचजमदोपेते, तं० ।

सोयमादि-शौचादि-त्रि० । शौचमाचमनं तदादिर्येषाम् । आचमनप्रभृतिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सोयर-सोदर-पुं० । भ्रातरि,सूत्र०१ श्रु०३ अ० २ उ० । अष्ट० ।

सोयरंध-स्रोतोरन्ध्र-न० । मुखे, स० ३० सम० ।

सोयरिय-शौकरिय-त्रि०। शूकरेण शूकरवधार्थं चरन्ति शूकरान् वा घ्नन्तीति शौकरिका। स्था० ७ ठा० ३ उ०। प्रश्न०। सूत्र०। शूकरमृगयोपजीविषु, स्था० ४ ठा० ३ उ०। प्रश्न०। श्वपचेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सोदर्य-त्रि०। भ्रातृभगिन्यादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सोयविय- शौच-न०। भावशौचे सर्वोपाधिशुद्धतया वना-मालन्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। आचा०।

सोयामय- स्रोतोमय-त्रि०। ऐन्द्रिये विकारे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सोयामिणी--सौदामिनी--स्त्री०। विदिग्रुचकवास्तव्याया दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ६ ठा० ३ उ०। आव०। आ० म०। विद्युति, को०।

सोयावणा--शोकापना--स्त्री०। दैन्यप्रापणायाम्, भ० ३ श० ३ उ०।

सोरट्ठ--सौराष्ट्र--पुं०। द्वारवतीनगरीप्रतिबद्धे जनपदभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। ज्ञा०। अनु०। नि० चू०।

सोरट्ठिया--सौराष्ट्रिका--स्त्री०। तुवरिकायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०। दश०। सोरट्ठिया तुवरमट्टिया भण्णति। नि० चू० ४ उ०। स्थविरात् ऋषिगुप्तान्निर्गतस्य माणवगणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

सोरहपाहुडिय-षोडशप्राभृतिक-पुं०। यज्ञविशेषे, विशे०।

सोरिय-शौर्य-न०। "स्याद्भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात्" ॥८।२।१०७॥ इति संयुक्तयात् पूर्व इत्। सोरियं। शूरत्वे, प्रा० २ पाद। स्वनामख्याते यक्षे, विपा० १ श्रु० ८ अ०।

सोरियदत्त-शौर्यदत्त-पुं०। स्वनामख्याते मत्स्यबन्धपुत्रे, विपा०।

जइ णं भंते। अट्ठमस्स उक्खेवो- एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं सोरियपुरं णगरं सोरियवडेंसगं उज्जाणं सोरियो जक्खो सोरियदत्तो राया, तस्स णं सोरियपुरस्स णगरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे एत्थ णं एगे मच्छंधवाडए होत्था, तत्थ णं समुद्ददत्ते नामं मच्छंधे परिवसति अहम्मिए ०जाव दुप्पडियाणंदे, तस्स णं समुद्ददत्तस्स समुद्ददत्ता नामं भारिया होत्था अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा, तस्स णं समुद्ददत्तस्स पुत्ते समुद्ददत्ताभारियाए अत्तए सोरियदत्ते नामं दारए होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे ०जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे सीसे ०जाव सोरियपुरे णगरे उच्चनीयमज्झिमकुलाइं अहापज्जत्तं समुदाणं गहाय सोरियपुराओ नगराओ पडिनिक्खमति, तस्स मच्छंधपाडगस्स अदूरसामंतेणं वीईवयमाणे महतिमहालियाए मणुस्सपरिसाए मज्झगयं पासति एगं पुरिसं सुक्कं भुक्खं निम्मंसं अट्ठिचम्मावणद्धं किडिकिडीभूयं णीलसाडगणियत्थं मच्छकंटएणं गलए अणुलग्गेणं कट्ठाइं कलुणाइं विसराइं कूवेमाणं अभिक्खणं अभिक्खणं पूयकवले य रुहिरकवले य किमिकवले य वम्ममाणं पासति। इमे अज्झत्थिए० ४ पुरा पोराणाणं ०जाव विहरति। एवं संपेहेति जेणेव समणे भगवं ०जाव पुव्वभवपुच्छा ०जाव वागरणं, एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे णंदिपुरे नामं णगरे होत्था मित्ते राया, तस्स णं मित्तस्स रन्नो सिरीए णामं महाणसिए होत्था, अहम्मिए ०जाव दुप्पडियाणंदे। तस्स णं सिरीयस्स महाणसियस्स बहवे मच्छिया य वागुरिया य साउणिया य दिन्नभति० कल्लाकल्लं बहवे सण्हमच्छा य ०जाव पडागातिपडागे य अए य ०जाव महिसे य तित्तिरे य ०जाव मयूरे य जीवियाओ ववरोवेंति, सिरीयस्स महाणसियस्स उवणेंति। अन्ने य से बहवे तित्तिरा य ०जाव मयूरा य पंजरंसि संनिरुद्धा चिट्ठंति, अन्ने य बहवे पुरिसे दिन्नभति० ते बहवे तित्तिरे य ०जाव मयूरे य जीवियाओ चेव निप्पक्खेंति सिरीयस्स महाणसियस्स उवणेंति। तते णं से सिरीए महाणसिए बहूणं जलयरथलयरखहयराणं मंसाइं कप्पणीयकप्पियाइं करेंति, तं जहा-सण्हखंडियाणि य वट्टखंडियाणि० दीहखंडि० हस्सखं० हिमपक्काणि य जम्मघम्म (वेग) मारुयपक्काणि य कालाणि य हेरंगाणि य महिट्ठाणि य आमलरसियाणि य मुद्दिया रसिया० कविट्ठरसि० मच्छरसि० तलियाणि य भज्जिया णि य सोल्लियाणि य उवक्खडावेंति अन्ने य बहवे मच्छरसे य एणेज्जरसे य तित्तिररसे य ०जाव मयूररसे य अन्नं विउलं हरियसागं उवक्खडावेंति उवक्खडावेत्ता मित्तस्स रन्नो भोयणमंडवंसि भोयणवेलाए उवणेंति अप्पणा वि य णं से सिरिए महाणसिए तेसिं च बहूहिं ०जाव जलचरथलयर खहयरेहिं च रसतेहि य हरियसागेहि य सोल्लेहि य तलेहि य भिज्जेहि य सुरं च० ६ आसाएमाणे० ४ विहरति। तते णं से सिरिए महाणसिए एयकम्मे० सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता तेत्तीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उववन्नो। तते णं सा समुद्ददत्ता भारिया निंदूयावि होत्था, जाया जाया दारगा विणिहायमावज्जंति जह गंगदत्ताए चिंता आपुच्छणा उवातियं दोहला ०जाव दारयं पयाता, ०जाव जम्हा णं अम्हं इमे दारए सोरियस्स जक्खस्स उवाइयलद्धे तम्हा णं होउ अम्हं दारए सोरियदत्ते नामेणं। तए णं से सोरियदत्ते दारए पंचधाइ ०जाव उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते होत्था। तते णं से समुद्ददत्ते अन्नया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते, तते णं से सोरियदत्ते बहूहिं मित्तणाइ० रोयमाणे समुद्द-

दत्तस्स णीहरणं करेंति लोइयमयाइं किचाइं करेंति, अन्नया कयाइ सयमेव मच्छंधमहत्तरगत्तं उवसंपज्जित्ताणं विहरति । तए णं से सोरियए दारए मच्छंधे जाते अहम्मिए ०जाव दुप्पडियाणंदे । तते णं तस्स सोरियमच्छंधस्स बहवे पुरिसा दिन्नभति० कल्लाकल्लं एगट्ठियाहिं जउणामहानदिं ओगाहिंति बहूहिं दहगालणेहि य दहमलणेहि य दहमहणेहिं दहवहणेहिं दहपवहणेहि य अयपुलेहि य पंचपुलेहि य मच्छंधलेहि य मच्छपुच्छेहि य जंभाहि य तिसिराहि य भिसिराहि य धिसराहि य विसिराहि य हिल्लिरीहि य झिल्लिरीहि य जालेहि य गलेहि य कूडपासेहि य वक्कबंधणेहि य सुत्तबंधणेहि य वालबंधणेहि य बहवे सण्हमच्छे य ०जाव पडागातिपडागे य गिण्हंति एगट्ठियाओ नावा भरंति कूलं गाहंति मच्छखलए करेंति आयवंसि दलयंति, अन्ने य से बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा आयवतत्तएहिं सोलेहि य तलेहि य भज्जेहि य रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । अप्पणा वि य णं सोरियदत्ते बहूहिं सण्हमच्छेहि य ०जाव पडागा० सोलेहि य भज्जेहि य सुरं च०६ आसाएमाणे० ४ विहरति । तते णं तस्स सोरियदत्तस्स मच्छंधस्स अन्नया कयाइं ते मच्छसोल्ले तले भज्जे आहारेमाणस्स मच्छकंटए गलए लग्गे आवि होत्था । तए णं से सोरियमच्छंधे महयाए वेयणाए अभिभूते समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ वेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया ! सोरियपुरे नगरे संघाडग ०जाव पहेसु य महया२ सद्देणं उग्घोसेमाणा२ एवं वयह,एवं खलु देवाणुप्पिया ! सोरियस्स मच्छकंटए गले लग्गे तं जो णं इच्छति विज्जो वा० ६ सोरियमच्छियस्स मच्छकंटयं गलाओ नीहरित्तते तस्स णं सोरियदत्ते विउलं अत्थसंपयाणं दलयति । तते णं ते कोडुंबियपुरिसा ०जाव उग्घोसंति । तए णं ते बहवे विज्जा य० ६ इमेयारूवं उग्घोसणं उग्घोसिज्जमाणं निसामेंति २ मित्ता जेणेव सोरियदत्ते गेहे जेणेव सोरियमच्छंधे तेणेव उवागच्छंति बहूहिं उप्पत्तियाहिं० ४ बुद्धीहि य परिणममाणा वमणेहि य छड्डणेहि य उव्वीलणेहि य कवलग्गाहेहि य सल्लुद्धरणेहि य विसल्लकरणेहि य इच्छंति सोरियमच्छंधं मच्छकंटयं गलाओ नीहरित्तए, नो चेव णं संचाएंति नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा । तते णं बहवे विज्जा य० ६ जाहे नो संचाएंति सोरियस्स मच्छकंटगं गलाओ नीहरित्तए ताहे संता ०जाव जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तते णं से सोरिय० मच्छ० विज्ज० पडियारनिव्विण्णे तेणं दुक्खेणं महया अभिभूते सुक्के ०जाव विहरति । एवं खलु गोयमा ! सोरियदत्ते पुरापोराणाणं ०जाव विहरति । सोरिए णं भंते ! मच्छंधे इत्रो य कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?, गोयमा ! सत्तरि वासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए संसारो तहेव पुढवीओ हत्थिणाउरे णगरे मच्छत्ताए उववन्ने । से णं ततो मच्छिएहिं जीवियाओ ववरोविए तत्थेव सेट्ठिकुलंसि बोहिं सोहम्मे कप्पे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति । निक्खेवो ॥ (सू० २६) विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

स्वनामख्याते अध्ययने, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

सोरियपुर-शौर्यपुर-न० । कुशावर्त्तजनपदप्रधाननगरे , प्रव० २७३ द्वार । सूत्र० । उत्त० । आ० क० । विपा० । नि० चू० । आव० । ती० ।

सोलग-सोलक-पुं० । तुरगचिन्ताभियुक्ते, सू०१ उ०२ प्रक० ।

सोलस-षोडशन्-त्रि० । षडधिकदशसंख्यायाम् , प्रज्ञा० १५ पद । रा० । सूत्र० । आगमैकदेशत्वादस्य षोडशकस्यापि नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यषोडशकं ज्ञशरीरभव्यशरीरविनिर्मुक्तं सचित्तादीनि षोडश द्रव्याणि । क्षेत्रषोडशकं षोडशाकाशप्रदेशाः, कालषोडशकं षोडश समया एतत्कालावस्थायि वा द्रव्यमिति, भावषोडशकमिदमेवाध्ययनषोडशकं क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वादिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । "सोलसवीसइवासपरमाउस" इह कदाचित्षोडशवर्षाणि कदाचिञ्च विंशतिवर्षाणि परमायुर्येषां ते तथा । भ० १ श० ५ उ० ।

षोडश-त्रि० । षोडशसंख्यापूरणे, प्रज्ञा० १५ पद ।

सोलसखुत्तो-षोडशकृत्वस्-अव्य० । षोडशभेदानावृत्त्येत्यर्थे , भ० ३५ श० १ उ० ।

सोलसम-षोडश-त्रि० । षोडशसंख्यापूरणे, स्था०३ठा०४उ० ।

सोलसिया-षोडशिका-स्त्री० । मानिकाया एव षोडशभागवर्त्तित्वात् षोडशपलप्रमाणा षोडशिका । अनु० । षोडशभागमाने मानविशेषे. भ० ७ श० ८ उ० ।

सोलहविह-षोडशविध-त्रि० । षोडशप्रकारे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सोल्ल-पच्-धा० । ओदनादिरन्धने. विपा० १ श्रु० ३ अ० । "पचेः सोल्ल-पउल्लौ" ॥८।४।९०॥ इति पचेः सोल्लादेशः । सोल्लइ । पचति । प्रा० । विपा० ।

क्षिप्-धा० । प्रेरणे , "क्षिपेर्गलत्थाड्डक्खसोल्ल-पेल्ल-गोल्ल-छुह-हुल परीघत्ता " ॥८।४।१४३॥ इति क्षिपतेः सोल्लादेशः । सोल्लइ। क्षिपति । प्रा० । मासे पुं० । दे० ना० ८ वर्ग ४४ गाथा ।

सोल्लिय-शौल्य-त्रि०। शूलसंस्कृते ,शूलिभिन्न घृतादिना उपस्कृते, उपा० ८ अ० । शूलपक्वे , विपा० १ श्रु० ८ अ० । कुसुमविशेषे, नपुं० । औ० ।

सोव-स्वप्-धा०। शयने, " स्वपावुच्च " ॥ ८ । १ । ६४ ॥ इति स्वपितेर्धातोरस्यात्। सोवइ। सुवइ। स्वपिति। प्रा०१ पाद।

सोवश्रोग-सोपयोग-पुं०। उपयोगसहिते, स्था० २ ठा० ४उ०। (उपयोगवक्तव्यता 'उवश्रोग' शब्दे द्वितीयभागे द्रष्टव्या।)

सोवक्कम-सोपक्रम-न०। महोपक्रमेणापवर्त्तनाकरणाख्येन वर्तत इति सोपक्रम। कर्मभेदे, उत्त० ५ अ०। आचा०। कर्म्म द्विधा-सोपक्रमं, निरुपक्रमं च। तत्र यानि वैरादीनि सोपक्रमसाध्यानि तान्येव जिनातिशयादुपशाम्यन्ति सदौषधात्साध्यव्याधिवत्। विपा० १ श्रु० ३ अ०।

सोवक्कमाउस-सोपक्रमायुष्-त्रि०। अकालमरणधर्मसहिते, आ०।

सोपक्रमायुषोरमाह—

देवा नेरइया वा, असंखवासाउश्रा श्र तिरिमणुया।
उत्तमपुरिसा य तहा, चरमसरीरा य निरुवकमा॥७४॥

देवा नारकाश्चेते सामान्येनैव असंख्येयवर्षायुषश्च तिर्यङ्मनुष्या एतेन संख्येयवर्षायुषां व्यवच्छेदः। उत्तमपुरुषाश्च चक्रवर्त्यादयो गृह्यन्ते। चरमशरीराश्चाविशेषेणैव तीर्थकरादय निरुपक्रमा इत्येते निरुपक्रमायुष एव अकालमरणरहिता इति।

सेसा संसारत्था, भइया सोवकमा व इयरे वा।
सोवकमनिरुवक्कम-भेश्रो भणिश्रो समासेणं॥७५॥

शेषाः समानास्था अनन्तरोदितव्यतिरिक्ताः संख्येयवर्षायुष, अनुत्तमपुरुषा अचरमशरीराश्च। एते भाज्या—विकल्पनीया। कथं सोपक्रमा वा इतरे वा?, कदाचित्सोपक्रमाः कदाचिन्निरुपक्रमा, उभयमप्येतेषु संभवतीति सोपक्रमनिरुपक्रमभेदो भणित समासेन-संक्षेपेण। न तु कर्मभूमजादिविभागविस्तरेणेति। श्रा०।

सोवक्कम-सोपक्लेश-त्रि०। सतु के गृहवासे, 'सोवक्केसे गिहिवासे निरुवक्केसे परिश्राए' उपक्लेशैः सह सोपक्लेश —गृहाश्रम। दश० १ चू०।

सोवच्चल-सौवर्चल-न०। लवणभेदे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। आचा०।

सोवट्ठाण-सोपस्थान-त्रि०। सहोपस्थानेन धर्मचरणाभासोद्यमेन सह वर्त्तन्ते इति सोपस्थाना। वयमपि प्रव्रजिता। सदसद्धर्मविशेषविकला इति सावद्यारम्भतया वर्त्तमानेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०।

सोवण-देशी-वासगृहे, दे० ना० ८ वर्ग ५८ गाथा।

सोवणिय-शौवनिक-त्रि०। श्वभिश्चरतीति शौवनिक। कूरसारमेयपरिग्रहे पुरुषे, सूत्र० २ श्रु०२ अ०। श्वपाके,सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सोवण्ण-सौवर्ण-त्रि०।सुवर्णमये आभूषणादौ,स्था०६ठा०३उ०।

सोवण्णमक्खिय-देशी-मधुमक्षिकाभेदे, दे०ना०८वर्ग४८गाथा।

सोवण्णिय-सौवर्णिक-त्रि०। सुवर्णमये आभूषणादौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। स्था०।

सोवत्थ-देशी-उपकारे, दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा।

सोवत्थिय-सौवस्तिक-पुं०। स्वस्तिकवाचके, श्रौ०। मङ्गलक्षणविशेषे,रा०। ज०। द्वी०। जी०। पञ्चकमित्यन्ये। ग्रामादविशेष इत्यपरे, आ० १ श्रु० १ अ०। श्रीन्द्रियभेदे, जी० १ प्रति० १ अधि०। प्रज्ञा०। अङ्गारकादिषु अष्टसु पञ्चितमे महाग्रहे, च० प्र० २० पाहु०। कल्प०। प्रश्न०।

दो सोवत्थिया। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सोवत्थियकूड-सौवस्तिककूट-न०। पूर्वकनकपर्वतस्य षष्ठे कूटे विद्युत्प्रभस्य वक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सोवयार-सोपचार-पुं०। वर्णाद्युचितपरिणामे, विशे०। अनिष्ठुरमविरुद्धालज्जनीयाभिधाने, स्था० ७ ठा० ३ उ०। ग्राम्याभिधानभिन्नानियतवर्णादिपरिणामे,श्रा० म० १ अ०। अनु०। ग्राम्यभणितिरहिते, अनु०।

सोवरी-शाम्बरी-स्त्री०। शम्बरासुरीये विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सोवहि-सोपधि-पुं०। मायाविनि परव्यंसके, दश० १ अ०।

सोवहि-सोपधिक-त्रि०। उपधीयते संगृह्यते इत्युपधि, द्रव्यतो हिरण्यादि, भावतो। माया सहोपधिना वर्त्तत इति सोपधिक। आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। द्रव्यभावोपधियुक्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। पुष्टे,कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

सोवाग-श्वपाक-त्रि०। चाण्डाले,स्था० ४ ठा० ४ उ०। व्य०। प० चू०। मार्जारे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

सोवागकरंडय-श्वपाककरण्डक-पुं०। चाण्डालपेट्याम्, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

सोवागी-श्वपाकी-स्त्री०। श्वपाकजातिप्रसिद्धे विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सोवाण-सोपान-न०। उत्तरारोहणमार्गविशेषे, रा०।

सोवीर-सौवीर-न०। सिन्धुनदप्रतिबद्धे जनपदभेदे, सूत्र० १ श्रु०५ अ०१ उ०। कल्प०। प्रज्ञा०। प्रव०।उत्त०। काञ्जिके, दर्श० ४ तत्त्व। ग०। कल्प०। पञ्चा०। पिं०। प्रव०। आरनाले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०। उत्त०। पा०। अम्ले, उत्त० १५ अ०। स्था०। मध्यमग्रामस्य षष्ठ्या मूर्च्छनायाम्, स्त्री०। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सोवीरग-सौवीरक-न०। मद्यभेदे, " सोवीरय पिट्ठवज्जियं जाणे " पिष्टवर्जितं द्राक्षाखर्जूरादिभिर्द्रव्यैर्निष्पाद्यमान सौवीरकं विजानीयात्। बृ० ४ उ०। सोवीरयं रसजण वा ते पुढविपरिणामा वक्खिया, जेण सुवण्ण घणिज्जदि। नि० चू० ४ उ०।

सोवीरिणी-सौवीरिणी-स्त्री०। रसिन्यां सुरायाम्, बृ० १ उ०२ प्रक०।

सोव्वश्रो-देशी-पतितदन्ते,दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा।

सोस-शोष-पुं०। स्नेहविगमने,औ०। संथा०। जी०। शरीरस्नेहशोषणरोगे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सोसण-देशी-पवने, दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा।

सोसणी-देशी-कट्याम्, दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा।

सोसिअ-शोषित-त्रि०। नीरसीकृते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सोसियकसाय-शोषितकषाय-त्रि०। शोषिताः-कृशीकृताः कषाया सभेदाः क्रोधमानमायालोभाख्या येन स शोषितकषायः। सूक्ष्मसंपराये, ग० १ अधि०।

सोसियप्पाण-शोषितप्राण-त्रि०। शोषिताः ग्लानिं प्रापिताः प्राणा इन्द्रियादयो येषां ते शोषितप्राणाः। तपःकृशेषु, ग० २ अधि०।

सोह-सोफ-पुं०। शरीरादिशोथे, "सोफ स्यात् षड्विधो घोरो, दोषैरुत्सेधलक्षणः। व्यस्तैः समस्तैश्चापीह, तथा रक्ताभिघातजः॥ १॥" आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

सोहंजणी-शोभाञ्जनी-स्त्री०। स्वनामख्याते नगरीभेदे, विपा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। (तत्र शकटकुमार आसीत्।)

सोहंत-शोभमान-त्रि०। शोभत इति शोभमानः। शोभां बिभ्रति, प्रश्न० २ पद। कल्प०।

सोहग्ग-सौभाग्य-न०। सुभगत्वे, औ०। रूवं पुण जत्थ तत्थ सोहग्गं। दर्श० ३ तत्त्व।

सोहग्गकप्परुक्खतव-सौभाग्यकल्पवृक्षतपस्-न०। सौभाग्यस्य सुभगतायाः संपादने कल्पवृक्ष इव यः स सौभाग्यकल्पवृक्षस्तद्रूपं तपः। लौकिकविशेषार्थे चित्रतपोभेदे, पञ्चा०।

बत्तीसं आयाम, एगंतरपारणेण सुविसुद्धो।
तह परमभूसणो खलु, भूसणदाणप्पहाणो य॥ ६॥

द्वात्रिंशदायाम्यान्याचाम्लानि एकान्तरपारणेन-एकायामव्यवहितभोजनेन सुविशुद्धानि-निर्दोषाणि तथेति समुच्चये, परमभूषणः खलूक्तशब्दार्थः। भूषणदानप्रधानश्च जिनाय तिलकाद्याभरणदानसारः, इति गाथार्थः।

एवं आयइजणगो, विसेसो णवरमेस सव्वत्थ।
अणिगूहियबलविरिय-स्स होइ सुद्धो विसेसेणं॥३४॥

एवमित्येकान्तरितद्वात्रिंशदायामरूपम्, आयतिजनक उक्तार्थः विज्ञेयः, नवरं केवलमयं विशेष इत्यर्थः, एषोऽयं सर्वत्र-सर्वधर्मकृत्येषु अनिगूहितबलवीर्यस्य भवति शुद्धो विशेषेणेति व्यक्तम्। नवरं बलं-शारीरः प्राणः, वीर्य-चित्तोत्साहः इति गाथार्थः।

चित्ते एगंतरओ, सव्वरसं पारणं च विहिपुव्वं।
सोहग्गकप्परुक्खो, एस तवो होइ णायव्वो॥ ३५॥

चैत्रे मासे एकान्तरकः-एकदिनव्यवहितः उपवास इति गम्यते। सर्वरसं सर्वविकृतिकमित्यर्थः, पारणं च भोजनम्। विधिपूर्वं गुरुदानादिपूर्वकमित्यर्थः, सौभाग्यकल्पवृक्ष उक्तार्थः, एषोऽयम् 'तवो' त्ति तपोविशेषो भवति कर्तव्य इति व्यक्तम्, इति गाथार्थः।

इहैव विधिशेषमाह-

दाणं च जहासत्तिं, एत्थ समत्तीएँ कप्परुक्खस्स।
ठवणा य विविहफलहर-संणामियचित्तडालस्स॥३६॥

दानं च साध्वादिभ्यो देयं यथाशक्ति अत्र तपसि, समाप्तौ वाऽस्य तपसः कल्पवृक्षस्य सुवर्णतन्दुलादिमयस्य, स्थापना च न्यासश्च। किंविधस्य ? विविधफलभरेण-नानाविधफलभारेण संनमितान्यवनतीकृतानि चित्राणि विविधानि डालानि-शाखा यस्य स तथा तस्य, इति गाथार्थः।

एए अवओसणगा, इट्ठफलसाहगा व सट्ठाणे।
अणत्थजुया य तहा, विसेया बुद्धिमंतेहिं॥३७॥

एतानि अवजोषणकानि-तपोविशेषसेवाः, इष्टफलसाधकानि स्वस्थाने-स्वविषये अभ्युदयफलविनेयलक्षणे, अन्वर्थयुक्तानि च, तथा अन्वर्थश्चैषां प्राग्दर्शित एव। विज्ञेयानि बुद्धिमद्भिः इति गाथार्थः। पञ्चा० १९ विव०।

सोहण-शोधन-न०। निरतिचारकरणे, उपा० १ अ०।

शोभन-त्रि०। प्रधाने, पञ्चा० ७ विव०। आव०। आ०म०। मङ्गले, आ० म० १ अ०। अन्वेषणे, 'भो देवाणुप्पिया! सोहणपुरं णयरे चारगसोहणं करेह'। आ० चू० १ अ०।

सोहणग-शोधनक-न०। कर्णशोधने, दन्तशोधने च। बृ० ३ उ०। प० व०।

सोहणदेव-शोभनदेव-पुं०। स्वनामख्याते देवविशेषे, "अहो शोभनदेवस्य, सूत्रधारशिरोमणेः। तच्चैत्यरचनाशिल्पा-न्नाम लेभे यथार्थनाम्॥ १॥" ती० ७ कल्प।

सोहणपुर-शोभनपुर-न०। स्वनामख्याते नगरे, आ० चू० १ अ०।

सोहम्म-सौधर्म-पुं०। सकलविमानसौधर्मावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षितत्वात्सौधर्मः। शक्रेन्द्रपालिते प्रथमदेवलोके, अनु०। चं० प्र०। उत्त०। प्रव०। जी०। ('ठाण' शब्दे चतुर्थभागे वैमानिकानां स्थाननिरूपणेऽस्य वर्णितः।) 'भगवतो महावीरस्य पञ्चमे गणधरे,स०। (अस्य वक्तव्यता 'सुहम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

सोहम्मकप्प-सौधर्मकल्प-पुं०। प्रथमदेवलोके, ठा०। चतुर्दशपूर्वधारिणो जघन्यतो लान्तकदेवलोकं यावद् यान्ति, कार्तिकश्रेष्ठिजीवस्तु चतुर्दशपूर्व्यपि सौधर्मदेवलोकं गत-स्तत्र को हेतुरिति?, प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-तत्र पूर्वविस्मृतिरेव हेतुः सम्भाव्यत इति॥ १९४ ॥ सेन० ४ उल्ला०। सौधर्मादिदेवलोकेषु प्रतिप्रतर सकलविमानानामाधारभूतैका भूमिरस्ति न वा ? इति प्रश्नः। अत्रोत्तरम्-सकलविमानानामाधारभूतैका भूमिर्नास्तीत्यवसीयते, यतो भगवत्यादौ पृथिवीप्रश्ने रत्नप्रभाद्या ईषत्प्राग्भारपर्यन्ता अष्टावेव पृथिव्य उक्ताः सन्ति नत्वधिका इति॥ ३५॥ सेन० १ उल्ला०। सौधर्मे किल्बिषिकाणां विमानानि द्वात्रिंशल्लक्षमध्येऽन्यानि वा ? तेषां देवानां च सम्यक्त्वं

भवति न वा ? तथा तत्र प्रतिमास्सन्ति नवेति । प्रश्न , अत्रोत्तरम्—सौधर्मे द्वात्रिंशल्लक्षविमानानि , दे-वलोकमध्ये , किल्बिषिकविमानानि तु स्वर्लोकाद्धः सं-ग्रहिण्यादौ प्रतिपादितानि सन्ति , तथा तेषु सम्यक्त्व-पूजाप्रतिमाक्षराणि शास्त्रे दृष्टानि न स्मरन्तीति ॥ १३६ ॥ सेन०२ उल्ला० । ('ठाण' शब्दे ४ भागे सौधर्मकल्पविशेषः ।)

सोहम्मवडिंसय–सौधर्मावतंसक–पुं० । सौधर्मदेवलोकस्य म-ध्यभागवर्तिनि शक्रनिवासभूते प्रधानविमाने, स० ।

सोहम्मवडिंसयस्स णं विमाणस्स एगमेगाए बाहाए पणसट्ठि पणसट्ठि भोमा पण्णत्ता । (सू० ६५ ×)

'सोहम्मे'त्यादि, सौधर्मावतंसक विमान सौधर्मदेवलोकस्य मध्यभागवर्ति शक्रनिवासभूतम् ' एगमेगाए ' त्ति एकैकस्यां दिशि प्राकाराभ्यर्णवर्तीनि भौमानि नगराकाराणि विशि-ष्टस्थानानीत्येके । स० ६५ सम० । सौधर्मे कल्पे चतुर्दिक्षु चत्वारि विमानानि मध्ये पञ्चमः सौधर्मावतंसकः, पुंस्त्वं च प्राकृतत्वात् । रा० ।

सोहम्मिंद–सौधर्मेन्द्र–पुं० । शक्रे , प्रज्ञा० २ पद ।

सोहय–शोधक–त्रि० । शोधयतीति शोधकः । अनेकजन्मभा-विकर्मोदितापने, आ० म० १ अ० ।

सोहा–शोभा–स्त्री० । "ख-घ-थ-ध-भाम्" ॥८।१।१८७॥ इत्यनेन भस्य हः । प्रा० । शृङ्गारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रभा-याम् , ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

सोहि–शुद्धि–स्त्री० । शुध-शौचे, स्त्रियां क्तिन् । शोधन शु-द्धिः । विमलीकरणे, आव० ।

इदानीं शुद्धिः 'शुध' शौचे,अस्य स्त्रियां क्तिन् ,शोधनं शुद्धिः विमलीकरणमित्यर्थः , सा च नामादिभेदत षोढैव , तथा चाऽऽह—

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु सुद्धीए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२४१ ॥

तत्र नामस्थापने गतार्थे द्रव्यशुद्धिस्तापसादीनां स्वगु-र्वालोचनादिना अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य वा निह्नव-स्य वस्त्रसुवर्णादेर्वा जलक्षारादिभिरिति, क्षेत्रशुद्धिर्यत्र व्या-वर्ण्यते क्रियते वा क्षेत्रस्य वा कुलिकादिनाऽस्थ्यादिशल्यो-द्धरणमिति, कालशुद्धिर्यत्र व्यावर्ण्यते क्रियते वा शङ्कव्या-दिभिर्वा कालस्य शुद्धि क्रियते इति । भावशुद्धिर्द्विधा—प्रशस्ता, अप्रशस्ता च । प्रशस्ता ज्ञानादेरप्रशस्ता चाशुद्धस्य सत क्रोधादेर्वैमल्याधानं—स्पष्टतापादनमित्यर्थः, अथवौ-घेन एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टे प्रशस्ता, तयेहाधिकार , प्रतिक्रमणपर्यायता चास्या स्फुटा, एव प्रतिक्रमणमष्टधा भवतीति गाथार्थ । आव० १ अ० । आ० म० । आ० चू० । दोषविनाशने, आ० चू०१ अ०। शल्योद्धारणे, ध० २ अधि०। नि० चू० । प्रायश्चित्ते, व्य० १ उ० । आलोचना व्यवहार प्रायश्चित्त शुद्धिरिति पर्याया । व्य० १ उ० । आ०चू०। स्था०। दुष्टकर्मनाशस्वरूपायां लघुकर्मतायाम् , उत्त० १ उ० । विशे०। मिथ्यात्वममत्वापगमात्सम्यक्त्व शुद्धिरुच्यते । विशे० । यथा तिरश्चां गुरुसमक्षं प्रायश्चित्त विनाऽपि शुद्धिर्जाय-ते, तथा नृणां सा कथ न भवतीति ?, प्रश्नः। अत्रोत्तरम् ति-रश्चां गुरुसमक्ष प्रायश्चित्त विना शुद्धिर्भवति , तथाविध-सामर्थ्याभावात् मनुष्याणा प्रायः तथाविधसामग्रीसद्भा-वात् तद्विना न शुद्धि . अत एव गुर्वाद्ययोगे तत्परिणा-मवता तद्ग्रहणेऽपि शुद्धिः , तद्योगे च तदगृह्णता तत्प-रिणामाभावादशुद्धिरिति ॥ १०६ ॥ सेन० २ उल्ला० । पाक्षिकप्रतिक्रमणमुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनानन्तरं पौषधिकं विना प्रतिक्रमणसूत्रादेशो दत्त शुद्ध्यति न वा इति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—मुख्यवृत्त्या पौषधिकस्य दीयते ईदृश वृद्धवचो ऽस्ति, परमेकान्तो ज्ञातो नास्तीति ॥१२०॥ सेन० २ उल्ला० ।

तथा—सिंहादिसङ्क्रान्तित्रयमध्ये तथा वर्जितमासमध्ये च कानि कर्मकार्याणि शुद्ध्यन्ति ? कानि नेति प्रश्नः , अत्रो-त्तरम्-दीक्षाप्रतिष्ठादिकं न शुद्ध्यति, अन्यानि तु शुद्ध्यन्ती-ति॥२४॥ तथा-विक्रयकारिसमुच्छेदितनामलाञ्छनानां प्रति-ष्ठिताईत्प्रतिमानां पुनर्लेपमादिकरण शुद्ध्यति नवेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—तासामभिधानलक्ष्मादिकरणं प्रायो न शुद्ध्य-ति, कदाचित्कारणे यद्यावश्यक कर्तव्यं स्यात् तदा त-द्विधानानन्तर प्रतिष्ठितवासक्षेपादिना शुद्धिर्भवतीति श्री-भगवत्पादानामनुशिष्टिरिति ॥ २५ ॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—उपवासी श्राद्धः सन्ध्यायां सामायिक विधाय मुखवस्त्रिकां प्रतिलिख्य प्रत्याख्यानं करोत्यन्यथा वा ?, यदि तथैव तदा वन्दनकदाननिषेध कस्मादिति ?, प्रश्नः, अत्रो-त्तरम्—सामाचारीप्रमुखग्रन्थेषु भोजनदिवसे वन्दनकदा-नानन्तर प्रत्याख्यानकरणाक्षराणि सन्ति, परमुपवासदिने वन्दनकदानानन्तरं प्रत्याख्यानकरणविधिर्नास्ति , मुखपो-त्तिका तु प्रतिलेखिता युज्यते यस्मात्ता विना प्रत्याख्या-नं न शुद्ध्यतीति सामाचार्यस्ति , तथोपधानेऽपि तथैव करणादिति ॥७६॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—कृतगृहसत्क-प्रत्याख्यानः श्राद्धो गृहे गत्वाऽन्यत्र भोजन करोति त-दा शुद्ध्यति किं वा तत्र दन्तधावन विधायेति ? प्रश्न , अत्रोत्तरम्—कृतगृहसत्कप्रत्याख्यान श्रावको गृहे गत्वा पारितगृहसत्कप्रत्याख्यानो दन्तधावनकरणमन्तराऽप्यन्यत्र भुङ्क्ते तदा शुद्ध्यतीति वृद्धा. ॥६३॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—चैत्रमासीयकायोत्सर्गविस्मृतौ यत् स्वय योगोद्व-हन न कल्पते, तथा अन्येषां योगक्रियाप्रवेदनादिक कार-यितुं शुद्ध्यतीति न वा ?, तथा कालग्रहणं दण्डिकाधारणं दिगालोकश्च शुद्ध्यतीति नवेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-चैत्रस म्बन्धिकायोत्सर्गाऽकरणे तस्य योगसम्बन्धिनी क्रिया स्वय कर्तुं परेषां कारयितु च न कल्पत इति ॥ १५८ ॥ सेन० ३ उल्ला०। तथा प्रवालाद्यक्षमालाग्रे प्रतिक्रान्ति शुद्ध्यति न वे-ति प्रश्न ,अत्रोत्तरम्-सूत्रीयनिश्चलमणिकाक्षमालाग्रे स्थापन-पुर सरक्रियाकरणविधिर्दृश्यते परम्परयेति ॥ १२५॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा सूर्यग्रहण यद्भवति तदस्वाध्यायिका कुत आरभ्य कियद्यावद्भवति ? तथा यौगिकाना कियन्ति प्रवेद-नानि न शुद्ध्यन्तीति ? प्रश्न , अत्रोत्तर-यत्सूर्यग्रहण भवति तत आरभ्याहोरात्र यावदस्वाध्यायिका, तदनुसारेणैक प्रवे दनमशुद्ध ज्ञायत इति ॥ २१० ॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—जिनालये प्रत्याख्यान पारयितु शुद्ध्यति नवेति?,प्रश्न ,अत्रो-त्तरम्—शुद्ध्यतीति सम्प्रदाय इति ॥ १८८ ॥ सेन० २ उल्ला०।

अयदशमी यावत् खण्डाविहरण कथं न शुद्ध्यतीति ?, प्रश्न, अत्रोत्तरम्-परम्परया खण्डाविहरणं निषिध्यते इति-॥ ३१७ ॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा कश्चिद् श्राद्ध एकाशनद्व्यशनप्रत्याख्यानेन विना प्रासुकजलं पिबति पाणस्साधाकारानुच्चरति तस्य रात्रौ द्विधाहारस्त्रिधाहारो वा कृतः शुद्ध्यति किं वा चतुर्विधाहार इति ? प्रश्न, अत्रोत्तरम्-रात्रौ चतुर्विधाहारं करोतीति परम्पराऽस्ति ॥ ४ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा येन नमस्कारसहितप्रत्याख्यान कालवेलायां न कृतं तस्य पश्चात्पौरुष्यादिप्रत्याख्यान कर्तुं शुद्ध्यति न वा ?, इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-नमस्कारसहितप्रत्याख्यान विना पौरुष्यादिप्रत्याख्यान कर्तुं न शुद्ध्यत्येवंविधाक्षराणि श्राद्धविधिप्रमुखग्रन्थेषु सन्तीति ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥ तथा—प्रतिष्ठितजिनप्रतिमा विक्रयकारिभिः समुच्छिन्ननामलक्षणाः श्राद्धैर्द्रव्यव्ययेन गृहीताः सन्ति, तेन तन्नामोच्चारावसरे कस्य जिनस्येयं प्रतिमेति वक्तु कथं शक्यते ? ततो यदि लक्षणादिकरणविधिर्भवति तर्हि तथा प्रसाद्यमिति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—प्रतिष्ठितजिनप्रतिमानाम भिधानलक्षणादि प्रायस्तु न कर्त्तव्यं, पुनः प्रतिष्ठाकर्त्तुरज्ञानत्वादिकारणेन यथावश्यकं कर्त्तव्यं भवति तदा तद्विधाय प्रतिष्ठितवासक्षेपादिना शुद्धिर्भवतीति ज्ञायते इति । ४१ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा—प्रतिमाधरः श्रावकः श्राविका वा चतुर्थीप्रतिमात आरभ्य चतुष्पर्वीपौषध कराति तदा पाक्षिकपूर्णिमाषष्ठकरणाभावे पाक्षिकपौषध विधायोपवासं करोति पूर्णिमायां चैकाशनकं कृत्वा पौषधं करोति तत् शुद्ध्यति न वा ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—प्रतिमाधरः श्रावकः श्राविका वा चतुर्थीप्रतिमात आरभ्य चतुष्पर्वीपौषधं करोति तदा मुख्यवृत्त्या पाक्षिकपूर्णिमयोश्चतुर्विधाहारः षष्ठ एव कृतो युज्यते कदाचिच्च यदि सर्वथा शक्तिर्न भवति तदा पूर्णिमायामाचामाम्ल निर्विकृतिकं वा क्रियते, एवंविधाक्षराणि सामाचारीग्रन्थे सन्ति, परमेकाशनकं शास्त्रे दृष्टं नास्तीति ॥४२॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा—त्रिकालपूजाकरणे प्रभाते मालादि निर्माल्यमपास्य सर्वस्नानेन वासपूजा क्रियतेऽन्यथा वेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-प्रभाते पुष्पमालादि निर्माल्यमपास्य श्राद्धा वासपूजां कुर्वन्तो दृश्यन्ते, सर्वस्नानकरणेऽप्येकान्तो ज्ञातो नास्ति, हस्तपादप्रक्षालनेन शुद्ध्यन्तीति ॥ १६७ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा-श्राद्धा दन्तधावनं कृत्वैव देवपूजां कुर्वन्त्यन्यथा वेति?, प्रश्न, अत्रोत्तरम्-'शुचि पुष्पामिषस्तोत्रै' रिति योगशास्त्रादिवचनान्मुख्यवृत्त्या दन्तधावनं कृत्वैव देवपूजा कुर्वन्ति, पौषधोपवासादिकर्तृकामाश्च दन्तधावनं विनाऽपि देवपूजां कुर्वन्ति, प्रत्याख्यानस्य बहुफलत्वादिति ज्ञायते ॥१६८॥ सेन० ४ उल्ला० ।

सोधितृ–त्रि० । शोधयत्यात्मपरावितिं शोधिः । स्वपरशोधके, स्था० १ श्रु० १ अ० ।

सोहिकप्प–शोधिकल्प–पुं० । शोधिः प्रायश्चित्त द्रव्यादिपुरुषभावेन कल्पते यत्र स शोधिकल्पः । शुद्धाचारे, नि० चू० २० उ० ।

सोहिय–सोधित–त्रि० । मार्जनिकादिभिः शुद्धिमापादिते, स्था० ४ ठा० २ उ० । सूत्र० । उत्त० । "इणं पच्चक्खाणं सोहियं तीरियं पारियं" गुर्वादिप्रदत्तशेषभोजनासेवनेन राजित, प्रव० ४द्वार । गुरुदत्तादर्शनादिशेषभोजनसेवनयैव हेतुभूतया सेविते, प० व० २ द्वार । दशा० । शोधितस्ततत्समाप्तावुचितानुष्ठानकरणतः । स्था० । शोधितमन्येषामपि तदुचितानां दानादतिचारवर्जनाद्वा । प्रश्न० १ संव० द्वार । आ० म० । आव० । शाधितो निराकृतातिचारत्वात् । भ० २ श० १ उ० ।

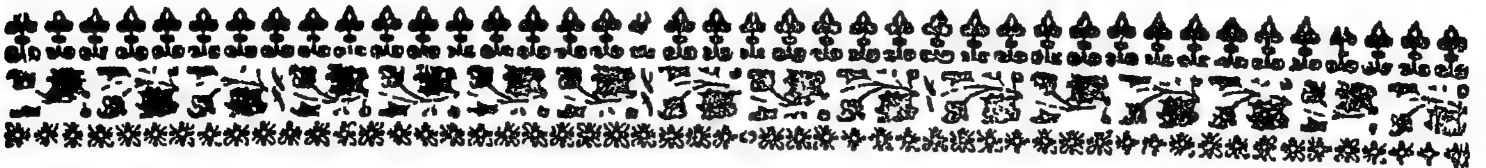
सोहियर–शोधिकर–त्रि० । अनन्तानुबन्धक्षयप्रक्रमेण शुद्धिजनक, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

सोहिल्ल–शोभावत्–त्रि० । "आल्विल्लोल्लाल—वन्त—मन्तेत्त-र-मणा मतोः ॥८ । २ । १५६ ॥ इति मतोः स्थाने इल्लादेशः । सोहिल्लो । शोभाविशिष्टे, प्रा० २ पाद ।

सोही–देशी–भूतभविष्यत्कालयोः, दे० ना० ८ वर्ग ४८ गाथा ।

सोहेउं–शोधयित्वा–अव्य० । उद्धृत्येत्यर्थे, प० व० २ द्वार ।

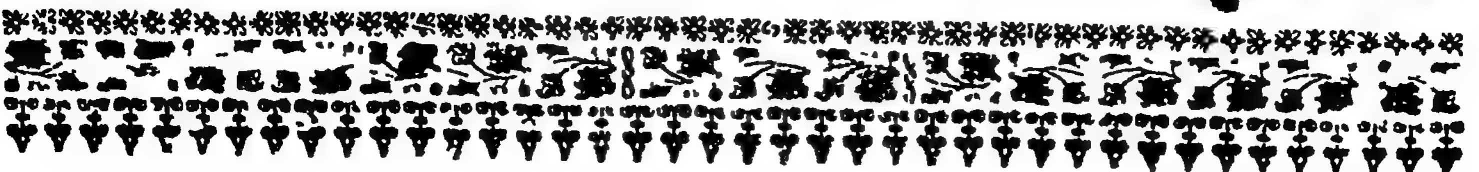
सौअरिय–सौदर्य–पुं० । समाने उदरे शेते इति सौदर्यः । सहोदरभ्रातरि, प्रा० १ पाद ।





इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
सकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।







ह-ह-अव्य० । कण्ठस्थानीय ऊष्मसंज्ञकोऽयं वर्णः । अधिक्षेपार्थे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । पादपूरणे, सम्बोधने, नियोगे, क्षेपे निग्रहे, प्रसिद्धौ च । "हकारः पुंसि यजने, वरुणे हरिहंसयोः । ईश्वरे चावलेपे च, रणरोमाञ्चवाजिषु" ॥६४॥ एका० । हीरे, हारे एका० । "हा स्त्रिया त्यजनं गत्या, वीणाया वा निगद्यते । नपुंसके हकारस्तु, कथितं मांसरोचिषु ॥६५॥" एका० । खेदे, सू० ४ उ० ।

हा-अव्य० । "वाऽव्ययोत्खातादावदात" ॥ ८ । १ । ६७ ॥ इति आकारस्य वा अकारः । विषादे, शोके, पीडायाम्, कुत्सायाञ्च । प्रा० १ पाद ।

हअ-हत-त्रि० । हन्-क्त । नाशिते, प्रनिहते प्रविष्टे, आशारहिते गुणिते च, भावे क्त । हनने, गुणने, न० । प्रा० ।

हत-त्रि० । हन्-क्त । अत्र केचित् । ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः स तु शौरसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते । प्राकृते हि । हनम् । हअं । प्रा० । "हन्खनोऽन्त्यस्य" ॥ ८ । ४ । २४४ ॥ इत्यन्त्यस्य द्वित्वं न, क्वचिन्न भवतीत्युक्ते । प्रा० । अपहृते, स्थानान्तरे गमिते च । प्रा० ।

हआस-हतास-त्रि० । अत्र केचित् ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः स तु शौरसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते । प्राकृते हि—हताश०, हआसो । प्रा० । आशाशून्ये, वध्ये, निर्दये, पिशुने च । प्रा० ।

हइ-हति-स्त्री० । हन्-क्तिन्-हनने, मारणे, व्याघाते, अपकर्षे, गुणने च । प्रा० ४ पाद ।

हउं-अहम्-त्रि० । "सावस्मदो हउं" ॥ ८ । ४ । ३७५ ॥ इत्यपभ्रंशे अस्मच्छब्दस्य सौ परे हउं इत्यादेशः । तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो । प्रा० ४ पाद ।

हं-हं-अव्य० । हर्षे, हिंसायां च । एका० ।

अहम्-त्रि० । 'अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि-हं-अहं अहयं सिना' ॥८।३।१०५॥ इति सिना सहितस्य अस्मच्छब्दस्य हं इत्यादेशः । अस्मच्छब्दस्य प्रथमैकवचनार्थे, जेण हं विद्धा । प्रा० । ज्ञा० ।

हंजे-हञ्जे-अव्य० । "हञ्जे चेट्याह्वाने" ॥८।४।२८१॥ शौरसेन्या चेट्याह्वाने हञ्जे इति निपातः प्रयोक्तव्यः । हञ्जे । चतुरिके ! माऽध्यक्रियायां नटाभिनयं कृते चेटीसंबोधनं, प्रा० ४ पाद ।

हंडिया-हण्डिका-स्त्री० । लघुकुम्भ्याम्, मस्तकन्यस्तदधिहण्डिका । विशे० ।

हंत-हन्त-अव्य० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रत्यवधारणे, कोमलामन्त्रणे, हा० १६ अष्ट० । ज्ञा० । औ० । अनु० । प्रति० । पञ्चा० । दर्श० । शिष्यामन्त्रणे, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । अभ्युपगमद्योतने, अनु० । संप्रेषणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । खेदे सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रति० । अष्ट० । एवमेवेत्यर्थे, औ० । निर्देशे, प्रति० । वाक्यारम्भे, जं० २ वक्ष० । आमन्त्रणे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । हर्षे, अनुकम्पायाम्, रा० ।

हन्त-अव्य० । दीर्घत्वं च मागधदेशीयत्वात्, 'हंता अत्थि णो चेव ।' अत्र भगवानाह—हन्तेत्यादि, आमन्त्रणे, जं० २ वक्ष० ।

हंतव्व-हन्तव्य-त्रि० । "हन्खनोऽन्त्यस्य" ॥ ८ । ४ । २४४ ॥ अत्र बहुलाधिकाराद्धन्तेः कर्मण्यपि द्वित्वं तच्च क्वचिन्न भवतीत्युक्तेर्न भवति । हनव्वं । प्रा० । दण्डकशादिभिर्वध्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

हंता-हत्वा-अव्य० । विनाश्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० । लगुडादिभिरभ्याहार्येत्यर्थे भ० ८ श० ५ उ० ।

हंतृ-त्रि० । ताच्छीलिकस्तृन् मृगशूकरादिकत्रसप्राणिहन्तरि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० ।

हंतुं-हन्तुम्-अव्य० । विनाशयितुमित्यर्थे, सू० १ उ० २ प्रक० ।

हंतूण-हत्वा-अव्य० । "हन्खनोऽन्त्यस्य" ॥ ८ । ४ । २४४ ॥ अत्र बहुलाधिकाराद्धन्तेः कर्मण्यपि द्वित्वं, तच्च क्वचिन्न भवतीत्युक्तेर्न भवति । प्रा० । विनाश्येत्यर्थे, स्था० । आतु० ।

हंद-गृहाण-अव्य० । "हन्द च गृहाणार्थे" ॥८।२।१८१॥ गृहाणार्थे हन्द इति प्रयोक्तव्यम् 'हंद पलोएसु इमं गृहाणेत्यर्थे । प्रा० ।

हन्त-अव्य० । कोमलामन्त्रणे, स्था० ५ ठा० १ उ० । आमन्त्रणे, नि० चू० ४ उ० । हर्षे, आ० म० १ अ० ।

हंदि-हन्दि-अव्य० । "हंदि—विषाद-विकल्प-पश्चात्ताप—निश्चय-सत्ये" ॥ ८ । २ । १८० ॥ हंदि इति विषादादिषु प्रयोक्तव्यम् । "हंदि चलणे णओ सो, ण माणिओ हंदि हुज्ज एत्ताहे । हंदि ण होही भणिरी, सा सिज्जइ हंदि तुह कज्जे । " प्रा० । उपप्रदर्शने, सू० ४ उ० । अनु० । आचा० । स्था० । दश० । पञ्चा० । सम्म० । नं० । आ० चू० । आव० । आमन्त्रणे, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० । कोमलामन्त्रणे, जीवा० १६ अधि० । चोदकामन्त्रणे, व्य० १० उ० । स्वसंबोधने, पिं० । प्रत्यक्षवाक्यदर्शने, नि० चू० १२ उ० । लोकसाधककारणोपप्रदर्शने, सू० ३ उ० ।

हंभो-हम्भो-अव्य० । आमन्त्रणे, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । शिष्याऽऽमन्त्रणे, दश० १ चू० ।

हंश-हंस-पु० । "रसोर्लशौ" ॥८।४।२८८॥ इति मागध्यां दन्त्यसकारस्य तालव्यशकारः । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, प्रा० ।

हंस-हंस-पु० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, अनु० । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, "अम्लत्वेन रसज्ञाया, मिश्रयोः क्षीरनीरयोः । विवेच्य पिबति क्षीरं, नीरं हंसो विमुञ्चति,' आ० क० १ अ० । अनुयोगे हंसोदाहरणमुक्तम् । आ० म० १ अ० । अनु० । प्रश्न० । रजके "वत्थधोवा हवंति हंसा वा" वस्त्रधावका—वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव रजका इव भवन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । परिव्राजकमते यतिविशेषेषु, ये पर्वतकुहर-

पथ्याश्रमदेवकुलारामवासिनो भिक्षार्थं च ग्रामं प्रविशन्ति । औ० ।

हंसगब्भ-हंसगर्भ-पुं० । हंसः-पतङ्गश्चतुरिन्द्रियो जीवविशेषः, गर्भस्तु तन्निर्वर्तितः कोसिकारः, हंसस्य गर्भो हंसगर्भः । हंसनिर्वर्तिते कोसिकारे, अनु० । जं० । रत्नविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सूत्र० । रत्नप्रभाया पृथिव्याः षष्ठे रत्नगर्भकाण्डे, आ० म० १ अ० । ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० ।

हंसगब्भमय-हंसगर्भमय-न० । हंसगर्भाख्यरत्नमये, रा० ।

हंसतेल्ल (ल)-हंसतैल-न० । हंसपक्षिपाकतैले, "हंसो पक्खी भण्णति, सो फाडेऊण मुत्तपुरीसाणि णीहरिज्जन्ति, ताहे सो हंसो दव्वाण भरिज्जति, ताहे पुणरवि सो सीविज्जति । तेण तदवत्थेण तल्लं पच्चति तं हंसतल्लं भण्णति । नि० चू० १ उ० ।

हंसदीव-हंसद्वीप-पुं० । स्वनामख्याते तीर्थभेदे, यत्र श्रीसुमतिनाथदेवपादुका । ती० ४३ कल्प ।

हंसलक्खण-हंसलक्षण-त्रि० । हंसस्येव लक्षणं स्वरूपं शुक्लता हंसा वा लक्षणं चिह्नं यस्य स । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शुक्ले हंसचिह्ने, भ० ९ श० ३३ उ० । हंसवद्विशदे, जं०२ वक्ष० ।

हंसस्सर-हंसस्वर-त्रि० । हंसस्येव मधुरः स्वरो येषां ते । हंससदृशमधुरस्वरयुक्तेषु, जं० २ वक्ष० । तं० । जी० ।

हंससरिसगइ-हंससदृशगति-त्रि० । हंसस्य सदृशी गतिर्येषां ते । हंसतुल्यगतिषु, जी० ३ प्रति ४ अधि० ।

हंसासन-हंसासन-न० । येषामासनानां मध्यभागे हंसा व्यवस्थितास्तानि हंसासनानि । हंसाकृतिव्यवस्थितेषु आसनेषु, जं० १ वक्ष० । जी० ।

हंसासनसंठिय-हंसासनसंस्थित-त्रि० । हंसासनवत्संस्थिते, जी० ३ प्रति० २ अधि० ।

हंहो-हंहो-अव्य० । हमित्यव्यक्तं जहाति हा-डो । संबोधने, दर्पे, दम्भे, प्रश्ने च । प्रा० ।

हक्क-निषिध्-धा० । प्रतिषेधे, "निषेधेर्हक्कः" ॥८।४।१३४॥ इति निषेधतेर्हक्क इत्यादेशः । हक्कइ । निसेहइ । प्रा० । कुमारेण स फर्णी हक्कितः । उत्त० १३ अ० ।

हक्कार-हाकार-पुं० हा इति हाकारलक्षणा या नीतिः-प्रवृत्तिः सा हाकारः । आ० म० १ अ० । प्रथमद्वितीयकुलकरदण्डनीतौ, "हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव दंडनीतीओ" आ०म०१अ० । दण्डनीतिस्तावत् विमलवाहनचक्षुष्मत्कुलकरकाले अल्पापराधित्वेन हक्काररूपैवाभूत् । यशस्विनोऽभिचन्द्रस्य च काले अल्पेऽपराधे हाकाररूपा महति च अपराधे मक्काररूपा, अथ प्रसेनजिन्मरुदेवनाभिकुलकरकाले च जघन्यमध्यमोत्कृष्टापराधेषु क्रमेण हक्कारमक्कारधिक्काररूपा दण्डनीतयोऽभूवन् । कल्प० १ अधि० ७ क्षण । तिं० । आ० म० । रा० । आ० चू० ।

हक्कोद्ध-देशी-अभिलषिते, दे० ना० ८ वर्ग ६० गाथा ।

हक्खुत्त-देशी-उत्पाटिते, दे० ८ वर्ग ६० गाथा ।

हक्खुप्प-उत्क्षिप्-धा० । ऊर्ध्वं प्रक्षेपे, "उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थङ्घाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुप्पाः" ॥८।४।१४४॥ इति उत्पूर्वस्य क्षिपे हक्खुप्प इत्यादेशः । हक्खुप्पइ । उक्खिप्पइ । प्रा० ।

हगे-अहम्-वयम्-त्रि० । "अहं-वयमोर्हगे" ॥८।४।३०१॥ मागध्यामहंवयमो स्थाने हगे इत्यादेशः । अस्मच्छब्दस्यैकत्वे, बहुत्वे च । प्रा० ४ पाद ।

हच्छंकर-हच्छङ्कर-पुं० । वनस्पतिभेदे, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

हट्ट-हट्ट-पुं० । आपणे, नानागृहाध्यासिते त्रिकोणे भूभागविशेषे, अनु० । पण्यशालायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । आ० म० ।

हट्ठ-हृष्ट-त्रि० । हर्षिते, उत्त० १८ अ० । विस्मयमापन्ने, यथा-अहो भगवान् तीर्थकरः समुत्पन्न इति । आ० म० १ अ० । जी० । भ० । औ० । रा० । ज्ञा० । नीरोगे, प्रव० ४ द्वार । भ० । नि० चू० । स्था० । स० । तारुण्येन समर्थे, तरुणा अपि केचिद्रोगिणो निर्बलशरीराश्च भवन्ति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । हृष्टतुष्टानन्दिताः एकार्थाश्चैते, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

हट्ठतुट्ठ-हृष्टतुष्ट-त्रि० । अतितुष्टे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ० । आ० म० १ अ० । भ० । औ० । विपा० । दशा० । भ० । 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए' हृष्टतुष्टोऽतीव तुष्टः । अथवा-हृष्टो नाम विस्मयमापन्नो यथा अहो भगवानास्ते इति तुष्टस्तोषं कृतवान् यथा भव्यमभूत् यन्मया भगवानवलोकितः तोषवशादेव चित्तमानन्दितं-स्फीतीभूतं 'टुनदि' समृद्धाविति वचनात् यस्य स चित्तानन्दित सुखादिदर्शनात् पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः । मकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकस्ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । रा० । भ० । कल्प० । जी० ।

हड-देशी-वनस्पतिविशेषे, उत्त० २२ अ० ।

हृत-त्रि० । अपहृते, स्थानान्तरं गमिते च । कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

हडप्प-देशी-आभरणकरण्डके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । द्रम्मादिभाजने, ताम्बूलार्थे पूगफलादिभाजने, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० ।

हडाला-हडाला-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वस्तुपालतेजःपालाभ्यां निधिर्लब्धः । ती० ४१ कल्प ।

हडाहड-हृताहृत-न० । अत्यर्थे, "फुट्टहडाहडसीसे" विपा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० ।

हडि-हडि-पुं० । खोटके, औ० । विपा० । कर्म० । काष्ठखोटके, दशा० ६ अ० । काष्ठविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हडिबंधण-हडिबन्धन-न० । खोटकक्षेपके, प्रश्न० ४ संव० द्वार । सूत्र० ।

हड्ड-देशी-अस्थनि, तं० ।

हढ-हद-पुं० । जलकहवनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० ।

हठकारग-हठकारक-त्रि० । हठेन कुर्वन्ति ये ते हठकारकाः । हठपूर्वककर्मकर्तरि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हुण–श्रु–धा०। श्रवणे,स्वादि-पर०सक० अनिट्। "श्रृणोतेर्हुणः" ॥ ८ । ४ । ५८ ॥ इति श्रृणोतेर्हुण इत्यादेशः । हुणइ । सुणइ । शृणोति । प्रा० ४ पाद ।

हन्–धा०। वधे, गतौ च । अदादि-पर० सक० अनिट् । हन्ति अवधीत् । "कुम्भं हन्ति कृशोदरी" इत्यादौ आलङ्कारिकास्तु निहतार्थतामाहुः । वाच० । प्रा० ।

हणंत–घ्नत्–त्रि० । प्राणवियोगकर्त्तरि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । प्रश्न० । गोधूमादिदलनेन घातयति । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हणण–हनन–न० हिंसने , सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । व्यापादने , सूत्र० । गुणने , विनाशने, ज्ञा० १ ,श्रु० १८ अ० । प्रश्न० ।जिघांसने, आ० । पीडने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

हणावण–घातन–न०। हननोऽनुज्ञायाम् , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हणु–हनु(नु)- नू–पुं० । स्त्री० । हन्-उन्-वा-ऊङ् । कपोलद्वयोपरिस्थे मुखभागे, हट्टविलासिन्याम् , रोगे,अस्त्रविशेषे, मृतौ च । स्त्री । वाच० । चिबुक,त० । औ०। प्रश्न० । अनु० । सूत्र०।

हणुमंत–हनूमत्–पुं० । "उर्भू-हनूमत्कण्डूय-वातूले" ॥ ८।१। १२१ ॥ इति ऊत्कारस्य उकारः । प्रा० । "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः" ॥८ । २ । १५६॥ इति मतोः स्थाने मन्त इत्यादेशः । प्रा० । रामस्य अनुचरे अञ्जनागर्भजाते पवनतनये वानरभेदे, प्रा० ।

हणुया–हनुका–स्त्री०। दंष्ट्राविशेषे, उत्त०२ अ० ।

हतसंक–हृतशङ्क–त्रि० । हास्यादिविकारविकलतया भावनीयव्यलीकशङ्के, बृ० ३ उ० ।

हतसार–हृतसार–त्रि० । अपहृतद्रव्ये , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

हत्ता–हत्या–स्त्री० । विघातिते, नि० चू० १ उ० । हनने, विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

हत्थ–हस्त–पुं० । हन्यतेऽनेनेति हस्तः, हसति वा मुखमावृत्येति हस्तः । नि०चू० १ उ० । "स्तस्य थोऽसमस्त-स्तम्बे" ॥ ८।२।४५ ॥ इति स्तस्य थकारः ।प्रा० । 'द्वितीय-तुर्ययोरुपरि पूर्वः' ॥८।२।९०॥ इति द्वित्वप्रसङ्गे द्वितीयस्य थकारस्योपरि प्रथमस्तकारः । प्रा० । आदाननिक्षेपादिसमर्थे शरीरैकदेशे, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । उत्त० । द्वे वितस्ती हस्तः । प्रव० २५४ द्वार । ज्यो० । यद्यप्यजादीनां हस्तो न विद्यते तथाप्यग्रे पादौ हस्त इव हस्तौ । उपा० ७ अ० ।

अत्र कविः —

"स्वाम्याह दक्षिणं हस्तं, कथं भिक्षां न लासि भोः ! ।
स प्राह दासहस्तस्या-धो भवामि कथं प्रभो ! ॥ १ ॥"
पूजाभोजनदानशान्तिककलापाणिग्रहस्थापना—
चोक्षप्रेक्षणहस्तकार्यणमुखव्यापारदक्षस्त्वहम् ।
(इत्यभिधाय दक्षिणहस्ते स्थिते)
वामोऽहं रणसम्मुखाङ्कगणनावामाङ्गशय्यादिकृत्,
पूताद्विग्रस्यमनी त्वसौ स तु जगौ चोक्षोऽस्मि न त्वं शुचिः ॥१॥

ततः —

दात्यश्रीभवताऽर्जिताऽर्थिमित्रहस्त्यादौ कृतार्थीकृतः,
सद्वृत्तोऽपि गृहाण दानमधुना नन्वन् मया दानिषु ।
हस्यक्षं प्रतिबोध्य हस्तयुगलं श्रेयांसतः कारयन् ,
सत्यप्रेक्षुरसेन पूर्णमृषभः पायात्स वः श्रीजिनः ॥ ३ ॥"

कल्प० १ अधि० ७ क्षण । (हस्तनिक्षेपो 'हत्थकम्म ' शब्दे अनुपदमेव वक्ष्यते ।) चतुर्विंशत्यङ्गुलमाने अवमानविशेषे , अनु० । स्था० । 'हत्थेसु अगुलीओ ' उपा० २ अ० । स्वनामख्याते नक्षत्रविशेषे , जं० ७ वक्ष० । स्था० । विशे० । हस्तनक्षत्रं पञ्चतारम् । ज्यो० ५ पाहु० । स० ।

हत्थकम्म–हस्तकर्म्मन्–न० । हन्ति हसति वा मुखमावृत्याऽनेनेति हस्तः ,शरीरैकदेशो निक्षेपादानादिसमर्थस्तेन यत्कर्म क्रियते तद्धस्तकर्म । बृ० १ उ०३ प्रक०। समयप्रसिद्धे (स्था०५ ठा० २ उ० ।) लिङ्गस्य करमर्दनेन शुक्रपुद्गलनिष्काशने , औ०। हस्तकर्म आगमप्रसिद्धम् , स्था० ३ ठा० ४ उ० । वेदविकारविशेषे, दशा० २ अ० । "णो सयं पाणिणा णिलज्जेज्जा" । न संबाधनं कुर्यात् यतस्तदपि हस्तसंबाधनं चारित्रं शबलीकरोति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० स० ।

हस्तकर्मकरणे प्रायश्चित्तम्—

जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ करंतं वा साइज्जइ । (सू०१)

इदाणिं सुत्तालावगो भणति-जे-त्ति पद,भि त्ति पद,खु त्ति, पयं, हत्थ त्ति पयं, कम्म ति पदं, करेति पद, सातिज्जति त्ति पद ।

इदाणिं पदत्थो भण्णइ—

जे त्ती खलु णिद्देसे,भि त्ती पुण भेदणे खुवस्स खलु ।
हत्थेण जं च करणं,कीरति तं हत्थकम्मं ति ॥ १ ॥

जे इति निर्देशे , खलु विशेषणे , किं विशिनष्टि ?, भिक्षोर्नान्यस्य , भि इति विदारणे क्षु इति कर्मणः आख्यानं ज्ञानावरणादिकर्म भिनत्तीति भिक्षुः । भावभिक्षोर्विशेषणे पुनः 'हत्थे' त्ति हन्यते अनेनेति हस्तः , हसति वा मुखमावृत्येति हस्तः , आदाननिक्षेपादिसमर्थः शरीरैकदेशो हस्तः ,अतस्तेन यत्करणं व्यापार इत्यर्थः , स च व्यापारः क्रिया भवति,अतः सा हस्तक्रिया क्रियमाणा कर्म भवतीत्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

हस्तकर्मादीनां त्रयाणां पदानां प्रत्येकं पृथक् पृथक् प्ररूपणां वक्ष्ये । यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामो हस्तकर्मप्ररूपणां तावदाह—

नामं ठवणा हत्थो य, दव्वहत्थो य भावहत्थो य ।
दुविहो य दव्वहत्थो, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥१२१६॥

नामहस्तः स्थापनाहस्तो द्रव्यहस्तो भावहस्तश्चेति , चतुर्धा हस्तः । तत्र नामस्थापनाहस्तौ गतार्थौ । द्रव्यहस्तो, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्विविधो भवति । तद्यथा—मूलगुणनिर्वर्त्तित उत्तरगुणनिर्वर्तितश्च यो जीवविप्रमुक्तस्य शरीरस्य हस्तः स मूलस्य-जीवस्य गुणेन—प्रयोगेण निर्वर्त्तित इति मूलगुणनिर्वर्त्तितः । यस्तु काष्ठचित्रलेप्यकर्मादिषु निर्वर्त्तितो हस्तः स उत्तरगुणनिर्वर्त्तित उच्यते ।

अथ भावहस्तमाह—

जीवो उ भावहत्थो, णेयव्वो होइ कम्मसंजुत्तो ।
विविओ वि य आदेसो,जो तस्स विजाणओ पुरिसो १२२।

'जीवो' त्ति-विभक्तिव्यत्ययात् यो जीवस्य हस्त. कर्मसंयुक्त-आदाननिक्षेपादिक्रियायुक्तः स नोआगमतो भावहस्त उच्यते । द्वितीयोऽपि चात्रादेशः समस्ति, यस्तस्य विज्ञायकस्तदुपयुक्तः पुरुष सोऽपि भावहस्त ; आगमत इत्यर्थ. । अत्र नोआगमतो भावहस्तेनेहाधिकार ।(वृ०)(कर्मपदव्याख्या 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २४४ पृष्ठे गता ।) एषां मध्ये अत्र कतमेनाधिकार , इति चेदत आह-अधिकारोऽत्र भावकर्मणो मोहोदयलक्षणेन शेषास्तु शिष्यमतिव्युत्पादनार्थं प्ररूपिता ततो भावहस्तेन यत्कर्म क्रियते तत् हस्तकर्म भण्यते इति प्रक्रम. ।

अथ भावकर्मैव व्याचिख्यासुराह-

दुविहं च भावकम्मं, असंकिलिट्ठं च संकिलिट्ठं च ।
थप्पं तु संकिलिट्ठं, असंकिलिट्ठं तु वोच्छामि ॥१२२२॥

द्विविधं च भावकर्म, तद्यथा—असंक्लिष्टं च, संक्लिष्ट च । चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ, तत्र संक्लिष्ट स्थाप्य-पश्चाद्वक्ष्यते । असंक्लिष्टं तु साम्प्रतमेव वक्ष्यामि ।

यथा प्रतिज्ञातमेव प्रमाणयति—

छेदणे भेदणे चेव, घंसणे पीसणे तहा ।
अहिघाते सिणेहे य, काये खारे त्ति या वरे ॥१२२३॥

छेदनं भेदन चैव घर्षण पेषण तथा अभिघात. स्नेहश्च काये क्षार इति वा पर. । एवमसंक्लिष्टस्य कर्मणोऽष्टौ भेदाः भवन्ति । एतानि च छेदनादीनि शुषिरे वा कुर्यात् , अशुषिरे वा ।

पुनरेकैकं शुषिरादिछेदन द्विधा कथमिति चेदुच्यते—

एक्केकं तं दुविहं, अणंतर परंपरं च णायव्वं ।
अट्ठाणट्ठा य पुणो, होंति अणट्ठाएँ मासलहुं । १२२४।

यत् शुषिरस्य अशुषिरस्य वा छेदन तदेकैक द्विविधम्-अनन्तर, परपरं च ज्ञातव्यम् । पुनरेकैकं द्विधा—अर्थाद् , अनर्थाच्च; सार्थक निरर्थकं चेत्यर्थ । अनर्थक छेदनादिक कुर्वता मासलघु असमाचारीनिष्पन्नमिति भाव ।

कथ पुन छेदनमनन्तरं परपरं वा सभवतीत्याह—

नहदंतादि अणंतर, पिप्पलमादी परंपरे आणा ।
छप्पइमादि असंजमे, छेदे परितावणादीया ॥१२२५॥

नखैर्दन्तैरादिग्रहणात्-पादेन वा यच्छिद्यते तदनन्तरछेदनमुच्यते , पिप्पलकेन , आदिग्रहणात्-पाइल्लकछुरिकाकुठारादिभिर्यच्छिद्यते तत् परपरछेदनम् , परस्पर वा छिन्दता तीर्थकरगणधराणामाज्ञा न कृता भवति । तं छिन्दन्तं दृष्ट्वा अन्येऽपि छिन्दन्ति इत्यनवस्था,एते निपुणन्त छेदनादिकं मिट्टूं कुर्वन्ति न स्वाध्यायम् , एवं शय्यातरादी चिन्तयति मिथ्यात्वम् । विराधना द्विविधा-संयमे,आत्मनि च । तत्र षट्पाद्यौ छिद्यमाने षट्पदिकादयो यद्विनाशमनुवृते सोऽसंयम , संयमविराधनेत्यर्थ., अथ छेदनं कुर्वतो हस्तस्य वा पादस्य वा छेदो भवति तत आत्मविराधना । तत्र च परितापमहादु.खादिनिष्पन्नं पाराञ्चिकान्त प्रायश्चित्तम् ।

अथ शुषिरं शुद्धेन प्रायश्चित्तमाह—

झुसिरमझुसिरे लहुगा,लहुगा गुरुगो य होंति गुरुगा य।
संघट्टणपरितावण, लहुगुरुग तिवायणे मूलं ॥१२२६॥

अशुषिरमनन्तरं छिनत्ति मासलघु शुषिरमनन्तरं छिनत्ति चतुर्लघुकम् । अशुषिर परपर छिन्दतो गुरुको मास , शुषिरं परपरं छिन्दतश्चतुर्गुरुका भवन्ति . शुषिरे बहुतरदोषत्वात् गुरुतरं परपरे शस्त्रग्रहणे संक्लिष्टतरं चित्तमिति कृत्वा गुरुतम प्रायश्चित्तम् । एवं शुद्धपदेऽप्कायविराधनाभावे मन्तव्यम्,अशुद्धपदे पुनरिदमपर प्रायश्चित्तम्-"सघट्टणमि"त्यादि, छेदनादिकं कुर्वन् द्वीन्द्रियान् सघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, उपद्रावयति षड्लघु, त्रीन्द्रियान् संघट्टयति चतुर्गुरु, परितापयति षड्लघु. उपद्रावयति षड्गुरु, चतुरिन्द्रियान् संघट्टयति षड्लघु, परितापयति षड्गुरु, उपद्रावयति छेद , पञ्चेन्द्रियान् संघट्टयति षड्गुरु, परितापयति छेद. , पञ्चेन्द्रियमतिपातयति मूलम् । एवमिन्द्रियानुलोम्येन सविस्तर यथा पीठिकायामुक्त तथैवात्राऽपि मन्तव्यम् ।

अथ द्वितीयोऽयमादेश.—

अझुसिरणंतरे लहुओ, गुरुगो अ परंपरे अझुसिरम्मि ।
झुसिराण चरे लहुगा,गुरुगा तु परंपरे अहवा ॥१२२७॥

अशुषिरे अनन्तरे लघुको मास:, अशुषिरे परंपर गुरुको मास , शुषिरे अनन्तरे चतुर्लघु शुषिरे परंपरे चतुर्गुरव । अथ वेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तरद्योतक. एव तावच्छेदनपरंपरं व्याख्यानम् ।

अथ भेदनादीनि व्याख्यातुकाम इदमाह—

एमेव सेसएसु वि, करपादादी अणंतरं होइ ।
जं तु परंपरकरणं, तस्स विहाणं इमं होति ॥ १२२८ ॥

एवमेव छेदनवत् शेषेष्वपि भेदनादिषु च वक्तव्यं नवरं करपादाभ्यामादिशब्दात्-जानुकूर्परादिभि. शरीरावयवै क्रियमाणाभ्या भेदनादिकमनन्तर भवति, यत् भेदनादे परपराकरण तस्य विधानमिदं भवति ।

तद्यथा—

कुवणयमादी भेदो, घंसणमणिगादियाण कट्ठादी ।
पट्ठगवरादिपीसण-गोप्फणधणुनादि अभिघातो॥१२२९

कुवणो-लगुडस्तेन आदिशब्दादुपललेष्टुकादिभिर्या घटादिभेद भेदन,द्विधा त्रिधा छिद्रपातनमित्यर्थ ,एतत्परपराभेदनमुच्यते । एवं घर्षणं मणिकादीनां मन्तव्यं, यथा मणिकारा लगुडयेधान् कृत्वा मणिकान् घर्षयन्ति , आदिशब्दात्प्रवालादिपरिग्रह , 'कट्ठाइ' त्ति चन्दनकाष्ठफलकादिक वा यत् घर्षति तदा घर्षणम् , 'पट्टग' त्ति,गन्धपट्टकस्तत्र घर्ग प्रधाना. ये गन्धास्तदादीनां पेषणं मन्तव्यम् । गोफणा चर्ममयरज्जुमयी प्रसिद्धा तया, धनु प्रभृतिभिर्वा लेष्टुकमुपलं वा यत्प्रक्षिपति एषोऽभिघात उच्यते (अभिघातव्याख्या 'अभिघाय ' शब्दे प्रथमभागे ७१४ पृष्ठे गता ।) तत शस्त्रेण परंपराकरणभूतेन पत्रछेद्यादिषु निवर्तयति । क्षारो लवणं तमशुषिरे शुषिरे वा कलिश्चादिभि. प्रक्षिपति । कलिश्चो वंशकर्परी ।

एषु दोषानाह—

एक्केक्केयणातो, आणादीया य संजमे दोसा ।
एवं तु अणट्ठाए, कप्पइ अट्ठाएँ जयणाए ॥ १२३१ ॥

एकैकस्माच्छेदनादिपदादागाढानागाढादयो दोषा संयमे आत्मनि च प्रागुक्ता, संयमात्मविराधनायामेते दोषा अनर्थकं छेदनादिकं कुर्वतो भवन्ति। अथ-अर्थ.-प्रयोजन तस्मिन्प्राप्ते यतनया छेदनादिकं करोति तदा कल्पते।

इदमेव द्वितीयपदं भावयति—

असती अहाकडाणं, दसिगादिगछेदणं च जयणाए ।
गुलमादि लाउणाले, कप्परभेदादि एमेव ॥ १२३२ ॥

यथाकृतानां वस्त्राणामभावे दशिका छेत्तव्या, आदिशब्दात्प्रमाणाधिकस्य वा वस्त्रादेः छेदनं यतनया यथा संयमात्मविराधना न भवति तथा कर्त्तव्यम्। भेदनद्वारे गुडादिपिण्डस्य, भेदं कुर्यात्, अलाबु-तुम्बकं तस्य वा नालमधिकरणं भिन्द्यात्। कर्पर-कपालं तदादिना वा कार्यमुत्पन्नं ततो घटग्रीवादेर्भेदमेवमेव यतनया कुर्यात्।

अक्खाणचंदणे वा, विघंसण पीसणं तु अगतादी ।
वग्घातीणऽभिघातो, अगतादि य ताव सुणगादी॥१२३३॥

घर्षणद्वारे अक्षाः प्रसिद्धास्तेषां समीकरणार्थं चन्दनस्य वा ग्लानादेः परिदाहोपशमनार्थं घर्षणं कर्त्तव्यम्। पेषणद्वारे ग्लानादिनिमित्तमेवमेव अगदादेः पेषणं विधेयम्। अभिघातद्वारे व्याघ्रादीनामभिभवतां गोफणया धनुषा वा अभिघातः कार्यः, अगदादिर्वा प्रताप्यमानस्य शुनककाकादयोऽभिपतन्तो लेष्टुना भेषयितव्याः।

चितिए उज्झण जतणा, दाहे वा भूमिदेहसिंचणता।
पडिणीगासिवसमणी,पडिमा खारो तु सेल्लादि॥१२३४॥

स्नेहद्वारे द्वितीयमपवादपदं प्रतीत्य स्नेहमुद्धरितं क्षारमध्ये प्रक्षिप्य परिष्ठापयेत्, द्रव—पानकं तस्योज्झनं यतनया विधेयम्, 'दाहे' त्ति लताया उष्णस्य वा गाढतरमभितापे प्रतिश्रयभूमिकायामाकर्षणं कुर्यात्, तृषाभिभूतं वा देहं सिञ्चेत् ग्लानं भक्तप्रत्याख्यायिनं वा दाहाभिभूतं सिञ्चेत्। कायद्वारे कश्चिद् गृहस्थः प्रत्यनीकस्तस्योपशमनीं प्रतिमां कृत्वा ततो यावदसावनुकूलो भवति तावन्मन्त्रं जपेत्, अशिवप्रशमनीं वा प्रतिमां विदध्यात्। क्षारद्वारे अमस्तरे पर्पटे वा शृङ्गेरे वा प्रस्तुतिशमनार्थं क्षारं प्रक्षिपेत्-तत्र शुषिरं दर्शयति "खारो तु सल्लादि" त्ति सेल्लं बालमयं सिन्दूरं तत्र क्षारं क्षपणीयं किं सजातं न वेति।

उपसंहरन्नाह—

कम्मं असंकिलिट्ठं, एवमियं वण्णियं समासेणं ।
कम्मं तु संकिलिट्ठं,वोच्छामि आहाणुपुव्वीए ॥१२३५॥

एवमिदमसंक्लिष्टं हस्तकर्म समासेन वर्णितम्। साम्प्रतं संक्लिष्टं हस्तकर्म यथानुपूर्वं वक्ष्यामि।

तदेवाह—

वसहीए दोसेणं, दट्ठु सरितुं च पुव्वभुत्ताइं ।
एतेहिँ संकिलिट्ठं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ १२३६ ॥

वसतेर्दोषेण वा स्त्रीणां वा आलिङ्गनादिकं विधीयमानं दृष्ट्वा, पूर्वभुक्तानि वा स्त्रीभिः सह हसितक्रीडितादीनि स्मृत्वा, एतैः कारणैः संक्लिष्टं-हस्तकर्म यथोत्पद्यते तदहं वक्ष्ये समासेन।

तत्र वसतिदोषं तावदाह—

दुविहो वसहीदोसो, वित्थरदोसो य रूवदोसो य ।
दुविहो य रूवदोसो,इत्थिगतणपुंसगो चेव ॥१२३७॥

द्विविधो वसतिदोषो भवति, तद्यथा-विस्तरदोषो, रूपदोषश्च। तत्र विस्तरदोषो घट्टशालादिकः कुशीलादिसंसर्गतो वा, रूपदोषः-स्त्रीरूपगतो, नपुंसकरूपगतश्च। स च दोषः एकैको द्विविधः-सचित्त., अचित्तश्च, जीवविषयः अजीवविषयश्चेत्यर्थः।

अचित्तं पुनरपि द्विविधस्तत्रगतं, आगन्तुकश्च।

उभयमपि व्याचष्टे—

कट्ठे पुत्थे चित्ते, दंतोवलमट्टियं व तत्थगतं ।
एमेव य आगंतुं, पालत्तय वेट्टिया जवणा ॥ १२३८ ॥

या काष्ठकर्मणि वा पुस्तकर्मणि वा चित्रकर्मणि वा निर्वर्तिता स्त्रीप्रतिमा, यद्वा-दन्तमयमुपलमयं मृत्तिकामयं वा स्त्रीरूपं यस्यां वसतौ अस्ति तत् तत्रगतं मन्तव्यम्। तद्विषयो दोषोऽप्युपचारात्तत्रगत उच्यते। एवमेव आगन्तुकमपि मन्तव्यम्, आगन्तुकं नाम-यदन्यत आगतं तत्र यथा तत्र गताः स्त्रीप्रतिमा भवन्ति तथा आगन्तुका अपि भवेयुः, तथा चात्र पादलिप्ताचार्यकृता 'वेट्टक' त्ति राजकन्यकादृष्टान्तः, स चायं "पा(य)लित्तायरिएहिं रन्नो भगिणीसरिसिया चक्कमणुम्मेसनिमेसमयी बालविहट्टया आयरियाणं पुरतो विरइ। राया वि अईव पा(य)लित्तगसिणेहं करेइ। धिज्जाइएहिं पउट्ठेहिं रन्नो कहियं—भगिणी ते समणएण अभिओगिया। राया न पत्तियति भणिओ आयच्छ दंसेसु। ततो राया आगता पासित्ता पालित्तायरियाणं रुट्ठो पओसरिओ। तओ सा आयरिएहिं कड त्ति विगरणीकया, राया सुट्ठुतरं आउट्टो" एवमागन्तुका अपि स्त्रीप्रतिमा भवन्ति। 'जवणे' त्ति जवनविषये ईदृशानि स्त्रीरूपाणि प्राचुर्येण क्रियन्ते। व्याख्यातं द्विविधमप्यचित्तम्। अथ सचित्तं व्याख्यायते, तदपि द्विविधम्-तत्रगतम्, आगन्तुकं च।

तदुभयमपि व्याख्यानयति—

पडिवेसिग एकघरे, सचित्तरूवं तु होति तत्थगतं ।
सुण्णमसुण्णघरे वा, एमेव य होंति आगंतू॥ १२३९ ॥

प्रातिवेश्मिकगृहे एकस्मिन्नुपाश्रये कारणतः स्थितानां यत् स्त्रिया रूपं दृश्यते तत्तत्रगतं सचित्तरूपं भवति। अथवा-शून्यगृहमशून्यगृहं वा प्रविष्टेन या तत्र स्थिता स्त्री विलोक्यते, तदपि तत्रगतम्। एवमेव आगन्तुकमपि सचित्तं स्त्रीरूपं भवति, प्रतिश्रये या स्त्री समागच्छति तदागन्तुकमिति भावः।

अत्र तिष्ठतां दोषानुपदर्शयति—

आलिंगणादी पडिसेवणं वा,
दव्वं सचित्ताणमचेदणं वा ।
सद्देहिँ रूवेहि य इंधिते तु,
मोहग्गीऍ संदिप्पति हीणसत्ते ॥ १२४० ॥

तेषां तत्रगतानाम्-आगन्तुकाना वा सचित्तानां स्त्रीरूपाणाम् आलिङ्गनादीनि प्रतिसेवनां कुर्वतो दृष्ट्वा अचेतनानि वा स्त्रीरूपाणि विलोक्य प्रतिसेव्यमानाया वा स्त्रिया शब्दान् श्रुत्वा तै. शब्दै रूपैश्च इन्धित -प्रज्वालितो मोहाग्नि' कस्यापि हीनसत्त्वस्य भुक्तभोगिनोऽभुक्तभोगिनो वा सदीप्यते, ततः स्मृतिकरणकौतुकदोषा भवेयुः ।

कथमित्याह—

कुतूहलं च गमणं, सिंगारं कुड्डछिड्डकरणे य ।
दिट्ठे परिणयकरणे,भिक्खुणो मूलं दुवे इतरे ॥१२४१॥

कुतूहलं तस्योत्पद्यते यथाऽत्र गत्वा पश्यामि शृणोमि शब्दम् एव कुतूहले उत्पन्ने तत्र गमन कुर्यात् , शृङ्गार वा गायन्तीं श्रुत्वा गच्छेत्,कुड्यस्य वा छिद्र कृत्वा प्रलोकयेत्। दृष्टे च सोऽपि तद्भावपरिणतो भवेत् अहमप्येवं करोमीति। एव तद्भावपरिणत कश्चित्तदेवालिङ्गनाऽऽदिकरणं कुर्यात्। एतेषु स्थानेषु भिक्षोर्मूलं यावत्प्रायश्चित्तम्। इतरयोरुपाध्यायाचार्ययोर्यथाक्रम, द्वे अनवस्थाप्यपाराञ्चिके चरमपदे भवतः ।

इदमेव व्याचष्टे—

लहुगो लहुआ गुरुगा, छम्मासा छेदमूलदुगमेव ।
दिट्ठे य गहणमादी, पुव्वुत्ता पच्छकम्मं वा ॥ १२४२ ॥

तत्र गत. शृणोति मासलघु. कुतूहलं तस्योत्पद्यते मासगुरु, व्रजतश्चतुर्लघुका. , शृङ्गार शृण्वतश्चतुर्गुरुकाः, कुड्यस्य छिद्रकरणे षण्मासा लघवः , छिद्रेण पश्यतस्ते षड्गुरव., तद्भावपरिणते छेद. , आलिङ्गनादिकरणे मूलम् , एव भिक्षो प्रायश्चित्तमुक्तम् । उपाध्यायस्य मासगुरुकादारब्धमनवस्थाप्ये पर्यवस्यति । आचार्यस्य चतुर्लघुकादारब्धं पाराञ्चिके तिष्ठति । अन्यच्च आरक्षिकादिभिर्दृष्टे सति ग्रहणाऽऽकर्षणादय' पूर्वोक्ता दोषा', या प्रतिमा सा कदाचिदालिङ्ग्यमाना भज्येत तत. पश्चात्कर्मदोष', एष वसतिविषयो रूपदोष उक्त ।

अथ विस्तरतो दोषमाह—

अप्पो य गच्छो महती य साला,
निक्कारणे ते य तहिं ठिताओ ।
कज्जट्ठिया वा जतणाएँ हीणा,
पावंति दोसं जतणा इयं तु ॥ १२४३ ॥

अल्पश्चासौ गच्छस्तत्र प्रतिश्रये स्थित., शाला च सा महती-विस्तीर्णा, ते च साधवो निष्कारणे तत्रोपाश्रये स्थिता वर्त्तन्ते। अथवा-कार्यस्थिता. पर यतनया वक्ष्यमाणया हीनास्ततो वेश्याप्रभृतिषु स्त्रीषु समागच्छन्तीषु दोषं कौतुकस्मृतिकरणादिकं प्राप्नुवन्ति, कारणे तु तत्र तिष्ठतामियं यतना।

यतनास्वरूपमाह—

असिवादिकारणेहिं, अण्णासति वित्थडीएँ ठायंति ।
ओतप्पोतँ करिंती, संथारगवत्थपादेहिं ॥१२४४॥

अशिवादिभि. कारणै क्षेत्रान्तरं अतिष्ठन्तस्तत्राऽन्यस्या वसतेरभावे विस्तृतायामपि वसतौ तिष्ठन्ति , तत्र च संस्तारकैर्वस्त्रपात्रैश्च भूमिकाम् 'ओतप्पोतं' ति (आस्तृतां) कुर्वन्ति; पालयन्तीत्यर्थ ।

इदमेव व्यनक्ति—

भूमीए संथारे, अद्धवियड्डे करिंति तह दट्ठुं ।
ठातुमणा वि दिवसओ,न ठंति रत्तिं तिमा जयणा॥१२४५

विस्तीर्णायां वसतौ तथा भूम्यां संस्तारकमर्द्धं विवर्द्धितं ते कुर्वन्ति,तथा तान् दृष्ट्वा स्थातु मनसोऽपि न तिष्ठन्ति, एषा दिवसतो यतना । रात्रौ पुनरियं यतना ।

वेसत्थीआगमणे, अवारणे चउगुरू व आणादी ।
अणुलोममनिग्गमणे,ठाणं अन्नत्थ रुक्खादी॥१२४६॥

वेश्यास्त्री यदि रात्रावागच्छति भणति च अहमप्यत्र वसामीति सा वारणीया। अथ न वारयन्ति ततश्चतुर्गुरुकम् , आज्ञादयश्च दोषा. । ' अणुलोम ' त्ति अनुकूलैर्वचनैः सा प्रतिषेद्धव्या न खरपरुषै., सा साधूनामभ्याख्यानं दद्यादिति कृत्वा 'निग्गमणे' त्ति यदि सा वेश्या गन्तुं नेच्छति ततः साधुभिर्गन्तव्यम् , अन्यस्मिन्-अन्यगृहादिस्थाने स्थातव्यम् , तदभावे वृक्षमूलादावपि स्थेयं न पुनस्तत्रेति ।

इदमेव व्यक्तीकरोति-

पुढवीउ सा सजोती, हरियतसा तेणउवहि वासं वा ।
सावगसरीरतेणग, फरुसादी जाव ववहारो ॥१२४७॥

यद्यपि बहिः पृथिवीकायः , सा वेश्या सज्योतिर्वा साग्निका , अन्या वसतिः हरितकायस्त्रसप्राणिनो वा तत्र सन्ति तथापि निर्गन्तव्यम् । अथ बहिरुपधिस्तेनभयं वर्षं वा वर्षति , श्वापदा शरीरस्तेनका वा तत्र सन्ति, ततः परुषवचनैरपि सा वेश्या भणितव्या-निर्गच्छास्मदीयप्रतिश्रयात्,आदिशब्दात्तथाप्यनिर्गच्छन्त्या बन्धनादिकमपि विधीयते यावद् व्यवहारोऽपि करणे उपस्थितायाः कर्तव्यः ।

इदमेव भावयति-

अम्हे दाणि वि सहिमो, इड्डिमपुत्तबलवं असहणो ऽयं ।
णीहि अणिंते बंधण,णिवकहणे सिरिघरोहरणं ।१२४८।

साधवो भणन्ति-वय क्षमाशीला इदानीं विविधं विशिष्टं वा सहामहे , ततो यस्त्वाकारवान् साधु' स दर्शनीय , अयं तु ऋद्धिमत्पुत्रो राजकुमारादिर्बलवान् सहस्रयोधी असहन.-कोपनो बलादपि भवन्तीं निष्काशयिष्यति, ततः स्वयमेव निर्गच्छ. यदि निर्गच्छति ततो लष्टम् ,अथ न निर्गच्छति तदा सर्वेऽपि साधव एको वा बलवान् तां बध्नाति.ततः प्रभाते मुच्यते । मुक्ता च यदि नृपस्यान्तिके साधूनाकर्षयति तदा करणं गत्वा कारणिकादीनां व्यवहारो दीयते ।तत्र च श्रीगृहोदाहरणं कर्त्तव्यम ।यथा-यदि राज्ञ. श्रीगृहे रत्नापहार

कुर्वन् कश्चिच्चौरः प्राप्यते ततस्तस्य कं दण्डं प्रयच्छथ?।कार
णिका प्राहुः-शिरस्तदीयं गृह्यते। साधवो भणन्ति अस्मा-
कमप्येषा रत्नापहारिणी अव्यापादिता मुधैव मुक्ता। ते प्राहुः
कानि युष्माकं रत्नानि ?, साधवो भणन्ति-ज्ञानादीनि। कथं
तेषामपहारः ?, अनाचारप्रतिसेवनादपध्यानगमनादिनेति ।

अथ सस्त्रीकः पुरुषः समागच्छेत् सोऽपि वारणीयः ।

तथा चाह—

अहिकारो वारणम्मि, जत्तिय अप्फुण्ण तत्तिया वसही।
अतिरेगदोस भगिणी,रत्तिं आरद्धे णिच्छुभणं॥१२४९॥

यत्र केवला पुरुषमिश्रीभावा स्त्री समागच्छति तत्र सर्व-
त्रापि वारणायामधिकारः, सापि कर्त्तव्येति भावः अत एव
चोत्सर्गतो गृहशालायां न वस्तव्यं, किं तु यावद्भिः साधुभि
सा 'अप्फुण्ण' त्ति व्याप्ता भवति तावती-तावत्प्रमाणा
वसतिरन्वेषणीया। अथातिरिक्तायां वसतौ वसन्ति ततो
दोषाः पूर्वोक्ता भवन्ति। कारणतस्तस्यामपि स्थितानां कश्चि
त्पुरुषः स्त्रीसहितः समागच्छति,स चानुरक्तैर्वचोभिर्वारणी-
यः, वार्यमाणश्च ब्रूयात्—एषा मे भगिनी संरक्षणीया, साधू-
नां समीपे वा न शङ्कनीया इति छद्मना भणित्वा स्थितः,
रात्रौ च प्रारब्धवांस्तां प्रतिसेवितुम्, ततः साधुभिर्वक्तव्यः,
अरे! निर्लज्ज ! किमस्मान् स्थितान् न पश्यसि, यदेवमकार्यं
करोषि एवमुक्त्वा निष्काशनं तस्य कर्त्तव्यम्।

अथासौ निष्काश्यमानो रुष्येत्, रुष्टश्च—

आवरितो कम्मेहिं, सत्तू विव उवट्ठितो थरथरंतो ।
मुंचति य भेंडिता तो, एकेक्कं ते निवादेमि ॥ १२५० ॥

कर्मभिः-कषायमोहनीयादिभिरावृतः-आच्छादितः सा-
धूनामुपरि शत्रुरिव रोषेण 'थरथरंतो' त्ति भृशं कम्पमानः
प्रहारं दातुमुत्थितो वाग्योगेन च भिन्दिकां गिरं महता शब्दे-
न मुञ्चति, यथा—युष्माकमेकैकं निपातयामि।

णिग्गमणं तह चेव य, णिद्दोसे सदोसनिग्गमे जतणा।
सज्झाए झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे य ॥ १२५१ ॥

एवं तस्मिन् विरुद्धे तस्यां वसतेः साधुभिर्निर्गमनं तथैव
कर्त्तव्यम्, यथा पूर्वं वेश्यास्त्रियामुक्तं यदि बहिर्निर्दोषम्,
अथ सदोषं ततः अनिर्गमे अनिर्गच्छतामियं यतना-स्वाध्या
यो महता शब्देन क्रियते ध्यानं वा ध्यायते, यस्य स्वाध्याये
ध्याने वा लब्धिर्न भवति स आवरण-कर्णयोः स्थगनं वि-
दधाति, शब्दकरणं वा महता शब्देन बोलो विधीयते। एव-
मपि यतमानस्य कस्यापि तत्प्रतिसेवनं दृष्ट्वा कर्मोदयो भ-
वेत्

कथम् ? इति चेदुच्यते—

वडपादवउम्मूलण, तिक्खम्मि वि विज्जलम्मि वच्चंतो।
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावती पडणं।१२५२।
तह समणसुविहियाणं, सव्वपयत्तेण वी जतंताणं।
कम्मोदयपच्चइया, विराधणा कस्स वि हवेज्जा॥१२५३॥

यथा वटपादपस्याऽनेकमूलप्रतिबद्धस्यापि गिरिनदीसलि-
लवेगेनोन्मूलनं भवति, यथा वा-तीक्ष्णेन नदीपूरेण कृतप्रय-
त्नोऽपि पुरुषो ह्रियते, विजले वा-कर्दमाकुले व्रजन् प्रयत्नं
कुर्वाणोऽपि अवशः पतनं यथा प्राप्नोति, तथा श्रमणसु-
विहितानां सर्वप्रयत्नेनापि निर्विकृतिकविधानयाचनाप्रदाना-
दिना यतमानानां वसतिदोषेण अनाचारदर्शनान्मोहोदयः
सञ्जायते, ततश्च कर्मोदयप्रत्ययिका कस्यचिद् व्रतचारित्र-
विराधना भवेत्। पञ्चमासादुदीर्णमोहो धृतिदुर्बलश्च उद-
यमधिसोढुमशक्तो हस्तकर्म करोति ।

तत्र प्रायश्चित्तमाह—

पढमाए पोरिसीए, बितियाततियाए तह चउत्थीए।
मूलं छेदो छम्मा-समेव चत्तारिया गुरुगा॥ १२५४ ॥

प्रथमायां पौरुष्यां,हस्तकर्म करोति मूलं, द्वितीयायां छेदः,
तृतीयायां षण्मासा गुरवः, चतुर्थ्यां चतुर्मासा गुरवः ।

एतामेव निर्युक्तिगाथां (भाष्यकारः) व्याचष्टे—

निसि पढमपोरिसीए, अदढधिती सेवणे भवे मूलं।
पोरिसि पोरिसि हसणे, एक्केक्कं ठाणगं हसई॥१२५५॥

निशि-रात्रौ प्रथमपौरुष्यां मोहोद्भवोऽजनि यतस्तस्यामे-
वादृढधृतिर्यदि हस्तकर्म सेवते तदा मूलम्। अथ प्रथमपौरु-
षीमतीत्य द्वितीयायां सेवते छेदः, द्वे पौरुष्यावधिसह्य
तृतीयायां सेवते षड्गुरवः, तिस्रः पौरुषीरधिसह्य चतुर्थ्यां
सेवमानस्य चतुर्गुरुकाः। एवं पौरुषीं पौरुषीम् एकैकपौरुषी-
हसनेन प्रायश्चित्तस्थानं हसति।

बितियम्मि वि दिवसम्मि, पडिसेवंतस्स मासियं गुरुगं।
छट्ठं पच्चक्खाणं, सत्तमए होति तेगिच्छं॥ १२५६ ॥

एवं रात्रौ चतुरो यामानतिसह्य द्वितीये दिवसे प्रथमपौरु-
ष्यां प्रतिसेवमानस्य मासगुरुकं,ततः परं सर्वत्रापि मासगुरु,
लघूनि तु प्रायश्चित्तानि अत्र न भवन्ति, अत एवेदं हस्तकर्म-
सेवनमनुद्धातिकमुच्यते, एवमसौ प्रतिसेव्य साङ्घाटिकस्या-
न्यस्य वा कस्याप्यालोचयेत्। स च प्रागुक्तहस्तकर्मकारकं
साधुं पञ्चकापेक्षया षष्ठं साधुस्तं प्रति ब्रवीति । यत्कृतं
यदकृतं न भवति, संप्रति भक्तप्रत्याख्यानमङ्गीकुरु। सप्तमको
चैकित्स्यं भवति। इयमत्र भावना-सप्तमो ब्रवीति, अस्य मो-
होदयस्य निर्विकृतिका वाऽवमौदर्यादिरूपा चिकित्सा
कर्त्तव्या।

तथा—

पडिलाभणऽट्ठमम्मि, णवमे सड्ढी उवस्सए फासे।
दसमम्मि पिता पुत्ता, एक्कारसमम्मि आयरिए॥१२५७॥

अष्टमसाधोः प्रतिलाभनाया उपदेशो भवति, नवमो ब्रूते
श्राद्धिका उपाश्रयं समानीयते सा भवतः शरीरं स्पृशेत्,
दशमसाधोः पितापुत्रौ युवां सन्नातिकग्रामं गत्वा चिकित्सां
कुरुतामित्युपदेशो भवति, एकादशस्य साङ्घाटिकसाधोः आ
चार्या इत्युल्लखनोपदेशो भवति। किमुक्तं भवति-एकादशो-
ब्रवीति—यदाचार्या आदिशन्ति तद्विधाहे, अयं शुद्धः ।

शेषेषु प्रायश्चित्तमाह—

छट्ठो य सत्तमो य, अह सुद्धा तेसि मासियं लहुयं।
उवरिल्ल जं भणंती, थेरस्स वि मासियं गुरुगं॥१२५८॥

षष्ठसप्तमौ यथा शुद्धौ न, दोषयुक्तादेशं ददाते, यतश्च

गुरूणामुपदेशमन्तरेण स्वेच्छया भणतस्ततो मासिक लघुकं तयोः प्रायश्चित्तम्। उपरितना अष्टमनवमदशमा यत्सदोषमुपदेश भणन्ति तेन त्रयाणामपि मासगुरुकम्। स्थविरस्यापि पितुः पुत्रेण सह संज्ञातं ग्रामं गच्छता मासिक गुरुकम्।

तथा उक्तेन च षष्ठादिसाधूनामुपदेशेन विवृणोति-

संघाडगादिकहणे, जं कतँ तं कतॅ इयाणि पचक्खा।
अविसुद्धो दुट्ठवणो,ण समिति किरिया सेॅकायव्वा१२५९

सघाटकस्यादिशब्दादन्यस्य वा हस्तकर्म कृतं मयेत्येवं कथने कृते सति ब्रूयात्—यत्कृतं तत्कृतमेव इदानीं भक्त प्रत्याख्यत, किं ते अवृप्रनिश्चस्य जीवितेनेति। सप्तम. प्राह-अविशुद्धो दुष्टव्रणोऽप्युक्तादिकां क्रियां विना न शाम्यति अतः क्रिया 'से' तस्य कर्तव्या, एव भवताऽस्य मोहोदयव्रणस्य निर्विकृतिकावमौदरिका क्रिया विधेया, येनोपशमो भवति।

पडिलाभणा उ सड्ढी, करसीसे वंद ऊरु दोच्चंगे।
मूलादिरुयपमज्जण ओअट्टणे सड्डिमाणेमो ॥१२६०॥

अष्टमः प्राह-'श्राद्धी श्राविका सा प्रतिलाभनां करोति,प्रतिलाभयन्त्यां चोर्वोः पात्रके स्थिते यथाभावेनाभ्युपेत्य वा चालिते ऊरुमध्ये द्वितीयाङ्गादिकमवगलति,तत सा श्राविका करेण स्पृशन्ती वन्दते शीर्षेण वा वन्दमाना पादौ स्पृशेत्, ततः स्त्रीस्पर्शेन वीर्यनिसर्गो भवेत्, नवम. प्राह-'मूलादिरुये' ति मूलमादिग्रहणादन्यतरद्वा तनुरूपं रुगजातकमस्मादुत्पद्यते तत. श्राद्धिका आनीयते, सा स्वतश्चेलादिकं प्रमार्जयति 'ओअट्टण' त्ति गाढतरमुद्वर्तयति एव वीर्यनिसर्गो भवेत्, तत. श्राद्धिकामानयाम।

सन्नायपल्लि णेहि, मेहुणि खुड्डंत निग्गमोवसमो।
अविधितिगिच्छा एसा, आयरिकहणे विधिकारो१२६१

यस्य मोहोदय समुत्पन्नस्तस्य पितर प्रति दशमो भणतिसंज्ञातकपल्लिं संज्ञातकग्रामं 'ण'मित्येनमात्मीय पुत्र नय त्व तत्र मैथुनिका मातुलदुहिता तया सह 'खुड्डंत' त्ति सोपहासवचनैर्भिन्नकथाभि. परस्परं हस्तसंकर्षेण च क्रीडतो वीर्यनिर्गमो भवेत्, ततश्च मोहोपशमो भवति। एषा सर्वाप्यविधिचिकित्सा भणिता। यस्तु ब्रवीति-आचार्याणा गत्वा आलोचयत ततस्ते यां चिकित्सामुपदिशन्ति सा कर्त्तव्या। एतदेवास्य साधोर्विधिकथनमुच्यते।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह—

सारूविए गिहत्थे, परतित्थिनपुंसगे य सूयणया।
चउरो य हुंति लहुगा,पच्छाकम्मम्मि ते चेव ॥१२६२॥

कश्चित् ब्रूयात्-सारूपिक सिद्धपुत्रस्तद्रूपो यो नपुंसकस्तेन हस्तकर्म कार्यताम्। द्वितीय प्राह—गृहस्थपुराणनपुंसकेन,तृतीयो भणति-मिथ्यादृष्टिनपुंसकेन, चतुर्थो ब्रवीतिपरतीर्थिकनपुंसकेन। एतेषा चतुर्णामपि 'सूयणय' त्ति हस्तकर्मकरणसूचनां-प्रेरणा कुर्वाणाना चत्वारो लघव तप-कालविशेषिता भवन्ति। तत्र प्रथमे द्वाभ्यामपि लघवः, द्वितीये तपसा लघव. तृतीये कालेन लघवश्चतुर्थे द्वाभ्यामपि गुरव इति। अथ ते हस्तकर्म कृत्वा पश्चात्कर्म कुर्वन्त-उदकेन हस्तौ धावन्तीत्यर्थ., तत्रापि त एव चतुर्लघवः।

एमेव कमो णियमा,इत्थीसु वि होइ आणुपुव्वीए।
चउरो य अणुग्घाया,पच्छाकम्मम्मि ते लहुगा॥१२६३॥

एष एव सारूपिकादिक. क्रमो नियमात्स्त्रीणामप्यानुपूर्व्या वक्तव्यो भवति। तद्यथा-प्रथमो ब्रवीति सिद्धपुत्रिकया हस्तकर्म कार्यताम्। एवं द्वितीयो गृहस्थपुराणिकया, तृतीयो मिथ्यादृष्टिगृहस्थया, चतुर्थ परतीर्थिकया चतुर्णामप्येव भणतां स्त्रीस्पर्शकारापणप्रत्ययाश्चत्वारोऽनुद्धाता गुरुका मासा.,तथैव तपःकालविशेषिता. प्रायश्चित्तम्। पश्चात्कर्मणि तु एव चत्वारो मासा लघुकाः। तदेव गतं वसतेर्दोषेणेति द्वारम्। दृष्ट्वा स्मृत्वा पूर्वभक्तानीति द्वारद्वयं तु यथा निशीथे प्रथमोद्देशक प्रथमसूत्रे व्याख्यातं तथैवात्राप्यवगन्तव्यम्। तदेवमुक्त हस्तकर्म। बृ० ४ उ०। नि- चू०। हस्तक्रियाया परस्परं हस्तव्यापारप्रधाने कलहे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० (हस्तकर्मविषयक त्रयोदश बृहत्कल्पसूत्रम् 'मेहुण' शब्दे षष्ठे भागे गतम्।)

हत्थणिक्खेव-हस्तनिक्षेप-त्रि०। न्यास' समर्पणं यस्य द्रव्यस्य तद्धस्तनिक्षेपम् करन्यस्तद्रव्ये, विपा० १ श्रु० २ अ०।

हत्थताल-हस्तताल-पुं०। हस्तेन ताडने, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

हत्थताडण-हस्तताडन-न०। मुष्टियष्ट्यादिभिर्मरणनिरपेक्षतयाऽऽत्मन परस्य वा स्वपक्षगतस्य परपक्षगतस्य वा घोरपरिणामत. प्रहरणे, पञ्चा० १६ विव०।

हत्थन्दुय-हस्तान्दुक-न०। हस्तयो. काष्ठादिमयबन्धनविशेषे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

हत्थपाय-हस्तपाद-पुं०। करचरणरूपे युगले,प्रश्न० ३ सव० द्वार।

हत्थपायनिहुय--हस्तपादनिभृत-त्रि०। हस्तौ पादौ च निभृतौ परधनादानव्यापारादुपरतौ यत्र तत्। अदत्तादानवद्ध, प्रश्न० ३ सव० द्वार।

हत्थपायपडिच्छण्ण--हस्तपादप्रतिच्छन्न-त्रि०। छिन्नकरचरणे, दश० ८ अ०।

हत्थमालय--हस्तमालव--पुं०। अङ्गणत्रिकाख्ये आभरणविशेषे, औ०।

हत्थलिज्ज--हस्तलीय--न०। आर्यरोहणनिर्गतस्य उद्देहगणस्य चतुर्थे कुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

हत्थाइधोवण--हस्तादिधावन--न०। करचरणप्रभृतिशरीरावयवाना कारणमुद्दिश्य प्रक्षालने, पिं०।

हत्थागय--हस्तागत--त्रि०। हन्ति हसति वा मुखमावृत्य अनेनेति हस्तस्तमागताः हस्तागताः। करगतेषु, उत्त० ५ अ०। हस्ते आगता. हस्तागताः। स्वाधीनतया वर्त्तमानेषु, उत्त० ५ अ०।

हस्तायत--त्रि०। विस्तीर्णे, प्र० व० २ द्वार।

हत्थादाण-हस्तादान-न० । परस्परहस्तदाने , बृ० ४ उ० । (हस्तताडनं वृद्दनघस्थाप्यो भवतीति, ' अणवट्ठप्प ' शब्दे प्रथमभागे गतम् ।)

हत्थादान-हस्ताताड-पुं० । हस्तेनाताडन हस्ताताड । हस्तताडने पूर्वोक्तार्थे, प्रश्न० २ पद्म० । वृ० ।

हत्थाभरण-हस्ताभरण-न० । हस्ताभरणाङ्गुलीयकादिके करभूषणे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

हत्थामास-हस्तामर्ष-पुं० । हस्तेन हिरण्यस्यामर्श -परामर्शो यद्दो हस्तामर्श० । करेण स्पर्शमात्रे, तत्परिमाणे सुवर्णे च । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

हत्थालंब-हस्तालम्ब-पुं० । करालम्बने, हस्तालम्ब इव हस्तालम्बस्तं हस्तालम्ब ददत् अशिवपुरगोधादौ तत्प्रशमनार्थमभिचारुकमन्त्रविद्यादि प्रयुञ्जान इत्यर्थ । स्था० ३ ठा० ४ उ० । (स च अनुद्धातिको भवतीति ' अणुग्घाइय ' शब्दे प्रथमभागे ३६४ पृष्ठे उक्तम् ।)

हत्थि(ण्)-हस्तिन् -पुं० । कुञ्जरे,करिवरे,सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अनु० । आचा० ।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा-भद्दे मंदे मिते संकिन्ने। चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा-भद्दे णाममेगे भद्दमणे, भद्दे णाममेगे मंदमणे,भद्दे णाममेगे मियमणे,भद्दे नाममेगे संकिन्नमणे । चत्तारि हत्थी पण्णत्ता,तं जहा-मंदे णाममेगे भद्दमणे, मंदे णाममेगे मंदमणे, मंदे णाममेगे मियमणे, मंदे णाममेगे संकिण्णमणे । चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा-मिते णाममेगे भद्दमणे,मिते णाममेगे मंदमणे,मिते णाममेगे मियमणे,मिते णाममेगे संकिन्नमणे । चत्तारि हत्थी पण्णत्ता,तं जहा-संकिण्णे नाममेगे भद्दमणे,संकिन्ने नाममेगे मंदमणे,संकिन्ने नाममेगे मियमणे, संकिन्ने णाममेगे संकिन्नमणे। (सू० २८१×) स्था० ४ ठा० २ उ० ।

(अत्रत्यविस्तर 'पुरिसजाय' शब्दे पञ्चमभागे उक्त ।) हस्तिनापुरनगरनिवेशके कुरुपुत्रे राज्ञि , ती० ४८ कल्प । स्वनामख्याते काश्यपगोत्रोत्पन्ने स्थविरे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

हत्थिकण्ण-हस्तिकर्ण-पुं०। लवणसमुद्रस्यान्तर्वर्तिनि स्वनामख्याते अन्तर्द्वीपे, स्था० ५ ठा० १ उ० । ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठेऽस्य व्याख्यात)

हत्थिकप्प-हस्तिकल्प-न० । स्वनामख्याते सौराष्ट्रदेशमध्यगे नगरे, यत्र मासिकीं संलेखना कृत्वा शत्रुञ्जय पर्वते आरुह्य पञ्च पाण्डवा सिद्धा. । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

हत्थिगुलगुलाइय-हस्तिगुलगुलायित-न० । हस्तिनो गुलगुलशब्दे, रा० । ' अप्पेगइया हत्थिगुलगुलाइं करेंति, ' आ० म० १ अ० । हस्तिनो यद् गुलगुलायित शब्दविशेष एव । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हत्थिजाम-हस्तियाम-न० । नालन्दाया पूर्वोत्तरस्यां दिशि स्वनामख्याते वनखण्डे.सूत्र०२ श्रु०७अ० । (विशेषस्त्वत्रत्यः ' पेढालपुत्त ' शब्दे पञ्चमभागे गत. ।)

हत्थिणाउर-हस्तिनापुर-न०।कुरुजनपदे नागपुरनगरे, स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । विपा० । आ० चू० ।

हस्तिनापुरकल्प'—

"सिरिसंतिकुंथुअरम—ल्लिसामिणो गयउरम्मि नमिऊ । पभणामि हत्थिणाउर—तित्थस्स समासओ कप्पं ॥ १॥" सिरि आइतित्थयरस्स दोण्णि पुत्ता , भरहेसर—बाहुबली नामाणो आसि । भरहस्स सहोयरा अट्ठाणउइं कुमारा । तत्थ भगवया पव्वयंतेण भरहो निअपए । अभिसित्तो,बाहुबलिणो तक्खसिला दिण्णा। एवं सव्वाण वि तेसु तेसु रज्जाइं दिण्णाइं अंगकुमारनामेणं अंगदेसो जाओ , कुरुनामेणं कुरुखित्त पसिद्ध, एव वगकलिंगसूरसेण अवन्तमाइसु विभासा । कुरु तस्स पुत्तो हत्थी नाम राया हुत्था,तेण हत्थिणाउर निवेसिअं तत्थ भागीरही महानई पवित्तवारिपूरा परिवहइ । तत्थ सिरिसंतिकुंथुअरनाहा जहासंखं सोलससत्तरसअट्ठारसमा जिणिंदा जाया । पञ्चम-छट्ठ-सत्तमा य कमेण चक्कवट्टी होउं छक्खंडभरहवासरिद्धिं भुंजित्तु दिक्खागहण केवलनाण च तेसिं तत्थेव संजायं । तत्थेव संवच्छरमणसिओ भयवं उसभसामी, बाहुबलिनत्तुअस्स सिज्जंसकुमरस्स तिहुअणगुरुदंसणजायजाईसरणजणिअदाणविहिणो गेहे अक्खयतइयादिणे इक्खुरसेण पढमपारणयमकासी । तत्थ पंच दिव्वाइं पाउब्भूआइं मल्लिसामी अ तत्थेव नयरे समोसढो, तत्थ विण्हुकुमारो महरिसी तवसत्तीए विउव्विअ लक्खजोअणप्पमाणसरीरो तिहिं पएहिं अक्कंततलुक्को नमुइं सासित्था, तत्थ पुरिसे ण कुमारमहापउमसुभूमपरसुरामाई महापरिसा उप्पण्णा । तत्थ पंच पंडवा उत्तमपुरिसा चरमसरीरा दुज्जोहणपमुहा य महाबलनिवा अणेगे समुप्पण्णा । तत्थ सत्तकोडिसुवण्णाहिवई गंगदत्तसिट्ठी , तहा सोहम्मिदस्स जीवो रायाभिओगेणं परिव्वायगस्स परिवेसणं काउं पवेरग्गेणं नरगणसहस्सपडिबुद्धो कत्तियसिट्ठी सिरिमुणिसुव्वयसामिसमीवे निक्खंतो । तत्थ महानयरे संतिकुंथुअरमल्लिजिणाण चेइयाइं, मणहराइं, अंबादेवीए य देउलं आसि, एवमणेगअच्छरिअसहस्सनिहाणे तत्थ महातित्थे जे जिणसासणपभावणं कुणंति विहिपुव्व, जत्तामहूसवं निम्मवंति ते कइवयभवग्गणेहिं धुअकम्मकिलेसा सिद्धिमुवगच्छंति त्ति " श्रीगजाह्वयतीर्थस्य , कल्प स्वल्पतरोऽप्ययम् । सता सकल्पसम्पूर्त्यै , धत्तां कल्पद्रुकल्पताम् ॥१॥ " इति श्रीहस्तिनापुरतीर्थकल्प समाप्त । ती० १५ कल्प।

"अभिवन्द्य जगद्वन्द्यान् श्रीमत शान्तिकुन्थ्वरान् ।
स्तुतिं वा स्तोष्यति स्तोमै , स्तौमि तीर्थं गजाह्वयम् ॥ १ ॥
शतपुत्र्यामभून्नाभि—सूनो सूनु कुरुर्नृप ।
कुरुक्षेत्रमिति ख्यात , राष्ट्रमेतत्तदाख्यया ॥ २ ॥
कुरो पुत्रोऽभवद्धस्ती , तदुपज्ञमिदं पुरम् ।
हस्तिनापुरमित्याहु—रनेकाश्चर्यसेवधिम् ॥ ३ ॥
श्रीयुगादिप्रभोराद्या, चोत्तैरिक्षुरसैरिह ।
श्रेयांसस्य गृहे पञ्च, दिव्यान्यजनि पारणा ॥ ४ ॥

जिनास्त्रयोऽत्र जायन्ते, शान्तिः कुन्थुररस्तथा ।
आर्हिमाङ्कसार्वभौमा, छिभुजस्ते महीभुजः ॥ ५ ॥
मल्लिश्च समवासार्षी—त्तेन चैत्यचतुष्टयी ।
अत्र निर्मापिता श्राद्धै—र्वीक्ष्यते महिमाऽद्भुता ॥ ६ ॥
भासतेऽत्र जगन्नेत्र-पवित्रीकारकारणम् ।
भवनं चाम्बिकादेव्या, यात्रिकोपप्लवच्छिदः ॥ ७ ॥
जाह्नवी क्षालयत्येत—च्चैत्यभित्तीः स्ववारिभिः ।
कल्लोलोच्छालितैर्भूयो, भक्त्या स्नात्रचिकीरिव ॥ ८ ॥
सनत्कुमारः सुभूमो, महापद्मश्च चक्रिणः ।
अत्रासन् पाण्डवाः पञ्च, मुक्तिश्रीजीविनेश्वराः ॥ ९ ॥
गङ्गदत्तः कार्तिकश्च, श्रेष्ठिनौ सुव्रतप्रभोः ।
शिष्यावभूतां विष्णुश्च, नमुचेरत्र शासिता ॥ १० ॥
कलिदर्पहरं स्फीत—सङ्गीतं सङ्घसुव्ययाम् ।
यात्रामासूत्रयन्त्यत्र, भव्या निर्व्याजभक्तयः ॥ ११ ॥
शान्ते कुन्थोरथ चतुः—कल्याणी चात्रपत्तने ।
जज्ञे जगज्जनानन्दा, सम्मेताऽद्रौ च निर्वृतिः ॥ १२ ॥
भाद्रस्य सप्तमी श्यामा, नभसो नवमी शितिः ।
द्वितीया फाल्गुनस्यैषां, तिथ्योऽभूवन् दिवश्च्युतेः ॥ १४ ॥
ज्येष्ठे त्रयोदशी कृष्णा, माधवे च चतुर्दशी ।
मार्गे च दशमी शुक्ला, तिथयो जनुषस्तु वः ॥ १४ ॥
शुक्ला चतुर्दशी श्यामा, राधे बहुलपञ्चमी ।
सहस्यैकादशी शुभ्रा, जज्ञुर्दीक्षादिनानि च ॥ १५ ॥
पौषस्य नवमी श्वेता, तृतीया धवला मधोः ।
ऊर्जस्य द्वादशी श्वेता, ज्ञानोत्पत्तेरहानि वः ॥ १६ ॥
शुक्ले त्रयोदशी कृष्णा, चैत्राखे पञ्चति. शितिः ।
मार्गे वलक्षा दशमी, मुक्तेर्वस्तिथयः क्रमात् ॥ १७ ॥
भवादृशानां पुरुष-रत्नानां जन्मभूरियम् ।
स्पृष्टाऽप्यनिष्टं शिष्टानां, पिनष्टि किमुत स्तुता ॥ १८ ॥
तादृग्विधैरतिशयैः पुरुषप्रणीतै—
र्विभ्राजितं जिनपरि(र)चितयैर्महैश्च ।
भागीरथीसलिलसङ्गपवित्रमेत—
ज्जीयाच्चिरं गजपुरं भुवि तीर्थरत्नम् ॥ १९ ॥
दृष्टे पृथक्त्वविषयार्कमिते शकाब्दे,
वैशाखमासि शितिपक्षगषष्ठतिथ्याम् ।
यात्रोत्सवोपनतसङ्घयुतो यतीन्द्रः,
स्तोत्रं व्यधात् गजपुरस्य जिनप्रभाख्यः ॥ २० ॥"

श्रीहस्तिनापुरस्तवनकृतिः श्रीजिनप्रभसूरिणाम् ॥ ती० ४८ कल्प । स्था० । ज्ञा० । कल्प० ।

हत्थिणिया-हस्तिनिका-स्त्री० । करेणुकायाम् , आ०म०१अ० ।

हत्थितावस-हस्तितापस-पुं० । तापसविशेषेषु, ये हस्तिनं मारयित्वा तेनैव बहुकालं भोजनतो यापयन्ति । भ० ११ श० ९ उ० । औ० । नि० । हस्तिनं व्यापाद्याऽऽत्मनो वृत्तिं कल्पयत्सु बौद्धसाधुषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । (' अद्दगकुमार ' शब्दे प्रथमभागे ४६० पृष्ठे हस्तितापसमतं व्याख्यातम् ।)

हत्थिदीव-हस्तिद्वीप-पुं० । गजगृहनगरवादिरिकाया नालन्दाभिधानाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि खण्डे , स्था० ९ ठा० ३ उ० ।

हत्थिपाल-हस्तिपाल-पुं० । पापायां मध्यमायां नगर्यां स्वनामख्याते राजनि , यस्य शालायां वीरजिनो निर्वृतः । स० ५५ सम० । ती० ।

हत्थिपिप्पली-हस्तिपिप्पली-स्त्री० । गजपिप्पल्याम् , उत्त० ३४ अ० ।

हत्थिबंधणखंभ-हस्तिबन्धनस्तम्भ-पुं० । हस्तिनां बन्धनभूते स्तम्भे, पाइ० ना० २०३ गाथा ।

हत्थिभूइ-हस्तिभूति-पुं० । हस्तिमित्रपुत्रे, उत्त० २ अ० ।

हत्थिमित्त-हस्तिमित्र-पुं० । उज्जयिन्यां स्वनामख्याते गृहपतौ , उत्त० २ अ० ।

हत्थिमुह-हस्तिमुख-पुं० । लवणसमुद्रस्यान्तर्द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञा० । नं० । उत्त० । (स च ' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ८९ पृष्ठे विशेषतो व्याख्यातः ।)

हत्थिरयण-हस्तिरत्न-न०।उत्कृष्टे हस्तिनि, स्था०७ठा०३उ०।

हत्थिराय-हस्तिराज-पुं० । हस्त्यनीकाधिपतौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । स० ।

हत्थिलावय-हस्तिलावक-पुं० । हस्ती च शालीनां लावकाश्च हस्तिलावकाः । करिणी व्रीहिच्छेदकेषु च व्याक्षेपे , व्य० ६ उ० ।

हत्थिवाउय-हस्तिव्यापृत-पुं० । महामात्रे , औ० ।

हत्थिवाहण-हस्तिवाहन-पुं० । नन्दीश्वरद्वीपदेवे , सू० प्र० १९ पाहु० ।

हत्थिसिक्खा-हस्तिशिक्षा-स्त्री० । कलाविशेषे, स० ७२ सम० । हस्तिदमने. औ० ।

हत्थिसीसग-हस्तिशीर्षक-न० । स्वनामख्याते नगरे, ज्ञा०१श्रु० १७ अ० । "इहास्ति भरतक्षेत्रे, नगरं हस्तिशीर्षकम् । सुवृत्तरङ्गमुक्लेद,हस्तिशीर्षमिवोद्यतम् ," आ० क० १ अ० । आ० म० । ज्ञा० । 'हत्थिसीसं नगरं तत्थ दमयन्तो राया' आ० म०१ अ० ।

हत्थिसुंडिया-हस्तिशुण्डिका-स्त्री० । यत्र पुताभ्यामुपविष्टः सन् एकं पादमुत्पाट्यास्ते सा हस्तिशुण्डिका । निषद्याभेदे , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

हत्थिसोंडा-हस्तिशुण्डा-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे , प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

हत्थुत्तरा-हस्तोत्तरा-स्त्री० । हस्तोपलक्षिता उत्तरा, यासां ता हस्तोत्तराः । उत्तरफाल्गुनीषु , स्था० ५ ठा० १ उ० । आचा० । आ० म० । कल्प० ।

हत्थुल्ल-हस्त-पुं० । " स्वार्थे कश्च वा " ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति स्वार्थे उल्लप्रत्ययः । हत्थुल्लो । करे , प्रा० २ पाद ।

हदण-हदन-पुं० । स्वनामख्याते ख्यातिशवर्त्तिनि , (हदनव्याख्या ' माणपिंड ' शब्दे षष्ठे भागे गता ।)

हद्धी-अव्य० । " हद्धि निर्वेदे " ॥ ८ । २ । १९२ ॥ हद्धी इत्ययमत एव निर्देशात् , हाधिक्शब्दादेशो वा निर्वेदे प्रयोक्तव्यम् । हद्धी । निर्वेदे , प्रा० २ पाद ।

हम्म-हन्-धा० । हिंसायाम् , "हम्मतेऽप्ययस्य " ॥ ८ । ४ ।

२४४ ॥ इति यस्य द्विरुक्तो मो वा , यस्य च लुक् । हम्मइ । हम्यते । प्रा० ४ पाद ।

हर्म्य--न० । शिखररहिते धनवतां भवने , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हम्ममाण--हन्यमान--पुं० । कशाभिः (सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।) यष्टिमुष्टिलकुटादिभिः, (सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।) ताड्यमाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

हम्मियतल--हर्म्यतल--न० । अट्टाले, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

हम्मीरमहम्मद--पुं० । पारसीकोऽयं शब्दः,विक्रमादित्यस्य षष्ठ्यधिकत्रयोदशशततमे १३६० सवत्सरे जाते लक्ष्मणपुराधिपे यवनराजे, ती०३४कल्प । "नन्दानेकपशक्तिशीतगुमिते श्रीविक्रमार्थीपते-र्वर्षे भाद्रपदस्य मास्यवरजे सौम्ये दशम्यां तिथौ । श्रीहम्मीरमहम्मदे क्षितिपतौ चमामण्डलाखण्डले, ग्रन्थोऽयं परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने ॥ १ ॥" ती० ४८ कल्प ।

हय--हत--त्रि० । यष्ट्यादिभिस्ताडिते,उत्त० २ अ० । आचा० । ज्ञा० । 'हयमहियपरवीरघाइय' भ० ७ श० ६ उ० । व्यवच्छिन्ने, विशे० । मृत, उत्त० ३२ अ० । "प्रत्यूषेण हता मार्गाः, परिहासहताः स्त्रियः । मन्दबीजं हतं क्षेत्रं , हतं सैन्यमनायकम् ॥ १ ॥" बृ० १ उ० २ प्रक० ।

हय--पुं० । अश्वे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । तुरगे, अनु० ।

हयकंठग--हयकण्ठक--पु० । हयकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, रा० । जी० ।

हयकण्ण--हयकर्ण--पुं० । लवणसमुद्रस्यान्तर्द्वीपविशेषे, कर्म० ५ कर्म० । उत्त० । नं० । स्था० । (अस्य व्याख्या ' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे उक्ता ।) आर्यदेशविशेषे, प्रव० २७४ द्वार ।

हयगय--हयगत--पु० । अश्वारूढे, औ० ।

हयजूहियट्ठाण--हययूथिकस्थान--न० । हयोऽश्वः तेषां परस्परतो युद्ध यत्र पश्चात्सन्धिश्च क्रियते तादृशे स्थाने, नि० चू० १२ उ० । आचा० ।

हयजोह--हतयोध--पुं० । हता-विनाशिता योधा-अश्वारोहादयो यैस्ते हतयोधाः । विनाशितयोधेषु,प्रश्न०३ आश्र० द्वार ।

हयजोहि(ण्)--हययोधिन्--पुं० । हयेन युध्यते इति हययोधी । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । अश्वारोहेण युध्यमाने, औ० ।

हयधी--हतधी--स्त्री० । मूलोच्छिन्नबुद्धौ , बहुव्रीहिसमासे तु तादृशबुद्धियुक्ते. त्रि० । प्रति० ।

हयपर--हतपर--पुं० । हता अधमा ये परे तीर्थान्तरीयास्ते तथा । कुतीर्थिकेषु, स्या० ।

हयपुव्व--हतपूर्व--त्रि० । पूर्वहते, आचा०१ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

हयमहिय--हतमथित--त्रि० । प्रहारतो हते मानमन्थनात् मथिते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

हयमुह--हयमुख--पुं० । लवणसमुद्रस्यान्तर्द्वीपविशेषे, उत्त० ३६ अ० । (' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ८८ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता ।) अनार्यदेशविशेषे, प्रव० २७४ द्वार ।

हयरस्सि--हयरश्मि--पु० । खलीने, दश० १ चू० ।

हयलक्खण--हयलक्षण--न० । दीर्घग्रीवादिकूटेत्यादिके अश्वलक्षणविज्ञाने, ज० २ वक्ष० । ज्ञा० । कल्प० ।

हयलाला--हयलाला--स्त्री० । अश्वमुखजले, ज० ३ वक्ष० । औ० । ' हयलालापेलवाइरेग ' जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हयवर- हयवर--न० । अश्वानां मध्ये प्रधाने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

हयविलंबिय--हयविलम्बित--न० । चतुर्विंशतितमनाट्यविधौ, रा० ।

हयवीहि--हयवीथि--स्त्री० । शुक्रस्य महाग्रहस्य नागवीथीत्यन्यत्र प्रसिद्धे शुक्रादिग्रहचारयोग्यक्षेत्रभागे, " भरणीस्वात्याग्नेयं नागाख्या वीथिरुत्तरे मार्गे " स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हयसंघाडग--हयसंघाटक--पु० । अश्वद्वये , संघाटकशब्दो युग्मवाची यथा साधुसंघाटक इत्यत्र , ततो द्वे द्वे हययुग्मं हयसंघाटक इत्युच्यते । रा० । जी० । जं० ।

हयसंठिय--हयसंस्थित--पुं० । अश्वाकारे, भ० १ श० २ उ० ।

हयहसिय--हयहसित--न० । हयशब्दविशेषे , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । औ० । आ० म० । ज० ।

हयाणीय--हयानीक--घोटककटके, उत्त० १७ अ० ।

हर--हर--पुं० । हर.-काल. स मनुष्यं हरति प्राणिनामायुरिति हरः । दिवसरजन्यात्मके काले , उत्त० १४ अ० । रुद्रे, अनु० ।

हृ--धा० । हरणे, " व्यञ्जनाददन्ते " ॥ ८ । ४ । २३६ ॥ इति अन्तेऽकारः । हरइ । हरति । प्रा० ४ पाद ।

ग्रह--धा०।ग्रहणे, "ग्रहो वल गेण्ह हर पङ्ग निरुवाराहिपच्चुआः" ॥८।४।२०६॥ इति हर इत्यादेशः । हरति। गृह्णाति ।प्रा० ।

हरडई--हरीतकी--स्त्री० । "हरीतक्यामीतोऽत्" ॥८ । १ । ६६॥ इति आदेरीकारस्याऽद्भवति , " प्रत्ययादौ ड. " ॥ ८ । १ । २०६ ॥ इति तस्य ड , । हरडई । हरीतकी । स्वनामख्याते वृक्षे, तत्फले च । प्रा० १ पाद ।

हरण--हरण--न० । हृतौ , " हारो त्ति वा हरणं त्ति वा हरइ त्ति वा एगट्ठा " हारः हृतिर्हरणं ह्रियते इति वा एकार्थाः इत्यर्थः । व्य० १ उ० । परद्रव्यस्य हृतौ ,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हरतणु--हरतनु--पुं० । तृणाग्रव्यवस्थिते जलबिन्दौ, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । ध० व० । ध० । यो भुवमुद्भिद्य गोधूमाङ्कुरतृणाग्रादिषु बद्धो बिन्दुरुपजायते । बादरकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद । कल्प० । दश० । जी० ।

हरय--ह्रद--पुं० । महागाधजले , आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । उत्त० । भ० । स्था० । जी० । रा० ।

हरहरा--हरहरा--स्त्री० । अतीव भिक्षाप्रस्तावे , " निग्गमण च गाम, महिलाथूभं च सुण्णय ददट्ठुं । नीय च काया आलिंति, जाय भिक्खस्स हरहरा ॥ २०६४ ॥ " विशे० । (इय निर्युक्तिगाथा ' देसकाल ' शब्दे ४ भागे व्याख्याता ।)

हरि-हरि-पुं० । वासुदेवे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । स्था० । अष्ट० । सिंहे, स्था० ४ ठा० २ उ० । शाखामृगे, आव० ४ अ० । स्था० । हरिवर्षक्षेत्रविशेषस्याधिष्ठातृदेवे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । जं० । विद्युत्कुमारेन्द्रे, आ० चू० १ अ० । महाग्रहे, च० प्र० २० पाहु० । (अत्रत्या व्याख्या ' महग्गह ' शब्दे पञ्चमभागे १७१ पृष्ठे गता ।) औत्तराहाणामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हरिअंद-हरिश्चन्द्र-पुं० । " श्चो हरिश्चन्द्रे " ॥८।२।८७॥ इति श्चस्य लुक् । हरिअंदो । सूर्यवंशजे त्रिशङ्कुपुत्रे नृपविशेषे, प्रा० ।

हरिएस-हरिकेश-पुं० । मातङ्गे चाण्डाले , उत्त० ।

हरिकेशनिक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

हरिएसे णिक्खेवो, चउव्विहो दुविहो होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नोअगमतो य सो तिविहो ॥३१८॥
जायणसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एग भवियबद्धाउ य, अभिमुहतो नामगोए य ॥३१९॥
हरिएसनामगोअं , वेअंतो भावओ अ हरिएसो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, हरिएसिज्जं ति अज्झयणं ॥३२०॥

हरिकेशे निक्षेपश्चतुर्विधो नामादिः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्विविधो भवति द्रव्ये—द्रव्यविषयः—आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो , नोआगमतश्च स त्रिविधो ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तश्च । स पुनः त्रिविधः—एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च । हरिकेशनामगोत्रं वेदयन् भावतस्तु हरिकेश उच्यते , ततोऽभिधेयभूतात् समुत्थितमिदं हरिकेशीयमित्यध्ययनमुच्यते इति शेषः, इति गाथात्रयार्थः ।

सम्प्रति हरिकेशवक्तव्यतामाह निर्युक्तिकृत्—

पुव्वभवे संखस्स उ , जुवरन्नो अंतिअं तु पव्वज्जा ।
जाईमयं तु काउं , हरिएसकुलम्मि आयाओ ॥ ३२१ ॥
महुराए संखो खलु , पुरोहिअसुओ अ गयउरे आसी ।
दट्ठूण पाडिहेरं, हुयवहरत्थाइनिक्खंतो ॥ ३२२ ॥
हरिएसा चंडाला , सोवाग मयंग बाहिरा पाणा ।
साणधणा य मयासा,सुमाणवित्ती य नीया य ।३२३।
जम्मं मयंगतीरे , वाणारसिगंडितिंदुगवणं च ।
कोसलिएसु सुभद्दा , इसिवंता जन्नवाडम्मि ॥ ३२४ ॥
बलकुट्ट बलकुट्टो, गोरी गंधारि सुविणगवसंतो ।
नामनिरुत्ती छण स-प्प संभवो दुंदुहे बीओ ॥ ३२५ ॥
भद्दएणेव होअव्वं, पावइ भद्दाणि भद्दओ ।
सविसो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चई ॥ ३२६ ॥
इत्थीण कहित्थ वट्टई, जणवयरायकहित्थ वट्टई ।
पडिगच्छह रम्मतिंदुअं,अइसहसा बहुमुंडिए जणे॥३२७॥

एतदक्षरार्थः सुगम एव, णवरं ' अंतियं तु ' इति अन्तिके-समीपे तु पूरणे, ' पाडिहेरं ' ति प्रतिहारा—दौवारिकस्तद्वत्सदा सन्निहितवृत्तिर्दैवताविशेषोऽपि प्रतिहारस्तस्य कर्म प्रातिहार्यम् , तच्चेह हुतवहरथ्यायाः शीतलत्वम् तथा हरिकेशाश्चाण्डालाः श्वपाकाः मातङ्गा बाह्याः पाणाः श्वधनाश्च मृताशा श्मशानवृत्तयश्च नीचाश्चेत्येकार्थिकाः, तथा ' मयङ्गतीरे ' त्ति मृतेव मृता विवक्षितभूदेशे तत्कालप्रवाहिणी सा चासौ गङ्गा च मृतगङ्गा तस्यास्तीरं तस्मिन् ऋषिवान्ता-ऋषित्यक्ता,तथा भद्र एव भद्रको;यो न कस्यचिदशुभे प्रवर्त्तते,भद्राणि—कल्याणानि, तथा स्त्रीणां कथा तासां नेपथ्याभरणभाषादिविषया अत्र—अस्मिन् यज्ञाश्रमे प्रवर्त्तते , ' जणवयरायकह ' त्ति जनपदकथा मालवकादिदेशप्रशंसा-निन्दात्मिका राजकथा च राज्ञां शौर्यादिगुणवर्णनादिरूपा , ' पडिगच्छह ' त्ति तिङ्व्यत्ययात् प्रतिगच्छामो—निवर्त्तावहे, ' अयी' त्यामन्त्रणे ' सहसे 'त्यपर्यालोच्य , कोऽर्थः ?,—अपरीक्षितयोग्यताविशेषो, ' बहुमुण्डितो जनो ' मुण्डमात्रेणैव गृहीतदीक्षः प्रायोजनो, गृहीतभावदीक्षस्तु स्वल्प एवेति भावः । तथेहाद्यगाथाया एव पादद्वयं द्वितीयगाथाया स्पष्टीकृतं, ततस्तृतीयपादः स्पष्ट एवेति, शेषगाथाभिश्चतुर्थपादस्य पर्यायदर्शनतस्तत्सूचितार्थाभिधानश्चाभिव्यञ्जनम् । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्च सम्प्रदायः—"महुराए नयरीए संखो नाम जुवराया, सो धम्म सोउं पव्वातितो,विहरंतो य गयउर गओ, तहिं च भिक्खं हिंडंतो एगं रत्थं पत्तो , सा य किर अतीव उण्हा मुम्मुरसमा, उण्हकाले ण सक्कति कोऽवि वोलेउं । जो तत्थ अजाणंतो उप्फंदति सो विणस्सति। तीसे पुण णामं चेव हुयवहरत्था, तेण साहुणा पुरोहियपुत्तो पुच्छितो—एस रत्था निव्वहति ? , सो पुरोहियस्स पुत्तो चिंतेति—एस डज्झउ त्ति निव्वहति इइ वुत्त, सो पट्ठिओ , इयरो य अलिंदट्ठिओ पेच्छति आतुरियाए गईए वच्चंतं तं , सो आसकाए उइएणो तं रत्थं, जाव सा तस्स तवप्पभावेण, सीतीभूया । आउट्टो—अहो इमो महातवस्सी मए आसादितो, उज्जाणट्ठियं गन्तु भणाति—भगवं ! मए पावकम्म कयं, कहं वा तस्स मुच्चेज्जामि ?, तेण भणाति—पव्वयह , पव्वइतो, जातिमयं रूवमयं च काउ मओ । देवलोगगमण , चुओ संतो मयगगाए तीरे बलकोट्टा नाम हरिएसा , तेसिं अहिवई बलकोट्टो नाम, तस्स दुवे भारियाओ-गोरी, गंधारी य । गोरीए कुच्छिसि उववण्णो, सुमिणदसणं , वसतमासं पेच्छति, तत्थ कुसुमियं चूयपायवं पेच्छइ , सुमिणपाढयाणं कहियं, तेहिं भणाति-महप्पा ते पुत्तो भविस्सति । समएण पसूया, दारगो जाओ कालो विरूओ पुव्वभवजाइ-रूवमयदोसेणं, बलकोट्टेसु जाउ त्ति बलो से नाम कयं । भंडणसीलो असहणो । अण्णया ते छणेण समागया भुंजंति सुरं च पिवंति सोऽवि अप्पियाणियं करेइ त्ति निच्छूढो अच्छति समंतओ पलोएन्तो, जाव अही आगतो । उट्ठिया सहसा सव्वे, सो अही तेहिं मारिओ , अण्णमुहुत्तस्स भेरुडसप्पो आगतो । भेरुंडो नाम दिव्वगो, भीया पुण उट्ठिया , णाए दिव्वगो त्ति काऊण मुक्को । बलस्स चिंता जाता—अहो सदोसेण जीवा किलेसभागिणो भवंति , तम्हा—" भद्दएणेव होयव्वं, पावति भद्दाणि भद्दिओ । सविसो हम्मति सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चति ॥ १ ॥" एवं चिंतेतो संबुद्धो पव्वतिओ विहरंतो वाणारसिं गओ । उज्जाणं तेंदु-

यवणं, तेंदुग नाम जक्खाययणं, तत्थ गंडीतेंदुगो नाम जक्खो परिवसति, सो तत्थ अणुरत्तचेउ ठिओ, जक्खो उवसंतो, अरणो जक्खो, अरणहिं वणे वसति, तत्थ वि अरणे बहू साहुणो ठिया . सो य गंडीजक्खं पुच्छति—ण दीससि ?, पुण तेण भणियं—साहुं पज्जुवासामि, तत्थ य तेंदुयण दिट्ठो, सो वि उवसंतो, सो भणति—मम वि उज्जाणे बहवे साहू ठिया, एहि पासामो, ते गया, तउवि समावत्तीए साहुणो विकहमाणा अच्छंति । ततो सो जक्खो इम भणति—" इत्थीए कहऽत्थ वट्टई, जणवयरायकहत्थ वट्टई । पडिगच्छह रम्मतेंदुग, अइसहसा बहुमुंडिए जणे ॥१॥" अह अरणया जक्खायतणं कोसलियरायधूआ भद्दा नाम पुप्फधूवमादी गहाय अच्चिउं निग्गया, पयाहिणं करेमाणा तं ददट्ठुण कालं विगरालं छि त्ति काऊण णिट्ठुभति, जक्खेण रुट्ठेण अरणइट्ठा कया, णीया नीयघरं, आवेसिया भणति ने, णवरं मुचामि जइ ण तस्सेव देह , त च साहीन—जहा पईए सो साहू ओढूढो, रणा वि जीवउ त्ति काऊण दिरणा, महत्तरियाहिं सम तत्थाणीया, रत्तिं नाहिं भरणति—वच्च पतिसगासं ति, पविट्ठा जक्खायवणं सो पडिमं ठिओ णेच्छति, ताहे जक्खो वि इसिसरीरं छाइऊण दिव्वरूपं दंसेति, पुणो मुणिरूवं, एवं सव्वरत्तिं वेलविया, पभाए णेच्छए त्ति काऊणं पविसंती सघरं पुरोहिएण गया भणिआ—एसा रिसिभज्जा बंभणाणं कप्पइ त्ति, दिरणा तस्सेव । सो य जरणे दिक्खिजिउकामो सा अरणेण लद्धा, सा वि जरणपत्ति त्ति काऊण दिक्खिया ।" इत्युक्त सम्प्रदायोऽवसितश्च नामनिष्पन्ननिक्षेपः।

सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर', स च सूत्रे सति सम्भवत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी ।
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइंदिओ ॥ १ ॥

श्वपाका—चाण्डालास्तेषां कुलम्—अन्वयस्तस्मिन् सम्भूत —समुत्पन्न श्वपाककुलसम्भूत ., तत्किं तत्कुलोत्पत्त्यनुरूप एवायम् उत नेत्याह—गुणेषूत्तरा—प्रधाना गुणोत्तरा—ज्ञानादय. तान् धारयति गुणोत्तरधर', पठन्ति च—' अणुत्तरधरे ' त्ति , तत्र न विद्यते उत्तरम्—अन्यत्प्रधानमेषामित्यनुत्तरा. , ते च प्रक्रमात्प्रकर्षप्राप्ता ज्ञानादय एव गुणास्तान् धारयत्यनुत्तरधरः, यद्वा—अनुत्तरान्—गुणान् धारयतीत्यनुत्तरधर इति मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यो, मुणति—प्रतिजानीते सर्वविरतिमिति मुनिः, श्वपाककुलोत्पन्नोऽपि कदाचित्सवासादिनाऽन्यथैव प्रतीत' स्यादत आह—हरिकेशः सर्वत्र हरिकेशतयैव प्रतीतो बलो नाम—बलाभिधान' आसीद्—अभूत् , तस्य च मुनित्व प्रतिज्ञामात्रेणापि स्यादत आह—' भिक्खु ' त्ति भिनत्ति—यथाप्रतिज्ञातनानुष्ठानेन क्षुधमष्टविध वा कर्मेति भिक्षु, अत एव जितानि—वशीकृतानीन्द्रियाणि—स्पर्शनादीन्यनेनेति जितेन्द्रिय इति सूत्रार्थः ।

तथा—

हरिएसणभासाए, उच्चारसमिईसु य ।
जओ आयाणणिक्खेवे, संजओ सुसमाहिओ ॥ २ ॥

ईरणमीर्या एषण च इत्येषणा अनयोर्द्वन्द्वस्तनस्ताभ्यां सहिता भाष्यत इति भाषा ईर्येषणाभाषेति मध्यपदलोपी समासः,तस्याम् ,तथा उच्चारम् ,पुरीषपरिष्ठापनमपीहोच्चार उक्त ,प्रश्रवणपरिष्ठापनोपलक्षणं चैतत् ,तद्विषया समितिः-सम्यग्गमनं, तत्र सम्यक्प्रवर्त्तनमिति यावत् , उच्चारसमिति', तस्यां च, यतत इति यतो—यत्नवान् , तथा आदानं च—ग्रहणं पीठफलकादेर्निक्षेपश्च—स्थापनं तस्यैव आदाननिक्षेपं, तत इहापि चकारानुवृत्तेस्तस्मिंश्च, इह च ' उच्चारसमिएसु ' त्ति एकत्वेऽपि बहुवचन सूत्रत्वात् , समितिशब्दश्च मध्यव्यवस्थितो डमरुकमणिरिवाद्यन्तयोरपि सम्बध्यते, ततश्च ईर्यासमितावेषणासमितौ भाषासमितावादाननिक्षेपसमिताविति योज्यं, यद्वा-ईर्येषणाभाषोच्चारसमितिष्वित्येकमेव पदं, ' भासाए ' इति च एकारोऽलाक्षणिक , स चैवं कीदृगित्याह—संयत.—सयमान्वितः सुसमाहित.—सुष्ठु समाधिमानिति सूत्रार्थ. ।

तथा—

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ ।
भिक्खट्ठा बंभइज्जम्मि, जन्नवाडमुवट्ठिओ ॥३॥

मनोगुप्त्या-मनोनियन्त्रणात्मिकया गुप्त -संवृतो मनोगुप्तो, मध्यपदलोपी समासः, मनो गुप्तमस्येति वा मनोगुप्त , आहिताग्न्यादित्वाच्च गुप्तशब्दस्य परनिपातः, एवं वाग्गुप्तो-निरुद्धवाक्प्रसरः, कायगुप्त. असत्कायक्रियाविकलो, जितेन्द्रिय' प्राग्वत् , पुनरुपादानमस्य काचित्कत्वनिराकरणार्थमतिशयख्यापनार्थं वा, भिक्षार्थं—भिक्षानिमित्तं, न तु निष्प्रयोजनमेव, निष्प्रयोजनगमनस्यागमे निषिद्धत्वात् ,'बंभइज्जमि ' त्ति ब्रह्मणा—ब्राह्मणानामिज्या-यजनं यस्मिन् साऽयं ब्रह्मेज्यस्तस्मिन् , ' जरणवाड ' त्ति यज्ञवाटे यज्ञपाटे वा उपस्थित प्राप्त-इति सूत्रार्थ' ।

तं च तत्राऽऽयान्तमवलोक्य तत्रत्यलोका यदकुर्वंस्तदाह—

तं पासिऊणमिज्जंतं, तवेण परिसोसियं ।
पंतोवहिउवगरणं, उवहसंति अणारिया ॥४॥

' त ' मिति बलनामानं मुनिं ' पासिऊणं ' ति दृष्ट्वा-निरीक्ष्य ' इज्जंत ' ति आयन्तमागच्छन्तं तपसा-षष्ठाष्टमादिरूपेण परि-समन्ताच्छोषित'।-अपचितीकृतमांसशोणित कृशीकृतमिति यावत् परिशोषितं, तथा प्रान्त-जीर्णमलिनत्वादिभिरसारमुपधि —वर्षाकल्पादि स एव च उपकरणं-धर्मशरीरोपष्टम्भहेतुरस्येति प्रान्तोपध्युपकरणस्तं,यद्वा-उपधि स एवोपकरणम्-औपग्रहिक, द्वन्द्वगर्भश्च बहुव्रीहि , ' उवहसति ' त्ति उपहसन्ति आर्या -उक्तनिरुक्ता न तथा अनार्या , यद्वा-अनार्या-म्लेच्छा , ततश्च साधुनिन्दादिना अनार्या इव अनार्या इति सूत्रार्थ. ।

कथ पुनरनार्या ? , कथ चोपहसितवन्तस्ते ? इत्याह—

जाइमयं पडिथद्धा, हिंसगा अजिइंदिया ।
अबंभचारिणो बाला, इमं वयणमब्बवी ॥५॥
कयरे आगच्छई दित्तरूवे, काले विकराले फुक्कनासे ।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए, संकरदूसं परिहरिय कंठे ॥६॥

जातिमदो· जातिदर्पो यदुत ब्राह्मणा वयमिति तेन प्रतिस्तब्धाः पाठान्तरतः प्रतिबद्धा वा ये ते तथा हिंसका·—प्राण्युपमर्दकारिणः अजितेन्द्रियाः—न वशीकृतस्पर्शनादयोऽत एवाब्रह्म-मैथुनं तच्चरितुम्-आसेवितुं शीलं धर्म्मो वा येषां तेऽमी अब्रह्मचारिण, वर्ण्यते हि तन्मते मैथुनमपि-' धर्म्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः। ऋतुकाले विधानेन, तत्र दोषो न विद्यते ॥ १ ॥ ' तथा ' अपुत्रस्य गतिर्नास्ति ' इत्यादि, अत एव बाला इव बालक्रीडितानुकारिष्वग्निहोत्रादिषु तत्प्रवृत्तेः, उक्तं हि केनचिद्-" अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेति लक्ष्यते " इदृशास्ते किमित्याह इदवक्ष्यमाणलक्षण वचन—वचः ' अब्बवि ' त्ति आर्षत्वाद्वचनव्यत्ययेन अब्रुवन्—उक्तवन्तः। किं' तदित्याह—' कयरे ' त्ति कतर·, एकारस्तु प्राकृतत्वात्, तथा च तल्लक्षणम् ' ए होति अयारंते ' इत्यादि, एवमन्यत्रापि, आगच्छति—आयाति, पठ्यते च ' को रे आगच्छइ ' त्ति. त ह्यन्योऽन्यमाहुः कोऽयमीदृक् ' रे ' इति लघोरामन्त्रणं साक्षेपवचनेषु च दृश्यते, ' दित्तरूवे ' त्ति दीप्त रूपमस्येति दीप्तरूपः, दीप्तवचन त्यतिबीभत्सोपलक्षकम्, अत्यन्तदाहिषु स्फोटकेषु शीतलकव्यपदेशवत्, विकृततया वा दुर्दर्शमिति दीप्तमिव दीप्तमुच्यते, कालो वर्णतो विकरालो दन्तुरतादिना भयानकः पिशाचवत् स एव विकरालक·, ' फोक्क ' त्ति देशी पद, ततश्च फोक्का अग्रे स्थूलोन्नता च नासाऽस्येति फोक्कनासः, अवमानि—असाराणि लघुत्वजीर्णत्वादिना चेलानि-वस्त्राण्यस्येत्यवमचेलकः, पांशुना-रजसा-पिशाचवद्भूतो—जातः पांशुपिशाचभूत, गमकत्वात्समास, पिशाचो हि लौकिकाना दीर्घश्मश्रुनखरोमा पुनश्च पांशुभि· समवध्वस्त इष्टः, ततः सोऽपि निष्परिकर्मतया—रजोदिग्धदेहतया चैवमुच्यते, ' सकरे ' ति सङ्करः, स चेह प्रस्तावात्तृणभस्मगोमयाङ्गारादिमीलक उकुरडिकेति यावत् तत्र दूष्य-वस्त्रं सङ्करदूष्यं, तत्र हि यदत्यन्तनिकृष्टं निरुपयोगि तल्लोकैरुत्सृज्यते-ततस्तत्प्रायमन्यदपि तथोक्तं, यद्वा-उज्झितधर्मकमेवासौ गृह्णातीत्येवमभिधानं. ' परिहरिय ' त्ति परिहृत्य, निक्षिप्येत्यर्थः, क्व ?-कण्ठे—गले, स ह्यनिक्षिप्तोपकरण इति स्वयमुपधिमुपादायैव भ्राम्यति, अत्र कण्ठैकपार्श्वः कण्ठशब्द इति कण्ठे परिहृत्येत्युच्यत इति सूत्रद्वयार्थः।

इत्थं दूरादागच्छन्नुक्तः, सन्निकृष्ट चैन किमूचुरित्याह—

कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे ?,
काए व आसा इहमागओऽसि ?।
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया,
गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओऽसि ? ॥ ७ ॥

कतरस्त्वं, पाठान्तरञ्च-को रे त्वम्, अधिक्षेपे रेशब्दः ' इर्ता ' त्येवमदर्शनीयो-द्रष्टुमनर्हः, ' कया वा ' किंरूपया वा ?, ' आसा इहमागओऽसि ' त्ति ' अचां सन्धिलोपौ बहुल ' मिति वचनादेकारलोपो, मकारश्चागमिक, तत आशया वाञ्छया इह—अस्मिन्यज्ञवाटके आगत·-प्राप्तोऽसि-भवसि, अवमचेलकः पांसुपिशाचभूत इति च प्राग्वत्, पुनरनयोरुपादानमत्यन्ताधिक्षेपदर्शनार्थं, गच्छ व्रज, प्रक्रमादितो-यज्ञवाटकात्, 'खलाहि' त्ति देशीपदमपसरेत्यस्यार्थे वर्त्तते, ततोऽयमर्थः-अस्मद्दृष्टिपथादपसर,तथा किमिह स्थितोऽसि त्वं ?, नैवेह त्वया स्थातव्यमिति भाव इति सूत्रार्थः।

एवमधिक्षिप्तेऽपि तस्मिन् मुनौ प्रशमपरतया किञ्चिदप्यजल्पति तत्सान्निध्यकारी गण्डीतिन्दुकयक्षो यच्चेष्टत तदाह—

जक्खो तहिं तिंदुयरुक्खवासी,
ऽणुकंपओ तस्स महामुणिस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं,
इमाइँ वयणाइँ उदाहरित्था ॥ ८ ॥

यक्षो—व्यन्तरविशेषः तस्मिन् अवसर इति गम्यते, तिन्दुको नाम वृक्षस्तद्वासी. तथा च सम्प्रदाय·-"तस्स तिंदुगवणस्स मज्झे महतो तिंदुगरुक्खो, तहिं सो वसति तस्सेव हेट्ठा चेइयं, अत्थ सो साहू चिट्ठति।" ' अणुकंपओ ' त्ति अनुशब्दोऽनुरूपार्थे ततश्चानुरूपं कम्पते-चेष्टत इत्यनुकम्पकः—अनुरूपक्रियाप्रवृत्ति·, कस्येत्याह—तस्य—हरिकेशबलस्य महामुनेः—प्रशस्यतपस्विन· प्रच्छाद्य—प्रकर्षेणावृत्य निजकम्—आत्मीयं शरीरं, कोऽभिप्राय· ?, तपस्विशरीर एवाविश्य स्वयमनुपलक्ष्यः सन्निमानि वक्ष्यमाणानि-वचनानि वचांसि ' उदाहरित्थ ' त्ति उदाहार्षीदुदाहृतवानित्यर्थः, इति सूत्रार्थ·।

कानि पुनस्तानि ?, इत्याह—

समणो अहं संजओ बंभयारी,
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले,
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥ ९ ॥
वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य,
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति,
सेसावसेसं लहओ तवस्सी ॥ १० ॥

श्रमणो—मुनिः ' अह ' मित्यात्मनिर्देशः, किमभिधानत एवेत्याशङ्क्याह—सम्यग् यतः संयतः—असद्व्यापारेभ्य उपरतः, अत एव च ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्यवान्, तथा विरतो निवृत्तः, कुतो ?—धन च पचनं च परिग्रहश्च धनपचनपरिग्रहमिति समाहारः तस्मात्, तत्र धनं चतुष्पदादि, पचनमाहारनिष्पादनं, परिग्रहो द्रव्यादिषु मूर्च्छा, अत एव च परस्मै प्रवृत्तं परैः स्वार्थं निष्पादितत्वेन परप्रवृत्त तस्य, तुरवधारणे, ततः परप्रवृत्तस्यैव, न तु मदर्थं साधितस्येति भावः, भिक्षाकाले-भिक्षाप्रस्तावे,कदाचिदकालोऽय ब्रूयादित्येवमुक्तम्, अन्नस्य—अशनस्य ' अट्ठ ' त्ति सूत्रत्वादर्थाय, भोजनार्थमिति भावः, इह—अस्मिन् यज्ञवाटके आगतोऽस्मि, अनेन यदुक्तं—कतरस्त्वं किमिहागतोऽसि ?, तत्प्रतिवचनमुक्तम्, एवमुक्ते च ते कदाचिदभिदध्यु —नेह किञ्चित् कस्मैचिद्दीयते न वा देयमस्त्यत आह-वितीर्यते—दीयते दीनानाथादिभ्यः खाद्यते खण्डखाद्यादि·, भुज्यते च भक्तसूपादि, अयत इत्यन्नं स सर्व्वमपि सामान्येनोच्यते, तदप्यल्पमेव स्यादत आह-प्रभूतं—बहु, प्रभूतमपि परकीयमेव स्यात्, अत आह—भवना—युष्माकमेव सम्बन्धि ' एतदि ' ति प्रत्यक्षं, स-

था च जानीत-अवगच्छत 'मे' त्ति सूत्रत्वान्मां 'जायण-जीविणो' त्ति याचनेन जीवनं—प्राणधारणमस्येति याचनजीवनम्, अर्शादित्वादिकारः. पठ्यते च-'जायणजीवणो' त्ति, इतिशब्द स्वरूपपरामर्शक, तत एवम्भूतम्, यतश्चैवमतो मह्यमपि ददध्वमिति भाव', कदाचित्तुत्कृष्टमेवासां याचन-इति तेषामाशयः स्यादत आह. अथवा-जानीत मां याचनजीविन-याचनेन जीवनशील. द्वितीयार्थे षष्ठी. पाठान्तरं तु प्रथमा, 'इर्मा' त्यस्माद्धेतो, किमित्याह-शेषावशेषम्-उद्धरितस्याप्युद्धरितम्, अन्तप्रान्तमित्यर्थ, लभता-प्राप्नोतु तपस्वी-यतिर्निर्वराको वा भवदभिप्रायेण, अनेनात्मान निर्दिशतीति सूत्रद्वयार्थ।

एव यक्षेणोक्ते यज्ञवाटवासिन प्राहु'—

उवक्खडं भोयणँ माहणाणं.
अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं।
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं,
दाहासु तुज्झं किमिहं ठिओऽसि ॥११॥

उपस्कृतं—लवणवेसवारादिसंस्कृत 'भोयण' त्ति भोजनं माहनाना-ब्राह्मणानाम् आत्मनोऽर्थ' आत्मार्थस्तस्मिन् भव-मात्मार्थिकं, ब्राह्मणैरप्यात्मनैव भोज्यं न त्वन्यस्मै देयं. कि-मिति?, यत. सिद्धं-निष्पन्नम् इह-अस्मिन् यज्ञे एक पक्षो-ब्राह्मणलक्षणो यस्य तदेकपक्ष, किमुक्तं भवति?-यदस्मिन्नुपस्क्रियते न तद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तायान्यस्मै दीयते, विशेषत-स्तु शूद्राय, यत उक्तम्—"न शूद्राय मतिं दद्या-न्नोच्छिष्टं न हवि कृतम्। न चास्योपदिशेद् धर्मं. न चास्य व्रतमादिशेत् ॥१॥" यतश्चैवमतो 'न तु' नैव वयमीदृशमुक्तरूपम् अन्न च-ओदनादि पानं च-द्राक्षापानादि अन्नपान 'दाहामो' त्ति दास्यामः 'तुज्झं' ति तुभ्यं, किमिह स्थितोऽसि?, नैवं-ह्यवस्थितावपि तव किञ्चिदिति भाव इति सूत्रार्थ।

यक्ष आह—

थलेसु बीयाइँ वयंति कासगा,
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाइँ सद्धाइँ दलाह मज्झं,
आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं ॥१२॥

स्थलेषु—जलावस्थितिविरहितेषूच्चभूभागेषु बीजा-नि—गोधूमशाल्यादीनि वपन्ति-रोपयन्ति 'कासग' त्ति कर्षकाः कृषीवलाः तथैव यथोक्तस्थलेष्वेवमेव निम्नेषु च-नीचभूभागेषु च 'आससाए' त्ति आशसया—यद्यत्यन्तप्रवर्षणं भावि तदा स्थलेषु फलावाप्तिरथान्यथा तदा निम्नेष्वित्येवमभिलाषात्मिकया एतयैव एतया-एतदुपमया, कोऽर्थ.?-उक्तरूपकर्षकाशंसातुल्यया श्रद्धया-वाञ्छया 'दलाह' त्ति ददध्व मह्य, किमुक्तं भवति?-यद्यपि भवतां निम्नोपमत्वबुद्धिरात्मनि मयि तु स्थलतुल्यताधी तथापि मह्यमपि दातुमुचितम्, अथ स्याद्-एव दत्तेऽपि न फलावाप्तिरित्याह-'आराहए पुण्णमिणं खु' त्ति खुश-ब्दस्यावधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वादाराधयेदेव-समन्तात्साधयेदेव, नात्रान्यथाभाव', पुण्य—शुभमिद-परिदृश्यमान क्षेत्रमिव क्षेत्र पुण्यशस्यप्ररोहहेतुतया, आत्मानमेव पात्रभू-तमेवमाह, पठ्यते च—'आराहगा होहिम पुण्णखेत्त' त्ति आराधका—आवर्जका गम्यमानत्वात्पुण्यस्य भवत, अनेन दानफलमाह, कुत एतदित्याह—इद पुण्यक्षेत्रं—पुण्यप्राप्तिहेतु' क्षेत्रं यत इति गम्यते, इति सूत्रार्थ।

यक्षवचनानन्तर त इदमाहु.—

खित्ताणि अम्हं विइयाणि लोए,
जहिं पकिन्ना विरुहंति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया,
ताइं तु खित्ताइँ सुपेसलाइं ॥ १३ ॥

क्षेत्राणि' इति क्षेत्रोपमानि पात्राण्यस्माक विदितानि—ज्ञातानि, वर्तन्त इति गम्यते लोके—जगति 'जहिं' ति वचनव्यत्ययाद्येषु क्षेत्रेषु प्रकीर्णानीव प्रकीर्णानि—दत्तान्यशनादीनि विरोहन्ति—जन्मान्तरोपस्थानत. प्रादुर्भवन्ति पूर्णानि—समस्तानि, न तु तथाविधदोषसद्भावतः कानिचिदेव,स्यादेतद्-अहमपि तन्मध्यवर्त्येवेत्याशङ्क्याह-ये ब्राह्मणा—द्विजा ,तेऽपि न नामत एव, किन्तु जातिश्च-ब्राह्मणजातिरूपा विद्या च-चतुर्दशविद्यास्थानात्मिका ताभ्याम् 'उववेय' त्ति उपेता—अन्विता जातिविद्योपेता, 'ताइ तु' त्ति तान्येव क्षेत्राणि 'सुपेसलाणि' त्ति सुपेशलं नाम शोभन प्रीतिकर वा इति वृद्धा' ततश्च सुपेशलानि—शोभनानि प्रीतिकराणि वा, न तु भवादृशानि शूद्रजातीनि, शूद्रजातित्वादेव वेदादिविद्याबहिष्कृतानीति. यत उक्तम्—"सममश्रोत्रिये दानं, द्विगुण ब्राह्मणब्रुवे। सहस्रगुणमाचार्ये, अनन्तं वेदपारगे ॥१॥" इति सूत्रार्थ।

यक्ष उवाच—

कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहीणा,
ताइं तु खित्ताइँ सुपावयाइं ॥ १४ ॥

क्रोधश्च—रोष' मानश्च—गर्व' , चशब्दान्मायालोभौ च, वधश्च--प्राणिघातो 'येषा' मिति प्रक्रमाद्भवता ब्राह्मणाना 'मोस' त्ति मृषा-अलीकभाषणम् 'अदत्त' ति पदेऽपि पदैकदेशस्य दर्शनात्सत्यभामा-सत्या इतिवत् अदत्तादानमुक्त, चशब्दान्मैथुन, परिग्रहश्च-गोभूम्यादिस्वीकार., अस्तीति सर्वत्र गम्यते 'त' इति क्रोधाद्युपेता यूय ब्राह्मणा जातिविद्याभ्या विहीना-रहिता जातिविद्याविहीना, क्रिया-कर्मविभागेन हि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, यत उक्तम्-"एकवर्णमिद सर्व्वं, पूर्वमासीद्युधिष्ठिर!। क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥१॥ ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पक। अन्यथा नाममात्र स्या-दिन्द्रगोपककीटवत् ॥२॥" न चैवविधक्रिया ब्रह्मचर्यात्मिका कोपाद्युपेतेषु भवत्सु सम्भवत्यतो न तावज्जातिसम्भव ,तथा विद्याऽपि सच्छास्त्रात्मिका, सच्छास्त्रेषु च सर्वेष्वहिंसादिपञ्चकमेव वाच्य, यत उक्तम्—"पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्व्वेषा धर्मचारिणाम्। अहिंसा सत्यमस्तेय, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥ १ ॥" तद्युक्तत्वं च तत्त्वज्ञानादेव भवति, ज्ञानस्य तु विरति फल रागाद्यभावश्च, यत उक्तम्—"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगण.। तमस कुतोऽस्ति ? शक्ति-र्दिनकरकिर-

णाग्रत' स्थातुम् ॥ १ ॥" न चैवमस्माधारम्भिषु कोपादिमत्सु च भवत्सु विरते रागाद्यभावस्य च सम्भवोऽस्ति, न च निश्चयनयमतेन फलरहितं वस्तु सत्, तथा च निश्चयो यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदित्याह, तत. स्थितमेतत्—' ताइं तु ' त्ति तुरवधारणे, भिन्नक्रमश्च । ततश्च तानि भवद्भिर्दितानि ब्राह्मणलक्षणानि क्षेत्राणि सुपापकान्येव, न तु सुपेशलानि. क्रोधाद्युपेतत्वेनातिशयपापहेतुत्वादिति सूत्रार्थः ।

कदाचित्ते वदेयु —वेदविद्याविदो वयमत एव च ब्राह्मणजातयस्तत्कथ जातिविद्याविहीना इत्युक्तवानसीत्याह—

तुब्भित्थ भो ! भारहरा गिराणं,
अट्ठं न याणाह अहिज्ज वेए ।
उच्चावयाइं मुणिणो चरंति,
ताइं तु खित्ताइं सुपेसलाइं ॥ १५ ॥

यूयमत्रेति—लोके ' भो ' इत्यामन्त्रणे भार धरन्तीति भारधरा., पाठान्तरतो वा—' भारवहा ' वा, कासा ?-गिरा-वाचा, प्रक्रमाद्वेदसम्बन्धिनीनाम्, इह च भारस्तासा भूयस्त्वमेव, किमिति भारधरा भारवहा वेति उच्यते, यतोऽर्थम्—अभिधेय न जानीथ—नावबुध्यध्वे ?, ' अहिज्ज ' त्ति अपेर्गम्यमानत्वादधीत्यापि वेदान्—ऋग्वेदादीन्, तथाहि—' आत्मा वा रे ज्ञातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य. ' तथा "कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदु, प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमाना., अथापर कर्मभ्योऽमृतत्वमानशु " परेण नाकं निहित गुहायां, विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति । वेदाहमेत पुरुष महान्त, तमेव विदित्वा अमृतत्वमेति ॥ १ ॥ " नान्य. पन्था. अयनाये ' त्यादिवचनाना यथार्थवेत्तार. स्युस्ततिकमित्थं यागादि कुर्वीरन् ?, ततस्तत्वतो वेदविद्याविदो भवन्तो न भवन्ति, तत्कथ जातिविद्यासम्पन्नत्वेन क्षेत्रभूता स्यु. ? । कानि तर्हि भवदभिप्रायेण क्षेत्राणीत्याह—'उच्चावयाइ' ति उच्चावचानि-उत्तमाधमानि मुनयश्चरन्ति भिक्षानिमित्त पर्यटन्ति गृहाणि,ये इति गम्यते, न तु भवन्त इव पचनाद्यारम्भप्रवृत्तय. त एव परमार्थतो वेदार्थ विदन्ति तथापि भैक्षवृत्तेरेव समर्थितत्वात्, तथा च वेदानुवादिन'-'चरेद् माधुकरीं वृत्ति-मपि म्लेच्छकुलादपि । एकान्नं नैव भुञ्जीत, बृहस्पतिसमादपि ॥ १ ॥" यद्विोच्चावचानि-विकृष्टाविकृष्टतया नानाविधानि, तपांसीति गम्यते, उच्चव्रतानि वा शेषव्रतापेक्षया महाव्रतानि ये मुनयश्चरन्ति-आसेवन्ते, न तु यूयमिवाऽजितेन्द्रिया अशीला वा, तान्येव मुनिलक्षणानि क्षेत्राणि सुपेशलानीति प्राग्वदिति सूत्रार्थ. ।

इत्थमध्यापक यक्षेण निर्मुखीकृतमवलोक्य तच्छात्रा. प्राहुः

अज्झावयाणं पडिकूलभासी,
पभाससे किन्नु सगासि अम्हं ? ।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं,
न य णं दाहामु तुमं नियंठा ! ॥ १६ ॥

अध्यापयन्ति-पाठयन्तीत्यध्यापका -उपाध्यायास्तेषा प्रतिकूलं-प्रतिलोमं भाषते वक्तीत्येवंशीलः प्रतिकूलभाषी सन् प्रकर्षेण भाषसे-ब्रूषे प्रभाषसे, किमिति क्षेपे, तुरित्यक्षमायां, ततश्च धिग् भवन्तं न वयं क्षमामहे यदित्थं भवान् ब्रूते सकाशे—समीपे ' अम्ह ' ति अस्माकम्, अपि' सम्भावनायाम् एतत्—परिदृश्यमान विनश्यतु—क्वथितत्वादिना स्वरूपहानिमाप्नोतु अन्नपानम्-ओदनकाञ्जिकादि, 'न च'-नैव ' ण ' मिति वाक्यालङ्कारे ' दाहामु ' त्ति दास्यामस्तव हे निर्ग्रन्थ ! निष्किञ्चन !, गुरुप्रत्यनीको हि भवान्, अन्यथा तु कदाचिदनुकम्पया किञ्चिदन्तप्रान्तादि दद्यामोऽपीति भाव इति सूत्रार्थ. ।

यक्ष आह-

समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स,
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइंदियस्स ।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं,
किमज्ज जन्नाण लभित्थ लाभं ? ॥ १७ ॥

समितिभि -ईर्यासमित्यादिभिर्मह्य सुष्ठु समाहिताय-समाधिमते सुसमाहिताय गुप्तिभि —मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियायेति च प्राग्वत्, सर्वत्र च चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, 'यदीत्यभ्युपगमे' 'मे' मह्य ' मज्झ ' मीत्यस्य व्यवहितत्वात् क्रिया प्रति पुनरुपादानमदुष्टमेव न दास्यथ—न वितरिष्यथ, ' अथे ' त्युपन्यासे आनन्तर्ये वा, एषणीयम्—एषणाविशुद्धमन्नादिकं, किं न किञ्चिदित्यर्थ, ' अज्ज ' त्ति अद्य ये यज्ञास्तेषामिदानीमारब्धयज्ञाना,यद्वा-'अज्ज' त्ति हे आर्या ! यज्ञाना ' लभित्थ ' त्ति सूत्रत्वाल्लप्स्यध्वे-प्राप्स्यध्वे लाभं—पुण्यप्राप्तिरूपं, पात्रदानादेव हि विशिष्टपुण्यावाप्ति, अन्यत्र तु तथाविधफलाभावेन दीयमानस्य हानिरेव, उक्तं हि-"दधिमधुघृतान्यपात्रे, क्षिप्तानि यथाऽशु नाशमुपयान्ति । एवमपात्रे दत्ता-नि केवल नाशमुपयान्ति ॥१॥" इति सूत्रार्थ. ।

इत्थ तेनोक्ते यदध्यापकप्रधान आह तदुच्यते-

के इत्थ खत्ता उवजोइया वा,
अज्झावया वा सह खंडिएहिं ? ।
एयं खु दंडेण फलेण हंता,
कंठम्मि घित्तूण खलिज्ज जो णं ॥ १८ ॥

के ' अत्र ' त्येतस्मिन् स्थाने क्षत्रा -क्षत्रियजातयो वर्णसङ्करोत्पन्ना वा तत्कर्मनियुक्ता. ' उवजोइय ' त्ति ज्योतिषः समीपे ये त उपज्योतिषस्त एवोपज्योतिष्का'—अग्निसमीपवर्त्तिनो महानसिका ऋत्विजो वा अध्यापका -पाठका, ते वा उभयत्र वा विकल्प ' सहे ' ति युक्ता . कैः ?-' खण्डिकै. ' छात्रै . ये किमित्याह—एत-श्रवणकं दण्डेन-वशयष्ट्यादिना फलेन—बिल्वादिना ' हते ' ति हत्वा—ताडयित्वा. यद्वा—' दण्डेने ' ति कूर्पराभिधानेन फलेन—च मुष्टिप्रहारेणेति वृद्धा . ततश्च कण्ठे-गले गृहीत्वा—उपादाय ' खलेज्ज ' त्ति स्खलयेयु —निष्काशयेयु . यो ' त्ति वचनव्यत्ययाद्ये इत्थमतदभिधाने निष्काशने वा शक्ता, ' णमि ' वाक्यालङ्कारे, इतिसूत्रार्थ. ।

अत्रान्तरे यदभूत्तदाह—

अज्झावयाणं वयणं सुणित्ता,
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा ।

दंडेहिँ वित्तेहिँ कसेहिँ चेव,
समागया तं इसिँ तालयंति ॥ १९ ॥

अध्यापकानाम्—उपाध्यायानाम्, एकत्वेऽपि पूज्यत्वाद्बहुवचनं, वचनम्-उक्तरूपं श्रुत्वा—आकर्ण्य उद्धाविता—वेगेन प्रसृता. तत्र—यत्रासौ मुनिस्तिष्ठति बहव:-प्रभूता कुमारा-द्वितीयवयोवर्त्तिनश्छात्रादय इति गम्यते, न हि क्रीडनकपरा इत्यहो क्रीडनकमागतमिति रभसतो दण्डै -वंशयष्ट्यादिभिर्वेत्रै —जलजवंशात्मकै कशै —वर्ध्रविकारै., च. समुच्चये, एवेति पूरणे, समागता -सम्प्राप्ता मिलिता वा तमृर्षि—मुनिं ताडयन्ति-घ्नन्ति, सर्वत्र वर्त्तमाननिर्देश. प्राग्वत् इति सूत्रार्थ.।

अस्मिश्चावसरे—

रण्णो तहिं कोसलियस्स धूया,
भद्द त्ति नामेण अणिंदियंगी ।
तं पासिया संजयं हम्ममाणं ।
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥ २० ॥

राज्ञो-नृपतेस्तत्र—यक्षवाटे कोशलायां भव' कौशलिकस्तस्य " धूय ' त्ति दुहिता भद्रेति नाम्ना—अभिधानेन अनिन्दिताङ्गी—कल्याणशरीरा त—हरिकेशबल ' पासिय ' त्ति दृष्ट्वा ' सञ्जय ' त्ति संयत तस्यामप्यवस्थायां हिंसादे. सम्यगुपरतं हन्यमान दण्डादिभिस्ताड्यमान कुद्धान् कोपवतः कुमारान् उक्तरूपान् परिनिर्वापयति—कोपाग्निविध्यापनात् समन्तात् शीतीकरोति-उपशमयतीति यावदिति सूत्रार्थः ।

सा च तान् परिनिर्वापयन्ती तस्य माहात्म्यमतिनि:स्पृहतां चाह-

देवाभिओगेण निओइएणं,
दिण्णा मु रण्णा मणसा न झाया ।
नरिंददेविंदऽभिवंदिएणं,
जेणामि वंता इसिणा स एसो ॥ २१ ॥
एसो हु सो उग्गतवो महप्पा,
जिइंदिओ संजओ बंभयारी ।
जो मे तया निच्छइ दिज्जमाणी,
पिउणा सयं कोसलिएण रण्णा ॥ २२ ॥
महाजसो एस महाणुभागो,
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं,
मा सव्वे तेएण भे निद्दहिज्जा ॥ २३ ॥

देवस्य अमरस्याभियोगो बलात्कारो देवाभियोगस्तेन नियोजितेन—व्यापारितेन न त्वमियेनि कृत्वा ' दिण्णमु ' त्ति दत्ताऽस्मि, अह यस्मै इति गम्यते, दत्ता च केन ? राज्ञा प्रक्रमात्कौशलिकेन, तथापि ' मणस ' त्ति अपेर्गम्यमानत्वान्मनसाऽपि चित्तेनापि न ध्याता-न चिन्तिता नाभिलषितेति यावत्, प्रक्रमादेतेन मुनिना, कीदृशेन ? नरेन्द्राश्च-नृपतयो देवेन्द्राश्च-शक्रादयो नरेन्द्रदेवेन्द्रास्तैरभि-आभिमुख्येन वन्दित'—स्तुतो नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितस्तेन, अनभिध्याताऽपि नृपोपरोधेन' स्वीकृता स्यादत आह येनास्म्यहं वान्ता—त्यक्ता ऋषिणा-मुनिना, स एष युष्माभिर्य कदर्थयितुमारब्ध, ततो न कदर्थयितुमुचित इति भाव.। पुनरिममेवार्थं समर्थयितुमाह-' एसो हु सो ' त्ति, एष एव स न मनागप्यत्र संशय, उग्रम्-उत्कटं दारुणं वा कर्मशत्रून् प्रति तप.-अनशनादस्येति उग्रतपाः, अत एव महान्-प्रशस्यो विशिष्टवीर्योल्लासत आत्मा अस्येति महात्मा, जितेन्द्रिय संयतो ब्रह्मचारी च प्राग्वत्, स इति, क ? इत्याह-यो ' मि ' त्ति मां तदा-तस्मिन् विवक्षितसमये नेच्छति—नाभिलषति-दीयमानां निसृज्यमानां, केन ? पित्रा-जनकेन स्वयम्-आत्मना, न तु प्रधानप्रेषणा, तेनापि कीदृशा ? कौशलिकेन राज्ञा. न स्थितरजनसाधारणेन, तदनेन विभूतावपि नि:स्पृहत्वमुक्त, पुनस्तन्माहात्म्यमाह—महायशा—अपरिमितकीर्त्ति' एष-प्रत्यक्षो मुनिर्महानुभागः अतिशयाचिन्त्यशक्ति, पाठान्तरतो महानुभावो वा, तत्र चानुभावः शापानुग्रहसामर्थ्य, घोरव्रतो धृतात्यन्तदुर्द्धरमहाव्रत.-घोरपराक्रमश्च-कषायादिजयं प्रति रौद्रसामर्थ्यो, यतोऽयमीदृक् ततः किमित्याह ' मा ' इति निषेधे एनं—यतिं हीलयत-अवधूतं पश्यत अहीलनीयम्-अवज्ञातुमनुचितं, किमित्यत आह—मा सर्वान् समस्तांस्तेजसा तपोमाहात्म्येन ' भे ' भवतो निर्धाक्षीद्-भस्मसात्कार्षीद्, अयं हि हीलितो यदि कदाचित्क्रुध्येत्तदा सर्वं भस्मसादेव कुर्यादिति भाव इति सूत्रत्रयार्थः।

अत्रान्तरे मा भूदेतस्या वचनं मृषेति यक्षाः कृतवांस्तदाह—

एयाइँ तीसे वयणाइँ सुच्चा,
पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइं ।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,
जक्खा कुमारे विणिवारयंति ॥२४॥
ते घोररूवा ठिअ अंतलिक्खे,
असुरा तहिं तं जणं तालयंति ।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमंते,
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥२५॥

एतानि—अनन्तरोक्तानि तस्याः-अनन्तरोक्तायाः वचनानि-भाषितानि श्रुत्वा—निशम्य पत्न्याः-यक्षवाटकाधिपतेः सोमदेवपुरोहितस्य, तस्यैव या मुनेरिति गम्यते, भद्राया-भद्राभिधानायाः सुभाषितानि-सूक्तानि वचनानीति योज्यते, ऋषे'—तस्यैव तपस्विनः ' वेयावडियट्ठयाए ' त्ति सूत्रत्वाद्वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थं यक्षा', यक्षपरिवारस्य बहुत्वात् बहुवचन, कुमारान् प्रक्रमात्तानेवोपद्रवकृत् विनिपातयन्ति-विविध नितरा पातयन्ति—भूमौ विलोलयन्ति, पठ्यते च—' विणिवारयंति ' त्ति विशेषेणोपद्रवं कुर्वतो निराकुर्वन्ति, तथा ' ते ' इति यक्षा. घोररूपा

रौद्राकारधारिणः 'ठिय' त्ति स्थिताः अन्तरिक्षे-आकाशे असुरा—आसुरभावान्वितत्वात् त एव यक्षाः तस्मिन्-यज्ञवाटे तम्—उपसर्गकारिणं जन—छात्रलोकं ताडयन्ति-घ्नन्ति ततस्तान् कुमारान् भिन्ना-विदारिता प्रक्रमाद्यक्षप्रहारैर्देहाः-शरीराणि येषां ते भिन्नदेहास्तान् रुधिर-शोणितं वमत-उद्गिरतः 'पासित्त' त्ति दृष्ट्वा 'भद्रा' सैव कौशलिकराजदुहिता इद—वक्ष्यमाणम् 'आहु' त्ति वचनव्यत्ययेन आह-ब्रूते भूय—पुनरिति सूत्रद्वयार्थः।

किं तदित्याह—

गिरिं नहेहिं खणह, अयं दंतेहिँ खायह ।
जायतेयं पायेहिँ हणह, जे भिक्खुं अवमन्नह ॥२६॥
आसीविसो उग्गतवो महेसी,
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।
अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा,
जे भिक्खुं भत्तकाले वहेह ॥ २७ ॥
सीसेण एवं सरणं उवेह,
समागया सव्वजणेण तुम्हे ।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा,
लोगं पि एसो कुविओ डहिज्जा ॥ २८ ॥

गिरिं-पर्वतं नखै-करुहैः खनथ-विदारयथ इह च मुख्यखननक्रियाद्यसम्भवाद्विवचनमन्तरेणाप्युपमार्थो गम्यत ततश्च खनथेव खनथ, अयो-लोहं दन्तै-दशनैः खादथेव खादथ, जाततेजसम् अग्निं पादैः-चरणैर्हथेव हथ; ताडयथेत्यर्थः, ये वय किं कुर्म इत्याह-ये यूयं भिक्षुं प्रक्रमादेनम्, 'अवमन्नह' त्ति अवमन्यध्वे-अवधीरयथ,अनर्थफलत्वात् भिक्ष्वपमानस्येति भावः, कथमिदमित्याह-आस्यो-दंष्ट्रास्तासु विषमस्येत्यासीविष आसीविषलब्धिमान्; शापानुग्रहसमर्थ इत्यर्थः, यद्वा-आसीविष इव आसीविष, यथा हि-तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति, एवमेनमपि मुनिमवमन्यमानानामवश्यं भावि मरणमित्याशय, कुतः पुनरयमेवंविधो ?, यत-उग्रतपा प्राग्वत्, 'महेसि' त्ति महान्—बृहन् शेषस्वर्गाद्यपेक्षया मोक्षस्तमिच्छति—अभिलषतीति महदेषी महर्षिर्वा, घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च पूर्ववत्, यतश्चैवमत 'अगणिं व' त्ति अग्निं—ज्वलनं, वाशब्द इवार्थो, भिन्नक्रमश्च। तत 'पक्खंद' त्ति प्रस्कन्दथेव—आक्रामथेव, केव ?—'पतंगसेणा' त्ति उपमार्थस्य गम्यमानत्वात्पतङ्गाना—शलभाना सेनेव सेना—महती सन्तति पतङ्गसेना तद्वत्, तथा हि-असौ तत्र निपतत्याशु घातमाप्नोत्येवं भवन्तोऽपीति भाव, ये यूयमनुकम्पित भिक्षुं—भिक्षुकं भक्तकाले-भोजनसमये, तत्र दीनादेरवश्य देयमेनि शिष्टसमयो यूय तु न केवल न यच्छत, किन्तु-तत्रापि 'वधह' त्ति विध्यथ—ताडयथ, अयमाशयो—यतोऽयमासीविषादिविशेषणान्वितो मुनिरतो गिरिनखखननादिप्रायमेव यदेनं भक्तकालेऽपि भक्तार्थिनमित्थं विध्यथ। अथ सकृत्यापदेशमाह—शीर्षेण—शिरसा एन—मुनिं शरणार्थं—रक्षणार्थमाश्रयमुपेत-अभ्युपगच्छत, किमुक्त भवति—शिरःप्रणामपूर्वकमयमेवास्माकं शरणमिति प्रपद्यध्वं, समागता-सम्मिलिताः सर्वजनेन-समस्तलोकेन, सहार्थे तृतीया, यूय—भवन्तो, यदीच्छत—अभिलषत जीवितं—प्राणधारणात्मकं धनं वा द्रव्यं, न तस्मिन् कुपिते जीवितव्यादिरक्षणक्षममन्यच्छरणमस्ति, किमित्येवमत आह-लोकमपि-भुवनमप्येष कुपितः-क्रुद्धो 'दहेद्' भस्मसात्कुर्यात्, तथा च वाचकः-"कल्पान्तोग्रानलवत्प्रज्वलन तेजसैकतस्तेषाम्" तथा लौकिका अप्याहुः-" न तत् दूरं यदश्वेषु, यवाग्नौ यच्च मारुते। चिषे च रुधिरप्राप्ते, साधौ च कृतनिश्चये ॥१॥" इति सूत्रत्रयार्थः।

सम्प्रति तत्पतितान् यादृशान् ददर्श दृष्ट्वा च यच्चेष्टत तदाह—

अवहेडियपिट्ठिसउत्तमंगे, पसारियाबाहुअकम्मचिट्ठे ।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमंते,उड्ढमुहे निग्गयजीहनित्ते॥२९॥
ते पासिया खंडियकट्ठभूए,
विमणो विसन्नो अह माहणो सो ।
इसिं पसाएइ सभारियाओ,
हीलं च निंदं च खमाह भंते ! ॥ ३० ॥

'अवे' ति अधो 'हेडिय' त्ति हेठितानि-'बाधितानि' किमुक्तं भवति ?—अधोनामितानि, पठन्ति च—'आवडिए' त्ति तत्र सूत्रत्वादवकोटितानि अधस्तादामोटितानि, 'पट्ठि' त्ति पृष्ठ यावत् तदभिमुखं वा सन्ति शोभनान्युत्तमाङ्गानि-येषा ते अवहेठितपृष्ठसदुत्तमाङ्गा अवकोटितपृष्ठसदुत्तमाङ्गा वा प्राग्वन्मध्यपदलोपी समासस्तान्, 'पसारियाबाहु अकम्मचिट्ठ' त्ति प्रसारिता विरलीकृता बाहवो भुजा यैर्येषां वा ते तथा, ततस्ते च ते अकर्मचेष्टाश्च अविद्यमानकर्महेतुव्यापारतया प्रसारितबाहुकर्मचेष्टास्तान्, यद्वा-क्रियन्त इति कर्माणि-अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्विषया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते, 'निब्भेरिय' त्ति प्रसारितान्यक्षीणि-लोचनानि येषां ते तथोक्तास्तान्, रुधिर वमतः-उद्गिरतः 'उड्ढमुह' त्ति ऊर्ध्वमुखान्-उन्मुखीभूतवक्त्रान् अत एव निर्गतानि-नि सृतानि जिह्वाश्च प्रतीता नेत्राणि च—नयनानि जिह्वानेत्राणि येषा ते तथा तान्, 'तान्' इत्युक्तरूपान् दृष्ट्वा-अवलोक्य 'खंडिय' त्ति आर्षत्वात्सुपो लुकि खण्डिकान्—छात्रान् काष्ठभूतान्-अत्यन्तनिश्चेष्टतया काष्ठोपमान् विगतमिव विगतं मन-चित्तमस्येति विमना, विषण्ण-कथममी प्रवणीभविष्यन्तीति चिन्तया व्याकुलित 'अथे' ति दर्शनानन्तरं ब्राह्मणो-द्विजाति 'स' इति सोमदेवनामा ऋषि-तमेव हरिकेशबलनामानं मुनिं प्रसादयति-प्रसत्तिं ग्राहयति, सह भार्यया-पत्न्या तयैव भद्राभिधानया वर्त्तते इति सभार्यक, कथमित्याह-हीलां च अवज्ञां निन्दां च दोषोद्घट्टन 'खमाह' त्ति क्षमस्व-सहस्व 'भंते' त्ति सूत्रद्वयार्थः।

पुन स प्रसादनमेवाह—

बालेहिँ मूढेहिँ अयाणएहिं,
जं हीलिया तस्स खमाह भंते ! ।
महप्पसाया इसिणो हवंति,
न हु(हु) मुणी कोवपरा हवंति ॥ ३१ ॥

बालैः-शिशुभिर्मूढैः-कषायमोहनीयोदयाद्विचित्ततां गतैः अत एव चाज्ञैः-हिताहितविवेकविकलैः 'यन्नि' त्युपप्रदर्शने, हीलिता-अवज्ञाता 'तस्स' त्ति सूत्रत्वात् तत् 'खमाह' त्ति क्षमध्व भदन्त !, अनेनैतदाह-यतोऽमी शिशवो मूढा अज्ञानाश्च तत्किमेषामुपरि कोपेन ?, यतोऽनुकम्पनीया एवामी उक्तं च केनचिद्-"आत्मद्रुहममर्यादं, मूढमुज्झितसत्पथम् । सुतरामनुकम्पेत, नरकार्चिष्मदिन्धनम् ॥ १ ॥" किं च-महान् प्रसादः-चित्तप्रसत्तिरूपो येषां ते महाप्रसादा ऋषयः—साधवो भवन्ति, व्यतिरेकमाह—'न हु' त्ति न पुनर्मुनयो—यतयः कोपपराः-क्रोधवशगा भवन्ति, भिन्नवाक्यत्वाच्च मुनिग्रहणमदुष्टमेवेति सूत्रार्थः ।

मुनिराह—

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च,
मणप्पओसो न मे अत्थि कोई ।
जक्खा हु वेयावडियं करिंति,
तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥ ३२ ॥

'पुव्विं च' त्ति पूर्वं च पुरा इदानीं च-अस्मिन् काले 'अणागयं च' ति अनागते च भविष्यत्काले मनःप्रद्वेषः—चित्तानुशयलक्षणो न 'मे' ममास्तीत्युपलक्षणत्वादासीद्भविष्यति च, कोऽपी' त्यल्पोऽपि, इह च भाविनि प्रमाणाभावेऽपि 'अनागतं प्रत्याचक्षे' इति वचनादनागतस्यापि तस्य निषिद्धत्वाच्छ्रुतज्ञानबलतः कालत्रयपरिज्ञानसम्भवाद्वैवमभिधानम्, पठन्ति च—'पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे' तत्र च पूर्वं वा पश्चाद्वेति विहेठनकालापेक्षं तथैव मध्ये विहेठनकाल एव, न च कुमारावहेठनादिदर्शनात्प्रत्यक्षविरुद्धता शङ्कनीया, यक्षा-देवविशेषा 'हु' रिति यस्माद्वैयावृत्त्यं प्रत्यनीकप्रतिघातरूपं कुर्वन्ति-विदधति, 'तम्ह' त्ति तस्मात् हुरवधारणे, ततस्तस्मादेव हेतोरेते-पुरोवर्त्तिनो नितरां हताः—ताडिताः कुमाराः, न तु मम मनःप्रद्वेषोऽत्र हेतुरिति भाव इति सूत्रार्थः ।

सम्प्रति तद्गुणाकृष्टचेतस उपाध्यायप्रमुखा इदमाहुः-

अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा,
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना ।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमा,
समागया सव्वजणेण अम्हे ॥ ३३ ॥

अर्यत इत्यर्थो—ज्ञेयत्वात्सर्वमेव वस्तु, इह तु प्रक्रमाच्छुभाशुभकर्मविभागा रागद्वेषविपाका वा परिगृह्यते, यद्वा-अर्थः—अभिधेयः स चार्थाच्छास्त्राणामेव तं, चशब्दस्तद्गतानेकभेदसंसूचकः, धर्मः—सदाचारो दशविधो वा यतिधर्मस्तं च 'वियाणमाण' त्ति विशेषेण विविधं वा जानन्तः—अवगच्छन्तो यूयं नापि-नैव कुप्यथ—क्रोधं कुरुध्व, भूतिप्रज्ञा इति, भूतिर्मङ्गलं वृद्धी रक्षा चेति वृद्धाः, प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा, ततश्च भूतिः—मङ्गलं सर्वमङ्गलोत्तमत्वेन वृद्धिर्वा वृद्धिविशिष्टत्वेन रक्षा वा प्राणिरक्षकत्वेन प्रज्ञा-बुद्धिरस्येति भूतिप्रज्ञः, अतश्च 'तुब्भं तु' त्ति तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् युष्माकमेव पादौ—चरणौ शरणमुपेम-उपगच्छाम समागता-मिलिताः, केन सह ?-सर्वजनेन, वयमिति सूत्रार्थः ।

किं च—

अच्चेमु ते महाभागा !, न ते किंचन नाच्चिमो ।
भुंजाहि सालिमं कूरं, नाणावंजणसंजुयं ॥ ३४ ॥

अर्चयामः-पूजयामः 'ते'—तव सम्बन्धि सर्वमपीति गम्यते, प्रविश पिण्डामित्युक्तं यथा गृहाणेति भक्षयेति च । महाभाग ! अतिशयाचिन्त्यशक्तियुक्तत्वेनेति, नैव 'ते' तव किञ्चिदिति चरणरेण्वादिकमपि नार्चयामो-न पूजयामः, अपि तु सर्वमर्चयामः, अस्य च पूर्वेणैव गतार्थत्वे पुनरभिधानमन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुखावगमो भवतीति कृत्वा । अथवा अर्चयामस्ते इति सुब्व्यत्ययात्त्वाम्, अनेन स्वतस्तस्य पूज्यत्वमुक्तम्, उत्तरेण तु तत्स्वामित्वमपि पूज्यताहेतुरिति, तथा भुङ्क्ष्वेतो गृहीत्वेति गम्यते 'सालिमं' ति शालिमयं, कोऽर्थः ?—शालिनिष्पन्नं कूरम्—ओदनं नानाव्यञ्जनैः-अनेकप्रकारैर्दध्यादिभिः संयुतं—सम्मिश्रं नानाव्यञ्जनसंयुतं, न त्वेकमेवेति सूत्रार्थः ।

अन्यच्च—

इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं,
तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा ।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं,
मासस्स ऊ पारणए महप्पा ॥ ३५ ॥

'इदं च' प्रत्यक्षत एव परिदृश्यमानं 'मे' ममास्ति—विद्यते प्रभूतं-प्रचुरमन्नं-मण्डकखण्डखाद्यादि समस्तमपि भोजनं, यत्प्राक् पृथगोदनग्रहणं तत्तस्य सर्वान्नप्रधानत्वख्यापनार्थं, तद्भुङ्क्ष्वास्माकमनुग्रहार्थं-वयमनुगृहीता भवाम इति हेतोः । एवं च तेनोक्ते मुनिराह—'बाढम्' एवं कुर्म इतीत्येवं ब्रुवाण इति शेषः, प्रतीच्छति-द्रव्यादितः शुद्धमिति गृह्णाति, भक्तपानमुक्तरूपं, 'मासस्स उ' त्ति मासादेव, यद्वा-अन्त इत्यध्याह्रियते, ततश्च मासस्यैवान्ते यत्पार्यते-पर्यन्तः क्रियते गृहीतनियमस्यानेनेति पारणं तदेव पारणकं, भोजनमित्युक्तं भवति, तस्मिन्—तन्निमित्तं, 'निमित्तात्कर्मयोगे सप्तमीति' (पा० २-३-३६ वार्तिकम्) सप्तमी, महात्मेति प्राग्वत् इति सूत्रार्थः ।

तदा च तत्र यदभूत्तदाह—

तहियं गंधोदयपुप्फवासं, दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा ।
पहया दुंदुहीओ सुरेहिं, आगासे अहो दाणं च घुट्ठं ॥ ३६ ॥

'तहियं' ति तस्मिन् मुनौ भक्तपानं प्रतीच्छति यज्ञवाटे वा गन्धः—आमोदस्तत्प्रधानमुदकं—जलं गन्धोदकं तच्च पुष्पाणि च—कुसुमानि तेषां वर्षं—वर्षणं गन्धोदकपुष्पवर्षं, सुरैरिति सम्बन्धात् कृतमिति गम्यते, दिव्या-श्रेष्ठा, यद्वा-दिवि-गगने भवा दिव्या 'तहिं' ति तस्मिन्नेव नान्यत्र, अनेन कथमियतामेकत्र कल्याणानां मीलक इत्यन्यत्रैवान्यतरत्कल्याणान्तरं भविष्यतीत्याशङ्का निराकृता । वसु-द्रव्यं तस्य धारा-सततपातजनिता सन्ततिर्वसुधारा सा च 'वुट्ठे' ति पातिता 'सुरै'रित्यत्रापि सम्बध्यते तथा प्रकर्षेण हताः-ताडिताः प्रहताः, के ते ? 'दुन्दुभयो' देवानकाः, उपलक्षणत्वाच्छेषातोद्यानि च । कैः ?—सुरैः—देवैः, तथा तैरेव आकाशे-नभसि 'अहो' इति विस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं, कोऽ-

म्य' किलैव शक्नोति दातुम् ? , एवं दत्तं सुदत्तमिति च घुष्टं-सशब्दितमिति सूत्रार्थः ।

तेऽपि ब्राह्मणा विस्मितमनस इदमाहु --

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो ,
न दीसई जाइविसेसो कोई ।
सोवागपुत्तं हरिएसमाहुं ,
जस्सेरिसा इड्ढिमहाणुभागा ॥ ३७ ॥

साक्षात्--प्रत्यक्ष 'खु' रिति निश्चितं अवधारणे वा ततः साक्षादेव दृश्यते--अवलोक्यते, कोऽसौ ?--तपो--लोकप्रसिद्धया व्रतमुपवासादिर्वा तस्य विशेषे-विशिष्टत्वमाहात्म्यमिति यावत्तपोविशेषो, 'न' नैव दृश्यते जातिविशेषो-जातिमाहात्म्यलक्षण' , कोऽपी ' ति स्वल्पोऽपि, किमित्येवमत आह--यत. स्वपाकपुत्र.--चाण्डालसुतो हरि--केशश्चासौ-मातङ्गत्वेन प्रसिद्धत्वात् साधुश्च यतित्वाद्धरिकेशसाधु ,पठ्यते च--' सोवागपुत्त हरिएससाहुं ' ति अत्र च पश्यतेति शेष ,कदाचिदन्य एव कश्चिदत आह--यस्येदृशी--दृश्यमानरूपा ऋद्धि --देवसन्निधानात्मिका सम्पत् महानुभागा सातिशयमाहात्म्या, जातिविशेषे हि सति सर्वोत्तमत्वाद् ब्राह्मणजातेस्तद्वतामस्माकमेव देवा वैयावृत्त्य कुर्युरिति भाव इति सूत्रार्थः ।

साम्प्रत स एव मुनिस्तापशान्तमिथ्यात्वमोहनीयोदया-निव पश्यन्निदमाह--

किं माहणा ! जोइमसमारभंता,
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं,
न तं सुदिट्ठ कुसला वयंति ॥३८॥

' कि ' मिति क्षेपे, ततो न युक्तमिदं, यत् माहना--ब्राह्मणा ज्योति --अग्निं समारभमाणा --प्रस्तावाद् यागकरणत. प्रवर्त्तमाना , याग कुर्वन्त इत्यर्थ ,उदकेन जलेन ' सोहिं' ति शुद्धिं निर्म्मलता ' बहिय ' त्ति बाह्या, कोऽर्थो ? बाह्यहेतुका, याग हि समारभमाणैर्जलेन वा शुद्धिर्मार्ग्यते तत्र यागस्नाने एव तत्त्वतो हेतुत्वेनेष्टे, न च भवदभिमते बाह्ये एवेति विमार्गयथ-विशेषेणान्वेषयथ , किमेवमुपदिश्यत इत्याह--यद्यूय मार्गयथ बाह्या--बाह्यहेतुकां विशुद्धिं, न तत् सुदृष्टं सुष्ठु प्रेक्षित कुशला --तत्त्वविचारं प्रति निपुणा वदन्ति--प्रतिपादयन्तीति सूत्रार्थः ।

यथा चैतत् सुदृष्ट न भवति तथा स्वत एवाह--

कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं,
सायं च पायं उदयं फुसंता ।
पाणाइँ भूयाइँ विहेडयंता,
भुज्जोऽवि मंदा ! पकरेह पावं ॥ ३९ ॥

कुश च--दर्भं च यूप--प्रतीतमेव तृणं च--वीरणादि काष्ठ--समिदादि तृणकाष्ठम् अग्निं प्रतीतं सर्वत्र परिगृह्णन्त इति शेषः सायं--सन्ध्यायां, चशब्दो भिन्नक्रमस्तत ' पायं ' ति प्रातश्च प्रभाते उदकं--जलं स्पृशन्त --आचमनादिषु परामृशन्त. ' पाणाइं ' ति प्राणयोगात् प्राणिनो, यद्वा-प्रकर्षेणानन्तीति वसन्तीति प्राणा. द्वीन्द्रियादय', सम्भवन्ति हि जले पूतरकादिरूपास्त इति, 'भूयाइ' इति भूतान्--तरून् ' भूताश्च तरव. स्मृता ' इति वचनात् , पृथिव्याद्येकेन्द्रियोपलक्षणं चैतत् ' विहेडयंति' त्ति विहेठयन्तो--विशेषेण विविधं वा बाधमाना'; विनाशयन्त इत्यर्थ , किमित्याह--भूयोऽपि--पुनरपि , न केवल पुरा किन्तु विशुद्धिकालेऽपि जलानलादिजीवोपमर्दतो मन्दा'--जडा प्रकुरुथ-प्रकर्षेणोपचिनुथ यूयं , किं तत् ?--पापम्--अशुभकर्म, अयमाशय.--कुशला हि कर्म्ममलविलयात्मिका तात्त्विकीमेव शुद्धिं मन्यन्ते, भवदभिमतयागस्नाने च यूपादिपरिग्रहजलस्पर्शाविनाभावित्वेन भूतोपमर्दहेतुतया प्रत्युत कर्म्ममलोपचयनिबन्धने एवेति नातः तत्सम्भव-इति कथं तद्धेतुकशुद्धिमार्गेणं सुदृष्ट ते वदेयु. ?, तथा च वाचक -" शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा, भावशुद्धयात्मकं शुभम् । जलादिशौच यत्रेष्टं, मूढविस्मापकं हि तत् ॥ १ ॥ " इति सूत्रार्थः ।

इत्थ तद्वचनतः समुत्पन्नशङ्कास्ते यागं प्रति तत्वेदवं पप्रच्छु --

कहं चरे भिक्खु ! वयं जयामो ?,
पावाइँ कम्माइँ पणुल्लयामो ।
अक्खाहि णे संजय जक्खपूइआ,
कहं सुइट्ठं कुसला वयंति ? ॥ ४० ॥

कथं--केन प्रकारेण ' चरि ' त्ति " विभाषा कथमि लिङ् च " इति (पा० ३-३-१४३) लिङि वचनव्यत्ययाच्चरेमहि-यागार्थं प्रवर्त्तेमहि, हे भिक्षो ! मुने ! वयमित्यात्मनिर्देश , तथा यजामो-यागं कुर्म्मः , कथमिति योग ?' पापानि अशुभानि कर्म्माणि पुरोपचितानि ऽविद्यारूपाणि ' पणुल्लयामो' त्ति प्रणुदाम -प्रेरयामो येनेति गम्यते, आख्याहि--कथय न -अस्माकं संयत -पापस्थानेभ्य सम्यगुपरत यक्षपूजित ! यक्षार्चित !, किमुक्त भवति ?-यो ह्यस्मद्विदित कर्म्मप्रणोदनोपायत्वेन याग स युष्माभिर्दूषित इति भवन्त एवापर यागमुपदिशन्तु, कदाचिदविशिष्टमेव यजनमुपदिशेदित्याशङ्कयाह-कथ-केन प्रकारेण स्विष्टं शोभन यजनं कुशला-उक्तरूपा वदन्ति--प्रतिपादयन्ति, न तं ' सुदिट्ठं कुसला वयंति ' त्ति कुशलमुखेनैव मुनिना-दूषितमिति तैरपि पृष्टमिति सूत्रार्थः ।

मुनिराह--

छज्जीवकाए असमारभंता,
मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं,
एयं परिन्नाय चरंति दंता ॥ ४१ ॥

षड्जीवकायान्-पृथिव्यादीन् 'असमारभमाणा' अनुपमर्दयन्त' ' मोस ' ति मृषा अलीकभाषणम् ' अदत्त च-स्वदत्तादानं चासेवमाना -अनाचरन्त. परिग्रहं-मूर्च्छां स्त्रियो-योषितो ' माण ' त्ति मानम्-अहङ्कारं माया पश्चाज्ञातानिर्माण तत्सहचारित्वात्क्रोधलोभौ च, एतद्--अनन्तरोक्तं परिग्रहादि परिज्ञाय-ज्ञपरिज्ञया सर्वप्रकारं ज्ञात्वा

प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याय 'चरेज्ज दन्त' त्ति वचनव्यत्ययाच्चरेयुर्योगे प्रवर्त्तेरन्, भवन्त इति गम्यते । पठन्ति च—'चरन्ति दन्त' त्ति अत्र च यत एव दान्ताश्चरन्त्यतो भवद्भिरप्येवं चरितव्यमिति भाव इति सूत्रार्थः ।

प्रथमप्रश्नप्रतिवचनमुक्तं शेषप्रश्नप्रतिवचनमाह—

सुसंवुडा पंचहिँ संवरेहिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणो ।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो,
महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥ ४२ ॥

सुष्ठु संवृतः-स्थगितसमस्ताश्रवद्वारः सुसंवृतः कैः ?-पञ्चभिः-पञ्चसंख्यैः संवरैः-प्राणातिपातविरत्यादिभिः । 'इह' त्यस्मिन् मनुष्यजन्मनि, उपलक्षणत्वात्परत्र च जीवित—प्रस्तावादसंयमजीवितम् अनवकाङ्क्षन्—अनिच्छन्, यद्वाऽपगम्यमानत्वाज्जीवितमपि—आयुरप्यास्तामन्यद्धनादि, अनवकाङ्क्षन् यत्र हि व्रतबाधा तत्रासौ जीवितमपि न गणयति, अत एव व्युत्सृष्टो—विविधैरुपायैर्विशेषेण वा परीषहोपसर्गसहिष्णुतालक्षणेनोत्सृष्टः—त्यक्तः—कायः शरीरमनेनेति व्युत्सृष्टकायः, शुचि-अकलुषव्रतः स चासौ त्यक्तदेहश्च अत्यन्तनिष्प्रतिकर्मतया शुचित्यक्तदेहः, महान् जयः कर्मशत्रुपराभवनलक्षणो यस्मिन् यज्ञश्रेष्ठेऽसौ महाजयस्तं, क्रियाविशेषणं वा महाजयं यथा भवत्येवं यजते यतिरिति गम्यते, ततो भवन्तोऽप्येवमेव यजन्तामिति भावः, तिङ्वचनव्यत्ययेन वा 'जइय' त्ति यजतां, कमित्याह—'जण्णसिट्ठं' ति प्राकृतत्वाच्छ्रेष्ठयज्ञं, श्रेष्ठवचनेन चैतद्यजनमेव स्विष्टं कुशला वदन्ति, एष एव च कर्म्मप्रणोदनोपाय इत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ।

यदीदृग्गुणः श्रेष्ठयज्ञं यजते अतस्त्वमपीदृग्गुण एव, तथा च स यजमानस्य कान्युपकरणानि को वा यजनविधिरित्यभिप्रायेण त एवमाहुः—

के ते जोई के व ते जोइठाणं ?,
का ते सुया किं च ते कारिसंऽगं ? ।
एहा य ते कयरा संति भिक्खू ?,
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ? ॥ ४३ ॥

किम्, अयमर्थः-किंरूपं ते—तव 'ज्योति' रिति अग्निः 'के व ते जोइठाणं' त्ति किं वा ते-तव ज्योतिः स्थानं यत्र ज्योतिर्निधीयते, का स्रुचो ?—घृतादिप्रक्षेपिका दर्व्यः, 'किं च' त्ति किं वा करीषः—प्रतीतः स एवाङ्गम्-अग्न्युद्दीपनकारणं करीषाङ्गं येनासौ सन्धुक्ष्यते, एधाश्च-समिधो यकाभिरग्निः प्रज्वाल्यते, ते—तव कतरा इति-काः ? 'संति-' त्ति शान्तिश्च-दुरितोपशमनहेतुरध्ययनपद्धतिः कतरेति प्रक्रमः, 'भिक्खु' इति भिक्षो ! कतरेण होमेन—हवनविधिना, समेन धावतीत्यादिवत् तृतीया जुहोषि-आहुतिभिः प्रीणयसि, किं ?—ज्योतिः—अग्निम् षड्जीवनिकायसमारम्भनिषेधेन ह्यस्मदभिमतो होमः तदुपकरणानि च पूर्वं निषिद्धानीति कथं भवतो यजनसम्भवः ? इति सूत्रार्थः ।

मुनिराह—

तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं करीसंऽगं ।
कम्म एहा संजमजोग संती,
होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥ ४४ ॥

तपो—बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं ज्योतिः—अग्निः, यथा हि ज्योतिरिन्धनानि भस्मीकरोत्येवं तपोऽपि भावेन्धनानि—कर्म्माणि, जीवो—जन्तुर्ज्योतिः स्थानं-तपोज्योतिषस्तदाश्रयत्वात्, युज्यन्ते—सम्बध्यन्ते स्वकर्म्मणेति योगाः—मनोवाक्कायाः स्रुवः, ते हि शुभव्यापाराः स्नेहस्थानीयाः, तपोज्योतिषो ज्वलनहेतुभूताः तत्र सस्थाप्यन्त इति, शरीर-करीषाङ्गं, तेनैव हि तपोज्योतिरुद्दीप्यते, तद्भावभावित्वात्तस्य, कर्म—उक्तरूपम् एधास्तस्यैव तपसा भस्मीभावनयनात्, 'संजमजोग' त्ति संयमयोगाः—संयमव्यापाराः शान्तिः सर्व्वप्राण्युपद्रवापहारित्वात्तेषां, तथा 'होमं' ति होमेन जुहोति तपोज्योतिरिति गम्यते, ऋषीणां-मुनीनां सम्बन्धिना 'पसत्थं' ति प्रशस्तेन जीवोपघातरहितत्वेन विवेकिभिः श्लाघितेन सम्यक्चारित्रेणेति भावः । अनेन च कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिरिति प्रत्युक्तमिति सूत्रार्थः । तदेतेन 'किं माहना जोइसमारहना' इत्यादिना लोकप्रसिद्धयज्ञानां स्नानस्य च निषिद्धत्वाद्यज्ञस्वरूपं तैः पृष्टं कथितं च मुनिना ।

इदानीं स्नानस्वरूपं पिपृच्छिषव इदमाहुः—

के ते हरए के य ते संतितित्थे ?,
कहंसि एहाओ व रयं जहासि ? ।
आयक्ख णे संजय ! जक्खपूइया, !
इच्छामु नाउं भवओ सगासे ॥४५ ।

कस्ते—तव ह्रदः—नदः ?, 'के य ते संतितित्थे' त्ति किं च 'ते'-तव शान्त्यै—पापोपशमननिमित्तं तीर्थं—पुण्यक्षेत्रं—शान्तितीर्थम्, अथवा-'कानि च' किंरूपाणि 'ते'-तव सन्ति—विद्यन्ते तीर्थानि—संसारोदधितरणोपायभूतानि, लोकप्रसिद्धतीर्थानि हि त्वया निषिद्धानीति, तथा च-'कहिंसि एहाओ वे' ति वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्कस्मिन् वा स्नातः—शुचिर्भूतो रज इव रजः—कर्म्म जहासि—त्यजसि त्वं ?, गम्भीराभिप्रायो हि भवांस्तत् किमस्माकमिव भवतोऽपि ह्रदतीर्थं एव शुद्धिस्थानमन्यद्वेति न विद्म इति भावः—आचक्ष्व—व्यक्तं वद संयत ! यक्षपूजित ! इच्छामः—अभिलषामो ज्ञातुम्—अवगन्तुं भवतः—तव सकाशे—समीपे इति सूत्रार्थः ।

मुनिराह—

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सि एहाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥
एयं सिणाणं कुसलेण दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सि एहाया विमला विसुद्धा,
महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ति ॥ ४७ ॥

धर्म'-अहिंसाद्यात्मको ह्रद --कर्मरजोऽपहन्तृत्वाद् ब्रह्मे-
ति-ब्रह्मचर्यं शान्तितीर्थं,तदासेवनेन हि सकलमलमूलं रा-
गद्वेषावुन्मूलितावेव भवतः, तदुन्मूलनाच्च न कदाचिन्मलस्य
सम्भवोऽस्ति, सत्याद्युपलक्षणं चैतत्, तथा चाऽऽह-"ब्रह्म-
चर्येण सत्येन, तपसा संयमेन च । मातङ्गर्षिर्गतः शुद्धिं, न
शुद्धिस्तीर्थयात्रया ॥ १ ॥" अथवा-'ब्रह्मे' ति ब्रह्मचर्यवन्तो
मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा साधव उच्यन्ते, सुब्व्यत्ययाच्चै-
कवचनं, सन्ति-विद्यन्ते तीर्थानि ममेति गम्यते, उक्तं हि-
"साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं, तीर्थभूता हि साधवः । तीर्थं पुनाति
कालेन, सद्यः साधुसमागमः ॥ १ ॥" किं च--भवत्प्रतीत-
तीर्थानि प्राण्युपमर्दहेतुतया प्रत्युत मलोपचयनिमित्तानीति
कुतस्तेषां शुद्धिहेतुता ?, तथा चोक्तम्—" कुर्याद्वर्षसहस्रं तु,
अहन्यहनि मज्जनम् । सागरेणापि कृत्स्नेन, वधको नैव शुद्ध्य-
ति ॥ १ ॥ " ह्रदशान्तितीर्थे एव विशिनष्टि--अनाविले
मिथ्यात्वगुप्तिविराधनादिभिरकलुषे अनाविलत्वादेवात्मनो-
जीवस्य प्रसन्ना-मनागप्यकलुषा पीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिं
स्तदात्मप्रसन्नलेश्यं तस्मिन्, अथवा-आप्ता प्राणिनामिह परत्र
च हिता प्राप्ता वा तैरेव प्रसन्नलेश्या-उक्तरूपा यस्मिंस्तदात्म-
प्रसन्नलेश्यं तस्मिन्नेवंविधे धर्मह्रदे,ब्रह्माख्यशान्तितीर्थे च य-
दाह-ब्रह्मशब्देन ब्रह्मचर्यवन्त उच्यन्ते तत्पक्षे वचनविपरिणा-
मेन विशेषणद्वयं व्याख्येयं, 'जहिंसि' त्ति यत्राऽस्मि स्नात इव
स्नातः-अत्यन्तशुद्धिभवनाद्विमलो-भावमलरहितोऽत एवा-
ऽतिविशुद्धो-गतकलङ्कः, 'सुसीतीभूओ' त्ति सुशीतीभूतो
रागाद्युत्पत्तिविरहतः सुष्ठु शैत्यं प्राप्तः, पठ्यते च--' सुसी-
लभूओ' त्ति सुष्ठु--शोभनं शीलं--समाधानं चारित्रं वा-
भूतः--प्राप्तः सुशीलभूतः, प्रजहामि--प्रकर्षेण त्यजामि दू-
ष्यति-विशुद्धमप्यात्मानं विकृतिं नयतीति दोषः-कर्म तम्,
अनेनैतदाह—ममापि ह्रदतीर्थे एव शुद्धिस्थानं परमेवंविधे
एवेति, निगमयितुमाह-'एतदि' त्यनन्तरमुक्तं स्नानं-रजोहीनं
कुशलैः-प्रागुक्तरूपैर्दृष्टं-प्रेक्षितमिदमेव महास्नानं, न तु युष्म-
त्प्रतीतम्, अस्यैव सकलमलापहारित्वाद्, अत एव चेद
ऋषीणां प्रशस्तं-प्रशंसास्पदं, न तु जलस्नानवत्सदोषतया नि-
न्द्यम्, अस्यैव फलमाह-'जहिंसि' त्ति सुब्व्यत्ययाद् येन स्ना-
ता विमला विशुद्धा इति च प्राग्वत् महर्षयो-महामुनय उत्तमं
स्थानं मुक्तिलक्षणं प्राप्ताः-गता इति सूत्रद्वयार्थः । इतिः परि-
समाप्तौ,ब्रवीमीति पूर्ववद्, गतोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्ते
च प्राग्वदेव । उत्त० १२ अ० । स्था० । ती० । व्य० ।
प्रश्न० । राजगृहनगरे श्रेणिकस्याध्यापके, नि० चू० १ उ० ।

हरिओभास-हरितावभास-पुं० । हरितत्वेन अवभासमाने,
रा० । जी० ।

हरिकंखीणयर-हरिकंखीनगर-न० । स्वनामख्याते नगरे,
ती० । "पणमिअ पासजिणेसं,हरिकखीणयरचेइयनिविट्ठं । त-
स्सेव कप्पमप्प भणामि निद्दलिअकप्पमय ॥ १ ॥" गुज्जर-
धराए हरिकखी नामो अभिरामो गामो अच्छइ । तत्थ जि-
णभवणे उत्तुगसिहरे सन्निहियपाडिहेरा सिरिपासनाहप-
डिमा विविहपूआहिं पूइज्जइ भविअजणेण ति काउ ।
अन्नया चोलुक्कवसपईवेण सिरिभीमएवरज्जे तुरुक्कमंडलाओ
आगएणं सबलवाहणेण अनतुत्तुक्काभिहाणमल्लारेण अण-
हिलवाडयपट्टणगढं भंजित्ता चलतेण दिट्ठं हरिकखी-
गामे तं चेइयं । भज्जं पविसित्ता भग्गा भगवओ पासनाहप-
डिमा । तं च गामं उव्वद्दवित्ता चलिओ सट्ठाणं पइ मल्लारो ।
पुणो वसिओ गामो समागया गुट्ठियसावया भगवंतं भग्ग
तं निरूवित्ता परुप्परं भणिओऽहिवती अहो ! भगवओ
महामहप्पस्सावि कहं नाम भंगो विहिओ चिलाएहिं, कत्थ
पुण सा भगवओ तारिसी कला गय त्ति ? । तओ तेसिं प-
सुत्ताणं सुमिणे आइट्ठमहिट्ठायगसुरेहिं,जहा एयाए पडिमाए
खंडाणि सव्वाणि एगट्ठीकाऊण गब्भहरे ठवित्ता दुवार-
कवाडं रुंधित्ता भयं दाऊण छम्मासे ०जाव पडिवालेयव्वं ।
तओ परं दुवारमुग्घाडियव्व पडिमा निरिक्खियव्वा सपुण्ण-
मगोवंगा होहिइ । गुट्ठिएहिं भोगं काऊण तहेव कयं०जाव पं-
च मासा वोलीणा, छट्ठस्स पारते उस्सुगीहोऊण गोट्ठिएहिं
दुवारमुग्घाडियं ० जाव दिट्ठा भगवओ संपुण्णगो-
वंगकप्पा केवलं ठाणे ठाणे मसनिवहपूरिआ । तओ तत्त-
मवियारित्ता तेहिं आहूओ सुत्तधारो । तेण टंकियाए मसा
छिंदिउमारद्धा ०जाव निस्सरिय मसेहिंतो रुहिरं । तओ भी
आ गुट्ठिआ भूओ—भूओ भोगाइएहिं पसाएउमारद्धा,
तओ रत्तीए सुमिणे आइट्ठमहिट्ठायगेहिं, जहा—न सोहणं
कयं तुम्मेहिं जओ अपुन्नाए वि छम्मासीए दुआरमुग्घाडि-
अमिति । दारे दिट्ठा पाससामिस्स पडिमा निरुवहयअखंडि-
अगोवंगा केवल नहसुत्तीसु अंगुट्ठे य मणाग तुच्छा, परिट्ठि-
यगुट्ठियापुव्वं च पूइओ पवच्चागच्छंति चाउद्दिसाओ
संघा, करिंति जत्तामहूसवं । एवं च सुकरकारी माहप्प-
निही सिरीपासनाहो " इय हरिकखीनयरे, पारट्ठिअस्सास-
पण तणयस्स । सिरिजिणपहसूरीहिं, कप्पो विहिओ स-
मासेणं ॥ १ ॥ " इति । ती० २८ कल्प ।

हरिकंत-हरिकान्त--पुं० । दाक्षिणात्यानां कुमाराणामिन्द्रे, भ०
३ श० ८ उ० । स्था० । स० । प्रज्ञा० ।

हरिकंतप्पवायद्दह--हरिकान्ताप्रपातह्रद--पुं० । हरिकान्तायाः
महानद्या प्रपातह्रदे, हरिकान्तोक्तरूपा महानदी यत्र निप-
तति, यश्च हरित्कुण्डसमानो हरिद्द्वीपसमानेन हरिकान्ता-
देवीद्वीपेन सभवनेन भूषितमध्यभागः स हरिकान्ताप्रपात-
ह्रद इति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हरिकंता-हरिकान्ता--स्त्री० । हरिवर्षे महानद्याम्, रा० ।
ज० । स० । हरिकान्ता तु महापद्मह्रदा देवोत्तरेण तोरणेन
निर्गत्य पञ्चोत्तराणि षोडश शतानि सातिरेकाणि उत्तरा-
भिमुखीपर्वतेन गत्वा सातिरेकयोजनशतद्वयप्रमाणेन प्र-
पातेन हरिकान्ताकुण्डे तथैव प्रपतति । मकरमुखजिह्वि-
काप्रमाणं पूर्वोक्ताद्द्विगुणं, ततः प्रपातकुण्डादुत्तरतोरणेन नि-
र्गत्य हरिवर्षमध्यभागवर्तिनं गन्धापातिवृत्तवैताढ्यं योज-
नेनासम्प्राप्ता पश्चिमाभिमुखीभूता षट्पञ्चाशता सरित्सहस्रैः
समग्रा समुद्रमभिगच्छति, इयं च हरिकान्ता प्रमाणतो रो-
हिन्नदीतो द्विगुणेति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हरिकंताकूड-हरिकान्ताकूट-पुं० । नदीदेवतासत्के कूटे,स्था०८
ठा०३ उ० । जम्बूद्वीपे महाहिमवतः षष्ठे कूटे, स्था०२ ठा०३उ० ।

हरिकण्ण-हरिकर्ण-पुं० । अपरनामके अन्तर्द्वीपे, न० ।

हरिकूड-हरिकूट-पुं० । नीलवत्पर्वतस्य नीलवत्कूटाद्दक्षिणतः
सहस्रप्रमाणे विद्युत्प्रभवर्तिकूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतस्य कूटे, निषधवर्षधरस्य पञ्चमे कूटे च । जं० १ वक्ष० ।

हरिकेसीबल–हरिकेशीबल–पुं० । स्वनामख्याते साधौ, उत्त० १२ अ० । (अत्रत्या सर्वा वक्तव्यता 'हरिएस' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव गता ।)

हरिचंद–हरिश्चन्द्र–पुं० । अयोध्यायामिक्ष्वाकुवंशे त्रिशङ्कुपुत्रे उशीनरनृपसुतायाः सुतारादेव्याः पत्यौ रोहिताश्वपितरि, ती० । कल्प० । आ० म० । (वनवराहरूपधारिभ्यां देवाभ्यां हरिश्चन्द्रस्य परीक्षेति 'वाणारसी'शब्दे षष्ठे भागे दर्शितम् ।) साकेतनगरवास्तव्ये गृहपतौ, अन्त० ६ वर्ग ५ अ० । (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य दश वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य विपुलपर्वते सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां षष्ठवर्गस्य पञ्चमाध्ययने सूचितम् ।)

हरिचंदण–देशी––कुङ्कुमे, दे० ना० ८ वर्ग० ६५ गाथा ।

हरिण–हरिण–पुं० । मृगे, प्रव० २१ द्वार ।

हरिणंदी–हरिनन्दी–पुं० । उज्जयिनीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, ध० र० २ अधि० ४ लक्ष० । (अत्रत्या वक्तव्यता 'उज्जुववहार' शब्दे द्वितीयभागे ७३१ पृष्ठे गता ।)

हरिणेगमेसि(ण्)–हरिनैगमेषिन्–पुं० । हरिरिन्द्रस्तत्सम्बन्धित्वात् हरिनैगमेषी । भ०५ श०४ उ० । शक्रस्य पदातिकटकनायके, कल्प०१ अधि०२ क्षण । हरेरिन्द्रस्य नैगममादेशमिच्छतीति हरिनैगमेषी । अथवा–हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी नामा देवो यो देवानन्दायाः कुक्षेर्वीरजिनमपहृत्य त्रिशलागर्भे प्रावेशयत् । आ०म०२अ० । ('वीर'शब्दे षष्ठे भागे वक्तव्यताऽस्य द्रष्टव्या ।) शक्रस्य देवेन्द्रस्य पदात्यनीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

हरितग–हरितक–पुं० । नीलके दूर्वादिवनस्पतौ, प्रश्न०३ संव० द्वार । प्रज्ञा० ।

से किं तं हरिया ? , हरिया अणेगविहा पन्नत्ता , तं जहा–" अज्जोरुह वोडाणे , हरितग तह तंदुलेज्जगतणे य । वत्थुल पोरग मज्जा–रयाइ बिल्ली य पालक्का ॥३७॥ दगपिप्पली य दव्वी, सोत्थिय साए तहेव मंडुकी । मूलग सरिसव अंबिल, साएय जियंतए चेव ॥३८॥ तुलस कण्ह ओराले, फणिज्जए अज्जए य भूयणए । वारगदमणगमरुयग, सतपुप्फिंदीवरे य तहा ॥ ३९ ॥" जे या वन्ना तहप्पगारा । से त्तं हरिया । प्रज्ञा० १ पद ।

हरितगरेरिज्जमाणा'–हरितकाश्च ते नीलका रेरिज्यमानाश्च देदीप्यमाना हरितकरेरिज्यमाना । भ० १ श० २ उ० ।

हरिप्पवायदह–हरित्प्रपातह्रद–पुं० । हरिन्नद्याः प्रपातह्रदे, स्था० । 'हरिप्पवायदहे चेव त्ति हरिन्नदी प्रागुक्तलक्षणा यत्र निपतति । यश्च द्वे शते चत्वारिंशदधिके आयामविष्कम्भाभ्यां सप्तशतानि एकोनषष्ट्यधिकानि परिक्षेपेण यस्य च मध्यभागे हरिद्देवताद्वीपः द्वात्रिंशद्योजनायामविष्कम्भः एकोत्तरशतपरिक्षेपः जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रितो हरिद्देवताभवन भूषितोपरितनभागोऽसौ हरित्प्रपातह्रद इति । स्था०२ ठा०३ उ० ।

हरिभद्द––हरिभद्र––पुं० । श्वेताम्बराचार्यजिनभद्रनिगदानुसारिणि विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्ये धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनौ स्वनामख्याते आचार्ये आव०६अ०।दश० ।

हरिभद्रसूरिवृत्तलेशस्त्वेवं प्रभावकचरितादावाख्यायते––चित्रकूटनगरे हरिभद्रो नाम विद्यागर्वाध्मातो ब्राह्मण आसीत् । स च यद्वाक्यं नाहं बोद्धुं शक्नुयाम् तस्य शिष्यः स्यामिति कृतप्रतिज्ञः , "चक्किजुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की । केसव चक्की केसव,दुचक्की केसीय चक्की य ।" इति गाथां भणन्तीं याकिनीं नाम महत्तरिकां तदर्थपरिज्ञानाय पृष्टवान् , सा च तं स्वाचार्यपार्श्वे नीत्वाऽदीक्षयत् । तत्र सोऽखिलं समयमध्यगमत् ,हंसपरमहंसनामानौ च शिष्यौ अदीक्षयत् । तौ च प्रमाणशास्त्राधिजिगासया बौद्धेषु गतौ , तत्र जैनाविति ज्ञातौ मारितौ । ततः क्रुद्धेन हरिभद्रसूरिणा अग्नावाहोतुं सपरिवारो बौद्धाचार्य आकृष्टः, ततो गुरुणाऽनुकम्पया मोचितः । तदनु स हरिभद्रश्चतुर्दश शतानि प्रबन्धानां चक्रे, विक्रमवर्षे ५३५ अयमासीत् । द्वितीयोऽपि हरिभद्रसूरि नागेन्द्रगच्छीयाऽऽनन्दसूरिशिष्यः कलिकालगौतमबिरुदधारकः तत्त्वप्रबोधाद्यनेकग्रन्थकर्त्ता, अयं विक्रमवर्षे १२३५––१२६० मध्ये आसीत् । तथा श्रीहरिभद्रसूरिणा सौगता हुता एव होतुमारभ्य मुक्ता वा कुत्र वाऽयं सम्बन्धो वर्त्तते इत्याश्रित्य श्रीहरिभद्रसूरिभिः सौगता होतुं खे आकृष्टास्तदनु गुरुभिर्ज्ञात्वा साधू प्रहितौ ताभ्यां 'गुणसेण अग्गिसम्मा,सीहाणंदा य' इत्यादि चरित्रकथनमूलगाथात्रयं दत्तं, ततः प्रबुद्धेन सूरिणा ते मुक्ता इति तत्प्रबन्धे । प्रभावकचरित्रे तु पणपूर्वकं वादे जितं सौगतगुरुं स्वयमेव तप्तकटाहतैले प्राक्षिपदिति । तथा तत्रैव इह किल कथयन्ति केचिदित्थं गुरुतरमन्त्रजपप्रभावतोऽत्र सुगतमतबुधान् विकृष्य तप्तेन तु हरिभद्रगुरुर्जुहाव तैलेन , इत्यपि लिखितमस्तीति । ही० १ प्रका० । पञ्चाशकाख्यप्रकरणकारके आचार्ये पञ्चा०१६विव० । ' आचार्यहरिभद्रेण दृब्धा सन्तापसङ्कुला । चैत्यवन्दनसूत्रस्य, वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥ १ ॥" ल० । अनुयोगद्वारटीकाकारके, ज्यो० २ पाहु० । "मध्ये समस्तभूपीठं यशो यस्याभिवर्द्धते । तस्मै श्रीहरिभद्राय , नमष्टीकाविधायिने ॥ १ ॥ " न० ।

हरिमंथ–हरिमन्थ–न० । धान्यविशेषे, प्रव० १५६ द्वार । कृष्णचणके, ध० २ अधि० । ग० । नि० चू० ।

हरिमहाणई–हरिमहानदी–स्त्री० । निषधपर्वते पद्महृदनिर्गते महानदीभेदे जं० ४ वक्ष० । (तिगिच्छद्दह 'शब्दे चतुर्थभागे २२४० पृष्ठे व्याख्यातेषा ।)

हरिमिच्छ–हरिमिच्छ–पुं० । कृष्णचणके, दश० ६ अ० ।

हरिमेला–हरिमेला–स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, औ० ।

हरिय–हरित–त्रि० । शुकपुच्छवद् वर्णविशेषपरिणते, हरितभेदे च इति वृद्धाः । औ० । उपरि बीजेषु , सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञा० । अङ्कुरोद्भिन्नबीजे, बृ० । मधुरतृणादिविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ अ० । दूर्वादिके , भ० ७ श० ६ उ० । प्रश्न० । सूत्र० । आचा० । शार्दूले, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । हरितसूक्ष्ममत्यन्ताभिनवोद्भिन्नं पृथिवीसमानवर्णं , स्था० ८ ठा० ३ उ० । तन्दुलीयकाध्यारुहवत्थुलबदरकमार्जारपादिकाबिल्लीपालक्यादिषु, आचा० १ श्रु०१ अ० ५उ० ।

कइ णं भंते हरियकाया हरियकायसया पण्णत्ता ? , गोयमा ! तओ हरियकाया तओ हरियकायसया पण्णत्ता , फलसहस्सं च विंटवद्धाणं फलसहस्सं च णालबद्धाणं , ते सव्वे हरितकायमेव समोयरंति ।

'कइ ण' मित्यादि , कति भदन्त ! हरितकाया कति हरितकायशतानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह-गौतम ! त्रयो हरितकायाः प्रज्ञप्ता-जलजाः स्थलजा उभयजा , एकैकस्मिन् शतमवान्तरभेदानामिति , त्रीणि हरितकायशतानि । 'फलसहस्स चे 'त्यादि. फलसहस्रं च 'वृन्तबन्धाना 'वृन्ताकप्रभृतीना फलसहस्रं च नालबद्धानां, 'तेऽवि सव्वे' इत्यादि, तेऽपि सर्वे भेदा अपिशब्दादन्येऽपि तथाविधाः हरितकायमेव समवतरन्ति—हरितकायेऽन्तर्भवन्ति हरितकायोऽपि वनस्पतौ वनस्पतिरपि स्थावरेषु स्थावरा अपि जीवेषु।जी०३प्रति०१उ०।जात्यार्यभेदे,प्रज्ञा०१पद। (वक्तव्यता 'आर्यारय' शब्दे द्वितीयभागे ३३७ पृष्ठे उक्ता ।)

हरियग-हरितक-पुं० । जीरकादिके,चं०प्र० २० पाहु० । भ० । सू० प्र० । स्था० । ह्रस्वतृणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

हरियपण्णी-हरितपर्णी-स्त्री० । केषुचिद्गृहेषु राज्ञा दण्डं दत्वा देशतापहाराऽर्थमागन्तुकः पुरुषो मार्यते गृहस्योपरिष्टात् आर्द्रवृक्षशाखा चिह्न क्रियते योऽप्यन्योऽविज्ञात आगमिष्यति सोऽप्येव भविष्यतीति सूचके चिह्ने, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

हरियकंति-हरितकान्ति-स्त्री० । शाकबहुलदेशे शाकभक्षणे , बृ० १ उ० २ प्रक० । औ० ।

हरियभद्द-हरितभद्र-पुं० । यक्षभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

हरियभोयण-हरितभोजन-न० । हरितानि मधुरतृणकट्टुभाण्डादीनि एव, भुज्यन्ते इति भोजनानि । औ० । मधुरतृणादि विशेषरूपेषु भोजनेषु , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हरियभोयणा-हरितभोजना-स्त्री०।हरितानि भोजनानि यस्यां सा हरितभोजना । हरितभोजनवन्याम् , आव० ४ अ० ।

हरियवेरुलियवण्णाभ-हरितवैडूर्यवर्णाभ-पुं० । हरितश्चासौ वरुलियवर्णाभश्चेति । नीलवर्णे वैडूर्यभेदे,भ० १६ श० ६ उ० ।

हरियसाग-हरितशाक-न० । पत्रशाके, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

हरियसुहुम-हरितसूक्ष्म-न० । अत्यन्ताभिनवोद्भिन्ने पृथिवीसमानवर्णे हरितके, स्था० ८ ठा० ३ उ० । दश० । कल्प० ।

से किं तं हरियसुहुमे ? हरियसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा-किण्हे ०जाव सुकिल्ले अत्थि हरियसुहुमे । पुढवीसमाणवण्णए णामं पण्णत्ते,जे निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा ० जाव पडिलेहियव्वे भवइ । से तं हरियसुहुमे । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

हरिया-हरिता-स्त्री० । जम्बूद्वीपे पूर्वापरेण लवणसमुद्रं समुपसर्पन्त्यां स्वनामख्यातायां नद्याम् , स० १४ सम० ।

हरियाल-हरिताल-पुं० । पृथिवीकायरूपे (जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।) वर्णकद्रव्ये , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आचा० ।

हरियालगुलिया-हरितालगुटिका-स्त्री० । हरितालिकासारनिर्वर्तितगुटिकायाम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

हरियालभेय-हरितालभेद-पुं० । हरितालिकाच्छेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

हरियालिया-हरितालिका-स्त्री० । दूर्वायाम् . ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । दे०ना० । कल्प० । पृथिवीविकारवर्णकद्रव्ये, रा० ।जं० ।

हरियाहडिया-हृताहृतिका-स्त्री०।पूर्वं हृत पश्चादाहृतम् आनीत यत्र हृताहृत तदेव हृताहृतिका । स्वार्थे कप्रत्ययः, अतिवर्त्तन्ते स्वार्थिकप्रत्ययप्रकृतिलिङ्गवचनानीति वचनादत्र रूढित स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । स्तेनैः पूर्वं हृते पश्चादानीते,बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

हरिताहृतिका--त्रि० । हरितेषु वनस्पतिषु आहृत हरिताहृतिका । वनस्पतिष्वाहृते, स्तेनानीतप्रतीच्छाया च । व्य० ८ उ० । ('उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०७५पृष्ठे हृताहृतिकावस्त्रग्रहणं निषिद्धम् ।)

हरिरेणु-हरिद्रेणु-पुं० । नीलवर्णपांशौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

हरिल-हरिल-पुं० । नागदत्ता-यशोमती-रत्नवतीनाम्ना ब्रह्मदत्तचक्रिभार्याणां पितरि, उत्त० १३ अ० ।

हरिवंस-हरिवंश-पुं०।हरि:-पूर्वभववैरिसुरानीतहरिवर्षक्षेत्रयुगलं तस्य वंशो हरिवंश । कल्प० १अधि०२ क्षण। हरे पुरुषविशेषस्य वंशो,हरिवंश । हरिवर्षजातहरिनाम्नः पुरुषजातायां पुत्रपौत्रादिपरम्परायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । कल्प० । कौशाम्बीनगरे केनचिद् राज्ञा काचित् शालापतिभार्या वनमाला नाम्नी सुरूपेति स्वान्त.पुरे क्षिप्ता, स शालापतिस्तस्या वियोगेन विकलो जातो य कचन पश्यति त वनमाला वनमालेति जल्पति । एव च कौतुकाक्षिप्तैरनेकै लोकै परिवृतः पुरे भ्रमन् वनमालया सम क्रीडता राज्ञा दृष्टस्ततश्चाभ्यामभिरनुचित कृतम् , इति चिन्तयन्तौ तौ दम्पती तत्क्षणात् विद्युत्पातेन मृतौ हरिवर्षक्षेत्रे युगलित्वेन समुत्पन्नौ, शालापतिश्च तौ मृतौ श्रुत्वा आ पापिनौ पाप लब्धम्, इति सावधानोऽभूत् । ततोऽसौ वैराग्यात्तपस्तप्त्वा व्यन्तरोऽभूत् , विभङ्गज्ञानेन च तौ दृष्ट्वा चिन्तितवान् , अहो ! इमौ मद्वैरिणौ युगलसुखमनुभूय देवौ भविष्यतस्तत इमौ दुर्गतौ पातयामीति विचिन्त्य स्वशक्त्या संक्षिप्तदेहौ तौ इहानीतवान् , आनीय च राज्यं दत्वा सप्त व्यसनानि शिक्षितौ ततस्तौ तथाभूतौ नरक गतौ । अथ तस्य वंशो हरिवंश । कल्प० १ अधि० २ क्षण । आ० म० ।

हरिवंसकुलुप्पत्ति-हरिवंशकुलोत्पत्ति-स्त्री० । हरिवंशलक्षणस्य कुलस्योत्पत्तौ,स्था० १० ठा० ३ उ० । (अस्या व्याख्या 'अच्छेर' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे गता ।)

हरिवंसग-हरिवंशक-पुं०।हरिवंशजे मनुष्ये,स्था०६ठा० ३उ० ।

हरिवंसगंडिया-हरिवंशगण्डिका-स्त्री० ।हरिवंशमात्रवक्तव्यतार्थाधिकारानुगताया वाक्यपद्धतौ, स० ।

हरिवास--हरिवास-पुं० । जम्बूद्वीपस्य भरतापेक्षया तृतीये वर्षक्षेत्रे,स्वनामख्याते तदधिपतिदेवे च । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

कहि णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे हरिवासे णामं वासे पण्णत्ते ?,गोयमा ! णिसहस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं

महाहिमवन्तवासहरपव्वयस्स उत्तरेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं जम्बूद्दीवे दीवे हरिवासे णामं वासे पएणत्ते, एवं ०जाव पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्द पुट्ठे अट्ठ जोअणसहस्साइं चत्तारि अ एगवीसे जोअणसए एगं च एगूणवीसइभागं जोअणस्स विक्खम्भेणं, तस्स बाहा पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं तेरस जोअणसहस्साइं तिण्णि अ एगसट्ठे जोअणसए छच एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणंति १ । तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं ०जाव लवणसमुद्दं पुट्ठा तेवत्तरिं जोअणसहस्साइं णव य एगुत्तरे जोअणसए सत्तरस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं २ । तस्स धणु दाहिणेणं चउरासीइं जोअणसहस्साइं सोलस जोयणाइं चत्तारि एगूणवीसइभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं ३ । हरिवासस्स णं भंते ! वासस्स केरिसए आगारभावपडोआरे पण्णत्ते ?, गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव मणीहिं तणेहि अ उवसोभिए एवं मणीण तणाण य वण्णो गन्धो फासो सद्दो भाणिअव्वो । हरिवासे णं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे खुड्डा खुड्डिआओ एवं जो सुसमाए अणुभावो सो चेव अपरिसेसो वत्तव्वो त्ति । कहि णं भन्ते ! हरिवासे वासे विअडावई णामं वट्टवेअड्डपव्वए पएणत्ते ?, गोयमा! हरीए महाणईए पच्चत्थिमेणं हरिकंताए महाणईए पुरत्थिमेणं हरिवासस्स वासस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं विअडावई णामं वट्टवेअड्डपव्वए पएणत्ते , एवं जो चेव सद्दावइस्स विक्खंभुच्चत्तुव्वेहपरिक्खेवसंठाणवण्णावासो सो चेव विअडावइस्स वि भाणिअव्वो , णवरं अरुणो देवो पउमावई ०जाव विअडावइवण्णाभाइं अरुणे अ इत्थदेवे महिड्ढीए एवं ०जाव दाहिणेणं रायहाणी णेअव्वा, से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ हरिवासे, वासे ?, गोअमा ! हरिवासे णं वासे मणुआ अरुणा अरुणोभासा सेआ णं संखदलसण्णिकासा हरिवासे अ इत्थ देवे महिड्ढीए ०जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ । (सू० ८२)

' कहि णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे' इत्यादि, व्यक्तं,नवरं अष्टौ योजनसहस्राणि चत्वारि च योजनशतानि एकविंशत्यधिकानि एकं चैकोनविंशतितम भाग योजनस्य विष्कम्भेन, महाहिमवतो द्विगुणविष्कम्भकत्वादिति । अधुनाऽस्य बाहादित्रयमाह—" तस्स बाहा " इत्यादि, 'तस्स जीवा' इत्यादि, 'तस्स धणु' मित्यादि, सूत्रत्रयमपि व्यक्तम् । अथास्य स्वरूपं पिपृच्छिषुराह—'हरिवास ' इत्यादि, हरिवर्षस्य वर्षस्य भगवन् ! कीदृश आकारभावप्रत्यवतारः प्रज्ञप्तः ?, गौतम ! बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्रातिदेशवाक्यमाह—यावन्मणिभिस्तृणैश्चोपशोभित , एवं मणीनां तृणानां च वर्णो गन्धः स्पर्शः शब्दश्च भणितव्यः, पद्मवरवेदिकानुसारेणेत्यर्थः, अत्र जलाशयस्वरूपं निरूपयन्नाह—' हरिवासे णं ' मित्यादि, क्षेत्रस्य सरसत्वेन तत्र तत्र देशप्रदेशेषु क्षुद्रिकादयो जलाशया अखाता एव सन्तीत्यर्थः, अत्रैकदेशग्रहणेन सर्वोऽपि वाप्यादिजलाशयालापको ग्राह्य अत्र कालनिर्णयार्थमाह—' एवं जो सुसमाए ' इत्यादि , एवम्-उक्तप्रकारेण वर्ण्यमाने तस्मिन् क्षेत्रे यः सुषमाया अवसर्पिणीद्वितीयारकस्यानुभावः स एवापरिशेषः-सम्पूर्णो वक्तव्यः , सुषमाप्रतिभागनामकावस्थितकालस्य तत्र सम्भवात् । अथास्य क्षेत्रस्य विभाजकगिरिमाह—'कहि णं' मित्यादि, प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् , उत्तरसूत्रे हरितो-हरिसलिलाया महानद्याः पश्चिमाया हरिकान्ताया महानद्याः पूर्वस्या हरिवर्षस्य वर्षस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे विकटापातिनामा वृत्तवैताढ्यपर्वतः प्रज्ञप्तः , अत्र निगमयन्नाद्यार्थसन्निदेशसूत्रमाह—एवं विकटापातिवृत्तवैताढ्यवर्णने क्रियमाणे य एव शब्दापातिनो विष्कम्भोच्चत्वोद्वेधपरिक्षेपसंस्थानाना वर्णावासो, वर्णकग्रन्थविस्तरः चकारात्तत्यप्रासादतत्स्वामिराजधान्यादिसंग्रहः, विकटापातिप्रभाणि विकटापातिवर्णाभानि च तेन विकटापातीनि नाम, अरुणश्चात्र देवः आधिपत्यं परिपालयति तेन तद्योगादपि तथा नाम प्रसिद्धम् । आह-विसदृशनामकदेवाद्विकटापातीति नाम कथमुपपद्यते ?,उच्यते-अरुणो विकटापातिपतिरिति तत्कल्पपुस्तकादिषु आख्यायते, सामानिकादीनामप्यनेनैव नाम्ना प्रसिद्धिरिति सामर्थ्याद्विकटापातीति । सुस्थितलवणोदाधिपतेर्गौतमाधिपतित्वात् गौतमद्वीपे इव बृहत्क्षेत्रविचारादिषु हैरण्यवते विकटापाती, हरिवर्षे गन्धापातीत्युक्तं तत्त्वं तु केवलिगम्यम् । एवं यावद्दक्षिणस्यां दिशि मेरो राजधानी नेतव्या । अथ हरिवर्षनामार्थं पिपृच्छिषुराह—' से केणट्ठेणं ' इत्यादि, प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे हरिवर्षे वर्षे केचन मनुजा अरुणा रक्तवर्णा , अरुणं च चीनपिष्टादिकम् आसन्नवस्तूनि अरुणप्रकाशं न कुरुते अभास्वरत्वाद् इमे च न तथा इत्याह--अरुणावभासा इति , केचनश्वेता ण पूर्ववत् , शङ्खदलानि--शङ्खखण्डास्ते हि अतिश्वेता स्युस्तेषां सन्निकाशा --सदृशा तेन तद्योगाद्धरिवर्षं क्षेत्रमुच्यते, कोऽर्थः ?--हरिशब्देन सूर्यश्चन्द्रश्च तत्र केचनमनुष्याः सूर्य इवारुणा अरुणावभासा , सूर्यश्चात्र रक्तवर्णप्रस्तावादुद्गच्छन् गृह्यते, केचन चन्द्र इव श्वेता इति, हरय इव हरयो हनुष्या साध्यवसानलक्षणयाऽभेदप्रतिपत्तिः, ततस्तद्योगात् क्षेत्रं हरय इति व्यपदिश्यते , हरयश्च तद्वर्षं च हरिवर्षं, यदा च मनुष्ययोगात् हरिशब्दः क्षेत्रे वर्त्तते तदा स्वभावाद्बहुवचनान्त प्रयुज्यते, यदाह तत्त्वार्थमूलटीकाकृद् गन्धहस्ती--"हरयो विदेहाश्च पञ्चालादितुल्या" इति , यद्विा-हरिवर्षनामा अत्र देव आधिपत्यं परिपालयति तेन तद्योगादपि हरिवर्षम् । जं० ४ वक्ष० ।

दो हरिवासाइं । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हरिवासकूड--हरिवासकूट--पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे

महाहिमवति वर्षधरपर्वते स्वनामख्याते कूटे , स्था० ८ ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे हरिवर्षस्य क्षेत्रविशेषस्याधिष्ठातृदेवेन स्वीकृते निषधवर्षधरपर्वतस्य स्वनामख्याते कूटे , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हरिवासय-हरिवासक-पुं० । हरिवर्षे जातो हरिवर्षो वाऽस्य वासः । हरिवर्षे उत्पन्ने , अनु० ।

हरिवाहण-हरिवाहन-पुं० । नन्दीश्वरद्वीपस्य अपरार्धाधिपतौ देवे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । द्वी० ।

हरिवेरुलियवण्णाभ-हरिवैडूर्यवर्णाभ-न० । हरि' पिङ्गो वर्णो, वैडूर्यं मणिविशेषस्तस्य वर्णो नीलो वैडूर्यवर्णस्तनो द्वन्द्वस्तद्वदाभाति यत्तद्धरिवैडूर्यवर्णाभम् । स्था० १० ठा० ३ उ० । नीलवैडूर्यवर्णाभे , भ० १६ श० ६ उ० ।

हरिस-हृष-धा० । हर्षे, "वृषादीनामरि." ॥८।४।२३५॥ इति ऋतः 'अरि' इत्यादेशः । हरिसइ । हृष्यति । प्रा० ४ पाद ।

हृष-पुं० । हर्षणं हर्षः । आतु० । मन प्रमोदे , ध० १ अधि० । आ० म० । ज्ञा० । मनसः प्रीतिविशेषे, विशे० । रूढिगम्याभरणविशेषे, औ० । सन्तोषे, जीवा० २० अधि० । "हरिसवसविसप्पमाणहियया" हर्षवशेन विसर्पद् विस्तारयायि हृदयं यस्याः सा । भ० ६ श० ३३ उ० । कल्प० । रा० ।

हरिसपुर-हर्षपुर-पुं० । अजमेरनिकटवर्त्तिनि सुभटपालसम्बन्धिनि स्वनामख्याते पुरे , कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

हरिसप्पओसावण्ण-हर्षप्रद्वेषापन्न-पुं० । हर्षश्च प्रद्वेषश्च हर्षप्रद्वेष तदापन्नः । रागद्वेषसमाकुले, सूत्र०१ श्रु० ३ अ०१ उ० ।

हरिसह-हरिसह-पुं० । आलम्बिकायां वीरजिनस्य प्रियपृच्छके , आ० म० १ अ० । दाक्षिणात्यानामग्निकुमाराणामिन्द्रे , स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हरिसहकूड-हरिसहकूट-न० । जम्बूद्वीपे वक्षस्कारपर्वते स्वनामख्याते कूटे , स्था० ६ ठा० ३ उ० । उत्तरश्रेणिपतिविद्युत्कुमारेन्द्रस्य माल्यवद्वर्षधरकूटे, जं० ४ वक्ष० ।

हरिसाहु-हरिसाधु-पुं० । आचाराङ्गसूत्रकृताङ्गयोष्टीकाकारकस्य शीलाङ्काचार्यस्य टीकाकरणसहायके साधौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

हरिसिह हरिशिख-पुं० । उत्तरश्रेणिपतिविद्युत्कुमारेन्द्रे,स्था० ४ ठा० १ उ० ।

हरिसेण-हरिषेण-पुं० । काम्पिल्यनगरे जाते दशमचक्रवर्त्तिनि , ती० २४ कल्प । स० । प्रव० । आव० । स्था० ।

हरिसेणे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी एगूणणउइं वाससयाइं महाराया होत्था । (सू० ८९) स० ८९ सम० ।

हरिसेणे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी देसूणाइं सत्ताणउइं वाससयाइं अगारमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता णं पव्वइए । (सू० ९७) हरिषेणो दशमचक्रवर्त्ती देशोनानि सप्तनवतिं वर्षशतानि गृहमध्युषितस्त्रीणि चाधिकानि प्रव्रज्यां पालितवान् । दशवर्षसहस्रत्वात्तदायुष्कस्येति । स० ९७ सम० । स्वनामख्याते ऋषभदेवपुत्रे, तन्निवेशिते देशविशेषे च । कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

हरी-हरी-स्त्री० । जम्बूद्वीपे पूर्वाभिमुखेन लवणसमुद्रं समुत्सर्पन्त्या स्वनामख्यातायां महानद्याम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

हरीडक-हरीतक-पुं० । कोङ्कणदेशप्रसिद्धे कषायबहुले पथ्याफले, प्रज्ञा० १ पद ।

हरीयई-हरीतकी-स्त्री० । स्वनामख्याते वृक्षे , हरीतकीफले च । विशे० । " ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धेऽम्बरे, तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे । पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां, पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः ॥ १ ॥' सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

हरे-हरे-अव्य० । क्षेपादिषु, " हरे क्षेपे च " ॥८।२।२०२॥ क्षेपे सम्भाषणे रतिकलहयोश्च हरे इति प्रयोक्तव्यम् । क्षेप-हरे णिलज्ज । सम्भाषणे-हरे पुरिसा । रतिकलहे-हरे बहुवल्लह । प्रा० द्वि० २ पाद ।

हरेडगाइ-हरीतक्यादि-पुं० । पथ्याप्रभृतौ, पञ्चा० १० विव० ।

हरेणुया-हरेणुका-स्त्री० । प्रियङ्गौ , उत्त० ३ अ० ।

हल-हल-पुं० । लाङ्गले, औ० । प्रश्न० । ज्ञा० । हलधरे बलदेवे, नामैकदेशग्रहणात्—" नच्चंतस्स य लीला-पातुक्खेवेण कंपिआ वसुधा । उच्छल्लन्ति समुद्दा, सइला निपतन्ति तं हलं नमथ ॥१॥" प्रा० ४ पाद । श्रेणिकराजस्य कूणिकस्य पुत्रे, अनु० । (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडश वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य जयन्ते कल्पे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीये वर्गे षष्ठेऽध्ययने सूचितम् ।)

हलकुद्दाल-हलकुद्दाल-पुं० । हलस्याधःपरितने भागे, उपा० २ अ० । " हलकुद्दालसंठिया से हणुया गल्लकडिल्लं च तस्स खड्डं " उपा० २ अ० ।

हलद्दा-हरिद्रा-स्त्री० । "पथि पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-बिभीतकेष्वत्" ॥८।१।८८॥ इति आदेरितोऽकारादेशः । "हरिद्रादौ लः" ॥८।१।२५४॥ इति रस्य लः । हलद्दा । प्रा० । " छायाहरिद्रयोः " ॥८।३।३४॥ इति स्त्रियां ङीर्वा । हलद्दी । हलद्दा । पीतवर्णे मूलभेदे, प्रा० ३ पाद ।

हलधर-हलधर-पुं० । बलदेवे , प्रव० २०६ द्वार । ज्ञा० । प्रश्न० । अ० । रा० । आ० म० ।

हलधरकोसेज्ज-हलधरकौशेय-न० । बलदेववस्त्रे,औ० । रा० ।

हलधरवसण-हलधरवसन-न० । हलधरो बलदेवस्तस्य वसनम् । बलदेववस्त्रं नन्व किल नीलं भवति । तथैव सभारूपशालो हलधरस्य नीलवस्त्रपरिधानाम् इति, नीलागमासामिद् दर्शन । रा० ।

हल्लप्प-देशी-बहुभाषिणि, दे० ना० ८ वर्ग ६१ गाथा।

हलबोल-देशी-फलकले, दे० ना० ८ वर्ग ६४ गाथा।

हला-हला-अव्य०। देशविशेषगौरवार्थ स्त्र्यामन्त्रणवचने, दश० ७ अ०।

हले- हले-देशी०।सख्या आमन्त्रणे, "मामि-हला-हले सख्या वा" ॥ ८। २। १६५॥ एते सख्या आमन्त्रणे वा प्रयोक्तव्याः। "पणवह माणस्स हला। हले हयासस्स" प्रा०। विशेषगौरवार्थ स्त्र्यामन्त्रणे,दश० ७ अ०। (अत्रान्या व्याख्या 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे गता।) त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

हलि-हली-स्त्री०। पङ्क्तिविशेषे, जं० ३ वक्ष०।

हलिअ-हालिक-पुं०। "पाऽव्ययोत्खातादावदातः" ॥ ८। १। ६७॥ इति आदेराकारस्य अत्वम्। हलिओ। हालिओ। हलवाहके, प्रा० १ पाद।

हलिद्दपत्त-हरिद्रपत्र-न०। चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

हलिद्दमच्छ-हरिद्रमत्स्य-पुं०। मत्स्यविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। विपा०।

हलिद्दमत्तिया-हरिद्रमृत्तिका-स्त्री०। श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

हलिद्दागुलिया-हरिद्रागुटिका-स्त्री०। हरिद्रासारनिर्वर्त्तितायां गुटिकायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

हलिद्दाभेय-हरिद्राभेद-पुं०। हरिद्राच्छेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०।

हलिदुग-हरिद्रुक-पुं०। स्वनामख्याते नगरे। यत्र विहारक्रमेण स्वामी गतः। आ० चू० १ अ०।

हलिसागर-हरिसागर-पुं०। मत्स्यविशेषे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

हलुअ-लघुक-न०। "लघुके ल-होः" ॥ ८। २। १२२॥ इति लघुकशब्दे घस्य हत्वे कृते लहोर्व्यत्ययो वा भवति। हलुअं। लहुअं। शीघ्रे, प्रा० २ पाद।

हलूर-देशी-सतृष्णे, दे०ना० ८ वर्ग ६२ गाथा।

हल्ल-हल्ल-पुं०। चम्पायां कूणिकराजभ्रातरि श्रेणिकस्य चेल्लणागर्भजे पुत्रे, भ० ७ श० ६ उ०।

"हल्लविहल्लनामाणो कूणियस्स चिल्लणादेवीअंगजाया दो भायरा अन्नेऽवि अत्थि। अहुणा हारस्स उप्पत्ती भण्णइ—इत्थ सक्को सेणियस्स भगवंत पइ निच्चलभत्तिस्स पसंसं करेइ। तओ सेडुयस्स जीवदेवो तब्भत्तिरंजिओ सेणियस्स तुट्ठो संतो अट्ठारसवंकं हारं देइ, दोन्नि य वट्टगोलके देइ। सेणिएण सो हारो चेल्लणाए दिन्नो पिय त्ति काउ, वट्टदुग सुनंदाए अभयमंतिजणणीए। ताए रुट्ठाए किं अहं चडरूव त्ति काऊण अच्छोडिया भग्गा, तत्थ एगम्मि कुंडलजुयलं एगम्मि वत्थजुयल तुट्ठाए गहियाणि। अन्नया अभओ सामिं पुच्छइ—'को अपच्छिमो रायरिसि' त्ति। सामिणा उद्दायणो वागरिओ, अओ परं बद्धमउडा न पव्वयंति। ताहे अभएण रज्जं दिज्जमाणं न इच्छियं ति पच्छा सेणिओ चिंतेइ 'कोणियस्स दिज्जिहि' त्ति हल्लस्स हत्थी दिन्नो सेयणगो विहल्लस्स देवदिन्नो हारो, अभएण वि पव्वयंतेण सुनंदाए खोमजुयल कुंडलजुयलं च हल्लविहल्लाणं दिन्नाणि। महया विहवेण अभओ नियजणणीसमेओ पव्वइओ। सेणियस्स चेल्लणादेवीअंगसमुब्भूया तिन्नि पुत्ता कूणिओ हल्लविहल्ला य।" नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। आ० क०। आव०। आ० म०। गोवालिकातृणसमाकारे कीटविशेषे, भ० १५ श०। राजगृहे श्रेणिकराज्ञो धारिण्या जाते पुत्रे, ("जयते दोन्नि" जयन्ते विमाने उपपद्य सेत्स्यतीत्यादि 'महासीहसेण' शब्दे षष्ठे भागे व्याख्यातम्।)

हल्लप्फलिअ-देशी—आकुलत्वे, दे० ना० ८ वर्ग ५६ गाथा।

हल्लिअ-देशी—चलिते, दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा।

हल्लीस-देशी—रासे, दे० ना० ८ वर्ग ६१ गाथा।

हल्लोहलिआ-हल्लोहलिका-स्त्री०। सरट्याम्, "हल्लो हलिआ अहिलोडी सरडी काकिडी" इत्येकार्थाः। कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

हव-भू-धा०। सत्तायाम्, "भुवेर्हो-हुव-हवा" ॥ ८। ४। ६०॥ इति भुवो धातोर्हो हुव हवा इत्येते आदेशा वा। होइ। होन्ति। हुवइ। हुवन्ति। हवइ। हवन्ति। भवति। भवन्ति। प्रा० ४ पाद।

हविअ-भूत्वा-अव्य०। उत्पद्येत्यर्थे, "क्त्व इय-दूणौ" ॥ ८। ४। २७१॥ शौरसेन्यां क्त्वाप्रत्ययस्य इय दूण इत्यादेशौ वा भवतः। हविअ। होदूण। प्रा०। क्षपिते, 'हविअ' क्षपितम्। दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा।

हवै-हवै-अव्य०। हवै इत्येतदपि निपातद्वयं हिशब्दार्थतथाख्यसमाद्यर्थे, "न हवै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" इति श्रुतिः। विशे०।

हव्व-हव्य-न०। शीघ्रे, अनु०। स्था०। आचा०। ज्ञा०। जी०। औ०। नं०। भ०। विपा०। नि०।

हव्ववाह-हव्यवाह-पुं०। अग्नौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०।

हस-हस-धा०। हासे, दन्तनिष्कासने, "व्यञ्जनाददन्ते" ॥ ८। ४। २३६॥ इति अन्तेऽकार। हसइ। प्रा०। "हसेर्गुञ्जः" ॥ ८। ४। १९६॥ इति हसेर्गुञ्जादेशः। गुञ्जइ। हसति। प्रा०। "वर्त्तमाना—पञ्चमी—शतृषु वा" ॥ ८। ३। १५८॥ इति अकारस्थाने एकारो वा। हसेइ। हसइ। प्रा० ३ पाद।

हसंत-हसत्-त्रि०। परिहासं कुर्वति, भ० १३ श०६उ०। "हंत'

सेश्रा श्रा वा " ॥८।३।२८॥ इति जश्शसोश्च स्थाने आकारो वा। एवा हसंतीश्रा। प्रा० ३ पाद।

हसण-हसन-न०। हासे, स्था० ४ ठा० १ उ०। पञ्चा०। नि० चू०।

जे भिक्खू मुहं विप्फालिय विप्फालिय हसइ हसंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

मुख वक्क वयण च एगट्ठं. विप्फालेति विहाडेति अतीव फालेति विप्फालेति। वियभमाणो व्व विविधैः प्रकारै फाले ति विप्फालेति। विणाड (डि) कारवत्। वीप्सा पुनः पुनः मोहनीयोदयो हास्य, तस्स चउव्विहा उप्पत्ती।

गाहा—

पासित्ता भासित्ता, सोतुं सरितूण वा वि जे भिक्खू।
विप्फालेत्ताण मुहं, सुवियार कहकहं हसती ॥ २५६॥

असवुडादि पासित्ता वा अतिविक्खलिय भासित्ता,णमोक्कारणिज्जुत्तीए कागसरडादि अक्खाणग सुणेत्ता, पुव्वरय-पुव्वकीलियाति सरिऊण मोहमुदीरकं अएणस्स वा हासुप्पायगं सविकारं महतेण वा उक्कलियासद्देण कहकह भएणति, जो एवं हसति।

गाहा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविधा।
पावति जम्हा तेणं, सवियारकहकहं ण हसे ॥ २५७ ॥

को दोसो ?,

गाहा-

पुव्वामयप्पकोवो, अहो व धमणी गलस्स गहणं वा।
असंवुडणं भवेज्जा, तावससरणेण दिट्ठंतो ॥२५८॥

पुव्वामयो सूलातिरोगो सो उवसतो पकोव गच्छति। कएणस्स अहो महती गलसरणी मता भवति, ता घेपेज्ज. मुहस्स वा असवुडणं भवेज्ज. जहा सेट्ठिस्स मुहं विप्फाडिय हसमाणस्स तारिसं चेव बद्ध, ताहे वेज्जेण आयपिंड तावित्ता मुहस्स होइतं, संवुड जात, किंवान्यत् पचसता तावसा णं मोयए भक्खति। तत्थ एगेण अदेसकाले दाढिया मोडिया, सव्वे पहसिता गललग्गेहिं मोयगेहिं सव्वे मता।

गाहा-

आसंकवेरजणगं, परपरिभवकारगं च हासं तु।
संपातिमाण य वहो, हसयंत मयगदिट्ठंतो ॥२५६॥

परस्स आसका अह अणेण हसितो त्ति। किंच, अहमणेण हसितो त्ति वेरसंभवो भवति। हसंतेहिं परपरिभवो कतो भवति, संपातिमादि मुहं पविसंति, मयगदिट्ठतो य भणियव्वो। राया सह देवीए उल्लोयणे चिट्ठति देवी भणति-राय! मतं माणुस ति हसति। राया ससभते कह कत्थ वा ? साधु दरिसेति, राया भणति कहं मतो त्ति,देवी भणति-इह भवे सव्वसुहवर्जितत्वात् मृतो मृतवत्

गाहा-

वितियपदमणप्पज्झे,उप्पात विकोविते य अप्पज्झे।
जाणंते वावि पुणो, सागारितमाइकज्जेसु ॥ २६० ॥

सागारियमातिकज्जेसु सागारियं मेहुण को वि पडिवुद्ध-वसहीए सेवति,ताहे हसिज्जति जेण णातो ऽयमिति लज्जियाण मोहो णासति। अहवा मा अपरिणया इत्थिगाए सद्दं सुणेतु त्ति हसिज्जति। आदिसद्दातो कारणे जागरातिसु। नि० चू० ४ उ०।

हसणिज्ज--हसनीय-त्रि०। हसितुं योग्ये, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

हसमाणी--हसन्ती-स्त्री०। " अजातेः पुंस." ॥८।३।३२॥ इति स्त्रिया वर्त्तमानात् पुल्लिङ्गात् ङीर्वा। हसमाणी। हसमाणा। हासं कुर्वत्याम्, प्रा० ३ पाद।

हसहसऊण-जाज्वलित्वा-अव्य०। भृशमुद्दीपितो भूत्वेत्यर्थे, बृ० ३ उ०।

हसाविश्र-हासित-पु०। "णिगावी क्त—भाव—कर्मसु" ॥ ८। ३। १५२॥ इति णे स्थाने लुगावि इत्यादेशौ भवत। हासिश्रं। हसाविश्र। हास प्रापिते, प्रा० ३ पाद।

हसिश्र-हसित-त्रि०। " क्ते "॥ ८। ३। १५६ ॥ क्ते परतोऽत इत्त्वम्, हसिश्र। हासकारिते, प्रा० ३ पाद।

हसिऊण-हसित्वा--अव्य०। " एच्च क्त्वा—तुम्—तव्य—भविष्यत्सु ॥ ८। ३।१५७। इति अत एकारः इकारश्च। हसेऊण। हसिऊण। हास कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ३ पाद।

हसिज्जंत-हास्यमान-त्रि०। " ईश्र इज्जौ क्यस्य" ॥८।३।१६०॥ इति क्यस्य स्थाने ईश्र इज्ज इत्येतावादेशौ। हसिअतो। हसिज्जतो। हासविषयीक्रियमाणे, प्रा० ३ पाद।

हसितून--हसित्वा-अव्य०। " क्त्वस्तून. " ॥ ८। ४। ३१२ ॥ इति पैशाच्या क्त्वाप्रत्ययस्य स्थाने तून इत्यादेश.। हसितून। हास कुर्वत्यर्थे प्रा० ४ पाद।

हसिय-हसित-न०। वक्रोक्तिगर्भे हसने, प्रव० १६६ द्वार। दश०। ईषत् हासे, प्रश्न० ४ संव० द्वार। औ०। कपोलविकाशिनि प्रेममन्दर्शिनि च हसने, जं० २ वक्ष०। जी०। हसितं यत् कपोलविकाशमात्रसूचित नत्त्वट्टहासादि। रा०। उदृबृह, विशे०।

हसिर--हसितृ-त्रि०। " शीलाद्यर्थस्येरः "॥ ८। २। १४५॥ इति शीलार्थप्रत्ययस्येरादेशः। हसनशीले, प्रा० २ पाद।

हसिरिश्रा--देशी—हास्ये,दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा।

हस्स—हूस्व–त्रि०। वामनकादौ,सूत्र० २ श्रु०१ अ०। आचा०। को०। प्रश्न०।

हस्य—न०। हसने, भ० १ श० ६ उ०। प्रश्न०।

घर्ष-पु०। घर्षणे, प्रश्ना० २ पद।

हस--धा०। हसने, "गमादीनां द्वित्वम्" ॥ ८। ४। २४६ ॥ इति सकारस्य द्वित्वम्। हस्सइ। हसति, प्रा० ४ पाद।

हहा—हहा—अव्य। खेदे, स्था०।

हा--हा--अव्य०। महत्खेदे, उत्त० २१ अ०। तं०।

हाउं—हापयित्वा—अव्य०। वञ्चयित्वेत्यर्थे, बृ० ३ उ०।

हांसल-हांसल-न० । अर्धचन्द्राकृतिगलाभरणे , अनु० ।

हाडहड-देशी-न० । तत्काले , व्य० ५ उ० ।

हाडहडा-देशी-स्त्री० । यल्लघुगुरुमासादिकमापन्नस्तत्सद्य एव यस्या दीयते सा हाडहडा । आरोपणाभेदे , स्था० ५ ठा० २ उ० । नि० चू० । व्य० । (अन्यत्या सर्वा वक्तव्यता 'आरोवणा' शब्दे द्वितीयभागे ३९ पृष्ठे गता ।)

हाणि-हानि-स्त्री० । धनधान्यादिविषयायां हानौ , पञ्चा० ३ विव० (जीवा किं वर्द्धन्ते हीयन्ते वा इति 'विड्ढि' शब्दे षष्ठे भागे उक्तम् ।) अवधिज्ञाने, तस्य चतुर्विधा हानिरुक्ता । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

हाणोवाय-हानोपाय-पुं० । त्यागकारणेऽशम् , द्वा० २४ द्वा० ।

हायण-हायन-पुं० । न० । वर्षे, ध० २ अधि० । संवत्सरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

हायणी-हापनी-स्त्री० । हापयति पुरुषमिन्द्रियेष्विति,इन्द्रियाणि'मनाक् स्वार्थग्रहणाय पटूनि करोतीति हापनी । स्त्रियाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । दशाविशेषे, तं० ।

छट्ठी उ हायणी नामा,जं नरो दुमरस्सिओ ।
विरज्जई उ कामेसु,इंदिएसु य हायई ॥ ६ ॥

षष्ठी हापनी नाम्नी दशा वर्त्तते, या हापनीं दशां नर आश्रितः 'विरज्जइ' त्ति प्रवाहेण विरक्तो भवति । केभ्य ? कामभ्य , काम्यन्त इति कामा —कन्दर्पाभिलाषास्तेभ्य इन्द्रियेषु-श्रवणघ्राणचक्षुर्जिह्वास्पर्शनलक्षणेषु हीयते—हानिं गच्छतीत्यर्थः । तं० ।

हार-हार-पुं० । अष्टादशसरिके, रा० । जं० । कल्प० । जी० । ज्ञा० । आभरणविशेषे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ज्ञा० ।
"सेणियस्स किर रण्णो जावतियं रज्जस्स मोल्लं तावतियं देवदिन्नस्स हारस्स । (आव०) हारस्स का उप्पत्ती—कोसंबीए णयरीए धिज्जाइणी गुव्विणी पइं भणइ—घयमोल्लं विढवेहि , कं मग्गामि ? , भणइ—रायाणं पुप्फेहि ओलग्गाहि , न य वारिज्जिहिसी । सो य ओलग्गिओ पुप्फफलाईहिं, एव कालो वच्चइ. पज्जोओ य कोसंबिं आगच्छइ, सो य सयाणीओ तस्स भएण जउणाए दाहिण कूल उड्डवित्ता उत्तरकूलं एइ । सो य पज्जोओ न तरइ जउणं उत्तरिउं , कोसंबीए दक्खिणपासे खंधावारं निवेसित्ता चिट्ठइ । ता एइ—जं य तस्स तणहारिगाई तंमि वायंमिणं गहिओ कप्पनाराति छिंदइ. सयाणि य मणुस्सा एव परिज्जीणा । एगाए रत्तीए पालाओ. तं च तेण पुप्फपुडियागएण दिट्ठं . रण्णो य निवेइयं , राया तुट्ठो भणइ—किं देमि ? , भणति—बंभणिं पुच्छामि . पुच्छित्ता भणइ-अग्गासणे कूरं मग्गाहि त्ति, एव सो जेमेइ दिवसे दिवसे दीणार देइ दक्खिणं, एवं ते कुमारामच्चा चिंतेंति—एस रण्णो अग्गासणिओ दाणमाणग्गहीओ जीरउ त्ति ते दीणारा देंति, बम्हाणिओ जाओ, पुत्ता वि से जाया , सो तं बहुयं जेमयव्वं , न तरइ । ताहे दक्खिणालोभेण वमेउ वमेउ जिमिओ, पच्छा से कोढो जाओ , अभिग्गमन्तेन ताहे कुमारामच्चा भणंति—पुत्ते ! विसज्जेह, ताहे ते पुत्ता जेमेइ, ताण वि तहेव, संतती कालंतरेण पिउणा लज्जिउमारद्धा । पच्छिमे से निलओ कओ । ताओ वि से सुण्हाओ न तहा वट्टिउमारद्धाओ,पुत्ता वि माढायंति । तेण चिंतियं—एयाणि मम दव्वेण वड्ढियाणि मम चेव नाढायंति,तहा करेमि जहेयाणि वि वसणं पाविंति । अन्नया तेण पुत्ता सद्दाविया,भणइ-पुत्ता! किं मम जीविएण?, अम्ह कुलपरंपरागओ पसुवहो तं करेमि, तो अणसणं काहामि । तेहिं से कालगओ छगलओ दिण्णो सो तेण अप्पणा उव्वट्टावेइ, उव्वोलियाओ य खवावेइ, जाहे नाय सुगहिआ एस कोढेण त्ति ताहे लोमाणि उप्पाडेइ कुम्मि त्ति एत्थि ।नाहे मारेत्ता भणइ—तुब्भेहिं चेव एस खाएयव्वो, तेहिं खइओ, कोढेण गहियाणि । सो वि उट्ठेत्ता नट्ठो, एगत्थ अडवीए पव्वयदरीए णाणाविहाण रुक्खाण तयापत्तफलाणि पडताणि तिफला य पडिया । सो सारएण उण्हेण कक्को जाओ त निव्विणो पियइ, तेण पोट्टं भिन्नं, सोहिए, सज्जो जाओ । आगओ सगिहं, जणो भणइ किह ते नट्ठं भणइ-देवेहि मे नासियं,ताणि पेच्छइ-सडसडिताणि, किह तो तुब्भे वि मम खिंसह ?, ताहे ताणि भणंति—किं तुमे पावियाणि ?, भणइ—बाढं ति, सो जणेण खिंसिओ. ताहे नट्ठो गओ रायगिहं दारवालिएण सम दारे वसइ, तत्थ बारजक्खणीए सो मढओ भुंजइ.अण्णया बहु उंडेरया खइया, सामिस्स समोसरणं । सो वारवालिओ तं ठवेत्ता भगवओ वदओ एइ । सो बारं न छड्डेइ, तिसाइओ मओ वावीए मंडुक्को जाओ । पुव्वभवं सरइ उत्तिण्णो वावीए पहाइओ सामिवंदओ, सेणिओ य नीति, तत्थेगेण वारवालिओ किसोरेण अक्कतो मओ देवो जाओ, सक्को सेणियं पसंसइ । सो समोसरणे सेणियस्स मूले कोढियरूवेण निविट्ठो त चिरिका फोडित्ता सिंचइ । तत्थ सामिणा छियं भणइ—मर, सेणिय जीव, अभय जीव वा मर वा कालसोरिय मा मर मा जीव । सेणिओ कुविओ भट्टारओ मर भणिओ, मणुस्सा सण्णिया,उट्ठिए समोसरणे पलोइस्सा. त नीरइ ताउ देवा सिणओ घरं, बिइयदिवसे एए आगओ, पुच्छइ-सो को त्ति ?, तओ सेहुगवत्तंत सामी कहेइ, जाव देवो जाओ । ता तुब्भेहिं छीए किं एव भणइ ?, तत्थ ममं भणइ—किं संसारे अच्छह निव्वाणं गच्छेत्ति, तुम पुण जाव जीवसि ताव सुहं, मओ नरयं जाहिसि त्ति । अभओ इहवि चेइयसाहुपूयाए पुण्णं समज्जिणइ मओ देवलोगं जाहिति । कालो जइ जीवइ दिवसे दिवसे पंच महिससयाइं वावाएइ मओ नरयं गच्छइ । राया भणइ—अह तुब्भेहिं नाहेहिं कीस नरयं जामि ? केण उवाएण वा न गच्छेज्जा ?, सामी भणइ—जइ कविल माहणि भिक्खं दावेसि कालसोरियं सूणं मोएसि तो न गच्छसि नरयं । वीमंसियाणि सव्वापगारेण नेच्छति , सो य किर अभयसिद्धीओ कालो , धिज्जाइयाणिया कविला न पडिवज्जइ जिणवयणं । सेणिएण धिज्जाइणी भणिया मामेण—साहु ददाहि, सा नेच्छइ, मारेमि ते, तहा वि नेच्छइ । कालो वि नेच्छइ त्ति, भणइ—मम गुणेण पत्तिओ जणो सुहिओ नगरं च एत्थ को दोसो ?,तस्स पुत्तो पालगो नाम सो अभएण उवसामिओ कालो मरिउमारद्धो , तस्स पंचमहिससयघाएहिं से ऊणं अट्टसत्तमयाए पाउग्ग । अण्णया महिससयाणि पंच

पुत्तेण से पलावियाणि. तेण विभंगेण दिट्ठाणि मारियाणि य सोलस य रोगायंका पाउब्भूया, विवरीया इंदियत्था जाया, ज दुग्गंधं तं सुगंधं मन्नइ। पुत्तेण य से अभयस्स कहिय, ताहे चंदणिउयगं दिज्जइ। भणइ—अहो मिट्ठं विट्ठेण आलिप्पइ पूइमसं आहारो, एवं किसिऊण मग्गो, अहे सत्तमं गश्रो। ताहे सयणेण दुन्ने से ठविज्जइ सो नेच्छइ, मा नरगं जाइस्सामि त्ति सो नेच्छइ। ताई भणंति-अम्हे विगिंचिस्सामो तुमं नवरं एक्कं मारेहि सेसए सव्वे परियणा मारेहिंति। इत्थीए महिसओ विइए कुहाडो य रत्तचंदणेणं रत्तकणवीरेहिं, दोवि डंडीया मा तेण कुहाडएण अप्पा हओ पडिओ विलवइ, सयणं भणइ—एयं दुक्खं अवणेह, भणंति—न तीरंति। तो कहं भणह-अम्हे विगिंचामो त्ति?, एयं पसंगेण भणिय, तेण देवेणं सेणियस्स तुट्ठेण अट्ठारसवंको हारो दिण्णो, दोणि य अक्खलियवट्टा दिण्णा। सो हारो चेल्लणाए दिण्णो पिय त्ति काउं, वट्टा नंदाए। ताए रुट्ठाए किमहं चेडरूव त्ति काऊण अनिरक्खिया खंभे आवडिया भग्गा, तत्थ एगम्मि कुडलजुयलं, एगम्मि देवदूसजुयलं, तुट्ठाए गहियाणि। एवं हारस्स उप्पत्ती।" आव० ४ अ०। 'हारुत्थयसुकयरइयवत्थे' हारेण अवस्तृतम्-आच्छादितम्। अत एव सुष्ठु कृतं रतिकं द्रष्टीना प्रमोददायि एवंविधं वक्षो हृदयं यस्य स तथा। कल्प० १ अधि० ३ क्षण। हरणं हारः। हृतौ, व्य० १ उ०। स्वनामख्याते द्वीपे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सू० प्र०।

हारज्झयण-हाराध्ययन-न०। गृद्धिदशाना नवमाध्ययने, स्था० १ ठा० ३ उ०।

हारणिगर-हारनिकर-पुं०। पुञ्जीकृतमुक्ताहारे, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

हारपुडपाय-हारपुटपात्र-न०। लोहपात्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ०।

हारभद्द-हारभद्र-पुं०। हारद्वीपे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

हारमहाभद्द-हारमहाभद्र-पुं०। हारद्वीपे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

हारमहावर हारमहावर-पुं०। हारसमुद्रे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

हारव-नश-धा०। अदर्शने, "नशेविउड—नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः" ॥ ८। ४। ३१ ॥ इति नशधातोर्हारवाऽऽदेशः। हारवइ। नश्यति। प्रा० ४ पाद।

हारवर-हारवर-पुं०। स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। चं० प्र० २० पाहु०। जी०। सू० प्र०। हारवरद्वीपे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

हारवरोभास-हारवरावभास-पुं०। स्वनामख्याते द्वीपे,समुद्रे च हारवरावभासे स्वनामख्याते देवे,जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

हारवरोभासमहाभद्द-हारवरावभासमहाभद्र-पुं०। हारवरावभाससमुद्रे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

हारविराइय-हारविराजित-त्रि०। मौक्तिकादिमालया शोभमाने, कल्प० १ अधि० २ क्षण। स्था०। 'हारविराइयवच्छे' हारेण विराजमान 'वच्छ त्ति' हृदयं यस्य। कल्प० १ अधि० १ क्षण। हारैर्विराजितं वक्षो येषां ते हारविराजितवक्षसः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "हारविराइयरइयवच्छा" हारेण विराजमानेन रचितं शोभितं वक्षो यस्य स हारविराजमानरचितवक्ष। रा०। औ०।

हारि-हारिन्-त्रि०। मनआह्लादकारिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०।

हारिभद्द-हारिभद्र-पुं०। हरिभद्रस्येदं हारिभद्रम्। हरिभद्रसूरेः सम्बन्धिनि, षो० १६ विव०।

हारि(री)य-हारीत-पुं०। कौत्सगोत्रविशेषप्रवर्त्तके स्वनामख्याते ऋषौ, स्था०७ ठा० ३ उ०। नं०। हारितोऽचलभ्राता। आ० म० १ अ०। गोत्रभेदे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

हारि(री)या-हारीता-स्त्री०। श्रीगुप्तान्निर्गतस्य चारणगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

हारि(री)यायण-हारीतायन-पुं०। हारीतर्षिगोत्रापत्ये,कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

हारीस-हारीश-पुं०। म्लेच्छदेशभेदे, तत्र जातेऽनार्यमनुष्ये च। प्रज्ञा० १७ पद २ उ०।

हारोत्थय-हारावस्तृत-त्रि०। हारेणाऽऽच्छादिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। "हारोत्थयसुकयरइयवच्छा" हारावस्तृतेन-हारावच्छादनेन सुष्ठु कृतरतिक वक्ष-उरो यस्याः। औ०। भ०। हारेणावस्तृतमाच्छादित तेनैव सुष्ठु कृत रतिदं च वक्ष-उरो यस्याः। तं०।

हारोद-हारोद-पुं०। हारद्वीपस्याभितः समुद्रे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०

हाल-हाल-पुं०। 'पणिहि' शब्दे पञ्चमभागे उदाहृते भृगुकच्छराजे, आ० क० ४ अ०।

हाला-देशी—कस्मिंश्चिद्देशे पुरुषाद्यामन्त्रणे, द्रा० १ श्रु० ६ अ०।

हालाहल-हालाहाल-पु०। श्रावस्त्या नगर्यामाजीविकोपासके स्वनामख्याते कुम्भकारे, भ० १५ श०। त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। स्थावरविषभेदे, ग० २ अधि०।

हालिज्ज-हारीत-न०। स्थविरात् श्रीगुप्तान्निर्गतस्य चारणगणस्य तृतीये कुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

हालिद्द-हारिद्र-त्रि०। हरिद्रावर्णे पीते, कर्म० १ कर्म०। सू० प्र०। रा०। जी०।

एगे हालिद्दे। स्था० १ ठा०।

हालिद्दणाम-हारिद्रनामन्-न०। यदुदयात् जन्तुशरीरं हारिद्र-पीत हरिद्रादिवद्भवति तद् हारिद्रनाम। वर्णनामभेदे, कर्म० १ कर्म०।

हालियंड-हालिकाण्ड-न०। गृहकोलिकायाः प्रामाण्या वा अण्डे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

हालिय-हालिक-पुं०। हलेन व्यवहरतीति हालिकः। वा-त्तु०। लाङ्गलिके, आ० १ श्रु० १ अ०।

हालिया-हालिका-स्त्री० । गृहकोलिकायाम् , ब्राह्मण्यां च । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

हाव-हाव-पुं० । मुखविकारलक्षणे स्त्रीणां चेष्टाविशेषे , आ० १ श्रु० १ अ० । रा० ।

हास-हास-पुं०। हसनं हासः। हास्यमोहनीयकर्मोदयतो विकृतवचोभिर्विधीयमाने , दर्श० १ तत्त्व । हीभयादिनिमित्ते चेतोविप्लवे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। मोहोदयजनितविकारे , स्था० ३ ठा० १ उ० । स्त्रीभिः सह हसिते , नि० चू० १ उ० । हासाद्भवन्ति , हासस्मम्भूतत्वाद्वा हासाः। हासजेषूपसर्गेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । दाक्षिणात्यानां महाक्रन्दव्यन्तराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा ३ उ०।

हास्य-न० । हास्यतेऽनेनेति हासस्तद्भावो हास्यम् । हास्यमोहनीये कर्मणि , दश० १ अ० । हसने, ग० २ अधि० । यत्तु सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद्धास्यम् । वृ० १ उ० ३ प्रक० । उत्त० । आचा० । प्रव० । विकृतात्मस्वरूपरवचनवेषालंकारादिहास्यार्थप्रभवे मनःप्रकर्षादिचेष्टात्मके रसभेदे, अनु० ।

हास्यरसं हेतुलक्षणाभ्यामाह—

रूववयवेसभासा, विवरीअविलंवणासमुप्पण्णो ।
हासो मणप्पहासो, पगामलिंगो रसो होइ ॥ १४ ॥

हासो रसो जहा-

पासुत्तमसीमंडिअ, पडिबुद्धं देवरं पलोअंत.
ही जह थणभरकंपण-पणमिअमज्झा हसइ सामा॥१५॥

रूपवयोवेषभाषाणां हास्योत्पादनार्थं वैपरीत्येन या विडम्बना—निर्वर्तना तत्समुत्पन्नो हासो रसो भवतीति सयोगः, तत्र पुरुषादेर्योषिदादिरूपकरणं रूपवैपरीत्यं,तरुणादेर्वृद्धादिभावापादनं वयोवैपरीत्यं , राजपुत्रादेर्वणिगादिवेषधारणं वेषवैपरीत्यं, गुर्जरादेस्तु मध्यदेशादिभाषाभिधानं भाषावैपरीत्यम् । स च कथंभूत ?, स्यादित्याह 'मणप्पहासो' त्ति मनःप्रहर्षकारी प्रकाशो नेत्रवक्त्रादिविकाशस्वरूपो लिङ्गं यस्य स तथा, अथवा-प्रकाशानि-प्रकटान्युदरप्रकम्पनाऽट्टहासादीनि लिङ्गानि यस्येति स तथेति ॥१४॥'पासुत्तमसी ' त्यादि निदर्शनगाथा इह कदाचित्कश्चिद् प्रसुप्तो निजदेवरश्च मषीमण्डनेन मण्डितः , स प्रबुद्धश्च सा हसन्ति । तां च हसन्तीमुपलभ्य कश्चित्पार्श्ववर्तिनं कञ्चिदामन्त्र्य प्राह-हीति कन्दर्पातिशयद्योतकं वचः , पश्यत भो श्यामा स्त्री यथा हसतीति सम्बन्धः , किं कुर्वती ?-देवरं प्रलोकयन्ती । कथं भूतम् ? पासुत्ते' त्यादि छिन्नरूढादिवदत्र कर्मधारय -पूर्वं प्रसुप्तश्च असौ ततो मषीमण्डितश्चासौ ततोऽपि प्रबुद्धश्च स तथा तं, कथंभूता ? स्तनभरकम्पनेन प्रणतं मध्यं यस्याः सा तथेति । अनु० । प्रहासिकाभिधाने रसविशेषे , प्रश्न० ५ सव० १ द्वार । 'हासं खेड्डं कंदप्पणाहं वा पकरेज्जा उवद्धाण" महा० १ अ० । हास्यं न सेवितव्यमिति सत्यवचनस्य पञ्चमी भावना । प्रश्न० २ सव० द्वार । (सा च 'मुसावायवेरमण ' शब्दे षष्ठे भागे द्रष्टव्या ।)
व्यन्तरभेदे , स्था० २ ठा० ३ उ० । आचा० ।

हासंझाण-हासध्यान-न० । हासो—हास्यं तस्य ध्यानं चण्डरुद्राचार्यशिष्यस्येव मित्रसहितस्य यशोबाहुकुमारं प्रति सुन्दरमृषाऽस्य च वा । दुर्ध्यानभेदे, आतु० ।

हासकम्म-हास्यकर्मन्--न० । यदुदयेन सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तत्कर्म हास्यम् । मोहनीयकर्मभेदे,स्था० ६ ठा० ३ उ०।

हासकर-हास्यकर--पुं० । हास्योपजीवितेषु, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । ज० । हास्यं च विचित्रवेषवचनैः स्वस्य परेषां हासनं भाण्डवत्परच्छिद्रान्वेषणं करोति तत्कर । ध०३ अधि०। वेषरचनादिना स्वपरहासोत्पादके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अथ हासकरमाह—

वेसवयणेहि हासं, जणयंतो अप्पणो परेसिं च ।
अह हासणो त्ति भन्नइ,घयणो व्व छले नियच्छंतो ।४७०।

'घयणो व्व' भाण्ड इव परेषां छिद्राणि विरूपनेपथ्यादिवर्याणि नियच्छन् निरन्तरमन्वेषयन् तादृशैश्च वेषवचनैर्विचित्रैरात्मनः परेषां च प्रेक्षकाणां हास्यं जनयन् उत्पादयन्, अयं हासनो हास्यकर इति भण्यते । वृ०१ उ०२ प्रक०। प० व० ।

हासकुहय-हास्यकुहक-पुं० । हास्यकारिकुहके, ' आवि हास्यकुहगाजे स भिक्खू ' दश० १० अ० ।

हासणिस्सिय-हासनिश्रित-न० । मृषाभेदे , यथा कन्दर्पिकाणां कस्मिंश्चित्सत्यान्यपि गृहीते पृष्टानां न दृष्टमित्यादि । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

हासबोलबहुल-हासबोलबहुल-पुं० । हासबोलौ च बहुलावतिप्रभूतौ यया ते हासबोलबहुला । हास्यकलकलप्रचुरेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हासमोहणिज्ज-हास्यमोहनीय-न० । मोहनीयकर्मभेदे, यदुदयवशात्सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति स्मयते वा तद् हासमोहनीयम् । प० सं० ३ द्वार । कर्म० ।

हासयिता-हासयितृ-त्रि० । परिहासकारिणि , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

हासण-हासन-पुं० । हास्यकरे, पं० व० ५ द्वार ।

हासरइ-हास्यरति-पुं० । औत्तराहाणां महाक्रन्दव्यन्तराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । हास्यरतियुगले, 'हासरइकुच्छाभयभेदा " हास्यं च रतिश्च कुत्सा च भयं च हास्यरतिकुत्साभयानि तेषां भेदो व्यवच्छेदो हास्यरतिकुत्साभयभेदः । कर्म० ४ कर्म० ।

हासा-हासा-स्त्री० । उत्तररुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम् , आ० चू० १ अ० । ज० । आ० क० ।

हासाइछक्क-हास्यादिषट्क-न०।हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपे हास्योपलक्षिते षट्के, कर्म० ६ कर्म० । प० सं० ।

हासाविअ-हासित-न०। हस णिच् क्त। णेरायादेशे कृते । "अ देल्लुक्याद्वेरत आ " ॥८।३।१५३॥ इति आदेरत आ भवति । हास्यं कारिते, प्रा० ३ पाद ।

हासीअ-देशी-हास्ये, दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा ।

हासुस्सित-हासोत्सृत-पुं० । हासेन युक्त उत्सृतो हृष्टो हासोत्सृतः । हसितमुखे प्रहृष्टे, व्य० २ उ० । वृ० ।

हाहक्किय-हाहाकृत-त्रि० । धिगिति भणनपूर्वकं थूत्कृते, वृ० ३ उ० ।

हाहा-हाहा-अव्य० । दुःखार्त्तलोकवचने, जं० २ वक्ष० । विपा० । गन्धर्वविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

हाहाभूअ-हाहाभूत-पुं० । हाहा इत्येतस्य शब्दस्य दुःखार्तलोकेन करणं हाहोच्यते । तद्भूतः प्राप्तो यः कालः स हाहाभूत । हाहेति शब्दं प्राप्ते काले, भ० ७ श० ६ उ० । "दुस्समदुसमाए समाए हाहाभूए काले भविस्सइ" जं० २ वक्ष० ।

हि-हि-अव्य० । यस्मादर्थे, विशे० । सूत्र० । रत्ना० । निश्चिते, ध० ३ अधि० । अष्ट० । प्रति० । पुनरर्थे, विशे० । भावनासूचने, पञ्चा० १४ विव० । एवकारार्थे, पञ्चा० २ विव० । प्रशान्तिभावातिशये, अनु० ।

हिअ-हृत-त्रि० । "इत्कृपादौ" ॥ ८ । १ । १२८ ॥ कृपादित्वादृत इत्वम् । अपहृते, स्थानान्तरे गमिते च । प्रा० १ पाद ।

हित-न० । कल्याणकप्रापके, दश० ५ अ० १ उ० ।

किं कर्तव्यमित्याह—

अप्पहियं कायव्वं, जइ सक्का परिहियं च पयरेज्जा ।
अत्तहियपरहियाणं, अत्तहियं चेव कायव्वं ॥ महा० ४ अ० ।

हिअअ-हृदय-न० । "स्वार्थे कश्च वा" ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति प्राकृते स्वार्थिकः कप्रत्ययः । अन्तःकरणे, प्रा० २ पाद ।

हिअडड-हृदय-न० । "योगजाश्चैषाम्" ॥ ८ । ४ । ४३० ॥ इति स्वार्थे डडप्रत्ययः । "फोडेंति जे हिअडडं अप्पणउं ।" अन्तःकरणे, प्रा० । हिअडा फुट्टि तड त्ति करिकालक्खेवं काइं । प्रा० ४ पद ।

हिअपवित्ति-हितप्रवृत्ति-स्त्री० । परार्थपरमार्थकरणे, पं० व० २ द्वार ।

हिअय-हृदय-न० । "इत्कृपादौ" ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इति आदेर्ऋत इत्वम् । हिअयं । अन्तःकरणे, प्रा० १ पाद ।

हितक-पुं० । हितकारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

हिअयगमणिज्जा-हृदयगमनीया-स्त्री० । हृदयप्रह्लादिहृद्गतशोकाद्युच्छेदिकायाम्, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

हिंगु-हिङ्गु-न० । रामटदेशोद्भवे वृक्षे, हिङ्गौ च । यस्य निर्यासो हिङ्गु द्रव्यम् । ल० ।

हिंगुरुक्ख-हिङ्गुवृक्ष-पुं० । वृक्षविशेषे, यस्य निर्यासो हिङ्गु भवति, भ० ८ श० ३ उ० ।

हिंगुलय-हिङ्गुलक-न० । स्वनामख्याते वर्णकद्रव्ये ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । आचा० । उत्त० । खनिजोऽपि हिङ्गुलः "जोअणसयं तु गंतुं" इत्यक्षरबलात् प्रवहणादागतोऽचित्तीभवति कृत्रिमस्य तदचित्तत्वे किं वाच्यम्? तथापि तस्य सचित्तताव्यवहारः क्रियते, तत्र को हेतुरिति प्रश्न, अत्रोत्तरम्-हिङ्गुलः खानिजो योजनशतादेः परत आयातत्वात्कृत्रिमश्च स्वत एव उभावप्यचित्तौ ज्ञायेते, तद्ग्रहणं तु अनाचीर्णतया नेन साम्प्रतं सर्वसितः सन् गृह्यते इति यतिव्यवहारः ज्ञानि ॥ ३३५ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

हिंगुलयसमुग्गय-हिङ्गुलकसमुद्गक-पुं० । हिङ्गुलकरक्षार्थसम्पुटे, जी० ३ प्रति० ४ अ० ।

हिंगुसिव-हिङ्गुशिव-पुं० । हिङ्गुमयशिवलिङ्गे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । दश० । ('ठवणाकम्म' शब्दे चतुर्थभागे १६८४ पृष्ठे व्याख्यातमेतत् ।)

हिंगोल-हिङ्गोल-न० । मृतकभक्ते, यक्षादियात्राभोजने च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

हिंडग-हिंडक-पुं० । पर्यटके साधौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

इदानीं हिण्डक उच्यते—

उवएस अणुवएसा, दुविहा अ हिंडआ समासेणं ।
उवएस देसदंसण, अणुवएसा इमे होंति ॥ ११८ ॥

उपदेशहिण्डका, अनुपदेशहिण्डकाश्च । एवं द्विविधा हिण्डकाः समासतः—संक्षेपेण । 'उवएस' त्ति उपदेशहिण्डको यो देशदर्शनार्थं सूत्रार्थोभयनिष्पन्नो हिण्डते—विहरति । 'अणुवदेस' त्ति अनुपदेशहिण्डका इमे भवन्ति वक्ष्यमाणकाः —

चक्के थूभे पडिमा, जम्मण निक्खमण नाण निव्वाणे ।
सखडि विहार आहा-र उवहि तह दंसणट्ठाए ॥ ११६ ॥

चक्रं—धर्मचक्रं स्तूपा—मथुरायां प्रतिमा—जीवन्तस्वामिसम्बन्धिनी पुरिकायां पश्यति, 'जम्मण' त्ति जन्म—यत्राऽर्हतां सौरिकपुरादौ व्रजति निष्क्रमणभुवम्—उज्जयन्तादि द्रष्टुं प्रयाति, ज्ञानं यत्रैवोत्पन्नं तत्प्रदेशदर्शनार्थं प्रयाति निर्वाणभूमिदर्शनार्थं प्रयाति । सखडीप्रकरणं तदर्थं व्रजति, 'विहारे' ति विहारार्थं व्रजति, स्थानाजीर्णं ममात्रेति-'आहार' त्ति यस्मिन् विषये स्वभावेनैव चाहारः शोभनस्तत्र प्रयाति । 'उवहि' त्ति अमुकत्र विषये उपधिः शोभनो लभ्यत इत्यतः प्रयाति, 'तह दंसणट्ठाए' तथा रम्यदेशदर्शनार्थं व्रजति ।

एते अकारणा सं-जयस्स असमत्त तदुभयस्स भवे ।
ते चेव कारणा पुण, गीयत्थविहारिणो भणिआ ॥ १२० ॥

एतान्यकारणानि संयतस्य, किंविशिष्टस्य?—असमत्ततदुभयस्य—असमाप्तसूत्रार्थोभयस्य संयतस्य भवन्ति अकारणानीति । 'ते चेव' त्ति तान्येव धर्मचक्रादीनि कारणानि भवन्ति, कस्य?-'गीयत्थविहारिणो' गीतार्थविहारिणः सूत्रार्थोभयनिष्पन्नस्य दर्शनादिस्थिरीकरणार्थं विहरत इति ।

तथा चाह—

गीयत्थो य विहारो, बिइओ गीयत्थमीसिओ भणिओ ।
एत्तो तइअविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥ १२१ ॥

'गीयत्थो' गीतार्थानां विहारः—विहरणमुक्तम् । 'बिइओ गीयत्थमीसिओ' द्वितीयो विहारः—द्वितीयं विहरणं

गीतार्थमिश्रं-गीतार्थेन सह, इतस्तृतीयो विहारो नानुज्ञातो-नोक्तो जिनवरैः ।

किमर्थमित्यत आह—

संजमआयविराहण, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ ।
आणालोव जिणाणं,कुव्वइ दीहं तु संसारं ॥ १२२ ॥

संयमविराधना आत्मविराधना तथा ज्ञानदर्शनचारित्राणां विराधना, आज्ञालोपश्च जिनाना कृतो भवति, तथा अगीतार्थ एकाकी हिण्डन् करोति दीर्घं च संसारमिति ।

इदानीमेव (निर्युक्ति) गाथा भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

संजमतो छक्काया, आयाकंटऽट्ठिऽजीरगेलन्ने ।
नाणे नाणायारो,दंसण चरगाइवुग्गाहे ॥ ६७ ॥

'संजमतो छक्काया' संयमविराधनामङ्गीकृत्य षट्कायविराधना सम्भवति । 'आय' त्ति आत्मविराधना सम्भवति,कथं ?, 'कंटऽट्ठिऽजीरगेलन्ने' कण्टकेभ्य अस्थिशकलेभ्य आहारस्याजरणेन तथा ग्लानत्वेन । 'नाणे' ज्ञानविराधना भवति, कथं ? स हिण्डन् ज्ञानाचारं न करोति, 'दंसण चरगाइवुग्गाहे' दर्शनविराधना,कथं संभवति ?, स ह्यगीतार्थश्चरकादिभिर्व्युद्ग्राह्यते, ततश्चापैति दर्शनम्, किं पुन कारणं चारित्र न व्याख्यातम्?,उच्यते-ज्ञानदर्शनाभावे चारित्रस्याप्यभाव एव द्रष्टव्य । द्वारम् । एवं तावदेक कारणिको 'निक्कारणिओ य सोवि ठाणट्ठिओ दूतिज्जतओ य भणिओ'

इदानीमनेकान् प्रत्युपेक्षकान् प्रतिपादयन्नाह—

णेगावि होंति दुविहा, कारणनिक्कारणे दुविहभेओ ।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ १२३ ॥

अनेकेऽपि द्विविधा भवन्ति, कतमेन द्वैविध्येन?, अत आह 'कारणनिक्कारणे' त्ति कारणमङ्गीकृत्य अकारणं चाङ्गीकृत्य द्विविधा, 'दुविहभेद' त्ति पुनर्द्विधो भेद, ये ते कारणिकास्ते स्थानस्थिता 'दूइज्जमानाश्च' येऽपि ते निष्कारणिकास्तेऽपि स्थानस्थिता 'दूइज्जमानाश्च' । तत्थ जे कारणिआ दूतिज्जंतगा ठाणठिआ अ ते तहेव असिवादिकारणेहिं जहापुव्व एगस्स गमणविहिं वक्खाणतेण भणिआ, जे वि निक्कारणिआ दूइज्जंता ठाणट्ठिआ य तेऽवि तह चेव धूभाईहिं, जं एत्थ नाणत्तं' यदत्र नानात्वं-यो विशेषस्तमहं वक्ष्ये समासत ।

इदानीमनन्तरगाथोक्ता सर्व एव सामान्येन चतुर्विधाः साधवो भवन्ति ।

जयमाणा विहरंता, ओहाणा हिंडगा चउद्धा उ ।
जयमाणा तत्थ तिहा, नाणट्ठा दंसणचरित्ते ॥ १२४ ॥

'यती' प्रयत्ने यतमानाः—प्रयत्नपरा विहरन्त —विहरमाणा मासकल्पेन पर्यटन्त 'ओहाण' त्ति अवधाव—माना, प्रव्रज्यातोऽवसर्प्पन्त इत्यर्थः, तथा आहिण्डका — भ्रमणशीला, एवमेते चतुर्विधाः,इदानीं "यथोद्देशं निर्देश" इति न्यायाद्यतमाना उच्यन्ते—'जयमाणा तत्थ तिहा' यतमानास्त्रिप्रकारा', कथं ?, 'नाणदंसणचरित्ते' तत्थ णाणट्ठा कध जयन्ति ?, जदि आयरिआण ज सुत्त अत्थो वा एगगदिअ अण्णा य से सची अत्थि तेष्ठ घारेउं वा ताहे विसज्जावेत्ता अत्ताण अन्नओ वच्चति, एवं चेव दंसणपभावगाण सत्थाण अट्ठाए वच्चंति, तत्त्वार्थादीनां, तथा चरित्तट्ठाए देसतरं गयाए केणइ कारणेण, तत्थ जदि पुढविकाइयाइ पउरं ततो न चरित्तं सुज्झइ ताहे निग्गच्छन्ति, एसा चरित्तजयणा खलु एव तिविहा समासतो समक्खाया । द्वारं ।

इदानीं विहरमाणका उच्यन्ते, अत आह-'विहरंता वि अ दुविहा' विहरमाणका द्विप्रकाराः, 'गच्छगता निग्गया चेव' एतदेव-व्याख्यानयन्नाह—

पत्तेयबुद्ध जिणक-प्पिया य पडिमासु चेव विहरंता ।
आयरिअथेरवसभा,भिक्खू खुड्डा न गच्छम्मि ॥१२५॥

प्रत्येकबुद्धा जिनकल्पिकाश्च प्रतिमाप्रतिपन्नाश्च—'मासाई सत्तता' इत्येवमादि एते गच्छनिर्गता विहरमाणका । इदानीं गच्छप्रविष्टा उच्यन्ते-'आयरिअ' आचार्य -प्रसिद्ध, स्थविरो-य सीदन्त ज्ञानादौ स्थिरीकरोति वृषभो-वैयावृत्यकरणसमर्थ भिक्षव -एतद्व्यतिरिक्ता, क्षुल्लका' प्रसिद्धाः, 'एते गच्छगता गच्छनिर्गताश्च' इत्थमुपन्यास प्राक् कृत, तत्कस्माज्जिनकल्पिकादयो गच्छनिर्गता आदौ व्याख्याता ?, उच्यते-जिनकल्पिकादीना प्राधान्यख्यापनार्थम्, आह प्रथममेव कस्मादित्थं नोपन्यास कृत ?, उच्यते—तेऽपि जिनकल्पिकादयो गच्छगतपूर्वा एवास्यार्थस्य ज्ञापनार्थम्, आह-प्रत्येकबुद्धा न गच्छनिर्गता ,न, तेषामपि जन्मान्तरे तन्निर्गतत्वसद्भावात्, यतस्तेषां नव पूर्वाणि पूर्वाधीतानि विद्यन्ते । ओघ० । (अवधावनवक्तव्यता 'ओहाक्त' शब्दे तृतीयभागे ।)

अधुना ये ते गच्छगता विहरमाणकास्तेषामेव विधिं प्रतिपादयन्नाह—

पुण्णम्मि मासकप्पे, वासावासासु जयणसंकमणा ।
आमंतणा य भावे, सुत्तत्थ न हायई जत्थ ॥ १२८ ॥

मासकल्पे—मासावस्थाने पूर्णे सति तथा 'वा नावासासु' त्ति वर्षायां वासो वर्षावास तस्मिन् वा यो वास कल्पस्तस्मिन् पूर्णे सति । पुनश्च यतनया-सङ्क्रमणया क्षेत्रं क्रान्ति कर्त्तव्या । किं कृत्वा ?-'आमंतणा य' त्ति आमन्त्रण आचार्यः शिष्यानामन्त्रयति पृच्छति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकप्रेक्षण काले, चशब्दादागतेषु क्षेत्रप्रत्युपेक्षकेषु क्षेत्रगमने वा, 'भावे' त्ति आगतेषु क्षेत्रप्रत्युपेक्षकेषु भावं प्रतीक्षन, कस्य किं क्षेत्र रोचते?, तत्र सर्वेषां मते गृहीत्वा यत्र सूत्रार्थहानिर्न भवति तत्र गमनं करिष्यत्याचार्य ।

इदानीमेनामेव गाथां व्याख्यानयति, अत्र यदुपन्यस्तं 'जयणसंकमण' त्ति तद् व्याख्यानयन्नाह—

अप्पडिलेहियदोसा, वसही भिक्खं च दुल्लहं होज्जा ।
बालाइगिलाणाण व, पाउग्गं अहव सज्झाओ ॥१२६॥

अप्रत्युपेक्षणे दोषा भवन्ति, ते चामी—'वसहि' त्ति कदाचिद्वसतिर्दुर्लभा भवेत्, तथा भिक्षा वा दुर्लभा भवेत्, तथा बालादिग्लानाना प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत् । अथवा-स्वाध्यायो दुर्लभ, मासाद्याकीर्णत्वात् ।

तस्मात् किम् ?—

तम्हा पुव्वं पडिले-हिऊण पच्छा विहीएँ संकमणं ।
पेसेइ जइ अणापु-च्छिउं गणं तत्थिमे दोसा ॥ १३० ॥

तस्मात्पूर्वमेव प्रत्युपेक्ष्य—निरूप्य पश्चाद् विधिना—यतनया संक्रमणं कर्त्तव्यम् । इदानीं यदुपन्यस्तम् 'आमंतणा य' त्यवयवेन तं व्याख्यानयन्नाह—' पेसेति जइ अणापुच्छिउं गणं ' प्रेषयति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् यदि गणमनापृच्छ्य तत्रेमे दोषाः वक्ष्यमाणलक्षणाः ।

अइरेगोवहिपडिले–हणाए कत्थ वि गय त्ति तो पुच्छे ।
खेत्ते पडिलेहेउं, अमुगत्थ गय त्ति तं दुट्ठं ॥ १३१ ॥

यदा क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः शेषप्रव्रजितानननापृच्छ्य गतास्तदा कथं ज्ञायन्ते ?, अत आह—अतिरिक्तोपधिप्रत्युपेक्षणायां सत्यां ते पृच्छन्ति—कुत्र गतास्त इत्येवं पृच्छन्ति । आचार्योऽप्याह—क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुममुकत्र क्षेत्रे गता इति , तेऽप्याहुः—'तं दुट्ठं ' ति , तत्—क्षेत्रं न शोभनम् ।

यतस्तत्र गच्छताम्—

तेणा सावय मसगा, ओमऽसिवे सेह इत्थिपडिणीए ।
थंडिल्लअगणि उट्ठा-ण एवमाई भवे दोसा ॥१३२॥

स्तेना अर्द्धपथे श्वापदानि—व्याघ्रादीनि मशका वाऽतिदुष्टा ओमं-दुर्भिक्षम 'असिवं' देवताकृत उपद्रवो यदि वा-' सेह ' त्ति अभिनवप्रव्रजितस्य स्वजना विद्यन्ते, ते चोत्प्रव्राजयन्ति, ' इत्थि ' त्ति स्त्रियो वा मोहप्रचुराः, ' पडिणीए ' त्ति प्रत्यनीकोपद्रवश्च, ' थंडिल्ल ' त्ति स्थण्डिलानि वा न तत्र विद्यन्ते, ' अगणि ' त्ति अग्निना वा दग्धः स देशः , ' उट्ठाणं ' त्ति उत्थितः—उद्वसितः प्रदेशो वाऽपान्तराले इत्येवमादयो दोषा भवन्ति ।

तत्रापि प्राप्तस्यैते दोषा —

पच्चंतितावसीओ, सावयदुब्भिक्खतेणपउराइं ।
णियगपदुट्ठुट्ठाणे, फेडणहरियाइपत्थीए ॥

स हि प्रत्यन्तदेशः म्लेच्छाद्युपद्रवोपेतः तापस्य-तापसप्रव्राजिका नाश्च प्रचुरमोहा' स्वयमाद् भ्रंशयन्ति श्वापदभयदुर्भिक्षभयस्तेनप्रचुराणि वा क्षेत्राणि ' नियग ' त्ति अभिनवप्रव्रजितस्य निज —स्वजनादिः स चोत्प्रव्राजयति ' पदुट्ठ ' त्ति प्रद्विष्टो वा तत्र कश्चित् ' उट्ठाणं ' त्ति उत्थितः—उद्वसितः स कदाचिद्देशो भवेत् ' फेडण ' त्ति प्राक् तत्र वसतिरासीत् इदानीं तु कदाचिदपनीता भवेत् । (हरि) 'हरितपत्थीय' त्ति हरितं तत्र शाकादि बाहुल्येन भक्ष्यते, तच्च साधूना न कल्पते दुर्भिक्षप्रायं वा ' हरितपत्थी ' त्ति तत्र देशे केचिद् गृहेषु गत्वा दण्डं दत्त्वा देवतायै बल्यर्थं पुष्पो मार्यते, स च प्रव्रजितार्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् , तत्र गृहस्योपरि आर्द्रा वृक्षशाखा चिह्नं क्रियते, तच्च गृहीतमङ्केना दूरत एव परिहरति, अगृहीतसङ्केतश्च विनश्यति, तस्मात्क्षेत्रं पृष्ट्वा गन्तव्यमिति । अथवा-अन्यकर्तृकीयं गाथा, ततश्च न पुनरुक्तदोषः ।

इदानीं स आचार्यः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् प्रेषयन् सर्वं गणमालोचयति , अथ तु विशेष्य कश्चिदेकमालोचयति शिष्यादिकं तत्रैते दोषा भवन्ति—

सीसे जइ आमंतइ, पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं ।
जइ इयरे तो सीसा, ते वि समत्तम्मि गच्छंति ॥१३४॥

शिष्यान् विशिष्य केवलान् यद्यामन्त्रयति ततश्च को दोषः ?, ' पडिच्छ ' त्ति सूत्रार्थग्रहणार्थं ये आयाता साधवस्ते प्रतीच्छका. ' तेण ' त्ति तेन अनालोचनेन ' बाहिरं भावं ' ति बहिर्भावं चिन्तयन्ति, बाह्या वयमत्र । अथेतरान्—प्रतीच्छकानालोचयति ततः शिष्या बहिर्भावं मन्यन्ते, प्रतीच्छकाश्च सूत्रार्थग्रहणसमाप्तौ गच्छन्ति ततस्त्वाचार्य एकाकी सजायत इत्येवं दोषप्रसङ्गात् ।

अथ वृद्धान् पृच्छति ततः—

तरुणा बाहिरभावं, न य पडिलेहोवही न किइकम्मं ।
मूलयपत्तसरिसया, परिभूया वच्चिमो थेरा ॥ १३५ ॥

वृद्धानालोचयति तरुणा बहिर्भावं मन्यन्ते , ततश्च ते तरुणाः किं कुर्वन्त्यत आह—' न य पडिलेहोवही ' उपधे प्रत्युपेक्षणां न कुर्वन्ति, न च कृतिकर्म—पादप्रक्षालनादि कुर्वन्ति । अथ तरुणानेव पृच्छति ततः को दोषः ?, वृद्धा एवं चिन्तयन्ति-' मूलयपत्तसरिसया ' मूलम्-आद्यं यत्पूर्णं निस्सारं परिपक्वप्रायं तत्तुल्या वयमत एव च परिभूतास्ततश्च व्रजामः इत्येवं स्थविराश्चिन्तयन्ति, यद्वा-'मूलयपत्तसरिसया ' मूलकपत्रतुल्याः-शाकपत्रप्राया वयम् ,

अथ मत स्थविरा न प्रष्टव्या एव, तत्तु न, यत आह—

जुण्णमएहिँ विहूणं, जं जूहं होइ सुट्ठु वि महल्लं ।
तं तरुणरहसपोईय–मयगुम्मइअं सुहं हंतुं ॥ १३६ ॥

जीर्णमृगैर्विहीनं यद्यूथं भवति सुष्ठ्वपि महत्तद्यूथं तरुणरभसं-रागे पोतितं-निमग्नं मदेन गुल्मयितं-मूढं सुखं हन्तुं-विनाशयितुं-सुखेन तद्व्यापाद्यते ।

यस्मादेतदेवं तस्मात्सर्व एव मिलिताः सन्तः प्रष्टव्याः , कथम् ?—

थुइमंगलमामंतण, नागच्छइ जो य पुच्छिओ न कहे ।
तस्सुवरिं ते दोसा, तम्हा मिलिएसु पुच्छेज्जा ॥ १३७ ॥

स्तुतिमङ्गलं कृत्वा—प्रतिक्रमणस्यान्ते स्तुतित्रयं पठित्वा ततश्चामन्त्रयति आकारिते च दूरस्थो यदि नागच्छति कश्चिद्वा पृष्टः सन् कथयति ततस्तस्योपरि ते दोषाः, तस्मान्मिलितेषु प्रष्टव्यमेकत्रीभूतेषु ।

केई भणंति पुव्वं, पडिलेहिअ एवमेव गंतव्वं ।
तं च न जुज्जइ वसही,फेडण आगंतु पडिणीए ॥१३८॥

केचनाचार्या एवं ब्रुवते—प्राक् प्रत्युपेक्षिते यस्मिन् क्षेत्रे प्रागपि स्थिता आसन् तस्मिन् पुनरप्रत्युपेक्ष्य गन्तव्यं , तच्च न युज्यते, यस्मात्तत्र कदाचित् ' वसही फेडण ' त्ति सा प्राक्तनी वसतिरपनीता, आगन्तुको वा प्रत्यनीकः संजातः , अत एव दोषभयात्पूर्वदृष्टाऽपि वसतिः प्रत्युपेक्षणीया ।

इदं च ते प्रष्टव्याः—

कयरी दिसा पसत्था ?, अमुई सव्वेसि अणुमई गमणं ।
चउदिसि ति दुगं वा, सत्तग पणगं तिग जहण्ण ॥१३९॥

कतरा दिक् प्रशस्ता-शोभना ?, सूत्रमपरिणमयन् , तेऽप्याहुः ' अमुई ' अमुका दिक् शोभनेति । एवं सर्वेषां यदा अनुमता—अभिप्रेता भवति , दिग्गमनं , तदा गमने वर्त्तितव्यं । तत्र गन्तव्यापि दिशु—पूर्वदिग्-दृपविभिदीमवासु चतुर्दिक्षु प्रयान्ति, अथवा—तत्स्थानं

दिशामुपद्रवादिसम्भवे तिसृषु यान्ति, तदभावे द्वयोर्दिशो-र्यान्ति, तदभावेऽप्येकस्या दिशि । तासु च दिक्षु व्रजन्त कियन्तो व्रजन्त्यत आह—' सत्तग पणग तिग जहरुणं ' एकैकस्या दिशि उत्कृष्टेन सप्त सप्त प्रयान्ति, सप्तानामभावे पञ्च पञ्च व्रजन्ति, पञ्चानामभावे जघन्येन त्रयस्त्रयः प्रयान्तीति ।

अत्र च ये आभिग्रहिकास्ते प्रहेतव्या , तेषां त्वभावे-

अणभिग्गहिए वावा-रणा उ तत्थ उ इमे न वावारे ।
वालं वुड्ढमगीअं, जोगिं वसहं तहा खमगं ॥ १४० ॥

' अणभिग्गहिए ' त्ति यैरभिग्रहो न गृहीतस्तान् व्यापारयेद्-गमनाय चोदयेदित्यर्थः । तत्र तु बाल वृद्धम् अगीतार्थं योगिनं वृषभं—वैयावृत्यकरं तथा क्षपकं—मासक्षपकादिकम् , एतांश्च व्यापारयेद्गमनाय ।

इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह—

हीलेज्ज व खेलेज्ज व, कज्जाकज्जं न याणई वालो ।
सो वाऽणुकंपणिज्जो, न दिंति वा किंचि वालस्स ॥६८॥

बाले प्रेष्यमाणेऽयं दोषः -ह्रियते म्लेच्छादिना क्रीडेत वा बालस्वभावत्वात् कार्याकार्यं च-कर्त्तव्याकर्त्तव्यं वा न जानाति बाल , स च बाल क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रहितः सन् अनुकम्पया सर्वं लभते, आगत्य चाचार्याय कथयति यदुत सर्वं लभ्यते, गतश्च तत्र गच्छो यावन्न किञ्चिल्लभते, चेल्लकस्यैवानुकम्पया स लाभ आसीत् , अथवा—न ददाति वा किञ्चिद्बालाय परिभवेनातस्तं न व्यापारयेत् ।

वृद्धोऽपि न प्रेषणीयो, यतस्तत्रैते दोषाः —

वुड्ढोऽणुकंपणिज्जो, चिरेण न य मग्गथंडिले पेहे ।
अहवावि बालवुड्ढा,असमत्था गोयरतिअस्स॥६९॥(भा०)

वृद्धोऽनुकम्पनीयस्ततश्चास्यैव लभते, नान्य , तथा 'चिरेण ' त्ति चिरेण-प्रभूतेन कालेन गमनम् आगमनं च करोति, न च मार्गं—पन्थानं प्रत्युपेक्षितुं समर्थः नापि स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षितुं समर्थः ,इदानीं तु द्वयोरपि बालवृद्धयोस्तुल्यदोषोद्भावनार्थमाह-अथवा-बाला वृद्धाश्च असमर्था — अशक्ता गोचरत्रिकस्य—त्रिकालभिक्षाटनस्येत्यर्थः । दार । अगीतार्थेऽपि प्रेष्यमाणे एते दोषाः —

पंथं च मासवासं, उवस्सयं एच्चिरेण कालेणं ।
एहामो त्ति न याणइ,चउव्विहमणुण्ण ठाणं च॥७०॥(भा०)

पन्थानं—मार्गं न जानाति वक्ष्यमाणं ' मास ' त्ति मासकल्पं न जानाति ' वास ' त्ति वर्षाकल्पं न जानाति, तथा उपाश्रय—वसतिं परीक्षितुं न जानाति, तथा शय्यातरेण पृष्टः —कदा आगमिष्यथ ?, ततश्च ब्रवीति—' एच्चिरेण एहामो' त्ति इयता कालेन—अर्द्धमासादिना एष्याम इत्येवं वदतो यो दोषः अविधिभाषणजनितस्तं न जानाति, यतः कदाचिदन्या दिक् शोभनतरा शुद्धा भवति तत्र गम्यते, अतो नैव वक्तव्यम्—एतावता कालेनैष्याम । तथा ' चउव्विहमणुण्णं ' त्ति तत्रोपाश्रये शय्यातरश्चतुर्विधमनुज्ञाप्यते—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चेति । तत्र द्रव्यतस्तृणडगलादि अनुज्ञाप्यते,क्षेत्रत. पात्रकप्रक्षालनभूमिरनुज्ञाप्यते, कालतो दिवा रात्रौ वा निस्सरणमनुज्ञाप्यते, भावतो ग्लानस्य कस्यचिद्भावप्रणिधानार्थं कायिकासंज्ञादि निरूप्यते , एतां चतुर्विधामनुज्ञामनुज्ञापयितुं न जनाति । 'ठाणं च' त्ति वसतिं कीदृशे प्रशस्ते स्थाने भवतीत्येतन्न जानाति । दार ।

योगिनमपि न प्रेषयेत् , कस्मात् ?—

तुरंतो अ ण पेहे,पंथं पाढट्ठिओ न चिर हिंडे ।
विगई पडिसेहेइ,तम्हा जोगिं न पेसेज्जा ॥७१॥ (भा०)

त्वरमाणः सन्न प्रत्युपेक्षते पन्थानं, तथा पाठार्थी सन्न चिरं भिक्षां हिण्डते, तथा लभ्यमाना विकृती —दध्यादिकाः प्रतिषेधयति, तस्माद्योगिनं न प्रेषयेत् । दार ।

वृषभोऽपि न प्रेषणीयो यत एते दोषा भवन्ति—

ठवणाकुलाणि न साहे,सिट्ठाणि न देंति जा विराहणया ।
परितावणअणुकंपण,तिण्हऽसमत्थो भवे खमगो ७२।भा०

वृषभो हि प्रेष्यमाणः कदाचिद्रुषा स्थापनाकुलानि ' न साहे ' त्ति न कथयति, अथवा—' सिट्ठाणि न देंति ' त्ति कथितान्यपि तानि स्थापनाकुलानि न ददति अन्यस्य , तस्यैव तानि परिचितानि, ' जा विराहणय ' त्ति ततश्च स्थापनाकुलेषु अलभ्यमानेषु या विराधना ग्लानादीनां सा सर्वा आचार्यस्य दोषेण कृता भवति । दार । अथ क्षपकोऽपि न प्रेष्यते, यतः परितापना—दुःखासिका आतपादिना भवति क्षपकस्य, 'अणुकंपण' त्ति अनुकम्पया वा लोकः क्षपकस्यैव ददाति नान्यस्य, तथा ' तिण्हऽसमत्थो भवे खमओ ' त्रयो वारा यद्भिक्षाटनं तस्य-वारत्रयाटनस्यासमर्थः क्षपकः । दार ।

यदा तु पुनः प्रेषणार्हा न भवन्ति—

एए चेव हवेज्जा, पडिलोमेणं तु पेसए विहिणा ।
अविही पेसिज्जंते, ते चेव तहिं तु पडिलोम ॥ १४१ ॥

एत एव बालादयो भवेयुस्तदा किं कर्त्तव्यमित्याह—'पडिलोमेण तु पेसए विहिणा ' अनुलोमः —उत्सर्गस्तद्विपरीतः प्रतिलोमः —अपवादस्तं प्रतिलोमम्-अपवादमङ्गीकृत्य एतानेव बालादीन् प्रेषयेत् , कथम् ?—विधिना—यतनया—वक्ष्यमाणया । यदा पुनस्त एव बालादयोऽविधिना प्रेष्यन्ते , तदाऽविधिना प्रेष्यमाणेषु त एव दोषाः , क ?, ' तहिं तु ' तस्मिन् ' क्षेत्रे प्रेष्यमाणानां कथयन् ?—' पडिलोम त्ति प्रतिलोमम् अपवादमङ्गीकृत्य । अथवा-अविधिना प्रेष्यमाणेषु त एव दोषाः , तत्र ' पडिलोम ' त्ति अविधिप्रतिलोमो विधिस्तेन-अप्रतिलोमविधिना प्रेषयेत् । ओघ० । (दिण्डकसामाचारी ' सामायारी ' शब्दे उक्ता ।)

इदानीं तेषां गमनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

पंथुच्चारे उदए, ठाणे भिक्खंतरा य वसहीओ ।
तेणा सावयवाला, पच्चाराया य जाणविही ॥१४२॥

'पंथ ' त्ति पन्थानं—मार्गं चतुर्विधया प्रत्युपेक्षणया निरूपयन्तो गच्छन्ति , ' उच्चार ' त्ति उच्चारप्रस्रवणभूमिं निरूपयन्तो व्रजन्ति, 'उदए' त्ति पानकस्थानानि निरूपयन्ति, येन बालादीनां पानीयमानीय दीयते, ' ठाणे ' त्ति विश्रामस्थानं गच्छस्य निरूपयन्तो व्रजन्ति,'भिक्ख' त्ति भिक्षां निरूपयन्ति , येषु प्रदेशेषु लभ्यते येषु वा न लभ्यत इति । ' अन्तरा य वसहीओ ' त्ति अन्तराले वसतीश्च निरूपयन्तो

गच्छन्ति यत्र गच्छ सुखेन वसितुं याति. स्तेनाश्च यत्र न सन्ति, यत्र व्याला. तथा स्वापदा न सन्ति—स्वापदभुजगादयो न सन्ति, 'पच्चाश्राय' त्ति एकस्मिन् पथि गच्छता दिवा प्रत्यपाय', अन्यत्र रात्रौ प्रत्यपाय, ततो निरूप्य गन्तव्यम्। 'जाणविहि' त्ति अयं गमनविधि.।

कथं पुनस्ते व्रजन्तीत्याह—

सुत्तत्थं अकरिंता, भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे।
बिइयदिणे सज्झाओ, पोरिसिअद्धाइ संघाडो ॥१४४॥

सूत्रपौरुषीम् अर्थपौरुषीं चाकुर्वन्तो व्रजन्ति तावद्यावदभिमत क्षेत्र प्राप्ता भवन्ति, पुनश्च ते किं कुर्वन्तीत्यत आह—'भिक्ख काउ अइति अवरण्हे' भिक्षां कृत्वा—तदासन्नग्रामे तद्बहिर्वा भक्षयित्वा पुनश्चापराह्णे प्रविशन्ति, ततो वसतिमन्वेषयन्ति, लब्धायां च वसतौ कालं गृहीत्वा द्वितीयदिवसे किञ्चिन्न्यूनपौरुषीमात्रं कालं स्वाध्यायं कुर्वन्ति। पुनश्च 'पोरिसिअद्धाइ सघाडो' 'पोरुसिअद्धाए' पौरुषीकाले सङ्घाटकं कृत्वा भिक्षार्थं प्रविशन्ति, अथवा-स्वाध्याय कियन्तमपि कालं कृत्वा 'पोरुसिअद्धाए' अर्द्धपौरुष्यामित्यर्थः, सङ्घाटकं कृत्वा प्रविशन्तीति।

इदानीं ते सङ्घाटकेन प्रविष्टास्तत् क्षेत्रं त्रिधा
विभजयन्ति, एतदेवाह—

खेत्तं तिहा करेत्ता, दोसीणे नीणिअम्मि ण वयंति।
अण्णो लद्धो बहुओ, थोवं दे मा य रूसेज्जा ॥१४५॥

क्षेत्र त्रिधा कृत्वा—त्रिभिर्भागैर्विभज्य एको विभाग. प्रत्युषस्येव हिण्ड्यते, अपरो मध्याह्ने हिण्ड्यते, अपरोऽपराह्णे, एवं ते भिक्षामटन्ति। 'दोसीणे नीणियम्मि उ वदंति' 'दोसीणे' पर्युषिते आहारे निस्सारिते सति वदन्ति—'अण्णो लद्धो बहुओ' अन्य आहारो लब्ध प्रचुर, ततश्च 'थोव दे' त्ति स्तोकं ददस्व—स्वल्प प्रयच्छ, 'मा य रूसेज्ज' त्ति मा वा रोषं ग्रहीष्यस्यनादरजनितम्, एतच्चासौ परीक्षार्थं करोति, किमय लोको दानशीलो ? न वेति।

अहव ण दोसीणं चिअ, जायामो देहि दहि घयंखीरं।
खीरे घयगुलपेज्जा, थोवं थोवं च सव्वत्थ ॥१४३॥

अथवा—एतदसौ साधुर्ब्रवीति—न वयं 'दोसीण चिअ' याचयाम., किन्तु दधि याचयाम', तथा क्षीर याचयाम, तथा क्षीरे लब्ध सति गुडं घृतं पेयां ददस्व। सर्वत्र—सर्वेषु कुलेषु स्तोकं स्तोकं गृह्णन्ति ते साधव, एवं तावत्प्रत्युषसि भिक्षाटनं कुर्वन्ति।

अधुना मध्याह्नाटनविधिरुच्यते—

मज्झण्हि पउरभिक्खं, परितावित्रपिज्जजूसपयकढिअं।
ओभट्ठमणोभट्ठं, लब्भइ जं जत्थ पाउग्गं ॥१४७॥

मध्याह्ने प्रचुरा भिक्षा लभ्यते 'परितावियं' त्ति परितलित सुकुमारिकादि, तथा पेया लभ्यते, जूष पाटलादि, [पटोलादि] तथा पय.—क्वथितम् 'ओहट्ठमणोभट्ठं लब्भति' प्रार्थितमप्रार्थितं वा लभ्यते 'ज जत्थ' यद्-वस्तु यत्र क्षेत्रे प्रायोग्यम्—इष्टं तदित्थभूतं क्षेत्र प्रधानमिति।

इदानीमपराह्णे भिक्षावेलां प्रतिपादयन्नाह—

चरिमे परितावियपे-ज्ज जूस आएस अतरणट्ठाए।
एक्केक्कगसंजुत्तं, भत्तट्ठं एक्कमेक्कस्स ॥ १४८ ॥

चरिमे—चरमपौरुष्यामटन्ति, तत्र च परितलितानि पेया यूषश्च यदि लभ्यते तत. 'आएस' त्ति प्राघूर्णकः 'अतरण' त्ति ग्लानस्तदेषामर्थाय भवति, ततश्च तत्प्रधानम्। एव तेऽटित्वा 'भत्तट्ठ' ति उदरपूरणमेकस्यानयन्ति, कथम् ?—'एक्केक्कगसंजुत्त' एक. साधुरेकेन सयुक्तो यस्मिन्नानयने तदेकैकसंयुक्तमानयन्ति, 'एक्कमेक्कस्स' त्ति परस्परस्य आनयन्ति, एतदुक्तं भवति—द्वौ साधू अटत एक आस्ते प्रत्युषसि पुनर्द्वितीयवेलाया तयोर्द्वयोर्मध्यादेक आस्ते अपर प्रयाति प्रथमव्यवस्थितं गृहीत्वा, तृतीयवेलाया च यो द्वितीयवेलायां रक्षपाल. स्थित. स प्रथमस्थितरक्षपालेन सह व्रजति, इतरस्तु येन वारद्वयमटितं स तिष्ठति। एवमेव एषां त्रयाणामेकैकस्य सङ्घाटककल्पनया पर्यटन द्वयोर्योजनीयम्।

एवम्—

ओसह भेसज्जाणि अ, कालं च कुले य दाणमाईणि।
सग्गामे पेहित्ता, पेहंति ततो परग्गामे ॥ १४६ ॥

एवम् औषधं—हरीतक्यादि, भेषज-पथ्यादि, एतच्च प्रार्थनाद्वारेण प्रत्युपेक्षते, 'कालं च' त्ति कालं प्रत्युपेक्षते, 'कुल य दाणमाईणि' कुलानि च दानश्राद्धकादीनि, "दाणे अहिगमसड्ढे" एवमादि, एतानि कुलानि प्रत्युपेक्षते। एतानि च स्वग्रामे 'पेहित्ता' प्रत्युपेक्ष्य तत. परग्रामे प्रत्युपेक्षते।

चोयगवयणं दीहं, पणीयगहणे य नणु भवे दोसा।
जुज्जइ तं गुरुपाहुण-गिलाणगट्ठा न दप्पट्ठा ॥ १५० ॥

चोदकवचन, किमित्यत आह—'दीहं' दीर्घं भिक्षाटन कुर्वन्ति त 'पणीयगहणे' त्ति स्नेहवद्द्रव्यग्रहणं च ननु भवन्ति दोषा.। आचार्यस्त्वाह—'जुज्जति त' युज्यते तस्मिन् दीर्घं भिक्षाटन यत् प्रणीतग्रहणं च, यत 'गुरुपाहुणगिलाणगट्टा' गुरुप्राघूर्णकग्लानार्थमसौ प्रत्युपेक्षते न दर्पार्थं, न चात्मार्थं प्रणीतादिग्रहणमिति।

जइ पुण खद्धपणीए, अकारणे एक्कमिं पि गिण्हेज्जा।
तहिअ दोसा तेण उ, अकारणे खद्धनिद्धाइं ॥१५१॥

यदि पुन खद्धं-प्रचुर प्रणीतं-स्निग्धम्, एतानि अकारणे सकृदपि गृह्णीयात् 'तहिअ दोसा' ततस्तस्मिन् ग्रहणे दोषा भवेयु.। किं कारणम् ?—यत 'तेण उ' तेन—साधुना 'अकारणे खद्धनिद्धाइ' अकारणे-कारणमन्तरेणैव 'खद्धाः' भक्षितानि स्निग्धानि-स्नेहवन्ति द्रव्याणि. अथवा-अकारणे 'खद्धनिद्धाइं' प्रचुरस्निग्धानि तेनाभ्यवहृतानीति।

एवं रुहए थंडिल वसही, य देउलिअसुण्णगेहमाईणि।
पाओगमणुण्णाए,वियालगे तस्स परिकहणा ॥१५२॥

एवम्—[illegible] 'रुचिए' त्ति 'रुचिते' [illegible] सति 'थंडिल' त्ति तत स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षन्ते, तेषु मृतः परिष्ठाप्यते महास्थण्डिलम् 'वसहि' त्ति वसतिं निरूपयन्ति।

१–[illegible]
[illegible]।

किं प्रशस्ते प्रदेशे आहोश्विदप्रशस्ते—सिंगक्खोडादियुक्ते इति, पत्तनमध्ये शालादि, तदभावे 'देउलिआ' देवकुल शून्य प्रत्युपेक्ष्यते 'सुन्नगेहमादीणि' शून्यगृहादीनि आदिशब्देन-सभा गृह्यते, ता च वसतिं लब्ध्वा किं कर्त्तव्यम ?—'पाउग्गमणुण्णवणा' प्रायोग्याना-तृणडगलकादीना शय्यातरोऽनुज्ञापना कार्यते-यथा उत्स्कलय एतानि वस्तूनि । अथासौ प्रायोग्यानि न जानाति 'वियालगे' त्ति विचारयति प्रायोग्य किमभिधीयते ? इति, एवंविधे विचारे तस्य शय्यातरस्य कथ्यते 'परिकहणा' यथाऽस्माकं तृणक्षारडगलादि उत्स्कलयेत् ।

एता निर्युक्तिगाथां भाष्यकरो व्याख्यानयति, तत्र रुचिते क्षेत्रे स्थण्डिल परीक्ष्यते, तच्च वक्ष्यमाणत्वादुपरिष्टाद्वक्ष्यति, वसतेस्तु कीदृशे स्थाने कर्त्तव्या कीदृशे च न कर्त्तव्येति व्याख्यानयन्नाह—

मिंगक्खोडे कलहो, ठाणं पुण नेव होइ चलणेसुं ।
अहिठाणि मोट्टरोगो,पुच्छम्मि अ फेडणं जाण७६(भा०)
मुहमूलम्मि अ चारी, सिरे य कउहे य पूयसक्कारो ।
खंधे पट्टीएँ भरो,पोट्टम्मि य धायओ वसहो ॥७७॥(भा०)

तत्र वामपार्श्वोपविष्टपूर्वाभिमुखवृषभरूप क्षेत्रं बुद्ध्या कल्पयित्वा तत इदमुच्यते-शृङ्गखोडे- शृङ्गप्रदेशे यदि वसतिं करोति तत कलहो भवतीति क्रिया वक्ष्यति, स्थानम्-अवस्थितिर्नास्ति चरणेषु—पादप्रदेशेषु , अधिष्ठाने—अपानप्रदेशे वसतौ क्रियमाणायामुदररोगो भवतीति क्रिया सर्वत्र योजनीया । 'पुच्छे' पुच्छप्रदेशे 'फेडण' अपनयन भवति वसत्या । मुखमूले चारी भवति, शिरसि—शृङ्गयोर्मध्ये ककुदे च पूजासत्कारो भवति, स्कन्ध पृष्ठे च भारो भवति, साधुभिरागच्छद्भिराकुलो भवति, उदरप्रदेशे तु नित्यं तृप्त एव भवति क्षेत्रवृषभ । वसतिर्व्याख्याता, तद्व्याख्यानाच्च देवकुलशून्यगृहाद्यपि व्याख्यातमेव द्रष्टव्यम् । इयं च वृषभपरिकल्पना यावन्मात्र वसतिनाऽऽक्रान्त तस्मिन् नोपरिष्टात् , उपरिष्टात्तु तदनुसारेण कर्त्तव्या वसति ।

अधुना 'पाउग्गअणुण्णवणे' त्यमुमेवावयवं व्याख्यानयन्नाह, तत्र प्रायोग्यानामनुज्ञापना कर्तव्या-द्रव्यत क्षेत्रत कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यत —

दव्वे तणडगलाई, अच्छणभाणाइधोवणा खेत्ते ।
काले उच्चाराई, भावेण गिलाणकुरुवमा ॥७८॥ (भा०)

द्रव्यत -द्रव्यमङ्गीकृत्य तृणाना संस्तारकार्थं डगलाना चअधिष्ठानप्रोञ्छनार्थं लष्टूनामनुज्ञापना-क्रियते 'अच्छणं' ति आस्या-यत्राऽऽस्यते यथासुखेन स्वाध्यायपूर्वक 'भाणादिधोवणा' भाजनादिधावनं-क्षालन पात्रकादेर्यत्र क्रियते सा क्षेत्रानुज्ञा । कालविषयाऽनुज्ञा दिवा रात्रौ वा उच्चारादिव्युत्सर्जनम् । भावविषयाऽनुज्ञापना ग्लानादे साम्यकरणार्थं निवातप्रदेशाद्यनुज्ञापना क्रियते । इदानीं 'वियालणे तस्स परिकहण' त्ति अस्मवयव—व्याख्यानयन्नाह—'कुरुवमा' यदा शय्यातर एव ब्रूते—इयति प्रदेशे मयाऽवस्थानमनुज्ञात भवता नोपरिष्टात्, तदा तस्य परिकथना क्रियते कुरदृष्टान्तेन । यो हि भोजन कस्यचिद्ददाति स नियमेनैव भोजनोदकासेचनाद्यपि ददात्यनुक्तमपि सामर्थ्याक्षिप्तम् , एव वसतिं प्रयच्छता उच्चारप्रश्रवणभूम्यादि सामर्थ्याक्षिप्त सर्वमेव दत्त भवति । अथवा-इदमसौ शय्यातरो विचारयति-कियन्त कालमत्र स्थास्यन्ति भवन्त ? अस्मिन् विचारे "तस्सपरिकहणा"—

जाव गुरूण य तुब्भ य, केवइया तत्थ सागरेणुवमा ।
केवइकालेणेहिह ?, सागार ठवंति अण्णे वि ॥१५३॥

यावद् गुरूणा 'ते'—तव च प्रतिभाति तावदवस्थान करिष्याम ,अथैवमसौ विचारयति-'वियालणा' यदुत 'केवइआ' कियन्त इहावस्थास्यन्ते ? 'तस्स परिकहणा' क्रियते सागरेणोपमा, यथा हि सागर क्वचित्काले प्रचुरसलिलो भवति क्वचित्पुनर्मर्यादावस्थ एव भवति, एव गच्छोऽपि कदाचिद्बहुप्रव्रजितो भवति कदाचित्स्वल्पप्रव्राजित इति । अथासौ पुनरपि 'वियाल ' त्ति विचारयति-यथा 'केवइ कालेणेहिह' त्ति कियता कालेनागमिष्यथ ?, एवमुक्ता सन्त साधव तत्र 'सागारठविंति' सविकल्प कुर्वन्तीत्यर्थ । कथं कुर्वन्ति ?—'अन्ने वि' अन्येऽपि साधव क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं गता एव, ततश्च तदालोचनेनागमिष्याम इति ।

पुव्वदिट्ठे इच्छइ, अहव भणिज्जा हवंतु एवइया ।
तत्थ न कप्पइ वासो, असई खेत्ताणऽणुन्नाओ ॥१५४॥

यदा त्वसौ पूर्वदृष्टानेवेच्छति ये प्राग् मासकल्प कृत स्वभावेनर्ष्यालु स दृष्टप्रत्ययानिच्छति, नान्यान् , तत्र न कल्पते वास । अथवा—भणेदसौ एतावन्त एवात्र तिष्ठन्तु, तत्र 'न कल्पते वास ' न युज्यतेऽवस्थान, यत साधवः कदाचित्स्तोका कदाचिद्बहवो भवन्ति । अथान्यानि क्षेत्राणि न सन्ति तदा असति-क्षेत्राणामन्येषामभावे 'अणुन्नाउ' त्ति तस्यामेव वसतावनुज्ञातो वास ।

शेषक्षेत्राभावे सति तत्र च नियतपरिमितायां वसतौ यदि प्राघूर्णका आगच्छन्ति तत को विधिरित्यत आह—

सक्कारो सम्माणो, भिक्खग्गहणं च होइ पाहुणए ।
जइ जाणउ वसइ तहिं,साहम्मिअवच्छलाऽऽणाई १५५॥

सत्कार —वन्दनाभ्युत्थानादिक सन्मान'—पादप्रक्षालनादिक भिक्षाग्रहण—भिक्षानयनं च एतत्प्राघूर्णके आगते सति क्रियते । पुनश्च तस्य प्राघूर्णकस्य वसतिस्वरूप कथ्यते यथा-परिमितैरेवैषा लब्धा, नान्यस्यावकाश , ततश्च त्वयाऽन्यत्र वसितव्यम् । 'यदि जाणउ वसइ तहिं' ति एवमसावुक्तो ज्ञोऽपि सन्—यदि जानन्नपि तत्र वसति तत को दोषोऽत आह-'साहम्मिअवच्छलाऽऽणाई' साधर्मिकवात्सल्य न कृत भवति यतोऽसौ शय्यातरो रुष्टस्तानपि निर्द्धाटयति , आज्ञाभङ्गश्च कृत —आज्ञालोपश्चैव कृतो भवति सूत्रस्य , आदिशब्दात्तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेद ।

इदानीं ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षका आचार्यसमीपमागच्छन्त —
किं कुर्वन्तीत्यत आह—

जइ तिन्नि सव्वगमणं,एसु न एसु त्ति दोसु वि अ दोसा ।
आणपहेणऽसुणंता, नियया वासोऽह सा गुरुणो ॥१५६॥

यदि ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षकास्त्रय एव तत सर्वं एव गमनं कुर्व-

न्ते अथ सप्त पञ्च वा तत· सङ्घाटकमेकं मुक्त्वा व्रजन्ति , एसु न एसु ' त्ति शय्यातरेण पृष्टा· सन्तस्ते नैवं वदन्ति-ष्यामो न वा एष्याम इति, यत एवं भणने दोष·, किं कारणं?, यदैवं भणन्ति यदुत आगमिष्यामः, ततश्च शोभनतरे क्षेत्रे लब्धे सति नागच्छन्ति ततश्चानृतदोष , अथ भणन्ति-नागमिष्याम ततश्च कदाचिदन्यत्क्षेत्रं न परिलब्धष्यन्ति ततश्च पुनस्तत्रागच्छतां दोषोऽनृतजनित· । ' अएणपहेणं ' ति ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका गुरुसमीपमागच्छन्तोऽन्येन मार्गेणागच्छन्ति, कदाचित्स शोभनतरो भवेत् , ' अगुणंत ' त्ति सूत्रपौरुषीमकुर्वन्तः प्रयान्ति,मा भून्नित्यवासो गुरोरिति, किं कारणं ?, यतस्तेषां विश्रब्धमागच्छतां मासकल्पोऽधिको भवति, ततश्च नित्यवासो गुरोरिति ।

गंतूण गुरुसमीवं, आलोएत्ता कहेंति खेत्तगुणा ।
न य सेसकहण मा हो-ज्ज संखडं रत्ति साहेंति ॥१५७॥

गत्वा गुरुसमीपम् आलोचयित्वा ईर्यापथिकातिचारं कथयन्त्याचार्याय क्षेत्रगुणान् । 'न य सेसकहण' ति न च शेषसाधुभ्यः क्षेत्रगुणान् कथयन्ति । किं कारणं !—' मा होज्ज संखडं ' मा भवेत् स्वक्षेत्रपक्षपातजनिता राटिरिति, तस्मात् ' रत्ति साहेंति'त्ति रात्रौ, मिलितानां सर्वेषां साधूनां क्षेत्रगुणान् कथयन्ति ।

ते च गत्वा एतत्कथयन्ति—

पढमाएँ नत्थि पढमा, तत्थ उ घयखीरकूरदहिलंभो ।
बिइयाए बिइ तइया-ऍ दोवि तेसिं च धुवलंभो ॥१५८॥
ओहासिअधुवलंभो, पाउग्गाणं चउत्थिए नियमा ।
इहरावि जहिच्छाए, तिकालजोगं च सव्वेसिं ॥१५९॥

प्रथमाया—पूर्वस्यां दिशि नास्ति प्रथमा-नास्ति सूत्रपौरुषीत्यर्थ· किन्तु तत्र घृतक्षीरकूरदधिलाभोऽस्ति , अन्ये त्वपरस्यां दिशि कथयन्ति , द्वितीयाया दिशि नास्ति द्वितीयानास्त्यर्थपौरुषी, यतस्तत्र द्वितीयायां पौरुष्यामेव भोजनं, घृतादिवस्तु लभ्यत एव, ' तति‍आए दो वि ' त्ति तृतीयायां दिशि द्वे अपि सूत्रार्थपौरुष्यौ विद्येते ' तेसिं च धुवलंभो ' त तेषा घृतादीना निश्चित लाभ· । ' ओभासिअधुवलंभो ' त प्रार्थितस्य ध्रुवो लाभ·, केषां?—प्रायोग्यानां घृतादीनाम् चउत्थीए ' चतुर्थ्यां दिशि नियमात्—अवश्यम् ' इहरावि-न अप्रार्थितेऽपि यदृच्छया त्रिकालयोग्यं प्रातर्मध्याह्नसायाह्नेषु त्रिकालमपि ' सव्वेसिं ' ति सर्वेषां बालादीनां योग्यं प्यत इति ।

एवं तै सर्वै· क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैराख्याते सत्याचार्यः किं करोतीत्याह—

यगहणं आयरिओ, कत्थ वयामो त्ति ? तत्थ ओयरिआ ।
भिआ भणंति पढमं,तं चिअ अणुओगतत्तिल्ला ॥१६०॥

मतग्रहणम् अभिप्रायग्रहणम् आचार्य· शिष्याणां करोति यन भो आयुष्मन्त· ! तत्क व्रजाम· ?–कया दिशा गच्छाम ? एवमामन्त्रिते शिष्यगणे आचार्येण ' तत्र औदरिका ' दरभरणैकचित्ता· क्षुभिता·—आकुला भणन्ति—यदुत पढम ' ति प्रथमा दिशं व्रजामः, यत्र प्रथमपौरुष्यां भुज्यते, 'तं चिय' त्ति तामेव दिशम् , 'अणुओगतत्तिल्ला'व्याख्यानार्थिन इच्छन्ति, यतस्ते सूत्रग्रहणनिरपेक्षा· केवलमर्थग्रहणार्थिन , तेषा चार्थग्रहणप्रपञ्चो द्वितीयाया पौरुष्यां भवतीत्यतस्तामेवेच्छन्तीति ।

बिइयं सुत्तग्गाही, उभयग्गाही अ तइययं खेत्तं ।
आयरिओ अ चउत्थं,सो उ पमाणं हवइ तत्थ ॥१६१॥

द्वितीयां च दिशं सूत्रग्राहिण इच्छन्ति, यतः प्रथमपौरुष्यामेव स्वाध्यायो भवति, स च तेषामस्ति, उभयग्राहिणश्च--सूत्रार्थग्राहिणस्तृतीयं क्षेत्रमिच्छन्ति , आचार्यस्तु चतुर्थं क्षेत्रमिच्छति यतस्तत्र चतुर्थ्यामपि पौरुष्यां प्राघूर्णकादे· प्रायोग्यं लभ्यत इति, 'स एव प्रमाणम् ' आचार्य एव सर्वेषा प्रमाणं भवति ' तत्थे ' ति तत्र शिष्यगणमध्ये ।

किं पुन कारणम् आचार्याश्चतुर्थमेव क्षेत्रमिच्छन्ति ?, अत आह—

मोहुब्भवो उ बलिए, दुब्बलदेहो न साहए जोए ।
तो मज्झबला साहू, दुट्ठऽस्सेणेत्थ दिट्ठंतो ॥१६२॥

प्रथमद्वितीययोः क्षेत्रयो· प्रचुरभक्तपानकेभ्यः सकाशाद्बलवान् भवति, बलिनश्च मोहोद्भवो भवति—कामोद्भवो भवतीत्यर्थ । आह—एवं तर्हि यत्र भिक्षा न लभ्यते तत्र प्रयान्तु , उच्यते—दुर्बलदेह --कृशशरीरो न साधयति—नाराधयति योगान्—व्यापारान् यतस्ततो मध्यमबलाः साधव इष्यन्ते । दुष्टाश्वेन चात्र दृष्टान्त , दुष्टाश्वो-गर्दभ उच्यते, स यथा प्रचुरभक्षणाद्दर्पित· सन् कुम्भकारारोपितभाण्डकानि भनक्ति दर्पोत्सेकादुत्प्लुत्य, पुनस्तेनैव कुम्भकारेण निरुद्धाहार सन्नतिदुर्बलत्वात्प्रस्खलितः सन् भनक्ति, स एव च गर्दभो मध्यमाहारक्रियया सम्यग् भाण्डानि वहति, एवं साधवोऽपि संयमक्रियां मध्यमबला वहन्ति ।

पणपन्नगस्स हाणी, आरेणं जेण तेण वा धरइ ।
जइ तरुणा नीरोगा, वच्चंति चउत्थगं ताहे ॥१६३॥

अथ तस्मिन् गच्छे पञ्चपञ्चाशद्वर्षदेशीयाः त्रिंशद्वर्षा वा चत्वारिंशद्वर्षा वा भवन्ति,ततो गम्यते चतुर्थं क्षेत्रं, यतस्ते येन केनचिद् ध्रियन्ते-यापयन्ति तथा यदि च तरुणा नीरोगा·—शक्ता भवन्ति ततश्चतुर्थमेव क्षेत्रं व्रजन्ति· ।

अह पुण जुण्णा थेरा, रोगविमुक्का य साहुणो तरुणा ।
ते अणुकूलं खेत्तं, पेसंति न यावि खग्गूडे ॥१६४॥

अथ पुनर्जूर्णा· (जीर्णा·) स्थविरा भवन्ति, रोगेण ज्व-ज्वरादिना मुक्तमात्रास्तरुणा·, नाद्यापि येषा साम्यं भवति शरीरस्य, ततस्ताननुकूलं क्षेत्र प्रेषयन्त्याचार्या । ' न यावि खग्गूडे' त्ति 'खग्गूडा' अलसा निर्द्धर्मप्रायास्तान्न प्रेषयन्ति ।

कियता पुन· कालेन वृद्धादय आप्याय्यन्ते ?, उच्यते—पञ्चमात्रैर्दिवसै , यत उक्त वैद्यके—

एगपणअद्धमासं, सट्ठी सुणमणुयगोणहत्थीणं ।
राइंदिएण उ बलं, पणगं तो एक्क दो तिन्नि ॥१६५॥

एकेन रात्रिन्दिवेन शुनो बलं भवति , पञ्चभिर्दिनैर्मनुजस्य बलं भवति,अर्द्धमासेन बलीवर्दस्य, षष्टिभिर्दिनैर्हस्तिनो बलं भवति । एवमेतद्व्यासंख्यं योजनीयम् । ' पणग तो एक्क

दो तिरिण' एवमसौ तस्मिन् क्षेत्रे पञ्चकमेकं धार्यते, अथ तथाऽपि बलं न गृह्णाति द्वौ पञ्चकौ धार्येते, त्रीन् वा पञ्चकान् धार्येते, पुनरानीयत इति। एव ते आलोचितशिष्यगणा आचार्याः शय्यातरमापृच्छय देशान्तरं सङ्क्रामन्ति।

अथ न पृच्छन्ति ततो दोष उपजायते। एतदेवाह—

सागरिअपुच्छगमणं,बाहि(ही)रा मिच्छ छेय कयणासी।
गिहिमाहू अभिधारण, तेणगसंकाइ जं चऽएणं ॥१६६॥

सागारिके—शय्यातरम् अनापृच्छय यदि गमनं क्रियते ततो 'बाहिर' त्ति बाह्या लोकधर्मस्यैते भिक्षव इत्येवं वक्ति शय्यातरः, ये च धर्मं लोकधर्मं न जानन्ति दृष्टं, ते कथमदृष्टं जानन्ति? इत्यतः 'मिच्छ' त्ति मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते, 'छेद' त्ति अपच्छेदो वसतिदानस्य, पुनस्तेऽन्ये वा वसतिं न लभन्ते, 'कयणासि' त्ति अकृतज्ञा ह्येते प्रव्रजिता इत्येवं मन्यते 'गिहिसाधू अभिधारण' त्ति गृही कश्चिच्छ्रावकस्तमाचार्यमभिधार्य-सञ्चिन्त्यायातः प्रव्रज्यार्थं, तेनाप्यागत्य शय्यातरः पृष्टः—क्वाऽऽचार्य?, सोऽपि रुष्टः सन्नाह—य कथयित्वा व्रजति स ज्ञायते, न तु को जानाति?, तमाकर्ण्य स श्रावकः कदाचिद्दर्शनमप्युज्झति, लोकज्ञानमप्येषां नास्ति कुतः परलोकज्ञानमिति? कदाचित्साधुः कश्चित्तमाचार्यम् अभिधार्य—मनसि कृत्वा उपसम्पदादानार्थमायाति, सोऽपि शय्यातरं पृच्छति, शय्यातरोऽप्याह—न जाने क्व गत इति, ततः स साधुरनाचारवानाचार्य इति विचिन्त्यान्यत्र गतः, सोऽपि निर्जराया आचार्योऽनाभागी जात इति। 'तेणग' त्ति कदाचित्तद्गृहं केनचित्तस्मिन्नेव दिवसे मुष्टं भवेत्ततः एवंविधा बुद्धिर्भवेत्—यदुत स्तेनास्ते इत्येवं शङ्का करोति, आदिशब्दाद्योषित् केनचित्सह गता, ततो गृहात् तेऽप्यनाख्याय गताः ततश्च शङ्कोपजायते, 'जं चऽएणं' ति यच्चान्यत् शङ्कादि जातं पत्तनगतं तत्सर्वमुपजायत इति गच्छद्भिश्च शय्यातर आपृच्छनीयः।

स च विधिना, यतोऽविधिना पृच्छतः एते दोषाः—

अविहीपुच्छा उग्गा-हिएण सिज्जातरी उ रोएज्जा।
सागारियस्स संका,कलहे य मएज्जिआ खिंसे ॥१६७॥

अविधिपृच्छा इयं वर्त्तते, यदुत—'उग्गाहितेन' उत्क्षिप्तेन उपकरणेन पृच्छति, तत्र 'सेज्जातरी उ रोएज्जा' तेनाकस्मिकेन गमनेन शय्यातर्यो रोदनं कुर्युः, ततश्च सागारिकस्य—शय्यातरस्य शङ्कोपजायते, कलहे च सति 'साइज्जिआए' सह सखिक्रियया 'खिंस' त्ति यथा न शोभना त्वं येन त्वया तत्र काले भिक्षोर्गच्छतो रुदितम्। किं च-ते स पिता भवति? येन रोदिषीति।

अथानागतमेव कथयन्ति—अमुकदिवसे गमिष्याम, तत्राप्येते दोषाः—

हरिअच्छेयण छप्पइ-य घच्चणं किच्चणं च पोत्ताणं।
छणणेयरं च पगयं, इच्छमणिच्छे य दोसा उ ॥१६८॥

तद्धि शय्यातरकुटुम्बं साधवो यास्यन्तीति विमुक्तशेषव्यापारं सत् गृह एव तिष्ठति, कृष्यादिप्रतिजागरणं न करोति, ततश्च क्षणिकं सत् स्वगृहजातहरितच्छेदं करोति। तथा निर्व्यापारत्वादेव च ता रण्डा: षट्पदीनां परस्परनिरूपणेनोपमर्दं कुर्वन्ति। 'किच्चण च पोत्ताणं' त्ति तत्र दिवसे क्षणिका विमुक्तकर्षणादिव्यापारा वस्त्राणि शोधयन्ति। 'छणणेयरं च पगयं' प्राकृत—भोजनं छन्नं कुर्वन्ति, प्रच्छन्नमित्यर्थः, 'इयरं व' त्ति प्रकटमेव भोजनं साधूनामर्थे कुर्वन्ति, तत्र 'इच्छअनिच्छे' अनिच्छतां च दोषा भवन्ति, कथं?, यदि तद्भोजनं गृह्णन्ति, ततस्तत्प्रकल्पनीयम्, अथ न गृह्णन्ति ततो रोषभावं कदाचित्प्रतिपद्यन्ते।

एते दोषा अनागतकथने, ततश्च कः पृच्छाविधिरित्याह—

जइआ चेव उ खेत्तं, गया उ पडिलेहगा तओ पाए।
सागारियस्स भावं, तणुएंति गुरू इमेहिं तु ॥ १६९ ॥

यदैव क्षेत्रं गताः प्रत्युपेक्षकाः 'तओ पाए' त्ति ततः प्रभृति सागारिकस्य—शय्यातरस्य भावं—स्नेहप्रतिबन्धं तनूकुर्वन्ति, के?—गुरवः एभिः-वक्ष्यमाणैर्गाथाद्वयोपन्यस्तैर्वचनैरिति—

उच्छू बोलिंति वइं, तुंबीओ जायपुत्तभंडा य।
वसभा जायत्थामा, गामा पव्वायचिक्खल्ला ॥ १७० ॥
अप्पोदगा य मग्गा, वसुहा वि अ पक्कमट्टिआ जाया।
अएणक्कंता पंथा, साहूणं विहरिउं कालो ॥ १७१ ॥

एतद्गाथाद्वयं शृण्वतः शय्यातरस्य पठन्ति। ततः सोऽपि श्रुत्वा भणति-किं यूयं गमनोत्सुकाः?

आचार्योऽप्याह—

समणाणं सउणाणं, भमरकुलाणं च गोउलाणं च।
अनियाओ वसहीओ, सारइयाणं च मेहाणं ॥ १७२ ॥

सुगमा।

ततश्चैतां गाथां पठित्वा इदमाचरन्ति—

आवस्सगकयनियमा, कल्लं गच्छाम तो उ आयरिआ।
सपरिजणं सागारिअ,वाहिरिउं दिंति अणुसिट्ठिं ॥१७३॥

आवश्यककृतनियमाः—कृतप्रतिक्रमणा इत्यर्थः, विकालवेलायां कृतावश्यका इदं भणन्ति-यदुत कल्ये गच्छाम। पुनश्च ततः आचार्याः सपरिजनं सागारिकम्'शय्यातरं आहूय अनुशास्तिं ददति—धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः।

पव्वज्ज सावओ वा, दंसणभद्दो जहएणयं वसहिं।
जोगम्मि वट्टमाणे, अमुगं वेलं गमिस्सामो ॥ १७४ ॥

सोऽपि सागारिको धर्मकथां श्रुत्वा एवंविधो भवति-प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते, श्रावको वा भवति दर्शनधरो वा भवति, भद्रको वा भवति, सर्वथा जघन्यतो वसतिमात्रमवश्यं ददाति। पुनश्च धर्मकथां कृत्वाऽऽचार्या एवं ब्रुवते-यदुत 'योगे वर्त्तमाने' योऽसौ योगो गमनाय मा प्रेरयति तस्मिन् वर्त्तमाने—भवति सति अमुकवेलायां गमिष्याम इति।

इदानीं ते विकालवेलायां कथयित्वा प्रत्युषसि व्रजन्ति, किं कृत्वेत्यत आह—

तदुभयसुत्तं पडिले-हणा य उग्गयमणुग्गये वावि।

पडिलेहिगरण देसे, नट्ठे खग्गूड संगारो ॥ १७५ ॥

तदुभय—सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा व्रजन्ति. ' सुत्ते ' त्ति सूत्रपौरुषीं वा कृत्वा व्रजन्ति, अथ दूरतरं क्षेत्रं भवति ततः पादोनप्रहर एव पात्रप्रतिलेखनामकृत्वा व्रजन्ति, ' उग्गय ' त्ति उद्गतमात्र एव वा सूर्ये गच्छन्ति, ' अणुग्गय ' त्ति अनुद्गते वा सूर्ये रात्रावेव गच्छन्ति, ' पडिच्छ ' त्ति ते साधवस्तस्मादिङ्गितास्तः परस्परं प्रतीक्षन्ते, ' अधिकरण ' त्ति अथ ते साधवो न प्रतीक्षन्ते ततो मार्गमजानानाः परस्परतः पूत्कुर्वन्ति, तेन च पूत्कृतेन लोको विबुध्यते, ततोऽधिकरणं भवति, ' तेण ' त्ति स्तेनका वा विबुद्धाः सन्तो मोषणार्थं पश्चाद् व्रजन्ति, ' नट्ठे ' त्ति कदाचित्कश्चित्प्रणश्यति, ततश्च प्रदोष एव सङ्केतः क्रियते, अमुकत्र विश्रमणं करिष्यामः अमुकत्र भिक्षाममुकत्र वसतिमिति । ततश्च रात्रौ गच्छद्भिः सङ्केतः क्रियते । ' खग्गूडे ' त्ति कश्चित् खग्गूडप्रायो भवति, स इदं ब्रूते—यदुत साधूना रात्रौ न युज्यते एव गन्तुं पुनः, स आस्ते, ततश्च ' संगारा ' त्ति सङ्केतं खग्गूडाय प्रयच्छन्ति, यदुत त्वयाऽमुकत्र देशे आगन्तव्यमिति ।

इदानीमस्या एव गाथाया भाष्यकृत् कांश्चिदवयवान् व्याख्यानयति, तत्र प्रथमावयवं व्याख्यानयन्नाह—

पडिलेहंतच्चिय वें-टियाउ काऊण पोरिसिं करिंति ।
चरिमा उग्गाहेउं, सोच्चा मज्झण्हि वच्चंति ॥७६ ॥

ते हि साधवः प्रभातमात्र एव प्रतिलेखयित्वा उपधिकां पुनश्च वेण्टलिका कुर्वन्ति-संवर्त्तयन्तीत्यर्थः । ततश्चानिक्षिप्तोपधय एव ' पोरिसिं करेंति ' सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति, ' चरिमा उग्गाहेउ ' त्ति चरिमवेलाया पादोनपौरुष्यां पात्रकाणि उद्ग्राह्य-सयन्त्रयित्वा पुनश्चानिक्षिप्तैरेव पात्रकैः ' सोच्चा ' त्ति श्रुत्वा अर्थपौरुषीं कृतवत्यर्थः . ततो मध्याह्ने व्रजन्तीति । तं च शोभनं एवाह्नि व्रजन्तीति ।

अत एवाह—(भा०)

तिहिकरणम्मि पसत्थे, नक्खत्ते अहिवइस्स अणुकूले ।
घेत्तूण निंति वसभा, अक्खे सउणे परिक्खंता ॥८०॥

' तिथौ प्रशस्तायां , करणे ' च बवादिके प्रशस्ते नक्षत्रे च अधिपते —आचार्यस्य अनुकूले सति गृहीत्वा अक्षान् प्राग् वृषभा निर्गच्छन्ति । किंकुर्वाणा अत आह-' सउणे परिक्खंता ' शकुनान्—प्रशस्तान् परीक्षमाणा सन्तो वृषभा निर्गच्छन्तीति पश्चादाचार्याः ।

किं पुनः कारणं पश्चादाचार्या निर्गच्छन्ति ?, तत्र कारणमाह—(भा०)

वामस्स य आगमणे, अवसउणे पडिया नियत्तंति ।
ओभावणा पवयणे, आयरिआ मग्गओ तम्हा ॥८१॥

यदेव यदस्तत्रागमनं यदाभिद्रवति अपशकुनं वा दृष्टं पतिता अपि निवर्त्तन्ते वृषभाः । यदि पुनराचार्या एव प्राग् निर्गच्छन्ति ततोऽपशकुनदर्शने दृष्टे च निवर्त्तमानस्य सतः किं भवति ?, अत आह-' ओहावणा पवयणे ' प्रवचने हीलना भवति, यदुत-यद्यपि ज्योतिषिका-णां विज्ञानं तदप्येतेषां नास्तीति. ' आयरिया मग्गओ , त्ति अत आचार्या मार्गत —पृष्ठतो निर्गच्छन्तीति ।

गच्छद्भिश्च शकुना अपशकुना वा निरूपणीया , तत्रापशकुनं प्रतिपादयन्नाह—(भा०)

मइलकुचेले अब्भं-गिएल्लए साण खुज्जवडभे य ।
एए उ अप्पसत्था, हवंति खित्ताउ निंताणं ॥८२॥
नारी पीवरगब्भा, वड्डकुमारी य कट्ठभारे अ ।
कासायवत्थ कुच्चं-धरा य कज्जं न साहेंति ॥ ८३ ॥

मलिन शरीरकर्पटैः कुचेलो-जीर्णकर्पटः ' अब्भंगिएल्लय ' त्ति स्नेहाभ्यक्तशरीरः श्वा यदि वामपार्श्वाद्दक्षिणपार्श्वं प्रयाति कुब्जो-वक्रः वडभो-वामनः , एतेऽप्रशस्ताः-पीवरगर्भा-आसन्नप्रसवकाला । शेषं सुगमम् ।

[चंकमरम्मि भमाडो, मुक्कसमारो य पंडुरंगम्मि ।
तच्चन्नि रुहिरपडणं, बोडियममिए धुवं मरणं]
जंबू चासमऊर, भारद्दाए तहेव नउले अ ।
दंसणमेव पसत्थं,पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥८४ ॥ (भा०)

सुगमा ।

नंदी तूरं पुण्ण-स्स दंसणं संखपडहसद्दो य ।
भिंगारछत्तचामर, धयप्पडागा पसत्थाइं ॥८५॥ (भा०)

सुगमम् । नवर-पूर्णकलशदर्शनं, ध्वज एव पताका ध्वजपताका ।

समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दहिं ।
मीणं घंटं पडागं च,सिद्धमत्थं वियागरे ॥८६॥ (भा०)

श्रमण —लिङ्गमात्रधारी संयत —सम्यग् भगवदाज्ञाने यत —संयत दान्त —इन्द्रियनोइन्द्रियैः सुमनस —पुष्पाणि , शेषं सुगमम् ।

गच्छद्भिर्भा—

मेज्झातरऽणुभासइ, आयरिओ गमगा चिलिमिलीए ।
अंतो गिण्हन्तुवहिं, मारवि अपडिस्सया पुव्विं ॥१८७॥

व्रजनसमय [illegible] —प्रज्ञाम [illegible] त्यर्थं । ' गमगा चिलिमिलीए अंतो ' [illegible] चिलिमिलिकया -जवनिकाया अन्त —अभ्यन्तर, किम् ?-उपधिं गृह्णन्ति—संयतयन्तीत्यर्थं । ' मारविअपडिस्सया पुव्विं ' त्ति [illegible] उपधिं गृह्णन्ति ? —[illegible] त —उपलिप्त [illegible] पुव्विं ' प्राग्, प्रथममेवेत्यर्थः ।

इदानीं [illegible] गृह्णातीत्याह—

[illegible]
[illegible] ॥ ८८ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

न्मात्रं तरन्ति-शक्नुवन्ति तावन्मात्र गृह्णन्ति तैश्च बाला-दिभि', जघन्येन--जघन्यत 'जहाजाय' रजोहरणं चोलपट्टकश्च, एतदशक्नुवद्भिरपि ग्राह्यं शेषम् उपकरण तरुणाः आभिग्रहिका विरिञ्चन्ति-विभजन्ति बालादिसत्कम्।

यदा तु पुनराभिग्रहिका न सन्ति तदा--

आयरिओवहि बाला-इयाण गिण्हंति संघयणजुत्ता।
दो सुत्ति उरिणमंथा-रए य गहणेक्कपासेणं ॥८९॥ (भा०)

आचार्योपधिं 'बालाइयाणं' ति बालादीना च सम्बन्धिनमुपधिं गृह्णन्ति, के?-'लघयणजुत्ता' येऽन्ये शेषा अनाभिग्रहिका संहननोपेतास्ते गृह्णन्ति, कथं पुनर्गृह्णन्ति ते उपाधिं?-'दो सुत्तिउ' त्ति द्वौ सौत्रिकौ कल्पौ एक और्णिक कल्प संस्तारकश्चशब्दादुत्तरपट्टकश्च, एषा ग्रहणम् 'एक्कपासेण' ति ग्रहणम् एकस्मिन् पार्श्वे-एकत्र स्कन्धे ग्रहणं करोति, द्वितीये तु पार्श्वे स्कन्धे पात्रकाणि गृह्णन्ति, आत्मीयां तूपधिं विण्टलिका कृत्वा यत्र स्कन्धे उपधिं कृतस्तयैव दिशा कक्षाया करोति।

इदानीम् 'अधिकरणतेणे' त्ति अमुमवयवं व्याख्यानयन्नाह-

आउज्जोवण वणिए, अगणि कुडुंबी कुगम्म कम्मरिए।
तेणे मालागारे, उब्भामग पंथिए जंते ॥९०॥ (भा०)

ते हि यदि सशब्द व्रजन्ति ततश्च लोको विबुध्यते, विबुद्धश्च सन् 'आउज्जोवण' त्ति अप्काययन्त्राणि योज्यन्ते-वहनाय सज्जीक्रियन्ते। अथवा-'आउ' त्ति अप्कायाय योपितो विबुद्धा व्रजन्ति 'जोवण' ति धान्यप्रकर' तदर्थं लोको याति, प्रकरो--मर्दनं धान्यस्य, लाटविषये 'जोवण घ-णणपइरणं भण्णइ', 'वणिय' त्ति वणिजो--वालञ्जुका विभानमिति कृत्वा व्रजन्ति। 'अगणि' त्ति लोहकारशालादिषु अग्निं प्रज्वाल्यते 'कुडुंबि' त्ति कुटुम्बिन· स्वकर्मणि लगन्ति 'कुगम्म' त्ति कुत्सित कर्म येषा त कुकर्माण मात्सिकादय· कुत्सिता मारा कुमारा--सौकरिका, एषा बोधो भवति रात्रौ पूत्कारयता, 'तेणे' त्ति स्तेनकाना च, 'मालाकार' त्ति मालिका विबुध्यन्ते 'उब्भामग' त्ति पारदारिका विबुध्यन्ते 'पंथिए' त्ति पथिका विबुध्यन्ते 'जंते' त्ति यान्त्रिकाः विबुद्धा सन्तो यन्त्राणि वाहयन्ति चाक्रिकादय।

तत्र यदुक्त प्राक् "नट्ठे खग्गूडसंगारो" तत्रेदमुक्त निर्युक्तिकृता सङ्कारकरणमात्रम्, इह पुन स' एव निर्युक्तिकार स-सङ्कार· कया यतनया कर्त्तव्य? कस्यां च वेलाया कर्त्तव्य? इत्येदाह--

संगार बीय वसही, तइए सण्णी चउत्थ साहम्मी।
पंचमगम्मि अ वसही, छट्ठे ठाणट्ठिओ होति ॥१७६॥

'संगार' त्ति सङ्केतोऽभिधीयते, तद्विधिर्वक्तव्य, 'बितिय वसहि' त्ति द्वितीये द्वारे वसति कर्तव्या, पूर्वप्रत्युपेक्षिता तस्या व्याघाते वा वसतेर्ग्रहणविधिर्वक्तव्य;" तातिए सण्णि' त्ति तृतीये द्वारे सञ्ज्ञी श्रावको वक्तव्य, 'चउत्थ साहम्मि' त्ति चतुर्थे द्वारे साधर्मिका वक्तव्या, 'पचमगम्मि अ वसहि, त्ति पञ्चमे द्वारे वसतिर्वक्तव्या-' विक्खिणा खुड्डलिआ' इत्येवमादि, 'छट्ठे ठाणट्ठिओ होति' षष्ठे द्वारे स्थानस्थितो भवति। द्वारगाथेयम्।

इदानीं निर्युक्तिकृतोपन्यस्तं सङ्कारद्वयं भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह-

आओसे संगारो, अमुई वेलाएँ निग्गएँ ठाणं।
अमुगत्थ वसहिभिक्खं, बीओ खग्गूडसंगारो ॥९१॥

'आओसे' त्ति प्रदोषे 'संगारो' त्ति सङ्केत आचार्येण कर्तव्य', कथम्?-' अमुई वेलाए' त्ति अमुकया वेलया यास्याम, पुनश्च 'निग्गए ठाणं अमुगत्थ' निर्गतानां सताम् अमुकत्र स्थानं-विश्रामसंस्थानं करिष्याम·, 'वसहि' त्ति अमुकत्र वसतिर्भविष्यति-वासको भविष्यतीत्यर्थ, 'भिक्ख' त्ति अमुकत्र ग्रामे भिक्षाटनं कर्त्तव्यम्, एकस्तावदय 'सङ्कार·' सङ्केत। 'बितिओ खग्गूडसंगारो' त्ति द्वितीयः संकेत· खग्गूडस्य दीयते।

स चैवमाह-

रत्तिं न चेव कप्पइ, नीयदुवारे विराहणा दुविहा।
पन्नवण बहुतरगुणे, अणिच्छ बीउव्व उवही वा ॥९२॥ (भा०)

'रत्तिं न चेव कप्पति' त्ति रात्रौ साधूना गमनं न कल्पते, द्विविधविराधनासंभावात्, यत उक्त-दिवाऽपि तावत् 'नीयदुवारे विराहणा दुविह' त्ति दिवाऽपि तावदयं दोष, "नीयदुवार तमसं, कोट्ठगं परिवज्जए" इति वचनात्, नीचद्वारे द्विविधा विराधना सतमस्कत्वाद् आस्तां तावद्रात्रौ, एष च धर्मश्रद्धया न निर्गच्छति। 'पण्णवण बहुतरगुण' त्ति पुनश्च तस्य प्रज्ञापना-प्ररूपणा क्रियते, तत्र रात्रिगमने बहवो गुणा दृश्यन्ते, बालवृद्धादयः सुखेन गच्छन्ति रात्रौ, न तृषा बाध्यन्त इति। 'अणिच्छ' त्ति अथ तथाऽपि नेच्छति गमनम् 'बितिओ व' त्ति द्वितीयस्तस्य दीयते-तदर्थं मुच्यत इति। 'उवही च' त्ति उपधिस्तस्य दीयते जीर्णा, तदीयश्च शोभनो गृह्यत इति, मा भूत्तत्पार्श्वे स्थितमुपधिं स्तेनका आच्छेत्स्यन्ति।

इदानीमसावेकाकी यदि स्वपिति ततो दोष· प्रमादजनितस्ततश्चोपधिरुपहन्यते, उपहतश्चाकल्प्यो भवति। एतदेवाह-

सुवणे वीसुवघातो, पडिबज्झंतो अ जो उ न मिलेज्जा।
जगण अप्पडिबज्झण, जइ वि चिरेणं न उवहम्मे॥९३॥ (भा०)

स्वापे 'वीसुं' एकाकिनो निद्रावशे सति, को दोष·?-'उवघाउ' त्ति तस्यैकाकिन सुप्तस्य उपधिरुपहन्यते, स ह्येकाकी स्वपन् प्रमादवान् भवति कृत्याद्यभियोगसंभवात्, ततश्च निद्रावशं प्राप्तस्य उपधिरुपहन्यते, अतोऽकल्पनीयो भवति परिष्ठापनीयश्चासौ। गच्छे तु स्वपतोऽपि नोपहन्यते, किं कारणम्?, यतस्तत्र केचित्सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति, अन्ये द्वितीयप्रहरेऽर्थानुचिन्तनं कुर्वन्ति, तृतीये तु प्रहरे आचार्य उत्तिष्ठति ध्यानार्थं, चतुर्थे तु प्रहरे सर्व एव भिक्षव उत्तिष्ठन्ति, ततश्च रात्रेर्नैकोऽपि प्रहर शून्य, ततो नोपहन्यते उपधि। एकाकिनस्तु जागरणं नास्त्यत उपघात, 'पडिबज्झंते य जो उ न मिलेज्ज' त्ति प्रतिबध्यमानो वा व्रजा-

दिषु क्षीरयाचनेच्छया प्रतिबध्यमानो यो न मिलेत् तस्याप्युपहन्यते उपधिः । किं कारणम् ?, एकाकिनः पर्यटनं नोक्तम् । एकाकी च पर्यटन् प्रमादभाग् भवति अतो व्रजादिप्रतिबन्धेऽप्युपधिरुपहन्यते । यस्तु पुनर्जागर्त्ति तस्मिन् दिवसेऽभुक्तो न व्रजादिषु प्रतिबध्यते स एवंविधस्तस्मिन् दिवसे मिलन्नपि नोपधिमुपहन्ति । ' जइवि चिरेण ' त्ति किं बहुना ?, जाग्रन्निशि गोकुलादिषु चाऽप्रतिबध्यमानो यद्यपि चिरेण मिलति बहुभिर्दिवसैस्तथाऽप्युपधिस्तस्य नोपहन्यते, अप्रमादपरत्वात्तस्येति ।

इदानीं गच्छस्य गमनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

पुरओ मज्झे तह म-ग्गओ य ठायंति खित्तपडिलेहा ।
दाइंतुच्चाराई, भावासन्नाइरक्खट्ठा ॥१७७॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षका एषु विभागेषु भवन्ति—केचन पुरतः—अग्रतो गच्छस्य, केचन मध्ये गच्छस्य, ते हि मार्गाभिज्ञाः । मार्गतश्च—पृष्ठतश्च तिष्ठन्ति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः । किमर्थं पुरत एव तिष्ठन्ति ?, 'दाइंतुच्चाराई ' उच्चारप्रश्रवणस्थानानि दर्शयन्ति गच्छस्य , 'भावासण्णादिरक्खट्ठ ' त्ति भावासण्णो—अणहियासओ , तद्रक्षणार्थम् । एतदुक्तं भवति—उच्चारादिना बाध्यमानस्य ते मार्गज्ञाः स्थण्डिलानि दर्शयन्ति ।

डहरे भिक्खग्गामे, अंतरगामम्मि ठावए तरुणे ।
उवगरणगहण असहू, व ठावए जाणगं चेगं ॥१७८॥

'डहरे भिक्खग्गामे ' त्ति यत्र ग्रामे वासकोऽभिप्रेतः भिक्षा च अटितुमभिप्रेता तस्मिन् 'डहरे ' क्षुल्लके ग्रामे सति किं कर्त्तव्यमत आह—' अंतरगामम्मि ' अपान्तराल एव यो ग्रामस्तस्मिन् भिक्षार्थं तरुणान् स्थापयेत् , ' उवगरणगहण ' ति तदीयमुपकरणमन्ये भिक्षवो गृह्णन्ति , ' असहू व ठावए ' त्ति अथ ते तत्स्थापिततरभिक्षुसत्कमुपकरणं ग्रहीतुं न शक्नुवन्ति ततोऽसहिष्णव एव तत्रान्तरग्रामे भिक्षार्थं स्थाप्यन्ते ' जाणगं चेग ' ति ज्ञं चैकं—मार्गज्ञं चैकं तेषां मध्ये स्थापयेत् येन सुखेनैवागच्छन्ति ।

दूरुट्ठिअ खुड्डलए, नव भड अगणी य पंत पडिणीए ।
संघाडेगो धुवक-म्मिओ व सुण्णे नवरि रिखा ॥१७९॥

अथवा-असौ वासकभिक्षार्थमभिप्रेतो ग्रामो दूरे स्थितः स्याद् , उत्थितो वा—उद्वसितः क्षुल्लको वा प्राक् संपूर्णो दृष्टः इदानीमर्द्धमुद्वासितमतः क्षुल्लकः , नवः-प्राग् यस्मिन् स्थाने दृष्टस्ततः स्थानादन्यत्र प्रदेशे जातः ' भड ' त्ति भटाक्रान्तो जातः ' अगणि ' त्ति अग्निना वा इदानीं दग्धः प्रान्तः-प्राक् शोभनो दृष्ट इदानीं प्रान्तीभूतो विरूपो जातः ' पडिणीए' त्ति प्रत्यनीकाक्रान्त इदानीं जातः , प्राक् प्रतिलेखनाकाले प्रत्यनीकस्तत्र नासीत् इदानीं तु आयातः , पूर्वप्रतिलेखिते ग्रामे एवंविधे जाते सति दूरोत्थितादिदोषाभिभूते सति किं कर्त्तव्यम् ?—' संघाड ' त्ति तत्र सङ्घाटकः स्थाप्यते, पाश्चात्यप्रव्रजितमीलनार्थम् 'एगोवि' त्ति सङ्घाटकाभावे एकः स्थाप्यते साधुः ' धुवकम्मिओ ' त्ति ध्रुवकर्मिको—लोहकारादिस्तस्य कथ्यते—यथा वयमन्यत्र ग्रामं यास्याम , त्वया पाश्चात्यसाधुभ्यः कथनीयं—यथा-ऽमेन मार्गेणागन्तव्यमिति, एवं तावत् वसति ग्रामे ' एस विही ' । ' सुण्णे नवरि रिक्ख ' त्ति यदा त्वसौ शून्यो ग्रामस्तदा किं कर्त्तव्यम् ?—' नवरि रिक्ख ' त्ति वर्त्मनि-अनभिप्रेते तिरश्चीन रेखाद्वयं पात्यते, येन तु वर्त्मना गतास्तत्र दीर्घां रेखां कुर्वन्ति । यदा तु पुनरेभिरुक्तदोषैर्युक्तो न भवति स ग्रामस्तदा तत्रैव या वसतिस्तस्यां प्रविशन्ति । ततश्च ये ते भिक्षार्थमन्तरालग्रामे स्थिता आसन् तेषां मध्ये यदि वसतिमार्गज्ञो भवति ततस्तस्यामेव वसतौ आगच्छन्ति, न कश्चित्प्रतिपालयति ।

एतदेवाह—

जाणंतठिए ता एउ, वसहीए नत्थि कोइ पडियरइ ।
असाएऽजाणते-सु वावि संघाड धुवकम्मी ॥१८०॥

' जाणतठिए ' मार्गाभिज्ञे स्थिते तस्यां वसतावागच्छन्ति ' नत्थि कोइ पडियरइ ' त्ति न कश्चित् तान् प्रतिपालयति बहि —स्थितः , ' असणाए ' त्ति यदा तस्याः पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघातः संजातः किन्त्वन्या, तस्यामन्यस्यां वसतौ जातायां ' अजाणंतसु वावि,' अथवा-ये ते भिक्षानिमित्तं स्थिताः पश्चादागमिष्यन्ति तेषु अजानत्सु ' सघाडधुवकम्मि ' त्ति वसतिपरिज्ञानार्थं सङ्घाटको बहिः स्थाप्यते, ध्रुवकर्मिको—लोहकारस्तस्य कथ्यते, यदुत—साधव आगमिष्यन्ति तेषामियं वसतिर्दर्शनीया कथनीया वेति ।

इदानीं ये ते भिक्षार्थं पश्चाद्ग्रामे स्थापितास्तैः किं कर्त्तव्यमत आह—

जइ अब्भासे गमणं, दूरे गंतुं दुगाउयं पेसे ।
ते वि असंथरमाणा, इंती अहवा विसज्जंति ॥१८१॥

यदि अभ्यासे-आसन्ने गच्छस्ततस्ते ' गमणं ' ति गच्छसमीपमेव गच्छन्ति, 'दूरे' त्ति अथ दूरे गच्छस्ततो गन्तुं द्विगव्यूत-गत्वा क्रोशद्वयं, किम् ?—'पेसे' त्ति एकं श्रमणं गच्छसमीपे प्रेषयन्ति , ' तेवि असंथरमाणा इति ' तेऽपि गच्छगताः साधवः असंस्तरमाणा —अतृप्ताः सन्त किं कुर्वन्ति ?-' एंति ' आगच्छन्ति, क्व ?-यत्र ते साधवो भिक्षया गृहीतया तिष्ठन्ति, अथ च तृप्तास्ततस्त साधुं विसर्जयन्ति यदुत—पर्याप्तमस्माकं , यूयं भक्षयित्वाऽऽगच्छत । ' संगारे ' त्ति द्वारं, व्याख्यातं, तत्प्रसङ्गायातं च व्याख्यातम् ।

इदानी वसतिद्वारमुच्यते, तत्प्रतिपादनायेदमाह—

पढमबियाए गमणं, गहणं पडिलेहणा पवेसो उ ।
काले संघाडेगो, वऽसंथरंताण तह चेव ॥ १८२ ॥

'पढम'त्ति तस्यां च वसतौ गमनं-प्राप्तिः कदाचित्प्रथमपौरुष्यां भवति, कदाचिच्च 'बितियाए' त्ति द्वितीयपौरुष्यां गमनं, प्राप्तिरित्यर्थः । 'गहण' ति 'दंडउंछयणदोरयचिलिमिलीण' कृत्वा ग्रहणं वृषभाः प्रविशन्ति । पुनश्च 'पडिलेहणा' तां वसतिं प्रमार्जयन्ति, ' पवेसो ' त्ति ततो गच्छः प्रविशति, 'काले' त्ति कदाचिद्भिक्षाकाल एव प्राप्तास्तत्रैव को विधिः ?, अत आह-सङ्घाटक एको वसतिं प्रमार्जयति, अन्ये भिक्षार्थं व्रजन्ति । ' एगो व ' त्ति यदा सङ्घाटको न पर्याप्यते तदा एको गीतार्थो वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यते, यदा तु पुनरेको-

ऽपि न पर्यटयन्ते सदा किमु ?" 'असवस्तेणाणं अणुघट्टनाए' अतृप्यन्तः सर्वे पर्यटन्ति", यां तु वसतिं पूर्वलब्धा तां कथमन्विषन्ति ?—' तह चेव ' त्ति यथा भिक्षामन्विषन्ति एव वसतिमपि सर्वे पूर्वप्रत्युपेक्षितामन्विषन्ति, अन्विष्य च तत्रैव प्रविशन्ति। यदा तु पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघातो जातस्तदाऽपि ' तह चेव ' त्ति यथा हि भिक्षा मार्गयन्ति तथा वसतिमपि, लब्धायां च तत्रैव परस्परं हिण्डन्त कथयन्ति। ' वसहीए निअट्टिअव्व ' ति।

इदानीं "पढमविइयाए" त्ति इदं द्वारं भाष्यकृत् व्याख्यानयन्नाह—

पढमबितियाए गमणं, बाहिं ठाणं च चिलिमिणी दोरे।
घित्तूण इंति वसहा, वसहिं पडिलेहिउं पुव्विं ॥ ८२ ॥

प्रथमपौरुष्या गमन-प्राप्तिर्भवति तत्र क्षेत्रे, कदाचिद् द्वितीयायां प्राप्तिस्तत्र को विधिरित्यत आह-' बाहिं ठाण च ' बहिरेव तावदवस्थानं कुर्वन्ति, स्थिताश्चोत्तरकालं ततश्चिलिमिणीं—जवनिका दवरिकाश्च गृहीत्वा प्रविशन्ति वसतौ वृषभा, अद्दणद्वारं व्याख्यातम्। किं कर्तुं ?—वसतिं प्रत्युपेक्षितुम्, वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्राग् वृषभा गृहीतचिलिमिलिन्युपकरणा आगच्छन्ति,'पडिलेहण' त्तिद्वारं भणितम्। दार।

एव तावत्पूर्वप्रत्युपेक्षितायां वसतौ विधि, यदा तु पुनः पूर्वप्रत्युपेक्षिताया व्याघातस्तदा—

वाघाए अएणं म-ग्गिऊण चिलिमिणिपमज्जणा वसहे।
पत्ताण भिक्खवेलं, संघाडेगो परिणओ वा ॥ १०३ ॥

पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघाते सति अन्या वसतिं मार्गयित्वा तत किञ्चित्' चिलिमिणिपमज्जणा वसहे ' त्ति ततो वृषभाश्चिलिमिलिन्यादीनि गृहीत्वा प्रमार्जयन्ति। ' पत्ताण भिक्खवेल ' यदा तु पुनर्भिक्षावेलायामेव प्राप्तास्तदा किं कर्तव्यम्?, 'काले' त्ति भणित, 'सघाडे' त्ति सङ्घाटको वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यते, 'सघाडेत्ति भणिअ', ' एगो व ' त्ति सङ्घाटकाभावे एको वा प्रेष्यते, किंविशिष्ट ?-परिणत —गीतार्थ, 'एगो त्ति भणिअ' यदा तु पुनरेको नास्ति तदा किम् ?—

सव्वे वा हिंडंता, वसहिं मग्गंति जह व समुयाणं।
लद्धे संकलिअनिवे-अणं तु तत्थेव उ नियट्टे ॥१८४॥

सर्वे वा हिण्डन्त एव वसतिं मार्गयन्ति-अन्विषन्ति, कथं ?-' जह व समुदाण ' यथा समुदान-भिक्षा प्रार्थयन्ति-निरूपयन्ति एव वसतिमपि अन्विषन्ति, ' तह चेव ' त्ति अवयवो भणित ' लद्धे संकलिअनिवेअण तु ' भिक्षामटद्भिर्लब्धाया वसतौ सकलिकया निवेदन-यो यथा य पश्यति स तथा त वक्ति-यदुत इह वसतिर्लब्धा इह निवर्त्तनीयं, तस्मात्तस्यामेव च वसतौ निवर्त्तते।

तत्र च प्रवेशे को विधि ?—

एक्को धरेइ भाणं, एक्को दोएह वि पवेसए उवहिं।
सव्वो उवेइ गच्छो, सबालवुड्ढाउलो ताहे॥ १८२ ॥

एको धारयति-संघट्टयति भाजन पात्रकम् एक-अन्यस्तस्य द्वितीय- बहिर्व्यवस्थित गच्छात् सकाशाद् भिक्षामटद्भ्या भुक्तापुपधि द्वयोरपीति आत्मन- सबन्धिनीं तस्य च पात्रकमघट्टयितु सवन्धिनीमुपधिं प्रवेशयति, तत उत्तरकाल गच्छ उपैति-प्रविशति सबालवृद्धत्वादाकुल तदा-तस्मिन् काले। दार।

चोयगपुच्छा दोसा, मडलिबंधम्मि होइ आगमणं।
संजमआयविराहण, वियालगहणे य जे दोसा ॥१०६॥

चोदकस्य पृच्छा चोदकपृच्छा, चोदक एवमाह-यदुत बाह्यत एव भुक्त्वा प्रवेश क्रियते, किं कारणम् ?, उपधिमानयत 'क्षुधार्त्तस्य तृषितस्य च ईर्यापथमशोधयत. सयमविराधना, उपधिभाराक्रान्तस्य कण्टकादीननिरूपयत आत्मविराधना, ततश्च बहिरेव भुक्त्वा विकाले प्रविशन्तु। आचार्यस्त्वाह-बहिर्भुञ्जता दोषा कथ ?-मण्डलिबन्धे सति आगमन भवति सागारिकाणाम्, तत्र च सयमात्मविराधना भवति ' वियालगहणे' त्ति विकालवेलायां च वसतिग्रहणे ये दोषा भवन्ति ते वक्ष्यन्ते। द्वारगाथेयम्।

चोदकपृच्छेति व्याख्यानयन्नाह—

अइभारेण उ इरिअं, न सोहए कंठगाइ आयाए।
भुत्तट्ठिअ वोसिरिआ, अइंतु एव जढा दोसा ॥१८७॥

चोदक एवमाह-यदुत गच्छसमीपादुपधिं प्रवेशयन् तदतिभारेण बुभुक्षया च पीडित सन्नीर्यापथिकां न शोधयति यतोऽत सयमविराधना भवति, तथा कण्टकादीनि च न पश्यति बुभुक्षितत्वादेव यतोऽत आत्मविराधना भवति, तस्माद् ' भुत्तट्ठिय ' त्ति बहिरेव भुक्ता सन्त, तथा ' वोसिरिय ' त्ति उच्चारप्रश्रवण कृत्वा तत ' अइंतु ' त्ति प्रविशन्तु, क ?-वसतौ, ' एव जढा दोस ' त्ति एव क्रियमाणे दोष आत्मविराधनादय- परित्यक्ता भवन्ति।

एवमुक्ते सत्याहाचार्य —

आयरिअवयणं दोसा, दुविहा नियमा उ संजमायाए।
वच्चह न तुज्झ सामी,अमंगलं मडलीए वा ॥ १८८ ॥

आचार्यस्य वचनम्, आचार्यवचन, किं तदित्याह-'दोसा' बाह्यतो भुञ्जता दोषा भवन्ति द्विविधा नियमाद्-अवश्यतया, ' सजम ' त्ति सयमविराधनादोष ' आयाए ' त्ति आत्मविराधनादोष। तत्र सयमविराधनादोष एव भवति-तत्र च भोजनस्थाने सागारिका यदि बहवस्तिष्ठन्ति ततस्ते साधवो भिक्षामटित्वाऽऽगता सन्तो यत्रैव भणन्ति-यदुत 'वच्चह' हे सागारिका गच्छतास्मात्स्थानात्, ततश्चैवमुच्यमाने सयमविराधना भवति। आत्मविराधना चैव भवति-यदा ते सागारिका उच्यमाना न गच्छन्ति, किन्त्वेव भणन्ति—' न तुज्झ सामी ' नास्य प्रदेशस्य भवन्त स्वामिन, ततश्च असखड भवति। ' मडलीए व ' त्ति अथ मण्डल्या जाताया सत्याम्—

कोऊहल आगमणं, संखोभेण अकंठगमणाई।
ते चेव संखडाइ, वसहिं व न देंति जं चऽन्न ॥ १०६ ॥

मण्डलकाया- जाताया कौतुकेन सागारिका आगमन कुर्वन्ति, ततश्च 'सखोभेण' त्ति सक्षोभेण तेषा प्रव्रजिताना अकण्ठगमनादि-कण्ठेन भक्तकवलो नोपक्रामति, ' ते चेव सखडाइ'ति त एव वा सखडादयो दोषा भवन्ति ' वसहिं

र्व स दंति " एवं च सागारिका दृष्टा. सन्तो वसतिं न प्रयच्छन्ति, तत्र ग्रामे ' जं व ऽसं "ति ग्रहणाकर्षणादि कुर्वन्ति।

इदानी तस्माद् ग्रामादन्यत्र ग्रामे भोजन गृहीत्वा गन्तव्यं, तत्र चैते दोषाः—

भारेण वेयणाए, न पेहए थाणुअंटआयाए।
हरियाइ संजमम्मि अ, परिगलमाणेण छक्काया ॥१६०॥

उपधिभित्ताभारेण या वेदना क्षुद्वेदना वा तया न ' पेहइ ' त्ति न पश्यति स्थाणुकण्टकादीन्, ततश्चात्मविराधना भवति, ' हरियाइ ' त्ति संयमविषया विराधना ईर्यादि, तथा परिगलमाने च पानादौ षट्कायविराधना भवति।

तथा चैते चान्यत्र ग्रामे गच्छता दोषा भवन्ति—

सावयतेणा दुविहा,विराहणा जा य उवहिणा उ विणा।
तणअग्गिहणसेवण, वियालगमणे इमे दोसा ॥१६१॥

श्वापदभयं भवति, तथा ' तेणा दुविहा भवन्ति'-शरीरापहारिण, उपध्यपहारिणश्च। ' विराहणा जा' य उवहिणा उ विणा ' या च उपधिना—संस्तारकादिना विना विराधना भवति, का चासौ ?-' तणअग्गिगहणसेवणा ' यथासंख्य तृणानां ग्रहणे संयमविराधना, अग्नेश्च सेवने संयमविराधनेति। द्वारम्। एवं तावद्ग्रामे भुञ्जानानामन्यग्रामे च गच्छतां दोषा व्याख्याता.। इदानी तु यदुक्तमोसीच्चोदेकेन यदुत विकाले प्रवेष्टुं युज्यते तन्निरस्यन्नाह-'वियालगम (ह) णे इमे दोसा ' विकालगमने वसतौ एत—वक्ष्यमाणलक्षणा दोषा भवन्ति। ते चामी—

पविसणमग्गणठाणे, वेसित्थिदुगुंछिए य बोद्धव्वे।
सज्झाए संथारे, उच्चारे चेव पासवणे ॥ १६२ ॥

' पविसण ' त्ति तत्र ग्रामे विकाले प्रविशतां ये दोषास्तान् वक्ष्याम , 'मग्गण' त्ति वसतिमार्गणा अन्वेषणे च विकालवेलायां ये दोषास्तान् वक्ष्याम । ' ठाणे वेसित्थिदुगुंछिए अ ' इत्येतद्वक्ष्यतीति विकालवेलायां बोद्धव्य-ज्ञेयम्। 'सज्झाए' त्ति स्वाध्यायम् अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ अगृहीते काले कुर्वतो दोष , अथ न करोति तथाऽपि दोष हानिलक्षण । 'संथार' त्ति अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ संस्तारकभुवं गृह्णन संयमात्मविराधनादोष । ' उच्चारे ' त्ति अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ स्थण्डिलेष्वनिरूपितेषु व्युत्सृजतां दोष., धारणेऽपि दोष. ' पासवणे ' त्ति अप्रत्युपेक्षितेषु स्थण्डिलेषु व्युत्सृजतो दोष', धारयतोऽपि दोष एव।

इय द्वारगाथा, इदानीं प्रतिपद व्याख्यायते—

सावयतेणा दुविहा,विराहणा जा य उवहिणा उ विणा।
गुम्मिअगहणाऽऽहणणा, गोणाईचमढणा चेव ॥१६३॥

विकाले प्रविशतां ग्रामे श्वापदभयं भवति। स्तेना द्विप्रकारा -शरीरस्तेना, उपधिस्तेनाश्च। तद्भयं भवति विकाले प्रविशताम्, विराधना या च उपधिना विना भवति अग्नितृणयोर्ग्रहणसेवनादिका, सा च विकाले प्रवेशे दोष । ' गुम्मिय ' त्ति गुल्म-स्थानं तद्रक्षपाला गुल्मिकास्तैर्ग्रहणमाहननं च भवति विकाले प्रविशतामयं दोष । ' गोणादिचमढणा ' बलीवर्दादिपादप्रहारादिश्च, एवमयं विकालप्रवेशे दोष.। " पविसणे " त्ति गयं।

इदानी ' मग्गणे ' त्ति व्याख्यायते—

फिडिए अण्णोण्णारण, तेण य राओ दिया य पंथम्मि।
साणाइ वेसकुत्थिअ, तवोवणं मूसिआ जं च ॥१६४॥

' फिडिए ' त्ति विकालवेलायां वसतिमार्गणे अन्वेषणे ' फिडित ' भ्रष्टो भवेत् , तत्र अन्योऽन्यं—परस्परतः ' आरण ' संशब्दनं तच्छ्रुत्वा स्तेनका रात्रौ मुषितुमभिलषन्ति, 'दिया य पंथम्मि' त्ति दिवा वा प्रभाते पथि गच्छतस्तान् श्रमणान् मुष्णन्ति ' साणादि ' त्ति रात्रौ वसतेरन्वेषणे श्वादिर्दशति। ' मग्गणे ' त्ति भणितं, " वेसत्थिदुगुंछिए ' त्ति व्याख्यायतेऽवयव ,तत्राह-' वेसकुत्थिअ तवोवण मूसिगा चेव ' रात्रौ वसतिलाभे न जानन्ति किमेतत्स्थानं वेश्यापाटकासन्नमनासन्नं वा ?, ते चाजानाना-स्तस्यां वसतौ निवसन्ति, तत्र चायं दोष.-वेश्यासमीपे वसता लोको भणति,अहो तपोवनमिति। कुत्सितच्छिम्पकादिस्थानासन्ने लोको ब्रवीति-स्वस्थाने मूषिका गता , एतेऽप्येवंजातीया एव। ' वेसित्थिकुच्छिते ',त्ति गतम्। स्वाध्यायद्वार व्याख्यातमेव द्रष्टव्यम्।

इदानीं 'संथार ' त्ति व्याख्यायते-

अप्पडिलेहिअकंटा-बिलम्मि संथारगम्मि आयाए।
छक्कायसंजमम्मि अ, चिलिणे सेहऽन्नहाभावो ॥१६५॥

अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ कण्टका भवन्ति, बिल वा। तत्र संस्तारके क्रियमाणे ' आयाए ' त्ति आत्मविराधना भवति ' छक्काय ' त्ति षट्कायस्यापि अप्रत्युपेक्षितवसतौ स्वपतः ' संजमम्मि ' त्ति संयमविषया विराधना भवति। ' चिलिणे ' त्ति तथा चिलीनम्-अशुचिकं भवति, तस्मिंश्च सेहस्य जुगुप्सया अश्रुतार्थस्यान्यथाभाव.—उन्निष्क्रमणादिर्भवति। ' संथार ' त्ति गय।

इदानीम् ' उच्चारपासवणे' त्ति व्याख्यायते-

कंटगथाणुगवाला-विलम्मि जइ वोसिरेज्ज आयाए।
संजमओ छक्काया, गमणे पत्ते अइंते य ॥१६६॥

अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ कण्टकस्थाणुव्यालाबिल-समाकुले प्रदेशे व्युत्सृजत आत्मविराधना भवति, ' संजमओ ' त्ति संयमतो विराधना षट्कायोपमर्दे सति रात्रौ भवति। ' गमणे' त्ति कायिकाव्युत्सर्जनार्थं गमने दोषा ' पत्ते ' त्ति कायिकाभुवं प्राप्तस्य व्युत्सृजत ' अयते य ' त्ति पुन कायिकां व्युत्सृज्य वसतिं प्रविशतो षट्कायोपमर्दो भवतीति। अथ तु पुनर्निरोध करोति ततश्चैते दोषा भवन्ति—

मुत्तनिरोहे चक्खू, वच्चनिरोहेण जीवियं चयई।
उड्डनिरोहे कोट्ठं, गेलन्नं वा भवे तिसु वि ॥१६७॥

सुगमा। ' उच्चारपासवणे ' त्ति गय।

इदानीमपवाद उच्यते—

जइ पुण वियालपत्ता, पए व पत्ता उवस्सयं न लभे।
सुन्नघरदेउले वा, उज्जाणे वा अपरिभोगे ॥१६८॥

यदि पुनर्विकाल एव प्राप्ता , ततश्च तेषां विकालवेलायां वसतौ प्रविशतां प्रमादकृतो दोषो न भवति , ' पए व पत्त' ति प्रागेव प्रत्यूषस्येव प्राप्ता - किन्तु उपाश्रयं न लभन्ते

तत क समुद्दिशन्तु ? शून्यगृहे देवकुले वा उद्याने वा अपरिभोगे-लोकपरिभोगरहिते समुद्दिशन्तीति क्रिया वक्ष्यति।

आयरिअचिलिमिणीए, रत्ने वा निब्भए समुद्दिसणं ।
सभए पच्छात्राऽसइ-कमढय कुरुया य संतरिश्रा ।।१६६।।

अथ शून्यगृहादौ सागारिकाणामापातो भवति, तत आपाते सति चिलिमिणी-यवनिका दीयते, 'रत्ने व' त्ति अथ शून्यगृहादि सागारिकाक्रान्तं तत. अरण्यं निर्भयं समुद्दिशन क्रियते, सभयेऽरण्यं प्रच्छन्नस्य वा असति—अभावे ततो वसतिसमीप एव कमढकेषु शुक्लेन लेपेन सबाह्याभ्यन्तरेषु लिप्तेषु भुज्यते, 'कुरुआ य' त्ति कुरुकुचा—पादप्रक्षालनादिका क्रियते 'संतरित' त्ति सान्तरा —सावकाशा वृक्षमन्तगाला उपविशन्ति । इदानीं भुक्त्वा यदि पुनर्विकाले वसतिर्मन्विष्यन्ति, सा च कोष्ठकादिका भवति । (ओघ० ।) (लब्धाया वसतेर्विधिः 'संथारग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत ।)

इदानीं सज्ञिद्वार व्याख्यायते-द्वार ।

दुविहो य विहरियाविह-रिओ उ भयणाउ विहरिए होइ।
संदिट्ठो जो विहरितो,अविहरिअविही इमो होइ ।।२१०।।

एव ते व्रजन्त कञ्चिद्ग्रामं प्राप्ता , स च ग्रामो द्विविध.-विहृतोऽविहृतश्च । विहृत साधुभिर्य क्षुण्ण -आसेवित इत्यर्थ अविहृतो य साधुभिर्न क्षुण्णो—नासेवित इत्यर्थ । तुशब्दो विशेषणार्थ । किं विशिनष्टि ?-योऽसौ विहृत स सज्ञियुक्त सज्ञिरहितो वा । 'भयणा उ विहरिए होति' त्ति योऽसौ विहृत सज्ञियुक्तस्तत्र भजना—विकल्पना , यद्यसौ सज्ञी संविग्नभावितस्तत प्रविशन्ति , अथ तु पार्श्वस्थादिभावितस्ततो न प्रविशन्ति । 'संदिट्ठो जो विहरितो' त्ति संविग्नविहृते संज्ञिगृहे संदिष्ट —उक्त यथाऽऽचार्यप्रायोग्य त्वया सज्ञिकुलादानयनीयमित्यत प्रविशन्ति । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते-द्विविध , कतर ?, सज्ञिद्वारस्य प्रक्रान्तत्वाद् सज्ञिनो वा, कतमेन द्वैविध्यमत आह-विहृतोऽविहृतश्च , साधुभि क्षुण्णोऽक्षुण्णश्च, तत्र भजना विहृते श्रावके सति , यद्यसौ संविग्नविहृत प्रवेश क्रियते. अथ पार्श्वस्थादिविहृतस्ततो न प्रवेष्टव्यम् । संदिष्टे विहृतोऽत्र स संविग्नैः साम्भोगिकैश्च यैर्विहृतस्तैर्तोऽत्राचार्यसंदिष्ट प्रविशति, आचार्यप्रायोग्यग्रहणार्थम्, 'अविहरिअविही इमो होति' त्ति अविहृते ग्रामे सज्ञिनि वा अयं विधि—वक्ष्यमाणलक्षण. सप्तमगाथायाम् ;" अविहरिअमसंदिट्ठो चेतिअ पाहुडिअ "अस्यां गाथायामिति ।

इदानीं भाष्यकार एतामेव गाथा व्याख्यानयन्नाह—

अविहरिअ विहरिओ वा,जइ सड्ढो नत्थि नत्थि उ निओगो ।
णाए जइ ओसण्णा,पविसंति तओ य पसरम ।।६५।।

अविहृतो विहृतो वा ग्राम ,तत्र विहृते यदि श्राद्धको नास्ति ततो नास्ति नियोग -न नियुज्यते साधु आचार्यप्रायोग्यानयनार्थम् । 'णाए' त्ति अथ तु ज्ञाते-विज्ञाते एव यदुनास्ति श्रावक , तत्र च ' यदि ओसन्ना पविसंति ' यद्यवसन्ना प्रविशन्ति तथाऽपि नास्ति नियोग , अथ तु प्रविशन्ति 'तओ उ पसरदु ' त्ति पञ्चदशोद्गमनदोषा भवन्ति , ते चामी-"आहाकम्मुद्देसिअ पूईकम्मे य मीसजाए अ। ठवणा पाहुडियाए, पाओयरकीय पामिच्चे ॥ १ ॥ परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडे इअ । अच्छेज्जे अणिसट्ठे, अज्झोयरए अ सोलसमे ॥२॥" ननु चामी षोडश उच्यन्ते-"अज्झोयरतो य मीसजाये य दोहिं वि एक्को चेव भेदो ।" अथवा-इयमपि गाथा सज्ञिनमेवाङ्गीकृत्य व्याख्यायते-द्विविध श्रावको-विहृत ,अविहृतो वा। "जइ सड्ढो नत्थि णत्थि उ निओगो तओ विहरितो" यदि श्राद्धो नास्ति ततो नास्ति नियोग साधोः । 'णाए' त्ति अथ ज्ञाते सति श्राद्धके यदुतास्ति ततश्च तत्र ज्ञाते सति 'जइ ओसण्णा पविसति' यद्यवसन्ना प्रविशन्ति तथाऽपि नास्ति नियोग । अथैवंविधेऽपि प्रविशन्ति ततश्च पञ्चदश दोषा उद्गमादयो नियमाद्भवन्ति ।

यद्यपि तत्रावसन्ना न गृह्णन्ति—

संविग्गमणुण्णाए, अइंति अहवा कुले विरिंचंति ।
अण्णाउंछं व सहू, एमेव य संजईवग्गे ।।६६।। (भा०)

अथ तु ससङ्कैः संविग्नैश्च विहृत -अमनोज्ञैर्वसद्भिर्भावित तत ' अणुण्णाए अइंति ' त्ति तैरेवानुज्ञाते सति श्रावकगृहे प्रविशन्ति । अथवा—श्रावककुलानि विरिञ्चन्ति—विभजन्ति , एते चान्यसाम्भोगिका संविग्ना 'अण्णाउंछं व सहू' अण्णाउंछं जत्थ सावगा नत्थि तहिं हिंडति वत्थव्वा। जइ सहू समत्था इयरे अ पाहुणगा जप्पसरीरा ततो सावगकुलानि हिंडन्ति । अह वत्थव्वा जप्पसरीरगा पाहुणगा य सहू ततो अण्णायउंछं हिंडति । ' एमेव य संजईवग्गे ' एवमेव संयतीवर्गे विधि , यदुत ताभिरनुज्ञातेषु श्रावककुलेषु प्रवेष्टव्यम् । बहुषु च कुलेषु सत्सु ता एवं विरिञ्चन्ति " अण्णाउंछं व सहू " इति , अयं च विधिर्द्रष्टव्य. ।

एवं तु असंभो-इयाण संभोइयाण ते चेव ।
जाणित्ता निब्बंधं,वत्थव्वेणं स उ पमाणं ।।६७।। (भा०)

एवमन्यसाम्भोगिकानां संभवे उक्तलक्षणो विधिर्द्रष्टव्य । ' संभोइयाण ते चेव ' त्ति अथ साम्भोगिकास्तत्र ग्रामे भवन्ति तत ' ते चेव ' त्ति त एव वास्तव्या. साधवो भैक्षमानयन्ति । अथ तत्र साम्भोगिकसमीपे प्राप्तमात्राणा कश्चिच्छ्रावक आयात , स च प्राघूर्णकवत्सल एवं वदति यदुत मदीये गृहे भिक्षार्थं साधु ग्रहेतव्य , तत्रोच्यते-वास्तव्या एव गमिष्यन्ति । अथैवमुक्तेऽपि 'निब्बन्धं' ति निर्बन्ध करोति—आग्रह करोत्यसौ श्रावकस्तत ' वत्थव्वेण ' वास्तव्येन सहैकेन गन्तव्य, यत स एव वास्तव्य प्राघूर्णकाना प्रमाणमल्पाधिकवस्तुग्रहणे ।

अथासौ साम्भोगिकवसति सकुला भवति तत.—

असइ वसहीएँ वीसुं, राइणिए वसहि भोयणागम्म ।
असहू अपरिणया वा,ताहे वीसुं सहू वियरे ।।६८।।(भा०)

असति—अभावे विस्तीर्णाया वसते. ' वीसु ' ति पृथग्-अन्यत्र वसतौ अवस्थानं कुर्वन्ति , तत्र च तेषा कीं भोजनविधिरित्यत आह-'राइणिए वसहि भोयणागम्म'त्ति रत्नाधिकस्य वसतौ भोजनमागम्य कर्त्तव्य, सच रत्नाधिक कदाचिद्वास्तव्यो भवति,कदाचिदागन्तुक इति। अथान्यतरो रत्नाधिका 'असहु'त्ति भिक्षावेला प्रतिपालयितुमशक्त तथापरिणता वा साधव सेहप्राया मा भूद् गर्हां करिष्यन्ति तत 'वी

सुं ' पृथग् वसतिर्भवति । तथा यदि च ते वास्तव्या साधवः ' सहू ' समर्थास्ततो ' वियरे ' त्ति भिक्षामटित्वा प्राघूर्णकेभ्यः प्रयच्छन्ति ।

तिएहं एक्केण समं, भत्तट्ठो अप्पणो अवड्ढं तु ।
पच्छा इयरेण समं,आगमणविरेगु सो चेव ॥९९॥(भा०)

अथ तत्र त्रय आचार्या भवन्ति, द्वावागन्तुकौ एको वास्तव्य तदा ' एक्केण समं ' ति एकेनागन्तुकाचार्यप्रव्रजितेन सह वास्तव्यः पर्यटति । तावद्यावद् ' भत्तट्ठो ' त्ति एकस्य प्राघूर्णकाचार्यस्य भक्तार्थो भवति-उदरपूरणमात्रमित्यर्थः, अत. ' अप्पणो अवड्ढं तु ' त्ति आत्मार्थमाचार्यार्थं वाऽसौ वास्तव्य. ' अवड्ढं तु ' अर्धभृतमात्रं श्रावककुलेभ्यो गृह्णाति । ' पच्छा इयरेण समं ' ति पश्चादितरेण द्वितीयागन्तुकाचार्यप्रव्रजितेन समं पर्यटति । तत्रापि भक्तार्थो यावद्भवति प्राघूर्णकस्य तावत्पर्यटति, आत्मनश्चार्द्धभृतमात्र गृह्णाति, एवं पूर्णो भृतो भवति वास्तव्याचार्यस्य । ' आगमणं ' ति एवं ते पर्यटित्वाऽऽत्मीयायां वसतौ आगमनं कुर्वन्ति । ' विरेगु सो चेव ' त्ति स एव ' विरेगो ' विभजन श्रावककुलेषु, योऽसौ भिक्षामटद्भि कृत , न तु पुनर्वसतिकायाम् आगतानां भवतीति ।"असति वसहीए वीसुं, राइणिए वसहि भोयणागम्म । असह अपरिणया वा, ताये वीसुं सह वियरे ॥ १ ॥ " त्ति यो विधिरुक्त, अयं च द्वितीयाद्याचार्येष्वप्यागतेषु द्रष्टव्य इति । एवं तावद्दिहृतक्षेत्रेऽत्र साधुषु निष्टत्तु यो विधि. स उक्त ।

इदानीमविहृते क्षेत्रे साधुरहिते च यो
विधिस्तत्प्रतिपादयन्नाह—

चेइअवंदनिमंतण, गुरुहिँ संदिट्ठ जो वऽसंदिट्ठो ।
निव्वंध जोगगहणं,निवेय नयणं गुरुसगासे॥१००॥(भा०)

एव विहरन्त कचिद्ग्रामादौ प्राप्ता., तत्र च यदि सन्ती विद्यते ततश्चैत्यवन्दनार्थमाचार्यो व्रजति, ततश्च श्रावको गृहागतमाचार्यं निमन्त्रयति, यथा—प्रायोग्यं गृहाण ततश्च यो गुरुसंदिष्ट. स गृह्णाति । ' जो वऽसंदिट्ठो ' त्ति यो वा असंदिष्ट —अनुक्त स वा गृह्णाति श्रावकनिर्बन्धे सति । एतदुक्तं भवति—योऽसावाचार्येण संदिष्ट स यावन्नागच्छत्येव तावत्तेन श्रावकेणान्य सङ्घाटको दृष्ट , स च निर्बन्धग्रहणे कृते सति योग्यग्रहण—प्रायोग्योपादानं करोति । ततश्च ' निवेयणं ' ति अन्येभ्यः सङ्घाटकेभ्यो निवेदयति, यथा यदुत मया श्रावकगृहे प्रायोग्यं गृहीतं न तत्र भवद्भिः प्रवेष्टव्यम् । ततश्च ' नयणं गुरुसगासे ' त्ति तत्प्रायोग्यं गृहीत्वा गुरुसमीपं नयति तत्प्रयोजनं येनासाधुनभुक्त इति ।

इदानीं यदुक्तं प्राक् " अविहरिअविही इमो
होति " त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह—

अविहरिअमसंदिट्ठो, चेइय पाहुडिअमेत्त गएहंति ।
पाउग्गपउरलंभे,नऽम्हे किं वा न भुंजंति ?॥१०१॥(भा०)

अविहृत ग्रामादौ असंदिष्टा एव सर्वे भिक्षार्थं प्रविष्टाः, तत्र च भिक्षामटन्त. श्रावकगृहं प्रविष्टा., तत्र च ' चेइए ' त्ति चैत्यानि च वन्दन्ते, तत्र च ' पाहुडिअमेत्तं गिएहन्ति ' त्ति प्राभृतिकामात्रं यदि तत्र लभ्यते ततो गृह्णन्त्येव । अथाचार्यप्रायोग्यं लभ्यते प्रचुरं वा लभ्यते ततः ' पाउग्गपउरलंभे सति' इदमुच्यते—'णऽम्हे' त्ति न वयमाचार्यप्रायोग्यग्रहणे नियुक्ता , किन्त्वन्ये । एवमुक्त श्रावकोऽप्याह—'किं वा न भुंजति ' त्ति किं भवद्भिर्नीतं न भुञ्जते आचार्या. ?, एवं निर्बन्धे सति त एव गृह्णन्ति ।

कियत्पुनर्गृह्णन्तीत्यत आह—

गच्छस्स परीमाणं, नाउं घेत्तुं तओ निवेयंति ।
गुरुसंघाडग इयरे, लद्धं नेयं गुरुसमीवं ॥१०२॥(भा०)

गच्छस्य परिमाणं ज्ञात्वा गृह्णन्ति, गृहीत्वा च ततो निवेदयन्ति, कस्मै ?, अत आह—गुरुसंघाटकाय, यदुताचार्यप्रायोग्यमन्येषा च गुडघृतादि लब्धं प्रचुरम् , ' इयरे व ' त्ति इतरसङ्घाटकेभ्यो वा—शेषसङ्घाटकेभ्यो निवेदयति, ' मा वच्चह ' त्ति मा व्रजत गृहीत गुरुयोग्यं, ततश्च लब्धमात्रमेव तद् गुरुसमीपं नेतव्यम् ।

तथा चाह—

एगागिसमुद्दिसगा, भुत्ता उ पहेणएण दिट्ठंतो ।
हिंडणदव्वविणासो, निद्धं महुरं च पुव्वं तु॥१०३॥(भा०)

'एगागिसमुद्दिसगा' ये न मण्डल्युपजीविन. पृथग् भुञ्जते, व्याख्यायाक्रान्ताश्च , तेषा भुक्ताना सता पश्चादानीतं नोपयुज्यत , अत्र च ' पहेणएण दिट्ठंतो ' " काले दिएणस्स पहे-णयस्स अग्घो न तीरए काउं । तस्सेव अथक्कपणामियस्स गेण्हंतया नत्थि ॥१॥ " तथाऽऽनयनेऽयमपरो दोष.—येन द्रव्येण घृतादिना गृहीतेन हिण्डता द्रव्यविनाशो भवति, कथञ्चित्प्रमादात्पात्रकविनाशे सति भोगादि च विनश्यत्येव । तथा 'निद्धमहुराइं पुव्विं' यदुक्तमागमे तच्च कृतं न भवति । " मणि " त्ति दारं गयं ।

इदानीं साधर्मिकद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

भ (भु) त्तट्ठिअ आवस्सग, सोहेउं तो अइंति अवरएहे ।
अब्भुट्ठाणं दंडा-इयाण गहणेक्कवयणेणं ॥२११॥

इदानीं ते साधर्मिकसमीपं प्रविशन्त 'भ (भु) त्तट्ठिअ ' त्ति भुक्त्वा तथा 'आवस्सग सोहेउं' ति आवश्यकं च कायिकोच्चारादि शोधयित्वा-कृत्वेत्यर्थः ,अतोऽपराह्णसमये आगच्छन्ति,येन वास्तव्यानां भिक्षाटनाद्याकुलत्वं न भवति । वास्तव्या अपि कुर्वन्ति,किमित्यत आह-' अब्भुट्ठाणं ' ति तेषां प्रविशतामभ्युत्थानादि कुर्वन्ति , ' दंडाइयाण गहणं ' ति दण्डकादीनां ग्रहणं कुर्वन्ति,कथं ?-'एगवयणेणं' ति एकेनैव वचनेन उक्ता , सन्त पात्रकादीन् समर्पयन्ति, वास्तव्येनोक्त भुञ्ज्ध्वमिति ततश्च भुञ्जन्ति । अथ न भुञ्जन्त्येकवचनेन ततो न गृह्णन्ते, मा भूत् प्रमाद इति ।

सुद्धुलसिगिद्धतणा, उग्गहं श्रावगेहि तेण उ एए वि ।
पक्खिवणं गोचूगं, निक्खिवणुक्खिवणमोहणं ॥२१२॥

यदा तु पुनस्ते. साधर्मिकास्ते ग्रामं. न सुभिक्ष : न तत्र भिक्षा भवति ततश्च प्रभूतकमेवानयन्ति, 'पिणिट्ठ ' त्ति विहृतक्षेत्र तत्र साधर्मिकाः... प्रभूतमेवानयन्ति ' भद ' त्ति अथ तत. अपराह्ण आगच्छन्तो ...

भय भवेत्ततश्च प्रत्यूषस्येवागच्छन्तीति । उष्णं वा अपराह्णे आगच्छतां भवति यतोऽत प्रत्यूषस्येवागच्छन्ति । तत्र ते प्रत्यूषसि तस्माद् ग्रामात्प्रवृत्ता साधुभोजनकाले प्राप्ता साधर्मिकसमीपं नैषेधिकीं कृत्वा प्रविशन्ति । ततश्च तेषां प्रविशतां वास्तव्यसाधुभि किं कर्त्तव्यमित्यत आह-'पक्खित्त मोत्तूण' ति प्रक्षिप्तम्-आस्यगत मुखे प्रक्षिप्त केवलं मुक्त्वा 'निक्खिवमुक्खित्तं' ति यदुत्क्षिप्तं भाजनगतं तत् निक्षिपन्ति, भुञ्जन्ति नैषेधिकीश्रवणानन्तरमेव. ततस्ते प्राघूर्णकाः 'ओघेण' ति संक्षेपेण आलोचनां प्रयच्छन्ति।

ततो भुञ्जते मण्डल्यां, सा चेयम् ,

अप्पा मूलगुणेसुं, विराहणा अप्प उत्तरगुणेसुं ।
अप्पा पासत्थाइसु, दाणग्गहसंपओगोहा ॥ २१३ ॥

अल्पा मूलगुणेषु, एतदुक्तं भवति-मूलगुणविषया न काचिद्विराधना, अल्पा उत्तरगुणविषया विराधना, अल्पा पार्श्वस्थादिषु दानग्रहणसेवाविराधना 'संपओगो' त्ति तैरेव पार्श्वस्थादिभिः सम्प्रयोगे--संपर्के । एतदुक्तं भवति-न पार्श्वस्थादिभि सह संप्रयोग आसीत् । 'ओघ त्ति गयं' ओघत -संक्षेपत आलोचना दीयते, दत्त्वा चालोचनां यदि तु अभुक्तास्ततो भुञ्जते ।

अथ भुक्तास्ते साधवस्तत इदं भणन्ति—

भुंजह भुत्ता अम्हे, जो वा इच्छे अभुत्त सह भोज्जं ।
सव्वं च तेसि दाउं, अन्नं गेण्हंति वत्थव्वा ॥ २१४ ॥

भुञ्जीत यूय भुक्ता वय, 'यो वा इच्छे' त्ति ये वा साधवो भोक्तुमिच्छन्ति तत. 'अभुत्त सह भोज्ज' ति तेनाभुक्तेन सह भोज्यं कुर्वन्ति । एवं यदि तेषामात्मनश्च पूर्वानीतं भक्त पर्याप्यते तत. साध्वेव, अथ न पर्याप्यते तत सर्व तेभ्य.- प्राघूर्णकेभ्यो दत्त्वा भक्तमन्यद् गृह्णन्ति--पर्यटन्ति वास्तव्यभिक्षव. ।

एवमानीय कति दिनानि भक्तं प्राघूर्णकेभ्यो दीयते इत्यत आह—

तिण्णि दिणे पाहुन्नं, सव्वेसिं असइ बालवुड्ढाणं ।
जे तरुणा सग्गामे, वत्थव्वा बाहि हिंडंति ॥ २१५ ॥

त्रीणि दिनानि प्राघूर्णक सर्वेषामसति बालवृद्धानां कर्त्तव्यं, ततश्च ये प्राघूर्णकास्तरुणास्ते स्वग्राम एव भिक्षामटन्ति, वास्तव्यास्तु बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति ।

अथ ते प्राघूर्णका केवला हिण्डितु न जानन्ति तत. किं कर्त्तव्यमित्यत आह—

संघाडगसंजोगो, आगंतुगभद्दएयरे बाहिं ।
आगंतुगा व बाहिं, वत्थव्वगभद्दए हिंडे ॥ २१६ ॥

सङ्घाटकसंयोग क्रियते । एतदुक्त भवति—एको वास्तव्य एकश्च प्राघूर्णक, ततश्चैव सङ्घाटकयोग कृत्वा भिक्षामटन्ति । 'आगंतुगभद्दएयरे' त्ति अथासौ ग्राम आगन्तुकानामेव भद्रकस्तत. 'इयरे' त्ति वास्तव्या 'बाहिं' ति बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति, आगन्तुका वा बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति वास्तव्यभद्रके सति ग्रामे । उक्त साधर्मिकद्वारम् ।

इदानीं वसतिद्वारं प्रतिपादयन्नाह-

वित्थिण्णा खुड्डलिआ, पमाणजुत्ता य तिविहँ वसहीओ ।
पढमबिइयासु ठाणे, तत्थ य दोसा इमे होंति ॥२१७॥

विस्तीर्णा क्षुल्लिका प्रमाणयुक्ता वा त्रिविधा वसति । 'पढमवितियासु ठाणे' त्ति यदा प्रथमायां वसतौ स्थान भवति, विस्तीर्णायामित्यर्थ., द्वितीया क्षुल्लिका तस्यां वसतौ वा यदा भवति तदा; तत्र तयोर्वसत्यो. एते—वक्ष्यमाणका दोषा भवन्ति ।

खरकम्मिअवाणियगा, कप्पडिअसरक्खगा य वंठा य ।
संमीसाऽऽवासेणं, दोसा य हवंति णेगविहा ॥२१८॥

तत्र विस्तीर्णायां वसतौ 'खरकम्मिअ' त्ति दण्डपासका रात्रिं भ्रान्त्वा स्वपन्ति, वाणिज्यकाश्च वालुञ्जकप्राया आगत्य स्वपन्ति , तथा कार्पटिका स्वपन्ति, सरजस्काश्च-भौता स्वपन्ति , वण्ठाश्च स्वपन्त्यागत्य "अकयविवाहा भीतिजीविणो य वंठ" त्ति । एभि सह यदा समिश्र आवासो भवति तदा तेन समिश्रावासेन दोषा वक्ष्यमाणका अनेकविधा भवन्ति ।

ते चामी-

आवासगअहिकरणे, तदुभय उच्चारकाइयनिरोहे ।
संजयआयविराहण, संका तेणे नपुंसित्थी ॥२१९॥

आवश्यके—प्रतिक्रमणे क्रियमाणे सागारिकाणामग्रतस्त एव उद्घट्टकान् कुर्वन्ति , ततश्च केचिदसहना राटिं कुर्वन्ति , ततश्चाधिकरणदोष । 'तदुभए' त्ति सूत्रपौरुषीकरणे अर्थपौरुषीकरणे च दोष -उद्घट्टकान् कुर्वन्ति । निरोधश्च उच्चारस्य कायिकायाश्च निरोधे दोष । अथ करोति तथाऽपि दोष , संयमात्मविराधनाकृतोऽप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले । 'संका तेणे' त्ति स्तेनकशङ्कादोषश्च—चौराशङ्का, नपुंसककृतदोष संभवति ततश्च स्त्रीदोषश्च भवतीति द्वारगाथेयम् ।

इदानीं प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

आवस्सयं करिंते, पवंचए झाणजोगवाघाओ ।
असहण अपरिणया वा, भायणभेओ य छक्काया ।२२०।

आवश्यक--प्रतिक्रमणं कुर्वताम् 'पवचए' त्ति ते सागारिका उद्घट्टकान् कुर्वन्ति , तथा ध्यानयोगव्याघातश्च भवति-चलनमापद्यते चेतो यत । द्वार । अहिगरण भण्णइ-'असहणे' त्ति कश्चिद् असहन --कोपनो ऽति, अपरिणतो वा--सेहप्राय , एते राटिं सागारिकै सह कुर्वन्ति, ततश्च भाजनानि-पात्रकाणि तद्भेदो--[illegible] नाशो भवति, षट्कायाश्च विराध्यन्ते । द्वार ।

'तदुभय' त्ति व्याख्यायते--

सुत्तत्थऽकरण नासो, करणे उड्डंचगाइ अहिगरणं ।
पासवणिअरनिरोहे, गेलन्नं दिट्ठि उड्डाहो ॥ २[illegible] ॥

'सुत्तत्थअकरण' त्ति सूत्रार्थपौरुष्यकरणे नाश -[illegible] रेव विस्मरणम् । अथ सूत्रार्थपौरुष्यौ क्रियेते ततश्च 'उड्डंचकादि' उद्घट्टकादि कुर्वन्ति । ततश्चासहना राटिं कुर्वन्ति , ततोऽधिकरणदोष इति । द्वार । 'उच्चारका-

अनिरोहो " त्ति व्याख्यायते-' पासवणि ' त्ति प्रश्रवणस्य कायिकाया' ' इयर ' त्ति पुरीषस्य च निरोहे ' गेलन्न ' ग्लानत्वं भवति । अथ व्युत्सृजन्ति ततो ' दिट्ठे उड्डाहो ' त्ति सागारिकैर्दृष्टे सति उड्डाह —उपघात· प्रवचनस्य भवति ।

" संजमआयविराहण " त्ति व्याख्यायते—

मा दिच्छिहिंति तो अ-प्पडिलिहिए दूरं गंतु वोसिरति ।
संजमआयविराहण-गहणं आरक्खितेणेहिं ॥ २२२ ॥

अथ सागारिका मा मा द्राक्षुरिति कृत्वाऽस्थण्डिल एव दूरे गत्वा व्युत्सृजति ततः संयमात्मनोर्विराधना भवति , ग्रहण चारक्षिका· कुर्वन्ति । ' तेण ' त्ति स्तेनका वा ग्रहणं कुर्वन्ति । दार ।

" संकातेण" त्ति व्याख्यायते—

ओणयपमज्जमाणं, दट्ठु तेणे त्ति आहणे कोई ।
सागारिअसंघट्टण, अपुमेत्थी गेण्ह साहइ वा ॥२२३॥

स हि रात्रौ कायिकाद्यर्थमुत्थित' सन्नवनत प्रमार्जयन् निर्गच्छति, ततस्तमवनतकायं दृष्ट्वा स्तेन इति मत्वा आहन्यात्कश्चित् । दार । ' नपुमित्थि ' त्ति व्याख्यायते-'सागारिअसंघट्टण' त्ति सागारिकसस्पर्शे सति, स हि रात्रौ हस्तेन परामृशन् गच्छति , यतस्तत· स्पर्शने सति कश्चित्सागारिको विबुद्ध एव चिन्तयति-यदुनाय 'अपुमत्थि' त्ति नपुसक तेन कारणेन मा स्पृशति , तत सागारिकस्त साधुं नपुसकबुद्ध्या गृह्णाति । अथ कदाचित्स्त्री स्पृष्टा तत सा शङ्कते ; यदुनायं मम समीपे आगच्छति , तन ' साहेति' कथयति निजभर्तु सौभाग्यं ख्यापयन्ती परमार्थेन वा ।

ओरालसरीरं वा,इत्थि नपुंसा बला वि गेण्हंति ।
मावाहाए ठाणे,निंते आवडणपडणाई ॥ २२४ ॥

औदारिकशरीरं वा तं साधुं दृष्ट्वा दिवा, ततो रात्रौ स्त्री नपुंसकं बलाद् गृह्णाति, औदारिक चाङ्गिकम् । एते विस्तीर्णवसतिदोषा व्याख्याता· ॥ इदानीं क्षुल्लिकावसतिदोषान् प्रतिपादयन्नाह-' सावाहाए ' त्ति संकटायां वसतौ स्थाने—अवस्थाने सति ' णिंते आवडणपडणादी ' ति निर्गच्छन्नापतितश्च—निर्गच्छन्नापतनपतनादयो दोषा ।

तथा—

तेणो त्ति मण्णमाणो, इमो वि तेणो त्ति आवडइ जुद्धं ।
संजमआयविराहण-भायणभेयाइणो दोसा ॥ २२५ ॥

एव साधोरुपरि प्रस्खलित साधौ यस्योपरि प्रस्खलित स त स्तेनकमिति मन्यमान , अयं च सुप्तोत्थित अमु प्रस्खलितं स्तेनक मन्यमान' सन् , आपतति युद्धं—युद्ध भवति , ततश्च संयमात्मनोर्विराधना भाजनभेदादयश्च दोषा । भाजन—पात्रक भण्यते । उक्ता क्षुल्लिका वसति । यस्मात्क्षुल्लिकायामेते दोषास्तस्मात्प्रमाणयुक्ता वसतिर्ग्राह्या ।

एतदेवाह—

तम्हा पमाणजुत्ता, एक्केक्कस्स उ तिहत्थसंथारो ।
भायणसंथारंतर, जह वीसं अंगुला हुंति ॥ २२६ ॥

तस्मात्प्रमाणयुक्ता वसतिर्ग्राह्या , तत्र चैकैकस्य साधोर्बाहुल्यतस्त्रिहस्तप्रमाण· संस्तारक कर्त्तव्य' । तुशब्दो विशेषणार्थ । किं विशिनष्टि ?—संस्तारकोऽत्र भूमिरूप इति, तत्र तेषु त्रिषु हस्तेषु ऊर्णामय· संस्तारको हस्त, " चत्तारि अ अंगुलाइं रुभइ भायणाइं हत्थ रुधति । " इदानीं संस्तारकभाजनयोर्यदन्तराल तत्प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह— ' भायणसथारंतर ' भाजनसस्तारान्तरे—अन्तराले यथा विंशतिरङ्गुलानि भवन्ति तथा कर्त्तव्यम् । एवं त्रिहस्तप्रमाणोऽपि सस्तारक' पूरित· ।

किं पुनः कारणमिह दूरे भाजनानि न स्थाप्यन्ते?,उच्यते—

मज्जारमूसगाइ य, वारे नवि अ जाणुघट्टणया ।
दो हत्था य अबाहा, नियमा साहुस्स साहूओ ॥२२७॥

मार्जारमूषकादीन् पात्रकेषु लगतो वारयेत् । अथ कस्माद्दामन्नतराणि न क्रियन्ते ? उच्यते-'नवि य जाणुघट्टणय ' त्ति तावति प्रदेशे तिष्ठति पात्रकेषु जानुकृतोद्घट्टना-जानुकृत चलनं न भवति । इदानीं प्रव्रजितस्य प्रव्रजितस्य चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह-द्वा हस्तौ अबाधा-अन्तराल नियमात्साधो साधोश्च भवति,साधुश्चात्र त्रिहस्तसस्तारकप्रमाणो ग्राह्य स्थापना चेयम्-"उष्णामओ सथारओ२८अट्ठावीसगुलप्पमाणो , सथारभायणाण अतरं वीसगुला २०, भायणाणि अ हत्थप्पमाणे पाउंछणे ठविज्जति २४. एव तिहिं घरएहिं सव्वे वि तिण्णि हत्था, साहुस्स य साहुस्स य अतरं दो हत्था ॥ २८ । २८ । २४ हत्था ३-हत्था २ ॥ एवमेतद्गाथाद्वय व्याख्यातम् । अत्र च द्विहस्तप्रमाणायामबाधायां महदन्तराल साधो साधोश्च भवति , ततश्च तदन्तराल शून्य महद् दृष्ट्वा सागारिको बलात्स्वपिति, तस्मादन्यथा व्याख्यायंत-"तम्हा पमाणजुत्ता एक्केक्कस्स उ तिहत्थसथारो ।' अत्र हस्तं साधू रुणद्धि, भाजनानि सस्तारकद्विंशत्यङ्गुलानि भवन्ति एतदेवाह-' भायणसथारतर जह वीसं अगुलाइं होंति' पात्रकमष्टाङ्गुलानि रुणद्धि,पात्रकाद्विंशत्यङ्गुलानि मुक्त्वा परतोऽन्य· साधु स्वपिति । एतच्च कुतो निश्चीयते ? यदुत-पात्रकात्परतो विंशत्यङ्गुलान्यतीत्य साधु स्वपिति , यत उक्तम्—' दो हत्थ य अबाहा नियमा साहुस्स साहुओ '। स्थापना चेयम्—'साहू सरीरेण हत्थ रुधइ २४, साहुस्स सरीरप्पमाण , सथारयस्स पत्तयाणं च अतरं वीसगुला २० अट्ठहिं अंगुलेहिं पत्तया ठइति ८, पत्तस्स बितियसाहुस्स य अतर वीसगुलाइ २०. एवं एते सव्वेऽवि तिण्णि हत्था. एसो बितिओ साहू । २४ । २० । ८ । २० । एवं सव्वत्थ । ' अत्र चोर्णामय सस्तारक अष्टाविंशत्यङ्गुलप्रमाण एव बाहुल्येन द्रष्टव्य , किन्तु साधुना शरीरेण चतुर्विंशत्यङ्गुलानि रुद्धानि , अन्यानि ऊर्णामयसंस्तारकसंबन्धीनि यानि चत्वार्यङ्गुलानि तैः सह यानि विंशत्यङ्गुलानि, तत्परत पात्रकाणि भवन्ति । अत्र हस्तद्वयमबाधा साधुशरीराद्यावदन्यसाधुशरीर तावद् द्रष्टव्यम् । " मज्जार " इत्येतद्व्याख्यातमेव ।

भुत्ताभुत्तसमुत्था, भंडणदोसा य वज्जिआ एवं ।
भीमंतेण व कुड्डं, तु हत्थं मोत्तूण ठायंति ॥२२८॥

द्विहस्तान्तरालेन मुच्यमानेन ' भुत्ताभुत्तसमुत्था ' इति यो भुक्तभोग· ' अभुक्त ' इति य· कुमार एव प्रव्रजित ,

तत्र भुक्तभोगस्य आसन्नस्य स्वपतोऽन्यसाधुसंस्पर्शोदन्यस्पूर्वक्रीडितानुस्मरणं भवति, यदुतास्मद्योषितोऽप्येवंविधः स्पर्श इति, अभुक्तभोगस्याप्यन्यसाधुसंस्पर्शेन सुकुमारेण कौतुकं स्त्रियं प्रति भवति। अयमभिप्रायः—तस्या सुकुमारतरः स्पर्श इति, ततश्च द्विहस्ताबाधायां स्वपतामेते दोषाः परिहृता भवन्ति। तथा भण्डन—कलहः परस्परं हस्तस्पर्शजनित आसन्नशयने, ते च दोषा एव वर्जिता भवन्ति। 'सीसतेण व कुड्डु तु हत्थं मोत्तूणं ठायंति' त्ति शिरो यतो यत्र कुड्यं तत्र हस्तमात्रं मुक्त्वा 'ठायंति' त्ति स्वपन्ति, पादान्तेऽनुगमनमार्गं विमुच्य हस्तमात्रं स्वपन्ति। अथवाऽन्यथा पाठः—' सीसतेण व कुड्डु तिहत्थ मोत्तूण ठायंति' तत्र प्रदीर्घायां वसतौ स्वापविधिरुक्तः, यदि पुनश्चतुरस्रा भवति तदा ' सीसतेण व कुड्डुं' ति शिरो यतो यत्कुड्यं तस्मात्कुड्यात् हस्तत्रयं मुक्त्वा स्वपन्ति। तत्र कुड्य हस्तमात्रेण प्रोज्झ्य ततो भाजनानि स्थाप्यन्ते, तानि, तानि च हस्तमात्रे पादप्रोञ्छने क्रियन्ते, ततो हस्तमात्रं व्याप्नुवन्ति, भाजनमाध्या—न्तरान्तराले हस्तमात्रमेव मुच्यते, ततः साधुः स्वपिति।

एवमनया भङ्ग्या स्वपतां तिर्यक् साधोः साधोश्चान्तरालं हस्तद्वयं द्रष्टव्यम्—

पुव्वुद्दिट्ठो उ विही, इह वि वसंताण होइ सो चेव।
आमज्ज तिन्नि वारे, निसन्न आउंटए सेसा ॥२२९॥

अत्र स्वापकाले पूर्वोद्दिष्ट एव विधिर्द्रष्टव्यः, कश्चासौ ?, "पोरिसिआपुच्छणया, सामाइयउभयकायपडिलेहा। साहणिय दुवे पट्टे, पमज्ज पाए जओ भूमिं ॥ १ ॥ अणुजाणह संथारं" इत्येवमादिकः। इहापि वसता स्वपतां भवति स एव विधिः, किं त्वयं विशेषः—'आसज्ज तिन्नि वारे निसन्नो' त्ति आसज्ज त्रयो वारा करोति 'निसन्नो' त्ति तत्रैव संस्तारके उपविष्टः सन्, शेषाश्च साधवः किं कुर्वन्तीत्याह—' आउंटए सेसा' शेषा साधवः पादान् आकुञ्चयन्ति।

पुनश्चासौ कायिकार्थं व्रजन् किं करोतीत्यत आह—

आवस्सिअमासज्जं, नीइ पमज्जंतु जाव उ च्छन्नं।
सागारिय तेणुब्भा-मए य संका तउ परेणं ॥ २३० ॥

आवश्यिकीम् आसज्जं च पुनः पुनः कुर्वन् प्रमार्जयन्निर्गच्छति, कियद् दूरं यावदित्यत आह—" जाव उच्छन्नं या पच्छण्णं" यावद्वसतेरभ्यन्तरमित्यर्थः बाह्यतश्च नैवं प्रमार्जनादि कर्त्तव्यं, यतः 'सागारिय तेणुब्भामए य संका तदु परेण' सागारिकाणां स्तेनशङ्कोपजायते, यदुत किमयं चौरः ? ' उब्भामओ ' पारदारिकस्तन्मत्तद्राशङ्कोपजायते, अतस्ततपरेण—सच्छन्नाद्बाह्यतो नेदं प्रमार्जनादि कर्त्तव्यमिति। एवं प्रमाणयुक्तायां वसतौ वसता विधिरुक्तः।

यदा ते पुनः—

नत्थि उ पमाणजुत्ता, खुड्डलिया चेव वसति जयणाए।
पुरहत्थ पच्छपाए, पमज्ज जयणाएँ निग्गमणं ॥२३१॥

यदा प्रमाणयुक्ता वसतिर्नास्ति तदा क्षुल्लिकायामेव वसतौ वसन्ति यतनया। का चासौ यतना ?—'पुरहत्थ पच्छपाए' त्ति पुरतः—अग्रतो हस्तेन परामृशति पश्चात्पादौ प्रमृज्य न्यस्यति, ततश्चैवं यतनया बाह्यतो निर्गच्छति। एवं तावत्कायिकाद्यर्थं गमनागमने विधिरुक्तः।

इदानीं स्वपनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

उस्सीसमायणाइं, मज्झे विसमे अहाकडा उवरिं।
ओवग्गहिओ दोरो, तेण य वेहासिलंबणया ॥ २३२ ॥

उपशीर्षकाणां मध्ये भाजनानि—पात्रकाणि क्रियन्ते। स्थापना चेयम्—°। 'विसमे' त्ति विषमा भूः गर्त्तोपेता भवति, ततश्च तस्यां गर्त्तायां पात्रकाणि पुञ्जीक्रियन्ते। ' अहागडा उवरिं' ति प्रासुकानि—अल्पपरिकर्माणि च यानि तान्येतेषां पात्रकाणामुपरि पुञ्जीक्रियन्ते, माङ्गलिकत्वात्तेषाम्। अथातिसङ्कटत्वाद्वसतेर्भूमौ नास्ति स्थानं पात्रकाणां ततश्च 'ओवग्गहितो दोरो' औपग्रहिको यो दवरको यवनिकार्थं गृहीतः 'ओवग्गहिनो—गच्छसाहरणो' तेन विहायसि—आकाशे 'लंबणय' त्ति तेन दवरकेण लम्ब्यन्ते—कीलिकादौ क्रियन्ते।

खुड्डुलियाए असई, वित्थिन्नाए उ मालणा भूमी।
बिलधम्मो चारभडा, साहरणेगंतकडपोत्ती ॥ २३३ ॥

क्षुल्लिकाया वसतेरभावे 'वित्थिन्नाए उ' त्ति विस्तीर्णायां वसतौ स्थातव्यम्। तत्र को विधिरित्यत आह—'मालणा भूमी' विस्तीर्णवसतेर्भूमिर्मालयते—व्याप्यते पुष्पप्रकरसदृशैः स्वपद्भिः, 'बिलधम्मो चारभडे' त्ति अवलगकादय आगत्य इदं भणन्ति—यदुत बिलधर्मो यस्मिन् बिले यावतामवस्थानं भवति तावन्त एव प्रविशन्ति, ततः साधवः किं कुर्वन्ति ?, ' साहरणे' त्ति संहृत्य उपकरणजातं विरलत्वे च 'एगंत' त्ति एकान्ते तिष्ठन्ति। 'कडपोत्ती' ति यदि कटोऽस्ति ततस्तमन्तराले ददति, अथ स नास्ति ततः ' पोत्ति' चिलिमिनीं ददति।

असई य चिलिमिलीए, भए व पच्छन्न भूइए लक्खे।
आहारो नीहारो, निग्गमणपवेस वज्जेह ॥ २३४ ॥

असति—अभावे चिलिमिलिन्या ' भए व' त्ति चिलिमिनीहरणभये वा न ददति। किं वा कुर्वन्त्यत आह—'पच्छण्णे' त्ति ततः प्रच्छन्नतरे प्रदेशे तिष्ठन्ति। 'भूइए लक्खे' त्ति स च प्रदेशो भूत्या लक्ष्यते—चिह्न्यते अवटोऽय प्रदेश इति कथ्यते। इदं च तेऽभिधीयन्ते—आहारान्नीहारो भवत्यवश्यमतो निर्गमनप्रवेशौ वर्जनीयाविति।

इदं च कर्त्तव्यं साधुभिः—

पिंडेण सुत्तकरणं, आसज्ज निसीहियं च न करिंति।
कासण न पमज्जणया, न य हत्थो जयण वेरत्तिं ॥२३५॥

पिण्डेन—समुदायेन सूत्रपौरुषीकरणं कर्त्तव्यं, मा भूत् कश्चित्पदं वाक्यं वा करणाहिण्डिस्सति' त्ति। तथा 'आसज्ज निसीहिअं च' तत्र न कुर्वन्ति। किं वा कर्त्तव्यमित्यत आह—'कासण' ति काशनं—खादकरणं करोति, न च प्रमार्जनं

करोति, 'ण य हत्थो' त्ति न च हस्तेन पुरस्तात्परामृश्य निर्मच्छति, यतनया च 'वेरत्तिअं' कुर्वन्ति। 'वेरत्तिओ कालो घेप्पइ दोराह पहराणं उवरिं, ततो सज्झाओ कीरति, यदि-वा ताए वेलाए सज्झाओ' उक्तं वसतिद्वारम्।

इदानीं स्थानस्थितद्वारमुच्यते, तत्राह—

पत्ताण खेत्ते जयणा, काऊणावस्सयं ततो ठवणा।
पडणीयपत्तमामग, भद्दगसड्ढे य अचियत्ते ॥२३६॥

एवं तेषां विहरतां प्राप्तानामभिमतक्षेत्रे 'जयणे' ति यथा यतना कर्त्तव्या तथा च वक्ष्यति, 'काउं आवस्सकं' कृत्वा चावश्यकं प्रतिक्रमणं 'ततो ठवण' त्ति ततः स्थापना क्रियते केषाञ्चित्कुलानाम्, कानि च तानीत्यत आह-प्रत्यनीकं शासनादेः, प्रान्तः—अदानशीलः मामको य एवं वक्ति-'मा मम समणा घरमइंतु' भद्रकश्राद्धौ प्रसिद्धौ 'अचिअत्ति' त्ति यः साधुभिरागच्छद्भिर्दुःखेनास्ते,शोभनं भवति यद्येते नायान्ति गृहे। एतेषां कुलानां यो विभागः क्रियते प्रतिषेधाप्रतिषेधरूपः स स्थापनेत्युच्यते।

इदानीं भाष्यकार एवां गाथां प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह दारगाहा—

बाहिरगामे वुच्छा, उज्जाणे ठाणँ वसहिपडिलेहा।
इहरा उ गहिअभंडा,वसहीवाघाय उड्डाहो ॥१०४॥(भा०)

एवं ते बाह्यग्रामे—आसन्नग्रामे पर्युषिता सन्तोऽभिमतं क्षेत्रं प्राप्य तावदवतिष्ठन्ते। 'उज्जाणे ठाणं' ति उद्याने तावत्स्थाने आस्था कुर्वन्ति। 'वसहिपडिलेह' त्ति पुनर्वसतिप्रत्युपेक्षका प्रेष्यन्ते। 'इहरा उ' त्ति यदि प्रत्युपेक्षका वसतेर्न प्रेष्यन्ते ततः गृहीतभाण्डाः—गृहीतोपकरणा वसतिव्याघाते सति निवर्त्तन्ते ततश्च उड्डाहो भवति-उपघात इत्यर्थः।

तत्र च प्रविशता शकुनापशकुननिरूपणायाह—

मइल कुचेले अब्भं-गिएल्लए साण खुज्ज वडभे य।
एए उ अप्पसत्था,हवंति खित्ताउ निंताणं ॥१०५॥(भा०)
नारी पीवरगब्भा, वड्ढकुमारी य कट्ठभारो य।
कासायवत्थ कुच्च-धरा य कज्जं न साहेंति॥१०६॥ (भा०)
चक्कयरम्मि भमाडो, भुक्खा मारो य पंडुरंगम्मि।
तच्चन्निरुहिरपडणं,घोडियमसिए धुवं मरणं।१०७(भा०)
जंबूअ चास मऊरे, भारद्दाए तहेव नउले अ।
दंसणमेव पसत्थं,पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥१०८॥ (भा०)
नंदीतूरं पुणण-स्स दंसणं संखपडहसद्दो य।
भिंगारछत्तचामर, धयप्पडाया पसत्थाई ॥१०९ (भा०)
समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दहिं।
मीणं घंटं पडागं च,सिद्धमत्थं विआगरे॥११०॥ (भा०)

एता निगदसिद्धा

तम्हा पडिलेहिअ दी-वियम्मि पुव्वगय असइ सारविए।
फड्डयफड्डपवेसो,कहणा न य उट्ठ इयरेसिं ॥१११॥(भा०)

यस्मात्पूर्वमप्रत्युपेक्षितायां वसतौ उड्डाहो भवति तस्मात्प्रत्युपेक्ष्य प्रवेष्टव्यम्। 'दीवियम्मि' दीपिते-कथिते शय्यातराय, यदुताचार्या आगताः, 'पुव्वगय' त्ति पूर्वगतक्षेत्रप्रत्युपेक्षकैः प्रमार्जितः ततः साध्वेव, 'असति' त्ति पूर्वगतक्षेत्रप्रत्युपेक्षकाभावे, ततः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैः प्रविश्य सारविते—प्रमार्जितायां वसतौ, कथं प्रवेष्टव्यमित्यत आह-फड्डकफड्डकैः प्रवेशः कर्त्तव्यः। 'कहण' त्ति यो धर्मकथालब्धिसंपन्नः स पूर्वमेव गत्वा शय्यातराय वसतेर्बहिर्धर्मकथां करोति। 'न य उट्ठ' त्ति न चासौ धर्मकथां कुर्वन् उत्तिष्ठति—अभ्युत्थानं करोति, 'इयरेसिं' ति ज्येष्ठार्याणाम्, आह-किमाचार्यागमने धर्मकथी अभ्युत्थानं करोति उत नेति?, आचार्य आह-अवश्यमेवाभ्युत्थानमाचार्याय करोति।

यतोऽकरणे एते दोषाः—

आयरियअणुट्ठाणे, ओहावण बाहिरा य ऽदक्खिणया।
साहणयवंदणिज्जा,अणालवंतेऽवि आलावो॥११२॥(भा०)

आचार्यागमने सत्यनुत्थाने 'ओहावण' त्ति मलना भवति, 'बाहिर'त्ति लोकाचारस्य बाह्या एत इति। पञ्चानामन्यकुलीनामेका महत्तरा भवति, 'अदक्खिणण' त्ति दाक्षिण्यमप्येषामाचार्याणा नास्तीत्येवं शय्यातरश्चिन्तयति। 'साहणय' त्ति तेन धर्मकथिनाऽऽचार्याय कथनीयं यदुतायमस्मद्वसतिदाता। 'वंदणिज्ज' त्ति शय्यातरोऽपि धर्मकथिनेदं वक्तव्यो-वन्दनीया आचार्याः। एवमुक्ते यदि असौ वन्दनं करोति ततः साध्वेव, अथ न करोति ततः 'अणालवंतेऽवि' तस्मिन् शय्यातरेऽनालपत्यपि आचार्येणालापकः कर्त्तव्यः, यदुत कीदृशा यूयम्?।

अथाचार्य आलपनं न करोति तत एते दोषाः—

(भा०) थुद्धा निरोवयारा, अग्गहणं लोगजत्तवोच्छेओ।
तम्हा खलु आलवणं,सयमेव उ तत्थ धम्मकहा।११३।

तथाहि-एत आचार्यास्तथा निरुपकारा-उपकारमपि न बहु मन्यन्ते,'अग्गहणं' ति अनादरोऽस्याचार्यस्य मां प्रति, 'अलोगजत्त' त्ति लोकयात्राबाह्याः 'वोच्छेओ' त्ति व्यवच्छेदो वसतेरन्यद्द्रव्यस्य वा, तस्मात्खल्वालपना कर्त्तव्या, स्वयमेव च तत्र धर्मकथा कर्तव्याऽऽचार्येणेति।

वसहिफलं धम्मकहा, कहणअलद्धी उ सीस वावारे।
पच्छा अइंति वसहिं, तत्थ य भुज्जो इमा जयणा।११४।

धर्मकथा कुर्वन् वसतेः फलं कथयति, 'कहणअलद्धी उ' यदा तु पुनराचार्यस्य धर्मकथालब्धिर्न भवति तदा 'सीस वावारि' त्ति शिष्यं व्यापारयति-नियुङ्क्ते धर्मकथाकथने, शिष्यं च धर्मकथायां व्यापार्य पश्चादाचार्याः प्रविशन्ति वसतिम्, तत्र च वसतौ भूयः—पुनः इयं यतना वक्ष्यमाणलक्षणा कर्त्तव्या।

(भाष्यम्)—

पडिलेहण संथारग, आयरिए तिण्णि सेस उ कमेण।
विंटिअउक्खेवणया, पविसइ ताहे य धम्मकही ॥११५॥

तत्र च वसतौ प्रविष्टाः सन्तः पात्रकादेः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, संस्तारकग्रहणं च क्रियते, तत्र आचार्यस्य त्रयः

संस्थारका निरूप्यन्ते , शेषाणा क्रमेण यथारत्नाधिकतया। ते च साधव आत्मीयात्मीयोपधिवेण्टलिकानामुत्क्षेपण कुर्वन्ति येन भूमिभागो ज्ञायते, अस्मिन्नवसरे बाह्यतो धर्मकथी संस्तारकग्रहणार्थं प्रविशति ।

(भा०) उच्चारे पासवणे, लाउयनिल्लेवणे य अच्छणए ।
पुव्वट्ठिय तेसि कहे-ऽकहिए आयरणवोच्छेत्रो ॥११६॥

ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका उच्चार भुव दर्शयन्ति ग्लानार्थं, 'पासवणे' त्ति कायिकाभूमिं दर्शयन्ति , 'लाउए' त्ति तुम्बकक्षेपणभुवं दर्शयन्ति, निर्लेपनस्थान च दर्शयन्ति 'अच्छणए' त्ति यत्र स्वाध्यायं कुर्वद्भिरास्यते, पूर्वस्थिता', क्षेत्रप्रत्युपेक्षका , एवं तेषाम्—आगन्तुकाना कथयन्ति । 'अकहिए' त्ति यदि न कथयन्ति तत 'आयरणवोच्छेओ' त्ति अस्थाने कायिकादेराचरणे सति व्यवच्छेदस्तद्द्रव्यान्यद्रव्ययो., वसतेर्निर्द्धाटयतीति ।

(भा०)भत्तट्ठिआ व खवगा,अमंगलं चोयए जिणाहरणं ।
जइ खमगा वंदंता, दायतियरे विहिं वोच्छं ॥ ११७ ॥

ते हि श्रमणा क्षेत्रं प्रविशन्त. कदाचिद्भक्तार्थिन कदाचित्क्षपका; उपवासिका इत्यर्थ. , तत्रोपवासिकाना प्रविशताम् 'अमगलं चोयए' त्ति चोदक इदं वक्ति-यदुत क्षेत्रे प्रविशताम् अमङ्गलमिदं यदुपवास. क्रियते, तत्र 'जिनाहरण' मिति जिनोदाहरणम्-यथा हि जिना निष्क्रमणकाले उपवास कुर्वन्ति न च तेषां तदमङ्गल , किन्तु प्रत्युत मङ्गल तत्तेषामथमिदमपीति । इदानीं यदि क्षपकास्तस्मिन् दिवसे साधव उपवासिकास्तत्र च सन्निवेशे यदि श्रावका सन्ति ततस्तद्गृहेषु चैत्यानि वन्दनो दर्शयन्ति, कानि ?- स्थापनादीनि कुलानि आगन्तुकेभ्यः, 'इयरे' त्ति भक्तार्थिषु यो विधिस्तं वक्ष्ये ।

कश्चासौ विधिरित्यत आह—

सव्वे दट्ठुं उग्गा-हिएण ओयरिश्च भयं समुप्पज्जे ।
तम्हा ति दु एगो वा,उग्गाहिअ चेइए वंदे।११८। (भा०)

ते हि भक्तार्थिन श्रावककुलेषु चैत्यवन्दनार्थं व्रजन्त यदि सर्वे एव पात्रकाण्युद्ग्राह्य प्रविशन्ति तत को दोष इत्यत आह—'दट्ठुमुग्गाहिएहिं ओदरिअ'त्ति दृष्ट्वा तान् साधून् पात्रकैरुद्ग्राहितै. औदरिका एत इति—भट्टयुता इति,एवं श्रावकश्चिन्तयति । 'भय समुप्पज्जे' त्ति भय च श्रावकस्योत्पद्यते, यदुत कस्याहमत्र ददामि ? कस्य वा न ददामीति ? कथ वा एतावता दास्यामीति. यस्मादेवं तस्मात् 'ति दु एगो वा' त्रय उद्ग्राहितेन प्रविशन्ति आचार्येण सह द्वौ वा एको वा उद्ग्राहितेन प्रविशति चैत्यवन्दनार्थमिति ।

अत —

सड्ढाभंगोऽणुग्गा-हियम्मि ठवणाइया य दोसा उ ।
घरचेइअ आयरिए,कइवयगमणं च गहण च११६(भा०)

अथानुद्ग्राहितपात्रका एव प्रविशन्ति, दानश्ये च मतिर्जाता श्राद्धस्य, ततश्च पात्रकाभावेऽग्रहणमग्रहणाच्च श्रद्धाभङ्गो भवति । अथैव भणन्ति—पात्रक गृहीत्वाऽऽगच्छामि ततश्च स्थापनादिका दोषा भवन्ति, आदिशब्दात् कदाचित्संस्कारमपि कुर्वन्ति , तस्माद् गृहचैत्यवन्दनार्थम् आचार्येण कतिपयै साधुभि सह गमन कार्य, ग्रहण घृतादे कर्त्तव्यमिति ।

'पत्ताण खेत्तजयणा' त्ति व्याख्यायते—

खेत्तम्मि अपुव्वम्मी,तिट्ठाणट्ठा कहिंति दाणाई ।
असई अ चेइयाणं,हिंडंता चेव दायंति ॥१२०॥ (भा०)

यदि तत्क्षेत्रमपूर्वं न तत्र मासकल्प कृत आसीत् तत 'तिट्ठाणट्ठ' त्ति त्रिषु स्थानेषु श्रावकगृहचैत्यवन्दनवेलाया भिक्षामटन्त प्रतिक्रमणावसाने वा कथयन्ति दानादीनि कुलानि । 'असइ अ चेइयाणं' यदा पुनस्तत्र श्रावककुलेषु चैत्यानि न सन्ति ततोऽसति चैत्याना भिक्षामेव हिण्डन्त. कथयन्ति ।

कानि पुनस्तानि कथयन्तीत्यत आह—

दाणे अभिगमसड्ढे, संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते,कुलाइं दायति गीयत्था ।१२१।(भा०)

दानश्राद्धकान् अभिगमश्राद्ध अभिनवसम्यक्त्वसाधु तथा मिथ्यादृष्टिकुलानि कथयन्ति । शेष सुगमम् ।

इदानीं यदि तत्र चैत्यानि न सन्ति उपवासैर्न भिक्षा पर्यटिता , तत आवश्यकान्ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षका कथयन्त्याचार्याय । एतदेवाऽऽह—

(भा०)कयउस्सग्गामंतण,पुच्छणया अकहिएगयरदोसा।
ठवणकुलाण य ठवणा,पविसइ गीयत्थसंघाडो ॥१२२॥

आवश्यककायोत्सर्गस्यान्ते 'आमतण' ति आचार्य आमन्त्र्य तान् प्रत्युपेक्षकान् 'पुच्छणय' त्ति पृच्छति, यदुत कान्यत्र स्थापनाकुलानि ? कानि चेतराणि ?, पुनश्च ते पृष्टाः कथयन्ति, 'अकहिएगतरदोस' त्ति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैरकथितेषु कुलेषु सत्सु एकतर -अन्यतमो दोष —संयमात्मविराधनाजनित , कथिते च सति स्थापनादिकुलाना स्थापना क्रियते । पुनश्च स्थापनाकुलेषु गीतार्थसङ्घाटक प्रविशति ।

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।
गामागरनिगमेसुं, अइसेसी ठावए सड्ढी ॥१२३॥(भा०)

गच्छे एष कल्प —एष विधिरित्यर्थ , यत स्थापनाकुलाना स्थापना क्रियते, कदा ?—'वासावासे तहेव उडुबद्धे' वर्षाकाले शीतोष्णकालयोश्च । केषु पुनरयं नियम कृत ? इत्यत आह—'गामागरनिगमेसु'ग्राम —प्रसिद्ध आकर -सुवर्णादेरुत्पत्तिस्थान निगमो—वाणिजकप्राय सन्निवेश , एषु स्थापनाकुलानि स्थापयेत् । किंविशिष्टानीत्यत आह— 'अतिसेसि' त्ति स्फीतानीत्यर्थ ' सड्ढि' त्ति श्रद्धावन्ति कुलानि स्थापयेदिति ।

किं कारणं चमढणा,दव्वखओ उग्गमोऽवि अ न सुज्झे।
गच्छम्मि निययकज्जे,आयरियगिलाणपाहुणए ॥१२४॥

किं कारण तानि कुलानि स्थाप्यन्ते ?, यत 'चमढण' त्ति अन्यैरन्यैश्च साधुभि प्रविशद्भिश्चमढ्यन्ते—कदर्थ्यन्त इत्यर्थ., तत को दोष इत्यत आह—' दव्वखओ ' आचार्यादियोग्याना द्रव्याणा क्षयो भवति । 'उग्गमोऽवि अ न सुज्झे' उद्गमस्तत्र शुद्ध न शुद्ध्यति । 'गच्छे' त्ति नि-

यत कार्यं योग्येन, केषामित्यत आह—' आयरिअगिलाणपाहुणए ' आचार्यग्लानप्राघूर्णकानामर्थाय नित्यमेव कार्यं भवति इति निर्युक्तिगाथेयम् ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्र ' चमढण ' त्ति व्याख्यानयन्नाह (दारगाहा)-

पुव्विं पि वीरसुणिआ, छिक्का छिक्का पहावए तुरिअं ।
सा चमढणाएँ सिन्ना,संतं पि न इच्छए घेत्तुं ।१२४।(भा०)

जहा काचित् वीरसुणिआ केणइ आहिंडइल्लेणं तित्तिर मयूराईणं गहणे छिक्कारिआ तित्तिराईणि गिण्हेइ, एवं पुणो तित्तिराईहिं विणा वि सो छिछिक्कारेइ सा य पहाविआ जया न किंचि पेच्छइ तया विअणिआ संती कज्जे वि न धावति । एवं सड्ढयकुलाइं अणणमणणेहिं चमढिज्जताइं पओयणे कारणे समुप्पण्णेऽवि संतं पि न देंति । किं कारणं ?, अतो अकारणा एव निच्चोइयाणि तेण कारणे समुप्पण्णे वि न देंति त्ति । इदानीं गाथाऽक्षरार्थ उच्यते—पुनरपि वीरशुनी छीत्कृता छीत्कृता प्रधावति त्वरितं, पुनश्चासौ अलीकचमढणतया सिन्ना—विश्रान्ता सदपि मयूरादि नेच्छति ग्रहीतुम् ।

(भा०) एवं सड्ढकुलाइं, चमढिज्जंताइँ ताइँ असेहिं ।
निच्छंति किंचि दाउं,संतं पि तयं गिलाणस्स ॥१२५॥

सुगमा । "चमढण" त्ति गयं ।

" दव्वक्खय " त्ति व्याख्यायते—

दव्वक्खएण पंतो, इत्थि घाएज्ज कीस ते दिन्नं ? ।
भद्दो हट्ठपहट्ठो,करेज्ज अन्नं पि समणट्ठा ॥१२६॥ (भा०)

बहूनां साधूना घृतादिद्रव्ये दीयमाने तद्द्रव्यक्षयः सजातस्ततस्तेन द्रव्यक्षयेण यदि प्रान्तो गृहपतिस्ततः स्त्रियं घातयेत्, एतच्च भणति—किमिति तेभ्यः—प्रव्रजितेभ्यो दत्तम् ? । " दव्वक्खए" त्ति गयं ॥'उग्गमो वि अ न सुज्झे' त्ति व्याख्यायते, तत्राह—' भद्दो हट्ठपहट्ठो करेज्ज अन्नं पि साहूणं ' भद्रो यदि गृहपतिस्ततो दत्तमपि मोदकादि पुनरपि कारयेत् । " उग्गमोऽवि य न सुज्झे " त्ति गयं ।

"गच्छम्मि नियमकज्जं आयरिए" त्ति व्याख्यानयन्नाह—

आयारअणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो ।
गच्छाणुकंपयाए,अव्वोच्छित्ती कया तित्थं।१२७।(भा०)

सुगमा ।

इदानीं "गिलाण" त्ति व्याख्यायते—

(भा०)परिहीणं तं दव्वं,चमढिज्जंतं तु अण्णमण्णेहिं ।
परिहीणम्मि य दव्वे,नत्थि गिलाणस्स णं जोग्गं ।१२८।

सुगमा ।

तथा चात्र दृष्टान्तो द्रष्टव्य —

घत्ता होंति गिलाणा, आयरिया बालवुड्ढसेहा य ।
खमगा पाहुणगा वि य,मज्जायमइक्कमंतेणं॥१२९॥(भा०)
सारक्खिया गिलाणा, आयरिया बालवुड्ढसेहा य ।
खमगा पाहुणगा वि य,मज्जायं ठावयंतेणं ॥१३०॥(भा०)

सुगमं ।

जड्डे महिसे चारी, आसे गोणे अ तेसि जावसिआ ।
एएसिं पडिवक्खे, चत्तारि उ संजया हुंति॥ २३८ ॥

जहा एकं महावीयं परिसूअं, तत्थ य चारीओ नाणाविहाओ अत्थि, तंजहा-जड्डस्स-हत्थिस्स जा होइ सा तत्थ अत्थि, महिसस्स सुकुमारा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि, आसस्स महुरा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि, गोणस्स सुयधा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि । तं च रायपुरिसेहिं रक्खिज्जइ । ताण चेव जड्डाईणं, जइ परं कारणे घासिआ आणेंति, अह पुण तं मोक्कलयं मुच्चइ ताहे पट्टणगोणेहिं गामगोणेहिं चमढिज्जइ चमढिए अ तम्मि महापरिसूए ताणं रायकराणं जड्डाईणं अणुरूवा चारी ण लब्भइ विध्वसितत्वात् गोधनैस्तस्य । एवं सड्ढयकुलाणि वि जइ न रक्खिज्जंति ततो अन्नमन्नेहिं चमढिज्जंति, तेसु चमढिएसु ज जड्डाइसब्भावपाहुणयाणं पाउग्गं तं न देंति । इदानीमक्षरार्थ उच्यते-जड्डो-हस्ती महिषः प्रसिद्धस्तयोरनुरूपां चारीं यावसिका—घासवाहिका ददति, तथा अश्वस्य गोणो—बलीवर्दस्तस्य च चारीमानयन्ति यावसिका. । एतेषा—जड्डादीना प्रतिरूपः—अनुरूप पक्षः प्रतिपक्षः; तुल्यपक्ष इत्यर्थः, तस्मिन् चत्वार. संयता. प्राघूर्णका भवन्ति ।

इदानीमेतेषामेव जड्डादीनां यथासङ्ख्येन भोजनं प्रतिपादयन्नाह—

जड्डा जं वा तं वा, सुकुमारं महिसिओ महुरमासो ।
गोणो सुगंधदव्वं,इच्छइ एमेव साहू वि ॥१३१॥ (भा०)

सुगमा । नवरं साधुरप्येवमेव द्रष्टव्य.—तत्थ पढमो पाहुणसाहू भणइ—ज मम दोसीणं अण्हग वा कंजिअं वा लब्भइ तं चेव आणेहि, तेण एवं भणिते किं ?-दोसीणं चेव आणिअव्वं, न धिंसमेण तस्स, सोहणं तस्स आणेयव्वं । बितिओ पाहुणसाहू भणइ-घरं मे णेहराहियाणि पूपलिआ सुकुमाला होउ । ततीओ भणति-महुरं नयरि मे होउ चउत्थो भणति-निप्पाडिगंधं अंबपाणं वा होउ । एवं ताण भणंताणं जं जोग्गं तं सड्ढयकुलेहिंतो वि मेसयं आणिज्जइ । एवमुक्ते सत्याह परः-यस्मादेवं तस्मान्न कदाचित्केनचित्प्रवेष्टव्यं प्राघूर्णकागमनमन्तरेण श्रावककुलेषु, यदैव प्राघूर्णका आगमिष्यन्ति तदैव तेषु प्रवेशो युक्त । एवमुक्ते सत्याहाऽऽचार्यः—

एवं च पुणो ठविए,अप्पविसंते भवे इमे दोसा ।
वीसरण संजयाणं,विसुक्खगोणी अ आरामा ॥१३२॥

एवं च पुन ' ठविते ' स्थापिते स्थापनाकुले यदि सर्वथा न प्रवेश. क्रियते तदैते दोषा' । अप्रविशत्सु एते दोषा -' वीसरणसंजयाणं ' विस्मरणं संयतविषयं तेषां श्रावकाणां भवति तत्र च विशुष्कगोगवी—गवा आरामेण च दृष्टान्त । जहा एगस्स माहणस्स गोणी सा कुडदोहणी ताहे सो चिंतेति—एसा गावी बहुयं खीरं देइ मज्झय मासस्स एगस्स होहिति । तो अच्छउ ताव चेव एकवारिआए दुहिज्जति । एवं सा न दुहंति । ताहे सा मास सन्निए विसुक्का नाइयव्वं बिंदुं पि न देइ । एवं संजया जति सड्ढाणं अणुग्घिअंता जति सड्ढाण तसुट्ठा ण चेव जाणंति किं संजया अत्थि न वा ?, तेहि संजय-

जम्मि दिवसे कज्ज जाय तद्दिवसे गया जाव नत्थि ताणि द-व्वाणि, तम्हा दोएह वा तिएह वा दिवसाण अवस्स गन-व्व । अथवा आगामदिट्ठंतो, एगो मालिओ चिंतेइ—अच्छतु पयाणि पुप्फाणि अह कोमुईए एक्कवारिआए उच्चेहामि जेण बहूणि हुंति, ताहे सो आरामे उप्फुल्लो कोमुईए न एक्क पि पुप्फं जाय । एव सावगकुलसु एए चेव दोसा एक्कवारिआए प-विसणे तम्हा पविसिअव्व कहिंचि दिवसे त्ति ।" (ओघ०)
(आचार्यादीना वैयावृत्यकरवक्तव्यता ' साहु ' शब्दे उक्ता ।)

कीदृशं पुन कारयेद्वैयावृत्यम् ? इत्यत आह—

एयदोसविमुक्कं, कडजोगिं नायसीलमायारं ।
गुरुभत्तिसंविणीयं, वेयावच्चं तु कारेज्जा ॥१३४॥(भा०)

एभिरुक्तदोषैर्विमुक्त , किंविशिष्टम् ? इत्याह-' कडजोगिं ' त्ति कृतो योगो-घटना ज्ञानदर्शनचारित्रै सह येन स कृतयोगी-गीतार्थ त. पुनरसावेव विशिष्यते-ज्ञातौ शीलमाचारश्च यस्य तं वैयावृत्य कारयेत् । गुरौ भक्ति-भावप्रतिबन्ध संविनीतो-बाह्योपचारेण ।

(भा०)साहंति अपि अधम्मा,एसणदोसे अभिग्गहविसेसे।
एवं तु विहिग्गहणे, दव्वं वड्ढंति गीयत्था ॥ १३५ ॥

ते चैव वैयावृत्यकरा श्राद्धकुलेषु प्रविष्टा सन्त. कथयन्ति एषणादोषान्-शङ्कितादीन अभिग्रहविशेषाश्च साधुसंबन्धिन । कीदृशास्ते वैयावृत्यकरा ?-प्रिय.-इष्टो धर्मो येषा ते प्रियधर्माण एवम्-उक्तेन प्रकारेण विधिग्रहण द्रष्टव्य, घृतादिवृद्धिं नयन्ति अव्यवच्छित्तिलाभेन, के ?-गीतार्था ।

तैश्च गीतार्थैर्भिक्षा गृह्णद्भि श्राद्धकुले इदं ज्ञातव्यम्—

दव्वप्पमाणगणणा, खारिअफोडिअ तहेव अद्धा य ।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥१३६॥ (भा०)

द्रव्य-गोधूमादि तद्विशेयं कियत्सूपकारशालाया प्रविशन्ति दिने दिने ततश्च तदनुरूप गृह्णानि , ' गणण ' त्ति एतावन्मात्राणि घृतगुडादीनि प्रविशन्त्यस्मिन इत्येतावन्मात्र ग्राह्यम् । ' खारिअ ' त्ति सलवणानि कानि ?-व्यञ्जनानि-सलवणकरीरादीनि कियन्ति सन्ति ? इति ततश्च ज्ञात्वा यथाऽनुरूपाणि गृह्णानि ' फोडिअ ' त्ति वाइंगणाणि मत्थाफोडिआणि कत्तिआणि घर सिज्झिज्जंति नाऊण जहारूवाणि घेप्पंति । तथा ' अद्धा य ' त्ति काल उच्यते . किमत्र प्रहरे वेला आहोश्वित्प्रहरद्वये इति विज्ञेय , ' संविग्ग एगठाणे ' त्ति संविग्नो—मोक्षाभिलाषी ' एगठाणे ' त्ति एक सङ्घाटक प्रविशति, ' अणेगसाहूसु ' त्ति अनेकेषु साधुषु प्रविशत्सु 'पन्नरस' त्ति पञ्चदश दोषा नियमाद्भवन्ति ' आहाकम्मुद्देसिअ " इत्येवमादय । अज्झोयरआ मीसजाय च एक्का भेओ ।

यस्मादनेकेषु साधुषु दोषास्तस्मात्—

संघाडेगो ठवणा-कुलेसु सेसेसु बालवुड्ढाई ।
तरुणा बाहिरगामे,पुच्छा दिट्ठंतऽगारीए ॥१३७॥(भा०)

सङ्घाटकः एक स्थापनाकुलेषु प्रविशति, शेषेषु कुलेषु बाला वृद्धाश्च प्रविशन्ति, आदिशब्दात्तपकाश्च । तरुणा-शक्तिमन्तो बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति । अत्र चोदक पृच्छति-पूर्वमेव क्षेत्रं प्रत्युपेक्षित यत्र सबालवृद्धस्य गच्छस्याऽन्नपान पर्याप्त्या भवति तत्रैव स्थीयते तत कस्मात्तरुणा बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति ?. आचार्य आह 'दिट्ठंतऽगारीए' एकस्या अगार्या दृष्टान्तो दातव्य तं च तृतीयगाथाया भाष्यकारो वक्ष्यति ।

तथा इयमपरा द्वारगाथा—

पुच्छा गिहिणो चिंता, दिट्ठंतो तत्थ खुज्जबोरीए ।
आपुच्छिऊण गमणं, दोसा य इमे अणापुच्छ ।२३६।

'पुच्छ त्ति चोदक पृच्छति—ननु च तस्या अगार्या घृतादिसंग्रह. कर्तु युक्तो भर्तृप्रदत्तवणिमध्यात् येन प्राघूर्णकादे सुखेनैवोपचार क्रियते. साधूना पुन स्थापनाकुलसरक्षणे न किञ्चित्प्रयोजनं यतस्तत्र यावन्मात्रस्याहारस्य पाक क्रियते तत्सर्वं प्रतिदिवसमुपयुज्यते, न तु तानि कुलानि सचयित्वा साधुप्राघूर्णकागमने सर्वमेकमुखेनैव प्रयच्छन्ति, एव चोदकेनोक्ते आचार्य आह-'गिहिणो चिंता' गृहिणश्चिन्ता भवति, यदुत—एते साधव प्राघूर्णकाद्यागमने आगच्छन्ति ततश्च एतेभ्यो यत्नेन देयमिति, एवंविधामादरपूर्विका चिन्तां करोति । यच्चोक्त-तरुणा बहिर्ग्रामे किमिति हिण्डन्ति ?, 'दिट्ठंतो तत्थ खुज्जबोरीए ' स च दृष्टान्तो वक्ष्यमाण । 'आपुच्छिऊण गमण'ति तत्र च बहिर्ग्रामादौ आचार्यमापृच्छ्य गन्तव्यं, यत ' दोसा य इमे अणापुच्छे त्ति दोषा अनापृच्छायाम् ,एते च वक्ष्यमाणलक्षणा भवन्ति । इदानीं भाष्यकार. प्रतिपदमेतानि द्वाराणि व्याख्यानयति । तत्र च यदुक्तं दृष्टान्तोऽगार्या., स उच्यते—"एगो वाणिओ परिमिअ भत्त अप्पणो महिलाए देइ, सा य तओ दिणे दिणे थोव थोव अवणेइ , किं निमित्तं ?, जदा एयस्स अवेलाए मित्तो वा सही वा एइस्सइ तदा किं सक्का आवणाउ आणेउ ?, एव मन्नतो सगह कराति । अण्णया तस्स अवेलाए पाहुणगो आगतो, ताहे सो भणइ—किं कीरउ ? रयणी वट्टइ, वीसचाराओ रत्थाओ, ताहे नाए भणिअ-मा आतुरो होहि । ताहे तस्स पाहुणगस्स उवक्खडिअ, गतो तग्गुणसहस्सेहिं वड्ढतो भत्तारोऽवि से परितुट्ठो । एव आयरिआ वि ठवणकुलाइ ठवेंति, जेण अवेलागयस्स पाहुणयस्स तेहिंतो आणेउ दिज्जइ, तेण तरुणा सतेसु वि कुलेसु बाहिरगाम हिंडति त्ति । इदाणिं एसिं चेव विवरीओ भण्णइ, अण्णो अण्णाए अगारीए परिमिअ देइ सा य तओ मज्झाओ थोव थोव न गेण्हइ, तओ पाहुणए आगए विसूरति ।

अमुमेवार्थं गाथाद्वयेनोपसहरन्नाह—

(भा०) परिमिअभत्तपदाणे, नेहादवहरइ थोवं थोवं तु ।
पाहुणवियालआगम,विसन्न आसासणादाणं ॥१३८॥

परिमितभक्तप्रदाने सति साऽगारी स्नेहादि-घृतादि स्तोक स्तोकमपहरति । पुनश्च प्राघूर्णकस्य विकालागमने विषण्ण स्त्रिया आश्वासित 'दाण' ति तया स्त्रिया भक्तदानं दत्त प्राघूर्णकायेति ।

(भा०) एवं पीइविवुड्ढी, विवरीयम्मेण होइ दिट्ठंतो ।
लोउत्तरे विसेसो, असंचया जेण समणा उ ॥ १३६ ॥

एव तयोर्दम्पत्योः प्रीतिवृद्धि सजाता, विपरीतश्चान्येन

प्रकारेण भवति दृष्टान्तः । एवं तावद्यदि गृहस्था अपि सञ्चयपरा भवन्ति—अनागतमेव चिन्तयन्ति, साधुना पुनः कुशिशम्बलेन सुतरामनागतमेव चिन्तनीयं, यदि परं लोकोत्तरेऽयं विशेषः, यदुत निःसञ्चयाः सुतरां चिन्तामाचार्या वहन्तीति । "पुच्छा दिट्ठंतऽगारि" त्ति भणिअं ।

इदानीं "पुच्छा गिहिणो चिंत" त्ति गाथायाः प्रथमावयव (भाष्यकारः) व्याख्यानयन्नाह—

जणलावो परगामे, हिंडन्ताऽऽर्णेति वसइ इह गामे ।
दिज्जइ बालाईणं, कारणजाए य सुलभं तु ॥ १४० ॥

यस्मादेकेन पृष्टमासीत्तत्रेदमुत्तरं-जनानामालापो जनाऽऽलापो लोक एव ब्रवीति, यदुत परग्रामे हिण्डयित्वाऽऽनयन्ति-अत्र भुञ्जते । 'वसहि इह गामे' त्ति वसतिः केवलमत्र एतेषां साधूनाम् । ततश्च 'देज्जइ' बालादीनां ददध्वम्, आदिशब्दात्प्राघूर्णकादयो गृह्यन्ते, एवंविधां चिन्तां गृहस्थः करोति । ततश्च 'कारणजाते य सुलभं तु' त्ति एवंविधायां चिन्तायां प्राघूर्णकादिकारणे उत्पन्ने घृतादि सुलभं भवतीति ।

(भाष्यकारः) आह—किं पुनः कारणं प्राघूर्णकानां दीयते ?, तथा चायमपरो गुणः—

पाहुणविसेसदाणे, निज्जर कित्ती अ इहर विवरीयं ।
पुव्वं चमढणसिग्गा, न देंति संतं पि कज्जेसु ॥१४१॥

प्राघूर्णकाय विशेषदाने सति निर्जरा-कर्मक्षयो भवति , इहलोके च कीर्तिश्च भवति । 'इहर विवरीय' त्ति यदि प्राघूर्णकविशेषदानं न क्रियते ततश्च निर्जराकीर्ती न भवत' । एवं प्राघूर्णकविशेषदानं न भवति यस्मात्पूर्वं 'चमढणसिग्गा' ततश्च 'न देंति संतं पि कज्जेसु गिहिणो चिंत' त्ति वक्खाणिअं ।

इदानीं (भाष्यकारः) कुब्जबदरीदृष्टान्तं व्याख्यानयन्नाह—

गामब्भासे बयरी, नीसंदकडुप्फला य खुज्जा य ।
पक्कामालसडिंभा, घायंति घरे गया दूरं ॥१४२॥

"एगो गामो तत्थ खुज्जबोरी, सा य नाम निज्जासेण कडुया । तत्थ चेडरूवाणि भणंति-वजामो बोराणि खामो । तत्थ खुज्जबोरीविलग्गाइं ताइं डिंभरूवाणि तूवराईणि वि खायंति, न य पज्जत्तीए होइ । अण्णाणि भणंति-किं एएहिं, ताहे अडविं गतया तत्थ बोराणि घरणीए आइऊण बहूणि पोट्टलगा बंधिऊण आगया सिग्घतरं जाव इमे अलसा चेव अच्छंति न तत्तिया जाया । ताहे ते तेसिं अमेसिं च देंति । एव चेव इमं खेत्तं चमढिअं , एत्थ अबिलकूरं घेत्तूण चेव आगच्छंति दिवसं च हिंडेयव्वं एवं किलेसो अप्पगं च भत्तं होति । जहा ते अणालसचेडा (तहा जे तरुणा) आयपरहिआवहा ते बाहिरगामभिक्खायरिअं जंति, ताहे ते अचमढिअगामाओ खीरं दहिमाइयाइं घेत्तूण लहुं आगया उग्गमदोसाइं य जढा होंति, बालवुड्ढा य अणुकंपिया होंति, वीरियायारो य अणुचिण्णो होइ तम्हा गतव्वं बाहिरगामे हिंडएहिं तरुणएहिं ।

इदानीममुमेवार्थं (भाष्यकारः) गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

गामब्भासे बयरी, नीसंदकडुप्फला य खुज्जा य ।
पक्कामालसडिंभा, खायंतियरे गया दूरं ॥१४३॥
सिग्घयरं आगमणं, तेसिमण्णेसिं च देंति सयमेव ।
खायंती एमेव उ, आयपरहिआवहा तरुणा ॥१४४॥
खीरदहिमाइयाणं, लंभो सिग्घतरगं च आगमणं ।
पइरिक्क उग्गमाई, विजढा अणुकंपिआ इयरे ॥१४५॥

ग्रामभ्यासे बदरी सा च निस्स्वादुकटुकफला कुब्जा च । सा च फलिता, तत्र च फलानि 'पक्काम' त्ति तानि च फलानि पक्कानि आमानि च पक्कामानि—अर्द्धपक्कानीत्यर्थः, ये अलसा डिम्भास्ते भक्षयन्ति । 'इयर' त्ति अनलसाः—उत्साहवन्तो डिम्भास्ते दूरं गताः । तेषां च शीघ्रतरमागमनं संजातं , ततश्च बाह्यात् आगत्य 'तेसिं अण्णेसिं च दिंति' तेषामलसशिशूनामन्येषां च ददति , स्वयमेव च भक्षयन्ति । एवमेव तरुणा अपि आत्मपरयोर्हितमावहन्तीति आत्मपरहितावहास्तरुणाः 'एवं तरुणानां क्षीरदध्यादीनां लम्भः शीघ्रतरं चागमनम् । 'पइरिक्क' त्ति प्रचुरतरं लभन्ते, उद्गमादयश्च दोषाः परित्यक्ता भवन्ति तथाऽनुकम्पिताश्चेतरे बालादयो भवन्तीति उक्तः कुब्जबदरीदृष्टान्तः ।

इदानीम् "आपुच्छिऊण गमणं" ति
(भाष्यकारः) व्याख्यानयन्नाह—

आपुच्छिअ उग्गाहिअ, अण्णं गामं वयं तु वच्चामो ।
अण्णं च अपज्जत्ते, होंति अपुच्छे इमे दोसा ॥१४६॥

आपृच्छ्य गुरुमुद्ग्राहितपात्रका एवं भणन्ति, यदुत अन्यं ग्रामं वयं व्रजाम , 'अण्णं च अपज्जत्ते' त्ति यदि तस्मिन् ग्रामे पर्याप्त्या न भविष्यति ततस्तस्मादपि अन्य ग्रामं गमिष्याम । "आपुच्छिऊण गमणं" ति भणियं, इदाणिं "दोसा य इमे अणापुच्छि" त्ति व्याख्यानयन्नाह, दोषा एतेऽनापृच्छ्यगतानां भवन्ति ।

के च ते दोषाः ? (भाष्यकारस्तान्) व्याख्यानयन्नाह-

तेणाएसगिलाणे, सावय इत्थी नपुंसमुच्छा य ।
आयरिअबालवुड्ढा, सेहा खमगा परिच्चत्ता ॥ १४७ ॥

कदाचिद्न्यग्रामान्तराले व्रजतां स्तेना भवन्ति, ततश्च तद्ग्रहणे (तत्र गमने ।) उपधिशरीरापहरणं भवति, आचार्योऽप्यकथितो न जानाति कया दिशा गता ? इति, ततश्च दुःखेनान्वेषणं करोति । अथवा-आदेशः—प्राघूर्णक आयातः, ते चानापृच्छ्य गताः, 'ते य आयरिया एवं भणंता जहा पाहुणयस्स वट्टविह , अहवा गिलाणस्स पाउग्गं गेण्हह, अहवा अंतराले सावयाणि अत्थि तेहिं भक्खियाणि होंति , अहवा तत्थ गामे इत्थिदोसा नपुंसगदोसा वा अहवा मुच्छाए पडेज्जा ताहे न नज्जइ, अपुच्छिए कयराए दिसाए गय त्ति न नज्जति ।' ततश्चानापृच्छ्य गच्छतां बालवृद्धसेहक्षपकाः परित्यक्ता भवन्ति । यत आचार्यादीनां प्रायोग्यमात्रं नानयन्ति अपृष्टत्वात् न च प्रच्छन्नं कृतं येनोच्यन्ते । यत एते दोषाः परित्यागजनितास्तस्मादेतद्दोषभयात्—

आयरिए आपुच्छा, तस्संदिट्ठे व तम्मि उवसंते ।
चेइयगिलाणकज्जा-इएसु गुरुणो अ निग्गमणं ॥ २४० ॥

तस्मादाचार्यमापृच्छ्य गन्तव्यम्।अथाचार्य कथञ्चिन्न भवति'तस्संदिट्ठे व'त्ति तेनाचार्येण य. संदिष्ट यथाऽमुमापृच्छ्य गन्तव्यं ततस्तमापृच्छ्य व्रजन्ति । तस्मिन्नसति—आचार्ये अविद्यमाने क्वचिन्निर्गते, केन पुनः कारणेनाचार्यो निर्गच्छति ? अत आह—' चेइय' चैत्यवन्दनार्थ ग्लानादिकार्येषु गुरोर्निर्गमनं भवति ।

अथाचार्येण गच्छता क्वचिन्नियुक्तस्तत ?—

भणइ पुव्वनिउत्ते, आपुच्छित्ता वयंति ते समणा ।
अणभोगे आसन्ने, काइयउच्चारभोमाई ॥ २४१ ॥

अभणिते पूर्वनियुक्तान्—कस्मिंश्चिद्भिक्षावेलायां य. प्रागेव नियुक्त आस्ते तमापृच्छ्य व्रजन्ति ते श्रमणा भिक्षार्थम्।'अणाभोग ' त्ति अनाभोगेन-अत्यन्तस्मृतिभ्रंशेन गता ततः 'आसन्ने' त्ति आसन्ने भूमिप्रदेशे यदि स्मृतं तत आगत्य पुन कथयित्वा यान्ति,'काइय'त्ति कायिकार्थं यो निर्गत साधुस्तस्मै कथयन्ति, यदुत वयममुकत्र गता । 'उच्चारभोमादि' त्ति संज्ञाभूमिं यो गतस्तस्मै कथयन्ति , यदुत कथनीयमहममुकत्र गत इति । आदिग्रहणात्प्रश्रमालिकार्थं वा यो गतस्तस्य वा हस्ते संदिशन्ति ।

दवमाइनिग्गयं वा, सेज्जायर पाहुणं च अप्पाहे ।
असई दूरगम्रो वि अ,नियत्त इहरा उ ते दोसा ॥२४२॥

द्रवं-पानकं तदर्थ निर्गतो य' साधुस्तं दृष्ट्वा कथयन्ति, 'सेज्जायर पाहुणं च अप्पाहे' त्ति शय्यातर वा दृष्ट्वा संदिशन्ति प्राघूर्णकं वा साध्वादि दृष्ट्वा संदिशन्ति , यत. कथनीयं मम विस्मृतमिति । यदा त्वेतान् गच्छन्न पश्यति तदा दूरगत. ' वि अ णियत्तइ ' त्ति दूरगत संन्निवर्त्तत,'इहरा उ ' त्ति यदि न निवर्त्तते तत ' ते दोस ' त्ति ' ते पूर्वोक्ता' स्तेनादयो दोषा. भवन्तीति ।

अणं गामं च वए, इमाई कज्जाई तत्थ नाऊणं ।
तत्थ वि अप्पाहणया, नियत्तई वा सई काले ॥२४३॥

अथासौ साधुस्तस्माद्ग्रामादन्यं ग्राम व्रजेत्, एतानि कार्याणि-वक्ष्यमाणलक्षणानि , कानि ?—' दूरट्ठिअखुड्डलए ' इत्येवमादीनि ' तत्रे ' ति तस्मिन् ग्रामे योऽसावभिप्रेतो ज्ञात्वा-विज्ञाय , ततश्च किं कर्त्तव्यमित्यत आह-तत्रापि-अन्यस्मिन् ग्रामे व्रजता 'अप्पाहणयो' संदेशकस्तथैव दातव्य । अथ कश्चिन्नास्ति यस्य हस्ते संदिश्यते ततो निवर्त्तनं वा क्रियते । कदा ? अत आह—सति काले विद्यमाने ' पहुप्पति ' काले तत्तदनुष्ठीयते ।

यदुक्तम् , एतानि कार्याणि तत्र ज्ञात्वाऽन्यत्र ग्रामे व्रजन्ति। तानि दर्शयन्नाह—

दूरट्ठिअखुड्डलए, नव भड अगणी य पंत पडिणीए ।
पाओग्गकालइक्कम, एक्कगलंभो अपज्जत्तं ॥२४४॥

प्रथम गाथार्द्ध सुगमम् । एतानि दूरस्थितादीनि. कारणानि अर्द्धपथ एव ज्ञातानि. कदाचिद्गत सन् तत्र ' पाउग्ग त्ति तत्र ग्रामे प्रायोग्यमाचार्यादीना न लब्धं ततोऽन्यत्र व्रजति, 'कालानिक्कम' त्ति भिक्षाकालस्य वाऽतिक्रमो जात , एकस्य वा साधोस्तत्र भोजनलाभो जातस्ततोऽन्यग्रामं व्रजन्ति । ' अपज्जत्त ' ति न वा पर्याप्त्या तत्र भक्तजातं लब्धं, पानकं वा न लब्धम् , एभिरनन्तरोक्तै कारणैरन्यग्रामं व्रजन्तीति ।

पाउग्गाईणमसइ, संविग्गं सण्णिमाइ अप्पाहे ।
जइ य चिरं तो इयरे, ठवित्तु साहारणं भुंजे ॥ २४५ ॥

एवमसौ प्रायोग्यादीनाम् असति अन्यग्राम व्रजति. व्रजन्न संविग्नं-साधु यदि पश्यति ततस्तस्य हस्ते संदिशति सण्णी—श्रावकस्तस्य हस्ते संदिशत्यन्यस्य वा आदिग्रहणात्-पूर्वच्छेदम् । एवं तावद्भिक्षाटतां विधिरुक्त । ये पुनर्वसतौ तिष्ठन्ति साधवस्तै किं कर्त्तव्यमित्यत आह-' जइ य चिरं ' यदि च चिरं तेषां ग्रामं गतानां तत 'इतर-वसतिनिवासिन साधव ' ठवेत्तु साहारणं ' यद्गच्छसाधारणं विशिष्ट किञ्चित्तत्स्थापयित्वा शेषमपरं प्रान्तप्राय भुञ्जते ।

अथ तथाऽपि चिरयन्ति—

जाएँ दिसाए उ गया, भत्तं घेत्तुं तओ पडियरंति ।
अणपुच्छनिग्गयाणं, चउद्दिसं होइ पडिलेहा ॥ २४६ ॥

' जाए दिसाए उ गया ' यया दिशा भिक्षाटनार्थं गतास्तया दिशा गृहीतभक्तपानका साधव' ' पडियरति ' त्ति प्रतिजागरणा-निरूपणां कुर्वन्ति । अथ तु ते भिक्षाटका अनाभोगेनाकथयित्वैव गतास्तत्र किं कर्त्तव्यमित्यत आह-अनापृच्छ्य निर्गताना भिक्षाहिण्डकानां चतसृष्वपि दिक्षु प्रतिजागरणं-निरूपण कर्त्तव्यं साधुभि ।

प्रतिजागरणगमनविधि क ?,

पंथेगेगो दो उ-प्पहेण मद्दं करेंति वच्चंता ।
अक्खरपडिसाडणया, पडियरणिअरेसि मग्गेणं॥२४७॥

पथा—मार्गेण प्रसिद्धेन एक साधु प्रव्रजति. द्वौ साधू उत्पथेन—उन्मार्गेण व्रजत. , वर्त्तन्या एक एकया दिशाऽन्यश्चान्यया । ते च त्रयोऽपि व्रजन्त शब्द कुर्वन्ति । ते च व्रजन्त स्तेनादिना नीयमाना साधव किं कुर्वन्तीत्यत आह-' अक्खर ' त्ति वर्त्तिन्यामक्षराणि लिखन्त पादादिना व्रजन्ति, ' पडिसाडणय ' त्ति परिशाटनं वस्त्रादे कुर्वन्तो व्रजन्ति येन कश्चित्तेन मार्गेणान्वेषयन्ति । ' पडिअरणिअरेसि ' त्ति इतरेषामन्वेषणार्थं निर्गताना साधूना मार्गेण तत्कृतेन चिह्नेन प्रतिजागरणं कर्त्तव्यम् ।

गामे गंतुं पुच्छे, घरपरिवाडीएँ जत्थ उ न दिट्ठा ।
तत्थेव बोलकरणं, पिंडियजणसाहणं चेव ॥ २४८ ॥

यदा तु पुनस्तेषां स्तेननीतानां चिह्न न किञ्चित्पश्यति तदाऽपि ग्राममेव गत्वा पृच्छति , कथ ?, गृहपरिपाट्या, ' जत्थ उ ण दिट्ठ ' त्ति यत्र न दृष्टास्तस्मिन् ग्रामे, न च तद्ग्रामनिर्गतानां वार्त्ता. तत्रैव ' बोलकरणं ' बोल कुर्वन्ति, पश्चाच्च ' पिंडितजणसाहण ' पिण्डितो-मिलितो यो जनस्तस्य कथयन्ति, यदुत अस्मिन् ग्रामे प्रव्रजिता भिक्षार्थं प्रविष्टा न च तेषां पुनरस्मात् ग्रामाद्वार्त्ता श्रूयते ।

एव तैस्तरुणैरेतदेव च कृत भवति अन्यग्रामेऽटद्भि —

एवं उग्गमदोसा, विजढा पइरिक्कया अणोमाणं ।

१-अत्र आप्यकृत एकत्व बहुत्व च साधुसंघाटकपरत्वेनोक्तम् ।

मोहतिगिच्छा अ कया,विरियारीय अणुजिण्णो। २४८॥
एवम्—अन्यग्रामे भिक्षाटनेन उद्गमदोषा.—आधाकर्मादय 'विजढा' परित्यक्ता भवन्ति। 'पइरिक्कय' त्ति प्रचुरस्य भक्तादेर्लाभो भवति 'अणोमाणं' ति न वा अपमानम्-अनादरकृतं भवति लोके। तथा मोहचिकित्सा च कृता भवति, अमाऽऽतपवैयावृत्त्यादिभिर्मोहस्य निग्रहः कृतो भवति-अवकाशो दत्तो न भवतीति। 'विरियायारो य' वीर्याचारश्च अनुचीर्ण'-अनुष्ठितो भवति।

अणुकंपायरियाई, दोसा पइरिक्कजयणसंसट्ठं।
पुरिसे काले खमणे, पढमालिय तीसु ठाणेसु॥ २५०॥
एवमुक्ते सति चोदक आह-सत्यमाचार्यादयोऽनुकम्पिता भवन्ति किन्तु त एव बृहद्भ्रा परित्यक्ता भवन्ति। आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येन प्रत्युत्तरं ददाति काक्वा-'अणुकंपायरिआइ' त्ति एवमाचार्यादीनामनुकम्पा, यत एव परलोके निर्जरा इह लोके प्रशंसा। पुनरप्याह परः-'दोसा' इति भवतु नाम परलोकाऽ(चार्य) नुकम्पा किन्तु क्षुत्पीडा पिपासापीडा च तदवस्थैव। आचार्योऽप्याह-क्रियत एव प्रथमालिका, किन्तु ?-त्रिषु स्थानेषु, कानि च तानि ?, अत आह-'पुरिसे' त्ति पुरुष'—असहिष्णु', पुरुषो यद्यसहिष्णुस्तत करोति,काले-उष्णकालादौ, यद्युष्णकालस्तत. करोति, 'खवण' त्ति कदाचित्क्षपको भवति अक्षपको वा। यदि क्षपकस्तत. करोति, एवमेतेषु त्रिषु स्थानकेषु प्रथमालिकां करोति। क्व करोति ? आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येनोत्तरं ददाति। कथं वा करोति ?, अत आह-'पतिरिक्के जयण'त्ति प्रतिरिक्ते एकान्ते यतनया करोति, पुनरप्याह पर-आचार्यादीनां तेन तद्भक्तं संसृष्टं कृतं भवति, आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येनोत्तरं ददाति-'पतिरिक्कजयणसंसट्ठं' एकान्ते यतनयाऽसंसृष्टं च यथा भवति तथा 'पढमालियं' ति-मात्रके प्रथममाकृष्य भुङ्क्ते हस्तेन वा द्वितीयहस्ते कृत्वा, अकारप्रश्लेष आचार्यवाक्ये द्रष्टव्यः।

इदानीमेनामेव गाथा भाष्यकार प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह-तत्र प्रथमावयवव्याचिख्यासुराह—

चोयगवयणं अप्पा-णुकंपिओ ते अ भे परिच्चत्ता।
आयरियऽणुकंपाय, परलोए इह पसंसणया॥१४८॥
चोदकस्य वचनं, किं तद् ?, आत्मैवैवमनुकम्पित आचार्येण, ते च भगवता परित्यक्ता भवन्ति। आचार्योऽप्याह-आचार्यानुकम्पया परलोको भवति, इहलोके च प्रशसा भवति। 'अणुकंपाऽऽयरियाई' वक्खाणिअ।

इदानीं (भाष्यकार) 'दोस' त्ति व्याख्यानयन्नाह—

एवं पि अपरिचत्ता, काले खवणे अ असहुपुरिसे य।
कालो गिम्हो उ भवे, खमगो वा पढमबिइएहिं॥१४९॥
चोदकः पुनरप्याह—एवमपि ते परित्यक्ता एव.यत क्षुधादिना बाध्यन्ते। आचार्योऽप्याह-'काले' त्ति काले उष्णकाले करोति, 'खवण' त्ति क्षपको यदि भवति तत स करोति प्रथमालिकाम्,असहिष्णुश्च पुरुषो यदि भवति तत स करोति प्रथमालिकाम्,तत्र कालो—ग्रीष्मो यदि भवेत् पुरुष. क्षपको यदि भवेत्, 'पढमबिइएहिं' ति अत्र पुन केन कारणेनासहिष्णुर्भवति ?—'पढमे' त्ति प्रथमपरीषहेण बाध्यमान, क्षुधित इत्यर्थ। द्वितीयपरीषहेण तृषा बाध्यमानः-पिपासया पीड्यमानोऽसहिष्णुर्भवति।

अत्राऽऽह पर.-

(भा०) जइ एवं संसट्ठं, अप्पत्ते दोसिणाइणं गहणं।
लंबणभिक्खा दुविहा, जहण्णमुक्कोस तिअपणए॥१५०॥
यद्येवमसौ बाह्यत एव प्रथमालिकां करोति ततो भक्त संसृष्टं कृतं भवति। आचार्योऽप्याह 'अप्पत्ते दोसिणाइणं गहणं' अप्राप्तायामेव भिक्षावेलाया पर्युषितान्नग्रहणं कृत्वा प्रथमालयति। कियत्प्रमाणां पुन प्रथमालिकां करोत्यसौ ? द्विविधा प्रथमालिका भवति-'लंबणभिक्खा दुविहा' लम्बनै -कवलैर्भिक्षाभिश्च द्विविधा प्रथमालिका भवति। इदानीं जघन्योत्कृष्ट. प्रमाणप्रतिपादनायाह-'जहन्नमुक्कोस तिअपणए' यथासङ्ख्येन जघन्यतस्त्रय कवलास्तिस्रो वा भिक्षा., उत्कृष्टत. पञ्च कवलाः पञ्च वा भिक्षाः।

इदानीं तेन सङ्घाटकेन किं वस्तु केषु पात्रकेषु गृह्यते ? का वा प्रथमालिकाकरणे यतना क्रियते ?, एतत्प्रतिपादयन्नाह—

एगत्थ होइ भत्तं, बिइअम्मि पडिग्गहे दवं होइ।
पाउग्गायरियाई, मत्ते बिइए उ संसत्तं॥ ३५१॥
एकस्मिन् पात्रके भक्तं गृह्णाति, द्वितीये च पतद्ग्रहे द्रवं भवति। तथा 'पाउग्गायरियाई मत्ते' त्ति प्रायोग्यमाचार्यादीनामेकस्मिन् मात्रके भक्तं गृह्यते। 'बिइए उ संसत्त' द्वितीये तु मात्रके संसृष्टं किञ्चित्पानकं गृह्णाते।

जइ रित्तो तो दवम-त्तगम्मि पढमालियाए करणं तु।
संसत्तगहण दवदु-ल्लहे य तत्थेव जं पत्तं॥ ३५२॥
यदि रिक्त ससक्तद्रवमात्रकस्ततस्तस्मिन् प्रथमालिकाया करण, 'संसत्तगहण' ति अथ तस्मिन् द्रवमात्रके संसक्तद्रवग्रहणं कृत ततस्तत्रैव पात्रके यत्प्राप्तं तद् भुङ्क्ते। 'दवदुल्लभे य' त्ति अथ दुर्लभं (द्रव) पानकं तत्र क्षेत्रे ततश्च तत्रापि ससक्तमात्रके पानकाकाङ्क्षिणके सति 'तत्थेव' त्ति तस्मिन्नेव भक्तपतद्ग्रहे यत्प्राप्त तद्धस्तेनाकृष्यान्यस्मिन् हस्ते कृत्वा समुद्दिशति।

एव चासौ संघाटक प्रथमालिका करोति-

अंतरपल्लीगहिअं पढमागहियं व सव्व भुंजेज्जा।
धुवलंभमंखडीयं व, जं गहिअं दोसिणं वावि॥ २५३॥
अन्तरपल्ली-तस्माद् ग्रामादपरतो योऽन्य ग्रामस्तग्रामन्तत्र यद् गृहीत तद्भुङ्क्ते, पुनस्तत्र क्षेत्रातिक्रान्तत्वादभोज्यं भवति। 'पढमागहिअ व' त्ति प्रथमाया वा पौरुष्या यद् गृहीत तत्सर्व भुङ्क्ते, तृतीयपौरुष्यामकल्प्य यतस्तद्भवति। 'धुवलभ संखडीय व' ध्रुवो वा—अवश्यं भावी-अत्र संखड्या लाभो भविष्यतीति मत्वा. ततश्च यद् गृहीतं 'दोसिण वावि' पर्युषितमन्न तत्सर्वं भुङ्क्ते।

दरहिंडिए व भाणं, भरिअं भोच्चा पुणो वि हिंडिज्जा।
कालो वाऽइक्कमई, भुंजेज्जा अंतरं सव्व॥ २५४॥
अर्द्धहिण्डिते वा यत्पात्रक गृहीतं तद्भृतं, ततश्च तद्—

कत्वा पुनरपि हिराडेत । 'कालो वाऽतिक्रमति' त्ति भाजनकालो वा प्रव्रजितानामतिक्रामति यावदमौ तद्भक्तं गृहीत्वा व्रजन्ति ततश्चान्तराल एव सर्वं भुक्त्वा प्रविशन्ति । ओघ० । अनु० । आ० म० । हिराडकत्वेन हिराडक. । जीवे, भ० २० श० २ उ० ।

हिंडन्त–हिराडमान–त्रि० । इतस्ततः पर्यटति, सू० २ उ० २ प्रक० ।

हिंडमाण–हिराडमान–त्रि० । अधिगच्छति, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

हिंडिऊण–हिरिडत्वा–अव्य० । अटित्वेत्यर्थे, पं० व० २ द्वार।

हिंडिय–हिरिडत–त्रि० । विहृते, आ० १ श्रु० ६ अ० ।

हिंडु–हिन्दु–पुं०। सिन्धुनदोपलक्षितदेशवासिनि मनुष्ये,स च देश पश्चिमायाम् आ सिन्धुनदात्प्राच्याम् आ ब्रह्मपुत्रनदात् उत्तरस्याम् आ हिमालयदक्षिणश्रेणेर्दक्षिणस्याम् आ समुद्रात् , सिन्धुरिति संस्कृतशब्द । सिन्धो पाश्चात्यात् आ पेरावनपारसीकयवनैर्म्लेच्छै स्वदेशोच्चारणशैल्या हिन्दुरिति व्यवहारतो जनपदपरोऽपि तात्स्थ्यादार्यमनुष्यपरोऽजायत क्रमादेतद्देशप्रसिद्धवेदमूलकलोकागमानुसारिष्वपि बोधको जात । ती० २० कल्प । नि० चू० ।

हिंडोल–देशी–क्षेत्ररक्षणयन्त्रे, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिंडोलय–देशी–क्षेत्रे मृगनिषेधरवे, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिंविअ–देशी–एकपदगमनक्रीडने , दे० ना० ८ वर्ग ६८ गाथा ।

हिंस–हिंस्र–त्रि० । हिनस्तीत्येवं शीलो हिंस्रः । स्वभावतः प्राणव्यपरोपणकारि, उत्त० पाई० ७ अ० । हिंसनशीले , उत्त० ७ अ० । स्था० ।

हिंसग–हिंसक–त्रि० । जीवहिंसाकरणशीले, उत्त० १२ अ० ।

हिंसप्पयाण–हिंसाप्रदान–न० ।हिंसाहेतुत्वादायुधानलविषादयो हिंसोच्यते, कारणे कार्योपचारात् , तेषां प्रदानमन्यस्मै क्रोधाद्यभिभूताय अनभिभूताय वा । आव० ६ अ०। हिंस्र हिंसाकारि शस्त्रादि, तत्प्रदानं परेषा समर्पणम् । उपा० १ अ० । हिंसनशीलानि हिंस्रकाणि,हिंसोपकरणानि- आयुधानलविषादयस्तेषां प्रदानम्–अर्पणम् । अनर्थदण्डभेदे,ध० २ अधि० ।

हिंसप्पेहि(ण्)–हिंसाप्रेक्षिन्–पुं०। हिंसा–वधं साध्वादे. प्रेक्षते गवेषयतीति हिंसाप्रेक्षी । साध्वादिवधके पाराञ्चिताई, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

हिंसविहिंसा–हिंस्रविहिंसा–स्त्री० । गौणहिंसायाम् , प्रश्न० १ आश्र० द्वार (अस्या व्याख्या 'पाणवह' शब्दे पञ्चमभागे ८३२ पृष्ठे गता ।)

हिंसा–हिंसा–स्त्री० । हिंसनं हिंसा , हिंसि हिंसायामित्यस्य " इदितो नुम् धातो " रिति नुमि कृते स्त्र्यधिकारे टाप् । दश० १ अ० । प्राण्युपमर्दे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सत्त्ववधे, विशे० । व्यापादने, उत्त० ५ अ० । प्राणवियोगप्रयोजके व्यापारे, द्वा० २१ द्वा० । सूत्र० । प्रमादानाभोगाभ्यां व्यापादने, दश० ४ अ०। जीववधे,कर्म०१ कर्म०। प्रश्न० । प्रमत्तयोगात्प्राणिव्यपरोपणे, सत्त्वानां वधबन्धनादिभिः प्रकारै. पीडायाम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । स० । आ० म० । आ० चू० । " पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च , उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायु । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । विशे० । आव० । स्था० ।

अधुना मीमांसकभेदाभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरस्सरं निरस्यन्नाह—

न धर्महेतुर्विहिताऽपि हिंसा,
नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।
स्वपुत्रघातात् नृपतित्वलिप्सा-
सब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥ ११ ॥

इह खल्वर्चिर्मार्गप्रतिपक्षधूममार्गाश्रिता जैमिनीया इत्थमाचक्षते—या हिंसा गार्द्ध्यात् , व्यसनितया वा क्रियते, सैवाऽधर्मानुबन्धहेतु , प्रमादसंपादितत्वात् , शौनिकलुब्धकादीनामिव । वेदविहिता तु हिंसा प्रत्युत धर्महेतु , देवताऽतिथिपितॄणां प्रीतिसंपादकत्वात् , तथाविधपूजोपचारवत् । न च तत्प्रीतिसम्पादकत्वमसिद्धम् ; कारीरीप्रभृतियज्ञानां स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले य स्वल्वव्यभिचार. , स तत्प्रीणितदेवताविशेषानुग्रहहेतुक । एव त्रिपुरार्णववर्णितच्छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिरपि तदनुकूलितदैवतप्रसादसंपाद्या । अतिथिप्रीतिस्तु—मधुपर्कसंस्कारादिसमास्वादजा प्रत्यक्षोपलक्ष्यैव । पितॄणामपि तत्तदुपयाचितश्राद्धाऽऽदिविधानेन प्रीणिताऽऽत्मनां स्वसन्तानवृद्धिविधानं साक्षादेव वीक्ष्यते । आगमश्चात्र प्रमाणम् स च देवप्रीत्यर्थमश्वमेधगोमेधनरमेधाऽऽदिविधानाभिधायकः प्रतीत एव । अतिथिविषयस्तु—' महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत् " इत्यादि' । पितृप्रीत्यर्थस्तु—"द्वौ मासौ मात्स्यमासेन, त्रीन् मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुर , शाकुनेनेह पञ्च तु " ॥ १ ॥ इत्यादिः । एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याऽऽचार्य. प्रतिविधत्ते— 'नधर्म' त्यादि.विहिताऽपि-वेदप्रतिपादिताऽपि; आस्तां तावदविहिता, हिंसा प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा, न धर्महेतुः-न धर्मानुबन्धनिबन्धनम् । यतोऽत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः । तथाहि-हिंसा चेद् धर्महेतु कथम् ? ' धर्महेतुश्चेद् हिंसा कथम् ' ? "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं , श्रुत्वा चैवावधार्यताम् " इत्यादि । न हि भवति माता च, वन्ध्या चेति । हिंसा कारणं धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्राय , नचायं निरपाय , यतो—यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत् तस्य कार्यम् ; यथा मृत्पिण्डादेर्घटादि. । न च धर्मो हिंसात एव भवतीति प्रातीतिकम् , तपोविधानदानध्यानादीनां तदकारणत्वप्रसङ्गात् । अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूम , किन्तु विशिष्टामेव; विशिष्टा च सैव-या वेदविहिता इति चेत्-ननु,तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवाना मरणाऽभावेन, मरणेऽपि तेषामार्त्तध्यानाऽभावात् , सुगतिलाभेन वा ? । नाद्यः पक्ष -प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादृश्यमा-

णत्वात् । न द्वितीय:-परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्ष्यतयाऽऽर्त्तध्यानाऽभावस्य वाङ्मात्रत्वात्, प्रत्युत हा ! कष्टमस्ति-न कोऽपि कारुणिक: शरणम् ? इति स्वभाषया विरसमारसत्सु तेषु वदनदैन्यनयनतरलताऽऽदीनां लिङ्गानां दर्शनाद् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात् । अथेत्थमाचक्षीथा:-यथा अय:-पिण्डो गुरुतया मज्जनाऽऽत्मकोऽपि तनुतरपत्राऽऽदिकरणेन संस्कृत: सन् जलोपरि प्लवते, यथा च मारणाऽऽत्मकमपि विषं मन्त्राऽऽदिसंस्कारविशिष्टं सद् गुणाय जायते, यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्निः सत्यादिप्रभावप्रतिहतशक्तिः सन् नहि दहति । एवं मन्त्राऽऽदिविधिसंस्काराद् न खलु वेदविहिता हिंसा दोषपोषाय । न च तस्याः कुत्सितत्वं शङ्कनीयम्, तत्कारिणां याज्ञिकानां लोके पूज्यत्वदर्शनादिति । तदेतद् न दक्षाणां क्षमते क्षोदम्; वैषम्येण दृष्टान्तानामसाधकतमत्वात् । अय पिण्डादयो हि पत्राऽऽदिभावान्तराऽऽपन्नाः सन्तः सलिलतरणादिक्रियासमर्थाः, न च वैदिकमन्त्रसंस्कारविधिनाऽपि विशस्यमानानां पशूनां काचिद् वेदनाऽनुत्पादादिरूपा भावान्तराऽऽपत्तिः प्रतीयते । अथ तेषां वधाऽनन्तरं देवत्वाऽऽपत्तिर्भावान्तरमस्त्येवेति चेत्-किमत्र प्रमाणम् ? । न तावत् प्रत्यक्षम्-तस्य संबद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वात्-"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" इति वचनात् । नाप्यनुमानम्-तत्प्रतिबद्धलिङ्गानुपलब्धेः । नाप्यागम:-तस्याद्यापि विवादाऽऽस्पदत्वात् । अर्थापत्त्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणेनैव गतार्थत्वात् । अथ भवतामपि जिनाऽऽयतनाऽऽदिविधाने परिणामविशेषात् पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यते इति कल्पना, तथा अस्माकमपि किं नेष्यते ? । वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात् । नैवम्; परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो, यत्राऽनन्योपायत्वेन यतनयाऽप्रकृष्टप्रतनुचैतन्यानां पृथिव्यादिजीवानां वधेऽपि स्वल्पपुण्यव्ययेनाऽपरिमितसुकृतसंप्राप्तिः, न पुनरितर: । भवत्पक्षे तु सत्स्वपि तत्तच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रतिपादितेषु यमनियमादिषु स्वर्गावाप्त्युपायेषु तांस्तान् देवानुद्दिश्य प्रतिप्रतीकं कर्तनकदर्थनया कान्दिशीकान् कृपणपञ्चेन्द्रियान् शौनिकाधिकं मारयतां कृत्स्नसुकृतव्ययेन दुर्गतिमेवानुकूलयतां दुर्लभ: शुभपरिणामविशेष:, एवं च य कश्चन पदार्थं किञ्चित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीकुर्वतां भवतामतिप्रसङ्ग: सङ्गच्छते । न च जिनाऽऽयतनविधापनादौ पृथिव्यादिजीववधेऽपि न गुण: । तथाहि-तद्दर्शनाद् गुणाऽनुरागितया भव्यानां बोधिलाभ:, पूजाऽतिशयविलोकनाऽऽदिना च मन:प्रसाद:, तत: समाधि:, ततश्च क्रमेण नि:श्रेयसप्राप्तिरिति । तथा च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः-

"पुढवाइयाण जइ वि हु, होइ विणासो जिणालयाहिन्तो ।
तव्विसया वि सुदिट्ठि-स्स णियमओ अत्थि अणुकंपा ॥१॥
एयाहिंतो बुद्धा, विरया रक्खन्ति जेण पुढवाई ।
इत्तो निव्वाणगया, अबाहिया आभवमिमाणं ॥ २ ॥
रोगिसिरावेहो इव, सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ताओ ।
परिणामसुंदरच्चिय, चिट्ठा से बाहजोगे वि ॥ ३ ॥" इति ।

वैदिकबधविधाने तु न कश्चित्पुण्यार्जनानुगुणं पश्याम । अथ विप्रेभ्य: पुरोडाशाऽऽदिप्रदानेन पुण्यानुबन्धी गुणोऽस्त्येव इति चेत्, न, पवित्रसुवर्णाऽऽदिप्रदानमात्रेणैव पुण्योपार्जनसम्भवात् कृपणपशुगणव्यपरोपणसमुत्थमांसदानं केवलं निर्घृणत्वमेव व्यनक्ति । अथ न प्रदानमात्रं पशुवधक्रियाया: फलं किन्तु भूत्यादिकम्, यदाह श्रुतिः-"श्वेतं वायव्यमजमालभेत् भूतिकाम:" इत्यादि । एतदपि व्यभिचारपिशाचग्रस्तत्वादप्रमाणमेव; भूतेश्चौपयिकान्तरैरपि साध्यमानत्वात् । अथ तत्र सत्रे हन्यमानानां छागादीनां प्रेत्य सद्गतिप्राप्तिरूपोऽस्त्येवोपकार इति चेत्, वाङ्मात्रमेतत्; प्रमाणाऽभावात्; नहि ते निहता: पशव: सद्गतिलाभमुदितमनस: कस्मैचिदागत्य तथाभूतमात्मानं कथयन्ति । अथास्त्यागमाऽऽख्यं प्रमाणम् । यथा-"औषध्य: पशवो वृक्षा-स्तिर्यञ्च: पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ता:, प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुन: " ॥ १ ॥ इत्यादि । नैवम्; तस्य पौरुषेयाऽपौरुषेयविकल्पाभ्यां निराकरिष्यमाणत्वात् । न च श्रौतेन विधिना पशुविशसनविधायिनां स्वर्गावाप्तिरुपकार इति वाच्यम्, यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्तिः स्यात्, तर्हि बाढं पिहिता नरकपुरप्रतोल्य:,शौनिकादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात् । तथा च पठन्ति पारमर्षा:-'यूपं छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम् । यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ?" किञ्च-अपरिचिताऽस्पष्टचैतन्याऽनुपकारिपशुहिंसनेनापि यदि त्रिदिवपदवीप्राप्तिः, तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनेन यज्ञकारिणामधिकतरपदप्राप्ति: प्रसज्यते । अथ "अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभाव:" इति वचनाद् वैदिकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे संभवत्येव स्वर्गप्राप्ति:, इति चेत् । न, इह लोके विवाहगर्भाऽऽधानजातकर्माऽऽदिषु तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाद्, अदृष्टे स्वर्गादावपि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते । दृश्यन्ते हि वेदोक्तमन्त्रसंस्कारविशिष्टेभ्योऽपि विवाहाऽऽदिभ्योऽनन्तरं वैधव्याऽल्पायुष्कतादारिद्र्याऽऽद्युपद्रवविधुरा: परःशता:, अपरे च मन्त्रसंस्कारं विना कृतेभ्योऽपि तेभ्योऽनन्तरं तद्विपरीता: । अथ तत्र क्रियावैगुण्यं विसंवादहेतु, इति चेत् । न, संशयाऽनिवृत्ते: । किं तत्र क्रियावैगुण्यात् फले विसंवाद:, किं वा मन्त्राणामसामर्थ्याद् ?, इति न निश्चय:,तेषां फलेनाविनाभावासिद्धेः । अथ यथा युष्मन्मते-"आरोग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु" इत्यादीनां वाक्यानां लोकान्तर एव फलमिष्यते, एवमस्मदभिमतवेदवाक्यानामपि नेह जन्मनि फलमिति किं न प्रतिपद्यते ?, अतश्च विवाहाऽऽदौ नोपलम्भावकाश:, इति चेत् । अहो ! वचनवैचित्री यथा वर्तमानजन्मनि विवाहाऽऽदिषु प्रयुक्तैर्मन्त्रसंस्कारैरागामिनि जन्मनि तत्फलम्, एवं द्वितीयादिजन्मान्तरेष्वपि विवाहाऽऽदीनामेवं प्रवृत्तिधर्माणां पुण्यहेतुत्वाङ्गीकारेऽनन्तभवानुसन्धानं प्रसज्यते, एवं च न कदाचन संसारस्य परिसमाप्ति, तथा च न कस्यचिदपवर्गप्राप्ति, इति प्राप्तं भवदभिमतवेदस्य पर्यवसितसंसारवल्लरीमूलकन्दत्वम् । आरोग्याऽऽदिप्रार्थना तु असत्याऽमृषाभाषापरिणामविशुद्धिकारणत्वाद् न दोषाय, तत्र हि-भावाऽऽरोग्याऽऽदिकमेव विवक्षितम्, तच्च चातुर्गतिकसंसारलक्षण भावरोगपरिक्षयस्वरूपत्वाद्-उत्तमफलम्, तद्विषया च

१-प्रलवयवम् ।

प्रार्थना कथमिव विवेकिनामनादरणीया ? । नच तज्जन्यपरिणामविशुद्धेस्तत्फलं न प्राप्यते, सर्ववादिनां भावशुद्धेरपवर्गफलसम्पादनेऽविप्रतिपत्तेरिति । नच वेदनिवेदिता हिंसा न कुत्सिता, सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नैरर्चिर्मार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिश्च गर्हितत्वात् । तथा च तत्त्वदर्शिन पठन्ति—

" देवोपहारव्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा, घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् " ॥ १ ॥

वेदान्तिका अप्याहु —

" अन्धे तमसि मज्जाम ,पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो, न भूतो न भविष्यति " ॥ १ ॥

तथा ' अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु ' छान्दसत्वाद् मोचयतु इत्यर्थ , इति ।

व्यासेनाप्युक्तम्—

"ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि ।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे, पापपङ्कापहारिणि ॥ १ ॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे, दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपै—रग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥ २ ॥
कषायपशुभिर्दुष्टै—र्धर्मकामार्थनाशकै ।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञ, विधेहि विहितं बुधै ॥ ३ ॥
प्राणिघातात् तु यो धर्म—मीहते मूढमानस ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं, कृष्णाऽहिमुखकोटरात् " ॥ ४ ॥

इत्यादि । यच्च याज्ञिकाना लोकपूज्यत्वोपलम्भादित्युक्तम् तदप्यसारम्, अबुधा एव हि पूजयन्ति तान् न तु विविक्तबुद्धय । अबुधपूज्यता तु न प्रमाणम् , तस्या सारमेयाऽऽदिष्वप्युपलम्भात् । (स्या०) (अग्निहोत्रविषय 'अग्गिहोत्त'शब्दे प्रथमभागे) पितॄणा पुनः प्रीतिरनैकान्तिकी, श्राद्धाऽऽदिविधानेनापि भूयसा सन्तानवृद्धेरनुपलब्धे ,तदविधानेऽपि च कपाञ्चिद् गर्दभशूकराऽजादीनामिव सुतरा तद्दर्शनात् , ततश्च श्राद्धादिविधान मुग्धजनविप्रतारणमात्रफलमेव । ये हि लोकान्तरं प्राप्तास्ते तावत् स्वकृतसुकृतदुष्कृतकर्मानुसारेण सुरनारकादिगतिषु सुखमसुखं वा भुञ्जाना एवासते , ते कथमिव तनयाऽऽदिभिरावर्जित पिण्डमुपभोक्तु स्पृहयालवोऽपि स्यु ? । तथा च युष्मद्यूथिन पठन्ति—" मृतानामपि जन्तूना, श्राद्धं चेद् तृप्तिकारणम् । तन्निर्वाणप्रदीपस्य, स्नेह संवर्द्धयेच्छिखाम् " ॥ १ ॥ इति । कथ च श्राद्धविधानाद्यर्जितं पुण्य तेषा समीपमुपैतु, तस्य तदन्यकृतत्वात् , जडत्वाद् , निश्चरणत्वाच्च । अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्य दातुरेव तनयादे स्यादिति चेत् । तन्न; तेन तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्यवसायादुत्तारितत्वात् । एव च तत्पुण्यं नैकतरस्यापि इति—विचाल एव विलीन त्रिशङ्कुज्ञानेन, किन्तु पापानुबन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वत पापमेव । अथ विप्रोपभुक्त तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत् 'क इवैतत्प्रत्येतु ? , विप्राणामेव मेदुरोदरतादर्शनात् , तद्वपुषि च तेषा सङ्क्रम श्रद्धातुमपि न शक्यते, भोजनावसरे न तत्सङ्क्रमलिङ्गस्य कस्याप्यनवलोकनात् , विप्राणामेव च तृप्तेसाक्षात्करणात् यदि परं त एव स्थूलकवलैराकुलतरमतिगार्ध्याद् भक्षयन्त प्रेतप्राया , इति मुधैव श्राद्धादिविधानम् । यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते , तदपि तादृशविप्रलम्भक—विभङ्गज्ञानि-व्यन्तराऽऽदिकृतमेव निश्चेयम् । (स्या०) (आगमविषयः ' आगम ' शब्दे द्वितीयभागे ५३ पृष्ठे उक्त ।) नच वयमेव यागविधं सुगतिहेतुत्वं नाङ्गीकुर्महे, किन्तु भवदाप्ता अपि । यदाह व्यासमहर्षिः " पूजया विपुल राज्य—मग्निकार्येण सपद । तप पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञान ध्यान च मुक्तिदम् " ॥१॥ अत्राग्निकार्यशब्दवाच्यस्य यागादिविधेरुपायान्तरैरपि लभ्याना सपदामेव हेतुत्व वदन्नाचार्य —तस्य सुगतिहेतुत्वमर्थात् कदर्थितवानेव । तथा च स एव भावाग्निहोत्र 'ज्ञानपाली' त्यादिश्लोकैः स्थापितवान् । तदेव स्थिते तेषां वादिनां चेष्टामुपमया दूषयति—स्वपुत्रेत्यादि । परेषां—भवत्प्रणीतवचनपराङ्मुखानां स्फुरितं—चेष्टितं, स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि—निजसुतनिपातनेन राज्यप्राप्तिमनोरथसदृशम् । यथा किल कश्चिदविपश्चित् पुरुष परुषाऽऽशयतया निजमङ्गज व्यापाद्य राज्यश्रिय प्राप्तुमीहते, नच तस्य तत्प्राप्तावपि पुत्रघातपातककलङ्कपङ्क क्वचिदपयाति, एव वेदविहितहिंसया देवताऽऽदिप्रीतिसिद्धावपि, हिंसासमुत्थ दुष्कृत न खलु पराहन्येत । अत्र च लिप्साशब्द प्रयुञ्जान स्तुतिकारो ज्ञापयति—यथा तस्य दुराशयस्याऽसदृशतादृशदुष्कर्मनिर्माणनिर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ केवल समीहामात्रमेव न पुनस्तत्सिद्धि ,एव तेषा दुर्वादिना वेदविहिता हिंसामनुतिष्ठतामपि देवताऽऽदिपरितोषणे मनोराज्यमेव, न पुनस्तेषामुत्तमजनपूज्यत्वमिन्द्राऽऽदिदिवौकसा च तृप्ति ,प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । इति काव्यार्थ । स्या० ।

पुरुषव्याघातेन तदन्यजीवव्याघात —

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे ०जाव एवं वयासी—पुरिसेणं भंते ! पुरिसं हणमाणे किं पुरिस हणइ नो पुरिसे हणइ ?, गोयमा ! पुरिसं पि हणइ नो पुरिसे वि हणंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ पुरिसं पि हणइ नो पुरिसे वि हणइ ?, गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ एवं खलु अहं एगं पुरिसं हणामि से णं एगं पुरिसं हणमाणे अणेगजीवा हणइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पुरिसं पि हणइ नो पुरिसे वि हणंति । पुरिसे णं भंते ! आसं हणमाणे किं आसं हणइ नो आसे वि हणइ ?, गोयमा ! आसं पि हणइ नो आसे वि हणइ, से केणट्ठेणं अट्ठो तहेव, एवं हत्थिं सीहं वग्घं ०जाव चिल्ललगं । पुरिसे णं भंते ! अन्नयर तसपाणं हणमाणे किं अन्नयर तसपाणं हणइ नो अन्नयरे तसपाणे हणइ ?, गोयमा ! अन्नयर पि तसपाणं हणइ नो अन्नयरे वि तसे पाणे हणइ, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अन्नयरं पि तसं पाणं नो अन्नयरे वि तसे पाणे हणइ ?, गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ, एवं खलु अहं एगं अन्नयरं तसं पाणं हणामि, से णं एग अन्नयर तसं पाणं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! तं चेव एए सव्वे वि एकगमा । पुरिसे णं भंते ! इसिं हणमा—

से किं इसिं हणइ नो इसिं हणइ ?, गोयमा ! इसिं पि हणइ नो इसिं पि हणइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ०जाव नो इसिं पि हणइ ?, गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ एवं खलु अहं एगं इसिं हणामि, से णं एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ, से तेणट्ठेणं निक्खेवओ । पुरिसे णं भंते ! पुरिसं हणमाणे किं पुरिसवेरेणं पुट्ठे नो पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?, गोयमा ! नियमा ताव पुरिसवेरेणं पुट्ठे,-अहवा पुरिसवेरेण य णो पुरिसवेरेण य पुट्ठे अहवा पुरिसवेरेण य नोपुरिसवेरेहि य पुट्ठे, एवं आसं एवं०जाव चिल्ललगं०जाव अहवा चिल्ललगवेरेण य णो चिल्ललगवेरेहि य पुट्ठे । पुरिसे णं भंते ! इसिं हणमाणे किं इसिवेरेणं पुट्ठे, नो इसिवेरेणं ?, गोयमा ! नियमा इसिवेरेण य नो इसिवेरेहिं य पुट्ठे । (सू० ३६१)

'तए' मित्यादि, 'नो पुरिसं हणइ' त्ति पुरुषव्यतिरिक्तं जीवान्तरं हन्ति । ' अणेगे जीवे हणइ ' त्ति अनेकान् जीवान् यूकाषट्पदिकाकृमिगण्डोलकादीन् तदाश्रितान् तच्छरीरावष्टब्धांस्तद्रुधिरप्लावितादींश्च हन्ति, अथवा-स्वकायस्याकुञ्चनप्रसारणादिनेति , ' छणइ ' त्ति क्वचित्पाठस्तत्रापि स एवार्थः,क्षणधातोर्हिंसार्थत्वात्, बाहुल्याश्रयं चेदं सूत्रम्, तेन पुरुषं घ्नन् तथाविधसामग्रीवशात् कश्चित्तमेव हन्ति कश्चिदेकमपि जीवान्तरं हन्तीत्यपि द्रष्टव्यम्, वक्ष्यमाणभङ्गकत्रयान्यथाऽनुपपत्तेरिति । 'एते सव्वे एक्कगमा' एत-हस्त्यादयः एकगमाः—सदृशाभिलापाः ' इसिं ' ति ऋषिम् 'अणते जीवे हणइ ' त्ति ऋषिं घ्नन्ननन्तान् जीवान् हन्ति , यतस्तद्घातेऽनन्तानां घातो भवति , मृतस्य तस्य विरतेरभावेनानन्तजीवघातकत्वभावात् , अथवा-ऋषिर्जीवन् बहून् प्राणिनः प्रतिबोधयति, ते च प्रतिबुद्धाः क्रमेण मोक्षमासादयन्ति , मुक्ताश्चानन्तानामपि संसारिणामघातका भवन्ति, तद्वधे चैतत्सर्वं न भवत्यतस्तद्वधेऽनन्तजीववधो भवतीति, 'निक्खेवओ' त्ति निगमनम् । 'नियमा पुरिसवेरेणं' त्यादि, पुरुषस्य हतत्वान्नियमात्पुरुषवधपापेन स्पृष्ट इत्येको भङ्गः , तत्र च यदि प्राण्यन्तरमपि हतं तदा पुरुषवैरेण नो पुरुषवैरेण चेति द्वितीयः । यदि तु बहवः प्राणिनो हतास्तत्र तदा पुरुषवैरेण नो पुरुषवैरैश्चेति तृतीयः । एवं सर्वत्र त्रयम् । ऋषिपक्षे तु ऋषिवैरेण नो ऋषिवैरैश्चेत्येवमेक एव, ननु यो मृतो मोक्षं यास्यत्यविरतो न भविष्यति तस्यर्षेर्वधे ऋषिवैरमेव भवत्यतः प्रथमविकल्पसम्भवः । अथ चरमशरीरस्य निरुपक्रमायुष्कत्वान्न हननसम्भवस्ततोऽचरमशरीरापेक्षया यथोक्तभङ्गकसम्भवः, नैवम् , यतो यद्यपि चरमशरीरो निरुपक्रमायुष्कस्तथाऽपि तद्वधाय प्रवृत्तस्य यमुनराजस्येव वैरमस्त्येवेति प्रथमभङ्गकसम्भव इति , सत्यम् ; किन्तु यस्य ऋषेः सोपक्रमायुष्कत्वात् पुरुषकृतो वधो भवति तमाश्रित्येदं सूत्रं प्रवृत्तम् , तस्यैव हननं मुख्यवृत्त्या पुरुषकृतत्वादिति । भ० ६ श० ३४ उ० । (एकान्तनित्येऽनित्ये वाऽऽत्मनि हिंसा न घटते किन्तु स्याद्वादे इति ' अहिंसा ' शब्दे प्रथमभागे ८८१ पृष्ठे उक्तम् ।) षड्जीवनिकायव्यापादनं न कुर्यादिति पृथिवीकायादिशब्देषु , विस्तरत उक्तम् ।) षड्जीवनिकायानां हिंसा न कर्त्तव्या । ग० २ अधि० । (जिनायतननिर्माणे जिनपूजायां च कायवधदोषः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२३० पृष्ठे प्रतिक्षिप्तः ।)

प्रथमहिंसाभेदमाह—

उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जिज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥ २२३ ॥

उच्चालिते—उत्क्षिप्ते पादे संक्रमार्थं गमनार्थमिति योगः, ईर्यासमितस्योपयुक्तस्य साधोः किं व्यापद्येत महतीं वेदना प्राप्नुयात् ,म्रियेत—प्राणत्यागं कुर्यात् कुलिङ्गी कुत्सितलिङ्गवान् द्वीन्द्रियादिसत्त्वः तं योगमासाद्य-तथोपयुक्तसाधुव्यापारं प्राप्येति ।

न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
जम्हा सो अपमत्तो,सा उ पमाओ त्ति निद्दिट्ठा ॥२२४॥

नच तस्य साधोस्तन्निमित्तः कुलिङ्गिव्यापत्तिकारणो बन्धः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये । किमिति ? यस्मात्सोऽप्रमत्तः सूत्राज्ञया प्रवृत्तेः ,सा च हिंसा प्रमाद इत्येव निर्दिष्टा तीर्थकरगणधरैरिति । इय द्रव्यतो हिंसा न भावतः ।

साम्प्रत भावतो न द्रव्यत इत्युच्यते—

मंदपगासे देसे, रज्जुं किण्हाहिसरिसयं दट्ठुं ।
अच्छित्तु तिक्खखग्गं, वहिज्ज तं तप्परीणामो ॥२२५॥

मन्दप्रकाशे देशे-श्यामले निम्नादौ रज्जु दर्भादिविकाररूपां कृष्णाहिसदृशीं कृष्णसर्पतुल्यां दृष्ट्वा आकृष्य तीक्ष्णखड्गं वधेत्तां—हन्यादित्यर्थः , तत्परिणामो वधपरिणाम इति ।

सप्पवहाभावम्मि वि, वहपरिणामा उ चेव एयस्स ।
नियमेण संपराइय-बंधो खलु होइ नायव्वो ॥२२५॥

सर्पवधाभावेऽपि तत्त्वतः वधपरिणामादेवैतस्य व्यापादकस्य नियमेन साम्परायिको बन्धो—भवपरंपराहेतुः कर्मयोगः खलु भवति ज्ञातव्य इति ।

तृतीय हिंसाभेदमाह—

मिगवहपरिणामगओ, आयसं कड्ढिऊण कोदंडं ।
मोत्तूणमिसुं उभओ, वहिज्ज तं पागडो एस ॥ २२७ ॥

मृगवधपरिणामपरिणतः सन्नाकर्णमाकृष्य कोदण्डं धनुर्मुक्त्वा इषु—बाणं उभयतो वधेत्—हन्यात् द्रव्यतो भावतश्च त मृग प्रकट एष हिंसक इति ।

चतुर्थभेदमाह—

उभयाभावे हिंसा, धणिमित्तं भंगयाणुपुव्वीए ।
तह वि य दंसिज्जंती, सीममइविगोवणमदुट्ठा ॥२२८॥

उभयाभावे-द्रव्यतो भावतश्च वधाभावे हिंसा ध्वनिमात्रं न विषयतः भङ्गकानुपूर्व्यायाता, तथापि च दर्श्यमाना शिष्यमतिविकोपन विनयबुद्धिविकाशायाऽदुष्टैवेति ।

इयपरिणामा बंध, बालो वुड्ढ त्ति थोवमियमित्थ ।
बाले वि सो न तिव्वो,कयाइ वुड्ढ वि तिव्वु त्ति ॥२२९॥

'इय' एव परिणामाद्बन्धे सति वालो वृद्ध इति स्तोकमिदमत्र-हिंसाप्रक्रमे, किमिति?, वालोऽप्यसौ न तीव्र परिणाम कदाचिद् वृद्धेऽपि तीव्र इति जिघांसतामाशयवैचित्र्यादिति ।

अह परिणामाभावे, वहे वि बंधो न पावई एवं ।
कहं न वहे परिणामो,तब्भावे कहँ य नो बंधो ॥२३०॥

अथैव मन्यसे परिणामाभावे सति वधेऽप्यबन्ध एव प्राप्तो ल्येवं परिणामवादे एतदाशङ्क्याह-कथं न वधे परिणाम' किं तर्हि भवत्येवादुष्टाशयस्य तत्राप्रवृत्तेः तद्भावे-वधपरिणामभावे कथं च वधे न बन्धो, बन्ध एवेति ।

सिय न वहे परिणामो, अन्नाणकुमत्थभावणाओ य ।
उभयत्थ तदेव तओ, किलिट्ठबंधस्स हेउ त्ति ॥ २३१ ॥

स्यात्र वध परिणाम क्लिष्ट' अज्ञानात्, अज्ञान व्यापादयत कुशास्त्रभावनानश्च, योगादावेतदाशङ्क्याह—उभयत्र तदेवाज्ञानमसौ परिणाम क्लिष्टबन्धस्य हेतुरिति साम्परायिकस्येति ।

जम्हा सो परिणामो, अन्नाणादवगमेण नो होइ ।
तम्हा तयभावत्थी, नाणाईसुं सइ जइज्जा ॥ २३२ ॥

यस्मादसौ वधपरिणाम' अज्ञानाद्यपगमेन हेतुना न भवति सति त्वज्ञानादौ भवत्येव, वस्तुनस्तस्यैव तद्रूपत्वात्, तस्मात्तदभावार्थी-वधपरिणामाभावार्थी ज्ञानादिषु सदा यतेत तत्प्रतिपक्षत्वात् इति ।

एवं वस्तुस्थितिमभिधायाधुना परोपन्यस्तहेतोरनैकान्तिकत्वमुद्भावयति—

बहुतरकम्मोवक्कम-भावो वेगंतिओ न जं केइ ।
बाला वि य थोवाऊ,हवंति वुड्ढा वि दीहाऊ ॥ २३३ ॥

बहुतरकर्मोपक्रमभावोऽपि बालादिवृद्धादिरनैकान्तिको न, यद्यस्मात्केचन बाला अपि स्तोकायुषो भवन्ति, वृद्धा अपि दीर्घायुषस्तथा लोके दर्शनादिति ।

तम्हा सव्वेसिं चिय, वहम्मि पावं अपावभावेहिं ।
भणियमहिगाइभावो, परिणामविसेसओ पायं ॥२३४॥

यस्मादेवं तस्मात्सर्वेषामेव बालादीनां वधे पापमपापभावैर्वीतरागैर्भणितम् अधिकादिभावस्तस्य पाप्मन परिणामविशेषत प्रायो भणित इति वर्तते । प्रायोग्रहणं तपस्वीतरादिभेदसंग्रहार्थमिति ।

साम्प्रतमन्यद्वादशस्थानकम्—

संभवइ वहो जेसिं, जुज्जइ तेसिं निवित्तिकरणं पि ।
आवडियाकरणम्मि य, सत्तिनिरोहा फलं तत्थ ॥२३५॥

संभवति वधो येषु कृमिपिपीलिकादिषु युज्यते तेषु निवृत्तिकरणमपि विषयाप्रवृत्ते, आपतिताकरणे च पर्युपस्थितानासेवने च सति शक्तिनिरोधात्फलं तत्र युज्यत इति वर्तते । अविषयशक्त्यभावयोस्तु कुत फलमिति ।

तथा चाह—

नो अविसए पवित्ती, तन्निवित्तीइ अचरणपाणिस्स ।
झसनायधम्मतुल्लं, तत्थ फलमबहुमयं केइ ॥ २३६ ॥

नो अविषये नारकादौ प्रवृत्तिर्वधक्रियायास्ततश्च तन्निवृत्या अविषयप्रवृत्तिनिवृत्त्या अचरणपाणे -छिन्नगोदुकरस्य झषज्ञातधर्मतुल्य-छिन्नगोदुकरस्य मत्स्यनाशे धर्म इत्येव कल्पम्, तत्र निवृत्तौ फलम् अबहुमतं विदुषामश्लाघ्य केचन मन्यन्त इत्येष पूर्वपक्ष । अत्रोत्तरमाह—संभवति वधो येष्वित्युक्तम् ।

अथ कोऽयं संभव इति—

किं ताव तव्वहु च्चिय, उयाहु कालंतरेण वेहणं तु ।
किं वा वहु त्ति किं वा, सत्ती को संभवो एत्थ ॥२३७॥

किं तावत्तद्वध एव तेषां व्यापाद्यमानानां वधस्तद्वध क्रियारूप एव, उताहो कालान्तरेण हननं-जिघांसनमेव वा किमवध —अव्यापादनमित्यर्थ ?, किं वा शक्ति व्यापादकस्य व्यापाद्यविषया ?, क सम्भवोऽत्र प्रक्रम इति सर्वेऽप्यमी पक्षा दुष्टा ।

तथा चाह—

जइ ताव तव्वहु चिय, अलं निवित्तीइ अविसयाए उ ।
कालंतरवहणम्मि वि, किं तीए नियमभंगाओ ॥२३८॥

यदि तावत्तद्वध एव तेषां व्यापाद्यमानवधक्रियैव सम्भव इति । अत्र दोषमाह—अलं निवृत्त्या न किञ्चिद्वधनिवृत्त्याविषयत्येति हेतु, 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायो दर्शन'मिति वचनात् अविषयत्व च वधक्रियाया एव असंभवात्, संभवे च सति निवृत्त्यभ्युपगमात्, ततश्च वधक्रियानियमभावे अविषया वधनिवृत्तिरिति । कालान्तरहननेऽपि नियमत' सम्भवेऽभ्युपगम्यमाने किं तया निवृत्त्या न किञ्चिदित्यर्थ, कुत इत्याह-नियमभङ्गात् संभव एव सति निवृत्त्यभ्युपगम । संभवश्च कालान्तरहननस्येति नियमभङ्ग इति ।

चरमविकल्पद्वयाभिधित्सयाऽऽह—

अवह वि नो पमाणं, सुट्ठुयरं अविसओ य विसओ से ।
सत्ती उ कज्जगम्मा, सइ तम्मि य किं पुणो तीए ॥२३९॥

अवधेऽपि न प्रमाणम्, वधवध सम्भव इत्यत्रापि प्रमाणं न ज्ञायते एतेषामस्माद्वध इति । सुष्ठुतरम् अतितराम् अविषयश्च, विषय 'से' तस्या निवृत्ते, अविषयत्व तु तेषां वधासंभवात् अवधस्यैव संभवत्वात् । अस्मिंश्च सति निवृत्त्यभ्युपगमादिति । शक्तिस्तु कार्यगम्या वधशक्तेरपि संभवो न युज्यते यतोऽसौ कार्यगम्यैवेति, न वधमन्तरेण ज्ञायते । सति च तस्मिन्वधे किं पुनस्तया निवृत्त्या तस्य संपादितत्वादेवेति ।

संभवमधिकृत्य पक्षान्तरमाह—

जज्जाईओ अ हओ, तज्जाईएसु संभवो तस्स ।
तेसु सफला निवित्ती, न जुत्तमेयं पि वभिचारा ॥२४०॥

यज्जातीय एव हत स्यात् कृम्यादिस्तज्जातीयेषु संभवस्तस्य वधस्य, अतस्तेषु सफला निवृत्ति, सविषयत्वादिति एतदाशङ्क्याह न युक्तमेतदपि व्यभिचारात् ।

व्यभिचारमेवाह—

वावाइज्जइ कोई, इए वि मणुयम्मि अन्नमणुएणं ।

१-सर्वेष्वपुस्तकेषु एवादृशमेवेति नास्माकं मनीषोन्मेषोऽत्र ।

अहए वि य सीहाओ, दीसइ वहणं पि वभिचारो॥२४१॥

व्यापाद्यते कश्चिदेव हतेऽपि मनुष्ये, सकृत् अन्यमनुष्यस्य तथा लोके दर्शनात्, अतो यज्जातीयस्तु हतस्तज्जातीयेषु सम्भवस्तस्येति नैकान्तः तत्रैव-अन्यमनुष्यस्यैव व्यापादनात्। तथा अहतेऽपि च सिंहादौ आ जन्म दृश्यते हननं कादाचित्कमिति व्यभिचार इति।

नियमो न संभवो इह, हंतव्वा किं तु सत्तिमित्तं तु।
सा जेण कज्जगम्मा, तयभावे किं न सेसेसु॥२४२॥

नियमो न संभवः-इहावश्यंतया न सम्भवः, इहोच्यते-यदुत यज्जातीय एको हतस्तज्जातीयाः सर्वेऽपि हन्तव्याः, यज्जातीयस्तु न हतस्तज्जातीया न हन्तव्या एव किन्तु शक्तिमात्रमेव-तज्जातीयेतरेषु व्यापादनशक्तिमात्रमेव सम्भवः, तत्कथं दोषोऽनन्तरोदितो नैवेत्यभिप्राय इति, एतदाशङ्क्याह-'सा येन कार्यगम्ये' ति सा-शक्तिर्यस्मात्कार्यगम्या वर्तते अतो दोष इति, वधमन्तरेण तदपरिज्ञानात्, सति च तस्मिन् किं तयेत्यभिहितमेवैतत्। अथ सा कार्यमन्तरेणाभ्युपगम्यते इति एतदाशङ्क्याह-तदभावे-कार्याभावे किं न शेषेषु-सर्वेषु साऽभ्युपगम्यते, तथा च सत्यविशेषत एव निवृत्तिसिद्धिरिति।

स्यादेतन्न सर्वसत्त्वेषु सा अतो नाभ्युपगम्यत इति आह च-

नारगदेवाईसुं, असंभवा समयमाणसिद्धीओ।
इत्तो चिय तस्सिद्धी, असुहासयवज्जणमदुट्ठा॥२४३॥

नारकदेवादिष्वसंभवाद्व्यापादनशक्तेर्निरुपक्रमायुष्टत्वे इति। आदिशब्दाद्देवकुरुनिवास्यादिपरिग्रहः, कुत एतदिति चेत् समयमानसिद्धेः-आगमप्रामाण्यादिति। एतदाशङ्क्याह-अत एव समयमानसिद्धे तत्सिद्धिः-सर्वप्राणातिपातनिवृत्तिसिद्धिः "सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि" इत्यादिवचनप्रामाण्याद्, आगमस्याप्यविषयप्रवृत्तिर्दुष्टेवेति एतदाशङ्क्याह-अशुभाशयवर्जनमिति कृत्वा अदुष्टा तद्वधनिवृत्तिः अन्तःकरणादिसंभवालम्बनत्वाच्चेति वक्ष्यतीति।

आवडियाकरणं पि हु, न अप्पमायाउ नियमओ अन्नं।
अन्नत्ते तब्भावे, वि हंत विहला तई होइ॥२४४॥

आपतिताकरणमपि पूर्वपक्षवाद्युपन्यस्तं नाप्रमादान्नियमतोऽन्यत् अपि त्वप्रमाद एव तदिति। अन्यत्वे-अप्रमादादर्थान्तरत्वे आपतिताकरणस्य, तद्भावेऽपि-अप्रमादभावेऽपि हन्त! विफलाऽसौ निवृत्तिर्भवति, इष्यते चाविप्रतिपत्त्या अप्रमत्ततायां फलमिति।

अह परपीडाकरणं, ईसिं वहसत्तिविप्फुरणभावं।
जो तीइ निग्गहो खलु, आवडियाकरणमेयं तु॥२४५॥

अथैवं मन्येत परः-परपीडाकरणं-व्यापाद्यपीडोत्पादने ईषद्वधशक्तिविस्फुरणभावे व्यापादकस्य मनाग्वधसामर्थ्यविजृम्भणलक्षणायां तस्या शक्तेर्या निरोधो-दुष्करतर आपतिताकरणमनर्थकमिति।

एतदाशङ्क्याह-

विहिउत्तरमेवेयं, भणेण गणी उ कज्जगम्म वि।

विप्फुरणं पि हु तीए, बुहाण नो बहुमयं लोए॥२४६॥

विहितोत्तरमेवेदम्, केनेति अत्राह-अनेन शक्तिस्तु कार्यगम्येति। विस्फुरणमपि तस्याः शक्तेर्बुधानां न बहुमतं लोके मरणाभावेऽपि परपीडाकरणे बन्धादिति।

एवं च जा निवित्ती, सा चेव वहो ऽहवा वि वहहेऊ।
विसओ वि सु च्चिय फुडं, अणुबंधा होइ नायव्वा॥२४७॥

एवं च व्यवस्थिते सति, या अनिवृत्तिः सैव वधो निश्चयतः प्रमादरूपत्वात्, अथवाऽपि वधहेतुरनिवृत्तितो वधप्रवृत्तेः, विषयोऽपि-वस्तुतो गोचरोऽपि सैवानिवृत्तिर्वधस्य स्फुटं-व्यक्तम्, अनुबन्धात्प्रवृत्त्यध्यवसायानुपरमलक्षणाद्भवति ज्ञातव्या, अस्या एव वधसाधकत्वप्राधान्यख्यापनार्थं हेतुविषयाभिधानमदुष्टमेवेति।

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह-

हिंसाइपायगाओ, अप्पडिविरयस्स अत्थि अणुबंधो।
अत्तो अणिवत्तीओ, कुलाइवेरं व नियमेण॥२४८॥

हिंसादिपातकादादिशब्दात् मृषावादादिपरिग्रहः, अप्रतिविरतस्यानिवृत्तस्यास्त्यनुबन्धः प्रवृत्त्यध्यवसायानुपरमलक्षणः। उपपत्तिमाह-अत एवानिवृत्तेः, प्रवृत्तेः कुलादिवैरवन्नियमेनावश्यंतयेति।

दृष्टान्तं व्याचिख्यासुराह-

जेसिमिहो कुलवेरं, अप्पडिविरई उ तेसिमन्नोन्नं।
वहकिरियाभावम्मि वि, न तं सयं चेव उवसमेइ॥२४९॥

येषां पुरुषाणां मिथः-परस्परं कुलवैरमन्वयागतम् अप्रतिविरते कारणात्तेषाम् अन्योऽन्यं-परस्परं वधक्रियाभावेऽपि सति न तत्स्वयमेवोपशाम्यति किं तूपशमित सदिति।

तत्तो य तन्निमित्तं, इह वंधणमाइ जह तहा वंधो।
सव्वेसु नाभिसंधी, जह तेसुं तस्स तो नत्थि॥२५०॥

ततश्च तस्मादनुपशमात्तन्निमित्तं वैरनिबन्धनमिह बन्धनादि-बन्धवधादि यथा भवति तथा, तथैतेषामनिवृत्तानां तन्निबन्धनो बन्ध इति। अत्राह-सर्वेषु प्राणिषु नाभिसन्धिर्व्यापादनपरिणामः यथा तेषु दृष्टनियामिषु वैरवत इति तस्य प्रत्याख्यातुस्ततो नास्ति बन्ध इति। नन्वाह-तेऽपि न यथाक्षणमेव प्राणिनां वधादि कुर्वन्ति किन्तु वैरिकुलनिवासिनामेव, एवं प्रत्याख्यातुरपि न सर्वेषु वधाभिसन्धिरिति नाङ्गत्वे बन्धाभाव इति।

एतदाशङ्क्याह-

अत्थि च्चिय अभिसंधी, अविसेसपवित्तिओ जहा तेसु।
अपवित्ती वि निवित्ती, जा उ तेसिं व दोसो उ॥२५१॥

अस्त्येवाभिसन्धिरनन्तरोदितलक्षणः सर्वेषु पुरोऽवस्थितप्रवृत्तितः सामान्येन वधप्रवृत्तेः यथा तेषु कुलवैरवत्सु वैरवत, तथाऽप्रवृत्तावपि वधे अनिवृत्तिरेव यत्र तथा तस्य दोषो नाम।

प्रयत्नानुवृत्तस्य तथापि प्रत्यक्षेण स्यादान्तं
दर्शयन्नत्वे नानिवृत्तिः स्यादित्याह-

सव्वेसि निग्गहत्था, पवित्तिवाओ य हंत दोसाइ।

सिद्धा अणाइनिहणो, जं संसारो विचित्तो य ॥२५२॥

सर्वेषां प्राणिनां विराधनात्तेन तेन प्रकारेण परिभोगाच्च स्रक्चन्दनोपकरणत्वेन हन्त ! वैरादय सिद्धा .हन्त ! सप्रेषणे स्थानान्तरप्रापणे सति वैरोन्माथकादय. कूटयन्त्रकादय प्रतिष्ठिता सर्वसत्त्वविषया इति । उपपत्त्यन्तरमाह—अनादिनिधनो यत्संसारो विचित्रश्चातो युज्यते सर्वमेतदिति ।

उपसंहरन्नाह—

ता बंधमणिच्छंतो, कुज्जा सावज्जजोगविनिवित्तिं ।
अविसयअनिवित्तीए, सुहभावा दढयरं स भवे ॥२५३॥

यस्मादेवं तस्माद्बन्धमनिच्छन्नात्मन कर्मणा कुर्यात् सावद्ययोगविनिवृत्तिमोघन सपापव्यापारनिवृत्तिमित्यर्थ । अविषयानिवृत्त्या नारकादिवधभावेऽपि तदनिवृत्त्या अशुभभावादविषयेऽपि वधविरतिं न करोतीत्यशुभो भाव , तस्मात् दृढतरं सुनग स भवेद्बन्धो भावप्रधानत्वात्तस्येति ।

इत्तो य इमा जुत्ता, योगतिगनिबंधणा पवित्तीओ ।
जं ता इमीइ विसओ,सव्वु च्चिय होइ विन्नेओ ॥२५४॥

इतश्चेय निवृत्तिर्युक्ता योगत्रिकनिबन्धना-मनोवाक्काययोगपूर्विका प्रवृत्तिर्यस्मादस्या अनिवृत्तेर्विषय सर्व एव भवति विज्ञेय , पाठान्तर योगत्रिकनिबन्धना निवृत्तिर्यस्मात्सगतार्थमेवेति ।

तथा चाह—

किं चिंतेइ न मणसा, किं वायाए न जंपए पावं ।
न य इत्तो वि न बंधो,ता विरइं सव्वहा कुज्जा ॥२५५॥

किं चिन्तयति न मनसा अनिरुद्धत्वात्सर्वत्राप्रतिहतत्वात् तस्य, किं वाचा न जल्पति पापं तस्या अपि प्रायोऽनिरुद्धत्वादिति । न चातोऽपि योगद्वयव्यापारान्न बन्ध किन्तु ब न एव, यस्मादेवं तत्तस्माद्विरतिं सर्वथा कुर्यात् अविशेषेण कुर्यादित्यर्थ ।

एवं मिच्छादंसण, वियप्पवसओऽसमंजसं केइ ।
जंपंति जं पि अन्नं, तं पि असारं मुणेयव्वं ॥ २५३ ॥

एवमुक्तप्रकारं मिथ्यादर्शनविकल्पसामर्थ्येन असमञ्जसम् अघटमानकं केचन कुवादिनो जल्पन्ति, यदप्यन्यत्-किञ्चित्तदप्यसारं मुणितव्यम् , उक्तन्यायानुसारत एवेति । आ० । ओघ० । विशे० । स्था० । स० । (त्रिचत्वारिंशदधिकशतद्वयविधा हिंसा ' पाणाइवायवेरमण ' शब्दे पञ्चमभागे व्याख्याता ।) (यतनया कर्मबन्धो न भवतीति ' वध ' शब्दे पञ्चमभागे । ' सम्मत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे च उक्तम् ।) (' जले जीवा स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाकुले लोके, कथ भिक्षुरहिंसक ॥१॥' इति 'अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५२२ पृष्ठे सिद्धिसाधनप्रस्तावे उपपादि ।) (केषांचित्परतीर्थिकानां हिंसकाना निन्दा ' पुरिसविजय विभग ' शब्दे पञ्चमभागे अकारि ।) जिनसमवसरणे वस्तुपभोगे हिंसादोषपरिहार ' अद्दगकुमार ' शब्दे प्रथमभागे ५५४ पृष्ठे कृत) (एकेन्द्रियादीना हिंसाया सदृश पापमिति ' अणायार ' शब्दे प्रथमभागे सम्यगभ्यधायि ।) (कूपखननाद्यर्थं राजादिना पृष्टो हिंसानुमोदनपर न वदेदिति ' दाण ' शब्दे चतुर्थभागे २६६६ पृष्ठे प्रतिपादितम् ।) (आत्मैव हिंसेति शब्दनयाना मतं प्राणातिपातेन क्रिया क्रियत इति प्रस्तावे 'किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५५३ पृष्ठे उपपादितम् । ('एवं खु नाणिणो सार,जन्न हिंसइ किंचण । अहिंसा समयं चेव, एतावत वियाणिये' ति ' अहिंसा ' शब्दे प्रथमभागे ८७८ पृष्ठे व्याख्यातम् ।) (दर्पिका कल्पिका च हिंसा 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठभागे उक्ता ।)

एगो बेंदिए पाणी एगं सयमेव हत्थेण वा पाएण वा अन्नयरेण वा सलागाइअहिगरणभूओवगरणजाएणं जणं केइ संघट्टावेज्जा पासं वट्टियं वा अपरं समणुजाणेज्जा से णं तकम्मं जया उदिण्णं भवेज्जा तया जहा उच्छुखंडाइ जंत तहा निप्पीडिज्जमाणे छम्मासेणं खवेज्जा । एवं गाढे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं तं कम्मं वेदेज्जा । एवं अगाढपरियावणे वाससहस्सं गाढपरियावणे दस वाससहस्सं एवं आगाढकिलावणे वासलक्खं गाढकिलावणे दसवासलक्खाइ उद्दवणं वासकोडी एव तेइंदियाइसु पि णेयं ता एवं वियाणमाणे मा तुम्हे मुज्झह त्ति ।(महा०६अ०)

" परिनिव्वुयम्मि भग-वंते धम्मतित्थकरे ।
जिणाभिहिय सुत्तत्थं. गणहरो जो परूवइ ।
ताव मालावगं एयं वक्खाणम्मि समागय ॥
पुढवीकाइगमेगं, जो वावाए सो ऽसंजओ ।
ताईसरो विचिंतेइ, सुहुमे पुढविकाइए ॥
सव्वत्थ उद्दविज्जति, को ताइ रक्खिउं तरे ।
लहुईकरेइ अत्ताणं, एस एव महायसो ।
असद्धेयं जणे सयले, किमट्ठ य पन्नइक्खइ ॥
अच्चंतकडुयं एयं, वक्खाणंतस्स वीफुड ।
कट्ठं व मोयरं लाभे, एरिसं को णु चिट्ठइ । "

महा० ६ अ० ।

(विकलेन्द्रियहिंसाया जीतव्यवहारो 'जीयववहार' शब्दे चतुर्थभागे १५६ पृष्ठ उक्त ।) " पीडाकर्तृत्वतो देहव्यापत्त्या दुष्टभावत । " इत्यादि ' वाद ' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् ।) दु खितप्राणिहिंसाया धर्मत्वसाधकाना ससारमोचकाना मत ' ससारमोयग ' शब्दे खण्डनम् ।)

हिंसाज्झाण–हिंसाध्यान–न० । हिंसा महिषादिजीवमारण तस्या ध्यान कुपितसकालसौकरिकस्येव । मारणाध्यवसाये , आतु० ।

हिंसाणंद–हिंसानन्द–न० । हिंसायामानन्दो रुचिर्यस्मिंस्तत् हिंसानन्दम् । आर्त्तध्यानभेदे , सम्म० । एतदपि बाह्याध्यात्मिकभेदात् द्विविध, परुषनिष्ठुरवचनाक्रोशनिभर्त्सनाताडनपरदारातिक्रमाभिनिवेशादिरूप बाह्य स्वपराभ्या स्वसंवेदनानुमानगम्य बाह्यम् । आध्यात्मिक-हिंसाया सरम्भादिलक्षणाया नैर्घृण्येन प्रवर्त्तमानस्य सकलाध्यवसान, सकलश्चित्तप्रबन्धस्तस्याध्यवसान तीव्रकषायानुरक्तत्व प्रथम हिंसानन्द नाम । सम्म० ३ काण्ड ।

हिंसाणुबंधि-हिंसानुबन्धिन्-न०। हिंसां सत्त्वानां वधवेधबन्धनादिभिः प्रकारैः पीडामनुबध्नाति सततप्रवृत्तां करोतीत्येवंशील यत् प्रणिधान. हिंसानुबन्धो वा यत्रास्ति तत् हिंसानुबन्धि। आर्तध्यानभेदे, भ० २५ श० ७ उ०। दश०।

हिंसादंड-हिंसादण्ड-पुं०। हिंसामाश्रित्य हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यति वा अयं वैरिकादिर्मामित्येवं प्रणिधानेन दण्डो विनाशनं हिंसादण्ड.। स० १२ सम०। हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यत्ययमित्यभिसंधे सर्पवैरिकादिवधे, स्था० ५ ठा० २ उ०।

तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यायते—

अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहा णामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा अन्नं वा अन्निं वा हिंसिंसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति अणेण वि णिसिरावेति अन्नं पि णिसिरंतं समणुजाणइ हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिए। (सू० १६)

अथापरं तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यायते, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुष.—पुरुषकारं वहन् स्वतो मरणभीरुतया वा मामयं घातयिष्यतीत्येवं मत्वा कंसवद्देवकीसुतान् भावतो जघान. मदीयं वा पितरमन्यं वा मामकं ममीकारोपेत परशुरामवत्कार्तवीर्यं जघान, अन्यं वा कंचनायं सर्पसिंहादिर्व्यापादयिष्यतीति मत्वा सर्पादिकं व्यापादयति, अन्यदीयस्य वा कस्यचिद्धिरण्यपश्वादेरयमुपद्रवकारीति कृत्वा तत्र दण्डं निसृजति तदेवमयं मा मदीयमन्यदीयं वा हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यतीत्येवं संभाविते त्रसे स्थावरे वा तं दण्डं प्राणव्यपरोपणलक्षणं स्वयमेव निसृजति अन्येन निसर्जयति निसृजन्तं वाऽन्यं समनुजानीते इत्येतत्तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यातमिति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। प्रव०।

हिंसाययण-हिंसायतन-न०। व्यापत्तिधामसु, ओघ०।

हिंसिय हिंसित-न०। हिंसाप्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

हिक्का-देशी—रजक्याम्, दे० ना० ८ वर्ग।

हिकास-देशी—पङ्के, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा।

हिक्किअ-देशी—अश्वरवे, दे० ना० ८ वर्ग ६८ गाथा।

हिच्चा-हित्वा-अव्य०। उपशमे उपित्वेत्यर्थे, आचा०। 'हि' गतावित्यस्मात् पूर्वकाले क्त्वा। हित्वा गत्वा—प्रतिपद्येत्यर्थे, आचा०१ श्रु० ४ अ०४ उ०। 'ओहाक्' त्यागे, हाधातोः क्त्वा। त्यक्त्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

हिज्ज-ह्यस्-अव्य०। कल्ये, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा।

हिट्ठ-अधस्-अव्य०। "अधसो हेट्ठं ॥८।२।१४१॥ इति हेट्ठादेश.। सयोगपूर्वस्यैकारस्य ह्रस्व इकार। अधस्तादर्थे, प्रा०। स्था०। आकुले, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा।

हिट्ठगइ-अधस्ताद्गति-स्त्री०। नरकेषूपपाते, दश० १ चू०।

हिट्ठाहिड-देशी—आकुले, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा।

हिट्ठिमउवरिमगेविज्जग-अधस्तादुपरितनग्रैवेयक-पुं०। ग्रैवेयकदेवभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

हिट्ठिमगेविज्ज-अधस्तनग्रैवेय-पुं०। ग्रैवेयकदेवभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

हिट्ठिममज्झिमगेविज्जग-अधस्तनमध्यमग्रैवेयक-पुं०। ग्रैवेयकदेवभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

हिट्ठिल्ल-अधस्तन-त्रि०। नीचे, अनु०।

हिडि-धा०। गतौ। भ्रमणे,भ्वादि आत्मनेपद सकर्मक सेट् इदित्। हिंडइ। प्रा०।

हिडिंबा-हिडिम्बा-स्त्री०। भीमसेनस्य भार्यायां घटोत्कचस्य मातरि स्वनामख्यातायां राक्षस्याम्, प्रा० ४ पाद।

हिड्ड-देशी—वामने, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा।

हित-हित-न०। पथ्यान्नवत्,(भ० २ श० १ उ०।) उपकारके, उत्त० २ अ०।

हितपक-हृदयक-न०। स्वार्थे क। कृपादित्वात् इ। "तदोस्त" ॥८।४।३०७॥ इति दस्य त। "हृदये यस्य प"॥८।४।३१०॥ इति यस्य प। हितपकं। अन्तःकरणे, प्रा० ४ पाद।

हितमितभोजि-हितमितभोजिन्-पुं०। पथ्यालपाहाराभ्यवहारिणि, पञ्चा० १६ विव०।

हित्थ-त्रस्त-पुं०। "त्रस्तस्य हित्थ-तट्ठौ"॥८।२।१३६॥ इति त्रस्तस्थाने हित्थादेश। उद्विग्ने, प्रा०। लज्जिते,दे० ना०८ वर्ग ६७ गाथा। पाइ०ना०।

हित्था-देशी—लज्जायाम्, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा।

हिम-हिम-न०। तुषारे, "तुहिणं हिमं तुसार" पाइ० ना० १२७ गाथा। शीते, सू० १ उ० ३ प्रक०। ओघ०। तुहिने, ध० २ अधि०। स्था०। स्त्यानोदके, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। हिमं तु शिशिरसमये शीतपुद्गलसम्पर्काज्जलमेव काठिनीभूतमिति। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

हिमग-हिमक-न०। हिम एव हिमकम्। तुहिने, स्था० ४ ठा०। शिशिरादौ वानेरिने हिमकणे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। संस्त्याने जलबिन्दौ, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। भ०। आचा०। वृ०।

हिमयर-हिमकर-पुं०। चन्द्रे, "मयलंछणो हिमयरो" पाइ० ना० ५ गाथा।

हिमवंत-हिमवत्-पुं०। वर्षधरपर्वतविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। अन्त०। प्रश्न०। रा०। नं०। इह जम्बूद्वीपे भरतस्य हैमवतस्य च क्षेत्रस्य सीमाकारी भूमिनिमग्नपञ्चविंशतियोजनो योजनशतोच्छ्रायप्रमाणो भरतक्षत्राऽपेक्षया द्विगुणविष्कम्भो हेममय चीनपट्टवर्णो नानावर्णवि-

शिष्टद्युतिमणिनिकरपरिमण्डितपार्श्वं सर्वत्र तुल्यविस्तारो गगनमण्डलोल्लिखितरत्नमयैकादशकूटोपशोभित तपनीयमयतलविविधमणिकनकमण्डितनटदशयोजनावगाढ—पूर्वपश्चिमयोजनसहस्रायामदक्षिणोत्तरयोजनपञ्चशतविस्तृतपद्महृदोपशोभितशिरोमध्यभाग कल्पपादपश्रेणिरमणीयपूर्वापरपर्यन्ताभ्यां लवणार्णवजलसंस्पर्शी हिमवन्नामा पर्वत । न०।

दो हिमवंताइं । स्था० २ ठा० ३ उ०।

(अत्र सूत्रप्रतिबद्धवक्तव्यता क्षुल्लहिमवन्महाहिमवच्छब्दयोः तृतीयषष्ठभागयोरुक्ता ।) स्कन्दिलाचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, नं०।

हिमवाय–हिमपात–पुं०। तुहिनपाते. आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। "गिरिपज्जुन्नवयारे,अंबिअम्मा समयं यं च नामेण। तत्थ वि पावा पुढवी, हिमवाए होइ वरहेम॥" ती०३ कल्प।

हिमसीयल–हिमशीतल–पु०। अत्यन्तशीतले, अत्यन्तशीतलवेदनोत्पादकत्वात् तथाविधे नैरयिकाणामाहारे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। चन्द्रं सूर्यं च गृह्णतो राहोः कृष्णपुद्गलभेदे, चं० प्र० २० पाहु०। सू० प्र०।

हिय–हित–न०। ऐहिके आमुष्मिके च पथ्ये, उत्त० १ अ०। आव०। दर्श०। ज्ञा०। प्रश्न०। स्था०। दशा०। भ०। पथ्यान्नवत् (भ० ६ श० ३३ उ०। ति०।) अदोषकरे,स्था० ३ ठा० ४ उ०। सद्गतिप्रापके, अनर्थनिवारके च । सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। परिणामसुखावहत्वात् सामायिके, आ० म० १ अ०। जी०। परिणामपथ्ये, कुशलानुबन्धिनि, आ० म० २ अ०। परमार्थतो मुक्त्यवाप्तिस्तत्कारणं वा हितं तच्च सम्यग्दर्शनचारित्राख्यमवगन्तव्यमिति। सूत्र० १श्रु० ११अ०। उत्त०। अशेषापायरहिते, ईप्सितस्थानप्रापके च। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। अभिप्रेतार्थसाधनात्, (आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।) जन्मान्तरेऽपि कल्याणवहे, ग०। अनर्थपरिहाररूपे (स० १४६ सूत्र।) प्राणिगणानुपतापके, दर्श० ५ तत्त्व०। अनर्थप्रतिघातार्थप्राप्तिरूपे (स० १४० सूत्र।)'अभ्युदयनिःश्रेयसयोः, न०। उत्त०। (अत्रत्यव्याख्या 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३८६ पृष्ठे गता ।) आत्यन्तिकतदुःखाप्रकर्षप्ररूपणेनानुकूलवृत्तौ, स० १ सम०। उपकारके, विशे०। कल्याणे, पा०।

हियउड्डावण–हृदयोड्डापन–न०। चित्ताकर्षणहेतौ, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। शून्यचित्तकारके, विपा० १ श्रु० २ अ०।

हियउप्पाडिय–उत्पाटितहृदय–त्रि०। आकृष्टकालेज्यकमांसे, औ०।

हियकंखि–हितकाङ्क्षिन्–पुं०। हिताभिलाषिणि, पो० २६ विव०। हितेच्छौ, ध० ३ अधि०।

हियकर–हितकर–पु०। निर्वाहाभ्युदयहेतौ,स्था०६ ठा०३ उ०।

हियकरी–हितकरी–स्त्री०। इह परत्र च तथ्यविधायिन्याम्, उत्त० ३ अ०।

हियकाम–हितकाम–त्रि०। सुखनिबन्धनं वस्तु इह हितम् अपायाभावात् तत्र कामोऽस्येति हितकामः। भ० १५ श०। प्रति०। हिताभिलाषिणि, षो० ६ विव०।

हियएसि–हितान्वेषिन्–हितमन्वेषयत इत्येवंशीलो हितान्वेषी। हितगवेषके, ध० ३ अधि०।

हियत्थ–हितार्थ–पु०। हितमनर्थप्रतिघातार्थप्राप्तिरूपं तदेवार्थः प्रार्थ्यमानत्वात्। हृतलक्षणेऽर्थे, स० १४० सूत्र। उत्त०।

हियभासि–हितभाषिण्–त्रि०। हितं परिणामसुन्दरं तद्भाषते इत्येवंशीलो हितभाषी। हितवक्तरि, व्य० १ उ०।

हियमियअफरुसवाइ–हितमितापरुषवा(च्)दिन्–पुं०। हितस्याभिमतस्यापरुषस्य च वक्तरि,'हितमितापरुषवागिति' हितवाक् हितं वक्ति परिणामसुन्दरं मितवाग्मितं स्तोकैरक्षरैः अपरुषवाक् अपरुषमनिष्ठुरम्। दश० ६ अ० १ उ०।

हियय–हितक–त्रि०। प्रकृत्यनुकूले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

हृदय–न०। आशये, पाइ० ना० २७० गाथा। सम्यगभिप्राय, व्य० २ उ०। मनसि,ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आ० म०। शरीरप्रदेशे, द्वा० २६ द्वा०। सूत्र०।

हिययउट्ठ–हृदयोत्थ–न०। हृदयमांसपिण्डे, विपा० १ श्रु० ५ अ०।

हिययंगम–हृदयंगम–पुं० किन्नरविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

हिययगमणिज्ज–हृदयगमनीय–त्रि०। अर्थप्राकट्यचातुरीसचित्रत्वात्सुबोधे, जं० २ वक्ष०। औ०। हृदयं ये गच्छन्ति कोमलत्वात्सुबोधत्वाच्च। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। भ०। हृदयंगमे, स० ३४ सम०।

हिययग्गाहि(ण्)–हृदयग्राहिन्–त्रि०। हृदयं गृह्णाति हृदये सम्यग् निविशते इत्येवंशील हृदयग्राहा। अन्तरभिनिविष्टे, व्य० १ उ०।

हिययग्गाहित्त–हृदयग्राहित्व–न०। श्रोतृमनोहरतायाम्, स० ३५ सम०। औ०। दुर्गमस्याप्यर्थस्य परहृदयप्रवेशकरणे, रा०।

हिययट्ठ–हृदयस्थ–त्रि०। चित्तस्थे, षो० १२ विव०।

हिययणयणकंत–हृदयनयनकान्त–त्रि०। लोकाना हृदयनयनयोर्वल्लभे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

हिययद–हृदयद–पु०। वल्लभे, प्रति०।

हिययदइया–हृदयदयिता–स्त्री०। वल्लभायाम्, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

हिययपल्हावणिज्ज–हृदयप्रह्लादनीय–त्रि०। हृदयगतकोपशोकादिग्रन्थिविलयनकारिणि,भ०६श०३३उ०। औ०। जं०।

हिययसूल–हृदयशूल–पुं०। न०। हृदयपीडायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

हिययाणंदजणण–हृदयानन्दजनन–न०। मन समृद्धिकारके, भ० ६ श० ३३ उ०।

हियसुहणिस्सेसकामय–हितसुखनिश्शेषकामक–पु०। हितं सुखम्–श्रद्धु सानुबन्धमित्यर्थः, निश्शेषाणां सर्वेषां कामयत वाञ्छति य स तथेति। सर्वेषां सुखप्रार्थके, प्रति०।

हियाऽकारय-हिताकारक-पुं० । जनहितस्याऽकर्त्तरि, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

हियाणुप्पेहि-हितानुप्रेक्षिन्-त्रि० । हितं पथ्यमनुप्रेक्षते पर्यालोचयतीत्येवशीलो हितानुप्रेक्षी । हितपर्यालोचके, उत्त० १३ अ० ।

हियारंभ-हितारम्भ-पुं० । पारलौकिकप्रशस्तानुष्ठानप्रवृत्तौ, द्वा० २२ द्वा० ।

हियाहार-हिताहार-पुं० । हितं द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतोऽविरुद्धानि द्रव्याणि, भावत एषणीय तदाहारयन्ति ये ते हिताहाराः । हितभोजिषु, पिं० ।

हिरणा-देशी-लज्जायाम्, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

हिरण्ण-हिरण्य-न० । अघटिते, (जीं०३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० १) सुवर्णे, पञ्चा० १ विव० । उत्त० । रूप्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । नि० चू० । द्रव्यजाते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आव० । अघटितस्वर्णात्मके द्रव्ये, दशा०-६ अ० ।

हिरण्णगब्भ-हिरण्यगर्भ-पुं० । हिरण्यं स्वर्णमयाख्यं गर्भ उत्पत्तिस्थानमस्य । चतुर्मुखे ब्रह्मणि, हिरण्यगर्भादीनामनादिविवक्षितभगयोगोऽभ्युपगम्यते । उक्तं च-" ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्य च जगत्पते. । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्ध चतुष्टयम् ॥१॥ " आ० म० १ अ० ।

हिरण्णजुत्ति-हिरण्ययुक्ति-स्त्री० । रूप्यस्य यथोचितस्थाने योजने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० ।

हिरण्णपाग-हिरण्यपाक-पुं० । रजतसिद्धौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । स० । आचा० ।

हिरण्णपेडा-हिरण्यपेटा-स्त्री० । हिरण्यमञ्जूषायाम् भ०१३ श० ६ उ० ।

हिरण्णवास-हिरण्यवर्ष-पुं० । रूप्यस्य अघटितसुवर्णस्य वा वर्षणे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । जी० । भ० ।

हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कम-हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम-पुं० । हिरण्यसुवर्णयो. प्रत्याख्यानकालगृहीतप्रमाणोल्लङ्घन, उपा० । ' हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे ' त्ति प्राग्वत् । अथवा-राजादे. सकाशाल्लब्धं हिरण्याद्यभिग्रहोऽवधिं यावदन्यस्मै प्रयच्छत पुनरवधे पूर्त्तौ ग्रहीष्यामीत्यध्यवसायवतोऽयमतिचार । उपा० १ अ० ।

हिरण्णसुवण्णविहि-हिरण्यसुवर्णविधि-पुं० । रजतस्य सुवर्णस्य च प्रकार, उपा० । हिरण्यं-रजत सुवर्ण प्रतीतम् विधि.-प्रकार. । उपा० १ अ० ।

हिरण्णाऽऽगर-हिरण्याऽऽकर-पुं० । हिरण्योत्पत्तिभूमौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । जी० ।

हिरण्णुक्कडी-हिरण्योत्कटी-स्त्री० । सुगृहीतनामधेयाया आर्याया. पूर्वभवजीवस्य धर्माचार्योपलब्धिस्थानभूतायां राज धान्याम्, महा० २ चू० ।

हिरिमिक्क-हिरिमिक्क-पुं० । प्राणिनां पूज्ये आरण्डवरापरनामके यक्षे, व्य० ७ उ० ।

हिरिअ-ह्रीक-पुं० । ह्रीं-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् ॥ ८ । २ । १०४ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः । लज्जायुक्ते, प्रा० । उत्त० ।

हिरिंब-देशी-पल्वले, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिरिकूड-ह्रीकूट-पुं०।न०। महापद्माख्यनदूहदनिवासिन्ह्रीनामकदेवतासत्के महाहिमवतः कूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

हिरिमंथा-देशी-चणके, दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा ।

हिरिमाणसत्त-ह्रीमनःसत्त्व-पुं० । ह्रिया हसिष्यन्ति मामुच्चकुलजात जना इति लज्जया मनस्येव न काये रोमहर्षकम्पादिभयलिङ्गोपदर्शनात् सत्त्वं यस्य सः ह्रीमनःसत्त्वः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ह्रियाऽपि मनस्येव सत्त्वं न देहे शीतादिषु कम्पादिविकारभावात् यस्य स ह्रीमन.सत्त्वः । तथाविधसत्त्वशालिनि पुरुषे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

हिरिली-हिरिली-स्त्री० । कन्दविशेषे, उत्त० ३५ अ० । भ० ।

हिरिवत्तिय-ह्रीप्रत्यय-न० । ह्री-लज्जा संयमो वा प्रत्ययो निमित्त यस्य धारणस्य तत्तथा । लज्जार्थे, ' हिरिवत्तियं वत्थं धारेज्जा ' स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

हिरिवेर-ह्रीवेर-पुं० । न० । बालके, गन्धद्रव्यविशेषे च । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । उत्त० । पाइ० ना० २१५ गाथा ।

हिरिसत्त-ह्रीसत्त्व-पुं० । ह्रिया-लज्जया सत्त्वं परीषहेषु सांग्रो संग्रामादावितरस्य वाऽवष्टम्भोऽविचलनं यस्य स ह्रीसत्त्व. । स्था० ५ ठा० ३ उ० । ह्रिया-लज्जया सत्त्वं परीषहादिसहने रणाङ्गणे वाऽवष्टम्भो यस्य स ह्रीसत्त्व. । तथाविधसत्त्वे पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

हिरी-ह्री-स्त्री० । " ह्रीं-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् " ॥ ८ । २ । १०४ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः । ह्री । हिरी । प्रा० । लज्जायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० । स्था० । सूत्र० । द्वा० । ध० । विशे० । सूत्र० । रा० । देवताविशेषे, अनु० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे महापद्मह्रदवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां देव्याम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । उत्तररुचकपर्वतवास्तव्याया दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, आ० म० १ अ० । जं० । आ० क० । द्वी० । आ० चू० । सुपुरुषस्य किंपुरुषेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । शक्रादिलोकसोममहाराजस्याग्रमहिष्याम्, ज्ञा० २ श्रु० ४ वर्ग १ अ० ।

हिरिवंग-देशी । लगुडे, दे० ना० ८ वर्ग ६३ गाथा ।

हिरीमण-ह्रीमनस्-पुं० । ह्री लज्जा संयमो मूलोत्तरगुणभेदभिन्नस्तत्र मनो यस्यासौ ह्रीमना, यदि वा-अनाचारं कुर्वन्नाचार्यादिभ्यो लज्जते स एवमुच्यते । पापभीरुतया लज्जालौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

हिल्ला-देशी-वालुकायाम्, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिल्लिया-हिल्लिका-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

हिल्लूरी-देशी-लहर्याम् , दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

हिल्लोडग-देशी-क्षेत्रे मृगनिषेधकरवे, दे०ना०८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिसीय-हृषीक-न० । इन्द्रिये,न० । 'हृषीकं करणं स्मृत'मिति वचनात् । आ० म० १ अ० । द्वा० ।

हिसोहिसा-देशी-स्पर्धने, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

ही-हि-अव्य० । कन्दर्पातिशयद्योतने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । अनु० । निश्चये, अष्ट० १५ अष्ट० ।

ह्री-स्त्री० । लज्जायाम् , सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

हीण-हीन-त्रि० । असमर्थे , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । असंपूर्णे, उपा० २ अ० । न्यूने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

हीणक्खर-हीनाक्षर-न० । अक्षरन्यूने, ध० ३ अधि० । आव० । बृ० । तत्र हीने द्विधा-द्रव्यहीनं, भावहीनं च ।

द्रव्यहीने उदाहरणमाह—

तित्त कडु भेसयाइं, माणं पीलेज्जऊण ते देइ ।
पउणइ ण तेहि अहिते-हि मरइ बालो तहाहारो ॥२६१॥

"एगाए अविरइयाए पुत्तो गिलाणो, तीए विज्जो पुच्छिओ,तेण ओसहाणि दिन्नाणि । सा चिंतेइ—इमाणि कडुय त्ति ताणिमाणि पीडिज्जंत ऊणाइं पअद्धाणि अवणीयानि सो तेहिं न पगुणीकओ मओ । तओ एगा उण अहियं देइ तीसे वि मओ" । अक्षरगमनिका-तत्र कटुकौषधानि मा अमुं बालं पीडयेयुरिति न तानि परिपूर्णानि ददाति किन्त्वर्द्धानि । न च तैरर्द्धैर्बाल प्रगुणति, किन्तु म्रियते स तथा आहारे ऊने म्रियते,एष दृष्टान्त ।अयमथोपनय -यथा तौ बालावेकभविकं दुःखं प्राप्तावेवं यो भावहीनस्सूत्रमुच्चरति पठति वा, अक्षरैर्हीनमित्यर्थः , तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, आज्ञां तीर्थकराणामतिवरतश्चतुर्गुरु, अनवस्थाया चतुर्गुरु, मिथ्यात्वे चतुर्लघु । विराधना द्विविधा—आत्मविराधना, संयमविराधना च । तत्रात्मविराधना-प्रसज्य देवता छलयेत् अन्यो वा साधुर्भ्रूयात् किंचिद्वयसि सूत्रं कलहप्रसङ्गे अस्थिभङ्गमरणादिदोषप्रसङ्ग श्रुतं हीनं कुर्वता संयमो विराधित एव ।

कथमित्याह—

अक्खरपयाइएहिं, हीणइरेगं च तेसु यं चेव ।
दोसु वि अत्थविवत्ती,चरणे अत्थे य न य मुक्खो॥२६२॥

हीनमक्षरपदादिभिरुन नैरंवाक्षरपदादिभिरतिरिक्त साधिक द्वयोरपि हीनादौ अधिकादौ चेत्यर्थः । अर्थस्यापत्ति अर्थस्य विसंवादः अनश्वार्थस्य विसंवादे चरणस्य विसंवाद , चरणविसंवादाच्च मोक्ष —मोक्षाभाव मोक्षाभावे सर्वा दीक्षा निरर्थिका, एष भावहीने दोष ।

तस्मिन्नेव भावहीने दृष्टान्तमाह—

विज्जाहरे रायगिहे, उप्पयपडणं च हीणदोसेणं ।
सुणणा मरणागमणं,दयाणुसारिस्स दाणं च ॥२६३॥

"रायगिहे सामी समोसढो, तत्थ एगो विज्जाहरो वंदिउं पडिनिउत्तो विज्जं आवाहेइ, तस्स तीए विज्जाए कइवि अक्खराणि विस्सरियाणि सो उप्पयए पडइ य करेइ । अभओ तं दट्ठूण तस्स सगासे गओ । पुच्छइ-तेण सिट्ठं अभएण जइ मम पि देसि तो वावांरमि इयरेण पडिवन्नं । तओ अभओ भणइ-तो आय भण एग पय, तेण भणियं ताहे अभएण पयाणुसारिणा निणिए अक्खराणि समरियाणि, विज्जाहरो उप्पइत्ता गओ । अभयस्स विज्जं दाउं । " अक्षरगमनिका-राजगृहे विद्याधर , कतिपयविद्याक्षरगलनात् हीनदोषेण उत्पतनं पतनं च करोति, ततो विद्याप्रदानामभयस्य श्रवणात् तत्प्रवणतो अभयस्य पदानुसारिप्रज्ञाया विस्मृतपदाना स्मारणात्तदनन्तरं पदानुसारिणोऽभयस्य विद्यादानं कृत्वा विद्याधरस्य स्वस्थाने गमनम् । बृ० १ उ० १ प्रक० । (तादृशं विद्याधरं दृष्ट्वा श्रेणिको भगवन्तमप्राक्षीत् कथमयमुत्पातनिपातं करोति ? भगवता-क्रम्-अस्यैक विद्याक्षर विस्मृतमिति अनुयोगद्वारचूर्ण्यार्थयेण संघाचारेऽधिकम् ।)

हीणणाय-हीनज्ञात-न० । तुच्छोदाहरणे, पं० व० २ द्वार । पञ्चा० ।

हीणणेत्त-हीननेत्र-पुं० । अपगतचक्षुषि,सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

हीणपुण्णचाउद्दस-हीनपुण्यचातुर्दश-पुं० । हीना-असम्पूर्णा चतुर्दशी तिथिर्जन्मकाले यस्य स हीनपुण्यचतुर्दशक । उपा० २ अ० । हीनायां चतुर्दश्या जाते, भ० ।

हीणपुण्णचाउद्दसे जं णं । (सू० १४४ ×)

'हीणपुण्णचाउद्दसे' त्ति हीनायां पुण्यचतुर्दश्यां जातो हीनपुण्यचातुर्दश । किल चतुर्दशी तिथि पुण्या जन्माश्रित्य भवति, सा च पूर्णाऽत्यन्तभाग्यवतो जन्मनि भवति अत आक्रोशतोक्तं 'हीणपुण्णचाउद्दसे' त्ति । भ० ३ श०२ उ० ।

हीणमत्तया-हीनसत्त्वता-स्त्री० । सत्त्वाभावे , स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

हीणस्सर-हीनस्वर-त्रि० । लघुध्वनौ, त० । अल्पस्वरे, भ० १ श० ७ उ० । स्था० ।

हीनायार-हीनाचार-पुं० । पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्ताद्याच्छन्दनित्यवासिषु , दर्श० ४ तत्त्व ।

हीमंत-ह्रीमत्-त्रि० । ह्रीरसंयमं प्रति लज्जा तद्वान् । असंयमजुगुप्सावति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

हीमाणहे-अव्य० । विस्मयनिर्वेदयो , " हीमाणहे-विस्मयनिर्वेदे " ॥८।४।२८२॥ शौरसेन्या हीमाणहे इत्यय निपातो विस्मये निर्वेदे च प्रयोक्तव्य । प्रा० । विस्मये—यथा उदात्तराघवे राक्षस —"हीमाणहे जीवन्त-वच्छा मे जणणी ।" निर्वेदे-यथा विक्रान्तभीमे राक्षस —"हीमाणहे पलिस्सता हगे एदेण नियविधिणो दुव्ववशिदेण । " प्रा० ४ पाद ।

हीयमाणय-हीयमानक-न० । हीयते तथाविधसामग्र्यभावता हानिमुपगच्छति हीयमानम् , कर्मकर्तृविवक्षायामानश्-

प्रत्यय' । हीयमानमेव हीयमानकम् ' कुत्सितालपाज्ञाते ' ॥७।३।३३॥ (सिद्धहै०) इति कः प्रत्ययः । पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रासमुपगच्छत्यवधिज्ञाने, 'हीयमाणं पुव्वावत्थाओ 'अहोहो हस्समाणं' इति । नं० ।

से किं तं हीयमाणयं ओहिनाणं ?, हीयमाणयं ओहिनाणं अप्पसत्थेहिं अज्झवसाणट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स- संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही परिहायइ । से तं हीयमाणयं ओहिनाणं । (सू० १३)

'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तद्धीयमानकमवधिज्ञानम् ?, सूरिराह—हीयमानकमवधिज्ञानं कथंचिद्वाप्तं सत् अप्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वर्त्तमानचारित्रस्य—देशविरतादे संक्लिश्यमानस्य उत्तरोत्तरं संक्लेशमासादयत', इदं च विशेषणमविरतसम्यग्दृष्टेरवसेयं तथा संक्लिश्यमानचारित्रस्य देशविरतादेः सर्वतः- समन्तादवधि परिहीयते पूर्वावस्थातो हानिमुपगच्छति तदेतत् हीयमानकमवधिज्ञानम् । नं० । कर्म० । स्था० ।

हीर-हीर-न० । लघुकुत्सिते तृणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । वृक्षमध्यसारे, नि० चू० १५ उ० । वज्रमणौ , प्रज्ञा० १ पद । सूचीमुखाभे दार्वादिवस्तुनि, भस्मनि च । दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा ।

हीरग-हीरक-पुं० । सकोणकर्करिकाविशेषे, दशा० ७ अ० । ' वज्रे , मणिविशेषे, अनु० ।

हीरपसिण-हीरप्रश्न-पुं० । विमलगणिप्रभृतिकृतप्रश्नोत्तरग्रन्थे, ही० । "स्वस्ति श्रियो निदानं , जन्तूनां धर्मकारिणां सम्यक् । श्रीवर्धमानतीर्था- धिराजमभिनम्य सद्भक्त्या ॥ १ ॥ गीतार्थसार्धनिर्मित-पृच्छानामुत्तराणि लिख्यन्ते । श्रीहीरविजयसूरि—प्रसादितानि प्रबोधाय ॥ २ ॥" ही० १ प्रका० ।

हीरमाण-ह्रियमाण-त्रि० । नीयमाने, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० ४ उ० ।

हीरविजय-हीरविजय-पुं० । अकब्बरशाहप्रतिबोधके तपागच्छीयसूरौ, द्वा० । " प्रतापार्के येषां स्फुरति विहिनाऽकब्बरमन , सरोजप्रोल्लासे भवति कुमतध्वान्तविलय । विरेजु. सूरीन्द्रास्त इह जयिनो हीरविजया, दयावल्लीवृद्धौ जलदजलधारायितगिर ॥१॥" द्वा० ३२ द्वा० । प्रति० । " येनाऽकब्बरभूधरेऽपि हि दयावल्लि समारोपिता, विश्वव्यापिम तीवभूरि फलिना धर्मोर्जितै कर्मभि । हीर क्षीरसमुद्रसान्द्रलहरीप्रस्पर्द्धिकीर्तिव्रज , स श्रीमान् जिनशासनोन्नतिकरस्तत्पट्टनेताऽजनि ॥२२॥ " प्रति० । द्वा० । " प्रख्यावानजनिष्ट हीरविजय सूरि सतामग्रणी "। ध०३ अधि०। "आसस्तदीयपट्टे, प्रभवश्रीविजयदानसूरीन्द्रा । सर्वत्र विजयवन्तो, नयवन्त समयवन्तश्च ॥१॥ तेषा पट्टे सम्प्रति, विजयन्ते सर्वसूरिपारीन्द्रा । सुविहितसाधुप्रभव ,श्रीमन्तो हीरविजयाह्वा ॥२॥" ग०२ अधि०। (अवत्यविस्तार ' कप्पसुबोहिया' शब्दे तृतीयभागे २३८ पृष्ठे गत ।) केचन वदन्ति श्रीमहावीरशिष्यश्रीसुधर्मस्वामिन आरभ्य परम्परया कलिकालयुगप्रधानसमानश्रीहरिविजयसूरयः त्रिषष्टितमपट्टे केचन वदन्ति एकषष्टितमपट्टे उपाध्यायश्रीधर्मसागरगणिकृतपट्टावल्या त्वष्टपञ्चाशत्तमपट्टे सन्तीति त्रयाणां मध्ये किं प्रमाणमिति प्रश्नः. अत्रोत्तरम्-श्रीमहावीरशिष्यसुधर्मस्वामिन आरभ्य परम्परया श्रीहीरविजयसूरयोऽष्टपञ्चाशत्तमपट्टे सन्तीति ज्ञेयम् ॥ ७६२ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

हीलण-हीलन-न० । जात्याद्युद्घट्टनतोऽवमाने, स्था० ३ ठा० १ उ० । सूत्र० । गुरुकुलाद्युद्घाटनत. (ज्ञा०१ श्रु०३अ० ।) जात्याद्युद्घाटनतो वा । ज्ञा० १ श्रु०८ अ० ।) अनभ्युत्थानादिके, अन्त० ।) असूयया दुर्णाभिधाने, दश० ६ अ० ३ उ० ।

हीलणा-हीलना-स्त्री० । जन्मकर्ममर्मोद्घाटने, औ०। आव० ।

हीलणिज्ज-हीलनीय-त्रि० । अवज्ञातुमुचिते, उत्त० १२ अ० ।

हीला-हीला-स्त्री० । निन्दायाम् , सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। अवमाने, उत्त० १२ अ० ।

हीलिज्जमाण-हील्यमान-त्रि० । निन्द्यमाने, आ० म० १अ० ।

हीलिय-हीलित-न० । कदर्थिते, आचा० २ श्रु० ४ चू० । निन्दिते, वन्दनदोषे, न० । वृ० ।

एकविंशतितमं दोषमाह—

गणि वायग जिट्ठज्जति, हीलिंयं किन्तु मे वढम्मि ।

गणिन् ! वाचक ! ज्येष्ठार्य ! किन्तु यो वन्दते नत्पादौ सोत्प्रास हीलयित्वा यत्र वन्दते नद् हीलित वन्दनकम् । वृ० ३ उ० । आव० । आ० चू० । ध० ।

हीलियवयण-हीलितवचन-न०। सासूयमवगणयता वाचकज्येष्ठार्येत्यादिजल्पने, प्रव० २२५ द्वार। स्था० ।

अथ हीलितवचनं व्याख्याति—

गणिवायए बहुस्सुय, मेहावीयरियधम्मकहिवादी।
अप्पकसाए थूले, तणुए दीहे य मडहे य ॥ ३१ ॥

इह गणिवाचकादिपदै सूचया असूचया वा परं हीलयति , सूचया यथा वय नगरवृषभा अत को नाम गणिवृषभै सहास्माक विरोध , असूचया यथा कस्त्व गणी नामासि किं वा त्वया गणिना निष्पद्यते। यद्वा-गणी भवन्नपि त्व न किंचित् जानासि केन वा त्व गणी कृत इति , एव वाचकादिष्वपि पदेषु भावनीयम् । नवर वाचक पूर्वगतश्रुतधारी बहुश्रुत -अधीतविचित्रश्रुत , मेधावी—ग्रहणधारणामर्यादा भेदात् त्रिधा । आचार्यो गच्छाधिपति धर्मकथावादी च प्रतीत ।'अप्पकसाए' त्ति बहुकषाया वय को नामाल्पकषायै सह विरोध ' थूले तणुए ' ति स्थूलशरीरा वय कस्तनुदेहै सह विरोध ' दीहे मडहे य ' त्ति दीर्घदेहा वय सदैवोपरिशिरोद्घट्टन प्राप्नुम , को मडहदेहै सम विरोध , एवा सूचा असूचाया तु बहुकषायत्व स्थूलशरीरत्वमित्यादिकं परिस्फुटमेव जल्पति । एव सूचया वा यत्पर हीलयति तदेतत् हीलितवचनम् । वृ० ६ उ० ।

हीसमण-हेषित-न० । 'हेषाप्फुणणादय ॥ ८ । ४ । २५८॥ इति

हेषितस्थाने हीसमणेति निपात्यते । हीसनण । अश्वशब्दे, प्रा० । दे० ना० ।

हीही–देशी–अव्य०। हर्षे,प्रा०।"हीही विदूषकस्य" ॥८।४।२८५॥ शौरसेन्या हीही इति निपातो विदूषकस्य हर्षद्योत्ये प्रयोक्तव्य "हीही भो सम्पन्ना मणोरधा पियवयस्सस्स, " प्रा० ।

हु–हु–अव्य० । निश्चये, उत्त० १ अ० । व्य० । आ० म० । यस्मादर्थे , आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । नि० चू० । शब्दार्थे, विशेषणे च । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आचा० । आ० म० । हेतौ, अवधारणे च । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । नि० चू० । आ० । सम्म० । पञ्चा० । वाक्यालङ्कारे , आ० म० १ अ० । सूत्र० । नं० । प्रश्न० । पञ्चा० । प्राकट्ये, प्रव० १ द्वार । स्फुटार्थे, आतु० । पादपूरणार्थे , जीवा० २८ अधि० । प० चू० । एवकारार्थे, उत्त० १ अ० । दर्श० । आ० म० । पं० स० । तर्कितार्थसमर्थने , आव० २ अ० ।–" हु खु निश्चय—वितर्क—संभावन—विस्मये " ॥ ८ । २ । १९८ ॥ हु खु इत्येतौ निश्चयादिषु प्रयोक्तव्यौ । निश्चये—त पि हु अच्छिन्न सिरी पग्हस्स । वितर्के ऊह संशयो वा । ऊहे–'न हु णवर संगहिया ' बहुलाधिकारादनुस्वारात्परो हुर्न प्रयोक्तव्य । प्रा० २ पाद ।

हुअवह–हुतवह–पु० । अग्नौ, ' धूमद्धओ हुअवहो" पाइ० ना० ६ गाथा ।

हुआस–हुताश–पु० । वह्नौ , आव० ४ अ० ।

हुआसण–हुताशन–पुं० । राजगृहे नगरे स्वनामख्याते ब्राह्मणे, "नगरे पाटलीपुत्रे, श्रावकोऽभूत् हुताशन । तद्भार्या–ज्वलनशिखा,दहनज्वलनो सुतौ " आ० क० ४ अ० । अग्नौ, पाइ० ना० ६ गाथा ।

हुं–हुं–अव्य० । दानादिषु प्रा० । " हु दानपृच्छानिवारणे " ॥ ८ । २ । १९७ ॥ , हुं इति दानादिषु प्रयुज्यते । दाने–हु गेण्ह अप्पणच्चिअ । पृच्छाया–हुं साहुसु सब्भाव । निवारणे–हु निल्लज्ज ! समोसर । प्रा० २ पाद ।

हुंकुअ–देशी—अञ्जलौ , दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा ।

हुंकार–हुंकार–पु० । वन्दने, हुंकारं दद्यात्–वन्दने कुर्यादित्यर्थ । विशे० । आ० म० । प्रा० । न० ।

हुंकुरुन–देशी–अञ्जलौ, दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा ।

हुंड–हुण्ड–न०।अव्यवस्थिताङ्गावयवे विपा० १ श्रु० १ अ० । सर्वत्रासस्थित,यस्य हि प्रायेणैकोऽप्यवयव शरीरलक्षणोक्तप्रमाण न संवदति सर्वत्रासस्थित हुण्डमिति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । प्रश्न० । कर्म० । हुण्ड प्राय सर्वावयवेषु आदिलक्षणविसंवादोपेतामिति । भ० १४ श० ७ उ० । त० । अनु० । प्रज्ञा० । जी० । विशे० । सर्वावयवप्रमाणविकले सस्थानविशेषे, विपा० १ श्रु० १ अ० । कर्म० ।

हुंडणाम–हुण्डनामन्–न० । सस्थाननामकर्मभेदे , यदुदयाज्जन्तुशरीरं हुण्डसस्थान भवति । कर्म० १ कर्म० ।

हुंडी–हुण्डी–स्त्री० । घटिकायाम् , "हुंडी घडा" पाइ० ना० २६५ गाथा ।

हुंतए–भवितुम्–अव्य० । सत्ता लब्धुमित्यर्थे, बृ० ६ उ० ।

हुंतावायपगासण–भाव्यपायप्रकासन–न० । अशुद्धव्यवहारकृता भाविनोऽपायस्य प्रकटने, ' मा कुथा पापानि चौर्यादीनि, इह परत्र चानर्थकराणी' त्याश्रित शिक्षयति, ध० २ अधि० । ध० र० ।

हुंबउट्ठ–हुम्बउट्ठ–पुं० । कुण्डिकाश्रमणे, भ० ११ श० ९ उ० । नि० । औ० ।

हुड–देशी—मेषे, दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा ।

हुडुअ–देशी—प्रवाहे, दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा ।

हुडुक्का–हुडुक्का–स्त्री० । काहलानामके तूर्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । औ० । रा० ।

हुडुम–देशी—पताकायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा । पाइ० ना० ।

हुड्डा–हुड्डा–स्त्री० । हुड्डां पारापतनालिकेरादिसम्बन्धिनीं विधत्त । द्वाषष्टितमे श्रावकस्य आशातनादोषे, प्रव० ३८ द्वार ।

हुण–हु–धा० । दानादानयो , " चि–जि–श्रु–हु–स्तु–लू–पू–धूगा णो ह्रस्वश्च " ॥८ । ४ । २४१॥ इति अन्ते णकारागम, । हुणइ । जुहोति । प्रा० । नि० चू० । " न वा कर्मभावे व्व क्यस्य च लुक् " ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ इति अन्ते द्विरुक्तो वकारागमो वा क्यस्य च लुक् । हुव्वइ । हुणिज्ज । हूयते । प्रा० ४ पाद ।

हुत्त–हुत–त्रि० । ' सेवादौ वा ' ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति अन्त्यस्य द्वित्व वा । हुत्तं । हुअ । अग्निक्षिप्ते घृतादिके प्रा० । स्था० । सूत्र० । अभिमुखे , दे० ना० ८ वर्ग ९० गाथा । (अस्य व्याख्या ' कुसील ' शब्दे तृतीयभागे ६१० पृष्ठे । ' उदग ' शब्दे द्वितीयभागे ७६६ पृष्ठे च द्रष्टव्या ।)

हुन्त–भवत्–त्रि० । " अविति हु " ॥ ८ । ४ । ६१ ॥ इति भुवो हु इत्यादेश । विद्यमानार्थे, प्रा० ४ पाद ।

हुयवह–हुतवह–पु० । वैश्वानरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० । अग्नौ , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । त० । औ० । आ० म० । को० । आव० । ' हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा ' हुतवहेन–अग्निना निर्ध्मात सत् यत् धौत शोधितमलं तप्तं तपनीय सुवर्णविशेषस्तद्वत् रक्ते तले हस्ततले तालु ककुदं जिह्वा च–रसना येषा ते हुतवहनिर्ध्मातधौततप्ततपनीयरक्ततलतालुजिह्वा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । त० ।

हुयहुयासण–हुतहुताशन–पु० । दीप्तवह्नौ, सूत्र०२श्रु०२ अ० ।

हुयासण–हुताशन–पु० । वैश्वानरे , ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । अग्नौ, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । देवमायाकृते वह्नौ, उत्त० १६ अ० । माहेश्वर्या नगर्या स्वनामख्याते व्यन्तरगृहे, पञ्चा० ६ विव० । आ० म० । आ० चू० ।

हुरत्था–देशी–बहिर्वा निर्गत्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । उपाश्रयाद् बहिर्वर्तिन्या वगडायाम् , बृ० २ उ० ।

हुरब्भ-हुरभ-पुं०। वाद्यविशेषे, उपा० २ अ० । ' हुरब्भ-वुडसंठाणसठिए' हुरब्भो वाद्यविशेषस्तस्य पुटं पुष्करं तत्सस्थानेन संस्थित. । उपा० २ अ० ।

हुरुडी-देशी-विपादिकायाम्, दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा ।

हुल-क्षिप्-धा०। प्रेरणे, " क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः ॥ ८ । ४ । १४३ ॥ इति क्षिपूर्स्थाने हुलेत्यादेश. । हुलइ । क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

मृज्-धा० । शुद्धौ, "मृजेरुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-रोसाणा." ॥ ८ । ४ । १०५ ॥ इति मृज्धातोर्हुलेत्यादेश । हुलइ । मार्ष्टि । प्रा० ४ पाद ।

हुलिय-देशी-शीघ्र, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । प्रा०।औ०। दे०ना०।

हुलुव्व-देशी-प्रसवपरायां स्त्रियाम्, दे०ना०८ वर्ग ७१ गाथा ।

हुव-भू-धा०। सत्तायाम्, "भुवेर्हो-हुव-हवा."॥८। ४। ६०॥ इति भूधातोर्हुवादेश । हुवइ । भवति । प्रा० ४ पाद ।

हुहुय-हुहुक-न०। चतुरशीतिलक्षगुणितेषु हुहुकाङ्गेषु, अनु०। स्था० । जी० । भ० । ज० । कर्म० ।

हुहुयंग-हुहुकाङ्ग-न०। चतुरशीतिलक्षगुणिने अववे, स्था० २ ठा० ४ उ० । चतुरशीतिरववशतसहस्राणि एक हुहुकाङ्गम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । भ० । कर्म० । अनु०। ज० ।

हुहुरु-हुहुरु-अव्य०। शब्दानुकरणे, प्रा० । "हुहुरु घुग्घादय. शब्दचेष्टानुकरणयो." ॥ ८ । ४ । ४२३ ॥ अपभ्रंशे हुहुर्वादयः शब्दानुकरणे घुग्घादयश्चेष्टानुकरणे यथासंख्य प्रयोक्तव्या । "मइँ जाणिउँ बुड्डीसु हउँ, पम्मद्रहि हुहुरु त्ति ।" प्रा०४ पाद ।

हुहुहुहुय-हुहुहुहुक-न० । अनुकरणवचने, " अप्पेगइया हुहुहुहुपंति " आ० म० १ अ० । रा० ।

हूअ-भूत-त्रि० । "क्ते हू" ॥ ८ । ४ । ६४ ॥ भुव क्ते प्रत्यये हू आदेश. । हूअ । अणुहूअं । जाते, प्रा० ४ पाद ।

हूण-हूण-पु०। अनार्यक्षेत्रविशेषे, तद्वासिनि जने च । त्रि०। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रज्ञा०।

हीन-त्रि०। " ऊर्हीनविहीने वा " ॥ ८ । १ । १०३ ॥ इति ईत ऊत्वम्, हूणो । हीणो । त्यक्ते, रहिते, प्रा० १ पाद ।

हूम-देशी-लोहकारे, दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा ।

हूयच्छी-हूताक्षी-स्त्री० । कन्दविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

हूयमाण-हूयमान-त्रि० । मयूराकग्रामवासिषु पाखण्डिगृहिषु, पञ्चा० ७ विव० ।

हे-हे-अव्य-सम्बोधने आह्वाने, असूयादौ च । प्रा० ।

हेआल-देशी-सर्पशिर सदृशेन हस्तेन निषेधे, दे० ना० ८ वर्ग १७२ गाथा ।

हेउ-हेतु-पु०। हिनोति गमयति ज्ञेयमिति हेतु । अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणे, स्था० ।

हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-जावते १, थावते २, वंसते ३, लूसते ४ ।

उक्तञ्च-"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, हेतोर्लक्षणमीरितम् । तदप्रसिद्धिसंदेह-विपर्यासैस्तदाभता ॥१॥" इति । प्रागुक्तश्च हेतुः पर्यनुयुक्तस्योत्तररूपमुपपत्तिमात्रम्-अयन्तु साध्यं प्रत्यन्वयव्यतिरेकवान् तथाविधदृष्टान्तस्मृतद्भावात् इति । स चैकलक्षणोऽपि किञ्चिद्विशेषाच्चतुर्द्धा । तत्र ' जावए ' त्ति यापयति—वादिन. कालयापनां करोति, यथा काचिदसती एकैकरूपकेण एकैकमुष्ट्रलिण्डं दातव्यमिति दत्तशिक्षस्य पत्युस्तद्विक्रयार्थमुज्जयनीप्रेषणोपायेन विटसेवायां कालयापनां कृतवतीति यापकः । उक्तञ्च—" उब्भामिया य महिला, जावगहेउम्मि उट्टलिंडाइ ॥ " इति, इह वृद्धैर्व्याख्यातम्—प्रतिवादिनं ज्ञात्वा तथा तथा विशेषणबहुलो हेतु' कर्त्तव्यो यथा कालयापना भवति . ततोऽसौ नावगच्छति प्रकृतमिति . स चेदृशः संभाव्यते—सचेतना वायव अपरप्रेरणे सति तिर्यगनियतत्वाभ्या गतिमत्त्वात् गोशरीरवदिति । अय हि हेतुर्विशेषणबहुलतया परस्य दुरधिगमत्वात् वादिन' कालयापना करोति, स्वरूपमस्यानवबुद्ध्यमानो हि परो न झगित्येवानैकान्तिकत्वादिदूषणोद्भावनाय प्रवर्त्तितुं शक्नोति, अतो भवत्यस्माद् वादिनः कालयापनेति । अथवा-योऽप्रतीतव्याप्तिकतया व्याप्तिसाधकप्रमाणान्तरसव्यपेक्षत्वान्न झगित्येव साध्यप्रतीतिं करोति, अपि तु-कालक्षेपेणेत्यसौ साध्यप्रतीतिं प्रति कालयापनाकारित्वाद् यापक । यथा-क्षणिकं वस्त्विति पक्षे बौद्धस्य सत्त्वादिति हेतुः, नहि सत्त्वश्रवणादेव क्षणिकत्व प्रत्येति पर इत्यतो बौद्ध सत्त्वं क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति प्रसाधयितुमुपक्रमते, तथाहि—सत्त्वं नामार्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यथा वन्ध्यासुतस्यापि सत्त्वप्रसङ्ग, अर्थक्रिया तु नित्यस्यैकरूपत्वान्न क्रमेण, नापि यौगपद्येन, क्षणान्तरे अकर्तृत्वप्रसङ्गादित्यतोऽर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिकान्निवर्त्तमानं क्षणिक एवावतिष्ठत इत्येव क्षेपेण साध्यसाधने कालयापनाकारित्वाद् यापक. सत्त्वलक्षणो हेतुरिति १ । स्था० ४ ठा० ३ उ० । (द्वितीयस्थापकहेतुवक्तव्यता ' थावय ' शब्दे ४ भागे २४०८ पृष्ठे गता ।) (तृतीयव्यंसकहेतुवक्तव्यता ' वंसग ' शब्दे षष्ठे भागे द्रष्टव्या ।) तथा ' लूसए ' त्ति लूषयति—मुष्णाति व्यंसकापादितमनिष्टमिति लूषको हेतु, स एव शाकटिक, यथा—धूर्त्तान्तरशिक्षितेन हि शाकटिकेन तेन याचितोऽसौ धूर्त्त., तर्हि देहि मे तर्पणालोडिकामिति, ततो धूर्त्तेनोक्ता स्वभार्या—देह्यस्मै सक्तूनालोड्येति, ताञ्च तथा कुर्वतीं तद्भार्यां गृहीत्वाऽसौ प्रस्थितोऽवादीच्च धूर्त्तमभि—मदीयेय तर्पणमिति सक्तूनालोडयतीति तर्पणालोडिकेति भवतैव दत्तत्वादिति । स चाय यदि जीवघटयोरस्तित्ववृत्त्या एकत्व सम्भावयसि तदा सर्वभावानामेकत्व स्यात्, सर्वेष्वप्यस्तित्ववृत्तेरविशेषात् न चैवमिति, इहास्तित्ववृत्तेरविशेषादित्ययं लूषको जीवघटयोरेकत्वापादनलक्षणस्याभावापत्तिलक्षणस्य वाऽनिष्टस्य परापादितस्यानेन लूषितत्वादिति ४। स्था०४ ठा०३ उ० । अन्वयव्यतिरेकलक्षणे, (अनु० । सूत्र० । आ० म० । व्य०।) साध्यार्थगमके युक्तिविशेष, विशे० ।

हेऊ अणुगमवइरे-गलक्खणो सज्झवत्थुपज्जाओ ।
आहरणं दिट्ठंतो, कारणमुववत्तिमेत्तं तु ॥१०७७॥

एवं पयाणनिवहो, हेऊदाहरणकारणत्थाणं।
अहवा पयनिवहो चिय, कारणमाहरणहेऊण ॥१०७८॥

यत्र साधनं तत्र साध्यं भवत्येवेत्येवंलक्षणः साध्यस्य साधनेन सहान्वयोऽनुगमः, साध्याभावे साधनाभावरूपो व्यतिरेकः, अनुगमश्च व्यतिरेकश्च तौ लक्षण-स्वरूपं यस्य स एवंभूतो हेतुः, यथा अनित्यत्वादिविशिष्टे शब्दादौ साध्ये कृतकत्वादिः, कथंभूतोऽयम्?, इत्याह-साध्यस्य नित्यत्वादिविशिष्टस्य शब्दादिवस्तुनः पर्यायः, अन्यस्य वैयधिकरण्यादिदोषदुष्टत्वेन साध्यसाधकत्वायोगादिति। विशे०।

हेतुस्वरूपं निरूपयन्ति—

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः ॥ ११ ॥

अन्यथा साध्यं विनाऽनुपपत्तिरेव न मनागप्युपपत्तिः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये विपक्षैकदेशवृत्तेरनित्यत्वस्यापि गमकत्वापत्तेः। ततो निश्चिता निर्णीताऽन्यथानुपपत्तिरेवैका लक्षणं यस्य स तादृशो हेतुर्ज्ञेयः। अन्यथाऽनुपपत्तिश्चात्र हेतुप्रक्रमात्साध्यधर्मेणैव सार्द्धं ग्राह्या। तेन तदितरार्थान्यथानुपपन्नैः-प्रत्यक्षादिज्ञानैर्नातिव्याप्तिः।

एतद्व्यवच्छेद्यं दर्शयन्ति—

न तु त्रिलक्षणकादिः ॥ १२ ॥

त्रीणि—पक्षधर्मत्व—सपक्षसत्त्व—विपक्षासत्त्वानि लक्षणानि यस्यासौ गतसम्मतस्य हेतोः, आदिशब्दाद्यौगसंमतपञ्चलक्षणकहेत्ववरोधः। तेनाबाधितविषयत्वा—सत्प्रतिपक्षत्वयोरपि तल्लक्षणत्वकथनात्, तथा हि-वह्निमत्त्वे साध्ये धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः, न शब्दे चाक्षुषत्ववदतद्धर्मः स पक्षे पाकस्थाने सन्, न तु प्राभाकरेण शब्दनित्यत्वे साध्ये श्रावणत्ववत्ततो व्यावृत्तं विपक्षे पयस्वति प्रदेशे सन्न तु तत्रैव साध्ये प्रमेयत्ववत् तत्र वर्तमानम् अबाधितविषयं, प्रत्यक्षागमाभ्यामबाध्यमानसाध्यत्वात्, न तु अनुष्णस्तेजोऽवयवी द्रव्यत्वाज्जलवद्विप्रेण सुरा पेया द्रवत्वात् तद्वदेवेतिवत् ताभ्यां बाधितविषयम्। असत्प्रतिपक्षं, साध्यविपरीतार्थोपस्थापकानुमानरहितं न पुनर्नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुमानसमन्वितम्, अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुमानमिव सत्प्रतिपक्षमिति लक्षणत्रयपञ्चकसद्भावात् गमकम्। तत एतादृक्लक्षणलक्षितमेवाऽत्र लिङ्गम्, इति सौगतयौगयोरभिप्रायः। न चायं निरपायः।

एतदुपपादयन्ति—

तस्य हेत्वाभासस्यापि संभवात् ॥ १३ ॥

अनेनातिव्याप्तिप्रागुक्तलक्षणस्याचख्युः-स श्यामस्तत्पुत्रत्वात्, प्रेक्ष्यमाणेतरतत्पुत्रवदित्यत्र समग्रतल्लक्षणयोगेऽपि हेतुत्वाभावात्। अत्र विपक्षेऽसत्त्वं निश्चितं नास्ति न हि श्यामत्वासत्त्वे तत्पुत्रत्वेनावश्यं निवर्तनीयमित्यत्र प्रमाणमस्तीति सौगतः। स एवं निश्चितान्यथानुपपत्तिमेव शब्दान्तरोपदेशेन शठः शरणीकरोतीति सैव भगवती लक्षणत्वेनास्तु, यौगस्तु गर्जति—अनौपाधिकः संबन्धो व्याप्तिः। नचायं तत्पुत्रत्वेऽस्ति, शाकाद्याहारपरिणामा—द्युपाधिनिबन्धनत्वात्। साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिकः किलोपाधिराश्रयते, तथा चात्र शाकाद्याहारपरिणाम इत्युपाधिसद्भावान्न तत्पुत्रे विपक्षासत्त्वसंभव इति। सोऽपि न निश्चिताऽन्यथानुपपत्तेरतिरिक्तमुक्तवानिति सैवैकाऽस्तु। नह्यनौपाधिकसम्बन्धे सति किञ्चिदवशिष्यते यद्दर्पाद्धाय शेषलक्षणप्रणयनमकूर्णं स्यात्, पक्षधर्मत्वाभावे रसवतीधूमोऽपि पर्वते कृशानुमिव गमयेत्, इत्यभिदधानो बौद्धो न बुद्धिमान्, यतः पक्षधर्मत्वभावेऽपि किं नैष तत्र न गमयेत्? ननु कौतुकमेतत्कथं हि नाम पक्षधर्मतोपगमे रसवतीधर्मः सन् धूमो महीध्रकन्दराधिकरणं धनंजयं ज्ञापयत्विति चेत्, एवं तर्हि जलचन्द्रोऽपि नभश्चन्द्रमा जिज्ञपत्, जलचन्द्रस्य जलधर्मत्वात्। अथ जलनभश्चन्द्रान्तरालवर्त्तिनस्तावतो देशस्यैकस्य धर्मित्वेन जलचन्द्रस्य तद्धर्मत्वनिश्चयात् कुतो न तत् ज्ञापकत्वमिति चेत्, एवं तर्हि रसवतीपर्वतान्तरालवर्त्तिवसुधराप्रदेशस्य धर्मकत्वमस्तु, तथा च महानसधूमस्यापि पर्वतधर्मतानिर्णयात् जलचन्द्रवत् कथं न तत्र तद्गमकत्वं स्यात्?। पक्षधर्मता यदुभयत्रापि निमित्तं, ततो यथाऽसौ स्वसमीपदेशे धूमस्य धूमध्वजं गमयतोऽस्खलनमनुरास्ते तथा व्यवहितदेशेऽपि पर्वतादौ तद्वदस्त्येव, अन्यथा जलचन्द्रेऽपि नागौ स्याद्देशव्यवधानात्। अथ नैयमेवात्र गमकत्वाङ्गं किंतु कार्यकारणभावोऽपि। कार्यं च किमपि कीदृशं, तदिह कृपीटजन्मा स्वसमीपप्रदेशमेव धूमकार्यमर्जयितुमधीशानः, नभश्चन्द्रस्तु व्यवहितदेशमपीति न महानसधूमो महीधरकन्दराकोणचारिमाशुशुक्षणिं गमयतीति चेत्, नन्वेवं धूमस्तद्देशेनैव पावकेनान्यथानुपपन्नः, नीरचन्द्रमा, पुनरतद्देशेनापि नभश्चन्द्रेण, इत्यन्यथानुपपत्तिनिर्णयमात्रसद्भावादेव साध्यसिद्धेः। सभयान्कि नाम जलाकाशमृगाङ्कमण्डलान्तरालादेर्धर्मित्वकल्पनाकदर्थनमात्रनिमित्तेन पक्षधर्मताव—र्णनेन, यौगस्याप्येवमेव च पक्षधर्मत्वानुपयोगो दर्शनीयः। सपक्षसत्त्वमप्यनौपयिकं सत्त्वादेरगमकत्वापत्तेः। यस्तु पक्षाद्बहिष्कृत्य किमपि कुटादिकं दृष्टान्तयति तस्यापूर्वं पाण्डित्यप्रकारः, कुटस्यापि पटादिवद्विवादास्पदत्वेन पक्षाद्बहिष्कारणानुपपत्तेः। तथा च कथमयं निदर्शनतयोपदर्श्येत, प्रमाणान्तरात्तत्रैव क्षणिकत्वं प्राक् प्रसाध्य निदर्शनतयोपादानमिति चेत्?, ननु तत्रापि कः सपक्षीकरिष्यते यदि क्षणिकत्वप्रसाधनपूर्वं पदार्थान्तरमेव तदा दुर्वारमनवस्थाकदर्थनम्, अन्यथा तु न स पक्षः कश्चित्, यत एव च प्रमाणात् क्षणिकत्वनिष्टङ्कनं कुटे प्रकट्यते, तत एव पटादिपदार्थान्तरेष्वपि प्रकट्यतां किमपरप्रमाणोपन्यासालीकप्रागल्भ्यप्रकाशनेन, यस्तु साध्यधर्मवान्स सपक्ष इति सपक्षं लक्षयित्वा पक्षमेव सपक्षमाचक्षीत, साध्यधर्मवत्तया हि सपक्षत्वं साध्यत्वेनेष्टतया तु पक्षत्वं, न च विरोधः, वास्तव्यस्य सपक्षत्वस्येच्छाव्यवस्थितेन पक्षत्वेन निराकर्तुमशक्यत्वादिति। स महात्मा निश्चितं निर्विण्णः सर्ववादे क्षणिकत्वाद्यनुमाने सपक्षसत्त्वावसायवेलायामेव साध्यधर्मस्यावबोधेनानुमानानर्थक्यात्, पक्षो हि साध्यधर्मवत्तया सपक्षश्चेन्निश्चिक्ये, हेतोश्च तत्र सत्त्वं, तदा किं नाम पश्चाद्धेतुना साधनीयम्?। किं चैवमनेन पक्षं लक्षयता "साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः" इति दिग्नागस्य, "अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये, सद्भावो नास्तिताऽसति" इति। धर्मकीर्तेश्च वचो निश्चितं वञ्चितमेव स्यात्, यौगश्च केवलान्वयव्यतिरेकमनुमानमनुमन्यमानः कथं पञ्चलक्षण-

तां लिङ्गस्य सत्राहयेत् ?, इति निश्चितान्यथानुपपत्तिरेवैक लिङ्गलक्षणमक्षुणम् । तत्त्वमेतदेव, प्रपञ्चः पुनरयमिति चेत्, तर्हि सौगतेनाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम् ज्ञातत्वं च; योगेन च ज्ञातत्व लक्षणमाख्यानीयम् । अथ विपक्षान्निश्चितव्यावृत्तिमात्रेणाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च ज्ञापकहेत्वधिकारात्, ज्ञातत्वं च लब्धमेवेति चेत्, तर्हि गमकहेत्वधिकारादशेषमपि लब्धमेवेति किं शेषेणापि प्रपञ्चेनेति ।

साध्यविज्ञानमित्युक्तमिति साध्यमभिदधति—

अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥ १४ ॥

अप्रतीतम्-अनिश्चितम्, अनिराकृतम्—प्रत्यक्षाद्यबाधितम्, अभीप्सितम्-साध्यत्वेनेष्टम् ।

अप्रतीतत्वं समर्थयन्ते—

शङ्कितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीतवचनम् ॥ १५ ॥

एवंविधमेव हि साध्यम्, अन्यथा साधनवैफल्यात् ।

अनिराकृतत्वं सफलयन्ति—

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्यनिराकृतग्रहणम् ॥ १६ ॥

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य धनंजयादौ शैत्यादेः ।

अभीप्सितत्वं व्यञ्जयन्ति—

अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितपदोपादानम्१७

अनभिमतस्य—साधयितुमनिष्टस्य ।

साध्यत्वं सूत्रत्रयेण विषयविभागेन समिरन्ते—

व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एवान्यथा तदनुपपत्तेः ॥ १८ ॥

धर्मो वह्निमत्त्वादिः, तस्या व्याप्तेरनुपपत्तेः ।

एतदेव भावयन्ति—

नहि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र चित्रभानोरिव धरित्रीधरस्याप्यनुवृत्तिरस्ति ॥ १९ ॥

व्यक्तमेतत् ।

आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षाऽपरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ॥ २० ॥

आनुमानिकी प्रतिपत्तिरनुमानोद्भवा प्रमितिः, तद्विशिष्ट-व्याप्तिकालापेक्षया साध्यत्वाभिमतेन धर्मेण विशिष्टः प्रसिद्धो-धर्मीत्युक्तम् ।

अथ यतोऽस्य प्रसिद्धिस्तदभिदधति —

धर्मिणः प्रसिद्धिः क्वचिद् विकल्पतः, कुत्रचित्प्रमाणतः, क्वापि विकल्पप्रमाणाभ्याम् ॥ २१ ॥

विकल्पः—अध्यवसायमात्रम् ।

अथात्र क्रमेणोदाहरन्ति—

यथा समस्ति समस्तवस्तुवेदी, क्षितिधरकन्धरेयं धूमध्वजवती, ध्वनिः परिणतिमान् ॥ २२ ॥

अत्राद्योदाहरणे धर्मिणो विकल्पेन सिद्धिः । नहि हेतुप्रयोगात् पूर्वं विकल्पं विहाय विश्ववित् कुतोऽपि प्रसिध्यत् । द्वितीये प्रमाणेन-प्रत्यक्षादिना, क्षितिधरकन्धरायास्तदानीं संवेदनात् । तृतीये तूभाभ्याम् । नहि श्रूयमाणादन्येषां देशकालस्वभावव्यवहितध्वनीनां ग्राहकं किञ्चित् तदानीं प्रमाणं प्रवर्त्तत इति विकल्पादेव तेषां सिद्धिः । ननु नास्ति विकल्पसिद्धो धर्मी, तन्मात्रेण सिद्धेः कस्याप्यसंभवात् । अन्यथाऽहंप्रथमिकया प्रमाणपर्येषणप्रयासः परीक्षकाणामकक्षीकरणीय एव भवेत्, प्रमाणमूलतायां पुनरेतस्य प्रमाणसिद्धप्रकारेणैव गतार्थत्वादिति । सोऽयं स्वयं विकल्पसिद्धं धर्मिणमाचक्षाणः परोक्षं प्रत्याचक्षाणश्च नियतमुत्स्वप्नायते । 'यदि हि विकल्पसिद्धो धर्मी नास्त्येव,' तदा नास्ति विकल्पसिद्धो धर्मी, तन्मात्रेण सिद्धेः कस्याप्यसंभवात्' इत्यत्र कथं तमेवावोचथाः ? । परोपगमादयमस्त्येवेति चेत् । "यदि परोपगमः प्रमितिस्तदा, कथमयं प्रतिषेधविधिर्भवेत् । अथ तथा न तदापि वतोच्यतां, कथमयं प्रतिषेधविधिर्भवेत्" ॥ १ ॥ तस्मात् प्रमाणात् पृथग्भूतादपि विकल्पादस्ति काचित्तथाविधा सिद्धिः, यामनाश्रयता तार्किकेण न क्षेमेणास्तितुं शक्यत इति । रत्ना० ३परि० । हिनोति गमयति ज्ञानमिति हेतुः, सूत्र०२श्रु०५अ० । स० । हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टमर्थमिति हेतुः । नं० । उत्त० । दश० । अनुमानोत्थापके लिङ्गे, स्था० १० ठा० ३ उ० । उपचारात् (आव० ४ अ०) पञ्चावयववाक्यरूपे (उत्त० ६ अ० ।) अनुमाने, स्था० । हिनोति गमयतीति हेतुः । साध्यसद्भावतदभावाभावलक्षणेऽर्थे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

प्रागुक्तमेव हेतुं प्रकारतो दर्शयन्ति—

उक्तलक्षणो हेतुर्द्विप्रकारः, उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वात् ॥५४॥ रत्ना० ३ परि० ।

हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति—

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः॥२९॥

तथैव साध्यसंभवप्रकारेणैवोपपत्तिस्तथोपपत्तिः, अन्यथा साध्याभावप्रकारेणानुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ।

अमू एव स्वरूपतो निरूपयन्ति—

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥ ३० ॥

निगदव्याख्यानम् ।

प्रयोगतोऽपि प्रकटयन्ति—

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ ३१ ॥

एतदपि तथैव ।

अमुयो प्रयोगौ नियमयन्ति—

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ॥ ३२ ॥

अयमर्थः, प्रयोगयुग्मेऽपि वाक्यविन्यासः एव विशिष्यते नार्थः । स चान्यतरप्रयोगेणैव प्रकटीबभूवेति किमपरप्रयोगेण ? इति । रत्ना० ३ परि० । 'उपलब्ध्यनुपलब्धी स्वस्वस्थाने व्याख्याते ।) अनुमानप्रतिपादके वचसि परार्थानुमाने, आ०

म० १ अ० । आ० चू० । आ० क०। फलसाधनयोग्ये कारणे, संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० । कारणे , विशे० । निमित्ते , सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । नि० चू० । कल्प० । उपपत्तौ , च० प्र० १ पाहु० । हेतुर्द्विधा—कारको , ज्ञापकश्च । तत्र कारको यथा—घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः, ज्ञापको यथा-तमसि घटादीनामभिव्यञ्जकः प्रदीपः । ग० १ अधि० । प्रश्न० । आ० म० । ति० । यत्रोपन्यासोपनये पर्यनुयोगस्य हेतुरुत्तरतयाऽभिधीयते स हेतुरिति । उपन्यासोपनयभेदे, स्था० । तथा 'हेउ' त्ति , यत्रोपन्यासोपनये पर्यनुयोगस्य हेतुरुत्तरतयाऽभिधीयते स हेतुरिति , यथा केनापि कश्चित्पर्यनुयुक्तः—अहो ! किं यवाः क्रीयन्ते त्वया ?, स त्वाह—येन मुधैव न लभ्यन्ते इति , तथा कस्मात् ब्रह्मचर्यादिकष्टमनुष्ठीयते ? , यस्मादकृततपसा नरकादौ गुरुतरा वेदना भवतीति, इदमपि उपपत्तिमात्रमेव ज्ञातत्वेनोक्तमर्थज्ञापकत्वादिति । अथवाऽयमपि यथारूढ ज्ञातमेव तथा ह्यस्यैवं प्रयोगः—कस्मात् त्वया प्रव्रज्या क्रियत इति पृष्टः सन् केनापि साधुराह—यतस्तां विना मोक्षो न भवति, एतत्समर्थनायैव साधुस्तमाह—भो यवग्राहिन् ! किमिति त्वया यवाः क्रीयन्ते ?, स त्वाह—येन मुधा न लभ्यन्ते, साधोश्चायमभिप्रायो यथा—मुधा लाभाभावात् तान् क्रीणासि त्वमेवमहं तां विना तदभावात्तां करोमीति । इह च मुधा यवालाभस्य कारणे हेतौ सतो दृष्टान्ततयोपन्यस्तत्वाद्धेतूपन्यासोपनयज्ञाततेति । इह च किञ्चिद्विशेषेणैवंविधा ज्ञातभेदाः संभवन्त्यन्येऽपि किन्तु ते न विवक्षिताः , अन्तर्भावो वा कथञ्चित् गुरुभिर्विवक्षितः , न च तं वयं सम्यग् जानीम इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । दश० ।

साम्प्रतं हेतुरुच्यते—

अहवा वि इमो हेऊ, विन्नेओ तत्थिमो चउविअप्पो ।
जावग थावग वंसग,लूसग हेऊ चउत्थो उ ॥ ८६ ॥

अथवा—निष्ठुत एव उपन्यासः , उदाहरणचरमभेदलक्षणो हेतुः । अपिः—सम्भावने । किं सम्भावयति ? , 'इमो' अयम् अन्यद्वारे एवोपन्यस्तत्वात्तदुपन्यासनान्तरीयकत्वेन गुणभूतत्वाद्हेतुरपि , किं तु 'हेऊ विण्णेओ तत्थिमो' त्ति व्यवहितोपन्यासात् तत्रायं-वक्ष्यमाणो हेतुर्विज्ञेयः 'चतुर्विकल्पः' इति चतुर्भेदः , विकल्पानुपदर्शयति-यापकः , स्थापकः , व्यंसकः , लूषकः हेतुश्चतुर्थस्तु । अन्ये त्वेवं पठन्ति—'हेउ त्ति दारमहुणा, चउव्विहो सो उ होइ नायव्वो' त्ति , अत्राप्युक्तमुदाहरणम् , हेतुरित्येतद् द्वारमधुना तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थत्वात् स पुनर्हेतुश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इत्येवं गमनिका क्रियते , पश्चार्द्धं तु पूर्ववदेवेति गाथाक्षरार्थः । दश० १ अ० । प्रमयस्य प्रमितौ कारणे प्रमाणे , स्था० ।

स च चतुर्विधः प्रत्यक्षादिभेदात्—

अथवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते,तं जहा-पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवमे, आगमे । अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा–अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ, अत्थित्तं णत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं णत्थि सो हेऊ । (३३८)

अथवेति हेतो प्रकारान्तरताद्योतको विकल्पार्थः ,हिनोति-गमयति-प्रमेयमर्थं स वा हीयते-अधिगम्यते अनेनेति हेतुः-प्रमेयस्य प्रमितौ कारणं, प्रमाणमित्यर्थः , स चतुर्विधः स्वरूपादिभेदात् । (तत्र प्रत्यक्षहेतुवक्तव्यता 'पच्चक्ख' शब्दे पञ्चमभागे ७३ पृष्ठे द्रष्टव्या ।) अन्विति—लिङ्गदर्शनसम्बन्धानुस्मरणयोः पश्चान्मानं-ज्ञानमनुमानम् , एतल्लक्षणमिदम्-"साध्याविनाभुवो लिङ्गात् , साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तं , प्रमाणत्वात् समक्षवद् ॥ १ ॥" इति । एतच्च साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाप्युपचाराद्धेतुरिति, तथा उपमानमुपमा,सैवौपम्यम् , अनेन गवयेन सदृशोऽसौ गौरिति सादृश्यप्रतिपत्तिरूपम् । उक्तञ्च-"गां दृष्ट्वाऽयमरण्येऽन्यं, गवयं वीक्षते यदा । भूयोऽवयवसामान्य-भाजं वर्तुलकण्ठकम् ॥ १ ॥ तस्यामेव त्ववस्थायां,यद्विज्ञानं प्रवर्त्तते । पशुनैतेन तुल्योऽसौ,गोपिण्ड इति सोपमा ॥२॥' इति, अथवा-'श्रुतातिदेशवाक्यस्य, समानार्थोपलम्भने । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमानमुच्यते' इति । आगम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अर्था,अनेनेत्यागमः—आप्तवचनसम्पाद्यो विप्रकृष्टार्थप्रत्ययः, उक्तञ्च-"दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात्-परमार्थाभिधायिनः । तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं , मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-मदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं , शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ २ ॥" इति । इहान्यथानुपपन्नत्वलक्षणहेतुजन्यत्वादनुमानमेव, कार्ये कारणोपचाराद्धेतुः , स च चतुर्विधः , चतुर्भङ्गीरूपत्वात् , तत्र अस्ति-विद्यते तदिति—लिङ्गभूतं धूमादिवस्तु इति कृत्वा अस्ति सः अग्न्यादिकः साध्योऽर्थ इत्येवं हेतुरिति अनुमानम् । तथा अस्ति तदग्न्यादिकं वस्त्वतो नास्त्यसौ तद्विरुद्धः शीतादिरर्थ इत्येवमपि हेतुरनुमानमिति, तथा नास्ति तदग्न्यादिकमतः शीतकालेऽस्ति स शीतादिरर्थः इत्येवमपि हेतुरनुमानमिति । तथा नास्ति तद्वृक्षत्वादिकमिति नास्ति शिंशपात्वादिकोऽर्थ इत्यपि हेतुरनुमानमिति । इह च शब्दे कृतकत्वस्यास्तित्वादस्त्यनित्यत्वं घटवत् , तथा धूमस्यास्तित्वादिहास्त्यग्निर्महानस इवेत्यादिकं स्वभावानुमानं कार्यानुमानञ्च प्रथमभङ्गकेन सूचितम् १ । तथा अग्नेरस्तित्वाद्धूमास्तित्वाद्वा नास्ति शीतस्पर्श इत्यादिविरुद्धोपलम्भानुमानं विरुद्धकार्योपलम्भानुमानञ्च तथा अग्नेर्धूमस्य वाऽस्तित्वान्नास्ति शीतस्पर्शजनितदन्तवीणारोमहर्षादिः पुरुषविकारो महानसवदित्यादिकारणविरुद्धोपलम्भानुमानम् , कारणविरुद्धकार्योपलम्भानुमानं च द्वितीयभङ्गकेनाभिहितम् २ । तथा छत्रादेरग्नेर्वा नास्तित्वादस्ति कश्चित्कालादिविशेषे आतपः शीतस्पर्शो वा पूर्वोपलब्धप्रदेश इवेत्यादिकं विरुद्धकारणानुपलम्भानुमानं विरुद्धानुपलम्भानुमानञ्च तृतीयभङ्गकेनोपात्तम् ३ । तथा दर्शनसामग्र्यां सत्यां घटोपलम्भस्य नास्तित्वान्नास्तीह घटो विवक्षितप्रदेशवदित्यादिस्वभावानुपलब्ध्यनुमानं,तथा धूमस्य नास्तित्वान्नास्त्यविकलो धूमकारणकलापः प्रदेशान्तरवदित्यादिकार्यानुपलब्ध्यनुमानम् ,तथा वृक्षनास्तित्वात् शिंशपा नास्तीत्यादि व्यापकानुपलम्भानुमानम् , तथाऽग्नेर्नास्तित्वाद् धूमो नास्तीत्यादि कारणानुपलम्भानुमानञ्च चतुर्थभङ्गकेनावरुद्धमिति । न च वाच्यं न जैनप्रक्रियेयम् सर्वत्र जैनाभिमतान्यथानुपपन्नत्वरूपस्य हेतुलक्षणस्य वि-

ष्यमानत्वादिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । हेतुषु वर्त्तमाने पुरुषे, तदुपयोगानन्यत्वात्, स पञ्चविध । भ० ।

पञ्च हेतव.—

पंच हेऊ पसत्ता, तं जहा—हेउं जाणइ, हेउं पासइ, हेउं बुज्झइ, हेउं अभिसमागच्छइ, हेउं छउमत्थमरणं मरइ । पंच हेऊ पसत्ता, तं जहा—हेउणा जाणइ ०जाव हेउणा छउमत्थमरणं मरइ । पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउं न जाणइ ०जाव हेउं अण्णाणमरणं मरइ । पंच हेऊ पसत्ता, तं जहा—हेउणा न जाणइ ०जाव हेउणा अण्णाणमरणं मरइ । (सू० २० X)

'पच हेऊ' इत्यादि, इह हेतुषु वर्त्तमान. पुरुषो हेतुरेव तदुपयोगानन्यत्वात्, पञ्चविधत्व चास्य क्रियाभेदादित्यत आह—'हेउं जाणइ' त्ति, हेतु साध्याविनाभूतं साध्यनिश्चयार्थं जानाति, विशेषत. सम्यगवगच्छति सम्यग् दृष्टित्वात्, अयं पञ्चविधोऽपि सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यो मिथ्यादृष्टे सूत्रद्वयात्परतो वक्ष्यमाणत्वादित्येक. । एवं हेतु पश्यति सामान्यत एवावबोधादिति द्वितीयः । एवं बुध्यते सम्यक् श्रद्धत्ते इति बोध. सम्यक् श्रद्धानपर्यायत्वादिति तृतीय । तथा हेतुम् अभिसमागच्छति साध्यसिद्धौ व्यापारणत. सम्यक् प्राप्नोतीति चतुर्थ । तथा 'हेउं छउमत्थे' त्यादि हेतु —अध्यवसानादिर्मरणकारण तद्योगान्मरणमपि हेतुरतस्तं हेतुमदित्यर्थ. । छद्मस्थमरण, न केवलिमरण, तस्याऽहेतुकत्वात्, नाप्यज्ञानमरणमेतस्य सम्यग्ज्ञानित्वात्, अज्ञानमरणस्य च वक्ष्यमाणत्वान्म्रियते करोतीति पञ्चमः । प्रकारान्तरेण हेतूनेवाह—' पचे ' त्यादि, हेतुनाऽनुमानोत्थापकेन जानाति, अनुमेय सम्यगवच्छति सम्यग्दृष्टित्वादित्येक., एवं पश्यतीति द्वितीय, एवं बुध्यते श्रद्धत्ते इति तृतीय., एवमभिसमागच्छति प्राप्नोतीति चतुर्थ., तथा अकेवलित्वाद्धेतुना—अध्यवसानादिना छद्मस्थमरण म्रियत इति पञ्चम. । अथ मिथ्यादृष्टिमाश्रित्य हेतूनाह—' पचे ' त्यादि, पञ्च क्रियाभेदात् हेतवो हेतुव्यवहारित्वात्, तत्र हेतु—लिङ्गं न जानाति, नञः कुत्सार्थत्वादसम्यगवैति मिथ्यादृष्टित्वात् १, एवं न पश्यति २, एव न बुध्यते ३, एव नाभिसमागच्छति ४, तथा हेतुम्—अध्यवसानादिहेतुयुक्तम् अज्ञानमरण म्रियते—करोति, मिथ्यादृष्टित्वेनासम्यग्ज्ञानत्वादिति । हेतूनेव प्रकारान्तरेणाह—' पचे ' त्यादि, हेतुना लिङ्गेन न जानाति—असम्यगवगच्छति, एवमन्येऽपि चत्वारः । भ० ५ श० ७ उ० । स्था० ।

हेउअंतर—हेत्वन्तर—पुं० । पञ्चमे निग्रहस्थानभेदे, स्था० ।

हेउआभास—हेत्वाभास—पुं० । हेतुवदाभासमानेषु अहेतुषु, ते च त्रयः । रत्ना० ।

हेत्वाभासानाह—

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥ ४७ ॥

निश्चितान्यथानुपपत्त्याख्यैकहेतुलक्षणविकलत्वेनाहेतवोऽपि हेतुस्थाने निवेशाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासा । रत्ना० ६ परि० । (असिद्धादय स्वस्थाने उक्ता ।) नैत एव हेत्वाभासा - असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासा, हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासा, तत्र सम्यग्हेतूनामपि न तत्त्वव्यवस्थिति किं पुनस्तदाभासानाम् । तथाहि—इह यन्नियतं वस्त्वस्ति तदेव तत्त्व भवितुमर्हति हेतवस्तु क्वचिद्वस्तुनि साध्ये हेतवः क्वचिदहेतव इत्यनियतास्त इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । यथ नित्यः शब्द. श्रावणत्वादित्यादि । सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वेन संशयजनकत्वादसाधारणानैकान्तिक सौगतै. समाख्यायते, नैष सूक्ष्मतामञ्चति श्रावणत्वाद्धि शब्दस्य सर्वथैव नित्यत्वं यदि साध्यते तदाऽयं विरुद्ध एव हेतु, कथंचिदनित्यत्वसाधनात् । प्राच्याश्रावणत्वस्वभावत्यागेनोत्तरश्रावणत्वस्वभावोत्पत्ते. कथंचिदनित्यत्वमन्तरेण शब्देऽनुपपत्ते । अथ कथञ्चिन्नित्यत्वमस्य शब्दे साध्यते तदाऽसौ सम्यग्हेतुरेव कथंचिन्नित्यत्वेन सार्द्धमन्यथाऽनुपपत्तिसद्भावादिति नायमनैकान्तिक., यं च विरुद्धाव्यभिचारिनामानमनैकान्तिकविशेषमेते व्यतानिषुः यथा अनित्य. शब्द, कृतकत्वाद् घटवत् । नित्य शब्द., श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति, सोऽपि नित्यानित्यस्वरूपानेकान्तसिद्धौ सम्यग्हेतुरेव तदपरपरिणामित्वादिहेतुवत् । सर्वथैकान्तसिद्धये पुनरुपन्यस्तोऽसौ भवत्येव हेत्वाभास., स तु विरुद्धो वा सन्दिग्धविपक्षवृत्तिरनैकान्तिको वेति, न कश्चिद्विरुद्धाव्यभिचारी नाम । एव च असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रय एव हेत्वाभासा इति स्थितम् । नन्वन्योऽप्यकिंचित्कराख्यो हेत्वाभासः परैरुक्तः । (स ' अकिंचिकर '—शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे गतः ।) नन्वेष हेतुर्निश्चितान्यथानुपपत्त्या सहित. स्याद्रहितो वा ? । प्रथमपक्षे हेतो. सम्यक्त्वेऽपि प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणप्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणागमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणादिपक्षाभासानां निवारयितुमशक्यत्वात्तैरेव दुष्टमनुमानम् । नच यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्य, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वप्रसक्तेः । द्वितीयपक्षे तु यथोक्तहेत्वाभासानामन्यतमेनैवानुमानस्य दुष्टत्वं, तथा ह्यन्यथानुपपत्तेरभावोऽनध्यवसायाद्विपर्ययात्संशयाद्वा स्यात्प्रकारान्तरासम्भवात्, तत्र च क्रमेण यथोक्तहेत्वाभासावतार इति नोक्तहेत्वाभासेभ्योऽभ्यधिक. कश्चिदकिंचित्करो नाम । रत्ना० ६ परि० । (अत्रत्या व्याख्या 'कालच्चयावदिट्ठ' शब्दे तृतीयभागे ४६१ पृष्ठे गता ।) (अत्रत्या व्याख्या ' पगरणसम ' शब्दे पञ्चमभागे ७१–७२ पृष्ठे गता ।)

हेउगोवएस—हेतुकोपदेश—पुं० । कारणोपदेशे, प्रकरणोपदेशे, आ० चू० १ अ० । (अस्यैकार्थिकानि ' कारणोवएस ' शब्दे तृतीयभागे ४६६ पृष्ठे गतानि ।)

हेउजुत्त—हेतुयुक्त—त्रि० । अन्वयव्यतिरेकलक्षणैर्हेतुभिर्युक्ते, अनु० । विशे० । आ० म० ।

हेउणिज्जुत्ति—हेतुनिर्युक्ति—स्त्री० । सोपपत्तिके, दश० २ अ० ।

हेउदोस—हेतुदोष—पुं० । असिद्धविरुद्धानैकान्तिकलक्षणे हेत्वाभासे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

हेउप्पभव—हेतुप्रभव—पुं० । हेतुजन्मनि, दश० ४ अ० ।

हेउभाव—हेतुभाव—पुं० । कारणभावे, पं० व० १ द्वार ।

हेउय-हैतुक-पुं०। हेतुभ्यो जातो हैतुक । कायाकारपरिणतभूतनिष्पादिते लौकायतिकसम्मतात्मनि,सूत्र०१श्रु०१अ०१उ०।

हेउवाय-हेतुवाद-पुं० । हेतुरनुमानोत्थापकं लिङ्गमुपचारादनुमानमेव वा तद्वादो हेतुवादः । दृष्टिवादे । स्था० १० ठा० ३ उ० । शुष्कतर्कवादे, पं० व० ४ द्वार । "ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रिया । कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चय ।" द्वा० २४ द्वा०। (अत्रत्या व्याख्या 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ७६ पृष्ठे गता ।)

हेउवायउवएस-हेतुवादोपदेश-पु । हेतुर्निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तर , तस्य वदन वाद तद्विषय उपदेश । कारणोपदेशे, आ० म० १ अ० । प्रव० । (हेतुवादोपदेशेन संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च 'सरिणसुय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शिताः ।)

हेउविजय-हेतुविजय-पुं० । तर्कानुसारिबुद्धे पुंसः स्याद्वादप्ररूपकागमकषच्छेदतापशुद्धिसमाश्रयणीयतत्त्वगुणानुचिन्तने, सम्म० ३ काण्ड ।

हेउविवागा-हेतुविपाका-स्त्री० । हेतुनो हेतुमधिकृत्य विपाको निर्दिष्टो यासा ता । 'कम्म'शब्दे उक्तासु विपाकतो भिन्नासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार ।

हेउसंपया-हेतुसम्पदा-स्त्री०। साधारणासाधारणरूपायां स्तोतव्यसम्पदि , प्रव० १ द्वार ।

हेऊवरणास-हेतूपन्यास-उपन्यासभेदे, दश०। अत्रत्या सर्वा वक्तव्यता 'अणुमाण' शब्दे प्रथमभागे ४०६ पृष्ठे गता ।)

हेच्चा-हित्वा-अव्य० । त्यक्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

हेज्ज-हेय-त्रि० । उपेक्षणीये , अनु० ।

हेट्ठ-अधस्-अव्य० । "अधसो हेट्ठं" ॥८।२।१४१॥ इति अधस्शब्दस्य हेट्ठ इत्यादेश । हेट्ठं । पाताले, अध स्थानमात्रे च । अनु० । प्रा० ।

हेट्ठिल्ल-अधस्तन-त्रि० । "डिल्ल-डुलौ भवे" ॥८।२।१६३॥ इति भावार्थे डिल्लप्रत्यय । अधोवर्त्तमाने, प्रा० । जं जस्स आदीए तं तस्स हिट्ठिल्लं । जं जस्स उवरि त तस्स उवरिल्लं । नि० चू० २० उ० । स्था० । अधस्तनो यत्र आरभ्य लोकस्याधोमुखा वृद्धि । भ० १३ श० ४ उ० ।

हेठय-हेठक-पुं० । बाधके ऋक्संस्थानीये मन्त्रे,यथा "षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमे ऽहनि । अश्वमेधस्य वच, ना-न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

हेम-हैम-न० । भेषजभेदे, जाम्बूनदे (सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।) सुवर्णे , द्वा० ५ द्वा० । स्वनामख्याते राजपुत्रे , 'हेमपुरिसे नगरे हेमकूडो राया हेमसंभवा भारिया , तस्स पुत्तो वरतिविज्जसन्निभो हेमो णाम कुमारो' । नि० चू० ११ उ० । पं० भा० । (अस्य वेदोपघातो बभूव तद्वृत्तम् 'उवघायपडग' शब्दे द्वितीयभागे ८८१ पृष्ठे गतम् ।)

हेमन्त-हेमन्त-पुं० । शीतकाले , व्य० ४ उ० । पाइ० ना० । ऋतुभेदे , जी० १ प्रति० । पौषमाघौ हेमन्त । आ० १ श्रु० १ अ० । ज्यो० । शीतकालमासाना मध्ये चतुर्थो मास । आ० १ श्रु० ८ अ० । (अत्रत्या व्याख्या 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे गता ।)

हेमंतगिम्ह-हेमन्तग्रीष्म-पुं० । शीतकालोष्णकालयोः, व्य० ४ उ० ।

हेमंधर-हेमन्धर-पुं० । कलिकुण्डसरोवरसमीपविहारिणो महीधरस्य हस्तियूथपस्य विदेहजे पूर्वभवजीवे, ती०५३कल्प ।

हेमकड-हेमकृत-पुं० । स्वनामख्याते राज्ञि,बृ० ४ उ० । (अस्य पुत्रस्य वेदोपघातो बभूव तद्वृत्तम् 'उवघायपंडग ' शब्दे द्वितीभागे ८८१ पृष्ठे गतम् ।)

हेमकलस-हेमकश-पुं०।धर्मरत्नवृत्तिसंशोधके स्वनामख्याते सूरौ, "श्रीहेमकलशवाचक-पण्डितवरधर्मकीर्त्तिमुख्यबुधै । स्वपरसमयैककुशलै-स्तदैव सशोधिता चेयम् ॥ १ ॥" ध० र० २ अधि ।

हेमकूड-हेमकूट-पुं० । हेमपुरनगरराजे हेमकुमारपितरि, नि० चू० ११ उ० ।

हेमग-हैमक-पुं० । हिमं-तुहिनं तदेव हिमक तस्यैते हैमकाः । हिमपातरूपेषु जलकणेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

हेमचंद-हेमचन्द्र-पुं० । कुमारपालगुरौ, सिद्धहेमचन्द्रव्याकरणकर्त्तरि स्वनामख्याते सूरौ, प्रा० ४ पाद ।

इय-रयणावलिणामो, देसीसद्दाण संगहो एसो ।
वायरणसेसलेसो, रइओ सिरिहेमचन्द्रमुणिवइणा ।७७।

इति एष देशीशब्दसंग्रह स्वोपज्ञशब्दानुशासनाष्टमाध्यायशेषलेशो रत्नावलीनामाचार्यश्रीहेमचन्द्रेण विरचित इति । दे० ना० ८ वर्ग ।

" आसीद्विशांपतिरमुद्रचतुःसमुद्र-
मुद्राङ्कितक्षितिभरक्षमबाहुदण्ड । ।
श्रीमूलराज इति दुर्धरवैरिकुम्भि-
कण्ठीरव शुचिचुलुक्यकुलावतस ॥ १ ॥
तस्यान्वये समजनि प्रबलप्रताप-
तिग्मद्युति क्षितिपतिर्जयसिंहदेव ।
येन स्ववंशसवितर्यपर सुधांशौ
श्रीसिद्धराज इति नाम निजं व्यलेखि ॥ २ ॥
सम्यक् निषेव्य चतुरश्चतुरोऽप्युपायान् ,
जित्वोपभुज्य च भुव चतुरब्धिकाञ्चीम् ।
विद्या चतुष्टयविनीतमतिर्जितात्मा,
काष्ठामवाप पुरुषार्थचतुष्टये य. ॥ ३ ॥
तेनातिविस्तृतदुरागमविप्रकीर्ण-
शब्दानुशासनसमूहकदर्थितेन ।
अभ्यर्थितो निरवमं विधिवद् व्यधत्त,
शब्दानुशसनमिदं मुनिहेमचन्द्र ॥ ४ ॥" प्रा० ४ पाद ।

पतच्चरित्रलेशस्त्वित्थम्-गुर्जरदेशे धन्धुकाग्रामे चाचश्रेष्ठिन पाहिनीनाम्न्या भार्यायां चङ्गदेवनामा पुत्रो जात । स च देवचन्द्राचार्येण याचित्वा दीक्षित । वैक्रमीये ११५० सवत्सरे तेनैव तर्कव्याकरणसाहित्यादि पाठित ।

(सं० ११६६) वर्षे सूरिपदेऽभिषिक्तः हेमचन्द्र इति नाम्ना प्रख्यापितः, अणहिलपट्टनपुरराजेन सिद्धराजेनाभ्यर्थितः सिद्धहेमनाम व्याकरणं चक्रे। अनेनैव प्रतिबोधितः कुमारपालराजः जैनो जातः, येन च महती शासनोन्नतिः कृता। अनेन सार्द्धत्रिकोटिश्लोकमिता ग्रन्थाः कृता इति किंवदन्ती प्रसिद्धा। अस्य स्वर्गतिः (सं०१२२६ वर्षे आसीत्।

" यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत्क्षिप्ता क्षणाद्येन सा॥
स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम॥१॥
निस्सीमप्रतिभैकजीवितधरौ निश्शेषभूमिस्पृशा,
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्कैकरूपे दधत्।
य स्याद्वादमसाधयन्निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे,
सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः॥२॥
ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्त-ग्रन्थार्थसेवामिषतः श्रयन्ते।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां, पदं कलानामुचितं भजन्ति॥३॥
मातर्भारति! सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुति-
र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति यत् सारस्वतः शाश्वतो,
मन्त्रः श्रीउदयप्रभेति रचनारम्यो ममाहर्निशम्॥४॥"

इह हि विषमदुःषमारजनितिमिरतिरस्कारभास्करानुकारिणा वसुधानलावतीर्णसुधासारणीदेश्यदेशनाविनानपरमार्हतीकृतश्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रवर्तिताऽभयदानाभिधान-जीवातुसंजीवितनानाजीवप्रदत्ताशीर्वादमाहात्म्यकल्पावधिस्थायिविशदयशःशरीरेण निरवद्यचातुर्विद्यानिर्माणैकब्रह्मणा श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्द्धमानजिनस्तुतिरूपमयोगव्यवच्छेदान्ययोगव्यवच्छेदाभिधानं द्वात्रिंशिकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं विदधे। स्या०। अभयदेवसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, (एतद्वंशवर्णनम् 'अणुओगद्दार' शब्दे प्रथमभागे ३५६ पृष्ठे दर्शितम्।)

हेमचंदवागरण-हेमचन्द्रव्याकरण-न०। हेमचन्द्ररचितव्याकरणे, कल्प० १ अधि० १ क्षण।

हेमजाल-हेमजाल-न०। सुवर्णमयदामसमूहे, रा०। औ०। जी०। (अत्रत्या व्याख्या 'लवणसमुद्द' शब्दे षष्ठे भागे गता।)

हेमपुरिस-हेमपुरुष-न०। स्वनामख्याते नगरे, हेमपुरिसनगरे हेमकूडो राया हेमसभवा भारिया तस्स पुत्तो धणतिविजसज्झिभो हेमो णाम कुमारो। नि० चू० ११ उ०।

हेमप्पह-हेमप्रभ-पुं०। भुवनमल्लपितरि कुसुमपुरीनाथे, संघा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

हेमव-हेमवत्-पुं०। लोकोत्तररीत्या फाल्गुनमासे, सं० प्र० १० पाहु०। ज्यो०। सू० प्र०। जं०। कल्प०।

हेमवय हेमवत्-त्रि०। हिमवत्पर्वतोद्भवे, प्रा० १ श्रु० १ अ०। औ०।

हेमवयचित्तविचित्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारुयागस्स।
हैमवतं हिमवत्पर्वतभावि चित्रविचित्रं मनोहारि चित्रोपेतं तैनिश-तिनिशदारुसंबन्धि कनकनियुक्तं कनकविच्छुरितं दारु काष्ठं यस्य स हैमवतचित्रविचित्रतैनिशकनकनियुक्तदारुकस्तस्य सूत्रे च द्वितीयककारः स्वार्थिकः, पूर्वस्य च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्। जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ०। भ०। स्था०। अनु०। जं०। स०।-

अथानेन वर्षधरेण विभक्तस्य हैमवतक्षेत्रस्य वक्तव्यतामाह-

कहि णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे हेमवए णामं वासे पण्णत्ते?, गोयमा! महाहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं चुल्लहिमवन्तस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे हेमवए णामं वासे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे पलिअंकसंठाणसंठिए दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे, पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे, दोण्णि जोअणसहस्साइं एगं च पंचुत्तरं जोअणसयं पंच य एगूणवीसइभागे जोअणस्स विक्खंभेणं। तस्स बाहा पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं छज्जोअणसहस्साइं सत्त य पणवण्णे जोअणसए तिण्णि अ एगूणवीसइभागे जोअणस्स आयामेणं, तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहओ लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठा, पच्चत्थिमिल्लाए ०जाव पुट्ठा सत्ततीसं जोअणसहस्साइं छच्च चउरुत्तरे जोअणसए सोलस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स किंचिविसेसूणे आयामेणं। तस्स धणुं दाहिणेणं अट्ठतीसं जोअणसहस्साइं सत्त य चत्ताले जोअणसए दस य एगूणवीसए भागे जोअणस्स परिक्खेवेणं। हेमवयस्स णं भंते! वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते? गोयमा! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, एवं तइअसमाणुभावो णेअव्वो त्ति। (सूत्र० ७६)॥

'कहि णं' मित्यादि, क भदन्त! जम्बूद्वीपे द्वीपे हैमवतं नाम वर्षं प्रज्ञप्तम्?, गौतम! महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य 'दक्खिणेणं' त्यादि, व्यक्तम्। अत्रान्तरे जम्बूद्वीपे द्वीपे हैमवतं नाम वर्षं प्रज्ञप्तमित्यादि सर्वं प्राग्वत्, नवरं पल्यङ्कसंस्थानसंस्थितमायतचतुरस्रत्वात्, तथा द्वे योजनसहस्रे एकं च पञ्चोत्तरं योजनशतं पञ्च चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य यावद्विष्कम्भेन, क्षुद्रहिमवद्गिरिविष्कम्भाद्दस्य द्विगुणविष्कम्भ इत्यर्थः। अथास्य बाहाद्याह-'तस्स बाहा' इत्यादि, व्यक्तम् 'तस्स जीवा उत्तरेणं' मित्यादि प्राग्वत्, सप्तत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट् चतुःसप्ततीनि योजनशतानि षोडशकला किञ्चिदूना आयामेनेति, 'तस्स धणु' मित्यादि, तस्य धनुःपृष्ठमष्टत्रिंशद्योजनसहस्राणि सप्त च चत्वारिंशानि-चत्वारिंशदधिकानि योजनश-

तानि दश च एकोनविंशतिभागान् योजनस्य परिक्षेपेणेति। अथ कीदृशमस्य स्वरूपमित्याह-'हेमवयस्स णं' मित्यादि, व्याख्यानप्रायम्, नवरम् 'एव' मिति-उक्तप्रकारेण तृतीयसमा-सुषमदुष्षमारकस्तस्या भावः-स्वभावः, स्वरूपमिति यावत् नेतव्य -स्मृतिपथं प्रापणीय इत्यर्थः।

अथात्र क्षेत्रविभागकारिगिरिस्वरूपं निर्दिशति-

कहि णं भंते! हेमवए वासे सद्दावा(व)ई णामं वट्टवेअड्ढपव्वए पण्णत्ते?, गोयमा! रोहियाए महाणईए पच्चत्थिमेणं रोहिअंसाए महाणईए पुरत्थिमेणं हेमवयवासस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं सद्दावई णामं वट्टवेअड्ढपव्वए पण्णत्ते, एस जोअणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उव्वेहेणं सव्वत्थसमे पल्लंगसंठाणसंठिए एगं जोअणसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोअणसहस्साइं एगं च बावट्ठं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, सव्वरयणामए अच्छे, से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, वेइआवणसंडवण्णओ भाणिअव्वो। सद्दावइस्स णं वट्टवेअड्ढपव्वयस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं ०जाव सीहासणं सपरिवारं। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-सद्दावई वट्टवेयड्ढपव्वए?, गोयमा! सद्दावइवट्टवेअड्ढपव्वए णं खुड्डाखुड्डिआसु वावीसु ० जाव बिलपंतिआसु बहवे उप्पलाइं पउमाइं सद्दावइप्पभाइं सद्दावतिवण्णाभाइं सद्दावई अ इत्थ देवे महिड्ढीए ०जाव महाणुभावे पलिओवमट्ठिइए परिवसइ त्ति। से णं तत्थ चउण्हं सामाणिअसाहस्सीणं ०जाव रायहाणी मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं अण्णम्मि जम्बुद्दीवे दीवे। (सू० ७७)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! हैमवतवर्षे शब्दापाती नाम्ना वृत्तवैताढ्यपर्वतः प्रज्ञप्तः, वैताढ्यान्यर्थस्तु प्रागुक्तः, असौ च वृत्ताकारो न भरतादिक्षेत्रवर्तिवैताढ्यपर्वतवत् पूर्वापरायतस्तेन वृत्तवैताढ्य इत्युच्यते, अत एव एतत्कृतः क्षेत्रविभागः पूर्वतोऽपरतश्च भवति, यथा-पूर्वहैमवतमपरहैमवतमिति। आह-पञ्चकलाधिकैकविंशतिशतयोजनप्रमाणविस्तारस्य हैमवतस्य मध्यवर्ती योजनसहस्रमानः एष गिरिः कथं क्षेत्रं द्विधा विभजति?, उच्यते-प्रस्तुतक्षेत्रव्यासो हि उभयोः पार्श्वयो रोहितारोहितांशाख्याभ्यां नदीभ्यां रुद्धः मध्यस्तस्त्वनेन। अथ नदीरुद्धक्षेत्रं वर्जयित्वाऽवशिष्टक्षेत्रमसौ द्विधा करोतीत्यस्मिन्नन्वर्थवती वैताढ्यशब्दप्रवृत्तिरिति एवं शेषेष्वपि वृत्तवैताढ्येषु स्वस्वक्षेत्रनदीनामभिलापेन भाव्यम्, दिग्विभागनियमनं सुलभमिति न व्याख्यायते। एकं योजनसहस्रमूर्ध्वोच्चत्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वेधेन सर्वत्र समः-तुल्योऽधोमध्योर्ध्वदेशेषु सहस्रसहस्रविस्तारकत्वात्, अत एव पल्यङ्कसंस्थानसंस्थितः। पल्यङ्कश्च-लाटदेशप्रसिद्धो वंशदलैर्निर्मापितो धान्याधारकोष्ठकः, एकं योजनसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषेण करणवशाद्रागतेन सूत्रानिर्दिष्टेन राशिना अधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। सर्वात्मना रत्नमयः, केचन रजतमयान् वृत्तवैताढ्यानाहुः, परं तेषामनेन अन्येन सह विरुद्धत्वमिति। अथात्र पद्मवरवेदिकाद्याह-'से ण' मित्यादि, व्यक्तम्, 'सद्दावइस्स णं' मित्यादि, व्यक्तम्। अथ नामार्थं निरूपयन्नाह-'से केणट्ठेणं भंते' इत्यादि प्रागुक्तऋषभकूटप्रकरणवद् व्याख्येयम्, नवरम् ऋषभकूटप्रकरणे ऋषभकूटप्रभैः ऋषभकूटवर्णैरुत्पलादिभिर्ऋषभकूटनामनिरुक्तिर्दर्शिता अत्र तु शब्दापातिप्रभैः शब्दापातिवर्णैः उत्पलादिभिः शब्दापातिवृत्तवैताढ्यनामनिरुक्तिर्द्रष्टव्या, शब्दापाती चात्र देवो महर्द्धिको यावन्महानुभावः पल्योपमस्थितिकः परिवसति। अथ शब्दापातिदेवमेव विशिनष्टि-'से णं तत्थ' इत्यादि, स-शब्दापाती देवस्तत्र-प्रस्तुतगिरौ चतुर्णां सामानिकसहस्राणां यावत्पदात् विजयदेववर्णकसूत्रं सर्वमपि ज्ञेयं व्याख्येयं च। कियत्पर्यन्तमित्याह-राजधानी मन्दरस्य दक्षिणस्यामन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीप इति। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादर्शेषु एतत्सूत्रखण्डोऽपि 'पलिओवमट्ठिईए परिवसति' त्ययं सूत्रादेश पूर्वसूत्रे यद्योजितस्तद्बहुषु विजयदेवप्रकरणादिसूत्रेष्वित्थमेव दृष्टत्वात्। बहुग्रन्थसाम्मत्येन क्वचिदादर्शवैगुण्यमुद्भाव्यान्यथा योजनं बहुश्रुतसम्मतमेवास्ति इत्यलं विस्तरेण। ननु अस्य शब्दापातिवृत्तवैताढ्यस्य क्षेत्रविचारादिग्रन्थेषु अधिपः स्वातिनामा उक्तः, तत्कथं न तैः सह विरोधः?, उच्यते-नामान्तरं, मतान्तरं वा।

अथ हैमवतवर्षस्य नामार्थं पृच्छति-

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ हेमवए वासे हेमवए वासे?, गोयमा! चुल्लहिमवन्तमहाहिमवन्तेहिं वासहरपव्वएहिं दुहओ समवगूढे णिच्चं हेमं दलइ, णिच्चं हेमं दलइत्ता णिच्चं हेमं पगासइ। हेमवए अ इत्थ देवे महिड्ढीए पलिओवमट्ठिइए परिवसइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ हेमवए वासे हेमवए वासे। (सू० ७८)

'से केणट्ठेणं' मित्यादि, अथ केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते-हैमवतं वर्षं हैमवतं वर्षमिति?, गौतम! क्षुद्रहिमवन्महाहिमवद्भ्यां वर्षधरपर्वताभ्यां द्विधातो दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः समवगाढ-संश्लिष्टं, ततो हिमवतोरिदं हैमवतम्। अयं भावः-क्षुद्रहिमवतो महाहिमवतश्चापान्तराले तत्, सेत्रम्, ततो द्वाभ्यामपि ताभ्यां यथाक्रममुभयोर्दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः कृतसीमाकमिति भवति तयोः सम्बन्धि। यदि वा नित्यं कालत्रयेऽपि हेम-सुवर्णं ददाति आसनप्रदानादिना प्रयच्छति, कोऽर्थः?, तत्रत्ययुग्मिमनुष्याणामुपवेशनादुपभोग

हेममया शिलापट्टका उपयुज्यन्ते, तत उपचारेण ददातीत्युक्तम् । नित्य हेम-प्रकाशयति,ततो हेम नित्ययोगि प्रशस्यं चाऽस्यास्तीति हेमवत्, हेमवदेव हैमवतम् , प्रज्ञादेराकृतिगणतया'प्रज्ञादिभ्य ' (श्रीसिद्ध०अ०७पा०२सू० १६५) इति स्वार्थेऽण्प्रत्यय , हैमवतश्चात्र देवो महर्द्धिक पल्योपम स्थितिक. परिवसति,तेन तद्योगाद्धैमवतमिति व्यपदिश्यते। हैमवतो देवः स्वामित्वेनास्यास्तीति, * अभ्रादित्वादप्रत्ययो वा । जं० ४ वक्ख० ।

हेमवयकूड-हैमवतकूट-न० । हैमवद्वर्षेशसुरकूटे,जं०४वक्ख० । जम्बूद्वीपे हिमवद्वर्षधरपर्वते स्वनामख्याते कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हेमविमलसूरि-हेमविमलसूरि-पुं० । हीरविजयसूरिगुरोः आनन्दविजयसूरेः गुरौ सोमसुन्दरसूरिशिष्ये , ग० ३ अधि० ।

हेमसंभवा-हेमसंभवा-स्त्री० । हेमकूतराजस्य भार्यायाम्,वृ० ४ उ० । (बालिकासु अत्यन्त गृद्धस्य अस्या पुत्रस्य वेदोपघातो जात , तद्वृत्तम् ' उवघायपडग ' शब्दे द्वितीयभागे निरुपितम् ।)

हेमसरोवर-हेमसरोवर-न० । स्वनामख्याते तीर्थे, यत्र द्वासप्ततिर्जिनालया । ती० ४३ कल्प ।

हेमसुत्तग-हेमसूत्रक-न० । हेमसङ्कलके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

हेर-हैर-पुं० । माण्डव्यगोत्रे गोत्रविशेषप्रवर्त्तके च ऋषौ,तदपत्येषु च । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

हेरंब-देशी-महिष-डिण्डिमयोः , दे० ना० ८ वर्ग ७६ गाथा । पाइ० ना० ।

हेरण्णवय-हैरण्यवत्-पुं० । जम्बूद्वीपे स्वनामख्याते वर्षक्षेत्रे स्था० ६ ठा० ३ उ० । जं० । प्रज्ञा० । रुक्मिवर्षधरे अष्टकूटानां मध्ये सप्तमे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ८७ सूत्र टी० ।

दो हेरण्णवयाइं (सूत्र-९२+) । स्था० २ ठा० ३ उ० । (अस्य) व्याख्या ' रुप्पि ' शब्दे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (१११) सूत्रेण षष्ठ भागे गतार्था ।

हेरण्णवयकूड-हैरण्यवतकूट-न० । शिखरिवर्षधरपर्वतस्य कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० । हैरण्यवतक्षेत्राधिपसत्के रुक्मि वर्षधरकूटे जं० ४ वक्ख० ।

हेरण्णिय-हैरण्यिक-पुं० । स्वर्णकारे, आ० म० १ अ० । न० ।

हेरिंब-देशी-गणेशे, दे० ना० ८ वर्ग ७२ गाथा ।

हेरिय-हैरिक-पुं० । उद्भ्रामके, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

हेरुयाल-हेरुताल-पुं० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । जं० ।

हेला-हेला-स्त्री० । लीलायाम् , जीवा० ११ अधि० । पाइ० ना० । वेगे दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा । अनादरे, पाइ० ना० १६२ गाथा ।

हेलियामच्छ-हेलिकामत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० ।

हेलुअ-देशी-क्षिकायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ७२ गाथा ।

हेलुक्का-देशी-हिक्कायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ७२ गाथा ।

हेल्लि-हेसखि-सम्बो० । हेसखि इत्यस्य हेल्लि इति निपात्यते । सख्या आमन्त्रणे, ' हेल्लि म झखहि आलु ' । प्रा० ४ पाद ।

हेवाग-हेवाक-पु० । स्वभावे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । अभ्यासे च । नि० चू० १ उ० ।

हेव्वस-पु० । पारसीकः शब्द. । अलाउद्दीनसुरत्राणस्य मल्लिके, " कलिकालदुल्ललिअवसेण अलाउद्दीनसुरत्ताणस्स मल्लिकेण 'हेव्वस' नामेण । " ती० ३५ कल्प ।

हेसिय-ह्रेषित-न० । हयशब्दे, अनु० । जं० ।

हेहभूय-हेहभूत-न० । गुणदोषपरिज्ञानविकलेऽशठभावे, व्य० १ उ० ।

हेहय-हैहय-पुं० । स्वनामख्याते क्षत्रियराजे, आव० ४ अ० ।

हो-हो-अव्य० । विस्मये, पाइ० ना० २७४ गाथा ।

होअऊण-भूत्वा-अव्य० । " स्वराइनतो वा " ॥ ८।४।२४० ॥ इति अकारागमो वा । होअऊण । होऊण । भूत्वा । उत्पद्येत्यर्थे, प्रा० ८ अ० ४ पाद ।

होउकाम-भवितुकाम-पु० । मोक्षार्थिनि भव्यसत्त्वे, पं० सू० १ सूत्र ।

होन्त-भवत्-त्रि० । " शत्रानश " ॥ ८ । ३ । १८१ ॥ इति शतृप्रत्ययस्थाने न्त । प्रा० । जायमाने, विशे० ।

होड-होढ-पु० । मोषे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

होत्ता-भूत्वा-अव्य० । "क्त्व इअ-दूणौ ' ॥ ८ । ४ । २७१ ॥ इति क्त्वाप्रत्ययस्य इय-दूणौ वा भवत. । होत्ता । उत्पद्येत्यर्थे, प्रा० ८ अ० ४ पाद ।

होत्तिय-होत्रिक-पु० । अग्निहोत्रिके, भ० ११ श० ९ उ० । औ० । तृणवनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

होत्था-अभवत्-क्रिया० । जात इत्यर्थे,विपा० १ श्रु० १ अ० ।

होदूण-भूत्वा-अव्य० । भू-क्त्वा । "क्त्व इय-दूणौ" ॥८।४। २७१॥ इति क्त्वास्थाने दुणादेश । उत्पद्येत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

होन्तो । अभविष्यत् । " न्त-माणौ " ॥ ८ । ३ । १८० ॥ इति न्ताऽऽदेश । होन्तो । होमाणो । अभविष्यदित्यर्थे, प्रा० ८ अ० ३ पाद ।

होम-होम-पु० । अग्निहोतृभिः क्रियमाणे अग्निहोमे, अनु० । नि० चू० । प० व० ।

होयव्व-भवितव्य-न० । भाव्ये, पञ्चा० ४ विव० । आ० म० । नि० चू० ।

होया-होतृ-पुं० । होतरि, अग्नौ हवि प्रदातरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

* " अभ्रादिभ्य " ॥ ७ । २ । ४६ ॥

होरंभा-होरम्भा-स्त्री० । महाढक्कायाम् , रा० । त० । भ० ।

होरण-देशी-वस्त्रे, दे० ना० ८ वर्ग ७२ गाथा ।

होरा-होरा-स्त्री० । ज्योतिषोक्ते लग्ने राश्यर्द्धभागे होराज्ञापकशास्त्रभेदे, रेखायाञ्च । द्र० प० । सूत्र० ।

होल-देशी-देशप्रसिद्धे नैष्ठुर्ये, दश० ७ अ० । आ० । होल इति वा बोल इति वा एतौ च देशान्तरे अवज्ञासूचकौ । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

होलवाय-होलवाद-पु० । होलेत्येव वादो होलवादः । होलेत्येव पुरुषामन्त्रणे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

हु-हु-अव्य० । वाक्यालङ्कारे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

ह्रुमा-स्नुषा-स्त्री० । पुत्रवध्वाम् , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

हु-हु-देशी-साङ्केतिक' शब्द । चतुष्के,हुशब्दोपादानात् नारकतिर्यङ्नरदेवाश्चत्वारो ग्राह्या. । ग० २ अधि० । नि० चू० ।

वासे पुंएंणारसंकचन्दपमिए चित्तम्मि मासे वरे,
हत्थे भे सुहतेरसीबुहजुए पक्खे य सुब्भे गए ।
सम्मं संकलिओ य सूरयपुरे संपुण्णयं संगओ,
राइंदायरिएण देउ भुवणे राइंदकोसो सुहं ॥ १ ॥

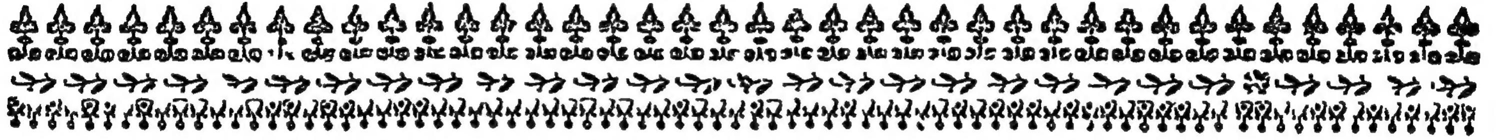
अथ प्रशस्तिः--

शाखाप्रशाखाभिरतिप्रवृद्धे, वीरोक्तिविस्तारविधानदक्षे ।
सद्धर्म्यसौधर्मबृहत्तपाऽऽख्य-गच्छे जगत्यां जनितप्रतिष्ठे ॥ १ ॥
श्रुतावगाहप्रवरा महान्तः, सच्छासनाऽशेषधुरं वहन्तः ।
श्रीसङ्घवाटीं परिफुल्लयन्तः, सूरीन्द्रमुख्या बहवो बभूवुः ॥ २ ॥
तदन्वयेऽभूद् वररत्नसूरिः, स्वब्रह्मतेजस्वितया करिष्णुः ।
भानुं नभोगं हरिमब्धिवासं, त्रिषष्टतमं पट्टमलङ्करिष्णुः ॥ ३ ॥
निरन्तराऽऽचाम्लकरः सुखेन, क्षमा-श्रुत-प्राज्यमतिप्रवृद्धः ।
बृहत्क्षमासूरिरलञ्चकार, तत्पट्टमेरुं सवितेव धीरः ॥ ४ ॥

स्वपरसमयवेदी षट्सु भाषासु दक्षो,
विजितयवनवृन्दो मेदपाटीयभर्तुः ।
सदसि जनसमक्षं श्रीलदेवेन्द्रसूरिः,
समभवदतितेजाः पट्टकेऽमुष्य जिष्णुः ॥ ५ ॥

शिश्राय तत्पट्टमशेषकाल-विन्मारजित्स्वाऽन्यशुभं करिष्णुः ।
नैमित्तिकानां प्रथमश्च लोके, कल्याणसूरिर्गणितप्रवीणः ॥ ६ ॥
अन्वर्थनामा समभूत् प्रमोद-सूरिर्जगज्जीवसुमोदहेतुः ।
समाधिलीनो निजकर्मदक्ष-स्तदासनेऽखण्डितशीलशाली ॥ ७ ॥
तत्पट्टमेरावुदियाय भानु-र्जैनागमाब्धिं परिमथ्य कोशम् ।
राजेन्द्रसूरिर्जगदर्चनीयो-ऽभिधानराजेन्द्रमसावकार्षीत् ॥ ८ ॥

अस्मत्पट्टप्रभावी धनविजयमुनिर्वादिवृन्दप्रजेता,
श्रीलोपाध्यायवर्यः प्रतिसमयमदाद् भूरिसाहाय्यमेषः ।
कोशाब्धेरस्य सृष्टौ सकलजनपदश्लाघनीयत्वलिप्सोः,
सद्विद्वन्मानसाब्जे दिनकरसमतां यास्यमानस्य लोके ॥ ९ ॥
धन्वन्यमृत्तर्क्युगाङ्कपृथ्वी-वर्षे सियाणानगरेऽस्य सृष्टिः ।
पूर्णोऽभवत् सूर्यपुरे ह्यविघ्नं, शून्याङ्कनिध्येकमिते सुवर्षे ॥ १० ॥
तावन्महान् प्राकृतकोश एष, यावत् क्षितौ मेरुरवीन्दवः स्युः ।
सज्जैनजैनेतरविज्ञवर्ग-मानन्दयेत् कोकमिवोष्णरश्मिः ॥ ११ ॥

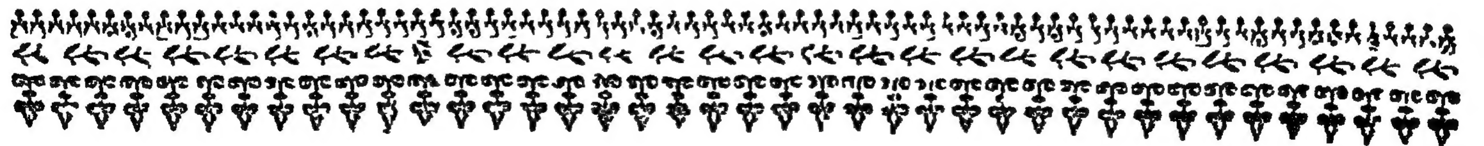


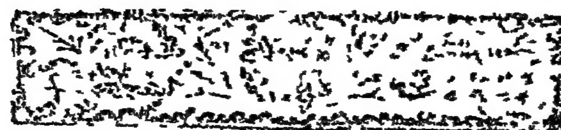


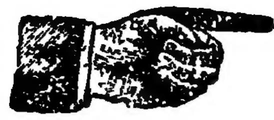
इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैन श्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्री
मद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'श्रीअभिधानराजेन्द्र-
प्राकृतमहाकोशे' हकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।



तत्समाप्तौ च समाप्तश्चायं ग्रन्थः।







अथ मुद्रणपरिचयः-



निर्ग्रन्थगच्छः समभूत्सुधर्मा॒ऽऽख्यात्सुस्थिताऽऽर्यादथ कोटिकाऽऽह्वः ।
चन्द्रोऽपि चन्द्रप्रभ-चन्द्रसूरेः, सामन्तभद्राद् वनवासिगच्छः ॥ १ ॥
श्रीसर्वदेवाद् वट आविरासीत्, तपा जगच्चन्द्रमुनीन्द्रवर्यात् ।
सौधर्मसंयुक्तबृहत्तपाऽऽख्यो, राजेन्द्रसूरेर्जगति प्रसिद्धः ॥ २ ॥ युग्मकम् ।

एतद्गच्छसुशासनीयसुधुरप्रोद्वाहिसूरिव्रजाऽ-
लङ्कारायितसाधुकर्म विधिवत्संशोधकस्याऽऽज्ञया ।
आजन्माऽनघशीलशोभिततनो राजेन्द्रसूरीशितुः,
संघातान्तिमया विनेयनिवहैः संशोध्य मुद्रापितः ॥ ३ ॥
व्याख्यानी सच्चरित्रः सुबुधगणनतः सेवितः साधुवर्गै-
र्जैनाचार्यः क्रियावान् हि विजयधनचन्द्रोऽस्य पट्टेऽभिषिक्ते ।
दान्ते क्षान्ते महान्ते प्रशमितहृदये संयमे सञ्चरिष्णौ,
सौम्ये रम्ये गभीरे सकलजनहिते वर्त्तमाने सदाऽसौ ॥ ४ ॥
चन्द्राशाङ्कुकलाधिनाथसहिते वर्षेऽसिते पक्षके,
चैत्रे मासि धरासुतस्य दिवसे ज्येष्ठाख्यतारायुते ।
सप्तम्यां रतलामनामकपुरे भूपेन्द्रसूरीश्वरे,
राजत्येष सुसाधु मुद्रणमितो राजेन्द्रकोषः शुभः ॥५॥

